प्राप्तिस्थान
श्री अभिधान राजेन्द्रकोष प्रकाशन संस्था
C/o श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मन्दिर,
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चोक, अहमदावाद.

मुद्रक : पं. मफतलाल झवेरचंद गांधी
नयन प्रि. प्रेस, का. २-६१
गांधीरोड, ढींकवावाडी, अहमदावाद-१

अभिधान राजेन्द्रकोषस्य रचना तु सर्वथा अपूर्वेवाऽस्ति

पण्डित शितिकण्ठशास्त्री

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष!

शब्दकोशोंकी परंपरा में 'अभिधानराजेन्द्र' यथार्थमें एक विशिष्ट उपलब्धि है।

श्रीमद् की जीवनसाधनाका यह अत्यंत उदाहरण है। जब इस कोषका पहिला अक्षर लिखा गया तब वे तिरसठ वर्ष के थे।

सात भागों में तथा दस हजार पांचसो छियासठ पृष्ठों में प्रकाशित यह कोश वस्तुतः एक विश्वकोष के समान है। जिसमें जिनागमों तथा बिभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों के उद्धरण संकलित कर विस्तृत विवेचन किया गया हैं।

— वसंतीलाल जैन

अभिधानराजेन्द्र कोष जैसे अतिविशाल ग्रन्थरत्नकी रचना उनके सम्यग् ज्ञानके सर्वांगी समर्पणकी साहजिक निष्पत्ति हैं। अन्यथा असंभव सा यह कार्य उनसे होता ही नहीं। अभिधानराजेन्द्र कोष सामान्य शब्दकोष नहीं हैं। किन्तु शास्त्रवचनोंकी समीचीन अभिव्यक्ति और अर्थघटनका सर्वश्रेष्ठ सहायक माध्यम है।

— रमेश आर. जवेरी

सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि–कलिकालसर्वज्ञकल्प–परमयोगिराज

जगत्पूज्य–गुरूदेव–प्रभुश्रीमद्–विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।

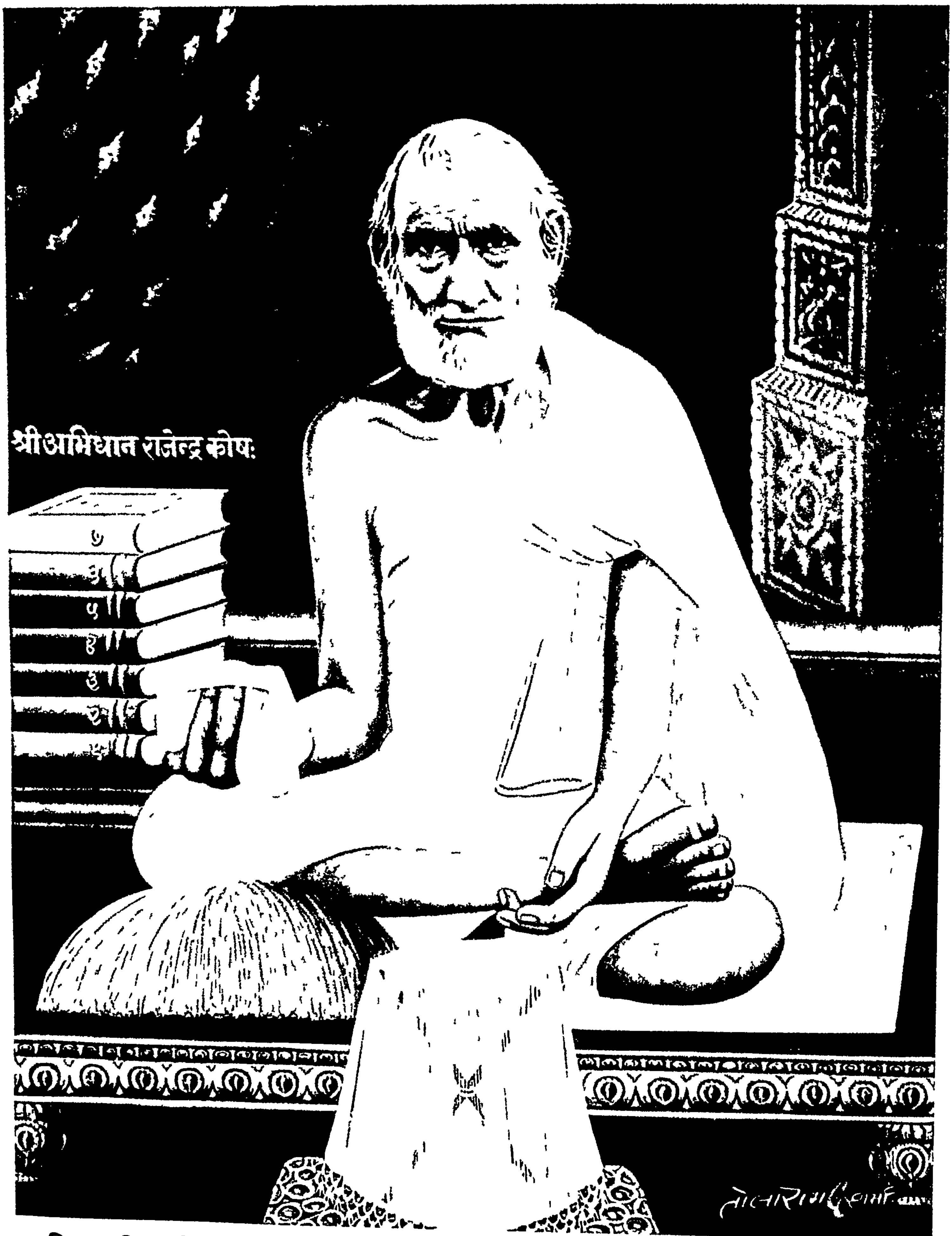

तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी–राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुत : ।
घस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ? ।। १

प्रकाशकीय निवेदन

कलिकाल सर्वज्ञकल्प, सकलागमरहस्यवेदी, विश्वपूज्य, परमयोगीन्द्र, परमकृपालु, पूज्यपाद गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने अपने तप, जप, एवं ज्ञान, ध्यान की आत्मोन्नतिकारिणी प्रवृत्ति में अप्रमत्त भाव से रममाण होते हुए जिन प्रवचन में निर्दिष्ट सत्य वस्तु तत्व का जीवनभर प्रचार, प्रसार किया। साथ ही अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया-ग्रन्थ सम्पदा का सर्जन किया। एक विशाल ग्रन्थागार सम उन की जो सर्वोत्तम, और सर्वतोमुखी रचना है श्री अभिधान राजेन्द्र कोश। इस अलौकिक कृति के निर्माण द्वारा श्रीमद्ने विश्व के सभी विद्वज्जनों को युगों युगों के लिये अद्भूत प्रेरणा प्रदान की है।

बीसवीं शताब्दी के संध्याकाल मे इस ग्रन्थराज की प्रथम आवृत्ति श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्री जैन प्रभाकर प्रिन्टींग प्रेस, रतलाम (म. प्र) से प्रकाशित की गई थी। प्रथमावृत्ति की प्रतियां समाप्त प्रायः हो जाने के कारण यह ग्रन्थ दुर्लभ हो गया था। विश्व इस की द्वितियावृत्ति का इन्तेजार कर रहा था और हम भी इस के पुनः प्रकाशन के लिये प्रयत्नशील थे। अ. भा. श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन संघ का श्रीभांडवपुरतीर्थ पर विराट अधिवेशन हुआ और उस में इस ग्रन्थराज के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। तदनुसार प्रकाशन कार्य प्रारंभ हुआ।

इस महान कार्य मे परमपूज्य शान्तमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के पट्टप्रभावक परमपूज्य तीर्थप्रभावक साहित्यमनिषी आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज का श्रम साध्य सहयोग हमें प्राप्त हुआ है।

वर्षों के बाद पुनः एक बार इस ग्रन्थराज का प्रकाशन हम सब के लिये परम आनन्ददायक है। इस के पुनः प्रकाशन मे परमपूज्य तीर्थ प्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज संयमवयःस्थविर मुनिराजश्री शान्तिविजयजी महाराज, मुनिराज श्री पुण्यविजयजी, मुनिश्री विनयविजयजी, मुनिश्री नित्यानंदविजयजी, मुनिश्री जयरत्नविजयजी मुनिश्री जयानन्दविजयजी आदि मुनि मण्डल, एवं साध्वी-मण्डल की ओर से जो सहयोग मिला है उस के लिये हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं:

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-अहमदाबाद के ट्रस्टी मण्डल का भी इस कार्य में पूर्ण सहयोग मिला है।

इस प्रकाशन मे हमे जिन जिन ग्राम नगरों के श्री संघ एवं महानुभावों का जो अनमोल आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। नियमानुसार उनका नाम निर्देश करते हुए हमें अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है।

उन की मंगल नामावली प्रस्तुत है इस प्रकार।

१ प्रवर्तिनी साध्वीजी गुरुणीजी प्रेमश्रीजी की शिष्या गुरुणीजी, रायश्रीजी की शिष्या साध्वीजी शिवश्रीजी की स्मृति में विदुषी साध्वीजी श्री सुन्दरश्रीजी, विदुषी साध्वीजी श्री गंभीरश्रीजी के उपदेश से श्री मालवदेशीय त्रिस्तुतिक संघ।

२ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, चोराउ (राज.)

३ श्री महावीर जैन श्वेताम्बर पेढी, श्री भाण्डवपुर तीर्थ (राज)

४ श्री भेंसवाडा सिल्क मिल्स, भीवंडी (महाराष्ट्र)

५ श्री वस्तीमलजी हेमाजी, जोवाणा (राज.)

६ शाह नेमिचन्द, देवीचन्द, फूलचन्द, शुकनराज, कान्तिलाल, राजु बेटापोता श्री लखमाजी बलदरिया, कोशेलाव (राज.)

७ श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक (त्रिस्तुतिक) संघ थराद (उ. गुजरात)

८ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ अने थराद जैन युवक मंडल, अहमदाबाद

९ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ धाधाल

१० श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-सुराणा

११ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ–धानेरा
१२ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ थराद जैन मित्रमण्डल, बम्बई ।
१३ श्री जैन श्वेताम्बर सकल संघ नेनावा (गुजरात)
१४ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, मेंगलवा (राज.)
१५ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ सिवाणा (राज.)
१६ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ आकोली (राज.)
१७ श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, राणीस्टेशन (राज)
१८ श्री मांगीलाल, फुटरमल, शांतिलाल, किशोरचन्द्र बेटापोता शेषमलजी खसाजी रामाणी, गुडाबालोतान् (राज)
१९ श्री दरजमल, उकचन्द, हस्तिमल, तगराज हीराणी, रेवतड़ा (राज)
२० श्री चेतनकुमार अशोककुमार, कन्हैयालालजी काश्यप, रतलाम (म प्र)
२१ श्री चीमनलाल भीखालाल लाधाणी वासणवाला, धानेरा (गुजरात)
२२ शा जेठमल, जुहारमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, बीरचंद, गौतमचन्द, अशोककुमार, रतनलाल, गणपतराज, बेटापोता केनाजी मेंगलवा, (राजस्थान)
२३ श्री अमरचन्द देशमल, तिलोकचन्द मीठालाल ओटमल धरमाजी पटियात (धाणसा)
२४ शाह मगराज सुखराज एन्ड कं मद्रास
२५ शाह सरेमलजी हरखचन्दजी तिलोकचन्दजी बेटापोता हांसाजी रतनपुराबोरा, मोदरा (राज)
२६ श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी जैन ट्रस्ट मद्रास
२७ कुंदनमल सुरेशकुमार जगदीशकुमार बेटापोता मिश्रीमल नथाजी बागरेचा, आहोर
२८ कुसलराज भूरमलजी बूटा, आहोर (राजस्थान)
२९ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ वाघोडा (राजस्थान)
३० सुकनलाल नेमिचंद ब्राइट स्टेनलेस मद्रास
३१ शान्तिलाल ज्वेलर्स नेलूर
३२ लीलाबेन गोठालालजी चौधरी रींगणोद
३३ कोठारी निर्मलाबेन धर्मपत्नी कोठारी सागरमलजी रंगलालजी छोटी सादडी
३४ श्री अखिलभारतीय त्रिस्तुतिक जैन संघ इन्दौर
३५ श्री जेठमलजी सरेमलजी भीनमाल
३६ श्री सोहनराज डुंगरजी भीनमाल
३७ श्री मांडवपुर मोहनखेडा तीर्थ छ'रीपालक संघ समिति
३८ संघवी गगलदास हालचंदभाई और संघवी भीखालाल मणीलाल अहमदाबाद

इन के अतिरिक्त गाँव नगरों के महानुभावोंने लाभ लिया है उन के नाम हैं

भीनमाल, जोधपुर, मेंगलवा, सायला, सुराणा, मद्रास, नल्लोर, विजयवाडा, माडवला, धाणसा, आहोर, भेंसवाडा, सुरा, सियाणा, कोमता, सुराणा, दाधाल, रेवतडा, उनडी, पांथेडी, बम्बई सुमेरपुर, सांचोर, तखतगढ, कोशेलाव, थराद, अहमदावाद, लोवाणा, दूधवा, आणंद, वासणा. डीसा, लाखणी, वामी, धानेरा, कलोल. झाबुआ, टांडा, पारा, रिंगणोद, (धार)

इस प्रकार गुरु कृपा से एवं पू आचार्यश्री के सतत प्रयत्न से यह प्रकाशन हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है, शुभम् ।

निवेदक

श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चौक
पो. अहमदावाद

श्री अभिधान राजेन्द्र कोषप्रकाशन संस्था
अहमदावाद

२०४२ पोष सुद ७ (गुरुसप्तमी)

द्वितीयावृत्ति

प्रस्तावना

अनादि से प्रवहमान है श्री वीतराग परमात्मा का परम पावन शासन ! अनादि मिथ्यात्व से मुक्त हो कर आत्मा जब सम्यक्त्व गुण प्राप्त करता है, तब आत्मिक उत्क्रान्ति का शुभारंभ होता है । सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का क्रम आत्मा मे परिलक्षित होता है ।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनो ही इन्द्रिय तथा मन से ग्राह्य हैं, अत इनका समावेश परोक्षज्ञान में होता है; परन्तु अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान आत्म ग्राह्य हैं; अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान मे समाविष्ट हैं ।

सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही मिथ्यात्व का घना अन्धेरा दूर हो जाता है और आत्मा संपूर्णता की ओर गतिमान होता है । यही सम्यक्त्व आत्मा को परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रसर करता है । प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा लौकिक भावों से अलग हो कर लोकोत्तर भावों की चिन्तनधारा में स्वयं को डुबो दे । 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पठा ।'

संसार परिभ्रमण का प्रमुख कारण है आस्रव और बन्ध । दुःख से मुक्ति के लिए इनको दूर करना आवश्यक है तथा इसके साथ ही संवर और निर्जरा भी आवश्यक है । बन्धन सहज है, पर यदि उसके कारण भाव एवं कारण स्थिति से स्वयं को अलग रखा जाये तो अवश्य ही हम निर्बन्ध अथवा अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं ।

जिनागम मे अध्यात्म समाया हुआ है । सहज स्थिति की कामना करनेवालों को चाहिये कि वे जिनवाणी का श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, अनुशीलन आदि करते रहें ।

कर्म और आत्मा का अनादि से घना रिश्ता है; अत. कर्म आत्मा के साथ ही लगा रहता है; जैसे खान मे रहे हुए सोने के साथ मिट्टी लगी हुई होती है । मिट्टी सुवर्ण की मलिनता है और कर्म आत्मा की । प्रयोग के द्वारा मिट्टी सुवर्ण से अलग की जा सकती है । जब दोनों अलग अलग होते हैं तब मिट्टी मिट्टी रुप मे और सुवर्ण सुवर्ण के रूप में प्रकट होता है । मिट्टी को कोई सुवर्ण नहीं कहता और न ही सुवर्ण को कोई मिट्टी कहता है । ठीक उसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल आलोक मे सम्यक् चारित्र के प्रयोग द्वारा अपने पर से कर्म रज पूरी तरह झटक देती है और अपनी मलिनता दूर करके उज्ज्वलता प्रकट कर देती है ।

कर्म की आठों प्रकृतियाँ अपने अपने स्वभावानुसार सांसारिक प्रवृत्तियों मे रममाण आत्मा को कर्म भुगतान के लिए प्रेरित करती रहती है । जिन्हें स्वयं का ख्याल नहीं है और जो असमंजस स्थिति मे हैं; ऐसे संसारी जीवों का ये कर्म प्रकृतियां विभाव परिणमन करा लेती हैं

ज्ञानावरणीय कर्म आँखों पर रही हुई पट्टी के समान है। नजर चाहे जितनी सूक्ष्म हो, पर यदि आखों पर कपडे की पट्टी लगी हो, तो कुछ भी दिखाई नहीं देता; ठीक इसी प्रकार आत्मा की निर्मल ज्ञानदृष्टि को ज्ञानवरणीय कर्म आवृत्त कर लेता है। इससे ज्ञानदृष्टि पर आवरण छा जाता है। यह कर्म जीव को उल्टी चाल चलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म राजा के पहरेदार के समान है। जिस प्रकार पहरेदार दर्शनार्थी को राजदर्शन से वंचित रखता है, उसे महल मे प्रवेश करने से रोकता है; उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्मदर्शन से वंचित रखता है। यह जीव को प्रमत्त भाव मे आकण्ठ डुबो देता है; अत जीव अप्रमत्त भाव से सर्वथा दूर रह जाता है। यह जीव के आत्मदर्शन के राजमार्ग को अवरुद्ध कर देता है और जीव को उन्मार्गगामी बनाता है।

मधुलिप्त असि धार के समान है वेदनीय कर्म। यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बना कर उसे अनन्त दुःख समुद्र में धकेल देता है। साता का वेदन तो यह अत्यल्प करवाता है, पर असाता का वेदन यह अत्यधिक करवाता है। शहद लगी तलवार की धार को चाटनेवाला शहद की मधुरता तो पाता है और सुख का अनुभव भी करता है; पर जीभ कट जाते ही असह्य दुःख का अनुभव भी उसे करना पडता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म सुख के साथ अपार दुःख का भी वेदन कराता है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। मदिरा प्राशन करनेवाला मनुष्य अपने होश-हवास खो बैठता है; इसी प्रकार मोहनीय कर्म से प्रभावित जीव अपने आत्म-स्वरुप को भूल जाता है और पर पदार्थों को आत्म स्वरुप मान लेता है। यही एकमेव कारण है उसके संसार परिभ्रमण का। 'मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपकुं भरमत वादि।' यह जीव के सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मार्ग मे रुकावट डालता है।

जो मनुष्य इस मोहनीय कर्म के स्वरुप से अनभिज्ञ रहता है और जो इसकी स्थिति का अनुभव नहीं करता; वह अपने जीवन मे आत्म विकास से वंचित रह जाता है। अहंकार और ममकार जब तक हममे विद्यमान हैं; तब तक हम मोहनीय कर्म के बन्धन मे जकडे हुए ही हैं। अहंकार और ममकार जितना जितना घटता जाता है; उतना ही मोहनीय कर्म का बन्धन शिथिल होता जाता है। यह मोहनीय कर्म समस्त कर्मसत्ता का अधिपति है और सबसे लम्बी उम्र वाला है। इस मोहराजा के निर्देशन मे ही कर्म सेना आगेकूच करती है। जीव को भेदविज्ञान से वंचित रखनेवाला यही कर्म है। इसने ही जीव को संसार की भूलभुलैया में अटकाये रखा है।

और बेडी के समान है आयुष्य कर्म। इसने जीव को शरीर रुपी बेडी लगा दी है, जो अनादि से आज तक चली आ रही है। एक बेडी टूटती है, तो दूसरी पुनः तुरन्त लग जाती है। सजा की अवधि पूरी हुए बिना कैदी मुक्त नहीं होता, इसी प्रकार जब तक जीव की जन्म जन्म की कैद की अवधि पूरी नहीं होती, तब तक जीव मुक्ति की मौज नहीं पा सकता।

नाम कर्म का स्वभाव है चित्रकार के समान। चित्रकार नाना प्रकार के चित्र पट पर अंकित करता है; ठीक इसी प्रकार नाम कर्म चतुर्गति मे भ्रमण करने विविध जीवो को भिन्न भिन्न नाम प्रदान करता है। इसके प्रभाव से जीव इस संसार पट पर नाना प्रकार के नाम धारण करके देव, मनुष्य तिर्यंच और नरक गति मे भ्रमण करता है।

गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है। कुम्हार अनेक प्रकार के छोटे बडे वर्तन बनाता है और उन्हें विभिन्न आकार प्रदान करता है। गोत्र कर्म भी जीव को उच्च और नीच गोत्र प्रदान करता है, जिससे जीव को उच्च या नीच गोत्र में जन्म धारण करना पडता है।

इसी प्रकार अन्तराय कर्म है–राजा के खजांची के समान। खजाने में माल तो बहुत होता है, पर कुञ्जी खजांची के हाथ में होती है; अतः खजाने मे से याचक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यही कार्य अन्तराय कर्म करता है। इसके प्रभाव से जीव को इच्छित वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (आत्मशक्ति) के विषय मे अन्तराय कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। संक्षेप मे यह है जैन दर्शन का कर्मवाद।

इसी प्रकार जिनागमो मे आत्मवाद, अनेकान्तवाद, षट्द्रव्य, नवतत्त्व, मोक्ष मार्ग आदि अनेक ऐसे विषयों का समावेश है, जो जीव के आत्म विकास में परम सहायक हैं। द्वादशांगी जिनवाणी का विस्तार है। आत्म कल्याण की कामना करनेवालो के लिए द्वादशांगी का गहन अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

संसारस्थ प्रत्येक जीव को स्वस्वरूप अर्थात् ईश्वरत्व प्राप्त करने का अधिकार केवल जैन धर्म दर्शन ही देता है, अन्य कोई नहीं। 'सर्व धर्मान परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।', 'बुद्धं शरणं गच्छामि . ...धम्मं सरणं गच्छामि।' और 'केवलिपण्णत्त धम्मं सरणं पव्वज्जामि। इन तीनो पक्षो के सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम पक्ष जीव के लिए केवलीप्रणीत धर्म के दरवाजे खुले रखता है। इस धर्म मे प्रवेश करके जीव स्वयं अनन्त ऐश्वर्यवान केवलज्ञान सम्पन्न बन जाता है। जीव अपने पुरुषार्थ के बल पर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है। अन्य समस्त धर्म दर्शनो मे जीव को परमात्मप्राप्ति के बाद भी परमात्मा से हीन माना गया है, जब कि जैनधर्मदर्शन मे परमात्म पद प्राप्ति के पश्चात जीव को परमात्म स्वरूप ही माना गया है। यह जैन धर्म की अपनी अलग विशेषता है।

परमज्ञानी परमात्मा की पावन वाणी जीव की इस अनुपम एवं असाधारण स्थिति का स्पष्ट बोध कराती है। प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी एवं स्याद्वाद शैली से संवृत्त जिनवाणीमय जिनागमों के गहन अध्ययन के लिए विभिन्न सन्दर्भ ग्रन्थो का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है।

आज से सौ साल पूर्व उचित साधनों के अभाव मे जिनागमो का अध्ययन अत्यन्त दुष्कर था। विश्व के विद्वान जिनागम की एक ऐसी कुञ्जी तलाश रहे थे, जो सारे रहस्य खोल दे और उनकी ज्ञानपिपासा बुझा सके।

ऐसे समय मे एक तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध त्यागवृद्ध, तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध दिव्य पुरुष ने यह काम अपने हाथ मे लिया। वे दिव्य पुरुष थे–उत्कृष्ट चारित्र क्रिया पालक गुरुदेवप्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज। उन्होंने जिनागम की कुञ्जी निर्माण करने का जटिल कार्य सियाणा नगरस्थ श्री सुविधिनाथ जिनालय की छत्र छाया मे अपने हाथ मे लिया। कुञ्जीनिर्माण की यह प्रक्रिया पूरे चौदह वर्ष तक चलती रही और सूरत मे कुञ्जी बन कर तैयार हो गयी। वह कुञ्जी है–'अभिधान राजेन्द्र'। यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आगमो का अध्ययन करते वक्त 'अभिधान राजेन्द्र' पास मे हो तो और कोई ग्रन्थ पास मे रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैनागमो मे निर्दिष्ट

वस्तुतत्त्व जो 'अभिधान राजेन्द्र' मे है, वह अन्यत्र हो या न हो; पर जो नहीं हैं, वह कहीं नहीं है। यह महान ग्रन्थ जिज्ञासु की तमाम जिज्ञासाएँ पूर्ण करता है।

भारतीय संस्कृति मे इतिहास पूर्व काल से कोश साहित्य की परंपरा आज तक चली आ रही है। निघंटु कोश मे वेद की संहिताओं का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। 'यास्क' की रचना 'निरुक्त' मे और पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' मे भी विशाल शब्दसंग्रह दृष्टिगोचर होता है। ये सब कोश गद्य लेखन में है।

इसके पश्चात् प्रारंभ हुआ पद्य रचनाकाल। जो कोश पद्य में रचे गये, वे दो प्रकार से रचे गये। एक प्रकार है, एकार्थक कोश और दूसरा प्रकार है—अनेकार्थक कोश।

कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का 'शब्दार्णव', विक्रमादित्य का 'शब्दार्णव' भागुरी का 'त्रिकाण्ड' और धन्वन्तरी का निघण्टु; इनमे से कुछ प्राप्य हैं और कुछ अप्राप्य। उपलब्ध कोशों मे अमरसिंह का 'अमरकोश' बहु प्रचलित है।

धनपाल का 'पाइय लच्छी नाम माला' २७९ गाथात्मक हैं और एकार्थक शब्दों का बोध कराता हैं। इसमें ९९८ शब्दो के प्राकृत रूप प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने 'पाइयलच्छी नाम माला' पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई है।

धनञ्जयने 'धनञ्जय नाम माला' मे शब्दान्तर करने की एक विशिष्ट पद्धति प्रस्तुत की है। 'धर' शब्द के योग से पृथ्वी वाचक शब्द पर्वत वाचक बन जाते हैं—जैसे भूधर, कुधर, इत्यादि। इस पद्धति से अनेक नये शब्दो निर्माण होता हैं।

इसी प्रकार धनञ्जयने 'अनेकार्थ नाममाला' की रचना भी की है।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान चिन्तामणि', 'अनेकार्थ संग्रह', 'निघण्टु संग्रह' और 'देशी नाममाला' आदि कोश ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

इसके अलावा 'शिलोछ कोश', 'नाम कोश', 'शब्द चन्द्रिका', 'सुन्दर प्रकाश शब्दार्णव', 'शब्दभेद नाममाला', 'नाम संग्रह', 'शारदीय नाममाला', 'शब्द रत्नाकर', 'अव्ययैकाक्षर नाम-माला', 'शेष नाममाला', 'शब्द सन्दोह संग्रह', 'शब्द रत्न प्रदीप', 'विश्वलोचन कोश', 'नानार्थ कोश', 'पंचवर्ग संग्रह नाम माला', 'अपवर्ग नाम माला', 'एकाक्षरी-नानार्थ कोश', 'एकाक्षर नाममालिका', 'एकाक्षर कोश', 'एकाक्षर नाममाला', 'द्वयक्षर कोश', 'देश्य निर्देश निघण्टु', 'पाइय सद्दमहण्णव', 'अर्धमागधी डिक्शनरी', 'जैनागम कोश', 'अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश', 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' इत्यादि अनेक कोश ग्रन्थ भाषा के अध्ययनार्थ रचे गये हैं।

इनमे से कई कोश ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र' के पूर्व प्रकाशित हुए हैं और कुछ पश्चात् भी। 'अभिधान राजेन्द्र' की अपनी अलग विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यह आज भी समस्त कोश ग्रन्थों का सिरमौर बना हुआ है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दिया दिखाने की आवश्यकता नहीं होती; उसी प्रकार इस महा ग्रन्थ को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य स्वयमेव प्रकाशित है और यह ग्रन्थराज भी स्वयमेव प्रमाणित है; फिर भी इसकी कुछ विशेषताए प्रस्तुत करना अप्रासंगिक तो नहीं होगा।

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर–चर्चाचक्रवर्त्ति–आगमरहस्यवेदी–श्रुतस्थविरमान्य–

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज ।

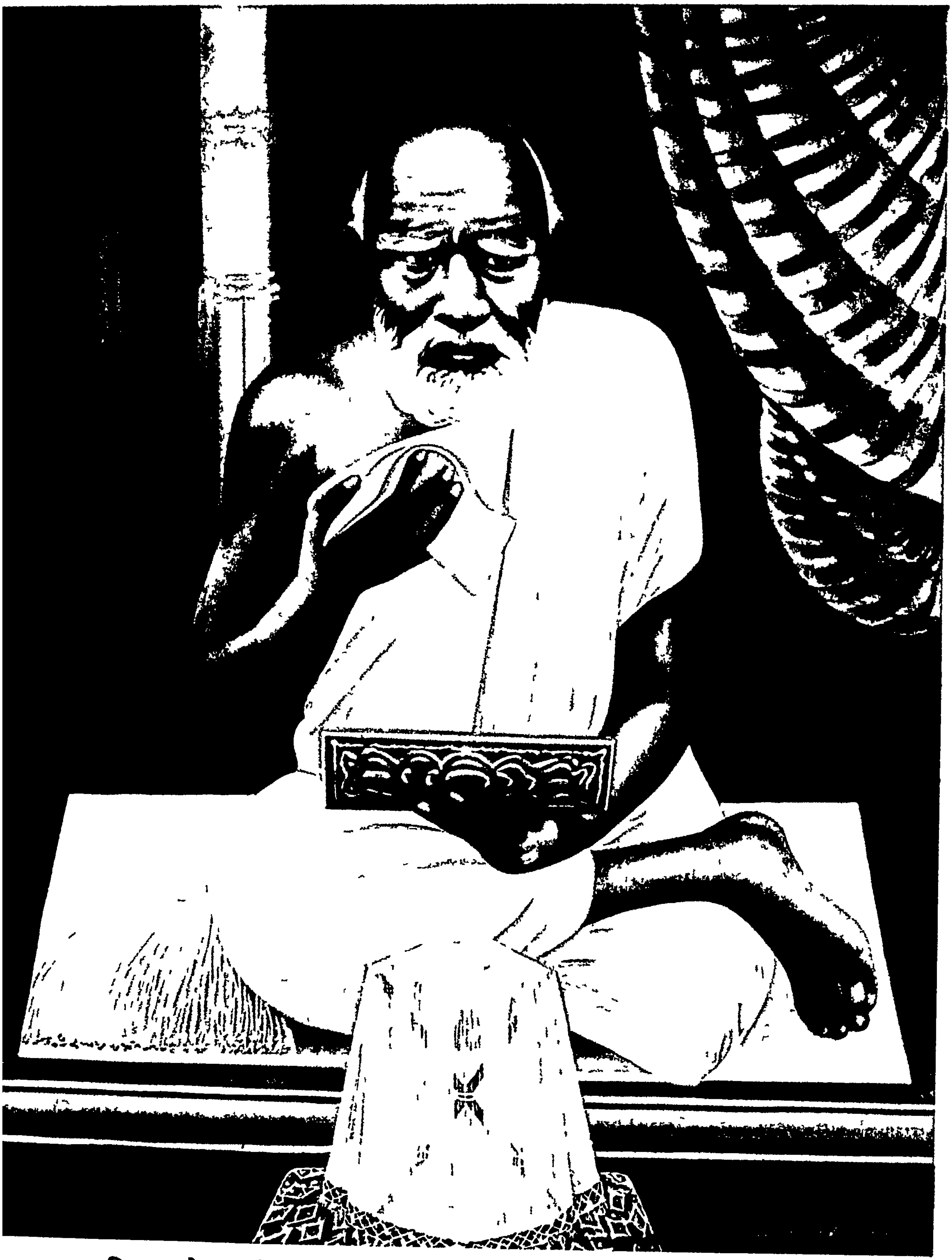

विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरवसद्विलासम् ।
हृद्ध्वान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिसमं धनचन्द्रसूरिम् ॥ १ ॥

प्रस्तुत बृहद् विश्वकोश को पुनः प्रकाशित करने की हलचल और हमारा दक्षिण विहार दोनों एक साथ प्रारम्भ हुए। बंबई चातुर्मास मे हमारा अनेक मुनिजनों और विद्वानों से साक्षात्कार हुआ। जो भी मिला, उसने यही कहा कि 'अभिधान राजेन्द्र' जो कि दुर्लभ हो गया है, उसे पुनः प्रकाशित करके सर्वजन सुलभ किया जाये। हमे यह भी सुनना पड़ा कि यदि आपके समाज के पास वर्तमान में इसके प्रकाशन की कोई योजना न हो; तो हमें इसके प्रकाशन का अधिकार दीजिये। हमने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि त्रिस्तुतिक जैन संघ इस मामले मे सम्पन्न एवं समर्थ है। 'अभिधान राजेन्द्र' यथावसर शीघ्र प्रकाशित होगा।

श्रीमद् पूज्य गुरुदेव की यह महती कृपा हुई कि हम क्रमशः विहार करते हुए मद्रास पहुँच गये। तामिलनाडु राज्य की राजधानी है यह मद्रास। दक्षिण मे बसे हुए दूर दूर के हजारो श्रद्धालुओं ने इस चातुर्मास मे मद्रास की यात्रा की। मद्रास चातुर्मास आज भी हमारे लिए स्मरणीय है। चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् पोष सुदी सप्तमी के दिन मद्रास मे गुरु सप्तमी उत्सव मनाया गया। गुरु सप्तमी प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज साहब का जन्म और स्मृति दिन है। गुरु सप्तमी के पावन अवसर पर एक विद्वद् गोष्ठी का आयोजन किया गया। उपस्थित विद्वानों ने अपने प्रवचन मे पूज्य गुरुदेवश्री के महान कार्यों की प्रशस्ति करते हुए उनकी समीचीनता प्रकट की और प्रशस्ति मे 'अभिधान राजेन्द्र' का उचित मूल्याङ्कन करते हुए इसके पुनर्मुद्रण की आवश्यकता पर जोर दिया।

इस ग्रन्थराज का प्रकाशन एक भगीरथ कार्य है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाने का आह्वान मैने मद्रास संघ को किया। आह्वान होते ही संघ हिमाचल से गुरुभक्ति गंगा उमड़ पड़ी। इस महत्कार्य के लिए भरपूर सहयोग का हमे आश्वासन प्राप्त हुआ। ग्रन्थ की छपाई गतिमान हुई; पर 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' की उक्ति के अनुसार हमे यह पुनीत कार्य स्थगित करना पड़ा। कोई ऐसा अवरोध इसके प्रकाशन मार्ग में उपस्थित हो गया कि उसे दूर करना आसान नहीं था। प्रकाशन की स्थगिति सबके लिए दुःखद थी, पर मैं मजबूर था। आतंरिक विरोध को जन्म दे कर कार्य करना मुझे पसन्द नहीं है।

हमारी इस मजबूरी से नाजायज लाभ उठाया-दिल्ली की प्रकाशन संस्थाओंने .... । उन्होने इस पुनीत ग्रन्थ को शुद्ध व्यवसायिक दृष्टि से चुपचाप प्रकाशित कर दिया। श्रीमद् ने जो भी लिखा, स्वान्तःसुखाय और सर्वजन हिताय लिखा, व्यवसायियों के लिये नहीं। यही कारण है कि इसकी प्रथम आवृत्ति मे यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'इसके पुनःप्रकाशन का अधिकार त्रिस्तुतिक सकल संघ को है।' त्रिस्तुतिक समाज की इस अनमोल धरोहर को प्रकाशित करने से पहले त्रिस्तुतिक समाज को इसके प्रकाशन से आगाह करना आवश्यक था। ऐसा न करके इसके अन्य प्रकाशकों ने एक तरह से नैतिकता का भंग ही किया है।

श्री भाण्डवपुर तीर्थ पर अखिल भारतीय श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीजैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ का विराट अधिवेशन सम्पन्न हुआ। देश के कोने कोने से गुरुभक्त उस अधिवेशन के लिए उपस्थित हुए। पावनपुण्यस्थल श्री भाण्डवपुर भक्तजनों के भक्तिभाव की स्वर लहरियों से गूंज उठा।

अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। संयमयःस्थविर मुनिप्रवर श्री शान्तिविजयजी महाराज साहब आदि मुनि मण्डल की सान्निध्यता में मैंने संघ के समक्ष विश्व को असाधारण कृति इस 'अभिधान राजेन्द्र' के पुनःप्रकाशन का प्रस्ताव रखा। श्री संघने हार्दिक प्रसन्नता व अपूर्व भावोल्लास के साथ मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया और उसी जाजम पर श्रीसंघ ने इसे प्रकाशित करने की घोषणा कर दी। परमकृपालु श्रीमद् गुरुदेव के प्रति श्री संघ की यह अनन्य असाधारण भक्ति सराहनीय है।

और आज अखिल भारतीय श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ के द्वारा यह कोश ग्रन्थ पुनर्मुद्रित हो कर विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है; यह हम सब के लिए परम आनन्द का विषय है।

इस महाग्रन्थ के पुनर्मुद्रण हेतु एक समिति का गठन किया गया है; फिर भी इस प्रकाशन मे अपना अमूल्य योगदान देनेवाले श्रेष्ठिवर्य संघवी श्री गगलभाई अध्यक्ष अ. भा. सौ. बृ. त्रिस्तुतिक संघ गुजरात विभागीय अध्यक्ष श्री हीराभाई, मंत्री श्री हिम्मतभाई एवं स्थानीय समस्त कार्यकर्ताओं की सेवाओं को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। इनकी सेवाए सदा स्मरणीय हैं।

इस कार्य मे हमें पंडित श्री मफतलाल झवेरचन्द का स्मरणीय योगदान मिला है। प्रेसकार्य, प्रूफरीडिंग एवं प्रकाशन मे हमे उनसे अनमोल सहायता मिली है। हम उन्हें नहीं भूल सकते।

त्रिस्तुतिक संघ के समस्त गुरुभक्तों ने इस प्रकाशन हेतु जो गुरुभक्ति प्रदर्शित की है, वह इतिहास मे अमर हो गयी हैं। वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस कार्य मे भाग लिया है। शुभम्।

नेनावा (बनासकांठा)
दिनांक २-१२-८५

आचार्य जयन्तसेनसूरि

श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

१ श्रीसुधर्मास्वामी
२ श्रीजम्बूस्वामी
३ श्रीप्रभवस्वामी
४ श्रीसय्यंभवस्वामी
५ श्रीयशोभद्रसूरि
६ श्रीसंभूतविजयजी / श्रीभद्रबाहुस्वामी
७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
८ श्रीआर्यसुहस्तीसूरि / श्रीआर्यमहागिरि
९ श्रीसुस्थितसूरि / श्रीसुप्रतिबद्धसूरि
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
११ श्रीदिन्नसूरि
१२ श्रीसिंहगिरिसूरि
१३ श्रीवज्रस्वामीजी
१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
१५ श्रीचन्द्रसूरिजी
१६ श्रीसामन्तभद्रसूरि
१७ श्रीवृद्धदेवसूरि
१८ श्रीप्रद्योतनसूरि
१९ श्रीमानदेवसूरि
२० श्रीमानतुङ्गसूरि
२१ श्रीवीरसूरि
२२ श्रीजयदेवसूरि
२३ श्रीदेवानन्दसूरि
२४ श्रीविक्रमसूरि
२५ श्रीनरसिंहसूरि
२६ श्रीसमुद्रसूरि
२७ श्रीमानदेवसूरि
२८ श्रीविबुधप्रभसूरि
२९ श्रीजयानन्दसूरि
३० श्रीरविप्रभसूरि
३१ श्रीयशोदेवसूरि
३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
३३ श्रीमानदेवसूरि
३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
३५ श्रीउद्योतनसूरि
३६ श्रीसर्वदेवसूरि
३७ श्रीदेवसूरि
३८ श्रीसर्वदेवसूरि
३९ श्रीयशोभद्रसूरि / श्रीनेमिचन्द्रसूरि
४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
४१ श्रीअजितदेवसूरि
४२ श्रीविजयसिंहसूरि
४३ श्रीसोमप्रभसूरि / श्रीमणिरत्नसूरि
४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
४५ श्रीदेवेन्द्रसूरि / श्रीविद्यानन्दसूरि
४६ श्रीधर्मघोषसूरि
४७ श्रीसोमप्रभसूरि
४८ श्रीसोमतिलकसूरि
४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
५५ श्रीहेमविमलसूरि
५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
५७ श्रीविजयदानसूरि
५८ श्रीहीरविजयसूरि
५९ श्रीविजयसेनसूरि
६० श्रीविजयदेवसूरि / श्रीविजयसिंहसूरि
६१ श्रीविजयप्रभसूरि
६२ श्रीविजयरत्नसूरि
६३ श्रीविजयक्षमासूरि
६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि
६८ श्री विजयधनचन्द्रसूरि
६९ श्री विजयभूपेन्द्रसूरि
७० श्री विजययतीन्द्रसूरि
७१ श्री विजयविद्याचन्द्रसूरि
७२ वर्तमानाचार्य श्री विज जयन्तसेनसूरि

आभार-प्रदर्शनम् ।

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान-सकलजैनागमपारदृश्व-आबालब्रह्मचारी-जङ्गमयुगप्रधान-प्रातःस्मरणीय-परमयोगिराज-क्रियाशुद्ध्युपकारक-श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-सितपटाचार्य-जगत्पूज्य-गुरुदेव-भट्टारक श्री १००८ प्रभुश्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृत-मागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया। इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य-श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराजने भी आपको बहुत सहायता दी। इस प्रकार करीब साढ चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र-शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्रीसूर्यपुर (सूरत-गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ।

ग्वालियर-रियासत के राजगढ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के दरमियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनिमहाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय-छोटे बड़े ग्राम-नगरों के प्रतिष्ठित-सद्गृहस्थों की सामाजिक-मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-मर्हुम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महा-कोश का जैन और जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इसलिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्-भागीरथजी, भीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचदजी और गोमाजी गंभीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख-रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकरप्रिन्टिगप्रेस' स्वतन्त्र खोलना चाहिये। कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

समस्त-भार महूंम-गुरुदेव के सुयोग्य-शिष्य-मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सोंपा जाय। बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदी ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य-मुनिराजों की देख-रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९८१ चैत्र-वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरी-कलिकालसिद्धान्तशिरोमणी-प्रातःस्मरणीय-आचार्य-श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज, उपाध्याय-श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्री-मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवाहेवाक-मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्-महातपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज; साहित्यविशारद-विद्याभूषण-श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी-मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री-लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री-गुलाबविजयजी, मुनिश्री-हर्षविजयजी, मुनिश्री-हंसविजयजी, मुनिश्री—अमृतविजयजी, आदि मुनिवरों ने अपने अपने विहार के दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहोंचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है।

जिन जिन ग्राम-नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन-कार्य में आर्थिक-सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ-मालवा—

श्रीसंघ-रतलाम।	श्रीसंघ-बॉगरोद।	श्रीसंघ-राजगढ़।
,, जावरा।	,, बारोदा-बड़ा।	,, झाबुवा।

श्रीसंघ-बड़नगर।	श्रीसंघ-सरसी।	श्रीसंघ-झकणावदा।
,, खाचरोद।	,, मुंजाखेड़ी।	,, कूकसी।
,, मन्दसोर।	,, खरसोद-बड़ी।	,, आलीराजपुर।
,, सीतामऊ।	,, चीरोला-बड़ा।	,, रींगनोद।
,, निम्बाहेड़ा।	,, मकरावन।	,, राणापुर।
,, इन्दौर।	,, बरडिया।	,, पारां।
,, उज्जैन।	,, (भाट)पचलाना।	,, टांडा।
,, महेन्द्पुर।	,, पटलावदिया।	,, बाग।
,, नयागाम।	,, पिपलोदा।	,, खवासा।
,, नीमच-सिटी।	,, दशाई।	,, रंभापुर।
,, संजीत।	,, बड़ी-कड़ोद।	,, अमला।
,, नारायणगढ़।	,, धामणदा।	,, बोरी।
,, बरड़ावदा।	,, राजोद।	,, नानपुर।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

श्रीसंघ-अहमदाबाद।	श्रीसंघ-थिरपुर (थराद)।	श्रीसंघ-डीसा।
,, वीरमगाम।	,, वाव।	,, दूधवा।
,, सूरत।	,, भोरोल।	,, वात्यम।
,, साणंद।	,, धानेरा।	,, वासण।
,, बम्बई।	,, धोराजी।	,, जामनगर।
,, पालनपुर।	,, डुवा।	,, खंभात।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

श्रीसंघ-जोधपुर।	श्रीसंघ-भीनमाल।	श्रीसंघ-शिवगंज।
,, आहोर।	,, सांचोर।	,, कोरटा।
,, जालोर।	,, बागरा।	,, फतापुरा।
,, भेंसवाड़ा।	,, धानपुर।	,, जोगापुरा।
,, रमणिया।	,, आकोली।	,, भारुंदा।
,, मांकलेसर।	,, साथू।	,, पोमावा।
,, देवावस।	,, सियाणा।	,, बीजापुर।
,, विशनगढ़।	,, काणोदर।	,, बाली।
,, मांडवला।	,, देलंदर।	,, खिमेल।

श्रीसंघ-गोल ।	श्रीसंघ-मंडवारिया ।	श्रीसंघ-साढिराव ।
,, साहेला ।	,, थलदूट ।	,, खुड़ाला ।
,, आलासण ।	,, जावाल ।	,, राणी ।
,, रेवतड़ा ।	,, सिरोही ।	,, ग्विमाडा ।
,, धाणसा ।	,, सिरोड़ी ।	,, कोशीलाव ।
,, बाकरा ।	,, हरजी ।	,, पावा ।
,, मोदरा ।	,, गुडाबालोतरा ।	,, गुंढला का गुड़ा ।
,, थलवाड़ ।	,, भूति ।	,, चॉणोद ।
,, मेंगलवा ।	,, तखतगढ ।	,, डूडसी ।
,, सूराणा ।	,, सेदरिया ।	,, थॉवला ।
,, दाधाल ।	,, रोवाडा ।	,, जोयला ।
,, धनारी ।	,, भावरी ।	,, काचोली ।

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवो के संघों के तरफ से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतलाम (मालवा)

ॐ

चतुर्थभाग-घण्टापथः ।

अर्हम् ।

इह हि प्रायोऽनवद्यहृद्यविद्याविद्योतितान्त करणानामनव-
रतान्त-स्समहासपत्नपरासनप्रयतानाममेध्यहेयहिंसाऽऽदिग-
र्ह्यपदार्थसार्थगहनतरगहनागमविच्छेदपर्श्वधधाराधराणा-
मधरीकृतधराधरक्षमाधराणामपूर्वपूर्वभवोपार्जितशुभशुकर्म-
परिपाकसमुखीनानामसमुखीकृतपरावज्ञाऽज्ञानतिमिराणा-
ममितचरित्रपवित्रितान्त करणाना विलक्षणलक्षणाना स्वेतर-
दोषदर्शनदवीयसा मनस्विमहीयसा दुरितभरितक्षीवक्षिति-
पतिप्रमादनिगदगणामहो खलु साम्प्रत मम पर्याप्तम भाग-
धेयमिति मन्यमानाना द्राघिष्ठमुदर्कमुन्निनीषूणा विगतकुह-
नाऽऽटोपाना मुक्तिमहेलासवरणोत्सुकाना प्रादुर्भूतविशङ्कट-
बोधाना किम्पचानप्रतिपन्थिना समवगलितनवतत्त्वनिकुर-
कुरम्बाना महत्याऽऽरभटया धर्मदेशनाश्रावणाऽभयविश्राण-
नसमुत्सुकाना खलोक्तिकाटवमपि मर्षणीयमिति निर्धारित-
मानसाना प्रपदनिमग्ननृपतिनिटिलकिरीटाना वरिष्ठप्रष्ठाना
सततमहोत्सवमासेदुषा विदुषा परमहंसाना मानस स्व-
च्छन्दोच्छलदच्छसवराऽऽशयसमं सन्मतावगाहनाऽव-
सर मध्यमभु नभागधेयपरिपाकस्वरूप तत्त्वाप्रस्थितिशुभ-
शृङ्गाटकानुकारि मिथ्यात्विदर्शनाकूपाराऽऽचान्त्यै लोपामु-
द्राधवमुद्राधर गाधीकृतसौगतशासनाऽऽशयनिगूढतत्त्व प्रा-
लेयमहीध्रवन्नितान्तयशोविशदमस्तोकमुक्ताफलाऽऽपीडवत्शि
रसा श्लाघनीयमुत्कटप्रत्यग्रप्रसूमरनीरन्ध्रसदुपदेशसुधावि-
न्दुवृष्टिभिराप्यायितभव्यभाविकस्वान्तक्षेत्र पठनाऽऽकर्णना-
भ्या माध्वीकमृद्वीकयोरप्यधरीकृतमाधुर्य जनिताऽऽमोदभू-
मोदयं मानसकासारमिवाऽऽर्हन्मतमेवाजस्र धिनोति । यत्र
शृङ्गग्राहिकया जीवाजीवाऽऽदिसमस्तवस्तुविवेचनं विधीयते
यत्र च सुखतल्पकल्पेऽनल्पनिद्रामुद्रितनयनस्य विद्रावित-
द्वापरस्याऽऽकल्प निद्राणस्याकुतोभयस्य जल्पाकेन साक
जल्पाऽऽयासावसरमपि नायाति, गम्भीरगर्जनविद्रावितनगि-
रिग्रावस्य गिरिगर्भे शयानस्य पञ्चाननस्येव यस्य नामश्रव-
णमात्रेण मदमलिनगण्डाऽऽभोगा पद्मिन इव कुमतावल-
म्बिनो गृहीतदिक्का पुनरावर्तनमपि न स्पृहयन्ति, येनाऽऽ
स्थानीमास्थितस्य वादकथाप्रलम्भस्य निकट जयोऽवश्य-
मभ्युपैति, कौक्षेयकमिव यमवलम्ब्य प्रत्यर्थिप्रवर्तितप्रेतानु-
कारिनिग्रहस्थानकन्धराकर्तनाय कुशलीभवति भव्यवर्ग ,यो
ह्युपगतोपघ्नाना निजनिघ्नाना विघ्नसङ्घमपहस्तयते । प्राति-
स्विकरूपेण निर्धारितोऽयमर्थ प्रथमभागोपोद्घातेऽस्माभि-
रित्यल प्रसक्तानुप्रसक्त्याऽकाण्डताण्डवाऽऽडम्बरेण वा । किं
बहुना यत्प्रवर्तका एव परार्थसंपादनसमर्पितजीविता स्वार्थनि
रपेक्षा समस्तजीवजीवातुप्रदानदक्षा सौधर्मेन्द्राऽऽदिनिर्वर्ति-
तजन्माभिषेका सुधाधोरणीकल्पनैजदेशनया ससारासातसं
तप्तजन्तूना विहितसेका अष्टमहाप्रातिहार्यपरिकलिताश्चतु-
स्त्रिंशदतिशयविराजिता रागद्वेषाऽऽद्यन्तरङ्गारिविप्रमुक्ता परा
भिसधानाध्ययनविमुखास्तत्त्वपारावारतलस्पर्शिन परमदु-
र्गतिमसमापन्नदुर्भगजनतानिरीक्षणसमुत्पन्नकरुणारसोद्गारपु
लकितान्त करणा दरीदृश्यन्ते, तद्वचनसुधासारणीमवव-
गाहनसुखविपण पुरोभागिभिन्ना के वा न भवेयु ? । यद्यपि
तृतीयभागप्रस्तावे समासेन निरूपितोऽयं विषय प्रयत्न-
प्रयतैरस्माभिस्तथापि वाचकवर्गमन पोषाय कदाग्रहग्रहिल-
तोषाय सोहापोह भगवतां तीर्थकृता रागद्वेषविप्रमुक्तत्वम-
वोद्घाट्यते. यत्सत्तायामेव तेषामुपादेयवचनताऽनिर्वचनी-
यतामावहति ? । तथाहि-ननु तीर्थकृता रागाऽऽदिभि स-
हाऽऽत्यन्तिको वियोगोऽसम्भवी प्रमाणबाधनात् । तच्च प्र-
माणमिदम्-यदनादिमद् न तद्विनाशमाविशति यथाऽऽका-
शम् , अनादिमन्तश्च रागाऽऽदय इति । किञ्च-रागाऽऽदयो
धर्मा , ते च धर्मिणो भिन्ना , अभिन्ना वा ? । यदि भिन्ना-
स्तर्हि सर्वेषामविशेषेण वीतरागत्वप्रसङ्ग , रागेभ्यो भिन्न-
त्वात् , विवक्षितपुरुषवत् । अथाभिन्नास्तर्हि तत्क्षये धर्मि-
णोऽप्यात्मन क्षय , तदभिन्नत्वात् , तत्स्वरूपवत् , इति कु-
तस्तेषा वीतरागत्वम् ? तस्यैवाऽभावादिति । अत्रोच्यते-इह
यद्यपि रागाऽऽदयो दोषा अनादिमन्त , तथापि कस्यचित्
स्त्रीशरीराऽऽदिषु यथाऽवस्थितवस्तुतत्त्वावगमेन तेषा रा-
गाऽऽदीना प्रतिपक्षभावनात प्रतिक्षणमपचयो दृश्यते, तत
संभाव्यते-विशिष्टकालाऽऽदिसामग्रीसद्भावे भावनाप्रकर्षवि-
शेषभावतो निर्मूलमपि क्षय । अथ यद्यपि प्रतिपक्षभावनात
प्रतिक्षणमपचयो दृष्टस्तथाऽपि तेषामात्यन्तिकोऽपि क्षय सं
भवतीति कथमवसेयम् ? । उच्यते-अन्यत्र तथा प्रतिबन्धग्र-
हणात् । तथाहि-शीतस्पर्शसपाद्या रोमहर्षाऽऽदय , ते च
शीतप्रतिपक्षस्य वह्नेर्मन्दतायां मन्दा उपलब्धा , उत्कर्षे च
निरन्वयविनाशधर्माण । ततोऽन्यत्रापि बाधकस्य मन्दतायां
बाध्यस्य मन्दतादर्शनाद् बाधकोत्कर्षेऽवश्य बाध्यस्य निर-
न्वयो विनाशो वेदितव्य अन्यथा बाधकमन्दतायां मन्दताऽ
पि न स्यात् । अथाऽस्ति ज्ञानस्य ज्ञानाऽऽवरणीयं कर्म
बाधक, ज्ञानाऽऽवरणीयकर्ममन्दतायां च ज्ञानस्यापि मानग्
मन्दता । अथ च प्रबलज्ञानाऽऽ-वरणीयकर्मोदयोत्कर्षेऽपि
ज्ञानस्य न निरन्वयो विनाश । एव प्रतिपक्षभावनोत्कर्षेऽपि
न रागाऽऽदीनामत्यन्तोच्छेदो भविष्यतीति । तदयुक्तम् ।
द्विविध हि बाध्यम्-सहभूतस्वभावभूतम्, सहकारिसपाद्य-
स्वभावभूत च । तत्र यत् सहभूतस्वभावभूत तन्न कदाचि-
दपि निरन्वयविनाशमाविशति, ज्ञान चाऽऽत्मन सहभूतस्व
भावभूतम् , आत्मा च परिणामी नित्य , ततोऽत्यन्तप्रकर्ष-
वत्यपि ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मोदये न निरन्वयविनाशो ज्ञानस्य
रागाऽऽदयस्तु लोभाऽऽदिकर्मविपाकोदयसंपादितसत्ताका
तत. कर्मणो निर्मूलमपगमे तेऽपि निर्मूलमपगच्छन्ति । नन्वा
सता कर्मसपाद्या रागाऽऽदय ,तथापि कर्मनिवृत्तौ ते निवर्तन्ते
इति नावश्य नियम ।न हि दहननिवृत्तौ तत्कृता काष्ठेऽङ्गारता
निवर्तते । तदसत् । यत इह किञ्चित् कचित् निवर्त्य-विकार

मापादयति, यथाऽग्निः सुवर्णे द्रवताम् । तथाहि-अग्निनिवृत्तौ तत्कृता सुवर्णे द्रवता निवर्तते । किञ्चित् पुनः किञ्चित् अनिवर्त्य-विकाराऽऽरम्भकम् । यथा-स एवाऽग्निः काष्ठे,न खलु श्यामतामात्रमपि काष्ठे दहनकृतं तन्निवृत्तौ निवर्तते । कर्म चाऽऽत्मनि निवर्त्य-विकाराऽऽरम्भकम् । यदि पुनरनिवर्त्य-विकाराऽऽरम्भकं भवेत्तर्हि यदपि तदपि कर्मणा कृतं न कर्मनिवृत्तौ निवर्तेत, यथाऽग्निना श्यामतामात्रमपि काष्ठे कृतमग्निनिवृत्तौ । ततश्च यदेकदा कर्मणाऽऽपादितं मनुष्यत्वममरत्वं कृमिकीटत्वमशत्वं शिरोवेदनाऽऽदि, तत्सर्वकालं तथैवावतिष्ठेत, न चैतद् दृश्यते, तस्मान्निवर्त्य-विकाराऽऽरम्भकं कर्म, ततः कर्मनिवृत्तौ रागाऽऽदीनामपि निवृत्तिः । अत्राऽऽहुर्बार्हस्पत्याः-"नैते रागाऽऽदयो लोभाऽऽदिकर्मविपाकोदयनिबन्धनाः, किन्तु कफाऽऽदिप्रकृतिहेतुकाः ।" तथाहि-कफहेतुको रागः, पित्तहेतुको द्वेषः, वातहेतुकश्च मोहः । कफाऽऽदयश्च सदैव सन्निहिताः, शरीरस्य तदात्मकत्वात्, ततो न वीतरागत्वसम्भवः । तदयुक्तम् । रागाऽऽदीनां कफाऽऽदिहेतुकत्वाऽऽद्ययोगात् । तथाहि-स तद्धेतुको, यो यं न व्यभिचरति, यथा धूमोऽग्निम् । अन्यथा प्रतिनियतकार्यकारणभावव्यवस्थाऽनुपपत्तिः । न च रागाऽऽदयः कफाऽऽदीन् न व्यभिचरन्ति, व्यभिचारदर्शनात् । तथाहि-वातप्रकृतेरपि दृश्येते रागद्वेषौ, कफप्रकृतेरपि द्वेषमोहौ, पित्तप्रकृतेरपि मोहरागौ, ततः कथं रागाऽऽदयः कफाऽऽदिहेतुकाः ? । अथ मन्येथाः-एकैकाऽपि प्रकृतिः सर्वेषामपि दोषाणां पृथग् पृथग् जनिका, तेनायमदोष इति । तदयुक्तम् । एवं सति सर्वेषामपि जन्तूनां समरागाऽऽदिदोषप्रसक्तेः, अवश्यं हि प्राणिनामेकतमया प्रकृत्या कयाचिद् भवितव्यम् । सा चाविशेषेण रागाऽऽदिदोषाणामुत्पादिकेति सर्वेषामपि समानरागाऽऽदिताप्रसक्तिः । अथास्ति प्रतिप्राणि पृथक् पृथगवान्तरः कफाऽऽदीनां परिणतिविशेषः, तेन न सर्वेषां समरागाऽऽदिताप्रसङ्गः । तदपि न साधीयः । विकल्पयुगलानतिक्रमात् । तथाहि-सोऽप्यवान्तरः कफाऽऽदीनां परिणतिविशेषः सर्वेषामपि रागाऽऽदीनामुत्पादकः, आहोस्विदेकतमस्यैव कस्यचित् ? । तत्र यद्याद्यः पक्षस्तर्हि यावत् स परिणतिविशेषः तावदेककालं सर्वेषामपि रागाऽऽदीनामुत्पादप्रसङ्गः । न चैककालमुत्पाद्यमाना रागाऽऽदयः संवेद्यन्ते, क्रमेण तेषां वेदनात् । न खलु रागाध्यवसायकाले द्वेषाध्यवसायो, मोहाध्यवसायो वा संवेद्यते । अथ द्वितीयः पक्षः-तत्रापि यावत् स कफाऽऽदिपरिणतिविशेषस्तावदेक एव कश्चिद्रागाऽऽदिदोषः प्राप्नोति । अथ च तदवस्था एव कफाऽऽदिपरिणतिविशेषे सर्वेऽपि दोषाः क्रमेण परावृत्त्योपजायमाना उपलभ्यन्ते । अथादृश्यमान एव केवलकार्यविशेषदर्शनोन्नीयमानसत्ताकस्तदा तदा तत्तद्रागाऽऽदिदोषहेतुः कफाऽऽदिपरिणतिविशेषो जायते, तेन न पूर्वोक्तदोषावकाशः । ननु यदि स परिणतिविशेषः सर्वथाऽननुभूयमानस्वरूपोऽपि परिकल्प्यते, तर्हि कर्मैव किं नाभ्युपगम्यते ? । एवं हि लोकशास्त्रमार्गोऽप्याराधितो भवति । अपि च-स कफाऽऽदिपरिणतिविशेषः कुतस्तदा तदाऽन्यान्यरूपेणोपजायते ?, इति वक्तव्यम् । देहादिति चेत्, ननु तदवस्थेऽपि देहे भवद्भिः कार्यविशेषदर्शनतस्तस्यान्यथाभवनमिष्यते, तत्कथं तद्देहनिमित्तम् ? नहि यदविशेषेऽपि यद्विक्रियते स विकारस्तद्धेतुक इति वक्तुं शक्यम् । नाप्यन्यो हेतुरुपलभ्यते, तस्मात्तदप्यन्यथाभवनं कर्महेतुकमेष्टव्यम् । तथा च सति कर्मैवैकमभ्युपगम्यताम्, किमन्तर्गडुना तद्धेतुतया कफाऽऽदिपरिणतिविशेषाभ्युपगमेन? । किञ्च-अभ्यासजनितप्रसराः प्रायो रागाऽऽदयः । तथाहि-यथा यथा रागाऽऽदयः सेव्यन्ते तथा तथाऽभिवृद्धिमेव तेषामुपजायन्ते, न प्रहाणिं । तेन समानेऽपि कफाऽऽदिपरिणतिविशेषे तदवस्थेऽपि च देहे यस्येह जन्मनि परत्र वा यस्मिन् दोषेऽभ्यासः स तस्य प्राचुर्येण प्रवर्तते, शेषस्तु मन्दतया, ततोऽभ्याससंपाद्यकर्मोपचयहेतुका एव रागाऽऽदयो, न कफाऽऽदिहेतुका इति प्रतिपत्तव्यम् । अन्यच्च-यदि कफहेतुको रागः स्यात्, ततः कफवृद्धौ रागवृद्धिः स्यात्, पित्तप्रकर्षे तापप्रकर्षवत्, न च भवति, तदुत्कर्षात्यर्थपीडाबाधिततया द्वेषस्यैव दर्शनात् । अथ पक्षान्तरं गृहीतं यथा-यदुत न कफहेतुको रागः, किन्तु कफाऽऽदिदोषसाम्यहेतुकः । तथाहि-कफाऽऽदिदोषसाम्ये विरुद्धव्याध्यभावतो रागोद्भवो दृश्यत इति । तदपि न समीचीनम् । व्यभिचारदर्शनात् न हि यावत् कफाऽऽदिदोषसाम्यं तावत् सर्वदैव रागोद्भवोऽनुभूयते, द्वेषाऽऽद्युद्भवस्याप्यनुभवात् । न च यद्भावेऽपि यन्न भवति तत् न तद्धेतुकं सचेतसा वक्तुं शक्यम् । अपि च-एवमभ्युपगमे ये विषमदोषास्ते रागिणो न प्राप्नुवन्ति, अथ च तेऽपि रागिणो दृश्यन्ते, स्यादेतत्, अलं वैस्तर्येण । तत्त्वं निर्वच्मि-शुक्रोपचयहेतुको रागो नान्यहेतुक इति । तदपि न युक्तम् । एवं ह्यत्यन्तस्त्रीसेवापरतया शुक्रक्षयतः सुरतसञ्जाना रागिता न स्यात् । अथ वा-एतेऽपि तस्यामवस्थायां निकामं रागिणो दृश्यन्ते । किं च-यदि शुक्रस्य रागहेतुता, तर्हि तस्य सर्वस्त्रीषु साधारणत्वात् नैकस्त्रीनियतो रागः कस्यापि भवेत्, दृश्यते च कस्याप्येकस्त्रीनियतो रागः । अथोच्येत-रूपातिशयलुब्धस्तस्यामेव रूपवत्यामभिरज्यते, न योषिदन्तरे । उक्तं च—

"रूपातिशयपाशेन,विवशीकृतमानसा । स्वां योषितं परित्यज्य,रमन्ते योषिदन्तरे ॥१॥" इति । तदपि न मनोरमम् । रूपरहितायामपि क्वापि रागदर्शनात् । अथ तत्रोपचारविशेषः समीचीनो भविष्यति, तेन तत्राभिरज्यते । उपचारोऽपि च रागहेतुर्न रूपमेव केवलम्, तेनायमदोष इति । तदपि व्यभिचारि । द्वयेनापि विमुक्तायां क्वचिद् रागदर्शनात् । तस्मादभ्यासजनितोपचयपरिपाकं कर्मैव विचित्रस्वभावतया तदा तदा तत्तत्कारणापेक्षं तत्र तत्र रागाऽऽदिहेतुरिति कर्महेतुका रागाऽऽदयः । एतेन यदपि कश्चिदाह-पृथिव्यादिभूतानां धर्मा एते रागाऽऽदयः । तथाहि-पृथिव्यम्बुभूयस्त्वे रागः, तेजोवायुभूयस्त्वे द्वेषः, जलवायुभूयस्त्वे मोह इति । तदपि निराकृतमवसेयम्, व्यभिचारात् । तथाहि-यस्यामेवावस्थायां द्वेषो मोहोऽपि तस्यामेव दृश्यते, ततः एतदपि यत्किञ्चित् । तस्मात् कर्महेतुका रागाऽऽदयः । ततः कर्मनिवृत्तौ निवर्तन्ते । प्रयोगश्चात्र-ये सहकारिसंपाद्या यदुपधानादपकर्षिणस्ते तदत्यन्तवृद्धौ निरन्वयविनाशधर्माणो, यथा रोमहर्षाऽऽदयो वह्निवृद्धौ, भावनोपधानादपकर्षिणश्च सहकारिकर्मसंपाद्या रागाऽऽदयः इति । यदपि प्रागुपन्यस्तं प्रमाणम्-यदनादिमद् न तद्विनाशमाविशति, यथाऽऽकाशम् । तदप्यप्रमाणम् । हेतोरनैकान्तिकत्वात्-प्रागभावेन व्यभिचारात् । तथाहि-प्रागभावोऽनादिमानपि विनाशमाविशति, अन्यथा कार्यानुत्पत्तेः । भावनाऽधिकारी च सम्यग्दर्शनाऽऽदिरत्नत्रय-

संपत्समन्वितो वेदितव्य, इतरस्य तदनुरूपानुष्ठानप्रवृत्त्यभावेन तस्य मिथ्यारूपत्वात्। आह च-' नाणी तवम्मि निरओ, चारित्ती भावणाइजोगे ' त्ति । सा च रागाऽऽदिदोषनिदानस्वरूपविषयफलगोचरा यथाऽऽगममेवमवसेया-

' जं कुच्छियाणुओगो, पयइविसुद्धस्स होइ जीवस्स।
एएसि भो नियाणं, वुहाण न य सुंदरं एयं ॥ १ ॥
रूव पि संकिलेसो-ऽभिस्संगा पीडमाइ लिंगो उ।
परमसुहपच्चणीओ, एअ पि असोहणं चेव ॥ २ ॥
विसओ य भंगुरो खलु, गुणरहिओ तह तहारूवो।
संपत्तिनिप्फलो के-वलं तु मूलं अनत्थाण ॥ ३ ॥
जम्मजरामरणाई, विचित्तरूवो फल तु संसारो।
बहुजणनिव्वेयकरो, एसो वि तहाविहो चेव ॥ ४ ॥" इति।

अपि च-सूत्रानुसारेण ज्ञानाऽऽदिषु यो नैरन्तर्येणाभ्यासस्तद्रूपाऽपि भावना वेदितव्या, तस्या अपि रागाऽऽदिप्रतिपक्षत्वात्। न हि तत्त्ववृत्त्या सम्यग्ज्ञानाऽऽद्यभ्यासे व्यापृतमनस्कस्य स्त्रीशरीररामणीयकाऽऽदिविषये चेतः प्रवृत्तिमातनोति, तथाऽनुपलम्भात् *। एतेन सिद्धं रागाऽऽदिविरहत्वं तीर्थकृता भगवताम्। अत एव रागद्वेषाऽऽदिशत्रून् जयन्त्यभिभवन्तीति तीर्थकृत्पर्यायस्य जिनशब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्त, प्रवृत्तिनिमित्तं च भावयन्ति भावुकाः। सिद्धे च तस्मिन् रागाऽऽद्यभावेऽनृतभाषणकारणाभावात् समुपादेयवचनताऽनिर्वचनीयतामावहत्येव जिनवरस्य। उक्तं च-

"रागाद् वा द्वेषाद् वा, मोहाद् वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषा-स्तस्याऽनृतकारणं किं स्यात्? ॥ १ ॥"

किञ्च-"अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा।
जियरागदोसमोहा, य नऽण्णहावाइणो तेण ॥ ५० ॥" इति

सिद्धं पराभिसंधानविमुखत्वेन जिनवचनस्य विविश्वस्तसूत्रितत्वम्। *। अस्तु तावत् तीर्थकृता जिनरागद्वेषत्वं तथाऽपि मिथ्यादर्शनसमूहमयत्वाद् जिनवचनस्य कथं प्रामाण्यमङ्गीकरणीयम्? । जिनवचनस्य मिथ्याविदर्शनसमूहरूपत्वं तु श्रीसिद्धसेनदिवाकरोऽप्यभ्युपगच्छति। तथाहि-

"भद्दं मिच्छादसण-समूहमइयस्स अमयसारस्स। जिणवयणस्स भगवओ, संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥ ६९ ॥" (सम्म० ३ काण्ड)

तनश्च यन्मिथ्यादर्शनसमूहमयं तत्कथं सम्यग्रूपतामासादयति?, न हि विषकणिकासमूहमयस्यामृतरूपता क्वचित् प्रसिद्धा। अत्र प्रतिविधीयते-नैतद् युक्तम्। परस्परनिरपेक्षसंग्रहाऽऽदिनयरूपाऽऽपन्नसाङ्ख्याऽऽदिमिथ्यादर्शनाना परस्परसव्यपेक्षतासमासादितानेकान्तरूपाणा विषकणिकासमूहविशेषमयस्यामृतसदोहस्येव सम्यक्त्वाऽऽपत्ते। दृश्यन्ते हि विषाऽऽदयोऽपि भावा परस्परसयोगविशेषमवाप्ता समासादितपरिणत्यन्तरा अगदरूपतामात्मसात्कुर्वाणा, मध्वाज्यप्रभृतयस्तु विशिष्टसयोगावाप्तद्रव्यान्तरस्वभावा मृतिप्राप्तिनिमित्तविषरूपतामासादयन्त। न चाध्यक्षप्रसिद्धार्थस्य पर्यनुयोगविषयता, अन्यथाऽग्न्यादेरपि दाह्यदहनशक्त्यादिपर्यनुयोगाऽऽपत्ते। अत एव निरपेक्षा नैगमाऽऽदयो दुर्णया, सापेक्षास्तु सुनया उच्यन्ते। अभिहितार्थसंवादि चेद वादिवृषभस्तुतिकृत्सिद्धसेनाऽऽचार्यवचनम्-"नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविष्टा इव लोहधातव। भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्या प्रणता हितैषिण ॥ १ ॥" इति। अथवा साङ्ख्याऽऽदेरेकान्तवादिदर्शनसमूहमयस्य चूर्णनस्वभावस्य, मिथ्यादृष्टिपुरुषसमूहविघटनसमर्थस्य वा। यद्वा-मिथ्यादर्शनसमूहा नैगमाऽऽदय', एकैकनैगमाऽऽदेर्नयस्य शतविधत्वात् "एक्केक्को वि सयविहो।" इत्याद्यागमप्रामाण्यात्, अवयवा यस्य तन्मिथ्यादर्शनसमूहमयम्, जिनवचनस्य नैगमाऽऽदय सापेक्षा सप्ताऽवयवा, नैगमस्यैकैक शतधा व्यवस्थित इत्यभिप्रायः। समूहरूपसप्तनयोदाहरणापेक्षया च सप्तभङ्गीप्रदर्शनमागमज्ञो विदधति, सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वात् वस्तुतत्त्वस्य, सामान्यस्यैकत्वात्, तद्विवक्षाया यदेव घटाऽऽदिद्रव्यं स्यादेकमिति प्रथमभङ्गीविषय, तदेव देशकालप्रयोजनभेदाद् नानात्वं प्रतिपद्यमान तद्विवक्षया स्यादनेकमिति द्वितीयभङ्गविषय, तदेवोभयाऽऽत्मकमेकदैकशब्देन यदाऽभिधातु न शक्यते तदा स्यादवक्तव्यमिति तृतीयभङ्गविषय, यदेवावकाशदातृत्वेनासाधारणेनैकमाकाश, तदेवावगाह्यावगाहकावगाहनक्रियाभेदादनेकं भवति, तद्रूपैर्विना तस्या वस्तुत्वाऽऽपत्ते। प्रदेशभेदापेक्षयाऽपि च तदनेकम्। अन्यथा हिमवद्विन्ध्ययोरप्येकदेशताप्राप्ते'। तस्य च तथाविवक्षाया स्यादेकं चानेक चेति चतुर्भङ्गविषयता। यदेकमाकाश भवत प्रसिद्धं तदेकस्मिन्नवयवे विवक्षिते एकमवयवस्यावयवान्तराद् भिन्नाभिन्नाना वाचकस्य शब्दस्याऽभावादवक्तव्य चेति, तथा विवक्षाया स्यादेकमवक्तव्य चेति पञ्चमभङ्गविषय। तद् यदेवैकमाकाश प्रसिद्ध भवत, तदवगाह्याऽवगाहनक्रियाभेदादनेकम्, एकानेकत्वप्रतिपादकशब्दाभावादवक्तव्यं चेति षष्ठभङ्गविषय। यदेवैकमाकाशाऽऽत्मकतयाऽऽकाशं भवत' प्रसिद्धं, तदेव तथैकमवगाह्यावगाहनक्रियाऽपेक्षयाऽनेक, युगपत्प्रतिपादनापेक्षयाऽवक्तव्य चेति स्यादेकमनेकमवक्तव्य चेति सप्तमभङ्गविषय। एव स्यात् सर्वगत स्यादसर्वगतो घटाऽऽदिरित्यादिकाऽपि सप्तभङ्गी वक्तव्या *। एतेन मिथ्यादर्शनसमूहमयत्वेऽपि जिनवचनस्य, विषकणिकासमूह-विशेषमयस्यामृतसारवदुपादेयत्वम विरुद्धम्। विशेषविस्तरस्तु 'जिणवयण' शब्दे १५०३ पृष्ठादारभ्य १५०४ पृष्ठपर्यन्तं विपश्चिद्भिरवलोकनीय। तत स्थितमेतत्-

" जिणवयणकप्परुक्खो, अणेगसुत्तत्थसालविच्छिन्नो।
तवनियमकुसुमगुच्छो, सुग्गइफलबंधणो जयइ ॥ १ ॥
सव्वे वि य सिद्धंता, सदव्वरयणासया सतेलोका।
जिणवयणस्स भगवओ, न तुल्लमिय त अणग्घेयं ॥ २ ॥"

" जयति जगदेकमङ्गल-मपहतनि शेषदुरितघनतिमिरम्।
रविबिम्बमिव यथास्थित-वस्तुविकाशं जिनेशवच ॥१॥"

" नर-नरग तिरिय सुरगण-संसारियसव्वदुक्खरोगाण।
जिणवयणमेगमोसह-मपवग्गसुहक्खय फलयं ॥ १ ॥
जिणवयणमोयगस्स य, रत्तिं व दिवा य खज्जमाणस्स।
तित्तिं वुहो न गच्छइ, हेउसहस्सोवगूढस्स ॥ २ ॥
जीवाइवत्थुचिंतण-कोसल्लगुणेणऽनन्नसरिसेण।
सेसवयणेहिं अजियं, जिणिंदवयणं महाविसयं ॥ ३ ॥"

" जन्मजरामरणभयै-रभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते।
जिनवरवचनादन्य-त्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥ १ ॥"

तस्मात् जिनवचनरुचिनाऽविप्रतिपन्नेन भव्येन भाव्यम्। यत-

" सवणकरणेसु इच्छा, होइ रुई सद्दहाणसंजुत्ता।
एईइ विणा कत्तो, सुद्धी सम्मत्तरयणस्स ॥ १ ॥"

तत -

" जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयण जे करिंति भावेण।

अमला असंकिलिट्ठा, ते हुंति परित्तसंसारी ॥ १ ॥"

अथवा किं बहुना-

"कूरा वि सहावेणं, विसयविसवसाणुगा वि होऊण ।
भावियजिणवयणमणा, तेल्लोक्कसुहावहा होंति ॥ १ ॥"

यतः-

"सुस्सूस धम्मराओ, गुरुदेवाणं जहासमाहीए ।
वेयावच्चे नियमो, सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ॥ १ ॥"

एतेन तृतीयभागप्रस्तावोपन्यस्तपराभिसंधानाविमुखत्वं भगवतस्तीर्थकरस्य रागद्वेषजेतृत्वेन सर्वतोभावेन समर्थितम् । किञ्च-समवसरणाऽऽदिसमये देशनाऽपरपर्यायेण जिनवचनेन योऽर्थः समर्थितस्तत्र विप्रतिपन्नस्य जमालेरिव दुर्गतिगमनमवश्यमेव संपद्यते।तथाहि तृतीयभागप्रस्तावे-"से नूणं भंते ! चलमाणे चलिए" इत्यादि भगवत्प्ररूपितार्थवाचकं प्रश्नोत्तररूपं सूत्रमुपन्यस्तम् । तत्र विप्रतिपन्नस्य जमालेश्चरितमित्थम्-इहैव भरतक्षेत्रे कुण्डपुरं नामं नगरम्, तत्र भगवतः श्रीमन्महावीरस्य भागिनेयो जमालिर्नाम राजपुत्र आसीत्, तस्य च भार्या श्रीमन्महावीरस्य दुहिता सुदर्शना, अथ कदाचित् पञ्चशतपुरुषपरिवारो जमालिर्भगवतो महावीरस्याग्रे प्रव्रज्या जग्राह, सुदर्शनाऽपि सहस्रस्त्रीपरिवारा तदनु प्रव्रजिता । ततश्चैकादशस्वङ्गेष्वधीतेषु जमालिना भगवान् विहारार्थमुत्कलापितः, ततो भगवता तूष्णीमास्थाय न किञ्चित् प्रत्युत्तरमदायि, ततः एवमुत्कलितोऽपि पञ्चशतसाधुपरिवृतो निर्गतः श्रीमन्महावीरान्तिकात्, ग्रामानुग्रामं च पर्यटन् गतः श्रावस्तीनगर्याम्, तत्र च तैन्दुकाभिधानोद्याने कोष्ठकनाम्नि चैत्ये स्थितः, ततश्च तत्र तस्यान्तप्रान्ताऽऽहारैस्तीव्रो रोगाऽऽतङ्कः समुत्पन्नः, तेन च न शक्नोत्युपविष्टः स्थातुम्, ततो वभाण श्रमणान्-मन्निमित्तं शीघ्रमेव संस्तारकमास्तृणीत, येन तत्र तिष्ठामि, ततस्तैः कर्तुमारब्धोऽसौ । बाढं च दाहज्वराभिभूतेन जमालिना पृष्टम्-संस्तृतः संस्तारको, न वेति? । साधुभिश्च संस्तृतप्रायत्वादर्धसंस्तृतेऽपि प्रोक्तम्-संस्तृत इति । ततोऽसौ वेदनाविह्वलितचेता उत्थाय तत्र तिष्ठासुरर्द्धसंस्तृतं तद् दृष्ट्वा क्रुद्धः-'क्रियमाणं कृतम् ।' इत्यादिसिद्धान्तवचनं स्मृत्वा मिथ्यात्वमोहनीयोदयतो वक्ष्यमाणयुक्तिभिर्वितथमिति चिन्तयामास । ततः स्थविरैर्वक्ष्यमाणाभिरेव युक्तिभिः प्रतिबोधितो यदा कथमपि न प्रतिबुद्ध्यते, तदा गतास्तं परित्यज्य भगवत्समीपे, अन्ये तु तत्समीपमेव स्थिताः । सुदर्शनाऽपि तदा तत्रैव श्रावकढङ्ककुम्भकारगृहे आसीत् । जमाल्यनुरागेण च तन्मतमेव प्रपन्ना, ढङ्कमपि तद् ग्राहयितुं प्रवृत्ता । ततो ढङ्केन मिथ्यात्वमुपगतेयमिति ज्ञात्वा प्रोक्तम्-नेदृशं वयं किमपि जानीमः, अन्यदा च पाकाग्निमध्ये मृद्भाजनोद्वर्तनपरावर्तने कुर्वताऽऽङ्गारकमेकं प्रक्षिप्य तद्वेव प्रदेशे स्वाध्यायं कुर्वत्या सुदर्शनाया संघाटकाञ्चलो दग्धः । ततस्तया प्रोक्तम्-श्रावक ! किं त्वया मदीयसंघाटी दग्धा ? । तेनोक्तम्-ननु दह्यमानमदग्धं भवति, इति भवत्या सिद्धान्तः, ततः कः केन त्वदीया सङ्घाटी दग्धा ? । इत्यादि तदुक्तं परिभाव्य सम्बुद्धाऽसौ सम्यक्प्रेरिताऽसीत्यभिधाय मिथ्यादुष्कृतं ददाति, जमालिं च गत्वा प्रज्ञापयति । यदा त्वसौ कथमपि न प्रज्ञाप्यते, तदाऽसौ सपरिवारा, शेषसाध्वादिकाश्च जमालिं मुक्त्वा भगवत्समीपं जग्मुः, जमालिस्तु बहुजनव्युद्ग्राह्य अनालोचितप्रतिक्रान्तः कालमासे कालं कृत्वा किल्बिषिकदेवेषूत्पन्नः । एतच्च चरितं विस्तरतः प्रज्ञापनासूत्रादवसेयम् । अथ जमालेर्विप्रतिपत्तिरुद्भाव्यते-सर्वमपि वस्तु क्रियमाणं कृतं न भवति, किन्तु कृतमेव कृतमुच्यते, ततो भगवत्याद्यौ यदुक्तम्-"चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए, वेइज्जमाणे वेइए ।" इत्यादि, तत्सर्वं मिथ्या । किञ्च-यस्य क्रियमाणं वस्तु कृतमित्यभ्युपगमः, तेनेह विद्यमानस्य करणरूपा क्रिया अङ्गीकृता, तथा च सति बहूनां दोषाणां प्रतिपत्तिर्भवति । तथाहि-इह क्रियमाणं कृतं न भवतीति प्रतिज्ञा कृतस्य विद्यमानत्वादिति हेतुः, चिरन्तनघटवदिति दृष्टान्तः । अथ कृतमपि क्रियत इत्यभ्युपगम्यते, तर्हि नित्यमनवरतमेव क्रियताम्, कृतकत्वाविशेषात्, एवं च सति न कदाचिदपि कार्यक्रियापरिसमाप्तिरिति । यदि च क्रियमाणं कृतमिष्यते, तर्हि घटाऽऽदिकार्यार्थं या मृन्मर्दनचक्रभ्रमणाऽऽदिका क्रिया, तस्या वैफल्यं प्राप्नोति, तत्काले कार्यस्य कृतत्वाभ्युपगमात् । तथा च प्रयोगः-इह यत्कृतं तत्क्रिया विफलैव, यथा चिरनिष्पन्नघटे, कृतं चाभ्युपगम्यते क्रियाकाले कार्यं, ततो विफला तत्र क्रियेति । किञ्च क्रियमाणकृतवादिना कृतस्य (विद्यमानस्य) क्रियेति प्रतिपादितं भवति, एवं च प्रत्यक्षविरोधः, यस्मादुत्पत्तिकालात् पूर्वमविद्यमानमेव कार्यं जायमानं दृश्यते, उत्पत्तिकाले तस्मात् क्रियमाणमकृतमेवेति । किञ्च आरम्भक्रियासमय एव कार्यमुत्पद्यते इति तवाभ्युपगमः । एतच्चायुक्तम् । यस्माद् घटाऽऽदिकार्याणामुत्पद्यमानानां दीर्घ एव निर्वर्तनक्रियाकालो दृश्यत इति। ननु दृश्यतां नाम दीर्घः क्रियाकालः, परं घटाऽऽदिकार्यमारम्भक्रियासमय एव, शिवकाऽऽदिकाले वा द्रक्ष्यत इति चेत्, तदयुक्तम् । यतो नाऽऽरम्भक्रियासमय एव घटाऽऽदिकार्यं भवद् दृश्यते, नाऽपि शिवकस्थासकोशकुशूलाऽऽदिसमयेष्वपि दृश्यते, किन्तु दीर्घक्रियाकालस्यान्ते घटाऽऽदिकार्यं भवद् दृश्यते, तस्मान्न क्रियाकाले कार्यं युक्तं, तस्य तदानीमदर्शनात् । दीर्घक्रियाकालस्यान्ते तु युक्तं कार्यम्, तदानीमेव तस्य दर्शनादिति सकलजनस्य प्रत्यक्षसिद्धमेवेदम् * । तदा जमालेरेवमाचक्षाणस्य अप्येके निर्ग्रन्था एतमर्थं श्रद्दधति, अप्येके न श्रद्दधति, तत्र ये न श्रद्दधति, ते एवमाहुः-भगवन् ! भवतोऽयमाशयः-" यथा घटः पटो नैव, पटो वा न घटो यथा । क्रियमाणं कृतं नैव, कृतं न क्रियमाणकम् ॥१॥" प्रयोगश्च-यौ निश्चितभेदौ, न तयोरैक्यम्, यथा घटपटयोः निश्चितभेदे च कृतक्रियमाणके । अत्र चासिद्धो हेतुः । तथाहि-कृतक्रियमाणे किमेकान्तेन निश्चितभेदे, अथ कथञ्चित् ? । यद्येकान्तेन, तर्हि तदैक्यं सतोऽपि करणप्रसङ्गः उत क्रियाऽनुपरमप्राप्तेः, आहोस्वित् प्रथमाऽऽदिसमयेष्वपि कार्योपलम्भप्रसङ्गः, अथ क्रियावैफल्याऽऽपत्तितो दीर्घक्रियाकालदर्शनानुपपत्तेर्वा ? । तत्र न तावत् सतोऽपि करणप्रसङ्ग इति युक्तम् । असत्करणे हि खपुष्पाऽऽदेरेव करणमापद्यत इति कथञ्चित् सत एव करणमस्माभिरभ्युपगतम्, न चाभ्युपगतार्थस्य प्रसञ्जनं प्रयुज्यते ॥ नाऽपि क्रियाऽनुपरमप्राप्तेः, यत इह क्रिया किमेकविषया, भिन्नविषया वा ? । यद्येकविषया, न दोषः । तथाहि-यदि कृतं क्रियमाणमुच्यते तदा तन्मतेन निष्पन्नमेव कृतमिति तस्यापि क्रियमाणतया क्रियाऽनुपरमप्राप्तिलक्ष-

णो दोष स्यात् । न तु क्रियमाणं कृतमिति, तयोर्की च तत्र क्रियावेशसमय एव कृतत्वाभिधानात् । उक्त हि-क्रियाकालनिष्ठाकालयोरैक्यमिति । अथैवमपि कृतक्रियमाणयोरैक्ये कृतस्य सत्त्वात् सतोऽपि करणे तदवस्थप्रसङ्ग स्यात्, न तु क्रियासमकालसत्ताऽवार्ता । अथ भिन्नविषया क्रिया, तदा सिद्धसाधनम् । प्रतिसमयमन्त्यान्त्यकारणतया वस्तुनोऽभ्युपगमनेन भिन्नत्रिपयक्रियाऽनुपरमस्यास्माक सिद्धत्वात् । अथ प्रथमाऽऽदिसमयेष्वपि कार्योपलम्भप्रसङ्गोऽस्तीति पक्षे क्रियमाणस्य हि कृतत्वप्रथमाऽऽदिसमयेष्वपि सत्ताद्युपलम्भ प्रसज्यत इति । तदपि न । तदा हि शिवकाऽऽदीनामेव क्रियमाणता, ते चोपलभ्यन्त एव । उक्तं च विशेषाऽऽवश्यके-" अन्नारंभे अन्न, कह दीसउ जह घमो पराऽऽरंभे । सिवगाऽऽदयो न कुंभो, किह दीसउ सो तदद्धाए ॥ २३१६ ॥" घटगताभिलाषतया च मूढ शिवकाऽऽदिकरणेऽपि घटमहं करोमीति मन्यते । तथा चाऽऽह-" पइसमयकज्जकोडी-निरवेक्खं घडगयाभिलासोऽसि । पइसमयकज्जकाल, थूलमई घडम्मि लाएसि ॥ २३१८ ॥ " नापि क्रियावैफल्याऽऽपत्तिः, यत प्रागसत्समवायकस्य करणे क्रियावैफल्य स्यात्, न तु क्रियमाणकृतत्वे, तत्र हि क्रियमाणं क्रियाऽपेक्षमिति तस्याः साफल्यमेव, अनेकान्तवादिनां च केनचिद्रूपेण प्राक् सत्त्वेऽपि रूपान्तरेण करण न दोषाय । दीर्घक्रियाकालदर्शनानुपपत्तिरित्यपि न युक्तम्, यतः शिवकाऽऽनुत्तरोत्तरपरिमाणविशेषविषय एव दीर्घक्रियाकालोपलम्भो, न तु घटक्रियाविषयः । उक्त हि-" पइसमयउप्पण्णाण, परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं । दीहो किरियाकालो, जइ दीसइ किं च कुंभस्स ॥ २३१५ ॥" अथ कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नभेदे कृतक्रियमाणे, तत्तीर्थकृदुक्तमेव, निश्चयव्यवहारानुगतत्वात् तद्वचस , तत्र च निश्चयनयाऽऽश्रयणेन कृतक्रियमाणयोरभेद । यदुक्तम्-" क्रियमाण कृत दग्ध, दह्यमान स्थित गतम् । तिष्ठच्च गम्यमानं च, निष्ठितत्वात् प्रतिक्षणम् ॥ १ ॥ "व्यवहारनयमते तु नानात्वमप्यनयो , तथा च क्रियमाणं कृतमेव, कृत तु क्रियमाणमेव स्यात्, क्रियमाण क्रियावेशसमये, क्रियोपरमे पुनरक्रियमाणमिति । उक्त च-" तेणेह कज्जमाण, नियमेण कय कय तु भयणिज्ज । किञ्चिदिह कज्जमाण, उवरयकिरियं च होज्जाहि ॥ २३२० ॥ " किञ्च भवतो मते -क्रियाऽन्त्यसमय एवाभिमतकार्यभवन, तत्रापि प्रथमसमयादारभ्य कार्यस्य कियदपि निष्पत्तिरेष्टव्या, अन्यथा कथमकस्मादन्त्यसमये सा भवेत् ? ।

उक्तं च-

"आद्यतन्तुप्रवेशे च, नोत किञ्चिद् यदा पटे ।
अन्त्यतन्तुप्रवेशे च, नोत स्यात्त पटोदय ॥ १ ॥
तस्माद् यदि द्वितीयाऽऽदि-तन्तुयोगात् प्रतिक्षणम् ।
किञ्चित् किञ्चिद्भुत तस्य, यदुत तदुत हि तत् ॥ २ ॥ "

इह प्रयोग.- यद् यस्याः क्रियाया आद्यसमये न भवति, तत्तस्या अन्त्यसमयेऽपि न स्यात्, यथा घटक्रियाऽऽदिसमयेऽभवन् पटो, न भवति च कृतक्रियमाणयोर्भेदे क्रियाऽऽदिसमये कार्यम्, अन्यथा घटान्त्यसमयेऽपि पटोत्पत्ति स्यात् । एव च -" यथा वृक्षो धवश्चेति,न विरुद्ध मिथो द्वयम् । क्रियमाण कृत चेति, न विरुद्ध तथोभयम् ॥ २ ॥ " प्रयोगश्च-यद् येनाविनाभूत,न तदेकान्तेन भिद्यते, यथा वृक्षत्वाद् धवत्वम्, कृतत्वाविनाभूत च क्रियमाणत्वमिति , सकललोकप्रसिद्धत्वाच्च भेदस्य घटपटयोस्तदावर्णेणैवमुक्तं सस्तारकाऽऽदावपि योज्यम् । तदप्रतिपद्यस्व भगवन् ! " चलमाणे चलिए ।" इत्यादि तीर्थकृतां वाक्यमवितथमिति । स एवमुच्यमानोऽपि न प्रतिपन्नवान् ॥ किन्तु पूर्वोक्तयुक्तिभि सयुक्ता शेषसाधव एकाकिन जमालिं मुक्त्वा गता जिनसमीपम् । जमाली तु (महावीरजिननिह्नवकाः)कालमासे कालं कृत्वा लान्तके कल्पे त्रयोदशसागरोपमस्थितिकेषु किल्बिषिकेषु देवेषु देवत्वेनोत्पन्न , तस्य पञ्चदश भवाः सन्ति । तस्मान्न जिनवचनेषु कदाचनापि सन्देहितव्यमिति चतुरस्रम् । विस्तरतो दर्शनेच्छुभि ' जमालि' शब्दे १४०१ पृष्ठादारभ्य १४९३ पृष्ठपर्यन्त विलोकनीयम् । ॥ जमालिभवप्रसङ्गानुप्रसङ्गाद् जिज्ञास्योत्पद्यते-केन प्रकारेण जन्म जीवानां जायते ? ॥ अत्राऽऽह-स्त्रीपुंसयोर्वेदोदये सति पूर्वकर्मनिर्वर्तितायां योनौ मैथुनप्रत्ययिको रताभिलाषोदयजनितोऽग्निकारणयोररणिकाष्ठयोरिव सयोग. समुत्पद्यते, तत्सयोगे च तच्छुक्रशोणिते समुपादाय तत्रोत्पित्सवो जन्तवस्तैजसकार्मणाख्या कर्मरज्जुसन्दानिताः स्वयोनौ उत्पद्यन्ते । ते च प्रथममुभयोरपि स्नेहमाविश्य तदविध्वस्तायां योनौ सम्यगिति, विध्वस्यते तु योनि -'पञ्चपञ्चाशिका नारी सप्तसप्तति पुरुष इति ।' तथा द्वादश मुहूर्तानि यावत् शुक्रशोणिते अविध्वस्तयोनिके भवत ,तत ऊर्ध्व ध्वसमुपगच्छत इति । तत्र जीवा उभयोरपि स्नेहमाहार्य स्वकर्मविपाकेन यथास्व स्त्रीपुंनपुंसकभावेन समुत्पद्यन्ते, तदुत्तर स्त्रीकुक्षौ प्रतिसमा सन्त स्त्रियाऽऽहारितस्याऽऽहारस्य निर्यास स्नेहमाददति, तदूमेदेन च तेषा जन्तूनां कर्मोपचयाऽऽदानेन क्रमेण निष्पत्तिरुपजायते । " सत्ताह कललं होइ, सत्ताह होइ बुब्बुय । " इत्यादि । तदेवमनेन क्रमेण तदेकदेशेन वा मातुराहारमोजसा मिश्रेण वा लोमभिर्वाऽऽनुपूर्व्येणाऽऽहारयन्ति, यथाक्रममानुपूर्व्येण वृद्धिमुपगता सन्तो गर्भपरिपाकमुपपन्नाः, ततो मातु कायादभिनिर्वर्तमाना' पृथग् भवन्त' सन्तस्तद्योनेर्निर्गच्छन्ति, ते च तथाविधकर्मोदयादात्मन स्त्रीपुंनपुंसकभावं जनयन्ति । तथोक्तम्-" अज्ञानपांशुपिहित, पुरातन कर्मबीजमविनाशि । तृष्णाजलाभिषिक्त, मुञ्चति जन्माङ्कुर जन्तो. ॥१॥ " इति । ' जम्म ' शब्दे विस्तरतो विवेचितमिति १४१४ पृष्ठे विलोकनीयम् ।॥ पूर्वोक्तवचनानुरोधेन निर्धार्यतेऽयमर्थो यत् सुकर्मदुष्कर्मवशादेव जन्तुरनीशो जन्मजरामरणाऽऽदिक्लेशाननुभूय पुनरपि घटीयन्त्रप्रवाहन्यायेन तत्रैव निपततीति । अत एव जिनवचनाऽविश्वासरूपदुष्क्रान्तिपरिणामतो जमाले किल्बिषिकदेवेषूत्पत्तिर्व्यावर्णिता, भगवद्वचसि श्रद्धामादधती जयन्ती श्राविका तु सुगतिमुररीचकारेति निर्विवादम् । इत्थं च-"समस्तवस्तुविस्तारे,व्यासर्पत् तैलवज्जले ।जीयात् श्रीशासन जैन, धीदीपोद्दीप्तिवर्धनम् ॥१॥ " तस्माद् जिनवचनश्रद्धया यतनावता भव्येन भाव्यम् । उक्त च सैद्धान्तिकैः -

"जयणेह धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तवबुड्ढिकरी जयणा, एगतसुहावहा जयणा ॥ १ ॥
जयणाए वट्टमाणो, जीवो सम्मत्तनाणचरणाण ।
सद्धाबोहाऽऽसेवण- भावेणाऽऽराहगो भणिओ ॥ २ ॥"

किञ्च-

" यत्न विना धर्मविधावपीह, प्रवर्तमानोऽसुमतां विघातम् ।
करोति यस्माद ततो विधेयो,धर्मात्मना सर्वपदेषु यत्न ॥१॥"

अथ (जमालिप्रसङ्गादेव) तृतीयभागस्थप्रस्तावस्य ४ पृष्ठे च

त्वार्येव भूतानि तत्त्वम् न तु तद्व्यतिरिक्तो भवान्तरानुसरणव्यस नवानात्मेति चार्वाकचर्चापराकरणं विधाय जीवसिद्धिरुपपादिता इह तु जीवाजीवाऽऽदितत्त्वनिरूपणप्रकरणे श्रीमदर्हच्छासने तस्य जीवस्य कथञ्चिन्नित्यत्व कथञ्चिदनित्यत्व जमालिमभिमुखीकृत्य भगवानाह-' सासए जीवे जमाली !, ज ण कयाइ णासि० जाव णिच्चे । असासए जीवे जमाली ! ज णेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ, तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ, मणुस्से भवित्ता देवे भवइ । " * ननु कोऽसौ जीवो जीव इति भवद्भिरुद्घुष्यते, यस्य वा सिद्धिरुपपादिता ?, इत्यत्राऽऽह-"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविध बल च, उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायु । प्राणा दशैते भगवद्भिरिष्टा ,तेषा वियोगीकरण च हिंसा ॥१॥" इत्यादिवचनप्रसिद्धान् दशविधप्राणान् जीवति कोऽर्थो धरतीति शब्दार्थवशादेव जीवस्यैव जीव उच्यते। तादृश ससार्येव भवति, सिद्धस्तु जीवशब्देन न व्यपदिश्यते । तथा च तत्त्वार्थ पदेशे-" सिद्धो न तन्मते जीव , प्रोक्त सत्त्वाऽऽदिसङ्ग्योपि । महाभाष्ये च तत्त्वार्थ-भाष्ये धात्वर्थबाधन ॥ ४० ॥ " एव च सिद्धासिद्धत्वेन सेन्द्रियानिन्द्रियत्वेन सकायिकाऽकायिकत्वेन सयोगायोगत्वेन सवेदकावेदकत्वेन सकषायाकषायत्वेन सलेश्याऽलेश्यात्वेन ज्ञान्यज्ञानित्वेन साकारोपयुक्तानाकारोपयुक्तत्वेन, आहारकानाहारकत्वेन भाषकाभाषकत्वेन चरमाचरमत्वेन जीवानां द्वैविध्यम, त्रसस्थावरनोत्रसस्थावरत्वेन परीतापरीतनोपरीतापरीतत्वेन स्त्रीपुरुषनपुसकत्वेन सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टित्वेन पर्याप्तकापर्याप्तकनोपर्याप्तकापर्याप्तकत्वेन सूक्ष्मबादरनोसूक्ष्मबादरत्वेन सञ्ज्ञ्यसञ्ज्ञिनासञ्ज्ञ्यसञ्ज्ञित्वेन भवसिद्धिकाऽभवसिद्धिकनोभवसिद्धिकाभवसिद्धिकत्वेन जीवाना त्रैविध्यम,नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवत्वेन मनोयोगिवचोयोगिकाययोग्ययोगित्वेन स्त्रीवेदकपुरुषवेदकनपुसकवेदकावेदकत्वेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनत्वेन सयतासयतसयतासयत-नोसयतासयतत्वेन जीवाना चातुर्विध्यम्,एकद्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रियत्वेन नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धत्वेन, क्रोधमानमायालोभकषायित्वाकषायित्वेन जीवाना पञ्चविधत्वम, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकत्वेन, आभिनिबोधिकाऽऽदिपञ्चविधज्ञानित्वेन अज्ञानित्वेन च, एकद्वित्रिचतु.पञ्चेन्द्रियत्वेन अनिन्द्रियत्वेन च, औदारिकवैक्रियकाऽऽहारकतैजसकार्मणशरीरत्वेन अशरीरत्वेन च जीवाना षड्विधत्वम्, नैरयिकतिर्यग्योनिकत्वेन-तिर्यग्योनिकत्वेन च-मनुष्यमानुषीदेवदेवीत्वेन,पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकाकायिकत्वेन, कृष्णनीलकापोततेज पद्मशुक्ललेश्याऽलेश्यात्वेन जीवाना सप्तविधत्वम, प्रथमाप्रथमसमयनैरयिकत्वेन प्रथमाप्रथमसमयतिर्यग्योनिकत्वेन प्रथमाप्रथमसमयमनुष्यत्वेन, प्रथमाप्रथमसमयदेवत्वेन, नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धत्वेन तिर्यग्योनिकामानुषीदेवीत्वेन च जीवानामष्टविधत्वम, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रियत्वेन, अथवा-एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियनैरयिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिक-मनुष्यदेवसिद्धत्वेन, प्रथमाप्रथमसमयनैरयिकप्रथमाप्रथमसमयतिर्यग्योनिकप्रथमाप्रथमसमयमनुष्यप्रथमाप्रथमसमयदेवसिद्धत्वेन जीवाना नवविधत्वम, प्रथमाप्रथमसमयैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियत्वेन, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रियानिन्द्रियत्वेन, प्रथमाप्रथमसमयनैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्य देवसिद्धत्वेन जीवानां दशविधत्वम सूक्ष्मापर्याप्तकपर्याप्तक बादरापर्याप्तकपर्याप्तकद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासञ्ज्ञिसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकत्वेन जीवानां चतुर्दशविधत्व च 'जीव' शब्दे १५३४ पृष्ठे स्पष्टेण निरूपितमस्ति । * किं नाम जीव इति प्रश्नस्य यद्यपि प्रकारद्वयेन लेशतो समाधानमुक्त तथाऽपि विशेषबुभुत्सया किञ्चिदिह प्रतायते-उपशमौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकैर्भाव समिश्र इत्य जीवशब्देनोच्यते । आह-औदयिकान भावान् परित्यज्य किमितौपशमिकस्य भावस्य साक्षादुपादानम ?। उच्यते-इह जीवस्य स्वरूप तदेव वक्तव्य यदसाधारण स्वरूपम् । एते हि पदार्थान्तरस्वरूपेभ्यो वैविक्त्येन तत् प्रतिपादित भवति,नान्यथा, औदयिकपारिणामिकौ च भावावजीवानामपि भवत ,अतस्तौ साक्षान्नोपात्तौ, क्षायिकोऽपि च भाव औपशमिकभावपूर्वक , न खल्वौपशमिकभावमनासाद्य कश्चिदपि क्षायिक भावमासादयति, क्षायोपशमिकोऽपि च भावो नौपशमिकाद् भावाद् अत्यन्तभेदी, तत इह साक्षादौपशमिकस्य भावस्योपादानमिति । तत कस्य प्रभव स्वामिनो जीवा इति प्रश्नावसरे, आत्मीयस्य रूपस्योत्तरम् । तथाहि-कर्मविनिर्मुक्तस्वरूपा आत्मानो न केषामपि प्रभव , किन्तु स्वरूपस्यैव, तथास्वाभाव्यात् । यस्तु स्वस्वामिभाव ससारे, स कर्मोपाधिजनितत्वादौपाधिक ,न पारमार्थिक इति । ननु केन निर्मिता जीवा इति प्रश्ने कृते सति समाधि -न केनचित् कृता , किन्तु नभस्वद्वदकृत्रिमा एव, यथा चाकृत्रिमता जीवाना तथा धर्मसग्रहणीटीकाया सप्रपञ्च व्याख्याता,विशेषजिज्ञासुभिस्तत एवावधार्या । * ननु किं जीवा शरीरे लोके वाऽवतिष्ठन्ते ?, इति प्रश्नस्योत्तरम-सामान्यचिन्तायां लोके,नालोके, अलोके स्वभावत एव धर्माधर्मास्तिकायजीवपुद्गलानामसभवात् । विशेषचिन्ताया शरीरे, नान्यत्र, शरीरपरमाणुभिरेव सह आत्मप्रदेशाना क्षीरनीरवदन्योन्यानुगमभावात् । उक्त च-"अन्नोन्नमणुगयाड, इम च त च त्ति विभयणमजुत्त । जह खीरपाणियाइ।" इति। सर्वकालमेव जीवा भवन्ति,अनादिनिधनाश्च जीवा इति मुक्त्यवस्थायामपि जीवा न विनश्यन्ति, किन्तु ज्ञानाऽऽदिके स्वस्वरूपेऽवतिष्ठन्ते इति श्रद्धेयम् । तेन यत् कैश्चिदुक्तम्-" दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिश न काञ्चिद् विदिश न काञ्चिद्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम ॥ १ ॥ जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिश न काञ्चिद् विदिश न काञ्चिद्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम ॥ २ ॥ अर्हन्मरणचित्तस्य, प्रतिसन्धिर्न विद्यते । प्रदीपस्येव निर्वाण, विमोक्षस्तस्य चोष्सित ॥ ३ ॥ " इति । तदपास्त द्रष्टव्यम । सत सर्वथा विनाशायोगात्, तथादर्शनादिति कृत प्रसङ्गेन । विस्तरेच्छुभि ' जीव ' शब्दो वीक्ष्य. । त्रिषष्ट्यधिकपञ्चशतभेदा जीवानां 'जीव' शब्दे १५३६ पृष्ठे द्रष्टव्या । जिनवचनस्य श्रद्धाऽऽस्पदत्वादेव " चदो चदो अभिव-ड्ढिओ य चदमभिवड्ढिओ चेव । पंचसहिय जुगमिणं, दिठ तेलुक्कदसीहिं ॥ १ ॥ पढमविइयाउ चदा, तइय अभिवड्ढिय वियाणाहि । चदे चेव चउत्थ, पचममभिवड्ढिय जाण ॥ २ ॥ " इति युगवचनाऽऽदि ' जुग ' शब्दे १५६७ पृष्ठत आरभ्य १५७३ पृष्ठपर्यन्त निरीक्षणीयम । पूर्वोक्तकारणादेव ज्योतिष्काना पञ्चविधत्वनिरूपणानन्तर चलत्वस्थिरत्वविचार , सर्वलोके प्रतिद्वीप प्रतिसमुद्र चन्द्राऽऽदीना परिमाणप्रतिपादनार्थमन्यतीर्थिकाना द्वा-

दश प्रतिपत्ती परिभाव्य भगवत्सिद्धान्तनिरूपणम् । जम्बूद्वीपगतमनुष्यक्षेत्रस्य चन्द्रसूर्याऽऽदीनां संख्यानिर्देशः, चन्द्राऽऽदयो यत्र यथा भ्रमन्ति तन्निरूपणमित्यादि एकत्रिंशत्प्रविषयप्ररूपणप्रस्तावे मनुष्यक्षेत्रप्ररूपणमित्थम्-" जम्बूदीवो लवणो-दही य दीवो य धायईसडे । कालोदहिपुक्खरवर-दीवद्धो माणुसखेत्तं ॥ १ ॥ एत माणुसखेत्त, एत्थ विचारीणि जोइसगणाणि । परतो दीवसमुद्दे, अवट्ठिय जोइस जाण ॥ २ ॥ " तत्र च-" चंदा सूरा य गहा, नक्खत्ता तारया य पंच इमे । एगे चरजोइसिगा, घंटायारा थिरा अवरे ॥ १४७ ॥ " तथा च-"दो चंदा दो सूरा, णक्खत्ता खलु हवंति छप्पण्णा । बावत्तरं गहसतं, जम्बुद्दीवे वियारीणं ॥ १ ॥ एगं च सयसहस्सं, तित्तीसं खलु भवे सहस्साइं । णव य सता पण्णासा, तारागणकोडिकोडीणं ॥ २ ॥ " सर्वं चैतत् ' जोइसिय ' शब्दे विद्वद्भिर्विलोकनीयम् । * जिनवचनमेतत् जिनाऽऽगमे-योगादेव कर्मक्षयो भवतीति तस्य योगस्य माहात्म्यम्, तथा च योगमार्गाधिकारिणः, योगनिष्पन्नस्य चिह्नानि । तथाहि-" अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं, गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् । कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च, योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥ १ ॥ " इत्यादि विशद विषया "जोग" शब्दे सम्यक् प्रतिपादिता । तथा-"गुरुभत्तो अपमत्तो, सत्तो दंतो य निउयमत्तो य । धीरचित्तो दढसत्तो, विणयजुत्तो भवविरत्तो य ॥ १ ॥ जियकोहो जियनिद्दो, हियपियमियजंपिरो मिउअसढो । अप्पाहारो अप्पो-वही य दक्खो सुदक्खिण्णो ॥ २ ॥ पंचसमिओ तिगुत्तो, उज्जुत्तो संजमे तवे चरणे । परिसहसहु होइ मुणी, विसेसओ जोगवाहि त्ति ॥ ३ ॥ कयमोहिलोयकम्मे, निवासपरियाइएण कालेण । आयारपकप्पाई, उद्दिसिउं कप्पई जुग्गो ॥ ४ ॥ " इत्यादि तु 'जोगविहि' शब्दे द्रष्टव्यम् । * तथा जिनोक्तं ध्यानस्वरूपं, ध्यानाध्यानयोर्विवेचनं, ध्यानस्यैव भेदाः, प्रशस्ताप्रशस्तानि ध्यानानि, ध्यातृभेदाः, ध्यातृस्वरूपं, संसारप्रतिपक्षतया मोक्षहेतुर्ध्यानं, ध्यानस्य फलानि चेत्यादि ' झाण ' शब्दे १६६१ पृष्ठत आरभ्य १६७२ पृष्ठपर्यन्तं द्रष्टव्यम् ।

तथा च-

" ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयं यस्यैकतां गतम् ।
मुनेरनन्यचित्तस्य, तस्य दुःखं न विद्यते ॥ १ ॥
ध्याताऽन्तरात्मा ध्येयस्तु, परमात्मा प्रकीर्तितः ।
ध्यानं चैकाग्रसंवित्तिः, समापत्तिस्तदेकता ॥ २ ॥
जितेन्द्रियस्य धीरस्य, प्रशान्तस्य स्थिराऽऽत्मनः ।
सुखाऽऽसनस्य नासाग्र-न्यस्तनेत्रस्य योगिनः ॥ ३ ॥
रुद्धबाह्यमनोवृत्ते-र्धारणाधारया रयात् ।
प्रसन्नस्याप्रमत्तस्य, चिदानन्दसुधालिहः ॥ ४ ॥
साम्राज्यमप्रतिद्वन्द्व-मन्तरेव वितन्वतः ।
ध्यानिनो नोपमा लोके, सदेवमनुजेऽपि हि ॥ ५ ॥ "

एतादृशध्यानविरहितो रागाऽऽद्युपहतचेतास्तु परमार्थमजानानोऽतत्स्वभावेऽपि तत्स्वभावाऽऽरोपणेनान्धादप्यन्धतमः कामी मोदते । तत आह-

" दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितं,
रागान्धस्तु यदस्ति तत् परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति ।
कुन्देन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमल्लतापल्लवा-
नारोप्याऽशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते ॥ १ ॥ "

यतोऽर्हद्वचनमेवास्माकं जीवातुभूतं ततस्तदनुज्ञातं 'नवकार' इति तत्र विधेयम्-

" सत्त पण सत्त सत्त य, नवऽक्खरपमाणपयडपंचपयं ।
तित्तीसक्खरचूलं, सुमिरह नवकारवरमंतं ॥ १ ॥
एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ २ ॥
अरिहंतनमुक्कारो, जीवं मोएइ भवसमुद्दाओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥ ३ ॥ "

ननु सूत्रं संक्षेपविस्तरावतिक्रम्य न वर्तते, तत्र संक्षेपवद् यथा सामायिकसूत्रम्, विस्तरवद् यथा चतुर्दश पूर्वाणि, इदं पुनर्नमस्कारसूत्रमुभयातीतं यतोऽत्र न संक्षेपो, नापि विस्तरः । यद्यत्र संक्षेपः स्यात् ततस्तस्मिन् सति द्विविध एव नमस्कारो भवेत् सिद्धसाधुभ्यामिति, परिनिर्वृताऽर्हदादीनां सिद्धशब्देन ग्रहणात्, संसारिणां तु साधुशब्देनेति । संसारिणो हि अर्हदाचार्याऽऽदयो न साधुत्वमतिवर्तन्ते ॥ यद्यत्र विस्तरः । तदप्ययुक्तम् । यतो विस्तरतोऽनेकविधो नमस्कारं प्राप्नोति । तथाहि-ऋषभाजितसंभवाऽऽदिभ्यो नामग्राहं सर्वतीर्थकरेभ्यः । तथा सिद्धेभ्योऽप्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चाऽऽदिसमयसिद्धेभ्यो यावदनन्तसमयसिद्धेभ्यः । तथा-तीर्थसिद्धप्रत्येकबुद्धाऽऽदिविशेषणविशिष्टेभ्यः इत्यादिभिर्भेदैर्विस्तरतोऽनन्तभेदो नमस्कारं प्राप्नोति । यतश्चैवं तस्मादमुं पक्षद्वयमङ्गीकृत्य पञ्चविधोऽयं नमस्कारो न युज्यत इति ॥ * इह चेदं प्रतिविधानम्-न संक्षेपो नापि विस्तर इत्येतदसिद्धम्, संक्षेपः स्यादस्य । किञ्च-इहार्हदादयो नियमात् साधवः, तद्गुणानामपि तत्र भावात् । साधवस्तु तेष्वर्हदादिषु विकल्पनीयाः, यतस्ते न सर्वेऽप्यर्हदादयः, किं तर्हि, केचिदर्हन्तः, येषां तीर्थकरनामकर्माद्योऽस्ति, केचित्तु सामान्यकेवलिनः, अन्ये त्वाचार्या विशिष्टसूत्रार्थदेशकाः, अपरे तूपाध्यायाः सूत्रपाठकाः, अन्ये त्वेतद्विशिष्टाः सामान्यसाधव एव शिक्षकाऽऽदयो, न पुनरर्हदादयः । तदेवं साधूनामर्हदादिषु व्यभिचाराद् यन्नमस्करणेऽपि नार्हदादिनमस्कारसाध्यस्य विशिष्टस्य फलसिद्धिः । ततश्च संक्षेपेण द्विविधनमस्करणमयुक्तमेव, अव्यापकत्वादिति । तस्मात् संक्षेपतोऽपि पञ्चविध एव नमस्कारो, न तु द्विविधः, अव्यापकत्वात् । विस्तरतस्तु नमस्कारो न विधीयते, अशक्यत्वात् । * ननु जिनवचनस्य मिथ्यादर्शनसमूहमयत्वेऽपि प्रामाण्यमभ्युपगच्छद्भिर्नयनिकुरम्बोपन्यासः कृतस्तत्र किं नाम नयत्वम् ? । उच्यते-बहुधा वस्तुनः पर्यायाणां संभवाद् विवक्षितपर्यायेण यत्प्रयत्नमधिगमनं परिच्छेदोऽसौ नयो नाम । तथाहि-इह हि जिनमते सर्वं वस्त्वनन्तधर्माऽऽत्मकतया संकीर्णस्वभावमिति तत्परिच्छेदकेन प्रमाणेनापि तथैव ज्ञातिनव्यमित्यसंकीर्णप्रतिनियतधर्मप्रकारकव्यवहारसिद्धये नयानामेव सामर्थ्यम् । तदुक्तम्-

" निःशेषांशजुषां प्रमाणविषयीभूय समासेदुषां,
वस्तूनां नियतांशकल्पनपराः सप्त श्रुताऽऽसङ्गिनः ।
औदासीन्यपरायणास्तदपरे चांशे भवेयुर्नया-
श्चेदेकान्तकलङ्कपङ्ककलुषास्ते स्युस्तदा दुर्नयाः ॥ १ ॥ "

नयोपपत्त्यादयस्तु ' णय ' शब्दे १०५३ पृष्ठत आरभ्य १६०१ पृष्ठपर्यन्तं विस्तरतो निरूपिता । ननु यदुक्तं जिनवचनमनाचरतो नियमाद् निरयाऽऽदिषु पातो भवति, तत्र कीदृशी यातनाऽनुभू-

यते प्राणिना ? । उच्यते-दुःसहे तीव्रे खदिराङ्गारमहाराशितापादनन्तगुणेऽभितापे बहुवेदनेऽपरित्यक्तविषयाभिष्वङ्गा जिनवचनानादरपराः स्वकृतकर्मगुरवः पतन्ति निरयाऽऽदिषु, तत्र च नानारूपा वेदनाः समनुभवन्ति ।

तथा चोक्तम्-

" गिद्धमुहणिद्धउक्खिल-त्तवधणोम्मुक्कधरकबन्धे ।
दढगहियतत्तसमा-सयगविसमुक्खुभियजीहे ॥ १ ॥
तिक्खकुसगाकड्ढिय-कटयरुक्खगजज्जरसरीरे ।
निमिसतर पि दुल्लह-सुक्खेऽवक्खेवदुक्खम्मि ॥ २ ॥
बरूधयारदुग्ग-धवधणायारदुद्धरकिलेसे ।
भिन्नकरचरणसकर-रुहिरवसादुग्गमप्पवहे ॥ ३ ॥
सुक्कक्कदकडाहु-क्कढतदुक्कयकयतकम्मते ।
मूलविभिन्नुक्खित्तु-रूदेहणित्ततपब्भारे ॥ ४ ॥
जतऽतरभिज्जतु-च्छलतसत्तभरियदिसिविवरे ।
मज्जतुप्फिमियसमु-च्छलतसीसछिसघाए ॥ ५ ॥
इय भीसणम्मि निरए, पमति जे विविहसत्तवहनिरया ।
सव्वब्भट्ठा य नरा, जयम्मि कयपावसघाया ॥ ६ ॥ "

इत्थ च बहवोऽपि विषया नरकसबन्धिन 'णरग' शब्दे विषयसूच्यां १६२५ पृष्ठे विभावनीयाः । प्रत्यक्षपरोक्षत्वेन ज्ञानस्य द्वैविध्यम्,केवलनोकेवलज्ञानत्वेन प्रत्यक्षस्याऽपि द्वैविध्यम्, अवधिमन पर्यवज्ञानत्वेन केवलज्ञानस्यापि द्वैविध्यम्, परोक्षज्ञानस्य तु आभिनिबोधिकश्रुतज्ञानत्वेन द्वैविध्यम् । ननु यदि चैतन्य ज्ञानमात्मनोऽत्यन्तव्यतिरिक्तम्, तदा कथमात्मनः सबन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः ?, यद्यात्मनो ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वमिष्यते, तदा तु स्वजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावाद् बुद्ध्यादीना नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदावसरे आत्मनोऽप्युच्छेदः स्यात्,तदव्यतिरिक्तत्वात्; अतोभिन्नाभिन्नमेवाऽऽत्मनो ज्ञान यौक्तिकमिति । प्रपञ्चित चैतत् 'णाण' शब्दे १६५० पृष्ठे न्यक्षेण परतीर्थिकमतोपन्यासनिरसनाभ्याम् ।

ज्ञानाज्ञानाभ्यां यद् भवति तदाह-

" मज्जत्यज्ञ किलाज्ञाने, विष्ठायामिव शूकर ।
ज्ञानी निमज्जति ज्ञाने, मराल इव मानसे ॥ १ ॥
निर्वाणपदमप्येक, भाव्यते यद् मुहुर्मुहु ।
तदेव ज्ञानमुत्कृष्ट, निर्बन्धो नास्ति भूयसा ॥ २ ॥
स्वभावलाभसस्कार-कारण ज्ञानमिष्यते ।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्यत्, तथा चोक्त महात्मना ॥ ३ ॥
वादाँश्च प्रतिवादाँश्च, वदन्तोऽनिश्चिताँस्तथा ।
तत्त्वान्त नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद् गतौ ॥ ४ ॥
अस्ति चेद् ग्रन्थिभिद् ज्ञानं, किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रणैः ।
प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते, तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत् ॥ ५ ॥
पीयूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनौषधम् ।
अनन्यापेक्षमैश्वर्यं, ज्ञानमाहुर्मनीषिण ॥ ६ ॥ "
" जो विणओ तं नाण, ज नाण सो अ वुच्चई विणओ ।
विणएण लहइ नाणं, नाणेण वि जाणई विणय ॥ ७ ॥ "
" क्रियानय. क्रिया मूने, ज्ञान ज्ञाननय पुन ।
मोक्षस्य कारण तत्र, नयस्यो युक्तयो द्वयो ॥ ८ ॥
नित्यनैमित्तिकैरेव, कुर्वाणो दुरितक्षयम् ।
ज्ञानं च विमलीकुर्व-न्नभ्यासेन तु पाचयेत् ॥ ९ ॥
अभ्यासात् पक्वविज्ञान , कैवल्य लभते नर. ॥ "

" नाणी गिण्हइ नाणं, मुणेइ नाणेण कुणइ किच्चाई ।
भवससारसमुद्द, नाणी नाणट्ठिओ तरति ॥ १ ॥ "
"तम्हा म पज्जकरणं, मज्झ पमाण न यावि चारित्त ।
नाण मज्झ पमाण, नाणे च ठिय जओ तित्थं ॥१॥ "

परन्तु ज्ञानिनाऽपि चरणवता भाव्यम्-

" जाणतो वि अ तरिउ, काइयजोग न जुजई जोग ।
सो वुड्डइ सोएण, एव नाणी चरणहीणो ॥१॥ "

ननु तत्र तत्र जिनवचने निगोदजीवानां चर्चा कृताऽस्तीति के ते निगोदजीवाः ?,

उच्यते-

" जह अयगोलो धतो, जाओ तत्ततवणिज्जसंकासो ।
सव्वो अगणिपरिणओ, णिगोयजीवे तहा जाण ॥ १६ ॥
एगस्स दोण्ह तिण्ह व,सखेज्जाण व पासिउं सक्का ।
दीसति सरीराइ, णिगोयजीवाणऽणताण ॥ २० ॥ "

यथाऽयोगोलो ध्मातः सन् तप्ततपनीयसकाशोऽग्निपरिणतो भवति, तथा निगोदजीवानपि जानीहि,निगोदरूपेऽप्येकैकस्मिन् शरीरे तच्छरीराऽऽत्मकतया अनन्तान् जीवान् जानीहि । ननु कथं निगोदरूप शरीर नियमादनन्तजीवपरिणामाऽऽविर्भावित भवतीति ?। उच्यते-जिनवचनात् । तच्चेदम्-" गोला य असखेज्जा, होंति निगोया असखया गोले । एक्केक्को य निगोओ, अणतजीवो मुणेयव्वो ॥ १ ॥ " तद्भेदास्तु "णिगोय " शब्दे २०२९ पृष्ठे द्रष्टव्याः । जिनवचनादेव 'निर्ग्रन्थ' शब्दे पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकभेदेन पञ्चविधनिर्ग्रन्थस्वरूपनिरूपणानन्तर तेषा साधकविचार , कृजनताकर्करणताऽऽपध्यानताऽऽदिभेदेन निर्ग्रन्थानां, निर्ग्रन्थीनामसुखत्वाऽऽदि प्ररूप्य तद्वैपरीत्येन सुखत्वाऽऽदिनिरूपणमेवमादयो विषया पञ्चचत्वारिंशद् द्रष्टव्याः । निर्ग्रन्थीशब्दे निर्ग्रन्थीनामाचाराऽऽदिनिर्देशः । ' णितियवास ' शब्दे साधुसाध्वीनां नित्यवास एकत्र निषिद्धः । तथाहि-विहारपरिहारेण सर्वदैकत्र निवासवतां प्रासुकैषणीयवसतिलाभाभावाद् गृहस्था इवाऽऽश्रयाभावेषु मुक्तसमस्तजीवोपमर्दाऽऽदयः स्वयंप्रहकरणकारणानुमोदनाऽऽदौ प्रवर्त्तन्ते, ततश्चैषणायामपि जीवनिकायानामाकुट्यापि विराधनोत्पद्यते, ततश्च प्राणातिपातविरमणमहाव्रतभङ्गनिरर्थकताया अपि शिरस्तुण्डमुण्डनाऽऽदेर्वैयर्थ्यं स्यात् । अन्यथैकत्र निवासे प्रतिदिनमाहाराऽऽदिदानवन्दनाऽऽदिप्रतिपत्त्योपगृहीतानां साधूनामनादिभवाभ्यासवशवर्तिनां प्रतिबन्धाऽऽदय सभवन्ति । उक्त च-" पडिबधो लहुयत्त, न जणुवयारो न देसविन्नाणं । नाणाऽऽराहणमेए, दोसा अविहारपक्खम्मि ॥ १ ॥ " ततश्च प्रतिबन्धात् सबन्ध , सबन्धात् चित्तविप्लुति , चित्तविप्लुतेरकार्यप्रवृत्तिरिति । यदा च चित्तविप्लुत्या प्रेरितः स्त्रीसेवाऽऽदौ प्रवर्तते, तदा न केवल प्रथमव्रतभङ्ग , अपि तु पञ्चानामपीति । किंतु-

" जो होज्जउ असमत्थो, रोगेण व पेल्लिओ झुसियदेहो ।
सव्वमवि जहाभणिय, कयाइ न तरिज्ज काउ जे ॥ १ ॥
सो वि य नियपरक्कम-ववसायधिइबल अगूहंतो ।
मोत्तूण कूडचरिय, जयई जइ तो अवस्स जई ॥ २ ॥
निम्मम निरहकारा, उज्जुत्ता नाणदसणचरित्तम्मि ।
एगक्खेत्ते वि ठिया, खवेंति पोराणय कम्म ॥ ३ ॥
जियकोहमाणमाया, जियलोभपरीसहा य जे धीरा ।
वूढावासेऽवि ठिया, खवेंति पोराणय कम्म ॥ ४ ॥

पचसमिया तिगुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे ।
वाससयं पि वसता, मुणिणो आराहगा भणिया ॥ ५ ॥"
नित्यवासविषये संगमस्थविरचरितं तु २०७१ पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।
ननु जिनवचनश्रद्धावतो निर्वाणं श्रूयते,तत्किं नाम निर्वाणम्।

तथाहि-

" मन्नसि किं दीवस्स व, नासो निव्वाणमस्स जीवस्स ।
दुक्खक्खयाइरूवा, किं होज्ज व से सम्रोऽवत्था ॥१९७५॥ "
तद् यथा सौगता. प्राऽऽहु -
" दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्,
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ १ ॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद्,
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ २ ॥ "

किं वा यथा जैना प्राऽऽहुस्तथा निर्वाण भवेत् ? । तथाहि-रागद्वेषमदमोहजन्मजरारोगाऽऽदिदु खक्षयरूपा वि शिष्टा काचिदवस्था विद्यमानस्य जीवस्य । उक्त च-" केवलसविद्दर्शन-रूपा सर्वार्तिदु खपरिमुक्ता. । मोदन्ते मुक्तिगता , जीवा क्षीणान्तरारिगणा ॥ १ ॥" अथवा-रागस्येवानादित्वात् कर्मजीवयो संयोगस्याविवियोगात् ससाराभाव एव न भवेत् । जीवाऽऽकाशयोरिव ययोरनादि संयोग तयोर्वियोगो न भवति, अनादिश्च जीवकर्मणो संयोग , ततो वियोगाऽनुपपत्ति , ततश्च न संसाराभाव , तथा च सति कुतो मोक्ष ? । अथात्रैव प्रतिविधीयते नायमेकान्तो यदनादिसयोगो न भिद्यते यत· काञ्चनधातुपाषाणयोरनादिरपि संयोगोऽग्न्यादिसम्पर्केण विघटत एव,तद्वद् जीवकर्मसयोगस्यापि सम्यग् ज्ञानक्रियाभ्या वियोगो मणिढकवत् प्रतिपद्यताम् । ननु यथा कर्मणो नाशे संसारो नश्यति, तथा तन्नाशे जीवत्वस्यापि नाशाद् मोक्षाभावो भविष्यति ?। एतदप्यसारम् । यत. कर्मजनित ससारः, तन्नाशे संसारस्य नाशो युज्यत एव, कारणाऽभावे कार्याऽभावस्य सुप्रतीतत्वात् । जीवत्वं पुनरनादिकालप्रवृत्तत्वात् कर्मकृतं न भवति, अतस्तन्नाशे जीवस्य न कश्चिद् नाश', कारणव्यापकयोरेव कार्यव्याप्यनिवर्तकत्वात् , कर्म तु जीवस्य न कारण, नापि व्यापकम् । इतश्च जीवो न नश्यति-"न विगारानुवलभा-दागास रपि व विणासधम्मो सो । इह नासिणो विगारो,दीसइ कुभस्स वाऽवयवा ॥१९८१॥ कालंतरनासी वा, घडो व्व कयगाइओ मई होज्जा । नो पद्धंसाभावो, भुवि तद्धम्मा वि ज निच्चो ॥१९८२॥ " इति । अथ यदुक्तम्-दीपो यथा निर्वृतिमित्यादि । तत्रोत्तरम्-"न य सव्वहा विणासो-ऽणलस्स परिणामओ पयस्सेव । कुभस्स कवालाण व, तहा विगारोवलभाओ ॥१९८७॥ " तत -"जह दीवो निव्वाणो, परिणामतरमिओ तहा जीवो । भण्णइ परिनिव्वाणो, पत्तोऽणावाहपरिणामं ॥१९९१॥ " किञ्च-" मुत्तस्स पर सोक्ख, णाणाणावाहओ जहा मुणिणो । तद्धम्मा पुण विरहा-दावरणाऽऽवाहहेऊण ॥१९९२॥" इत्यादि निर्वाणविषयविस्तर. 'णिव्वाण' शब्दे निर्वाणजिज्ञासुभिर्निपुण निभालनीय. । तच्च निर्वाण तपोऽन्तरा न लभ्यते इति प्रसङ्गत. तप स्वरूपमुच्यते-

"ज्ञानमेव बुधा' प्राहु', कर्मणां तापनात् तप । तदाभ्यन्तरमेवेष्ट, बाह्य तदुपबृंहकम् ॥ १ ॥ तदेव हि तप कार्य, दुर्ध्यान यत्र नो भवेत् । येन योगा न हीयन्ते,क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि वा ॥ २॥ मूलोत्तरगुणश्रेणि-प्राज्यसाम्राज्यसिद्धये । बाह्यमाभ्यन्तरं चेत्थं,तप. कुर्याद् महामुनि ॥३॥" "एसो बारसभेओ, सुत्तनिबद्धो तवो मुणेयव्वो । एय विसेसो उ इमो. पइण्णगोऽणेगभेउ त्ति ॥४॥ तित्थयरनिग्गमाई,सव्वगुणपसाहण तवो होइ । भव्वाण हिओ निगमा,विसेसओ पढमठाणीणं॥५॥जम्हा एसो सुद्धो, अणियाणो होइ भावियमईण । तम्हा करेह सम्मं, जह विरहो होइ कम्मास ॥४४॥" "सो हु तवो कायव्वो,जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ । जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥ १४ ॥" " तपश्च त्रिविध ज्ञेय-मफलाऽऽकाङ्क्षिभिर्नरै. । श्रद्धया परया तप्तं, सात्त्विकं तप उच्यते ॥१॥ सत्कारमानपूजाऽर्थं. तपो दम्भेन चैव यत् । क्रियते तदिह प्रोक्तं, राजसं चलमध्रुवम् ॥२॥ मूढग्रहेण यच्चाऽऽत्म-पीडया क्रियते तप. । परस्योत्च्छेदनार्थं वा, तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३ ॥ " इति ।

अनेकजन्माभ्यस्ततप प्रभावात् तीर्थकरनामकर्मणी संवज्ञ्य निर्वाणमधिरोहति जीव इति सिद्धान्तमनुस्मृत्य तीर्थकरविषयमेवावतारयाम । तथाहि-तीर्थकरणशीलास्तीर्थकरा , अचिन्त्यप्रभावमहापुण्यसंमिततन्नामकर्मविपाकत , तस्यान्यथा वेदनायोगात् । तत्र येनेह जीवा जन्मजरामरणसलिल मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं महाभीषणकषायपातालं सुदुर्लङ्घ्यमोहाऽऽवर्तरौद्र विचित्रदु खौघदुष्टश्वापदं रागद्वेषपवनविक्षोभितं सयोगवियोगवीचीयुक्त प्रबलमनोरथवेलाऽऽकुल सुदीर्घ संसारसागरं तरन्ति तत्तीर्थमिति । एतच्च यथाऽवस्थितसकलजीवाऽऽदिपदार्थप्ररूपकम् अत्यन्तानवद्यान्याविज्ञातचरणकरणक्रियाऽऽधारं त्रैलोक्यगतशुद्धधर्मसंपद्युक्तमहासत्त्वाऽऽश्रयम् अचिन्त्यशक्तिसमन्वितावि संवादिपरमबोहित्थकल्प प्रवचन, निराधारस्य प्रवचनस्यासंभवात् सङ्घो वा ततश्चैतदुक्त भवति-घातिकर्मक्षये ज्ञानकैवल्ययोगात् तीर्थकरनामकर्मोदयस्तत्स्वभावतया आदित्याऽऽदिप्रकाशनिदर्शनत शास्त्रार्थप्रणयनाद् मुक्तकैवल्ये तदसंभवेनाऽऽगमानुपपत्ते , भव्यजनधर्मप्रवर्तकत्वेन परम्पराऽनुग्रहकरास्तीर्थकरा इति तीर्थकरत्वसिद्धिः । किञ्च-सर्वेऽपि निरुपमधृतिसंहननाश्छद्मस्थावस्थाया चतुर्ज्ञाना अतिशयसत्त्वसंपन्ना अच्छिद्रपाणिपात्रा जितसमस्तपरीषहाश्च यस्मात्तेन वस्त्राभावेऽपि सयमविराधनाऽऽदीन् दोषान् न प्राप्नुवन्ति । तथा च सवस्त्रा एव साधवश्चिरं स्थास्यन्ति इत्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं गृहीतैकवस्त्रा सर्वेऽपि तीर्थकृतोऽभिनिष्क्रामन्ति, तस्मिंश्च वस्त्रे क्वापि पतिते वस्त्ररहितास्ते भवन्ति, न पुन सदा । * ननु सर्वोऽपि प्रेक्षावान् फलार्थी प्रवर्तते, अन्यथा प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसङ्ग । ततोऽसौ तीर्थं कुर्वन्नवश्यं फलमपेक्षते, फल चापेक्षमाणोऽस्मादृश इव व्यक्तमवीतराग । तदयुक्तम् । यतस्तीर्थकर. स एव भवति , यस्तीर्थकरनामकर्मोदयसमन्वित । न हि सर्वेऽपि भगवन्तो वीतरागास्तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्तन्ते , तीर्थकरनामकर्मैव तीर्थप्रवर्तनफलम् । ततो भगवान् वीतरागोऽपि तीर्थकरनामकर्मोदयतस्तीर्थप्रवर्तनस्वभाव सवितेव प्रकाशमुपकार्योपकारानपेक्ष तीर्थं प्रवर्तयतीति न कश्चिद् दोष. । उक्त च-

" तीर्थप्रवर्तनफल, यत्प्रोक्त कर्म तीर्थकरनाम ।

तस्योदयात् कृतार्थोऽप्यर्हंस्तीर्थं प्रवर्तयति ॥ १ ॥
तत्स्वाभाव्यादेव, प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम् ।
तीर्थप्रवर्तनाय, प्रवर्तते तीर्थकर एवम् ॥ २ ॥ "

ननु तीर्थप्रवर्तनं नाम प्रवचनार्थप्रतिपादनं, प्रवचनार्थं चेद् भगवान् प्रतिपादयति,तर्हि नियमादसर्वज्ञः,सर्वस्यापि वक्तुरसर्वज्ञतयोपलम्भात् । तथा चात्र प्रयोगः विवक्षितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति,वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवदिति । तदसत् । सन्दिग्धव्यतिरेकतया हेतोरनैकान्तिकत्वात् । तथाहि वचनं न सर्ववेदनेन सह विरुद्ध्यते,अतीन्द्रियेण सह विरोधानिश्चयात् । द्विविधो हि विरोधः-परस्परपरिहारलक्षणः, सहानवस्थानलक्षणश्च । तत्र परस्परपरिहारलक्षणः तादात्म्यप्रतिषेधे, यथा घटपटयोः । न खलु घटः पटाऽऽत्मको भवति, नापि पटो घटाऽऽत्मको भवति, "न सत्ता सत्तान्तरमुपैति ।" इति वचनात्, ततो नानयोः परस्परपरिहारलक्षणो विरोधः । एवं सर्वेषामपि वस्तूनां भावनीयम् । अन्यथा वस्तुसाङ्कर्यप्रसक्तेः । यस्तु सहानवस्थानलक्षणो विरोधः, स परस्परबाध्यबाधकभावसिद्धौ सिद्ध्यति, नान्यथा, यथा वह्निशीतयोः । तथाहि-विवक्षिते प्रदेशे मन्दमन्दमभिज्वलनवति वह्नौ शीतस्यापि मन्दमन्दभावः । यदा पुनरत्यर्थंज्वालामतिविमुञ्चति वह्निस्तदा सर्वथा शीतस्याभाव इति भवत्यनयोर्विरोधः । उक्तं च-"अविकलकारणमेकं, तदपरभावे यदाऽऽभवन्न भवेत् । भवति विरोधः स तयोः, शीतहुताशाऽऽत्मनोर्दृष्टः ॥१॥" न चैवं वचनसंवेदयोः परस्परं बाध्यबाधकभावः,न हि संवेदने तारतम्येनोत्कर्षमासादयति वचस्वितायाः तारतम्येनापकर्ष उपलभ्यते, तत्कथमनयोः सहानवस्थानलक्षणो विरोधः, अथ सर्ववेदी वक्ता नोपलब्ध इति विरोध उद्घुष्यते । तदयुक्तम् । अत्यन्तपरोक्षो हि भगवान्, ततः कथमनुपलम्भमात्रेण तस्याभावनिश्चयः, अदृश्यविषयस्यानुपलम्भस्याभावनिश्चायकत्वायोगात् । सर्वे चैते तीर्थकरसम्बन्धिविषया 'तित्थयर' शब्दे २२४६ पृष्ठतः २३१२ पृष्ठपर्यन्तं विद्वद्भिर्विलोकनीयाः ।

अथ द्रव्यस्तव-भावस्तवयोः को विशेषः,कुत्र च फलाऽऽधिक्यमित्यत्राऽऽह-ननु वित्तपरित्यागाऽऽदिना द्रव्यस्तव एव ज्यायानिति अल्पबुद्धीनां शङ्कासंभवः, तत्राऽऽह-" दव्वत्थओ य भाव-त्थओ य दव्वत्थओ बहुगुणो त्ति । बुद्धि सिया अनिउणमइ-वयणमिणं छज्जीवहियं ॥४॥ छज्जीवकायसंजमो, दव्वत्थए सो विरुज्झई कसिणो । तो कसिणसंजमविऊ, पुप्फाईयं न इच्छंति ॥५॥" यद्येवं किमयं द्रव्यस्तव एकान्ततो हेय एव वर्तते, आहोस्विदुपादेयोऽप्यस्ति ?। उच्यते-साधूनां हेय एव, श्रावकाणामुपादेयोऽपि । तथाहि-"अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥६॥" आह-य प्रकृत्यैवासुन्दरः स कथं श्रावकाणामपि युक्तः ?। उच्यते-कूपदृष्टान्तोऽत्र बोद्धव्यः । यथा कोऽपि तृषाऽपनोदार्थं कूपं खनति । यद्यपि पूर्वं तस्य मृत्तिकाकर्दमाऽऽदिना शरीरं मलिनीभवति, तथाऽपि तदुद्गतेन पानीयाऽऽदिना प्रक्षाल्यते गात्रं, ततः स अन्ये च जनाः सुखभाजना भवन्ति । एवं द्रव्यस्तवेऽपि यद्यप्यसंयमस्तथाऽपि तत एव सा परिणामबुद्धिर्भवति, याऽसंयमवर्जं सर्वं निरवशेषं क्षपयति । किञ्च-"अप्पविरियस्स पढमो, सहकारिविसेसभूअओ सेओ । इयरस्स बज्झचाया,इयरो च्चिय एस परमत्थो ॥७॥ दव्वत्थयं पि काउं, ण तरइ जो अप्पवीरियत्तेण । परिसुद्धं भावथयं, काही सो भावओ एस ॥ ३ ॥ " एतदेव स्पष्टयति-" जो गज्झआणा, णो इत्तरिअं पि णिग्गहं कुणइ । इह अप्पणो सयासे, सव्वथावणा काइ जुत्ता ? ॥ ४ ॥ " किञ्च-आरम्भत्यागेन ज्ञानाऽऽदिगुणेषु वर्धमानेषु द्रव्यस्तवादिरपि न भवति कर्तुं शोभाय । विवेचनमस्य ' थय ' शब्दे २३८४ पृष्ठपर्यन्तं द्रष्टव्यं प्रमाणवद्भिः ।

'थविरकप्प' शब्दे २३८६ पृष्ठे स्थविरकल्पविचारः । तथाहि-द्विविधा भवन्ति साधवः । गच्छप्रतिबद्धाः, गच्छबहिर्गताश्च । पुनरेकैकशो द्विधा जिनकल्पिकाः , स्थविरकल्पिकाश्च । एतेषां स्थविरकल्पिकजिनकल्पिकानां परस्परमयं विशेषः । तथाहि-

" थेराणं नाणत्तं, अनवरत अणिगंति गच्छम्मि ।
गच्छे निरवज्जेणं, करेंति सव्वं पि पडिकम्मं ॥ १ ॥
एगेगपडिग्गहगा, सप्पाउरणा हवंति थेरा उ ।
जेसिं उण जिनकप्पे, न य तेसिं वत्थपायाणि ॥ २ ॥
निप्पडिकम्मसरीरा, अवि अच्छिमल पि नेव अवणिंति ।
विसहंति जिणा रोगं, कारेंति कयाइ न तेगिच्छं ॥ ३ ॥
सजमकरणुज्जोया, णिप्फातग णाणदंसणचरित्ते ।
दीहाउ वुड्ढवासे, वसहीदोसेहि य विमुक्का ॥ ४ ॥
मोत्तु जिणकप्पठिइं, जा मेरा एस वन्निया हेट्ठा ।
एसा उ दुपदजुत्ता, होति ठिती थेरकप्पस्स ॥ ५ ॥ " इति ।

ननु द्रव्यस्तवो गृहस्थैः कर्तव्य इति पूर्वं यदुक्तं तत्र " वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानस्य कारणता " इति न्यायाद् द्रव्यस्वरूपनिर्वचनं कर्तव्यम् । उच्यते-" गुणपर्याययोः स्थानमेकरूपं सदाऽपि यत् । स्वजात्या द्रव्यमाख्यातं, मध्ये भेदो न तस्य वै ॥ १ ॥ " व्याख्या चैषा-गुणपर्याययोर्भाजनं कालत्रये एकरूपं द्रव्यं स्वजात्या निजत्वे एकस्वरूपं भवति, परं पर्यायवद् न परावृत्तिं लभते तद् द्रव्यमुच्यते । यथा ज्ञानाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं जीवद्रव्यम्, रूपाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं पुद्गलद्रव्यम्, सर्वरक्तत्वाऽऽदिघटत्वाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं मृद्द्रव्यम् । यथा वा तन्तवः पटापेक्षया द्रव्यं, पुनस्तन्तवोऽवयवापेक्षया पर्यायाः । कथम् ?, यतः पटविचाले पटावस्थाविचाले च तन्तूनां भेदो नास्ति, तन्त्ववयवावस्थायामन्वयत्वरूपो भेदोऽस्ति, तस्मात् पुद्गलस्कन्धमध्ये द्रव्यपर्यायत्वमापेक्षिकं बोध्यम् । अथ कश्चिदेवं कथयिष्यति-द्रव्यत्वं तु स्वाभाविकं न जातम्, आपेक्षिकं जातं, तदा तं समाधत्ते-यत् सकलवस्तूनां व्यवहारापेक्षयैव जायते, न तु स्वभावेनैव, तस्मादत्र न कश्चिद् दोषः । ये च समवायिकारणप्रमुखैर्द्रव्यलक्षणं मन्वते, तेषामपि अपेक्षामनुसर्तव्यैवेति । ' गुणपर्यायवद् द्रव्यम् । ' इति तत्त्वार्थे ।

" सहभावी गुणो धर्मः, पर्यायः क्रमभाव्यथ ।
भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधा , त्रिलक्षणयुता इमे ॥ १ ॥
मुक्ताभ्यः श्वेतताऽऽदिभ्यो, मुक्तादाम यथा पृथक् ।
गुणपर्याययोर्व्यक्ते-र्द्रव्यशक्तिस्तथाऽऽश्रिता ॥ २ ॥ "

किञ्च-' गुणाऽऽश्रयो द्रव्यम् । ' यदुक्तम्-" गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा । लक्खणं पज्जवाणं तु, दुहओ अस्सिया भवे ॥६॥" तथाहि-गुणानामाश्रयो,यत्रस्थास्ते उत्पद्यन्ते, उत्पद्य चावतिष्ठन्ते, प्रलीयन्ते च तद् द्रव्यम् । अनेन रूपाऽऽदय एव वस्तु, न तद्व्यतिरिक्तमन्यदिति ताथाग-

तमतमपास्तम् । तथाहि-यदुत्पादविनाशयोर्न यस्योत्पादविनाशौ न तत्ततोऽभिन्नम्, यथा घटात्पटः, न भवत पर्यायोत्पादविनाशयोर्द्रव्यस्योत्पादविनाशौ । न चायमसिद्धो हेतु, स्थासकोशकुशूलाऽऽद्यवस्थासु मृदादिद्रव्यस्याऽऽनुगामित्वेन दर्शनात् । न चास्य मिथ्यात्वं, कदाचिदन्यथादर्शनासिद्धे । उक्तं च-" यो ह्यन्यरूपसंवेद्य, सम्वेद्येतान्यथा पुन । स मिथ्या न तु तेनैव, यो नित्यमवगम्यते ॥ १ ॥' तथैकस्मिन् स्वाऽऽधारभूते द्रव्ये आश्रिता गुणा रूपाऽऽदय । एतेन च ये द्रव्यमेवेच्छन्ति, तद्व्यतिरिक्तांश्च रूपाऽऽदीन् अविद्योपदर्शितानाहु, तन्मतनिषेध कृत । संक्षिप्ता हि विषयव्यवस्थितय. । न च रूपाऽऽद्युत्कलितरूपं कदाचित् केनचिद् द्रव्यमवगतम्, अवगम्यते वा, अतस्तद्विवर्त एव रूपाऽऽदयो, न तु नास्तिका. केचन तद्भेदेन सन्ति । नन्वेवं रूपाऽऽदिविवर्तो द्रव्यमित्यपि किं न कल्पते ?, अथ तथैव प्रतीति, एवं सति प्रतीतिरुभयत्र साधारणेत्युभयमुभयाऽऽत्मकमस्तु* । अनेन च य एवमाहु यदाद्यन्तयोरसत्, मध्येऽपि तत्तथैव, यथा मरीचिकाऽऽदौ जलाऽऽदि । न सन्ति च कुशूलकपालाऽऽद्यवस्थयोर्घटाऽऽदिपर्याया, ततो द्रव्यमेवाऽऽदिमध्यान्तेषु सत्, पर्याया पुनरसन्त, यैरान्तराऽऽकाशाऽऽदिभि सदृशा अपि भ्रान्तै सत्यतया लक्ष्यन्ते । यथोक्तम्-" आदावन्ते च यन्नास्ति, मध्येऽपि हि न तत् तथा । वितथै सदृशा सन्तोऽवितथा इव लक्षिता । ॥ १ ॥" ते अपाकृता । तथाहि-आद्यन्तयोरसत्त्वेन मध्येऽप्यसत्त्व साधयतामिदमाकूतम्-यत् क्वचिदसत् तत् सर्वस्मिन्नसत् इति, ततश्च मृद्द्रव्यं अपद्रव्यस्यासत्त्वात् सर्वस्मिन्नप्यसत्त्वप्रसङ्ग । अथेष्टमेवैतत्, सत्तामात्रस्यैव तत्त्वत इष्टत्वात् । उक्तं हि-' सर्वमेक सदविशेषात् । ' नन्वेवमभावे भावाभावाद् भावस्यापि सर्वत्राभावप्रसङ्ग, तस्माद् बाधकप्रत्ययोदय एवासत्त्वेऽपि निबन्धनमिति न क्वचिदसत्त्व तस्याव्यवस्थभाव, ततो द्रव्यवत् पर्यायाणामप्यबाधितबोधविषयत्वे सत्यमस्तु, तथा गुणेष्वपि नवपुराणाऽऽदिपर्याया प्रत्यक्षप्रतीता एव कियत्कालभाविन, प्रतिसमयभाविनस्तु पुराणत्वाऽऽद्यन्यथाऽनुपपत्तेरनुमानतोऽवसीयन्ते । ततश्च द्रव्यगुणपर्यायाऽऽत्मकमेकं सबलमणिवत् चित्रपतङ्गाऽऽदिवद् वा वस्त्विति स्थितम् । " दव्वं पज्जवविजुतं, दव्वविउत्ता य पज्जवा नऽत्थि । उप्पायट्ठिइभंगा, हंदि दवियलक्खण एय ॥ १२ ॥ " अथ द्रव्यभेदा इमे-" धम्मो अधम्मो आगास, कालो पुग्गल-जंतवो । एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ ७ ॥ " अनन्तरोक्तद्रव्यषट्काऽऽत्मकत्व लोकस्य । उक्तं हि-" धर्माऽऽदीना वृत्ति-र्द्रव्याणा भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यै सह लोक., तद्विपरीतं ह्यलोकाऽऽख्यम् ॥ १ ॥ " किञ्च-एतेऽपि भेदवन्त । तथा चाऽऽह-"धम्मो अधम्मो आगास एग दव्वं वियाहिय । अणताणि उ दव्वाणि, कालो पोग्गल-जतवो ॥८॥ " वैशेषिकरीत्या द्रव्यप्रतिपादन, तत्खण्डनं च ' दव्व ' शब्दे २४६५ पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।

जिनवचनादेवाभयदानाऽऽदीनां महाफलदत्वमुक्तमस्ति । तथाहि-

" दानेन महाभोगो, देहिना सुरगतिश्च शीलेन ।
भावनया च विमुक्ति, तपसा सर्वाणि सिद्ध्यन्ति ॥ १ ॥"

' दाणं च तत्थ तिविह, नाणपयाणं च अभयदाण च ।
धम्मोवग्गहदाणं, च नाणदाण इम तत्थ ॥ ५२ ॥ '

" दिंतो य माणदाणं, भुवणे जिणसासणं समुद्धरइ ।
सिरिपुंडरीयगणहर, इव पावइ परमपयमतुलं ॥ ६५ ॥
ता दायव्व नाण, अणुसरियव्वा सुनाणिणो मुणिणो ।
नाणस्स सया भत्ती, कायव्वा कुसलकामेहिं ॥ ६६ ॥
बीय तु अभयदाण, तं इह अभयेण सयलजीवाणं ।
अभउ त्ति धम्ममूल, दयाइधम्मो पसिद्धमिणं ॥ ६७ ॥
इक्क चिअ अभयपया-णमित्थ दाऊण सव्वसत्ताणं ।
बहवाऽऽउह व्व कमसो, सिज्झंति पहीणजरमरणा ॥६८॥ "
" धम्मोवग्गहदाण, तइयं पुण असणवसणमाईणि ।
आरभनियत्ताण, साहूण इति देयाणि ॥ १०० ॥
तित्थयरचक्कवट्टी-बलदेवा वासुदेवमडलिया ।
जायंति जगब्भहिया, सुपत्तदाणप्पभावेणं ॥ १०१ ॥
जह भयव रिसहजिणो, घयदाणबलेण सयलजयनाहो ।
जाओ जह भरहवई, भरहो मुणिभत्तदाणेण ॥ १०२ ॥
दसणमित्तेण वि मुणि-वराण नासेइ दिणकय पावं ।
जो देइ ताण दाण, तेण जए किं न सुविढत्त ॥ १०३ ॥ "
"न तवो सुट्ठु गिहीण, विसयाऽऽसत्ताण होइ न हु सीलं ।
सारभाण न भावो, तो साहीण सया दाणं ॥ १०६ ॥ "
" ता तेसिं दायव्वं, सुद्ध दाण गिहीहि भत्तीए ।
अणुकंपोचियदाण, दायव्वं नियसत्तीए ॥ १०५ ॥ "

अनूदितं चैतत् श्रीहेमसूरिभि -

" प्राय· शुद्धैस्त्रिविधविधिना प्रासुकैरेषणीयै,
कल्पप्रायैं स्वयमुपहितै वस्तुभि· पानकाऽऽद्यै· ।
काले प्राप्तान् सदनमसमश्रद्धया साधुवर्गान्,
धन्याः केचित् परमविहिता., हन्त संमानयन्ति ॥ १ ॥"

तथा च दाने मनोहारिणी कृतपुण्यकथा २४६१ पृष्ठे विलोकनीया । दान प्रति विधिनिषेधविचारौ २४६६ पृष्ठ विद्वद्भिरवधार्यौ । जिनवचनप्रसङ्गात् साम्प्रत ज्ञानत्रयभावाभावयोर्दीक्षाऽधिकारित्वानधिकारित्वप्रतिपादनायाऽऽह-"अस्मिन् सति दीक्षाया, अधिकारी तत्त्वतो भवति सत्त्व । इतरस्य पुनर्दीक्षा, वसन्तनृपसन्निभा ज्ञेया ॥ १ ॥" इत्यादि दीक्षासंबन्धिन सर्वं विषय ' दिक्खा ' शब्दे २५०६ पृष्ठत. २५०८ पृष्ठपर्यन्त विलक्षणविचक्षणाः पश्यन्तु ।

दीक्षाया दु खनिवारकत्वेन फलदत्वमुक्तम् । दु खस्वरूप तु जिनवचने-"दु ख स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवेद् गर्भवासो नराणा, बालत्वे चाऽपि दु ख मललुलिततनुस्त्रीपय पानमिश्रम् । तारुण्ये चापि दु ख भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसार, ससारे रे मनुष्या !, वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ? ॥१॥" तथाहि-" जाणति अणुहवति य, अणुजम्मजरामरणसभवे दुक्खे । न य विसएसु विरज्जति, दुग्गइगमणपत्थए जीवे ॥१॥ " " दुक्खमेवमवीसाम, सव्वेसिं जगजंतुणो । एगं समयं तसभावे, ज सम्म अहियासियं ॥ १ ॥ " " सर्व परवशं दु ख, सर्वमात्मवश सुखम् । एतदुक्तं समासेन, लक्षण सुखदु खयो ॥ १ ॥ " पुण्यापेक्षमपि ह्येवं, सुखं परवश स्थितम् । ततश्च दु खमेवैतद्, ध्यानजं तात्त्विकं सुखम् ॥ १ ॥" तथा च " सूईहिं अग्गिवण्णाहिं, संभिन्नस्स ?. रंतर । जावइय गोयमा ! दुक्ख, गब्भे अट्ठगुणं तओ ॥ १

गब्भाओ निप्पडंतस्स, जोणिजतनिपीलणे । कोटीगुणं तयं दुक्खं, कोडाकोडीगुणं पि वा ॥ २ ॥ जायमाणाण ज दुक्खं. मरमाणाण जतुणो । तेण दुक्खविवागेण, जाइ न सरंति अप्पणो ॥ ३ ॥ " तथाच दु खवर्णक –"काल गमेति दुक्खेहिं, मणुया पुन्नेहि उज्झिया । दुक्ख मणुयजाईण, गोयम ! ज तं निवोधत ॥१॥ जमणुसमयमणुभवताण, सयहा उव्वेइयाण वि । निव्विणाणं पि दुक्खेहिं, वेरग्ग न तहा भवे ॥२॥" अच्छिनिमीलणमित्तं, नऽत्थि सुह दुक्खमेव अणुबद्धं । नरए नेरइयाणं, अहोनिसं पच्चमाणाण ॥ १ ॥ जं निरए नेरइया, दुक्ख पावंति गोयमा ! तिक्खं । तं पुण निगोयमज्झे, अणंतगुणिय मुणेयव्वं ॥ १ ॥ " इत्यादि सर्वं ' दुक्ख ' शब्दे विवृतम् ।

जिनवचनाऽश्रद्दधानस्य जमालेरिव ' दोकिरिय ' शब्दे आर्यगङ्गस्य चरितम् । तथाहि–उल्लुकातीर नाम नगरम् , तत्र च महागिरिशिष्यो धनगुप्तो नाम, तस्यापि शिष्य आर्यगङ्गो नामाऽऽचार्यः । अयं च नद्या. पूर्वतटे, तदाचार्यास्त्वपरतटे, ततोऽन्यदा शरत्समये सूरिवन्दनार्थं गच्छन् गङ्गो नदीमुत्तरति,स च खल्वाट'। ततस्तस्योपरिष्टाद् उष्णेन दह्यते खल्ली,अधस्तात्तु नद्या. शीतलजलेन शैत्यमुत्पद्यते। ततोऽन्तरे कथमपि मिथ्यात्वमोहनीयोदयादसौ चिन्तितवान्–अहो सिद्धान्ते किल युगपत् क्रियाद्वयानुभवो निषिद्ध , अहं त्वेकस्मिन् एव समये शैत्यमौष्ण्य च वेदयामि, अनुभवविरुद्धत्वान्नेदमागमोक्तं शोभनमाभातीति विचिन्त्य गुरुभ्यो निवेदयामास । ततस्तैर्वक्ष्यमाणयुक्तिभि प्रज्ञापितोऽसौ यदा च स्वाग्रहग्रस्तबुद्धित्वाद् न किञ्चित् प्रतिपद्यते, तदा उद्घाट्य बाह्य कृतो विहरन् राजगृहनगरमागत. । तत्र च महातपस्तीरप्रभवनाम्नि प्रस्रवणे मणिनागनाम्नो नागस्य चैत्यमस्ति । तत्समीपे च स्थितो गङ्ग पर्षत्पुरस्सरं युगपत् क्रियाद्वयवेदन प्ररूपयति स्म । तच्च श्रुत्वा प्रकुपितो मणिनाग तमवादीत्–अरे दुष्ट शिक्षक ! किमेवं प्रज्ञापयसि ? । यतोऽत्रैव प्रदेशे समवसृतेन श्रीमद्वर्धमानस्वामिना एकस्मिन् समये एकस्या एव क्रियाया वेदनं प्ररूपितम् । तच्चेह मयाऽपि श्रुतम् । तत् किं ततोऽपि लष्टतर प्ररूपको भवान्, येनैव युगपत् क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयसि ? । तत् परित्यज चैता कूटप्ररूपणाम् , अन्यथा नाशयिष्यामि त्वाम् । इत्यादि तदुदितभयवाक्यैर्युक्तिवचनैश्च प्रबुद्धोऽसौ मिथ्यादुष्कृत दत्त्वा गुरुमूल गत्वा प्रतिक्रान्त इति । ' दोकिरिय ' शब्दे २६३५ पृष्ठत आरभ्य विलोकनीयोऽयं विषय इति विस्तरभयाद् विरम्यतेऽस्मिन् विषयेऽस्माभि ।

ननु जिनवचनश्रवणं जिनाऽऽज्ञापालनं च जैनाना सम्यक्त्विना परमो धर्म इति धर्मपदार्थसार्थनिरूपणा निरूपयितव्येति तामेवाऽऽचष्टे द्विधा हि धर्मशब्दस्य प्रवृत्तिर्लोके विलोक्यते । तथाहि–सर्वत्र वस्तुनि यद् वस्तुन स्वभाव स धर्म उच्यते । यथा घटे घटत्व, मनुष्ये मनुष्यत्वमित्यादि । तथा चोक्तम्–"धर्मा सहभाविन , पर्याया क्रमभाविन ।" 'धम्मो त्ति वा सभावो त्ति वा एगट्ठा ।' दुर्गतौ प्रपतन्त जीव धारयतीति धर्म , स च क्लेशनिवृत्तिनिर्वृतिप्राप्तिसाधन स्वर्गमोक्षाऽऽदिप्रापको मनुष्येणेतिकर्तव्यतारूपो हृदयसवेद्यो मातापितृसुहृत्सन्नेद्य ससारगर्ताऽवटनिपतनप्रहाणप्रवण परमपुनीत' कस्य चेतो नावस्कन्दति । तत्र शब्दप्रवृत्तिनिमित्तरूपस्य(गौणस्य)धर्मस्य धर्मिणा सहैकान्तेन भेदेऽभ्युपगम्यमाने धर्मिणो नि स्वभावताऽऽपत्ति', स्वभावस्य धर्मत्वात् तस्य च ततोऽन्यत्वात्, स्वो भावः स्वभाव , तस्यैवाऽऽत्मीया सत्ता, न तु तदर्थान्तरं धर्मरूपं, ततो न नि स्वभावताऽऽपत्तिरिति चेत् । न । इत्थं स्वरूपसत्ताऽभ्युपगमे तदपरसत्तासामान्ययोगकल्पनाया वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अपि च–यद्येकान्तेन धर्मधर्मिणोर्भेद ततो धर्मिणो ज्ञेयत्वाऽऽदिभिर्धर्मैरननुवेधात् तस्य सर्वथाऽनवगमप्रसङ्ग , न ह्यज्ञेयस्वभावं ज्ञातु शक्यते इति । तथा च सति तदभावप्रसङ्ग , कदाचिदप्यवगमाभावात् , तथाऽपि तत्सत्त्वापगमेऽतिप्रसङ्ग ,अन्यस्यापि यस्य कस्यचित् कदाचिदप्यनवगतषष्ठभूताऽऽदेर्भावाऽऽपत्ते । एव च धर्म्यभावे धर्माणामपि ज्ञेयत्वप्रमेयत्वाऽऽदीना निराश्रयत्वादभावाऽऽपत्ति । न हि धर्म्याधाररहिता क्वापि धर्मा. संभवन्ति, तथाऽनुपलब्धे । अन्यच्च–परस्परमपि तेषा धर्माणामेकान्तेन भेदाभ्युपगमे सत्त्वाऽऽद्यननुवेधात् कथं भावाभ्युपगम ?,तदन्यसत्त्वाऽऽदिधर्माभ्युपगमे च धर्मित्वप्रसक्तिरनवस्था च । तन्नैकान्ताभेदपक्षे धर्मधर्मिभाव. । नाप्येकान्तभेदपक्षे,यतस्तस्मिन् अभ्युपगम्यमाने धर्ममात्र वा स्यात्, धर्मिमात्र वा ? । अन्यथैकान्तभेदानुपपत्ते , अन्यतराभावाद् वा अन्यतरस्याप्यभाव , परस्परनान्तरीयकत्वात् । धर्मनान्तरीयको हि धर्मी, धर्मिनान्तरीयकाश्च धर्मा., तत कथमेकाभावे पररूपावस्थानमिति ? । कल्पितो धर्मधर्मिभावस्ततो न दूषणमिति चेत्तर्हि वस्त्वभावप्रसङ्ग. । न हि धर्मधर्मिस्वभावरहितं किञ्चिद् वस्त्वस्ति, धर्मधर्मिभावश्च कल्पित इति तदभावप्रसङ्ग । धर्मा एव कल्पिता न धर्मी, तत्कथमभावप्रसङ्ग इति चेत् , न । धर्माणा कल्पनामात्रभावत्वाभ्युपगमेन परमार्थतोऽसत्त्वाभ्युपगमात् , तदभावे च धर्मिणोऽप्यभावाऽऽपत्ति. । अथ तदेवैक स्वलक्षण सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्त्येकस्वभावा धर्मिव्यावृत्तिनिबन्धनाश्च या व्यावृत्तयो भिन्ना इव विकल्पितास्ता धर्मास्ततो न कश्चिद् दोष । तदप्यसङ्गतम् । एवं कल्पनाया वस्तुनोऽनेकान्तात्मकताप्रसक्ते । अन्यथा सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्त्ययोगात्, न हि येन निजस्वभावेन घटाद् व्यावर्तते पटस्तेनैव स्तम्भादपि, स्तम्भस्य घटरूपताप्रसक्ते' । तथाहि–घटाद् व्यावर्तते घटव्यावृत्तिस्वभावतया, स्तम्भादपि चेत् घटव्यावृत्तिस्वभावतयैव व्यावर्तते, तर्हि बलात् स्तम्भस्य घटरूपताप्रसक्ति । अन्यथा–तत तत्स्वभावतया व्यावृत्त्ययोगात् । तस्माद् यतो यतो व्यावर्तते तत्तद्व्यावृत्तिनिमित्तभूता स्वभावा अवश्यमभ्युपगन्तव्या , ते चानेकान्तेन धर्मिणो भिन्ना , तदभावप्रसङ्गात् । तथा च तदवस्थ एव पूर्वोक्तो दोष , तस्माद् भिन्ना अभिन्नाश्च । भेदाभेदोऽपि धर्मधर्मिणो कथमिति चेत् , उच्यते–इह यद्यपि तादात्म्यतो धर्मिणा धर्मा सर्वेऽपि लोलीभावेन व्याप्ता तथाऽप्ययं धर्मी, एते धर्मा इति परस्परं भेदोऽप्यस्ति, अन्यथा तद्भावानुपपत्ति । तथा च सति प्रतीतिबाधा, मिथो भेदेऽपि च विशिष्टान्योन्यानुवेधेन सर्वधर्माणा धर्मिणा व्याप्तत्वादभेदोऽप्यस्ति, अन्यथा तस्य धर्मा इति प्रसङ्गानुपपत्तेरित्यलमप्रासङ्गिकवस्तुस्वभावरूपधर्मनिरूपणेन ।

अथ प्रकृत निर्वृतिप्राप्तिसाधनीभूत धर्मं प्रस्तुम -

" वचनादविरुद्धाद् य-दनुष्ठान यथोदितम् । मैत्र्यादिभावसंमिश्र, तद्धर्म इति कीर्त्यते ॥ ३ ॥ ' तथाहि-यदनुष्ठानमिहलोकपरलोकावपेक्ष्य हेयोपादेययोरर्थयोरिहैव शास्त्रे यद्यमाणलक्षणा प्रवृत्तिरिति तद्धर्म इति कीर्त्यते । " धर्मश्चित्तप्रभवो, यत क्रियाऽधिकरणोऽऽश्रय कार्यम् । मलविगमेनैतत् खलु, पुष्ट्यादिमदेव विज्ञेय ॥ २ ॥ रागाऽऽदयो मला. खल्वागमसद्योगतो विगम एषाम् । तदय क्रियात एव हि, पुष्टिः शुद्धश्च चित्तस्य ॥ ३ ॥ पुष्टि पुण्योपचय, शुद्धि. पापक्षयेण निर्मलता । अनुबन्धिनि द्वयेऽस्मिन्, क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया ॥ ४ ॥ " अमुमेव धर्म भेदत प्रभेदतश्च यदन्ति यतिन विपतय -" स द्विधा स्यादनुष्ठातृ-गृहिसंयतिविभागतः । सामान्यतो विशेषाच्च, गृहिधर्मोऽप्यय द्विधा ॥ ४ ॥ " " धम्मो बावीसविहो, अगारधम्मोऽणगारधम्मो य । पढमो य बारसविहो, दसहा पुण बीयओ होइ ॥१॥ " एवमाधं चाऽऽह सूरय -" सम्मत्तमूलमणुवय-पणग तिन्नि उ गुणव्वया होंति । सिक्खावयाइ चउरो, बारसहा होइ गिहिधम्मो ॥ २ ॥ ' तथा च-" खन्ती य मद्दवऽज्जव, मुत्ती तव सजमे य बोधव्वे । सच्च सोय आकिं-चण च बभ च जइधम्मो ॥ ४ ॥ " तथाहि-" पञ्चाऽऽस्रवाद्विरमण, पञ्चेन्द्रियनिग्रह कषायजय । दण्डत्रयविरतिश्चेति सयम सप्तदशभेद ॥ १ ॥ " ' दुविहो उ भावधम्मो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य । सुयधम्मे सज्झाओ, चरित्तधम्मे समणधम्मो ॥ १ ॥ " अथवा-" इह होइ भावधम्मो, सुयचरणे वा सुयम्मि सज्झाओ । चरणम्मि समणधम्मो, खन्ती मुत्ती भवे दसहा ॥ १ ॥ " अथवा- 'लोइयलोउत्तरिओ, दुविहो पुण होति भावधम्मो उ । दुविहो वि दुविहतिविहो, पचविहो होति नायव्वो ॥ १ ॥ " तथाहि-भावधर्मो नोआगमतो द्विविध । तद्यथा-लौकिको, लोकोत्तरश्च । तत्र लौकिको द्विविधः-गृहस्थानां, पाखण्डिनां च । लोकोत्तरस्त्रिविध -ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात् । तत्राऽऽभिनिबोधिकं ज्ञान पञ्चधा । दर्शनमप्यौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकवेदकक्षायिकभेदात् पञ्चविधम् । चारित्रमपि सामायिकाऽऽदिभेदात् पञ्चविधम् । " दव्वं च अत्थिकाओ, पयारधम्मो य भावधम्मो य । दव्वस्स पज्जवा जे, ते धम्मा तस्स दव्वस्स ॥ ४० ॥ " तथाहि-" धम्मत्थिकायधम्मो, पयारधम्मो य विसयधम्मो उ । लोइय कुप्पावणिओ, लोगुत्तर लोगणेगविहो ॥ ४१ ॥ " अनेकविधत्व तु-" गम्मपसुदेसरज्जे, पुरवरगामगणगोट्ठिराईण । सावज्जो उ कुतित्थियधम्मो न जिणेहिँ उ पसत्थो ॥ ४२ ॥ " " औदार्य दाक्षिण्य, पापजुगुप्साऽथ निर्मलो बोध' । लिङ्गानि धर्मसिद्धे, प्रायेण जनप्रियत्व च ॥ १ ॥ " " आरोग्ये सति यद्वद्, व्याधिविकारा भवन्ति नो पुसाम् । तद्वद् धर्माऽऽरोग्ये, पापविकारा अपि ज्ञेया. ॥ १ ॥ तथास्य विषयतृष्णा, प्रजघन्युच्चैर्न दृष्टिसमोह । अरुचिर्न धर्मपथ्ये, न च पापा क्रोधकण्डूति ॥ २ ॥ " " जीवदय सच्चवयण, परधणपरिवज्जण सुसील च । खन्ती पचिन्दियनि-ग्गहो य धम्मस्स मूलाइ ॥१॥ ' धर्मानधिकारिणस्तु-" सुत्तेण चोइओ जो, अन्न उद्दिसिय त ण पडिवज्जे । सो तत्तवायवज्झो, न होइ धम्मम्मि अहिगारी ॥८॥ " सद्धर्मग्रहणयोग्यस्तु-" सविघ्नस्तच्छुतेरेव, ज्ञाततत्त्वो नरोऽनघ' । दृढ स्वशक्त्या जानेच्छ', सग्रहेऽस्य प्रवर्तते ॥ २० ॥ " किञ्च-य कश्चिद् विदितससारस्वभावतया धर्मचर्चकप्रवणतया पूर्वं प्रव्रज्याऽवसरे सयमानुष्ठानोत्थायी, पश्चाच्च श्रद्धासवेगतया विशेषेण वर्द्धमानपरिणामो नो निपाती, सिहतया निष्क्रान्त , सिहतया विहारी च, गणधराऽऽदिवत् । अथवा पूर्वोत्थायी, पुनर्विचित्रत्वात् कर्मपरिणतेरन्यथाविधभवितव्यतानियोगात् पश्चान्निपाती स्यात् , नन्दिषेणाऽऽदिवत् । कश्चिद् गोष्ठामाहिलवत् दर्शनतोऽपि, इत्यादि सर्वं ' धम्म ' शब्दे २६७३ पृष्ठे विवृतम । तदुद्भावकाश्चामी-' प्रावचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च । विद्यासिद्ध त्यान , कविरपि चोद्भावकाश्चामी ॥ १ ॥ ' तथा च परिपक्वबुद्धित्वात् मध्यमवया विशेषतो धर्मार्हः । यत उक्तमाचाराङ्गे-' मज्झिमेण वयसा एगे सबुज्झमाणा समुट्ठिता सोच्चा मेधावी वयण पण्डियाण णिसामिया समियाए धम्मे आयरियेहिं पवेदिते ते अणवकखमाणा अणतिवाएमाणा अपरिग्गहमाणा णो परिग्गहावंति, सव्वावति च ण लोगसि णिहाय दड पाणेहिं अकुव्वमाणे एस महं अगथे वियाहिए। " ततश्च-" धम्मो गुणा अहिसा-इया उ ते परममगलपइन्ना । देवा वि लोगपुज्जा, पणमति सुधम्ममिइ हेऊ ॥ १ ॥ दिट्ठतो अरहता, अणगारा य बहवो उ जिणसीसा । वत्तणुवत्ते नज्जइ, ज नरवइणो वि पणमति ॥ २ ॥ उवसहारो देवा, जह तह राया वि पणमइ सुधम्म । तम्हा धम्मो मगल-मुक्किट्ठमिइ य निगमण ति ॥ ३ ॥ " साम्प्रत प्रतिज्ञाशुद्धिरभिधीयते-" जह जिणसासणनिरया, धम्म पालेंति साहवो सुद्ध । न कुतित्थिएसु एवं, दीसइ परिपालणोवाओ ॥ ६३ ॥ " अत्राऽऽह त्वेष्वपि च तन्त्रान्तरीयधर्मेषु धर्मशब्दो लोके रूढ , तथा च यथातथ नैजमेव धर्मं प्रशसन्ति, ततश्च कथमेतदिति ?। अत्रोच्यते-ननूक्त पूर्वं सावद्य कुतीर्थिकधर्मं तीर्थकरै , षड्जीवनिकायपरिज्ञानाऽऽद्यभावादेवेत्यत्रापि बहु वक्तव्य तत्तु नोच्यते, विस्तरभयात् । तथा च-तन्त्रान्तरीयेषु धर्मेषु धर्मशब्दो य स उपचारेण, निश्चयेन तु जिनशासने, यथा सिंहशब्द सिंहे प्राधान्येन व्यवस्थित , उपचारेण तु माणवकाऽऽदौ । उपचारनिमित्त च शौर्यक्रौर्याऽऽदय , धर्मे त्वहिंसाऽऽद्यभिधानाऽऽदय । हेतुविशुद्धिस्तु-" ज भत्तपाणउवगर-णवसहिसयणाऽऽसणाइसु जयति । फासुय अकयअकारिय-अणणुमयाणुद्दिट्ठभोई य ॥ ६७ ॥ " तदन्ये पुन -" अफासुयकयकारिय-अणुमयउद्दिट्ठभोइणो हदि । तसथावरहिंसाए, जणा अकुसला उ लिप्पति ॥ ६८ ॥ " दृष्टान्तविशुद्धि -" जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रस । ण य पुप्फ किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पय ॥ २ ॥ " अत्र चैव व्यवस्थिते सति कोऽपि ब्रूयात्-यदिद पाकनिर्वर्तन गृहिभि क्रियते, तद् पुण्योपादानसकल्पेन श्रमणाना क्रियते सुविहितानां, गृह्णन्ति च ते ततो भिक्षामित्यत पाकोपजीवन

इति कृत्वा लिप्यन्ते आरम्भदोषेणाऽऽहारकरणक्रियाफलेनेति । लौकिका अप्याहु –" क्रयेण क्रायको हन्ति, उपभोगेन खादकः । घातको वधबन्धेन, इत्येष त्रिविधो वधः ॥ १ ॥ " अत्र प्रतिविधीयते–" वासइ न तणस्स कए, न तणं वड्ढइ कए मयकुलाणं । न य रुक्खा सयसाहा, फुल्लंति कए महुयराणं ॥ १०३ ॥ " पुनरपि चोदको वदति-इह यदुक्तं-वर्षति न तृणार्थमित्यादि । तदसाधु । यतः–" अग्गिम्मि हवी हूयइ, आइच्चो तेण पीणिओ संतो । वरिसइ पयाहिएणं, तेणोसहिओ परोहंति ॥ १०४ ॥ " अत्र पुनः प्रतिविधीयते–यद्येवं, किं दुर्भिक्षं जायते ?, यतः तद्धविः सदा हूयत एव, ततश्च कारणाविच्छेदेन कार्यविच्छेदोऽयुक्त एव । अथ भवेद् दुर्नक्षत्रं, दुर्ग्रहजं वा ?। अत्राप्युत्तरम्–किं जायते सर्वत्र दुर्भिक्षम्, नक्षत्रस्य दुरिष्टस्य वा नियतदेशविषयत्वात्, सदैव सद्वृष्टेर्न भावात् ?। उक्तं च–" सर्वत्र येषां सद्गावो, ब्राह्मणाश्च क्रियापराः । यतयः साधवश्चैव, विद्यन्ते स्थितिदेवत ॥ १ ॥ " साम्प्रतं पराभिप्रायं प्रदर्शयते– ' कस्सइ बुद्धी एसा, वित्ती उवकप्पिया पयावइणा । सत्ताणं तेण दुमा, पुप्फंती महुयरिगणट्ठा ॥ १०८ ॥ " अत्र प्रतिविधीयते–" तं पभवइ जेण दुमा, नामागोयस्स पुव्वविहियस्स । उदयेण पुप्फफलं, निव्वत्तइंती इमं चऽन्नं ॥ १०९ ॥ अत्थि बहू वणसंडा, भमरा जत्थ न उवेंति न वसंति । तत्थ वि पुप्फंति दुमा, पगई एसा दुमगणाणं ॥ ११० ॥ " अत्रोच्यते–यदि प्रकृतिः, किमिति पुनः सर्वकालं न प्रयच्छन्ति पुष्पफलम्, यस्मिन्नेव काले पुष्पफलं ददति, अत एव एषा पादपानां प्रकृतिर्यद् ऋतुसमये वसन्ताऽऽद्यागते सति वृक्षसङ्घाताः पुष्प्यन्ति, तथा फलं च कालेन बध्नन्ति, तदर्थानभ्युपगमे तु नित्यप्रसङ्गः । साम्प्रतं प्रकृतेऽप्युक्तार्थयोजनामुपन्यस्यति–" किं तु गिही रंधंती, समणाणं कारणा अहासमये । मा समणा भगवंतो, किलामपज्जा अणाहारा ॥ ११३ ॥ " अत्राऽऽह–न ह्येते हिरण्यग्रहणाऽऽदिनाऽस्माकमनुकम्पां कुर्वन्ति इति मत्वा भिक्षादानार्थं पाकं निर्वर्तयन्त्यन्न श्रमणानुकम्पानिमित्तं, तथा सामान्येन पुण्यनिमित्तं च गृहनिवासिन एव पाकं कुर्वन्ति । नैतदेवम् । यतः कान्तारे दुर्भिक्षे, ज्वराऽऽदौ महति समुत्पन्ने रात्रौ श्रमणाः सर्वाऽऽहारं न भुञ्जते, अथ किमिति पुनर्गृहस्थास्तत्रापि आदरतरेण राध्यन्ति, अतः प्रकृतिरेषा गृहिणां वर्तते यद् गृहिणो ग्रामनगरनिगमेषु राध्यन्ति आत्मनः परिजनस्यार्थाय, तत्र श्रमणाः तपस्विनः परार्थमारब्धं परार्थं च निष्ठितं धूमरहितमाहारमेषन्ते मनोयोगाऽऽदीनां संयमयोगानां वा साधनार्थम् । "ण हणइ ण हणावेइ हणंतं णाणुजाणइ । न किणइ न किणावेइ, किणंतं नाणुजाणइ । न पयइ न पयावेइ, पयंतं नाणुजाणइ । " एताञ्जिनैर्नवकोटिभिः परिशुद्धं, तथोद्गमोत्पादनैषणाशुद्धम्–" वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥ १ ॥ " इति षट्स्थानरक्षणार्थं भवान्तरे प्रशस्तभावनाऽभ्यासार्थं अहिंसाऽनुपालनार्थं च भुञ्जते । किञ्च–" अवि भमरमहुयरिगणा, अविदिन्नं आवियंति कुसुमरसं । समणा पुण भगवंतो, नादिन्नं भोत्तुमिच्छंति ॥१२१॥ " ' जह दुमगणा उ तह नगरजणवया पयणपायणसहावा । जह भमरा तह मुणिणो, नवरि अदत्तं न भुंजंति ॥ १३२ ॥ कुसुमे सहावफुल्ले, आहारंति भमरा जह तहा उ । भत्तं सहावसिद्धं, समणसुविहिया गवेसंति ॥ १३३ ॥ " ' तम्हा दयाइगुणसुट्ठिएहिं भमरो व्व अवहवित्तीहिं । साहूहिं साहिओ त्ती, उक्किट्ठं मगलं धम्मो ॥ १३७ ॥ " " पडिपुण्णधम्मचिंतणेण इह अंतरायचियराओ । जीवा ण हुंति णियमा, तो जत्तो तत्थ कायव्वो ॥ १ ॥ " लब्भइ सुरसामित्तं, लब्भइ पहुअत्तणं न संदेहो । इक्को नवरि न लब्भइ, जिणिंदवरदेसिओ धम्मो ॥ १ ॥ धम्मो पढिसिक्खो, लब्भइ कइया वि निरयदुक्खभया । जो नियवसुरसदाओ, सो धम्मो दुल्लहो लोए ॥ २ ॥ लिपयत्थुसमणधम्मं, दुलहं पुण जिणिंदआणा य । अनण्णसणमेगं च हुंति केसिंचि धीराणं ॥ ३ ॥ जं धम्माउ सोहग्गं, धम्मेण हुंति सयलरिद्धीओ । धम्मेण परभवम्मि, तत्तो संविग्गए भणिए ॥ १ ॥ " तथा च–" जह्या सयलं किरियं, कुणंति मुणिणो सिवत्थमेव सया । तं पुण लब्भइ गयरागदोसेण धम्मेण ॥ १३ ॥ " किञ्च–" धम्मेण सरागेण उ, लब्भइ सग्गाइयं फलं सो वि । जायइ परंपराए, नियमेण मोक्खहेउ त्ति ॥ १४ ॥ " धर्मस्य मोक्षकारणत्वमित्थमामनन्ति जैनप्रौढा –" जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुण्णमणेलिसं । अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्मकहा कओ ? ॥ १९ ॥ " तथोक्तम्–" दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥ १ ॥ किञ्चान्यत्–" कओ कयाइ मेधावी, उप्पज्जंति तहागया । तहागया अपडिन्नुसा, चक्खू लोगस्सऽणुत्तरा ॥ २० ॥ " केवलिप्रज्ञप्तस्य धर्मस्य श्रवणताऽपि दुर्लभा सामान्यलोकस्य । यतोऽवाचि–"सुलहा सुरलोयसिरी, रयणायरमेहला मही सुलहा । निव्वुइसुहजणियरुई, जिणवयणसुई, जए दुलहा ॥ १ ॥ " श्रुतस्य वा श्रद्धानता दुर्लभा । उक्तं च–" आहच्च सवणं लद्धं, सद्धा सवणदुल्लहा । सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सइ ॥ १ ॥ " " भक्ष्याभक्ष्यविवेकाच्च, गम्यागम्यविवेकतः । तपोदयाविशेषाच्च, स धर्मो व्यवतिष्ठते ॥ १ ॥ " इत्यलं बहुविस्तरोपन्यासेन । प्रकृतमनुसरामः–

इह हि दुरन्तानन्तचतुरन्तासारविसारिसंसारापारपारावारे निमज्जता भव्यजन्तुना जिनप्रवचनप्रतीतचोल्लकाऽऽदिदशनिदर्शनदुष्प्रापां कथमपि प्रशस्तसमस्तमनुजजन्माऽऽदिसामग्रीमवाप्य भवजलधिसमुत्तरणप्रवणप्रवहणस्वधर्मसद्धर्मविधाने प्रयत्नो विधेयः । यदवादि–' भवकोटीदुष्प्रापाम्, अवाप्य नृभवाऽऽदिसकलसामग्रीम् । भवजलधियानपात्रे, धर्मे यत्नः सदा कार्यः ॥ १ ॥ " कामार्थयोस्तु बाधायामपि धर्मो रक्षणीयः, धर्ममूलत्वादर्थकामयोः । उक्तं च –" धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनापि जीवतः । आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्यं, धर्मवित्ता हि साधवः ॥ १ ॥" अथवा धर्माबाधौ कामार्थयोः क्षतिरत्यादरणीया– "जाव न दुक्खं पत्ता, माणब्भंसं च पाणिणो पाय । ताव न धम्मं गेण्हइ–ति भावओ तेयलिसुय व्व ॥ १ ॥ " अथवा–" नेह लोके सुखं किञ्चिच्छादितस्यांहसा भृशम् । मितं च जीवितं नृणां, तेन धर्मे मतिं कुरु ॥ १ ॥ " प्रक्रान्तमेव समर्थयन्नाह–" जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ । जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥ ३६ ॥" ते धन्ना जे धम्मं, चरिउं जिणदेसियं पयत्तेण । गिहिपासबन्धणाओ, उम्मुक्का सव्वभावेण ॥ १ ॥ " तथाहि–

" निर्वाणाऽऽदिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्मान्विते,
लब्धे स्वल्पमचारु कामजसुखं नो सेवितुं युज्यते ।

वैडूर्याऽऽदिमहोपलौघनिचिते, प्राप्तेऽपि रत्नाकरे,
लातु स्वल्पमदोऽस्ति काचशकलं, किं चोचितं साम्प्रतम् ॥१॥"

अपरञ्च-" यद्यत्र यदीह कश्चिदनुसंततसुखपरिभोगलालितः । प्रयत्नशतपरोऽपि विगतव्यथमायुरवाप्तवान् नरः ॥ १ ॥ न खलु नरः सुरौघसिद्धासुरकिन्नरनायकोऽपि य । सोऽपि कृतान्तदन्तकुलिशाऽऽक्रमेण कृशितो न नश्यति ॥ २ ॥ " मृत्युमुखप्रतिषेधस्योपायोऽपि न कश्चिदस्तीति । उक्तं च-

" नश्यति नौति याति वितनोति करोति रसायनक्रियां,
चरति गुरुव्रतानि विवराण्यपि विशति विशेषकातरः ।
तपति तपांसि खादति मितानि करोति च मन्त्रसाधनं,
तदपि कृतान्तदन्तयन्त्रक्रकचक्रमणैर्विदार्यते ॥ १ ॥ "

अथवा-" जो आसमयं जीयइ, सुहीजोगे य भुजइ । तस्स वि सेविउ सेओ, धम्मो य जिणदेसिओ ॥ २२ ॥ किं पुण सपच्चवाए, जो नरो निच्चदुक्खिओ । सुट्ठयरं तेण कायव्वो, धम्मो अ जिणदेसिओ ॥ २३ ॥ " तस्मात्-" नदमाणो चरे धम्मं, वरं मे लट्ठतरं भवे । अनदमाणो वि चरे, मा मे पावतरं भवे ॥ २४ ॥ " किञ्च-" न वि जाई कुलं वा वि, विज्जा नावि सुसिक्खिया । तारेइ नरं व नारिं वा, सव्वं पुण्णेहिँ वड्ढइ ॥ २५ ॥ पुण्णेहिं हायमाणेहिं, पुरिसागारो वि हायई । पुण्णेहिं वड्ढमाणेहिं, पुरिसागारो वि वड्ढइ ॥ २६ ॥ " अथवा-" सवयण संगहा, उच्चत्त माउयं च मणुयाण । अणुसमय परिहायइ, ओसप्पिणिकालदोसेणं ॥ १ ॥ कोहमयमाणलोभा, ओसन्नं वड्ढए य मणुयाण । कूडतुलकूडमाणा, तेणऽणुमाणेण सव्वं ति ॥ २ ॥ विसमा अज्ज तुलाओ, विसमाणि य जणवएसु माणाणि । विसमा रायकुलाइ, तेण उ विसमाइँ वासाइँ ॥ ३ ॥ विसमेसु य वासेसु, हुंति असाराइँ ओसहिबलाइँ । ओसहिदुब्बलेण य, आऊ परिहायइ नराण ॥ ४ ॥ एवं परिहायमाणे, लोए चंदुव्व कालपक्खम्मि । जे धम्मिया मणुस्सा, सुजीवियं जीवियं तेसिं ॥ ५ ॥" यतो मरणसमये-" पुत्ता चयंति मित्ता, चयंति भज्जा वि णऽस्सव चयंति । न मरणदेसकाले, ण चयइ सुविअज्जिओ धम्मो ॥ ११ ॥ धम्मो ताणं धम्मो, सरणं धम्मो गई पइट्ठा य । धम्मेण सुचरिएण य, गम्मइ अजरामरं ठाणं ॥ १२ ॥ पीइकरो वण्णकरो, भासकरो जसकरो रइकरो य । अभयकरो निव्वुइकरो, परत्त वी अज्जिओ धम्मो ॥ १३ ॥ अमरवरेसु अणोवमरूवं भोगोवभोगरिद्धी य । विन्नाणं नाणमेव य, लब्भइ सुकएण धम्मेण ॥ १४ ॥ देविंदचक्कवट्टित्तणाइँ रज्जाइँ इच्छिया भोगा । एयाइँ धम्मलाभो, फलाइँ जं चावि निव्वाणं ॥ १५ ॥ " किञ्च-" दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद् धारयते ततः । धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्मृतः ॥ १ ॥ " तस्मात्-" धम्माओ धणलाभो, त्ति जं पि वुत्तं तयं पि न हु जुत्तं । सव्वो वि हु पुरिसत्थो, धम्माउ च्चिय जओ भणिया ॥ १५ ॥" उक्तं च-"धनदो धनार्थिनां धर्मः, कामदः सर्वकामिनाम् । धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः ॥ १६ ॥"

" धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः,
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमथवा पुत्रार्थिनां पुत्रदः ।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमपरं नानाविकल्पैर्नृणां,
तत् किं यन्न ददाति किञ्च तनुते स्वर्गापवर्गावपि ॥ ५४ ॥ "

एवं च-" धर्मश्रवणे यत्नः, सततं कार्यो बहुश्रुतसमीपे । हितकाहितविभिन्नैर्निर्दिष्टं वचनं ननु हितप्रदीपम् ॥ १७ ॥ " अनेकविद्याविशारदोऽपि धर्मशासनानभिज्ञो विफल एव । यदुक्तम्-

"साहित्यस्य विशारदो यदि परं जानाति सल्लक्षणं,
तर्के कर्कशमानसोऽतिविदुरो यद्यस्ति वा ज्योतिषि ।
किञ्चानेककलाऽऽलयोऽपि विकलः प्राणी परं गीयते,
यो जानाति न स्वर्गमोक्षसुखदं धर्मानुगं शासनम् ॥१॥"

अथवा कियद् ब्रूमः -

" यस्मोद्दाममदान्धसिन्धुरघटं साम्राज्यमासाद्यते,
यन्निःशेषजनप्रमोदजनकं संपद्यते वैभवम् ।
यत्पूर्णेन्दुसमद्युतिर्गुणगणः संप्राप्यते यत्परं,
सौभाग्यं च विजृम्भते तदखिलं धर्मस्य लीलायितम् ॥१॥ "

किञ्च -

" यन्न प्लावयति क्षितिं जलनिधिः कल्लोलमालाऽऽकुलो,
यत् पृथ्वीमखिलां धिनोति सलिलाऽऽसारेण धाराधरः ।
यच्च ग्रीष्मरुचौ जगत्युदयतः सर्वान्धकारच्छिदे,
तन्निःशेषमपि ध्रुवं विजयते धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥ १ ॥ "

किन्तु साम्प्रतमनेकानि धर्माभिधेयधुराधराणि मिथ्यात्विमतानि प्रचलितानि सन्ति, ततो विवेकः कर्तव्यः । यदुक्तम्-" न शब्दमात्रेण वदन्ति धर्मं, विश्वेऽपि लोका न विचारयन्ति । स शब्दसाम्येऽपि विचित्रभेदैर्विभिद्यते क्षीरमिवार्जुनीयम् ॥१॥" यथा " लक्ष्मीं विधातुं सकलां समर्थं, सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनम् । परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः, सुवर्णवद्वञ्चनभीतचित्ताः ॥१॥ " अथवा-"सत्कारयशोलाभार्थिभिश्च मूढैरिहान्यतीर्थकरैः । अवसादितं जगदिदं, प्रियाण्यपथ्यान्युपदिशद्भिः ॥ १ ॥ " किञ्च-" प्रायेण हि यदपथ्यं, तदेव चातुरजनप्रियं भवति । विषयाऽऽतुरस्य जगतस्तथाऽनुकूलाः प्रिया धियः ॥ १ ॥ " अन्यच्च-" पूर्वापरविरुद्धानि, हिंसाऽऽदेः कारकाणि च । वचांसि चित्ररूपाणि, व्याकुर्वद्भिर्निजेच्छया ॥ ३ ॥ कुतीर्थिकैः प्रणीतस्य, सद्गतिप्रतिपन्थिनः । धर्मस्य सकलस्यापि, कथं स्वाख्याततां भवेत् ? ॥ ४ ॥ यच्च तत्समये क्वापि, दयासत्याऽऽदिपोषणम् । दृश्यते तद् वचोमात्रं, बुधैर्ज्ञेयं न तत्त्वतः ॥ ५ ॥ " किन्तु-" स्वाऽऽख्यातः खलु धर्मोऽयं, भगवद्भिर्जिनोत्तमैः । यं समालम्बमानो हि, न मज्जेद् भवसागरे ॥ १ ॥ " अतः-" अर्हता कथितो धर्मः, सत्योऽयमिति भावयन् । सर्वसम्पत्करे धर्मे, धीमान् दृढतरो भवेत् ॥ १ ॥ " अत एवोक्तम्-" न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु । यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु, त्वामेव वीर प्रभुमाश्रयामः ॥ १ ॥ " अथवा "पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम् । अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥ १ ॥ " इति ।

इह हि हेयोपादेयाऽऽदिपदार्थसार्थपरिज्ञानप्रवीणस्य जन्मजरामरणरोगशोकाऽऽदिदुर्गदौर्गत्यनिपीडितस्य भव्यसत्त्वस्य स्वर्गापवर्गाऽऽदिसुखसम्पत्सम्पादनावन्ध्यनिबन्धनं सद्धर्मरत्नमुपादातुमुचितं, तदुपादानोपायश्च गुरूपदेशमन्तरेण न सम्यक् विज्ञायते, न चानुपायप्रवृत्तानामभीष्टार्थसिद्धिरिति । स चाऽऽज्ञाऽऽदिपदार्थसार्थस्वरूपपर्यालोचनैकाग्रतारूपस्य धर्मस्य ध्यानावस्थितिरिति । तच्च ध्यानं द्विविधम्-बाह्यम्, आध्यात्मिकं च । तत्र बाह्यम्-सूत्रार्थपर्यालोचनम्, दृढव्रतता, शील-

गुणानुरागो, निभृतकायवाग्व्यापारादिरूपम् । यदुक्तं दशवैकालिकटीकायाम्-"सूत्रार्थसाधनमहाव्रतधारणेषु, बन्धप्रमोक्षगमनाऽऽगमहेतुचिन्ता । पञ्चेन्द्रियव्युपरमश्च दया च भूते, ध्यानं तु धर्ममिति सम्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥१॥" आत्मनः स्वसंवेदनाग्राह्यमन्येषामनुमेयमाध्यात्मिकं तु तत्त्वार्थसंग्रहाऽऽदौ चातुर्विध्येन प्रदर्शितं, सङ्क्षेपतोऽन्यत्र दशविधम् । तद् यथा-"अपायोपायजीवाजीवविपाकविरागभवसंस्थानाऽऽज्ञाहेतुविचयानि चेति ।" तथाहि दुष्टमनोवाक्कायव्यापारविशेषाणामपायः कथमनुमानं स्यादित्येवंभूतसङ्कल्पप्रबन्धो दोषपरिवर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्वादपायविचयम् । तेषामेव कुशलानां स्वीकरणमुपायः स कथमनुमेयः स्यादिति सङ्कल्पप्रबन्ध उपायविचयम् । असङ्ख्येयप्रदेशाऽऽत्मकसाकारानाकारोपयोगलक्षणानादिस्वकृतकर्मफलोपभोगित्वाऽऽदिजीवस्वरूपानुचिन्तनं जीवविचयम् । धर्माधर्माऽऽकाशकालपुद्गलानामनन्तपर्यायाऽऽत्मकानामजीवानामनुचिन्तनमजीवविचयम् । मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नस्य पुद्गलाऽऽत्मकस्य मधुरकटुकरसस्य कर्मणः ससारिसत्त्वविषयविपाकविशेषानुचिन्तनं विपाकविचयम् । कुत्सितमिदं शरीरकं शुक्रशोणितसमुद्भूतमशुचिभृतघटोपममनित्यमपरित्राणं सदाशुचि नवच्छिद्रपाऽशुचि आधेयाशौचं न किञ्चिदत्र कमनीयतरं समस्ति, किम्पाकफलोपभोगोपमा प्रमुखरसिका विपाककटव प्रकृत्या भङ्गुराः पराधीनाः सन्तोषानृताऽऽस्वादपरिपन्थिनः सद्भिर्निन्दिता विषयाः, तदुद्भवं च सुखं दुःखानुषक्तं दुःखजनकं च, नातो भोगिनां तृप्तिः, न चैतदात्यन्तिकमिति नाऽत्राऽऽस्था विवेकेनाऽऽधातुं युक्तेति विरतिरेवातः श्रेयस्कारिणीत्यादिविरागहेतुचिन्तनं वैराग्यविचयम् । प्रेत्य स्वकृतकर्मफलोपभोगार्थं पुनः प्रादुर्भावो भवः, स चारघट्टघटीयन्त्रवद् मूत्रपुरीषान्त्रतन्त्रनिबद्धदुर्गन्धजठरपुरकोटराऽऽदिष्वजस्रमावर्तनं, न चात्र किञ्चिद् जन्तोः स्वकृतकर्मफलमनुभवतश्छेत्तनमवनं वा सहायभूतं शरणतां प्रतिपद्यत इत्यादिभवसङ्क्रान्तिदोषपर्यालोचनं भवविचयम् । तथा च-"संसाराम्बुनिधौ सत्त्वाः, कर्मोर्मिपरिघट्टिताः । सम्युज्यन्ते वियुज्यन्ते, तत्र कः कस्य बान्धवः ?॥ १ ॥" तथा-"अत्यायतेऽस्मिन् संसारे, भूयो जन्मनि जन्मनि । सर्वैर्नैवास्त्यसौ कश्चिद्, यो न बन्धुरनेकधा ॥ १ ॥" भवनवननगसरित्समुद्रनूरुहाऽऽद्य पृथ्वीव्यवस्थिता, साऽपि घनोदधिघनवाततनुवातप्रतिष्ठा तेऽप्याकाशप्रतिष्ठाः, तदपि स्वाऽऽत्मप्रतिष्ठं, तच्चाधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्णयत्यधोलोकमित्यादिसंस्थानानुचिन्तनं संस्थानविचयम् । अतीन्द्रियत्वाद् हेतूदाहरणाऽऽदिसद्भावेऽपि बुद्ध्यतिशयशक्तिविकलैः परलोकबन्धमोक्षधर्माधर्माऽऽदिभावेष्वत्यन्तदुरवबोधेष्वाप्तप्रामाण्यात् तद्विषयं तद्वचनं तथैवेत्याज्ञाविचयम् । आगमविषयप्रतिपत्तौ तर्कानुसारिबुद्धेः पुंसः स्याद्वादप्ररूपकाऽऽगमस्य कषच्छेदतापशुद्धिसमाश्रयणीयत्वगुणानुचिन्तनं हेतुविचयम् । एतच्च सर्वं धर्मध्यानम्, श्रेयोहेतुत्वात् इति सर्वं सुस्थम् । इतोऽप्यधिकविषयजिज्ञासुभिः सूक्ष्मधिया धर्मशब्दोऽत्र निरीक्षणीयः 'प्रतायते नेह, विस्तरभयादिति ।

उपसंहारः-

इह संसारे स्वभावत एव शरीरिमात्रमिष्टमभिलाषुकञ्चानिष्टं व्युदसिसिषु चास्तीतीष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनदक्षत्वेन भगवाँस्तीर्थङ्करत्रैकालिकचूडामणिर्वर्द्धमानो जीवाजीवाऽऽदिनवतत्त्वविभागप्रविभागसक्तां सर्वाभ्युदयसाधनां नानाविधसमष्टिव्यष्टिकथां द्वादशाङ्गीमेकादशाङ्गीं चाऽर्थतो विरचय्य दभिदधौ तन्निष्कर्षं निजचरणान्तेवासिभ्यो धीरधौरेयेभ्यो गणधरप्रवरेभ्यो गौतमाऽऽदिभ्यः । ततस्तु सुधर्मस्वामिप्रमुखा जम्बूस्वामिप्रभृतिमुपलक्ष्यार्धमागधीभाषयाऽङ्गोपाङ्गानि । गहनातिगहनतया च तद्विषयाणां संक्षिप्ततराणां तया क्रमशो विस्तारमारेभिरेऽन्ये चाऽऽचार्याः । यद्यपि खिल दुष्षमारप्रभावेन पुरुषाणां मन्दमतितया स्मरणशक्तिशैथिल्यतया च श्रीमान् भद्रबाहुस्वामी तत्सहितविषयमात्रसूचिकाभिर्निर्युक्तिगाथाभिर्निबबन्ध विषयान् सद्यः स्फूर्तिकराभिः, तथापि साम्प्रतकालीनवक्षस्थलपञ्चमकालमाहात्म्यसाम्राज्यतो दुरवगाहतरभिवताया जनाना मनःसु कथाशेषतामेवागमत् तद् जैनसिद्धान्तरहस्यमिति मत्वैव श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरमहानुभावा महत्तमशुचिना ग्रन्थगुम्फितं परमोपयोगिसकलाऽऽगमविषयसंग्रहाऽऽत्मकं कोशमसुस्थं स्वयं रचितवन्त इति क्रियासमभिहारेण तत्र तत्रोपोद्घातप्रस्तावभूमिकाऽऽदौ निरूपितमस्माभिः । श्रीमन्तो विजयराजेन्द्रसूरीश्वराः खलु दुर्लभगुणगणमूर्तय इत्यत्र किमिव वह्वू ब्रूमः ?, किन्त्वेतावदेव पर्याप्तं नाम, यदिह प्रायोऽनेकगुणगणभाजोऽन्ये सूरयो देशनामादिशन्तोऽपि नो खलु प्राप्नुवन्ति तथाविधविपश्चिच्चित्ताऽऽसेचनकवैदुष्यशालित्वम् । अथवा-किं बहुना सकललोकप्रसिद्धस्य तस्य परिचयप्रदानेन । प्रकृतं प्रस्तुमः-एतद्ग्रन्थपरिशोधनविषये छेदाऽऽदिग्रन्थानां केवलमेकैकाऽऽदर्शपुस्तकलाभात् लेखकानवधानतो ह्रस्वदीर्घपङ्क्तिवैकल्याऽऽदिदोषाऽऽघ्रातत्वाच्च तेषामनेकशास्त्रपठनपाठनपरिपाटीविरहात् बहुषु स्थलेषु सामञ्जस्याभावात् सम्मत्यादितर्कग्रन्थानामपि जटिलातिजटिलविषयेषु चिन्त्यकलेखनसन्तुष्टभावतोऽलग्नकत्वाद् महती तु स्थता समुद्भूता, तथापि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि ।' इति स्मरणात् "प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः, प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः । विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः, प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥ १ ॥" इत्यनुस्मरणाच्च सूत्रग्रन्थं टीकानां, टीकाग्रन्थं च मूलतो विविच्य, निशीथमहानिशीथाऽऽदिकेवलाऽर्धमागधीग्रन्थानां टीकाविकलानां प्राकृतव्याकृत्याऽऽदिसाहाय्यात् तत्प्रकृतविषयप्रतिपादकग्रन्थान्तरमननाच्च गुरुचरणसरोजमकरन्दसमास्वादनलब्धनवनवोन्मेषशालिप्रज्ञावद्भिरस्माभिर्यथावधानतः संशोधितोऽयं कोशग्रन्थो, विशेषतश्चायं भागः, परन्तु-

I deem no skill in acting perfect, till the learned are satisfied, the heart of even those, that are deeply read, has little confidence in itself. अथवा-When delegated agents successfully carry out any great undertaking, the credit of success belongs to their masters गुरव. Could dawn ever dispel darkness, had not the thousand-rayed luminary placed her, in front of his car ?.

इति निवेदयन्ति-

संशोधकाः ।

अर्हम् ।

ग्रन्थनिर्माणकारणम्-

श्रीवर्धमानजिनगौतमसत्सुधर्म-
जम्बूमुनीन्द्रजगदर्चितभद्रबाहोः ।
यो वर्धितो निजकृपोदकसेचनाभि-
र्धर्मद्रुमो निखिलधर्मतरुप्रधानः ॥ १ ॥

काले गते बहुतिथेऽथ विलुण्ठितं तं,
मूलार्थविप्लवनसाहसमाश्रयद्भिः ।
मिथ्यात्विभिः पुनरपीह समुद्दिधीर्षुः,
सूरीश्वरो भुवि दयोदधिराविरासीत् ॥ २ ॥

कामाऽऽदिवैरिनिवहोन्मथनाप्तसुहृष्टः,
बाह्याऽऽन्तरोभयविचित्रचरित्रदृष्टः ।
कारुण्यपूर्णरसपूरितभव्यपुण्य-
नीराब्धिसंगतसुधोन्मथने समर्थः ॥ ३ ॥

चेतोऽन्धकारोद्धरणे विरोचनो,
राजेन्द्रसूरिर्विबुधार्चिताङ्घ्रिकः ।
संघोपकर्ता न च कोऽपि तादृशः,
पुण्यैकमूर्तिर्भविकौघबोधदः ॥ ४ ॥

निजमतच्युतिजैनमतग्रहा-
न्यतरमाहवभङ्गपणं दिशन् ।
विततवादकथासमरे परान्,
व्यजयताऽजयतां प्रथयन्निजाम् ॥ ५ ॥

अथ विजित्य दिशो दश शिष्यतां,
गतवतः करुणावरुणाऽऽलयः ।
मुनिगणान् नववादरणाऽङ्गणे,
निजधियाऽजधिया समयोजयत् ॥ ६ ॥

सूत्राण्युपास्य तदुपोद्बलितैः स्ववाक्यै-
राख्यानकैश्च विततैर्निजदेशनाभिः ।
यो जैनसंघमखिलं कृपयोद्दधार,
सूरिः स वै विजयते स्म पवित्रकीर्तिः ॥ ७ ॥

इत्थं स जैनाऽऽगममत्र लोके,
सम्यग् व्यवस्थाप्य न संतुतोष ।
कालक्रमेणास्य पुनर्विनाश-
माशङ्कमानो विजितान्यमानः ॥ ८ ॥

ततोऽन्यगात् शिष्यगणैः सुविज्ञै-
र्वृतो विहारेण मरुस्थलं तु ।
उवास कालं चिरमात्मतत्त्वं,
तान् बोधयन् धर्मशिरःप्रतिष्ठम् ॥ ९ ॥

अथैकदा संसदि सन्निविष्टो,
निजाऽऽप्तशिष्याऽऽदिविभूषितायाम् ।
सङ्घोपकण्ठं च निजाभिलाषं.
व्यभिज्ञपत् सूरिवरः कृपालुः ॥ १० ॥

जैनाऽऽगमानां निजयुक्तियोगात्,
संयोक्तुमेकत्र नवीनरीत्या ।
कोशं विधित्सामि जिनेन्द्रभाषा-
मयं न लुप्येत यतः कदाचित् ॥ ११ ॥

श्रुत्वा पुनस्तमुपदेशवरं प्रहृष्टा-
मूर्घ्नाऽग्रहीषत गुरोरनुशासनं तत् ।
संगृह्य द्रव्यमतुलं च ततोऽभिधान-
राजेन्द्रकोशममलं निरमापयँस्ते ॥ १२ ॥

इति विज्ञपयन्ति-

श्रीमदुपाध्यायमोहनमुनयः ।

इति

श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र

जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ भट्टारक-

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरमहाराज विरचिते

शब्दसङ्कलनात्मके "श्री अभिधानराजेन्द्रकोषे"

चतुर्थो भागः समाप्तः ।

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

अभिधानराजेन्द्रः ।

नमिऊण वद्धमाणं, सारं गहिऊण आगमाणं च ।
अहुणा चउत्थभागं, वोच्छं अभिहाणराइंदे ॥ १ ॥

जकार

ज–ज–पुं० । जकारो व्यञ्जनवर्णभेदः स्पर्शसंज्ञकः, तस्योच्चारणस्थानं तालु, आभ्यन्तरप्रयत्नः जिह्वामध्यभागेन तालुस्पर्शः । बाह्यप्रयत्नाश्च घोषसंवारनादाः, अल्पप्राणश्च । वाच० । जि–जन–जु वा ड. । मृत्युञ्जये, जन्मनि, पितरि, जनार्दने, त्रि० । विषे, मुक्तौ, तेजसि, पिशाचे, वेगे, जेतरि । वाच० । " ज. पुमान् विजये मेरौ, विस्तरे मत्सरे जने ॥ ७४ ॥ जस्तूंधान्तरते शब्दे, जा स्त्रिया देववाहिनी । योनि. समुद्रवेला च, ज नपुंसकमम्बुनि " ॥ ७५ ॥ एका० । गुरुमध्ये प्रान्तयोर्लघुद्वययुक्ते छन्दःशास्त्रप्रसिद्धे (।ऽ।) त्रिवर्णे जगणे च । वाच० ।

य–त्रि० । "यकारः पुंसि यवनो–यमे, दातरि, मातरि ॥ ७० ॥ त्यागाव्ययग्यां शिष्ये, विनये कल्पपादपे । या स्त्रियामनसूयाया, शोभालक्ष्म्या च निर्मिनो ॥ ७१ ॥ नपुंसकं यकारस्तु यशोरूपकयोर्भवेत् " । इत्यादि । एका० ।

यद्–त्रि० । यज् अदि–ड्विच । ' जो ' इत्येव बुद्धिविशेषविषये, वाच० । अनिर्दिष्टनिर्देश्ये, न० । आ० म० । नि० चू० । " जे त्ति वा से त्ति वा के त्ति वा एवमादिनिदेसवायगा होति । जेकारस्स निद्देसनिद्दरिसणं, जे असतएणं अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाइ " इत्यादि । नि० चू० । ' जेगारो पुण अणिद्दिट्ठवायगुद्देसे, जहा जेण च ज च पडुच्चेत्यादि । अहवा–जहा इमा चेव जेगारो उस्सग्गऽववायचिएण पडिसेविय य त्ति न निद्दिट्ठ गुरु लहु वा जयणाए, जयणाहि वा तेण जेगारेण निद्देसो कृतेत्यर्थः । अहवा–जेकारेण अनिद्दिट्ठभिक्खुस्स निद्देसो कतो" । नि० चू० २० उ० । यदित्युद्देशे । आव० ४ अ० ।

जइ–यति–पुं० । यत्–इन् । यतते चारित्रं प्रति प्रयतो भवतीति यतिः । चरणोद्यते साधौ, औ० । यतते उत्तरगुणेषु विशेषत इति यतिः । विचित्रद्रव्याऽऽद्यभिग्रहाऽऽद्युपेते साधौ, रा० । तपस्विनि साधौ, आव० १ अ० । साधौ, दर्श० ४ तत्त्व । प्रयत्नवति, द्वा० ७६ द्वा० । 'यती' प्रयत्ने, "जयमाणो जई होइ" नि० चू० २० उ० । यतमानो यावत्स्तथा तथा गुणेषु यतिर्भवेत । द्वा० ५ द्वा० । धर्मक्रियासु प्रयत (प्रवृत्त) माने, भ० ए श० ३३ उ० । ओघ० । प्रमार्जते. ए० व० २ द्वार । नि० चू० । गृहीतप्रव्रज्यो यतिरुच्यते । तथा च धर्मबिन्दु –" एवं य शुद्धयोगेन, परित्यज्य गृहाऽऽश्रमम् । संयमे रमते नित्यं, स यति परिकीर्तितः ॥ १ ॥ " ध० ३ अधि० । सद्धर्मानुमतेरपि विरते, क० प्र० । मुनौ, पञ्चा० १ विव० । संयते, दश० ३ अ० । उत्तमाऽऽश्रमिणि. द्वा० २७ द्वा० । ध० । "ब्रह्मचारी गृहस्थश्च, वानप्रस्थो यतिस्तथा । ' इति लोकप्रसिद्धचतुर्थाऽऽश्रमिणि, नि० ३ वर्ग । यस्यते जिह्वा यत्र । यम–क्तिन् । छन्दोग्रन्थप्रसिद्धाने जिह्वाया विश्रामस्थाने उच्चारणकालविच्छेदे, स्त्री० । सा च "क्वचित् छन्दस्यास्ते यतिरभिहिता पूर्वकृतिभि ।पदान्ते सा शोभा व्रजति पदमध्ये त्यजति च ।"इत्याद्युक्त्या सुप्तिङन्तरूपपदान्त एव छन्दोग्रन्थानुसारेण जिह्वाया विश्रामरूपोच्चारणाभावरूपा । विधवाया, रागे, सन्निधौ, पाठविच्छेदे, निकारे, त्रिवर्णौ, वाद्याङ्गप्रबन्धभेदे च । यत्–परिमाणे डति. । यत्परिमाणे, त्रि० । वाच० । स्था० ।

यतिन्–पुं० । यम–भावे क्त । यतं यमनं, यतमनेन इनि । सन्यासिनि परिव्राजके, विधवायां, स्त्री० । ङीप् । वाच० । विच्छेदे, आ० म० प्र० । विरतौ, अनु० । " श्रेया सकामा यतिनाम " इति योगशास्त्रे हैमप्रयोग. ।

जयिन्–त्रि० । जयवति, औ० ।

जविन्–त्रि० । वेगवति, औ० ।

यदि–अव्य० । यद् णिच् इन् णिलोपः । पक्षान्तरे, सम्भावनायां, गर्हायां, विकल्पे च । वाच० । अभ्युपगमे, नि० चू० १ उ० । जी० । पञ्चा० । आव० । आ० म० । विश० । यदीति पराभ्युपगमसूचकः । दश० १ अ० ।

जइअव्व–यतितव्य–न० । कार्ये प्रयत्ने, ए० व० १ द्वार । " जइअव्व जाया " प्राप्तेषु संयमयोगेषु प्रयत्नः कार्यः । भ० ६ श० ३३ उ० । पारत्रिकाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना सत्त्वेन प्रवृत्त्यादिलक्षणः प्रयत्नः कार्यः । प्रयतितव्ये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । कार्ये उद्यमे, ए० व० १ द्वार । घटितव्य, नि० चू० ११ उ० ।

जइकिच्च–यतिकृत्य–न० । साधो कर्तव्ये, पञ्चा० १२ विव० । साध्वनुष्ठाने, जीवा० २५ अधि० ।

जइच्छा–यदृच्छा–स्त्री० । यद्–ऋच्छ अ–टाप् । स्वातन्त्र्ये, स्वैरतायां च । " यदृच्छालाभसंतुष्टः, " वाच० । अनभिसन्धिपूर्विकार्थप्राप्तौ, (आचा०) यदृच्छातोऽपि नास्तित्वमात्मनः, का पुनर्यदृच्छा ?, अनभिसन्धिपूर्विकाऽर्थप्राप्तिर्यदृच्छा ।
" अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् ।
काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः ॥१॥
सत्यं पिशाचस्य वने वसामो, भेरीं कराग्रैरपि न स्पृशामः ।
यदृच्छया सिद्ध्यति लोकयात्रा भेरीं पिशाचाः परिताडयन्ति"॥२॥
यथा काकतालीयमबुद्धिपूर्वकं, न काकस्य बुद्धिरस्ति–मयि तालं पतिष्यति, नापि तालस्याभिप्राय –काकोपरि पतिष्यामि, अथ तत्तथैव भवति, एवमन्यदप्यतर्कितोपगतमजाकृपाणीयमातुरभेषजीयमन्धकण्टकीयमित्यादि द्रष्टव्यम् । एव

सर्वजातिजरामरणाऽऽदिक लोक यादृच्छिक काकतालीयाऽऽदिवत्प्रसेयम । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । एवमेव यदृच्छया गोपालदारकादेर्नाम क्रियते ' डित्थ, डवित्थ ' इत्यादि । आ० म० प्र० ।

जइच्छावाइ [ण्]-यदृच्छावादिन्-पुं० । अकारणोत्पत्तिवादिनि, म० । यदपि यदृच्छावादिनः प्रज्ञापयन्ति-न खलु प्रतिनियतो वस्तूना कार्यकारणभाव इष्यते । तदपि न कार्यकार्यविवेचनपटीय:शेमुषीविकल्पनासूचकम, कार्यकारणभावस्य प्रतिनियततया सम्भवात् । तथाहि-य शालूकाडुपजायते शालूक स सदैव शालूकादेव, न गोमयादपि । योऽपि च गोमयादुपजायते शालूक सोऽपि सदैव गोमयादेव, न शालूकादपि । न चानयोरेकरूपता, शक्तिवर्णाऽऽदिवैलक्षण्यत परस्पर जात्यन्तरत्वात् । योऽपि च वह्नेरुपजायते वह्नि सोऽपि सदैव वह्नेरेव, नारणिकाष्ठादपि । योऽपि चारणिकाष्ठादुपजायते सोऽपि सर्वदाऽऽरणिकाष्ठादेव, न वह्नेरपि । यदपि चाकम-बीजादपि जायते कदलीत्यादि । तत्रापि परस्पर विभिन्नत्वादेतदेवोत्तरम । अपि च-या कन्दादुपजायते कदली, साऽपि परमार्थतो बीजादेव वेदितव्या, परम्परया बीजस्यैव कारणत्वात् । एव वटाऽऽदयोऽपि शाखैकदेशादुपजायमाना परमार्थतो बीजादवगन्तव्या, शाखात शाखा प्रभवति, न च सा शाखा शाखाहेतुका लोके व्यवह्रियते, किन्तु वटबीजस्यैव, सकलशाखाप्रशाखाऽऽदिसमुदायस्य वटहेतुत्वेन प्रसिद्धत्वात् । एव शाखैकदेशादुपजायमानो वट परमार्थतो मूलवटप्रशाखारूप इति मूलवटबीजहेतुक एव सोऽपि वेदितव्य । तस्मान्न क्वचिदपि कार्यकारणव्यभिचार, निपुणविचारप्रवीणेन च प्रतिपत्त्रा भवितव्य, ततो न कश्चिद्दोष । एव च यदुच्यते-न खल्वन्यथा वस्तुमज्ञाय पश्यन्तोऽन्यथाऽऽत्मान प्रेक्षावन्त परिक्लेशयन्तीति वाङ्मात्रमिति स्थितम् । न० ।

जइजण-यतिजन-पुं० । साधुलोके, आव० ए अ० । सूत्र० । आ० । "वज्जेयव्वो य सया, सुयप्पमाओ जइजणेण" । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

जइजीयकप्प-यतिजीतकल्प-पुं० । श्रीसोमप्रभसूरिविरचिते यतिजीतकल्पनामके प्रकरणे, एतद्वृत्तिश्च श्रीसाधुरत्नसूरिकृताऽस्ति । ग० १ अधि० ।

जइजुत्त यतियुक्त-त्रि० । परिवारभूतसाधुभिर्मिश्रिते, ध० ३ अधि० ।

जइजोग-यतियोग पुं० । स्वाध्यायादिसाधुव्यापारे, पञ्चा० ६ विव० ।

जइण-जैन-त्रि० । जिन केवली, तस्याय जैन । जिनसम्बन्धिनि, विशे० । सर्वज्ञसम्बन्धिनि, नि० चू० १ उ० । "जइणसासणयहरिसा परा" । नि० चू० १ उ० । अतिशीघ्रगतौ " लघण-पवण-जइण समत्थे " रा० । जी० । (एतद्वक्तव्यता ' जिण ' शब्दे चतुर्थभागे १४५७ पृष्ठे वक्ष्यते)

जयिन्-त्रि० । जयवति, औ० ।

जविन्-त्रि० । वेगवति, "लघण वग्गण-धावण धोरण-तिवई-जइण-सिक्खिअ ग[ई]ण ।" वृत्तिर्यथा-जयिनी गमनान्तरजयवती, जविनी वा वेगवती । औ० । जविनशब्द: शीघ्रवचन । अनु० । शीघ्र " उवइयउप्पइयतुरियचवलजइणसिग्घवेगाहि " औ० ।

जविन-त्रि० । अतिशीघ्रगतौ, ' लघण-पवण-जइण-पमद्दण-समत्थे " रा० ।

जइणदिप्पण्ग-जैनटिप्पनक-न० । जैनाऽऽम्नायेन निष्पादिते टिप्पनके, तट्टिप्पनक त्वधुना सम्यग् न ज्ञायते । कल्प० ७ क्षण ।

जइणवायाम-जविनव्यायाम-पुं० । शीघ्रव्यापारे, "कम्मलपवणजइणवायामसमत्थे " तन्त्र० ६ प्र० । जविनशब्द शीघ्रवचन । अनु० ।

जइणवेग जयिवेग पुं० । शत्रुवेगवद्वेगजयिनि वेगे, भ० ३ श० २ उ० ।

जइणी-जैनी-स्त्री० । जिनसम्बन्धि वाच, पञ्चा० ३ विव० । प्रति० ।

जयिनी-स्त्री० । जयवत्याम , औ० ।

जविनी-स्त्री० । वेगवत्याम , औ० ।

जइत्ता-जित्वा-अव्य० । जय इत्यर्थे, स्था० ६ ठा० २ उ० ।

जेत्री-स्त्री० । रिपुबलजयकर्त्र्याम, स्था० ६ ठा० २ उ० ।

जइदेवुत्तरवेउव्विय-यतिदेवोत्तरवैक्रिय-न० । यतिदेवैर्मूलशरीरादेकयोत्तरकाल क्रियमाणे वैक्रियशरीरे, तत्र यतयश्च साधवो देवाश्च सुरा यतिदेवा । कर्म० । कर्म० ।

जइदोस-यतिदोष-पुं० । छन्द शास्त्रप्रसिद्धे यतिभङ्गे, अस्थानविरतौ, सर्वथा विरतौ वा । विशे० । अनु० । अस्थानविच्छेदे, तत्करणे वा । आ० म० प्र० । तदात्मके सूत्रदोषभेदे, बृ० १ उ० ।

जइधम्म-यतिधर्म-पुं० । क्षान्त्यादिके दशविधे यतिधर्मे, उत्त० ५ अ० । "खंती अ मद्दव, मुत्ती तव सजमे य बोधव्वे । सच्च सोय आकिं-चणं च बभ च जइधम्मो ॥ १४ ॥ " नवतत्वे, (विशेषव्याख्या 'अणगारधम्म शब्दे प्रथमभागे २७९ पृष्ठे लिखिता)

जइपज्जव-यति [पर्याय] पर्यव-पुं० । यतित्वेक्षापालनकाले, पर्यायो द्विधा गृहस्थपर्यायो, यतिपर्यायश्च । प्रव० ६७ द्वार ।

जइपज्जाय-यतिप [र्याय] र्यव-पुं० । ' जइपज्जव ' शब्दार्थे, प्रव० ६७ द्वार ।

जइपज्जुवासणपर-यतिपर्युपासनपर-त्रि० । साधुसेवापरायणे, पञ्चा० ६ विव० ।

जइपरिसा-यतिपर्षत्-स्त्री० । चरणोद्यतसाधूना पर्षदि. औ० । विचित्रद्रव्याद्यभिग्रहाऽऽद्युपेताना साधूना पर्षदि, रा० ।

जइपुच्छा-यतिपृच्छा-स्त्री० । साधुशरीरसंयमवार्ताप्रच्छने, पञ्चा० १ विव० ।

जइय-जयिक-त्रि० । जयावहे, "जइएसु सव्वसउणसु" जयिकेषु जयावहेषु सर्वशकुनेषु वायसादिषु । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । कल्प० । यदि च-अव्य० । यदीत्यर्थे, कल्प० ४ क्षण ।

जइवंस-यतिवंश-पुं० । यतीनामन्वये, समवायाङ्गनामकचतुर्थाङ्गे च । तद्वशस्य तत्र समवसरणाधिकारे प्रतिपादितत्वात् । स० ।

जइवा-यदिवा-अव्य० । प्रकारान्तरे, अथ वेत्यर्थे व्य० १ उ० ।

जइविस्सामण-यतिविश्र [ा] मण-न० । यतिदेहखेदविनोदने, यतीना साधूना वैयावृत्याऽऽदिभि श्रान्ताना पुष्टाऽऽलम्बनेन तथाविधश्रावकादेरपि देहखेदापनोदमिच्छता विश्रमण खेदविनोदन यतिविश्रमणम, करणीयमिति गम्यते । दम सर्वप्रोचितक्रियाऽध्याहार कार्य । प्राकृतत्वाच्च विश्राम्यतेरुपान्त्यदीर्घत्वम् । यद्वा-विश्राम्यत करणमिति शतृ-तस्य कारिते वृद्धि च विश्रामणमिति भवति । पञ्चा० १ विव० ।

जइस-यादृश-त्रि० । अपभ्रंशे यादृगर्थे, ' अत्ता मइस " । प्रा०

। ४ । ४०३ । इति सूत्रेण अदन्तानां यादृशादीनामादेरवयवस्य डित् 'अइस' इत्यादेशो भवति । 'जइसो' । प्रा०४ पाद ।

जउगोल-जतुगोल-पुं० । लाक्षागोलके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जउण-यमुन-पुं०। तन्नामकराजविशेषे,यो० विं०। सथा० ।(तत्कथानक तु 'आप(व)ई'शब्दे द्वितीयभागे २४६ पृष्ठे सगृहीतम्)

जउणग्रड-यमुनातट-त्रि० । कालिन्दीतीरे, "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" ८ । १ । ४ । इति सूत्रेण पक्षे ह्रस्वता । प्रा० १ पाद ।

जउणराय-यमुनराज-पुं० । यमुनाख्यराजविशेषे,आव०४अ० ।

जउणा-यमुना-स्त्री० । "यमुनाचामुण्डाकामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च" ।८।१।१७८। इति सूत्रेण मकारलोपः। प्रा०१ पाद । कालिन्द्यां नद्यां यमभगिन्यां सूर्यसुतायाम्, दुर्गायाम्, वाच० । सा च गङ्गां संगच्छते । स्था० १ ठा० २ उ० । यमुनानदीकूले पूर्वदिग्वधूकण्ठनिवेशितमुक्ताफलकण्ठिकेव कौशाम्बी नाम नगरी । विशे० ।

जउणाअड-यमुनातट-त्रि० । कालिन्दीतीरे, प्रा० १ पाद ।

जउणाउर-यमुनापुर-मथुराया भागविशेषे , मथुराया यमुनापुरे समुद्र० । ती० ४५ कल्प ।

जउणावंक-यमुनावक्र-न० । यमुनातटवर्तिनि स्वनामकोद्याने, यो० विं० । "इत्थ जउणावके जउणरायएण हयस्स दंडअणगारस्स केवले उप्पन्ने महिमत्थं इंदो आगओ । " ती० ६ कल्प ।

जउप्पल-जयोत्पल-न० । विंशतिव्याकरणेषु तन्नामके व्याकरणे, कल्प० १ क्षण ।

जउव्वेय-यजुर्वेद-पुं० । यजुषामृक्सामभिन्नानां मन्त्राणां प्रतिपादको वेदः ।-वेदभेदे,स च शुक्लकृष्णभेदेन द्विधा।तद्विवरणं चरणव्यूहे। वाच० । "रिउव्वेए जउव्वेए, सामवेए अथव्वणे । " विपा० १ श्रु० ५ अ० । "चत्तारि वेया ।" अनु० ।

जओ-यतः-अव्य० । यस्मादित्यर्थे, यत्रेत्यर्थे च । उत्त० १ अ० ।

जं-यत्-अव्य० । यस्मादित्यर्थे, नि० चू० १५ अ० । "जं पि य मए इमस्स धम्मस्स " इत्यादिसूत्रे यमिति विभक्तिव्यत्ययाद् य प्राणातिपात इति योगः। भाषामात्रे वा यदिति पदं व्याख्येयम् । पा० । अम्बुनि, यशोरूपकयोः, एका० ।

जंकिंचिभासग-यत्किञ्चिद्भाषक- पुं० । असभ्यप्रलापिनि, प० व० ४ द्वार ।

जंकिंचिमिच्छापडिक्कमण-यत्किञ्चिन्मिथ्याप्रतिक्रमण-न० । षड्भेदप्रतिक्रमणस्य पञ्चमे भेदे, "जं किंचि मिच्छ त्ति" । खेलसिङ्घाणाविधिनिसर्गाभोगानाभोगसहसाकाराद्यसंयमस्वरूप यत् किञ्चित् मिथ्या असम्यक् तद्विषयं मिथ्येदमित्येवं प्रतिपत्तिपूर्वकं मिथ्यादुष्कृतकरणं यत्किञ्चिन्मिथ्याप्रतिक्रमणमिति ।

उक्तं च—

" संजमजोगे अब्भु-ट्ठियस्स जं किंचि तह समायरियं ।
मिच्छा एयं ति वियाणि-ऊण मिच्छ त्ति कायव्वं " ॥ १ ॥

तथा-

खेलं सिंघाणं वा, अप्पडिलेहापमज्जिओ तह य ।
वोसिरिय पडिक्कमई, तं पि य मिच्छुक्कडं देइ ॥१॥ " इत्यादि । स्था० ६ ठा० ।

जंगम-जङ्गम-त्रि० । गम-यङ्-अच् । सततगतियुते, "शरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम्" "गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः " वाच० । द्वीन्द्रियादिके त्रसजन्तौ, आ० । स्था० ।

जंगमविस-जङ्गमविष-न० । जङ्गमप्राणिनां नखदंष्ट्रादिगते विषे, दुष्टस्य प्राणिनो दंष्ट्राविषादिना यत् पीडाकारि तदपि जङ्गमविषम् । स्था० ६ ठा० ।

जंगल-जङ्गल-न० । गल-यङ्-अच्-पृषो० । वने , रहसि, मांसे, वाच० । निर्जलदेशे, बृ० । देशो द्विधा-अनूपो, जङ्गलश्च । नद्यादिपानीयबहुलोऽनूपः, तद्विपरीतो जङ्गलः, निर्जल इत्यर्थः । बृ० १ उ० । अविच्छिन्नप्रतिबद्धे आर्यदेशे च । प्रव० १४८ द्वार । प्रज्ञा० । सूत्र० ।

जंगा-देशी-गोचरभूमौ, दे० ना० ३ वर्ग ।

जंगिय-जाङ्गमिक-न० । जङ्गमजन्त्ववयवनिष्पन्ने कम्बलादौ वस्त्रभेदे, जङ्गमास्त्रसास्तदवयवनिष्पन्नं जाङ्गमिकं कम्बलादि ।

इह गाथे-

" जंगमजायं जंगियं, तं पुण विगलिंदियं च पंचिंदिं ।
एक्केक्कं पि य एत्तो, होइ विभागेणऽणेगविहं ॥ १ ॥
पट्टसुवण्णे मलए, अंसुए चीणंसुए य विगलिंदी ।
उण्णोट्टियमियलोमे, कुतवे किट्टीय पंचेंदी ॥ २ ॥ "

पट्टं सुवर्णं सुवर्णसूत्रं कृमिकाणां मलये मलयविषय एव अंशुकं श्लक्ष्णपट्टं, चीनांशुकं कोसिकाराख्यो चीनविषये वा यद्भवति श्लक्ष्णात् पट्टादिति मृगरोमजं शशलोमजं मूषकरोमजं वा, कुतपश्छागले किट्टिजमेतेषामेवावयवनिष्पन्नमिति । स्था० ५ ठा० ३ उ० । सूत्रे प्राकृतत्वाद् मकारलोपः । बृ० २ उ० । " जंगिओ अंगाइ " । नि० चू० १ उ० ।

जंगुलि-जाङ्गुलि-पुं० । गम-यङ्-लुक् वा गुलिः । विषवैद्ये, वाच० । स्त्री० । गारुडिमन्त्रविशेषे, " जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चेत्, तृष्णाकृष्णाहिजाङ्गुलिः । पूर्णानन्दस्य तत् किं स्याद्, दैन्यवृश्चिकवेदना ? ॥ १ ॥ " अष्ट० १ अष्ट० ।

जंगुलिविज्जा-जाङ्गुलिविद्या-स्त्री० । विषविद्यायां, श्रावस्त्यां श्रीसंभवदेवो जाङ्गुलिविद्याऽधिपतिः । ती० ४५ कल्प ।

जंगोल-जाङ्गोल-न० । विषविघातक्रियाविधायके गदतन्त्रे,तद्धि सर्पकीटलूतादष्टविषविनाशार्थं विविधविषसंयोगप्रशमनार्थं च । विपा० १ श्रु० ७ अ० । एतद्धि आयुर्वेदस्य पञ्चमो भेदः । वाच० ।

जंगोली-जङ्गोली-स्त्री० । विषविघातन्त्रे, स्था० ८ ठा० ।

जंघट्ठिया-जङ्घास्थिका-स्त्री० । ऊर्वोः प्रतिष्ठानभूते जङ्घाया उपरिभागवर्तिनि अस्थिनि, जङ्घास्थिकयोरूरुप्रतिष्ठितौ, त० ।

जंघलोह-जङ्घलोह-पुं० । अनागतोत्सर्पिणीकालभाविनि द्वितीयप्रतिवासुदेवे, ति० ।

जंघा-जङ्घा-स्त्री० । जङ्घन्यते कुटिलं गच्छति । गम्यर्थकस्य हन्तेः कौटिल्ये यङ्-लुकि-अच्-पृषो० । गुल्फजान्वोरन्तराले अवयवे, पादजङ्घयोः सन्धानं गुल्फः, जङ्घयोः सन्धाने जानु नाम । " चत्वार्यरत्निकास्थीनि , जङ्घयोस्तावदेव च । वाच० । जङ्घे जान्वोरधोवर्तिन्यौ । उत्त० २ अ० । उ० ।

जंघाचर-जङ्घाचर-पुं० । पादचारिणि, अनु० ।

जंघाचारण-जङ्घाचारण-पुं० । चारणमुनिभेदे, ये चारित्रतपोविशेषप्रभावतः समुद्भूतगमनागमनविषयलब्धिसम्पन्नास्ते जङ्घाचारणाः । प्रव० ६७ द्वार । आ० म० । प्रज्ञा० । प्रति० । रा० । न० । लूतातन्तुनिर्वर्तितपुटकतन्तून् रविकरान् वा निश्रां कृत्वा जङ्घाभ्यामाकाशेन चरतीति जङ्घाचारणः । अस्य च सातिशयाष्टमलक्षणेन विकृष्टतपसा सर्वदैव तपस्यतो जङ्घाचारणलब्धिरुपजायते । विशे० । पा० । जङ्घाव्यापारेणकृताश्चारणाः जङ्घाचारणाः । भ० २० श० ८ उ० । ('चारण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११७२ पृष्ठे विशेषव्याख्योक्ता)

जंघाबल-जङ्घाबल-न० । जानुसामर्थ्ये, जी० १ प्रति० ।

जंघासंतारिम-जङ्घासंतार्य-त्रि० । जानुदघ्नादिके उदकादौ, आचा० २ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

जंणाम-यन्नाम-त्रि० । यानि नामानि यस्येति यन्नामा । यदभिधाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जंत-यन्त्र-न० । यन्त्रि-अच् । संयमने, प्रपञ्चविशेषे, रा० । जी० । " विज्जाहरजमलजुगलजंताणि " जी० ३ प्रति० । रक्षाविषयन्त्रे, जै० गा० । उच्चाटनाद्यर्थकरलेखनप्रकारके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । यन्त्राणि नानाप्रकाराणि । जी०३ प्रति० । प्रज्ञा० । तद्यथा-जलयन्त्रमरघट्टकादि । स्था० ६ ठा० । प्रश्न० स्था० । प्रव० । तिलयन्त्र प्राणकादि । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । जलसम्पादियन्त्राणि । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । पाषाणक्षेपयन्त्रम् । औ० । स० । रथोपकरणविशेषाः । ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। शिलोदूखलमुशलादि । प्रव० ६ द्वार । तन्त्रोक्ते देवाद्यधिष्ठाने, चक्रभेद, औषधपाकार्थे पात्रभेदे, ज्योतिश्चक्राद्यवेक्षणसाधने, पदार्थभेदने, सूत्रधारादेर्दारुवेधकादौ पदार्थे, अम्भ्यादेः क्षेपणसाधने पदार्थे, आग्नेयन्त्रे, वाच० ।

जंतग-जन्त्रक-न० । यन्त्रमिव स्वार्थे कन् । दारुमामकयन्त्रभेदे, वाच० । गन्त्र्यादौ, ध० २ अधि० ।

जंतपत्थर-यन्त्रप्रस्तर-पुं० । गोफणादि (यन्त्रमुक्त) पाषाणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । घरट्टादौ, वाच० ।

जंतपासग-यन्त्रपाशक-पुं० । द्यूते जयार्थे यन्त्रस्थापिते पाशके, आ० म० प्र० ।

जंतपिल्लणकम्म-यन्त्रपीडनकर्मन्-न० । उपभोगपरिभोगाख्यसप्तमव्रतस्य कर्मतोऽतिचारेष्वेकादशेऽतिचारे, यन्त्रेण तिलेक्षुप्रभृतीनां यत्पीडनरूपं कर्म तत् यन्त्रपीडनकर्म तस्मिन् , उपा० १ अ० । भ० । आ० चू० । आ० । पञ्चा० । आव० । यन्त्रे उदूखलादौ पीडनं धान्यखण्डनं तेन कर्म जीविका यन्त्रपीडनकर्म । (ध०) यन्त्रपीडनकर्म शिलोदूखलमुशलघरट्टारघट्टकङ्कतादिविक्रयः तिलेक्षुसर्षपैरण्डफलादि तस्य पीडनं दलतैलविधानजलयन्त्रवाहनादि वा । यत -"तिलेक्षुसर्षपैरण्ड-जलयन्त्रादिपीडनम् । दलतैलस्य च कृति-र्यन्त्रपीडा प्रकीर्तिता " ॥ १ ॥ अत्र यन्त्रशब्दः प्रत्येकं संबध्यते, तत्र तिलयन्त्रं तिलपीडनोपकरणम् , इक्षुयन्त्रं कोल्हुकादि, सर्षपैरण्डयन्त्रं तत्पीडनोपकरणं, जलयन्त्रमरघट्टादि, दलतिल यत्र दलं तिलादि दीयते तैलं च प्रतिगृह्यते तद्दलतैलं, तस्य कृतिर्विधानम् । अत्र दोषस्तु तिलादितोदात्तकृतत्रसजीववधाच्च । लौकिका अप्याहुः -" दशशूनासमं चक्रम्" इति । ध० २ अधि० । प्रव० ।

जंतपीलणकम्म-यन्त्रपीडनकर्म-न० । ' जंतपिल्लणकम्म ' शब्दार्थे, उपा० १ अ० ।

जंतपुरिस-यन्त्रपुरुष-पुं० । लोहमये यन्त्रेण च पुरुषचेष्टाकारके पुत्तलके, आ० म० प्र० ।

जंतलट्ठी-यन्त्रयष्टी-स्त्री० । यन्त्रोपयोगिनि लकुटे, दशा० ७ अ० ।

जंतवाडयचुल्ली-यन्त्रपा (वा) टकचुल्ली-यन्त्रमिक्षुपीडनयन्त्रं तत्प्रधानः पा(वा)टको यन्त्रपा(वा)टकः, तत्र चुल्ली यन्त्रपा(वा)टकचुल्ली । इक्षुरसपाकाय कृतायां चुल्ल्याम्, जी० ३ प्रति० । स्था० ।

जंतवाहण-यन्त्रवाहन-न० । पञ्चदशकर्मादानान्तर्गतयन्त्रपीडनकर्मणि , प्रव० ६ द्वार ।

जंतु-जन्तु-पुं० । जन-तुन् । जायते इति जन्तुः । उत्त० ३ अ० । भ० । प्राणिनि , सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । प० व० । आचा० । आ० म० । विशे० । जीवद्रव्ये, उत्त० १३ अ० ।

जंतुग-जन्तुक-न० । वनस्पतिविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । तृणविशेषोत्पन्ने संस्तारके, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

जंतुजोहण-जन्तुयोधन-न० । कुक्कुटादीनां परस्परेणाहनने, ध० २ अधि० ।

जंपंत-जल्पत्--त्रि० । ब्रुवाणे , प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार । सूत्र० ।

जंपग-जल्पक-त्रि० । भाषके, " बहुविहअलियसयजंपयाए " वृत्ति -बहुविधालीकशतजल्पकानाम् । प्रश्न०३ आश्र० द्वार ।

जंपमाण-जल्पमान-त्रि० । ब्रुवाणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जंपाण-जम्पान-न० । द्विहस्तप्रमाणे चतुरस्रे वेदिकोपशोभिते गोल्लदेशप्रसिद्धे युग्यनाम्नि वाहने, कूटाकारच्छादितायां शिबिकायाम्, पुरुषप्रमाणायां स्यन्दमानिकायां च । स्था० ४ ठा० ३ उ० । अनु० । औ० । ज० । जी० । ज्ञा० । पर्यङ्कादौ, दशा० ९ अ० ।

जंपिर-जल्पिन्-त्रि० । " शीलाद्यर्थस्येरः " । ८ । २ । १४५ । इति सूत्रेणेरादेशः । जल्पनशीले, प्रा० २ पाद ।

जंबवई-जाम्बवती-स्त्री० । कृष्णाग्रमहिष्याम्, आ० चू० १ अ० । आ० म० । विशे० । सा च अरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य संलेखनां कृत्वा सिद्धेत्यन्तकृद्दशानां पञ्चमवर्गस्य षष्ठेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ४ वर्ग । स्था० ।

जंबाल- जम्बाल-पुं० । जम्ब-घञ्-जम्बमालाति आदत्ते आ-ला-क । शैवाले, वाच० । कर्दमे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । जरायौ च । जरायुजा जम्बालवेष्टिता समुत्पद्यन्ते,ते च गोमहिषाजाविकमनुष्यादयः । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । जलनीलिकायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

जंबु-जम्बु-न० । जम्बूफले, " जम्बु भक्खेमो " आव० ४ अ० । जम्बूफलादिषु कृष्णो वर्णः । ज० ३ वक्ष० । प्रज्ञा० ।

जंबुदीव-जम्बूद्वीप-न० । ' जंबूदीव ' शब्दार्थे, ज० १ वक्ष० ।

जंबुल-देशी-वानीर, मद्यभाजने, दे० ना० ३ वर्ग ।

जंबू–जम्बू–स्त्री०। 'जम' अदने, कू–नि०-वुक्। वृक्षविशेषे, वाच०। " कगारन्ता जंबूः " एतद्वृत्ति –जम्बू स्त्रीलिङ्गवृत्तिर्वनस्पतिविशेष । अनु० । प्रज्ञा० । त्रयोदशजिनस्य चैत्यवृक्षो जम्बू । स्था० १ ठा० १ उ० । पृथ्वीपरिणामरूपायां (स० ८ सम०) जम्बूवृक्षाकारायां सर्वरत्नमय्यां सुदर्शनानाम्न्यां शाश्वतायामनावृतदेवावासभूतायां जम्ब्वाम्, एतयैवाय जम्बूद्वीपोऽभिधीयते ।

निक्षेपः–

जम्बूशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धा निक्षेप । तत्र नामजम्बूर्यस्य जम्बूरिति नाम, यथा–जम्बूरन्तिमकेवली, जम्ब्वाऽभिधान वा । स्थापनाजम्बूर्या जम्बूरिति स्थापना क्रियते । यथा–चित्रलिखितजम्बूवृक्षादि । द्रव्यजम्बूर्द्विधा–आगमतो नो आगमतश्च । आगमतस्तदर्थज्ञातानुपयुक्ता, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरोभयव्यतिरिक्तभेदात्त्रिधा । तत्राऽऽद्यौ भेदौ सुप्रतीतौ । उभयव्यतिरिक्तद्रव्यजम्बूरपि त्रिधा, एकभाविकबद्धायुष्काभिमुखनामगोत्रजन्तुभेदात् । तत्रैकभविको नाम य एकभवानन्तर जम्बूत्वेनोत्पत्स्यते; बद्धायुष्कस्तु येन जम्ब्वायुर्बद्धम्, अभिमुखनामगोत्रस्तु यस्य जम्ब्वा नामगोत्रे कर्मणी अन्तर्मुहूर्त्तानन्तरमुदयमायास्यत इत्यय त्रिविधोऽपि भाविभावजम्बूकारणत्वाद् द्रव्यजम्बूरिति । भावजम्बूरपि द्विधा–आगमतो, नो आगमतश्च । तत्रागमतो ज्ञानोपयुक्त, नो आगमतस्तु जम्बूद्रुम एव । जम्बूद्रुमनामगोत्रकर्मणी वेदयन्निति आह–यथा अभिमुखजम्बूभावस्य जीवस्य द्रव्यजम्बूत्वम्, " भाविनि भूतवदुपचार " इति न्यायात्, तथाऽऽसन्नपश्चात्कृतजम्बूभावस्याऽपि, " भूतपूर्वकस्तदुपचार" इति न्यायात् । कथ न द्रव्यजम्बूत्व निर्दिष्टम् ? । उच्यते–इदमुपलक्षण, तेन तस्याऽपि द्रव्यनिक्षेप एवान्तर्भावः, भूतस्य भाविनो चेत्यादि द्रव्यलक्षणस्य सद्भावात् । अत्रानिर्देशकारण तु श्रीउत्तराध्ययनद्रुमपत्रीयाध्ययननिर्युक्तौ श्रीभद्रबाहुस्वामिपादै द्रुमनिक्षेपेऽविवक्षणम्, तन्नुल्यन्यायत्वादस्य निक्षेपस्येति, प्रस्तुते च नोआगमतो भावजम्ब्वाधिकार । ज० १ वक्ष० ।

कहि णं भंते ! उत्तरकुराए कुराए जंबूपेढे णामं पेढे पण्णत्ते । गोयमा ! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणेणं मंदरस्स उत्तरेणं मालवंतवक्खारपव्वयस्स पच्चच्छिमेणं सीआए महाणईए पुरच्छिमिल्ले कूले; एत्थ णं उत्तरकुराए कुराए जंबूपेढे णामं पेढे पण्णत्ते । पंच जोअणसयाइं आयामविक्खंभेणं, पण्णरसएक्कासीयाइं जोअणसयाइं किंचि विसेसाहियाइं परिक्खेवेणं बहुमज्झदेसभाए बारस जोअणाइं बाहल्लेणं, तयणंतरं च णं मायाए २ पदेसपरिहाणीए २ सव्वेसु णं चरिमपेरंतेसु दो दो गाउआइं बाहल्लेणं सव्वजंबूणयामए अच्छे, से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते, दुण्ह पि वण्णओ–तस्स णं जंबूपेढस्स चउद्दिसि एए चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता । वण्णओ० जाव तोरणाइं, तस्स णं जंबूपेढस्स बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं मणिपेढिआ पण्णत्ता । अट्ठजोअणाइं आयामविक्खंभेणं, चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेणं; तीसे णं मणिपेढिआए उप्पिं एत्थ णं जंबू सुदंसणा पण्णत्ता । अट्ठ जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोअणं उव्वेहेणं, तीसे णं खंधो दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं, तीसे णं साला छ जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोअणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठ जोअणाइं सव्वग्गेणं, तीसे णं अयमेयारूवे वण्णावासे वइरामयमूला रययसुपइट्ठिअविडिमा० जाव अहिअमणणिव्वुइकरी पासाईआ दरिसणिज्जा, जंबूए णं सुदंसणाए चउद्दिसिं चत्तारि साला पण्णत्ता । तेसि णं सालाणं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं सिद्धायतणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसंनिविट्ठ० जाव दारा पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं० जाव वणमालाओ मणिपेढिआ, पंच धणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं बाहल्लेणं; तीसे णं मणिपेढिआए उप्पिं देवच्छंदए पंचधणुसयाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जिणपडिमावण्णओ णेयव्वो त्ति । तत्थ णं जे से पुरच्छिमिल्ले साले एत्थ णं भवणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं, एवमेव णवरमित्थ सयणिज्जं सेसेसु पासायवडेंसया सीहासणा य सपरिवारा इति, जंबूए णं बारसहिं पउमवरवेइयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता, वेइआणं वण्णओ, जम्बू णं अण्णेणं अट्ठसएणं जंबूणं तदद्धुच्चत्ताणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता, तासि णं वण्णओ, ताओ णं जंबू छहिं पउमवरवेइयाहिं संपरिक्खित्ता, जंबूए णं सुदंसणाए उत्तरपुरच्छिमेणं उत्तरपच्चच्छिमेणं एत्थ णं अणाढिअस्स देवस्स चउण्ह सामाणिअसाहस्सीणं चत्तारि जंबूसाहस्सीओ पण्णत्ताओ; तीसे णं पुरच्छिमेणं चउण्हं अग्गमहिसीणं चत्तारि जम्बूओ पण्णत्ताओ; "दक्खिणपुरच्छिमेण, दक्खिणेण तह अवरदक्खिणेण च । अट्ठदसबारसेव य, भवंति जंबूसहस्साइं ॥१॥ अणिआहिवाण पच्चच्छिमेण सत्तेव होंति जम्बूओ । सोलस साहस्सीओ, चउद्दिसिं आयरक्खाणं ॥२॥" जंबूए णं तिहिं सइएहिं वणसंडेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता जंबूए णं पुरच्छिमेणं पण्णासं जोअणाइं पढमं वणसंडं ओगाहित्ता, एत्थ णं भवणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं, सो चेव वण्णओ, सयणिज्जं च, एवं सेसासु वि दिसासु भवणा, जंबूए णं उत्तरपुरच्छिमेणं पढमं वणसंडं पण्णासं जोअणाइं उग्गाहित्ता, एत्थ णं चत्तारि पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ । तं जहा–पउमा, पउमप्पभा, कुमुदा, कुमुदप्पभा । ताओ णं कोसं आयामेणं, अद्धकोसं विक्खंभेणं, पंचधणुसयाइं उव्वेहेणं, तासि णं मज्झे पासायवडेंसगा

कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं, वण्णओ-सीहासणा सपरिवारा, एवं सेसासु वि दिसासु ।

गाहा—

" पउमा पउमप्पभा चेव, कुमुदा कुमुदप्पभा ।
उप्पला गुम्म णलिणा, उप्पला उप्पलुज्जला ॥ १ ॥
भिंगा भिंगप्पभा चेव, अंजणा कज्जलप्पभा ।
सिरिकंता सिरिमहिआ, सिरिचंदा चेव सिरिनिलया" ॥२॥

जंबूए णं पुरच्छिमिल्लस्स भवणस्स उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स दक्खिणेणं, एत्थ णं कूडे पण्णत्ते, अट्ठ जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दो जोअणाइं उव्वेहेणं, मूले अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं बहुमज्झदेसभाए छ जोअणाइं आयामविक्खंभेणं, उवरिं चत्तारि जोअणाइं आयामविक्खंभेण । "पणवीसट्ठारसवा-रसेव मूले अ मज्झि उवरिं च । सविसेसाइं परिओ, कूडस्स इमस्स बोधव्वो" ॥१॥ मूले वित्थिण्णे मज्झे संखित्ते उवरिं तणुए सव्वकणगामए अच्छे, वेइआवणसंडवण्णओ, एवं सेसा वि कूडा जंबूए ण सुदसणाए दुवालस णामधेज्जा पण्णत्ता ।

त जहा—

" सुदंसणा अमोहा य, सुप्पबुद्धा जसोहरा ।
विदेहजंबूसोमणसा, णियया णिच्चमंडिया ॥ १ ॥
सुभद्दा य विसाला य, सुजाया सुमणा वि य ।
सुदंसणाए जंबूए, णामधेज्जा दुवालस ॥ २ ॥ "

जंबूए ण अट्ठऽट्ठ मंगलगा, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जंबूए सुदसणाए अणाढिए णामं जंबूदीवाहिवई परिवसइ, महिड्ढिए, से ण तत्थ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं० जाव आयरक्खसाहस्सीणं जंबूदीवस्स णं दीवस्स जंबूए सुदंसणाए अणाढियाए रायहाणीए अण्णेसिं च बहूणं देवाण य० जाव विहरइ , से तेणट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ, अदुत्तरेणं च णं गोयमा !० जाव जंबू सुदसणा० जाव धुविं च धुवाणि अ आसासया अक्खया अवट्ठिया । कहि णं भंते ! अणाढिअस्स देवस्स अणाढिआ णामं रायहाणी पण्णत्ता । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं जं चेव पुव्ववण्णिअं जमिगपमाणं तं चेव णेयव्वं० जाव उववाओ अभिसेओ अ निरवसेसो त्ति ।

क्व भदन्त ! उत्तरकुरुषु जम्बूपीठं प्रज्ञप्तम् ?। निर्वचनसूत्रे गौतमेत्यामन्त्रण गम्यम्, नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणेन मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरेण माल्यवतो वक्षस्कारपर्वतस्य गजदन्तापरपर्यायस्य पश्चिमेन पश्चिमायां सीताया महानद्या पूर्वकूले, सीता द्विभागीकृतोत्तरकुरुपूर्वार्द्धे, तत्रापि मध्यभागे, अत्रान्तरे उत्तरकुरुषु जम्बूपीठं नाम पीठं प्रज्ञप्तं, पञ्चयोजनशतान्यायामविष्कम्भेन, योजनाना पञ्चदश तान्येकाशीत्यधिकानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण बहुमध्यदेशभागे विवक्षितदिक्प्रान्तादर्धतृतीयशतयोजनातिक्रमे इत्यर्थः। बाहल्येन द्वादश योजनानि, तदनन्तर मात्रया २ क्रमेण २ प्रदेशपरिहाण्या परिहीयमाण. २ "सव्वेसु त्ति" प्राकृतत्वात् पञ्चम्यर्थे सप्तमी। तेन सर्वेभ्यः चरमप्रान्तेषु मध्यतोऽर्द्धतृतीययोजनशतातिक्रमे इत्यर्थः। द्वौ द्वौ क्रोशौ बाहल्येन सर्वात्मना जम्बूनदमयम् "अच्छ" इत्यादि। "से ण एगाए पउम"इत्यादि । तदिति अनन्तरोक्त जम्बूपीठम्, एकपद्मवरवेदिकया एकेन च वनखण्डेन सर्वत समन्तात्, सपरिक्षिप्तमिति शेष.। द्वयोरपि पद्मवरवेदिकावनखण्डयोर्वर्णक· स्मर्तव्य प्राक्तन , तच्च जघन्यतोऽपि चरमान्ते द्विचरमान्ते द्विक्रोशोच्चम्, कथं सुखारोहावरोहमित्याशङ्क्याह-"तस्स ण"इत्यादि । तस्य जम्बूपीठस्य चतुर्दिशि एतानि दिग्नामोपलक्षितानि चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि, एतानि च त्रीणि मिलितानि द्विक्रोशोच्चानि भवन्ति । क्रोशविस्तीर्णानि, अत एव प्रान्ते द्विक्रोशबाहल्यात् पीठात् उत्तरत एव भरतैरावतां च सुखावहद्वारभूतानि, वर्णकश्च तावद्वक्तव्यो यावत् तोरणानि " तस्स ण " इत्यादि व्यक्तम् । " तीसे ण " इत्यादि । तस्या मणिपीठिकाया उपरि, अत्र जम्बू सुदर्शनानाम्नी प्रज्ञप्ता, अष्टयोजनान्यूर्द्ध्वोच्चत्वेन, अर्द्धयोजनमुद्वेधेन प्रवेश । अथास्या एवोच्चत्वस्याष्टयोजनानि विभागतो द्वाभ्या सूत्राभ्यां दर्शयति-"तीसे ण" इत्यादि । तस्या जम्ब्वा· स्कन्ध स्कन्धादुपरितन शाखाप्रभवपर्यन्तोऽष्टयोजने ऊर्द्ध्वोच्चत्वेनार्धयोजन बाहल्येन पीठेन तस्या· शालाविडिमापरपर्यायाया दिक्षु प्रसृता शाखामध्यभागप्रभवा ऊर्द्धगता शाखा षड्योजनान्यूर्द्ध्वोच्चत्वेन, तथा बहुमध्यदेशभागे प्रकरणात्, जम्बूरिति गम्यम् । अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां, तान्येव अस्या· स्कन्धोपरितनभाग चतसृष्वपि दिक्षु प्रत्येकमेकैका शाखा निर्गता च, क्रोशोनानि चत्वारि योजनानि, तेन पूर्वापरशाखादैर्घ्यस्कन्धबाहल्य सबन्ध्यर्द्धयोजनमीलनेनोक्तसंख्यानयन, बहुमध्यदेशभागश्चात्र व्यावहारिको ग्राह्य., वृक्षादीनां शाखाप्रभवस्थाने मध्यदेशस्य लोकैर्व्यवह्रियमाणत्वात्, पुरुषस्य कटिका इव, अन्यथा विडिमाया द्वियोजनातिक्रमे निश्चयप्राप्तस्य मध्यभागस्य ग्रहणे पूर्वापरशाखाद्वयविस्तारस्य ग्रहणसंभव , विषमश्रेणिकत्वात् । अथवा-बहुमध्यदेशभाग , शाखानामिति गम्यते । कोऽर्थ ?, यतश्चतुर्दिक्शाखामध्यभाग , तस्मिन्नित्यर्थः । अष्टयोजनानयन तु तथैव, उच्चत्वेन तु सर्वाग्रेण सर्वसंख्यया स्कन्धविडिमापरिमाणमीलने सातिरेकाण्यष्टौ योजनानीति । अथास्या वर्णकमाह-"तीसे ण" इत्यादि । तस्या जम्ब्वा अयमेतद्रूपो वर्णावास प्रज्ञप्त -वज्रमयानि मूलानि यस्या सा वज्रमयमूला । तथा रजतमयी विडिमा बहुमध्यदेशभाग ऊर्द्धविनिर्गता शाखा यस्या सा रजतसुप्रतिष्ठितविडिमा, तत यावत्पदात् चैत्यवृक्षवर्णक सर्वोऽप्यत्र वाच्य । कियत्पर्यन्तमित्याह-अधिकमनोनिर्वृतिकरी प्रासादीया दर्शनीया इत्यादि । अथास्या· शाखाव्यक्तिमाह-"जंबूए ण" इत्यादि । जम्ब्वा· सुदर्शनाया चतुर्दिशि चतस्र शाखा वा शाखा प्रज्ञप्ता । तासा शालाना बहुमध्यदेशभागे उपरितनविडिमाशालायामित्यध्याहार्यं, जीवाऽभिगमे तथादर्शनात् । शेष सुलभम्, येनाद्यनिकूटगतसिद्धायतनप्रकरणतो ज्ञेयमित्यर्थ । अत्र पूर्व, शालाद्रौ यत्र यदस्ति तत्र तद्वक्तुमाह-' तत्थ ण ' इत्या-

दि । तत्र तासु चतसृषु शालासु, या सा पौरस्त्या शाला, सूत्रे प्राकृतत्वात् पुंस्त्वनिर्देशः । अत्र भवनं प्रज्ञप्तं, क्रोशमायामेन, एवमेवेति सिद्धायतनवदिति, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन देशोनं क्रोशमुच्चत्वेनेति प्रमाणं, द्वारादिवर्णकश्च वाच्यः । नवरमत्र शयनीयं वाच्यम्, शेषासु दाक्षिणात्यादिशालासु प्रत्येकमेकैकभावेन त्रयः प्रासादावतंसकाः सिंहासनानि सपरिवाराणि च वक्तव्यानि, तेषां प्रमाणं च भवनवत्, तत्र केचिदपमेवं भवनेषु शयनीयानि प्रासादेषु त्वास्थानसभा इति । ननु भवनानि विषमायामविष्कम्भानि, पद्मद्रहादिमूलपद्मभवनादिषु तथा दर्शनात्, प्रासादास्तु समायामविष्कम्भाः, दीर्घवैताढ्यकूटगतेषु वृत्तवैताढ्यगतेषु वैजयादिराजधानीगतेषु अन्येष्वपि विमानादिगतेषु च प्रासादेषु समचतुरस्रत्वेन समायामविष्कम्भत्वस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात्, तत्कथमत्र प्रासादानां भवनतुल्यप्रमाणता घटते ? । उच्यते-"ते पासाया कोसं, समूसिया अद्धकोसमविच्छिण्णा ।" इत्यस्य पूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणोपज्ञक्षेत्रविचारगाथार्द्धस्य वृत्तौ-ते प्रासादाः, क्रोशमेकं देशोनमिति शेषः, समुच्छ्रिता तथा क्रोशार्द्धमर्द्धक्रोशं विस्तीर्णाः, परिपूर्णमेकं क्रोशं दीर्घा इति श्रीमलयगिरिपादाः । तथा जम्बूद्वीपसमासप्रकरणे-प्राच्ये शाले भवनम्, इतरेषु प्रासादमध्ये सिद्धायतनसर्वाणि विजयार्द्धमानानीति श्रीउमास्वातिवाचकपादाः । तथा तपागच्छाधिराजपूज्यश्रीसोमतिलकसूरिकृतनव्यबृहत्क्षेत्रविचारसत्कायाः "पासाया सेसदिसा, सालासु विभङ्गगिरिगय व्व तओ ।" इत्यस्या गाथाया अवचूर्णौ शेषासु तिसृषु शाखासु प्रत्येकमेकैकभावेन तत्र त्रीणि आस्थानोचितानि मन्दिराणि, देशोनं क्रोशमुच्चा क्रोशार्द्धं विस्तीर्णा, पूर्णक्रोशं दीर्घा इति श्रीगुणरत्नसूरिपादाः । यदाहुः, तदाशयेन प्रस्तुतोपाङ्गस्योत्तरत्र जम्बूद्वीपपरिक्षेपकवनवापीपरिगतप्रासादप्रमाणस्तदनुसारेण चेत्येवं निश्चिनुमो जम्बूप्रकरणप्रासादा विषमायामविष्कम्भा इति । यत्तु श्रीजीवाभिगमवृत्तौ-क्रोशमेकमूर्द्धमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेनेत्युक्तं, तद् गम्भीराशयं न विद्मः । अथास्याः पद्मवरवेदिकादिस्वरूपमाह-" जम्बूए णं " इत्यादि । जम्बूर्द्वादशभिः पद्मवरवेदिकाभिः प्राकारविशेषरूपाभिः, सर्वतः समन्तात् सपरिक्षिप्ता वेदिकानां वर्णकः प्राग्वत्, इमाश्च जम्बूमूलं जम्बूं परिवृत्य स्थिता ज्ञातव्याः । या तु पीठपरिवेष्टिका सा तु प्रागेवोक्ता । अथास्याः प्रथमपरिक्षेपमाह-" जंबूए णं " इत्यादि । जम्बूः, णमिति वाक्यालङ्कारे । अन्येनाष्टशतेन जम्बूनां जम्बूवृक्षाणां तदर्द्धोच्चत्वानां, तस्याः मूलजम्ब्वा अर्द्धप्रमाणमुच्चत्वं यासां तास्तथा तासां, सर्वतस्समन्तात् सपरिक्षिप्ता उपलक्षणं चैतत्-तेनार्द्धायामविस्तारा अपि अर्द्धप्रमाणा ज्ञेयाः । तथाहि-ता अष्टाधिकशतसंख्या जम्ब्वः प्रत्येकं चत्वारि योजनान्युच्चैस्त्वेन क्रोशमेकमवगाहनम्, एकं योजनमुच्चः स्कन्धः, त्रीणि योजनानि विडिमा सर्वाग्रेणोच्चैस्त्वेन सातिरेकाणि चत्वारि योजनानि, तत्रैकैका शाखा अर्द्धक्रोशहीने द्वे योजने दीर्घा, क्रोशपृथुत्वः स्कन्ध इति भवति सर्वसंख्यया आयामविष्कम्भतश्चत्वारि योजनानि, आसु चानादृतदेवस्याभरणादीनि तिष्ठन्ति । एतासां वर्णकज्ञापनायाह-(तासि णं वण्णओ त्ति) तासां च वर्णको मूलजम्बूसदृश एवेति । अथासां यावन्त्यः पद्मवरवेदिकाः ता आह-" ताओ णं " इत्यादि व्याख्यानार्थं, नवरं प्रतिजम्बूवृक्षं षट् षट् पद्मवरवेदिका इत्यर्थः । एतासु च १०८ जम्बूषु, अत्र सूत्रे जीवाभिगमे बृहत्क्षेत्रविचारादौ सूत्रकृद्भिः वृत्तिकृद्भिश्च जिनभवनप्रासादचिन्ता काऽपि न चक्रे, बहवोऽपि च बहुश्रुताः श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णिकारादयो मूलजम्बूवृक्षगतप्रथमवनखण्डगतकूटाष्टकजिनभवनैः सह सप्तदशोत्तरशतं जिनभवनानां मन्यमाना इहाप्येकैकं सिद्धायतनं पूर्वोक्तमानं मेनिरे, ततोऽत्र तत्त्वं केवलिनो विदुरिति । सम्प्रति शेषान् परिक्षेपान् वक्तुं सूत्रचतुष्टयमाह-" जंबूए णं " इत्यादि । जम्ब्वाः सुदर्शनाया उत्तरपूर्वस्यामीशानकोणे उत्तरस्यामुत्तरपश्चिमायां कोणे, अत्रान्तरे, दिक्त्रयेऽपि इत्यर्थः । अनादृतनाम्नो जम्बूद्वीपाधिपतेर्देवस्य चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चत्वारि जम्बूसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । "तीसे णं" इत्यादि कण्ठ्यम् । गाथाबन्धेन पार्षद्देवजम्बूराह-"दक्खिण " इत्यादि । दक्षिणपौरस्त्ये आग्नेयकोणे, दक्षिणस्याम्, अपरदक्षिणस्यां नैर्ऋतकोणे, च समुच्चयार्थः । एतासु तिसृषु दिक्षु यथासंख्यं अष्टादश द्वादश जम्बूनां सहस्राणि भवन्ति, एवोऽवधारणे, तेन नाधिकानि, न न्यूनानीत्यर्थः । च प्राग्वत् । अनीकाधिपजम्बूस्तृतीयपरिक्षेपजम्बूश्च गाथाबन्धेनाह-" अणियाहिवाण " इत्यादि । अनीकाधिपानां गजादिकटकाधीशानां सप्तानां सप्तैव जम्ब्वः पश्चिमायां भवन्ति, तृतीयः परिक्षेपः पूर्णः । अथ तृतीयमाह—आत्मरक्षाणामनादृतदेवसामानिकचतुर्गुणानां षोडशसहस्राणां जम्ब्वः एकैकस्यां दिक्षु चतुस्सहस्रसहस्रसद्भावात् षोडशसहस्राणि भवन्ति, यद्यपि चानयोः परिक्षेपयोः जम्बूनामुच्चत्वादिप्रमाणं न पूर्वाचार्यैश्चिन्तितं, तथाऽपि पद्मद्रहपद्मपरिक्षेपन्यायेन, पूर्वपूर्वपरिक्षेपजम्ब्वपेक्षयोत्तरोत्तरपरिक्षेपजम्ब्वोऽर्द्धमाना ज्ञातव्याः । अत्राप्येकैकस्मिन् परिक्षेपे एकैकस्याः पङ्क्तेः क्रियामपेक्ष्य क्षेत्रसाङ्कीर्णेनावकाशदोषस्तथैवोद्भावनीयः, तेन परिक्षेपजातयस्तथैव वाच्याः । सम्प्रत्यस्या एव वनत्रयपरिक्षेपान् वक्तुमाह-"जंबूए णं" इत्यादि । सा चैवपरिवारेति गम्यम् । त्रिभिः शतिकैर्योजनशतप्रमाणैर्वनखण्डैः सर्वतः सपरिक्षिप्ता । तद्यथा-अभ्यन्तरेण, मध्यमेन, बाह्येनेति । अथाऽत्र यदस्ति तदाह-" जम्बूए णं " इत्यादि । जम्ब्वाः सपरिवारायाः पूर्वेण पञ्चाशद्योजनानि प्रथमवनखण्डमवगाह्य, अत्रान्तरे भवनं प्रज्ञप्तं, क्रोशमायामेन, उच्चत्वादिकथनायातिदेशमाह--स एव मूलजम्बूपूर्वशाखागतभवनसम्बन्धी वर्णको ज्ञेयः । शयनीयं चानादृतयोग्यम् । एवं शेषास्वपि दक्षिणादिदिक्षु दिशि पञ्चाशद्योजनान्यवगाह्याद्ये वने भवनानि वाच्यानि । अथात्र वने वापीस्वरूपमाह—" जंबूए णं उत्तर " इत्यादि । जम्ब्वा उत्तरपौरस्त्यदिग्भागे प्रथमं वनखण्डं पञ्चाशद्योजनान्यवगाह्यात्रान्तरे चतस्रः पुष्करिण्यः प्रज्ञप्ताः । एताश्च न सूचीश्रेण्या व्यवस्थिताः, किं तु स्वविदिग्गतप्रासादं परिक्षिप्य स्थिताः, तेन प्रादक्षिण्येन तन्नामान्येवम्-पद्मा पूर्वस्यां, पद्मप्रभा दक्षिणस्यां, कुमुदा पश्चिमायां, कुमुदप्रभा उत्तरस्याम् । एवं दक्षिणपूर्वादिविदिग्गतवापीष्वपि वाच्यं, ताश्च क्रोशमायामेन, अर्द्धक्रोशं विष्कम्भेन, पञ्चधनुःशतान्युद्वेधेनेति । अथात्र वापीमध्यगतप्रासादस्वरूपमाह—" तासि णं " इत्यादि । तासां वापीनां चतसृणां मध्ये प्रासादावतंसकाः प्रज्ञप्ताः, बहुवचनं च उक्तवक्ष्यमाणानां वापीनां प्रासादापेक्षया द्रष्टव्यं, तेन प्रतिवापीचतुष्कमेकैकप्रासादभावेन चत्वारः प्रासादाः । एवं निर्देशो

लाघवार्थ, क्रोशमायामेनार्द्धक्रोश विष्कम्भेन, देशोन क्रोशमुच्चत्वेन, वर्णको मूलजम्बूदाक्षिणशाखागतप्रासादवज्ज्ञेय। एषु चान्तरस्य क्रीडार्थ सिंहासनानि सपरिवाराणि वाच्यानि, जीवाभिगमे त्वपरिवाराणि, एव शेषासु दक्षिणपूर्वादिषु दिक्षु वाच्य. प्रासादस्य वक्तव्या. । एतासां नामदर्शनाय गाथाद्वयम्-पद्मादयः प्रागुक्ता , पुनः पद्मवन्धत्वेन सगृहीता इति न पुनरुक्ति । एताश्च सर्वा अपि त्रिसोपानचतुर्द्वारा पद्मवरवेदिकावनखण्डयुक्ताश्च बोध्या. । अथ दक्षिणपूर्वस्यामुत्पलगुल्मा, पूर्वस्यां नलिना, दक्षिणस्यामुत्पलोज्ज्वला, पश्चिमायामुत्पला, उत्तरस्या तथा अपरदक्षिणस्यां भृङ्गा, भृङ्गप्रभा, अञ्जना,कज्जलप्रभा । तथा अपरोत्तरस्या श्रीकान्ता, श्रीमहिता, श्रीचन्द्रा, श्रीनिलया । चैवशब्द प्राग्वत् । अथास्य वनस्य मध्यवर्तीनि स्वरूपतो लक्षयति-" जंबूए ण " इत्यादि । जम्ब्वा अस्मिन्नेव प्रथमे वनखण्डे पौरस्त्यस्य भवनस्य उत्तरस्याम , उत्तरपौरस्त्यस्य ईशानकोणस्थस्य प्रासादावतसकस्य दक्षिणस्याम्, अत्रान्तरे कूट प्रज्ञप्तम । अष्ट योजनान्यूर्द्धोच्चत्वेन द्वे योजने उद्वेधेन वृत्तत्वेन य एव आयाम. स एव विष्कम्भ इति मूलेऽष्टयोजनान्यायामविष्कम्भाभ्यां बहुमध्यदेशभागे , भूमितश्चतुर्षु योजनेषु गतेष्वित्यर्थः । षड्योजनान्यायामविष्कम्भाभ्याम-उपरि शिखरभागे चत्वारि योजनान्यायामविष्कम्भाभ्याम । अथामीषां परिधिकथनाय पद्यमाह—" पणवीस " इत्यादिक सर्वे प्रथमपाठगतऋषभकूटाभिलापानुसारेण वाच्यम्। नवरं पञ्चविंशतियोजनानि विशेषाणि किञ्चिदधिकानि मूले परित इत्यादि यथासख्यं योज्यम्। जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैस्तु "अट्ठसह कूडसरिसा,सव्वे जम्बूणया मया भणिया । " इत्यस्या गाथायामृषभकूटसमत्वेन भणितत्वात् द्वादश योजनानि अष्टौ मध्ये चेत्युक्तं; तत्त्व तु बहुश्रुतगम्यम् । एषु च प्रत्येक जिनगृहम् एकैक सिद्धिभागतजिनगृहतुल्यमिति। अथ शेषकूटवक्तव्यमतिदेशेनाह-"एव सेसा वि कूडा" इति। एवमुक्तरीत्या वर्णप्रमाणपरिध्याद्यपेक्षया शेषाण्यपि सप्त कूटानि बोध्यानि, स्थानविभागस्त्वेष.। तथाहि-पूर्वदिग्भाविनो भवनस्य दक्षिणतो दक्षिणपूर्वदिग्भाविन प्रासादावतसकस्योत्तरतो द्वितीय कूट,तथा दक्षिणदिग्भाविनो भवनस्य पूर्वतो दक्षिणपूर्वदिग्भाविन' प्रासादावतसकस्य पश्चिमायां तृतीय, तथा दक्षिणदिग्भाविनो भवनस्य पश्चिमायां दक्षिणापरदिग्भाविन प्रासादावतसकपूर्वतश्चतुर्थ,तथा पश्चिमदिग्भाविन प्रासादावतसकपूर्वतश्चतुर्थ,तथा पश्चिमदिग्भाविनो भवनस्य दक्षिणाऽपरदिग्भाविन प्रासादावतसकस्योत्तरत' पञ्चमम्, तथा पश्चिमदिग्भाविन उत्तरत उत्तरपश्चिमदिग्भाविन प्रासादावतसकस्य दक्षिणत षष्ठ, तथा उत्तरदिग्भाविनो भवनस्य पश्चिमायाम उत्तरपश्चिमदिग्भाविन. प्रासादावतसकस्य पूर्वत सप्तम, तथा उत्तरदिग्भाविनो भवनस्य पूर्वत उत्तरपूर्वदिग्भाविनः प्रासादावतसकस्य अपरतोऽष्टममिति । अत्र स्थापना । अथ जम्ब्वा नामोत्कीर्तनमाह— "जंबूए ण" इत्यादि । जम्ब्वा' सुदर्शनाया द्वादश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-सुष्ठु शोभनं नयनमनसोरानन्दकत्वेन दर्शन यस्या सा तथा,अमोघा सफला,इय हि स्वस्वामिभावेन प्रतिपन्ना सती जम्बूद्वीपाधिपत्य जनयति । तदन्तरेण तद्विषयस्य स्वामिभावस्यैवायोगात्, सुष्ठु अतिशयेन प्रबुद्धा सत्फुल्लयोगादियमप्युत्फुल्ला, सकलभुवनव्यापक यशो धरतीति यशोधरा, सिद्धादित्वादत्त्, जम्बूद्वीपो ह्यनया जम्ब्वा भुवनत्रयेऽपि विदितमहिम , तत' सपन्न यथोक्तयशोधारित्वमस्या , विदेहेषु जम्बूर्विदेहजम्बू , विदेहान्तर्गतोत्तरकुरुकृतनिवासत्वात् सौमनस्यहेतुत्वात् सौमनस्या, निहिता पश्यत कस्याऽपि मनो तुष्ट भवति केवल ता दृष्ट्वा प्रीतमनास्ता तदधिष्ठातार च प्रशसतीति,नियता सर्वकालमवस्थिता शाश्वतत्वात्, नित्य मण्डिता सदा भूषणभूषितत्वात् , सुभद्रा शोभनकल्याणभाजिनी,न ह्यस्या कदाचिदुपद्रवसभवो,महर्द्धिकेनाश्रितत्वात्, च समुच्चय, विशाला विस्तीर्णा, च. पूर्वत, आयामविष्कम्भाभ्यामुच्चत्वेन चाष्टयोजनप्रमाणत्वात् शोभन यात जन्म यस्या. सा सुजाता , विशुद्धमणिकनकरत्नमूल्यद्रव्यजनिततया जन्मदोषरहितेति भाव , शोभन मनो यस्या' सकाशाद्भवति सा सुमना , अपि चेति समुच्चये । अत्र जीवाभिगमादिषु चेद जम्ब्वादीना सुभद्रादीनां च नाम्नां व्यत्यासेन पाठो दृश्यते , तत्रापि न कश्चिद्विरोध इति । " जंबूए णं अट्ठट्ठमगलाए " इति व्यक्तम । उपलक्षणात् ध्वजछत्रादिसूत्राणि वाच्यानि इति । सप्रति सुदर्शनाशब्दप्रवृत्तिनिमित्त पिपृच्छिषुरिदमाह—" से केणट्ठेण " इत्यादि प्रश्न. प्रतीत । उत्तरसूत्रे-गौतम ! जम्ब्वां सुदर्शनायामनादृतो नाम जम्बूद्वीपाधिपतिर्न आदृता आदरविषयीकृता शेषजम्बूद्वीपगता देवा येनात्मनोऽनन्यसदृश महर्द्धिकत्वमीक्षमाणेन सोऽनादृत इति यथार्थनामा परिवसति; महर्द्धिक इत्यादि प्राग्वत् । स च तत्र चतुर्णां सामानिकसहस्राणां यावदात्मरक्षसहस्राणां जम्बूद्वीपस्य जम्ब्वा. सुदर्शनाया अनादृतनाम्न्या राजधान्या अन्येषां च बहूनां देवाना देवीनां चानादृतराजधानीवास्तव्यानामाधिपत्य पालयन् यावद्विहरति । तदेतेनार्थेन एवमुच्यते-जम्बू सुदर्शनेति, कोऽर्थ ?, अनादृतदेवस्य स्वमात्मनि महर्द्धिकत्वदर्शनमत्र कृतावासस्येति सुष्ठु शोभनमिति यावत् , अनादृतदेवस्य यस्या सकाशात् सा सुदर्शना इति । यद्यप्यनादृतराजधानीप्रश्नोत्तरसूत्रे सुदर्शनाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तप्रश्नोत्तरसूत्रनिगमनसूत्रान्तर्गते बहुष्वादर्शेषु दृष्टे, तथाऽपि " से तेणट्ठेण " इत्यादिनिगमनसूत्रम उत्तरसूत्रानन्तरमेव वाचयितृणामव्यामोहार्थं सूत्रपातेऽस्माभिर्लिखित , व्याख्यात च उत्तरसूत्रानन्तर, निगमनसूत्रस्यैव यौक्तिकत्वादिति । अथापर गौतम ! यावच्छब्दाज्जम्ब्वा सुदर्शनाया एतच्छाश्वत नामधेय प्रज्ञप्त , यन्न कदाचिन्न स्यादित्यादिक ग्राह्य,नाम्न शाश्वतत्व दर्शितम् । अथ प्रस्तुतवस्तुन. शाश्वतत्वमस्ति न वेत्याशङ्का परिहरन्नाह-" जंबू सुदसणा " इत्यादि । व्याख्याऽस्य प्राग्वत् । अथ प्रस्तावादस्य राजधानीं विवक्षुराह—" कहि ण भंते ! अणाढियस्स " इत्यादि गतार्थम्, नवर यदेव प्राग्वर्णित यमिकाराजधानीप्रमाण तदेव नेतव्य , यावदनादृतदेवस्योपपातोऽभिषेकश्च निरवशेषो , वक्तव्य इति शेष । जं० ४ वक्ष० । जी० । स्था० । सुधर्मगणधरशिष्ये , पु० । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । विपा० । अन्त० । अनु० । कल्प० । " थेरस्स ण अज्जसुहम्मस्स अग्गिवेसायणगुत्तस्स अज्जजंबूनामेण थेरे अतेवासी कासवगोत्त " कल्प० ८ क्षण । "जम्बूणाम च कासय," काश्य० प. १ म० । अवसर्पिण्या जन्म चरमशरीरिणा नियमनस्तृतीय-

चतुर्थारकयोः, सिद्धिगमन तु केषाञ्चित् पञ्चमेऽप्यरके, यथा जम्बूस्वामिन. । न० ।

श्रीजम्बूस्वामिस्वरूपं चेदम्-

राजगृहे ऋषभधारिण्यो. पुत्र पञ्चमस्वर्गाच्च्युतो जम्बूनामा श्रीसुधर्मस्वामिसमीपे धर्मश्रवणपुरस्सर प्रतिपन्नशीलसम्यक्त्वोऽपि पित्रोर्दृढाग्रहवशादष्टौ कन्याः परिणीत , पर तासां सस्नेहाभिर्वाग्भिर्न व्यामोहित. । यतः-" सम्यक्त्वशीलतुम्बाभ्यां, भवाब्धिस्तीर्यते सुखम् । ते दधानो मुनिर्जम्बू , स्त्रीनदीषु कथ ब्रुडेत् ? ॥ १ ॥ " ततो रात्रौ ताः प्रतिबोधयन् चौर्यार्थमागत चतु शतनवनवतिचौरपरिकरितं प्रभवमपि प्राबोधयत, ततः प्रात पञ्चशतचौराष्टप्रियाष्टकतज्जनकजननीस्वजनकजननीभि. सह स्वयं पञ्चशतसप्तविंशतितमो नवनवतिकनककोटीः परित्यज्य प्रव्रजितः, क्रमात् केवलीभूत्वा षोडश वर्षाणि गृहस्थत्वे विंशति छाद्मस्थ्ये चतुश्चत्वारिंशत्केवलित्वे अशीतिवर्षाणि सर्वायु. परिपाल्य श्रीप्रभव स्वपदे संस्थाप्य सिद्धिं गत ।

अत्रः कवि.-

" जम्बूसमस्तत्तारक्षो, न भूतो न भविष्यति ।
शिवाध्ववाहकान् साधून्, चौरानपि चकार य. ॥ १ ॥
प्रभवोऽपि प्रभुर्जीयात् , चौर्येण हरता धनम् ।
तेनेऽनर्घ्योचौर्यहरं, रत्नत्रितयमद्भुतम् ॥ २ ॥ "

तत्र-

" बारसवरिसेहिँ गोयमु, सिद्धो वीराउ वीसहि सुहम्मो ।
चउसठीए जंबू , वुच्छिन्ना तत्थ दस ठाणा ॥ ३ ॥
मण १ परमोहि २ पुलाए ३, आहार ४ खवग ५ उवसमे ६ कप्पे ७।
संजमतिय ८ केवल ९ सि-ज्झणा य १० जंबुम्मि वुच्छिन्ना" ॥४॥

(मण त्ति) मन.पर्यायज्ञानम्, (परमोहि त्ति) परमावधिर्यस्मिन्नुत्पन्नेऽन्तर्मुहूर्तान्त. केवलोत्पत्तिः, (पुलाए त्ति) पुलाकलब्धिर्यया चक्रवर्तिसैन्यमपि चूर्णीकर्तु प्रभु. स्यात् , (आहारग त्ति) माहारकशरीरलब्धि. (खवग त्ति) क्षपकश्रेणिः (उवसम त्ति) उपशमश्रेणिः (कप्प त्ति) जिनकल्पः (संजमतिअ त्ति) संयमत्रिक-परिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपरायथाख्यातचारित्रलक्षणम् । अत्रापि कवि'-" लोकोत्तर हि सौभाग्य, जम्बूस्वामिमहामुने' । अद्यापि य पतिं प्राप्य, शिवश्रीर्नान्यमिच्छति ॥ १ ॥ " कल्प० ८ क्षण । विशे० । संभूतविजयाचार्यस्य द्वादशानां शिष्याणां मध्ये दशमे शिष्ये गौतमगोत्रीये स्थविरे, " थेर च अज्जजबु, गोयमगुत्त नमसामि ॥ ६ ॥ " कल्प० ७ क्षण । श्रीजम्बू-प्रभव-स्वामिभ्यां सार्द्धं तपस्या गृहीता, श्रीजम्बूस्वामिनश्च सर्वायुरशीतिर्वर्षाणि श्रीप्रभवस्वामिन. स्वर्गगमनकत्व सपनीपद्येत, तेनैव तत्पट्टावलीगत लेख्यक कथ मिलतीति प्रश्ने,उत्तरम्- श्रीजम्बूस्वामिदीक्षानन्तर कियद्भिर्वर्षैः श्रीप्रभवस्वामिनो दीक्षा समाप्यते, तथा च सति न कोऽपि विरोध' । यदुक्त परिशिष्टपर्वणि—

"पञ्चम' श्रीगणधरोऽ-प्येवमभ्यर्थितस्तदा ।
तस्मै सपरिवाराय, ददौ दीक्षां यथाविधि ॥ १ ॥
पितृनापृच्छ्य चान्येद्यु. प्रभवोऽपि समागत. ।
जम्बूकुमारमनुयान्, परिव्रज्यामुपाददे " ॥ २ ॥ २७८ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

जंबूणय-जाम्बूनद-न० । जम्बूनद्यां भवम् , अण् । सुवर्णविशेषे, आ० म० प्र० । जी० । ज० । ' जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लवकुरग्गासिहरा । " वृत्तिर्यथा-जाम्बूनदाः जाम्बूनदनामकसुवर्णविशेषमया रक्ता रक्तवर्णा मृदवो मनोज्ञा सुकुमाराः सुकुमारस्पर्शा ये प्रवाला ईषदुन्मीलितपत्रभावा पल्लवा संजातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपा अङ्कुरा प्रथममुद्भिद्यमाना अङ्कुरास्तान् धरन्तीति जाम्बूनदरक्तमृदुसुकुमारप्रवालपल्लवाङ्कुरधराः । क्वचित्पाठ.-" जंबूणयरत्तमउय " इत्यादि । तत्र जाम्बूनदानि रक्तानि मृदूनि अकठिनानि सुकुमाराणि अकर्कशस्पर्शानि कोमलानि मनोज्ञानि प्रवालपल्लवाङ्कुरा यथोदितस्वरूपा अग्रशिखराणि च येषां ते तथा । जी० ३ प्रति० । अन्ये तु जाम्बूनदमया अग्रप्रवाला अङ्कुरापरपर्याया राजता इत्याहु. । जी० ३ प्रति० । " जंबूणयमयकलावजोत्तपइविसिट्ठो " जाम्बूनदमयौ कलापौ ग्रीवाभरणविशेषौ योक्त्रे च कण्ठबन्धनरज्जू प्रतिविशिष्टे शोभने यस्य स तथा । उपा० ४ अ० । " जंबूणयमयाइ गत्ताइ " जाम्बूनदमयानि गात्राणि । रा० ।

जंबूदाडिम-जम्बूदाडिम-पु० । लक्ष्मणार्याया' पितरि स्वनामके राजविशेषे, महा० ६ अ० ।

जंबूदीव-जम्बूद्वीप-पु० । न० । जम्ब्वा सुदर्शनापरनाम्न्याऽनादृतदेवावासभूतया उपलक्षितो द्वीप तत्प्रधानो वा द्वीपो जम्बूद्वीप । आव० १ अ० । सर्वद्वीपसमुद्राणामभ्यन्तरीभूते स्वनामके द्वीपे, जी० ३ प्रति० । स्था० । द्वी० । स० । अनु० ।

जम्बूद्वीपवक्तव्यताविषये गौतमो वीर प्रश्नयति-

कहि णं भंते ! जम्बुदीवे दीवे, के महालए णं भंते ! जंबुदीवे दीवे, किंसंठिए णं भंते ! जंबुदीवे दीवे, किमायारभावपडोयारे णं भंते ! जंबुदीवे दीवे पण्णत्ते ? । गोयमा ! अयं णं जंबुदीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतरए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्लापूयसंठाणसंठिए वट्टे रहचक्कवालसंठाणसंठिए वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिए वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलससयसहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ।

क कस्मिन् देशे 'भंते त्ति' गुरोरामन्त्रणम् । जम्बूद्वीपो, वर्तते इति शेष. । अनेन जम्बूद्वीपस्य स्थान पृष्टम् । तथा भदन्त ! किंप्रमाणो महानालय आश्रयो व्याप्यक्षेत्ररूपो यस्य स तथा, कियत्प्रमाणमस्य महत्त्वमित्यर्थ । एतेन प्रमाण पृष्टम् । अथ भदन्त ! किं संस्थान यस्य स तथा । एतेन संस्थान पृष्टम् । तथा भदन्त ! आकारभाव' स्वरूपविशेषः कस्याकारभावस्य प्रत्यवतारो यस्य स किमाकारभावप्रत्यवतार , बहुलग्रहणाद्वैयधिकरण्येऽपि समास. । यद्वा-आकारस्य स्वरूप भावाश्च जगतीवर्षधराद्यास्तद्गतपदार्था आकारभावा , तेषा प्रत्यवतारोऽवतरणम्, आविर्भाव इति यावत्, आकारभावप्रत्यवतार । क. कीदृग्, आकारभावप्रत्यवतारो यस्मिन् स तथा । अनेन जम्बूद्वीपस्वरूप, तद्गतपदार्थाश्च पृष्टा , इति इन्द्रभूतिना प्रश्नचतुष्टय कृत प्रतिवच श्रवणाय सारसाहताकरणार्थं जगत्प्रसिद्धगोत्राभिधान-

न तथाऽन्य निर्वचनचतुष्टयीं भगवानाह-गौतमेत्यत्र दीर्घत्वमामन्त्रणप्रभवम्, तेन हे गौतम ! अय, यत्र वय वसाम । अनेन समयक्षेत्रबहिर्वर्तिनामसङ्ख्येयानां जम्बूद्वीपानां व्यवच्छेद.। जम्बूद्वीपो नाम द्वीप.। कथम्भूत इत्याह-सर्वद्वीपाना धातकीखण्डादीनां सर्वसमुद्राणां लवणोदादीनां सर्वात्मना सामस्त्येन अभ्यन्तर' सकलतिर्यग्लोकमध्यवर्ती, सर्वाभ्यन्तर एव सर्वाभ्यन्तरक', स्वार्थे क प्रत्यय' । अभ्यन्तरमात्र धातकीखण्डोऽपि पुष्करवरद्वीपापेक्षयाऽस्ति,अतः सर्वशब्दोपादानमिति। अनेन जम्बूद्वीपस्यावस्थानमुक्तम् । तथा-सर्वेभ्योऽपि शेषद्वीपसमुद्रेभ्य क्षुल्लको लघु' । तथाहि-सर्वलवणादयः समुद्रा धातकीखण्डादयश्च द्वीपा जम्बूद्वीपादारभ्य द्विगुणद्विगुणविष्कम्भायामपरिधय', तत. शेषद्वीपसमुद्रापेक्षयाऽय लघुरिति। दीर्घत्व प्राकृतत्वात् । अनेन सामान्यत. प्रमाणमभिहित, विशेषस्त्वायामादिगत प्रमाणमग्रे वक्ष्यति २। अत्र विशेषत प्रमाणमवसरप्राप्तमपि यन्नोक्त तत्सूत्रकाराणा विचित्रा प्रवृत्तिरिति।तथा वृत्त ,स च शुषिरवृत्तोऽपि स्यादत आह-तैलापूपसंस्थानसंस्थितः-तैलेन पक्वोऽपूपस्तैलापूप',तैलेन हि पक्वोऽपूप' प्राय' परिपूर्णवृत्तो भवति, न घृतपक्व इति तैलविशेषण, तस्येव यत्संस्थान तेन संस्थित.। अत्र तैलादित्वाल्लुकारस्य द्वित्वम्। तथा वृत्तो रथचक्रवालसंस्थानसंस्थितः , रथस्यावयवे समुदायोपचारात् रथाङ्गस्य चक्रवाल मण्डल तस्येव संस्थानेन संस्थित. । अथवा-चक्रवाल मण्डल मण्डलत्वधर्मयोगाच्च रथचक्रमपि रथचक्रवाल, शेष प्राग्वत् । एव वृत्त पुष्करकर्णिकासंस्थानसंस्थित., पुष्करकर्णिका पद्मबीजकोश ,कमलमध्यभाग इति यावत्। वृत्त परिपूर्णचन्द्रसंस्थानसंस्थित , प्राग्वत् पदद्वय भावनीयम् । एकेनैव चरितार्थकत्वेऽपि नानादेशजविनेयाना क्षयोपशमवैचित्र्यात्कस्यचित् किञ्चित् बोधकमित्युपमापदनानात्वम् । अत एव प्रत्युपमापद योज्यमानत्वात् वृत्तपदस्य न पौनरुक्त्यशङ्काऽपि। एतेन संस्थानमुक्तम् । अथ सामान्यत' प्रागुक्त प्रमाण विशेषतो निर्वक्तुमाह-एक योजनशतसहस्रप्रमाणाङ्गुलनिष्पन्न, योजनलक्षमित्यर्थः । आयामविष्कम्भेन, अत्र च समाहारद्वन्द्वः,तेन क्लीबे एकवद्भाव.,आयामविष्कम्भाभ्यामित्यर्थ' ॥ अत्राह पर.-जम्बूद्वीपस्य योजनलक्ष प्रमाणमुक्त,तच्च पूर्वपश्चिमयोर्जगतीमूलविष्कम्भसत्कद्वादशद्वादशयोजनक्षेपे चतुर्विंशत्यधिक भवति, तथा यथोक्त मान विरुध्यत इति न जम्बूद्वीपजगतीविष्कम्भेन सहैव लक्ष पूरणीय,लवणसमुद्रजगतीविष्कम्भेन च लवणसमुद्रलक्षद्वयम् । एवमन्येष्वपि द्वीपसमुद्रेषु, अन्यथा समुद्रमानात् जगतीमानपृथग्भणने मनुष्यक्षेत्रपरिधिरतिरिक्त स्यात्। स हि पञ्चचत्वारिंशल्लक्षप्रमाणक्षेत्रापेक्षयाऽभिधीयते। अयमेवाशय' श्रीअभयदेवसूरिभि चतुर्थाङ्गवृत्तौ पञ्चपञ्चाशत्तमे समवाये प्रादुष्कृतोऽस्तीति,तथा त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडशशतसहस्राणि द्वे योजनशते सप्तविंशत्यधिके त्रय क्रोशा अष्टाविंशमष्टाविंशत्यधिक धनु शत त्रयोदशाङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुल च किञ्चिद्विशेषाधिकमित्येतावान् परिक्षेपेण परिधिना प्रज्ञप्त । अत्र सप्तविंशमष्टाविंशमित्यादिका शब्दा. "अधिक तत्सङ्ख्यमस्मिन् शतसहस्रे शतिशद्दशान्ताया ड " ॥ ७।१।१५४॥ इति (हैम) सूत्रेण डप्रत्यये, सप्तविंशत्याधिकमष्टाविंशत्यधिकमित्यर्थ. ।

परिध्यानयनोपायस्त्वय चूर्णिकारोक्त –

" विक्खम्भवग्गदहगुण-करणी वट्टस्स परिरओ होइ।
विक्खम्भपायगुणिओ, परिरओ तस्स गणियपय ॥ १ ॥ "

अत्र व्याख्या-वृत्तस्य वृत्तक्षेत्रस्य च यो विष्कम्भो विष्कम्भपरिमाण तस्य वर्गो विधीयते, वर्गो नाम-तेनैव राशिना तस्य गुणन, यथा चतुष्कस्य चतुष्केण गुणने षोडश चतुष्कस्य वर्ग.। ततः (दहगुण त्ति) दशभिर्गुणनात्, ततः करणरीतिर्वर्गमूलानयन,ततो वृत्तस्य परिरय परिमाण भवति, तथा तस्य वृत्तस्य परिरयो,विष्कम्भस्य पादेन चतुर्थांशेन गुणितः सन् गणितपद भवति। जम्बूद्वीपस्य विष्कम्भो व्यास.,स्थापना यथा-१००००० तद्वर्ग तद्गुणो वर्ग इति वचनाल्लक्ष लक्षेण गुण्यते, जातम्-१००००००००००, स च दशगुणः क्रियते, शून्यानि ११, तदनु करणीति वर्गमूलमानीयते ।

तथाहि-

" विषमात्पदतस्त्यक्त्वा, वर्गस्थानमुच्यते न मूलेन।
द्विगुणेन भजेच्छेष, लब्ध विनिवेशयेद् व्यक्तम् ॥ १ ॥
तद्वर्ग संशोध्य, द्विगुणीकुर्वीत पूर्ववल्लब्धम् ।
उत्सार्य ततो विभजे-च्छेष द्विगुणीकृत च नयेत् " ॥ २ ॥

इत्यनेन करणेनानीते वर्गमूले जातोऽधस्तन छेदराशि -६३२४४७ । अत्र सप्तकरूपोऽन्त्योऽङ्केन द्विगुणीकृत इति तद्वर्जशेष सर्वमप्यर्द्ध क्रियते, लब्धं योजनानि ३१६ २२७, छेदराशिश्च सप्तकेऽपि द्विगुणीकृते जात' ६३२-४५४, उपरि शेषांशा. ४८४४७१, एते च योजनस्थानीया इति क्रोशानयनार्थं चतुर्गुणा जाता. १९३७८८४, छेदराशिना भागे लब्ध क्रोशा ३, शेषम ४०५५२ धनुरानयनाय द्विसहस्रगुण जातम ८१०४४०००, छेदराशिना भागे लब्धानि धनूषि १२८, शेषम ८१८८८ षण्णवत्यङ्गुलमानधनुषोऽङ्गुलानयनार्थं षण्णवतिगुण जातम ८६२१२४८, छेदेन भागे लब्धमङ्गुलानि१३,शेषम ४०७३४६,अथ राशि' अर्द्धाङ्गुलानयनाय द्विगुणीक्रियते, जाता अष्टौ लक्षा चतुर्दशसहस्राणि षट्शतानि द्विनवत्यधिकानि ८१४६९२ छेदराशि., स एकलब्धमेकमर्धाङ्गुलम्। अत्र व्याख्यातो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायात् यवादिकमप्यानीयते। तथाहि-ते ह्यङ्गुलांशा अष्टभिर्यवैरङ्गुलमिति अष्टभिर्गुण्यन्ते जाता. ३२५८७६८ छेद स एव, लब्धा. यवा ५, ततोऽप्यष्टगुणने यूकादय. स्यु.,तत्र यूका १, एतत् सर्वमप्यर्द्धाङ्गुलस्य किञ्चिद्विशेषाधिकत्वकथनेन सूत्रकारेणापि सामान्यत. सङ्गृहीतमिति बोध्यम । गणितपद तत्करण च सोदाहरणमग्रे भावयिष्यते इति । जं० १ वक्ष० । जी० ।

अथाकारभावप्रत्यवतारविषयकप्रश्न निर्वक्तुमाह-

से णं एगाए वइरामईए जगईए सव्वओ समता संपरिक्खित्ते ।

(से ण एगाए त्ति) सोऽनन्तरोदितायामविष्कम्भपरिक्षेपपरिमाणो जम्बूद्वीप ,णमिति पूर्ववत्, एकया एकसङ्ख्यया अद्वितीयया, वज्रमय्या वज्ररत्नात्मिकया,जगत्या जम्बूद्वीपप्रकाररूपया द्वीपसमुद्रसीमाकारिण्या महानगरप्राकारकल्पया, सर्वतो दिक्षु समन्ताद्विक्षु सपरिक्षिप्त. सम्यग् वेष्टित.। प्राकृतत्वाद्दीर्घत्व वज्रशब्दस्य । जं० १ वक्ष० । जी० । भ० । (जगतीप्रतिबद्धविशेषवक्तव्यता तु 'जगई' शब्देऽत्रैव भागेऽग्रे दर्शयिष्यत)

सम्प्रति जम्बूद्वीपस्य द्वारप्ररूपणार्थमाह-

जंबूदीवस्स णं भंते ! दीवस्स कइ दारा पण्णत्ता ?। गो-

यमा ! चत्तारि दारा पण्णत्ता । तं जहा-विजये, वेजयंते, जयंते, अपराजिए ।

"जंबुद्दीवस्स णं भंते !" इत्यादि । जम्बूद्वीपस्य, णमिति प्राग्वत् । भदन्त ! द्वीपस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ? । भगवानाह-गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-विजयम्, वैजयन्तम्, जयन्तम्, अपराजितं चा । जी० ३ प्रति० । (द्वारप्रतिबद्धविशेषवक्तव्यताऽपि 'दार' शब्दे विलोकनीया)

सम्प्रति जम्बूद्वीपमध्यवर्तिपदार्थानां संग्रहगाथामाह-

खंडा१ जोयण२ वासा३, पव्वय४ कूडा५ य तित्थ६ सेढीओ७ ।
विजय८ दह९ सलिलाओ, १० अपिंडए होइ संगहणी ॥१॥

संग्रहवाक्यस्य संक्षिप्तत्वेन दुर्बोधत्वात् सूत्रकृदेव प्रश्नोत्तररीत्या विवृणोति-

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे भरहप्पमाणमेत्तेहिं खंडेहिं केवइअं खंडगणिएणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! णउअं खंडसयं गणिएणं पण्णत्ते ।

जम्बूद्वीपो भदन्त ! द्वीपो भरतप्रमाणं षट्कलाधिकषड्विंशतियोजनाधिकपञ्चशतयोजनानि तदेव मात्रा परिमाणं येषां तानि तथा एवंविधैः खण्डैः शकलैरित्येवंरूपेण खण्डगणितेन खण्डसंख्यया कियान् प्रज्ञप्तः ? । भगवानाह-गौतम ! नवत्यधिकं खण्डशतं खण्डगणितेन प्रज्ञप्तः । कोऽर्थः ?, भरतप्रमाणैः खण्डैः नवत्यधिकशतसंख्याकैर्मिलितैर्जम्बूद्वीपः संपूर्णः लक्षप्रमाणो भवति ।

अथ योजनेति द्वारसूत्रम्-

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे केवइयं जोअणगणिएणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! "सत्तेव य कोडिसया, णउआ छप्पण्णसयसहस्साइं । चउणउइं च सहस्सा, सयं दिवड्ढं च गणियपयं" ॥ १ ॥

जम्बूद्वीपो भदन्त ! द्वीपः कियान् योजनगणितेन समचतुरस्रयोजनप्रमाणखण्डैः सर्वसंख्यया प्रज्ञप्तः ? । भगवानाह-गौतम ! सप्तकोटिशतानि, एवोऽवधारणे । च उत्तरत्र संख्यासमुच्चयार्थः । नवतीति नवतिकोट्यधिकानि इति व्याख्येयं, प्रस्तावात् । अन्यथा कोटिशततो द्वितीयस्थाने सत्सु लक्षादिस्थानेषु नवदशकरूपा नवतिर्न युज्यते, गणितशास्त्रविरोधात्, तथा षट्पञ्चाशच्छतसहस्राणि, लक्षाणीत्यर्थः । चतुर्नवतिं च सहस्राणि शतं च द्व्यर्द्धं सार्द्धं पञ्चाशदधिकं योजनमित्येतावत्प्रमाणं जम्बूद्वीपस्य गणितपदं क्षेत्रमित्यर्थः । सूत्रे च योजनसंख्याया प्रक्रान्तत्वात् योजनावधिरेव संख्या निर्दिष्टा, अन्यत्र तु भगवतीवृत्त्यादौ साधिकत्वं विवक्षितम् । तच्चेदम्-" गाउअमेगं पणरस, धणुस्सया तह य धणुणि पण्णरस । सट्ठिं च अंगुलाइं, जंबुद्दीवस्स गणियपयं ॥ १ ॥ " इति । इयं च व्यक्तैव, करणं चात्र-" विक्खंभपायगुणिओ, अपरिरओ तस्स गणिअपयं " । इति वचनात् जम्बूद्वीपपरिधिस्त्रिलक्षषोडशसहस्रद्विशतसप्तविंशतियोजनादिको जम्बूद्वीपस्य विष्कम्भस्य लक्षरूपस्य पादेन चतुर्थांशेन पञ्चविंशतिसहस्ररूपेण गुणितो जम्बूद्वीपगणितपदमिति । तथाहि—जम्बूद्वीपपरिधिस्तिस्रो लक्षाः, षोडश सहस्राणि, द्वे शते सप्तविंशत्यधिके योजनानां, तथा गव्यूतत्रयम्, अष्टाविंशत्यधिकं शतं धनुषां त्रयोदशाङ्गुलानि एकं चार्द्धाङ्गुलं, यवादयस्तु श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रणीतक्षेत्रविचारसूत्रवृत्त्यादौ न विवक्षिता, अतो न तद्विवक्षा क्रियते । तत्र योजनराशौ पञ्चविंशतिसहस्रैर्गुणिते सप्तकोटीशतानि नवतिकोटयः षट्पञ्चाशल्लक्षाः पञ्चसप्ततिसहस्राणि भवन्ति, तथा क्रोशत्रये पञ्चविंशतिसहस्रगुणिते जातं पञ्चसप्ततिसहस्राणि गव्यूतानाम्, एषां च योजनानयनार्थं चतुर्भिर्भागे हृते लब्धान्यष्टादश सहस्राणि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि योजनानाम्, अस्मिंश्च सहस्रादिके पूर्वराशौ प्रक्षिप्ते जातानि ९३ सहस्राणि ७ शतानि ५० अधिकानि, कोट्यादिका संख्या तु सर्वत्र तथैव, तथा धनुषामष्टाविंशं शतं पञ्चविंशतिसहस्रैर्गुण्यते जाता द्वात्रिंशल्लक्षा धनुषाम् ३२०००००, अष्टाभिश्च धनुःसहस्रैर्योजनं भवति, ततो योजनानयनार्थमष्टाभिः सहस्रैर्भागलब्धानि चत्वारि योजनशतानि, अस्मिंश्च पूर्वराशौ प्रक्षिप्ते जातानि ९४ सहस्राणि, शतं पञ्चाशदधिकम्, अङ्गुलान्यपि त्रयोदशपञ्चविंशतिसहस्रैर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि लक्षाणि पञ्चविंशतिसहस्राधिकानि अर्द्धाङ्गुलमपि पञ्चविंशतिसहस्रैरभ्यस्यते, जातान्यर्द्धाङ्गुलानां पञ्चविंशतिसहस्राणि, तेषामर्द्धे लब्धान्यङ्गुलानां द्वादश सहस्राणि पञ्चशताधिकानि, तेषु पूर्वोक्ताङ्गुलराशौ प्रक्षिप्तेषु जातोऽङ्गुलराशिस्त्रीणि लक्षाणि सप्तत्रिंशत्सहस्राणि पञ्चाशदधिकानि एषां धनुरानयनाय षण्णवत्या भागे हृते लब्धानि धनुषां पञ्चत्रिंशच्छतानि पञ्चदशाधिकानि, शेषं षष्टिरङ्गुलानि, अस्य धनूराशेर्गव्यूतानयनाय सहस्रद्वयेन भागे हृते लब्धमेकं गव्यूतं, शेषं धनुषां पञ्चदश शतानि पञ्चदशाधिकानि, सर्वाग्रेण जातमिदं योजनानां सप्तकोटिशतानि नवतिकोट्यधिकानि षट्पञ्चाशल्लक्षा चतुर्णवतिसहस्राणि शतमेकं पञ्चाशदधिकं, तथा गव्यूतमेकं धनुषां पञ्चदश शतानि पञ्चदशाधिकानि अङ्गुलानां षष्टिरिति । गतं योजनद्वारम् । जं० ६ वक्ष० ।

अथ वर्षाणि-

जम्बूदीवे णं भंते ! कति वासा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सत्त वासा । तं जहा-भरहे, एरवए, हेमवए, हेरण्णवए, हरिवासे, रम्मगवासे, महाविदेहे ।

भरतमैरावतं हैमवतं हिरण्यवतं हरिवर्षं रम्यकवर्षं महाविदेहः । जं० ६ वक्ष० । ज्यो० । स्था० । (महाविदेहक्षेत्रविभागीकरणे तु दश वर्षाणि)

अथ पर्वतद्वारम्-

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे केवइया वासहरा पव्वया पण्णत्ता ? । केवइआ मंदरा पव्वया, केवइया चित्तकूडा, केवइया विचित्तकूडा, केवइया जमगपव्वया, केवइया कंचणगपव्वया, केवइया वक्खारा, केवइया दीहवेयड्ढा, केवइया वट्टवेयड्ढा पण्णत्ता ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे छ वासहरपव्वया, एगे मंदरपव्वए, एगे चित्तकूडे, एगे विचित्तकूडे, दो जमगपव्वया, दो कंचणगपव्वयसया, वीसं वक्खारपव्वया, चोत्तीसं दीहवेयड्ढा, चत्तारि वट्टवेअड्ढा, एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे छुस्सिआ उणत्तरा पव्वयसया भवंतीति मक्खाय ति ।

प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे संख्यामीलनाय किञ्चिदुच्यते-षट् वर्षधराः क्षुल्लहिमवदादयः एको मन्दरो मेरुः एकश्चित्र-कूटः एकश्च विचित्रकूटः, एतौ च यमलजातकाविव द्वौ गिरि-देवकुरुवर्त्तिनौ द्वौ यमकपर्वतौ तथैवोत्तरकुरुवर्त्तिनौ द्वे का-ञ्चनकपर्वतशते देवकुरूत्तरकुरुवर्त्तिह्रदयदशकोभयकूलयोः प्र-त्येकं दशदशकाञ्चनकसद्भावात्, तथा विंशतिर्वक्षस्कारप-र्वताः तत्र गजदन्ताकाराः गन्धमादनादयश्चत्वारः, तथा चतुष्प्र-कारे महाविदेहे प्रत्येकं चतुष्कचतुष्कसद्भावात् । षोडश चित्रकू-टादयः सरलाः उभयेऽपि मिलिताः यथोक्तसंख्याः । तथा चतु-स्त्रिंशद्दीर्घवैताढ्याः द्वात्रिंशद्विजयेषु भरतैरावतयोश्च प्रत्येक-मेकैकभावात् चत्वारो वृत्तवैताढ्यहैमवतादिषु चतुर्षु वर्षेषु एकैकभावात् 'एवामेव सपुव्वावरेण ति' प्राग्वत् । जम्बू-द्वीपे द्वीपे एकोनसप्तत्यधिके पर्वतशते भवत इत्याख्यातं म-या, अन्यैश्च तीर्थकृद्भिः । जं० ६ वक्ष० ।

अथ क्षेत्राणि-

जंबुद्दीवे दीवे दस खेत्ता पएणत्ता । तं जहा-भरहे, एरवए, हेमवए, हेरन्नवए, हरिवासे, रम्मगवासे, पुव्वविदेहे, अवरविदेहे, देवकुरा, उत्तरकुरा । स्था० १० ठा० ।

अथ कूटानि-

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे केवइया वासहरकूडा, केवइया वक्खारकूडा, केवइया वेअड्ढकूडा केवइया मंदरकूडा पएणत्ता ? । गोयमा ! छप्पण्णं वासहरकूडा, छण्णउइ वक्खारकूडा, तिण्णि छलुत्तरा वेअड्ढकूडसया, नव मंदरकूडा पएणत्ता । एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे चत्तारि सत्तट्ठा कूडसया भवतीति मक्खायं ॥

जम्बूद्वीपे कियन्ति वर्षधरकूटानि इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे-षट्पञ्चाशद्वर्षधरकूटानि । तथाहि-क्षुद्रहिमवच्छिखरिणोः प्रत्येकमेकादश, महाहिमवद्रुक्मिणोः प्रत्येकमष्टौ, निषधनीलवतोः प्रत्येकं नव, सर्वसंख्यया ५६ । वक्षस्कारकूटानि षण्णवतिः । तद्यथा-सरलवक्षस्कारेषु षोडशसु १६ प्रत्येकं चतुष्टयभावात् ६४ गजदन्ताकृतिवक्षस्कारेषु गन्धमादनसौमनसयोः सप्त २ माल्यवद्विद्युत्प्रभयोः नव इति, उभयमीलने यथोक्तसंख्या, त्रीणि षडुत्तराणि वैताढ्यकूटशतानि, तत्र भरतैरावतयोर्विजयानां च वैताढ्येषु चतुस्त्रिंशति प्रत्येकं नव सद्भावादुक्तसंख्यानयनं वृत्तवैताढ्येषु च कूटाभावः । अत एव वैताढ्यसूत्रे न दीर्घपदोपादानं, विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वात्, अत्र च व्यवच्छेद्यस्याभावादिति । मेरौ नव, तानि नन्दनवनगतानि ग्राह्याणि, न भद्रशालवनगतानि दिग्घस्तिकूटानि, तेषां भूमिप्रतिष्ठितत्वेन स्वतन्त्रकूटत्वादिति । संग्रहणिगाथायाम्-" पव्वयकूडा य " इत्यत्र चोऽनुक्तसमुच्चये । तेन चतुस्त्रिंशदृषभकूटानि, तथा-अष्टौ जम्बूवनगतानि, तावन्त्येव शाल्मलीवनगतानि भद्रशालवनगतानि च, सर्वसंख्ययाऽष्टपञ्चाशत्संख्याकानि अग्राणि । ननु तर्हि एतद्गाथाविवरणसूत्रे-"चत्तारि सत्त सट्ठा कूडसया" इत्येवरूपे संख्याविरोधः । उच्यते-एषां नियताधारकत्वेन स्वतन्त्रगिरित्वान्न कूटेषु गणना । अयमेवाशयः ऋषभकूटसंख्यासूत्रपृथक्करणेन सूत्रकृता स्वयमेव दर्शयिष्यते, यच्च प्राक् ऋषभकूटाधिकारे-" कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे उसभकूडे णामं पव्वए पण्णत्ते । " इति सूत्रम्, तच्छिलोच्चयमात्रतापरं व्याख्येयमिति सर्वं सम्यक् । जं० ६ वक्ष० । स्था० ।

अथ तीर्थानि-

जम्बुद्दीवे णं भंते ! दीवे भरहे वासे कति तित्था पएणत्ता ? । गोयमा ! तओ तित्था पएणत्ता । तं जहा-मागहे, वरदामे, पभासे । जंबुद्दीवे णं दीवे एरवए वासे कति तित्था पएणत्ता ? । गोयमा ! तओ तित्था पएणत्ता । तं जहा-मागहे, वरदामे, पभासे । जंबुद्दीवे णं दीवे महाविदेहे वासे एगमेगे चक्कवट्टिविजए कति तित्था पएणत्ता ? । गोयमा ! तओ तित्था पएणत्ता । तं जहा-मागहे, वरदामे, पभासे । एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे एग वि उत्तरे तित्थसए भवतीति मक्खायं ति ॥

प्रश्नसूत्रे तीर्थानि चक्रिणां स्वस्वक्षेत्रसीमासु साधनार्थं महाजलावतरणस्थानानि । उत्तरसूत्रे भरते त्रीणि तीर्थानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-मागधः पूर्वस्यां गङ्गासङ्गमे समुद्रस्य, वरदामः दक्षिणस्यां प्रभासः, पश्चिमायां सिन्धुसङ्गमे समुद्रस्य । एवमैरावतसूत्रमपि भावनीयम् । नवरं नद्यौ चात्र रक्तारक्तवत्यौ, तयोः समुद्रसङ्गमे मागधप्रभासे वरदामाख्ये च तत्रत्यापेक्षया तथैव, विजयसूत्रे चायं विशेषः-विजयसत्का गङ्गादि ४ महानदीनां यथार्हं शीताशीतोदयोः सङ्गमे मागधप्रभासाख्यानि भावनीयानि, वरदामाख्यानि तेषां मध्यगतानि भाव्यानि, एवमेव पूर्वापरमीलनेन एकं द्व्युत्तरं तीर्थशतं भवतीत्याख्यातमिति । जं० ६ वक्ष० । स्था० ।

अथ श्रेणयः-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइयाओ विज्जाहरसेढीओ, केवइयाओ आभिओगसेढीओ पएणत्ताओ ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे अट्ठसट्ठी विज्जाहरसेढीओ, अट्ठसट्ठी आभिओगसेढीओ पएणत्ताओ । एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे छत्तीससेढीसए भवतीति मक्खायं ॥

प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे अष्टषष्टिर्विद्याधरश्रेणयः विद्याधरावासभूताः वैताढ्यानां पूर्वापरोदध्यादिपरिच्छिन्ना आयतमेखला भवन्ति चतुस्त्रिंशत्यपि वैताढ्येषु दक्षिणत उत्तरतश्च एकैकश्रेणिभावात्, तथैवाष्टषष्टिराभियोग्यश्रेणयः, एवमेव पूर्वापरमीलनेन जम्बूद्वीपे द्वीपे षट्त्रिंशदधिकं श्रेणिशतं भवतीत्याख्यातम् ।

अथ विजयाः-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइया चक्कवट्टिविजया, केवइआओ रायहाणीओ, केवइआओ तिमिसगुहाओ, केवइआओ खंडप्पवायगुहाओ, केवइया कयमालया देवा, केवइया णट्टमालया देवा, केवइया उसभकूडा पएणत्ता ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे चोत्तीसं चक्कवट्टिविजया, चोत्तीसं रायहाणीओ, चोत्तीसं तिमिसगुहाओ, चोत्तीसं खंडप्पवायगुहाओ, चोत्तीसं कयमालगा देवा, चोत्तीसं णट्टमालगा देवा, चोत्तीसं उसभकूडा पव्वया पएणत्ता ।

प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे जम्बूद्वीपे द्वीपे चतुस्त्रिंशच्चक्रवर्त्ति-विजयास्तत्र द्वात्रिंशन्महाविदेहविजयाः द्वे च भरतैरावते, अत्र-योरपि चक्रवर्त्तिविजेतव्यक्षेत्रखण्डरूपस्य चक्रवर्त्तिविजयशब्द-वाच्यस्य सत्त्वात्, एवं चतुस्त्रिंशत् राजधान्यश्चतुस्त्रिंशत्तमिस्रा-गुहाः, प्रतिवैताढ्यमेकैकसम्भवात्, एवं चतुस्त्रिंशत् खण्डप्रपात-गुहाः, चतुस्त्रिंशत् कृतमालदेवाः, चतुस्त्रिंशन्नक्तमालका देवाः चतुस्त्रिंशत् ऋषभकूटनामकाः पर्वताः प्रज्ञप्ताः, प्रतिक्षेत्रं सम्भवत चक्रवर्त्तिनो दिग्विजयसूचकनामन्यासार्थमेकैकसद्भावात्, यच्चात्र विजयद्वारे प्रक्रान्ते राजधान्यादिप्रश्नोत्तरसूत्रं तद्विज-यान्तर्गतत्वेनेति ।

अथ ह्रदाः -

जंबुद्दीवे दीवे केवइआ महद्दहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सोलस महद्दहा पण्णत्ता ।

प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे षोडश महाह्रदाः, षड्वर्षधराणां शीताशीतोदयोश्च प्रत्येकं पञ्च । जं० ६ वक्ख० । स्था० ।

अथ सलिलाः -

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइआओ महाणईओ वास-हरपवहाओ, केवइआओ महाणईओ कुंडप्पवहाओ पण्ण-त्ताओ ? । गोअमा ! जंबुद्दीवे दीवे चोद्दस महाणईओ वासहरपवहाओ, छावत्तरिमहाणईओ कुंडप्पवहाओ, एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे णउतिं महाणईओ भवंतीति मक्खायं ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे कियत्यो महानद्यो वर्षधरेभ्यः "तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः" इति । वर्षधरह्रदेभ्यः प्रवहन्ति निर्गच्छन्तीति वर्ष-धरप्रवहाः । अन्यथा कुण्डप्रभवाणामपि वर्षधरनितम्बस्थकुण्ड-प्रभवत्वेन वर्षधरप्रभवा इति वाच्यं स्यात् । कियत्यः कुण्डप्र-भवा वर्षधरनितम्बवर्त्तिकुण्डनिर्गताः प्रज्ञप्ताः ? । गौतम ! जम्बू-द्वीपे चतुर्दशमहानद्यो वर्षधरह्रदप्रभवाः भरतगङ्गादयः प्रति-क्षेत्रं द्विद्विभावात् कुण्डभवाः षट्सप्ततिर्महानद्यः, तत्र शी-ताया उदीच्येषु षोडशसु विजयेषु शीतोदाया याम्येषु षोडशसु विज-येषु च एकैकभावेन षोडश गङ्गाः षोडश सिन्धवश्च । तथा शी-ताया याम्येषु विजयेषु शीतोदाया उदीच्येषु षोडशसु विजये-ष्वेषु चैकैकभावेन षोडश रक्ता रक्तवत्यश्च, एवं चतुःषष्टिः द्वादश च प्रागुक्ता अन्तर्नद्यः सर्वमीलने षट्सप्ततिरिति कुण्डप्र-भवानां तु शीताशीतोदापरिवारभूतत्वेनाऽसम्भवदपि महानदी-त्वं स्वस्वविजयगतचतुर्दशसहस्रनदीपरिवारसम्पदुपेतत्वेन भाव्यम् । एवमेव पूर्वापरेण चतुर्दशषट्सप्ततिरूपसंख्यामील-नेन जम्बूद्वीपे नवतिर्महानद्यो भवन्तीत्याख्यातमिति । जं० ६ वक्ख० । स्था० । स० । (तासां चतुर्दशमहानदीनां नदी-परिवारसंख्या समुद्रप्रवेशदिक् ' महाणई ' शब्दे वक्ष्यते)

जंबुद्दीवे दीवे हेमवयहेरण्णवएसु वासेसु बारसुत्तरे स-लिलासयसहस्से भवंतीति मक्खायं ॥

जम्बूद्वीपे हैमवतहैरण्यवतयोः क्षेत्रयोर्द्वादशसहस्रोत्तरं नदी-शतसहस्रं भवतीत्येवमाख्यातम् । अत्र शतसहस्रशब्दसाहचर्या-दप्रसंख्यायां सहस्राणि प्रतीयन्ते । अन्यथा षट्पञ्चाशत्सह-स्राणां चतुर्गुणने संख्याशास्त्रविरोधः स्यात्, दृश्यते च शब्दसाह-चर्यादर्थप्रतिपत्तिः । यथा-रामलक्ष्मणावित्यत्र रामशब्देन दाश-रथिर्लक्ष्मणशब्दसाहचर्यात् प्रतीयते, न तु रेणुकासुत इति । जं० ६ वक्ख० ।

जंबूदीवे दीवे हरिवासरम्मगवासेसु दो चउवीसा सलि-लासयसहस्सा भवंतीति मक्खायं ॥

तथा " जंबुद्दीवे " इत्यादि सुबोधं, द्वयोर्वर्षयोः सहोक्तौ हेतुः प्राग्वदेव. (हरी ति) हरिसलिला पूर्वार्णवगा, हरिवर्ष-हरिकान्ता चापरार्णवगा, रम्यके नरकान्ता पूर्वार्णवगा, नारीका-न्ता चापरार्णवगा सर्वसंख्यया जम्बूद्वीपे द्वीपे हरिवर्षरम्यक-वर्षयोर्द्वे चतुर्विंशतिसहस्राधिके सलिलाशतसहस्रे भवत इति षट्पञ्चाशत्सहस्राणां चतुर्गुणने एकभावत एव लाभात् । अत्रापि सहस्रपरतया व्याख्यानं प्राग्वत् । जं० ६ वक्ख० ।

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरपव्वयस्स दक्खिणेणं केव-इया सलिलासयसहस्सा पुरच्छिमपच्चच्छिमाभिमुहा लवणसमुद्दं समप्पेंति ? । गोयमा ! एगे छण्णउए सलिला-सयसहस्से पुरच्छिमपच्चच्छिमाभिमुहे लवणसमुद्दं सम-प्पेंति त्ति । जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं केवइआ सलिलासयसहस्सा पुरच्छिमाभिमुहा लवणसमुद्दं समप्पेंति ? । गोयमा ! एगे छण्णउए सलिला-सयसहस्से पुरच्छिमपच्चच्छिमाभिमुहे० जाव समप्पेइ । जंबु-द्दीवे णं भंते ! केवइआ सलिलासयसहस्सा पुरत्थाभि-मुहा लवणसमुद्दं समप्पेंति ? । गोअमा ! सत्त सलिलासय-सहस्सा अट्ठावीसं च सहस्सा० जाव समप्पेंति । जंबुद्दीवे णं भंते ! केवइआ सलिलासयसहस्सा पच्चच्छिमाभिमुहा लवणसमुद्दं समप्पेंति ? । गोयमा ! सत्त सलिलासयसह-स्सा अट्ठावीसं च सहस्सा० जाव समप्पेंति, एवामेव सपु-व्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे चोद्दस सलिलासयसहस्सा छ-प्पण्णं च सहस्सा भवंतीति मक्खायं ॥

अथ मेरुतो दक्षिणस्यां कियत्यो नद्य इत्याह-"जंबुद्दीवे दीवे मंदरपव्वय" इत्यादि व्यक्तम् । नवरम् उत्तरसूत्रे एकं षण्णवति-सहस्राधिकं सलिलाशतसहस्रम् । तथाहि-भरते गङ्गायाः सि-न्धोश्च चतुर्दशचतुर्दशसहस्राणि, हैमवते रोहितायाः रोहिता-शायाश्चाष्टाविंशतिरष्टाविंशतिसहस्राणि, हरिवर्षे हरिसलिला-या हरिकान्तायाश्च षट्पञ्चाशत् २ सहस्राणि, सर्वमीलने यथो-क्तसंख्या । अथ मेरोरुत्तरवर्त्तिनीनां संख्यां प्रश्नयितुमाह-"जंबु-द्दीवे" इत्यादि व्यक्तम् । नवरम् उत्तरसूत्रे सर्वसंख्या दक्षिणसू-त्रवद्भावनीया, वर्षाणां नदीनां च विशेषः स्वयं बोध्यः । ननु मेरुतो दक्षिणोत्तरनदीसंख्यामीलने सपरिवारे उत्तरदक्षिणप्र-वहे शीताशीतोदे कथं न मिलिते ? । उच्यते-प्रश्नसूत्रं हि मेरुतो दक्षिणोत्तरदिग्भागवर्त्तिपूर्वापरसमुद्रप्रवेशरूपविशिष्टार्थविष-यकं, तेन मेरुतः शुद्धपूर्वापरसमुद्रप्रवेशिन्योरनयोर्निर्वचनसूत्रेऽ-नन्तर्भावः, यथाप्रश्नं निर्वचनदानस्य शिष्टव्यवहारात् । अथ पू-र्वाऽभिमुखाः कियत्यो लवणोदं प्रविशन्तीत्याह-"जंबुद्दीवे दीवे" इत्यादि । जम्बूद्वीपे द्वीपे कियत्यो नद्यः पूर्वाऽभिमुखा लवणोदं प्रविशन्ति, कियत्यः पूर्वसमुद्रप्रवेशिन्य इत्यर्थः । इदं च प्रश्नसूत्रं केवलं नदीनां पूर्वदिग्गामित्वरूपप्रष्टव्यविषयकं, तेन पूर्वस्मात्

प्रश्नसूत्राद्विज्ञेयते, उत्तरसूत्रे सप्त नदीलक्षाणि, अष्टाविंशतिश्च सहस्राणि यावत् समुपसर्पन्ति । तद्यथा-पूर्वसूत्रे मेरुतो दक्षिणदिग्वर्तिनीनामेकं षण्णवतिसहस्राधिकं लक्षमुक्तं, तदर्द्धं पूर्वे पूर्वाब्धिगामीत्यागतान्यष्टानवति सहस्राणि, एवमुदीच्यनदीनामप्यष्टानवति सहस्राणि शीतापरिकरनद्यश्च लक्षाणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि च, सर्वेपिण्डे यथोक्तं मानम् । अथ पश्चिमाब्धिगामिनीनां सङ्ख्याप्रश्नार्थमाह-" जंबुद्दीवे दीवे " इत्यादि । इदं चानन्तरसूत्रवत् वाच्यं, सङ्ख्या योजनीया, परस्परं निर्विशेषत्वात् । सम्प्रति सर्वसरित्सङ्कलनामाह-" एवामेव सपुव्वावरेणं " इत्यादि व्यक्तं, नवरम् जम्बूद्वीपे द्वीपे पूर्वाब्धिगामिनीनामपराब्धिगामिनीनां च नदीनां संयोजने चतुर्दशलक्षाणि षट्पञ्चाशत् सहस्राणि भवन्ति इत्याख्यातम् । ननु इयं सर्वसरित्सङ्ख्या केवलपरिकरनदीनां, महानदीसहितानां वा तासाम् ? । उच्यते--महानदीसहितानामिति सम्भाव्यते, सम्भावनाबीजं तु कच्छविजयगतसिन्धुनदीवर्णनाधिकारे प्रवेशे च सर्वसङ्ख्यया आत्मना सह चतुर्दशभिर्नदीसहस्रैः समन्विता भवतीति श्रीमलयगिरिकृतबृहत्क्षेत्रविचारवृत्त्यादिवचनमिति । श्रीरत्नशेखरसूरयस्तु स्वक्षेत्रसमासे-" अडसयरि महाणईओ, वारस अंतरणईउ सेसा उ । परिअरणईउ चउदस, एव छप्पन्नसहस्सा य ॥१॥" इति महानदीनां पृथग्गणनं चक्रुरिति । तत्त्वं तु बहुश्रुतगम्यम् । नन्वत्र प्रत्येकमष्टाविंशतिमहस्रनदीपरिवारा द्वादशान्तर्नद्यः सर्वनदीसङ्कलनायां कथं न गणिता ? । उच्यते-इयं सर्वसरित्सङ्ख्या चतुर्दशलक्षादिलक्षणा श्रीरत्नशेखरसूरिभिः स्वोपज्ञक्षेत्रसमासवृत्तौ, तथा प्रतिमहानदीपरिवारमीलने स्वस्वक्षेत्रविचारसूत्रे श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणादिसूत्रकारैः श्रीमलयगिर्यादिभिर्वृत्तिकारैश्चान्तर्नदीपरिवाराः सङ्ग्रहेण चोक्ताः । श्रीहरिभद्रसूरिभिस्तु-"खंडा जोअण " इत्यादि गाथायाः सङ्ग्रहण्यां चतुरशीतिप्रमाणा कुरुनदीरनन्तर्भाव्य तत्स्थाने इमा एव द्वादश नदीः चतुर्दशभिः २ नदीसहस्रैः सह निक्षिप्य यथोक्तसङ्ख्याऽपूरि । तद्यथा-" चउदस सहस्सगुणिआ, अडतीसणईउ विजयमज्झिल्ला । सीआए णिवडंती, सीओआए वि एमेव ॥ १ ॥ " केचित्तु जयविजयगतयोः गङ्गासिन्ध्वोः रक्तारक्तवत्योर्वा अष्टाविंशतिसहस्रनदीलक्षणं परिवारं, स एवासन्नतयोपचारेणान्तर्नदीनां परिवारतयोक्त इत्यतोऽत्रसीयते, यदन्तर्नदीपरिवारमाश्रित्य मतवैचित्र्यदर्शनादिना केनाऽपि हेतुना प्रस्तुतसूत्रकारेणाऽपि सर्वनदीसङ्कलनायां गणिता इति । अत्रापि तत्त्वं बहुश्रुतगम्यमेव । यदि चान्तर्नदीपरिवारनदीसङ्कलनाऽपि क्रियते, तदा जम्बूद्वीपे द्विनवतिसहस्राधिकाः सप्तदश लक्षाः नदीनां भवन्ति । यदुक्तम्-" सुत्ते चउदस लक्खा, छप्पन्नसहस्सजम्बुदीवम्मि । दुति व सत्तरस लक्खा, बाणउइ सहस्ससलिला उ ॥ १ ॥ " इति । एतेषां जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्युक्तार्थानां पिण्डके मीलके विषयज्ञे इयं सङ्ग्रहगाथा भवतीति । अथ जम्बूद्वीपव्यासस्य लक्षप्रमाणताप्रतीत्यर्थं दक्षिणोत्तराभ्यां क्षेत्रयोजनसर्वाग्रमीलनं जिज्ञासूनामुपकाराय दर्श्यते । यथा-१००००० , अत्र सर्वाग्रं लक्षयोजनप्रमाणम् । अत्रापि जगतीसत्कमूलविष्कम्भः स्वस्वदिग्गतमुखवनेऽन्तर्भावनीय इति । जं० ६ वक्ष० ।

अथ जम्बूद्वीपे चन्द्रादिसङ्ख्या पृच्छति-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे कइ चंदा पभासिंसु, पभासिंति, पभासिस्संति ; कइ सूरिया तवइंसु, तवेंति, तविस्संति ; केवइआ णक्खत्ता जोगं जोइंसु, जोअंति, जोइस्संति ; केवइआ महग्गहा चारं चरिंसु, चरंति, चरिस्संति ; केवइआओ तारागणकोडाकोडीओ सोभिंसु, सोभिंति, सोभिस्संति य ? । गोयमा ! दो चंदा पभासिंसु० ३, दो सूरिआ तवइंसु० ३, छप्पन्नं णक्खत्ता जोगं जोइंसु० ३ , छावत्तरं महग्गहसयं चारं चरिंसु० ३ । " एगं च सयसहस्सं, तेत्तीसं खलु भवे सहस्साइं । णव य सया पण्णासा, तारागणकोडिकोडीणं ॥ १ ॥ "

जम्बूद्वीपे भगवन् ! द्वीपे कति चन्द्राः प्रभासितवन्तः-प्रकाशनीयं वस्तु उद्योतितवन्तः, प्रभासयन्ति उद्योतयन्ति, प्रभासयिष्यन्ति उद्योतयिष्यन्ति, उद्योतनामकर्मोदयाच्चन्द्रमण्डलानामनुष्णप्रकाशो हि जने उद्योत इति व्यवह्रियते, तेन तथा प्रश्नः अनादिनिधनेयं जगत्स्थितिरिति जानतः शिष्यस्य कालत्रयनिर्देशेन प्रश्नः, प्रष्टव्यं तु चन्द्रादिसङ्ख्या । तथा कति सूर्यास्तापितवन्तः आत्मव्यतिरिक्तवस्तुनि तापं जनितवन्तः, एवं तापयन्ति, तापयिष्यन्ति । आतपनामकर्मोदयाद् रविमण्डलानामुष्णः प्रकाशस्ताप इति लोके व्यवह्रियते, तेन तथा प्रश्नोक्तिः, तथा कियन्ति नक्षत्राणि योगं स्वयं नियतमण्डलचारित्वेऽप्यनियताऽनेकमण्डलचारिभिर्निजमण्डलक्षेत्रमागतैर्ग्रहैः सह सम्बन्धं युक्तवन्ति प्राप्तवन्ति, युञ्जन्ति प्राप्नुवन्ति, योक्ष्यन्ति प्राप्स्यन्ति । तथा कियन्तो महाग्रहा अङ्गारकादयश्चारं मण्डलक्षेत्रपरिभ्रमिं चरितवन्तो अनुभूतवन्तः, चरन्ति अनुभवन्ति, चरिष्यन्ति अनुभविष्यन्ति ? । यद्यपि समयक्षेत्रवर्तिनां सर्वेषामपि ज्योतिष्काणां गतिश्चार इत्यभिधीयते, तथाऽप्यन्यव्यपदेशविशेषाभावेन वक्रातिचारादिभिर्गतिविशेषैर्गतिमत्त्वेन चैषां सामान्यगतिशब्देन प्रश्नः । तथा कियत्यस्तारागणकोट्यः शोभितवत्यः शोभां धृतवत्यः, शोभन्ते, शोभिष्यन्ति ? । एषां च चन्द्रादिसूत्रोक्तकारणाभावेन बहुलपक्षादौ भास्वरत्वमात्रेण शोभमानत्वादित्थं प्रश्नाऽभिलापः । अत्र सूत्रेऽनुक्तोऽपि वाशब्दो विकल्पद्योतनार्थं प्रतिप्रश्नं बोध्यः । भगवानाह--गौतम ! द्वौ चन्द्रौ प्रभासितवन्तौ, प्रभासेते, प्रभासिष्येते च । जम्बूद्वीपे क्षेत्रे सूर्याक्रान्ताभ्यां दिग्भ्यामन्यत्र शेषयोर्दिशोश्चन्द्राभ्यां प्रकाश्यमानत्वात्, प्रश्नसूत्रे च प्रभासितवन्त इत्यादौ यो बहुवचनेन निर्देशः स प्रश्नरीतिर्बहुवचनेनैव प्रवर्तत इति ज्ञापनार्थं । एकाद्यन्यतरनिर्णयस्य तु सिद्धान्तोत्तरकाले सम्भवः, एवं सूर्यसूत्रेऽपि भावनीयम् । तथा द्वौ सूर्यौ तापितवन्तौ, जम्बूद्वीपक्षेत्रमिति शेषः, अस्मिन्नेव क्षेत्रे चन्द्राक्रान्ताभ्यां दिग्भ्यामन्यत्रशेषयोर्दिशोः सूर्याभ्यां ताप्यमानत्वात् तथा षट्पञ्चाशन्नक्षत्राण्येकैकस्य चन्द्रस्य प्रत्येकमष्टाविंशतिनक्षत्रपरिवारात् योगं युक्तवन्तीत्यादि प्राग्वत् । तथा षट्सप्ततिं षट्सप्तत्युत्तरं महाग्रहशतम्, एकैकस्य चन्द्रस्य प्रत्येकमष्टाशीतिग्रहाणां परिवारभावात् चारं चरितवदित्यादि । तथा पद्येन तारामानमाह-" तारागणकोटिकोटीनामेकं लक्षं त्रयस्त्रिंशच्च सहस्राणि, नव च शतानि, पञ्चाशानि पञ्चाशदधिकानि भवन्ति । प्रतिचन्द्रं तारागणकोटाकोटीनां षट्षष्टिसहस्रनवशताधिकपञ्चसप्ततेर्लभ्यमानत्वादिति । जं० ६ वक्ष० ।

जम्बूद्वीपे निधिसंख्यां प्रष्टुमाह-

जंबुद्दीवे दीवे केवइया निहिरयणा सव्वग्गेणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिण्णि छलुत्तरा णिहिरयणसया सव्वग्गेणं पण्णत्ता । जंबुद्दीवे दीवे केवइआ णिहिरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?। गोयमा ! जहण्णपए छत्तीसं, उक्कोसपए दोण्णि सत्तरा णिहिरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । जंबुद्दीवे दीवे केवइआ पंचिंदियरयणसया सव्वग्गेणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! दो दसुत्तरा पंचिंदियरयणसया सव्वग्गेणं पण्णत्ता । जम्बुद्दीवे दीवे जहण्णपदे वा उक्कोसपदे वा केवइआ पंचिंदियरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?। गोयमा ! जहण्णपए अट्ठावीसं उक्कोसपए दोण्णि दसुत्तरा पंचिंदियरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइआ एगिंदियरयणसया सव्वग्गेणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! दो दो दसुत्तरा एगिंदियरयणसया सव्वग्गेणं पण्णत्ता । जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइया एगिंदियरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?। गोयमा ! जहण्णपए अट्ठावीसं,उक्कोसेणं दोण्णि दसुत्तरा एगिंदियरयणसया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइअं आयामविक्खंभेणं, केवइअं परिक्खेवेणं, केवइअं उव्वेहेणं, केवइअं उड्ढं उच्चत्तेणं, केवइअं सव्वग्गेणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे एगं जोअणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं, तिण्णि जोअणसयसहस्साइं सोलस य सहस्साइं दोण्णि अ सत्तावीसे जोअणसए तिण्णि अ कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस य अंगुलाइं अर्द्धंगुलं च किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं,एगं जोअणसहस्सं उव्वेहेणं,णवणउतिजोअणसहस्साइं साइरेगाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, साइरेगं जोअणसयसहस्सं सव्वग्गेणं पण्णत्ते ।

"जंबुद्दीवे" इत्यादि । जम्बूद्वीपे द्वीपे कियन्ति निधिरत्नानि उत्कृष्टनिधानानि, यानि गङ्गादिनदीमुखस्थानि चक्रवर्ती हस्तगतपरिपूर्णषट्खण्डादिदिग्विजयव्यावृत्तोऽष्टमतप करणानन्तरं स्वसात्करोति, तानि सर्वाग्रेण सर्वसंख्यया प्रज्ञप्तानि ?। भगवानाह-गौतम ! त्रीणि षडुत्तराणि निधिरत्नशतानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-नवसंख्याकानि निधानानि चतुस्त्रिंशता गुण्यन्त इति यथोक्ता संख्येति । इयं च सत्तामाश्रित्य प्ररूपणा कृता । अथ निधिपतीनां कति निधानानि विवक्षितकाले भोग्यानि भवन्तीति प्रश्नमाह-" जंबुद्दीवे दीवे " इत्यादि । जम्बूद्वीपे कियन्ति निधिरत्नशतानि परिभोग्यतया उत्पन्ने प्रयोजने चक्रवर्तिभिर्व्यापार्यमाणत्वेन "हव्व इति" शीघ्रं चक्राभिषेकोत्पत्त्यनन्तरं, निर्विलम्बमित्यर्थः, आगच्छन्ति ?। भगवानाह-गौतम ! जघन्यपदे षट्त्रिंशत् जघन्यपदभाविना चक्रवर्तिना नव निधानानि चतुर्गुणितानि यथोक्तसंख्याप्रदानीति, उत्कृष्टपदे तु द्वे सप्तत्यधिके निधिरत्नशते परिभोग्यतया शीघ्रमागच्छत , उत्कृष्टपदभाविना चक्रिणा त्रिंशता नव नव

निधानानि भवन्तीति नव त्रिंशता गुण्यन्ते, इत्युपपद्यते यथोक्तसंख्येति । अथ जम्बूद्वीपवर्तिचक्रवर्तिरत्नसंख्यां पिपृच्छिषुराह-(जम्बुद्दीवे त्ति) जम्बूद्वीपे द्वीपे भदन्त ! कियन्ति पञ्चेन्द्रियरत्नानि सेनापत्यादीनि, तेषां शतानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तानि ?। भगवानाह-गौतम ! द्वे दशोत्तरे पञ्चेन्द्रियरत्नशते सर्वाग्रेण प्रज्ञप्ते । तद्यथा-उत्कृष्टपदभाविना त्रिंशता चक्रिणां प्रत्येकं सप्त पञ्चेन्द्रियरत्नसद्भावेन सप्तसंख्या त्रिंशता गुण्यते, भवति यथोक्तं मानम् । ननु निधिसर्वाग्रपृच्छायां चतुस्त्रिंशता गुणनं,पञ्चेन्द्रियरत्नसर्वाग्रपृच्छायां तु किमिति त्रिंशता गुणनम् ?। उच्यते-चतुर्षु वासुदेवविजयेषु तदा तेषामनुपलम्भात् निधीनां तु नियतभावत्वेन सर्वदाऽप्युपलब्धेः,तेन रत्नसर्वाग्रसूत्रे रत्नपरिभोगसूत्रे च न कश्चित्संख्याकृतो विशेष इति । अथ रत्नपरिभोगप्रश्नसूत्रमाह-" जम्बुद्दीवे " इत्यादि प्रायो व्याख्यातत्वाद्व्यक्तम् । अथैकेन्द्रियरत्नानि प्रश्नयितुमाह-" जंबुद्दीवे " इति व्यक्तम् । नवरम् एकेन्द्रियरत्नानि चक्रिणां चक्रादीनि तेषां शतानि इति । अथैकेन्द्रियरत्नपरिभोगसूत्रं पृच्छन्नाह-" जंबुद्दीवे त्ति " व्यक्तम् । अथ जम्बूद्वीपस्य विष्कम्भादीनि पृच्छन्नाह-(जंबुद्दीवे त्ति) अत्र सूत्रे विष्कम्भायामपरिक्षेपा प्राग् व्याख्याता , पुनः प्रश्नविषयीकरणं तु उद्वेधादिकप्रश्नप्रकरणस्य प्रस्तावाद्विस्मरणशीलविनेयजनस्मरणरूपोपकारायेति । तेनोद्वेधादिसूत्रे जम्बूद्वीपं द्वीपम्, अत्र द्वीपशब्दस्य क्लीवत्वनिर्देशः , क्लीवेऽपि वर्तमानत्वात्, कियदुद्वेधत्वेन,भूमिप्रविष्टत्वेनेत्यर्थः । कियदूर्ध्वोच्चत्वेन, भूनिर्गतत्वोच्चत्वेनेत्यर्थः । कियच्च सर्वाग्रेण तुण्डत्वोच्चत्वमीलनेन प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! विष्कम्भायामपरिक्षेपविषयं निर्वचनसूत्रं प्राग्वत्,उद्वेधादिनिर्वचनसूत्रे तु एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन सातिरेकाणि नवनवतियोजनसहस्राणि ऊर्ध्वोच्चत्वेन सातिरेकं योजनशतसहस्रं सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तम् । ननु तुण्डत्वव्यवहारो जलाशयादौ,उच्चत्वव्यवहारस्तु पर्वतविमानादौ प्रसिद्धः , द्वीपे तु स किं,व्यवहाराविषयत्वादिति ?। उच्यते-समभूतलादारभ्य रत्नप्रभायामधः सहस्रयोजनानि यावत्क्रमनेऽधोग्रामविजयादिषु जम्बूद्वीपव्यवहारस्योपलभ्यमानत्वेनोच्चत्वव्यवहारः सुप्रसिद्ध एव । तथा जम्बूद्वीपोत्पन्नानां तीर्थकृतां जम्बूद्वीपमेरौ पण्डगवनाभिषेकशिलायामभिषिच्यमानत्वात् जम्बूद्वीपव्यपदेशपूर्वकमभिषेकस्य जायमानत्वेनोच्चत्वव्यवहारोऽप्यागमे सुप्रसिद्ध एवेति । जं० ७ वक्ष० ।

अथास्यैव शाश्वतभावादिकं प्रश्नयन्नाह-

जम्बुद्दीवे णं भंते ! दीवे किं सासए, किं असासए ?। गोयमा ! सिअ सासए, सिअ असासए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सिअ सासए, सिअ असासए ?। गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए, वण्णपज्जवेहिं गंधरसफासपज्जवेहिं असासए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-सिअ सासए, सिअ असासए । जम्बुद्दीवे णं भंते ! दीवे कालओ केवच्चिरं होइ ?। गोयमा ! ण कया वि णासि,ण कया वि णत्थि,ण कया वि ण भविस्सइ,भविंसु अ, भवइ अ,भविस्सइ अ,धुवे णिअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे जंबुद्दीवे दीवे पण्णत्ते ।

" जंबुद्दीवे णं " इत्यादि । इदं च यथा प्राक् पद्मवरवेदिकाधिकारे व्याख्यातम्, तथाऽत्र जम्बूद्वीपव्यपदेशेन बोध्यमिति ।

एव च शाश्वताऽशाश्वतो घटो निरन्वयविनश्वरो दृष्ट', किमसावपि तद्वत्, उत नेत्याह-"जंबुद्दीवे ण" इत्यादि । इदमपि प्राक् पद्मवरवेदिकाऽधिकारे व्याख्यातमिति । जं० ।

अथ किं परिणामोऽसौ द्वीप इति पिपृच्छिषुराह-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे किं पुढविपरिणामे, आउपरिणामे, जीवपरिणामे, पुग्गलपरिणामे ? । गोयमा ! पुढविपरिणामे वि, आउपरिणामे वि, जीवपरिणामे वि, पुग्गलपरिणामे वि ।

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीप' किं पृथ्वीपरिणाम. पृथिवीपिण्डमय., किं जलपरिणाम. जलपिण्डमय.। एतादृशौ च स्कन्धावचित्तरज स्कन्धादिवदजीवपरिणामावपि भवत इत्याशङ्कयाह- किं जीवपरिणाम. जीवमय । घटादिरजीवपरिणामोऽपि भवतीत्याशङ्कयाह—किं पुद्गलपरिणाम पुद्गलस्कन्धनिष्पन्न. केवलपुद्गलपिण्डमय इत्यर्थ । तेजसस्त्वेकान्तसुषमादावुत्पन्नत्वेन एकान्तदु.षमादौ तु विध्वस्तत्वेन जम्बूद्वीपस्य तत्परिणामेऽङ्गीक्रियमाणे कादाचित्कत्वप्रसङ्ग ,वायोस्त्वतिचलत्वेन तत्परिणामे द्वीपस्यापि चलत्वापत्तिरिति तयो. स्वत एव सदेहाविषयत्वेन न प्रश्नसूत्रे उपन्यास.। भगवानाह-गौतम! पृथिवीपरिणामोऽपि, पर्वतादिमत्त्वात् । अप्परिणामोऽपि, नदीह्रदादिमत्त्वात् । जीवपरिणामोऽपि मुखवनादिषु वनस्पत्यादिमत्त्वात् । यद्यपि स्वसमये पृथिव्यप्कायपरिणामत्वग्रहणेनैव जीवपरिणामत्व सिद्धम्, तथाऽपि लोके तयोर्जीवत्वस्याव्यवहारात् पृथग्ग्रहणम्, वनस्पत्यादीनां तु जीवत्वव्यवहार स्वपरसमय इति पुद्गलपरिणामोऽपि मूर्तत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, कोऽर्थ ?,जम्बूद्वीपो हि स्कन्धरूप पदार्थ, स चावयवैः समुदितैरेव भवति, समुदायरूपत्वात् समुदायिन इति ।

अथ यदि चायं जीवपरिणामरूपस्तर्हि सर्वे जीवा अत्रोत्पन्नपूर्वा , उत नेत्याशङ्कयाह-

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे सव्वपाणा सव्वजीवा सव्वभूआ सव्वसत्ता पुढविकाइयत्ताए आउकाइअत्ताए तेउकाइयत्ताए वाउकाइअत्ताए वणस्सइकाइअत्ताए उववण्णपुव्वा ? । हंता गोयमा ! . असइं अदुवा अणंतखुत्तो ॥

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे सर्वे प्राणा द्वित्रिचतुरिन्द्रिया, सर्वे जीवा. पञ्चेन्द्रिया, सर्वे भूतास्तरव, सर्वे सत्त्वा पृथिव्यप्तेजोवायुकायिका । अनेन च सांव्यवहारिकराशिविषयक एवाय प्रश्न. , अनादिनिगोदनिर्गतानामेव प्राणजीवादिरूपविशेषपर्यायप्रतिपत्ते । पृथिवीकायिकतया अप्कायिकतया तेजस्कायिकतया वायुकायिकतया वनस्पतिकायिकतया उपपन्नपूर्वा उत्पन्नपूर्वा ?। भगवानाह- 'हता गोयमा ' एव गौतम ' यथैव प्रश्नसूत्र तथैव प्रत्युच्चारणीयम्—पृथिवीकायिकतया यावद्वनस्पतिकायिकतया उपपन्नपूर्वा , कालक्रमेण ससारस्यानादित्वात्, न पुन सर्वे प्राणादयो जीवविशेषा युगपदुत्पन्ना सकलजीवानामेककाल जम्बूद्वीप पृथिव्यादिभावेनोत्पादे सकलदेवनारकादिनदाभावप्रसङ्के । न चैतदस्ति, तथा जगत्स्वभावादिति । कियन्तो वाऽनुत्पन्ना इत्याह-असकृदनेकश , अथवा-अनन्तकृत्व -अनन्तवारान् ससारस्यानादित्वादिति ।

अथ जम्बूद्वीपेतिनाम्नो व्युत्पत्तिनिमित्त जिज्ञासिषुः पृच्छति-

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जंबुद्दीवे दीवे ?। गोयमा ! जंबूद्दीवे णं दीवे तत्थ तत्थ देसेहिं देसेहिं बहवे जंबूरुक्खा जंबूवणा जंबूवणसंडा णिच्चं कुसुमिआ० जाव पिंडिममंजरिवर्डेंसगधरा सिरीए अईव उवसोभेमाणा चिट्ठंति । जंबूए सुदंसणाए अणाढिए णामं देवे महिड्ढिए० जाव पलिओवमट्ठिईए परिवसइ, से तेणट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ-जंबूद्दीवे दीवे ।

अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते-जम्बूद्वीपो द्वीपः ?। भगवानाह-गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे तत्र तत्र देश तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो जम्बूवृक्षा एकैकरूपा विरलस्थितत्वात्, तथा बहूनि जम्बूवनानि जम्बूवृक्षा एव समूहभावेनावस्थिता., अविरलस्थितत्वात् । "एकजातीयतरुसमूहो वनम्" इति वचनात् । तथा बहवो जम्बूवनखण्डा. जम्बूवृक्षसमूहा एव विजातीयतरुमिश्रिता "अनेकजातीयतरुसमूहा वनखण्ड " इति वचनात् । तत्राऽपि जम्बूवृक्षाणामेव प्राधान्यमिति प्रस्तुते वर्णकसाफल्यम् । अन्यथा अपरवृक्षाणा वनखण्डैर्निमित्तभूतैर्जम्बूद्वीपपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेऽसाङ्गत्यात् । ते च कथभूता इत्याह-नित्य सर्वकाल कुसुमिता , यावत्पदात् "णिच्च माइया णिच्च लवइआ णिच्च थवइआ०जाव णिच्च कुसुमिअ-माइअ-लवइअ-थवइअ-गुलुइअ-गोच्छइअ-जमलिअ-जुवलिअ-विणमिअ-पणमिअ-सुविभत्ता" इति ग्राह्यम् । एतद्व्याख्यान प्राग्वनखण्डवर्णक कृतमिति ततो ज्ञेयम् । उक्तवर्णकोपेताश्च वृक्षा श्रिया अतीव उपशोभमानास्तिष्ठन्ति । इद च नित्यकुसुमितत्वादिक जम्बूवृक्षाणामुत्तरकुरुक्षेत्रापेक्षया बोध्यम् । अन्यथैषां प्रावृट्कालभाविपुष्पफलादयवत्त्वेन प्रत्यक्षबाधात्, एतेन जम्बूवृक्षबहुलो द्वीपो जम्बूद्वीप इत्यावेदित भवति । अथवा-जम्ब्वा सुदर्शनाऽभिधानायामनादृतनामा, पूर्वजम्बूवृक्षाधिकारे व्याख्यातनामा देवो महर्द्धिको, यावत्करणात् "महज्जुइए" इत्यादि ग्राह्यम्। पल्योपमस्थितिक. परिवसति; अथ तेनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते-स्वाधिपत्यनादृतनामदेवाश्रयभूतया जम्ब्वोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीप इति, सूत्रैकदेशो ह्यपर सूत्रैकदेश स्मारयति इति । "अदुत्तर च ण जंबुद्दीवस्स सासए णामधेज्जे पण्णत्ते, ज ण कयाइ ण आसी, ण कयाइ णत्थि, ण कयाइ ण भविस्सइ० जाव णिच्चे " इति ज्ञेय, जीवाभिगमादर्शे तथा दर्शनात् । एतेन किमाकारभावप्रत्यवतारो जम्बूद्वीप इति चतुर्थ प्रश्नो निर्व्यूढ इति । जं० ७ वक्ष० । जी० ।

जम्बूद्वीपस्य मध्ये च मेरुनामा पर्वतोऽस्ति । तथाहि-

महीइ मज्झम्मि ठिते णगिंदे, पन्नायते सूरियसुद्धलेसे ।
एव सिरीए उ स भूरिवन्ने, मणोरमे जोअइ अच्चिमाली ॥ १३ ॥

मह्या रत्नप्रभापृथिव्या, मध्यदेशे जम्बूद्वीप , तस्यापि बहुमध्यदेशे सौमनसविद्युत्प्रभगन्धमादनमाल्यवन्नदंष्ट्रापर्वतचतुष्टयोपशोभित समभूभाग दशसहस्रविस्तीर्ण शिरसि सहस्रमकमधस्तादपि दशसहस्राणि नवतियोजनानि योजनैकादशभागैर्दशभिरधिकानि विस्तीर्णश्चत्वारिंशद्योजनोच्छ्रितचूलोपशोभितो नगेन्द्र पर्वतप्रधानो मेरु प्रकर्षेण लोके ज्ञायते

सूर्यवच्चुद्दलेश्य आदित्यसमानतेजाः, एवमनन्तरोक्तप्रकारया भिया,तुशब्दात् विशिष्टतरया, स मन्दरगिरिवर्णोऽनेकवर्णोऽनेकवर्णरत्नोपशोभितत्वात् मनोऽन्तःकरणं रमयतीति मनोरमोऽर्चिर्मालीव आदित्य इव स्वतेजसा द्योतयति दशदिशः प्रकाशयतीति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स० । स्था० ।

जम्बूद्वीपनाम्नाऽन्येऽपि द्वीपा वर्तन्ते । तथाहि-

केवतिया णं भंते ! जंबूदीवे नामधेज्जेहिं पण्णत्ते ? । गोयमा ! असंखेज्जा जंबूदीवा दीवा नामधेज्जेहिं पण्णत्ता ।

कियन्तो भदन्त ! जम्बूद्वीपा प्रज्ञप्ता , जम्बूद्वीप इति नाम्ना कियन्तो द्वीपा प्रज्ञप्ता इत्यर्थः ?। एवमुक्ते भगवानाह-गौतम ! असंख्येया जम्बूद्वीपा द्वीपा प्रज्ञप्ता , जम्बूद्वीप इतिनाम्ना असंख्येया द्वीपा इति भावः । जी० ३ प्रति० । स्था० ।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं दो खित्ता पएणत्ता । तं जहा-बहुसमतुल्ला अविसेसा० जाव पुव्वविदेहे चेव, अवरविदेहे चेव ।

(पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं) पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि, पश्चात् पश्चिमायामित्यर्थः । यथाक्रमं पूर्वश्चासौ विदेहश्चेति पूर्वविदेहः, एवमपरविदेह इति । एतयो चाऽऽयामादिर्भेदान्तराद्यवसेय इति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अथ जम्बूद्वीपवेदिका-

जंबूदीवस्स णं दीवस्स वेदिया दो गाउयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पएणत्ता ।

" जंबू " इत्यादि कण्ठ्यम, नवरं वज्रमय्या अष्टयोजनोच्छ्रयाया चतुर्द्वादशोपर्यधो विस्तृताया जम्बूद्वीपनगरप्राकारकल्पाया जगत्या द्विगव्यूतोच्छ्रितेन पञ्चधनुश्शतविस्तृतेन नानारत्नमयेन जालकटकेन परिक्षिप्ताया उपरि वेदिकेति, पद्मवरवेदिकेत्यर्थः । पञ्चधनुःशतविस्तीर्णगवाक्षहेमकिङ्किणीघण्टायुक्ता देवानामासनशयनमोहनविविधक्रीडास्थानमुभयतो वनखण्डयुत्तेति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

जंबूदीवग-जम्बूद्वीपक (ग)-त्रि० । जम्बूद्वीपस्येदं जम्बूद्वीपकम् । तं वा गच्छतीति जम्बूद्वीपगम् ।जम्बूद्वीपगमके, स्था० ४ ठा० २ उ० । जम्बूद्वीपोत्पन्नमनुष्ये, पु० । स्था० ६ ठा० ।

जंबूदीवपएणत्ति-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-स्त्री० । जम्बूद्वीपस्य प्रकर्षेण निःशेषकुतीर्थिकसाधारण्ययथावस्थितस्वरूपनिरूपणलक्षणेन ज्ञप्तिर्ज्ञापनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ, ज्ञप्तिर्ज्ञानं वा यस्याः सकाशात् सा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः । अथवा-जम्बूद्वीपं प्रान्ति पूरयन्ति स्वस्थित्येति जम्बूद्वीपप्राः जगतीवर्षवर्षधराद्यास्तेषां ज्ञप्तिर्यस्याः सकाशात् सा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः । जं० १ वक्ष० । स्वनाम्ना प्रसिद्धे पञ्चमोपाङ्गे, इदं च ज्ञाताधर्मकथाख्यषष्ठाङ्गस्योपाङ्गम् । जं० १ वक्ष० । पा० ।

अथ प्रस्तुततीर्थद्वादशाङ्गीसूत्रसूत्रणाविश्वकर्मा श्रीसुधर्मस्वामी स्वस्मिन् गुरुत्वाभिमानं परिजिहीर्षुः प्रस्तुतग्रन्थनामोपदर्शनपूर्वकं निगमनवाक्यमाह—

तए णं समणे भगवं महावीरे मिहिलाए णयरीए माणिभद्दे चेइए बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं साविद्याणं बहूणं देवाणं बहूणं देवीणं मज्झगए एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ-' जंबूदीवपएणत्ती णाम ' अज्जो ! अज्झयणं अट्ठं च हेउं च पसिणं च कारणं च वागरणं च भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ त्ति बेमि ॥

" तए णं " इत्यादि । शाश्वतत्वात् शाश्वतनामकत्वाच्च सद्रूपोऽयं जम्बूद्वीपरूपो भावः, सन्त हि भावं नापलपन्ति वीतरागाः । ततः श्रमणो भगवान् महावीरो मिथिलायां नगर्यां माणिभद्रे चैत्ये बहूनां श्रमणानां बहूनां श्रमणीनां बहूनां श्रावकाणां बहूनां श्राविकाणां बहूनां देवानां बहूनां देवीनां मध्ये गतो, न पुनरेकान्ते एकतरस्य कस्यचित् पुरतः, एवं यथोक्तमुक्तानुसारेण इत्यर्थः , आख्याति प्रथमतो वाच्यमात्रकथनेन, एवं भाषते विशेषवचनकथनतः, एवं प्रज्ञापयति व्यक्तपर्यायवचनतः, एवं प्ररूपयत्युपपत्तितः । आख्येयस्याऽभिधानमाह-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिरिति नाम षष्ठोपाङ्गमिति शेषः । जं० ७ वक्ष० । (प्रमेयरत्नमञ्जूषानाम्नी अस्य टीकेति 'पमेयरयणमंजूसा' शब्दे टीकाकरणप्रस्तावः ।)

जंबूदीवाहिवइ-जम्बूद्वीपाधिपति-पु० । अनादृताख्ये देवे, द्वी० ।

जंबूपल्लवपविभत्ति-जम्बूपल्लवप्रविभक्ति-स्त्री० । द्वात्रिंशद्विधदिव्यनाट्यस्य विंशतितमविधौ, रा० ।

जंबूपेढ-जम्बूपीठ-न० । यन्नाम्ना इदं जम्बूद्वीप स्यात् तस्याः सुदर्शनानाम्न्या जम्ब्वा अधिष्ठाने, जं० ४ वक्ष० । (तद्वक्तव्यता च ' जम्बू ' शब्दे १३६७ पृष्ठेऽनुपदमेव प्रदर्शिता)

जंबूफल-जम्बूफल-न० । जाम्बवे, रा० ।

जंबूफलअसणकुसुमवंधणणीलुप्पलपुप्फपत्तनिकरमरगयआसासगनयणकीयाऽसिवन्ने ॥

जम्बूफलानि प्रतीतानि, असनकुसुमवन्धनम् असनपुष्पवृन्तं, नीलोत्पलपुष्पपत्रनिकरो मरकतमणि प्रतीतः । आसासको बीयकाभिधानो वृक्षो,नयनकीका नेत्रमध्यतारा, आसिखड्गः, तेषामिव वर्णो यस्य स तथा । रा० । औ० । " जंबूफलपुट्ठवण्णा " जी० ३ प्रति० ।

जंबूफलकालिया-जम्बूफलकालिका-स्त्री० । जम्बूफलवत्कृष्णवर्णायाम्, जी० ३ प्रति० । जम्बूफलसत्कक्वाथ्यर्ये, जी० ३ प्रति० ।

जंबूलय-जम्बूलक-पु० । लोकरूढ्यवसेये जम्बुनामके जलाधारे पात्रे, उपा० ७ अ० ।

जंबूसंड-जम्बूखण्ड-पु० । स्वनामके ग्रामे, आ० म० द्वि० । आ० चू० । यत्र विहारक्रमेणागत्य वीरजिनं गोशालश्च क्षीरसमिश्रकूरं लब्धवान् । आ० म० द्वि० ।

जंबूसामि-जम्बूस्वामिन्-पु० । सुधर्मगणधरशिष्ये, आ० म० द्वि० । स्था० । (तच्चरितं ' जंबू ' शब्दे १३७१ पृष्ठे प्रदर्शितम्)

जंबूसाला-जम्बूशाला-स्त्री० । जम्बूवृक्षशाखायाम्, "एगो परिव्वायगो पोट्टं लोहपट्टेण बन्धित्ता जंबूसालं च गहाय हिंडइ, पुच्छितो भणइ-नाणेण पोट्टं फुट्टइ, ता लोहपट्टेण बद्धं जंबूसालं, जहा एत्थ जंबूदीवे नत्थि मम पडिवादी " । आ० म० द्वि० ।

जभग -जृम्भक-पु० । जृम्भन्ते विजृम्भन्ते स्वच्छन्दचारितया चेष्टन्ते ये ते जृम्भका । तिर्यग्लोकवासिव्यन्तरविशेषदेवेषु, भ० १४ श० ८ उ० । आ० म० । ज्ञा० । आ० क० ।

एतेषां स्वरूप त्वेवम्—

अत्थि णं भंते ! जंभया देवा , जंभया देवा ? । हंता अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जंभया देवा, जंभया देवा ? । गोयमा ! जंभगा णं देवा णिच्च पमुइय-पक्कीलिया कंदप्परतिमेहुणसीला, जे णं ते देवे कुद्धे पासेज्जा,से णं महंतं अजसं पाउणेज्जा, जे णं ते देवे तुट्ठे पासेज्जा, से णं महंतं जसं पाउणेज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! जंभगा देवा, जंभया देवा । कइविहा णं भंते ! जंभगा देवा पएणत्ता ? । गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता । तं जहा-अन्न-जंभगा पाणजंभगा वत्थजंभगा लेणजंभगा सयणजंभगा पुप्फजंभगा फलजंभगा पुप्फफलजंभगा विज्जाजंभगा अ-वियत्तजंभगा । जंभगा ण भंते ! देवा कहिं वसहिं उवेंति ? । गोयमा ! सव्वेसु चेव दीहवेयड्ढेसु चित्तविचित्तजमगपव्वए-सु कंचणपव्वएसु य, एत्थ णं जंभगा देवा वसहिं उवेंति । जंभगाणं भंते ! देवाण केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ? । गोयमा ! एगपलिओवमं ठिई पएणत्ता ।

(जभग त्ति) जृम्भन्ते विजृम्भन्ते स्वच्छन्दचारितया चेष्टन्ते ये ते जृम्भकास्तिर्यग्लोकवासिनो व्यन्तरदेवा (पमुइयपक्कीलिय त्ति) प्रमुदिताश्च ते तोषवन्त., प्रक्रीडिताश्च प्रकृष्टक्रीडा. प्रमुदितप्रक्रीडिता. (कदप्परइ त्ति) अत्यर्थं केलिरतिका (मेहुणसील त्ति) निधुवनशीला (अजस ति) उ-पलक्षणत्वादस्यानर्थं प्राप्नुयात (जस ति) उपल-क्षणत्वादस्यार्थं वैक्रियलब्ध्यादिक प्राप्नुयाद्वैरस्वामिवत् शापानुग्रहकरणसमर्थत्वात् तच्छीलत्वाच्च तेषामिति । " अएणजंभया " इत्यादि । अन्ने भोजनविषये तदभावसद्भावा-ल्पत्वबहुत्वसरसत्वनीरसत्वादिकरणतो जृम्भन्ते विजृम्भन्ते ये ते तथा, एव पानादिष्वपि वाच्य, नवरम् (लेण ति) लयन गृहम् (पुप्फफलजभग त्ति) उभयजृम्भका , एतस्य च स्थाने 'मनजभग त्ति ' वाचनान्तरे दृश्यते । (अवियत्तजभग-त्ति) अव्यक्तधा अन्नाद्यविभागेन जृम्भका ये ते तथा । क्वचि-त्तु-"अहिवइजभग त्ति " दृश्यते, तत्र चाधिपती राजादिनाय-कविषये जृम्भका ये ते तथा (सव्वेसु चेव दीहवेयड्ढेसु त्ति) सर्वेषु प्रतिक्षेत्र तेषां भावात् सप्तत्यधिकशतसङ्ख्येषु दीर्घ-विजयार्द्धेषु पर्वतविशेषु , दीर्घग्रहण च वर्तुलविजयार्द्ध-व्यवच्छेदार्थम । चित्तविचित्तजमगपव्वएसु त्ति) देवकुरुषु शीतोदानद्या उभयपार्श्वतश्चित्रकूटश्च पर्वत , तथा उत्तरकुरु-षु शीताऽभिधाननद्या उभयतो यमकाभिधानौ पर्वतौ स्त , ते-षु (कचणपव्वएसु त्ति) उत्तरकुरुषु शीतानदीसबन्धिनां पञ्चानां नीलवदादिह्रदाना क्रमव्यवस्थितानां प्रत्येक पूर्वापर-तटयोर्दशदशकाञ्चनकाऽभिधाना गिरय सन्ति, ते च शतं भवन्त्येव देवकुरुष्वपि शीतोदानद्या सबन्धिनां निषधह्रदादी-नां पञ्चाना ह्रदानामिति । तदेव द्वे शते, एव धातकीखण्डपू-र्वार्द्धादिष्वप्यतस्तेष्विति । भ० १४ श० ८ उ० । जृम्भाकार रुद्रगणभेदे, वाच० ।

जभगामर-जृम्भकामर-पु० । जृम्भकनाम्ना ख्याते देव, " भूत्वाविभोजीव , प्राग्भवे जृम्भकामर " । आ० क० ।

जंभणओ-देशी-यथेष्टवक्तरि, दे० ना० ३ वर्ग ।

जभणी-जृम्भणी-स्त्री० । तन्त्रप्रसिद्धे विद्याविशेषे, सूत्र० श्रु० २ अ० ।

जंभा-जृम्भा-स्त्री० भावे अः । आलस्यश्रमगर्भादिजनितजृम्भे , वाच० ।

जृम्भ-धा० । विजृम्भणे, " अघेर्जृम्भो जभा " ॥८।४।१५७ । इति सूत्रेण " जभा " आदेशे " स्वरादनतो वा । ८ । ४ । २४० । इति सूत्रेण विकल्पादकारागमे जृम्भते, 'जभाइ-जभाअइ ' इति रूपे सिध्यत. । उपसर्गे तु " केलिपसरो विअभइ " प्रा० ४ पाद ।

जंभाइय-जृम्भित-न० । विवृतवदनस्य प्रबलपवननिर्गमे आव० ५ अ० । आ० चू० । ध० ।

जंभायंत-जृम्भमाण-त्रि० । विजृम्भमाणे, शरीरचेष्टाविशेष विदधाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जंभायमाण-जृम्भमाण-त्रि० । ' जभायत ' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जंभियगाम-जृम्भिकग्राम-पु० । स्वनामके मगधदेशान्तर्गते ग्रामे, आचा० २ चू० । अत्र हि देवेन्द्रेण भगवतो महावीरस्यामुकेषु दिवसेषु गतषु ज्ञान समुत्पत्स्यते इति कथित, तद्ग्रामस्य बहिस्ताच्च ऋजुपालिकाया नद्यास्तीरे शालवृक्षस्याधो भगवत. केवलज्ञानमुत्पन्नम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० । कल्प० ।

जंभियगाम-जृम्भिकग्राम-पु० । ' जभियगाम ' शब्दार्थे, आचा० २ चू० ।

जंभो-देशी-तुषे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जक्ख-यक्ष-पु० । 'यक्ष पूजायाम, यक्ष्यते । यक्ष-कर्मणि-घञ् । वाच० । व्यन्तरविशेषे, रा० । सू० प्र० । जी० । औ० । स० । ज्ञा० । उत्त० । अनु० । अष्टभेदव्यन्तराणा मध्ये तृतीयभेदे यक्षा । प्रव० १६४ द्वार । ते च त्रयोदशविधा । तद्यथा-पूर्णभद्रा , माणिभद्रा.,श्वेतभद्रा.,हरितभद्रा , सुमनोभद्रा ,व्यतिपातिकभद्रा ,सुभद्रा , सर्वतोभद्रा',मनुष्ययक्षा , वनाधिपतयो, वनाहारा ,रूपयक्षा ,यक्षोत्तमा.। प्रज्ञा० १ पद । जिनाना यक्षा सन्ति । प्रव० १७ द्वार । (तन्नामानि तु 'जिनजक्ख' शब्देऽभिधास्याम) भूतवासिसुरे, उत्त० १६ अ० । देवे च । यथा यक्षेण देवेन आविष्टो यक्षाविष्ट इति । स्था० ५ ठा० १ उ० । स्वनामख्याते वणिजि च । "पुव्व किर सिरिकमलजलनगरे जक्खो नाम नेगमो हुत्था " ती० २६ कल्प । कौशाम्ब्यां धनयक्षाभिधानौ श्रेष्ठिनौ । द्वा० २३ अष्ट० । इति द्वौ यक्षनामानौ वणिजौ । स्वनामख्याते द्वीप, समुद्रे च । च० प्र० २० पाहु० ।

जक्खकद्दम-यक्षकर्दम-पु० । यक्षप्रिय कर्दम इव इति द्वौ यक्षनामानौ वणिजौ । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । च० प्र० २० पाहु० । यक्षे द्वीपे यक्षभद्रयक्षमहाभद्रौ, यक्षे समुद्रे यक्षवरयक्षमहावरौ । च० प्र० २० पाहु० ।

जक्खगुहा-यक्षगुहा-स्त्री० । यक्षनिवासभूतायां गुहायाम्, " अथार्यरक्षिताचार्याः, मथुरानगरीं गताः । तत्र यक्षगुहायां च, व्यन्तरायतने स्थिताः ॥१८ " आ० क० ।

जक्खग्गह-यक्षग्रह-पुं० । यक्षावेशे, औ० ३ प्रति० । उन्मत्तताहेतौ यक्षकृतोपद्रवे, जं० २ वक्ष० ।

जक्खणायग-यक्षनायक-पुं० । वैश्रमणे, अनु० ।

जक्खदित्त-यक्षदीप्त-न० । एकस्यां दिशि अन्तराऽन्तरा दृश्यमाने विद्युत्सदृशप्रकाशे, प्रव० २६ द्वार ।

जक्खदिन्ना-यक्षदत्ता-स्त्री० । स्थूलभद्रस्य सप्तानां भगिनीनां मध्ये द्वितीयायां भगिन्याम्, आ० क० । आ० चू० । आव० । कल्प० । ति० ।

जक्खपडिमा-यक्षप्रतिमा-स्त्री० । यक्षप्रतिकृतौ, "दो जक्खपडिमाओ " । औ० ३ प्रति० ।

जक्खजद-यक्षेन्द्र-पुं० । यक्षद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० २० पाहु० । च० प्र० ।

जक्खमंडलपविभत्ति-यक्षमण्डलप्रविभक्ति-स्त्री० । द्वात्रिंशद्विधनाट्यस्य द्वात्रिंशद्भेदान्तर्गते नाट्ये, रा० ।

जक्खमह-यक्षमह-पुं० । यक्षार्थविहितमहोत्सवे, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

जक्खमहाभद्द-यक्षमहाभद्र-पुं० । यक्षद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० २० पाहु० । च० प्र० ।

जक्खरत्ती-देशी-दीपालिकायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

जक्खवर-यक्षवर-पुं० । यक्षसमुद्राधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु० ।

जक्खा-यक्षा-स्त्री० । स्थूलभद्रस्य सप्तानां भगिनीनां मध्ये प्रथमायां भगिन्याम्, आ० क० । ति० । आ० चू० । आव० । (तत्कथानकं तु ' थूलभद्द ' शब्दे तच्चरित्रवर्णने द्रष्टव्यम्)

जक्खाइट्ठ-यक्षाविष्ट-त्रि० । देवाधिष्ठिते, स्था० ५ ठा० २ उ० । ओघ० । " जक्खाइट्ठो पीयमज्जो वा जातो कायविक्खेवकिरियाओ दंसेइ । " आ० म० प्र० ।

जक्खाइट्ठं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेदियस्स निज्जूहित्तए० जाव रोगातंकातो विप्पमुक्के, तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥

यक्षाविष्टं भिक्षुं ग्लायन्तं यस्य सकाशमागतं तस्य गणावच्छेदिनो न कल्पते निर्यूहितुमपाकर्तुं वैयावृत्यकरणादिना, किं त्वग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्यं तावत् यावत् स रोगातङ्काद्विप्रमुक्तो भवति, ततः पश्चात् तस्य प्रगुणीभूतस्य सतो यथालघुस्वको यथोचितस्वरूपो व्यवहारः प्रायश्चित्तप्रस्थापयितव्यो दातव्यः स्यात् । व्य० अ० २ उ० ।

संप्रति यतो यक्षाविष्टो भवति तत्प्रतिपादनार्थमाह-

पुव्वभवियवेरेणं, अहवा रागेण रागितो संतो ।
एएहिँ जक्खविट्ठो, सेट्ठी सज्झिलग वेसादी ॥६८॥

पौर्वभविकेन पूर्वभवभाविना वैरेण, अथवा रागेण रञ्जितः सन् यक्षेराविश्यते । एताभ्यां द्वेषरागाभ्यां यक्षाविष्टो भवति । तथा श्रेष्ठी श्रेष्ठिभार्यया भृतिकया, (सज्झिल त्ति) लघुभ्राता ज्येष्ठभार्यया, वेश्यादिभिरित्यत्रादिशब्दात् भृतिकादिषु भार्यया परिग्रहः ॥ ६८ ॥

तत्र श्रेष्ठिनमुदाहरणमाह-

सेट्ठिस्स दोण्णि महिला, पिया य वेस्सा य वंतरी जाया ।
सामण्णम्मि पमत्तं, छलेति तं पुव्ववेरेणं ॥६९॥

" एगो सेट्ठी, तस्स दो महिला, एगा पिया, एगा वेस्सा य, तत्थ सा वेस्सा अकामनिज्जराए मरिऊण वंतरी जाया, सेट्ठी वि तहारूवाणं थेराणं अंतिए धम्मं सोच्चा पव्वइतो, सा य वंतरी पुव्वभववेरेण छिद्दाणि मग्गइ, अन्नया पमत्तं दट्ठूण छलिया तो । " अक्षरार्थस्त्वयम्-श्रेष्ठिनो द्वे महिले, तद्यथा-एका प्रिया, अपरा द्वेष्या । तत्रैका मृता व्यन्तरी जाता, सा श्रामण्ये स्थितं श्रेष्ठिनं प्रमत्तं दृष्ट्वा पूर्ववैरेण छलितवती । गाथायामतीतकालेऽपि वर्तमानता प्राकृतत्वात् ॥६९॥

संप्रति लघुभ्रातृदृष्टान्तमाह-

जेट्ठगजाउगमहिला, अज्झोववन्ना उ होइ खुड्डलए ।
धरमाणे-मारियम्मी, पडिसेहे वंतरी जाया ॥७०॥

" एगम्मि गामे दो भायरो, तस्स भारिया खुड्डलगे अज्झोववण्णा, सा तं पत्थेइ, खुड्डलगो नेच्छइ, भणइ-तुम मम जेट्ठभाउय धरमाणे न पाससि, तीए चिंतियं-जावज्जीवइ ताव मे नत्थि एसो देवरो त्ति, तओ तीए सहिऊण विससंघारेण मारितो निययभत्ता, ततो भणियं-जस्स भए कासी सो मओ, इयाणि पूरेहि मे मणोरहं, तेण चिंतियं-तुमे तीए मारितो जेट्ठभाउगो, धिरत्थु कामभोगाणमिति संवेगतो पव्वइतो, इयरी वि दुहसत्ता अकामनिज्जराए मरिऊण वंतरी जाया, ओहिणा पुव्वभावं पासइ, दिट्ठो देवरो सामण्णे ठितो, ततो माइमणेण इच्छिय त्ति पुव्वभववेरेण सरतीए पमत्तो छलितो ।" अक्षरयोजना त्वियम्-ज्येष्ठभ्रातृमहिला क्षुल्लके लघौ भ्रातरि अध्युपपन्ना जातानुरागा, सा च तेन ज्येष्ठो भ्राता ध्रियमाणे जीवन्तं न पश्यसीति प्रतिषिद्धा, मारिते प्रव्रज्याविप्रतिपत्तितः प्रतिषिद्धा व्यन्तरी जाता । अत्र पूर्वं रागः पश्चाद् द्वेषः ॥७०॥

भृतिकादृष्टान्तमाह-

भतिया कुडुंबिएणं, पडिसिद्धा वाणमंतरी जाया ।
सामण्णम्मि पवन्नं, छलेति तं पुव्ववेरेण ॥७१॥

एगो कुडुंबिओ उरालसरीरो एगाए भइगाए उरालसरीराए पत्थितो, सा तेण नेच्छिया, तओ सा गाढमज्झोववण्णा, तेण सह भवभोगमलभमाणी दुक्खसागरमोगाढा अकामनिज्जराए मरिऊण वंतरी जाया, सो य कुडुंबिओ तहारूवाणं थेराणं अंतिए पव्वइओ, सो तीए आभोगितो अन्नया पमत्तं दट्ठूण छलिया तो ।" अक्षरार्थस्त्वयम्-भृतिका कर्मकरी, कौटुम्बिकप्रतिषिद्धा व्यन्तरी जाता, ततस्तं कौटुम्बिकं श्रामण्याश्रितं प्रमत्तं सन्तं पूर्ववैरेण (छलेति त्ति) छलितवती ॥ ७१ ॥

सम्प्रत्येव छलितस्य यतनामाह-

तस्स उ भूयतिगिच्छा, भूयरवावेसेण सयं वा वि ।
नीयुत्तमं तु भावं, नाउं किरिया जहा पुव्विं ॥७२॥

तस्य रागेण द्वेषेण वा व्यन्तरादिना छलितस्य, पुनः क्रिया कर्तव्येति योगः। कथमित्याह-तस्य भूतस्य नीचमुत्तमं तु भाव ज्ञात्वा, कथं ज्ञात्वेत्यत आह-यथाऽभिहितं पूर्वम्, किमुक्तं भवति ?-कायोत्सर्गेण देवतामाकम्प्य तद्वचनतः, का क्रिया कर्तव्येत्यत आह-भूतचिकित्सा भूतोच्चाटिनी चिकित्सा भूतचिकित्सा ॥ ७२ ॥ व्य० २ उ०।

एवमेव निर्ग्रन्थीं विपर्यीकृत्य सूत्रं यथा-

जक्खाइट्ठिं निग्गंथिं निग्गंथो गिण्हमाणे णाइक्कमइ ।

यतश्च सा यक्षाविष्टा भवति, तत्प्रतिपादनं तूपरितनग्रन्थवदेव, केवलं स्त्रीलिङ्गाभिलापेन वाच्यम् । बृ० ६ उ०।

जक्खादित्तय-यक्षादीप्तक-न० । एकस्यां दिशि अन्तराऽन्तरा दृश्यमाने विद्युत्सदृशे प्रकाशे, व्य० ७ उ० । आकाशे व्यन्तरकृतज्वलने, भ० ३ श० ६ उ० । नभसि दृश्यमानेऽग्निसहिते पिशाचे च, जी० ३ प्रति० । अनु० । " जक्खालित्त जक्खादित्त आगासे भवइ " आ० चू० ४ अ० । स्था०।

जक्खालित्तय-यक्षादीप्तक-न० । ' जक्खादित्तय ' शब्दार्थे, जी० ३ प्रति०।

जक्खावेस-यक्षावेश-पु० । देवाधिष्ठितत्वरूपे उन्मादे, स्था० २ ठा० १ उ० । बृ० । (केवलिनो यक्षावेशो न भवतीति 'अप्पत्तिय ' शब्दे प्रथमभागे ५४७ पृष्ठे गतम्)

जक्खसिरी-यक्षश्री-स्त्री०। सोमभूतिब्राह्मणस्य स्वनाम्न्यां स्त्रियाम्, ज्ञा० १ श्रु० १५ अ० ।

जक्खिंद-यक्षेन्द्र-पु० । यक्षाणामिन्द्रे, स्था० ४ ठा० १ उ० । अष्टादशजिनयक्षे , प्रव० । श्रीअरजिनस्य यक्षेन्द्रो यक्षः षण्मुखस्त्रिनेत्रः श्यामवर्णः शङ्खशिखिवाहनो द्वादशभुजो बीजपूरकवाणखड्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणकरषट्को नकुलधनुःफलकशूलाङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिषट्कश्च । प्रव० २६ द्वार । भ० ।

जक्खिणी-यक्षिणी-स्त्री० । यक्षयोनिकायां व्यन्तरदेव्याम्, " सा मया जक्खिणी जाया । " आ० म० द्वि० । अरिष्टनेमेः प्रथमप्रवर्तिन्याम् , आ० म० प्र० । स० । आ० चू० । अन्त० ।

जक्खुत्तम-यक्षोत्तम-पुं० । यक्षाणां त्रयोदशभेदेष्वन्तिमे भेदे , प्रज्ञा० १ पद ।

जग-जग-पु० । जन्तुषु , सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

जगत्-न०। गच्छति तांस्तान् नारकादिभावानिति जगत्। भ० १२ श० ६ उ० । अष्ट० । पञ्चास्तिकायरूपे चराचरे, नं० । लोके, स्था० । लोकालोके, न० । संसारे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । चराचरभूतग्रामे , सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । सकलसत्त्वे, न० । दश० । प्राणिसमूहे,सूत्र० १ श्रु० १० अ०। सज्ञिपञ्चेन्द्रियसमूहे , न० । पृथिव्याम्,सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । " भुवण जग च लोओ। " को० । गम-क्विप्-नि०-द्वित्वम्-तुक् च । वायौ, जङ्गमे, त्रि० । वाच० ।

जगई-जगती-स्त्री०। गम-क्विप्। "वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छत्तृवच्च " इति कात्यायनिवचनात् शतृतुल्यत्वात् ङीप् । भुवने, पृथिव्याम्, आर्यभट्टमते भूमेश्चलत्वाद् गतिमत्त्वेन तथात्वम् । अन्यमते जगदाधारत्वात् तस्यास्तथात्वमिति भेदः । द्वादशाक्षरपादके छन्दोभेदे, वाच० । " भूयाण जगई जहा । " जगती पृथ्वी । उत्त० १ अ० । द्वीपसमुद्रसीमाकारिणि महानगरप्राकारकल्पे वज्रमये जम्बूद्वीपप्राकारे, जं० १ वक्ष० । जी०।

तद्वक्तव्यता यथा-

से णं एगाए वइरामईए जगईए सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते । सा णं जगई अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, मूले बारस जोअणाइं विक्खंभेणं , मज्झे अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं, उप्पिं चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं, मूले विच्छिण्णा, मज्झे संक्खित्ता, उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिया सव्ववइरामई अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका णिक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरीया सउज्जोया पासादीया दंसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ॥

"से ण" इत्यादि । सोऽनन्तरोक्तायामविष्कम्भपरिक्षेपपरिमाणो जम्बूद्वीपः , णमिति वाक्यालङ्कारे, एकया जगत्या पुरनगरप्राकारकल्पया, सर्वतः सर्वासु दिक्षु, समन्ततः सामस्त्येन संपरिक्षिप्तः सम्यग् वेष्टितः । "सा ण जगई" इत्यादि । सा च जगती ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अष्टौ योजनानि, मूले द्वादश योजनानि विष्कम्भेन, मध्ये अष्टौ, उपरि चत्वारि, अत एव मूले विष्कम्भमधिकृत्य विस्तीर्णा, मध्ये सङ्क्षिप्ता, त्रिभागोनत्वात्, उपरि तनुका, मूलापेक्षया त्रिभागमात्रविस्तारभावात् । एतदेवोपमया प्रकटयति-(गोपुच्छसंठाणसंठिया) गोपुच्छस्येव संस्थानं गोपुच्छसंस्थानं, तेन संस्थिता, ऊर्ध्वीकृतगोपुच्छाकारेति भावः । (सव्ववइरामई) सर्वात्मना सामस्त्येन वज्रमयी वज्ररत्नात्मिका, अच्छा आकाशस्फटिकवदतिस्वच्छा (सण्हा) श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिष्पन्ना श्लक्ष्णदलनिष्पन्नपटवत्, (लण्हा) मसृणा घुण्टितपटवत्, (घट्ठा) घृष्टा इव घृष्टा खरशाणया पाषाणप्रतिमावत्,तथा मृष्टा इव मृष्टा सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमावत्, नीरजाः स्वाभाविकरजोरहितत्वात्, निर्मला आगन्तुकमलाभावात्, निष्पङ्का कलङ्कविकला कर्दमरहिता वा (निक्कंकडच्छाया इति) निष्कङ्कटा निष्कवचा निरावरणा,निरुपघातेति भावार्थः । छाया दीप्तिर्यस्याः सा निष्कङ्कटच्छाया सप्रभा स्वरूपतः प्रभावती समरीचा बहिर्विनिर्गतकिरणजाला , अत एव सोद्योता बहिर्व्यवस्थितवस्तुस्तोमप्रकाशकरी, प्रसादाय मनःप्रसत्तये हिता तत्कारित्वात् प्रासादीया , मनःप्रह्लत्तिकारिणीति भावः । दर्शनीया दर्शनयोग्या, या पश्यतश्चक्षुषी श्रमं न गच्छत इति । (अभिरूवा इति) अभि सर्वेषां द्रष्टॄणां मनःप्रसादानुकूलतया अभिमुखं रूपं यस्याः सा अभिरूपा , अत्यन्तकमनीया इति भावः । अत एव प्रतिरूपा प्रतिविशिष्टमसाधारणं रूपं यस्याः सा प्रतिरूपा । अथवा-प्रतिक्षणं नवं नवमिव रूपं यस्याः सा प्रतिरूपा । जी० ३ प्रति० । अथात्र सूत्रेऽनुक्तोऽपि वाचयितॄणामधिकारार्थजिज्ञापयिषया जगत्या इष्टस्थाने विस्तारानयनोपायः प्रदर्श्यते-तत्र मूले मध्ये उपरि च विष्कम्भपरिमाणं साक्षादेव सूत्रे लभ्यते , अपान्तराले उपरिष्टादधोगमनेऽभ्युपाय -जगतीशिखरादधो यावदुत्तीर्णं तस्मिंस्त्रिकेन भक्ते सति यल्लब्धं तच्चतुर्भिर्युतमिष्टस्थाने विस्तारः । तथाहि-उपरितनभागाद्योजनमेकं गव्यूताधिक्रमव-

तीर्ण, ततो राशेरेकेन भागे हृते लब्धमेक योजन गव्यूताधिक, तत्र योजनचतुष्कयुत क्रियते, जातानि पञ्चयोजनानि गव्यूताधिकानि, एतावाँस्तत्र प्रदेशे विष्कम्भ , एव सर्वत्र भाव्यम् । सम्प्रति मूलादूर्ध्वं गमने विस्तारानयनोपाय मूलादूर्ध्वं गमने यावदूर्ध्वं गत , तस्यैकेन भागे हृते यल्लब्ध तस्मिन्मूलविस्तराच्छोधिते यच्छेष स तत्र योजनादावतिक्रान्ते विस्तारः । तद्यथा-मूलादुत्पत्य योजनमेक गव्यूतद्वयाधिक गत , ततो योजनस्य गव्यूतद्वयाधिकस्यैकेन भागे हृते लब्ध योजन गव्यूतद्वयाधिकम् , एत मूलसम्बन्धिनो द्वादशयोजनप्रमाणविस्ताराद्पनीयते स्थितानि दश योजनानि गव्यूतद्वयाधिकानि, एतावत्प्रमाण सार्द्धयोजनातिक्रमे विस्तार ,एव सर्वत्राऽपि भाव्यम् । एवमृषभकूटजम्बूशाल्मलीवृक्षवनगतकूटानामिष्टस्थाने विस्तारानयनार्थमिदमेव करण भाव्यम् । जं० १ वक्ष० ।

अथास्या गवाक्षकटकवर्णनायाऽऽह-

सा णं जगई एगेणं महंतगवक्खकडएणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता, से णं गवक्खकडए अद्धजोअणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसयाइं विक्खंभेणं सव्वरयणामए अच्छे० जाव पडिरूवे ॥

साऽनन्तरोदितस्वरूपा जगती , ' ण ' इति प्राग्वत् । जगती एकेन महता गवाक्षकटकेन वृहज्जालकसमूहेन, सर्वतः सर्वासु दिक्षु,समन्तात् सामस्त्येन,सपरिक्षिप्ता व्याप्तेत्यर्थ । स गवाक्षकटक ऊर्ध्वोच्चत्वेनार्द्धयोजन द्वे गव्यूते , विष्कम्भेन पञ्चधनुःशतानि, सर्वात्मना रत्नमय । तथा अच्छः,अत्र यावत्करणात् प्राग् व्यावर्णित विशेषणपदवृन्द ग्राह्यम् । इद च गवाक्षश्रेणिसंवर्णनद्वयाल जगतीभित्तिबहुमध्यभागगताऽवगन्तव्या, रिरंसुदेवविद्याधरवृन्दरमणस्थानेम् ।

अथ जगत्युपरिभागवर्णनायाऽऽह-

तीसे णं जगईए उप्पिं बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं महई एगा पउमवरवेइया पण्णत्ता । अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं जगईसमिया परिक्खेवेणं सव्वरयणामई अच्छा० जाव पडिरूवे ॥

तस्या यथोक्तस्वरूपाया जगत्या उपरितनतले यो बहुमध्यदेशलक्षणो भागः, भागश्च प्रदेशलक्षणोऽपि स्यात्तत्र च पद्मवरवेदिकाया अवस्थानासम्भव', अतो देशग्रहणेन महान् भाग इत्यर्थः। स च चतुर्योजनात्मकजगत्युपरितनतलस्य मध्ये पञ्चधनुःशतात्मक इति । सूत्रे एकारो मागधभाषालक्षणानुरोधात् । अत्र एतस्मिन् बहुमध्यदेशभागे, ' ण ' इति प्राग्वत् । महती एका पद्मवरवेदिका देवभोगभूमिः प्रज्ञप्ता, मया शेषैश्च तीर्थकरैः । सा च ऊर्ध्वोच्चत्वेन अर्द्धयोजन, पञ्चधनुःशतानि विष्कम्भेन,जगत्याः समा समाना जगतीसमा, सा च जगतीसमिका, परिक्षेपेण परिरयेण, कोऽर्थः ?, जम्बूद्वीपस्य सर्वतो वलयाकारेण व्यवस्थितताया जगत्या यावदुपरितन तल चतुर्योजनविस्तारात्मक तस्माल्लवणदिशि देशोनयोजनद्वयात्पञ्चरवोक्त द्रावान् जगतीपरिरयस्तावानस्यापीति, सर्वरत्नमयी सामस्त्येन रत्नखचिता,"अच्छा सण्हा" इत्यादि विशेषणकदम्बकं पाठतोऽर्थतश्च प्राग्वत् । जं० १ वक्ष० । (पद्मवरवेदिकावक्तव्यता तु " पउमवरवेइया " शब्दे वक्ष्यते)

जगती-"जगई"शब्दार्थे,जं०१ वक्ष०। जगतीपार्श्वे मक्षिकापक्षप्रमाण जल कथितमस्ति , तत्र सर्वदा मक्षिकापक्षप्रमाण, किं वा वेलाया आगमने न्यूनाधिक्यं वा भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्-मक्षिकापक्षप्रमाण यत्र जलमस्ति तत्र सर्वदा सदृश भवति , पर वेलाप्रयोगेण न्यूनाधिक्यज्ञानं नास्तीति । ५२ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

जगईपव्वयग-जगतीपर्वतक-पुं० । सूर्याभविमानपरिसरवर्तिवनखण्डगतक्षुद्रवापीप्रदेशवर्तिषु पर्वतविशेषेषु, रा० ।

जगगुरु-जगद्गुरु-पुं० । जगतः सचराचरभुवनस्य गुणैर्गुरुत्वात् जगतां वा जङ्गमानां यथावद्वस्तुतत्त्वोपदेशनात् तेषामेव वा गौरवार्हत्वाद् गुरुर्जगद्गुरु । पञ्चा० ४ विव० । त्रिभुवननाथे जिने, पञ्चा० ४ विव० । हा० ।

जगचंदसूरि-जगच्चन्द्रसूरि-पुं० । स्वनामके तपागच्छाचार्ये, कर्म० ६ कर्म० ।

तद्वृत्तान्तस्त्वयम्-

" शिष्या मणिरत्नगुरोः स्ततो जगच्चन्द्रसूरयोऽभूवन् ।
भूतलविदिता नूतन-वैराग्यावेगजाजस्ते ॥ २७ ॥
श्रीचैत्रगणाम्भोधौ, विधूपमाद्देवभद्रगणिमिश्रात् ।
उपसम्पन्नाश्चरण, विधिना संवेगवेगयुता. ॥ २८ ॥
आचाम्लावयतपोभि-र्महयन्तो व्यधुर्विधूतमला. ।
शरकरदिनमणि (१२८५) वर्षे, ख्यातस्तत इति तपागच्छः ।
॥ २९ ॥ " ग० ४ अधि० ।

"क्रमात्प्राप्ततपाचार्या-त्यभिख्यां भिक्षुनायका ।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः ॥१॥"
-कर्म० ५ कर्म० । ध० र० ।

जगचंदसूरि-जगच्चन्द्रसूरि-पुं० । ' जगचंदसूरि ' शब्दार्थे, कर्म० ६ कर्म० ।

जगजीवजोणिवियाणय-जगज्जीवयोनिविज्ञायक-पुं० । जगद् "धर्माधर्माकाशपुद्गलास्तिकायरूपं जगत् सचराचरम्" इति वचनात् जीवा इति जीवन्ति प्राणान् धारयन्तीति जीवा योनय इति (न०) ' युक् ' मिश्रणे, युवन्ति तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिकशरीरेण वैक्रियशरीरेण वाऽऽस्विति योनयो जीवानामेवोत्पत्तिस्थानानि, ताश्च सचित्तादिभेदभिन्ना अनेकप्रकाराः। उक्त च सचित्तशीतसंवृतेतरमिश्राश्चैकशस्तद्योनय इति । जगच्च जीवाश्च योनयश्च जगज्जीवयोनयः, तासां विविधमनेकप्रकारमुत्पादव्ययानन्तधर्मात्मकतया जानातीति विज्ञायको जगज्जीवयोनिविज्ञायकः । केवलज्ञानिनि, नं० ।

जगजीवण-जगज्जीवन-पुं० । जगन्ति जङ्गमानि अहिंसकत्वेन जीवयतीति जगज्जीवनः । जिनेश्वरे, स० ३० समव० । दशा० ।

जगजीवत्रियाणय-जगज्जीवविज्ञायक-पुं० । सर्वज्ञे, व्य० ३ उ० ।

जगदृभासि (ण्)-जगदर्थभाषिन्-पुं० । जगत्यर्था जगदर्था ये यथा व्यवस्थिताः पदार्थाः,तानाभाषितु शीलमस्य जगदर्थभाषी । तद्यथा-ब्राह्मण ब्रोडमिति ब्रूयात् , तथा वणिजं किराटमिति, शूद्रमाभीरमिति, श्वपाकं चाण्डालमित्यादि । तथा

काण काणमिति, तथा खञ्ज कुब्ज षण्डमित्यादि, तथा कुष्ठिन क्षयिणमित्यादि, यो यस्य दोषस्त तेन खर परुष ब्रूयात् य' स जगदर्थभाषी । अप्रियसत्यभाषिणि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।
जयार्थभाषिन्-पुं०। जयार्थभाषी यथैवात्मनो जयो भवति त-थैवाविद्यमानमप्यर्थं भाषते तच्छीलश्च, येन केनचित्प्रकारेणा-सदर्थभाषणेनाप्यात्मनो जयमिच्छतीत्यर्थः। असदर्थभाषणेना-पि आत्मनो जयमिच्छति, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

जगाडिश्रो-देशी-विद्राविते, दे० ना० ३ वर्ग ।

जगाडिज्जंत-जागर्य्यमाण-उत्थाप्यमाने, " धन्नाण तु कमाया, जगडिज्जता वि परकसाएहिं । निच्छन्ति समुट्ठिउं; सुनिविट्ठो पगुलो चेव ॥१॥ " द० प० ४ प० ।

जगडू-जगडू-पुं० । स्वनामके अन्नदानलब्धकीर्त्तौ महर्धिके श्रेष्ठिनि, उपदेशतरङ्गिणी । यथा-पञ्चालदेशमण्डने भद्रेसर-ग्रामे श्रीमालीयज्ञाति सासोलाऽभिधो व्यवहारिमुख्य', त-स्याङ्गजो जगडूनामा श्राद्ध , एकदा पौषधागारे प्रतिक्रान्त वि-धाय मौनेन नमस्कारान् गुणयन्नस्ति, रात्रिप्रहरानन्तर य-तिभिश्चन्द्रेण रोहिणीशकट भिद्यमान दृष्ट्वा गुरुपार्श्वे पृष्टम्-भगवन्! एवविधो भवन्नस्ति । गुरुभिरपि विलोक्योक्तम्-अत्र कोऽप्यस्ति न ?। साधुभिरुक्तम्-न कोऽपि । ततो गुरुभिरुक्तम्-संवत् १३१५ मिते रौरव दुर्भिक्ष भविष्यति । साधुभिः पृष्ट-म्-भगवन् ! कोऽपि जगदुद्धर्ताऽस्ति, न वेति । गुरुणोक्तम्-अस्माक मन्त्राधिष्ठायकदेवेन पूर्वमेवादिष्टमस्ति-अनेन प्रकारे-ण जगडूर्जगदुद्धर्ता भविष्यति । तैरुक्तम्-अस्येदृग्धन क्वा-स्ति ?। गुरु प्राह-"अस्य गृहवाटकेऽर्कस्याध' कोटित्रयप्रमाण धनमस्ति " इत्यादि गुरुवच. श्रुत्वा जगडूश्चिन्तयति-अहो मम महद्भाग्य, यद् गुरुमुखादेव श्रूयते । ततो रात्रौ मौनेन स्थि-तः शालायां, तत' प्रभाते विलोकित तदृष्टकथित रात्रौ तद्वचनं, तेन धान्यग्रहणाचिकीर्षुरभूत् । इतश्च साधुजगडूक-स्य वणिक्पुत्रा वखारिस्था मलवारे सन्ति, तत्र बहूनां व्य-वहारिणा वखारिरस्ति। तत्र जगडूवखारिपरव्यवहारिवखा-रिद्वयान्तराले एका पाषाणशिलाऽस्ति । तत्र द्वयोर्वखारिध-निकयोः प्रातर्दन्तधावनकरणस्थानम् । एकदा समकालमेव तौ दन्तधावनायागतौ, एक एव तत्रोपवेष्टु शक्नोति, न द्वावपि । तेनैक कथयति-अत्राह प्रथममुपाविश्य दन्तधावन करिष्ये। द्वि-तीयस्तु वक्ति-अह प्रथम करिष्ये इत्यादि विवादे जायमाने अहङ्कृतितोऽत्यन्त हठो जातः,' राजवर्गीयनरै पर्यवसायि-तावपि न मन्येते। ततस्तैरुक्तम्-यो राज्ञ षट्शतस्पर्द्ध-कानि दास्यति सोऽत्र दन्तधावन करिष्यति । एव बहुधन वर्द्धिन, मम श्रेष्ठी लज्जते यदि पश्चाद्भवामि । यत -" कुला-शक्तैर्बुधा शास्त्रै-स्त्रिया. स्वै पामरा' करै । गालीभिरङ्गना शृङ्गै, पशव' कलिकारिण ॥ २० ॥ " एव युद्धे यावदेकोऽपि न निवर्तते तावत् होडकोऽस्य विलोक्यते । अतो मम श्रेष्ठी नामितो मा भूत् ततो जगडूवणिक्पुत्रेण पञ्चविंशति-शतस्पर्द्धकै गृहीत स पाषाण. "चारचलावइ पानबोलावइ हाथहलावइ धनहुफावइ " इति लोकोक्ति सत्या, तेन श्रेष्ठिना ज्ञापितो वृत्तान्त । जगडू प्राह-वर्ध्य-कृत यन्मम महत्त्व प्रदेशे रक्षितम् । तत स पाषाण स्वस्थाने आनायित । जग-डूरपि तत्रोपविश्य दन्तधावन करोति । एकदा मध्याह्ने जग-डूर्भोजनार्थमुपविष्ट',तस्मिन्नवसरे कोऽपि योगी गृहद्वारे प्राप्त। पत्नीं प्राह श्रेष्ठी-सयोग्यां रसवतीं परिपूर्णपुरुषाहारप्रमाणां अस्य देहि, सा तथा करोति, योगी न लाति, तया स्वपते. प्रोक्तम् । पुनस्तेनोक्तम्-रुप्यस्थाल वर्तुलिकासहित देहीति,तथा कृते तुष्टो योगी प्राह-भो' दातृशिरोमणे ! तव परीक्षायै आ-गतोऽह त्वत्र भिक्षार्थं भ्रमन्, वतो मम दातृपुरुषविलोकयतुः षण्मासा गता' परं न कोऽपि दृष्ट , त्व त्वद्य दृष्ट' जगदुद्ध-रणक्षम. । साधुराह--ममेदृग्धन क ? । योगी प्राह-एष पाषा-णः सद्रव्योऽस्ति इत्युक्त्वा स्थितो योगी । साधुरपि तत्पूजा-यै यावद्धूपकुसुमाद्यानयति तावत्स गतः. सर्वत्र विलोकितो-ऽपि न लब्ध. । साधुना चिन्तितमसौ योगी न हि, किं तु मम पूर्वसम्बन्धी कोऽपि देव पुण्यकीर्तिदाता, विलोकित. पाषाण', एकत्र कारी दृष्टा,दृषदो दूरीकृता , दृष्टानि तत्र पञ्चस्पर्शपाषा-णखण्डानि, स्पर्शपाषाणयोगेन लोह स्वर्णीभवेत । ततो गुरू-क्तं सत्य मन्यमानो जगडूर्जगदुद्धरणाय मनोऽकरोत् । सर्व-देशेषु धान्यसग्रहमकार्षीत् । दुर्भिक्षे पतिते दिल्लीस्तम्भनपुरध-वलक्काणहिल्लपत्तनादिषु द्वादशोत्तरशतसत्रागारानमण्डयत् । तेषु लोकाना सारभोजन सघृत दीयते यथेच्छम् । यत.-"नव-करवाली मणिअरा, ते अगीला चारि । दानसाल जगडूतणी, दीसइ पुहविमझारि ॥२१॥" दुष्टनृपग्रहणभीत्या रङ्कयोग्या एते इति सकलकोष्ठेषु नाम दत्तम् । "अठय मूडसहस्सा,वीसल-देवस्स वार हम्मीरे । इगवीस य सुरताणे, दुब्भिक्खे जगडु-साहुणा दिन्ना " ॥ २२ ॥ एवविधां जगडूकीर्तिं श्रुत्वा स्पर्धया वीसलदेवराजेन वीसलनगरे सत्रागारो मण्डित । सपत्यन्ना-वाचैलं परिवेषयति, कियद्दिनैस्तैस्तमपि निवारितम्, एकदा राज्ञा कार्यविशेषेण जगडूसाधुराकारित., स नृप नत्वोपवि-ष्ट', राजाऽऽदेशे ' जी जी ' इति भणति । तदा चार-णेनोक्तम्-" वीसलदेव रुठ करउ, जगडू कहावइ जी । तइ प-रिसइ फालिसिउ, ए परीसावइ घी " ॥ २३ ॥ तदनु मत्सरं मुक्त्वा जगडूपार्श्वान्निजप्रणामकरण निषिद्धम्, प्रभाते तत्रो-पविश्य दानमण्डपिकाया द्रव्यदान ददाति जगडू तत्र यव-निका बन्धयति, यत. लज्जया कुलीना प्रकट न गृह्णन्ति, तेषा दानार्थं, सलज्जया च यवनिकान्तरिता स्वकर जगडूअग्रे विस्तारयन्ति , तदनु यथाभाग्यानुसारेण हाटकटङ्करूप्य-टङ्कस्पर्द्धकद्रम्मशतादि ददाति । अत्रावसरे वीसलदेवभूप-स्वभाग्यपरीक्षार्थं वस्त्रादिवेष परावर्त्य एकाकी निजकर यव-निकान्तस्थ उड्डयामास। जगडूर्नानाप्रकारलक्षणताम्रताकठि-नताधनभाग्यसम्पद्यश सौख्यविद्यादिबहुरेखाङ्कित त कर दृष्ट्वा जगज्जनमान्यस्य कस्यापि नरेन्द्रस्य सम्प्रतीदृशीमवस्था प्रा-प्तस्य तथा करोमि यथा यावज्जीव सुखी स्यात् इति वि-चिन्त्य स्वकराङ्गुलीतो माणिमण्डितमुद्रिका उत्तार्य प्रदत्ता । सकौतुकेन भूपेन क्षण स्थित्वा वाम कर उड्डित । तत्रापि द्वितीया मुद्रिका मुक्ता। मुद्राद्वय गृहीत्वा भूप स्वावासे गत । द्वितीयदिने जगडूसाधुमाकार्य किमेतदिति दर्शितवान् मुद्राद्वयम् । साधुनोक्तम्-' जत्थ गश्रो तत्थ गश्रा , साम-ससीहो न जुज्जए अहल । जत्थ गश्रो तत्थ गश्रो, एत्थ रश्रो पाणिय वहइ " ॥२४॥ हठात् मुद्राद्वय परिधाप्य हस्तिस्कन्ध-मारोप्य गृहे प्रेषित इति जगडूसाधुप्रबन्ध । उपदेशतरङ्गिणी ।

जगणंदण-जगन्नन्दन- पुं० । जिनेश्वरे , स्वनामकचारणमुनौ

च । तथाहि-"सयपत्ता कमा अभिणंदणजगणंदणचारणसमीवे सुअधम्मसमत्तं पडिवन्ना" । सङ्घा० ।

जगणाह-जगन्नाथ-पुं० । जगतः सकलचराचररूपस्य यथावस्थितस्वरूपप्ररूपणद्वारेण वितथप्ररूपणापायेभ्यः पालनाच्च नाथ इव नाथो जगन्नाथः । जिनेश्वरे, न० ।

जगणिस्सिय-जगन्निश्रित-त्रि० । जगल्लोकस्तत्र निश्रित आश्रित । लोकाश्रिते वस्तुनि, " जगणिस्सिएहिं भूएहिं " उत्त० ८ अ० ।

जगदुच्चरिय-जगद्दुश्चरित-न० । जगतां प्राणिनां दुश्चरितं हिंसादिनिबन्धनं कर्म । प्राणिनां दुराचारे, हा० २१ अष्ट० ।

जगपागड-जगत्प्रकट-त्रि० । जङ्गमजन्तूनां प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धतया प्रकटे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जगपियामह-जगत्पितामह-पुं० । जगतां सकलसत्त्वानां मारकादिकुगतिविनिपातभयापायरक्षणात् पितेव पिता सम्यग्दर्शनमूलोत्तरगुणसंहतिरूपो धर्मस्तस्यापि च पिता भगवान्,अर्थतस्तत्प्रणीतत्वात् । न० । जिनेश्वरे, ब्रह्मणि च । "ब्रह्मा जगत्पितामहः" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

जगबंधु-जगद्बन्धु-पुं० जगतः सकलप्राणिसमुदायरूपस्याव्यापादनोपदेशप्रणयनेन सुखस्थापकत्वात् बन्धुरिव बन्धुः । जिनेश्वरे, न० ।

जगय-यकृत्-न० । य संयमं करोति, कृ-क्विप्-तुक् च । कुक्षौ दक्षिणभागस्थे मांसपिण्डे, तद्वर्द्धके रोगभेदे च । अस्य शसादौ भत्वे च यकन्नादेशः । वाच० । " आससस्स धावमाणस्स हिययस्स य जगयस्स य अंतराले । " भ० १० श० ३ उ० ।

जगल-देशी-पङ्किलायाम्, सुरायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

जगसव्वदंसि [ण्]-जगत्सर्वदर्शिन्-पुं० । जगतः सर्वभावदर्शिनि ज्ञातपुत्रे महावीरे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

जगसहाव-जगत्स्वभाव-पुं० । जगतः चराचरस्य स्वो भावः । "जन्म मरणं च नियतं, बन्धुर्दुःखाय धनमनिर्वृतये । तन्नास्ति यन्न विपदे, तथाऽपि लोको निरालोकः ॥१॥" इत्यादिलक्षणे विश्वस्वभावे, आव० ४ अ० ।

जगहित-जगद्धित-त्रि० । पुरुषार्थोपयोगितया विश्वहितावहे, स० ३२ सम० ।

जगहिय-जगद्धित-त्रि० । 'जगहित' शब्दार्थे,स० ३२ सम० ।

जगाणंद-जगदानन्द-पुं० । जगतां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाममृतस्यन्दिमूर्तिदर्शनमात्रतो निःश्रेयसाभ्युदयसाधकधर्मोपदेशद्वारेण चानन्दहेतुत्वात् ऐहिकामुष्मिकप्रमोदकारणत्वात् जगदानन्दः । जिनेश्वरे, न० ।

जगार-ज(य)कार-पुं० । जवर्णे,यवर्णे,यच्छब्दे च । "जगारुद्दिट्ठाण तगारेण निद्देसो कीरति । " नि० चू० १ उ० ।

जगारी-जगारी-स्त्री० । (राजगरो) इतिनाम्ना प्रसिद्धे क्षुद्रधान्ये, "मसण ओयण-सत्तु-मुग्ग-जगारीइ" । इह 'जगारी' शब्द समयसिद्ध , आदिशब्दात् कैरेयीकरम्बकादिग्रह । पञ्चा० ५ विव० ।

जग्ग-जागृ-धा० । निद्राक्षये, " जाग्रेर्जग्ग " ॥ ८ । ४ । ८० ॥ 'जग्गइ' पक्षे 'जागरइ' जागर्ति । प्रा० ४ पाद ।

जग्गण-जागरण-न० । अनिद्रागमने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जग्गह-यद्ग्रह-पुं० । यत् प्राप्यते तद् गृह्यतामित्याकारिकायां राजाज्ञायाम्, "रण्णा जग्गहो घोसितो ।" आ० म० प्र० । " यद्ग्रहो घोषितस्तत्र, शतानीकमहीभुजा । तदनीकभटाश्चम्पां, स्वच्छया मुमुषुस्ततः " ॥ आ० क० ।

जग्गाह-यद्ग्राह-पुं० । 'जग्गह' शब्दार्थे, आ० क० ।

जघण-जघन-न० । घर्कं हन्ति । हन-यङ्-अच्-पृषो० । वाच० । स्त्रिया अग्रेतनकट्यधोभागे, कल्प० २ क्षण । " सुदरथणजघनवयणकरचरणनयणलावण्णविलासकलिया " । औ० । भगरूपे स्त्रीकटेरग्रभागे च । तं० ।

जच्च-जात्य-त्रि० । जातौ भवः यत् । कुलीने, श्रेष्ठे, कान्ते, सुन्दरे, " किं वा जात्याः स्वामिनो ह्रेपयन्ति । " " जात्यस्तेनाऽभिजातेन, शूरः शौर्यवता कुशः " । " सर्ववर्णेषु तुल्यासु, पत्नीष्वक्षतयोनिषु । आनुलोम्येन सभूताः, जात्या जातास्तथैव ते ॥१॥ " वाच० । स्वाभाविके, तं० । प्र० । प्रश्न० । सजातीये अविजातिमति, जी० ३ प्रति० । नाशुद्धमपि जात्यरत्नं समानमजात्यरत्नेन । स० । " जह जच्चबाहलाण, आसाण जणवएसु जायाण । " आ० क० ।

जच्चंजण-जात्याञ्जन-न० । मर्दितेऽञ्जने, कल्प० २ क्षण । प्रधाने, सौवीरके च । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जच्चंजणभमरजलयपयरिउज्जुयसमसंहियतणुअआइज्ज-लडहसुकुमालमउअरमणिज्जरोमराइ ।

जात्याञ्जनं मर्दितं तैलादिनाऽञ्जनम् (भमरजलयपयरि त्ति) भ्रमराणां प्रसिद्धानां जलदानां च मेघानां यः प्रकरः समूहस्तत्सदृशी तत्समानवर्णतया जात्याञ्जनभ्रमरजलदप्रकरी इव (उज्जुअ त्ति) ऋजुका प्रञ्जला, अत एव (सम त्ति) समा अविषमा संहिता निरन्तरा (तणुअ त्ति) तनुका सूक्ष्मा (आइज्ज त्ति) आदेया सुभगा (लडह त्ति) लटभा विलासमनोहरा (सुकुमालमउअ त्ति) सुकुमालेभ्य शिरीषपुष्पादिवस्तुभ्योऽपि मृदुका, तत एव (रमणिज्ज त्ति) रमणीया (रोमराइ त्ति) रोमराजिर्यस्याः सा तथा ताम् । कल्प० ३ क्षण ।

जच्चंजणभिंगभेयरिट्ठगभमरावलिगवलगुलियकज्जलसमप्पभेसु ॥

जात्य प्रधानं यदञ्जनं सौवीरकं भृङ्गभेदः भृङ्गाभिधानकीटविशेष विदलिताङ्गारो वा, रिष्टक रत्नविशेष । भ्रमरावली प्रतीता, गवलगुटिका महिषशृङ्गगुटिका, कज्जलं मषी,एतत्समप्रभेषु कृष्णेष्वित्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जच्चंदण-देशी-अगरौ, कुङ्कुमे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जच्चकंचणुज्जलंतरूव-जात्यकाञ्चनोज्ज्वलद्रूप-त्रि० । जात्यकाञ्चनवत् उत्तमसुवर्णवत् उत्प्राबल्येन दीप्यमानं रूपं यस्य । उत्तमसुवर्णवद् दीप्यमानरूपे, कल्प० ३ क्षण ।

जच्चकणग-जात्यकनक-न० । उत्तमसुवर्णे, " जच्चकणगं व जायरूवे । " कल्प० ६ क्षण । प्रश्न० ।

जच्चकमलकोमल–जात्यकमलकोमल–त्रि० । उत्तमजातिसंभवकमलवत् कोमले, कल्प० २ क्षण ।

जच्चखिय–जात्यान्वित–त्रि० । विशिष्टजातिसंभूते, सू० ३ उ० । सुकुलोत्पन्ने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

जच्चन्निय–जात्यान्वित–त्रि० । विशिष्टजातिसंभूते, सू० ३ उ० ।

जच्चमणि–जात्यमणि–पुं० । पद्मरागादिप्रधानमणौ, प० व० ६ द्वार ।

जच्चसुवण्ण–जात्यसुवर्ण–पारमार्थिके सुवर्णे, दश० १० अ० ।

जच्चसुवन्न–जात्यसुवर्ण– 'जच्चसुवण्ण' शब्दार्थे, दश० १ अ० ।

जच्चिर–यच्चिर–न० । यावत्काले, व्य० ७ उ० ।

जच्चो–देशी–पुरुषे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जच्छ–यम्–धा० । उपरमे, " गमिष्यमाऽऽसां छः " । ८ । ४ । २१५ । इत्यन्तस्य छ. । ' जच्छइ ' यच्छति । प्रा० ४ पाद ।

जच्छंत–यच्छत्–त्रि० ददति, अष्ट० ३ अष्ट० ।

जच्छंदओ–देशी–स्वच्छन्दे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जजुव्वेय–यजुर्वेद–पुं० । द्वितीयवेदे,भ० २ श० १ उ० । औ० । यजुर्वेदाहिते निर्णये, व्यापारे च । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

जज्ज–जय्य–त्रि० । जेतुं शक्यः । जि-यत् । " क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे " । ६ । १ । ८१ । (पाणि०) जेतु शक्ये, वाच० । " यय्यर्यां जः " । ८ । २ । २४ । इति य्यस्य ज्ज । प्रा० २ पाद ।

जज्जरिय–जर्जरित–त्रि० । जर्जरं करोति,जर्ज-णिच् कर्मणि क्त । जीर्णीकृते, शकलीकृते, 'जराजर्जरितं पतिम्' वाच० । "कुतगन्निजजज्जरियसव्वदेहा" प्रश्न० १ आश्र० द्वार । राजीयुक्ते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जज्जरियसद्द–जर्जरित (झर्झरित)-शब्द–पुं० । तन्त्रीकरटिकादिवाद्यशब्दवद् झर्झर(जर्जर)ध्वनियुक्ते शब्दे, स्था० १० ठा० ।

जट्ट–जर्त–पुं० । वाह्लीकदेशे,सोऽभिजनोऽस्य अण् । बहुषु जनपदे लुप् । तद्देशवासिषु, ब०व० । वाच० । " र्तस्याधूर्तादौ " । ८ । २ । ३० ॥ इति सूत्रेण र्तस्य ट्ट. । प्रा० २ पाद ।

जट्ठ–इष्ट–न० । कृतयजने, "अहो जन्नियए जट्ठ" आ० म० प्र० । यज्ञे च । उत्त० २५ अ० ।

जट्ठि–यष्टि–स्त्री० । यज्–क्तिन् नि० न सम्प्रसारणम् । ध्वजादिदण्डे, भुजावलम्बने दण्डे च । क्विप् । तन्तौ, हारलतायां, भार्ग्यां, मधुकायाम्, वाच० ।" जट्टिमुट्टिकोप्परप्पहारेहिं हणामि त्ति । " नि० चू० १ उ० ।

जड–जड–त्रि० । जलति घनीभवति । जल अच्,डस्य लः । "इष्टं वाऽनिष्टं वा,न वेत्ति किञ्चिद्यो मोहात् । परवशगः स भवेदिह, नाम्ना जडसंज्ञकः पुरुषः " ॥ शकलक्षणे मन्दबुद्धौ,मूर्खे,वेदग्रहणासमर्थे, "अनंशौ क्लीबपतितौ, जात्यन्धबधिरौ तथा । उन्मत्तजडमूकाश्च,ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥" वेदग्रहणासमर्थो जड इति दायभागः । हिमग्रस्ते, हिमेन मन्दक्रिये, मूके, अलपके, जले, न० । सीसके, न० । चेतनान्निमे अज्ञानादिसमूहे, वेदान्तमते हि पदार्थो द्विधा-जनोऽजनश्च । तत्र जडोऽज्ञानतत्कार्यसङ्कः । अजडश्चेतन इति भेद. । " नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्,न चान्यायेन पृच्छतः । जानन्नपि हि मेधावी, जडवल्लोक आचरेत्" ॥१॥ वाच० । अपगतकर्तव्याकर्तव्यविवेके, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । स्याद्वादस्वरूपोपलम्भरहिते,अष्ट० ७ अष्ट० । तत्त्वावबोधविधुरबुद्धौ,स्या० । "जमा खलु णो जड पज्जुवासति " । जडमूढापरिणतनिर्विज्ञानशब्दा एकार्थका' । रा० ।

जडाभार–जटाभार–पुं० । जटासमूहे,"जडाभारेण सव्व सरीरं पाणियए उल्लेज्जा सामिस्स उवरिं गाढ धुणइ" । आ०म० द्वि० ।

जडाल–जटाल–पुं० । जटा अस्त्यर्थे सिध्मा० लच् । वटवृक्षे, कच्चुरे, मुष्कके, गुग्गुले च । जटायुक्ते, त्रि० । चोरिणि. शिखिनश्चास्य, जटालोर्द्धशिरोरुहाः । " जटामास्याम्, स्त्री० । वाच० । स्वनामख्याते ग्रहविशेषे, कल्प० ६ क्षण । च० प्र० ।

जटावत्–त्रि० । जटा अस्त्यर्थे मतुप्, मस्य व । वाच० । प्राकृते च " आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणामतोः " ॥ ८।२।१५९॥ इति सूत्रेण आलादेशः । ' जडालो ' जटावान् । प्रा० २ पाद । जटायुक्ते, वाच० ।

जडि [ण्]–जटिन्–पुं० । जटा अस्त्यस्य इति । प्लक्षे, अश्वत्थतुल्यपत्रयुक्त वृक्षभेदे, वाच० । त्रि० । जटाधरे, भ० ए श० १३ उ० । जं० । औ० ।

जडियाइलग–जटाल–पुं० । अष्टाशीतिग्रहाणां त्रिपञ्चाशत्तमे स्वनामख्याते ग्रहे, च० प्र० २० पाहु० । " दो जडियाइलगा " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

जडिआइलय–जटाल–पुं० । ' जडियाइलग ' शब्दार्थे, च० प्र० २० पाहु० ।

जडिअं–देशी–खचिते, दे० ना० ३ वर्ग ।

जडिल–जटिल–पुं० । जटा अस्त्यर्थे पिच्छा-इलच् । सिंहे, जटायुक्ते, त्रि० । "विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनम् ।" वाच० । "उक्कडफुडकुडिलजडिलकक्कडविकडफडाडोवकरणदच्छा" वृत्तिः–जटिलः स्कन्धदेशे केसरिणामिवाहीनां केसरसद्भावात् । भ० १५ श० १ उ० । ज्ञा० । उत्त० । जटाधारिवनवासिपाखण्डिमुनि, प्रव० ए४ द्वार । वलितोद्वलिते च । " एग महं कोस व गडिय मुक्कं जडिल गढिल्लं " भ० १६ श० ३ उ० ।

जडिलय–जटिलक–पुं० । राहौ, सू० प्र० २० पाहु० । च० प्र० ।

जड्ड–जड्ड–पुं० । भाषया शरीरेण क्रियया वा जडे, स्थूले,दीक्षानर्हे, प्रव० १०७ द्वार ।

तिविहो य होइ जड्डो, भासे सरीरे य करणे जड्डो य ।
जलजड्डो पउहा, जल एलग मम्मण दुमेहो ॥
जल जलबुड्डो भासइ, जलमूओ एव जासति अवत्तं ।
जह एलगो व्व एवं, एलगमूगो वलवलेति ॥
मम्मणमूओ बोल्वणो,खलइ वाया दु अवि सदा जस्स ।
दुम्मेहस्स ण किंची, घोसतस्सावि ठाय इहा ॥
दसणणाणचरित्ते, तवे य समितीसु करणजोगे य ।
उवइट्ठं पि न गेण्हइ, जलमूगो एलमूगो य ॥
नाणा दट्ठा दिक्खा, भासाजड्डो अपच्चलो तस्स ।

सोपवाहिरो य नियमा, गहणे उड्डाहो अहिगरणं ॥
तिविहो सरीरजड्डो, पत्थे भिक्खे तहेव वंदणए ।
एतेहिँ कारणेहिं, सरीरजड्डं न दिक्खेज्जा ॥
अद्धाणे वा पडिबंधो, भिक्खायरियाएँ अपरिहत्थो य ।
उच्छ्रामपरिकम-अहिअग्गीउग्गमादीसु ॥
आगाढगिलाणस्स य, असमाही वा वि होज्ज मरणं वा ।
जड्डे पासे वि ठिए, अन्ने य इमे दोसा ॥
देसेण कक्खमादी, कुच्छागुच्छणुप्पलावणे दोसा ।
णऽत्थि गलओ य चोगे, णिदियमुंडो य जणवादो ॥
रोगे सरीरजड्डो, एमादीया हवंति दोसा तु ।
तम्हा तं न वि दिक्खे, गच्छे सहओ अणुभाओ ॥
इरियासमिए भासे-सणासु आदाणसमिइगुत्तीसु ।
ण वि ठाति चरणकरणे, कम्मुदएणं करणजड्डो ॥
जलमूग एलमूगो, अतिथूलसरीरकरणजड्डो य ।
दिक्खतस्संते खलु, चतुगुरु सेसेसु मासलहु ॥
भासाजड्ड मम्मण, सरीरजड्ड च णातिथूरं च ।
जावज्जिय परिपट्ठे, करणे जड्डं तु छम्मासे ॥
मोत्तुं गिलाणकज्जं, दुम्मेहं वा वि पाढे छम्मासो ।
तो हेतुं दुम्मेहं, जो वि य करणम्मि सो जड्डो ॥
कुणइ चरिं तो दोण्ह वि, आयरिओ अन्नेगाहे छम्मासा ।
पच्छा अन्नो ततिओ, सो वि य छम्मासपरिभट्ठे ॥
जो चिय तं गाहेती, सिस्सो तस्सेव सो हवति ताहे ।
तह वि न गिण्हइ जदि तू, कुलगणसंघे विगिंचणता ॥
पं० भा० ।

जड्डस्त्रिधा-भाषया, शरीरेण, करणेन च । भाषाजड्डः पुनस्त्रिधा-जलमूको, मन्मनमूक, एलकमूकश्च । तत्र जलमग्न इव बुडबुडायमानो यो वक्ति स जलमूकः । यस्य तु वदतः स्खल्यमानमिव वचनं स्खलति स मन्मनमूकः । यश्चैलक इवाव्यक्तमूकतया शब्दमात्रमेव करोति स एलकमूकः । तथा यः पथि भिक्षाऽटने वन्दनादिषु चातीव स्थूलतयाऽशक्तो भवति स शरीरजड्डः । करणं क्रिया, तस्यां जड्डः करणजड्डः समितिगुप्तिप्रत्युपेक्षणादिक्रियां पुनः पुनरुपदिश्यमानामप्यतीव जड्डतया यो ग्रहीतुं न शक्नोति स., करणजड्ड इत्यर्थः । तत्र भाषाजड्डस्त्रिविधोऽपि ज्ञानग्रहणेऽसमर्थत्वान्न दीक्ष्य. । शरीरजड्डस्तु मार्गगमनभक्तपानानयनादिष्वशक्तो भवति, तथाऽतिजड्डस्य प्रस्वेदेन कक्षादिषु कुथितत्वं भवति, तेषां जलेन क्षालनेषु क्रियमाणेषु कीटिकादिप्लावना सम्भवति, ततः संयमविराधना, तथा लोकोऽतिनिन्दां करोति बहुभक्षीति, तथोड्डाहो भवति ततोऽसौ न दीक्षणीयः । ध० ३ अधि० । प्रव० । पं० चू० । नि० चू० । १४८ । आव० । ग० । ह्लीमति, पु० । बृ० १ उ० । नि० चू० । जीत० । द्रव्यभावमूर्खे, त्रि० । तं० । "जड्डाण वड्डाण, निविन्नाण य निग्घिणेसाण । संसारसूयराणं, कहियं पि निरत्थयं होइ" ॥१॥ तं० ।

जाड्य-न० । जडस्य भाव ष्यञ् । जडतायाम्, मौर्ख्ये च । "आलस्यश्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भासितादिकृत्" । "इदं जाड्यमिदं मौढ्यमिदमत्यद्भुतं वच. ।" वाच० ।

जढ-त्यक्त-त्रि० । "क्तेनाप्फुण्णादय" । ८ । ४ । २५८ । इति सूत्रेण 'जढ' आदेश. । परित्यक्ते, दश० ६ अ० । बृ० । पं० व० । आचा० । नि० चू० । सथा० ।

जण-जन-पुं० । जायते इति जन । आ० म० प्र० । न० । आचा० । विशे० । सूत्र० । जन-अच् । वाच० । लोके, उत्त० ५ अ० । सूत्र० । आव० । आचा० । स० । नगरीवास्तव्यलोके, "पमुइअजणजाणवया ।" रा० । भ० । औ० । नि० । ज्ञा० । प्राकृतपुरुषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । आ० म० । स० । प्राणिनिवहे, पं० व० ४ द्वार । आचा० । मातापितृपुत्रकलत्रादौ, कौटुम्बिकजने च । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

जणइत्ता-जनयितृ-पुं० । जन-णिच्-तृच् । पितरि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । उत्पादके, त्रि० । मातरि, स्त्री० । ङीप् । वाच० । "जणइत्ता णाममेगे ।" जनयिता मेघो यो वृष्ट्या धान्यमुद्गमयति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जणइत्ता-पुं० । 'जणइत्ता' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जणक्खय-जनक्षय-पुं० । लोकमरणेषु, प्र० ३ श० ६ उ० ।

जणक्खयकर-जनक्षयकर-त्रि० । लोकविघातकारके, "बहुजणक्खयकरा संगामा ।" प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

जणकलकल-जनकलकल-पुं० । जनानामनुपलक्ष्यमानवर्णविभागे ध्वनौ, रा० ।

जणग-जनक-पुं० । जन-णिच्-ण्वुल् । वाच० । पितरि, प्रव० १ द्वार । सूत्र० । ज्ञा० । उत्पादके, त्रि० । वाच० । मातापित्रादौ, "माता पिया अ भइकारी जणगा हवंति" आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । मातापित्रोः, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० । जना लोकास्त एव जनकाः । जने, "जणगा त सुणेह मे ।" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । सीतायाः पितरि, विदेहनृपभेदे, वाच० । चरमजिनसमयवर्तिनि तत्पूजके मिथिलानृपे च । "मिहिलाजणओ य धरणो य ।" मिथिलायां जनको राजा धरणश्च नागकुमारेन्द्रः भगवतः पूजां कृतवान् । आ० म० प्र० ।

जणजत्ता-जनयात्रा-स्त्री० । अत्यन्तलोकतासिसमापणे, "जणजत्तारहियाणं, होइ जइत्तं जईण सया ।" दर्श० ४ तत्त्व ।

जणट्ठाण-जनस्थान-न० । दण्डकाऽरण्ये, वाच० । नासिक्यपुरे च (ती०) "अवया देवजाणी नाम सुकस्स महग्गहस्स धूआ जणट्ठाणपुरे कीलंती दंडयरायएण दिट्ठा, रूववइ त्ति बला मोडिआ, भग्गं च तीसे सीलव्वयं, तस्स सरूवं उवलब्भ सुक्कमहग्गहेण रोसवसेण सावो दिण्णो-एयं नयरं दंडयरायसहियं सत्तदिवसब्भतरे रयरासी भविस्सइ त्ति, तं च नायं नारयरिसिणा, दंडयरायस्स कहिअं, तं च सोऊण भीओ दंडयराया सयल जण सह आणेउ चउप्पहसामिण सरणं पवन्नो, बुद्धो अ, तप्पभिइ जणट्ठाणं ति तस्स नयरस्स पसिद्धं नामधिज्जं, एवं परातित्थिया वि जस्स तित्थस्स

माहप्पं उववंधिति, तस्स आरद्दतलोगा कह नो वंदिहिंति ?। ती० २८ कल्प।

जणणिकुच्छिमज्झ–जननीकुक्षिमध्य–न०। मातृजठरान्तरे, तं०।

जणणिवह–जननिवह–पुं०। महति नगरभोजिकादिवृन्दे, बृ० ४ उ०।

जणणी–जननी–स्त्री०। जनयति प्रादुर्भावयत्यपत्यमिति जननी। उत्त० २ अ०। जन–णिच् अनि० जन अपादाने, अनि० वा-ङीप्। वाच०। मातरि, प्रव० १ द्वार। पञ्चा०। कल्प०। आव०। सूत्र०। "आ स्तन्यपानाज्जननी पशूनामा दारलाभाच्च नराधमानाम्। आ गेहकृत्यावधि मध्यमाना-मा जीवितात्तीर्थमिवोत्तमानाम् ॥१॥" कल्प०४ क्षण। उत्पादकस्त्रीमात्रे च। वाच०।

जणद्दण–जनार्दन–पुं०। जनैरर्द्यते याच्यते 'अर्द' याचने, कर्मणि ल्युट्। जनमर्दति हिनस्ति ताडयति जनान् समुद्रवासिनोऽसुरभेदान् अर्दयति वा कर्तरि ल्युट्। विष्णौ, वाच०। "काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीषु" जगत्पीडके, त्रि०। आव० १ अ०।

जणपरिचूय–जनपरिचूत–त्रि०। लोकगर्हिते, प० व० १ द्वार।

जणपिच्छणिजरूव–जनप्रेक्षणीयरूप–त्रि०। जनानां प्रेक्षणीय द्रष्टु योग्य रूप स्वरूप यस्य तत् तथा। दर्शनीयरूपकलिते, कल्प० ३ क्षण।

जणपुज्ज–जनपूज्य–त्रि०। लोकमान्येषु, जीवा० १३ अधि०।

जणपूयणिज्ज–जनपूजनीय–त्रि०। राजामात्यगुरुश्रेष्ठिप्रभृतिषु लोकमान्येषु, पञ्चा० २ विव०।

जणप्पमद्द–जनप्रमर्द–पुं०। लोकचूर्णने, भ० ७ श० ६ उ०।

जणप्पियत्त–जनप्रियत्व–न०। लोकप्रियत्वे, " शुद्ध जनप्रियत्वं, शुद्ध तत्कर्मसिद्धिफलदमलम्। धर्मप्रशंसनादे-र्बीजाधानादिभावेन ॥१॥" षो० ४ विव०।

जणवह–जणवध–पुं०। लोकघाते, भ० ७ श० ६ उ०।

जणबोल–जनवोल–पुं०। जनानामव्यक्तवर्णे ध्वनौ, विपा० १ श्रु० १ अ०। भ०।

जणमणोहर–जनमनोहर–त्रि०। लोकचेतोहारिणि, पञ्चा० ६ विव०।

जणमेजय–जनमेजय–पुं०। जनमेजयति। एज-णिच्-खश्। परीक्षितनृपते: पुत्रे, कुरुनामभूपपुत्रभेदे, पुरञ्जयनृपपुत्रे च। वाच०। क्रोधाज्जनमेजयो विननाश। ध० १ अधि०।

जणय–जनक–पुं०। 'जणग' शब्दार्थे, प्रव० १ द्वार।

जणयंत–जनयत्–त्रि०। उत्पादयति, पञ्चा० ११ विव०।

जणवय–जनपद–पुं०। जना: पद्यन्ते गच्छन्ति यत्र। पद आधारे घ'। वाच०। देशे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार। तं०। स्था०। कल्प०। आचा०। व्यव०। बृ०। आ० म०। जनाना लोकानां पदान्यवस्थानानि येषु ते जनपदा.। साधुविहरणयोग्येषु अवन्त्यादिषु अर्धषड्विंशतिदेशेषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०। राष्ट्रे, रा०। मनुष्यलोके, भ० ७ श० ६ उ०। तन्निवासिलोकेषु च। "हरति धणधण्णदव्वजायाणि जणवयकुलाण" जनपदकुलानां लोकगृहाणाम्। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। "जणवयपरिवायाए" जनपदानां लोकानां परिवादाय। आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। 'जानपद' इत्यनुवादे तु तत्र भवे, "जणवयवहाए" जनपदे भवा. जानपदा कालछ्प्रादयो राजादयो वा तद्वधाय। आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

जणवयकहा–जनपदकथा–स्त्री०। मालवकादिदेशप्रशंसानिन्दाऽऽत्मिकायां देशकथायाम्, उत्त० १९ अ०। औ०।

जणवयपाल–जनपदपाल–पुं०। जनपदं पालयति इति जनपदपालः। जनपदरक्षके, औ०।

जणवयपिया–जनपदपितृ–पुं०। जनपदानां हितत्वात् (औ०) पितेव। लोकपितरि, स्था० ६ ठा०। सूत्र०।

जणवयपुरोहिय–जनपदपुरोहित–पुं०। जनपदस्य शान्तिकारितया पुरोहित इव जनपदपुरोहितः। जनपदशान्तिकरे, रा०। औ०। सूत्र०।

जणवयप्पहाण–जनपदप्रधान–त्रि०। लोकोत्कृष्टे, "प्रज्ञाहिं य जणवयप्पहाणाहिं लालियता" प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

जणवयवग्ग–जनपदवर्ग–पुं०। देशसमूहे, भ० ३ श० ६ उ०।

जणवयसच्च–जनपदसत्य–न०। जनपदेषु देशेषु यद् यदर्थवाचकतया रूढ देशान्तरेऽपि तत् तदर्थवाचकतया प्रयुज्यमान सत्यमवितथमिति जनपदसत्यम्। यथा कोङ्कणादिषु पय पच्च नीरमुदकमित्यादि। सत्यत्व चास्याऽदुष्ट, विवक्षाहेतुत्वात्। नानाजनपदेष्विष्टार्थप्रतिपत्तिजनकतया व्यवहारप्रवृत्ते.। दशविधसत्यस्य प्रथमे भेदे, स्था० १० ठा०। ध०।

जणवयसच्चा–जनपदसत्या–स्त्री०। जनपदमाधिकृत्येष्टार्थप्रतिपत्तिजनकतया व्यवहारहेतुत्वात् सत्या जनपदसत्या। दशविधाया सत्यभाषाया. प्रथमे भेदे, प्रज्ञा० ११ पद।

जणवहा–जनव्यथा–स्त्री०। लोकपीडायाम्, भ० ७ श० ६ उ०।

जणवाय–जनवाद–पुं०। जनानां परस्परेण वस्तुविचारणे, औ०। स्वनामख्याते कलाभेदे, ज० २ वक्ष०। स०। लोकापवादे च। वाच०। "जणवायभएण"। आव० ६ अ०।

जणवूह–जनव्यूह–पुं०। जनसमुदाये, भ० ६ श० ३३ उ०। चक्राद्याकारजनसमूहे, जनव्यूहस्य शब्दोऽपि तदभेदाज्जनव्यूह पचोच्यते। विपा० १ श्रु० १ अ०।

जणव्वूह–जनव्यूह–'जणवूह' शब्दार्थे, विपा०१ श्रु०१ अ०।

जणसद्द–जनशब्द–पुं०। जनानां परस्परालापरूपे ध्वनौ, औ०। रा०। दशा०।

जणसम्मद्द–जनसंमर्द–पुं०। जनानां परस्पर सघर्षणे, स्था० ४ ठा० १ उ०।

जणसंवट्टकप्प–जनसंवर्तकल्प–त्रि०। जनसवर्त इव लोकसहारसदृशे, भ० ७ श० ६ उ०।

जणाउत्तो–देशी–ग्रामप्रधानपुरुषे, विटे च। दे० ना० ३ वर्ग।

जणाउल–जनाकुल–त्रि०। भोजिकादिभिरिति प्रभूतैर्जनैराकीर्णे, व्य० ४ उ०।

जणाकुल–जनाकुल–त्रि० । 'जणाउल' शब्दार्थे, व्य० ४ उ० ।

जणाववायभीरुत्त–जनापवादभीरुत्व–न० । जनापवादाद् मरणादभिविशिष्यमाणाद् भीरुत्वं भीतिभावः । लोकापवादभीतौ, द्वा० १२ द्वा० ।

जणि–इव–अव्य० । " इवार्थे न-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः " । ८ । ४ । ४४४ । इति सूत्रेणापभ्रंशे इवार्थे जणिप्रयोगः । प्रा० ४ पाद । इवेत्यर्थे, " चम्पककुसुमहो मज्झि सहि भसलु पइट्ठउ । सोहइ इन्दनीलु मणि जणि कणइ बइट्ठउ ॥ " प्रा० ४ पाद ।

जणिअ–जनित–त्रि० । उत्पादिते, नि० चू० १ उ० । आव० ।

जणिय–जनित–त्रि० । 'जणिअ' शब्दार्थे, नि० चू० १ उ० ।

जणु–इव–अव्य० । " इवार्थे नं-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः " । ८ । ४ । ४४४ । इति सूत्रेणापभ्रंशे इवशब्दस्य 'जणु' इत्यादेशः । इवेत्यर्थे, "निरुवमरसु पिएँ पिएवि जणु ।" प्रा० ४ पाद ।

जणुम्मि–जनोर्मि–स्त्री० । जनसबाधे, रा० ।

जणुल्लाप–जनोल्लाप–पुं० । जनानां काक्वा वर्णने, औ० ।

जणेमाण–जनयत्–त्रि० । उत्पादयति, तं० ।

जणोह–जनौघ–पुं० । जनसमुदाये, बृ० ३ उ० ।

जणोवयार–जनोपचार–पुं० । स्वजनादिलोकपूजायाम्, पञ्चा० २ विव० ।

जण्ण–यज्ञ–पुं० । यज-भावे न । यागे, वाच० ।

स त्रिविधः—

" अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो, विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः, समाधाय स सात्त्विकः ॥
अभिसंधाय तु फलं, दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ !, तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥
विधिहीनमसृष्टान्नं, मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं, तामसं परिचक्षते ॥ "

स च नानाविधः—

" द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथा परे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः संशितव्रताः ॥ "

पञ्च गृहस्थकर्तव्या यज्ञा यथा—

" अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो, नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ "

विष्णौ च । वाच० । नागादीनां पूजायाम्, आ० म० प्र० । प्र० । ज्ञा० । प्रश्न० । सूत्र० । प्रतिदिवसं स्वस्वेष्टदेवतापूजायाम्, जी० ३ प्रति० । श्राद्धे च । जी० ३ प्रति० । ज० । सयूपो यज्ञ एव हि क्रतुरुच्यते, यूपरहितस्तु दानादिक्रियायुक्तो यज्ञ इति । विशे० ।

जण्णइज्ज–यज्ञीय–न० । यज्ञाय हितं तस्येदं वा । वाच० । स्वनामख्याते (जयघोषविजयघोषमुनिवक्तव्यताप्रतिबद्धे) उत्तराध्ययनसूत्रस्य पञ्चविंशतितमेऽध्ययने, स० ३३ सम० । उत्त० ।

जण्णग्गि–यज्ञाग्नि–पुं० । अग्निष्टोमानले, दशा० १ चू० ।

जण्णजस–यज्ञयशस्–पुं० । स्वनामख्याते नारदपितामहे तापसे,

" आसीद्यदा सौर्यपुरे, समुद्रविजयो नृपः ।
तदा यज्ञयशास्तत्र, तापसस्तस्य वल्लभः ॥
सोममित्रासुतो यज्ञ-दत्तस्सोमयशा स्नुषा ।
तत्पुत्रो नारदस्तेषा-मुञ्छवृत्त्या च भोजनम् ॥ " आ० क० । आ० चू० ।

जण्णजाइ(ण्)–यज्ञयाजिन्–पुं० । यजनशीले, नि० चू० १ उ० । औ० । भ० ।

जण्णट्ठ–यज्ञार्थ–पुं० । यज्ञैकप्रयोजने द्विजे, यज्ञनिमित्ते, उत्त० २५ अ० ।

जण्णट्ठाण–यज्ञस्थान–न० । नासिक्यपुरे, ती० २८ कल्प । "एवं नासिक्कपुरे कालंतरे पुव्वभूमिं नाउं आगओ मिहिलाहिंतो, तत्थ जणयराओ तेण य तत्थ इमं जण्णं कारियं" ततः "जण्णट्ठाणं ति तन्नयरं रूढं ।" ती० २८ कल्प । यज्ञवाटे च । वाच० ।

जण्णदत्त–यज्ञदत्त–पुं० । स्वनामख्याते नारदपितरि, आ० क० । आव० । आ० चू० । स्वनामख्याते कौशाम्बीवास्तव्ये सोमदत्ते, सोमदेवपितरि च । उत्त० १ अ० । भद्रबाहुस्वामितृतीयशिष्ये, कल्प० ८ क्षण० ।

जण्णदेव–यज्ञदेव–पुं० । क्षितिप्रतिष्ठितनगरीये चिलातपुत्रपूर्वभविकजीवे स्वनामख्याते द्विजे, आव० १ अ० ।

जण्णमुह–यज्ञमुख–न० । यज्ञोपाये, उत्त० २५ अ० ।

जण्णवक्क–याज्ञवल्क्य–पुं० । शुक्लयजुः प्रवर्तके मुनिभेदे, वाच० । (वेदाः) अनार्यास्तु पश्चात् सुलसायाज्ञवल्क्यादिभिः कृता " आ० म० प्र० । तन्नामकधर्मसंहिताकर्तरि ऋषौ च । वाच० । याज्ञवल्क्यप्रभृतिऋषिप्रणीतधर्मसंहिताभिश्चिन्तयन्ति ते धर्मचिन्तकाः । अनु० ।

जण्णवाड–यज्ञवा (पा) ट–पुं० । यज्ञस्थाने, वाच० । आ० म० । उत्त० । आव० ।

जण्णसेट्ठ–यज्ञश्रेष्ठ–पुं० । यज्ञेषु श्रेष्ठो यज्ञश्रेष्ठः । अथ वा-श्रेष्ठो यज्ञः श्रेष्ठयज्ञः । प्राकृतत्वात् यज्ञश्रेष्ठः । (उत्त०) उत्तमयज्ञे, " वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा, महाजयं जयइ जण्णसेट्ठं " उत्त० १२ अ० ।

जण्णिय–याज्ञिक–पुं० । यज्ञेन जयति लोकान् इति याज्ञिकः । आ० म० प्र० । आचा० । यज्ञाय हितं यज्ञः प्रयोजनमस्य वा ठक् । याजके ऋत्विगादौ, यजमाने च । वाच० ।

जण्णोवईय–यज्ञोपवीत–न० । यज्ञेन संस्कृतमुपवीतम् । वाच० । ब्राह्मणकण्ठसूत्रे, उत्त० २ अ० ।

तत्प्रसिद्धिस्त्वित्थम्—

भरतश्च श्रावकानाहूयोक्तवान्-भवद्भिः प्रतिदिनं मदीयं भोक्तव्यं, कृष्यादि च न कार्यम्, स्वाध्यायपरैरासितव्यं, भुक्ते च मदीयगृहद्वारासन्नव्यवस्थितैर्वक्तव्यम्—जितो भवान्, वर्धते भयं, तस्मान्मा हन मा हनेति । ते तथैव कृतवन्तः । भरतश्चरति सागरावगाढत्वात् प्रमत्तत्वात् तच्छब्दाकर्णनोत्तरकालमेव केनाहं जित इति ?, आ ज्ञातं कषायैः, तेभ्यः एव वर्द्धते भयमित्यालोचनापूर्वकं संवेगं यातवानिति । अत्रान्तरे लोकबाहुल्यात् सूपकाराः पाकं कर्तुमशक्नुवन्तो भरताय निवेदितवन्तः, नेदं ज्ञायते कः श्रावकः, को वा नेतीति लोकस्य प्रचुरत्वात् । आह भरतः-पृच्छापूर्वकं

इयमिति । ततस्तान् पृष्टवन्तस्ते—को भवान् , श्रावकाणां कति व्रतानि ? । स आह-श्रावकाणां न सन्ति व्रतानि, किं तु अस्माक पञ्चाऽणुव्रतानि । कति शिक्षाव्रतानि ? । ते उक्तवन्त:- सप्त शिक्षाव्रतानि । य एव भूतास्ते राज्ञो निवेदिता । स च काकणीरत्नेन तान् लाञ्छितवान् , पुन: षण्मासेन योग्या प्रवन्ति, तानपि लाञ्छितवान् । षण्मासकालादनुयोग कृतवानेव ब्राह्मणा सजाता इति । ते च स्वसुतान् साधुभ्यो दत्तवन्त:, ते च प्रव्रज्या चक्रु: । परीषहभीरवस्तु श्रावका एवासन्निति । इय च भरतराज्यस्थिति: । आदित्ययशसस्तु काकणीरत्न नासीत्, सुवर्णमयानि यज्ञोपवीतानि कृतवान् , महायश प्रभृतयस्तु केचन रूप्यमयानि, केचन विचित्रपट्टसूत्रमयानि , इत्येव यज्ञोपवीतप्रसिद्धि: । आ० म० प्र० ।

जरणोवत्तीय–यज्ञोपवीत–न० । 'जरणोवईय' शब्दार्थे,आ०म०प्र० ।

जरणोहणो–देशी-राक्षसे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जएहली–देशी-नीव्याम, दे० ना० ३ वर्ग ।

जएहु–जह्नु–पु० । " सूक्ष्मश्नष्णस्नह्नक्ष्णां ण्ह. " ॥८।२।७५॥ इति प्राकृतसूत्रेण ह्रो एहु: । प्रा० २ पाद । भरतवश्ये आजमीढनृपपुत्रे नृपभेदे, वाच० । को० ।

जएहुसुया–जह्नुसुता--स्त्री० । गङ्गानद्याम, " गगा भागीरही य जएहुसुया । " को० ।

जइ–यदि–अव्य० । यद्-णिच्-इन्, णिलोप: । पक्षान्तरे, सभावनायाम, गर्हायाम, विकल्पे च । वाच० । " जति ण चोर लज्जसि ततो ते जीविय नऽत्थि " । नि० चू० १ उ० ।

जतमाण–यतमान–त्रि० । प्राणिविषये यत्नवति, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । यत्नवति च । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

जति–यदि–अव्य० । 'जइ' शब्दार्थे, नि० चू० १ उ० ।

जतिय–यावत्–त्रि० । यत्परिमाणे, वाच० । " अम्ह पि जतिय जाणति " नि० चू० १७ उ० ।

जतुकुंभ–जतुकुम्भ–पु० । जातुषे घटे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

जतुगोलसमाण–जतुगोलसमान–त्रि० । डिम्भरूपक्रीडनकजतुगोलकप्रमाणे अनति महति, भ० १६ श० ३ उ० ।

जतुगोलासमाण–जतुगोलसमान–पु० । 'जतुगोलसमाण' शब्दार्थे, भ० १७ श० ३ उ० ।

जतो–यतस्–अव्य० । यस्मात् कारणादित्यर्थे.पञ्चा० ६ विव० ।

जत्त–यत्न–पु० । वेलाविधानाद्याराधनोद्यमे, पञ्चा० ३ विव० ।

जत्तिग–यात्रात्रिक–न० । जिनयात्रात्रिके, ध० २ अधि० ।

" अष्टाहिकाऽभिधामेकां, रथयात्रामथापराम् । तृतीयां तीर्थयात्रा चे-त्याहुर्यात्रा त्रिधा बुधा: ॥ १ ॥ " ध० २ अधि० ।

जत्ता–यात्रा–स्त्री० । या-ष्ट्रन् । वाच० । यान यात्रा । तपोनियमसयोगादिषु प्रवृत्तौ, भ० १८ श० १० उ० । आव० । यात्रा द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यतस्तापसादीनां स्वक्रियोत्सर्पमाना, भावतः साधूनामिति । आव० ३ अ० ।

किं ते भंते ! जत्ता ? । सोमिला ! जं मे तवणियमसंजमसज्झायज्झाणआवस्सयमादिएसु जोगेसु जयणा, से त्तं जत्ता । (जयण त्ति) प्रवृत्ति: । भ० १८ श० १० उ० ।

अत्र प्रासङ्गिके शङ्कासमाधाने यथा-

" नो यात्रा प्रतिमानतिर्व्रतभृता साक्षाद्दनादेशनात् ,
तत्प्रश्नोत्तरवाक्य इत्यपि वचो माद्दज्वरावेशजम् ।
मुख्यार्थे. प्रथिता यता व्यवहृति शेषान् गुणान् लक्षयेत्
'सामर्थ्येण हि यावताऽस्ति यतना यात्रा स्मृता तावता ॥४७॥"

प्रति० । एतद्व्याख्यान ' चेइय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १२२० पृष्ठे द्रष्टव्यम्) क्षायिकमिश्रोपशमिकलक्षणे भाव, आव० ३ अ० । देवोद्देशेनोत्सवभेदे रथयात्रादौ, वाच० । महोत्सव एव यात्रा, न तु देशान्तरगमनम् । ध० २ अधि० । पञ्चा० । सा च यात्रा त्रिविधा—अष्टाह्निका , रथयात्रा , तीर्थयात्रा च । ध० २ अधि० । (तत्राष्टाहिकास्वरूप रथयात्रास्वरूप च ' अणुजाण ' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे दर्शितम) स च सविस्तर सर्वचैत्यपरिपाटीकरणादिमहोत्सवोऽष्टाहिकायात्रा, इय चैत्ययात्राऽप्युच्यते । ध० २ अधि० । (तीर्थयात्रास्वरूप च ' तित्थजत्ता ' शब्दे द्रष्टव्यम्) देशान्तरगमने, स्था० ४ ठा० १ उ० । ज्ञा० । औ० । विजिगीषया राज्ञा गमने, गमनमात्रे, यापने, उपाये च । वाच० ।

जत्ताभयग–यात्राभृतक–पु० । यात्रा देशान्तरगमन, तस्यां सहाय इति भ्रियते य. स यात्राभृतकः । देशाटनसमयोपयोगिन्यनुचरे. स्था० ४ ठा० १ उ० ।

जत्ता ति होति गमणं, उभयं वा एत्तिय धणेण । पं० भा० ।

" जत्ताभयगो नाम तुमे अम्ह इमा जत्ता कायव्वा " । स्वयं यात्रा गन्तुमशक्नुवता यात्रासिद्ध्यै वेतनेन व्यापारितेऽनुचरे, च । पं० चू० ।

जत्ताभिमुह–यात्राऽभिमुख–त्रि० । गमनाभिमुखे, औ० ।

जत्ताविहाण–यात्राविधान–न० । जिनोत्सवविधौ, तत्प्रतिपादके यात्राविधिप्रकरणाख्ये हारिभद्रे नवमे पञ्चाशके च । पञ्चा० ७ विव० । (तद्वक्तव्यता ' अणुजाण ' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे विलोक्या)

जत्तासिद्ध–यात्रासिद्ध–पु० । कृतसमुद्रयात्रे, यो द्वादशवारं समुद्रमवगाह्य कृतकार्य क्रमेणाऽऽयाति स यात्रासिद्धः । अन्येऽपि पोतेन गन्तुकामा यात्रासिद्धा. प्रेक्ष्यन्ते ।

यात्रासिद्धकथा चेयम्-

" वेलाकूलेऽभवत् कोऽपि, वणिक् तुण्डिकनामकः ।
तस्याब्धौ सप्तशो भग्न, वोहित्थ स तु नाभनक् ॥ १ ॥
जले नष्ट जले एव, लभ्यते प्रोक्तवानिति ।
नाग्रहीद्दत्तमप्यन्यै., जगाम पुनरम्बुधौ ॥ २ ॥
स्वय समुद्रस्तुष्टोऽथ, तस्य प्राज्य धन ददौ ।
भणितश्चान्यदपि ते, किं ददामीति सोऽवदत् ॥ ३ ॥
मम नाम गृहीत्वा य., समुद्रमवगाहते ।
सोऽविपन्न. समन्येतु, समुद्रस्तत्प्रपन्नवान् ॥४॥" आ०क०।रा०।

ज त्ति जगारपविभत्ति–ज इति जकारप्रविभक्ति–न० । द्वात्रिंशद्विधनाट्यभेदे, रा० ।

जत्तिय–यावत्–त्रि० । यत्परिमाणे, वाच० । " जत्तिय गहियं तत्तिय दिय । " आ० म० प्र० ।

जत्तो-यतस्-अव्य०।"त्तो दो तसो वा" ।८।२।१६०। इति प्राकृतसूत्रेण तस.' त्तो' इत्यादेशः । प्रा० २ पाद । यस्मात्कारणादित्यर्थे, पञ्चा० १० विव० ।

जत्थकामोसाइत्त-यत्रकामावसायित्व-न० । स्वाभिलषितस्य समाप्तिपर्यन्तनयने योगसिद्धिभेदे, द्वा० २६ द्वा० ।

जत्थ जत्थ-यत्र यत्र-अव्य० । यद्-त्रल् । यस्मिन् यस्मिन्नित्यर्थे, वाच०। "उवहाण जत्थ जत्थ ज सुत्ते, एसा सुत्तवीप्सा, जत्थ उद्देसगे, जत्थ अज्झयणे, जत्थ सुयक्खध, जत्थ अगे कालुकालियअगाणगेसु णेया । " नि० चू० १ उ० ।

जदि-यदि-अव्य० । अभ्युपगमे, नि० चू० १ उ० ।

जदिच्छा-यदृच्छा-स्त्री० । अभिसंधिराहित्ये, सू० ३ श्रु० ।

जउणदण-यदुनन्दन-पुं० । श्रीकृष्णे, स्था० ८ ठा० ।

जप-जप-धा० । उच्चारणे, वाचि च । भ्वा०-पर०-सक०-सेट् । अभि-आभिमुख्येन जपे, सम्यक् कथने च । उप-भेदे, न० । वाच०। भावे अप् । पु० मन्त्राभ्यासे, अनु० । तत्प्रकारो यथा-

" मनः सहृत्य विषयान्मन्त्रार्थगतमानस. ।
न द्रुत न विलम्ब च, जपेन्मौक्तिकपङ्क्तिवत् ॥
जप' स्याद्दक्षरावृत्ति-र्मानसोपांशुवाचिकै ।
धिया यदक्षरश्रेण्यां, वर्णस्वरपदात्मिकाम् ॥
उच्चरेदर्थमुद्दिश्य , मानस' स जप. स्मृत. ।
जिह्वोष्ठौ चालयेत् किञ्चित्, देवतागतमानस. ॥
किञ्चिच्छ्रवणयोग्य स्या-दुपांशु. स जप स्मृत. ।
मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा, वाचिकः स जप' स्मृत ॥
उच्चैर्जपाद्विशिष्ट. स्या-दुपांशुर्दशभिर्गुणै ।
जिह्वाजप शतगुण., सहस्रो मानस. स्मृत. ॥
जिह्वाजप' स विज्ञेय', केवल जिह्वया बुधै " । वाच० ।

जप्प-जल्प-पु० । छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भपरे भाषणे, स्था० ? ठा० । नि० चू० । स० ।

जप्पभिइ-यतः प्रभृति-अव्य० । यस्मात्कालादारभ्येत्यर्थे, " जप्पभिइ च ण अम्ह एस दारए कुच्छिसि गब्भत्ताए वक्कते तप्पभिइं च ण अम्हे हिरण्णेण० जाव पीइसक्कारेण अईव अईव वड्ढामो " । कल्प० ४ क्षण ।

जम-यम-धा० । उपरमे, भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् । उदित्त्वा वेट् । आ-दीर्घीकरणे, उप-विवाहे, ' यम ' परिवेषणे, चुरा०-उभ०-सक०-सेट्-वा-घटा० । वाच० । यम-धा०-घञ् । प्राणातिपातविरत्यादिरूपेषु पञ्चसु महाव्रतेषु, पु० । उत्त० २५ अ०। "द्दो यमा" स्था० २ ठा०३ उ० । द्वा० । ध० र०। तत्र महाव्रतपदैनैते जिनैरभिधीयन्ते, व्रतपदेन भागवतै , धर्मपदेन पाशुपतै , सांख्यैर्यासमतानुसारिभिश्च यमपदेनाभिधीयन्ते, कुशलधर्मपदेन च बौद्धैरभिधीयन्ते, वैदिकादिभिश्च ब्रह्मादिपदेनाभिधीयन्ते । द्वा० ८ द्वा० । हा० ।

तत्स्वरूप त्वेवम्—

अहिंसासूनृताऽस्तेय-ब्रह्माकिञ्चनता यमाः ।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाः , सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ २ ॥

प्राणवियोगप्रयोजनो व्यापारो हिंसा, तदभावोऽहिंसा । वाङ्मनसोर्यथार्थत्व सूनृतम् । परस्वापहरण स्तेय, तदभावोऽस्तेयम । उपस्थसंयमो ब्रह्म । भोगसाधनानामस्वीकारोऽकिञ्चनता, एते यमा । तदुक्तम्—" अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा " इति । दिग्देशस्तीर्थादि' , कालश्चतुर्दश्यादि., आदिना ब्राह्मण्यादिरूपाया जातेर्ब्राह्मणादिप्रयोजनरूपस्य समयस्य च ग्रह. । ततो दिक्कालादिना अनवच्छिन्ना " तीर्थे कञ्चन न हनिष्यामि " " चतुर्दश्यां न हनिष्यामि " " ब्राह्मणान् न हनिष्यामि " " देवब्राह्मणाद्यर्थव्यतिरेकेण न कमपि हनिष्यामि" इत्येवविधावच्छेदव्यतिरेकेण सर्वविषया अहिंसादयो यमा', सार्वभौमाः सर्वासु क्षिप्ताद्यासु चित्तभूमिषु सम्भवन्तो महाव्रतमित्युच्यन्ते । तदुक्तम्-" एते तु जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम् " ॥ २ ॥ द्वा० २१ द्वा० ।

इच्छायमादिचतुर्भेदेषु, तथाहि-

यमाश्चतुर्विधा इच्छा-प्रवृत्तिस्थैर्यसिद्धयः । (२५)

(यमा इति) यमाश्चतुर्विधा.-इच्छायमाः प्रवृत्तियमा', स्थिरयमा , सिद्धियमाश्च । (२५) द्वा० १९ द्वा० ।

इच्छायमो यमेष्विच्छा, युता तद्वत्कथामुदा ।
स प्रवृत्तियमो यत्तत्, पालनं शमसंयुतम् ॥ २६ ॥

तद्वतां यमवतां कथातो या मुत्प्रीति , तया युता सहिता यमेष्विच्छा इच्छायम उच्यते । यत्तेषां यमानां पालन शमसयुतमुपशमान्वित स प्रवृत्तियम. । तत्पालन चात्राविकलमभिप्रेतम्, तेन न कालादिविकलतत्पालनरूपे इच्छायमेऽतिव्याप्तिः ॥ न च सोऽपि प्रवृत्तियम एव, केवल तथाविधसाधुचेष्टया प्रधान इच्छायम एव तात्त्विकपक्षपातस्यापि द्रव्यक्रियातिशायित्वात् । तदुक्तम्-" तात्त्विकः पक्षपातश्च, भावशून्या च या क्रिया । अनयोरन्तर ज्ञेयं, भानुखद्योतयोरिव" ॥ १ ॥ संविग्नपाक्षिकस्य प्रवृत्तचक्रत्वानुरोधे तु प्रवृत्तियम एवाय, तस्य शास्त्रयोगानियतत्वादिति नयभेदेन भावनीयम् ॥ २६ ॥

सत्क्षयोपशमोत्कर्षा-दतिचारादिचिन्तया ।
रहिता यमसेवा तु, तृतीयो यम उच्यते ॥ २७ ॥

सतो विशिष्टस्य क्षयोपशमस्य उत्कर्षादुद्रेकादतिचारादीनां चिन्तया रहिता, तदभावस्यैव विनिश्चयात् । यमसेवा तु तृतीयो यम स्थिरयम उच्यते ॥ २७ ॥

परार्थसाधिका त्वेषा, सिद्धिः शुद्धान्तरात्मनः ।
अचिन्त्यशक्तियोगेन, चतुर्थो यम उच्यते ॥ २८ ॥

(परार्थेति) परार्थसाधिका स्वसन्निधौ परस्य वैरत्यागादिकारिणी तु एषा यमसेवा सिद्धि । शुद्ध' क्षीणमलतया निर्मलोऽन्तरात्मा यस्य अचिन्त्याया अनिर्वचनीयाया शक्ते स्ववीर्योल्लासरूपाया योगेन चतुर्थो यम उच्यते ॥ २८ ॥ द्वा० १९ द्वा० ।

यमयति-अच् । वाच० । दक्षिणदिक्पालनिकायाधिपे लोकपाले, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । भरणीनक्षत्राधिपतौ, सू० प्र० १० पाहु० । ज० । ज्यो० । स्था० । यमदग्निगुरौ तापसविशेषे, आ० म० प्र० । आ० चू० । आ० क० ।

" यमाख्यस्तापसस्तत्र, स तत्पार्श्वेऽग्निकोऽगमत् ।
प्रपन्नस्तस्य शिष्यत्वं, स घोर तप्यते तप ॥
यमशिष्योऽग्निक इति, यमदग्निरिति श्रुत । ' आ० क० ।
"जमो नाम से तावसो ' आ० म० द्वि० आ० चू० । यमयने, आ०

म० प्र० । मृत्यौ, मृत्युहेतुत्वात् । आव० ४ अ० । एकगर्भजायमाने यमजे, त्रि० । वाच० । द्वित्वसंख्यायां च । वाच० ।

जमईय-यमतीत-न० । यमतीतेत्याद्यक्षरे,आदाननाम्नि सूत्रकृताङ्गस्य पञ्चदशेऽध्ययने,सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । स० । प्रश्न० । आव० ।

जमकाइय-यमकायिक-पुं० । दक्षिणदिक्पालदेवनिकायाभितेष्वम्बाद्यसुरविशेषेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जमग-यमक-पुं० । शकुनिविशेषे, जी० ३ प्रति० । स्वनामख्याते पर्वतविशेषे, (जी०)

सम्प्रति उत्तरकुरुभाविबमकपर्वतवक्तव्यतामाह-

कहि णं भंते ! उत्तरकुराए कुराए जमगा नामं दुवे पव्वता पण्णत्ता ?। गोयमा ! नीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं अट्ठ चोत्तीसं जोयणसते चत्तारि य सत्तभागे जोयणसहस्सं आबाधाए सीताए महाणईए उभओ कूले, एत्थ णं उत्तरकुराए कुराए जमगा णाम दुवे पव्वता पण्णत्ता । एगमेगेणं जोयणसहस्सं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उव्वेहेणं मूले एकमेकं जोयणसहस्सं आयामविक्खंभेण मज्झे अद्धट्ठमाइं जोयणसताइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पंचजोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं मूले तिण्णि जोयणसहस्साइ एक बावट्ठं जोयणसयं किंचिविसेसाहियं परिक्खेवेणं दो जोयणसहस्साइं तिण्णि य बावत्तरे जोयणसते किंचिविसेसूणपरिक्खेवेणं उवरिं पण्णरस एक्कासीते जोयणसते किंचिविसेसाहिया परिक्खेवेणं पण्णत्ता, मूल वित्थिन्ना मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिया सव्वकणगामया अच्छा सण्हा०जाव पडिरूवा पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेतिया परिक्खित्ता,पत्तेय पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ता, वण्णओ, दोण्ण वि तेसि णं जमगपव्वयाणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जभूमिभागे पण्णत्ते, वण्णओ०जाव आसयंति । तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेय पत्तेयं पासायवडेंसका पण्णत्ता । ते णं पासायवडेंसका बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एकतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गतमूसितपहसिओ भूमिभागओ उल्लोता, दो जोयणाइं मणिपेढियाओ उवरिं सीहासणा सपरिवारा० जाव जमगा चिट्ठंति । से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चति-जमगा पव्वया, जमगा पव्वया ?। गोयमा ! जमगेसु णं पव्वतेसु तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहूओ खुड्डियाओ वावीओ० जाव बिलपंतियाओ तासु णं खुड्डा खुड्डिया० जाव बिलपंतियासु बहूइं उप्पलाइं० जाव सतसहस्सपत्ताइ जमगप्पभाइ जमगवण्णाइ जमगा, एत्थ ण दो देवा महिड्ढिया० जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति । ते ण तत्थ पत्तेयं पत्तेयं चउण्ह सामाणियसाहस्सीणं० जाव जमगाणं पव्वयाण जमिगाण य रायहाणीणं अण्णेसिं च बहूणं वाणमतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं० जाव पालेमाणा विहरंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-जमगपव्वया जमगपव्वया,अदुत्तरं च णं गोयमा !० जाव णिच्चा । कहि णं भंते ! जमगाणं देवाणं जमगाओ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! जमगाणं पव्वयाणं उत्तराणं ति तिरियमसंखेज्जदीवसमुद्दे वीतीवतित्ता अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे बारस जोयणसयसहस्साइं ओगाहित्ता,एत्थ णं जमगाणं देवाणं जमिगाओ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ बारसजोयणसहस्साइं जहा विजयस्स० जाव महिड्ढिया जमगा देवा ॥

" कहि ण भते ! " इत्यादि । क भदन्त ! उत्तरकुरुषु कुरुषु यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ ?। भगवानाह-गौतम ! नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणात्याच्चरमान्तात् चरमरूपात् पर्यन्तादष्टौ योजनशतानि चतुस्त्रिंशानि चतुस्त्रिंशदधिकानि चतुरश्च योजनस्य सप्त भागान् अबाधया कृत्वा अपान्तराले मुक्तेति भाव. । अत्रान्तरे शीताया महानद्या' पूर्वपश्चिमयोर्दिशोरुभयो कूलयो , अत्र एतस्मिन् प्रदेशे यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ । तद्यथा-एक' पूर्वकूले,एक' पश्चिमकूले,प्रत्येक योजनसहस्रमुच्चैस्त्वेन, अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि उद्वेधेन, अवगाहेन मेरुव्यतिरेकेण शेषशाश्वतपर्वतानां सर्वेषामपि विशेषेणोच्चैस्त्वापेक्षया चतुर्भागस्यावगाहभावात्, मूले एक योजनसहस्र विष्कम्भः १०००, मध्ये अर्द्धाष्टमानि योजनशतानि ७५०, उपरि पञ्चयोजनशतानि ५००, मूले त्रीणि योजनशतानि एक च द्वाषष्टं द्वाषष्ट्यधिक योजनशत किञ्चिद् विशेषाधिक परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ ३१६२, मध्ये द्वे योजनसहस्रे त्रीणि योजनशतानि द्वासप्ततानि द्वासप्तत्यधिकानि २३७२, किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ, उपरि एक योजनसहस्र पञ्च शतानि एकाशीतानि एकाशीत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि १५८१ परिक्षेपेण, एव च तौ मूले विस्तीर्णौ मध्ये संक्षिप्तौ उपरि तनुकावत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितौ (सव्वकणगामया इति) सर्वात्मना कनकमयौ " अच्छा० जाव पडिरूवा " इति प्राग्वत् । तौ च प्रत्येक प्रत्येक पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्तौ, प्रत्येक प्रत्येक वनखण्डपरिक्षिप्तौ, पद्मवरवेदिकावर्णको, वनखण्डवर्णकश्च जगत्युपरि पद्मवरवेदिकावनखण्डवर्णकवत् वक्तव्य. । " जमगपव्वयाण " इत्यादि । यमकपर्वतयोरुपरि प्रत्येक बहुसमरमणीयो भूमिभाग प्रज्ञप्त. । भूमिभागवर्णन च-" से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा " इत्यादि प्राग्वत् तावद्वक्तव्य यावत् " वाणमतरा देवा देवीओ य आसयति सयति० जाव पच्चणुभवमाणा विहरति । " "तेसि ण" इत्यादि । तयोर्बहुसमरमणीययोर्भूमिभागयोर्बहुमध्यदेशभागे प्रत्येक २ प्रासादावतसकौ प्रज्ञप्तौ । तौ च प्रासादावतसकौ द्वाषष्टिर्योजनानि अर्द्धयोजन चोर्ध्वमुच्चैस्त्वेन, एकत्रिंशद्योजनानि क्रोश चैक विष्कम्भेन, " अब्भुग्गयमूसियपहसिबाइ वा " इत्यादि यावत् " पडिरूवा " इति प्रासादावतसकवर्णनम् , उल्लोचवर्णनम्, भूमिभागवर्णनम्, मणिपीठिकावर्णनम्, सिंहासनवर्ण-

नम,विजयदूष्यवर्णनम,अङ्कुशवर्णनम,दामवर्णन च निरवशेष प्राग्वद्वक्तव्यम् । नवरमत्र मणिपीठिकायाः प्रमाणमायामविष्कम्भाभ्या द्वे योजने, बाहल्येन एकं योजनम , शेष तथैव । "तेसि ण सीहासणाण" इत्यादि । तयो. सिंहासनयो. प्रत्येकम "अवरुत्तरेण" अपरोत्तरस्यां , वायव्यामित्यर्थः । उत्तरपूर्वस्यां च दिशि, अत्र एतासु तिसृषु दिक्षु यमकयोर्यमकनाम्नोर्यमकपर्वतस्वामिनोर्देवयो प्रत्येक प्रत्येक चतुर्णा सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । एवमेतेन क्रमेण सिंहासनपरिवारो वक्तव्य. , यथा प्राग् विजयदेवस्य । "तेसि ण" इत्यादि । तयो' प्रासादावतंसकयो' प्रत्येकमुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि प्रज्ञप्तानि,इत्याद्यपि प्राग्वत् तावद्वक्तव्य यावत "सयसहस्सपत्तगा" इति पदम । सप्रति नामनिबन्धन पिपृच्छिषुरिदमाह-"से केणट्ठेण" इत्यादि । अथ केनार्थेन केन कारणेन एवमुच्यते-यमकपर्वतौ,यमकपर्वताविति ?। भगवानाह-गौतम ! यमकपर्वतयो , णमिति वाक्यालङ्कारे, क्षुल्लिकासु वापीषु पुष्करिणीषु यावद्बिलपङ्क्तिषु, बहूनि उत्पलानि यावत्सहस्रपत्राणि यमकप्रभाणि, यमका नाम शकुनिविशेषा ,तत्प्रभाणि तदाकाराणि। एतदेव व्याचष्टे-यमकवर्णाभानि, यमकसदृशवर्णानीत्यर्थ' । यमकौ च यमकनामानौ च, तत्र तयोर्यमकपर्वतयो' स्वामित्वेन द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावद् महाभागौ पल्योपमस्थितिकौ परिवसत । तौ च तत्र प्रत्येक प्रत्येक चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणामभ्यन्तरमध्यबाह्यरूपाणां यथासङ्ख्यमष्टादशद्वादशदेवसहस्रसङ्ख्याकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणाम "जमगाण पव्वयाण जमिगाण य रायहाणीण" इति । स्वस्य स्वस्य यमकपर्वतस्य स्वस्या' यमिकाऽभिधाया. राजधान्याः, अन्येषां च बहूनां वाणमन्तराणा देवाना देवीना च स्वस्वयमिकाऽभिधराजधानीवास्तव्यानामाधिपत्य यावद्विहरत. । यावत्करणात्-"पोरेवच्च सामित्तं भट्टित्त" इत्यादिपरिग्रह. । ततो यमकाकारयमकवर्णोत्पलादियोगात् यमकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च तौ यमकपर्वतावित्युच्येते । यथा चाह-"से तेणट्ठेण" इत्यादि । संप्रति यमिकाभिधराजधानीस्थानम-"कहि ण भते !" इत्यादि । क भदन्त ! यमकयोर्देवयो. सत्कराजधान्यौ यमिके नाम राजधान्यौ प्रज्ञप्ते ?। भगवानाह-गौतम ! यमकपर्वतयोरुत्तरतोऽन्यस्मिन् असङ्ख्येयतमे जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य, अत्रान्तरे यमकदेवयो. सत्कराजधान्यौ यमिकराजधान्यौ प्रज्ञप्ते , ते चाविशेषेण विजयराजधानीसदृश्यौ वक्तव्ये। जी० ३ प्रति० । शब्दालङ्कारभेदे, वाच० ।

पुनर्यमकपर्वतप्ररूपणा—

कहि णं भंते! उत्तरकुराए जमगा णामं दुवे पव्वया पण्णत्ता ?। गोअमा ! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणिल्लाओ चरिमंताओ अट्ठ चउत्तीसे जोअणसए चत्तारि अ सत्तभाए जोअणस्स अबाहाए सीआए महाणईए उभओ कूले,एत्थ णं जमगा णाम दुवे पव्वया पण्णत्ता , जोअणसहस्सं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोअणसयाइं उव्वेहेणं मूले एगं जोअणसहस्सं आयामविक्खंभेणं मज्झे अद्धट्ठमाणि जोअणसयाइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पंच जोअणसयाइं आयामविक्खंभेणं मूले तिण्णि जोअणसहस्साइं एगं च बावट्ठं जोअणसयं किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं मज्झे दो जोअणसहस्साइं तिण्णि य बावत्तरे जोअणसए किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं उवरिं एगं जोअणसहस्सं पंच य एकासीए जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं मूले वित्थिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुआए जमगसंठाणसंठिआ सव्वकणगामया अच्छा सण्हा पत्तेअं पत्तेअं पउमवरवेइआ परिक्खित्ता पत्तेअं पत्तेअं वणसंडा परिक्खित्ता,ताओ णं पउमवरवेइआओ दो गाउआइं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं वेइआवणसंडवण्णओ भाणिअव्वो । तेसि णं जमगपव्वयाणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते०जाव तेसि णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं दुवे पासायवडेंसगा पण्णत्ता । ते णं पासायवडेंसगा बावट्ठिं जोअणाइं अद्धजोअणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एकतीसं जोअणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं पासायवण्णओ भाणिअव्वो, सीहासणा सपरिवारा० जाव एत्थ णं जमगाणं देवाणं सोलसण्ह आयरक्खदेवसाहस्सीणं सोलस भद्दासणसाहस्सीओ पण्णत्ताओ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जमगा य पव्वया, जमगा य पव्वया ?। गोअमा ! जमगपव्वएसु णं तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे खुड्डा खुड्डियासु वावीसु० जाव बिलपंतियासु बहवे उप्पलाइं० जाव जमगप्पभाइं जमगवण्णाभाइं जमगा य, एत्थ दुवे देवा महिड्डिया, तेणं तत्थ चउण्हं सामाणिअसाहस्सीणं० जाव भुंजमाणा विहरंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-जमगपव्वया जमगपव्वया,अदुत्तरं च णं सासए णामधिज्जे०जाव जमगपव्वया जमगपव्वया । कहि णं भंते ! जमगाण देवाणं जमगाओ रायहाणीओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे बारस जोअणसहस्साइं ओगाहित्ता,एत्थ णं जमगाणं देवाणं जमिगाओ रायहाणीओ पण्णत्ताओ, बारस जोअणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं सत्ततीसं जोअणसहस्साइं णव य अडयाले जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पत्तेअं पत्तेअं पायारपरिक्खित्ता,ते णं पागारा सत्ततीसं जोअणाइं अद्धजोअणं च उड्ढं उच्चत्तेणं मूले अद्धतेरसजोअणाइं विक्खंभेणं मज्झे छ स्सकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं उवरिं तिण्णि सअद्धकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं मूले वित्थिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुआ बाहिं वट्टा अंते चउरसा सव्वरयणामया अच्छा,ते णं पागारा

णाणामणिपंचवएणेहिं कविसीसएहिं उवसोहिश्रा । तं जहा-किएहेहिं० जाव सुकिल्लेहिं, ते णं कविसीसगा अद्धकोसं आयामेणं देसूणं अद्धकोसं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमया अच्छा, जमिगाणं रायहाणीणं एगमेगाए बाहाए पणवीसं पणवीसं दारसए पण्णत्ते । ते णं दारा बावट्ठिं जोश्रणाइ अद्धजोश्रणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एकतीसं जोश्रणाइं कोसं च विक्खंभेणं तावइश्रं चेव पवेसेणं सेश्रा वरकणकथूभिए, एवं रायप्पसेणइज्जविमाणवत्तव्वयाए दारवएणश्रो० जाव अट्ठमंगलगाइं ति, जमियाणं रायहाणीणं चउद्दिसिं पंच पंच जोश्रणसए आबाहाए चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता । तं जहा-असोगवणे, सत्तिवण्णवणे, चंपगवणे, चूअवणे । ते णं वणसंडा साइरेगाइं बारस जोश्रणसहस्साइं आयामेणं पंच जोश्रणसया विक्खंभेणं पत्तेअं २ पागारपरिक्खित्ता किएहा वणसंडवण्णश्रो भूमिओ पासायवडेंसगा य भाणिश्रव्वा, जमिगाण रायहाणी अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, वण्णओ त्ति । तेसि णं बहुसमरमणिज्जाण भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं दुवे उवयारिया लेणा पण्णत्ता । बारस जोश्रणसयाइं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोश्रणसहस्साइं सत्त य पंचाणउए जोश्रणसए परिक्खेवेणं अद्धकोसं च बाहल्लेणं सव्वजंबूणयामया अच्छा पत्तेअं पत्तेअं पउमवरवेइश्रा परिक्खित्ता, पत्तेअं २ वणसंडवण्णश्रो भाणिअव्वो, तिसोवाणपडिरूवगा तोरणा चउद्दिसिं भूमिभागो अ भाणिअव्वो । तस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे पासायवडेंसए पण्णत्ते, बावट्ठिं जोश्रणाइं अद्धजोश्रणं च उड्ढं उच्चत्तेणं इकतीसं जोश्रणाइं कोसं च आयामविक्खंभेणं वण्णश्रो, उल्लोश्रा भूमिभागा सीहासणा सपरिवारा, एवं पासायपंतीश्रो वि । तत्थ पढमा पंती-ते णं पासायवडेंसगा एकतीसं जोश्रणाइं कोसं च उड्ढं उच्चत्तेणं साइरेगाइं अद्धसोलस जोश्रणाइं आयामविक्खंभेणं । बिइअपासायपंती-ते णं पासायवडेंसया साइरेगाइं अद्धसोलसजोश्रणाइ उड्ढं उच्चत्तेणं साइरेगाइं अद्धट्ठमाइं जोश्रणाइं आयामविक्खंभेणं । तइअपासायपंती-ते ण पासायवडेंसया साइरेगाइं अद्धट्ठमाइं जोश्रणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, साइरेगाइं अद्धट्ठजोश्रणाइं आयामविक्खंभेण, वण्णश्रो-सीहासणा सपरिवारा । तेसि णं मूलपासायवडिंसयाणं उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए, एत्थ णं जमगाणं देवाणं सभाश्रो सुहम्माश्रो पण्णत्ताश्रो, अद्धतेरस जोअणाइं आयामेणं छस्सकोसाइं जोश्रणाइं विक्खंभेणं णव जोश्रणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसण्णिविट्ठा सभावण्णश्रो । तासि णं सभाणं सुहम्माणं तिदिसिं तश्रो दारा पण्णत्ता । ते णं दारा दो जोश्रणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं जोश्रणं विक्खंभेणं तावइश्रं चेव पवेसेणं सेश्रा वएणश्रो० जाव वणमाला । तेसि णं दाराण पुरश्रो पत्तेअं पत्तेअं तश्रो मुहमंडवा पण्णत्ता, ते णं मुहमंडवा अद्धतेरस जोअणाइं आयामेणं छस्सकोसाइं जोश्रणाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोश्रणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं० जाव दारा भूमिभागा य, पेच्छाघरमंडवाणं तं चेव पमाणं भूमिभागो मणिपेढियाश्रो, ताश्रो णं मणिपेढियाश्रो जोश्रणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोश्रणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईश्रो सीहासणा भाणिअव्वा । तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरश्रो मणिपेढिश्राश्रो पण्णत्ता । ताश्रो णं मणिपेढिश्राश्रो दो जोश्रणाइं आयामविक्खंभेण जोश्रणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ । तासि णं उप्पिं पत्तेअं पत्तेअं तश्रो थूभा, ते ण थूभा दो जोश्रणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दो जोश्रणाइं आयामविक्खंभेणं सेश्रा य संखदल० जाव अट्ठट्ठमंगलया । तेसि णं थूभाणं चउद्दिसिं चत्तारि मणिपेढियाओ पण्णत्ताश्रो । ताश्रो णं मणिपेढिश्राश्रो जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअण बाहल्लेणं जिणपडिमाश्रो वत्तव्वाश्रो । चेइश्ररुक्खाणं मणिपेढिश्राश्रो दो जोश्रणाइं आयामविक्खंभेणं जोअणं बाहल्लेणं चेइश्ररुक्खवएणश्रो, तेसि णं चेइश्ररुक्खाणं पुरश्रो तओ मणिपेढिआश्रो पण्णत्ताश्रो । ताश्रो णं मणिपेढिश्राश्रो जोश्रणं आयामविक्खभेणं अद्धजोश्रणं बाहल्लेणं, तासि णं उप्पिं पत्तेअं पत्तेअं महिंदज्झया पण्णत्ता, ते ण अट्ठ महिंदज्झया अद्धट्ठमाइं जोश्रणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं वइरामयवट्टवएणश्रो, वेइश्रा वणसंडा तिसोवाणतोरणा य भाणिअव्वा, तासि णं सभाण सुहम्माणं छ मणोगुलिश्रासाहस्सीश्रो पण्णत्ताश्रो । तं जहा-पुरच्छिमेणं दो साहस्सीश्रो पएणत्ताश्रो, पच्चत्थिमेणं दो साहस्सीओ, दक्खिणेणं एगा साहस्सी, उत्तरेणं एगा० जाव दामा चिट्ठंति । एवं गोमाणसिश्राश्रो णवर, धूवघडिश्राओ, तासि णं सुहम्माण सभाण अंते बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पएणत्ते । मणिपेढिश्रा दो जोश्रणाइं आयामविक्खंभेणं, जोश्रणं बाहल्लेणं, तासि णं मणिपेढिश्राणं उप्पिं माणवए चेइश्रखंभे महिंदज्झयप्पमाणे उवरिं छकोसे उग्गाहित्ता हिट्ठा छकोसे वज्जित्ता जिणसकहाश्रो पएणत्ताश्रो । माणवगस्स पुव्वेणं सीहासणा सपरिवारा, पच्चत्थिमेणं सयणिज्जावएणओ, सयणिज्जाणं उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए खुड्डगमहिंदज्झया मणिपेढिआविहूणा महिंदज्झयप्पमाणा. तेसिं अवरेण चोप्फाला

पउमकोसा, तत्थ णं बहवे फलिहरयणपामुक्खा० जाव चिट्ठंति । सुहम्माणं उप्पि अट्ठट्ठमंगलगा,तासि णं उत्तर-पुरच्छिमेणं, णवरं इमं णाणत्तं,एतेसि णं बहुमज्झदेसभाए पत्तेअं पत्तेअं मणिपेढिआओ दो जोअणाइं आयामविक्खं-भेणं जोअणं बाहल्लेणं,तासिं उप्पि पत्तेअं पत्तेअं देवच्छंदया पण्णत्ता । दो जोअणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं दो जोअणाइं उद्धं उच्चत्तेणं सव्वरयणामया जिणपडिमाव-ण्णओ० जाव धूवकडुच्छुगा, एवं अवसेसाण वि सभा-णं० जाव उववायसभाए सयणिज्जं दहओ अ अभिसे-असभाए बहुआभिसिक्के भंडे अलंकारिअसभाए बहुअलंकारिअभंडे चिट्ठइ ववसायसभासु पुत्थयरयणा णंदापुक्खरिणीओ बलिपेढा दो जोअणाइं आयाम-विक्खंभेणं जोअणं बाहल्लेणं० जाव त्ति ।

"उववाओ संकप्पो, अभिसेअ विहूसणा य ववसाओ ।
अच्चणिअ सुधम्मगमो, जहा य परिवारणा इड्ढी ॥ १ ॥
जावइयम्मि पमाणे, वि हुंति जमगाओ णीलवंताओ ।
तावइअमंतर खलु, जमगदहाण दहाणं च ॥ २ ॥"

"कहि णं" इत्यादि । क भदन्त ! उत्तरकुरुषु यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ ? । गौतम ! नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दाक्षि-णात्याच्चरमान्तात्, इत्यत्र दाक्षिणात्यं चरमान्तम् आरभ्येति ज्ञेयं, ल्यब्लोपे पञ्चमी । दाक्षिणात्याच्चरमान्ताद्दाक्षिणा-र्वाक्, दक्षिणाभिमुखमित्यर्थः । अष्टौ योजनशतानि तु त्रिंशद-धिकानि चतुरश्च सप्त भागान् योजनस्याबाधया, अपान्तराले कृत्वेति शेषः । शीताया महानद्या उभयोः कूलयोः, एकः पूर्वकूले, एकः पश्चिमकूले इत्यर्थः । अत्रान्तरे यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ, एकं योजनसहस्रमूर्ध्वोच्चत्वेन, अर्द्धतृतीयानि योजनशतान्युद्वेधेन, उच्छ्रयचतुर्थांशस्य भूम्यवगाहात्, मूले योजनसहस्रमायामविष्कम्भाभ्यां वृत्ताकारत्वात्,मध्ये भूतलतः पञ्चयोजनशतातिक्रमेऽर्द्धाष्टमानि योजनशतानि आयामविष्क-म्भाभ्याम्, उपरि सहस्रयोजनातिक्रमे पञ्चयोजनशतान्यायाम-विष्कम्भाभ्यां, मूले त्रीणि योजनसहस्राणि, एकं च योजनशतं द्वाषष्ट्यधिकं किञ्चिद्विशेषाधिकं, किं कियत्कलामित्यर्थः । प-रिक्षेपेण, एवं मध्यपरिधिरुपरितनपरिधिश्च स्वयमभ्यूह्यो, मूले विस्तीर्णौ मध्ये संक्षिप्तावुपरितनुकौ यमकौ यमलजातौ भ्रा-तरौ तयोर्यत् संस्थानं तेन संस्थितौ, परस्परं सदृशसंस्थाना-वित्यर्थः । अथवा-यमका नाम शकुनिविशेषास्तत्संस्थानसंस्थि-तौ संस्थानं चानयोर्मूलतः प्रारभ्य संक्षिप्तसंक्षिप्तप्रमाणत्वेन गोपुच्छस्येव बोध्यं,सर्वात्मना कनकमयौ,शेषं व्यक्तम्,अष्टादश शताद्यङ्कोपपत्तिरेवम्-नीलवद्वर्षधरस्य यमकयोश्चान्तरमेकं य-मकं, तयोः प्रथमह्रदस्य च द्वितीयं, प्रथमह्रदस्य द्वितीयह्रद-स्य च तृतीयं, द्वितीयह्रदस्य तृतीयह्रदस्य चतुर्थं, तृतीयह्रदस्य चतुर्थह्रदस्य पञ्चमं, चतुर्थह्रदस्य पञ्चमह्रदस्य च षष्ठं, पञ्चम-ह्रदस्य च वक्षस्कारगिरिपर्यन्तस्य च सप्तमम् । एतानि च सप्ताप्यन्तराणि समप्रमाणानि, ततश्च कुरुविष्कम्भात् योजन ११८४२ कला २, इत्येवंरूपात् योजनसहस्रायामयोर्यमकयोः योजनसहस्रायामकं तावत्प्रमाणायामानां पञ्चानां ह्रदानां च योजनसहस्रमेकम्, उभयोर्मीलने योजनसहस्रषट्कं, शोध्यते च जातं योजन५८४२कला२,ततः सप्तभिर्भागे हृते८३४। ४, अत्राव-शिष्टं कुरुसत्कं कलाद्वयं तदल्पत्वान्न विवक्षितमिति । अत्रैवान-न्तरोक्तवेदिकावनखण्डप्रमाणाद्याह-"ताओ ण" इत्यादि व्यक्तम् । संप्रत्येतयोर्यदस्ति तदाह-"तेसि ण" इत्यादि । तयोर्यमकपर्व-तयोरुपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । अत्र पूर्वोक्तः सर्वो भूभागवर्णक उपेतव्यः । कियत्पर्यन्तमित्याह-यावत्तयो-र्बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे द्वौ प्रासादा-वतंसकौ प्रज्ञप्तौ । अथ तयोरुच्चत्वाद्याह-"ते ण" इत्यादि नि-रवशेषं विजयदेवप्रासादसिंहासनादिव्यवस्थितिसूत्रवद्वक्तव्यं, नवरं यमकदेवाभिलापेनेति । अथानयोर्नामार्थं प्रश्नयन्नाह-"से केण" इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । उत्तरसूत्रे यमकपर्वतयोस्तत्र दे-शे तत्र प्रदेशे क्षुद्रक्षुद्रिकासु वापीबिलपङ्क्तिषु बहून्युत्पलानि । अत्र यावत्पदात् कुमुदादीनि वाच्यानि, तथा यमकप्रभाणीति दृश्यम्,तत्र यमकौ यमकपर्वतस्तत्प्रभाणि, तदाकाराणीत्य-र्थः । यमकवर्णाभानि, यमकवर्णसदृशवर्णानीत्यर्थः । यदि वा-यमकाभिधानौ द्वौ देवौ महर्द्धिकौ, अत्र परिवसतः, तेन यम-काविति, शेषं प्राग्वत् । अथानयो राजधानीप्रश्नावसरः-"कहि ण" इत्यादि । क भदन्त ! यमकयोर्देवयोर्यमिकानामराजधान्यौ प्रज्ञप्ते ? । गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरेणाऽ-न्यस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्यात्रा-न्तरे यमकयोर्देवयोर्यमिके नाम राजधान्यौ प्रज्ञप्ते, द्वादशयो-जनसहस्राण्यायामविष्कम्भाभ्यां सप्तत्रिंशद्योजनसहस्राणि नव च योजनशतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि किञ्चिद्विशेषा-धिकानि परिक्षेपेण प्रत्येकं प्रत्येकं द्वे अपि प्राकारपरिक्षिप्ते । की-दृशौ तौ प्राकाराविति ?, तत्स्वरूपमाह-"ते ण पागारा" इत्या-दि । तौ प्राकारौ सप्तत्रिंशद्योजनानि योजनार्द्धसहितानि ऊर्ध्वो-च्चत्वेन मूले अर्द्धं त्रयोदश योजनं येषु तान्यर्द्धत्रयोदशानि योजनानि विष्कम्भेण मध्ये षट् सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भे-ण मूलविष्कम्भतो मध्यविष्कम्भस्यार्द्धमानत्वात् , उपरि त्रीणि सार्द्धानि क्रोशानि योजनानि विष्कम्भेण, अस्याऽपि म-ध्यविष्कम्भतोऽर्द्धमानत्वात् । अत एव मूले विस्तीर्णावित्यादि-पदत्रयं विवृतप्रायम्, बहिर्वृत्तौ कोणावनुपलक्ष्यमाणत्वात्, अ-न्तश्चतुरस्रौ, उपलक्ष्यमाणकोणत्वात् । अथानयोः कपिशीर्षकव-र्णकमाह-"ते ण पागारा णाणामणि" इत्यादि । तौ प्राकारौ ना-नामणीनां पद्मरागस्फटिकमरकताञ्जनादीनां पञ्च प्रकारा वर्णा येषु तानि यैः तथा तैः कपिशीर्षकैः प्राकाराग्रैरुपशोभितौ । एतदेव विवृणोति-तद्यथा-कृष्णैर्यावच्छुक्लैरिति । अथैतेषां कपिशीर्षकाणामुच्चत्वादिमानमाह-" ते ण " इत्यादि नि-गदसिद्धम् । अथानयोः कियन्ति द्वाराणीत्याह-" जमिगा-ण " इत्यादि । यमिकयोः राजधान्योरेकैकस्या बाहाया पार्श्वे पञ्चविंशत्यधिकं २ द्वारशतं प्रज्ञप्तम् । तानि द्वाराणि द्वाषष्टियो-जनानि अर्द्धयोजनं चोर्द्ध्वोच्चत्वेन एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं च विष्कम्भेण तावदेव प्रवेशेन श्वेतानि वरकनकस्तूपिकानि ; लाघवार्थमतिदेशमाह-एवं राजप्रश्नीये वद्धिमानं सूर्याभना-मकं, तस्य वक्तव्यताया यो द्वारवर्णकः, स इहापि ग्राह्यः । कियत्पर्यन्तमित्याह-यावदष्टाष्टमङ्गलकानि, अत्रातिदिष्टमपि सूत्रं न लिखितं, विजयद्वारप्रकरणे सूत्रतोऽर्थतश्च लिखितत्वात्, अ-तिदिष्टत्वस्योभयत्रापि साम्याच्चेति । अथानयोर्बहिर्भागे वन-खण्डवक्तव्यमाह—" जमियाण " इत्यादि । यमिकयो राजधा-

न्योश्चतुर्दिशि, चतसृणां दिशां समाहारश्चतुर्दिक्, तस्मिंस्तथा,
पूर्वादिदिक्ष्वित्यर्थः । पञ्च पञ्च योजनशतान्यबाधयाऽपान्तराले कृत्वे-
ति गम्यते । चत्वारि वनखण्डानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-अशोकवनं,
सप्तपर्णवनं, चम्पकवनम्, आम्रवनमिति । अथैतेषामायामाद्याह-
"ते णं वणसंडा" इत्यादि । ते च वनखण्डाः सातिरेकाणि द्वादश
योजनसहस्राणि आयामेन पञ्चयोजनशतानि विष्कम्भेण प्रत्ये-
कं प्रत्येकं प्राकारैः परिक्षिप्ताः, कृष्णा इति उपलक्षितो जम्बूद्वीप-
पद्मवरवेदिकाप्रकरणलिखितः पूर्णो वनखण्डवर्णको, भूमयः,
प्रासादावतंसकाश्च भणितव्याः । भूमयश्चैवम्-"तेसि णं वनसं-
डाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता । से जहाणामए
आलिंगपुक्खरेइ वा० जाव णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं तणेहि
उवसोभिआ" इति । प्रासादसूत्रमप्येवम्-"तेसि णं वणसंडाणं
बहुमज्झदेसभागे पत्तेअं पत्तेअं पासायवडेंसए पण्णत्ते । ते णं
पासायवडेंसया बावट्ठिं जोअणाइं अद्धजोअणं च उद्धं उच्चत्ते-
णं इक्कतीसं जोअणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसि-
अपहसिआइ य तहा बहुसमरमणिज्जे भूमिभाए उल्लोओ सी-
हासणा सपरिवारा, तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्डिआ० जाव
पलिओवमट्ठिईआ परिवसंति । तं जहा-असोए, सत्तिवण्णे, चंपए,
चूअवणे" इति । अत्राशोकवनप्रासादेऽशोकवननामा देवः, एवं
त्रिष्वपि तन्नामा देवः परिवसतीत्यर्थः । अथानयोरन्तर्भागव-
र्णकमाह-"जमिगाणं" इत्यादि । यमिकयो राजधान्योरन्तर्मध्य-
भागे बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । वर्णक इति सूत्रगतप-
देन-" आलिंगपुक्खरेइ वा० जाव पंचवण्णेहिं मणीहिं उवसो-
भिए वण्णगंधरसफासो० जाव बहवे देवा य देवीओ य आसा-
यंति० जाव विहरंति " इत्यन्तो ग्राह्यः । अत्र च उपकारिका-
लयनसूत्रमादर्शेष्वदृश्यमानमपि राजप्रश्नीयसूर्याभविमानवर्ण-
के च दृश्यमानत्वात् "तिण्णि जोअणसहस्साइं सत्त य पंचाण-
उए जोअणसए परिक्खेवेणं " इत्यादिसूत्रस्यान्यथानुपपत्तेश्च
जीवाभिगमतो लिख्यते, आदर्शेष्वदृश्यमानत्वं च लेखकवैगु-
ण्यादेवेति । तद्यथा-"तेसि णं" इत्यादि । तेषां बहुसमरमणी-
यानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे, अत्रान्तरे द्वे उपकारिका-
लयने प्रज्ञप्ते, उपकरोत्युपष्टम्भाति प्रासादावतंसकादीनीत्युप-
कारिका राजधानी प्रभुसत्कप्रासादावतंसकादीनां पीठिका, अ-
न्यत्र त्वियमुपकार्योपकारिकेति प्रसिद्धा । उक्तं च-"गृहस्थाना
स्मृता राज्ञामुपकार्योपकारिका ।" इति । सालयनमिव गृहमिव
ते च प्रतिराजधानीभवे इति द्वे उक्ते, द्वादश योजनशतानि आ-
यामविष्कम्भाभ्यां त्रीणि योजनसहस्राणि सप्त च योजनशता-
नि पञ्चनवत्यधिकानि परिक्षेपेण अर्द्धक्रोशं धनुःसहस्रपरिमाणं
बाहल्येन सर्वात्मना जाम्बूनदमये अच्छे प्रत्येकं २ प्रत्युपकारि-
कालयने पद्मवरवेदिके परिक्षिप्ते, प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डवर्ण-
को भणितव्यः । स च जगतीगतपद्मवरवेदिकास्थवनखण्डा-
नुसारेणेति, त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि आरोहावरोहमार्गस्थानि
चतुर्दिशि पूर्वादिदिक्षु ज्ञेयानि, तोरणानि चतुर्दिशि भूमिभाग-
श्च कारिकालयनमध्यगतो भणितव्यः । तत्सूत्राणि जीवाभि-
गमोपाङ्गगतानि क्रमेणैवम्-"से णं वणसंडे देसूणाइं जोअणाइं
चक्कवालविक्खंभेणं उवयारिआलयणसमए परिक्खेवेणं, तेसि
णं उवयारिआलयणाणं चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा
पण्णत्ता । वण्णओ, तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरओ पत्ते-
अं पत्तेअं तोरणा पण्णत्ता । वण्णओ, तेसि णं उवयारियालयणाणं
उप्पिं बहुसमरमणिज्जभूमिभागे पण्णत्ते० जाव मणीहिं उव-
सोभिए" इति । अथ व्याख्या सुगमा । अथ यमकदेवयोर्मूलप्रा-
सादस्वरूपमाह-"तस्स णं" इत्यादि । तस्योपकारिकालयनस्य
बहुमध्यदेशभागे, अत्रान्तरे एकः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः ।
द्वाषष्टियोजनान्यर्द्धयोजनं चोर्द्धोच्चत्वेन, एकत्रिंशद्योजनानि
क्रोशं चायामविष्कम्भाभ्यां वर्णको विजयप्रासादस्येव वाच्यः ।
उल्लोचादुपरि भागे भूमिभागावधोभागौ सिंहासने सपरि-
वारे सामानिकादिपरिवारभद्रासनव्यवस्थासहिते, यच्चात्र
उपकारिकालयनस्य प्रासादावतंसकस्य चैकवचनेन विवक्षा
तावद् द्विवचनेन विवक्षा, तत्सूत्रकाराणां विचित्रप्रवृत्तिकत्वा-
दिति । अथास्य परिवारप्रासादप्ररूपणमाह-"एवं पासायपंती-
ओ वि" इत्यादि । एवं मूलप्रासादावतंसकानुसारेण परिवा-
रप्रासादपङ्क्तयो ज्ञातव्याः । जीवाभिगमतः, पङ्क्तयश्चात्र मूल-
प्रासादस्य चतुर्दिक्षु पद्मानामिव परिक्षेपरूपा अवगन्तव्याः, न
पुनः सूचिश्रेणिरूपाः । तत्र प्रथमप्रासादपङ्क्तिपाठ एवम्-" से
णं पासायवडेंसए अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तपमाणमेत्तेहिं पा-
सायवडेंसएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते" स प्रासादाव-
तंसकोऽन्यैश्चतुर्भिः प्रासादावतंसकैस्तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्रैः,
अत्रोच्चत्वशब्देनोत्सेधो गृह्यते, प्रमाणशब्देन च विष्कम्भायामः,
तेन मूलप्रासादापेक्षया अर्द्धोच्चत्वविष्कम्भायामैरित्यर्थः । सर्वतः
समन्तात् संपरिक्षिप्तः । एषामुच्चत्वादिकं तु साक्षात् सूत्रकृ-
देवाह-एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं चोच्चत्वेन, सार्द्धद्वाषष्टियो-
जनानामर्द्धं एतावत एव लाभात् । सातिरेकाण्यर्द्धक्रोशा-
धिकानि, अर्द्धषोडशानि सार्द्धपञ्चदशयोजनानि विष्कम्भा-
यामाभ्यामिति । अथ द्वितीयप्रासादपङ्क्तिः । तत्पाठश्चैवम्-"ते णं
पासायवडेंसया अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं पा-
सायवडेंसएहिं सएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता" इति ।
ते प्रथमपङ्क्तिगताश्चत्वारः प्रासादाः प्रत्येकमन्यैश्चतुर्भिस्तद-
र्द्धोच्चत्वविष्कम्भायामैर्मूलप्रासादापेक्षया चतुर्भागप्रमाणैः प्रा-
सादैः परिक्षिप्ताः, अत एवैते षोडश प्रासादाः सर्वसङ्ख्य-
या स्युः । एषामुच्चत्वादिकं तु साक्षादेव सूत्रकृदाह-ते प्रासादाः
सातिरेकाणि अर्द्धक्रोशाधिकानि सार्द्धपञ्चदशयोजनान्युच्चत्वे-
न सातिरेकाणि क्रोशक्रोशचतुर्थांशाधिकानि, अर्द्धाष्टमयो-
जनान्यायामविष्कम्भाभ्यामिति । अथ तृतीया पङ्क्तिः । तत्सू-
त्रमेवम्-"ते णं पासायवडेंसया अण्णेहिं चउहिं तदद्धुच्चत्तप्प-
माणमेत्तेहिं पासायवडेंसएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता"
ते द्वितीयपरिधिस्था षोडश प्रासादाः प्रत्येकमन्यैश्चतुर्भि-
स्तदर्द्धोच्चत्वविष्कम्भायामैर्मूलप्रासादापेक्षयाऽष्टांशप्रमाणोच्च-
त्वविष्कम्भायामैः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः । अत एवै-
ते तृतीयपङ्क्तिगताश्चतुःषष्टिप्रासादाः । एतेषामुच्चत्वादिप्रमाणं
सूत्रकृदाह-ते चतुःषष्टिरपि प्रासादाः सातिरेकाण्यर्द्धाष्टमयोज-
नान्युच्चत्वेन, सातिरेकत्वं च प्राग्वत् । अर्द्धाष्टानि अर्द्धतृती-
यानि सातिरेकाणि सार्द्धक्रोशाष्टांशाधिकानि विष्कम्भायामा-
भ्याम् । एषां सर्वेषां वर्णकः-सिंहासनानि च सपरिवाराणि
प्राग्वत् । अत्र च पङ्क्तिप्रासादेषु सिंहासनं प्रत्येकमेकं, मूलप्रासादे
तु मूलसिंहासनपरिवारोपेतमित्यादिना क्षेत्रसमासवृत्तौ श्री-
मलयगिरिपादाः । तथा प्रथमतृतीयपङ्क्त्या मूलप्रासादे सपरि-
वारे भद्रासनानि, द्वितीयपङ्क्तौ च परिवारे पद्मासनानि जीवा-
भिगमोपाङ्ग इत्यादि विसंवादसमाधानं बहुश्रुतगम्यम् ।
यद्यपि जीवाभिगमे विजयदेवप्रकरणं, तथा श्रीभगवत्यङ्गवृत्तौ
चरमप्रकरणे, प्रासादपङ्क्तिचतुष्कं, तथाऽप्यत्र यमकाधिकारे

पद्रहितश्च शेषम् । पद्वितीयप्रासादसमुद्धेपम्—

४
१६
६४
मूलप्रा० १
सर्वसं०८५

मूलप्रासादेन सह सर्वसंख्यया पञ्चाशीतिः प्रासादा ८५। अथात्र सभापञ्चकं प्रपञ्चयितुकामः सुधर्मसभास्वरूपं निरूपयति-" तेसि णं " इत्यादि। तयोर्मूलप्रासादावतंसकयोरुत्तरपूर्वस्यामीशान—कोणेऽत्रैतस्मिन् भागे यमकयोर्देवयोर्योग्ये सुधर्मनाम्ने सभे प्रज्ञप्ते। सुधर्मेत्यन्वर्थम्-सुष्ठु शोभनो धर्मो देवानां माणवकस्तम्भवर्तिजिनसक्थ्याशातनाभीरुकत्वेन देवाङ्गनाभोगविरतिपरिणामरूपो यस्यां सा तथा। वस्तुतस्तु-सुष्ठु शोभनो धर्मो राजधर्मः, समन्तुनिमन्तुनिग्रहानुग्रहरूपो यस्यां सा तथा। ते चार्द्धत्रयोदशयोजनान्यायामेन सक्रोशानि षड्योजनानि विष्कम्भेण नव योजनान्यूर्ध्वोच्चत्वेन। अत्र साधर्म्यं सभावर्णकसूत्रमतिदिशति—अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टेत्यादिपदसूचित सभावर्णको जीवाभिगमोक्तो ज्ञेयः। स चैवम्-" अणेगखंभसयसंनिविट्ठाओ अब्भुग्गयसुकयवइरवेइआतोरणवररइअसालभंजिआसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलियविमलखंभाओ णाणामणिकणगरयणखचिअउज्जलबहुसमसुविभत्तभूमिभागाओ ईहामिगउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ताओ खंभुग्गयवइरवेइआपरिगयाभिरामाओ विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ताओ विव अच्चीसहस्समालणीआओ रूवगसहस्सकलिआओ भिसमाणीओ भिब्भिसमाणीओ चक्खुल्लोअणलेसाओ सुहफासाओ सस्सिरीअरूवाओ कंचणमणिरयणथूभिआगाओ णाणाविहपंचवण्णघंटापडागपरिमंडिअग्गसिहराओ धवलाओ मरीइकवयं विणिम्मुअंतीओ लाउल्लोइयमहिआओ गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितलाओ उवचिअवंदणकलसाओ वंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागाओ आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारिअमल्लदामकलावाओ पंचवण्णसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिआओ कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतमघमघंतगंधुद्धुआभिरामाओ सुगंधवरगंधिआओ गंधवट्टिभूआओ अच्छरगणसंघविकिण्णाओ दिव्वतुडिअसद्दसंपणइआओ सव्वरयणामईओ अच्छाओ० जाव पडिरूवाओ " इति। अत्र व्याख्या तु सिद्धायतनतोरणादिवर्णकेषु जम्बूद्वीपन्यायेन सुलभेति न पुनरुच्यते, नवरम्-अप्सरोगणानाम् अप्सरःपरिवाराणां यः संघः समुदायस्तेन सम्यक् रमणीयतया विकीर्णा आकीर्णा दिव्यानां त्रुटितानामातोद्यानां ये शब्दास्तैः सम्यक्श्रोत्रमनोहारितया प्रकर्षेण नदिता शब्दवती, शेषं प्राग्वत्। अथास्यां कति द्वाराणीत्याह—" तासि णं सभाणं " इत्यादि। तयोः सभयोः सुधर्मयोस्त्रिदिशि त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, पश्चिमायां द्वाराभावात्। तानि द्वाराणि प्रत्येकं द्वे योजने ऊर्ध्वोच्चत्वेन योजनमेकं प्रवेशेन, श्वेता इत्यादिपदेन सूचितः परिपूर्णो द्वारवर्णको वाच्यो यावद्वनमाला। अथ मुखमण्डपप्रतिपत्तिनिरूपणायाह—" तेसि णं दाराणं " इत्यादि। तेषां द्वाराणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं त्रयो मुखमण्डपाः प्रज्ञप्ताः, सभाद्वाराग्रवर्तिनो मण्डपा इत्यर्थः। ते च मण्डपा अर्द्धत्रयोदशयोजनान्यायामेन षट् सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भेण सातिरेके द्वे योजने ऊर्ध्वोच्चत्वेन। एतेषामपि "अणेगखंभसयसंनिविट्ठा" इत्यादिवर्णनं सुधर्मासभा इव निरवशेषं कृत्स्नं, यावद्द्वाराणां भूमिभागानां च वर्णनं, यद्यप्यत्र द्वारान्तमेव सभावर्णनं, तद्तिदेशेन मुखमण्डपसूत्रेऽपि तावन्मात्रमेवायाति, तथापि जीवाभिगमादिषु मुखमण्डपवर्णके भूमिभागवर्णकस्य दृष्टत्वात् अत्रातिदेशः। अथ प्रेक्षामण्डपवर्णकलाघवायाह-"पेच्छाघरमंडवाणं" इत्यादि। प्रेक्षागृहमण्डपानां रङ्गमण्डपानां तदेव मुखमण्डपोक्तमेव प्रमाणं भूमिभाग इति पदेन सर्वं द्वारादिकं भूमिभागपर्यन्तं वाच्यम्। एषु च मणिपीठिका वाच्या। एतदर्थसूचकमिदं सूत्रम्-"तेसि णं मुहमंडवाणं पुरओ पत्तेअं पत्तेअं पेच्छाघरमंडवा पण्णत्ता,ते णं पेच्छाघरमंडवा अद्धतेरस जोअणाइं आयामेणं० जाव दो जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं० जाव मणिफासा, तेसि णं बहुमज्झदेसभाए पत्तेअं पत्तेअं वइरामया अक्खाडगा पण्णत्ता, तेसि णं बहुमज्झदेसभाए पत्तेअं पत्तेअं मणिपेढिआओ पण्णत्ताओ त्ति " उक्तमाए,नवरमक्षपाटः चतुरस्राकारो मणिपीठिकाधारविशेषः। अस्याः प्रमाणाद्यर्थमाह-" ताओ णं मणिपेढिआओ जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ सीहासणा भाणिअव्वा " इति। अत्र सिंहासनानि भणितव्यानि, सपरिवाराणीत्यर्थः। शेषं व्यक्तम्। अथ स्तूपावसरः-" तेसि णं " इत्यादि। तेषां प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतो मणिपीठिका, अत्र बहुवचनं न प्राकृतशैलीभवं, यथा द्विवचनस्थाने बहुवचनं " हत्था पाया " इत्यादिषु; किं तु बहुत्वविवक्षायां, तेनात्र तिसृषु प्रेक्षागृहमण्डपद्वारदिक्षु एकैकसद्भावात् तिस्रो ग्राह्याः, अन्यत्र जीवाभिगमादिषु तथादर्शनात्। अथैतासां मानमाह-" ताओ णं " इत्यादि कण्ठ्यम्, यद्यप्येतत्सूत्रादर्शेषु " जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं " इति पाठो दृश्यते, तथाऽपि जीवाभिगमपाठदृष्टत्वेन राजप्रश्नीयादिषु प्रेक्षामण्डपमणिपीठिकातः स्तूपमणिपीठिकाया द्विगुणमानत्वेन दृष्टत्वाच्चायं सम्यक् पाठः समाव्यते। आदर्शेषु लिपिप्रमादस्तु सुप्रसिद्ध एव। अथ स्तूपवर्णनायाह-"तासि णं" इत्यादि। तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं त्रयः स्तूपाः प्रज्ञप्ताः। जीवाभिगमादौ तु चैत्यस्तूपा इति योजने ऊर्ध्वोच्चत्वेन द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां, व्याख्यातो विशेषप्रतिपत्तिरिति देशोने द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां ग्राह्ये, अन्यथा मणिपीठिकास्तूपयोरभेद एव स्यात्। जीवाभिगमादौ तु सातिरेके द्वे योजने उच्चत्वमित्यर्थः। ते च श्वेताः, श्वेतत्वमेवोपमया दर्शयति-(संखदल त्ति) यावत्करणात्-" संखदलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययनिगरप्पगासा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा " इति प्राग्वत्। कियद् दूरं ग्राह्यमित्याह-यावदष्टाष्टमङ्गलकानीति। अथ तच्चतुर्दिशि यदस्ति तदाह-" तेसि णं थूभाणं " इत्यादि। तेषां स्तूपानां प्रत्येकं चतुर्दिक्षु चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः। ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भेण अर्द्धयोजनं बाहल्येन अत्र जिनप्रतिमा वक्तव्याः, तत्सूत्रं चेदम्-" तासि णं मणिपेढिआणं उप्पिं पत्तेअं पत्तेअं चत्तारि जिणपडिमाओ जिणुस्सेहप्पमाणमेत्ताओ पलिअंकणिसण्णाओ थूभाभिमुहीओ सण्णिक्खित्ताओ चिट्ठंति। तं जहा-उसभा वद्धमाणा चंदाणणा वारिसेणा " इति। एतद्वर्णनादिकं वैताढ्यसिद्धायतनाधिकारे प्रागुक्तम्। गताः स्तूपाः। "चेइअरुक्खाणं"इत्यादि व्यक्तम्। अत्र चैत्यवृक्षवर्णको जीवाभिगमोक्तो वाच्यः। स चायम्- "तेसि णं चेइअरुक्खाणं अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते। तं जहा—वइरमूलरययसुपइट्ठिअविडिमारिट्ठामय—

कंदा वेरुलिअरुइलखंधा सुजायवरजायरूवपढमविसालसाला णाणामणिरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलिअपत्ततवणिज्जपत्तवेंटा जंबूणयरत्तमउअसुकुमालपवालपल्लवकुरग्गधरा विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरणमिअसाला सच्छाया सप्पभा सस्सिरीआ सउज्जोआ अमयरससमरसफला अहिअनयणमणणिव्वुइकरा पासादीआ० जाव पडिरूवा ४" इति । अत्र व्याख्या-तेषां चैत्यवृक्षाणामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-'वज्ररत्नमयानि मूलानि येषां ते वज्रमूलाः, तथा रजता रजतमया सुप्रतिष्ठिता विडिमा बहुमध्यदेशभागे ऊर्द्धविनिर्गता शाखा येषां ते तथा । ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः । रिष्टरत्नमयः कन्दो येषां ते, तथा वैडूर्यरत्नमयो रुचिरः स्कन्धो येषां ते तथा, ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः, सुजातं मूलद्रव्यशुद्धं वरं प्रधानं यज्जातरूपं रूप्यं तदात्मिकाः प्रथमिका मूलभूता विशाला शालाः शाखा येषां ते तथा, नानामणिरत्नात्मिका विविधाः शाखामूलशाखा विनिर्गतशाखाः प्रशाखा येषां ते तथा । तथा वैडूर्याणि वैडूर्यमयानि पत्राणि येषां ते तथा । तथा तप्ततपनीयानि तपनीयमयानि पत्रवृन्तानि येषां ते तथा । ततः पूर्ववत् पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः । जाम्बूनदा जाम्बूनदनामकसुवर्णविशेषमया रक्तवर्णा मृदुसुकुमारा अत्यन्तकोमलाः प्रवालाः ईषदुन्मीलितपत्रभावाः पल्लवजातपूर्णप्रथमपत्रभावरूपा वराङ्कुराः प्रथममुद्भिद्यमानास्तदग्रान् धरन्ति ते तथा । विचित्रमणिरत्नमयानि सुरभीणि कुसुमानि फलानि च तेषां भरेण नमिता वामग्राहिताः शाखा येषां ते तथा, सती शोभना छाया येषां ते सच्छायाः, एवं सत्प्रभाः । अत एव सश्रीकाः । तथा सोद्द्योताः मणिरत्नानामुद्द्योतभावात् । अमृतरससमरसानि फलानि येषां ते तथा । अधिकं नयनमनोनिर्वृतिकराः, शेषं प्राग्वत् । "ते णं चेइअरुक्खा अण्णेहिं बहूहिं तिलयलवयछत्तोवगासिरीससत्तिवण्णदहिवण्णलोद्धधवचंदणनीवकुडयकयंबपणससतालतमालपिआलपियंगुपारावयरायरुक्खनंदिरुक्खेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता" इति । ते चैत्यवृक्षा अन्यैर्बहुभिस्तिलकलवकछत्रोपगशिरीषसप्तपर्णदधिपर्णलोध्रधवचन्दननीपकुटजकदम्बपनसतालतमालप्रियालप्रियङ्गुपारापतराजवृक्षनन्दिवृक्षैः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः । एते च वृक्षाः केचिन्नाम कोशतः केचिल्लोकतश्चावगन्तव्याः । "तेणं तिलया० जाव नंदिरुक्खा मूलवंतो कंदवंतो० जाव सुरम्मा" ते च तिलकादयो वृक्षा मूलवन्तः कन्दवन्त इत्यादि वृक्षवर्णनं प्रथमोपाङ्गतोऽवसेयं, यावत् सुरम्या इति । "ते णं तिलया० जाव नंदिरुक्खा अण्णाहिं बहूहिं पउमलयाहिं० जाव सामलयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता ।" ते च तिलकादयो वृक्षा अन्याभिर्बहुभिः पद्मलताभिर्यावच्छ्यामलताभिः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः । यावच्छब्दादत्र नागलताचम्पकलताद्या ग्राह्याः । "ताओ णं पउमलयाओ० जाव सामलयाओ निच्चं कुसुमिआओ० जाव पडिरूवाओ ।" ताश्च पद्मलताद्या नित्यं कुसुमिता इत्यादि लतावर्णनं यावत्प्रतिरूपाः । "तेसिं णं चेइअरुक्खाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलया बहवे झया छत्ताइछत्ता" तेषां चैत्यवृक्षाणामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजाः छत्रातिच्छत्राणि इत्यादि चैत्यस्तूपकवद्वक्तव्यम् । गताश्चैत्यवृक्षाः । अथ महेन्द्रध्वजावसरः-" तेसि णं चेइअरुक्खाणं" इत्यादि । तेषां चैत्यवृक्षाणां पुरस्तिस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः । ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भाभ्याम् अर्द्धयोजनं बाहल्येन, "तासि णं उप्पिं पत्तेअं" इत्यादि । तासां मणिपीठिकानामुपरि प्रत्येकं प्रत्येकं महेन्द्रध्वजाः प्रज्ञप्ताः । ते चार्द्धाष्टमानि सार्द्धसप्तयोजनानि ऊर्द्धोच्चत्वेन अर्द्धक्रोशं धनुःसहस्रमुद्वेधेनोच्चत्वेन तदेव बाहल्येन " वइरामयवट्ट " इति पाठोपलक्षितः परिपूर्णो जीवाभिगमोक्तवर्णको ग्राह्यः । स चायम्-" वइरामयवट्टलट्ठसंठिअसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपइट्ठिआ अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सपरिमंडिआभिरामा वाउद्धुअविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइच्छत्तकलिआ तुंगा गगणतलमभिलंघमाणसिहरा पासादीआ० जाव पडिरूवा" इति । अत्र व्याख्या-वज्रमयाः तथा वृत्तं वर्तुलं लष्टं मनोज्ञं संस्थितं संस्थानं येषां ते तथा, तथा सुश्लिष्टा यथा भवन्ति एवं परिघृष्टाः खरशाणया पाषाणप्रतिमेव सुश्लिष्टपरिघृष्टाः, तथा मृष्टाः सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमेव तथा सुप्रतिष्ठिता मनागप्यचलनात् तथा अनेकैर्वरैः प्रधानैः पञ्चवर्णैः कुडभीनां लघुपताकानां सहस्रैः परिमण्डिताः सन्तोऽभिरामाः, शेषं प्राग्वत् । " तेसि णं महिंदज्झयाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलया झया छत्ताइच्छत्ता" इत्यादि सर्वं तोरणवर्णक इव वाच्यं जीवाभिगमत इति । उक्ता महेन्द्रध्वजाः । अथ पुष्करिण्यः । ताश्च-"चेइआवणसंडा" इत्यादिपर्यन्तसूत्रेण संगृह्यते । तथाहि-" तेसि णं महिंदज्झयाणं पुरओ तिदिसिं तओ णंदापुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ । अद्धतेरसजोअणाइं आयामेणं छस्सकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ पुक्खरिणीवण्णओ, पत्तेअं पत्तेअं पउमवरवेइआपरिक्खित्ताओ पत्तेअं पत्तेअं वणसंडपरिक्खित्ताओ वण्णओ" । तथा "तासि णं णंदापुक्खरिणीणं पत्तेअं पत्तेअं तिदिसिं तओ तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता । तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं वण्णओ, तोरणवण्णओ अ भाणिअव्वो० जाव छत्ताइच्छत्ता" इति । अत्र जगतीगतपुष्करिणीवत् सर्वं वाच्यम् । अथ सुधर्मसभायां यदस्ति तदाह-"तासि णं" इत्यादि । तयोः सभयोः सुधर्मयोः षड् मनोगुलिकानां पीठिकानां सहस्राणि प्रज्ञप्तानि । तथाहि-पूर्वस्यां द्वे सहस्रे, पश्चिमायां द्वे सहस्रे, दक्षिणस्यामेकं सहस्रम्, उत्तरस्यामेकं सहस्रम्, "०जाव दामा" इत्यत्र यावत्पदादिदं ग्राह्यम्-"तासु णं मणोगुलिआसु बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पण्णत्ता । तेसि णं सुवण्णरुप्पमएसु फलगेसु बहवे वइरामया णागदंतगा पण्णत्ता । तेसु णं वइरामएसु नागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तवग्घारिअमल्लदामकलावा० जाव सुक्किलसुत्तवग्घारिअमल्लदामकलावा तेणं दामा तवणिज्जलंबूसगा चिट्ठंति" इति सर्वं विजयद्वारवद् वाच्यम् । अनन्तरोक्तं गोमानसिकासूत्रेऽतिदिशति-" एवं गोमाणसिआओ" इत्यादि । एवं मनोगुलिकान्यायेन गोमानस्यः शय्यारूपाः स्थानविशेषा वाच्याः, नवरं दामस्थाने धूपवर्णको वाच्यः । अथास्या एव भूभागवर्णकमाह-" तासि णं " इत्यादि । तयोः सुधर्मयोः सभयोः अन्तर्बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । अत्र मणिवर्णादयो वाच्याः, उल्लोचाः पद्मलतादयोऽपि च चित्ररूपाः । अत्र विशेषतो यद्वक्तव्यं तदाह-"मणिपेढिआ" इत्यादि । अत्र सुधर्मयोर्मध्यभागे प्रत्येकं मणिपीठिका वाच्या, द्वे योजने आयामविष्कम्भाभ्यां, योजनं बाहल्येन । "तासि णं" इत्यादि । तयोर्मणिपीठिकयोरुपरि प्रत्येकं माणवकनाम्नि चैत्यस्तम्भमहेन्द्रध्वजसमाने प्रमाणतोऽर्द्धाष्टमयोजनप्रमाणतोऽर्द्धाष्टमयोजनप्रमाण इत्यर्थः । वर्णकतोऽपि महेन्द्रध्वजवत् उपरि

षट् क्रोशानवगाह्य, उपरितनषट्क्रोशान् वर्जयित्वेत्यर्थः । अध-स्तादपि षट् क्रोशान् वर्जयित्वा मध्येऽर्धपञ्चमेषु योजनेषु इति गम्यम् (जिणसकहाउ त्ति) जिनसक्थीनि जिनास्थीनीत्यन्त-र्जातीयानां जिनदंष्ट्राग्रहणेऽनाधिकृतत्वात् सौधर्मेशानचमर-बलीन्द्राणामेव तद्ग्रहणात् प्रज्ञप्तानीति, शेषो वर्णकश्चात्र जीवा-भिगमोक्तो ज्ञेयः । स चायम्-" तस्स णं माणवगचेइयखंभस्स उवरिं छक्कोसे ओगाहित्ता हिट्ठा वि छक्कोसे वज्जित्ता मज्झे अद्धपंचमेसु जोयणेसु, एत्थ णं बहवे सुवण्णरुप्पमया फलगा पन्नत्ता । तेसु णं बहवे वइरामया णागदंतया पण्णत्ता । तेसु णं बहवे रययमया सिक्कगा पण्णत्ता । तेसु णं बहवे वइरामया गोलवट्टगा समुग्गया पण्णत्ता, तेसु णं बहवे जिणसकहाओ संणिक्खित्ताओ चिट्ठंति । जाओ णं जमगाणं देवाणं अन्नेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ वंद-णिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जाओ " इति । अत्र व्याख्या-" तस्स णं " इत्यारभ्य " वज्जित्ता " इति पर्यन्ते प्राग् प्रस्तुतसूत्रे साक्षाद् दर्शयादनन्तरमेव व्याख्यातम्, मध्येऽर्द्धपञ्चमेषु योजनेषु, अर्धाष्टयोजनेष्वित्यर्थः । अत्रान्तरे बहूनि सुवर्णरूप्यमयानि फलकानि प्रज्ञप्तानि, तेषु फलकेषु बहवो वज्रमया नागदन्तका प्रज्ञप्ता, तेषु नागदन्तकेषु बहूनि रजतमयानि शिक्यकानि प्रज्ञप्तानि, तेषु शिक्यकेषु बहवो व-ज्रमया गोलको वृत्तोपमस्तद्वद् वृत्ता समुद्गका प्रसिद्धा प्रज्ञप्ता, तेषु समुद्गकेषु बहूनि जिनसक्थीनि संनिक्षिप्तानि ति-ष्ठन्ति, यानि यमकयोर्देवयोरन्येषां च बहूनां यमकराजधानी-वास्तव्यानां वाणमन्तराणां देवानां देवीनां च अर्चनीयानि चन्द-नादिना, वन्दनीयानि स्तुत्यादिना, पूजनीयानि पुष्पादिना, सत्कारणीयानि वस्त्रादिना, सम्माननीयानि बहुमानकरणतः कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमिति पर्युपासनीयानीति । ए-तदाशातनाभीरुतयैव तस्माद् देवा देवयुवतिभिर्न सम्भो-गादिकमाद्रियन्ते, नापि मित्रदेवादिभिर्हास्यक्रीडादिपरा-स्युरिति । ननु जिनगृहादिषु जिनप्रतिमानां देवानामर्च-नीयत्वादिकमाशातनात्यागश्च युक्तः, तासां सद्भावस्थापना-रूपत्वेनाराध्यतासंकल्पप्रादुर्भावसम्भवात्, न तथा जिनदंष्ट्रा-दिषु, तेन कथं तौ घटेते ?, पूज्यानामङ्गानि पूज्या इव पूज्यानी-ति संकल्पस्यात्रापि प्रादुर्भावात् । पूज्यत्वं महावैरोपशमक-गुणवत्त्वेन च । अस्मिन्नर्थे पूज्यश्रीरत्नशेखरसूरीन्द्रोपज्ञश्राव-कविधिवृत्तिसम्मतिः । तथाहि-परीक्षाप्राप्तनिर्लोभतागुणं रत्न-सारकुमारं प्रति चन्द्रशेखरसुरेणोचे-

" हरिणैगमेषिणा हरिणे-गमेष्यनिमिषाग्रणीः ॥
युक्तमेव हि स्वतःश्लाघा, कुरुते सुरसाक्षिकम् ॥ १ ॥
वक्ति स्म विस्मयस्मेरः, कुमारः स सुराग्रणीम् ।
मामश्लाघ्यं श्लाघते किं, सोऽप्युवाच शृणु स्तुवे ॥ २ ॥
सद्योत्पन्नतयाऽन्यर्हि, सौधर्मेशानशक्रयोः ।
विवादोऽभूद्विमानार्थं, हर्म्यार्थमिव हर्मिणोः ॥ ३ ॥
विमानलक्षा द्वात्रिंशत्, तथाऽष्टाविंशतिः क्रमात् ।
सन्त्येतयोस्तथाऽप्येनौ, विवदेते स्म धिग् भवम् ॥ ४ ॥
तयोरित्रोर्वीश्वरयो-र्विमानर्द्धिप्रलुब्धयोः ।
नियुद्धादिमहायुद्धाः, अभ्यभूवन्ननेकशः ॥ ५ ॥
निवार्यते हि कलह-स्तिरश्चां तरसा नरैः ।
नराणां च नराधीशै-र्नराधीशां सुरैः क्वचित् ॥ ६ ॥
सुराणां च सुराधीशां, कलहो वा पुनः कथम् ।
केन वा स निवार्येत, वज्राग्निरिव दुःशमः ? ॥ ७ ॥
माणवकाख्यस्तम्भस्था-ऽर्हद्दंष्ट्राशान्तिवारिणा ।
साधिव्याधिमहादोष-महावैरनिवारिणा ॥ ८ ॥
कियत्कालव्यतिक्रान्ते, सिक्तौ महत्तरैः सुरैः ।
बभूवतुः प्रशान्तौ तौ, किं वा सिद्धेर्न जायते ? ॥ ९ ॥ युग्मम्
ततस्तयोर्मिथस्त्यक्त-वैरयोः सचिवैर्द्वयोः ।
प्रोचे पूर्वव्यवस्थैव, सुधियां समये हि गीः ॥ १० ॥

सा चैवम्-

दक्षिणस्यां विमाना ये, सौधर्मेशस्य तेऽखिलाः ।
उत्तरस्यां तु ते सर्वे-ऽपीशानेन्द्रस्य सत्तया ॥ ११ ॥
पूर्वस्यामपरस्यां च, वृत्ताः सर्वे विमानकाः ।
त्रयोदशापीन्द्रकाश्च, स्युः सौधर्मसुरेशितुः ॥ १२ ॥
पूर्वापरदिशोः त्र्यस्रा-श्चतुरस्राश्च ते पुनः ।
सौधर्माधिपतेरर्द्धा, ईशानचक्रिणः पुनः ॥ १३ ॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रे-ऽप्येष एव भवेत्क्रमः ।
वृत्ता एव हि सर्वत्र, स्युर्विमानेन्द्रकाः पुनः ॥ १४ ॥
इत्थं व्यवस्थया चेतः-स्वास्थ्यमास्थाय सुस्थिरौ ।
विमत्सरौ गतक्रोधौ, जज्ञाते तौ सुरेश्वरौ ॥ १५ ॥ "

अथ प्रकृतं प्रस्तूयते-" माणवगस्स " इत्यादि । माणव-कचैत्यस्तम्भस्य पूर्वस्यां दिशि सुधर्मायामेव सभायां सिंहा-सनं सपरिवारं स्तः, यमकदेवयोः प्रत्येकमेकैकसद्भावात् । त-स्मादेव पश्चिमायां दिशि शयनीये वर्णकश्चैतदीयः श्रीदेवी-वर्णनाधिकारे उक्तः, शयनीययोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि क्षुल्लकमहे-न्द्रध्वजौ स्तः, तौ च मानतो महेन्द्रध्वजप्रमाणौ सार्द्धसप्तयो-जनप्रमाणावुच्चत्वेन अर्द्धक्रोशमुद्वेधेन, बाहल्याभ्यामित्यर्थः । न-नु यदीमौ प्रागुक्तमहेन्द्रध्वजतुल्यौ तदा किमिमौ क्षुल्लकेन वि-शेषितौ ?। उच्यते-मणिपीठिकाविहीनौ अत एव क्षुल्लकावित्य-र्थः । द्वियोजनप्रमाणमणिपीठिकोपरिस्थितत्वेन पूर्वे महान्तौ महेन्द्रध्वजास्तदपेक्षया इमौ च क्षुल्लकावित्यर्थोऽवगतमिति । तयोः क्षुल्लमहेन्द्रध्वजयोरेकैकराजधानीसम्बन्धिनौ २ परेण प-श्चिमायां "चोप्फालो" नाम, प्रहरणकोशः प्रहरणभाण्डागारं, तत्र बहूनि परिघरत्नप्रमुखाणि यावत्पदात् प्रहरणरत्नानि संनिक्षिप्ता-नि तिष्ठन्ति । "सुहम्माए" इत्यादि । सुधर्मायाः उपर्यष्टाष्टमङ्गलकानि इत्यादि तावद्वक्तव्यं यावद् बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया इत्यादि । सुधर्मसभातः परं किमस्तीत्याह-"तासि णं" इत्यादि । तयोः सुधर्मयोः सभयोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि द्वे सिद्धायतने प्रज्ञप्ते, इति शेषः । प्रतिसभमेकैकसद्भावादिति । अत्र लाघ-वार्थमतिदेशमाह-एष एव सुधर्मासभोक्त एव जिनगृहाणा-मपि गमः पाठोऽवगन्तव्यः । स चायम्-" ते णं सिद्धाययणा अद्धतेरसजोयणाइं आयामेणं छ सकोसाइं विक्खंभेणं णव जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसंनिविट्ठा " इत्यादि । यथा सुधर्मायास्त्रीणि पूर्वदक्षिणोत्तरवर्तीनि द्वाराणि, तेषां च पुरतः प्रेक्षामण्डपाः, तेषां पुरतः स्तूपाः, तेषां पुरतश्चै-त्यवृक्षाः तेषां पुरतो महेन्द्रध्वजाः, तेषां पुरतो नन्दापुष्क-रिण्य उक्ताः, तदनु सभायां मनोगुलिकासहस्राणि, बहू-गोमानसीसहस्रागयुक्तानि । एवमनेनैव क्रमेण सर्वं वाच्यम् ।

अत्र सुधर्मातो यो विशेषस्तमाह- " णवर इम णाणत्त " इत्यादि व्यक्तम् । अथ सुधर्मासभोक्तमेव सभाचतुष्कमतिदिशन्नाह-"एव अवसेसाण वि" इत्यादि । एव सुधर्मान्यायेनावशिष्टानामुपपातसभादीनां वर्णन ज्ञेयम् । कियत्पर्यन्तमित्याह-यावदुपपातसभायामुत्पित्सुदेवोत्पत्त्युपलक्षितसभायामभिनवोत्पन्नदेवाभिषेकमहोत्सवस्थानभूताया यद् आभिषेक्यमभिषेकयोग्य भाण्ड वाच्यम् । तथाऽलङ्कारसभायामभिषिक्तसुरभूषणपरिधानस्थशयनीय वर्णनीय, तच्च प्राग्वत् । तथा ह्रदश्च वक्तव्यो नन्दापुष्करिणीमानः, स चोत्पन्नदेवस्य शुचित्वजलक्रीडादिहेतु, ततोऽभिषेकसभायां स्यानरूपायां सुबहलङ्कारिकभाण्डमलङ्कारयोग्य भाण्ड तिष्ठति । व्यवसायसभयोरलङ्कृतसुरशुभाध्यवसायानुचिन्तनस्थानरूपायाः पुस्तकरत्ने, ततो बलिपीठे अर्चनीयोत्तरकाल नवोत्पन्नसुरयोर्बलिविसर्जनपीठे द्वियोजन आयामविष्कम्भाभ्यां, योजन बाहल्येन, यावत्पदात्-" सव्वरयणामया अच्छा पासाईया ४" ततो नन्दाभिधाने पुष्करिण्योर्बलिक्षेपोत्तरकाल सुधर्मासभां जिगमिषतोरभिनवोत्पन्नसुरयोर्हस्तपादप्रक्षालनहेतुभूते, अत एव सूत्रे प्रथमोक्ते अपि नन्दापुष्करिण्यौ प्रयोजनक्रमवशात् पश्चाद् व्याख्याते क्रमप्राधान्याद्व्याख्यानस्य, अथ यथा सुधर्मासभात उत्तरपूर्वस्यां दिशि सिद्धायतनम्,तथा तस्योत्तरपूर्वस्यां दिशि उपपातसभा, एव पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् परम्परमुत्तरपूर्वस्यां वाच्य,यावद्बलिपीठाद्दुत्तरपूर्वस्या नन्दापुष्करिणीति । अत्र च-' जमिगाओ रायहाणीओ" इत्यादिसूत्रेषु द्विवचनेन "तासि० जाव वट्टिं माणवगचेइअखभे" इत्यादिसूत्रेष्वेकवचनेन निर्देश. । सूत्रकाराणां प्रवृत्तिवैचित्र्यादिति वर्णिते यमिकाभिधे राजधान्यौ,अथ तयोरधिपयोर्यमकदेवयोरुत्पत्त्यादिस्वरूपाख्यानाय विस्तररुचि' सूत्रकृत् सग्रहगाथामाह-" उववाओ सकप्पो" इत्यादि । उपपातो यमकयोर्देवयोरुत्पत्तिर्वाच्या, तत उत्पन्नयो. सुरयो. शुभव्यवसायचिन्तितरूप सकल्प । तत -अभिषेक इन्द्राभिषेक',तत'-विभूषणा अलङ्कारसभायामलङ्कारपरिधानम्, ततो व्यवसायः पुस्तकरत्नोद्घाटनरूप', तत. अर्चनिका सिद्धायतनाद्यर्था, ततः सुधर्मायां गमन, यथा च परिचारणा-परिचारकरण परिवारणा स्वस्वोक्तदिशि परिवारस्थापनम्,यथा यमकयोर्देवयो. सिंहासनयो. परितो वामभागे चतु सहस्रसामानिकभद्रासनस्थापन सैव ऋद्धिः सपत्त् । रूपनिष्पत्तिस्तु-" णिज् बहुल नाम्नः क्वादिषु " ॥ ३ । ४ । ४२ ॥ इत्यनेन (हैमसूत्रेण) कारणार्थम् " णिवेत्त्यासश्रन्थघट्टवन्देरन. " । ५ । ३ । ११ । इत्यनेन चानप्रत्यये स्त्रीलिङ्गीयअप्रत्यये साधु । तथा वा वाच्य जीवाभिगमादिभ्य. । अथ यमकौ ह्रहाश्च यावता अन्तरेण परस्पर स्थितास्तन्निर्णेतुमाह-" आवइय " इत्यादि । यावति प्रमाणे अन्तर्माने नीलवतो यमकौ भवत । खलु निश्चित यावदन्तरं योजनसप्तभागचतुर्भागाभ्यधिकचतुर्लिशदधिकाष्टशतयोजनरूप यमकद्वये, इद ह्रदाणा च योध्यमिति शेष. । उपपत्तिस्तु प्राग्वत् । ज० ४ वक्ष० ।

जमगसमग-यमकसमक-अव्य० । युगपदित्यर्थे, ज० ३ वक्ष० । जी० । ज्ञा० ।

जमघोस-यमघोष-पु० । ऐरवतक्षेत्रे आगामिन्यां चतुर्विंशतिकायां भाविनि चतुर्थे जिने, प्रव० ७ द्वार ।

जमजन्न-यमयज्ञ-पु० । यमा प्राणातिपातविरत्यादिरूपा पञ्च, त एव यज्ञो भावपूजात्मकत्वात् विवक्षितपूज्य प्रति इति यमयज्ञः । अहिंसादियमपालनरूपे भावयज्ञे,(उत्त०) " यम इव प्राण्युपसहारकारितया यम , स चासौ यज्ञः यमयज्ञ । हिंसामये द्रव्ययज्ञे, उत्त० २५ अ० ।

जमणिया-यमनिका-स्त्री० । यमनिकाख्ये साधूपकरणविशेषे, स्था० ६ ठा० ।

जमदग्गि-य (ज) मदग्नि-पु० । परशुरामपितरि तापसविशेषे, (आ० क०) ।

तत्कथा चैवम्—

वसन्तपुरवास्तव्यः, कश्चिदुत्सन्नवशक. ।
देशान्तर व्रजन् सोऽथ, भ्रष्टोऽगाद् भौतपल्लिकाम् ॥ १ ॥
यमाख्यस्तापसस्तत्र, स तत्पार्श्वेऽग्निकोऽगमत् ।
प्रपन्नस्तस्य शिष्यत्व, स घोर तप्यते तपः ॥ २ ॥
यमशिष्योऽग्निक इति, यमदग्निरिति श्रुतः ।
इतश्च जैनमाहेशा-वभूतां द्वौ सुरौ दिवि ॥ ३ ॥
स्वस्वधर्मे प्रशसन्ता-वूचतु. साधुतापसौ ।
परीक्षा युज्यते धर्मे, कर्तुमेकत्र तत्त्वधीः ॥ ४ ॥
ऊचे श्राद्ध. परीक्ष्यो नः, शैवो वस्तापसोत्तम. ।
अथ तावागतौ स्वर्गाद्, मर्त्यलोके परीक्षितुम् ॥ ५ ॥
अग्रे च मिथिलापुर्यां, राजा पद्मरथस्तदा ।
व्रतार्थी याति चम्पायां, वासुपूज्यजिनान्तिके ॥ ६ ॥
गच्छतस्तस्य राजर्षे., समुत्क्षिप्ते सति क्रमे ।
सर्वतः सूक्ष्ममण्डूक्यः, क्रियन्ते स्म निरन्तराः ॥ ७ ॥
स उत्क्षिप्ताङ्घ्रिरेवास्था-ज्जीवहिंसाभयात्प्रधी' ।
धीरश्चुक्षोभ नो मेघ-कुमार प्राग्भवेऽभवत् ॥ ८ ॥
दयालु तन्मनो ज्ञात्वा, तौ ताः सहृत्य जग्मतु. ।
यमदग्ने. परीक्षार्थं, पुरातनमहाऋषे' ॥ ९ ॥
कृत्वा चटकयुग्मस्य, रूप तत्कूर्चपञ्जरे ।
स्थित्वोचे चटकः कान्ते!, याम्यह हिमवद्गिरिम् ॥ १० ॥
सोचे त्व नेष्यसि तते, लुब्धस्तच्चटिकारते ।
स चक्रे शपथान् गाढान्, प्रत्येति न तथाऽपि सा ॥ ११ ॥
ऊचे प्रत्येमि चेदेन, शपथ कुरुषे प्रिय ! ।
ऋषेरेतस्य पापेन, लिप्ये नायामि यद्यहम् ॥ १२ ॥
उवाच चटक कान्ते !, शपथ न करोम्यमुम् ।
महर्षि' क्षुभितोऽवोच-त्तौ पाणिभ्यां विधृत्य स ॥ १३ ॥
'आ पापौ ! पातक किं मे, यदेव जल्पतो मिथ ।
ऊचतुस्तौ महर्षे ! त्व, मा कुपः शृणु नौ वच ॥ १४ ॥
अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च ।
तस्मात्पुत्रमुख दृष्ट्वा, पश्चात्स्वर्गं गमिष्यसि ॥ १५ ॥
स मुनिस्तद्वचो मेने, मुक्तौ तौ जग्मतुर्दिवम् ।
मिथ्यादृगथ सबुद्धो, देव सम्यक्त्वमाप्तवान् ॥ १६ ॥
तत्यक्त्वा तापनाकष्ट, समासहस्रपालितम् ।
यमदग्निर्ययौ मूढो, नगर मृगकोष्ठकम् ॥ १७ ॥
जितशत्रुर्नृपस्तत्र, प्रणम्येत्याह किं ददे ? ।
स ऊचे शानपुत्रीक !, पुत्रीमेकां प्रयच्छ मे ॥ १८ ॥
शापभीरुर्नृपोऽवादीद्, या त्वामिच्छति साऽस्तु ते ।
स कन्यान्त पुर प्राप्त-स्ताभिस्त वीक्ष्य थूत्कृतम् ॥ १९ ॥
ऊचुश्च किं नवोढाद्, काशो नृशैप किं मृते. ? ।

सोऽथ तयेष्या रुष्ट , शप्त्वा कुब्जीचकार ताः ॥ २० ॥
खेलन्ती रेणुनैकाऽभून्, सुताऽस्यै ढौकित फलम् ।
उक्ता चेच्छसि साऽऽदत्त, तत्करेणाऽऽददे स ताम् ॥ २१ ॥
ता अथोपस्थिता कुब्जा , श्यालिकात्वादजूकृताः ।
स मर्यादामिकार्यां तां, दत्त्वा राज्ञाऽऽश्रमेऽनयत् ॥ २२ ॥
पाणिग्रहणकाले च, स तस्या पाणिमग्रहीत ।
ऋतुकाल च तामूचे, चरु ब्राह्म पचामि ते ॥ २३ ॥
भवत्वेवं तथा कान्त !, स्वसा मे हस्तिनापुरे ।
अनन्तवीर्यजायाऽस्ति, तस्या क्षात्र चरु पच ॥ २४ ॥
स पक्त्वा द्वौ चरू तस्या , आर्पयत साऽप्यचिन्तयत् ।
जाताऽटवीमृगी तावद्-दह मैव सुतोऽप्यभूत् ॥ २५ ॥
तत क्षात्र स्वय प्राश, ब्राह्म जाम्यै न्ययोजयत् ।
अभूद्राम' सुतोऽथास्या', कार्तवीर्यं स्वसु पुन ॥ २६ ॥
रामेऽथो यौवन प्राप्त, तत्रागात्कोऽपि खेचर ।
स चाकस्मादभून्मन्द्रो, रामेण प्रतिपालित ॥ २७ ॥
पर्शुविद्यां स तस्यादा-त्ता च सोऽसाधयद्वने ।
पर्शुराम इति ख्यात , तत. स पर्शुशस्त्रत ॥ २८ ॥
अन्यदा रेणुकाऽयासीद्, भगिनीवेश्म तत्र च ।
भगिनीवल्लभाऽऽसङ्गाद्, पुत्ररत्नमजीजनत् ॥ २९ ॥
जमदग्निरथानैषी-त्सपुत्रामपि ता तत' ।
रुषा व्यनीनशद्रामा-स्सपुत्रामपि रेणुकाम् ॥ ३० ॥
तद्भगिन्या भुत तच्च, कथित स्वपतेस्ततः ।
सोऽथाऽऽगत्याऽऽश्रम भङ्क्त्वा, गृहीत्वा गास्ततोऽव्रजत् ॥ ३१ ॥
पश्चात् परशुरामेण, धावित्वा पर्शुना हत' ।
कार्तवीर्योऽनवद्राजा , ताराजानिस्तदङ्गज ॥ ३२ ॥
सोऽथान्यदा पितुर्मृत्यु , ज्ञात्वा रामकृतं रुषा ।
आगत्य पितर तस्य, जमदग्निममारयत् ॥ ३३ ॥
ज्वलत्पर्शुरथागत्य, रैणुकेयो रुषाऽरुण. ॥
कार्तवीर्यं रणे हत्वा, स्वय राज्य प्रपन्नवान् ॥ ३४ ॥
इत. पलायिता राज्ञी, ताराऽगात्तापसाऽऽश्रमम् ।
सम्भ्रमेणापतद् गर्भ., तस्या गृह्णन् भुव रदैः ॥ ३५ ॥
सुभूम इति दत्ताह्वो, ववृधे तापसाश्रमे ।
परशु' पर्शुरामस्य, जज्वाल क्षत्रियान्तकृत् ॥ ३६ ॥
अन्यदाऽऽश्रमपार्श्वेन, पर्शुरामस्य गच्छत ।
पर्शौ ज्वलति तेनोक्ता , भीता. स्व क्षत्रिय जगु' ॥ ३७ ॥
पर्शुराम ससङ्कल्प , क्षिति नि.क्षत्रिया व्यधात् ।
स्थाल यजार दंष्ट्राभि-स्तेषां मुक्ताकणैरिव ॥ ३८ ॥
एव व्यधायि च क्रोधा-द्रामेण क्षत्रियक्षय ।
नमयन्त कुध धन्या , नमोऽर्हो. स्युः पुनर्जिना ॥ ३९ ॥"
आ० क० । आ० चू० । आ० म० ।

जमदग्गिजमा–जमदग्निजटा–स्त्री० । वालके , गन्धद्रव्यविशेषे च । उत्त० ३ अ० ।

जमदग्गिपुत्त–जमदग्निपुत्र–पु० । पर्शुरामे , जी० ३ प्रति० ।

जमपुरिससंकुल–यमपुरुषसंकुल–त्रि० । यमस्य दक्षिणदिक्पालस्य पुरुषा अम्बादयोऽसुरविशेषास्तै' सकुला ये ते तथा । परमाधार्मिककलितेषु , प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जमपुरिससंनिज्ज–यमपुरुषसन्निभ–त्रि० । परमाधार्मिकतुल्ये क्रूरजने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जमप्पभ–यमप्रभ–पु० । चमरेन्द्रस्य यममहाराजस्य स्वनामके उत्पातके उत्पातपर्वते , स्था० १० ठा० ।

जमल–यमल–न० । यम योग लाति । ला–क' । युग्मे, वाच० । समश्रेणीके, रा० । ज० । उत्त० । जी० । भ० । अनु० । ज्ञा० । " विज्जाहरजमलजुअलजतजुत्त । " भ० ९ श० ३१ उ० । समसस्थितद्वयरूपे , रा० । औ० । " चक्कगयसुसुक्किरोहसयग्घिजमलकवाडघणदुप्पवेसा । " औ० । समे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । औ० । " निल्लालियजमलजुअलजीह " ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । सहवर्तिनि, " जमलजुअलचचलचलतजीहं । " यमल सहवर्ति युगल द्वय चञ्चल यथा भवत्येव चलन्त्योरतिचपलयोर्जिह्वयोर्यस्य स तथा तम प्राकृतत्वाच्चैव समासः । भ० १५ श० १ उ० । समानजातीययोर्युग्मे , रा० ।

जमलकोट्ठिया–यमलकोष्ठिका–स्त्री० । समतया व्यवस्थापित· कुशलिकाद्वये, उत्त० २ अ० । "जमलकोट्ठियासठाणसठिया ।" उत्त० २ अ० ।

जमलजुअल–यमलयुगल–न० । समश्रेणीके युग्मे, रा० । जी० । समानशीलेषु द्वन्द्वेषु, रा० । आ० म० । " विज्जाहरजमलजुअलाइ । " आ० म० प्र० ।

जमलज्जुणभंजग–यमलार्जुनभञ्जक–त्रि० । श्रीकृष्णे, स हि पितृवैरिणौ विद्याधरौ रथारूढस्य गच्छतो मारणार्थे पथि विकुर्वितयमलार्जुनवृक्षरूपौ सरथस्य मध्येन गच्छत चूर्णनप्रवृत्तौ हतवान् । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

जमलपद–यमलपद–न० । प्रायश्चित्तविशेषे, "यमलपद नाम-तवकाला तेहिं विसेसिया कज्जति पढमपए दोहिं लघु,वितिय· पए कालगुरु,ततियपए तवगुरु,चउत्थपए दोहिं वि गुरु।" नि० चू० १ उ० ।

जमलपय–यमलपद–न० । 'जमलपद' शब्दार्थे, नि०चू०१उ० । " जमलपया " इति तप.कालयो सज्ञा । चू० १ उ० । समयपरिभाषयाऽष्टानामष्टानामङ्कस्थानानां यमलपदमिति सज्ञा । प्रज्ञा० १२ पद ।

जमलपाणि–यमलपाणि–पु० । मुष्टौ, भ० १९ श० ३ उ० ।

जमलिय–यमलित–त्रि० । यमल नाम सजातीययोर्युग्म, तत् सजातमेषा ते यमलिताः । रा० । ज० । जी० । युग्मीभूय व्यवस्थितेषु,समश्रेणितया व्यवस्थितेषु च । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । भ० ।

जमलोइय–यमलौकिक–पु० । अम्बादिषु परमाधार्मिकषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

जमा–याम्या–स्त्री० । यमो देवता यस्याः सा याम्या । भ० १० श० १ उ० । दक्षिणस्यां दिशि , ओघ० ।

जमालि–यमालि–पु० । महावीरजिनस्य जामातरि स्वनामख्याते प्रथमे निह्नवे, आ० क० । उत्त० । स्था० । कल्प० ।

तत्प्रबन्धश्चैवम्—

तस्स णं माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स पच्चच्छिमेणं, एत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे णामं णयरे होत्था । वण्णओ–

तत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे णयरे जमाली णामं खत्तियकुमारे परिवसइ, अड्ढे दित्ते० जाव अपरिभूए, उप्पि पासायवरगए फुट्टमाणेहिं मुयंगमत्थएहिं बत्तीसइबद्धेहिं नाडएहिं णाणाविहवरतरुणीसंपउत्तेहिं उवणच्चिज्जमाणे उवणच्चिज्जमाणे उवगिज्जमाणे उवगिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे पाउसवासारत्त-सारद-हेमंत-ससिर-वसंत-गिम्हपज्जंते छप्पि उऊ जहाविभवेणं माणमाणे कालं गालेमाणे इट्ठे सद्दे फरिसरसरूवगंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणे विहरइ । तए ण खत्तियकुंडग्गामे णयरे सिंघाडगतिगचउक्कचच्चर० जाव बहुजणसद्देइ वा जहा उववाइए० जाव एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ, एव खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगव महावीरे आदिगरे० जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स बहिया बहुसालए चेइए अहापडिरूवं० जाव विहरइ, त महप्फलं खलु देवाणुप्पिया! तहारूवाणं अरहंताणं भगवताणं जहा उववाइए० जाव एगाभिमुहे खत्तियकुंडग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे णयरे जेणेव बहुसालए चेइए, एवं जहा उववाइए० जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ, तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स त महया जणसद्दं वा० जाव सण्णिवायं वा सुणमाणस्स वा पासमाणस्स वा अयमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था, किं णं अज्ज खत्तियकुंडग्गामे णयरे इंदमहेइ वा खंदमहेइ वा मुगुंदमहेइ वा णागमहेइ वा जक्खमहेइ वा भूयमहेइ वा कूवमहेइ वा तडागमहेइ वा नईमहेइ वा दहमहेइ वा पव्वयमहेइ वा रुक्खमहेइ वा चेइयमहेइ वा थूवमहेइ वा, जं णं एए बहवे उग्गा भोगा राइण्णा इक्खागा णाया कोरवा खत्तिया खत्तियपुत्ता भडा भडपुत्ता सेणावती पसत्थारो लेच्छइ माहणा इब्भा जहा उववाइए सत्थवाहप्पाभितयो ण्हाया कयबलिकम्मा जहा उववाइए० जाव णिग्गच्छंति, एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता एव कंचुइज्जपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एव वयासी-किं णं देवाणुप्पिया ! अज्ज खत्तियकुंडग्गामे णयरे इंदमहेइ वा० जाव णिग्गच्छंती, तए णं से कंचुइज्जपुरिसे जमालिणामेणं खत्तियकुमारेणं एव वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे समणस्स भगवओ महावीरस्स आगमणगहियविणिच्छए करयल० जमालिं खत्तियकुमारं जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-णो खलु देवाणुप्पिया! अज्ज खत्तियकुंडग्गामे णयरे इंदमहेइ वा० जाव णिग्गच्छंति । एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे० जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स बहिया बहुसालए चेइए अहारूवं उग्गहं० जाव विहरइ । जं णं एए बहवे उग्गा भोगा० जाव अप्पेगइया वंदणवत्तियं० जाव णिग्गच्छंति । तए णं जमाली खत्तियकुमारे कंचुइज्जपुरिसस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चाउग्घंट आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जमालिणा खत्तियकुमारेणं एवं वुत्ता समाणा पच्चप्पिणंति । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ण्हाए कयबलिकम्मे जहा उववाइए परिसावण्णओ, तहा भाणियव्वं० जाव चंदणोक्खित्तगायसरीरे सव्वालंकारविभूसिए मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव चाउग्घंटे आसरहे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ, दुरूहइत्ता सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं महया भडचडगरपहकरविंदपरिक्खित्ते खत्तियकुंडग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे णयरे जेणेव बहुसालए चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तुरिए निगिण्हेइ, निगिण्हेइत्ता रहं ठवेइ, ठवेइत्ता रहाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता पुप्फतंबोलाउहमाइयवाणहाओ य विसज्जेइ, विसज्जेइत्ता एगसाडियं उत्तरासंग करेइ, करेइत्ता आयंते चोक्खे परमसुइब्भूए अंजलिमउलियहत्थे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो० जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ । तए णं समणे भगवं महावीरे जमालिस्स खत्तियकुमारस्स तीसे य महइ महालियाए इसि० जाव धम्मकहा० जाव परिसा पडिगया । तए णं जमाली खत्तियकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो० जाव णमंसित्ता एवं वयासी-सद्दहामि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, अब्भुट्ठेमि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, एवमेयं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, तहमेयं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, अवितहमेयं भंते !, असंदिद्धमेयं भंते !,० जाव से जहेयं तुब्भे वदह, जं णवरं देवाणुप्पिया ! अम्मापिअरो आपुच्छामि, तए ण देवा-

णुप्पियाण अंतियं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वयामि ?। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो० जाव णमंसित्ता तमेव चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ, दुरूहइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ बहुसालाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता सकोरंटमल्लदामेणं० जाव धरिज्जमाणेणं महया भडचडगर० जाव परिक्खित्ते जेणेव खत्तियकुंडग्गामे णयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता खत्तियकुंडग्गामं णयरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तुरिए निगिण्हइ, निगिण्हइत्ता रहं ठवेइ, ठवेइत्ता रहाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता जेणेव अब्भिंतरिया उवट्ठाणसाला जेणेव अम्मापिअरो तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अम्मापिअरो जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु अम्म ! ताओ ! मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं निसंते सेवियधम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए। तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापिअरो एवं वयासी-धण्णे सि णं तुम्मं जाया !, कयत्थे सि णं तुम्मं जाया !, कयपुण्णे सि ण तुम्मं जाया !, कयलक्खणे सि णं तुम्मं जाया !, जेणं तुम्मे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं निसंते सेवियधम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए। तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापिअरो दोच्चं पि एवं वयासी-एवं खलु मए अम्म ! ताओ ! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं निसंते० जाव अभिरुइए, तए णं अहं अम्म ! ताओ ! संसारभयउव्विग्गे भीए जम्मजरामरणेणं तं इच्छामि णं अम्म ! ताओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, तए णं सा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया तं अणिट्ठं अकंतं अप्पियं अमणुण्णं अमणामं असुयपुव्वं गिरं सोच्चा णिसम्म सेयागयरोमकूवपगलंतविगलियगत्ता सोगभरप्पवेवियगमंगी नित्तेया दीणविमणवयणा करयलमलिय व्व कमलमाला तक्खणओलुग्गदुब्बलसरीरलायण्णसुण्णनिच्छायगइसिरीया पसिढिलभूसणपडियखुण्णियसंचुण्णियधवलवलया पब्भट्ठउत्तरिज्जा मुच्छावसणट्ठचेतगरुई सुकुमालविकिण्णकेसहत्था परसुनियत्त व्व चंपगलया निव्वत्तमह व्व इंदलट्ठी विमुक्कसंधिबंधणा कोट्टिमतलंसि धस त्ति सव्वंगेहिं सन्निवडिया, तए णं सा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया ससंभमोयत्तियाए तुरियं कंचणभिंगारमुहविणिग्गयसीयलविमलजलधारपरिसिंचमाणनिव्वावियगायलट्ठी उक्खेवयतालियंटवीयणगजणियवाएणं सफुसिएणं अंतेउरपरियणेणं आसासिया समाणी रोयमाणी कंदमाणी सोयमाणी विलवमाणी जमालिं खत्तियकुमारं एवं वयासी-तुमं सि ण जाया ! अम्ह एगे पुत्ते इट्ठे कंते पिए मणुण्णे मणामे थेज्जे वेसासिए संमए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे रयणब्भूए जीवियउस्सविए हिययणंदजणणे उंबरपुप्फं पि व दुल्लहे सवणयाए किमंग ! पुण पासणयाए, तं णो खलु जाया ! अम्हे इच्छामो तुब्भं खणमवि विप्पओगं, तं अत्थाहि ताव जाया ! जाव ताव अम्हे जीवामो, तओ पच्छा अम्हेहिं कालगएहिं समाणेहिं परिणयवओ वड्ढियकुलवंसतंतुकज्जम्मि निरवयक्खे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारिअं पव्वइहिसि । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापिअरो एवं वयासी-तहा वि णं तं अम्म ! ताओ ! जं णं तुब्भे ममं एवं वदह-तुम्म सि णं जाया ! अम्हं एगे पुत्ते इट्ठे कंते तं चेव० जाव पव्वइहिसि, एवं खलु अम्म ! ताओ ! माणुस्सए भवे अणेगजाइजरामरणरोगसारीरमाणसपकामदुक्खवेयणवसणसओवद्दवाभिभूए अधुवे अणितिए असासए संझब्भरागसरिसे जलबुब्बुदसमाणे कुसग्गजलबिंदुसन्निभे सुविणगदंसणोवमे विज्जुयाचंचले अणिच्चे सडणपडणविद्धंसणधम्मे पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वे भविस्सइ, से केस णं जाणइ-अम्म ! ताओ ! के पुव्विं गमणयाए, के पच्छा गमणयाए, तं इच्छामि णं अम्म ! ताओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स० जाव पव्वइत्तए ?। तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापियरो एवं वयासी-इमं च णं तं जाया ! सरीरगं पविसिट्ठरूवलक्खणवंजणगुणोववेयं उत्तमबलवीरियसत्तजुत्तं विण्णाणवियक्खणससोहग्गगुणसमुस्सियअभिजायमहक्खम विविहवाहिरोगरहियं निरुवहयउदत्तलट्ठपंचिंदियपडुपढमजोव्वणत्थमणेगउत्तमगुणेहिं जुत्तं तं अणुहोहि ताव० जाव जाया ! नियगसरीररूवसोहग्गजोव्वणगुणे तओ पच्छा अणुभूय नियगसरीररूवसोहग्गजोव्वणगुणे अम्हेहिं कालगएहिं समाणेहिं परिणयवओ वड्ढियकुलवंसतंतुकज्जनिरवयक्खे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइहिसि । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापियरो एवं वयासी-तहा वि णं तं अम्म ! ताओ ! जं णं तुब्भे मम एवं वदह-इमं च णं ते जाया ! सरीरगं तं चेव० जाव पव्वइहिसि, एवं खलु

अम्म ! ताओ ! माणुस्सगं सरीरं दुक्खाययणं विविहवाहि-
सयसंनिकेयं अट्ठिकट्ठुट्ठियं छिराण्हारुजालओणद्धसंपिणद्धं
मट्टियभंडं व दुब्बलं असुइसंकिलिट्ठं अणिट्ठवियसव्वकाल-
संठप्पयजराकुणिमजज्जरघरं व सडणपडणविद्धंसणधम्मं
पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वं भविस्सइ । से
केस णं जाणइ-अम्म ! ताओ ! के पुव्विं तं चेव०जाव पव्व-
इत्तए । तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापियरो एवं
वयासी-इमाओ य ते जाया ! विउलकुलबालियाओ सरिस-
याओ सरित्तयाओ सरिव्वयाओ सरिसलावण्णरूवजो-
व्वणगुणोववेयाओ सरिसएहिंतो कुलेहिंतो आणियल्लिया-
ओ कलाकुसलसव्वकाललालियसुहोचियाओ मद्दवगुणजु-
त्तनिउणविणओवयारपंडियवियक्खणाओ मंजुलमियम-
हुरभणियविहसियविप्पेक्खियगइविलासचिट्ठियविसारया-
ओ अविकलकुलसीलसालियाओ विसुद्धकुलवंससंताण-
तंतुविवद्धणप्पगब्भवयभाविणीओ मणाणुकूलहियइच्छि-
याओ अट्ठ तुज्झ गुणवल्लहाओ उत्तमाओ णिच्चं भावा-
णुरत्तसव्वंगसुंदरीओ भारियाओ तं भुंजाहि ताव
जाव जाया ! एयाहिं सद्धिं विउले माणुस्सए कामभोगे,
तओ पच्छा भुत्तभोगी विसयविगयवोच्छिन्नकोउहल्ले
अम्हेहिं कालगएहिं० जाव पव्वइहिसि । तए णं से जमा-
ली खत्तियकुमारे अम्मापियरो एव वयासी-तहा वि णं
तं अम्म ! ताओ ! जं णं तुब्भे मम एव वदह-इमाओ य ते
जाया ! विउलकुल० जाव पव्वइहिसि , एव खलु अम्म !
ताओ ! माणुस्सया कामभोगा असुई असासया वंतासवा
पित्तासवा खेलासवा सुक्कासवा सोणियासवा उच्चारपास-
वणखेलसिंघाणवंतपूयसुक्कसोणियसमुब्भवा अमणुण्णदुरू-
वमुत्तपूइयपुरीसपुण्णा मियगंधुस्सासअसुभनिस्सासउ-
व्वेयणगा बीभत्था अप्पकालिया लहुसगा कलमलाहिवा
सदुक्खबहुजणसाहारणा परिकिलेसकिच्छदुक्खसज्झा
अबुहजणसेविया सदा साहुगरहणिज्जा अणंतसंसारवद्ध-
णा कडुयफलविवागा चुडलि व्व अमुच्चमाणदुक्खाणुबंधि-
णो सिद्धिगमणविग्घा,से केस णं जाणइ अम्म ! ताओ ! के
पुव्विं गमणयाए,के पच्छा ?,तं इच्छामि णं अम्म ! ताओ !०
जाव पव्वइत्तए । तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अ-
म्मापिअरो एवं वयासी-इमे य ते जाया ! अज्जयपज्ज-
यपिउपज्जयागए य बहुहिरण्णे य सुवण्णे य कंसे य दूसे
य विउलधणकणग० जाव संतसारसावएज्जे अलाहि०
जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं दाउं पकामं भोत्तुं
परिभाएत्तुं तं अणुहोहि ताव जाया ! विपुले माणुस्सए
इड्ढिसक्कारसमुदए, तओ पच्छा अणुहूयकल्लाणे वड्ढियकु-
लवंसग० जाव पव्वइहिसि । तए णं से जमाली खत्तियकु-
मारे अम्मापिअरो एवं वयासी-तहा वि णं अम्म ! ताओ !
जं णं तुब्भे ममं एव वदह-इमं च ते जाया ! अज्जयप-
ज्जय० जाव पव्वइहिसि । एवं खलु अम्म ! ताओ ! हि-
रण्णे य सुवण्णे य० जाव सावएज्जे अग्गिसाहिए चोरसा-
हिए रायसाहिए मच्चुसाहिए दाइयसाहिए अग्गिसाम-
ण्णे० जाव दाइयसामण्णे अधुवे अणितिए असासए
पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वे भविस्सइ, से
केस णं जाणइ तं चेव० जाव पव्वइत्तए । तए णं तं
जमालिं खत्तियकुमारं अम्मयाओ जाहे नो संचाएइ, वि-
सयाणुलोमेहिं बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य
विण्णवणाहि य सण्णवणाहि य आघवेत्तए वा सण्णवे-
त्तए वा विण्णवेत्तए वा ताहे विसयपडिकूलाहिं संजमभय-
उव्वेयणकरीहिं पण्णवणाहिं पण्णवेमाणा एव वयासी-एवं खलु
जाया ! णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवले जहा आव-
स्सए० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, अहीव एगंतदिट्ठिए,
खुरो इव एगंतधाराए, लोहमया जवा चावेयव्वा वालुया-
कवले इव निस्सारे , गंगेव महानदी पडिसोतगमणयाए
महासमुद्दो व्व भुयाहिं दुत्तरो तिक्खं कमियव्वं गुरुयं ल-
वेयव्वं,असिधाराग वयं चरियव्वं, णो खलु कप्पइ जाया !
समणाणं णिग्गंथाण आहाकम्मिएइ वा उद्देसिएइ वा
मिस्सजाएइ वा अज्झोयरिएइ वा पूइएइ वा कीएइए वा
पामिच्चेइ वा अच्छेज्जेइ वा अणिसिट्ठेइ वा अभिहडेइ
वा कंतारभत्तेइ वा दुब्भिक्खभत्तेइ वा गिलाणभत्तेइ वा
वद्दलियाभत्तेइ वा पाहुणभत्तेइ वा सेज्जायरपिंडेइ वा
रायपिंडेइ वा मूलभोयणेइ वा कंदभोयणेइ वा फलभोय-
णेइ वा बीयभोयणेइ वा हरियभोयणेइ वा भुत्तए वा पायए
वा तुम्म सि च णं जाया ! सुहसमुचिए णो चेव णं दुहसमु-
चिए नाल सीयं नालं उण्हं नालं खुहा नालं पिवासा नालं
चोरा नालं वाला नालं दंसा नाल मसगा नालं वाइयपि-
त्तियसिंभियसण्णिवाइयाविविहे रोगायंके परीसहोवसग्गे उ-
दिण्णे अहियासेत्तए, तं णो खलु जाया ! अम्हे इच्छामो
तुज्झं खणमवि विप्पओगं, तं अत्थाहि ताव जाया ! जाव
अम्हे जीवामो, तओ पच्छा अम्हेहिं कालगएहिं० जाव
पव्वइहिसि । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मा-
पियरो एवं वयासी-तहा वि णं त अम्म ! ताओ ! जण्णं
तुब्भे ममं एवं वदह-एवं खलु जाया ! णिग्गंथे पावयणे
सच्चे अणुत्तरे केवले त चेव० जाव पव्वइहिसि , एव खलु
अम्म ! ताओ ! णिग्गंथे पावयणे कीवाणं कायराणं का-
पुरिसाण इहलोगपडिबद्धाणं परलोगपरंमुहाण विसयति-

सियाणं दुरणुचरे पामरजणस्स, धीरस्स णिच्छियस्स ववसियस्स णो खलु एत्थ किंचि वि दुक्करं करणयाए, तं इच्छामि णं अम्म! ताओ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स० जाव पव्वइत्तए। तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापिअरो जाहे नो संचाएइ विसयाणुलोमाहि य विसयपडिकूलाहि य बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य ४ आघवेत्तए वा० जाव विण्णवेत्तए वा, ताहे अकामाइं चेव निक्खमणं अणुमण्णित्था। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! खत्तियकुंडग्गामं नयरं सब्भिंतरबाहिरियं आसियसम्मज्जिओवलित्तं जहा उववाइए० जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! जमालिस्स खत्तियकुमारस्स महत्थं महग्घं महरिहं विपुलं णिक्खमणाऽभिसेयं उवट्ठवेह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तहेव० जाव पच्चप्पिणंति। तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापियरो सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहं निसीयावेइ, निसीयावेइत्ता अट्ठसएणं सोवण्णियाणं कलसाणं एवं जहा रायप्पसेणिए० जाव अट्ठसयाणं भोमेज्जाणं कलसाणं सव्विड्ढीए० जाव महया रवेणं महया महया निक्खमणाभिसेगेणं अभिसिंचति, अभिसिंचतित्ता करयल० जाव जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-भण जाया! किं देमो, किं पयच्छामो, किं णु वा ते अट्ठो?। तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मापियरो एवं वयासी-इच्छामि णं अम्म! ताओ! कुत्तियावणाओ रयहरणं च, पडिग्गहं च आणेउं, कासवगं च सद्दाविउं। तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सिरिघराओ तिण्णि सयसहस्साइं गहाय दोहिं सयसहस्सेहिं कुत्तियावणाओ रयहरणं च पडिग्गहं च आणेह, सयसहस्सेणं कासवगं सद्दावेह। तए णं से कोडुंबियपुरिसे जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठकरयल० जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव सिरिघराओ तिण्णि सयसहस्साइं तहेव० जाव कासवगं सद्दावेइ। तए णं से कासवए जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविए समाणे हट्ठे तुट्ठे ण्हाए कयबलिकम्मे० जाव सरीरे जेणेव जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पियरं जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-

संदिसह तुमं देवाणुप्पिया! जं मए करणिज्जं। तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तं कासवगं एवं वयासी-तुमं देवाणुप्पिया! जमालिस्स खत्तियकुमारस्स परेणं जत्तेणं चउरंगुलवज्जे णिक्खमणप्पओगे अग्गकेसे कप्पेह। तए णं से कासवए जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे करयल० जाव एवं सामी! तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता सुरभिणा गंधोदएणं हत्थपाए पक्खालेइ, पक्खालेइत्ता सुद्धाए अट्ठपडलाए पोत्तिए मुहं बंधइ, बंधइत्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स परेणं जत्तेणं चउरंगुलवज्जे निक्खमणप्पओगे अग्गकेसे कप्पेइ। तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया हंसलक्खणेणं पडसाडएणं अग्गकेसे पडिच्छइ, पडिच्छइत्ता सुरभिणा गंधोदएणं पक्खालेइ, पक्खालेइत्ता अग्गेहिं वरेहिं गंधेहिं मल्लेहिं अच्चेइ, अच्चेइत्ता सुद्धेणं वत्थेणं बंधइ, बंधेइत्ता रयणकरंडगंसि पक्खिवइ, पक्खिवइत्ता हारवारिधारसिंदुवारच्छिन्नमुत्तावलिप्पगासाइं सुयवियोगदूसहाइं अंसूइं विणिम्मुयमाणी विणिम्मुयमाणी एवं वयासी-एस णं अम्हं जमालिस्स खत्तियकुमारस्स बहूसु य तिहीसु य पव्वणीसु य उस्सवेसु य जण्णेसु य छणेसु य अपच्छिमे दरिसणे भविस्सतीति कट्टु उस्सीसगमूले ठवेइ। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स अम्मापियरो दोच्चं पि उत्तरावक्कमणं सीहासणं रयावेंति, रयावेंतित्ता जमालिं खत्तियकुमारं सेयपीएहिं कलसेहिं ण्हावेंति, सेयपीएहिं कलसेहिं ण्हावेंतित्ता पम्हलसुकुमालाए सुरभिए गंधकासाईए गायाइं लूहेंति, लूहेंतित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपंति, गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपित्ता नासानिस्सासवायवोज्झं चक्खुहरं वण्णफरिसजुत्तं हयलालापेलवातिरेगं धवलकणगखचियंतकम्मं महरिहं हंसलक्खणपडसाडगं परिहिंति, परिहिंतित्ता हारं पिणद्धेंति, पिणद्धेंतित्ता अद्धहारं पिणद्धेंति, पिणद्धेंतित्ता एवं जहा सूरियाभस्स अलंकारो तहेव चित्तं रयणसंकडुक्कडं मउडं पिणद्धेंति, किं बहुणा गंथिमवेढिमपूरिमसंघातिमेणं चउव्विहेणं मल्लेणं कप्परुक्खगं पिव अलंकियविभूसियं करेंति, तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं लीलट्ठियसालिभंजियागं जहा रायप्पसेणइज्जे विमाणवण्णओ० जाव मणिरयणघंटियाजालपरिक्खित्तं पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं उवट्ठवेह, उवट्ठवेइत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। तए णं ते कोडुंबियपु-

रिसा० जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से जमाली खत्तियकुमारे केसालंकारेणं वत्थालंकारेणं मल्लालंकारेणं आभरणालंकारेणं चउव्विहेणं अलंकारेणं अलंकारिए समाणे पडिपुण्णालंकारे सीहासणाओ अब्भुट्टेइ,अब्भुट्टेइत्ता सीयं अणुप्पदाहिणीकरेमाणे सीयं दुरूहइ, दुरूहइत्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया ण्हाया० जाव सरीरा हंसलक्खणं पडसाडगं गहाय सीयं अणुप्पदाहिणीकरेमाणी सीयं दुरूहइ, दुरूहइत्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स दाहिणेणं पासेणं भद्दासणवरंसि सण्णिसण्णा, तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स अम्मधाती ण्हाया० जाव सरीरा रयहरणं पडिग्गहं च गहाय सीयं अणुप्पदाहिणीकरेमाणी सीयं दुरूहइ, दुरूहइत्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स वामे पासे भद्दासणवरंसि सण्णिसण्णा। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिट्ठओ एगा वरतरुणी सिंगारागारचारुवेसा संगय० जाव रूवजोव्वणविलासकलिया सुंदरथणहिमरययकुमुदकुंदेंदुप्पगासं सकोरंटमल्लदामं धवलं आयवत्तं गहाय सलीलं उवधरेमाणी २ चिट्ठइ। तए णं तस्स जमालिस्स० उभओ पासिं दुवे वरतरुणीओ सिंगारागारचारु० जाव कलियाओ णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरयअमियमहियफेणपुंजसण्णिगासाओ धवलाओ चामराओ गहाय सलीलं वीयमाणीओ वीयमाणीओ चिट्ठंति। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स उत्तरपुरच्छिमेणं एगा वरतरुणी सिंगारागार० जाव कलिया सेतं रययामयं विमलसलिलपुण्णं मत्तगयमहामुहाकिइसमाणं भिंगारं गहाय चिट्ठइ। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स दाहिणपुरच्छिमेणं एगा वरतरुणी सिंगारागार० जाव कलिया चित्तकणगदंडं तालवंटं गहाय चिट्ठइ। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सरिसयं सरित्तयं सरिव्वयं सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयं एगाभरणवसणगहियनिज्जोयं कोडुंबियवरतरुणसहस्सं सद्दावेह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा० जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव सरिसयं० जाव सद्दावेंति, तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविया समाणा हट्ठतुट्ठा ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता एगाभरणवसणगहियनिज्जोया जेणेव जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव बद्धावेइ, बद्धावेइत्ता एवं वयासी-संदिसंतु णं देवाणुप्पिया! जं अम्हेहिं करणिज्जं, तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तं कोडुंबियं वरतरुणसहस्सं पि एवं वयासी-तुज्झे णं देवाणुप्पिया! ण्हाया कयबलिकम्मा० जाव गहियणिज्जोगा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स सीयं परिवहेह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स सीयं परिवहेंति। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूढस्स समाणस्स तप्पढमयाए इमे अट्ठट्ठमंगला पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया। तं जहा-सोत्थियसिरिवत्थ० जाव दप्पणं, तदाणंतरं च णं पुण्णकलसभिंगार जहा उववाइए० जाव गयणतलमणुलिहंती पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया एवं जहा उववाइए तहेव भाणियव्वं० जाव आलोयं च करेमाणा जयजयसद्दं च पउंजमाणा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया, तयाणंतरं च णं बहवे उग्गा भोगा जहा उववाइए० जाव महापुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पुरओ मग्गओ य पासओ य अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया, तए णं जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया ण्हाया कय० जाव विभूसिए हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं उद्धुव्वमाणीहिं हयगयरहपवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे महया भडचडगर० जाव परिक्खित्ते जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिट्ठओ २ अणुगच्छइ। तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पुरओ महं आसा आसवरा उभओ पासिं णागा णागवरा पिट्ठओ रहा रहसंगेल्ली। तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अब्भुग्गयभिंगारे परिग्गहियतालियंटे ऊसवियसेयछत्ते पवीइयसेयचामरवालवीयणीए सव्विड्ढीए० जाव णाइयरवेणं, तयाणंतरं च णं बहवे लट्ठिग्गहा कुंतग्गहा० जाव पुत्थियग्गहा० जाव वीणग्गहा, तयाणंतरं च णं अट्ठसयं गयाणं अट्ठसयं तुरियाण अट्ठसयं रहाणं, तदाणंतरं च णं लउडअसिकोंतहत्था णं बहूणं पायत्ताणीणं पुरओ संपट्ठिया, तयाणंतरं च णं बहवे राईसरतलवर० जाव सत्थवाहप्पभिइओ पुरओ संपट्ठिया खत्तियकुंडग्गामे णयरे मज्झं मज्झेणं जेणेव माहणकुंडग्गामे णयरे जेणेव बहुसालए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए, तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स खत्तियकुंडग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छमाणस्स सिंघाडगतिगचउक्क० जाव पहेसु बहवे अत्थत्थिया जहा

ववाइए जाव० अभिणंदंता य अभित्थुणंता य एव वयासी-
जय जय णंदा धम्मेणं,जय जय णंदा तवेणं,जय जय णंदा
जद्द ते,अभग्गेहिं णाणदंसणचरित्तमुत्तमेहिं अजियाइं जिया-
हि इंदियाइं,जितं पालेहि समणधम्मं, जियविग्घो वि य वसा-
हि य देव! सिद्धिमज्झे, निहणाहि रागदोसमल्ले तवेणं, धिइ-
धणियबद्धकच्छे मद्दाहि अट्ठकम्मसत्तू झाणेणं उत्तमेणं सुक्के-
ण अप्पमत्तो,हराहि आराहणपमागं च धीर! तेल्लोकरंगम-
ज्झे,पावय वितिमिरमणुत्तरं च केवलणाणं, गच्छ य मोक्खं
परं पद जिणवरोवादिट्ठेणं सिद्धिमग्गेण अकुडिलेन, हंता प-
रीसहचमु,अभिभविय गामकंटकोवसग्गाणं,धम्मे ते अविग्घ-
मत्थु त्ति कट्टु अभिणंदंति य, अभित्थुणंति य । तए णं से
जमाली खत्तियकुमारे णयणमालासहस्सेहिं पेच्छिज्जमाणे
एव जहा उववाइए कूणिओ० जाव णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइ-
त्ता जेणेव माहणकुडग्गामे णयरे जेणेव बहुसालए चेइए
तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता छत्ताईए तित्थगराइसए
पासइ,पासइत्ता पुरिससहस्सवाहणिं सीयं ठवेइ, ठवेइत्ता
पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ पच्चोरुहइ । तए णं तं
जमालिं खत्तियकुमारं अम्मापियरो पुरओ काउं जेणेव
समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता समणं
भगवं महावीर तिक्खुत्तो० जाव णमसित्ता एव वयासी-
एवं खलु भंते ! जमाली खत्तियकुमारे अम्हं एगे पुत्ते
इट्ठे कंते० जाव किमंग ! पुण पासणयाए से जहानामए उप्प-
लेइ वा पउमेइ वा०जाव सहस्सपत्ते वा पंके जाए जले संवु-
ड्ढे णोवलिप्पइ पंकरएणं, णोवालिप्पइ जलरएणं, एवामेव
जमाली वि खत्तियकुमारे कामेहिं जाए भोगेहिं
संवुड्ढे णोवलिप्पइ कामरएणं, णोवलिप्पइ भोगर-
एणं, णोवलिप्पइ मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणेणं,
एस णं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गे भीए जम्म-
जरामरणेणं इच्छइ देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवि-
त्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, तं एस णं देवा-
णुप्पियाणं अम्हे सीसभिक्खं दलयामो, पडिच्छंतु णं
देवाणुप्पिया ! सीसभिक्खं । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा
पडिबंधं । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे समणेणं भग-
वया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे समणं भगवं
महावीरं तिक्खुत्तो० जाव णमंसित्ता उत्तरपुरच्छिमं दि-
सीभागं अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता सयमेव आभरणमल्लालं-
कार ओमुयइ । तए णं सा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स
माया हंसलक्खणेणं पडसाडएणं आभरणमल्लालंकारं
पडिच्छइ, पडिच्छइत्ता हारवारिधार० जाव विणिम्मुय-
माणी विणिम्मुयमाणी जमालिं खत्तियकुमार एवं वयासी-
घडियव्वं जाया ! जइयव्वं जाया ! परक्कमियव्वं जाया !
अस्सिं च णं अट्ठे णो पमादेयव्वं त्ति कट्टु जमालिस्स
खत्तियकुमारस्स अम्मापियरो समणं भगवं महावीरं वं-
दंति, णमंसंति, जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं प-
डिगया । तए णं से जमाली खत्तियकुमारे सयमेव पंचमु-
ट्ठियं लोयं करेइ, करेइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे
तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एव जहा उसभदत्तो
तहेव पव्वइओ, णवरं पंचहिं पुरिससएहिं सद्धिं तहेव०
जाव सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, अहि-
ज्जइत्ता बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठम० जाव मासद्धमासक्खमणे-
हिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।
तए णं से जमाली अणगारे अण्णया कयाइं जेणेव सम-
णे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं
भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसइत्ता एव व-
यासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे
पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं बहिया जणवयविहारं विह-
रित्तए । तए णं समणे भगव महावीरे जमालिस्स अण-
गारस्स एयमट्ठं णो आढाइ, णो परिजाणइ, तुसिणीए
चिट्ठइ । तए णं से जमाली अणगारे समणे भगवं महावीरे
दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं
अब्भणुण्णाए समाणे पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं० जाव
विहरित्तए ? । तए णं समणे भगवं महावीरे जमालिस्स
अणगारस्स दोच्चं पि तच्चं पि एयमट्ठं णो आढाइ,
जाव० तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं से जमाली
अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ वंदित्ता
णमंसित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिआओ
बहुसालाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता
पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं बहिया जणवयविहार विहर-
इ । तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी णामं णयरी हो-
त्था, वण्णओ, कोट्ठए चेइए वण्णओ०जाव वणसंडस्स । तेणं
कालेणं तेणं समएणं चंपा णाम णयरी होत्था, वण्णओ-
पुण्णभद्दे चेइए वण्णओ० जाव पुढवीसिलापट्टओ । तए णं से
जमाली अणगारे अण्णया कयाइं पंचहिं अणगारसए-
हिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइ-
ज्जमाणे जेणेव सावत्थी णयरी जेणेव कोट्ठए चेइए. तेणेव
उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गह ओगिण्हइ,
ओगिण्हइत्ता संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।
तए णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाइं पुव्वाणुपुव्विं
चरमाणे० जाव सुहं सुहेण विहरमाणे वा जेणेव चंपा
णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवाग-

च्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हइ, उगिण्हइत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स तेहिं अरसेहि य विरसेहि य अंतेहि य पंतेहि य लूहेहि य तुच्छेहि य कालाइक्कंतेहि य पमाणाइक्कंतेहि य सीएहिं पाणभोअणेहिं अण्णया कयाइ सरीरगंसि विउलरोगातंके पाउब्भूए उज्जले तिउले पगाढे कक्कसे कडुए चंडे दुक्खे दुग्गे तिव्वे दुरहियासे पित्तज्जर-परिगयसरीरे दाहवुक्कंतिए यावि विहरइ । तए णं से जमाली अणगारे वेदणाए अभिभूए समाणे समणे णिग्गंथे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी—तुज्झे णं देवाणुप्पिया ! ममं सेज्जा-संथारयं संथरह । तए णं समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति, पडिसुणेंत्तिा जमालिस्स अणगारस्स सेज्जासंथारगं संथरेंति । तए णं से जमाली अणगारे बलियतरं वेदणाए अभिभूए समाणे दोच्चं पि समणे णिग्गंथे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी—ममं णं देवाणुप्पिया ! सेज्जासंथारए किं कडे कज्जइ ?। तए णं समणा णिग्गंथा त जमालिं अणगारं एवं वयासी—णो खलु देवाणुप्पिया ! णं सेज्जासंथारए कडे कज्जइ । तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था, जं णं समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ, एवं खलु चलमाणे चलिए उदीरिज्जमाणे उदीरिए० जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे,तं णं मिच्छा, इमं च णं पच्चक्खमेव दीसइ—सेज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे,संथारिज्जमाणे असंथरिए, जम्हा णं सेज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे संथरिज्जमाणे असंथरिए,तम्हा चलमाणे वि अचलिए० जाव णिज्जरिज्जमाणे वि अणिज्जिण्णे,एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता समणे णिग्गंथे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी—जं णं देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ० जाव परूवेइ, एवं खलु चलमाणे चलिए त चेव सव्व०जाव णिज्जरिज्जमाणे अणिज्जिण्णे । तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स०जाव परूवेमाणस्स अत्थेगइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं सद्दहंति, पत्तियंति, रोयंति, अत्थेगइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं णो सद्दहंति,णो पत्तियंति,णो रोयंति,तत्थ णं जे ते समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं सद्दहंति, पत्तियंति, रोयंति, ते णं जमालिं चेव अणगारं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति । तत्थ णं जे ते समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं णो सद्दहंति , णो पत्तियंति , णो रोयंति , ते णं जमालिस्स अणगारस्स-अंतियाओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमइत्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता समणं भगवं महावीरं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति । तए णं से जमाली अणगारे अण्णया कयाइ ताओ रोगातंकाओ विप्पमुक्के हट्ठे तुट्ठे जाए अरोए बलियसरीरे सावत्थीओ णयरीओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—जहा णं देवाणुप्पियाणं बहवे अंतेवासी समणा णिग्गंथा छउमत्था भवित्ता छउमत्थावक्कमणेणं अवक्कमंता, णो खलु अहं तहा चेव छउमत्थे भवित्ता छउमत्थावक्कमणेणं अवक्कंते,अहं णं उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवलीअक्कमणेणं अवक्कंते । तए णं भगवं गोयमे जमालिं अणगारं एवं वयासी—णो खलु जमाली! केवलिस्स णाणे वा दंसणे वा सेलंसि वा थंभंसि वा थूभंसि वा आवरिज्जइ वा, णिवारिज्जइ वा, जइ णं तुमं जमाली ! उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवलीअवक्कमणेणं अवक्कंते, ता णं इमाइं दो वागरणाइं वागरेहि,सासए लोए जमाली !, असासए लोए जमाली !, सासए जीवे जमाली !, असासए जीवे जमाली ! ? । तए णं से जमाली अणगारे भगवया गोयमेणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए० जाव कलुससमावण्णे जाए यावि होत्था, णो संचाएइ भगवओ गोयमस्स किंचि वि पामोक्खमाइक्खित्तए तुसिणीए संचिट्ठइ जमाली । समणे भगवं महावीरे जमालिं अणगारं एवं वयासी- अत्थि णं जमाली ! ममं बहवे अंतेवासी समणा णिग्गंथा छउमत्था, जे णं पभू एयं वागरणं वागरित्तए, जहा णं अहं णो चेव णं एतप्पगारं भासं भासित्तए,जहा णं तुम सासए लोए जमाली !, जं ण णं कदायि णासि, ण कदायि ण भवइ, ण कदायि ण भविस्सइ, भुविं च, भवइ, भविस्सति य, धुवे णिइए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे असासए लोए जमाली ! जं ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ, उस्सप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ, सासए जीवे जमाली ! जं ण कदायि णासि० जाव णिच्चे असासए

जीवे जमाली ! जं णं णेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ, तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ, मणुस्से भवित्ता देवे भवइ । तए णं से जमाली अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स एवमाइक्खमाणस्स० जाव एवं परूवेमाणस्स एयमहं णो सद्दहइ, णो पत्तियइ, णो रोयइ, एयमहं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे दोच्चं पि समणस्स भगवओ महावीरस्स अतियाओ आताए अवक्कमइ, दोच्चं पि आताए अवक्कमित्ता बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणे वुप्पाएमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ, पाउणइत्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेइ, झूसेइत्ता तीसं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ, छेदेइत्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे तेरससागरोवमाइं ठिईए देवकिब्बिसिएसु देवेसु देवकिब्बिसियत्ताए उववन्ने । तए णं भगवं गोयमे जमालिं अणगारं कालगयं जाणित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कुसिस्से जमाली णामं अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववन्ने ?। गोयमादि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी–एवं खलु गोयमा ! मम अंतेवासी कुसिस्से जमाली णामं अणगारे, से णं तदा ममं एवमाइक्खमाणस्स ४ एयमहं णो सद्दहइ ३, एयमहं असद्दहमाणे दोच्चं पि ममं अंतियाओ आताए अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं त चेव० जाव देवकिब्बिसियत्ताए उववन्ने । (भ०) जमाली णं भंते ! अणगारे अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे पंताहारे लूहाहारे तुच्छाहारे अरसजीवी० जाव तुच्छजीवी उवसंतजीवी पसंतजीवी विवित्तजीवी ? । हंता गोयमा ! जमाली णं अणगारे अरसाहारे० जाव विवित्तजीवी । जइ णं भंते ! जमाली अणगारे अरसाहारे० जाव विवित्तजीवी, कम्हा णं भंते ! जमाली अणगारे कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे तेरससागरोवमट्ठिइएसु देवकिब्बिसिएसु देवेसु देवत्ताए उववन्ने ? । गोयमा ! जमाली णं अणगारे आयरियपडिणीए उवज्झायपडिणीए आयरियउवज्झायाणं अयसकारए अवण्णकारए० जाव वुप्पाएमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणेइ, पाउणइत्ता अद्धमासियाए संलेहणाए तीसं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ, छेदेइत्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे० जाव उववन्ने । जमाली णं भंते ! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं० जाव कहिं उववज्जिहिइ त्ति ? । गोयमा ! चत्तारि पंच तिरिक्खजोणियमणुस्सदेवभवग्गहणाइं संसारं अणुपरियट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झिहिति० जाव अंत काहिति सेवं भंते ! भंते त्ति जमाली सम्मत्तो ।

अथ भगवता श्रीमन्महावीरेण सर्वज्ञत्वादमुं तद्व्यतिकरं जानताऽपि किमिति प्रव्राजितोऽसाविति ? । उच्यते-अवश्यंभाविभावानां महानुभावैरपि प्रायो लङ्घयितुमशक्यत्वादित्यमेव वा गुणविशेषदर्शनात् अमूढलक्षा हि भगवन्तोऽर्हन्तो न निष्प्रयोजनं क्रियासु प्रवर्तन्ते । भ० ९ श० ३३ उ० ।

अथ सपिण्डय सामान्यत सुचितमेवार्थमेकैकनिह्नव प्रति व्यक्तितो निर्दिदिशुराह-

चोद्दस वासाणि तया, जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स ।
तो बहुरयाण दिट्ठी, सावत्थीए समुप्पन्ना ॥ २३०६ ॥

चतुर्दश वर्षाणि तदा जिनेन श्रीमन्महावीरेणोत्पादितस्य केवलज्ञानस्य ततोऽत्रान्तरे बहुरतनिह्नवाना दर्शनं दृष्टिः श्रावस्त्या नगर्यां समुत्पन्नेति ॥ २३०६ ॥

सा च यथोत्पन्ना तथा दिदर्शयिषुः सग्रहगाथामाह-

जिट्ठा सुदंसण जमा–लिणोज्ज सावत्थितिंदुगुज्जाणे ।
पंच सया य सहस्स, ढंकेण जमालि मोत्तूणं ॥ २३०७ ॥

अत्र भावार्थस्तावत्कथानकेनोच्यते-इहैव भरतक्षेत्रे कुण्डपुरं नाम नगरम् । तत्र भगवतः श्रीमन्महावीरस्य भागिनेयो जमालिर्नाम राजपुत्र आसीत् । तस्य च भार्या श्रीमन्महावीरस्य दुहिता । तस्याश्च ज्येष्ठेति वा, सुदर्शनेति वा, अनवद्याङ्गीति वा नामेति । तत्र पञ्चशतपुरुषपरिवारो जमालिर्भगवतो महावीरस्यान्तिके प्रव्रज्या जग्राह । सुदर्शनाऽपि सहस्रस्त्रीपरिवारा तदनु प्रव्रजिता । ततश्चैकादशस्वङ्गेष्वधीतेषु जमालिना भगवान् विहारार्थं मुत्कलापित । ततो भगवता तूष्णीमासनाय न किञ्चित्प्रत्युत्तरमदायि, तत एवममुत्कलितोऽपि पञ्चशतसाधुपरिवृतो निर्गतः श्रीमन्महावीरान्तिकात् । ग्रामानुग्रामं च पर्यटन् गत श्रावस्तीनगर्यां, तत्र च तैन्दुकाऽभिधानोद्याने कोष्ठकनाम्नि चैत्ये स्थित, ततश्च तत्र तस्यान्त प्रान्ताहारैस्तीव्रो रोगातङ्क समुत्पन्नः, तेन च न शक्नोत्युपविष्टः स्थातुम् । ततो श्रमणान् श्रमणान्-भणितमिति शीघ्रमेव संस्तारकमास्तृणीत, येन तत्र तिष्ठामि । ततस्तैः कर्तुमारब्धोऽसौ । बाढं च दाहज्वराभिभूतेन जमालिना पृष्टम्-संस्तृत संस्तारको न वेति ? । साधुभिश्च संस्तृतप्रायत्वादर्धसंस्तृतेऽपि प्रोक्तम्-संस्तृत इति । ततोऽसौ वेदनाविह्वलितचेता उत्थाय तत्र तिष्ठासुरर्द्धसंस्तृत तत दृष्ट्वा क्रुद्ध-“ क्रियमाणं कृतम् ”। इत्यादि सिद्धान्तवचन स्मृत्वा मिथ्यात्वमोहनीयोदयतो वक्ष्यमाणयुक्तिभिर्वितथमिति चिन्तयामास । तत स्थविरैर्वक्ष्यमाणाभिरेव युक्तिभिः प्रतिबोधितो यदा कथमपि न प्रतिबुध्यते, तदा गतास्त परित्यज्य भगवत्समीपे । अन्ये तु तत्समीप एव स्थिता । सुदर्शनाऽपि तदा तत्रैव श्रावकढङ्ककुम्भकारगृहे आसीत् । जमाल्यनुरागेण च तन्मतमेव प्रपन्ना, ढङ्कमपि

तद्दाहयितुं प्रवृत्ता, ततो ढङ्केन मिथ्यात्वमुपगतेयमिति ज्ञात्वा प्रोक्तम्-नेदृशं किमपि वयं जानीमः। अन्यदा चापाकाग्निमध्ये मृद्भाजनोद्वर्तनपरावर्तने कुर्वता अङ्गारकमेकं प्रक्षिप्य तत्रैव प्रदेशे स्वाध्यायं कुर्वत्याः सुदर्शनायाः सङ्घाट्यञ्चलो दग्धः। ततस्तया प्रोक्तम्-श्रावक! किं त्वया मदीयसङ्घाटी दग्धा?। तेनोक्तम्-ननु 'दह्यमानमदग्धम्' इति भवति भवत्यास्सिद्धान्तः, ततः कं केन त्वदीया सङ्घाटी दग्धा?। इत्यादि तदुक्तं परिभाव्य सम्बुद्धाऽसौ सम्यक् प्रेरिताऽस्मीत्यभिधाय मिथ्यादुष्कृतं ददाति, जमालिं च गत्वा प्रज्ञापयति। यदा चासौ कथमपि न प्रज्ञाप्यते, तदाऽसौ सपरिवारा शेषसाधवश्चैकाकिनं जमालिं मुक्त्वा भगवत्समीपं जग्मुः। जमालिस्तु बहुजनं व्युद्ग्राहयित्वाऽनालोचितप्रतिक्रान्तः कालं कृत्वा किल्बिषिकदेवेषूत्पन्नः। व्याख्याप्रज्ञप्त्यागमाच्चैतच्चरितं विस्तरतोऽवसेयमिति। एष संग्रहगाथाभावार्थः। अक्षरार्थस्त्वयम्—(जट्ठा सुदंसण जमालिणोज्ज त्ति) ज्येष्ठा, सुदर्शना, अनवद्याङ्गीति जमालिगृहिणीनामानि। अन्ये तु व्याचक्षते-ज्येष्ठा महती सुदर्शना नाम भगवतः श्रीमन्महावीरस्य भगिनी, तस्याः पुत्रो जमालिः, अनवद्याङ्गी नाम भगवतो दुहिता जमालिगृहिणीति श्रावस्त्यां नगर्यां तैन्दुकोद्याने जमालिनिह्नवदृष्टिरुत्पन्नेति वाक्यशेषः। तत्र पञ्च शतानि साधूनां, सहस्रं चार्यिकाणाम्, एतेषां मध्ये यः स्वयं न प्रतिबुद्धः तं जमालिं मुक्त्वा ढङ्केन प्रतिबोधितः। इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २३०७ ॥

अथ भाष्यकारो येन विप्रतिपत्त्यभिप्रायेण जमालिनिह्नवो जातस्तं प्रकटयन्नाह—

सक्खं चिय संथारो, न कज्जमाणो कउ त्ति मे जम्हा ।
बेइ जमाली सव्वं, न कज्जमाणं कयं तम्हा ॥२३०८॥

(मे जम्ह त्ति) यस्मान्मम साक्षात्प्रत्यक्षमेवेदं वृत्तं, यदुत कम्बलास्तरणरूपः संस्तारकः क्रियमाणो न कृतः, संस्तीर्यमाणो न संस्तृतः। तस्माज्जमालिर्ब्रवीति-सर्वमपि वस्तु क्रियमाणं कृतं न भवति, किं तु कृतमेव कृतमुच्यते। ततो भगवत्यादिषु यदुक्तम्-" चलमाणे चलिए उदीरिज्जमाणे उदीरिए, वेइज्जमाणे वेइए " इत्यादि, तत्सर्वं मिथ्येत्यभिप्रायः॥ इति ॥ २३०८ ॥

अपि च, क्रियमाणे कृताऽभ्युपगमे बहवो दोषाः, के एते?।
इत्याह-

जस्सेह कज्जमाणं, कयं ति तेणेह विज्जमाणस्स ।
करणकिरिया पवन्ना,तहा य बहुदोसपडिवत्ती ॥२३०९॥

इह यस्य वादिनः क्रियमाणं वस्तु कृतमित्यभ्युपगमः, तेनेह विद्यमानस्य सतः करणरूपाः क्रियाः करणक्रिया प्रतिपन्ना अङ्गीकृताः। तथा च सति वक्ष्यमाणानां बहूनां दोषाणां प्रतिपत्तिरभ्युपगमरूपा कृता भवतीति ॥ २३०९ ॥

तथाहि-

कयमिह न कज्जमाणं, सब्भावाओ चिरंतनघडो व्व ।
अहवा कयं पि कीरइ,कीरउ निच्चं न य समत्ती ॥२३१०॥

इह क्रियमाणं कृतं न भवतीति प्रतिज्ञा, सद्भावात्—कृतस्य विद्यमानत्वादिति हेतुः, चिरन्तनघटवदिति दृष्टान्तः। विपर्यये बाधकमाह-अथ कृतमपि क्रियत इत्यभ्युपगम्यते, तर्हि नित्यमनवरतमेव क्रियतां, कृतकत्वाविशेषात्। एवं च सति न कदाचिदपि कार्यक्रियापरिसमाप्तिरिति ॥ २३१० ॥

किमेतावन्मात्रमेव दूषणम्?, नेत्याह-

किरियावेफल्लं ति य, पुव्वमभूयं च दीसए होंतं ।
दीसइ दीहो य जओ, किरियाकालो घडाईणं ॥२३११॥

यदि च क्रियमाणं कृतमिष्यते, तर्हि घटादिकार्यार्थं या मृन्मर्दनचक्रभ्रमणादिका क्रिया, तस्याः वैफल्यं प्राप्नोति, तत्काले कार्यस्य कृतत्वाभ्युपगमात्। प्रयोगः-इह यत्कृतं, तत्क्रिया विफलैव, यथा चिरनिष्पन्नघटे, कृतं चाऽभ्युपगम्यते क्रियाकाले कार्यं, ततो विफला तत्र क्रियेति। किं च-क्रियमाणकृतवादिना कृतस्य विद्यमानस्य क्रियेति प्रतिपादितं भवति। एवं च प्रत्यक्षविरोधः, यस्मादुत्पत्तिकालात्पूर्वमभूतमविद्यमानमेव कार्यं भवज्जायमानं दृश्यते, उत्पत्तिकाले तस्मात्क्रियमाणमकृतमेवेति। किं च-आरम्भक्रियासमय एव कार्यमुत्पद्यत इति तवाभ्युपगमः। एतच्चायुक्तम्। कुतः?, यस्मात् घटादिकार्याणामुत्पद्यमानानां दीर्घ एव निर्वर्तनक्रियाकालो दृश्यत इति ॥ २३११ ॥

दृश्यतां नाम दीर्घः क्रियाकालः, परं घटादिकार्यमारम्भक्रियासमय एव शिवकादिकाले वा दृश्यत इति चेत्, तदयुक्तम्। कुत इत्याह—

नारंभे च्चिय दीसइ, न सिवादद्धाए दीसइ तदंते ।
तो न हि किरियाकाले, जुत्तं कज्जं तदंतम्मि ॥ २३१२॥

नारम्भक्रियासमय एव घटादिकार्यं भवद् दृश्यते, नापि शिवाद्यद्धायाम्-शिवकस्थासकोशकुशूलादिसमयेष्वपि न दृश्यत इत्यर्थः। क्व तर्हि दृश्यते?, इत्याह-तदन्ते दीर्घक्रियाकालस्यान्ते घटादिकार्यं भवद् दृश्यते, तस्मान्न क्रियाकाले कार्यं युक्तं, तस्य तदानीमदर्शनात्। तदन्ते तु दीर्घक्रियाकालस्यान्ते युक्तं कार्यं, तदानीमेव तस्य दर्शनादिति सकलजनस्य प्रत्यक्षसिद्धमेवेदम्। इति जमालिपूर्वपक्षः ॥२३१२॥

अत्र स्थविराः प्रतिविदधति स्म। कथमित्याह-

थेराण मयं नाकय-मभावओ कीरए खपुप्फं व ।
अह व अकयं पि कीरइ, कीरउ तो खरविसाणं पि ॥२३१३॥

स्थविरा श्रुतवृद्धा गीतार्थाः साधवः, तेषां मतम्-कुप्ररूपणां कुर्वन्तं जमालिं ते एवं प्रज्ञापयन्तीत्यर्थः-नाकृतमविद्यमानं घटादिकार्यं क्रियते, असत्त्वात्, आकाशकुसुमवत्। अथाकृतमविद्यमानमपि क्रियते, क्रियतां तर्हि खरविषाणमपि, अकृतत्वाविशेषादिति ॥ २३१३ ॥

यदुक्तम्-" कीरउ निच्चं न य समत्ती " (२३१०) इत्यादि, तत्राह-

निच्चकिरियाइदोसा, णणु तुल्ला असइ कट्ठतरगा वा ।
पुव्वमभूयं च न ते, दीसइ किं खरविसाणं पि ॥२३१४॥

नन्वसत्यविद्यमाने वस्तुनि करणक्रियाभ्युपगमे, नित्यक्रियादिदोषाः, आदिशब्दात्क्रियाऽपरिसमाप्तिक्रियावैफल्यपरिग्रहः, आवयोस्तुल्याः समाः, यथा कृतपक्षे त्वया दृष्टास्तथा अकृतपक्षेऽप्यापतन्तीत्यर्थः। किं तुल्या एव?। नेत्याह-कष्टतरका

वा । विद्यमाने हि वस्तुनि पर्यायविशेषाधानद्वारेण कथञ्चित्करणमित्युपपद्यते एवं, यथा–" आकाशं कुरु, पादौ कुरु, पृष्ठं कुरु " इत्यादि । अविद्यमाने तु सर्वथा नायं न्यायः सम्भवति, सर्वथा असत्त्वात् खरविषाणवदिति । यदि च पूर्वं कारणावस्थायामभूतमसत् कार्यं जायते, तर्हि मृत्पिण्डाद् घटवत् खरविषाणमपि जायमानं किं न दृश्यते, असत्त्वाविशेषात्?। अथ खरविषाणं भवन्न दृश्यते, तर्हि घटोऽपि तथैवास्तु, विपर्ययो वेति ॥ २३१४ ॥

यदुक्तम्–" दीसइ दीहो य जओ " (२३११) इत्यादि, तत्राह–

पइसमउप्पन्नाणं, परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं ।
दीहो किरियाकालो, जइ दीसइ किं त्थ कुंभस्स ॥२३१५॥

यदि नाम प्रतिसमयोत्पन्नानां परस्परविलक्षणस्वरूपाणां सुबहूनां शिवकस्थासकोशकुशूलादिकार्यकोटीनां क्रियाकालनिष्ठाकालयोरेकत्वेन प्रतिप्रारम्भसमयनिष्ठाप्राप्तानां दीर्घक्रियाकालो दृश्यते, तर्हि कुम्भस्य घटस्य किमत्रायातम्?। इदमुक्तं भवति–मृदानयनमर्दनपिण्डविधानादिकालः सर्वोऽपि घटनिर्वर्तनक्रियाकाल इति तवाभिप्रायः। स च चायुक्त एव। यतः तत्र प्रतिसमयमन्यान्येव कार्याण्यारभ्यन्ते, निष्पाद्यन्ते च, कार्यस्य कारणकालनिष्ठाकालयोरेकत्वात् । घटस्तु पर्यन्तसमय एवारभ्यते, तत्रैव च निष्पद्यत इति कोऽस्य दीर्घो निर्वर्तनक्रियाकालः? इति ॥ २३१५ ॥

अथान्यप्राक्तनकालसमयेष्वपि घटः किं न दृश्यते?, इत्याह–

अन्नारंभे अन्नं, किह दीसउ जह घडो पडारंभे ।
सिवकादओ न कुंभो, किह दीसउ सो तदद्धाए ॥२३१६॥

अन्यस्य शिवकादेरारम्भे अन्यद् घटलक्षणं कार्यं कथं दृश्यते?। न हि पटारम्भे घटः कदाचिदपि दृश्यते। अतः किमुच्यते–" नारंभे च्चिय दीसइ " त्ति । शिवकादयोऽपि कुम्भरूपा न भवन्ति, किं तु ततोऽन्य एवेति कथं तदद्धायामप्यसौ कुम्भो दृश्यते?। अत एव तदप्यकृततया प्रोच्यते " न सिवाइकाए " इति ॥ २३१६ ॥

यदुक्तम्–" दीसइ तदंते " इति, तत्राह–

अंते च्चिअ आरद्धो, जइ दीसइ तम्मि चेव को दोसो?।
अकयं व संपइ गए, कह कीरउ कह व एस्सम्मि?॥२३१७॥

अन्त एव क्रियाक्षणे प्रारब्धो घटो यदि तत्रैव दृश्यते तर्हि को दोषः?, न कश्चिदित्यर्थः । यदुक्तम्–" तो न हि किरियाकाले " इत्यादि । तत्राह–"अकयं वा" इत्यादि । यदि च सम्प्रति वर्तमानक्रियाक्षणे न कृतं कार्यमितीष्यते तदा गते अतिक्रान्ते, एष्यति–अनागते च क्रियाक्षणे कथं नाम तत्कार्यं क्रियताम्?। न कथञ्चिदित्यर्थः । तथाहि–नातीतभविष्यत्क्रियाक्षणौ कार्यकारकौ, विनष्टानुत्पन्नत्वेनासत्त्वात्। खरविषाणवत्, अतः कथं क्रियान्ते कार्यं स्यात्?। तस्मात्क्रियमाणमेव कृतमिति । यदि च क्रियमाणमपि न कृतं, क्व तर्हि कृतमिति वक्तव्यम्?। क्रियाविगम इति चेत् । तदयुक्तम् । तदानीं क्रियाया असत्त्वात् तदसत्त्वेऽपि च कार्योत्पत्ताविष्यमाणायां क्रियारम्भात्प्रागपि कार्योत्पत्तिः स्यात्, क्रियासत्त्वाविशेषात् । अथ संप्रतिसमयः क्रियमाणकालः, तदनन्तरस्तु कृतकालो,न च क्रियमाणकाले कार्यमस्ति, इत्यतः अकृतं क्रियते,न तु कृतमित्यभिधत्से। नन्वेवं विह भ्रान्तोऽसि–किं भवतः कार्यं क्रियया क्रियते,उत तामन्तरेणाऽपि भवति?। यदि क्रियया, तर्हि कथं साऽन्यत्र समये, अन्यत्र तु कार्यम्?। न हि खदिरे छेदनक्रियायां पलाशे छेदः समुपजायते । किं च–" क्रियोपरमे कार्यं भवति, न तु क्रियासद्भावे " इति वदता प्रत्युत कार्योत्पत्तेर्विघ्नहेतुः क्रियेति प्रतिपादितं भवति। ततश्च कारणमप्यकारणमिति प्रत्यक्षादिविरोधः। अथ क्रियामन्तरेण कार्यमुपजायते इत्यभ्युपगम्यते, तर्हि घटादिकार्यार्थिनां निरर्थकः सर्वोऽपि मृन्मर्दनपिण्डविधानचक्रारोपणभ्रमणादिक्रियारम्भः, अतो न कर्तव्यं मुमुक्षुभिरपि तपःसंयमादिक्रियानुष्ठानं, तदनन्तरेणापि मुक्तिसुखसिद्धेः । न चैवम्, तस्माद् क्रियाकाल एव कार्यं, न पुनस्तदुपरम इति ॥ २३१७ ॥

पुनरप्याह–ननु मृदानयनतन्मर्दनादिकश्चक्रादिच्छिन्नताकरणकार्यपर्यन्तो दीर्घ एव मया घटनिर्वर्तनक्रियाकालोऽनुभूयते, न तु यत्रैव समये प्रारभ्यते तत्रैव निष्पद्यत इत्यनुभूयते, तदेतत्कथमित्याह–

पइसमयकज्जकोडी–निरवेक्खो घडगयाहिलासो सि ।
पइसमयकज्जकालं, थूलमई ! घडम्मि लाएसि ॥२३१८॥

हन्त ! यद्यपि प्रतिसमयमन्यान्यरूपाः कार्यकोटयः तत्रोत्पद्यन्ते, तथाऽपि त्वं निरपेक्षस्त्वम्–निष्प्रयोजनत्वेनाविवक्षितत्वादुत्पद्यमाना अपि तास्त्वं न गणयसीत्यर्थः । कुतः?, यस्माद् घटगताऽभिलाषोऽसि,सप्रयोजनत्वेन तस्यैव प्रधानतया विवक्षितत्वात्। 'घट इहोत्पत्स्यते' इत्येवं तत्रैव तवाभिलाषः, अतः प्रतिसमयकार्यकोटीनामदर्शकत्वेन स्थूलमते ! प्रतिसमयकार्यसंबन्धिनमपि कालं सर्वमपि घटे लगयसि–'सर्वोऽप्ययं घटोत्पत्तिकालः' इत्येवमध्यवस्यसि,त्वमित्यर्थः,अतो मिथ्यानुभवोऽयं तवेत्यभिप्रायः, एकसामयिक एव घटोत्पत्तिकाले बहुसामयिकत्वग्रहणेन प्रवृत्तेः । अत्राह–ननु प्रतिसमयं कार्यकोटय उत्पद्यमानास्तत्र न काश्चन संवेद्यन्ते, किं त्वपान्तराले शिवकस्थासकोशादीनि कानिचिदेव कार्याणि संवेद्यन्ते । सत्यम्, किं तु स्थूलान्येव शिवकादिकार्याणि, यानि तु प्रतिसमयभावीनि सूक्ष्मकार्याणि तानि छद्मस्थो व्यक्त्या नावधारयितुं शक्नोति, परं प्रतिसमयकार्याणां ग्राहकाण्यनन्तसिद्धकेवलिनां ज्ञानान्युत्पद्यन्ते,तान्यपि तत्रापान्तराले कार्याण्येव, इति घटन्त एव प्रतिसमयं कार्यकोटय इति ॥ २३१८ ॥

अत्र प्रेरकः प्राह–

को चरमसमयनियमो, पढमे च्चिय तो न कीरए कज्जं ।
नाकारणं ति कज्जं, तं चेवं तम्मि से समए ॥२३१९॥

ननु यदि कार्यस्य दीर्घः क्रियाकालो नेष्यते, किं त्वेकसामायिक एव, तर्हि कोऽयं चरमसमयनियमो, येन तत्रैवोत्पद्यते घटादिकार्यम्–न घटत एवायं नियम इत्यर्थः । ततः एतन्नियमाभावात् किं प्रथमसमय एव कार्यं न क्रियते?–अपि तु क्रियत एवेति काक्वा नीयते । अत्रोत्तरमाह–अकारणं कार्यं न भवति, तच्चान्त्यसमये,एव (से) तस्य घटस्य कारणमस्ति, न तत्प्रथमसमये,अतः कथं तत्रोत्पद्यते?, अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि कार्यकारणभावः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चान्त्यसमय एव घटादेः कारणं लक्ष्यत इति तत्रैव तदुत्पद्यत इति युक्त एव चरमसमयनियम इति ॥ २३१९ ॥

अथोपसंहरंस्तात्पर्यमाह–

तेणेह कज्जमाणं, नियमेणं कयं कयं तु जयणिज्जं ।
किंचिदिह कज्जमाणं, उवरयकिरियं च होज्जाहि ॥२३२०॥

तेन उक्तप्रकारेण क्रियमाणं वर्तमानक्रियाक्षणभावि कार्यं नियमेन कृतमेवोच्यते, यत्तु कृतं तद्भजनीयं विकल्पनीयम् । कथम्? इत्याह–किंचिदिह कृतं क्रियाप्रवृत्तिकालभावि क्रियमाणमुच्यते, अन्यत्तूपरतक्रियं चक्रापाकाद्युत्तीर्णं कृतं घटादिकार्यं न क्रियमाणमुच्यते, उपरतक्रियत्वादिति ॥ २३२० ॥

तदेवं सामान्येन प्रतिपाद्य प्रस्तुते जमालिसंस्तारकेऽमुं सकलमपि स्थविरोक्तं युक्तिकलापमायोजयन्नाह—

जं जत्थ नभोदेसे, अत्थुव्वइ जत्थ जत्थ समयम्मि ।
तं तत्थ तत्थ मत्थुयं, मत्थुव्वंतं पि तं चेव ॥२३२१॥

आस्तीर्यमाणसंस्तारकस्य यद्यावन्मात्रं नभोदेशे यत्र यत्र समये (अत्थुव्वइ) आस्तीर्यते तत् तावन्मात्रं तस्मिन्नभोदेशे तत्र तत्र समये आस्तीर्णमेव भवति, आस्तीर्यमाणमपि च तदेवोच्यते । इदमुक्तं भवति–सर्वोऽपि संस्तारक आस्तीर्यमाणो नास्तीर्ण इति ' क्रियमाणं कृतम् ' इत्यादि महावीरवचनं व्यलीकमेव जमालिर्मन्यते । एतच्चायुक्तम्, भगवद्वचनाभिप्रायापरिज्ञानात् । सर्वनयात्मकं हि भगवद्वचनम् । ततश्च 'क्रियमाणमकृतम्' इत्यपि भगवान् कथंचिद् व्यवहारनयमतेन मन्यत एव, परम् " चलमाणे चलिए, उईरिज्जमाणे उईरिए " इत्यादिसूत्राणि निश्चयनयमतेनैव प्रवृत्तानि । तन्मतेन च क्रियमाणं संस्तृतम्, इत्यादि सर्वमुपपद्यत एव । निश्चयो हि मन्यते–प्रथमसमयादेव घटः कर्तुं नारब्धः, किं तु मृदानयनमर्दनादीनि प्रतिसमयं परापरकार्याण्यारभ्यन्ते, तेषां च मध्ये यद्यत्र समये प्रारभ्यते तत्तत्रैव निष्पद्यते, कार्यकाल–निष्ठाकालयोरेकत्वात्, अन्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् । ततः क्रियमाणं कृतमेव भवति । एवं प्रस्तुतः संस्तारकोऽपि नाद्यसमयात्सर्वोऽपि संस्तरीतुमारभ्यते, किं त्वपरापरे तदवयवाः प्रतिसमयमास्तीर्यन्ते, तेषां च मध्ये यो यत्र समयेऽवयवः संस्तरीतुमारभ्यते स तत्रैवास्तीर्यते, परिपूर्णस्तु संस्तारकश्चरमसमय एव संस्तरीतुमारभ्यते तत्रैव च निष्पद्यत इति । संस्तीर्यमाणः संस्तीर्णमेव भवतीति ॥ २३२१ ॥

" दीसइ दीहो य जओ " (२३११) इत्यत्राह—

बहुवत्थत्थरणविभिन्न–देसकिरियाइकज्जकोडीणं ।
मन्नसि दीहं कालं, जइ संथारस्स किं तस्स ॥२३२२॥

यदि नाम बहुवस्त्रास्तरणविभिन्नदेशक्रियादिकार्यकोटीनां सम्बन्धिनं दीर्घकालं मन्यसे जानासि त्वं, ततः संस्तारकस्य तस्य किमायातम्? । इत्यक्षरघटना । विभिन्नो देशो यासां ता विभिन्नदेशाः, ताश्च ताः क्रियाश्च विभिन्नदेशक्रियाः, वस्त्रस्योपलक्षणत्वात् कम्बलानां चास्तरणं वस्त्रकम्बलास्तरणं, तस्य विभिन्नदेशक्रिया वस्त्रकम्बलास्तरणविभिन्नदेशक्रियाः, तदादयश्च ताः कार्यकोटयश्च तास्तथा, बह्व्यश्च ता वस्त्रकम्बलास्तरणविभिन्नदेशक्रियादिकार्यकोटयश्च बहुवस्त्रकम्बलास्तरणविभिन्नदेशक्रियादिकार्यकोटय इति समासः, तासामिति । आदिशब्दः स्वगतानेकभेदव्यापकः, कार्याणां च कोटिसंख्यत्वमिहापि पूर्ववद्भावनीयमिति ॥ २३२२ ॥

ननु यदि पूर्वमपरापराणि कार्याणि निष्पद्यन्ते, संस्तारकस्तु पर्यन्तसमय एवारभ्यते, निष्पद्यते च कार्यक्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात् तर्हि कथं संस्तारकस्यैव स दीर्घः क्रियाकालो मयाऽनुभूयते?, इत्याह—

पइसमयकज्जकोडी–निरुहो संथारयाहिकयकज्जो ।
पइसमयकज्जकालं, कहं संथारम्मि लाएसि? ॥२३२३॥

गतार्था, नवरं संस्तारकेणाधिकृतं प्रस्तुतं कार्यं यस्यासौ संस्तारकाधिकृतकार्य इति समासः ॥२३२३॥

तदेवं स्थविरैर्युक्तिभिः संबोध्यमाने तस्मिन् किं संजातमित्याह–

सो उज्जुसुयनयमयं, अमुणंतो न पडिवज्जए जाहे ।
ताहे समणा केई, उवसंपन्ना जिणं चेव ॥ २३२४ ॥
पियदंसणा वि पइणो–ऽणुरागओ तम्मयं चिअ पवन्ना ।
ढंकोवहियागणिद–द्धवत्थदेसा तयं भणइ ॥ २३२५ ॥
सावय! संघाडी मे, तुमए दड्ढ त्ति सो वि अ तमाह ।
नणु तुज्झ डज्झमाणं, दड्ढं ति मओ न सिद्धंतो ॥२३२६॥
दड्ढं न डज्झमाणं, जइ विगएऽणागए व का संका?।
काले तयभावाओ, संघाडी कम्मि ते दड्ढा? ॥२३२७॥

चतस्रोऽपि गाथा गतार्थाः, नवरम् ऋजुसूत्रो निश्चयनयविशेषः । (पियदंसणा वि त्ति) आह–ननु पूर्वं 'सुदर्शना' इति तस्या नाम प्रोक्तं, कथमिदानीं प्रियदर्शनेत्युच्यते?। सत्यं, किं त्विदमपि तस्या नाम द्रष्टव्यम् । तथा चोक्तम्–" तेयसिरिं च सुरूवं, अणुइ य पियदसणं धूयं " इति । " ढंकोवहिय " इत्यादि । स्वाध्यायपौरुषीं कुर्वत्यास्तस्या आपाकाद् गृहीत्वा ढङ्केनोपहितः क्षिप्तो योऽग्निस्तेन दग्धो वस्त्रदेशो यस्याः सा ढङ्कोपहिताग्निदग्धवस्त्रदेशा सती तं ढङ्कं भणति, सोऽपि तां प्रियदर्शनामाह–" दड्ढं " इत्यादि चतुर्थगाथाया अयं भावार्थः । ननु यदि दह्यमानं दाहक्रियाक्षणे वर्तमाने वस्त्रं न दग्धमिति भवद्भिरुच्यते, ततो विगते उपरते, अनागते वा भविष्यति दाहक्रियाकाले का शङ्का वस्त्रदाहविषया?, तदभावाद्–दाहक्रियाया विनष्टानुत्पन्नत्वेन सर्वथा अभावादित्यर्थः । अतो वर्तमानातीतानागतलक्षणे कालत्रयेऽप्युक्तयुक्तितोऽदग्धत्वात् कस्मिन् काले आर्ये! ते तव संघाटी मया दग्धेत्युच्यताम्? इति ॥ २३२४ ॥ २३२५ ॥ २३२६ ॥ २३२७ ॥

अथ आर्ये! त्वमेवं मन्यसे, किम्? इत्याह—

अहवा न डज्झमाणं, दड्ढं दाहकिरियासमत्तीए ।
किरियाऽभावे दड्ढं, जइ दड्ढं किं न तेलुक्कं? ॥२३२८॥

अथ चैवं ब्रूषे–दह्यमानं न दग्धं, किं तु दाहक्रियासमाप्तौ दग्धम् । नन्वेवं सति दाहक्रियाऽभावे दग्धमित्युक्तं भवति । एतच्चायुक्तम्, यतो यदि दाहक्रियाऽभावे दग्धं, तर्हि त्रैलोक्यमपि किं न 'दग्धम्' इत्यत्रापि संबध्यते, यथा वस्त्रे तथा त्रैलोक्येऽपि दाहक्रियाऽभावस्य तुल्यत्वादिति ॥ २३२८ ॥

ततः किमिह स्थितमित्याह—

उज्जुसुयनयमयाओ, वीरजिणिंदवयणावलंबीणं ।
जुज्जेज्ज डज्झमाणं, दड्ढं वोत्तुं न तुज्झ त्ति ॥ २३२९ ॥

उत्तानार्था ॥ २३२९ ॥

ननु दृश्यमानस्यैवाऽऽदिसमयेऽप्यभ्युपगमात्कथं दृष्टता? इत्याह-

मयए मयए मो सो, दंसो उग्गहिआसयंसा दरझमाणस्स ।
तं नत्थि दरज्झमा°, दड्ढं पि न दीसए तम्हा ॥ २३१० ॥

को दो दग्धव्य पटादेर्दाहस्य वा दिः समये समयेऽपि-
न्यथैव दहन दहते । तस्मिन् नव नतु तस्मिन् समये
दहन न भवति तथा दग्धमपि तत्र वस्तु तस्मिन्नेव समये
भवते, तो 'दह्यमानमेव दग्धम्' । ननु देशमात्रेऽपि दग्ध
नष्टं न दृश्यति एव वदति, समस्तस्यैव देशेऽपि समाप्ती-
मवसानवागरीति समाप्तमिति ॥ २३१० ॥

तत किंचित् क्रियत ? इत्याह—

निव्वत्ता दज्झमाणं, दड्ढं दड्ढं तु होइ उवलिज्झं ।
किंचिदिह दज्झमाणं, उवरयदाहं च दीसइ त्ति ॥२३११॥

व्याख्या सुगमत्वान्न कार्येति ॥ २३११ ॥

दाघादिदृष्टान्तेन यथा किल दृष्टा, तेषामपराण
'भावे ! इत्थाम अप्रदूरादिदं दहदलमानंमय' इत्येव दह-
प्रमुखमानस्य दर्शनेन दर्शनेन पुनरपि सर्व नयति ग-
न्ताये क्रियासंयोगेन प्रवदति-

इच्छामो संदेहेण-मज्झो ! पियदंसणाहमो दडं ।
दंकुं जमालिदंसं, मोत्तूण तया जिणमयाम ॥ २३१२ ॥

दर्शयन् । इति पञ्चविंशतिगाथार्थः ॥ २३१२ ॥ विशे० । स्था०
म० । स्था० वृ० । "तए णं जमालिस्स अणगारस्स ए
गेणं देवा किमाया वत्तव्वे सद्दहति, अप्पेगइया नो सद्दहति"
(भग०) इत्यस्यार्थो दर्शनाद्यपरिणामः विवरणे सद्दहंते-
नाय य न सद्दहति, ते एवमाहु — भगवन् ! असमीऽसमादिनः
" यथा घट घटो भैव, पटो वा न घटो यथा । क्रियमाणः कृत
भैव, कृत न क्रियमाणकम् ' ॥१॥ तथा य-यो भिन्नभेदौ, न
तयोरैक्य, यथा घटपटयोर्भिन्नभेदं च कृतक्रियमाणत्वं, अत्र
चासिद्धो हेतु, तथाहि-कृतक्रियमाणे क्रियाकालेन भिन्न-
भेदे, यत् वर्तमानम् यथैकस्य नास्ति तदैव तमोऽपि दर-
्शनमत्र, उत क्रियाऽनुपरमप्राप्तेराद्योऽक्रियमाणादिसमयेष्वपि
कार्योपलम्भप्रसङ्गे, तथ क्रियावैफल्यापत्तिश्च दीर्घक्रियाकाल-
दर्शनानुपपत्तेर्वा तत्र न भावावगतोऽपि करणप्रसङ्ग इति युक्तम-
नाकरणे हि अनुत्पादेन कारणभावप्रसङ्ग इति कथञ्चिदसत एव
करणमस्माभिरभ्युपगतम, न चाभ्युपगतार्थस्य प्रसञ्जनं युक्तं
उच्यते । नाऽपि क्रियानुपरमप्राप्ते , यत इह क्रिया किमेकविषया,
भिन्नविषया वा ? यद्येकविषया न दोषः । तथाहि-यदि कृतं क्रि-
यमाणमुच्यते, तदा तस्मिन् निष्पन्नमेव कृतमिति, तथापि क्रिय-
माणतायां क्रियाऽनुपरमप्राप्तिलक्षणो दोषः स्यात् न तु क्रियमा
णं कृतमिति उक्तौ तत्र क्रियासंभ्रमसमय एव कृततयाऽभिधानात् ।
उक्तं हि-क्रियाकालनिष्ठाकालयोरैक्यमिति । अन्यथापि कृतक्रि-
यमाणयोरैक्यं कृतस्य भावात्ततोऽपि करणे तदपरः प्रसङ्गः
तदनन्त । पूर्वं हि तथापरस्याकरण क्रियायामेव प्रसङ्गः स्यात् न
तु क्रियासमकालतयाऽपार्ता । अथ भिन्नविषया क्रिया तदा सिद्ध-
साधन , प्रतिसमयमन्यान्यकारणतया वस्तुनोऽभ्युपगमनेन
भिन्नविषयक्रियानुपरमस्यास्माकं सिद्धत्वात् । अथ प्रथमा-
दिसमयेष्वपि कार्योपलम्भप्रसङ्गोऽस्ति यदि क्रियमाणस्य हि

कृतस्य प्रथमादिसमयेष्वपि सत्त्वादुपलम्भः प्रसज्यत इति , त-
दपि न, यदा हि शिवकादिनाऽन्यैव क्रियमाणता, ते चोपलभ्य-
न्त एव । उक्तं च विशेषावश्यके-"अन्नारंभे अन्नं, कह दीसउ
जह घडो पडारंभे । सिवगाईओ न कुंभो, किह दीसउ सो
तदद्धाए " ॥ २३१६ ॥ घटतत्त्वसंस्थापनयां च मूढ शिवका-
दिकालेऽपि घटमहं करोमीति मन्यते । तथा चाह-"पइसमय-
कज्जकोडी, निरवेक्खो घडगयाहिलासोऽसि । पइसमयकज्ज-
कालं, थूलमई घडम्मि लाएसि " ॥ २३१८ ॥ (विशे०) नापि
क्रियावैफल्यापत्तिः, यतः प्राग्भावासत्त्वादस्य करणे क्रियावै-
फल्यं स्यात्, न तु क्रियमाणकृतत्वे, तत्र हि क्रियमाणं क्रिया-
वशमिति तस्याः साफल्येन सांकान्तिकादीनां च केषांचि-
त्पूर्वं प्राग्भावेऽपि स्वाभाविक्यां करणं न दोषाय, दीर्घक्रियाका-
लदर्शनानुपपत्तिरप्यपि न युक्ता । यत शिवकादिपरस्परप-
रिणामविरूपविषय एव दीर्घक्रियाकालोपलम्भो, न तु घट-
क्रियाविषयः । उक्तं हि-" पतिसमयउप्पन्नाणं, परोप्परविल-
क्खणाण सुबहूणं । दीहो किरियाकालो, जइ दीसइ किं च
कुंभस्स ॥ २३१९ ॥ " (विशे०) यच्च कथञ्चिद्भिन्नभेदे कृत-
क्रियमाणे तर्हि पक्षपुत्रमेव विरुद्धधर्माध्यासानुपपातात् तद्ध्य-
स्य, तच्च विरुद्धधर्माध्यासेन कृतक्रियमाणयोर्भेद । यदुक्त-
म-"क्रियमाणं कृतं दृष्टं, दृष्टमानं त्विव गतम् । तिष्ठच्च गम्यमानं
च, किं तु नयात् प्रतिपत्स्यते ॥१॥" व्यवहारनयमतेन तु तथाऽऽयम-
वगन्तव्यं ,तथा च क्रियमाणं कृतमेव, कृतं तु क्रियमाणमेव स्या-
त, क्रियमाणं क्रियावेशसमये क्रियोपरमे पुनः क्रियमाणमिति ।
उक्तं च-" नेवेह कज्जमाणं, निप्पन्नं कय कयं तु भयणिज्जं ।
किंचिदिह कज्जमाणं, उवरयकिरियं च होज्जाहि " ॥२३२०॥
(विशे०) किं च-भवता मते क्रियाऽन्त्यसमय एवाऽभिमतका-
र्यजनन, तत्राऽपि प्रथमसमयादारभ्य कार्यस्य किंचिदपि निष्प-
त्तिरेष्टव्या, अन्यथा कथमकस्मादन्त्यसमये सा भवेत् । उक्तम्-
" आद्यतन्तुप्रवेशे च, नो न किञ्चिद्यदा पटे ।
अन्त्यतन्तुप्रवेशे च, नो न स्यात् पटोदय " ॥१॥
तस्मादादि त्रिमीयादि-तन्तुयोगात्प्रतिक्षणम् ।
विच्छिन्निश्चितं तस्य, पदुत्त तदुत्त हि तत् ॥२॥
इह प्रयोग , ययस्याः क्रियाया आद्यसमये न भवति
तत्तस्या अन्त्यसमयेऽपि न भाति , यथा घटक्रियादिस-
मये नायतन् पटो न भवति च कृतक्रियमाणयोर्भेद क्रि-
यादिसमये कार्यम , अन्यथा घटान्तसमयेऽपि पटोत्पत्तिः
स्यात । यच्च च-" यथा 'वृद्धो युवाऽस्मीति', न विरुद्ध मिथो
ह्ययम । 'क्रियमाण कृत चेति', न विरुद्ध तथोभयम " ॥१॥ प्रयो-
गश्च-यद् येनाविनाभूत न तत् एकान्तेन भिद्यते,यथा-वृक्षत्वाद्
धवत्व, कृतत्वाविनाभूतं च क्रियमाणत्वमिति सकललोकप्रसि-
द्धत्वाच्च घटपटयोस्तद्वर्णेणमुक्त सत्तारूपादावपि योज्यम ।
तःप्रतिपद्यस्व भगवन् ! " चलमाणे चलिए " इत्यादि तीर्थ-
कृता चात्यन्तमवितथ्यमिति, स चैवमुच्यमानोऽपि न प्रतिपन्न-
वान् । उत्त० ३ अ० । जमाल. कियन्तो भवा इति प्रश्नस्यो-
त्तरम्-यथा भगवतीमूलकर्णिकावृत्तिवीरचरित्राद्यनुसारेण
जमालेः पञ्चदश भवा ज्ञायन्ते । ही० ३ प्रका० ।

जमालिन्-पुं० । महावीरजिनप्रथमनिह्नवे, विशे० ।

जमालिअज्झयण-जमाल्यध्ययन-न० । वाचनान्तरापेक्षया
अन्तकृद्दशाध्ययनानां षष्ठेऽध्ययने, इदानीतनम अन्तकृद्दशासु
तदनुपलब्धे । स्था० १० ठा० ।

जमालिपभव–जमालिप्रभव–पु० । जमालेः प्रभव एतत्तीर्थापेक्षया प्रथमा उपलब्धिरेषां न पुनः सर्वथोत्पत्तिरेव, प्रागप्येवंविधाभिप्रायसम्भवात् तेऽमी जमालिप्रभवाः । जमालिमताभ्युपगन्तृबहुरतनिह्नवेषु, उत्त० ३ अ० ।

जमावण–जन्मापन–न० । विषमाणां समीकरणे, नि० चू०१उ० ।

जम्म–पुं० । जन्मन्–न० । जन–भावे-मनिन् । "न्मो म." ॥ ८ । २ । ६१ ॥ इति अधोलोपापवादः । "अन्त्यव्यञ्जनस्य" ॥ ८ । १ । ११ ॥ इत्यन्त्यनकारलोपः । "स्नमदामशिरोनभः" ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इति सूत्रेण–चास्य पुंसि प्रयोगः । " जम्मो जम्म " उत्पत्तौ, स्था० ६ ठा० । अने० । गर्भवासतो योनिद्वाराभिस्सरणे, वाच० । कर्मकृतप्रसूतौ, औ० । न्यायायुक्ते अपूर्वदेहग्रहणे, वाच० । तत्र जन्म चतुर्विधम्–अण्डज, पोतज, जरायुजम् । औपपातिकं च । अण्डजाः हंसादयः, पोतजा हस्त्यादयः, जरायुजा मनुष्या, औपपातिकाः देवनारकाः । विशे० । आ० चू० । आ० म० । विवक्षाभेदे त्वष्टविधमपि जन्म । तथाहि–अण्डाज्जाता अण्डजा पक्षिगृहकोकिलादयः । पोता एव जायन्ते पोतजाः "अन्येष्वपि दृश्यन्ते" इति जातेर्डः प्रत्ययः, ते च हस्तिवल्गुलीचर्मजलूकादयो, जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरायुजाः पूर्ववत् डप्रत्ययः, गोमहिष्यजाविकमनुष्यादयः । रसाज्जाता रसजास्तत्रारनालदधितीमनादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति, संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा मत्कुणयूकाशतपदिकादयः, संमूर्च्छनाज्जाताः संमूर्च्छनजाः शलभपिपीलिकामक्षिकाशालिकादयः, उद्भेदनमुद्भित् ततो जाता उद्भिज्जाः, पृषोदरादित्वात्तलोपः । एव खञ्जरीटपारिप्लवादयः, उपपाताज्जाता उपपातजाः । अथवा–उपपाते भवा औपपातिकाः देवा नारकाश्च । एवमष्टविधजन्म यथासंभवं संसारिणो नातिवर्तन्ते, यत्रैव शास्त्रान्तरे त्रिविधमुपन्यस्तं, संमूर्च्छनगर्भोपपातजन्मरसस्वेदजोद्भिज्जानां संमूर्च्छनजान्तःपातित्वात् अण्डजपोतजजरायुजानां गर्भजान्तःपातित्वात् देवनारकाणामौपपातिकान्तःपातित्वात् इति त्रिविधं जन्मेति । इह चाष्टविधं, सोत्तरभेदत्वादिति । आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अथ जन्म केन प्रकारेण जायते इत्यादिस्वरूपं प्रदर्श्यते–आर्याणामनार्याणां च कर्मभूमिजाऽकर्मभूमिजादीनां मनुष्याणां नानाविधयोनिकानां स्वरूपं वक्ष्यमाणनीत्या समाख्यातम् । तेषां च स्त्रीनपुंसकभेदभिन्नानां यथा बीजेनेति । यद्यस्य बीजं तत्र स्त्रियाः सम्बन्धि शोणितं पुरुषस्य शुक्रम्, एतदुभयमप्यविध्वस्तं शुक्राधिकं सन्मनुष्यस्य, शोणिताधिकं स्त्रियाः, तत्समता नपुंसकस्य कारणतां प्रतिपद्यते । तथा यथावकाशेनेति । यो यस्यावकाशो मातुरुदरकुक्ष्यादिकस्तत्रापि किल वामा कुक्षिः स्त्रियो, दक्षिणा कुक्षिः पुरुषस्य, उभयाश्रितः षण्ढ इति । अत्र चाविध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीजमिति चत्वारो भङ्गाः, तत्राप्याद्य एव भङ्गक उत्पत्तेरवकाशो, न शेषेषु त्रिष्विति । अत्र च स्त्रीपुंसयोर्वेदोदये सति पूर्वकर्मनिवर्तितायां योनौ मैथुनप्रत्ययिको रताऽभिलाषोदयजनितोऽग्निकारणयोररणिकाष्ठयोरिव संयोगः समुत्पद्यते, तत्संयोगे च तच्छुक्रशोणिते समुपादाय तत्रोत्पित्सवो जन्तवस्तैजसकार्मणाभ्यां शरीराभ्यां कर्मरज्जुसंदानितास्तत्रोत्पद्यन्ते, ते च प्रथममुभयोरपि स्नेहमाचिन्वन्त्यविध्वस्तायां योनौ सत्यामिति । विध्वस्यते तु योनिः । "पञ्चपञ्चाशिका नारी सप्तसप्ततिः पुरुषः" इति । तथा द्वादश मुहूर्तानि यावच्छुक्रशोणिते अविध्वस्तयोनिके भवतस्तत ऊर्ध्वं ध्वंसमुपगच्छत इति । तत्र जीवा उभयोरपि स्नेहमाहार्यस्वकर्मविपाकेन यथास्वं स्त्रीपुंनपुंसकभावेन (विउट्टति त्ति) वर्तन्ते समुत्पद्यन्ते इति यावत्, तदुत्तरकालं च स्त्रीकुक्षौ प्रक्षिप्ताः सन्तः स्त्रियाऽऽहारितस्याहारस्य निर्यासं स्नेहमाददति, तत्स्नेहेन च तेषां जन्तूनां क्रमोपचयादानेन क्रमेण निष्पत्तिरुपजायते । "सत्ताह कललं होइ, सत्ताह होइ बुब्बुय" इत्यादि । तदेवमनेन क्रमेण तदेकदेशेन वा मातुराहारमोजसा मिश्रेण वा लोमभिर्वाऽऽनुपूर्व्येणाहारयन्ति यथाक्रममानुपूर्व्येण वृद्धिमुपागताः सन्तो गर्भपरिपाकं गर्भनिष्पत्तिमनुपपन्ना । ततो मातुः कायादभिनिवर्तमानाः पृथग्भवन्तः सन्तस्तद्योनेर्निर्गच्छन्ति, ते च तथाविधकर्मोदयादात्मनः स्त्रीभावमप्येकशो जनयन्त्युत्पादयन्ति । अपरे केचन पुंभावम् नपुंसकभावं च । इदमुक्तं भवति–स्त्रीपुंनपुंसकभावः प्राणिनां स्वकृतकर्मनिवर्तितो भवति, न पुनर्यो यादृगिह भवे सोऽमुष्मिन्नेव तादृगेवेति, ते च तदहर्जातबालकाः सन्तः पूर्वभवाभ्यासादाहाराभिलाषिणो भवन्ति । मातुः स्तन्यमाहारयन्ति । तदाहारेण चानुपूर्व्येण च वृद्धास्तदुत्तरकालं नवनीतदध्योदनादिकं यावत्कुल्माषान् भुञ्जन्ते, तथाहारत्वेनोपगतास्त्रसान् स्थावरांश्च प्राणिनस्ते जीवा आहारयन्ति, तथा नानाविधं पृथिवीशरीरं लवणादिकं सचेतनं वा आहारयन्ति, तथाहारितयात्मसात्कृतं सारूप्यमापादितं सत् 'रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः' इति सप्तधा व्यवस्थापयन्त्यपराण्यपि तेषां नानाविधमनुष्याणां शरीराणि नानावर्णान्याविर्भवन्ति, ते च तद्योनिकत्वात्तदाधारभूतानि नानावर्णानि शरीराण्याहारयन्तीत्येवमाख्यातमिति । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

जम्मंकुर–जन्माङ्कुर–न० । पुनरुत्पत्तिरूपे अङ्कुरे, । " अज्ञानपांशुपिहितं, पुरातनं कर्मबीजमविनाशि । तृष्णाजलाभिषिक्तं मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः ॥१॥ " आ० म० द्वि० ।

जम्मंतर–जन्मान्तर–न० । अन्यान्यजन्मनि, पुनर्जन्मनि च । आ० म० द्वि० (जन्मान्तरोपपत्तियुक्तयस्तु ' परलोग ' शब्दे विलोक्याः)

जम्मकहा–जन्मकथा–स्त्री० । जातो मृतो वेत्येवं रूपायां वार्तायां, जन्मचरित्रे च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

जम्मजरामरण–जन्मजरामरण–न० । जन्म च जरा च मरणं चेति जन्मजरामरणानि । स्वस्वशब्दप्रदर्शितावस्थात्रये, "जम्मजरामरणकरणगंभीरदुक्खपक्खुभिअपउरसलिल" वृत्तिः–जन्मजरामरणान्येव करणानि साधनानि यस्य स तथा, तच्च गम्भीरदुःखं तदेव प्रक्षुभितं सञ्चलितं प्रचुरं सलिलं यत्र स तथा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जम्मजीवियफल–जन्मजीवितफल–न० । जन्मनो जीवितस्य च फले, भ० १५ श० १ उ० ।

जम्मण–जन्मन्–न० । उत्पादे, भ० २५ श० ६ उ० । प्रश्न० । "जम्मणजरामरणवाहिपरियट्टणारघट्ट"। वृत्तिः–जन्मजरामरणव्याधीनां याः परिवर्तनाः पुनः पुनर्भवनानि ताभिररघट्टो यासाम् । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जम्मणगर–जन्मनगर–न० । 'जम्मणयर' शब्दार्थे, ज० ५ वक्ष० ।

जम्मणचरियणिबद्ध–जन्मचरितनिबद्ध–त्रि० । तीर्थकरजन्माऽभिषेकनिबद्धे नाट्यविधौ, रा० ।

जम्मणमहिमा–जन्ममहिमन्–पु० । जन्मोत्सवे, भ०१४श०२उ० ।

जम्मणयर–जन्मनगर–न० । यस्मिन् नगरे यस्य जन्म भवति तत्तस्य जन्मनगरम् । उत्पत्तिपुरे, ज० ५ वक्ष० ।

जम्मदंसि (ण्)–जन्मदर्शिन्–त्रि० । जन्मन स्वरूपतो वेत्तरि, परिहरति, आचरति च । " जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी " आचा० २ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

जम्मदोस–जन्मदोष–पु० । जन्मदोषनिमित्तके तज्जातदोषविशेषे, स च–"कत्तोल्लुयाएँ घोरीएँ जाओ जो गद्दहेण छड्डेण । तस्स महायणमज्झे, आयारा पायडा हुंति॥१॥" इत्याद्यनेकविध' । जन्मसहभाविदोषे च । स्था० १० ठा० ।

जम्मपक्क–जन्मपक्व–त्रि० । स्वयमेव पक्कीभूते, विपा०१ श्रु०७ अ० ।

जम्मपवाह–जन्मप्रवाह–पु० । भवपरम्परायाम्, आव० ३ अ० ।

जम्मप्पवाह–जन्मप्रवाह–पु० । 'जम्मपवाह' शब्दार्थे, आव०३अ० ।

जम्मप्पभिइ–जन्मप्रभृति–अव्य० । जन्मन आरभ्येत्यर्थे, दर्श० १ तत्त्व ।

जम्मफल–जन्मफल–न० । जन्मसाध्ये, पञ्चा० ८ विव० ।

जम्मभूमि–जन्मभूमि–स्त्री० । जन्मस्थाने, " जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी " । वाच० । " अवसेसा तित्थयरा, निक्खंता जम्मभूमीसु " । स० ।

जम्ममह–जन्ममह–पु० । जन्ममहोत्सवे, श्रीमदर्हतां जन्ममहोत्सवकरणे देवना देहानि कियन्मात्रोच्चैस्तराणीति प्रश्ने,उत्तरम्–महोत्सवावसरे देवानां देहान्यभिषिच्यमानजिनसमानकालीनमनुजशरीरोचितानि सम्भाव्यन्त इति ४५ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

जम्मा–याम्या–स्त्री० । दक्षिणस्यां दिशि, आ० म० प्र० । विशे० ।

जम्मादिदोसविरह–जन्मादिदोषविरह–पु० । जातिजरामरणप्रभृतिदूषणवियोगे, पञ्चा० ८ विव० ।

जम्माभाव–जन्माभाव–पु० । अनुत्पत्तौ, दश० ४ अ० ।

जम्मावट्ट–जन्मावर्त–पु० । भवचक्रे, " रागद्वेषरसाविद्धं, मिथ्यादर्शनदुस्तरम् । जन्मावर्ते जगत् क्षिप्तं, प्रमादाद् भ्राम्यते भृशम् ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

जम्मुप्पत्ति–जन्मोत्पत्ति–स्त्री० । जन्मना कर्मकृतप्रसूत्या उत्पत्तिर्या सा तथा । औ० । प्रसवेनोत्पत्तौ, " सिद्धाण कम्मवीरा वब्भे पुणरवि जम्मुप्पत्ती न भवति " औ० ।

जय–जय–पु० । 'जि' जये, भावे अच् । परैरनभिभूयमानतायाम्, प्रतापवृद्धौ, रा० । ज्ञा० । वशीकरणे, द्वा० २६ द्वा० । परापेक्षया उत्कर्षलाभे, शत्रुपराङ्मुखीकरणे, संग्रामादिजये, वाच० । "जएण विजएण वद्धावेंति ।" रा० । विपा० । औ० । कल्प० । नि० । तत्र जयः परैरनभिभूयमानता, प्रतापवृद्धिश्च । विजयस्तु परेषामसहमानानामभिभवोत्पादः । रा० । जय. सामान्यो विघ्नादिविषय. । विजय स एव विशिष्टतरः प्रचण्डप्रतिपन्थ्यादिविषय । औ० । जय स्वदेशे । विजय. परदेशे कल्प० १ क्षण । "जयविजयमंगलसएहिं" । औ० । जयविजयेत्यादिभिर्मङ्गलाभिधायकवचनशतैरित्यर्थ. । औ० । जि–कर्तरि अच् । वाच० । स्वनामख्याते एकादशे चक्रवर्तिनि, प्रव० २०७ द्वार । ति० । स० । विमलजिनप्रथमभिक्षादातरि, स० । आ० म० । लीलावतीगुणधरयो' पितरि श्रेष्ठिविशेषे, दर्श० १ तत्त्व । तिथिशब्दस्य पुंसि निर्दिष्टतया तद्विशेषवाचकाना नन्दादिशब्दानामपि पुंसि प्रयोगे तु जय इति तृतीयाष्टमीत्रयोदशीषु तिथिषु, ज० १ वक्ष० ।

जगत्–न० । अतिशयगमनात् जगत् । भ० २० श० २ उ० । जीवे, पञ्चास्तिकायात्मके लोके, न० । (अधिकार्थस्तु ' जग ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १३७२ पृष्ठे द्रष्टव्य.)

यत–पु० । 'यम' उपरमे, यमन यत तद्विद्यते यस्य स यतः । "अभ्रादिभ्यः" ॥ ७ । २ । ४६ ॥ इत्यप्रत्ययः । प्रमत्तगुणस्थानकवर्तिनि साधौ, कर्म० ४ कर्म० । यतमाने, त्रि० । उत्त० १ । सूत्र० । उपयुक्ते, आव० ४ अ० ।

> जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
> जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥७॥

एतद्वृत्तिर्यथा–यत चरेत् सूत्रोपदेशेन ईर्यासमितः, यत तिष्ठेत् समाहित. । हस्तपादाद्यविक्षेपेण । यतमासीत उपयुक्त आकुञ्चनाद्यकरणेन । यत स्वपेत् समाहितो रात्रौ प्रकामशय्यादिपरिहारेण । यत भुञ्जान सप्रयोजनमप्रणीत प्रतरसिंहभक्षितादिना । एव यत भाषमाण. साधुभाषया मृदुकालप्राप्तम् (८) दश० ४ अ० । " गब्भस्स अणुकंपणट्ठाए जयं चिट्ठति, जयं आसयति, जयं सुवति " यतनया यथा गर्भबाधा न भवति तथा तिष्ठति ऊर्द्धस्थानेन आस्ते आश्रयति चासन, स्वपिति चेति ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जयइ–जयति–जि–धा० । धातूनामनेकार्थकत्वाद् । बध्नाति इत्यर्थे, प्रा० ।

जयंत–जयन्त–न० । द्वीपसमुद्राणां चतुर्षु द्वारेषु स्वनामख्याते पश्चिमदिग्वर्तिनि द्वारे, (जी०) (एतद्विशेषवर्णकस्तु 'विजय' शब्दे विजयद्वारवद् ज्ञेय)

तत्र तावज्जम्बूद्वीपसत्कजयन्तद्वारवक्तव्यता यथा–

कहि णं भंते ! जंबूदीवस्स जयंते णामं दारे पण्णत्ते ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्छिमेणं पणयालीसं जोयणसहस्साइं जंबुद्दीवे पच्चच्छिमपेरंते लवणसमुद्दे पच्चच्छिमद्धस्स पुरच्छिमेणं सीतोदाए महानदीए उप्पिं एत्थ णं जंबुद्दीवस्स जयंते णाम दारे पण्णत्ते । त चेव सोपमाणं जयंते देवे पच्चच्छिमेणं से रायहाणीए० जाव महिड्डीए ।

अथ लवणसमुद्रसत्कजयन्तद्वारप्रतिपादनार्थमाह–

"कहि ण भंते !" इत्यादि । क भदन्त ! लवणसमुद्रस्य जयन्त द्वार प्रज्ञप्तम् । भगवानाह–गौतम ! लवणसमुद्रस्य पश्चिमपर्यन्ते धातकीखण्डपश्चिमार्द्धस्य पूर्वेण. सीताया महानद्या उपरि लवणसमुद्रस्य जयन्त नाम द्वार प्रज्ञप्तम् । एतद्वक्तव्यताऽपि विजयद्वारवद्वक्तव्या, नवर राजधानीजयन्तद्वारस्य पश्चिमभागेन वक्तव्या । जी० ३ प्रति० । एव शेषद्वीपसमुद्राणामपि जयन्तद्वारमभ्यूह्यम्, पञ्चानुत्तरविमानेषु स्वनामख्याते तृतीये विमाने, " उड्ढलोगेण पंच अणुत्तरा महइमहा-

सया महाविमाणा पण्णत्ता तं जहा-विजयं वेजयंते जयंते अपराजिए सव्वट्ठसिद्धे" । स्था० ५ ठा० ३ उ० । तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशो,यथा-पञ्चालदेशनिवासिनः पञ्चाला इति,महासिंघु अनुत्तरदेवेषु, प्रज्ञा० १ पद । मेरोरुत्तरस्यां दिशि रुचकवरपर्वतस्याष्टसु कूटेषु स्वनामख्याते सप्तमे कूटे, स्था० ४ ठा० । जि०-ड' । वाच० । पञ्चविधानुत्तरोपपातिकानां देवानां तृतीये जयन्तविमानोद्भवे देवभेदे, पु० । प्रज्ञा० १ पद । स० । आगामिकालभाविनि प्रथमे बलदेवे, ती० २१ कल्प । वज्रसेनसूरीणां चतुर्षु शिष्येषु मध्ये स्वनामख्याते तृतीये शिष्ये, यतः किल न-नाम्नी शाखा निर्गता । कल्प० ८ क्षण । इन्द्रपुत्रे, "यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ" " त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः "इति । वाच० ।

जयंती-जयन्ती-स्त्री० । जि-डः । गौरा०-ङीप् । वाच० । स्वनामख्यातायां वीरजिनपरमश्राविकायाम्, सू० १ उ० ।

तत्प्रबन्धो यथा-

तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसंवी णामं णयरी होत्था, वण्णओ-चंदोत्तरायणे चेइए, वण्णओ-तत्थ णं कोसंवीए णयरीए सहस्साणीयस्स रण्णो पोत्ते सयाणीयस्स रण्णो पुत्ते चेडगस्स रण्णो नत्तुए मिगावतीए देवीए अत्तए जयंतीए समणोवासियाए भत्तिज्जए उदायणे णामं राया होत्था । वण्णओ-तत्थ णं कोसंवीए णयरीए सहस्साणीयस्स रण्णो सुण्हा सयाणीयस्स रण्णो भज्जा चेडगस्स रण्णो धूया उदायणस्स रण्णो माया जयंतीए समणोवासियाए भाउज्जा मियावती णामं देवी होत्था । वण्णओ-तं जहा-०जाव सुरूवा । समणोवासिया० जाव विहरइ । तत्थ णं कोसंवीए णयरीए सहस्साणीयस्स रण्णो धूया सयाणीयस्स रण्णो भगिणी उदायणस्स रण्णो पिउच्छा, मिगावतीए देवीए णणंदा वेसालीसावयाणं अरहंताणं पुव्वसिज्जातरी जयंती समणोवासिया होत्था, सुकुमाल० जाव सुरूवा । अभिगय० जाव विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे० जाव परिसा पज्जुवासइ । तए णं से उदायणे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे कोडुंवियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! कोसंविं णयरिं सब्भिंतरबाहिरियं एवं जहा कूणिओ तहेव सव्वं० जाव पज्जुवासइ । तए णं सा जयंती समणोवासिया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणी हट्ठतुट्ठा जेणेव मिगावती देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं वयासी-एवं जहा णवमसए उसभदत्तो० जाव भविस्सइ । तए णं सा मियावई देवी जयंतीए समणोवासियाए जहा देवाणंदा० जाव पडिसुणेइ । तए णं सा मियावई देवी कोडुंवियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! लहुकरणजुत्ता रोहिया० जाव धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठावेह० जाव उवट्ठवेंति० जाव पच्चप्पिणंति । तए णं सा मियावई देवी जयंतीए समणोवासियाए सद्धिं ण्हाया कयवलिकम्मा० जाव सरीरा बहूहिं खुज्जाहिं० जाव अंतेउराओ णिग्गच्छति णिग्गच्छंतित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मिए जाणप्पवरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता० जाव दुरूढा । तए णं सा मिगावती देवी जयंतीए समणोवासियाए सद्धिं धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढा समाणी णियगपरियाल जहा उसभदत्तो० जाव धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ । तए णं सा मियावई देवी जयंतीए समणोवासियाए सद्धिं बहूहिं खुज्जाहिं जहा देवाणंदा० जाव वंदइ णमंसइ उदायणं राय पुरओ कट्टु ठिइया चेव पज्जुवासइ । तए णं समणे भगवं महावीरे उदायणस्स रण्णो मियावईए देवीए जयंतीए समणोवासियाए तीसे य महइ० जाव धम्मं परिकहेइ० जाव परिसा पडिगया उदायणे पडिगए मिगावई वि पडिगया । तए णं सा जयंती समणोवासिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ,वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-कहण्णं भंते ! जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति ? । जयंती ! पाणाइवाएणं० जाव मिच्छादंसणसल्लेणं एवं खलु जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति । एवं जहा पढमसए० जाव वीईवयंति । भवसिद्धियत्तं णं भंते ! जीवा णं किं सभावओ य परिणामओ य ? । जयंती ! सभावओ य णो परिणामओ य । सव्वे वि णं भंते ! भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति ? हंता जयंती ! सव्वे वि णं भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति । जइ णं भंते ! सव्वे वि भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति तम्हा णं भवसिद्धियविरहिए लोए भविस्सइ ? णो इणट्ठे समट्ठे । से केणं खाइएणं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सव्वे वि णं भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति । णो चेव णं भवसिद्धियविरहिए लोए भविस्सइ ? । जयंती ! से जहाणामए सव्वागाससेढी सिया अणादिया अणवदग्गा परित्ता परिवुडा सा णं परमाणुपोग्गलमेत्तेहिं खंडेहिं समए समए अवहीरमाणी अवहीरमाणी अणंताहिं उस्सप्पिणी ओसप्पिणीहिं अवहीरइ णो चेव णं अवहिरिया सिया, से तेणट्ठेणं जयंती ! एवं वुच्चइ सव्वे वि णं० जाव भविस्सइ । सुत्तत्तं भंते ! साहू जागरियत्तं साहू ? । जयंती ! अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू । से केणट्ठेणं भंते ! एवंवुच्चइ अत्थेगइयाणं० जाव साहू ? । जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया अहम्माणुया अहम्मिट्ठा अहम्मक्खाई अहम्मपलोई अहम्मपल-

ज्जणा अहम्मसमुदायारा अहम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, एएसि णं सुत्तत्तं साहू, एए णं जीवा सुत्ता समाणा णो बहूणं पाणभूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए० जाव परियावणयाए वट्टंति एए णं जीवा सुत्ता समाणा अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा णो बहूहिं अहम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति एएसि जीवाणं सुत्तत्तं साहू। जयंती! जे इमे जीवा धम्मत्थिया धम्माणुगा० जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू एए णं जीवा जागरमाणा बहूणं पाणाणं अदुक्खणयाए० जाव अपरियावणयाए वट्टंति, ते णं जीवा जागरा समाणा अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा बहूहिं धम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति, एए णं जीवा जागरमाणा धम्मजागरियाए अप्पाणं जागरइत्तारो भवंति, एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू, से तेणट्ठेणं जयंती! एवं वुच्चइ अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू। बलियत्तं भंते! साहू दुब्बलियत्तं साहू? जयंती! अत्थेगइयाणं जीवाणं बलियत्तं साहू अत्थेगइयाणं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ० जाव साहू? जयंती! जे इमे जीवा अहम्मिया० जाव विहरंति, एएसि णं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू एए णं जीवा, एवं जहा सुत्तस्स तहा दुब्बलियत्तस्स वत्तव्वया भाणियव्वा, बलियत्तस्स जहा जागरस्स तहा भाणियव्वं० जाव संजोएत्तारो भवंति, एएसि णं जीवाणं बलियत्तं साहू से तेणट्ठेणं जयंती! एवं वुच्चइ तं चेव० जाव साहू। दक्खत्तं भंते! साहू आलसियत्तं साहू? जयंती! अत्थेगइयाणं जीवाणं दक्खत्तं साहू अत्थेगइयाणं जीवाणं आलसियत्तं साहू। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ तं चेव० जाव साहू? जयंती! जे इमे जीवा अहम्मिया० जाव विहरंति। एएसि णं जीवाणं आलसियत्तं साहू एएसि णं जीवा आलसायमाणा णो बहूणं जहा सुत्ता तहा अलसा भाणियव्वा जहा जागरा तहा दक्खा भाणियव्वा० जाव संजोएत्तारो भवंति। एए णं जीवा दक्खा समाणा बहूहिं आयरियवेयावच्चेहिं उवज्झायवेयावच्चेहिं थेरवेयावच्चेहिं तवस्सीवेयावच्चेहिं गिलाणवेयावच्चेहिं सेहवेयावच्चेहिं कुलवेयावच्चेहिं गणवेयावच्चेहिं संघवेयावच्चेहिं साहम्मियवेयावच्चेहिं अत्ताणं संजोएत्तारो भवंति, एएसि णं जीवाणं दक्खत्तं साहू से तेणट्ठेणं तं चेव० जाव साहू। सोइंदियवसट्टेणं भंते! जीवे किं बंधइ एवं जहा कोहवसट्टे तहेव० जाव अणुपरियट्टइ। एवं चक्खिंदियवसट्टे वि,० जाव फासिंदियवसट्टे वि,० जाव अणुपरियट्टइ। तए णं सा जयंती समणोवासिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा सेसं जहा देवाणंदा तहेव पव्वइए० जाव सव्वदुक्खपहीणा सेवं भंते! भंतेत्ति ॥

"तेणं कालेणं" इत्यादि। (पोत्ते त्ति) पौत्र पुत्रस्यापत्यम् (चेडगस्स त्ति) वैशालीराजस्य (नत्तुए त्ति) नप्ता दौहित्रः (भाउज्ज त्ति) भ्रातृजाया (वेसाली सावगाणं अरहंताणं पुव्वसिज्जायरी त्ति) वैशालिको भगवान् महावीरस्तस्य वचनं शृण्वन्ति श्रावयन्ति वा तद्रसिकत्वादिति, वैशालिकश्रावकास्तेषाम् आर्हतानामर्हद्देवतानां, साधूनामिति गम्यम् पूर्वशय्यातरा प्रथमस्थानदात्री साधवो ह्यपूर्वे समायातास्तद्गृह एव प्रथमं वसतिं याचन्ते, तस्याः स्थानदातृत्वेन प्रसिद्धत्वादिति, सा पूर्वशय्यातरा (सभावओ त्ति) स्वभावतः पुद्गलानां मूर्त्तत्ववत् (परिणामओ त्ति) परिणामो भावस्तस्य भवनं पुरुषस्य तारुण्यवत्। (सव्वे वि णं भंते! भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति त्ति) भवा भाविनी सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिकास्ते सर्वेऽपि भदन्त! जीवाः सेत्स्यन्तीति प्रश्नः। हन्तेत्यादि तूत्तरम् अथ चास्यार्थः-समस्ता अपि भवसिद्धिका जीवाः सेत्स्यन्ति अ यथा भवसिद्धिकत्वमेव न स्यादिति। अथ सर्वभवसिद्धिकानां सेत्स्यमानताऽभ्युपगमे भवसिद्धिक शून्यता लोकस्य स्यात्। नैव समयज्ञता। तथाहि-सर्व एवानागतकालसमया वर्त्तमानता लप्स्यन्ते। "भवति स नामातीत, प्राप्तो यो नाम वर्त्तमानत्वम्। एष्यँश्च नाम स भवति, य प्राप्स्यति वर्त्तमानत्वम् ॥ १ ॥" इत्यभ्युपगमात्र चानागतकालसमयविरहितो लोको भविष्यतीति। अथैतामेवाशङ्कां जयन्ती प्रश्नद्वारेणाऽस्मदुक्तसमयज्ञातापेक्षया ज्ञातान्तरेण परिहर्तुमाह-"जइ णं" इत्यादि। इत्येके व्याख्यान्ति। अन्ये तु व्याचक्षते-सर्वेऽपि भदन्त! भवसिद्धिका जीवा सेत्स्यन्ति, ये केचन सेत्स्यन्ति ते सर्वेऽपि भवसिद्धिका एव, नाभवसिद्धिका एकोऽप्यन्यथा भवसिद्धिकत्वमेव न स्यादित्यभिप्राय, 'हन्ता' इत्याद्युत्तरम्। अथ यदि ये केचन सेत्स्यन्ति ते सर्वेऽपि भवसिद्धिका एव, नाभवसिद्धिक एकोऽपीत्यभ्युपगम्यते, तदा कालेन सर्वभवसिद्धिकानां सिद्धिगमनात् भव्यन्यूनता जगतः स्यादिति जयन्त्याः शङ्कां तत्परिहारं च दर्शयितुमाह-"जइ णं" इत्यादि। (सव्वागाससेढि त्ति) सर्वाकाशस्य बुद्ध्या चतुरस्रप्रतरीकृतस्य श्रेणिः प्रदेशपङ्क्तिः सर्वाकाशश्रेणिः (परित्त त्ति) एकप्रदेशिकत्वेन विष्कम्भाभावेन परिमिता (परिवुडा त्ति) श्रेण्यन्तरैः परिकरिता स्वरूपमेतत्तस्याः। अत्रार्थे वृद्धोक्ता भावनागाथा भवन्ति—

" तो भणइ किं ण सिज्झंति, अहव किमभव्व सावसेसत्तो।
निल्लेवणं न जुज्जइ, तेसिं तो कारणं अन्न ॥ १ ॥"

अयमर्थः-यदि भवसिद्धिका सेत्स्यन्तीत्युपगम्यते, ततो भणति शिष्यः कस्मान्न ते सर्वेऽपि सिध्यन्ति, अन्यथा भवसिद्धिकत्वस्यैवाभावात्। अथवा-अपरं दूषणं कस्मादभव्यसावशेषत्वाद्भव्यावशेषत्वेन अभव्यान् विमुच्येत्यर्थः। तेषां भव्यानां निर्लेपनं न युज्यते युज्यत एवेति भावः। यस्मादेव ततः कारणं सिद्धेर्हेतुरन्यद्भव्यत्वातिरिक्तं वाच्यं, तत्र सति सर्वभव्यनिर्लेपनप्रसङ्गादिति।

" भण्णइ तेसिमभव्वे, चिपइ गनिल्लेवण न उ विरोहो ।
ननु सव्वभव्वसिद्धी, सिद्धा सिद्धंतसिद्धीओ ॥ २ ॥ "

अयमर्थो भण्यते-अत्रोत्तर भव्यत्वमेव सिद्धिगमनकारण न त्वन्यत्किञ्चित्तत्र च सत्यपि भव्यत्वे सिद्धिगमनकारणे तेषां भव्यानामभव्यानामपि प्रति भव्यानप्याश्रित्य अनिर्लेपन-मव्यवच्छेद., अभव्यानवशिष्य यद्भव्यानां निर्लेपनमुक्तम तद्-पि नेत्यर्थ·। न तु न पुनरिहार्थे विरोधो बाधाऽस्ति सिद्धान्तसि-द्धत्वादेतदेवाह-ननु इत्यादि न हि सर्वभव्यासिद्धिः सिद्धा सि-द्धान्तसिद्धेरिति ।

" किह पुण भव्व बहुत्ता, सव्वागासपएसदिट्ठंता ।
न वि सिज्झिहिंति तो भण-इ किं तु भव्वत्तण तेसिं ॥ ३ ॥
जइ होऊण भव्वा, वि केइ सिद्धिं न चेव गच्छंति ।
एवं ते वि अभव्वा, को वि विसेसो भवे तेसिं ॥ ४ ॥
भण्णइ भव्वो जोगो, दारुदलियत्ति वा वि पज्जाया ।
जोगो वि पुण न सिज्झइ, कोइ रुक्खाइदिट्ठंता ॥ ५ ॥
पडिमाईण न जोग्गा, बहवो गोसीसचंदणदुमाइ ।
संति अ जोग्गा वि इहं, अत्थे पररूभङ्गाइ ॥ ६ ॥
न य पुण पडिमुप्पायण-सपत्ती होइ सव्वजोग्गाण ।
जेसिं पि असपत्ती, न य तेसिं जोग्गया होइ ॥ ७ ॥
किं पुण जा सपत्ती, सा नियमा होइ जोग्गरुक्खाण ।
न य होई अजोग्गाण, एमेव य भव्वसिज्झणया ॥ ८ ॥
सिज्झिस्संति य भव्वा, सव्वे विणि भणिय च अ पहुणा ।
त पि य एयाए चिय, दिट्ठीए जयति पुच्छाए ॥ ९ ॥
भव्यानामेव सिद्धिरित्येतया दृष्ट्या मतेनेति ।
अहवा-पडुच्च काल, न सव्वभव्वाण होइ वोच्छित्ती ॥ १० ॥
ज तीतणागयाओ, अद्धाओ दो वि तुल्लाओ ।
तत्थातीतद्धाए, सिद्धी एक्को अणतभागो सिं ।
काम तावइओ च्चिय, सिज्झिहिइ अणागयद्धाए ॥ ११ ॥
ते दो वणतभागा, होउ सो चिय अणतभागो सिं ।
एव पि सव्वभव्वा-ण सिद्धिगमण च णिहिट्ठ ॥ १२ ॥ "

तौ द्वावप्यनन्तभागौ, मीलितौ सर्वजीवानामनन्त एव भाग इति । यत्पुनरिदमुच्यते-अतीताद्धातोऽनागताद्धाऽनन्तगुणेति । तन्मतान्तर, तस्य चेद बीज, यदि द्वे अपि ते समाने स्यातां, तदा मुहूर्तादावतिक्रान्ते अतीताद्धा समधिका, अनागताद्धा च हीनेति हतं समत्वम, एव च मुहूर्तादिभिः प्रतिक्षण क्षीय-माणाऽप्यनागताद्धा, यतो न क्षीयते ततोऽवसित ततः साऽनन्त गुणेति, यद्योभयोः समत्व तदेव यथाऽनागताद्धाया अन्तो नास्ति एवमतीताद्धाया आदिरिति समत्वेति जीवाश्च न सुप्ता सिध्यन्ति, किं तर्हि जागरा एवेति सुप्तजागरसूत्र, तत्र च (सुत्त त्ति) निद्रावशत्वम (जागरियत्तं ति) जागरण जागरः सो-ऽस्यास्तीति जागरिकस्तद्भावो जागरिकत्वम् (अहम्मिय त्ति) धर्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्तीति धार्मिकास्तन्निषेधादधा-र्मिकाः । कुत एतदेवमित्यत आह-(अहम्माणुया) धर्मं श्रुत-रूपमनुगच्छन्तीति धर्मानुगास्तन्निषेधादधर्मानुगाः । कुत एतदेवमित्यत आह-(अहम्मिट्ठा) धर्मः श्रुतरूप एवेष्टो वल्लभः पूजितो वा येषा ते धर्मेष्टाः, धर्मिणां वष्टा धर्मेष्टाः, अतिशयेन वा धर्मिणो धर्मिष्ठास्तन्निषेधादधर्मिष्ठाः। अधर्मेष्टा.। अधर्मिष्ठा वा, अत एव (अहम्मक्खाइ) न धर्ममाख्यान्तीत्य वंशीला अधर्माख्यायिनः । अथवा-न धर्मात् ख्यातिर्येषा ते ऽधर्मख्यातयः । (अहम्मपलोइ त्ति) न धर्ममुपादेयतया प्रलो-कयन्ति ये तेऽधर्मप्रलोकिन· । (अहम्मपलज्जण त्ति) न धर्मे प्ररज्यन्ते आसज्जन्ति ये ते अधर्मप्ररञ्जना· एव च-(अहम्मसमुदायार त्ति) न धर्मरूपश्चारित्रात्मकः समुदाचारस्समाचारः स प्रमोदो वाऽचारो येषां ते तथा अत एव " अहम्मण वि" इत्यादि । अधर्मेण चारित्रश्रुतविरु-द्धरूपेण वृत्तिं जीविकां कल्पयन्त· कुर्वाणा इति, अनन्तर सुप्तजागरता साधुत्व प्ररूपितम । अथ दुर्बलादीनां तथैव तदेव प्ररूपयन् सूत्रद्वयमाह-"बलियत्त भंते !" इत्यादि । (बलियत्त ति) बलमस्यास्तीति बलिकस्तद्भावो बलिकत्वम (दुब्बलि-यत्त ति) दुष्ट बलमस्यास्तीति दुर्बलिकस्तद्भावो दुर्बलि-कत्वं, दक्षत्व च तेषा साधु येनेन्द्रियवशानां यद्भवति तदा ह-"सोइंदिय" इत्यादि । (सोइंदियवसट्ट त्ति) श्रोत्रेन्द्रियवशेन तत्पारतन्त्र्येण ऋतः पीडितः श्रोत्रेन्द्रियवशार्तः, श्रोत्रेन्द्रिय वश वा, ऋतो गत· श्रोत्रेन्द्रियवशार्त·। भ० १२ श० २उ०। सप्तमबलदेवस्य मातरि, स० । आव० । अकम्पिताऽभिधाष्टम गणधरस्य मातरि, आ० म० प्र० । पार्श्वशिष्यायां पश्चात् परिव्राजिकीभूतायामुत्पलभगिन्याम्, सा हि स्वभगिनी सोमा-सहिता चोरिकसन्निवेशे अवटे क्षिप्यमाण भगवन्त राज-पुरुषानुपशमय्य मुमोच । आ० म० प्र० । पूर्वरुचकवास्तव्या-या सप्तम्या दिक्कुमार्याम्, द्वी० । जं० । आ० म० । ति० । आ० चू० । स्था० । सर्वेषां ग्रहाणां चतसृष्वग्रमहिषीषु तृतीयायामग्रमहिष्याम, जं० ७ वक्ष० । जी० । ज० । पश्चिम-विदेहस्य सीताया उत्तरदिग्वर्तिमहावप्राविजयराजधान्याम, जं०४ वक्ष० । स्था०। रतिकरपर्वतराजधानीविशेषे, द्वी०। अञ्ज-नकपर्वतसत्कपुष्करिणीविशेषे, ती० २४ कल्प । जी० । स्था०। नवम्यां तिथौ, जं० ७ वक्ष० । कल्प० । च० प्र० । पुरीविशेषे, यत्र किल गुणवर्म्मर्षिणा सुरदत्तगृहपतिभार्यां वसुन्धरा मा-लाहृतभिक्षां दातुमुद्यता विनिवारिता। पिं० । अष्टमजिनशिवि-कायाम्, स० । महौषधिविशेषे, ती० ७ कल्प । तथा हि ।

" जयन्ती मदगन्धाख्या, तिक्ता चैव कटूष्णिका ।
कृमिमूत्रामजित् ख्याता, कण्ठशोधनकृन्मता ॥ १ ॥
कृष्णा रसायनी तत्र, सैव सर्वत्र पूज्यते ।
तच्छाकं विषदोषघ्नं, चक्षुष्य मधुरं हिमम " ।

पताकायाम, वाच० । " दो जयतीओ " । स्था० २ ठा० ३ उ० । " पुव्वसिज्जायरी जयती " इत्यत्र पूर्वशय्यातरीशब्द-स्यार्थः । प्रश्नाऽभ इति प्रश्ने, उत्तरम्-अपूर्वसाध्वादिः समा-यातस्तद्गृह एव प्रथम वसति याचते तस्याश्च स्थानदा-तृत्वेन प्रसिद्धत्वात्पूर्वशय्यातरीति । भगवतीसूत्रवृत्त्यनुसारेण पूर्वशय्यातरीशब्दार्थो ज्ञेय इति । १२७ प्र० सेन० १ उल्ला०।

जयकित्ति-जयकीर्ति-पुं० । अञ्चलगच्छीये मेरुतुङ्गसूरिशिष्ये जयकेशरिसूरिशीलरत्नसूरिणो गुरौ, विक्रमसंवत १४३३ वर्षे अय जातः, १४४४ वर्षे प्रव्रजितः, १४६७ वर्षे सूरिपदं प्राप्त·, १४७३ वर्षे गच्छेशपद प्राप्त·, १५०० वर्षे स्वर्गमगमत् । एतस्या द्वितीयो विजयसिंहसूरेः शिष्य आसीत, येन शीलोपदेश-माला नाम ग्रन्थो विरचितः । जै० इ० ।

जयकेसरसूरि-जयकेशरसूरि-पुं० । अञ्चलगच्छीये जयकी-र्तिसूरिशिष्ये सिद्धान्तसागरगुरौ, विक्रमसंवत् १४६१ वर्षे जातः, १४७५ दीक्षितः, १४६४ आचार्यो जातः, १५०१ गच्छ-नायक·, १५४२ स्वर्गतश्चायमभवत । जै० इ० ।

जयघोस-जयघोष-पु० । स्वनामख्याते मुनौ, (उत्त०)

वाराणस्यां किल द्विजौ यमलौ भ्रातरौ जयघोषविजयघोषौ अभूतां तयोरेको जयघोषनामा गङ्गायां स्नातुं गतः, कुररसर्पमण्डूकमास दृष्ट्वा प्रव्रजितः । तद्वार्ता चैवम्—

माहणकुलसंभूओ, आसि विप्पो महाजसो ।
जायाई जमजराम्मि, जयघोसे त्ति नामओ ॥ १ ॥

ब्राह्मणकुले संभूतः विप्रकुले समुत्पन्नः 'जयघोष' इति नामतो विप्र आसीत् । अत्र हि यत् ब्राह्मणकुलसंभूतः विप्र आसीत् इत्युक्तं तत् ब्राह्मणजनकादुत्पन्नोऽपि जननीजातिहीनत्वेऽब्राह्मणः स्यात् अतो विप्र इत्युक्तम् । कीदृशो जयघोषः ? (जमजराम्मि) यमं यज्ञे यायाजी यायजीत्येवशीलो यायाजी यमाः अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मनिर्लोभाः पञ्च, ते एव यज्ञो यमयज्ञस्तस्मिन् यमयज्ञे अतिशयेन यज्ञकरणशीलः अर्थात्पञ्चमहाव्रतरूपे यज्ञे याज्ञिको जातः, यतिर्जात इत्यर्थः ॥ १ ॥

इंदियग्गामनिग्गाही, मग्गगामी महामुणी ।
गामाणुगामं रीयंतो, पत्तो वाणारसिं पुरिं ॥ २ ॥

स महामुनिः एकाकी साधुर्ग्रामानुग्रामम् (रीयंतो इति) विचरन् वाराणसीं पुरीं प्राप्तः । कीदृशः स महामुनिः ? । इन्द्रियग्रामनिग्राही इन्द्रियाणां ग्रामः समूहः इन्द्रियपञ्चकं निगृह्णाति मनोजयेन वशीकरोतीति इन्द्रियग्रामनिग्राही, पुनः कीदृशः ? । स मार्गगामी मार्गं मोक्षं गच्छति स्वयम्, अन्यान् गमयति इति मार्गगामी ।

वाणारसीए बहिया, उज्जाणम्मि मणोरमे ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥ ३ ॥

स साधुर्वाराणस्यां बाह्ये, मनोरमे मनोहरे, उद्याने प्रासुके जीवरहिते शय्यासंस्तारके दर्भतृणादिरचिते शयनोपवेशनस्थितौ तत्र (वास इति) वसतिं कर्तुमुपागतः ॥ ३ ॥

अह तेणेव कालेणं, पुरीए तत्थ माहणे ।
विजयघोसे त्ति नामेणं, जन्नं जयइ वेयवी ॥ ४ ॥

अथ अनन्तरं तस्मिन्नेव काले यस्मिन् काले साधुर्वने समागतः तस्मिन्नेव काले तस्यां वाराणस्यां पुर्यां 'विजयघोष' इति नामा ब्राह्मणो यज्ञं यजति यज्ञं करोति । कीदृशो विजयघोषः ? । वेदवित् वेदज्ञः ॥ ४ ॥

अह से तत्थ अणगारे, मासक्खमणपारणे ।
विजयघोसस्स जन्नम्मि, भिक्खट्ठा उवट्ठिए ॥ ५ ॥

अथ अनन्तरं तत्र विजयघोषस्य यज्ञे स पूर्वोक्तो जयघोषोऽनगारो मासक्षमणस्य पारणे भिक्षाया अर्थं भिक्षार्थे उपस्थितः ॥ ५ ॥

समुवट्ठियं तहिं संतं, जायगो पडिसेहए ।
न हु दाहामि ते भिक्खं, भिक्खू जायाहि अन्नओ ॥६॥

तदा याजको यजमानो विजयघोषो ब्राह्मणस्तत्र भिक्षार्थं समुपस्थितं सन्तं तं साधुं प्रतिषेधयति निवारयति, कथं निवारयतीत्याह–हे भिक्षो ! त्वम् अन्यतोऽन्यत्र याहि (ते) तुभ्यं भिक्षां न ददामि ॥ ६ ॥

जे य वेयविओ विप्पा, जन्नट्ठा य जिइंदिया ।
जोइसंगविओ जे य, जे य धम्मस्स पारगा ॥ ७ ॥

जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य ।
तेसिं अन्नमिणं देयं, भो भिक्खू सव्वकामियं ॥८॥ युग्मम्

विजयघोषो वदति–हे भिक्षो ! अस्मिन् यज्ञे इदं प्रत्यक्षं दृश्यमानम् अन्नं सर्वकामिकं षड्रससिद्धं तेषां पात्राणां देयं वर्तते तेभ्यो देयमस्ति । न तु तुभ्यं देयं वर्तते । तेषां केषाम् ? । ये आत्मानं स्वकं यमात्मानम् च पुनः, परं परस्यात्मानं समुद्धर्तुं समर्थाः । ये संसारसमुद्रात् आत्मानं तारयितुं समर्थाः परमपि तारयितुं समर्थाः । तेषां प्रदेयमस्ति इति भावः ॥७॥ पुनः केषां प्रदेयमन्नं वर्तते ? ये विप्रा वेदविदो वेदज्ञाः तेषाम् । पुनर्ये यज्ञार्थाः यज्ञ एव अर्थः प्रयोजनं येषां ते यज्ञार्थास्तेषाम् । पुनर्ये जितेन्द्रिया इन्द्रियाणां जेतारस्तेषाम् । पुनर्ये ज्योतिषाङ्गविदः ज्योतिःशास्त्रस्याङ्गवेत्तारः । यद्यपि ज्योतिःशास्त्रं वेदस्याङ्गमेवास्ति वेदविद् इत्युक्ते आगतम् तथापि अत्र ज्योतिःशास्त्रस्य पृथगुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थं तस्मात् एतद्गुणविशिष्टा ये ब्राह्मणास्तेषां देयमस्ति, पुनर्ये धर्मशास्त्राणां पारगास्तेषां देयम् अत्र अन्नं वर्तते, इत्यर्थः ॥८॥

सो तत्थेवं पडिसिद्धो, जायगेण महामुणी ।
न वि रुट्ठो न वि तुट्ठो, उत्तमट्ठगवेसओ ॥ ९ ॥

स महामुनिर्जयघोषः तत्र यज्ञे (एवं) अमुना प्रकारेण विजयघोषेण याजकेन यज्ञकारकेण प्रतिषिद्धः सन् निवारितः सन् नापि रुष्टो नापि तुष्टः समभावयुक्तोऽभूत् । कीदृशः स महामुनिः ? । उत्तमार्थगवेषको मोक्षाभिलाषी ॥ ९ ॥

नऽन्नट्ठं पाणहेउं वा, न वि निव्वाहणाय वा ।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, इमं वयणमब्बवी ॥ १० ॥

स महामुनिस्तेषां विजयघोषादिब्राह्मणानां विमोक्षणार्थं कर्मबन्धनात् मुक्तिकरणार्थम् इदं वचनम् अब्रवीत्–परम् अन्नपानलाभार्थं न अब्रवीत् । एवं ज्ञात्वा न अब्रवीत्–येन अहं एभ्य उपदेशं ददामि एते प्रसन्ना मह्यं सम्यग् अन्नपानं ददति इति बुद्ध्या न अब्रवीत् । किं तु तेषां संसारनिस्तारार्थमवदत् । वा अथवा–निर्वाहणाय अपि न वस्त्रपात्रादिकानां निर्वाह एभ्यो मम भविष्यति तेन हेतुना न अब्रवीदिति भावः ॥ १० ॥

न विजाणासि वेयमुहं, न वि जन्नाण जं मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं ॥११॥

किम् अब्रवीत् ? इति आह–भो ब्राह्मण ! विजयघोष ! त्वं वेदमुखं न विजानासि । पुनर्यत् यज्ञानां मुखं वर्तते तदपि त्वं न जानासि । पुनर्यत् नक्षत्राणां मुखं तदपि त्वं न जानासि । च पुनर्यद्धर्माणां मुखं वर्तते तदपि त्वं न जानासि ॥ ११ ॥

पुनः स साधुर्विजयघोषं ब्राह्मणं प्रति पृच्छति–

जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य ।
ण ते तुमं विजाणासि, अह जाणासि तो भण ? ॥१२॥

हे विजयघोष ! ये परं च पुनः आत्मानम् । एव समुद्धर्तुं संसारात् निस्तारयितुं समर्थास्तान् स्वपरनिस्तारकान् त्वं न जानासि । अथ चेत् त्वं जानासि तदा (भण) कथय ? ॥ १२ ॥

तस्स क्खेवपमोक्खं च, अचयंतो तहिं दिओ ।
सपरिसो पंजलिउडो, पुच्छई तं महामुणिं ॥१३॥

(तहिं इति) तत्र यज्ञे द्विजो विजयघोषः प्राञ्जलिपुटो बद्धाञ्जलिः सन्, तं महामुनिं पृच्छति-कीदृशो द्विज ?। सपरिषत् बहुभिर्मनुष्यैः सहितः। पुनः स द्विजः कीदृशः सन् ?। तस्य साधोराक्षेपं प्रश्नस्तस्य प्रमोक्षं प्रतिवचनमुत्तरम् (अचयंतो इति) दातुम् अशक्नुवन् प्रश्नस्योत्तरं दातुमसमर्थः सन् दातुमित्यध्याहारः ॥ १३ ॥

वेयाणं च मुहं बूहि, बूहि जण्णाण जं मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं बूहि, जं च धम्माण वा मुहं ॥ १४ ॥

हे महामुने ! त्वमेव वेदानां मुखं ब्रूहि ?। पुनर्यत् यज्ञानां मुखं तन्मे ब्रूहि?। पुनर्नक्षत्राणां मुखं ब्रूहि ?। पुनर्यत् धर्माणां मुखं तन्मे ब्रूहि ॥ १४ ॥

जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य ।
एयं मे संसयं सव्वं, साहू कहसु पुच्छिओ ॥ १५ ॥

पुनर्ये पुरुषा परं, च पुनरात्मानमपि संसारात् उद्धर्तुं समर्थाः सन्ति एतन्मे मम संशयविषयं वेदमुखादिकम् अस्ति। हे साधो! त्वं मया पृष्टः सन् सर्वं कथयस्व ॥ १५ ॥

इत्युक्ते पुनराह-

अग्गिहोत्तमुहा वेया, जण्णट्ठी वेयसा मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं चंदो, धम्माणं कासवो मुहं ॥१६॥

हे विजयघोष ! वेदा अग्निहोत्रमुखाः, अग्निहोत्रं मुखं येषां ते अग्निहोत्रमुखा वेदानां मुखमग्निहोत्रम् । अग्निहोत्रं हि अग्निकारिका, सा च इयम्-"कर्मेन्धनं समाश्रित्य,दृढा सद्भावनाहुतिः। धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका ॥१॥" इत्यादि यज्ञविधिविधायिका कारिका गृह्यते । वेदानां यज्ञानां एषा एव कारिका मुखं प्रधानम् । अस्याः कारिकाया अर्थः-कर्माणि इन्धनानि कृत्वा उत्तमा भावना आहुतिर्विधेया धर्मध्यानाग्नौ दीक्षितेन इयम् अग्निकारिका विधेया पुनर्हे ब्राह्मण! विजयघोष ! यज्ञार्थी पुरुषो वेदसां यज्ञानां मुखं वर्तते, यज्ञो दशप्रकारधर्मः। " सत्यं तपश्च सन्तोषः, क्षमा चारित्रमार्जवम् । श्रद्धा धृतिरहिंसा च, संवरश्च तथा परः ॥ १ ॥" इति दशप्रकारः। स चात्र प्रस्तावाद्भावयज्ञस्तं यज्ञम् अर्थयति अभिलषतीति यज्ञार्थी स एव यज्ञानां मुखं वर्तते । नक्षत्राणां अष्टाविंशतीनां मुखं चन्द्रो वर्तते, धर्माणां श्रुतधर्माणां चारित्रधर्माणां काश्यपः आदीश्वरो मुखं वर्तते। धर्माः सर्वेऽपि तेनैव प्रकाशिता इत्यर्थः ॥ १६ ॥

जहा चंदं गहाईया, चिट्ठंति पंजलीउडा ।
वंदमाणा णमंसंति, उत्तमं मणहारिणो ॥ १७ ॥

यथा ग्रहादिका अष्टाशीतिग्रहा नक्षत्राणि अष्टाविंशतिप्रमितानि एवं सर्वे ज्योतिष्का देवाश्चन्द्रं प्राञ्जलिपुटाः बद्धाञ्जलयस्तिष्ठन्ति सेवन्ते । एवं श्रीऋषभदेवम् उत्तमं प्रधानं तथा इन्द्रास्तथा मनोहारिणस्त्रिभुवनवर्तिनो भव्या वन्दमानाः स्तवनां कुर्वन्तो नमस्कुर्वन्ति विनये प्रवर्तन्ते इति भावः ॥ १७ ॥

अजाणगा जण्णवाई, विज्जामाहणसंपया ।
मूढा सज्झायतवसा, भासच्छन्ना इवऽग्गिणो ॥१८॥

हे विजयघोष ! विद्याब्राह्मणसंपदामजानाना पुनर्यज्ञवादिनस्ते त्वया पात्रत्वेन मन्यन्ते । विद्या आरण्यकब्रह्माण्डपुराणात्मिकास्ता एव ब्राह्मणसंपदो विद्याब्राह्मणसंपदस्तासाम् अज्ञाः सन्तो यज्ञवादिनो वर्तन्ते । चेत् बृहदारण्यकाद्युक्तं यज्ञम् एते जानन्ते, तदा कथं एतादृशं यज्ञं कुर्युः । तस्माद् वृथैव वयं याज्ञिका इत्यभिमानं कुर्वन्ति । पुनः कथंभूता ?। स्वाध्यायतपसा वेदाध्ययनोपवासादिना मूढाः बहिः सद्वृत्तिमन्तः आच्छादिततत्त्वज्ञानाः । एते के इव ? भस्मच्छन्ना अग्नय इव। रक्षाच्छादितवह्नय इव । इत्यनेन बाह्ये शीतत्वे प्राप्ताः परं कषायाग्निना मध्ये सन्तप्ता एवेति भावः ॥ १८ ॥

पुनस्साधुर्वदति—

जो लोए बम्भणो वुत्तो, अग्गीव महिओ जहा ।
सया कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ॥ १९ ॥

हे विजयघोष ! वयं तं ब्राह्मणं ब्रूमः । तं कम् ?। यो मुनिभिर्ब्राह्मण उक्तः। यथा केचित् अज्ञैः अब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणोऽयमित्युक्तस्तं ब्राह्मणं न ब्रूमः इति भावः। कथंभूतः स ?। लौकैर्महितः पूजितः सन् दीप्यते। क इव ?। अग्निरिव । यथाऽग्निः पूजितो घृतादिसिक्तो दीप्यते। कीदृशं तं ब्राह्मणम् ?। सदा कुशलसन्दिष्टं कुशलैस्तत्त्वाभिज्ञैः संदिष्टं कथितम् ॥ १९ ॥

अथ कुशलसंदिष्टस्वरूपमाह—

जो न सज्जइ आगंतुं, पव्वयंतो न सोयइ ।
रमई अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥२०॥

हे विजयघोष! तं वयं ब्राह्मणं ब्रूमः । तम् इति कम् ?। यः (आगंतु इति) बहुभ्यो दिनेभ्यः प्राप्तं स्वजनादिकं वल्लभं जनं न स्वजति नालिङ्गति । अथवा-(आगंतु इति) स्वजनादिस्थानमागत्य स्वजनादिकं न स्वजति न अभिष्वङ्गं करोति, पुनर्यः प्रव्रजन् स्थानात् अन्यत् स्थानं स्थानान्तरं गच्छन् अर्थात् विच्छुटन् न शोचते न शोकं कुरुते । पुनर्य आर्यवचने तीर्थंकरवाक्ये रमते तं वयं ब्राह्मणं वदामः ॥ २० ॥

जायरूवं जहाऽऽमिट्ठं, निद्धंतमलपावगं ।
रागदोसभयातीतं, तं वयं बूम माहणं ॥ २१ ॥

हे विजयघोष ! वयं तं ब्राह्मणं ब्रूमः । कीदृशम् ?। जातरूपं स्वर्णं इव आमृष्टं तेजो वृद्धये मनःशिलादिना परामृष्टं कृतवर्णिकावर्द्धनमनेन बाह्यगुण उक्तः। यथाशब्द इवार्थे। पुनः कीदृशं तम् ?। (निद्धंतमलपावगं) नितरामतिशयेन ध्मातं मलं किट्टं तद्रूपं पावकं यस्य नतिर्ध्मातमलपातकम् अनेन च अन्तरो गुण उक्तः । पुनः कथंभूतः?। रागद्वेषभयातीतः रागः प्रेमरूपः द्वेषोऽप्रीतिरूपः ताभ्यामतीतो दूरीभूतस्तं वयं विप्रं वदामः ॥ २१ ॥

तवस्सियं किसं दंतं, अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥ २२ ॥

हे विजयघोष ! वयं तं ब्राह्मणं ब्रूमः । तं कं तपस्विनम् । अत एव कृशं दुर्बलम् । पुनः कीदृशम् ? । दान्तं जितेन्द्रियम् । पुनः कीदृशम् ?। अपचितमांसशोणितं शोषितमांसरुधिरम् । पुनः कीदृशम् ?। सुव्रतं सम्यक् व्रतानां धर्तारम् । पुनः कीदृशम् ?। प्राप्तनिर्वाणं प्राप्तं कषायाग्निशमनेन निर्वाणं शीतीभावो येन स प्राप्तनिर्वाणस्तम् ॥ २२ ॥

तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे ।

जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥ २३ ॥

हे ब्राह्मण ! तं वय ब्राह्मण ब्रूमः। तम इति कम ?। यस्त्रसान् प्राणान् पुन' स्थावरान् सग्रहेण समासेन सक्षेपेण विज्ञाय त्रिविधेन मनोवाक्कायेन करणकारणानुमतिभेदेन नवविधेन न हन्ति, तं ब्राह्मण वच्म इति भावः ॥ २३ ॥

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥ २४ ॥

हे विजयघोष ! य. क्रोधात्, यदि वा अथवा हासात्, वा अथ वा लोभात्, अथ भयात् मृषाम् असत्यवाणीं न वदति, त वय ब्राह्मण ब्रूमः ॥ २४ ॥

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जदि वा बहुं ।
न गिण्हइ अदत्तं जे, त वयं बूम माहणं ॥ २५ ॥

हे ब्राह्मण ! यश्चित्तमन्तं सचित्तम् । अथवा-अचित्त प्रासुकम् अल्प स्तोकम, यदि वा बहुं प्रचुरम अदत्त दायकेन अनर्पित स्वयमेव न गृह्णाति त वय ब्राह्मण वदाम' ॥ २५ ॥

दिव्वमाणुस्सतेरिच्छं, जो ण सेवइ मेहुणं ।
मनसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥ २६ ॥

पुनर्यो दिव्यमानुष्यतिरश्चीनं मैथुन मनसा कायेन वचसा कृत्वा न सेवते । वय तं ब्राह्मण वदामः ॥ २६ ॥

जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥ २७ ॥

हे ब्राह्मण ! पुनस्त वय ब्राह्मण वदाम । त कीदृशम ?। (एव) अमुना प्रकारेण अनेन दृष्टान्तेन कामै. अलिप्त भोगै. असंलग्न येन दृष्टान्तेन यथा पद्म जले जातं पर तत् पद्म वारिणा न उपलिप्यते जल त्यक्त्वोपरि तिष्ठति तथा भोगैरुत्पन्नोऽपि भोगैरलिप्तो यस्तिष्ठति स ब्राह्मणो ज्ञेय ॥ २७ ॥

अलोलुयं मुहाजीवी, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥ २८ ॥

मूलगुणमुक्त्वा उत्तरगुणमाह-पुनर्वय त ब्राह्मण ब्रूम'। कीदृश त ब्राह्मणम् ?। अलोलुपम् आहारादिषु लाम्पट्यरहितम् । पुन' कीदृशम ?। मुधाजीविनम् अज्ञातगृहेषु आहारादि गृहीत्वा आजीविका कुर्वाणं संयमजीवितव्यधारकम इत्यर्थ. । पुनः कीदृशम् ?। गृहस्थेषु असंसक्तं गृहस्थे प्रतिबन्धरहितम् ॥ २८ ॥

जहित्ता पुव्वसंजोगं, नातिसंगे य बंधवे ।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥ २९ ॥

पुनस्तं वयं ब्राह्मण वदामः। तमिति कम ?। यो ज्ञानी स्वकीयगोत्रे च पुनः सङ्गे स्वसुरादिसंबन्धे पुनर्बान्धवे पूर्वसंयोग मातापित्रादिस्नेह त्यक्त्वा पुनरेतेषु पूर्वोक्तेषु न स्वजाति रागासक्तो न भवति । त वय ब्राह्मण वदामः ॥ २९ ॥

पसुबंधा सव्ववेया, जट्ठं च पावकम्मुणा ।
न तं तायंति दुस्सीलं, कम्माणि बलवंतिह ॥ ३० ॥

भो विजयघोष ! सर्ववेदाः पशुबन्धाः वर्तन्ते पशूनां बन्धो विनाशाय नियन्त्रण यैस्ते पशुबन्धा. केवल वेदा पशुहननहेतवो वर्तन्ते । न तु मोक्षहेतवः । हिंसायाः प्ररूपकत्वात् यतो हि वेदवाक्यमिद श्रूयताम् "भूतिकामो वायव्यां दिशि श्वेतं छागमालभेत" इत्यादि पशुबन्धे हेतुभूत वेदवाक्यं च पुन. (जट्ठ इति) इष्ट यजनं यज्ञः पापकर्मणामुत्पद्यते तत् इष्टं पापकर्मणा पापकारणपशुबन्धाद्यनुष्ठानेन त वेदानाम् अध्येतार यज्ञकर्तार वा न त्रायन्ते यज्ञकर्तार वा दु.शील दुराचार पापशास्त्राणां पठनेन पापकर्मकरणेन दुराचारम् इह कर्माणि बलवन्ति वर्तन्ते दुष्टकर्माणि बलेन पापकर्मकर्तारं नरकं नयन्ति । अतः कारणात् एतस्मात् यागात् ब्राह्मणः पात्रभूतोऽस्ति । किं तु अनन्तरोक्तगुणवान् एव ब्राह्मण इति भाव. ॥ ३० ॥

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणीऽरण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥ ३१ ॥

हे विजयघोष ! मुण्डितेन श्रमणो निर्ग्रन्थो न स्यात् । ओङ्कारेण ॐ भूर्भुवः स्वस्तीत्यादिना ब्राह्मणो न स्यात् । तथा-अरण्यवासेन मुनिर्नोच्यते । कुशो दर्भस्तन्मय चीर उपलक्षणत्वात् वल्कल कुशचीर तेन कुशचीरेण कुशोपलक्षितवल्कलवस्त्रेण तापसो न भवेत् ॥ ३१ ॥

समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो ।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥ ३२ ॥

(समया) समयत्वेन शत्रुमित्रयोरुपरि समानभावेन श्रमणो भवति । ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणो भवति, ब्रह्म पूर्वोक्तम् 'अहिंसासत्यचौर्याभावामैथुननिर्लोभरूप' तस्य ब्राह्मणचरणमङ्गीकरण ब्रह्मचर्यं तेन ब्राह्मण उच्यते, ब्रह्मत्वयुक्तो ब्राह्मण इत्यर्थ' । ज्ञानेन मुनिर्भवति मन्यते जानाति हेयोपादेयविधी इति मुनिः । स च ज्ञानेनैव स्यात् । तथा तपसा द्वादशविधेन तापसो भवति ॥ ३२ ॥

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो ।
वयसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥ ३३ ॥

कर्मणा क्रियया ब्राह्मणो भवति, " क्षमा दान दमो ध्यानं, सत्य शौच धृतिर्घृणा । ज्ञानविज्ञानमास्तिक्य-मेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥ १ ॥ " अनया क्रियया लक्षणभूतया ब्राह्मणः स्यात् । क्षत्रियः शरणागतत्राणलक्षणक्रियया क्षत्रिय उच्यते, न तु केवल क्षत्रियकुले जातिसमुत्पन्ने सति शस्त्रबन्धनत्वेनैव क्षत्रिय उच्यते । एव वैश्योऽपि कर्मणा क्रियया एव स्यात् कृषिपशुपाल्यादिक्रियया वैश्य उच्यते । कर्मणा एव शूद्रो भवति शोचनादिहेतुप्रेषणभारोद्वहनजलाद्याहरणचरणमर्दनादिक्रियया शूद्र उच्यते । अत्र ब्राह्मणलक्षणावसरे अन्येषां वर्णत्रयाणां लक्षणाविधान व्यासिदर्शनार्थम् ॥ ३३ ॥

एए पाउकरे बुद्धे, जेहिं होइ सिणायओ ।
सव्वकम्मविणिम्मुक्क, तं वय बूम माहणं ॥ ३४ ॥

बुद्धो ज्ञाततत्त्वः श्रीमहावीरः एतान् अहिंसादधर्मान् प्रादुरकार्षीत् प्रकटी चकार । यैर्गुणै कृत्वा सर्वकर्मविनिर्मुक्तो भूत्वा स्नातको भवति केवली भवति । प्राकृतत्वात् प्रथमास्थान द्वितीया । तम एतादृशगुणयुक्त स्नातक वा वय ब्राह्मण वदामः ॥ ३४ ॥

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवंति दिउत्तमा ।
ते समत्था वि उद्धत्तु, पर अप्पाणमेव य ॥ ३५ ॥

एवंगुणसमायुक्ताः ये द्विजोत्तमाः ब्राह्मणश्रेष्ठाः भवन्ति । ते ब्राह्मणोत्तमाः परमात्मानम् अपि उद्धर्त्तुं समर्था भवन्ति ॥३५॥

एवं तु संसए छिन्ने, विजयघोसे य माहणे ।
समुदाय तयं तं तु, जयघोसं महामुणिं ॥ ३६ ॥

ततस्तदनन्तरं विजयघोषो ब्राह्मणः जयघोषं महामुनिं तथा च इद वचनम्-उदाह कथयति इति सम्बन्धः किं कृत्वा ?। तं मुनिं जयघोषं समादाय सम्यक् उपलक्ष्य ज्ञात्वा, क सति (एवं) पूर्वोक्तप्रकारेण विजयघोषस्य संशये छिन्ने सति ॥ ३६ ॥

तुट्ठो य विजयघोसे, इणमुदाहु कयं जली ।
माहणत्तं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥ ३७ ॥

विजयघोषस्तुष्ट इदं वचनं जयघोषमुनये आह-कीदृशो विजयघोषः ?। कृताञ्जलिः, हे मुने ! मे मम ब्राह्मणत्वं यथाभूतं यथा स्वरूपं सुष्ठु सम्यगुपदर्शितम् ॥ ३७ ॥

तुब्भे जइया जन्नाणं, तुब्भे वेयविऊ विऊ ।
जोइसंगविऊ तुब्भे, तुब्भे धम्माण पारगा ॥ ३८ ॥

किं वचनम् ? आह-हे महामुने ! (तुब्भे इति) यूयं यज्ञानां यष्टारः, यूयं वेदविदः वेदवित्सु विदो ज्ञातारो वेदविदाम्बराः यूयम् एव । पुनर्यूयम् एव ज्योतिषाङ्गविदः । यूयम् एव धर्माणां पारगाः धर्माचारपारगाः ॥ ३८ ॥

तुब्भे समत्था उद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य ।
तमणुग्गहं करे अम्हं, भिक्खेणं भिक्खुउत्तमा ! ॥३९॥

पुनर्हे महामुने ! यूयं परं पुनः आत्मानं समुद्धर्तुं संसारात् निस्तारयितुं समर्थाः । (तं इति) तस्मात् कारणात् भो भिक्षूत्तमाः ! साधुश्रेष्ठाः ! भिक्षया भिक्षाग्रहणेन अस्माकम् अनुग्रहं यूयं कुरुथ ॥ ३९ ॥

ण कज्जं मज्झ भिक्खेणं, खिप्पं निक्खमसू दिया ।
मा भमिहिसि भयावट्टे, घोरे संसारसागरे ॥ ४० ॥

तदा जयघोषमुनिराह-हे द्विज ! मम भिक्षया कार्यं नास्ति । त्वं क्षिप्रं शीघ्रं क्रमस्व दीक्षां गृहाण । हे द्विज ! घोरे भीषणे संसारसागरे भ्रमसि मिथ्यात्वेन त्वं संसारसमुद्रे भ्रमिष्यसि । तस्मान्मिथ्यात्वं त्यज, जैनीं दीक्षां गृहाणेति भावः । कथं भूते संसारसमुद्रे ?। भयावर्त्ते सप्तभयजलभ्रमयुक्ते ॥ ४० ॥

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पइ ।
भोगी भमई संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥ ४१ ॥

हे विजयघोष ! भोगेषु भुज्यमानेषु सत्सु उपलेपः कर्मोपचयरूपो बन्धः स्यात् । अभोगी भोगानाम् अभोक्ता, कर्मणा न उपलिप्यते । पुनर्भोगी भोगानां भोक्ता, संसारे भ्रमति । अभोगी भोगानाम् अभोक्ता, कर्मलेपात् विमुच्यते ॥ ४१ ॥

कर्मलेपे दृष्टान्तमाह-

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टिया मया ।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गइ ॥४२॥

उल्लः आर्द्रः, च पुनः शुष्कः, एतौ द्वौ मृत्तिकामयौ गोलकौ कुड्ये भित्तौ उत्क्षिप्तौ आक्षिप्तौ तत्र आपतितौ भित्तौ आस्फालितौ स्तः । अत्र द्वयोः मृत्तिकामयगोलकयोर्मध्ये य उल्लः आर्द्रो, मृद्गोलकः स कुड्ये लगति ॥४२॥

एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥ ४३ ॥

(एवं) अमुना प्रकारेण आर्द्रमृत्तिकागोलकदृष्टान्तेन दुर्मेधसो दुष्टबुद्धयो ये नराः कामलालसाः भोगेषु लम्पटाः (लग्गंति) संसारे आसक्ताः भवन्ति । तु पुनः विरक्ताः कामभोगेभ्यो विमुखनराः (न लग्गंति) संसारासक्ता न भवन्ति । यथा शुष्को मृद्गोलको भित्तौ न लगति ॥ ४३ ॥

एवं से विजयघोसे, जयघोसस्स अंतिए ।
अणगारस्स निक्खंतो, धम्मं सोच्चा अणुत्तरं ॥ ४४ ॥

(एवं) अमुनाप्रकारेण स विजयघोषो ब्राह्मणो जयघोषस्य अनगारस्य अन्तिके समीपे निष्क्रान्तो दीक्षां प्राप्तः । किं कृत्वा ?। अनुत्तरं धर्मं श्रुत्वा ॥ ४४ ॥

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
जयघोसविजयघोसा, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥४५॥ त्ति बेमि

जयघोषविजयघोषौ उभावपि अनुत्तरां प्रधानां गतिं सिद्धिं प्राप्तौ । किं कृत्वा ?। संयमेन, च पुनस्तपसा पूर्वकर्माणि क्षपयित्वा । इति अहं ब्रवीमि । सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्राह ॥ ४५ ॥ उत्त० २५ अ० ।

जयचंद-जयचन्द्र-पुं० । सोमसुन्दरसूरिशिष्यपञ्चकमध्ये द्वितीये शिष्ये, ग० ४ अधि० । अनेन, विक्रमसंवत् १५०६ प्रतिक्रमणविधिनामा ग्रन्थो विरचितः । जै० इ० ।

जयजयसद्द-जयजयशब्द-पुं० । जयजयारवे, औ० ।

जयजयारव-जयजयारव-पुं० । जय जयेत्याशीर्वादशब्दे, "जय जय नंदा जय जय भद्दा जय जय खत्तियवरवसहा " वृत्ति.- संभ्रमे द्विर्वचनम् । इह च दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । अथवा-जय त्वं जगन्नन्द ! भुवनसमृद्धिकारक ! एवं जगद्भद्र ! जगत्कल्याणकर ! औ० । " जय जय णंदा धम्मेणं जय जय णंदा तवेणं " वृत्ति.-जय जयेत्याशीर्वचनं भक्तिसंभ्रमे च द्विर्वचनं नन्द वर्द्धस्व धर्मेण एवं तपसाऽपि । अथवा-जय जय विपक्षं, कन धर्मेण इह नन्देत्येवमक्षरघटना कार्या । भ० ६ श० ३३ उ० ।

जयट्ठभासि (ण्)-जयार्थभाषिन्-पुं० । यथैवात्मनो जयो भवति तथैवाविद्यमानमप्यर्थं भाषते तच्छीलः जयार्थभाषी । येन केन प्रकारेणासदर्थभाषणेनाप्यात्मनो जयमिच्छति जने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

जयण-यजन-न० । यागे, गायत्र्यादिपाठपूर्वकं विप्राणां संध्याचैत्यरूपायां पूजायाम्, अनु० । अभयस्य दाने च, प्रश्न० १ संव० द्वार । हयसनाहे, द० का० १ वर्ग ।

यतन-न० । प्राणिरक्षणे, प्रश्न० १ संव० द्वार । प्राप्तेषु योगेषु उद्यमकरणे, (अणु०) " जयणघडणजोगचरित्त " वृत्ति.- यतनं प्राप्तेषु योगेषु उद्यमकरणं घटन चाप्राप्तानां तेषां प्राप्त्यर्थं यत्नः यतनघटनप्रधाना योगाः संयमव्यापारा मनःप्रभृतयो वा चारित्रे तत्तथा । अणु० ३ वर्ग ।

अजयं चरमाणो अ, पाण भूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ १ ॥

अजयं चिट्ठमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥ २ ॥
अजयं आसमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्म, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ३ ॥
अजयं सयमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥ ४ ॥
अजयं भुंजमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ५ ॥
अजयं भासमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ॥ ६ ॥

अयतं चरन्नयतनमनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति । क्रियाविशेषणमेतत्, चरन् गच्छन् । तुरेवकारार्थः । अयतमेव चरन् ईर्यासमितिमुल्लङ्घ्य न त्वन्यथा, किमित्याह-प्राणिभूतानि हिनस्ति । प्राणिनो द्वीन्द्रियादयः, भूतान्येकेन्द्रियाः तानि हिनस्ति, प्रमादानाभोगाभ्यां व्यापादयतीति भावः । तानि च हिंसन् बध्नाति पापं कर्म अकुशलपरिणामादादत्ते क्लिष्टं ज्ञानावरणीयादि, तत् (से) भवति कटुकफलम्, तत् पापं कर्म 'से' तस्यायतचारिणो भवति । कटुकफलमित्यनुस्वारोऽलाक्षणिकः । अशुभफलं भवति मोहादिहेतुतया विपाकदारुणमित्यर्थः ॥ १ ॥ एवमयतं तिष्ठन् ऊर्ध्वस्थानेनासमाहितो हस्तपादादि विक्षिपन् शेषं पूर्ववत् ॥२॥ एवमयतम् आसीनो निषण्णतया अनुपयुक्तः सन् आकुञ्चनादिभावेन, शेषं पूर्ववत् ॥ ३ ॥ एवमयतं स्वपन्नसमाहितो दिवा प्रकामशय्यादिना, शेषं पूर्ववत् ॥ ४ ॥ एवमयतं भुञ्जानो निष्प्रयोजनं प्रणीतं काकशृगालभक्षितादिना, शेषं पूर्ववत् ॥ ५ ॥ एवमयतं भाषमाणो गृहस्थभाषया निष्ठुरमन्तरभाषादिना, शेषं पूर्ववत् ॥ ६ ॥

कह चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए ।
कह भुंजतो भासंतो, पाव कम्मं न बंधइ ॥ ७ ॥

अत्राह-यद्येवं पापकर्मबन्धस्ततः "कह चरे" इत्यादि । कथं केन प्रकारेण चरेत्? । कथं तिष्ठेत्? । कथमासीत? । कथं स्वपेत्? । कथं भुञ्जानः? । कथं भाषमाणः? । पापं कर्म न बध्नाति इति ॥७॥

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥ ८ ॥

आचार्य आह-"जयं चरे" इत्यादि । यतं चरेत् । सूत्रोपदेशेनेर्यासमितः । यतं तिष्ठेत् समाहितो हस्तपादाद्यविक्षेपेण, यतमासीत उपयुक्त आकुञ्चनाद्यकरणेन यतं स्वपेत् समाहितो रात्रौ प्रकामशय्यादिपरिहारेण, यतं भुञ्जानः सप्रयोजनमप्रणीतं प्रतरसिंहभक्षितादिना, एवं यतं भाषमाणः साधुभाषया मृदु कालप्राप्तं च । पापं कर्म क्लिष्टमकुशलानुबन्धि ज्ञानावरणीयादि न बध्नाति नादत्ते । निराश्रयत्वात् विहितानुष्ठानपरत्वादिति ॥८॥ दश० ४ अ० ।

जयणा-यतना-स्त्री० । यत्ने, नि० चू० १ उ० । स्वशक्त्या अकल्पपरिहारे, आ० चू० ६ अ० । पृथिव्यादिष्वारम्भपरिहाररूपे यत्ने, दश० ४ अ० । अष्टादशानां शीलाङ्गसहस्राणां सम्पूर्णानाम् अखण्डितविराधितानां यावज्जीवमहर्निशमनुसमयं धारणरूपायां कृत्स्नायां संयमक्रियायाम्, महा० २ चू० । उपयुक्तस्य युगमात्रदृष्टित्वे च । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

यतना च चतुर्विधा तथाहि-

दव्वओ खित्तओ चेव, कालओ भावओ तहा ।
जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयतो सुण ॥६॥
दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खित्तओ ।
कालओ जाव रीएज्जा, उवउत्ते य भावओ ॥७॥

यतनेतिद्वारं बुभुत्सुराह-"दव्वओ" इत्यादि । सुगममेव, नवरं तामिति चतुर्विधयतनां मे कीर्तयतः सम्यक् प्ररूपयतोऽभिधानद्वारेण सशब्दयतः शृणु आकर्णय शिष्येति गम्यते । यथा प्रतिज्ञातमेवाह-द्रव्यत इति । जीवादिकं द्रव्यमाश्रित्येयं यतना, यच्चक्षुषा दृष्ट्या प्रेक्षेतावलोकयेत्, अक्रमाज्जीवादिकं द्रव्यमवलोक्य च । संयमात्मविराधनापरिहारेण गच्छेदिति भावः । युगमात्रं च चतुर्हस्तप्रमाणप्रस्तावात् क्षेत्रं प्रेक्षेत, इयं क्षेत्रतो यतना । कालतो यतना यावत् (रीएज्ज त्ति) रीयते यावन्तं कालं पर्यटन्ति तावत् कालमभिगम्यते उपयुक्तश्च । भावतो दत्तावधानो यत् रीयते, इयं भावमङ्गी कृत्य यतना । उत्त० २४ अ० । मुनिना हि श्वासोच्छ्वासावपि यतनया कार्यौ । तदेवाह-"जेसिं सोऊण उस्सासं, नीसासं वाऽणुजाणिए तमवि जयणाए न सव्वहा अजयणाए ऊससतस्स कओ धम्मो कओ तवो" । महा० ६ अ० । श्रावकेणापि यतनया प्रवर्तितव्यमित्याह-यतनां विना प्रवृत्तौ च सर्वत्रानर्थदण्ड एव, अतः सद् यतनया सर्वव्यापारेषु सर्वशक्त्या श्रावकेण यतनायां यतनीयम् । ध०२ अधि० । जिनभवनकरणेऽपि यतना विध्यङ्गमेवेत्याह-यतनाऽपि जिनभवनकरणविध्यङ्गमेव अयतनावतो हि कुशलक्रियासु प्रवर्तमानस्यापि प्रभूतसत्त्वसंघातसंभवेन कुशलाशयात्सम्यग् धर्मो न भवति यतः-

"यत्नं विना धर्मविधावपीह,
प्रवर्तमानोऽसुमतां विघातम् ।
करोति यस्माच्च ततो विधेयो,
धर्मात्मना सर्वपदेषु यत्नः ॥ १ ॥-दर्श० १ तत्त्व ।

उक्तं च सैद्धान्तिकैः-

"जयणेह धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तव्वुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥ ५० ॥

यतनेह धर्मजननी तत्प्रसूतेः, यतना धर्मस्य पालनी चैव प्रसूतरक्षणात् । तपोवृद्धिकारिणी यतना इत्थं तद्वृद्धेः, एकान्तसुखावहा सर्वतो द्रव्यादिति गाथार्थः ॥ ५० ॥

जयणाए वट्टमाणो, जीवो सम्मत्तनाणचरणाणं ।
सद्धाबोहासेवण-भावेणाराहगो भणिओ ॥ ५१ ॥

यतनायां वर्तमानो जीवः परमार्थे सम्यक्त्वज्ञानचरणानां त्रयाणामपि श्रद्धाबोधासेवनाभावेन हेतुनाऽऽराधको भणितस्तथा प्रवृत्तेरिति गाथार्थः ॥ ५१ ॥

एसा य होइ णियमा, न यऽहियदोसणिवारिणी जेण ।
तेण पवित्तिपहाणा, विण्णेया बुद्धिमंतेण ॥ ५२ ॥

एषा न भवति नियमात् येनाधिकदोषनिवारणी इयम नानुबन्धेन । तेन प्रवृत्तिप्रधाना तत्त्वतो विज्ञेया बुद्धिमता सत्त्वेन ॥५२॥

सा इह परिणयजलदल-विसुद्धरूवाओ होइ विण्णेया ।

अव्वत्थओ महतो, सव्वो सो धम्महेउ त्ति" ॥ ५३ ॥

सा यतनेह जिनभवनादौ परिणतजलदलविशुद्धिरूपे च प्रवृत्ति । प्रासुकग्रहणन अर्थतया यद्यपि महात्सवप्रापितवासो धर्महेतु स्थानानियोगादिति । प्रति० ।

जयना-स्त्री० । जयनशीलायाम्, "जयणाए गइए" । वृत्ति.-शेषगतिजयनशीलया । कम्म० २ कर्म० ।

जयणाजुत्त-यतनायुक्त-त्रि० । यतनोपेते, नि० चू० १ उ० ।

जयणाम-जयनामन्-पु० । जयाऽभिधाने एकादशे चक्रवर्तिनि, स्था० १० ठा० । आव० ।

जयणावरणिज्ज-यतनावरणीय-न० । चारित्रविशेषवीर्यान्तरायलक्षणे कर्मणि, भ० ९ श० ३१ उ० ।

जयतिलगसूरि-जयतिलकसूरि-पुं० । तपागच्छीये रत्नसिंहसूरिशिष्ये, तेन च मलयसुन्दरीचरित्रं तथा सुलसाचरित्रं च निर्ममे । जै० इ० ।

जयदेव-जयदेव-पु० । ऋषभदेवस्वामिनश्चतुरशीतितमे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण ।

जयदेववागरण-जयदेवव्याकरण-न० । जयदेवकृतव्याकरणे, कल्प० १ क्षण ।

जयदेवसूरि-जयदेवसूरि-पु० । भक्तामरकर्तुर्मानतुङ्गसूरेः पट्टवर्तिनो वीरसूरेः शिष्ये, ग० ४ अधि० ।

जयद्दह-जयद्रथ-पु० । सिन्धुदेशाधिपवृद्धक्षेत्रसुते राजभेदे, स च धृतराष्ट्रकन्यां दुःशलामुपयेमे । स च सौवीरदेशाधिप. "जयद्रथो नाम यदि श्रुतस्ते, सौवीरराजस्सुभगे स एव ।" वाच० । गगेनविद्धद्रोणजयद्दहं " ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

जयपुर-जयपुर-न० । नगरविशेषे, यत्र किल धर्मरुचिमुनिर्मासादाहृत्य भिक्षां दातुमुद्यतां वसुमतीं निवारितवान् । दर्श०३ तत्त्व । वर्त्तमानकालवर्तिनि मरुधरमण्डलशृङ्गारे स्वानामख्याते रम्यनगरे च । पिं० ।

जयप्प-यतात्मन्-पु० । ध्यानैकनिषण्णे, आ० म० द्वि० ।

जयप्पभ-जयप्रभ-पु० । प्रवचनसारोद्धारविषमपदटीकाकरणे उदयप्रभसूरेः साहाय्यकारके आचार्ये, जै० इ० ।

जयमंगला-जयमङ्गला-स्त्री० । मदनवल्लभकथानकप्रसिद्धायां राजकुमार्याम्, दर्श० ३ तत्त्व ।

जयमाण-यतमान-त्रि० । क्रियायां यत्नपरे, दश० ६ अ० १ उ० । ओघ० । सयमानुष्ठाने परि समन्तान्मूलोत्तरगुणेषु उद्यम कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । सचिते, व्य० १ उ० । "जनमाणा तत्थ निहा, नाणतया दसणचरित्ते । " आ० म० प्र० ।

जयराम-जयराम-पु० । शत्रुञ्जयसिद्धे मुनिभेदे, 'जयरामादिराजर्षि-कोटित्रयमिहागमत्' " । ती० १ कल्प ।

जयवल्लह-जयवल्लभ-पु० । नृपभेदे, " जलयसुदर नाम नयर, तत्थ जयवल्लहो राया, कंतिकदली से भारिया, दुहिया लीलालया " दर्श० १ तत्त्व० ।

जगद्वल्लभ-त्रि० । सर्वजनप्रिये च । दर्श० १ तत्त्व ।

जयसंध-जयसन्ध-पु० । पुण्डरीकनृपस्यामात्ये, "जयसधो अमच्चो" आ० चू० ४ अ० ।

जयसंधि-जयसन्धि-पु० । पुण्डरीकनृपस्यामात्ये, "जयसंधिणा अमच्चेण" आव० ४ अ० ।

जयसद्द-जयशब्द-पु० । जयसूचक. शब्दः । शाक० त० । जय ध्वनौ, उद्घुष्टैनैकजयशब्दैर्निराधितायाम्, वाच० । "मगलजयसद्दकयालोए" मङ्गलाय जयशब्द कृतो जनैनालोके यस्य स तथा । औ० । "जयसद्दग्घोसएण" जयेतिशब्दस्य य उद्घोष. उद्घोषण तेन मिश्रो य. स तथा तेन । ज्ञ० ६ श० ३३ उ० ।

जयसिंह-जयसिंह-पु० । दक्षिणमथुरोद्भवे, अम्बिकापुत्रमातामहे वणिग्भेदे, दर्श० ४ तत्त्व । ती० ।

जयसिंहदेव-जयसिंहदेव-पु० । सिद्धराजोपाह्वये चौलुक्यवंशोद्भवे गुर्जरनृपे, ती० ५ कल्प । जीवा० ।

जयसिंहसूरि-जयसिंहसूरि-पु० । सर्वदेवसूरिशिष्ये, दर्श० ५ तत्त्व । प्रश्नवाहनकुले हर्षपुरीयगच्छसजाते अनुयोगद्वारसूत्रवृत्तिकर्तुर्मलधारिहेमचन्द्राचार्यगुरोरभयदेवसूरेर्गुरौ, अनु० । अन्योऽप्येतन्नामा अञ्चलगच्छीय आर्यरक्षितसूरे शिष्यो धर्मघोषसूरेर्गुरुरासीत् । अस्य च पिता वाहडनामा नाम्रीनाम्नी च माता कोङ्कणदेशे सोपारकनगरेऽय विक्रमसवत् ११७९ वर्षे जातः, स० ११९० वर्षेऽय दीक्षित., स० १११२ वर्षे सूरिपद, प्राप्त. स० १२५९ वर्षे (८० वयसि) स्वर्गमगमत् । जै० इ० ।

जयसिरि-जयश्री-स्त्री० । विजयलक्ष्म्याम्, आ० म० प्र० ।

जयसुंदरी-जयसुन्दरी-न० । कनमङ्गलापुरीयधनश्रेष्ठिसुतायाम । " कयमगलापुरीए, धणसिट्ठिसुया उ बालविहवाऽऽसी । जयसुदरि त्ति तीसे, भत्तिजुया भायरा पंच ॥ १ ॥ " सङ्घा० ।

जयसेहर-जयशेखर-पु० । अञ्चलगच्छीयमहेन्द्रसूरिशिष्ये, स च विक्रमसवत् १४३६ विद्यमान आसीत् । उपदेशचिन्तामणिप्रबोधचिन्तामणि जैनकुमारसम्भवधम्मिल्लचरित्रादीनां काव्यानां कर्त्ताऽभवत् । जै० इ० ।

जयसोमसूरि-जयसोमसूरि-पु० । स्वनामके प्रमोदमाणिक्यसूरिगुरौ, अयमाचार्य. विक्रमसवत् १६५७ आसीत् । विचाररत्नसग्रहनामानं च ग्रन्थ चकार । जै० इ० ।

जया-जया-स्त्री० । वासुपूज्यजिनमातरि, प्रव० ११ द्वार । आव० । तृतीयाऽष्टमीत्रयोदशीरूपासु तिथिषु, सू० प्र० १० पाहु० । जी० । द० प० । च० प्र० । मघवनाम्न तृतीयचक्रवर्तिन स्त्रीरत्ने, स० । पार्श्वजिनाधिष्ठात्रीदेवीविशेषे, ती० ६ कल्प । जयन्तीवृक्षे, रोगजयात्तस्यास्तथात्वम् । वाच० । सा च गुच्छाकारा, तथाहि-गुच्छाम्तु वृन्ताकीकर्पासीजयाऽऽढकीतुलसीकुस्तुम्बरीपिप्पलीनीलादय । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । हरीतक्याम्, विजयायाम्, " भग " इति नाम्ना लोके ख्यातायाम् । नीलदूर्वायाम्, अग्निमन्थवृक्षे, पताकाभेदे, वाच० ।

जयाइच्च-जयादित्य-पु० । पाणिनिव्याकरणे काशिकाकरके वामनाचार्यस्य साहाय्यकारिणि, जै० इ० ।

जयाणंद-जयानन्द-पुं० । विबुधप्रभसूरिशिष्ये, " हरिभद्रमिश्रो ह्यनवत् सूरिः पुनरेव मानदेवगुरुः। विबुधप्रभश्च सूरि, तस्मात्सूरिर्जयानन्द." । ग० ४ अधि० । सोमतिलकसूरिशिष्ये च । तथाहि-
तेषां त्रयो विनेयाः, तत्र श्रीचन्द्रशेखरः प्रथम ।
सूरिर्जयानन्दोऽन्य-स्तृतीयका देवसुन्दरा गुरवः ।
श्रीसोमतिलकसूरे-स्त एव पट्टाम्बरादित्याः । ग० ४ अधि० ।

जर-जृ-धा० जरायाम्, दिवा० पर० अक० सेट् । वाच० । "ऋ-वर्णस्यारः" ॥ ८ । ४ । २३४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण ऋकारस्यारादेशः । 'जरइ' जीर्यते । प्रा० ४ पाद ।

जर-पुं० जृ० भावे अप् । जरायां, विनाशने च । वाच० ।

ज्वर-पुं० । ज्वर-भावे-घञ् । स्वनामख्याते रोगभेदे, वाच० । विपा० । ज्ञा० ।

जरकुमार-जराकुमार-पुं० । श्रीकृष्णज्येष्ठभ्रातरि, ग० २ अधि० ।

जरग-जरत्क-त्रि० । जीर्णे, " जरगओवाणहे त्ति वा " जरत्का जरती जीर्णेत्यर्थः सा चासौ उपानच्च जरत्कोपानत् । अनु० ३ वर्ग ।

जरगव-जरद्गव-पुं० । कर्म०टच् । वाच० । जीर्णबलीवर्दे, सू० १ श्रु० । सूत्र० । "जरगवपाए" जरद्गवपादः । अनु० ३ वर्ग० ।

जरठ-जरठ-त्रि० । जृ-वा-अठ-कर्कशे, कठिने, पाण्डुनृपे, पुं० । जीर्णे, त्रि० । जरायाम्, "नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदाब्जग्रन्थयः " " अयमतिजरठा प्रकामगुर्वी " परिणते च । "जरठकमलकन्दच्छेदगौरैर्मयूखै " । वाच० । " निद्धूय जरठपत्तुपत्ता" वृत्ति:-निर्धूतानि अपनीतानि जरठानि पाण्डुपत्राणि येभ्यस्ते निर्धूतजरठपाण्डुपत्राः । रा० । औ० ।

जरपाग-जरापाक-पुं० पष्टिवर्षपर्याये सप्ततिवर्षजन्मके मानुषे, स्था० ७ ठा० ।

जरय-ज्वरक-न० । मावतीगतमहानरकविशेषे, स्था० ६ ठा० ।

जरयमज्झ-जरकमध्य-पुं० । उत्तरदिग्भावलीगतमहानरकविशेषे, स्था० ६ ठा० ।

जरयावत्त-जरकावर्त-न० । पश्चिमदिग्भावलीगतमहानरकविशेषे, स्था० ६ ठा० ।

जरयावसिट्ठ-जरकावशिष्ट-न० । दक्षिणदिग्भावलीगतमहानरकविशेषे, स्था० ६ ठा० ।

जरलद्धिओ-देशी-ग्रामीणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जरलदिओ-देशी-ग्रामीणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जरसमण-ज्वरशमन-न० । ज्वरापहारे, "जरसमणाई रयणा, अपायगुणा वि ते समिति जहा " वृत्तिः-ज्वरशमनादीनि ज्वरापहारप्रभृतीनि आदिशब्दाच्छूलशमनादिग्रहो रत्नानि माणिक्यान्यज्ञातगुणान्यपि रोगिभिरविदितज्वरादिशमनसामर्थ्यान्यपि न केवलं ज्ञातगुणान्येव तावत् ज्वरादिरोगान् शमयन्ति विनाशयन्ति । पञ्चा० ४ विव० ।

जरा-जरा-स्त्री० । जृ-अङ्-गुण । वाच० । 'जृ' वयोहानौ इति वचनात् । जरणं जरा । वयोहानौ, भ० १६ श० २ उ० । स्था० म० । उत्त० । आव० । प० सू० । प्रश्न० । ल० । द्वा० । सू० प्र० । वृद्धत्वे, स्था० । त० । स्था० । उत्त० ।

जीवानां जराशोकादिको धर्मः-

जीवाणं भंते ! किं जरा सोगे ? । गोयमा ! जीवाणं जरा वि सोगे वि । से केणट्ठेणं भंते !० जाव सोगे वि ? । गोयमा ! जेणं जीवा सारीरवेदणं वेदेंति । तेसि णं जीवाणं जरा, जेणं जीवा माणसं वेदणं वेदेंति तेसि णं जीवाणं सोगे । से तेणट्ठेणं०जाव सोगे वि एवं णेरइयाण वि । एव० जाव थणियकुमाराणं । पुढविकाइयाणं भंते ! जरासोगे ? । गोयमा ! पुढविकाइयाणं जरा, णो सोगे । से केणट्ठेणं० जाव णो सोगे ? । गोयमा ! पुढवीकाइयाण सारीरं वेदणं वेदेंति । णो माणसं वेदणं वेदेंति । से तेणट्ठेण०जाव णो सोगे । एवं जाव चउरिंदियाणं, मेसं जहा जीवाणं० जाव वेमाणियाण । सेवं भंते ! भंते ! त्ति०जाव पज्जुवासइ ।

(जर त्ति) 'जृ' वयोहानौ इति वचनात् । जरणं जरा वयोहानिः शारीरदुःखस्वरूपा वा इयमतो यदन्यदपि शारीरं दुःखं तदनयोपलक्षितम्, ततश्च जीवानां किं जरा भवति । (सोगे त्ति) शोचनं शोको दैन्यमुपलक्षणत्वादेव चास्य सकलमानसदुःखपरिग्रहस्ततश्च उत शोको भवतीति । चतुर्विंशतिदण्डके च येषां शरीरं तेषां जरा, येषां तु मनोऽप्यस्ति तेषामुभयमिति । भ० १६ श० २ उ० । जराभिभूतविग्रहा जघन्यतरामवस्थामनुभवन्ति । जरणपरिणामे, "अङ्गेष्वेव जरां यातु यत्त्वयोपकृतं मम " हा० २१ अष्ट० ।

जरासंध-जरासंध-पुं० । स्वनामख्याते राजनि, श्रीहेमनेमिचरित्रे कृष्णजरासन्धयुद्धाधिकारे जरामोचनशङ्खेश्वरपार्श्वनाथनयनाधिकारः कथं नोक्तः सोऽधिकारः शास्त्रीयो नवेति प्रश्ने, उत्तरम्-तीर्थकल्पादौ सोऽधिकारोऽस्तीति शास्त्रीय एवेति । २३० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । पाण्डवचरित्रे जरासन्धसत्कहिरण्यनाभसेनानी भीमेन हतो हैमायनेमिचरितादौ चानाधृष्टिसेनान्याहत इति कथं मिलतीति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्रापि मतान्तरमवसेयमिति । ९२ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

जल-जल-धा० । आच्छादने, चुरा०उभ०सक० सेट् । जालयति । अजीजलत् । तीक्ष्णीभवने, जीवनोपयोगिक्रियाया च । अक० भ्वा० पर० सेट् । जलति । अजालीत् । जजाल । जेलतु । ज्वलादि । जलं जालं । वाच० । जलं । अलच्-त्रि० । वाच० । " लो लः " ॥ ८ । ४ । ३०७ ॥ इति लस्य ल पैशाच्याम् । कस्य लो वा । प्रा० ४ पाद । जडे, वाच० । उदके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । पानीये, उत्त० ३५ अ० । जलकान्तेन्द्रस्य प्रथमे लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । न० । अप्कायजीवे, कर्म० ४ कर्म० । प्रश्न० । ह्रीवेरे गन्धद्रव्ये, ज्योतिषोक्ते लग्नावधिके चतुर्थस्थाने, पूर्वाषाढानक्षत्रे च । न० । " तदङ्गनिष्पन्दजलेन लोचने " " जलाभिलाषी जलमाददानाम " " न तज्जलं यन्न सुचारु पङ्कजम " तृषिताय रोगिणेऽपि जलं देयम् ।

तथा च-

" पानीयं प्राणिनां प्राणा-स्तदायत्तं हि जीवनम् ।
तस्मात्सर्वास्ववस्थासु, न क्वचिद्वारि वार्यते ॥१॥
अन्नेनापि विना जन्तुः, प्राणान् धारयते चिरम् ।
तोयाभावे पिपासार्त्तः, क्षणात् प्राणैर्वियुज्यते ॥२॥

तृषितो मोहमायाति, मोहात् प्राणान् विमुञ्चति ।
तस्माज्जलमवश्य हि, दातव्य भेषजैः समम् ॥३॥ " वाच० ।
ज्वल - धा० । दीप्तौ, चलने च । भ्वा० । पर० अक० सेट् । ज्वलति । अज्वालीत् । घटा० । ज्वलयति । ज्वला० । ज्वलः-ज्वालः । " जज्वाल लोकस्थितये स राजा " " जागर्ति लोको ज्वलति प्रदीप., सखीगण. पश्यति कौतुकेन । मुहूर्तमात्र कुरु नाथ ! धैर्य, बुभुक्षित. किं द्विकरेण भुङ्क्ते ॥ १ ॥ " उदादिपूर्वकस्य तत्तदुपसर्गद्योत्यार्थयुक्तदीप्तौ, वाच० । 'ज्वल' दीप्तौ । वा अच् । दीप्तविशिष्टे, न० । वाच० । देदीप्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । रा० ।

जलंत-ज्वलत्-त्रि० । देदीप्यमाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स्था० । उत्त० । ज्वालां मुञ्चति, । उत्त० ११ अ० । महा० । जाज्वल्यमाने, उत्त० १६ अ० । कल्प० ।

जलकंत-जलकान्त-पुं० । मणिविशेषे, उत्त० ३६ अ० । प्रज्ञा० सूत्र० । आ० म० । उदधिकुमाराणां दक्षिणेन्द्रे, भ० ३ श० ८ उ० । स्था० । प्रज्ञा० । स० । जलकान्तेन्द्रस्य तृतीये लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

जलकिट्ट-जलकिट्ट-न० । अम्भो मले, रा० ।

जलकीडा-जलक्रीडा-स्त्री० । तडागजलयन्त्रादिषु मज्जनोन्मज्जनशृङ्गिकाच्छोटनादिरूपायां क्रीडायाम् , ध० २ अधि० । देहशुद्धावपि जलेनाभिरतौ, भ० ११ श० ६ उ० ।

जलकीला-जलक्रीडा-स्त्री० । 'जलकीडा' शब्दार्थे, भ० ११ श० ९ उ० ।

जलग-ज्वलक-पुं० । वैश्वानरे, पिं० ।

जलगय-जलगत-पुं० । पूतरकादित्रसेषु, शैवालादिवनस्पतिकायिकेषु जीवेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जलचक्कवाल-जलचक्रवाल-न० । तोयमण्डले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जलचार-जलचार-पुं० । नावादिना सञ्चरणे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

जलचारण-जलचारण-पुं० । जलपरिणामकुशलेषु, जलमुपेत्य वापीनिम्नगासमुद्रादिष्वप्कायिकजीवानविराधयत्सु, जले भूमाविव पादोत्क्षेपकुशलेषु, ग० २ अधि० ।

जलचारिया-जलचारिका-स्त्री० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जलजलित-जाज्वल्यमान-त्रि० । देदीप्यमाने, कल्प० २ क्षण ।

जलट्ठाण-जलस्थान-न० । जलाशयेषु, प्रज्ञा० २ पद ।

जलण-ज्वलन-त्रि० । ज्वल-ताच्छील्यादौ युच् । दीप्तिशीले, वाच० । अग्नौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । आव० । वैश्वानरे, आ० म० । आत्मानं चारित्रं वा ज्वालयति दहतीति ज्वलनः । क्रोधे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । पाटलिपुत्रे हुताशनब्राह्मणभार्यायां ज्वलनशिखायां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, आ० चू० ४ अ० । आव० । आ० क० । चित्रकवृक्षे च । पुं० । वाच० । भावे ल्युट् । अग्नेरुद्दीपने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । शैत्यापनोदनाय शोषणार्थं वा वैश्वानरस्य ज्वलने, प्रकाशकरणाय दीपप्रबोधने, प्रश्न० ३ सम्व० द्वार । ज्ञानादिगुणोद्भासने, प्रव० १४८ द्वार । नि० चू० । भस्मीकरणे च । ग० २ अधि० ।

जलणप्पवेस-ज्वलनप्रवेश-न० । बालमरणभेदे, नि० चू० ११ उ० । भ० ।

जलणसिह-ज्वलनशिख-पुं० । सुरभिपुरवास्तव्ये स्वनामख्याते ब्राह्मणे शुभमने पितरि, दर्श० २ तत्त्व ।

जलणसिहर-ज्वलनशिखर-पुं० । वैताढ्यगिरेर्दक्षिणे शिवमन्दरे नगरे स्वनामख्यात, राज्ञि, उत्त० १३ अ० ।

जलणसिहा-ज्वलनशिखा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां पाटलिपुत्रनगरवास्तव्यहुताशनब्राह्मणभार्यायाम् , आव० ४ अ० । आ० चू० । दर्श० । विजयपुरनगरवास्तव्यरुद्रसोमद्विजभार्यायां च । सङ्घा० । आ० क० ।

जलद्दवरण-जलद्रवरण-पुं० । जलद्रवणत्वाप्कायिकजीवपीडामजनयति, प्रव० १८ द्वार ।

जलदिट्ठि-जलदृष्टि-स्त्री० । द्वि० व० । उदकस्य विषये लोचनप्रसरलक्षणयोर्मिलितयोर्दृष्ट्यो., आव० ३ अ० ।

जलपक्खंदण-जलप्रस्कन्दन-न० । बालमरणभेदे, नि० चू० ११ उ० ।

जलपूया-जलपूजा-स्त्री० । प्रतिदिन त्रिसन्ध्यमपि पवित्रगलितजलभृतभाजनानां जिनपुरतो ढौकने, कर्पूरपूरसगोशीर्षघुसृणसारसरससुरभिसम्मिश्रपवित्रजलभृतकनककलशैर्जलमज्जने च । दर्श० १ तत्त्व ।

जलप्पभ-जलप्रभ-पुं० । उदधिकुमाराणां स्वनामख्याते उत्तरेन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । भ० । जलकान्तेन्द्रस्य स्वनामख्याते चतुर्थे लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

जलप्पवेस-जलप्रवेश-पुं० । जले प्रविश्य म्रियते । बालमरणभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० । भ० । नि० चू० ।

जलभूमिआ-जलभूमिका-स्त्री० । जलाधारभूमौ, प्रज्ञा० २ पद ।

जलमग्ग-जलमार्ग-पुं० । नावादिगम्ये पथि, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । जलस्य तडागस्य मार्गप्रणाल्याम्, वाच० ।

जलमज्जण-जलमज्जन-न० । जलेन देहशुद्धिमात्रे, भ० ११ श० ९ उ० ।

जलमण्डूक-जलमण्डूक-पुं० । कुक्कुटभेदे जलव्याले, नि० चू० १ उ० ।

जलमय-जलमय-त्रि० । अप्कायिकेषु जीवेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जलमाला-जलमाला-स्त्री० । प्रचुरजले, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

जलमूअ-जलमूक-पुं० । मूकभेदे, आव० ४ अ० । ग० । भ० । नि० चू० ।

जलय-जलज-न० । सहस्रपत्रादिषु, प्रज्ञा० १ पद । आ० म० । रा० ।

जलयर-जलचर-पुं० । जले चरति पर्यटतीति जलचरः । " चरेष्टः " ॥ " आधाराद् " ॥ ५ । १ । १३७ ॥ इत्यधिकारे । " चरेष्टः " ॥ ५ । १ । १३८ ॥ इति टप्रत्यय. । "कगचजतदपयवां प्रायो लुक्" ॥ ८ ।

१। १७७' इति यमुक्ति 'जलमर' तदभावे 'जलयरो' जलचरश्च। प्रा० १ पाद। ते च पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः (प्रज्ञा०)

से किं तं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? । जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-मच्छा कच्छभा (हा) गाहा मगरा सुंसुमारा ।

अथ के ते जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः ?, सूरिराह-जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका. पञ्चविधा. प्रज्ञप्ता. । तदेव पञ्चविधत्वं तद्यथेत्यादिनोपदर्शयति-मत्स्याः कच्छपाः सूत्रे पकारस्य भकारः प्राकृतत्वात्। ग्राहा. मकराः शिशुमाराः प्राकृतत्वात् सूत्रे " सुंसुमारा " इति पाठ.। (प्रज्ञा०)

जे यावन्ने तहप्पगारा ते समासओ दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संमुच्छिमा य गब्भवक्कंतिया य, तत्थ णं जे ते सम्मुच्छिमा ते सव्वे णपुंसगा तत्थ णं जे ते गब्भवक्कंतिया, ते तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-इत्थी पुरिसा णपुंसगा।

ते जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका. समासतः सक्षेपेण द्विविधा. प्रज्ञप्ताः सम्मूर्छिमाश्च गर्भव्युत्क्रान्तिकाश्च । ' मूर्छा ' मोहसमुच्छ्राययो.। अस्मात् सपूर्वात्सम्मूर्छनं सम्मूर्छः " अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् " ॥ ३।३।१६॥ इति (पाणि०) भावे घञ्प्रत्ययः । गर्भोपपातव्यतिरेकेण एवमेव प्राणिनामुत्पाद इति भावः। तेन निर्वृत्ताः संमूर्छिमाः " भवादिमः ॥ ६।४।२१ ॥" इति इमप्रत्यय. । गर्भे व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिर्येषां, व्युत्क्रान्तिशब्दोऽत्रोत्पत्तिवाची । तथा पूर्वाचार्यप्रसिद्धे.। यदि वा-गर्भात् गर्भावासात् व्युत्क्रान्तिर्निष्क्रमणं येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिका., "शेषाद् वा" ॥७।३।१७५॥ इति कप् समासान्तः । चशब्दौ प्रत्येक स्वगतानेकभेदसूचकौ । तत्र ये ते सम्मूर्छिमास्ते सर्वे नपुंसका' सम्मूर्छिमजातस्य नपुंसकत्वाविनाभावित्वात्, ये तु गर्भव्युत्क्रान्तिकास्ते त्रिविधा प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-स्त्रिय' पुरुषाः नपुंसकाः एतेषां चोभयेषामपि शरीरावगाहनादिषु यद्भिन्नत्वं यच्च गर्भव्युत्क्रान्तिकानां स्त्रीपुंनपुंसकानां परस्परमल्पबहुत्वचिन्तन तज्जीवाभिगमटीकायां कृतमिति ततोऽवधार्यम् ।

एतेसि णं एवमाइयाणं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं अद्धतेरस जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा भवंतीति मक्खायं । सेत्तं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ।

"एतेसि णं" इत्यादि। एतेषामेवमादिकानामुपदर्शितप्रकारादीनां जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां पर्याप्तापर्याप्तानां सर्वसङ्ख्ययार्द्धत्रयोदशजातिकुलकोटीनां योनिप्रमुखाणि योनिप्रवाहानि शतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यात भगवद्भिस्तीर्थकरैः। उपसंहारमाह-"सेत्त" इत्यादि । तदेवमुक्ता जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः । प्रज्ञा० १ पद । स० । उत्त० । जी० । औ० । आचा० । सूत्र० । स्था० । जलचरा. जलजीवा.। कल्प० ३ क्षण ।

जलयरी-जलचरी-स्त्री० । जलचरतिर्यग्योनिस्त्रियाम्, (जी०)

से किं तं जलयरीओ ? । जलयरीओ पंचविधाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-मच्छीओ० जाव सुंसुमारीओ । सेत्तं जलयरीओ ॥ जी० २ प्रति० ।

जलयामलगंधिय-जलजामलगन्धिक-पु० । जलजाना जलजकुसुमानामिव मलो न तु कुद्रव्यसम्मिश्रो यो गन्ध विद्यते येषां ते जलजामलगन्धिका । तेषु, "अतोऽनेकस्व ॥७।२।६॥ इतीकप्रत्यय. । पद्मैकगन्धिनी, जी०३ प्रति० ।

जलरक्खस-जलराक्षस-पु० । पञ्चमे राक्षसभेदे, प्रज्ञा० १ प

जलरमण-जलरमण-न० । जलक्रीडायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १३

जलरुह-जलरुह-पु० । जले रुहन्तीति जलरुहा.। उदकाव कादिके वनस्पतिकायभेदे. जी० १ प्रति० । भ० । जल उदकावकपनकशैवलकलम्बुकापावककशेरुकोत्पलपद्मकु लिनपुण्डरीकादय. । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

से किं तं जलरुहा ? । जलरुहा अणेगविहा पण्ण तं जहा-उदए अवए पणए सेवाले कलंबुया हढे कसे कच्छभाणी उप्पले पउमे कुमुदे णलिणे सुभए सुगं पोंमरीए महापोंमरीए सयवत्ते सहस्सवत्ते कल कोकणदे अरविंदे तामरसे भिसे भि समुणाले पोक पोक्खलछिभए, जे यावण्णे तहप्पगारा । सेत्तं जलरु प्रज्ञा० १ पद ॥

जलरूव-जलरूप-पुं० । उदधिकुमारेन्द्रस्य जलकान्तस्य नामख्याते द्वितीये लोकपाले भ० ३ श० ८ उ० ।

जललिछिर-जललिछिर-न० । जलोत्पन्ने वस्तुभेदे, "जल छिरविरनिवसियं " दर्श० १ तत्त्व ।

जलवासि (न्)-जलवासिन्-पु० । परतीर्थिके तापस " जलवासिणो त्ति " ये जलनिमग्ना एवासते । भ० ११ ६ उ० । नि० । औ० ।

जलविच्छुय-जलवृश्चिक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्र १ पद ।

जलवीरिय-जलवीर्य-पु० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्र ऋषभस्वामिनः सप्तमे तद्वंश्ये नृपे, स्था० ८ ठा० । आ

जलवुब्बुअ-जलबुद्बुद-न० । जलस्य गोलाकारे विकार वाच० । " विसयसुह जलबुब्बुअसमाण " औ० ।

जलसिद्धि-जलसिद्धि-स्त्री० । जलावगाहनाद सिद्धौ, " वयते जलसिद्धिमाहु " जलावगाहनाद सिद्धिमाहुस्ते वदन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

जलसूग-जलशूक-न० । जलस्य शूकमग्रम् । शैवाले, वाच इन्द्रस्य जलकान्तस्य स्वनामख्याते द्वितीये लोकपाले, स्थ ४ ठा० १ उ० ।

जलसोयवाइ(न्)-जलशौचवादिन्-पु० । परतीर्थिको " जलसोय जे अ इच्छति " ये चान्ये जलशौचमिच्छन्ति भ वतादयस्ते सर्वेऽप्यप्रासुकाहारभोजित्वात् कुशीला इ सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

जलहर-जलधर-पु० । महामेघे, कल्प० ३ क्षण । वाच० । क

जलहि-जलधि-पु० । जलानि धीयन्तेऽत्र । धा० कि० । स

तोयधिप्रभृतयोऽप्यत्र । चतुःसख्यायाम, सङ्ख्याभेदे, वाच० । पद्म शङ्कुर्जलधिरन्त्य मध्य परार्द्धं च । कल्प० ८ क्षण ।

जलावण–ज्वालन–न० । उद्दीपने,"जलणजलावणविहसणेहिं" (जलावण त्ति) स्वतः परतो वाऽग्नेरुद्दीपनमिति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जलाभिसेयकढिणगाय–जलाभिषेककठिनगात्र–पुं० । वानप्रस्थ तापसभेदे, ये अस्नात्वा न भुञ्जते स्नानाद्वा पाण्डुरीभूतगात्रा' इति वृद्धा.' । भ० ११ श० १ उ० । नि० ।

जलाभिसेयकढिणगायभूय–जलाभिषेककठिनगात्रभूत–पुं० । वानप्रस्थतापसभेदे, । " जलाभिसेयकढिणगत्ता " क्वचित् "जलाभिसेयकढिणगायभूय " त्ति । दृश्यते तत्र जलाभिषेक कठिन गात्र भूता. प्राप्ता ये ते तथा । भ० ११ श० १ उ० । नि० ।

जलासय–जलाशय–पु० । सर·प्रभृतौ जलस्थाने, (प्रज्ञा०)

बादराप्कायिकानां स्थानमधिकृत्य–

अगमेसु तलाएसु सरेसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु णिज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वेप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु जलभूमिआसु ।

किम्बहुना सर्वेष्वेव जलाशयेषु एतदेव व्याचष्टेजलस्थानेषु । प्रज्ञा० २ पद । जी० ।

राज्ञा अन्येन वा ईश्वरेण कूपतडागसत्रदानाद्युद्यतेन पुण्यसद्भाव पृष्टैर्मुमुक्षुभिर्यद्विधेय तद्दर्शयितुमाह–

दुहुओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।
आयं रयस्स हेच्चाणं, निव्वाणं पाउणंति ते ॥ २१ ॥

यदि अस्ति पुण्यमित्येवमूचुस्ततोऽनन्तानां सत्वानां सूक्ष्मबादराणा सर्वदा प्राणत्याग एव स्यात् । प्रीणनमात्र तु पुन स्वल्पाना स्वल्पकालीयमतोऽस्तीति न वक्तव्यम् । नास्ति पुण्यमित्येवप्रतिषेधेऽपि तदर्थिनामन्तराय· स्यात्, इत्यतो द्विधाप्यस्ति नास्ति वा पुण्यमित्येव ते मुमुक्षवः साधव' पुन र्न भाषन्ते । किं तु-पृष्टैस्सद्भिर्मौनं समाश्रयणीयम् । निर्बन्धे त्वस्माक द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जित आहार· कल्पते । एवंविधविषये मुमुक्षूणामधिकार एव नास्तीति । उक्त च-" सत्य वप्रेषु शीत शशिकरधवल वारि पीत्वा प्रकाम, व्युच्छिन्नाशेषतृष्णा प्रमुदितमनस· प्राणिसार्था भवन्ति । शोषं नीते जलौघे दिनकरकिरणैर्यान्त्यनन्ता विनाश, तेनोदासीनभाव व्रजति मुनिगण· कूपवप्रादिकार्ये ॥ १ ॥ " तदेवमुभयथाऽपि भाषिते रजस· कर्मण आयो लाभो भवतीत्यतस्त वाय रजसो मौनेनानवद्यभाषणेन वा हित्वा त्यक्त्वा तेऽनवद्यभाषिणो निर्वाण मोक्ष प्राप्नुवन्ति इति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

जलासयसोस–जलाशयशोष–पु० । जलाशयाना सर·प्रभृतीनां शोषणम । सर प्रभृतीना शोषणे, तच्च कर्मादानम् । यदुक्तम्— "सरदहतलायसोसो, बहुजलयरजीवक्खयकारी" प्रव० ६ द्वार ।

जलिंत–ज्वालयत्–त्रि० । दीपयति, महा० ७ अ० ।

जलिय–ज्वलित–त्रि० । ज्वल-क्त-दग्धे, दीप्ते, उज्ज्वले, भास्वरे च । वाच० । ज्वालाकुले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० । " पवखदे जलिय जोय " ज्वलित ज्वालामालाकुल मुर्मुरादिरूपम । दश० २ अ० । उत्त० । " जलियहुआसणो वि व तेजसा जलंत " प्रश्न० ५ सम्व० द्वार ।

जलियचुडिल्ली–ज्वलितचुडिल्ली–स्त्री० । प्रदीप्ततृणपूलिकायाम्, " जलियचुडिलीविव असुब्भमाणमहणसीलाओ " (जलियचुडिलीविव त्ति) प्रदीप्ततृणपूलिकेव दहनशीला ज्वलनस्वभावा इति । त० ।

जलूया–जलौकस्–स्त्री० । जलमोको वसतिरस्याः । जलजे द्वीन्द्रियजीवविशेषे, अणु० ३ वर्ग । जलौका जलजो द्वीन्द्रियजीवविशेषः । भ० १३ श० ६ उ० । जलौकसो दुष्टरक्ताऽऽकर्षिण्यः । उत्त० ३६ अ० । आव० । प्रज्ञा० । जी० । सू० । आव० । आचा० । दश० । आ० म० । नि० चू० । खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकचर्मपक्षिभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

जलूका–स्त्री० । जलूकेति अनेषणाप्रवृत्तदायकस्य मृदुभावनिवारणार्थसूचकत्वात् । द्रुमपुष्पिकाध्ययने, दश० १ अ० ।

जलोयर–जलोदर–न० । जलप्रधानमुदरं यस्मात् ५ ब० । उदरामयरोगभेदे, वाच० । " पृथक् समस्तैरपि चानिलाद्यैः, प्लीहोदर बद्धगुद तथैव । आगन्तुक सप्तममष्टम तु, जलोदर चेति भवन्ति तानि ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

जलोयरि (न्)–जलोदरिन्–पुं० । उदररोगविशेषवति, वाच० । वातपित्तादिसमुत्थमष्टधोदर तदस्यास्त्युदरी तत्र जलोदर्यसाध्य· शेषा· स्थविरोत्थिताः साध्या इति । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

जलोयरिणी–जलोदरिणी–स्त्री० । कपिलक्षुतस्य कल्पस्य स्वनामख्यातायां भार्यायाम् , आ० क० ।

जलोया–जलौकस्–पुं० । 'जलूया' शब्दार्थे, अणु० ३ वर्ग ।

जल्ल–यल्ल–पु० । याति च लगति चेति यल्लः । रजोमात्रे, संथा० । भ० । औ० । शरीरादिमले, स० २२ सम० । ध० । प्रश्न० । ज० । विशे० । स्था० । आव० । यल्लो मलविशेष इति । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । यल्लः शरीरवस्त्रादिकमलम् । स० २२ सम० । यल्लो मल· कर्णवदननासिकानयनजिह्वासमुत्थ· शरीरसभवश्च । प्रव० ७ द्वार ।

जल्ल–पु० । देहप्रभवपङ्के , दर्श० ३ तत्त्व । जल्लोऽस्थिरो मालिन्यहेतुरिति । आ० १ श्रु० १३ अ० । जल्लः शुष्कः प्रस्वेद इति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । याति च लगति चेति जल्ल' । पृषोदरादित्वान्निष्पत्तिः । स्वल्पप्रयत्नापनेय । जी० ३ प्रति० । त० । औ० । जल्लं काठिन्यापन्न मलमिति । उत्त० २ अ० । जल्लो नाम मल कठिनीभूत इति । दशा० ७ अ० । "जल्लो उ होइ कमढ" नि० चू० ३ उ० , " जल्लो कमढीभूतो " नि० चू० १ उ० । " मलथिग्गल जल्लो भणति " नि० चू० ३ उ० । वरत्राखेलके, राज्ञः स्तोत्रपाठके च । जल्ला· वरत्राखेलका राज्ञः । स्तोत्रपाठका इत्यन्ये । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । अनु० । कल्प० । जी० । दशा० । ज० । प्रश्न० । रा० । म्लेच्छभेदे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जल्लपरीसह-य(ज)ल्लपरीषह-पुं० । यल्ल इति मलः स एव परीषहो यल्लपरीषहः । अष्टादशे मलपरीषहे, उत्त० ६ अ० । स० । जल्लो मलस्तत्परिषहणं च देशतः सर्वतो वा स्नानोद्वर्तनादिवर्जनम् । भ० ८ श० ८ उ० । प्रव० ।

अथ तृणादिस्पर्शात् शरीरे प्रस्वेदात् रजःस्पर्शान्मलोपचयः स्यात् तदा मलपरीषहोऽपि सोढव्यः । अतस्तमाह-

किलिन्नगायमेहावी, पंकेण य रएण वा ।
घिंसु वा परितावेणं, सायं नो परिदेवए ॥ ३५ ॥

मेधावी साधुः 'घिंसु' ग्रीष्मकाले, वाशब्दात् शरदि अपि परितापेन गाढोष्मणा पङ्केन प्रस्वेदात् आर्द्रीभूतमलेन । अथवा-रजसा आर्द्रमलेन परिशुष्य काठिन्यं प्राप्तेन धूल्या वा क्लिन्नगात्रः सन् बाधितशरीरः सन् (सातं) सुखं न परिदेवेत मलापहारात् सुखं न वाञ्छेत् सातार्थं विलापं न कुर्यादित्यर्थः ॥३५॥

तदा किं कुर्यादिति ? । आह—

वेइज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्ममणुत्तरं ।
जाव सरीरभेउ त्ति, जल्लं काएण धारए ॥ ३६ ॥

निर्जरापेक्षी कर्मक्षयमीप्सुः साधुस्तावत्कायेन जल्लं धारयेत् देहेन मलं धारयेत् । पुनः मलपरीषहं (वेइज्ज) वेदयेत् सहेत तावत्कथं यावत् शरीरस्य पातः स्यात् । साधुः कीदृशः सन् ? आर्यं श्रुतचारित्ररूपं धर्मं प्रपन्नः सन् इत्यध्याहारः । कीदृशं धर्मम् ?, अनुत्तरं सर्वोत्कृष्टम् ॥ ३६ ॥ उत्त० २ अ० ।

जल्लपेहा-जल्लप्रेक्षा-स्त्री० । जल्ला वरत्राखेलकाराः स्तोत्रपाठका इत्यपरे, तेषां प्रेक्षा जल्लप्रेक्षा । जल्लप्रेक्षणे, जी० ३ प्रति० ।

जल्लमल-यल्लमल-पुं० । याति च लगति चेति जल्लः । पृषोदरादित्वान्निष्पत्तिः । स चासौ मलश्च यल्लमलः । यल्लरूपे मले, "जल्लमलकलंकसेयरयदोसवज्जियसरीरनिरुवलेवा" । तं० । औ० ।

जल्लमलपंकिय-यल्लमलपङ्कित-त्रि० । बहुमलक्लिन्नाङ्गे, जल्लमलपंकिआण वि लावण्णसिरीओ जइ सि देहे ण"। जल्लमलपङ्कितानामपि बहुमलक्लिन्नाङ्गानामपीति भावः । पं० व० ३ द्वार । "जल्लो कमढीभूतो मलो उव्वट्टितो फिट्टति पंकिता णाम जलमलेन मस्ता इति" । नि० चू० १ उ० ।

जल्लिय-जल्लक-न० । शरीरमले, (जल्लिय त्ति) आर्षत्वात् जल्लो मलः । उत्त० २४ अ० ।

यल्लित-त्रि० । यानलगनधर्मोपेतमलयुक्ते, भ० ६ श० ३ उ० ।

जल्लेस-यल्लेश्य-त्रि० । यस्या लेश्यायाः संबन्धीनि द्रव्याणि, "जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ" । या लेश्या येषां द्रव्याणां तानि यल्लेश्यानि यस्या लेश्यायाः संबन्धीनीत्यर्थः । भ० ३ श० ४ उ० ।

जल्लोसहि-जल्लौषधि-स्त्री० । जल्लो मलः कर्णवदननासिकानयनजिह्वासमुद्भवः शरीरसमुद्भवश्च । स एवौषधिर्यस्यासौ यत्प्रभावतो जल्लः सर्वरोगापहारकः सुरभिश्च भवति स जल्लौषधिः । लब्धिभेदे, प्रव० २६७ द्वार । लब्धिलब्धिमतोरभेदोपचारात् । यल्लौषधिलब्धिविशेषसम्पन्ने साधौ च । आ० चू० १ अ० । ग० । आ० म० । स्था० । विशे० । पा० ।

जल्लोसहिपत्त-यल्लौषधिप्राप्त-त्रि० । यल्लो मलः, स एवौषधिर्यल्लौषधिस्तां प्राप्तो यल्लौषधिप्राप्तः । यल्लौषधिं लब्धिविशेषं प्राप्ते, औ० । "जल्लोसहिपत्तेहिं" प्रश्न० १ संव० द्वार ।

जव-जप-पुं० । जप-अच् । वेदमन्त्रादेरावृत्तौ, असकृदुच्चारणे, जपस्तद्वाचकं ध्येयसम्मुखीकरणं मुनेः इत्युक्ते मन्त्रादिभाषणे च । वाच० । करजापो नन्दावर्तशङ्खावर्तादिरपि बहुफलः । उक्तं च-"करआवत्ते पच, मगला साहुपडिमसखाए । णव वारा आवत्तउ, छलंति त नो पिसायाई ॥" बन्धनादिकष्टे तु विपरीतशङ्खावर्तादिनाऽक्षरैः पदैर्वा विपरीतनमस्कारं लक्षादि जपेत् । सद्यः क्लेशनाशः स्यात् । यद्यपि मुख्यवृत्त्या निर्जरार्थं एव सम्यग्दृशा गणनमुचितं तथापि तत्तत्कल्पोक्तप्रकारभावसामग्रीवशेनैहिकाद्यर्थमपि स्मरणं कदाचिदुपकारीति शास्त्रे उपदिष्टं दृश्यते । यतो योगशास्त्र-" पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये, क्षोभणे विद्रुमप्रभम् । कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत्, कर्मघाते शशिप्रभम् ॥ १ ॥" इति । करजापाद्यशक्तस्तु रत्नरुद्राक्षादिजपमालया स्वहृदयसमश्रेणिस्थया परिधानवस्त्रचरणादावलगन्त्या मेर्वनुल्लङ्घनादिविधिना जपेत् ।

यत —

"अङ्गुल्यग्रेण यज्जप्तं, यज्जप्तं मेरुलङ्घने ।
व्यग्रचित्तेन यज्जप्तं, तत्प्रायोऽल्पफलं भवेत् ॥१॥
सङ्कुलाद्विजने भव्यः, सशब्दान् मौनवान् शुभः ।
मौनजान् मानसः श्रेष्ठो, जापः श्लाघ्यः परः परः" ॥ २ ॥

श्रीपादलिप्तसूरिकृतप्रतिष्ठापद्धतावप्युक्तम्-जापः त्रिविधो मानसोपांशुभाष्यभेदात् । तत्र मानसो मनोमात्रवृत्तिनिर्वृत्तः स्वसंवेद्यः । उपांशुस्तु परैरश्रूयमाणोऽन्तःसजल्परूपः । यस्तु परैः श्रूयते स भाष्यः । अयं यथाक्रममुत्तममध्यमाधमसिद्धिषु शान्तिपुष्ट्यभिचारादिरूपासु नियोज्यः । मानसस्य यत्नसाध्यत्वात् । भाष्यस्याधमसिद्धिफलत्वात् । उपांशोः साधारणत्वादिति । ध० २ अधि० ।

यव-पुं० । यु-अच्-स्वनामख्याते शूकधान्यभेदे "वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम् । मोदमानाश्च तिष्ठन्ति, यवाः कणिशशालिनः ॥१॥" वाच० । ज० । यवा हयप्रिया इति । ज्ञा० १ श्रु० । ओषधिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० । यवैर्यवकुष्ठम स्यस्थैर्विद्याख्यातिविभूतयः । शुक्लपक्षे तथा जन्म, दक्षिणाङ्गुष्ठगैश्च ते. " ॥ कल्प० १ क्षण । यूकाष्टकामिते परिमाणभेदे च । " परमाणू तसरेणू, रहरेणू अग्गयं च वालस्स ॥ लिक्खा जूया य यवो, अट्ठगुणविवड्डिया कमसो ॥१॥ " स्था० ८ ठा० । ज्यो० । त० । प्रव० ।

यापि-या-णिच्-"यापेर्जवः ॥ ८ ॥ ४ । ४० ॥ इति प्राकृतसूत्रेण यातेर्ण्यन्तस्य 'जव' इत्यादेशो वा भवति । 'जवइ जावेइ' । प्रा० ४ पाद ।

जवओ-देशी-यवाङ्कुरे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जवजव-यवयव-पुं० । धान्यविशेषे, भ० ६ श० ६ उ० । बृ० । जं० । स्था० । आचा० ।

जवणु-देशी-हलशिखायाम, दे० ना० ३ वर्ग ।

जवण-जवन-पुं० । वेगे, आ० म० प्र० । शीघ्रे, जवनशब्दः शीघ्रवचन । भ० १४ श० १ उ० । वेगवति शीघ्रगे घोटके, वाच० । परमोत्कृष्टवेगपरिणामोपेता जवना । आ० म० प्र० ।

यवन-पुं० । म्लेच्छजातिभेदे, सू० प्र० २० पाहु० । प्रव० । सूत्र० । देशभेदे, तद्देशस्थे जने च । वेगे, अधिकवेगवत्यश्वे गोधूमे, गर्जरतृणे, तुरुष्कजातौ, ययातिशप्तस्य तत्पुत्रस्य तुर्वसोर्वंश्ये जातिभेदे च । वेगवति, त्रि० । वाच० ।

यापन-न० । संयमभारोद्वाहिदेहपालने, "जवणट्ठया समुयाण च निच्च" संयमभारोद्वाहिदेहपालनाय । दश० ६ अ० ३ उ० । "जवणट्ठाए निसेवए मन्थु" यापनार्थं शरीरनिर्वाहारार्थमिति । उत्त० ८ अ० ।

जवणदीव-यवनद्वीप-पुं० । यवनानां निवासभूते द्वीपभेदे, आ० चू० १ अ० ।

जवणा-यापना-स्त्री० । शरीरनिर्वाहे, उत्त० ८ अ० । यापनाऽपि द्विविधा-द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यत. शर्कराद्राक्षादिसदौषधैः कायस्य समाहितत्वात् । भावतश्च इन्द्रियनोइन्द्रियोपशान्तत्वेन शरीरस्य समाहितत्वम् । प्रव० २ द्वार । भाव० ।

जवणाणिया-यवनानिका-स्त्री० । ब्राह्म्या लिपेर्लेख्यविधानभेदे, प्रज्ञा० १ पाद ।

जवणालिया-यवनालिका-स्त्री० । कन्याचोलके, आ० म० प्र० । यवनालको नाम कन्याचोलकः । स च मरुमण्डलादिप्रसिद्ध. चरणकरूपेण कन्यापरिधानेन सह सेवितो भवति येन परिधानं न कम्पति कन्यानां चैष मस्तकप्रदेशेन प्रक्षिप्यते अत एवायमूर्ध्व सरकञ्चुक इति व्यपादिश्यते । तथा च प्राक्कृत-" जवनालतो त्ति भणितो, तुभे सरकचुओ कुमारीए " आ० म० प्र० । विशे० । प्रज्ञा० । न० ।

जवणाली यवनाली-स्त्री० । यस्यां नालिकायां यवा उत्पद्यन्ते । तस्याम्, " जवणाली णाम जाए णालीए जवा उप्पते तस्याम् वाविज्जति सा जवणाली भण्णति" आ० चू० १ अ० ।

जवणिज्ज-यापनीय-त्रि० । वश्ये, " जत्ता ते भंते ! जवणिज्ज अव्वाबाह फासुयविहार " (जवणिज्ज त्ति) यापनीय मोक्षाध्वनि गच्छता प्रयोजक इन्द्रियादिवश्यतारूपो धर्म । भ० १८ श० १० उ० ।

जवणिज्जे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-इंदियजवणिज्जे य णोइंदियजवणिज्जे य । से किं तं इंदियजवणिज्जे ? । इंदियजवणिज्जे, जे इमे सोइंदियचक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं णिरुवहयाइं वसे वट्टंति, सेत्तं इंदियजवणिज्जे । से किं तं णोइंदियजवणिज्जे ? । णो इंदियजवणिज्जे जं मे कोहमाणमायालोभा वोच्छिण्णा णो उदीरेंति । सेत्तं णोइंदियजवणिज्जे । सेत्तं जवणिज्जे ।

(इंदियजवणिज्ज त्ति) इन्द्रियविषय यापनीय वश्यत्वमिन्द्रियथापनीयम् । एव नोइन्द्रिययापनीय नवर नोशब्दस्य मिश्रवचनत्वादिन्द्रियैर्मिश्रा. । सहार्थत्वाद्वा इन्द्रियाणा सहचरिता नोइन्द्रिया कषाया. । भ० ३ अधि० । ज्ञा० । प्रा० ।

जवणिया-जवनिका-स्त्री० । जवन्त्यस्यां जु-ल्युट् स्वार्थे कन् अत इत्वम् । आच्छादक (परदा) पटे, वाच० ।

यवनिका-स्त्री० । युवन्त्यस्या पुं० । ल्युट् ङीप् कन् अत इत्वम् । यवनिकायाम्, वाच० । " अब्भिंतरिय जवणिय अच्छावेइत्ता " । आभ्यन्तरिकीमास्थानशालाम् अभ्यन्तरभागवर्तिनीं यवनिकां काण्डपटम " अच्छावेइ त्ति" आयतां कारयतीति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विशे० ।

जवण्ण-जवान्न-न० । व्यञ्जनभेदे, सू० प्र० २० पाहु० । सा० ।

जवपाणिय-यवपानीय-न० यवोदके, " जवपाणिय अपेबं " सस० नि० ॥

जवमज्झ-यवमध्य-त्रि० । यवस्येव मध्य मध्यभागो यस्य विपुलत्वसाधर्म्यात् तद्यवमध्यम् । यवाकारे, भ० २५ श० ३ उ० । क० प्र० । अष्टाभिर्यूकाभि. परिमिते प्रमाणभेदे च । न० । प्रव० २५४ द्वार । ज्यो० । न० । यवाकृतिमध्य यस्य । चान्द्रायणभेदे, प्रथमदिनादापञ्चदशदिनमेकैकग्रासवृद्ध्या तदुत्तर च आपञ्चदशदिन क्रमेणैकैकग्रासहान्या माससाध्ये व्रते, तस्य मध्यदिवसानां हि बहुग्रासवत्त्वेन यवमध्यतुल्यत्वम् । वाच० ।

जवमज्झचंदपडिमा-यवमध्यचन्द्रप्रतिमा-स्त्री० । यवस्येव मध्य यस्याः सा यवमध्या चन्द्र इव कला वृद्धिहानिभ्यां या प्रतिमा सा चन्द्रप्रतिमेति यवमध्यचन्द्रप्रतिमा । स्था० ३ ठा० ३ उ० । प्रतिमाभेदे, "उवमा जवेण चंदेण वा वि जवमज्झचंदपडिमाए"-जवमध्यचन्द्रप्रतिमायाम्, यवेनोपमा चन्द्रेण च यवस्येव मध्य यस्या. सा यवमध्या चन्द्राकारा प्रतिमा चन्द्रप्रतिमेति व्युत्पत्ते. । व्य० ९ उ० । शुक्लप्रतिपदि एकं कवलमभ्यवहृत्य तत प्रतिदिन कवलवृद्ध्या पञ्चदश पूर्णमास्याम्, कृष्णप्रतिपदि च पञ्चदश भुक्त्वा प्रतिदिनमेकहान्या अमावस्यायामेकमेव यस्यां भुङ्क्ते सा यवमध्या चन्द्रप्रतिमेति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

जवमज्झा-यवमध्या-स्त्री० । प्रतिमाभेदे, यवमध्या या यववदादि कवलादिभिरायन्तयोर्हीना मध्ये च वृद्धेति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

जवरओ-देशी-यवाङ्कुरे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जवराज-यवराज-पुं० । अनिलनरेन्द्रसुते स्वनामख्याते राजनि, (बृ०)

क पुनर्यव इति ? । आह-

यवराजदीहपट्ठ-सचिवो पुत्तो य गद्दभो तस्स ।
धुत्ता अडोलिया ग-द्दभेण छूढा अगडमिम्मि ॥
पव्वयणं च नरिंदे, पुणरागममसोहि चेडाण ।
जव पत्थ णं खरस्स उ, उवस्सए कुम्भसालाए ॥

यवो नाम राजा तस्य दीर्घपृष्ठ सचिवः, गर्दभश्च पुत्र , दुहिता अडोलिका, सा च गर्दभेन तीव्ररागाध्युपपन्नेन अगमे भूमिगृहे विषयसेवार्थं क्षिप्ता । तच्च ज्ञात्वा वैराग्योत्सङ्गितमनसो नरेन्द्रस्य प्रव्रजन पुत्रस्नेहाच्च तयोर्ज्ञानिन्यां पुन पुनरागमनम् अन्यदा च चेटरूपाणाम् अडोलिकया क्रीडन खरस्य यवप्रार्थन ततश्चोपाश्रये पुरुष कुम्भकारस्तस्य शालायामित्यक्षरार्थः । भावार्थ पुनरयम्-"उज्जेणी नगरी तत्थ अनिलसुओ जवो णाम राया, तस्स पुत्तो गद्दभो नाम जुवराया, तस्स धूया गद्दभस्स

सुवरणो भइणी अडोलिया णाम। सा य अतीवरूववती। तस्स वि जुवरन्नो दीहपुट्ठो अमच्चो। ताहे सो जुवराया तं अडोलिअं भगिणीं पासित्ता अज्झोववन्नो दुब्बलीभवति। अमच्चेण पुच्छिओ निब्बंधे सिट्ठं अमच्चेण भन्नति—सागारियं भविस्सति। ताए सा भूमिघरे छुब्भति तत्थ भुंजाहि ताए समं भोए लोगो जाणिस्सति। सा कहिं पि विनट्ठा एवं होउत्ति कय। अन्नया सो राया तं अकज्जं नाउं निव्वेरेण पव्वतिओ। गद्दभो राया जातो सो य जवो नेच्छति पढिउं पुत्तनेहेण य पुणो पुणो उज्जेणिं एति। अन्नया सो उज्जेणीए अदूरसामंते जवखेत्तं तस्स समीवे वीसमति। तं च जवखेत्तं एगो खेत्तपालओ रक्खति। इओ य एगो गद्दभो तं जवखेत्तं चरिउं इच्छति। ताहे तेण खेत्तपालएण सो गद्दभो भन्नति— "आधावसी पधावसी,ममं चावि निरिक्खसी। लक्खितो ते मया भावो, जवं पत्थेसि गद्दहा!॥१॥" अयं भाष्यान्तर्गतः श्लोकः कथानकसमाप्त्यनन्तरं व्याख्यास्यते। एवमुत्तरावपि श्लोकौ। "तेण साहुणा सो सिलोगो गहिओ। तत्थ य चेडरूवाणि रमंति अडोलियाए वट्टाइयाए त्ति भणियं होइ सा य तेसिं रमंताण अडोलिया नट्ठा बिले पडिया। पच्छा ताणि चेडरूवाणि इओ तओ य मग्गंति, तं अडोलियं न पासंति। पच्छा एगेण चेडरूवेणं तं बिलं पासित्ताण य जा एत्थ न दीसंति सा णूणं एयम्मि बिलम्मि पडिया ताहे तेण भणति—"इओ गया इओ गया, मग्गिज्जंती न दीसति। अहमेयं वियाणामि,अगडे छूढा अडोलिया ॥२॥" सो वि तेण सिलोगो पढिओ। पच्छा तेण साहुणा उज्जेणिं पविसित्ता कुंभकारसालाए उवस्सए गहिओ सो य दीहपुट्ठो अमच्चो तेण जाव साहुणा रायत्ते वि गहिओ ताहे अमच्चो चिंतेति-कह एयस्स वेर निज्जपमित्ति काओ गद्दभ राय भणति-एस परीसहपराजिओ रज्जं पेल्लिउकामो जति न पत्तियसि पेच्छह से उवस्सए आउहाणि तेणं अमच्चेण पुव्वं चेव ताणि आउहाणि तम्मि उवस्सए भूमियाणि पच्चावणनिमित्तं रन्ना दिट्ठाणि पच्चिज्जिउं तोए य। कुंभकारसालाए उन्दुरो दुक्किओ उत्तसति भएणं ताहे तेण कुंभकारेण भणति—"सुकुमालग! भद्दलग, रत्तिं हिंडणसीलग। भय ते नत्थि ममूला,दीहपुट्ठाव ते भय" ॥३॥ सो वि तेण सिलोगो गहिओ। ताहे सो राया तं पिमर मारेउकामो रह मग्गइ एगासेव उज्झो होहिंति काओ अमच्चेण मम रत्तिं फरुससाल भज्जीणो भण्णति। तत्थ तेण साहुणा पढिओ पढमो सिलोगो—"आधावसी पधावसी, ममं चावि णिरिक्खसी। लक्खितो ते मया भावो, जवं पत्थेसि गद्दभा" ॥१॥ रन्ना नाव चेति जाओ जुव भतिसेसी एस साधू। तओ बितिओ पढिओ—"इओ गया इओ गता, मग्गिज्जती ण दीसइ। अहमेयं विजाणामि अगडे छूढा अडोलिया ॥२॥" त पि तेण परिगयं जहानामय एतेण तओ ततितो पढिओ—"सुकुमालग! भद्दलग, रत्तिं हिंडणसीलग। भय ते णत्थि ममूला,दीहपुट्ठाउ ते भय"॥३॥ ताहे जाणति एस अमच्चो मम च्चव मारेउकामा कओ मम पितरो ताहे ओसत्ते भोए परिच्चइत्ता पुणो ते चेव पेच्छति-एस अमच्चो मम मारेउकामण वअस्स करेति। ताहे राया अमच्चस्स सीसं छेत्तु साधुस्स उवगतु भणइ कहेति-आमेइ य"। अथ श्लोकत्रयस्याक्षरार्थः-आईषत्, आभिमुख्येन वा धावसि प्रकर्षेण पृष्ठतो धावसि मामपि च निरीक्षसे, लक्षितस्त्वं मया भावोऽभिप्रायो यथा यवधान्यचरितुं प्रार्थयति भो गर्दभ!। द्वितीयपक्षे यवनामानं राजानं मारयितुं भो गर्दभनृपते! प्रार्थयतीति प्रथमश्लोकः॥१॥ इतो गता २ मृग्यमाणा न दृश्यते अहमेतद्विजानामि अगडे भूमिगृहे गतायां चाक्षिप्ता अडोलिका उदोयिका नृपतिदुहिता, षा द्वितीयश्लोकः। एष कस्य राज्ञश्शरसौकुमार्यभावात् सुकुमारक! इत्यामन्त्रणं (भद्दलग त्ति) भद्राकृते! रात्रौ हिण्डनशील! मूषकस्य दिवा मानुषावलोकनचकिततया। राज्ञस्तु वीरचर्यया रात्रौ पर्यटनशीलत्वात्। भय ते तव नास्ति मन्मूलात् मन्निमित्तात्। किन्तु दीर्घपृष्ठात् एकत्र सर्पात् अपरत्र अमात्यात्। (ते) तव भयमिति। तृतीयश्लोकः।

तत स राजर्षिश्चिन्तयति—

सिक्खियव्वं मणूसेणं, अवि जारिसतारिसं।
पेच्छ मुद्धसिलोगेहिं, जीवियं परिरक्खियं ॥

शिक्षितव्यं मनुष्येण अपि यादृशतादृशम्। पश्य मुग्धैरपि श्लोकै-र्जीवितं परिरक्षितम् ॥ १ ॥

तथा—

पुव्वविराहियसचिवे, सामत्थणरत्तिआगमो गुणना।
नाउम्मि सचिवघायण-खामणगमणं गुरुसगासे ॥

पूर्वं विराधितो य. सचिवस्तस्य राज्ञा सह (सामत्थणं) पर्यालोचनं ततस्तयोः रात्रौ तत्रागमस्तस्य च राजर्षेस्तदानीं पूर्वपठितश्लोकत्रयस्य गुणना. ततो ज्ञातोऽस्माद् नूनमतिशयज्ञानी मदीयः पिता कुतो वैष महात्मा पटप्रान्तलग्नतृणवल्लीलयैव राज्यं परित्यज्य भूयस्तदङ्गीकारं कुरुते, तदेष सर्वोऽप्यस्यैवामात्यस्य कूटरचनाप्रपञ्च इति परिभाव्य सचिवघातनं कृत्वा स्वपितुः क्षामणं कृतवान्। ततस्तस्य राजर्षेः अहो भगवन्तो मामनेकशो भणन्ति स्म। आचार्यादधीष्व सूत्रं परमहमात्मवैरिकतया नापठिषं यदि नामेदृशानामपि मुग्धश्लोकानां पठितानामीदृशं फलमाविरभूत् किं पुनः सर्वज्ञोपज्ञश्रुतस्य भविष्यतीति विचिन्त्य गुरुसकाशे गमनं, ततो मिथ्यादुष्कृतं दत्त्वा सम्यक् पठितुं लग्न इति। बृ० १ उ०।

जवल्ल-जवर-न०। "हरिद्रादौ लः" ॥८।१।२५४॥ इति सूत्रेण रस्य लः। प्रा० २ पाद। ज्वरे, स्था०।

जववारय-यववारक-पुं०। शरावादिरोपिते यवाङ्कुरे,"जववारयवण्णयसत्थिगादि महारम्भं" पञ्चा० ८ विव०। ध०।

जवस-यवस-न०। यु-असच् घासे, तृणे च। वाच०। गोधूमादिधान्ये, "जवसाणि वा" यवस गोधूमादिधान्यमिति। आचा० २ श्रु० ३ अ० २ उ०।

जवसाग-यवशाक-पुं०। यवस्य शाके, "जवसागरलनाल परिमुच्छने च कप्पिय होइ" सस० नि०।

जवा-जपा-स्त्री०। वनस्पतिविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

जवासय-यवासक-पुं०। वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। स्वार्थे क। वाच०।

जवासा-यवासा-स्त्री०। रक्तपुष्पे वृक्षभेदे,"यवासाकुसुमेइ वा" प्रज्ञा०। १७ पद। मुण्डासिनीवृक्षे, वाच०।

जवि(णू)-जविन्-घोटके, वाच० । सूत्र० ।

जवित्तए-यापयितुम्-अव्य० । वर्तयितुमित्यर्थे, व्यवस्थापयितुमित्यर्थे च । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

जवोदग-यवोदक-न० । यवधावनजले, दशा० ४ तत्त्व । पञ्चा० । कल्प० । " सीय च सोवीरजवोदग च " । यवोदक यवप्रक्षालनजलम् । उत्त० १५ अ० । स्था० ।

जवोदण-यवौदन-न० । यवन्नके, "आयाममं चेव जवोदणं च" यवौदन यवभक्तम् । उत्त० १५ अ० ।

जस-पुं० । यशस्-न० । " स्नमदामशिरो नभः " ॥ ८ । १ । ३२ ॥ दामन्शिरस्नभस्वर्जित सकारान्तं नकारान्तं च शब्दरूप पुंसि प्रयोक्तव्यम् । इति प्राकृतसूत्रेण प्राकृते पुंस्त्वम् । संस्कृते तु नपुंसकत्वम् । अश्-असुन्-धातो युट् च । शौर्यादिभूते ख्यात्यपरपर्याये सर्वदिग्गामिनि प्रसिद्धिविशेषे, वाच० । यशःपराक्रमकृता ख्यातिर्यश इति । स्था० ३ ठा ४ उ । प्रश्न० । औ० । ज्ञा० । सर्वदिग्गामिनीप्रख्यातिर्यश इति । भ० १४ श० ५ उ० । कीर्त्याम्, दशा० ६ अ० । स० । आचा० । (यशः कीर्त्योर्विशेषः ' जसकित्ति ' शब्दे अनुपदमेव द्रष्टव्यम्) श्लाघायाम् , च० प्र० १७ पाहु० । सूत्र० । संयमे, " जम्हा जसो वण्णो य संजमो " यशो वर्णः संयम इत्येकार्थाः । " जसो त्ति वा संजमो त्ति वा वण्णो त्ति वा एगट्ठ " इति वचनात् । व्य० १ उ० । " जस सारक्खमप्पणो" यशः संरक्षन्नात्मनो यशःशब्देन संयमोऽभिधीयते । दश० ५ अ० २ उ० । विनये च । " जस संचिणु खंतिए " यशः संयमं विनयं वा सञ्चिनु । उत्त० ३ अ० । स्वनामख्यातेऽनन्तजिनस्य प्रथमशिष्ये, स० । "पढमा साऽणतजिणा पढमसिस्सो जसो नाम " ती० ७ कल्प । पार्श्वनाथस्य स्वनामख्याते अष्टमे गणधरे च । कल्प० ७ क्षण । स० ।

जसंसि (न्)-यशस्विन्-पुं० । ख्यातिमति, अनुस्वारः प्राकृतत्वात् । नि० १ वर्ग० । ज्ञा० । भ० । आचा० । यशस्विन परा क्रम प्राप्य प्रसिद्धिं प्राप्तत्वात् । स० । श्लाघान्विते, उत्त० ५ अ० । कीर्तिमति, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० । "जसंसिणो चक्खुपहट्ठियस्स " सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । " अणुत्तरे णाणधरे जसंसी " उत्त० ३१ अ० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य सिद्धार्थापरनामधेये पितरि च । आचा० ३ चू० । कल्प० ।

जसकर-यशस्कर-त्रि० । यशः सर्वदिग्गामिप्रसिद्धिविशेषः । तत्करो यशस्कर । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सर्वदिग्व्यापिकीर्तिकरे, त० । आ० म० । भगवत ऋषभस्य स्वनामख्याते एकोनचत्वारिंशत्तमे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण ।

जसकित्ति-यशःकीर्ति-स्त्री० । यशसा सर्वदिग्गामिप्रख्यातिरूपेण पराक्रमकृतेन वा सह कीर्तिरेकदिग्गामिनी प्रख्यातिर्दानफलभूता वा यशःकीर्ति । यशसा श्लाघने, कर्म० १ कर्म० । प० स० । यशःकीर्त्योश्चाय विशेषः -कीर्तिर्दानपुण्यफला,यशः पराक्रमकृतम् । आ० म० प्र० । "अभिमेसितो जसो । वित्तासिना कित्ती " आ० चू० १ अ० । दानपुण्यफला कीर्ति । पराक्रमकृत यशः । आ० म० प्र० । बहुसमरसंघट्टनिर्वहणशौर्यबलरूपम् यशः, दानसाध्या कीर्तिरिति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । एकदिग्गामिनी कीर्तिः । सर्वदिग्व्यापकं यश इति प्रसिद्धि । उत्त० १ अ० । कीर्तिरेकदिग्गामिनी प्रसिद्धिः सर्वदिग्गामिनी सैव वर्णो यशःपर्यायत्वादस्य । अथवा-दानपुण्यफला कीर्ति पराक्रमकृत यशः । स्था० ३ ठा० ३ उ० । कर्म० । भगवत ऋषभस्य स्वनामख्यातेऽष्टत्रिंशत्तमे पुत्रे च । पु० । कल्प० ७ क्षण ।

जसकित्तिणाम-यशःकीर्तिनामन्-न० । तपःशौर्यत्यागादिना समुपार्जितेन यशसा कीर्तनं सशब्दनं श्लाघनं यशःकीर्तिरुच्यते । कर्म० १ कर्म० । यद्वा-यशः सामान्येन ख्यातिः कीर्तिर्गुणोत्कीर्तनरूपा प्रशंसा । अथवा-सर्वदिग्गामिनी पराक्रमकृता वा सर्वजनोत्कीर्तनीयगुणता यशः एकदिग्गामिनी दानपुण्यकृता वा कीर्तिस्ते यदुदयाद् भवतस्तद्यशःकीर्तिनाम । शुभनामकर्मभेदे, प० स० ३ द्वार । भ० । यशःकीर्तिनामोदयाद् यशःकीर्तिर्भवति । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । उत्त० । यदुदयवशान्मध्यस्थजनप्रशस्यो भवति तद्यशःकीर्तिनामेति । कर्म० ६ कर्म० । आ० ।

जसघाइ(न्)-यशोघातिन्-त्रि० । यशोनाशके, " दंसणनाणचरित्तं, तवविणए निच्चकालपासत्था । एए अवंदणिज्जा, जे जसघाई पवयणस्स " आव० ३ अ० । " पुव्वं समणगुणेहिं अहिज्जतेहिं जसो आसी इमेहिं सेवंतेहिं ताणि ठाणाणि जसोघाति तेण ते जसघाती एए पवयणस्स " आचू० ३ अ० ।

जसचंद-यशश्चन्द्र-पुं० । स्वनामख्याते गणिनि, (भ०)

तथा च भगवतीसूत्रवृत्तावभयदेवसूरिः---

"श्रीमज्जिनेश्वराचार्य-शिष्याणां गुणशालिनाम् ।
जिनचन्द्रमुनीन्द्राणा-मस्माकं चांहिसेवितः ॥
यशश्चन्द्रगणगाढ-साहाय्यात् सिद्धिमागता ।
परित्यक्तान्यकृत्यस्य, युक्तायुक्तविवेकिनः" ॥ भ० ४१ श० १ उ० ।

जसजीविय-यशोजीवित-न० । जीवितभेदे, तच्च भगवतो वर्द्धमानस्वामिन " जसकित्ती य भयवतो " आ० म० द्वि ।

जसद-जस (रा) द-पुं० । धातुविशेषे, औ० । येन वायुना शीयते । वाच० ।

जसदपाय-जसदपात्र-न० । जसदधातुविशेषनिर्मिते पात्रे, "जसदपायाणि वा " औ० ।

जसदेव-यशोदेव-पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, ग० ४ अधि० । स्थानाङ्गवृत्तावभयदेवसूरिः---श्रीमज्जिनचन्द्राचार्यान्तेवासियशोदेवगणिसाधोरुत्तरसाधकस्येव विद्याक्रियाप्रधानस्य साहाय्येन समर्थितम् । स्था० १० ठा० । यशोदेवः पूनमियागच्छे चन्द्रसूरिशिष्यः पाक्षिकसूत्रवृत्तिपिण्डविशुद्धिवृत्तिग्रन्थयोः कर्ता स च विक्रमसंवत् ११७६। विद्यमान आसीत् द्वितीयश्च यशोदेवसूरिः प्रवचनसारोद्धारकर्तुर्नेमिचन्द्रसूरेर्गुरुभ्राता प्रथमपञ्चाशकचूर्णिनामग्रन्थकर्ता । जै० इ० ।

जसधण-यशोधन-न० । स्वनामख्याते नृपे, न० ।

जसभद्द-यशोभद्र-पुं० । गुरुचन्द्रसूरे शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, "जातौ तस्य विनेयौ,सूरी यशोभद्रनेमिचन्द्राख्यौ" । ग० ४ अधि० । आचार्यशय्यंभवस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, नि० चू० ५ उ० । " सय्यंभवस्स सीसो, जसभद्दो नाम आसि गुण-

शास।" ती०१३ कल्प।"जसभद्दं तुगियं वंदे," शय्यंभवशिष्यं यशोभद्रं तुङ्गिकं तुङ्गिकगण व्याघ्रापत्यगोत्रं वन्दे। नं०। "थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स तुंगियायणसगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा, थेरे अज्जसंभूयविजए माढरसगुत्ते,थेरे अज्जभद्दबाहू पाईणसगुत्ते"।श्रीयशोभद्रः स्वपदे संस्थाप्य श्रीवीरात्षष्ट्यधिकशतवर्षे. स्वर्गगाम इति श्रीयशोभद्रसूरिरपि श्रीभद्रबाहुसंभूतविजयाख्यौ शिष्यौ स्वपदेन्यस्य स्वर्लोकमलङ्चक्रे।कल्प० ८ क्षण। आर्यसंभूतविजयस्य माढरसगोत्रस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, कल्प० ८ क्षण। साकेतनगरवास्तव्यस्य पुण्डरीकराजस्य स्वनामख्याते युवराजे, आ० चू० ४ अ० । आव० । आ० क० । पक्षस्य पञ्चदशसु दिवसेषु चतुर्थे दिवसे, ज्यो० ४ पाहु० । ज० । च० प्र० । कल्प० । यशोभद्रात् भारद्वाजसगोत्रात् निर्गतस्य उडुपाटिकगणस्य स्वनामख्याते कुलभेदे, नं० । कल्प० ८ क्षण । साकेतनगरस्य पौण्डरीकनृपतेर्युवराजस्य कण्डरीकस्य स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, स्त्री० । आ० चू० १ अ० । आव० । आ० क० ।

जसभद्दसूरि–यशोभद्रसूरि–पुं० । षोडशप्रकरणविवरणकारके आचार्ये, षो० १६ विव० । धर्मघोषसूरेर्हि स शिष्यः स्याद्वादरहस्यनामग्रन्थस्य कर्ता । जै० इ० ।

जसमंत–यशस्वत्–त्रि० । यशस् मतुप् मस्य व । यशोविशिष्टे, विनि-यशस्वीत्यप्यत्र । वाच० । भरतवर्षभवे स्वनामख्याते कुलकरे,पुं० । स्था० ७ ठा० । ती० । ज० । आ० म० । कल्प० । आ० चू० । आ० क० । स्त्रियां ङीप् ङीबन्तस्तु तत्र ज्योतिष्मत्याम् यवतिक्तायाम्, वनकार्पास्यां च । वाच० ।

जसमित्त–यशोमित्र–पुं० । शत्रुञ्जयशैलस्थश्रीशान्तिमरुदेवयोश्चैत्यस्योद्धारके श्रावके, ती० १ कल्प ।

जसवई–यशोमती–स्त्री० । वर्तमानावसर्पिण्या द्वितीयचक्रवर्तिनः सगरस्य मातरि, स० । आव० । पृष्ठचम्पापुरस्थशालमहाशालयोर्भगिन्यां पिठरभार्यायां काम्पिल्यपुरस्थायां गागलीमातरि, आ० चू० १ अ० । ती० । आ० म० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य नप्त्र्यां प्रियदर्शनाया पुत्र्याम्, आचा० ३ चू० । कल्प० । पक्षस्य तृतीयायामष्टम्याश्च त्रयोदश्यां च रात्रितिथौ, च० प्र० १० पाहु० । ज० । सू० प्र० । ज्यो० । दशपुरनगरस्थस्य शाण्डिल्यस्य ब्राह्मणस्य दास्यां च । उत्त० १३ अ० । काम्पिल्यनगरस्थस्य ब्रह्मदत्तस्यान्तःपुरप्रधानायां भार्यायां पद्मदरितपुत्र्याम्, उत्त० १३ अ० ।

जसवंस–यशोवंश–पुं० । मूर्त्तो यशसां वंश इव पर्वप्रवाह इव यशोवंशः।यशसां पर्वप्रवाहभूते, "जसवंसो नागहत्थीणं" नं०।

जसवाय–यशोवाद–पुं० । साधुवादे, " जसवएण वद्धित्ता " कल्प० ४ क्षण ।

जसविजय–यशोविजय–पुं० । द्वात्रिंशिकाविवरणद्रव्यगुणपर्यायभाषाविवरणद्वात्रिंशदष्टकप्रतिमाशतकनयोपदेशविवरणादिकारके आचार्ये, अध्या० १४ अध्या० ।

द्वात्रिंशिकावृत्तौ नयविजयवर्णकमधिकृत्य—

" यशोविजयनाम्ना त-च्चरणाम्भोजसेविना ।
द्वात्रिंशिकानां विवृति-श्चक्रे तत्त्वार्थदीपिका(६)।द्वा०३२द्वा०।
द्वात्रिंशत्तममष्टक—मुवाच श्रीमद्यशोविजयः ॥१॥" अष्ट० ३२ अष्ट० ।

प्रतिमाशतके नयविजयमधिकृत्य—

" तदीयचरणाम्बुजभ्रमणविस्फुरद्भारती-
प्रसादसुपरीक्षितप्रवरशास्त्ररत्नोच्चयैः ।
जिनागमविवेचने शिवसुखार्थिनां श्रेयसे,
यशोविजयवाचकैरयमकारि तत्त्वश्रमः ॥ १६ ॥
पूर्वं न्यायविशारदत्वविरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधै—
र्न्यायाचार्यपदं ततः कृतशतग्रन्थस्य यस्यार्पितम् ।
भव्यप्रार्थनयाऽनयाद्विजयप्राज्ञोत्तमानां शिशुः,
सोऽयं तत्त्वमिदं यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यातवान् ॥१७॥"
प्रति० ।

नयोपदेशवृत्तौ-

" गच्छे श्रीविजयादिदेवसुगुरोः स्वच्छैर्गुणानां गणैः,
प्रौढिं प्रौढिमधाम्नि जीतविजयप्राज्ञाः परामैयरुः ।
तत्सातीर्थ्यभृतां नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशु-
स्तत्त्वं किञ्चिदिदं यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यातवान् ॥१॥ "
नयो० ।

"तर्कप्रमाणनयमुख्यविवेचनेन,
प्रोद्बोधितादिममुनिश्रुतकेवलित्वाः ।
चक्रुर्यशोविजयवाचकराजमुख्या,
ग्रन्थेऽत्र मय्युपकृतिं परिशोधनाद्यैः ॥" अ० ४ अधि० । अयमाचार्यः विक्रमसंवत्सराणां सप्तदशके शतके आसीत् । जै०इ०

जसहर–यशोधर–पुं० । भारतवर्षभवेऽतीतेऽष्टादशमे जिने, प्रव० ८ द्वार । भारतवर्षभवे भविष्यत्येकोनविंशे जिने, प्रव० ७ द्वार । द्वीपायनस्य जीव यशोधरनामानं जिनमेकोनविंशं वन्दे, प्रव० ४६ द्वार । भगवत ऋषभस्य द्वादशे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण । धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य पीठानीकाधिपतौ. "जसोधरे आसराया पीढानीयाहिवई" स्था० ५ ठा० १ उ० । पक्षस्य पञ्चदशसु दिवसेषु पञ्चमे दिवसे, ज० ७ वक्ष० । च० प्र० । कल्प० । ग्रैवेयकविमानप्रस्तटे च । स्था० ९ ठा० । साकेतनगरस्थस्य विनयन्धरनृपस्यात्मजे स्वनामख्याते कुमारे, ध० र० । दश० । (यशोधरचरितं तु धर्मरत्नप्रकरणादवसेयम्) दक्षिणरुचकवास्तव्यास्वष्टसु दिशाकुमारीषु चतुर्थदिशाकुमार्याम् , स्त्री० । स्था० ८ ठा० । द्वी० । आ०चू० । ती० । आ० क० । आव० । आ० म० । ज० । पक्षस्य पञ्चदशसु रात्रिषु चतुर्थरात्रौ, ज्यो० ४ पाहु० । ज० । कल्प० । सकलभुवनव्यापियशो धरतीति यशोधरा । लिहादित्वादच् । जम्बूसुदर्शनायाम, जम्बूद्वीपो हि त्रिदिनमाहिमा भुवनत्रयेऽप्यनया जम्ब्वोपलक्षितस्ततो भवति यथोक्तम् । यशोधारित्वमस्या इति । जी० ३ प्रति० । ज० ।

जसा–यशा–स्त्री० । कौशाम्बीवास्तव्यस्य काश्यपस्य भार्यायां, कपिलमातरि, उत्त० ८ अ० । ती० ।

जसोकामि (न्)–यशस्कामिन्–पुं० । कीर्तिकामिनि, " धिगत्थु ते जसोकामी" दश० २ अ०।

जसोकित्ति–यशःकीर्ति–स्त्री । 'जसकित्ति' शब्दार्थे, आ० चू० १ अ० ।

जसोकित्तिणाम–यशःकीर्तिनामन्–न० । 'जसकित्तिणाम' शब्दार्थे, कर्म० १ कर्म० ।

जसोचंद-यशश्चन्द्र-पुं० । 'जसचंद' शब्दार्थे, भ०४२श०१उ०।

जसोजीविय-यशोजीवित-न० । 'जसजीविय' शब्दार्थे, आ० म० द्वि० ।

जसोद-जस(श)द-पुं० । 'जसद' शब्दार्थे, औ० ।

जसोदपाय-जसदपात्र-न० । 'जसदपाय' शब्दार्थे, औ० ।

जसोदेव-यशोदेव-पुं० । 'जसदेव' शब्दार्थे, ग० ४ अधि० ।

जसोधण-यशोधन-न० । 'जसधण' शब्दार्थे, त० ।

जसोभद्द-यशोभद्र-पुं० । 'जसभद्द' शब्दार्थे, ग०४ अधि० ।

जसोमंत-यशस्वत्-त्रि० । 'जसमंत' शब्दार्थे, स्था० ७ ठा० ।

जसोमित्त-यशोमित्र-पुं० । 'जसमित्त' शब्दार्थे, ती० १ कल्प ।

जसोय-यशोद-पुं० । यशो ददाति दा-क । पारदे, यशोदातरि, त्रि० । नन्दगोपपत्न्याम्, स्त्री० । वाच० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य भार्यायां च । आ० चू० ३ अ० । "समणस्स णं भगवओ महावीरस्स भज्जा जसोया गोत्तेणं कोडिन्ना" आ० चू० ३ चू० । "कारेंति पाणिग्गहणं जसोयवररायकन्नाए" ती० २१ कल्प । आ० म० ।

जसोवई-यशोमती-स्त्री० । 'जसवई' शब्दार्थे, स० ।

जसोवंस-यशोवंश-पुं० । 'जसवंस' शब्दार्थे, न० ।

जसोवाय-यशोवाद-पुं० । 'जसवाय' शब्दार्थे, कल्प० ४ क्षण ।

जसोविजय-यशोविजय-पुं० । 'जसविजय' शब्दार्थे, कल्या० १४ अध्या० ।

जसोहर-यशोधर-पुं० । 'जसहर' शब्दार्थे, प्रव० ७ द्वार ।

जह-यथा-अव्य० । यत्प्रकारे, थात् "वाऽव्ययोत्खातादावदातः" ८ । १ । ६७ । इति प्राकृतसूत्रेणाव्ययेषूत्खातादिषु च शब्देषु आदेराकारस्याद्वा । प्रा० १ पाद । येन प्रकारेणेत्यर्थे, आचा० १ श्रु०६ अ० ३ उ० । "जह सुत्तं तह अत्थो"(२६) यथा येन प्रकारेण यथापदरत्या सूत्रं व्यवस्थितं तथा तेनैव प्रकारेणाऽर्थो व्याख्येयः । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । अनु० । आचा० । उपप्रदर्शने, पञ्चा० १४ विव० । सूत्र० । अनु० । आ० म० । उदाहरणोपन्यासे, दर्श० ४ तत्त्व । पिण्ड० । आव० । सूत्र० । उत्त० । आ० म० । "जह मंगलाभिहाणं" विशे० । यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । यथैतत्तथान्यदप्यनया दिशा द्रष्टव्यम् । आचा० १ श्रु०८ अ० १ उ० । दृष्टान्तोपदर्शने, जी० ३ प्रति० । स० । सूत्र० । ज्ञा० । स्था० । ज० । वाक्योपन्यासे, सादृश्ये, योग्यतायाम्, आनुकूल्ये, पदार्थानतिवृत्तौ च । वाच० ।

यत्र-अव्य० । "त्रपो हि-ह-त्था" ॥ ८ । २ । १६१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण त्रप. हः 'जह' इति प्रा०२पाद । यस्मिन्नित्यर्थे,वाच०।

जहंत-जहत्-त्रि० । त्यजति, "जिणवयणं भावतो जहंतस्स" व्य० ३ उ० ।

जहक्कम-यथाक्रम-अव्य० । क्रमस्यानुरूप्यं तस्यानतिक्रमो वा । अव्ययी० । क्रमानुरूप्ये, क्रमानतिक्रमे च । वाच० । यथाक्रमं परिपाट्येति । दश० ५ अ० । "अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं" उत्त० ३३ अ० । विहरामि यथाक्रमं साध्वाचारानुक्रमेण । उत्त० २३ अ० । "जहक्कमं कामगुणेसु चेव" यथाक्रमं यथावसरमिति । उत्त० १४ अ० । "जहक्कमते" यथाक्रमं क्रमणैव । पञ्चा० ८ विव० ।

जहक्खाय-यथाख्यात-न० । अथाख्यातापरनामधेये चारित्रभेदे, (आ० म० प्र०)

अथ यथाऽऽख्यातचारित्रं निरूपयन्नाह-

अहसद्दो जाहत्थे, आडोऽभिविहिं।ए कहियमक्खायं ।
चरणमकसायमुदितं,तमहक्खायं "जहक्खायं" ॥१२७६॥

यथाख्यातमिति द्वितीयं नाम । तस्यायमर्थः-यथा सर्वस्मिन् जीवलोके ख्यातं प्रसिद्धमकषायं भवति चारित्रमिति । तथैव यत् तद् यथाख्यातं प्रसिद्धं सर्वस्मिन् जीवलोके । आ० म० प्र० । विशे० । (अथाख्यातविवरणम् 'अहक्खाय' शब्दे प्रथमभागे ८६१ पृष्ठे विलोकनीयम्)

जहग-जहक-पुं० । देवदके, विशे० ।

जहट्ठियवत्थुवाइ(ण्)-यथास्थितवस्तुवादिन्-पुं० । यथास्थितमभिलाप्यानभिलाप्यत्वादिना प्रकारेण स्थितं वस्तु वदितुं शीलाः यथावस्थितवस्तुवादिनः । येन प्रकारेण वस्तुनो वादिनि, पं० सू० १ सूत्र ।

जहण-जघन-न० । वक्रं हन्ति । हन-यङ्-अच्-पृ० । स्त्रीणां श्रोणिपुरोभागे, श्रोणौ च । वाच० । जघनं पूर्वं कटिभाग इति । विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

जहणरोहो-देशी-ऊरौ, दे० ना० ३ वर्ग ।

जहणवर-वरजघन-न० । श्रेष्ठजघने, वरशब्दस्य विशेषणत्वेऽपि सतः परनिपातः प्राकृतत्वात् । जी० ३ प्रति० ।

जहणिज्ज-हेय-त्रि० । त्याज्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जहणूसव-देशी-अर्धोरुके, दे० ना० ३ वर्ग ।

जहण्ण-जघन्य-त्रि० । हन्-यङ्-अच्-पृ० । जघनमिव इवार्थे यत् वा । अधमे, वाच० । आव० । निकृष्टे, भ० २ श० १ उ० । सर्वहीने, स्था०४ ठा०२ उ० । सर्वाल्पे, स्था०१ ठा०१ उ० । चरमे गर्हिते च । शूद्रे, पुं० । जघनमनुशीलितम् यस्य । पुंसां लिङ्गे । वाच० ।

जहण्णगुणकालग-जघन्यगुणकालक-पुं० । जघन्येन जघन्यसङ्ख्याविशेषेणैकेनेत्यर्थः गुणो गुणन ताडनं यस्य स तथाविधः कालो वर्णो येषां ते जघन्यगुणकालकाः । तेषु, । स्था० १ ठा० १ उ० ।

जहण्णट्ठिइय-जघन्यस्थितिक-त्रि० । जघन्या जघन्यसङ्ख्या समयापेक्षया स्थितिर्येषां ते जघन्यस्थितिकाः एकसमयस्थितिके, स्था० १ ठा० १ उ० ।

जहण्णपएसिय-जघन्यप्रदेशिक-पुं० । जघन्याः सर्वाल्पाः प्रदेशाः परमाणवस्ते सन्ति येषां ते जघन्यप्रदेशिकाः । द्व्यणुकादिके, स्था० १ ठा० १ उ० ।

जहण्णपय-जघन्यपद-न० । पद्यते गम्यते इति पदं पदसङ्ख्यास्थानं तच्चानेकधेति जघन्यं सर्वहीनं पदं जघन्यपदम् । सर्वहीने सङ्ख्यास्थाने, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

जहस्सपुरिस-जघन्यपुरुष-पु० । पुरुषविशेषे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (जहस्सपुरिसा तिविहा ' पुरिस ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

जहएणुक्कोसग-जघन्योत्कर्षक-त्रि० । जघन्यो निकृष्ट कञ्चित् व्यक्तिमाश्रित्य स एव च व्यक्त्यन्तरापेक्षयोत्कर्ष उत्कृष्टो जघन्योत्कर्षः। कञ्चिद् व्यक्तिमाश्रित्य निकृष्टे,व्यक्त्यन्तरापेक्षयोत्कृष्टे च । भ० २५ श० १ उ० ।

जहएणोगाहणग-जघन्यावगाहनक-त्रि० । अवगाहन्ते आसते यस्यां साऽवगाहना क्षेत्रप्रदेशरूपा सा जघन्या येषां ते । स्वार्थिककप्रत्ययाज्जघन्यावगाहनकाः । एकप्रदेशावगाढे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

जहत्थ-यथार्थ-अव्य० । अर्थमनतिक्रम्य, अव्ययी० । अर्थस्यानतिक्रमे, प० स० १ द्वार । अन्वर्थयुक्ते, त्रि० । पञ्चा० १५ विव० । यथार्थे प्रदीपादि । स्था० १ ठा० १ उ० । वोच्छामि वयसगह-मेवमहत्थ जहत्थ वा " । यथार्थे यथावस्थितः प्रवचनाविरोधी अर्थो यस्मिन् तम् । यद्वा-अर्थस्य प्रवचनोक्तस्यानतिक्रमेण न स्वमनीषिकया यथार्थम् । प० स० १ द्वार । "सव्व इच्चाइ आवइ जहत्थ" यथार्थे यथावद् यथासर्वज्ञेनोक्तं तथेति । विशे० ।

जहत्थणियय-यथार्थनियत-न० । व्यञ्जनाक्षरभेदे, " तत्थ जहत्थ नियय, त जहा-दहतीति दहणो तवतीति तवणो पवमादि " । आ० चू० १ अ० ।

जहत्थाम-यथास्थाम-अव्य० । यथाबलं शक्त्यनतिक्रमेणेत्यर्थे, " जुजइ य जहत्थाम " पञ्चा० १५ विव० ।

जहत्थ-याथात्म्य-न० । यथातत्त्वे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

जहवा-यथावा-अव्य० । प्रकारान्तरदर्शने, दश० १ अ० ।

जहवाय-यथावाद-अव्य० । आप्तवचनानतिक्रमेणेत्यर्थे, पञ्चा० ११ विव० ।

जहा-यथा-अव्य० । ' जह ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

जहाइत्ता-हित्वा-अव्य० । त्यक्त्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । "तयस व जहाइसेरय" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

जहाकाल-यथाकाल-अव्य० । यथावसरमित्यर्थे,, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । "वोसिरइ मुणी अहाकाल " । यथाकाल यथावसरम् । सथा० ।

जहागम-यथागम-अव्य० । यथासूत्रमित्यर्थे, " आराहिता जहागम " प० अ० ६ द्वार ।

जहाच्छन्द-यथाच्छन्द-पु० । स्वच्छन्दे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

जहाजाय-यथाजात-त्रि० । जातं समयविशेषमनतिक्रम्य यथाजात, तदस्यास्ति अर्श० । मूर्खे, नीचे च । वाच० " जहाजायपसूजुया ।" यथाजातपशुसूता. शिक्षामरणादिवर्जितबलीवर्दादिसदृशाः निर्विज्ञानत्वादिसाधर्म्यात् । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । यथाजात श्रमणत्वभवनलक्षण जन्माश्रित्य, योनिनिष्क्रमणलक्षण च । तत्र रजोहरणमुखवस्त्रिकाचोलपट्टमात्रया श्रमणो जातो,रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गत एवभूत एव वन्दते । तदव्यतिरेकाद् वा यथाजातम् । कृतिकर्मणि, न० । स० १२ सम० ।

जहाजेट्ठ-यथाज्येष्ठ-अव्य० । ज्येष्ठस्यानतिक्रमेणेत्यर्थे, अनु० ।

जहाणामय-यथानामक-पु० । अनिर्दिष्टनामके , कस्मिँश्चित्, जी० ३ प्रति० । "जहानामको कोइ मिच्छो " । यथानामक कश्चित् म्लेच्छ । आ० म० प्र० । "से जहाणामए केइ पुरिसे" स यथानामको यत्प्रकारनामा देवदत्तादिनामेत्यर्थः । अथवा-(से) इति सः यथेति दृष्टान्तार्थः. नामेति सम्भावनायाम् । ' ए ' इति वाक्यालङ्कारे । त० । अनु० । जी० । ज्ञा० । स्था० ।

जहातच्च-यथातथ्य-अव्य० । यथासत्यमित्यर्थे, "जहातच्चमिणं ति बेमि" यथासत्य यथातथ्यमित्यर्थे, । आचा०१श्रु०४अ०२उ० । "अजु धम्म जहातच्च" । यथातथ्य यथाव्यवस्थितम् । सूत्र०१ श्रु० ६ अ० । "त भे पवक्खामि जहातच्चेण" यथातथ्येनावितथं प्रतिपादयामीति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । यथानथ्येन यथाव्यवस्थित तथैव कथयामीति । सूत्र० १ श्रु०५ अ०२ उ० ।

जहातह-यथातथ-अव्य० । तथाऽनतिक्रम्य अनतिवृत्तौ, अव्ययी० । याथार्थ्ये, यस्य वस्तुनो यद्रूपमुचित तथारूपभावे, यथायथमप्यत्रार्थे, वाच० ।

याथातथ्य-अव्य० । सूत्रकृताङ्गस्य त्रयोदशेऽध्ययने,धर्मसमाधिमार्गसमवसरणाख्येषु यद्वितथ याथातथ्येन व्यवस्थितम्, यच्च विपरीत वितथ तदपि लेशतोऽत्र, प्रतिपादयिष्यत इति । नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे याथातथ्यमिति नाम । (सूत्र०) अस्याध्ययनस्य याथातथ्यमिति नाम । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । "जाणासि ण भिक्खु, जहातहेण" याथातथ्येन त्व जानासि सम्यगवगच्छसीति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

जहातहऽज्झयण-याथातथ्याध्ययन-न० । सूत्रकृताङ्गस्य त्रयोदशेऽध्ययने, (सूत्र०)

अस्यायांऽधिकारो यथा—

जह सुत्तं तह अत्थो, चरणं चारो तह त्ति नायव्वं ।
संतंमि य पसंसाए, असईपगयं दुगुंछाए ॥ २६ ॥

"जह सुत्त" इत्यादि । यथा येन प्रकारेण यथापद्धत्या सूत्रं व्यवस्थित तथा तेनैव प्रकारेणार्थो व्याख्येयोऽनुष्ठेयश्च । एतद्दर्शयति-चरणमाचरणमनुष्ठानमन्यम् । यदि वा-एकान्तसूत्रस्य चारित्रमेवाचरणमतो यथा सूत्र तथा चारित्रमेतदेव चानुष्ठेयम् एतच्च याथातथ्यमिति ज्ञातव्यम्, पूर्वार्द्धस्यैव भावार्थं गाथापश्चार्द्धेन दर्शयितुमाह-यद्वस्तुजात प्रकृत प्रस्तुत यथार्थमधिकृत्य सूत्रमकारि तस्मिन्नर्थे सति विद्यमाने यथावद् व्याख्यायमाने संसारोत्तारणकारणत्वेन प्रशस्यमाने वा याथातथ्यमिति भवति. विवक्षिते त्वर्थे सत्यविद्यमाने ससारकारणत्वेन वा जुगुप्सायां सत्यां सम्यगनुष्ठीयमाने वा याथातथ्यं न भवति । इदमुक्त भवति-यदि यथासूत्र येन प्रकारेण व्यवस्थितम् । तथैवार्थो यदि भवति व्याख्यायतेऽनुष्ठीयते च संसारनिस्तरणसमर्थश्च भवति, ततो याथातथ्यमिति भवति । असति त्वर्थे क्रियमाणे ससारकारणत्वेन जुगुप्सिते वा भवति । याथातथ्यमिति गाथातात्पर्यार्थः । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

जहापवत्तकरण-यथाप्रवृत्तकरण-न० । करणभेदे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

जहाभूय-यथाभूत-त्रि० । यथावृत्ते, । "जहाभूयमवितहमसदिद्ध" । यथाभूत यथावृत्तम् । ज्ञा०१ श्रु० १ अ० । नि० चू० ।

जहामालिय-यथामालित-अव्य० । यथाधारितमित्यर्थे, "जहामालिय ओमोय दलइ" । यथामालित यथाधारित, यथापरिहितमित्यर्थ । प्र० ११ श० ११ उ० ।

जहारिह-यथार्ह-अव्य० । अर्हा योग्यतामनतिक्रम्य, अव्ययी० । यथायोग्ये, ततः । "अर्श आदिभ्योऽच्" ॥५।२।१२७॥ सत्यचूते पदार्थे, त्रि० । वाच० । " जहारिहं होइ कायव्वं " पञ्चा० १७ विव० । यथार्हं यथायोग्यम् । दश० ७ अ० । ध० स० । यथार्हं यथोचितम् । ज्ञा०१श्रु०१ अ० । "जहारिहं जस्स ज जुग्ग"यथायोग्यम् । आव० ६ अ० ।

जहारूव-यथारूप-अव्य० । रूपानतिक्रमे, " यथा नेत्र तथा शील, यथा नासा तथाऽऽर्जवम् । यथा रूप तथा वित्त, यथा शील तथा गुणाः ॥ १ ॥ " आव० ४ अ० ।

जहाल-जहाल-पु० । देशभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

जहालाह-यथालाभ-अव्य० । यथासंपत्तीत्यर्थे,पञ्चा०४विव० ।

जहालंदीगण-यथालन्दिगण-पु० । लन्दिकानां पञ्चको गणः पर तेषां कल्पस्य कालमान कियत् परिहारविशुद्धिकानामिवाष्टादशमासकालमानं चोनाधिक वेति, प्रश्ने, उत्तरम्-यथालन्दिकानां कालमान तु परिहारविशुद्धिकसाध्वतिदेशवाक्य पञ्चकल्पचूर्ण्यादावुपलभ्यमानत्वेनाष्टादश मासाः सम्भाव्यन्त इति । ४२ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

जहावाइ (ण्)-यथावादिन्-पु० । येन प्रकारेण वादिनि, (स्था०) " णो जहावाई तहाकारी याऽवि भवइ " सामान्यतो नो यथा वादी तथा कारी । स्था० ७ ठा० ।

जहाविभव-यथाविभव-अव्य० । विभवानुरूपमित्यर्थे, " ततो अ जहाविभव । " विभवानुरूपमित्यर्थः । पं० व० १ द्वार । " दान च यथाविभव, दातव्य सर्वसत्त्वेभ्यः । " यथाविभवं विभवानुसारेणेत्यर्थ । षो० ९ विव० ।

जहाविहि-यथाविधि-अव्य० । सम्यगित्यर्थे, प० व० ४ द्वार ।

जहासंख-यथासङ्ख्य-अव्य० । सख्यानतिक्रमे,"यथासख्यमनुदेशः समानाम्" ॥१।३।१०॥ इति (पाणि०) न्यायात् । आ०म०प्र० ।

जहासत्ति-यथाशक्ति-अव्य० । शक्तेरानुरूप्यम् । आनुरूप्येऽव्ययी० । शक्तेरानुरूप्ये, शक्त्यनुसारे च । वाच० । "सेसा उ जहासत्ति, आपुच्छित्ता ठवंति सट्ठाणे " यथाशक्ति शक्त्यनुरूपम् । आव० ५ अ० । सामर्थ्यानतिक्रमेणेति । पञ्चा० ६ विव० । " दाणमह जहासत्ती " यथाशक्ति शक्तेरनतिक्रमेण वित्तविभवानुरूपमित्यर्थः । पञ्चा० ३ विव० । " सेवगा जहासत्ति " यथाशक्ति, शक्त्यनिगूहनेन । पञ्चा० ११ विव० ।

जहासमाहि-यथासमाधि-अव्य० । समाधानानतिक्रमे, पञ्चा० १ विव० ।

जहासुय-यथाश्रुत-अव्य० । श्रुतानतिक्रमे, " अहसुयं वदिस्सामि " यथाश्रुत यथासूत्र वा वदिष्यामि । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

यथासूत्र-अव्य० । सूत्रानतिक्रमे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

जहि-यत्र-अव्य० । " त्रपो हि-ह-त्थाः " ॥ ८ । २ । १६१ ॥ इतिप्राकृतसूत्रेण प्रत्ययस्य एते आदेशाः । जहि-जह-जत्थ । प्रा० २ पाद । यस्मिन्नित्यर्थे, वाच० ।

जहिच्छिय-यथेप्सित-अव्य० । ईप्सितस्यानतिक्रमे, अव्ययी० । स्वाच्छन्द्ये, "अर्श आदिभ्योऽच्" ॥ ५ । २ । १२७ ॥ यथाभीष्टे, त्रि० । यथेष्टमप्यत्र । वाच० । "साहेइ जहिच्छिय कज्ज" साधयति यथेप्सित कार्यम् । पञ्चा० १ विव० ।

जहिच्छियकामकामिन्-यथेप्सितकामकामिन्-पु० । यथेप्सितान् मनोवाञ्छितान् कामान् शब्दादीन् कामयन्त इत्येवशीला यथेप्सितकामकामिनः । जी० ३ प्रति० । मनोवाञ्छितकामभोजिनि, " जहिच्छियकामकामिणा " यथेप्सितान् कामान् शब्दादीन् कामयन्ते अर्थाद् भुञ्जन्ते इत्येव शीला ये ते तथेति । ज० २ वक्ष० ।

जहिट्ठिल-युधिष्ठिर-पु० । युधि युद्धे स्थिरः " गवियुधिभ्यां स्थिरः" ॥८।३।९५॥ इति (पाणि०) षत्वम् । " उतो मुकुलादिष्वत्" ॥८।१।१०७॥ इतिप्राकृतसूत्रेणादेरुतोऽत्वम् । प्रा० १ पाद । पाण्डवश्रेष्ठे, वाच० ।

जहिमा-देशी-विदग्धरचितायां गाथायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

जहुट्ठिल-युधिष्ठिर-पु० । ' जहिट्ठिल ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

जहुत्त-यथोक्त-त्रि० । येन प्रकारेणोक्ते,"परक्कमती जहुत्तमाढं" यथा उक्त यथोक्तमिति । नि० चू० १ उ० ।

जहुत्तकारिन्-यथोक्तकारिन्-पु० । यथोक्त क्रियाकलाप कर्तुं शीलमस्येति यथोक्तकारी । आव० ३ अ० । भगवदाज्ञाराधके, वृ० १ उ० ।

जहुत्तर-यथोत्तर-अव्य० । उत्तरस्यानतिक्रमे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

जहोइय-यथोदित-त्रि० । येन प्रकारेण प्रतिपादिते, वचनाद् विरुद्धाद्यनुष्ठान यथोदितम् । यथा येनप्रकारेण कालाद्याराधनानुसाररूपेणोदित प्रतिपादितम् यथोदितम् । ध० ३ अधि० ।

जहोवइट्ठ-यथोपदिष्ट-अव्य० । यथोक्तमित्यर्थे,"जहोवइट्ठं अभिकखमाण" । यथोपदिष्टं यथोक्तमेव । दश० ६ अ० २ उ० ।

जहोवएसकारि(न्)-यथोपदेशकारिन्-पु० । उपदेशः सदसत्कर्तव्योपदेशः तस्यानतिक्रमेण कारिणि, आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ० ।

जा-जा-स्त्री० । आयायाम्, जनन्याम्, शय्यायाम्, एका० । देववादिन्याम्, योनौ, समुद्रवेलायाम्, एका० ।

यावत्-त्रि० । परिमाणमस्य । "यावत्तावज्जीवितावर्तमानावटप्रावारक-देवकुलै-वमेवे वः" ॥८।१।२७१॥ इति सूत्रेण वकारस्य वा लुक् । प्रा० १ पाद । यत्परिमाणे, यावति, साकल्ये, व्याप्तौ, सीमायां च । अव्य० । वाच० । " एव जा छम्मासा " । ' जा ' इति यावत्षण्मासानिति । पञ्चा० १० विव० ।

ज्या-स्त्री० । जरायां, क्र्या० । पर० अक० अनिट् । जिनाति अज्यासीत् । अङ् । धनुषे, गुणे, मौर्व्याम्, मातरि; भूमौ, वा । वाच० ।

या-गतौ, अदादि-पर० सक० अनिट् । याति, अयासीत् । वाच० । अनुसूयायाम्, शोभायाम्, लक्ष्म्याम्, निर्मितौ, स्त्री० । एका० । रामायाम्, मातरि, पाञ्याम्, युक्तौ, यात्रायाम्, एका० ।

जाइ-जाति-स्त्री० । जनन जातिः। उत्त०३ अ०। आचा०।जन्-क्तिन्। जन्मनि, " जाईजरामरणबंधणविप्पमुक्का " प्रज्ञा० २ पद । नं० । आचा० । आव० । सूत्र० । स्था० । "जाइ च मरणं च जणोववाय ।" जातिमुत्पत्तिं नारकतिर्यङ्मनुष्यामरजन्मलक्षणां च । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । जातिर्नारकादिषु प्रसूतिरिति । विशे० । आयन्ते जन्तवोऽस्यामिति जातिः। उत्त० ३ अ०। अनुगतैकाकारबुद्धिजननसमर्थे अवयवव्यङ्ग्ये सकृदुपदेशगम्ये च धर्मभेदे, यथा गोत्वमनुष्यत्वादि ब्राह्मणत्वशूद्रत्वादि च । वाच० । एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियत्वादिरूपसमानपरिणतिलक्षणमेकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेशभाक् यत्सामान्यं सा जातिः। उक्त च-अव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतोऽर्थात्मा जातिरिति । कर्म०१कर्म०। प्रज्ञा०। प०स०। "जाइकुलरूवलक्खण" (४५) जाति पुरुषत्वादिकेति । सम्म०१ काण्ड। जातिरेकेन्द्रियादि । स्था० ६ ठा० । आचा० । एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्वादिका जातिरिति । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । जातिर्गुणवन्मातृकत्वम् । स्था०४ ठा० २ उ० । मातृसमुत्था जातिरिति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । उत्त० । प०चू० । कल्प० । औ० । आचा० । स्था० । जातिर्मातृकी पित्रादिका वा । प्रव० १६५ द्वार। जातिर्मातृपक्षः ब्राह्मणादिका वा । तं० । जातयः क्षत्रियाद्या इति । उत्त० ३ अ० ।

सत्ता सामन्नं पि य, सामन्नविसेसया विसेसो य (२४८३)

सामान्य त्रिविधम् । तद्यथा-सत्ता १, सामान्यं २, सामान्यविशेषश्च इति । तत्र द्रव्यगुणकर्मलक्षणेषु त्रिषु पदार्थेषु सद्बुद्धिहेतुः सत्ता १। सामान्यं द्रव्यत्वगुणत्वादि २ । सामान्यविशेषस्तु पृथ्वीत्वजलत्वकृष्णत्वनीलत्वाद्यवान्तरसामान्यरूप इत्यादि ३ । अन्ये त्वित्थं सामान्यस्य त्रैविध्यमुपवर्णयन्ति-अविकल्पं महासामान्यम् १। त्रिपदार्थसद्बुद्धिहेतुभूता सत्ता २। सामान्यविशेषो द्रव्यत्वादि ३। महासामान्यसत्तयोर्विशेषणव्यत्यय इत्यन्ये । द्रव्यगुणकर्मपदार्थत्रयसद्बुद्धिहेतुः सामान्यम् । अविकल्पा सत्तेत्यर्थः । सामान्यविशेषस्तु-द्रव्यत्वादिरूप एव इत्यलं प्रसङ्गेन इति । विशेषश्चान्त्य । विशे० ।

सामान्यविशेषाँश्चायमभ्युपगच्छति, अतः कथंभूतस्तानिच्छति ? इत्याह—

सामन्नमन्नदेव हि, हेऊ सामन्नबुद्धिवयणाणं ।
तस्स विसेसो अन्नो, विसेसमइवयणहेउ त्ति ॥२१८९॥

सामान्यविशेषेभ्योऽन्यदेव हेतुश्च तत्सदिति सामान्यबुद्धेः सामान्यवचनस्य च । तस्मादपि सामान्यादन्योऽभिन्न एव नित्यद्रव्यवर्ती अन्त्यो विशेषः । स च हेतुर्विशेषो विशेष इति मतेर्वचनस्य च । प्रयोगो-भिन्नौ परस्परं सामान्यविशेषौ, भिन्नकार्यत्वात्, घटपटादिवदिति ॥ २१८९ ॥

न केवलं सामान्यविशेषौ नैगमः परस्परं भिन्नौ मन्यते, किंतु स्वाश्रयादपि गोपरमाण्वादेस्तयोर्भेदमेवायमिच्छतीति दर्शयन्नाह—

सदिति भणिए ऽभिमन्नइ,दव्वादत्थंतरं ति सामन्नं ।
अविसेसओ मईए सव्वत्थाणुप्पवित्तीए ॥ २१९० ॥

सदिति यतो "द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" इति वचनात् । सत्तासमवायादेव परस्परविलक्षणेषु द्रव्यगुणकर्मसु सदित्येकाकारा बुद्धिः प्रवर्तते, अतः सदिति भणिते द्रव्यादिभ्योऽर्थान्तरमेव सामान्यं मन्यते नैगमः । कुतः ? इत्याह-सदित्यविशेषितमतेर्वचनस्य च सर्वत्र द्रव्यगुणकर्मस्वन्योऽन्यमतिविलक्षणेष्वपि अविशेषेण प्रवृत्तेः । इदमुक्तं भवति-यदि सत्तासामान्यं द्रव्यादिभ्योऽभिन्नं स्यात् तदा द्रव्यादिवत्तस्यापि भिन्नत्वात्ततः सर्वत्र सदित्यभिन्ना बुद्धिर्न स्यात् । न हि भिन्नादभिन्नबुद्धिप्रसवो युज्यते,घटस्तम्भादिभ्योऽपि तत्प्रसङ्गात् । तस्माद् भिन्नेष्वभिन्नबुद्ध्यन्यथानुपपत्तेर्द्रव्यादिभ्योऽर्थान्तरमेव सामान्यमिति ॥ २१९० ॥

गोत्वादिसामान्यं तर्हि कथंभूतम् ? इत्याह—

गोत्तादओ गवाइसु, नियया धाराणुवित्तिबुद्धीओ ।
परओ य निवित्तीओ, सामन्नविसेसनामाणो ॥२१९१॥

गोत्वगजत्वादयस्तु गोगजाद्याश्रयवृत्तयः सामान्यविशेषनामानो मन्तव्याः । कुतः ? इत्याह-निजकाधारेषु गोगजादिष्वनुवृत्तिबुद्धितः—अनुगताकारबुद्धिहेतुत्वात्सामान्यनामानः, परतस्तु तुरगमहिषादेर्निवृत्तितो निवर्तनाद्विशेषनामानः। तेऽपि च गोत्वादयो भिन्नेष्वभिन्नबुद्धिहेतुत्वात् स्वाश्रयाद्भिन्ना एवास्य मतेन मन्तव्या इति । तदेवं निरूपितं सामान्यम् ॥ २१९१ ॥

अथ विशेषस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

तुल्लागइगुणकिरिए-गदेसतीयागए ऽणुदव्वम्मि ।
अन्नत्तबुद्धिकारण-मंतविसेसो त्ति से बुद्धी ॥२१९२॥

आकृतिश्च गुणाश्च क्रिया च आकृतिगुणक्रिया , तुल्या आकृतिगुणक्रिया यस्य तत् तुल्याकृतिगुणक्रियम्, अतीतमतिक्रान्तमपगतम् , आगतं तु प्रतीतम् , अतीतं च तदागतं च अतीतागतम्, एकदेशादतीतागतमेकदेशातीतागतम्, तुल्याकृतिगुणक्रियं च तदेकदेशातीतागतं च तथा तस्मिँस्तुल्याकृतिगुणक्रियैकदेशातीतागते परमाणुद्रव्ये अयमस्मादन्यः परमाणुरित्येवंभूताया योगिनामन्यत्वबुद्धेर्यत् कारणं हेतुर्भवति सोऽन्त्यो विशेष इति । (से) तस्य नैगमस्य बुद्धिरभिप्रायः । इदमुक्तं भवति-परिमण्डलसंस्थानाः सर्वेऽपि परमाणव इति वैशेषिकाः । ततस्तेषु तुल्याकृतिष्वपि सर्वेषु परमाणुषु भिन्नाः, एतेन त्वभिन्ना इत्येवं येयं परस्परमन्यत्वग्राहिका योगिनां बुद्धिरुत्पद्यते तद्धेतुभूतः परमाणुद्रव्यवर्ती अन्त्यो विशेष उच्यते । यथाभूता हि प्रथमेऽणौ विशेषा न तथाभूता एव द्वितीये, यथाभूताश्च द्वितीये न तथाभूता एव प्रथमे,अन्यथैकत्वप्रसङ्गात् इतीह भावार्थः । तथा-पार्थिवा अणवः सर्वेऽपि परस्परं तुल्यगुणाः । तथा-अणुमनसोराद्यं कर्मादृष्टकारितम्, यथा अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्,वायोस्तिर्यग्गमनमिति । सर्वेऽप्यणवस्तुल्यक्रियाः । तथा-एकस्मादाकाशदेशादाकाशप्रदेशाद् यदैवैकः परमाणुः स्थितिक्रियादत्येति । अन्यत्र गच्छति-तदैव यदाऽन्यः परमाणुस्तत्स्थित्युद्भवात्तत्रैवाकाशप्रदेशे समागत्य तिष्ठति, तदा एकदेशातीताऽऽगतत्वम् । अत एव वैशेषिकप्रक्रियया तुल्याकृतिषु, तुल्यगुणेषु, तुल्यक्रियेषु, एकप्रदेशनिर्गतागतेषु च, परमाणुद्रव्येषु यदन्यत्वबुद्धेः कारणं सोऽन्त्यो विशेष इति (से) तस्य नैगमस्य बुद्धिः । स चाकृत्यादिना तुल्येष्वतुल्यबुद्धिहेतुत्वादणुभ्यो भिन्न एवेति ॥ २१९२ ॥

एवं सामान्यविशेषेषु प्ररूपितेषु परः प्राह—

नणु दव्वपज्जवट्ठिय-नयावलंबि त्ति नेगमो चेव ।
सम्मद्दिट्ठी साहु,व्व कीसमिच्छत्तमेसोऽयं ? ॥२१९३॥

आह-नन्वेवं सति यत्सामान्यं तद्द्रव्यम्,विशेषास्तु पर्यायाः ,ततो द्रव्यपर्यायास्तिकनयद्वयमनावलम्बित्वात् सम्यग्दृष्टिरेवायं नै-

गमनयः, जैनसाधुवत् । न हि जैनसाधवोऽपि द्रव्यपर्यायोभयरूपाद् वस्तुनोऽन्यत् किञ्चिदिच्छन्ति । तत्किमित्यसौ मिथ्यात्वभेदः ? इति ॥ २१९३ ॥

अत्रोत्तरमाह—

जं सामन्नविसेसे, परोप्परं वत्थुओ य सो भिन्ने ।
मन्नइ अच्चंतमओ, मिच्छादिट्ठी कणादो व्व ॥२१९४॥
दोहिं वि नएहिँ नीयं, सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं ।
जं सविसयप्पहाण-त्तणेण अन्नोन्ननिरवेक्खा ॥२१९५॥

यद् यस्मात् सामान्यविशेषौ नैगमनयः परस्परमत्यन्तभिन्नौ मन्यते, वस्तुनोऽप्याधारभूतात् द्रव्यगुणकर्मपरमाणुरूपादत्यन्तभिन्नौ स तावदिच्छति, जैनसाधवस्तु परस्परं स्वाधाराच्च कथञ्चिदेव तौ भिन्नाविच्छन्ति, अतो मिथ्यादृष्टिरेवायं, कणादवदिति ॥ २१९४ ॥ तथाहि-द्वाभ्यामपि द्रव्यपर्यायास्तिकनयाभ्यां सर्वमपि निजं शास्त्रं नीतं समर्थितमुलूकेन तथाऽपि तन्मिथ्यात्वमेव यद्यस्मात्स्वस्वविषयप्राधान्याभ्युपगमेनोलूकाऽभिमतौ द्रव्यपर्यायास्तिकनयावन्योऽन्यनिरपेक्षौ जैनाभ्युपगतौ पुनस्तौ परस्परसापेक्षौ, स्याच्छब्दलाञ्छितत्वादिति ॥ २१९५ ॥

अथ सिद्धान्तवादी स्थितपक्षदर्शनार्थमेकान्तवादिनं नैगमं दूषयितुमाह-

जइ सामन्नं साम-न्नबुद्धिहेउ त्ति तो विसेसो वि ।
सामन्नमन्नसाम-न्नबुद्धिहेउ त्ति को भेओ ? ॥२१९६॥

यदि गौः गौः इत्यादिसामान्यबुद्धिवचनहेतुरितिकृत्वा सामान्यं त्वयेष्यते, हन्त ! तर्हि परमाणुगतोऽन्त्यो विशेषोऽपि सामान्यं प्राप्नोति, विशेषो विशेष इत्यन्यसामान्यबुद्धिवचनहेतुत्वात् । न च विशेषेष्वपि सामान्यमस्ति, द्रव्यगुणकर्मस्वेव तद्वृत्त्यभ्युपगमात् । अथवा-गोत्वगजत्वादिको विशेषोऽपि सामान्यं प्राप्नोति-गोत्वगजत्वादिसामान्येष्वऽपि सामान्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । सामान्यं सामान्यमिति बुद्धिवचनयोस्तत्रापि प्रवृत्तेः । न च सामान्येष्वपि सामान्यमस्ति "निःसामान्यानि सामान्यानि" इति वचनात् । ततश्चोक्तयुक्तेर्विशेषस्यापि सामान्यत्वात् को भेदः सामान्यविशेषयोः ? न कश्चिदित्यर्थः इति ॥२१९६॥

सामान्यस्यापि च विशेषरूपता प्राप्नोतीति दर्शयन्नाह-

जइ जे ण विसेसिज्जइ, स विसेसो तेण जं पि सामन्नं ।
तं पि विसेसोऽवस्सं, सत्ताइविसेसयत्ताओ ॥२१९७॥

यदि येन वस्तुना बुद्धिर्वचनं च विशेष्यते स विशेष उच्यते, तेन ततो यदपि परमपरं च सत्ता गोत्वादिकं सामान्यं तदपि विशेषः प्राप्नोति, कुतः ? सत्तादीनामपि विशेषकत्वात्, तथाहि-सत्तासामान्यमपि गोत्वादिभ्यो बुद्धिवचने विशेषयति, गोत्वादयोऽपि च सत्तादिभ्यस्ते विशेषयन्त्येव, प्रयोगः-सामान्यमपि विशेष एव, बुद्धिवचनविशेषकत्वात्, अन्त्यविशेषवदिति । तदेवं 'विशेषोऽपि सामान्यम्, सामान्यमपि विशेषः' प्राप्नोतीत्युक्तम् ॥ २१९७ ॥

किं च-"त्रिपदार्थसत्करी सत्ता" इति वचनात्सत्तासमवायात्सत्त्वं भवताऽभ्युपगम्यते तच्चायुक्तम् ।

कुतः ? इत्याह-

सत्ताजोगादसओ, सओ व सत्तं हवेज्ज दव्वस्स ।
असओ न खपुप्फस्स व, सओ व किं सत्तया कज्जं ? ॥२१९८॥

यत्सत्तायोगाद्वस्तुनः सत्त्वमिष्यते तत्स्वरूपेण किं सतोऽसतो वा भवेत् ? इति वक्तव्यम् । न तावदसतः खपुष्पस्येव सत्त्वं युज्यते । यदि तु स्वरूपेणैव सद्वस्तु, तर्हि सत्तया किं कार्यम् ?, तामन्तरेणापि स्वरूपेणैव वस्तुनः सत्त्वादिति ॥२१९८॥

अपि च-

पइवत्थुं सामन्नं, जइ तोऽणेगं न यावि सामन्नं ।
अह दव्वेसु तदेगं, तह वि सदेसं न सामन्नं ॥ २१९९ ॥

यदि तत्सामान्यं प्रतिवस्तु वर्तते तर्हि नैकम्, प्रतिवस्तुवृत्तित्वात्, प्रतिवस्तुस्वात्मवत् । यदि वा-न तत्सामान्यं प्रतिवस्तुवृत्तित्वात्, प्रतिवस्तुस्वात्मवत् । अथ बहुषु द्रव्येषु वृत्तमपि तदेकं तथाऽपि सदेशं प्राप्नोति, अदेशस्य परमाणोरिव बहुषु वृत्तियोगात् । सदेशत्वे च सति न सामान्यं, देशभेदे देशिनोऽपि तदव्यतिरिक्तस्य भेदादिति ॥ २१९९ ॥

अथ प्रतिवस्तु वर्तमानमपि तदेकमिष्यते तथापि दोष इति दर्शयन्नाह-

अह पइवत्थुमिहेगं, च तह वि तं नत्थि खरविसाणं व ।
न य तदुवलक्खणं तं, सव्वगयत्तओ खं व ॥ २२०० ॥

अथ प्रतिवस्तु वर्तते तत्, एकं चेष्यते, तथापि तन्नास्ति, अनुपलभ्यमानत्वात्, खरविषाणवत् । न च तस्य सामान्यभूतस्य गवादेरुपलक्षणमुपलक्षकं तद् युज्यते, सर्वगतत्वात्, व्यक्तिभ्योऽन्यत्वाच्च, आकाशवदिति ॥ २२०० ॥

किं च-

सामन्नविसेसकयं, जइ नाणं तेसु किं निमित्तं तो ।
अह तत्तो च्चिय तम्हा, तं परहेउ त्ति ऽणेगंतो ॥२२०१॥

यदि गौर्गौरित्यादि सामान्यज्ञानं वचनं च सामान्यहेतुकं प्रवर्तते, तथा परमाणुरयमस्माद्विशिष्ट इति विशेषज्ञानं वचनं च यदि विशेषकृतम्, ततस्तेषु गोत्वतुरगत्वादिसामान्येषु सर्वत्र सामान्यं सामान्यमिति ज्ञानं वचनं च तथा तेषु विशेषेषु सर्वत्र विशेषो विशेषः इति विशेषबुद्धिर्वचनं च किं निमित्तमिति वक्तव्यम् ? । न च सामान्येष्वपि सामान्यमस्ति, नापि विशेषेष्वन्ये विशेषाः सन्ति, येन तेषु तन्निमित्ते ते स्याताम् । अथ तत एव तेभ्य एव गोत्वादिसामान्येभ्योऽपरसामान्यमन्तरेणापि सामान्यज्ञानवचनेऽभ्युपगम्येते, विशेषेभ्य एव चान्यविशेषनिरपेक्षेभ्यो विशेषज्ञानवचने इष्येते, तस्मात् तर्हि तत्सामान्यविशेषज्ञानं वचनं च परहेतुकं सामान्यविशेषनिमित्तमेवेति नायमेकान्तः, सामान्यविशेषविषयाभ्यामेव सामान्यविशेषज्ञानवचनाभ्यां व्यभिचारादिति ॥ २२०१ ॥

अथ सिद्धान्तवादी स्थितपक्षमुपदर्शयन्नाह-

तम्हा वत्थूणं चिय, जो सरिसो पज्जवो स सामन्नं ।
जो विसरिसो विसेसो, स मओ ऽणत्थंतरं तत्तो ॥२२०२॥

तस्माद्वस्तूनामेव गवादीनां खुरककुदलाङ्गूलविषाणसास्नादिमत्त्वलक्षणो यः सदृशः पर्यायः स एव सामान्यं, न पुनरेकानित्यनिरवयवाऽक्रियसर्वगतत्वादिधर्मोपेतं पराभ्युपगतम् । यस्तु तेषामेव गवादीनां शाबलेयबाहुलेयत्वादिको विसदृशोऽयोऽ

न्यं विलक्षण पर्याय स विशेष । स च सामान्यरूपो विशेषरूपश्च पर्यायस्ततो वस्तुनोऽनर्थान्तरमाभिन्न',कथञ्चित्तु पररूपतादिभिर्भिन्नोऽपि न त्वेकान्तेनाभिन्नो भिन्नो वेति द्रष्टव्यमिति । तदेवमुक्तो नैगमनयः ॥ २२०२ ॥

अथ संग्रहनय व्याचिख्यासुराह-

संगहणं संगिण्हइ, संगिज्झंते व तेण जं भेया ।
तो संगहोत्ति संगहि-य पिंडियत्थ वओ जस्स॥२२०३॥

संग्रहणं सामान्यरूपतया सर्ववस्तूनामाक्रोडन संग्रहः । अथवा-सामान्यरूपतया सर्वे संगृह्णातीति संग्रहः । अथवा-यस्मात्सर्वेऽपि भेदा सामान्यरूपतया संगृह्यन्तेऽनेनेति संग्रह । संग्रहीत च तत्पिण्डित च संगृहीतपिण्डितं, तदेवार्थोऽभिधेय यस्य तत्संग्रहीतपिण्डितार्थम् । एवभूत वचो वचन यस्य संग्रहस्येति ॥ २२०३ ॥

तत्र संगृहीतपिण्डितार्थं, किमुच्यते ? इत्याह-

संगहियमागहीयं, संपिंडियमेगजाइमाणीयं।
संगहियमणुगमो वा, वइरेगो पिंडियं भणियं ॥२२०४॥
अहव महासामन्नं, संगहियं पिंडियत्थमियरं ति ।
सव्वविसेसाणन्नं, सामन्नं सव्वहा भणियं ॥ २२०५ ॥

सामान्याऽभिमुख्येनाऽऽग्रहणमागृहीतु संग्रहीतमुच्यते,पिण्डित त्वेकजातिमानीतमभिधीयते,तदेवभूत वस्तु अर्थोऽभिधेय यस्य तत्संगृहीतपिण्डितार्थं वचन संग्रहनयस्येति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । अथवा-संगृहीतमनुगमोऽभिधीयते, सर्वव्यक्तिष्वनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादनमित्यर्थः । व्यतिरेकस्तु पिण्डितमुच्यते । विशेषप्रतिपादकपरमतनिराकरणमित्यर्थः। ततश्च संगृहीतपिण्डितार्थमनुगमव्यतिरेकार्थं संग्रहवचनमिति हृदयम ॥२२०४॥ अथवा-सत्तारूप महासामान्यं संगृहीतमुच्यते, इतरत्तु गोत्वादिकमवान्तरसामान्य पिण्डितार्थमभिधीयते । ततः संगृहीतपिण्डितार्थं परापरसामान्यार्थं संग्रहवचः। किं बहुनोक्तेन ? । सर्वे विशेषा अनन्या अभिन्ना यस्य तत्सर्वविशेषानन्यम । अतः क्रोडीकृतसर्वविशेषं सामान्यमेव सर्वैः प्रकारैः संग्रहवचनस्याऽभिधेयतया भणितमिति ॥ २२०५ ॥

कथभूतं पुनः सामान्यं संग्रहो मन्यते ?। विशेषांस्तु कुतोऽसौ नाभ्युपगच्छति ? इति दर्शनार्थमाह—

एकं निच्चं निरवयव-मकियं सव्वगं च सामन्नं ।
निस्सामन्नत्ताओ, नऽत्थि विसेसो खपुप्फ व ॥२२०६॥

एक सामान्यम्,सर्वत्र तस्यैव भावात,विशेषाणां चाभावात्,तथा-नित्य सामान्यम्,अविनाशात,तथा-निरवयवम्,अप्रदेशत्वात;अक्रियं,देशान्तरगमनाभावात् ; सर्वगत च सामान्यम, अक्रियत्वादिति । विशेषास्तु न सन्ति, निःसामान्यत्वात्;सामान्यव्यतिरेकिणां तेषामभावात् । इह यत्सामान्यातिरिक्तं तन्नास्ति, यथा खपुष्पमिति ॥ २२०६ ॥

एतदेव समर्थयति—

सदिति भणियम्मि जम्हा, सव्वत्थाणुप्पवत्तए बुद्धी ।
तो सव्वं सम्मत्तं, नऽत्थि तदत्थंतरं किंचि ॥२२०७॥

यस्मात् सदित्येवभणिते सर्वत्र भुवनत्रयान्तर्गते वस्तुनि बुद्धिरनुप्रवर्तते प्रधावति । न हि तत्किमपि यत्सदस्ति । यत्सत् इत्युक्ते झगिति बुद्धौ न प्रतिभासते । ततस्तस्मात्सर्वं तन्मात्रमेव सत्तामात्रमेव, न तदर्थान्तर किञ्चिदस्ति यद्विशेषतया कल्पेत इति ॥ २२०७ ॥

सत्तामात्रत्वमेव सर्वभावानां भावयन्नाह—

कुंभो भावाणन्नो, जइ तो भावो अहऽन्नहाऽभावो ।
एवं पडादओ वि हु, भावाणन्न त्ति तम्मत्तं ॥२२०८॥

कुम्भो घट. स भावात् सत्तातोऽन्यः,अनन्यो वा ?। यद्यनन्योऽभिन्नः, तर्हि भावः सत्तामात्रमेवाऽसौ (अहन्न ह त्ति) अथान्यथा-भावाद्भिन्नोऽभ्युपगम्यत इत्यर्थ', तर्ह्यभावोऽसत्त्वेवासौ, भावादन्यत्वात्,खरविषाणवदिति।एव पटादयोऽपि प्रत्येक वाच्याः। ततस्तेऽपि द्वितीयपक्षेऽसत्त्वप्रसंगात् भावादनन्येऽभ्युपगन्तव्याः, इति सर्वमेव घटपटादिकं वस्तु तन्मात्रं सत्तामात्रमेवेति ॥ २२०८ ॥

अथवा-अयमेवार्थोऽन्यथाऽभिधीयते । कथम ?। इत्याह-

तम्मत्तमिह विसेसो,सामन्नं पि व पमेयभावाओ ।
सव्वत्थ सम्मईओ, वभिचाराभावओ वा वि ॥२२०९॥

तन्मात्रमिह विशेषा इति प्रतिज्ञा, प्रमेयत्वात्, सामान्यवत् । अथवा-अन्यो हेतुः-सर्वत्र सन्मतेर्व्यभिचाराभावात् । सर्वत्र सन्मतिप्रवृत्तेरित्यर्थः । इति ॥ २२०९ ॥

प्रकारान्तरेणापि विशेषाणां सामान्यरूपतां-
साधयितुमाह-

चूओ वणस्सइ च्चिय, मूलाइगुणो त्ति तस्समूहो व्व ।
गुम्मादओ वि एवं, सव्वे ण वणस्सइविसिट्ठा ॥२२१०॥

चूतो वनस्पतिः सामान्यरूप एव, मूलादिगुणत्वात्, तत्समूहवत्-चूतादिवृक्षसमूहवत् । गुल्मो लतासमूहः, तदादयोऽपि सर्वे वृक्षविशेषा वनस्पतेरविशिष्टा एव, इति सामान्यमेवास्ति, न विशेषा इति ॥ २२१० ॥

किं च-

सामन्नाउ विसेसो, ऽन्नोऽणन्नो व नत्थि जइ अन्नो ।
निस्सामन्नत्ताओ, ऽणन्नो सामन्नमेत्तं सो ॥२२११॥

सामान्याद्विशेषोऽन्यः, अनन्यो वा ?। यद्यन्यः, तर्हि नास्त्यसौ, सामान्यबहिर्भूतत्वात्,खरविषाणवत्। अथ अनन्यः तर्हि सामान्यमात्रमेवासौ, तत्स्वरूपवदिति । तदेवमुक्तः संग्रहः ॥२२११॥ विश०। एके तीर्थिकाः सामान्यरूपमेव वाच्यतया अभ्युपगच्छन्ति ।ते च द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभेदाः अद्वैतवादिनः साङ्ख्याश्च । केचित्तु विशेषरूपमेव वाच्य निर्वचन्ति। ते च पर्यायास्तिकनयानुसारिणः सौगता. । अपरे च-परस्परनिरपेक्षपदार्थपृथग्भूतसामान्यविशेषयुक्त वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वते । ते च नैगमनयानुरोधिनः काणादाः, अक्षपादाश्च । एतच्च पक्षत्रयमपि किञ्चिच्चर्च्यते । तथाहि-संग्रहनयावलम्बिनो वादिन. प्रतिपादयन्ति-सामान्यमेव तत्त्व, ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् । तथा सर्वमेकमविशेषेण सदिति ज्ञानाऽभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताकत्वात् । तथा द्रव्यत्वमेव तत्त्व,ततोऽर्थान्तरभूतानां धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामनुपलब्धेः । किं च-ये सामान्यात् पृथग्भूता अन्योऽन्यव्यावृत्त्यात्मका विशेषाः कल्प्यन्ते. तेषु विशेषत्व विद्यते न

वा ?। नो चेन्निःस्वभावताप्रसङ्ग , स्वरूपस्यैवाऽभावात्। अस्ति चेत्तर्हि तदेव सामान्यम् । यत. समानानां भाव· सामान्यम् । विशेषरूपतया च सर्वेषां तेषामविशेषेण प्रतीतिः सिद्धैव । अपि च-विशेषाणां व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्व लक्षणम् । व्यावृत्तिप्रत्यय एव च विचार्यमाणो न घटते । व्यावृत्तिर्हि विवक्षितपदार्थे इतरपदार्थप्रतिषेध । विवक्षितपदार्थश्च स्वस्वरूपव्यवस्थापनमात्रपर्यवसायी कथ पदार्थान्तरप्रतिषेधे प्रगल्भते ?। न च स्वरूपसत्वादन्यत्तत्र किमपि, येन तन्निषेध· प्रवर्तेत । तत्र च व्यावृत्तौ क्रियमाणायां स्वात्मव्यतिरिक्ता विश्वत्रयवर्तिनोऽतीतवर्तमानाऽनागता पदार्था·,तस्माद् व्यावर्तनीयाः। ते च नाज्ञातस्वरूपा व्यावर्तयितुं शक्या· । ततश्चैकस्यापि विशेषस्य परिज्ञाने प्रमातुः सर्वज्ञत्वं स्यात् । न चैतत्प्रातीतिक,यौक्तिक वा। व्यावृत्तिस्तु निषेध.। स चाभावरूपत्वात्तुच्छः कथ प्रतीतिगोचरमञ्चति खपुष्पवत् । तथा येभ्यो व्यावृत्तिस्ते सद्रूपा असद्रूपा वा ?। असद्रूपाश्चेत्तर्हि खरविषाणात् कि न,व्यावृत्ति ?। सद्रूपाश्चेत्सामान्यमेव। या चेय व्यावृत्तिर्विशेषैः क्रियते सा सर्वासु विशेषव्यक्तिष्वेकाऽनेका वा ?। अनेका चेत्तस्या अपि विशेषत्वापत्तिरनेकरूपत्वैकजीवितत्वाद्विशेषाणाम । ततश्च तस्या अपि विशेषत्वान्यथानुपपत्तेर्व्यावृत्त्या भाव्यम । व्यावृत्तेरपि च व्यावृत्तौ विशेषाणामभाव एव स्यात् , तत्स्वरूपभूताया व्यावृत्ते· प्रतिषिद्धत्वात्, अनवस्थापाताच्च । एका चेत्सामान्यमेव सञ्ज्ञान्तरेण प्रतिपन्न स्यादनुवृत्तिप्रत्ययलक्षणाऽव्यभिचारात् । किं चाऽमी विशेषाः सामान्याद् भिन्ना· अभिन्ना वा ?। भिन्नाश्चेत् मण्डूकजटाभारानुकारा· । अभिन्नाश्चेत्तदेव तत्स्वरूपवत् । इति सामान्यैकान्तवाद· । पर्यायनयान्वयिनस्तु भाषन्ते-विविक्ता· क्षणक्षयिणो विशेषा एव परमार्थ·,ततो विष्वग्भूतस्य सामान्यस्याप्रतीयमानत्वात् । न हि गवादिव्यक्त्यनुभवकाले वर्णसंस्थानात्मक व्यक्तिरूपमपहायाऽन्यत् किंचिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे प्रतिभासते, तादृशस्यानुभवाभावात् । तथा च पठन्ति-

" एतासु पञ्चस्ववभासिनीषु, प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु ।
साधारण रूपमवेक्षते य·, शृङ्ग शिरस्यात्मन ईक्षत स ॥१॥"

एकाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्यो व्यक्तिभ्य एवोत्पद्यते । इति न तेन सामान्यसाधन न्याय्यम् । किं च-यदिद सामान्य परिकल्प्यते, तदेकमनेक वा ?। एकमपि सर्वगतमसर्वगत वा ?। सर्वगत चेत् किं न व्यक्त्यन्तरालेषूपलभ्यते ?। सर्वगतैकत्वाभ्युपगमे च तस्य यथा गोत्वसामान्य गोव्यक्तीः क्रोडीकरोति । एव किं न घटपटादिव्यक्तीरपि, अविशेषात् ?। असर्वगत चेत् विशेषरूपापत्तिरभ्युपगमबाधश्च । अथाऽनेक गोत्वाश्वत्वघटत्वपटत्वादिभेदभिन्नत्वात्ते तर्हि विशेषा एव स्वीकृता·, अन्योऽन्य व्यावृत्तिहेतुत्वात् । न हि यद्गोत्व तदश्वत्वात्मकमिति । अर्थक्रियाकारित्व च वस्तुनो लक्षणम् । तच्च विशेषेष्वेव स्फुट प्रतीयत । न हि सामान्येन काचिदर्थक्रिया क्रियते, तस्य निष्क्रियत्वात्, वाहदोहादिकास्वर्थक्रियासु विशेषाणामेवोपयोगात् । तथेद सामान्य विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्न वा ?। भिन्न चेदवस्तु, विशेषविश्लेषणार्थक्रियाकारित्वाऽभावात् । अभिन्न चेत् विशेषा एव तत्स्वरूपवत् । इति विशेषैकान्तवाद· । नैगमनयानुगामिनस्त्वाहु -स्वतन्त्रौ सामान्यविशेषौ, तथैव प्रमाणेन प्रतीतत्वात् । तथाहि-सामान्यविशेषावत्यन्तभिन्नौ, विरुद्धधर्माध्यासितत्वात् । यावेव तावेव यथा पाथः पावकौ । तथा चैतौ । तस्मात्तथा । सामान्य हि गोत्वादि सर्वगतम् । तद्विपरिताश्च शबलशाबलेयादयो विशेषास्तत कथमेषामैक्यं युक्तम् ? न सामान्यात् पृथक् विशेषस्योपलम्भ इति चेत् कथ तर्हि तस्योपलम्भ इति वाच्यम् ?। सामान्यव्याप्तस्येति चेत् न तर्हि स विशेषोपलम्भ·, सामान्यस्यापि तेन ग्रहणात् । ततश्च तेन बोधेन विविक्तविशेष ग्रहणाभावात् तद्विशेषवाचकध्वनिं तत्साध्य च व्यवहार न प्रवर्तयेत् प्रमाता । न चैतदस्ति ; विशेषाभिधानव्यवहारयो· प्रवृत्तिदर्शनात् । तस्माद् विशेषमभिलषता तत्र च व्यवहार प्रवर्तयता तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽभ्युपगन्तव्य· । एव सामान्यस्थाने विशेषशब्द विशेषस्थाने च सामान्यशब्द प्रयुञ्जानेन सामान्येऽपि तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽङ्गीकर्तव्य । तस्मात् स्वस्वग्राहिणि ज्ञाने पृथक् प्रतिभासमानत्वात् द्वावपीतरेतरविशकलितौ । ततो न सामान्यविशेषात्मकत्व वस्तुनो घटते इति स्वतन्त्रसामान्यविशेषवाद· । तदेतत्पक्षत्रयमपि न क्षमते क्षोद, प्रमाणबाधितत्वात् सामान्यविशेषोभयात्मकस्यैव च वस्तुनो निर्विगानमनुभूयमानत्वात् । वस्तुनो हि लक्षणमर्थक्रियाकारित्वम् । तच्चानेकान्तवादे एवाविकल कलयन्ति परीक्षका· । तथाहि-यथा गौरित्युक्ते खुरककुदसास्नालाङ्गूलविषाणाद्यवयवसपन्नं वस्तु स्वरूप सर्वव्यक्त्यनुयायि प्रतीयते तथा महिष्यादिव्यावृत्तिरपि प्रतीयते । यत्रापि च शबला गौरित्युच्यते तत्रापि यथा विशेषप्रतिभासस्तथा गोत्वप्रतिभासोऽपि स्फुट एव । शबलेति केवलविशेषणोच्चारणेऽपि अर्थात्,प्रकरणात् वा गोत्वमनुवर्तते । अपि च शबलत्वमपि नानारूप, तथा दर्शनात् । ततो वक्त्रा शबलेत्युक्ते क्रोडीकृतसकलशबलसामान्य विवक्षितगोव्यक्तिगतमेव शबलत्व व्यवस्थाप्यते । तदेवमाबालगोपाल प्रतीतिसिद्धेऽपि वस्तुन· सामान्यविशेषात्मकत्वे तदुभयैकान्तवाद· प्रलापमात्रम् । न हि कचित्कदाचित्केनचित्सामान्य विशेष विना कृतमनुभूयते । विशेषा वा तद्विना कृता· । केवल दुर्णयप्रभावितमतिव्यामोहवशादेकमपलप्यान्यतरद् व्यवस्थापयन्ति बालिशा· । सोऽयम्-अन्धगजन्याय· । येऽपि च तदेकान्तपक्षोपनिपातिन प्रागुक्ता दोषास्तेऽपि अनेकान्तवादप्रचण्डमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वान्नोच्छ्वसितुमपि क्षमा । स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादिनस्त्वेव प्रतिक्षेप्या·-सामान्य प्रतिव्यक्ति कथञ्चिदभिन्न,कथञ्चित्तदात्मकत्वाद्विसदृशपरिणामवत् । यथैव हि काचिद् व्यक्तिरुपलभ्यमाना व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनात् समानेति, तेन समानो गौरयमोऽनेन समान· इति प्रतीते । न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात् सामान्यरूपताव्याघातः । यतो रूपादीनामपि व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति, न च तेषां गुणरूपताव्याघात· । कथंचिद् व्यतिरेकस्तु रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव । पृथक् व्यपदेशादिभाक्त्वात् । विशेषा अपि नैकान्तेन सामान्यात् पृथग् भवितुमर्हन्ति । यतो यदि सामान्य सर्वगत सिद्ध भवेत्तदा तेषामसर्वगतत्वेन ततो विरुद्धधर्माध्यास· स्यात् । न च तस्य तत्सिद्धम्, प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात्, सामान्यस्य विशेषाणां च कथञ्चित्परस्पराव्यतिरेकेणैकानेकरूपतया व्यवस्थितत्वात् । विशेषेभ्योऽव्यतिरिक्तत्वाद्धि सामान्यमप्यनेकमिष्यत । सामान्यात्तु विशेषाणामव्यतिरेकेण तेषामप्येकरूपता इति । एकत्व च सामान्यस्य सग्रहनयार्पणात् सर्वत्र विज्ञेयम्,प्रमाणार्पणात्तस्य सदृशपरिणामरूपस्य विसदृशपरि-

णामवत्कथञ्चित्प्रतिव्यक्तिभेदात् । एष चासिद्ध सामान्यविशेषयो सर्वथा विरुद्धधर्माध्यासितत्वम् । कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वं चेद्विवक्षित तदास्मत्कक्षाप्रवेश',कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासस्य कथञ्चिद्भेदाविनाभूतत्वात् । पाथ पावकदृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकल , तयोरपि कथञ्चिदेव विरुद्धधर्माध्यासितत्वेन भिन्नत्वेन च स्वीकरणात् । पयस्त्वपावकत्वादिना हि तयोर्विरुद्धधर्माध्यासो भेदश्च, द्रव्यत्वादिना पुनस्तद्विपरीतमिति । तथा च-कथं न सामान्यविशेषात्मकत्व वस्तुनो घटत ? इति । स्या० १४ श्लोक । तथा च सूत्रकृताङ्गवृत्तौ-सर्वमपि यदस्ति तत्सामान्यविशेषात्मक नरसिंहाकारमुभयस्वभावमिति । तथा चोक्तम्—

" नान्वय सह भेदत्वा-न्न भेदोऽन्वयवृत्तित: ।
मृद्भेदद्वयसंसर्ग-वृत्तिजात्यन्तर घट· ॥ १ ॥ "

तथा—

" नरस्य सिंहरूपत्वा-न्न सिंहो नररूपत· ।
शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तर हि स· ॥ २ ॥ "

इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

" व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व, शङ्करोऽथानवस्थिति' ।
रूपहानिरसंबन्धो, जातिबाधकसंग्रह ॥१॥ " इति ।

अस्य व्याख्या-आकाशत्व न जाति । व्यक्त्यैक्यात् । १ । घटत्वकलशत्वे न जाती । व्यक्तितुल्यत्वात् । २ । भूतत्वमूर्तत्वे न जाती । आकाशे भूतत्वस्यैव मनसि च मूर्तत्वस्यैव सद्भावेऽपि पृथिव्यादिचतुष्टये उभयो सद्भावात् सङ्करप्रसङ्ग । ३ । जातेरपि जात्यन्तराङ्गीकारेऽनवस्थाप्रसङ्ग' । ४ । अन्त्य तविशेषता न जाति' । तदङ्गीकारे तत्स्वरूपव्यावृत्तिहानि स्यात् । ५ । समवायता न जाति सम्बन्धाऽभावात् । ६ । इत्येते जातिबाधका । स्या० ८ श्लोक । कर्मवशाद्सुमना विचित्रजातिगमनाज्जातेरशाश्वतत्वम् । अतो न जातिमदो विधेय इति । यदपि कैश्चिदुच्यते-यथा ब्राह्मणा ब्रह्मणो मुखाद्विनिर्गता·,बाहुभ्यां क्षत्रिया ,ऊरुभ्यां वैश्या , पद्भ्यां शूद्रा इति । एतदप्यप्रमाणत्वादतिफल्गुप्राय, तदभ्युपगमे न विशेषो वर्णाना स्यादेकस्मात् प्रसूतेर्वृक्षशाखाप्रतिशाखाप्रसूनपनसोदुम्बरादिफलवद्ब्रह्मणो वा मुखादेरवयवाना चातुर्वर्ण्यापत्ति स्यात् न चैतदिष्यते भवद्भिस्तथा यदि ब्राह्मणादीनां ब्रह्मणो मुखादेरुद्भव । सांप्रत किं न जायते ?। अथ युगादावेतदित्येव सति दृष्टहानिरदृष्टकल्पना स्यादिति । तथा यदि कैश्चिदभ्यधायि सर्वज्ञनिक्षेपावसरे तद्यथा-सर्वज्ञरहितोऽतीत· काल· कालत्वाद्वर्त्तमानकालवदेव च सत्वतदपि शक्यते वक्तु यथा नाऽतीत: कालो ब्रह्ममुखादिविनिर्गतचातुर्वर्ण्यसमन्वित । कालत्वाद्वर्त्तमानकालवद्भवति च विशेषे ऽङ्गीकृते सामान्यहेतुरित्यत प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धता नाशङ्कनीयेति । जातेश्चानित्यत्व युष्मत्सिद्धान्त एवाऽभिहितम् । तद्यथा—शृगालो वा एष जायते य स पुरीषो दह्यत इत्यादिना । तथा-" सद्य पतति मांसेन, लाक्षया लवणेन च । त्र्यहेन शूद्रीभवति, ब्राह्मण क्षीरविक्रयी ॥ १ ॥ ' इत्यादि लोके चावश्य भावी जातिपात । यत उक्तम्-"कायिकै कर्मणा यादे-र्याति स्थावरता नर । वाचिकै' पक्षिमृगता, मानसैरन्त्यजातिताम् ॥१॥" इत्यादिगुणैरप्येववि यैर्न ब्राह्मणत्व मुच्यते । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । ब्राह्मणत्वादिजातिश्च न कस्य चित् कारणम् । स्मृतावप्युक्तम्-

" कैवर्तीगर्भसंभूतो, व्यासो नाम महामुनि ।
तपसा ब्राह्मणो जात', तस्माज्जातिरकारणम् ॥
हरिणीगर्भसंभूतो, हैरण्योऽपि महामुनि ।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥ " दर्श० २ तत्त्व ।

क्रियाकर्मविभागेन हि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था यत उक्तम्—

" एकवर्णमिद सर्व, पूर्वमासीद् युधिष्ठिर ! ।
क्रियाकर्मविभागेन, चातुर्वर्ण्य व्यवस्थितम ॥१॥
ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, यथा शिल्पेन शिल्पक· ।
अन्यथा नाम मात्र स्या-दिन्द्रगोपककीटवत् ॥२॥ उत्त० २६ अ० ।

(सप्ताना वर्णाना नवानां च वर्णान्तराणामुत्पत्तिः ' बंभ ' शब्दे वक्ष्यते) व्याकरणोक्ते पौत्राद्यपत्यात्मके गोत्रे, वेदशाखाभेदे च । न्यायोक्ते साधर्म्यवैधर्म्याभ्या व्याप्तिनिरपेक्षाभ्या वादिवाक्येषु दूषणदानरूपे वाक्ये, वाच० । तथा सम्यग्घेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्राय किमपि प्रत्यवस्थान जातिर्दूषणाभास इत्यर्थः । सा च चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन । यथा साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्याऽवर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाऽहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमा । तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थान साधर्म्यसमा जातिर्भवति । 'अनित्य शब्द ' कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम् । 'नित्य शब्दो' निरवयवत्वाद् आकाशवत् ! न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात् कृतकत्वात् अनित्य शब्दो, न पुनराकाशसाधर्म्यान्निरवयवत्वात् नित्य इति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थान वैधर्म्यसमा जातिर्भवति । 'अनित्य शब्द ' कृतकत्वाद् घटवदिति । अत्रैव प्रयोगे स एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते (घटस्य हि निरवयवत्व वैधर्म्यं स्वय सावयवत्वाद्वैधर्म्यम्) 'नित्य शब्दो' निरवयवत्वात् । अनित्य हि सावयव दृष्ट घटादीति न चास्ति विशेषहेतुर्घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्य· शब्दो न पुनस्तद्वैधर्म्यात् निरवयवत्वान्नित्य इति । उत्कर्षापकर्षाभ्या प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवत· । तत्रैव प्रयोग दृष्टान्तधर्मं कञ्चित्साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमा जाति प्रयुङ्क्ते । यदि घटवत् कृतकत्वात् अनित्य· शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु । न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदितिशब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति । अपकर्षस्तु घट कृतक· सन्-अश्रावणो दृष्ट· । एव शब्दोऽप्यस्तु । नो चेद् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति । शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति । इत्येताश्चतस्रो दिङ्मात्रदर्शनार्थं जातय उक्ता· । एव शेषा अपि विंशतिरक्षपादशास्त्रादवसेया । स्या० १० श्लोक । दूषणाभासास्तु जातयस्तत्र सम्यक् दूषणस्याऽपि न तत्त्वव्यवस्थितिरनियतत्वात् । अनियतत्व च यदेवैकस्मिन् सम्यग् दूषण तदेवान्यत्र दूषणाभासं पुरुषशक्त्यपेक्षत्वाच्च दूषणाभासव्यवस्थितेरनियतत्वमिति । कुत पुनर्दूषणाभासरूपाणा जातीनामवास्तवत्वाशङ्कामिति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । षड्जातिषु, सप्तसु स्वरेषु, अलङ्कारभेदे, चुल्ल्याम, आमलक्याम्, काम्पिल्ये, छन्दसि, जातिफले, मालत्याम्, पुष्पप्रधाने वृक्षभेदे च । वाच० । रा० । प्रज्ञा० । कल्प० । आचा० । ज्ञा० । जातिकुसुमवर्णे, मद्यभेदे, " मेहु च मेरग च जाइ च " जातिश्च जातिकुसुमवर्णो मद्यमेव । विपा० १ श्रु० २ अ० । जातिनपुंसकगर्भजातिर्यग्मनुष्यमध्ये मत्स्यकत्व प्राप्यते न वेति । प्रश्न, उत्तरम्-जातिनपुंसकमध्ये

सम्यक्त्व देशविरतिश्च प्राप्यत इति आवश्यकादावस्तीति । १२९ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

जाइअंतर–जात्यन्तर–न० । नरसिंहत्वादिके विलक्षणजातौ, "नरस्य सिंहरूपत्वान्न सिंहो नररूपतः । शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि सः ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

जाइअंध–जात्यन्ध–पुं० । जन्मकालादारभ्यान्धे, (विपा०) "केइ पुरिसे जाइअंधे जाइअंधारूवे" जातेरारभ्यान्धो जात्यन्धः । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

जाइआजीवणा–जात्याजीवना–स्त्री० । आजीवनाभेदे, पिं० ।

जाइआजीवय–जात्याजीवक–पुं० । जातिं ब्राह्मणादिकामाजीवति उपजीवति तज्जातीयमात्मानं सूत्रादिनोपदर्श्य ततो भक्तादिकं गृह्णातीति जात्याजीवकः । आजीवकभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ० । यथा कश्चन भिल्लमालादिजातीयमीश्वरं दृष्ट्वा प्राह–अहमपि भिल्लमालादिजातीयः स चैकजातिसंबन्धात् तस्य भिक्षादानादिकां प्रतिपत्तिं करोति । इति जात्युपजीवी । प्रव० २ द्वार ।

जाइआरिय–जात्यार्य–पुं० । जातिर्मातृकः पक्षः तया आर्या अपापा निर्दोषा जात्यार्याः । विशुद्धमातृके, (स्था०)

छव्विहा जाइआरिया मणुस्सा पन्नत्ता । तं जहा–
"अंबट्ठा य कलंदा य, विदेहा वेदिगाइया ।
हरिया चुंचुणा चेव, छप्पेया इब्भजाइओ" ॥ १ ॥

अम्बष्ठेत्यादि अनुष्टुप्प्रतिकृतिः एते षडप्येता इभ्यजातय इति । इभमर्हन्तीति इभ्या यद् "द्रव्यस्तूपान्तरित उच्छ्रितकदलिकादण्डो हस्ती न दृश्यते ते इभ्या" इति श्रुतिः तेषां जातय इभ्यजातयस्ता एता इति । स्था० ६ ठा० ।

जाइआसीविस–जात्याशीविष–पुं० । आश्यो दंष्ट्राः तासु विषं येषां ते आशीविषा । जातित आशीविषा जात्याशीविषाः । वृश्चिकादिके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । ('आसीविस' शब्दे द्वितीयभागे ४८६ पृष्ठे विशेषवक्तव्यता)

जाइकहा–जातिकथा–स्त्री० । विकथाभेदे, नि० चू० १ उ० ।

जाइकुल–जातिकुल–न० । जातिसंबन्धिनि कुले, "तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ जाइकुलकोडीजोणिप्पमुहसयसहस्सा पण्णत्ता" । जातिरिति किल तिर्यग्जातिस्तस्याः कुलानि कृमिकीटवृश्चिकादीनि । जी० ३ प्रति० ।

जाइचउक्क–जातिचतुष्क–न० । एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिस्वरूपे, कर्म० २ कर्म० ।

जाइच्छ–यादृक्ष–त्रि० । यस्येव दर्शनमस्य यद्–दृश–क्स–किप् वा । यत्सदृशे, यथाविधे, टान्तात् स्त्रियां ङीप् । वाच० ।
जातेच्छ–त्रि० । लब्धचिकीर्षापरिणामे, ध० १ अधि० ।

जाइच्छिय–यादृच्छिक–त्रि० । यदृच्छया आगतः ठक् । यथेच्छया प्राप्ते, वाच० । अतर्कितोपस्थिते काकतालीयादिकल्पे वस्तुनि, तथा च यदृच्छावादिनः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अनर्थकेत्यादिनाम्नि, न० । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

तल्लक्षणं चेदम्–

"यद्वस्तुनोऽभिधानं, स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षम् ।
पर्यायानभिधेयं, च नाम यादृच्छिकं च तथा ॥ १ ॥"

विनेयानुग्रहार्थमेतद्व्याख्या–यद्वस्तुन इन्द्रादेरभिधानमिन्द्र इत्यादि वर्णावलीमात्रमिदमेव आवश्यकलक्षणवर्णचतुष्टयावलीमात्रं यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् तन्नामेति संटङ्कः । अथ प्रकारान्तरेण नाम्नो लक्षणमाह–(स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षं पर्यायानभिधेयं चेति) तदपि नाम यत्कथम्भूतमित्याह–अन्यश्चासावर्थश्चान्यार्थो गोपालदारकादिलक्षणः तत्र स्थितम् अन्यत्रेन्द्राद्यर्थे यथार्थत्वेन प्रसिद्धं तदन्यत्र गोपालदारकादौ यदारोपितमित्यर्थः । अत एवाह–(तदर्थनिरपेक्षम् इति) तस्येन्द्रादिनाम्नोऽर्थः परमैश्वर्यादिरूपस्तदर्थः स चासावर्थश्चेति वा तदर्थस्तस्य निरपेक्षं गोपालदारकादौ तथा तदर्थस्याभावात् । पुनः किंभूतं तत् ? इत्याह–पर्यायानभिधेयमिति । पर्यायाणां शक्रपुरन्दरादीनामनभिधेयमवाच्यं गोपालदारकादयो हीन्द्रादिशब्दैरुच्यमाना अपि शचीपत्यादिरिव शक्रपुरन्दरादिशब्दैर्नाभिधीयन्ते अतस्तन्नामाऽपि, नाम–तद्वतोरभेदोपचारात् पर्यायानभिधेयमित्युच्यते । चशब्दान्नाम्न एव लक्षणान्तरसूचकः शचीपत्यादौ प्रसिद्धं तन्नामवाच्यार्थशून्ये अन्यत्र गोपालदारकादौ यदारोपितं तदपि नामेति तात्पर्यम् । तृतीयप्रकारेणापि लक्षणमाह–(यादृच्छिकं च तथेति) तथाविधव्युत्पत्तिशून्यं डित्थडपित्थादिरूपं यादृच्छिकं स्वेच्छया नाम क्रियते तदपि नामेत्यर्थः ॥ १ ॥ अनु० ।

जाइजरामरणसोगप्पणासन–जातिजरामरणशोकप्रणाशन–त्रि० । जातिर्जन्म, जरा विस्रसा, मरणं प्राणनाशः, शोको मानसो दुःखविशेषः, तान् प्रणाशयत्यपनयति इति जरामरणशोकप्रणाशनः । जातिजरामरणापनयनसमर्थे, ध० २ अधि० । ब० ।

जाइजुत्त–जातियुक्त–त्रि० । मातृपक्षयुते, जातिर्मातृकी तया युतो विनयादिगुणवान् प्रवर्तते इति । प्रव० ६४ द्वार ।

जाइज्जंत–यात्यमान–त्रि० । कदर्थ्यमाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जाइट्ठि–जातेष्टि–स्त्री० । यज–क्तिन् जातस्य संस्कारार्थं कर्तव्या इष्टिः । यागभेदः । जातकर्माख्ये संस्कारभेदे, वाच० । स० ।

जाइट्ठिअ–यद्यदृष्ट–त्रि० । यद्यद्दृष्टं तत्तदित्यस्मिन्नर्थे, यद्यदृष्टं तत्तदित्यस्य जाइट्ठिअ । जइ रज्जसि, जाइट्ठिअपदिअमाहुक्कसहाव । लोहिं फुट्टणयण ज्जिम्वघणासहेसह ताव" । प्रा० ४ पाद ।

जाइणाम–जातिनामन्–न० । नामकर्मभेदे, (कर्म०) एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियत्वादिरूपसमानपरिणतिलक्षणम् एकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेशभाक् यत्सामान्यं सा जातिः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि जातिः । इदमत्र तात्पर्यम्–द्रव्यरूपमिन्द्रियमङ्गोपाङ्गेन्द्रियपर्याप्तिनामकर्मसामर्थ्यात् सिद्धं, भावरूपं तु स्पर्शनादीन्द्रियावरणक्षयोपशमसामर्थ्यात् "क्षायोपशमिकानि इन्द्रियाणि" इति वचनात् । यत्पुनरेकेन्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनं तथारूपसमानपरिणतिलक्षणं सामान्यं तदव्यभिचारसाध्यत्वाज्जातिनामसाध्यम् । उक्तं च–अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिः तन्निमित्तं जातिनाम । कर्म० ६ कर्म० प्रज्ञा० । पं० सं० ।

तत्र पञ्चधा–

जातिनामेणं भंते ! कम्मे पुच्छा ? । गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा–एगिंदियजातिनामे बेइंदियजातिनामे तेइंदियजातिनामे चउरिंदियजातिनामे पंचिंदियजातिनामे ॥

प्रज्ञा० २३ पद । एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातीनाम, त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, पञ्चेन्द्रियजातिनाम । कर्म० ६ कर्म० । श्रा० । प्रव० ।

जाइणामगोयनिउत्त–जातिनामगोत्रनियुक्त–त्रि० । जातिनाम गोत्रं च नियुक्तं यैस्ते तथा । नियुक्तजातिनामगोत्रे नारकादौ, भ० ६ श० ८ उ० ।

जाइणामगोयनिउत्ताउय–जातिनामगोत्रनियुक्तायुष्–त्रि० । जातिनाम्ना गोत्रेण च सह नियुक्तमायुर्यैस्ते तथा । जातिनाम्ना गोत्रेण च सह नियुक्तायुषि, भ०६ श०८ उ० ।

जाइणामगोयनिहत्त–जातिनामगोत्रनिधत्त–त्रि० । जातिनाम गोत्रं च निधत्तं यैस्ते तथा । निधत्तजातिनामगोत्रे, भ० ६ श० ८ उ० ।

जाइणामगोयनिहत्ताउय–जातिनामगोत्रनिधत्तायुष्–त्रि० । जातिनाम्ना गोत्रेण च सह निधत्तमायुर्यैस्ते तथा । जातिनाम्ना गोत्रेण च सह निधत्तायुषि, भ० ६ श० ८ उ० ।

जाइणामनिउत्त–जातिनामनियुक्त–त्रि० । जातिनाम नियुक्तं नितरां युक्तं सम्बद्धं निकाचितं वेदने वा नियुक्तं यैस्ते तथा । नियुक्तजातिनामकर्मणि जीवे, भ० ६ श० ८ उ० ।

जाइणामनिउत्ताउय–जातिनामनियुक्तायुष्–त्रि० । जातिनाम्ना सह नियुक्तं निकाचितं वेदयितुमारब्धं वाऽऽयुर्यैस्ते तथा । जातिनाम्ना सह नियुक्तायुषि, भ० ६ श० ८ उ० ।

जाइणामनिहत्ताउय–जातिनामनिधत्तायुष्–न० । जातिरेकेन्द्रियजात्यादिः पञ्चधा सैव नाम इति नामकर्मण उत्तरप्रकृतिविशेषो जीवपरिणामो वा तेन सह निधत्तं निषिक्तं यदायुस्तत्जातिनामनिधत्तायुः । जातिनाम्ना निधत्ते आयुषि, भ० ६ श० ८ उ० । जातिनाम्ना सह निधत्तमायुर्यैस्ते तथा । जातिनाम्ना सह निधत्तायुषि जीवे, भ० ६ श० ८ उ० । स्था० ।

जाइणिबद्ध- जातिनिबद्ध–न० भावसूत्रस्य श्रुतस्य भेदे, (सूत्र०)

जातिनिबद्धं तु चतुर्धा । तद्यथा-

कथनीय काव्यम् उत्तराध्ययनज्ञाताधर्मकथादि । पूर्वर्षिचरितकथा नकप्रायत्वात्तस्य । तथा गद्यम्-ब्रह्मचर्याध्ययनादि । तथा पद्यम्-छन्दोनिबद्धम् । तथा गेयम्-यत् स्वरसंचारेण गीतिप्रायनिबद्धम् । तद्यथा–कापिलीयमध्ययनम्-" अधुवे असासयम्मि संसारम्मि दुक्खपउराए" इत्यादि । सूत्र०१ श्रु०१ अ० १ उ० ।

जाइ(य)णिहुया–जातिनिर्हु(हृ)ता–स्त्री० । जातान्यपत्यानि निर्हृतानि निर्यातानीत्यर्थो यस्याः सा । जातनिर्हृता भा । विहतापत्यायाम्, 'विजयमित्तस्स सत्थवाहस्स सुभद्दा भारिया जाइ(य) णिहुया यि होत्था " । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

जाइतिग–जातित्रिक–न० । जातिशब्देनोपलक्षितं त्रिकम् । " जाइगइ " त्ति गाथावयवोक्ते जातित्रये , तत्र जातय एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाख्याः पञ्च । गतयः सुरनरतिर्यग्नरकरूपा चतस्रः । खगतिः प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगतिभेदेन द्विधा । इत्येवं जातित्रिकशब्देन एकादश प्रकृतयो गृह्यन्ते । कर्म० ५ कर्म० ।

जाइथेर–जातिस्थविर–पुं० । जातिर्जन्म तथा स्थविरः जातिस्थविरः । स्थविरभेदे, " सट्ठिवासजाए समणे णिग्गंथे जाइथेरे " स्था० ३ ठा०२ उ० ।

जाइदोस–जातिदोष–पुं० । जातिनिष्ठे दोषे, " स्त्रीजातौ दाम्भिकता, भीरुकता भूयसी वणिग्जातौ । रोषः क्षत्रियजातौ, द्विजातिजातौ पुनर्लोभः ॥१॥ " त० ।

जाइधम्मय–जातिधर्मक–त्रि० । उत्पत्तिधर्मके, "इमं पि जाइधम्मयं" जनन जातिरुत्पत्तिस्तद्धर्मकम् । आचा०१श्रु०१ अ०५ उ० ।

जाइपह–जातिपथ–पुं० । जातीनामेकेन्द्रियादीनां पन्थाः जातिपथः । जातिमार्गे, " जाईपहं अणुपरिवट्टमाणे " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । " पासजाइपहे बहू " । पाशा अत्यन्तपारवश्यहेतवः । कलत्रादिसंबन्धास्त एव तीव्रमोहोदयादिहेतुतया जातीनां पन्थानस्तत्प्रापकत्वान्मार्गाः । उत्त० ६ अ० । संसारे, । "अरक्खिओ जाइपहं उवेइ" जातिपन्थानं जन्ममार्गं संसारमुपैति । दश० २ चू० ।

जाइपुड–जातिपुट–न० । जातिः पुष्पजातिविशेषः पुटं पत्रादिमयं तद्भाजनं जातिपुटम् । जातिपुष्पस्य पत्रादिमये भाजने, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । " जाइपुडाण वा " रा० ।

जाइप्पसएणा–जातिप्रसन्ना–स्त्री० । जातिपुष्पवासिता प्रसन्ना जातिप्रसन्ना । सुराभेदे, "जाइप्पसन्ना इ वा" जी०३ प्रति० ।

जाइप्पाय–जातिप्राय–पुं० । दूषणाभासकल्पे, " जातिप्रायश्च बाध्योऽयं , प्रकृतान्यविकल्पनात् " । जातिप्रायश्च दूषणाभासकल्पश्च बाध्यः प्रतीतिकल्पाभ्यामत्र कुतर्क इति । द्वा० २३ द्वा० ।

जाइवंझा–जातिवन्ध्या–स्त्री० जातेर्जन्मत आरभ्य वन्ध्या निर्बीजा जातिवन्ध्या । जन्मत आरभ्य निर्बीजायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

जाइभेय–जातिभेद–पुं० । सामान्यलक्षणाया घटत्वादिजातौ,

तस्मात् यतो यतोऽर्थानां, व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः ।
जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते, तद्विशेषावगाहिनः ॥

तस्मात् स्वपरव्यावृत्तिरूपात् हेतो यतः यतः सजातीयात् विजातीयाच्च अर्थात् अर्थानां घटादीनां व्यावृत्तिर्भिन्नरूपता तन्निबन्धना व्यावृत्तिहेतुका जातिभेदाः परपरिकल्पितसामान्यलक्षणाः प्रकल्प्यन्ते । कीदृशाः ? इत्याह–(तद्विशेषावगाहिन इति) तस्य स्वपरव्यावृत्तिभाजः स्वलक्षणस्य विशेषामर्त्तत्वपाटलीपुत्रकत्वचासन्तकत्वरक्तत्वादिलक्षणास्तान् विकल्पवशायातानवगाहन्ते अवलम्बन्ते इत्येवं शीला ये ते तथा । अने० २ अधि० ।

जाइमंडवग–जातिमण्डपक–पुं० । जातिर्मालती तन्मयो मण्डपको जातीमण्डपकः । जातीमये मण्डपके जं० १ वक्ष० । जी० ।

जाइमंत–जातिमत्–त्रि० । सुजातौ, " जाइमंता ति वा " आचा० २ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

जाइमय–जातिमद–पुं० । जात्या मदो जातिमदः । मदस्थानभेदे,

स० ७ सम०। " जाइमयए वा " स्था० १० ठा० । प्रश्न० । जात्या ब्राह्मणब्राह्मण्युद्भवत्वेन मदोऽहङ्कारो जातिमदः । जात्यहङ्कारे, उत्त० ३ अ०। जातिमदं विदधानो जन्तुरन्यजन्मनि तामेव जातिहीलनां लभते विकटां च भवाटवीं पर्यटतीति। प्रव० १६६ द्वार।

सर्वेषां मदस्थानानामुत्पत्तेरारम्भ जातिमदो बाह्यनिमित्तनिरपेक्षो यतो प्रबलतस्तमधिकृत्याह-

जे माहणो खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा।
जे पव्वईए परदत्तभोई, गोत्तेण जे थब्भति माणबद्धे॥१०॥

यो हि जात्या ब्राह्मणो भवति, क्षत्रियो वा इक्ष्वाकुवंश्यादिकः। तद्भेदमेव दर्शयति-उग्रपुत्रः क्षत्रियविशेषजातीयः । तथा (लेच्छइ त्ति) क्षत्रियविशेष एव। तदेवमादिविशिष्टकुलोद्भूतो यथावस्थितसंसारस्वभाववेदितया यः प्रव्रजित. त्वक्तराज्यादिगृहपाशबन्धनः परैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी सम्यक् संयमानुष्ठायी गोत्रे उच्चैर्गोत्रे हरिवंशस्थानीये समुत्पन्नोऽपि नैव स्तम्भं गर्वमुपयायादिति। किम्भूते गोत्रे? अभिमानबद्धे अभिमानास्पदे इति । एतदुक्तं भवति-विशिष्टजातीयतया सर्वलोकाभिमान्योऽपि प्रव्रजितः सन् कृतशिरस्तुण्डमुण्डनो भिक्षार्थं परगृहाण्यटन् कथं हास्यास्पदं गर्वं कुर्यात् नैवासौ मानं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः॥१०॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

जाइमयपडिबद्ध-जातिमदप्रतिबद्ध-पु० । जात्यहङ्कारेणानम्रे, " जाइमयपडिबद्धा हिंसगा अजिइंदिया " जात्या ब्राह्मणब्राह्मण्युद्भवत्वेन यो मदोऽहङ्कारस्तेन प्रतिस्तब्धाः प्रनम्रा जातिमदप्रतिस्तब्धाः। उत्त० १२ अ०।

जाइय-जाचित-न०। याच् भावे-क। याचनवृत्तौ, याञ्चायां च। कर्मणि क्त। प्रार्थिते, त्रि०। वाच०। उत्त० । " सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं " आ० म० द्वि०।

जाइयगमएडण-याचितकमण्डन-न०। मार्गिताभरणे, पूर्णताथम्.। परोपाधे. सा याचितकमण्डनम्। अष्ट० १ अष्ट०।

जाइलिंग-जातिलिङ्ग-न०। शिरःपाण्यादिके प्राण्यवयवे, जातिलिङ्गानि प्राण्यवयवाः शिरःपाण्यादयस्तैर्हि गोत्वादिलक्षणा जातिर्लिङ्ग्यते इति। सम्म० ३ काण्ड।

जाइवर-जातिवर-पु०। जात्युत्तमे, " जाइवरसाररक्खिय " प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार।

जाइसंपएण-जातिसंपन्न-पु० । उत्तममातृकपक्षयुते, औ० । स्था०। रा०। नि०। ज्ञा०। यदाह-" जाइकुलसंपन्ना पावमकिच्चं न सेवइ किंचि आसेविउं च पच्छा तग्गुणओ सम्ममालोए " त्ति। गुणवन्मातृत्वे, स्था० ८ ठा०।

जाइसर-जातिस्मर-त्रि०। जातिं पूर्वजन्म स्मरति। स्मृ-अच्। अतीतजन्मवृत्तान्तस्मृतियुक्ते, वाच०। " जाईसरो य भयवं " जातिं स्मरतीति जातिस्मरो भगवान्। "सिद्धादिभ्य "।५।१।५०। इत्यणपवादेऽच्। आ० म० प्र०। " भवेज्जातिस्मरः पुमान् " जातिस्मरोऽनुभूतभवस्मर्ता। यो० विं०।

जाइसरण-जातिस्मरण-न०। आभिनिबोधिकज्ञानविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। प्राग्भवे ज्ञानमति, " जाईसरण समुप्पएण " जातिस्मरणम्। उत्त० ९ अ०। दश०। त०। जातिस्मरणं द्विविधम्-सनिमित्तकम्, अनिमित्तकं च। तत्र बाह्यं निमित्तमुद्दिश्य जातिस्मरणमुपजायते तत्सनिमित्तकम्। यथा वल्कलचीरप्रभृतीनाम्। यत्पुनरेव तदावारककर्मणां क्षयोपशमेनोत्पद्यते तदनिमित्तकं यथा स्वयं बुद्धकपिलादीनाम्। सू० १ उ०। जातिस्मरणं च संज्ञिजातिविषयकमेव " सण्णिपुव्वे जाइसरणे समुप्पज्जित्था " संज्ञिन पूर्वजातिः प्राक्तनं जन्म तस्या यत्स्मरणं तत्संज्ञिपूर्वजातिस्मरणम्। अस्तनिर्देशं तु संज्ञी पूर्वो भवो यत्र तत्संज्ञिपूर्वी संज्ञीति च विशेषणं स्वरूपज्ञापनार्थं न ह्यसंज्ञिजातिविषयं स्मरणमुत्पद्यत इति। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

तथा चोत्तराध्ययने—

देवलोगचुओ संतो, माणुसं भवमागओ।
सन्निनाणसमुप्पन्ने, जाइसरणं पुराणयं॥८॥

देवलोकात् च्युतः सन् मानुष्यं भवमागतः इति संज्ञिज्ञाने समुत्पन्ने सति पुराणकं प्राचीनं जातिस्मरणमनुदिति शेषः। संज्ञिनो गर्भजपञ्चेन्द्रियस्य ज्ञानं संज्ञिज्ञानं तस्मिन् संज्ञिज्ञाने। उत्त० १९ अ०।

जातिस्मरणं कस्मात्तदाह—

संस्कारे पूर्वजातीनाम्, ... (६)

संस्कारे स्मृतिमात्रफले जात्यायुर्भोगलक्षणे च " एवं मया सोऽर्थोऽनुभूतः , एवं मया सा क्रिया कृता " इति भावनया संयमात् पूर्वजातीनां प्रागनुभूतजातीनां धीरनुस्मृतिरवबोधकमन्तरेणैव भवति। तदुक्तम्-"संस्कारस्य साक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्" (६) द्वा० २६ द्वा०।

जातिस्मरणकारणानि योगबिन्दौ यथा-

ब्रह्मचर्येण तपसा, सद्वेदाध्ययनेन च।
विद्यामन्त्रविशेषेण, सत्तीर्थासेवनेन च॥५७॥

ब्रह्मचर्येण भावतो वस्तिनिरोधरूपेण, तपसा उपवासादिना, सद्वेदाध्ययनेन च सता सुन्दरेणात्मानुग्रहादिपरिणामयुक्ततया वेदस्य सद्भूतार्थागमस्याध्ययनेन वाचनापृच्छनादिरूपभावेन। च समुच्चये। विद्यामन्त्रविशेषेण तत्साधना स्त्रीस्वामिका या विद्या, मन्त्रश्च तदितररूपः। ततो मन्त्रश्वाकरणप्रसिद्धयोर्विद्यामन्त्रयोर्विशेषेण प्रवेदन सत्तीर्थासेवनेन च सत सातिशयस्य व्यसनसलिलनिधिनिस्तारणोपायस्य स्थावरजङ्गमभेदभिन्नस्य तीर्थस्य आसेवनेन पर्युपासनेन। च प्राग्वत्॥५७॥

तथा-

पित्रोः सम्यगुपस्थानात्, ग्लानभैषज्यदानतः।
देवादिशोधनाच्चैव, भवेज्जातिस्मरः पुमान्॥५८॥

पित्रोः जननीजनकयोः सम्यक् यथावत् उपस्थानात् त्रिसन्ध्यप्रणामादिविनयरूपात्, " पूजनं चास्य विज्ञेयं, त्रिसन्ध्यं नमनक्रिया " इत्यादि वक्ष्यमाणात्। ग्लानभैषज्यदानतः ग्लानानां ज्वरादिरोगोपहतशरीरशक्तीनां भैषज्यस्यौषधस्य दानतो वितरणात्, " देवादिशोधनाच्चैव " देवदेवस्थानपुस्तकसाधूपाश्रयादेर्धर्मकार्योपयोगिनः। " शोधनात् " तथाविधमला-

पनयनेन निर्मलीकरणाद्भवेज्जायेत जातिस्मरोऽनुभूतभवस्मर्ता पुमान् प्राणी ब्रह्मचर्यादीनां योगविशेषाणां ज्ञानावरणह्रासान्तरङ्गकरणत्वात् ।

अत्रैव प्रसङ्गसिद्धिमाह-

अत एव न सर्वेषा-मेतदागमनेऽपि हि ।
परलोकात् यथैकस्मात्, स्थानात् तनुभृतामिति ॥५६॥

"अत एव" इत्यादि। अत एव ब्रह्मचर्यादेर्जातिस्मरणहेतुत्वादेव (न) नैव सर्वेषां देहिनाम्। एतत् जातिस्मरणम्, आगमनेऽपि आप्यागतावपि किं पुनर्लोकायतमतेन तद्भाव इत्यपिहिशब्दार्थः। परलोकात् परभवात्। "यथा" इतिदृष्टान्तार्थे एकस्मात् स्थानात् पाटलिपुत्रकादेरागमनेऽपि तनुभृताम् तदनुभूतार्थस्मरणम्। 'इतिः' वाक्यपरिसमाप्तौ। इदमुक्तं भवति-यथैकस्मात् पाटलिपुत्रकादेः स्थानादागतानामपि सुबहूनां पथिकानां क्वचिद्विवक्षिते स्थाने न सर्वेषां प्रागनुभूतार्थस्मृतिरुपजायते, किं तु केषाञ्चिदेव, एवं भवान्तरस्मृतावपि योजना स्यादिति न चाल्पबहुत्वेन स्मर्तॄणां दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमुद्भावनीय, स्मर्तृसम्भवमात्रस्य प्रतिपादयितुमिष्टत्वात् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो सर्वदा साधर्म्याभावाच्च ॥५६॥

एतदेव भावयन्नाह—

न चैतेषामपि ह्येत-दुन्मादग्रहयोगतः ।
सर्वेषामनुभूतार्थ-स्मरणं स्याद्विशेषतः ॥ ६० ॥

(न च) नैव। एतेषामप्येकस्थानादागतानां किं पुनर्भवान्तरादागतानामपि इत्यपिशब्दार्थ। हि यस्मात् एतदाहम्। उन्मादग्रहयोगत. उन्मादो मोहावेशो ग्रहश्च भूतावेशस्तत उन्मादग्रहयोर्योग. सम्बन्धस्तस्मात्। सर्वेषां समस्तानाम्। किमित्याह-अनुभूतार्थस्मरण (स्यात्) भवेद् विशेषत सर्वान् विशेषान् प्रतीत्य किं तु सामान्येनैव ॥ ६० ॥

अथ दार्ष्टान्तिके सर्वेषां सामान्येन स्मृतिर्यथा स्यात्तथाह-

सामान्येन तु सर्वेषां, स्तनवृत्त्यादिचिह्नितम् ।
अभ्यासातिशयात् स्वप्न-वृत्तितुल्यं व्यवस्थितम् ॥६१॥

सामान्येन साधारणतया। तु विशेषणार्थ। सर्वेषां समस्तानां प्राणिनाम्। स्तनवृत्त्यादिचिह्नित स्तनवृत्तिस्तदहर्जातानां स्तनपानरूपा। आदिशब्दात् रमणीयरूपकन्दुकाद्यवलोकनकुतूहलादिका विविधा चेष्टा गृह्यते। तया चिह्नित व्यक्तिभावमानीतम् 'जातिस्मरणम्' इति गम्यते। कीदृशमित्याह-(अभ्यासातिशयात्) पुन. पुनरासेवनमभ्यासस्तस्यातिशय उत्कर्षस्तस्मात्। (स्वप्नवृत्तितुल्यम्)। स्वप्नकालोपलभ्यमानविषयानुभूतवनदेवकुलादिविहारादिव्यवहारसमम्। (व्यवस्थितम्) प्रतिष्ठितम्। यथाभ्यासातिशयात् स्वप्ने दिनानुभूतोऽर्थ उपलभ्यते, एवं स्तनवृत्त्यादिको व्यवहार प्राग्भवानुभूतो भवान्तर इति ॥ ६१ ॥

ननु स्वप्नवृत्ति पश्चादपि स्मर्यते न त्वेव स्तनादिवृत्तिर्भवान्तरसम्बन्धिनी इह स्मर्यते इति कथम् अनयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव इत्याशङ्कयाह—

स्वप्ने वृत्तिस्तथाभ्यासा-द्विशिष्टस्मृतिवर्जिता ।
जाग्रतोऽपि क्वचित्सिद्धा, सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥६२॥

स्वप्ने प्रवृत्तिरुक्तरूपा (तथाभ्यासात्) तत्प्रकारादभ्यासात्; मन्दाभ्यासादित्यर्थ। (विशिष्टस्मृतिवर्जिता) स्फुटप्रतिभासरूपस्मरणरहिता। "क्वचित् सिद्धा" इत्युत्तरेण योग। तथा-(जाग्रतोऽपि) क्षीणनिद्रस्य कस्यचित् किं पुनरन्यस्येति क्वचित् क्षेत्रे काले वा (सिद्धा) सर्वलोकसमत्या प्रतिष्ठिता भ्रान्तिगच्छत्तृणस्पर्शादिका तथाऽभ्यासादेव स्मृतिवर्जिता। एतदर्थप्रतीतावुपदेशमाह-(सूक्ष्मबुद्ध्या) निपुणाभोगेन (निरूप्यताम्) परिभाव्यतामेतदन्यथा उक्तस्याप्यर्थस्य सम्यगवगमाभावात् ॥६२॥

अथ प्रकारान्तरत एव जातिस्मरणादात्मसिद्धि-मभिधित्सुराह—

श्रूयन्ते च महात्मानः, एते दृश्यन्त इत्यपि ।
क्वचित्संवादिनस्तस्मा-दात्मादेर्हन्त निश्चयः ॥ ६३ ॥

(श्रूयन्ते) समाकर्ण्यन्ते कथानकेषु भरुकच्छादौ शकुनिकाजीवराजपुत्रीसुदर्शनादय। चकारो हेत्वन्तरसमुच्चये। (महात्मान.) प्रशस्तस्वभावा। (एते) जातिस्मरका। (दृश्यन्ते इत्यपि) दृश्यन्ते साक्षादेव क्वचित् इदानीमप्युपलभ्यन्ते। कीदृशा? इत्याह-(संवादिन) विसंवादविकलवचना.। तत. किमित्याह-(तस्मात्) जातिस्मरकादिसंवादात् (आत्मादेः) जीवकर्मादेरतीन्द्रियस्यापि कथञ्चिद्। "हन्त" इति कोमलामन्त्रणे। निश्चय. सम्पद्यते इति ॥ ६३ ॥

अथ निगमयन्नाह-

एवं च तत्त्वसंसिद्धे-र्योग एव निबन्धनम् (६४)

(एवम्) चोक्तन्यायेनैव (तत्त्वससिद्धे) आत्मादृष्टादिप्रतीतेः योग एव नापर किञ्चित् (निबन्धन) हेतुर्वर्तते। (६४) यो० बि०।

ननु नवमाससमधिकान्तरितमपि प्राक्तन भव सामान्यजीव कथ स्मरतीत्याह-

जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो।
तेण दुक्खेण संमूढो, जाइं सरइ न अप्पणो ॥ २ ॥

जायमानस्य गर्भान्निःसरमाणस्य उत्पद्यमानस्य वा यत् दुःख भवति (वा) अथवा पुनर्म्रियमाणस्य पञ्चत्व कुर्वाणस्य च यत् दुःख भवति। तेन दारुणदुःखेन समूढो महामोहभाव प्राप्त जातिं प्राक्तनभवमात्मीय स्वकीय मूढात्मा प्राणी न स्मरति। कोऽह पूर्वभवे देवादिकोऽभवमिति न जानातीति ॥२॥ न०। (न जानाति 'दिसा' शब्दे दृष्टान्त)। जातिस्मरण संख्यातभवनिर्णायक न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-जातिस्मरणमपि समतिक्रान्त संख्यातभवावगमस्वरूप मतिज्ञानभेद एवेति कर्मग्रन्थवृत्त्याचाराङ्गवृत्त्यनुसारेण संख्यातभवनिर्णायक जातिस्मरण ज्ञायत इति। १३० प्र० । सेन० १ उल्ला०। कर्मग्रन्थवृत्तौ-जातिस्मरणमपि अतीतसंख्यातभवावगमस्वरूप मतिज्ञानमेवेत्युक्तमस्ति "पुव्वभवा सो पिच्छइ, इक्क दो तिन्नि जाव नवगं वा। उवरिं तस्स अविसओ, सहावओ जाइसरणस्स ॥ १ ॥" इति गाथाया तु नवैव भवा. जातिस्मरणस्य विषयास्तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-जातिस्मरणवान् आचाराङ्गवृत्त्याद्यभिप्रायेणातीतानसंख्यातान् भवान् पश्यतीति ज्ञायते कर्मग्रन्थवृत्तावपि स एवाभिप्रायोऽस्ति "पुव्वभवा सो पिच्छइ" इय गाथा तु क्वचित्पत्रस्था न तु तथाविधग्रन्थस्था तेन निर्णायिका न भवतीति। २४१ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। इदानीं अ-

एते मनुजाना,तिरश्चां च जातिस्मरणमस्ति न वा ?। यदि नास्ति तदा कुतो व्यवच्छिन्न तथाऽवधिज्ञानमपीदानीमस्ति न वा ? इत्यपि च प्रसाध्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-वर्त्तमानकाले जातिस्मरणाद्यवधिज्ञानस्य व्यवच्छेदः शास्त्रे प्रतिपादितो नास्तीति। ११८ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

जाइसरणावरणिज्ज–जातिस्मरणावरणीय–न०। मतिज्ञानावरणीयकर्मभेदे, । जातिस्मरणावरणीयानि च कर्माणि मतिज्ञानावरणभेदाः । क्षयोपशम उदितानां क्षयोऽनुदितानां विष्कम्भितोदयत्वमिति । आ० १ श्रु० १ अ० ।

जातिसुमिण–जातिस्मरण– 'जाइसरण' शब्दार्थे, सेन० ३ उल्ला० ।

जाइहिंगुलुय–जातिहिङ्गुलुक–पुं० । रक्तवर्णे वर्णकद्रव्यभेदे, "जाइहिंगुलुए इ वा" । जातिहिङ्गुलुकेन वर्णकद्रव्येण स कृत्रिमोऽपि भवतीति जात्याविशेषित । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जात्यः प्रधानो हिङ्गुलुको जात्यहिङ्गुलुकः । प्रज्ञा० १ पद ।

जाई–जाती–स्त्री० । जन-क्तिच्-ङीप् । मालत्याम्, तत्पुष्पे लताभेदे च । वाच०। ज०। सुरायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

जाईफल–जातीफल–न० । गन्धप्रधाने वस्तुनि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (जायफल) इतिख्याते फले च । वाच० ।

जाईमंडवग–जातीमण्डपक–पुं० । 'जाइमंडवग' शब्दार्थे, जं० १ वक्ष० ।

जाईय–जातीय–त्रि० । जातौ भव. छ । समानजातियुक्ते सजातीये, वाच० । आ० म० । "एकग्रहणे, तज्जातीयग्रहणम्" इति न्यायः । आ० म० । किंचिच्छब्दात् जातीयप्रत्ययः । प्रकारार्थे । "गुणास्त्रयो पञ्चजातीय" पञ्चप्रकारम् । विशे० । यथा तार्किकजातीय तार्किकप्रकार । वाच० ।

जाईसर–जातिस्मर–त्रि० । 'जाइसर' शब्दार्थ,आ० म० प्र० ।

जाईसरण–जातिस्मरण–न० । 'जाइसरण' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जाईसरणावरणिज्ज–जातिस्मरणावरणीय न० । 'जाईसरणावरणिज्ज' शब्दार्थे, आ० १ श्रु० १ अ० ।

जाईहिंगुलुय–जातिहिङ्गुलुक–पुं० । 'जाइहिंगुलुय' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जाउं–यावत्–त्रि० । यत् परिमाणमस्य मतुप् । "यावत्तावतोर्वादेर्म-उ-महिं" । ८।४।४०६ । यावत्तावदित्यनयोरव्यययोर्वकारादेरवयवस्य 'म-उ-महिं' इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति । प्रा० ४ पाद । यत्परिमाणे, साकल्ये, अवधौ, व्याप्तौ, माने, अवधारणे च । वाच० ।

जाउया–यातृ–स्त्री० । या-तृच् । देवरपत्न्याम्, यातरौ तृत्र । गन्तरि, त्रि० । यातारौ । वाच० । "जाउयाओ जाणिस्सन्ति" । "जाउयाओ त्ति" देवराणां जाया । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । "जाउग त्ति" यातरो ज्येष्ठदेवरजाया. । वृ० १ उ० ।

जाउल्ल–जातुल्ल–पुं० । गुच्छात्मके वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जाऊकण्ण–जातूकर्ण्य–पुं० । मुनिभेदे, वाच० । गोत्रभेदे, स० जं० ७ वक्ष० ।

जाऊकण्णीय–जातूकर्णीय–न० । गोत्रभेदे, सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० ।

जाऊरी–देशी–कपित्थे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जाओगण–यादोगण–पुं० । जलजन्तुगणे, वाच० । "सारक्खमाणे से चिट्ठति" । नानाविधाँस्तु यादसा गणान् संरक्षन् सह वा यादोगणैरात्मानमारक्षन् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

जांबवई–जाम्बवती–स्त्री० । जाम्बवतोऽपत्यं स्त्री । कृष्णवासुदेवस्य स्वनामख्यातायां पत्न्याम् , कल्प० ७ क्षण । नागदमन्यां च । वाच० ।

जांबूणय–जाम्बूनद–न० । जम्बूनदे भवम्-अण् । स्वर्णे, तीरभूतं तद्रसं प्राप्य सुखवायुविशोषिता जाम्बूनदाख्यं भवति सुवर्णं सिद्धभूषणम् इत्युक्ते सुवर्णभेदे, तद्रसे जम्बूरसे । धुस्तूरे च । वाच० । ज० ।

जाग–याग–पुं० । यज-घञ् । मन्त्रकरणके बह्व्याद्यधिकरणे हविःप्रक्षेपरूपे यज्ञे, वाच० । यजनं यागः । पूजने, "अखिलगुणाधिकसयोगसारसद्भुतयागपर" यागो यजनं पूजनं तत्परः तत्प्रधानः । षो० ९ विव० । आचा० । ज्ञा० । देवपूजायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । श्रीसिद्धार्थनृपस्य यागकरणप्रौढिर्दशाहोत्सवे, सिद्धार्थराजव्यतिकरे यागशब्देन देवपूजा कृतेति समर्थितम् । प्रति० । देवतापूजावसरजाविनि ब्राह्मणप्रसिद्धे पूजाविशेषे, अनु० । ज० । ज्ञा० । अश्वमेधादिके च । पि० ।

जागजागदायसहस्समइच्छय–यागजागदायसहस्रमतीच्छक–त्रि० । यागा पूजाविशेषाः भागा विंशतिभागादयो दायाः सामान्यदानान्येतेषां सहस्राणि प्रतीच्छतीति । तथाभूते,औ० ।

जागर–जागर–पुं० । जागृ-अप् । निद्राभावे, जागरणे, कवचे च । वाच० । जागर्तीति जागरः । अपगतनिद्रे, "जागरवेरोवरए" असंयमनिद्रापगमाज्जागर्तीति जागरः । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । "सुत्ता अमुणी उ सया, मुणी उ सुत्ता वि जागरा होंति" आचा०नि० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । द्रव्यजागरा निद्रारहिताः । भावजागराः सम्यग्दृष्टि । आ० म० द्वि० । विशे० ।

अथ विरत्यपेक्षया जीवादीनां पञ्चविंशतेः पदानां सुप्तत्वजागरत्वे प्ररूपयन्नाह—

जीवा णं भंते ! सुत्ता, जागरा, सुत्तजागरा ? । गोयमा ! जीवा सुत्ता वि, जागरा वि, सुत्तजागरा वि । नेरइया णं भंते ! किं सुत्ता पुच्छा ? । गोयमा ! णेरइया सुत्ता । णो जागरा, णो सुत्तजागरा । एवं जाव चउरिंदिया । पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! किं सुत्ता पुच्छा ? । गोयमा ! सुत्ता । णो जागरा । सुत्तजागरा वि । मणुस्सा । जहा जीवा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइया ।

(सुत्त त्ति) सर्वविरतिरूपनैश्चयिकप्रबोधाभावात् । (जागर

त्ति) सर्वविरतिरूपप्रवरजागरणसद्भावाद । (सुत्तजागर त्ति) अविरतिविरतिरूपसुप्तिप्रबुद्धतासद्भावादिति । भ० १६ श० ६ उ० । स्था० ।

संजयमणुस्साणं सुत्ताणं पंच जागरा पण्णत्ता । तं जहा- सद्दा० जाव फासा ।

" संजय " इत्यादि । व्यक्तम । नवरं संयतमनुष्याणां साधूनां सुप्तानां निद्रावतां जाग्रतीति जागरा असुप्ता जागरा इव जागरा इयमत्र भावना-शब्दादयो हि सुप्तानां संयतानां जाग्रदवस्थाप्रतिहतशक्तयो भवन्ति कर्मबन्धाभावकारणस्याप्रमादस्य तदानीं तेषामभावात् कर्मबन्धकारणं भवतीत्यर्थः ।

संजयमणुस्साणं जागराणं पंच सुत्ता पण्णत्ता । तं जहा- सद्दा० जाव फासा ।

द्वितीयसूत्रभावना तु-जागराणां शब्दादयः सुप्ता इव सुप्ता अस्मच्छन्नाग्निवत् प्रतिहतशक्तयो भवन्ति । कर्मबन्धकारणस्य प्रमादस्य तदानीं तेषामभावात् कर्मबन्धकारणं भवतीत्यर्थः ।

संयतविपरीता ह्यसंयता इति । तानधिकृत्याह-

असंजयमणुस्साणं सुत्ताणं वा जागराणं वा पंच जागरा पण्णत्ता । तं जहा-सद्दा० जाव फासा ।

"असंजय" इत्यादि । व्यक्तम् । नवरम् । असंयतानां प्रमादितया अवस्थाद्वयेऽपि कर्मबन्धकारणतयाऽप्रतिहतशक्तित्वाच्छब्दादयो जागरा इव, जागरा भवन्तीति भावना । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

जागरण-जागरण-न० । निद्राक्षये, आ० १ श्रु० २ अ० । अवबोधे, भ० ३ अधि० ।

जागरणे गुणाः-

" जागरह नरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढए बुद्धी ।
जो सुअइ ण सो धण्णो, जो जग्गइ सो सया धण्णो ॥१॥
सुअइ सुअंतस्स सुअं, संकियखलियं भवे पमत्तस्स ।
जागरमाणस्स सुअं, थिरपरिचियमप्पमत्तस्स ॥२॥
नालस्सेण समं सोक्खं, ण विज्जा सह निद्दया ।
ण वेरग्गं पमादेणं, णारंभेण दयालुया ॥३॥
जागरिया धम्मीणं, अहम्मीणं तु सुत्तिया सेया ।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥४॥
सुवइ य अयगरभूओ, सुयं पि से णस्सती अमयभूयं ।
होही गोणतभूओ, णट्ठम्मि सुए अमयभूए " ॥ ५ ॥

आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

निशान्त्ययामे जागर्या, गुरोश्चावश्यकक्षणे ।
उत्सर्गो देवगुर्वादि-नतिः स्वाध्यायतिष्ठता ॥ २० ॥

निशाया रात्रेरन्त्ययामे चतुर्थयामे जागर्या जागरणं निद्रात्याग इत्यर्थः । सापेक्षयतिधर्मो भवतीति योजना । अग्रेऽपि सर्वत्र बसेया जागरणविधिश्च-" जामिणिपच्छिमजामे, सव्वे जग्गंति बालवुड्ढाई । परमिट्ठिपरममंतं, भणंति सत्तट्ठवाराओ ॥ १ ॥ " इत्यादि । विशेषगृहस्थधर्माधिकारे प्रदर्शित एव निशान्त्ययामे जागरणम् । किमविशेषेण सर्वेषामेव उत केषाश्चिदेवेति जिज्ञासायामाह-(गुरो) प्रव्राजकस्य दिगाचार्यादेर्वा चकारात् ग्लानादेः । आवश्यकक्षणे प्रतिक्रमणकालावसरे, जागर्या ज्ञेया गुरो तृतीयप्रहरेऽस्वापस्य वक्ष्यमाणत्वात् । ग्लानादेस्तु शरीरमान्द्यात् प्रतिक्रमणवेलायामुचितमेव जागरणम् । उक्तमपि प्रवचनसारोद्धारे-

" सव्वे वि पढमयामे, दुन्नि अ वसहाण आइमा जामा ।
तइओ होइ गुरूण, चउत्थे सव्वे गुरू सुअइ ॥ ९८ ॥ "

सर्वेऽपि साधवः प्रथमे यामे रात्रिप्रथमप्रहरं यावत् । स्वाध्यायाध्ययनादिकुर्वाणा जाग्रति द्वौ च आद्यौ यामौ वृषभाणां वृषभा इव वृषभा गीतार्थाः साधवः तेषामयमर्थो द्वितीये यामे ये सुप्तवन्तः साधवस्ते स्वपन्ति । वृषभास्तु जाग्रति ते च जाग्रतः प्रज्ञापनादिसूत्रार्थे परावर्तयन्ति । तृतीयप्रहरो भवति गुरूणां कोऽर्थः—प्रहरद्वयानन्तरं वृषभाः स्वपन्ति । गुरवस्तूत्थिता प्रज्ञापनादि गुणयन्ति चतुर्थप्रहरं यावत् । चतुर्थे च प्रहरे । सर्वे साधवः समुत्थाय वैरात्रिककालं गृहीत्वा कालिकश्रुतं परावर्तयन्ति । गुरवः पुनः स्वपन्ति । अन्यथा प्रातर्निद्राघूर्णमानलोचनास्तदुद्भवादेव भज्यमानपृष्ठका व्याख्यानभङ्गवन्दनापदेशादिकं कर्तुं ते सोद्यमाः सन्तो न शक्नुवन्तीति । (प्रव० १२८ द्वार) प्रतिक्रमणवेला च तत्परिसमाप्तिदशोपकरणप्रत्युपेक्षणासमनन्तरमाविसूर्योदयपरिमेया । यतः-"आवस्सयस्स समए,णिद्दामुद्दं चयंति आयरिया । तह तं कुणंति जह दस,पडिलेहाऽणंतरं सूरो" ॥१॥ त्ति । जागरणानन्तरकर्तव्यमाह-(उत्सर्ग इति) कायोत्सर्गः स ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्वकः कुस्वप्नदुःस्वप्ननिवारणनिमित्तः प्राणिवधादिकुस्वप्नभावे शतोच्छ्वासमानो मैथुनकुस्वप्नभावे तु चतुरुद्योतकरोपर्येकनमस्कारचिन्तनादष्टशतोच्छ्वासमानोऽवसेयः । यतो यतिदिनचर्यायाम्-

" इरिअ पडिक्कमतो, कुसुमिण दुसुमिण निवारणुस्सग्गं ।
सम्मं कुणंति निंज्जिअ-पमायणिद्दा महामुणिणो ॥ १ ॥
पाणिवहप्पमुहाणं, कुसुमिणभावे भवंति उज्जोआ ।
चत्तारि चिंतणिज्जा, सनमुक्कारा चउत्थस्स ॥ २ ॥ " त्ति ।

ततश्च (देवगुर्वादिनतिरिति) देवनतिश्चैत्यवन्दनम् । गुर्वादिनतिश्चतुर्भिः क्षमाश्रमणैर्गुर्वादिनमस्क्रिया ततोऽनन्तरं च (स्वाध्यायतिष्ठतेति) स्वाध्यायो वाचनादिः तस्मिन् यथासंभवं तिष्ठता एकाग्रता उपलक्षणत्वात् । पूर्वगृहीततपोनियमाभिग्रहचिन्तनधर्मजागरिकाकरणादि । यतः-

" जिणनमणमुणिनमसण-पुव्वं तत्तो कुणंति सज्झायं ।
चिंतिंति पुव्वगहियं, तवनियमाऽभिग्गहप्पमुहं ॥१॥
किं तक्कणिज्जकज्जं, न करेमि अभिग्गहाय को उचिओ ।
किं मह खलिअं जायं, कइदिअहा मज्झ वच्चंति ॥२॥
कह न हु पमायपंके, खुप्पिस्स किं परो व अप्पो वा ।
मह पिच्छइ अइयार, इअ कुज्जा धम्मजागरिअं ॥ ३ ॥ "

ब्राह्मे च मुहूर्ते निर्मलबुद्धयुदयाद्भवति धर्मकर्मोपायचिन्तनं सफलमिति । धर्ममनोरथान् चिन्तयेति भावार्थः । यतस्तत्रैव-

" जामिणिविरामसमए, सरए सलिलं व निम्मलं नाणं । इअ तत्थ धम्मकम्मे, आयमुवायं विचिंतिज्जा ॥१॥ " ध०३ अधि० ।

जागरमाण-जाग्रत्-त्रि० । जागृ-शतृ-इन्द्रियादिभिर्विषयज्ञानयोग्यावस्थायाम् । तद्वति, त्रि० । स्त्रियां ङीप् । वाच० । निद्राविमुक्ते च । पा० । " जागरमाणी जागरइ " जागरणं कुर्वन्त्यां जागर्ति निद्राक्षयं कुरुत इति । न० । "निद्दाए भावतो वि य,जागरमाणा चउप्पहमप्पयए" । निद्रारहिते आ० म० द्वि० ।

जागरिता-जागरितृ-त्रि० । जागृ-तृ । जागरके, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

जागरिय-जागरिक-पुं० । जागरण जागरः । सोऽस्यास्तीति जागरिकः । भ० १२ श० २ उ० । निद्रारहिते, आ० म० द्वि० ।

जागरित-त्रि० । जागृ-क्त । इन्द्रियैर्विषयोपलब्धयोग्यावस्थायाम्, जीवो हि स्वप्नादिहेतुकर्मनाशे इन्द्रियविषयान्, अनुमेयाँश्च स्थूलविषयान्, व्यवहारिकाँश्च पदार्थान्, यस्यामवस्थायामनुभवति तत् जागरितम् । कर्तरि-क्त । जागरणयुक्ते, त्रि० । वाच० ।

जागरिया-जागरिका-स्त्री० । जागरणे, आ० १ श्रु० १ अ० । "पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि णो धम्मजागरियं जागरित्ता भवइ ।" जागरिका निद्राक्षयेण बोधः । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

कइविहा णं भंते ! जागरिया पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविहा जागरिया पण्णत्ता । तं जहा-बुद्धजागरिया, अबुद्धजागरिया, सुदक्खुजागरिया । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तिविहा जागरिया पण्णत्ता ? । तं जहा-बुद्धजागरिया, अबुद्धजागरिया, सुदक्खुजागरिया । गोयमा ! जे इमे अरहंता भगवंतो उप्पण्णणाणदंसणधरा जहा खंदए० जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी एएणं बुद्धा बुद्धजागरियं जागरंति । जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया भासासमिया० जाव गुत्तबंभयारि एएणं अबुद्धा अबुद्धजागरियं जागरंति । जे इमे समणोवासगा अभिगयजीवाजीवा० जाव विहरंति एएणं सुदक्खुजागरियं जागरंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ तिविहा जागरिया जाव० सुदक्खुजागरिया ।

(बुद्धा बुद्धजागरिय जागरंति त्ति) बुद्धाः केवलावबोधेन ते च बुद्धानां व्यपोढाज्ञाननिद्राणां जागरिकाप्रबोधो बुद्धजागरिका, तां जाग्रति कुर्वन्ति (अबुद्धा अबुद्धजागरिय जागरंति त्ति) अबुद्धा केवलज्ञानाभावेन यथासंभवं शेषज्ञानसद्भावाच्च बुद्धसदृशास्ते च अबुद्धानां छद्मस्थज्ञानवतां या जागरिका सा तथा तां जाग्रति । भ० १२ श० १ उ० ।

जागरिता धम्मीण, अधम्मियाणं च सुत्तिया सेया ।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥२०६॥

वच्छजणवए कोसंबी णयरी, तस्स अधिवो सताणितो राया, तस्स भगिणी जयंती, तीए भगवओ वद्धमाणो पुच्छितो-धम्मियाण किं सुत्तिया सेया, जागरिया वा सेया ? । भगवया वागरियं धम्मीण जागरिया सेया, णो सुत्तिया, अधम्मियाण सुत्तिया सेया, णो जागरिया । (अकहिंसु त्ति) कथितवान् एव कहियवान् । नि० चू० १६ उ० ।

जीवाश्च न सुप्ताः सिद्ध्यन्ति । किं तर्हि जागरा एव इत्याह-

सुत्तत्तं भंते ! साहू, जागरियत्तं साहू ? । जयंती ! अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-अत्थेगइयाणं० जाव साहू ? । जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया अहम्माणुया अहम्मिट्ठा अहम्मक्खाई अहम्मपलोई अहम्मपलज्जमाणा अहम्मसमुदायारा अहम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । एएसि णं सुत्तत्तं साहू, एएणं जीवा सुत्ता समाणा णो बहूणं पाणभूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए० जाव परियावणयाए वट्टंति । एएणं जीवा सुत्ता समाणा अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा णो बहूहिं अहम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति । एएणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू । जयंती ! जे इमे जीवा धम्मिया धम्माणुगा० जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू एएणं जीवा जागरमाणा बहूणं पाणाणं अदुक्खणयाए० जाव अपरियावणयाए वट्टंति, ते णं जीवा जागरा समाणा अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा बहूहिं धम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति । एए णं जीवा जागरमाणा धम्मजागरियाए अप्पाणं जागरइत्तारो भवंति, एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू से तेणट्ठेणं जयंती ! एवं वुच्चइ अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू ।

(सुत्तत्त त्ति) निद्रावशत्वम् । (जागरियत्त त्ति) जागरणं जागरः सोऽस्यास्तीति जागरिकस्तद्भावो जागरिकत्वम् । (अहम्मिय त्ति) धर्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्तीति धार्मिकास्तन्निषेधादधार्मिकाः । कुत एतदेवमित्यत आह-(अहम्माणुय त्ति) धर्मं श्रुतरूपमनुगच्छन्तीति धर्मानुगास्तन्निषेधादधर्मानुगाः । कुत एतदेवमित्यत आह-(अहम्मिट्ठा) धर्मः श्रुतरूप एवेष्टो वल्लभः पूजितो वा, येषां ते धर्मेष्टाः । धर्मिणां वा इष्टाः धर्मीष्टाः । अतिशयेन वा धर्मिणो धर्मिष्ठाः तन्निषेधात् अधर्मिष्ठाः । अधर्मेष्टाः अधर्मीष्टा वा अत एव । (अहम्मक्खाई) न धर्ममाख्यान्ति इत्येवशीला अधर्माख्यायिनः, अथवा-न धर्मात् ख्यातिर्येषां ते अधर्मख्यातयः (अहम्मपलोइ त्ति) न धर्ममुपादेयतया प्रलोकयन्ति ये ते अधर्मप्रलोकिनः । (अहम्मपलज्जण त्ति) न धर्मे प्ररज्यन्ते आसजन्ति ये ते अधर्मप्ररञ्जना एवं च-(अहम्मसमुदायार त्ति) न धर्मरूपश्चारित्रात्मकः समुदाचारः समाचारः सप्रमोदो वा आचारो येषां ते तथा अत एव-" अहम्मेण चेव " इत्यादि । अधर्मेण चारित्रश्रुतविरुद्धरूपेण वृत्तिं जीविकां कल्पयन्तः कुर्वाणा इति । भ० १२ श० २ उ० । जन्मतः षष्ठ्यां रात्रौ सन्ने रात्रिजागरणरूपे उत्सवविशेषे च । विपा० १ श्रु० २ अ० । रा० । "छट्ठे दिवसे जागरियं करेंति " रात्रिजागरणरूपमुत्सवविशेषम् । भ० ११ श० ११ उ० ।

जागर्या-स्त्री० । जागृ-श । जागरणे, अ-जागराप्यत्र । वाच० । " निशान्त्ययामे जागर्या गुरोश्चावश्यककृते " जागर्या जागरणं निद्रात्याग इत्यर्थः । ध० ३ अधि० ।

जागसहस्सभागपडिच्छय-यागसहस्रभागप्रतीच्छक-त्रि० । यागाः पूजाविशेषाः ब्राह्मणप्रसिद्धाः. तत्सहस्राणां भागमंशं प्रतीच्छति अभव्यत्वात् यत् । तथाभूते, औ० ।

जागिणिपुर-जाकिनीपुर-न० । स्वनामख्याते पुरे, "इओ अ सिरिजागिणिपुरे सिरिमहम्मदसाहिसमाहिराओ" ती० ४१ कल्प ।

जागिणी–जाकिणी–स्त्री० । हरिभद्रसूरेः प्रतिबोधिकायां निर्ग्रन्थ्याम्, "महत्तराया जाकिन्या, धर्मपुत्रेण चिन्तिता । आचार्यहरिभद्रेण, टीकेयं शिष्यबोधिनी ॥१॥" दश० २ चू० ।

जाडी–देशी–गुल्मे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जाण–यान–न० । या–भावे ल्युट् । गमने, वाच० । स्था० । स० । सूत्र० । उपचितशक्ते राज्ञः भूमराष्ट्रादिरक्षां कृत्वा रिपोरास्कन्दनाय गमने च । वाच० । यायतेऽनेनेति यानम् । स० १ सम० । करणे–ल्युट् । गमनसाधने रथादौ, वाच० । यानानि सामान्यातः । शेषाणि वाहनानीति । रा० । जी० । यानानि नौकादीनि । वाहनानि वेसरादीनि । दशा० ६ अ० । "दिट्ठी जाण सुउत्तम" यान यानमार्गं सूत्तममतिप्रधानमच्छिद्रमित्यर्थः । ग० १ अधि० । यानं वाहनमिति । रा० । यानं रथादिकमिति । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । रा० । औ० । स्था० । यानानि शकटादीनि । रा० । औ० । ज्ञा० । स्था० । उत्त० । यान गन्त्र्यादि । अनु० । जी० । यानं गन्त्रीविशेष इति । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । यान लघुगन्त्रीति । भ०८ श० ६ उ० । याम शिविकादीति । स्था० १० ठा० । आचा० । यान हस्त्यादीति । मा० क० । मा० म० । उत्त० । "जाणं तु आसमाई" यानानि पुनरश्वादीनि, आदिशब्दात् गजवृषभरथशिविकादीनि । बृ० १ उ० । "चत्तारि जाणा पण्णत्ता । त जहा–जुत्ते णाममेगे जुत्ते, जुत्त णाममेगे अजुत्ते, अजुत्ते णाममेगे जुत्ते, अजुत्ते णाममेगे अजुत्ते । (स्था०) चत्तारि जाणा पण्णत्ता । तं जहा–जुत्ते णाममेगे जुत्तपरिणए जुत्ते णाममेगे अजुत्तपरिणए ४ (स्था०) चत्तारि जाणा पण्णत्ता । तं जहा–जुत्ते णाममेगे जुत्तरूवे जुत्ते णाममेगे अजुत्तरूवे ४ (स्था०) चत्तारि जाणा पण्णत्ता । त जहा–जुत्ते णाममेगे जुत्तसोमे ४ " स्था० ४ ठा० ३ उ० । " जंति वीरा महाजाण " यान्त्यनेन मोक्षमिति यानम् । चारित्रे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ६ उ० । यात्येतदिति यानम् । " कृत्यल्युटो बहुलम् " ॥३।३।११३॥ इति (पाणि०) वचनात्कर्मणि ल्युट् । गन्तव्ये च ; त्रि० । आव० ६ अ० । ज्ञा० ।

ज्ञा–अवबोधने, क्र्यादि० पर० सक० अनिट् । " ज्ञो जाण–मुणौ " ॥ ८ । ४ । ७ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण ' जाण ' आदेश । ' जाणइ मुणइ ' जाणिअ–जाणिऊण । प्रा० ४ पाद । तुम किं जाणयसि कूवमडुको " नि० चू० १ उ० । ' ज्ञा ' ज्ञपधात्वर्थे । चुरा० । उभ० सक० सेट् । ज्ञपयति । अजिज्ञपत् । ' ज्ञा ' प्रेरणे, चुरा० उभ० सक० सेट् । वाच० ।

जाणं–जानत्–त्रि० । अवगच्छति " अजाणओ मे मुणि बूहि–जाणं । " जानन्नवगच्छन् । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । स्था० । वृ० । "अजाणंता विउस्सिया " सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । " जाण काएण णाउट्टी " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । जानन्नवबुध्यमानः । विशे० । उत्त० । "आसुपण्णेण जाणया" । जानता ज्ञानोपयुक्तेन । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

जाणंत–जानत्–त्रि० । 'जाण' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

जानान–त्रि० । ' जणत ' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

जाणग–ज्ञ–पु० । ज्ञा–क । ब्रह्मणि, पण्डिते, सोमपुत्रे, बुधे च । वाच० । अनु० । उत्त० ।

ज्ञक–त्रि० । ज्ञानिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

ज्ञायक–त्रि० । ज्ञातरि, विज्ञे, प० चू० । न० 'जाणयति' ज्ञायको ज्ञातेति । औ० ।

जाणगय–यानगत–त्रि० । यानानि शकटादीनि । तत्र गते, औ० ।

जाणगसरीर–ज्ञशरीर–न० । " जाणगत्ति " ज्ञायको, ज्ञो वा तस्य शरीर ज्ञशरीरम् । जीवरहिते जानतः शरीरे, उत्त० १ अ० । नि० चू० । ज्ञातवान् इति ज्ञ. । प्रतिक्षण शीर्यत ' इति शरीरम् । ज्ञस्य शरीरम ज्ञशरीरम् । अनु० ।

जाणगसेवा–ज्ञसेवा–स्त्री० । ज्ञातुः सेवायाम्, "जिज्ञासा तद्संज्ञा वा, सदनुष्ठानलक्षणम् " । द्वा० २३ द्वा० ।

जाणगिह–यानगृह–न० । यत्र यानानि तिष्ठन्ति । तस्मिन् गृहे, " जाणगिहाणि वा " । आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

जाणण–ज्ञान–न० । अवगमने, आव० ६ अ० । प्रा० ।

जाणणा–ज्ञा–स्त्री० । ज्ञान ज्ञा । संवित्तौ, आ० म० द्वि० । अनु० ।

जाणणाणय–ज्ञाननय–पु० । नयभेदे, "जाणणाणयो " ज्ञानोपलब्धिमात्रः । अविशेषित द्रव्यास्तिक इत्यर्थः । आ० चू० ३ अ० ।

जाणणासंखा–ज्ञानसंख्या–स्त्री० । "जाणणा" ज्ञान संख्यायते निश्चीयते वस्त्वनयेति सख्या, ज्ञानरूपा सख्या ज्ञानसख्या । संख्याभेदे, अनु० ।

से किं तं जाणणासंखा ? । जाणणासंखा जो जं जाणइ । तं जहा–सद्द सद्दिओ, गणिअं गणिओ, निमित्तं नेमित्तिओ, कालं कालणाणी, वेज्जयं वेज्जो । सेत्तं जाणणासंखा ।

"से किं तं जाणणासखा" इत्यादि । "जाणणा" ज्ञानं सख्यायते निश्चीयते वस्त्वनयेति सख्या, ज्ञानरूपा सख्या ज्ञानसख्या । का पुनरियमुच्यते–यो देवदत्तादिर्यच्छब्दादिक जानाति स तज्जानाति तत्र ज्ञानवतोऽभेदोपचारात् ज्ञानसंख्येत्युपस्कारः । शेष पाठसिद्धम । अनु० ।

जाणणासुद्ध–ज्ञानशुद्ध–न० । " पच्चक्खाणं जाणइ, कप्पे जं जम्मि होइ कायव्वं । मूलगुणउत्तरगुणे त जाणसु जाणणासुद्धं" इत्युक्तलक्षणे प्रत्याख्यानभेदे, आव० ६ अ० । आ० चू० ।

जाणय–ज्ञ–पु० । ' जाणग ' शब्दार्थे, अनु० ।

जाणयसरीर–ज्ञशरीर–न० । 'जाणगसरीर' शब्दार्थे, उत्त० १ अ० ।

जाणयसेवा–ज्ञसेवा–स्त्री० । 'जाणगसेवा' शब्दार्थे, द्वा० २३ द्वा० ।

जाणरह–यानरथ–पु० । रथविशेषे, रथा द्विविधा–यानरथाः, सङ्ग्रामरथाश्च । तत्र सङ्ग्रामरथस्य प्राकारानुकारिणी फलकमयी वेदिका, अपरस्य तु न भवतीति विशेष । जी० ३ प्रति० ।

जाणरूव–यानरूप–त्रि० । शिबिकाद्याकारवति, " समोहय–जाणरूवेण " यानप्रकारेण शिबिकाद्याकारवतेति । भ० ३ श० ४ उ० ।

जाणवय–जानपद–त्रि० । जनपदे भव., तत आगतो वा अण् । देशस्थे, देशादागते च । जनपदाना वृत्तौ, स्त्री० । ङीप् । वाच० । रा० । औ० । आचा० । सू० प्र० । "पमुइयजणजाणवया" जनपदे भवाः जानपदा विशिष्टार्यदेशोत्पन्ना । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । " बहवे जाणवया लूसिंसु " आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

जाणविमाण–यानविमान–त्रि० । यानञ्च तद्विमान च । यानाय वा गमनाय विमान यानविमानम् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । या-

नं गमनं तदर्थं विमानम्। यायतेऽनेनेति यानम् तदेव विमानं यानविमानम्। स्था० १ ठा० १ उ०। यानरूपं वाहनरूपं विमानं यानविमानम्। रा०। देवानां गमनसाधने नगराकारे वाहने, "दसण्हं इंदाणं दस परियाणिया जाणविमाणा पण्णत्ता। तं जहा-पालए पुप्फए जाव विमलवरे सव्वओभद्दे" यानं शिविकादि तदाकाराणि विमानानि देवाश्रयाणि यानविमानानि न तु शाश्वतानि नगराकाराणीत्यर्थः। स्था० १० ठा०। "दिव्वं जाणविमाणं विउव्वेह" रा०।

जाणसाला-यानशाला-स्त्री०। यत्र यानानि निष्पाद्यन्ते तस्यां शालायाम्,। "जाणसालाओ वा"। आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ०। आ० म०। दशा०।

जाणाविय-ज्ञापित-त्रि०। बोधिते, "अभयकुमारेण जाणाविओ" आ० म० द्वि०।

जाणिअ-ज्ञात-त्रि०। अवगते, प्रा० ४ पाद। "बलाबलं जाणिय अप्पणो य" आत्मनो बलाबलं ज्ञात्वा परीषहादिसहनसामर्थ्यं विचार्य। उत्त० २१ अ०। "निरओवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं" ज्ञात्वा विज्ञायेति। दश० १ चू०। "महयं पलिगोव जाणिया"। ज्ञात्वा स्वरूपतस्तद्विपाकतो वा परिच्छिद्य। सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

जाणिऊण-ज्ञात्वा-अव्य०। विज्ञायेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद। आचा०।

जाणित्तु-ज्ञात्वा-अव्य०। विज्ञायेत्यर्थे "जाणित्तु धम्मं अहा तहा"। आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। प्रा०।

जाणियव्वगसामत्थजुत्त-ज्ञातव्यसामर्थ्ययुक्त-त्रि०। विज्ञप्तिकरणे, "जाणितव्वगसामत्थजुत्ताति वा विण्णत्तिहेउभूयाति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ०।

जाणिया-ज्ञि(ज्ञ)का-स्त्री०। 'ज्ञा' अवबोधने। जानातीति,ज्ञः। "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" ॥ ३।१।१३५ ॥ इति कः प्रत्ययः। "अतो लोपः ॥६। ।४।४८ ॥ इति च (पाणि०) अकारलोपः। ततः। "अजाद्यतष्टाप्"॥४।१।४। इति स्त्रियामाप्। ज्ञैव ज्ञिका। स्वार्थिकः कः प्रत्ययः। ततः "स्वज्ञाऽजभस्त्राऽधातुत्ययकात्" ॥ २। ४। १०७ ॥ इत्यापः स्थाने वा इकारादेशः। कप्रत्ययाच्च परतः स्त्रियामाप् ततः सिद्धं ज्ञिकेति। परिज्ञानवत्याम्, "खीरमिव जहा हंसा जे घुट्टंति इह गुरुगुणसमिद्धा दोसे य विवज्जंती तं जाणसु जाणियं परिसं" इत्युक्ते परिषद्भेदे च। नं०।

ज्ञात्वा-अव्य०। विज्ञायेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद।

जाणु-जानु-न०। जन-ञुण्। ऊरुजङ्घयोर्मध्यभागे, स्वार्थे कञ् अत्रैवार्थे, वाच०। प्रश्न०। उत्त०। "समुग्गनिमग्गगूढजाणू" तं०। "जाणुस्सेहपमाणमित्ते" म० ३४ सम०।

जाणुकोप्परमाया-जानुकूर्परमात्रा (ता)-स्त्री०। जानुकूर्पराण्येव माता जननी जानुकूर्परमाता एतान्येव शरीरांशभूतानि तस्यास्तनौ स्पृशन्ति नापत्यम्। अथवा—जानुकूर्पराण्येव मात्रा परमाणाद् साहाय्यसमर्थं उत्सङ्गनिवेशनीयो वा परिकरो यस्याः, न पुत्रलक्षणः सा जानुकूर्परमात्रा। अपत्यरहितायाम्, "जाणुकोप्परमाया वि होत्था" नि० ३ वर्ग। ज्ञा०।

जाणुय-ज्ञापक-त्रि०। वेदिनि, "जाणुयाय जाणुयपुत्ताय" ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०। विपा०।

जाणू-ज्ञा-स्त्री०। व्यावृत्तिभेदे, यज्ञस्य हिंसादेर्हेतुस्वरूपफलविदुषो ज्ञानपूर्विका व्यावृत्तिः सा तद्भेदात् "जाणुत्ति गदिता" स्था० ३ ठा० ४ उ०।

जाण्हई-जाह्नवी-स्त्री०। गङ्गायाम्, "जाण्हवीइ मुहे" जाह्नव्या गङ्गाया मुखे, स्था० ६ ठा०। विशे०।

जावग-यापक-पु०। यापयतीति यापकः। जी० ३ प्रति०। उपदेशदानादिना भव्यसत्त्वैरागादियापके जिने, कल्प० २ क्षण। जिणाणं जावयाणं" रा०। रागादीनेव सदुपदेशादिना यापयन्तीति जापकाः। ध० २ अधि०। ल०।

जावगहेउ-यापकहेतु-पु०। यापयतीति यापकः। यापकश्चासौ हेतुश्च यापकहेतुः। हेतुभेदे, (दश०)

"जावग" (८६ निर्यु०) भेदव्याचिख्यासयाह-

उब्भामिगा य महिला, जावगहेउम्मि उंटलिंडाई ॥

गाथादलम्। अस्य व्याख्या-(उब्भामिग त्ति) असती महिला। किं यापयतीति यापकः। यापकश्चासौ हेतुश्च यापकहेतुः तस्मिन् उदाहरणमिति शेषः। उष्ट्रलिण्डानीति कथानकसूचकमेतत् इत्यक्षरार्थः। भावार्थः कथानकादवसेयः तच्चेदं कथानकम्-एगो वाणिओ भज्जं गिण्हेऊण पच्चंतं गओ। पावेण खीणदव्वा धणियपरद्धा कयावराहा य पच्चंतं संवती पुरिसा डुरहीयविज्जा य सा य महिला उब्भामिया एगम्मि पुरिसे लग्गा तं वाणिययं सागारियंति चिंतिऊण भणति-वच्च वाणिज्जेणं। तेण भणिया किं घेत्तूण वच्चामि। सा भणइ-उट्टलिंडियाओ घेत्तूण वच्च उज्जेणिं। सगडं भरेत्ता उज्जेणिं गतो। ताए भणिओ य जहा एक्केक्कयं दीणारेण दिज्जह त्ति। सा चिंतेति। वरं खु चिरं खिप्पउ तो अत्थउ। तेण ताओ वीहीए उड्डियाओ को इ ण पुच्छई। मूलदेवेण दिट्ठो पुच्छिओ य। सिट्ठं तेण मूलदेवेण चिंतियं। जहा एस वराओ महिलया ओभिओ। ताहे मूलदेवेण भण्णति अहमेया उ तव विक्किणामि जति मम वि मुल्लस्स अद्धं देहि। तेण भणियं देमि त्ति। अब्भुवगते पच्छा मूलदेवेण सो इसो जाएऊण आगासं उप्पइओ णगरस्स मज्झे ठाइऊण भणति-जस्स गलए चउरूवस्स उट्टलिंडिया न बद्धा तं मारेमि। अह देवो पच्छा सव्वेण लोएण भीएण दीणारिक्काओ उट्टलिंडिआओ गहियाओ। विक्किणयाओ य। ताहे तेण मूलदेवस्स अद्धं दिन्नं। मूलदेवेण य सो भण्णति-भद्दमुहा! तव महिलाधुत्ते लग्गा। ताहे तव एयं कयं ण पत्तियति। मूलदेवेण भण्णति-एहि वच्चामो जा ते दरिसेमि। जदि ण पत्तियासि ताहे गया अन्नाए वेलाए वियाले उवासा मग्गिओ। ताहे दिण्णो तत्थ एगम्मि पएसे ठिया। सो धुत्तो आगतो इयरी वि धुत्तेण सह पिवेउमाढत्ता इमं च गायइ-

"इरि मंदिर पत्तहारओ, मडुक तु गतो वणिजारओ।
वरिसाण सय च जीवउ, मा जीवतु घर कयाइ एउ ॥१॥"

मूलदेवो भणति-कयलीवणपत्तच्छदिया, पच्छ भणामि। देव अ मद्दलएण गज्जती मुणउ तं मुहुत्तमेव पच्छा। मूलदेवेण भण्णति। किं धुत्ते ततो पभाए निग्गतूण पुणरवि आगतो तीए पुरतो ठिओ सा महसा ससंभमा अब्भुट्ठिया। तओ खाणपिवणे वट्टंते तेण वाणिएण सव्वं तीए गीयपज्जत्तयं सभारियं। एसो लोइओ हेतू। लोउत्तरे वि चरणकरणानुयोगे एवं सी-

स्रो वि केइ पयत्थे असद्दहतो कालेण विज्जादीहिं देवत आय वरत्ता सद्दहावेयव्वो । तहा उत्तराणुओगे वि पक्खिवाति नाऊण तहा विसेसणबहुलो हेतू कायव्वो जहा कालजावणा हवइ जओ सो णावगच्छइ पयत्थं कुचियायण अवारी वा कज्जइ जहा सिरिगुत्तेण छलुए कया । उक्तो यापकहेतुः । दश०१ अ०।

जावण-यापन-न० । या-णिच्-ल्युट् । कालादेः क्षेपणे,निरसने च । वाच० । वर्तने, " मज्झेण मुणिजावए " । यापयेदात्मानं वर्तयेत् । सूत्र०१श्रु०१अ०३उ० । अट्ठमासे अजावए " । अजापयन्निर्वर्तितवान् । आचा०१श्रु०६अ०४उ० । देहप्रतिपालने च । "अह जावइ त्थ लूहेण" धर्माधारं देहं यापयतिस्म । आचा०१ श्रु०६अ०४उ० । क्रियायां युच् यापना तत्रैवार्थे यापना द्विविधा-द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यत औषधादिना कायस्य । भावतस्तु इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमेन शरीरस्य क्षामणा । आव० ३ अ० ।

जावणिज्ज-यापनीय-त्रि० । यापयतीति यापनीयः ' या ' प्रापणे । अस्य ण्यन्तस्य कर्तव्यनीय । आव०३अ० । शक्तिसमन्विते, " जावणिज्जाए णिसीहियाए " अत्र नैषेधिक्येति विशेष्यम, यापनीयेति विशेषणम । ' या ' प्रापणे । अस्य णिजन्तस्य पुगागमे यापयतीति यापनीया प्रवचनीयादित्वात् कर्तर्यनीयः, तया शक्तिसमन्वितयेत्यर्थः । ध०३अधि० । आ०चू० ।

जावणिज्जतंत-यापनीयतन्त्र-न० । ग्रन्थभेदे, ध०२ अधि० ।

जावय-यापक-पु० । ' जावग ' शब्दार्थे, जी०३ प्रति० ।

जावयहेउ-यापकहेतु-पु० । ' जावगहेउ ' शब्दार्थे, दश०१अ० ।

जावलिपुर-जावलिपुर-न० । पुरभेदे, तथा च हारिभद्राष्टकवृत्तौ,"श्रीजावलिपुरे रम्ये, वृत्तिरेषा समापिता" हा०३२अष्ट० ।

जावि(जंपि)य-यापित-त्रि० । कालान्तरं प्राप्ते, " जविय तिलकीडगाय त्ति" यापिता. कालान्तरं प्रापिता. । आ०१श्रु०१७अ० ।

जाम-याम-पुं० । यम-घञ् । समये, प्रहरे च । " यामो जातस्तथापि नायात. " वाच० । ध० । स च रात्रेर्दिनस्य च चतुर्थभागः । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

तओ जामा पन्नत्ता । तं जहा-पढमे जामे मज्झिमे जामे पच्छिमे जामे । तिहिं जामेहिं आया केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज, सवणयाए तं जहा-पढमे जामे मज्झिमे जामे पच्छिमे जामे एवं० जाव केवलनाणं उप्पाडेज्जा पढमे जामे मज्झिमे जामे पच्छिमे जामे ।

"तओ जामा" इत्यादि । स्पष्टम् । केवलं यामो रात्रेर्दिनस्य च चतुर्थभागो यद्यपि प्रसिद्धस्तथापीह त्रिभाग एव विवक्षितः पूर्वरात्रमध्यरात्रापररात्रलक्षणो यमाश्रित्य रात्रिः त्रियामा इत्युच्यते । एवं दिनस्यापि । अथवा-चतुर्भाग एव स । किंचिद् चतुर्थो न विवक्षितः त्रिस्थानकानुरोधादित्येवमपि त्रयो यामा इत्यमिहितमेव । " याव त्ति " करणादिदं द्रष्टव्यम्-" केवलं बोहिं बुज्झेज्जा मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा केवलं बंभचेरवासमावसेज्जा । एवं संजमेण संजमेज्जा संवरेण संवरिज्जा आभिणिबोहियणाणं उप्पाडेज्जा " इत्यादि । स्था० ३ ठा० २ उ० । प्राणातिपाताविरमणादिके व्रतविशेषे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

"आगमिस्साए उस्सप्पिणीए चाउज्जामं धम्मं पन्नवित्ता" यामा महाव्रतानीति । स्था० ६ ठा० । वयोविशेषे, ज्ञानदर्शनचारित्रेषु च । "माहणेण मइमया जामा तिण्णि उदाहिया" "जामा" इत्यादि । यामा व्रतविशेषा त्रय. उदाहृताः । तद्यथा-प्राणातिपातो, मृषावाद , परिग्रहश्च इति । अदत्तादानमैथुनयोः परिग्रह एवान्तर्भावात्त्रयग्रहणम् । यदि वा-यामा वयोविशेषाः तद्यथा-अष्टवर्षाद् द्वात्रिंशत. प्रथम , तत ऊर्द्धमाषष्टेर्द्वितीयः, तत ऊर्द्ध तृतीय इति । अतिबालवृद्धयोर्व्युदासः । यदि वा-यस्य ते उपरम्यते संसारभ्रमणादेभिरिति यामा ज्ञानदर्शनचारित्राणीति ते उदाहृता व्याख्याता. । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

जामइल्ल-यामवत्-त्रि० । "आल्विल्लोल्लालवंतमंतेत्तेरमणामतोः ' ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण मतोः स्थाने 'इल्ल' आदेशः । प्रा० २ पाद । विद्यमानयामके, वाच० ।

जामदग्ग-जामदग्न्य-पुं० । जमदग्न्येरपत्यं यञ् । यमदग्निपुत्रे परशुरामे, वाच० । विशे० ।

जामद्ध-यामार्द्ध-न० । यामं प्रहरं तस्यार्द्धम् यामार्द्धम् । चतुर्घटिके समयविशेषे, ग० १ अधि० ।

जामहिं-यावत्-त्रि० । "यावत्तावतोर्वादेर्म-उ-महिं" ॥ ८ । ४ । ४०६ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण वकारादेर्महिं इत्यादेशो वा । प्रा० ४ पाद । यत्परिमाणमस्य मतुप् । यत्परिमाणे, साकल्ये, अवधौ व्याप्तौ, माने, अवधारणे च । अव्य० । वाच० । " जाम न निवडइ कुंभयडे, सीहचवेडचडक्क । ताम समत्तह मयगलह, पयपइ वज्जइ ढक्क । " प्रा० ४ पाद ।

जामाउ-जामातृ-पु० । "उद्दत्वादौ" ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण ऋकारस्योकार. । प्रा० १ पाद । जायां माति मिनोति मिमीते वा । तृच् । दुहितृपतौ, बहुव्रे स्वामिनि च । वाच० ।

जामाउय-जा (या) मातृक-पु० । दुहितृभर्तरि, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

जामि-जा (या) मि-स्त्री० । जन-मिण्-वृद्धिः । अथवा-यम-इन् । भगिन्याम, दुहितरि, स्नुषायाम्, कुलस्त्रियाम्, सन्निहितस्त्रियाम्, " यामयो यानि गेहानि " । वाच० । त्रि० "जामी एगे " गत्वेत्यर्थे, स्था० १ ठा० ।

जामिणी-यामिनी-स्त्री० । यामास्त्रिसंख्याताः सन्त्यस्य बाहुल्ये इनि । रात्रौ, हरिद्रायां च " निसा जामिणी राई " को० ।

जामिय-यामिज-पु० । भगिनीपुत्रे, " मदाभ्रजो द्विजो दत्त., कालिकाचार्यजामिजः " । आ० क० ।

जामुणकुसुम-जपाकुसुम-न० । रक्तपुष्पस्य वृक्षभेदस्य पुष्पे, " जासुणकुसुमेइ वा " रा० ।

जामेय-जामेय-पु० । भगिनीपुत्रे, " राज्ये निवेश्य जामेयं, प्रव्रज्यां स्वयमग्रहीत " आ० क० ।

जाय-जात-न० । जन-क । समूहे, व्यक्ते, जन्मनि । वाच० । जातौ, प्रकारे च । स्था०१० ठा० । जातमुत्पत्तिधर्मकम् । तच्च व्यक्तिवस्तु । अतो भाषाया जातानि व्यक्तिवस्तूनि भेदा प्रकारा । (स्था०) जात प्रकार. । स्था० ४ ठा० १ उ० । " अट्ठजाए वि वट्टव्व" जातशब्दो भेदवाचक । नि० चू० १ उ० ।

'जाय' सद्दो प्रकारवाची। नि० चू० १६ उ०। आ० म०। बृ०। उत्पन्ने, त्रि०। स्था०६ ठा०। सूत्र०। उत्त०। बृ०। "कारणजाए" जाते समुत्पन्ने, दर्श० ४ तत्त्व। 'एत्थ पाणा अणुप्पसूया एत्थ पाणा जाया" नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमेकार्थिकान्येवैतानि। आचा०२ श्रु०१ अ०८ उ०। प्रवृत्ते, रा०। औ०। विद्यमाने च। विशे०। पुत्रे,पु०। सरपाय च जायाए"। सूत्र० १ श्रु०४ अ०२ उ०। "जाए फले समुपन्ने" सूत्र०१ श्रु०४ अ०२उ०। "धण्णो सि णं तुम जाया"(जायत्ति)हे पुत्र !। भ० ६ श० ३३ उ०। बृ०।

जातस्य निक्षेपः षड्विधः तथा चाचाराङ्गनिर्युक्तौ–

... ..., जाए छक्कं च होई णायव्वं ।

जातशब्दस्य तु षड्निक्षेपोऽयं ज्ञातव्यो नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपः तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यजात तु नो आगमतो व्यतिरिक्तम्। निर्युक्तिगाथाकारो गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति–

उप्पत्तीए तह पज्ज–वंतरे जायं गहणे वि ॥१॥

तच्चतुर्विधम्–उत्पत्तिजातम्, पर्यवजातम्, अन्तरजातम्, ग्रहणजातम्। तत्रोत्पत्तिजात नाम–यानि द्रव्याणि भाषावर्गणान्तःपातीनि काययोगगृहीतानि वाग्योगेन निसृष्टानि भाषात्वेनोत्पद्यन्ते तदुत्पत्तिजातम्, यद् द्रव्य भाषात्वेनोत्पन्नमित्यर्थः। पर्यवजात तैरेव वाग्निसृष्टभाषाद्रव्यैः यानि विश्रेणिस्थानि भाषावर्गणान्तर्गतानि निसृष्टद्रव्यपराघातेन भाषापर्यायत्वेनोत्पद्यन्ते तानि द्रव्याणि पर्यवजातमित्युच्यते। यानि त्वन्तराले समश्रेण्यामेव निसृष्टद्रव्यमिति तानि भाषापरिणाम भजन्ते तान्यन्तरजातमित्युच्यते। यानि पुनर्द्रव्याणि समश्रेणिविश्रेणिस्थानि भाषात्वेन परिणतानि कर्णशष्कुलीविवरप्रविष्टानि गृह्यन्ते तानि चानन्तप्रदेशिकानि द्रव्यतः। क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगाढानि कालत एकद्व्यादि यावदसंख्येयसमयस्थितिकानि भावतो वर्णगन्धरसस्पर्शवन्ति तानि चैवम्भूतानि ग्रहणजातमित्युच्यते। उक्त द्रव्यजातम्। क्षेत्रादिजात तु स्पष्टत्वान्निर्युक्तिकारेण नोक्तम्। तच्चैवभूत यस्मिन् क्षेत्रे भाषाजात व्यावर्ण्यते यावन्मात्र वा क्षेत्र स्पृशति तत् क्षेत्रजातम्। एव कालजातमपि। भावजात तु तान्येवोत्पत्तिपर्यवान्तरग्रहणद्रव्याणि श्रोतरि यदा शब्दोऽयमिति बुद्धिमुत्पादयन्तीति। आचा०२ श्रु० ४ अ० १ उ०। गमनक्रियायाम्,आचा० १ श्रु०५ अ०४ उ०। गते,त्रि०। सूत्र०१ श्रु०३ अ० १ उ०। प्राप्ते च। "असुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा" सूत्र० १ श्रु०१० अ०।

जायंत–याचमान–त्रि०। याचन कुर्वति, "जायता पाणिय" याचमाना पानीयम्। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

जायअंधारूवग–जातान्धरूपक–पु०। जातमुत्पन्नमन्धकनयनयोराकृत एवानिष्पत्तेः कुत्सितमङ्गरूप यस्यासौ। जातान्धरूपके, विपा० १ श्रु० १ अ०।

जायकप्प–जातकल्प–पु०। कल्पभेदे, जाता निष्पन्ना श्रुतसम्पदुपेततया लब्धात्मलाभाः साधवस्तदव्यतिरेकात्कल्पोऽपि जात उच्यते। ध० ३ अधि०। पञ्चा०।

जायकम्म–जातकर्मन्–न०। जातस्य कर्म। मन्त्रवत्सर्पिःप्राशनादि। संस्कारभेदे, वाच०। नालच्छेदादिके प्रसवकर्मणि च। "पढमे दिवसे जायकम्म करेंति" जातकर्म प्रसवकर्म नालच्छेदननिखननादिकम्। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। "णिव्वत्ते असुइ जायकम्मकरणे" जातकर्मणां प्रसवव्यापाराणा करणे विधानम्। तस्मिन्, स्था० ६ ठा०। औ०।

जायकोऊहल्ल–जातकुतूहल–त्रि०। जात कुतूहल यस्य स जातकुतूहलः जातौत्सुक्ये, रा०। सू० प्र०।

जायग–जातक–न०। जातस्य हितम्-कन्। जातस्य शुभाशुभनिर्णायके बृहज्जातकादौ ग्रन्थे, जातकर्मरूप संस्कारभेदे च। वाच०।

जायक–न०। जयति गन्धान्तर जि-ण्वुल्। पीतवर्णे सुगन्धिकाष्ठे, वाच०।

याचक–त्रि०। याच-ण्वुल्। याञ्चाकारके,वाच०। देवैर्भगवत्सकथादौ(सकथा-जानुः)गृहीते सति श्रावका देवानतिशयभक्त्या याचितवन्तः दत्ता अपि तेषां प्रचुरत्वान्महता यत्नेन याचनाऽभिहता आहुः–"अहो याचकाः" इति। तत एव याचका रूढाः। आ०म० प्र०। "ते च सढा अग्गिसकदधादीणि जायंति ताहे देवेहिं भणित-इमे केरिसगा, "जायगा" ततो जायगसद्दो जातो। ताहे अग्गिं घेत्तु ते सएसु सएसु गेहेसु ठवेंति"। आ० चू० १ अ०।

याजक–पु०। याजयति-यज्-णिच्-ण्वुल्। धनादिलाभाय परार्थं यज्ञकर्तरि, ऋत्विगादौ, वाच०। "सो तत्थ एव पडिसिद्धो,जायगेण महामुणी" याजकेन यज्ञकारकेण। उत्त०२५अ०।

जायण–याचन–न०। याच्-ल्युट्। याञ्चायाम्,वाच०। पञ्चा०। प्रार्थने, प्रव० ८६ द्वार। मार्गणे च। आव० ४ अ०।

यातन–न०। कदर्थने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

जायणजीवण–याचनजीवन–त्रि०। याचनेन जीवन प्राणधारणमस्येति याचनजीविनः। आर्षत्वाद्विकारः। उत्त० १२ अ०।

याचनजीविन्–त्रि०। याचनेन जीवनशीले च। "जाणाहि मे जायणजीविणो त्ति" उत्त० १२ अ०।

जायणा–याञ्चा–स्त्री०। याच्-नङ्। प्रार्थनायाम्, वाच०। ज्ञा०। उत्त०। मार्गणे च। आव० ४ अ०।

यातना–स्त्री०। चुरा० यत्-युच्। तीव्रवेदनायाम्,वाच०। कदर्थनायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। दण्डो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः। आव० ६ अ०। "जायणा करणसयाणि" कदर्थनहेतुशतानि। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

जायणापरीसह–याञ्चापरीषह–पु०। याचन याञ्चा प्रार्थनेत्यर्थः। सैव परीषहो याञ्चापरीषहः। प्रव० ६ द्वार। उत्त०। परीषहभेदे, (आव०) भिक्षोर्हि वस्त्रपात्रान्नपानप्रतिश्रयादिपरतो लब्धव्य सर्वमेव शालीनतया च न याञ्चा प्रत्याद्रियते। साधुना तु प्रागल्भ्यभाजा सा जाते कार्ये स्वधर्मकाय परिपालनाय याचनमवश्य कार्यमित्येवमनुतिष्ठता याञ्चापरीषहविजयः कृतो भवति। आव० ४ अ०। प्रव०। प० स०। आ० चू०।

याञ्चापरीषहमाह–

दुक्करं खलु भो निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वं से जाइयं होइ,णत्थि किंचि अजाइयं ॥ २८ ॥
गोयरग्गपविट्ठस्स, पाणी णो सुप्पसारए।
सेओ आगारवासो त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥२९॥

दुष्करसूत्रम्-दुःखेन क्रियते इति दुष्करम् दुरनुष्ठानं वस्तुविशेषणे । निरुपकारिण इति विशेष द्योतयति । भो इत्यामन्त्रणे । नित्यं सर्वकालं यावज्जीवमित्यर्थः । अनगारस्य भिक्षोरिति । चः प्राग्वत् । किं तत् दुष्करमित्याह-यत्सर्वमाहारोपकरणादि (से) तस्य याचितं भवति । नास्ति किञ्चिद् दन्तशोधनाद्यप्ययाचितम्. सर्वस्यापि वस्तुनो याचनमिति गम्यमानेन विशेषेण दुष्करमित्यस्य सम्बन्ध इति सूत्रार्थः ॥२८॥ ततश्च गोचरसूत्रम्. गोरिव चरणं गोचरो, यथाऽसौ परिचितापरिचितविशेषमपहायैव प्रवर्तते । तथा साधुरपि भिक्षार्थं तस्याग्रं प्रधानं यतोऽसौ एषणायुक्तो गृह्णाति । न पुनर्गौरिव । यथाकथञ्चित्तस्मिन् प्रविष्टो गोचराग्रप्रविष्टः तस्य पाणिर्हस्तो (नो) नैव सुखेन प्रसार्यते पिण्डादिग्रहणार्थं प्रवर्तते इति सुप्रसारः. स एव सुप्रसारकः. कः म हि निरुपकारिणा परं प्रतिदिनं प्रणयितुं शक्यः उत्तरत्र,इति-शब्दस्य भिन्नक्रमत्वादित्यस्माद्धेतोः श्रेयानतिशयप्रशस्योऽगारवासं गार्हस्थ्यं तत्र हि न कश्चिद् याच्यते, स्वभुजार्जितं च दीनादिभ्यः संविभज्य भुज्यते इत्येतद्भिक्षुर्न चिन्तयेत् । यतो गृहवासो बहुसावद्यो निरवद्यवृत्त्यर्थं च तत्परित्यागस्ततः स्वयं पचनादिप्रवृत्तेभ्यो गृहिभ्यः पिण्डादिग्रहणं न्याय्यमिति भावः । इतिसूत्रार्थः ॥ २९ ॥

सांप्रतं प्रागुद्वारं तत्र "दुक्करं खलु भो निच्चं" इत्यादि । सूत्रम् । अर्थतः स्पृशन्नुदाहरणमाह-जायणा गाहा-

जायणपरीसहम्मि य बलदेवो इत्थ आहरणम् ॥

याञ्चापरीषहे बलदेवोऽत्र भवति (आहरणम्) उदाहरणम् । अत्र सम्प्रदायः-"जया सो वासुदेवो सब्बं वहंतो सिद्धत्थेण पडिबोहिओ कण्हस्स सरीरं सक्कारेउं कयसामाइओ लिंगपडिवज्जिओ तु गोसिहरे तवं तप्पमाणो, ण कह भिच्चाए भिक्खं अलीइस्स तणकट्ठाहारा ए भिक्खं गेण्हति । न गामं न नगरं अतिच्छयत्ति । तेण सो णाभियासिओ जायणपरीसहो एवं न कायव्वं । अण्णे भणंति-बलदेवस्स भिक्खं भमतस्स बहुओ जणो तस्स रूवेण अन्नो ण किंचि अण्णं जाणत्ति ताहिंतो चेव चेट्ठति तेण न सा हिंडति गामनगरादि जहा पक्खियाहिंतो चेव भिक्खं जायइ त्ति । एस जायणापरीसहो पसत्थो" एव शेषसाधुभिरपि याञ्चापरीषहः सोढव्य इति । उत्त० २ अ० । "परदत्तोपजीवित्वात्, यतीनां नास्ति जीवितम् । यतोऽतो यावता दुःखं, काम्ये नेच्छेदगारिताम् ॥१॥" आ० म० द्वि० । योगशास्त्रवृत्तौ-नायाचितं यतीनां यत्, परदत्तोपजीविनाम् । याञ्चादुःखं प्रतीच्छेत-नेच्छेत्पुनरगारिताम् ॥१४॥ ध०३ अधि० ।

सांप्रतं याञ्चापरीषहमधिकृत्याह—

सदा दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया (६)

यतीनां सदा सर्वदा दन्तशोधनाद्यपि परेण दत्तमेषणीयमुत्पादाद्येषणादोषरहितमुपभोक्तव्यमित्यतः क्षुधादिवेदनार्तानां यावज्जीवं परदत्तैषणा दुःखं भवति । अपि चेयं याञ्चापरीषहोऽल्पसत्त्वैर्दुःखेन प्रणोद्यते त्यज्यते । तथा चोक्तम्-

"खिज्जइ मुहलावण्णं, वाया घोलेइ कंठमज्झम्मि ।
कह कह कहेइ हिययं, देहि त्ति परं भणंतस्स ॥१॥
गतिभ्रंशो मुखे दैन्यं, गात्रस्वेदो विवर्णता ।
मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिह्नानि याचके ॥ २ ॥"

इत्यादि । एवं दुस्त्यजं याञ्चापरीषहं परित्यज्य गताऽभिमाना महासत्त्वा ज्ञानाद्यभिवृद्धये महापुरुषसेवितं पन्थानमनुव्रजन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

जायणी-याचनी-स्त्री० । याच्यतेऽनयेति याचनी । भाषाभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० । याचना कस्यापि वस्तुविशेषस्य देहीति मार्गणरूपे भाषाभेदे, प्रज्ञा० ११ पद । भ० । दश० । स्था० ।

जायतेय-जाततेजस्-पुं० । अग्नौ,"जायतेयं न इच्छंति" दश० ६ अ० । "जायतेयं समारब्भ, बहुओ रुभिया जणा । अंतो धूमेण मारेइ, महामोहं पकुब्वइ " स० ३० सम० ।

जायथाम-जातस्थामन्-त्रि० । उत्पन्नबले, "वसभो इव जायथामे" गौरिवोत्पन्नबल । स्था० ६ ठा० ।

जायपक्ख-जातपक्ष-पुं० । जाततनूरुहे, " जायपक्खा जहा हंसा " उत्त० २३ अ० ।

जायपुखाइ-जातपुंख्याति-पुं० । उत्पन्नगुणपुरुषविवेकप्रख्यातौ, तत्पर जातपुख्याते, द्वा० ११ द्वा० ।

जायफल-जातफल-न० । पुत्ररूपे फले, " जायफले समुप्पन्ने " जातः पुत्रः स एव फलं गृहस्थानां तथाहि पुरुषाणां कामभोगफलम् तेषामपि प्रधानकार्यं पुत्रजन्मेति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

जायमजायकप्प-जाताऽजातकल्प-पुं० । कल्पभेदे, (पं० भा०)

जातमजातो अहुणा, दोण्ह वि एते समं तु वच्चति ।
जातं णिप्पण्णति य, एगट्ठं होति णायव्वं ।
जातमजातं करणं, जाते करणे गती तिहा भिण्णा ।
अजाए करणम्मि तु अ-ण्णतरिं तं गती जाइ ।
जातं खलु णिप्पण्णं, सुत्तेण ऽत्थेण तदुभयेण्णं च ।
चरणेण य संजुत्तं, वतिरित्तं होति य अजातं ।
जातकरणेण भिण्णा, नरगतिरिक्खा गती उ दोण्णि जवे ।
अहवा वि तिहा भिण्णा, नरगातिरिक्खा मणुस्सगती ।
दो वेसु वि तिण्णि गती, भिण्णा वेमाणिएसु उववत्ती ।
चउसु वि गतीसु गच्छति, अण्णतरिं अजातकरणेणं ।
एसो जातमजाते, कप्पो अभिहितो इयाणिं तु । पं० भा० ।

इयाणिं जायमजायकप्प समं च भवति । जातो निष्पन्न इत्यर्थः- । अहवा-जायकप्पो संविग्गगीयत्थाणं, इयरेसिं संविग्गासंविग्गाणं, अगीयत्थाण अजायकप्पो । जई जायकरणं जायकप्पो असद्भूतमजातमित्यनर्थान्तरम् अजातकरणमजातकल्प जायकरणे वि दो नरगतिरिक्खजोणी य गईओ भिण्णाओ, अजायकरणे चउसु वि गईसु अण्णयरिं गइं गच्छइ । जायमजायकरणा । पं० चू० ।

जायमजायपारिट्ठावणिया-जाताजातपारिष्ठापनिका-स्त्री० । द्वि० व० । जाताजातपारिष्ठापनिकया, (ग०)

जाताजातस्वरूपं यथा-

" आहारम्मि उ जाया, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए ।
जाया चेव सुविहिया नायव्वा तह अजाया य ॥ १ ॥
आहाकम्मे य तहा, लोभविसआभिओगिए गहिए ।

एएण होइ जाय, वोच्छं मे विही इ वोसिरणे ॥ २ ॥ ”

आधाकर्मणि च तथा लोभाद् गृहीते, विषकृते गृहीते, भक्तिकादिविपरया जाते, आभियोगिके वशीकरणादिमन्त्राऽभिसंस्कृते, तताऽन्यथात्वादर्शिकृतो ज्ञाते सति एतेनाधाकर्मादिदोषेण जाता स्यात् । (से) तस्य विधिना व्युत्सर्जन वक्ष्ये ॥ २ ॥

“ एगतमणावाए, अचित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे ।
वारेण अक्कमित्ता, तिट्ठाण सावण कुज्जा ॥ ३ ॥ ”

त्रीन् वारान् श्रावण कुर्यात् , अमुकदोषादिद त्यज्यते इति त्रिरुच्चरेत् ॥ ३ ॥

“ आयरिए य गिलाणे, पाहुणए दुल्लभे सहस लाभे ।
एसा उ खलु अजाया, वोच्छामि विहीइ वोसिरणं ॥ ४ ॥ ”

आचार्याद्यर्थे तथा दुर्लभे विशिष्टे द्रव्ये सति सहसा च तल्लाभे जाते सति इत्यादि । हेतोरधिकग्रहण स्यात् । एषा अजातपारिष्ठापनिका ॥ ३ ॥

“ एगतमणावाए, अचित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे ।
आलोए तिण्णि पुंजा, तिट्ठाण सावण कुज्जा ॥ ५ ॥ ”

आलोके प्रकाशे शुद्धाहारस्य त्रीन् पुञ्जान् कुर्यात्, आधाकर्मादिमूलगुणदुष्टे एकः। उत्तरगुणदुष्टे तु द्वौ, इति विशेष । पूर्ववत् त्रिःश्रावण च कुर्यात्, एवमुपकरणविषयेऽपि जाताजाते पारिष्ठापनिक ज्ञेय इति । ग० २ अधि० ।

जायमजायाहार–जाताऽजाताधार–पु०। आवश्यकपारिष्ठापनिकानिर्युक्त्युक्तजाताख्यपारिष्ठापनिकाविधिज्ञे, (ग०) “ जायमजायाहारे ” (जायमजायाहारे त्ति) मकारस्यालाक्षणिकत्वात् जाताधार । आवश्यकपारिष्ठापनिकानिर्युक्त्युक्तजाताख्यपारिष्ठापनिकाविधिज्ञ इत्यर्थ. । ग० २ अधि० ।

जाताजाताहार–पु०। “कृताकृताहारे,(ग०) “जायमजायाहारे” (जायमजायाहारे त्ति) मकारस्यालाक्षणिकत्वात् । जातः सपन्नोऽजातश्चासपन्न आहारो यस्यासौ जाताहार । कदाचित् कृताहार कदाचिदकृताहार इत्यर्थ । तत्र शुद्धे लब्धे जाताहार.। अलब्धे, अशुद्धे वा लब्धे, अजाताहार । उक्त च-“अलब्धे तपसो वृद्धि-र्लब्धे देहस्य धारणेति ” ग २ अधि० ।

यात्रामात्राहार–पु० । यात्रार्थं मात्रयाऽऽहारो यस्यासौ यात्राहार. । सयमस्वाध्यायादिनिर्वाहाय मात्रयाऽऽहार कुर्वंति, “ जायमजायाहारे ” अथवा-यात्रार्थं मात्रयाऽऽहारो यस्यासौ यात्राहार. । आर्षत्वात् चेत्थ सिद्धि । तत्र यात्रा सयमस्वाध्यायरूपा, मात्रा तु तदर्थमेव पुरुषस्त्रीपण्डानां क्रमेण द्वात्रिंशदष्टाविंशतिचतुर्विंशतिकवलप्रमाणाहारमध्यादेकादिकवलेनाहारग्रहणमिति । ग० २ अधि० ।

जायमूक–जातमूक–पु० । जन्मतो मूके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

जायरूव–जातरूप–न० । जात रूपमस्य प्रशस्तवर्णे, वाच० । सुवर्णे, रा०। प्रश्न०। ज्ञा०। स्था०। जात लब्ध रूप स्वरूप रागादिकुद्रव्यविरहाद् येन स तथा । स्था० ६ ठा० । सुवर्णविशषे, रा०। ज० । ‘ जायरूवमईओ मोहाडणीओ” जातरूप सुवर्णविशेष । जी० ३ प्रति० । “ अहवा-जायरूवे ज च प्रवालगवत् जातन जायरूव भण्णति ” नि० चू० १ उ० । रूप्ये च, ‘ हिरण्ण जायरूव च, मणसा वि ण चिंतए ” जातरूप रूप्यम् । उत्त० ३५ अ० ।

जायरूवकंड–जातरूपकाण्ड–न० । रत्नप्रभाया पृथिव्या षोडशसु काण्डेषु त्रयोदशे काण्डे, स्था० १० ठा० ।

जायव–यादव–पु० । यदोरपत्यम । यदु-अण्। यदुवंशजे, “पज्जुण्णपईवसवअणिरुद्धणिसढउसुयसारणगयसुमुहदुम्मुहाईण जायवाण ” । प्रद्युम्नप्रतीपशाम्बानिरुद्धनिषधोल्मुकसारणगजसुमुखदुर्मुखादीनां यदोरपत्यानाम् । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

जायवेय–जातवेदस्–पु० । जातान् प्राणिन विन्दते जठरानलत्वेन । ‘ विद ’ लाभे । असुन् । वह्नौ, “ जायवेय पायहिं हणाह ज भिक्खु अवमन्नह ” जातवेदसमग्निम् । उत्त० १२ अ० । चित्रकवृक्षे च । वाच० ।

जायसंसय–जातसंशय–त्रि० । जात. सशयो यस्य स जातसशय । उत्पन्नसशये, सू० प्र०१पाहु० । औ० । ज्ञा० । च०प्र०। ज० । रा० ।

जायसड्ढ–जातश्राद्ध–त्रि० । जाता प्रवृत्ता श्रद्धा इच्छा विशेषो यस्यासौ जातश्राद्ध. । प्रवृत्तेच्छाविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । च० प्र० । सू० प्र० । रा० । ज० । नि० । औ० ।

जाया–यात्रा–स्त्री० । या-ष्ट्रन् । जिगीषया राज्ञां गमने, गमनमात्रे, देवोद्देशेनोत्सवभेदे, रथयात्रादौ च । वाच० । निर्वाहे च । ‘ जायाए घासमेसेज्जा’ । यात्रार्थं पञ्चमहाव्रतभारनिर्वाहणार्थम् । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । भ० ।

जाया–स्त्री० । जन–यक् । भार्यायाम,(भ०) । स्त्रीत्वेन जायास्वयो. । कान्ताजनन्यो , प्रति० । भ० ।

समणोवासगस्स णं भंते ! सामाइयकडस्स समणोवासए अच्छमाणस्स केइ जायं चरेज्जा । से णं भंते ! किं जायं चरइ, अजायं चरइ ? । गोयमा ! जायं चरइ, नो अजायं चरइ । तस्स णं भंते ! तेहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं सा जाया अजाया भवइ ? । हंता भवइ । से केणं खाइयं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–जायं चरइ, नो अजायं चरइ ? । गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ-नो मे माया, णो मे पिया, नो मे भाया, णो मे भइणी, नो मे भज्जा, नो मे पुत्ता, नो मे धूया, नो मे सुण्हा, पेज्जबंधणे पुण से अव्वोच्छिण्णे भवइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव नो अजायं चरइ ।

(केइ जायं चरे त्ति) कश्चिदुपपतिरित्यर्थ । जायां भार्यां चरेत सेवेत (सुण्ह त्ति) स्नुषा पुत्रभार्या (पेज्जबंधण त्ति) प्रेमैव प्रीतिरेव बन्धन तत्पुन. ‘ से ’ तस्य श्राद्धस्य अव्यवच्छिन्न भवति । अनुमतेरप्रत्याख्यातत्वात् । प्रेमानुबन्धस्य चानुमतिरूपत्वादिति । भ० ८ श० ५ उ० । चमरस्यासुरेन्द्रस्य स्वनामख्यातायां बाह्यायां पर्षदि, स्था० ३ ठा० २ उ० । “ बाहिं जाया ” जी० ३ प्रति० ।

जाता–स्त्री० । प्रकृतिमहत्त्ववर्जितत्वेनास्थानकोपादीना जातत्वाज्जाता । चमरादिदेवेन्द्राणा वाह्यपर्षदि, भ० १ श० १ उ० ।

जायाइ [न्]-यायाजिन-पुं० यायजशीलेयशीलो यायाजी। यजनशीले, "जायाई जम जन्नम्मि" यनयक्ष यायाजी । उत्त० २५ अ० ।

जायामाया-जातामात्रा-स्त्री० । यात्रा संयमयात्रा तस्या मात्रा यात्रामात्रा ' आयागुत्त लयाणीरे जायामाय व" । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । संयमार्थं परिमिताहारग्रहणे, न०।

जायामायावित्ति-यात्रामात्रावृत्ति-स्त्री० । संयमयात्रामात्राया जीविकायाम्, " जायामायावित्ती होज्जा " संयमयात्रामात्रा या जीविकाऽभवत् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० " जायामायावित्ति-यो ", यात्रा संयमयात्रा मात्रा तदर्थमेव परिमिताहारग्रहणम्, वृत्तिर्येषां ते परिमितलाभेनैवं जीवनम् । भ० २५ श० ३ उ० । न० ।

जार-जार-पुं० जीर्यतेऽनेन ' जॄ ' करणे घञ् । उपपतौ, वाच० । मणिलक्षणविशेषे च । जारजार्जैर्मणिविशेषो मरकतमणि-लक्षणे ह्येको मणिदोषविशेषः । जी० ३ प्रति० । रा० । जं० । आ०म० ।

जारिस-यादृश-त्रि० । यस्येव दर्शनमस्य । यद्-दृश् टक् । 'दृशः क्विप् टक्सकः ' ॥८।१।१४२॥ इत्यनेन दृश्ॆर्‌द्धातो रि । प्रा० १ पाद । यत्सदृशे, यथाविधे, स्त्रियां ङीप् । वाच० । आ० म० प्र० । " जारिसओ जम्मा, जह य कया जारिस फलं देंति " याहक्रो यत्स्वरूपक यादृशा यद्रूपम् । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । " ज जारिस पुव्वमकारि कम्म, तमेव आगच्छति संपराए " । यत्कर्म यादृग् यदनुभाव यादृशस्थितिकं वा । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

जारुकण्ह-जारुकृष्ण-पुं० । वशिष्ठगोत्रान्तर्गते गोत्रभेदे, स्था० ७ ठा० ।

जाल-जाल-पुं० । चुरा० ' जल ' संवरणे । घञ् । घाने, ' जल घातने णिच्-अच् । कदम्बवृक्षे, गवाक्षे, दान० रा० । अ० । सच्छिद्रे, गवाक्षविशेषे च । जाल सच्छिद्रो गवाक्षविशेषः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जालक छिद्रान्वितो गृहावयवविशेषः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । औ० । " जालानि जालका भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि । रा० । जी० । सू० प्र० । च० प्र० । स० । जी० । " जालन्तरपवरशोषपद्टोवमो करुणावरो होइ " अपवरकजालकान्तरस्थप्रदीपप्रभोपमः । विशे० । गवाक्षच्छिद्रे, " गवाक्षजालैरभिनिष्पतन्त्यः " इति भट्टिः । मत्स्यधारणार्थं शणसूत्रनिर्मिते स्वनामख्याते आनाये, वाच० । ' जालुच्छिप्पणाणि " । जालेन वाऽऽनायनेोत्क्षेपणानि । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । मत्स्यबन्धनविशेषे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ' विपा० । " नहेव कौञ्चा समइक्कमंता, तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा " । जालानि बन्धनविशेषरूपाणि उत्त० १४ अ० " छिंदमपदिं जालेहिं " उत्त० १ अ० । " छिंदित्तु जालं अबलं व रोहिया ' उत्त० १४ अ० । अस्फुटकलिकायाम्, कुडमले, मृगपक्ष्यादिधारणार्थे पाशे, शाक्ये, दम्भे, समूहे च, वाच० । ज० । आ० म० । द्रव्या० । सं ताने, आव० ४ अ० । इन्द्रजाल, वाच० । चरणाभरणविशेषे च । न० । औ० ।

जालंतररयण-जालान्तररत्न-त्रि० । जालान्तरेषु जालकमध्यभागेषु रत्नानि यस्य । तस्मिन्, जालकानि च भवनभित्तिषु लोके प्रतीतान्येव तदन्तरेषु च शोभार्थं रत्नानि संभवन्त्येव । स० । रा० । च० प्र० । जी० । सू० प्र० ।

जालंधर-जालन्धर-पुं० । त्रिगर्ताख्ये देशे, तद्देशस्थे जने च । ब० व० । स्वनामख्याते योगिराजे, वाच० । गोत्रभेदे च । " देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए " । कल्प० १ क्षण । आ० चू० ।

जालंधरायण-जालन्धरायण-पुं० । गोत्रभेदे, " देवाणंदाए माहणीए जालंधरायणसगुत्ताए " । आचा० ३ चू० ।

जालकडग-जालकटक-पुं० । जालानि जालकानि भवनभित्तिषु लोकेऽपि प्रसिद्धानि तेषां कटकः समूहो जालकटक । जी० ३ प्रति० । जालकटकाकीर्णे रम्यसंस्थाने प्रदेशविशेषे, जी० ३ प्रति० । " विजयस्स णं दारस्स उभओ पासिं दुहओ णिसिहियाए दो दो जालकडगा पण्णत्ता " । जालकटको जालकटकाकीर्णो प्रदेशविशेषो । जं० १ वक्ष० । " सा णं जगतीए एकेणं जालकडएणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता " जी० ३ प्रति० । जालकटकाकीर्णो रम्यसंस्थानप्रदेशविशेषपङ्क्तिरिति भाव । जी० ३ प्रति० ।

जालग-जालक-पुं० । स्वार्थे-कन् । गवाक्षच्छिद्रे, पुं० । मोचकफले, नवकलिकासमूहे, जारके च । न० । वाच० । छिद्रान्विते गृहावयवविशेषे प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जालक विच्छित्तिच्छिद्रयत गृहावयवविशेष. । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जालकानि भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि । रा० । जी० । स० । सू० प्र० । च० प्र० । जी० । चरणाभरणविशेषे च । औ० । " सखिंखिणीजालपरिक्खित्ताण " सह किङ्किणिकाभि क्षुद्रघण्टिकाभि यज्जाल जालक तदाभरणविशेषस्तेन परिक्षिप्ता परिकरिता य ते तथा तेषाम् । औ० ।

जालगंठिया-जालग्रन्थिका-स्त्री० । जाल मत्स्यबन्धन, तस्येव ग्रन्थयो यस्या सा जालग्रन्थिका । जालवद् ग्रन्थियुतायाम्,

किं स्वरूपा सा ? इत्याह-

जालगंठियाइ वा, आणुपुव्विगंठिया वा अणंतरगंठिया परंपरगंठिया अण्णमण्णगंठिया अण्णमण्णगुरुयत्ताए अण्णमण्णभारियत्ताए अण्णमण्णगुरुयसंभारियत्ताए अण्णमण्णघडत्ताए चिट्ठति ।

(जालगंठिय त्ति) जाल मत्स्यबन्धन तस्येव ग्रन्थयो यस्या सा जालग्रन्थिका । किंस्वरूपा सा ? इत्याह-(आणुपुव्विगंठिय त्ति) आनुपूर्व्या परिपाट्या ग्रथिता गुम्फिता आद्युचितग्रन्थीनामादौ विधानादन्तोचितानां च क्रमेणान्त एव करणात्. एतदेव प्रपञ्चयन्नाह-(अणंतरगंठिय त्ति) प्रथमग्रन्थीनामनन्तरव्यवस्थापितैर्ग्रन्थिभि सह ग्रथिता अनन्तरग्रथिता एव परम्परैर्व्यवहितै सह ग्रथिता परम्परग्रथिता किमुक्त भवति-(अण्णमण्णगंठिय त्ति) अन्योऽन्य परस्परेण एकेन ग्रन्थिना सहान्या ग्रन्थिरन्येन सहान्य इत्येव ग्रथिता अन्योऽन्य ग्रथिता एव च-(अण्णमण्णगुरुयत्ताए त्ति) अन्योन्येन ग्रन्थनात् गुरुकता विस्तीर्णता अन्योऽन्यगुरुकता तया (अण्णमण्णभारियत्ताए त्ति) अन्योऽन्यस्य यो भार स विद्यते यत्र तदन्योऽन्यभारिकं तद्भावस्तत्ता तया एवमन्यैव प्रत्येको-

कार्यरूपस्य सयोजनेन तयोरेव प्रकर्षमभिधातुमाह-(अन्नमन्नगुरुयसभारियत्ताए त्ति) अन्योऽन्येन गुरुक यत्सभारिक च तत्तथा तद्भावस्तत्ता तया-(अन्नमन्नघडत्ताए त्ति) अन्योऽन्य घटा समुदायरचना यत्र तदन्याऽन्यघट तद्भावस्तत्ता तया-(चिट्ठइ त्ति) आस्ते, इति । भ० ५ श० ७ उ० ।

जालघरग-जालगृहक-न० । जालकान्विते गृहे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० । जालगृहकाणि गवाक्षयुतानि गृहकाणि । रा० । जी० । दार्वादिमयजालकप्रायकुड्य यत्र मध्यव्यवस्थित वस्तु बहिःस्थितैर्न दृश्यते । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । औ० ।

जालपंजर-जालपञ्जर-न० । गवाक्षे, जालपञ्जराणि गवाक्षापरपर्यायाणि । जी० ३ प्रति० । रा० । ज० ।

जालपगर-जालप्रकर-पुं० । ज्वालासमूहे, कल्प० ३ क्षण ।

जालविंद-जालवृन्द-न० । गवाक्षसमूहे, जी० ३ प्रति० ।

जाला-ज्वाला-स्त्री० । बादरतेजस्कायभेदे, प्रज्ञा० १ पद । " जालाए त्ति वा " ज्वाला अनलसबद्धेति । जी० ३ प्रति० । " जाला तु रघनज्जिा " । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । ज्वाला अनलसबद्धा दीपशिखेत्यन्ये । जी० १ प्रति० । ज्वालानाम् अनलसबद्धस्वरूपाणाम् । भ० १४ श० ७ उ० । ज्वाला छिन्नशिखा छिन्नमूला । स्था० ५ ठा० ३ उ० । ज्वालाच्छिन्नमूलानङ्गारप्रतिबद्धेति । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । ज्वाला छिन्नमूला ज्वलनशिखेव । उत्त० ३६ अ० । हस्तिनापुरवास्तव्यस्य पद्मोत्तरनृपतेर्भार्यायाम्, " हत्थिणाउरे तत्थ य पउमुत्तरो राया जाला तस्स देवी " ती० २१ कल्प । महापद्मचक्रवर्तिनो मातरि , स० । आव० । चन्द्रप्रभजिनस्य शासनदेवतायाम्, " अच्चुयसता जाला" (३३७) तस्या. वर्णका यथा-श्रीचन्द्रप्रभस्य ज्वाला । मतान्तरेण भृकुटिर्देवी पीतवर्णा वरालका—ख्यजीवविशेषवाहना चतुर्भुजा खड्गमुद्गरभूषितदक्षिणकरद्वया फलकपरशुयुतवामपाणिद्वया च । प्रव० २७ द्वार ।

जालाउ-जालायुष्-पुं० । द्वीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

जालाउय-जालायुष्क-पुं० । 'जालाउ' शब्दार्थे, प्रज्ञा० १ पद ।

जालामालिणी-ज्वालामालिनी-स्त्री० । प्रभासस्थायां देवतायाम्, ती० ४५ कल्प ।

जालावत-ज्वालयत्-त्रि० । दीपयति, महा० ७ अ० ।

जालि-जालि-पुं० । अनुत्तरोपपातिकदशाप्रथमवर्गाद्याध्ययनप्रतिबद्धवक्तव्यताकेऽनगारे, (अणु०)

तद्वक्तव्यता-

पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स अणुत्तरोववाइयस्स समणेणं ० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? । एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे रिद्धत्थमियसमिद्धे गुणसीले चेइए सेणिए राया धारिणी देवी सीहो सुमिणो 'जालिकुमारे' जहा मेहो अट्ठट्ठ तु दाओ० जाव उप्पिं पासाए फुट्टति० जाव विहरति । सामी समोसढे सेणिओ णिग्गओ जालि जहा मेहे तहा जालिनिग्गंतो तहेव निक्खंतो जहा मेहो एकारस अंगाइं अहिज्जति अहिज्जतित्ता गुणरयणतवोकम्मं जहा खंदयस्स एवं० जाव खदयस्स वत्तव्वया सो चेव चायणा आपुच्छति थेरेहिं सद्धिं विपुले तहेव दुरूहति, नवरं सोलस वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता काले मासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिमसोहम्मीसाण० जाव आरणअच्चुए कप्पे नवगेविज्जविमाणे पत्थडे उड्ढं दुरतीति चउवत्ता विजए विमाणे देवत्ताए उववण्णे तेणं थेरे भगवओ जालि अणगारे कालगयं जाणित्ता परिनिव्वाणवत्तियं काउस्सग्गं करेंति करेंतित्ता पत्तचीवराइं गिण्हति । तहेव उत्तरंति० जाव इमीसे आयारं भंडए भंते ! भगवं गोयमे ! जाव एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी जालिनाम अणगारे पगतिभद्दए सेणीओ जालिअणगारे कालगए कहिं उववण्णे एवं खलु गोयमा ! मम अंतेवासी तहेव० जाव खंदयस्स कालगए उड्ढं चंदिम० जाव विजयविमाणे देवत्ताए उववण्णे जालिसमणे भंते ! देवस्स केवइय कालं ठिती पण्णत्ता ? । गोयमा ! बत्तीसं सागरोवमा य ठिती पण्णत्ता । से णं भंते ! ततो देवलोगातो आउक्खएणं कहिं गच्छहिति गच्छहित्ता ? । गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झहिति त्ति । एवं खलु जंबू ! समणेणं० जाव संपत्तेणं अणुत्तरोववाइयदसाणं पढमस्स वग्गस्स पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते । अणु० १ वर्ग ।

अन्तकृद्दशाप्रथमवर्गाद्याध्ययनप्रतिबद्धवक्तव्यताकेऽनगारे च ।

तद्वक्तव्यता-

पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं बारवती नयरी तीसे जहा पढमे० जाव कण्हे वासुदेवे आहेवच्च० जाव विहरति । तत्थ णं बारवतीए णयरीए वासुदेवो राया, धारणी देवी, वण्णओ जहा गोयमो णवरं जालिकुमारे पण्णासतो दातो बारसगी सोलसवासपरियाओ सेसं जहा गोययस० जाव सेत्तुजे सिद्धो । अन्त० ४ वर्ग ।

जालिय-ज्वालित-त्रि० । दीपिते, आ० म० द्वि० । जी० ।

जालिया-जालिका-स्त्री० । वृन्ते, पकार्थिकानधिकृत्य (अन्त० ५ वर्ग०) जालक, जालिका, वृन्तम्, इति । विशे० । लोहकञ्चुके च । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जालुज्जल-ज्वालोज्ज्वल-त्रि० । प्रभोज्ज्वले, औ० ।

जालुज्जलपहसियाभिराम-ज्वालोज्ज्वलप्रहसिताभिराम-त्रि० ज्वाला एव यत् उज्ज्वल प्रहसितमिव प्रहसित तेनाऽभिरामो ज्वालोज्ज्वलप्रहसिताऽभिराम । ज्वालात्मकोज्ज्वलप्रहसितेनाऽभिरमणीये, जी० ३ प्रति० ।

जाव-यावत्-त्रि० । यत्परिमाणस्य मतुप् । "अन्त्यव्यञ्जनस्य" ।८।१।११। इति प्राकृतसूत्रेण तल्लोप । प्रा० १ पाद । यत्परिमाणे-

साकल्ये, व्याप्तौ, वाच० । परिमाणे, मर्यादायाम्, अवधारणे च । अव्य० । आ० चू० । प्रत्य० । (अत्र विशेषो 'जावज्जीवा' शब्दे द्रष्टव्यः)

जावइय–यावत्क–त्रि० । यत्परिमाणे, षो० ७ विव० । "अहवा जो जस्स जावइओ" । (जावइओ त्ति) यत्परिमाणो यावान् स एव यावत्को मुहूर्तादिपरिमाण. स तस्य तावत्क. पूजाकालो भवति । पञ्चा० ४ विव० ।

जावई–यावती–स्त्री० । गुच्छात्मके वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जावं च णं–यावच्च णम्–अव्य० । यावति काले, "जावचण त्ति" यावन्त कालमित्यर्थ. । भ० १ श० ८ उ० ।

जावंत–यावत्–पुं० । भगवत्या. प्रथमशतकस्य षष्ठे उद्देशे, "जावते त्ति" यावच्छब्दोपलक्षित. षष्ठ , यावतो भदन्तावकाशान्तरात्सूर्य इत्यादिसूत्रश्चासौ । भ० १ श० १ उ० ।

जावग–यापक–पुं० । हेतुभेदे,(स्था०)यापयति वादिन कालयापनां करोति । यथा काचिदसती पक्वैकरूपकेणैकैकमुष्ट्रलिण्डं दातव्यमिति दत्तशिक्षस्य पत्युस्तद्विक्रयार्थमुज्जयिनीप्रेषणोपायेन विटसेवायां कालयापनां कृतवतीति यापक । उक्त च–" उब्भामिया य महिला जावगहेउम्मि उट्टलिंडाइ " ति । इह पूर्वपक्षोपपातम्–प्रतिवादिन ज्ञात्वा तथा विशेषणबहुलो हेतुः कर्त्तव्यो यथा कालयापना भवति । ततोऽसौ नावगच्छति प्रकृतमिति स चेदृश. समाख्यते,सचेतना वायवोऽपरप्रेरणे सति तिर्यग्गनियतत्वाभ्या गतिमत्त्वात् गोशरीरवदिति । अत्र हि हेतुर्विशेषणबहुलतया परस्य दुरधिगमत्वात् वादिन. कालयापनां करोति । स्वरूपमस्यानवबुध्यमानो हि परो न झटित्येवानैकान्तिकत्वादिदूषणोद्भावनाय प्रवर्तितु शक्नोत्यतो भवत्यस्माद्वादिन. कालयापनेति । अथ वा–योऽप्रतीतिव्याप्तिकतया व्याप्तिसाधकप्रमाणान्तरसव्यपेक्षत्वान्न झटित्येव साध्ये प्रतीतिं करोति, अपि तु कालक्षेपेणेत्यसौ साध्यप्रतीतिं प्रति कालयापनाकारित्वात् यापक., यथा क्षणिक वस्त्विति पक्षे बौद्धस्य सत्त्वादिति हेतुर्न हि सत्त्वश्रवणादेव क्षणिकत्व प्रत्येति पर , इत्यतो बौद्धाः सत्त्व क्षणिकत्वेन व्याप्तमिति प्रसाधयितुमुपक्रमन्ते । तथा हि–सत्त्व नाम अर्थक्रियाकारित्वमेव, अन्यथा–वन्ध्यासुतस्यापि सत्त्वप्रसक्त ,अर्थक्रिया तु नित्यस्यैकरूपत्वात्, न क्रमेण नापि यौगपद्येन क्षणान्तरे अकर्तृत्वप्रसङ्गात् । इत्यतोऽर्थक्रियालक्षण सत्त्वमक्षणिकान्निवर्तमान क्षणिक एवावतिष्ठत इत्येव क्रमेण साध्यसाधने कालयापनाकारित्वाद् यापक सत्त्वलक्षणो हेतुरिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जावंताव–यावत्तावत्–अव्य० । यावच्च तावच्च, द्व० । बीजगणितप्रसिद्धे अव्यक्तमानानयनाय कल्प्ये प्रथमे राशौ, वाच० । स्था० । "जावताव त्ति वा गुणकारो त्ति वा एगट्ठ" इति वचनात् । गुणकारस्तेन यत्संख्यान तत्तथैवोच्यते तच्च प्रत्युत्पन्नमिति लोकरूढम् । अथवा–यावत कुतोऽपि तावत एव गुणकारा यावत्त्विकादित्यर्थ । यत्र विवक्षित सकलनादिकमानीयते तत् यावत्तावत्संख्यानमिति । संख्यानभेदे, स्था० १० ठा० । गणितभेदे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

तत्रोदाहरणम्–

" गच्छो वाञ्छाभ्यस्तो, वाञ्छायुतो गच्छसगुण कार्य ।
द्विगुणीकृतवाञ्छहृते, वदन्ति सङ्कलितमाचार्या ॥ १ ॥"

अत्र किल गच्छो दश १० ते च वाञ्छया यादृच्छिकगुणका रेणाष्टकेनाऽभ्यस्ता जाताऽशीतिः ८० ततो वाञ्छायुताऽस्ते अष्टाशीति. ८८ पुनर्गच्छेन दशभि. संगुणिता अष्टौ शतान्यशीत्यधिकानि जातानि,८८० ततो द्विगुणीकृतेन वाञ्छितगुणकारेण षोडशभिर्भागे हृते यल्लभ्यते तद्दशानां सकलितमिति ५५ । इदं च पाटीगणित श्रूयते । स्था० १० ठा० ।

जावजीव–यावज्जीव–अव्य० । यावदिति अयं शब्दोऽवधारणे वर्त्तते । (आ०म०) जीवन जीव', इति क्रियाशब्द. । आ०म०द्वि० । यावज्जीवो जीवनं प्राणधारण यावज्जीवम् । "यावदवधारणे"॥२।१।८॥ इति(पाणि०)अव्ययीभावसमास । आ०म०द्वि० । पा० । यावत् प्राणधारणमित्यर्थे, स्था०३ ठा०१ उ० । दर्श० । पं०सू० । "जावजीव परिसहा उवसग्गा य सखया" । "यावज्जीव" यावत्प्राणधारणम् । आचा०१ श्रु० ७ अ०८ उ० । आजन्मेत्यर्थे च । "जावजीवदुद्धराइ" । आजन्माप्यनुचरणीयानि । प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । "जावजीव पि इम, वज्जइ एयम्मि लोयम्मि (२२)" यावज्जीवम् आजन्म । पञ्चा० १० विव० । " जावजीव वधवाय करेंति " । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जावजीवा–स्त्री०यावज्जीव–अव्य० । (जावजीवाए त्ति) प्राकृतत्वात् । जीवनं जीव' प्राणधारण यावज्जीवो यावज्जीवनं यावदित्यनेनाऽव्ययीभावसमास' । ततश्च यावज्जीवम् प्राणधारण यावत् इत्यर्थे, पा० । "जावजीवाए अणिस्सिओ" यावज्जीव प्राणधारण यावत् । पा० । आ० म० । " करेमि भते ! सामाइय सव्व सावज्ज जोग पच्चक्खामि जावजीवाए " यावच्छब्द. परिमाणमर्यादावधारणवचनः । तत्र परिमाणे–यावन्मम जीवनपरिमाण तावत्प्रत्याचक्षामीति । मर्यादायाम्–यावज्जीवनमिति प्राणधारण मर्यादीकृत्य, अवधारणे–यावज्जीवनमेव प्रत्याख्यामि; न तस्मात् परत इत्यर्थ. । जीवन जीवेत्यय क्रियाशब्दः परिगृह्यते तया । अथवा प्रत्याख्यानक्रिया परिगृह्यते यावज्जीवो यस्या सा यावज्जीवा । आ० म० द्वि० ।

यावच्छब्दार्थमाह–

जावदयं परिमाणे, मज्जायाए ऽवधारणे चेइ ।
तावज्जीवं जीवण–परिमाणं जत्तियम्मि त्ति ॥३५१६॥
जावज्जीवमिहाऽऽरेण, मरणमज्जायओ न तं कालं ।
अवधारणे वि जाव–ज्जीवणमेवेह न उ परओ ॥३५१७॥

इह 'यावत्'अयं शब्दस्त्रिष्वर्थेषु वर्तते, तद्यथा–परिमाणे,मर्यादायाम् ,अवधारणे च इति । तत्र परिमाणार्थं तावदाह–(जावज्जीवमिति) किमुक्त भवति ?–यावन्मे जीवनपरिमाणमिहभवायुष्कस्य परिमाण तावन्त काल प्रत्याचक्षे इति । मर्यादार्थमाह–"जावज्जीव" इत्यादि । अत्र यावज्जीवमिति । किमुक्त भवति ?–आरेण मरणमर्यादाया अर्वाक् प्रत्याचक्षे, न पुनस्तत्काल प्रत्याख्यानग्रहणकाल एव. किं तु मरणसीमा यावत्प्रत्याख्यामीति । अवधारणेऽपि–यावद् इहभवे जीवनं तावदेव प्रत्याचक्षे, न तु परतो, देवाद्यवस्थायामविरतत्वे प्रत्याख्यानभङ्गप्रसङ्गात् । परतो मुत्कलमिति । विधिरपि न कर्तव्यो, भोगाशंसादोषानुषङ्गादिति स्वयमव द्रष्टव्यमिति ।३५१६।३५१७।

अत्राक्षेपपरिहारावाह–

जावज्जीवं पत्ते, जावज्जीवाए लिंगवच्चासो ।
भावपच्चयओ वा, जा जावज्जीवया ताए ॥३५१८॥

ननु उक्तन्यायेन यावज्जीवमिति निर्देशे प्राप्ते यावज्जीवया इति निर्देश किमर्थं भगवता सूत्रकृता विहित ?, इति शेष.। अत्र परिहारमाह-(लिंगवच्चासो त्ति) लिङ्गव्यत्ययोऽत्र प्रगवनाऽभिमतः, तेनत्थ निर्देश कृत इत्यर्थ । अथवा-यावज्जीवशब्दात् भावप्रत्यय उत्पाद्यते, ततश्चास्य भावप्रत्यये उत्पादिते या यावज्जीवता इति निष्पद्यते, तया यावज्जीवतया प्रत्याख्यामीति सबध्यत इति ॥३५१८॥

नन्वित्थमपि "यावज्जीवतया" इति प्राप्ते यावज्जीवया इति कथ भवतीत्याह—

जावज्जीवतया इति, जावज्जीवाए वण्णलोवाओ ।
जावज्जीवो जीसे, जावज्जीवाहवा सा उ ॥३५१९॥

यावज्जीवतयेति निर्देशे प्राप्ते यत् यावज्जीवया इत्युक्त तत् तकारलक्षणवर्णलोपादिति द्रष्टव्यम । तृतीय परिहारमाह-अथवा-जीवन जीवो यावज्जीवो यस्यां सा यावज्जीवा इति बहुव्रीहिस्तया 'यावज्जीवया' इत्येव द्रष्टव्यमिति ॥ ३५१९ ॥

अत्र विनेयपृच्छाम उत्तर चाह-

का पुण सा संवज्झइ, पच्चक्खाणकिरिया तया सव्वं ।
जावज्जीवाए ऽहं, पच्चक्खामीति सावज्ज ॥३५२०॥

का पुन. पूर्वोक्तबहुव्रीहावन्यपदार्थे सबध्यत ? इत्याह-प्रत्याख्यानक्रियेति, तया यावज्जीवया प्रत्याख्यानक्रियया सर्वं सावद्ययोगमह 'प्रत्याख्यामि' इति सबन्ध इति ॥३५२०॥

परिहारान्तरमाह-

जीवणमहवा जीवा, जावज्जीवा पुरा व सा नेया ।
तीए पाययवयणं, जावज्जीवाइ तइएय ॥३५२१॥

अथवा-जीवन जीवा इति स्त्रीलिङ्गाऽभिधायक एवाय शब्द' साध्यते, न तु जीव इति पुँल्लिङ्गाऽभिधायक ।ततश्च यथा पुरा पूर्वं तथा अत्राप्यर्थत्रयवृत्तिना यावच्छब्देन सह समासे सा यावज्जीवा ज्ञेया; तद्यथा-यावत्परिमाणा जीवा यावज्जीवा एव मर्यादावधारणयोरपि समास कार्य, तया यावज्जीवया प्रत्याख्यामि, प्राकृतवचने च पर्यन्ते एकारनिर्देशेन तृतीयसमवसेयेति ॥ ३५२१ ॥ विशे० ।

यावज्जीवता-स्त्री० । यावज्जीवो जीवन प्राणधारण यावज्जीवम् " यावदवधारणे " ॥२।१।८॥ इत्यव्ययीभावसमास. । यावज्जीव भावो यावज्जीवता प्राकृतेऽन्त्यतकारस्यालाक्षणिको लोप इति " जावजीवाए " इति सिद्धम् । आ० म० द्वि० । अलाक्षणिकवर्णलोपात् ।यावज्जीव भावो यावज्जीवता । आप्राणोपरमादित्यर्थे, पा० ।

यावज्जीवा-स्त्री० । यावज्जीवो यस्या सा यावज्जीवा, जीवितपरिमाणवत्यां प्रत्याख्यानादिक्रियायाम, (आ० म०)

अधुना यावज्जीवयेति व्याख्यायते तत्रादौ भावार्थमभिधित्सुराह-

जावदवधारणम्मी, जीवणमवि पाणधारणे भणियं ।
आपाणधारणाओ, पावनिवित्ती इहं अत्थे ॥

यावदित्यय शब्दोऽवधारण वर्तते । जीवनमपि प्राणधारण भणितम ।'जीव' प्राणधारणे इति वचनात् । ततो यावज्जीवया प्रत्याख्यामीति कोऽर्थ आप्राणधारण यावत् पापनिवृत्तिरिति, पर तस्तु न विधिर्नापि प्रतिषेध.। विधावाशंसादोषप्रसङ्गात् 'प्रतिषेधे तु सुरादिपूत्पन्नस्य भङ्गप्रसङ्गात् । इह जीवन जीव इति क्रियाशब्दो न जीवतीति जीव आत्मपदार्थ । जीवन च प्राणधारणम् । आ०म०प्र०। "जावजीवाए जाव से अट्ठी" । यावज्जीवया यावज्जीवतया वा, आजन्मेत्यर्थ । प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । जीवन जीवा यावत्परिमाणा जीवा जावज्जीवा । परिमाणवति मर्यादावति अवधारणवति च जीविते, विशे० ।

जावज्जीवा-यावज्जीवा-स्त्री० । 'जावजीवा' शब्दार्थे, विशे० ।

जावडि-जावडि-पु० । मधुमतीनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, (ती०) ।

" मधुमत्या पुरि श्रेष्ठी, वास्तव्यो जावडि' पुरा ।
अष्टाग्रे वर्षशते-ऽतीते श्रीविक्रमादिह ॥१॥
बहुद्रव्यव्ययाद्बिम्ब, जावडि स न्यवीविशत् । ती० १ कल्प ।
(तत्कथा ' सेत्तुंजय ' शब्दे)

जावसिय-जावसिक-पु० । जवस मुद्गमाषादिद्रव्यं, तेन चरन्तीति जावसिका' । बृ० १ उ० ।यासवाहिके, ओघ० ।

जास-जाष-पु० । पिशाचभेद, प्रज्ञा० १ पद ।

यास-पु० । यस-कर्तरि सञ्ज्ञाया घञ् । दुरालभायाम, प्रयासे, वाच० ।

जासुमण-जपासुमनस्-पु० । न० । जपा वनस्पतिविशेष. । तस्या. सुमनस पुष्पाणि । जपापुष्पे, अन्त० ४ वर्ग । "जासुमणकुसुमेइ वा " प्रज्ञा० १७ पद । (जासुमणकुसुमरासि त्ति) जपाकुसुमपुष्पस्य जा इति लोकप्रसिद्धस्य यो राशि । कल्प० ३ क्षण । वृक्षविशेषे च । जपासुमनसश्च वृक्षविशेष । आ० १ श्रु० १ अ० ।

जाहग-जाहक-पु० । सेहके, आ० म० प्र० । तिर्यग्विशेषे, आ० म० प्र० । न० । " स्तोक स्तोक पय पीत्वा, जाहको लेढि पार्श्वत. " । आ० क० ।

जाहत्थ-याथार्थ्य-न०। यथार्थस्य भावः। सत्यत्वे, वास्तविकत्वे, वाच० । आ० म० ।

जाहे-यदा-अव्य० । यद्-दाच् । यस्मिन्काले इत्यर्थे, "जाहे णं सक्के देविंदे देवे राया" (जाहेण त्ति) यदा । भ०१ श०९ उ०।

जि-एव-अव्य० । " पश्चादेवमेवैवेदानीं प्रत्युतेतस पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चलिउ एत्तहे"॥८।४।४२०॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे एवस्य जि. । प्रा० ४ पाद । इण्-वन् । सादृश्ये, अनियोगे, अवधारणे, चारनियोगे, विनिग्रहे, परिभवे, ईषदर्थे च । विशेष्यसंगत अन्ययोगव्यवच्छेदे, विशेषणसंगत. अयोगव्यवच्छेदे, वाच० ।

जि-धा०। अभिभवे,भ्वादि-अनिट् । जयति । अजैषित् । वाच०।

जिइंदिय-जितेन्द्रिय-पु० । इन्द्रियविकाराभावात् । भ० २ श० १ उ० । जितानि स्वविषयप्रवृत्तिनिषेधेन इन्द्रियाणि येन स जितेन्द्रिय । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । जितानि वशीकृतानि इन्द्रियाणि स्पर्शनादीन्यनेनेति जितेन्द्रिय । उत्त० १२ अ० । जिना स्वरूपोपयोगीकृता. पौद्गलिकवर्णादिष्वगमनात् इन्द्रिया येन स जितेन्द्रिय । अष्ट० ३० अष्ट० । वश्येन्द्रिये, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । " जिइंदिओ वज्जू " आ० म० प्र० । वशी-

कृतस्पर्शनादीन्द्रियकलापः । दश० २ चू० । विषयेषु रागादिनिरोद्धा । ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । "आयगुत्ता जिइंदिया" जितानि वशीकृतानि इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि यैस्ते तथा । एवंभूताः पापकर्म नाऽनुबध्नन्ति इति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । " धितिमंता जिइंदिया " । जितानि वशीकृतानि स्वविषयरागद्वेषविजयेनेन्द्रियाणि यैस्ते जितेन्द्रियाः । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । जितेन्द्रियाः शब्दादिषु रागद्वेषरहिताः । दश० ३ अ० । औ० ।

जिइंदियकसाय–जितेन्द्रियकषाय–त्रि० । न्यक्कृतकरणकोपादिभावे, " पियदढधम्मा जिइंदियकसाया " पञ्चा० १४ विव० ।

जिग्घ (घिंघ)–जिघ्र–धा० । घ्रा–गन्धग्रहणे, भ्वा० पर० अक० । ग्रहणभावे, सक० अनिट् । जिघ्रति । अघ्रात् । अघ्रासीत् । वाच० । " जिग्घइ " नि० चू० १ उ० ।

घ्राण–न० । घ्रायतेऽनेनेति । घ्रा–ल्युट् । नासिकायाम्, गन्धग्रहणे, वाच० । नि० चू० । (' गंध ' शब्देऽत्रैव भागे ७९५ पृष्ठे विशेषः)

जिणइगेड्डिआइरमण–जिनगृहगिड्डिकादिरमण–न० । कन्दुकगिड्डिकादिभिः क्रीडने, प्रव० ३८ द्वार । " जिणहगेड्डिआइरमण " जिनभवनस्य चतुरशीत्याशातनासु त्रिपष्टितम आशातनाभेदे, ध० २ अधि० ।

जिगीसु–जिगीषु–पु० । जि–सन् । जयेच्छावति, रत्ना० ८ परि० ।

जिट्ठ–ज्येष्ठ–त्रि० । वृद्ध–इष्ठन्–ज्यादेशः । अतिवृद्धे, श्रेष्ठे च । अग्रज, पुं० । (ध०)

" उचिअ एअ पि सहो–दरम्मि अ निअइ अप्पसममेअं ।
जिट्ठं व कणिट्ठं पि हु, बहु मन्नइ सव्वकज्जेसु ॥ ८ ॥ "

(निअइ त्ति) पश्यति (जिट्ठं व त्ति) ज्येष्ठो भ्राता पितृतुल्यस्तमिव तथा । ध० २ अधि० ।

जत्थ य जिट्ठकणिट्ठो, जाणिज्जइ जिट्ठवयणबहुमाणो ।
दिवसेण वि जो जिट्ठो, न य हीलिज्जइ स गोयमा ! गच्छो ॥६०॥

यत्र च गणे ज्येष्ठः, कनिष्ठश्च ज्ञायते । तत्र ज्येष्ठः पर्यायेण वृद्धः, कनिष्ठः पर्यायेण लघुः, तथा–यत्र ज्येष्ठस्य वचनमादेशाऽऽज्येष्ठवचनं तस्य बहुमानः सन्मानः ज्ञायते । "जिट्ठविणयबहुमाणे त्ति" पाठे तु ज्येष्ठस्य विनयबहुमानौ ज्ञायेते । तथा–यत्र च दिवसेनापि यो ज्येष्ठः स न हील्यते चकारात् यत्र पर्यायेण लघुरपि गुणवृद्धो न हील्यते सिंहगिरिशिष्यैर्वज्रस्वामिवत् । हे गौतम ! स गच्छो ज्ञेय इति । गच्छा० ६० । ध० २ अधि० ।

जेट्ठ–पु० । ज्येष्ठानक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी ज्यैष्ठी साऽस्मिन् मासे अण् । स्वनामख्याते चान्द्रे मासे, वाच० ।

जिट्ठकप्प–ज्येष्ठकल्प–पु० । ज्येष्ठो रत्नाधिक स एव कल्पो वृद्धसमुत्थव्यवहारो ज्येष्ठकल्पः । कल्पभेदे, (कल्प०) तत्र आद्यान्तिमजिनयतीनामुपस्थापनातः प्रारभ्य दीक्षापर्यायगणना, मध्यमजिनयतीनां च निरतिचारचारित्रत्वात् दीक्षादिनात् एव, अथ पितापुत्रमातादुहितृराजामात्यश्रेष्ठिवणिक्पुत्रादीनां सार्द्धं गृहीतदीक्षाणामुपस्थापने को विधिः ? । उच्यते–यदि पित्रादयः पुत्रादयश्च समकमेव षड्जीवनिकायाध्ययनयोगोद्वहनादिभिर्योग्यता प्राप्तास्तदा अनुक्रमेणैवोपस्थापना, अथ स्तोकमन्तरं तदा कियद् विलम्बेनापि पित्रादीनामेव प्रथममुपस्थापना, अन्यथा पुत्रादीनां वृहत्त्वेन पित्रादीनामप्रीतिः स्यात् । अथ पुत्रादीनां सप्रज्ञत्वेन अन्येषां निष्प्रज्ञत्वेन महदन्तरं तदा पित्रादिरेवं प्रतिबोध्यः भो महाभाग ! सप्रज्ञोऽपि तव पुत्रः अन्येभ्यो बहुभ्यो लघुर्भविष्यति तव पुत्रे च ज्येष्ठे तवैव गौरवम्, एवं प्रज्ञापितः । स यदि अनुमन्यते, तदा पुत्रादिः प्रथमम् उपस्थापनीयः, नान्यथा, इति कल्प० १ क्षण ।

जिट्ठचूइ–ज्येष्ठचूति–पुं० । काश्यपगोत्रोत्पन्ने स्वनामख्याते श्रमणे, "चउद्दसवरिससतेहिं, बोच्छेदो जिट्ठभूइसमणम्मि । कासवगोत्ते धम्मो, कप्पव्ववहारसुत्तस्स ॥१॥ " ती० १७ कल्प ।

जिट्ठयर–ज्येष्ठतर–त्रि० । अतिश्रेष्ठे, प्रा० २ पाद ।

जिट्ठा–ज्येष्ठा–स्त्री० । ज्येष्ठभगिन्याम्, वयोज्येष्ठायाम्, ज्येष्ठस्य पत्न्याम्, गङ्गायाम्, अलक्ष्म्याम्, अश्विन्यवधिके अष्टादशे नक्षत्रे च । वाच० । ज० ।

जिण–जिन–पुं० । जयति निराकरोति रागद्वेषादिरूपानरातीनिति जिनः । स० १ सम० । औणादिको नक्प्रत्ययः । दं० । जयति रागद्वेषमोहरूपानन्तरङ्गान् रिपूनिति जिनः । ध० २ अधि० । रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाष्टप्रकारकर्मजेतृत्वात् जिनः । आ० म० प्र० । दशा० । औ० । स्था० । प० स० । कर्म० । दर्श० । केवलिनि, विशे० । जिना सामान्यकेवलिनः । प्रज्ञा० १ पद । रागद्वेषादिशत्रुजेतारो जिना भवस्थकेवलिनः । पा० । चतुर्दशपूर्विणि, जिनाश्च केवलिनः चतुर्दशपूर्विणश्च । उत्त० ५ अ० । गच्छनिर्गतसाधुविशेषे च । स्था० ३ ठा० । ऋषभादिके चतुर्विंशतिसंख्याके तीर्थंकरे च । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । जिनकल्पिके च । "अक्कोसो होइ जिणाचिण्णो" जिनाः श्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानवन्तो जिनकल्पिकाश्च, तैश्चीर्णः आचरितो जिनचीर्णः । पञ्चा० ४ विव० । " जिनवरवसहस्स वद्धमाणस्स " । रागादिजयाज्जिनाः अवधिमनःपर्ययोपशान्तमोहाः क्षीणमोहाः तेषां मध्ये वराः प्रधानाः सामान्यकेवलिनः । सथा० । " जिणाण जावयाणं " रागद्वेषकषायेन्द्रियपरिषहोपसर्गघातिकर्मशत्रून् जितवन्तो जिनाः । जी० ३ प्रति० । कल्प० । "आरिहा जिणे केवली जिनो रागादिजेतृत्वात् । उपा० ७ अ० । अर्हन्, जिन, केवली, इत्येकार्थे शब्दत्रय चतुर्थज्ञातकभेदार्थोऽभिधायकम् । भ० २५ श० ६ उ० । आव० । "अणुत्तर धम्ममिणं जिणाणं " (७) जिनानामृषभादितीर्थंकृताम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । " जिणदिट्ठेण । " तीर्थकराज्ञिमतेन । अनु० । " लोगस्सुज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे । अरहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली ॥१॥" रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाष्टप्रकारककर्मजेतृत्वाज्जिनास्तान् । आ० म० द्वि० । " बावीसइ च निज्जिय–परीसहकसायविग्घसघाया । अजियाईया अविमा–रविंदरविणो जियंति जिणा ॥ २ ॥ " ति० । " उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे । " सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । " जियकोहमाणमाया, जिअलोहा ते जिणा होंति । " जितक्रोधमानमाया जितलोभा येन कारणेन भगवन्तस्तेन कारणेन ते जिना भवन्तीति । आ० म० द्वि० । न च रागादीनामसत्त्वं, प्रतिप्राणि अनुभवसिद्धत्वात् । न चानुभवोऽपि भ्रान्त, सुखदुःखाद्यनुभवेष्वपि भ्रान्तिप्रसङ्गात् । एवं च जेयसद्भावाज्जिनत्वमविरुद्धम् । ध० २ अधि० । " जिणाणं जावयाणं " जिनेभ्यो जापकेभ्य । तत्र रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गघातिकर्मजेतृत्वाज्जिनाः , न

सत्वेषामसतां जय', असत्त्वादेव हि सकलव्यवहारगोचरातीतत्वेन जयविषयतायोग्यत्वात् । भ्रान्तिमात्रकल्पनाऽप्येषामसङ्गतैव निमित्तमन्तरेण भ्रान्तेरयोगात्, चासदेव निमित्तमतिप्रसङ्गात्, चितिमात्रादेव तु तदभ्युपगमेऽनुपरम इत्यनिर्मोक्षप्रसङ्ग. । तथापि तदसत्त्वे अनुभवबाधा, न हि मृगतृष्णिकादावपि जलाद्यनुभव', आत्मनाऽप्यसत्त्वेव अविरुद्धङ्गनादिसिद्धमेतत् । न चाय पुरुषमात्रनिमित्तः सर्वत्र सद्भावेऽनुपपत्ते., नेह मृगतृष्णिकादावपि जलाद्यनुभवो चितिमात्रनिबन्धना रागादय इति भावनीयम् । एव च तथा-भ्रमत्वादिसामग्रीसमुद्भूतचरणपरिणामतो रागादिजेतृत्वादिना तात्त्विकजिनादिसिद्धिः । सू० । "जद् जिणस्स वीरस्स" व्याख्या-भद्र जिनस्य वीरस्य । जयति रागादिशत्रुगणमिति जिन. । औणादिको नक्प्रत्यय । तस्य भद्र भवतु । अनेनापायातिशयमाह—'अपायो विश्लेष.' तस्यातिशयः प्रकर्षभावोऽपायातिशयो रागादिभिस्सहात्यन्तिको वियोग इत्यर्थः । ननु रागादिभि. सहात्यन्तिको वियोगोऽसम्भवी प्रमाणबाधनात्, तच्च प्रमाणमिदम्-'यदनादिमत् तद्विनाशमाविशति' यथा-आकाशम्, अनादिमन्तश्च रागादय इति । किञ्च-रागादयो धर्मास्ते च धर्मिणो भिन्ना',अभिन्ना वा ? । यदि भिन्ना तर्हि सर्वेषामविशेषेण वीतरागत्वप्रसङ्ग, रागेभ्यो भिन्नत्वात् विवक्षितपुरुषवत् । अथ अभिन्नास्तर्हि तत्क्षये धर्मिणोऽप्यात्मनः क्षय । तदभिन्नत्वात् तत्स्वरूपवत् । कुतस्तस्य वीतरागत्वम्, तस्यैवाभावादिति । अत्रोच्यते-इह यद्यपि रागादयो दोषा अनादिमन्तस्तथापि कस्यचित् स्त्रीशरीरादिषु यथावस्थितवस्तुतत्त्वावगमेन तेषां रागादीनां प्रतिपक्षभावनात. प्रतिक्षणमपचयो दृश्यते, ततः सम्भाव्यते विशिष्टकालादिसामग्रीसद्भावे भावनाप्रकर्षविशेषभावतो निर्मूलमपि क्षयः । अथ यद्यपि प्रतिपक्षभावनात प्रतिक्षणमपचयो दृष्ट तथापि तेषामात्यन्तिकोऽपि क्षय. सम्भवतीति कथमवसेयम् ? । उच्यते-अन्यत्र तथा प्रतिबन्धग्रहणात् । तथाहि-शीतस्पर्शसपाद्या रोमहर्षादयः शीतप्रतिपक्षस्य वह्नेर्मन्दतायां मन्दा उपलब्धाः, उत्कर्षे च निरन्वयविनाशधर्माणः । ततोऽन्यत्रापि बाधकस्य मन्दतायां बाध्यस्य मन्दतादर्शनाद्बाधकोत्कर्षे । अवश्य बाध्यस्य निरन्वयो विनाशो वेदितव्यः । अन्यथा-बाधकमन्दतायां मन्दतापि न स्यात । अथास्ति ज्ञानस्य ज्ञानावरणीय कर्म बाधक ज्ञानावरणीयकर्ममन्दतायां च ज्ञानस्यापि मनाक् मन्दता । अथ च-प्रबलज्ञानावरणीयकर्मोदयोत्कर्षेऽपि ज्ञानस्य निरन्वयो विनाश' । एव प्रतिपक्षभावनोत्कर्षेऽपि न रागादीनामत्यन्तोच्छेदो भविष्यतीति । तदयुक्तम्-द्विविध हि बाध्यम्-सहभूतस्वभावभूतम्, सहकारिसंपाद्यस्वभावभूतं च । तत्र यत्सहभूतस्वभावभूत तत्र कदाचिदपि निरन्वयविनाशमाविशति । ज्ञान चात्मन सहभूतस्वभावभूतम् आत्मा च परिणामी नित्य ,ततोऽत्यन्तप्रकर्षवत्यपि ज्ञानावरणीयकर्मोदयेन निरन्वयविनाशो ज्ञानस्य, रागादयस्तु लोभादिकर्मविपाकोदयसंपादितसत्ताका तत. कर्मणो निर्मूलमपगमे तेऽपि निर्मूलमपगच्छन्ति, तथासतां कर्मसंपाद्या रागादयः । तथापि कर्मनिवृत्तौ ते निवर्तन्ते इति नावश्य नियमो, न हि दहननिवृत्तौ तत्कृता काष्ठेऽङ्गारता निवर्तते । तदसत् । यत इह किञ्चित् कचित् निवर्त्य विकारमापादयति । यथाऽग्नि सुवर्णे द्रवताम्, तथा हि-अग्निनिवृत्तौ तत्कृता सुवर्णे द्रवता निवर्तते । किञ्चित् पुन. कचिदनिवर्त्य विकारारम्भकम् । यथा-स एवाग्नि. काष्ठेन खलु श्यामतामात्रमपि काष्ठे दहनकृत तन्निवृत्तौ निवर्तते । कर्म चात्मनि निवर्त्यं विकारारम्भकम्, यदि पुनरनिवर्त्यं विकारारम्भक भवेत्तर्हि यदपि तदपि कर्मणा कृत न कर्मनिवृत्तौ निवर्तेत । यथाऽग्निना श्यामतामात्रमपि काष्ठे कृतम् । अग्निनिवृत्तौ,ततश्च यदेकदा कर्मणापादित मनुष्यत्वममरत्व कृमिकीटत्वमसत्त्व शिरोवेदनादि तत्सर्वकाल तथैवावतिष्ठेत । न चैतत् दृश्यते । तस्मान्निवर्त्यं विकारारम्भक कर्म, तत. कर्मनिवृत्तौ रागादीनामपि निवृत्ति. । अत्राहुर्बार्हस्पत्या.-नैते रागादयो लाभादिकर्मविपाकोदयनिबन्धना., किं तु कफादिप्रकृतिहेतुका. । तथाहि-कफहेतुको राग , पित्तहेतुको द्वेष', वातहेतुकश्च मोह. । कफादयश्च सदैव सन्निहिता. शरीरस्य तदात्मकत्वात् ततो न वीतरागत्वसम्भवः । तदयुक्तम् । रागादीनां कफादिहेतुकत्वायोगात् । तथाहि-स तद्धेतुको योऽय न व्यभिचरति, यथा धूमोऽग्निम् । अन्यथा-प्रतिनियतकार्यकरणभावव्यवस्थानुपपत्ते । न च रागादय. कफादीन व्यभिचरन्ति, व्यभिचारदर्शनात् । तथाहि-वातप्रकृतेरपि दृश्येते रागद्वेषौ, कफप्रकृतेरपि द्वेषमोहौ, पित्तप्रकृतेरपि मोहरागौ । तत. कथ रागादय' कफादिहेतुका. । अथ मन्येथा -एकैकाऽपि प्रकृति सर्वेषामपि दोषाणां पृथक् पृथक् जनिका तनायमदोष इति । तदयुक्तम्-एव सति सर्वेषामपि जन्तूनां समरागादिदोषप्रसक्ते. अवश्य हि प्राणिनामेकतमया कयाचित् प्रकृत्या भवितव्यम् । सा चाविशेषेण रागादिदोषेण रागादिदोषाणामुत्पादिकेति, सर्वेषामपि समानरागादिताप्रसक्तिः । अथास्ति प्रतिप्राणि पृथक् पृथगवान्तरः कफादीना परिणतिविशेष., तेन न सर्वेषां समरागादिताप्रसङ्ग. । तदपि न साधीय । विकल्पयुगलानतिक्रमात् । तथाहि-सोऽप्यवान्तर' कफादीना परिणतिविशेष , सर्वेषामपि रागादीनामुत्पादक , आहोस्विदेकतमस्यैव कस्यचित् । तत्र यद्याद्य पक्षस्तर्हि-यावत् स परिणतिविशेष तावदेककाल सर्वेषामपि रागादीनामुत्पादप्रसङ्ग' । न चैककालमुत्पाद्यमाना रागादय संवेद्यन्ते क्रमेण तथा वेदनाच्च खलु रागाध्यवसायकाले द्वेषाध्यवसायो मोहाध्यवसायो वा संवेद्यते । अथ द्वितीयः पक्ष -तथापि यावत्स कफादिपरिणतिविशेषस्तावदेक एव कश्चिद्रागादिदोष प्राप्नोति । अथ च-तदवस्थ एव कफादिपरिणतिविशेषे सर्वेऽपि दोषा' क्रमेण पराभूत्योपजायमाना उपलभ्यन्ते । अथादृश्यमान एव केवलकार्यविशेषदर्शनोन्नीयमानसत्ताकस्तदा तदा तत्तद्रागादिदोषहेतु. कफादिपरिणतिविशेषो जायते । तेन पूर्वोक्तदोषावकाशः । ननु यदि स परिणतिविशेष. सर्वथाऽननुभूयमानस्वरूपोऽपि परिकल्प्यते, तर्हि कर्मैव किं नाभ्युपगम्यते । एष हि लोकशास्त्रमार्गोऽप्याराधितो भवति । अपि च-स कफादिपरिणतिविशेष. कुतस्तदा तदा अन्यान्यरूपेणोपजायते इति वक्तव्य देहादिति चेत्,ननु तदवस्थेऽपि देहे भवद्भि कार्यविशेषदर्शनत' तस्यान्यथाभवनमिष्यते । तत्कथम् ? तद्देहनिमित्त न हि यदविशेषेऽपि तद्विक्रियते स विकारस्तद्धेतुक इति वक्तु शक्यम् । नाप्यन्यो हेतुरुपलभ्यते, तस्मात्तदप्यन्यथाभवन कर्महेतुकमेष्टव्यम् । तथा च सति-कर्मैवैकमभ्युपगम्यताम् किमन्तर्गडुना ?, तद्धेतुतया कफादिपरिणतिविशेषाभ्युपगमेन, किं चाभ्यासजनितप्रसरा प्रायो रागादय' । तथाहि-यथा यथा रागादय सेव्यन्ते, तथा तथा ऽभिवृद्धिरेव,तेषामुपजायते । न प्रहाणि. । तेन समानेऽपि कफा-

दिपरिणतिविशेषे तद्वयस्येऽपि च देहे यस्येह जन्मनि परत्र वा यस्मिन् दोषोऽभ्यासः स तस्य प्राचुर्येण प्रवर्तते । शेषस्तु मन्दतया, ततोऽभ्याससंपाद्यकर्मोपचयहेतुका एव रागादयः, न कफादिहेतुकाः, इति प्रतिपत्तव्यम् । अन्यच्च-यदि कफहेतुको रागः स्यात् तत कफवृद्धौ रागवृद्धिर्भवेत्, पित्तप्रकर्षे नापकर्षश्च त् । न च भवति, तदुत्कर्षेऽप्यपीडाबाधिततया द्वेषस्यैव दर्शनात् । अथ पक्षान्तरं गृह्णीयाः, यदुत न कफहेतुको रागः, किं तु कफादिदोषसाम्यहेतुक । तथाहि-- कफादिदोषसाम्ये विरुद्धव्याध्यभावतो रागाद्भवा दृश्यत इति। तदपि न समीचीन व्यभिचारदर्शनात्, न हि यावत्कफादिदोषसाम्य तावत्सर्वदैव रागोद्भवोऽनुभूयते, व्याध्युद्भवस्यानुभवात् । न च यद्भावेऽपि यन्न भवति तत्तद्धेतुक स चेतसा वक्तु शक्यम । अपि च-एवमभ्युपगमे ये विषमदोषा ते रागिणो न प्राप्नुवन्ति । अथ च तेऽपि रागिणो दृश्यन्ते। स्यादेतत् अत्र वैसर्प्यात् । तत्र निर्वचिम-शुक्रोपचयहेतुको रागो नान्यहेतुक इति । तदपि न युक्तमेव ह्यत्यन्तस्त्रीसेवापरतया शुक्रक्षयतः क्षरत्कृतजाना रागिता न स्यात् । अथवैतेऽपि तस्यामवस्थायां नितरां रागिणो दृश्यन्ते । किं च-यदि शुक्रस्य रागहेतुता, तर्हि तस्य सर्वस्त्रीषु साधारणत्वात् । नैकस्त्रीनियतो रागः कस्यापि भवेत् , दृश्यते च कस्याप्येकस्त्रीनियतो रागः । अथोच्येत-रूपस्यापि कारणत्वम् रूपातिशयलुब्ध तस्यामेव रूपवत्यामभिरज्यते । न योषिदन्तरे । उक्त च-
" रूपातिशयपाशेन, विवशीकृतमानसाः । स्वां योषितं परित्यज्य, रमन्ते योषिदन्तरे ॥ १ ॥ " तदपि न मनोरमम् । रूपरहितायामपि क्वापि रागदर्शनात् । अथ तत्रोपचारविशेष समीचीनो भविष्यति, तेन तत्राभिरज्यते उपचारोऽपि च रागहेतुर्न रूपमेव केवलम् । तेनायमदोष इति । तदपि व्यभिचारित्वेनापि विमुक्तायां क्वचिद्रागदर्शनात् तस्मादभ्यासजनितोपचयपरिपाक कर्मैव विचित्रस्वभावतया तदा तदा तत्तत्कारणापेक्ष तत्र तत्र रागादिहेतुरिति । कर्महेतुका रागादयः । एतेन यदपि कश्चिदाह-पृथिव्यादिभूतानां धर्मा एते रागादयः । तथाहि- पृथिव्यम्बुभूयस्त्वे रागः, तेजोवायुभूयस्त्वे द्वेषः, जलवायुभूयस्त्वे मोह इति । तदपि निराकृतमवसेयम, व्यभिचारात् । तथाहि-यस्यामेवावस्थायां द्वेषो मोहोऽपि दृश्यते तत एतदपि यत्किंचित् । तस्मात्कर्महेतुका रागादयः । ततः कर्मनिवृत्तौ निवर्तन्ते । प्रयोगश्चात्र-ये सहकारिसंपाद्या यदुपधानादपकर्षिणः ते तदत्यन्तक्षये निरन्वयविनाशधर्माणः यथा रोमहर्षादयो वह्निक्षये भावनोपधानादपकर्षिणश्च । सहकारिकर्मसंपाद्या रागादय इति । अत्र सहकारिसंपाद्या इति विशेषण सहभूतस्वभावबोधादिव्यवच्छेदार्थम् । यदपि प्रागुपन्यस्त प्रमाण 'यत्सादिमत् न तद्विनाशमाविशति' । यथाकाशमिति । तदप्यप्रमाणम् । हेतोरनैकान्तिकत्वात् । प्रागभावेन व्यभिचारात् । तथाहि-प्रागभावोऽनादिमानपि विनाशमाविशति । अन्यथा कार्योत्पत्तः भावनाधिकारो न सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयसात्म्यत्वमभ्विनो वेदितव्य इतरस्य तदनुरूपानुष्ठानप्रवृत्त्यभावेन तस्य मिथ्यारूपत्वात् । आह च-" णाणी तवम्मि निरओ, चारित्ती भावणाइजोगो त्ति " सा च रागादिदोषनिदानस्वरूपविपक्षफलगोचरा यथागममेवमवसेया ।

" ज कुच्छियाणुओगो, पयवाणिसुद्धम्स होइ जीवस्स ।
एएसि भो ! नियाए, बुहाण न य सुंदरं एय ॥ १ ॥
रूव पि संकिलेसो-ऽभिस्सगा पीडमाइलिंगो उ ।
परमसुहपच्चणीओ, एत्थ पि असोहणं चेव ॥ २ ॥
विसओ य भंगुरो खलु, गुणरहिओ ण्हं तहा रूवो ।
सपत्तिनिप्फलो के-वल तु मूल अणत्थाण ॥ ३ ॥
जम्मजरामरणाई-विचित्तरूवो फल तु ससारो ।
बहुजणनिव्वेयकरो, एसो वि तहाविहो चेव ॥ ४ ॥

अपि च-सूत्रानुसारेण ज्ञानादिषु यो नैरन्तर्येणाभ्यासस्तद्रूपाऽपि भावना वेदितव्या । तस्या अपि रागादिप्रतिपक्षत्वात् । न हि तत्त्ववृत्त्या सम्यग्ज्ञानाद्यभ्यासे व्यापृतमनस्कस्य स्त्रीशरीररमणीयकादिविषये चेतःप्रवृत्तिमातनोति । तथानुपलम्भात् । नं० । ते च जिना त्रिविधाः तथा च-" तओ जिणा पण्णत्ता । तं जहा-ओहिनाणजिणे, मणपज्जवनाणजिणे, केवलनाणजिणे " " तओ जिणे " इत्यादि । सुगमा, नवरं रागद्वेषमोहान् जयन्तीति जिनाः सर्वज्ञाः । उक्त च-" रागद्वेषस्तथा मोहो, जितो येन जिनो ह्यसौ । अस्त्रीशस्त्राक्षमालत्वा-दर्हन्नेवानुमीयते ॥१॥" इति । तथा जिना इव ये वर्तन्ते निश्चयप्रत्यक्षज्ञानतया तेऽपि जिना ,तत्रावधिप्रधानो जिनोऽवधिज्ञानिजिन एवमितरावपि, नवरमाद्यावुपचरितावितरो निरुपचार उपचारकारण तु प्रत्यक्षज्ञानित्वमिति । स्था० ३ ठा० ४ उ० । " वदामि जिणवरिंद " जयन्ति रागादिशत्रूनभिभवन्ति जिनाः । ते चतुर्विधाः । तद्यथा-श्रुतजिनाः । अवधिजिनाः । मनःपर्यायजिनाः । केवलिजिनाः । प्रज्ञा० १ पद ।

जिननिक्षेपश्चतुर्धा-

"चउह जिणा नामठाव-णदव्वभावजिणभेयहिं ॥३१॥
नामजिणा जिणनामा, ठवणजिणा पुण जिणिंदपडिमाओ ।
दव्वजिणा जिणजीवा,भावजिणा समवसरणत्था ३२" ध०र०।

जिनाश्चतुर्धा-नामजिनाः, स्थापनाजिनाः, द्रव्यजिनाः, भावजिनाश्चेति । तत्र जिनानां तीर्थकृतां नामानि ऋषभाजितसम्भवादीनि । नाम जिनाः । तथा-अष्टमहाप्रातिहार्यादिसमृद्धि साक्षादनुभवन्त । केवलिनः समुत्पन्नकेवलज्ञाना । शिवगताश्च परमपद प्राप्ता । भावतः सद्भावतो जिना ,भावजिनाः । गाथानुलोम्याच्च अनानुपूर्व्या भावजिना व्याख्याताः । स्थापनाजिनाः प्रतिमा ,काञ्चनमुक्ताशैलमरकतादिभिर्निर्मिताः, द्रव्यजिना ये जिनत्वेन भाविनो भविष्यन्ति जीवाः श्रेणिकादय इति । प्रव०४२द्वार ।

जिनाना सर्वथास्तित्वम्-

अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवा वि भविस्सइ ।
मुसं ते एवमाहंसु, इइ भिक्खू न चिंतए ॥ ४५ ॥

अभूवन् आसन् जिना रागादिजेतारः 'अस्ति' इति विभक्तिप्रतिरूपको निपातः । ततश्च विद्यन्ते जिनाः अस्य कर्मप्रवादपूर्वसप्तदशप्राभृतोद्धृततया वस्तुतः सुधर्मस्वामिनैव जम्बूस्वामिन प्रति प्रणीतत्वात् तत्काले च जिनसम्भवादित्ययुक्त विदेहादिक्षेत्रान्तरापेक्षया वा इति भावनीयम् । (अदुवत्ति) अथवा-अपिभिन्नक्रमः (भविस्सइ त्ति) वचनव्यत्ययाद्भविष्यन्ति जिना इत्यपि मृषा असत्यं ते जिना अस्तित्वादिना एवमनन्तरोक्तन्यायेन (आहंसु त्ति) आहुः ब्रुवन् इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् । जिनस्य सर्वज्ञाधिक्षेपप्रतिक्षेपादिषु प्रमाणोपपन्नतया प्रतिपादनात्सकलदेहमूलत्वाच्च सकलैहिकामुष्मिकव्यवहाराणामितिसूत्रार्थः । उत्त० २ अ० ।

"जिनैस्तदुक्तं जीवो वा, धर्माधर्मौ भवान्तरम् । परोक्षत्वा-त्सुधा नैवं, चिन्तयेत् महतां महात् ॥२॥" आ० म० द्वि० ।

अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा ।
जिअरागदोसमोहा, य णऽणहावाइणो तेणं ॥ ५० ॥

अनुपकृते परैरवर्तिते सति परानुग्रहपरायणाः धर्मोपदेशादिना परानुग्रहोद्युक्ता' इति समासः । यद् यस्मात् कारणात् के जिनाः प्राङ्निरूपितशब्दार्थाः । त एव विशेष्यन्ते । जगत्प्रवराः चराचरश्रेष्ठा इत्यर्थः । एवंविधा अपि कदाचिद्रागादिभावाद् वितथवादिनो भवन्ति ?। अत आह-जिता निरस्ता रागद्वेषमोहा यैस्ते तथाविधाः तत्राऽभिष्वङ्गलक्षणो रागः, अप्रीतिलक्षणो द्वेषः,अज्ञानलक्षणश्च मोहः। चशब्द. एतद्भावगुणसमुच्चयार्थः । नान्यथावादिनः तेनेति, तेन कारणेन ते नान्यथावादिनः इति। उक्तं च-"रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषा-स्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥ १ ॥" इति गाथार्थः । आव० ४ अ० ।

" जिनभवनं जिनबिम्बं,
जिनपूजां जिनमतं च यः कुर्यात् ।
तस्य नरामरशिवसुख-
फलानि करपल्लवस्थानि ॥ १ ॥" प्रति० ।

जिनवर्णको यथा-

" श्रियां निवासं निखिलार्थवेदकं,
सुरेन्द्रसंसेवितमन्तरारिघम् ।
प्रमाणयुक्त्यायनयप्रदर्शकं,
नमामि जैनं जगदीश्वरं महः ॥१॥" द्रव्या० १ अध्या० ।

" पुरुखु नमिउ जिणं, वंदारुजणे गयम्मि सुठाणे ।
विहिणा वंदिय देवे, नरो इय थुणइ जिणनाहं ॥ २६ ॥
जय जय सामिय जिणवर !, केवलाकलियवत्थुपरमत्थ !
नयपयमणिकरनाकुर, ! सुरवरसयनमियकमकमल ! ॥ ३० ॥
भवरोगमुक्कविग्गह,! गहवइदिप्पतकंतभावलय ! ।
सयपवज्झाणसोहिय,! हियकर! नी-सेससत्ताण ॥ ३१ ॥
पत्तो हं जेण मए, अपारपारम्मि भवसमुद्दम्मि ।
भवसयसहस्सदुल्लह, ज पहु तुह दसण ग्रह।३२।"(घ०र०)
" सज्ज्ञानलोचनविलोकितसर्वभावं,
निःसीमभीमभवकाननदाहदावम् ।
विश्वार्चितं प्रवरचारुसुधर्मरत्न-
रत्नाकरं जिनवर प्रयतः प्रणौमि ॥ २ ॥ " ध० र० ।
" यथास्थिताशेषपदार्थसार्थ-
क्रमार्थसत्थानविधिप्रवीणम् ।
जिनं जनानन्दकरं कृपाब्धिं,
नमामि भव्याम्बुजबोधसूरम् ॥१॥ " दश० १ अ० ।

जिनानां स्वरूपवर्णको यथा-

" पुरवरकवाडवच्छा, फलिहभुआ दुंदुहित्थणिअघोसा ।
सिरिवच्छंकिअवच्छा, सव्वे वि जिणा चउव्वीसं ॥१॥" अनु०। जयति समार, जि-नङ्। बुद्धे,विष्णौ च। जित्वरे,त्रि०। वाच०।

जि-जये, भ्वादि-पर०सक०अनिट्" चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धू-गां णो ह्रस्वश्च "। ८। ४। २४१। इति प्राकृतसूत्रेणैषामन्त णकारागम ह्रस्वश्च । जिणइ जयइ । प्रा० ४ पाद ।

जिणंत-जयत्-त्रि० । अभिभवति, दश०४ अ० ।

जिणंतर-जिनान्तर-न० । जिनयोर्मध्यभागे, " एयसि णं भंते ! चउव्वीसाए तित्थगराणं कइ जिणंतरा पएणत्ता ?। गोयमा ! तेवीसं जिणंतरा पएणत्ता । भ० ३ श० २ उ० । (विशेषतः जिनान्तराणि 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ६५ पृष्ठे द्रष्टव्यानि)

जिणकप्प-जिनकल्प-पुं० । जिनाः गच्छनिर्गतसाधुविशेषाः तेषां कल्पः समाचारः । प्रव० ४३ द्वार । जिनानां कल्पो जिनकल्पः । कल्पो नीतिर्मर्यादा सामाचारी । पं० चू० । जिनानामिव कल्पो जिनकल्पः । उग्रविहारविशेषे, ध० ३ अधि० । अभ्युद्यतविहारे, । बृ० १ उ० ।

विषय सूची-

(१) जिनकल्पिकानाश्रित्य द्वारसंग्रहः ।
(२) प्रव्रज्याद्वारम् ' पव्वज्जा ' शब्दे ।
(३) शिक्षाद्वारम् 'सिक्खा' शब्दे । अस्य प्रकृतयोजनात्रैव।
(४) अनन्तरोक्तेनानियतवासेन अल्पमात्रविहारद्वारेण च सह निष्पत्तिद्वारम् । -
(५) निष्पत्तिद्वारे प्रतिद्वारभूतमुपसंपदादिद्वारचतुष्टयम् ।
(६) तत्र प्रथममुपसंपद्द्वारम् । तच्च अभ्योजितद्वारेण त्रिभिः प्रकारैश्च सह उपवर्णितम् ।
(७) तत्र द्वितीयमस्थिरत्वद्वारम् । तच्चात्मपरोभयतुलनया त्रिविधम् । ते च तुलने प्रत्येकं चतुर्विधे ।
(८) तत्र तृतीयं प्रतीच्छनाद्वारम् । तच्च सोपनयेन स्तुपदृष्टान्तेन समन्वितम् ।
(९) तत्र चतुर्थं वाचनाद्वारम् । तच्चोपदेशस्मारणाप्रतिस्मरणाभिः त्रिविधम् । मद्दनादिदृष्टान्तत्रयेण, निष्काशनादिविधिना स्थिरीकरणाय राजदृष्टान्तेन चोपदर्शितम् ।
(१०) विहारद्वारम् । तत्र जिनकल्पिकमाश्रित्य प्रतिद्वाररूपाणि । अव्यवच्छित्तिमन आदीनि षट् द्वाराणि ।
(११) तत्र द्वितीयमाचार्यादिरूपपञ्चतुलनात्मकम् ।
(१२) तत्र चतुर्थं परिकर्मद्वारम् । अस्य द्विविधत्वमस्यैवाधिकारस्य (१६) अङ्के द्रष्टव्यम् ।
(१३) तत्र पञ्चम तपआदिपञ्चकानां पञ्चतुलनाभावनारूपम् । अत्रैव प्रथमा । द्वितीया सत्त्वभावना 'सत्तभावणा' शब्दे । तृतीया सूत्रभावना 'सुत्तभावणा ' शब्दे ।
(१४) तुलनाभावनापञ्चके चतुर्थैकत्वभावना सदृष्टान्ता ।
(१५) तुलनाभावनापञ्चके दिव्याद्युपसर्गसहनरूपा पञ्चमी बलभावना भावबलेन शारीरबलेन च द्विविधा ।
(१६) पूर्वोक्त परिकर्म पाणिप्रतिग्रहपरिकर्मभ्यां सर्वकालेऽपरिकर्मभ्यामाहारोपधिभेदाभ्यां च द्विविधम्, पुन केनाऽऽसनेन कथंभूतेषु संस्तारकेषु चोपविशति जिनकल्पिक इति ।
(१७) विहारद्वारगतषड् वरवृत्तद्वारम् । द्रव्यादावनुकूले, कस्य पार्श्वे, कस्य तरोरधस्तनप्रदेशे वा जिनकल्पिकत्वं स्वीकरणीयम् । तच्च केन विधिना । ततः क्षामणम् । शेषा' किं कुर्वन्ति । क्षामणायां के गुणाः । जिनपदस्थापितसूरेरनुशिष्टिं साधूनामनुशिष्टिं प्रदाय किं करोतीत्यादि प्रतिपादितम् ।
(१८) सामाचारीद्वारम् । आवश्यकादिपञ्चसामाचार्यो जिनकल्पिक प्रयुङ्क्ते अन्या न । आदेशान्तरमप्यत्रैवोक्तम् ।

(१९) श्रुतादिकानां वक्ष्यमाणसामाचारीणां सप्तविंशति-द्वारसंग्रहगाथा ।
(२०) श्रुतादिसप्तविंशतिद्वारेषु सप्तविंश मासकल्पद्वारम् ।
(२१) जिनकल्पी चतुर्थ्यां भ्रमतीति विस्तरः ।
(२२) स्वाहाराऽयोग्यतायां भाविकाविचारः ।
(२३) कल्पशब्दार्थः, चतुर्थ्यां भ्रमनस्तत्पूर्वकं पूतिकं भवति ।
(२४) त्रिषु दिवसेषु पूतिकं न कल्पते । किंतु सप्तमे दिवसे कल्पत इति, सप्तमदिवसे पर्यटतः भाविकापृच्छा ।
(२५) द्वितीयाऽऽदेश यादेशान्तरम् ।
(२६) जिनकल्पिका कल्पकाले मारणान्तिके च चिकित्सां न कारयन्ति । अक्षिमलमपि नापनयन्ति । के तत्र प्रविशन्ति । के च निर्गच्छन्ति । प्रत्येकमेकैकपतद्ग्रह-धारिणः सप्रावरणाश्च भवन्तीत्यादि ।
(२७) जिनकल्पिकयोर्मध्ये कतरो महर्द्धिक स चन्द्रादि-दृष्टान्तेन अर्थोपनयेन च समन्वित ।
(२८) सोपनयेन मांडलाद्वयदृष्टान्तेन गोवर्गद्वयदृष्टान्तेन च जिनकल्पिकस्य पश्चादवश्यं स्यातऽयमित्युक्तम् । गच्छ जिनकल्पिकादिरत्नानामुत्पत्तिस्थानमिति गच्छस्य रत्नाकरोपमा ।
(२९) छिद्रपाणिपाच्छिद्रपाणिभेदाभ्यां जिनकल्पिकस्य द्विविधत्वम् ।
(३०) जिनकल्पिका एकस्वरूपाः पृथक्स्वरूपा वा भवन्तीति शङ्का । एतेषामेव द्विविधत्वम् ।
(३१) जिनकल्पिकी द्वादशविधोपधि· स सर्वेषामेकविधो वा नेत्यष्टौ विकल्पा' ।
(३२) केन विधिना केन च जिनकल्पोऽभिहितः । जिनकल्पिकास्तित्वमागमे प्रतीतम् । व्यवच्छेदस्तु केन वचनेन तीर्थकरैरुक्तमिति च सोत्तरम् ।

(१) प्रथम जिनकल्पिकानाश्रित्य द्वारसंग्रहगाथामाह-

पव्वज्जा सिक्खा-पयमत्थग्गहणं च अनियओ वासो ।
निप्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिई एव ॥

प्रथम प्रव्रज्या वक्तव्या, कथमसौ जिनकल्पिकः प्रव्रजित इति । ततः शिक्षापदं, ग्रहणासेवनाविषयम् । ततो ग्रहणाशिक्षयाऽधीत, सूत्रतोऽर्थग्रहणम् । ततो नानादेशदर्शनं कुर्वता यथाऽनियतो वासो भवति । तत शिष्याणां निष्पत्तिः । तदनन्तर विहार । ततो जिनकल्प प्रतिपन्नस्य सामाचारी । ततस्तस्यैव स्थिति·, क्षेत्रकालादिकाऽभिधातव्येति गाथासमुदायार्थ· । एषा द्वाराणां क्रमशो व्याख्या । बृ० १ उ० ।

(२) (प्रव्रज्या द्वारम् ' पव्वज्जा ' शब्दे)

(३) (शिक्षाद्वार 'सिक्खा' शब्दे) अथ तत्प्रकृतयोजना कुर्वन्नाह

जिणकप्पिएण पगयं, जिणकाले हेउ केवलीणं वा ।
सो जणइ एव भणिओ, कत्थ अहीयं भयंतेहिं ॥

अत्र जिनकल्पकेन प्रकृत स तु जिनकल्पिको नियमाज्जिनस्य तीर्थकरस्य काले वा स्यात्, अपरेषां वा गणधरादीनां केवलिनां काले ? ततः स शिष्यः एव हेतुदृष्टान्तैर्भणित प्रज्ञापितो भणति । भगवन् ! यद्येवं ततः पृच्छामह, परमाचार्यकैः पूज्यैः कुत्र भवद्भिरधीत, यस्मादसौ शिष्यो जिनकल्पिको भविष्यति । स च जिनकाले वा भवेत् केवलिकाले वा ?

अतः स आचार्यः प्रतिब्रूयात्-

अंतरमणंतरे वा, इति उदिए धूलिनायमाहंसु ।
वित्थरजेण य नायं, तम्हा उवयामि जिणमूलं ॥

अन्तरं परकेण मया अधीतम् । अनन्तर वा । तत्र यदि स आचार्यो गणधरशिष्यस्तस्याचार्याद्वा । ततः परंपरकेणाधीतमित्यभिदध्यात् । अथासौ गणधर एव । ततोऽनन्तरं जिनसकाश एव मयाधीतमिति ब्रूयात्, इत्येवमुदिते आचार्येणाऽभिहिते स शिष्यो धूलिज्ञातं चिकल्पज्ञात चाख्यातवान् । यथा-धूलिरेकत्र स्थापयित्वा तत उद्धृत्यान्यत्र यत्रास्तीर्यते तत्राऽवश्य किंचित्परिशटति । ततोऽप्यन्यत्र प्रस्तीर्यमाणा भूयस्तरा परिशटति । यथा वा प्रासादे लिप्यमाने मनुष्यपरम्परया चिक्खल्लप्रत्यर्प्यमाणो बहुपरिशटित· स्तोकमात्रावशेष एव सर्वान्तिममनुष्यस्य हस्त प्राप्नोति ।

के· पुनस्तत्परिशटतीत्याह—

पयपायमक्खरेहिं, मत्ताघोसेहिं वा वि परिहीणं ।
अवि य रवि-राय-हत्थी, पगास सेवा पया चेव ॥

पदैः पादैरक्षरैर्मात्रया घोषैर्वा अपिशब्दात् बिन्दुना वा परिहीन भवति । परम्परया अधीयमान श्रुतमिति प्रक्रम', अपि-चेत्यभ्युच्चये । भगवत· समीपे अधीयानानां कारणान्तरमप्यस्तीति । किममात्यादीनां सेवां सपादयति । यादृशानि वा महान्ति हस्तिन· पादानि, ईदृशानि किं कुन्थूनां संभवन्ति ? । एवं यादृशानि महार्थानि भगवतस्तीर्थकृतो वचनानि ईदृशान्यपरेषां किं कदाचिद्भवन्ति इत्यतस्तीर्थकरोपकण्ठमेव व्रजामि ।

इत्थ शिष्येणोक्ते सूरिराह--

कोट्ठाऽऽबुद्धिणो अ-त्थि संपयं एरिसाणि मा जंप ।
अवि य तहिं वाउत्तणा, विरयाण वि कोउयाईहिं ॥

यथा कोष्ठके धान्य प्रक्षिप्त, तदवस्थमेव चिरमप्यवतिष्ठते । न किमपि कालान्तरेऽपि गलति, एवं येषु सूत्रार्थौ निक्षिप्तः, तदवस्थावेव चिरमप्यवतिष्ठते, ते कोष्ठबुद्धय· । आदिशब्दात्पदानुसारिबुद्धयो बीजबुद्धयश्च गृह्यन्ते । तत्र ये गुरुमुखादेकसूत्रपदमनुसृत्य शेषमपि भूयस्तरपदनिकुरम्बमवगाहन्ते ते पदानुसारिबुद्धय । ये त्वेक बीजभूतमर्थपदमनुसृत्य शेषमवितथमेव प्रभूततरमर्थपदनिवहमवगाहन्ते ते बीजबुद्धयः । एवंविधा कोष्ठादिबुद्धयः सांप्रतमपि सन्ति येषु सूत्रार्थौ न परिशटतः इति भावः । तत ईदृशानि धूलिज्ञातादीनि मा जल्प मा ब्रूहि । अपि च-तत्र भगवत· समीपे अधीयानानां विरतानामपि साधूनामपि कौतुकादिभिर्व्याकुलता व्याकुलीकरण भवति । सकलस्याऽपि लोकस्य कौतुकहेतुत्वात् । कौतुक समवसरणम् । आदिग्रहणेन भगवता धर्मदेशनाश्रवणादिपरिग्रहः । बृ० १ उ० ।

(शिक्षाद्वारविशेष· 'सिक्खा' शब्दे) पुन· प्रकृतयोजना कुर्वन्नाह-

'तित्थयरस्स समीवे, वक्खेवो तत्थ एवमाईहिं ।
सुत्तग्गहणं ताहे, करेइ सो बारसंगमाओ ॥

तीर्थकरस्य समीपे तत्र समवसरणे एवमादिभि· प्रकारैर्व्याक्षेपस्य व्याक्षेपो भवति· इत्युक्ते सति शिष्य, प्राह-भगवन् !

सत्यमेवैतत् यदादिशत यूयम् । अत इहैव पठामीत्युक्त्वा सूत्रग्रहणं द्वादश वर्षाणि करोति । द्वादशभिर्वर्षैः स्वकस्याऽपि सूत्रस्याध्ययनं विदधातीत्यर्थः । गतं शिक्षाद्वारम् । बृ० १ उ० ।

(४) अनन्तरोक्तेनानियतवासेन वक्ष्यमाणविहारद्वारेण च सह निष्पत्तिद्वारम् ।

तस्यानन्तरोक्तेऽनियतवासद्वारे वक्ष्यमाणविहारद्वारे च सम्भवति । तत्रानियतवासद्वारं तावद्दर्श्यते इत्थं तेन देशदर्शनं कुर्वता शिष्याः प्रतीच्छकाश्च सामाचार्यां सूत्रार्थग्रहणायां च निष्पादयितव्याः, इत्यत्रान्तरे यदुक्तं प्रतिद्वारगाथायाम्-" काउं सुय दायव्वं, अभिणीयाण विवेगो य " ॥

(५) निष्पत्तिद्वारे प्रतिद्वारजातमुपसम्पदादिद्वारचतुष्टयसंग्रहगाथामाह-

उवसंपज्ज थिरत्तं, पडिच्छणा वायणोत्थरणे य ।
घट्टणरुंचणपत्ते, वुड्ढा य जहिं गए राया ॥

प्रथमं प्रतीच्छकाः यथा तमुपसम्पद्यन्ते तथा वक्तव्यम् । ततः आत्मनः प्रतीच्छकानां च यथा स्थिरत्वं तुलनया करोति । ततस्तेषां प्रतीच्छकानां वाचना च यथा भवति तत् प्रसाध्यताम् । आर्द्रेऽङ्गणदृष्टान्तो घटनादञ्चनापत्रदृष्टान्ताश्च यथाभिधीयन्ते वृद्धाश्च विषये दृष्टान्तं यथा साधव आचार्यानुद्दिश्य दर्शयन्ति । (जहिं गए त्ति) यत्राचार्यास्तिष्ठन्ति, तत्र गतानां यथा राजदृष्टान्तः सूरिभिरुदाह्रियते, तदेतत्सर्वं वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः ।

(६) तत्रोपसम्पद्द्वारमन्योक्तिदृष्टान्तेन त्रिभिः प्रकारैश्च सह विवरिषुर्गाथामाह-

काहिइ अवोच्छित्तिं, सुत्तत्थाणं ति सो तदट्ठाए ।
अभिगम्मइ ऽणेगेहिं, पडिच्छएहिं विहरमाणो ॥

एष महाभागः सूत्रार्थयोरव्यवच्छित्तिं करिष्यतीति बुद्ध्या स भगवानाचार्यस्तदर्थं सूत्रार्थग्रहणनिमित्तमभिगम्यते अनेकैः प्रतीच्छकैर्विहरमाणो देशदर्शनं कुर्वन्निति । आह-किमसौ डिण्डिमारम्भरवेण घोषयति, यथा, अहं बहुश्रुतोऽहं बहुश्रुत इति, यदेवमनेकैः प्रतीच्छकैरभिगम्यते । नैव खलु शुद्धिविवेकसुधाधाराधौतचेतसः सन्तः कदाचनापि स्वगुणविकत्थने प्रवृत्तिमातन्वते । मिथ्याभिगम्यताक्रमप्रबलतमनमस्तिरस्कृतसज्ज्ञानलोचनप्रसराणाम् इतरजनानामेव तत्र प्रवृत्तिसम्भवात् । उक्तं च-"मोहस्य तदपि विलसितमभिमानो यः परप्रणीताया । तत्समभोऽपि तमिस्रं, याऽऽत्मस्तुतिरात्मना क्रियते ॥१॥" यद्येवं ततः कथमिव सोऽत्र तमेवं प्रसिद्धिमारोहतीत्युच्यते-

वासावज्जविहारी, जइ वि न य विकत्थए गुणे निययए ।
अभणंतो वि मुणिज्जइ, पगइ च्चिय सा गुणगणाणं ॥

वर्षावर्जविहारी वर्षासु चतुरो मासानेकत्र स्थायी अन्यदा पुनरनियतविहारी इत्युक्तं भवति । स एवंविधो यद्यपि न विकत्थते निजकानात्मीयान् गुणान् । तथाप्यभणतोऽपि स्वगुणान् कीर्त्यमानोऽपि ज्ञाप्यते । कुत इत्याह-प्रकृतिरेव सा गुणगणानां ज्ञानादिगुणसमूहानाम् । तदुक्तम्-" अभणंता वि हु नज्जंति, सप्पुरिसा गुणगणेहिं नियएहिं । वोल्लंतो य मणीओ, जाओ सकेहिं घिप्पंति " ॥ १ ॥

एतदेवान्योक्तिदृष्टान्तेन दृढयति-

भमरेहिँ महुयरीहिं, सूइज्जइ अप्पणो य गंधेणं ।
पाउसकालकयंबो, जइ वि निगूढो वणनिगुंजे ॥

इह किल कदम्बवृक्षाः प्रावृषि जलधरधाराभिहताः पुष्प्यन्ति । ततः प्रावृट्काले यः कदम्बः स यद्यपि वननिकुञ्जे निगूढो गुप्तस्तिष्ठति । तथापि भ्रमरैर्मधुकरीभिश्च आत्मनः सम्बन्धिना गन्धेन च प्रसरता स्तव्यते ज्ञाप्यते, यथा-अत्र कदम्बवृक्षस्तिष्ठति । एवमयमपि भ्रमरमधुरीकल्पानैः साधुसाध्वीभिः परिमलकल्पेन च निजगुणनिकुरम्बेन प्रसर्पता कदम्बवद्धवलानां दावत्यन्तनिगूढोऽपि तिष्ठन् सूच्यते ।

यदि वा-

कत्थ व न जलइ अग्गी, कत्थ व चंदो न पायडो होइ ।
कत्थ वरलक्खणधरा, न पायडा होंति सप्पुरिसा ॥

कुत्र वा न ज्वलति न दीप्यतेऽग्निः । कुत्र वा चन्द्रः उदयप्राप्तः प्रकटो न भवति । कुत्र वा वराण्युत्तमानि लक्षणान्यभ्यन्तरतो ज्ञानादीनि, बाह्यतः शरीरसौन्दर्यादीनि शङ्खचक्रादीनि, वा धारयन्तीति, वरलक्षणधराः सत्पुरुषाः प्रकटा न भवन्ति ।

अत्र परोऽनुपपत्तिमुद्भावयन्नाह-

उदए न जलइ अग्गी, अब्भच्छन्नो न दीसई चंदो ।
मुक्खेसु महाभागा, विज्जा पुरिसा न भायंति ॥

उदके न ज्वलत्यग्निः । किं तु विध्यायति । अभ्रच्छन्नश्चन्द्रो न दृश्यते । मूर्खेषु मूर्खाणां पुरतो महाभागा विद्याप्रधानाः पुरुषाः विद्यापुरुषास्तेऽपि न भान्ति न शोभन्ते । ततः-" कत्थ व न जलइ अग्गी " इत्यादि नोपपद्यते । तदयुक्तम् । अभिप्रायापरिज्ञानात् । इह हि स्वविषय एवाग्निचन्द्रसत्पुरुषाणां ज्वलनादिसामर्थ्यं चिन्त्यते न त्वन्यविषये ।

क पुनरमीषां स्वविषय इत्याह-

सुक्किंधणम्मि दिप्पइ, अग्गी मेहरहिओ ससी भाइ ।
तव्विहजणे य निउणे, विज्जापुरिसा वि भायंति ॥

शुष्केन्धने शुष्ककाष्ठादौ दीप्यतेऽग्निः । मेघरहितः शरदादिकाले अभ्रैरच्छन्नः शशी भाति प्रकाशते । तद्विधज्ञाने च तादृशे सहृदयलोके निपुणे व्याकरणप्रमाणादिशास्त्रकुशले विद्यापुरुषा अपि भान्ति शोभां लभन्ते । एवं त्रयाणामप्यमीषां स्वविषयेऽत्र सर्वत्राप्यमी दीप्यन्ते न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

तत्रैवापरं दृष्टान्तमाह-

कुमुअमयररसमुद्धा, किं न विबोहिंति पुंडरीयाइं ।
सूरकिरणा ससिस्स व, कुमुयाणि अपकयरसण्णा ॥
न य अप्पगासगत्तं, चंदाईयाण सविसए होइ ।
इय दिप्पंति गुणड्ढा, मुक्खेसु हसिज्जमाणा वि ॥

कुमुदानामुदराणि कुमुदोदराणि तेषु रसो मकरन्दस्तस्मिन् मुग्धा अनभिज्ञास्तदानीं तेषामप्रबुद्धत्वात् । ईदृशोऽमीषां मकरन्द इति न विदन्तीत्यर्थः । एवंविधाः सूर्यकिरणा यदि अविषयत्वात् कुमुदानि न विबोधयन्ति । ततः किं स्वविषयभूतानि पुण्डरीकाणि न बोधयन्ति ? बोधयन्त्येव । शशिनो वा किरणा यद्यपङ्कजरसज्ञाः पङ्कजरसास्वादमुग्धास्ततः किं स्वविषयभूतानि कुमुदानि न बोधयन्ति । ततश्च न च नैव प्रकाशकत्वं चन्द्रादित्ययोः स्वविषये भवति । किं तु प्रकाशकत्वमेव इत्यमु-

नैव प्रकारेण गुणैर्ज्ञानादिभिराढ्या समृद्धा मूर्खेषु पशुप्रायेषु दृश्यमाना अपि दीप्यन्ते, सहृदयहृदयेषु प्रकाशन्ते । उक्तमानुषङ्गिकम् ।

प्रकृतमनुसन्धीयते-

सो चरणसुट्ठिअप्पा, नाणपरो सुद्दओ अ साहूहिं ।
उवसंपया य तेसिं, पडिच्छणं चेव साहूणं ॥

स इति भविष्यदाचार्यः चरणसुस्थितात्मा, तथा ज्ञानपरः सूत्रार्थपौरुषीकरणं प्रति उद्युक्तः, परां निष्ठां प्राप्तो वा दर्शनाविनाभावित्वात्, ज्ञानस्य दर्शनपरः इत्यपि द्रष्टव्यम् । स च साधुभिः स्वपरिवारवर्तिभिरपरैश्च साधूनां यूनां पुरतः सुविज्ञः श्लाघितः, ततस्तेषां साधूनां तस्यान्तिके उपसम्पत्तिः । तेन च तेषां यथाविधि प्रतीच्छना कर्तव्या, इति एष उपसंपत् प्रकार उक्तः ।

अथ द्वितीयप्रकारमाह—

एहाणाइसमोसरणे, परियट्टित्तं सुणित्तु सो साहुं ।
अट्ठिं ति य पडिचोयण-उवसंपय-दीवणा अत्थो ॥

स्नानादौ, आदिशब्दात् रथयात्रादौ समवसरणे साधुमीलनके (अट्ठेति इति) व्यञ्जनतदुभयरहितं सूत्रं परिवर्तयन्तं, साधुकमपि श्रुत्वा सम्यक् चोदनां करोति । (अट्ठेत्ति इति) पाठे स आह-किमिति गीतार्थो भूत्वा-(अट्ठे इति) अर्थो न भण्यते । इतर आह-किमस्यार्थोऽप्यस्ति, बाढं नमस्कारमादिं कृत्वा सर्वस्यापि श्रुतस्यार्थो विद्यते । स आह-यद्यत्र नाहं "अट्ठित्ति" पदस्य कोऽर्थः । उच्यते- आर्तश्चतुर्धा-नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । नामस्थापने सुगमे । द्रव्यतः सचित्तादिद्रव्यैरप्राप्तैः प्राप्तवियुक्तैर्वा य आर्तः स द्रव्यार्तः । क्रोधादिभिरभिभूतो भावार्तः । एवं प्रकारद्वयेनायं लोक आर्तो वर्तते, इत्याकर्ण्य प्रमुदितः । स साधुश्चिन्तयति-अहो अस्य सूत्रलवस्य एतादृग्-हृदयङ्गमोऽर्थः, ततो यदि सर्वस्याधीतस्यार्थमवबुध्ये तत सुन्दरं भवति । इत्यभिप्रायार्थग्रहणार्थं तस्यैव पार्श्वे उपसम्पदं प्रतिपद्यते । ततोऽसौ विधिना तस्यार्थदीपनं करोति, अर्थं कथयतीत्यर्थः । एष द्वितीयः प्रकारः ।

अथ तृतीयमपि प्रकारमाह-

अहवा वि गुरुसमीवं, उवागए देसदंसणम्मि कए ।
उवसंपय साहूणं, होअइ कयम्मि दिसाबंधे ॥

अथवा-देशदर्शने कृते सति यदाऽसौ गुरूणां समीपमुपागतो भवति । तदा गुरुभिराचार्यपदे प्रतिष्ठाप्य दिग्बन्धे कृतेऽनुज्ञाते सति, विहारं कुर्वतोऽस्य पार्श्वे प्रतीच्छकसाधूनामुपसम्पद्भवतीति व्याख्यातं त्रिभिः प्रकारैरुपसम्पद्द्वारम् ।

(७) तत्र द्वितीयमस्थिरत्वद्वारम् । तच्चात्मपरोभयतुलनया त्रिविधम् । ते च तुलने प्रत्येकं चतुर्विधे-

आयपरोभयतुलणा, चउव्विहा सुत्तमागमित्तरिया ।
तिण्हट्ठा संविग्गे, इयरं चरणे-हरा नेच्छे ॥

तत्राऽसावात्मपरोभयविषया तुलना करोति । सा च प्रत्येकं चतुर्विधा वक्तव्या । तथा-ये केचिद्गुणवर्जिता अगारिणः प्रव्रजन्ति । तेषामुपसम्पन्नानां चासौ सूत्रसारणां करोति, सूत्रं पाठयतीत्यर्थः । उपलक्षणं चैतत् । तेनासेवनां शिक्षामपि ग्राहयति । तथा तेषामुपसम्पन्नानामसौ इत्वरां दिशं बध्नाति । यथा यावदाचार्याणां सकाशं व्रजाम, तावद् द्रष्टाऽयमाचार्योऽहमेव चोपाध्यायस्तत्र गतानामाचार्या ज्ञापका इति (तिण्हट्ठा संविग्गे त्ति) ये संविग्नाः साधवस्ते त्रयाणां ज्ञानदर्शनचारित्राणामर्थायोपसम्पद्यमानाः प्रत्येष्टव्याः (इयरे चरणे त्ति) इतरे पार्श्वस्थादयो यदि चरणार्थमुपसम्पद्यन्ते, ततस्तेऽपि सम्प्राह्याः (इहरा नेच्छे त्ति) इतरथा ज्ञानदर्शननिमित्तं सूत्रार्थग्रहणदर्शनप्रभावकशास्त्राध्ययनार्थमिति भावः । यदि उपसम्पद्यन्ते, ततो नेच्छेत्, नोपसम्पदं ग्राहयेदित्यर्थः ।

अथ यदुक्तमात्मपरोभयतुलना चतुर्विधेति । तत्रात्मतुलनां तावद्भावयति-

आहाराई दव्वे, उप्पाएउं सयं जइ समत्थो ।
खेत्तउ विहारजोग्गा, खेत्ता विहुतारणाईया ॥
कालम्मि ओमाई, भावे अतरंतमाइपाउग्गं ।
कोहाइनिग्गहं वा, जं कारणसारणा वा वि ॥

इहात्मतुलना चतुर्विधा-द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यत एषामुपसम्पन्नानां योग्यानाहारादीनि । स्वयमुत्पादयितुं समर्थः । आदिग्रहणादुपधिशय्यापरिग्रहः । क्षेत्रत ऋतुबद्धविहारयोग्यानि वर्षावासयोग्यानि वा क्षेत्राणि उत्पादयितुं शक्नोमि । न वा विहमित्यध्वा तस्मात्तारणं पारनयनम्, आदिशब्दात् राजद्विष्टादितारणानि कर्तुमहं समर्थो न वेति । काले अवमं दुर्भिक्षम् तत्रादिग्रहणादशिवत्रयादौ निर्वाहयितुं शक्तोऽस्मि न वेति ? । भावे-(अतरंत त्ति) ग्लानीभूतानामादिशब्दाद्बालवृद्धादीनां वा एषां प्रायोग्यमुत्पादयितुं समर्थोऽहं नवेति । अथवा-शक्नोमि क्रोधनिग्रहं कर्तुं नवेति ? । आदिग्रहणान्मानमायालोभनिग्रहपरिग्रहः । यद्वा-यत्कारणं ज्ञानादिकं निमित्तमुद्दिश्यैते, उपसम्पद्यन्ते, तस्याहं सारणां कर्तुं शक्तो नवेति ? । गतमात्मतुलनाद्वारम् ।

आहारद्वारमाह—

आहाराइ-अनियओ, लंभो सो विरसमाइ-निच्छूढो ।
उज्जामग ! खलु खेत्तं, अरिउद्धियाओ अ वसहीओ ॥
ऊणाइरित्तवासा, अकालभिक्खपुरिमड्ढओमाई ।
भावे कसायनिग्गह, चोयणनयपोरुसी नियया ॥

ते प्रतीच्छकाः प्रथममेवोच्यन्ते । द्रव्यत आहारादीनां लाभोऽनियतः कदाचिद्भवति, कदाचिन्नेति । योऽपि भवति सोऽपि विरसः । पुराणौदनादिरादिशब्दादरसस्य हिङ्ग्वाद्यसंस्कृतस्य रूक्षस्य च वल्लचणकादेर्ग्रहणं सोऽपि निगूढ उज्झितप्रायः । क्षेत्रत उद्भ्रामका भिक्षाचर्याया गन्तव्यं, बहिर्ग्रामेषु भिक्षार्थं यत्पर्यटनं, सा उद्भ्रामकभिक्षाचर्या । तथा खलु क्षेत्राणि नाम यत्राल्पो लोकः प्रदाता, सोऽपि च स्तोकमेव ददाति । तत्र विहर्तव्यम्, अनृतुहिताश्च प्रायो वसतयः प्राप्यन्ते । यो यदा ऋतुर्वर्तते तस्य तदाऽननुकूला इत्यर्थः । कालतः कदाचिन्मासकल्पस्थाने वर्षावासस्थानं वा ऊनम् अतिरिक्तं वा कालकरणे वासोऽवस्थानं भवेत् । क्वाऽपि क्षेत्रे अकाले सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्या वा वेलाया भिक्षाप्राप्ये तत सूत्रार्थहानिरपि भाविनी, कुत्रापि पूर्वार्द्धेऽपि पूर्णावमं स्वोदरपूरकाहारमात्राया न्यूनं लभ्येत, आदिग्रहणात्पानकमपि न लभ्यते । भावे-भावतः कषायनिग्रहश्च परुषचोदनायामपि कर्तव्य । म

च नियतावश्यंभाविनी सूत्रार्थयोः पौरुषी, कदाचिदसाक ध मेकथाविक्षेपमतदा सूत्रार्थयोर्व्याघातोऽपि भवन्तं भवेदित्यर्थः । तदेतत्सर्वमपि वयमङ्गीकर्तुमुत्साहः ततः प्रतिपद्यध्वमुपसंपदमिति ।

अत्तणियपरे चेव, तुलणा उभयथिरकारणे वुत्ता ।

आत्मविषया परविषया च तुलना उभयोरपि स्थिरताकारण स्थिरीकरणार्थमेवमुक्ता । गतं स्थिरताद्वारम् ।

(८) तत्र तृतीयं प्रतीच्छनाद्वारं तच्च सोपनयेन स्नुषादृष्टान्तेन सहोपवर्णितम्—

पडिवज्जंते चेव, करिंति सुण्हाए दिट्ठंतं ।

" पडिवज्जंते " इत्युत्तरार्द्धं सर्वमनन्तरोक्तमर्थं यदि प्रतीच्छकाः प्रतिपद्यन्ते । तदा स्नुषया वध्वा दृष्टान्तमाचार्याः कुर्वन्ति ।

तमेवाह—

आसरहाई ओलो-यणाइभीयाऽऽउले अ पेहंती ।
सकुलघरपरिचिएणं, वारिज्जइ ससुरमाईहिं ॥
खिंसिज्जइ हम्मइ वा, नीणिज्जइ वा घरा अठायंति ।
नीया पुण से दोसे, ठायंति न निच्छुभंते य ॥

यथा-काचिद्वधूः स्वकुलगृहस्य स्वकीयपितृगृहस्य सम्बन्धी यः परिचयो रमणीयवस्तुदर्शनहेवाकस्तेनाश्वरथान् । आदिग्रहणेन हस्त्यादीन्, अवलोकनं गवाक्षस्तेन आदिशब्दाद्द्वारेण वा जालकादिना भीतानाकुलांश्च जनान् प्रेक्षमाणा सती वार्यते । पुत्रि! मा अवलोकिष्ठा, इति प्रतिषिध्यते । श्वशुरादिभिः मा भूदस्याः प्रसङ्गेन परपुरुषविषयोऽप्यवलोकनहेवाक इति । यदि वारिता सती नोपरमते ततः (खिंसिज्जइ त्ति) निन्द्यते-आः कुलपांसुले! किमेव करोषीत्यादि । तथापि यदि न निवर्त्तते ततो हन्यते । केशादिभिस्ताड्यते एवमपि यदि न, ततोऽतिष्ठन्ती गृहात् निष्काश्यते । मा भूदपरासामपि गृहमहेलानामस्याः प्रसङ्गजनित एवंविध एव कुहेवाक इति कृत्वा ये तु तस्या निजकाः पितृगृहसम्बद्धाः स्वजनाः (से) तस्याः दोषान् छादयन्ति कथंचिदुपालम्भप्रदानादिना वादयन्ति । अपि न गृहान्निष्काशयन्ति । गौरवार्हत्वात्तत्र तस्याः । एष स्नुषादृष्टान्तः ।

अथार्थोपनयमाह-

मरिसिज्जइ अप्पो वा, सगणे दंडो न या वि निच्छुभणं ।
अम्हे पुण न सहामो, ससुरकुलं चेव सुण्हाए ॥

ते आचार्या भणन्ति-आर्याः पितृगृहस्थानीयो युष्माकं स्वगच्छः, श्वशुरस्थानीया वयम्, अश्वरथाद्यवलोकनस्थानीयं प्रमादासेवनं, गवाक्षादिस्थानीयान्यपुष्टालम्बनानि, ततो युष्माकं स्वगणे स्वगच्छे प्रमादासेवनं कृतमपि मृष्यते क्षम्यते । अल्पो वा दण्डः प्रायश्चित्तलक्षणः प्रमादप्रत्ययो भवतां तत्र दीयते, न च महत्यपि अपराधे गच्छात् निष्काशनं, गौरवार्हतया भवता भवन्ति । वयं पुनः स्वल्पमप्यपराधं भवतां न सहामः । श्वशुरकुलमिव स्नुषाया वध्वाः सवर्त्मनमपराधमित्युक्ते । यदि ते एवं वक्ष्यका भणेयुः । एवमेतद्यथादिशन्ति भगवन्तः, ततस्ते प्रतीच्छ्यन्ते । एते च द्विधा, पार्श्वस्थादयो वा भवेयुः, संविग्ना वा । तत्र ये पार्श्वस्थादयस्ते पार्श्वस्थादिमुण्डिता वाऽपि समनोज्ञा वा अमनोज्ञा वा ।

संक्षेपामप्येषां विधिमाह-

पासत्थाइमुंडिए, आलोयण होइ दिक्खपभिईओ ।
संविग्गपुराणे पुण, जप्पभिइं चेव ओसन्नो ॥
समणुन्नममणुन्ने, जप्पभिई चेव निग्गओ गच्छा ।
सोहिं पडिच्छिऊणं, सामायारिं पयंती य ॥

यः पार्श्वस्थादिभिरेव मुण्डितस्तस्य दीक्षाप्रभृति दीक्षादिनादारभ्य आलोचना भवति । यस्तु संविग्नमुण्डितत्वात् पूर्वं संविग्नः पश्चादवसन्नीभूतः स पुराणसंविग्न उच्यते । गाथायां प्राकृतत्वात् व्यत्यासेन पूर्वपरनिपातः । स यत्प्रभृति यद्दिनादारभ्यावसन्नः संजातस्तत्प्रभृत्येवालोचना दाप्यते । यस्तु संविग्नः स द्विधा—समनोज्ञः सांभोगिकोऽसमनोज्ञः सांभोगिकः । स द्विविधोऽपि यत्प्रभृति स्वगच्छाद्विनिर्गतस्तत एव दिनादारभ्य आलोचना दापयितव्यः । ततः शोधिमालोचनां प्रतीच्छनीयो यः छेदं मूलं वा प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्य तद्दत्त्वा स्वकीयां सामाचारीमाचार्याः दर्शयन्ति ।

किं कारणमिति चेदित्याह-

अवि गीयसुयहराणं, वाइज्जंताण मा हु अचियत्तं ।
मेरासु य पत्तेयं-मा संखडं पुव्वकरणेणं ॥

ये गीतार्थाः श्रुतधरा बहुश्रुता गणिवाचकादिशब्दाभिधेया इत्यर्थः । तेषामपि किं पुनरितरेषामित्यपिशब्दार्थः । वितथसामाचारीकरणेनोद्यच्छमानानां मैव सामाचारीमन्यथाकारं कार्षीरित्यादिवचनैर्मा भूत् (अचियत्तं) अप्रीतिकं यतोऽन्योऽन्यगच्छानां काश्चिदनीदृश्यः सामाचार्यस्ततः प्रत्येकं पृथक् पृथक् मर्यादासु सामाचारीषु वर्त्तमानासु प्रवाहतः पूर्वन्यस्ताया एव सामाचार्याः करणेन प्रतिनोदितानां मा (असंखड) कलहो भवेदित्यस्मात्सा चक्रवालसामाचारी कथयितव्या ।

आह कथं पुनरभिधीयमानेऽप्रीतिकं भवेदुच्यते-

गच्छइ वियारभूमा-इ वायओ देह कप्पियारं से ।
तम्हा उ चक्कवालं, कहिंति अणहिंडिय निसिं वा ॥

अथ वाचको विचारभूम्याम् । आदिशब्दात् भक्तपानग्रहणादौ गच्छति, अतो दत्त, कल्पितारं कमपि कल्पकं साधुं (से) तस्य वाचकस्य येन सामाचारीं दर्शयति । एवमभिधीयमाने तस्य वाचकस्य महदप्रीतिकं भवति । यथाऽहो स्वगणं विमुच्य परगणमुपसंपन्ना वयमप्येवं परिभूयामहे इति, यत एव तस्माच्चक्रवालसामाचारीं प्रतिदिनक्रियाकलापरूपां तेषां पुरत आचार्याः कथयन्ति । यथा ते कल्पिका भवन्ति, यावच्च मा तेषां प्ररूप्यते । तावत् (अणहिंडिय त्ति) ते भिक्षार्थं न हिण्डापयन्ते, मा भूत्तेषां सामाचारीशिक्षणव्याघातः । अथ न सन्तरन्ति, ततो निशि रात्रौ ते सामाचारीं ग्राहयितव्या इति । गतं प्रतीच्छनाद्वारम् ।

(९) तत्र चतुर्थं वाचनाद्वारं तच्चोपदेश-स्मारणा-प्रतिस्मारणाभिः त्रिविधम् । घट्टनादिदृष्टान्तत्रयेण, निष्काशनादिविधिना स्थिरीकरणाय राजदृष्टान्तेन सह दर्शितम् * गृहीतसामाचारीकाणां सूत्रार्थवाचना दातव्या, वाच्यमानानां च तेषां सामाचारीकरणे प्रमाद्यतां यो विधिस्तमभिधित्सुर्द्वारश्लोकमाह-

उवएसो सारणे चेव, तइया पडिसारणा ।
छंदे अवट्टमाणं जं, अप्पच्छंदेण वज्जेज्जा ॥

उपदेशः, स्मारणे चैव, तृतीया प्रतिस्मारणा चैव। ततः छन्दं उपदेशोऽवर्त्तमान विनेय गुरुरपि आत्मच्छन्देनात्माभिप्रायेण वर्जयेत्, परित्यजेदिति निर्युक्तिश्लोकसमासार्थः। अथ विस्तरार्थस्तत्र गुरुभिस्तावत्प्रति वक्तव्यमस्माकमेषा सामाचारी, यन्निद्राविकथादयः प्रमादाः परिहर्त्तव्या एष उपदेशः।

अथ स्मारणामाह-

निद्दापमायाइसुं, सइं तु खलियस्स सारणा होइ ।
नणु कहिय ते पमाया, मा सीयसु तेसु जाणंतो ॥

निद्रैव प्रमादो निद्राप्रमादः आदिशब्दादप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितादिपरिग्रहः। तेषु सकृदेकवार स्खलितस्य स्मारणा कर्तव्या भवति। यथा-भो महाभाग! नन्वेते पूर्वमेवास्माभिस्तव प्रमादाः कथिताः, ततो जानन्नपि तेषु मा सीदस्येषा स्मारणा।

अथ प्रतिस्मारणामाह-

फुड रुक्खं अचियत्तं, गोणो तुदिओ व मा हु पेल्लेज्जा ।
सज्जं अभो न जप्पइ, धुव सारण तं वय भणिमो ॥

स्फुट नाम, यस्तेन प्रमादः कृतः परिस्फुट नाभिधीयते, किं त्वन्यव्यपदेशेन भणितव्यम्। रूक्ष नाम, निष्पिपास यथा-निर्धर्म! निस्त्रप! निःसत्त्व! इत्यादि, तदपि न वक्तव्य, यतः स्फुट रूक्षं ऽभिधीयमानमप्रीतिक भवति। अत्र च गोदृष्टान्तो यथा-गौर्बलीवर्दो महता भारेण लसितो, हल वा वहमानः, प्रतोदेनातिताडितः सन्, कूर्दयित्वा भार पातयति। हल वा भनक्ति। एवमयमपि स्फुटाक्षरं रूक्षमणित्वा वा भणित., कषायितत्वाद्संयम कृत्वा गच्छाद् निर्गच्छेत्। अत एवाह-गौरिव वाशब्दस्योपमार्थस्य च सम्बन्धादसावपि तुदित., खरपुरुषभणनप्रतोदेन व्यथित. सन्, मा हु निश्चित प्रेरयेत्। संयमभार बलादपहस्त्यापातयेत्। अत एव च सद्यस्तत्काल यदा प्रमादः कृतस्तदैव भण्यते (धुव सारण ति) स वक्तव्यो वत्स! ध्रुवमवश्य कर्त्तव्य, संयमयोगेषु सीदतां सारणा। तथा च मौनीन्द्रवचनम्-"रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परियत्तउ। भासियव्वा हिया भासा, सपक्खगुणकारिया" तदस्मात् जिनाज्ञाराधनाय वय भवन्तमेव भणामो, न पुनर्मत्सरप्रद्वेषादिना।

अथ "सज्जं अभो न जप्पइत्ति" पदव्याख्यानार्थमाह-

तद्दिवसं बिइए वा, सीयंतो वुच्चए पुणो तइय ।
एगो वराहो सोढो, बीयं पुण ते न विसहामो ॥

सीदन् सामाचार्यां प्रमाद्यन्, तस्मिन्नेव दिवसेऽन्यस्यां वेलायां द्वितीये वा दिवसे पुनर्भूयोऽप्युच्यते, तृतीया प्रतिस्मारणा। एक उपदेशो, द्वितीया स्मारणा, तृतीया प्रतिस्मारणेति कृत्वा कथमित्याह-एकस्तव महानपराधः सोढस्तितिक्षितोऽस्माभिर्यदि पुनर्द्वितीय स्वल्पमप्यपराध करिष्यसि ततो वय ते न विषहामो, न सहिष्याम ॥

तथा आर्द्रकगणदृष्टान्त. क्रियते-

गोणाइ-हरणगहिओ, मुक्को य पुणो सहोढगहिओ उ ।
अद्दोलक्कगण-हारी, न मुच्चए जायमाणो वि ॥

यथा कश्चिच्चौरो गवादिहरणं कुर्वन्नारक्षकैर्गृहीतस्ततो मुञ्चत, मामेकवारं नाह भूय. स्वल्पमपि चौर्यं करिष्यामीत्युक्ते, दयालुत्वादपरोपरोधाद्वैर्मुक्त। पुनर्द्वितीयवेलायां पूर्वाभ्यासवशात् यदि आर्द्रकगणहारी भवति, स्वल्पचौर्यकारीति भावः। तथापि सहोढ. सलोप्त्रो गृहीतः सन्. याच्यमानोऽपि मोक्तुं न मुच्यते। एव भवतोऽप्येकवार महदपि प्रमादपदं तितिक्षितमस्माभिः इत ऊर्ध्वं तु स्तोकमपि न तितिक्षामहे। इत्युक्तोऽपि यदि प्रमाद्यति, तदा स लघु दण्ड दत्वा, द्वितीय चूडादृष्टान्तं कुर्वन्ति।

तमेवाह-

घट्टिज्जंतं वुच्छं, इति उदिए दंडणा पुणो विइयं ।

यथा क्षुमाद् यद्दिनं सत् बध्यमानं बाध्यमानमपि "वुच्छं-ति" देशीपदत्वादवद्गधं विनष्टमिति। बावदेवं भवानप्यस्माभिरित्थं स्मारणादिना बहुमानोऽपि प्रमादमेव सेवितवानित्येवमुदिते कथिते सति यदि भूयः प्रमाद्यति, तदा पुनरपि दण्डना मासलघुप्रायश्चित्तरूपा कर्त्तव्या (बिइयंति) एतद् द्वितीयमुदाहरणम्।

इत्थ दण्डितोऽपि यदि प्रमादान्नोपरमते, तदा कुङ्कुमदृष्टान्तो वक्तव्यः-

पासाणो संवुत्तो, अइवाचिय कुंकुमं तइए ॥

"पासाणो" इत्यादि। अति अतीव वाचित पिष्ट कुङ्कुमं किं पाषाणः संवृत्त.। एव भवानपि महता प्रयासेन प्रतिनोद्यमानः किं प्रमत्त. संवृत्त, इत्येव तृतीयमुदाहरणं कृत्वा, तथैव मासलघु दीयते। अथ यदुक्त प्राक् (अविणीयाण विवेगो य त्ति) तदिदानीं भाव्यते। अविनीता नाम, ये बहुशोऽपि प्रतिनोद्यमानाः प्रमाद्यन्ति। ते च छन्दे अवर्त्तमाना भण्यन्ते। तांश्च सूरय आत्मच्छन्देन वर्जयेयु.।

क. पुनरात्मच्छन्दो येन ते परिह्रियन्ते। प्राग्द्वारगाथासूचितपत्रदृष्टान्तश्च उच्यते-

तेण परं निच्छुभणा, आउट्टो पुण सयं परेहिं वा ।
तंबोलपत्तनायं, नासेहिसि मज्झ अन्ने वि ॥

ततः पर वारत्रयादूर्ध्वं यदि न निवर्त्तते, तदा निष्काशना कर्त्तव्या, निर्गच्छ मदीयगच्छादिति। अथासौ स्वय परेण वा प्रज्ञापितः सन्नावृत्त प्रमादात्प्रतिनिवृत्तः प्रतिभणति, भगवन्! क्षमस्व, मदीयमपराधनिकुरम्ब न पुनरेव करिष्यामीति। ततो यद् द्वारगाथायां पत्रज्ञात, सूचित तदुपवर्ण्यते (तंबोलपत्तनाय ति) यथा तम्बोलपत्र कुथित सत् यदि न परित्यज्यते, तत. शेषाण्यपि पत्राणि कोपयति। एव त्वमपि स्वय विनष्टो, मम अन्यानपि साधून् विनाशयिष्यसीति कृत्वा निष्कासितोऽस्माभि। सप्रत्ययमस्तेन भवितव्य, मासगुरु च ते प्रायश्चित्तम्।

अथ निष्काशनस्यैव विधिमाह-

सुहमेगो निच्छुभई, एगा जणिया वि जइ न वच्चंति ।
अन्नावएस उवहिं, जग्गावण मारि कइ गमणं ॥

ते पुन प्रमाद्यन्त, एका वा वाऽनेके वा। यद्येकस्ततः सुखेनैव निर्गच्छ मद्गच्छादित्यभिधाय निष्कास्यते। अथानेके बहवस्ततस्ते यदि निर्गच्छतेति भणिता. अपि, वय बहवस्तिष्ठाम, इत्यवष्टम्भ कृत्वा न व्रजन्ति, तत. शेषसाधून् रहस्य ज्ञापयित्वाऽन्यत कार्याव्यपदेशेन मिषेण यथा न तेषा शङ्का भवति, तथोपधिं विहारयोग्य कारयित्वा अन्यव्यपदेशेनैव रात्रौ चिरं जागरण कारापणीया। यथा न प्रात. शीघ्रमुत्तिष्ठन्ति (सारिक त्ति) सागारिक शय्यातरस्तस्याग्रतो रहसि कथनीय, यथा वय प्रभात एवामुक ग्रामं व्रजिष्यामि। यदि कोऽपि महता निर्बन्धेन

युष्मान् प्रश्नयत्, यथा आचार्याः क्व गता इति । ततो भवद्भिस्तस्य यथावस्थितं निवेदनीयम् (गमण त्ति) ततो गमनं कर्तव्यम् ।

गतेषु च यदि ते ब्रूयुः-

मुक्का मो दंदरुइणो, भणंति इह तेन तेसु अहिगारो ।
सेज्जायरनिब्बंधे, कहय गया न विणयहाणी ॥

अहो सुन्दरं समजनि । यद्वयं रूक्षस्नेहेन आचार्यैर्मुक्ता वयम् । इति ये भणन्ति, न तेष्वधिकारः । ये पुनः परित्यक्ताः सन्तो गाढं परितप्यन्ते । आः कष्टम् । वञ्चिता वयं च कारिताः । निःसम्बन्धाः पन्थुभिस्तैर्भगवद्भिः । अतः कथमिव भविष्यामः । इति ते शय्यातरं महता निर्बन्धेन पृच्छन्ति-कथय, कुत्रास्मान् विमुच्य, गताः क्षमाश्रमणाः । स प्राह-अमुकं ग्रामम् । ततस्तेन कथिते त्वरितमागतानां तेषां न विनयहानिः कर्तव्या । किं तु-प्राग्वदभ्युत्थानं दण्डकादिग्रहणं च कर्तव्यम् । ततस्ते बद्धाञ्जलिपुटाः पादपतिताः सम्मुखाः, बहुप्रकाराण्यश्रूणि विमुञ्चन्तो विज्ञपयन्ति । भगवन् ! क्षमस्व असदीयमपराधं, विलोकयतास्मान् प्रसादमन्थरया दृशा, प्रतिपद्यस्व भूयः स्वप्रतीच्छकतया, कुरुतानुग्रहं स्मारणादिना । 'प्रणिपातपर्यवसितप्रकोपा हि भवन्ति महात्मानः' इत ऊर्ध्वं वयं प्रमादं प्रयत्नेन परिहरिष्यामः इति । ततो गच्छसत्काः साधवः सूरीन् कृताञ्जलयः प्रसादयन्ति । गुरवो ब्रुवते, आर्या अत्र मम दृष्टान्तः सारथिकरणकल्पेनामून् प्रत्याचार्यकरणेन ।

एवमुक्ते साधवो भणन्ति-

को नाम सारहीणं, स होइ जो भद्दवाइणो दमए ।
दुट्ठे वि उ जो आसे, दमेइ तं आसियं बिंति ॥

को नाम सारथीनां मध्ये स भवति, यो भद्रवाजिनो विनीतानश्वान् दमयेत् ? न । कश्चिदमी; असारथिरेवेत्यर्थः । दुष्टानविनीतानपि योऽश्वान् दमयति, शिक्षां ग्राहयति । तमाश्विकमश्वदमं ब्रुवते लौकिकाः ।

अपि च-

होंति हु पमायखलिया, पुव्वब्भासा य दुच्चया भंते ! ।
न चिरं वक्रंतणा य, हिया य अच्चंतियं अंत ॥

भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! पूर्वाभ्यासादनादिभवाभ्यासतया, दुस्त्यजानि प्रमादस्खलितानि भवन्ति । प्रायो जन्तूनां प्रमादा निद्राविकथादयः स्खलितान्यनुपयुक्तागमनभाषणादीनि । न चेयं स्मारणादिरूपा यन्त्रणा चिरं चिरकालभाविनी सात्मीभावमुपगते, सामीप्यमप्रमादे को नाम स्मारणादिकं करिष्यतीति भावः । न चेयमापातवत् परिणामेऽपि दुःसहा, किं तु हिता च पथ्या । आत्यन्तिकमतिशयेन अन्ते अवसाने, परिणामे इत्यर्थः ।

अथ परिणामसुन्दरं तदापातकममुष्योपादेयम, अत्रान्तरे सूरयस्तेषां प्रमादिसाधूनां तीव्रतरं संवेगमवगम्य तेनैव व्यतिरेकेणानु राजदृष्टान्तं कुर्वन्ति-

अच्छिरुयालुनरिंदो, आगंतुअविज्जगुलियसंसणया ।
विसहामि त्ति य भणिए-ऽजणं वेयण मुहं पच्छा ॥

" एगो राया तस्स अच्छिरया जाया, तत्थ वेज्जेहिं न सक्किउ तिगिच्छउं । अण्णो य आगन्तुओ विज्जो, आगंतु भणइ । मम अच्छिगुलिया उ अच्छिसूलपसमणी उ, ताहिं अंजिएसु अच्छीसु तिव्वयरा दुरहियासा वेयणा भवति । मुहुत्तं जइ न वि मे मारणाए संदिसाहि, तो अंजामि अच्छीणि । 'न मारामि' त्ति अब्भुवगए । अंजिएसु अच्छीसु तिव्वतरा वेयणा जाया । ताहे रन्ना भणियं, अच्छीणि मे पाडयाणि, मारेह न वज्जं । नाहिं अब्भुवगतु न मारिओ । मुहुत्तनेण उवसन्ता वेयणा । पोराणाणि अच्छीणि जायाणि । विज्जो पूइओ" अथ गाथाक्षरार्थः-अक्ष्णः अक्षुणोर्या रुग् रोगस्तद्वान् कश्चिन्नरेन्द्रः । तस्य चागन्तुकवैद्येन गुटिकानां शमनाः स्वरूपकथनम् । ततो राज्ञा विषहाम्यहं वेदनामिति भणिते, वैद्येन चक्षुषो गुटिकाभिरञ्जनम् । ततो वेदना । पश्चात्क्रमेण सुखं संजातम् । प्रगुणीभूते अक्षिणी । एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः-यथा तस्य राज्ञस्तत्कालदुस्सहमपि गुटिकाञ्जनं, क्रमेण चक्षुषोः प्रगुणीकरणात् परिणामसुन्दरं समजनि । एवं भवतामपि स्मारणादिकं, खरपुरुषत्वात् यद्यप्यापातकटुकं, तथाऽपि परिणामसुन्दरमेव द्रष्टव्यम् । इह परत्र च सकलकल्याणपरम्पराकारणत्वादिति । (उक्तो निष्कासनविधिः)

अथ संग्रहमाह-

इय अविवेगो य विगिं-चियाण च संगहो पुणब्भूओ ।
जे उ निसग्गविणीया, सारणया केवलं तेसिं ॥

(इय) एवमविनीतानामविवेकः परित्यागः (विगिंचियाण च त्ति) परित्यक्तानां पुनरावृत्तानां भूयः संग्रहो विधेयः । ये तु निसर्गेण स्वभावेन विनीतास्तेषां स्मारणैव केवलं कर्तव्या । यथेदमित्थं कर्तव्यमिति ।

उपसंहरन्नाह-

एवं पडिच्छिऊणं, निप्फत्ति कुणइ बारस समा उ ।

एवं देशदर्शनं कुर्वन् शिष्यः । प्रतीच्छकान् प्रतीत्य, निष्पत्तिं सूत्रार्थग्रहणादिना द्वादश समाः संवत्सराणि करोति । गतं निष्पत्तिद्वारम् ।

अथ विहारद्वारं व्याख्यायते-

एसो चेव विहारो, सोसनिप्फाययंतस्स ॥

" एसो चेव " इत्यादि । एष एव विहारः शिष्यान् निष्पादयतो वेदितव्यः । इयमत्र भावना तस्य दर्शनं कृत्वा गुरुपादमूलमागतस्य गुरुभिराचार्यपदमध्यारोप्य, दिग्बन्धानुज्ञायां विहितायां नवकल्पविधिना विहरतो, यः शिष्यनिष्पादनविधिः, स एवमेव द्वादश वर्षाणि यावत् विज्ञेयः, तुल्यवक्तव्यत्वादिति ।

(१०) विहारद्वारम् । तत्र जिनकल्पिकमाश्रित्य प्रतिद्वाररूपाणि अभ्युद्यतविहारमनादीनि षड् द्वाराणि ।

व्याचिख्यासुर्द्वारगाथामाह-

अब्भुज्जयविहारमणपंच-तुलणा उवगरणमेव परिकम्मे ।
तवसत्तसुएगत्ते, उवसग्गसहे य वडरुक्खे ॥

अभ्युद्यतविहारविषयं मनः प्रयुङ्क्ते । पञ्चानामाचार्याणां तुलना, स्वयोग्यताविषया भवति । उपकरणं, जिनकल्पोचितमेव गृह्णाति । परिकर्म, इन्द्रियादिजयरूपं करोति । तपःसत्त्वश्रुतैकत्वानि, उपसर्गसहश्चेति, पञ्च भावना भवन्ति । वटवृक्ष इति, जिनकल्पं तीर्थकरादीनामभावे वटवृक्षस्याधस्तात् प्रतिपद्यते इति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथैतामेव विवरीषुराह–

अणुपालिओ य दीहो, परियाओ वायणा वि मे दिन्ना ।
निप्फाइया य सीसा, सेओ हियमप्पणो काउं ॥

तेनाचार्येण सूत्रार्थपौरुषीमनुचिन्तयति ह्मा, यथा–ते पूर्वापररात्रकालसमये धर्मजागरिकां जाग्रतो ह्येवं मनीषया । यथा–अनुपालितो मया दीर्घः पर्यायः प्रव्रज्यारूपः, वाचनापि मया दत्ता, तन्निमित्तं च । शिष्या निष्पादिताः शिष्याः । तस्य तथा तार्थं ह्यात्मनोऽभ्युद्यतं । तत्करणेन हितमात्मन ऋणमोचनम् । अत ऊर्ध्वं मम प्रशस्यतरं ममात्मनः हितं कर्तुम् ।

किं नाम हितमिति चेदुच्यते–

किं तु विहारेण ऽब्भु–ज्जएण विहरामि ऽणुत्तरगुणेणं ।
आउ अब्भुज्जयमाय–णेणं विहिणा अणु मरामि ॥

किन्त्विति वितर्के । अभ्युद्यतविहारेण जिनकल्पादिना, अनुत्तरगुणेनानुत्तरा अनन्यसमानगुणा निर्ममत्वादयो यस्मिन् स तथा, तेनाहं विहरामि । (आउ त्ति) उताहो (अब्भुज्जयमरणेणं ति) सूत्रत्वात् सूत्रस्य अभ्युद्यतमरणविशेषेण शास्त्रोक्तेन विधिना म्रिये । अनु पश्चात् संलेखनाद्युत्तरकाल मरणं प्रतिपद्येऽहमिति । (वृ०)

इह चाय विधि । यदि स्तोकमेवायुरवशिष्यते, तत पादपोपगमनादीनामेकतरमभ्युद्यतमरणं प्रतिपद्यते । अथ प्रचुरमायुस्तर्हि जङ्घाबलपरिक्षीणः, ततो वृद्धावासमध्यास्ते, अथायुर्दीर्घं च न जङ्घाबलक्षीणस्तदाऽभ्युद्यतविहारं प्रतिपद्यत इति, गतमल्पपरिकर्मितमनोद्वारम् ।

(११) तत्र द्वितीयमाचार्यादिरूप-पञ्चतुलनात्मकम् ।

पञ्चानामाचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविरगणावच्छेदकानां तुलना भवति । यथा त्रयाणामभ्युद्यतविहाराणां कतरं प्रतिपद्यामहे । यैत एव प्रायोऽभ्युद्यतविहारस्याधिकारिण इति कृत्वा पञ्चानि सम्प्रतिपन्नः कृत । इदमाचार्यादीनां तुलनावेषया यदि जिनकल्पं प्रतिपित्सुस्तदा इमं विधिं करोति–

गणनिक्खेवि, त्तरिओ, गणिस्स जो व ठविओ जहिं ठाणे ।

गणिन आचार्यस्य गणनिक्षेप । इत्वरः परिमितकालापन्नो भवति । यो वा उपाध्यायादिर्यत्र स्थाने पदे स्थापितः, स तावदमकतुल्यगुणे साध्वादिरनिक्षेपेण निक्षिपति । आह–किमर्थमसावित्वरं गणादिनिक्षेपं विदधाति, न यावज्जीविकम् ? उच्यते–इह न कापुरुषविहरणशीलता विलीमुखेन वामलोचने पुत्रिकाया वेधनमिव दुष्करं गणाद्यनुपालनम् । अत पश्यामस्तावदेतेऽभिनवाचार्यप्रभृतय. किमस्य गणादेरनुपालनं कर्तुं यथावदीशते, वा न वा । यदि नेशते । ततो मया न प्रतिपत्तव्यो जिनकल्पः । यतो जिनकल्पानुपालनादपि श्रेष्ठतरमितरस्य यथाविधस्याभावे सूत्रोक्तनीत्या गणाद्यनुपालनं । यत्तु तन्निर्जराभिमकारणत्वात् । न च बहुगुणपरित्यागेन स्वल्पगुणोपादानं विदुषा कर्तुमुचितं । सुप्रतिष्ठितकार्यारम्भकत्वात्तथात्मापिर्मिसंधाय, स भगवानित्वरं गणादिनिक्षेपं विदधातीति । उक्तं च पञ्चवस्तुशास्त्रे इहैव प्रक्रमे श्रीहरिभद्रपूज्यैः —

" पिच्छामु ताव एए, केरिसगा होंति अम्ह ठाणऽम्मि ।
आणाए वि पायए, निव्वहण दुक्करं होइ ॥
न य बहुगुणचायए, अप्पगुणपसाहण जह सुहाए ।
इह काउ कज्जक–सलाए सुपइट्ठियाऽरंभा " ॥ (गत पञ्चतुलनाद्वार)

उवहिं च अहागडयं, गेण्हइ जाव ऽन्नणुप्पाए ॥

अथोपकरणद्वारमाह–" उवहिं च " इत्यादि । यावदन्य जिनकल्पप्रायोग्य शुद्धैषणायुक्त प्रमाणोपेतं चोपधिं वस्त्रादि, नोत्पादयति, तावद्यथाकृतमेव गृह्णाति । तत स्वकल्पप्रायोग्ये उपकरणे लब्धे सति प्राक्तनमुपकरणं व्युत्सृजतीति । गतमुपकरणद्वारम् ।

(१२) तत्र चतुर्थं परिकर्मद्वारम् । अस्य द्विविधत्वमस्यैवाधिकारस्य (१६) अङ्के द्रष्टव्यम् ।

परिकर्मेति वा भावनेति वा एकार्थः । तत आत्मानं भावनाभिः सम्यक् भावयति । आह–सर्वेऽपि साधवस्तावद्भावितान्तरात्मानो भवन्ति । अतः किं पुनर्भावयितव्यम् ? उच्यते—

इंदियकसायजोगा, विनियमिया जइ वि सव्वसाहूहिं ।
तह वि जया कायव्वो, तज्जयसिद्धिं गणंतेणं ॥

यद्यपि सर्वसाधुभिरिन्द्रियकषाययोगाः, विविधैः प्रकारैर्नियमिता जितास्तथाऽपि जिनकल्प प्रतिपत्तुकामेन पुनरेतेषां जयः कर्तव्यः । तत्रेन्द्रियाणां अशुभिकादिपरिभावनादिना इन्द्रियाणां जयस्तथा कर्तव्यो, यथेष्टानिष्टविषयेषु गोचरमुपागतेषु रागद्वेषयोरुत्पत्तिरेव न भवति । कषायाणामपि जयस्तथा कर्तव्यो, यथा–आक्षेपा दुर्वचनश्रवणादि बाह्यं कारणमवाप्याप्यन्तस्तु तदनुगुणत्वय एव नाविर्भवति । योगानामपि मनःप्रभृतीनां जयस्तथा यतितव्य, यथा–तेषामार्तध्यानादिकं दुष्प्रणिधानमिव नावकाशमासादयति । अथ किमर्थमिदमिन्द्रियकषाययोगानां जय कर्तव्य इत्याह–तेषामिन्द्रियादीनां जयस्तज्जयेन सिद्धिर्जिनकल्पपारप्राप्तिस्तां गणयता मन्यमानेनेन्द्रियादीनां जयः करणीय । वृ० १ उ० । (इतोऽग्रे ' भावणा ' शब्दे)

(१३) तत्र पञ्चमं तपआदिपञ्चकानां पञ्चतुलनाभावनारूपम् । द्वितीया सत्त्वभावना ' सत्तभावणा ' शब्दे । तृतीया सूत्रभावना ' सुत्तभावणा ' शब्दे ।

तावत् प्रथमां तपोभावनामाह–

तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य ।
तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ ॥

तपसा, सत्त्वेन, सूत्रेण, एकत्वेन, बलेन च, एवं तुलना भावना पञ्चधा प्रोक्ता । जिनकल्पं प्रतिपद्यमानस्येति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुराह–

जो जेण अणब्भत्थो, पोरिसिमाई तवो उ तं तिगुणं ।
कुणइ छुहाविजयट्ठा, गिरिणइसीहो य दिट्ठंतो ॥

यद्येन पौरुष्यादिकं तपोऽनभ्यस्त सात्मीभावमनानीतं तत् त्रिगुणं, त्रीन् वारान् करोति । यथा–प्रथमं पौरुषीं वारत्रयाऽऽसेवनेन सात्मीभावमानीय तत पूर्वार्द्धं तथैवासेव्य सात्मीभावमानयति । एवमेकाशननिर्विकृतिकादिष्वपि द्रष्टव्यम् । किमर्थमित्याह–क्षुद्विजयार्थं यथा क्षुत्परीषहसहने सात्म्यं भवतीत्यर्थः । अथ गिरिनदीसिंहेन दृष्टान्त यथा–असौ गिरिनदीं तरन् परतटं चिह्नं करोति । यथा शुष्कप्रदेश वृक्षाद्युपलक्षिते मया गन्तव्यमिति सञ्चरन् तीक्ष्णेनोदकवेगेनापह्रियते । ततो व्यावृत्य भूयः प्रगुणमेवोत्तरति । यदि ह्रियते । ततो भूय तथैवोत्तरति । एव यावत् सकलामपि गिरिनदीं प्रगुणमेवोत्तरीतुं न शक्नोति, ता-

यावदुत्तरकालभ्यासं न मुञ्चति । एव लोऽपि यावद्यथोक्तं तपः सात्मीभावं न याति, तावत्तदभ्यासं न मुञ्चति ।

एतदेवाह-

एकेकं ताव तवं, करेइ जह तेण कीरमाणेणं ।
हाणी न होइ जइया, वि होज्ज छम्मासउवसग्गो ॥

एकैकं तपस्तावत्करोति । यथा तेन तपसा क्रियमाणेनापि विहितानुष्ठानस्य हानिर्न भवति । यद्यपि कथञ्चित् भवेत्षण्मासान् यावदुपसर्गो देवादिकृतोऽनेषणीयकरणादिकः, तदापि षण्मासान् यावदुपोषित आस्ते । न पुनरनेषणीयमाहारं गृह्णाति ।

तपस एव गुणान्तरमाह-

अप्पाहारस्स न इं-दियाइँ विसएसु संपयट्टंति ।
नेव किलिस्सइ तवसा, रसिएसु न सज्जए वा वि ॥

तपसा क्रियमाणेनाल्पाहारस्य सतो नेन्द्रियाणि विषयेषु स्पर्शादिषु प्रवर्तन्ते, न च क्लाम्यति, बाधामनुभवति । तपसा नैव च रसिकेषु मधुरेषु अशनादिषु सजति, सङ्गं करोति । सुपरिणितभावनादरामोवात् ।

अपिच-

तवभावणाइ पंचि-दियाणि दंताणि जस्स वसमिंति ।
इंदियजोगायरिओ, समाहिकरणाइँ कारणए ॥

तपोभावनया हेतुभूतया पञ्चापि सम्यक्कानीन्द्रियाणि दान्तानि सन्ति । यस्य वशमायत्ततामागच्छन्ति । स इन्द्रिययोग्याचार्यः, इन्द्रियगुणनक्रियागुरु समाधिकरणानि समाधिव्यापाराणि कारयतीन्द्रियाणि । यथा यथा ज्ञानादिषु समाधिरुत्पद्यते, तथा तथा तानि कारयतीत्यर्थः । उक्ता तपोभावना । बृ० १ उ० ।

(१४) तुलनाभावनापञ्चके चतुर्थैकत्वभावनामाह-

जइ वि य पुव्वममत्तं, छिन्नं साहूहिँ दारमाईसु ।
आयरियाइममत्तं, तहा वि संजायए पच्छा ॥

यद्यपि च—पूर्वं गृहवासकालनापि ममत्वं साधुभिर्दाराकलत्रं तच्चादिग्रहणात्पुत्रादिषु छिन्नमेव । तथाऽप्याचार्यादिविषयं ममत्वं पश्चात् प्रव्रज्यापर्यायकाले सजायते । तच्च कथं परिहापयितव्यम् ।

उच्यते—

दिट्ठिनिवायालावे, अ परोप्परकारियं स पडिपुच्छं ।
परिहासमिहो य कहा, पुव्वपवित्ता परिहावेइ ॥

गुर्वादिषु ये पूर्वं दृष्टिनिपाताः सम्निरीक्षणावलोकनानि ये च तैः सहालापास्तान् । तथा परस्परोपकारिता मिथो भक्तपानदानग्रहणादिरुपकारं प्रति पृच्छन् सूत्रार्थादिप्रतिपृच्छया सहितं, परिहासं हास्यं, मिथः कथाश्च परस्परवार्ताः, पूर्वप्रवृत्ताः सर्वा अपि परिहापयति ।

ततश्च—

सम्भुइकयम्मि पुव्वं, बाहिरपेम्मे सहायमाईसु ।
आहारे उवहिम्मि य, देहे य न सज्जए पच्छा ॥

सहायः साङ्घाटिकसाधुस्तद्विषये, आदिशब्दादाचार्यादिविषये च, बाह्यप्रेमाणि पूर्वं तनुकीकृते परिहापिते सति, ततः पश्चादाहारे उपधौ, देहे च, न सजति, न ममत्वं करोति ।

ततः किं भवतीत्याह-

पुव्वं छिन्नममत्तो, उवरकालं न विज्जमाणे वि ।
सजणविपड्क्करे वा, कुसइ दट्ठुं न भंगइए ॥

पूर्वं छिन्नममत्वः सर्वेऽपि जीवा असकृदनन्तशो वा मम जन्तूनां स्वजनभावेन शत्रुभावेन च सञ्जाताः । अतः कोऽत्र मः स्वः को वा परः, इति भावनया त्रुटितप्रेमबन्धः, स तूत्तरकालं जिनकल्पप्रतिपत्त्यनन्तरं, व्यापाद्यमानानपि सगतिकान् स्वजनान् स्वभाविकानितरान् वा वैक्रियशक्त्या देवादिनिर्मितान् दृष्ट्वा, न क्षुभ्यति, ध्यानात् न चलति ।

अत्र दृष्टान्तमाह—

पुप्फपुरपुप्फकेऊ, पुप्फवई देवी जुअलयं पसुवे ।
पुत्तं च पुप्फचूलं, धूअं च सनामियं तस्स ॥
सहवड्डियाणुरागो, रायत्तं चेव पुप्फचूलस्स ।
घरजामाए दाणं, मिलए निसि केवलं तेणं ॥
पव्वज्जा य नरिंदे, अणुपव्वयणं च णेगत्ते ।
वीमंसा उवसग्गे, विकेहिँ समुहिँ च कंदणया ॥

पुप्फपुरं नयरं । तत्थ पुप्फकेऊ राया । पुप्फवई देवी । सा अन्नया, जुयलं पसूया । पुप्फचूलो दारओ । पुप्फचूला दारिया । ताणि दो वि सहवड्डियाणि । परोप्परं अईव अणुरत्ताणि । अन्नया पुप्फचूलो राया पव्वइओ । अणुरागेण पुप्फचूला वि भगिणी पव्वइया । सो य पुप्फचूलो अन्नया जिणकप्पं पडिवज्जिउकामो । एगत्तभावणाए अप्पाणं भावेइ । इओ य एगेण देवेण वीमंसानिमित्तं पुप्फचूलाए अज्जाए रूवं विउव्वियं । तं चुला चरित्तिवं पव्वया । पुप्फचूलो य अणगारो तेण ओगासेण वोलेइ । ताहे सा पुप्फचूला अज्जा उच्चसरेण भणाहि त्ति । वाहइ, सो य भगव सुट्ठियतपेमवधणो " एगोऽहं नऽत्थि मे को वि, नाहमन्नस्स कस्स वि " । इच्चाइ एगत्तभावण भावितो गओ सट्ठाणं । एवं एगत्तभावणाए अप्पाणं भावेयव्यो त्ति । गाथाक्षरयोजना त्वेवम्-पुष्पपुरे, पुष्पकेतू राजा । पुष्पवती देवी, युगलं प्रसूते । वर्तमाननिर्देशस्तत्कालविवक्षया पुत्रं च पुष्पचूलं दुहितरं च तस्य समानिकां समानाभिधानां तयोश्च सह वर्द्धितयोरनुरागो । राजत्वं चैव । पुष्पचूलस्य पुष्पचूलायाश्च गृहजामात्रे दानं । सा च तेन भर्त्रा सम केवलं निशि रात्रौ मिलति । प्रव्रज्या च नरेन्द्रपुष्पस्य । तदनुरागेणानुप्रव्राजनं च पुष्पचूलाया । ततो जिनकल्पं प्रतिपित्सुरेकत्वभावनां भावयितुं सन् । विमर्शपरीक्षा । तदर्थं देवेनोपसर्गं क्रियमाणे विटैः सम्मुखीं पुष्पचूलां कृत्वा धर्षणं कर्तुमारब्धः, ततः क्रन्दनाम । आर्य ! शरणमिति ।

अत्रोपसंहारमाह-

एगत्तभावणाए, पकामभोगे गओ सरीरे णो ।
सज्जइ वेरग्गगओ, फासेइ अणुत्तरं करणं ॥

एकत्वभावनया भाव्यमानप्रकामभोगेषु शब्दादिषु गतो ग-

ऽङ्गे शरीरे वा न सजति, न सङ्गं करोति । किं तु वैराग्यं गतः सन् स्पृशति, आराधयति । अनुत्तर करणं प्रधानयोगसाधन जिनकल्पपरिकर्मेति । गता एकत्वभावना ।

(१५) अथ बलभावना । तत्र बलं द्विधा-भावबलं शारीरबलं च । तत्र भावबलमाह-

भावो उ अभिस्संगो, सो उ पसत्थो व अप्पसत्थो वा ।
नेहगुणओ उ रागो, अपसत्थपसत्थओ चेव ॥

भावो नाम अभिष्वङ्गः । स तु द्विधा—अप्रशस्तः प्रशस्तश्च । तत्रापत्यकलत्रादिषु स्नेहजनितो रागः, सोऽप्रशस्तः । यः पुनराचार्योपाध्यायादिषु गुणबहुमानप्रत्ययो रागः प्रशस्तः । तस्य द्विविधस्यापि भावस्य येन मानसावष्टम्भेनासौ व्युत्सर्गं करोति, तद्भावबलं मन्तव्यम् । शारीरमपि बलम्-शरीरानपेक्षया जिनकल्पार्हस्यातिशायिकमिष्यत इत्याह-तपःप्रभृतिभिः भावनाभिर्भावयतः कृशतरं शरीरं भवति । ततः कुतोऽस्य शारीरबलं भवतीत्युच्यते "कामं तु शारीरबलम्" ।

हायइ परमणु तवस-ज्झावणजुत्तस्स देहोवचए वि ।
सत्ती जइ होइ धिई, थिरा तहा ऽसो जयइ कामं ॥

अनुमतघारणे । अनुमतमेवास्माकं यत्तपोज्ञानभावनायुक्तस्य शारीरबलं हीयते । परं देहोपचयेऽपि सति यथा धृतिर्मानसावष्टम्भलक्षणा निश्चला भवति । तथासौ यतते धृतिबलेन सम्यगात्मानं भावयतीत्यर्थः ।

आह-इत्थं धृतिबलेन भावयतः को नाम गुणः स्यादुच्यते-

कसिणा परिसहचमू, जइ उट्ठिज्जा इह मोक्खमग्गा वि ।
दुद्धरपहकरवेगा, भयजणणी अप्पसत्ताणं ॥
धिइधणियबद्धकच्छो, जो होइ अणाउलो तमव्वहिओ ।
बलभावणाए धीरो, संपुण्णमणोरहो होइ ॥

कृत्स्ना सम्पूर्णा परीषहचमूर्मार्गाच्यवने, निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः क्षुदादयः । त एव तेषां वा चमूः सेना सा यद्युत्तिष्ठेत्, सम्मुखीभूय परिभावनाय प्रगुणा भवेत् । सोपसर्गापि दिव्याद्युपसर्गैः कृतसहायकापि । तथा-दुर्धरं दुर्वहं पन्थानं सम्यग्दर्शनादिरूपं मोक्षमार्गं करोति, इति दुर्धरपथकरः, तथाविधो वेगः प्रसरो यस्याः सा दुर्धरपथकरवेगा । भयजननीं त्रासकारिणीं अल्पसत्त्वानां कापुरुषाणां तामेवंविधामपि स जिनकल्पप्रतिपत्तुकामो योधयति । कथंभूतो धृतिरेव "धणियं" अत्यर्थम्, बद्धा कक्षा येन स तथा । अनाकुलः औत्सुक्यरहितः । अव्यथितो निष्प्रकम्पमानः स बलभावनया तां योधयित्वा, धीरः सत्त्वसम्पन्नः सन् सम्पूर्णमनोरथो भवति । परीषहोपसर्गान् पराजित्य, स्वप्रतिमां पूरयतीत्यर्थः ।

अपि च—

धिइबलपुरस्सराओ, हवंति सव्वा वि भावणा एता ।
तं तु न विज्जइ सज्झं, जं धिइमंतो न साहेइ ॥

सर्वा अप्येता तपःप्रभृतयो भावना धृतिबलपुरस्सरा भवन्ति । न हि धृतिबलमन्तरेण षाण्मासिकतपःकरणाद्यनुगुणास्तास्तथा भावयितुं शक्यन्ते । किं वा (तं तु) तत्पुनः साध्यं कार्यं जगति न विद्यते, यद् धृतिमान् सात्त्विकः पुरुषो न साधयति "सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्" इति वचनादेतेन "अव्वोच्छित्तीमण" इत्यादिद्वारगाथायाः 'उवसग्गसहे' इति यत्पदं, तद्भावितं बलभावनया, उपसर्गसहत्वभावादिति । गता बलभावना ।

अथ (उवसग्गसहे य त्ति) इत्यत्र यः चशब्दः सोऽनुक्तसमुच्चये वर्तते । अतस्तदर्थलभ्यं विधिशेषमाह-

जिणकप्पियपडिरूवी, गच्छे वसमाणे दुविहपरिकम्मं ।
ततिए भिक्खायरिया, पंतं लूहं अभिग्गहिया ॥

एवमसौ पञ्चभिर्भावनाभिर्भावितान्तरात्मा जिनकल्पिकस्य प्रतिरूपी तदनुरूपो भूत्वा, गच्छ एव वसन्, द्विविधं परिकर्म वक्ष्यमाणनीत्या करोति । तथा तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षाचर्यां, तत्रापि प्रान्तं रूक्षमाहारं गृह्णाति । सापि चाभिगृहीताऽभिग्रहयुक्ता ।

तथा—

परिणामजोगसोही, उवहिविवेगो य गणविवेगो य ।
सिज्जासंथारविसो-हणं च विगईविवेगो य ॥
तो पच्छिमम्मि काले, सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं ।
पच्छा णिच्छयमज्झं, उवेइ जिणकप्पियविहारं ॥

परिणामस्य गुर्वादिममत्वविच्छेदेन योगानां चावश्यकव्यापाराणां यथाकालमेव करणेन शुद्धिः । तथा प्राक्तनस्योपधेर्विवेको गणविवेकश्च । शय्यासंस्तारस्य विशोधनं च । विकृतिविवेकश्च । तदा तेन कर्तव्य । ततः पश्चिमे काले तीर्थव्यवच्छित्तिकरणानन्तरं सत्पुरुषनिषेवितं धीरपुरुषाराधितं परमघोरमत्यन्तदुरनुचरं पश्चादायतौ निश्चयमध्यमेकान्तहितं जिनकल्पिकविहारमुपैति ।

(१६) पूर्वोक्तं परिकर्म, पाणि-प्रतिग्रह-परिकर्मभ्यां सचेलाऽचेलपरिकर्मभ्यामाहारोपधिभेदाभ्यां च द्विविधम्, पुनः केनाऽऽसनेन कथमुत्तेषु संस्तारकेषु चोपविशति जिनकल्पिक इति ।

अथ द्विविधं परिकर्म व्याख्यानयति—

पाणिपडिग्गहेण य, सचेलं अचेलओ जहा भविया ।
सो तेण पगारेणं, भावेइ अणागयं चेव ॥

द्विविधं परिकर्म । तद्यथा-पाणिपरिकर्म, प्रतिग्रहपरिकर्म च । अथवा-सचेलपरिकर्म, अचेलपरिकर्म च । तत्र यो यथा पाणिपात्रधारकः, प्रतिग्रहधारको वा । सचेलकोऽचेलको वा भविता, स तेनैव प्रकारेण पाणिपात्रभोजित्वादिना अनागतमेवात्मानं भावयति ।

प्रकारान्तरमाह-

आहारे उवहिम्मि य, अहवा दुविहं तु होइ परिकम्मं ।
अग्गहो दोसु पंचसु, अभिग्गहो अन्नतरियाए ॥

अथवा द्विविधं परिकर्म । आहारे, उपधौ च । तत्राहारं तावदसौ तृतीयपौरुष्यामवगाढायां गृह्णाति । तं चाऽलेपकृतमेव तत्राप्यसंसृष्टादीनां सप्तानां पिण्डैषणानां मध्यादाद्ययोर्द्वयोरेषणयोरग्रहः सर्वथैवास्वीकारः । उपरितनासु पञ्चसु उद्धृतालपलेपावगृहीताप्रगृहीतोज्झितधर्मिकासु ग्रहणं तत्राप्यभिग्रहोऽन्यतरस्यामेषणायामेकया भक्तं अपरया पानकमिति नियन्त्र्य शेषाभिरिस्तस्मिंस्तद्दिवसग्रहणमित्यर्थः । उपधौ तु वस्त्रपात्र-

वोः प्रतिमाचतुष्टयं यत्पीठिकायामुक्तं तत्राद्यद्वयवर्जमुत्तरयो-रेव ग्रहणं तत्राप्यन्यतरस्यामभिग्रहः ।

अथ " पंत लूहं ति " व्याचष्टे-

निप्फावचणकुम्माऽ, अंतं पंतं तु होइ वावन्नं ।

नेहरहियं तु लूहं, जं वुवलप्फं सहावेण ॥

निष्पावा' वल्ला', चणका' प्रतीता , आदिशब्दात् कुल्माषा-दिकं च 'अन्तम्' इत्युच्यते । 'प्रान्तं' पुनस्तदेव व्यापन्नं, विनष्टं, वस्तुतः स्नेहरहितं तद् रूक्षं, यद्वा-स्वभावेनोपलप्स्यादिक तदपि रूक्षं मन्तव्यम् ।

अत्रैव विधिविशेषमाह—

उक्कुडुयासणसमुइं, करेइ पुढवीसिलाइसूत्रविसे ।

परिकम्मो पुण नियमा, उक्कुडुओ केई उ नयंति ॥

त तु न जुज्जइ जम्हा, अणंतरो णऽत्थि भूमिपरिभोगो ।

तम्मि य हु तस्स काले, ओवग्गहिओवही नत्थि ॥

(उक्कुडुयासणसमुइं ति) देशीवचनत्वादुत्थानं करोति । पृथिवीशिलादिषु वा पृथिवीशिलापट्टके, आदिशब्दादपरेष्वपि तथाविधेषु यथासंस्तृतेषु उपविशेद्वा जिनकल्पं प्रतिप-न्नः । पुनर्नियमादुत्कुटुकः कश्चिद्भजन्ति । विकल्पं कुर्वन्ति । उत्कु-टुको वा तिष्ठेत्, उपविशेद्वा, तत्तु न युज्यते, यस्मादनन्तरोऽ व्यवहितो नास्ति साधूनां भवेद्भूमिपरिभोग " सुरूपुढवीए न सियति" वचनात् । तस्मिंश्च जिनकल्पकाले औपग्रहिकोप धिर्नास्ति । तदभावाच्च निषद्यापि नास्ति, इति गम्यते । ततश्चा-र्थादापन्नं तु उत्कुटुक एव तिष्ठति । उक्तश्चशब्दसूचितो विधिशेषः ।

(१७) विहारद्वारगतं षष्ठ वस्तुद्वारम् । कस्यापानुकूल्ये, कस्य पार्श्वे, कस्य तरोरधस्तनप्रदेशे वा, जिनकल्पं स्वीकर-णीयम् । तत्र केन विधिना । ततः क्षामणम् । शेषाः किं कुर्व न्ति । क्षामणाया के गुणाः । जिनपदस्थापितसूरेरनुशिष्टिः । साधू-नामनुशिष्टिं च प्रदाय किंकरोतीत्यादिप्रतिपादितम् ।

दव्वाइं अणुकूले, संघं सम्मेलिय तो गणं असइ ।

जिण-गणहरे य चउदस-अभिन्ने य असइ वडमाई ॥

इत्थमात्मानं परिकर्म । द्रव्ये, आदिशब्दात् क्षेत्रे, काले, भावे च, अनुकूले प्रशस्ते सङ्घं मीलयित्वा, सङ्घस्यासत्यभावे गणं स्वकीयमवश्यमेव समाहूय, तत प्रथमं जिनं, तीर्थकरस्त-स्यान्तिके । तदभावे गणधरः, तत्सन्निधाने । तदलाभे, चतुर्दशपूर्व-धरान्तिके । तदसम्भवे, अभिन्नदशपूर्वधरपार्श्वे । तस्याप्यसति, वटवृक्षस्याधः । आदिग्रहणादश्वत्थाशोकवृक्षादीनामध-स्ताज्जिनकल्पं प्रतिपद्यते ।

केन विधिनेत्याह-

गणि-गणहरं ठवेत्ता, खामे अगणी उ केवलं खामे ।

सव्वं च बालवुड्ढं, पुव्वविरुद्धे विसेसेणं ॥

गणी, गच्छाधिपाचार्यः । स पूर्वमितरनिक्षिप्तगणं स्वशिष्यग-णधरं स्थापयित्वा श्रमणसङ्घं क्षमयति । (अगणि त्ति) यस्तु गणी न भवति, किं तु सामान्यसाधुः स केवलं क्षमयति । न तु किमपि स्थापयति । किं पुनः क्षमयतीत्याह-सर्वं सकल मपि सङ्घं, च शब्दात्तदन्तर्वर्ति स्वगच्छं बालवृद्धाकुलं, ये च पूर्व-विरुद्धाः प्राग्विराधितास्तान् विशेषेण क्षमयति ।

कथं पुनरित्याह-

जइ किं चि पमाएण, न सुट्ठु भे वट्टियं मए पुव्वं ।

तं भे खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओ अ ॥

यदि-किञ्चित्प्रमादेनानाभोगादिना न सुष्ठु (भे) भवतां मया वर्तितं पूर्वं, तद् (भे) युष्मान् क्षमयाम्यहं निःशल्यो निष्कषायश्च ।

इत्थं तेन क्षमिते सति शेषसाधवः किं कुर्वन्तीत्याह-

आणदंअंसुपायं, कुणमाणा ते वि भूमिगयसीसा ।

खामिंति जहरिहं खलु, जहारिहं खामिता तेणं ॥

तेऽपि साधवः आनन्दाश्रुपातं कुर्वाणा भूमिगतशीर्षाः क्षिति-निहितशिरसः सन्तः क्षमयन्ति । यथार्हं यो यो रत्नाधिकः स स. प्रथममित्यर्थः । तेनाचार्येण यथार्हं यथापर्यायज्येष्ठं क्षा-मिताः सन्तः इति ।

अथेत्थं क्षामणायां के गुणा इत्याह-

खामिंतस्स गुणा खलु, निस्सल्लयविणयदीवणामग्गे ।

लाघवियं एगत्तं, अप्पडिबंधो अ जिणकप्पे ॥

जिनकल्पे प्रतिपद्यमाने साधून् क्षमयतः खलु एते गुणाः । तद्य-था-निःशल्यता, मायादिशल्याभावो भवति । विनयश्च प्रयुक्तो भवति । मार्गस्य दीपना कृता भवति । इत्थमन्यैरपि क्षामणकं पु-रस्सरं सर्वं कर्तव्यमिति । लाघवमपराधभारापगमतो लघु-भाव उपजायते । एकत्वं क्षामिता मया मा सीदन्त्विति । इतः ऊर्ध्वम-कः एवास्मीत्यनुध्यानं भवति । अप्रतिबन्धश्च, ममत्वस्य छिन्न-त्वाद् भूयः शिष्येषु प्रतिबन्धो न भवति ।

अथ जिनपदस्थापितस्य सूरेरनुशिष्टिमाह-

अह ते सबालवुड्ढो, गच्छो साऽज्ज णं अपरितंते ।

ए य साहू परपरओ, तुम पि अंते कुणसु एवं ॥

पुव्वपवित्त विणयं, मा हु पमाए हि विणयजोगेसु ।

जो जेण पगारेणं, उवउज्जइ तं च जाणाहि ॥

अथैष (ते) तव सबालवृद्धो गच्छो निसृष्ट इति शेषः । अतो-ऽपरितान्तोऽनिर्विण्णो (ण)एनं गच्छं सान्त्वय, संगोपय, स्मार-णावारणादिना सम्यक् पालयेरित्यर्थः । न च परित्यक्ताऽहममी-भिरित्यादिपरिभाव्य । यतः एष एव परपरकः शिष्याचार्यक्रमो यदन्यच्छिन्नत्वकारकं शिष्यं निष्पाद्य, शक्तौ सत्यामभ्युद्यतवि-हारं प्रतिपद्यन्ते । त्वमप्यन्ते शिष्यनिष्पादनादिकार्यपर्यवसाने एवमेव कुर्याः । ये च बहुश्रुतपर्यायज्येष्ठादयो विनय योग्या गौर-वार्हास्तेषु पूर्वप्रवृत्तं यथोचितं विनयं मा प्रमादये, प्रमा-देनं परिहापये । यश्च साधुर्येन तपःस्वाध्यायवैयावृत्यादिना प्रकारेणोपयुज्यते, निर्जराप्रत्युपयोगमुपयाति तं च जानीहि, तं तथैव प्रवर्तयेत्यर्थः ।

अथ साधूनामनुशिष्टिं प्रयच्छति-

ओमो अह राइणिओ, अप्पतरसुओ ऽज्ज मा अओ तुम्भे ।

परिभवह तुम्ह एसो, विसेसओ संपयं पुज्जो ॥

अवमोऽयम् अथ रात्निकोऽयम् अल्पतरश्रुतो वा अयमस्मद-पेक्षया, अतः किमर्थमस्याज्ञानिर्देश एव कुर्महे, इति माऽद्य यूयममुं परिभवत । यत एष युष्माकं साम्प्रतमस्मत्स्थानापन्नत्वा-द्गुरुतरगुणाधिकत्वाच्च विशेषेण पूज्यो न पुनरवज्ञातुमर्ह इति भावः ।

इत्यमुमर्थमेषामप्यनुशिष्टिं प्रदाय किं करोतीत्याह-

पक्खिव्व पत्तसहिओ, सभंडगो वि जिगिज्ज निरवेक्खो ।
जा तइया ता विहरो, से चउत्थी ठाइ नवमासु ॥

यथा पक्षी पक्षाभ्यां पक्षाभ्यां सहितः, प्राक्तनस्थाननिरपेक्षः स्थानान्तरं व्रजति । एवमपि भगवान् सभाण्डक पात्रसहितो, निरपेक्षो गच्छममत्वापेक्षारहितः, एकान्त मासकल्पप्रायोग्य क्षेत्रं व्रजति । यच्च यावत्तृतीयपौरुषी, तावद् गच्छति । यतस्तस्यामेव (से) तस्य विहारो, नान्यासु पौरुषीषु । यत्र तु चतुर्थी पौरुषी भवति, तत्र नियमात् तिष्ठति इति ।

तस्मिन्निर्गते शेषसाधवः किं कुर्वन्तीत्याह-

सीहमिव मंदरकंदर-रावो नीसम्मिए तओ तम्मि ।
चक्खुविसयं अइगए, अइंति आणंदिया साहू ॥

सिंह इव मन्दरकन्दरायास्तस्मिन्ननगारे सिंहे,गच्छात्(नीसम्मिए) निर्गते सति,कियन्तमपि भूभागमनुगमन विधाय,ततश्चक्षुर्विषयमतिक्रान्ते अदर्शनीभूते, आयान्ति स्वस्थानं आनन्दिताः, अहो अय भगवान् सुखसेवनीयस्थविरकल्पविहारं विहायातिदुष्करमभ्युद्यतविहारमभ्युपैति, इति परिभावनया हृष्टाः सन्तः साधवः । इति ।

इदमेव विशेषमाह-

निच्चेलसचेले वा, गच्छारामा विणिग्गए तम्मि ।
चक्खुविसयं अईए, अइंति आणंदिया साहू ॥

निश्चेलो वा सचेलो वा । गच्छारामात् सुखसेवनीयाद्विनिर्गते, तस्मिन् चक्षुर्विषयमतीते, आयान्ति । आनन्दिताः साधवः ।

अथासौ विवक्षित क्षेत्रं गत्वा-किं करोतीत्याह-

आभोएउं खेत्तं, निव्वाघाएण मासनिव्वाहं ।
गंतूण तत्थ विहरइ, एस विहारो समासेणं ॥

आभोग्य विज्ञाय क्षेत्रं, निर्व्याघातेन विघ्नाभावेन मासनिर्वाहं मासनिर्वहणसमर्थं गत्वा-तत्र क्षेत्रे विहरति । सनीतिं परिपालयति । एष विहारो विशेषानुष्ठानरूपोऽस्य भगवतः समासेन प्रतिपादितः । इत्युक्तं विहारद्वारम् । बृ० १ उ० ।

(१८) सामाचारीद्वारम् । आवश्यक्यादिपञ्चसामाचारीर्जिनकल्पिकः प्रयुङ्क्ते, अन्याः न । आदेशान्तरमप्यत्रैवोक्तम् । अथैतासां मध्याज्जिनकल्पिकाः सामाचार्यो भवन्तीत्युच्यते-

आवासिइनिसीहिमि-च्छाआपुच्छुवसंपदं च गिहिएसु ।
अन्ना सामायारी, न होंति सेसे सिया पंच ॥

आवश्यकीं, नैषेधिकीं, मिथ्याकारं, आपृच्छाम्, उपसंपदं च, गृहिषु गृहस्थविषयाम् । एताः पञ्च सामाचारीर्जिनकल्पिकः प्रयुङ्क्ते । अन्याः सामाचार्यो न भवन्ति, तस्य (सेसे) शेषाः पञ्च मिथ्याकाराद्याः । प्रयोजनाभावात् ।

आदेशान्तरमाह-

आवासिइं निसिहिइं, मोत्तुं उवसंपयं च गिहिएसु ।
सेसा सामायारी, न होंति जिणकप्पिए सत्त ॥

आवश्यकीं नैषेधिकीं मुक्त्वा, उपसंपदं च गृहिषु गृहस्थविषयां, जिनकल्पिकस्य शेषाः सामाचार्यो मिथ्याकाराद्याः सप्त न भवन्ति । तद्विषयस्य इच्छाकारादेरभावात् ।

अहवा वि चक्कवाले, सामायारी उ जस्स जा जोग्गा ।
सा सव्वा वत्तव्वा, सुआइआ वा इमा मेरा ॥

अथवाऽपि, चक्रवाल प्रत्युपेक्षणादौ नित्यकर्मणि, यस्य जिनकल्पिकादेर्या सामाचारी योग्या, सा सर्वा अत्र सामाचारीद्वारे वक्तव्या । श्रुतादिका वा इयं वक्ष्यमाणा मेरा मर्यादा सामाचारी ।

(१९) श्रुतादिकानां वक्ष्यमाणसामाचारीणां सप्तविंशतिद्वाराणि—

तान्येवाभिधित्सुर्द्वारगाथात्रयमाह—

सुयसंघयणुवसग्गा, आयंको वेदणा कइ जणा य ।
थंडिल्लवसहिकेच्चिर-मोच्चारो चेव पासवणो ।
ओवासो तणफलयं, सारक्खणया य संठवणया य ।
पाहुडिअग्गी दीवा, ओहाण-वसे कइ जणा उ ।
भिक्खायरियापाणग-लेवालेवा तहा अलेवा य ।
आयंबिलपडिमाओ, जिणकप्पे मासकप्पो य ।

श्रुत १ संहनन २ उपसर्ग ३ आतङ्को ४ वेदना ५ कति जनाश्च ६ स्थण्डिल ७ वसति ८ कियच्चिर ९ उच्चारश्चैव १० प्रस्रवण ११ अवकाश १२ तृणफलक १३ संरक्षणता च १४ संस्थापनता च १५ प्राभृतिका १६ अग्नि १७ प्रदीप १८ अवधान १९ वत्स्यथ कति जनाश्च २० भिक्षाचर्या २१ पानक २२ लेपालेपः २३ तथा अलेपश्च २४ आचाम्ल २५ प्रतिमा २६ मासकल्पश्च २७ (जिणकप्पेत्ति) एतानि सप्तविंशतिद्वाराणि जिनकल्पविषयाणि वक्तव्यानि इति गाथात्रयसमुदायार्थः ।

अथावयवार्थं प्रतिद्वारं प्रतिपिपादयिषुर्यथोद्देशं निर्देश इति न्यायतः प्रथमं श्रुतद्वारमाह—

आयारवत्थु तइयं, जहन्नयं होइ नवमपुव्वस्स ।
अहिए कालन्नाणं, दस पुण उक्कोसजिणाइं ॥

जिनकल्पिकस्य जघन्यकश्रुतं, नवमपूर्वस्य प्रत्याख्याननामकस्याऽऽचाराख्यं तृतीयं वस्तु । तस्मिन्नधीते सति, कालज्ञानं भवति । अन्यथा तदर्वाक् श्रुतपर्याये वर्तमानस्य न जिनकल्पिकस्य प्रतिपत्तिः । उत्कर्षतो दशपूर्वाणि जिनानि । श्रुतपर्यायः सम्पूर्णदशपूर्वधरः । पुनरमोघवचनतया प्रवचनप्रभावनापरोपकारादिद्वारेण च, बहुतरं निर्जरालाभमासादयति । अतो नासौ जिनकल्पं प्रतिपद्यते । उक्तं श्रुतद्वारम् ।

अथ संहननद्वारमाह-

पढमिल्लुगसंघयणा, धिइए पुण वज्जकुड्डसामाणा ।

जिनकल्पाः प्रथमिल्लुकसंहननाः वज्रऋषभनाराचसंहननोपेताः । धृत्या अङ्गीकृतनिर्वाहकममनः प्रणिधानरूपया वज्रकुड्यसमानाः । * अथोपसर्गद्वारमाह *

उप्पज्जंति न वा सि उ-वसग्गा एस वि पुच्छा उ ॥

अथोपसर्गद्वारम्-उत्पद्यन्ते न वा अमीषामुपसर्गा दिव्यादयः इत्येषा पृच्छा । अत्रोत्तरमाह-

जइ वि य उप्पज्जंते, सम्मं वि सहंति ते उ उवसग्गे ।

नायमेकान्तो यदवश्यमेतेषामुपसर्गा उत्पद्यन्ते, परं यद्यप्युत्पद्यन्ते, तथाऽपि सम्यगदीनमनसो विषहन्ते तानुपसर्गान् ।

अथाऽऽतङ्कद्वारमाह-

रोगातंका चेवं, जइआ जइ होंति विसहंति ॥

आतङ्कद्वारमतिदिशति-रोगाश्च कालसहाः। आतङ्काश्च सद्यो घातिनः। एवमेव भाज्या उत्पद्यन्ते,वा न वा। यदि प्रवस्युत्पद्यन्ते, ततो नियमादधिसहन्ते।

वेदनाद्वारमाह-

अब्भुवगमा ओवक-मा य तेसिं वेयणा भवे दुविहा ।
धुवलोआइपढमा ज-राविवागाइ बिईं एको ॥

आभ्युपगमिकी, औपक्रमिकी च। तेषां जिनकल्पिकानां द्विविधा वेदना भवति। तत्र प्रथमा-ध्रुवलोचाद्या ध्रुवः प्रतिदिनभावी लोचः,आदिशब्दादातापनातपःप्रभृतिपरिग्रहः। द्वितीयाऽऽपक्रमिकी जराविपाकादिः, जरा प्रतीता। विपाकः कर्मणामुदयस्तत्समुत्था।

अथ "कियन्तोजना" इति द्वारम-(एको त्ति) एक एवायं भगवान् भवति। यदि वेद द्वारमुपरिष्टात् व्याख्यास्यते।

अथ स्थण्डिलद्वारमाह-

उच्चारे पासवणे, उस्सग्गं थंडिले कुणइ पढमे ।
तत्थेव य परिजुण्णे, कयकिच्चो उज्झए वत्थे ॥

उच्चारस्य प्रस्रवणस्य चोत्सर्गं परित्यागं प्रथमे अनापाते असंलोके स्थण्डिले करोति। तत्रैव प्रथमस्थण्डिले कृतकार्यो विहितवस्त्रत्राणादिवस्त्रकार्यः, उज्झति वस्त्राणि।

अथ च लक्षां व्युत्सृज्य न निर्लेपयति।

कुत इति चेत् ? उच्यते-

अप्पमलिन्नं वच्चं, अप्पं लूहं च भोअणं भणियं ।
दीहे वि उ उवसग्गे, उभयमवि अ थंडिले न करे ॥

अल्पमभिन्नं च वर्चः पुरीषमस्य भवति। कुत इत्याह-यतोऽल्प रूक्षं च भोजनमस्य भणितं भगवद्भिः। अल्पाभिन्नवर्चस्कतया तथाकल्पत्वाच्चासौ न निर्लेपयति। न चासौ दीर्घेऽपि बहुदैवसिके उपसर्गे उभयेऽपि लक्षां कायिकीं वा स्थण्डिले आपातादिदोषयुक्ते भागे करोति।

वसतिद्वारमाह-

अममत्ता-ऽपरिकम्मा, नियमा जिणकप्पियाण वसहीओ ।
एमेव य थेराणं, मुत्तूण पमज्जणं एक्कं ॥

अममत्वाममेयमित्यभिष्वङ्गरहिताः। अपरिकर्मा साधर्थमुपलेपनादिपरिकर्मवर्जिता, नियमात् जिनकल्पिकाना वसतिः। स्थविरकल्पिकानामप्येव वसतिरममत्वा, अपरिकर्मा च, दृष्ट्वा। मुक्त्वा प्रमार्जनामेकामन्यत्परिकर्मेति न कुर्वन्ति, इत्यर्थः।

एतदेव स्पष्टयति—

बिले न ढक्कंति न खज्जमाणिं,
गोणे य वारिंति न भज्जमाणिं ।
दारे न ढक्किंति, न वल्लगिंति,
दप्पेण थेरा भइया उ कज्जे ॥

एते भगवन्तो बिलानि धूल्यादिना न स्थगयन्ति। न वा गवादिभिः खाद्यमानां भज्यमानां वा वसतिं निवारयन्ति। द्वारे न ढक्किंति कपाटाभ्यां न संयोजयन्ति। स्थविरकल्पिका अपि दर्पेण कार्याभावे एवमेव वसते. परिकर्म न कुर्वन्ति। कार्ये तु पुष्टालम्बने भाज्याः परिकर्म कुर्वन्त्यपि, इतिभाव.।

कियच्चिरो-च्चार-प्रस्रवणा-वकाश-तृणफलक-संरक्षण-संस्थापना-द्वाराणि गाथाद्वयेन भावयति-

किंचिरकालं वसिहि, इत्थ य उच्चारमाइए कुणसु ।
इइ अत्थसु मा इइ य, इह तणफलए गिण्हह मा य ॥

यस्यां वसतौ याच्यमानायां तद्वीयस्वामिन इत्थं भणन्ति, कियत् चिरकालं वत्स्यथ यूयं। यद्वा अत्र प्रदेशे उच्चारादीनि पुरीषप्रस्रवणादीनि कुरु। अत्र तु मा कुरु। इहासितव्यकाशे आसीथ, इह मेति। एतानि वा हस्तसंज्ञया निर्दिश्यमानानि तृणफलकानि गृह्णीयाः, मा एतानीति ॥

सारक्खह गोणाई, मा य पडिंतिं उविक्खह उ भंते ! ।
अन्नं वा अभियोगं, नेच्छति अचियत्तपरिहारी ॥

संरक्षत वा गवादीन् बहिर्निगच्छतो यूयमस्माकं कुमादौ गतानां व्याकुलानां वा, मा च पतन्तीं वसतिमुपेक्षध्वे। किं बहुसंस्थापना पुनः सत्कारकपा विधेया (संठवणाय य त्ति) द्वारगाथायां यच्छब्दः तेन सूचितम्-अन्यं वा स्वाध्यायनिषेधादिकं यत्र वसतिस्वामी अभियोगं नियन्त्रणां करोति, तं मनसापि नेच्छन्ति। सूक्ष्मस्याप्यप्रीतिकस्य परिहारिणो अमी भगवन्त इति।

प्राभृतिकाग्निदीपावधानद्वाराणि व्याचष्टे-

पाहुडियदीवओ वा, अग्गिपगासो व जत्थ न वसंति ।
जत्थ य भणंति भंते ! , ओहाणं देहि गेहे वि ॥

यस्यां वसतौ प्राभृतिका बलिः क्रियते, दीपको वा यस्यां विधीयते। अग्निरङ्गारज्वालादिकस्तस्य प्रकाशो वा यत्र न वसन्ति। यत्र च तिष्ठत्सु सत्सु अगारिणो भणन्ति, अस्माकमपि गेहे अवधानमुपयोग दद्यत इति। तत्रापि नावतिष्ठन्ते।

वत्स्यथ कति जना इति द्वारमाह-

वसतिं अणुण्णवेंतो, जइ भणइ कइ जणा वि न तत्थ वसे ।
सुहुमं पि न सो इच्छइ, परस्स अप्पित्तियं भगवं ॥

वसतिमनुज्ञामनुज्ञापयन् यद्यसौ भणति, कति जना यूय वत्स्यथेति तत्रापि न वसति। कुत इत्याह-सूक्ष्ममपि नासाविच्छति परस्याप्रीतिक भगवान्। (कइ जणा उ त्ति) अत्र यत्तुशब्दस्तेनान्यामपीषदप्रीतिकजननीं वसतिमसौ परिहरति, इति गम्यते। उक्त च-पञ्चवस्तुके-" सुहुम पि हु अचियत्त, परिहरए सो परस्स नियमेण। अ तेण तुसदामो, पढाइ अण्णं पि तज्जणगं" ॥

भिक्षाचर्यापानकलेपालेपद्वाराणि विवृणोति-

तइयाइ भिक्खचरिया, पग्गहिया एसणा य पुव्वुत्ता ।
एमेव पाणगस्स वि, गिण्हइ अ अलेवडे दो वि ॥

तृतीयस्यां पौरुष्यां, भिक्षाचर्या एषणा च, प्रगृहीता अभिग्रहयुक्ता, सा च (पञ्चसुग्गहदोसग्गहु) इत्यादिना पूर्वमेवोक्ता। एवमेव पानकस्यापि तृतीयपौरुष्यां प्रगृहीतया वैषणया ग्रहण करोति। तत्र शिष्य पृच्छति-(लेवालेवेति) किमसौ विकल्पिको लेपकृत गृह्णाति उतालेपकृतम्। अत्र सूरिः " अलेव त्ति " पद विवृण्वन्नुत्तरमाह-द्वेऽपि भक्तपाने अलेपकृते वल्लचणकसौवीरादिरूपे गृह्णाति, न लेपकृते।

आचामाम्लप्रतिमाद्वारद्वयमाह-

आयंबिलं न गेण्हइ, जं च अणायंबिलं वि लेवाडं ।
न य पडिमा पडिवज्जइ, मासाई जा य सेसा उ ॥

आयामाम्लमसौ न गृह्णाति । पुरीषभेदादिदोषसम्भवात् । अनायामाम्लमपि, यल्लेपकृतं तन्न गृह्णाति । न च प्रतिमा मासिक्यादिका, असौ प्रतिपद्यते । याश्च शेषा भद्रमहाभद्रादिका प्रतिमा स्ता अपि न प्रतिपद्यते । स्वकल्पस्थितिप्रतिपालनमेव, तस्य विशेषाभिग्रह इति भावः । बृ० १ उ० ।

(२०) सूत्रादिसप्तविंशतिद्वारान्तर्गतं, सप्तविंश मासकल्पद्वारम् ।

अथ मासकल्प इति द्वारमभिधित्सुराह-

कप्पे सुत्तत्थविसा-रयस्स संघयणवीरियजुत्तस्स ।
जिणकप्पियस्स कप्पइ, अभिगहिया एसणा निच्चं ॥

कल्पे जिनकल्पविषयौ यौ सूत्रार्थौ, तत्र विशारदस्य निपुणस्य, संहननं शारीरबलं, वीर्यं धृतिस्ताभ्यां युक्तस्य, जिनकल्पिकस्य कल्पते । अभिगृहीता साऽभिग्रहा एषणा ।

(२१) जिनकल्पी षड्वीथ्या ग्रामं भिक्षते इति विस्तरः ।

सा च मासकल्पस्थितिमनुपालयतो भवतीति ।

अतस्तस्यैव विधिमाह-

छव्वीहीओ गामं, काउं एक्किक्कियं तु सो अडइ ।
वज्जेउं होइ सुहं, अनिययवित्तिस्स कम्माई ॥

यत्रासौ मासकल्पं करोति, तं ग्रामं षड्वीथीर्गृहपङ्क्तिरूपाः कृत्वा, ततः प्रतिदिनमेकैकां वीथीमटति । यावत्सप्तमे दिवसे पर्यटति । कुत इत्याह-अनियतवृत्तेरपरापरवीथीषु पर्यटतः, कर्मादि आधाकर्मपूतिकर्मादिकं सुखं वर्जयितुं शक्यत इति भावः ।

कथं पुनराधाकर्मादिसम्भवो भवतीत्याशङ्क्य,

तत्सम्भवादिदर्शयिषुराह-

अभिग्गहे दट्टु करणं, भत्तोगाहिमं तिन्नि पूईयं ।
तुद्दगो एगमणेगे, कप्पोत्ति य सत्तमे सत्त ॥

तस्य भगवतः प्रथमवीथीमटतः, कयाचिदगार्या श्रद्धातिरेकात्, घृतमधुसंयुक्तं भैक्षमुपनीतं । तेन च न कल्पते मे, लेपकृता भिक्षेति न गृहीतं । ततः एवमादीनभिग्रहान् दृष्ट्वा, कर्मणः करणं भवति । तच्च भक्तमवगाहिमं वा भवेत्, त्रीणि च दिवसानि तत्पूतिकं । नोदकः प्रश्नयति । एकं ग्रामं किमनेकान् षड्वीथीरूपान् करोति । सूरिराह-कल्पः एषोऽमीषां, यत् षट् कल्पवीथीः कृत्वा, सप्तमे दिवसे पर्यटन्ति । सप्त च जना, एकस्यां वसतौ च, न भवन्तीति समासार्थः ।

(२२) देयाऽऽहाराऽयोग्यतायां श्राविका-विचारः ।

अथ विस्तारार्थमाह-

दट्ठूण य अणगारं, सड्ढा संवेगमागया काइ ।
नत्थि महं तारिसयं, अन्नं जमलज्जिया दाहं ॥

तमनगारं तपःशोषितं मलपटलजटिलं च परुषं दृष्ट्वा, हा काचिदेका, परसंवेगमागता सती चिन्तयति । किं मे जीवितेन, यदीदृशस्य महात्मनो भिक्षा न दीयते । नास्ति मम तादृशं शोभनं, यदहमलज्जिता सती दास्यामि ।

ततः-

सव्वपयत्तेण अहं, कल्ले काऊण भोअणं विउलं ।
दाहामि तुट्ठमणसा, होहिइ मे पुण्णलाभो त्ति ॥

सर्वप्रयत्नेन अहं, कल्पे द्वितीये अहनि, भोजनं विपुलं कृत्वा दास्यामि, तुष्टमनसा प्रहृष्टेन चेतसा । ततो भविष्यति मे महान् पुण्यलाभः । इत्थं विचिन्त्य, द्वितीये दिवसे, विपुलमशनादि-भक्तमवगाहिमं चोपस्कृत्य, तं भगवन्तं, प्रतीक्षमाणा तिष्ठति ।

ततः किमभूदित्याह-

फेडितवीहीएहिं, अणंतवरनाणदंसणधरेहिं ।
अद्दीणअपरितंता, विइयं च परिहिंडिया तत्थ ॥

स्फेटिता परिहृता वीथी यैस्तैर्जिनकल्पिकैः कथम्भूतैरनन्तवरज्ञानदर्शनधरैः, इहानन्तज्ञानमयत्वादनन्तास्तीर्थकरास्तैरुपदिष्टे, वरे उत्तमे जिनकल्पिकानां ये ज्ञानदर्शने, उपलक्षणत्वाच्चारित्रं च, तानि धारयन्तीत्यनन्तवरज्ञानदर्शनधरास्तैः । आह चूर्णिकृत्-" अणंत नाणं जेसिं ते अणंता तित्थकरा तेहिं जिणकप्पियाण वरं नाणं दंसणं चरित्तं च जं भणियं तद्धरेहिं ति " ततस्ते अदीनमनसः अविषण्णाः, अपरितान्ताः कायेनानिर्विण्णाः, द्वितीयां वीथीं क्रमागतां पर्यटितास्तत्र क्षेत्रे, एकवचनप्रक्रमेऽपि बहुवचनाभिधानमन्येषामपि, जिनकल्पिकानामेवंविधवृत्तान्तसम्भवख्यापनार्थम् ।

(२३) कल्पशब्दार्थः । वीथ्या भ्रमतस्तद्भक्तं पूतिकं भवति ।

अत्र चेयं व्यवस्था-

पढमदिवसोवक्खय, तिन्नि दिवसाइं पूइयं होइ ।
पूतिसु तिसु न कप्पइ, कप्पइ तईउ जया कप्पो ॥

प्रथमे दिवसे तद्भक्तमुपस्कृतमाधाकर्म, त्रीणि दिवसानि यावत् तद् गृहं पूति भवति । तेषु च त्रिषु पूतिदिनेषु, तस्मिन् गृहे अन्यदपि किञ्चिन्न कल्पते । यदा तु तृतीयः कल्पो गतो भवति, तदा कल्पते । कल्पशब्देनेह दिवस उच्यते । उक्तं च पञ्चवस्तुटीकायाम्, कल्पते तृतीये कल्पे दिवसे गते अपरस्मिन् अहनीति ।

(२४) त्रिषु दिवसेषु पूतिकं न कल्पते, किन्तु षष्ठे सप्तमे च दिवसे कल्पत इति । सप्तमदिवसे पर्यटतः श्राविका पृच्छा च ।

इदमेव स्पष्टयन्नाह-

विइयदिवसम्मि कम्मं, तिन्नि उ दिवसाइं पूइयं होइ ।
तिसु कप्पेसु न कप्पइ, कप्पइ तं छट्टदिवसम्मि ॥

यस्मिन् दिवसे स जिनकल्पिकः प्रथमवीथ्यामटन् तया दृष्टः, तदपेक्ष्य द्वितीये दिवसे तद्भक्तमाधाकर्म, तदनन्तरं त्रीणि दिवसानि पूतिकं भवति । तेषु त्रिषु, कल्पेषु दिवसेषु, न कल्पते, किं तु कल्पते तत् षष्ठे दिवसे ।

अथावगाहिमविषयं विधिमाह-

कल्ले से दाहामि, ओगाहिमगं णागतो अज्ज ।
तइए दिवसे त हो-इ पूइयं कप्पए छट्ठे ॥

(अवगाहिम) दिनद्वयमपि क्रमत इति कृत्वा, सा श्राद्धा विनयवती । यदर्थमयमवगाहिमपाको मया कृतः, स मुनिरद्य मद्गृहाङ्गणं नागतः । अतः कल्ये (से) तस्याहं दास्यामि । इदमवगाहिममिति विचिन्त्य, तद्दानार्थं यदि स्थापयति, तदा तृतीयदिवसे कर्मैव भवति । यत्पुनस्तस्मिन्नेव दिवसेऽव्यवच्छिन्नभावा सा, आत्मार्थितं करोति, तदवगाहिममपि भक्तवत् मौलदिवसापेक्षया द्वितीयदिवसे कर्म, तृतीयादिषु तद्गृहं पूतिकं, षष्ठे तु दिवसे कल्पते ।

एतदेव स्पष्टयति—

एमेवोगाहिमगं, नवरं तइयम्मि जमवि दिवसे तं ।

कम्मं तिसु पूइअं न, कप्पइ तं सत्तमे दिवसे ॥

एवमेव भक्तपदवगाहिममपि,यस्मिन्दिवसे एवात्मार्थीकृतं,तद्वितीये दिवसे कर्म, तृतीयादिषु त्रिषु पूति, षष्ठे तु कल्पते। नवरं, यस्मिन्दिवसे नामार्थयति, तस्तृतीयेऽपि दिवसे कर्म। ततः त्रिषु दिनसेषु तत्पूतिकमिति कृत्वा, न कल्पते। किं तु कल्पते तद् गृहं सप्तमे दिवसे, अत एव, चासौ भूय. सप्तमे दिने तस्यां वीथ्यां पर्यटति।

आह-यद्येवं तर्हि, यदि तस्मिन्नेव दिवसे न प्रथमवीथीमटन्त दृष्ट्वा, कश्चिदाधाकर्मादि कुर्यात् मोदकादिकं वा, तदर्थं कृत्वा सप्तमदिवसं यावदव्यवच्छिन्नभावं स्थापयेत्। तदा नामासौ कथं जानाति? कथं वा परिहरति इति? उच्यते—

चोयग! तं चेव दिणं,जइ वि करिज्जाहि कोइ कम्माइ ।

न हु सो तं न विजाणइ, एसो पुण सिं अहाकप्पो ॥

हे नोदक! तस्मिन्नेव दिवसे यद्यपि कुर्यात् कश्चित्,किञ्चिदाधाकर्मादि, (न हु) नैव स तन्न विजानाति "द्वौ नञौ प्रकृत्यर्थं गमयतः" इति वचनात्, जानात्येवासौ श्रुतोपयोगबलेन। आह-यद्यसौ श्रुतोपयोगप्रामाण्यादेव जानीते, तत किमर्थमेकं ग्राममनेकभागान् परिकल्प्य पर्यटति? उच्यते-कल्प एव (सिं) अमीषां भगवतां। यत् सप्तमे दिवसे भूय प्रथमवीथ्यां पर्यटन्ति।

ततश्च, त सप्तमे दिवसे प्रथमवीथ्यां पर्यटन्तं दृष्ट्वा,

सा श्राविका ब्रूयात्—

किं नागया य तइया, असणाओ मे कओ तुह निमित्तं । इइ पुट्ठो सो भगवं,

तदानीं यूयं किं नागताः। 'थेति' निपात पूरणार्थ। मया हि त्वन्निमित्तं विपुलं भक्तादिकमुपस्कृतं त्वया युष्मदनुपयोगात् असद्व्ययः कृतः, इति पृष्टोऽसौ भगवान् तूष्णीक आस्ते, इति शेष।

(२५) द्वितीयादेश-यादेशान्तरम्-

बिइयाएसे इमं भणइ ॥

द्वितीयादेशे आदेशान्तरे पुनरिदं भणति। किं तत्? इत्याह—

अनियता उ वसईओ, भमरकुलाणं च गोकुलाणं च ।

समणाणं सउणाणं, सारइआण च मेहाणं ॥

अनियता वसतयः स्थानानि, उपलक्षणत्वात् परिभ्रमणानि च। केषामित्याह-भ्रमरकुलानां च, गोकुलानां च, श्रमणानां, शकुनानां, शारदानां च मेघानाम्, इत्थं न नियतचर्यया जिनकल्पिके अटतिऽप्रत्यायतामपि प्राणिनां, नाधाकर्मादिकरणे भूय. प्रवृत्तिरुपजायत इति।

अथ "सत्त त्ति" पदं विवृणोति—

एकाए वसहीए, उक्कोसेणं वसंति सत्त जणा ।

अवरोप्परसंभासं, वयन्ति अन्नोन्नवीहिं च ॥

एकस्यां वसतावुत्कर्षतः,सप्त जना ,जिनकल्पिका वसन्ति। ते चैकत्र वसन्तोऽपि परस्परं भाषणं त्यजन्ति। न कुर्वन्तीत्यर्थः। अन्योऽन्यवीथिं च त्यजन्ति। यस्मिन् दिने, यस्यां वीथ्यामेकः पर्यटति। न तस्मिन्नेव, तस्यामपरः इत्यर्थः। गतं सामाचारीद्वारम्।

अथ स्थित्यादिद्वारमभिधित्सुराह-

खेत्ते काल-चरित्ते, तित्थे परियाय-आगमे वेए ।

कप्पे लिंगे लेस-ज्झाणे गणणाऽभिग्गहा य ॥

पव्वावण मुंडावणे, मणसाऽवन्ने वि से अणुग्घाया ।

कारण-निप्पडिकम्मं, भत्त पंथो य तइयाए ॥

एकस्मिन् क्षेत्रस्थी भगवन्तो भवन्ति १ एवं काले २ चरित्रे ३ तीर्थे ४ पर्याये ५ आगमे ६ वेदे ७ कल्पे ८ लिङ्गे ९ लेश्यायां १० ध्यान ११ गणनायां १२ अभिग्रहाश्चामीषां भवन्ति न वा ?,१३ प्रव्राजनायां १४ मुण्डापनायां च कीदृशी स्थितिः १५ मनसाऽऽपन्नेऽपराधे (से) तस्यानुद्घाताश्चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तम् १६ कारणं १७ निःप्रतिकर्म १८ भक्त, पन्थाश्च, तृतीयस्यां पौरुष्याम् १९-२० इति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः।

व्यासार्थं प्रतिद्वारमभिधित्सुः प्रथमतः क्षेत्रद्वारमङ्गीकृत्याह—

जम्मणसंतीभावे, स होज्ज सव्वासु कम्मभूमीसु ।

साहरणे पुण भइयं, कम्मे व अकम्मभूमे वा ॥

क्षेत्रविषया द्विविधा मार्गणा। जन्मत,सद्भावतश्च। जन्मतो यत्र क्षेत्रे भय प्रथमं उत्पद्यते। सद्भावतस्तु यत्र जिनकल्पं प्रतिपन्नो,वाऽस्ति। तत्र जन्मसद्भावयोरुभयोरपि, भय सर्वासु कर्मभूमिषु, भरतपञ्चकैरावतपञ्चकविदेहपञ्चकलक्षणासु भवेत्। संहरणं देवादिना अन्यत्र नयने, पुनर्नाऽत्र प्रजनीय, कर्मभूमौ वा भवेदकर्मभूमौ वा। एतच्च सद्भावमाश्रित्योक्तं। जन्मतस्तु,कर्मभूमावेवायं भवतीत्युक्तं क्षेत्रद्वारम्।

अथ कालद्वारमाह—

ओसप्पिणीइ दोसु, जम्मणतो तिसु संतीभावेणं ।

उस्सप्पिणिविवरीया, जम्मणतो संतीभावे य ॥

अवसर्पिण्यां जन्मतो द्वयोः सुषमदुष्षमदुष्षमसुषमयोः तृतीयचतुर्थारकयोर्भवेत्। सद्भावतस्तु त्रिषु तृतीयचतुर्थपञ्चमारकेषु, (सुषमदुष्षम—दुष्षमसुषम—दुष्षमरूपेषु) दुष्षमसुषमायां जन्म जातो दुष्षमायां जिनकल्पं प्रतिपद्यते। इति कृत्वा उत्सर्पिणीविपरीता। जन्मतः सद्भावतश्च। इदमुक्तं भवति-उत्सर्पिण्यां दुष्षमदुष्षमसुषमसुषमदुष्षमासु तिसृषु समासु जन्म भुवि दुष्षमसुषमसुषमदुष्षमासु द्वयोरसु कल्पं प्रतिपद्यते। दुष्षमायां तीर्थं नास्तीति कृत्वा तस्यां जातस्यापि दुष्षमसुषमायामेव कल्पप्रतिपत्तिरिति।

ओसप्पिणुस्सप्पिणी-भवंति पलिभागतो चउत्थम्मि ।

काले पलिभागेसु अ, साहरणे होंति सव्वेसु ॥

नोऽवसर्पिण्युत्सर्पिणीरूपे अवस्थितकाले, चत्वारः प्रतिभागास्तद्यथा-सुषमसुषमाप्रतिभाग। सुषमाप्रतिभाग। सुषमदुष्षमाप्रतिभाग। दुष्षमसुषमाप्रतिभागश्चेति। तत्राद्यो देवकुरूत्तरकुरौ द्वितीयो रम्यकहरिवर्षयोस्तृतीयो हैमवतैरण्यवतयोश्चतुर्थस्तु महाविदेहेषु। तत्र चतुर्थे प्रतिभागे जन्मतः सद्भावतश्चामी भवन्ति। नाद्येषु त्रिषु प्रतिभागेषु (काले-त्ति) यो महाविदेहे जिनकल्पिकः स सुषमादिषु षट्स्वपि कालेषु संहरणतो भवेत् (पलिभागेषु अ त्ति) भरतैरावतमहाविदेहेषु सद्भूता संहरणतः सर्वेष्वपि प्रतिभागेषु देवकुर्वादिसम्बन्धिषु भवन्तीति।

चारित्रद्वारमाह—

पढमे वा बिइए वा, पडिवज्जइ संजमम्मि जिणकप्पं ।

पुव्वपडिवण्णओ पुण, अण्णयरे संजमे होज्जा ॥

प्रथमे वा सामायिकाख्ये, द्वितीये वा छेदोपस्थापनीयनाम्नि संयमे वर्तमानो, जिनकल्पं प्रतिपद्यते । तत्र मध्यमतीर्थकरविदेहतीर्थकृत्तीर्थवर्ती, प्रथमे संयमे । पूर्वपश्चिमतीर्थवर्ती तु द्वितीये,इति मन्तव्यं । पूर्वप्रतिपन्नः,पुनरसौ जिनकल्पिकोऽन्यतरस्मिन् सूक्ष्मसंपरायादावपि संयमे भवेत् ।

तीर्थ-पर्याय-द्वारद्वयमाह-

निपमा होइ स तित्थे, गिहिपरियाए जहन्नगुणतीसा ।
जइपरियाए वीसा, दोसु वि उक्कोसदेसूणा ॥

स जिनकल्पिको नियमात्तीर्थे भवति । न पुनर्व्यवच्छिन्ने, उत्पन्ने वा तीर्थे * पर्यायो द्विधा * गृहिपर्यायो यतिपर्यायश्च-तत्र गृहिपर्यायो जन्मपर्याय इत्येकोऽर्थः । तत्र जघन्यत , एकोनत्रिंशद्वर्षाणि । यतिपर्याये तु, जघन्यतो विंशतिवर्षाणि । उत्कर्षतस्तु, द्वयोरपि गृहिपर्याययतिपर्याययोर्देशोनां पूर्वकोटी यदा जातो भवति तदा जिनकल्पं प्रतिपद्यते ।

तथा-ऽऽगम-वेद-द्वारे आह-

न करिंति आगमं ते, इत्थीवज्जेउ वेदो इक्कतरो ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्ज सवेओ अवेओ वा ॥

न कुर्वन्ति ते जिनकल्पिकाः आगमम् । पूर्वश्रुताध्ययन, तत्पुनः । विस्रोतसिकाक्षयहेतोरेकाग्रमनाः, सम्यगनुस्मरन्ति । वेदमङ्गीकृत्य प्रतिपत्तिकाले स्त्रीवर्ज्जे,एकतर पुरुषवेदो,नपुंसकवेदो वा, असंक्लिष्टस्तस्य भवेत् । पूर्वप्रतिपन्नः पुनः, सवेदोऽवेदो वा भवेत् । तत्र जिनकल्पिकस्य तद्भवे केवलोत्पत्तिप्रतिषेधादुपशमश्रेण्यां वेदे उपशमिते सत्यवेदत्वम् । तदुक्तम्-" उवसमसेढीए खलु, वेदे उवसामियम्मि उ अवेदो उ । न उ खविए उ जम्मे, केवलपडिसेहभावाओ ॥ " शेषकाले तु सवेद इति ।

अथ कल्प-लिङ्ग-लेश्या-द्वाराण्याह-

ठियमठियम्मि कप्पे, लिंगे भयणा उ दव्वलिंगेणं ।
तेअहि सुक्काहिं पढ-मया अपढमया होज्ज सव्वासु ॥

स्थितकल्पे,अस्थितकल्पे च, मध्यमजिनमहाविदेहजिनसत्कोऽसौ भवेत् । * लिङ्गे चिन्त्यमाने * भजना तु,द्रव्यलिङ्गेन कार्या । तुशब्दो विशेषणे । किं विशिनष्टि-प्रथमतः प्रतिपद्यमानो, द्रव्यलिङ्गयुक्त एव भवति । ऊर्ध्वमपि भावलिङ्गं नियमाद्भवति । द्रव्यलिङ्गं तु, जीर्णत्वाच्चौरादिभिरपहृतत्वाद्वा, कदाचित्तमभवत्यपि, उक्तं च-" इयरं तु जिण्णभावा, एहिं सयय न होइ वि कयाइ । न य तेण विणा वि तहा, जायइ से भावपरिहाणी " न इतरादिति द्रव्यलिङ्गम् ** लेश्यासु तेजसादिकासु,प्रथमका , प्रतिपद्यमाना भवन्ति । अप्रथमकास्तु पूर्वप्रतिपन्ना , सर्वास्वपि षट्सु लेश्यासु भवेयुः । केवलमशुद्धासु वर्तमानो नात्यन्त संक्लिष्टासु वर्तते, न च भूयांसं कालमिति ।

ध्यान-गणना-द्वारद्वयमाह-

धम्मेण उ पडिवज्जइ, इयरेसु वि होज्ज अट्टझाणेसु ।
पडिवत्तिसयपुहत्तं, सहस्सपुहत्तं च पडिवन्ने ॥

धर्मेण ध्यानेन, तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वात् । प्रवर्द्धमानेन सता, कल्पं प्रतिपद्यते । पूर्वप्रतिपन्नस्तु, इतरेष्वप्यार्तादिषु ध्यानेषु कर्मवैचित्र्यबलाद्भवेदपि,केवलं कुशलपरिणामस्योद्दामत्वा-

त्तावकर्मपरिणतिजनित. सोऽपि रौद्रार्तभावोऽस्य प्रायो निरनुबन्धो भवति । तदुक्तम् " एवं च कुसलजोगो उद्दामे तिव्व धम्मपरिणामा । रुद्दट्टेसु वि भावो, इमस्स पाय निरणुबंधो " ॥ गणनाद्वारे प्रतिपत्ति,प्रतिपद्यमानतामङ्गीकृत्योत्कर्षत , शतपृथक्त्वमेकस्मिन् समये अमीषां भगवता प्राप्यते । पूर्वप्रतिपन्नकानां पुनरुत्कर्षत. सहस्रपृथक्त्व । कर्मभूमिपञ्चदशस्वप्येतावतामुत्कर्षतः प्राप्यमानत्वात् । जघन्यतस्तु प्रतिपद्यमानका एको,द्वौ, त्रयो,वेत्यादि । पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यतोऽपि सहस्रपृथक्त्वमेव । महाविदेहपञ्चक, सर्वदैवैतावतामवाप्यमानत्वात् । नवरमुत्कृष्टपदाज्जघन्यपद लघुतरमिति ।

अभिग्रह-प्रव्राजना-मुण्डापना-द्वाराणि व्याचष्टे ।

भिक्खायरियाईया, अभिग्गहा नेव सो उ पव्वावे ।
उवदेसं पुण कुणती, धुव पव्वेहंति जाणित्ता ॥

भिक्षाचर्या ऋज्वा गत्या प्रत्यागतिकादयो गोचरचर्याविशेषास्तदादयोऽभिग्रहा , इत्वरत्वादस्य न भवन्ति । जिनकल्प एव हि यावत्कथिकस्तस्याऽभिग्रहस्तत्र च प्रतिनियता निरपवादाश्च गोचरादयस्तेनस्तत्पालनमेवास्य परमं विशुद्धिस्थान । यदाह-" एयम्मि गोयरांति, नियया नियमेण निरववादा य । तप्पालनं चिय पर, एअस्स विसुद्धिट्ठाणं तु " तथा नैवासावन्य प्रव्राजयति । उपलक्षणत्वात् न च मुण्डापयति । कल्पस्थितिरियमिति कृत्वा-उपदेश पुन करोति । प्रव्रजन्ति ध्रुवमी जिनमवश्यप्रव्रजनशील विज्ञाय । कश्चन त च संविग्नगीतार्थसाधूनां समीपे प्रहिणोति ।

अथ मणसावन्ने वि से अणुग्घाय त्ति द्वारं ।

मनसापि सूक्ष्ममतिचारमापन्नस्यास्य सर्वजघन्यं चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् ।

अथकारण-निष्प्रतिकर्म-द्वारे आह-

निप्पडिकम्मसरीरा, न कारणं अत्थि किंचि नाणाई ।
जंघाबलम्मि खीणे, अविहरमाणो वि नावज्जे ॥

निष्प्रतिकर्मशरीरा, अमी भगवन्तो, नासिमलादिकमप्यपनयन्ति । न वा चिकित्सादि कारयन्ति * न च तेषां कारणम्, * आलम्बन ज्ञानादि किञ्चिद्विद्यते, यद्बलात्ते द्वितीयपदासेवनं विदध्युः ।

भक्त * पन्थाश्च * तृतीयस्यामिति द्वारम् ।

तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षाकालो, विहारकालोऽस्य भवति । शेषासु तु पौरुषीषु प्राय. कायोत्सर्गेणास्ते * जङ्घाबले परिक्षीणे पुनरविहरन्नपि विहारमकुर्वन्नपि नापद्यते, कमपि दोष, किन्त्वेकत्रैव क्षेत्रे स्वकल्पस्थिति स तु पालयतीति व्याख्यात स्थितिद्वार, तद्व्याख्याने चाभिहित कल्पविहारः । बृ० १ उ० ।

व्यासार्थस्यास्य प्रस्तुत द्वारमेव-

सयमे आउकालं, णाउं पुच्छित्तु वा वहूमेसं ।
सुबहुगुणलाभकंखी, विहारमब्भुज्जयं भयई ॥ ३७७ ॥

स्वयमेवायुष्काल ज्ञात्वा, चतुर्दश पूर्वातिशयेन पृष्ट्वा च श्रुतातिशययुक्तमन्यं बहुशेष ज्ञात्वा, सुबहुगुणलाभकाङ्क्षी सन्, साधुविहार क्रियारूपमभ्युद्यतं भजते प्रधानमिति गाथार्थः ।

प्रसङ्गमभिधाय पञ्चतुलनाभिः द्वार व्याचिख्यासुराह-

गणि-उवज्झाय-पवित्ति-थेर-गणावच्छेया इमे पंच ।
पायमहिगारिणो इह,तेसिमिमा होइ तुलणाओ ॥३७८॥

गणी गच्छाधिपः, आचार्य , उपाध्यायः सूत्रप्रदः, प्रवृत्तिश्चिन्तो प्रवर्तकः, स्थविरः, स्थिरीकरणात्, गणावच्छेदको गणादेशपालनक्रम., एते पञ्चपुरुषा., प्रायोऽधिकारिण इहाऽऽत्युत्तनविहारे। एतेषामियं वक्ष्यमाणा भवति, तुलनेति गाथार्थः।

गणणिक्खेवित्तरिओ, गणिस्स जो वा जिओ जहिं ठाणे ।
सो तं अप्पसमस्से-वं णिक्खिवइ इत्तरं चेव ॥२७९॥

गणनिक्षेप इत्वरः परिमितकालो, गणिनो भवति । यो वा स्थितो यत्र स्थाने उपाध्यायादौ, स तत्पदमात्मसमस्यैव निक्षिपतीत्वरमेवापरस्य साधोरिति गाथार्थः।

पिच्छामु ताव एए, केरिसया होंतिमस्स ठाणस्स ।
जोगाण वि पाएणं, णिव्वहणं दुक्करं होइ ॥ २८० ॥

पश्यामस्तावदेते अभिनवाचार्यादय , कीदृशा भवन्त्यस्य स्थानस्य प्रस्तुतस्येति तात्त्वेति। अयोग्यानामनारोपणमेवेत्याशङ्क्याह-योग्यानामपि सामान्येन प्रायो निर्वहणं, प्रस्तुतस्य दुष्कर भवति, लोकसिद्धमेतदिति गाथार्थः।

युक्त्या तुलनाप्रयोजनमाह-

इय य बहुगुणचाएणं, थोवगुणपसाहणं बुहजणाणं ।
इहं कयाइ कज्जं, कुसला सुपइट्ठियारंभा ॥ २८१ ॥

न च बहुगुणत्यागेन प्रामाणिकन, स्तोकगुणप्रसाधनं, बुधजनानां विदुषामिष्टं कदाचित्कार्यं, नैवेत्यर्थः। किमित्यत आह-कुशला सुप्रतिष्ठितारम्भा भवन्तीति गाथार्थः।

उपकरणद्वारमाश्रित्याह-

उवगरणं सुद्धेसण, माणजुअं जमुचिअं सकप्पस्स ।
तं गेण्हइ तयभावे, अहागडं जाव उचिअं तु ॥ २८२ ॥

उपकरणं वस्त्रादि शुद्धैषणामानयुक्तं, यदुचितं स्वकल्पस्य समयनीत्या, तस्मादुत्सर्गेणादित एव, तदभावे सति, यथाकृत गृह्णाति। यावदुचितमन्यद्भवति, तावदेवेति गाथार्थः।

लाए उचिए अ तयं, वोसिरइ अहागडं विहाणेण ।
इय आणाविरयस्सिह, विण्णेअं तं पि तेण समं ॥२८३॥

लाते सत्युचितोपकरणे, तत् प्राक्तनं व्युत्सृजति। यथाकृतमुपकरणं, विधानेन सौत्रेण, इत्यागो निस्पृहतया आज्ञाविरतस्येह लोकेऽपि विज्ञेय। तदपि मौलमुपकरणं तेन सम पाक्षास्येनेति गाथार्थः।

किमित्यत आह-

आणा इत्थ पमाणं, विण्णेआ सव्वहेव परलोए ।
आराहणाअ तीए, धम्मो वज्झं पुण निमित्तं ॥२८४॥

आज्ञाऽत्र प्रमाणं विज्ञेया। सर्वथैव परलोके, न त्वन्यत किञ्चित् आराधनेन तस्या धर्म.। आज्ञाबाह्यं पुनर्निमित्तमिति गाथार्थः।

उवगरणं उवगारे, तीए आराहणस्सऽवट्टंतं ।
पावइ जहत्थनामं, इहरा अहिगरणमो भणिअं ॥२८५॥

उपकरणमभ्युपकारे तस्याऽऽज्ञाया आराधनस्यावर्तमानं सत् प्राप्नोति, यथार्थनामोपकरणमिति। इतरथा तदाराधनोपकाराभावे सत्यधिकरणमेव भणितं तदुपकरणमिति गाथार्थः

परिकर्मद्वारमभिधातुमाह-

परिकम्मं पुण इहिंदि-आइं विणिअमणभावणा नेआ ।
तमवायाइलोअण-विहिणा सम्मं तओ कुणइ ॥२८६॥

परिकर्म, पुनरिह प्रक्रमे इन्द्रियादिविनियमनभावना ज्ञेया भावनाऽभ्यासः। तत्परिकर्म अपायाद्यालोचनविधिनेन्द्रियादीनां सम्यक्तत्वतः करोतीति गाथार्थः।

इंदिअकसायजोगा, विणमिआ तेण पुव्वमेव णणु ।
सव्वं तहा वि जयए, तज्जयसिद्धिं गणंतो सो ॥ २८७ ॥

इन्द्रियकषाययोगाः सर्व एव विनियमितास्तेन साधुना पूर्वमेव ननु? अत्रोत्तर-सत्यमेतत्, तथापि यतते, स तज्जयादिन्द्रियादिजयासिद्धिं गणयन् प्रस्तुतस्येति गाथार्थः।

इदिअजोगेहिं तहा, णेहऽहिगारो जहा कसाएहिं ।
एएहिं विणा णेए, दुहवुड्ढीबीअभूआओ ॥२८८॥

इन्द्रिययोगैस्तथा नेहाधिकार. प्रक्रमे। यथा कषायैः किमित्याह-एभिर्विना नैते इन्द्रिययोगा दुःखवृद्धिबीजभूताः। इति गाथार्थः।

जेण उ ते वि कसाया, णो इंदिअजोगविरहिआ हुंति ।
तव्विणियमणं पि तओ, तयत्थमेवेत्थ कायव्वं ॥ २८९ ॥

येन पुन. कारणेन, तेऽपि कषायाः नेन्द्रिययोगविरहिता भवन्ति। तद्विनियमनमपि तत. कारणात्। तदर्थमेव कषायविनियमनार्थमत्र कर्तव्यमिति गाथार्थः।

तपोभावनादिप्रतिपादनायाह-

इअ परिकम्मिअभावो-ऽणव्वत्थं पोरिसाइतिगुणतवं ।
कुणइ बुहाविजयट्ठा, गिरिणइसीहेण दिट्ठंतो ॥२९०॥

(इय त्ति)एव परिकर्मितभाव सन्नेन्द्रियादिविनियमनेनाभ्यस्तमसात्मीभूत पूर्वं पौरुष्याद्यभ्युपलक्षणमेतत् त्रिगुण तप., करोति। त्रिवारासेवनेन इन्द्रियजयाय सात्मीभावेन क्षुद्विजयार्थम्। गिरिनदीसिंहेनाऽत्र दृष्टान्त.। यथाऽसौ गिरिनदीं वेगवतीमसकृदुत्तरणेनापि, प्रगुणमुत्तरत्येवमसावबाधक तपः करोतीति गाथार्थः।

एतदेवाह-

इकिक्कं ताव तवं, करेइ जह तेण कीरमाणेणं ।
हाणी ण होइ जइआ, वि होइ छम्मासुवसग्गो ॥२९१॥

एकैक पौरुष्यादि तावत्तप. करोति सात्मीभावेन।

यथा तेन तपसाह-

अप्पाहारस्स ण इं-दिआइं विसएसु संपयट्टंति ।
नेअ किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जई आवि ॥२९२॥

अल्पाहारस्य तपसा, नेन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, विषयेषु स्पर्शादिषु, सम्प्रवर्तन्ते। धातुक्षोभाभावाच्च क्लाम्यति। तपसा रसिकेष्वशनादिषु, न सज्जत, चापि। अपरिजोगेमानादरादिति गाथार्थः।

तवभावणाए पंचिं-दिआणि दंताणि जस्स वसमिंति ।
इंदियजोगाइरिओ, समाहिकरणाइं कारेइ ॥ २९३ ॥

तपोभावनया हेतुभूतया, पञ्चेन्द्रियाणि दान्तानि सन्ति यस्य वशमागच्छन्ति प्राणिनः, स इन्द्रिययोग्याचार्य. इन्द्रियप्रगु

अनाकियागुरु । समाधिकरणानि, समाधिव्यापाराद् कार्य-सीन्द्रियाणि, इति गाथार्थ ।

अत्रान्तरसम्बन्धाभिधित्सयाह-

इअ तवणिम्माओ खलु, पच्छा सो सत्तभावणं कुणइ ।
निद्दाजयविजयट्ठं, तत्थ उ पडिमा इमा पंच ॥३९४॥

(इअ) एवं तपोनिर्मितः खलु, पश्चादसौ मुनि ,सत्त्वभावनां करोति। सत्वाभ्यासमित्यर्थ. । निद्राभयविजयार्थमेतत्करोति। तत्र तु प्रतिमाः सत्त्वभावनायामेताः पञ्चेति गाथार्थ. ।

पढमा उवस्सयम्मि, बीया बहिं तइया चउक्कम्मि ।
सुण्णघरम्मि चउत्थी, तह पंचमिआ मसाणम्मि ॥३९५॥

प्रथमोपाश्रये प्रतिमा, द्वितीया बहिरुपाश्रयस्य, तृतीया चतुर्थे स्थाने सन्निधानि, शून्यगृहे चतुर्थी स्थानसन्निधानेव, तथा पञ्चमी श्मशाने प्रतिमा । इति गाथार्थ ।

एयासु चेव थोवं, पुव्वपवत्तं निणइ निद्दमसो ।
मूसगभिक्काओ तह, भयं च सहसुब्भवं अजिअ ॥३९६॥

एतासु प्रतिमासु स्तोकस्तोकं, यथा समाधिना पूर्वप्रवृत्ता जयति निद्रामसौ मूषिकपृष्ठादौ । तथा आदिशब्दान्मार्जारादिपरिग्रह । भयं च सहसोद्भवमजित जयताति गाथार्थ. ।

एएण सो कमेणं, डिंभगतक्करसुराइकयमेअ ।
जिणिऊण महासत्तो, वहइ भयं निब्भओ सयलं ॥३९७॥

अनेनासौ क्रमेण यथोपन्यस्तेन, डिम्भकतस्करसुरादिकृतमेतद्भय जित्वा-महासत्त्व. सर्वासु प्रतिमासु वहति भय प्रस्तुत निर्भय. सकलमिति गाथार्थ ।

श्रुतभावनामाह-

अह सुत्तभावणं सो, एगग्गमणाऽणाउलो उ भयवं ।
कालपरिमाणहेऊ, सव्वत्थं सव्वहा कुणइ ॥ ३९८ ॥

अथ सूत्रभावनामसौअसृविरेकाग्रमना अन्त.करणेन अनाकुलो बहिर्वृत्या भगवानसौ, कालपरिमाणहेतोस्तद्व्यासादेव तत्त्वतः स्वच्यस्तां सर्वथा करोत्युच्छ्वासादिमानेनेति गाथार्थः ।

एतदेवाह-

उस्सासाओ पाणा, तओ-अ थोवो तओ वि अ मुहुत्तो ।
एएहिं पोरिसीओ, ताहिं वि णिसाइं जाणेइ ॥३९९॥

उच्छ्वासात् प्राणादित्युच्छ्वासनि श्वासः । ततश्च प्राणात्, स्तोकः, सप्तप्राणमान । ततोऽपि च स्तोकान्मुहूर्तो, द्विघटिकाकाः । एभिर्मुहूर्तैः पौरुष्य. । ताभिरपि पौरुषीभिः, निशादिष सादि जानाति, सूत्राभ्यासत. । इति गाथार्थः ।

एत्तो उवओगाउ, सदेव सो मूढलक्खयाए उ ।
दोसं अपावमाणो, करेइ किच्च अविवरीअं ॥ ४०० ॥

अत उपयोगात् सूत्राभ्यासगर्भात्, सदैवासौऽमूढलक्षतया कारणेन दोषमप्राप्नुवन्, निरतिचारः सन् करोति कृत्य, विहितानुष्ठानाविपरीतमिति गाथार्थः ।

मेहाइच्छन्नेसुं उ-भओ कालमहावा उवस्सग्गे ।
पेहाइभिक्खपंथे, जाणइ कालं विणा छाइ ॥४०१॥

मेघादिच्छन्नेषु विभागेषूभयकाल प्रारम्भसमाप्तिरूपम् । अथवोपसर्गे दिव्यादौ । प्रेक्षाद्यामुपकरणस्य भिक्षापथे औचित्येन जानाति, काल योग्यं विना च्छायमतीति गाथार्थ ।

एकत्वभावनामभिधातुमाह-

एगत्तभावणं तह, गुरुमाइसु दिट्ठिमाऽपरिहारा ।
भावइ छिण्णममत्तो, तत्त हिअयम्मि काऊणं ॥४०२॥

एकत्वभावनां, तथाऽसौ, यतिगुर्वादिषु दृष्ट्यादिपरिहाराद्धेनालापपरिहारेण भावयत्यभ्यस्यति । छिन्नममत्व. सत्तत्व हृदये कृत्वा-वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ।

एगो आया संजो-गिअं तु सेसं इमस्स पाएणं ।
दुक्खणिमित्तं सव्वं, मोत्तुं मज्झत्थभावं तु ॥ ४०३ ॥

एक आत्मा तत्त्वत. संयोगिक । त्वशेषमस्य देहादि, प्रायेण दुःखनिमित्त सर्वमेतत् । हितस्तु मध्यस्थभावो यस्य सर्वत्रेति गाथार्थ. ।

इय भाविअपरमत्थो, समसुहदुक्खोवहीअरो होइ ।
तत्तो अ सो कमेणं, साहेइ जहिच्छिअं कज्ज ॥४४०॥

टीका तु—(मूलप्रतावप्राप्तत्वान्नालिखिता) ।

एगत्तभावणाए, ण कामभोगे गणे सरीरे वा ।
सज्जइ वेरग्गगओ, फासेइ अणुत्तरं करणं ॥ ४०५ ॥

एकत्वभावनया भाव्यमानया, न कामभोगयोस्तथा, गणे, शरीरे वा, सज्जने, सङ्ग गच्छति । एव वैराग्यगत. सन्, स्पृशत्यनुत्तर करण, प्रधानयोगनिमित्तमितिगाथार्थ. ।

बलभावनामाह-

इअ एगत्तसमेओ, सारीरं माणसं च दुविहं पि ।
भावइ बलं महप्पा, उस्सग्गाधिईसरूवं तु ॥ ४०६ ॥

एवमेकत्वभावनासमेत. सन्, शारीर, मानस च, द्विविधमप्येतत् भावयति बलम, महात्माऽसौ, कायोत्सर्गधृतिस्वरूप यथा लक्ष्यमिति गाथार्थ. ।

पायं उस्सग्गेणं, तस्स ठिईभावणावला एसो ।
संघयणे वि हु जायइ, एयिहं भाराइबलतुल्लो ॥ ४०७ ॥

प्रायः कायोत्सर्गेण, तस्य यतेः स्थितिभावनाबलाच्चैष कायोत्सर्गः, संहननेऽपि सति जायते । इदानीं भारादिबलतुल्यः, शक्तौ सत्यामभ्यासतो भारवहनिदर्शनादिति गाथार्थः ।

सइ सुहझावेण तहा, जं तं सुहभावठिज्जरूवाओ ।
एत्तो चिय कायव्वा, धिई णिहाणाइलाभो व्व ॥४०८॥

सदा शुभभावेन, तथा तस्य स्थितिरेति वर्तते । यदुम्भावेव तच्छुभभावस्थैर्यरूपा । अत एव स्थितिसंपादनार्थं कर्तव्या धृतिस्तेन निधानादिलाभ इवेष्टसिद्धेरिति गाथार्थ. ।

धिइवलए बद्धकच्छो, कम्म जयट्ठाअ ओज्जओ मइमो ।
सव्वत्थ अविसाई, उवसग्गसहो दढ होइ ॥ ४०९ ॥

धृतिबलनिबद्धकक्ष , सत्कर्मजयार्थमुद्यतो, मतिमानेव सर्वत्राविषादिभावेनोपसर्गसहो, दृढमत्यर्थ भवतीति गाथार्थ. ।

चरमभावनामभिधाय विधिमाह-

सव्वासु भावणासुं, एसो विही उ होज्जइ ओहेणं।
एत्थं चसद्दगहिओ, तयणंतरं चेव केइ त्ति ॥ ४१० ॥

सर्वासु भावनासु अनन्तरोदितासु, एष विधिस्तु वक्ष्यमाणो भवत्योघेन। अत्र चशब्दगृहीतो द्वारगाथायां, तदनन्तरं विभ्यन्तरमेव केचनेति गाथार्थः।

जिणकप्पिअपडिरूवी, गच्छे वि अ कुणइ दुविहपरिकम्मं।
आहारोवहिमाई-सु ताहे पडिवज्जए कप्पं ॥ ४११ ॥

जिनकल्पिकप्रतिरूपी तत्सदृशो. गच्छ एव स्थितः सन्, करोति, द्विविधं परिकर्म, बाह्यमान्तरं च, आहारोपध्यादिषु विषयेषु, ततस्तत्कृत्वा प्रतिपद्यते कल्पमिति गाथार्थः।

एतदेवाह—

तइआए ऽलेवाडं, पंचऽण्णयराइ गयइ आहारं।
दोएहऽण्णयराइ पुणो, उवहिं च अहागडं चेव ॥ ४१२ ॥

तृतीयायां पौरुष्यामलेपकृत वल्लादि, पञ्चान्यतरया एषणया, भजते सेवते आहार, द्वयोरन्यतरया पुनरेषणयोपधिं च भजते। यथाकृत चैवोपधिं, नान्य, तत्रोपर्न पञ्चैषणा आहारस्य सप्त। यथोक्तम्-" संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धडा तह होइ अप्पलेवा य। उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया " ॥ १ ॥ "तत्थ पञ्चसु गहो, दोण्हं अभिग्गहो असणस्स। एक्काए चेव पाणस्स," ॥ वस्त्रस्य त्वेषणाद्वयम्। यथोक्तम्-" उद्दिट्ठपेहअंतर-मोज्झियधम्मा चउव्विहा भणिया। वत्थेसणा जईण, जिणेहिं जिअरागदोसेहिं" ॥ 'वत्थं पि दोसु गिएहइ' इति गाथाभावार्थः।

पाणिपडिग्गहपत्तो, सचेलऽचेलेण वा वि दुविहं तु।
जो जहरूवो होहिइ, तह परिकम्मए अप्पं ॥ ४१३ ॥

पाणिप्रतिग्रहपात्रचक्रेदेन सचेलाचेलभेदेन चापि, द्विविधं तु प्रस्तुत परिकर्म। यो यथारूपो भविष्यति जिनकल्पिकः। स तथा तेनैव प्रकारेण, परिकर्मयत्यात्मानमिति गाथार्थः।

चरमद्वाराभिधित्सयाह-

निम्माओ अ तहिं सो, गच्छाइं सव्वहाऽणुजाणित्ता।
पुव्वोइआण सम्मं, पच्छा उववूहिउं विहिणा ॥ ४१४ ॥

निर्मातश्च, तत्र परिकर्मणयसौ, गच्छादिकं सर्वथाऽनुज्ञाय प्रासुक एव, पूर्वोदितानां, सम्यगित्वरस्थापितानां, पश्चादुपबृंह्य विधिना तेनैवेति गाथार्थः।

खामेइ तओ संघं, सबालवुड्ढं जहोचिअं एवं।
अब्भंतं संविग्गो, पुव्वविरुद्धे विसेसेणं ॥ ४१५ ॥

क्षामयति ततः सङ्घ. सामान्येन सबालवृद्धं, यथोचितमेव। वक्ष्यमाणनीत्या अत्यन्त संविग्न सन्, पूर्वविरुद्धान् विशेषेण कांश्चनेति गाथार्थः।

जं किंचि पमाएणं, ण सुट्ठु भे वट्टिअं मए पुव्विं।
तं भे खामेमि अहं, णिस्सल्लो णिक्कसाओ त्ति ॥ ४१६ ॥

यत्किञ्चित् प्रमादेन हेतुना न सुष्ठु (भे) भवतां वर्तितं मया पूर्वं, त्वं (भ) युष्मान् क्षमयाम्यहं। निःशल्यो, निःकषायोऽस्मि सम्वृत्त इति गाथार्थः।

दव्वाई अणुकूले, महाविभूईए अह जिणाईणं।
अब्भासे पडिवज्जइ, जिणकप्पं अमइ वहरुक्खे ॥ ४१७ ॥

द्रव्यादावनुकूले सति महाविभूत्या दानादिरूपया, अथ जिनादीनामतिशायिनामभ्यासे, प्रतिपद्यते जिनकल्पमुत्सर्गेण। भवति च वटवृक्षेऽपवाद। इति गाथार्थः।

दाराणुवाओ इह, सो पुण तइयाअ भावणासारं।
काऊण तं विहाणं, णिरविक्खो सव्वहा वयइ ॥ ४१८ ॥

द्वारानुपातो दृश्य'। स पुनस्तृतीयस्तृतीयायां पौरुष्यां, भावनासार कृत्वा, तन्नमस्कारादिप्रतिपत्तिविधान, निरपेक्षः सन्, सर्वथा व्रजति ततः। इति गाथार्थः।

पक्खीपत्तुवगरणे, गच्छारामाउ विणिग्गए तम्मि।
चक्खुविसयं अईए, अच्छंति आणंदिया साहू ॥ ४१९ ॥

पक्षिपत्रोपकरणे अमुककल्पोकापघो, गच्छारामात्सुखसस्याद्विनिर्गते तस्मिन् जिनकल्पिके, चक्षुर्विषयमतीते अदर्शनीभूते, आगच्छान्त स्ववसतिमानन्दिताः, साधवः तत्प्रतिपत्तेरिति गाथार्थः।

आभोएउं खेत्तं, णिव्वाघाएण मासणिव्वाहं।
गंतुण तत्थ विहरइ, एस विहारो समासेणं ॥ ४२० ॥

(आभुज्य) विज्ञाय क्षेत्रं निर्व्याघातेन हेतुभूतेन, (मासणिव्वाह) मासनिर्वहणसमर्थं गत्वा-तत्र क्षेत्रे विहरति। स्वनीतिं पालयति एष विहारः, समासेनास्य भगवतः, इति गाथार्थः।

एत्थ य सामायारी, इमस्स जा होइ तं पवक्खामि।
भयणाअ दसविहाए, गुरूवएसाणुसारेणं ॥ ४२१ ॥

अत्र च क्षेत्रे सामाचारी स्थितिरस्य या एव जिनकल्पिकस्य। तां प्रवक्ष्यामि। भजनया विकल्पेन दशविधायां सामाचार्यां वक्ष्यमाणायां गुरूपदेशानुसारेण, न स्वमनीषिकयेति गाथार्थः।

दशविधामेवोद्दिशन्नाह-

इच्छा मिच्छा तहका-रो आवसिआ निसीहिआऽऽपुच्छा।
पडिपुच्छ-छंदणा-निमं-तणा य उवसंपया चेव ॥ ४२२ ॥

इच्छा, मिथ्या, तथाकार, इति। कारशब्द' प्रत्येकमभिसम्बध्यते इच्छाकारो, मिथ्याकारः, तथाकार, इति। तथा परजनने सर्वत्रेच्छाकारः। दोष भेदने मिथ्याकारः। तथा आवश्यकी नैषेधिकी च आपृच्छा, वसतिनिर्गमे आवश्यकी, प्रवेशे नैषेधिकी, च स्वकार्यप्रवृत्ता वा, पृच्छा तथा प्रतिपृच्छा, छन्दना निमन्त्रणा, च तत्रादिष्टकरणकाले, प्रतिपृच्छा पूर्वगृहीतेनाशनादिना छन्दना निमन्त्रणा भवत्यगृहीतेन उपसम्पच्चैवं, श्रुतादिनिमित्तमिति गाथार्थ'।

अत्र जिनकल्पिकसामाचारीमाह-

आवस्सिणिसीहिमिच्छा-ऽऽपुच्छणमुवसंपयम्मि ति गिहेसु।
अण्णा सामायारी, ण होइ सेसे सिआ पंच ॥ ४२३ ॥

आवश्यकीं नैषेधिकीं मिथ्येति। मिथ्याकारपृच्छामुपसंपद

गृहिस्थौचित्येन सर्वं करोति । अन्या. सामाचार्य इच्छाकार्या-या न भवन्ति (से) तस्य शेषाः पञ्च प्रयोजनाभावादिति गाथार्थ. ।

आदेशान्तरमाह-

आवस्सिअं निसीहिअं, मोत्तुं उवसंपयं च गिहिएसु ।
सेसा सामायारी, ण होइ जिणकप्पिए सत्ता ॥४२४॥

आवश्यकीं नैषेधिकीं मुक्त्वा उपसपद च, गृहिष्वारामादि-ष्वोघत. शेषा. सामाचार्य· पृच्छाद्या अपि न भवन्ति, जिन-कल्पिके सप्त । प्रयोजनाभावादेवेति गाथार्थ. ।

अहवा वि चक्कवाले, सामायारी उ जस्स जा जोग्गा ।
सा सव्वा वत्तव्वा, सुअमाईआ इमा मेरा ॥ ४२५ ॥

अथवाऽपि चक्रवाले नित्यकर्मणि, सामाचारी तु यस्य या योग्या जिनकल्पिकादे । सा सर्वा वक्तव्या । प्रक्रान्तरे श्रुतादिका चेय मर्यादा वक्ष्यमाणा । इति गाथार्थः ।

सुअ-संघयणु-वसग्गो, आयंको वेअणा कइजणा य ।
थंडिल्ल-वसहि-केच्चिर-मोच्चारे चेव पासवणे ॥४२६॥

श्रुतसहननोपसर्गा इत्येतद्विषयोऽस्य विधिर्वक्तव्य. । तथा-आतङ्क , वेदना, कियन्तो जनाइचेति, द्वारत्रयमाश्रित्य-तथा-स्थण्डिल्य-वसति-कियच्चिर-द्वाराण्याश्रित्य--तथा-उच्चारे चैव प्रश्रवणे चेत्येतद्विषयं । इति गाथार्थ. ।

ओआसे तणफलए, सारक्खणया य संठवणया य ।
पाहुडिअग्गीदीवे,ओहाण वसे कइ जणा उ ॥४२७॥

तथा अवकाशे तृणफलक एतद्विषय इत्यर्थः । तथा सरक्षणता च सस्थापना चेति द्वारद्वयमाश्रित्य-तथा-प्राभृतिकाग्नि-दीपेष्वेतद्विषयस्तथावधान वत्स्यन्ति कति जनाश्चेत्येतद् द्वार-द्वयमाश्रित्येति च गाथासमुदायार्थ ।

भिक्खायरिआ-पाणय-लेवालेवे अ तह अलेवे अ ।
आयंबिल-पडिमाअ, जिणकप्पे मासकप्पे य ॥ ४२८ ॥

भिक्षाचर्या-पानक इत्येतद्विषयो, लेपालेपे वस्तुनि, तथा-अलेपे चैतद्विषयश्चेत्यर्थ. । तथा-चाम्ल-प्रतिमे, समाश्रित्य-जिनकल्प, मासकल्पं चैतद्द्वारमधिकृत्य-विधिर्वक्तव्य. । इति गाथासमुदा यार्थः । एतास्तिस्रोऽपि द्वारगाथा. । आसामवयवार्थ. प्रति-द्वारे स्पष्ट उच्यते ।

तत्र श्रुत-द्वारमधिकृत्याह-

आयारवत्थु तइय, जहण्णयं होइ नवमपुव्वस्स ।
तहियं कालण्णाणं, दस उक्कोसेण भिण्णाइं ॥४२९॥

आचारवस्तु तृतीय, सख्यया जघन्यक भवति । नवमपूर्वस्य सबन्धिश्रुतपर्यायस्तत्र कालज्ञान भवत।ति कृत्वा—दशपूर्वा-ण्युत्कृष्टतस्तु भिन्नानि श्रुतपर्यायत. । इति गाथार्थ· ।

सहनन-द्वारमाश्रित्याह-

पढमिल्लुगसंघयणा, धिइए पुण वज्जकुड्डसामाणा ।
पडिवज्जंति इमं खलु, कप्पं सेसाण तु कयाइ ॥४३०॥

प्रथमित्युकसहननात् वज्रऋषभनाराचसहनना इत्यर्थ । धृ (धृ) त्या पुनर्वज्रकुड्यसमाना. प्रधानवृत्तय इति भाव । प्रतिपद्यन्त एन खलु कल्पमधिकृत जिनकल्प । शेषाणा तु कदाचित्तदन्यसहनिन. । इति गाथार्थ ।

उपसर्ग-द्वारविधिमाह-

दिव्वाई उवसग्गा, भइआ एअस्स जइ पुण हवंति ।
तो अव्वहिओ विसहइ,णिच्चलचित्तो महासत्तो ॥४३१॥

दिव्यादय उपसर्गा भाज्याः । अस्य जिनकल्पिकस्य भव-न्ति, वा नवा ? । यदि पुनर्भवन्ति कथञ्चित, ततोऽव्यथितः सम्यिसहते नानुपसर्गान् । निश्चलचित्तो महासत्त्व सत्त्वस्वभा-वेन—इति गाथार्थ. ।

आतङ्क-द्वारविधिमाह-

आतंको जरमाई, से वि हु भइओ इमस्स जइ होइ ।
णिप्पडिकम्मसरीरो, अहियासइ तं पि एमेव ॥४३२॥

आतङ्को ज्वरादि., सद्योघाती रोगोऽसावपि भाज्योऽस्य भव-ति । स यदि भवति कथाचत निष्प्रतिकर्मशरीर सम्यधि-सहते, तमप्यातङ्कमेवमेव । निश्चलचित्ततयेति गाथार्थ ।

वेदना-द्वारविधिमाह-

अब्भुवगमिआ उवक्कम-माय तस्स वेअणा भवे दुविहा ।
धुवलोआई पढमा, जराविवागाइआ विइआ ॥ ४३३ ॥

आभ्युपगमिकी, औपक्रमिकी च । तस्य जिनकल्पिकस्य वेद-ना भवति द्विविधा । ध्रुवलोचाद्या प्रथमा वेदना । ज्वरविपा-कादिका द्वितीया वेदनेति गाथार्थ. ।

कियन्तो जना इति द्वारविधिमाह-

एगो अ एस जयवं, णिरविक्खाअ सव्वहेव सव्वत्थ ।
भावेण होइ निअमा, वसहिम्मि दव्वओ भइओ ॥४३४॥

एक एवैष भगवान् जिनकल्पिक , निरपेक्षया सर्वथैव सर्वत्र वस्तुनि, भावेनाभिष्वङ्गेन भवति नियमात् । वसत्या-दौ द्रव्यतो भाज्य. । एकाऽनेको वेति गाथार्थ. ।

स्थण्डिल्य-द्वारमाह-

उच्चारे पासवणे, उस्सग्गं कुणइ थंडिले पढमे ।
तत्थेव य पडिजिणे, कयकिच्चो उज्झए वत्थे ॥ ४३५ ॥

उच्चारे प्रश्रवण एतद्विषयमित्यर्थ. । व्युत्सर्गं करोति । स्थ-ण्डिले प्रथमेऽनवपातादिगुणवति । तत्रैव च परिजीर्णानि स न्ति । कृतकृत्य स तुज्झति, वस्त्राणीति गाथार्थ. ।

वसति-द्वारविधिमाह-

अममत्ताऽपरिकम्मा, दारविलभग्गजोगपरिहीणा ।
जिणवसहीएण वि, मोत्तूण पमज्जणमकज्जे ॥४३६॥

अममत्वाऽममेयमित्यभिष्वङ्गरहिता । अपरिकर्मा, साधुनिमि-त्तमालेपनादिपरिकर्मवर्जिता । द्वारबिल-भग्नयोग-परिहीणा,द्वा-रबिलयोग , स्थगन पूरणरूप । भग्नयोग , पुन सस्करणमेत-च्छून्या जिनवसति । अस्थानपथादनुष्ठानपरत्वात् स्थविराणा-मप्येवभूतैव वसति । मुक्त्वा प्रमार्जन वसतेरेवाकार्य मिति पुष्टमालम्बन विहायैवभूतेति गाथार्थ ।

कियच्चिर-द्वारविधिमाह-

केच्चिरकालं वसिहिहि, एवं पुच्छति जायणा समए ।
जत्थ गिही मा वसही,ण होइ एअस्स णिअमेण ॥४३७॥

कियच्चिरं काल वत्स्यथ यूयमेव पृच्छन्ति. याचनासमये काले, यत्र गृहिणस्तत्स्वामिन , सा वसतिरेवंभूता न भवत्येव, तस्य जिनकल्पिकस्य नियमेन सूक्ष्मममत्वयोगादिति गाथार्थः ।

उच्चार-द्वारविधिमाह-

नो उच्चारो एत्थं, आयरिअव्वो कयाइदवि जत्थ ।
एवं भणंति ते सा, वि हु पडिकुट्ठ च्चिअ एअस्स ॥४३८॥

नोच्चारोऽत्र प्रदेश आचरितव्यः कदाचिदपि, । यत्र वसतावेव भणन्ति दातारः, साऽपि प्रतिकुष्टैव, भगवत एतस्य वसतिरिति गाथार्थः ।

प्रस्रवण-द्वारविधिमाह-

पासवणं पि अ एत्थ, इमम्मि देसम्मि ण उण अन्नत्थ ।
कायव्वं ति भणंति हु, जीए एसा वि णो जोग्गा ॥४३९॥

प्रस्रवणमपि चाऽत्र वसतौ, अस्मिन् देशे विवक्षित एव । न पुनरन्यत्र देशे कर्तव्यमिति भणन्ति, यस्यां वसतौ । एषा पि न योग्याऽस्येति गाथार्थः । व्याख्याता प्रथमा द्वारगाथा ।

द्वितीया व्याख्यायते । तत्रावकाश-द्वारविधिमाह-

ओवासो वि अ एत्थं, एसो तुज्झं ति न पुण एसो वि ।
एव वि भणंति जहिअं,मा वि ण सुद्धा इमस्स भवे ॥४४०॥

अवकाशोऽपि चात्र वसतौ,एष युष्माकं नियत । न पुनरेषोऽपि,एवमपि भणन्ति,यस्यां वसतौ दातार. । साऽपि न शुद्धाऽस्य भवेद्वसतिरिति गाथार्थः ।

तृणफलक-द्वारविधिमाह-

एवं तणफलगेसु वि, जत्थ विआरो उ होइ निअमेणं ।
एसा वि हु दट्ठव्वा, इमस्स एवंविहा चेव ॥ ४४१ ॥

एवं तृणफलकेष्वपि, यत्र विचारस्तु भवति, तत्कृतनियमेनैषापि वसतिर्द्रष्टव्या,पुरुषे एवंविधा चैवाशुद्धेति गाथार्थः ।

संरक्षण-द्वारविधिमाह-

सारक्ख त्ति तत्थेव, किंचि वत्थुं अहिगिच्च गोणाइं ।
जीए तस्सारक्खण-माह,गिही सा वि हु अजोग्गा ।४४२।

सारक्षणेति तत्रैव वसतौ, किञ्चिद्वस्तु अधिकृत्य, गवादि यस्यां तत्संरक्षणमाह गृही । गवाद्यपि रक्षणीयमिति । साऽपि वसतिरयोग्येति गाथार्थः ।

संस्थापना-द्वारविधिमाह--

संठवणा सक्कारो, पकमाणीएऽणुवेहमो भंते ! ।
कायव्वं ति अ जीए,वि भणइ गिही ऽसो विऽजोग त्ति ४४३।

संस्थापना संस्कारोऽभिधीयते । पतन्त्या सत्या अनुत्प्रेक्षा भदन्त! कर्तव्येति च नोपेक्षितव्येत्यर्थः । यस्यामपि भणति गृही, ततोऽसावप्ययोग्या वसतिरिति गाथार्थः ।

मूलगाथाचशब्दार्थमाह--

अन्नं वा अभिओगं, चसद्दसूइअं जहं कुणइ ।
दाया चित्तसरूव, जोगा णेसा वि एअस्स ॥४४४॥

अन्य चाभियोग चशब्दसूचितं, यत्र करोति वसतौ दाता चित्रस्वरूप । योग्यानैवाऽप्येतस्य वसतिरिति गाथार्थः ।

प्राभृतिका-द्वारविधिमाह--

पाहुडिआ जीएँ बली, कज्जइ ओसप्पणाइअं तत्थ ।
विक्खित्तठाणसज्जणा-इ अग्गहणे अंतरायं च ॥४४५॥

प्राभृतिका यस्यां वसतौ, बलिः क्रियतेऽवसर्पणादि तत्र तद्भक्त्या भवति । विक्षिप्तस्य बलेः स्थानात्कायोत्सर्गतः शकुनाद्यग्रहणे सत्यन्तरायं च भवतीति गाथार्थः ।

अग्नि-द्वारविधिमाह-

अग्गि त्ति साऽग्गिणी जा, पमज्जणे रेणुमाइवाघाओ ।
अपमज्जणं अकिरिआ,जोईफुसणम्मि य विभासा ॥४४६॥

अग्निरिति,साऽग्निर्या वसतिप्रमार्जने तत्र रेणुकादिना व्याघातोऽग्ने. । अप्रमार्जने सत्यक्रिया आज्ञाभङ्गो, ज्योतिःस्पर्शने च, विनाशाज्ज्वालन चाङ्गारादाविति गाथार्थः ।

दीप-द्वारविधिमाह-

दीविते सदीवा जा, तीए विसेसो उ होइ जोइम्मि ।
एत्तो च्चिअ इह भेओ, सेसा पुव्वाइआ दोसा ॥४४७॥

दीपिते सदीपा या वसति., तस्यां विशेषस्तु सदीपायां भवति ज्योतिषि । तद्भावेन स्पर्शसम्भवादत एव कारणादिह भेदो द्वारस्य । द्वारान्तराच्छेषा. पूर्वोक्ता दोषा. प्रमार्जनादयः । इति गाथार्थः ।

अवधान-द्वारविधिमाह-

ओहाणं अम्हाण वि गेहस्सु-वओगदायगो त्तंमि ।
होहिसि भणंति इति, जीए एसा वि से ण भवे ॥४४८॥

अवधान नामास्माकमपि गृहस्योपयोगदाता त्वमसि भगवन्न भविष्यसि ? भणन्ति, तिष्ठन्ति सन्ति यस्यां वसतौ, एषापि (से) तस्य जिनकल्पिकस्य न भवेदिति गाथार्थः ।

कियज्जन-द्वारविधिमाह-

तह कइ जणा त्ति तुम्हे, वसहिह एत्थ ति एवमवि जीए ।
भणइ गिहीऽणुण्णाए, परिहरए णवरमेअ पि ॥४४९॥

तथा कियन्तो जना इति यूय वत्स्यथाऽत्र वसताविति ? एवमपि यस्यां वसतौ भणति, गृही दाता ऽनुज्ञाया प्रस्तुतायां । परिहरत्यसौ महामुनिर्नवरमेतामपि वसतिमिति गाथार्थः ।

परिहारप्रयोजनमाह-

सुहुममवि हु अचिअत्तं, परिहरए सो परस्स निअमेणं ।
जं तेण तुमहाओ, वज्जइ अन्नं पि तज्जणणिं ॥४५०॥

सूक्ष्ममप्यचियत्तमप्रीतिलक्षण परिहरत्यसौ भगवान् परस्य नियमेन । यद् यस्माद् तेन कारणेन तुशब्दात मूलगाथोपात्ताद् वर्जयत्यन्यामपि वसतिं तज्जननीमीषदप्रीतिजननीं न च ममत्वमन्तरेण तथा तथा विचार. क्रियत इति गाथार्थः । व्याख्याता द्वितीया मूलगाथा ।

अधुना तृतीया व्याख्यायते । तत्र भिक्षाचर्याद्वारविधिमाह-

भिक्खायरिआणिअमा, तइआए एसणा अभिग्गहिआ ।
एअस्स पुव्वभणिआ, एक्का च्चिअ होइ भत्तस्स ॥४५१॥

भिक्षाचर्यानियमानि,योगेन तृतीयाया पौरुष्यामेषणा च ग्रहणेषणाऽभिगृहीता भवत्यस्य पूर्वभणिता जिनकल्पिकस्य । एकैव भवति भक्तस्य न द्वितीयेति गाथार्थः ।

पानक-द्वारविधिमाह-

पाणगगहणे एवं, ण सेसकालं पओअणाभावो ।

जाणइ सुआइसएण, सच्चमसच्चं च सो सव्वं ॥४५२॥

पानकग्रहणेऽप्येयमस्य न शयकाह, प्रयोजनाभावकारणात् । सलकग्रहणदोषपरिहारमाह-जानाति, श्रुतातिशयेनैव शुद्धमशुद्धं च, स सर्वं पानकमिति गाथार्थः ।

लेपालेप-द्वारविधिमाह-

संवालेवं ति इह, लेवाभेणं अलेवडं जं तु ।

भणिए सयं पि इयं, दुगं पि इह होइ विणेअं ॥४५३॥

लेपालेपमित्यत्राधिकारलेपवता व्यञ्जनादिना, लेपवत् यदोदनादि । किमुक्तं भवति-स-पनं ससित्थं वस्त्वन्तरेण, द्वितीयमप्यत्र भवतीति विज्ञेयं । भक्त. पानं चेति गाथार्थः ।

अलेप-द्वारविधिमाह-

अल्लेवं पयईए, केवलग पि हु न तस्सरूवं तु ।

अणं तऽल्लेवकारी, अलेवमिति सुरओ विति ॥४५४॥

अलेपं, प्रकृ वा स्वरूपेण, केवलमपि सन्,न तास्वरूप । तुलने लपस्वरूपमेव अगार्यादामदम् । अन्ये त्वप्रपकादिसामलेपामत्येव, सूत्य आचार्या ब्रुयत इति गाथार्थः ।

आचामाम्ल-द्वारविधिमाह-

आयंबिलमेअ पि हु, अत्मामपुरामेजेअटोमाओ ।

उस्सग्गियं तु किं पुण, पायडए अणुगुणं जं से ॥४५५॥

आयामाम्लमेतस्पयसेवकादि । अनिशोऽपुरापमेदतोपादू व्याख्याविधातुनाथेन । औत्सर्गिकमेयैतत्तत्त्व किं पुन. प्रकृतेर्देरूपाया अनुगुण यद्वाऽदि (मे) तस्येति गाथार्थः ।

प्रतिमा-द्वारविधिमाह-

पडिमंति अ मासाइ-महा य अभिग्गहा सेसा ।

णो खलु एम पवज्जइ, जं तत्थ ठिओ विसेसेणं ॥४५६॥

प्रतिमा मासाद्या, आदिशब्दान्मूलगाथागता अभिग्रहा , शेषा भद्रादृयनाद्यो, न प्रतिपद्यते । जिनकल्पिको यस्त्राभिग्रहे स्थितो विशेषेणेति गाथार्थः ।

'जिणकप्पे' इति मूलद्वारगाथावयवव्याचिख्यासुराह-

जिणकप्पं त्ति अ दारं, अनेनदाराण विसयमो एस ।

एअंपि एम मेरा, अववायविवज्जिआ णियमा ॥४५७॥

जिनकल्प इति च द्वारं । मूलगाथागतमशेषद्वाराणा श्रुतसहननादीना विषय एव वर्तते । इति एतस्मिन् जिनकल्पे, एषा मर्यादा श्रुतादिर्यो अपवादविवर्जिता नियमादेकान्तेनेति गाथार्थः ।

'मासकप्पो' इति द्वारावयवार्थमाह-

मास निवसइ खित्ते, छव्वीहीओ अ कुणइ तत्थ वि अ ।

एगेगमडकम्मा-इ वज्जणत्थं पइदिणं तु ॥ ४५८ ॥

मास निवसति क्षेत्रे । षट् वीथीः करोति गृहपङ्क्तीरूपाः परिकल्प्य, तत्रापि च वीथीकदम्बकं एकैकामटति वीथीकर्मादिवर्जनार्थमनिबद्धतया प्रतिदिनमिति गाथार्थः । व्याख्याता तृतीया द्वारगाथा ।

सांप्रतमत्र प्रासङ्गिकमाह-

कह पुण होज्जा कम्मं, एत्थ पसंगेण सेसयं किं पि ।

वोच्छामि समासेणं, सीसजणविबोहणट्ठाए ॥ ४५९ ॥

कथ पुनर्भवत्कर्मास्य अटत. । अत्र प्रसङ्गेन शेष किमप्येतद्गतमनागतमत्र वक्ष्यामि समासेन । किमर्थमित्याह-शिष्यजनविबोधनार्थमिति गाथार्थः ।

आजिग्गाहिए तत्थ, जत्तोगाहिमग वीइ तिअ पूई ।

चुअगो णिव्वयणाति अ, उक्कोसेणं च सत्त जणा ॥४६०॥

आजिघ्रदिके जिनकल्पिक तपस्य श्रद्धोपजायन अगार्याः । तत्र सक्तोद्ग्राहिम कोति, सा एतद्भक्त करोति । द्वितीयेऽहनि त्रीन् दिवसान् पूति । तद्वर्त्तता वक्ष्याम । अत्रान्तरे चोदको निर्वचनमिति भवति । उत्कृष्टतोऽस्मिन्पदेन सप्त जना, एते एकवसतौ भवन्तीति गाथासमुदायार्थः ।

सड्ढोऽऽगाहातोऽवयवार्थमाह-

जिणकप्पाजिग्गहिअं, दट्ठुं तवसोसिअ महासत्तं ।

संवेगा गयसड्ढा, काई सड्ढा भणिज्जाहि ॥ ४६१ ॥

जिनकल्पाऽभिग्रहिकमूर्तिं दृष्ट्वा तप.शोषित महासत्त्वं, संवेगात्सनश्च गतश्रद्धा सती, काचित् श्राद्धी योषिद्भणेत् ब्रूयादिति गाथार्थः ।

किं काहामि अहण्णा, एसो साहू न गिण्हए एअं ।

णत्थि मह तारिसयं, अण्णं जमलज्जिआ दाहं ॥४६२॥

किं करिष्यामि । अधन्याहम । एष साधुर्न गृह्णाति, एतच्चान्नं नास्ति । मम तादृशमन्यच्छोभन । यदलज्जिता दास्यामीति गाथार्थः ।

सव्वपयत्तेण अहं, कल्ले काऊण भोअणं विउलं ।

दाहामि पयत्तेणं, ताहे जणाओ अमो भयवं ॥ ४६३ ॥

सर्वप्रयत्नेनाह कल्ये कृत्वा-भोजन साधु विपुल दास्यामि प्रयत्नेन । तदा भणति चासौ भगवांस्तच्छुत्वोक्त्या निवारणायेति गाथार्थः ।

अणिआओ वसहीओ, भमरकुलाणं च गोकुलाणं च ।

समणाणं सउणाणं, सारइआणं च मेहाणं ॥ ४६४ ॥

अनियता वसतय', कथामित्याह-भ्रमरकुलाना च, गोकुलाना च, तथा श्रमणाना, शकुनाना, शारदानां च, मेघानामित्यर्थः ।

ताए य उवक्खडिअ, मुक्का वीही अ तेण धीरेण ।

अद्दीणमपरिभंतो, विइअं च पहिंडिओ वीहिं ॥४६५॥

तया च अगार्योपस्कृतमनाभोगात् मुक्ता वीथी च तेन धीरेण । द्वितीयेऽहनि अदीनचेतसाऽपरिश्रान्तकायेन, द्वितीयां च, क्रमागतां प्रपर्यटितो वीथिमस्याविति गाथार्थः ।

तत्रेय व्यवस्था-

पढमंदिवसम्मि कम्मं, तिन्नि अ दिवसाणि पूइअं होइ ।

पूइसु तिसु णो कप्पइ, कप्पइ तइए गए कप्पे ॥४६६॥

प्रथमदिवस कर्म, तदुपस्कृत त्रीन् दिवसान् पूति भवति । नवगृहमेव पूतिषु त्रिषु न कल्पते । तत्रान्यदपि किञ्चित् कल्पते । तृतीये गते कल्पे दिवसं अपरस्मिन्नहनीति गाथार्थः ।

ओगाहिमए अज्जं, न आगओ कल्ले तस्स दाहामि ।

दोन्नि दिवसाणि कम्मं, तइआइसु पूइअं होइ ॥४६७॥

उद्ग्राहिमके कृते, सति अद्य नाऽऽयात. स ऋषिः । कल्ये तस्य दास्यामि । इति द्विदिवसे सदाऽजिसधत्ते । अत्र द्वौ दिवसौ

कर्म, तद्भावाविच्छेदात्तृतीयादिषु दिवसेषु पूति, तद्भवतीति गाथार्थः ।

तिहिँ कप्पेहिँ न कप्पइ, कप्पइ तं छट्ठसत्तमदिणम्मि ।
अकरणदिवसो पढमो, सेसा जं एक दोन्नि दिणा ॥४६८॥

तत्र त्रिषु कल्पेषु दिवसेषु न कल्पते । कल्पते तद् गृहं, षष्ठसप्तमदिवसे प्रहणदिवसात् । एतदेवाह अकरणदिवसः प्रथमोऽटनगतः । शेषौ यदेको, द्वौ वा दिवसावाधाकर्मगताविति गाथार्थः ।

अह सत्तमम्मि दिअहे, पढमं वाहिं पुणो वि हिंडंतं ।
दट्ठुण सा य सड्ढी, तं मुणिवसभं भणिज्जाहि ॥४६९॥

अथ सप्तमे दिवसे, अटनगतादारभ्य । प्रथमां वार्थी, पुनरपि हिण्डमानमटन्त दृष्ट्वा । सा श्राद्धी अगारी, मुनिवृषभ प्रस्तुत, भेवेद् ब्रूयादिति गाथार्थः ।

किं णागयत्थ तइआ, असव्वओ मे कओ तुह निमित्तं ।
इति पुट्ठो सो भयवं, बिइआएसे इमं भणइ ॥ ४७० ॥

किं नागतात्र यूय तदा । असद्व्ययो मया कृतस्त्वन्निमित्त । तदग्रहणादसद्व्ययत्वमिति पृष्टः स भगवान् जिनकल्पिक । द्वितीयादेशे पूर्वादेशापेक्षया, इद भणति वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ।

अणिआओ वसहीओ, इच्चाइ जमेव वण्णिअं पुव्विं ।
आणाए कम्माइं, परिहरमाणो विसुद्धमणो ॥ ४७१ ॥

अनियता वसतय इत्यादि । यदेव वर्णित, पूर्वंगाथासूत्रमिति । आज्ञया कर्मादि परिहरन् विशुद्धमनाः सन्, भवति । इति गाथार्थः ।

चोएइ पढमदिअहे, जइ कोइ करिज्ज तस्स कम्माइं ।
तत्थ ठिअं णाऊणं, अजंपिउं चेव तत्थ कहं ॥४७२॥

चोदयति शिष्यः । प्रथमदिवस अटनगत एव यदि कश्चित्कुर्यात्, किञ्चन् कर्माद्यकल्प्य, तत्र स्थित ज्ञात्वा, केनेऽसजल्पैव किंचित्तत्र कथमिति गाथार्थः ।

चोअग ! एवं पि इहं, जइ ओ करिज्जाहि कोइ कम्माइ ।
ण हि सो तं ण विआणइ, सुआइसयजोगओ जयवं ॥४७३॥

चोदक ! एवमप्यत्र यदि कुर्यात कश्चित्कर्मादि प्रच्छन्नमेव । न ह्यसौ तत्र विजानाति ? विजानात्येव श्रुतातिशययोगतः कारणात्तद्भगवानिति गाथार्थः ।

एसो उण से कप्पो, जं सत्तमगम्मि चेव दिवसम्मि ।
एगत्थ अडइ एव, आरंभविवज्जणणिमित्तं ॥ ४७४ ॥

एष पुनः (से) तस्य कल्पः । यत्सप्तम एव दिवस एकत्र वीथ्यामटति । एवमुक्तवदारम्भविवर्जननिमित्तमिति गाथार्थः ।

इअ अणिअयवित्तिं तं, दट्ठु सड्ढाणं वि तदारंभे ।
अणियमओ ण पवित्ती, होइ तहा वारणाओ अ ॥४७५॥

एवमनियतवृत्ति त वीथिविहारेण दृष्ट्वा, श्राद्धानामपि प्राणिना तदारम्भेऽनियमात् कारणात् न प्रवृत्तिर्भवति । तथा वारणाच्चानियतत्वादिभावेनेति गाथार्थ ।

गच्छवासिनामेवमकुर्वतामदोषमाह—

इअरे आणाओ वि अ, गुरुमाइनिमित्तओ पइदिणं पि ।
दोसं अपस्समाणा, अडंति मज्झत्थभावेण ॥ ४७६ ॥

इतरेऽपि गच्छवासिन आज्ञात एव निमित्तत्वाद्, गुर्वादिनिमित्ततश्च हेतो । प्रतिदिवसमपि दोषमपश्यन्तः सन्तोऽनेषणारूपमटन्ति मध्यस्थभावेन सम्यगेवेति गाथार्थः ।

प्रासङ्गिकमेतत् । प्रस्तुतमेवाह—

एवं तु ते अडंता, वसहीएक्काए कइ वसिज्जाहि ।
वीहीए अ अडंता, एगाए कइ अडिज्जाहि ॥४७७॥

एवं तु ते अटन्तो जिनकल्पिका । वसतावेकस्यां कति वसेयुः तथा वीथ्यां वा अटन्त सन्त एकस्यां कत्यटेयुरिति गाथार्थः ।

एगाए वसहीए, उक्कोसेणं वसंति सत्त जणा ।
अवरोप्परसंभासं, वज्जिंता कह वि जोएणं ॥ ४७८ ॥

एकस्यां वसतौ वसन्तो, बाहुल्यादुत्कृष्टतो वसन्ति सप्त जनाः । कथमित्याह-परस्पर संभाषण वर्जयन्तः सन्तः, कथमपि योगनाति गाथार्थः ।

वीहीए एक्काए, एक्को खलु पइदिणं अडइ एगो ।
अन्ने भणंति भयणा, सा य ण जुत्तिक्खमा णेआ ॥४७९॥

वीथ्यां त्वेकस्यामेक एव प्रतिदिनमटत्येव जिनकल्पिक । अन्ये भणन्ति भजनां, सा च न युक्तिक्षमा ज्ञेयाऽत्र वस्तुनीति गाथार्थः ।

कुत इत्याह—

एएसिं सत्त वीही, एत्तो च्चिअ पायसो जओ भणिआ ।
कह नाम अणोमाणं, हविज्ज गुणकारगं णिअमा ॥४८०॥

एतेषां सप्त वीथयः । अत एव कारणान्मा भूदेकस्यामुभयाटनमिति प्रायसो यतो भणिता । कश्चित्प्रदेशान्तरे कथं नाम, अनवमान भवेत् । अन्योऽन्यसवर्तभावेन गुणकारक नियमात्प्रवचनस्येति गाथार्थ ।

वीथीज्ञानोपायमाह—

अइसयेण अ जमेए, वीहिविभाग अतो विजाणंति ।
ठाणाएहिँ धीरा, समयपसिद्धेहिँ लिंगेहिं ॥ ४८१ ॥

अतिशयेन च यदेते श्रुतत वीथीविभागमतो विजानन्त्येवैते । स्थानादिभिर्धीरा वसतिगतैः, समयप्रसिद्धैः, लिङ्गैः, श्रुतादेवेति गाथार्थः ।

उपसहरन्नाह—

एसा सामायारी, एएसिं समासओ समक्खाया ।
एत्तो खित्तादीअं, ठिइमेएसिं उ वक्खामि ॥ ४८२ ॥

एषा सामाचारी, एतेषां जिनकल्पिकानां समासेन समाख्याता । अत क्षेत्राद्या स्थितिं तावद्व्यवस्थामेतेषामेव वक्ष्यामीति गाथार्थ ।

खित्ते कालचरित्ते, तित्थे परिआय-आगमे वेए ।
कप्पे लिंगे लेसा-झाणे गणणाऽभिगहे सिं च ॥४८३॥

क्षेत्रे एकस्मिन् स्थितिरमीषाम । एव काले, चारित्रे, तीर्थे, पर्याये, आगमे, वेदे, कल्प, लिङ्गे, लेश्यायां, ध्याने, तथा गणनाऽभिग्रहाश्चैतेषां वक्तव्या । इति गाथासमासार्थः ।

पव्वावण मुंडावण, मणसावन्ने वि से अणुग्घाया ।
कारण-णिप्पडिकम्मे, भत्तं पंथो अ तइआए ॥ ४८४ ॥

प्रव्राजनमुण्डनमेत्यत्र स्थितिर्वाच्या, मनसाऽऽपन्नेऽपि दोषे (से) तस्य, अनुद्घाताश्चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तम् । तथा कारण-निष्प्रतिकर्म-स्थितिर्वाच्या, तथा भक्तं, पन्थाश्च तृतीयायां पौरुष्यामस्येति गाथासमासार्थः ।

व्यासार्थं तु गाथाद्वयस्याऽपि ग्रन्थकार एव प्रतिपादयति । तत्राऽऽदौ क्षेत्र-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

खित्ते दुहेह मग्गण, जम्मणओ चेव संतिभावे अ ।
जम्मणओ जहिं जाओ,संतीभावे अ जहिं कप्पो ॥४७५॥

क्षेत्रे द्विविधा मार्गणा जिनकल्पिकस्येति-जन्मतश्चैव, सद्भावतश्च । तत्र जन्मतो-यत्र जातः क्षेत्रे, एष जन्माऽऽश्रित्य । सद्भावतश्च-यत्र कल्पः क्षेत्रे, एष सद्भावमाश्रित्य, मार्गणेति गाथार्थः ।

जम्मणसंतीभावे-सु होज्ज सव्वासु कम्मभूमीसु ।
साहरणे पुण भइओ, कम्मे व अकम्मभूमे वा ॥४७६॥

जन्मसद्भावयोरयं भवेत् सर्वासु कर्मभूमिषु भरताद्यासु । संहरणे पुनर्भाज्योऽयं, कर्मभूमिको वा सद्भावमाश्रित्य, अकर्मभूमिको वाऽसद्भावमाश्रित्येति गाथार्थः ।

काल-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

ओसप्पिणिए दोसुं, जम्मणओ तिसु अ संतिभावेणं ।
उस्सप्पिणिविवरीओ, जम्मणओ संतिभावेणं ॥४७७॥

अवसर्पिण्यां काले, द्वयोः सुषमदुष्षम-दुष्षमसुषमयोर्जन्मतो जन्माऽऽश्रित्यास्य स्थितिः । तिसृषु सुषमदुष्षम दुष्षमसुषम-दुष्षमासु सद्भावेनेति स्वरूपतयाऽस्य स्थितिः । उत्सर्पिण्यां विपरीतोऽस्य कल्प -जन्मतः ,सद्भावतश्च । एतदुक्तं भवति दुष्षम-दुष्षम सुषम-सुषमदुष्षमासु तिसृषु जन्मतः , दुष्षमसुषम-सुषमदुष्षमयो द्वयोः सद्भावत एवेति गाथार्थः ।

णोस्सप्पिणि उस्सप्पिणि,होइ उ पलिभागओ चउत्थम्मि ।
काले पलिभागेसु अ, साहरणे होइ सव्वेसिं ॥ ४७८ ॥

नावसर्पिण्युत्सर्पिणीत्युभयशून्ये स्थिते काले भवति त्वयं जन्मतः , सद्भावतश्च; प्रतिभागे चतुर्थ एव । काले दुष्षमसुषम-रूपे, विदेहेषु प्रतिभागेषु च केवलेषु,संहरणे सति, सद्भावमाश्रित्य भवति सर्वेषूत्तरकुर्वादिष्वपीति गाथार्थः ।

चारित्र-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

पढमे वा बीए वा, पडिवज्जइ संजमम्मि जिणकप्पं ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नअरे संजमे हुज्जा ॥४७९॥

प्रथमे वा सामायिक एव, द्वितीये वा छेदोपस्थाप्ये, प्रतिपद्यते, संयमे चारित्रे सति जिनकल्पं, नान्यस्मिन् । पूर्वप्रतिपन्नः पुनरसावन्यतरस्मिन् संयमस्थाने सूक्ष्मसंपरायादौ भवेदुपशमश्रेणिमधिकृत्येति गाथार्थः ।

मज्झिमतित्थयराणं,पढमे पुरिमंतिमाण बीअम्मि ।
पच्छा विसुद्धजोगा, अण्णअरं पावइ तयं तु ॥४८०॥

मध्यमतीर्थकराणां तीर्थे,प्रथमे भवेत्, द्वितीयस्य तेषामभावात् । पुरिमचरमयोस्तु तीर्थकरयोः तीर्थे द्वितीये भवेत्, छेदोपस्थाप्ये एव । पश्चाद्विशुद्धयोगात् कारणादन्यतरं प्राप्नोति तं संयमं सूक्ष्मसंपरायादिं तूपशमापेक्षयेति गाथार्थः ।

तीर्थ-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

तित्थे त्ति नियमओ च्चिय,
होइ स तित्थम्मि न पुण तदभावे ।
विगएऽणुप्पन्ने वा,
जाईसरणाइएहिं तु ॥४८१॥

तीर्थे इति नियमत एव भवति स जिनकल्पिकः, तीर्थे सति, न पुनस्तदभावे विगतेऽनुत्पन्ने वा तीर्थे, जातिस्मरणादिभिरेव कारणैरिति गाथार्थः ।

अहिगयरं गुणठाणं, होइ अतित्थम्मि एस किं ण भवे ।
एसा एअस्स ठिई, पण्णत्ता वीअरागेहिं ॥ ४८२ ॥

अधिकतरं तद्गुणस्थानं श्रेण्यादि भवत्यतीर्थे, मरुदेव्यादीनां तथाश्रवणादिति,एष किं न भवति जिनकल्पिकः ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-एषा एतस्य स्थितिर्जिनकल्पिकस्य प्रज्ञप्ता, वीतरागैः, न पुनरत्र काचिद्युक्तिरिति गाथार्थः ।

पर्याय-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

परिआओ अ दुभेओ, गिहि-जइ-भेएहि होइ णायव्वो ।
एक्केको उ दुभेओ, जहन्न उक्कोसओ चेव ॥ ४८३ ॥

पर्यायश्च द्विभेदोऽत्र गृहियतिभेदाभ्यां भवति ज्ञातव्यः । एकैकश्च द्विभेदोऽसौ जघन्य उत्कृष्टश्चेति गाथार्थः ।

एअस्स एस णेओ, गिहिपरिआओ जहन्न गुणतीसा ।
जइपरिआए वीसा, दोसु वि उक्कोस देसूणं ॥ ४८४ ॥

एतस्यैष ज्ञेयो गृहिपर्यायो जन्मत आरभ्य जघन्य एकोनत्रिंशद्वर्षाणि । यतिपर्यायो विंशतिवर्षाणि जघन्यः, एष द्वयोरपि गृहियतिभेदयोरुत्कृष्टपर्यायो देशोना पूर्वकोटीति गाथार्थः ।

आगम-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

अप्पुव्वं णाहिज्जइ, आगममेसो अइव तं जम्मं ।
जमुचिअपगिट्ठजोगा-ऽऽराहणओ चेव कयकिच्चो ॥४८५॥

अपूर्वं नाधीत आगममेषः । कुतः ?, इत्याह-अतीव तज्जन्म वर्तमानं, यद् यस्मादुचितप्रकृष्टयोगाराधनादेव कारणात्, कृतकृत्यो वर्तते । इति गाथार्थः ।

पुव्वाहीयं तु तयं, पायं अणुसरइ निच्चमेवेस ।
एगग्गमणो सम्मं, विस्सोअसिगाइ खयहेउं ॥ ४८६ ॥

पूर्वाधीत तु तच्छ्रुतं प्रायोऽनुस्मरति नित्यमेवैष जिनकल्पिक एकाग्रमनाः सम्यग् यथोक्तं, विस्रोतसिकायाः क्षयहेतु श्रुतं स्मरतीति गाथार्थः ।

वेद-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

वेअप्पवित्तिकाले, इत्थीवज्जो उ होइ एगयरो ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्ज सवेओ अवेओ वा ॥४८७॥

वेदप्रवृत्तिकाले तस्य स्त्रीवर्ज एव भवत्येकतरः पुंवेदो नपुंसकवेदो वा शुद्धः । पूर्वप्रतिपन्नः पुनरध्यवसायभेदाद्भावात्सवेदोऽवेदो वैव भवेत् इति गाथार्थः ।

उवसमसेढीए खलु, वेए उवसामिअम्मि उ अवेओ ।
न उ खविए तज्जम्मे, केवलपडिसेहभावाओ ॥४८८॥

उपशमश्रेण्यामेव वेद उपशमिते सति अवेदो भवति, न तु क्षपिते। कुतः ?, इत्याह-तज्जन्मन्यस्य केवलप्रतिषेधभावादिति गाथार्थः ।

कल्प-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

ठिअमट्ठिए अ कप्पे, आचेलुक्काइएसु ठाणेसु ।
सव्वेसु ठिआ पढमो, चउ-ठिय छसु अ ट्ठिया बिइओ ॥४९९॥

स्थिते, अस्थिते च कल्प एव भवति, न कश्चिद्विरोधः । अनयोः स्वरूपमाह-आचेलक्यादिषु स्थानेषु वक्ष्यमाणलक्षणेषु सर्वेषु दशस्वपि स्थिताः, इति प्रथमः स्थितकल्पः । चतुर्षु स्थिताः इति-शय्यातरराजपिण्डकृतिकर्मज्येष्ठपदेषु स्थिताः, मध्यमतीर्थकरसाधवोऽपि षट्सु स्थिता आचेलक्यादिष्वनियमवन्तः, इति द्वितीयः स्थितकल्पः, इति गाथार्थः ।

स्थानान्याह-

आचेलुक्कुद्देसिय-सिज्जायररायपिंडकम्मे वा ।
वयजिट्ठपडिक्कमणे, मासं पज्जोसणाकप्पे ॥ ५०० ॥

आचेलक्यौद्देशिकशय्यातरराजपिण्डकृतिकर्माणि पञ्च स्थानानि, तथा व्रतज्येष्ठप्रतिक्रमणादीनि त्रीणि, मासपर्युषणाकल्पौ द्वे स्थाने, इति गाथार्थः ।

लिङ्ग-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

लिंगम्मि होइ भयणा, पडिवज्जइ उभयलिंगसंपन्नो ।
उवरिं तु भावलिंगं, पुव्वपवन्नस्स णिअमेणं ॥ ५०१ ॥

लिङ्गे इति भवति भजना, वक्ष्यमाणस्य प्रतिपद्यते कल्पम्, उभयलिङ्गसंपन्नो, द्रव्यभावलिङ्गयुक्त इत्यर्थः । उपरि तु उपरिष्टात्, भावलिङ्गं चारित्रपरिणामरूपं पूर्वप्रतिपन्नस्य कल्पं नियमेन भवतीति गाथार्थः ।

इयरं तु जिण्णभावाइ-एहि सययं न होइ वि कयाइ ।
ण य तेण विणाऽवि तहा, जायइ से भावपरिहाणी ॥५०२॥

इतरत्तु द्रव्यलिङ्गं, जीर्णभावादिभिर्जीर्णहृतादिभिः कारणैः सततं न भवत्यपि, कदाचिन्न भवत्यपि कदाचित्संभवत्येतत् । न च तेन विनाऽपि, तथा तेन प्रकारेण, जायते (से) तस्य भावपरिहाणिरप्रमादाभ्यासादिति गाथार्थः ।

लेश्या-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

लेसासु विसुद्धासुं, पडिवज्जइ तीसु न पुण सेसासु ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्जा सव्वासु वि कहंचि ॥५०३॥

लेश्यासु विशुद्धासु तैजस्यादिषु प्रतिपद्यते तिसृषु कल्पम्, न पुनः शेषास्वाद्यासु। पूर्वप्रतिपन्नः पुनः कल्पस्थो भवेत् सर्वास्वपि शुद्धासु, कथञ्चित्कर्मवैचित्र्यादिति गाथार्थः ।

णऽच्चंतसंकिलिट्ठा-सु थोवकालं च हंदि इअरासु ।
चित्ता कम्माण गई, तहा वि विरियं फलं देइ ॥ ५०४ ॥

नात्यन्तसंक्लिष्टासु वर्तते भगवान्, स्तोककालं च हन्दीतरासु अशुद्धासु, चित्रा कर्मणां गतिः, येन तास्वपि वर्तते, तथापि वीर्यं फलं ददाति, येन तद्भावेऽपि प्रत्यवारिशुद्धिरिति गाथार्थः ।

ध्यान-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

झाणम्मि वि धम्मेणं, पडिवज्जइ सो पवड्ढमाणेणं ।
इअरेसु वि झाणेसुं, पुव्वपवन्नो ण पडिसिद्धो ॥५०५॥

ध्यानेऽपि प्रस्तुते, धर्मेण ध्यानेन, प्रतिपद्यतेऽसौ कल्पं, प्रवर्द्धमानेन सता । इतरेष्वपि ध्यानेष्वार्तादिषु, पूर्वप्रतिपन्नोऽयं न प्रतिषिद्धो भवतीत्यपीति गाथार्थः ।

एवं च कुसलजोगे, उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामा ।
रोद्दऽट्टेसु वि भावो, इमस्स पायं निरणुबंधो ॥ ५०६ ॥

एवं कुशलयोगे जिनकल्पप्रतिपत्त्योद्दामे सति, तीव्रकर्मपरिणामौदयिकात् रौद्रार्तयोरपि भावोऽस्य ज्ञेयः, स च प्रायो निरनुबन्धः, स्वल्पत्वादिति गाथार्थः ।

गणना-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

गणण त्ति सयपुहुत्तं, एएसिं एगदेव उक्कोसा ।
होइ पडिवज्जमाणे, पडुच्च इअरा उ एगाई ॥ ५०७ ॥

गणनेति शतपृथक्त्वमेतेषां जिनकल्पिकानामेकदैवोत्कृष्टा भवति प्रतिपद्यमानकान् प्रतीत्य, इतरा तु जघन्या गणनैकाद्येति गाथार्थः ।

पुव्वपडिवण्णगाण उ, एसा उक्कोसिआ उचिअ खित्ते ।
होइ सहस्सपुहुत्तं, इयरा एवंविहा चेव ॥ ५०८ ॥

पूर्वप्रतिपन्नानां त्वमीषामेषा गणना उत्कृष्टोचिता क्षेत्रे यत्रैषां भावो भवति-यदुत सहस्रपृथक्त्वमिति, इतराऽपि जघन्यैवंविधैव सहस्रपृथक्त्वमेव लघुतरमिति गाथार्थः ।

अभिग्रह-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

दव्वाईआऽभिग्गह, विचित्तरूवा ण होंति इत्तरिआ ।
एअस्स आवकहिओ, कप्पो च्चियऽभिग्गहो जेण ॥५०९॥

द्रव्याद्या अभिग्रहाः सामान्या विचित्ररूपा न भवन्तीत्वराः। कुतः ?, इत्याह-अस्य यावत्कथिकः कल्प एव प्रक्रान्तोऽभिग्रहो येनेति गाथार्थः ।

एयम्मि गोअराई, णिअया णिअमेण णिरववाया य ।
तप्पालणं चिअ परं, एअस्स विसुद्धिठाणं तु ॥५१०॥

एतस्मिन् गोचराद्यः सर्व एव नियता नियमेन, निरपवादाश्च वर्तन्ते । यत एवमतस्तत्पालनमेव परं प्रधानमेतस्य विशुद्धिस्थानम्, किं शेषाऽभिग्रहैरिति गाथार्थः। व्याख्याता प्रथमा द्वारगाथा ।

अधुना द्वितीया व्याख्यायते, तत्र प्रव्राजनाद्वारमधिकृत्याऽऽह-

पव्वावेइ ण एसो, अएणं कप्पट्ठिउ त्ति काऊणं ।
आणाउ तह पयट्टो, चरमाणसणि व्व णिरविक्खो ॥५११॥

प्रव्राजयति नैषोऽन्यं प्राणिनं कल्पस्थित इति कृत्वा, जीतमेतत्, आज्ञातस्तथा प्रवृत्तोऽयं महात्मा चरमानशनिवन्निरपेक्षो यावत्कारणेनेति गाथार्थः ।

उवएसं पुण विअरइ, धुवं पवित्तं विआणिउं किंचि ।
तं पि जहासत्तेणं, गुणओ ण दिसादविक्खाए ॥५१२॥

उपदेशं पुनर्वितरति ददाति ध्रुवं प्रव्रजनशीलं विज्ञाय किञ्चित्सत्त्वम्। तमपि यथासत्त्वेन वितरति गुणात्, न दिगाद्यपेक्षया कारणेनेति गाथार्थः ।

मुण्डन-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

मुंडावणा वि एवं, विण्णेआ एत्थ चोअगो आह ।

पव्वज्जऽणंतरम्मी, णिअमा एम त्ति कीस पुढो ? ।५१३।

मुण्डनाऽप्येव विज्ञेया प्रव्राजनावदत्र। चोदक आह-किमाह ?- प्रव्रज्याऽनन्तरमेव नियमादेव मुण्डनेति कृत्वा किमिति पृथगुपात्तेति गाथार्थः ।

अत्र " पुढो " द्वारम्-

गुरुराहेह ण णिअमो, पव्वइअस्स वि इमस्स पडिसेहो ।

अज्जोगस्साइसई, पलिच्चगादी विहेइ जओ ।।५१४।।

गुरुराह-इह न नियमो यदुत प्रव्रज्याऽनन्तरमेवेयम्, कुतः ?, प्रव्रजितस्याप्यस्या प्रतिषेधो मुण्डनाया अयोग्यस्य, प्रकृत्येहातिशयैः पुनः प्रतिभग्नादेर्विधत्ते, यतो मुण्डना न स्वतः पृथगिति गाथार्थः ।

मनसाऽऽपन्नस्यापीत्यादि-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

आवण्णस्स मणेण वि, अइआरं निअमओ अ सुहुमं पि ।

पच्छित्तं चउ गुरुगा, सव्वजहण्णं तु णेअव्वं ।। ५१५ ।।

आपन्नस्य प्राप्तस्य मनसाऽप्यतिचारं नियमत एव सूक्ष्ममपि प्रायश्चित्तमस्य भगवतश्चतुर्गुरवः सर्वजघन्य मन्तव्यमिति गाथार्थः ।

जम्हा उत्तरकप्पो, एसोऽजत्तद्धमाइसरिसो उ ।

एगग्गयापहाणो, तब्भंगे गुरुअरो दोसो ।। ५१६ ।।

यस्मादुत्तरकल्प एव जिनकल्पोऽमत्तार्थादिसदृशो वर्तत एकाग्रताप्रधानोऽप्रमादी, यतस्तद्भङ्गे गुरुतरो दोषो, विषयगुरुत्वादिति गाथार्थः ।

कारण-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

कारणमालंबणमो, तं पुण नाणाइअं सुपरिसुद्धं ।

एअस्स तं न विज्जइ, उचिअतप्पसाहणा पायं ।।५१७।।

कारणमालम्बनमुच्यते, तत्पुनर्ज्ञानादि सुपरिशुद्ध सर्वत्र ज्ञेयम् । एतस्य तन्न विद्यते जिनकल्पिकस्य, उचितान्तःप्रसाधनात् प्रायः अन्योन्यमनन्तसिद्धेरिति गाथार्थः ।

सव्वत्थ निरवइक्खो, आढत्तं चिअ दढं समाणिंतो ।

वट्टइ एस महप्पा, किलिट्ठकम्मक्खयणिमित्तं ।।५१८।।

सर्वत्र निरपेक्षः सन् प्रारब्धमेव दृढं समापयन् वर्तते, एप महात्मा जिनकल्पिकः क्लिष्टकर्मक्षयनिमित्तमिति गाथार्थः ।

निष्प्रतिकर्म-द्वारमधिकृत्याऽऽह—

निप्पडिकम्मसरीरो, अच्छिमलाई वि णावणेइ स य ।

पाणंतिए वि अ तहा, वसणम्मि ण वट्टई बीए ।।५१९।।

निष्प्रतिकर्मशरीरः एकान्तेन अक्षिमलाद्यपि नापनयति । स च प्राणान्तिकेऽपि च तथा अत्यन्तरौद्रे व्यसने न वर्तते द्वितीय इति गाथार्थः ।

अप्पबहुत्तालोअण-विसयाईओ उ होइ एसो चि ।

अहवा सुभभावाओ, बहुअं पेअं चिअ इमस्स ।। ५२० ।।

अल्पबहुत्वालोचनविषयातीतस्तु भवत्येव जिनकल्पिक इति । अथवा शुभभावात्कारणात्, बहुकर्मण्येतदेवास्य तत्त्वत इति गाथार्थ ।

चरम-द्वारमधिकृत्याऽऽह-

तइआएँ पोरिसीए, भिक्खाकालो विहारकालो अ ।

सेसासु उ उस्सग्गो, पायं अप्पा य णिद्द चि ।।५२१।।

तृतीयायां पौरुष्यां भिक्षाकालो, विहारकालश्चास्य नियोगतः, शेषासु तु कायोत्सर्गः प्रायोऽल्पा च निद्रा पौरुषीष्विति गाथार्थः ।

जंघाबलम्मि खीणे, अविहरमाणो वि णवर णावज्जे ।

तत्थेव अहाकप्पं, कुणइ अ जोगं महाभागो ।। ५२२ ।।

जङ्घाबले क्षीणे सत्यविहरन्नपि नवरं नापद्यते दोषमिति । तत्रैव यथाकल्प क्षेत्रे करोति योग्य महाभागः स्वकल्पस्य., इति गाथार्थः ।

एसेव गमो णियमा, सुद्धे परिहारिए अहालंदे ।

नाणत्त उ जिणेहिं, पडिवज्जइ गच्छ गच्छे वा ।।५२३।।

एष एव गमोऽनन्तरोदितो भावनादिर्नियमाच्छुद्धे परिहारिके यथालन्दे च, नानात्व तु जिनेभ्य शुद्धपरिहारिकाणामिदं प्रतिपद्यते गच्छस्ततप्रथमतया नवकसमुदाय., गच्छे वा एकनिर्गमादपर इति गाथार्थः ।

तवभावणाणाणत्तं, करिंति आयंबिलेण परिकम्मं ।

इत्तरिअ थेरकप्पे, जिणकप्पे आवकहिआ उ ।।५२४।।

तपोभावनानानात्वं चैषामिदं कुर्वन्त्याचामाम्लेन परिकर्म सर्वमेव। एते च इत्वरा',यावत्कथिकाश्च भवन्ति। ये कल्पसमाप्तौ गच्छमागच्छन्ति ते इत्वराः। ये तु जिनकल्प प्रतिपद्यन्ते ते यावत्कथिका इति। एतदाह-इत्वरा' स्थविरकल्पा इति भूय. स्थविरकल्पे भवन्ति । जिनकल्पे यावत्कथिकास्तु भवन्तीति गाथार्थः ।

एतत्संभवमाह—

पुण्णे जिणकप्पं वा, अइंति तं चेव वा पुणो कप्पं ।

गच्छं वा इंति पुणो, तिणि वि ठाणा सिमविरुद्धा ।५२५।

पूर्णे शुद्धपरिहारे, जिनकल्प वाऽतिगच्छन्ति, तमेव वा पुन. कल्प शुद्धपरिहार गच्छ वा गच्छन्ति । पुनरनेन प्रकारेण त्रीण्यपि स्थानान्यमीषां शुद्धपरिहारिकाणामविरुद्धानीति गाथार्थ. ।

इत्तिरआणुवसग्गा, आयंका वेयणा य ण जवंति ।

आवकहिआण जइआ, तहेव उग्गामभागा उ ।।५२६।।

इत्वराणां शुद्धपरिहारिकाणामुपसर्गा आतङ्का वेदनाश्च न भवन्ति, तत्कल्पप्रभावाज्जीतमेतत् । यावत्कथिकाना भाज्या उपसर्गादय, जिनकल्पप्रतिपत्ता सम्भवात् । तथैव पद्ग्रामभागास्त्वमीषां यथा जिनकल्पिकानामिति गाथार्थ. ।

एतेषामेव स्थितिमभिधातुमाह-

खित्ते कालेँ चरित्ते, तित्थे परियाएँ आगमे वेए ।

कप्पे लिंगे लेसा-झाणे गणणा अभिगहा य ।।५२७।।

पव्वावण-मुंडावण-मणसावण्णे वि से अणुग्घाया ।

कारण-णिप्पडिकम्मा, भत्त पंथो अ तइआए ।।५२८।।

अस्य गाथाद्वयस्यापि समुदायार्थ पूर्वं (गाथा ४८३-४८४)वत्

अवयवार्थं त्वाह-

खित्ते भरहेरवए, होंती साहरणवजिआ णिअमा ।

एत्तो चिअ विधेअं,जमित्थ काले वि णाणत्तं ।।५२९।।

क्षेत्रे भरतैरवतयोर्भवन्ति शुद्धपरिहारिकाः संहरणवर्जिता नियमादियमेषां स्थितिः । अत एव भरतैरवतभावाद्विदेहेषु मध्यम-काले ऽपि नानात्वं, प्रतिभागाद्यभावादिति गाथार्थः ।

चारित्रस्थितिमभिधातुमाह-

तुल्ला जहण्णठाणा, संजमठाणाण पढमबिइआणं ।
तत्तो असंखलोगा-णं तु परिहारिअट्ठाणा ॥ ५३० ॥

तुल्यानि जघन्यस्थानानि स्वसंख्यया संयमस्थानयोः प्रथमद्वितीययोः सामायिकच्छेदोपस्थाप्याऽभिधानयोः । ततो जघन्येभ्यः संयमस्थानेभ्य, असंख्यानां लोकानां स्वाकाशप्रदेशस्थान वृद्ध्या परिहारिकस्थानानि भवन्ति, संयममधिकृत्येति गाथार्थः ।

ताणवि असंखलोगा, अविरुद्धा चेव पढमबीआणं ।
उवरिं पि तओऽसंखा, संजमठाणा उ दोण्हं पि ॥ ५३१ ॥

तान्यपि परिहारिकसंयमस्थानानि असंख्येया लोका इति प्रदेशस्थानवृद्धौ तावन्तीत्यर्थः । तानि चाविरुद्धान्येव प्रथमद्वितीययोरिति, शुद्धिविशेषात् सामायिकच्छेदोपस्थाप्यसंयमस्थानानीति भावः । उपर्यपि तत परिहारिकसंयमस्थानेभ्यः, असंख्येयानि शुद्धिविशेषतः संयमस्थानानि, द्वयोरपि सामायिकच्छेदोपस्थाप्ययोरिति गाथार्थः ।

सट्ठाणे पडिवत्ती, अन्नेसु वि होज्ज पुव्वपडिवन्नो ।
तेसु वि वट्टंतो सो-ऽतीअणयं पप्प वुच्चइ उ ॥ ५३२ ॥

स्वस्थान इति नियोगतः स्वस्थानेषु प्रतिपत्तिः कल्पस्य । अन्येष्वपि संयमस्थानेष्वधिकतरेषु भवेत् पूर्वप्रतिपन्नो व्यवसायविशेषात् तेष्वपि वर्तमानः संयमस्थानान्तरेऽपि स परिहारविशुद्धिक इत्यतीतनयं प्राप्योच्यते एव । निश्चयतस्तु न, संयमस्थानान्तराध्यासनादिति गाथार्थः ।

ठिअकप्पम्मी णिअमा, एमेव च नवइ दुविधलिंगे वि ।
लेसा-झाणा दोन्नि वि, हवंति जिणकप्पतुल्लाओ ॥ ५३३ ॥

स्थितकल्पे च नियमादेते भवन्ति, नास्थितकल्पे, एवमेव च भवन्ति द्विविधलिङ्गेऽपि नियमादेव, लेश्याध्याने द्वे अपि भवतः । अमीषां जिनकल्पतुल्य एव प्रतिपद्यमानादिभेदेनेति गाथार्थः ।

गणओ तिण्णेव गणा, जहन्न पडिवत्ति सयसमुक्कोसा ।
उक्कोसजहण्णेणं, सयसो च्चिय पुव्वपडिवन्ना ॥ ५३४ ॥

गणतो गणमाश्रित्य त्रय एव गणाः, एतेषां जघन्या प्रतिपत्तिर्नियमादावेव शतश उत्कृष्टा प्रतिपत्तिरादावेव । तथा-उत्कृष्टजघन्येन-उत्कृष्टतो, जघन्यतश्च शतश एव पूर्वप्रतिपन्नाः । नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदमधिकमिति गाथार्थः ।

सत्तावीस जहन्ना, सहस्स उक्कोसओ अ पडिवत्ती ।
सयसो सहस्ससो वा, पडिवन्न जहन्न उक्कोसा ॥ ५३५ ॥

सप्तविंशतिर्जघन्याः पुरुषाः सहस्राण्युत्कृष्टतश्च प्रतिपत्तिरेतावतामेकदा शतशः सहस्रशश्च यथासंख्यं प्रतिपन्ना इति पूर्वप्रतिपन्ना जघन्या उत्कृष्टाश्चैतावन्त इति गाथार्थः ।

पडिवज्जमाण भइणा, इक्को वी हुज्ज ऊणपक्खेवे ।
पुव्वपडिवण्णया वि उ, भइया एगो पुहत्तं वा ॥ ५३६ ॥

प्रतिपद्यमानका नाऽपि विकल्पनीयाः । कथमित्याह-एकोऽपि प्रक्षेपणप्रक्षेपे प्रतिपद्यमानका पूर्वप्रतिपन्नका अपि तु भाज्याः,प्रक्षेपपक्ष एव कथमित्याह-एकः पृथक्त्वं वा यदा भूयांसः कल्पान्तरं प्रतिपद्यन्ते भूयांस एव चैषामिति गाथार्थः ।

एअं खलु णाणत्तं, एत्थं परिहारिआण जिणकप्पा ।
अहलंदिआण एत्तो, णाणत्तमिणं पवक्खामि ॥ ५३७ ॥

एतत् खलु नानात्वमत्र यन्निदर्शितं परिहारिकाणां जिनकल्पात् सकाशाच्छेषं तुल्यमेव यथालन्दिकानाम्, अत ऊर्ध्वं नानात्वमिदं वक्ष्यमाणलक्षणं प्रवक्ष्यामि जिनकल्प इति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वार । (शेषा वक्तव्यता ' अहालंद ' शब्दे प्रथमभागे ८६७ पृष्ठे द्रष्टव्या)

कयमित्थपसंगेणं, एसो अब्भुज्जओ इह विहारो ।
संलेहणासमो खलु, सुविसुद्धो होइ णायव्वो ॥ ५५३ ॥

कृतमत्र प्रसङ्गेन विस्तरेण, एषोऽभ्युद्यतो विहारः, इह प्रवचने संलेखनासमः खलु पश्चादासेवनात्सुविशुद्धो भवति ज्ञातव्यो यथोदितः । इति गाथार्थः ।

पाएण चरमकाले, जमेस भणिओ सयाणमणवज्जो ।
भयणाएँ अन्नया पुण, गुरुकज्जाईहिँ पडिबद्धा ॥ ५५४ ॥

प्रायेण चरमकाले यदेवैष भणितः, सूत्रे सतामनवद्यः, भजनयाऽन्यदा पुनः स्याद्वा, न वा, गुरुकार्यादिभिः प्रतिबन्धादिति गाथार्थः ।

केई भणंति एसो, गुरुसंजमजोगओ पहाणो त्ति ।
थेरविहाराओ वि हु, अच्चंतं अप्पमायाओ ॥ ५५५ ॥

केचन भणन्त्येषोऽभ्युद्यतविहारः, गुरुसंयमयोगतः कारणात् प्रधान इति, स्थविरविहारादपि सकाशादत्यन्तमप्रमादहेतोरिति गाथार्थः ।

अन्ने परत्थविरहा, नेवं एसो अ इह पहाणो त्ति ।
एअस्स वि तब्भावे, पडिवत्तिणिसेहओ चेव ॥ ५५६ ॥

अन्ये परार्थविरहात् कारणान्नैवमिति भणन्ति । एष च परार्थ इह प्रधानः परलोक इति । एतस्याऽप्यभ्युद्यतविहारस्य तद्भावे परार्थभावे प्रतिपत्तिनिषेधतश्चैव, नैव भणन्ति । इति गाथार्थः ।

एतदेवाऽऽह-

अब्भुज्जयमेगयरं, पडिवज्जिउकाम सो वि पव्वावे ।
गणिगुणसलद्धिओ खलु, एमेव अलद्धिजुत्तो वि ॥ ५५७ ॥

अभ्युद्यतमेकतरं विहारं मरणं वा प्रतिपत्तुकामः सन्नसावपि प्रव्राजयत्युपस्थितम्,अन्यथा तत्प्रव्रज्याभावे गणिगुणस्वलब्धिकः खलु तत्पालनासमर्थो न सामान्येन तच्छून्यः, स्नेहात्प्रव्रजति सति का वार्ता ?, इत्याह-एवमेवान्यथा तत्प्रव्रज्याभावेऽलब्धियुक्तोऽप्यभ्युद्यतप्रतिपत्तिमात्रेण गुरुनिश्रया प्रव्रजतीति गाथार्थः ।

एव पहाणो एसो, एगंतेणेव आगमा सिद्धो ।
जुत्तीए वि अ नेओ, सपरुवगारो महं जम्हा ॥ ५५८ ॥

एवं प्रधानः एषोऽभ्युद्यतविहारात् एकान्तेनैवाऽऽगमात् सिद्ध इति युक्त्याऽपि च ज्ञेयः प्रधानः, स्वपरोपकारो महान् यस्मादिति गाथार्थः ।

ण य एत्तो उवगारो, अन्नो णिव्वाण-साहणं परमं ।

जं चरणं साहिज्जइ, कस्सइ सुहभावजोएणं ॥५५९॥

न चातः उपकारोऽन्यः प्रधानतरः, निर्वाणसाधनं परमं चरणं साध्यते कस्यचित् प्राणिनः शुभभावयोगेन हेतुना इति न लब्ध्याद्यपेक्षया । इति गाथार्थः ।

अच्चंतिअसुहहेऊ, एअं अन्नेसि णिअमओ चेव ।

परिणमइ अप्पणो वि हु, कीरंतं हंदि एमेव ॥ ५६० ॥

आत्यन्तिकसुखहेतुरेतच्चरणमन्येषां भव्यप्राणिनां नियमेनैव परिणमति, आत्मनोऽपि क्रियमाणमन्येषां हन्त्येवमेवाऽऽत्यन्तिकसुखसंबन्धेनेति गाथार्थः ।

गुरुसंजमजोगो वि हु, विसेओ सपरसंजमो जत्थ ।

सम्मं पवट्टमाणो, थेरविहारे अ सो होइ ॥ ५६१ ॥

गुरुः संयमयोगोऽपि विज्ञेयः । क इह ?, स्वपरसंयमः, यत्र संयमे, सम्यक् प्रवर्त्तमानः सन् सन्ततया स्थविरविहारे चाऽसौ भवति स्वपरसंयमः, इति गाथार्थः ।

अच्चंतमप्पमाओ, वि भावओ एस होइ णायव्वो ।

जं सुहभावेण सया, सम्मं अन्नेसि तक्करणं ॥५६२॥

अत्यन्ताप्रमादोऽपि, भावतः परमार्थेन, एष भवति ज्ञातव्य एवंरूपः-यच्छुभभावेन सदा सर्वकालं, सम्यगन्येषां तत्करणं शुभभावकरणमिति गाथार्थः ।

जइ एवं कीस मुणी, थेरविहारं विहाय गीया वि ।

पडिवज्जंति इमं न तु, कालोचिअमणसणसमाणं ॥५६३॥

यद्येवं, किमिति मुनयः स्थविरविहारं विहाय गीतार्था अपि सन्तः प्रतिपद्यन्त एनं जिनकल्पम्, न तु कालोचितमनशनसमानं, तदाऽन्याभावादिति गाथार्थः ।

तक्काले उचिअस्सा, आणाआराहणा पहाणेस ।

इहरा उ आयहाणी, निप्फलमचिक्खया णेआ ॥५६४॥

तत्काल एवोचितस्य पुंस, आज्ञाऽऽराधनाद्धेतोः प्रधान एष जिनकल्पः । इतरथा स्वात्महानिः स्वकाले तदप्रतिपत्तौ निष्फलशक्तिक्षयात् कारणाद् ज्ञेयेति गाथार्थः ।

अहवाऽऽणाभंगाओ, एसो अहिगगुणसाहणसहस्स ।

हीणकरणेण आणा, सत्तीए सया वि जइअव्वं ॥५६५॥

अथवाऽऽज्ञाभङ्गादात्महानिः, एष चाऽऽज्ञाभङ्गः, अधिकगुणसाधनसमर्थस्य सतः हीनकरणेन हेतुनाऽऽज्ञा, एव यदुत शक्त्या सदाऽपि यतितव्यं, न तत्क्षयः कार्य इति गाथार्थः ।

एत्तो अ इमं एवं, जं दसपुव्वीण सुच्चई सुत्ते ।

एअस्स पडिसेहो, तयभावा अहिगगुणभावा ॥५६६॥

इतश्चैतदेव स्वपरसंयमः श्रेयान्, यदपि दशपूर्विणां साधूनां श्रूयते सूत्रे आगमे, एतस्य कल्पस्य प्रतिषेधः, तस्यान्यथा परोपकारद्वारेणाधिकगुणभावात् कारणादिति गाथार्थः ।

एवं तत्तं नाउं, विसेसओ एव सत्तिरहिएहिं ।

सपरोवआरविसए, जत्तो कज्जो जहासत्ति ॥५६७॥

एवं तत्त्वं ज्ञात्वा विशेषत एव शक्तिरहितैः शक्तिशून्यैः स्वपरोपकारे यत्नः कार्यो यथाशक्ति, अप्रमत्तैः, महन्निर्जराऽङ्गमिति गाथार्थः ।

सव्वं थेरविहारं, मोत्तुं अन्नत्थ होइ गुरुओ उ ।

एत्तो च्चिअ पडिसिद्धे, अज्जाओऽसमत्तकप्पो य ॥५६८॥

सर्वं स्थविरविहारं मुक्त्वा, स्वपरोपकारोऽन्यत्र भवति गुरुक एव, नागुरुः । अत एव प्रतिषिद्धमुत्रऽऽज्ञातोऽसमाप्तकल्पश्चेति गाथार्थः ।

एतत्स्मरणमाह-

अज्जाओ गीआणं, असमत्तो पणगसत्तगा हिट्ठा ।

उउवासेसु दो वि भणिओ,जहक्कमं वीअरागेहिं ॥५६९॥

आर्यागीतार्थानां कल्पोऽसमाप्तः पञ्चकात्सप्तकाद् वाऽधः ऋतुवर्षयोर्द्वयोरपि भणितो यथाक्रमं वीतरागैरिति गाथार्थः ।

पडिसिद्धवज्जगाणं, थेरविहारो अ होइ गुरुओ त्ति ।

इहरा आणाभंगो, संसारपवड्ढणा णियमा ॥ ५७० ॥

प्रतिषिद्धवर्जकानां साधूनां स्थविरविहारश्च भवति गुरुः इति । इतरथा प्रतिषिद्धावर्जने आज्ञाभङ्गः संसारप्रवर्द्धनो नियमादिति गाथार्थः ।

कयमित्थ पसंगेणं, सविसयणिअया पहाणया एवं ।

दट्ठव्वा बुद्धिमया, दोण्ह अ अब्भुज्जयविहारो ॥५७१॥

कृतमत्र प्रसङ्गेन विस्तरेण, स्वविषयनियतैवमुक्तन्यायात् प्रधानता एव द्रष्टव्या बुद्धिमता द्वयोरपि । गतश्चाभ्युद्यतविहार उक्तः । इति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वार । पं० भा० । पं० चू० ।

(२६) (जिनकल्पिक-स्थविरकल्पिक-भेदभिन्नानां परस्परं प्रतिविशेषः ' अहालंद ' शब्दे प्रथमभागे ८६८ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

(२७) (२८) (गच्छो जिनकल्पश्च द्वावप्येतौ महर्द्धिकाविति ' गच्छ ' शब्दे तृतीयभागे ८०२ पृष्ठे द्रष्टव्यौ)

(२९) जिनकल्पिको द्विविधः-अच्छिद्रपाणि-श्छिद्रपाणिश्च । तत्राच्छिद्रपाणेः शक्त्यनुरूपाभिग्रहविशेषाद् द्विविधमुपकरणम् । तद्यथा-रजोहरणं, मुखवस्त्रिका च । कस्यचित् त्वक्त्राणार्थं क्षौमपटपरिग्रहात्त्रिविधम् । अपरस्योदकबिन्दुपरितापादिरक्षणार्थमौर्णिकपटपरिग्रहात् चतुर्द्धा । तथा-असहिष्णुतरस्य द्वितीयक्षौमपटपरिग्रहात् पञ्चधेति ॥ छिद्रपाणेस्तु जिनकल्पिकस्य सप्तविधपात्रनिर्योगसमन्वितस्य रजोहरणमुखवस्त्रिकाऽऽदिग्रहणक्रमेण यथायोगं नवविधो दशविध एकादशविधो द्वादशविधश्चोपधिर्भवति । पात्रनिर्योगश्च (प्रवचनसारोद्धारे)-" पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया । पडलाइँ रयत्ताणं, च गोच्छओ पायणिज्जोगो ॥ ४६८ ॥ " आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

(३०)(३१) (जिनकल्पिकानामुपकरणम् 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०६० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

(३२) को वै न मन्यते तीर्थङ्करैरभिहितो जिनकल्प इति ? केवलं यादृशानां पुरुषाणां येन विधिना तैरभिहितो जिनकल्पस्तदेतदाकर्णय । किं पुनस्तत् ?, इत्याह—

उत्तमधिइसंघयणा, पुव्वविदोऽतिसइणो सयाकालं ।

जिणकप्पिया वि कप्पं, कयपरिकम्मा पवज्जंति ॥२५९१॥

तं जइ जिणवयणाओ, पवज्जसि पवज्जतो सछिन्नो त्ति ।

अत्थि त्ति कह पमाणं, कह वुच्छिन्नो त्ति न पमाणं ॥२५९२॥

उत्तमधृतिसंहननाः पूर्ववेदिनो, जघन्यतोऽपि किञ्चिन्न्यून-

नवपूर्वेण ऊना इत्यर्थः। सर्वदैव निरुपमशक्त्याद्यतिशयसम्पन्ना जिनकल्पिका अपि "तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य । तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ " ॥ १ ॥ इत्यादि पूर्वोक्तविधिना कृतपरिकर्माण एव जिनकल्पं प्रतिपद्यन्ते, नान्यथा, इति न रथ्यापुरुषकल्पाना प्रवादेशा जिनकल्पस्तीर्थकरैरनुज्ञात इति । ततस्तस्माद् यदि जिनवचनादर्हदुपदेशाज्जिनकल्पं प्रतिपद्यसे त्वं, ततस्तर्हि 'स जिनकल्पो व्यवच्छिन्नः' इतीदमपि प्रतिपद्यस्व । अथैतन्न प्रतिपद्यसे, तर्हि जिनकल्पोऽस्तीति कथं तीर्थङ्करवचनं तव प्रमाणम् ?, कथं च व्यवच्छिन्नोऽसौ इति न प्रमाणम् ? । नन्वाग्रहपिशाचिकाग्रस्तचेष्टितमिदं, स्वेच्छामात्रप्रवृत्तत्वादिति ॥ २५९१ ॥ २५९२ ॥

अथ जिनकल्पास्तित्वमागमे प्रतीतं, तद्व्यवच्छेदस्तु केन वचनेन तीर्थङ्करैरुक्तः ?, इति चेदित्याह-

मण-परमोहि-पुलाए, आहारग-खवग-उवसमे कप्पे ।
संजमतिय-केवलि सि-ज्झणा य जंबुम्मि वुच्छिन्ना ॥२५९३॥

मनःपर्यायज्ञान, परमावधि , पुलाकलब्धि , आहारकशरीर, क्षपकश्रेणिः, उपशमश्रेणिः, जिनकल्पः, परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्पराय-यथाख्यातलक्षणं संयमत्रिकं, केवली, मोक्षगमनलक्षणा सिद्धिश्चेति सर्वेऽप्येते पदार्थाः जम्बूस्वामिनि व्यवच्छिन्नाः-जम्बूस्वामिनं यावत्प्रवृत्ता , न तूत्तरत्र इति ॥२५९३॥ विशे० । आ० म० । जम्बूस्वामिनि व्यवच्छिन्नोऽसौ, संहननाद्यभावात् सांप्रतं न शक्यत एव कर्तुम् । विशे० ।

जिणकप्पट्ठिइ-जिनकल्पस्थिति-स्त्री० । जिनाः गच्छनिर्गतसाधुविशेषाः, तेषां साधुविशेषाणां कल्पस्थितिर्जिनकल्पस्थिति । स्था० ३ ठा० ४ उ० । कल्पस्थितिभेदे, बृ० ६ उ० । सा चैवम्-जिनकल्पं हि प्रतिपद्यते जघन्येनापि नवमपूर्वस्य तृतीयवस्तुनि सति उत्कृष्टतस्तु दशसु भिन्नेषु प्रथमे संहनने दिव्याद्युपसर्गरोगवेदनाश्चासौ सहते, एकाक्येव भवति, दशगुणोपेतस्थण्डिल एवोच्चारादि,जीर्णवस्त्राणि च त्यजति । सर्वोपधिविशुद्धा अस्य भिक्षाचर्या तृतीयपौरुष्यां पिण्डैषणोत्तरा, सा पञ्चानामेकतरैव, विहारो मासकल्पेन, तस्यामेव वीथ्यां षष्ठदिने भिक्षाऽटनमिति,एवं प्रकारा चेयम् 'सुयसंघयण' इत्यादिकाद् (बृहत्कल्प) गाथासमूहात् कल्पोक्ताद्वगन्तव्येति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अथ जिनकल्पस्थितिमाह-

णिज्जुत्तिमासकप्पे-सु वणितो जो गमो उ जिणकप्पे ।
सुयसंघयणादीओ, सो चेव गमो णिरवसेसो ॥४०६॥

निर्युक्तिः पञ्चकल्पं , तस्यां च मासकल्प , प्रकृते च यो गमो जिनकल्पे जिनकल्पविषयः श्रुतसंहननादिको वर्णितः, स एव गमो निरवशेषोऽवगन्तव्य ।

स्थानाशून्यार्थं पुनरिदमुच्यते-

गच्छम्मि य णिम्मीता, धीरा जाहे य मुणियपरमत्था ।
अग्गहजोग अभिग्गहे, उवेंति जिणकप्पियचरित्तं ॥४०७॥

यदा गच्छे, प्रव्रज्या शिष्यपदानुक्रमेण निर्मिता निष्पन्ना, तदा धीरा औत्पत्तिक्यादिबुद्धिमन्तः, परीषहोपसर्गैरक्षोभ्या वा, मुणितपरमार्थाः-अभ्युद्यतविहारेण विहर्तुमवसर सांप्रतमस्माकमित्येवमवगततत्त्वाः ,तथा-वयोः पिण्डैषणयोरसंसृष्टसंसृष्टयोरग्रह ,ते परिहर्तव्ये, वास्तुपरित्यज्य पञ्चैषणास्तासामभिग्रह एता एव गृहीतव्याः इत्येवरूप , तत्राप्येकदैकतरस्या योगो व्यापारः परिभोग इत्यर्थः । एवं भावितमतयो यदा भवन्ति, तदा जिनकल्पिकचारित्रमुपयान्ति प्रतिपद्यन्ते ।

धितिबलिया तवसूरा, णिंति य गच्छाउ ते पुरिससीहा ।
बलवीरियसंघयणा, उवसग्गसहा अभीरू य ॥४०८॥

धृतिर्वज्रकुड्यवदक्षोभ्य चित्तप्रणिधान, तया, बलिका बलवन्तः,तथा तपश्चतुर्थादिक षण्मासिकान्तं तत्र शूराः समर्थाः, एवंविधा पुरुषसिंहाः, ते गच्छान्निर्गच्छन्ति । बलं शारीरं,वीर्यं जीवप्रभवं, तद्धेतु संहननम् अस्थिनिचयात्मक येषां ते तथा। बलवीर्यग्रहणं च चतुर्भङ्गीज्ञापनार्थम्।सा चेयम्-धृतिमान्नामैको, न संहननवान्।संहननवान्नामैको न धृतिमान्।संहननवान् धृतिमांश्च ! न संहननवान् न धृतिमान् । तत्र तृतीयभङ्गेनाधिकारः । उपसर्गा दिव्यादय , तेषां सहाः सम्यगध्यासितारः,तथा-अभीरवः परीषहेभ्यो न बिभ्यति । गता जिनकल्पस्थितिः। बृ०६ उ० । जिनकल्पिकः कथं मोक्षं न याति?,कर्मणो बाहुल्याद्-यद्वा किमपि कारणम्,तस्य क्षपकश्रेण्युपशमश्रेण्योर्मध्ये काऽपि भवति, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-जिनकल्पिकस्तस्मिन् भवे मोक्षं न याति, तथाकल्पत्वात्। किं चोपशमश्रेणिं तु कश्चित्प्रतिपद्यते, न तु क्षपकश्रेणिम्, पञ्चवस्तुके तथाऽभिधानादिति । १६२ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

जिणकप्पपडिमा-जिनकल्पप्रतिमा-स्त्री० । प्रतिमाभेदे, " सो य जिणकप्पपडिमं करेइ " आ० म० द्वि० ।

जिणकप्पिय-जिनकल्पिक-पुं० । जिनाना कल्प आचारो जिनकल्प , स विद्यते येषां ते । "अत इनिठनौ" । ५ । २ । ११५ । इति (पाणिनीयवचनात्) ठन् । प्रव० ६० द्वार । जिना गच्छनिर्गतसाधुविशेषाः, तेषां कल्पः समाचार ,तेन चरन्तीति जिनकल्पिकाः। प्रव० ६३ द्वार । जिनानामिव कल्पो जिनकल्प अभिविहारविशेषः,तेन चरन्तीति जिनकल्पिका । ध० ३ अधि० । अभ्युद्यतविहारिणि,पं० व० ४ द्वार। (एतस्याशेषवक्तव्यताऽनुपदमेव 'जिणकप्प' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४६३ पृष्ठे निरूपिता)

जिणकित्ति-जिनकीर्ति-पुं० । तपागच्छान्तर्गतसोमसुन्दरगणीन्द्रस्य स्वनामख्याते शिष्ये, ग० ३ अधि० । अयं च वैक्रमीये १४९४ वर्षे विद्यमान आसीत् । अनेन चम्पकश्रेष्ठिकथानक, धन्यशालिभद्रचरित्र, नमस्कारस्तवटीका, दानकल्पद्रुमः, श्रीपालगोपालकथा चेति ग्रन्था विरचिता । जै० इ० ।

जिणकिरिया-जिनक्रिया-स्त्री० । जिनप्रणीतायां क्रियायाम्, पं० व० ।

चोदक आह-जिनक्रियाया असाध्या नाम न सन्ति?,सत्यमित्याह-

जिणकिरियाएँ असज्झा, ण इत्थ लोगम्मि केइ विज्जंति ।
जे तप्पओगजोगा, तेऽसज्झा एस परमत्थो ॥ ४९ ॥

जिनाना सबन्धिनी क्रिया तत्प्रणेतृत्वेन जिनक्रिया, तस्या असाध्या अचिकित्स्याः, नात्र लोके प्राणिलोके, केचन प्राणिनो विद्यन्ते । किं तु-ये तत्प्रयोगायोग्या जिनक्रियाप्रयोगानुचितास्ते असाध्या कर्मव्याधिमाश्रित्य, एष परमार्थ -इदमत्र हृदयमिति गाथार्थः । पं० व० १ द्वार ।

जिणकुसलसूरि-जिनकुशलसूरि-पुं० । खरतरगच्छीये स्वनामख्याते आचार्ये, "भुवनपदानुक्रमतो-दुर्जातो जिनकुशलसूरि-

गुरु " अष्ट० ३२ अष्ट० । अनेन वैक्रमीये १३३७ वर्षे जन्म लब्ध्वा १३४७ वर्षे जिनचन्द्रसूरिणामन्तिके प्रव्रज्य १३७७ वर्षे सूरिपदं प्राप्य चैत्यवन्दनकुलकवृत्तिनामा ग्रन्थो विनिर्मितः, तरुणप्रभाचार्याय च सूरिपदं दत्तम्, तथा १३८७ वर्षे स्वर्यम-गमत् । जै० इ० ।

जिणकेसरि [ण्]-जिनकेशरिन्-पु० । जिनसिंहे, " एक्को-परि भमउ जए, विअड जिणकेसरी सलीलाए । कदप्पदुट्ठ-दाढो, मयणो विड्डारिओ जेण ॥३॥ " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

जिणक्खाय-जिनाख्यात-न० । जिनेन कथिते, जी०१ प्रति० । " दुवालसंगं जिणक्खायं " उत्त० १३ अ० । दर्श० ।

जिणगुण-जिनगुण-पु० । वीतरागत्वादिके तीर्थकरगुणे, "जि-णगुणविसय सरू-स्सवुङ्किजणग, अणुवहास" । जिनगुणविषय वीतरागत्वादितीर्थकरगुणगोचरम् । पञ्चा० ए विव० ।

जिनगुणसमुद्द-जिनगुणसमुद्र-पु० । गुणरत्नाधारभूते जिनरूपे समुद्रे, पञ्चा० । "पूया जिणगुणसमुद्देसु," जिनाश्च ते गुणा-नां गुणरत्नानामाधारत्वेन प्राचुर्येण च समुद्रा इव समुद्रा-श्चेति जिनगुणसमुद्रास्तेषु, पञ्चा० ४ विव० ।

जिणगोयमसीहआहरण-जिनगौतमसिंहाहरण-न० । जिन-गौतमसिंहदृष्टान्ते, जीवा० ।

> निच्छयओ पुण अप्पे, वि जस्स वत्थुम्मि जायए भावो ।
> तत्तो सो निज्जरओ, जिणगोयमसीहआहरण ॥

निश्चयतो निश्चयनयात्, पुनरल्पेऽपि हीनेऽपि न केवल बलिष्ठे, इत्यपिशब्दार्थः । वस्तुनि आचार्यादौ, यस्य जन्यस्य, वस्तुनि वक्तरूपे, जायते प्रादुर्भवति, भावः प्रशस्तान्तःकरण, ततः स इति भावनिर्जरक' कर्मह्रासकारको जिनगौतमसिंह आहरण दृष्टान्त इति गाथार्थः । भावार्थस्तु कथानकादवसेय । तच्चेद-म्-किल भगवता वीरेण गौतमस्वामी ग्राम गच्छन् एकदा भणितः । गौतम ! त्वया हालिको मार्गे गच्छता प्रव्राजनीय । तथेति प्रतिपद्य प्रणम्य च भगवन्त गतो गौतमो ग्रामे, दृष्टश्च गच्छता क्षेत्रनिकटवर्ती हालिक । ततो गौतमेन भणितम्-किं भो करोषि ?, निजकर्माऽऽवेदितम् । पुनरुवाच स-सांप्रत यच्च भणसि तदह भगवन् ! करोमि । गौतमेनोचे-धर्म कुरुष्वेति । तेन च प्रोत्फुल्लवदनकमलेन न्यगादि-एवमिति । ततः प्रव्राजित स', तत स्वकार्य विहाय भगवत' संमुखमागच्छंस्तस्य शि-क्षा दत्ता-एव चङ्क्रमितव्यम्, एवंविधश्चास्मदीयो भगवान् वीरो भवता प्रतिपत्तव्य इत्यादि । सर्व तेन प्रतिपन्नम् । यावद्-द्यापि भगवान् नासीद् दृष्टो, दृष्टे च तस्मिन् रजोहरण मुक्त्वा यद्यय ते गुरुस्ततो न किञ्चित्तव धर्मेण कार्यमिति भणित्वा च पलायितः । किल तस्य वासुदेवभवकृतपूर्ववैरात् पितृव्यसुत-जीवसिंहपातनरूपान् भगवन्त पश्यत' कर्मबन्धो, गौतम च पश्यत' तद्ध्रासः, गौतमश्च भगवदपेक्षया हीनश्छद्मस्था-तीर्थङ्करत्वादिहेतो', भगवांश्चोत्तम, तीर्थङ्करत्वादिहेतुभिरेव इति सिद्धम् । जीवा० ३० अधि० ।

जिणचंद-जिनचन्द्र-पु० । जिनरूपे कारुणिकनिशाकरे, " जि-णचंदेहिं दुद्दिट्ठाओ " जिनचन्द्रैः कारुणिकनिशाकरैः । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार । " तह जिणचंदागमाओ य " जिनचन्द्राग-माद्दर्हद्वचनात् । आ० । आव० ।

जिणचंदगणि-जिनचन्द्रगणिन्-पु० । उकेशगच्छीये कक्कसू-रिशिष्ये, एतमेव देवगुप्तसूरिकुलमण्डनसूरिनामन्या वदन्ति । वैक्रमीये १०७३ वर्षेऽयमासीत् । अनेनैव नवपदप्रकरण, तदु-परि टीका च विरचिता । जै० इ० ।

जिणचंदसूरि-जिनचन्द्रसूरि-पु० । खरतरगच्छीये जिनेश्वरा-चार्यशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, पञ्चा० १६ विव० । स्या० । " तच्छिष्या जिनचन्द्राख्या', सूरयो गुणभूरय । " अष्ट०३२ अष्ट० । अनेन संवेगरङ्गशाला नाम ग्रन्थो विरचितः । जिनद-त्तसूरिसंतानीये जिनमाणिक्यसूरिशिष्ये स्वनामख्याते आचा-र्ये च, प० व० ४ द्वार । " श्रीमज्जिनचन्द्राह्व, सूरिर्नवार्कदी-धितिप्रताप." । अष्ट० ३२ अष्ट० । अय च वैक्रमीये ११९७ वर्षे जात, १२०३ वर्षे दीक्षित, १२११ वर्षे आचार्यपदम्, १२२३ वर्षे स्वर्गतिं च लब्धवान् । तृतीयोऽप्येतन्नामा आम्रदेव-सूरिगुरु. नेमिचन्द्रसूरिशिष्यश्चाभवत् । चतुर्थश्च खरतरग-च्छीयः जिनप्रबोधसूरिशिष्य', तस्य वैक्रमीये १३२६ वर्षे जन्म, १३३२ वर्षे दीक्षा, १३४१ वर्षे सूरिपदप्राप्तिः । चतुर्षु राजसु जैनधर्ममरोपयत् । अस्मै कलिकालकेवलीति विरुदमामिलत्, १३७६ वर्षे स्वर्यमगमत् । पञ्चमोऽप्येतन्नामा खरतरग-च्छे १४६२ वर्षे वर्तमान आसीत् । यच्छिष्यो जिनसा-गरनामाऽऽसीत् । जै० इ० ।

जिणचिण्ण-जिनचीर्ण-त्रि० । जिनाऽऽचरिते, "अक्खोभो होइ जिणचिण्णो" जिना श्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानवन्तो, जिन-कल्पिकाश्च, तैश्चीर्ण आचरितो जिनाचीर्ण । पञ्चा०४ विव० ।

जिणजक्ख-जिनयक्ष-पु० । तीर्थकृता भक्तिदक्षे गोमुखादिके यक्षे, प्रव० ।

> जक्खा गोमुह महज-क्ख तिमुह ईसर सुतुंबुरू कुसुमो ।
> मायंगो विजयाजिय, बंभो मणुओ सुरकुमारो ॥३७५॥
> छम्मुह पयाल किंनर, गरुलो गंधव्व तह य जक्खिंदो ।
> कूबर वरुणो भिउडी, गोमेहो वामण मयंगो ॥३७६॥

यक्षा भक्तिदक्षास्तीर्थकृतामिमे । यथा-प्रथमजिनस्य(ऋषभस्य) गोमुखो यक्ष सुवर्णवर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो वरदाक्षमालिकायु-क्तदक्षिणपाणिद्वयो मातुलिङ्गपाशकान्वितवामपाणिद्वयश्च ।१। अजितनाथस्य महायक्षाभिधो यक्ष चतुर्मुख श्यामवर्ण करी-न्द्रवाहनोऽष्टपाणिर्वरदमुद्गराक्षसूत्रपाशकान्वितदक्षिणपाणि-चतुष्टयो बीजपूरकाभयाङ्कुशशक्तियुक्तवामपाणिचतुष्कश्च ।२। श्रीसंभवजिनस्य त्रिमुखो नाम यक्ष त्रिवदन त्रिनेत्र-श्यामवर्ण मयूरवाहन षड्भुजो नकुलगदाऽभययुक्तदक्षिणक-रकमलत्रयो मातुलिङ्गनागाक्षसूत्रवामपाणिपद्मत्रयश्च ॥ ३ ॥ श्रीअभिनन्दनस्य ईश्वरो यक्ष श्यामकान्तिर्गजवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरकमलद्वयो नकुलाङ्कुशान्वितवाम-पाणिद्वयश्च ।४। श्रीसुमतेस्तुम्बुरुर्यक्ष श्वेतवर्णो गरुडवाहनश्च-तुर्भुजो वरदशक्तियुक्तदक्षिणपाणिद्वयो गदानागपाशयुक्तवाम-पाणिद्वयश्च ।५। श्रीपद्मप्रभस्य कुसुमो यक्षो नीलवर्ण कुरङ्गवा-हनश्चतुर्भुज फलाभययुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलाक्षसूत्रयुक्त-वामपाणिद्वयश्च ॥ ६ ॥ सुपार्श्वस्य मातङ्गो यक्षो नील-

वर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो विद्रुमपाशयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलाङ्कुशयुक्तवामपाणिद्वयश्च ॥ ७ ॥ श्रीचन्द्रप्रभस्य विजयो यक्षो हरितवर्णः त्रिलोचनो हंसवाहनो द्विभुजः चक्रदक्षिणहस्तचक्रो वामहस्तधृतमुद्गरश्च ॥ ८ ॥ श्रीसुविधिजिनस्याजितो यक्षः श्वेतवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलकुन्तकलितवामपाणिद्वयश्च ॥ ९ ॥ श्रीशीतलस्य ब्रह्मा यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सितवर्णः पद्मासनोऽष्टभुजो मातुलिङ्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो नकुलगदाऽङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिचतुष्टयश्च ॥ १० ॥ श्रीश्रेयांसस्य मनुजो यक्षः (मतान्तरेण–ईश्वरः) धवलवर्णः त्रिनेत्रो वृषभवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गगदायुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च ॥ ११ ॥ श्रीवासुपूज्यस्य सुरकुमारो यक्षः श्वेतवर्णो हंसवाहनः चतुर्भुजो बीजपूरकबाणान्वितदक्षिणकरद्वयो नकुलकधनुर्युक्तवामपाणिद्वयश्च ॥ १२ ॥ श्रीविमलस्य षण्मुखो यक्षः श्वेतवर्णः शिखिवाहनो द्वादशभुजः फलचक्रबाणखड्गपाशाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिषट्कः, नकुलचक्रधनुःफलकाङ्कुशाभययुक्तवामपाणिषट्कश्च ॥ १३ ॥ श्रीअनन्तस्य पातालो यक्षस्त्रिमुखो रक्तवर्णो मकरवाहनः षड्भुजः पद्मखड्गपाशयुक्तदक्षिणपाणित्रयो नकुलफलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणित्रयश्च ॥ १४ ॥ श्रीधर्मस्य किंनरो यक्षस्त्रिमुखो रक्तवर्णः कूर्मवाहनः षड्भुजो बीजपूरकगदाऽभययुक्तदक्षिणपाणित्रयो नकुलपद्माक्षमालायुक्तवामपाणित्रयश्च ॥ १५ ॥ श्रीशान्तिनाथस्य गरुडो यक्षो वराहवाहनः क्रोडवदनः श्यामवर्णश्चतुर्भुजो बीजपूरकपद्मान्वितदक्षिणकरद्वयो नकुलाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च ॥ १६ ॥ श्रीकुन्थोर्गन्धर्वयक्षः श्यामवर्णो हंसवाहनश्चतुर्भुजो वरदपाशकान्वितदक्षिणपाणिद्वयो मातुलिङ्गाङ्कुशाधिष्ठितवामकरद्वयश्च ॥ १७ ॥ श्रीअरजिनस्य यक्षेन्द्रो यक्षः षण्मुखस्त्रिनेत्रः श्यामवर्णः शङ्खशिखिवाहनो द्वादशभुजो बीजपूरकबाणखड्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणकरषट्को नकुलधनुःफलकशूलाङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिषट्कश्च ॥ १८ ॥ श्रीमल्लिजिनस्य कूबरो यक्षश्चतुर्मुख इन्द्रायुधवर्णो गजवाहनोऽष्टभुजो वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो बीजपूरकशक्तिमुद्गराक्षसूत्रयुतवामपाणिचतुष्टयश्च (अन्ये कूबरस्थाने कुबेरमाहुः) ॥ १९ ॥ श्रीमुनिसुव्रतस्य वरुणो यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सितवर्णो वृषभवाहनो जटामुकुटभूषितोऽष्टभुजो बीजपूरकगदाबाणशक्तियुक्तदक्षिणकरकमलचतुष्को नकुलपद्मधनुःपरशुयुतवामपाणिचतुष्टयश्च । २० । श्रीनमिजिनस्य भृकुटिर्यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सुवर्णवर्णो वृषभवाहनोऽष्टभुजो बीजपूरकशक्तिमुद्गराभययुक्तदक्षिणकरचतुष्टयो नकुलपरशुवज्राक्षसूत्रयुक्तवामकरचतुष्टयश्च ॥२१॥ श्रीनेमिजिनस्य गोमेधो यक्षः त्रिमुखः श्यामकान्तिः पुरुषवाहनः षड्भुजो मातुलिङ्गपरशुचक्रान्वितदक्षिणकरत्रयो नकुलशूलशक्तियुक्तवामपाणित्रयश्च ॥ २२ ॥ श्रीपार्श्वजिनस्य वामनो यक्षो(मतान्तरेण पार्श्वनामा)गजमुखः उरगफणामण्डितशिराः श्यामवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो बीजपूरकोरगयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलभुजगयुक्तवामपाणियुगश्च ॥ २३ ॥ श्रीवीरजिनस्य मतङ्गो यक्षः श्यामवर्णो गजवाहनो द्विभुजो नकुलयुतदक्षिणभुजो वामकरधृतबीजपूरकश्चेति ॥२४॥ प्रव० २६ द्वार ।

जिणजत्ता–जिनयात्रा–स्त्री० । अर्हदुत्सवे रथयात्रायाम, पञ्चा० ७ विव० । ध० । (सा च 'अणुजाण' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे वर्णिता)

जिणणाम(ण)–जिननामन्–न० । नामकर्मभेदे, कर्म० ३ कर्म० ।

जिणदत्त–जिनदत्त–पुं० । स्वनामख्याते खरतरगच्छीये जिनवल्लभसूरिशिष्ये आचार्ये, "तच्छिष्यास्त्रयदेवार्याः,गच्छे खरतरेश्वराः" इति । तत्पट्टे जिनवल्लभसूरिजिनदत्तसूरयोऽभूवन्निति च । अष्ट० ३२ अष्ट० । प० व० । अयं च महाप्रभावक आसीत्, अम्बादेव्या युगप्रधानपदमस्मै दत्तम् । वैक्रमीये ११३२ वर्षेऽयं च जातः, सोमचन्द्र इति गृहिपर्यायेऽस्य नामाऽऽसीत्, वैक्रमीये ११४१ वर्षेऽयं दीक्षितः, तत्समयेऽस्य प्रबोधचन्द्रगणीति नामाऽऽसीत् । ११६९ वर्षेऽयं चित्रकूटे (चित्तोड इति प्रसिद्धे) देवभद्राचार्यदत्तं सूरिपदमवाप, संदेहदोलावलीप्रभृतीननेकान् ग्रन्थानरचयत् । वैक्रमीये १२११ वर्षे अजयमेरु (अजमेर) नगरेऽयं स्वरगमत् ॥ द्वितीयोऽप्येतन्नामा वायडगच्छीयराशिलसूरिशिष्यजीवदेवसूरेः शिष्यो वैक्रमीये १२६५ वर्षे विद्यमान आसीत्, येन विवेकविलासशकुनशास्त्रादय अनेके ग्रन्था निर्मिताः, परकायप्रवेशविद्यामयमजानत् , १२७७ वर्षे च निर्गते वस्तुपालसङ्घेऽप्ययमासीत्, अस्य शिष्योऽमरचन्द्रसूरिर्महाकविरासीत् । जै० इ० । "सयलगुणरयणरोहण-गिरीहिँ जिणदत्तसूरीहिं ।" सकलगुणरत्नरोहणगिरिभिर्निखिलगुणमाणिक्यरोहणशैलैर्जिनदत्तसूरिभिरेतन्नामकैः सद्गृहवासिभिरिति यावत् । जीवा० ३० अधि० । श्राव० । वसन्तपुरस्थे स्वनामख्याते श्रावके, आ० क० । "वसंतपुरे नगरे जियसत्तू राया, जिणदत्तो सेट्ठी" आव० ४ अ० । आ० चू० । (तत्कथा चक्षुरिन्द्रियोदाहरणे 'चक्खिदिय'-शब्दे तृतीयभागे ११०५ पृष्ठे 'काउस्सग्ग' शब्दे ४२७ पृष्ठे च प्ररूपिता) संकुलग्रामवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके, पिं० । (तत्कथा 'आधाकम्म' शब्दे द्वितीयभागे २३३ पृष्ठे निरूपिते) श्रावस्तीवास्तव्ये श्रावके, त० । पाटलिपुत्रनगरस्थे स्वनामख्याते श्रावके, आ० म० द्वि० । (तत्कथा 'लोभ' शब्दे वक्ष्यते) वैशालीनगरीवास्तव्ये जीर्णश्रेष्ठ्यपरनामधेये स्वनामख्याते श्रावके, ध० र० । स्वनामख्याते श्राद्धे, यस्य पत्नी ईश्वरी श्राविका । कल्प० ८ क्षण । स्वनामख्याते श्रावके, यस्य पत्नी फल्गुश्रीः, "जिणदत्त-फग्गुसिरी नाम सावगमिहुणं ।" महा० ५ अ० ।

जिणदत्तपुत्त–जिनदत्तपुत्र–पुं० । चम्पानगरीवास्तव्ये सार्थवाहदारके, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० (एतत्कथा 'अंड' शब्दे प्रथमभागे ५१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

जिणदव्व–जिनद्रव्य–न० । जिनसम्बन्धिनि द्रव्ये, दर्श० १ तत्त्व । ('चेइयदव्व' शब्दे तृतीयभागे १२०३ पृष्ठे दृश्या । उदाहरणम् 'देवदव्व' शब्दे वक्ष्यते)

जिणदास–जिनदास–पुं० । मथुरावास्तव्ये श्रावकविशेषे, यस्य भार्या साधुदासी । "सिट्ठी जिणदासो तस्स साहुदासी पिया तस्स ।" (७) ध० र० । (अस्य 'सुत्तकाल' शब्दे कथा वक्ष्यते) राजगृहनगरस्थे ऋषभदत्ताऽऽत्मजे श्रेष्ठिनि, "सिट्ठी य उसभदत्तो, तस्स सुओ भुयणविस्सुओ पढमो । बीओ उण जिणदासो, आवासो जूयवसणस्स " ॥ २ ॥ ध० र० (अस्य कथा 'बालकीला' शब्दे वक्ष्यते) पाटलिपुत्रवास्तव्ये श्रावके, आ० चू० ६ अ० । मथुरावास्तव्य श्रावके,

यस्य भार्या जिनदासी । " जिनदासो वणिक् तत्र, श्रावकः परमाऽऽर्हतः। जिनदासी प्रिया तस्य, प्रियकरणदर्शना ॥ १ ॥ " आ० क०। ती० । आ० म० । (तत्कथा 'कंबल' शब्दे तृतीयभागे १७९ पृष्ठे द्रष्टव्या) राजपुरस्थे श्रावके च। पु० । " रायपुरे नयरे एगो कुलपुत्तगजातीओ, तस्स जिणदासो मित्तो " आव० ६ अ० । (अस्य कथा ' पच्चक्खाण ' शब्दे वक्ष्यते)

जिणदासगणिमहत्तर–जिनदासगणिमहत्तर–पु० । निशीथचूर्णिकारके आचार्ये, "गुरुदिण्ण य गणित्त, महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं। तेण कएसा चुण्णी, विसेसनामा णिसीहस्स ॥ १ ॥" नि० चू० २० उ० । एनेन महात्मना अनुयोगद्वारबृहत्कल्पाऽऽवश्यकादिष्वपि चूर्ण्यो रचिताः । जै० इ० ।

जिणदिट्ठ–जिनदृष्ट–त्रि० । तीर्थकराभिमते, अनु० ।

जिणदेव–जिनदेव–पु०। भरुकच्छस्थे आचार्ये, "भरुकच्छे जिणदेवो"। "आचार्यो जिनदेवोऽभू-दत्रैव भृगुपत्तने।" आ०क०। (तत्कथा 'पणिहि' शब्दे वक्ष्यते)। द्वारवतीवास्तव्ये अर्हन्मित्रश्रेष्ठिनः पुत्रे, "द्वारवत्यां महापुर्या-मर्हन्मित्रो वणिग्वरः। अनुद्धरी प्रिया तस्य,जिनदेवस्तु तत्सुतः॥१॥" आ० क० । ('अत्तदोसोवसहार' शब्दे प्रथमभागे ५०२ पृष्ठे कथाऽस्य निरूपिता)। कौशाम्बीनगरवास्तव्ये क्षेमदेवाऽऽत्मजे स्वनामख्याते श्रावके,ध० र०। (तत्कथा 'वभसेण' शब्दे वक्ष्यते) साकेतनगरवास्तव्ये श्रावके, " साएए सत्तुंजयो राया, जिणदेवो सावओ ।" आ० चू० ४ अ०। (तत्कथा 'पच्चक्खाण' शब्दे वक्ष्यते) चम्पानगरीवास्तव्ये श्रावके, "नयरी य चपनामा,जिणदेवो सत्थवाह अहिछत्ता।" आ० चू० ४ अ० । (तत्कथा ' सगपरिण्णा ' शब्दे वक्ष्यते)

जिणदेसिय–जिनदेशित–त्रि० । जिनेन कथिते, दर्श० ४ तत्त्व। जिना इह हितप्रवृत्तगोत्रविशुद्धोपायाभिमुखापायविमुखाद्यः परिगृह्यन्ते, तथा मूलटीकाकृता व्याख्यानात्, जिनेभ्यो हितप्रवृत्ताऽऽदिरूपेभ्य. शुश्रूषाऽऽदिभिर्व्यक्तभावेभ्यो देशित कथित गणधरैरपि जिनदेशितम् । तथा जम्बूस्वामिप्रभृतय एवविधा' एवेति निरूपणीयमेतत् । अथ प्रकृतिसुन्दरमिति कस्माद्जिनेभ्योऽपि नोपदिश्यते ?। उच्यते—तेषां स्वतोऽसुन्दरत्वेन अनर्थोपनिपातसंभवात् । दृष्ट च पात्रासुन्दरतया स्वतः सुन्दरमपि दधिकराऽऽद्युलूकादीनामनर्थाय। आह च-"पर्वजियव्व धीरेण,हियं जं जस्स सव्वहा । आहारो वि हु मच्छस्स, न पसत्थो गले सुची "॥ १ ॥ जी० १ प्रति० । " धम्मो य जिणदेसिओ " जिनदेशितः केवलिना भाषितः। स० । उत्त० ।

जिणधम्म–जिनधर्म–पु० । भरतवर्षस्थपद्मिनीखण्डनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके, ती० १० कल्प । जिनसंबन्धिनि धर्मे, " अणुत्तर धम्ममिण जिणाणं । " अनुत्तरं धर्मे जिनानामृषभादितीर्थकृतां संबन्धिनम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ध० । सं० । प्रा० । "वत्थुपयालणसूरो, अइसयरयणाणसायरो जयइ । सव्वजयजीवबधुर-बधू दुविहो वि जिणधम्मो ॥ १ ॥ " दर्पा० ५ ठा० २ उ० ।

जिणपडिमा–जिनप्रतिमा–स्त्री० । जिनबिम्बे, "जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्ध।" (१ गाथा) दश० ४ चू० । जिनप्रतिमा सद्भावस्थापनारूपेति । रा० । दश० । जी० । प्रति० । नयो० । पो० । सा० । पञ्चा० । (' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२०५ पृष्ठे सर्वा वक्तव्यतोक्ता)

भारते वर्षे चतुरशीतिर्जिनप्रतिमाः, ताश्चेमाः-
" पर्युपास्य परमेष्ठिपञ्चकं,कीर्तयामि कृतपापनिग्रहम् ।
तन्त्रवेदिविदित चतुर्युता-शीतितीर्थजिननामसङ्ग्रहम ॥ १ ॥"
तथाहि-

श्रीशत्रुञ्जये भवनदीपः श्रीवीरस्वामिप्रतिष्ठितः श्रीआदिनाथः । श्रीमूलनायकः पाण्डवस्थापितो नन्दिवर्धनो युगादिनाथः । श्रीशान्तिप्रतिष्ठित. पुण्डरीकः श्रीकलश., द्वितीयस्तु श्रीवीरस्वामिप्रतिष्ठितः पूर्णकलशः । सुभाकुण्डे श्रीजीवितस्वामी श्रीशान्तिनाथः मरुदेवास्वामिनीप्रथमसिद्ध । श्रीउज्जयन्ते पुण्यकलशमदनमूर्तिः श्रीनेमिनाथः । काञ्चनबलानके अमृतनिधिः श्रीअरिष्टनेमिः । पापामते अतीतचतुर्विंशतिमध्यात् अष्टौ पुण्यनिधयः श्रीमक्षेमीश्वरादयः । काशहृदे त्रिभुवनमङ्गलकलशः श्रीआदिनाथः । सोपारके जीवन्तस्वामी श्रीऋषभदेवप्रतिमा । नगरमहास्थाने श्रीभरतेश्वरकारितः श्रीयुगादिदेवः । दक्षिणापथे श्रीगोमटदेवः श्रीबाहुबलिः। उत्तरापथे कलिङ्गदेशे गोमटः श्रीऋषभः। सङ्कारगढे श्रीचम्पसेनपूजितो मेदिनीमुकुटः श्रीआदिनाथः । महानगर्यामुद्दण्डविहारे श्रीआदिनाथः । तक्षशिलायां बाहुबलिविनिर्मित धर्मचक्रम् । मोक्षतीर्थे श्रीआदिनाथपादुके । कोलपाकपत्तने माणिक्यदेवः श्रीऋषभो मन्दोदरीदेवताऽवसरः । गङ्गायमुनयोर्वेणीसङ्गमे श्रीआदिकमण्डलुम् । श्रीअयोध्यायां श्रीअजितस्वामी । चन्द्रेर्याम् अजितः । तारणे विश्वकोटिशिलायां श्रीअजितः । अङ्गदिकायां श्रीअजितस्वामिशान्तिदेवताद्वय श्रीब्रह्मेन्द्रदेवताऽवसर.। श्रावस्त्यां श्रीसभवदेवो जाङ्गुलीविद्याऽधिपतिः। सेगमतीग्रामे श्रीअभिनन्दनदेव , नर्मदा तत्पादेभ्यो निर्गता। क्रौञ्चद्वीपे सिंहलद्वीपे हंसद्वीपे श्रीसुमतिनाथदेवपादुका.। आम्बुरिग्रामे श्रीमतिदेवः। माहेन्द्रपर्वते कौशाम्ब्यां च श्रीपद्मप्रभ' । मथुरायां महालक्ष्मीनिर्मित' श्रीसुपार्श्वस्तूप. । श्रीदशपुरनगरे श्रीसुपार्श्वं सीतादेवीदेवताऽवसरः । प्रभासे शशिभूषणः श्रीचन्द्रप्रभश्चन्द्रकान्तमणिमय' श्रीज्वालामालिनीदेवताऽवसरः । श्रीगौतमस्वामिप्रतिष्ठितो वलभ्यागतः श्रीनन्दिवर्धनकारितः श्रीचन्द्रप्रभः। नासिक्यपुरे श्रीजीवितस्वामी त्रिभुवनतिलक श्रीचन्द्रप्रभः । चन्द्रावत्यां मन्दिरमुकुटः श्रीचन्द्रप्रभः। वाराणस्यां विश्वेश्वरमध्ये श्रीचन्द्रप्रभः। कोयाद्वारे श्रीसुविधिनाथ' । प्रयागतीर्थे श्रीशीतलनाथः । विन्ध्याद्रौ, मलयगिरौ च श्रीश्रेयांस' । चम्पायां विश्वतिलकः श्रीवासुपूज्यः । काम्पिल्ये गङ्गामूले, सिंहपुरे च श्रीविमलनाथ.। मथुरायां यमुनापुरे समुद्रदेव.। समुद्र द्वारवत्यां शाकपाणिमध्ये श्रीअनन्तः । अयोध्यासमीपे रत्नवाहपुरे नागमहितः श्रीधर्मनाथः। किष्किन्धायां लङ्कायां त्रिकूटगिरौ श्रीशान्तिनाथः। गङ्गायमुनयोर्वेणीसङ्गमे श्रीकुन्थ्वरनाथौ। श्रीपर्वते मल्लिनाथः । भृगुपत्तनेऽनर्घ्यरत्नचूडः श्रीमुनिसुव्रतः। प्रतिष्ठानपुरे अयोध्यायां विन्ध्याचले माणिक्यदण्डके मुनिसुव्रत., अयोध्याया मोक्षतीर्थे नमिः। शौर्यपुरे शङ्खजिनालये पाटलिनगरे मथुरायां द्वारकाया सिंहपुरे स्तम्भतीर्थे पातालगङ्गाऽभिध' श्रीनेमिनाथ । अजागृहे नवनिधि' श्रीपार्श्वनाथ. । स्तम्भनके भवभयहरः।फलवर्द्धिकायां विश्वकल्पलताऽभिधः। करहेटके उपसर्गहरः। अहिच्छत्राया त्रिभुवनभानु. । कलिकुण्डे, नागहृदे च श्रीपार्श्वनाथ । कुक्कुटेश्वरे विश्वगज । माहेन्द्रपर्वते छायापार्श्वनाथः । ॐकारपर्वते सहस्रफणो

पार्श्वनाथ । वाराणस्यां दण्डखाते भव्यपुष्कराऽऽवर्तक' । महाकालान्तरे पातालचक्रवर्त्ती । मथुरायां कल्पद्रुम' । चम्पायामशोकः । मलयगिरौ श्रीपार्श्वः । श्रीपर्वत घण्टाकर्णो महावीरः । विन्ध्याद्रौ श्रीगुप्त' । हिमाचले छायापार्श्व मन्त्राधिराजः श्रीस्फुलिङ्ग' । श्रीपुर अन्तरिक्ष' श्रीपार्श्वनाथ । डाकिनीभीमेश्वरे श्रीपार्श्वनाथः । भायलस्वामिगढे दर्वाधिदेव । श्रीरामशयने प्रद्योनकारिश्रीवर्द्धमानः । मोटेरे चायमं नाणके पल्ल्यां मेशुरूके मुण्डस्थल श्रीमालपत्तने उपकेशपुरे कुण्ड-ग्रामे सत्पुरे दड्डायां गङ्गाहृदे सरःस्थाने वीतभये चम्पायाम् अपापायां पुण्ड्रपर्वते नन्दिवर्द्धनकोटिभूमौ वीर । वैभाराद्रौ राजगृहे कैलाशे श्रीरोहिणाद्रौ श्रीमहावीरः । अष्टापदे चतुर्विंशतिस्तीर्थंकराः । सम्मेतशैले विंशतिर्जिनाः । देमलराववे द्वासप्ततिजिनालया' कोटिसिद्धशिलासिद्धिक्षेत्रम ॥

" इति जैनप्रसिद्धानां, तीर्थानां नामपद्धतिः ।
सन्देहोऽत्र स्फुटीचक्र, श्रीजिनप्रभसूरिणा"॥१॥ ती० ४५ कल्प।

जिणपण्णत्त–जिनप्रज्ञप्त–त्रि० । तीर्थकरप्रणीते, " जिणपण्णत्त लिंग । " प० व० १ द्वार । जी० । जिनैर्हिंताऽऽदयनिवर्तकयोगिभिः प्रज्ञप्त तदन्यसत्त्वानुग्रहाय सूत्रत आचाराऽऽद्युपोपाङ्गादिभेदेन रचित जिनप्रज्ञप्तम् । उक्त च-' अत्थ भासइ अरिहा, सुत्त गथति गणहरा णिउण । सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तइ ॥१॥ " त्ति । जी० १ प्रति० ।

जिणपरियाय–जिनपर्याय–पु० । केवलिपर्याये, भ० २० श० ८ उ० । (तत्स्वरूप ' केवलि ' शब्द तृतीयभागे ६५२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

जिणपवयण–जिनप्रवचन–न० । जैनाऽऽगमे, (आ० म०) साम्प्रतमपि च केय जिनप्रवचनोत्पत्ति ?, कियदभिधान चेद जिनप्रवचन?, को वाऽस्याभिधानविभाग ?, इत्येतत् प्रासङ्गिकशेष शब्दद्वारसंग्रह चाभिधित्सुराह—

जिणपवयणउप्पत्ती, पवयणएगट्ठिया विभागो य ।
दारविही य नयविही, वक्खाणविही अणुओगा ॥१३५०॥

इह जिनप्रवचनोत्पत्ति , प्रवचनैकार्थिकानि, एकार्थिकविभागश्चेति त्रितयमपि प्रसङ्गशेष, द्वाराण्युद्देशनिर्देशादीनि, तेषां विधिः प्ररूपण द्वारविधि' , अयमुपोद्घातोऽभिधीयते । नयविधिस्तूपक्रमादीनां सूत्रानुयोगद्वाराणां चतुर्थमनुयोगद्वारम् । तथा व्याख्यानस्य विधिर्व्याख्यानविधिः-शिष्याऽऽचार्यपरीक्षाऽभिधानम् । अनुयोग' सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति', सूत्रानुगमश्चेति समुदायार्थ । आह च-चतुर्थमनुयोगद्वार नयविधिमभिधाय पुनस्तृतीयानुयोगद्वारावयवानुगमाभिधान किमर्थम ?। उच्यते-नयानुगमयोः सहचरभावप्रदर्शनार्थम् । तथाहि-नयानुगमौ प्रतिसूत्र युगपद् नुयायिन , नयमतशून्यस्यानुगमस्याभावात् । यदि युगपन्नयानुगमौ गच्छत , तर्हि तदुपन्यासोऽपि युगपदेवास्तु, किमर्थमनुयोगद्वारचतुष्टयोपन्यासे नयानामन्ते उपन्यास ?। उच्यते-युगपदुपन्यासस्याशक्यत्वात् । आह च मूलटीकाकृत-अनुयोगद्वारचतुष्टयोपन्यासे तु नयानामन्तेऽभिधान युगपदक्रमशक्यत्वादिति । अपरस्त्वाह-चतुरनुयोगद्वाराऽऽत्मक शास्त्र, ततश्चतुरनुयोगद्वारातिरिक्तस्य व्याख्यानविधेरुपन्यासो निरर्थक । तदयुक्तम् । अनुगमाङ्गतया निरर्थकत्वायोगात् । अनुगमाङ्गता च व्याख्याऽ-
ऽनुगमाङ्गतया निरर्थकत्वायोगात् । ... [illegible]

हिता, अर्हदुक्तत्वात्प्रवचनस्य । आह च-"सुयमिह जिणप्पवयण, तस्सुप्पत्ती पगनतोऽभिहिया" इति ॥१३५०॥ आ० म० प्र० ।

जिणपसत्थ–जिनप्रशस्त–त्रि० । जिनभाषित, " बहुसु गणेसु जिणपसत्थेसु " । जिनप्रशस्तेषु जिनज्ञापितेषु । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । जिनाना ... मिथ्याज्ञोपायाभिमुखापायविमुक्तहितप्रवृत्त्यादिभेदाना प्रशस्त निरुपम पथ्याचरत उचितसेवनया हित जिनप्रशस्तम् । जिनहिते च । जी० १ प्रति० ।

जिणपाडिहेरय–जिनप्रातिहार्य–न० । अतिशायपरमपूज्यत्वख्यापकालङ्कारविशेषे, दर्श० ।

तानि च-

कंकेल्लि कुसुमवुट्ठी, दिव्वज्झुणि-चामराऽऽसणाइं च ।
भावलय-भेरि-छत्तं, जयंति जिणपाडिहेराइं ॥८॥

जयन्ति शोभाऽऽत्मविमानमधः कुर्वते, कानि ?, कङ्केलि-प्रभृतीनि जिनप्रातिहार्याणीति सम्बन्धः । तत्र कङ्केल्लिर्दिनकरकरप्रसराचारकोऽशोकवृक्षः । एतन्मान च-"बत्तीस धणुहाइ, चेइयरुक्खो उ वद्धमाणस्स । सेसाण तु जिणाणं, ससरीरा बारस गुणाओ " ॥ १ ॥ १ । कुसुमवृष्टि'-सुरकरविमुक्ताधःस्थितवृन्तजानुदघ्नपञ्चवर्णसुगन्धिपुष्पवर्षम् २ । दिव्यध्वनिःसुरनरतिर्यग्जन्तुजातस्वस्वभाषापरिणामरमणीयः संख्याऽतीतपरिषत्प्राणिगुणपदनेकसंशयापहारचतुर' त्रैलोक्याकाय— धिकतरमाधुर्यधामयोजनगामी देशनानिनाद ३ । चामरे— त्रिभुवनैश्वर्यसूचके शरच्चन्द्रमरीचिनिचयगौरे प्रकीर्णके ४ । आसनममेयमहिमाऽऽविर्भावक, समुज्ज्वलपञ्चवर्णमणिकिरणकदम्बककर्बुरितदिगन्तर सिंहासनम् ५ । भावलय-निर्जितमार्तण्डमण्डल मौलिपृष्ठप्रतिष्ठित प्रभाजालम् ६ । भेरी-पुरतो व्योम्नि शब्दायमान प्रतिरवभरितभुवनोदरो दुन्दुभि ७ । छत्रम्-एकदेश समुदायोपचाराज्जगत्त्रयैकप्रभुत्वाविर्भावनचतुर पार्वणचन्द्रमण्डलनिभ ऽऽतपत्रत्रयम् ८ । इह कङ्केल्लित्यत्र प्राकृतत्वाद्विभक्तिलोप' । भावलयभेरीछत्रमित्यत्र समाहारद्वन्द्व । शेष सुगमम्, समस्तानामस्तनिर्देशश्च सम्भावुपोऽस्यात, एवमन्यत्रापि यथालक्षणमूह्यम । अतिशया-तर्गतत्वेऽपि चामीषां पृथगुपादानम्, प्रातिहार्येऽपि व्यपदेशान्तरेणाऽऽगमे रूढत्वादिति गाथार्थ ॥ ८ ॥ दर्श० १ तत्त्व ।

जिणपालिय–जिनपालित–पु० । चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते माकन्दिसार्थवाहपुत्रे, ज्ञा० ।

तत्कथा--

नवमस्स णं भंते ! णायज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेण के अट्ठे पण्णत्ते ? । एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं, तेणं समएणं चंपा नाम नयरी होत्था । तीसे णं चंपाए णयरीए कूणिए णामं राया होत्था । तत्थ णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं पुण्णभद्दे णाम चेइए होत्था । तत्थ णं मागंदी णामं सत्थवाहे परिवसति अड्ढे । तस्स णं भद्दा णाम भारिया । तीसे णं भद्दाए भारियाए अत्तया दुवे सत्थवाहदारया होत्था । तं जहा-जिणपालिए य, जिणरक्खिए य । तए णं तेसिं मागंदियदारगाणं अण्णया कयाइं एगओ सहियाणं इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था । एवं खलु अम्हे ल-

वणसमुद्दं पोयवहणेणं एक्कारस वाराओ ओगाढा; सव्वत्थ वि य णं लद्धट्ठा कयकज्जा अणहसमग्गा पुणरवि नियघरं हव्वमागया, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! दुवालसमं पि लवणसमुद्दं पोयवहणेणं ओगाहित्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेति । पडिसुणेत्तित्ता जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागच्छंति । उवागच्छंतित्ता एवं वयासी–एवं खलु अम्हे अम्मयाओ ! एक्कारस वारा तं चेव० जाव नियघरं हव्वमागया, तं इच्छामो णं अम्मयाओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणा दुवालसं लवणसमुद्दं पोयवहणेणं ओगाहित्तए । तते णं ते मागंदियदारए अम्मापिअरो एवं वयासी–इमे भो जाया ! अज्जगपज्जग० जाव परिभाएत्तए, तं अणुहोह ताव जाया ! विउलं माणुस्सए इड्ढीसक्कारसमुदए, किं भे सपच्चवाएणं णिरालंबणेणं लवणसमुद्दोत्तारेणं, एवं खलु पुत्ता ! दुवालसमी जत्ता सोवसग्गा यावि भवति, तम्हा णं तुब्भे दुवे पुत्ता दुवालसम्मि लवणसमुद्दं० जाव ओगाहेह मा हु तुब्भं सरीरस्स वावत्ती भविस्सइ । तते णं मागंदियदारगा अम्मापिअरो दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी–एवं खलु अम्हे अम्मताओ ! एक्कारस वारा लवणसमुद्दं० जाव ओगाहित्तए । तते णं ते मागंदियदारए अम्मापिअरो जाहे नो संचाएति बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य आघवित्तए वा, पण्णवित्तए वा, ताहे अकामयाए चेव एयमट्ठं अणुजाणित्ता, तते णं ते मागंदियदारया अम्मापिईहिं अब्भणुण्णाता समाणा गणिमं च धरिमं च मेज्जं च पारिच्छेज्जं च जहा अरहण्णगस्स० जाव लवणसमुद्दं च बहूहिं जोयणसयाइं ओगाढा । तते णं तेसिं मागंदियदारगाणं अणेगाति जोयणसयाति ओगाढाणं समणाणं उप्पातियसयाइं अणेगाइं पाउब्भूयाइं । तं जहा–अकाले गज्जियं, अकाले विज्जुयं० जाव थणियसद्दं कालियवाए० जाव तत्थ समुट्ठिए । तते णं सा णावा तेणं कालियवातेणं आहुणिज्जमाणी आहुणिज्जमाणी, संचालिज्जमाणी संचालिज्जमाणी, संखोभिज्जमाणी संखोभिज्जमाणी, सलिलतिक्खवेगेहिं अणिपट्टिज्जमाणी अणियट्टिज्जमाणी, कोट्टिमकरतला–हए विव तेंदुसए तत्थेव उवयमाणी उवयमाणी उप्पयमाणी विव धरणितलाओ सिद्धविज्जाहरकण्णगा उप्पयमाणी विव गगणतलाओ भट्ठविज्जाहरकण्णगा विप्पलायमाणी विव महागरुलवेगवित्तासिया भुयगवरकण्णगा धावमाणी विव महाजणरसियसद्दवित्था ठाणभट्ठा आसकिसोरी णिगुंजमाणी विव गुरुजणदिट्ठावराहसज्जणकुलकण्णगा घुम्ममाणी विव वीचीपहारसयतालिया गलियलंबणा विव गगणतलातो रोयमाणी विव सलिलगंठिविप्पइरमाणघोरंसुपाएहिं णववहू उवरयभत्तुया विलवमाणी विव परचक्करायाभिरोहिया परममहाभयाभिद्दुया महापुरवरी झायमाणी विव कवडच्छोमणपओगजुत्ता जोगपरिव्वाइया णिसंसमाणी विव महाकंतारविणिग्गयपरिसंता परिणयवया अम्मया सोयमाणी विव तवचरणखीणपरिभोगा चवणकाले देववरवहू संचुण्णियकट्ठकूवरा भग्गमेढिमोडियसहस्समाला सूलाइयवंकपरिमासा फलहंतरतडतडितफुट्टंतसंधिवियलंतलोहकीलिया सव्वंगवियंभिया परिसडियरज्जुविसरंतसव्वगत्ता आमगमल्लगभूया अकयपुण्णजणमणोरहो विव चिंतिज्जमाणी गुरुई हाहाकयकण्णधारणाविकवाणियगजणकम्मकारविलविया णाणाविहरयणपणियसंपुण्णा बहूहिं पुरिससएहिं रोयमाणेहिं कंदमाणेहिं सोयमाणेहिं तिप्पमाणेहिं विलवमाणेहिं एगं महं अंतो जलगयं गिरिसिहरमासाइत्ता संभग्गकूवतोरणा मोडियज्झयदंडा वलयसयखंडिया करकरस्स तत्थेव विद्दवं उवगता । तते णं ताए णावाए भिज्जमाणीए ते बहवे पुरिसा विपुलपणियभंडमायाए अंतो जलम्मि णिज्जाविया वि होत्था । तए णं ते मागंदियदारया छेया दक्खा पत्तट्ठा कुसला मेहावी निउणसिप्पोवगया बहुसु पोयवहणसंपराएसु कयकरणा लद्धा विजया अमूढा अमूढहत्था एगं महं फलगखंडं आसाएंति । जंसि च णं पदेसंसि से पोयवहणे विवण्णे, तंसि च णं पदेसंसि एगे महं रयणदीवे णामं दीवे होत्था । अणेगाइं जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अणेगाइं जोयणाइं परिक्खेवेणं णाणादुमसंडमंडिओ देसे सस्सिरीए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे, तस्स णं बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं महं एगे पासायवडिंसए यावि होत्था; अब्भुग्गयमूसिए० जाव सस्सिरीयरूवे पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे । तत्थ णं पासायवडिंसए रयणदीवदेवया णाम देवया परिवसति; पावा चंडा रुद्दा खुद्दा साहसिया । तस्स णं पासायवडिंसयस्स चत्तारि चउद्दिसिं वणसंडा पण्णत्ता–किण्हा किण्होभासा । तते णं ते मागंदियदारया तेणं फलयखंडेणं उवुज्झमाणा उवुज्झमाणा रयणदीवं तेण संछूढा यावि होत्था । तते णं ते मागंदियदारया थाहं लहंति, लहइत्ता मुहुत्तंतरं आसासंति, फलगखंडं विसज्जेंति, विसज्जेत्तित्ता रयणदीवं उत्तरेंति, उत्तरेंतित्ता फलाणं मग्गणगवेसणं करेंति, फलाणि आहारेंति, आहारेंतित्ता णालिएराणं मग्गणगवेसणं करेंति, करेंतित्ता नालिएराति फोडेंति, नालिएरस्स तेल्लेणं अण्णमण्णस्स गत्ताइं अब्भंगेंति, पोक्खरिणिं ओगाहेंति, ओगाहेंतित्ता जलमज्जणं करेंति, करेंतित्ता० जाव पच्चुत्तरंति, पुढविसिलापट्टयंसि णिसीयंति, णिसीयंतित्ता आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया चंपाणयरं अम्मापिउघरं आपु–

च्छणं च लवणसमुद्दोत्तारं च कालियवायसमुत्थणं च पोयवहणविवत्तिं च फलहखंडस्स आसायणं च रयणदीवुत्तारं च अणुचिंतेमाणा अणुचिंतेमाणा ओहयमणसंकप्पा० जाव झियायंति । तते णं सा रयणदीवदेवया तं मागंदियदारगं ओहिणा आभोएइ, आभोएइत्ता असिफलगवग्गहत्था सन्नद्धबद्धा सत्तट्ठतालप्पमाणं उड्ढं वेहासं उप्पयइ, उप्पयइत्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव देवगतीए वीईवयमाणी वीईवयमाणी जेणेव मागंदियदारए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता आसुरुत्ता ते मागंदियदारए खरफरुसनिट्ठुरवयणेहिं एवं वयासी–हं भो मागंदियदारया ! जति णं तुब्भे मए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाति भुंजमाणा विहरह, तो भे अत्थि जीवियं, अह णं तुब्भे मए सद्धिं विउलाति नो विहरह, तो भे इमेणं नीलुप्पलगवलगुलिय० जाव खरधारेणं असिणा रत्तगंडमंसुयाइं माउयाइं उवसोहियाइं तालफलाणीव सीसाति एगंते एडेमि । तते णं ते मागंदियदारया रयणदीवदेवयाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म भीया संजायभया करयल० जाव एवं वयासी–जं णं देवाणुप्पिया ! वइस्सति तस्स आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठिस्सामो । तए णं सा रयणदीवदेवया ते मागंदियदारए गेण्हति, गेण्हतित्ता जेणेव पासायवडिंसए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता असुभपोग्गलावहारं करेति, सुभपोग्गलपक्खेवं करेति, ततो पच्छा तेहिं सद्धिं विउलाति भोगभोगाति भुंजमाणी विहरति, कल्लाकल्लिं च अमयफलाइं उवणेति । तए णं सा रयणदीवदेवया सक्कवयणसंदेसेणं सुट्ठिएणं लवणाहिवइणा लवणसमुद्दे तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टियव्वेइ, जं किंचि तत्थ तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा कयवरं वा असुइं पूइयं दुरभिगंधिमचोक्खं तं सव्वं आहुणिय तिसत्तखुत्तो एगंते एडेयव्वं ति कट्टु निउत्ता । तते णं सा रयणदीवदेवया ते मागंदियदारए एवं वयासी–एवं खलु अहं देवाणुप्पिया ! सक्कवयणेणं सुट्ठिय तं चेव जाव णिउत्ता तं० जाव अहं देवाणुप्पिया ! लवणसमुद्दे जाव एडेमि, ताव तुब्भे इहेव पासायवडिंसए सुहं सुहेणं अभिरममाणा चिट्ठह । जइ णं तुब्भे एयंसि अंतरंसि उव्विग्गा वा उस्सुया वा उप्पुया वा भवेज्जाह, ता णं तुब्भे पुरच्छिमिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह । तत्थ णं दो उऊ सया साहीणा । तं जहा–पाउसे य, वासारत्ते य । तत्थ कंदलसिलिंधदंतो णिउरवरपुप्फपीवरकरो कुडयज्जुणणीव सुरभिदाणो पाउसउऊ गयवरो साहीणो १। तत्थ य सुरगोपमणिविचित्ते दद्दुरकुलरसियउज्झरवो बरहिणविंदपरिणद्धसिहरो वासारत्तउऊ पव्वओ साहीणो २। तत्थ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! बहूसु वावीसु य० जाव सरपंतियासु य बहुसु आलियघरएसु य० जाव कुसुमघरएसु य सुहं सुहेणं अभिरममाणा अभिरममाणा विहरेज्जाह । जइ णं तुब्भे तत्थ उव्विग्गा वा उस्सुया वा उप्पुया वा भवेज्जाह, ता णं तुब्भे उत्तरिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह । तत्थ णं दो उऊ साहीणा । तं जहा–सरदो य, हेमंतो य । तत्थ उसणसत्तवण्णकउहो नीलुप्पलपउमनलिनसिंगो सारसचक्कवायरसियघोसो सरतो गोवई सया साहीणो १। तत्थ य सियकुंदधवलजोण्हो कुसुमियलोद्धवणसंडमंडलतलो तुसारदगधारपीवरकरो हेमंतउऊ ससी सया साहीणो २। तत्थ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! वावीसु य विहरेज्जाह । जइ णं तुब्भे तत्थ वि उव्विग्गा वा० जाव उस्सुया वा भवेज्जाह, ता णं तुब्भे अवरिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह । तत्थ णं दो उऊ साहीणा । तं जहा–वसंते य, गिम्हे य । तत्थ य सहकारचारुहारो किंसुयकणियारासोगमउडो ऊसियतिलगबउलायवत्तो वसंतउऊ नरवति साहीणो १। तत्थ य पाडलसिरीससलिलो मल्लियावासंतियधवलवेलो सीयलसुरभिअणिलमगरचरियगिम्हउऊ सागरो साहीणो २। तत्थ णं बहुसु० जाव विहरेज्जाह । जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! तत्थ वि उव्विग्गा उस्सुया भवेज्जाह, तओ तुम्हे जेणेव पासायवडिंसए तेणेव उवागच्छेज्जाह, ममं पडिवालेमाणा चिट्ठेज्जाह, मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! दक्खिणिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह । तत्थ णं महं एगे उग्गविसे चंडविसे महाघोरविसे महाविसे अइकाए महाकाए मसिमहिसमूसाकालए नयणविसरोसपुण्णे अंजणपुंजणियरप्पगासे रत्तच्छे जमलजुयलचंचलचलंतजीहे धरणियलवेणिभूए उक्कडफुडकुडिलजडुलकक्खडवियडफुडाडोवकरणदच्छे लोहागारधम्ममाणधमधमंतघोसे अणागलियचंडतिव्वरोसे समुहतुरियचवलं धमंते दिट्ठीविसे सप्पे परिवसति । मा णं तुब्भे सरीरगस्स वावत्ती भविस्सति । ते मागंदियदारए दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयति । वयइत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणति, ताए उक्किट्ठाए० जाव लवणसमुद्दं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टे पयत्ता यावि होत्था । तए णं ते मागंदियदारया तओ मुहुत्तंतरस्स पासायवडिंसए सइं वा रतिं वा धिइं वा अलभमाणा अण्णमण्णं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! रयणदीवदेवया अम्हे एवं वयासी–एवं खलु अहं सक्कवयणसंदेसेणं सुट्ठिएण लवणाहिवइणा० जाव वावत्ती भविस्सति, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! पुरच्छिमिल्लं वणसंडं गमित्तए अण्णमण्णस्स पडिसुणेंति, जेणेव पुरच्छिमिल्ले वणसंडे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छतित्ता तत्थ णं वा-

वीसु य० जाव आलिघरएसु य० जाव विहरंति । तते णं ते मागंदियदारगा तत्थ विसइं या० जाव अलजमाणा जेणेव उत्तरिल्ले वणसंडे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता तत्थ णं वावीसु य० जाव आलियघरएसु य० जाव विहरंति । तते णं ते मागंदियदारया तत्थ णं विसइं वा० जाव जेणेव पचच्छिमिल्ले वणसंडे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता० जाव विहरंति । तते णं ते मागंदियदारगा तत्थ विसर्ति या० जाव अलज्ज-माणा अएणमण्णं एवं वयासी-एवं खलु अम्हे देवाणुप्पिया! रयणदीवदेवया सक्कवयणसंदेसेणं सुट्ठिएणं लवणाहिवइणा ०जाव मा णं तुज्झे सरीरस्स वावत्ती भविस्सति, तं भ-वियव्वं । एत्थ कारणेणं त सेयं खलु अम्हं दक्खिणिल्लं वणसंडं गमित्तए त्ति कट्टु अएणमएणस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, जेणेव दक्खिणिल्ले वणसंडे तेणेव पहारेत्थगमणाए तओ णं गंधे णिद्धाए से जहाणामए अहिमडेति वा० जाव अणिट्ठ-तराए । तते णं ते मागंदियदारया तेणं असुभेणं गंधेणं अ-भिभूया समाणा सएहिं सएहिं उत्तरिज्जेहिं आसातिएहिं पीहेंति । पीहेंतित्ता जेणेव दक्खिणिल्ले वणसंडे तेणेव उवा-गया । तत्थ णं महं एगं आघतणं पासंति अट्ठियरासिसयसं-कुलं भीमदरिसणिज्जं, एगं च णं तत्थ सूलाइयं पुरिसं कलुणाति कट्ठाति विस्सराति कुव्वमाणं पासंति । पासंतित्ता भीया० जाव संजातभया जेणेव से सूलाइए पुरिसे तेणेव उवागच्छंति । उवागच्छंतित्ता त सूलाइतं पुरिसं एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया ! कस्साघयणे, तुमं च णं किं कओ वा इह हव्वमागते ?, केण वा इमेयारूवे आवइं पाविए ?। तते णं से सूलाइते पुरिसे मागंदियदारए एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया ! रयणदीवदेवया आघयणे, अहं णं देवाणु-प्पिया ! जंबुद्दीवातो दीवातो भारहाओ वासाओ कागं-दिअए आसवाणियए विउलं पणियभंडगमायाए पोयव-हणेणं लवणसमुद्दं उवागओ । तते णं अहं पोयवहणवि-वत्तीए निच्छूढभंडसारे एगं फलगखंडं आसाएमि । तते णं अहं उवुज्झमाणा उवुज्झमाणा रयणदीवं तेणं संवूढो । तते णं सा रयणदीवदेवया ममं ओहिणा पासति । पासतित्ता ममं गेण्हति, मए सद्धिं विउलाति भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरति । तते णं सा रयणदीवदेवया अएणया कयाइं अहा-लहुगंसि अवराहंसि परिकुविया समाणी ममं एयारूवं आवइं पावेति । तते णज्जति णं देवाणुप्पिया ! तुज्झं पि इ-मेसिं सरीरगाणं कामण्णे आवती य भविस्सति । तते णं ते मागंदियदारगा तस्स सूलाइयगस्स पुरिसस्स अंतिए एय-मट्ठं सोच्चा णिसम्म बलियतरं भीया० जाव संजातभया सूलाइतं पुरिसं एवं वयासी-कहं णं देवाणुप्पिया ! अम्हे रयणदीवदेवयाए हत्थाओ साहत्थिं णित्थरेज्जामो ?। तते णं से सूलाइए पुरिसे ते मागंदिअदारए एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया ! पुरच्छिमिल्ले वणसंडे सेलगस्स जक्खस्स जक्खायतणे सेलए णामं आसरूवधारी जक्खे परिवसति । तते णं से सेलए जक्खे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु आगयसमए पत्तसमए महया महया सद्देणं एवं वयासी-कं तारयामि ?, कं पालयामि ?। तं गच्छ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! पुरच्छिमिल्लं वणसंडं जेणेव सेलगस्स जक्खस्स महरिहं पुप्फच्चणियं करेह, जक्खपायवडिया पंजलिउडा विणएणं पज्जुवासमाणा चिट्ठह । जाहे णं से सेलए जक्खे आगयस-मए पत्तसमए एवं वएज्जा-कं तारयामि?, कं पालयामि ?। ताहे तुज्झे वदह-अम्हे तारयाहि, अम्हे पालयाहि, सेलए जक्खे पर रयणदीवदेवयाओ हत्थाओ साहत्थिं णित्थारेज्जा. अ-ण्णहा भे ण याणामि इमेसिं सरीरगाणं का मण्णे आवई भवि-स्सइ ?। तए णं ते मागंदियदारया तस्स सूलाइयस्स पुरिसस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म सिग्घ चंडं चवलं तुरियं चेइयं जेणेव पुरच्छिमिल्ले वणसंडे जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवा-गच्छइ । उवागच्छइत्ता पोक्खरिणिं ओगाहेइ । ओगाहेइत्ता जलमज्जणं करेइ । करेइत्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव गिण्हं-ति । गिण्हंतित्ता जेणेव सेलगस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता आलोइए पणामं करिंति, महरिहं पुप्फच्चणियं करिंति, जाणुपायवडिया सुस्सूसमाणा णमंसमाणा० जाव पज्जुवासंति । तए णं से सेलए जक्खे आगयसमए पत्तसमए एवं वयासी-क तारयामि ?, कं पाल-यामि ?। तए णं ते मागंदियदारया उट्ठाए उट्ठेइ, करयल०जाव कट्टु एव वयासी-अम्हे तारयाहि, अम्हे पालयाहि । तए णं से सेलए जक्खे ते मागंदियदारए एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! तुब्भे मए सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणाणं सा रयणदीवदेवया पावा चंडा रुद्दा खुद्दा साहसिया बहुहिं खरएहि य मउएहि य अणु-लोमेहि य पडिलोमेहि य सिंगारेहि य कलुणेहि य उव-सग्गेहि य उवसग्गं करेहिं ति । तं जइ णं तुब्भे देवाणुप्पि-या ! रयणदीवदेवयाए एयमट्ठं आढाह वा, परियाणह वा, अवयक्खह वा, तो भे अहं पिट्ठाओ विहुणामि, अह णं तुब्भे रयणदीवदेवयाए एयमट्ठं णो आढाह, णो परिजाणह, णो अवयक्खह, तो भे रयणदीवदेवयाहत्थातो साहत्थिं णित्थारेमि । तते णं ते मागंदियदारगा सेलग जक्खं एव व-यासी-जं णं देवाणुप्पिया ! वइस्सति तस्स णं उवायवयणणि-द्देसे चिट्ठिस्सामो । तते णं सेलगे जक्खे उत्तरपुरच्छिमं दिसि भागं अवक्कमइ । अवक्कमइत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समो-

हणइ। समोहणइत्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निस्सरइ,दो-वं पि तच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ। समोहणइत्ता एगं महं आसरूवं विउव्वइ। विउव्वइत्ता ते मागंदियदारए एवं वयासी-हं भो मागंदिया! आरुह णं देवाणुप्पिया! मम पिट्ठंसि। तते णं ते मागंदियदारया हट्ठतुट्ठा सेलगस्स ज-क्खस्स पणामं करेइ। करेइत्ता सेलगस्स पिट्ठिं दुरूढा। तए णं से सेलए जक्खे ते मागंदियदारए दुरूढे जाणित्ता स-त्तट्ठतालप्पमाणमेत्ता उड्ढं वेहासं उप्पयति। उप्पयइत्ता ताए उक्किट्ठाए तुरियाए दिव्वयाए दिव्वगइए लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव चंपा णयरी, तेणेव पहारेत्थगमणाए । तते णं सा रयणदीवदेवया लवणसमुद्दं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टति। जं तत्थ तणं वा पत्त वा०जाव एगंते पाडेति, जेणेव पासायव-डिंसए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता ते मागंदियदारया पासाअवडिंसए अपासमाणी अपासमाणी जेणेव पुरच्छि-मिल्ले वणसंडे० जाव सव्वतो समंता मग्गणगवेसणं करेति। करेइत्ता तए णं तेसिं मागंदियदारगाणं कत्थइ सुइं वा २ अलभमाणी अलभमाणी जेणेव उत्तरिल्ले वणसंडे, एवं चेव पच्छिमिल्ले वि० जाव अपासमाणी ओहिं पउं-जति। पउंजइत्ता ते मागंदियदारए सेलएणं सद्धिं लवणस मुद्दं मज्झं मज्झेणं वीतीवयमाणे पासति। पासइत्ता आसुरु-त्ता०जाव समणागया असिखेडगं गेण्हति। गेण्हनित्ता स-त्तट्ठतालप्पमाणमेत्ता० जाव उप्पयति । उप्पयइत्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव जेणेव मागंदियदारया तेणेव उवाग-च्छइ। उवागच्छतित्ता एवं वयासी-भो मागंदियदारगा! अप्पत्थियपत्थिया किं णं तुब्भे जाणह ममं विप्पजहाय सेलएणं जक्खेणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वी-तीवयमाणा तं एवमवि गए, जति णं तुब्भे ममं अ-वयक्खह तो भे अत्थि जीवियं,अह णं नो अवयक्खह तो भे इमेणं नीलुप्पलगवल० जाव सीसाइं पाडेमि। तते णं ते मागंदियदारया रयणदीवदेवयाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म अभीया अतत्था अणुव्विग्गा अक्खुभिआ असं-भंता रयणदीवदेवयाए एयमट्ठं नो आढंति, नो परियाणंति, णावयक्खंति,अणाढायमाणा अपरिअवयक्खमाणा सेल-एणं जक्खेणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीतीवयंति। तते णं सा रयणदीवदेवया ते मागंदियदारया जाहे नो संचाएति बहूहिं पडिलोमेहि य उवसग्गेहि य चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा,ताहे महुरेहि य सिंगारेहि य कलुणेहि य उवसग्गेहि य उवसग्गे उपयत्तया वि होत्था। हं भो मागंदियदारगा ! जइ णं तुब्भेहिं देवाणुप्पिया !

मए सद्धिं हसियाणि य रमियाणि य ललियाणि य कीलियाणि य हिंडियाणि य मोहियाणि य ताहे णं तुब्भे सव्वाति अगणेमाणा ममं विप्पजहाय सेलएण य सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीतीवयह। तत णं सा रयणदी-वदीवया जिणरक्खियस्स मणं ओहिणा आभोएति, आ-भोइत्ता एवं वयासी-निच्चं पि य णं अहं जिणपालियस्स अणिट्ठा, णिच्चं मम जिणपालिए अणिट्ठे, णिच्चं पि य णं मम जिणरक्खिए इट्ठे, णिच्च पि य णं अहं जिणर-क्खियस्स इट्ठा, णिच्चं पि य ण ममं जिणरक्खिए इट्ठे। जइ णं ममं जिणपालिए रोयमाणी कंदमाणी सोयमा-णी विलवमाणी० जाव णावयक्खति, किं णं तुम पि जिण-रक्खिया ममं रोयमाणिं० जाव णावयक्खसि । तते णं सा रयणदीवदेवया ओहिणा जिणरक्खियस्स मणं णाऊण वहणिमित्तं उवरिं मागंदिअदारगाणं दोण्हं पि१। दोसकलिया ललियं णाणाविहचुण्णवासमीसियं दिव्वं घाणमण-णिव्वुइकरं सव्वओ य सुरभिकुसुमवुट्ठिं पमुंचमाणी पमुंच-माणा।२। णाणामणिकणगरयणघंटियखिंखिणिनेउरमेहल-भूसणरवेणं दिसाओ विदिसाओ पूरयती वयणमिणं व-यति सा सकलुसा ३ । होला वसुला गोला नाहदइय-पियरमणकंतसामिनिग्घिणणिवकत्थिणच्छिण्णिक्किवाकयण्णुय-सिढिलभावनिल्लज्जलुक्खअकलुण जिणरक्खियमुग्घहियय-रक्खग ४ । ण हु जुज्जसि एक्किय अणाहं अबधवं तुज्झ चलणओवायकारियं उज्झिउमधण्ण गुणसंकरऽहं तुब्भे विहुणा ण समत्था जीवितुं खणं पि । ५ । इमस्स उ अणेगझसमगरविविहसावयसयाउलघरस्स रयणागरस्स मज्झे अप्पाणं वहेमि तुज्झ पुरओ,एहि,नियत्ताहि, जइ सि कुविओ खमाहि एक्कावराहं मे । ६ । तुज्झ य विगयघण-विमलससिमंडलागारसस्सिरीयं सारयणवकमलकुमुदकुव-लयविमलदलनिकरसरिसनिभनयणवयणं पिवासागयाए सद्धा से पेच्छिउ जे अवलोयइता इओ ममं नाह ! जा ते पेच्छामि वयणकमलं । ७ । एव सप्पणयसरलमहुराति पुणो पुणो कलुणाइं वयणाइं जंपमाणी सा पावा मग्गओ समण्णेइ पावहियया । ८ । तते णं से जिणरक्खिए च-लमाणे तेण य भूसणरवेणं कण्णसुहमणहरेण तेहि य सप्पणयसरलमहुरभणिएहिं संजायविउणराए रयणदी-वस्स देवयाए, तीसे सुंदरथणजहणवयणकरचरणणयण-लावण्णरूवजोव्वणलावण्णसिरिं च दिव्वं सरभसउवगूहियाइं विब्बोयविलसियाणि य विहसियसकडक्खदिट्ठिणिस्ससि-यमलियउवललियथियगमणपणयखिज्जियपासादीयाणि य सरमाणे रागमोहियमती अवसे कम्मवसगते अवयक्खति

मग्गतो मावलिय । तए णं जिणरक्खिया समुप्पराकलुणाभावं मच्चुगलत्यलणोल्लियमइं अवयक्खंतं तहेव जक्खे सेलए ओहिणा जाणिऊण सणिय सणियं उब्विहति । नियगपिट्ठाहि विगयमछे । ततो णं सा रयणदीवदेवया निसंसा कलुणं जिणरक्खियं सकलुसा सेलगपिट्ठाहि ववयंतं 'दास मओ सि' त्ति जपमाणी अप्पत्तं सागरसलिलं गिरिहय बाहाहिं आरसंतं उड्ढं उव्विहति, अंबरतले उवयमाणं च मंडलग्गेण पडिच्छित्ता नीलुप्पलगवलअयसीपगासेणं असिवरेणं खंडाखंडिं करेति तत्थ वि विलवमाणं । तस्स य सरसवहियस्स घेत्तूणं अंगमंगाति सरुहिराइं उक्खित्तबलिं चउद्दिसिं करेति सा पंजली पहट्ठा । एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं णिग्गंथाण वा अम्हं णिग्गंथीण वा अंतिए पव्वइए समाणे पुणरवि माणुस्सए कामभोगे आसायइ, पत्थयति, पीहेति, अभिलसति, से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं समणीणं सावगाणं साविगाणं० जाव संसारं अणुपरियट्टिस्सति । जहा वा से जिणरक्खिए–

" छलिओ अवयक्खंतो, निरावयक्खो गतो अविग्घेणं ॥
तम्हा पवयणसारे, निरावयक्खेणं भवियव्वं ॥ १ ॥
भोगे अवयक्खंता, पडंति संसारसागरे घोरे ।
भोगेहिं निरवयक्खा, तरंति संसारकंतारं ॥ २ ॥"

ततो णं सा रयणदीवदेवया जेणेव जिणपालिए तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता बहुहिं अणुलोमेहि य पडिलोमेहि य खरेहि य मउएहि य सिंगारेहि य कलुणेहि य उवसग्गेहि य जाहिं नो संचाएति चालित्तए वा खोभित्तए वा विप्परिणामित्तए वा, ताहे संता तंता परितंता निव्विण्णा समाणी जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ।

तते णं से सेलए जक्खे जिणपालिएणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं वीइवयइ, जेणेव चंपा णयरी तेणेव उवागच्छति । उवागच्छित्ता चंपाए णयरीए अग्गुज्जाणंसि जिणपालियं पिट्ठातो ओत्तारेति । ओत्तारेत्ता एवं वयासी–एस णं देवाणुप्पिया ! चंपा णयरी दीसइ त्ति कट्टु जिणपालियं आपुच्छति. आपुच्छित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । तते णं जिणपालिए चंपं अणुपविसति, जेणेव सए गिहे जेणेव अम्मापिअरो, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता अम्मापिऊणं रोयमाणे० जाव विलवमाणे जिणरक्खियवावत्तिं णिवेदेति । तते णं जिणपालिए अम्मापियरो मित्तणाति० जाव परिजणेणं सद्धिं रोयमाणाति बहूइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेति । करेइत्ता कालेणं विगयसोया जाता । तते णं जिणपालियं अन्नया कयाइ सुहासणवरगयं अम्मापिअरो एवं वयासी–कहं णं पुत्ता ! जिणरक्खिए कालगए ? । तते णं से जिणपालिए अम्मापिऊणं लवणसमुद्दोत्तारं च कालियवायसमुत्थणं च पोयवहणविवत्तिं च फलहखंडआसायणं च रयणदीवोत्तारणं च रयणदीवदेवयागिण्हणं च भोगपरिभूयं च सूलाइयपुरिसदरिसणं च सेलगजक्खआरुहणं च रयणदीवदेवयाउवसग्गं च जिणरक्खियस्स विवत्तिं च लवणसमुद्दउत्तरणं च चंपाऽऽगमणं च सेलगजक्खआपुच्छणं च जहाभूयमवितहमसंदिद्धं परिकहति । तते णं से जिणपालिए० जाव विपुलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे० जाव जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव समोसढे, परिसा णिग्गया, कूणियो वि राया णिग्गओ, जिणपालिए धम्मं सोच्चा पव्वइए इक्कारसंगविऊ मासिएणं भत्तेणं० जाव सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववण्णे, दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । ताओ णं० जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति । एवामेव समणाउसो !० जाव माणुस्सए कामभोगे नो पुणरवि आसाएति, से णं० जाव वीतिवइस्सति, जहा से जिणपालिए, एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं णवमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि ॥

" जह रयणदीवदेवी, तह इत्थं अविरई महापावा ॥
जह लाभत्थी वणिया, तह सुहकामा इहं जीवा ॥ ३ ॥
जह तेहिं भीएहिं, दिट्ठो आघायमंडले पुरिसो ॥
संसारदुक्खभीया, पावंति तहेव धम्मकहिं ॥ ३ ॥
जह तेण तेसि कहिया, देवी दुक्खाण कारणं घोरं ।
तत्तो चिय णित्थारो, सेलगजक्खाउ णण्णत्तो ॥ ३ ॥
इय धम्मकहा भव्वा–ण साहए दिट्ठअविरइसहावो ॥
सयलदुहहेउभूया, विसया विरइ त्ति जीवाणं ॥ ४ ॥
सत्ताण दुहत्ताणं, धम्मं सरणं जिणिंदपण्णत्तं ॥
आणंदरूवणिव्वा–णसाहणं तह य देसेइ ॥ ५ ॥
जह तेसिं तरियव्वो, रुद्दसमुद्दो तहेव संसारो ॥
जह तेसिं सगिहगमणं, निव्वाणगमो तहा इत्थ ॥ ६ ॥
जह सेलगस्स पिट्ठं, तेसिं भव्वाणं तह इहं चरणं ॥
जह देवीवामोहो, तत्तो चुओ पाविओ निहणं ॥ ७ ॥
तह अविरइए णडिओ, चरणचुओ दुक्खसावयाइण्णो ॥
णिवडइ अपारसंसा–रसायरे दारुणसरूवे ॥ ८ ॥
जह देवीए अखोहो, पत्तो सट्ठाणजीवियसुहाइं ॥
तह चरणट्ठिओ साहू, अक्खोहो जाइ णिव्वाणं " ॥ ९ ॥

ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

जिणपिया-जिनपिता-पुं० । नाभेयाऽऽदीनां पितरि, प्रव० । तन्नामानि चैवम्-

" नाभी जियसत्तुरिया, जियारी तह संवरो ।
मेहे घरे पइट्ठे अ, महसेण अ खत्तिए ॥ ३२४ ॥
सुग्गीवे दढरहे विण्हू, वसुपुज्जे य खत्तिए ।
कयवम्म सिंहसेण य, भाणू य विससेणओ ॥ ३२५ ॥
सूरे सुदंसणे कुंभे, सुमित्ते विजए समुद्दविजए अ ।
राया य अस्ससेणे, सिद्धत्थे वि य खत्तिए ॥ ३२६ ॥ " प्रव० ११ द्वार ।

जिणपुत्त-जिनपुत्र-पुं० । जिनशिष्ये, क्षणिकाः सर्वसंस्कारा विज्ञानमात्रमेवेद भो जिनपुत्रा' ! इति । सम्म० १ काण्ड ।

जिणपूयट्ठि[ण्]-जिनपूजार्थिन्-पुं० । जिनस्यैव पूजामर्थयते यः स जिनपूजार्थी । गोशालकादौ, जिनपूजार्थिता च त्रिंशत्तम मोहनीयस्थानमिति । स० ३० सम० ।

जिणपूया-जिनपूजा-स्त्री० । अर्हदर्चने, पञ्चा० ४ विव० । " कुसुम-ऽक्खय-धूवेहिं, दीवय-वासेहिं सुंदरफलेहिं । पूया नय-सालिसेहिं, अट्ठविहा तस्स कायव्वा ॥ २४ ॥ " दर्श० १ तत्त्व । प्रति० । पं० व० । भा० । द्वा० । जीवा० । (अस्य व्याख्या ' चेइय ' शब्देऽत्रैव भागे १२८४ पृष्ठे गता । तथाऽत्रत्या सर्वा वक्तव्यता ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२७७ पृष्ठे निर्दिष्टा)

जिणपूयाविग्घकर-जिनपूजाविघ्नकर-पुं० । जिनपूजानिषेधके सावद्यदोषोपेतत्वात् गृहिणामप्येषा अविधेयेत्यादि कुदेशनादिभिः समयान्तरस्तत्वधूरीकृते, कर्म० १ कर्म० ।

जिणप्पणीय-जिनप्रणीत-त्रि० । जिनोक्ते, " जिणमय जिणप्पणीय " जिनेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना प्रणीत समस्तार्थसंग्रहात्मकमातृकापदत्रयप्रणयनात् जिनप्रणीतम् । भगवान् हि वर्द्धमानस्वामी केवलज्ञानावाप्त्यनन्तरं बीजबुद्धिपरमगुणकलितान् गौतमादीन् गणधारिणः प्रत्येतद् मातृकापदत्रयमुक्तवान् । " उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा " इति । एतच्च पदत्रयमुपजीव्य गौतमादयो द्वादशाङ्गं विरचितवन्तः, ततो भवत्येतद् जिनमतं जिनप्रणीतमिति । जी० १ प्रति० । दर्श० ।

जिणप्पबोध-जिनप्रबोध-पुं० । खरतरगच्छीये जिनेश्वरसूरिशिष्ये, वैक्रमीये १२८५ वर्षे जातः, १२९६ वर्षे दीक्षितः, १३३१ वर्षे सूरिपदे स्थापितः, १३४१ वर्षे स्वर्गगमत् । कातन्त्रव्याकरणापर्यायेन टीका कृता, प्रबोधमूर्त्तिरित्यपरमस्य नामाऽऽसीत् । जै० इ० ।

जिणप्पहसूरि-जिनप्रभसूरि-पुं० । लघुखरतरगच्छस्थे जिनसिंहसूरिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, ती० ४८ कल्प । अनेनाऽऽचार्येण वैक्रमीये १३६५ वर्षेऽयोध्यायामुषित्वा भयहरस्तोत्राऽजितशान्तिस्तोत्रयोरुपरि टीका रचिता । सूरिमन्त्रप्रदेशविवरण, तीर्थकल्प, पञ्चपरमेष्ठिस्तवः, सिद्धान्तागमस्तव, द्व्याश्रयमहाकाव्य चेत्याद्या बहवो ग्रन्था निर्मिताः । नित्यमयमभिनवकाव्य कृत्वैव आहारमकरोद्, न्यायकन्दलीपञ्जिकानाम्नीटीकाकृत् रत्नशेखरसूरिगुरुश्च स आसीदिति तत्कृतग्रन्थानामुपक्रमोपसंहाराभ्यामवगम्यते । जै० इ० । तथा-हि-" इत्थं नृपविक्रमविजयात्कोमिने शकाब्दे, वैशाखमासि सितपक्षगपञ्चनिथ्याम् । यात्रोत्सवोपनतसङ्घयुतो यतीन्द्र, स्तोत्र व्यधाद् गजपुरस्य जिनप्रभाख्य ॥ २० ॥ " ती० ४८ कल्प । गौरदेशावतंसस्य, श्रीजिनप्रभसूरयः । कल्प पाटलिपुत्रस्य, रचयांचक्रुरागमात् ॥ १ ॥ " ती० ३५ कल्प । तस्य समयो जिनप्रभसूरिकृते शत्रुञ्जयकल्पे-" श्रीविक्रमाब्दे वाणाष्ट-विश्वदेवमिते सिते । सप्तम्यां तपसः काव्य-दिवसेऽयं समर्थितः " ॥ १ ॥ ती० १ कल्प । " श्रीजिनप्रभसूरीणां, साहाय्योद्भिन्नसौरभा । श्रुतावुत्तंसतु सता, वृत्तिः स्याद्वादमञ्जरी " ॥ ८ ॥ स्या० ३२ श्लोक ।

" नन्द्यानेकपशक्तिशीतगुमिते १३८९ श्रीविक्रमोर्वीपते-
र्वर्षे भाद्रपदस्य मास्यवरजे सौम्ये दशम्यां तिथौ ।
श्रीहम्मीरमहम्मदे प्रतिपतिक्ष्मामण्डलाखण्डले,
ग्रन्थोऽयं परिपूर्णतामभजत श्रीयोगिनीपत्तने ॥ ३ ॥ "
" तीर्थानां तीर्थभक्तानां, कीर्त्तनेन पवित्रित. ।
कल्प. प्रदीपनामाऽय, ग्रन्थो विजयतां चिरम् ॥ १ ॥ "

ती० ४८ कल्प । (जिनप्रभसूरिणो महम्मदसाहिशकाधिराजेन समागमो ' धीरकप्प ' शब्दे वक्ष्यते)

जिणप्परूविय-जिनप्ररूपित-त्रि० । जिनेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना यथा श्रोतॄणामधिगमो भवति तथा सम्यक् प्रवचनक्रियाप्रवर्त्तनेन प्ररूपित जिनप्ररूपितम् । ' जिनेन सम्यक्प्रणीते, जी० १ प्रति० ।

जिणप्पलावि (ण्)-जिनप्रलापिन्-पुं० । जिनमात्मान प्रकर्षेण लपतीत्येवंशीलो जिनप्रलापी । आत्मान जिन मन्यमाने गोशालकादौ, भगवत्यां गोशालकमनमधिकृत्य-" अजिणे जिणप्पलावी " भ० १५ श० १ उ० । " एव से अजिणे जिणप्पलावी विहरइ " आ० म० द्वि० ।

जिणप्पवयण-जिनप्रवचन-न० । जिनाऽऽगमे, जीत० ।

" जिनप्रवचन नौमि, नयतेजस्विमण्डलम् ।
यतो ज्योतींषि धावन्ति, हर्तुमन्तर्गतं तमः ॥ २ ॥
निष्प्रत्यूहं प्रणिदध्वे, प्रवानीननयानदम् ।
सर्वानपि गणाध्यक्षा-नक्षामोदरसङ्गतान् ॥ ३ ॥ " जीत० ।

जिणवल्लह-जिनवल्लभ-पुं० । अभयदेवसूरिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, अष्ट० ३२ अष्ट० । अय वैक्रमीये ११६० वर्षे आसीत्, अय पडशीत्यागमिकवादी पिण्डविशुद्धिप्रकरण-गणधरसार्धशतक-आगमिकवस्तुविचारसार-कर्मादिविचारसार-वर्द्धमानस्तवाऽऽद्यनेकग्रन्थकृदासीत् । चित्रकूटेऽस्य बहूनि चित्रकाव्यानि शिलायां लिखितानि सन्ति । जै० इ० ।

जिणबिंब-जिनबिम्ब-न० । जिनप्रतिमायाम्, षो० ६ विव० । (जिनबिम्बकारणविधिवक्तव्यता ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२६६ पृष्ठे गता.)

जिणबिंबपइट्ठावणा-जिनबिम्बप्रतिष्ठापना-स्त्री० । अर्हत्प्रतिमास्थापने, पञ्चा० ७ विव० । (जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधिः ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२७० पृष्ठे द्रष्टव्य.)

जिणभक्त-जिनभक्त-पुं० । मथुरानगरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रावके, आ० म० द्वि० । (तत्कथा ' णमोक्कार ' शब्दे वक्ष्यते)

जिणभत्ति-जिनभक्ति-स्त्री० । जिनसेवायाम्, " भत्तीइ जिणवराण " । आव० २ अ० ।

जिणभत्तिदंसणाणुराग-जिनभक्तिदर्शनानुराग-पुं० । जिन प्रति भक्त्या हस्वा यो दर्शनानुरागो दर्शनेच्छा स तथा । जिन

मपि भक्त्या कृताया दर्शनेच्छायाम्, " जिणभत्तिदंसणाणुरागेण इरिसियाओ । " औ० ।

जिणभत्तिराग-जिनभक्तिराग-पुं० । जिनविषयके भक्तिपूर्वकेऽनुरागे, " अप्पेगइया जिणभत्तिरागेण " जिने भगवति वर्द्धमानस्वामिनि या भक्तिः सा भक्तिपूर्वकोऽनुरागस्तेनेति । रा० ।

जिणभत्तिसूरि [न्]-जिनभक्तिसूरिन्-पुं० । खरतरगच्छीये जिनसौख्यसूरिशिष्ये जिनलाभसूरिगुरौ, सोऽयं वैक्रमीय १७७० वर्षे जातः, १७७९ वर्षे दीक्षितः, १७८० वर्षे सूरिपदं प्राप्तवान्, १८०४ वर्षे स्वर्गगमत् । जै० इ० ।

जिणभद्दगणिखमासमण-जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण-पुं० । भद्रबाहुस्वामिविरचितसामायिकनिर्युक्तिभाष्याऽऽदिकारके आचार्ये, अयमाचार्यो वैक्रमीयाद् ५८५ वर्षाद् ६४५ वर्षं यावद् विद्यमान आसीत् । सङ्क्षिप्तजीतकल्प, क्षेत्रसमासः, ध्यानशतक, बृहत्सङ्ग्रहणी, विशेषाऽऽवश्यकभाष्य चेत्यादयो ग्रन्था अनेनैव महानुभावेन रचिता इति तद्ग्रन्थेभ्यः प्रतीयते । जै० इ० ।

तथा च विशेषाऽऽवश्यकवृत्तौ-

" आवश्यकप्रतिनिबद्धगभीरभाष्य-
पीयूषजन्मजलधिर्गुणरत्नराशिः ।
ख्यातः क्षमाश्रमणतागुणतः क्षितौ यः,
सोऽयं गणिर्विजयते जिनभद्रनामा " ॥ १ ॥ विशे० ।

ननु श्रीमद्भद्रबाहुप्रणीता सामायिकनिर्युक्तिरिह भाष्ये व्याख्यास्यते, तत्कथमिदमावश्यकानुयोगोऽभिधीयते? नैतदेवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात् । यतोऽत्र सामायिकस्य षड्विधाऽऽवश्यकैकदेशत्वादावश्यकरूपता तावत् निरूप्यते । विशे० । न० । तथा चाऽऽवश्यकध्यानशतकमधिकृत्य-"पंचुत्तरेण गाहा-सएण झाणसयण समुद्दिट्ठं । जिणभद्दखमासमण-हिं कम्मसोहीकरं जइणा ॥१॥" आव०४ अ० । "जिनभद्रगणिं स्तौमि, क्षमाश्रमणमुत्तमम् । यः श्रुताज्जीतमुद्दध्रे, सौरि सिन्धोः सुधामिव " ॥ ४ ॥ जीत० ।

जिणभद्दसूरि [न्]-जिनभद्रसूरिन्-पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, तत्रैको जिनेश्वरसूरिशिष्यः खरतरगच्छीयः, येन सुरसुन्दरीकथा नाम ग्रन्थो रचितः । द्वितीयः शालिभद्रशिष्य एतन्नामा, स वैक्रमीये १२०४ वर्षे विद्यमान आसीत् । तेन गजसुकुमारकथा नाम ग्रन्थो विरचितः । तृतीयः खरतरगच्छे जिनदत्तसूरिशिष्यः । जै० इ० ।

जिणभवण-जिनभवन-न० । जिनाऽऽयतने, पं० व० ४ द्वार । दर्श० । आ० । द्वा० । पो० । (जिनभवनकारणविधिः ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२७८ पृष्ठे उक्तः)

जिणभासिय-जिनभाषित-त्रि० । जिनोक्ते, "सुणेह जिणभासियं।" जिनभाषितं जिनोक्तम् । उत्त० २७ अ० । "विहिणा जिणभासियणेव । " जिनभाषितेनैव सर्वज्ञोक्तेनैव, न स्वमतिचर्चितेन । पञ्चा० १ विव० ।

जिणमई-जिनमती-स्त्री० । हेमपुरनगरस्थस्य सुरदत्तश्रेष्ठिनः स्वनामख्यातायां दुहितरि, दर्श० १ तत्त्व । (तत्कथा 'दीवपूया' शब्दे वक्ष्यते)

जिणमंडण-जिनमण्डन-पुं० । तपागच्छीये सोमसुन्दरसूरिशिष्ये, येन वैक्रमीये १४९२ वर्षे कुमारपालप्रबन्धो नाम ग्रन्थो विरचितः । जै० इ० ।

जिणमय-जिनमत-न० । रागाऽऽदिशत्रून् जयतीति जिनः । स च यद्यपि छद्मस्थवीतरागोऽपि भवति, तथापि तस्य तीर्थप्रवर्त्तकत्वायोगात् उत्पन्नकेवलज्ञानस्तीर्थकृदत्रेह गृह्यते । सोऽपि च वर्द्धमानस्वामी, तस्य वर्त्तमानतीर्थाधिपतित्वात् । तस्य जिनस्य वर्द्धमानस्वामिनो मतम्, अर्थतस्तेनैव प्रणीतत्वात् आचाराऽऽदिदृष्टिवादपर्यन्ते द्वादशाङ्गे गणिपिटके, जं० १ प्रति० । आ० चू० । ज्यो० । "तित्थयरसमो सूरी, सम्मं जो जिणमयं पयासेइ । " जिनमतं जगत्प्रभुदर्शनम् । ग० १ अधि० । "जिणमयभवणविक्खाता, वट्टइ अट्ठम्मि झाणम्मि । " जिनास्तीर्थकराः, तेषां मतमागमरूपं प्रवचनम् । आव० ४ अ० । " भावेण जिणमयम्मि उ, आरंभपरिग्गहच्चाओ ।" रागाऽऽदिजेतृत्वाज्जिनः, तन्मत एव, वीतरागशासन एवेत्यर्थः । पं० व० १ द्वार । अर्हत्सिद्धान्ते, " इह पसिद्ध जिणमयम्मि । " पञ्चा० ४ विव० । तीर्थकराभिप्राये च । " साऊण जिणवरमयं " जिनवराणां तीर्थकराणां मतमभिप्रायम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जिणमयट्ठिय-जिनमतस्थित-त्रि० । सर्वज्ञाऽऽगमाश्रिते, "विसेसओ जिणमयट्ठिआण ।" जीवा० ८ अधि० ।

जिणमयनिउण-जिनमतनिपुण-त्रि० । आगमप्रवीणे, दर्श० १ अ० ३ उ० ।

जिणमहिम [न्]-जिनमहिमन्-पुं० । जिनमहत्त्वे, "कयसव्वा य जिणमहिमा । " आ० क० ।

जिणमाणिक्कसूरि-जिनमाणिक्यसूरि-पुं० । प्राकृतगाथाबद्धकूर्मापुत्रचरित्रकारके आचार्ये, जै० इ० ।

जिणमाया-जिनमातृ-स्त्री० । मरुदेव्यादिकायां जिनजनन्याम्, स० ।

तन्नामानि त्वित्थम्-

" मरुदेवि विजय सेणा, सिद्धत्था मंगला सुसीमा य ।
पुहवी लक्खण रामा, नंदा विण्हू जया सामा ॥३२२॥
सुजसा सुव्वय अइरा, सिरि देवी य पभावई चेव ।
पउमावई य वप्पा, सिव वामा तिसलया य ॥ ३२३ ॥ "

प्रव० ११ द्वार ।

जिणमुणिचेइयसंघाइपडिणीय-जिनमुनिचैत्यसङ्घाऽऽदिप्रत्यनीक-पुं० । तीर्थकरसाधुचतुर्वर्णसङ्घसिद्धगुरुश्रुताऽऽदिकानामवर्णवादाऽऽशातनाद्यनिष्टनिर्वर्तके, कर्म० १ कर्म० ।

जिणमुद्दा-जिनमुद्रा-स्त्री० । जिनानामर्हतां कृतकायोत्सर्गाणां सत्का, जिना वा विघ्नजेत्री मुद्राऽङ्गन्यासविशेषो जिनमुद्रा । मुद्राभेदे, पञ्चा० ।

अथ जिनमुद्रामाह—

चत्तारि अंगुलाइं, पुरओ ऊणाइ जत्थ पच्छिमओ ।
पायाण उस्सग्गो, एसा पुण होइ जिणमुद्दा ॥ २० ॥

चत्वारीति सङ्ख्या, अङ्गुलानि प्रतीतानि । तानि च स्वकीयान्येव, पुरतोऽग्रतः, तथा ऊनानि किञ्चिदूनानि अङ्गुलान्येव, यत्र यस्यां मुद्रायां, पश्चिमतः पश्चिमभागे, पादयोश्चरणयोरुत्सर्गः परस्परपरित्यागः, सत्सर्गाभावोऽन्तरमित्यर्थः । एषाऽसौ, पुनःशब्दो योगमुद्राऽपेक्षया जिनमुद्राया वैलक्षण्यप्रतिपादनार्थः । भवति सम्पद्यते, जिनानामर्हतां कृतकायोत्सर्गाणां सत्का,

जिना वा विघ्नजेत्री मुद्राऽङ्गन्यासविशेषो जिनमुद्रेति गाथार्थः ।
॥ २० ॥ पञ्चा० ३ विव० । ल० । सङ्घा० । प्रव० ।

जिणरक्खिय-जिनरक्षित-पुं० । चम्पानगरीवास्तव्यस्य माकन्दिसार्थवाहस्य पुत्रे स्वनामख्याते सार्थवाहे, ज्ञा० । "भोगे अवयक्खता, पडति संसारसागरे घोरे ।" चारित्रं प्रतिपद्यापि भोगानभिकाङ्क्षन्तः पतन्ति संसारसागरे घोरे, जिनरक्षितवत् । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । (तत्कथाऽनुपदमेव 'जिणपालिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४९४ पृष्ठे उक्ता)

जिणरयणसूरि [ण्]-जिनरत्नसूरिन्-पुं० । खरतरगच्छीये जिनराजसूरिशिष्ये जिनचन्द्रसूरिगुरौ, तेन वैक्रमीये १६९९ वर्षे सूरिपदं प्राप्तः, तथा १७११ वर्षे आगरानगरे स्वर्गतिर्लेभे । संसारित्वेऽस्य "रूपचन्द्र" इत्यभिधानमासीत् । एतन्माताऽप्येतेन सह प्रव्रजिता । जै० इ० ।

जिणरायसूरि (ण्)-जिनराजसूरिन्-पुं० । खरतरगच्छीये जिनसिंहसूरिशिष्ये, वैक्रमीये १६४७ वर्षेऽयं जातः, १६५६ वर्षे दीक्षितः, १६७४ वर्षे सूरिपदं प्राप्तः, १६९९ वर्षे पट्टने स्वरगमत् । श्रीशत्रुञ्जये ऋषभदेवाऽऽदितीर्थङ्कराणामेकोत्तरपञ्चशतप्रतिमानामनेनैव प्रतिष्ठा कारिता, नैषधीयकाव्येऽनेन जिनराजनाम्नी टीका रचिता । जै० इ० ।

जिणरूव-जिनरूप-न० । परमाऽऽत्मरूपे, "जिनरूपं ध्यातव्यं, योगविधावन्यथा दोषः ।" जिनरूपं परमाऽऽत्मरूपमिति । षो० १४ विव० ।

जिणलाभसूरि [ण्]-जिनलाभसूरिन्-पुं० । खरतरगच्छीये जिनभक्तिसूरिशिष्ये, अयं वैक्रमीये १७८४ वर्षे 'बीकानेर' नगरे जातः, १७९६ वर्षे दीक्षितः, १८०४ वर्षे माण्डवीबन्दरे सूरिर्जातः, १८३४ वर्षे स्वरगमत् । आत्मप्रबोधनामा ग्रन्थोऽनेन रचितः । जै० इ० ।

जिणवई-जिनवाक्-स्त्री० । जिनवचने, "जे कोविज्जा जिणवइं पि ।" ये जिनवाचमपि कोपयेयुरन्यथा कुर्युः । सू० १ उ० ।

जिणवंस-जिनवंश-पुं० । जिनान्वये, "वंसाण जिणवंसो" । वंशानामन्वयानां मध्ये यथा जिनवंशः प्रधानम् । सथा० ।

जिणवयण-जिनवचन-न० । जिनास्तीर्थकराः, तेषां वचनमागमो जिनवचनम् । दश० १ अ० । जिनानां सर्वज्ञानां वचनं जिनवचनम् । द्वादशाङ्गे, व्य० १ उ० । जिनवचनमर्हद्वचनम् । पञ्चा० १९ विव० । जिनवचनमाचारादि । स० । "कूरा वि सहावेणं, विसयविसवसाणुगा वि होऊणं । भावियजिणवयणमणा, तेलुक्कसुहावहा होंति" ॥१॥ श्रूयन्ते हि एवंविधाश्चिलातीसुतादय इति । तथाऽनर्घ्यामिति (जिनाज्ञां भावयेदिति सर्वत्र सम्बन्धः) यथावस्थितार्थप्रकाशकत्वेन सकलपरप्रणेतृशास्त्रोक्तार्थादविद्यमानमूल्यामिति भावः । उक्तं च-"सव्वे वि य सिद्धन्ता, सदव्वरयणासया सतेल्लोक्का । जिणवयणस्स भगवओ, न तुल्लमिय तं अणग्घेयं ॥१॥" तथा स्तुतिकारेणाप्युक्तम्-"कल्पद्रुमः कल्पितमात्रदायी, चिन्तामणिश्चिन्तितमेव धत्ते । जिनेन्द्रधर्मातिशयं विचिन्त्य, द्वयेऽपि लोके लघुतामुपैति ॥१॥" अथवा ऋणघ्नामिति । तत्र ऋणं पूर्वजन्मपरम्परोपात्ताष्टप्रकारं कर्म, तद् हन्ति या सा ऋणघ्ना, ताम् । यत उक्तम्-"जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं । तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेण" ॥१॥ तथा-अमितामित्यपरिमिताम् । यत उक्तम्-"एगमवि उ जलबिंदू, पविखत्ते समुदं संखोदहीण जं तोयं । तत्तोऽणन्तगुणं खलु, अत्थो एगस्स सुत्तस्स" ॥१॥ अमृतां वा परमार्थ्यां पथ्यां वा । तथा चोक्तम्-"जिणवयणमोयगस्स य, रत्तिं च दिवा य खज्जमाणस्स । तित्तिं बुहो न गच्छइ, हेउसहस्सोवगूढस्स ॥ १ ॥" "नरनरगतिरियसुरगण-संसारियसव्वदुक्खरोगाणं । जिणवयणमेगमोसह-मपवग्गसुहक्खयं फलयं" ॥ १ ॥ तां वा सजीवाम्, उपपत्तिक्षमत्वेन सार्थकामिति भावः । यथा-"तेषां कटतटभ्रष्टै-र्गजानां मदबिन्दुभिः । प्रावर्त्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥१॥" इत्यादिवाक्यवन् मृतामिति । तथा-अजितामशेषपरप्रवादिप्रवचनाऽऽपराजितामिति भावः । तदुक्तम् "जीवाइवत्थुचिंतण-कोसल्लगुणेणऽनन्नसरिसेण । सेसवयणेहिं अजियं, जिणिंदवयणं महाविसयं ॥१॥" तथा-महार्थामिति । महानपरिमितोऽर्थो यस्याः सा तथाविधा, ताम् । तत्र पूर्वापराविरोधित्वादनुयोगद्वारात्मकत्वान्नयगर्भत्वाच्च महार्था, तां, महत्स्थां वा । तत्र महान्तः सम्यग्दृष्टय एवेहोच्यन्ते । ततश्च महत्सु स्थिता महत्स्था, तां च, प्रधानप्राणिस्थितामिति भावः । महर्ष्यां वा, अतिशयपूज्यामित्यर्थः । यत उक्तम्-"सयलसुरासुरमाणुस-जोइसवतरसुपूइयं नाणं । जेणेह गणहराणं, बुहति थुत्तं सुरिंदा वि" ॥१॥ महानुभावः सामर्थ्यादिलक्षणो यस्याः सा तथाविधा, तां, प्राधान्यं चास्याश्चतुर्दशपूर्वविदः सर्वलब्धिमन्तो जायन्ते, ततश्च सकलस्यास्य त्रिभुवनस्य प्रभवन्ति । यत उक्तम्-"पहू णं भंते ! चउद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं, पडाओ पडसहस्सं विउव्वित्तए ?। गोयमा ! हंता पहू" इत्यादि । परलोके पुनरनुत्तरविमानादिषूपपातः । उक्तं च-"उववाओ लंतगम्मी, चउदसपुव्विस्स होइ उ जहन्नो । उक्कोसो सव्वट्ठे, सिद्धिगमो वा अकम्मस्स ॥१॥" तथा महाविषयामिति । महाविषयताऽस्याः सकलद्रव्याऽऽदिविषयावभासकत्वात् । उक्तं च-"दव्वाओ सुयनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ, नो पासइ" इत्यादि । प्रसङ्गेनेति गाथार्थः । दर्श० ४ तत्त्व । आव० । (विस्तरतो गाथाव्याख्या 'आणा' शब्दे द्वितीयभागे ११५ पृष्ठे द्रष्टव्या)

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करंति भावेण ।
अमला असंकिलिट्ठा, ते हुंति परित्तसंसारी ॥ २६ ॥

इति छिन्नसंसारिणः स्युरित्यर्थः । ते इति के ?, ये जीवा जिनवचने अर्हद्वाक्ये अनुरक्ताः सन्तो भावेन जिनवचनं कुर्वन्ति, इत्यनेन मनोवाक्कायैः जिनधर्ममाराधयन्ति । पुनः कीदृशास्ते ?, अमला मिथ्यामलरहिताः । पुनः कीदृशाः ?, असंक्लिष्टाः मोहमत्सराऽऽदिक्लेशरहिताः । एतादृशा जीवाः संसारपारं कृत्वा मोक्षं व्रजन्तीत्यर्थः । उत्त० ३६ अ० । जिनवचनप्रामाण्यमुक्तं च स्तुतिकारेण-"सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसम्पदः । तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता, जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥ १ ॥" न० । जिनवचनप्रशंसा यथा-"जयति जगदेकमङ्गल-मपहतनिःशेषदुरितघनतिमिरम् । रविबिम्बमिव यथास्थित-वस्तुविकाशं जिनेशवचः ॥ १ ॥" न० । जिनवचनस्य हितकारित्वं यथा-
"एगंतेण हियं वयणं, गोयम ! दिस्संति केवलिणो ।
बलवोडीइ कारेंति, हत्थे घेत्तूण जंतुणो ॥
तित्थयरभासियं वयणं, जे तह त्ति अणुवालिया ।
सिंदा देवगणा तस्स, पायहिं य णमंति हरिसिया" ॥ महा०

६ अ० । जिनवचनादन्यत्र न शरणम् । उक्तञ्च-" जन्मजरामरणभयै-रभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते । जिनवरवचनादन्य-त्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥१॥ " आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

जिनवचनस्य सम्यक्त्वं यथा-

भद्दं मिच्छादंसण-समूहमइयस्स अमयसारस्स ।

जिणवयणस्स जगवओ, संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥१६७॥

भद्रं कल्याणं,जिनवचनस्यास्त्विति सम्बन्धः। मिथ्यादर्शनसमूहमयस्य। ननु यन्मिथ्यादर्शनसमूहमयं तत् कथं सम्यग्रूपतामासादयति ?, न हि विषकणिकासमूहमयस्यामृतरूपताऽऽपत्तिः प्रसिद्धा । न । परस्परानिरपेक्षसंग्रहाऽऽदिनयरूपाऽऽपन्नसांख्यादिमिथ्यादर्शनानां परस्परं सव्यपेक्षतासमासादितानेकान्तरूपाणां विषकणिकासमूहविशेषमयस्यामृतसन्दोहस्येव सम्यक्त्वाऽऽपत्तेः । दृश्यन्ते हि विषाऽऽदयोऽपि भावाः परस्परसंयोगविशेषमवाप्ताः समासादितपरिणत्यन्तरा अगदरूपतामात्मसात्कुर्वाणाः। मध्वाज्यप्रभृतयस्तु विशिष्टसंयोगावाप्तद्रव्यान्तरस्वभावा मृतिप्राप्तिनिमित्तविषयरूपतामासादयन्तः । न चाध्यक्षप्रसिद्धार्थस्य पर्यनुयोगविषयता, अन्यथाऽग्न्यादेरपि दाह्यदहनशक्त्यादिपर्यनुयोगाऽऽपत्तेः। अत एव निरपेक्षा नैगमाऽऽदयो दुर्नयाः,सापेक्षास्तु सुनया उच्यन्ते। अभिहितार्थसंवादि चेदं वादिवृषभस्तुतिकृत्सिद्धसेनाऽऽचार्यवचनम्-"नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः।" ॥१॥ इति । अथवा सांख्यादेरेकान्तवादिदर्शनसमूहमयस्य चूर्णनस्वभावस्य,मिथ्यादृष्टिपुरुषसमूहविघटनसमर्थस्य वा,यद्वा-मिथ्यादर्शनसमूहा नैगमाऽऽदयः,एकैकनैगमाऽऽदेर्नयस्य शतविधत्वात् ।"एक्केक्को वि सयविहो" इत्याद्यागमप्रामाण्यादवयवा यस्य तन्मिथ्यादर्शनसमूहमयम्, जिनवचनस्य नैगमाऽऽदयः सापेक्षाः सप्तावयवाः,तेषामप्येकैकः शतधा व्यवस्थित इत्यभिप्रायः। समूहरूपसप्तनयावयवोदाहरणापेक्षया च सप्तभङ्गीप्रदर्शनमागमज्ञा विदधति । सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वाद्वस्तुतत्त्वस्य, सामान्यस्यैकत्वात्, तद्विवक्षाया यदेव घटादि द्रव्यं स्यादेकमिति प्रथमभङ्गविषयः, तदेव देशकालप्रयोजनभेदाद्नानात्वं प्रतिपद्यमानं तद्विवक्षया स्यादनेकमिति द्वितीयभङ्गविषयः, तदेवोभयाऽऽत्मकमेकदैकशब्देन यदाऽभिधातुं न शक्यते तदा स्यादवक्तव्यमिति तृतीयभङ्गविषयः।तदेवावकाशदातृत्वेनासाधारणेनैकमाकाशं, तदेवावगाह्यावगाहकावगाहनक्रियाभेदादनेकं भवति, तद्रूपैर्विना तस्यावस्तुत्वाऽऽपत्तेः । प्रदेशभेदापेक्षयाऽपि च तदनेकम् । अन्यथा हिमवद्विन्ध्ययोरप्येकदेशताप्राप्तेः। तस्य च तथाविवक्षाया स्यादेकं चानेकं चेति चतुर्भङ्गविषयता। यदेकमाकाशं भवतः प्रसिद्धं तदेकस्मिन्नवयवे विवक्षिते एकमवयवस्यावयवान्तराद्भिन्नाभिन्नानां वाचकस्य शब्दस्याभावादवक्तव्यं चेति । तथाविवक्षाया स्यादेकमवक्तव्यं चेति पञ्चमभङ्गविषयः। तत् यदेवैकमाकाशं प्रसिद्धं भवतः तदवगाह्यावगाहनक्रियाभेदादनेकम् । एकानेकत्वप्रतिपादकशब्दाभावादवक्तव्यं चातः स्यादनेकमवक्तव्यं चेति षष्ठभङ्गविषयः । यदेवैकमाकाशात्मकतयाऽऽकाशं भवतः प्रसिद्धं, तदेव तथैकमवगाह्यावगाहनक्रियापेक्षयाऽनेकं,युगपत्प्रतिपादनापेक्षयाऽवक्तव्यं चेति स्यादेकमनेकमवक्तव्यं चेति सप्तमभङ्गविषयः।एवं स्यात्सर्वगतः स्यादसर्वगतो घटादिरित्यादिकाऽपि सप्तभङ्गी वक्तव्या,यतो य एव पार्थिवा परमाणवो घटस्य एव विस्रसाऽऽदिपरिणतिवशाज्जलानिलानलाद्यन्यादिरूपतामात्मसात्कुर्वाणा स्यात् सर्वगतो घट इत्यादिसप्तभङ्गविषयतां यथोक्तन्यायात् कथं नासादयन्ति ?। न च घटपरमाणूनां पुद्गलरूपतापरित्यागे पूर्वपर्यायापरित्यागे च घटपर्यायाऽऽपत्तिः, क्षणिकाक्षणिकैकान्तयोरर्थक्रियानुपपत्तेरसत्त्वापत्तेः, परिणामिन एव सुवर्णात्मनाऽवस्थितस्य केयूराऽऽत्मकविनाशमनुभवतः कटकाद्यात्मनोत्पद्यमानस्य वस्तुनः सत्त्वात्,अन्यथा क्वचित्कस्यचित्कदाचिदनुपलब्धेः । न चाध्यक्षादन्यदपरिह प्रमाणान्तरमस्ति, यतस्तद्विपरीतभावाभ्युपगमः क्रियते । अन्तर्बहिश्च हर्षविषादाऽऽद्यनेकाऽऽकारवितर्काऽऽत्मकचैतन्यस्य स्थासकोशकुशूलाऽऽद्यनेकाऽऽकारस्वीकृतैकमृत्पिण्डादेः स्वसंवेदनाऽध्यक्षाध्यक्षतः प्रतिपत्तेः । सर्वथोपलभ्यमध्यक्षरूपं पूर्वापरकोट्योरसदिति वदतः सर्वप्रमाणविरोधात् कुण्डलाङ्गदाऽऽदिषु पर्यायेषु तादृग्भूतसुवर्णद्रव्योपलब्धेः कार्योत्पत्तौ कारणस्य सर्वथा निवृत्त्यनुपलब्धेन च सादृश्यविप्रलम्भात्तद्व्यवसायकल्पनेति वक्तुं तदेकान्तभेदसाधकप्रमाणस्यापास्तत्वात् । न च कथञ्चित्स्वभावभेदेऽपि तादात्म्यक्षतिः, ग्राह्यग्राहकाऽऽकारसंविद्वद्विविक्तपरमाणुषु स्थूलैकघटाऽऽदिप्रतिभासवद्वा ग्राह्यग्राहकाऽऽकारविविक्तसंवित्प्रकल्पनेऽध्यक्षधियोऽपि विवक्षिताऽऽकारविवेकाविवेकानुपलब्धेः । अध्यक्षेतरस्वभावाभ्यां विरोधस्वरूपासिद्धावन्यत्रापि कः प्रद्वेषः ? । तथाहि-शक्यमन्यत्रापि एवमभिधातुम्-एकमेव पार्थिवद्रव्यं लोचनाऽऽदिसामग्रीविशेषात् चूर्णादिप्रतिपत्तिभेदेऽपि भिन्नमिव प्रतिभाति, प्रत्यासन्नेतररूपताव्यवस्थितैकविषयत्वात्। न हि स्पष्टास्पष्टनिर्भासभेदेऽपि तदेकत्वक्षतिः, तद्वदिहापि रूपाऽऽदिप्रतिभासाभेदेऽप्येकत्वं किं न स्यात् ?,प्रतीतेरविशेषात्। एवं च स्याद्वादिनोऽग्नेरप्यनुष्णत्वप्रसक्तिरित्यसङ्गतमभिधानम्। यतस्तत्रापि स्यादुष्णोऽग्निरिति स्पर्शविशेषेणोष्णस्य भास्वराऽऽकारेण पुनरनुष्णस्य तस्यैकस्य नानास्वभावशक्तेरबाधितप्रमाणविषयस्यैव नो दोषाऽऽसङ्गासम्भवात्,तस्मादेकस्यैव सामग्रीभेदवशात्तथाप्रतिभासाविरोधः । कारणस्य च कार्याऽऽत्मनोत्पत्तौ न किञ्चिदपेक्षणीयमस्ति, यतस्तथोत्पित्सुस्वभावता न भवेत् । अत एव मृदादिभावो घटस्वभावेन नश्वरः, कपालस्वरूपेण चोत्पत्तौ तिष्ठतीति स्वभावत एव नश्वरः, उत्पित्सुः स्थास्नुश्चान्यतमापाये पदार्थस्यैवासम्भवात्, त्रितयभावप्रत्यनपेक्षत्वाच्च। न ह्युत्पन्नः पदार्थः किञ्चित् स्थितिं प्रत्यपेक्षते, स्थित्यात्मकत्वादुत्पादस्य, न चावस्थित उत्पत्तौ किञ्चिदपेक्षते, उत्पत्तिस्वभावत्वात् स्थितेः। न च विनष्ट उत्पत्तिं प्रति हेत्वन्तरापेक्षः, विनाशस्योत्पत्त्यात्मकत्वात्, तत पूर्वापरस्वभावपरित्यागावाप्तिलक्षणं परिणाममासादयन् भावो व्यवतिष्ठते । इति प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरमेतदेव । शब्दविद्युत्प्रदीपादेरपि निरन्वयविनाशकल्पनाऽसङ्गतैव, तथाभावो स्थितिदर्शनादन्तेऽपि तत्स्वभावानतिक्रमात्। न हि भावः स्वस्वभावं त्यजति, प्रागपि तत्स्वभावपरित्यागप्रसक्तेः, अन्ते च क्षयदर्शनात् प्रागपि नश्वरस्वभावादाद्युत्पत्तिसमये स्थितिदर्शनादन्ते स्थितिः किं नाभ्युपेयते ?। न च विद्युत्प्रदीपादेस्तैजसरूपपरित्यागात्तामसरूपस्वीकरणे किञ्चिद्विरुद्धं भवेत्। न च स्वभावभेदस्तदेकत्वविघातकृत्, ग्राह्यग्राहकाऽऽकारसंवेदनवद् वेद्यवेदकाऽऽकाराविविक्तपरोक्षापरोक्षसंवित्ति-

भवा, यथा च ध्वंसहेतोस्तद्वत्पकरणविरोधात्किञ्चित्करत्वं, तथा स्थित्युत्पादहेत्वोर्विशराकधर्मणः स्वास्नुताकरणे विनश्वरस्वभावः किं न विनश्येत्?, अथासौ स्वयमस्नुस्तथापि हि स्थितिहेतोरानर्थक्यं, स्वत एव तस्य स्थितेः। तथोत्पत्तिहेतुरपि यदि भावं करोति, तदा न स्यात्किञ्चित्करत्वमेव भावस्य, स्वयमेव भावाभावरूपत्वात्। अथाभावं भावरूपतां नयति, तर्हि नाशहेतुरपि भावमभावीकरोतीति कथमकिञ्चित्करः स्यात्?। न ह्यभावस्य भावीकरणे भावस्य वाऽभावीकरणे कश्चिद्विशेषः संभवी। अत एव च तेषामन्यतमस्य सहेतुकत्वमहेतुकत्वं वाऽभ्युपगच्छन् सर्वेषां तदभ्युपगन्तुमर्हति, अविशेषात्। न च भिन्नयोगक्षेमत्वात् कार्यकारणयोरेकत्वमनुपपन्नं, स्वभावभेदेऽप्येकत्वप्रतिपत्तेः। सर्वसंवित्क्षणानामेकदोत्पत्तिविनाशवतामभिन्नयोगक्षेमत्वात् कार्यकारणयोरेकत्वमनुपपन्नम्, स्वभावभेदेऽप्येकत्वेऽपि च परस्परतः पृथग्भावसिद्धेः। अथाभिन्नयोगक्षेमेऽपि प्रतिभासभेदाद्भेदः, तर्हि यत्र प्रतिभासाभेदस्तत्र भिन्नयोगक्षेमत्वेऽप्यभेदः, प्रतिभासभेदाभेदयोर्वस्तुभेदाभेदव्यवस्थापकत्वात्। समुदायस्य च देशकालभेदाभावात् सकृदेव संविद्यात्मनोत्पत्तेरेकत्वं प्रसज्येत। यदि च स्वभावभेदो वस्तुभेदलक्षणं, तदा सन्तानान्तरयोरिव विषयरूपायाः संवित्तेरेकत्वेऽपि प्रत्यक्षेतरयोर्वाऽसौ विद्यत इति नानात्वं भवेत्। यदि पुनः स्वभावभेदाविशेषेऽपि विवक्षितज्ञानक्षणाऽऽकारयोरेव तादात्म्यं, न पुनः सन्तानान्तरसंवित्तीनामिति प्रत्यासत्तेः कुतश्चिद्व्यवस्थाप्यते, तर्हि परस्यापि विवक्षितैकार्थोपादानोपादेयभूतयोरेवावस्थयोस्तादात्म्यं कथञ्चिद् वदतो न कश्चिद्दोषः प्रसक्तिमान्। निराकृतश्चानेकश एकान्तवादः, तत्प्रसाधकहेतूनां सर्वेषामनेकान्तव्याप्ततया विरुद्धताप्रदर्शनात्। तत्प्रदर्शनं चैकान्तवादिनिग्रहस्थानमनेकान्तवादिविजयस्यैवेतरपराजयाधिकरणप्राप्तिलक्षणत्वात् “ विरुद्धहेतुमुद्भाव्य, वादिनं जयतीतरः । ” इत्यस्य वचसो न्यायानुगतत्वात्। यदि पुनरसाधनाङ्गवचनं वादिनः पराजयाधिकरणमभ्युपगम्येत, तदा वादाभ्युपगमं विधाय तूष्णींभावमात्रेणासाधनाङ्गस्यावचनाद्वादिनो विजयः किं न स्यात्?; प्रतिवादिनोऽपि स्वपक्षसिद्धिमकुर्वतः कथं न विजयस्तत एव भवेत्?। अथ साधनाङ्गावचनमपि निग्रहस्थानं, तर्हि वादिप्रतिवादिनोर्योगपद्येन निग्रहाधिकरणता भवेत्, तूष्णींभावाविशेषात्। तूष्णींभावोपलम्भेन इतरो विजयवानिति चेत्?, नन्वेवमितरजयस्याप्यन्यतरपराजयाधिकरणतैव प्राप्ता, न च स्वपक्षसिद्धिमकुर्वतः न विजयप्राप्तिः, तदप्राप्तौ च कथं तदेतरस्य पराजयः?। यदपीष्टस्यार्थस्य सिद्धसाधनं तदङ्गं स्वभावकार्यानुपलम्भलक्षणं हेतुत्रयं पक्षधर्मत्वादि वा त्रैरूप्यं तस्यावचनं निग्रहस्थानं वादिन इत्युक्तम्। तदप्ययुक्तम्। प्रतिवादिनोऽपि पक्षधर्मत्वाद्यन्यतमस्यानुक्तावसमर्थने वा विजयाप्राप्तेः। तदप्राप्तौ च वादिनो निग्रहस्थानानुपपत्तेरितरजयनान्तरीयकत्वादितरपराजयस्य; एवं हेत्वाभासादेरसाधनाङ्गस्य वचनं वादिनो निग्रहस्थानमिति प्रतिक्षिप्तमुक्तन्यायाद्द्रष्टव्यम्। अथ ततः साध्यसिद्धेरभावात्तस्य निग्रहस्थानं प्रतिक्षिप्तम्। उक्तन्याये च तद्भूविक्षेपादेरसाधनाङ्गकरणस्य तत एव तत्प्राप्तेः, ततो वादिनमसाधनाङ्गमभिदधानं कुर्वाणं वा स्वपक्षसिद्धिं विदधदेव प्रतिवादी तत्पक्षप्रतिक्षेपणं निगृह्णातीत्येतदेव न्यायोपेतमुत्पश्यामः। एवं प्रतिवादिनो दोषमनुद्भावयतो न निग्रहस्थानं, साधनात् स्वपक्षसिद्धिमकुर्वाणस्य वादिनो विजयप्राप्त्ययोगात्, तत्साधनस्य सदोषत्वसंभवात्। तस्य सदोषत्वेऽपि तदुद्भावनासमर्थत्वात्प्रतिवादिनो निग्रहस्थानं स्यादिति चेत्?। न। दोषवत्साधनाभिधानाद्वादिनोऽपि पराजयाधिकरणत्वाद् द्वयोरपि युगपत्पराजयप्राप्तेः। अत एव प्रतिवादिनो दोषस्यानुद्भावनमपि न निग्रहस्थानम्। यत्र वादिपक्षसिद्धेरप्रतिबन्धकं पक्षाऽऽदिवचनाधिक्योद्भावनं प्रतिवादिपक्षसिद्ध्यनवसाधकत्वम्, तत्सर्वं न वादिनः पराजयाधिकरणम्। अन्यथा तत्पादप्रसारिकाद्युद्भावनमपि तस्य पराजयाधिकरणं स्यात्। अथ पक्षाऽऽदिवचनस्यासाधनाङ्गत्वात्तदुद्भावने वादिनस्तदपरिज्ञाननिबन्धनपराजयाधिकरणता, तर्हि यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति व्याप्तिवचनादेव शब्दस्यापि क्षणिकत्वसिद्धौ 'सन् शब्दः' इत्यभिधानं, तत एव तस्य पराजयाधिकरणं भवेत्। न च शब्दे शब्दविप्रतिपत्तिः, येन तन्निरासाय सत्त्वाभिधानं तत्रापुनरुक्तं भवेत्। तद्विप्रतिपत्तौ वा तत्साधकहेतोरसिद्धत्वादिदोषत्रयानतिवृत्तेर्भवतैवाभ्युपगमात्साध्यत्वानुपपत्तिः। यदि च संक्षिप्तवचनात् साध्यसिद्धौ तद्विस्तराभिधानं निग्रहस्थानं, तर्हि सत्त्वात् क्षणिकत्वसिद्धौ कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्यभिधानं कथं न निग्रहस्थानं स्यात्?, कथं वा कृतकप्रयत्नानन्तरीयकादिषु स्वार्थिकस्य तस्योपादानं तत्र स्यात्?। यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकमित्यादि साधनवाक्यमभिधाय पक्षाऽऽदिवचनवत्तत्समर्थनमपि निग्रहस्थानं प्रसक्तम्। असमर्थितमपि स्वत एव तद्वचनमेव स्वसाध्याविनाभूतस्य हेतोः प्रदर्शनम्, आसाध्यसिद्धेः सद्भावात्। स्वभावकार्यानुपलम्भप्रकल्पनया तद्वचनं निग्रहस्थानं परस्य प्रसक्तम्। अनुपलब्धावनुपलब्धिलक्षणं प्राप्तस्येति विशेषणोपादानं निग्रहस्थानम्। अदृश्यानामपि व्याधिभूतग्रहादीनां कुतश्चिद्व्यावृत्तिसिद्धेः। यदि पुनरुपलम्भानुपलब्धेरेवाभावसिद्धिः, तदा नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरं, प्राणादिमत्त्वादित्यत्र घटादेरात्मनोऽक्षणिकस्यादृश्यानुपलम्भादेवातत्सिद्धेः, यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति सामस्त्येन व्याप्त्यसिद्धितः क्षणक्षयानुमानं नाभवत् स्यात्। किं च देशकालस्वभावविप्रकृष्टभावानुपलब्धेरभावासिद्धौ सर्वत्र सदा सर्वो धूमोऽग्निमन्तरेणानुपपत्तिमानिति व्याप्तेरसिद्धेर्न ततस्तत्सिद्धिः स्यात्। न चाऽप्रत्यक्षानुपलम्भौ तत्कार्यकारणभावप्रसाधकावभ्युपगम्यमानौ सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात् यतो व्यापारान् विधातुं क्षमौ, तत्पृष्ठभाविविकल्पस्य तन्निवर्तनसामर्थ्याभ्युपगमे सविकल्पकस्यापीष्टं प्रामाण्यं प्रसज्येत। अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वादविसंवादित्वाच्च। तस्याऽविकल्पकस्य तु हिंसाविरतिदानचेतसां स्वर्गाऽऽदिफलनिवर्तनसामर्थ्यस्वभावसंवेदनस्यैव सर्वात्मना वस्तुग्रहणेऽपि निर्णयवशादेव प्रामाण्योपपत्तेः। अन्यथाऽनुमानस्याप्रामाण्यप्रसक्तेः तद्गृहीतग्राहितयेत्युक्तं, प्रागदृश्यानामनुपलम्भादेवासिद्धावयक्रियया सत्ताऽभावानां व्याप्त्येत्येतदपि परस्य निग्रहस्थानमेव, ततः स्वपक्षसिद्धिरितरस्य पराजयाधिकरणं, स च परोपन्यस्तहेतोर्विरुद्धताप्रदर्शनेन स्वतन्त्रनिर्दोषहेतुसमर्थनेन वा परोपन्यस्तहेत्वसिद्धताऽऽदिदोषप्रतिपादनपुरःसरा कर्तव्या। अन्यथा परपराजयनिबन्धनस्य विजयायोगात्। यदा च विजिगीषुणा स्वपक्षस्थापनेन परपक्षनिराकरणेन च सभाप्रत्यायनं विधेयम्, अन्यथा जयपराजयानुपपत्तेस्तदाऽसिद्धानैकान्तिकत्वसाधनदोषोद्भावनेऽपि न वादिप्रतिवादिनोर्जयपराजयौ, प्रकृतार्थापरिसमाप्तेः। अथ स्वपक्षसिद्धेरभावात्प्रेक्षाभावादसाधनाङ्गवचनं वादिनो निग्रह-

कल्पनात । तस्यापि साधनमङ्गात् । अथ वादिनः साधनवचनाभिधानानन्तरं प्रतिवादिना दूषणेन पराजयः, प्रतिपादितस्तु समर्थनदा येऽज्ञानाज्ञयः । न । यदि स्वपक्षसिद्धिमकुर्वता प्रतिवादिना स्वपरोक्तदोषदर्शनमात्रमात्रेण वादी निगृह्यते स्वपक्षसाधनम्, नहीं सम्मूतदोषोद्भावनेनापि निरस्तदोषत्वात् चामोरकत्वेन वादिना इमा विस्तरमाप्ति, वादिनो निर्दोषसाधना-भिधानेऽपि पराजयप्रसक्तिः । अथ स्वपक्षं साधयति साधनस्यास-मर्थत्वेन स्वपक्षासिद्धेरभावाद् वादिना पराजयं स्याद्याम्नास् एव । न । तथापि पराजयप्रसक्तेः । न हि भूतदोषेऽपि तत्कालीनतमनासमाथनमा येन प्रतिवादिना प्रदर्शनीयम् तदनुमानमेव, एवम् स्वपक्षसाधनसामर्थ्यविकलेन वादी निगृह्यते इति न्यायोपपत्तिः । यत्र प्रतिवाद्यपक्षसाधकस्य साधनस्य दोषोद्भावनात् स्वपक्षसिद्धिमकुर्वन् निरस्ताभिनिवेशो निगृहीत इति यत् । न । तत्रासाधनमासे दिग्दुष्टत्वात् । तदुक्तम्-"स्वसाधने कृतवति सदोषे दूषणं वदन् । विपक्षे न तदाऽविति, न स्तुमः स्तेने गमपते । १ ।" इत्यादि यादृश्यपक्ष-साधकस्य स्वपक्षसिद्धिः स्वपक्षस्य साधनमिति न्यायात् सर्वस्य एकान्त-साधनस्य दोषात्, तदभावेन साधयितुमशक्यत्वात्, अनेकान्त-स्य च सिद्धत्वात् तत्र दोषोद्भावनस्याभावात्, तेन तदुद्भावनस्य वा निर्दोष पराजयाधिकरणत्वात्, तदुद्भावनं वा तत्र निग्रहादे-रवादित्वात् विपर्येयस्यैवेति । तदनन्तरं मिथ्यादर्शनसमूहमय-त्वं, भाविकार्यं वा । न विघाते तत्र महता वादिविशेषस्याप्यत्र सामग्र्याः । तं सारयति प्रापयति पां, तस्याप्यन्यधर्मात्, कारणस्याद्, गाहम-तिपादकत्वात् " स्मयमावन " इति पाठेऽमृतसारत्वात्तद् इत्यमृतस्यादन, अमृततुल्यमिति यावत् । तथा चाऽऽध्येयत्वा-नुबन्धतुल्यविशेषरूपत्वात् इति जिनवचनस्य, तस्य, अनेन विधि-प्रतिषेधानुष्ठानलक्षणं प्रमाण निगमयति । कीदृशाऽऽभवाऽऽ-धर्मकरणाधिकरणाऽऽदिमतो भगवत इति, अनेनापि विशेषणेन तस्यैहिकसर्वाशेषरूपत्वं स्पष्टयति । संविग्न समासमयोर्द्वयोरपि भूतमे; शास्त्राभिलाषेण यदि परमात्मार्थं तदा समुत्सुकरिदमेव जिन-वचनं ताप्यमिति । एव सुखेनाभिगम्यते यतस्तविग्नसुखाभिगम्य, तेनापि विविधदुःखजालिराशीनामनन्तसंसारित्वप्रतिपादनमिदस्याय-मस्य प्रतिपादयति । एवंविधगुणास्याभिलषितस्य जिनवचनस्य सा-मायिकाऽऽदिविशेषवत्वार्थकतद्गुणानुरोधे कल्याणमस्त्विति प्र-करणसमाप्तावप्यमङ्गलमपासनार्थं विविधी स्तुतिमाहेति । सम्म० ३ काण्ड ।

जिनवदन-न० । जिनमुखे, औ० ।

जिणवयणकप्परुक्ख-जिनवचनकल्पवृक्ष-पुं० । जिनाऽऽगमरूपे कल्पवृक्षे, " जिणवयणकप्परुक्खो, अणेगसुत्तत्थसालविच्छि-ण्णो । तवनियमकुसुमगुच्छो, सुगइफलबंधणो जयइ ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जिणवयणधम्माणुरागरत्तमण-जिनवचन [वदन] धर्मानु-रागरक्तमनस्-त्रि० । जिनवचने जिनवदने वा धर्मानुरा-गेण रक्तं मनो यस्य स तथा । तस्मिन्, औ० ।

जिणवयणपदुट्ठ-जिनवचनप्रद्विष्ट-त्रि० । जिनाऽऽगमप्रद्विष्टे, " जिणवयणपदुट्ठ " जिनास्तीर्थकराः, तेषां वचनमागमल-क्षणं तस्मिन् प्रद्विष्टा अप्रीता इति । दशा० १ अ० ।

जिणवयणबाहिरमइ-जिनवचनबाह्यमति-त्रि० । सर्वज्ञशासन-बहिर्मुखशेमुषीके, सू० १ श्रु० ।

जिणवयणमणुगइसुभासिय-जिनवचनानुगतिसुभाषित-त्रि० । जिनवचनमनुगत्याऽऽनुकूल्येन सुष्ठु भाषितं येन स तथा । तस्मिन्, स० ।

जिणवयणमणुगयमहियभासिय-जिनवचनानुगतमहित[जि-नवचनानुगताधिक]भाषित-त्रि० । जिनवचनमाचारादि, अ-नुगत अबद्ध, सार्थकमिदमित्यर्थः । महित पूजितमधिकं वा भाषितं यस्य सोऽऽदिमा स तथा । तस्मिन्, स० ।

जिणवयणविहि-जिनवचनविधि-पुं० । प्रवचनोक्ते प्रकारे, " जिणवयणविहीइ दो वि सद्धासा । " जिनवचनविधिना प्रवचनोक्तेन प्रकारेण । आ० ।

जिणवयणरुइ-जिनवचनरुचि-त्रि० । जिनाऽऽगमरुचिके, ध० र० ।

अथ च गुणवतः पञ्चमो भेदः ।

संप्रति जिनवचनरुचिरूप पञ्चम भेद व्याख्यानयन्नाह-

सवणकरणेसु इच्छा, होइ रुई सद्दहाणसंजुत्ता ।
एईइ विणा कत्तो, सुद्धी सम्मत्तरयणस्स ? ॥ ४६ ॥

श्रवणमाकर्णनं, करणमनुष्ठानं, तयोरिच्छा तीव्राभिलाषो, भव-ति, रुचिः, श्रद्धानसंयुक्ता प्रतीतिसंगता, जयन्तश्राविकाया इवे-ति । एतया एव प्राधान्यख्यापनायाऽऽह-एतया छिद्ररूपया रुच्या, विनाऽन्तरेण, कुत शुद्धिः ?, न कुतोऽपीत्याकूतम् । सम्य-क्त्वरत्नस्य शुश्रूषा धर्मरागरूपत्वात्तस्य, तयोश्च सम्यक्त्वसह-भाविलिङ्गतया प्रसिद्धत्वात् । उक्तं च-"सुस्सुसधम्मराओ, गुरुदे-वाण जहासमाहीए । वेयावच्चे नियमो, सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं" ॥१॥ इति पञ्चमगुणभावना । अन्ये तु पञ्चगुणानित्थमभिदधति-
"सुत्तरुई अत्थरुई, करणरुई चेवऽणभिनिवेसरुई ।
गुणवंते पंचमिया, अणिछिउच्छाहिया होइ ॥ १ ॥ "
अत्रापि सूत्ररुचिः पठनाऽऽदिस्वाध्यायप्रवृत्तिः, अर्थरुचि-श्चाऽभ्युत्थानाऽऽदिविनय गुणिनां प्रयुङ्क्ते । करणानभिनिवेशौ तुल्यावेव । अनिच्छितोत्साहता पुनरिच्छावृद्धिरेवेति न विरोध [आशङ्कनीय इति । ध० र० । (जिनवचनरुचिविषये जयन्ती-श्राविकाकथा ' जयन्ती ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४१६ पृष्ठे गता)

जिणवयणसुइ-जिनवचनश्रुति-स्त्री० । जिनाऽऽगमश्रवणे, " सु-लहा सुरलोयसिरी, रयणायरमेहला मही सुलहा । निव्वुइसु-हजणियरुई, जिणवयणसुई जए दुलहा " ॥१॥ चि । आ० क० ।

जिणवयणाकण्णण-जिनवचनाऽऽकर्णन-न० । तीर्थकरभाषि-तश्रवणे, "तत्ताहिगमो हि तहा, जिणवयणाऽऽयण्णणस्स गुणा ।" जिनवचनाऽऽकर्णनस्य तीर्थकरभाषितश्रवणस्य एते गुणाः । आ० ।

जिणवर-जिनवर-पुं० । जिनाः छद्मस्थवीतरागाः, तेषां वराः । पञ्चा० ४ विव० । प्रश्न० । रागाऽऽदिजयाज्जिनाः, अवधिमनः-पर्ययोपशान्तमोहक्षीणमोहाः, तेषां मध्ये वराः सामान्यकेवलि-नो जिनवराः । स्था० । जिनानां वरा उत्तमाः, भूतभवद्भाविभावस्वभावावभासिकेवलज्ञानकलितत्वात् । प्रज्ञा० १ पद । श्रुताऽऽदिजिनप्रधाने केवलिनि, आव० २ अ० । "चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु । " जिनवराः श्रुताऽऽदिजिने-भ्यः प्रकृष्टाः । ध० २ अधि० । पञ्चा० । जिना रागद्वेषाऽऽदिजयन-शीलाः सामान्यकेवलिनः, तेषु तेषां वा वरः प्रधानोऽतिशया-पेक्षया श्रेष्ठो जिनवरः । तं० । तीर्थकरे, आव० २ अ० । "तित्थयरे

जिणवरे" रागद्वेषमोहजितो जिना , एवभूताश्च सामान्यकेवलिनोऽपि भवन्तीति तद्व्यवच्छेदार्थमाह-वरा प्रधाना चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितत्वेन । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । "लोऊण जिणवरमय, " जिनवराणां तीर्थकराणां मतमभिप्रायम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । द० प० । "जगमत्थयट्टियाण,वियसियवरनाणदसणधराण । नाणुज्जोयगराण, लोगम्मि नमो जिणवराण ॥१॥ " द० प० ४ प० ।

जिणवरिंद–जिनवरेन्द्र–पुं० । जिनाश्छद्मस्थवीतरागाः, तेषां वराः प्रधानाः केवलिनः ,तेषामिन्द्रास्तीर्थकरनामकर्मोदयवर्तित्वाद् नानाविधातिशयसमेतत्वाच्च तीर्थकराः। अतस्तेषां, जिनवरेन्द्राणामित्यर्थः । "पूजाए जिणवरिंदाण । " पञ्चा०४ विव० । "वदामि जिणवरिंदं" । प्रज्ञा० १ पद । (जिनवरेन्द्रमिति) जयन्ति रागाऽऽदिशत्रूनभिभवन्ति ये ते जिनाः, ते च चतुर्विधाः । तद्यथा-श्रुतजिना ,अवधिजिनाः,मनःपर्यायजिनाः,केवलिजिनाः। तत्र केवलिजिनत्वप्रतिपत्तये वरग्रहण, जिनानां वरा उत्तमाःभूतभवद्भाविभावस्वभावावभासिकेवलज्ञानकलितत्वाद् जिनवराः, ते चातीर्थकरा अपि सन्तः सामान्यकेवलिनो भवन्ति, ततस्तीर्थकरत्वप्रतिपत्त्यर्थमिन्द्रग्रहणम, जिनवराणामिन्द्रो जिनवरेन्द्रः, प्रकृष्टपुण्यस्कन्धरूपतीर्थकरनामकर्मोदयात्तीर्थकर इत्यर्थः । प्रज्ञा० १ पद ।

जिणवसह–जिनवृषभ–पुं० । जिनश्रेष्ठे, " अस्सजल जिणवसह । " असज्वल जिनवृषभम् । स० ।

जिणवाणी–जिनवाणी–स्त्री० । अर्हद्वचने, " विलसतु मनसि सदा मे, जिनवाणी परमकल्पलतिकेव । कल्पितसकलनरामर-शिवसुखफलदा न दुर्ललिता" ॥१॥ च० प्र० १ पाहु० । " देवा देवीं नरा नारीं, शाबराश्चापि शाबरीम् । तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं, मेनिरे भगवद्गिरम् " ॥ १ ॥ दश० १ अ० ।

जिणविज्ज–जिणवैद्य–पुं० । जिनभिषग्वरे, आव० ।

जह सव्वसरीरगयं, मंतेण विसं णिरुंभए ढके ।
तत्तो पुणोऽवणिज्जइ, पहाणतरमंतजोगेण ॥ १७३ ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, सर्वशरीरगत सर्वदेहव्यापक,मन्त्रेण विशिष्टवर्णानुपूर्वीलक्षणेन, विष मारणाऽऽत्मकद्रव्य, निरुध्यते निश्चयेन ध्रियते,क्व?,ढङ्के तद्भिन्नदेशे, ततो ढङ्कात् पुनरपनीयते । केन?, इति,अत आह-प्रधानतरमन्त्रयोगेन, श्रेष्ठतरमन्त्रयोगेनेत्यर्थः। "मतजोगेहिं" इति च पाठान्तरम् । तत्र मन्त्रयोगाभ्यामित्यर्थ । अत्र पुनर्योगशब्देनागद परिगृह्यते । इति गाथार्थः ॥१७३॥

एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनय –

तह तिहुअणतणुविसयं, मणोविसं मंतजोगबलजुत्तो ।
परमाणुम्मि णिरुंभइ,अवणेइ तओ वि जिणविज्जो।१७४।

" तह " इत्यादि । तथा त्रिभुवनतनुविषय, त्रिभुवनशरीराऽऽलम्बनमित्यर्थः । मन एव भवमरणनिबन्धनत्वाद् विष मनोविष, मन्त्रयोगबलयुक्तो जिनवचनध्यानसामर्थ्यसपन्न , परमाणौ निरुणद्धि, तथाऽचिन्त्यप्रयत्नाच्च अपनयति, ततोऽपि तस्मादपि परमाणो , क ?, जिनवैद्यो जिनभिषग्वर इति गाथार्थः ॥ १७४ ॥ आव० ४ अ० ।

जिणवीरणाह–जिणवीरनाथ–पुं० । महावीरस्वामिजिने, "बन्धोदयोदीरणसत्पदस्य,निःशेषकर्मारिबल निहत्य । य सिद्धिसाम्राज्यमलंचकार, श्रियं स वः श्रीजिनवीरनाथः " ॥ १ ॥ कर्म० २ कर्म० ।

जिणसंकास–जिनसङ्काश–पुं० । सर्वज्ञसदृशे, कल्प० ६ क्षण । सकलसशयच्छेदकत्व, स्था० ३ ठा० २ उ० । "अजिणा जिणसकासाण " । अजिनानामसर्वज्ञत्वाद् जिनसकाशानामविसवादिवचनत्वाद् यथापृष्टनिर्वचनत्वाच्च । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जिणसंथव–जिनसंस्तव–पुं० । " लोगस्सुज्जोयगरे " इत्यादिरूपायां जिनस्तुतौ, दश० ५ अ० १ उ० ।

जिणसकहा–स्त्री०–जिनसक्थि–न० । जिनास्थिनि, भ० ।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए माणवए चेइए खंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहुओ जिणसकहाओ सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति ॥

(जिणसकहाओ त्ति) जिनसक्थीनि जिनास्थीनि । भ० १० श० ५ उ० । सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । सू० प्र० १८ पाहु० । (सभास्थितजिनसक्थ्यनुरोधाधिन्द्रा सभाया मैथुन कर्तु न शक्नुवन्तीति ' अग्गमहिषी ' शब्दे प्रथमभागे १७२ पृष्ठे उक्तम्)

जिणसासण–जिनशासन–न० । रागद्वेषमोहलक्षणान् शत्रून् जितवन्त इति जिना , तेषां शासनं जिनशासनम् । सम्म० १ काण्ड । जिनप्रवचने, दश० १ अ० । वीतरागवचने, " सुद्धाण जिणसासणं । "(२५ गाथा) दश० ८ अ० । जिनाऽऽज्ञायां च, " णिक्खंता जिणसासणे । " जिनशासने जिनाऽऽज्ञायाम् । उत्त० १८ अ० । सूत्र० ।

" समस्तवस्तुविस्तारे, व्यासर्पत्तैलवज्जले ।
जीयाच्छ्रीशासन जैन, धीदीपोद्दीप्तिवर्द्धनम् ॥ २ ॥
यत्प्रभावादवाप्यन्ते, पदार्था कल्पनां विना ।
सा देवी सविदे न स्ता दस्नकल्पलतोपमा ॥३॥" उत्त०१अ०।

जं च मे पुच्छसी काले, सम्मं सुद्धेण चेयसा ।
ता इं पाउकरे बुद्धे, तं नाणं जिणसासणे ॥ ३२ ॥

यच्च (मे इति) मां पृच्छसि प्रश्नयसि, काले प्रस्तावे, सम्यक् शुद्धेन अविपरीतबोधवता, चेतसा चित्तेन 'सकणे तृतीया' " ता " इति सूत्रत्वात् तत् (पाउकरि त्ति) प्रादुष्करोमि प्रकटीकरोमि, प्रतिपादयामीति यावत् । बुद्धोऽवगतसकलवस्तुतत्त्व । कुत पुनर्बुद्धोऽसि?,अत आह-तदिति यत्किञ्चिदिह जगति प्रचरति ज्ञान यथाविधवस्तुवबोधरूप,तज्जिनशासने,अस्त्विति गम्यते । ततोऽह तत्र स्थित इति तत्प्रसादाद्बुद्धोऽस्मीत्यभिप्राय । इह च यतस्त्व सम्यक् शुद्धेन चेतसा पृच्छस्यतः प्रतिक्रान्तप्रश्नादिरप्यह यत्पृच्छसि तत् प्रादुष्करोमीत्यतः पृच्छ यथेच्छमित्यैदम्पर्यार्थ । अथ वा-अत एव लक्ष्यते यथा " अप्पणो परेसिं च " इत्यादिना तस्यायुर्विज्ञानमवगम्य सजयमुनिनाऽसौ पृष्ट:-कियन्ममायुरिति?। ततोऽसौ प्राह-यच्च त्व मा कालविषय पृच्छसि तत्प्रागुक्तवान् बुद्ध सर्वज्ञोऽत एव तज्ज्ञान जिनशासने, व्यवच्छेदफलत्वाद् जिनशासन एव, न त्वन्यस्मिन् सुगताऽऽदिशासने, अतो जिनशासन एव यत्नो विधेय , येन यथाऽह जानामि तथा त्वमपि जानीषे, शेष प्राग्वदिति सूत्रार्थ ॥ ३२ ॥ उत्त० १८ अ० ।

जह जिणसासणनिरया, धम्मं पालेंति साहवो सुद्धं ।
न कुतित्थिएसु एवं, दीसइ परिपालणोवाओ ॥ ९३ ॥

यथा येन प्रकारेण, जिनशासननिरता निश्चयेन रताः, धर्मं शान्निरूपितशब्दार्थं, पालयन्ति रक्षन्ति, साधवः प्रव्रजिता', षड्जीवनिकायपरिज्ञानेन कृतकारिताऽऽदिपरिवर्जनेन च शुद्ध-मकलङ्क,नैवं मन्त्रान्तरीया.,तस्माश्च कुतीर्थिकेष्वेव,यथा साधुषु दृश्यते परिपालनोपायः, षड्जीवनिकायपरिज्ञानाऽऽद्यभावात्। उपायग्रहण च साभिप्रायकम्।शास्त्रोक्त मनुपायोऽत्र चिन्त्यते, न पुरुषानुष्ठान, कापुरुषा हि वितथकारिणोऽपि भवन्त्येवेति गाथाथ' ॥ ९३ ॥ दश० नि० १ अ० ।

जिणसासणपरंमुह–जिनशासनपराङ्मुख–त्रि० । जैनमार्गविद्वेषिणि,सूत्र०।"इर्या व सगया बाला,जिणसासणपरम्मुहा।" रागद्वेषजितो जिना., तेषां शासनमाज्ञा कषायमोहोपशमहेतुभूता, तत्पराङ्मुखा ससाराभिष्वङ्गिणो जैनमार्गविद्वेषिणः। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

जिणसिंहसूरि(ण्)–जिनसिंहसूरिन्–पु०। खरतरगच्छस्थे जिनचन्द्रसूरिशिष्ये स्वनामख्यात आचार्ये, ती० २१ कल्प। पट्टा०। अथ वैक्रमीये १६१५ वर्षे जातः, १६२३ वर्षे दीक्षितः, १६७० वर्षे सूरिपद प्राप्त., १६७४ वर्षे स्वर्गत । द्वितीयोऽप्येतन्नामा पूनमियागच्छे मुनिरत्नसूरिशिष्य., येनाममस्वामिचरित्रनामा ग्रन्थो रचितः। जै० इ० ।

जिणसीस–जिनशिष्य–पु० । गणधराऽऽदिके, स० ।

जिणसीसाणं चेव समणगणपवरगंधहत्थीणं थिरजसाणं परिसहसेणरिउबलपमद्दणाणं द (त) वदित्तचारित्तणाणसंमत्तसारविविहप्पगारप्पसत्थगुणसंजुयाणं अणगारमहरिसीणं अणगारगुणाण वण्णओ ।

जिनशिष्याणां चैव गणधरादीनाम,किंभूतानाम् ?, अत आह-श्रमणगणप्रवरगन्धहस्तिना, श्रमणोत्तमानामित्यर्थ । तथा-स्थिरयशसां, तथा-परीषहसैन्यमेव परीषहवृन्दमेव, रिपुबल परचक्र,तत्प्रमर्दनानां, तथा दवदहावाग्निरिव दीप्तान्युज्ज्वलानि, पाठान्तरेण-' तपोदीप्तानि ' यानि चारित्रज्ञानसम्यक्त्वानि, ते सारा' सफला विविधप्रकारविस्तारा., अनेकविधप्रपञ्चाः,प्रशस्ताश्च ये क्षमाऽऽदयो गुणास्तै सयुतानां, क्वचिद् गुणध्वजानामिति पाठ। तथा अनगाराश्च ते महर्षयश्चेत्यनगारमहर्षय , तेषामनगारगुणाना वर्णकः श्लाघा, आख्यायत इति योग'। स० ।

जिणसुंदर–जिनसुन्दर–पु०। सोमसुन्दरसूरिशिष्ये स्वनामख्याते तपागच्छीय आचार्ये, ग० ४ अधि० । येन दीपाऽऽवलीकल्पो नाम ग्रन्थो विरचित.। वैक्रमीये १४९६ वर्षेऽय विद्यमान आसीत्। जै० इ० ।

जिणसेहरसूरि [ण्]–जिनशेखरसूरिन्–पु० । खरतरगच्छीये जिनवल्लभसूरिशिष्ये, अनेन १२०४ वर्षे रुद्रपल्लीयगच्छ स्थापित , सम्यक्त्वसप्ततिका-शीलतरङ्गिणी-प्रश्नोत्तररत्नमालावृत्तिश्चेति ग्रन्था विरचिता.। जै० इ० ।

जिणसोक्खसूरि[ण्]–जिनसौख्यसूरिन्–पु० । खरतरगच्छीये जिनचन्द्रसूरिगुरौ, वैक्रमीये १७३९ वर्षेऽय जात , १७५१ वर्षे दीक्षित , १७६३ वर्षे सूरिर्जातः, १७८० वर्षे स्वर्गत.। जै० इ० ।

जिणहरिसगणि[ण्] जिनहर्षगणिन्–पु०। तपागच्छीये जिनचन्द्रसूरिशिष्ये,येन १५०२ वर्षे वीरमग्राममुषित्वा विचारामृतसग्रहो, रत्नशेखरनरपतिकथा चेति द्वौ ग्रन्थौ रचितौ। जै० इ० ।

जिणहंससूरि[ण्]–जिनहंससूरिन्–पु० । बृहत्खरतरगच्छीये जिनसमुद्रसूरिशिष्ये आचाराङ्गोपरि दीपिकाकारक आचार्ये, जै० इ० ।

जिणाइभत्त-जिनाऽऽदिभक्त–पु०। तीर्थनाथानां सिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधुचैत्यानामन्येषा च गुणगरिष्ठानां बहुमानकरे, कर्म० १ कर्म० ।

जिणाएस–जिनाऽऽदेश–पुं०। अर्हद्वचने, "पव्वज्जाजायओ जिणाएसो । " प० व०१ द्वार।

जिणाणा–जिनाऽऽज्ञा–स्त्री०। वीतरागोक्तवचनपद्धतौ, "सानुबन्धा जिनाऽऽज्ञा च, तत्तप. शुद्धमिष्यते । " अष्ट० १ अष्ट० ।

जिणाणुचिण्ण–जिनानुचीर्ण–त्रि० । जिनैर्हिताऽऽप्त्यनिवर्तकयोगसिद्धैर्गणधारिभिरनुचीर्णे जिनानुचीर्णम । गणधरै. सम्यक्तदर्थावगमाऽऽसन्नशक्तिगर्भानिवर्तकसमप्राप्त्या धर्ममेघनामकसमाधिरूपेण परिणमिते, जी० । " जिणाणुचिण्णं जिणपण्णत्त । " जिना इह हिताऽऽप्त्यनिवर्तकयोगासिद्धा गणधारिणः परिगृह्यन्ते, विचित्रार्थत्वात् सूत्राणाम । जी० १ प्रति० ।

जिणाणुमय–जिनानुमत–त्रि० । जिनानामतीतानागतवर्तमानानामृषभपद्मनाभसीमन्धरस्वामिप्रभृतीनामनुमत जिनानुमतम । जिनानामानुकूल्येन सम्मते, " जिणमय जिणाणुमय " वस्तुतस्त्वमपवर्गमार्गं प्रति मनागपि विसवादाभावादिति जिनानुमतम । जी० १ प्रति० ।

जिणाणुलोम–जिनानुलोम–त्रि० । जिनानामवध्यादिजिनानामनुलोममनुगुण जिनानुलोमम । जिनानामनुगुणे, " जिणमयं जिणाणुमय जिणाणुलोम " एतद्वशादवध्यादिजिनत्वप्राप्ते । तथाहि-यथोक्तमिद जिनमतमासेवमाना' साधवोऽवधिमन -पर्यायकेवललाभमासादयन्त्येवेति । जी० १ प्रति० ।

जिणाययण–जिनाऽऽयतन–न० । जिनभवने, प० व० ४ द्वार । पञ्चा० ।

जिणालय–जिनाऽऽलय–न० । जिनभवने, सेन० । जिनाऽऽलये यद् धौतिढौकन करोति तत्कस्मिन् सूत्रे, प्रकरणे वाऽस्ति ?। तथा कुमतिन इत्थ कथयन्ति-धौतिढौकन देवनिर्माल्य जायत, तस्य पुष्पादि लात्वा कथ चटापयन्ति?,इति प्रश्ने,उत्तरम–धौतिढौकनमिति परम्परया ज्ञायते, तथा तन्निर्माल्य न कथ्यत । यत "भोगविणट्ठ दव्व, निम्मल्लं विंति गीयत्था । " इति श्राद्धवृत्तावुक्तत्वादिति । १२५ प्र० । सेन० २ उल्ला०। ज्ञानद्रव्यममारिद्रव्य च जिनगृहकार्ये आयाति, न वा ?, इति प्रश्ने,उत्तरम-ज्ञानद्रव्य जिनाऽऽलयकार्ये आयातीत्यक्षराण्युपदेशचिन्तामणौ सन्ति,अमारिद्रव्य तु महत्कारण विना न समायातीति ज्ञायते। ४९३ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। जिनाऽऽलयकार्यकर्तुरात्मीय कार्यं दीयते,न वा?, इति प्रश्न, उत्तरम्-जिनाऽऽलयस्थापकेन स्वकीयकार्यं न कार्यत इति । ४६२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । जिनाऽऽलये रात्रौ गीतगानाऽऽदि क्रियते, तत्करणे देवद्रव्यमुत्पद्यते, नान्यथा, तदा तत्कर्त्तव्य, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-शास्त्रानुसारेण

मूलविधिना गीतगानाऽऽदि न शुद्ध्यति,परं देवद्रव्योत्पत्तिका-रणेन रात्रावपि गीतगानाऽऽदिभावनाकरणे लाभो ज्ञायते इति । ७७ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

जिणावधिणाण–जिनावधिज्ञान–न० । ज्ञानभेदे,श्रीजिनानामव-धिज्ञान सदृश, किं वा विशेषः ?, इति प्रश्न, उत्तरम्–यो जिनो यतः समेति तस्य तत्स्थानसंबन्धि प्रवर्द्धमान चावधिज्ञान भवतीति, न सर्वेषां जिनानामवधिज्ञानसादृश्यमिति । १२८ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

जिणाहिय–जिनाऽऽहित–त्रि० । जिनैराहितः,जिनानां वा संबन्धी आहितो जिनाहितः। जिनप्रतिपादिते, जिनानुष्ठिते च । सूत्र० "चरे भिक्खू जिणाहियं ।" जिनैराहितः प्रतिपादितोऽनुष्ठितो यो मार्गो जिनानां वा सम्बन्धी योऽभिहितो मार्गस्तं चरेदनुति-ष्ठेत् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

जिणिऊण–जित्वा–अव्य० । जय क्त्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद । अप० । "एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः" । ८ । ४ । ४४० । इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रं-शे क्त्वाप्रत्ययस्य एप्पि, एप्पिणु,एवि,एविणु इत्यादेशाः । प्रा० ४ पाद । "गय गमिप्पिणु जो मुअइ,जो सिवतित्थ गमेप्पि । कीलदि तिदसाऽऽवासगउ, सो जमलोउ जिणेप्पि ॥१॥" प्रा० ४ पाद ।

जिणित्ता–जित्वा–अव्य० । जय क्त्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

जिणिंद–जिनेन्द्र–पुं० । जिननायके तीर्थकरे, "एत्थ इम व-णिअं जिणिंदेहिं ।" जिनेन्द्रैः जिननायकैः । पञ्चा० ५ विव० । औ० । प० व० । रा० ।

जिणिंदपण्णत्त–जिनेन्द्रप्रज्ञप्त–त्रि० । तीर्थकरप्रणीते, प० व० १ द्वार ।

जिणिंदवयण–जिनेन्द्रवचन–न० । जिनेश्वराऽऽगमे, पञ्चा० ।

> चित्तं चित्तपयजुअं, जिणिंदवयणं असेससत्तहिअं ।
> परिसुद्धमेत्थ किं तं, जं जीवाणं हिअं णऽत्थि ? ॥३१॥

चित्रम्—अद्भुतमनेकातिशयाभिधानत्वादङ्गानङ्गादिभेदत्वाद्वा चित्रमनेकविधं, तथा चित्रपदयुतम्–नानाविधार्थप्रतिपादका-भिधानयुक्तम्, जिनेन्द्रवचनं–जिनेश्वराऽऽगमः, अशेषसत्त्वहितं समस्तप्राण्युपकारकं भव्यानुसारेण मार्गप्रतिपत्त्युपायप्रतिपा-दनपरत्वात्,परिशुद्धं कषच्छेदतापविशुद्धं सुवर्णमिव निर्दोषम् । एवं च अत्रास्मिन् जिनवचने,किं तद् ?, यज्जीवानां हितं नास्ति ?, सर्वमपि जीवानां हितमस्तीत्यत इदं तपः परिदृश्यमानाऽऽगमे-ऽनुपलभ्यमानमप्युपलब्धमिवावगन्तव्यं, तथाविधजनहितत्वा-दिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ पञ्चा० १९ विव० ।

जिणिस्सर–जिनेश्वर–पुं० । जिनेन्द्रे तीर्थकरे, पञ्चा० १९ विव० ।

जिणिस्सरसूरि [ण्]–जिनेश्वरसूरिन्–पुं० । श्रीवर्द्धमानसूरि-शिष्ये अभयदेवसूरिगुरौ स्वनामख्याते आचार्ये, स्या० १० गा० । एतस्मादेवाऽऽचार्यात् खरतरगच्छः प्रवृत्तः,अयमाचार्यो वैक्र-मीये १०८० वर्षे विद्यमान आसीत् । एतेन जावालपुरमुषित्वा हा-रिभद्राष्टकटीका, पञ्चलिङ्गीप्रकरण, वीरचरित्र,लीलावतीक-था,रत्नकोशश्चेत्यादिका अनेके ग्रन्था रचिताः । जै० इ० । तथा च स्याद्वादमञ्जर्यां–श्रीमच्चन्द्रकुलीनप्रवचनप्रणीताप्रतिबद्धविहारहा-रिचरितश्रीवर्द्धमानाभिधानमुनिपतिपादोपसेविनः प्रमाणाऽऽ-दिव्युत्पादनप्रवणप्रकरणप्रबन्धप्रणयिनः प्रबुद्धप्रतिबन्धकप्र-वक्तृप्रवीणाप्रतिहतप्रवचनार्थप्रधानवाक्प्रसरस्य सुविहितमु-निजनमुख्यस्य श्रीजिनेश्वराऽऽचार्यस्य । स्या० १० गा० ।

> " यो जैनाभिमतं प्रमाणमनघं व्युत्पादयामासिवान्,
> प्रस्थानैर्विविधैर्निरस्य निखिलं बौद्धाऽऽदिसम्बन्धि तत् ।
> नानावृत्तिकथाः कथापथमतिक्रान्तं च चक्रे तपः,
> निःसम्बन्धविहारमप्रतिहतं शास्त्रानुसारात्तथा ॥ ७ ॥
> तस्याऽऽचार्यजिनेश्वरस्य मदवद्वादिप्रतिस्पर्द्धिनः,
> तद्बन्धोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरेर्भुवि ।
> छन्दोबन्धनिबद्धबन्धुरवचःशब्दादिसल्लक्ष्मणः,
> श्रीसंविग्नविहारिणः श्रुतनिधेश्चारित्रचूडामणेः ।" ॥८॥ ज्ञा० २ श्रु० ५ वर्ग १ अ० ।

तथा च पञ्चाशकवृत्तौ वर्द्धमानवर्णनमुपक्रम्य–

> " शिष्योऽभवत्तस्य जिनेश्वराऽऽख्यः,
> सूरिः कृतानिन्द्यविचित्रशास्त्रः ।
> सदा निरालम्बविहारवर्त्ती,
> चन्द्रोपमश्चन्द्रकुलाम्बरस्य " ॥ २ ॥ पञ्चा० १६ विव० ।

अष्टके वीरजिनमारभ्य वर्द्धमानमुनिपर्यन्तमुपवर्ण्य–

> "संवेगरङ्गशाला-ग्रन्थार्थकथनसूत्रधरतुल्यः ।
> सूरिर्जिनेश्वराऽऽख्यः, सिद्धिविधेः साधने धीरः " ॥३॥ अष्ट० ३२ अष्ट० ।

अन्योऽप्येतन्नामा राजगच्छीयो वज्रशाखाया को-टिकगणमध्यगोऽभयदेवसूरिशिष्योऽजितसेनगुरुः, तेन जैननैष-धीयकाव्यं रचितं, स च वैक्रमीये १०५० वर्षे विद्यमान आसीत् । अपरश्च वैक्रमीये १२६२ वर्षे आसीत्, स च सूरिप्रभसूरिशिष्यः । चतुर्थश्च खरतरगच्छे जिनप्रबोधसूरिशि-ष्यः चन्द्रप्रभचरित्रग्रन्थरचयिता आसीत् । तस्य जन्म १२-४५ वर्षे, दीक्षा १२५५ वर्षे, सूरित्वं १२५८ वर्षे, स्वर्गतिः १३३१ वर्षे समभवत् । जै० इ० ।

जिणुज्जाण–जिनोद्यान–न० । अवन्तीजनपदस्थोज्जयिनीनग-रोत्तरपार्श्ववर्तिनि स्वनामख्याते उद्याने, ग० ५ अधि० । नि० चू० ।

जिणुत्तम–जिनोत्तम–पुं० । तीर्थकरे, " मग्ग विराहित्तु जिणु-त्तमाण ।" जिनोत्तमानां तीर्थकराणाम् । उत्त० २० अ० ।

जिणेप्पि–जित्वा–अव्य० । जय क्त्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

जिणेस–जिनेश–पुं० । अर्हति, "जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कैः ।" जिनेशगीरर्हद्वाणी । द्व्या० ६ अध्या० ।

जिणेसर–जिनेश्वर–पुं० । जिनेन्द्रे, तीर्थकरे, पञ्चा० १९ विव० ।

जिणेसरसूरि [ण्]–जिनेश्वरसूरिन्–पुं० । " जिणिस्सरसूरि " शब्दार्थे, जै० इ० ।

जिणोवइट्ठ–जिनोपदिष्ट–त्रि० । तीर्थकराभिमते, " जिणो-वइट्ठेण भावेण ।" ग० २ अधि० ।

जिणोवएस–जिनोपदेश–पुं० । द्वादशाङ्गे प्रवचने, " ण वि त-च्चाओ जिणोवएसम्मि ।" सम्म० ३ काण्ड ।

जिण्ण–जीर्ण–त्रि० । "उज्जीर्णे" । ८ । १ । १०२ । इति प्राकृतसू-त्रेण जीर्णशब्दे इत उत्वे–'जुण्णो' उत्वाभावपक्षे–'जिण्णो' । प्रा० १ पाद । हानियुक्ते, भ० १ श० १ उ० । "जुण्णे जराजज्जरियदेहे" । जीर्णो हानिगतदेहः । भ० १६ श० ४ उ० । उत्त० । अनु० । यथा निःसारं, "जहा जुण्णाइं कट्ठाइं, हव्ववाहो पमत्थति" । यथा जीर्णानि निःसाराणि काष्ठानि हव्यवाहो हुतभुक् प्रमथ्नाति शीघ्रं भस्मसात् करोति । आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । "अप्पेगइ-

या द्वावदवरुक्खा छुधा । " जीर्णा इव जीर्णाः । ज्ञा० १ श्रु० १० अ० । प्राकृते क्वचिद्दुत्वं न भवति । " जिरो भोयणमत्तेओ । " प्रा० १ पाद । आ० चू० । जरायुके, जीरके, पुं० । हैलजे, न० । स्थूलजीरके, स्त्री० । वाच० । परिणतवयसि, बृ० १ उ० ।

जिराणकुमरी–जीर्णकुमारी–स्त्री० । वृद्धायामपरिणीतायां स्त्रियाम्, " जिण्णा कुमरकुमरी । " जीर्णा जीर्णशरीरा, जरणाद् वृद्धेत्यर्थः । सैव जीर्णत्वापरिणीतत्वाभ्यां जीर्णकुमारी । ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग १ अ० । नि० ।

जिराणगुल–जीर्णगुड–पुं० । निस्सारगुडे, जीर्णगुडस्य पिण्डीभवनलक्षणो बन्ध इति । भ० ८ श० ६ उ० । अनु० ।

जिराणघय–जीर्णघृत–न० । निस्सारघृते, अनु० ।

जिराणतंदुल–जीर्णतण्डुल–पुं० । निस्सारतण्डुलस्य पिण्डीभवनलक्षणो बन्धः । भ० ८ श० ६ उ० । अनु० ।

जिराणतया–जीर्णत्वक्–स्त्री० । सर्पकञ्चुके, " भुजगमे जुण्णतय जहा जहे, विमुच्चती से दुहसेज्ज माहणे । " यथा सर्पः कञ्चुकं त्यक्त्वा निर्मलो भवत्येव मुनिरपि दुःखशय्यातो नरकाऽऽदिभवाद्विमुच्यत इति । आचा० २ श्रु० ४ चू० ।

जिराणदुग्ग–जीर्णदुर्ग–न० । गूर्जरधराऽधिपस्य तेज पालमन्त्रिणा कारितपुरादूरे गिरिनारतलस्थे उग्रसेनगढापरनामके दुर्गे, ती० । "अणहिल्लवाडयपट्टणे य पोरवालकुलमंडणा आसरायकुमरदेवतणया गुज्जरधराऽहिवइसिरीवीरधवलरज्जधुरंधरा वत्थुपालतेजपालनामधिज्जा दो भायरा मतिवरा हुत्था । तत्थ तेजपालमंतिणा गिरिनारतले नियनामंकिअं तेजपालपुरं ठाविय, जस्स उ पुव्वदिसाए उग्गसेणगढं नाम दुग्गं जुगाइनाहप्पमुहजिणमंदिररायहिअं विरायइ; तस्स य तिरिण नाम पसिद्धाइं । त जहा–उग्गसेणगढं ति वा, खंगारगढं ति वा, जुण्णदुग्गं ति वा । गढस्स बाहिं दाहिणदिसाए चउरिआवेदिलहुप्पभरियायसु वाडयाइं ठाणाइं चिट्ठति, उत्तरदिसाए विसालथंभसालासोहिओ दसदुवारमंडवो, गिरिदुवारे य पचमो हरी दामोअरो सुवरणरेहानईपारे वट्टइ ।" ती० ४ कल्प ।

जिराणसुरा–जीर्णसुरा–स्त्री० । निःसारसुरायाम्, जीर्णसुराया स्त्यानीभवनलक्षणो बन्धः । भ० ८ श० ६ उ० । अनु० ।

जिराणसेट्ठि [ण्]–जीर्णश्रेष्ठिन्–पुं० । श्रेष्ठिपदाच्च्युते श्रेष्ठिनि, ध० र० ।

" पुरी समस्ति वैशाली, शालीनजनशालिनी ।
तत्राऽऽसीत्परमश्राद्धो, जिनदत्ताभिध सुधीः ॥ १ ॥
सदा जिनपदाम्भोज–सेवनैकसितच्छदः ।
च्युत श्रेष्ठिपदाज्जीर्ण श्रेष्ठित्वेन स विश्रुत " ॥ २ ॥

ध० र० । " वाणारसीए भद्दसेणो जुण्णसेट्ठी । " आव० ४ अ० । कल्प० ।

जिराणाजिराण–जीर्णाजीर्ण–त्रि० । अर्द्धजीर्णे, तच्चायु क्षयनिमित्तम् । " जिराणाजिराणे य भोयणे बहुसो । " आ० म० प्र० । आ० क० ।

जिराणासा–जिज्ञासा–स्त्री० । बुभुत्सायाम्, पञ्चा० ४ विव० ।

जिराणुज्जाण–जीर्णोद्यान–न० । राजगृहनगरस्योत्तरपश्चिमदिशि स्थिते स्वनामख्याते उद्याने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जिराणुद्धार–जीर्णोद्धार–पुं० । जीर्णस्य भग्नमन्दिरादेरुद्धारो यत्न । संस्कारभेदे, वाच० । ध० ।

" नवीनजिनगेहस्य, विधाने यत्फलं भवेत् ।
तस्मादष्टगुण पुण्य, जीर्णोद्धारेण जायते ॥ १ ॥
जीर्णे समुद्धृते याव–त्तावत्पुण्य न नूतने ।
उपमर्दो महांस्तत्र, स्वचैत्यख्यातिधीरपि ॥ २ ॥

तथा—

राया अमच्च सिट्ठी, कोडुंबीए वि देसणं काउ ।
जिराणे पुव्वाऽऽययणे, जिणकप्पी वा वि कारवइ ॥ ३ ॥
जिराणभवणाइ जे उ–द्धरंति भत्तीइ सडिअपडिआइ ।
ते उद्धरंति अप्पं, भीमाओ भवसमुद्दाओ ॥ ४ ॥ "

जीर्णचैत्योद्धारकारणपूर्वकमेव च नव्यचैत्यकारणमुचितम्; तत एव संप्रतिनृपतिना एकोननवतिसहस्रा जीर्णोद्धाराः कारिताः, नवचैत्यानि तु षट्त्रिंशत्सहस्राण्येव । एवं कुमारपालवस्तुपालाऽऽदैरपि नव्यचैत्येभ्यो जीर्णोद्धारा एव बहवो व्यधाप्यन्तेति । ध० २ अधि० ।

जिराणोब्भवा–स्त्री० । देशी–दूर्वायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

जित्तिअ–यावत्–त्रि० । यत्परिमाणे, " यत्तदेतदोऽतोरित्तिअ एतल्लुक् च " ॥ ८ । २ । १५६ ॥ एभ्य परस्य डावाऽऽदेरतोः परिमाणार्थस्य ' इत्तिअ ' इत्यादेशो भवति, एतदो लुक् च । यावत्, ' जित्तिअ ' । प्रा० २ पाद ।

जिध–यथा–अव्य० । सादृश्ये, येन प्रकारेणेत्यर्थे च । "कथयथातथां थादेरेमेमेहेधा डित. " ॥ ८ । ४ । ४०१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण था इत्यस्य 'इध' 'इह' इत्यादेशौ भवतः प्रा० ४ पाद ।

जिब्भगार–जिह्वाकार–पुं० । जिह्वाकारके शिल्पिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जिब्भा–जिह्वा–स्त्री० । लेढि अनया लिह–व–नि० जः । "ह्वो भो वा" ॥८।२।५७॥ इति प्राकृतसूत्रेण वा भ । प्रा० २ पाद । "ईर्जिह्वासिंहत्रिंशद्विंशतौ त्या"॥८।१।९२॥ इति प्राकृतसूत्रेण ईकारविकल्पः । प्रा० १ पाद । रसज्ञानेन्द्रिये, रसनायां च । वाच० । प्रश्न० । जं० । औ० । प्रज्ञा० । "सत्तगुलिया जीहा ।" जिह्वा मुखाभ्यन्तरवर्तिमांसखण्डरूपा दैर्घ्येणाऽऽत्माङ्गुलत सप्ताङ्गुला । तं० । "जिब्भ विणिक्कस्स विहत्थिमित्त ।" मद्यमांसरसाभिलिप्सोर्मृषाभाषिणो जिह्वां वितस्तिमात्रामाकृष्य तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्ति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । उत्त० । उपा० ।

जिब्भादुट्ठ–जिह्वादुष्ट–पुं० । जिह्वया दुष्टे, आव० ४ अ० । उत्त० ।

जिब्भादोस–जिह्वादोष–पुं० । जिह्वाविकारे, आव० ४ अ० ।

जिब्भामय–जिह्वामय–पुं० । जिह्वेन्द्रियहानौ, स्था० ६ ठा० ।

जिब्भामयदुक्ख–जिह्वामयदुःख–न० । जिह्वेन्द्रियहानिरूपे दुःखे, " जिब्भामएण दुक्खेण सजोएत्ता भवइ ।" जिह्वामयं जिह्वेन्द्रियहानिरूप यद् दुःख, तेन सयोजयिता भवति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जिब्भामयसोक्ख–जिह्वामयसौख्य–न० । जिह्वाया विकारो जिह्वामय, सौख्य रसोपलम्भाऽऽनन्दरूप जिह्वामयसौख्यम् । रसोपलम्भाऽऽनन्दरूपे जिह्वेन्द्रियसुखे, " जिब्भामयाओ सोक्खाओ ववरोवित्ता भवइ । " स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जिब्भिंदिय-जिह्वेन्द्रिय-न० । रसनेन्द्रिये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जिह्वेन्द्रियं च दुःखाय भवति ।

यथा दुःखाय भवति तथोदाहरणम्-

" भूप्रतिष्ठपुरे राजा, सोदासो मांसलोलुपः ।
अमारिघोषिताऽन्येद्यु-मांसं पर्युषितं पुन ॥ १ ॥
मार्जारो जगृहेऽन्यसु, न सुनास्वप्यभूत्तदा ।
राज्ञो भीतेन सूदेन, शिशुर्व्यापाद्य संस्कृतः ॥ २ ॥
भुञ्जानः पृष्टवान् राजा, मांसं स्वादिष्ठमद्य किम् ? ।
तेनाऽऽख्यातेऽभय दत्त्वा, हत्वैकैकं पचेः सदा ॥ ३ ॥
तच्च ज्ञातं जनैः सर्वैः, ततो राक्षस इत्यसौ ।
पाययित्वा महामद्य-मटव्यां छर्दितो नृपः ॥ ४ ॥
तत्राप्येकाकिनं व्यापा-द्याश्नाति स च मानुषम् ।
सार्थस्तत्राध्वनाऽगच्छत् , ज्ञातः सुप्तेन तेन न ॥ ५ ॥
आवश्यकं प्रकुर्वाणा , दृष्टाश्च मुनयः स्थिताः ।
शक्त्यात्याक्रमितुं तान्स, ततश्चिन्तां प्रपन्नवान् ॥ ६ ॥
आचार्यैः कथितो धर्मः,प्रबुद्धः प्राव्रजत् ततः ।
आचार्या ज्ञानिनोऽभूवन्, अभ्युदये स तैरनतः ॥ ७ ॥
भाषितः कति तादृक्षा , तद्वसङ्गाऽतिदुःखदा ।
जेतव्याऽसौ प्रयत्नेन,दुर्जया मोहनीयवत् ॥ ८ ॥ " आ०क० । आ० म० । आ० चू० ।

जिब्भिंदियनिग्गह-जिह्वेन्द्रियनिग्रह-पुं० ६ त० । जिह्वेन्द्रियस्य निग्रहे , जिह्वेन्द्रियस्य स्वविषयाभिमुखमनुधावतो नियमने, उत्त० ।

जिब्भिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । जिब्भिंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधेइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६५॥

हे भदन्त ! जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण जीवः किं जनयति ? । गुरुराह-हे शिष्य ! जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण जीवो मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति, तत्प्रत्ययिकं रागद्वेषनिमित्तकं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं रागद्वेषोपार्जितं कर्म निर्जरयति-क्षपयति । ॥ ६५ ॥ उत्त० २९ अ० ।

जिब्भिंदियपडिसंलीणया-जिह्वेन्द्रियप्रतिसंलीनता-स्त्री० । मनोज्ञामनोज्ञेष्वाहारेषु रागद्वेषपरिहाराऽऽत्मके आजीविकाना तपोभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

जिब्भिंदियबल-जिह्वेन्द्रियबल-न० । बलभेदे, स्था० १० ठा० ।

जिब्भिंदियमुंड-जिह्वेन्द्रियमुण्ड-पुं० । मुण्डभेदे, स्था० १० ठा० ।

जिब्भिंदियसंवर-जिह्वेन्द्रियसंवर-पुं० । रसनेन्द्रियसंवरणे, स्था० ।

तच्चैवम्-

चउत्थं जिब्भिंदिएण सातियरसाणि उ मणुण्णभद्दकाइं, किं ते ? , ओग्गाहिमविविहपाणभोयणगुलकयखंडकयतेल्लघयकयभक्खेसु बहुविहेसु लवणरससंजुत्तेसु महुमंसबहुप्पकारमज्जियनिट्ठाणगदालियंबसेहंबदुद्धदहिसरयमज्जवरवारुणीसीहुकापिसायणसायट्ठारसबहुप्पगारेसु भोयणेसु य मणुण्णवण्णगंधरसफासबहुदव्वसंभिएसु अन्नेसु य एवमाइएसु रसेसु मणुण्णभद्दएसु, न तेसु समणेणं सज्जियव्वं० जाव न सतिं च मतिं च तत्थ कुज्जा, पुणरवि जिब्भिंदिएण सातियरसाणि अमणुण्णपावकाइं, किं ते ? , अरसविरससीयलुक्खणिज्जप्पपाणभोयणाइं दोसीणवावण्णकुहियपूइयअमणुण्णविणट्ठपसूयबहुदुब्भिगंधियाइं तित्तकडुयकसायअंबिलरसलिंदनीरसाइं अन्नेसु य एवमाइएसु रसेसु अमणुण्णपावएसु-न तेसु समणेण रुसियव्वं० जाव चरेज्ज धम्मं ॥ प्रश्न० ५ संव० द्वार ॥ (टीकाऽस्य 'रसगिद्ध' शब्दे)

जिब्भिया-जिह्विका-स्त्री० । जिह्वा-कन्, टाप् । क्षुद्रमजिह्वायाम्, स० । शीतोदाया महानद्या प्रपातमधिकृत्य-"वइरामयाए जिब्भियाए " । वज्रमय्या जिह्विकया प्रणालस्थमकरमुखजिह्विकया । स० । " रोहियंसा णाम महाणई जओ पवडइ, एत्थ णं महं एगा जिब्भिया पण्णत्ता । " जं० ४ वक्ष० ।

जिम-भुज-धा० । भक्षणे, आत्म० । पालने, पर० सक० रुधादि० अनिट् । " भुजो भुञ्जजिमजेमकम्माण्हसमाणचमढचड्डा " । ८ । ४ । ११० । इति प्राकृतसूत्रेण भुजेर्जिमाऽऽदेशः । "जिमइ-जेमइ" प्रा० ४ पाद । भुङ्क्ते अन्नम्, अभौक्षीत, भूमिं भुनक्ति पालयति । वाच० । ' जिमइ-जेम्मइ ' । प्रा० ४ पाद ।

जिम-धा० । भक्षणे, जेमति, अजेमीत् । वाच० ।

जिमिय-जिमित-त्रि० । कृतभोजने, विपा० ३ अ० । "जिमियभुत्तुत्तरागए " । जिमितो भुक्तवान् । भ० ३ श० १ उ० । ज्ञा० ।

जिम्म-जिह्म-त्रि० । हा-मन्-द्वित्वादि० नि० । " पक्ष्मश्मष्मस्मह्मां म्हः " ॥ ८ । २ । ७४ ॥ इत्यादिसूत्रेण म्हः कवचित्र भवति । प्रा० २ पाद । कुटिले, मन्दे, तगरवृक्षे च । वाच० । "अजिम्मकतणयणा" अजिह्मे अमन्दे भद्रभावतया निर्विकारचपले कान्ते नयने यासां तास्तथा । जं० २ वक्ष० । स० । कौटिल्ये, न० । तदात्मके मायाकषायान्तर्गते मोहनीयकर्मभेदे च । स० ७४ सम० ।

जिम्मजड-जिह्मजड-त्रि० । मायारहिते, "जिम्मजडाइ ति विस्सभे । " जिह्मजडानि जिह्मेन मायया रहितानि । व्य० ३ उ० ।

जिम्मय-जिह्मक-पुं० । मेघभेदे, स्था० ५ ठा० । " जिम्हेण महामेहे बहूवासेहिं एगं वासं भावेइ वा, ण वा भावेइ । " जिह्मस्तु बहुभिर्वर्षणैरेकमेव वर्षमब्दं यावद् भुवं भावयति, नैव वा भावयति, रूक्षत्वात्तज्जलस्येति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जिम्ह-जिह्म-त्रि० । ' जिम्म ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

जिम्हजड-जिह्मजड-त्रि० । 'जिम्मजड' शब्दार्थे, व्य० ३ उ० ।

जिम्हय-जिह्मक-पुं० । ' जिम्मय ' शब्दार्थे, स्था० ५ ठा० ।

जिम्ह-जिह्म-त्रि० । 'जिम्म' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

जिम्हजड-जिह्मजड-त्रि० । 'जिम्मजड' शब्दार्थे, व्य० ३ उ० ।

जिम्हय-जिह्मक-पुं० । 'जिम्मय' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जिय-जित-न० । जि-भावे क्त । जये, कर्मणि क्तः । अभिभूते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । पराजिते, ग० २ अधि० । जयलब्धे, वशीकृते, आयत्तीकृते च । त्रि० । वाच० । बृ० । सूत्र० । उत्त० । परावर्तनकाले, प्रश्नोत्तरकाले, शीघ्रमागच्छति, अनु० ।

सूत्राऽऽदौ परावर्तनं कुर्वत. परेण वा क्वचित्पृष्टस्य सतः यत् शीघ्रमागच्छति तज्जितम् । अनु० । विशे० । ग० । " जिय नाम-जत्थ पुच्छिओ तत्थ झगिति भणइ । " प० चू० ।

जियंतय-जीवत्-न० । हरितवनस्पतिकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जियंती-जीवन्ती-स्त्री० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जियकरण-जितकरण-पु० । करणदक्षे, " जियकरणविणीयं पगरथे । " जितकरणो विनीत इति द्वावप्येकार्थौ तात्पर्यविभान्त्या; शब्दार्थस्तु परस्परं भिन्नः; जितकरणो नाम-करणदक्ष उच्यते, विनीत इति विनयकरणशील. । व्य० ३ उ० ।

जियकसाय-जितकषाय-त्रि० । निगृहीतक्रोधाऽऽदिभावे, पञ्चा० १७ विव० । " तिलोगपुज्जे जिणे जियकसाए । " जितकषायान् निराकृतक्रोधाऽऽदिभावान् । पञ्चा० १० विव० ।

जियकोह-जितक्रोध-त्रि० । अभिभूतकोपे, द्वा० १२ द्वा० । विफलीकृतोदितक्रोधे, औ० । "जितेन्द्रिया जितक्रोधाः, दुर्गा-ण्यतितरन्ति ते । " द्वा० १२ द्वा० ।

जियक्ख-जिताक्ष-त्रि० । जितेन्द्रिये, " विणयकुसलो जियक्खगम्भीरो । " दर्श० ५ तत्त्व । पञ्चा० ।

जियणिद्द-जितनिद्र-त्रि० । जिता निद्रा आलस्यं येन स जितनिद्रः । त्यक्ताऽऽलस्ये, जं० ३ वक्ष० । औ० । अल्पनिद्रे,ग० १ अधि० । स हि रात्रौ सूत्रमर्थं वा परिजावयन् न निद्रया वाध्यते । प्रव० ६४ द्वार । अप्रमत्ते, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

जियणिद्दिंदिय-जितनिद्रेन्द्रिय-त्रि० । जितानि वशीकृतानि निद्रा इन्द्रियाणि यैस्ते जितनिद्रेन्द्रिया. । वशीकृतनिद्रेन्द्रिये, बृ० १ उ० ।

जियपरिसा-जितपरिषत्-त्रि० । महत्यामपि परिषदि क्षोभमनुपयाते, प्रव० ६४ द्वार । ग० । आचा० । स० ।

जियपरीसम-जितपरिश्रम-त्रि० । परिश्रमरहिते, कल्प० १ क्षण ।

जियपरीसह-जितपरीषह-त्रि० । जिताः पराजिताः परिषहाः शीतोष्णरूपा येन स जितपरिषहः । ग० ३ अधि० । औ० । शीताऽऽतपाऽऽद्यातुरत्वेऽप्यखिन्ने, जं० ३ वक्ष० ।

जियप्पा-जिताऽऽत्मन्-पु० । आत्मनो जेतरि, सूत्र० ।

तथा चोक्तम्-

" कोह माण च माय च, लोभ पंचिदियाणि य ।
दुज्जय चेव अप्पाण, सव्वमप्पे जिए जिय ॥ १ ॥
जो सहस्स सहस्साण, संगामे दुज्जये जिणे ।
एक्कं जिणेज्ज अप्पाण, एसे से परमो जओ " ॥ २ ॥

सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

जियभय-जितभय-त्रि० । अभये, स्था० ।

जियमाण-जितमान-त्रि० । विफलीकृतमाने, औ० ।

जियरागदोस-जितरागद्वेष-त्रि० । रागद्वेषरहिते, "जिणेहिं जियरागदोसेहिं । " जितरागद्वेषैर्विनतासत्यवादकारणै । पञ्चा० ६ विव० ।

जियलोह-जितलोभ-त्रि० । विफलीकृतलोभे, औ० ।

जियवं-जितवत्-त्रि० । प्राप्तजये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जियसत्तु-जितशत्रु-पु० । पराजितशत्रौ, " जियसत्तू पवररायसीहा । " प्रश्न० ४ संव० द्वार । अजितजिनस्य पितरि, प्रव० १२ द्वार । आव० । स० । "विजया जियसत्तुपुत्तस्स । " ति० । वाणिज्यग्रामवास्तव्ये नृपे, "तत्थ ण वाणियग्गामे जियसत्तू राया । " उपा० १ अ० । चम्पानगरीवास्तव्ये नृपे, "चंपा नाम नयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए, जियसत्तू राया । " उपा० १ अ० । छत्रानगरीवास्तव्ये नृपे, आ० म० प्र० । वसन्तपुरस्थे नृपे, "वसंतपुरे नयरे जियसत्तू राया । " आ० म० द्वि० । वीतशोकानगरीवास्तव्ये नृपे, आ० चू० । "वीयसोगा नगरी, जियसत्तू नाम राया । " आ० चू० २ अ० । आ० म० । उज्जयिनीनगरीवास्तव्ये नृपे, उत्त० २ अ० । सर्वतोभद्रनगरस्थे नृपे, " सव्वओभद्दे णयरे जियसत्तू णाम राया होत्था । " विपा० १ श्रु० ५ अ० । मथुरानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, आ० म० द्वि० । मिथिलानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, जं० १ वक्ष० । मिथिलायां नगर्यां जितशत्रुर्नाम राजा । सू० प्र० १ पाहु० । मल्लिजिनेन सह प्रव्रजिते पाञ्चालदेशस्थे काम्पिल्यनगरनायके राजनि, स्था० । "जियसत्तू पञ्चालराया " । जितशत्रुर्नाम पाञ्चालजनपदराजः काम्पिल्यनगरनायकः । स्था० ६ ठा० । ज्ञा० । भविष्यति स्वनामख्याते दत्तस्य राज्ञः सुते च । ती० । " दत्तो य राया वावत्तरिवासाओ पइदिणं जिणचेइयमंडियं महिं काही, लोगं च सुहिअं काही ति, दत्तस्स पुत्तो जियसत्तू , तस्स वि य मेघघोसो कक्की ,अणंतरं महानिसीहं न वट्टिस्सइ । " ती० २० कल्प ।

जियसेण-जितसेन-पुं० । श्रावस्तीवास्तव्ये स्वनामख्याते आचार्ये, आव० ४ अ० । सुमतिजिनसमकालिके स्वनामख्याते चक्रवर्तिनि, ति० । कौशाम्बीवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, आ० क० । " कौशाम्बीत्यस्ति पूस्तत्र, जितसेनो महीपति. । " आ० क० । भरतवर्षस्थे अतीतायामुत्सर्पिण्यां स्वनामख्याते कुलकरे, स० ।

जियसेलेस-जितशैलेश-पु० । मेरोरपि निष्प्रकम्पतरे, आव० १ अ० ।

जियारि-जितारि-पुं० । संभवजिनस्य पितरि, आव० १ अ० । प्रव० । स० । " सेणाए जियारितणयस्स । " ति० । उज्जयिनीनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, " उज्जयिन्यस्ति पू सर्वपुरामुज्जयिनी श्रिया । तस्यां षड्यान्तरज्ञारि-र्जितारिः पृथिवीपति ॥ १ ॥ " आ० क० ।

जिह-यथा-अव्य० । सादृश्ये, येनप्रकारेणेत्यर्थे च । "कथयथा-तथां थादेरेमेमेहेधा डित " ॥ ८ । ४ । ४०१ ॥ प्रा० ४ पाद ।

जी-जीर्-स्त्री० । जरायां, दुर्गतौ च । जृशब्दो जरायां दुर्गतावपि । जी रेफान्तस्तदर्थ । स्त्री० । एका० ।

जीमूय-जीमूत-पु० । ज्या-क्विप् जी । तया जरया मूतो बद्ध । ' मु 'बन्धने क' । जयति नभ , जीयते वायुना वा जि-क्त-मुट् दीर्घश्च वा । मेघे, वाच० । प्रा० । रा० । जं० । स्था० । जी० । मेघविशेषे च । " जीमूएण महामेहे एगेण वासेण दसवासाइ भावेइ । " स्था० ४ ठा० ४ उ० । मुस्तके, पर्वते, घृतकरे, देवतामूके, इन्द्रे, कोशातकीलतायाम्, वाच० ।

जीय-जीत-न० । आचरिते, " जीयमिण आणाओ । " पञ्चा०१५ विव० । स्था० । जीत० । आ० म० । आचारे, कल्प० ७ क्षण । "अप्पगइया जीयमेय ति" । जीतमेतत् कल्प एष इति कृत्वा । रा० । "कुच्छिसि गब्भत्ताए ऽवक्कते त जीयमेय तीअपच्चुप्पण्णमणागयाण" । जीतमेतद् आचार एष इत्यर्थ । कल्प० २ क्षण । सर्वानुचीर्णे, विशे० । अथ जीतमिति कोऽर्थ इत्यत आह-"बहुजणमाइण्णं पुण, जीय उचिय ति एगट्ठं ।" बहुभिर्जनैर्गीतार्थैराचीर्ण बहुजनाऽऽचीर्णमिति वा, उचितमिति वा एकार्थम् । किमुक्त भवति?, बहुजनाऽऽचीर्ण नाम जीतमिति । व्य० १ उ० । प्रभूतानेकगीतार्थकृतायां मर्यादायाम्, उपचारात्तत्प्रतिपादके ग्रन्थे च । जीतं नाम-प्रभूतानेकगीतार्थकृता मर्यादा, तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽप्युपचाराज्जीतम् । व्य० १ उ० । मर्यादाकारणे सूत्रे च । जीतमिति सूत्रमुच्यते, जीतं स्थितिः, कल्पो मर्यादा, व्यवस्थेति हि पर्यायाः । मर्यादाकारणं च सूत्रमुच्यते । न० ।

जीव-पु० । प्राणधारणे, प्राणिनि च । जी० । "जीयस्स विसोहणं परम ।" 'जीव' प्राणधारणे, जीवति, जिजीव, जीविष्यतीत्युपयोगलक्षणत्वेन त्रिकालमपि जीवनाज्जीवस्तस्य विशेषेण शोधनम् । जी० १ प्रति० ।

जीवित-न० । "यावत्तावज्जीविताऽऽवर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः" ॥ ८ । १ । २७१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण सस्वरस्य वकारस्यान्तर्वर्तमानस्य लुग् वा । प्रा० १ पाद । जीविते, "जीयकामत्थधम्महेउ ।" जीवश्च जीवित जीत वा । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जीवितमिव जीवितम् । श्रुते, मर्यादाया च । विशे० ।

एएहिँ कारणेहिं, जीयं ति कयं गणहरेहिं ॥१११३॥

(जीय ति) जीवित श्रुत द्वादशाङ्गम् । अयमत्राभिप्राय:-यथा जीवस्य जीवितमात्र न कदाचिद् व्यवच्छिद्यते, तथा अव्यवच्छित्तिनयाभिप्रायत श्रुतमपि न कदाचिद् व्यवच्छिद्यते, ततो जीवितमिव जीवित श्रुतमुच्यते, तद्गणधरै सुखग्रहणाऽऽदिकारणेभ्य कृतम् । अथवा-न सुखाऽऽदिकारणेभ्य एव किं तर्हि?, (जीय ति) जीवित मर्यादा, ततश्च गणधराणां जीवित धर्मो मर्यादैवेय यदुत तन्नामकर्मोदयतस्तत्स्वाभाव्यात् कर्तव्यमेव तैः श्रुतविरचनम् । अथवा-(जीय ति) जीवितमाचरितम् । कल्पएवाय सर्वगणधराणां यत्तैः सदर्भणीयमेव श्रुतम् । विशे० ।

होइ सुहं जीयं पि य, कायव्वमिदं जओऽवस्सं ॥१११६॥
सव्वेहिँ गणहरेहिं, जीयं ति सुयं जओ न वोच्छिन्नं ।
गणहरमज्जाया वा, जीयं सव्वाणुचिन्नं वा ॥१११७॥

(जीय पि य त्ति) जीवित श्रुतम्, अथवा-जीवित मर्यादा, यदि वा-जीत सर्वानुचीर्णम् । कोऽर्थ ?, इति । आह-"कायव्व" इत्यादि । कर्तव्यमिद, यतोऽवश्य सर्वैर्गणधरैरित्युत्तरगाथायां सम्बन्ध । ततो जीवित द्वादशाङ्गश्रुत, मर्यादा, सर्वगणधराऽऽचीर्णं चेदमिति कृत्वा कृत ग्रथित गणधरैरिति, तदेवं 'जीयं' इति शब्दार्थत्रय भवतीति तांस्त्रीनप्यर्थान् तस्य दर्शयति-" जीय ति सुय " इत्यादि । विशे० । आ० म० ।

जीयकप्प-जीतकल्प-पु० । जीतेनावश्यम्भाविन कल्प आचारो जीतकल्प । कल्प० ५ क्षण । पूर्वपुरुषाचरितलक्षणे आचारे, पञ्चा० ६ विव० । तदात्मके कल्पभेदे, प० भा० । स चानुज्ञाकल्पस्य गौण नामान्तर, तथा च पञ्चकल्पभाष्येऽनुज्ञाकल्पस्य विंशतिनामधेयान्यधिकृत्य-"तित्थकरेहिं कयमिण, गणधारीणं तु तेहि सीसाण । तत्तो परपरेण, आइण्ण तेण जीय-तु ॥ १ ॥" प० भा० । जीतकल्प आचरितकल्पो जिनप्रतिबोधनलक्षण । स्था० १० ठा० । जीतमाचरित, तस्य कल्पो वर्णना प्ररूपणा, जीतकल्प । आचारवर्णने, तत्प्रतिपादके जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणरचिते छेदश्रुतविशेषे च । जीत० ।

इय एस जीयकप्पो, समासओ सुविहियाणुकंपाए ।
कहिओ देयमयं पुण, पत्ते सुपरिच्छियगुणम्मि ॥१७३॥

इत्यमुना प्रकारेणाऽऽद्यगाथापञ्चकेन शास्त्रप्रस्तावनामभिधाय चतसृभिर्गाथाभिराद्यस्य, चतसृभिर्द्वितीयस्य, तिसृभिस्तृतीयस्य, द्वाभ्यां चतुर्थस्य, पञ्चभिः पञ्चमस्य, "उद्देसऽज्झयणेसुं, खधंगेसु कमसो पमायस्स ।" इति गाथातः प्रारभ्य "कोसिज्जइ सुबहु पि हु ।" इति गाथापर्यन्ताभिरत्याष्टपञ्चाशद्भिर्गाथाभिर्ज्ञानाऽऽचाराऽऽदिपञ्चकातिचारगोचरस्य षष्ठस्य तिसृभिः सप्तमस्य चतसृभिरष्टमस्य सप्तभिर्नवमस्य नवभिर्दशमस्य प्रायश्चित्तस्य व्याख्यानेन एष सर्वसमुदायाऽऽत्मको जीतकल्पः, जीतमाचरितं, तस्य कल्पो वर्णना प्ररूपणा, समासत संक्षेपतः सुविहितानुकम्पया, शोभन विहितमनुष्ठान येषां ते सुविहितास्तेषामनुकम्पया कथितः प्ररूपितः, देयः पुनरयं पात्रे सुपरीक्षितगुणे जात्यकाञ्चनवत्तापच्छेदनिकषसहे संविग्ने गीतार्थे, न पुनरन्यस्मिन्, येन जीतकल्पदायकग्राहकौ द्वावपि कर्मनिर्जरया शुद्ध्यतः सिद्ध्यतश्चेति । जीत० । तथा च जीतकल्पवृत्तौ तिलकाऽऽचार्यः-"इति नुतिकृत्यकृतश्रुत रहस्यकल्पस्य जीतकल्पस्य । विवरणलव करिष्ये, स्वस्मृतिबीजप्रबोधाय ॥६॥" इह निशीथकल्पव्यवहाराऽऽदीनि भूयांसि छेदश्रुतानि, तेषु चातिविस्तरेण प्रायश्चित्तान्यभिधीयन्ते, प्रतिदिन च कल्प तदवगाहसामर्थ्ये प्रतिग्रन्थ नानाऽभिधानान्याश्रित्य पुरुषाद्यौचित्ये न काऽपि क्वाप्युपपत्तिरुच्यते । तत किं कुत्र दान दीयते?, कथमात्मनः परस्य वा शुद्धिर्भवति?, इति व्यामुह्यन्त्यन्तेवासिनोऽतस्तेषां सुखेन प्रायश्चित्तविधिप्रतिपत्तये पूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण समस्तच्छेदग्रन्थानामुपनिषत्कल्प तदपेक्षयाऽल्पल्प जीतकल्प कृतवान् । पर द्विधा विनेया:-योग्या, अयोग्याश्च । तत्र योग्या ये रङ्गत्संवेगतरङ्गिणीतरङ्गप्रक्षालितान्तरमला परिमलितबुद्धय समस्तसिद्धान्तमहार्णवपारीणा परिणतवयसः सार्वपथीनप्रतिभाप्राग्भारसारचेतस सततमुत्सर्गापवादगोचराऽऽचारचतुराश्चिरप्रव्रजिताः ये त्वेतद्विपरीतास्तिन्तिणिकाऽऽदयश्च ते अयोग्या । यदुक्तम्-"तिंतिणिए चलचित्ते, गाणंगणिए य दुब्बलचरित्ते । आयरियपारिभासी, वामावट्टे य पिसुणे य" ॥१॥ इति । तिन्तिणिका मुहुर्मन्दमन्दस्वरभाषणशीला, गाणङ्गणिका ये षण्मासाद्गणाद् गणं संक्रामन्ति, एतेषामय न दातव्य । यत -"आमे घडे निहत्त, जहा जलं त घड विणासेइ । इय सिद्धतरहस्स, अप्पाहार विणासेइ ॥१॥" अतो योग्यानामेव दातव्य । जीत० ।

जीयकप्पिय-जीतकल्पिक-पु० । जीतेनावश्यमावेन कल्प आचारो जीतकल्प, सोऽस्ति यस्य स जीतकल्पिक । कल्प० ५ क्षण । जीतकल्प आचरितकल्पो जिनप्रतिबोधनलक्षणो विद्यते यस्य स जीतकल्पिक । जीतकल्पवति, स्था० १० ठा० ।

जीयधर-जीतधर-त्रि० । सूत्रधरे, आर्यगोत्रोत्पन्ने शाण्डिल्यशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये च । जी०। "सण्डिल्ल अज्जजीयधर ।" आरात्सर्वहेयधर्मेभ्योऽर्वाग् यातमार्यम । जीतमिति सूत्रमुच्यते। जीत,स्थिति:,कल्पो,मर्यादा, व्यवस्था इति हि पर्यायाः । मर्यादाकारणं च सूत्रमुच्यते। तथा 'धृञ्' धारणे । ध्रियते,धारयतीति धरः । "लिहाऽऽदिभ्यः"॥५ । १ । ५०॥ इत्यच्प्रत्ययः । आर्यजीतस्य धर आर्यजीतधर ,तम् । अन्ये तु व्याचक्षते शाण्डिल्यस्यापि शिष्य आर्यगोत्रो जीतधरनामा सूरिरासीत् ,त वन्दे इति । न०।

जीयलक्खण-जीवलक्षण-न०। जीवस्याऽऽत्मनो,लक्षणं-लक्ष्यते ज्ञायते यदन्यव्यवच्छेदेनेति तल्लक्षणम्,असाधारण स्वरूपं,जीवलक्षणम्। जीवस्यासाधारणे स्वरूपे,कर्म०। तच्च ज्ञानाऽऽदिक उपयोग , अत एवोक्तमन्यत्र-"उपयोगलक्षणो जीवः"इति। कर्म० ४ कर्म० ।

जीयवं-जीवितवत्-त्रि० । प्राणिनि, " वप्प ! ताय ! जीयव " जीवितवन् !, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

जीयव्ववहार-जीतव्यवहार-पुं० । द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषप्रतिसेवाऽनुवृत्त्या संहननधृत्यादिपरिहाणिमवेक्ष्य यत्प्रायश्चित्तदान, यो वा यत्र गच्छे सूत्रातिरिक्तकारणत. प्रायश्चित्तव्यवहारप्रवर्तितो बहुभिरन्यैश्चानुवर्तित तज्जीतम् । स्था० ५ ठा० २ उ० । भ०। जीत श्रुतोक्तादपि हीनमधिक वा परम्परयाऽऽचीर्णं, तेन व्यवहारो जीतव्यवहार । ध० २ अधि० । व्यवहारभेदे, " जीए य पचमए । " जीत गीतार्थसविग्नप्रवर्तितशुद्धव्यवहार. । पञ्चा० १६ विव० ।

तथा च-

कयपवयणप्पणामो, वुच्छं पच्छित्तदाणसंखेवं ।
जीयव्ववहारगयं, जीयस्स विसोहणं परमं ॥ १ ॥

प्रकर्षेण परसमयाद् यथावस्थितभूरिभेदप्रभेदैरुच्यन्ते जीवाजीवाऽऽदय. पदार्था अनेनास्मिन्निति वा प्रवचनम-सामायिकाऽऽदिबिन्दुसारपर्यन्त मुख्यत. श्रुतज्ञानम्, उपचारात् तत्रोपयुक्तश्चतुर्विध. सङ्घोऽपि, कृत' प्रवचनस्य प्रणामो येन स कृतप्रवचनप्रणामोऽहं,वक्ष्ये प्रायश्चित्तदानसङ्क्षेपम्, पाप छिनत्तीति पापच्छित् । अथवा-प्रायश्चित्तम्-जीव, मनो,वाऽतीचारमलमलिनित शोधयतीति प्रायश्चित्तम् । आर्षत्वात् प्राकृतेन 'पच्छित्त' । उक्त च-"पाव छिंदइ जम्हा,पायच्छित्त ति भण्णए तम्हा। पाएण वा वि चित्त, सोहेई तेण पच्छित्त" ॥१॥ तस्य दान,तस्य सङ्क्षेप' सङ्ग्रहस्त,जीतव्यवहारकृतम्,जीतव्यवहार-"वत्तऽणुवत्तपवत्तो," इत्यग्रेतनगाथयैव वक्ष्यमाणलक्षण . तेन कृतमुपदिष्ट,जीतव्यवहारगत वा जीतव्यवहारात् प्रविष्टम्,जीवस्य, " जीव प्राणधारणे " जीवति, जिजीव, जीविष्यतीत्युपयोगलक्षणत्वेन त्रिकालमपि जीवनाज्जीव., तस्य, विशेषेण शोधनम् । विशेषश्चायम्-छिजाऽऽदयोऽपि स्थूलबुद्धय क्वापि प्राणिवधादौ सामान्येन प्रायश्चित्त ददति,न पुन सघट्टनपरितापनोपद्रवाऽऽदिभेदैः सर्वेषामेकेन्द्रियाऽऽदित्रसपर्यन्तानां विषयभेदेन प्रायश्चित्त दातु जानन्ति । न ह्ययमुपदेशस्तदीयशास्त्रेष्वस्ति । इह पुन. प्रवचने सर्वमस्ति । अत एव यथोपलसक्षारारिष्टकोदकाऽऽदिभिर्वस्त्रमलस्य शोधनं, तथाऽत्रापि कर्ममलमालिनस्य जीवस्य जीतव्यवहारोपदिष्ट विशोधनम्;परम-प्रकृष्टम्, अनन्यसदृशम्, नान्यत्रैवंविशिष्ट प्रायश्चित्तविधिरस्तीत्यर्थ ।

इह शिष्य, प्राह—विशेषण हि व्यवच्छेदक भवति, यथा नीलोत्पलमित्यत्र नीलविशेषण , उत्पलशब्दस्य रक्तोत्पलाऽऽदिभिरपि सामानाधिकरण्ये सम्भवति तद्व्यवच्छेदाय, तत् किमत्राप्यन्येऽपि व्यवहाराः सन्ति, येन जीतव्यवहारगतमिति विशेष्यते ?। गुरुराह-सन्त्यन्येऽप्यागमश्रुताऽऽज्ञाधारणाव्यवहाराख्याश्चत्वारो व्यवहारा, तद्व्यवच्छेदायेह जीतपदम् । जीत० । येष्वपराधेषु पूर्वमहर्षयो बहुना तपःप्रकारेण शुद्धि कृतवन्त., तेष्वपराधेषु साम्प्रतं द्रव्यक्षेत्रकालभावान् विचिन्त्य संहननाऽऽदीना च हानिमासाद्य तदुचितेन केनचित्तपःप्रकारेण यां गीतार्था. शुद्धि निर्दिशन्ति, तत् समयपरिभाषया जीतमुच्यते । अथवा यत्र गच्छे सूत्रातिरिक्त न्यून वा कारणत प्रायश्चित्त प्रवर्तित तद् जीत, तस्य व्यवहारो जीतव्यवहारः ।

स चायम्—

" वत्तऽणुवत्तपवत्तो, बहुसो आसेविओ महजणेणं ।
एसो हु जीयकप्पो, पचमओ होइ नायव्वो ॥ १ ॥ "

वृत्त पात्रबन्धग्रन्थिदानाऽऽदिक एकदा एकेन वा जातः,ततोऽनुवृत्त पुरुषान्तर यावत्,ततः प्रवृत्त पुरुषप्रवाहेन अतर एव बहुश आसेवितो महाजनेन । बहुश्रुतनिर्वहने भाष्यकृताऽप्युक्तम्-

" वत्तो नाम एक्कसि, अणुवत्तो जो पुणो वितियवार ।
तइयव्वारे पवत्तो, सुपरिग्गहिओ महजणेण ॥१॥
बहुसो बहुस्सुएहिं, जो वत्तो न य निवारिओ होइ ।
वत्तऽणुवत्तपमाण, जीएण कय हवइ एय ॥६८२॥ "

एप जीतकल्प. पञ्चमो व्यवहारो भवति ज्ञातव्यः । जीत० । प्रव० । व्य० ।

व्यवहारकल्पे जीतव्यवहार दर्शयति-

दद्दुरमादिसु कल्ला-णयं तु विगलिंदिएसुऽभत्तट्ठो ।
परियावणे एतेसिं, चउत्थमायंबिला हुंति ॥१०॥

दर्दुरो मण्डूक , तदादिषु तत्प्रभृतिषु मकारोऽलाक्षणिकः, प्राकृतत्वात् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु, जीविताद् व्यपरोपितेष्विति शेष. । कल्याणक त्विति । तुशब्दो विशेषणार्थः । स चैतद्विशिनष्टि-पञ्चकल्याणप्रायश्चित्त (विगलिंदिएसुऽभत्तट्ठो इति) विकलान्यसपूर्णानि इन्द्रियाणि येषां ते विकलेन्द्रियाः-एकद्वित्रिचतुरिन्द्रिया ,तत्र-" व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति. " इत्येकेन्द्रिया अनन्तवनस्पतिकायिका द्रष्टव्या । तेषु अभक्तार्थ एव-उपवास प्रायश्चित्तम् । (परियावणे एतेसिं इत्यादि)एतेषां दर्दुराऽऽदीना परितापनायां यथासख्य चतुर्थाऽऽचामाम्ले प्रायश्चित्ते भवत । इयमत्र भावना-यदि दर्दुराऽऽदीन् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् गाढ परितापयति,ततोऽभक्तार्थं प्रायश्चित्तम् । अथ विकलेन्द्रियान् अनन्तवनस्पतिकायप्रभृतीन् गाढ परितापयति,तत आचामाम्लम् । उपलक्षणमेतत्, तेनैतदपि जीतव्यवहारानुगतमवसेयम्-यदि दर्दुरप्रभृतीन् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनाक् सघट्टयति,तत एकाशनकम्, अथाऽऽगाढ परितापयति,तत आचामाम्लम्;तथा अनन्तवनस्पतिकायिकचतुरिन्द्रियाणा सघट्टने पूर्वार्द्धम्,एतेषामेवानागाढपरितापने एकाशन,तथा पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतीना सघट्टने निर्विकृतिकम्,अनागाढपरितापने पुरिमार्द्धम्,आगाढपरितापने एकाशन, जीविताद् व्यपरोपणे आचामाम्लम् ॥

इत इदमपि जीतमेवेति दर्शयति-

अपरिण्णा कालाऽसु, अ पडिक्कंतस्स निव्विगइय तु ।
निव्वीतिय पुरिमड्ढो, अंबिल खवणा य आवासे ॥११॥

अपरिज्ञा प्रत्याख्यानपरिज्ञाया अग्रहणं, गृहीताया वा भङ्ग । सूत्रे विभक्तिलोप, आर्षत्वात् । तथा कायाऽऽदिपु प्रतिक्रामतो व्यावर्तमानस्य प्रायश्चित्त निर्विकृतिकम् । किमुक्त भवति ?, यदि नमस्कारपौरुष्यादि दिवसप्रत्याख्यान न गृह्णाति, गृहीत्वा वा विराधयति, तथा स्वाध्याय प्रस्थाप्य यदि कालस्य न प्रतिक्रामति, न कालप्रतिक्रमणनिमित्त कायोत्सर्ग करोति । आदिशब्दात् तु येषु स्थानेषु ईर्यापथिकया प्रतिक्रमितव्य, तेषु चेत्तथा न प्रतिक्रामति, तर्हि प्रायश्चित्त निर्विकृतिकमिति । तथा (निव्वीतिय इत्यादि) 'आवासे' आवश्यके एकाऽऽदिकायोत्सर्गाकरणे, सर्वाऽऽवश्यकाकरणे च यथासख्य निर्विकृतिकपूर्वार्द्धाऽऽचाम्लक्षपणानि । इयमत्र भावना-आवश्यके यद्येक कायोत्सर्ग न करोति तत प्रायश्चित्त निर्विकृतिक, कायोत्सर्गद्वयाकरणे पूर्वार्द्धम्, त्रयाणामपि कायोत्सर्गकरणानामकरणे आचाम्लम्, सर्वस्यापि चाऽऽवश्यकस्याकरणेऽभक्तार्थमिति ॥११॥

जं जस्स व पच्छित्तं, आयरियपरंपराएँ अविरुद्धं । ·
जोगा य बहुविगप्पा, एसो खलु जीयकप्पो उ ॥१२॥

यत्प्रायश्चित्त यस्याऽऽचार्यस्य गच्छे आचार्यपरम्पराऽऽगतत्वेनाविरुद्ध, न पूर्वपुरुषमर्यादाऽतिक्रमेण विरोधभाक् । यथाऽन्येषामाचार्याणा नमस्कारपौरुष्यादिप्रत्याख्यानस्याकरणे, कृतस्य वा भङ्गे प्रायश्चित्तमाचाम्लम्, तथाऽऽवश्यकगतैककायोत्सर्गाकरणे पूर्वार्द्ध, कायोत्सर्गद्वयाकरणे एकाशनकमित्यादि । तथा ये योगा उपधानानि बहुविकल्पा गच्छभेदेन बहुभेदा, आचार्यपरम्पराऽऽगतत्वेन चाविरुद्धा, यथा नागिलकुलवशवर्तिना साधूनामाचारादारभ्य यावदनुत्तरोपपातिकदशा, तावन्नास्ति आचाम्ल, केवल निर्विकृतिकेन ते पठन्ति, आचार्यानुज्ञाताश्च विधिना कायोत्सर्ग कृत्वा विकृती परिभुञ्जते ; तथा कल्पव्यवहारयो, चन्द्रप्रज्ञप्तिसूर्यप्रज्ञप्त्योश्च केचिदागाढ योग प्रतिपन्ना, अपरे त्वनागाढमिति । (एसो खलु जीयकप्पो उ इति) एष सर्वोऽपि खलु गच्छभेदेन प्रायश्चित्तभेदो, योगभेदश्चाऽऽचार्यपरम्पराऽऽगतो जीतव्यवहारो वेदितव्य । व्य० १ उ० १ द्वार ।

अथ कोऽसौ जीतव्यवहार प्रयुङ्क्तेत्यत आह-

जो आगमे य सुत्ते, य सुत्ततो आण-धारणाए य ।
सो ववहारं जीए-ण कुणइ वत्ताणुवत्तेण ॥६७३॥

य आगमेन, सूत्रेण च, गाथाया सप्तमी प्राकृतत्वात् तृतीयाऽर्थे । तथा आज्ञया, धारणया च शून्यो रहित, स जीतेन वृत्तानुवृत्तेन । अस्य व्याख्यान प्राग्वत् । व्यवहार करोति ।

वृत्तानुवृत्तत्वमेव भावयति-

अमुतो अमुतस्स कतो, जह अमुतस्स अमुतेण ववहारो ।
अमुतस्स वि य तध कतो, अमुतो अमुतेण ववहारो ॥६७४॥
तं चेवऽणुमज्जंतो, ववहारविहिं पउंजति जहुत्तं ।
जीएण एस भणितो, ववहारो धीरपुरिसेहिं ॥६७५॥

अमुको व्यवहारोऽमुके कारणे समुत्पन्नेऽमुकस्य पुरुषस्यामुकेनाऽऽचार्येण यथा कृत, एतेन वृत्तत्व भावित, तथैवामुकस्य यादृशे एव कारणेऽमुकेनाऽऽचार्येणामुको व्यवहार कृत, एतेनानुवृत्तत्वमुपदर्शित, तमेव वृत्तानुवृत्त जीतमनुमज्जन् आश्रयन् यथोक्त व्यवहारविधिं यत्प्रयुङ्क्ते, एष जीतेन व्यवहारो धीरपुरुषैर्भणित ।

धीरपुरिसपण्णत्तो, पंचमतो आगमो वि हु पसत्थो ।
पियधम्मऽवज्जभी रू-पुरिसज्जायाणुचिण्णो य ॥६७६॥

एष पञ्चमको जीतव्यवहारो धीरपुरुषप्रज्ञप्त तीर्थकरगणधरै प्ररूपित आगमः पञ्चविध, व्यवहारसूत्राऽऽत्मकतया श्रुतज्ञानविदश्चतुर्दशपूर्विण, तै काल प्रतीत्य प्रशस्तः प्रशंसित, तथा प्रियधर्मभिरवद्यभीरुभि पुरुषजातै, अनुचीर्ण, तस्मात्सत्यतया प्रत्येतव्यः, प्रथत सूत्रतश्च यथाक्रम तीर्थकरगणधरैरभिहितत्वात् । तथाहि-" पचविहे ववहारे पण्णत्ते । " इत्यस्य सूत्रस्यार्थस्तीर्थकरैर्भाषितो, गणधरैश्च अर्थाय सूत्रीकृत, अत एवोत्तमै पुरुषजातैराचीर्ण, तत कथमत्र न प्रत्यय ?, इति ।

अधुना जीतव्यवहारनिदर्शनमाह-

सो जध कालाऽऽदीणं, अपडिक्कंतस्स णिव्विगइयं तु ।
मुहणंतफिडिय-पाणग-ऽसंवरणे एवमादीसु ॥६७७॥

स जीतव्यवहारो, यथेत्युदाहरणमात्रोपदर्शने, कालादिभ्यः, आदिशब्दात् स्वाध्यायाऽऽदिपरिग्रह । अप्रतिक्रान्तस्य । गाथाया षष्ठी पञ्चम्यर्थे । मुखानन्तिके मुखपोत्तिकायां, स्फिटिताया, मुखपोत्तिकामन्तरेण इत्यर्थ । तथा पानकस्यासवरणे पानाऽऽहारप्रत्याख्यानकरणे निर्विकृतिक प्रायश्चित्तम् ।

एगिंदिऽणंतवज्जे, घट्टणतावेऽणगाढऽऽगाढे य ।
णिव्वीतिगमादीयं, जा आयामंत उद्दवणे ॥६७८॥

एकेन्द्रियस्यानन्तकायिकवर्जस्य, पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतीनामित्यर्थ । घट्टने अनागाढे, तापने आगाढे च, निर्विकृतिकाऽऽदिक, यावदाचाम्लमपद्रावणे जीविताद् व्यपरोपणे । इयमत्र भावना-पृथिव्यकायिकाप्कायिकतेजस्कायिकवायुवनस्पतीनां घट्टने निर्विकृतिकम्, अनागाढपरितापने पुरिमार्द्धम्, आगाढपरितापने एकाशनम्, अपद्रावणे आचामाम्लमिति ।

विगलिंदियघट्टणता-वऽणगाढऽऽगाढे तहेव उद्दवणे ।
पुरिमड्ढातिकमेणं, नेयव्वं जाव खवणं तु ॥६७९॥
पंचिंदियघट्टणता-वऽणगाढऽऽगाढे तहेव उद्दवणे ।
एक्कासण आयामं, खवणं तह पंचकल्लाणं ॥६८०॥

विकलेन्द्रियाणा द्वीन्द्रियप्रभृतीना घट्टने, तापने अनागाढे, आगाढे च, तथा अपद्रावणे, क्रमेण पूर्वार्द्धाऽऽदिक्रमेण ज्ञातव्य यावत् क्षपणम् । किमुक्त भवति ?, घट्टने पूर्वार्द्धम्, अनागाढपरितापने आचामाम्लम्, आगाढपरितापने निर्विकृतिकम्, अपद्रावणे क्षपणमिति ॥६७९॥ तथा पञ्चेन्द्रियाणा घट्टने एकाशनकम्, अनागाढपरितापने आचामाम्लम्, आगाढपरितापने क्षपणमभक्तार्थम्, अपद्रावणे पञ्चकल्याण-निर्विकृतिकपूर्वार्द्धैकाशनकाचामाम्लक्षपणरूपम् ।

एमाईओ एसो, नातव्वो होइ जीयववहारो ।
आयरियपरंपरए-ण आगतो जो व जस्स भवे ॥६८१॥

एवमादिक एष जीतव्यवहारो भवति ज्ञातव्य, यो वा यस्य आचार्यपरम्परकेणाऽऽगत स तस्य जीतव्यवहारो ज्ञातव्य ।

बहुसो बहुस्सुतेहिं, जो वत्तो न य निवारितो होति ।
वत्तऽणुवत्तपमाणं, जीएण कय हवति एय ॥६८२॥

यो व्यवहारो बहुश्रुतैर्बहुशोऽनेकवार वृत्त प्रवर्तितो, न चान्यैर्बहुश्रुतैर्भवति विधते निवारित, एतेन वृत्तानुवृत्त जी-

तेन प्रमाण कृत भवति । एष जीतव्यवहार. प्रमाणीकर्तव्य , इति भाव. ।

एतदेव च सविस्तर भावयति—

जं जीतं सावज्ज, न तेण जीतेण होइ ववहारो ।
जं जीतमसावज्जं, तेण तु जीतेण ववहारो ॥६७३॥

यद् जीतं सावद्य. न तेन जीतेन भवति व्यवहारः, यद् जीतमसावद्य, तेन तु जीतेन व्यवहारः ।

अथ व्यवहार । अथ किं सावद्यमसावद्य वा जीतमित्यत आह—

छारहडिहड्डमाला–पेट्टेण य रिंगणं तु सावज्जं ।
दसविहपायच्छित्तं, होइ असावज्जजीयं तु ॥६७४॥

यत्तु प्रवचने, लोके चापराधविशुद्धये समाचरितम्–क्षारावगुण्ठन, हडौ–गुप्तिगृहे प्रवेशन, हड्डमालाऽऽरोपण, पेट्टेन–उदरेण रिङ्गण, तुशब्दात् खरारूढ कृत्वा ग्रामे सर्वत पर्यटनमित्येवमादि,तत् सावद्य जीतम् । यत्तु दशविधमालोचनाऽऽदिक प्रायश्चित्त तदसावद्य जीतम् ।

अत्र चोदक –कदाचित्सावद्यमपि जीत दद्यात् ।

तथा चाह—

उस्सण्णे बहुदोसे, निद्धंधसे पवयणे य निरवेक्खे ।
एयारिसम्मि पुरिसे, दिज्जइ सावज्जजीयं पि ॥६७५॥

उत्सन्नेन प्रायेण बहुदोषे, " निद्धंधसे " सर्वथा निर्दये, तथा प्रवचने प्रवचनविषये निरपेक्षे, एतादृशे पुरुषेऽनवस्थाप्रसङ्गनिवारणाय सावद्यमपि जीत दीयते ।

संविग्गे पियधम्मे, अपमत्ते वा अवज्जभीरुम्मि ।
कम्हि इ पमायखलिए, देयमसावज्जजीय तु ॥ ६७६ ॥

संविग्ने, प्रियधर्मिणि, अप्रमत्ते वा, अवद्यभीरौ कस्मिँश्चित्प्रमादवशतः स्खलिते देयमसावद्य जीतम् ।

जं जीतमसोहिकरं, ण तेण जीतेण होइ ववहारो ।
जं जीतं सोहिकर,तेण उ जीतेण ववहारो ॥६७७॥

यद् जीतमशोधिकर, न तेन जीतेन भवति व्यवहार. कर्तव्य , यत्पुनर्जीत शोधिकर, तेन जीतेन व्यवहारो विधेय' ।

शोधकराऽशोधिकरजीतप्रतिपादनार्थमाह—

जं जीतमसोहिकरं, पासत्थपमत्तसंजयाऽऽइण्णं ।
जइ वि महजणाऽऽचिन्न,न तेण जीतेण ववहारो ।६७८।
जं जीतं सोहिकरं, संविग्गपरायणेण दंतेण ।
एगेण वि आइन्नं, तेण उ जीतेण ववहारो ॥६७९॥

यद् जीत पार्श्वस्थप्रमत्तसंयताऽऽचीर्णमत एवाशोधिकर, तद् यद्यपि महाजनाऽऽचीर्णं, तथापि न तेन जीतेन व्यवहार. कर्त्तव्य , तस्याशोधिकरत्वात् । यत्पुनर्जीत संवेगपरायणेन दान्तेन एकेनाप्याचीर्णं, तत् शोधिकर कर्तव्यम् । व्य० १० उ० ।

सम्प्रति सूत्रकार स्वयमेव सूत्रेणैव प्रस्तावयन्नाह–

ज जं न भणियमिहयं, तस्सावत्तीएँ दाणसंखेवं ।
भिन्नाइया य वुच्छ, छम्मासंता य जीएणं ॥ ६० ॥

इह जीतव्यवहारेऽपराधमुद्दिश्य यद्यत् प्रायश्चित्त न भणित, तस्याप्यापत्तिविशेषेण दानसङ्क्षेप वक्ष्ये । आपत्तिश्चामुकातिचारेऽमुकस्य तपस. प्राप्तिरिति । सा च निशीथ–कल्प–व्यवहाराऽऽदिषु विस्तरेणाभिहिता । तपसश्च पञ्चकादेः षण्मासान्तस्य महीयान् दानविरचनाप्रपञ्च प्रोच्यते ॥ अत्राऽऽपत्तिदान च सङ्क्षेपेणैव निरूप्यते–तच्चात्र दान भिन्नमासादारभ्य षण्मासान्त यावद्भवति । भिन्नेत्यादि । भिन्नमासादिकाँश्च षण्मासान्तान् वक्ष्ये । अथ भाव –जीतेन जीतव्यवहारेण,भिन्नमासाऽऽदिशब्दै किं किं तपोऽभिधीयते ?, इत्यभिधास्यामीत्यर्थ. । ६० ।

भिन्नाऽऽदींस्तावदाह–

भिन्नो अविसिट्ठ च्चिय, मासो चउरो य छच्च लहुगुरुगा ।
णिव्वियगाई अट्ठम–भत्तंतं दाणमेएसिं ॥६१॥

इह समयपरिभाषया दिनपञ्चविंशतिरूपो भिन्न इति भिन्नमासोऽभिधीयते । स चाविशिष्ट एव लघुपञ्चकगुरुपञ्चकाऽऽदिभेदाविवक्षया एवात्र गृह्यते । (मासो चउरो य छच्च लहुगुरुगा) अत्र चकारौ मासे समुच्चायकौ । ततो मासश्चत्वारो मासाः, षण्मासा । लघुगुरुका इति च सर्वेषु योज्यम् । यथा लघुमासो, गुरुमासो, लघुचतुर्मास, गुरुचतुर्मास, लघुषण्मास, गुरुषण्मास चेति । एतेषां भिन्नमासलघुमासगुरुमासलघुचतुर्मासगुरुचतुर्मासलघुषण्मासगुरुषण्मासाऽऽख्यानां सप्तानामापत्तौ सत्यां निर्विकृताऽऽद्यष्टमभक्तान्तम्–निर्विकृतिकपुरिमार्द्धैकाशनाऽऽचामाम्लचतुर्थषष्ठाष्टमाऽऽख्य दान यथासङ्ख्य ज्ञेयमित्यर्थ । ६१ ।

एतानि च लघुपञ्चकाऽऽदिभेदाऽऽत्मकानि भिन्नमासाऽऽदीनि गुरुषण्मासान्तानि पूर्वम् "अद्धेण छिन्नसेस" इति गाथाव्याख्यायां सप्रपञ्चमाख्यातानीत्यन्यत्र प्रपञ्चितानि । सामान्येन तपस उपसंहारमाह—

इय सव्वाऽऽवत्तीओ, तवसो नाउं जहक्कमं समए ।
जीएण दिज्ज निव्वी–यगाइ दाणं जहाऽभिहियं ॥६२॥

इत्यमुना प्रकारेण,सर्वा आपत्तीः,तपसः सम्बन्धिनी , यथाक्रममतीचारानुसारेण, समये सिद्धान्ते, ज्ञात्वा, जीतेन,निर्विकृतिकाऽऽदि दान,यथा येन प्रकारेणाभिहित,तथा दद्यादित्यर्थ. ।६२।

विशेषाभिधानाय प्रस्तावनामाह–

एयं पुण सव्वं चिय, पायं सामन्नओ विनिद्दिट्टं ।
दाणं विभागओ पुण, दव्वाइविसेसियं नेयं ॥ ६३ ॥

एतत्पुनरालोचनाऽर्हाऽऽदिप्रायश्चित्तदान, सर्वमेव, प्रायो बाहुल्येन, सामान्यतो द्रव्याऽऽद्यविभागतो, विनिर्दिष्टम्; विभागत पुन द्रव्याऽऽदीनि द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषप्रतिसेवनाऽऽदीनि,तदपेक्ष विशेषित हीनमधिक वा, यथोक्तमेव वा, जीतं दान दातव्यमिति ज्ञेयम् । ६३ ।

शेषमेव सुव्यक्तमाह–

दव्व खेत्तं कालं, भावं पुरिस पडिसेवणाओ य ।
नाउं मिय चिय दिज्जा, तम्मत्तं हीणमहियं वा ॥६४॥

अत्र बन्धाऽऽनुलोम्येन प्राकृतत्वात्पुरुषशब्दो लुप्तविभक्तिको निर्दिष्ट । ततश्च द्रव्य क्षेत्र काल भाव पुरुष प्रतिसेवनाश्च ज्ञात्वा, मितमेव द्रव्यक्षेत्राऽऽदिप्रमाणेनैव,कोऽर्थ ?,द्रव्याऽऽदिषु हीनेषु हीनम्, अधिकेष्वधिकम्, महीनोत्कृष्टेषु तन्मात्र–जीतोक्तसममेव, दद्यात् । ६४ ।

तत्र द्रव्याऽऽश्रयाभिधित्सयाऽऽह-

आहाराऽऽई दव्वं, वलियं सुलहं च नाउमहियं पि।
दिज्जाहि दुब्बलं दु-ल्लहं च नाऊण हीणं पि ॥६५॥

आहाराऽऽदिकं द्रव्यं-यत्र देशे बलिकं,सुलभं च, यथा-अनूपदेशे शालिकूरो बलिकः,स्वभावेनैव सुलभश्च, तं ज्ञात्वाऽधिकमपि जीतोक्तात् बहुतरमपि दद्यात् । यत्र पुनर्वल्लचणककाञ्जिकाऽऽदिको रूक्षाऽऽहारो दुर्बलो,दुर्लभश्च, तं ज्ञात्वा हीनं जीतोक्तादल्पमपि दद्यादित्यर्थः । ६५ ।

अथ क्षेत्रकालाभिधानार्थमाह-

लुक्खं सीयल साहा-रणं च खित्तमहियं पि सीयम्मि ।
लुक्खम्मि य हीणतरं, एवं काले वि तिविहम्मि ।६६।

रूक्षं क्षेत्रं-स्नेहरहितं, वातुलं वा; शीतलं पुनः-स्निग्धम्, अनूपं वा; साधारणं-मध्यस्थम्,अस्निग्धरूक्षम्। इह शीते स्निग्धक्षेत्रे जीतोक्तादधिकमपि दद्यात्;रूक्षे च हीनतरं जीतोक्तादल्पतरम्। अत्र चकारोऽनुक्तसमुच्चये। तेन साधारणक्षेत्रे साधारणं जीतोक्तमात्रमेव, अहीनाधिकं दद्यादिति ज्ञेयम् । कालेऽपि त्रिविधेवर्षाशिशिरग्रीष्मरूपे,एवममुनैवोक्तप्रकारेण,जीतोक्ताधिकसमहीनानि तपांसि यथासंख्यं दद्यादिति सामान्यातिदेशः ।।६६।।

विशेषतः कालं प्रपञ्चयन्नाह-

गिम्हसिसिरवासासुं, दिज्जऽट्ठमदसमबारसंताइं ।
नाउ विहिणा णवविह-सुयववहारोवएसेणं ॥ ६७ ॥

अत्र कालस्त्रिधा-ग्रीष्मशिशिरवर्षालक्षणः। स च सामान्यतो द्विधा-स्निग्धो, रूक्षश्च । स च द्विरूपोऽप्युत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात् त्रिधा । तत्रोत्कृष्टस्निग्धोऽतिशीतः ,मध्यमस्निग्धो नातिशीतः, जघन्यस्निग्धः स्तोकशीतः । उत्कृष्टरूक्षोऽत्युष्णः , मध्यमरूक्षो नात्युष्णः , जघन्यरूक्षः कवोष्णः । एवंरूपे ग्रीष्मशिशिरवर्षाऽऽख्ये कालत्रये नवविधश्रुतव्यवहारोपदेशेन नवविधो-नवविधतपोदानलक्षणः, स चासौ श्रुतव्यवहारोपदेशश्च, तेन नवविधश्रुतव्यवहारोपदेशेन, विधिना वैपरीत्याभावेन, ज्ञात्वाऽष्टमदशमद्वादशान्तानि तपांसि दद्यात् । अयं भावार्थः —ग्रीष्मशिशिरवर्षासु यथाक्रमं चतुर्थषष्ठाष्टमानि जघन्यानि, षष्ठाष्टमदशमानि मध्यमानि, अष्टमदशमद्वादशान्युत्कृष्टानि ।

उक्तं च-

" गिम्हासु चउत्थं दिज्जा, छट्ठं च हिमाऽऽगमे ।
वासासु अट्ठमं दिज्जा, तवो एस जहन्नगो ॥ १ ॥
गिम्हासु छट्ठगं दिज्जा, अट्ठमं च हिमाऽऽगमे ।
वासासु दसमं दिज्जा, एस मज्झिमगो तवो ॥ २ ॥
गिम्हासु अट्ठमं दिज्जा, दसमं च हिमाऽऽगमे ।
वासासु दुवालसमं, एस उक्कोसओ तवो ॥ ३ ॥ "

एष नवविधतपोदानलक्षणः श्रुतव्यवहारोपदेशः । अथवा-नवविधश्रुतव्यवहारोपदेशो द्विधा-ओघतो, विभागतश्च। तत्रौघतो गुरु १, गुरुतरो २, गुरुतमश्च ३। लघु १, लघुतरो २,लघुतमश्च ३ । लघुको १, लघुकतरो २, लघुकतमश्चेति ३ । एवं नवविधः ।

उक्तं च-

" गुरुओ गुरुअतराओ, अहागुरू चेव होइ ववहारो ।
लहुओ लहुअतराओ, अहालहू चेव ववहारो ॥ १ ॥
लहुसो लहुसतराओ, अहालहुसो चेव होइ ववहारो ॥"

अहागुरु-अहालहु-अहालहुसशब्दैर्गुरुतमलघुतमलघुकतमा उच्यन्ते । एष च नवविधोऽपि आपत्तिदानतपोभ्यां, कालेन च योजनीयः ।

तत्रेदमापत्तितपः—

गुरुमासो १, गुरुलघुचतुर्मासो २, गुरुलघुषण्मासश्च ३। लघुमासो १,भिन्नमासो २,विंशतिकं च ३। पञ्चदशकं १,दशकं २,पञ्चकं चेति ३। उक्तं च-"गुरुगो य होइ मासो, गुरुयतरो चेव होइ चउमासो। अहगुरुओ छम्मासो,गुरुपक्खे होइ पडिवत्ती" ॥१॥ अत्र सामान्येनाभिधानात् चतुर्मासकशब्देन गुरुचतुर्मास-लघुचतुर्मासाऽऽख्योभयमपि ग्राह्यम्; षण्मासशब्देन च गुरुषण्मास-लघुषण्मासाऽऽख्यद्वयमपि ग्राह्यम् । "तीसा य पणवीसा,वीसा वि य होइ लहुयपक्खम्मि ॥" अत्र 'तीसा' चैतत् स्थूलतयैवोक्तम्; अन्यथा लघुमासे सार्धसप्तविंशतिरेव दिनानि भवन्ति । "पनरस दस पंचेव य, लहुसयपक्खम्मि पडिवत्ती" ॥ १ ॥ प्रतिपत्तिरापत्तिरित्यर्थः ।

अथेदानीमेषु गुरुकादिषु दानतपः-

अष्टमम् १, दशमम् २, द्वादशं च ३। षष्ठम् १, चतुर्थम् २, आचाम्लं च ३ । एकाशनम् १, पुरिमार्द्धम् २,निर्विकृतिकं च ३ इति वर्षाशिशिरग्रीष्मेषु दीयते ।

उक्तं च-

" गुरुगं च अट्ठमं खलु, गुरुयतराय च होइ दसमं तु ।
अहगुरुय बारसमं, गुरुपक्खे होइ दाणं तु ॥ १ ॥
छट्ठ चउत्थयबिलं, लहुपक्खे होइ तव्दाणं ।
एगासण पुरिमड्ढ, निव्वीय लहुस सुद्धो वा ॥ २ ॥ "

(सुद्धो व त्ति) यस्तु निर्विकृतिकमात्रमपि तपः कर्तुमशक्तः स मिथ्यादुष्कृतेनैव शुद्ध्यतीत्यर्थः । एवमोघतोक्तो नवविधः श्रुतव्यवहारोपदेशः ।

साम्प्रतं विभागतः कथ्यते-

"ओहेण एस भणिओ, इत्तो वुच्छं विभागेणं ।
तिगनवसत्तावीसा-एक्कासीईहिँ भेएहिँ ॥ १ ॥"

अत्रैष नवविधव्यवहारस्त्रिभिर्नवभिः सप्तविंशतिभिरेकाशीतिभिश्च भेदैर्भवति । तत्र सङ्क्षेपतस्तावदयं त्रिभेदः-उत्कृष्टो, मध्यमो, जघन्यश्च । तत्र गुरु-गुरुतर-गुरुतमाऽऽख्यो गुरुपक्ष उत्कृष्टः । लघु-लघुतर-लघुतमाऽऽख्यो लघुपक्षो मध्यमः । लघुक-लघुकतर-लघुकतमाऽऽख्यो लघुकपक्षो जघन्य इति ।

यदाह-

" नवविह ववहारेसो, सखेवेणं तिहा मुणेयव्वो ।
उक्कोसो मज्झिमगो, जहन्नगो चेव तिविहेसो ॥ १ ॥
उक्कोसो गुरुपक्खो, लहुपक्खो मज्झिमो मुणेयव्वो ।
लहुसपक्खो जहन्नो, तिविगप्पो एस नायव्वो " ॥ २ ॥

नवभेदस्त्वेवम्—-गुरुपक्षः पक्षोऽप्युत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात् त्रिधा। एवं लघुपक्षोऽपि त्रिधा । लघुकपक्षोऽपि चैवं त्रिधेति । तत्र गुरुपक्षे त्रैविध्यमिदम्-गुरुपक्षः षाण्मासिक-पाञ्चमासिकाऽऽख्य उत्कृष्टः ,चातुर्मासिक-त्रैमासिकाऽऽख्यो मध्यमः ,द्वैमासिकगुरुमासिकाऽऽख्यो जघन्यः । लघुपक्षे लघुमास उत्कृष्टः , भिन्नमासो मध्यमः ,विंशतिकं जघन्यम् ।लघुकपक्षे पञ्चदशकमुत्कृष्टम्, दशकं मध्यमम्,पञ्चमं जघन्यमित्येष नवविधाऽऽपत्तिस्वरूपश्रुतव्यवहारो दर्शितः ।

भणितं च-

"गुरुपक्खे उक्कोसो, मज्झ जहन्नो त एव लहुए वि ।
एमेव य लहुसे वी, इय एसो नवविहो होइ ॥ १ ॥
गुरुपक्खे छम्मासो, पणमासो चेव होइ उक्कोसो ।
मज्झो चउ-तेमासो, दुमास-गुरुमासग जहन्नो ॥ २ ॥
लहुभिन्नमासवीसा, लहुपक्खुक्कोसमज्झिमजहन्ना ।
पनरसग दस पणग, लहुसुक्कोसाइतिविहेसो ॥ ३ ॥
आवत्तितवो एसो, नवभेओ वन्निओ समासेण ।
अहुणा उ सत्तवीसो, दाणतवो तम्मिमो होइ" ॥ ४ ॥

तस्याऽऽपत्तितपस इद सप्तविंशतिभिद दानतपो भवति । तत्र गुरुपक्ष एकोऽपि नवधा । तद्यथा-उत्कृष्टोत्कृष्ट: १, उत्कृष्टमध्यम: २, उत्कृष्टजघन्यः ३, मध्यमोत्कृष्टः ४, मध्यममध्यमः ५, मध्यमजघन्यः ६, जघन्योत्कृष्टः ७, जघन्यमध्यमः ८, जघन्यजघन्यश्चेति ९ । एव लघुपक्षोऽपि नवधा ९ । एव लघुकपक्षोऽपि चैवमेव नवधा ९ । सर्वमीलने सप्तविंशतिभेदा भवन्ति ।

भणितं च—

"गुरु-लहु-लहुसगपक्खो, इक्किक्को नवविहो मुणेयव्वो ।
उक्कोसुक्कोसो वा १, उक्कोसगमज्झिम २ जहन्नो ३ य ॥१॥
मज्झुक्कोसो मज्झिम-मज्झो २ तह होइ मज्झिमजहन्नो ३ ।
इय णेय जहन्नो वी, गुरुपक्खे हुंति नवभेआ ॥२॥
पुव्वुत्ता नव भेया, भेया सव्वे तहेव लहुपक्खे ।
नव चेव लहुसपक्खे, सत्तावीस भवनए" ॥ ३ ॥

तत्रेदमेव सप्तविंशतिविध दानतपो व्यक्तीकुर्वन्निह गुरुपक्षे षण्मासिकपञ्चमासिकाऽऽपत्त्योत्कृष्टाऽऽपत्तौ सत्याम्-उत्कृष्टोत्कृष्ट द्वादशं तपः, उत्कृष्टमध्यम दशमम, उत्कृष्टजघन्यमष्टमम् । चतुर्मासिकत्रिमासिकाऽऽपत्त्यमध्यमाऽऽपत्तौ-मध्यमोत्कृष्ट दशमम, मध्यममध्यममष्टमम, मध्यमजघन्य षष्ठम । द्विमासिकगुरुमासाऽऽपत्त्यजघन्याऽऽपत्तौ-जघन्योत्कृष्टमष्टमम, जघन्यमध्यम षष्ठम, जघन्यजघन्य चतुर्थम ॥ लघुपक्षे लघुमासाऽऽपत्त्योत्कृष्टाऽऽपत्तौ-उत्कृष्टोत्कृष्ट दशमम, उत्कृष्टमध्यममष्टमम, उत्कृष्टजघन्य षष्ठम् । भिन्नमासाऽऽपत्त्यमध्यमाऽऽपत्तौ मध्यमोत्कृष्टमष्टमम्, मध्यममध्यम षष्ठम, मध्यमजघन्य चतुर्थम । विंशाऽऽपत्त्यजघन्याऽऽपत्तौ-जघन्योत्कृष्ट षष्ठम, जघन्यमध्यम चतुर्थम, जघन्यजघन्यमाचामाम्लम् ॥ लघुकपक्षे पञ्चदशापत्त्योत्कृष्टाऽऽपत्तौ-उत्कृष्टोत्कृष्टमष्टमम, उत्कृष्टमध्यम षष्ठम, उत्कृष्टजघन्य चतुर्थम् । दशकाऽऽपत्त्यमध्यमाऽऽपत्तौ-मध्यमोत्कृष्ट षष्ठम, मध्यममध्यम चतुर्थम, मध्यमजघन्यमाचामाम्लम । पञ्चकाऽऽपत्त्यजघन्याऽऽपत्तौ-जघन्योत्कृष्ट चतुर्थम्, जघन्यमध्यममाचामाम्लम, जघन्यजघन्यमेकाशनमिति । एव वर्षासु सप्तविंशतिविध दानतपः ।

यदाह-

"बारसग दसम अट्ठम, छप्पणमासेसु निविहदाणेण ।
चउ-तेमासे दस अ-ट्ठ छट्ठ उक्कोसगाइ तिहा ॥ १ ॥
एमेवुक्कोसाइ, दुमासगुरुमासिए तिहा दाण ।
अट्ठम छट्ठ चउत्थ, नवविहमेय तु गुरुपक्खे ॥ २ ॥
दसम अट्ठम छट्ठ, लहुमासुक्कोसगाइ तिह दाण ।
अट्ठम छट्ठ चउत्थ, उक्कोसाइ य तिहा भिन्ने ॥ ३ ॥
छट्ठचउत्थायाम, उक्कोसाई य दाण वीसाए ।
लहुपक्खम्मि नवविहो, एसो बीओ भवे नवगो ॥ ४ ॥
अट्ठम छट्ठ चउत्थ, पसुक्कोसाइ दाण पन्नरसे ।
छट्ठ चउत्थायाम, दससु तिविहे य दाण भवे ॥ ५ ॥
खमणाऽऽयामेगासण, तिविहुक्कोसाइ दाण पणगम्मि ।
लहुसे वी तइएसु, सत्तावीसं य वासासु" ॥ ६ ॥

एव यथा वर्षासूत्कृष्टाऽऽद्यापत्तिनवके सति दानतपसो द्वादशमादौ कृत्वा एकाशनान्ता सप्तविंशतिभेदाश्चारणिकया कृता, तथा शिशिरेऽपि; केवल दशममादौ कृत्वा पुरिमार्द्धान्ता । ग्रीष्मे पुनरष्टममादौ कृत्वा निर्विकृत्यन्ता सप्तविंशतिभेदा कार्या, यन्त्रस्थापनातश्च ज्ञया । वर्षाशिशिरग्रीष्माणां सप्तविंशतित्रयमीलन चैकाशीतिर्दानतपसो भेदा भवन्ति । अर्द्धस्य समविभागरूपस्य एकदेशस्य एकादिपदाऽऽत्मकस्यापक्रमण निवर्त्तन, शेषस्य तु युद्धादिपदसङ्घाताऽऽत्मकस्यैकदेशस्यानुवर्त्तन यस्यां रचनायां सा समयपरिभाषयाऽर्द्धापक्रान्तिरुच्यते । यथा वर्षासु गुरुतमे उत्कृष्टतो द्वादशम, मध्यमतो दशम, जघन्यतोऽष्टमम् । एषां मध्यादेकदेशो द्वादशलक्षणोऽपक्रामति, द्वादशमाष्टमे गुरुतर गच्छतोऽग्रेतन च षष्ठ मील्यते, ततश्च गुरुतरे उत्कृष्टतो दशम, मध्यमतोऽष्टम, जघन्यतः षष्ठम् । एषा मध्यादेकदेशो दशमलक्षणो निवर्तते, अष्टमषष्ठे गुरुके गच्छतोऽग्रेतन चतुर्थं मील्यते, ततश्च गुरुके उत्कृष्टतोऽष्टम, मध्यमत षष्ठ, जघन्यतश्चतुर्थमिति । यथा चेयमेकाशीतिकदानतपोयन्त्रके वर्षाऽऽद्यनवकेऽर्द्धापक्रान्तिर्दर्शिता, तथैव सर्वेष्वपि नवकेषु विलोकनीया ।

यदाह—

'सिसिरे दसमाईए, चारणभेएण सत्तवीसेण ।
वायइ पुरिमड्ढम्मी, अद्धुक्कंती तह चेव ॥ १ ॥
अट्ठममाई गिम्हे, चारणभेएण सत्तवीसेण ।
तह चेव अद्धुक्कंती, वायइ निव्वीयए नवर" ॥ २ ॥

एतैर्दानैरापत्तय स्वका नियमात्सर्वा वाह्यन्या । एकविधाऽऽपत्तिषु च द्वादशाऽऽद्य तप कर्तुमसहिष्णोर्हासस्तावत्कार्यो यावत्सर्वानामपि पङ्क्तीनां स्थितमेकपर्यन्तकोष्ठकगत चतुर्थाऽऽदि निर्विकृतिकान्त तप, ततस्तस्य दीयते । तत्करणेऽप्यशक्तस्य पुनस्तथैव ह्रासयेत् । स्वस्थानतपो दातु वर्षासु वर्षाकालोक्त, शिशिरोक्त शिशिर, ग्रीष्मोक्त ग्रीष्मे । तदपि कर्तुमक्षमस्य परस्थान-वर्षास्वपि शिशिरोक्त, ग्रीष्मोक्त वा ह्रासयद्भिर्दीयते । एव स्थाने स्थाने वर्षाशिशिरग्रीष्मरूपे ह्रासयद्भिस्तावन्नेय यावन्निर्विकृतिकमात्रमेव दयतया स्थितम । कैश्चित्तेव व्याख्यानम्-आधाकर्मिकाऽऽद्यक्तौ या षड्जीवनिकायविराधना, तज्जनित प्रायश्चित्त स्वस्थानम, आधाकर्माऽऽद्यासेवाभणित च चतुर्थादिक परस्थान, तद्दाने कथमेव ह्रासविधिरिति ? ।

उक्त च-

"एयाहिं दाणेहिं, आवत्तीओ भया सया नियमा ।
सव्वा वोढव्वाओ, असहस्सिक्किक्कहासणया ॥ १ ॥
जावइय इक्किक्क, त पी हासिज्ज असहुणो नाव ।
दाउ सट्ठाणतव परठाण दिज्ज एमेव ॥ २ ॥
एव ठाण ठाण, हिट्ठा उत्त कमेण हासित्ता ।
नेयव्व जावइय, नियमा निव्वीइय इक्क" ॥ ३ ॥

एष नवविधो व्यवहार । एकाशीतिकस्य नवविधव्यवहारयन्त्रकस्य स्थापना (१५१८ पृष्ठेऽग्रे) अत्र च उत्कृष्टाऽऽदीनि जघन्यान्तानि तपांसि स्थाप्यन्ते, एव सुखेन ह्रास कर्तुं शक्यते, सूत्रे तु जघन्याऽऽदीन्युत्कृष्टान्तान्युक्तानि, तद्विचित्रत्वात् सूत्ररचनाया इति । उक्त कालविषय सप्रपञ्च प्रायश्चित्तम ॥ ६७ ॥ (भावाऽऽदिविषय प्रायश्चित्त तु 'तवारिह' शब्दे वक्ष्यते)

एकाशीतिकस्य नवविधव्यवहारयन्त्रकस्य स्थापना चेयम्—

वर्षासु २७

उत्कृष्टापत्तौ					मध्यमापत्तौ					जघन्यापत्तौ				
६।५	गुरुतमम्	उ०	उ०	१२	४।३	गुरुतरम्	म०	उ०	१०	२।१	गुरु	ज०	उ०	८
	गुरुतमम्	उ०	म०	१०		गुरुतरम्	म०	म०	८		गुरु	ज०	म०	६
	गुरुतमम्	उ०	ज०	८		गुरुतरम्	म०	ज०	६		गुरु	ज०	ज०	४
२७॥	लघु	उ०	उ०	१०	२५	लघुतरम्	म०	उ०	८	२०	लघुतमम्	ज०	उ०	६
	लघु	उ०	म०	८		लघुतरम्	म०	म०	६		लघुतमम्	ज०	म०	४
	लघु	उ०	ज०	६		लघुतरम्	म०	ज०	४		लघुतमम्	ज०	ज०	आ०
१५	लघुकम्	उ०	उ०	८	१०	लघुकतरम्	म०	उ०	६	५	लघुकतमम्	ज०	उ०	४
	लघुकम्	उ०	म०	६		लघुकतरम्	म०	म०	४		लघुकतमम्	ज०	म०	आ०
	लघुकम्	उ०	ज०	४		लघुकतरम्	म०	ज०	आचाम्लम्		लघुकतमम्	ज०	ज०	एकाशनकम्

शिशिरे २७

उत्कृष्टापत्तौ					मध्यमापत्तौ					जघन्यापत्तौ				
६।५	गुरुतमम्	उ०	उ०	१०	४।३	गुरुतरम्	म०	उ०	८	२।१	गुरु	ज०	उ०	६
	गुरुतमम्	उ०	म०	८		गुरुतरम्	म०	म०	६		गुरु	ज०	म०	४
	गुरुतमम्	उ०	ज०	६		गुरुतरम्	म०	ज०	४		गुरु	ज०	ज०	आ०
२७॥	लघु	उ०	उ०	८	२५	लघुतरम्	म०	उ०	६	२०	लघुतमम्	ज०	उ०	४
	लघु	उ०	म०	६		लघुतरम्	म०	म०	४		लघुतमम्	ज०	म०	आ०
	लघु	उ०	ज०	४		लघुतरम्	म०	ज०	आ०		लघुतमम्	ज०	ज०	ए०
१५	लघुकम्	उ०	उ०	६	१०	लघुकतरम्	म०	उ०	४	५	लघुकतमम्	ज०	उ०	आ०
	लघुकम्	उ०	म०	४		लघुकतरम्	म०	म०	आ०		लघुकतमम्	ज०	म०	ए०
	लघुकम्	उ०	ज०	आ०		लघुकतरम्	म०	ज०	ए०		लघुकतमम्	ज०	ज०	पुरिमार्द्धम्

ग्रीष्मे २७

उत्कृष्टापत्तौ					मध्यमापत्तौ					जघन्यापत्तौ				
६।५	गुरुतमम्	उ०	उ०	८	४।३	गुरुतरम्	म०	उ०	६	२।१	गुरु	ज०	उ०	४
	गुरुतमम्	उ०	म०	६		गुरुतरम्	म०	म०	४		गुरु	ज०	म०	आ०
	गुरुतमम्	उ०	ज०	४		गुरुतरम्	म०	ज०	आ०		गुरु	ज०	ज०	ए०
२७॥	लघु	उ०	उ०	६	२५	लघुतरम्	म०	उ०	४	२०	लघुतमम्	ज०	उ०	आ०
	लघु	उ०	म०	४		लघुतरम्	म०	म०	आ०		लघुतमम्	ज०	म०	ए०
	लघु	उ०	ज०	आ०		लघुतरम्	म०	ज०	ए०		लघुतमम्	ज०	ज०	पु०
१५	लघुकम्	उ०	उ०	४	१०	लघुकतरम्	म०	उ०	आ०	५	लघुकतमम्	ज०	उ०	ए०
	लघुकम्	उ०	म०	आ०		लघुकतरम्	म०	म०	ए०		लघुकतमम्	ज०	म०	पु०
	लघुकम्	उ०	ज०	ए०		लघुकतरम्	म०	ज०	पुरिमार्द्धम्		लघुकतमम्	ज०	ज०	निर्विकृतिकम्

जीयविजय-जीतविजय-पुं० । यशोविजयगणिगुरोर्नयविजयगणेः सतीर्थ्ये लाभविजयगणिशिष्ये आचार्ये, प्रति० । प्रतिमाशतके कल्याणविजयवर्णनमधिकृत्य-" तच्छिष्या प्रतिगुणधाम हेमसूरेः,श्रीलाभोत्तरविजया बुधा बभूवुः।श्रीजीतोत्तरविजयाऽभिधानजीत-कृच्छ्रीमन्नयविजयौ तदीयशिष्यौ " ॥१५॥ द्वात्रिंशिकायां लाभविजयवर्णनमधिकृत्य-" यदीया दृगूलीलाऽभ्युदयजननी माऽऽशि जने, जनुस्थानेऽप्यर्कद्युतिरिव जवात् पङ्कजवने । स्तुमस्तच्छिष्याणां बत्रमविकल जीतविजयाभिधाना विज्ञानां कनकनिकषस्निग्धवपुषाम् ॥४॥ " द्वा० ३२ द्वा० । नयो० । अष्ट० ।

जीया-ज्या-स्त्री० । ज्या-शब्द । " ज्यायामीत् " ॥ ८ । २ । ११५ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण व्यञ्जनात्पूर्वमीद् भवति । प्रा० २ पाद । धनुषो गुणे, मौर्व्याम्, मातरि, भूमौ च । वाच० ।

जीर-जॄ-जरायाम्, दिवादि-पर० अक० सेट् घटादिः।"हृकृतृज्रामीरः " ॥ ८ । ४ । २५० ॥ इति प्राकृतसूत्रेणैषामन्त्यस्य ईर इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । जीर्यति, अजरत्, अजारीत्, जीर्णः, जरा, जरयति । वाच० ।

जीव-जीव-पुं० । जीवन जीवः । जीव-भावे घञ् । प्राणधारणे, आ० म० । विशे० । पा० । " इहसति गया दधिया,णावकखंति जीवितु । " जीवितु प्राणान् धारयितुम् । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । " जीवो त्ति जीवण पा-णधारणं जीविय ति पज्जाया ॥" (३५०८ गाथा) विशे० । जीवितवान्,जीवति,जीविष्यतीति जीवः । आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० । दर्श० । आव० । उपयोगलक्षणे जीवद्रव्ये, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । " न य पगो सव्वगओ, निक्किरिओ लक्खणाइभेआओ । " (१९५७ गाथा) उपयोगलक्षणो हि जीवः । स चोपयोगो रागद्वेषकषायविषयाध्यवसायाऽऽदिभिर्भिद्यमान उपाधिभेदादानन्त्यं प्रतिपद्यत इत्यनन्ता जीवाः, लक्षणभेदाद्, घटाऽऽदिवदिति । विशे० ।

जीवनिक्षेपश्चतुर्धा । तथा च निर्युक्तिः-

निक्खेवो जीवम्मी, चउव्विहो दुविहो उ होइ दव्वम्मि ।
आगम-णोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥१॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य जीवदव्वं तु ।
भावम्मि दसविहो खलु,परिणामो जीवदव्वस्स ॥२॥

तद्व्यतिरिक्तं च जीवद्रव्यम्, द्रव्यजीव उच्यते इति प्रक्रमः । तुर्विशेषद्योतकः । स चायं विशेषः-न यथा कदाचित् तत्पर्यायवियुतं द्रव्यं, तथाऽपि च यदा वियुक्ततया विवक्ष्यते, तदा तद्द्रव्यप्राधान्यतो द्रव्यजीवः । भावे तु दशविधः, खलुरवधारणे, दशविध एव परिणामः कर्मक्षयोपशमोदयापेक्षपरिणतिरूपो,जीवद्रव्यस्य सम्बन्धी,जीवादनन्यत्वेन जीवतया विवक्षितो जीव इति प्रक्रमः। तत्र च क्षायोपशमिकाः षद्-पञ्चेन्द्रियाणि,षष्ठं मनः,औदयिकाः क्रोधाऽऽद्यश्चत्वारो मीलिता दश भवन्ति। उत्त० ३६ अ०। दश०।(विस्तरेण निक्षेप 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १६७ पृष्ठे उक्तः)इन्द्रियपञ्चकमनोवाक्कायबलत्रयोच्छ्वासनिःश्वासायुर्लक्षणान् दश प्राणान् यथायोग धारयतीति जीवः । कर्म० १ कर्म० । न० । आ० म० । भ० । प्राणधारणधर्मके आत्मनि, स्था० १ ठा० १ उ० । आचा० । दर्श० । देहाभिमानिनि आत्मनि, मनुष्यादिकीटपर्यन्ते चेतने, वाच० । क इत्थंभूत इति चेत् ? । उच्यते-यो मिथ्यात्वाऽऽदिकलुषितरूपतया साताऽऽदिवेदनीयाऽऽदिकर्मणामभिनिवर्तकः, तत्फलस्य च विशिष्टसाताऽऽदेरुपभोक्ता,नरकाऽऽदिभवेषु च यथाकर्मविपाकोदयं ससर्ता, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपसपन्नरत्नत्रयाभ्यासप्रकर्षवशाच्च निःशेषकर्मांशापगमतः परिनिर्वाता, स जीवः सत्त्वः प्राणी आत्मेत्यादिपर्यायः । उक्तं च-" यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च । ससर्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणः " ॥ १ ॥ इति । कर्म० १ कर्म० । न० ।

जीवलक्षणम्-

उवओगलक्खणमणा-इनिहणमत्थंतरं सरीराओ ।
जीवमरूवं कारिं, भोइं च सयस्स कम्मस्स ॥ ५६ ॥

उपयुज्यते अनेनेत्युपयोगः साऽऽकारानाकारादिः । उक्तश्च स द्विधा अष्टचतुर्भेदः, स एव लक्षणं यस्य स उपयोगलक्षणस्तं, जीवमिति वक्ष्यते । तथा अनाद्यनिधनम्-अनाद्यपर्यवसितं, भवापवर्गप्रवाहापेक्षया नित्यमित्यर्थः । आव० ४ अ० । दर्श० ।

जीवो अणाइनिहणो,णाणाऽऽवरणाइकम्मसंजुत्तो । (६)

जीवतीति जीवः,असौ अनादिनिधनः-अनाद्यपर्यवसित इत्यर्थः। स च ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मणा समेकीभावेनान्योन्यव्याप्त्या, युक्तः संयुक्तो ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मसंयुक्तः । श्रा० । " ज्ञानाऽऽत्मकः सर्वशुभा-शुभकर्ता स कर्मणा । नाना ससारिमुक्ताऽऽख्यो, जीवः प्रोक्तो जिनाऽऽगमे " ॥ १ ॥ दर्श० ४ तत्त्व ।

निसर्गचेतनायुक्तो, जीवोऽरूपी भवेद्ध्रुवः ॥ [३०]

निसर्गा सहजा या चेतना, तया युक्तः निसर्गचेतनायुक्तः, सर्वेभ्योऽचेतनेभ्यो भिन्नो, जीवः,व्यवहारनयेन रूपवेदसहितोऽपि निश्चयनयेन रूपरहितो-रूपात्यन्ताभावयुक्तः, वेदरहितोवेदात्यन्ताभाववान्, सत्तामात्रम्, निर्गुणो, निर्विकारो जीवः । उक्तं च-"अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं । जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ १ ॥ " द्रव्या० १० अध्या० । " जीवमजीवे,रूवमरूवी य सप्पएसे य ।"सुखदुःखज्ञानोपयोगलक्षणो जीवः,तद्भिन्नोऽजीवः। एतौ द्वौ भेदौ प्रत्येकं रूप्यरूपिभेदौ। तथा चाह-रूप्यरूपिण इति । तत्रानादिकर्मसन्तानपरिगता रूपिणः, अरूपिणस्तु कर्मरहिताः सिद्धा इति । आ० म० । आ०चू० । (जीवस्यास्तित्वनित्यत्वाऽऽदि 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १७२ पृष्ठे प्रतिपादितम्)

जीवस्य कथञ्चिद् नित्यत्वं कथञ्चिदनित्यत्वम्—

सासए जीवे जमाली !, जं ण कदाइ णासि० जाव णिच्चे ।
असासए जीवे जमाली !,जं णं णेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ, तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ,
मणुस्से भवित्ता देवे भवइ ॥ भ० ९ श० ३३ उ० ।

जीवानां कथञ्चित्सादृश्य, कथञ्चिद् न-

" सव्वे पाणा अणेलिसा । " [४ गाथा]

सर्वेऽपि प्राणिनो विचित्रकर्मसद्भावाद् नानागतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गाऽऽदिसमन्वितत्वादनीदृशा विसदृशाः। सूत्र०२श्रु० ५अ०। (हस्तिकुन्थ्वोः समानजीवत्व, जीवस्य सकोचविकाशशालित्व च ' पएसिणू ' शब्दे वक्ष्यते)

जीवचैतन्ययोर्भेदाभेदौ-

जीवे णं भंते ! जीवे जीवे ? गोयमा ! जीवे ताव नियमा

जीवे,जीवे ति नियमा जीवे। जीवे णं भंते ! नेरइए नेरइए जीवे ?। गोयमा ! नेरइए ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय नेरइए, सिय अनेरइए । जीवे णं भंते ! असुरकुमारे असुरकुमारे जीवे ? । गोयमा ! असुरकुमारे ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय असुरकुमारे, सिय णो असुरकुमारे । एवं दण्डओ जाणियव्वो० जाव वेमाणियाणं । जीवइ भंते ! जीवे जीवे जीवइ ? । गोयमा ! जीवइ ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय जीवइ, सिय नो जीवइ । जीवइ भंते ! नेरइए नेरइए जीवइ ? । गोयमा ! नेरइए ताव नियमा जीवइ, जीवइ पुण सिय नेरइए, सिय अनेरइए, एवं दंडओ नेयव्वो० जाव वेमाणियाणं ।

इह पकम जीवशब्देन जीवो गृह्यते, द्वितीयेन च चैतन्यमित्यत. प्रश्नः । उत्तर पुनर्जीवचैतन्ययोः परस्परेणाविनाभूतत्वाद् जीवः चैतन्यमेव, चैतन्यमपि जीव एवेत्येवमर्थमवगन्तव्यम् । नारकाऽऽदिषु पदेषु पुनर्जीवत्वमव्यभिचारि, जीवेषु च नारकादित्वं व्यभिचारीत्यत आह-"जीवे ण भते ! नरइए" इत्यादि । जीवाधिकारादेवाह-(जीवइ भते ! जीवे जीवे जीवइ त्ति) जीवति प्राणान् धारयति यः स जीवः, उत यो जीव. स जीवतीति प्रश्नः । उत्तर तु यो जीवति स तावन्नियमाज्जीव , अजीवस्य आयु कर्माभावेन जीवनाभावात । जीवस्तु स्याज्जीवति, स्यान्न जीवति,सिद्धस्य जीवनाभावादिति । नारकादिस्तु नियमाज्जीवति, ससारिण सर्वस्य प्राणधारणधर्मकत्वात्, जीवतीति पुन स्यान्नारकादि. स्यादनारकादिरिति । भ० ६ श०१० उ० । "प्राणान् क्षेत्रज्ञरूपेण, धारयन् जीव उच्यते । " इत्युक्ते प्राणिनि, वाच०। आतु०। ध० । सूत्र० । द्वी० । प्र० । न० । जीवो जन्तुरसुमान् प्राणी सत्त्वो भूत इत्यादयो जीवपर्याया. । विशे० । ध० । प्रश्न० । कर्म० । उत्त० । अनु० । आव० । वृ० ।

तथा च-

जम्हा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा तम्हा पाणे त्ति वत्तव्वं सिया । जम्हा भूए भवइ भविस्सइ तम्हा भूए त्ति वत्तव्वं सिया। जम्हा जीवे जीवइ जीवत्तं आउयं च कम्मं उवजीवइ, तम्हा जीवे त्ति वत्तव्वं सिया। जम्हा सत्ते सुहासुहेहिं कम्मेहिं, तम्हा सत्ते वि वत्तव्वं सिया ।

तत्र प्राण इति, एतत्त प्रति वक्तव्य स्यात्, यदोच्छ्वासाऽऽदिमत्त्वमात्रमाश्रित्य तस्य निर्देश. क्रियते, एव भवनाऽऽदिधर्मविवक्षया भूताऽऽदिशब्दपञ्चकवाच्यता तस्य कालभेदेन व्याख्येया, यदा तूच्छ्वासाऽऽदिधर्मैर्युगपदसौ विवक्ष्यते, तदा प्राणो भूतो जीव. सत्त्वो विज्ञो वेदयिता इति, एतत्त प्रति वाच्य स्यात् । अथवा-निगमनवाक्यमेवेदमतो न युगपत्पक्षव्याख्या कार्येति । "जम्हा जीवे" इत्यादि । यस्माज्जीव आत्माऽसौ, जीवति प्राणान् धारयति, तथा जीवत्वमुपयोगलक्षणम् आयुष्क च कर्म उपजीवति अनुभवति, तस्माज्जीव इति वक्तव्य स्यादिति । (जम्हा सत्ते सुहासुहेहिं कम्मेहिं ति) सक्त आसक्त ,शक्तो वा समर्थ सुन्दरासुन्दरासु चेष्टासु । अथवा-सक्तः सम्बद्धः शुभाशुभै कर्मभिरिति । भ० २ श० १ उ० ।

सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं ।

सर्वेषां प्राणिनां, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां, तथा सर्वेषां भूतानां प्रत्येकसाधारणसूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकरूपाणामिति । तथा सर्वेषां जीवानां गर्भव्युत्क्रान्तिकसमूर्छनजौपपातिकपञ्चेन्द्रियाणाम । तथा-सर्वेषां सत्त्वानां पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणामिति । इह च प्राणाऽऽदिशब्दानां यद्यपि परमार्थतो भेदस्तथाऽपि उक्तन्यायेन भेदो द्रष्टव्यः । उक्तं च-"प्राणा द्वित्रिचतु.प्रोक्ता., भूतास्तु तरव स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ता , शेषा. सत्त्वा उदीरिताः ॥ १ ॥" इति । यदि वा-शब्दव्युत्पत्तिद्वारेण समभिरूढनयमतेन भेदो द्रष्टव्यः। तथाहि-सतत प्राणधारणात्प्राणाः, कालत्रयभवनाद् भूताः, त्रिकालजीवनाद् जीवा , सदाऽस्तित्वात् सत्त्वा इति । आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । सर्वेषां प्राणिनां (दशविधाः प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिनस्तेषाम) सामान्यत. संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाम । तथा सर्वेषां भूतानां मुक्तिगमनयोग्येन भव्यत्वेन व्यवस्थितानां,तथा सर्वेषां जीवानां जिजीविषूणां च, तथा सर्वेषां सत्त्वानां तिर्यङ्नरामराणां ससारे क्लिश्यमानतया करुणाऽऽस्पदानाम् । एकार्थिकानि चैतानि प्राणाऽऽदीनि वचनानि । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । स्था० । आव० । पा० । ज्ञा० । सूत्र० ।

सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ।

सर्वे प्राणा. सर्वे एव पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाश्चेन्द्रियबलोच्छ्वासनि.श्वासाऽऽयुष्कलक्षणप्राणधारणात् प्राणा. । तथा-सर्वाणि भवन्ति भविष्यन्त्यभूवन्निति चतुर्दशभूतग्रामान्तपातीति । एव सर्व एव जीवन्ति जीविष्यन्ति अजीविषुरिति जीवा नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणाश्चतुर्गतिका- तथा-सर्व एव स्वकृतसातासातोदयसुखदु खभाजः सत्त्व एकार्थाश्चैते शब्दा । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

तथा चैवम्भूतनयमाधिकृत्य-

एवं जीवं जीवो, संसारी पाणधारणाणुभवो ।
सिद्धो पुणरजीवो, जीवणपरिणामरहिओ त्ति

जीवति "पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविध बलं च, उच्छ्वासनि न्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरिष्टा-स्तेषां हिंसा ॥ १ ॥ " इत्यादिवचनप्रसिद्धान् दश तीनि शब्दार्थवशाज्जीवत्येव दशविधप्राणधारण स्य मतेन जीव उच्यत । स च . । मनुभवतीति दशविधप्राणानुभवा नारकादि संसार्येव भिद्धस्त्वेतन्नयमतेन जीवोऽसुमान् प्राण्यात्यादिशब्दैर्न इयते । जीवनाऽऽदिपरिणाम कि तर्हि सत्तायोगात्सत्त्व ,अत. दिपर्यायान् गच्छतीत्यात्मेत्यादिभि ॥२२५६॥ विशे० । आ० म० ।

तथा च नयोपदेशे

सिद्धो न तन्मते जीवः, मोक्षः त्वा
महाभाष्ये च तत्त्वार्थ-भाष्ये ।त्व

(सिद्ध इति) तन्मते एवम्भूतनयमते,सत्त्वाऽऽयोगात् सत्त्व , अतति स्वान् २ पर्याय । ।

सिद्धो, महाभाष्ये विशेषाऽऽवश्यके, तत्त्वार्थभाष्ये च धात्वर्थबाधतो 'जीव' प्राणधारणे इति धात्वर्थाननुयाद् जीवो न प्रोक्तः। तथा च विशेषाऽऽवश्यकवचनम्-" एष जीवः जीवी, संसारी पाणधारणाणुभवो। सिद्धो पुणरजीवो जीवणपरिणामरहिओ त्ति ॥ ३२५८ ॥" ॥ ४० ॥

एतदेव तत्त्वार्थभाष्यवचनमनूद्य व्यवस्थापयति-

जीवोऽजीवश्च नो जीवो, नो अजीव इतीरिते।
जीवः पञ्चस्वपि गति-ष्विष्टो नावैर्हि पञ्चभिः ॥४१॥

(जीव इत्यादि) जीवोऽजीवो नो जीवो नो अजीवश्चेति चतुर्भिः पदैः कोऽर्थः प्रतिपाद्य ?, इतीरिते प्रश्नवाक्यविचारविषयीकृते, सिद्धान्तिना गतिमार्गणायां पञ्चस्वपि गतिषु नारकतिर्यङ्नरामरसिद्धगतिलक्षणासु, हि निश्चितम्, पञ्चभिर्भावैरौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकपारिणामिकलक्षणैः, जीव इष्टः, व्युत्पत्तिनिमित्तजीवनलक्षणौदयिकभावोपलक्षिताऽऽत्मस्वरूपपारिणामिकभावविशिष्टस्य जीवस्य भावपञ्चकाऽऽत्मनो जीवपदार्थत्वात्। न चाऽऽत्मत्वप्रवृत्तिनिमित्तोपादानेनैवानतिप्रसङ्गे किं व्युत्पत्तिनिमित्तोपलक्षणग्रहणेनेति वाच्यम्, अनुपाति तदुपलक्षकभावे तस्यागम्यान्याय्यत्वात्। अन्यथा मण्डपादवकर्णाऽऽदिपदतुल्यताप्रसङ्गादिति दिक् ॥ ४१ ॥

नञि सर्वनिषेधार्थे, पर्युदासे च संश्रिते।
पुद्गलप्रभृति द्रव्य-मजीव इति संज्ञितम् ॥ ४२ ॥

नञोऽपि सर्वनिषेधार्थे जीवत्वावच्छिन्नान्योन्याभावबद्धे नञि विवक्षिते, पर्युदासे सादृश्ये च नञ संश्रिते तात्पर्यविषयीकृते, पुद्गलप्रभृति पुद्गलाऽऽदिकं द्रव्यम् अजीव इतिपदेन संज्ञितम्; पर्युदासानाश्रयणे तु जीवस्य गुणपर्यायैरपि भेदतया श्रवणेनाजीवपदप्रयोगप्रसङ्ग इति भावः ॥ ४२ ॥

नो जीव इति नोशब्दे-ऽजीवः सर्वनिषेधके।
देशप्रदेशौ जीवस्य, तस्मिन् देशनिषेधके ॥ ४३ ॥

(नो इति) नो जीव इति शब्दवाच्ये नोशब्दे सर्वनिषेधके विवक्षितेऽजीव एव; देशनिषेधके तु नोशब्दे आश्रीयमाणे देशनिषेधस्य देशान्तरानुज्ञानान्तरीयकत्वाज्जीवस्य देशप्रदेशावेव नोजीवशब्दव्यपदेश्यावभ्युपगन्तव्यौ ॥ ४३ ॥

जीवो वाऽजीवदेशो वा, प्रदेशो वाऽप्यजीवगः ॥
अनयैव दिशा ज्ञेयो, नोअजीवपदादपि ॥ ४४ ॥

(जीवो वेति) अनयैवोक्तयैव दिशा, नोअजीवपदादपि, नोशब्दस्य सर्वनिषेधकत्वे जीवो जीवपदार्थो वाच्यः, तस्य देशनिषेधकत्वे वाऽजीवदेशो वाऽजीवगः अजीवाऽऽश्रितः प्रदेशो वा "अप्रमानेनाप्रतिषेधे" इत्यनुशासननीत्येऽपि संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्च नञोऽर्थः, नोशब्दस्य स्वभाव एकदेशो वा; नञ्चान्वयिताऽवच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिनाकान्वतदेकदेशत्वाऽऽदिव्युत्पत्तावलभ्यमिति सिद्धान्तपरिभाषेति निगर्वः ॥ ४४ ॥

उक्त मतं कियतां नयानाम् ?, इत्याह-

नैगमो देशसंग्राही, व्यवहारर्जुसूत्रकौ ॥
शब्दः समभिरूढश्चे-त्येते मते प्रचक्षते ॥ ४५ ॥

(नैगम इति) नैगमो नैगमनयः, देशसंग्राही अवान्तरसंग्राही, सर्वसंग्रहस्य सन्मात्रार्थत्वात्तत्यागः। व्यवहारर्जुसूत्रकौ व्यवहारनय ऋजुसूत्रनयश्च, शब्दः, समभिरूढश्चेत्येते नया एव प्रचक्षते ॥ ४५ ॥

भावमौदयिकं गृह्ण-न्नेवंभूतो भवस्थितम्।
जीवं प्रवक्त्यजीवं तु, सिद्धं वा पुद्गलाऽऽदिकम् ॥४६॥

(भावमिति) एवंभूतनयस्तु औदयिकं भावं व्युत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्ततया गृह्णन् भवस्थितं संसारिणं जीवं प्रवक्ति-जीवशब्देन व्यपदिशति, अजीवम् अजीवपदार्थं तु सिद्धं वा, पुद्गलाऽऽदि द्रव्यं वेत्यभ्युपैति ॥ ४६ ॥

नो अजीवश्च नो जीवो, न जीवाजीवयोः पृथक्।
देशप्रदेशौ नास्त्येषा-विति विस्तृतमाकरे ॥ ४७ ॥

(नो इति) नो जीवो नो अजीवश्चैतन्नये जीवाजीवयोरेकत्वयोः सतोः पृथग् न-पार्थक्य नापद्यते, यतोऽस्य नयस्य देशप्रदेशौ नेष्टावेव, नोशब्दः सर्वनिषेधार्थ एव घटते इत्येतदाकरेऽनुयोगद्वाराऽऽदौ विस्तृतम् ॥ ४७ ॥

इत्थं स्वसमयसिद्धामेवंभूतनयार्थप्रक्रियामुपपाद्य, तया दिगम्बरोक्तप्रक्रियां दूषयति—

सिद्धो निश्चयतो जीवः, इत्युक्तं यद्दिगम्बरैः।
निराकृतं तदेतेन, यन्नयेऽन्त्येऽन्यथा प्रथा ॥ ४८ ॥

(सिद्ध इति) एतेन पूर्वोक्तेन सिद्धो निश्चयतो जीव इति यद्दिगम्बरैरुक्तम्- 'तिक्काले चदु पाणा, इंदियबलमाउ आणपाणो य। ववहारा सो जीवो, णिच्छयदो दु चेदणा जस्स ॥१॥" इत्यादिना; तन्निराकृतम्। यद् यस्मादन्त्ये एवंभूतनये अन्यथा प्रथा 'संसारी जीव' इत्येव प्रसिद्धिः; शुद्धनिश्चयश्च स एवेति कथं निश्चयतः सिद्धो जीव इति वक्तुं शक्यमिति ॥ ४८ ॥

नन्वेवंभूत पर्यायार्थिकस्यैव शुद्धनिश्चयः, तेनास्मदुक्तानुपपत्तावपि द्रव्यार्थिकप्रभेदेन सर्वसंग्रहनयेन शुद्धनिश्चयेन तदुपपादयिष्याम इत्याकाङ्क्षायामाह-

आत्मत्वमेव जीवत्व-मित्ययं सर्वसंग्रहः।
जीवत्वप्रतिभूः सिद्ध-साधारण्यं निरस्य न ॥ ४९ ॥

(आत्मत्वमिति) आत्मत्वमेव जीवत्वं जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तं, पारिणामिकभावस्य कालत्रयानुगतत्वेन सत्यत्वात्, औदयिकभावस्य चौपाधिकत्वेन कालत्रयाननुगतत्वेन च तुच्छत्वादित्यय सर्वसंग्रहनयस्तु-सिद्धसाधारण्यं प्रमत्तनैल्यं निरस्य, जीवत्वप्रतिभूः, सर्वत्र तुल्यजीवत्वादेकैको व्यवहारतो जीवोऽयञ्च निश्चयत इति विभागकरणमसमीक्षिताभिधानमेवापद्येत। सर्वसंग्रह एव हि कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिक, तेन च संसारिचैतन्यमपि निरुपरागं शुद्धमिति परिणम्यत एव। तदुक्तं द्रव्यसंग्रहे-' मग्गणगुणठाणेहि अ, चउदस य हवंति तह असुद्धणया। विष्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा उ सुद्धणया " ॥ १ ॥ इति। न च संसारिचैतन्यस्य संग्रहनयेन शक्त्या शुद्धचैतन्य, निश्चयेऽपि व्यक्त्या शुद्धचैतन्यस्य सिद्ध एव निश्चयात् साधारण्यमिति शङ्कनीयम्, संग्रहस्य शक्तिग्राहकत्वेन व्यक्तिग्राहकतया व्यवहार एव विश्रान्ते, निश्चयतो द्विधेननाशाली सिद्ध एव जीव इत्यस्य व्याघातात् ॥ ४९ ॥

नन्वेवं निश्चयतः सिद्धस्याऽजीवत्वे भवद्भिरिष्यमाणे भव-
तामेव ग्रन्थे संसारिसिद्धसाधारणजीवपदार्थाभि-
धानं कथम् ?, इत्याशङ्कायामाह–

यज्जीवत्वं क्वचिद् द्रव्य-भावप्राणान्वयात् स्मृतम् ।
विचित्रनैगमाऽऽकूतात्, तद् ज्ञेयं न तु निश्चयात् ॥५०॥

(यदिति) यद् जीवत्वं क्वचिद् ग्रन्थे द्रव्यप्राणानां, भावप्राणानां चान्वयादेव करणात् स्मृतं,संसारिसिद्धसाधारणमिति विशेषः । तद् विचित्रो विविधावस्थो यो नैगमस्तस्याऽऽकूतादभिप्रायाद् ज्ञेयम्, न तु निश्चयाद् एवंभूतनयात् । तथा चैवंभूतनयेनैव सिद्धमजीवं वयं प्रतिजानीमहे, न तु नयान्तराभिमतेन जीवत्वेऽपि विप्रतिपद्यामहे, इति शुद्धाशुद्धेन नैगमनयेन साधारणजीवत्वाभ्युपगमेऽपि न क्षतिः । इयांस्तु विशेषः-प्रसिद्धनैगम औदयिकभावोपलक्षितमात्मसत्ताऽऽश्रयं पारिणामिकभावमेव जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तमभ्युपैति । तद्विशेषश्च कश्चिदुपचारोपजीवी द्रव्यभावप्राणान्यतरत्वेनानुगतमौदयिकक्षायिकभावद्वयमिति नेदं सिद्धान्तार्णवे नयविकल्पकल्लोलवीचयः तत्सम्बन्धसलिलेन विक्षोभाऽऽवहम् ॥ ५० ॥

ननु 'जीव' प्राणधारणे इत्यत्र भावप्राणधारणमेव धात्वर्थे, विवक्षितत्वात्,निश्चयतः सिद्धस्य जीवत्वं समर्थयि-
ष्याम इत्याकाङ्क्षायामाह–

धात्वर्थे भावनिक्षेपात्, परोक्तं न च युक्तिमत् ।
प्रसिद्धार्थोपरोधेन, यन्नयान्तरमार्गणा ॥ ५१ ॥

(धात्वर्थ इति) धात्वर्थे जीवत्यर्थे, भावनिक्षेपाद् भावसङ्केतग्रहात्, परोक्तं निश्चयतः सिद्ध एव जीव इति दिगम्बरोक्तं, न च नैव,युक्तिमत् , यद् यस्मात् प्रसिद्धोऽनादिधातुपाठाऽऽदिप्रतीयमानो योऽर्थः, तदनुरोधेन,नयान्तरस्य मार्गणा विचारणा भवति । तथा च यादृशधात्वर्थमुपलक्षणीकृत्यैतद्वयपदप्रतिसन्धानं तादृशधात्वर्थप्रकारकजिज्ञासयैवंभूताभिधानस्य सांप्रदायिकत्वान्न तत्र भावनिक्षेपाऽऽश्रयणं युक्तमित्यर्थः । अन्यथा तत्रापि निक्षेपान्तराश्रयणेऽनवस्थानात् प्रकृतमात्रापर्यवसानादन्ततो ज्ञानाऽद्वैते शून्यतायां वा पर्यवसानात् । किञ्च-एतादृगुपरितनैवंभूतस्य प्राक्तनैवंभूताभिधानपूर्वमेवाभिधानं युक्तम्, अन्यथाऽप्राप्तकालत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् व्यवहाराऽऽश्रभिमतव्युत्पत्त्यनुरोधेनौदयिकभावग्राहकत्वमेवास्य सूरिभिरुक्तं युक्तमिति समर्थनीयम् । न चेन्द्रियरूपप्राणानां क्षायोपशमिकत्वात् कथमेवंभूतस्यौदयिकभावमात्रग्राहकत्वमित्याशङ्कनीयम्, प्राधान्येनायुष्कर्मोदयलक्षणस्यैव जीवनार्थस्य ग्रहणात् । उपहतेन्द्रियेऽप्यायुरुदयेनैव जीवननिश्चयादिति दिक् ॥ ५१ ॥

शङ्काशेषमुपन्यस्य परिहरति–

शैलेश्यन्त्यक्षणे धर्मो, यथा सिद्धस्तथाऽमुमान् ।
वाच्यं नेत्यपि यत्तत्र, फले चिन्तेह धातुगा ॥ ५२ ॥

(शैलेश्यन्त्यक्षण इति) शैलेश्या अयोगिगुणस्थानस्यान्त्यक्षणे चरमक्षणे,यथा निश्चयतो धर्मः ,तदर्वाक्तनकालभावी तु व्यवहारत एव । तदुक्तं धर्मसंग्रहण्यां हरिभद्राऽऽचार्यैः - "सो उभयक्खयहेऊ, सेलेसीचरमसमयभावी जो । सेसो पुण णिच्छयओ, तस्सेह पसाहगो भणिओ ॥ १ ॥" त्ति । तथाऽसुमान् जीवोऽपि निश्चयतः सिद्ध एव भविष्यतीत्यपि न वाच्यम्, यतस्तत्र " सो उभयक्खय " इत्यादिगाथायां धारयति सिद्धिगतावात्मानमिति धर्मः ' इति फले फलरूपे धात्वर्थे चिन्ता । सा च-कुर्वद्रूपत्वेन कारणस्य एवंभूतनयस्य मते शैलेश्यन्त्यक्षण एव धर्मपदार्थमवगाहमाना, तदनन्तरं सिद्धिसाधारणरूपसाफल्यस्य व्यवधानात् । इह तु धातुगा धात्वर्थावच्छिन्नस्वरूपविषयिणी चिन्ता । सा च नन सदाऽव्यवधानं गवेषयेत्, स्वरूपं तु प्रसिद्ध्यनुरोधेन संसारिण्येव पर्यवसाययेत्, न तु सिद्ध इति महान् विशेषः । स्यादेतत्, धर्मपदेऽपि धात्वर्थो धारणसामान्यमेव, तच्च यतो विशेषणान्तरवैवश्यात् सिद्धसाधारणरूपविशेषे पर्यवस्यति, तथा जीवपदार्थोऽपि विशेषे पर्यवस्यतीति सिद्ध एव इत्यपदो भविष्यतीति । मैवम् । ' जीव ' प्राणधारणे इत्यत्र प्राणपदं समभिव्याहृतं साधारणस्य भूरिप्रयोगवशादौदयिकप्राणधारण एव पर्यवसानात् । अत एव गोपदस्य नानाऽर्थत्वेऽपि ततो भूरिप्रयोगवशात्सास्नाऽऽदिमत एवोपस्थितेः, अश्वाऽऽदेस्तु पदान्तरसमभिव्याहाराऽऽदिनेति तान्त्रिकाः । तदेवमेवंभूतनयाभिप्रायेण सिद्धो न जीव इति व्यवस्थापितम् । यदि पुनः ग्रन्थकन्यायाद् विशुद्धतरनैगमभेदमाश्रित्य प्रागुक्तस्वग्रन्थगाथा व्याख्यायते परैः,तदा न किञ्चिदस्माकं दुष्यतीति किमपीयति इदनरक्षोरन ॥ "ऐन्द्री नतिः प्रणयिपुण्यमिवाङ्कुराग्रे-र्यस्यादपद्मकिरणैः कलयत्युदीनम् । स्नात्रात्मभसा वलितयाद्व-
कुटक्षः शङ्खेश्वरप्रभुमिमं शरणीकरोमि " ॥ ५२ ॥ नया० ।
स च द्विविधः संसारी, सिद्धश्च । जी० ३ प्रति० । विशे० । सूत्र० । संसारिणो दशविधप्राणधारणाज्जीवाः, सिद्धाश्च ज्ञानाऽऽदिभावप्राणधारणात् । स्था० । प्राणाश्च द्विधा-द्रव्यप्राणा , भावप्राणाश्च । तत्र द्रव्यप्राणा इन्द्रियाऽऽदयो, भावप्राणा ज्ञानाऽऽदीनि । द्रव्यप्राणैरपि प्राणिनः संसारसमापन्ना नारकाऽऽदयः, केवलभावप्राणैः प्राणिनो व्यपगतसमस्तकर्मसङ्गाः सिद्धाः । प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

जीवानां द्वैविध्यम्—

दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सिद्धा चेव, असिद्धा चेव । दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सइंदिया चेव, अणिंदिया चेव । [स्था० २ ठा० ४ उ०] दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सकाइया चेव, अकाइया चेव । दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सजोगा चेव, अजोगा चेव । दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सवेदगा चेव, अवेदगा चेव । [जी० १ प्रति०] दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सकसाया चेव, अकसाया चेव । [स्था० २ ठा० ४ उ०] दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सलेसा य, अलेसा य । (जी०) दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–णाणी चेव, अण्णाणी चेव । [जी०] दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–सागारोवउत्ता चेव, अणागारोवउत्ता चेव । [जी०] दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा–आहारगा चेव, अणाहारगा चेव । जी० १ प्रति० ।

"दुविहा" इत्यादि कण्ठ्यम् । (स्था०) "सइंदिया" इत्यादि । सेन्द्रि-

वा' संसारिण ,अनिन्द्रिया सिद्धा । (जी०१ प्रति०) सेन्द्रिया संसारिण., अनिन्द्रिया अपर्याप्तककेवलिसिद्धाः । (स्था०) " सकाइया चेव " इत्यादि । सकाया. पृथिव्यादिषड्विधकायविशिष्टा. संसारिण., अकाया तद्विलक्षणा. सिद्धा.। (स्था०) "सजोगा चेव" इत्यादि । सयोगा संसारिण , अयोगा अयोगिन', सिद्धाश्च । (स्था०) ' सवेदगा चेव" इत्यादि । सवेदाः संसारिणः, अवेदा अनिवृत्तबादरसंपरायविशेषाऽऽदय षट् सिद्धाश्च । (स्था०) "सकसाया चेव" इत्यादि । सकषाया. सूक्ष्मसंपरायान्ताः, अकषाया उपशान्तमोहाऽऽदय. चत्वारः सिद्धाश्च । (स्था०) " सलेसा य " इत्यादि । सलेश्याः सयोग्यन्ता' संसारिण , अलेश्या अयोगिन' सिद्धाश्च । (स्था०) " णाणी चेव " इत्यादि । ज्ञानिन सम्यग्दृष्टय ,अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टय' । (स्था०) " सागारोवउत्ता चेव " इत्यादि । सहाऽऽकारेण विशेषांशग्रहणशक्तिलक्षणेन वर्तते य उपयोग. स साकारो, ज्ञानोपयोग इत्यर्थ । तेनोपयुक्ता साकारोपयुक्ता । अनाकारस्तु तद्विलक्षणो, दर्शनोपयोग इत्यर्थ. । अभिधाने च-"ज सामन्नगहणं, भावाण नेय कट्टु आगारं । अविसेसिऊण अत्थ, दंसणमिति वुच्चए समए" ॥१॥ त्त । तेनोपयुक्ता अनाकारोपयुक्ता इति । (स्था०) । ("आहारगा चेव"इत्यादिसूत्रस्य व्याख्या 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५१० पृष्ठे गता)

दुविहा सव्वजीवा पएणत्ता । तं जहा–भासगा य, अभासगा य। [जी०] दुविहा सव्वजीवा पएणत्ता। तं जहा–चरिमा चेव, अचरिमा चेव। [जी०] दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता। त जहा–ससरीरी य, असरीरी य। [जी० १ प्रति०]

" भासगा य " इत्यादि। भाषकाः भाषापर्याप्तिपर्याप्तका', तद्विपर्ययादभाषकाः-अयोगिसिद्धा , एकेन्द्रियाश्च । (स्था०) (" चरिमा चेव " इत्यादिसूत्रस्य विस्तरः ' चरम ' शब्दे तृतीयभागे ११३८ पृष्ठे उक्त.) "ससरीरी य " इत्यादि। सशरीरिण संसारिण , अशरीरिणस्तु शरीरमेषामस्तीति शरीरिणः, तन्निषेधादशरीरिणः सिद्धा. । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

संग्रहणीगाथा चेयम्–

"सिद्धसइंदियकाए, जोगे वेए कसायलेसा य ।
णाणुवओगाहारे, भासगचरिमे य ससरीरी " ॥ १ ॥

स्था० ३ अ० ४ ड० ॥

सम्प्रति संसारसमापन्नजीवाभिगममभिधित्सुस्तत्प्रश्नसूत्रमाह–

संसारसमावएणएसु णं जीवेसु इमाओ णव पडिवत्तीओ एवमाहिज्जंति। तं जहा–एगे एवमाहंसु–दुविहा संसारसमावएणगा जीवा पएणत्ता।एगे एवमाहंसु–तिविहा संसारसमावएणगा जीवा पएणत्ता । एगे एवमाहंसु–चउव्विहा संसारसमावएणगा जीवा पएणत्ता । एगे एवमाहंसु–पचविहा संसारसमावएणगा जीवा पएणत्ता । ते एएणं अभिलावेणं० जाव दसविहा संसारसमावएणगा जीवा पएणत्ता ।

संसारसमापन्नेषु. णमिति वाक्यालङ्कारे। जीवेषु,इमा वक्ष्यमाणलक्षणा नव प्रतिपत्तयो, द्विप्रत्यवतारमादौ कृत्वा दशप्रत्यवतार यावद् ये नव प्रत्यवतारास्तद्रूपाणि प्रतिपादनानि, संवित्तय इति यावत् । एव वक्ष्यमाणया रीत्या आख्यायन्ते पूर्वसूरिभिः । इह प्रतिपत्त्याख्यानेन प्रणालिकयाऽर्थाख्यान द्रष्टव्य, प्रतिपत्तिभावेऽपि शब्दादर्थे प्रवृत्तिकरणात् । तेन यदुच्यते शब्दाद्वैतवादिभि -शब्दमात्र विश्वमिति। तदपास्त द्रष्टव्यम्। तदपासन चेयमुपपत्ति'-एका-तैकस्वरूपे वस्तुन्यभिधानद्वयासम्भवात्, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताभावात्, ततश्च शब्दमात्रमित्येव स्यात्, न विश्वमिति प्रणालिकयाऽर्थाभिधानमेवोपदर्शयति । तद्यथा-एके आचार्या एवमाख्यातवन्त.-द्विविधाः संसारसमापन्ना जीवाः प्रज्ञप्ता. । एके एवमाख्यातवन्त -त्रिविधाः संसारसमापन्ना जीवा प्रज्ञप्ता । एव यावद् दशविधा इति । इह एके इति न पृथग् मतावलम्बिनो दर्शनान्तरीया इव केचिदन्ये आचार्या , किं तु य एव पूर्वं द्विप्रत्यवतारविवक्षाया वर्तमाना एवमुक्तवन्त' । यथा-द्विविधा संसारसमापन्ना जीवा इति, एवं त्रिप्रत्यवतारविवक्षायां वर्तमाना' । द्विप्रत्यवतारविवक्षामपेक्ष्य त्रिप्रत्यवतारविवक्षाया अन्यत्वात्, विवक्षा विवक्षावतो च कथञ्चिदभेदादन्ये इति वेदितव्या.। अत एव प्रतिपत्तय इति परमार्थतोऽनुयोगद्वाराणीति प्रतिपत्तव्यम्। इह य एव द्विविधास्त एव त्रिविधास्त एव चतुर्विधा इति, तेषामनेकस्वभावताया तत्तद्धर्मभेदेन तथातथाऽभिधानता युज्यते, नान्यथा, एकान्तैकस्वभावतायां तेषां वैचित्र्यायोगतस्तथातथाऽभिधानप्रवृत्तेरसम्भवात् । एव सति अदृष्टफलप्रमू दैव, तिर्यग्योनि च पञ्चधा भवति, मानुष्य चैकविधं, समासतो भौतिकः सर्ग इति वाङ्मात्रमेव, अभिहितानुजीवानामेकरूपत्वाभ्युपगमनेन तथारूपवैचित्र्यासम्भवादिति । एवमन्येऽपि प्रवादास्तथा वस्तुवैचित्र्यप्रतिपादनपरा निरस्ता द्रष्टव्याः, सर्वथैकस्वभावत्वाभ्युपगतौ वैचित्र्यायोगात् ।

सम्प्रत्येता एव प्रतिपत्तीः क्रमेण व्याचिख्यासुः प्रथमत आद्या प्रतिपत्तिं विभावयिषु–रिदमाह–

तत्थ जे ते एवमाहंसु–दुविहा संसारसमावएणगा जीवा पएणत्ता। तं जहा–तसा चेव, थावरा चेव ॥

(तत्थ जे ते इत्यादि) तत्र तासु नवसु प्रतिपत्तिषु मध्ये ये तद्विप्रत्यवतारविवक्षायां वर्तमाना एवमाख्यातवन्त -द्विविधाः संसारसमापन्नका जीवा प्रज्ञप्ता इति । ते, णमिति वाक्यालङ्कारे। एव वक्ष्यमाणरीत्या द्विविधत्वभावनाऽर्थमाख्यातवन्त'। तद्यथेत्युपन्यस्तद्वैविध्योपदर्शनार्थमाह—त्रसाश्चैव, तत्र त्रसन्ति उष्णाद्यभितप्ता सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाऽऽद्यासेवनाऽर्थं स्थानान्तरमिति त्रसा । अनया च व्युत्पत्त्या त्रसास्त्रसनामकर्मोदयवर्तिन एव परिगृह्यन्ते, न शेषा. । अथ च-शेषैरपीह प्रयोजन, तेषामप्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । तत एव व्युत्पत्ति -त्रसन्ति अभिसन्धिपूर्वकमनभिसन्धिपूर्वक वा ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु चलन्तीति त्रसा' । तैजसा वायवो द्वीन्द्रियादयश्च । उष्णाऽऽद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहारासमर्था सन्तस्तिष्ठन्तीति एवशीला स्थावरा पृथिव्यादय। चशब्दौ स्वगतानेकभेदसमुच्चयार्थौ । एवकारावधारणार्थौ । एते एव संसारसमापन्नका जीवाः, एतद्व्यतिरेकेण संसारिणामभावात् । जी० १ प्रति० । स्था० ।

जीवानां त्रैविध्यम्–

तिविहा सव्वजीवा पएणत्ता। त जहा–तसा य, थावरा य,

णो तसा णो थावरा । [जी० ३ प्रति०] तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-परित्ता, अपरित्ता, नो परित्ता नो अपरित्ता । [जी० ३ प्रति०] तिविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता । तं जहा-इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा । तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी, सम्मामिच्छद्दिट्ठी । तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा, अपज्जत्तगा, नो पज्जत्तगा नो अपज्जत्तगा । [स्था० ३ ठा० २ उ०] तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-सुहुमा, बायरा, नो सुहुमा नो बायरा । [जी० ३ प्रति०] तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-सण्णी असण्णी, णो सण्णी णो असण्णी । [जी०] तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-भवसिद्धिआ, अभवसिद्धिआ, नो भवसिद्धिआ नो अभवसिद्धिआ ॥ जी० ३ प्रति० ।

उक्तानुक्तसंग्रहार्थं गाथाऽर्द्धम्-

"सम्मद्दिट्ठि-परित्ता-पज्जत्तग-सुहुम-सन्नि-भविका य ।" स्था० ३ ठा० २ उ० ।

"परित्ता" इत्यादि । परीत्ताः प्रत्येकशरीराः, अपरीत्ताः साधारणशरीराः । परीत्तशब्दस्य छन्दोऽर्थं व्यत्यय इति । (स्था० ३ ठा० २ उ०) "पज्जत्ता" इत्यादि । (नो पज्जत्त त्ति)नो पर्याप्तका, नो अपर्याप्तका सिद्धा । (स्था० ३ ठा० २ उ०) "सण्णी" इत्यादि । संज्ञिनः समनस्काः, असंज्ञिनोऽमनस्काः, उभयप्रतिषेधवर्त्तिनः सिद्धाः । (जी० ३ प्रति०) "भवसिद्धिया" इत्यादि । सर्वत्र तृतीयपदे सिद्धा वाच्याः । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

जीवानां चातुर्विध्यम्-

चउव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता । तं जहा-णेरइया, तिरिक्खजोणिया, मणुस्सा, देवा । चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-मणजोगी, वयजोगी, कायजोगी, अजोगी । अहवा-चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-इत्थिवेयगा, पुरिसवेयगा, णपुंसगवेयगा, अवेयगा । अहवा-चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-चक्खुदंसणी, अचक्खुदंसणी, ओहिदंसणी, केवलदंसणी । अहवा-चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-संजया १, असंजया २, संजयासंजया ३, णो संजयासंजया ४ ॥

व्यक्तानि चैतानि, नवरं मनोयोगिनः समनस्काः, योगत्रयसद्भावेऽपि तस्य प्राधान्यात् । एवं वाग्योगिनो द्वीन्द्रियाऽऽदयः, काययोगिन एकेन्द्रियाः, अयोगिनो निरुद्धयोगाः सिद्धाश्चेति । अवेदकाः सिद्धादयश्चक्षुषः सामान्यार्थग्रहणमवग्रहेहारूपं दर्शनं चक्षुर्दर्शनं तद्वन्तश्चतुरिन्द्रियादयः, अचक्षुः स्पर्शनादि तद्दर्शनवन्त एकेन्द्रियादय इति । संयताः सर्वविरताः, असंयता अविरताः, संयतासंयता देशविरतास्त्रयः, तत्प्रतिषेधवन्तः सिद्धा इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जीवानां पञ्चविधत्वम्-

पंचविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता । तं जहा-एगिंदिया० जाव पंचेंदिया । [स्था० ५ ठा० ३ उ०] पंचविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-नेरइया, तिरिक्खजोणिया, मणुस्सा, देवा, सिद्धा । पंचविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-कोहकसाई, माणकसाई, मायाकसाई, लोभकसाई, अकसाई । जी० ३ प्रति० ॥

"पञ्चविहेत्यादि ।" संसारसमापन्ना भववर्त्तिनः, सर्वजीवाः संसारिसिद्धाः, अकषायिण उपशान्तमोहाऽऽदय । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

संसारिणो य मुत्ता, संसारी छव्विहा समासेण ।
पुढवीकाइयमादी, तसकायंता पुढो भेया ॥ ६४ ॥

चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः । संसारिणो, मुक्ताश्चेति । तत्र संसारिणः षड्विधाः षट्प्रकाराः, समासेन ज्ञातिसंक्षेपणेति भाव । षड्विधत्वमेवाऽऽह-पृथिवीकायिकाऽऽदयस्त्रसकायान्ताः । यथाक्रमम्-"पुढवीकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया ।" पृथग्भेदा भवन्ति स्यातन्त्र्येण पृथग्भिन्नस्वरूपा, न तु परमपुरुषविकारा इति ॥ ६४ ॥ आ० ।

जीवानां षड्विधत्वम्-

छव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता । तं जहा-पुढवीकाइया० जाव तसकाइया । छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-आभिणिबोहियणाणी० जाव केवलणाणी, अन्नाणी । अहवा-छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-एगिंदिया० जाव पंचिंदिया, अणिंदिया । अहवा-छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-ओरालियसरीरी, वेउव्वियसरीरी, आहारगसरीरी, तेयगसरीरी, कम्मगसरीरी, असरीरी ॥

संसारसमापन्नकजीवसूत्रे-पृथिवीकायिकाऽऽदयो जीवतयोक्ता, पूर्वसूत्रे तु निकायत्वेनेति विशेषाद् न पुनरुक्ततेति । ज्ञानिसूत्रे-अज्ञानिनस्त्रिविधा -मिथ्यात्वोपहतज्ञाना । इन्द्रियसूत्रे-अनिन्द्रिया, अपर्याप्ता, केवलिनः, सिद्धाश्चेति । शरीरसूत्रे-यद्यप्यन्तरगतौ कार्म्मणशरीरसम्भवः, तद्व्यतिरिक्तस्य तैजसशरीरिणोऽसम्भवः, तथाऽप्येकतराविवक्षया भेदो व्याख्यातव्य, तथा अशरीरी सिद्ध इति । स्था० ६ ठा० ।

जीवानां सप्तविधत्वम्-

सत्तविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता । तं जहा-नेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, मणुस्सा, मणुस्सीओ, देवा, देवीओ । सत्तविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-पुढवीकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया, अकाइया । [जी०] सत्तविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-कण्हलेसा, नीललेसा, काउलेसा, तेउलेसा, पम्हलेसा, सुक्कलेसा, अलेसा । जी० ।

सूत्रद्वयं कण्ठ्यम्, नवरं सर्वे च ते जीवाश्चेति सर्वजीवाः, संसारिमुक्ता इत्यर्थः । तथा (अकाइय त्ति) सिद्धाः, षड्विधकायव्यपदेश्यत्वादिति । अलेश्याः-सिद्धा अयोगिनो चेति । [जी०]

अट्ठविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयनेरइया, अपढमसमयनेरइया, पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया, पढमसमयमणुस्सा, अपढमसमयमणुस्सा, पढमसमयदेवा, अपढमसमयदेवा । जी० ८ प्रति० । स्था० ।

तत्र प्रथमसमयनारका नारकायुः प्रथमसमयसंवेदिनो अप्रथमसमयनारका नारकायुष्यादिसमयवर्तिन, एवं तिर्यग्योनिकादयोऽपि भावनीया । जी० ८ प्रति० ।

अट्ठविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-नेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, मणुस्सा, मणुस्सीओ य, देवा, देवीओ य, सिद्धा । अहवा-अट्ठविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-आभिणिबोहियणाणी० जाव केवलणाणी, मइअण्णाणी, सुयअण्णाणी, विभंगनाणी । स्था० ८ ठा० ॥

नवविधत्वमाह-

नवविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-पुढवीकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया । जी० ९ प्रति० ॥

जीवाणं नवहिं ठाणेहिं संसारं वत्तिंसु वा, वत्तंति वा, वत्तिस्संति वा । तं जहा-पुढवीकाइयत्ताए० जाव पंचिंदियकाइयत्ताए ॥

सम्यक् निर्वर्तितवन्त अनुवर्तनवन्त, एवमन्यदपि । स्था० ६ ठा० ।

नवविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, णेरतिया, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया, मणूसा, देवा, सिद्धा । जी० ९ प्रति० ।

नवविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयणेरतिया, अपढमसमयणेरतिया, पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया, पढमसमयमणूसा, अपढमसमयमणूसा, पढमसमयदेवा, अपढमसमयदेवा, सिद्धा । जी० ९ प्रति० ।

दशविधत्वम्-

दसविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयएगिंदिया, अपढमसमयएगिंदिया, पढमसमयबेइंदिया, अपढमसमयबेइंदिया० जाव पढमसमयपंचिंदिया, अपढमसमयपंचिंदिया । जी० १० प्रति० ॥

तत्र सुगमं, नवरं प्रथमः समयो येषामेकेन्द्रियत्वस्य ते प्रथमसमयास्ते च ते एकेन्द्रियाश्चेति विग्रहः । विपरीतास्त्वितर एव द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया वाच्याः । स्था० १० ठा० ।

दसविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-पुढवीकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सतिकाइया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अणिंदिया । जी० १० प्रति० ।

अनिन्द्रिया सिद्धा अपर्याप्तका उपयोगतः केवलिनश्चेति । स्था० १० ठा० ।

दसविहा सव्वजीवा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयणेरइया, अपढम-समयनेरइया, पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया, पढमसमयमणूसा, अपढमसमयमणूसा, पढमसमयदेवा, अपढमसमयदेवा, पढमसमयसिद्धा, अपढमसमयसिद्धा । जी० १० प्रति० । स्था० ॥

जीवानां चतुर्दशविधत्वम्-

कइविहा णं भंते ! संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ? गोयमा ! चउद्दसविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता । तं जहा-सुहुमअपज्जत्तगा १, सुहुमपज्जत्तगा २, बादरअपज्जत्तगा ३, बादरपज्जत्तगा ४, बेइंदिया अपज्जत्तगा ५, बेइंदिया पज्जत्तगा ६, एवं तेइंदिया ७-८, एवं चउरिंदिया ९-१०, असण्णिपंचिंदिया अपज्जत्तगा ११, असण्णिपंचिंदिया पज्जत्तगा १२, सण्णिपंचिंदिया अपज्जत्तगा १३, सण्णिपंचिंदिया पज्जत्तगा १४ । भ० २५ श० १ उ० ।

तत्राह-

चउदसविहा वि जीवा, विबंधगा तेसिमंतिमो भेओ ।
चोद्दसहा सव्वे वि हु, किमाइसंताइपयनेया ॥ १ ॥

चतुर्दशविधा अपि चतुर्दशप्रकारा अपि, जीवाः प्रागुक्तस्वरूपा अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदयो, विबन्धका ज्ञेयाः, विशेषेण बन्धका विबन्धकाः, अष्टप्रकारस्य कर्मण इति शेषः । तेषां चतुर्दशविधानां जीवानाम्, अन्तिमो भेदः-पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाख्यः चतुर्दशधा चतुर्दशप्रकारो मिथ्यादृष्ट्यादिभेदाद्वसेयः, सर्वेऽपि चैतेऽनन्तरोक्ता अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदयो मिथ्यादृष्ट्यादयश्च, किमादिके पदे सत्पदाऽऽदिके च प्ररूप्यमाणा यथावज्ज्ञातव्याः ॥ १ ॥

तत्र "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् प्रथमतः किमादिपदैः प्ररूपणां चिकीर्षुराह-

किं जीवा उवसममा-इएहिँ भावेहिँ संजुयं दव्वं ।
कस्स सरूवस्स पहू, केणं ति न केणइ कयाओ ॥ २ ॥

किं जीवाः ?-किं नाम जीवा इत्यभिधीयते ?, एवं परेण प्रश्ने कृते सति सूरिरुत्तरमाह-उपशमाऽऽदिभिरुपशमौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकैर्भावैः संयुतं सम्मिश्रं द्रव्यम् । आह-औदयिकाऽऽदीन् भावान् परित्यज्य किमितीहौपशमिकस्य भावस्य साक्षादुपादानम् ? । उच्यते-इह जीवस्य स्वरूपं पृष्टेन सता तदेव वक्तव्यं यदसाधारणं स्वरूपम्, एवं हि पदार्थान्तरस्वरूपेभ्यो वैविक्त्येन तत्प्रतिपादितं भवति, नान्यथा, औदयिकपारिणामिकौ च भावावजीवानामपि भवतः, अनन्तौ साक्षाद्योपात्तौ, क्षायिकोऽपि च भावः औपशमिकभावपूर्वकः, न ह्यनौपशमिकभावमनासाद्य कश्चिदपि क्षायिकं भावमासादयति, क्षायोपशमिकोऽपि च भावो नौपशमिकाद्भावादत्यन्त-

भेदी, तत इह साक्षादौपशमिकस्य भावस्योपादानमिति । तत. " कस्य प्रभव. स्वामिनो जीवा. ? " इति प्रश्ने कृते भति उत्तरम्-स्वरूपस्य आत्मीयस्य रूपस्य, निश्चयनयमतमेतत् । तथाहि-कर्मविनिर्मुक्तस्वरूपा आत्मानो न केषामपि प्रभव, किं तु स्वरूपस्यैव, तथास्वाभाव्यात् । यस्तु स्वस्वामिभाव ससारे, स कर्मोपाधिजनितत्वादौपाधिक , न पारमार्थिक इति । तथा केन कृता जीवा ? इति प्रश्ने कृते सति समाधि'-न केनचित्कृता., किन्तु नभस्वदकृत्रिमा एव, यथा चाकृत्रिमता जीवाना, तथा धर्मसंग्रहणीटीकाया सप्रपञ्चमभिहितमिति नेह भूयोऽभिधीयते, ग्रन्थगौरवभयात् ॥ २ ॥

कत्थ सरीरे लोए, व हुंति केवचिर सव्वकालं तु ।
कइ भावजुआ जीवा, विगतिगचउपंचमीसेहिं ॥ ३ ॥

कुत्र जीवा अवतिष्ठन्ते?, इति प्रश्ने कृते सति उत्तरमाचार्य आह-शरीरे, लोके वा, तत्र सामान्यचिन्तायां लोके,नाऽलोके, अलोके स्वभावत एव धर्माधर्मास्तिकायजीवपुद्गलानामसभवात् । विशेषचिन्तायां शरीरे, नान्यत्र, शरीरपरमाणुभिरेव सह आत्मप्रदेशाना क्षीरनीरवदन्योन्यानुगमभावात् । उक्तञ्च-"अन्नोन्नमणुगयाइ,इम च त च त्ति विभयणमजुत्तं । जह खीरपाणियाइ," ति । तथा-(केवचिर त्ति)कियच्चिर कियत्काल जीवा भवन्ति?,इति प्रश्ने कृते सति उत्तरम्-सर्वकालमेव,तुरेवकारार्थ । इह "केण ति नं केणइ कया उ (२)" इत्यनेन ग्रन्थेन पूर्वं जीवानामनादित्वमावेदितम्, इदानीं त्वनिधनत्वम्, ततश्चानादिनिधना जीवा इति द्रष्टव्यम् । तथा च सति मुक्त्यवस्थामधिगता अपि जीवा न विनश्यन्ति, किन्तु ज्ञानाऽऽदिके स्वस्वरूपेऽवतिष्ठन्त इति श्रद्धेयम् । तेन यत्कैश्चिदुच्यते-

> " दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
> नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
> दिश न काञ्चिद्विदिश न काञ्चित्,
> स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १ ॥
> जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
> नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
> दिश न काञ्चिद्विदिश न काञ्चित्,
> स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ २ ॥

तथा-

> अर्हन्मरणचित्तस्य, प्रतिसन्धिर्न विद्यते ।
> प्रदीपस्येव निर्वाणं, विमोक्षस्तस्य चेष्सित " ॥ ३ ॥ इति ।

तदपास्तमवसेयम् । सत सर्वथा विनाशायोगात्, तथादर्शनादिति कृत प्रसङ्गेन, मा भूद् ग्रन्थगौरवमिति कृत्वा । तथा कतिभिरुपशमाऽऽदिभिर्भावैर्युता सयुक्ता जीवा ?, इति प्रश्ने कृते सति, उत्तरमाह-द्विकत्रिकचतु पञ्चमिश्रै । प० स० । (जीवस्थानेषु भावस्थिति ' गुणट्ठाण ' शब्दे तृतीयभागे ९७३ पृष्ठे कर्मग्रन्थेन गतार्था)

तत्र ये जीवा यावत्सु शरीरेषु सम्भवन्ति, तान् तावत्सु प्रतिपादयन्नाह-

सुरनेरइया तिसु तिसु, वाउपणिंदीतिरिक्ख चउ चउसु ।
मणुया पचसु सेसा, तिसु तणुसु अविग्गहा सिद्धा ॥ ४ ॥

सुरा नैरयिकाश्च प्रत्येक तिसृषु तनुषु शरीरेषु वर्त्तन्ते । तद्यथा-तैजसं,कार्मण, वैक्रिये च । तथा वायवो वातकाया , तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च. प्रत्येक चतसृषु तनुषु सभवन्ति । तत्र त्रीणि शरीराणि पूर्वोक्तान्येव, चतुर्थं त्वौदारिकमवगन्तव्यम्, वैक्रिय च वायुकायिकाना पञ्चेन्द्रियतिरश्चां वैक्रियलब्धिमतामवसेयम्, सर्वेषामविशेषेण, तथा मनुजा मनुष्याः पञ्चस्वपि तनुषु सभवन्ति । तद्यथ. औदारिके वैक्रिये आहारके तैजस कार्मणे च । तत्र वैक्रिय वैक्रियलब्धिमताम्,आहारक चतुर्दशपूर्वविदाम्,औदारिकतैजसकार्मणानि सुप्रतीतानि, शेषास्त्वेकद्वित्रिचतुरसज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च. प्रत्येक तिसृषु तिसृषु औदारिकतैजसकार्मणरूपासु तनुषु वेदितव्या., सिद्धा व्यपगतसकलकर्ममलकलङ्का , पुनरविग्रहा विग्रहरहिता', अशरीरा इत्यर्थ. ॥ ४ ॥

तदेव किमादिपदै. प्ररूपणा कृता । संप्रति सत्पदाऽऽदिपदै. प्ररूपणा कर्त्तव्या, सत्पदाऽऽदीनि च पदान्यमूनि-"सतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य । कालो य अतरं भा-गभाव अप्पाबहु चेव ॥ " तत्र प्रथमत सत्पदप्ररूपणा विदधाति-

पुढवाई चउ चउहा, साहारणवणं पि सततं सययं ।
पत्तेयपज्जऽपज्जा, दुविहा सेसा उ उववन्ना ॥ ५ ॥

इह ये पृथिव्यादयश्चत्वार. पृथिव्यप्तेजोवायुरूपा. प्रत्येक सूक्ष्मबादरपर्याप्ताऽपर्याप्तभेदाच्चतुर्धा चतु प्रकारा., सर्वभेदसख्यया षोडशसख्या , ततो भूय. सर्वेऽपि प्रत्येक द्विधा द्विप्रकारा. । तद्यथा-प्रागुत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च, प्रागुत्पन्नोत्पद्यमानता च प्रज्ञापकापेक्षया वेदितव्या । ते सर्वेऽपि सततमनवरतम्, (सतत ति) यथायोग सर्वत्र वचनलिङ्गपरिणामेन सबध्यन्ते, सन्तो विद्यमाना सर्वकाल सन्त. प्राप्यन्त इत्यर्थ. । तथा साधारणवनमपि साधारणवनस्पतयोऽपि पर्याप्तसूक्ष्मबादरभेदभिन्ना. प्रत्येक द्विधा, प्रागुत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च, सतत सन्तो विद्यमाना सर्वेऽपि सर्वदैव सन्त इत्यर्थम् । तथा-(पत्तेय इत्यादि) प्रत्येकबादरवनस्पतय' पर्याप्ताऽपर्याप्ताश्च । प्रत्येक द्विधा-प्रागुत्पन्ना , उत्पद्यमानाश्च । सतत सन्त सर्वकाल सन. प्राप्यन्ते इति यावत् । शेषास्तु द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया प्रत्येक पर्याप्ताऽपर्याप्ताश्च,सज्ञिपञ्चेन्द्रिया. पुन पर्याप्ता प्रागुत्पन्ना सतत सन्त ,उत्पद्यमानकास्तु भाज्या ; तुशब्दस्यानेकार्थत्वात् सज्ञिनो लब्ध्यपर्याप्तका प्रागुत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च भाज्या । कथमेतदवसीयते ? इति चेत् । उच्यते-इह सज्ञिना लब्ध्यपर्याप्तकानामवस्थानमन्तर्मुहूर्त्तमात्र, तेषामायुषोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रत्वात् । अन्तर चैतेषामुत्पत्तिमधिकृत्योत्कर्षतो द्वादशमुहूर्त्ता , ततस्ते प्रागुत्पन्ना अपि सत्ताया भाज्या । ननु द्वित्रिचतुरसज्ञिपञ्चेन्द्रिया अपि लब्ध्यपर्याप्तका अन्तर्मुहूर्त्तायुष , अन्तरमपि च तेषामन्तर्मुहूर्त्तमात्रमन्यत्रोद्घुष्यत, तत कथ तेऽपि प्रागुत्पन्ना भाज्या न भवन्ति ?। नैष दोष । तेषामवस्थानस्य बृहत्तरान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात् तदायुषस्तावन्मात्रत्वात् । कथमिदमवसितमिति चेत् ?। उच्यते-ग्रन्थान्तरे नित्यराश्यधिकारे नित्यराशिभि सह तेषां यौगपद्येनाभिधानात् ॥ ५ ॥

तदेव चतुर्दशविधान् सत्पदप्ररूपणया प्ररूप्य साप्रतमेतेषामेवान्तिमो भेदश्चतुर्दशप्रकार सत्पदप्ररूपणया प्ररूपयितव्य , स च चतुर्दशधा गुणस्थानकभेदाद्भवति, ततो गुणस्थानकान्येव सत्पदप्ररूपणया प्ररूपयति-

मिच्छा अविरयदेसा, पमत्तअपमत्तया सजोगी य ।

सव्वद्धं इयरगुणा, नाणाजीवेसु वि न होंति ॥ ६ ॥

मिथ्यादृष्ट्यविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसयोगिकेवलिलक्षणानि गुणस्थानकानि सर्वाद्धं सर्वकाल विद्यन्त, इतराणि शेषाणि (गुण त्ति) गुणस्थानकानि सास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहायोगिकेवलिलक्षणान्यष्टसंख्याकानि नानाजीवेष्वपि, आस्तामेकस्मिन् जीवे इत्यपिशब्दार्थः । न सर्वकाल भवन्ति, न सर्वकाल विद्यमानानि प्राप्यन्ते इत्यर्थ , किन्तु कदाचिदेव । यदाऽपि च सास्वादनाऽऽदय. प्राप्यन्ते, तदाऽपि कदाचिदेकका , कदाचिद् बहव , बहुत्व च प्रतिनियत प्रत्येकमग्रे वक्ष्यति ॥ ६ ॥

एतेषां च सासादनाऽऽदीनामष्टसंख्याकाना यावन्तो भेदा एकद्विकाऽऽदिसंयोगत. सर्वसंख्यया भवन्ति, तावन्त प्रतिपिपादयिषु. सामान्यत· करणगाथामाह·

इगदुगजोगाईणं, ठवियमहो एगणेग इइ जुयलं ।
इति जोगा उ दुदुगुणा,गुणियविमिस्सा भवे भंगा ॥७॥

एकद्विकयोगाऽऽदीनाम् एककद्विकत्रिकसंयोगाऽऽदीनां प्रत्येकमधस्तादेकानेकरूप युगल द्विकमवस्थाप्यते, तत एककयोगादारभ्य (दुदुगुण त्ति) द्विगुणा द्वाभ्यां सहिता द्विद्विगुणा. । तथाहि-पाश्चात्या भङ्गा द्विगुणा· क्रियन्ते, ततो द्विकसहिता विधेया । तत पुनरपि गुणितविमिश्रा ये भङ्गा प्राचीना द्वाभ्यां गुणितास्तै केवलै सहिता क्रियन्ते, तत ईप्सितपदे इष्टसंख्याका भङ्गा भवन्ति । इयमत्र भावना- यावन्त. पदार्था विकल्पेन भवन्तो भेदसंख्यया ज्ञातुमिष्टास्तावन्तोऽसत्कल्पनया बिन्दव स्थाप्यन्ते । इह च प्रकृता अष्टौ सास्वादनाऽऽदय ततोऽष्टौ बिन्दव स्थाप्यन्ते, तेषां चाधस्तात् प्रत्येक द्विक स्थाप्य । स्थापना चेयम्- १ १ १ १ १ १ १ १ / २ २ २ २ २ २ २ २ तत्रैकपदे द्वौ भङ्गौ । तद्यथा-एको बहवो वेति पदद्वये भङ्गा अष्टौ । तद्यथा-पाश्चात्यौ द्वौ भङ्गौ द्वाभ्यां गुणितौ जाताश्चत्वार , ते द्वितीयबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते; ततोऽधस्तनो द्विक प्रक्षिप्यते, जाता षट्, ततो " गुणियविमिस्सा " इति वचनात् यौ पाश्चात्यौ द्वौ भङ्गौ द्वाभ्या गुणितौ तौ षट्सु मध्ये प्रक्षिप्येते,ततो जाता अष्टौ, एतावन्त पदद्वये भङ्गा । ननु पदद्वये भङ्गाश्चत्वार एव प्राप्यन्ते । तथाहि-किल एक सास्वादन एको मिश्र इत्येको भङ्ग, एक सास्वादनो बहवो मिश्रा इति द्वितीय , बहव सास्वादना एको मिश्र इति तृतीय , बहव. सास्वादना बहवो मिश्रा इति चतुर्थ । अत. परमेकोऽपि भङ्गो न सम्भवति, तत्कथमुच्यते-पदद्वये भङ्गा अष्टौ भवन्तीति ? । तदयुक्तम् । अभिप्रायापरिज्ञानात् । इह हि यदि सास्वादनमिश्रौ सदैवावस्थितौ भवेताम्, भजना तु तयोरेकानेकत्वमात्रकृतैव केवला भवेत्, तदोक्तप्रकारेण द्वयो पदयोर्भङ्गाश्चत्वार एव भवन्ति । यावता सास्वादनमिश्रौ स्वरूपेणापि विकल्पनीयौ । तथाहि-कदाचित् सास्वादनो भवति, कदाचिन्मिश्र , कदाचिद्उभौ । यत्र सास्वादन केवलो जायमान कदाचिदेक कदाचिदनेक इति द्वौ भङ्गौ । एव मिश्रेऽपि द्वाविति चत्वार । उभौ च युगपज्जायमानौ प्रागुक्तप्रकारेण चतुर्भङ्गिकनया जायते, तत पदद्वये भङ्गा अष्टौ भवन्ति । एवमुत्तरत्रापि भङ्गार्थभावना भावनीया। सम्प्रति पदत्रयभङ्गा दर्श्यन्ते-तत्र पाश्चात्या. पदद्वये भङ्गा अष्टौ (द्वाभ्या) गुण्यन्ते, जाता षोडश । ते तृतीयबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विक प्रक्षिप्यते, जाता अष्टादश । ततो भूय पाश्चात्या अष्टौ प्रक्षिप्यन्ते, जाता षड्विंशति । एतावन्त पदत्रये भङ्गा । तत सैव षड्विंशतिर्द्वाभ्या गुण्यते, जाता द्विपञ्चाशत् । सा चतुर्थबिन्दुस्थाने स्थाप्यते, ततोऽधस्तनो द्विक प्रक्षिप्यते, ततो जाताश्चतु पञ्चाशत् । ततः पुनरपि पाश्चात्या षड्विंशति प्रक्षिप्यते,जाता अशीति । एतावन्त पदचतुष्टये भङ्गा । तत सा अशीतिर्द्वाभ्या गुण्यते, जात षष्ट्यधिक शतम्,तत्पञ्चमबिन्दुस्थाने स्थाप्यते,ततोऽधस्तनो द्विक प्रक्षिप्यते,जात द्विषष्ट्यधिक शतम्, तत· पुनरपि प्राक्तनी अशीति· प्रक्षिप्यते, ततो जाते द्वे शते द्विचत्वारिंशे । एतावन्त पदपञ्चके भङ्गा । ततस्ते द्वे शते द्विचत्वारिंशे द्वाभ्या गुण्येते, जातानि चत्वारि शतानि चतुरशीत्यधिकानि । तानि षष्ठबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विक प्रक्षिप्यते, जातानि चत्वारि शतानि षडशीत्यधिकानि । ततो भूय· प्राक्तने द्वे शते द्विचत्वारिंशदधिके प्रक्षिप्येते,जातानि सप्तशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि । एतावन्त षट्सु पदेषु भङ्गा । तत सप्तशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि द्वाभ्या गुण्यन्ते, जातानि चतुर्दश शतानि षट्पञ्चाशदधिकानि । तानि सप्तमबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विक प्रक्षिप्यते, जातानि चतुर्दशशतानि अष्टपञ्चाशदधिकानि । तत पुनरपि प्राक्तनानि सप्तशतानि अष्टाविंशत्यधिकानि प्रक्षिप्यन्ते, ततो भवन्त्येकविंशतिशतानि षडशीत्यधिकानि । एतावन्त सप्तपदभङ्गा । अमूनि चैकविंशतिशतानि षडशीत्यधिकानि द्वाभ्या गुण्यन्ते, जातानि त्रिचत्वारिंशच्छतानि द्विसप्तत्यधिकानि । तान्यष्टमबिन्दुस्थाने स्थाप्यन्ते, ततोऽधस्तनो द्विक प्रक्षिप्यते, ततो जातानि त्रिचत्वारिंशच्छतानि चतु सप्तत्यधिकानि । ततो भूयोऽपि प्राक्तनान्येकविंशतिशतानि षडशीत्यधिकानि प्रक्षिप्यन्ते, जातानि षष्ट्यधिकानि पञ्चषष्टिशतानि । एतावन्तोऽष्टपदभङ्गा ॥ ७ ॥

सम्प्रत्येषामेव भङ्गकाना प्रकारान्तरेण प्ररूपणामाह-

अहवा एक्कपईया, दो भंगा इगिबहुत्तसन्ना जे ।
ते चिय पयवुड्ढीए, तिगुणा दुगसंजुया भंगा ॥ ८ ॥

अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शने, एकपदिकौ एकपदभवौ द्वौ भङ्गौ भवत , कौ तौ ?, इत्याह—यौ एकबहुत्वसञ्ज्ञौ-कदाचिदनेक इत्येवरूपौ, ततस्तावेव द्वौ भङ्गावादौ कृत्वा पदवृद्धौ द्विकाऽऽदिपदवृद्धौ प्राक्तना. प्राक्तनास्त्रिगुणा क्रियन्ते, ततो द्विकेन संयुक्ता विधेया, ततस्तत्तत्पदभङ्गा भवन्ति । इयमत्र भावना-तावेवैकपादिकौ भङ्गौ पदद्वये त्रिगुणीक्रियेते, ततो जाताः षट् । ते द्विकेन संयुज्यन्ते, ततो जायन्तेऽष्टौ । एतावन्त पदद्वये भङ्गा । ततस्तेऽष्टौ त्रिगुणा क्रियते, जाता चतुर्विंशति । सा द्विकेन संयुक्ता जाता षड्विंशति । एतावन्त. पदत्रये भङ्गा । तत साऽपि षड्विंशतिस्त्रिगुणीक्रियते, जाता अष्टसप्तति । ततो द्विकप्रक्षेप , ततो भवत्यशीति । एतावन्त पदचतुष्टये भङ्गा । एव तावद् वाच्य, यावत्सप्तपदभङ्गा षडशीत्यधिकान्येकविंशतिशतानि । तानि भूयस्त्रिगुणीक्रियन्ते, ततो द्विक प्रक्षिप्यते, जातानि षष्ट्यधिकानि पञ्चषष्टिशतानि । एतावन्तोऽष्टसु सास्वादनाऽऽदिपदेषु भङ्गा. ॥ ८ ॥ तदेव कृता सत्पदप्ररूपणा ।

सम्प्रति द्रव्यप्रमाणमाह-

साहारणाण भेया, चउरो अणंताऽसंखया सेसा ।
मिच्छाऽणंता चउरो, पलियासंखं ससेससंखेज्जा ॥८॥

साधारणानां साधारणवनस्पतिकायिकानां चत्वारो भेदाः, पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादररूपाः, प्रत्येकमनन्ता अनन्तसंख्याः, अनन्तलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्तेषाम्। तथा शेषाः पृथिव्यम्बुतेजोवायवः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरभेदाच्चतुर्भेदाः, तथा पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्नाः प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिनोऽसंख्याता असंख्यातसंख्याः । अथापर्याप्तासंज्ञिनः कथमसंख्याता गीयन्ते ?, न हि ते सदैव प्राप्यन्ते, किं तु कदाचिदेव, ततः कथमसंख्याता घटन्ते ?। नैष दोषः । यतो यद्यपि ते सदैव न भवन्ति, तथापि यदा भवन्ति तदा जघन्येनैको द्वौ वा उत्कर्षतोऽसंख्येयाः। उक्तं च- " एगो व दो व तिन्नि व, संखमसंखा व एगसमएण । " इति। तथा मिथ्यादृष्टयोऽनन्ता -अनन्तलोकाऽऽकाशप्रमाणाः, तथा चत्वारः सास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतरूपाः प्रत्येकं पल्योपमासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणा इत्यर्थः । इह सास्वादनाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयश्चाध्रुवत्वात्कदाचिल्लोके प्राप्यन्ते, कदाचिन्न, यदा प्राप्यन्ते तदा जघन्येनैको द्वौ वा, उत्कर्षतः क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागतुल्याः, अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरताः पुनः सदैव प्राप्यन्ते, ध्रुवत्वात्तेषां, केवलं कदाचित्स्तोकाः कदाचिद् बहवः, तत्र जघन्यपदेऽपि ते द्वयेऽपि प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशितुल्याः, उत्कर्षतोऽप्येतावन्त एव, नवरमसंख्यातस्य तस्यासंख्यातभेदभिन्नत्वाज्जघन्यादुत्कृष्टमसंख्यातमसंख्यातगुणं द्रष्टव्यम्। देशविरतेभ्यश्चाविरतसम्यग्दृष्टयो जघन्यपदे उत्कृष्टपदे च प्रभूततरा अवसेयाः, शेषाः प्रमत्ताऽऽदिगुणस्थानवर्तिनो जीवाः प्रत्येकं संख्येयाः प्रतिनियतसंख्याकाः, सा च प्रतिनियता संख्या स्वयमेव वक्ष्यते ॥ ८ ॥

तदेवमभिहितं सामान्यतो द्रव्यप्रमाणम्;
साम्प्रतमेतदेव विशेषतोऽभिधित्सुराह-

पत्तेयपज्जवणका-इया उ पयरं हरंति लोगस्स ।
अंगुलअसंखभागे-ण भाइयं भूदगतणू य ॥ ९ ॥

पर्याप्तप्रत्येकबादरवनस्पतिकायिका भूकायिका उदककायिकाश्च पर्याप्तबादराः प्रत्येकं लोकस्य घनीकृतस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्य उपरितनाधस्तनप्रदेशरहितैकैकप्रदेशप्रस्तराऽऽत्मकं मण्डकाऽऽकारं प्रतरमङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागैर्भाजितं खण्डितं सकलमपि हरन्ति । इयमत्र भावना-सर्वेऽपि प्रत्येकबादरपर्याप्तवनस्पतिकायिका जन्तवः प्रतरमेककालमपहर्तुमुद्यता विवक्षिताः सन्तो यदि युगपदेकैकमङ्गुलासंख्येयभागमात्रं खण्डमपसारयन्ति, तत एकेनैव समयेन ते सकलमपि प्रतरमपहरन्ति । तत इदमायातम्-घनीकृतलोकस्यैकस्मिन् प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि भवन्ति तावत्प्रमाणाः पर्याप्तप्रत्येकबादरवनस्पतयः । एवं पर्याप्तबादरभूकायिकोदककायिकानामपि प्रत्येकं भावना कार्या। यद्यपि चामीषां त्रयाणामपीत्थं समानप्रमाणत्वमभिहितं, तथाऽप्यङ्गुलासंख्येयभागस्यासंख्यातभेदभिन्नत्वात्परस्परमिदमल्पबहुत्वमवसेयम्, स्तोकाः प्रत्येकबादरपर्याप्तवनस्पतयः, तेभ्यः पर्याप्तबादरभूकायिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि बादरपर्याप्ताप्कायिका असंख्येयगुणाः ॥ ९ ॥

आवलिवग्गो ऊणा-वलिए गुणिओ हु बायरा तेऊ।
वाऊ य लोगसंखं, सेसतिगमसंखिया लोगा ॥ १० ॥

आवलिका असंख्येयसमयाऽऽत्मिकाऽप्यसत्कल्पनया दशसमयाऽऽत्मिका कल्प्यते, ततस्तस्या दशसमयाऽऽत्मिकाया आवलिकावर्गः, स च किल कल्पनया शतसमयप्रमाणः, तत आवलिकावर्ग ऊनावलिकया कतिपयसमयन्यूनया आवलिकया कतिपयसमयन्यूनैरावलिकासमयैरभ्यस्तैरित्यर्थः, गुण्यते। गुणने च कृते सति यावन्तो वर्गा भवन्ति, तेषु च वर्गेषु यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणा बादरपर्याप्ततेजस्कायिकाः । तथा (वाऊ य लोगसंख ति) वायवो बादरपर्याप्तवायवो लोकसंख्येयभागतुल्याः, घनीकृतस्य लोकस्यासंख्येयेषु प्रतरेषु संख्याततमभागवर्तिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणा इत्यर्थः । अमीषां पृथिव्यम्बुतेजोवायुप्रत्येकवनस्पतीनां बादरपर्याप्तानां परस्परमल्पबहुत्वमिदम्-सर्वस्तोकाः पर्याप्तबादरतेजस्कायिकाः, तेभ्यः पर्याप्तप्रत्येकबादरवनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरभूकायिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादराप्कायिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरवायुकायिका असंख्येयगुणाः। (सेसतिगमसंखिया लोगा इति) शेषत्रिकं पृथिव्यम्बुतेजोवायुकायिकानामपर्याप्तबादरपर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मलक्षणमसंख्येया लोकाः, असंख्येयेषु लोकेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणाः। किमुक्तं भवति ?, असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणाः पृथिव्यम्बुतेजोवायूनां प्रत्येकमपर्याप्ता बादराः, पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च सूक्ष्मा भवन्तीति । इह सामान्येनोक्तं, विशेषचिन्तायां पुनः पृथिव्यम्बुतेजोवायूनां स्वस्थाने प्रत्येकं त्रयाणामपि राशीनामिदमल्पबहुत्वम्-सर्वस्तोका अपर्याप्तबादराः, तेभ्योऽपर्याप्तसूक्ष्मा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पर्याप्तसूक्ष्माः संख्येयगुणाः, शेषत्रिकग्रहणं चोपलक्षणं, तेनापर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतयोऽसंख्येयलोकाकाशप्रमाणा अवगन्तव्याः । साधारणवनस्पतीनां च प्रागेव पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादररूपाश्चत्वारोऽपि भेदाः सामान्यतोऽनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा उक्ताः। यदि पुनस्तेषामपि विशेषचिन्ता क्रियते, तदेदमल्पबहुत्वमवसेयम्-बादरपर्याप्तसाधारणाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यो बादरापर्याप्तसाधारणा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि सूक्ष्मपर्याप्तसाधारणाः संख्येयगुणाः ॥१०॥

पज्जत्तापज्जत्ता, बितिचउअस्सण्णिणो अवहरंति ।
अंगुलसंखासंख-प्पएसभइयं पुढो पयरं ॥ ११ ॥

द्वित्रिचतुरसंज्ञिनो द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः पृथक्प्रत्येकं पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च यथासंख्यमङ्गुलसंख्येयासंख्येयभागप्रदेशैर्भाजितं खण्डितं प्रतरमपहरन्ति । इयमत्र भावना-सर्वेऽपि पर्याप्ता द्वीन्द्रिया यदि युगपदेकैकमङ्गुलमात्रक्षेत्रसंख्येयभागमात्रं खण्डं प्रतरस्यापहरन्ति, तत एकेनैव समयेन ते सकलमपि प्रतरमपहरन्ति। इदमुक्तं भवति घनीकृतस्य लोकस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्यैकस्मिन् प्रतरे यावन्त्यङ्गुलसंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावन्तः पर्याप्ता द्वीन्द्रियाः । एवं पर्याप्तास्त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया अपि प्रत्येकमवगन्तव्याः । यावन्ति पुनरेकस्मिन् प्रतरेऽङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागप्रमाणानि खण्डानि, तावन्तोऽपर्याप्ता द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः प्रत्येकमवसेयाः । यद्यपि च सर्वे

पर्याप्ताः सर्वेऽपि चापर्याप्ता द्वीन्द्रियाऽऽद्य सामान्यत समानप्रमाणा उक्ता, तथाऽपि विशेषचिन्तायामिदमल्पबहुत्वमवसेयम्-सर्वस्तोकाः पर्याप्ताश्चतुरिन्द्रियाः, पर्याप्ता असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया विशेषाधिकाः, पर्याप्ता द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, पर्याप्तास्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, अपर्याप्ता असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया असंख्यातगुणाः; तेभ्योऽपर्याप्ताश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्यपर्याप्तास्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्यपर्याप्ता द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः । तदेवमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः सर्वेऽपि जीवाः संख्यया प्ररूपिताः ॥ ११ ॥

सम्प्रति संज्ञिप्ररूपणार्थमाह-

सन्नी चउसु गईसुं, पढमाएँ असंखसेढिनेरइया ।
सेढिअसंखेज्जमो, सेसासु जहुत्तरं तह य ॥ १२ ॥

संज्ञिनश्चतसृष्वपि गतिषु वर्तन्ते, ततो गतीरधिकृत्य तत्प्ररूपणा कर्तव्या । तत्र प्रथमतो नरकगतिमधिकृत्याऽऽह-प्रथमाया नरकपृथिव्या रत्नप्रभाऽभिधानाया घनीकृतस्य लोकस्य सप्तरज्जुप्रमाणस्य असंख्यया एकप्रादेशिक्य श्रेणय, एतावत्प्रमाणा नारकाः; असंख्यातासु एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणा नारका इत्यर्थः । गाथाऽन्ते चशब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चनाद् भवनपतयोऽप्येतावत्प्रमाणा वेदितव्याः । शेषासु द्वितीयाऽऽदिषु नरकपृथिवीषु प्रत्येकम् (सेढिअसंखेज्जस त्ति) घनीकृतस्य लोकस्यैकस्या अप्येकप्रादेशिक्या श्रेणेरसंख्येयतमो भागो नारकाः; असंख्येयतमे भागे यावन्तः प्रदेशास्तावत्प्रमाणा नारका इत्यर्थः । (जहुत्तर तह य त्ति) तथा चेति समुच्चये । यथोत्तरं च यथा यथा उत्तरा पृथ्वी तथा तथा पूर्वपृथ्वीगतनारकापेक्षया असंख्यातनमा असंख्यातनमभागमात्रा द्रष्टव्याः । तद्यथा-द्वितीयपृथ्वीगतनारकापेक्षया तृतीयपृथिव्या नारका असंख्यातनमभागमात्राः, तृतीयपृथ्वीगतनारकापेक्षया चतुर्थपृथिव्या नारका असंख्यातभागमात्राः । एवं सप्तस्वपि पृथ्वीषु द्रष्टव्यम् । कथमेतदवसेयमिति चेत् ? । उच्यते-युक्तिवशात् । तथाहि-सर्वस्तोकाः सप्तमपृथिव्या नारकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्विभागभाविनः, तेभ्योऽपि तस्यामेव सप्तमपृथिव्या दक्षिणदिग्भागभाविनोऽसंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ? । उच्यते-इह द्विधा जन्तवः-शुक्लपाक्षिकाः, कृष्णपाक्षिकाश्च । तेषां चेदं लक्षणम्-इह येषां किञ्चिदूनपुद्गलपरावर्तार्द्धमात्रः संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः; अधिकतरभवसंसारभाजिनस्तु कृष्णपाक्षिकाः । उक्तं च-"जेसिमवड्ढो पोग्गल-परियट्टो सेसओ य संसारो । ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिए पुण कण्हपक्खीओ ॥ १ ॥" अत एव स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, बहवः कृष्णपाक्षिकाश्च । कृष्णपाक्षिकास्तु प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, न शेषासु दिक्षु, तथास्वाभाव्यात् । तच्च तथास्वाभाव्यं पूर्वाचार्यैरेव युक्तिभिरुपबृह्यते-तथा कृष्णपाक्षिका दीर्घतरसंसारभाजिन उच्यन्ते, दीर्घतरसंसारभाजिनश्च बहुपापोदया भवन्ति । बहुपापोदयाश्च क्रूरकर्माणः । क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथास्वाभाव्यात् तद्भवसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, न शेषासु । यत उक्तम्-"पायमिह कूरकम्मा, भवसिद्धीया वि दाहिणिल्लेसु । नेरइयतिरियमणुया, सुराइठाणेसु गच्छन्ति ॥ १ ॥" ततो दक्षिणस्यां दिशि बहूनां कृष्णपाक्षिकाणामुत्पादसम्भवात् सन्ति पूर्वोत्तरपश्चिमेभ्यो दाक्षिणात्या असंख्येयगुणा इति । तेभ्योऽपि षष्ठपृथिव्यां तमःप्रभाऽभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ? । उच्यते-इह सर्वोत्कृष्टपापकर्मकारिणः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याः सप्तमनरकपृथिव्यामुत्पद्यन्ते, किञ्चिद्धीनहीनतरपापकर्मकारिणश्च षष्ठ्यादिषु पृथिवीषु, सर्वोत्कृष्टपापकर्मकारिणश्च सर्वस्तोकाः, बहवश्च यथोत्तरं किञ्चिद्धीनहीनतराऽऽदिपापकर्मकारिणः, ततो युक्तमसंख्येयगुणत्वम् । सप्तमपृथिवीदाक्षिणात्यनारकापेक्षया षष्ठपृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमनारकाणाम्; एवमुत्तरोत्तरपृथिवीरप्यधिकृत्य भावितव्यम् । तेभ्योऽपि तस्यामेव षष्ठपृथिव्यां दक्षिणदिग्वर्तिनो नारका असंख्येयगुणाः । युक्तिरत्रापि प्रागुक्ताऽनुसर्तव्या । तेभ्योऽपि पञ्चमपृथिव्यां धूमप्रभाऽभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव पञ्चमपृथिव्यां दक्षिणदिग्वर्तिनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि चतुर्थपृथिव्यां पङ्कप्रभाऽभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भागभाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव चतुर्थपृथिव्यां दक्षिणस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तृतीयपृथिव्यां वालुकाऽभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव तृतीयपृथिव्यां दाक्षिणात्या असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि द्वितीयपृथिव्यां शर्कराप्रभाऽभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव द्वितीयपृथिव्यां दाक्षिणात्या असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि रत्नप्रभापृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां दक्षिणस्यां दिशि नारका असंख्येयगुणाः । पं० सं० । (अत्रत्य सवार्दा प्रज्ञापनाग्रन्थः 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६५२ पृष्ठे गतः)

ये च येभ्योऽसंख्येयगुणास्तेषां ते असंख्येयतमे भागे वर्तन्ते, ततो रत्नप्रभापृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमनारकेभ्योऽपि शर्कराप्रभानारका असंख्येयतमे भागे वर्तन्ते, किं पुनः सकलनारकेभ्यः ?, एवमधोऽधः पृथिवीष्वपि भावनीयम् । ततो युक्तमुक्तम्-(जहुत्तर तह य त्ति) ॥ १२ ॥

सम्प्रति व्यन्तराणां प्रमाणमाह-

संखेज्जजोयणाणं, सूइपएसेहिँ भाइओ पयरो ।
वंतरसुरेहिँ हीरइ, एवं एक्केक्कभेएणं ॥ १३ ॥

संख्येयानां योजनानां या सूचिरेकप्रादेशिकी श्रेणिः । किमुक्तं भवति ?-संख्येययोजनप्रमाणा या एकप्रादेशिकी पङ्क्तिः, तत्प्रदेशैर्भक्तः प्रतरो व्यन्तरसुरैरपह्रियते । अयमत्र तात्पर्यार्थः-यावन्ति संख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राण्याकाशखण्डान्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तावत्प्रमाणा व्यन्तरसुराः । अथ वेयं कल्पना-संख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्रं खण्डमेकैकं युगपद् यदि सर्वेऽपि व्यन्तरसुरा अपहरन्ति, तर्हि सकलमपि प्रतरमेकस्मिन्नेव समये ते अपहरन्ति, अत्रापि स एवार्थः । एवमेकैकस्मिन् भेदे व्यन्तरनिकाये द्रष्टव्यम् । किमुक्तं भवति ?-यथा सकलव्यन्तरसुराणां परिमाणमुक्तमेवमेकैकस्मिन् व्यन्तरनिकाये परिमाणमवसेयम् । न चैवं सर्वसमुदायपरिमाणव्याघातप्रसङ्गः, श्रेणिप्रमाणहेतुयोजनसंख्येयत्वस्य वैचित्र्यात् ॥ १३ ॥

छप्पन्नदोसयगुल-सूइपएसेहिँ भाइओ पयरो ।
जोइसिएहिँ हीरइ, सट्ठाणे त्थी य संखगुणा ॥१४॥

षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्याऽङ्गुलप्रमाणसूचिप्रदेशैर्भाजित.

खण्डेन प्रतर उक्तस्वरूपो ज्योतिष्कदेवैरपह्रियते । इयमत्र भावना-षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्याऽङ्गुलप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा ज्योतिष्कदेवाः । अथवेयं कल्पना-षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयसंख्याङ्गुलप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्रं खण्डमेकैकं यदि युगपत्सर्वेऽपि ज्योतिष्कदेवा अपहरन्ति,तर्हि ते सकलमपि प्रतरमेकस्मिन्नेव समये अपहरन्ति, तथा स्वस्थाने चतुर्ष्वपि देवनिकायेषु स्वस्वनिकायगतदेवापेक्षया देव्यः संख्येयगुणा द्रष्टव्याः, प्रज्ञापनायां महादण्डके तथा पाठात् ।

असंखसेढिखपए-सनुद्धया पढमदुइयकप्पेसु ।
सेढिअसंखससमा, उवरिं तु जहुत्तरं तह य ॥१५॥

घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाध आयता एकप्रादेशिक्यः श्रेणयोऽसंख्यातास्तासां यावान् प्रदेशराशिस्तत्तुल्यास्तावत्प्रमाणा प्रथमे कल्पे सौधर्म्माऽऽख्ये, द्वितीये च कल्पे ईशानाऽऽख्ये प्रत्येकं देवा भवन्ति । केवलं सौधर्म्मकल्पगतदेवापेक्षया ईशानकल्पगता देवाः संख्येयभागमात्रा द्रष्टव्याः, प्रज्ञापनायामीशानदेवापेक्षया सौधर्मकल्पदेवानां संख्येयगुणतयाऽभिधानात् । (सेढिअसखससमा उवरिं तु त्ति) तुर्वाक्यभेदे, उपरि पुनः सौधर्मेशानकल्पयोरुपरिष्टात्पुनः सनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारलक्षणेषु कल्पेषु प्रत्येकं देवा घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिक्या एकस्याः श्रेणेरसंख्येयाशसमाः, असंख्येयतमे भागे यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणाः (जहुत्तरं तह य त्ति) तथाचेति समुच्चये,यथा उत्तरे उत्तरे देवाः-उत्तरोत्तरकल्पगता देवास्तथा तथा पूर्वपूर्वकल्पगतदेवापेक्षया असंख्येयभागमात्रा द्रष्टव्याः । इदमुक्तं भवति-यावन्तः सनत्कुमारकल्पगता देवास्तदपेक्षया माहेन्द्रकल्पे असंख्येयभागमात्राः, माहेन्द्रकल्पगतदेवापेक्षया सनत्कुमारकल्पगता देवा असंख्येयगुणा इत्यर्थः । एवं माहेन्द्रकल्पगतदेवापेक्षया ब्रह्मलोककल्पगतदेवा असंख्येयभागमात्राः । एवं लान्तकमहाशुक्रसहस्रारकल्पेष्वपि भावनीयम् । " तह य " इत्यत्र चशब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चायकत्वादानतप्राणताऽऽरणाच्युतकल्पेषु अधस्तनमध्यमोपरितनग्रैवेयकेषु अनुत्तरविमानेषु च प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमस्यासंख्येयतमे भागे यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणा देवा अवगन्तव्याः । पूर्वपूर्वदेवापेक्षया चोत्तरोत्तरदेवाः संख्येयगुणहीनाः, तथा प्रज्ञापनायां महादण्डके पठितत्वात् । (महादण्डकपाठस्तु-' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे ६५२ पृष्ठे द्रष्टव्यः ।)

इह पूर्वं रत्नप्रभानारकाणां भवनपतिदेवानां सौधर्मकल्पगतदेवानां च परिमाणमसंख्येयश्रेणिगताऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणं सामान्येनोक्तं, तत्र न ज्ञायते के बहवः, के स्तोका इति ?। ततः परस्परं विशेषमाह-

सेढी एक्केकपए-सरइयसूईणमंगुलप्पमियं ।
घम्माएँ भवणसोह-म्मयाण माणं इमं होइ ॥ १६ ॥

घर्मायां घर्माभिधानायां प्रथमपृथिव्यां नारकाः, तेषामिति शेषः, तथा भवनपतीनां सौधर्मजानां च सौधर्मकल्पगतानां च देवानां परिमाणावधारणाय या असंख्येयाः श्रेणयः पूर्वमुक्तास्ताः प्रति प्रत्येकमेकैकं प्रदेशं श्रेणिव्यतिरिक्तं गृहीत्वा या रचिताः सूचयः एकप्रादेशिक्यः श्रेणयः । किमुक्तं भवति ?-रत्नप्रभानारकाऽऽदिपरिमाणेषु प्रत्येकं यावत्यः श्रेणयस्तावतः प्रदेशान् श्रेणिव्यतिरिक्तान् गृहीत्वा एकप्रादेशिक्यः सूचयः क्रियन्ते, तासां च सूचीनामङ्गुलप्रमितमङ्गुलभागमितमिदं वक्ष्यमाणं मानं प्रमाणम् ॥ १६ ॥

तदेव दर्शयति-

छप्पन्नदोसयंगुल-भूओ भूओ विगिज्झ मूलतिगं ।
गुणिया जहुत्तरत्था, रासीओ कमेण सूईओ ॥१७॥

षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्याङ्गुलमात्रस्याङ्गुलक्षेत्रगतप्रदेशराशेर्भूयो भूयो वारं वारं विगृह्य । किमुक्तं भवति ?-वर्गमूलाऽऽनयनकरणेन एकं वारं विगृह्य वर्गमूलमानीय भूयो विगृह्यते, ततो द्वितीयं वर्गमूलमागच्छति, ततो भूयोऽपि विगृह्यते, ततस्तृतीयं वर्गमूलमागच्छति । एवं भूयो भूयो विगृह्य मूलत्रिकं वर्गमूलत्रयमानीय यथोत्तरस्था राशयो गुण्यन्ते । ततो गुणिताः सन्तस्ते क्रमेण यथाक्रमं सूचयो भवन्ति । एतावत्प्रदेशराशिप्रमाणा यथाक्रमं रत्नप्रभानारकाऽऽदिषु श्रेणिपरिमाणहेतवः सूचयो भवन्तीत्यर्थः । इयमत्र भावना-अङ्गुलमात्रे क्षेत्रे एकप्रादेशिकश्रेणिरूपे असंख्याता अपि प्रदेशाः किलासत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणाः कल्प्यन्ते, तेषां प्रथमं वर्गमूलं षोडश, द्वितीयं चत्वारि, तृतीयं च द्वे । एते च राशय उपर्यधोभावेन क्रमेण व्यवस्थाप्यन्ते । तत्र प्रथमवर्गमूलेन षोडशलक्षणेन उपरितनः षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणो राशिर्गुण्यते । गुणिते च सति तस्मिन् जातानि षण्णवत्यधिकानि चत्वारि सहस्राणि । एतावत्यः किल श्रेणयो रत्नप्रभानारकाणां परिमाणाय द्रष्टव्याः, एतावत्प्रमाणश्रेणिगताऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः प्रथमपृथिवीनारका भवन्तीत्यर्थः । तथा द्वितीयेन वर्गमूलेन चतुष्कलक्षणेनोपरितनः षोडशकलक्षणो राशिर्गुण्यते । गुणिते च सति जाता चतुःषष्टिः । एतावत्यः श्रेणयो भवनपतीनां परिमाणावधारणाय द्रष्टव्याः । तथा तृतीयेन वर्गमूलेन द्विकलक्षणेनोपरितनश्चतुष्कलक्षणो राशिर्गुण्यते । ततो जाता अष्टौ । एतावत्यः श्रेणयः सौधर्म्मदेवानां परिमाणाय ज्ञातव्याः ॥ १७ ॥

रत्नप्रभानारकाऽऽदीनामेव विषये प्रकारान्तरेण भूयः श्रेणिपरिमाणमाह-

अहव ंगुलप्पएसा, समूलगुणिया उ नेरइयसूई ।
पढमदुइयापयाइं, समूलगुणियाइं इयराणं ॥ १८ ॥

अथवेति प्रकारान्तरसूचने, प्रकारान्तरं चेदम्-पूर्वमङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रदेशप्रमाणः कल्पितः, इह तु न तथा कल्प्यते, किं तु यथाऽवस्थित एव विवक्ष्यत इति । अङ्गुले एकप्रादेशिकश्रेणिरूपे अङ्गुलमात्रे ये प्रदेशास्ते स्वकीयेन वर्गमूलेन गुणिताः सन्तो यावन्तः संभवन्ति, एतावत्प्रमाणा नैरयिकसूचिः-नैरयिकपरिमाणहेतुः श्रेणीनां विस्तरः । किमुक्तं भवति ?-एतावत्प्रमाणाः प्रथमपृथिवीनारकाणां परिमाणावधारणाय श्रेणयोऽवगन्तव्याः । तथा अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यत् प्रथमं पदं वर्गमूलं, तत् स्वकीयेन मूलेन वर्गमूलेनाङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराश्यपेक्षया द्वितीयेन वर्गमूलेन गुण्यते । गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति, एतावत्प्रमाणा भवनपतीनां परिमाणावधारणाय श्रेणयो द्रष्टव्याः । तथा अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेरेव यद् द्वितीयं पदं वर्ग-

मूलं, तत् स्वमूलेन द्वितीयेन वर्गमूलेन अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेश-राशेस्तृतीयेन वर्गमूलेन गुण्यते । गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणा सौधर्मेशानयोः परिमाणावधा-रणाय श्रेणयो ग्राह्याः, एतावत्प्रमाणश्रेणिगताऽऽकाशप्रदेश-राशितुल्याः सौधर्मेशाना भवन्तीति भावना । एवं पूर्वत्रापि भावना कर्त्तव्या ॥ १८ ॥

सम्प्रत्युत्तरवैक्रियमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियपरिमाणा-वधारणार्थमाह-

अंगुलमूलासंखिय-भागप्पमिया उ होंति सेढीओ ।
उत्तरविउव्वियाणं, तिरियाण य सन्निपज्जाणं ॥ १९ ॥

अङ्गुलस्याङ्गुलप्रमाणस्य क्षेत्रस्य प्रदेशराशेर्यन्मूलं वर्गमूलं प्रथमं, तस्य योऽसंख्येयो भागस्तेन प्रमिताः तत्प्रमाणाः श्रेणयो भवन्ति उत्तरवैक्रियाणां परिमाणावधारणाय श्रेणयो बोद्धव्याः । इयमत्र भावना-एकप्रादेशिके अङ्गुलमात्रे क्षेत्रे यः प्रदेशराशिः, तस्य यत् प्रथमं वर्गमूलं, तस्याऽसंख्येयतमे भागे याव-न्तो नभःप्रदेशाः, तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावान् प्रदेशराशिस्ता-वत्प्रमाणा उत्तरवैक्रियशरीरिणस्तिर्यञ्चः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चे-न्द्रियतिर्यञ्चो वेदितव्याः । उक्तं च-"पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका-नां वैक्रियशरीराणि बद्धानि कियन्ति ? । गौतम ! असंख्येयानि, का-लतोऽसंख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते, क्षेत्रतोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरस्यासंख्येयभागः, तासां श्रेणीनां विष्कम्भसूचिरङ्गुलप्रथमवर्गमूलस्यासंख्येयो भागः" इति । उत्तरवैक्रियशरीराणां पर्याप्तसंज्ञि-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामसंख्येयत्वात् द्वीपसमुद्रेषु गमनागमनाऽऽश्र-यो द्रष्टव्यः ॥ १९ ॥

सम्प्रति मनुष्यपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह-

उक्कोसपए मणुया, सेढी रूवाहिया अवहरंति ।
तइयमूलाहएहिं, अंगुलमूलप्पएसेहिं ॥ २० ॥

इह द्विधा मनुष्याः-गर्भव्युत्क्रान्ताः, सम्मूर्च्छिमाश्च । तत्र गर्भव्यु-त्क्रान्ताः-पर्याप्ताः, अपर्याप्ताश्च भवन्ति । सम्मूर्च्छिमास्तु अन्त-र्मुहूर्त्तायुषोऽपर्याप्ता एव म्रियन्ते । एतच्च प्रागेव प्रथमाधिका-रेऽभिहितम् । ततस्ते पर्याप्ता न भवन्ति । तत्र ये गर्भव्युत्क्रा-न्ताः पर्याप्ता मनुष्यास्ते सर्वदैव प्राप्यन्ते, ध्रुवत्वात्तेषाम् । ते च संख्येयाः, संख्या च तेषां जघन्यतोऽपि पञ्चमवर्गगुणितषष्ठवर्गप्रमाणा द्रष्टव्या । अथ वर्ग किमुच्यते ?, किंस्वरूपश्च पञ्चमो वर्गः ?, किंनु तत् षष्ठः ?, कीदृशः पञ्चमवर्गगुणितः स षष्ठो वर्गो भवतीति ? । उच्यते-इह विवक्षितो राशिस्तेनैव राशिना गुणितो वर्ग इत्यभिधीयते । तत्रैकस्य वर्ग एक एव भव-ति, ततो वृद्धिरहितत्वादेष वर्ग एव न गण्यते, द्वयोश्च वर्ग-श्चत्वारो भवन्ति, इत्येष प्रथमो वर्गः ४ । चतुर्णां वर्गः षोड-शेति द्वितीयो वर्गः १६ । षोडशानां वर्गो द्वे शते षट्पञ्चा-शदधिके; इति तृतीयो वर्गः २५६ । द्वयोः शतयोः षट्पञ्चा-शदधिकयोर्वर्गः पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिंशद-धिकानि, एष चतुर्थो वर्गः ६५५३६ ।

अस्य च राशेर्वर्गः सार्द्धगाथया प्रोच्यते-

" चत्तारि य कोडिसया, अउणत्तीसं च होंति कोडीओ ।
अउणावन्नं लक्खा, सत्तट्ठी चेव य सहस्सा ॥ १ ॥
दो य सया छन्नउया, पंचमवग्गो इमो विणिद्दिट्ठो । "

अङ्कतोऽपि स्थापना— ४२९४९६७२९६ ।

अस्यापि राशेर्वर्गो गाथात्रयेण प्रतिपाद्यते । तद्यथा-

" लक्खं कोडाकोडिण, चउरासीइं भवे सहस्साइं ।
चत्तारि य सत्तट्ठा, होंति सया कोडिकोडीणं ॥ १ ॥
चोयालं लक्खाइं, कोडीण सत्त चेव य सहस्सा ।
तिन्नि य सया य सयरा, कोडीणं होंति नायव्वा ॥ २ ॥
पंचाणउइं लक्खा, एगावन्नं भवे सहस्साइं ।
छस्सोलसुत्तरसया, एसो छट्ठो य हवइ वग्गो ॥ ३ ॥ "

अङ्कतः स्थापना- १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ ।

एष षष्ठो वर्गः पूर्वोक्तेन पञ्चमवर्गेण गुण्यते । गुणिते च सति यावान् राशिर्भवति तावत्प्रमाणा जघन्यतोऽपि पर्याप्तगर्भ-जमनुष्याः । स च राशिरेतावान् भवति-

७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ ।

अयं च राशिरेकोनत्रिंशदङ्कस्थानेन कोटाकोट्यादिप्रकारेणा-भिधातुं कथमपि शक्यते, ततः पर्यन्तवर्तिनोऽङ्कस्थानादा-रभ्याङ्कस्थानसङ्ग्रहमात्रं पूर्वपुरुषप्रणीतेन गाथाद्वयेनाभिधीयते-

" छ य तिन्नि तिन्नि सुन्नं, पंचेव य नव य तिन्नि चत्तारि ।
पंचेव तिन्नि नव पं-च सत्त तिन्नेव तिन्नेव ॥ १ ॥
चउ छ दो चउ एक्को, पण दो छक्केक्कगो य अट्ठेव ।
दो दो नव सत्तेव य, अंकट्ठाणा हगुणतीस ॥ २ ॥ "

एष च राशिः पूर्वसूरिभिस्त्रियमलपदादूर्ध्वं चतुर्यमलप-दस्याधस्तादित्युपवर्ण्यते, तत्र द्वौ द्वौ वर्गौ यमलपदम् । तथा चाऽनुयोगद्वारचूर्णी-"दो दो वग्गा जमलपयं ति भन्नइ" इति । ततः षड् वर्गाः समुदितास्त्रियमलपदम्, त्रियमलपदसमा-हारस्तस्मादूर्ध्वमेष राशिः, षष्ठवर्गस्य पञ्चमवर्गेण गुणितत्वात् । अष्टवर्गसमुदायश्चतुर्यमलपदम्, चतुर्णां यमलपदानां समाहार इत्यर्थः । तस्याधस्तात् सप्तमवर्गस्याप्यपरिपूर्णत्वात्, एष च राशिः षण्णवतिच्छेदनकदायी । तथाहि-प्रथमो वर्गो द्वे छेदनके द-दाति । तद्यथा-प्रथमं छेदनकं द्वौ, द्वितीयमेकं, द्वितीयो वर्गश्च-त्वारि छेदनकानि । तत्र प्रथममष्टौ, द्वितीयं चत्वारि, तृतीयं द्वे, चतु-र्थमेकम् । एवं तृतीयवर्गोऽष्टौ छेदनकानि । चतुर्थः षोडश । पञ्चमो द्वात्रिंशतम् । षष्ठश्चतुष्षष्टिम्, स एव पञ्चमवर्गेण गुणितः षण्णवतिम् । कथमेतदवसेयमिति चेत् ? । उच्यते—इह यो यो वर्गो येन येन वर्गेण गुण्यते, तत्र तत्र द्वयोरपि छेदनकानि प्राप्यन्ते । तथा प्रथमवर्गेण द्वितीये वर्गे गु-णिते षट् । तथाहि—द्वितीयो वर्गः षोडशलक्षणः प्रथम-वर्गेण चतुष्करूपेण गुण्यते । गुणिते च सति जाता चतु-ष्षष्टिः । तस्याः प्रथमं छेदनकं द्वात्रिंशत्, द्वितीयं षोडश, तृतीयमष्टौ, चतुर्थं चत्वारि, पञ्चमं द्वे, षष्ठमेकमिति । एवमन्यत्रापि भाव-नीयम् । तत्र पञ्चमवर्गे द्वात्रिंशच्छेदनकानि, षष्ठे चतुष्षष्टिः, ततः पञ्चमवर्गेण षष्ठे वर्गे गुणिते षण्णवतिच्छेदनकानि प्राप्यन्ते । एवमेकराशिविनेयजनमतिप्रकर्षाऽऽधानाय त्रिप्रकार आगमे परमगुरुभिरुपदर्शितः । तथा चानुयोगद्वारसूत्रम्-

" जहण्णपदे मणुस्सा, संखेज्जासंखेज्जाउ कोडीओ ।
तिजमलपयस्स उवरिं, तउ जमलपयस्स हेट्ठा य ॥१॥
अहव ण छट्ठो वग्गो, पंचमवग्गपडुप्पन्नो ।
अहव ण छण्णउइ, छेयणगदाई य रासीइ " ॥२॥

ये तु गर्भव्युत्क्रान्ताः सम्मूर्च्छिमाश्चापर्याप्ताः, ते उभयेऽपि

कदाचित् प्राप्यन्ते, कदाचिन्न । यतो गर्भव्युत्क्रान्तानामपर्याप्ताना जघन्यतः समयमात्रम्, उत्कर्षेतो द्वादश मुहूर्त्ता अन्तर, संमूर्छिमाना त्वपर्याप्ताना जघन्यतः समयमात्रम्,उत्कर्षेतश्चतुर्विंशतिरन्तर्मुहूर्त्ता', अपर्याप्ताश्चान्तर्मुहूर्त्तायुष ,अतोऽन्तर्मुहूर्त्तानन्तरे सर्वेऽपि निर्लेपमपगच्छन्ति । तस्मादमी द्वयेऽप्यपर्याप्ता. कदाचिन्नवन्ति, कदाचिन्न । यदा पुनरमी द्वयेऽपि अपर्याप्ता गर्भव्युत्क्रान्ताश्च पर्याप्ता. समुदिताः सर्वोत्कर्षेण भवन्ति,तदा तेषामिद परिमाणम्—" उक्कोसपए." इत्यादि । उत्कृष्टपदे सर्वोत्कृष्टसमूर्छिमगर्भव्युत्क्रान्तसमुदायग्रहणरूपे, मनुजा मनुष्या रूपाधिका एकेन रूपेण परमार्थतोऽसन्ताऽपि कल्पितेनाधिका सन्त एकप्रादेशिकश्रेणिरूपे अङ्गुलमात्रे क्षेत्र य प्रदेश.राशिरसत्कल्पनया पट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणस्तस्प्रथम वर्गमूल षोडशलक्षण तृतीयेन वर्गमूलेन द्विकलक्षणेन गुण्यते । ततो जाता द्वात्रिंशत् । ततस्तेरङ्गुलप्रथमवर्गमूलप्रदेशैस्तृतीयवर्गमूलप्रदेशैराहतैर्गुणितैरसत्कल्पनया द्वात्रिंशत्प्रमाणैः प्रतरस्यैकां श्रेणिं सकलामप्यपहरन्ति । इयमत्र भावना-एकप्रादेशिके श्रेणिरूपे अङ्गुलमात्रे क्षेत्रे य प्रदेशराशिस्तस्य यत्प्रथमवर्गमूल तत्तृतीयवर्गमूलगुणित सत् यावद्भवति, तावन्मात्र खण्ड प्रत्येक यदि सर्वेऽपि पर्याप्तापर्याप्तसमूर्छिमगर्भजमनुष्या गृह्णन्ति,तत सकलामपि श्रेणिमेकस्मिन्नेव समये ते अपहरन्ति,परमेक मनुष्यरूप न प्राप्यते,सर्वोत्कर्षेऽपि तेषामेतावतामेव केवलवेदसोपलब्धत्वात् । तथा चोक्तमनुयोगद्वारचूर्णी-' उक्कोसपए जे मणुस्सा हवति, ते इक्कम्मि मणुयरूवे पक्खित्ते समाणे तेहिं मणुस्सेहिं सेढी अवहीरइ, तीसे य सेढीए कालखेत्तेहिं अवहारो मग्गिज्जइ । कालओ ताव असखेज्जाहिं ओसप्पिणीहिं उस्सप्पिणीहिं । खेत्तओ अंगुलपढमवग्गमूल तइयवग्गमूलपडुप्पन्न। किं भणिय होइ?, तीसे सेढीए अंगुलायए खेत्ते जो य पएसरासी, तस्स ज पढम वग्गमूल पएसरासिमाण, त तइयवग्गमूलपएसरासिणा पडुप्पाइज्जइ, पडुप्पाइए समाणे जो पएसरासी भवइ,एवइएहिं खंडेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी॰जाव निट्ठाइ ताव मणुस्सा वि अवहीरमाणा निट्ठति।आह-कहमेगसेढी एवइमेत्तेहिं खंडेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी असखेज्जा उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरइ?' आयरिओ आह-खेत्तस्स सुहुमत्तणओ । सुत्ते चिम भणिय- " सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयर हवइ खेत्त । अंगुलसेढीमेत्ते,उसप्पिणिओ असखेज्जा ॥१॥" इति । ततश्चेदमायातमकालतोऽसख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयसमाना , क्षेत्रत पुनरेकस्यामेकप्रादेशिक्या श्रेणावङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशे प्रथमवर्गमूल तृतीयवर्गमूलगुणित सत् यावत्प्रदेशपरिमाण भवति, तावन्मात्राणि खण्डानि यावन्ति भवन्त्येकखण्डहीनानि, तावन्त सर्वोत्कृष्टपदे मनुष्या., तदेवमपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदिभेदेन चतुर्दशविधानामपि जीवाना परिमाणमुक्तम् ॥ २० ॥

सम्प्रति गुणस्थानकभेदेन चतुर्दशविधानां परिमाणमाह-

सासायणाइ चउरो, होंति असंखा अणंतया मिच्छा ।
कोडिसहस्सपुहुत्तं, पमत्त इयरे उ थोवयरा ॥ २१ ॥

सास्वादनाऽऽदय. सास्वादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतदेशविरतरूपाश्चत्वार प्रत्येकमसख्याता , सास्वादनाऽऽदीना चतुर्णामपि प्रत्येकमुत्कर्षपदे क्षेत्रपल्योपमासख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तथा अनन्ता अनन्तसख्या मिथ्यादृष्टय., तेषामनन्तलोकाऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तथा प्रमत्ताऽप्रमत्तसंयता जघन्यतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वपरिमाणा. प्राप्यन्ते, उत्कर्षतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वमाना. । इह पृथक्त्व द्विप्रभृत्या नवकोटिसहस्राणीति । तथा इतरे अप्रमत्तसयताः स्तोकतराः प्रमत्तसयतेभ्य. इत्यर्थः. ॥ २१ ॥

एगाई चउपण्णा-समगं उवसामगा य उवसंता ।
अद्धं पडुच्च सेढी-ए होंति सव्वे वि संखेज्जा ॥ २२ ॥

इहोपशमका उपशान्ताश्च कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्न, उपशमश्रेणेरन्तरस्य भावात् । ततश्च यदा उपशमका अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायाः उपशान्ता उपशान्तमोहा भवन्ति, तदा जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, उत्कर्षतश्चतु पञ्चाशत् । इद प्रमाण प्रवेशनकमधिकृत्योक्तम्, एतावन्त एकस्मिन् समयेऽपूर्वकरणाऽऽदिषु गुणस्थानकेषु प्रत्येकमुपशमश्रेणिमधिकृत्य प्रविशन्त प्राप्यन्ते इत्यर्थ. । श्रेणिरुपशमश्रेणेर्या काल प्रतीत्य पुनर्भवन्ति सर्वेऽपि सख्येयाः । इदमुक्त भवति-सकलेऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणे उपशमश्रेणिकालेऽन्येऽन्ये प्रविशन्तः सर्वेऽपि सख्यया प्राप्यन्ते । आह-नन्वन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेऽप्युपशमश्रेणिकाले असख्येया' समया प्राप्यन्ते, तत्र यदि प्रतिसमयमेकैक प्रविशति, तथाऽपि सकल श्रेणिकालमधिकृत्यासख्येया. प्राप्नुवन्ति, किं पुनर्द्वित्र्यादेरारभ्योत्कर्षतश्चतुष्पञ्चाशत प्रवेशेन ? । अत्रोच्यते-स्यादिय कल्पना यदि सकलेष्वपि श्रेणिसमयेषु प्रवेशो भवेत्, यावता स एव न भवति, किंतु केषुचिदेव समयेषु । अथैतदपि कथमवसीयते इति चेत्? उच्यते-इहोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते पर्याप्तगर्भजमनुष्या एव, न शेषजीवाः, तेऽपि चारित्रिण ,न ये केचन, चारित्रिणश्चोत्कर्षतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वमाना., तेऽपि च न सर्वेऽपि श्रेणिं प्रतिपद्यन्ते, किं तु कतिपया एव, ततो ज्ञायते-न सर्वेष्वपि उपशमश्रेणिसमयेषु प्रवेशो भवति, किं तु केषुचिदेव, तत्रापि कदाचित् कुत्रचित् समये पञ्चदशापि कर्मभूमीरधिकृत्योत्कर्षतश्चतु -पञ्चाशत् प्रविशन्त प्राप्यन्ते, नाधिका , तत सकलेऽपि श्रेणिकाले सख्येया एव भवन्ति । तेऽपि च शतानि द्वष्टव्या , न सहस्राणि, तथा पूर्वसूरिभिरावेदितत्वात् ॥ २२ ॥

खवगा खीणाजोगी, एगाई जाव होंति अट्ठसयं ।
अद्धाए सयपुहुत्तं, कोडिपुहुत्तं सजोगीओ ॥ २३ ॥

इहापि क्षपका क्षीणमोहा अयोगिनश्च कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्न, क्षपकश्रेणेरयोगिकालस्य चान्तरसम्भवात् । ततो यदा क्षपका अपूर्वकरणानिवृत्तबादरसपरायसूक्ष्मसपराया , क्षीणा' क्षीणमोहा अयोगिनोऽयोगिकेवलिनश्च भवन्ति, तदा जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतोऽष्टशतम् अष्टाधिकशतप्रमाणा । इदमपि प्रमाण प्रवेशनमधिकृत्योक्तमवसेयम । एतावन्त एकस्मिन्समये क्षपकत्वे, क्षीणमोहत्वे, अयोगित्वे चोत्कर्षत प्रविशन्तीत्यर्थ । (अद्धाए सयपुहुत्त त्ति) अद्धा क्षपकश्रेणिकालोऽयोगिकालश्च । तस्यामद्धाया सकलायामपि प्रत्येकमन्येऽन्ये प्रविशन्त सर्वसख्यया शतसख्या प्राप्यन्ते । इयमत्र भावना-सकलेऽपि क्षपकश्रेणिकालेऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणे पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिष्वन्येऽन्ये प्रविशन्तो यदि सर्वेऽपि सख्यायन्ते, तथाऽप्युत्कर्षतोऽपि शतपृथक्त्वसख्या एव लभ्यन्ते,नाधिका । एवमयोगिकेवलिनोऽपि भावनीया. । (कोडिपुहुत्त सजोगीओ

त्ति) सयोगिन सयोगिकेवलिन पुन कोटिपृथक्त्व कोटिपृथक्त्वसख्या । इह सयोगिकेवलिन सदैव भवन्ति ध्रुवत्वात्तेषाम्; ते च जघन्यपदेऽपि कोटिपृथक्त्वमाना , उत्कर्षतोऽपि कोटिपृथक्त्वमाना एव । केवलमुत्कर्षपदे कोटिपृथक्त्व बृहत्तरमवसेयम् ॥ २३ ॥ तदेवमुक्त द्रव्यप्रमाणम् ।

साम्प्रत क्षेत्रप्रमाणमाह-

अप्पज्जत्ता दोन्नि वि, सुहुमा एगिंदिया जए सव्वे ।
सेसा य असंखेज्जा, वायरपवणा असंखेसु ॥ २४ ॥

द्वयेऽप्यपर्याप्ता -लब्ध्यपर्याप्ता , करणापर्याप्तकाश्च । अपिशब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चायकत्वात् पर्याप्ताश्च । सूक्ष्मा एकेन्द्रिया पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतय. प्रत्येक सर्वेऽपि सर्वस्मिन्नपि जगति भवन्ति, 'सुहुमा उ सव्वलोए" इति वचनप्रामाण्यात् । आह-सूक्ष्मा. सर्वेऽपि पृथिव्यादय पर्याप्ताऽऽदिभेदभिन्ना प्रत्येक सकललोकव्यापिन इत्यज्ञसैवाभीष्टार्थसिद्धे , तत किमर्थमिह मुख्यया वृत्त्या अपर्याप्तग्रहण कृतमपिशब्दात्तु पर्याप्तग्रहणमिति ?। उच्यते-पर्याप्तापेक्षया स्तोकानामप्यपर्याप्तानां स्वरूपतोऽतिबाहुल्यख्यापनार्थम् । तथाहि-यद्यपि अपर्याप्तेभ्य सख्येयगुणहीना पर्याप्तास्तथाऽपि ते सर्वस्मिन्नपि जगति वर्त्तन्ते, इत्युच्यमाने निःसशयमतिबाहुल्य तेषा स्थापित भवति । अथ कथ पर्याप्ता अपर्याप्तापेक्षया सख्येयगुणहीना ?। उच्यते-प्रज्ञापनायामपर्याप्तापेक्षया पर्याप्तानां सख्येयगुणतयाऽभिधानात् । तथा च तद्ग्रन्थ -"सव्वत्थोवा सुहुमा अपज्जत्ता पज्जत्ता सखेज्जगुण त्ति ।" अन्यत्राप्युक्तम्-"जीवाणमपज्जत्ता,बहुतरगा वायराण विन्नेया । सुहुमाण अपज्जत्ता, ओहेण उ केवला विंति ॥ १ ॥ " शेषास्तु शेषा पुन पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्ना बादरैकेन्द्रिया पृथिव्यम्बुतेजोवनस्पतयश्च प्रत्येक लोकस्यासख्येयतमे भागेऽवतिष्ठन्ते । (वायरपवणा असखेसु त्ति) बादरपवना बादरवायुकायिका. पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च प्रत्येक लोकस्यासख्येयेषु भागेषु वर्तन्ते । लोकस्य हि यत्किमपि सुषिर, तत्र सर्वत्रापि वायव प्रसर्पन्ति, यत्पुनरतिनिविडनिचितावयवतया शुषिरहीनकनकगिरिमध्यभागादि, तत्र न तच्च सकलमपि लोकस्यासख्येयभागमात्र. तत एकमसख्येयभाग मुक्त्वा शेषेषु सर्वेष्वप्यसख्येयेषु भागेषु वायवो वर्तन्त इति ॥ २४ ॥

सासायणाइ सव्वे, लोयस्स असंखयम्मि भागम्मि ।
मिच्छा उ सव्वलोए, होइ सजोगि वि समुग्घाए ॥२५॥

सास्वादनाऽऽदय सास्वादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादयो मिथ्यादृष्टिसयोगिकेवलिवर्जा प्रत्येक सर्वेऽपि लोकस्यासख्येयतमे भागेऽवतिष्ठन्ते,सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादयो हि सज्ञिपञ्चेन्द्रियेष्वेव प्राप्यन्ते। सास्वादनास्तु केचित्स्वल्पा करणापर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासज्ञिपञ्चेन्द्रियेष्वपि,ते च सज्ञिपञ्चेन्द्रियाऽऽदय. स्वल्पत्वाल्लोकस्यासख्येयभाग वर्तन्त इति । सास्वादनाऽऽदयो लोकासख्येयभागवर्तिन उक्ता । तथा मिथ्यादृष्टय सर्वलोक सर्वस्मिन्नपि लोके भवन्ति । सूक्ष्मैकेन्द्रिया हि सकललोकव्यापिन , ते च मिथ्यादृष्टय इति । तथा सयोग्यपि सयोगिकेवल्यपि, आस्ता मिथ्यादृष्टय इत्यपिशब्दार्थ । समुद्घाते समुद्घातगत सन् सर्वलोक भवति सकललोकव्यापी भवति । तथाहि-समुद्घात कुर्वन् प्रथमे दण्डसमय, द्वितीये च कपाटसमये लोकस्यासख्येयतमे भागे वर्तते, तृतीये मन्थनसमये पुनरसख्येयभागेषु, चतुर्थे सर्वलोके । तथा चोक्तम्- चतुर्थे लोकपूरणमष्टमे सहार इति । "होइ सजोगि वि समुग्घाए " इत्युक्तम् ॥ २५ ॥

ततः समुद्घातप्रस्तावादशेषान् समुद्घातान्प्ररूपयति-

वेयणकसायमारण-वेउव्वियतेउहारकेवलिया ।
सग पण चउ तिन्नि कमा,मणुसुरनेरइयतिरियाण ॥२६॥

समुद्घातशब्द पाश्चात्योऽग्रेतनगाथागतो वा प्रत्येकमभिसबध्यते । तद्यथा-वेदनासमुद्घात , कषायसमुद्घात ,मारणसमुद्घात , वैक्रियसमुद्घात ,तैजससमुद्घात , आहारकसमुद्घात , केवलिसमुद्घातश्च । तत्र वेदनया समुद्घात वेदनासमुद्घात , स चासातवेदनीयकर्माऽऽश्रय । कषायेण कषायोदयेन समुद्घातः कषायसमुद्घात ,स च कषायचारित्रमोहनीयकर्माऽऽश्रय । तथा मरणे मरणकाले भवो मारण , मारणश्चासौ समुद्घातश्च मारणसमुद्घात , सोऽन्तर्मुहूर्तावशेषायु कर्मविषय । तथा वैक्रिये प्रारभ्यमाणे समुद्घातो वैक्रियसमुद्घात , स च वैक्रियशरीरनामकर्मविषय. । तथा तेजसि विषये भवस्तैजस , स चासौ समुद्घातश्च तैजससमुद्घात ,स च तेजोलेश्याविनिर्गमकालभावी तैजसशरीरनामकर्माऽऽश्रय । आहारके प्रारभ्यमाणे समुद्घात आहारकसमुद्घात , स चाऽऽहारकशरीरनामकर्मविषय । केवलिन्यन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदे भव समुद्घात केवलिसमुद्घात । अथ समुद्घात इति क. शब्दार्थ ?। उच्यते-समित्येकीभाव , उत्प्राबल्ये, एकीभावेन प्राबल्येन घात समुद्घात । केन सह एकीभावगमनम् ?, इति चेत् । उच्यते-अर्थाद्वेदनाऽऽदिभि । तथाहि-यदा आत्मा वेदनाऽऽदिसमुद्घातगतो भवति,तदा वेदनाऽऽद्यनुभवज्ञानपरिणत एव भवति,नान्यज्ञानपरिणत.। प्राबल्येन घात कथम् ?, इति चेत् । उच्यते-इह वेदनाऽऽदिसमुद्घातपरिणतो बहून् वेदनीयाऽऽदिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभवनयोग्यान् उदीरणाकरणेनाकृष्योदयावलिकाया प्रक्षिप्यानुभूय च निर्जरयति, आत्मप्रदेशै सह सश्लिष्टान् शातयतीत्यर्थ । तत्र वेदनासमुद्घातगत आत्मा वेदनीयपुद्गलपरिशात करोति । तथाहि-वेदनाकरालितो जीव स्वप्रदेशाननन्तानन्तकर्मस्कन्धवेष्टितान् शरीराद्बहिरपि विक्षिपति । तैश्च प्रदेशैर्वदनजठराऽऽदिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाऽऽद्यन्तरालानि चापूर्याऽऽयामतो विस्तरतश्च शरीरमात्र क्षेत्रमभिव्याप्यान्तर्मुहूर्त यावदवतिष्ठते । तस्मिंश्चान्तर्मुहूर्ते प्रभूतासातवेदनीयकर्मपुद्गलपरिशात करोति । कषायसमुद्घातसमुद्धत कषायाख्यचारित्रमोहनीयकर्मपुद्गलपरिशातं करोति । तथाहि-कषायोदयसमाकुलो जीव स्वप्रदेशान् बहिर्विक्षिप्य तै प्रदेशैर्वदनोदराऽऽदिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाऽऽद्यन्तरालानि चापूर्याऽऽयामविस्ताराभ्या देहमात्र क्षेत्रमभिव्याप्य वर्त्तते, तथाभूतश्च प्रभूतकषायकर्मपुद्गलपरिशात करोति । एव मारणसमुद्घातगत आयु -पुद्गलशात, वैक्रियसमुद्घातगत पुनर्जीव स्वप्रदेशान् शरीराद् बहिर्निष्कास्य शरीरविष्कम्भबाहल्यमानमायामत सख्येययोजनप्रमाण दण्ड निसृजति,निसृज्य च यथास्थूलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् प्राग्वत् शातयति । तथा चोक्तम्- 'वेउव्वियसमुग्घाएण समोहणइ । समोहणित्ता सखेज्जाइ जोयणाइ दण्ड निसिरइ । निसरित्ता अहाबायरे पुग्गले परिसाडेइ' इति । तैजसाऽऽहारकसमुद्घातौ वैक्रियसमुद्घातवद्व्याख्येयौ । केवल तैजससमुद्घातगतस्तैजसशरीरनामकर्मपुद्गलपरि-

शातम, आहारकसमुद्घातगतस्त्वाहारकशरीरनामपुद्गलपरिशात करोति, आहारकसमुद्घातश्चाऽऽहारकशरीरप्रारम्भकाले वेदितव्य. । केवलिसमुद्घातसमुद्गतस्तु केवली सदसद्वेद्यशुभाशुभनामोच्चनीचैर्गोत्रकर्मपुद्गलपरिशात करोति, केवलिसमुद्घातवर्जाः शेषा षडपि समुद्घाता. प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिका, केवलिसमुद्घात पुनरष्टसामयिक । उक्त च प्रज्ञापनायाम—" वेयणासमुग्घाएण भंते ! कइ समयए पन्नत्ते ? । गोयमा ! असखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए पएणत्ते । एवं जाव आहारसमुग्घाए । केवलिसमुग्घाएण भंते ! कइ समइए पन्नत्ते ?। गोयमा ! अट्ठसमइए पन्नत्ते । " इति । एतानेव समुद्घातान् गतिषु चिन्तयति-"सग" इत्यादि । मनुष्यगतौ सप्तापि समुद्घाता भवन्ति, मनुष्येषु सर्वभावसम्भवात् । सुरगतावाद्याः पञ्च समुद्घाता, आहारकसमुद्घातकेवलिसमुद्घातयोरसम्भवात् । पुनरेषु चतुर्दशपूर्वाधिगमक्षायिकज्ञानदर्शनचारित्रलब्ध्यसम्भवात् । निरयगतावाद्याश्चत्वार समुद्घाता, तत्र तैजससमुद्घातस्याप्यसम्भवात्. तदसम्भवश्च नैरयिकाणां तेजोलेश्यालब्धेरभावात् । तिर्यग्गतौ वैक्रियलब्धिमत्सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियपवनवर्जानां शेषजीवानामाद्यास्त्रय समुद्घाता, तेषां वैक्रियलब्धेरप्यसम्भवात ॥ २५ ॥

वैक्रियलब्धिमत्सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियपवनयोर्विशेषमाह-

पंचिंदियतिरियाणं, देवाण व होंति पंच सण्णीणं ।
वेउव्वियवाऊणं, पढमा चउरो समुग्घाया ॥ २६ ॥

पञ्चेन्द्रियतिरश्चा सञ्ज्ञिना देवानामिव प्रथमा पञ्च समुद्घाता भवन्ति । पञ्चेन्द्रियतिर्यक्ष्वपि सञ्ज्ञिषु केषुचिद्वैक्रियतेजोलेश्यालब्धिसम्भवात् । वैक्रियलब्धिमता पुनर्वायूना वायुकायाना प्रथमा वेदनाकषायमारणवैक्रियरूपाश्चत्वार. समुद्घाता ॥ २६ ॥ गत क्षेत्रद्वारम् ।

अधुना स्पर्शनाद्वारमाह-

चउदसविहा वि जीवा, समुघाएणं फुसंति सव्वजगं ।
रिउसेढीऍ व केई, एवं मिच्छा सजोगीया ॥ २७ ॥

चतुर्दशविधा अपि अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदिभेदाच्चतुर्दशप्रकारा अपि,जीवा. सर्वं जगत् स्पृशन्ति । कथम् ?,इत्याह-समुद्घातेन मरणसमुद्घातेन । इयमत्र भावना-इह सूक्ष्मैकेन्द्रिया. पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च प्रत्येक सकललोकवर्त्तिन , ततस्ते स्वस्थानतोऽपि सकललोकस्पर्शिन उपपद्यन्ते,किं पुनर्मारणान्तिकसमुद्घातयोगत ?। बादरापर्याप्तैकेन्द्रियाऽऽदय स्वस्थानमधिकृत्य प्रत्येक लोकासङ्ख्येयभागवर्त्तिन एव समुद्घातमधिकृत्य पुन सकललोकस्पर्शिनोऽपि भवन्ति । तथाहि-समुद्घात इह मरणसमुद्घात उच्यते, मरणसमुद्घातसमुद्गतस्तु जीव स्वशरीरविष्कम्भबाहल्य जघन्यतो दैर्घ्येणाङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रम्, उत्कर्षेण सङ्ख्येयानि योजनानि स्वप्रदेशदण्ड निसृजति । निसृज्य च यत्र स्थाने अग्रेतनभवे समुत्पत्स्यते, तत्र स्थाने त स्वप्रदेशदण्ड प्रक्षिपति । तच्चोत्पत्तिस्थान ऋजुगत्या एकेन समयेन स्वप्रदेशदण्ड प्राप्नोति । विग्रहगत्या तूत्कर्षतश्चतुर्थे समये, यतो मरणसमुद्घातमधिकृत्य नानाजीवापेक्षया बादरापर्याप्तैकेन्द्रियाऽऽदयो द्वादशभेदा प्रत्येक सर्वेऽपि सर्वं जगत् स्पृशन्त प्राप्यन्ते इति । (रिउसेढीऍ व केई इति) केचित्पुनर्जीवा सूक्ष्मैकेन्द्रियलक्षणा ऋजुश्रेण्या ऋजुगत्या । वाशब्द. पक्षान्तरसूचने । न केवल समुद्घातेन ऋजुश्रेण्या वा इत्यर्थः। सर्वं जगत् स्पृशन्ति । तथाहि-अधोलोकान्तादूर्द्ध्वलोकान्ते उत्पद्यमाना चतुर्दशापि रज्जू स्पृशन्ति । एव सर्वास्वपि दिक्षु भावनीयम् । ततो नानाजीवापेक्षया ऋजुश्रेण्याऽपि सूक्ष्मैकेन्द्रिया सकललोकस्पर्शिन । सम्प्रति गुणस्थानके स्पर्शना चिन्तयति-(एव मिच्छा सजोगीय त्ति) एवं सर्वजगत्स्पर्शितया मिथ्यादृष्टयः सयोगिनश्चावगन्तव्या । तत्र मिथ्यादृश. सूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदय., सूक्ष्मैकेन्द्रियाश्च सकललोकस्पर्शिन., सयोगिकेवलिन पुन. केवलिसमुद्घातगताश्चतुर्थसमये सर्वलोकस्पर्शिन. प्रागेवोपदर्शिता ॥ २७ ॥

शेषगुणस्थानकेषु स्पर्शनामाह-

मीसा अजया अड अड, बारस सासायणा छ देसजई ।
सग सेसा उ फुसंती, रज्जू खीणा असंखंसं ॥ २८ ॥

मिश्रा. सम्यग्मिथ्यादृष्टय., अयता अविरतसम्यग्दृष्टयः, प्रत्येकमष्टावष्टौ रज्जू स्पृशन्ति, द्वादश पुन सास्वादना, देशयतयो देशविरता. षट् । शेषा उक्तव्यतिरिक्ता. क्षीणमोहवर्जाः प्रमत्ताऽऽद्या. प्रत्येक सप्त सप्त रज्जू स्पृशन्ति । क्षीणा क्षीणमोहा. पुनरसङ्ख्येयांश रज्जोरसङ्ख्येय भागम ॥ २८ ॥

एतामेव गाथा स्वयमेव भावयति—

सहसारंतियदेवा, नारयणेहेण जंति तइयभुवं ।
निज्जंति अच्चुयं जा, अच्चुयदेवेण इयरसुरा ॥२९॥

इह सहस्रारान्तका सहस्रारपर्यवसाना देवा नारकस्नेहेन पूर्वसाङ्गतिकनारकस्नेहेन,तस्य वेदनोपशमनार्थम्, उपलक्षणमेतत्, पूर्ववैरिकस्य नारकस्य वेदनोदीरणार्थं वा तृतीया भुव नरकपृथिवीं, गच्छन्ति । आनताऽऽदयो देवा पुनरल्पस्नेहाऽऽदिभावा स्नेहाऽऽदिप्रयोजनेनापि नरक न गच्छन्तीति सहस्रारान्तग्रहणम् । तथाऽच्युतदेवेन जन्मान्तरस्नेहतस्तद्भवस्नेहतो वा, इतरे सुरा. शेषसुरा अच्युतदेवलोक यावन्नीयन्ते । तत. सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीना च प्रत्येकमष्टरज्जुस्पर्शना घटते । इयमत्र भावना-इह यदा सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्भवनपत्यादिको देव पूर्वसाङ्गतिकेनाच्युतदेवलोकवासिना देवेनाच्युतदेवलोक स्नेहान्नीयते, तदा तस्य षड्रज्जुस्पर्शना भवति,"जा अच्चुय" इति वचनात् । तथा कश्चिदमर सहस्रारकल्पवासी सम्यग्मिथ्यादृष्टि पूर्वसाङ्गतिकस्य वेदनोपशमनाय, पूर्ववैरिकस्य वेदनोदीरणाय वा वालुकाप्रभाऽभिधानामपि नरकपृथिवीमुपगच्छति , तदा भवनपतिनिवासस्याधस्तादन्यदपि रज्जुद्वयमधिक प्राप्यते, इति पूर्वोक्ता. षड् रज्जवो रज्जुद्वयेन सहिता अष्टौ भवन्ति । एव नानाजीवापेक्षया सम्यग्मिथ्यादृष्टयो अष्टरज्जुस्पर्शका प्राप्यन्ते । अथवा-कोऽपि सहस्रारकल्पनिवासी देव सम्यग्मिथ्यादृष्टि पूर्वोक्तकारणवशात् तृतीया नरकभुव गच्छन् सप्त रज्जू स्पृशति, स एव सहस्रारदेवो यदा अच्युतदेवेन स्नेहादच्युते देवलोके नीयते, तदा अन्यामप्येकामधिका रज्जु स्पृशतीत्यष्टरज्जुस्पर्शना । एवमविरतसम्यग्दृष्टीनामप्यष्टरज्जुस्पर्शना भावनीया । नन्वविरतसम्यग्दृष्टयस्तद्भवे वर्त्तमाना कालमपि कुर्वन्ति, ततस्तेषामन्यथाऽपि कथ न भावना क्रियते ? । उच्यते-न यथा तेषामष्टरज्जुस्पर्शनाया असम्भवात् । तथाहि-तिर्यङ्मनुष्यो वा

ससम्यक्त्वो द्वितीयाऽऽदिषु नरकपृथिवीषु न गच्छति,नाऽपि तत आगच्छति, ततोऽनुत्तरसुरभवं गच्छन्, ततो वा च्युत्वा मनुष्यभवमागच्छन् सर्वोत्कृष्टां सप्तरज्जुस्पर्शनां अवाप्नुते, नाधिकां क्वाप्यन्यत्र, ततोऽविरतसम्यग्दृष्टयोऽपि मिथ्यादृष्टिवद्विशेषणाष्टरज्जुस्पर्शका प्रतिपत्तव्या, न प्रकारान्तरेण । अपरे पुनराहु -अविरतसम्यग्दृष्टीनामुत्कर्षतो नवरज्जुस्पर्शना कथमिति चेत् ? । उच्यते-इह तन्मतेन क्षायिकसम्यग्दृष्टयः तृतीयस्यामपि नरकपृथिव्यां गच्छन्ति, ततोऽनुत्तरसुरभवं गच्छतां ततो वा च्युत्वा मनुष्यभवमागच्छतां सप्तरज्जुस्पर्शना । तृतीयस्यां पृथिव्यामुत्पद्यमानानां, ततो वा उद्धृत्य मनुष्यभवमागच्छतां द्विरज्जुस्पर्शनेति सामान्यतोऽविरतसम्यग्दृष्टीनां नवरज्जुस्पर्शना । व्याख्याप्रज्ञप्त्याद्यभिप्रायेण पुनरमीषां द्वादशरज्जुस्पर्शनाऽपि प्राप्यते । तथा हि-अनुत्तरसुरभवं गच्छतां, ततो वा च्युत्वा मनुष्यभवमागच्छतां सप्तरज्जुस्पर्शना । तथा नरतिरश्चामन्यतरोऽविरतसम्यग्दृष्टिः पूर्वबद्धायुः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेन गृहीतेन व्याख्याप्रज्ञप्त्याद्यभिप्रायतः षष्ठनरकपृथिव्यामपि नारकत्वेनोत्पद्यते । ततो वा उद्धृत्य क्षायोपशमिकसम्यक्त्ववानत्र मनुष्येषु मध्ये समुत्पद्यते । ततोऽविरतसम्यग्दृष्टिः षष्ठनरकपृथिवीं गच्छन् पञ्चरज्जूः स्पृशति । तत सामान्यतोऽविरतसम्यग्दृष्टीनां सर्वसङ्ख्यया द्वादशरज्जुस्पर्शना । सप्तमपृथिव्यां पुनः सम्यक्त्वसहितस्य गमनमागमनं वा प्रज्ञप्त्यामपि निषिद्धं, तत षष्ठनरकपृथिवीग्रहणम् ॥ २९ ॥

सम्प्रति सास्वादनानां द्वादशरज्जुस्पर्शनां भावयति-

छट्ठाए नेरइओ, सासणभावेण एइ तिरिमणुए ।
लोगंतनिक्खुडेसु, जं तसमासायणगुणत्था ॥ ३० ॥

षष्ठनरकपृथिव्या वर्तमानः कश्चिन्नारकः स्वभवान्ते औपशमिकसम्यक्त्वमवाप्य सास्वादनभावं गतः सन् कालं करोति, कालं च कृत्वा तिर्यक्षु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पद्यते, ततस्तस्य पञ्चरज्जुस्पर्शना भवति । इह सप्तमपृथिवीनारकः सास्वादनभावं परित्यज्यैव तिर्यक्षूत्पद्यते, इति षष्ठपृथिवीग्रहणम् । तथा तिर्यग्लोकादपि केचित्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सास्वादनगुणस्थाः सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्तिनः सन्त उपरि लोकान्तनिष्कुटेषु त्रसनाडीपर्यन्तवर्तिलोकान्तप्रदेशेषूत्पद्यन्ते, ततस्तेषां सप्तरज्जुस्पर्शना । तत सामान्यत सास्वादनगुणस्थानस्थानां सर्वसङ्ख्यया द्वादशरज्जुस्पर्शना समुत्पद्यते । न ह्येकं जीवमधिकृत्येयं स्पर्शना चिन्त्यते, किं त्वेकं गुणस्थानं, ततो न कश्चिद्दोषः । इह प्रायः सास्वादनभावमापन्नानामधोगतिर्नोपजायते, ततो द्वादशरज्जुस्पर्शना प्रतिपादिता । यदि पुनरधोगतिः सास्वादनानां भवेत् ततोऽधोलोकनिष्कुटादिष्वपि तेषामुत्पादसंभवाच्चतुर्दशरज्जुस्पर्शनाऽभिधीयते ॥ ३० ॥

सम्प्रत्यपूर्वकरणाऽऽदीनां स्पर्शनमभिधित्सुराह-

उवसामग उवसंता, सव्वत्थे अप्पमत्तविरया य ।
गच्छंति रिउगईए, पुदेसजया उ बारसमे ॥ ३१ ॥

उपशमका उपशमश्रेण्याऽऽरूढा अपूर्वकरणानिवृत्तबादरसूक्ष्मसंपरायाः, उपशान्ता उपशान्तमोहाः, तथा अप्रमत्तविरता अप्रमत्तसंयताः, चशब्दात्प्रमत्तभावाभिमुखाः, सर्वार्थे सर्वार्थसिद्धे महाविमाने, ऋजुगत्या, गच्छन्ति उत्पद्यन्ते । ततस्ते सप्तरज्जुस्पर्शिनः, इह क्षपकश्रेण्याऽऽरूढा अपूर्वकरणाऽऽदयो न म्रियन्ते, न च मारणसमुद्घातमारभन्ते, ततस्तेषामसङ्ख्येयभागमात्रैव स्पर्शना घटते, नाधिका । अत एव क्षीणमोहस्यासङ्ख्येयभागमात्रस्पर्शना प्रागभ्यधायि, ततोऽपूर्वकरणाऽऽदीनामुपशमश्रेणिमधिकृत्य सप्तरज्जुस्पर्शना प्रत्यपादि । पर आह-ननु मनुष्यभवायुषः क्षये, परभवायुष उदये परलोकगमनं, तदानीं चाऽविरतता, नोपशमकत्वादि, तत्कथमपूर्वकरणाऽऽदीनां सप्तरज्जुस्पर्शनेति ? । नैष दोषः । इह द्विविधा गतिः-कन्दुकगतिः, इलिकागतिश्च । तत्र कन्दुकस्येव गतिः कन्दुकगतिः । किमुक्तं भवति ?-यथा कन्दुकः स्वप्रदेशसपिण्डित ऊर्ध्वं गच्छति, तथा जीवोऽपि कश्चित्परभवायुष उदये परलोकं गच्छन् स्वप्रदेशानेकत्र सपिण्ड्य गच्छति । तथा इलिकाया इव गतिरिलिकागतिः, यथा इलिका पुच्छदेशमपरित्यजन्ती मुखेनाग्रेतनं स्थानं शरीरप्रसारणेन सम्पृश्य ततः पुच्छं संहरति, एवं जीवोऽपि कश्चित्स्वभवान्तकाले स्वप्रदेशैरुत्पत्तिस्थानं संस्पृश्य परभवायुःप्रथमसमये शरीरं परित्यजति । तत इलिकागतिमधिकृत्यापूर्वकरणाऽऽदीनां सप्तरज्जुस्पर्शना न विरुध्यते । तथा ऋजुगत्यैव (पुदेसजया इति) अत्र पुग्रहणेन मनुष्यग्रहणम् । ततोऽयमर्थः-मनुष्यरूपा देशयता देशविरता द्वादशेऽच्युताभिधाने देवलोके गच्छन्ति उत्पद्यन्ते, ततस्तेषां षट् रज्जुस्पर्शना, तिर्यग्लोकमध्यादच्युतदेवलोकस्य षड्रज्जुमानत्वात् । तदेवमुक्तं स्पर्शनाद्वारम् ॥ ३१ ॥ प० सं० २ द्वार ।

(एषां भवस्थितिकाल 'भवट्ठिइकाल' शब्दे वक्ष्यते । गुणस्थानविभागेन कालमानं 'गुणट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ९१५ पृष्ठे गतम्)

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ,
तणरुक्खबीया य तसा य पाणा ।
जे अंडजा जे य जराउपाणा,
संसेयजा जे रसजाभिहाणा ॥ १ ॥

पृथिवीकायिकाः सत्त्वाः, चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः 'सचाय भेदः-पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मा बादराश्च, ते च प्रत्येकं पर्याप्तकाऽपर्याप्तकभेदेन द्विधा, एवमप्कायिका अपि । तथाऽग्निकायिका वायुकायिकाश्च द्रष्टव्या । वनस्पतिकायिकान् भेदेन दर्शयति-तृणानि कुशाऽऽदीनि, वृक्षाश्चाश्वत्थाऽऽदयो, बीजानि शाल्यादीनि । एवं वल्लीगुल्माऽऽदयोऽपि वनस्पतिभेदा द्रष्टव्याः । त्रस्यन्तीति त्रसाः, द्वीन्द्रियाऽऽदयः प्राणाः प्राणिनः । ये चाण्डाज्जाता अण्डजाः-शकुनिसरीसृपाऽऽदयः, ये च जरायुजा जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते, ते च गोमहिष्यजाऽविकमनुष्याऽऽदयः । तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजाः-यूकामत्कुणकृम्यादयः । ये च रसजाभिधाना दधिसौवीरकाऽऽदिषु रूतपक्ष्मसन्निभा इति ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

द्वाविंशद्भेदा जीवा यथा-

एगविह-दुविह-तिविहा-चउहा पंचविह छव्विहा जीवा ।
चेयण तस इयरेहिं, वेयगइकरणकाएहिं ॥ २ ॥

एकविधद्विविधत्रिविधचतुर्धापञ्चविधषड्विधाः इति । एका विधा विधानं येषां ते एकविधाः, एवं सर्वत्र 'एकविधाश्च द्विविधाश्च त्रिविधाश्च चतुर्धा च पञ्चविधाश्च षड्विधाः-एकविध-

द्विविधास्त्रिविधचतुर्धापञ्चविधषड्विधाः । दीर्घता पुनः प्राकृतप्रभवा। जीवाः प्राणिनः सर्वेऽपि सांसारिकसत्त्वाः "यथोद्देशं तथा निर्देशः" इति न्यायात्पुनर्निर्देशमाह-चेतना त्रसेतरैः, वेदाश्च, गतयश्च, करणानि च, कायाश्च वेदगतिकरणकायास्तैः वेदगतिकरणकायैः करणभूतैरेते एकविधाऽऽदयो जीवास्तद्वादयो भवन्तीति गम्यते । तत्रैकविधाश्चेतनामाश्रित्य यतः सर्वेऽपि संसारिणो, मुक्ताश्च न व्यभिचरन्ति, एकेन्द्रियवनस्पत्यादीनां तथैवोपलब्धेः। तथा हि-

" कालफलदाणआहा-रगहणदोहलयरोगपडियारे ।
नाऊण जाण सव्वे, नारि व्व सचेयणा तरुणो ॥१॥ "

फलस्य दानं फलदानं,काले फलदानं कालफलदानम्। आहारस्य ग्रहणमाहारग्रहणम्,कालफलदानं च आहारग्रहणं च दोहदकश्च रोगश्च प्रतीकारश्च कालफलदानाहारग्रहणदोहदकरोगप्रतीकारास्तान्, किं ?, ज्ञात्वा अवबुद्ध्य, जानीहि सर्वेऽपि नारीवत्सचेतनास्तरवो वृक्षाः ।यथाहि नारी कालफलदानाऽऽहारग्रहणप्रवणा दोहदाऽऽदिधर्मयुक्ता सती सचेतना, एवं वृक्षा अपि तद्धर्मयुक्तत्वेन सचेतना इति गाथार्थः ॥ १ ॥

द्वीन्द्रियाऽऽदीनां पुनः स्पष्टैव सा, गत्यादिविशिष्टचेष्टावत्त्वात्तेषाम् । द्विविधा पुनस्त्रसस्थावरभेदाभ्याम् । ते त्रसा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाः, स्थावराः पृथिव्युदकतेजोवायुवनस्पतिभेदात्पञ्चधा । त्रैविध्यं स्त्रीपुंनपुंसकत्वादागतम्। चतुर्द्धा चातुर्विध्यं नारकतिर्यङ्नरामरापेक्षया । पञ्चविधाः पुनरिन्द्रियाश्रिताः । षड्विधाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदाद्भवन्तीति गाथार्थः । एकस्मादारभ्य यावता द्विधास्तावत्प्रतिपादितम् ॥ २ ॥

इदानीं तेषामेव नवविधत्वमाह-

पुढवी आऊ तेऊ, वाऊ वणस्सई तहेव बेइंदी ।
तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदियभेयओ नवहा ॥ ३ ॥

सुगमा चेयम् ।

पुनश्चतुर्दशविधत्वमाह-

एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियर पणिंदिया य सबितिचऊ ।
पज्जत्तापज्जत्तग-भेएणं चउदस ग्गामा ॥ ४ ॥

एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः,ते च सूक्ष्मेतराः । तत्र सूक्ष्माः सूक्ष्मनामकर्मोदयाः सर्वलोकव्यापिनः सर्वथा निरतिशयिनामदृश्याः,बादराः पुनर्व्यवहारानुगाः प्रायशस्तल्लोकाद्यन्तवर्त्तिनः । तथा संज्ञीतराः पञ्चेन्द्रियाः । तत्र संज्ञिनो मनोविज्ञानयुक्तया देवनारकगर्भजतिर्यङ्नराः । इतराः पुनरसंज्ञिनो मनोलब्धिविकलाः सम्मूर्च्छजाः पञ्चेन्द्रियाः,इत्येते चत्वारोऽपि सह द्वित्रिचतुर्भिर्वर्त्तन्त इति सद्वित्रिचत्वारः,ततः सप्तापि पर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्दश भेदा जायन्त इति गाथार्थः ॥४॥

पुनर्द्वात्रिंशद्विधत्वमाह-

पुढविदगअगणिमारुय-वणस्सयणंता पणिंदिया चउहा ।
वणपत्तेया विगला, दुविहा सव्वे वि बत्तीसं ॥५॥

पृथिव्युदकाग्निमारुतवनस्पत्यनन्ताः । समासः पुनरत्र सुकर एव। पञ्चेन्द्रियाश्च चतुर्द्धा चतुर्भेदाः षट्चतुष्कमीलनाच्चतुर्विंशतिर्भवन्ति। तत्र पृथिवीकायः सूक्ष्मबादरभेदतो द्विधा,पुनरेकैकः पर्याप्तकापर्याप्तकभेदतश्चतुर्द्धा भवति। एवमुदकाऽऽदिष्वप्ययमेव। पञ्चेन्द्रियाः पुनः संज्ञ्यसंज्ञिभेदतो द्विधा।पुनरेकैकः पर्याप्तकभेदतो ज्ञियमानाश्चतुर्द्धा भवन्ति । वनस्पतिप्रत्येकाः पदावयवे पदसमुदायोपचारात्, पूर्वापरनिपाताच्च प्रत्येकवनस्पतयः, विकला विकलेन्द्रियाः, तत्र विकलान्यपरिपूर्णानि इन्द्रियाणि येषां ते विकलेन्द्रियाः-द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः, किंविधाः ?, द्विविधाः पर्याप्तकापर्याप्तकभेदाः,तथा चतुर्ष्टिकमीलनादष्टौ भवन्ति, पुनश्चतुर्विंशतिमीलनाच्च सर्वेऽपि द्वात्रिंशद्विधा भवन्ति, इति गम्यत इति गाथार्थः ॥५॥ दर्श० ४ तत्त्व।

त्रिषष्ट्यधिकपञ्चशतभेदा जीवानाम्-

अम्मापिउणो सरिसा, सव्वे वि खमंतु मे जीवा । (६०)

(अम्मापिउणो सरिस त्ति) मातापितृसमानाः, यथा मातापित्रोरुपरि निष्कृत्रिमस्नेहो भवति, तद्वद् मम सर्वेऽपि जीवाः पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतयः सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तभेदेन चतुर्विधाः, सर्वमीलने विंशतिधा , प्रत्येकवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्तभेदेनाष्टधा, तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया जलचरस्थलचरखेचरपरिसर्पभुजपरिसर्पाः पञ्चापि संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्ताऽऽदिना विंशतिसंख्याः ,नारकाः पृथिवीभेदेन सप्त, पर्याप्तापर्याप्तभेदेन चतुर्दशधा ।तथा कर्माकर्मभूमिजान्तरद्वीपमनुजाः पञ्चदशत्रिंशत्षट्पञ्चाशत्संख्याः , पर्याप्तापर्याप्तभेदतो द्विरुत्तरशतत्रयमानाः । असंज्ञिमनुजाः एतद्द्वीपान्तरादिभवा अपर्याप्ता एकोत्तरशतमानाः । भवनपतयो दशधा पर्याप्तापर्याप्तरूपतो विंशतिमानाः । व्यन्तराः षोडशधा पर्याप्तापर्याप्तत्वेन द्वात्रिंशद् भेदाः ।जृम्भका अपि दश पर्याप्ताऽऽदिना विंशतिधा ।ज्योतिष्काः पञ्च गतिस्थितिभेदतो दश पर्याप्तापर्याप्तत्वादिना विंशतिधा । वैमानिका द्वादश, नव पञ्चाऽपि पर्याप्तापर्याप्तयोगेन पञ्चाशन्मानाः । किल्बिषिकास्त्रिविधाः पर्याप्ताऽऽदिना षोढा । लोकान्तिका नव पूर्ववदष्टादशधा । तदेवं सर्वजीवास्त्रिषष्ट्यधिकपञ्चशतमानाः , क्षमन्तु क्षमां कुर्वन्तु मम एते समस्ता अपि जीवा इत्यर्थः । सथा० ।

नारकाऽऽदिजीवानाश्रित्य स्थित्यादि-

ठितिउस्सासाऽऽहारे, किं वाऽऽहारेइ सव्वओ वा वि ।
कइ भाग सव्वाणि व, कीस व भुज्जो परिणमंति ? ॥१॥

('आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५०१ पृष्ठे आहारवक्तव्यता)

णेरइयाणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया ? १, आहारिया आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणया ? २, अणाहारिया आहारिज्जिस्समाणा पोग्गला परिणया ? ३, अणाहारिया अणाहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया ? ४। गोयमा ! णेरइयाणं पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया १, आहारिया आहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया, परिणमंति य २, अणाहारिया आहारिज्जस्समाणा पोग्गला णो परिणया, परिणमिस्सति ३, अणाहारिया अणाहारिज्जस्समाणा पोग्गला णो परिणया, णो परिणमिस्सति ४ । णेरइयाणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला चिया, पुच्छा ?। जहा परिणया,तहा चिया वि, एवं चिया, उवचिया, उदीरिया, वेइया, णिज्जिण्णा ॥

गाहा–

"परिणत चिया उवचिया, उदीरिता वेइया य णिज्जिण्णा ।
एक्किक्कम्मि पदम्मी, चउव्विहा पोग्गला होंति" ॥१॥

(पुव्वाहारिय त्ति) ये पूर्वमाहृताः पूर्वकाले एकीकृताः, सङ्गृहीता इति यावत् । अभ्यवहृता वा; (पोग्गल त्ति) स्कन्धाः । (परिणय त्ति) ते परिणताः, पूर्वकाले शरीरेण सह सपृक्ताः, परिणतिं गता इत्यर्थः । इति प्रथमः प्रश्नः १ । इह च सर्वत्र प्रश्नत्वं काकुपाठादवगम्यते । तथा-(आहारिय त्ति) पूर्वकाले आहृताः सगृहीताः, अभ्यवहृता वा; (आहारिज्जमाण त्ति) ये च वर्त्तमानकाले आह्रियमाणाः सगृह्यमाणाः, अभ्यवह्रियमाणा वा पुद्गलाः (परिणय त्ति) ते परिणताः । इति द्वितीयः २ । तथा-(अणाहारिय त्ति) येऽतीतकालेऽनाहृताः । (आहारिज्जस्समाण त्ति) ये चानागते काले आहरिष्यमाणाः पुद्गलास्ते परिणताः । इति तृतीयः ३ । तथा-" अणाहारिआ अणाहारिज्जस्समाण " इत्यादि । अतीतानागताऽऽहरणक्रियानिषेधाच्चतुर्थः ४ । इह च यद्यपि चत्वार एव प्रश्ना उक्ताः, तथाऽप्येते त्रिषष्टिः सम्भवन्ति । यतः पूर्वाहृता आह्रियमाणा आहरिष्यमाणाः, अनाहृता अनाह्रियमाणा अनाहरिष्यमाणाश्चेति षट् पदानीह सूचितानि । तेषु च एकैकपदाऽऽश्रयणेन षट्, द्विकयोगे पञ्चदश, त्रिकयोगे विंशतिः, चतुष्कयोगे पञ्चदश, पञ्चकयोगे षट्, षड्योगे एक इति । अत्रोत्तरमाह-" गोयम " इत्यादि व्यक्तम् । नवरं ये पूर्वमाहृतास्ते पूर्वकाल एव परिणताः, ग्रहणानन्तरमेव परिणामभावात् १ । ये पुनराहृता आह्रियमाणाश्च ते परिणताः, आहृतानां परिणामभावादेव परिणमन्ति च, आह्रियमाणानां परिणामभावस्य वर्तमानत्वादिति २ । वृत्तिकृता तु द्वितीयप्रश्नोत्तरविकल्प एवंविधो दृष्टः, यदुत-आहृता आहरिष्यमाणाः पुद्गलाः परिणताः परिणस्यन्ते च, यतोऽयं तेनैव व्याख्यातः-यदुत ये पुनराहृता आहरिष्यन्ते, पुनस्तेषां केचित्परिणताः, अपरिणताश्च ते सम्पृक्ताः शरीरेण सह । ये तु न तावत् संपृच्यन्ते, कालान्तरे तु सपृक्ष्यन्ते, ते परिणंस्यन्त इति । ये पुनरनाहृता आहरिष्यन्ते, पुनस्ते नो परिणताः, अनाहृतानां सपर्काभावेन परिणामाभावात् । यस्मादाहरिष्यन्ते, ततः परिणंस्यन्ते, आहृतस्यावश्यं परिणामभावादिति ३ । चतुर्थेस्त्वतीतभविष्यदाहरणक्रियाया अभावेन परिणामाभावादवसेय इति । एतदनुसारेणैव प्राग्दर्शितविकल्पानामुत्तरसूत्राणि वाच्यानीति । अथ शरीरसंपर्कलक्षणपरिणामात् पुद्गलाना चयाऽऽदयो भवन्तीति तद्दर्शनार्थं प्रश्नयन्नाह-"नेरइयाणं" इत्यादि । चयाऽऽदिसूत्राणि परिणामसूत्रसमानीतिकृत्वा अतिदेशतोऽधीतानीति । तथाहि-"जहा परिणया तहा चिया वि" इत्यादि । इह च पुस्तकेषु वाचनाभेदो दृश्यते, तत्र न समोहः कार्यः, सर्वत्राभिधेयस्य तुल्यत्वात् । केवलं परिणतसूत्रानुसारेण प्रश्नसूत्राणि व्याकरणानि च मतिमताऽध्येयानीति । तत्र चिताः शरीरे चयं गताः । उपचिता पुनर्बहुश प्रदेशसामीप्येन शरीरे चिता एवेति । उदीरितास्तु स्वभावतोऽनुदितान् पुद्गलान् उदयप्राप्ते कर्मदलिके करणविशेषेण प्रक्षिप्य यान् वेदयते । उदीरणालक्षणं चेदम्- 'जं करणेणाकड्ढिय, उदए दिज्जइ उदीरणा एसा ।" तथा वेदिताः स्वेन रसविपाकेन प्रतिसमयमनुभूयमाना अपरिसमाप्ताः शेषानुभावा इति । तथा निर्जीर्णाः कार्त्स्न्येनानुसमयमशेषतद्विपाकदाननिवृत्ता इति । " गाह त्ति " परिणताऽऽदिसूत्राणां सङ्ग्रहणाय गाथा भवति । सा चेयम्-" परिणय " इत्यादि । व्याख्यातार्था । नवरम् एकैकस्मिन् पदे परिणतचितोपचिताऽऽदौ चतुर्विधाः -आहृताः १, आहृता आह्रियमाणाश्च २, अनाहृता आहरिष्यमाणाश्च ३, अनाहृता अनाहरिष्यमाणाश्च ४ । इत्येवं चतूरूपाः पुद्गला भवन्ति, प्रश्ननिर्वचनविषयाः स्युरिति ।

पुद्गला भिद्यन्ते-

णेरइयाणं भंते ! कतिविहा पोग्गला भिज्जंति ? । गोयमा ! कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला भिज्जंति । तं जहा-अणू चेव, बायरा चेव १ । णेरइयाणं भंते ! कतिविहा पोग्गला चिज्जंति ? । गोयमा ! आहारदव्ववग्गणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला चिज्जंति । तं जहा-अणू चेव, बायरा चेव २ । एवं उवचिज्जंति ३ । णेरइयाणं भंते ! कतिविहा पोग्गला उदीरंति ? । गोयमा ! कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च दुविहा पोग्गला उदीरंति । तं जहा-अणू चेव, बायरा चेव ४ । सेसा वि एवं चेव भाणियव्वा । वेदंति ५, णिज्जरंति ६, उयट्टिंसु ७, उयट्टंति ८, उयट्टिस्संति ९, संकमिंसु १०, संकामंति ११, संकामिस्संति १२, निहत्तिंसु १३, निहत्तंति १४, निहत्तिस्संति १५, निकाइंसु १६, निकायंति १७, निकाइस्संति १८ ।

सव्वेसु वि कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च गाहा–

"भेदिय चिता उवचिता, उदीरिता वेदिया य णिज्जिण्णा ।
उव्वट्टणसंकामण-णिहत्तणिकायणे तिविहकाले" ॥१॥

"नेरइयाणं भंते ! कइविहा पोग्गला भिज्जंति' इत्यादि व्यक्तम्, नवरम् (भिज्जंति त्ति) तीव्रमन्दमध्यमतयाऽनुभागभेदेन भेदवन्तो भवन्ति, उद्वर्त्तनकरणापवर्त्तनकरणाभ्यां मन्दरसास्तीव्ररसाः, तीव्ररसास्तु मन्दरसा भवन्तीत्यर्थः । उत्तरम्-(कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च त्ति) समानजातीयद्रव्याणां राशिर्द्रव्यवर्गणा, सा चौदारिकाऽऽदिद्रव्याणामप्यस्तीत्यत आह-कर्मरूपा द्रव्यवर्गणा, कर्मद्रव्याणां वा वर्गणा कर्मद्रव्यवर्गणा, तामधिकृत्य तामाश्रित्य, कर्मद्रव्यवर्गणासत्का इत्यर्थः । कर्मद्रव्याणामेव च मन्देतरानुभावचिन्ताऽस्ति, न द्रव्यान्तराणामितिकृत्वा कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्येत्युक्तम् । (अणू चेव बायरा चेव त्ति) चैवशब्दः समुच्चयार्थः । ततश्च अणवश्च बादराश्च, सूक्ष्माश्च स्थूलाश्चेत्यर्थः । सूक्ष्मत्वं स्थूलत्वं चैषां कर्मद्रव्यापेक्षयैवावगन्तव्यं, नान्यापेक्षया, यत औदारिकाऽऽदिद्रव्याणां मध्ये कर्मद्रव्याण्येव सूक्ष्माणीति । एवं चयोपचयोदीरणावेदनानिर्जरा शब्दार्थभेदेन वाच्या, किं तु चयसूत्रे उपचयसूत्रे च "आहारदव्ववग्गणमहिकिच्च' इति यदुक्तं, तत्रायमभिप्रायः-शरीरमाश्रित्य चयोपचयौ प्राग्व्याख्यातौ, तौ चाऽऽहारद्रव्येभ्य एव भवतो नान्यतोऽत आहारद्रव्यवर्गणामधिकृत्येत्युक्तमिति । उदीरणाऽऽदयस्तु कर्मद्रव्याणामेव भवन्त्यतस्तत्सूत्रेषूक्तं कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्येति । (उयट्टिंसु त्ति) अपवर्त्तितवन्तः, इहापवर्तनं कर्मणः स्थित्यादेरध्यवसायविशेषेण हीनताकरणम्, अपवर्त्त-

नस्य चोपलक्षणत्वादुद्वर्त्तनमपीह दृश्यम, तच्च स्थित्यादेर्वृद्धिक-रणस्वरूपम् । (सकामिंसु त्ति) संक्रमितवन्त , तत्र संक्रमण मूलप्रकृत्यभिन्नानामुत्तरप्रकृतीनामध्यवसायविशेषेण परस्पर संचारणम् ।

तथा चाह—

" मूलप्रकृत्यभिन्नाः, संक्रमयति गुण उत्तरा प्रकृती ।
न त्वात्माऽऽमूर्त्तत्वा-दध्यवसायप्रयोगेण ॥ १ ॥ "

अपरस्त्वाह-

"मोत्तूण आउय खलु, दंसणमोह चरित्तमोहं च ।
सेसाण पगईण, उत्तरविहिसंकमो भणिओ ॥ १ ॥ "

एतदेव निर्दिश्यते-यथा कस्यचित्सद्वेद्यमनुभवतोऽशुभकर्म-परिणतिरेवंविधा जाता, येन तदेव सद्वेद्यमसद्वेद्यतया संक्रा-मतीति । एवमन्यत्रापि योज्यम् । (निहत्तिंसु त्ति) निधत्तान् कृत-वन्त ,इह च विश्लिष्टाना परस्परत पुद्गलाना निचय कृत्वा धा-रण रूढिशब्दत्वेन निधत्तमुच्यते । उद्वर्त्तनापवर्त्तनव्यतिरिक्त-करणानामविषयत्वेन कर्मणोऽवस्थानमिति । (निकाइंसु त्ति) निकाचितवन्तो, नितरा बद्धवन्त इत्यर्थ । निकाचन च तेषाम-व पुद्गलानां परस्परविश्लिष्टानामेकीकरणमन्योन्यावगाहिना अग्निप्रतप्तप्रतिहन्यमानसूचीकलापस्येव सकलकरणानामवि-षयतया कर्मणो व्यवस्थापनमिति यावत् । " भिज्जति " इ-त्यादिपदाना संग्रहणी यथा-" भेदिय " इत्यादिगाथा ग-तार्था । नवरम् अपवर्त्तनसंक्रमनिधत्तनिकाचनपदेषु त्रिविध कालो निर्देष्टव्य , अतीतवर्त्तमानानागतकालनिर्देशन तानि वाच्यानीत्यर्थ । इह चापवर्त्तनाऽऽदीनामिव भेदाऽऽदीनामपि त्रिकालता युक्ता, न्यायस्य समानत्वात् । केवलमविवक्षणान्न तन्निर्देशः सूत्रे कृत इति ।

णेरइयाण भंते ! जे पोग्गला तेयाकम्मत्ताए गिण्हंति, ते किं तीतकालसमए गिण्हंति, पडुप्पण्णकालसमए गि-ण्हंति, अणागयकालसमए गिण्हंति ? । गोयमा ! णोऽती-तकालसमए गिण्हंति, पडुप्पण्णकालसमए गिण्हंति, णो अणागयकालसमए गिण्हंति १ । णेरइयाणं भंते ! जे पोग्गला तेयाकम्मत्ताए गहिए उदीरेंति, ते किं तीतका-लसमयगहिए पोग्गले उदीरेंति , पडुप्पण्णकालसमयघिप्प-माणे पोग्गले उदीरेंति, गहणसमयपुरक्खडे पोग्गले उदी-रेंति ? । गोयमा ! तीतकालसमयगहिए पोग्गले उदीरेंति, णो पडुप्पण्णकालसमयघिप्पमाणे पोग्गले उदीरेंति, णो गहणसमयपुरक्खडे पोग्गले उदीरेंति २ । एवं वेदेंति ३, णिज्जरेंति ४ ।

" नेरइयाण " इत्यादि व्यक्तम् । नवर (तेयाकम्मत्ताए त्ति) तैजसकार्म्मणशरीरतया, तद्रूपतयेत्यर्थ । (अतीतकालसमए त्ति) कालरूप समया, न तु समाचाररूप । कालोऽपि समय-रूपा,न तु वर्णाऽऽदिस्वरूप इति परस्परेण विशेषणात्कालसम-य , अतीत कालसमय -अतीतकालस्य चोत्सर्पिण्यादे समय परमनिकृष्टोऽशोऽतीतकालसमय , तत्र । (पडुप्पण्ण त्ति) प्रत्युत्पन्नो वर्त्तमानो, नोऽतीतकालेत्यादौ अतीतानागतकालवि-षयग्रहणप्रतिषेध ,विषयातीतत्वात् । विषयातीतत्व च तयोर्वि-नष्टानुत्पन्नत्वेनासत्त्वादिति, प्रत्युत्पन्नत्वेऽप्यभिमुखान् गृह्णाति, नान्यान् । (गहणसमयपुरक्खडे त्ति) ग्रहणसमय पुरस्कृतो वर्तमानसमयस्य पुरोवर्त्ती येषां ते ग्रहणसमयपुरस्कृता । प्राकृ-तत्वादेव निर्देश । अन्यथा पुरस्कृतग्रहणसमया इति स्यात्, ग्रहीष्यमाणा इत्यर्थ । उदीरणा च पूर्वकालगृहीतानामेव भवति, ग्रहणपूर्वकत्वादुदीरणाया । अत उक्तम्-अतीतकालसमयगृ-हीतानुदीरयन्तीति गृह्यमाणाना ग्रहीष्यमाणाना चागृहीत-त्वादुदीरणाभाव । तत उक्तम्-" नो पडुप्पण्ण " इत्यादि । वेद-नानिर्जरासूत्रयोरप्येवमेवोपपत्तिरिति ।

णेरइयाणं भंते ! जीवाओ किं चलियं कम्मं बंधंति, अचलियं कम्मं बंधंति ? । गोयमा ! णो चलियं कम्मं बंधंति, अचलियं कम्मं बंधंति १ । णेरइयाणं भंते ! जीवाओ किं चलियं कम्मं उदीरेंति, अचलियं कम्मं उदी-रेंति ? । गोयमा ! णो चलियं कम्मं उदीरेंति, अचलियं कम्मं उदीरेंति २ । एवं वेदेंति ३ । उयट्टंति ४ । संकामंति ५ । निहत्तंति ६ । णिकायंति ७ । सव्वेसु अच-लिय णो चलिय । णेरइयाणं भंते ! जीवाओ किं चलियं कम्मं णिज्जरेंति, अचलियं कम्मं णिज्जरेंति ? । गोयमा ! चलियं कम्मं णिज्जरेंति,णो अचलियं कम्मं णिज्जरेंति ।८।

गाहा-

बंधोदयवेदोय-ट्टसंकमणणिहत्तणिकाएसुं ।
अचलियं कम्मं तु भवे,चलियं जीवाउ णिज्जरए ॥१॥

" नेरइयाण " इत्यादि व्यक्ता च । नवरम (जीवाओ किं चलि-य ति) जीवप्रदेशेभ्यश्चलित, तेष्वनवस्थानशील, तदितरत्त्व-चलित, तदेव बध्नाति । यदाह-" कृत्स्नैर्देशै स्वकदे-शस्थ रागाऽऽद्विपरिणतो योग्यम् । बध्नाति योगहेतो ,कर्मस्नेहाक्त इव च मलम् ॥ १ ॥ एवमुदीरणावेदनापवर्त्तनासंक्रमणनिधत्त-निकाचनानि भाव्यानि । निर्जरा तु पुद्गलाना निरनुभावीकृताना-मात्मप्रदेशेभ्य शातनम, सा च नियमाच्चलितस्य कर्मणो, नाचलितस्येति । इह संग्रहणी गाथा-" बंधोदय " इत्यादि भावितार्था, केवलमुदयशब्देनोदीरणा गृहीतेति । उक्ता नारक-वक्तव्यता । भ० १ श० १ उ० ।

अथ असुरकुमारवक्तव्यतामाह-

असुरकुमाराणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया ?, असुरकुमाराभिलावेण जहा णेरइयाणं० जाव चलियं क-म्मं णिज्जरेंति । भ० १ श० १ उ० ॥

एव यावत्स्तनितकुमाराणा, पृथिवीकायिकाना यावद् वनस्प-तिकायिकाना यथा नैरयिकाणा यावदचलित कर्म निर्जरयन्ति । (द्वीन्द्रियाणा स्थित्याहारौ ' ठिई ' शब्दे, तथा ' आहार ' शब्दे द्वितीयभागे ५०५ पृष्ठे द्रष्टव्यौ)

एएसि णं भंते ! पोग्गलाणं आणासाइज्जमाणाण अ-णासाइज्जमाणाण य कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पोग्गला आणासाइज्जमाणा, अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा । बेइं-दियाणं भंते ! पोग्गला आहारत्ताए गिण्हंति, तेणं ते-सिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ? । गोय-

मा ! जिब्भिंदियफासिंदियवेमायाए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । बेइंदियाणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया ? । तहेव० जाव चलियं कम्मं णिज्जरेंति ॥

(अणासाइज्जमाणाण त्ति) रसनेन्द्रियतः । (अफासाइज्जमाणाण त्ति) स्पर्शनेन्द्रियतः । 'कयरे' इत्यादि यत्पदं तदेव इदम्-(कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा, बहुया वा, तुल्ला वा, विसेसाहिया वा त्ति) व्यक्तं च । "सव्वत्थोवा पोग्गला अणासाइज्जमाणा" इत्यादि । ये अनास्वाद्यमानाः केवलं रसनेन्द्रियविषयास्ते स्तोकाः, अस्पृश्यमानानामनन्तभागवर्तिन इत्यर्थः । ये त्वस्पृश्यमानाः केवलं स्पर्शनविषयास्तेऽनन्तगुणाः रसनेन्द्रियविषयेभ्यः सकाशादिति ।

तेइंदियचउरिंदियाणं णाणत्तं ठिईए० जाव अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अणाघाइज्जमाणाइं, अणासाइज्जमाणाइं, अफासाइज्जमाणाइं विद्धंसमावज्जंति । एएसि णं भंते ! पोग्गलाणं अणाघाइज्जमाणाणं, अणासाइज्जमाणाणं, अफासाइज्जमाणाण य पुच्छा । गोयमा ! सव्वत्थोवा पोग्गला अणाघाइज्जमाणा, अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा । तेइंदियाणं घाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । चउरिंदियाणं चक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

(तेइंदियचउरिंदियाणं नाणत्तं ठिईए त्ति) तच्चेदम्-"जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेइंदियाणं एगूणपन्नासं राइंदियाइं, चउरिंदियाणं छम्मासा ।" तथा आहारेऽपि नानात्वम् । तत्र च "तेइंदियाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति" इत्यत आरभ्य तावत् सूत्रं वाच्यं यावत् "अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अणाघाइज्जमाणाइं" इत्यादि । इह च द्वीन्द्रियसूत्रापेक्षयाऽनाघ्रायमाणानीति, अतिरिक्तमतो नानात्वम् । एवमल्पबहुत्वसूत्रे परिणामसूत्रे च । चतुरिन्द्रियसूत्रेषु तु परिणामसूत्रे "चक्खिंदियत्ताए घाणिंदियत्ताए" इत्यधिकमिति नानात्वमिति ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं ठिई भणिऊण ऊसासो वेमायाए आहारो अणाभोगणिव्वत्तिए अणुसमइअं अविरहिओ आभोगनिव्वत्तिओ जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स, सेसं जहा चउरिंदियाणं० जाव चलियं कम्मं णिज्जरेंति । एवं मणूसाण वि । णवरं आभोगणिव्वत्तिए जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठमभत्तस्स, सोइंदिय० ५ वेमायाए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । सेसं तहेव० जाव चलियं कम्मं णिज्जरेंति ॥

पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सूत्रे—(ठिई भणिऊण त्ति) "जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं" इत्येतद्रूपां स्थितिं भणित्वा (ऊसासो त्ति) उच्छ्वासो विमात्रया वाच्य इति । तथा तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामाहारार्थं प्रति यदुक्तम्-"उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स त्ति," तद्देवकुरूत्तरकुरुतिर्यक्षु लभ्यते । मनुष्यसूत्रे यदुक्तमष्टमभक्तस्येति, तद्देवकुर्वादिमिथुनकनरानाश्रित्य समवसेयमिति ॥

वाणमंतराणं ठिईए णाणत्तं, अवसेसं जहा णागकुमाराणं, एवं जोइसियाण वि, णवरं उस्सासो जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स, उक्कोसेण वि मुहुत्तपुहुत्तस्स, आहारो जहन्नेणं दिवसपुहुत्तस्स, उक्कोसेणं वि दिवसपुहुत्तस्स, सेसं तं चेव ॥

"वाणमंतराणं" इत्यादि । वाणमन्तराणां स्थितौ नानात्वं (अवसेसं ति) स्थितेरवशेषमायुष्कवर्जमित्यर्थः । प्रागुक्तमाहाराऽऽदि वस्तु, यथा नागकुमाराऽऽदीनां तथा इदम् । व्यन्तराणां, नागकुमाराणां च प्रायः समानधर्मत्वात् । तत्र व्यन्तराणां स्थितिर्जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण तु पल्योपममिति । "जोइसियाण वि" इत्यादि । ज्योतिष्काणामपि स्थितेरवशेषं तथैव, यथा नागकुमाराणाम् । तत्र ज्योतिष्काणां स्थितिर्जघन्येन पल्योपमाष्टभागः, उत्कर्षेण पल्योपमं वर्षलक्षाधिकमिति । नवरं (उस्सास त्ति) केवलमुच्छ्वासस्तेषां न नागकुमारसमानः, किं तु वक्ष्यमाणः । तथा चाह-"जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स" इत्यादि । पृथक्त्वं द्विप्रभृतिरानवभ्यः, तत्र यज्जघन्यं मुहूर्त्तपृथक्त्वं तद् द्वित्रा मुहूर्त्ताः, यच्चोत्कृष्टं तदष्टौ नव वेति । आहारोऽपि विशेषित एव । तथा चाह-"आहारो" इत्यादि । भ० १ श० १ उ० ।

पृथ्वीकायिकाऽऽवासेषु नैरयिकाऽऽदीनां स्थितिस्थानाऽऽदिप्रतिपादनाय सङ्ग्रहगाथामाह-

पुढवी ठिइओगाहण-सरीरसंघयणमेव संठाणे ।
लेस्सादिट्ठीणाणे, जोगुवओगे य दस ठाणा ॥ ४ ॥

"पुढवी" इत्यादि । तत्र पुढवीति लुप्तविभक्तिकत्वान्निर्देशस्य पृथिवीषु, उपलक्षणत्वाच्चास्य पृथिव्यादिषु जीवाऽऽवासेष्विति दृष्टव्यमिति । (ठिइ त्ति) "सूचनात्सूत्रम्" इतिन्यायात् स्थितिस्थानानि वाच्यानीति शेषः (एवं ओगाहण त्ति) अवगाहनास्थानानि । शरीराऽऽदिपदानि तु व्यक्तान्येव, एकारान्तं च पदं प्रथमैकवचनान्तं द्रष्टव्यम् । इत्येवमेतानि स्थितिस्थानाऽऽदीनि दश वस्तूनि इहोद्देशके विचारयितव्यानीति गाथासमासार्थः । विस्तरार्थं तु सूत्रकारः स्वयमेव वक्ष्यतीति ।

तत्र रत्नप्रभापृथिव्याः स्थितिस्थानानि तावत्प्ररूपयन्नाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं केवइया ठिइट्ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! असंखेज्जा ठिइट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा-जहन्निया ठिई समयाहिया, जहन्निया ठिई दुसमयाहिया, ० जाव असंखिज्जसमयाहिया, जहन्निया ठिई तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिई ॥

"इमीसे णं" इत्यादि व्यक्तम् । नवरम्-(एगमेगंसि निरयावासंसि त्ति) प्रतिनरकाऽऽवासमित्यर्थः । (ठिइट्ठाण त्ति) आयुषो विभागाः (असंखेज्ज त्ति) सङ्ख्याऽतीतानि, कथम् ?, प्रथमपृथिव्यपेक्षया जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि, उत्कृष्टा तु सागरोपमम्, एतस्याश्चैकैकसमयवृद्ध्याऽसङ्ख्येयानि स्थितिस्थानानि भवन्ति । असङ्ख्येयत्वात् सागरोपमसमयानामित्येवं न-

रका।ऽऽवासापेक्षयाऽप्यसङ्ख्येयान्येव तानि,केवलं तेषु जघन्यो-त्कृष्टविभागो ग्रन्थान्तरादवसेयः । यथा-प्रथमप्रस्तटनरकेषु ज-घन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि, उत्कृष्टा तु नवतिरिति । एतदेव दर्शयन्नाह-" जहन्निया ठिई " इत्यादि । जघन्या स्थितिर्दशवर्ष-सहस्राधिका, इत्येकं स्थितिस्थानम, तच्च प्रतिनरकं भिन्नरूप-म,सैव समयाधिकेति द्वितीयम, इदमपि विचित्रम,एवं यावत् सङ्ख्येयसमयाधिका सा । सर्वान्तिमस्थितिस्थानदर्शनायाऽऽह-(तप्पाउग्गुक्कोसिय त्ति) उत्कृष्टाऽसावनेकविधेति विशेष्यते, तस्य विवक्षितनरकाऽऽवासस्य प्रायोग्योचिता उत्कर्षिका तत्-प्रायोग्योत्कर्षिका इत्यपरं स्थितिस्थानम,इदमपि विचित्रं,वि-चित्रत्वादुत्कर्षस्थितेरिति ।

एवं स्थितिस्थानानि प्ररूप्य तेष्वेव क्रोधाऽऽद्युपयुक्तत्वं नारका-णां विभागेन दर्शयन्निदमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरया-वाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि जहन्नियाए ठिईए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मा-योवउत्ता लोभोवउत्ता ?। गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज कोहोवउत्ता १, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ते य २, अहवा-कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य ३, अहवा-कोहो-वउत्ता य मायोवउत्ते य ४, अहवा-कोहोवउत्ता य मा-योवउत्ता य ५, अहवा-कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ते य ६, अहवा-कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ता य ७ । अहवा-कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य, मायोवउत्ते य १, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य मायोवउत्ता २, कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ते य ३, कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता ४। एवं कोहेणं माणेणं लोभेणं च चउ भंगा १२ । अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ते लो-भोवउत्ते १, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ते लोभोवउत्ता २, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोव-उत्ता लोभोवउत्ते ३, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ते मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ४, अहवा-कोहोवउत्ता मा-णोवउत्ता मायोवउत्ते लोभोवउत्ते ५, अहवा-कोहोव-उत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ते लोभोवउत्ता ६, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ते ७, अहवा-कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोव-उत्ता ८ । एवं सत्तावीसं भंगा नेयव्वा ॥

" इमीसे णं " इत्यादि । (जहन्नियाए ठिईए वट्टमाण त्ति) या यत्र नरकाऽऽवासे जघन्या,तस्यां वर्तमाना "किं कोहोवउ-त्ते' इत्यादिप्रश्ने "सव्वे वि" इत्याद्युत्तरम । तत्र च प्रतिनरकं ज-घन्यस्थितिकानां सदैव भावात्तेषु च क्रोधोपयुक्तानां बहुत्वात्स-प्तविंशतिर्भङ्गका । एकाऽऽदिसङ्ख्यातसमयाधिकजघन्यस्थितिका-नां तु कादाचित्कत्वात्तेषु च क्रोधाऽऽद्युपयुक्तानामेकत्वानेकत्वस-म्भवादशीतिर्भङ्गका । एकेन्द्रियेषु तु सर्वकषायोपयुक्तानां प्रत्येकं बहूनां भावादभङ्गकम । आह च-"समवइ जाहिं विरहो,असीति-भंगा तहिं करेज्जाहि । जहियं न होइ विरहो, भंगय सत्तावी-सा या ॥१॥ " एवं च तस्मत्ताऽपेक्षो विरहो द्रष्टव्यो, न तूत्पा-दापेक्षः, यतो रत्नप्रभायां चतुर्विंशतिर्मुहूर्ता उत्पादविरहकाल उक्तः,ततश्च यत्र सप्तविंशतिर्भङ्गका उच्यन्ते,तत्रापि विरहभावा-दशीतिः प्राप्नोति, सप्तविंशतेश्चाभाव एवेति । तत्र (सव्वे वि ताव होज्ज कोहोवउत्त त्ति) प्रतिनरकं स्वकीयस्वकीयस्थित्य-पेक्षया जघन्यस्थितिकानां नारकाणां सदैव बहूनां सद्भावान्ना-रकभवस्य च क्रोधोदयप्रचुरत्वात् सर्व एव क्रोधोपयुक्ता भवेयुरित्येको भङ्गः । "अहवा" इत्यादिना द्विकत्रिकचतुःसंयोगभङ्गा दर्शिताः, तत्र द्विकसंयोगे बहुवचनान्तं क्रोधममुञ्चता षड् भङ्गाः कार्याः । तथाहि-क्रोधोपयुक्ताश्च,मानोपयुक्तश्च १, तथा क्रोधोप-युक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च २ । एवं माययैकत्वबहुत्वाभ्यां द्वौ, लोभेन च द्वौ । एवमेते द्विकयोगे षट्,त्रिकयोगे तु द्वादश भवन्ति। तथाहि-क्रोधे नित्यं बहुवचनम, मानमाययोरेकवचनमित्येकः, मानैकत्वे मायाबहुत्वे च द्वितीयः । माने च बहुवचनं, मायाया-मेकत्वमिति तृतीयः । मानबहुत्वे मायाबहुत्वे च चतुर्थः, पुनः क्रोधमानलोभैरित्यमेव चत्वारः, पुनः क्रोधमायालोभैरित्य-मेव चत्वारः ,एवमेते द्वादश । चतुष्कसंयोगे त्वष्टौ । तथाहि-क्रो-धे बहुवचनेन मानमायालोभेषु चैकवचनेनैकः । इत्यमेव लो-भे बहुवचनेन द्वितीयः । एवमेतावेकवचनान्तमायया जातौ, एवं बहुवचनान्तमायया।ऽन्यौ द्वौ, एवमेते चत्वारः एकवच-नान्तमानेन जाताः । एवमेव बहुवचनान्तमानेन चत्वार इत्येव-मष्टौ । एवमेते जघन्यस्थितिषु नारकेषु सप्तविंशतिर्भवन्ति । जघन्यस्थितौ हि बहवो नारका भवन्त्यतः क्रोधे बहुवचनमेव।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरया-वाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि समयाहियाए जहन्नट्ठिईए वट्टमाणा नेरइया किं कोहो॰ त्ता माणोवउ-त्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ?। गोयमा ! कोहोवउत्ते य माणोवउत्ते य मायोवउत्ते य लोभोवउत्ते य,कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य मायोवउत्ता य लोभोवउत्ता य, अहवा-कोहोवउत्ते य माणोवउत्ते य,अहवा-कोहोवउत्ते य माणो-वउत्ता य, एवं असीइभंगा नेयव्वा । एवं० जाव संखेज्जस-मयाहिया ठिई, असंखेज्जसमयाहियट्ठिईए तप्पाउग्गुक्को-सियाए ठिईए सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा ।

" समयाहियाए जहन्नठिईए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोव-उत्ता " इत्यादि प्रश्नः । इहोत्तरम-"कोहोवउत्ते य" इत्याद-योऽशीतिर्भङ्गा । इह समयाधिकायां यावत् सङ्ख्येयसमयाधि-कायां जघन्यस्थितौ नारका न भवन्त्यपि भवन्ति चेदेको वाऽ-नेके वेति । ततः क्रोधाऽऽदिष्वेकत्वेन चत्वारो विकल्पा ,बहुत्वे-न चान्ये चत्वार एव ४,द्विकसंयोगे चतुर्विंशतिः । तथाहि-क्रो-धमानयोरेकत्वबहुत्वाभ्यां चत्वारः ४, एवं क्रोधमाययोः ४, एवं क्रोधलोभयोः ४, एवं मानमाययोः ४, एवं मानलोभयोः ४, एवं मायालोभयोरिति ४ । द्विकयोगे चतुर्विंशतिः , त्रिकयोगे द्वात्रिं-शत् । तथाहि-क्रोधमानमायानामेकत्वेनैकः ,एष्वेव मायाबहुत्वेन द्वितीयः , एवमेतौ मानैकत्वेन, द्वावेवान्यौ तद्बहुत्वेन, एवमेते च-त्वारः, क्रोधैकत्वेन चत्वार एव, अन्ये क्रोधबहुत्वेनेत्येवमष्टौ,

क्रोधमानमायात्रिके जाता । तथैवान्येऽष्टौ क्रोधमानलोभेषु, तथैवान्येऽष्टौ क्रोधमायालोभेषु,तथैवान्येऽष्टौ मानमायालोभेष्विति द्वात्रिंशत्, चतुष्कयोगे षोडश । तथाहि-क्रोधाऽऽदिष्वेकत्वेनैको, लोभस्य बहुत्वेन द्वितीय , एवमेतौ मायैकत्वेन, तथाऽन्यौ माया बहुत्वेन । एवमेते चत्वारो मानैकत्वेन, तथाऽन्ये चत्वार एव मानबहुत्वेन । एवमेतेऽष्टौ क्रोधैकत्वेन, एवमन्येऽष्टौ क्रोधबहुत्वेनेति षोडश । एवमेते सर्वे एवाशीतिरिति । एते च जघन्यादयः स्थितिकाऽऽदिसङ्ख्यातान्तसमयाधिका भवन्ति, असङ्ख्यातसमयाधिकायास्तु जघन्यस्थितेराराभ्योत्कृष्टस्थितिं यावत्सप्तविंशतिर्भङ्गास्त एव , तत्र नारकाणां बहुत्वादिति ।

अथावगाहनाद्वारे-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं केवइया ओगाहणट्ठाणा पएणत्ता ? । गोयमा ! असंखेज्जा ओगाहणट्ठाणा पएणत्ता । तं जहा-जहएिणया ओगाहणा अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, जहएिणया ओगाहणा एगपदेसाहिया, जहएिणया ओगाहणा दुपदेसाहिया, जहएिणया ओगाहणा० जाव असंखेज्जपदेसाहिया, जहएिणया ओगाहणा तप्पाउग्गुक्कोसिया ओगाहणा ॥

तत्र (ओगाहणट्ठाण त्ति) अवगाहन्ते आसते यस्यां साऽवगाहना तनु ,तदाधारभूतं वा क्षेत्रं, तस्याः स्थानानि। प्रदेशवृद्ध्या विभागा अवगाहनास्थानानि, तत्र (जहएिणय त्ति) जघन्याऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रा सर्वनरकेषु, (तप्पाउग्गुक्कोसिय त्ति) तस्य विवक्षितनरकस्य प्रायोग्या या उत्कर्षिका सा तत्प्रायोग्योत्कर्षिका । यथा-त्रयोदशप्रस्तटे धनूंषि सप्तक रत्नित्रयमङ्गुलषट्कं चेति ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि जहएिणयाए ओगाहणाए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता असीइं भंगा भाणियव्वा० जाव संखेज्जपदेसाहिया जहएिणया ओगाहणा, असंखेज्जपएसाहियाए जहएिणयाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं तप्पाउग्गुक्कोसियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं नेरइयाणं दोसु वि सत्तावीसं भंगा ।

" जहएिणयाए " इत्यादि । जघन्यायां तस्यामेव चैकाऽऽदिसङ्ख्यातान्तप्रदेशाधिकायामवगाहनायां वर्तमानानां नारकाणामल्पत्वात्क्रोधाऽऽद्युपयुक्त एकोऽपि लभ्यते, अतोऽशीतिर्भङ्गाः । "असंखेज्जपएस" इत्यादि । असङ्ख्यातप्रदेशाधिकायां तत्प्रायोग्योत्कृष्टायां च नारकाणां बहुत्वात्तेषु च बहूनां क्रोधोपयुक्तत्वेन क्रोधे बहुवचनस्य भावान्मानादिषु त्वेकत्वबहुत्वसम्भवात्सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्तीति । ननु ये जघन्यस्थितयो जघन्यावगाहनाश्च भवन्ति, तेषां जघन्यस्थितिकत्वेन सप्तविंशतिर्भङ्गकाः प्राप्नुवन्ति, जघन्यावगाहकत्वेन चाशीतिरिति विरोधः ? । अत्रोच्यते-जघन्यस्थितिकानामपि जघन्यावगाहनाकालेऽशीतिरेव, उत्पत्तिकालभावित्वेन जघन्यावगाहनानामल्पत्वादिति,

या च जघन्यस्थितिकानां सप्तविंशतिः सा जघन्यावगाहनत्वमतिक्रान्तानामिति भावनीयम् ।

शरीरद्वारे-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव० एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं कइ सरीरया पएणत्ता ? । गोयमा ! तिएिण सरीरया पएणत्ता । तं जहा-वेउव्विए, तेयए, कम्मए । इमीसे णं भंते ! ० जाव वेउव्वियसरीरे वट्टमाणा नेरइ० । किं कोहोवउत्ता, सत्तावीसं भंगा । एएणं गमेणं तिएिण सरीरया भाणियव्वा ॥

(सत्तावीसं भंग त्ति) अनेन यद्यपि वैक्रियशरीरे सप्तविंशतिर्भङ्गका उक्ताः, तथापि या स्थित्याश्रयाऽवगाहनाश्रया च भङ्गकप्ररूपणा, सा तथैव द्रष्टव्या, निरवकाशत्वात्तस्याः, शरीराश्रयायाश्च सावकाशत्वात् । एवमन्यत्रापि विमर्शनीयमिति । (एएणं गमेणं तिएिण सरीरया भाणियव्व त्ति) वैक्रियशरीरसूत्रपाठेन त्रीणि शारीरकाणि वैक्रियतैजसकार्मणानि भणितव्यानि, त्रिष्वपि भङ्गकसप्तविंशतिर्वाच्येत्यर्थः । ननु विग्रहगतौ केवले ये तैजसकार्मणशरीरे स्यातां तदाऽल्पत्वेनाशीतिरपि भङ्गकानां सम्भवतीति कथमुच्यते तयोः सप्तविंशतिरेवेति ? । अत्रोच्यते-सत्यमेतत्, केवलं वैक्रियशरीरानुगतयोस्तयोरिहाऽऽश्रयणं केवलयोश्चानाश्रयणमिति सप्तविंशतिरेवेति । यच्च द्वयोरेवातिदेश्यत्वे त्रीणीत्युक्तं, तत्त्रयाणामपि गमस्यात्यन्तसाम्योपदर्शनार्थमिति ॥

संहननद्वारे-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए० जाव नेरइयाणं सरीरया किं संघयणा पएणत्ता ? । गोयमा ! छएहं संघयणाणं असंघयणी, नेवट्ठी नेव छिरा नेव एहारूणि, जे पोग्गला अणिट्ठा अकंता अप्पिया असुहा अमणुएणा अमणामा, एएसिं सरीरसंघायत्ताए परिणमंति । इमीसे णं भंते ! ० जाव छएहं संघयणाणं असंघयणे वट्टमाणाणं नेरइया किं कोहोवउत्ता ? ० सत्तावीसं भंगा ।

(छएहं संघयणाणं असंघयणि त्ति) षण्णां संहननानां वज्रर्षभनाराचाऽऽदीनां मध्यादेकतरेणापि संहननेनासंहननानीति । कस्मादेवमित्यत आह-"नेवट्ठी" इत्यादि । नैवास्थ्यादीनि तेषां सन्ति, अस्थिसञ्चयरूपं च संहननमुच्यत इति । (अणिट्ठ त्ति) इष्यन्ते स्मेतीष्टाः ,तन्निषेधादनिष्टाः , अनिष्टमपि किञ्चित्कमनीयं भवतीत्यत उच्यते-अकान्ताः , अकान्तमपि किञ्चित्कारणवशात्प्रीतये भवतीत्यत आह -अप्रियाः ,अप्रीतिहेतवः , अप्रियत्वं तेषां कुतः ?, यतः (असुभ त्ति) अशुभस्वभावाः, ते च सामान्या अपि भवन्तीत्यतो विशेष्यन्ते-(अमणुण्ण त्ति) न मनसाऽन्तःसंवेदनेन शुभतया ज्ञायन्त इत्यमनोज्ञाः । अमनोज्ञता चैकदाऽपि स्यादत आह-(अमणाम त्ति) न मनसा अम्यन्ते गम्यन्ते पुनः पुनः स्मरणतो ये तेऽमनोमाः । एकार्थिकाश्चैते शब्दा अनिष्टताप्रकर्षप्रतिपादनार्था इति । (संघायत्ताए त्ति) सङ्घाततया, शरीररूपसञ्चयतयेत्यर्थः ।

संस्थानद्वारे-

इमीसे णं भंते ! ०जाव सरीरया किंसंठिया पएणत्ता ? ।

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-भवधारणिज्जा य, उत्तरवेउव्विया य । तत्थ ण जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया पण्णत्ता, तत्थ-जे ते उत्तरवेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पण्णत्ता । इमीसे णं० जाव हुंडसंठाणे वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता ?, सत्तावीसं भंगा ।

(किंसंठिय त्ति) किं संस्थितं संस्थानं येषां तानि किंसंस्थितानि ?। (भवधारणिज्ज त्ति) भवधारणं निजजन्मातिवाहनं प्रयोजनं येषां तानि भवधारणीयान्याजन्मधारणीयानीत्यर्थः । (उत्तरवेउव्विय त्ति) पूर्ववैक्रियापेक्षया उत्तराणि उत्तरकालभावीनि वैक्रियाणि उत्तरवैक्रियाणि । (हुंडसंठिय त्ति) सर्वत्राशुभसंस्थितानि ।

लेश्याद्वारे-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! एगा काउलेस्सा पण्णत्ता । इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए० जाव काउलेस्साए वट्टमाणा सत्तावीसं भंगा ।

दृष्टिद्वारे-

इमीसे णं भंते० ! जाव किं सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी ? । गोयमा ! तिण्णि वि; इमीसे णं० जाव सम्मदंसणे वट्टमाणा नेरइया सत्तावीसं भंगा । एवं मिच्छदंसणे वि; सम्मामिच्छदंसणे असीइभंगा ।

(सम्मामिच्छदंसणे असीइभंग त्ति) मिश्रदृष्टीनामल्पत्वात् तद्भावस्यापि च कालतोऽल्पत्वादेकोऽपि संभवत इत्यशीतिर्भङ्गाः ।

ज्ञानद्वारे-

इमीसे णं० जाव किं नाणी, अण्णाणी ?। गोयमा ! नाणी वि, अण्णाणी वि, तिण्णि नाणाइं नियमा, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । इमीसे णं भंते० ! जाव आभिणिबोहियणाणे वट्टमाणे ?। गोयमा ! सत्तावीसं भंगा, एवं तिण्णि णाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भाणियव्वाइं ।

(तिण्णि णाणाइं नियम त्ति) ये ससम्यक्त्वा नरकेषूत्पद्यन्ते तेषां प्रथमसमयादारभ्य भवप्रत्ययस्यावधिज्ञानस्य भावात्रिज्ञानिन एव ते, ये तु मिथ्यादृष्टयस्ते संज्ञिभ्योऽसंज्ञिभ्यश्चोत्पद्यन्ते, तत्र ये संज्ञिभ्यस्ते भवप्रत्ययादेव विभङ्गस्य भावादज्ञानिनः, ये त्वसंज्ञिभ्यस्तेषामाद्यन्तर्मुहूर्त्तात्परतो विभङ्गस्योत्पत्तिरिति तेषां पूर्वमज्ञानद्वयं, पश्चाद्विभङ्गोत्पत्तावज्ञानत्रयमित्यत उच्यते-(तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए त्ति) भजनया विकल्पनया कदाचिद् द्वे, कदाचित्त्रीणीत्यर्थः ।

अत्रार्थे गाथे स्याताम्-

" सण्णी णेरइएसु, उरलपरिच्चायणंतरे समए ।
विब्भंग ओहिं वा, अविग्गहे विग्गहे लहइ ॥ १ ॥
असण्णी नरएसु, पज्जत्तो जेण लहइ विब्भंगं ।
नाणा तिण्णेव तओ, अण्णाणा दोण्णि तिण्णेव ॥ २ ॥"

एवम् " तिण्णि णाणाइं " इत्यादि । आभिनिबोधिकज्ञानवद् सप्तविंशतिभङ्गकोपेतानि आद्यानि त्रीणि ज्ञानानि, अज्ञानानि चेति । इह च त्रीणि ज्ञानानीति यदुक्तं, तदाभिनिबोधिकस्य पुनर्गणनेन । अन्यथा द्वे एव ते वाच्ये स्यातामिति । "तिण्णि अण्णाणाइं" इत्यत्र यदि मत्यज्ञानश्रुताज्ञाने विभङ्गात् पूर्वकालभाविनी विवक्ष्येते, तदा अशीतिर्भङ्गा लभ्यन्ते, अल्पत्वात्तेषाम्, किं तु जघन्यावगा० ...न्ते, ततो जघन्यावगाहनाश्रयेणैवाशीतिभङ्गकास्तेषामवसेया इति ।

योगद्वारे-

इमीसे णं० जाव किं मणजोगी, वयजोगी, कायजोगी ?। गोयमा ! तिण्णि वि । इमीसे णं० जाव मणजोए वट्टमाणा सत्तावीसं भंगा; एवं कायजोए ।

(एवं कायजोए त्ति) इह यद्यपि केवलकार्मणकाययोगे अशीतिर्भङ्गाः संभवन्ति, तथापि तस्याविवक्षणात् सामान्यकाययोगाऽऽश्रयणाच्च सप्तविंशतिरुक्तेति ।

उपयोगद्वारे-

इमीसे णं० जाव नेरइया किं सागारोवउत्ता, अणागारोवउत्ता ?। गोयमा ! सागारोवउत्ता वि, अणागारोवउत्ता वि । इमीसे णं० जाव सागारोवउत्ते वट्टमाणा सत्तावीसं भंगा, एवं अणागारोवउत्ते वि सत्तावीसं भंगा, एवं सत्त वि पुढवीओ नेयव्वाओ, णाणत्तं लेसासु ।

(सागारोवउत्त त्ति) आकारो विशेषांशग्रहणशक्तिः, तेन सह इति साकारः, तद्विकलोऽनाकारः । सामान्यग्राहीत्यर्थः । (णाणत्तं लेसासु त्ति) रत्नप्रभापृथिवीप्रकरणवच्छेषपृथिवीप्रकरणान्यध्येयानि । केवलं लेश्यासु विशेषः, तासां भिन्नत्वात् । अत एव तद्दर्शनाय गाथा-

गाहा-

काऊय दोसु तइया-ए मीसिया नीलिया चउत्थीए ।
पंचमियाए मीसा, कण्हा तत्तो परमकण्हा ॥ १ ॥

(काऊय इत्यादि) नवरं (तइयाए मीसिय त्ति) वालुकप्रभाप्रकरणे उपरितननरकेषु कापोती, अधस्तनेषु नीली भवतीति ते यथासंभवं प्रश्नसूत्रे उत्तरसूत्रे चाध्येतव्ये इत्यर्थः । यच्च सूत्राभिलापेषु नरकाऽऽवाससहस्रस्थानानात्वं, तत् "तीसा य पन्नवीसा" इत्यादिना पूर्वप्रदर्शितेन समवसेयमिति । एवं च सूत्राभिलापः कार्यः -"सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए पणवीसाए नरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि नरयावासंसि कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! एगा काउलेस्सा पण्णत्ता । सक्करप्पभाए णं भंते !० जाव काउलेसाए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता ?, इत्यादि० जाव सत्तावीसं भंगा" । एवं सर्वपृथिवीषु गाथाऽनुसारेण वाच्यम् ।

चउसट्ठीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमाराणं केवइया ठिइट्ठाणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! असंखेज्जा ठिइट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा-जहण्णिया ठिई जहा नेरइया तहा, नवरं पडिलोमा भंगा भाणियव्वा, सव्वे वि ताव होज्जा लोभोवउत्ता य माणोवउत्ते य, एएणं गमेणं नेयव्वं० जाव थणियकुमारा, नवरं नाणत्तं जाणियव्वं ।

असुरकुमारप्रकरणे (पडिलोमा भंगा त्ति) नारकप्रकरणे हि क्रोधमानाऽऽदिना क्रमेण भङ्गकनिर्देशः कृतोऽसुरकुमाराऽऽदिप्रकरणेषु लोभमायाऽऽदिनाऽसौ कार्य इत्यर्थः । अत एवाह-(सव्वे वि ताव होज्जा लोहोवउत्त त्ति) देवा हि प्रायो लोभवन्तो भवन्ति, तेन सर्वेऽप्यसुरकुमारा लोभोपयुक्ताः स्युः । द्विकसंयोगे तु लोभोपयुक्तत्वे बहुवचनमेव, मायोपयोगे त्वेकत्वबहुत्वाभ्यां द्वौ भङ्गकौ, एवं सप्तविंशतिर्भङ्गकाः कार्याः । (णवरं णाणत्तं जाणियव्वं ति) नारकाणामसुरकुमाराऽऽदीनां च परस्परं नानात्वं ज्ञात्वा प्रश्नसूत्राण्युत्तरसूत्राणि चाध्येयानीति हृदयम् । तच्च नारकाणामसुराऽऽदीनां च संहननसंस्थानलेश्यासूत्रेषु भवति । तच्चैवम्-" चउसट्ठीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमाराणं सरीरगा किं संघयणी ? । गोयमा ! असंघयणी, जे पोग्गला इट्ठा कंता, ते तेसिं संघायत्ताए परिणमंति, एवं संठाणे वि, णवरं भवधारणिज्जा समचउरंससंठिया, उत्तरवेउव्विया अ- णित्थंसंठिया, एवं लेसासु वि, णवरं कइ लेसाओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! चत्तारि । तं जहा-कण्हा नीला काऊ तेऊलेसा । चउसट्ठीए णं० जाव कण्हलेसाए वट्टमाणा किं कोहोवउत्ता ?० ४ । गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज लोहोवउत्ता " इत्यादि । एवं " नीलकाऊतेऊ वि " । नागकुमाराऽऽदिप्रकरणेषु तु-" चुलसीए नागकुमारावाससयसहस्सेसु " इत्येवं " चउसट्ठी असुराणं, नागकुमाराणं होइ चुलसीई । " इत्यादेर्वचनात्प्रश्नसूत्रेषु भवनसङ्ख्यानानात्वमवगम्य सूत्राभिलापः कार्य इति ।

असंखेज्जेसु णं भंते ! पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइयावासंसि पुढविकाइयाणं केवइया ठिइट्ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! असंखेज्जा ठिइट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा-जहण्णिया ठिई० जाव तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिई । असंखेज्जेसु णं भंते ! पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइयावासंसि जहण्णट्ठिईए वट्टमाणा पुढविकाइया किं कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ? । गोयमा ! कोहोवउत्ता वि, माणोवउत्ता वि, मायोवउत्ता वि, लोहोवउत्ता वि । एवं पुढविकाइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं, नवरं तेउलेस्साए असीइभंगा, एवं आउकाइया वि, तेउकाइयवाउकाइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं, वणप्फइकाइया जहा पुढविकाइया ।

(एवं पुढविकाइयाणं सव्वेसु ठाणेसु अभंगयं त्ति) पृथिवीकायिका एकैकस्मिन् कषाये उपयुक्ता बहवो लभ्यन्त इत्यभङ्गकं दशस्वपि स्थानेषु । (नवरं तेउलेस्साए असीइभंगा त्ति) पृथिवीकायिकेषु लेश्याद्वारे तेजोलेश्या वाच्या । सा च यदा देवलोकाच्च्युतो देव एकोऽनेको वा पृथिवीकायिकेषूत्पद्यते तदा भवति, ततश्च तदेकत्वाऽऽदिभावनादशीतिर्भङ्गका भवन्तीति । इह पृथिवीकायिकप्रकरणे स्थितिस्थानद्वारं साक्षाल्लिखितमेवास्ति, शेषाणि तु नारकवद्वाच्यानि । तत्र च " णवरं णाणत्तं जाणियव्वं " इत्येतस्यानुवृत्तेर्नानात्वमिह प्रश्न उत्तरतश्चावसेयम् । तच्च शरीराऽऽदिषु सप्तसु द्वारेष्विदम्-" असंखेज्जेसु णं भंते ! पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु० जाव पुढविकाइयाणं कइ सरीरा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिन्नि । तं जहा-ओरालिए, तेयए, कम्मए । " एतेषु च " कोहोवउत्ता वि, माणोवउत्ता वि " इत्यादि वाच्यम् । तथा-" असंखेज्जेसु णं० जाव पुढविकाइयाणं सरीरगा किं संघयणी " इत्यादि तथैव । " णवरं पोग्गला मणुण्णा अमणुण्णा सरीरसंघायत्ताए परिणमंति । " एवं संस्थानद्वारेऽपि, किं तूत्तरे-" हुंडसंठियाए " तावदेव वाच्यम्, न तु " दुविहा सरीरगा पण्णत्ता । तं जहा-भवधारणिज्जा य, उत्तरवेउव्विया य " इत्यादि ; पृथिवीकायिकानां तदभावादिति । लेश्याद्वारे पुनरेवं वाच्यम्-" पुढवीकाइयाणं भंते ! कइ लेसाओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! चत्तारि । तं जहा-कण्हलेस्सा० जाव तेउलेस्सा । " एतासु च तिसृष्वभङ्गकमेव, तेजोलेश्यायां त्वशीतिर्भङ्गकाः, एतच्च प्रागेवोक्तमिति । दृष्टिद्वारे इदं वाच्यम्-" असंखेज्जेसु० जाव पुढविकाइया किं सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी, सम्मामिच्छद्दिट्ठी ? । गोयमा ! मिच्छद्दिट्ठी " शेषं तथैव । ज्ञानद्वारेऽपि तथैव । " णवरं पुढविकाइयाणं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ? । गोयमा ! नो नाणी, अन्नाणी नियमा दुअन्नाणी । " योगद्वारेऽपि तथैव । नवरम्-" पुढविकाइयाणं भंते ! किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी ? । गोयमा ! नो मणजोगी, नो वइजोगी, कायजोगी " (एवं आउकाइया वि त्ति) पृथिवीकायिकवदप्कायिका अपि वाच्याः, ते हि दशस्वपि स्थानकेष्वभङ्गकाः, तेजोलेश्यायां चाऽशीतिभङ्गकवन्तो, यतस्तेष्वपि देव उत्पद्यत इति । " तेउकाइय " इत्यादौ (सव्वेसु वि ठाणेसु त्ति) स्थितिस्थानाऽऽदिषु दशस्वप्यभङ्गकं, क्रोधाऽऽद्युपयुक्तानामेकदैव तेषु बहूनां भावात् । इह देवा नोत्पद्यन्त इति तेजोलेश्या तेषु नास्ति । ततस्तत्सम्भवाभावादशीतिरपीत्यभङ्गकमेवेति । एतेषु च सूत्राणि पृथिवीकायिकसमानि, केवलं वायुकायसूत्रेषु शरीरद्वारे एवमध्येयम्-" असंखेज्जेसु णं भंते !० जाव वाउकाइयाणं कइ सरीरा पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि । तं जहा-ओरालिए, वेउव्विए, तेयए, कम्मए त्ति " । ' वणप्फइकाइया ' इत्यादि । वनस्पतयः पृथिवीकायिकसमाना वक्तव्याः, दशस्वपि स्थानकेषु भङ्गकाभावात्तेजोलेश्यायां च तथैवाशीतिभङ्गकसद्भावादिति । ननु पृथिव्यम्बुवनस्पतीनां दृष्टिद्वारे सास्वादनभावेन सम्यक्त्वं कर्मग्रन्थेष्वभ्युपगम्यते, तत एव ज्ञानद्वारे मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाल्पाश्चैतद् इत्येवमशीतिर्भङ्गाः सम्यग्दर्शनाभिनिबोधिकश्रुतज्ञानेषु भवन्तु ? । नैवम् । पृथिव्यादिषु सास्वादनभावस्यात्यन्तविरलत्वेनाविवक्षितत्वात् । तत एवोच्यते-" उभयाभावो पुढवा-इएसु विगलेसु होज्ज उववन्नो । " इति । उभयं प्रतिपद्यमानपूर्वप्रतिपन्नरूपमिति ।

बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा, तेहिं ठाणेहिं असीइं चेव, नवरं अब्भहिया सम्मत्ते आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे, एएहिं असीइभंगा । जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं सत्तावीसं भंगा, तेसु ठाणेसु सव्वेसु अभंगयं ।

" बेइंदिय " इत्यादावेवमक्षरघटना-" जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा, तेहिं ठाणेहिं बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं असीइं चेव त्ति " । तत्र एकाऽऽदिसंख्यातान्तसमयाधिकायां जघन्यस्थितौ, तथा जघन्यायामवगाहनायां च, तत्रैव च संख्येयान्तप्रदेशवृद्धायां ३, मिश्रदृष्टौ ४ च, नारकाणामशीतिर्भङ्गका उक्ताः, विकलेन्द्रियाणामप्येतेषु स्थानेषु मिश्रदृष्टिवर्जेष्वशीति-

देव, अल्पत्वात्तत्रामेकैकस्यापि क्रोधाऽऽद्युपयुक्तस्य सम्भवात्, मिश्रदृष्टिस्तु विकलेन्द्रियेष्वेकेन्द्रियवच्च न भवतीति न विकले-न्द्रियाणां तत्राशीतिभङ्गकसम्भव इति । वृद्धैस्त्विह सूत्रे पुनोऽपि वाचनाविशेषाद् यथाऽशीतिस्तत्राप्यनङ्गकमानि व्याख्यातम् । इ-हैव विशेषाभिधानायाऽऽह-"नवर" इत्यादि । अयमर्थ -दृष्टि-द्वारे, ज्ञानद्वारे च नारकाणां सप्तविंशतिरुक्ता । विकलेन्द्रियाणा तु (अब्भहिय त्ति) अत्यधिकान्यशीतिर्भङ्गकाना भवति । कैत्याह-सम्यक्त्वेऽल्पीयसा इह विकलेन्द्रियाणां सास्वादन-भावेन सम्यक्त्व भवति, अल्पत्वाच्च तत्रामेकस्यापि सम्भवे-नाशीतिर्भङ्गकानां भवति, एवमाभिनिबोधिक श्रुते चाति । तथा-"जहिं" इत्यादि । येषु स्थानेषु नैरयिकाणां सप्तविंशतिर्भङ्गा ,तेषु स्थानेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां भङ्गकाभाव , तानि च प्रागुक्ता-शीतिभङ्गकस्थानावशिष्टानि मन्तव्यानि, भङ्गकाभावश्च क्रोधा-ऽऽद्युपयुक्तानामेकदैव बहूनां भावादिति । विकलेन्द्रियसूत्रा-णि च पृथिवीकायिकसूत्राणीवाध्येयानि । नवरमिह लेश्याद्वारे तेजोलेश्या नाध्येतव्या । दृष्टिद्वारे च-" बेइंदियाणं भंते ! किं सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी, सम्मामिच्छद्दिट्ठी ? । गोयमा ! सम्म-द्दिट्ठी वि, मिच्छद्दिट्ठी वि, नो सम्मामिच्छद्दिट्ठी । सम्मदसणे वट्टमाणा बेइंदिया किं कोहोवउत्ता ?," इत्यादि प्रश्ने उत्तरम्-अशीतिर्भङ्गा' । तथा ज्ञानद्वारे-" बेइंदियाणं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ? । गोयमा ! नाणी वि, अन्नाणी वि । जइ नाणी दुन्नाणी-मइनाणी, सुयनाणी य । शेषं तथैव अशीतिश्च भङ्गा इति । योगद्वारे-' बेइंदियाणं भंते ! किं मणजोगी, वइजोगी, कायजो-गी ? । गोयमा ! नो मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी य " । शेषं तथैव । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्राण्यपि ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया तहा भाणिय-व्वा, नवरं जहिं सत्तावीसं भंगा तहिं अभंगयं कायव्वं । जत्थ असीई तत्थ असीइं मणुस्सा वि । जेहिं ठाणेहिं ने-रइयाणं असीइभंगा तेहिं ठाणेहिं मणुस्सा वि असीइ-भंगा भाणियव्वा । जेसु सत्तावीसा तेसु अभंगयं । नवरं मणुस्साणं अब्भहियं जहण्णियट्ठिईए आहारए य असी-इभंगा, वाणमंतरजोइसवेमाणिया जहा भवणवासी । न-वरं नाणत्तं जाणियव्वं । जं जस्स० जाव अणुत्तरा ।

" पंचिंदिय " इत्यादि । (जहिं सत्तावीसं भंगा त्ति) यत्र नारकाणां सप्तविंशतिर्भङ्गास्तत्र पञ्चेन्द्रियतिरश्चामभङ्गकम्,तच्च जघन्यस्थित्यादिकं पूर्वं दर्शितमेव, भङ्गकाभावश्च क्रोधाऽऽद्यु-पयुक्तानां बहूनामेकदैव तेषु भावादिति । सूत्राणि चह नार-कसूत्रवदध्येयानि । नवरं शरीरद्वारेऽयं विशेष -" असंखे-ज्जेसु णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियावासेसु पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं केवइया सरीरा पण्णत्ता ? । गोयमा ! च-त्तारि । तं जहा-ओरालिए, वेउव्विए,तेयए, कम्मए" । सर्वत्र चाभङ्गकमिति । तथा संहननद्वारे-" पंचिंदियतिरिक्खजोणि-याणं केवइया संघयणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! छ संघयणा । तं जहा-वइरोसहनाराय० जाव छेवट्ठ त्ति " । एवं संस्थान-द्वारेऽपि-' छट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा-समचउरंस०" ६ । एवं लेश्याद्वारे- 'कइ लेसाओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! छल्लेसा पण्ण-त्ता । तं जहा-कण्हलेस्सा०" ६ । (मणुस्सा वि त्ति) यथा नैरयिका दशसु द्वारेष्वभिहितास्तथा मनुष्या अपि भणित-व्या इति प्रक्रम । यतस्तदाह-" जेहिं " इत्यादि । तत्र नारका-णां जघन्यस्थितावेकाऽऽदिसंख्यातान्तसमयाधिकायाम् १, तथा जघन्यावगाहनायाम् २, तस्यामेव संख्यातान्तप्रदेशा-धिकायाम् ३, मिश्रे च ४ अशीतिर्भङ्गका उक्ता । मनुष्याणा-मप्येतेष्वशीतिरेव । तत्कारणं च तदल्पत्वमेवेति । नारकाणां, मनुष्याणां च सर्वथा साम्यपरिहारायाऽऽह-' जेसु सत्तावीस" इत्यादि । सप्तविंशतिर्भङ्गकस्थानानि च नारकाणां जघन्य-स्थितिरसंख्यातसमयाधिकजघन्यस्थितिप्रभृतीनि, तेषु च ज-घन्यस्थितौ विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वेन तद्वर्जेषु मनुष्याणामभ-ङ्गकं, यतो नारकाणां बाहुल्येन क्रोधादय एव भवति । तेन तथा सप्तविंशतिर्भङ्गका उक्तस्थानेषु युज्यन्ते । मनुष्याणां तु प्रत्येकं क्रोधाऽऽद्युपयोगवतां बहूनां भावात्कषायोदयविशेषो-ऽस्ति । तेन तेषां तेषु स्थानेषु भङ्गकाभाव इति । इदमेव विशेषा-भिधानायाऽऽह-"नवरम्" इत्यादि । येषु स्थानेषु नारकाणाम-शीतिस्तेषु मनुष्याणामप्यशीति , तथा ' जेसु सत्तावीसा तेसु अभंगयं" इत्युक्तम्,केवलं मनुष्याणामिदमभ्यधिकम्-यदुत जघ-न्यकस्थितौ तेषामशीतिर्न तु नारकाणाम् । तत्र सप्तविंशतिरुक्ते-त्यभङ्गकम् । तथा आहारकशरीरे अशीति ,आहारकशरीरवतां मनुष्याणामल्पत्वात् । नारकाणां तु तन्नास्त्येवेत्येतदभ्यधिकं म-नुष्याणामिति । इह च नारकसूत्राणां मनुष्यसूत्राणां च प्राय-शरीराऽऽदिषु चतुर्षु ज्ञानद्वारे एव च विशेष । तथाहि-"असंखे-ज्जेसु णं भंते ! मणुस्सावासेसु मणुस्साणं कइ सरीरा पण्ण-त्ता ? । गोयमा ! पंच । तं जहा-ओरालिए, वेउव्विए, आहारए, तेयए,कम्मए । असंखेज्जेसु णं० जाव ओरालियसरीरे वट्टमाणा मणुस्सा किं कोहोवउत्ता वि० ४ । " एवं सर्वशरीरेषु, नव-रमाहारकेऽशीतिर्भङ्गकाना वाच्या, एवं संहननद्वारेऽपि, नवरं "मणुस्साणं भंते ! कइ संघयणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! छ संघय-णा पण्णत्ता । तं जहा-वइरोसहनाराय० जाव छेवट्ठं ।" संस्था-नद्वारे "छ संठाणा पण्णत्ता । तं जहा-समचउरंस० जाव हुंड" । लेश्याद्वारे-"छ लेसाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-कण्हलेसा० जाव सुक्कलेसा"। ज्ञानद्वारे-"मणुस्साणं भंते ! कइ नाणाणि ? । गोयमा ! पंच । तं जहा-आभिणिबोहियनाण०५।" एषु च केवल-वर्जेष्वभङ्गकम्, केवले तु कषायोदय एव नास्तीति । "वाणमं-तर" इत्यादि । व्यन्तराऽऽदयो दशस्वपि स्थानेषु यथा भवनवा-सिनस्तथा वाच्या । यत्रासुराऽऽदीनामशीतिर्भङ्गका ,यत्र च स-प्तविंशति ,तत्र च व्यन्तराऽऽदीनामपि ते तथैव वाच्या । भङ्गका-स्तु लोभमादौ विधायाध्येतव्या , तत्र भवनवासिभि सह व्यन्तराणां साम्यमेव । ज्योतिष्काऽऽदीनां तु न तथेति । तैस्तेषां सर्वथा साम्यपरिहारसूचनायाऽऽह-(णवरं णाणत्तं भाणियव्वं जं जस्स त्ति) यल्लेश्याऽऽदिगतं यस्य ज्योतिष्काऽऽदेर्नानात्वमित-रापेक्षया भेदस्तज्ज्ञात्वाभिधेयमिति, परस्परतो विशेषं ज्ञात्वा एत-त्सूत्राण्यध्येयानीति भाव । तत्र लेश्याद्वारे-ज्योतिष्काणामे-कैव तेजोलेश्या वाच्या । ज्ञानद्वारे-त्रीणि ज्ञानानि,अज्ञानान्य-पि त्रीण्येव असंज्ञिनां तत्रोपपाताभावेन विभङ्गस्यापर्याप्तका-वस्थायामपि भावात् । तथा वैमानिकानां लेश्याद्वारे-तेजोले-श्याऽऽदयस्तिस्रो लेश्या वाच्या । ज्ञानद्वारे च त्रीणि ज्ञानान्यज्ञा-नानि चेति । वैमानिकसूत्राणि चैवमध्येयानि-" असंखेज्जेसु णं भंते ! वेमाणियावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि वेमाणियावासं-सि केवइया ठिइट्ठाणा पण्णत्ता ?," इत्येवमादीनि॥ भ०१श०५उ०।

जीवानां सर्वलोकस्पृष्टत्वम्-

एयंसि णं भंते ! महालयंसि लोगंसि अत्थि केइ परमाणुपो-ग्गलमेत्ते वि पएसे, जत्थ णं अयं जीवे न जाए वा, न मए वा वि ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ एयंसि णं महालयंसि लोगंसि णत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे, जत्थ णं अयं जीवे ण जाए वा, ण मए वा वि ?। गोयमा ! से जहाणामए केइ पुरिसे अयासयस्स एगं महं अयावयं करेज्जा, से णं तत्थ जहण्णेणं एगं वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं अयासहस्सं पक्खिवेज्जा, ताओ णं तत्थ पउरगोयराओ पउरपाणीयाओ जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा, उक्कोसेणं छम्मासे परिवसेज्जा, अत्थि णं गोयमा ! तस्स अयावयस्स केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे, जे णं तासिं अयाणं उच्चारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणेण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएण वा चम्मेहिं वा रोमेहिं वा सिंगेहिं वा खुरेहिं वा णहेहिं वा अणोक्कंतपुव्वे भवइ ?। णो इणट्ठे समट्ठे, होज्जा वि णं गोयमा ! तस्स अयावयस्स केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे, जे णं तासिं अयाणं उच्चारेण वा० जाव णहेण वा अणोक्कंतपुव्वे, णो चेव णं एयंसि महालयंसि लोगस्स सासयभावं, संसारस्स अणादिभावं, जीवस्स य णिच्चभावं, कम्मबहुत्तं जम्मणमरणबाहुल्लं च पडुच्च णत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे, जत्थ णं अयं जीवे ण जाए वा, ण मए वा वि, से तेणट्ठेणं तं चेव० जाव ण मए वा वि ॥

(परमाणुपोग्गलमेत्ते वि त्ति) अत्रापि सम्भावनायाम् । (अयासयस्स त्ति) षष्ठ्याश्चतुर्थ्यर्थत्वादजाशताय (अयावयं ति) अजाव्रजम्, अजावाटकमित्यर्थः । (उक्कोसेणं अयासहस्सं पक्खिवेज्ज त्ति) यदिहाजाशतप्रायोग्ये वाटके उत्कर्षेणाजासहस्रप्रक्षेपणमभिहितं तत्तासामतिसङ्कीर्णतयाऽवस्थानज्ञापनार्थमिति । (पउरगोयराओ पउरपाणीयाओ त्ति) प्रचुरचरणभूमयः, प्रचुरपानीयाश्च । अनेन च तासां प्रचुरमूत्रपुरीषसम्भवो बुभुक्षापिपासाविरहेण स्वस्थतया चिरंजीवित्वं चोक्तम् । (नहेहिं य त्ति) नखाः खुराग्रभागास्तैः "णो चेव णं एयंसि महालयंसि लोगंसि" इत्यस्य 'अत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे" इत्यादिना पूर्वोक्ताभिलापेन सम्बन्धः महत्त्वाल्लोकस्य । कथमिदमिति चेत् ?। अत आह-"लोगस्स" इत्यादि । कथितो ह्येवं न सम्भवतीत्यत उक्तम्-लोकस्य शाश्वतभावं, प्रतीत्येति योगः । शाश्वतत्वेऽपि लोकस्य संसारस्य सादित्वे नैवं स्यादित्यनादित्वं तस्योक्तं, नानाजीवापेक्षया संसारस्यानादित्वेऽपि विवक्षितजीवस्यानित्यत्वे नोक्तोऽर्थः स्यादतो जीवस्य नित्यत्वमुक्तं, नित्यत्वेऽपि जीवस्य कर्माल्पत्वे तथाविधसंसरणाभावान्नोक्तोऽर्थः स्यादतः कर्मबाहुल्यमुक्तम्, कर्मबाहुल्येऽपि जन्मादेरल्पत्वे नोक्तोऽर्थः स्यादिति जन्मादिबाहुल्यमुक्तमिति ।

एतदेव प्रपञ्चयन्नाह-

कइ णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! जहा पढमसए पंचमुद्देसए तहेव आवासा ठावेयव्वा० जाव अणुत्तरविमाणे त्ति० जाव अपराजिए सव्वट्ठसिद्धे । अयं णं भंते ! जीवे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि णिरयावासंसि पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइकाइयत्ताए णरगत्ताए णेरइयत्ताए उववण्णपुव्वे ?। हंता गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो ।

"कइ णं" इत्यादि । (नरगत्ताए त्ति) नरकाऽऽवासपृथ्वीकायिकतयेत्यर्थः । (असइं ति) असकृदनेकशः (अदुव त्ति) अथवा (अणंतखुत्तो त्ति) अनन्तकृत्वोऽनन्तवारान् ।

सव्वजीवा वि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरया० तं चेव० जाव अणंतखुत्तो । अयं णं भंते ! जीवे सक्करप्पभाए पुढवीए, पणवीसाए एवं जहा रयणप्पभाए तहेव दो आलावगा भाणियव्वा, एवं० जाव धूमप्पभाए । अयं णं भंते ! जीवे तमाए पुढवीए पंचूणे णिरयावाससयसहस्से एगमेगंसि, सेसं तं चेव । अयं णं भंते ! जीवे अहेसत्तमाए पुढवीए पंचसु अणुत्तरेसु महइमहालएसु महाणिरएसु एगमेगंसि णिरयावासंसि, सेसं जहा रयणप्पभाए । अयं णं भंते ! जीवे चउसट्ठीए असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइकाइयत्ताए देवत्ताए देवित्ताए आसणसयणभंडमत्तोवगरणत्ताए उववण्णपुव्वे ?। हंता गोयमा०! जाव खुत्तो । सव्वजीवा वि णं भंते ! एवं चेव, एवं० जाव थणियकुमारेसु णाणत्तं आवासेसु आवासा पुव्वभणिया । अयं णं भंते ! जीवे असंखेज्जेसु पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढवीकाइयावासंसि पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइकाइयत्ताए उववण्णपुव्वे ?। हंता गोयमा !० जाव खुत्तो । एवं सव्वजीवा वि । एवं० जाव वणस्सइकाइएसु ।

(असंखेज्जेसु पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु त्ति) इहासंख्यातेषु पृथिवीकायिकाऽऽवासेष्वेतावतैव सिद्धे यच्छतसहस्रग्रहणं तत्तेषामतिबहुत्वख्यापनार्थम् । नवरम्-

अयं णं भंते ! जीवे असंखेज्जेसु बेइंदियावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि बेइंदियावासंसि पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइकाइयत्ताए बेइंदियत्ताए उववण्णपुव्वे ?। हंता गोयमा !० जाव अणंतखुत्तो । सव्वजीवा वि णं एवं चेव, एवं० जाव मणुस्सेसु, णवरं तेइंदिएसु० जाव वणस्सइकाइयत्ताए तेइंदियत्ताए चउरिंदिएसु चउरिंदियत्ताए, एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ताए मणुस्सेसु मणुस्सत्ताए, सेसं जहा बेइंदियाणं, वाणमंतरजोइसियसोहम्मीसाणाण य जहा असुरकुमाराणं ।

"तेइंदिएसु" इत्यादि । त्रीन्द्रियाऽऽदिसूत्रेषु द्वीन्द्रियाऽऽदिसूत्रात् त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेभ्यादिनैव विशेष इत्यर्थः ।

अयं णं भंते ! जीवे सणंकुमारकप्पे बारससु विमाणावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि वेमाणियावासंसि पुढवीकाइयत्ता, सेसं जहा असुरकुमाराणं० जाव अणंतखुत्तो । णो चेव णं देवित्ताए, एवं सव्वजीवा वि, एवं० जाव आणयपाणएसु, एवं आरणच्चुएसु वि ।

(णो चेव णं देवित्ताए त्ति) ईशानान्तेष्वेव देवस्थानेषु देव्य उत्पद्यन्ते, सनत्कुमाराऽऽदिषु पुनर्नेति कृत्वा "नो चेव णं देवित्ताए" इत्युक्तम् ।

अयं णं भंते ! जीवे तिसु वि अट्ठारसुत्तरेसु गेविज्जगविमाणावाससएसु एवं चेव । अयं णं भंते ! जीवे पंचसु अणुत्तरविमाणेसु एगमेगंसि अणुत्तरविमाणंसि पुढवि० तहेव ०जाव अणंतखुत्तो । णो चेव णं देवत्ताए देवित्ताए, एवं सव्वजीवा वि ।

(णो चेव णं देवत्ताए देवित्ताए व त्ति) अनुत्तरविमानेष्वनन्तकृत्वो देवा नोत्पद्यन्ते, देव्यश्च सर्वथैवेति "णो चेव णं" इत्याद्युक्तमिति ।

अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं माइत्ताए पिइत्ताए भाइत्ताए भगिणित्ताए भज्जात्ताए पुत्तत्ताए धूयत्ताए सुण्हत्ताए उववन्नपुव्वे ? । हंता गोयमा !० जाव अणंतखुत्तो । अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं अरित्ताए वेरियत्ताए घायगत्ताए वहगत्ताए पडिणीयत्ताए पच्चामित्तत्ताए उववन्नपुव्वे ? । हंता गोयमा !० जाव अणंतखुत्तो । सव्वजीवा वि णं भंते ! एवं चेव । अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं रायत्ताए जुवरायत्ताए० जाव सत्थवाहत्ताए उववन्नपुव्वे ? । हंता गोयमा ! असतिं० जाव अणंतखुत्तो । सव्वजीवाणं एवं चेव ।

(अरित्ताए त्ति) सामान्यतः शत्रुभावेन (वेरियत्ताए त्ति) वैरिकः शत्रुभावानुबन्धयुक्तस्तथा-(घायगत्ताए त्ति) मारकतया (वहगत्ताए त्ति) व्यधकतया, ताडकतयेत्यर्थः । (पडिणीयत्ताए त्ति) प्रत्यनीकतया कार्योपघातकतया (पच्चामित्तत्ताए त्ति) अमित्रसहायतया ।

अयं णं भंते ! जीवे सव्वजीवाणं दासत्ताए पेसत्ताए भुयगत्ताए भाइल्लगत्ताए भोगपुरिसत्ताए सीसत्ताए वेसत्ताए उववन्नपुव्वे ? । हंता गोयमा !० जाव अणंतखुत्तो, एवं सव्वजीवा वि० जाव अणंतखुत्तो ॥

(दासत्ताए त्ति) गृहदासीपुत्रतया (पेसत्ताए त्ति) प्रेष्यतया आदेश्यतया (भुयगत्ताए त्ति) भृतकतया दुष्कालादौ पोषिततया (भाइल्लगत्ताए त्ति) कृष्यादिभागस्य भागग्राहकत्वेन (भोगपुरिसत्ताए त्ति) अन्यैरुपार्जितार्थानां भोगकारिनरतया (सीसत्ताए त्ति) शिक्षणीयतया (वेसत्ताए त्ति) द्वेष्यतयेति । भ० १२ श० ७ उ० । स्था० । (जीवः सदा समितमेजते तत्र किं बन्धक इति 'इरियावहिया' शब्दे द्वितीयभागे ६२७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (जीवानां कर्मप्रतिष्ठितत्वं, कर्मसङ्गृहीतत्वं, जीवपुद्गलयोरन्योन्यबद्धत्वं च 'लोगट्ठिइ' शब्दे वक्ष्यते) करणे घञ् । जीवनोपाये, 'जीव' णिच् अच् । वृक्षभेदे, वाच० । बृहस्पतौ, शरेयताके पुष्पनक्षत्रे च । स्था० २ ठा० १ उ० । यथा मनुष्ययोनौ द्वीन्द्रियाऽऽदिजीवोत्पत्तिस्तथैव तिर्यग्योनौ, कश्चिद्विशेषो वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्—तिर्यगाश्रित. कोऽपि विशेषः शास्त्रे दृष्टो नास्तीति । १४५ प्र० । सेन० २ उल्ला० । अनुत्तरविमानेषु जीवः कति भवान् करोतीति प्रश्ने, उत्तरम्-विजयाऽऽदिषु उत्कर्षतो वारद्वय, सर्वार्थसिद्धविमाने एकवारमिति । जीवाभिगमवृत्तौ विजयाऽऽदिषु द्विचरमा, इति तत्रार्थसूत्रचतुर्थाध्याये सर्वार्थसिद्धिविमानादागतोऽनन्तरभवे सिद्ध्यत्येव, विजयाऽऽदिचतुर्षु गतो मनुष्येषु चाऽऽयाति । तत्रापि जघन्येन एकं द्वौ वा भवौ, उत्कर्षतश्चतुर्विंशतिभवान्, तत्र नरभवेऽष्टौ, देवभवेऽष्टौ, भूयो नरभवेऽष्टौ, ततः सिद्ध्यते च, विजयाऽऽदिषु द्विरुपपन्नस्य नियमात्सिद्धिरनन्तरभव एवेति प्रघोषः, प्रज्ञापनायां सङ्ख्यातभवानिति । ८७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । आउत्तिमामा वनस्पतिविशेषः किं सङ्ख्यातजीवोऽसङ्ख्यातजीवः, अनन्तजीवो वा ?, कुत्र प्रोक्तमस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-आउत्तिमत्कमूल ऽऽदौ असङ्ख्याता जीवाः, पत्राऽऽदौ तु एकैको जीव इति प्रज्ञापनाऽऽदौ प्रोक्तमस्तीति । २६७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । जीवेनानादिकालतः सत्त्व देय च भवति, तदनर्पणे त्रुट्यते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-एकान्तो नास्ति, यदि तप स्वाध्यायाऽऽदिना कर्म निर्जरयति, तदा तदनर्पणे त्रुट्यते । कर्मनिर्जरणमन्तरा तदनर्पणे न त्रुट्यति । इति । ६७ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । व्यवहारराशिं प्राप्ता जीवाः पुनः सूक्ष्मनिगोदमध्ये यान्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-सूक्ष्ममनुष्यान् पृष्ट्वा इदानीमनन्तानि सन्तीति । ११६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । विकसितपुष्पपत्रमध्ये जीवाः सङ्ख्याताः, असङ्ख्याता वेति प्रश्ने, उत्तरम् केषु चित्पुष्पेषु सङ्ख्याताः, केषुचिदसङ्ख्याताः, केषुचिदनन्ताश्च प्रज्ञापनाऽऽदिषु कथिताः सन्ति । जातिपुष्पमध्ये तु सङ्ख्याता एव कथिताः सन्ति । १३८ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

जीवआरंभिया-जीवारम्भिका-स्त्री० । यज्जीवानारभमाणस्योपमृद्नतः कर्मबन्धनं सा जीवारम्भिका । क्रियाभेदे, "आरंभिया किरिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-जीवारंभिया चेव, अजीवारंभिया चेव" । स्था० २ ठा० १ उ० ।

जीवंजीव-जीवञ्जीव-पुं० । जीवबले, "स णं जीवंजीवेणं गच्छइ, जीवंजीवेण चिट्ठइ ।" अनुस्वारस्यागमिकत्वाज्जीवजीवेन जीवबलेन गच्छति, न शरीरबलेन । भ० २ श० १ उ० । ज्ञा० । अन्त० । जीवान् जीवयति दर्शनेन तृप्तिकरत्वात् । चकोरपक्षिणि, वाच० ।

जीवंजीवग-जीवञ्जीवक-पुं० । जीवान् जीवयति ण्वुल् । चकोरे, चर्मपक्षिभेदे, वाच० । प्रश्न० । जी० । औ० । प्रश्न० ।

जीवंत-जीवत्-त्रि० । प्राणान् धारयति, "मच्छा य जीवंत व जोतिपत्ता" । (१३ गाथा) सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

जीवकप्प-जीवकल्प-पुं० । द्रव्यकल्पभेदे, "तिविहो य जीवकप्पो, दुपयचउप्पयअपयभेएहिं ।" पं० भा० । पं० चू० ।

जीवकाय-जीवकाय-पुं० । जीवनं जीवो ज्ञानाऽऽद्युपयोगस्तत्प्रधानः कायो जीवकायः । भ० ७ श० १ उ० । जीवराशौ, सूत्र० ।

जीवकायस्वरूपनिरूपणार्थमाह-

पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥ ७ ॥

(पुढवीजीवा इत्यादि) पृथिव्येव पृथिवीकायाश्रिता वा जीवाः, ते च प्रत्येकशरीरत्वात्पृथक् प्रत्येकं सत्त्वा जन्तवोऽवगन्तव्याः । तथा आपश्च जीवाः । एवमग्निकायाश्च, तथाऽपरे वायुजीवाः । तदेवं चतुर्महाभूतसमाश्रिता सत्त्वाः प्रत्येकशरीरिणोऽवगन्तव्याः । एत एव पृथिव्यप्तेजोवायुसमाश्रिताः सत्त्वाः प्रत्येकशरीरिणो, वक्ष्यमाणवनस्पतेस्तु साधारणासाधारणशरीरत्वेनापृथक्त्वमप्यस्तीत्यस्यार्थस्य दर्शनाय पुनः पृथक् सत्त्वग्रहणमिति । वनस्पतिकायस्तु यः सूक्ष्मः स सर्वोऽपि निगोदरूपः । साधारणो बादरस्तु साधारणोऽसाधारणश्चेति । तत्र प्रत्येकशरीरिणोऽसाधारणस्य कतिचिद्भेदान्निर्दिदिक्षुराह-तण तृणानि दर्भवीरणाऽऽदीनि, वृक्षाश्चूताशोकाऽऽदय, सह बीजैः शालिगोधूमाऽऽदिभिर्वर्त्तन्त इति सबीजकाः । एते सर्वेऽपि वनस्पतिकायाः सत्त्वा अवगन्तव्याः । अनेन च बौद्धाऽऽदिमतनिरासः कृतोऽवगन्तव्य इति । एतेषां च पृथिव्यादीनां जीवानां जीवत्वेन प्रसिद्धिस्वरूपनिरूपणमाचारे प्रथमाध्ययने शस्त्रपरिज्ञाऽऽख्ये सप्रपञ्चेन प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते ।

षष्ठजीवनिकायप्रतिपादनायाऽऽह-

अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जई ॥ ८ ॥

(अहावरेत्यादि) अथ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय एकेन्द्रियाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तकभेदेन प्रत्येकं चतुर्विधाः । अथानन्तरमपरेऽन्ये त्रसन्तीति त्रसाः, द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्याऽऽदय । तत्र द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकभेदाद्द्विधा । पञ्चेन्द्रियास्तु संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्विधाः । तदेवमनन्तरोक्ता जीवाः चतुर्दशभूतग्रामाऽऽत्मकतया व्यवस्थापितास्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिर्निरूपितास्तन्नेऽत्रासाऽऽत्मक एव, एतावानेव जीवनिकायो जीवराशिर्भवत्यण्डजोद्भिज्जसंस्वेदजाऽऽदिर्नैतस्मादपरो जीवराशिर्विद्यते कश्चिदिति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

जीवकिरिया-जीवक्रिया-स्त्री० । जीवस्य क्रिया व्यापारो जीवक्रिया । नामक्रियायाम, स्था० । " जीवकिरिया दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-सम्मत्तकिरिया चेव,मिच्छत्तकिरिया चेव।" स्था० २ ठा० १ उ० ।

जीवगराय-जीवकराज-पुं० । नेमिजिनसमकालिके स्वनामख्याते राजनि, ति० ।

जीवग्गाह-जीवग्राह-अव्य० । जीवतो ग्रहणे, "जीवग्गाह गिण्हति ।" जीवतीति जीवस्त जीव जीवन्त गृह्णाति । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

जीवघण-जीवघन-पुं० । जीवाश्च ते घनाश्च शुषिराऽऽपूरणाद् जीवघनाः । आ०म० द्वि० । अन्तररहितत्वेन जीवप्रदेशसमेषु,सिद्धस्वरूपमधिकृत्य-" अरूविण जीवघणा" जीवाश्च ते घना अन्तररहितत्वेन जीवप्रदेशमयाः । उत्त० ३६ अ० । जीव एव घनो मूर्तिः सैन्धवशिलाशकल इव यस्य । हिरण्यगर्भे, वाच० ।

जीवघाय-जीवघात-पुं० । प्राणातिपाते, आव० ६ अ० ।

जीवजढ-जीवजढ-त्रि० । जीववर्जिते, नि० चू० १ उ० ।

जीवट्ठाण-जीवस्थान-न० । ६ त० । मर्मणि, वाच० । जीवन्ति यथायोगं प्राणान् धारयन्तीति जीवाः प्राणिनः शरीरभृत इति पर्यायाः । तेषां जीवानां स्थानानि सूक्ष्मापर्याप्तकैकेन्द्रियत्वाऽऽदयोऽवान्तरविशेषास्तिष्ठन्ति जीवा एषु इति कृत्वा जीवस्थानानि । जीवानां सूक्ष्मापर्याप्तकेन्द्रियत्वाऽऽदिकेऽवान्तरविशेषे, कर्म० ।

अथ जीवस्थानप्रतिपादिकां गाथामाह-

नमिय जिणं जियमग्गण-गुणठाणुवओगजोगलेसाओ ।
बंधऽप्पबहूभावे, संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥१॥

जिनं नत्वा जीवस्थानाऽऽदि वक्ष्ये इति संबन्धः । (कर्म०) जीवमार्गणागुणस्थानाऽऽदि वक्ष्ये, इह स्थानशब्दस्य प्रत्येकं योगात् जीवस्थानानि मार्गणास्थानानि गुणस्थानानि उपयोगाश्च योगाश्च लेश्याश्चेति द्वन्द्वे द्वितीयाबहुवचनम् । (कर्म०) यथा-बन्ध इति एकदेशेऽपि ' भामा ' सत्यभामेतिन्यायेन पदप्रयोगदर्शनाद्बन्धहेतवो मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगरूपा वक्ष्यमाणा गृह्यन्ते (अप्पबहु त्ति) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य अल्पबहुत्वं, गत्यादिरूपमार्गणास्थानाऽऽदीनां परस्परं स्तोकभूयस्त्वम् । (भाव त्ति) जीवाजीवानां तेन तेन रूपेण भवनानि परिणमनानि, भावा औपशमिकाऽऽदय , ततो बन्धश्चाल्पबहुत्वं च भावाश्चेति द्वन्द्वे द्वितीयाबहुवचनं शस् । सूत्रे च-"अप्पबहु ' इत्यत्र दीर्घत्वं " दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ " । ८ । १ । ४ । इति प्राकृतसूत्रेण । (संखिज्जाइ त्ति) संख्यायन्ते चतुःपल्याद्यिप्ररूपणया परिमीयन्त इति संख्येयम् । आदिशब्दादसंख्येयाऽनन्तकपरिग्रहः । तत एव जीवस्थानाऽऽदिकमनन्तकपर्यवसानं द्वारकलापम् । अत्र वक्ष्ये इत्यनेनाभिधेयमाह । कथं वक्ष्ये इत्याह (किमवि त्ति) किमपि किञ्चित् सङ्क्षेपं न विस्तरवत् । दुष्षमानुभावतोऽल्पायुर्मेधाऽऽदिगुणानामैदंयुगीनजनानां विस्तराभिधाने तदुपकारासंभवात्तदुपकारार्थं चैव शास्त्राऽऽरम्भप्रयासः । एतेन संक्षिप्तरुचिसत्त्वानाश्रित्य प्रयोजनमाचष्टे । संबन्धस्त्वर्थाऽऽपत्तिगम्य , स चोपायोपेयलक्षणः,साध्यसाधनलक्षणो, गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा स्वयमभ्यूह्य । इह च मार्गणास्थानगुणस्थानाऽऽदय सर्वे पदार्था न जीवपदार्थमन्तरेण विचारयितुं शक्यन्त इति प्रथम जीवस्थानग्रहणम् १ । जीवाश्च प्रपञ्चतो निरूप्यमाणा गत्यादिमार्गणास्थानैरेव निरूपयितुं शक्यन्त इति तदनन्तरं मार्गणास्थानग्रहणम् २ । तेषु च मार्गणास्थानेषु वर्तमाना जीवा न कदाचिदपि मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगिकेवलिपर्यन्तगुणस्थानकविकला भवन्तीति ज्ञापनाय मार्गणास्थानकानन्तरं गुणस्थानग्रहणम् ३ । अमूनि च गुणस्थानकानि परिणामशुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षरूपाण्युपयोगवतामेवोपपद्यन्ते, नान्येषामाकाशाऽऽदीनां, तेषां ज्ञानाऽऽदिरूपपरिणामरहितत्वादिति प्रतिपत्त्यर्थं गुणस्थानकग्रहणानन्तरमुपयोगग्रहणम् ४। उपयोगवन्तश्च मनोवाक्कायचेष्टासु वर्तमाना नियमतः कर्मसंबन्धभाजो भवन्ति । तथा चाऽऽगमः-"जाव ण एस जीवे एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ खुब्भइ तं तं भावं परिणमइ, ताव णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा नो णं अबंधए" इति ज्ञापनार्थमुपयोगग्रहणानन्तरं योग-

ग्रहणम् ५ । योगवशाच्चोपात्तस्यापि कर्मणो यावत् कृष्णाऽऽद्यन्यतमलेश्यापरिणामो जायते, तावत् तस्य स्थितिपाकविशेषो भवति, "स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण" इति वचनप्रामाण्यात् । ततो योगवशादुपात्तस्य कर्मणो लेश्याविशेषेण स्थितिपाकविशेषो भवतीति प्रतिपत्तये योगानन्तरं लेश्याग्रहणम् ६ । लेश्यावन्तश्च यथायोगं बन्धहेतुभिः कर्मबन्धोदयोदीरणासत्ताः प्रकुर्वन्तीति ज्ञापनाय लेश्यानन्तरं बन्धग्रहणम् ७ । बन्धोदयाऽऽदियुक्ताश्च जीवा मार्गणास्थानाऽऽश्रित्य नियमतः परस्परमल्पे वा भवयुर्बहवो वेति निवेदनार्थं बन्धानन्तरमल्पबहुत्वग्रहणम् ८ । ते च जीवा मार्गणास्थानाऽऽदिष्वल्पे वा बहवो वा भवन्तोऽवश्यमौपशमिकाऽऽदिभावेषु केषुचिद्भावेषु वर्तन्त इति प्रकटनार्थमल्पबहुत्वानन्तरं भावग्रहणम् ९ । औपशमिकाऽऽदिभाववन्तश्च जीवानामल्पबहुत्वं नियमतः सङ्ख्यातेनासङ्ख्येयकेनानन्तकेन वा निरूपणीयमिति भावग्रहणानन्तरं सङ्ख्येयकाऽऽदिग्रहणमिति १० । यद्यपि चेह सामान्येनोक्तं जीवस्थानाऽऽदि वक्ष्य तथाप्येव विशेषतो द्रष्टव्यम् । जीवस्थानकेषु गुणस्थानकयोगोपयोगलेश्याकर्मबन्धोदयोदीरणासत्ता वक्ष्य । कर्म० ।

मार्गणास्थानकेषु जीवस्थानाऽऽदीनि-

" चउदसजियठाणेसु, चउदस गुणठाणगाणि जोगा य ।
उवओगलेसबंधुद-ओदीरणासंतअट्ठपए " ॥ कर्म० ।

तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात् प्रथमं तावज्जीवस्थानानि निरूपयन्नाह-

इह सुहुमबायरेगिं-दि-बि-ति चउ असन्निसन्निपंचिंदी ।
अपजत्तापज्जत्ता, कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥ २ ॥

इहास्मिन् जगति अनेन क्रमेण चतुर्दश जीवस्थानानि प्राणिनिवासस्थानानि भवन्ति । केन क्रमेणेति चेदित्याह-सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया, एते च सर्वेऽपि प्रत्येकं पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्चेति । तत्रैकं स्पर्शनलक्षणमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः । ते च प्रत्येकं द्विधा-सूक्ष्मा, बादराश्च । सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्माः सकललोकव्यापिनो, बादरनामकर्मोदयाद्बादरा., ते च लोकप्रतिनियतदेशवर्तिनः । द्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया इति । इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रिया असंज्ञिसंज्ञिभेदभिन्नाश्च पञ्चेन्द्रियाः । तत्र द्वे स्पर्शनरसनलक्षणे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः, कृमिपूतरकचन्दनकशङ्खकपर्दजलौकाप्रभृतयः । त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणीन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः, कुन्थुमत्कुणयूकागर्दभेन्द्रगोपकमत्कोटकाऽऽदयः । चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः, भ्रमरमक्षिकामशकवृश्चिकाऽऽदयः । पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः, मत्स्यमकरेभकलभसारसहंसनरसुरनारकाऽऽदयः । ते च द्विधा-संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च । तत्र संज्ञानं संज्ञा, भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनम् । "उपसर्गादातः" । ५ । ३ । ११० । इत्यङ् प्रत्ययः । सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः विशिष्टस्मरणाऽऽदिरूपमनोविज्ञानभाज इति यावत् । तद्विपरीता असंज्ञिनो विशिष्टस्मरणाऽऽदिरूपमनोविज्ञानविकला इत्यर्थः । एते च सूक्ष्मैकेन्द्रियाऽऽदयः प्रत्येकं द्विधा-पर्याप्तका, अपर्याप्तकाश्च । पर्याप्तिर्नाम-पुद्गलोपचयजः पुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुः शक्तिविशेषः । सा च विषयभेदात् षोढा-आहारपर्याप्तिः, शरीरपर्याप्तिः, इन्द्रियपर्याप्तिः, उच्छ्वासपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिः, मनःपर्याप्तिश्चेति । तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः, यया रसीभूतमाहारं रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः, यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः, यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादायोच्छ्वासरूपतया परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः, यया तु भाषाप्रायोग्यवर्गणादलिकं गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः, यया पुनर्मनोयोग्यवर्गणादलिकं गृहीत्वा मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः । एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियाऽऽदीनां संज्ञिनां च चतुःपञ्चषट्सङ्ख्या भवन्ति । यदभाणि-

" आहारसरीरिंदिय-पज्जत्ती आणपाणभासमणे ।
चत्तारि पंच छप्पि य, एगिंदियविगलसन्नीणं " ॥ १ ॥

पर्याप्तयो विद्यन्ते येषां ते पर्याप्ताः "अभ्राऽऽदिभ्यः" । ७ । २ । ४६ । इति मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः, स्वार्थिककप्रत्ययोपादानात्पर्याप्तकाः । ये पुनः स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकलास्तेऽपर्याप्तकाः । ते च द्विधा-लब्ध्या, करणैश्च । तत्र येऽपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते, न पुनः स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ते ते लब्ध्यपर्याप्तकाः । ये पुनः करणानि शरीरेन्द्रियाऽऽदीनि न तावन्निर्वर्तयन्ति, अथवा अवश्यं पुरस्तान्निर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्तकाः । इह चैवमागमः -"लब्ध्यपर्याप्तका अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते, नार्वाक्, यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः, तच्चाऽऽहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति " ॥ तदेव निरूपितानि जीवस्थानानि । कर्म० ४ कर्म० । पं० सं० । (जीवस्थानेषु १४ गुणस्थानानि ' गुणट्ठाण ' शब्दे तृतीयभागे ९० ७ पृष्ठे उक्तानि) साम्प्रतं योगा वक्तुमवसरप्राप्तास्ते च पञ्चदश । तद्यथा--सत्यवाग्योगः, असत्यवाग्योगः, सत्यमृषावाग्योगः, असत्यामृषावाग्योगः ।

तत्स्वरूपं चेदम्-

" सच्चा हिया सतामिह सतो मुणयो गुणा पयत्था वा ।
तव्विवरीया मोसा, मीसा जा तदुभयसहावा ॥ १ ॥
अणहिगया जा तीसु वि, सद्दु च्चिय केवलो असच्चमुसा" ।

एवं मनोयोगोऽपि चतुर्धा द्रष्टव्यः । काययोगः सप्तधा-औदारिकम्, औदारिकमिश्रं, वैक्रियं, वैक्रियमिश्रम्, आहारकम्, आहारकमिश्रं कार्मणं च । तत्रौदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः, तयोरेवापर्याप्तयोरौदारिकमिश्रकाययोगः, वैक्रियकाययोगो देवनारकयोः तिर्यङ्मनुष्ययोर्वा, वैक्रियलब्धिमतो वैक्रियमिश्रकाययोगोऽपर्याप्तयोर्देवनारकयोस्तिर्यङ्मनुष्ययोर्वा, वैक्रियस्यारम्भकाले परित्यागकाले च आहारकं चतुर्दशपूर्वविद आहारकमिश्रकाययोगः, आहारकस्य प्रारम्भसमये परित्यागकाले च कार्मणकाययोगोऽष्टप्रकारकर्मविकाररूपशरीरचेष्टास्वरूपोऽन्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये केवलिसमुद्घातावस्थायां च ।

तानेतान् योगान् जीवस्थानकेषु व्याचिख्यासुराह-

अपजत्तछक्कि कम्मुर-लमीसजोगा अपज्जसन्नीसु ।

ते सावउच्वमीस एसुं, तणुपज्जेसु उरलमन्ने ॥ ४ ॥

अपर्याप्तानां सूक्ष्मबादरद्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां षट्कमपर्याप्तषट्कं, तस्मिन् अपर्याप्तषट्के, संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तवर्जितेषु षट्सु अपर्याप्तेषु योगौ भवतः । द्विवचनस्य बहुवचनं प्राकृतत्वात् । यथा-"हत्था पाया" इत्यादौ । कौ योगौ ?, इति । आह-कार्मणौदारिकमिश्रौ, तत्र कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च,शेषकाले त्वौदारिकमिश्रकाययोगः । (अपज्जसन्नीसु । ते सुविउव्वमीस त्ति) अपर्याप्तसंज्ञिषु मनुष्यपञ्चेन्द्रियजीवेषु तौ पूर्वोक्तौ कार्मणौदारिकमिश्रकाययोगौ भवतः । किं केवलौ ?, नेत्याह-सह वैक्रियमिश्रेण वर्त्तेते इति सवैक्रियमिश्रौ । तथा चापर्याप्तसंज्ञिनि त्रयो योगा भवन्ति कार्मणकाययोगः, औदारिकमिश्रकाययोगः, वैक्रियमिश्रकाययोगश्च । तत्र कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च,शेषकाले तु तिर्यङ्मनुष्ययोरौदारिकमिश्रकाययोगः । संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य देवनारकेषु पुनरुत्पद्यमानस्य वैक्रियमिश्रकाययोगो द्रष्टव्यः,न शेषस्य,असंभवात् । मिश्रता चात्र कार्मणेन सह द्रष्टव्या । अत्रैव मतान्तरमुपदर्शयन्नाह-एषु पूर्वनिर्दिष्टेषु शेषपर्याप्त्यपेक्षया पर्याप्तेषु,तनुपर्याप्तेषु, शरीरपर्याप्त्येत्यर्थः । औदारिकमौदारिककाययोगम्, अन्ये केचिदाचार्याः शीलाङ्काऽऽदयः; प्रतिपादयन्तीति शेषः । शरीरपर्याप्त्या हि परिसमाप्तिवत्या किल तेषां शरीरं परिपूर्णं निष्पन्नमिति कृत्वा । तथा च तद्ग्रन्थः -"औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वं, तदारतस्तु मिश्र इति । नन्वनया युक्त्या संज्ञिनोऽपर्याप्तस्य देवनारकेषूत्पद्यमानस्य तनुपर्याप्त्या पर्याप्तस्य वैक्रियमपि शरीरमुपपद्यत एव, किमिह तन्नोक्तमिति ? । उच्यते-उपलक्षणत्वात् एतदपि द्रष्टव्यमित्यदोषः । यद्वा-इहापर्याप्ता लब्ध्यपर्याप्तका एवान्तर्मुहूर्त्तायुषो द्रष्टव्याः । ते च तिर्यङ्मनुष्या एव घटन्ते,तेषामेवान्तर्मुहूर्त्तायुष्कत्वसंभवात्,न देवनारकाः ,तेषां जघन्यतोऽपि दशवर्षसहस्राऽऽयुष्कत्वात् । लब्ध्यपर्याप्तका अपि च जघन्यतोऽपीन्द्रियपर्याप्तौ परिसमाप्तायामेव म्रियन्ते, नार्वागित्युक्तमागमाभिप्रायेण । ततस्तेषां लब्ध्यपर्याप्तकानां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामौदारिकमेव शरीरमुपपद्यते, न वैक्रियमित्यदोषः । किं चान्यमतकथनेनायमभिप्रायः सूच्यते-यद्यपि तेषां शरीरपर्याप्तिः समजनिष्ट, तथापि इन्द्रियोच्छ्वासाऽऽदीनामद्याप्यनिष्पन्नत्वेन शरीरस्यासंपूर्णत्वात् । अत एव कार्मणस्याप्यद्यापि व्याप्रियमाणत्वाश्चौदारिकमिश्रमेव तेषां युक्त्या घटमानमिति ॥ ४ ॥

सव्वे सन्निपजत्ते, उरलं सुहुमे सभास तं चउसु ।
बायरि सविउव्विदुगं, पजसन्निसु बार उवओगा ॥५॥

सर्वे पञ्चदशापि योगा भवन्ति । तथाहि-चतुर्धा मनोयोगः,चतुर्धा वाग्योगः,सप्तधा काययोगः। क्व?,इति । आह-संज्ञिपर्याप्ते संज्ञी चासौ पर्याप्तः संज्ञिपर्याप्तस्तस्मिन् संज्ञिपर्याप्ते । नन्वौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रकार्मणकाययोगाः कथं संज्ञिपर्याप्तस्य घटन्ते,तेषामपर्याप्तावस्थाभावित्वात् ? । उच्यते-वैक्रियमिश्रं संयताऽऽदेर्वैक्रियं प्रारभमाणस्य प्राप्यते, औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ तु केवलिनः समुद्घातावस्थायाम् ।

यदाह भगवानुमास्वातिवाचकवरः -

" औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः ।
मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥ १ ॥
कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ॥ " इति ।

पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय औदारिककाययोगो भवति, पर्याप्तशब्दश्च "सव्वे सन्निपज्जत्ते" इतिपदाद् डमरुकमणिन्यायेन सर्वत्र योज्यः । (चउसु त्ति) चतुर्षु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु तदपौदारिकं भवति । किं केवलम् ?, नेत्याह-सभाषं सह भाषया असत्यामृषास्वरूपया, " विगलेसु असच्चमोस त्ति' वचनात् वर्त्तते इति सभाषम् । कोऽर्थः ?-विकलत्रिकासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु औदारिककाययोगः सत्यामृषाभाषालक्षणौ द्वौ योगौ इत्यर्थः । तदित्यनुवर्तते, तदौदारिकं सह वैक्रियद्विकेन वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणेन वर्त्तते इति सवैक्रियद्विकं बादरैकेन्द्रियपर्याप्ते भवति । अयमर्थः -बादरैकेन्द्रिये पर्याप्ते औदारिककाययोग-वैक्रियकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगलक्षणास्त्रयो योगा भवन्ति । तत्रौदारिककाययोगः पृथिव्यप्तेजोवनस्पतीनां, वैक्रियद्विकं तु वायुकायस्येति प्ररूपिता जीवस्थानेषु योगाः । कर्म० ४ कर्म० ।

एतेषु पुनर्जीवस्थानेषु योगानभिधित्सुराह-

विगलासन्नीपज्ज-त्तएसु लब्भंति कायवइजोगा ।
सव्वे वि सन्निपज्ज-त्तएसु सेसेसु काओगो ॥ ६ ॥

इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् विकला इत्युक्ते विकलेन्द्रियग्रहणम्' एवमन्यत्रापि यथायोगं परिज्ञातनीयम् । तत्र विकलेन्द्रियेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपेषु,असंज्ञिषु च पञ्चेन्द्रियेषु, पर्याप्तेषु काययाग्योगौ लभ्येते । तत्र काययोग औदारिकशरीरलक्षणो द्रष्टव्यः, वाग्योगश्चासत्यामृषारूपः, " विगलेसु असच्चमोसे च ।" इति वचनात् । सर्वेऽपि च संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु सप्रभेदाः कायवाङ्मनोयोगाः पञ्चदशापि योगाः स्तेषु भवन्तीत्यर्थः । तत्र कार्मणौदारिकमिश्रौ केवलिसमुद्घातावस्थायाम् । उक्तं च-" मिश्रौदारिकयोगी सप्तमषष्ठद्वितीयेषु । कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ' ॥ १ ॥ इति । आहारकाहारकमिश्रावाहारकस्यैव वैक्रियवैक्रियमिश्रौ च तत्कर्तुः शेषास्त्वौदारिकाऽऽदयः सुप्रतीताः ,तथा शेषेषु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियेषु, अपर्याप्तेषु च द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिषु काययोग एवैको भवति ॥ ६ ॥

तमेव स्पष्टयन्नाह—

लद्धीए करणेहि य, ओरालिय मीसगो अपज्जत्ते ।
पज्जत्ते ओरालो, वेउव्विय मीसगो वा वि ॥ ७ ॥

लब्ध्या, करणैश्चापर्याप्ते औदारिकमिश्रः काययोगो भवति । इद च तिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्योक्तमवसेयम् । तेषामेव हि लब्ध्या, करणैश्चेति विशेषणद्वयसंभवः, न देवनारकाणां ते हि करणापर्याप्ता एव संभवन्ति,न लब्ध्यपर्याप्तकाः ,ततस्तेषामपर्याप्तावस्थायां वैक्रियमिश्रः काययोगो वेदितव्यः । सर्वेषामपि चापर्याप्तानामपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च कार्मणकाययोगः । तथा पर्याप्ते औदारिको, वैक्रियो, वैक्रियमिश्रश्च । तत्रौदारिकस्तिर्यङ्मनुष्याणां, वैक्रियो देवनारकाणां, वैक्रियवैक्रियमिश्रौ पर्याप्तबादरवायुकायिकपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां वैक्रियलब्धिमताम् । अपिशब्दादाहारकाहारकमिश्रौ चतुर्दशपूर्वविदः, इह केचन शरीरपर्याप्तेरर्वाक् नरतिरश्चामौदारिकमिश्रं, देवनारकाणां वैक्रियमिश्रं,शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वं पुनः शेषपर्याप्तिभिरपर्याप्तानामप्यौदारिकं वैक्रियं चेच्छन्ति, तन्मतनेयमन्यकर्तृका गाथा-

कम्मुरलदुगमपज्जे, वेउव्विदुगं च सन्निअपज्जे ।

पज्जेसुं उरलो च्चिय, वाए वेउव्वियदुगं च ॥ ८ ॥

अपर्याप्ते सूक्ष्माऽऽदौ कार्मणमौदारिकद्विकं च औदारिकौदारिकमिश्रलक्षणं, भावना प्रागिव पातनिकाऽनुसारेण वेदितव्या। संज्ञिनि पुनः "लद्धिे" इति वैक्रियलब्धिमति देवादौ चापर्याप्ते वैक्रियद्विकम्-वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणं, चशब्दात् कार्मणं च द्रष्टव्यम्। तथा पर्याप्तेषु सूक्ष्माऽऽदिशब्दादौदारिक एव काययोगः, उपलक्षणमेतत्-तत्र देवनारकेषु वैक्रिय एव। तथा वाते वायुकायिके पर्याप्ते वैक्रियद्विकम्-वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणं, चशब्दस्यानुक्तसमुच्चायकत्वादौदारिकं च वैक्रियद्विकमपि च बादरवायुकायस्य कस्यचिद् द्रष्टव्यम्, न तु सर्वस्य। यत उक्तं प्रज्ञापनाचूर्णौ-"तिण्हं ताव रासीणं वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि, बायरपज्जत्ताणं पि संखेज्जइभागस्स त्ति"। अत्र (तिण्हं रासीणं ति) त्रयाणां पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादररूपाणां राशीनाम्। पं० सं० १ द्वार। कर्म०। साम्प्रतमुपयोगं प्ररूपणावसरः प्राप्तः, ते च द्वादश। तद्यथा-मतिज्ञानश्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानमनःपर्यवज्ञानकेवलज्ञानलक्षणानि पञ्च ज्ञानानि। मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपाणि त्रीण्यज्ञानानि। चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनाऽवधिदर्शनकेवलदर्शनरूपाणि चत्वारि दर्शनानि। एतानेवानुयोगान् जीवस्थानकेषु दिदर्शयिषुराह-(पज्जसन्निसु बार उवओग त्ति) पज्जशब्देन पर्याप्त उच्यते। ततः पर्याप्ताश्च ते संज्ञिनश्च पर्याप्तसंज्ञिनः, तेषु पर्याप्तसंज्ञिषु द्वादश द्वादशसंख्या उपयोगा भवन्ति। न च क्रमेण, न तु युगपत्, उपयोगानां तथा जीवस्वभावतो यौगपद्यासंभवात्। उक्तं च-"समए दो उवओगा।"

श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिपादा अप्याहुः-

"नाणम्मि दंसणम्मि य, एत्तो एगयरयम्मि उवउत्ता।
सव्वस्स केवलिस्स वि, जुगवं दो नत्थि उवओगा" ॥१॥ इति ॥४॥

पज्जचउरिंदियअसन्निसु, दुदंस दुअनाण दससु चक्खु विणा।
सन्निअपज्जे मणना-णचक्खुकेवलदुगविहूणा ॥ ५ ॥

चतुरिन्द्रियाश्च असंज्ञिनश्च चतुरिन्द्रियासंज्ञिनः, पर्याप्ताश्च ते चतुरिन्द्रियासंज्ञिनश्च, तेषु पर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिषु, चत्वार उपयोगा भवन्ति। के त इत्याह-(दुदंस दुअनाण त्ति) दर्शनं दर्शनं, द्वयोर्दर्शनयोः समाहारो द्विदर्शम्-चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनलक्षणम्, द्वयोरज्ञानयोः समाहारो द्व्यज्ञानं-मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपम्। अयमर्थः-पर्याप्तचतुरिन्द्रियेषु पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु च मत्यज्ञानश्रुताज्ञानचक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनलक्षणाश्चत्वार उपयोगा भवन्ति। दशसु जीवस्थानकेषु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियाऽपर्याप्तापर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणेषु पूर्वोक्ताश्चत्वार उपयोगाश्चक्षुर्दर्शनं विना भवन्ति। पूर्वोक्तदशजीवस्थानकेषु चक्षुर्दर्शनवर्जा अचक्षुर्दर्शनमत्यज्ञानश्रुताज्ञानलक्षणास्त्रय उपयोगा भवन्ति। ननु स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमसद्भावतस्तु मतिरेकेन्द्रियाणां, यत्तु श्रुतं तत्कथं सङ्घटते? भाषालब्धिश्रोत्रेन्द्रियलब्धिमतो हि तदुपपद्यते, नान्यस्य।

तदुक्तम्-

"भावसुयं भासा-सोयलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स।
भासाभिमुहस्स सुयं, सोऊण य जं हविज्जा हि" ॥१॥ इति?

उच्यते-इह तावदेकेन्द्रियाणामाहाराऽऽदिसंज्ञा विद्यन्ते, तथा सूत्रेऽभिधानात्, संज्ञा चाभिलाष उच्यते। यदाहुः परोपकारैकवृत्तयः श्रीहरिभद्रसूरिमिश्राः आवश्यकटीकायाम्-आहारसंज्ञा आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयप्रभवः खल्वात्मपरिणामविशेष इति। अभिलाषश्च-ममैवंरूपं वस्तु पुष्टिकारि, तद्यदीदमवाप्यते ततः समीचीनं भवतीत्येवं शब्दार्थोल्लेखानुविद्धः स्वपुष्टिनिमित्तभूतप्रतिनियतवस्तुप्राप्त्यध्यवसायरूपः। स च श्रुतमेव शब्दार्थाऽऽलोचनानुसारित्वात्, श्रुतस्यैवैतल्लक्षणत्वात्। यदवादिषुर्दलितप्रवादिकुवादिदर्पा जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादाः-

"इंदियमणोनिमित्तं, विन्नाणं जं सुयानुसारेण।
नियअत्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मईसेसं" ॥ १ ॥

(सुयाणुसारेणं ति) शब्दार्थाऽऽलोचनानुसारेण। एकेन्द्रियाणामव्यक्त एव कश्चनाप्यनिर्वचनीयः शब्दार्थोल्लेखो द्रष्टव्यः। अन्यथाऽऽहाराऽऽदिसंज्ञाऽनुपपत्तेः। यदप्युक्तम् भाषाश्रोत्रेन्द्रियलब्धिविकलत्वादेकेन्द्रियाणां श्रुतमनुपपन्नमिति। तदप्यसमीक्षिताभिधानम्। तथाहि-बकुलाऽऽदेः स्पर्शनेन्द्रियातिरिक्तद्रव्येन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि किमपि सूक्ष्मं भावेन्द्रियपञ्चकविज्ञानमभ्युपगम्यते। "पंचिंदिओ व्व बउलो, नरो व्व सव्वविसओवलंभाओ।" इत्यादिवचनप्रामाण्यात्। तथा भाषाश्रोत्रेन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि तेषां किमपि सूक्ष्मं श्रुतमपि भविष्यति, अन्यथाऽऽहाराऽऽदिसंज्ञाऽनुपपत्तेः। यदाहुः प्रशस्यभाष्यसस्यकाश्यपीकल्पाः श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः-"जह सुहुमं भाविंदिय-नाणं दव्विंदियाण विरहे वि। दव्वसुयाभावम्मि य, भावसुयं पत्थिवाईणं ॥१॥" इति। संज्ञी चासावपर्याप्तश्च संज्ञ्यपर्याप्तस्तस्मिन् संज्ञ्यपर्याप्ते मनःपर्यवज्ञानचक्षुर्दर्शनकेवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणचतुष्कविहीनाः शेषा मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनरूपा अष्टावुपयोगा भवन्ति। कर्म० ४ कर्म०।

जीवस्थानेषूपयोगानभिदधाति-

मइसुयअन्नाण अचक्खु-दंसणेक्कारसेसु ठाणेसु।
पज्जत्तचउपणिंदिसु, सचक्खु सन्नीसु बारस वि ॥८॥

एकादशसु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियाऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनाख्यास्त्रय उपयोगा भवन्ति। अपर्याप्तकाश्चेह लब्ध्यपर्याप्तका वेदितव्याः। अन्यथा करणापर्याप्तकेषु चतुरिन्द्रियाऽऽदिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते, मूलटीकायामाचार्येणाभ्यनुज्ञानात्। संज्ञिनि च करणापर्याप्ते मतिश्रुतावधिज्ञानविभङ्गज्ञानावधिदर्शनान्यपि तथा। (पज्जत्तचउपणिंदिसु त्ति) पर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियेषु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु च सचक्षुः सचक्षुर्दर्शनाः पूर्वोक्तास्त्रय उपयोगा भवन्ति। संज्ञिषु च पर्याप्तेषु द्वादशापि। पं० सं० १ द्वार।

साम्प्रतं जीवस्थानकेषु लेश्याः प्रतिपिपादयिषुराह—

सन्निदुगि छ लेस अपज्ज-त्तबायरे पढम चउ ति सेसेसु।

संज्ञिनो द्विकमपर्याप्तपर्याप्तलक्षणं संज्ञिद्विकं, तस्मिन् संज्ञ्यपर्याप्ते, संज्ञिनि पर्याप्ते चेत्यर्थः। षड् लेश्याः कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललक्षणा भवन्ति। अपर्याप्तबादरे प्रथमाश्चतस्रः कृष्णनीलकापोततेजोरूपा भवन्ति। तेजोलेश्या कथमत्र लभ्यते इति चेत्? उच्यते-यदा "पुढवीआउवणस्सइ-गब्भे पज्जत्तसंखजीवीसु। सग्गचुयाणं वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा" ॥१॥ इति वचनात् कश्चनापि देवः स्वर्गलोकाच्च्युतः सन् बादरैकेन्द्रियतया पृथ्व्युदकतरुषु मध्ये समुत्पद्यते, तदा तस्य घण्टालालान्यायेन सा प्राप्यत इत्यदोषः। (ति से-

सु ति) प्रथमा इत्यनुवर्त्तते-प्रथमास्तिस्रः कृष्णनीलकापोतलक्षणाः, शेषेषु प्रागुक्तापर्याप्तपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तबादरैकेन्द्रियवर्जितेषु अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तबादरैकेन्द्रियलक्षणेषु एकादशसु जीवस्थानेषु भवन्ति ता नान्याः, तेषां सदैवाशुभपरिणामत्वात्, शुभपरिणामरूपाश्च तेजोलेश्याऽऽद्यः ।

तदेवं जीवस्थानकेषु लेश्या अभिधाय साम्प्रतमेतेष्वेव बन्धादयोदीरणासत्ताऽऽख्य स्थानचतुष्टयमभिधित्सुराह —

सत्तऽट्ठबंधुदीरणा, संतुदया अट्ठ तेरससु ॥७॥

"सत्तऽट्ठ बंधु" इत्यादि । सप्त वा अष्टौ वा सप्ताष्टाः, "सुज्वार्थे संख्या संख्येये संख्यया बहुव्रीहिः" ।३।१।१९। इति (सि०है०) सूत्रेण बहुव्रीहिसमासः । यथा-द्वित्रा इत्यादौ । बन्धश्चोदीरणा च बन्धोदीरणे, सप्ताष्टानां बन्धोदीरणे सप्ताष्टबन्धोदीरणे, त्रयोदशसु जीवस्थानेषु संज्ञिपर्याप्तवर्जितेषु शेषेषु भवतः । एतदुक्तं भवति-अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-पर्याप्तद्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय-पर्याप्तत्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय-पर्याप्तचतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु सप्तानामष्टानां वा बन्धः, सप्तानामष्टानां वा उदीरणा । तथाहि-यदाऽनुभूयमानभवायुषस्त्रिभागनवभागाऽऽदिरूपे शेष सति परभवायुर्बध्यते, तदाऽष्टानामपि कर्मणां बन्धः, शेषकाले त्वायुषो बन्धाभावात्सप्तानामेव बन्धः । तथा यदाऽनुभूयमानभवायुष उदयाऽऽवलिकाशेषं भवति, तदा सप्तानामुदीरणा । अनुभूयमानभवायुषोऽनुदीरणात्, आवलिकाशेषस्योदीरणाऽनर्हत्वात् । उदीरणा हि उदयाऽऽवलिकाबहिर्वर्त्तिनीभ्यः स्थितिभ्यः सकाशात्कषायसहितेनासहितेन वा योगकरणेन दलिकमाकृष्योदयसमयप्राप्तदलिकेन सहानुभवनम् । तथा चोक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—' उदयावलियाबाहिरिल्लठिईहिंतो कसायसहिएणं असहिएण जोगकरणेण दलियमाकड्डिय उदयपत्तदलिएण समं अणुभवणमुदीरणा " । तत कथमावलिकागतस्योदीरणा भवति ? । न च परभवाऽऽयुरुदीरणासंभवः, तस्योदयाभावात्, अनुदितस्य च उदीरणाऽनर्हत्वात् । शेषकाले त्वष्टानामुदीरणा । सत्तादयश्च प्राकृतत्वात् सन्तोदयाः, अष्टानामेव कर्मणां त्रयोदशसु जीवस्थानकेषु पूर्वेषु भवतः । तथाहि-एतेषु त्रयोदशसु जीवस्थानकेषु सर्वकालमष्टानामपि सत्ता, यतोऽष्टानामपि कर्मणां सत्ता उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावदनुवर्त्तते । एते च जीवा उत्कर्षतो यथासंभवमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकवर्त्तिनः भवन्ति । एवमुदयोऽप्येतेषु जीवस्थानेष्वष्टानामेव कर्मणां द्रष्टव्यः । तथाहि-सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावदष्टानामपि कर्मणामुदयोऽवाप्यते ॥७॥

एतेषु जीवस्थानकेषूत्कर्षतोऽपि यथासंभवमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकसंभव इति-

सत्तऽट्ठछेगबंधा, संतुदया सत्त अट्ठ चत्तारि ।

सत्तऽट्ठ छ पंच दुगं, उदीरणा सन्निपज्जत्ते ॥८॥

संज्ञी चासौ पर्याप्तश्च संज्ञिपर्याप्तः, तस्मिन् संज्ञिपर्याप्ते, चत्वारो बन्धा भवन्ति । तद्यथा-सप्तानां प्रकृतीनां बन्ध एकः, अष्टानां प्रकृतीनां बन्धो द्वितीयः, षण्णां प्रकृतीनां बन्धस्तृतीयः, एकस्याः प्रकृतेर्बन्धश्चतुर्थो बन्धः । तत्राऽऽयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मप्रकृतीनां बन्धो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं यावदुत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि षण्मासोनान्यन्तर्मुहूर्त्तोनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि । तथा-आयुर्बन्धकाले तासामष्टानां बन्धो जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः । आयुषि बध्यमानेऽष्टानां प्रकृतीनां बन्धः प्राप्यते । आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव कालं भवति, न ततोऽप्यधिकम् । तथैता एवाष्टावायुर्मोहनीयवर्जाः षट् । एतासां च जघन्येनैकं समयं बन्धः । तथाहि-ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायरूपाणां षण्णां प्रकृतीनां बन्धः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके, तत्र चोपशमश्रेण्यां कश्चिदेकं समयं स्थित्वा, द्वितीयसमये भवक्षयेण दिवं गतः सन्नविरतो भवति । अविरतत्वे चावश्यं सप्तप्रकृतीनां बन्ध इति षण्णां बन्धो जघन्येनैकं समयं यावदुत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तं, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानस्यान्तर्मुहूर्त्तकत्वात् । तथा सप्तानां प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदे सत्येकस्याः सातवेदनीयरूपायाः प्रकृतेर्बन्धः । स च जघन्येनैकं समयम् । एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्राग्वद्भावनीया, उत्कर्षेण पुनर्देशोनां पूर्वकोटिं यावत् । ननु चोत्कर्षतः कथं वेदितव्यम् इति चेत् ? । उच्यते-यो गर्भवासे मासान् सप्तकमुषित्वाऽनन्तरं शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्टकादूर्ध्वं संयमं प्रतिपन्नः, प्रतिपत्त्यनन्तरं च क्षपकश्रेणिमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शनः, तस्य सयोगिकेवलिनो वेदितव्यः । अथ चात्र तात्पर्यार्थः -मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तेषु सप्तानामष्टानां वा बन्धः, आयुर्बन्धाभावादपूर्वकरणानिवृत्तिबादरयोश्च सप्तानां बन्धः, सूक्ष्मसम्पराये षण्णां बन्धः, उपशान्तमोहाऽऽदिषु त्वेकस्याः प्रकृतेर्बन्धः । तथा सत्त्वोदयश्च प्राकृतत्वात् सन्तोदयाः, तत्र संज्ञिपर्याप्ते सत्तामाश्रित्य त्रीणि स्थानानि । तद्यथा-सप्त, अष्ट, चत्वारि । एवमुदयमप्याश्रित्य त्रीणि स्थानानि । तद्यथा-सप्त अष्ट, चत्वारि । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदयोऽष्टौ, एतासां चाष्टानां सत्ताऽभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसाना, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसाना । तथा-मोहे क्षीणे सप्तानां सत्ता । सा च जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा । सा हि क्षीणमोहगुणस्थाने तस्य च कालमानमन्तर्मुहूर्त्तमिति घातिकर्मचतुष्टयक्षयेण चतसृणां सत्ता । सा च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा, उत्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना । तथा-सर्वप्रकृतिसमुदयोऽष्टौ, तासां चोदयोऽभव्यानाश्रित्यानाद्यपर्यवसानः, भव्यानाश्रित्यानादिसपर्यवसानः । उपशान्तमोहगुणस्थानकात्प्रतिपतितानाश्रित्य पुनः सादिसपर्यवसानः । स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः, उपशमश्रेणितः पतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्त्तेन कस्याप्युपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः । उत्कर्षेण तु देशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तः । तथा-ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जाः सप्तानामुदयो जघन्येनैकं समयम् । तथाहि-मोहवर्जसप्तानां प्रकृतीनामुदय उपशान्तमोहे, क्षीणमोहे वा प्राप्यते । तत्र कश्चिदुपशान्तगुणस्थानके एकं समयं स्थित्वा द्वितीये समये च भवक्षयेण दिवं गच्छन्नविरतो भवति । अविरतत्वे चावश्यमष्टानां प्रकृतीनामुदयः, तत सप्तानामुदयो जघन्येनैकं समयं यावदवाप्यते, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तम् उपशान्तमोहक्षीणमोहगुणस्थानयोरान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । तथा-घातिकर्मवर्जाश्चतस्रः कर्मप्रकृतयः तासां च जघन्येन उदय आन्तर्मौहूर्त्तिकः, उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिप्रमाण इति । निष्टार्थश्चायम्-मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमारभ्य यावदुपशान्तमोहगुणस्थानकं तावदष्टानामपि सत्ता, क्षीणमोहगुणस्थाने सप्तानां सत्ता, सयोग्ययोगिगुणस्थानकयोश्चतसृ-

णां सत्ता । तथा-मिथ्यादृष्टेः प्रभृति सूक्ष्मसम्परायं यावदृष्टा नामुदय, उपशान्तमोहगुणस्थाने क्षीणमोहगुणस्थाने च सप्तानां प्रकृतीनामुदय । सयोग्ययोगिगुणस्थानयोश्चतसृणामुदय इति ॥ तथा-संज्ञिपर्याप्ते उदीरणास्थानानि पञ्च । तद्यथा-सप्त, अष्ट, षट्, पञ्च, द्वे इति । तत्र यदा अनुभूयमानमायुरावलिकाऽवशेषं भवति, तदा तथास्वभावत्वेन तदनुदीर्यमाणत्वात्सप्तानामुदीरणा । यदा त्वनुभूयमानमायुरावलिकाऽवशेषं न भवति, तदाऽष्टानां प्रकृतीनामुदीरणा । तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात्प्रभृति यावत्प्रमत्तसंयतगुणस्थानकं तावत्सप्तानामष्टाना चोदीरणा । सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं तु सदैवाष्टानामुदीरणा, आयुष आवलिकाऽवशेषे मिश्रगुणस्थानस्यैवाभावात् । तथा-अप्रमत्तगुणस्थानकात्प्रभृति यावत्सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्याऽऽवलिकाऽवशेषो न भवति, तावद्वेदनीयाऽऽयुर्वर्जानां षण्णां प्रकृतीनामुदीरणा, तदानीमतिविशुद्धत्वेन वेदनीयाऽऽयुरुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात् । आवलिकाऽवशेषे तु मोहनीयस्याप्यावलिकाप्रविष्टत्वेनोदीरणाया असंभवाद् ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणनामगोत्रान्तरायाणामेवोदीरणा । एतेषामेव चोपशान्तमोहगुणस्थानकेऽप्युदीरणा । क्षीणमोहगुणस्थानकेऽप्येतेषामेव यावदावलिकामात्रमवशेषो न भवति । आवलिकाऽवशेषे तु ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणान्तरायाणामप्यावलिकाप्रविष्टत्वादुदीरणेति द्वयोरेव नामगोत्रयोरुदीरणा । एवं सयोगिकेवलिगुणस्थानकेऽपि । अयोगिकेवलिगुणस्थानके तु वर्तमानो जीव सर्वथाऽनुदीरक एव । ननु तदानीमप्येष सयोगिकेवलिगुणस्थानक इव भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयोदयवान् वर्तते, ततः कथं तदाऽपि तयोर्नामगोत्रयोरुदीरको न भवति ?। नैव दोष । उदये सत्यपि योगसव्यपेक्षत्वादुदीरणाया, तदानीं च तस्य योगासत्त्वादिति । कर्म० ४ कर्म० ।

इदानीं गुणस्थानकेषु जीवस्थानानि चिन्तयन्नाह-

सव्वजियठाण मिच्छे, सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुगं।
सम्मे सन्नी दुविहो, सेसेसुं सन्निपज्जत्तो ॥ ४५ ॥

सर्वाणि जीवस्थानानि चतुर्दशापि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकेषु भवन्ति, मिथ्यात्वस्य सर्वेषु जीवस्थानकेषु संभवात् । तथा-(सग त्ति) सप्त जीवस्थानानि सास्वादने भवन्ति । तद्यथा-पञ्चापर्याप्ताः-बादरैकेन्द्रियोऽपर्याप्त १, द्वीन्द्रियोऽपर्याप्त २, त्रीन्द्रियोऽपर्याप्त ३, चतुरिन्द्रियोऽपर्याप्त ४, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽपर्याप्त ५ । संज्ञिद्विकम्-संज्ञ्यपर्याप्त १, संज्ञिपर्याप्त २ । अपर्याप्तकाश्चेह करणापर्याप्तका द्रष्टव्या, न तु लब्ध्यपर्याप्तका, तेषु मध्ये सास्वादनसम्यक्त्वसहितस्योत्पादाभावात्। (सम्मे सन्नी दुविहो त्ति) अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके संज्ञी द्विविधोऽपर्याप्तपर्याप्तरूपो लभ्यते । इहापर्याप्तक करणापेक्षया ज्ञेय, न तु लब्ध्यपेक्षया, लब्ध्यपर्याप्तमध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरभावात् । शेषेषु मिश्रदेशविरत्यादिगुणस्थानकेषु संज्ञी पर्याप्त इत्येकमेव जीवस्थानक, न शेषाणि, तेषां मिश्रभावदेशविरतिप्रतिपत्त्यभावात् । न च पूर्वप्रतिपन्नमिश्रभावोऽन्येषु जीवस्थानकेषु संक्रामेल्लभ्यते, "न सम्ममिच्छो कुणइ कालं" इति वचनात् । तदेवं गुणस्थानकेषु व्याख्यातानि जीवस्थानकानि । कर्म० ४ कर्म० ।

जीवस्थानकेषु भावा -

जीवस्थानेष्वपि भावा स्वयमेव चिन्तनीया । तत्राऽऽद्येषु द्वादशसु जीवस्थानेष्वौदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकरूपं भावत्रयम्, तच्च मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानकानामेव भावनीयम् । एतद्भावत्रय संज्ञिन्यपि लब्ध्यपर्याप्ते । करणापर्याप्ते तु तस्मिन् क्षीणसप्तकानां क्षायिकसम्यक्त्वस्य केषाञ्चिद् देवानामौपशमिकस्यापि संभवादौदयिक क्षायिक-क्षायोपशमिक पारिणामिकरूपमौपशमिकौदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकरूप वा भावचतुष्टयमवसेयम् । पर्याप्ते तु संज्ञिनि प्रागुक्तेन गुणस्थानकक्रमेण सर्वे भावा भावनीया । पं० सं० २ द्वार । (जीवस्थानेषु बन्धोदयसत्तास्थानानि 'बंध' शब्दे वक्ष्यन्ते)(बन्धोदयसत्तास्थानान्यधिकृत्य स्वामिता 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे ३०७ पृष्ठे निरूपिता)

जीवण–जीवन–न० । जीव-ल्युट् । प्राणधारणे, "जीवणमवि पाणधारणे भणिय ।" जीवनमपि प्राणधारणे भणितम्, 'जीव-प्राणधारणे' इति वचनात् । आ० म० द्वि० । विशे० । "जीविज्ज य आदिमोक्ख " जीव्यात्प्राणधारण कुर्यात् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । आ० चू० । जीव्यतेऽनेन । वृत्तौ, जले, मज्जने, हैयङ्गवीने च । वाच० । जीवयतीति जीवन । जीवनकारके, त्रि० । स० २० सम० । पुत्रे, जीवनौषधे, वायौ, क्षुद्रफलक, वृत्ते, पु० । वाच० ।

जीवणहेउ–जीवनहेतु–पुं० । ६ त० । "विद्या शिल्पं भृति सेवा, गोरक्षा विपणि कृषि । वृत्तिर्भैक्ष्य कुसीदं च, दश जीवनहेतव ॥१॥" इत्युक्तेषु विद्याऽऽदिषु जीवनोपायेषु दशसु, वाच० ।

जीवणास–जीवनाश–पुं० । जीवितनाशे, मृत्यौ, "आसीविसो वा वि परं सुरुट्ठो, किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा" । किं जीवितनाशान्मृत्योः परं कुर्यात्, न किञ्चिदपीत्यर्थः । दश० ९ अ० १ उ० ।

जीवणिकाय–जीवनिकाय–पुं० । जीवानां निकायो राशिर्जीवनिकाय । जीवराशौ, स्था० ६ ठा० । जीवनिकायाश्च पृथिव्यादय षट् । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । आव० ।

छ जीवनिकाया पन्नत्ता । तं जहा-पुढविकाइया० जाव तसकाइया ॥

जीवानां निकाया राशयो जीवनिकाया । इह च जीवनिकायानभिधाय यत्पृथिवीकायिकाऽऽदिशब्दैर्निकायवन्त उक्तास्तेषामभेदोपदर्शनार्थम् । न ह्येकान्तेन समुदायात् समुदायिनो व्यतिरिच्यन्ते, व्यतिरेकेणाप्रतीयमानत्वादिति । स्था० ६ ठा० ।

जीवणिज्ज–जीवनीय–त्रि० । उपजीव्ये, " देवसिणाए खलु अयं पुरिसे देवजीवणिज्जे । " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

जीवणिव्वत्ति–जीवनिर्वृत्ति–स्त्री० । निर्वर्त्तनं निर्वृत्तिः निष्पत्ति, जीवस्यैकेन्द्रियाऽऽदितया निर्वृत्तिर्जीवनिर्वृत्ति । जीवस्यैकेन्द्रियाऽऽदितया निष्पादने, भ० ।

जीवनिर्वृत्तिभेदा —

कइविहा णं भंते ! जीवणिव्वत्ती पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा जीवणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-एगिंदियजीवणिव्वत्ती० जाव पंचिंदियजीवणिव्वत्ती । एगिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-पुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती० जाव वणस्सइकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती । पुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सुहुमपुढवी-

काइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती य, बादरपुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती य । एवं एएणं अभिलावेणं भेदो जहा बड्डगबंधे तेयगसरीरस्स० जाव सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीतवेमाणियदेव । पंचिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव देवपंचिंदियजीवणिव्वत्ती य अपज्जत्तगसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव देवपंचिंदियजीवणिव्वत्ती य ।

(जहा वड्डगबंधे तेयगसरीरस्स त्ति) यथा-महद्बन्धाधिकारेऽष्टमशतनवमोद्देशकाभिहिते तेज शरीरस्य बन्ध उक्तः,एवमिह निर्वृत्तिर्वाच्या, सा च तत्र एव दृश्येति ॥ भ० १९ श० ८ उ० ।

जीवणिज्जाणमग्ग-जीवनिर्याणमार्ग-पुं० । जीवस्य निर्याण मरणकाले शरीरिण. शरीरान्निर्गम , तस्य मार्गो जीवनिर्याणमार्ग. । जीवनिर्गममार्गे, स्था० ।

पंचविहे जीवस्स णिज्जाणमग्गे पण्णत्ते ! तं जहा-पाएहिं, ऊरूहिं, उरेणं, सिरेण, सव्वंगेहिं । पाएहिं णिज्जाणमाणे निरयगामी भवइ । ऊरूहिं णिज्जाणमाणे तिरियगामी भवइ । उरेणं णिज्जाणमाणे मणुयगामी भवइ । सिरेणं णिज्जाणमाणे देवगामी भवइ । सव्वंगेहिं णिज्जाणमाणे सिद्धिगतिपज्जवसाणे पण्णत्ते ॥

निर्याण मरणकाले शरीरिण शरीरान्निर्गम', तस्य मार्गो निर्याणमार्ग पादाऽऽदिक , तत्र (पाएहिं) पादाभ्या मार्गभूताभ्या कारणताऽऽपन्नाभ्या, जीव' शरीरान्निर्यातीति शेष । एवमुरूभ्यामित्यादावपि। अथ क्रमेणास्य निर्याणमार्गस्य फलमाह-पादाभ्यां शरीरान्निर्यान् जीवो निरयगामीति । प्राकृतत्वादनुस्वार इति। निरयगामी भवति । एवमन्यत्रापि । सर्वाणि च तान्यङ्गानि च सर्वाङ्गानि,तैर्निर्यान् सिद्धिगति. पर्यवसान संसरणपर्यन्तो यस्य स सिद्धिगतिपर्यवसान प्रज्ञप्त इति । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

जीवणिस्सिय-जीवनिश्रित-त्रि० । जीवा ऽऽश्रिते,स्था० ७ ठा० ।

जीवनिःसृत-त्रि० । जीवेभ्यो नि सृतो निर्गतो जीवनि सृत । जीवनिर्गते, स्था० ७ ठा० । (जीवनि.सृताः स्वरा. 'सर' शब्दे वक्ष्यन्ते)

जीवत्थिकाय-जीवास्तिकाय-पुं० । जीवन्ति,जीविष्यन्ति, जीवितवन्त इति जीवाः, ते च तेऽस्तिकायाश्चेति समास । प्रत्येकासङ्ख्येयप्रदेशाऽऽत्मकसकललोकभाविनानाजीवद्रव्यसमूहाऽऽत्मकेऽस्तिकायभेदे, अनु० । आव० । स० । घटाऽऽदिज्ञानगुणस्य प्रतिप्राणि स्वसंवेदनसिद्धत्वाज्जीवस्यास्तित्वमवगन्तव्यम् । न च गुणिनमन्तरेण गुणसत्ता युक्ता,अतिप्रसङ्गात् । ननु देह एवास्य गुणी युज्यते । यतो ज्ञानममूर्तं चिद्रूप सदेवेन्द्रियगोचरातीतत्वाऽऽदिधर्मोपेतमतस्तस्यानुरूप एव कश्चिद् गुणी समन्वेषणीय । स च जीव एव, न तु देहो, विपरीतत्वात् । यदि पुनरननुरूपोऽपि गुणाना गुणी कल्प्यते,तदानवस्थारूपाऽऽदिगुणानामप्याकाशाऽऽदेर्गुणित्वकल्पना प्रसङ्गादिति । अनु० ।

जीवास्तिकायेन जीवाना प्रवृत्तिमाह-

जीवत्थिकाएणं भंते ! जीवाणं किं पवत्तइ ? । गोयमा ! जीवत्थिकाएण जीवे अणताणं आभिणिबोहियणाणपज्जवाणं अणंताणं सुयणाणपज्जवाणं जहा वितियसए अत्थिकायउद्देसए० जाव उवओगं गच्छंति, उवओगलक्खणेणं जीवे ॥

जीवाना किं प्रवर्तत इति प्रश्न । उत्तर तु प्रतीतार्थमेवेति, । भ० १३ श० ४ उ० ।

जीवास्तिकायस्याभिवचनान्याह-

जीवत्थिकायस्स णं भंते ! केवइआ अभिवयणा पण्णत्ता? । गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पण्णत्ता । तं जहा-जीवे ति वा,जीवत्थिकाए ति वा,पाणे ति वा,भूए ति वा,सत्ते ति वा, विण्णू ति वा,चेया ति वा,जेया ति वा,आया ति वा,रंगणे ति वा,हिंडुए ति वा,पोग्गले ति वा,माणवे ति वा,कत्ता ति वा, विकत्ता ति वा,जए ति वा,जंतू ति वा,जोणिए ति वा,सयंभू ति वा,ससरीरी ति वा,नायए ति वा,अंतरप्पा ति वा,जे यावण्णे तहप्पगारा, सव्वे ते जीवअभिवयणा पण्णत्ता ॥

(चेय त्ति) चेता-पुद्गलाना चयकारी,चेतयिता वा । (जये त्ति) जेता कर्मरिपूणाम् । (आय त्ति) आत्मा नानागतिसततगामित्वात् । (रगणे ति) रङ्गण रागस्तद्योगाद्रङ्गणः । (हिंडुए त्ति) हिण्डुकत्वेन हिण्डुक. । (पोग्गले त्ति) पूरणाद्गलनाच्च शरीराऽऽदीना पुद्गल । (माणव त्ति) मा निषेध,नव. प्रत्यग्रो मानव , अनादित्वात्पुराण इत्यर्थ. । (कत्त त्ति) कर्ता कारक. कर्मणाम् । (विकत्त त्ति) विविधतया कर्ता, विकर्तयिता वा छेदक कर्मणामेव । (जए त्ति) अतिशयगमनाद् जगत् । (जतु त्ति) जननाज्जन्तु' । (जोणि त्ति) योनिरन्येषामुत्पादकत्वात् । (सयभु त्ति) स्वय भवनात् स्वयभू । (ससरीरि त्ति) सह शरीरेणाति सशरीरी । (नायए त्ति) नायक कर्मणा नेता । (अतरप्प त्ति) अन्तर्मध्यरूप आत्मा न शरीररूप इत्यन्तरात्मेत । भ० २० श० २ उ० ।

जीवदय-जीवदय-पुं० । जीवन जीव -भावप्राणधारणममरणधर्मत्वमित्यर्थ ,त दयत इति जीवदय । जीवेषु वा दया यस्य स जीवदय. । जीवदयोपेते, स० १ सम० । औ० । कल्प० ।

जीवदया जीवदया स्त्री०। जीवाभ्यतनाऽऽदिविहिङ्क्ष्यङ्क्षया एकेन्द्रियाऽऽदय ,तेषा दया रक्षण जीवदया । जीवरक्षणे,दर्श०१ तत्व ।

जीवदयास्वरूपमाह-

अंधाणं विगलाण अयंगमाणं अणाहाणं बहुवाहिवेयणापरिगयसरीराणं सव्वलोयपरिभूयाणं दारिद्ददुक्खदोहग्गकलंकियाणं जम्मदारिद्दाणं समणाणं विहलियाणं च मेवंविधधत्ताण जं जस्स इट्ठं भत्तं वा पाणं वा० जाव णं धणधन्नसुवन्नहिरण्ण वा कुणसु य सयलसोक्खदायगं संपुण्ण जीवदयं ति । महा० ७ चू० ।

जीवदव्वप्पकप्प-जीवद्रव्यप्रकल्प-पुं० । " जीवस्स दव्वस्स जहा देवदत्तस्स अग्गकेसहत्थाण कप्पण" जीवद्रव्यप्रकल्प. । द्रव्यप्रकल्पभेदे, नि० चू० १ उ० ।

जीवदिट्ठिया-जीवदृष्टिका-स्त्री० । या अश्वाऽऽदिदर्शनार्थ ग.च्छति तस्याम, स्था० २ ठा० १ उ० ।

जीवदेवसूरि-जीवदेवसूरि-पु० । "रासिल्लसूरिशिष्ये, जै० इ० । वायटग्रामे महीधरमहीपालनामानौ द्वौ ब्राह्मणकुमारावास्ताम् । तयोर्महीधरो जिनदत्तसूरिणा दीक्षितो रासिल्लसूरिरभवत् । महीपालो देशान्तरे दिगम्बरप्रव्रज्या गृहीत्वा सुवर्णकीर्ति-नामाऽभवत् । तत्र स आधाकर्मिकाऽऽदिदोषपूर्णकृत्यमवेदय रासिल्लसूरिसमीपे श्वेताम्बरदीक्षामग्रहीत् . तत्रो जीवदेवसू-रिनामाऽभवत् । एतेनैव वायटग्रामे जैनानां ब्राह्मणैः सह वि-रोधस्त्याजितः । जै० इ० ।

जीवधम्म-जीवधर्म-पु० । जीवानां जन्मजरामरणव्याधिरोग-शोकसुखदु खजीवनाऽऽदिके धर्मे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

जीवपइट्ठिय-जीवप्रतिष्ठित-त्रि० । जीवेषु स्थिते, "अजीवा जीवपइट्ठिआ" अजीवा शरीराऽऽदिपुद्गलरूपा जीवप्रतिष्ठिता', जीवेषु तेषां स्थितत्वात् । भ० १ श० ६ उ० । स्था० ।

जीवपएस-जीवप्रदेश-पु० । जीवानामवयवे, भ० ।

छिन्नजीवखण्डाना जीवप्रदेशैः स्पर्शो यथा-

अह भंते ! कुम्मे कुम्मावलिया गोहा गोहावलिया गो-णा गोणावलिया मणुस्से मणुस्सावलिआ माहिसे महि-सावलिया, एएसि णं भंते ! दुहा वा तिहा वा संखेज्जहा वा छिण्णाण जे अंतरा ते वि णं तेहिं जीवपएसेहिं फुडा ?। हंता फुडा । पुरिसेणं भंते ! अंतरा हत्थेण वा पाएण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा कट्ठेण वा कलिंबेण वा आमुसमाणे वा संमुसमाणे वा आलिहमाणे वा वि-लिहमाणे वा अण्णयरेण वा तिक्खेण सत्थजाएण आ-च्छिंदमाणे वा विच्छिंदमाणे वा अगणिकाएणं समोड-हमाणे तेसिं जीवपएसाणं किंचि आवाहं वा वावाहं वा उप्पायइ, छविच्छेदं वा करेइ ?। णो इणट्ठे समट्ठे । नो खलु तत्थ सत्थं कमइ ॥

"अह" इत्यादि । (कुम्मे त्ति) कूर्मः कच्छपः । (कुम्मावलि. य त्ति) कूर्मावलिका कच्छपपङ्क्तिः, (गोह त्ति) गोधा सरीसृ-पविशेषः । (जे अंतर त्ति) यान्यन्तरालानि (ते वि त्ति) ता-न्यन्तरालान्यपि (कलिंबेण व त्ति) क्षुद्रकाष्ठरूपेण (आमुसमाणे व त्ति) आमृशन्, ईषत्स्पृशन्नित्यर्थः (संमुसमाणे व त्ति) सामस्त्येन स्पृशन्नित्यर्थः । (आलिहमाणे व त्ति) आलिखन् ईषत्सकृद्वा कर्षन्, (विलिहमाणे व त्ति) विलिखन् निनरा-मनेकशो वा कर्षन्, (आच्छिंदमाणे व त्ति) ईषत्सकृद्वा छिन्दन्, (विच्छिंदमाणे व त्ति) निनरामसकृद्वा छिन्दन् (समोडहमाणे त्ति) समुपदहन्, (आवाह व त्ति) ईषद्बाधां (वावाह व त्ति) व्याबाधा प्रकृष्टपीडाम् । भ० ८ श० ३ उ० । एक एव चरमप्रदेशो जीव इत्यभ्युपगमाज्जीव प्रदेशो येषा ते जीवप्रदेशा । चरमप्रदेशजीवप्ररूपिणि द्वितीयनिह्नवे, विशे० । "जीवपएसा य तीसगुत्ताओ" । जीवप्रदेशा पुनस्तिष्यगु-प्तादुत्पन्ना । विशे० ।

प्रदेशजीव-पु० । प्रदेश इत्यन्त्यप्रदेश जीवो येषा ते प्रदेशजीवा । प्राकृतत्वाच्च व्यत्यय । अन्त्यप्रदेश एव जीव इत्यभ्युपगते ऽन्त्यप्रदेशजीववादिनि द्वितीयनिह्नवे, उत्त० ३ अ० ।

जीवपएसिय-जीवप्रादेशिक-पु० । जीवप्रदेशा एव जीवप्रदि-शिका । अथवा जीवप्रदेशो जीवाभ्युपगमतो विद्यते येषां त तथा । चरमप्रदेशजीवप्ररूपिणः (स्था० ७ ठा०) एकेनाऽपि प्रदेशेन न्यूनो जीवो न भवत्यतो येनैकेन प्रदेशेन पूर्ण. स जीवो भवति । स एवैकः प्रदेशो जीवो भवतीत्येवंविधवा-दिनि तिष्यगुप्ताऽऽचार्यमतावलम्बिवादिनि द्वितीयनिह्नवे, औ० ।

अथ द्वितीयनिह्नववक्तव्यतामाह निर्युक्तिकार -

सोलस वासाइँ तया, जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स ।
जीवपएसियदिट्ठी, तो उसभपुरे समुप्पन्ना ॥ २३३३ ॥
रायगिहे गुणसिलए, वसु चउदसपुव्वि तीसगुत्ते य ।
आमलकप्पा नयरी, मित्तसिरी कूरपिंडाई ॥२३३४॥

श्रीमन्महावीरजिनेन तदा षोडश वर्षाणि केवलज्ञानस्योत्पा-दितस्याभूवन् । तनश्च राजगृहापरनाम्नि ऋषभपुरे नगरे जीवप्रदेशिकदृष्टि समुत्पन्नेति । कथमुत्पन्ना ?, इत्याह-राज-गृहे नगरे गुणशिलके चैत्ये चतुर्दशपूर्विणो वसुनामान आचा-र्याः समागताः, तेषां च तिष्यगुप्तो नाम शिष्य. । स च तत्र पूर्वगतमालापक वक्ष्यमाणस्वरूपमधीयानो वक्ष्यमाणयुक्ति-भिर्विप्रतिपन्नोऽसद्बुद्ध परिहृता गुरुभिर्विहरन् आमलकल्पा-या नगर्यां गत',तत्र च मित्रश्रीनाम्ना श्रावकेण "कूरपिण्डा-" ऽऽदिना कूरसिक्थाऽऽदिदानेन प्रतिबोधित इत्यर्थः ॥ २३३३ । २३३४ ॥

अथास्य निर्युक्तिगाथाद्वयस्य भाष्यमाह-

आयप्पवायपुव्वं, अहिज्जमाणस्स तीसगुत्तस्स ।
नयमयमयाणमाण-स्स दिट्ठिमोहो समुप्पन्नो ॥२३३५॥

आत्मप्रवादनामक पूर्वमधीयानस्य तिष्यगुप्तस्य अयं सूत्रा-लापक समायात' । तद्यथा-"एगे भंते ! जीवपएसे जीवे त्ति वत्तव्व सिया ? । नो इणट्ठे समट्ठे । एव दो तिण्णि० जाव दस संखेज्जा । असंखेज्जा भंते ! जीवपएसा जीव त्ति वत्तव्व सिया ?। नो इणट्ठे समट्ठे । एगपएसूणे वि ण जीवे नो जीवे त्ति वत्तव्व सिया । से केण अट्ठेण ?। जम्हा ण कसिणे पडि-पुन्ने लोगागासपएसतुल्ले जीवे जीवे त्ति वत्तव्व सिया, से तेण अट्ठेण" इति । अमु चाऽऽलापकमधीयानस्य कस्यापि न-यस्येदमपि मतम्, न तु सर्वनयानामित्येवमजानतस्तिष्यगुप्तस्य मिथ्यात्वोदयाद् दृष्टे दर्शनस्य मोहो विपर्यास सजात इति । ॥ २३३५ ॥

कथमित्याह—

एगादओ पएसा, नो जीवो नो पएसहीणो वि ।
जं तो स जेण पुन्नो, स एव जीवो पएसो त्ति ॥२३३६॥

यद्यस्मादेकाऽऽदय प्रदेशास्तावज्जीवो न भवति, "एगे भंते ! जीवपएसे ।" इत्याद्यालापके निषिद्धत्वात् । एव यावदेकेनापि प्रदेशेन हीनो जीवो न भवति, अत्रैवाऽऽलापके निवारितत्वात् । ततस्तस्माद् येन केनापि चरमप्रदेशेन स जीव. परिपूर्ण क्रियते, स एव प्रदेशो जीवो, न शेषप्रदेशा । एतत्सूत्राऽऽलापकप्रामा-ण्यादित्येव विप्रतिपन्नोऽसाविति ॥ २३३६ ॥

तत किमित्याह-

गुरुणाऽभिहिओ जइ ते, पढमपएसो न सम्मओ जीवो ।

तो तप्परिमाणो च्चिय, जीवो कहमंतिमपएसो? ।२३३७।

एकोऽन्त्यप्रदेशो जीवस्तद्भावभावित्वाज्जीवत्वस्येत्यादि श्रुत्वाणस्तिष्यगुप्तो गुरुणा वसुसूरिणा अभिहित -हन्त ! यदि ते तव प्रथमो जीवप्रदेशो जीवो न सम्मत , ततस्तदन्तिमो जीवप्रदेश कथ केन प्रकारेण जीव. ?। न घटत एव सोऽपि जीव इत्यर्थ । कुत ?, तत्परिणाम इति कृत्वा। इदमुक्त भवति-भवदभिमतोऽन्त्यप्रदेशोऽपि न जीव., अन्यप्रदेशैस्तुल्यपरिणामत्वात्, प्रथमाऽऽद्यन्यप्रदेशवदिति ॥ २३३७ ॥

अथवा व्यत्ययेन प्रयोग इति दर्शयति-

अहव स जीवो कह ना-इमो त्ति को वा विसेसहेऊ ते ?।
अह पूरणो त्ति बुद्धी, एक्केक्को पूरणो तस्स ॥२३३८॥

अथवा-सोऽन्तिमप्रदेश कथ जीवस्त्वयाऽभ्युपगम्यते ?, कथ च न-नैवाऽऽदिम. प्रथमस्तद्रूपतया इष्यते ?। नन्वाद्योऽपि प्रदेशो जीव एवेष्यतां, शेषप्रदेशतुल्यपरिणामत्वात्, अन्त्यप्रदेशवदिति । को वाऽत्र विशेषहेतुस्तव, येन प्रदेशत्वे तुल्येऽप्यन्तिमो जीवो न प्रथम ?, इति । अथ विवक्षितासङ्ख्येयप्रदेशराशेरन्त्य.प्रदेश. पूरण इति विशेषसद्भावत स जीवो न प्रथम इति तव.बुद्धि । तदयुक्तम् । यतो यथाऽन्त्य प्रदेश. पूरणस्तथा एकैक. प्रथमाऽऽदिप्रदेश , तस्य विवक्षितजीवप्रदेशराशे. पूरण एव, एकमपि प्रदेशमन्तरेण तस्यापरिपूर्णेरिति ॥२३३८॥

एव च सर्वप्रदेशानां पूरणत्वे इदमनिष्टमापतति ।
किम ?, इत्याह-

एवं जीवबहुत्तं, पइजीवं सव्वहा व तदभावो ।
इच्छा विवज्जओ वा,विसमत्तं सव्वसिद्धी वा ॥२३३९॥

एव सर्वजीवप्रदेशानां विवक्षितप्रदेशमानपूरणत्वेऽन्त्यप्रदेशवत्प्रत्येक जीवत्वात्प्रतिजीव जीवबहुत्वमसङ्ख्येयजीवाऽऽत्मक प्राप्नोति । अथवा-प्रथमाऽऽदिप्रदेशवदन्त्यप्रदेशस्याप्यजीवत्वे सर्वथा तदभावो जीवाभाव. प्रसजति । अथ पूरणत्वे समानेऽप्यन्त्यप्रदेश एव जीव , शेषास्तु प्रदेशा अजीवा इत्याग्रहो न मुच्यते, तर्हि राजाऽऽदेरिवेच्छा भवत , यत्प्रतिभासते तदेव हि जल्प्यत इति । तथा च सति विपर्ययोऽपि कस्मान्न भवति-आद्यो जीवोऽन्त्यस्तु प्रदेशो जीव इति ?, विषमत्व वा कुतो न भवति-केचनाऽपि प्रदेशा जीवा , केचिदजीवा इति ?। अनियमेन सर्वविकल्पसिद्धिर्वा कस्मान्न भवति, स्वेच्छया सर्वपक्षाणामपि वक्तु शक्यत्वादिति ? ॥२३३९॥

किञ्च-

जं सव्वहा न वीसुं, सव्वेसु वि तं न रेणुतेल्लं व ।
सेसेसु असब्भूओ, जीवो कहमंतिमपएसे ॥२३४०॥

यद् विष्वगेकैकस्मिन्नवयवे सर्वथा नास्ति तत्सर्वेष्वपि अवयवेषु समुदितेषु न भवति, यथा रेणुकणेषु प्रत्येकमसत्समुदाये तैल, नास्ति च प्रथमाऽऽदिके एकैकस्मिन् प्रदेशे जीवत्व, तत शेषेषु प्रथमाऽऽदिप्रदेशेष्वसद्भावत्व परिणामाऽऽदिना तुल्ये कथमेकस्मादेकस्मिन्नेवान्त्यप्रदेशे समायातमिति ? ।२३४०।

पुन परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अह देसओऽत्थ सेसेसु तो वि किह सव्वहंतिमे जुत्ते ।
अह तम्मि व जो हेऊ,स एव सेसेसु वि समाणो ॥२३४१॥

अथान्त्यादवशेषेषु प्रथमाऽऽदिप्रदेशेषु, देशतो जीव समस्त्येव, अन्त्यप्रदेशे तु सर्वाऽऽत्मनाऽसौ समस्तीति विशेष.। ततो "ज सव्वहा न वीसु" इत्येतदसिद्धमिति भाव । अत्रोत्तरमाह-तथापि कथमन्त्यप्रदेशे सर्वाऽऽत्मना जीवो युक्त ?। ननु तत्रापि देशत एवाऽसौ युज्यते,तस्यापि प्रदेशत्वात्,प्रथमाऽऽदिप्रदेशवत् । अथान्त्यप्रदेशे सपूर्णो जीव इष्यते, तर्हि तत्र तद्भावे यो हेतु स शेषेष्वपि प्रथमाऽऽदिप्रदेशेषु समान एव, तुल्यधर्मकत्वात् । अतस्तेष्वपि प्रतिप्रदेश सपूर्णजीवत्वमन्त्यप्रदेशवत्किं नेष्यते ?, इति ॥२३४१॥

अथ प्रथमाऽऽदिप्रदेशेषु जीवत्व नेष्यते, तर्ह्यन्त्यप्रदेशेऽपि तन्नेष्टव्यम । कुत ?; इत्याह-

नेह पएसत्तणओ, अंतो जीवो जहाऽऽइमपएसो ।
आह सुयम्मि निसिद्धा, सेसा न उणोंतिमपएसो ॥२३४२॥

इहान्त्यप्रदेशोऽपि न जीव.,प्रदेशत्वात्,यथा प्रथमाऽऽदिप्रदेश इति । आह-नन्वागमबाधितेय प्रतिज्ञा, यत. पूर्वोक्ताऽऽलापकरूपे श्रुते शेषा प्रथमाऽऽदिप्रदेशा जीवत्वेन निषिद्धा:, न पुनरन्त्यप्रदेश:,तस्य तत्र जीवत्वानुज्ञानात् । अत कथ प्रथमाऽऽदिप्रदेशवदन्त्यस्य जीवत्वनिषेध मन्यामहे ?, इति ॥२३४२॥

अत्रोत्तरमाह-

णणु एगो त्ति निसिद्धो, सो वि सुए जइ सुयं पमाण ते ।
सुत्ते सव्वपएसा, भणिया जीवो न चरिमो त्ति ।२३४३।

ननु सोऽपि-अन्त्यप्रदेश श्रुते जीवत्वेन निषिद्ध । कुत ?, इत्याह-एक इति कृत्वा । तथाहि-तत्रैवेत्थमुक्तम्-"एगे भंते ! जीवपएसे जीवे त्ति वत्तव्व सिया ?। णो इणट्ठे समट्ठे" इति । ततो यदि श्रुत तव प्रमाण,ततोऽन्त्यप्रदेशस्यापि जीवत्व नेष्टव्यम,एकत्वात, प्रथमाऽऽद्यन्यतरप्रदेशवत् । किञ्च-यदि श्रुत हन्त ! प्रमाणीकरोषि, तदा सर्वेऽपि जीवप्रदेशा परिपूर्णा जीवत्वेन श्रुते भणिता , न त्वेक एव चरमप्रदेश । तथा च तत्रैवाभिहितम्-"जम्हा ण कसिणे पडिपुण्णे लोगागासपएसतुल्ले जीवे त्ति वत्तव्वं सिया "। अत श्रुतप्रामाण्यमिच्छता भवता नैक एवान्त्यप्रदेशो जीवत्वेनैष्टव्य इति ॥ २३४३ ॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन साधयन्नाह-

तंतू पडोवयारी, न समत्तपडो य समुदिया ते उ ।
सव्वे समत्तपडओ, सव्वपएसा तहा जीवो ॥२३४४॥

एकस्तन्तुर्भवति समस्तपटोपकारी, तमप्यन्तरेण समस्तपटस्याभावात् । परं स एकस्तन्तु समस्तपटो न भवति, किन्तु ते तन्तव. सर्वेऽपि समुदिता. समस्तपटव्यपदेश लभन्त इति प्रतीतमेव । तथा जीवप्रदेशोऽप्येको जीवो न भवति किन्तु सर्वेऽपि जीवप्रदेशा. समुदिता जीव इति ॥२३४४॥

ननु प्राग् यदुक्तम्-"नयसमयमयाणमाण-स्स दिट्ठिमोहो न मुप्पन्नो त्ति" तत् कस्य नयस्यैवं मतम् ?, इत्येतद्दर्शयन्तकरदष्टधंकमुपदेशमाह-

एवंभूयनयमयं, देस-पएसा न वत्थुणो भिण्णा ।
तेणावत्थु त्ति मया, कसिणं चिय वत्थुमिट्ठं मे ।२३४५।

जइ तं पमाणमेवं, कसिणो जीवो अहोवयाराओ ।
देसे वि सव्वबुद्धी, पवज्ज सेसे वि तो जीव ॥२३४६॥

एवम्भूतनयस्येदं मत यदुत-देशप्रदेशौ न वस्तुनो भिन्नौ, तेन तौ अवस्तुरूपौ मतौ । अतो देशप्रदेशकल्पनारहित कृत्स्न परिपूर्णमेव वस्तु 'से' तस्यैवम्भूतनयस्येष्टम् । ततो यदि तदेवम्भूतनयमतं प्रमाण जानासि त्वम्, एव तर्हि कृत्स्न. परिपूर्णो जीवो, न त्वन्त्यप्रदेशमात्रमपि प्रतिपद्यस्व । अथ ग्रामो दग्ध', पटो दग्धः, इत्यादिन्यायादेकदेशेऽपि समस्तवस्तूपचाराद्-न्त्यप्रदेशलक्षणे देशेऽपि समस्तजीवबुद्धिस्तत्र प्रवर्त्तते, तर्हि शेषेऽपि प्रथमाऽऽदिप्रदेशे उपचारतो जीव प्रतिपद्यस्व,न्यायस्य समानत्वादिति ॥ २३४५ । २३४६ ॥

अथवा-अभ्युपगम्येदमुक्त, न चैकप्रदेशमात्रे सर्वजीवोपचारो युज्यत इति दर्शयन्नाह-

जुत्तो व तदुवयारो, देसूणे न उ पएसमेत्तम्मि ।
जह तंतूणम्मि पडे, पडोवयारो न तंतुम्मि ॥ २३४७ ॥

अथवा-उपचारादप्येक एवान्त्यप्रदेशो जीवो न भवति, किन्तु देशोने एव जीवे जीवोपचारो युज्यते, यथा तन्तुभिः कतिपयैरूने पटे पटोपचारो दृश्यते, न त्वेकस्मिंस्तन्तुमात्र इति ॥ २३४७॥

एव गुरुणाऽभिहिते ततः किम् ?, इत्याह—

इय पण्णविओ जाहे, न पवज्जइ सो कओ तओ वज्झो ।
तउ आमलकप्पाए,मित्तसिरिणा सुहोवाय ॥२३४८॥
भक्खण-पाण-व्वंजण-वत्थंतावयवलाभिओ जणइ ।
सावय! विधम्मिया म्हे,कीस त्ति तओ भणइ सड्ढो॥२३४९॥
नणु तुज्झं सिद्धंतो, पज्जंतावयवमेत्तओऽवयवी ।
जइ सच्चमिणं तो का,विहम्मणा मिच्छमिहरा भे ॥२३५०॥

गतार्थो एव, नवरम्, इति पूर्वोक्तप्रकारेण गुरुभिः प्रज्ञापितस्तिष्यगुप्तो यावत्र किञ्चित्प्रतिपद्यते, तत उद्घाट्य बाह्य कृतो विहरन्नामलकल्पां नगरीं गत्वा आम्रशालवने स्थित । तत्र मित्रश्रीश्रावकेण निह्नवोऽयमिति ज्ञात्वा तत्प्रतिबोधनार्थं गत्वा निमन्त्रितः-'यन्मदीयगृहे प्रकरणमद्य तत्र भवद्भिः स्वयमागन्तव्यम्' । ततो गतास्ते तद्गृहे । तेन च तत्र तिष्यगुप्तमुपवेश्य महान्त सम्भ्रममुपदर्शयता तत्पुरतो भक्ष्यभोज्यान्नपानव्यञ्जनवस्त्राऽऽदिवस्तुनिचया विस्तारिता । ततस्तेषां मध्यात्सर्वेभ्योऽन्त्यावयवान् गृहीत्वा प्रतिलाभितोऽसौ, कूरसिक्थाऽऽदिना प्रतिलाभित इत्यर्थ । ततो भणत्यभिधत्ते-"हे श्रावक! विधर्मिना किमिति त्वया वयमित्थम् ?' तत श्राद्धो भणति-(नणु तुज्झमित्यादि) (मिच्छमिहरा भे त्ति) अन्यथा यदि नेद सत्यम्, तदा सर्वमपि मिथ्या भवता भाषितमिति ॥२३५०॥

अपि च-

अंतोऽवयवो न कुणइ, समत्तकज्जं ति जइ न सोऽभिमओ ।
संववहाराईए,तो तम्मि कओऽवयविगाहो ? ॥२३५१॥

यदि नामाऽन्त्यावयव समस्तस्याप्यवयविनो यत्साध्य कार्यं तत्र करोतीत्यतोऽसौ नाभिमतो भवताम्-कूरसिक्थकाऽऽदीन तत्र कतिपयाभिक्षयसुकुमारिकाऽऽदमृद्भक्षणाद्यन्त्यावयवरूपोऽन्त्यावयवो यदि न परितोषकरो, भवतामित्यर्थ , तर्हि सव्यवहारातीते तस्मिन्नन्त्यावयवे कुत. किल समस्तावयविग्रहो भवतामिति ? ॥२३५१॥

प्रमाणयन्नाह-

अंतिमतंतू न पडो, तक्कज्जाकरणओ जहा कुंभो ।
अह तयभावे वि पडो,सो किं न घडो खपुप्फं व ? ॥२३५२॥

अन्त्यतन्तुमात्र न पट , तस्य पटस्य कार्यं शीतत्राणाऽऽदिक तत्कार्यं,तस्याकरणं तत्कार्याकरण,तस्मादिति । यथा कुम्भो घट' । अथ तदभावेऽपि पटकार्याभावेऽपि तन्तु पट इष्यत, तर्हि किमित्यसौ पटो घट खपुष्प वा न भवति, पटकार्याकर्तृत्वस्याविशेषादिति ? ॥२३५२॥

तथाहि-

उवलंभव्ववहारा-भावाओ नत्थि ते खपुप्फं व ।
अंतावयवेऽवयवी, दिट्ठंताभावओ वा वि ॥ २३५३ ॥

तवाभिमतोऽवयवी अन्त्यावयवे नास्ति, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धे , व्यवहाराभावाच्च, खपुष्पवदिति । अथवा-'अन्त्यावयवमात्रमवयवी, अवयविसम्पूर्णहेतुत्वात,' इत्यत्र तावद् दृष्टान्ताभावाद् न साध्यसिद्धिरिति ॥ २३५३ ॥

यदि नाम नोपलभ्यते, नापि व्यवह्रियते, दृष्टान्ताभावाच्च नानुमीयते, तत किम् ?, इत्याह—

पच्चक्खओऽणुमाणा-दागमओ वा य सिद्धि अत्थाणं ।
सव्वप्पमाणविसया-ईयं मिच्छत्तमेवं भे ॥ २३५४ ॥

प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणैरर्थानां सिद्धि , तानि च त्वत्पक्षसाधकत्वेन न प्रवर्त्तन्ते । अत सर्वप्रमाणविषयातीत 'भे' भवताऽभिहित मिथ्यात्वमेवेति ॥ २३५४ ॥

तदेवं मित्रश्रीश्रावकेणोक्ते स किं कृतवान् ?, इत्याह-

इय चोइयमंबुद्धो,खामिय पडिलाभिओ पुणो विहिणा ।
गतु गुरुपायमूलं, ससीसपरिसो पडिक्कतो ॥ २३५५ ॥

इति प्रेरित सम्बुद्धोऽसौ विहितक्षमितक्षामितेन मित्रश्रीश्रावकेण सम्पूर्णान्नप्रदानाऽऽदिविधिना पुनरपि प्रतिलाभितो गुरुपादमूल गत्वा शिष्यपरिवृतसमेतो विधिना प्रतिक्रान्त सम्यग्मार्गं प्रपन्नो गुर्वन्तिके विजहारेति गाथार्थ ॥ २३५५ ॥

जीवप्रदेशा आकाशप्रदेशस्तुल्यो वाऽधिको वा हीनो वेति ? प्रश्ने, उत्तरम्-जीवप्रदेशाऽऽकाशप्रदेशयोर्निर्विभागभागरूपत्वेन तुल्यत्वमेवेति मन्तव्यम् । १०७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथाऽष्टौ गोस्तनाकारा जीवप्रदेशा सन्ति, तेषां कर्मवर्गणा लगति, न वेति ? प्रश्ने,उत्तरम्-जीवानां मध्याष्टप्रदेशाना कर्मवर्गणा न लगतीति ज्ञानदीपिकायां प्रोक्तमस्ति । यथा-"स्पृश्यन्ते कर्मणा तेऽपि, प्रदेशा आत्मनो यदि । तदा जीवो जगत्यास्मि-न्नजीवत्वमवाप्नुयात्' ॥१॥ १५ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

जीवपएणवणा-जीवप्रज्ञापना-स्त्री० । प्रज्ञाप्यन्ते जीवाऽऽदयो भावा अनया शब्दसहत्येति प्रज्ञापना । प्रज्ञा० १ पद । जीवानां प्रज्ञापना जीवप्रज्ञापना । प्रज्ञापनोपाङ्गस्य जीवप्रज्ञापिकायां शब्दसहतौ, प्रज्ञा० १ पद ।

साम्प्रत जीवप्रज्ञापनामभिधित्सुस्तद्विषय प्रश्नसूत्र चाह-

से किं तं जीवपएणवणा ?। जीवपएणवणा दुविहा पएण-त्ता । तं जहा-संसारसमावएणजीवपएणवणा य, असं-सारसमावएणजीवपएणवणा य । से किं त असंसारसमा-वएणजीवपएणवणा ? । असंसारसमावएणजीवपएणवणा दु-विहा पएणत्ता । तं जहा-अणंतरसिद्धअसंसारसमाव-एणजीवपएणवणा, परंपरसिद्धअसंसारसमावएणजीव-पएणवणा ॥

"से किं तं" इत्यादि। अथ का सा जीवप्रज्ञापना ?। सूरिराह-जीवप्रज्ञापना द्विविधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-संसारसमापन्नजीवप्र-ज्ञापना च, असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना च । तत्र ससरणं संसारो नारकतिर्यङ्नरामरभवानुभवलक्षण , त सम्यगेकीभा-वेनाऽऽपन्ना , संसारवर्त्तिन इत्यर्थ । ते च ते जीवाश्च, तेषां प्र-ज्ञापना संसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना। न संसारोऽसंसारो मो-क्षस्त समापन्ना असंसारसमापन्ना ,मुक्ता इत्यर्थः। ते च ते जी-वाश्च, तेषां प्रज्ञापना असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना। चशब्दौ प्राग्वद् भावनीयौ । तत्राल्पवक्तव्यत्वात्प्रथमतोऽसंसारसमा-पन्नजीवप्रज्ञापनामभिधित्सुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-' से किं तं" इत्यादि । अथ का सा असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना ? । सूरिराह-असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना द्विविधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा-अनन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना च, पर-म्परसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना च। तत्र न विद्यतेऽन्तर व्यवधानम्, अर्थात्समयेन येषां तेऽनन्तराः , ते च ते सिद्धा-श्चानन्तरसिद्धा , सिद्धत्वप्रथमसमये वर्त्तमाना इत्यर्थः । ते च तेऽसंसारसमापन्नजीवाश्च अनन्तरसिद्धासंसारसमापन्न-जीवा., तेषां प्रज्ञापना अनन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्र-ज्ञापना । चशब्द स्वगतानेकभेदसूचक. । तथा-विवक्षिते प्रथ-मे समये च सिद्धस्तस्य यो द्वितीयसमयसिद्ध. स पर , तस्या-पि यस्तृतीयसमयसिद्ध स परः। एवमन्येऽपि वाच्या । परे च परे चेति वीप्सायां "पृषोदराऽऽदयः" ॥३।२।१५५॥ इति (सि० हे०) सूत्रेण परम्परशब्दनिष्पत्ति । परम्पराश्च ते सिद्धाश्च पर-म्परसिद्धा , विवक्षितसिद्धस्य प्रथमसमयात्प्राग् द्वितीयाऽऽ-दिसमयेष्वतीताद्धां यावद्वर्त्तमाना इति भाव । ते च ते असंसा-रसमापन्नाश्च परम्परसिद्धासंसारसमापन्ना , ते च ते जीवाश्च, तेषां प्रज्ञापना परम्परसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना । अ-त्रापि चशब्द. स्वगतानेकभेदसूचक. । प्रज्ञा० १ पद ।

जीवपरिणाम-जीवपरिणाम-पु० । परिणमन परिणाम , त-द्भावगमनमित्यर्थः । यदाह-"परिणामो ह्यर्थान्तर-गमन न च सर्वथा व्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्त-द्विदामिष्ट ॥ १ ॥" द्रव्यार्थनयस्येति सत्पर्ययेण नाश प्रा-दुर्भावोऽसता च पर्ययतो द्रव्याणां परिणाम प्रोक्त. । खलु प-र्ययनयस्येति जीवस्य परिणाम इति विग्रह. । जीवस्य तत्त-द्भावगमने, स्था० ।

दसविहे जीवपरिणामे पएणत्ते । तं जहा-गइपरिणामे, इंदियपरिणामे, कसायपरिणामे, लेस्सापरिणामे, जोगप-रिणामे, उवओगपरिणामे, णाणपरिणामे, दंसणपरिणामे, चरित्तपरिणामे, वेदपरिणामे ।

स च प्रायोगिक ,तत्र गतिरेव परिणामो गतिपरिणाम । एव स-र्वत्र । गतिश्चेह गतिनामकर्मोदयात्नारकाऽऽदिव्यपदेशहेतु ,तत्प-रिणामश्च प्रथकषायादिति। स च नरकगत्यादिश्चतुर्विधो,गतिपरि-णामे च सत्येवेन्द्रियपरिणामो भवति। तमाह-(इंदियपरिणा-मे त्ति) स च श्रोत्राऽऽदिभेदात्पञ्चधेति। इन्द्रियपरिणतौ चेष्टा-ऽनिष्टविषयसंबन्धाद्रागद्वेषपरिणतिरिति तदनन्तर कषायपरि-णाम उक्त । स च क्रोधाऽऽदिभेदाच्चतुर्विध.। कषायपरिणामे च सति लेश्यापरिणतिः, न तु लेश्यापरिणतौ कषायपरिणति , येन क्षीणकषायस्यापि शुक्ललेश्यापरिणतिर्देशोनपूर्वकोटिं यावद्भ-वति । यत उक्तम्-"मुहुत्तद्ध तु जहन्ना, उक्कोसा होइ पुव्वको-डीओ । नवहि वरिसेहिं ऊणा, णायव्वा सुक्कलेस्साए " ॥१॥ त्ति । अतो लेश्यापरिणाम उक्त । स च कृष्णाऽऽदिभेदात्षोढेति। अथ च योगपरिणामे सति भवति, यस्मान्निरुद्धयोगस्य लेश्याप-रिणामोऽपैति, यत. समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमलेश्यस्य भवतीति लेश्यापरिणामानन्तर योगपरिणाम उक्त. । स च मनोवाक्काय-भेदात्त्रिधेति । संसारिणां च योगपरिणतावुपयोगपरिणतिर्भ-वतीति तदनन्तरमुपयोगपरिणाम उक्त' । स च साकारानाका-रभेदाद्द्विधा। सति चोपयोगपरिणामे ज्ञानपरिणाम ,अतस्तदन-न्तरमसावुक्त'। स चाऽऽभिनिबोधिकाऽऽदिभेदात्पञ्चधा । तथा-मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमप्यज्ञानपरिणामो मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञा-नलक्षणस्त्रिविधोऽपि विशेषग्रहणसाधर्म्याद् ज्ञानपरिणामग्रह-णेन गृहीतो द्रष्टव्य इति ज्ञानाज्ञानपरिणामे च सति सम्यक्त्वा-ऽऽदिपरिणतिरिति, ततो दर्शनपरिणाम उक्त. । स च त्रिधा, सम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्रभेदात् । सम्यक्त्वे सति चारित्रमिति, ततस्तत्परिणाम उक्त' । स च सामायिकाऽऽदिभेदात्पञ्चधेति कृष्यादिवेदपरिणामे चारित्रपरिणामो, न तु परिणामे वेदपरिण-तिर्यस्मादवेदकस्यापि यथाख्यातचारित्रपरिणतिर्दृष्टेति चा-रित्रपरिणामानन्तर वेदपरिणाम उक्तः, स च स्त्र्यादिभेदा-त्त्रिधेति । स्था० १० ठा० ।

जीवपच्चक्खाणकिरिया-जीवप्रत्याख्यानक्रिया-स्त्री० । जीव-विषये प्रत्याख्यानाभावेन बन्धाऽऽदिव्यापारे, स्था०२ ठा०१ उ०।

जीवपाओसिया-जीवप्राद्वेषिकी-स्त्री० । जीवस्याऽऽत्मपरतदु-भयरूपस्योपरि प्रद्वेषाऽऽद्या क्रिया प्रद्वेषकारणमेव वा जीवप्रा-द्वेषिकी । प्राद्वेषिक्या क्रियाया भेदे, भ०३ श० ३ उ०। स्था०।

जीवपाडुच्चिया-जीवप्रातीतिका-स्त्री० । जीव प्रतीत्य य' कर्मबन्ध सा तथा । क्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

जीवभाव-जीवभाव-पु० । जीवत्वे, भ० ।

अथ तद्देशभूतो जीव उत्थानाऽऽदिगुण इति दर्शयन्नाह- .

जीवेणं भंते ! सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कार-परक्कमे आयभावेण जीवभावं उवदंसेइ त्ति वत्तव्वं सिया ?। हंता गोयमा ! जीवेणं सउट्ठाणे० जाव उवदंसेइ त्ति वत्तव्वं सिया'। से केणट्ठेणं० जाव वत्तव्वं सिया ? ! गोयमा ! जीवेणं अणंताणमाभिणिबोहियनाणपज्जवाणं,एवं सुयना-णपज्जवाणं ओहिनाणपज्जवाणं मणपज्जवनाणपज्जवाणं केवलनाणपज्जवाणं मइअन्नाणपज्जवाणं सुयअन्नाणपज्ज-वाण विभंगनाणपज्जवाणं चक्खुदंसणपज्जवाणं अचक्खु-दंसणपज्जवाणं ओहिदंसणपज्जवाणं केवलदंसणपज्जवा-

णं उवओगं गच्छइ उवओगलक्खणेणं जीवे, से एएणट्ठेणं एवं वुच्चइ-गोयमा ! जीवे सउट्ठाणे० जाव वत्तव्वं सिया । "जीवेणं" इत्यादि। इह च ' सउट्ठाणे ' इत्यादीनि विशेषणानि मुक्तजीवव्युदासार्थानि। (आयभावेण ति) आत्मभावेन उत्थानशयनगमनभोजनाऽऽदिरूपेणाऽऽत्मपरिणामविशेषेण (जीवभाव ति) जीवत्वं चैतन्यमुपदर्शयति प्रकाशयति इति वक्तव्य स्यात्,विशिष्टस्योत्थानाऽऽदेर्विशिष्टचेतनापूर्वकत्वादिति । "अणंताणमाभिणिबोहिय" इत्यादि । पर्यवाः प्रज्ञाकृता अविभागा परिच्छेदाः, ते चानन्ता आभिनिबोधिकज्ञानस्यातोऽनन्तानामाभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणां सम्बन्धिनमनन्ताभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाऽऽत्मकमित्यर्थः। उपयोगं चेतनाविशेष गच्छतीति योगः। उत्थानाऽऽदावात्मभावे वर्त्तमान इति हृदयम्।अथ यदुत्थानाऽऽद्यात्मभावे वर्त्तमानो जीव आभिनिबोधिकज्ञानाऽऽद्युपयोग गच्छति, तत्किमेतावतैव जीवभावमुपदर्शयतीति वक्तव्य स्यात् ?,इत्याशङ्क्याऽऽह-"उवओग" इत्यादि । अत उपयोगलक्षण जीवभावमुत्थानाऽऽद्यात्मभावेनोपदर्शयतीति वक्तव्य स्यादेवेति । भ० २ श० १० उ० ।

जीवमजीव-जीवाजीव-पुं० । जीवद्रव्याजीवद्रव्ययोः, आ० म० २ अ० ।

जीवमिस्सिया जीवमिश्रिता-स्त्री० । प्रभूतानां जीवानां स्तोकानां च मृतानां च शङ्खशङ्खनकाऽऽदीनामेकत्र राशौ दृष्टे यदा कश्चिदेवं वदति-अहो ! महान् जीवराशिरयमिति, तदा सा जीवमिश्रिता। सत्यामृषाभाषाभेदे, सत्यामृषात्वं चास्या जीवत्सु सत्यत्वात्, मृतेषु मृषात्वात्। प्रज्ञा० ११ पद।

जीवयामई-देशी-व्याधमृगयाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

जीवरक्खा-जीवरक्षा-स्त्री० । गोप्रभृतिजीवमोचनाय द्रव्यलिङ्गिनां द्रव्य ग्रहीतु कल्पते,न वा ?, इति प्रश्ने,उत्तरम्-यदि ज्ञानाऽऽदि सम्बन्धि द्रव्यं न भवति, तदा गृह्यते,निषेधो ज्ञातो नास्तीति। ४७० प्र० । सेन०३ उल्ला० ।

जीवरासि-जीवराशि-पुं० । राशिभेदे, जीवराशिर्द्विविधः-संसारसमापन्नाऽसंसारसमापन्नश्च । स० ।

जीवरुय-जीवरुत-न० । मयूरमार्जारशुकसारिकाऽऽदिरुतिते, जीत० ।

जीवलिंग-जीवलिङ्ग-न० चलनस्पन्दनाङ्कुरोद्भवस्वेदमलाऽऽदिके, "विन्नाय लिंग तसथावराण।" सूत्र० २ श्रु०६ अ० ।

जीवलोय-जीवलोक-पुं० । जीवद्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जीवविजय-जीवविचय-पुं० । असंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकसाकारानाकारोपयोगलक्षणानादिस्वकृतकर्मफलोपयोगिन्याऽऽदिजीवस्वरूपानुचिन्तन, सम्म० ३ काण्ड।

जीववित्तिविसिट्ठ-जीववृत्तिविशिष्ट-त्रि० । क्षेत्रज्ञवृत्तित्वविशिष्टे, " जीववृत्तिविशिष्टाङ्गा-भावाभावग्रहोऽप्यसन् । उत्कर्षापकर्षाभ्या-न्दशर्थो यदपेक्षया " ॥ २५ ॥ जीववृत्तिविशिष्ट क्षेत्रज्ञवृत्तित्वविशिष्ट । द्वा० १५ द्वा० ।

जीवविप्पजढ-जीवविप्रजह-त्रि० । प्रासुके, भ० ७ श० १ उ० । ' देवदिन्नस्स दारगस्स सरीर निप्पाण निच्चिट्ठ जीवविप्पजढ कूवए पक्खिवेति ।" (जीवविप्पजढ ति) आत्मना विप्रमुक्त । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

जीवविभत्ति-जीवविभक्ति-स्त्री० । द्रव्यविभक्तिभेदे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । जीवविभक्ति. सांसारिकेतरभेदाद् द्वेधा। तत्राप्यसांसारिकजीवविभक्तिर्द्रव्यकालभेदाद् द्वेधा । तत्र द्रव्यतस्तीर्थातीर्थसिद्धाऽऽदिभेदात्पञ्चदशधा । कालतस्तु तत्प्रथमसमयसिद्धाऽऽदिभेदादनेकधा । सांसारिकजीवविभक्तिरिन्द्रियजातिभवभेदात्त्रिधा । तत्रेन्द्रियविभक्तिरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात्पञ्चधा।जीवानां विभागेनावस्थापने,उत्त०। " इत्तो जीवविभत्ति तु, वोच्छामि अणुपुव्वसो " ॥ ४७ ॥ उत्त० ३६ अ० ।

जीववियार-जीवविचार-पुं० । जीवविचारणायाम्,सेन० । "अट्ठाऽऽमलगपमाणे, पुढवीकाए हवंति जे जीवा। ते पारेवयमित्ता, जंबूदीवे न माइंति ॥१॥ एगम्मि दगबिंदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहिँ पन्नत्ता । ते जइ सरिसवमित्ता, जंबूदीवे न माइंति ॥२॥" एतद्गाथाद्वय प्रतिक्रमणसूत्रवृत्तिप्रवचनसारोद्धारसूत्रवृत्त्यादौ यथा दृश्यते, तथा तेजस्कायप्रभृत्येकेन्द्रियाणां जीवमानप्रतिपादिका गाथाः प्रायो ग्रन्थे न दृश्यन्ते, तत्कथम् ? । किञ्चवरट्टिकातण्डुलप्रमाणमात्रे तेजस्काये ये जीवास्ते यदि मस्तकलिक्षाप्रमाणदेहधारिणो भवेयुः, तदा ते जम्बूद्वीपे न मान्ति । निम्बपत्रस्पृष्टमात्रे वायौ ये जीवाः सन्ति, ते यदि खसखसप्रमाणदेहधारिणो भवेयुः, तदा जम्बूद्वीपे न मान्ति । अयमर्थ प्रमाणम्, अप्रमाण वा?। किञ्च-एतदर्थप्रतिपादिके याहश्यौ त्रुटितपत्रे गाथेऽपि स्त । तद्यथा-"बरट्टितंदुलमित्ता, तेऊजीवा जिणेहिँ पन्नत्ता । मत्थयलिक्खपमाणा, जंबूदीवे न माइंति ॥१॥ जे लिंबपत्तफरिसा,वाऊजीवा जिणेहिँ पन्नत्ता। ते जइ खसखसमित्ता, जंबूदीवे न माइंति ॥२॥ " किञ्च-पृथिवीकायाऽऽदिजीवप्रमाणप्रतिपादिकायां गाथायां पारापताऽऽदय. प्रोक्ताः, ते च तत्तत्तीर्थकृत्काले भिन्नभिन्नप्रमाणदेहधारिणो भवन्ति,तेन पारापताऽऽदयः किंकालीना ग्राह्याः? इति प्रश्ने,उत्तरम्-तेजस्कायिकप्रभृतिशरीरमानप्रतिपादक गाथाद्वय यद्यपि महाग्रन्थे न दृश्यते, तथापि सूत्रेण सह सम्मतमेव, तदर्थस्य सूत्रानुयायित्वात्। तथाजीवमानप्रतिपादकपारापताऽऽदिप्रमाणमवस्थितकालत्वेन महाविदेहगत ज्ञायत इति मुग्धबोधनार्थमयमुपदेश इति न काऽप्यनुपपत्तिः ॥ २११ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । एतन्नामके प्रकरणग्रन्थे च ।

जीवविरिय-जीववीर्य-न० । आत्मसामर्थ्ये, " उल्लसियं जीवविरियं कह वि ।" पं० व० ३ द्वार ।

जीवविवागा-जीवविपाका-स्त्री० । जीव एव विपाकः स्वशक्तिदर्शनलक्षणो विद्यते यासां ता जीवविपाका । कर्म० ५ कर्म० । जीवे जीवगते ज्ञानाऽऽदिलक्षणे स्वरूपविपाकस्तदुपघाताऽऽदिसंपादनाभिमुखतालक्षणो यासां ता जीवविपाका । कर्मप्रकृतिभेदे, पं० सं० ३ द्वार ।

जीवविपाकित्वमधिकृत्य परप्रश्नमपनुदन्नाह-

संपप्प जीयकाले, उदयं काओ न जंति पगईओ ।
एवमिणमोहहेउं, आमज्ज विसेसयं नत्थि ॥ ४७ ॥

ननु कास्ता कर्मप्रकृतयो, या जीव काल वाऽऽश्रित्य नोदयमधिगच्छन्ति ?। सर्वा अपि जीवकालावधिकृत्योदयमधिगच्छन्तीति भाव । जीवकालावन्तरेणोदयासंभवात् । तत सर्वा अपि जीवविपाका एवेति प्रष्टुरभिप्राय । अत्राऽऽचार्य आह-"एवमिण 'इत्यादि। ओघत. सामान्येन हेतु हेतुत्वमात्रमाश्रित्य, एवमे-

तद् यथा स्वयाक नथैव, विशेषित त्वसाधारण तु, हेतुमाश्रित्य एतन्न भवति, जीव. काशे वा सर्वासामपि विकृतीनामुदय प्रति साधारण, ततस्तदपेक्षया चतू प्रकृतीनां चिन्ता क्रियते, तर्हि सर्वा अपि जीवविपाका एव, कालविपाका एव वा, नास्त्यत्र सन्देह, पर कासां चित्प्रकृतीनां क्षेत्राऽऽदिकमप्यसाधारणमुदय प्रति हेतुरस्ति, ततस्तदपेक्षया क्षेत्रविपाकत्वाऽऽदिव्यपदेश इत्यदोषः ॥ ४७ ॥ पं० सं० ३ द्वार । कर्म० ।

जीववुड्डिय–जीववृद्धिक–न० । अनुज्ञायाम्, एतच्चानुज्ञाया गौण नाम । न० ।

जीवसंखेव-जीवसंक्षेप-पुं० । संक्षिप्यन्ते संगृह्यन्ते जीवा एभिरिति संक्षेपा अपर्याप्तैकेन्द्रियत्वाऽऽदयोऽवान्तरजातिभेदाः । जीवानां संक्षेपा जीवसंक्षेपाः । अपर्याप्तैकेन्द्रियत्वाऽऽदिके जीवस्थाने, कर्म० ६ कर्म० ।

जीवसंगहिय–जीवसंगृहीत–त्रि० । जीवैः संगृहीत. स्वीकृतो जीवसंगृहीत. । जीवै स्वीकृते, स्था० । "अजीवा जीवसंगहिया ।" अजीवाः पुद्गलाऽऽकाशाऽऽदयो जीवैः संगृहीताः स्वीकृता । अजीवान्विनानामजीवाना सर्वव्यवहाराभावात् । स्था० २ ठा० १ उ० । भ० ।

जीवसंजम–जीवसंयम–पुं० । जीवेषु संयमो जीवसंयम । जीवेषु हिंसाऽऽदिपरिहारे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जीवसाहत्थिया-जीवस्वाहस्तिका-स्त्री० । यत्स्वहस्तेन गृहीतेन जीव मारयति सा जीवस्वाहस्तिका । क्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

जीवा–जीवा–स्त्री० । जीवन जीवा । प्राणधारणे, आ० चू० १ अ० । जीवन जीवा इति स्त्रीलिङ्गाभिधायक एवाय शब्द. साध्यते, न तु जीव इति पुँल्लिङ्गाभिधायक. शब्द. । विशे० । जीव-अच्, जीवयतेरच् वा टाप् । प्रत्यञ्चायाम्, सू० प्र० १३ पाहु० । धनुषो गुणे, वाच० । "तेणेहिं सजीवेहिं धणूएहिं" सजीवै कोट्यारोपितप्रत्यञ्चैः । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । जीवेव जीवा, जम्बूद्वीपलक्षणवृत्तक्षेत्रस्य हैमवतैरण्यवताभ्यां द्वितीयषष्ठवर्षाभ्यामवच्छिन्नस्याऽऽरोपितज्याधनु पृष्ठाकारयो परिधिखण्डयोः धनुःपृष्ठसंज्ञकयोः पर्यन्तभूतसरलप्रदेशपङ्क्तौ, स० ।

हैमवताऽऽदिजीवाना प्रमाणमाह–

हेमवयएरन्नवयाओ णं जीवाओ सत्ततीसं जोयणसहस्साइं छच्च चउसत्तरे जोयणसए सोलसए एगूणवीसइभाए जोयणस्स किंचि विसेसूणाओ आयामेणं पन्नत्ता ॥

हैमवताऽऽदिजीवयोरुक्तप्रमाणसंवादगाथा—"सत्तत्तीससहस्सा, छच्च सया जोयणाण चउसयरा । हेमवयवासजीवा, किंचूणा सोलस कला य" ॥ १ ॥ त्ति । कला एकोनविंशतिभागो योजनस्येति । स० ३७ सम० ।

हैमवतैरण्यवताऽऽदिजीवाना परिधिखण्डप्रमाणमाह–

हेमवएरण्णवइयाणं जीवाण धणुपिट्ठे अट्ठतीसं जोयणसहस्साइं सत्त य चत्ताले जोयणसए दस एगूणवीसइभागे जोयणस्स किंचि विसेसूणा परिक्खेवेणं पण्णत्ता ।

जम्बूद्वीपलक्षणवृत्तक्षेत्रस्य हैमवतैरण्यवताभ्यां द्वितीयषष्ठवर्षाभ्यामवच्छिन्नस्याऽऽरोपितज्याधनु पृष्ठाऽऽकारे परिधिखण्डे धनु पृष्ठे उच्येते, तत्पर्यन्तभूते सरलप्रदेशपङ्क्ती तु जीवे जीवे इति । एतत्सूत्रसंवादिगाथा च–"चत्ताला सत्तसया, अडतीससहस्स दस कला य धणू ।" इति । स० ३८ सम० । "जंबूदीवस्स पाईणपडीणउदीणदाहिणत्ताए जीवाए" जीवया प्रत्यञ्चया, दवरिकयेत्यर्थं । सू० प्र० १२ पाहु० ।

जीवाइभाववाय–जीवाऽऽदिभाववाद–पुं० । जीवाऽऽदिपदार्थवादे, "जीवाइभाववाओ, बंधाइपसाहगो इह ताव" । पं० व० ४ द्वार ।

जीवाजीव–जीवाजीव–पुं० । जीवद्रव्याजीवद्रव्ययोः, स्था० ।

समयाइ वा आवलियाइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ । आणापाणूइ वा थोवाइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ । खणाइ वा लवाइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ । एवं मुहुत्ताइ वा अहोरत्ताइ वा पक्खाइ वा मासाइ वा उऊइ वा अयणाइ वा संवच्छराइ वा जुगाइ वा वाससयाइ वा वाससहस्साइ वा वाससयसहस्साइ वा वासकोडीइ वा पुव्वंगाइ वा पुव्वाइ वा तुडियंगाइ वा तुडियाइ वा अडडंगाइ वा अडडाइ वा अववंगाइ वा अववाइ वा हूहूअंगाइ वा हूहूयाइ वा उप्पलंगाइ वा उप्पलाइ वा पउमंगाइ वा पउमाइ वा णलिणंगाइ वा णलिणाइ वा अत्थणिउरंगाइ वा अत्थणिउराइ वा अउअंगाइ वा अउआइ वा णउअंगाइ वा णउआइ वा पउअंगाइ वा पउआइ वा चूलिअंगाइ वा चूलियाइ वा सीसपहेलियंगाइ वा सीसपहेलियाइ वा पलिओवमाइ वा सागरोवमाइ वा उस्सप्पिणीइ वा ओसप्पिणीइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ । गामाइ वा णगराइ वा निगमाइ वा रायहाणीइ वा खेडाइ वा कव्वडाइ वा मडंबाइ वा दोणमुहाइ वा पट्टणाइ वा आगराइ वा आसमाइ वा संवाहाइ वा संनिवेसाइ वा घोसाइ वा आरामाइ वा उज्जाणाइ वा वणाइ वा वणसंडाइ वा वावीइ वा पुक्खरणीइ वा सराइ वा सरपंतियाइ वा अगडाइ वा तडागाइ वा दहाइ वा णदीइ वा पुढवीइ वा उदहीइ वा वातखंधाइ वा ओवासंतराइ वा वलयाइ वा विग्गहाइ वा दीवाइ वा समुद्दाइ वा वेलाइ वा वेइयाइ वा दाराइ वा तोरणाइ वा णेरइयाइ वा णेरइयावासाइ वा० जाव वेमाणियावासाइ वा कप्पाइ वा कप्पविमाणावासाइ वा वासाइ वा वासहरपव्वयाइ वा कूडाइ वा कूडागाराइ वा विजयाइ वा रायहाणीइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ । छायाइ वा आतवाइ वा दोसिणाइ वा अंधकाराइ वा ओमाणाइ वा पमाणाइ वा उम्माणाइ वा अतियाणगिहाइ वा उज्जाणगिहाइ वा अवलिंबाइ वा सणिप्पवायाइ वा जीवाइ वा अजीवाइ वा पवुच्चइ । स्था० ॥

पूर्वत्र जीवविशेषाणामुद्यत्वलक्षणो धर्मोऽभिहित , इह तु तदधिकारादेव समयाऽऽदिस्थितिलक्षणो धर्मो जीवाजीवसंबन्धी जीवाजीवत्वेनैव धर्मधर्मिणोरभेदेनोच्यत इति । तत्र सर्वथा कालप्रमाणानामाद्य परमसूक्ष्मोऽभेद्यो निरवयव उत्पलपत्रशत-

ख्यातमत्राऽनुदाहरणोपलक्षितः समयः, तस्य चातीताऽऽदिविवक्षया बहुत्वाद् बहुवचनमित्याह-"समयाइ वा" इत्यादि। इतिशब्द उपदर्शने। वाशब्दो विकल्पे। तथाऽसंख्यातसमयसमुदायाऽऽत्मिका आवलिका क्षुल्लकभवग्रहणकालस्य षट्पञ्चाशदुत्तरद्विशततमभागभूता इति; तत्र समया इति वा आवलिका इति वा यत् कालवस्तु तदविभागेन जीवा इति च जीवपर्यायत्वात् पर्यायपर्यायिणोश्च कथञ्चिदभेदात्। तथा अजीवानां पुद्गलाऽऽदीनां पर्यायत्वादजीवा इति। चकारौ समुच्चयार्थौ, दीर्घता च प्राकृतत्वात्। प्रोच्यते अभिधीयत इति न जीवाऽऽदिव्यतिरेकिणः समयाऽऽदयः। तथाहि-जीवाजीवानां सादिसपर्यवसानाऽऽदिभेदा या स्थितिस्तद्भेदाः समयाऽऽदयः। सा च तद्धर्मः, धर्मश्च धर्मिणो नात्यन्तभेदवान्, अत्यन्तभेदे हि विप्रकृष्टधर्ममात्रोपलब्धौ प्रतिनियतधर्मधर्मिविषय एव संशयो न स्यात्, तदन्येभ्योऽपि तस्य भेदविशेषात्। दृश्यते च यदा कश्चिद्दूरितततरुतरुणशाखाविसरविवरान्तरतः किमपि शुक्लं पश्यति, तदा 'किमियं पताका, किं वा बलाका?' इत्येवं प्रतिनियतधर्मिविषयसंशय इति। अभेदे हि सर्वथा संशयानुत्पत्तिरेव, गुणग्रहणत एव तस्यापि गृहीतत्वादिति। इह त्वभेदनयाऽऽश्रयणाज्जीवा इति चेत्याद्युक्तम्। इह च-समयाऽऽवलिकालक्षणार्थद्वयस्याजीवाऽऽदिद्वयाऽऽत्मकतया भणनाद् द्विस्थानकावतारो दृश्यः, एवमुत्तरसूत्राण्यपि नेयानि, विशेषं तु वक्ष्याम इति। (आणापाणु इत्यादि)। आनप्राणाविस्युच्छ्वास निःश्वासकालः संख्याताऽऽवलिकाप्रमाणः।

आह च-

"हट्ठस्स अणवगल्ल-स्स निरुवकिट्ठस्स जंतुणो।
एगे ऊसासनिस्सासे, एस पाणु त्ति वुच्चइ" ॥ १ ॥

तथा स्तोकाः सप्तोच्छ्वासनिःश्वासप्रमाणाः, क्षणाः संख्यानप्रमाणलक्षणाः, सप्तस्तोकप्रमाणा लवाः। एवमिति यथा प्राक्तने सूत्रत्रये जीवा इति चाऽजीवा इति च प्रोच्यन्ते इत्यधीतम्, एवं सर्वेषूत्तरसूत्रेष्वित्यर्थः। मुहूर्त्ताः सप्तसप्ततिलवप्रमाणाः।

उक्तश्च-

"सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे।
लवाण सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥ १ ॥
तिन्नि सहस्सा सत्त य, सयाइं ते हुत्तरिं च ऊस्सासा।
एस मुहुत्तो भणिओ, सव्वेहिं अणंतनाणीहिं" ॥ २ ॥

अहोरात्रास्त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणाः, पक्षाः पञ्चदशाहोरात्रप्रमाणाः, मासा द्विपक्षाः, ऋतवो द्विमासमाना वसन्ताऽऽद्याः, अयनानि ऋतुत्रयमानानि, संवत्सरा अयनद्वयमानाः, युगानि पञ्चसंवत्सराणि, वर्षशताऽऽदीनि प्रतीतानि, पूर्वाङ्गानि चतुरशीतिवर्षलक्षप्रमाणानि, पूर्वाणि पूर्वाङ्गान्येव चतुरशीतिवर्षलक्षगुणितानि।

इदञ्चैषां मानम्-

"पुव्वस्स उ परिमाणं, सयरिं खलु होंति कोडिलक्खाओ।
छप्पन्नं च सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीणं" ॥ १ ॥

७०५६०००००००००० पूर्वाणि चतुरशीतिलक्षगुणितानि त्रुटिताङ्गानि भवन्ति। एवं पूर्वस्य पूर्वस्य चतुरशीतिलक्षगुणनेनोत्तरमुत्तरं संख्यानं भवति, यावच्छीर्षप्रहेलिकेति। तस्यां चतुर्नवत्यधिकमङ्कस्थानशतं भवति।

अत्र करणगाथा-

"इच्छियठाणेण गुणं, पण सुन्न चउरसीइगुणियं च।
काऊण तइयवारे, पुव्वगाईण मुण संखं" ॥ १ ॥

शीर्षप्रहेलिकान्तः सांव्यवहारिकः संख्यातः कालः, तेन च प्रथमपृथिवीनारकाणां भवनपतिव्यन्तराणां भरतैरवतेषु सुषमदुःषमायाः पश्चिमे भागे नरतिरश्चां चाऽऽयुर्मीयत इति। किञ्च-शीर्षप्रहेलिकायाः परतोऽप्यस्ति संख्यातः कालः। स चानतिशयिनां न व्यवहारविषय इति कृत्वौपम्ये प्रक्षिप्तः, अत एव शीर्षप्रहेलिकायाः परतः पल्योपमाऽऽद्युपन्यासः। तत्र पल्येनोपमा येषु तानि पल्योपमानि असंख्यातवर्षकोटीकोटीप्रमाणानि वक्ष्यमाणलक्षणानि; सागरेणोपमा येषु तानि सागरोपमाणि पल्योपमकोटीकोटीदशकमानानीति, दशसागरोपमकोटीकोट्य उत्सर्पिणी, एवमेवावसर्पिणीति, कालविशेषवद् ग्रामाऽऽदिवस्तुविशेषा अपि जीवाजीवा एवेति। द्विपदैः सप्तचत्वारिंशता सूत्रैराह-(गामेत्यादि) इह च प्रत्येकं जीवा एवेत्याद्यालापोऽध्येतव्यः, ग्रामाऽऽदीनां च जीवाजीवता प्रतीतैव। तत्र कराऽऽदिगम्या ग्रामाः, नैतेषु करोऽस्तीति नकराणि, निगमा वणिग्निवासाः, राजधान्यो यासु राजानोऽभिषिच्यन्ते, खेटानि धूलीप्राकारोपेतानि, कर्बटानि कुनगराणि, मडम्बानि सर्वतोऽर्द्धयोजनात्परतोऽवस्थितग्रामाणि, द्रोणमुखानि येषां जलस्थलपथावुभावपि स्तः, पत्तनानि येषु जलस्थलपथयोरन्यतरेण पर्याहारप्रवेशः, आकरा लोहाऽऽद्युत्पत्तिभूमयः, आश्रमास्तीर्थस्थानानि, संवाहाः समभूमौ कृषिं कृत्वा येषु दुर्गभूमिभूतेषु धान्यानि कृषीवलाः संवहन्ति रक्षार्थमिति, सन्निवेशाः सार्थकटकाऽऽदेः, घोषा गोष्ठानि, आरामा विविधवृक्षलतोपशोभिताः कदल्यादिप्रच्छन्नगृहेषु स्त्रीसहितानां पुंसां रमणस्थानभूता इति। उद्यानानि पत्रपुष्पफलच्छायोपशोभितानि बहुजनस्य विविधवेषस्योन्नतमानस्य भोजनार्थं यानं गमनं येष्विति। वनानि एकजातीयवृक्षाणि, वनखण्डा अनेकजातीयोत्तमवृक्षाः। वापी चतुरस्रा, पुष्करिणी वृत्ता पुष्करवती चेति। सरांसि जलाऽऽशयविशेषाः, सरःपङ्क्तयः सरसां पङ्क्तयः। (अगड त्ति) अवटाः। तडागाऽऽदीनि प्रतीतानि। पृथिव्यो रत्नप्रभाऽऽदिकाः, उदधिस्तदधो घनोदधिः। वातस्कन्धा घनवाततनुवाताः, इतरे वा, अवकाशान्तराणि वातस्कन्धानामधस्तादाकाशानि, जीवता चैषां सूक्ष्मपृथिवीकायिकाऽऽदिजीवव्याप्तत्वात्। वलयानि पृथिवीनां वेष्टनानि घनोदधिघनवाततनुवातलक्षणानीति। विग्रहा लोकनाडीवक्राणि, जीवता चैषां पूर्ववत्। द्वीपाः समुद्राश्च प्रतीताः। वेला समुद्रजलवृद्धिः, वेदिकाः प्रतीताः, द्वाराणि विजयाऽऽदीनि, तोरणानि तेष्वेवेति। नैरयिकाः क्लिष्टसत्त्वविशेषाः, तेषां च जीवता कर्मपुद्गलाऽऽद्यपेक्षया। तदुत्पत्तिभूमयो नैरयिकाऽऽवासाः, तेषां च जीवता पृथिवीकायिकाऽऽद्यपेक्षया इति। एवं चतुर्विंशतिदण्डकोऽभिधेयः। अत एवाऽऽह-यावदित्यादि। कल्पा देवलोकाः, तद्देशाः कल्पविमानाऽऽवासाः, वर्षाणि भरताऽऽदिक्षेत्राणि, वर्षधरपर्वता हिमवदादयः, कूटानि हैमवतकूटानि, कूटाऽऽगाराणि तेष्वेव देवभवनानि, विजयाश्चक्रवर्त्तिविजेतव्यानि कच्छाऽऽदीनि क्षेत्रखण्डानि, राजधान्यः क्षेमाऽऽदिका। जीवेत्यादीहापि सर्वत्र सम्बन्धनीयमिति। येऽपि पुद्गलधर्मास्तेऽपि तथैवेत्याह-छायेत्यादि सूत्रपञ्चकं गतार्थम्, नवरं छाया वृक्षाऽऽदीनाम्, आतप आदित्यस्य। (दोसिणाइ व त्ति) ज्योत्स्ना, अन्धकाराणि तमांसि, अवमानानि क्षेत्राऽऽदीनि, उन्मानानि तुलाकर्षाऽऽदीनि, अतियानगृहाणि नगराऽऽदिप्रवेशे यानि गृहाणि प्रतीतानि। (अवलिंबाइ वा सणिप्पवायाइ व त्ति) रूढितोऽवसेया इति। कि-

मेतत्सर्वमित्याह-जीवा इति च जीवव्यासत्वात्, तदाश्रितत्वा-द्वा । अजीवा इति च पुद्गलाऽऽद्यजीवरूपत्वात्, तदाश्रित-त्वाद्वेति । प्रोच्यते-जिनैः प्ररूप्यत इति । इह च-" जीवा इ वा " इत्यादिसूत्रपञ्चकेऽपि प्रत्येकमप्येतत्स्यमिति । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

अथ समयाऽऽदिवस्तु जीवाजीवरूपमेव कस्मादभिधीयते ?, उच्यते-तद्विलक्षणराश्यन्तराभावात् । अत एवाऽऽह—

दो रासी पणत्ता । तं जहा-जीवरासी चेव, अजीव-रासी चेव । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

(जीवाजीवयोरस्तित्वप्रतिपादनं ' अत्थिवाय ' शब्दे प्रथम-भागे ५१९ पृष्ठे कृतम्)

जीवाजीवपरिज्ञाने फलम्-

जो जीवे वि न जाणेइ, अजीवे वि न जाणइ ।
जीवाजीवे अजाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ? ॥१२॥

यो जीवानपि पृथिवीकायिकाऽऽदिभेदभिन्नान् जानाति, अ-जीवानपि संयमोपघातिनो मद्यहिरण्याऽऽदीन् जानाति वा, जीवाजीवाऽऽदीनजानन् कथमसौ ज्ञास्यति संयमं तद्विषयम् ?, तद्विषयाज्ञानादिति भाव. ॥ १२ ॥

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥ १३ ॥

ततश्च यो जीवानपि जानात्यजीवानपि जानाति, जीवाजीवान् विजानन् स एव ज्ञास्यति संयममिति प्रतिपादित. पञ्चम उप-देशार्थाधिकार ॥ १३ ॥

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥ १४ ॥

यदा यस्मिन् काले जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति-वि-विध जानाति, तदा तस्मिन् काले गतिं नरकगत्यादिरूपां, बहु-विधा स्वपरगतभेदेनानेकप्रकारा, सर्वजीवाना जानाति, यथाव-स्थितजीवाजीवपरिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाभावात् ॥ १४ ॥

उत्तरोत्तरं फलवृद्धिमाह--

जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ ॥१५॥

यदा यस्मिन् काले गतिं बहुविधां सर्वजीवाना जानाति, तदा पुण्य च पाप च बहुविधगतिनिबन्धन, तथा-बन्ध जीवकर्मयो-गदु खलक्षण, मोक्ष च तद्वियोगसुखलक्षण जानाति । दश० ४ अ० । जीवतां स्तोकानां च भूयसा मृतानां च शङ्खशफनखाऽऽदी-नामेकत्र राशौ कृतानाम् । प्रज्ञा० ११ पद । प्रभूतेषु मृतेषु स्तोकेषु जीवत्सु एकत्र राशीकृतेषु शङ्खाऽऽदिषु, प्रज्ञा० ११ पद । एतावन्तोऽ-त्र जीवन्त एतावन्तोऽत्र मृता इति नियमेनावधारयतो विस-वादे जीवाजीवमिश्रिता. । सत्यामृषाभाषाभेदे, प्रज्ञा० ११ पद ।

जीवाजीवविभत्ति-जीवाजीवविभक्ति-स्त्री० । जीवानामजी-वाना च विभक्तिर्विभागेनावस्थापना जीवाजीवविभक्ति । जीवानामजीवाना च विभागेनावस्थापनायाम्, उत्त० ।

तथा च निर्युक्तिकार.-

जीवाणमजीवाण य, जीवविभत्ती तहिं दुविहा ॥३६
सिद्धाणमसिद्धाण य, अज्जीवाणं तु होइ दुविहा उ ।
तो रूविमरूवीण य, विभासियव्वा जहासुत्त ॥१७

३६१

जीवानामजीवानां च योऽर्थो जीवविभक्तिर्जीवानां विभागे-नावस्थापनमेव जीवविभक्ति., उत्तरत्राप्येवमेव सबन्धिभेदाद् व्याख्येयः । (तहिं ति) वचनव्यत्ययात्तयोर्जीवाजीवविभक्त्यो-र्मध्ये द्विविधा सिद्धानाम, असिद्धानां च । (अज्जीवाण तु त्ति) तुरपिशब्दार्थ., ततोऽजीवानामपि भवति (दुविहा उ त्ति) तुरवधारणे, ततो द्विविधैव रूपिणामरूपिणां च विभाषितव्या विशेषेण व्यक्त वक्तव्या । उत्त० नि० पाई० ३६ अ० । जीवाजीव-विभक्तिप्रतिपादके उत्तराध्ययनस्य षट्त्रिंशेऽध्ययने, न० । स० ।

जीवाजीवविभक्त्याख्य षट्त्रिंशमध्ययन व्याख्यायते-

जीवाजीवविभत्तिं, सुणेह मे एगमणा इओ ।
जं जाणिऊण भिक्खू, सम्मं जयइ संजमे ॥ १ ॥

भो शिष्याः ! एकाग्रमनस सन्तः स्थिरचित्ता सन्तो यूयं तां जीवाजीवविभक्तिं जीवाजीवाऽऽदीनां लक्षण, मे मम कथयतः सतः शृणुत । जीवाश्च अजीवाश्च जीवाऽजीवा., तेषा विभक्तिर्लक्षण-ज्ञानेन पृथक् पृथक् करण जीवाजीवविभक्ति., ताम्, उपयोग-वान् जीव एकेन्द्रियाऽऽदि । उपयोगरहितोऽजीव' काष्ठाऽऽदि' । इत्यादिजैनमतोक्तलक्षणेन सद्यज्ञानम, तामिति काम् ?, यां जीवाजीवविभक्तिं ज्ञात्वा भिक्षु. संयमे संयममार्गे सम्यक् यतते यत्न कुरुते ॥१॥

जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए ।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए ॥ २ ॥

जीवाश्चेतनालक्षणाऽऽत्मका ,च पुनरजीवा अचेतनाऽऽत्मका । चकार एवकारश्च पादपूरणे । एष लोको व्याख्यातस्तीर्थकरैरु-क्तः । अजीवदेश आकाशम्, अलोको व्याख्यात । अजीवस्य ध-र्मास्तिकायाऽऽदिकस्य देशोंऽशोऽजीवदेशो धर्मास्तिकायाऽऽदि-वृत्तिरहितस्य आकाशस्यैव देश. स अलोको व्याख्यात । जीवा-जीवानामाधेयभूताना लोकाऽऽकाशमाधारभूतमतो लोकालोक-लक्षणमुक्तम् ॥ २ ॥

जीवाजीवविभक्तिर्यथा स्यात्तथाऽऽह-

दव्वओ खित्तओ चेव, कालओ भावओ तहा ।
परूवणा तेसि भवे, जीवाणमजीवाण य ॥ ३ ॥

द्रव्यतो द्रव्यमाश्रित्य इद द्रव्यम् इयद्भेद, क्षेत्रत' इद द्रव्यम् एतावति क्षेत्र स्थित, कालत इद द्रव्यमियत्कालस्थितिमद्वर्तते, भावतोऽस्य द्रव्यस्य इयन्त. पर्याया । एव तेषा जीवद्रव्याणा-मजीवद्रव्याणा च द्रव्यक्षेत्रकालभावेन चतुर्धा प्ररूपणा भवेत् ॥ ३ ॥ उत्त० ३६ अ० ।

जीवाजीवसमाउत्त-जीवाजीवसमायुक्त-त्रि० । जीवैरुपयोगल-क्षणैस्तथाऽजीवैर्धर्माधर्माऽऽकाशपुद्गलाऽऽदिकै. समन्वितो जी-वाजीवसमायुक्त । जीवाजीवसमन्विते, तथा च लोकमधिकृत्य-" जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्विए " । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

जीवाजीवाहिगम-जीवाजीवाभिगम-पुं० । जीवानामेकेन्द्रिया-ऽऽदीनामजीवाना धर्मास्तिकायाऽऽदीनामभिगम परिच्छेदो जीवाजीवाभिगम । जीवाजीवपरिच्छेदे, जी० ।

से किं तं जीवाजीवाहिगमे ? । जीवाजीवाहिगमे दुविहे प-णत्ते । त जहा—जीवाहिगमे य, अजीवाहिगमे य ।

अथ किं तज्जीवाजीवाभिगम इति ? । अथवा-प्राकृतशैल्याऽभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति न्यायात् किं तदिति कोऽसावित्यस्मिन्नर्थे द्रष्टव्यम् । ततोऽयमर्थः-कोऽसौ जीवाजीवाभिगमः ?, इति । एवं सामान्येन केनचित्प्रश्ने कृते सति भगवान् गुरुः शिष्यवचनानुरोधेनाऽऽदराऽऽधानार्थं किञ्चित्प्रत्युच्चार्याऽऽह-जीवाजीवाभिगमोऽनन्तरोदितशब्दार्थो द्विविधो द्विप्रकारः प्रज्ञप्तस्तीर्थकरगणधरैः । अनेन चागृहीतशिष्याभिधानेन निर्वचनसूत्रेणैतदाह । न सर्वमेव सूत्रं गणधरप्रश्न-तीर्थकरनिर्वचनरूपं, किन्तु किञ्चिदन्यथाऽपि, केवलं सूत्रं बाहुल्येन गणधरैः दृब्धं, स्तोकं शेषैः । यत उक्तम्-"अत्थं भासइ, अरहा" इत्यादि । तद्यथेति वक्ष्यमाणभेदकथनोपन्यासार्थः, स जीवाजीवाभिगमो यथा द्विविधो भवति तथोपन्यस्यत इति भावः । जीवाभिगमश्च, अजीवाभिगमश्च । चशब्दौ वस्तुतत्त्वमङ्गीकृत्य द्वयोरपि तुल्यकक्षतोद्भावनार्थौ । आह-जीवाजीवाभिगमप्रश्नसूत्रे सचक्षित उपन्यस्तः, न तथैवोच्चार्यासचक्षितनिर्वचनाभिधानमयुक्तम्, असचक्षितं सचक्षितविधानायोगात् । नैष दोषः । प्रश्नसूत्रेऽप्यसचक्षितस्यैवोपन्यासात्, भिन्नजातीययोरेकत्वायोगात् । जी० १ प्रति० । जीवानामेकेन्द्रियाऽऽदीनामजीवानां धर्मास्तिकायाऽऽदीनामभिगमः परिच्छेदो यस्मिन् तद् जीवाजीवाभिगमम् । जीवाजीवपरिच्छेदप्रतिपादके जीवाजीवाभिगमाख्येऽध्ययनविशेषे, जी० ।

तस्येदमादिमं सूत्रम्-

इह खलु जिणमयं जिणाणुमयं जिणाणुलोमं जिणप्पणीतं जिणपरूवियं जिणक्खायं जिणाणुचिन्नं जिणपन्नत्तं जिणदेसियं जिणप्पसत्थं अणुचिंतिय तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा थेरा भगवंते जीवाजीवाभिगमं णामऽज्झयणं पएणवइंसु ।

जिनप्रशस्तं जिनानां गोत्रविशुद्धोपायाभिमुखापायविमुखाहितप्रवृत्त्याऽऽदिभेदानां प्रशस्तं निरुपमपथ्याऽऽवहत् उचितसेवनया हितम्, एवंभूतं जिनमतमनुचिन्त्य औत्पत्तिक्यादिभेदभिन्नया पर्यालोच्य तद् जिनमतं श्रद्दधाना यद्यपि नाम कालवैगुण्यतो मेधाऽऽदिगुणहीनाः प्राणिनस्तथाऽप्यतः स्वल्पमप्यधिगतं भवच्छेदायेत्याद्भिस्तया मन्यमानास्तथा तद् जिनमतमेव प्रीयमाणा असकृच्छक्तिप्रीत्या पश्यन्तः, तथा तज्जिनमतमेव रोचयन्तः सात्मीभावेनानुभवन्तः, क एते ? इत्याह-स्थविरा भगवन्तः, तत्र धर्मपरिणत्यनिवृत्त्या संयमक्रियामतयः स्थविराः परिणतसाधुभावाः, आचार्या इति गर्भः । भगवन्तः श्रुतैश्वर्याऽऽदियोगात् । भग्नवन्तो वा कषायादीनिति भगवन्तः । पृषोदरादित्वात्ककारलोपः । जीवाजीवाभिगमं नाम, नामन्शब्दस्याव्ययत्वात्तेन परस्य तृतीयैकवचनस्य लोपः । जीवानामेकेन्द्रियाऽऽदीनामजीवानां धर्मास्तिकायाऽऽदीनामभिगमः परिच्छेदो यस्मिन् तद् जीवाजीवाभिगमम् । इदं चान्वर्थप्रधानं नाम । यथा ज्वलतीति ज्वलन इत्यादि । किं तदित्याह-अधीयत इत्यध्ययनम्, विशिष्टार्थवचनसन्दर्भरूपं, प्रज्ञापितवन्तः प्ररूपितवन्तः । एतेन गुरुपर्वक्रमलक्षणः सम्बन्धः साक्षादुपदर्शितः, एतदुपदर्शनाच्चाभिधेयाऽऽदिकमपि सिद्धम् । यथाक्रममन्तरमिति कृतं प्रसङ्गेन । जी० १ प्रति० । जीवाजीवस्वरूपम् अभिगम्यतेऽस्मिन्निति जीवाजीवाभिगमः । दशवैकालिकस्य षड्जीवनिकायाध्ययने, दश० ४ अ० । दशवैकालिकस्य षड्जीवनिकायाध्ययनपर्यायशब्दप्रतिपादनायाऽऽह निर्युक्तिकारः-" जीवाजीवाभिगमो "-जीवाजीवाभिगमः, सम्यग् जीवाजीवाभिगमहेतुत्वात् । दश० नि० ४ अ० ।

जीवाणंद-जीवानन्द-पु० । स्वनामख्याते सुविधिवैद्यस्य सुते, " जम्बूद्वीपे विदेहेषु, पुरे क्षितिप्रतिष्ठिते । वैद्यस्य सुविधेः सूनु-र्जीवानन्दाभिधोऽभवत् ॥ १ ॥ " आ० क० ।

जीवाणुसासण-जीवानुशासन-न० । जीवस्याऽऽत्मनो जातिनिर्देशाद्वा जीवस्य भव्यप्राणिगणस्यानुशासनं शिक्षा । जीवस्य शिक्षायाम्, तत्प्रतिपादके श्रीदेवसूरिविरचिते स्वनामख्याते प्रकरणग्रन्थे च । जीवा० ।

तस्येयमादिमा गाथा-

णिम्महियरायरोसं, वीरं नमिऊण भुवणतियबंधुं ।
मज्झत्थभावणाए, जीवस्सऽणुसासणं वोच्छं ॥१॥

वीरं नत्वा जीवानुशासनं वक्ष्य इति सटङ्कः । अवयवार्थस्त्वयम्-निर्मथितरागरोषं निराकृतप्रीतिद्वेषं, वीरं वर्तमानतीर्थाधिपतिं, नत्वा प्रणम्य, किं विशिष्टम् ?, भुवनत्रिकबन्धुं जगत्त्रयबान्धवं माध्यस्थ्यभावनया रागद्वेषाभावेन जीवस्याऽऽत्मनो जातिनिर्देशाद् वा जीवस्य भव्यप्राणिगणस्य । एवमग्रेऽपि ज्ञातव्यम् । अनुशासनं शिक्षाम् । अत्र च "स्वराणां स्वरे प्रकृतिलोपसन्धयः" इति प्राकृतलक्षणेन सकाराकारलोपेऽनुशब्दाकारस्य सस्वरत्वे च रूपमिदम् । एवमन्यत्रापि यथासम्भवं ज्ञेयमिति वक्ष्येऽभिधास्ये । शब्दव्युत्पत्त्यादिचर्चस्तु सर्वत्र सुकर एवेति न प्रतन्यते । जीवा० १ अधि० ।

अन्ते च—

इय सिरिसिद्धंतमहो-यहीण सिरिनेमिचंदसूरीणं ।
लद्धपसाओ मज्झ-त्थया य सिरिदेवसूरीहिं ॥ १ ॥
सिरिवीरचंदसूरी-ण सीसमत्तेहिँ विरइयं एयं ।
सिद्धंतजुत्तिजुत्तं, जीवस्सऽणुसासणं विमलं ॥ २ ॥
तह सयलागमपरम-त्थकणयकसवट्टलद्धउवमेहिं ।
सयलगुणरयणरोहण-गिरीहिँ जिणदत्तसूरीहिं ॥३॥
सोहियमेयं अन्ने-मि सूरिपवराण सम्मय किं च ।
जं एत्थ अणागमियं, तं गीयत्था वि सोहिंतु ॥ ४ ॥

इति प्रकरणसमाप्तौ, श्रीसिद्धान्तमहोदधीनां शोभनाऽऽगमबृहत्समुद्राणां श्रीनेमिचन्द्रसूरीणामेतच्छास्त्रश्रीमदुत्तराध्ययनलघुवृत्तिवीरचरितरत्नचूडाऽऽदिशास्त्रकर्तॄणां बृहद्गच्छशिरोमणीनां निष्कलङ्कसिद्धान्तव्याख्यानशिक्षातो मध्यस्थतया रागाऽऽद्यभाववत्त्वेन श्रीदेवसूरिभिः श्रीवीरचन्द्रसूरीणां निजदेशनावशलब्धनिर्मलकीर्तीनां शिष्यमात्रैर्विनेयगणपदगुणैर्विरचितं दृब्धमेतदिदं सिद्धान्तयुक्तं राद्धान्तयुक्तिसहितं, जीवस्याऽऽत्मनो भव्यस्य वा अनुशासनं बोधकं, विमलं निर्मलम् । तथेति । किं च-सकलाऽऽगमपरमार्थकनककषपट्टलब्धोपमैर्निःशेषसिद्धान्ततत्त्वचामीकरतत्परीक्षादृषोपलप्राप्तोपमानैः सकलगुणरत्नरोहणगिरिभिर्निखिलगुणमाणिक्यरोहणशैलैर्जिनदत्तसूरिभिरेतच्छास्त्रं समर्हानवासिभिरिति यावत् ।

शोधितं निर्दोषीकृतमेतद् जीवानुशासनम् । अन्येषां महेन्द्रसूरिप्रमुखाणां सूरिप्रवराणामाचार्यवर्याणां सम्मतमभिप्रेतं, किं च-अपरं यदत्र प्रकरणे अनागमिकमुत्सूत्रं, तज्ज्ञातार्थाः सिद्धान्तविदः, शोधयन्तु निर्मलीकुर्वन्तु । इति गाथाचतुष्टयार्थः ।

प्रकारान्तरेण निजनाम कथयन् प्रकरणसंख्यामाह-

देवसुसूरीसा-हिंसाईवन्नकहियनामाहिं ।
पयरणमिणमो रइयं, तेवीसा-तिन्नि-सयगाहं ॥

देवसुसूरीसाहिंसालक्षणा ये शब्दा , तेषु ये आदिवर्णाः प्रथमाक्षराणि, तैः कथितं प्रतिपादितं, नामाभिधेयं येषां ते तथा, तैः , प्राकृतभाषया 'देवसूरीहिं' इत्यर्थः । प्रकरणं ग्रन्थसन्दर्भः, इदं प्रत्यक्षम्, ओ इति निपातः पूरणार्थे। रचितमिति ।

आह-

अणहिल्लवाडनयरे, जयसीहनरेसरम्मि विजंते ।
दोहटिवसहिठिएहिं, वासट्ठीसूरनवमीए ॥

अणहिल्लपट्टनगरे श्रीगूर्जरराजधान्यां जयसिंहनरेश्वरे श्रीकर्णकर्णदेवराजसूनौ विद्यमाने सति दोहटिनामश्रावकवसतिस्थितैर्द्वाषष्टे संवत्सरे एकादशशत उपरिष्टादिति शेषः ११६२। सूरेणाऽऽदित्यवारेण नवमी तिथिलक्षणा तस्यां रचितमिति पूर्वगाथोक्तक्रियासंबन्धादिति गाथार्थः ।

" एतस्य वृत्तिकरणे, पुण्यं यदुपार्जितं मया तेन ।
सुखितोऽस्तु भव्यलोकः , कुग्राहवियोगतो नित्यम् ॥ १ ॥
मासेनैकेनेयं, सरस्वतीतोषतः कृता वृत्तिः ।
अणहिलपाटकनगरे, विजयिनि जयसिंहदेवनृपे ॥ २ ॥
दोहट्टिवसतिवासैः, श्रेष्ठिश्रीजासकस्य दानरुचेः ।
तत्पुत्रम्माहदपरं, च श्राविकाया वसुन्धर्याः ॥ ३ ॥
वीराऽऽदिपुत्रमातु-र्नित्यं जिनसाधुपूजनरतायाः ।
श्रीदेवसूरिभिरसौ, भव्यजने जातविमलदयैः ॥ ४ ॥
श्रीमद्भिर्नेमिचन्द्राख्य-सूरिभिः शोधिताऽऽहतैः ।
वृत्तिरेषाऽतिगम्भीर-सिद्धसिद्धान्तपारगैः." ॥ ५ ॥

साम्प्रतमस्य प्रकरणस्याऽऽशीर्वादमाह-

जाव जिणसासणमिणं, एयं जीवाणुसासणं ताव ।
नंदउ लोए सिद्धं-तजुत्तिसारं कुमयहरणं ॥

प्रतीतार्था ।

येनाभिप्रायेणेदं प्रकरणं कर्त्रा कृतं तमाविष्कुर्वन्नाह-

पंडिच्चणाभिमाणे-ण विरइयं नेय किं तु इय बोहो ।
धम्मरयपुन्नपूरी-ण चेट्ठिए जंति जइ जीवा ॥ १ ॥

इयमपि तथैव ।

अधुना यावन्तोऽत्र मुख्यतः प्रकरणेऽर्थाधिकाराः यन्नामकाश्च तान् संग्रहगाथापञ्चकेन स्मृत्यर्थमाह-

बिंबपइट्ठा १ पास-
त्थनमण २ पडिकमण ३ वंदणं ४ नंदी ५ ।
दाणनिसेहो ६ महमा-
ल ७ पडिम ८ अविही ९ अणुट्ठाणं ॥ १ ॥
सिद्धबलि १० पडएँ पासा-
च ११ चेइविहि १२ सूरिसंघनिंदं च १३-१४ ।
पासत्थसेच १५ नाण-
ठ निंद १६ गुरुगच्छचागं च १७-१८ ॥ २ ॥
वंजाइपूय १९ उस्स-
ग्ग पढण २० बलहीण २१ अविहिगमणं च २२ ।
मलानिंद २३ सच्चित्तक्खा-
ण २४ सड्ढनमण च २५ ओलग्गं २६ ॥ ३ ॥
संजइकहणं २७ जिणकुसु-
मपूय २८ सुद्धगहणं च २९ तवनिंदा ३० ।
मिच्छइचेइ ३१ मिच्छ ३२ अप-
माणवेस ३३ असंजया ३४ पावे ३५ ॥ ४ ॥
चारित्तसत्त ३६ आयर-
ण ३७ गुणथुई ३८ एएँ होंति अडतीसा ।
अहिगारा उ इमम्मी,
जीवस्सऽणुसासणे विमले ॥ ५ ॥

एतदर्थश्च पूर्वोक्ताधिकारवशतो ज्ञेयः । जीवा० ३६ अधि० ।

जीवाभिगम-जीवाभिगम-पुं० । जीवानां ज्ञेयानामवध्यादिभिर्वाऽभिगमो जीवाभिगमः । गुणप्रत्ययावध्यादिप्रत्यक्षतः सत्त्वाभिगमे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

से किं तं जीवाभिगमे ?। जीवाभिगमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-संसारसमावण्णगजीवाभिगमे य, असंसारसमावण्णगजीवाभिगमे य ॥

संसरणं संसारो नारकतिर्यङ्नरामरभवग्रहणलक्षणस्तं सम्यक् एकीभावेनाऽऽपन्नाः प्राप्ताः संसारसमापन्नाः संसारवर्तिनः,ते च ते जीवाश्च, तेषामभिगमः संसारसमापन्नजीवाभिगमः । तथा-न संसारोऽसंसारः संसारप्रतिपक्षभूतो मोक्ष इत्यर्थः । तं समापन्ना असंसारसमापन्ना , ते च ते जीवाश्च, तेषामभिगमोऽसंसारसमापन्नजीवाभिगमः । चशब्दावुभयेषामपि जीवानां जीवत्वं प्रति तुल्यकक्षतासूचकौ । तेन ये विध्यातप्रदीपकल्पं निर्वाणमभ्युपगतवन्तः, ये च नवानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छेदेन, ते निरस्ता द्रष्टव्याः, तथाभूतमोक्षाभ्युपगमे तदर्थं प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न खलु सचेतनः स्ववधाय कण्ठे कुठारं व्यापारयति, दुःखितोऽपि हि जीवन् कदाचित्सुखमाप्नुयात्, मृतेन तु निर्मूलमपहास्तिताः सम्पद इति । इह केवलान् अजीवान् जीवांश्चानुच्चार्य अभिगमशब्दसंग्रथितः प्रश्नोऽभिगमव्यतिरेकेण प्रतिपत्तेरसंभवः, ततस्तेषामभिगम्यत्वधर्मख्यापनार्थः, तेन सदेवेदमित्यादिसदद्वैताऽभ्युपगमे अभिगमः गम्यतारूपधर्मानुयोगतः प्रतिपत्तेरेवासम्भवात् । जी०१ प्रति०। "तिहिं दिसाहिं जीवाणं जीवाभिगमे पण्णत्ते । तं जहा-उड्ढाए, अहो,तिरियाए । एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण,एवं मणुस्साण वि" । स्था० ३ ठा० । " छहिं दिसाहिं जीवाण जीवाभिगमे पण्णत्ते । पाईणाए० जाव अहाए, एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण वि,मणुस्साण वि" । स्था० ६ ठा० । जीवानामुपलक्षणत्वादजीवानां चाभिगमो ज्ञानं यत्र स जीवाभिगमः । स्थानाङ्गस्योपाङ्गभूतेऽङ्गबाह्ये उत्कालिकश्रुतविशेषे च । पा० । न० ।

जीवि [णु]–जीविन्–पु० प्राणधारके,"जे एते एव जीविणो।" य एते यतय एव जीवन्ति परगृहाएयटन्तोऽन्तप्रान्तभोजिनो द-त्ताऽऽहारा लुञ्चितशिरसः सर्वभोगवञ्चिता दुःखित जीवन्तीति। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

जीविउकाम–जीवितुकाम–त्रि०। दीर्घकालमायुष्काभिलाषिणि, "अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा।" यत एव प्रियजीविनोऽत एव दीर्घकालं जीवितुकामा –दीर्घकालमायुष्काभिलाषिण। (आचा०) "जीविउकामे लालप्पमाणे"। जीवितुकाम आयुष्कानुभवनमभिलषमाणः। आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

जीविओसविय–जीवितोत्सविक–त्रि०। जीवितस्योत्सव इव जीवितोत्सव, स एव जीवितोत्सविक। रा०। ज्ञा०। जीवितविषये वा उत्सवो महः, स इव य. स जीवितोत्सविकः। भ०। "जीविओसविए"। भ० ए श० ३३ उ०। ज्ञा०। रा०।

जीविओसासिय–जीवितोच्छ्वासिक–त्रि०। जीवितमुच्छ्वासयति वर्द्धयतीति जीवितोच्छ्वासः, स एव जीवितोच्छ्वासिक.। जीवितवर्द्धके, भ० ६ श० ३३ उ०। ज्ञा०।

जीविय–जीवित–न०। प्राणधारणे, रा०। प्रश्न०। विशे०। ज्ञा०। आव०। आतु०। नि०। "जीविय णाभिकंखेज्जा।" जीवित प्राणधारणलक्षण नाभिकाङ्क्षेत। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०। 'ते वीरा बंधणोमुक्का, नावकंखति जीवियं।" जीवितमसंयमजीवित प्राणधारण वा। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। "जीवित दुविह–संजमजीविय, असंजमजीविय च"। नि० चू० १ उ०।

कुसियमिव कुमग्गे पणुन्नं सन्निवइयं वातेरियं एवं बालस्स जीवियं।

कुशाग्रोदकबिन्दुमिव बालस्य जीवितमिति सबन्धः। तत्किंभूतमित्याह–"पणुन्नं" इत्यादि। प्रणुन्नमनवरताऽपराऽपरोदकपरमाणूपचयात् प्रणुन्न प्रेरित, वातेनेरित सनिपतित–भाविनि भूतवदुपचारान्निपतदेव निपातित, दार्ष्टान्तिक दर्शयत्येवमिति यथा–कुशाग्रमित्येवमिति। यथा–कुशाग्रे बिन्दुः क्षणसमावितस्थितिक, एव बालस्यापि जीवितम्, अवगततत्त्वो हि स्वयमेवावगच्छतीति। आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

जीवित दशधा। तथा चाऽऽह–

नामं ठवणा दविए, ओहे भव तब्भवे य भोगे य।
संजम जस कित्ती जी–विय च 'तं भन्नए दसहा॥

तद् जीवित दशधा भण्यते। तद्यथा–नामजीवित,स्थापनाजीवित,द्रव्यजीवितम्,ओघजीवित,भवजीवित,तद्भवजीवित,भोगजीवित, सयमजीवित, यशोजीवित, कीर्त्तिजीवित च। एष गाथासमासार्थ। व्यासार्थं तु भाष्यकारः स्वयमेव वक्ष्यति। तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य शेषभेदव्याख्यानार्थमाह–

दव्वं सचित्तादी, आउयसद्दव्वयाजवे ओहे।
नेरइयाईण भवे, तब्भव तत्थेव उववत्ती॥

द्रव्यं द्रव्यविषय जीवितं,द्रव्यजीवितमित्यर्थ। सचित्ताऽऽदि सचित्तमचित्त,मिश्र च। इह कारणे कार्योपचाराद् येन द्रव्येण सचित्ता.चित्तमिश्रभेदेन पुत्रहिरण्योभयरूपेण यस्य यथा जीवितमायत्त तस्य तथा तत्र द्रव्यजीवितमुच्यते। उक्त द्रव्यजीवितम्।(आउयसद्दव्वयाजवे ओहे) ओघजीवित सामान्य-जीवितमायु सद्द्रव्यता आयु.प्रदेशकर्म, तस्य द्रव्यैः सह मानता आयु.सद्द्रव्यता, आयु.कर्मद्रव्यसहचारिता, जीवत्येत्यर्थ। इद च सामान्यजीवित सकलससारिणामविशेषण सर्वदा भावि, तत इदमङ्गीकृत्य यदि पर सिद्धा एव मृता.,न पुनरन्ये केचन। उक्तमोघजीवितम्। नैरयिकाऽऽदीना नैरयिकतिर्यङ्नरामराणा भवे स्वस्वभवे स्थितिर्भवजीवितम्। उक्त भवजीवितम्। (तब्भव तत्थेव उववत्ती) तस्मिन् भवे भूयो भूयो जीवित तद्भवजीवितम्। किं तादृगित्याह–तत्रैवोत्पत्तिः तत्र तास्वधिकृते तिर्यग्भवे, मनुष्यभवे वा स्वकायस्थित्यनुसारेण भूयो भूय उत्पत्तिः। इद चौदारिकशरीरिणामेवावसातव्यम्, अन्यत्र निरन्तर भूयोभूयस्तत्रैवोत्पत्त्यभावात्। उक्त तद्भवजीवितम्।

भोगम्मि चक्किमाई, संजमजीयं तु संजयजणस्स।
जसकित्ती य जयवतो, संजम नरजीव अहिगारो॥

भोगे भोगजीवित चक्रवर्त्यादीनाम्, आदिशब्दाद् बलदेववासुदेवाऽऽदिपरिग्रहः। उक्त भोगजीवितम्। सयमजीवित सयतजनस्य साधुलोकस्य। उक्त सयमजीवितम्। यश कीर्ती भगवतो वर्द्धमानस्वामिन। ततो यशोजीवित कीर्त्तिजीवित च भगवत प्रतिपत्तव्यम्। यश कीर्त्योश्चाय विशेष.–"दानपुण्यफला कीर्त्ति, पराक्रमकृत यश।" अन्ये त्विदमेकमेवाभिदधति, केवल सयमप्रतिपक्षभावतो दशममसयमजीवितमविरतगत प्रतिगृह्णन्ति। आ० म० १ अ० २ खण्ड। विशे०। आ०चू०। जीवन्त्यनेनाऽऽयुष्कर्मणेति जीवितम्। प्राणधारणाऽऽत्मके आयुषि,आचा०१ श्रु० १ अ० १ उ०। "जीविय दुप्पडिवूहग"जीवितमायुष्क तत् क्षीण सत् दुष्प्रतिबृंहणीय दुरभावार्थो,नैव वृद्धिं नीयते इति यावत्। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। अथवा जीवितमायुष्कमसयमजीवित वेति। आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०। "णो जीविय णो मरणाहिकंखी।" जीवितमसयमजीवित, दीर्घायुष्क वा। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। "ण य सखयमाहु जीविय, तह वि य बालजणो पगब्भइ।" न च नैव जीवितमायुष्क कालपर्यायेण त्रुटित सत् पुन (सखयमिति) सस्कर्तुं तन्तुवत्सधातुं शक्यते, इत्येवमाहुस्तद्विद', तथाऽप्येवमपि व्यवस्थिते, बालोऽज्ञो जन' प्रगल्भते पाप कुर्वन् धृष्टो भवति, असदनुष्ठानरतोऽपि न लज्जत इति। सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। न च नैव त्रुटित जीवितमायु सस्कर्तुं सधातु शक्यते,एवमाहु' सर्वज्ञा.। तथाहि–"दण्डकलिय करित्ता, वच्चति हु राइओ य दिवसा य। आउस सेल्लना,गया य पुण नाणानियत ति॥१॥"तथाऽप्येवमपि व्यवस्थिते जीवानामायुषि बालजनोऽन्यो लोको निर्विवेकतया असदनुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वन् प्रगल्भते धृष्टता याति, असदनुष्ठानेनापि न लज्जत इत्यर्थ। सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

कुमग्गे जह ओसबिंदुए, थोव चिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए॥२॥

हे गौतम! समयमात्रमपि मा प्रमादी। तद्धेतुमाह–यथा कुशस्याग्रे अवश्यायबिन्दुर्लम्बमान सन् स्तोक स्तोककाल तिष्ठति वाताऽऽदिना प्रेर्यमाण सन् पतति, तथा मनुष्याणां जीवितम् आयुरस्थिर ज्ञेयम्। एवमायुषोऽनित्यत्व ज्ञात्वा धर्मे प्रमादो न विधेय इत्यर्थ॥२॥

इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रय पुरा कडं,समय गोयम! मा पमायए॥३॥

इत्युक्तदृष्टान्तेन, इत्वरे स्वल्पकालपरिमाणे, मनुष्यस्याऽऽयुषि भो गौतम! पुरा कृत रजः प्राचीनकृतं पातक दुष्कर्म, विशेषेण धुनीहि जीवात् पृथक् कुरु । हे गौतम ! पुनर्जीवितिके अर्थात् सोपक्रमे आयुषि, बहव. प्रत्यवाया उपघातहेतवोऽध्यवसायाऽऽदयो वर्तन्ते यस्मिन् तद् बहुप्रत्यवायकं, तस्मिन् बहुप्रत्यवायके, समयमपि मा प्रमादं कुर्याः अत्राऽऽयु.शब्देन निरुपक्रमं आयुर्गृह्यते, जीवितशब्देन सोपक्रम भण्यते । एति प्राप्नोति उपक्रमहेतुभिरनपवर्त्यतया यथास्थित्या एव अनुभवमिति आयु'। तस्मिन्नायुषि निरुपक्रमे आयुषि स्वल्पपरिमाणेऽपि दुष्कृत दूरीकुरु । यद्यपि पूर्वकोटिप्रमाणमायुर्भवति, तथापि देवापेक्षया स्वल्पमेव ज्ञेयम्, अतृप्तत्वात् । यदुक्तम्-" धनेषु जीवितव्येषु, रतिकामेषु भारत ! । अतृप्ता. प्राणिन' सर्वे, याता यास्यन्ति यान्ति च ॥ १ ॥ " अत्र सोपक्रमनिरुक्रमायुर्ज्ञानं केवलिन एव भवेत् । उत्त० १० अ० ।

ता किमत्थं आउसो ! नो एवं चिंतेयव्वं भवइ । अंतरायबहुले खलु अयं जीविए, इमे बहवे वाइयपित्तियसिंभियसंनिवाइया विविहा रोगाऽऽयंका फुसंति जीवियं ॥

तावदादौ किमर्थं नैवं चिन्तयितव्यम्, हे आयुष्मन्! त्वं शृणु, यतो भवति अन्तरायबहूल विघ्नप्रचुरमिद, खलु निश्चये, जीवितमायुर्जीवानाम् । तथा-इमे प्रत्यक्षा बहवो वातिका वातरोगोद्भवा., पैत्तिका' पित्तरोगजा (सिंभिए त्ति) श्लेष्मभवा., सान्निपातिका. सन्निपातजन्या , विविधा अनेकप्रकारा रोगा व्याधयः, ते च ते आतङ्काश्च कृच्छ्रजीवितकारिण इति रोगाऽऽतङ्का जीवितं स्पृशन्तीति । त० । शरीरे, उत्त०१० अ०।

भगवान् श्रीमहावीरदेवो गौतमस्वामिनमुद्दिश्यान्यानपि भव्यजीवानुपदिशति-

दुमपत्तए पंडुए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

हे गौतम ! एवमनेन दृष्टान्तेन , मनुजानां मनुष्याणां, जीवितं जानीहि, त्व समय समयमात्रमपि, मा प्रमादी. प्रमाद मा कुर्या । अत्र समयमात्रग्रहणमत्यन्तप्रमादनिवारणार्थे, अनेन केन दृष्टान्तेन ?, तद् दृष्टान्तमाह-यथा रात्रिगणानामत्यये गमने, रात्रीणा गणा रात्रिगणा. कालपरिणामा' रात्रिदिवससमूहा, तेषामत्ययेऽतिक्रमे पाण्डुर द्रुमपत्रकं पक्व वृन्तात् शिथिलमाय पर्ण निपतति, तथैव दिनानामत्यये आयुर्लक्षणे वृन्ते शिथिले जाते सति जीवित शरीर पतति । जीवो जातो यस्मिन् तज्जीवित, शरीरमित्यर्थ । जीवितस्य कालस्य विनाशाभावाद् जीवितशब्देन शरीरमुच्यते । उत्त० १० अ० । जीवितमिव जीवितम् । द्वादशाङ्गे श्रुते, मर्यादायां च । विशे० । आ० म० ।

जीवियंतकरण-जीवितान्तकरण-पुं० । प्राणवधे, प्राणवधस्य चैतद् गौण नाम । प्रश्न०१ आश्र० द्वार ।

जीवियट्ठि [ण्]-जीवितार्थिन्-पुं० । जीवितुकामे, " जो वा विस खायइ जीवियट्ठी । " दश० ९ अ० १ उ०। आचा०। सूत्र०। " आय न कुज्जा इह जीवियट्ठी । " इहासयमजीवितार्थी प्रभूतकाल सुखेन जीविष्यामीत्येनदध्यवसायी आय कर्माऽऽश्रवलक्षण न कुर्यात् । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

जीवियणाम [ण्]-जीवितनामन्-न० । जीविकाहेतौ नामनि, अनु० । " से किं त जीवियणामे ? । जीवियणामे अवकरए उक्कुरुडिए उज्झियए कज्जवए सुप्पए । सेत्त जीवियणामे । " "से किं त जीवियणामे" इत्यादि । इह यस्या जातमात्रमपत्य म्रियते सा लोकस्थितिवैचित्र्याज्जातमात्रमपि किञ्चिदपत्य जीवननिमित्तमवकराऽऽदिष्वस्यति तस्य चावकरक उत्कुरुटक इत्यादि यन्नाम क्रियते तज्जीविकाहेतो स्थापनानामाऽऽख्यायते । (सुप्पए त्ति) सूर्पे कृत्वा त्यज्यते, तस्य सूर्पक एव नाम स्थाप्यते, शेष प्रतीतम् । अनु० ।

जीवियभावणा-जीवितभावना-स्त्री० । जीवसमाधानकारिण्या भावनायाम्, सूत्र० ।

यथा भूतेषु मैत्री सपूर्णभावमनुभवति तथा दर्शयितुमाह-

भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे बुसीमओ ।
साहू जगं परिन्नाय, अस्सिं जीवितभावणा ॥ ४ ॥

" भूएहिं " इत्यादि । भूतै' स्थावरजङ्गमैः सह विरोधं न कुर्यात् , तदुपघातकारिणमारम्भ तद्विरोधकारण दूरतः परिवर्जयेदित्यर्थ. । स एषोऽनन्तरोक्तो भूताविरोधकारी, धर्मः स्वभाव'.पुण्याऽऽख्यो वा,(बुसीमओ त्ति) तीर्थकृतोऽयं सत्संयमवतो वेति । तथा सत्सयमवान् साधुस्तीर्थकृज्जगच्चराचरभूतग्रामाऽऽख्य केवलाऽऽलोकेन सर्वज्ञप्रतीताऽऽगमपरिज्ञानेन वा परिज्ञाय सम्यगवबुध्यास्मिन् जगति मौनीन्द्रे वा धर्मे भावनाः पञ्चविंशतिरूपा द्वादशप्रकारा वा या अभिमतास्ता जीवितभावना जीवसमाधानकारिणी. सत्संयमाङ्गतया मोक्षकारिणीर्भावयेदिति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

जीवियमरणनिरवकंख-जीवितमरणनिरवकाङ्क्ष-त्रि० । जीवितमरणयोर्विषये निरवकाङ्क्षो जीवितमरणनिरवकाङ्क्षः । जीवितमरणयोर्विषये वाञ्छारहिते, कल्प० ६ क्षण ।

जीवियरसभ-जीविकरसभ-पुं० । साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिकभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

जीवियरेहा-जीवितरेखा-स्त्री० । मणिबन्धादुत्थाय तर्जन्यङ्गुष्ठकान्तर्गतायां रेखायाम्, कल्प० ।

" मणिबन्धात्पितुर्लेखा, करभाद्विभवायुषो. ।
लेखे द्वे यान्ति तिस्रोऽपि, तर्जन्यङ्गुष्ठकान्तरम् ॥ ११ ॥
येषां रेखा इमास्तिस्र , सपूर्णा दोषवर्जिताः ।
तेषां गोत्रधनायूंषि, सपूर्णान्यन्यथा न तु ॥ १२ ॥
उल्लङ्घ्यन्ते च यावन्त्यो-ऽङ्गुल्यो जीवितरेखया ।
पञ्चविंशतयो ज्ञेया-स्तावन्त्य. शरदां बुधैः " ॥ १३ ॥ कल्प० १ क्षण ।

जीविया-जीविका-स्त्री० । ' जीव ' आकन्-इत्वम् । जीवनोपाये, आजीवने च । वाच० । वृत्तौ, स्था० ४ ठा० २ उ० । आजन्मनिर्वाहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । " सा जीविया पट्ठविया चिरेण । " सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

जीवियारिह-जीविकाऽर्ह-त्रि० । जीविकोचिते, भ० ११ श० ११ उ० । आजन्मनिर्वाहयोग्ये, " विउलं जीवियारिहं पीइदाण दलइ । " ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । औ० ।

जीवियासंसप्पओग-जीविताऽऽशसाप्रयोग-पुं०। जीवित प्रत्याशसा-चिर मे जीवितं भवत्विति जीविताऽऽशंसाप्रयोगः आशंसा-

प्रयोगभेदे, स्था० १० ठा० । जीवित प्राणधारणं, तदाशंसायास्तदभिलाषस्य प्रयोगः, यदि बहुकालमहं जीवेयमिति । संलेखनायास्तृतीयेऽतिचारे, उपा० १ अ० । तथा कश्चित्कृतानशनः प्रभूतपौरजनव्रातविहितमहामहः सततावलोकनात्प्रचुरवन्दारुवृन्दवन्दनसमर्ददर्शनात् अस्तोकविवेकिलोकसत्कृतश्लोकसमाकर्णनात् पुरतः संभूय भूयो भूयः साधर्मिकजनविधीयमानोपबृंहणश्रवणात् अनघसमस्तसङ्घजनमध्यसमारब्धपुस्तकवाचनवस्त्रमाल्याऽऽदिसत्कारनिरीक्षणाच्चैवं मन्यते-प्रतिपन्नानशनस्यापि मम जीवितमेव सुचिरं श्रेय, यत एवंविधा मदुद्देशेन विभूतिर्वर्तते इति जीविताऽऽशंसाप्रयोगः । ध० २ अधि० । आ० चू० । आ० ।

जीवियासंसा-जीविताऽऽशंसा-स्त्री० । प्राणधारणाभिलाषायाम्, उपा० १ अ० । जीवितं प्राणधारण, तत्र पूजाविशेषदर्शनात् प्रभूतपरिवाराऽऽदिविलोकनात् सर्वलोकश्लाघाश्रवणाच्च एवं मन्यते-जीवितमेव श्रेयः, प्रत्याख्यातचतुर्विधाऽऽहारस्यापि यत एवविधा मदुद्देशेनेय विभूतिर्वर्तत इत्याशंसेति तृतीयः । जीविताऽऽशंसासंलेखनायास्तृतीयेऽतिचारे, ध० ३ अधि० ।

जीवियासा-जीविताऽऽशा-स्त्री० । जीवितप्राप्तिसंभावनायाम्, भ० १२ श० ५ उ० । जीवितस्य प्राणधारणस्याऽऽशा वाञ्छा जीविताऽऽशा । प्राणधारणवाञ्छायाम्, रा० । नि० । ज्ञा० । लोभकषायभेदे, स० ५२ ।

जीवियासामरणभयविप्पमुक्क-जीविताऽऽशामरणभयविप्रमुक्त-त्रि० । जीवितस्य प्राणधारणस्याऽऽशा वाञ्छा मरणाच्च यद्भयं, नाभ्यां विप्रमुक्तो जीविताऽऽशामरणभयविप्रमुक्तः । जीविताऽऽशामरणभयोपेक्षके, नि० १ वर्ग १ अ० । ज्ञा० । रा० ।

जीवुप्पत्ति-जीवोत्पत्ति-स्त्री० । त्रसस्थावरान्यतरप्राणिप्रादुर्भावे, सेन० ।

अथ वृद्धप० कनकविजयगणिकृतप्रश्नाः, तदुत्तराणि च-अचित्ताशनाऽऽदिचतुष्कमध्ये रात्रौ त्रसजीवानां स्थावरजीवानां चोत्पत्तिर्भवति, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-रात्रावचित्ताशनाऽऽदिचतुष्कमध्ये "तज्जोणिआण जीवाण,तहा संपाइमाण य । निसि भत्ते वहो दिट्ठो,सव्वदंसीहि सव्वहा" ॥१॥ इतिश्राद्धदिनकृत्यसूत्रवचनात् , तथा-"अक्खइ तिहुअणणाहो, दोसो ससत्ति होइ ॥ १५ । भत्ते तग्गधरसा, रसेसु रसिआ, जिआ हुति" ॥१॥ इति त्रुटकगाथाऽनुसारेण च स्थावरजीवोत्पत्तिः संभाव्यते, न तत्र त्रसजीवानाम्, रात्रियोगादिति । ४८ प्र० । सेन २ उल्ला० ।

जीवोप्फरण-जीवोप्फरण-न० । मन्त्रशास्त्रभेदे, स्था० ९ ठा० ।

जीह-लस्ज-धा० । व्रीडायाम्, भ्वादि०-आत्म०-अक०-सेट् । "लस्जेर्जीहः" ॥८।४।१०३॥ इति प्राकृतसूत्रेण लस्जेर्जीहाऽऽदेशः । जीहइ,लज्जइ । प्रा०४ पाद । लज्जते, अलज्जिष्ट । निष्ठायामनिट्, तस्य नः । लग्नः । वाच० ।

जीहंगार-जिह्वाकार-पुं० । 'जिब्भगार' शब्दार्थे, प्रज्ञा० १ पद ।

जीहा-जिह्वा-स्त्री० । 'जिब्भा' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद । रसनेन्द्रिये, बृ० १ उ० ।

जीहादुट्ट-जिह्वादुष्ट-पुं० । 'जिब्भादुट्ठ' शब्दार्थे, आव० ४ अ० ।

जीहादोस-जिह्वादोष-पुं० । 'जिब्भादोस' शब्दार्थे, आव०४अ० ।

जीहादोसणिवुत्त-जिह्वादोषनिवृत्त-त्रि० । रसगृद्धिरहिते, सू० १ उ० ।

जीहामयदुक्ख-जिह्वामयदुःख-न० । 'जिब्भामयदुक्ख' शब्दार्थे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

जीहामयसोक्ख-जिह्वामयसौख्य-न० । 'जिब्भामयसोक्ख' शब्दार्थे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

जीहिंदिय-जिह्वेन्द्रिय-न० । 'जिब्भिंदिय' शब्दार्थे, प्रश्न० ६ आश्र० द्वार ।

जीहिंदियनिग्गह-जिह्वेन्द्रियनिग्रह-पुं० । 'जिब्भिंदियनिग्गह' शब्दार्थे, उत्त० २९ अ० ।

जीहिंदियसंवर-जिह्वेन्द्रियसंवर-पुं० । 'जिब्भिंदियसंवर' शब्दार्थे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

जु-जु-पुं० । वेगे, नभसि, स्वके, गतौ, स्त्री० । एका० ।

यु-त्रि० । यौति पृथग् भवतीति युः,विचि शब्दसत्वाद्गुणाभावः । पृथग्भूते, जै० गा० । अपृथग्भूते च । 'यु' मिश्रणेऽमिश्रणे चेति वचनात् । जै० गा० ।

जुअल-देशी-तरुणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जुआलिअ-देशी-द्विगुणिते, दे० ना० ३ वर्ग ।

जुइ-द्युति-[ती]-स्त्री० । द्युत इन् वा ङीप् । "द्यय्यर्यां जः" ॥८।२।२४। इति प्राकृतसूत्रेण जः । प्रा० २ पाद । स्फुरणे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । शरीराऽऽभरणाऽऽदिदीप्तौ,स० ३० सम० । औ० । सूत्र० । द्युतिवक्तव्यताप्रतिबद्धे निरयाऽऽवलिकोपाङ्गस्य वृष्णिदशानामकपञ्चमवर्गस्य षष्ठेऽध्ययने, नि० १ वर्ग० । (तद्वक्तव्यता निशठवत्, सा च 'निसढ' शब्दे वक्ष्यते) आन्तरे तेजसि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । तपोदीप्तौ, तेजोलेश्यायाम्, उत्त० १ अ० । माहात्म्ये च, द्युतिः प्रेमा माहात्म्यमित्यर्थः । स्था० ६ ठा० । कान्तौ, शोभायाम्, प्रकाशे च । वाच० । 'जु' क्तिन् । इष्टार्थसम्प्रयोगे च, 'जु' अभिगमने इति वचनात् । जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

युति-स्त्री० । पुं० । क्तिन् । मिश्रीकरणे,प्रव० ६ द्वार । युक्तौ,इष्टपरिवाराऽऽदिसंयोगे,स्था० । (जुइ त्ति) द्युतिर्दीप्ति शरीराऽऽभरणाऽऽदिसंभवा, युतिर्वा युक्तिरिष्टपरिवाराऽऽदिसंयोगलक्षणेति । स्था० ३ठा०३ उ० । वस्तुघटनायां च, (सव्वज्जुईए) सर्वद्युत्याऽऽभरणाऽऽदिसंबन्धिन्या सर्वयुक्त्या वा उचितेषु वस्तुघटनालक्षणयेति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । द्युत्या यथाशक्ति विस्फारितेन शरीराऽऽभरणतेजसेति । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

जुइमं-द्युतिमत्-त्रि० । द्युतिर्दीप्तिरतिशायिनी विद्यते यस्य सः । उत्त० ५ अ० । दीप्तिमति, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । तेजस्विनि, उत्त० १८ अ० । आचा० ।

जुई-द्युति-स्त्री० । द्युत इन् ङीप् । 'जुइ' शब्दार्थे,प्रा० २ पाद ।

जुउंछ-जुगुप्स-स्त्री० । 'गुप्' निन्दायां स्वार्थे सन् । "जुगु-

प्सेर्झुण-दुगुच्छ-दुगंछा " ॥ ८ । ४ । ४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण जुगुप्सेरेते त्रय आदेशाः । झुणइ, दुगुच्छइ, दुगछइ । पक्षे-जुगुच्छइ । गलोपे-दुउच्छइ, दुउछइ । पक्षे-जुउच्छइ, जुउंछइ । प्रा० ४ पाद । वाच० ।

जुउंछिय-जुगुप्सित-त्रि० । निन्दिते, नि० चू० ४ उ० ।

जुंगिय-जुङ्गिक-पुं० । जातिकर्मशरीराऽऽदिभिर्दूषिते, ग० । जातिकर्मशरीराऽऽदिभिर्दूषितो जुङ्गितः । तत्र मातङ्गकौलिकवरुटसूचिकछिम्पकाऽऽदयोऽस्पृश्या जातिजुङ्गिताः स्पृश्या अपि, स्त्रीमयूरकुक्कुटाऽऽदिपोषकाः वंशवरत्राऽऽरोहणा नापितसौकरिकवागुरिकमल्लाऽऽदिनिन्दितकर्मकारिणः कर्मजुङ्गिताः, करचरणकर्णाऽऽदिवर्जिताः पङ्गुकुब्जवामनककाणप्रभृतयः शरीरजुङ्गिताः । ग० १ अधि० । ध० । व्य० । नि० चू० । (जुङ्गितस्य दीक्षाऽनर्हत्वं 'आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३२२ पृष्ठे उक्तम्)

बितियपदे दिक्खेज्जा-

जाहे य माहणेहिं, परिजुत्ता कम्मसिप्पपमिविरता ।
अद्धाणए विदेसे, दिक्खा से उचिमट्ठे य ॥ ४१६ ॥

जाहे जुंगितो महायणमाहणेहिं परिजुत्तो ताहे दिक्खिज्जति, कम्मसिप्पविरता माहणादिजुत्ता तया दिक्खिज्जति, सरीरजुंगितो अ दिक्खिज्जतो उचिमट्ठे वा । नि० चू० ११ उ० । पं० भा० । पं० चू० ।

जुङ्गित-पुं० । जातिकर्मशरीराऽऽदिभिर्दूषिते, ग० १ अधि० । बाह्यीकृते, व्य० ३ उ० । पिं० ।

जुंगियंग-जुङ्गिताङ्ग-त्रि० । व्यङ्गिते, स्था० ५ ठा० ३ उ० । कर्त्तितहस्तपादाऽऽद्यवयवे, पिं० ।

जुंज-युज्-धा० । बन्धने, युतौ च । चुरा०-उभ० । पक्षे-रुधादि०-पर०-सक०-सेट् । " युजो जुंजजुज्जजुप्पाः " ॥ ८ । ४ । १०६ । इति प्राकृतसूत्रेण युजेरेते त्रय आदेशाः । जुंजइ, जुज्जइ, जुप्पइ । योजयति, योजयते । प्रा०४ पाद । योगे, समाधौ, दिवा०-अक०-अनिट् । युज्यते, अयुक्त । वाच० । ' जुंजइ य अहरयाम । ' ' युजिर् ' योगे, योजयति च । नि० चू० १ उ० ।

जुंजण-योजन-न० । 'युज्' भावादौ ल्युट् । संयोगे, णिच् ल्युट् । संयोगकरणे, वाच० । व्यापारणे, " इंदियाण य जुंजणे " श्रोत्रनेत्ररसनानासात्वगादीनामिन्द्रियाणां शब्दरूपरसगन्धस्पर्शाऽऽदिविषयेषु व्यापारणे, उत्त० २४ अ० । " सन्निंदियजोगजुंजणया । " स्था० ७ ठा० ।

जुंजणा-योजना-स्त्री० । व्यापारणे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

जुंजणाकरण-योजनाकरण-न० । मनःप्रभृतीनां व्यापारणकरणे, नोश्रुतकरणभेदे च । नोश्रुतकरणभेदमधिकृत्य-"तह य जुंजणाकरणं ।" योजनाकरणं च मनःप्रभृतीनां व्यापारणम् । (आ० म०)

साम्प्रतं योजनाकरणं व्याचिख्यासुराह-

जुंजणकरणं तिविहं, मणवयकाए मणासि सच्चाई ।
सट्ठाणे तब्भेदो, चउ चउहा सत्तहा चेव ॥

योजनाकरणं त्रिविधम् । तद्यथा-मनोवाक्काये मनोवाक्कायविषयम् मनोविषयं, वाग्विषयं, कायविषयं चेत्यर्थः । तत्र मनसि सत्याऽऽदिकं यत् योजनाकरणम् । तद्यथा-सत्यमनोयोजनाकरणम्, असत्यमनोयोजनाकरणम्, सत्यामृषामनोयोजनाकरणम्, असत्यामृषामनोयोजनाकरणमिति । स्वस्थाने प्रत्येकं मनोवाक्कायलक्षणे, तेषां योजनाकरणानां, भेदो विभागो वक्तव्यः । तद्यथा-चतुर्धा, चतुर्धा, सप्तधा चैवेति । अयमत्र भावार्थः-चतुर्भेदं सत्यमनोयोजनाकरणाऽऽदि दर्शितम्, एवं वाग्योजनाकरणमपि सत्यवाग्योजनाकरणमिति । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० ।

जुंजुरुक्को-देशी-अपरिग्रहे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जुगंछ-जुगुप्स-' जुउंछ ' शब्दार्थे, प्रा०४ पाद ।

जुग-जुग-धा० । त्यागे, भ्वादि०-पर०-सक०-सेट्, इदित् । जुङ्गति, अजुङ्गीत् । वाच० ।

जुग-धा० । वर्जने, भ्वादि०-पर०-सक०-सेट्, इदित् । वाच० ।

युग-अच्, पृषो०-गलोपः । युग्मे, द्वित्वसंख्याऽन्विते, वृद्धि-नामौषधे, हस्तचतुष्कपरिमाणे च । न० । वाच० । चतुर्हस्तप्रमाणे यूपे, प्रव० १०४ द्वार । प्रश्न० । स्था० । भ० । त० । जी० । शकटाङ्गविशेषे, ज०३ वक्ष० । " दुहले भजए जुगं । " युग जूसरम् । उत्त०२७ अ० । " उसुचोइया तत्तजुगेसु जुत्ता । " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । " सुजायजुगजुत्तउज्जुगपसत्थसुविरइयनिम्मियं । " उपा०२ अ० । ज्ञा० । शकटाङ्गविशेषाऽऽत्मके करचरणस्थे पुरुषलक्षणविशेषे, ज०३ वक्ष० । चतुर्विंशत्यङ्गुलमानैश्चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्नेऽवमानप्रमाणसाधनेऽवमानविशेषे, अनु० । यदवमीयते खाताऽऽदि तदवमानम् । केनावमीयते?, इत्याह-"हत्थेण वा दंडेण वा धणुक्केण वा जुगेण वा नालियाए वा अक्खेण वा मूसलेण वा । " चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्ना अवमानविशेषा दण्डधनुर्युगनालिकाक्षमुशलरूपाः षट् संज्ञाः लभन्ते । अतएवाऽऽह-"दंड धणू जुगनालिया य अक्ख मुसलं च चउहत्था।" अनु० । ज० । ज्यो० । स० । लोकप्रसिद्धे कृतयुगाऽऽदिके सत्यत्रेताद्वापरकलिरूपे कालविशेषे, स्था० । पञ्चवर्षाऽऽत्मके सुषमदुष्षमाऽऽदिके कालमानविशेषे च । स्था० ३ ठा० ४ उ० । "पंचसंवच्छरिए जुगे" ज० २ वक्ष० । कर्म० । विशे० । स्था० । अनु० । आ० म० । त० । भ० । कल्प० । ज्ञा० । (तानि पञ्च संवत्सराणि ' पव्व ' शब्दे वक्ष्यामः)

तथा-

चंदो चंदो अभिव-ड्ढिओ य चंदमभिवड्ढिओ चेव ।
पंचसहियं जुगमिणं, दिट्ठं तेल्लोक्कदंसीहिं ॥

चान्द्रश्चान्द्रस्तदनन्तरमभिवर्द्धितभूतो भूयश्चान्द्रः । अत्र मकारोऽलाक्षणिकः । ततोऽभिवर्द्धितः । एतैः पञ्चभिर्वर्षैः सहितम् । किमुक्तं भवति ?, एतत् पञ्चवर्षात्मकं युगम् । इत्थम्भूतं युगमिदं दृष्टं त्रैलोक्यदर्शिभिः सर्वज्ञैस्तीर्थकृद्भिः, ततोऽवश्यमिदं तथेति श्रद्धेयम् ।

एतदेव व्याख्यानयति-

पढमबिइयाउ चंदा, तइअं अभिवड्ढियं वियाणाहि ।
चंदे चेव चउत्थं, पंचममभिवड्ढियं जाण ॥

युगे पञ्चसंवत्सराऽऽत्मकेऽनन्तरमुद्दिष्टे प्रथमद्वितीयौ संवत्सरौ चान्द्रौ ज्ञातव्यौ, तृतीयसंवत्सरमभिवर्धितं जानीहि । चतुर्थं-

संवत्सरं भूयश्चान्द्रमेव जानीहि, पञ्चममभिवर्द्धितम् । अत्र ये चान्द्राः संवत्सराः,ते द्वादशमासिकाः,यौ तु द्वावभिवर्द्धिताऽऽख्यौ संवत्सरौ, तौ त्रयोदशमासिकौ चान्द्रमासप्रमाणेन । अत्र द्वितीयस्य चान्द्रसंवत्सरस्य य आदिसमयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयः प्रथमचान्द्रसंवत्सरस्य पर्यवसानं च । तदानीं च चन्द्रमसो योग उत्तराषाढाभिः ,उत्तराषाढानां च तदानीं शेषीभूता· षड्विंशतिर्मुहूर्त्ताः,षड्विंशतिश्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्काश्चतु·पञ्चाशद् भागाः।उक्तं च-"जे णं वेच्चचंदसंवच्छरस्स आई से णं पढमस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छाकडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता उत्तराहिं आसाढाहिं,उत्तराणं आसाढाणं छव्वीसमुहुत्ता, छव्वीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स,बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता चउपन्नासं चुण्णिया सेसा" इति । तदानीं च सूर्यस्य योगः पुनर्वसुनक्षत्रेण, पुनर्वसुनक्षत्रस्य च तदा शेषीभूता· षोडश मुहूर्त्ताः, अष्टौ द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्का विंशतिर्भागाः । उक्तं च—"तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता पुणव्वसुणा , पुणव्वसुस्स सोलस मुहुत्ता, अट्ठ य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स , बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता वीसं चुण्णिया भागा सेसा" इति । तृतीयस्याभिवर्द्धिताऽऽख्यस्य संवत्सरस्य य आदिसमयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयो द्वितीयस्य चान्द्रसंवत्सरस्य पर्यवसानं,तदानीं च चन्द्रमसो योग· पूर्वाषाढाभिः, तासां च पूर्वाषाढानां शेषीभूताः सप्त मुहूर्त्तास्त्रिपञ्चाशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्का एकोनचत्वारिंशद्भागाः । उक्तं च-"जे णं तच्चस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स आई से णं दोच्चस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छा कडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता पुव्वाहिं आसाढाहिं, पुव्वाणं आसाढाणं सत्त मुहुत्ता, तिपन्नासं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिं च सत्तट्ठिहा छित्ता उणयालीसं चुण्णिया भागा सेसा" इति । तदानीं च सूर्यस्य योग· पुनर्वसुनक्षत्रेण, तस्य च पुनर्वसुनक्षत्रस्य तदा शेषीभूता द्विचत्वारिंशन्मुहूर्ता·,पञ्चत्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्का· सप्त भागा· । उक्तं च-"तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स बायालीसं मुहुत्ता,पणतीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता सत्त चुण्णिया भागा सेसा" इति । चतुर्थस्य संवत्सरस्य य आदिसमयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयस्तदनन्तरमभिवर्द्धिताऽऽख्यस्य संवत्सरस्य पर्यवसानं,तदानीं च चन्द्रमसो योग उत्तराषाढाभि·, तासामुत्तराषाढानां शेषीभूता· ना तदानीं त्रयोदश मुहूर्त्तास्त्रयोदश च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्काः सप्तार्द्धशतिर्भागा । उक्तं च-"जे णं चउत्थस्स संवच्छरस्स आई से णं तच्चस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छे कडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं तेरस मुहुत्ता, तेरस य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता सत्तावीसं चुण्णिया भागा सेसा" इति । तदानीं च सूर्यस्य योग पुनर्वसुनक्षत्रेण,पुनर्वसुनक्षत्रस्य च तदा द्वौ मुहूर्त्तौ षट्पञ्चाशद् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्काः षष्टिभागाः शेषाः । उक्तं च-"तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ?। ता पुणव्वसुणा,पुणव्वसुस्स दो मुहुत्ता छप्पन्नं बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स,बावट्ठिं च सत्तट्ठिहा छित्ता सट्ठी चुण्णिया भागा सेसा" इति । पञ्चमस्याभिवर्द्धितस्य संवत्सरस्य य आदिसमयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयश्चतुर्थस्य चान्द्रस्य संवत्सरस्य पर्यवसानं, तदा च चन्द्रमसो योग उत्तराषाढानक्षत्रेण,तस्य चोत्तराषाढानक्षत्रस्य तदानीं शेषीभूता एकोनचत्वारिंशन्मुहूर्त्ताश्चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा प्रविभक्तस्य सप्तचत्वारिंशद् भागा· । उक्तं च-"जे णं पंचमस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स आई से णं चउत्थस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छाकडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं गुणतालीसं मुहुत्ता, चत्तालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता छीयालीसं (?) चुण्णिया भागा सेसा " इति । तदानीं च योगः सूर्यस्य पुनर्वसुनक्षत्रेण, तस्य च पुनर्वसुनक्षत्रस्य तदा शेषीभूता एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्ता·,एकविंशतिर्द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य सत्का· सप्तचत्वारिंशद् भागाः। उक्तं च-"तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स अउणातीसं मुहुत्ता एगवीसं च बावट्ठिभागा, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता छीयालीसं(?)चुण्णिया भागा सेसा" इति । यश्च द्वितीयस्य युगस्याऽऽदिभूतस्य चन्द्रसंवत्सरस्य प्रथमसमयस्तदनन्तरं पश्चाद्भावी समयः पञ्चमस्याभिवर्द्धितसंवत्सरस्य पर्यवसानं तदानीं चन्द्रमसो योग उत्तराषाढानक्षत्रेण, सोऽपि चरमसमयवर्ती सूर्यस्याऽपि च पुष्यनक्षत्रेण, पुष्यस्याऽपि च तदानीं शेषीभूता एकविंशतिर्मुहूर्त्तास्त्रयश्चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य त्रयस्त्रिंशद् भागाः । उक्तं च-"ता जे णं पढमस्स चंदसंवच्छरस्स आई से णं पढमस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स पज्जवसाणे अणंतरं पच्छाकडे समए तं समयं च णं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता उत्तराहिं आसाढाहिं,उत्तराणं आसाढाणं चरमसमए । तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता पुस्सेणं, एकवीसं मुहुत्ता तेयालीसं च, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता तेत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा" इति । सर्वत्र च सूर्यनक्षत्रयोगचिन्तायां मुहूर्त्ताः सूर्यमुहूर्त्ता वेदितव्याः, न तु व्यावहारिका ।

सम्प्रति युगेऽपि तौल्यरूपतया मेयरूपतया च
परिमाणमतिदेशेन प्रतिपादयन्नाह-

चंदमभिवड्ढियाणं, वासाणं पुव्वभणियाणं च ।
तिविहं पि तं पमाणं, जुगम्मि सव्वं निरवसेसं ॥

चन्द्राभिधानानां त्रयाणां संवत्सराणां, द्वयोश्चाभिवर्द्धितसंवत्सरयोरित्यर्थः । कथंभूतानामित्याह-पूर्ववर्णितानां पूर्वं प्राक् अहोरात्राऽऽदिप्रमाणेन तौल्यरूपतया वाऽभिहितानां,समुदायरूपे युगे त्रिविधमप्यहोरात्राऽऽदिरूपतया तत्प्रमाणं सर्वं निरवशेषमवगन्तव्यम् । तत्राहोरात्रप्रमाणं युगेऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि । १८३० । तथाहि—युगे चान्द्रसंवत्सरास्त्रयः, द्वौ चाभिवर्द्धितसंवत्सरौ, चान्द्रसंवत्सरे चैकस्मिन्नहोरात्राणां त्रीणि शतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि । द्वादश च द्वाषष्टिभाग

अहोरात्रस्य ३५४ । १२/६२ । तदेतत् त्रिभिर्गुण्यते, जातान्यहोरात्राणां दश शतानि द्वाषष्ट्यधिकानि षट्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य १०६२ । ३६/६२ । अभिवर्द्धितसंवत्सरे चैकस्मिन्नहोरात्राणां त्रीणि शतानि त्र्यशीत्यधिकानि, चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य ३८३ । ४४/६२ । एतद् द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि सप्त शतानि षट्षष्ट्यधिकानि, अहोरात्रस्य एकनाष्टषट्त्रिंशद् द्वाषष्टिभागा अष्टाशीतौ प्रक्षिप्यन्ते, जातं चतुर्विंशत्यधिकं शतम् १२४ । तस्य द्वाषष्ट्या भागे हृते लब्धौ द्वावहोरात्रौ, तौ पूर्वेष्वहोरात्रेषु मध्ये प्रक्षिप्येते, ततः सर्वसङ्ख्यया जाता अहोरात्रा अष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । एतावन्तो युगेऽहोरात्राः । यदा तु मुहूर्त्तपरिमाणं चिन्त्यते,तदा एकैकस्मिन्नहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्त्ता इत्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि अहोरात्राणां त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि ५४९०० । एतावन्तो युगे मुहूर्ताः । तथा चोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ-'पंचसंवच्छरिए णं भंते ! जुगे केवइआ मुहुत्ता पन्नत्ता ?। गोयमा ! पंचसंवच्छरिए णं जुगे दस अयणा, तीसं उऊ, सट्ठी मासा, एगे वीसुत्तरे पक्खसए, अट्ठारस तीसा अहोरत्तसया, चउपण्णं मुहुत्तसहस्सा नव सया पन्नत्ता" इति । (जं० ७ वक्ष०) अत्र षष्टिर्मासा विंशत्युत्तरं च पक्षशतं सूर्यसंवत्सरापेक्षया द्रष्टव्यम्, ततो न कश्चिद् वक्ष्यमाणपौर्णमास्यादिसङ्ख्यानेन । एकस्मिन्मुहूर्त्तोपरि चत्वार आढकाः, ततो यन्मुहूर्त्तपरिमाणं चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि तत् चतुर्भिर्गुण्यते ततो यथोक्तमाढकपरिमाणं भवति । तथा-एकैकस्मिन्नहोरात्रे मेयरूपतया परिमाणं त्रयो भाराः, अहोरात्राणां च युगे अष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि, ततस्तानि त्रिभिर्गुण्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नवत्यधिकानि ५४९०। एतावन्तो भागा युगे । ज्यो० २ पाहु० ।

युगेऽयनाऽऽदिप्रमाणं पृच्छन्नाह—

पंचसंवच्छरिए णं भंते ! जुगे केवइआ अयणा, केवइआ उऊ, एवं मासा, पक्खा, अहोरत्ता, केवइआ मुहुत्ता पण्णत्ता ? । गोयमा ! पंचसंवच्छरिए णं जुगे दस अयणा, तीसं उऊ, सट्ठी मासा, एगे वीसुत्तरे पक्खसए, अट्ठारस तीसा अहोरत्तसया, चउपण्णं मुहुत्तसहस्सा णव सया पण्णत्ता ॥

"पंचसंवच्छरिए णं भंते ! जुगे" इत्यादि । पञ्च संवत्सराः सौरा मानमस्येति पञ्चसांवत्सरिकं युगम्, अनेन नोत्तरसूत्रेण "दस अयणा" इत्यादिकेन विरोधः, चान्द्रसंवत्सरोपयोगिनां चन्द्रायणानां तु चतुस्त्रिंशदधिकशतस्य सम्भवात् । जं० ७ वक्ष० ।

सम्प्रति युगे सर्वसङ्ख्यया तिथिपरिमाणमहोरात्रपरिमाणं च प्रतिपादयति-

अट्ठारस सट्ठिसया, तिहीण नियमा जुगम्मि नायव्वा ।
तत्थेव अहोरत्ता, तीसा अट्ठारससया उ ॥

इह तिथयः शशिसम्भवा, अहोरात्रास्तु सूर्यसम्भवा, तत्र युगे तिथीनां नियमादष्टादश शतानि षष्ट्यधिकानि ज्ञातव्यानि। कथमिति चेत् ? । उच्यते-इह सूर्यैककमण्डलमेकेनाहोरात्रेण परिसमाप्तिं नापयति, तस्य चाहोरात्रस्य षष्टिभागो वर्द्धते, युगे चाहोरात्राणामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि । तत एकषष्टिभागा अपि प्रवर्द्धमाना एतावन्तो लभ्यन्ते । तत एतेषां तिथिकरणार्थमेकषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रिंशत्तिथयः, ता अहोरात्रस्योपर्यधिकत्वेन प्रक्षिप्यन्ते । तत आगतं यथोक्ततिथिपरिमाणमिति । तथा तत्रैवैकस्मिन् युगे अहोरात्रा अष्टादश शतानि त्रिंशानि-त्रिंशदधिकानि भवन्ति । तथाहि-एकस्मिन् युगेऽन्यूनातिरिक्तानि पञ्च सूर्यवर्षाणि भवन्ति, एकैकस्मिंश्च सूर्यवर्षे त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि अहोरात्राणां, तानि पञ्चभिर्गुण्यन्ते,ततो यथोक्तमहोरात्रपरिमाणं भवति ॥

तत्थ पडिमिज्जमाणे, पंचहिँ माणेहि पुव्वगणिएहिँ ।
मासेहिँ विभज्जित्ता, जइ मासा हुँति ते वोच्छं ॥

तत्रानन्तरोक्तस्वरूपे युगे पञ्चभिर्मानैर्मानसंवत्सरैः,आदित्यसंवत्सराऽऽदिभिरित्यर्थः । पूर्वगणितैः प्राक्प्रतिसङ्ख्यातस्वरूपैः, प्रतिमीयमाने परिगण्यमाने, मासैः सूर्याऽऽदिमासैः, विभज्यमाना मासा यावन्तो भवन्ति तान् वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति--

आइच्चेण उ सट्ठी, मासा उउणा उ हुँति एगट्ठी ।
चंदेण य बावट्ठी, सत्तट्ठी हुँति नक्खत्ती ॥

आदित्येन आदित्यमासेन विभज्यमाना मासा युगे भवन्ति षष्टिः षष्टिसङ्ख्याः । तथाहि-सूर्यमासे सार्द्धास्त्रिंशदहोरात्राः, युगे चाहोरात्राणामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि, तत एतेषां सार्द्धत्रिंशदहोरात्रैर्भागे ह्रियमाणे षष्टिर्मासा लभ्यन्ते । तथा ऋतुना ऋतुसंवत्सरस्य सत्कैर्मासैर्विभज्यमाने युगे एकषष्टिर्मासा भवन्ति । ऋतुमासो हि त्रिंशदहोरात्रप्रमाणः, ततोऽष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां त्रिंशता भागे हृते एकषष्टिरेव लभ्यत इति । तथा चान्द्रेण चान्द्रसंवत्सरसत्केन मासेन च विभज्यमाना मासा युगे सर्वसङ्ख्यया द्वाषष्टिर्भवन्ति । तथाहि-चान्द्रमासपरिमाणमेकोनत्रिंशद्दिनानि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा दिनस्य, तत एकोनत्रिंशद्दिनानि द्वाषष्टिभागकरणार्थं द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि सप्तदशशतान्यष्टनवत्यधिकानि १७९८ । ततो द्वात्रिंशदुपरितना द्वाषष्टिभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । येऽपि च युगाहोरात्रा अष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि, तेऽपि द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जात एको लक्षस्त्रयोदशसहस्राणि चत्वारि शतानि षष्ट्यधिकानि । ११३४६० । एतेषामष्टादशशतैस्त्रिंशदधिकैश्चान्द्रमाससत्कद्वाषष्टिभागरूपैर्भागो ह्रियते, लब्धाश्चान्द्रमासा द्वाषष्टिः । तथा नक्षत्रेण नक्षत्रमासे परिगण्यमाने सर्वसङ्ख्यया युगे नक्षत्रमासाः सप्तषष्टिर्भवन्ति । तथाहि—नक्षत्रमासः सप्तविंशतिरहोरात्रा एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः, सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि नवोत्तराणि १८०९ । तत उपरितना एकविंशतिः सप्तषष्टिभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । युगस्यापि च सम्बन्धिनस्त्रिंशदधिकाष्टादशशतप्रमाणा अहोरात्राः सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जात एको लक्षः विंशतिसहस्राणि षट्शतानि दशोत्तराणि १२०६१० । एतेषामष्टादशशतैस्त्रिंशदधिकैश्चान्द्रमाससत्कैर्द्वाषष्टिभागरूपैर्भागो ह्रियते,लब्धाः सप्तषष्टिर्मासाः ।

मासा सयपण्णासं, सत्त य राइंदियाइँ अहिरेगे ।
एक्कारस य मुहुत्ता, विसट्ठिभागा य तेवीसं ॥

अभिवर्द्धितसंवत्सरसत्के मासे परिगण्यमाने सर्वसंख्यया युगे अभिवर्द्धितमासाः सप्तपञ्चाशद्भवन्ति, सप्त रात्रिंदिवानि, एकादश मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागास्त्रयोविंशतिः । तथाहि—अभिवर्द्धितो मास एकत्रिंशदहोरात्राः, एकविंशत्युत्तरं शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामहोरात्रस्य, तत एकत्रिंशदहोरात्राश्चतुर्विंशत्युत्तरशतभागकरणार्थं चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन गुण्यन्ते, जातान्यष्टात्रिंशच्छतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि ३८४४ । तत उपरितनमेकविंशत्युत्तरं शतं भागानां तत्र प्रक्षिप्यते, जातान्येकोनचत्वारिंशच्छतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३९६५ । यानि च युगे अहोरात्राणामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३०, तानि चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन गुण्यन्ते, जाते द्वे लक्षे षड्विंशतिसहस्राणि नव शतानि विंशत्यधिकानि २२६९२० । तत एतेषामेकोनचत्वारिंशच्छतैः पञ्चषष्ट्यधिकैरभिवर्द्धितमाससत्कचतुर्विंशत्युत्तरशतभागरूपैर्भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तपञ्चाशन्मासाः, शेषास्तिष्ठन्ति नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५ । तेषामहोरात्राऽऽनयनाय चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धानि सप्त रात्रिंदिवानि, शेषास्तिष्ठन्ति चतुर्विंशतिर्भागाः सप्तचत्वारिंशत् । तत्र चतुर्भिर्भागैरेकस्य च भागस्य सत्कैश्चतुर्भिस्त्रिंशद्भागैस्त्रिंशन्मुहूर्त्ता भवन्ति । तथाहि—एकस्मिन्नहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्त्ताः, अहोरात्रे च चतुर्विंशत्युत्तरं शतं भागानां कल्पितमास्ते, तस्य चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य त्रिंशता भागे हृते लब्धाश्चत्वारो भागाः, एकस्य च भागस्य सत्काश्चत्वारस्त्रिंशद्भागाः, तत्र पञ्चचत्वारिंशद्भागैरेकस्य च भागस्य सत्कैश्चतुर्दशभिस्त्रिंशद्भागैरेकादश मुहूर्त्ता लब्धाः, शेषस्तिष्ठति एको भागः, एकस्य च भागस्य सत्काः षोडश त्रिंशद्भागाः । किमुक्तं भवति?—षट्चत्वारिंशत् त्रिंशद्भागा एकस्य च भागस्य सत्काः शेषास्तिष्ठन्ति, ते च किल मुहूर्त्ते चतुर्विंशत्युत्तरशतभागाः । तत षट्चत्वारिंशतश्चतुर्विंशत्युत्तरशतस्य च द्विकेनापवर्त्तना क्रियते, लब्धा मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागास्त्रयोविंशतिः । एवं सर्वैः कैश्च मासैर्यदा अष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानामहोरात्राणां भागो ह्रियते, तदा यथोक्तमासगतदिवसपरिमाणमागच्छति । तद्यथा—युगे किल सूर्यमासापेक्षया षष्टिर्मासाः, ततोऽष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां षष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रिंशद्दिवसाः, अर्द्धदिवसश्च । एतावन्तो दिवसाः सूर्यमासे । तथा एकषष्टिः कर्ममासा युगे, ततोऽष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानामेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रिंशदहोरात्राः । एतावत् कर्ममासे अहोरात्रपरिमाणम् । ते च मासा युगे द्वाषष्टिः, ततस्त्रिंशदधिकानामष्टादशशतानां द्वाषष्ट्या भागहरणे, लब्धा एकोनत्रिंशदहोरात्रा द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य, एतावच्चन्द्रमासपरिमाणम् । तथा नक्षत्रमासा युगे सप्तषष्टिः । ततः सप्तषष्ट्या अष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तविंशतिरहोरात्राश्चैकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागाः । इदं नक्षत्रमासपरिमाणम् । तथा—अभिवर्द्धितमासा युगे सप्तपञ्चाशत्, ततोऽष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां सप्तपञ्चाशता भागो ह्रियते, लब्धा द्वात्रिंशदहोरात्राः, शेषास्तिष्ठन्ति षट् सप्त । तत्र पञ्चाशन्मासानामुपरि सप्त अहोरात्रा एकादश मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोविंशतिर्द्वाषष्टिभागा वर्त्तन्ते । तत्र सप्तत्यः षट् पातिताः, शेष एकोऽहोरात्रस्तिष्ठति स च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागाः क्रियते, लब्धा एकादश मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोविंशत्युत्तरशतं मध्ये प्रक्षिप्यते, जातमेकसप्तत्यधिकं शतम् । तस्य सप्तपञ्चाशता भागे हृते लब्धास्त्रयश्चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामिति । एतावत्परिमाणमभिवर्द्धितमासस्य । सम्प्रति सूर्याऽऽदिमासेषु मुहूर्त्ताऽऽदिपरिमाणं चिन्त्यते—तत्र सूर्यमासे त्रिंशदहोरात्राः, एकं चाहोरात्रस्यार्द्धम्, अहोरात्रे च त्रिंशन्मुहूर्त्ताः, ततस्त्रिंशत् त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि, अहोरात्रार्द्धे च पञ्चदश मुहूर्त्ताः, ततः सर्वसंख्यया सूर्यमासे नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि मुहूर्त्तानां भवन्ति ९१५ । एकैकस्मिंश्च मुहूर्त्ते द्वे द्वे घटिके, इति नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । एतावत्सूर्यमासे घटिकानां परिमाणम् । मेयरूपतया तु चिन्तायामेकैको मुहूर्त्तश्चतुराढकप्रमाण इति मुहूर्त्तानां नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि ३६६० । एतावन्ता सर्वसंख्यया सूर्यमासे आढकाः । तौल्यत्वचिन्तायामेकैकस्मिन्नहोरात्रे त्रयो भाराः, ततस्त्रिंशत् त्रिभिर्गुण्यन्ते, जाता नवतिः ९०, अहोरात्रार्द्धे च सार्द्धो भार इति सर्वसंकलनया सूर्यमासे सार्द्धा एकनवतिर्भाराः । तथा कर्ममासे त्रिंशदहोरात्राः, ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि, एतावन्तः कर्ममासे मुहूर्त्ताः, एत एव मुहूर्त्ता घटिकाऽऽनयनाय द्वाभ्यां गुण्यन्ते, प्रतिमुहूर्त्तं घटिकाद्वयस्य भावात्, जातान्यष्टादशशतानि १८०० । एतावत्कर्ममासे घटिकानां परिमाणम् । तथा मुहूर्त्ते चत्वार आढका इति । तदेव मुहूर्त्तपरिमाणं नवशताऽऽत्मकमाढकाऽऽनयनाय चतुर्भिर्गुण्यते, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि ३६०० । एतावन्तो मेयत्वचिन्तायामाढकाः कर्ममासे तौल्यत्वचिन्तायां प्रत्यहोरात्रं त्रयो भारा इति त्रिंशदहोरात्रास्त्रिभिर्गुण्यन्ते, जाता नवतिः ९० । इयत्संख्याकाः कर्ममासे तौल्यत्वे कर्मभाराः । तथा—चन्द्रमास एकोनत्रिंशदहोरात्राः, द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य, तत एकोनत्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः, तेऽपि मुहूर्त्तगतभागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि षष्ट्यधिकानि ८६० । एतेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्चदश मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति अष्टाशीतिसहस्राणि पञ्चशतोत्तराणि, त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य ८८५०० । ३/६२ । एतदेव मुहूर्त्तपरिमाणं घटिकाऽऽनयनाय द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि सप्तदशशतानि सप्तत्यधिकानि, षष्टिश्च द्वाषष्टिभागा घटिकायाः १७७० । ६०/६२ । एतच्चन्द्रमासे घटिकापरिमाणम् । तथा प्रागतमेव मुहूर्त्तपरिमाणं सकलमप्याढकाऽऽनयनाय चतुर्भिर्गुण्यते, जातानि पञ्चत्रिंशच्छतानि एकचत्वारिंशदधिकानि, अष्टापञ्चाशच्च द्वाषष्टिभागा आढकस्य ३५४१ । ५८/६२ । तत एतावन्मेयत्वचिन्तायां चन्द्रमासे आढकपरिमाणम् । तथा तौल्यत्वचिन्तायामहोरात्रपरिमाणं प्राक्तनमेकोनत्रिंशद्रूपं भाराऽऽनयनाय त्रिभिर्गुण्यते, जाता सप्ताशीतिः ८७ । येऽपि च द्वात्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः, तेऽपि त्रिभिर्गुण्यन्ते, जाता षण्णवतिः ९६ । तस्या द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्ध एको भारः, शेषास्तिष्ठन्ति चतुस्त्रिंशत् ३४ । ततः सर्वसंख्यया चन्द्रमसा तौल्यत्वचिन्तायामष्टाशीतिर्भाराः, चतुस्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा भारस्य ८८ । ३४/६२ । नक्षत्रमासे सप्तविंशतिरहोरात्राः एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा उपरितनाः, ततः सप्तविंशतिस्त्रिंशता गुण्यन्ते, जातान्यष्टौ शतानि दशाधिकानि सप्तषष्ट्युत्तराणि द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य ८१० । ६/६२ । येऽपि चैकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः

त्पर्यन्तमा०, तेऽपि त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि षट्शतानि त्रिंशदधिकानि । एतेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा नव मुहूर्त्ता, शेषास्तिष्ठन्ति सप्तविंशतिः । मुहूर्ताश्च मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सख्यया मुहूर्त्तानामष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि सप्तविंशतिश्च ८१९।२७। एकस्य च तस्य सप्तषष्टिभागा । एतावन्नक्षत्रमासे मुहूर्त्तपरिमाणम् । ततो घटिकापरिमाणाऽऽनयनार्थमेतदेव द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि षोडश शतान्यष्टात्रिंशदधिकानि, चतुष्पञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा घटिकायाः १६३८ । ५४/६७ । एतावद् घटिकापरिमाणम् । नक्षत्रमासे तौल्यत्वचिन्तायामेकस्मिन्नहोरात्रे त्रयो भागा इति सप्तविंशतिरहोरात्रास्त्रिभिर्गुण्यन्ते, जातान्येकाशीतिः, एतस्य रिमाण नक्षत्रमासे एकाशीतिभारास्त्रिषष्टिश्च सप्तषष्टिभागा भारस्य, तथा एकविंशतिरपि त्रिभिर्गुण्यते, जाता त्रिषष्टि, ततो जात तौल्यत्वपरिमाण नक्षत्रमासे एकाशीतिर्भारास्त्रिषष्टिश्च सप्तषष्टिभागा भारस्य । तथा-एकैकस्मिन्मुहूर्त्ते चत्वार आढका इति मुहूर्त्तपरिमाणमनन्तरोक्त सर्वमपि चतुर्भिर्गुण्यते, तत आगतानि नक्षत्रमासे मेयपरिमाणचिन्तायामाढकाना द्वात्रिंशच्छतानि सप्तसप्तत्यधिकान्येकचत्वारिंशच्च सप्तषष्टिभागा आढकस्य ३२७७ । ४१/६७ । अभिवर्द्धितमासे एकत्रिंशदहोरात्रा, एकविंशत्युत्तर च शत चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामहोरात्रस्य, तत्र मुहूर्त्ताऽऽनयनार्थमेकत्रिंशदहोरात्रास्त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि त्रिंशदधिकानि ९३० । तदपि चैकविंशत्युत्तर शत भागाना, तदपि त्रिंशता गुण्यते, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि त्रिंशदधिकानि ३६३० । एतेषां च चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन भागो ह्रियते, लब्धा एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्ता, शेषमुद्वरन्ति चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां चतुस्त्रिंशच्च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागा मुहूर्त्ता मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातमभिवर्द्धिते मासे सर्वसकलनया मुहूर्त्तपरिमाणं नवशतान्येकोनषष्ट्यधिकानि चतुस्त्रिंशच्च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागाः ९५९ । ३४/१२४ । मुहूर्त्ते च घटिकाद्वयमित्येतदेव मुहूर्त्तपरिमाण घटिकाऽऽनयनाय द्वाभ्यां गुण्यते, जातान्येकोनविंशतिशतान्यष्टादशाधिकानि घटिकाना मष्टषष्टिश्चतुर्विंशत्युत्तर शत भागानाम् १९१८ । ६८/१२४ । एकैकस्याश्च घटिकाया द्वौ द्वावाढकाविति घटिकापरिमाणमिदम् । मेयरूपतया चिन्तायामाढकाऽऽनयनाय द्वाभ्यां गुण्यते, जातान्याढकानामष्टात्रिंशच्छतानि सप्तत्रिंशदधिकानि, द्वादश च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामाढकस्य ३८३७ । १२/१२४ । तथाहि-एकैकस्मिन्नहोरात्रे भारत्रयमित्येकत्रिंशदहोरात्रास्त्रिभिर्गुण्यन्त, जातास्त्रिनवतिर्भारा० । यदपि चैकविंशत्युत्तर शतमपि त्रिभिर्गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि ३६३ । तेषां च चतुर्विंशत्युत्तरेण शतेन भागो ह्रियते, लब्धौ द्वौ भारा, तौ च पूर्वराशौ प्रक्षिप्येते, शेष पञ्चदशोत्तर शतम्, तत आगत तत्तौल्यत्वचिन्तायामभिवर्द्धितमास परिमाण पञ्चनवतिर्भारा शतमेक पञ्चदशोत्तर चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानाम् । ९५ । ११५/१२४ । यदा तु सामान्य त्रिंशत्तमो भागो दिवस इति दिवसलक्षणमनु सूर्यमासाऽऽदिदिवसपरिमाण चिन्त्यते, तदा यदेव तस्य मासस्य दिवसापेक्षया परिमाण, तदेव तस्य दिवसस्य मुहूर्त्तापेक्षया, परिमाणमवसेयम् । यथा सूर्यदिवसस्य त्रिंशन्मुहूर्त्तपरिमाण, कर्मदिवसस्य त्रिंशन्मुहूर्त्ता एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, अभिवर्द्धितदिवसस्यैकत्रिंशन्मुहूर्त्ता एकविंशत्युत्तर च शत चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां मुहूर्त्तस्य । तथा-सूर्यदिवसस्य एकषष्टिघटिका परिमाणम्, कर्मदिवसस्य षष्टिघटिका०, चन्द्रदिवसस्य एकोनषष्टिघटिका द्वौ च द्वात्रिंशद्भागौ घटिकाया, नक्षत्रदिवसस्य चतुष्पञ्चाशद्घटिका द्विचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागा घटिकाया, अभिवर्द्धितदिवसस्य षष्टिर्घटिका अष्टादशोत्तर शत चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां घटिकाया । ११८ । १२४ । एकैकस्या च घटिकाया द्वौ द्वावाढकाविति दिवसस्य मेयत्वचिन्तायां सूर्यदिवसस्य द्वाविंशत चत्वारश्च द्वाषष्टिभागा आढकस्य २२ । ४/६२ । नक्षत्रदिवसस्य दशोत्तर शतमाढकाना, पञ्चनवतिराढका, सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागा आढकस्य ११० । ९५ । २७/६७ । अभिवर्द्धितदिवसस्य सप्तविंशत्युत्तरमाढकशत द्वादशोत्तर शत च चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामाढकस्य १२७ । ११२/१२४ । एकैकस्या नवनालिकाया पञ्चशतमिति तौल्यत्वचिन्तायामिद दिवसस्य परिमाणम् । सूर्यदिवसस्यैकषष्टिपलशतानि परिमाणम् ६१०० । कर्मदिवसस्य चतु पञ्चाशत्पलशतानि ५४०० । चन्द्रदिवसस्यैकोनषष्टिपलशतानि, द्वौ च द्वाषष्टिभागौ पलशतस्य ५९०० । २/६२ । नक्षत्रदिवसस्य चतुष्पञ्चाशत्पलशतानि द्वात्रिंशच्च सप्तषष्टिभागा० पलशतस्य ५४०० । ३२/६७ । अभिवर्द्धितदिवसस्य त्रिषष्टि पलशतान्यष्टादशोत्तर च चतुर्विंशत्युत्तर पलशतस्य ६३०० । ११८/१२४ । तदेवमुक्त सप्रपञ्च पञ्चानामपि संवत्सराणां स्वरूप, युगप्रमाण च । ज्यो० २ पाहु० । सू० प्र० ।

पंचसंवच्छरियस्स णं जुगस्स नक्खत्तमासेणं मिज्जमाणस्स सत्तसट्ठि नक्खत्तमासा पण्णत्ता ।

" पच संवच्छर " इत्यादि । नक्षत्रमासो येन कालेन चन्द्रो नक्षत्रमण्डल भुङ्क्ते, स च सप्तविंशतिरहोरात्राणि, एकविंशतिश्चाहोरात्रस्य सप्तषष्टिभागाः २७ । २१/६७ । युगप्रमाण चाष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानीति प्रागुक्तम् १८३० । तदेव नक्षत्रमासस्योक्तप्रमाणराशिना दिनसप्तषष्टिभागतया व्यवस्थापितेन त्रिंशदुत्तराष्टादशशतप्रमाणेन युगदिनप्रमाणराशि सप्तषष्टिभागतया व्यवस्थापित, एक लक्ष, द्वाविंशति सहस्राणि, षट् शतानि, दश चेत्येवरूपो १२२६१० । विभज्यमान सप्तषष्टिर्नक्षत्रमासप्रमाणो भवतीति । स० ६७ सम० ।

पंचसंवच्छरियस्स णं जुगस्स रिउमासेणं मिज्जमाणस्स इगसट्ठि उउमासा पण्णत्ता ।

"पच" इत्यादि । पञ्चभि संवत्सरैर्निर्वृत्तमिति पाञ्चसांवत्सरिक, तस्य, णमित्यलङ्कारे, युगस्य कालमानविशेषस्य ऋतुमासेन चान्द्राऽऽदिमासेन मीयमानस्य एकषष्टि -ऋतुमासा० प्रज्ञप्ता । इह चाय भावार्थ युग हि पञ्च संवत्सरा निष्पाद्यन्ति । तद्यथा—चन्द्रश्च ऽभिवर्द्धितश्चन्द्रोऽभिवर्द्धितश्चेति । तत्र एकोनत्रिंशदहोरात्राणि द्वात्रिंशच्च द्विषष्टिभागा अहोरात्रस्येत्येवं प्रमाणेन २९ । ३२/६२ । कृष्णप्रतिपदमारभ्य पौर्णमासीनिष्ठितेन चन्द्रमासेन द्वादशमासपरिमाणश्चन्द्रसंवत्सर । तस्य च प्रमाणमिदम्-त्रीणि शतान्यहां चतुष्पञ्चाशदुत्तराणि, द्वादश च द्विषष्टिभागा दिवसस्य ३५४ । १२/६२ । तथा—एकत्रिंशदहान्येकविंशत्युत्तर च शत चतुर्विंशत्युत्तरशतभागाना दिवसस्येत्येव प्रमाणोऽभिवर्द्धितमास इति ३१ । १२१/१२४ । एतेन च मासेन द्वादशमासप्रमाणोऽभिवर्द्धितसंवत्सरो भवति । स च प्रमाणे-

न त्रीणि शतान्यह्नां, त्र्यशीत्यधिकानि, चतुश्चत्वारिंशच्च द्विषष्टिभागा दिवसस्य ३८३ । ४४/६२ । तदेव त्रयाणां चन्द्रसंवत्सराणां द्वयोश्चाभिवर्द्धितसंवत्सरयोरेकीकरणे जातानि दिनानां त्रिंशदुत्तराण्यष्टादशशतान्यहोरात्राणाम् १८३० । ऋतुमासश्च त्रिंशताऽहोरात्रैर्भवतीति त्रिंशता भागहारे लब्धा एकषष्टिः-ऋतुमासा इति । स० ६१ सम० ।

एकमासेन चन्द्रा दक्षिणोत्तरचारिणः, सूर्याः पुनः संवत्सरेण दक्षिणोत्तरचारिणो भवन्ति । अत्र चन्द्रस्य नक्षत्रमासो ग्राह्यः, स च सप्तविंशतिदिनान्येकविंशतिः सप्तषष्टिभागश्चेति प्रमाणः २७ । २१/६७ । तदर्द्धेन १३ ॥ ४४/६७ ॥ चन्द्रस्य दक्षिणाऽऽयनम्, अर्द्धेन चोत्तरायणम् । यतश्चन्द्रचन्द्राऽभिवर्द्धितचन्द्राभिवर्द्धितनामानः संवत्सराः ५ । ते च त्रिंशदधिकाष्टादशशतदिनसंख्ये युगे पञ्च भवन्ति । तत्रैकोनत्रिंशद्दिनमानाः सद्वात्रिंशद्द्वाषष्टिभागाश्चन्द्रमासा द्वाषष्टिः, सार्द्धत्रिंशद्दिनमानाः सूर्यमासाः षष्टिः, सप्तविंशतिदिनमानैकविंशतिः सप्तषष्टिभागा नक्षत्रमासाः सप्तषष्टिर्युगे, तेन युगे चन्द्रस्य दक्षिणायनानि सप्तषष्टिः, उत्तरायणान्यपि सप्तषष्टिः, सर्वाणि युगे चन्द्रायणानि १३४, तथा सूर्यस्य पश्चाच्चन्द्रेण भोगो येषां तानि पश्चाद्भोगानि, चन्द्रोऽतिक्रम्य यानि भुङ्क्ते, पृष्ठ दत्वेत्यर्थः, इत्यादि दृश्यम् ॥ ७९ ॥

चन्द्रसूर्ययोर्मण्डलाऽऽदिस्वरूपं प्रकाश्याथ नक्षत्रतारकास्वरूपमाह-

अट्ठेव मंडलाइं, णक्खत्ताण जिणेहिँ भणिआइं ।
दो मंडलाइँ दीवे, मडलछक्कं च लवणम्मि ॥ ८० ॥

अष्टावेव मण्डलानि नक्षत्राणां जिनेन्द्रैर्भणितानि, तत्र द्वे मण्डले जम्बूद्वीपे, मण्डलषट्कं च लवणोदे, यच्चन्द्रमसः सर्वाभ्यन्तरमण्डलं तन्नक्षत्राणामपि सर्वाभ्यन्तरमण्डलं, यच्चन्द्रमसः सर्वबाह्यं मण्डलं तन्नक्षत्राणामपि सर्वबाह्यं मण्डलम् । यदुक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्याम्-"जंबूद्दीवे णं भंते ! केवइअं ओगाहित्ता नक्खत्तमंडला पन्नत्ता ? । गोयमा ! जंबूद्दीवे दीवे असीसयं ओगाहेत्ता, एत्थ णं दो नक्खत्तमंडला, लवणसमुद्दे वि तिन्नि, तीसे जोअणसए ओगाहेत्ता, एत्थ णं छ नक्खत्तमंडला पन्नत्ता । सव्वब्भंतराओ णं णक्खत्तमंडलाओ केवइए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पन्नत्ते ? । गोयमा ! पंचदसुत्तरजोअणसए अबाहाए णक्खत्तमंडले पन्नत्ते " इति ॥ ८० ॥

अथ केषु केषु चन्द्रमण्डलेषु नक्षत्राणि सन्ति ?, इत्याह-

अभिई १ सवण २ धणिट्ठा ३,
सयभिस ४ पुव्वुत्तरा य ५ भद्दवया ६ ।
रेवइ ७ अस्सिणी ८ भरणी ९,
पुव्वुत्तर १० फग्गुणीओ ११ अ ॥ ८१ ॥

अभिजिच्छ्रवणधनिष्ठाशतभिषापूर्वभाद्रपदोत्तराभाद्रपदा युगे दशायनानि । तत्र पञ्च दक्षिणायनानि, पञ्चैवोत्तरायणानि, त्र्यशीत्यधिकशतदिनानामेकैकमयनम् १८३ । तद्दशगुणं युगं १८३० दिनप्रमाणम् । तथा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डले दिनमेकं चरति, सर्वबाह्येऽपि दिनमेकं, शेषेषु मण्डलेषु प्रवेशनिर्गमाभ्यां दिनद्वयम्, अतः प्रथमचरमादिनन्यूनत्वे सूर्यसंवत्सरे ३६६ दिनानि । स च पञ्चगुणितोऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि । मं० ।

सम्प्रति कति मण्डलानि चन्द्राः, सूर्या वा युगमध्ये चरन्तीत्येतन्निरूपयति-

सत्तरससए पुण्णे, अड्डट्ठे चेव मंडलं चरइ ।
चंदो जुगेण णियमा, सूरो अट्ठारस उ तीसं ॥

चन्द्रो युगेन चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धितचन्द्राभिवर्द्धितसंवत्सरपञ्चकाऽऽत्मकेन नियमान्मण्डलं चरति भ्रम्या पूरयति सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि १७६८ । सूर्यः पुनर्युगेन मण्डलानि चरति अष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० ।

सम्प्रति चन्द्रः स्वकीयेनायनेन कियन्ति मण्डलानि चरतीति ?, एतन्निरूपयति-

तेरस य मंडलाइं, तेरस सत्तट्ठि चेव भागा य ।
अयणेण चरइ सोमो, नक्खत्तेणऽद्धमासेणं ॥

इह नक्षत्रार्द्धमासप्रमाणं चन्द्रस्यायनं, ततो नक्षत्रेण नक्षत्रसत्केनार्द्धमासेन यच्चन्द्रस्यायनं तेन स्वकीयेनायनेन चन्द्रस्त्रयोदश मण्डलानि, एकस्य च मण्डलस्य सप्तषष्टिभागीकृतस्य त्रयोदश भागान् चरति । कथमेतस्योपपत्तिरिति चेत् ? । उच्यते-चतुस्त्रिंशदधिकेनायनशतेन सप्तदशशतान्यष्टषष्टिसहितानि मण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेनायनेन किं लभामहे ? । राशित्रयस्थापना-१३४ । १७६८ । १ । अत्रान्त्येन राशिनैककलक्षणेन मध्यराशिर्गुण्यते, स च तावानेव जातः । तत आद्येन राशिना चतुस्त्रिंशदधिकेन शतरूपेण भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश, शेषास्तिष्ठन्ति षड्विंशतिः । तत्र छेद्यच्छेदकराश्योर्द्विकेनापवर्त्तना, लब्धास्त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः ।

अधुना यावन्ति मण्डलान्येकेन पर्वणा चन्द्रश्चरति, तावन्निर्दिदिक्षुराह-

चोद्दस य मंडलाइं, बिसट्ठिभागा य सोलस हवेज्जा ।
मासद्धेण उडुवई, एत्तियमित्तं चरइ खेत्तं ॥

मासार्द्धेनैकेन पर्वणा उडुपतिश्चन्द्रमा, एतावन्मात्रमेतावत्प्रमाणं क्षेत्रं चरति । यदुत-चतुर्दश मण्डलानि, एकस्य च मण्डलस्य षोडश द्वाषष्टिभागाः । तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेन पर्वणा किं लभ्यते ? । राशित्रयस्थापना-१२४ । १७६८ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, स च तावानेव जातः, तत आद्येन राशिना भागहरणे, लब्धाश्चतुर्दश, शेषास्तिष्ठन्ति द्वात्रिंशत् । तत्र छेद्यच्छेदकराश्योर्द्विकेनापवर्त्तना, लब्धाः षोडश द्वाषष्टिभागाः ।

सम्प्रति पर्वगतमण्डलेभ्योऽयनगतमण्डलापगमे यच्छेषमवतिष्ठते तन्निरूपयति-

एगं च मंडलं मं-डलस्स सत्तट्ठिभाग चत्तारि ।
नव चेव चुण्णियाओ, इगतीसकएण छेएण ॥

एकं मण्डलमेकस्य च मण्डलस्य सप्तषष्टिभागाश्चत्वारः, एकस्य च सप्तषष्टिभागस्यैकत्रिंशत्कृतेन छेदेन नव चूर्णिका भागाः, एतावत्पर्वगतक्षेत्रापगमे शेषः । एतस्यैवमुपपत्तिः-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेन पर्वणा किं लभामहे ? । अत्र राशित्रयस्थापना-१२४ । १७६८ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यरा-

शिर्गुण्यते, स च तावानेव जात , तत आद्येन चतुर्विंशत्यधिकेन शतरूपेण राशिना भागहरणं, छेद्यच्छेदकराश्योश्चतुर्भिरपवर्तना, लब्धानि चतुर्दश मण्डलान्यष्टौ च एकत्रिंशद् भागा । एतस्मादयनक्षेत्रं शोध्यते, तत्र चतुर्दशस्य त्रयोदश मण्डलानि शुद्धानि, एकमवशिष्टम् । सप्तदशस्य एकत्रिंशद्भागेभ्यस्त्रयोदश सप्तषष्टिभागा शोध्या'; तत्र सप्तषष्टिरष्टाभिर्गुणिता, जातानि पञ्चशतानि षट्त्रिंशदधिकानि ५३६ । एकत्रिंशता त्रयोदश गुणिता , जातानि चत्वारि शतानि त्र्युत्तराणि ४०३ । एतानि पञ्चभ्यः षट्त्रिंशदधिकेभ्य' शोध्यन्ते, स्थित शेष त्रयस्त्रिंशदधिक शतम् १३३ । तत एतत्सप्तषष्टिभागाऽऽनयनार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातानि नवाशीतिशतान्येकादशाधिकानि ८९११ । छेदराशिमौल एकत्रिंशत्, स च सप्तषष्ट्या गुण्यते, जाते द्वे सहस्रे सप्तसप्तत्यधिके २०७७ । ताभ्यां भागो ह्रियते, लब्धाश्चत्वार सप्तषष्टिभागा , शेषास्तिष्ठन्ति षट्शतानि त्र्युत्तराणि ६०३ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योः सप्तषष्ट्याऽपवर्तना, जाता उपरि नवाधस्तादेकत्रिंशत, लब्धा एकस्य सप्तषष्टिभागस्य नवैकत्रिंशच्छेदकृता भागा इति । ज्यो० १६ पाहु० । ज० । च० प्र० । (युगे किमादिका संवत्सरा इत्यनुपदमेव ' जुगाइ ' शब्दे १५७५ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

युगेऽमावास्या पूर्णिमाश्च यथा-

पंचसंवच्छरिए णं जुगे वावट्ठिं पुन्निमाओ,वावट्ठिं अमावासाओ पन्नत्ताओ ।

"पंच"इत्यादि। तत्र युगे त्रयश्चन्द्रसंवत्सरा भवन्ति, तेषु षट्त्रिंशत्पौर्णमास्यो भवन्ति,द्वौ चाभिवर्द्धितसंवत्सरौ भवत ,तत्र चाभिवर्द्धितसंवत्सर. त्रयोदशभिश्चन्द्रमासैर्भवतीति तयो षड्विंशति' पौर्णमास्य इत्येवं द्विषष्टिस्ता भवन्तीति, एवममावास्या अपीति । स० ६२ सम० ।

जुगंतकडभूमि-युगान्तकृद्[कर]भूमि-स्त्री० । युगानि कालमानविशेषा.,तानि च क्रमवर्त्तीनि,तत्साधर्म्याद्ये क्रमवर्त्तिनो गुरुशिष्यप्रशिष्यादिरूपा पुरुषास्तेऽपि युगानि,तै प्रमितान्तकरभूमिर्युगान्तकरभूमिः। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । कल्प० । पुरुषलक्षणयुगापेक्षयाऽन्तकराणां भवक्षयकारिणां भूमि कालो युगान्तकरभूमि। स्था० ८ ठा०।अन्तकर (कृद्) भूमिभेदे, (सा च कस्यान्तकृत. कियतीति तत्तच्छब्दे निरूपिता)पुरुषाः युगमिव पुरुषयुग, तदपेक्षया ऽन्तकराणां भवान्तकराणां, निर्वाणगामिनामित्यर्थ । भूमि कालो युगान्तकरभूमि । इदमुक्त भवति-भगवतो वर्द्धमानस्वामिनस्तीर्थे तस्मादेवावधे तृतीय पुरुष जम्बूस्वामिन यावन्निर्वाणमभूत्, तत उत्तर तद्व्यवच्छेद इति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

जुगंतकरभूमि-युगान्तकृद् [कर] भूमि-स्त्री० । "जुगंतकरभूमि" शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

जुगंतरपलोयणा-युगान्तरप्रलोकना-स्त्री०। युग यूप , तत्प्रमाणमन्तर व्यवधान प्रलोकयति या सा तथा । (भ०) युग यूप , तत्प्रमाणो भूभागोऽपि युग , तस्यान्तरे मध्ये प्रलोकन यस्या सा तथा । युगप्रमाणभूभागव्यवधानेन प्रलोकयन्त्याम्, भ०। " जुगंतरपलोयणाए दिट्ठीए " (जुगंतरपलोयणाए त्ति) युग यूप , तत्प्रमाणमन्तर स्वदेहदेशस्य दृष्टिपातदेशस्य च व्यवधान,प्रलोकयति या सा युगान्तरप्रलोकना, तया,दृष्ट्येति। भ० २ श० १ उ० ।

जुगंधर-युगन्धर-पुं० । युग रथस्य युगकाष्ठं धरति धृ-खच् । रथस्य युगकाष्ठाम्भञ्जने 'कूबराख्ये काष्ठभेदे, ज० १ वक्ष० । पर्वतभेदे, वाच०।अम्बरतिलकपर्वतस्थे स्वनामख्याते आचार्ये, आ० म०।"जुगंधरा नाम आयरिया विविहनियमधरचउद्दसपुव्विचउणाणोवगया । " आ० म०द्वि० अ० १ खण्ड। अम्बरतिलकपर्वतमधिकृत्य-" युगन्धरमुनिस्तत्र, तदा केवलमासदत् । " आ० क० । अपरविदेहस्थे महाबाहुवासुदेवस्य समकालिके तीर्थकरे, आ० चू० १ अ० । आव० ।

जुगच्छिड्ड-युगच्छिद्र-न० । युगरन्ध्रे, आ० क० ।

" पुव्वंते होज्ज जुगं, अवरंते तस्स होइ समिलाओ ।
जुगछिड्डम्मि पवेसो, इअ संसइओ मणुअलंभो ॥ १ ॥ "

पूर्वान्ते समुद्रस्य युगम, अपरान्ते तु सम्या,ततो यथा युगस्य छिद्रे तस्या' प्रवेश संशयित इत्येव मनुष्यजन्मलाभ' ।

तथा-

" जह समिला पब्भट्ठा, सागरसलिले अणोरपारम्मि ।
पविसिज्ज जुगच्छिड्डं, कह वि भमंती भमंतम्मि ॥ १॥ "

नवरम्-' अणोरपारम्मि ' देश्यत्वादपारे इत्यर्थ. ।

" सा चंडवायवीई-पणुल्लिआ अ वि लभिज्ज जुगछिड्डं ।
न य माणुसाउ भट्ठो, जीवो पुण माणुसं लहइ ॥ १ ॥ "

आ० क० । उत्त० ।

जुगणद्ध-युगनद्ध-पुं० । युगमिव नद्धो युगनद्ध' । यथा युग वृषभस्कन्धयोरारोपित वर्तते तद्वद् योगोऽपि य. प्रतिभाति स युगनद्ध इत्युच्यते । एतदाकार योगभेदे, सू० प्र० १२ पाहु० ।

जुगप्पहाण-युगप्रधान-पुं० । युगश्रेष्ठे, नि० चू० १ उ० । "तत्थ मज्झवइरा सुयाति जुगप्पहाणा । " आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

जो दुप्पसहो सूरी, होहिंति जुगप्पहाण आयरिया ।
अज्जसुहम्मप्पभिई,चउरहिया दुन्नि य सहस्सा ।४५१।

इहावसर्पिण्या दुःषमावसानसमये द्विहस्तोच्छ्रितश्चतुर्विंशतिवर्षायुष्क पुष्कलतप क्षपितकर्मतया समासन्न. सिद्धिसौध शुद्धान्तरात्मा दशवैकालिकमात्रसूत्रधरोऽपि चतुर्दशपूर्वधर इव शक्रपूज्यो दुष्प्रसहनामा सर्वान्तिम सूरिर्भविष्यति,तत त दुष्प्रसह यावत्, तमभिव्याप्येवेत्यर्थ । आर्यसुधर्मप्रभृतय , आराद् सर्वहेयधर्मेभ्योऽर्वाक् जात आर्य',स चासौ सुधर्म ,तत्प्रभृतय ,प्रभृतिग्रहणाच्च जम्बूस्वामिप्रभवशय्यम्भवाऽऽद्या गणधरपरम्परा गृह्यते, युगप्रधानास्तत्तत्कालप्रवरपारमेश्वरप्रवचनोपनिषद्वेदित्वेन विशिष्टतरमूलगुणोत्तरगुणसंपन्नत्वेन च तत्कालापेक्षया भरतक्षेत्रमध्ये प्रधाना आचार्या. स्युश्चतुरधिकसहस्रद्वयप्रमाणा भविष्यन्ति । अन्ये तु चतुरधिकसहस्रद्वयप्रमाणा इत्याहु. । तत्त्व तु सर्वविदो विदन्ति ।

यच्च महानिशीथग्रन्थे जग्रन्थ ग्रन्थकार -

" इत्थ चायरिआण, पणपन्ना हुंति कोडिलक्खाओ ।
कोडिसहस्से कोडी, सए य तह एत्तिए चेव त्ति " ॥ १ ॥

तत्सामान्यमुनिप्रत्यपेक्षया द्रष्टव्यम् । तथा च तत्रैवोक्तम्-

" एएसिं मज्झाओ, एगे निव्विडइ गुणगणाइन्ने ।
सव्वुत्तमभंगेणं, तित्थयरस्साणुसरिसगुरू ॥ १ ॥ " प्रव० २६४ द्वार ।

चतुरधिकद्विसहस्रमिता युगप्रधाना सिद्धान्ते प्रोक्ता , ते साम्प्रत क सन्ति?,इति प्रश्न,उत्तरम्-साम्प्रत युगप्रधाना सन्तीति

ज्ञात नास्ति, दृश्यन्तेऽपि च न, तेन नूनं गोवत्याऽप्रारभ्य ते भविष्यन्तीति ज्ञायते । ५१ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

जुगमच्छ-जुगमत्स्य-पुं० । मत्स्यभेदे, विपा० १ श्रु० ८ अ० । जी० । प्रज्ञा० ।

जुगमत्त-युगमात्र-त्रि० । युग यूप चतुर्हस्त.तत्प्रमाण युगमात्रम् । चतुर्हस्तप्रमाणे, प्रव० १०३ द्वार । "पुरओ जुगमत्ताए, पेहमाणो महिं चरे ।" (३ गाथा) पुरतोऽग्रतो युगमात्रया शरीरप्रमाणया शकटोर्द्धसंस्थितया दृष्ट्येति । दश० ५ अ० १ उ० ।

जुगमाय-युगमात्र-त्रि० । 'जुगमत्त' शब्दार्थे, प्रव० १०३ द्वार । "पुरओ जुगमाय पेहमाणे ।" युगमात्र चतुर्हस्तप्रमाणं शकटोर्द्धसंस्थित भूभाग पश्यन् । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

जुगल-युगल-न० । युग द्वित्व विद्यतेऽस्यास्य लच् । युग्मे, द्वित्वसंख्याऽन्विते च । त्रि० । वाच० । युगल द्वयमिति । अनु० । त० । उत्त० । ज्ञा० । रा० । जं० । स० । औ० । सजातीयविजातीययोर्द्वन्द्वे, रा० । जी० । जं० । " आमेलगजमलजुगलवट्टियअब्भुण्णयपीणरइयसंठियपओहरा । " युगलौ युगलरूपौ, द्वावित्यर्थ. । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जुगलधम्म-युगलधर्म-पुं० । स्त्रीपुरुषद्वन्द्वधर्मे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । त० । ज्यो० ।

जुगलधम्मिय-युगलधर्मिक-पुं० । स्त्रीपुरुषद्वन्द्वधर्मवति, त० ।

जुगलयमणुय-युगलकमनुज-पुं० । युगलधर्मिणि मनुष्ये, ज्यो० १ पाहु० ।

जुगलि[ण्]-युगलिन्-त्रि० । सजातीयविजातीयद्वन्द्वोपेते,उत्त. रकुरौ भगवान् युगलिकोऽहं युगलिनीति (श्रेयांसवच)कल्प० ७ क्षण । यस्मिन् काले कालान्तरे वा यावन्तो युगलिनस्तस्मिन् तावन्त एव, न्यूना , अधिका वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-यस्मिन् काले यावन्तो युगलिनस्तस्मिन्काले तु तावन्त एव भवन्तीति । कालान्तरे च भरतैरावतयोर्युगलिनां न्यूनाधिकत्वं, देवकुर्वादिषु तु जातु तत्संहरणसमये कुतश्चित्तदानयनमपि भवतीति न तत्र न्यूनाऽऽधिक्यमिति । १३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

जुगलिय-युगलिक-त्रि० । स्त्रीपुरुषद्वन्द्वोपेते, कल्प० ७ क्षण । प० विष्णवर्षिकृतप्रश्ने-श्रीआदिनाथस्य वारके तालफलेन युगलिकदारको मृतो, युगलिना चाकालमरण न भवतीति कथं घटते ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-पूर्वकोट्याधिकायुषो युगलिना न्यूनायुषि न म्रियन्ते, तत. श्रीआदिनाथस्य वारके तालफलेन मृतस्य युगलिन पूर्वकोट्यधिकमायुर्नास्तीति सगच्छत इति । ३ प्र० । ही० ३ प्रका० । युगलिकशरीराणि मृता. समुद्रे क्षिपन्ति, अथवा स्वय विनश्वरीभवन्ति ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-" पुरा हि मृतमिथुनशरीराणि महाखगा. । नीडकाष्ठमिवोत्पाट्य, सन्न्यक्षिपन् पयोनिधौ "॥ १ ॥ इति त्रिषष्टीयश्लोकभवेदवचनात् समुद्रे युगलिकशरीराणि क्षिप्यन्त, अन्ययुगलिकक्षेत्रेऽप्येव सभाव्यते, आरण्यकपशूना निसर्गेतो मृतानां यथा किमप्यवयवाऽऽदिक नोपलभ्यते, तथा तेषामपीत्येवाऽपि सभावना सजायत इति । ३० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । सर्वेषु युगलिकक्षेत्रेषु युगलिना गर्भजगर्भव्युत्क्रान्तभेदभिन्नाना जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नमायुश्च, किं वोत्कृष्टमेव?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-युगलिनामुत्कृष्टमायुर्यथास्थान त्रिपल्योपमादि प्रतीत,जघ य तु क्षुल्लकभवरूप क्षेयम्, अतस्त्रिपल्योपमप्रमितमप्यायुरपवर्त्य क्षुल्लकभवरूप कश्चिज्जन्तुः करोतीत्यर्थकाकराण्याचाराङ्गवृत्त्यादौ सन्ति, परं तद् अपर्याप्तावस्थायामेव भवति, तदुद्वर्तन तु न भवति,तेषां निरुपक्रमायुष्कत्वात् । मध्यम तु युगलिनीगर्भेऽपि नवलक्षगर्भगर्भजा उत्पद्यन्ते, निष्पद्यन्ते च द्वयमेव । शेषास्तु स्वस्वमायुरपवर्त्य गर्भस्था एव म्रियन्ते,यथा क्षुल्लकभवाद्धिकसमयाऽऽदिभवने सभवनीति । १६८ प्र० । सेन २ उल्ला० ।

युगलित-त्रि० । युगल सजातीयविजातीययोर्द्वन्द्व,तत्सजातमस्यस्य युगलित । सजातीयविजातीयद्वन्द्वोपेते,जी० ३ प्रति० । जं० । जी० । " निच्चं जुगलिया " युगलतया स्थिता । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जुगलियखेत्तकप्परुक्ख-युगलिकक्षेत्रकल्पवृक्ष-पुं० । युगलिकक्षेत्रे कल्पवृक्षा वनस्पतिरूपा ,पृथ्वीकायरूपा वा ?,इति प्रश्ने,उत्तरम्-ते वनस्पतिरूपा इति । ४०६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

जुगवं-युगवत्-त्रि० । युग सुषमदुष्षमाऽऽदि काल ,सोऽदुष्टो निरुपद्रवो विशिष्टबलहेतुत्वेनास्यास्त्यसौ युगवान् । कालोपद्रवरहिते, अनु० । कालोपद्रवोऽपि सामर्थ्यविघ्नहेतु , स चास्य नास्तीति । अनु० । भ० । रा० । आ० म० ।

युगपत्-अव्य० । युगमिव पद्यते, पद्-क्विप् । एकस्मिन् काल इत्यर्थे, न० । " चत्तारि कम्म से जुगव खवेइ " । यौगपद्येन निर्जरयति । औ० । आ० म० । उत्त० । विशे० । (युगपत्क्रियाद्वयवक्तव्यता ' दोकिरिय ' शब्दे वक्ष्यते)

जुगबाहु-युगबाहु-पुं० । युगो यूपस्तदाकारा वृत्तत्वाद्दीर्घत्वाच्च बाहवो यस्य स । युगवद्दीर्घबाहौ, स्था० ६ ठा० । सुविधिजिने, सुविधिजिनस्य चैतत्पूर्वभवनामधेयम् । स० । पूर्वविदेहस्थे सीमन्धरतीर्थकरसमकालिके वासुदेवे, आ० चू० ४ अ० । आव० । मालवदेशस्थस्य सुदर्शनपुरनृपतेर्मणिरथस्य स्वनामख्याते भ्रातरि, उत्त० ९ अ० । मिथिलास्थे नमिराजपितरि, " इत्थ जुगबाहुमयणरेहाए पुत्तो नमी नाम महाराया । " ति० ।

जुगसंवच्छर-युगसंवत्सर-पुं० । युग पञ्चवर्षाऽऽत्मक तत् पूरकः सवत्सरा युगसवत्सर. । सू० प्र० १० पाहु० । व० प्र० । पञ्चसंवत्सराऽऽत्मक युग,तदेकदेशभूतो वक्ष्यमाणलक्षणश्चन्द्राऽऽदिर्युगपूरकत्वाद्युगसवत्सर । जं० ७ वक्ष० । स्था० । सवत्सरविशेष, (तद्वक्तव्यता ' जुग ' शब्देऽत्रैव भागे १५६७ पृष्ठे द्रष्टव्या)

जुगसंनिभ-युगसंनिभ-त्रि० । वृत्ततया आयततया च यूपतुल्ये, " जुगसंनिभपीणरइयपीवरपउट्ठसंठियसुसिलिट्ठविसिट्ठघणथिरसुबद्धसंधीपुरवरफलिहवट्टियभुया । " जी० ३ प्रति० । त० । प्रश्न० ।

जुगाइ-युगाऽऽदि-पुं० । युगाऽऽरम्भे,युगाऽऽरम्भकाले प्रथमत प्रवृत्ते मासतिथिमुहूर्त्तादौ च । जं० ।

सम्प्रति युगसवत्सरमासदिनानामादिं प्ररूपयति-

आदी जुगस्स संव-च्छरो उ मासस्स अद्धमासो उ ।

दिवसा भरहेरवए, राईया सह विदेहेसु ॥

युगस्य चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धितचन्द्राभिवर्द्धितरूपसंवत्सरपञ्चकाऽऽत्मकस्याऽऽदिः संवत्सरः, स च चान्द्रः, तस्माद्वन्य-युगस्य प्रवर्त्तनात् । चान्द्रस्य संवत्सरस्याऽऽदिर्मासः । स च श्रावणः, आषाढपौर्णमासीचरमसमये पाश्चात्ययुगस्य पर्यवसाने, ततोऽभिनवयुगस्याऽऽदिर्मासः प्रवर्तमानः श्रावण एव भवति, तस्यापि च मासस्य श्रावणस्याऽऽदिरर्द्धमासः पक्षः, पक्षद्वयमीलनेन मासस्य सम्भवात् । सोऽपि च पक्षो बहुलो वेदितव्यः, पौर्णमास्यनन्तरं बहुलपक्षस्यैव भावात् । तस्यापि च बहुलस्यार्द्धमासस्यापि भरतक्षेत्रे युगस्यादि प्रवर्त्तने, ततो दिवस एव मासाऽऽदिरूप उत्पद्यते, यदा च भरतक्षेत्रे दिवसस्तदैरवतेऽपि दिवसः, तदा च पूर्वविदेहेष्व-परविदेहेषु च रात्रिः, अत ऐरवतेऽपि अर्द्धमासस्याऽऽदिर्दिवसो, महाविदेहेषु रात्रिरिति ।

सम्प्रति भरतैरवतेऽधिकृत्याऽऽदिप्ररूपणार्थमाह-

दिवसाइ अहोरत्ता, बहुलाईयाणि होंति पव्वाणि ।
अभिई नक्खत्ताई, रुद्दो आई मुहुत्ताणं ॥

भरते, ऐरवते च दिवसाऽऽदयो दिवसमूला अहोरात्राः, युगस्याऽऽदौ दिवसस्यैवेह प्रवर्त्तमानत्वात् । पर्वाणि पक्षरूपाणि बहुलाऽऽदीनि कृष्णानि भवन्ति, कृष्णपक्षस्यैव युगाऽऽदौ भावात् । तथा नक्षत्राणामादिरभिजित्, तत एवाऽऽरभ्य नक्षत्राणां क्रमेण युगे प्रवर्तमानत्वात् । तथाहि-उत्तराषाढानक्षत्रचरमसमये पाश्चात्ययुगस्य पर्यवसानम् । ततोऽभिनवयुगस्याऽऽदिनक्षत्रमभिजिदेव भवति । तथा मुहूर्त्तानामादिर्मुहूर्त्तो रुद्रः । इह दिवसाऽऽदिरहोरात्र इत्युक्त, दिवसाऽऽदिके चाहोरात्रे क्रमेणामी पञ्चाशन्मुहूर्त्ताः । तद्यथा-प्रथमो मुहूर्त्तो रुद्रः, द्वितीयः श्रेयान्, तृतीयो मित्रः, चतुर्थो वायुः, पञ्चमः सुपीतः, षष्ठोऽभिचन्द्रः, सप्तमो माहेन्द्रः, अष्टमो बलवान्, नवमः पक्ष्मः, दशमो बहुसत्यः, एकादश ईशानः, द्वादशस्त्वष्टा, त्रयोदशो भाविताऽऽत्मा, चतुर्दशो वैश्रवणः, पञ्चदशो वारुणः, षोडश आनन्दः, सप्तदशो विजयः, अष्टादशो विश्वक्सेनः, एकोनविंशतितमः प्राजापत्यः, विंशतितम उपशमः, एकविंशतितमो गन्धर्वः, द्वाविंशतितमोऽग्निवेशः, त्रयोविंशतितमः शतवृषभः, चतुर्विंशतितम आतपवान्, पञ्चविंशतितमोऽममः, षड्विंशतितमोऽरुणवान्, सप्तविंशतितमो भौमः, अष्टाविंशतितमो वृषभः, एकोनत्रिंशत्तमः सर्वार्थः, त्रिंशत्तमो राक्षसः ।

उक्तं च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ-

" रुद्दो सेए मित्ते, वाऊ पीए तहेव अभिचंदे ।
माहिंद बलव पम्हे, बहुसच्चे चेव ईसाणे ॥ १ ॥
तट्ठय भावियप्पा, वेसमणो वारुणे य आणंदे ।
विजए य वीससेणे, पायावच्चे तह य उवसमए ॥ २ ॥
गंधव्व अग्गिवेसा, सयरिसह आयवं च अममं च ।
रुणवं भोमे रिसहे, सव्वट्ठे रक्खसाईया ॥ ३ ॥"
ततो युगे मुहूर्त्तानामादिको रुद्र एव भवति । ज्यो० २ पाहु० ।

तथा च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तावेवोक्तम्-

"किमाइआ णं भंते ! संवच्छरा, किमाइआ अयणा, किमाइआ उऊ, किमाइआ मासा, किमाइआ पक्खा, किमाइआ अहोरत्ता, किमाइआ मुहुत्ता, किमाइआ करणा, किमाइआ णक्खत्ता पण्णत्ता ?। गोयमा ! चंदाइआ संवच्छरा, दक्खिणाइआ अयणा, पाउसाइआ उऊ, सावणाइआ मासा, बहुलाइआ पक्खा, दिवसाइआ अहोरत्ता, रोद्दाइआ मुहुत्ता, बालवाइया करणा, अभिजिआइया णक्खत्ता समणाउसो ! " [जं० ७ वक्ख०]

तदेव 'राईया सह विदेहेसु' इत्यनेन (पूर्वोक्तगाथा) अवयवेन महाविदेहेष्वनया गाथया भरतैरवतयोर्युगस्याऽऽदिः प्ररूपितः ।

सम्प्रति भरतैरवतविदेहेषु साधारणं युगस्याऽऽदिं प्ररूपयति-

सावणबहुलपडिवए, बालवकरणे अभीइनक्खत्ते ।
सव्वत्थ पढमसमए, जुगस्स आई वियाणाहि ॥

सर्वत्र-भरते, ऐरवते, महाविदेहेषु च श्रावणमासे बहुलपक्षे-कृष्णपक्षे प्रतिपदि तिथौ बालवकरणे अभिजिन्नक्षत्रे प्रथमसमये युगस्याऽऽदिं विजानीहि । ज्यो० २ पाहु० ।

सर्वत्रेति भरतैरावतविदेहेषु ज्ञातव्यम् । अवसर्पिण्याः पश्चारकाणामप्यादि रात्रिरेव, विदेहेषु यद्यप्यारकाणामभावः, तथापि पञ्चसंवत्सराऽऽत्मकस्य युगस्य सद्भावः । म० ।

जुग-युग्य-न० । युज्-यत्-कुत्वम् । " युग्यं च पत्रे " ॥ ३।१।१२१॥ इति (पाणिनि) सूत्रेण निपातनम् । अश्वाऽऽदिके वाहने, स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्रश्न० । युग्यमिव युग्यम् । संयमभारवोढरि साधौ, स्था० ।

युग्यभेदा यथा-

चत्तारि जुग्गा पण्णत्ता । तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्ते, जुत्ते णाममेगे अजुत्ते, अजुत्ते णाममेगे जुत्ते, अजुत्ते णाममेगे अजुत्ते ॥

युग्यं वाहनमश्वाऽऽदि । अथवा-गोल्लविषये जम्पानं द्विहस्तप्रमाणं चतुरस्रं सवेदिकमुपशोभितं युग्यकमुच्यते, तत् युक्तमारोहणसामग्र्या पर्याणाऽऽदिकया पुनर्युक्तं वेगाऽऽदिभिरित्येवं यानवद् व्याख्येयम् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । युगमर्हति युगं वा वहति यत् । युगवाहकेऽश्वाऽऽदौ, त्रि० । वाच० । गन्त्र्यादिके, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । गोल्लदेशप्रसिद्धे जम्पानविशेषे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । युग्यानि गोल्लविषयप्रसिद्धानि द्विहस्तप्रमाणानि वेदिकोपशोभितानि जम्पानान्येवेति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अनु० । जं० । जी० । भ० । औ० । प्रश्न० । पुरुषोत्क्षिप्ते आकाशयाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । युग्यं पुरुषोत्क्षिप्तमाकाशयानं, जम्पानमित्यर्थः । जं० २ वक्ष० ।

मेगे,णो उप्पहजाई । उप्पहजाई णाममेगे, णो पंथजाई । एगे पंथजाई वि, उप्पहजाई वि । एगे णो पंथजाई, णो उप्पहजाई ॥

(जुगायरिय त्ति) युग्यस्य चर्या चहन, गमनमित्यर्थः। क्वचित्तु "जुगारिय त्ति" पाठः, तत्रापि युग्याचर्येति, पथयाय्येक युग्य भवति, नोत्पथयायीत्यादि चतुर्भङ्गी। इह च युग्यस्य चर्याद्वारेणैव निर्देशे चतुर्विधत्वेनोक्तत्वात् तच्चर्याया एवोद्देशोक्त चातुर्विध्य-मवसयेमिति भाव । युग्यपक्षे तु युग्यमिव युग्य, संयमयागे-भारवोढा साधुरेव, स च पथियाय्यप्रमत्त उत्पथयायी लिङ्गा-वशेष', उभययायी प्रमत्तश्चतुर्थः सिद्धक्रमेण सदसदुभ-यानुभयानुष्ठानरूपत्वात् । अथवा-पथ्युत्पथयोः स्वपरसमय-रूपत्वाद् यायित्वस्य च गत्यर्थत्वेन बोधपर्यायत्वात् स्व-परसमयबोधापेक्षयेव चतुर्भङ्गी नेयेति । स्था० ४ ठा० ३ उ०।

जुगारिया-युग्याचर्या-स्त्री०।'जुगायरिया' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुज्जइत्ता-युक्त्वा-अव्य०। योगं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० २ पाद ।

जुज्झ-युध-धा० । युद्धे, दिवा०-आत्म०-अक०-अनिट् । युध्यते, अयुद्ध । वाच० । " सपलग्गो उ जुज्झिउ " । आ० म० १ अ० १ खण्ड । युद्धे, न० । युध्-क्त । शस्त्रादिक्षे-पणव्यापारे योधने, वाच० । मुष्ट्याऽऽदिना परस्परताडने, त०। "जुज्झाइ वाहुजुज्झाइयाइ वट्टाइयाए च" युद्धानि नाम-बाहुयु-द्धाऽऽदीनि, यदि वा वर्त्तकाऽऽदीना च। आ० म० १ अ०१ खण्ड। युद्ध कुक्कुटाऽऽदीनामिव मुष्टामुष्टि, शृङ्गिणामिव शृङ्गाशृङ्गि युयुत्सया योधयोर्वल्गनम । ज० २ वक्ष० । आयुधयुद्धे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । वैरिणां परप्राणव्यपरोपणाध्यवसाये, आतु० । सङ्ग्रामे, "अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झ-ओ।" उत्त० ९ अ० । नि० । प्रश्न०। द्रव्यत सङ्ग्रामयुद्ध, भावत परीषहाऽऽदियुद्ध, तद् द्विविधम, आर्यानार्यभेदात् । तत्रानार्य सङ्ग्रामयुद्ध, परीषहाऽऽदिरिपुयुद्ध त्वार्यम। आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । तदात्मके द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । ज० ।

युद्धदर्शननिषेधो यथा—

जे भिक्खू आसजुज्झाणि वा० जाव सूकरजुज्झाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसधारतं वा मा-इज्जइ ॥ ९ए ॥

"हयजुज्झ" गाहा। हयोऽश्वस्तेषा परस्परतो युद्ध, एवमन्ये-षामपि, गजाऽऽदय प्रसिद्धा , शरीरेण विमध्यम करट , रक्त-पादपवट्टक शिखी, धूम्रवर्णो लावक', आडिमादि प्रसिद्धा. अ-ङ्गियपच्चङ्गियादिकरणेहिं जुद्ध, सव्वसंधिविक्खोभण णिजुद्ध, पुव्व जुद्धेण जुज्झिउं पच्छा सधी विक्खोभिज्जति जत्थ त जुद्ध । नि० चू० १२ उ० ।

जुज्झंग-युद्धाङ्ग-न० । सङ्ग्रामाङ्गे, उत्त० ।

साम्प्रत युद्धाङ्गमाह-

जाणाऽऽवरणपहरणे, जुज्झे कुसलत्तणं च णीतीए ।
दक्खत्त ववसातो, सरीरमारोगयं चेव ॥१४॥ उत्त०नि०।

(जाणावरणपहरणे त्ति) यान च हस्त्यादि, तत्र सत्यपि न शक्तोऽरयभिर्जीवतु शत्रुमत आवरणम्, आवरण च कवचाऽऽदि, सत्यप्यावरणे प्रहरण विना किं करोतीति, प्रहरण प्रहरणं खड्ग-कुन्ताऽऽदि, यानाऽऽवरणप्रहरणानि, यदि युद्धे कुशलत्वं नास्ति, तदा किं यानाऽऽदिनेति युद्धे सङ्ग्रामे कुशलत्वम्, कुशलत्व च प्रा-धीयपक्ष्य, सत्यप्यस्मिन्नीतिं विना न शत्रुजयनमतो नीति ,नीति-श्चापक्रमाऽऽदिलक्षणा, सत्यामपि चास्यां दक्षत्वाभावेनो जय ,ततो दक्षत्वम, दक्षत्वमाशुकारित्व, सत्यप्यस्मिन्निर्व्यवसायस्य कुतो जय इति व्यवसाय , व्यवसायो व्यापार., तत्रापि यदि न शरी-रमदीनाङ्ग, ततो न जय इति शरीरम्, अर्थात्परिपूर्णाङ्गम ।तत्रा प्यारोग्यमेव जयायेति (आरोगय ति) आरोग्यता, च समुच्चये, एवोऽवधारणे। तत समुदितानामेषामां युद्धाङ्गत्वमिति सूत्रार्थः। उत्त० पाई० ३ अ० ।

जुज्झज्झाण-युद्धध्यान-न० । युद्ध वैरिणां परप्राणव्यपरोपणा-ध्यवसायः, तस्य ध्यान युद्धध्यानम । ध्यानभेदे, भ्रातॄणां विना-शे, चेटकेन सह कोणिकनृपस्येव, भ्रातृरवाप्यादिष्पदले चाल-प्रद्योतस्येव वा । आतु० ।

जुज्झंत-युध्यत्-त्रि० । युद्धं कुर्वति, नि० चू० १ उ० । " महया रिवुबलेण जुज्झतो दिट्ठो । " आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

युध्यमान-त्रि० । शस्त्राणि व्यापारयति, " जुज्झत दढधम्मा-णं " । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

जुज्झकित्तिपुरिस-युद्धकीर्तिपुरुष-पु० । युद्धजनिता या की-र्त्ति., तत्प्रधान पुरुषो युद्धकीर्तिपुरुष । युद्धजनितकीर्तिमति पुरुषे, स० ।

जुज्झकुसल-युद्धकुशल-पुं० । युद्धप्रवीणे, उत्त० ३ अ० । यु-द्धक्रियाज्ञानवति, आ० क० ।

जुज्झणीइ-युद्धनीति-स्त्री० । व्यूहरचनाऽऽदिके,स्था० ६ ठा० । सङ्ग्रामनिर्गमप्रवेशे च । आ० क० । उत्त० ।

जुज्झदक्ख-युद्धदक्ष-पु० । युद्धे आशुकारिणि, उत्त० ३ अ० ।

जुज्झववसाय-युद्धव्यवसाय-पु० । युद्धव्यापारे, उत्त० ३ अ० ।

जुज्झवीरिय-युद्धवीर्य-पु० । पुष्पदन्तजिनसमकालिके नृपे, " जुज्झवीरियधुयरस्स । " ति० ।

जुज्झसज्ज-युद्धसज्ज-त्रि० । युद्धनिमित्त सज्ज प्रगुणीभूतो यु-द्धसज्ज. । रा० । युद्धप्रगुणे, भ० ७ श० ६ उ० । युद्धसज्जो रणसन्नद्ध इति । औ० ।

जुज्झसड्ढ-युद्धश्रद्ध-त्रि० । युद्ध सङ्ग्रामस्तत्र सजाता श्रद्धा यस्य स. । युद्धश्रद्धावति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

जुज्झसूर-युद्धशूर-पु० । युद्धे शूर सुभट. । रणदीक्षाबद्धकक्षे, स्था० । शूरविशेषे, " जुज्झसूरे वासुदेवे" युद्धशूरो वासुदेव । कृष्णवत्तस्य षष्ठ्यधिकेषु त्रिषु सङ्ग्रामशतेषु लब्धजयत्वात् । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुज्झाइजुज्झ-युद्धातियुद्ध-न०। यत्र प्रतिद्वन्द्विहताना पुरुषा-णा पात स्यादित्येवम्भूते खड्गाऽऽदिप्रक्षेपपूर्वके महायुद्धे, तदा-त्मके द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे च । ज० २ वक्ष० । स०। औ० । ज्ञा० ।

जुज्झारिय-युद्धार्य-न० । युद्धभेदे,युद्ध द्विविधम,आर्यानार्यभे-दात् । अनार्य सङ्ग्रामयुद्धम, परिषहाऽऽदिरिपुयुद्ध त्वार्यम । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

जुज्झारिह-युध्दार्ह-त्रि० । युद्धोचिते, "इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ । जुद्धारिहं तु खलु दु-ल्लहं जहेत्थ कुसलेहिं ॥ १ ॥" आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

जुज्झित्ता-युद्ध्वा-अव्य० । युध् क्त्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

जुग्ण-जूर्ण-जीर्ण-त्रि० । तृणभेदे, वाच० । 'जिण्ण' शब्दार्थे च । प्रा० १ पाद ।

जुण्णकुमारी-जीर्णकुमारी-स्त्री० । 'जिण्णकुमारी' शब्दार्थे, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

जुण्णगुल-जीर्णगुड-पु० । 'जिण्णगुल' शब्दार्थे, भ० ८ श० ६ उ० ।

जुण्णघय-जीर्णघृत-न० । 'जिण्णघय' शब्दार्थे, अनु० ।

जुण्णतंदुल-जीर्णतण्डुल-पु० । 'जिण्णतंदुल' शब्दार्थे, भ० ८ श० ६ उ० ।

जुण्णतया-जीर्णत्वक्-स्त्री० । 'जिण्णतया' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० ४ चू० ।

जुण्णदुग्ग-जीर्णदुर्ग-न० । 'जिण्णदुग्ग' शब्दार्थे, ती० ४ कल्प ।

जुण्णसुरा-जीर्णसुरा-स्त्री० । 'जिण्णसुरा' शब्दार्थे, भ० ८ श० ६ उ० ।

जुण्णसेट्ठि [ण्]-जीर्णश्रेष्ठिन्-पु० । 'जिण्णसेट्ठि (ण्)' शब्दार्थे, ध० र० ।

जुण्णाजुण्ण-जीर्णाजीर्ण-त्रि० । 'जिण्णाजिण्ण' शब्दार्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

जुण्णुज्जाण-जीर्णोद्यान-न० । 'जिण्णुज्जाण' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जुण्णुद्धार-जीर्णोद्धार-पु० । 'जिण्णुद्धार' शब्दार्थे, ध० २ अधि० ।

जुण्हा-जोत्स्ना-स्त्री० । 'जोइसिणा' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

जुति-द्युति-स्त्री० । द्युतौ, 'सव्वजुईए' सर्वद्युत्याऽऽभरणादिसंबन्धिन्या । ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

जुत्त-युक्त-त्रि० युज्-क्तः । युते, "जुत्ताणि वसीवदाऽऽदियुतानि । औ० । "गुत्ते जुत्ते तदा जए ।" युक्तो ज्ञानाऽऽदिभिः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । संयुते, पञ्चा० १२ विव० । मिलिते, अष्ट० १ अष्ट० । उपेते, षो० ११ विव० । श्लिष्टे, आ० चू० । युक्त श्लिष्टमित्यनर्थान्तरम् । आ० चू० १ अ० । समन्विते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । परस्परसंबद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । विशे० । ज्ञा० । रा० । उचिते, अनु० । स्था० । जं० । रा० । जी० । योग्ये, नि० चू० १० उ० । युक्त योग्य घटमानमिति । नि० चू० १ उ० । "जुत्तं" युज्यते, घटत इत्यर्थः । नि० चू० १ उ० । उपपन्ने, व्य० प्र० २० पाहु० । सूत्र० । सू० प्र० । सगते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । स्था० । विपा० । जं० । उपा० । पञ्चा० । युक्तियुक्ते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । समते, दर्श० ४ तत्त्व । उद्युक्ते, प्रव० ६४ द्वार । अभ्यस्तयोगे योगिनि, पु० । पलाशीवृक्षभेदे च, न्यायाऽऽगतद्रव्याऽऽदौ, न० । वाच० ।

जुत्तगइ-युक्तगति-स्त्री० । मृदुगतौ, "जुत्तगती णाम भिक्खुगती ।" न शीघ्रं गच्छतीत्यर्थः । नि० चू० १६ उ० ।

जुत्तजोग-युक्तयोग-पु० । संयुतकायाऽऽदिचेष्टे, "सव्वेहिं जुत्तजोगस्स ।" पञ्चा० १२ विव० ।

जुत्तपरिणय-युक्तपरिणत-त्रि० । सत्सामग्र्या युक्ततया परिणते यानाऽऽदौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुत्तपालिय-युक्तपालिक-त्रि० । युक्तापरस्परं संबद्धा न तु विरदन्तराला पालिः सेतुर्यस्य स युक्तपालिकः । परस्परसंबद्धसेतुके, रा० । जी० ।

जुत्तफुसिय-युक्तस्पृष्ट-न० । उचितबिन्दुनिपाते, "जुत्तफुसियनिहयरेणुय ।" स० ३४ सम० ।

जुत्तरूव-युक्तरूप-त्रि० । सगतस्वभावे, प्रशस्तस्वभावे, उचितवेषे, सुविहितनेपथ्ये च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुत्तसोह-युक्तशोभ-त्रि० । युक्तं शोभते युक्तस्य वा शोभा यस्य तद्युक्तशोभम् । गवाऽऽदिसत्सामग्रीयुक्ततया शोभमाने यानाऽऽदौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० । युक्ता उचिता शोभा यस्य सः । युक्तशोभोपेते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जुत्ति-युक्ति-स्त्री० । योजनं युक्तिः, युज्-क्तिन् । विशे० । योगे, "दिव्वाए जुत्तीए" युक्त्या विवक्षितार्थयोगेन । औ० । भक्तौ, स्था० ८ ठा० । द्रव्याऽऽदिसंयोगे, स० ५ अङ्ग । आचा० । ज्ञा० । युक्त्याऽन्याऽन्यभक्तिभिस्तथाविधद्रव्ययोजनेनेति । स्था० ८ ठा० । लोकन्याये, षो० ६ विव० । विशे० । हेतौ, स० ५ अङ्ग । उपपत्तौ, अष्ट० १६ अष्ट० । आ० । पञ्चा० । "एसा खलु तत्तजुत्ति त्ति ।" तन्त्रयुक्तिः शास्त्रीयोपपत्तिः । पञ्चा० १८ विव० । अवितथभणितौ, "तत्थिमा जुत्ति वत्तव्वा ।" जीवा० ८ अधि० । युक्तयः सर्वप्रमाणनयगर्भा इति । षो० ५ विव० । अनुमाने, षो० वि० । अनुमानसाधने लिङ्गज्ञानाऽऽदौ, वाच० । "सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं ।" सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणीभूतैः । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । युक्तयः साधनानि, असिद्धविरुद्धानैकान्तिकपरिहारेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसङ्गता युक्तयः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । योजनं युक्तिः । अर्थघटनायाम्, स० ५ अङ्ग । सूत्र० । "तत्थ जुत्ती वि पयता ।" जी० १ प्रति० । "सव्वजुईए" सर्वयुक्त्या उचितेषु वस्तुघटनालक्षणयेति । ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । विधौ, सू० १ उ० । युक्तिरर्थावधारणमित्युक्ते नाटकाङ्गविशेषे च । वाच० ।

जूर्ति-स्त्री० । ज्वर-क्तिन्, सम्प्रसारणम् । ज्वरे, वाच० ।

जुत्तिक्खम-युक्तिक्षम-त्रि० । उपपत्तिसहे, पञ्चा० १२ विव० । आ० म० । "नागमजुत्तिक्खमं होइ" । (३६५ गाथा) विशे० ।

जुत्तिगई-युक्तिगवी-स्त्री० । यथार्थवस्तुस्वरूपविभजनोपपत्तियुक्तिः । सैव गौर्युक्तिगवी । युक्तिरूपायां गवि, "मनोवत्सो युक्तिगवीं, मध्यस्थस्यानुधावति" । (२ श्लो०) अष्ट० १६ अष्ट० ।

जुत्तिण्ण-युक्तिज्ञ-त्रि० । युक्तिज्ञानवति, "गधारे गीयजुत्तिण्णा ।" स्था० ७ ठा० ।

जुत्तिबाहिय-युक्तिबाधित-त्रि० । उपपत्तिनिराकृते, "जम्हा ण जुत्तिबाहिय-विसओ वि सदागमो होइ ।" (४४ गाथा) पञ्चा० १८ विव० ।

जुत्तिसुवण्ण-युक्तिसुवर्ण-पु० । कृत्रिमसुवर्णे, दश० १० अ० ।

युक्तिसुवर्णस्य का वार्ता ?, इत्याह-

जुत्तीसुवण्णग पुण, सुवण्णवण्णं तु यदि वि कीरेज्जा ।
ण हु होति तं सुवण्णं, सेसेहिं गुणेहिंऽसंतेहिं ॥ ३६ ॥

युक्त्या द्रव्यसंयोगेन, यत्सुवर्णं सत्सुवर्णाकारं स्यात् तद् युक्तिसुवर्णं, तत्पुनः सुवर्णवर्णं पीतच्छायमेव, यद्यपीत्यभ्युपगमेऽक्रि-

बेत विधीयेत, कथञ्चित्तथापि ' न हु ' नैव भवति स्यात्, तत्तु- क्तिसुवर्णम, सुवर्णं हेम, शेषैर्वर्णव्यतिरिक्तैर्गुणैर्विषघाताऽऽदिभिरसद्भिरिति गाथार्थः ॥ २६ ॥ पञ्चा० १४ विव० ।

जुज्झकित्तिपुरिस–युद्धकीर्तिपुरुष–पु० । ' जुज्झकित्तिपुरिस ' शब्दार्थे, स० ।

जुज्झकुसल–युद्धकुशल–पु० । 'जुज्झकुसल' शब्दार्थे,आ०क० ।

जुज्झणीइ–युद्धनीति–स्त्री० । ' जुज्झणीइ ' शब्दार्थे,आ० क० ।

जुज्झदक्ख–युद्धदक्ष–पु० । 'जुज्झदक्ख'शब्दार्थे, उत्त० ३ अ० ।

जुद्धववसाय–युद्धव्यवसाय–पु० । ' जुज्झववसाय ' शब्दार्थे, उत्त० ३ अ० ।

जुज्झविरिय–युद्धवीर्य–पुं० । ' जुज्झविरिय ' शब्दार्थे, ति० ।

जुज्झसज्ज–युद्धसज्ज–पु० । ' जुज्झसज्ज ' शब्दार्थे, रा० ।

जुद्धसड्ढ-युद्धश्रद्ध-त्रि० । 'जुज्झसड्ढ' शब्दार्थे,प्रश्न०३आश्र०द्वार ।

जुप्पइत्ता–युक्त्वा–अव्य० । युज्-क्त्वा । योग कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

जुम्म–युग्म–न० । युज्-मक् । पृषोदराऽऽदित्वाज्जस्य गः । "ग्मो वा " । ८ । २ । ६२ । इतिप्राकृतसूत्रेण ग्मस्य म्मो वा । प्रा० २ पाद । द्वित्वसङ्ख्याऽन्विते पदार्थद्वयसंघाते, पिं० । ओघ० । युगले, "युग्माग्निकृतभूतानि, षण्मुन्योर्वसुरन्ध्रयोः । रुद्रेण द्वादशी युक्ता, चतुर्दश्यथ पूर्णिमा । प्रतिपद्याऽप्यमावस्या, तिथ्योर्युग्म महाफलम् ॥ " इत्युक्ते तिथियोगविशेषे, वाच० । गणपरिभाषया समराश्यात्मके राशिविशेषे च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

युग्मभेदाः–

कइ णं भंते ! जुम्मा पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता । तं जहा–कडजुम्मे, तेओए, दावरजुम्मे, कलिओए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव कलिओए ? । गोयमा ! जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणे अवहीरेमाणे चउपज्जवसिए, से तं कडजुम्मे १ । जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणे अवहीरेमाणे तिपज्जवसिए, से तं तेओए २। जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणे अवहीरेमाणे दुपज्जवसिए, से तं दावरजुम्मे ३ । जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरेमाणे अवहीरेमाणे एगपज्जवसिए, से तं कलिओए ४ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव कलिओए ॥

" कइ ण " इत्यादि । (चत्तारि जुम्म त्ति) इह गणितपरिभाषया समो राशिर्युग्ममुच्यते, विषमस्तु ओज इति । तत्र च यद्यपीह द्वौ राशी युग्मशब्दवाच्यौ, द्वौ च ओज शब्दवाच्यौ भवतः, तथापीह युग्मशब्देन राशयो विवक्षिता, अतश्चत्वारि युग्मानि, राशय इत्यर्थः । तत्र (कडजुम्मे त्ति) कृत सिद्ध पूर्ण, ततः परस्य राशिसंज्ञान्तरस्याभावेन, न त्र्योज प्रभृतिवद्. पूर्ण यद्युग्म समराशिविशेष, तत्कृतयुग्मम् । (तेओए त्ति) त्रिभिरादित एव, कृतयुग्मादुपरिवर्त्तिभिरोजो विषमराशिविशेषस्त्र्योज. । (दावरजुम्मे त्ति) द्वाभ्यामादित एव, कृतयुग्मादुपरिवर्त्तिभ्या यदपर युग्म कृतयुग्मादन्यत्तन्निपातनविधेर्द्वापरयुग्मम् । (कलिओए त्ति) कलिना एकेन आदित एव,कृतयुग्मादुपरिवर्त्तिना ओजो विषमराशिविशेष. कल्योज इति । "जं ण रासी" इत्यादि । यो राशिश्चतुष्ककेनापहारेणापह्रियमाणश्चतुष्पर्यवसितो भवति स कृतयुग्ममभिधीयते । यत्रापि राशौ चतूरूपत्वेन चतुष्कापहारो नास्ति, सोऽपि चतुष्पर्यवसितत्वसद्भावात्कृतयुग्ममेव,एवमुत्तरपदेष्वपि । भ० १८ श० ४ उ० । आचा० । स्था० । यस्तु त्रिपर्यवसित. स त्र्योजो, द्विपर्यवसितो द्वापरयुग्म, एकपर्यवसित. कल्योज इति । इह गणितपरिभाषया समराशिर्युग्म इत्युच्यते, विषमस्तु ओज इति । इयं च समयस्थितिः, लोके तु कृतयुगाऽऽदीनि एवमुच्यन्ते-"द्वात्रिंशच्च सहस्राणि, कलौ लक्षचतुष्टयम् । वर्षाणां द्वापराऽऽदौ स्या-देतद् द्वित्रिचतुर्गुणम्" ॥१॥इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

उक्तराशीन्नारकाऽऽदिषु निरूपयन्नाह–

णेरइयाणं चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता । तं जहा–कडजुम्मे, तेओए, दावरजुम्मे, कलिओए । एवमसुरकुमाराणं० जाव थणियकुमाराणं, एवं पुढविकाइयाणं आउतेउवाउवणस्सइबेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं वाणमंतरजोइसियाण वेमाणियाणं सव्वेसिं जहा नेरइयाणं ॥

"नेरइयाण" इत्यादि सुगमम् । नवरम्, नारकाऽऽदयश्चतुर्धाऽपि स्युः, जन्ममरणाभ्या हीनाधिकत्वसंभवादिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अनन्तर कृतयुग्माऽऽदिराशय प्ररूपिताः । अथ तैरेव नारकाऽऽदीन् प्ररूपयन्नाह–

नेरइयाणं भंते ! किं कडजुम्मा,तेओआ,दावरजुम्मा,कलिओआ ? । गोयमा ! जहण्णपदे कडजुम्मा, उक्कोसपदे तेओआ, अजहण्णमणुक्कोसपदे सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ० जाव थणियकुमारा ॥

" नेरइयाण " इत्यादि । (जहण्णपदे कडजुम्म त्ति) अत्यन्तस्तोकत्वेन कृतयुग्मा कृतयुग्मसंज्ञिना, (उक्कोसपए त्ति) सर्वोत्कृष्टताया त्र्योज संज्ञिना, मध्यमपदे चतुर्विधा अप्येत. एवैतमाज्ञाप्रामाण्यादवगन्तव्यम् ।

वणस्सइकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णपदे उक्कोसपदे अपदा , अजहण्णमणुक्कोसपदे सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ । बेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णपदे कडजुम्मा, उक्कोसपदे दावरजुम्मा, अजहण्णमणुक्कोसपदे सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ । एवं० जाव चउरिंदिया । सेसा एगिंदिया, जहा बेइंदिया, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया० जाव वेमाणिया जहा णेरइया, सिद्धा जहा वणस्सइकाइया ॥

" वणस्सइकाइयाण " इत्यादि । वनस्पतिकायिका जघन्यपदे, उत्कृष्टपदे चापदा ,जघन्यपदस्योत्कृष्टपदस्य च तेषामभावात् । तथाहि-जघन्यपदमुत्कृष्टपद च तदुच्यते यन्नियतरूप, तच्च यथा नारकाऽऽदीना कालान्तरेणापि लभ्यते, न तथा वनस्पतीना, तेषा परम्परया सिद्धिगमनेन तद्राशेरनन्तत्वापरित्यागेऽप्यनियतरूपत्वादिति । (सिद्धा जहा वणस्सइकाइय त्ति) जघन्यपदे, उत्कृष्टपदे चापदा ,अजघन्योत्कृष्टपदे च स्यात्कृतयुग्मा-

ऽऽद्य इत्यर्थः । तत्र जघन्योत्कृष्टपदापेक्षया अपदत्व वर्द्धमानतया तेषामनियतपरिमाणत्वान्नावर्नायमिति ॥

इत्थीओ णं भंते ! किं कडजुम्माओ पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणपदे कडजुम्माओ, उक्कोसपदे कडजुम्माओ, अजहएणमणुक्कोसपदे सिय कडजुम्माओ० जाव सिय कलिओआओ। एव असुरकुमारइत्थीओ वि०जाव थणियकुमारइत्थीओ वि, एव तिरिक्खजोणियइत्थीओ वि, एवं मणुस्सइत्थीओ वि, एवं वाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवइत्थीओ वि ॥ भ० १८ श० ४ उ० ।

णेरइयाणं भंते ! कइ जुम्मा पणत्ता ?। गोयमा ! चत्तारि जुम्मा पणत्ता । त जहा-कडजुम्मे० जाव कलिओए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—णेरइयाणं चत्तारि जुम्मा पणत्ता । तं जहा-कडजुम्मे, अट्ठो तहेव । एवं० जाव वाउकाइयाणं । वणस्सइकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! वणस्सइकाइया सिय कडजुम्मा, सिय तेओआ, सिय दावरजुम्मा, सिय कलिओआ । से केणट्ठेणं भंते ! एव वुच्चइ-वणस्सइकाइया०जाव कलिओआ ?। गोयमा ! उववायं पडुच्च से तेणट्ठेणं तं चेव । बेइंदियाणं जहा णेरइयाणं । एवं० जाव वेमाणियाणं । सिद्धाण जहा वणस्सइकाइयाणं ॥

" नेरइयाणं भंते ! कति जुम्मा " इत्यादौ (अट्ठो तहेव त्ति) स चायं । " जे ण णेरइयाण चउक्कएण अवहारेण अवहीरेमाणा अवहीरेमाणा चउपज्जवसिया तं ण नेरइया कडजुम्मे " इत्यादिरिति । वनस्पतिकायिकसूत्रे-(उववाय पडुच्च त्ति) यद्यपि वनस्पतिकायिका अनन्तत्वेन स्वभावात्कृतयुग्मा एव प्राप्नुवन्ति, तथापि गत्यन्तरेभ्य एकाऽऽदिजीवाना तत्रोत्पादमङ्गीकृत्य तेषा चतूरूपत्वमयौगपद्येन भवतीत्युच्यते उद्वर्तनामप्यङ्गीकृत्य, स्यादेतत्, केवल सेह न विवक्षितेति ॥

अथ कृतयुग्माऽऽदिभिरेव राशिभिर्द्रव्याणा प्ररूपणायेदमाह-

धम्मत्थिकाए णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे० जाव कलिओए ?। गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओए । एवं अधम्मत्थिकाए वि । एव आगासत्थिकाए वि । जीवत्थिकाए णं पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए । पोग्गलत्थिकाए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए, अद्धासमए जहा जीवत्थिकाए । धम्मत्थिकाएणं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मे पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए । एव० जाव अद्धासमए ॥

' धम्मत्थिकाए ण भंते ! " इत्यादौ (कलिओए त्ति) एकत्वाद्धर्मास्तिकायस्य चतुष्कापहाराभावेनैकस्यैवावस्थानात्कल्योज एवासाविति । " जीवत्थि " इत्यादि । जीवद्रव्याणामवस्थितानन्तत्वात्कृतयुग्मतैव । " पोग्गलत्थिकाए " इत्यादि । पुद्गलास्तिकायस्यानन्तभेदत्वेऽपि सघातभेदभाजनत्वाच्चातुर्विध्यमप्येयम, अद्धासमयानां त्वतीतानागतानामवस्थितानन्तत्वेन कृतयुग्मत्वम् । अत एवाह-(अद्धासमए जहा जीवत्थिकाए त्ति) उक्ता द्रव्यार्थता । अथ प्रदेशार्थता तेषामेवोच्यते-" धम्मत्थि " इत्यादि । सर्वाण्यपि द्रव्याणि कृतयुग्मानि प्रदेशार्थतयाऽवस्थितासङ्ख्यातप्रदेशत्वादवस्थिताऽनन्तप्रदेशत्वाच्चेति ।

अथ द्रव्याण्येव क्षेत्रापेक्षया कृतयुग्माऽऽदिभि. प्ररूपयन्नाह-

धम्मत्थिकाए णं भंते ! किं ओगाढे, अणोगाढे ?। गोयमा ! ओगाढे, णो अणोगाढे । जइ ओगाढे, किं संखेज्जपएसोगाढे, असंखेज्जपएसोगाढे, अणंतपएसोगाढे ?। गोयमा ! णो संखेज्जपएसोगाढे, असंखेज्जपएसोगाढे, णो अणंतपएसोगाढे । जइ असंखेज्जपएसोगाढे, किं कडजुम्मपएसोगाढे पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मपएसोगाढे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओयपएसोगाढे । एवं अहम्मत्थिकाए वि, एवं आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए, अद्धासमए एवं चेव ।

"धम्मत्थिकाए" इत्यादि । (असंखेज्जपएसोगाढे त्ति) असङ्ख्यातेषु लोकाऽऽकाशप्रदेशेष्ववगाढोऽसौ, लोकाऽऽकाशप्रमाणत्वात्तस्येति । (कडजुम्मपएसोगाढे त्ति) लोकस्यावस्थितासङ्ख्येयप्रदेशत्वेन कृतयुग्मप्रदेशता, लोकाऽऽकाशप्रमाणत्वेन च धर्मास्तिकायस्यापि कृतयुग्मतैव । एव सर्वास्तिकायानां,लोकावगाहित्वात्तेषाम् । नवरम्,आकाशास्तिकायस्यावस्थितानन्तप्रदेशत्वादात्मावगाहित्वाच्च कृतयुग्मप्रदेशावगाढताऽद्धासमयस्य चावस्थितासङ्ख्येयप्रदेशाऽऽत्मकमनुष्यक्षेत्रावगाहित्वादिति ।

अथ कृतयुग्माऽऽदिभिरेव जीवाऽऽदीनि षड्विंशतिपदान्येकत्वपृथक्त्वाभ्या निरूपयन्नाह--

जीवे ण भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे पुच्छा ?। गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओए । एवं णेरइए वि, एवं० जाव सिद्धे ॥

" जीवेण " इत्यादि । द्रव्यार्थतया एको जीव एकमेव द्रव्य, तस्मात्कल्योजो, न शेषा. ।

जीवाणं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मा ?। गोयमा ! ओघादेसेण कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ । विहाणादेसेण णो कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, कलिओआ । णेरइयाणं भंते ! दव्वट्ठयाए पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेण सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ । विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, कलिओआ, एव० जाव सिद्धा।

"जीवाण" इत्यादि । जीवा अवस्थितानन्तत्वादोघाऽऽदेशेन सामान्यतः कृतयुग्मा , (विहाणादेसेण त्ति) भेदप्रकारेण एकैकश इत्यर्थः । कल्योजा एकत्वात्तत्स्वरूपस्य । " नेरइयाण " इत्यादौ (ओघादेसेण त्ति) सर्वे एव परिगण्यमानाः (सिय कडजुम्मे त्ति) कदाचिच्चतुष्कापहारेण चतुरग्रा भवन्ति । " एव सिय तेओगा " इत्याद्यप्यवगन्तव्यमिति । उक्ता द्रव्यार्थतया जीवाऽऽदयः ।

अथ तथैव प्रदेशार्थतयोच्यन्ते-

जीवेणं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! जीवपदेसे पडुच्च कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए । सरीरपदेसे पडुच्च सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए, एवं० जाव वेमाणिए। सिद्धेणं भंते! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मे पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए ।

" जीवेण " इत्यादि । (जीवपएसे पडुच्च कडजुम्मे त्ति) असंख्यातत्वादवस्थितत्वाच्च जीवप्रदेशाना चतुरग्र एव जीवप्रदेशत । "सरीरपएसे पडुच्च" इत्यादि औदारिकाऽऽदिशरीरप्रदेशानामनन्तत्वेऽपि संयोगवियोगधर्मत्वादयुगपच्चतुर्विधता स्यात् ।

जीवाण भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! जीवपदेसे पडुच्च ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ । सरीरपदेसे पडुच्च ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ । विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि० जाव कलिओआ वि । एवं णेरइया वि, एवं० जाव वेमाणिया । सिद्धाणं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ ।

" जीवाण " इत्यादि । (ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्म त्ति) समस्तजीवानां प्रदेशा अनन्तत्वादवस्थितत्वाच्च एकैकस्य प्रदेशा असंख्यातत्वादवस्थितत्वाच्च चतुरग्रा एव, शरीरप्रदेशापेक्षया त्वोघाऽऽदेशेन सर्वजीवशरीरप्रदेशानामयुगपच्चातुर्विध्यम्, अनन्तत्वेऽपि तेषां संख्यातभेदभावेनानवस्थितत्वात् । "विहाणादेसेण कडजुम्मा वि" इत्यादि । विधानाऽऽदेशेनैकैकजीवशरीरस्य प्रदेशगणनायां युगपच्चातुर्विध्य भवति, यतः कस्यापि जीवशरीरस्य कृतयुग्मप्रदेशता, कस्यापि त्र्योजःप्रदेशतेत्येवमादीनि ।

अथ क्षेत्रतो जीवाऽऽदि तथैवाऽऽह-

जीवे णं भंते ! किं कडजुम्मपदेसोगाढे पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मपदेसोगाढे० जाव सिय कलिओयपदेसोगाढे, एवं० जाव सिद्धे ।

"जीवे ण" इत्यादि । औदारिकाऽऽदिशरीराणां विचित्रावगाहनत्वाच्चतुरग्राऽऽदित्वमस्तीत्यत एवाऽऽह-"सिय कडजुम्म" इत्यादि ।

जीवाणं भंते ! किं कडजुम्मपदेसोगाढे पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ । विहाणादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा वि० जाव कलिओअपदेसोगाढा वि । णेरइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मपदेसोगाढा वि० जाव सिय कलिओअपदेसोगाढा वि । विहाणादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा वि० जाव सिय कलिओअपदेसोगाढा वि, एवं एगिंदियवज्जा० जाव वेमाणिया सिद्धा । एगिंदिया य जहा जीवा ।

" जीवाण भंते ! " इत्यादि । समस्तजीवैरवगाढानां प्रदेशानामसंख्यातत्वादवस्थितत्वाच्चतुरग्रत्वमतोऽघाऽऽदेशेन कृतयुग्मप्रदेशावगाढा , विधानाऽऽदेशेन तु विचित्रत्वादवगाहनाया युगपच्चतुर्विधा, ते नारका. पुनरोघतो विचित्रपरिणामत्वेन विचित्रशरीरप्रमाणत्वेन विचित्रावगाहनाप्रदेशपरिमाणत्वादयौगपद्येन चतुर्विधा अपि, विधानतस्तु विचित्रावगाहनत्वादेकदाऽपि चतुर्विधास्ते भवन्ति । (एवं एगिंदियसिद्धवज्जा सव्वे वि त्ति) असुराऽऽदयो नारकवद्वक्तव्या इत्यर्थः । तत्रौघतस्ते कृतयुग्माऽऽदय.-अयौगपद्येन, विधानतस्तु युगपदपीत्येवं ; (सिद्धा एगिंदिया य जहा जीव त्ति) सिद्धा एकेन्द्रियाश्च यथा जीवास्तथा वाच्याः, ते चौघत. कृतयुग्मा एव, विधानतस्तु युगपच्चतुर्विधा अपि । युक्तिस्तूभयत्रापि प्राग्वत् ।

अथ स्थितिमाश्रित्य जीवाऽऽदि तथैव प्ररूप्यते-

जीवे णं भंते ! किं कडजुम्मसमयट्ठितीए पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मसमयट्ठितीए, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओयसमयट्ठितीए । णेरइए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मसमयट्ठितीए० जाव सिय कलिओयसमयट्ठितीए । एवं० जाव वेमाणिए सिद्धे जहा जीवे ॥

" जीवेण " इत्यादि । तत्रातीतानागतवर्तमानकालेषु जीवोऽस्तीति, सर्वाद्धाया अनन्तसमयाऽऽत्मकत्वादवस्थितत्वाच्चासौ कृतयुग्मसमयस्थितिक एव । नारकाऽऽदिस्तु विचित्रसमयस्थितिकत्वात्कदाचिच्चतुरग्र , कदाचिदन्यत्त्रितयवर्तीति ।

जीवाणं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेण वि, विहाणादेसेण वि कडजुम्मसमयट्ठितीया, णो तेओआ, णो दावरजुम्मसमयट्ठितीया, णो कलिओआ । णेरइयाण पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मसमयट्ठितीया वि० जाव सिय कलिओअसमयट्ठितीया वि । विहाणादेसेण कडजुम्मसमयट्ठितीया वि जाव० कलिओअसमयट्ठितीया वि, एवं० जाव वेमाणिया सिद्धा जहा जीवा ॥

"जीवाण" इत्यादि । बहुत्वे जीवा ओघतो विधानतश्च चतुरग्रसमयस्थितिका एव, अनाद्यनन्तत्वेनानन्तसमयस्थितिकत्वात्तेषाम् । नारकाऽऽद्य पुनर्विचित्रसमयस्थितिका ,तथा च सर्वेषां स्थितिसमयमीलने चतुष्कापहारे चौघाऽऽदेशेन स्यात्कृतयुग्मसमयस्थितिका इत्यादि, विधानतस्तु युगपच्चतुर्विधा अपि ।

अथ भावतो जीवाऽऽदि तथैव प्ररूप्यते-

जीवे ण भंते ! कालवण्णपज्जवेहिं किं कडजुम्मे पुच्छा ?।

गोयमा ! जीवपदेसे पडुच्च णो कडजुम्मे० जाव णो कलिओए। सरीरपदेसे सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए। एवं० जाव वेमाणिए। सिद्धो चेव ण पुच्छिज्जइ ॥

"जीवेणं" इत्यादि (जीवपएसे पडुच्च नो कडजुम्म त्ति) अमूर्त्तत्वाज्जीवप्रदेशानां न कालाऽऽदिवर्णपर्यवानाश्रित्य कृतयुग्माऽऽदिव्यपदेशोऽस्ति, शरीरवर्णापेक्षया तु क्रमेण चतुर्विधोऽपि स्यात्। अत एवाऽऽह-"सरीर" इत्यादि। (सिद्धो न चेव पुच्छिज्जइ त्ति) अमूर्त्तत्वेन तस्य वर्णाऽऽद्यभावात्।

जीवा णं भंते ! किं कालवण्णपज्जवेहिं पुच्छा ?। गोयमा ! जीवपदेसे पडुच्च ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि, णो कडजुम्मा० जाव णो कलिओआ। सरीरपदेसे पडुच्च ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। विहाणादेसेणं कडजुम्मा० वि जाव कलिओआ वि। एवं० जाव वेमाणिया, एवं णीलवण्णपज्जवेहिं वि दंडओ भाणियव्वो एगत्तपुहत्तेणं, एवं० जाव लुक्खफासपज्जवेहिं। जीवे णं भंते ! आभिणिबोहियणाणपज्जवेहिं किं कडजुम्मे पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए, एवं एगिंदियवज्जं० जाव वेमाणिए। जीवा णं भंते ! आभिणिबोहियणाणपज्जवेहिं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि० जाव कलिओआ वि। एवं एगिंदियवज्जं० जाव वेमाणिया। एवं सुयणाणपज्जवेहिं वि, ओहिणाणपज्जवेहिं वि एवं चेव, णवरं विगलिंदियाणं णत्थि ओहिणाणं, मणपज्जवणाणं वि एवं चेव, णवरं जीवाणं मणुस्साण य सेसाणं णत्थि।

(आभिणिबोहियणाणपज्जवेहिं ति) आभिनिबोधिकज्ञानस्याऽऽवरणक्षयोपशमभेदेन ये विशेषास्तस्यैव च ये निर्विभागपरिच्छेदास्ते आभिनिबोधिकज्ञानपर्यवास्तैः, तेषां चानन्त्येऽपि क्षयोपशमस्य विचित्रत्वेनानवस्थितपरिणामत्वाद्यथायोगमेकेन जीवश्चतुरस्राऽऽदिः स्यात् (एव एगिंदियवज्ज त्ति) एकेन्द्रियाणां सम्यक्त्वाभावान्नास्त्याभिनिबोधिकमिति न तदपेक्षया तेषां कृतयुग्माऽऽदिव्यपदेश इति। "जीवाण"-इत्यादि। बहुत्वे समस्तानामाभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणां मीलने चतुष्कापहारे वा युगपच्चतुरस्राऽऽदित्वमोघतः स्यात्, विचित्रत्वेन क्षयोपशमस्य तत्पर्यायाणामनवस्थितत्वात्। विधानतस्त्वेकदैव चत्वारोऽपि तद्भेदाः स्युरिति।

जीवे णं भंते ! केवलणाणपज्जवेहिं किं कडजुम्मे पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए। एवं मणुस्से वि, एवं सिद्धे वि। जीवा णं भंते ! केवलणाण पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ। एवं मणुस्सा वि। जीवे णं भंते ! मइअण्णाणपज्जवेहिं किं कडजुम्मे ?; जहा आभिणिबोहियणाणपज्जवेहिं तहेव दो दंडगा, एवं सुयअण्णाणपज्जवेहिं वि, एवं विभंगणाणपज्जवेहिं वि, चक्खुदंसणअचक्खुदंसणओहिदंसणपज्जवेहिं।

केवलज्ञानपर्यवपक्षे च सर्वत्र चतुरस्रत्वमेव वाच्यं, तस्यानन्तपर्यायत्वादवस्थितत्वाच्च, एतस्य च पर्याया अविभागपरिच्छेदरूपा यथावसेया, न तु तद्विशेषाः, एकविधत्वात्तस्येति। (दो दंडग त्ति) एकत्वबहुत्वकृतौ द्वौ दण्डकाविति। भ० २५ श० ४ उ०।

पुद्गलानेव कृतयुग्माऽऽदिभिर्निरूपयन्नाह-

परमाणुपोग्गला णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे, तेओए य, दावरजुम्मे कलिओए ?। गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओए। एवं० जाव अणंतपएसिए खंधे।

"परमाणु" इत्यादि। परमाणुपुद्गला ओघाऽऽदेशेन कृतयुग्माऽऽदयो भजनया भवन्ति, अनन्तत्वेऽपि तेषां सङ्घातभेदतोऽनवस्थितस्वरूपत्वात्, विधानतस्तु एकैकशः कल्योजा एवेति।

परमाणुपोग्गला णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेण सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ, विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, कलिओआ, एवं० जाव अणंतपदेसिया खंधा। परमाणुपोग्गला णं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओए ?। दुपदेसिए पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, दावरजुम्मे, णो कलिओए। तिपदेसिए पुच्छा ?। गोयमा ! णो कडजुम्मे, णो दावरजुम्मे, तेओए, णो कलिओए। चउप्पदेसिए पुच्छा ?। गोयमा ! कडजुम्मे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, णो कलिओए। पंचपदेसिए जहा परमाणुपोग्गले। छप्पएसिए जहा दुपदेसिए। सत्तपदेसिए जहा तिपदेसिए। अट्ठपदेसिए जहा चउप्पदेसिए। णवपएसिए जहा परमाणुपोग्गले। दसपएसिए जहा दुपएसिए। संखेज्जपएसिए णं भंते ! पोग्गले। पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए। एवं असंखेज्जपएसिए वि। एवं अणंतपएसिए वि। परमाणुपोग्गले णं भंते ! पएसट्ठयाए किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ। विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ।

(पंचपएसिए जहा परमाणुपोग्गल त्ति) एकाग्रत्वात्कल्योज इत्यर्थः। (छप्पएसिए जहा दुपएसिए त्ति) द्व्यग्रत्वाद् द्वापरयुग्म इत्यर्थः। एवमन्यदपि। "संखेज्जपएसिए णं" इत्यादि। संख्यातप्रदेशिकस्य विचित्रत्वस्थत्वाद्भजनया चातुर्विध्यमिति।

दुपएसिया णं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा, णो तेओआ, सिय दावरजुम्मा, णो कलिओआ। विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, णो तेओआ, दावरजुम्मा, णो कलिओआ।

"दुपएसिया णं" इत्यादि। द्विप्रदेशिका यदा समसंख्या भवन्ति तदा प्रदेशतः कृतयुग्माः, यदा तु विषमसंख्यास्तदा द्वापरयुग्माः। "विहाणादेसेणं" इत्यादि। ये द्विप्रदेशिकास्ते

प्रदेशार्थतयैकैकशश्चिन्त्यमाना द्विप्रदेशत्वादेव द्वापरयुग्मा भवन्ति ।

तिपएसिया णं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ । विहाणादेसेणं णो कडजुम्मा, तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ ॥

"तिपएसिया णं" इत्यादि । समस्तत्रिप्रदेशिकमीलने तत्प्रदेशानां च चतुष्कापहारे चतुरग्राऽऽदित्व भजनया स्यात्, अनवस्थितसङ्ख्यात्वात्तेषाम् । यथा चतुर्णां तेषां मीलने द्वादश प्रदेशाः, ते च चतुरग्राः पञ्चानां त्र्योजाः, षण्णां द्वापरयुग्माः, सप्तानां कल्योजा इति । विधानाऽऽदेशेन च त्र्यणुकत्वात् स्कन्धानामिति ।

चउप्पएसिया णं पुच्छा ? । गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ । पंचपएसिया जहा परमाणुपोग्गला । छप्पदेसिया जहा दुपदेसिया । सत्तपएसिया जहा तिपदेसिया । अट्ठपदेसिया जहा चउप्पदेसिया । णवपएसिया जहा परमाणुपोग्गला । दसपएसिया जहा दुपदेसिया । संखेज्जपएसिया णं पुच्छा ? । गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ । विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि० जाव कलिओआ वि । एवं असंखेज्जपएसिया वि, अणंतपएसिया वि ॥

" चउप्पएसिया णं " इत्यादि । चतुष्प्रदेशिकानामोघतो विधानतश्च प्रदेशाश्चतुरग्रा एव । (पञ्चपएसिया जहा परमाणुपोग्गल त्ति) सामान्यतः स्यात्कृतयुग्माऽऽदयः प्रत्येकं चैकाग्रा एवेत्यर्थः । (छप्पएसिया जहा दुपएसिय त्ति) ओघतः स्यात्कृतयुग्मद्वापरयुग्माः, विधानतस्तु द्वापरयुग्मा इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि ।

अथ क्षेत्रतः पुद्गलाँश्चिन्तयन्नाह—

परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं कडजुम्मपएसोगाढे पुच्छा ?। गोयमा ! णो कडजुम्मपएसोगाढे, णो तेओए, णो दावरजुम्मे, कलिओअपदेसोगाढे । दुपएसिए णं पुच्छा ?। गोयमा ! णो कडजुम्मपएसोगाढे, णो तेओए, सिय दावरजुम्मपएसोगाढे, सिय कलिओअपएसोगाढे । तिपएसिए णं पुच्छा ?। गोयमा ! णो कडजुम्मपएसोगाढे, सिय तेओअपएसोगाढे, सिय दावरजुम्मपएसोगाढे, सिय कलिओअपएसोगाढे । चउप्पएसिए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मपएसोगाढे० जाव सिय कलिओअपएसोगाढे, एवं० जाव अणंतपएसिए ।

परमाणुः कल्योजप्रदेशावगाढ एव, एकत्वात् । द्विप्रदेशिकस्तु द्वापरजुम्मप्रदेशावगाढो वा, कल्योजप्रदेशावगाढो वा स्यात्, परिणामविशेषात् । एवमन्यदपि सूत्रं नेयम् ।

परमाणुपोग्गला णं भंते ! किं कडजुम्मा पुच्छा ? । गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ । विहाणादेसेणं णो कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, कलिओअपएसोगाढा ।

" परमाणुपोग्गला णं " इत्यादि । तत्रौघतः परमाणवः कृतयुग्मप्रदेशावगाढा एव भवन्ति, सकललोकव्यापकत्वात्तेषाम् । सकललोकप्रदेशानां चासङ्ख्यातत्वादवस्थितत्वाच्च चतुरग्रतेति । विधानतस्तु कल्योजप्रदेशावगाढाः, सर्वेषामेकैकप्रदेशावगाढत्वादिति ।

दुपदेसिया णं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ । विहाणादेसेणं णो कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओअपएसोगाढा, दावरजुम्मपएसोगाढा वि, कलिओअपएसोगाढा वि । तिपएसिया णं पुच्छा ? । गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ । विहाणादेसेणं णो कडजुम्मपएसोगाढा, तेओअपएसोगाढा वि, दावरजुम्मपएसोगाढा वि, कलिओअपएसोगाढा वि । चउप्पएसिया णं पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेओआ, णो दावरजुम्मा, णो कलिओआ । विहाणादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा वि० जाव कलिओअपएसोगाढा वि । एवं० जाव अणंतपएसिया ।

द्विप्रदेशावगाढास्तु सामान्यतश्चतुरग्रा एव, उक्तयुक्तितः । विधानतस्तु द्विप्रदेशिका ये द्विप्रदेशावगाढास्ते द्वापरयुग्माः, ये त्वेकप्रदेशावगाढास्ते कल्योजाः । एवमन्यदप्यूह्यम् ।

परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं कडजुम्मसमयट्ठिईए पुच्छा ?। गोयमा ! सिय कडजुम्मसमयट्ठिईए० जाव कलिओअसमयट्ठिईए । एवं० जाव अणंतपएसिए । परमाणुपोग्गला णं किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मसमयट्ठिईया० जाव सिय कलिओअसमयट्ठिईया । विहाणादेसेणं कडजुम्मसमयट्ठिईया वि० जाव कलिओअसमयट्ठिईया वि । एवं० जाव अणंतपएसिया । परमाणुपोग्गला णं भंते ! कालवण्णपज्जवेहिं किं कडजुम्मे तेओए ? । जहा ठिईए वत्तव्वया । एवं वण्णेसु वि सव्वेसु, गंधेसु वि एवं चेव, रसेसु वि० जाव महुररसो त्ति । अणंतपएसिए णं भंते ! खंधे कक्खडफासपज्जवेहिं किं कडजुम्मे पुच्छा ? । गोयमा ! सिय कडजुम्मे० जाव सिय कलिओए । अणंतपएसिया णं भंते ! खंधा कक्खडफासपज्जवेहिं किं कडजुम्मा पुच्छा ?। गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा० जाव सिय कलिओआ । विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि० जाव कलिओआ वि । एवं मउयगुरुयलहुया वि भाणियव्वा, सीओसिणणिद्धलुक्खा जहा वण्णा ।

(अणंतपएसिए णं भंते ! खंधे त्ति) इह कर्कशाऽऽदिस्पर्शाधिकारे यदनन्तप्रदेशिकस्यैव स्कन्धस्य ग्रहणं, तत्तस्यैव बादरस्य

कर्कशाऽऽदिस्पर्शचतुष्टय भवति, न तु परमाण्वादेरित्यभिप्राये-णेति। अत एवाऽऽह-(संओसिणणिद्धलुक्खा अहा वच त्ति) एतत्पर्यवाधिकारे परमाणवादयोऽपि वाच्या इति भावः। भ० २५ श० ४ उ०।

जुम्मपएसिय-युग्मप्रादेशिक-त्रि०। समसंख्यप्रदेशनिष्पन्ने, तदात्मके प्रतरवृत्तभेदे च। भ० २५ श० ४ उ०।

जुम्ह-युष्मद्-त्रि०। युष्-मदिक्। सबोध्यचेतने प्रथमाद्यर्थे, तस्य चोक्तार्थे त्रिषु लिङ्गेषु सर्वनामता। वाच०। "युष्मद्यर्थपरे तः"। ८। १। २४६। इति प्राकृतसूत्रेण युष्मच्छब्देऽर्थपरे यस्य तः। 'तुम्हारिसो, तुम्हकेरो' प्रा० १ पाद। (युष्मच्छब्दरूपसिद्धिस्तु एतत्कोशप्रथमभागस्य प्रथमपरिशिष्टे २८ पृष्ठे प्रदर्शिता, रूपाणि तु तृतीयपरिशिष्टे १७ पृष्ठे विवेचितानीति तत एवावगन्तव्यानि)

जुयल-युगल-न०। 'जुगल' शब्दार्थे, अनु०।

जुयलधम्म-युगलधर्म-न०। 'जुगलधम्म' शब्दार्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड।

जुयलधम्मिय-युगलधर्मिक-पुं०। 'जुगलधम्मिय' शब्दार्थे, तं०।

जुयलयमणुय-युगलकमनुज-पुं०। 'जुगलयमणुय' शब्दार्थे, ज्यो० १ पाहु०।

जुरुन्जिल्ल-न०। देशी-गहने, दे० ना० ३ वर्ग।

जुव[ण]-युवन्-त्रि०। यु-कनिन्। श्रेष्ठे, निसर्गबलवति, वाच०। यौवनस्थे, जी० ३ प्रति०। रा०। युवा यौवनगामीति। ज्ञा० २२ ज्ञा०। युवा वयःप्राप्त इति। उपा० ७ अ०। भ०। "आषोडशाद्भवेद् बाल, तरुणस्तत उच्यते।" इत्युक्तवयस्के तरुणे, वाच०। ज्ञा०। आचा०। ज्ञा०। आव०।

जुवइ-युवति[ती]-स्त्री०। युवन् ति। युवत्-ङीप् वा। यौवनवन्त्यां स्त्रियाम्, वाच०। तरुण्याम्, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। आव०। औ०। प्रा०। रा०। "जुवई समण बूया।" युवतिरभिनवयौवना स्त्री। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

जुवइजण-युवति[ती]जन-पुं०। तरुणीजने, प्रा०१ पाद।

जुवंगव-युवगव-पुं०। युवाऽयं गौः। युवगवः। यूनि गवि, "जुवगवे त्ति वा।" आचा० २ श्रु० ४ अ० २ उ०।

जुवरज्ज-यौवराज्य-न०। प्राचीननृपतिना यो यौवराज्याभिषिक्त आसीत्तेनाधिष्ठितं राज्यं परमनेन यावत्साद्यापि द्वितीयो युवराजोऽभिषिक्तस्तावद्यौवराज्यमुच्यते। इत्युक्तलक्षणे राज्ये, बृ० १ उ०। नि०चू०। यत्र नाद्यापि राजाभिषेको भवति। इत्युक्तलक्षणे यौवराज्ये, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ०। बृ०।

जुवराय-युवराज-पुं०। युवा चाऽसौ राजा च युवराजः। पितरि जीवति सति राजयोग्यः कुमारो युवराज उच्यते। इत्युक्तलक्षणे कुमारपदधारके, उत्त० १६ अ०। राज्ञो द्वितीयस्थानवर्त्तिनि, व्य० १ उ०। राजयोग्यकियत्कार्यकरे राजपुत्रे, वाच०। युवराज उत्थितनाऽऽसन इति। जी० ३ प्रति०। आव०। आ० म०। व्य०। औ०। आचा०। बृ०।

युवराजस्वरूपमाह-

आवस्सगाइँ काउं, सो सुद्धाई तु णिरवसेसाइं।
अत्थाणिमज्झगओ, पेच्छइ कज्जाइँ जुवराया ॥३१०॥

यो नाम प्रातरुत्थाय शौचपूर्वाणि आवश्यकानि शरीरचिन्तादेवतार्चनाऽऽदीनि निरवशेषाणि कृत्वा आस्थानिकामध्यगतः सन् कार्याणि प्रेक्षते चिन्तयति स युवराजः। व्य०१ उ०। युवा राजा यत्र। ब० व्री०। युवराजनि, आचा०२ श्रु०३ अ०१ उ०।

जुवाण-युवाण-युवन्-पुं०। "पुंस्यन आणो राजवच्च"॥ ८। ३। ५६॥ इति प्राकृतसूत्रेण पुंलिङ्गे वर्तमानस्यान्नन्तस्य स्थाने 'आण' इत्यादेशो वा भवति। प्रा० ३ पाद। युवा यौवनस्थस्तु प्राप्तवया एव इत्येवमणति व्यपदिशति लोको यमसौ निरुक्तिवशाद् युवाणः। बाल्याऽऽदिकालेऽपि दारकोऽभिधीयतेऽतो विशिष्टवयोऽवस्थापरिग्रहार्थमेतद्विशेषणम्। यौवनस्थ इत्येव लोकेन व्यपदिश्यमाने प्राप्तविशिष्टवयोऽवस्थे, अनु०।

जुव्वणत्थी-यौवनस्त्री-स्त्री०। तरुण्याम्, "पिच्छसि मुह सतिलय, सविलेस सरायणण अहरेण। सकरूक्ख सवियार, तरलच्छि जुव्वणत्थीए॥१२॥" तं०।

जुसिय-जुष्ट-त्रि०। जुष्-क्तः। उच्छिष्टे, सेविते च। वाच०। प्रीते, "पावए देह लोगो, उवगारिसु परिचिए व जुसिए वा।" स्था० ४ ठा० ४ उ०।

जुहिट्ठिल-युधिष्ठिर-पुं०। युधि युद्धे स्थिरः। "गवियुधिभ्यां स्थिरः" ॥८।३।९५॥ इति (पाणि०) सूत्रेण षत्वम्। वाच०। हस्तिनापुरस्थे पाण्डुराजस्य ज्येष्ठपुत्रे ज्ञा०१ श्रु० १६ अ०। "जुहिट्ठिलपामोक्खाण पचण्ह पडवाण।" अन्त०१ श्रु०५ वर्ग१ अ०।

जुहुट्ठिल्ल-युधिष्ठिर-पुं०। "युधिष्ठिरे वा" ॥ ८।१।९६॥ इति प्राकृतसूत्रेण युधिष्ठिरशब्दे आदेरित उत्त्वं वा। प्रा०१ पाद। 'जुहिट्ठिल' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद। ज्ञा०।

जू-जू-पुं०। जवे, व्योम्नि, पिशाचे, गणके, जने, सबले, प्रादुर्भावे, भवे च। सरस्वत्याम्, स्त्री०। "जू: पुंसि जवे व्योम्नि, पिशाचगणके जने। जू: स्त्रियां तु सरस्वत्या, जाति स्यात्सबले पुमान् ॥१॥" इति। एका०। "जूर्जुवौ जुव इत्यपि, प्रादुर्भावे भवे इति।" एका०।

जूअअ-पुं०। देशी-चातके, दे० ना० ३ वर्ग।

जूय-यूप-पुं०। न०। यु-पक्-पृषो०-दीर्घः। युगे, "जूयसहस्स" यूपा युगास्तेषां सहस्रम्। कल्प० ५ क्षण। प्रश्न०। स्तम्भविशेषे, जं० २ वक्ष०। यज्ञस्तम्भे, जं० ३ वक्ष०। उत्त०। यज्ञीयपशुबन्धकाष्ठभेदे, यागसमाप्तिचिह्नार्थे स्तम्भे च, वाच०। जयस्तम्भे, पुं०। वाच०। तदात्मके सामुद्रिकशास्त्रोक्ते पुरुषस्य करचरणस्थे प्रशस्तलक्षणभेदे, जं० २ वक्ष०। स्वनामख्याते पश्चिमस्यां दिशि स्थिते पातालकलशे च। प्रव० २७२ द्वार। द्यूत-न०। दिव-क्तः। क्रीडाविशेषे, औ०। प्रश्न०। स्था०। उत्त०। "अणुक्कमं सो जूयं खेल्लउ।" आ० म० १ अ० १२ खण्ड। उत्त०। ('मणुस्सत्त' शब्देऽस्य दृष्टान्तः।) पाशकक्रीडायाम्, अप्राणिकरणकक्रीडायां, कैतवे च। वाच०। तदात्मके द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। जं०। स०।

जूयखलय-द्यूतखलक-न०। द्यूतस्थण्डिले, ज्ञा०१ श्रु० २ अ०।

जूयग-यूपक-पुं०। सन्ध्याप्रभा चन्द्रप्रभा च यद्युगपद् भवतस्तद् "जूयगो त्ति" भणितम्। सन्ध्याप्रभाचन्द्रप्रभयोर्मिश्रत्वे, तदात्मके आन्तरिक्षेऽस्वाध्यायभेदे च। "दसविहे अन्तलिक्खए असज्झाइए पण्णत्ते। तं जहा-उक्कावाए, दिसिदाहे, गज्जिए, विज्जुए, निग्घाए, जूयए, जक्खालित्तए, धूमिए, महिए, रउग्घाए।" स्था०१० ठा०। शुक्लपक्षप्रतिपदाऽऽदिदिनत्रयं यावद्येषु सन्ध्याच्छेदा आव्रियन्ते ते यूपका इति। भ० ७ श० ३ उ०। आव०।

पश्चिमस्यां दिशि स्थिते स्वनामख्याते महापाताले,स्था०४ ठा० २ उ० । (यूपकस्य विशेषवक्तव्यता तु 'असज्झाइय' शब्दे प्रथमभागे ८२६ पृष्ठे निरूपिता)

संझाछेअावरणो, उ जूयगो सुक्कदिए तिन्नि ॥ १७ ॥

(जूयगो त्ति) " सक्कप्पहा,चदप्पहा य, जेण जुगव भवति तेण जूयगो,सा सक्कप्पहा चदप्पजा वरिया फिट्ट ति,न नजइ,सुक्कपक्खपाडिवगादिसु दिणेसु संझाझायो देव य अणज्जमाणं कालवेल न मुणति, अओ ते तिन्नि दिणा पाओसियकालं न गेण्हति, तेसु तिसु दिणेसु पाओसियसुत्तपोरिसिं न करेंति " इति गाथार्थ. ॥ आव० ४ अ० । जलमध्यवर्त्तितटे, खेटे, वृ० १ उ० । (तत्र न वस्तव्यं न वाऽऽतापनाऽऽदिका क्रिया कर्त्तव्येति 'दगतीर' शब्दे वक्ष्यते)

जूयगर–द्यूतकर–त्रि० । द्यूत करोति कृ-अच् । पाशकाऽऽदिक्रीडाकारके, वाच० । प्रश्न० ।

जूयगार–द्यूतकार–त्रि० । द्यूतं करोति । कृ-एवुल् । पाशकाऽऽदिक्रीडाकारके, वाच० । प्रश्न० ।

जूयचिइ–यूपचिति–स्त्री० । यज्ञेषु यूपचयने, औ० ।

द्यूतचिति–स्त्री० । द्यूतानि क्रीडाविशेषास्तेषां चितिः । द्यूतचयने, औ० ।

जूयप्पमाय–द्यूतप्रमाद–पु० । द्यूतं प्रतीतं, तदपि प्रमाद एव द्यूतप्रमादः । प्रमादभेदे, (स्था०) " द्यूताऽऽसक्तस्य सच्चित्तं, धन कामा. सुचेष्टितम । नश्यन्त्येव पर शीर्षं, नामापि च विनश्यति " ॥ १ ॥ स्था० ६ ठा० ।

जूयप्पसंगि[ण्]–द्यूतप्रसङ्गिन्–त्रि० । द्यूताऽऽसक्ते, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । आ० म० ।

जूया–यूका–स्त्री० । सस्वेदजे त्रीन्द्रियजीवविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । प्रज्ञा० । " लिक्खं वा जूयं वा " । आचा० २ श्रु० २ चू० । अष्टलिक्षाऽऽत्मके प्रमाणभेदे, स्था० ६ ठा० । अनु० । " अट्ठलिक्खाओ सा एगा जूया ।" भ० ६ श० ७ उ० । ज० । उत्त० । प्रव० । ज्यो० । त० ।

जूयासेज्जायरय–यूकाशय्यातरक–पु० । यूकानां स्थानदातरि, भ० १५ श० १ उ० ।

जूर–जूर–धा० । वयोहानौ,अक० । वधे,सक०-दिवा०-आत्म०-सेट् । जूर्यते,अजूरिष्ट, जूर्ण. । वाच० । पश्चात्तापे, "अयहारि व्व जूरह ।" यथा वाऽयसो लोहस्याऽऽहर्त्ता अपान्तराले रूप्यादिलाभे सत्यपि दूरमानीतमिति कृत्वा नोज्झितवान्, पश्चात्स्वावस्थानाऽवाप्तावल्पलाभे सति जूरितवान्, पश्चात्ताप कृतवान्, एव भवन्ताऽपि जूरयिष्यन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

क्रुध्–धा० । कोपे, दिवा०-पर०-अक० । सोपसर्गसक०-अनिट् । " क्रुधेर्जूरः " । ८ । ४ । १३५ । इति प्राकृतसूत्रेण क्रुधेर्जूर इत्यादेशो वा भवति । 'जूरइ' 'कुज्झइ' । प्रा० ४ पाद । क्रुध्यति, भृत्यमभिक्रुध्यति । अक्रुधत् । वाच० ।

खिद्–धा० । दैन्ये, दिवा०- रुधा० च-आत्म०--अक०--अनिट् । " खिदर्जूरविसूरौ "॥८।४।१३२॥ इति प्राकृतसूत्रेण खिदेरेतावादेशौ वा भवत. । 'जूरइ' 'विसूरइ' 'खिज्जइ' । प्रा० ४ पाद । खिद्यते खिन्ते । वाच० । परिघाते, तुदा०--पर० -अक० -अनिट् मुचादि । खिन्दति, खिन्दत , अखैत्सीत्, खिन्नः । वाच० ।

जूरण–जूरण–न० । वयोहानौ,सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । गर्हणे,सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । पश्चात्तापे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

जूरव–वञ्च–धा० । प्रतारणे, " वञ्चेर्वेहववेलवजूरवोमच्छाः " ॥ ८ । ४ । ९३ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण वञ्चेरेते आदेशा वा भवति । 'जूरवइ, वचइ' । प्रा० ४ पाद ।

जूरावण–जूरण–न० । शोकातिरेकाच्छरीरजीर्णताप्रापणायाम, भ० ३ श० ४ उ० ।

जूरुमिल्लय–पु० । देशी-गोपाले, दे० ना० ३ वर्ग ।

जवग–यूपक–पु० । 'जूयग' शब्दार्थे, स्था० १० ठा० ।

जूवचिइ–यूपचिति–स्त्री० । 'जूयचिइ' शब्दार्थे, औ० ।

जूस–जूष–पु० । न० । जूष् घञ्, अच् वा । मुद्गाऽऽदीनां क्वाथे,वाच० । मुद्गतण्डुलजीरककटुभाण्डाऽऽदिरसाऽऽत्मके व्यञ्जनभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । सू० प्र० । च० प्र० । ज० । प्रश्न० ।

जूसणा–जूषणा–स्त्री० । सेवायाम, औ० ।

जोषणा–स्त्री० । सेवनायाम, स्था० ४ ठा० ३ उ० । सूत्र० ।

जूसिय–जुष्ट–त्रि० । सेवित, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जोषित–त्रि० । सेविते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

जूह–यूथ–न० । यु-थक्, पृषो०-दीर्घः । सजातीयसमुदाये,वाच० । यूथ समूह इति । स्था० १० ठा० । उत्त० ।

जूहमल्लवाइ[ण्]–यूथमल्लवादिन्–पु० । वादिविशेषे,कल्प०६ क्षण ।

जूहवइ–यूथपति–पु० । यूथस्वामिनि, ज्ञा० १ श्रु०१अ० । "भावी यूथपतिः स्वयम् ।" आ० क० । " सो वानरजूहवई ।" आ०क० ।

जूहाहिव–यूथाधिप–पु० । यूथस्वामिनि, आ०म०१अ०१ खण्ड ।

जूहाहिवइ–यूथाधिपति–पु० । यूथस्य चतुर्विधसघस्याधिपतिः । यूथस्वामिनि. उत्त० ११ अ० ।

जूहिय–यूथिक–त्रि० । "यूथभवे, "पुव्वजूहियट्ठाणाणि वा हयजूहियट्ठाणाणि वा गयजूहियठाणाणि वा" । आचा०२श्रु०२चू० ।

जूहिया–यूथिका–स्त्री० । यु--थक्, पृषो०-दीर्घ.,स्वार्थे कन्, अत इत्वम-टाप् । अम्लानके पाठायाम,यूथ्यां च । वाच० । पुष्पप्रधाने गुल्माऽऽत्मके वनस्पतिविशेषे,आचा०१ श्रु०१ अ०५ उ० । प्रज्ञा० । रा० । ज० । "जूहियाकुसुमेइ वा ।" आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

जूहियापुड–यूथिकापुट–न० । यूथिकायाः पुट पत्राऽऽदिमय तद्भाजन यूथिकापुटम् । यूथिकापुष्पस्य पत्राऽऽदिमये भाजने, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । आ० म० ।

जूहियामंडवग–यूथिकामण्डपक–पु० । यूथिका वनस्पतिविशेष , तन्मयो मण्डपक' यूथिकामण्डपक. । यूथिकामये मण्डपे, जी० ३ प्रति० । ज० ।

जे–जे–अव्य० । पादपूरणे, वृ० १ उ० । व्य० । त० । "जे" इति निपातः पादपूरणार्थे । तथा चाह वररुचिः स्वप्राकृतलक्षणे—" इजेरा पादपूरणे " ॥ ८ । २ । २१७ ॥ एते पादपूरणे प्रयोक्तव्या इति वृत्ति. । आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रश्न० । पञ्चा० । ज्ञा० । वाक्यालङ्कारे, जे इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थे इति । विशे० । " ज त्ति खलु णिद्देसे " ज इति । नि० चू० १ उ० । य इत्यस्य स्थानेऽपि 'जे' इति । कल्प० १ क्षण ।

जेऊण–जित्वा–अव्य० । जय कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

जेट्ठ–ज्येष्ठ–त्रि० । वृद्ध–इष्ठनि ज्यादेशः । भ० १ श० १ उ० । जं० । सू० प्र० । उत्त० । चं० प्र० । अनु० । यो यस्याऽऽदौ स तस्य ज्येष्ठः । यथा–द्विकस्यैको ज्येष्ठः, त्रिकस्य त्वेककोऽनुज्येष्ठः, चतुष्काऽऽदीनां तु स एव ज्येष्ठानुज्येष्ठः । एवं त्रिकस्य द्विको ज्येष्ठः, स एव चतुष्कस्यानुज्येष्ठः, पञ्चकाऽऽदीनां तु स एव ज्येष्ठाऽनुज्येष्ठ इति । अनु० । विशे० । आ० म० । अतिवृद्धे, "कणिट्ठ मज्झिमजट्ठा थितिसंघयणेण उवसिठा ।" ज्येष्ठमतिशयवृद्धम्, उत्कृष्टमित्यर्थः । उत्त० पाई० अ० । श्रेष्ठे, "गिहत्थधम्मा परम ति नच्चा ।" गृहस्थधर्मात्परमं प्रधानं ज्येष्ठमित्येव ज्ञात्वा । विशे० । रत्नाधिके, पञ्चा० १६ विव० । कल्प० ।

यत्र च गच्छे ज्येष्ठकनिष्ठौ न ज्ञायेते, न तद्गच्छम् । तथा च–

जत्थ य जेट्ठ-कणिट्ठो, जाणिज्जइ जेट्ठवयणबहुमाणो ।
दिवसेण वि जो जेट्ठो, न य हीलिज्जइ स गोयमा! गच्छो ॥४६॥

यत्र च गणे ज्येष्ठः कनिष्ठश्च ज्ञायते, तत्र ज्येष्ठः पर्यायेण वृद्धः, कनिष्ठः पर्यायेण लघुः । तथा यत्र ज्येष्ठस्य वचनमादेशो ज्येष्ठवचनं, तस्य बहुमानं सन्मानं ज्ञायते । 'जेट्ठविणयबहुमाण त्ति' पाठे तु ज्येष्ठस्य विनयबहुमानौ ज्ञायेते, तथा यत्र च दिवसेनाऽपि यो ज्येष्ठः स न हील्यते, चकाराद्यत्र पर्यायेण लघुरपि गुणवृद्धो न हील्यते, सिंहगिरिशिष्यैर्वज्रशिशुरिव । हे गौतम! स गच्छो ज्ञेय इति । ग० २ अधि० । अग्रजे, पुं० । वाच० ।

" उचिअ एअ पि महो-अरम्मि ज निअइ अप्पसममेव ।
जेट्ठ व कणिट्ठं पि हु, बहु मन्नइ सव्वकज्जेसु ॥ ८ ॥ "

(निअइ त्ति) पश्यति (जेट्ठ व त्ति) ज्येष्ठो भ्राता पितृतुल्यः, तमिव तथा । ध० २ अधि० ।

ज्यैष्ठ–त्रि० । वृद्ध–इष्ठनि ज्याऽऽदेशः । ततः स्वार्थिक अण् अतिवृद्धे, श्रेष्ठे च । अग्रजे, पुं० । वाच० ।

जेट्ठकप्प–ज्येष्ठकल्प–कल्पभेदे, ज्येष्ठो रत्नाधिकः, स एव कल्पो वृद्धलघुव्यवहारो यत्र स ज्येष्ठकल्पः । कल्पभेदे, कल्प० १ क्षण ।

पुव्वतरं सामइयं, जस्स कयं जो वतेसु वट्ठाविओ ।
एस कितिकम्मजट्ठो, ण जातिसुतओ दुपक्खे तु ॥

यस्य सामायिकं पूर्वतरं प्रथमतरं कृतमारोपितम्, यो वा व्रतेषु प्रथममुपस्थापितः, स एव कृतिकर्मज्येष्ठो भण्यते, न पुनर्द्विपक्षेऽपि संयतपक्षे संयतीपक्षे च जातितो बृहत्तरं जन्मपर्यायमङ्गीकृत्य, श्रुततः प्रभूतं श्रुतमाश्रित्य ज्येष्ठः इहाधिक्रियते, इह च मध्यमसाधूनां यस्य सामायिकं पूर्वतरं स्थापितं स ज्येष्ठः, पूर्वपश्चिमानां तु यस्य प्रथममुपस्थापना कृता स ज्येष्ठ इति । बृ० ६ उ० । व्य० । पं० भा० । पं० चू० ।

ज्येष्ठस्वरूपं गाथात्रयेणाऽऽह–

उवठावणाएँ जेट्ठो, विण्णेओ पुरिमपच्छिमजिणाणं ।
पव्वज्जाए उ तहा, मज्झिमगाण णिरतियारो ॥ २९ ॥

उपस्थापनया महाव्रताऽऽरोपणेन, ज्येष्ठो रत्नाधिको विज्ञेयः, पूर्वपश्चिमजिनानामित्यत्र साधूनामिति शेषः । प्रव्रज्यया तु प्रव्राजनेन पुनस्तथेति ज्येष्ठो ज्ञेय इत्येतत्सम्बन्धनार्थः । मध्यमकानां द्वाविंशतिजिनसाधूनां, निरतिचारोऽतिचाररहितः । सातिचारस्तु नोपस्थापनया प्रव्रज्यया वा ज्येष्ठः, प्राक्तन्यास्तयोरप्रमाणत्वात्, पुनरुपस्थापनायाः सामायिकाऽऽरोपणस्यैव च प्रमाणत्वादिति ॥ २९ ॥

उपस्थापनया ज्येष्ठ इत्युक्तम्, अथ तद्विधिमुपदर्शयन्नाह–

पढिएँ य कहिएँ अहिगए, परिहर उवठावणाएँ कप्पो त्ति ।
छक्कं तीहि विसुद्ध, सम्मं णवएण भेएण ॥ ३० ॥

पठितेऽधीते सूत्रतः, शस्त्रपरिज्ञाऽध्ययने । चशब्दो भिन्नक्रमः । कथिते व्याख्यातेऽर्थतः । अधिगते च ज्ञाते, एतास्वेव सति । (१) एकारस्य तु ह्रस्वपाठः प्राकृतत्वात् । परिहरन् वर्जयन् सन् परिहार्यम् उपस्थापनाया महाव्रताऽऽरोपणस्य कल्पो योग इत्येवंभूतः प्राणी । किं परिहरन्नित्याह–षट्कं जीवनिकायषट्कम्, अव्रतषट्कं वा, त्रिभिर्मनोवाक्कायैः, विशुद्धं निरवद्यं यथा भवति तथा, सम्यग्भावतः, नवकेन नवपरिमाणेन, भेदेन विकल्पेन, नवभिर्भेदैरित्यर्थः । मनसा कृतकारितानुमतिभिः, एवं वाचा कायेन चेति ॥ ३० ॥

अथ द्वयोर्युगपदुपस्थाप्यमानयोः को ज्येष्ठः ?, इत्यत्राऽऽह–

पितिपुत्तमाइयाणं, समगं पत्ताण जेट्ठ पितिपभिई ।
थोवतर विलंबो, पन्नवणाए उवट्ठवणा ॥ ३१ ॥

पितापुत्राऽऽदीनां जनकसुतप्रभृतीनाम्, आदिशब्दाद्राजामात्यमातादुहितृराइयमात्याऽऽदिग्रहः । समकं युगपत्, प्राप्तानां विवक्षिताध्ययनाधिगमनोपस्थापनायोग्यतामवाप्तानां यौगपद्येनैवोपस्थाप्यमानानां, ज्येष्ठा रत्नाधिकाः पितृप्रभृतयः पित्रादयः स्युः, आदिशब्दाद्राजामात्यराड्याद्रिग्रहः । अथ पुत्राऽऽदिः प्राप्तो न पित्रादिः, तदा को विधिः ?, इत्याह–स्तोकोऽल्पोऽन्तरं विशेषः किंतद्याऽऽदिन पित्रादिरपि प्राप्स्यतीत्येवंरूपे, विलम्ब्य प्रतीक्षणं कार्यम् । पित्रादौ प्राप्ते सति युगपदेव पिता पुत्राऽऽदिरुपस्थापनीयो माभूत् पुत्राऽऽद्यपेक्षया लघुताकरणेन पित्राऽऽदेरसमाध्युत्पत्तिः, अक्रमणाऽऽदिरिति । अथ बह्वन्तरं, तदा को विधिः ?, इत्याह–प्रज्ञापनया पित्रादेः सम्बोधनया–' तव पुत्रो यदि विवक्षितां महाव्रतश्रियं प्राप्नोत्यन्येषां च ज्येष्ठतरो भवति तवैवाभ्युदयः, ततो न त्वयाऽस्य विघ्नो विधेयः ' इत्यादिलक्षणया, उपस्थापना व्रताऽऽरोपणा कार्या । अथ प्रज्ञाप्यमानोऽपि यदि न प्रतिपद्यते, तदा प्रतीक्षणीयः यावदसौ प्राप्तः द्वये राजाऽऽदयो युगपद्यदा तूपस्थाप्यन्ते तदा यथाऽऽसन्नं ज्येष्ठतेति । तदेवं प्रकारद्वयेनापि ज्येष्ठत्वे सर्वेऽप्यवस्थिता इति गाथात्रयार्थः ॥३१॥ पञ्चा० १७ विव० ।

जेट्ठज्ज–ज्येष्ठार्य–पुं० । प्रथमे आर्ये, नि० चू० १ उ० ।

जेट्ठभूइ–ज्येष्ठभूति–पुं० । 'जिट्ठभूइ' शब्दार्थे, ति० ।

जेट्ठमहाजण–ज्येष्ठमहाजन–पुं० । ज्येष्ठार्थसाधुसमुदाये, बृ० १ उ० ।

जेट्ठयर–ज्येष्ठतर–त्रि० । 'जिट्ठयर' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

जेट्ठा–ज्येष्ठा–स्त्री० । ज्येष्ठभगिन्याम्, वयोज्येष्ठायाम्, ज्येष्ठस्य पत्न्याम्, गङ्गायाम्, अलक्ष्म्याम्, अश्विन्यवधिकेऽष्टादशे इन्द्रदेवताके नक्षत्रे, वाच० । चं० प्र० । ज्यो० । स्था० । अनु० । आव० । " जेट्ठाणक्खत्ते तितारे पण्णत्ते " । स० १ सम० । स्था० । भगवतो महावीरस्य स्वनामख्यातायां दुहितरि, तस्याश्च ज्येष्ठेति वा सुदर्शनेति वाऽनवद्याङ्गीति वा नामेति । विशे० । वैशालीनगरनृपतश्चेटकस्य

(१) "एदोतौ पदान्ते प्राकृते ह्रस्वौ वा" इति हैमे छन्दोऽनुशासने ।

स्वनामख्यातायां दुहितरि, सा च " जेट्ठा कुंडग्गामे वद्धमाणसामिणो नंदिवद्धणस्स दिण्ण त्ति "। आ० चू० ४ अ०।

जेट्ठाणुजेट्ठ-ज्येष्ठानुज्येष्ठ-त्रि०। चतुष्काद्यपेक्षया प्रथमे, आ० म० १ अ० १ खण्ड। अनु०। विशे०। (अस्य यथा नत्व तथा 'जेठ' शब्दे १५८५ पृष्ठे व्याख्यातम्)

जेट्ठामूल-ज्येष्ठामूल-पु०। ज्येष्ठा, मूलं वा पौर्णमास्यां यत्र स्यात्स ज्येष्ठामूलो मासः। ज्येष्ठमासे, "गिम्हकालसमयम्मि जेट्ठामूलम्मि मासम्मि।" औ०। ओघ०।

जेट्ठामूली-ज्येष्ठामूली-स्त्री०। ज्येष्ठपूर्णमास्याम्, सू० प्र० १० पाहु०। ज०। च० प्र०।

जेट्ठोवग्गह-ज्येष्ठावग्रह-पु०। पर्युषणायाम्, नि० चू० १० उ०।

जेण-जैन-पु०। जिनो देवताऽस्य अण्। जैनधर्मावलम्बिनि अर्हदुपासके, वाच०।

यत्र-अव्य०। यस्मिन्नित्यर्थे, " जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता।" यत्र कामदेव-श्रमणोपासकस्तत्रोपागच्छति स। उपा० २ अ०।

जेणधम्म-जैनधर्म-पु०। आर्हतधर्मे, "आमगोरससंपृक्तं द्विदलं च विवर्जयेत्। द्वाविंशतिरभक्ष्याणि,जैनधर्माधिवासितः।१।" जैनधर्मेणाऽऽर्हतधर्मेणाधिवासितो भाविताऽऽत्मा। ध०१ अधि०।

जेणवत्त [ण्]-जैनवर्त्मन्-न०। जिनोदितमार्गे, 'श्रद्धया जैनवर्त्मना।' द्वा० ८३ द्वा०।

जेणसासण-जैनशासन-न०। जिनोदिते शास्त्रे, "समस्तवस्तुविस्तारे, विसर्पत्तैलवज्जले। जीयाच्छ्रीशासनं जैनं, धीदीपांह्रिविवर्धनम् ॥१॥" उत्त० १ अ०।

जेणसिद्धंत-जैनसिद्धान्त-पु०। जैनाऽऽगमे, "निरस्तकुमतिध्वान्तं-सत्पदार्थप्रकाशकम्। नित्योदयं नमस्कुर्मो, जैनसिद्धान्तभास्करम्" ॥ १ ॥ क० प्र०।

जेणिंदवागरण-जैनेन्द्रव्याकरण-न०। व्याकरणभेदे, कल्प० १ क्षण।

जेणेसर-जैनेश्वर-त्रि०। जिनेश्वराणामयम्। जिनेश्वरसम्बन्धिनि, प्रति०।

जेत्तिअ-यावत्-त्रि०। " इदकिमश्च डेत्तिअ-डेत्तिल-डेद्दहाः" । ८। २। १५७। इति प्राकृतसूत्रेणेदंकिम्भ्यां यत्तदेतद्भ्यश्च परस्यातोर्डवितोर्वा डित् एत्तिअ एत्तिल एद्दह इत्यादेशा भवन्ति, एतल्लुक् च। प्रा० २ पाद। यत्परिमाणे, वाच०।

जेत्तिल्ल-यावत्-त्रि०। यत्परिमाणे, प्रा० २ पाद।

जेत्तुल-यावत्-त्रि०। "अतोर्डेत्तुलः।" ८।४।४३५। इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे यत्तदादेरतोर्डेत्तुल इत्यादेशः। यत्परिमाणे, प्रा० ४ पाद।

जेत्थु-यत्र-अव्य०। " यत्रतत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थ्वत्तु" ॥ ८।४।४०४। इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे यत्रशब्दावयवस्य त्रस्य डित् एत्थु इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद। यस्मिन्नित्यर्थे, वाच०।

जेद्दह-यावत्-त्रि०। यत्परिमाणे, प्रा० २ पाद।

जेप्पि-जित्वा-अव्य०। "एप्प्येप्पिण्वेव्येविणव" ८।४।४४०। इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्य एप्पि एप्पिणु एवि एविणु इत्यादेशाः। प्रा० ४ पाद। जयं कृत्वेत्यर्थे, वाच०।

जेप्पिणु-जेतुम्-अव्य०। "तुम एवमणाणहमणहिं च" ।८।४।४४१। इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे तुमः प्रत्ययस्य एवं, अण, अणहं अणहिं एते चत्वार आदेशा वा पक्षे-एप्पि एप्पिणु एवि एविणु एते चत्वार आदेशाः। प्रा० ४ पाद।

जित्वा-अव्य०। जयं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद।

जेम-भुज-धा०। भक्षणे, " भुजो भुञ्जजिमजेमकम्माण्हसमाणचमढचड्डाः " । ८। ४। ११०। इति प्राकृतसूत्रेण भुजजेमाऽऽदेशः। ' जेमइ '। प्रा० ४ पाद। " पुव्वण्हे साली भुंज्जइ, अवरण्हे जेम्मइ। " आ० म० १ अ० १ खण्ड।

जेमण-जेमन-त्रि०। वटकपूरणाऽऽदिके, "जेमणविहिपरिमाणं करेइ।" जेमनानि वटकपूरणाऽऽदीनि। उपा०१ अ०। उद्वाहाऽऽदिजेमनवारगृहे यथा यतीनां विहर्तुं न कल्पते, तथैकपौषधिकसत्कजेमनवारगृहे, अन्यथा वा?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-विवाहजेमनवारवत्पौषधिकसत्कजमनवारगृहेऽपि मुनीनां विहर्तुं न कल्पत इति। २०४ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

जेमणय-देशी-न०। दक्षिणाङ्गे, दे० ना० ३ वर्ग।

जेमावण-जेमापन-न०। भोजनकारणे, भ० ११ श० ११ उ०।

जेमिणि-जैमिनि-पु०। अन्यतीर्थिके मुनिभेदे, विशे०। सूत्र०। जैमिनिश्चिरतरकालभावी पटुप्रज्ञः सम्यग्वेदार्थस्य परिज्ञाताऽऽसीत्। न०।

जेय-जेय-त्रि०। जेतव्ये, " कह णु जिणमेलिक्खं, जिणमाणा न सविदे। (२२ गाथा) " [जिय त्ति] आर्षत्वाद् जीयते हार्यते आतिरौद्रैरिन्द्रियाऽऽदिभिरात्मा तदिति जेयं, तच्चेह प्रक्रमान्मानुष्यगतिलक्षणम्। उत्त० ७ अ०।

जेया-जेतृ-त्रि०। जयकर्तरि,"जेया ति वा" जेता कर्मरिपूणाम्। भ० २० श० २ उ०। " जेएण परिचित्तियए। " (सूत्र०) " सए मयाइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सइ। " सूत्र०१ श्रु० ३ अ०१ उ०।

जेवडु-यावत्-त्रि०। " वा यत्तदोतोर्डेवडः " ॥८।४।४०७॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे यत्तदित्येतयोरत्वन्तयोर्यावत्तावतोर्वकाराऽऽदेरवयवस्य डित् एवड इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद। यत्परिमाणे, वाच०।

जेवि-जित्वा-अव्य०। ' जेप्पि ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद।

जेविणु-जित्वा-अव्य०। ' जेप्पि शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद।

जेसलमेरु-जयशल्यमेरु पु०। स्वनामख्याते नगरभेदे,ही०३प्रका०।

जेहिल्ल-जेहिल्ल-पु०। वसिष्ठगोत्रोत्पन्ने आर्यनागस्य शिष्ये स्वनामख्याते स्थविरे, "जेहिल च वासिट्ठ।" कल्प०८ क्षण। "थेरस्स णं अज्जनागस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जजेहिले थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगुत्ते। " कल्प० ८ क्षण।

जेह-यादृक्-त्रि०। " यादृक्तादृक्कीदृगीदृशां दादेर्डेहः "। ८। ४। ४०२। इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे यादृग् इत्यादेरादेरवयवस्य डित् एह इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद। यत्सदृशे, वाच०।

जो-द्यो-स्त्री०। द्युत-डो। " द्यय्यर्यां जः "। ८। २। २४। इति प्राकृतसूत्रेण द्यस्य जः। प्रा० २ पाद। स्वर्गे,आकाशे च। वाच०।

ज्यो-धा०। नियमे, उपनये, व्रतोपदेशे च। भ्वादि०-आत्म०-सक०-अनिट्। ज्यवते, अज्योष्ट। वाच०।

ज्योक्-अव्य० । ज्यो-को-कि० । सप्रत्यर्थे, कालभूयस्त्वे, शीघ्रतायाम्, प्रश्ने च । वाच० ।

जोअण-न० । देशी-लोचने, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोइगण-पुं० । देशी-इन्द्रगोपे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोइ-ज्योतिस्-पुं० । द्योतते द्युत्यतेऽनेन वा द्युत्-इसुन् । आदेर्दस्य ज । सूर्ये, अग्नौ, वाच० । "रूपमल व जोइणा।" ज्योतिषाऽग्निना । आचा० २ श्रु० १६ अ० । दश० । स्था० । अ० । सूत्र० । " सप्पो जहा परिय जोइमज्झे ।" सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । स्था० । " किं माहणा जोइसमारभंता । " उत्त० १६ अ० । "के ते जोई, के य ते जोइट्ठाणा।" किं ज्योति कोऽग्नि । उत्त० १६ अ० । विपा० । ज्वलदग्नौ, ज्योतिष एवाऽऽधारो ज्वलदग्नि । आह च चूर्णिकृत्-" जोइ त्ति मल्लगाइठिओ अगणी जलतो त्ति ।" न० । प्रकाशस्वभावे प्रदीपाऽऽदिके, पो० १५ विव० । "जहा हि अंधे सह जोइणा वि ।" ज्योतिषा प्रदीपाऽऽग्निनाऽपि सह वर्तमानो न पश्यति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । " समारम्भेण जोइणा क्रियायमाणाण ।" सूत्र० २ श्रु० २ अ० । "दुविहो य होइ जोई, असंवराई य संवराई य ।" नि० चू० १६ उ० । ज्योतिरग्निकथादृष्टौ, तद् द्विविधम्-असांवरात्रिकम्-कियतामपि रात्रि यत् प्रज्वलति । तद्विपरीत सांवरात्रिकम् । उभयोरपि तिसृणा (गीतार्थाना) चतुर्लघुका । बृ० २ उ० । स्वर्गे, विशे० । आ० म० । ज्योतिरग्नि, तत्कार्यकारिणि कल्पवृक्षभेदे, स० १० सम० । मेथिकावृक्षे, वाच० । ज्योतिरिव ज्योति । सम्यग्ज्ञाने, आदित्याऽऽदिप्रकाशे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । सूत्र० । नेत्रकनीनिकामध्यस्थे दर्शनसाधने पदार्थे, नक्षत्रे, स्वयंप्रकाशे, सर्वावभासके चैतन्ये, वाच० । ग्रहनक्षत्रतारकाऽऽदिके, च० प्र० । ज्योतींषि ग्रहनक्षत्रतारका इति । च० प्र० १ पाहु० । आव० । प्रश्न० । ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्रतारकाणां ज्योतिषां ज्योतिश्चक्रलक्षणे विमानविशेषे, स० । तत्प्रतिपादके ज्योतिषामयने शास्त्रभेदे, नि० ३ वर्ग ३ अ० । तद्रूपे द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे च । न० । कल्प० ७ क्षण । ज्योतिरेव ज्योति । उपार्जितज्ञाने, प्रसिद्धि प्राप्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । सत्कर्मकारितयोज्ज्वलस्वभावे च । त्रि० । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

योगिन्-पुं० । योगोऽस्य विद्यते इति योगी । न० । योगबलसम्पन्ने, षो० १५ विव० । योगिनो योगभाज इति । द्वा० २८ द्वा० । योगाभ्यासपरे, यो० बि० । दिव्यदृष्टा, यो० बि० । मनोवाक्कायरोधके, अष्ट० ७ अष्ट० । योगो धर्म शुक्लध्यानलक्षणं स येषां विद्यते इति योगिन । साधौ, आव० ४ अ० । " सम्यक्त्वज्ञानचारित्र-योग सद्योग उच्यते । एतद्योगाद्धि योगी स्यात् परमब्रह्मसाधक ॥ १ ॥" एतदाकारे साधकभेदे, प० सू० ४ सप्त द्वा० । रत्नत्रयरूपमोक्षोपायिनि, अष्ट० ७ अष्ट० ।

तत्रोपाय च नवधा, योगिवृन्दप्रदर्शनात् । [३१]

नत्र मुक्तिमार्गे उपाय च, नवधा नवभि प्रकारैर्योगिवृन्दस्य प्रदर्शनादुपवर्णनात् । तथाहि-मृदूपायो मृदुसंवेगो, मध्योपायो मृदुसंवेग, अध्युपायो मृदुसंवेगो, मृदूपायो मध्यसंवेगो, मध्योपायो मध्यसंवेग, अध्युपायो मध्यसंवेग, मृदूपायोऽधिसंवेग, मध्योपायोऽधिसंवेग, अध्युपायोऽधिसंवेगश्चेति नवधा योगिन इति योगाचार्या । द्वा० १२ द्वा० । तीर्थंकरे, गीतार्थे च । बृ० ।

गीतार्थमधिकृत्य-

कत्ता इव सो कत्ता, एवं जोगी वि नायव्वो ।

कर्ता इव तीर्थंकर इवाकोपनीयत्वात् कर्ता द्रष्टव्य । एवं योग्यपि ज्ञातव्यः । किमुक्तं भवति ?--यथा तीर्थकरः प्रशस्तमनोवाक्काययोग प्रयुञ्जानो योगी भण्यते, एव गीतार्थोऽप्युत्सर्गापवादवलवेत्ताऽपवादक्रियां कुर्वाणोऽपि प्रशस्तमनोवाक्काययोग प्रयुञ्जानो योगीव ज्ञातव्य । बृ० १ उ० । अध्यात्मशास्त्रानुष्ठायिनि अन्यतीर्थिके परिव्राजकभेदे, औ० । युज-घिनुण् । सयोगवति, त्रि० । वाच० ।

जोइअ-पुं० । देशी-खद्योते, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोइअंग-ज्योतिरङ्ग-पुं० । ज्योतिरग्नि, तत्र च सुषमसुषमायामग्नेरभावाद् ज्योतिरवयवस्तु सौम्यप्रकाशमिति भावः। तत्कारणत्वाज्ज्योतिरङ्ग । सुषमसुषमाभवे ज्योतिषिके कल्पवृक्षभेदे, स्था० १० ठा० । ति० । ज्योतिषिकाः सूर्यमण्डलमिव स्वतेजसा सर्वमप्यवभासयन्त सन्तीति । त० ।

जोइउवगूढ-ज्योतिरुपगूढ-त्रि० । ज्योतिषाऽग्निनोपगूढः समालिङ्गित । अग्निनोपगूढे जतुकुम्भे, " जोइउवगूढे ।" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

जोइक्ख-पुं० । देशी-दीपे, ' जोइक्ख ' शब्दश्च देश्यो दीपे वर्तते । प्रश्न० ४ द्वार । दे० ना० । ' जोइक्खो ' नाम दीप । " जोइक्ख तह ज्वाइलय च दीव मुणेज्जाहि ।" व्य० ७ उ० ।

जोइजसा-ज्योतिर्यशस-स्त्री० । कौशाम्बीनगरस्थाया स्वनामख्यातायां वत्सपालिकायाम्, आव० ४ अ० ।

जोइट्ठाण-ज्योतिःस्थान-न० । अग्निस्थाने, न० । "के ते जोई के य ते जोइट्ठाणा ।" उत्त० । ज्योति-स्थान यत्र ज्योतिर्निधीयते । उत्त० १२ अ० ।

जोइणाण-योगिज्ञान-न० । सकलातीतानागतापद्यार्थसाक्षात्कारिणि, सम्म० २ काण्ड । समाधिविशेषवन्तरावबोधे, षड्० १६ विव० । योगिज्ञानस्य सकलातीतानागतापद्यार्थसाक्षात्कारिणोऽतीतानागततत्पदार्थाभावेऽपि भवाभ्युपगमात् । सम्म० २ काण्ड ।

जोइणाह-योगिनाथ-पुं० । तीर्थंकरे, द्वा० १५ द्वा० ।

जोइणीपट्टण-योगिनीपत्तन-न० । पुरभेदे, अष्टापदकल्पमधिकृत्य-" ग्रन्थोऽय परिपूर्णतामभजत श्रीयोगिनीपत्तने ।" ती० ४७ कल्प ।

जोइवल-ज्योतिर्बल-त्रि० । ज्योतिर्ज्ञान बल यस्य, आदित्याऽऽदिप्रकाशो वा ज्योति, तदेव तत्र वा बल यस्य स तथा । सदाचारवति ज्ञानवति, दिनचारिणि च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जोइवलपज्जलण-ज्योतिर्बलप्रज्वलन-त्रि० । ज्योतिर्बलेन ज्ञानबलेन प्रकाशबलेन वा प्रज्वलति दर्पितो भवत्यवष्टम्भ करोति य स तथा । ज्ञानवति, प्रकाशचारिणि च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जोइवलपरज्जण ज्योतिर्बलपरञ्जन-त्रि० । ज्योति सम्यग्ज्ञानम्, आदित्याऽऽदिप्रकाशो वा ज्योति, तदेव तत्र वा बल यस्य स तथा । सदाचारवति, दिनचारिणि च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जोइवलपलज्जण-ज्योतिर्बलप्रलज्जन-त्रि० । ज्योतिर्बलेन ज्ञानबलेन प्रकाशबलेन वा सञ्चरन् प्रलज्जते इति ज्योतिर्बलप्रलज्जन । मिथ्याज्ञानिनि, अन्धकारचारिणि च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

जोइबुद्धि-योगिबुद्धि-स्त्री० । समाधिविशेषवन्नरावबोधे, " निरुवाए जोगिबुद्धीए।" योगिबुद्ध्या समाधिविशेषवन्नरावबोधेन योगिन एव अध्यात्मिकार्थविवेचनचतुरचेतसो भवन्तीति । पञ्चा० १७ विव० ।

जोइजंग-ज्योतिर्जाएड-न० । अग्निभाजने, " जोइज्जंगोवरागो विव मुहरागघिरागाओ । " तं० ।

जोइभूय-ज्योतिर्भूत-त्रि० । ज्योतिर्मये जाते, " तत्त समजोइभूय " समा तुल्या ज्योतिषा वह्निना भूता जाता या सा तथा। विपा० १ श्रु० ४ अ० । स्था० । " त जोइभूय च सया वसेज्जा । " ज्योतिर्भूत यदर्थप्रकाशकतया चन्द्राऽऽदित्यप्रदीपककल्पम् । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

जोइमंत-ज्योतिष्मत्-पु० । ज्योतिरस्त्यस्य मतुप् । सूर्ये, प्लक्षद्वीपस्थे पर्वतभेदे च । लताभेदे, रात्रौ, योगशास्त्रोक्ते चित्तवृत्तिभेदे च । स्त्री० । ङीप् । वाच० । तैलविधान तिलाऽतसीसर्षपेङ्गुदीज्योतिष्मतीकरञ्जाऽऽदिनिर्गतेति । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । ज्योतिर्युक्ते, त्रि० । वाच० ।

जोइमय-ज्योतिर्मय-त्रि० । ज्ञानमये, आ० म० १ अ० २ खण्ड । प्रकाशमये, "ज्योतिर्मयीव दीपस्य, क्रिया सर्वाऽपि चिन्मयी ।" अष्ट० १३ अष्ट० ।

जोइय-यौगिक-त्रि० । शब्दभेदे, प्रश्न० । यौगिक यदेतेषामेव नामाऽऽख्यातोपसर्गतद्धितसमाससन्धिपदानामेव द्व्यादिसयोगवद् यथोपकरोति सेनयाऽभियात्यभिषेणयतीति । प्रश्न० २ सम्ब० द्वार ।

योजित-त्रि० । उपनीते, पञ्चा० १५ विव० । सबन्धिते, औ० । व्य० ।

जोइर-न० । देशी-स्खलिते, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोइस-ज्योतिष-त्रि० । ज्योतिराधिकृत्य कृतो ग्रन्थ तेन० न०-वृद्धिः ज्योतिषमप्यत्र । वाच० । ज्योति शास्त्राऽऽत्मके वेदाङ्गभेदे, आव० ३ अ० । आ० म० । उत्त० । ज्योतिश्चक्रे, कल्प० १ क्षण । " जे गहा जोइसम्मि चार चरति । " प्रज्ञा० ३ पद । ज्योतिष्कलक्षणे विमानविशेषे, स० । नक्षत्रे, दे० ना० ३ वर्ग ।

ज्यौतिष-पु० । ज्योतिश्चक्रेभवा ज्यौतिषा । ज्योतिश्चक्रस्थिते सूर्याऽऽदिके देवभेदे, पुं० । पञ्चा० २ विव० । ज्ञा० ।

जोइसंगविउ-ज्योतिषाङ्गविद्-त्रि० । ज्योतिष ज्योतिष्क ज्योति शास्त्रमङ्गानि च विदन्ति ये ते ज्योतिषाङ्गविद । ज्योतिःशास्त्रस्य, शिक्षाऽऽद्यङ्गानां च वेत्तरि, उत्त० २ अ० ।

जोइसंचाल-ज्योतिःसंचाल-पु० । ज्योतिष तारकरूपस्य सचारः । "तारका ण तिहिं ठाणेहिं ताराचले चरेज्जा । " इत्यादिना सूत्रेण प्रतिपादित सचालने, स० ३ अङ्ग ।

जोइसंत-ज्योतिषान्त-पु० । ज्योतिश्चक्रस्य पर्यन्ते, स० ।

तत्प्रमाण यथा-

लोगंताओ णं इक्कारसएहिं एक्कारेहिं जोयणसएहिं अबाहाए जोइसंते पण्णत्ते ।

'लोकान्ताद्, णमित्यलङ्कारे, एकादश शतानि (एकारे त्ति) एकादशयोजनाधिकानि अबाधया बाधारहितया, कृत्वेति शेष । (जोतिसने त्ति) ज्योतिश्चक्रपर्यन्तः प्रज्ञप्त इति । स० ११ सम० ।

जोइसकरंडय-ज्योतिष्करण्डक-न० । सूर्यप्रज्ञप्ति उद्धृते ज्योतिषां प्रतिपादके प्रकरणग्रन्थभेदे, ज्यो० ।

तथा च ज्योतिष्करण्डक विवृण्वन्नाह मलयगिरिः-

" सम्यग् गुरुपदाम्भोज-पर्युपास्तिप्रसादतः ।
ज्योतिष्करण्डक व्यक्त, विवृणोमि यथागमम् " ॥ १ ॥
ज्यो० १ पाहु० ।

ज्योतिष्करण्डकेऽर्थाधिकाराश्च-

कालपमाणं माणं निप्फत्ती, अहिगमासगस्स चिय ।
वोच्छामि ओमरत्तं, पव्वतिहीणं समत्तिं च ॥
णक्खत्तपरिमाणं, परिमाणं वा वि चंदसूराणं ।
नक्खत्तचंदसूरा-ण गई नक्खत्तजोगं च ॥
मंडलविभागमयणं, आउट्टी मंडले मुहुत्तगई ॥
उउ विसुव वईवाए, तावं वड्ढी च दिवमाण ॥
अवमासपुण्णमासी, पणट्ठपव्वं च पोरिसिं वा वि ।
ववहारनयमएणं, तं पुण सुण मे अणण्णमणे ॥

'इह सूर्यप्रज्ञप्तिसत्का अधिकारा एकविंशतिरूपप्राभृतनिबद्धाः, तत्र प्रथमेऽधिकारे कालस्य समयाऽऽदेर्यद्दिकापर्यन्तस्य प्रमाण वक्ष्ये, द्वितीये मान प्रमाण संवत्सराणाम्, तृतीये अधिकमासस्य निष्पत्तिम्, तदनन्तर चालपवक्तव्यत्वाद् गाथोक्त क्रममुल्लङ्घ्य चतुर्थे पर्वतिथिसमाप्तिं वक्ष्ये, पञ्चम अवमरात्रम, गाथाया चान्यथा निर्देश छन्दोवशात् । तत षष्ठे नक्षत्राणा सस्थानाऽऽदिपरिमाण,वक्ष्यामि, सप्तमे चन्द्रसूर्यपरिमाण, अष्टमे चन्द्रसूर्यनक्षत्राणा गतिम, नवमे नक्षत्रयोगम, दशमे जम्बूद्वीपे चन्द्रसूर्याणा मण्डलविभागम, एकादशे अयनम, द्वादशे आवृत्तिम, त्रयोदशे चन्द्रसूर्यनक्षत्राणा मण्डले मण्डले मुहूर्त्तगतिपरिमाणम, चतुर्दशे ऋतुपरिमाणम, पञ्चदशे विषुवाणि, षोडशे व्यतीपातान्, सप्तदशे तापक्षेत्रम, अष्टादशे दिवसाना वृद्ध्यपवृद्धी, एकोनविंशतितमे अमावास्यापौर्णमासीवक्तव्यताम, विंशतितमे प्रनष्ट पर्व, एकविंशतितमे पौरुषीम । एतांश्च एकविंशतिसख्यानप्यर्थाधिकारान् वक्ष्ये व्यवहारनयमतेन,निश्चयनयमतेन हि कलाकलांशप्रतिकलाशगणनया परमार्थत परमश्लनिदो बुध्यन्ते,न शेषाः। न च तथा कथ्यमानाना श्रोतॄणाम अञ्जसाऽवगमपथमृच्छति। ततो व्यवहारनयमतेन योजनगव्यूत कतिपयकलाकलांशप्रविभागरूपेण वक्ष्ये, तच्च तथा मे कथयतो भवानवहितमनस्को भूत्वा शृणु, तदत्र निर्दिष्टा अर्थाधिकारा. । ज्यो० १ पाहु० ।

जोइसगणराय-ज्योतिर्गणराज-पु० । ज्योतींषि ग्रहनक्षत्रताराणि तेषां गण समूहस्तस्य राजाऽधिपतिर्ज्योतिर्गणराज । चन्द्रे, सूर्ये च । चं० प्र० १ पाहु० ।

जोइसचक्क-ज्योतिश्चक्र-न० । चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्राऽऽत्मके ज्योतिषा चक्रे, ज्यो० १ पाहु० । " एक्कार एकवीसा, सयएक्कारा हिया य एक्कारा । मेरु अलोगाबाहे, जोइसचक्क चरइ ठाइ" ॥ १ ॥ स० ११ सम० ।

तत्स्वरूप यथा—

**लोगाणुभावजणियं, जोइसचक्कं भणंति अरिहंता ।
सव्वे कालविसेसा, जस्स गइविसेसनिप्फन्ना ॥**

यस्य ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रसूर्यनक्षत्राऽऽदिरूपस्य सम्बन्धिना, गतिविशेषेण निष्पन्नाः, सर्वे कालविशेषाश्चन्द्रमाससूर्यमासनक्षत्रमासाऽऽदिका, तद् ज्योतिश्चक्रं लोकानुभावजनितमनादिकालसन्ततिपतिततया शाश्वतं वेदितव्यम्, नेश्वराऽऽदिकृतमिति भणन्ति प्रतिपादयन्ति, भगवन्तोऽर्हन्त । तीर्थकृतां च वचनमवश्यं प्रमाणयितव्यं, क्षीणसकलदोषतया तद्वचनस्य वितथार्थत्वाभावात् । उक्तं च–" रागाद् वा द्वेषाद् वा, मोहाद् वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषा-स्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ?" ॥१॥ अपि च-युक्त्याऽपि विचार्यमाणो नेश्वराऽऽदिर्घटां प्राञ्चति, ततस्तदभावादपि ज्योतिश्चक्रं लोकानुभावजनितमवसेयम् । यथा च युक्त्या विचार्यमाणो नेश्वराऽऽदिर्घटते, तथा तत्त्वार्थटीकाऽऽदौ विजृम्भितमिति तत एवावधार्यम् । ज्यो० १ पाहु० । (ज्योतिश्चक्रं मेरुं कियत्या अबाधया चरतीति ' अबाहा ' शब्दे प्रथमभागे ६८२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

द्वीपवन्दिरसहक्कृतप्रश्नेषु-जम्बूद्वीपगतमेरोः परितो यथैकविंशत्यधिकैकादशशतयोजनान्यबाधां कृत्वा ज्योतिश्चक्रं भ्राम्यति, तथाऽन्यद्वीपगतमेर्वोरपि कियतीमबाधां कृत्वा भ्रमति? इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र जम्बूद्वीपगतमेरोः परितो यथैकविंशत्यधिकैकादशशतयोजनान्यबाधां कृत्वा ज्योतिश्चक्रं भ्रमति, तथैवान्यद्वीपगतमेर्वोरपीति सम्भाव्यते, शास्त्राक्षराणि तु व्यक्ततया दृष्टानि न स्मर्यन्ते, इति । १२३० । ही०४ प्रका० ।

जोइसपह–ज्योतिष्पथ–पुं० । ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्ररूपाणां ज्योतिषां ज्योतिष्कलक्षणविमानविशेषाणां, ज्योतिषो वा दीपाऽऽदेः पन्था ज्योतिष्पथः । ज्योतिष्कदेवानां मार्गे, अग्नेर्मार्गे च । स० ।

ज्योतिष्प्रभ-त्रि० । ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्ररूपाणां ज्योतिषां ज्योतिष्कलक्षणविमानविशेषाणां, ज्योतिषो वा दीपाऽऽदेः प्रभा प्रकाशो यस्मिन् । ज्योतिष्कदेवसदृशप्रभे, अग्निसदृशप्रभे च । स० ।

जोइसमुहमंडग–ज्योतिषमुखमण्डक–पुं० । सूर्ये, कल्प० १ क्षण ।

जोइसराय–ज्योतिष्कराज–पुं० । ज्योतींषि ग्रहनक्षत्रतारकाणि तेषां राजाऽधिपतिर्ज्योतिष्कराजः । चन्द्रे, सूर्ये च । च० प्र० । " जोइसरायस्स पन्नत्ति । " (४ गाथा) ज्योतिष्कराजस्य चन्द्रमसः । च० प्र० १ पाहु० । स्था० । सू० प्र० ।

जोइसामयण–ज्योतिषामयन–न० । ज्योतिःशास्त्राऽऽत्मके वेदाङ्गभेदे, औ० । आ० चू० । कल्प० । अनु० ।

जोइसालय–ज्योतिरालय–पुं० । ज्योतिरालयो गृहं येषां ते ज्योतिरालयाः । ज्योतिष्कदेवेषु, " पचहा जोइसालया । " उत्त० ३६ अ० ।

जोइसिंद–ज्योतिष्केन्द्र–पुं० । सूर्ये, चन्द्रे च । स्था० ६ ठा० । " चंदिमसूरिया य एत्थ दुवे जोइसिंदा जोइसियरायाणो परिवसति । " च० प्र० १ पाहु० ।

जोइसिण–ज्यं. [ज्यौ] त्स्न-पुं० । ज्योत्स्नाऽन्विते शुक्ले पक्षे, ज्यो० ४ पाहु० ।

जोइसिणा–ज्योत्स्ना–स्त्री० । ज्योतिरस्त्यस्या न., उपधालोपश्च । "सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः" । ८ । २ । ७५ । इति प्राकृतसूत्रेण स्नस्य ण्हो वा । प्रा० २ पाद । कौमुद्यां, चन्द्रकिरणे च । वाच० । ' जोइसिणाइ ' स्था० २ ठा० ४ उ० ।

जोइसिणापक्ख–ज्योत्स्नापक्ष–पुं० । ज्योत्स्नाप्रधानः पक्षो ज्योत्स्नापक्षः । शुक्लपक्षे, च० प्र० १५ पाहु० । सू० प्र० ।

जोइसिणाभा–ज्योत्स्नाभा–स्त्री० । चन्द्रस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । ज्यो० । स्था० । सू० प्र० । च० प्र० ।

जोइसिय–ज्योतिषिक–पुं० । सूर्याऽऽदिके ज्योतिश्चक्रस्थिते देवभेदे, प्रज्ञा० २ पद । पञ्चा० । उत्तरकुरुषु भवे स्वनामख्याते द्रुमगणे, तत्र प्रदेशे बहवो ज्योतिषिका नाम द्रुमगणाः । जी० ३ प्रति० ।

विषयसूची–

(१) 'जोइसिय' शब्दस्यानुवादान्तरव्युत्पत्तिवाच्यार्थान्तरप्रदर्शनम् ।
(२) ज्योतिष्काणां पञ्चविधत्वप्ररूपणम् ।
(३) मनुष्यक्षेत्रवर्तिनां मानुषोत्तरपर्वतात् स्वयम्भूरमणसमुद्रावधिकानां च ज्योतिष्काणां चलत्वस्थिरत्वविचारः ।
(४) प्रसङ्गतो मनुष्यक्षेत्रं निरूप्य स्फुटं ज्योतिष्काणां चलत्वस्थिरत्वानुदर्शनम् ।
(५) सर्वलोके प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चन्द्राऽऽदीनां परिमाणप्रतिपादनार्थमन्यतीर्थिकानां द्वादशप्रतिपत्तिरूढान्य भगवत्सिद्धान्तनिरूपणम् ।
(६) जम्बूद्वीपगतचन्द्राऽऽदिसङ्ख्यासंग्राहिके गाथे ।
(७) मनुष्यक्षेत्रगतचन्द्रसूर्याऽऽदीनां सङ्ख्यापरिमाणकथनम् ।
(८) चन्द्रसूर्यनक्षत्रताराग्रहाणां पिटकवक्तव्यतायां पिटकप्रमाणनिरुक्ति ।
(९) मनुष्यक्षेत्रगतचन्द्रसूर्यपङ्क्त्यो यावत्यो यथा च स्थितास्तन्निर्वचनम् ।
(१०) " नक्षत्राणां पङ्क्तिप्ररूपणा ।
(११) " ग्रहाणां पङ्क्तिनिर्देशः ।
(१२) चन्द्राऽऽदयो यत्र यथा भ्रमन्ति तन्निरूपणम् ।
(१३) चन्द्राऽऽदित्यग्रहगणमण्डलानामन्यमण्डलसंचारित्वेनानवस्थितत्वं, नक्षत्रतारामण्डलानां तु मेरुमभितः सदाऽवस्थितत्वम् ।
(१४) चन्द्रसूर्ययोर्मण्डलस्थानादूर्ध्वमधश्च सङ्क्रमणवक्तव्यता ।
(१५) चन्द्रसूर्यनक्षत्रमहाग्रहाणां चारविशेषेण मनुष्याणां सुखदुःखविधिं प्रतिपाद्य, दीक्षाऽऽदिशुभकार्याणि शुभतिथ्यादावेव विधेयानीति जिनाऽऽज्ञानिर्वचनम् ।
(१६) चन्द्रसूर्ययोस्तापक्षेत्रं यथा वर्धते हीयते वा तदुपपादनम् ।
(१७) तेषामेव तापक्षेत्रसंस्थानस्य वर्णनम् ।
(१८) मनुष्यक्षेत्रमध्ये चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराणां चारोपगत्वं विविच्य तेषामेव मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्गत्यभावोद्घाटनम् ।
(१९) प्रतिद्वीपं चन्द्राऽऽदिसङ्ख्याविवेचनम् ।
(२०) प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च ग्रहनक्षत्रतारापरिमाणपरिज्ञानोपायः ।

(२१) मानुषोत्तरपर्वतस्य बहिः चन्द्रसूर्याणां तेजांस्यवस्थितान्येव, तथाऽभिजिता चन्द्रा पुष्येण च सर्वे-देव युक्ताः सूर्या भवन्तीति प्रतिपादनम् ।
(२२) मनुष्यक्षेत्रबहिर्गतचन्द्रसूर्याणां पङ्क्त्यवस्थानोपपत्तिः ।
(२३) मनुष्यक्षेत्रस्यान्तर्बहिश्च चन्द्राऽऽदीनां देवानामूर्ध्वोपपन्नत्वकल्पोपपन्नत्वविमानोपपन्नत्वाऽऽदिविचारः ।
(२४) चन्द्रसूर्ययोश्च्यवनोपपातवक्तव्यतायां परतीर्थिकप्रतिपत्तिनिराकरणपूर्वकं भगवन्मतप्रदर्शनम् ।
(२५) पुष्करोदाऽऽदिषु द्वीपसमुद्रेषु चन्द्राऽऽदिसंख्याव्याहारः ।
(२६) चन्द्रसूर्ययोः परिवारकथनम् ।
(२७) चन्द्राऽऽदीनां यादृशोऽनुभावस्तत्प्रतिपाद्य तद्विषयेऽन्यतीर्थिकानां प्रतिपत्तीरुदस्य भगवत्सिद्धान्तवर्णनम् ।
(२८) चन्द्रसूर्ययोः संस्थितिविषये परतीर्थिकानां षोडशप्रतिपत्तिप्रदर्शनानन्तरं भगवन्मतोपन्यासः ।
(२९) चन्द्राऽऽदित्यचारवचनम् ।
(३०) चन्द्रसूर्याऽऽदीनां भूमेरूर्ध्वमुच्चत्वप्रमाणप्रतिपादने परेषां पञ्चविंशतिप्रतिपत्तीरुद्भाव्य भगवदभिप्रायप्रकटनम् ।
(३१) चन्द्रसूर्याणां क्षेत्रापेक्षयाऽधस्तनाः, समश्रेणिव्यवस्थिता वा ताराररूपविमानाधिष्ठातारो देवा द्युतिविभवाऽऽदिकमपेक्ष्य चन्द्रसूर्याभ्यां केचिदणव केचित्तुल्या इति प्रपञ्चः ।
(३२) नक्षत्रमण्डलिकामपेक्ष्य सर्वाभ्यन्तरचारित्वमभिजिन्नक्षत्रस्य मूलाऽऽदीनां सर्वबाह्यचारित्वं स्वातिनक्षत्रस्य सर्वोपरिचारित्वं भरणीनक्षत्रस्य सर्वाधश्चारित्वमिति प्रतिपादनविस्तरः ।
(३३) चन्द्रसूर्यौ वा कियत् क्षेत्रं प्रकाशयतीति विचारे द्वादश प्रतिपत्तीरितरेषां व्युदस्य भगवत्सिद्धान्तोक्तिः ।
(३४) चन्द्राऽऽदीनां जम्बूद्वीपे चारक्षेत्रविष्कम्भमानम् ।
(३५) ज्यौतिष्काणामल्पबहुत्वम् ।
(३६) चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराणां मध्ये यो यस्मात् शीघ्रगतिस्तन्निरूपणम् ।
(३७) ज्यौतिष्काणामेकमुहूर्ते यावती गतिस्तन्निरुक्तिः ।
(३८) चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां परस्परं मण्डलभागविषयाविशेषनिर्धारणम् ।
(३९) ग्रहमधिकृत्य योगचिन्ता ।
(४०) सूर्येण सह नक्षत्रस्य योगचिन्तनम् ।
(४१) सूर्येण सह ग्रहस्य योगविचारः ।
(४२) चन्द्राऽऽदयो नक्षत्रेण (समासेन) यावन्ति मण्डलानि चरन्ति तदुपपत्तिः ।
(४३) चान्द्रमासे यावन्ति मण्डलानि चन्द्राऽऽदयश्चरन्ति तत्संख्यान्कीर्तनम् ।
(४४) ऋतुमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलचारवर्णनम् ।
(४५) सूर्यमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलचारविवेकः ।
(४६) अभिवर्धितमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलचारोपपादनम् ।
(४७) एकेनाहोरात्रेण चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं यावन्ति मण्डलानि चरन्ति तत्समथनम् ।
(४८) एकैकं परिपूर्णमण्डलं चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं यावद्भिरहोरात्रैश्चरन्ति तदुपवर्णनम् ।
(४९) युगे चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं यावन्ति मण्डलानि चरन्ति तत्परामर्शः ।
(५०) ज्यौतिष्कदेवानां गतिविशेषविषये द्वे संग्रहगाथे ।
(५१) चन्द्रसूर्यनक्षत्रताराणामल्पर्द्धिकत्वमहर्द्धिकत्वप्रतिपादनम् ।

(१) ज्योतिषिज-पु० । " ह्रस्वदन्तात् सप्तम्याः सञ्ज्ञायाम् " ॥ ६ । ३ । ९ ॥ इति (पाणि०) सूत्रेण सप्तम्या अलुक् । वाच० । ज्योतिश्चक्रे जाते ज्योतिषिज । ज्योतिश्चक्रजाते देवभेदे, पञ्चा० २ विव० ।

ज्योतिष्क-पु० । ज्योतिरिव, इवार्थे कन् । चित्रकवृक्षे, मेथिकाबीजे, गणिकारीवृक्षे च । स्वार्थे कन् । वाच० । द्योतन्ते इति ज्योतींषि विमानानि, तन्निवासिनो ज्योतिष्काः । उत्त० २ अ० । ग्रहनक्षत्राऽऽदिषु, ब० व० वाच० । ज्योतिष्षु नक्षत्रेषु भवा ज्योतिष्का, शब्दव्युत्पत्तिरेवेयं, प्रवृत्तिनिमित्ताऽऽश्रयणात्तु चन्द्राऽऽदयो ज्योतिष्का इति । स्था० २ ठा० ३ उ० । सूत्र० । ज्ञा० । च० प्र० । ज्योतिष्मतीलतायाम्, स्त्री० । मेरोः शृङ्गान्तरे, वाच० । गणितप्रतिपादके ज्योतिःशास्त्रे च । न० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

ज्यौतिषिक-पु० । ज्योतिष शास्त्रं वेत्त्यधीते वा ठक् । दैवज्ञे, वाच० । ज्योतिश्चक्रे भवो ज्योतिषिकः, स एव ज्यौतिषिकः । ज्योतिश्चक्रभवे देवभेदे, पञ्चा० १ विव० ।

ज्यौतिष्क पु० । ज्योतिष्कदेवानां निवासभूते देवलोकभेदे, भ० ५ श० १० उ० । ज्योतींषि विमानविशेषाः, तेषु भवा ज्यौतिष्काः । ज्योतिश्चक्रभवे देवभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

(२) ते च पञ्च-" पंचविहा जोइसिया पण्णत्ता । तं जहा-चंदा सूरा गहा णक्खत्ता तारा । " स्था० ५ ठा० १ उ० ।

(३) चंदा १ सूरा य २ गहा ३, नक्खत्ता४तारया य५पंच इमे।
एगे चल जोइसिया, घंटायारा थिरा अवरे ॥१४७॥

चन्द्राः, सूर्याः, ग्रहाः, नक्षत्राणि, तारकाश्चेत्येवं पञ्च ज्योतिष्कभेदा भवन्ति । तत्र चैके मनुष्यक्षेत्रवर्तिनो ज्योतिष्काश्चला मेरोः प्रादक्षिण्येन सर्वकालं भ्रमणशीलाः, अपरे पुनर्ये मानुषोत्तरपर्वतात् परेण स्वयम्भूरमणसमुद्रं यावद्वर्तन्ते ते सर्वेऽपि स्थिराः सदाऽवस्थानस्वभावाः, अत एव घण्टाकाराः अचलधर्मकत्वेन घण्टावत् स्वस्थानस्था एव तिष्ठन्तीत्यर्थः । प्रव० १६४ द्वार । च० प्र० । उत्त० । दश० ।

(४) प्रथमतो मनुष्यक्षेत्रं प्ररूपयति-
जंबूदीवो लवणो-दही य दीवो य धायईसंडं ।
कालोदाईपुक्खरवर-दीवद्धो माणुसं खेत्तं ॥

प्रत्यक्षेण उपलभ्यमानः प्रथमो जम्बूद्वीपः, ततः सर्वतस्तत्परिक्षेपी लवणोदधिः, ततोऽपि परतः सामस्त्येन लवणोदधिपरिक्षेपी धातकीखण्डो द्वीपः, तस्यापि सर्वतः परिक्षेपी कालोदधिसमुद्रः, ततोऽपि परतः सर्वतस्तत्परिक्षेपि पुष्करवरद्वीपस्यार्द्धम् । एते जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करवरद्वीपार्द्धरूपाः द्वीपाः, द्वौ च लवणोदधिकालोदधिरूपौ समुद्रौ, मानुषं क्षेत्रं-मनुष्याणामुत्पत्तिमरणस्य च भावात् । अस्मिंश्च मानुषे क्षेत्रे समा विभागाः कालविभागाः

सुषमसुषमाऽऽदयो भवन्ति, ततो मनुष्यक्षेत्रात्परतः सर्वमपि देवारण्य देवाना क्रीडास्थान, तत्र जन्मतो मनुष्या, नापि तत्र कोऽपि कालविभाग इत्यर्थ ।

एतदेव स्पष्टयन्नाह-

एतं माणसखित्त, एत्थ विचारीणि जोइसगणाणि ।
परतो दीवसमुद्दे, अवट्टियं जोइसं जाण ॥

एतत् अनन्तरोदितस्वरूप मानुष क्षेत्रम्, अस्मिंश्च मनुष्यक्षेत्रे, विचारीणि विचरणशीला ज्योतिष्कगणाश्चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारागणा'। सूत्रे च नपुंसकता प्राकृतत्वात् । परतो मनुष्यक्षेत्रस्य बहि, शेषेषु द्वीपसमुद्रेष्ववस्थितमवस्थानशील ज्योतिश्चक्र जानीहि । ज्यो० ६ पाहु० ।

(५) सम्प्रति प्रतिद्वीप प्रतिसमुद्र चन्द्राऽऽदीनां परिमाणप्रतिपादनाय कति चन्द्रसूर्या सर्वलोके आख्याता. ?

इति, ततस्तद्विषय प्रश्नसूत्रमाह-

ता कति णं चंदिमसूरिया सव्वलोय ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति आहिता ति वदेज्जा ॥

(ता कति णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । कति किंप्रमाणा, 'ण' इति वाक्यालङ्कारे, चन्द्रसूर्या सर्वलोके अवभासन्ते अवभासमाना, उद्द्योतयन्त प्रकाशयन्त आख्याता इति वदेत् ।

एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावत्य. प्रतिपत्तयस्तावतीरुप-

दर्शयति-

तत्थ खलु इमाओ दुवालसपडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थेगे एवमाहंसु-ता एगे चंदे एगे सूरे सव्वलोयं ओभासेति, उज्जोएति, तवेति, पभासेति, एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु-ता तिण्णि चंदा तिण्णि सूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, एगे एवमाहंसु २। एगे पुण एवमाहंसु-ता आउट्टिं चंदा आउट्टिं सूरा सव्वलोअं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, एगे एवमाहंसु ३। एगे पुण एवमाहंसु-एवं एतेणं अभिलावेणं णेतव्वं-सत्त चदा सत्त सूरा ४। दस चंदा दस सूरा ५। बारस चंदा बारस सूरा ६। बायालीसं चंदा बायालीसं सूरा ७ । बावत्तरी चंदा बावत्तरीसूरा ८। बायालीसं चंदसयं बायालीसं सूरासयं ९। बावत्तरं चंदसयं बावत्तरं सूरसयं १० । बायालीसं चंदसहस्स, बायालीसं सूरसहस्सं ११। बावत्तरी चंदसहस्सं, बावत्तरी सूरसहस्स सव्वलोयं ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पभासंति, एगे एवमाहंसु १२॥

(तत्थेत्यादि) तत्र सर्वलोकविषयचन्द्रसूर्यास्तित्वविषये खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपा द्वादश प्रतिपत्तय परतीर्थिकैरभ्युपगमरूपा प्रज्ञप्ता । तत्र तेषां द्वादशाना परतीर्थिकाना मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहु —(ता इति) सेपा परतीर्थिकाना प्रथम स्वशिष्य प्रत्यनेकवक्तव्यतोपक्रमक्रमोपदर्शनार्थ. । एकश्चन्द्र एक सूर्य सर्वलोकमवभासयति, अवभासयन् उद्द्योतयन् तापयन् प्रभासयन् आख्यात इति वदेत् । अत्रैवोपसहारमाह—(एगे एवमाहंसु) १। एके पुनरेवमाहु -त्रयश्चन्द्रास्त्रयः सूर्याः सर्वलोकमवभासयन्त आख्याता इति वदेत् । उपसहारवाक्यम्-(एगे एवमाहंसु)२। एके पुनरेवमाहु -अर्द्धचतुर्थाश्चन्द्रा अर्द्धचतुर्था सूर्यां सर्वलोकमवभासयन्त आख्याता इति वदेत् । अत्राप्युपसंहार -(एगे एवमाहंसु) ३। (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण एतेनानन्तरोदितेनाभिलापेन तृतीयप्राभृतोक्तप्रकारेण द्वादशप्रतिपत्तिविषय सकलमपि सूत्र नेतव्यम् । तच्चैवम्-"(सत्त चदा सत्त सूरा इति) एगे पुण एवमाहंसु-ता सत्त चंदा सत्त सूरा सव्वलोयं ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ४। एगे पुण एवमाहंसु-ता दस चंदा दस सूरा सव्वलोय ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ५। एगे पुण एवमाहंसु-ता बारस चंदा बारस सूरा सव्वलोय ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ६। एगे पुण एवमाहंसु-ता बायालीसं चंदा बायालीसं सूरा सव्वलोय ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ७। एगे पुण एवमाहंसु-ता बावत्तरिं चंदा बावत्तरिं सूरा सव्वलोय ओभासेंति, उज्जोएंति, तवेंति, पभासेंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ८। एगे पुण एवमाहंसु-ता बायालीसं चंदसय बायालीसं सूरसय सव्वलोए ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ९। एगे पुण एवमाहंसु-ता बावत्तरं चंदसय बावत्तरं सूरसय सव्वलोय ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु १०। एगे पुण एवमाहंसु-ता बायालीसं चंदसहस्स बायालीसं सूरसहस्स सव्वलोय ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ११ । एगे पुण एवमाहंसु-ता बावत्तरं चंदसहस्स बावत्तरं सूरसहस्सं सव्वलोय ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु १२ ।"

एताश्च सर्वा अपि प्रतिपत्तयो मिथ्यारूपा., तथा भगवान् स्वमतमेताभ्यः पृथग्भूतमाह-

वयं पुण एवं वदामो-ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे जाव परिक्खेवेणं ताव जंबुद्दीवे दीवे केवतिया चंदा पभासिंसु वा, पभासिंति वा, पभासिस्संति वा ?, केवतिया सूरा तविंसु वा, तवेंति वा, तविस्संति वा ?, केवतिया नक्खत्ता जोइंसु वा, जोएंति वा, जोइस्संति वा ?, केवतिया गहा चारं चरिंसु वा, चरंति वा, चरिस्संति वा ?, केवतिया तारागणकोडिकोडीओ सोभिंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा ?। ता जंबुद्दीवे णं दीवे दो चंदा पभासिंसु वा, पभासिंति वा, पभासिस्संति वा. दो सूरिया तविंसु वा, तवंति वा, तविस्संति वा, छप्पण्णं णक्खत्ता जोयं जोएंसु वा, जोएंति वा, जोइस्संति वा, बावत्तरिं गहसयं चारं चरिंसु वा, चरंति वा, चरिस्संति वा, एगं सयसहस्सं तेत्तीसं च सहस्सं णव सया पण्णासा तारागणकोडाकोडीणं सोभिंसु वा, सोभिंति वा, सोभिस्संति वा ।

(वयं पुण इत्यादि) वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञाना, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदाम । तमेव प्रकारमाह-(ता अय णमित्यादि) इदं जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् परिपूर्णं पठनीय, ...

च (ता जंबुद्दीवे णं दीवे दो चंदा इत्यादि) जम्बूद्वीपे द्वौ चन्द्रौ प्रतिभासितवन्तौ, प्रतिभासयेते, प्रतिभासिष्येते, द्रव्यास्तिकनयमतेन सकलकालमेवंविधाया एव जगत्स्थितेः सद्भावात् । तथा द्वौ सूर्यौ तापितवन्तौ, तापयतस्तापयिष्यतः। तथा एकैकस्य शशिनोऽष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि परिवारो, जम्बूद्वीपे च द्वौ शशिनौ, ततः षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि, जम्बूद्वीपे चन्द्रसूर्याभ्यां सह योगं युक्तवन्तः, युञ्जन्ति, योक्ष्यन्ति वा। तथा एकैकस्य शशिनोऽष्टाशीतिर्ग्रहाः परिवारः, ततः शशिद्वयसत्कग्रहमीलने सर्वसंख्यया षट्सप्तत्यधिकं ग्रहशतं भवति, तच्च जम्बूद्वीपे चारं चरितवान्, चरति, चरिष्यति च। तथा एकैकस्य शशिनस्तारापरिवारः कोटाकोटीनां षट्षष्टिः सहस्राणि, नवशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि, जम्बूद्वीपे च द्वौ शशिनौ, तदेतत् ताराप्रमाणं द्वाभ्यां गुण्यते, ततः एकं शतसहस्रं त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि नवशतानि पञ्चाशदधिकानि तारागणकोटीनां भवन्ति। एतावत्प्रमाणास्तारा जम्बूद्वीपे शोभितवत्यः, शोभन्ते, शोभिष्यन्ते। सू० प्र० १९ पाहु० । जी० । जं० । चं० ।

(६) संप्रति विनेयजनानुग्रहाय यथोक्तजम्बूद्वीपगतचन्द्राऽऽदिसंख्यासंग्राहिके द्वे गाथे आह-

दो चंदा दो सूरा, णक्खत्ता खलु हवंति छप्पन्ना ।
बावत्तरं गहसतं, जंबुद्दीवे वियारी णं ॥१॥
एगं च सयसहस्सं, तित्तीसं खलु भवे सहस्साइं ।
णव य सता पन्नासा, तारागणकोडिकोडीणं ॥२॥

एते च द्वे अपि सुगमे, नवरं (जंबुद्दीवे वियारी ण) णमिति वाक्यालङ्कारे, ततो 'वियारीति' विभक्तिपरिणामेन चन्द्रादिभिः सह सामानाधिकरण्येन योजनीयमिति ॥ सू० प्र० १९ पाहु० । (लवणसमुद्रगतचन्द्राऽऽदिसंख्यापरिमाणम् 'लवणसमुद्द' शब्दे वक्ष्यते) (धातकीखण्डद्वीपचन्द्राऽऽदिसंख्या 'धायईसंडदीव' शब्दे प्रतिपादयिष्यते)(कालोदसमुद्रचन्द्राऽऽदिसंख्या 'कालोद' शब्दे तृतीयभागे ५०४ पृष्ठे गता) (पुष्करवरद्वीपचन्द्राऽऽदिसंख्या, आभ्यन्तरपुष्करार्द्धगतचन्द्राऽऽदिवक्तव्यता च 'पुक्खरवरदीव' शब्दे वक्ष्यते) इह सर्वत्र तारापरिमाणचिन्तायां कोटीकोट्यः-कोटीकोट्य एव द्रष्टव्याः, तथा पूर्वसूरिव्याख्यानात् । अपरे उत्सेधाङ्गुलप्रमाणमनुश्रित्य कोटीकोटीरेव समर्थयन्ते । उक्तं च-"कोडाकोडीसन्नं, तरं तु मन्नंति केइ थोवतया । अन्ने उस्सेहंगुल-माणं काऊण ताराणं ॥१॥" इति । जी० ३ प्रति० ।

(७) संप्रति मनुष्यक्षेत्रगतसमस्तचन्द्राऽऽदिसंख्यापरिमाणमाह-

माणुस्सखेत्ते णं भंते ! कइ चंदा पभासेंसु वा, पभासिंति वा, पभासिस्संति वा, कइ सूरा तवइंसु वा, तवेंति वा, तविस्संति वा ? । गोयमा !-

"बत्तीसं चंदसयं, बत्तीसं चेव सूरियाण सयं ।
सयलं माणुसलोयं, चरंति एए पगासेंता ॥१॥
एक्कारस य सहस्सा, छप्पि य सोला महग्गहाणं तु ।
छच्च सया छन्नउया, णक्खत्ता तिन्नि य सहस्सा ॥२॥
अट्ठासीइं सतसहस्सा, चायालीसं सहस्स मणुयलोगम्मि ।
सत्त य सया अणूणा, तारागणकोडिकोडीणं" ॥३॥
सोभंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्सति वा ॥

"माणुस्सखेत्ते णं" इत्यादि पाठसिद्धम् । उक्तं चैवरूपं परिमाणमन्यत्रापि । (बत्तीसमित्यादि गाथात्रयम्) तत्र द्वात्रिंशं चन्द्रशतम्, एवं द्वौ चन्द्रौ जम्बूद्वीपे, चत्वारो लवणोदे, द्वादश धातकीखण्डे, द्वाचत्वारिंशत्कालोदे, द्वासप्ततिरभ्यन्तरपुष्करार्द्धे, सर्वसंख्यया द्वात्रिंशं शतम् । एवं सूर्याणामपि द्वात्रिंशं शतं परिभावनीयम् । नक्षत्राऽऽदिपरिमाणम् अष्टाविंशत्यादिसंख्यानि नक्षत्राऽऽदीनि द्वात्रिंशेन शतेन गुणयित्वा परिभावनीयम् । जी० ३ प्रति० ।

मतभेदेनाह-

अट्ठासीतिं चत्ता-इ सतसहस्साइँ मणुयलोयम्मि ।
सत्त य सता अणुणा, तारागणकोडिकोडीण ॥३॥

(अट्ठासीइ चत्ताइ ति) अष्टाशीतिः सहस्राणि चत्वारिंशत्शताधिकानि, शेषं गतार्थम् । सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० । भ० । द्व० प० ।

संप्रति सकलमनुष्यलोकगततारागणस्योपसंहारमाह-

एसो तारापिंडो, सव्वसमासेण मणुयलोयम्मि ।
बहिया पुण ताराओ, जिणेहिँ भणिआ असंखेज्जा ॥१॥
एवतियं तारग्गं, जं भणियं माणुसम्मि लोगम्मि ।
चारं कलंबुयापु-प्फसंठितं जोतिसं चरति ॥ २ ॥

एषोऽनन्तरोक्तगाथोक्तस्तारापिण्डः सर्वसंख्यया मनुष्यलोके, आख्यात इति गम्यते । बहिः पुनर्मनुष्यलोकाद् यास्तारास्ता जिनैः सर्वज्ञैस्तीर्थकृद्भिर्गणिना असंख्याता, द्वीपसमुद्राणामसंख्यातत्वात् । प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च यथायोगं संख्येयानामसंख्येयानां च ताराणां सद्भावात् ॥१॥ "एवइय" इत्यादि । एतावत्संख्याकं तारापरिमाणं यदनन्तरं भणितं मानुषे लोके, तज्ज्योतिष्कं ज्योतिष्कदेवविमानरूपं कदम्बपुष्पसंस्थितं कदम्बपुष्पवत् अधः संकुचितं उपरि विस्तीर्णमुत्तानीकृतार्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितमित्यर्थः । चारं चरति चारं प्रतिपद्यते, तथा जगत्स्वाभाव्यात् । ताराग्रहणं चोपलक्षणं, तेन सूर्यादयोऽपि यथोक्तसंख्याका मनुष्यलोके तथा जगत्स्वभावात् चारं प्रतिपद्यन्ते इति द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥

सम्प्रत्येतद्गतमेवोपसंहारमाह-

रविससिगहणक्खत्ता, एवतिया आहिता मणुयलोए ।
जेसिं णामागोत्तं, न पागता पन्नवेहिंति ॥ ३ ॥

रविशशिग्रहनक्षत्राणि, उपलक्षणमेतत्, तारकाणि च एतावन्त्येतावत्संख्याकानि आख्यातानि सर्वज्ञैर्मनुष्यलोके, येषां किमित्याह-येषां सूर्याऽऽदीनां यथोक्तसंख्याकानां सकलमनुष्यलोकभाविनां प्रत्येकनामगोत्राणि, इहान्वर्थयुक्तं नाम सिद्धान्तपरिभाषया नामगोत्रमित्युच्यते । ततोऽयमर्थः-नामगोत्राणि अन्वर्थयुक्तानि, यदि वा नामानि च गोत्राणि नामगोत्राणि, प्राकृता अनतिशायिनः पुरुषाः न कदाचनापि प्रज्ञापयिष्यन्ति, केवलं यदा तदा वा सर्वज्ञा एव, ततः इदमपि सूर्याऽऽदिसंख्यानं प्राकृतपुरुषाप्रमेयं सर्वज्ञोपदिष्टमिति सम्यक् श्रद्धेयमिति ॥३॥

(८) छावट्ठिं पिडगाइं, चंदाइच्चाण मणुयलोयम्मि ।

दो चंदा दो सूरा, य हुंति एक्केकए पिडए ॥३॥

इह द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यावेकं पिटकमुच्यते। इत्थंभूतानि चन्द्राऽऽदित्यानां पिटकानि सर्वसंख्यया मनुष्यलोके भवन्ति षट्षष्टिसंख्याकानि। अथ किंप्रमाणं पिटकम् ?, इति पिटकप्रमाणमाह-एकैकस्मिन् पिटके द्वौ चन्द्रौ, द्वौ सूर्यौ च भवतः। किमुक्तं भवति ?-द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यावित्येतावत्प्रमाणमेकैकं चन्द्राऽऽदित्यानां पिटकमिति। एवंप्रमाणं च पिटकं जम्बूद्वीपे एकम्, जम्बूद्वीपे द्वयोरेव चन्द्रमसोर्द्वयोरेव सूर्ययोर्भावात्। द्वे पिटके लवणसमुद्रे, तत्र चतुर्णां चन्द्रमसां चतुर्णां च सूर्याणां भावात्। एवं षट् पिटकानि धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे, इति भवन्ति सर्वमीलने चन्द्राऽऽदित्यानां षट्षष्टिः पिटकानि ॥ ३ ॥

छावट्ठिं पिडगाइं, णक्खत्ताणं तु मणुयलोयम्मि।
छप्पण्णं णक्खत्ता, हुंती एक्केकए पिडए ॥ ४ ॥

(छावट्ठीत्यादि) सर्वस्मिन्नपि मनुष्यलोके सर्वसंख्यया नक्षत्राणां पिटकानि भवन्ति षट्षष्टिः। नक्षत्रपिटकप्रमाणं च शशिद्वयपरिवारभूतनक्षत्रसंख्यापरिमाणम्। तथा चाह-एकैकस्मिन् पिटके नक्षत्राणि भवन्ति षट्पञ्चाशत्संख्याकानि। किमुक्तं भवति ?—षट्पञ्चाशन्नक्षत्रसंख्याकमेकैकं नक्षत्रपिटकं भवति। अत्रापि षट्षष्टिसंख्याभावना, एवमेकं नक्षत्रपिटकं जम्बूद्वीपे, द्वे लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति ॥४॥

छावट्ठिं पिडगाइं, महग्गहाणं तु मणुयलोयम्मि।
छावत्तरं गहसतं, होई एक्केकए पिडए ॥ ५ ॥

महाग्रहाणामपि सर्वस्मिन्मनुष्यलोके सर्वसंख्यया पिटकानि भवन्ति षट्षष्टिः। ग्रहपिटकप्रमाणं च शशिद्वयसम्बन्धिग्रहसंख्यापरिमाणम्। तथा चाऽऽह-एकैकस्मिन् पिटके ग्रहपिटके भवति षट्सप्ततिशतं षट्सप्तत्यधिकं ग्रहशतं, सप्तत्यधिकग्रहशतपरिमाणमेकैकं ग्रहपिटकमिति। ततः षट्षष्टिसंख्या भावना च प्राग्वत्कर्तव्या ॥ ५ ॥

(६) अथ चन्द्रसूर्याणां कियत्यः पङ्क्तयः, कथं च स्थिताः ?, इत्याह-

चत्तारि य पंतीओ, चंदाइच्चाण मणुअलोयम्मि।
छावट्ठिं छावट्ठिं, य होइ एक्किक्किया पंती ॥ ६ ॥

(चत्तारि य इत्यादि) इह मनुष्यलोके चन्द्राऽऽदित्यानां पङ्क्तयश्चतस्रो भवन्ति। तद्यथा—द्वे पङ्क्ती चन्द्राणां, द्वे सूर्याणाम्, एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिः चन्द्र-सूर्याऽऽदिसंख्या। तद्भावना चैवम्—एकः किल सूर्यो जम्बूद्वीपे मेरोर्दक्षिणभागे चारं चरन् वर्तते, एक उत्तरभागे, एकश्चन्द्रमा मेरोः पूर्वभागे, एकोऽपरभागे। तत्र यो मेरोर्दक्षिणभागे सूर्यश्चारं चरन् वर्तते तत्समश्रेणिव्यवस्थितौ द्वौ दक्षिणभागे सूर्यौ, लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशत् अभ्यन्तरपुष्करार्द्धे; अस्यां सूर्यपङ्क्तौ षट्षष्टिः सूर्याः। योऽपि च मेरोरुत्तरभागे व्यवस्थितः सूर्यश्चारं चरन् वर्तते तस्यापि समश्रेण्या व्यवस्थितौ द्वावुत्तरभागे सूर्यौ लवणसमुद्रे, धातकीखण्डे षट्, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति। अस्यामपि पङ्क्तौ सर्वसंख्यया षट्षष्टिः सूर्याः। तथा यो मेरोः किल पूर्वभागे चारं चरन् वर्तते चन्द्रमास्तत्समश्रेणिव्यवस्थितौ द्वौ पूर्वभाग एव चन्द्रमसौ लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति। अस्यां चन्द्रपङ्क्तौ सर्वसंख्यया षट्षष्टिश्चन्द्रमसः। एवं यो मेरोरपरभागे चन्द्रमास्तन्मूलायामपि पङ्क्तौ षट्षष्टिश्चन्द्रमसो वेदितव्याः ॥ ६ ॥

(१०) अथ नक्षत्राणां पङ्क्तिस्वरूपमाह-

छप्पन्नं पंतीओ, णक्खत्ताणं मणुयलोयम्मि।
छावट्ठिं छावट्ठिं, हवई इक्किक्किया पंती ॥ ७ ॥

नक्षत्राणां मनुष्यलोके सर्वसंख्यया पङ्क्तयो भवन्ति षट्पञ्चाशत्। एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिषट्षष्टिनक्षत्रप्रमाणा इत्यर्थः। तथाहि-अस्मिन् किल जम्बूद्वीपे दक्षिणतोऽर्द्धभागे एकस्य शशिनः परिवारभूतानि अभिजिदादीन्यष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि क्रमेण व्यवस्थितानि चारं चरन्ति, उत्तरतोऽर्द्धभागे द्वितीयस्य शशिनः परिवारभूतानि अष्टाविंशतिसंख्याकान्यभिजिदादीन्येव नक्षत्राणि क्रमेण व्यवस्थितानि, तत्र दक्षिणतोऽर्द्धभागे यदभिजिन्नक्षत्रं तत्समश्रेणिव्यवस्थिते द्वे अभिजिन्नक्षत्रे लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशदभ्यन्तरपुष्करार्द्धे इति सर्वसंख्यया षट्षष्टिरभिजिन्नक्षत्राणि पङ्क्त्या व्यवस्थितानि, श्रवणाऽऽदीन्यपि दक्षिणतोऽर्द्धभागे पङ्क्त्या व्यवस्थितानि षट्षष्टिसंख्याकानि भावनीयानि। उत्तरतोऽप्यर्द्धभागे यदभिजिन्नक्षत्रं तत्समश्रेणिव्यवस्थिते उत्तरभाग एव द्वे अभिजिन्नक्षत्रे लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशत् पुष्करार्द्धे, एवं श्रवणाऽऽदिपङ्क्तयोऽपि प्रत्येकं षट्षष्टिसंख्याका वेदितव्याः, इति भवन्ति सर्वसंख्यया षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणां पङ्क्तयः, एकैका च पङ्क्तिः षट्षष्टिसंख्येति ॥७॥

(११) अथ ग्रहाणां पङ्क्तिस्वरूपमाह-

छावत्तरं गहाणं, पंतिसयं हवति मणुयलोयम्मि।
छावट्ठिं छावट्ठिं, य हवइ इक्किक्किया पंती ॥ ८ ॥

ग्रहाणामङ्गारकप्रभृतीनां सर्वसंख्यया मनुष्यलोके षट्सप्तत्यधिकं शतं भवति, एकैका च पङ्क्तिर्भवति षट्षष्टिषट्षष्टिग्रहसंख्या। अत्रापीयं भावना-इह जम्बूद्वीपे दक्षिणतोऽर्द्धभागे एकस्य शशिनः परिवारभूता अङ्गारकप्रभृतयोऽष्टाशीतिर्ग्रहाः, उत्तरतोऽर्द्धभागे द्वितीयस्य शशिनः परिवारभूता अङ्गारकप्रभृतयः एवाष्टाशीतिः। तत्र दक्षिणतोऽर्द्धभागे योऽङ्गारकनामा ग्रहस्तत्समश्रेणिव्यवस्थितौ दक्षिणभाग एव द्वावङ्गारकौ लवणसमुद्रे, षट् धातकीखण्डे, एकविंशतिः कालोदे, षट्त्रिंशद् अभ्यन्तरपुष्करार्द्धे, इति षट्षष्टिः। एवं शेषा अपि सप्ताशीतिर्ग्रहाः पङ्क्त्या व्यवस्थिताः प्रत्येकं षट्षष्टिर्वेदितव्याः। एवमुत्तरतोऽप्यर्द्धभागे अङ्गारकप्रभृतीनामष्टाशीतिग्रहाणां पङ्क्तयः प्रत्येकं षट्षष्टिसंख्याका भावनीयाः, इति भवति सर्वसंख्यया ग्रहाणां षट्सप्तत्यधिकं पङ्क्तिशतम्, एकैका च पङ्क्तिः षट्षष्टिसंख्याकेति ॥ ८ ॥

(१२) अथैतेषां चन्द्राऽऽदीनां भ्रमणस्वरूपमाह-

ते मेरुमणु चरंती, पयाहिणाऽऽवत्तमंडला सव्वे।
अणवट्ठियजोगेहिं, चंदा सूरा गहगणा य ॥ ९ ॥

" ते मेरुमणुचरंति " इत्यादि। ते मनुष्यलोकवर्तिनः सर्वे चन्द्राः, सर्वे सूर्याः, सर्वे च ग्रहगणाः, अनवस्थितैर्यथायोगमन्यैरन्यैर्नक्षत्रेण सह योगैरुपलक्षिताः (पयाहिणाऽऽवत्तमंडला इति)

प्रकर्षेण सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च परि समन्ताच्चन्द्राऽऽदीनां दक्षिण एव मेरुर्भवति यस्मिन्नावर्त्ते मण्डलपरिभ्रमणरूपे स प्रदक्षिण, प्रदक्षिण आवर्तमण्डलो येषां ते तथा, मेरुमनु लक्षीकृत्य चरन्ति । एतेनैतदुक्तं भवति-सूर्याऽऽदयः समस्ता अपि मनुष्यलोकवर्तिनः प्रदक्षिणाऽऽवर्त्तमण्डलगत्या परिभ्रमन्तीति ॥९॥

(१३) इह चन्द्राऽऽदित्यग्रहाणां मण्डलानि अनवस्थितानि, यथायोगमन्यस्मिन्नन्यस्मिन् मण्डले तेषां संचारित्वात्, नक्षत्रताराणां तु मण्डलान्यवस्थितान्येव । तथा चाऽऽह-

णक्खत्ततारगाणं, अवट्ठिता मंडला मुणेयव्वा ।

ते वि य पदाहिणाऽऽव-त्तमेव मेरुं अणु चरंति ॥१०॥

"णक्खत्त" इत्यादि । नक्षत्राणां तारकाणां च मण्डलान्यवस्थितानि ज्ञातव्यानि । किमुक्तं भवति ?-आकालं प्रतिनियतमेकैकं नक्षत्राणां तारकाणां च प्रत्येकं मण्डलमिति । न चैवमनवस्थितमण्डलत्वोक्तावेवमाशङ्कनीयम्-यथैतेषां गतिरेव न भवतीति । यत आह-"ते वि य" इत्यादि । तान्यपि-नक्षत्राणि, तारकाणि च । सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । प्रदक्षिणाऽऽवर्त्तमेव, इत्थं क्रियाविशेषणं, मेरुमनु लक्षीकृत्य चरन्ति । एतच्च मेरुं लक्षीकृत्य प्रदक्षिणाऽऽवर्त्तं, तेषां चरणं प्रत्यक्षत एवोपलक्ष्यत इति सम्यगादि ॥१०॥

(१४) अथ चन्द्रसूर्ययोर्मण्डलस्थानादूर्ध्वमधश्च संक्रमणपरिनिषेधमाह—

रयणिकरदिणकराणं, उड्ढं च अहेव संकमो नऽत्थि ।

मंडलसंकमणं पुण, सब्भंतरबाहिरं तिरिए ॥ ११ ॥

"रयणिकर" इत्यादि । रजनीकरदिनकराणां चन्द्राऽऽदित्यानामूर्ध्वमधश्च संक्रमो न भवति, तथा जगत्स्वाभाव्यात् । तिर्यक् पुनर्मण्डलेषु संक्रमणं भवति । किंविशिष्टम् ?, इत्याह-साभ्यन्तरबाह्यम्, अभ्यन्तरं च बाह्यमभ्यन्तरबाह्यं, सहाभ्यन्तरबाह्येन वर्त्तत इति साभ्यन्तरबाह्यम् । एतदुक्तं भवति-सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतस्तावन्मण्डलेषु संक्रमणं यावत्सर्वबाह्यं मण्डलं, सर्वबाह्याच्च मण्डलादर्वाक् तावन्मण्डलेषु संक्रमणं यावत्सर्वाऽऽभ्यन्तरमिति ॥११॥

(१५) रयणिकरदिणकराणं, णक्खत्ताणं महागहाणं च ।

चारविसेसेण भवे, सुहदुक्खविधो मणुस्साणं ॥ १२ ॥

'रयणिकर' इत्यादि । रजनीकरदिनकराणां चन्द्राऽऽदित्यानां, नक्षत्राणां च, महाग्रहाणां च चारविशेषेण तेन तेन चारेण सुखदुःखविधयो मनुष्याणां भवन्ति । तथाहि—द्विविधानि सन्ति सदा मनुष्याणां कर्माणि । तद्यथा—शुभवेद्यानि, अशुभवेद्यानि च । कर्मणां सामान्यतो विपाकहेतवः पञ्च । तद्यथा-द्रव्यं, क्षेत्रं, कालो, भवो, भावश्च । उक्तं च-"उदयक्खयखउवसमो-वसमा जं च कम्मणो भणिया । दव्वं खेत्तं कालं, भवं च भावं च संपप्प" ॥ १ ॥ शुभकर्मणां प्रायः शुभवेद्यानां कर्मणां शुभद्रव्यक्षेत्राऽऽदिसामग्री विपाकहेतुः, अशुभवेद्यानामशुभद्रव्यक्षेत्राऽऽदिसामग्री, ततो यदा येषां जन्मनक्षत्राऽऽदिविरोधी चन्द्रसूर्याऽऽदीनां चारो भवति, तदा तेषां प्रायो यान्यशुभवेद्यानि कर्माणि तानि तां तथाविधविपाकसामग्रीमवाप्य विपाकमायान्ति, विपाकमागतानि शरीररोगोत्पादनेन, धनहानिकरणतो वा, प्रियविप्रयोगजननेन वा, कलहसंपादनतो वा दुःखमुत्पादयन्ति । यदा च एषां जन्मनक्षत्राऽऽद्यनुकूलश्चन्द्राऽऽदीनां चारस्तदा तेषां प्रायो यानि शुभवेद्यानि कर्माणि तानि तां तथाविधां विपाकसामग्रीमधिगम्य विपाकं प्रतिपद्यन्ते, प्रतिपन्नविपाकानि च तानि शरीरनीरोगतासंपादनतो, धनवृद्धिकरणेन वा, वैरोपशमनेन, प्रियसंप्रयोगसंपादनतो वा प्रारब्धाभीष्टप्रयोजननिष्पत्तिकरणतः सुखमनुजनयन्ति । अत एव महीयांसः परमविवेकिनोऽल्पमपि प्रयोजनं शुभतिथिनक्षत्रमुहूर्त्ताऽऽदावारभन्ते, न तु यथाकथञ्चन । अत एव जिनानामप्याज्ञा प्रव्राजनाऽऽदिकमधिकृत्यैवमवतिष्ठते-यथा शुभक्षेत्रे शुभाऽऽदिदिशमभिमुखीकृत्य शुभे तिथिनक्षत्रमुहूर्त्ताऽऽदौ प्रव्राजनव्रताऽऽरोपणाऽऽदि कर्त्तव्यं, नान्यथा ।

तथा चोक्तं पञ्चवस्तुके-

"एसा जिणाणमाणा, खित्ताईया य कम्मुणो भणिया ।

उदयाइकारणं जं, तम्हा सव्वत्थ जइयव्वं" ॥ १ ॥

अस्या अक्षरगमनिका-एषा जिनानामाज्ञा-यथा शुभक्षेत्रे शुभदिशमभिमुखीकृत्य शुभे तिथिनक्षत्रमुहूर्त्ताऽऽदौ प्रव्राजनव्रताऽऽरोपणाऽऽदि कर्त्तव्यं, नान्यथा । अपि च-क्षेत्राऽऽदयोऽपि कर्मणामुदयाऽऽदिकारणं भगवद्भिरुक्ताः, ततोऽशुभद्रव्यक्षेत्राऽऽदिसामग्रीं प्राप्य कदाचिदशुभवेद्यानि कर्माणि विपाकं गत्वा विघ्नमासादयेयुः, तदुदये च गृहीतव्रतभङ्गाऽऽदिदोषप्रसङ्गः । शुभद्रव्यक्षेत्राऽऽदिसामग्र्यां तु प्रायो नाशुभकर्मविपाकसंभव इति निर्विघ्नं सामायिकपरिपालनाऽऽदि । तस्मादवश्यं छद्मस्थेन सर्वत्र शुभक्षेत्राऽऽदौ यतितव्यम् । ये तु भगवन्तोऽतिशायिनस्तेऽतिशयबलादेव निर्विघ्नं सविघ्नं वा सम्यगधिगच्छन्ति, ततो न शुभतिथिमुहूर्ताऽऽदिकमपेक्षन्ते इति न तन्मार्गानुसरणं छद्मस्थानां न्याय्यम् । तेन ये परममुनिपर्युपासितप्रवचनविडम्बकाः अपरिमितजिनशासनोपनिषद्भूतशास्त्रगुरुपरम्परापोतनिरवद्यविशदकालोचितसामाचारीप्रतिपन्थिनः स्वमतिकल्पितसामाचारीका अभिदधति-यथा न प्रव्राजनाऽऽदिषु शुभतिथिनक्षत्राऽऽदिनिरीक्षणं कर्त्तव्यं, न खलु भगवान् जगत्स्वामी प्रव्राजनायोपस्थितेषु शुभतिथ्यादिनिरीक्षणं कृतवानिति । ते अपास्ता द्रष्टव्याः ॥१२॥

(१६) अथ चन्द्रसूर्याणां केन प्रकारेण प्रकाशक्षेत्रं वर्द्धते,

कथं च हीयते ?, तदाह—

तेसिं पविसंताणं, तावक्खेत्तं तु वड्ढते णियमं ।

तेण य कम्मेण पुणो, परिहायति निक्खमंताणं ॥१३॥

'तेसिं' इत्यादि । तेषां सूर्याचन्द्रमसां सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशतां तापक्षेत्रं प्रतिदिवसं क्रमेण नियमादायामतो वर्द्धते, येन च क्रमेण परिवर्द्धते तेनैव क्रमेण सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद् बहिर्निष्क्रामतां परिहीयते । तथाहि-सर्वबाह्ये मण्डले चारं चरतां सूर्याचन्द्रमसां प्रत्येकं जम्बूद्वीपचक्रवालस्य दशधा प्रविभक्तस्य द्वौ द्वौ भागौ तापक्षेत्रं, ततः सूर्यस्याभ्यन्तरं प्रविशतः प्रतिमण्डलं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतप्रविभक्तस्य द्वौ द्वौ भागौ तापक्षेत्रस्य वर्द्धते, चन्द्रमसस्तु मण्डलेषु प्रत्येकं पौर्णमासीसंभवे क्रमेण प्रतिमण्डलं षड्विंशतिर्भागाः, सप्तविंशतितमस्य च एकः सप्तभाग इति वर्द्धते । एवं च क्रमेण प्रतिमण्डलमभिवृद्धौ यदा सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरतः, तदा प्रत्येकं जम्बूद्वीपचक्रवालस्य त्रयः परिपूर्णा दश भागास्तापक्षेत्रं, ततः पुनरपि सर्वाभ्यन्तरमण्डलाद् बहिर्निष्क्रमणे सूर्यस्य प्रतिमण्डलं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतप्रविभक्तस्य जम्बूद्वीपचक्रवालस्य द्वौ द्वौ भागौ परिहीयेते, चन्द्रमसस्तु मण्डलेषु प्रत्येकं पौर्णमासीसंभवक्रमेण प्रतिमण्डलं षड्विंशतिर्भागाः, सप्तविंशतितमस्य च भागस्य एकः सप्तभाग इति ।

[१९] तेसिं कलंबुयापु-प्फसंठिता हुंति तावखेत्तमुहा ।
अतो अ संकुडा वा-हिं वित्थडा चंदसूराणं ॥ १४ ॥

(तेसिमित्यादि) तेषां चन्द्रसूर्याणां तापक्षेत्रमुखाः कलम्बुकापुष्प-संस्थिता नालिकापुष्पाऽऽकारा भवन्ति । एतदेव व्याचष्टे-अन्त-र्मेरुदिशि सङ्कुचिताः, बहिर्लवणदिशि विस्तृताः । एतच्च प्रागेव चतुर्थे प्राभृते भावितमिति न भूयो भाव्यते । सू० प्र० १९ पाहु० । जी० । म० । द० प० । (' तावक्खेत्त ' शब्दे चैतद् द्रष्टव्यम्)

[१८] अंतो मणुस्सखेत्ते, हवंति चारोवगा तु उववण्णा ।
पंचविहा जोतिसिया, चंदा सूरा गहगणा य ॥ २० ॥

अन्तर्मध्ये मनुष्यक्षेत्रे मनुष्यक्षेत्रस्य, पञ्चविधा ज्योतिष्काः । तद्यथा-चन्द्राः, सूर्याः, ग्रहगणाः, चशब्दान्नक्षत्राणि, तारकाश्च, भवन्ति चारोपगाश्चारयुक्ताः ॥२०॥

तेण परं जे सेसा, चंदाइच्चगहतारणक्खत्ता ।
णत्थि गती ण वि चारो, अवट्ठिता ते मुणेयव्वा ॥ २१ ॥

तेनेति प्राकृतत्वात् पञ्चम्यर्थे तृतीया । ततो मनुष्यक्षेत्रात्पर यानि शेषाणि चन्द्राऽऽदित्यग्रहतारानक्षत्राणि चन्द्राऽऽदित्य-ग्रहतारानक्षत्रविमानानि । सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । तेषां नास्ति गतिर्न तस्मात् स्थानाच्चलनं, नापि चारो मण्डलगत्या परिभ्रमणं, किं त्ववस्थितान्येव तानि ज्ञातव्यानि ॥२१॥

(१९) एवं जंबुद्दीवे, दुगुणा लवणे चउग्गुणा हुंति ।
लावणगा य तिगुणिता, ससिसूरा धायईसंडे ॥ २२ ॥

(एवं जंबुद्दीवे इत्यादि) एवं सति एकैकश्चन्द्रसूर्यो जम्बूद्वीपे द्विगुणो भवति । किमुक्तं भवति ?-द्वौ चन्द्रमसौ द्वौ सूर्यौ च जम्बूद्वीपे, लवणसमुद्रे तावेकैकौ सूर्याचन्द्रमसौ चतुर्गुणौ भवतः, चत्वारश्चन्द्राः, चत्वारश्च सूर्या लवणसमुद्रे भवन्तीति भावः । लावणिका लवणसमुद्रभवाः शशिसूरास्त्रिगुणिता धातकी-खण्डे भवन्ति; द्वादश चन्द्राः, द्वादश सूर्या धातकीखण्डे भवन्तीत्यर्थः ॥२२॥

दो चंदा इह दीवे, चत्तारि य सायरे लवणतोए ।
धायइसंडे दीवे, बारस चंदा य सूरा य ॥ २३ ॥
धायइसंडप्पभिती-उद्दिट्ठा तिगुणिता भवे चंदा ।
आदिल्लचंदसहिता, अणंतराऽणंतरक्खेत्ते ॥ २४ ॥

" दो चंदा " इत्यादि सुगमम् । " धायइसंड ' इत्यादि । धातकीखण्डः प्रभृतिरादिर्येषां ते धातकीखण्डप्रभृतयः, तेषु धातकीखण्डप्रभृतिषु द्वीपेषु समुद्रेषु च ये उद्दिष्टाश्चन्द्रा द्वादशाऽऽदयः । उपलक्षणमेतत्-सूर्या वा, ते त्रिगुणितास्त्रिगुणीकृताः सन्तः (आदिल्लचंदसहिता इति) आदिमचन्द्रयुक्ता तद् द्वीपात् समुद्राद्वा प्राक् जम्बूद्वीपमादिं कृत्वा ये प्राक्तनाश्चन्द्रास्ते आदिमचन्द्राः, तैरादिमचन्द्रैः, उपलक्षणमेतत्-आदिमसूर्यैश्च सहिता यावन्तो भवन्ति । एतावत्प्रमाणा अनन्तरं कालोदाऽऽदौ भवन्ति । तत्र धातकीखण्डे द्वीपे उद्दिष्टाः चन्द्रा द्वादश, ते त्रिगुणाः क्रियन्ते, जाताः षट्त्रिंशत् । आदिमचन्द्राः षट् । तद्यथा-द्वौ चन्द्रौ जम्बूद्वीपे, चत्वारो लवणसमुद्रे । एतैरादिमचन्द्रैः सहिता द्वाचत्वारिंशद्भवन्ति । एतावन्तः कालोदे समुद्रे चन्द्राः । एवं एव करणविधिः सूर्याणामपि । तेन सूर्या अपि तत्रैतावन्तो वेदितव्याः । तथा कालोदे समुद्रे द्विचत्वारिंशच्चन्द्रमस उद्दिष्टाः, ते त्रिगुणाः क्रियन्ते, जातं षड्विंशं शतम् । आदिमचन्द्रा अष्टादश । तद्यथा-द्वौ जम्बूद्वीपे, चत्वारो लवणसमुद्रे, द्वादश धातकीखण्डे । एतैरादिमचन्द्रैः सहितं षड्विंशतं, जातं चतुश्चत्वारिंशं शतम् । एतावन्तः पुष्करवरद्वीपे चन्द्राः, एतावन्त एव सूर्याः । एवं सर्वेष्वपि द्वीपसमुद्रेष्वनेन करणवशाच्चन्द्रसङ्ख्या प्रतिपत्तव्या ।

(२०) सम्प्रति प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं च ग्रहनक्षत्रतारापरि-माणपरिज्ञानोपायमाह—

रिक्खग्गहतारग्गं, दीवसमुद्दे जहिच्छसि णाउं ।
तस्स ससीहिं तु गुणितं, रिक्खग्गहतारगग्गं तु ॥ २५ ॥

अत्र अग्रशब्दः परिमाणवाची, यत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्र-परिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणं वा ज्ञातुमिच्छसि तस्य द्वीपस्य समुद्रस्य वा सम्बन्धिभिः शशिभिः, एकस्य शशिनः प-रिवारभूतं नक्षत्रपरिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणं च गुणि-तं सत् यावद्भवति, तावत्प्रमाणं तत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्रप-रिमाणं ग्रहपरिमाणं तारापरिमाणमिति । यथा लवणसमुद्रे कि-ल नक्षत्राणां परिमाणं ज्ञातुमिष्टं, लवणसमुद्रे च शशिनश्चत्वा-रः, तत एकस्य शशिनः परिवारभूतानि यान्यष्टाविंशतिर्नक्षत्रा-णि तानि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातं द्वादशोत्तरं शतं, तावन्ति लव-णसमुद्रे नक्षत्राणि । तथा अष्टाशीतिर्ग्रहा एकस्य शशिनः परि-वारभूताः, ते चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि द्विप-ञ्चाशदधिकानि ३५२ । एतावन्तो लवणसमुद्रे ग्रहाः । तथा एकस्य शशिनः परिवारभूतानि तारागणकोटीकोटीनां षट्षष्टिः सह-स्राणि नवशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि, तानि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जातानि कोटाकोटीनां द्वे शते सप्तषष्टिसहस्राणि नव शतानि २६७९०००००००००००००००० । एतावत्यो लवणसमुद्रे तारागणकोटाकोटयः । एवंरूपा च नक्षत्राऽऽदीनां सङ्ख्या प्रागेवोक्ता । एवं सर्वेष्वपि द्वीपसमुद्रेषु नक्षत्राऽऽदिसङ्ख्यापरिमाणं परिभावनीयम् ।

तत्तद्द्वीपसमुद्रवर्त्तिग्रहाऽऽदिसङ्ख्या यन्त्रकादवधार्या-

नाम	चन्द्र	सूर्य	ग्रह	नक्षत्र	तारा
जम्बूद्वीप	२	२	१७६	५६	१३३९५००००००००००००००००
लवणसमुद्र	४	४	३५२	११२	२६७९०००००००००००००००००
धातकीखण्ड	१२	१२	१०५६	३३६	८०३७००००००००००००००००००
कालोदसमुद्र	४२	४२	३६९६	११७६	२८१२९५००००००००००००००००
पुष्करवरद्वीप	१४४	१४४	१२६७२	४०३२	९६४४४००००००००००००००००००
सर्वसङ्ख्या	२०४	२०४	१७९५२	५७१२	९७५६९१८०००००००००००००००००

(२१) बहिता तु माणुसनग-स्स चंदसूराणऽवट्ठिता तेआ ।
चंदा अभिया जुत्ता, सूरा पुण हुंति पुस्सेहिं ॥ २६ ॥

" बहिता " इत्यादि । मानुषनगस्य मानुषोत्तरपर्वतस्य बहिश्चन्द्रसूर्याणां तेजांसि अवस्थितानि भवन्ति । किमुक्तं भवति ?- सूर्याः सदैवानत्युष्णतेजसः, न तु जातुचिदपि मनुष्यलोके ग्रीष्मकाल इवात्युष्णतेजसः । चन्द्रमसोऽपि सर्वदैवानतिशीतलेश्याकाः, न तु कदाचनाप्यन्तर्मनुष्यक्षेत्रस्य शिशिरकाल इवातिशीततेजसः । तथा मनुष्यक्षेत्राद् बहिः सर्वेऽपि चन्द्राः सर्वदैवाभिजिता नक्षत्रेण युक्ताः, सूर्याः पुनर्भवन्ति पुष्येण युक्ता इति ॥२६॥ सू० प्र० १९ पाहु० । (चन्द्रसूर्याणां चन्द्रचन्द्राणां तथा सूर्यसूर्याणां च परस्परमन्तरपरिमाणप्रतिपादनम् 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे गतम्)

(२२) सम्प्रति बहिश्चन्द्रसूर्याणां पङ्क्त्यवस्थानमाह-

सूरंतरिया चंदा, चंदंतरिया य दिणयरा दित्ता ।
चित्तंतरलेसागा, सुहलेसा मंदलेसा य ॥ २७ ॥

(सूरंतरिय त्ति) नृलोकाद् बहिः पङ्क्त्या स्थिताः सूर्यान्तरिताश्चन्द्राश्चन्द्रान्तरिता दिनकराः दीप्ताः दीप्यन्ते स्म, दीप्ता भास्वरा इत्यर्थः । कथंभूतास्ते चन्द्रसूर्याः ?, इत्याह-चित्रान्तरलेश्याकाः चित्रमन्तरं लेश्या सप्रकाशरूपा येषां ते तथा, तत्र चित्रमन्तरं चन्द्राणां सूर्यान्तरितत्वात्, सूर्याणां चन्द्रान्तरितत्वात्, चित्रलेश्या चन्द्रमसां शीतरश्मित्वात्, सूर्याणामुष्णरश्मित्वात् । लेश्याविशेषप्रदर्शनार्थमाह-(सुहलेसा मंदलेसा य त्ति) सुखलेश्याश्चन्द्रमसो, न शीतकाले मनुष्यलोक इवात्यन्तशीतरश्मय इत्यर्थः । मन्दलेश्याः सूर्याः, न तु मनुष्यलोके निदाघसमये इव एकान्ततः उष्णरश्मय इत्यर्थः । आह च तत्त्वार्थटीकाकारो हरिभद्रसूरिः-नात्यन्तशीताश्चन्द्रमसो, नात्यन्तोष्णाः सूर्याः, किं तु साधारणः द्वयोरपीति ॥२९॥

(२३) इहेदमुक्तं यत्र द्वीपे समुद्रे वा नक्षत्राऽऽदिपरिमाणं ज्ञातुमिष्यते तत्र एकशशिपरिवारभूतनक्षत्राऽऽदिपरिमाणं तावद्भिः शशिभिर्गुणयितव्यमिति । तत एकशशिपरिवारभूतानां ग्रहाऽऽदीनां संख्यामाह-

अट्ठासीतिं च गहा, अट्ठावीसं च हुंति नक्खत्ता ।
एगससीपरिवारो, इत्तो ताराण वोच्छामि ॥ ३० ॥
छावट्ठि सहस्साइं, णव चेव सताइँ पंचसयराइं ।
एगससीपरिवारो, तारागणकोडिकोडीणं ॥३१॥

ता अंतोमणुस्सक्खेत्ते जे चंदिमसूरियगहगणणक्खत्तताराख्वा, ते णं देवा किं उड्ढोववण्णगा, कप्पोववण्णगा, विमाणोववण्णगा, चारोववण्णगा, चारट्ठितिया, गतिरातिया, गतिसमावण्णगा ? । ता ते णं देवा णो उड्ढोववण्णगा, णो कप्पोववण्णगा, विमाणोववण्णगा, चारोववण्णगा, णो चारट्ठितीया, गइरइया, गतिसमावण्णगा उड्ढीमुहकलंबुआपुप्फसंठाणसंठितेहिं जोअणसहस्सिएहिं तावक्खेत्तेहिं साहस्सियाहिं बाहिराहिं वेउव्वियाहिं परिसाहिं महताऽऽहतणट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं महता उक्किट्ठसीहणादबोलकलकलरवेणं अच्छं पव्वतरायं पदाहिणावत्तं मंडलचारं मेरुं अणु परियट्टंति ।

"अट्ठासीतिं च गहा" इत्यादि गाथाद्वयं निगदसिद्धम् । "ता अंतो मणुस्सखेत्ते" इत्यादि । अन्तर्मनुष्यक्षेत्रस्य ये चन्द्रसूर्यग्रहगणनक्षत्रतारारूपा देवास्ते किमूर्द्ध्वोपपन्नाः सौधर्माऽऽदिभ्यो द्वादशभ्यः कल्पेभ्य ऊर्द्ध्वमुपपन्नाः ?, कल्पेषु सौधर्माऽऽदिषु उपपन्नाः कल्पोपपन्नाः ?, विमानेषु सामान्येषूपपन्ना विमानोपपन्नाः ?, चारो मण्डलगत्या परिभ्रमणं, तमुपपन्ना आश्रिताश्चारोपपन्नाः ?, चारस्य यथोक्तरूपस्य स्थितिरभावो येषां ते चारस्थितिकाः ?, अपगतचारा इत्यर्थः । गतौ रतिरासक्तिः प्रीतिर्येषां ते गतिरतिकाः ? । एतेन गतौ रतिमात्रमुक्तम् । सम्प्रति साक्षाद्गतिं प्रश्नयति गतिसमापन्ना गतियुक्ताः ? । एवं प्रश्ने कृते भगवानाह-"ता ते णं देवा" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । ते चन्द्राऽऽदयो देवा नोर्द्ध्वोपपन्नाः, नाऽपि कल्पोपपन्नाः, किं तु विमानोपपन्नाः, चारोपपन्नाश्चारसहिताः, नो चारस्थितिकाः, तथा स्वभावतोऽपि गतिरतिकाः, साक्षाद्गतियुक्ताश्च, ऊर्द्ध्वमुखीकृतकलम्बुकापुष्पसंस्थानसंस्थितैर्योजनसाहस्रिकैरनेकयोजनसहस्रप्रमाणैस्तापक्षेत्रैः, साहस्रिकाभिरनेकसहस्रसंख्याभिर्बाह्याभिः पर्षद्भिः । अत्र बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया, वैकुर्विकाभिर्विकुर्वितनानारूपधारिणीभिः, महता रवेणेति योगः । आहतानि अक्षतानि, अनघानीत्यर्थः । यानि नाट्यानि गीतानि वादित्राणि च, याश्च तन्त्र्यो वीणाः, ये च तलताला हस्ततालाः, यानि च त्रुटितानि शेषाणि तूर्याणि, ये च घना घनाकारा ध्वनिसाधर्म्यात् पटुप्रवादिना निपुणपुरुषप्रवादिता मृदङ्गाः, तेषां रवेण, तथा स्वभावतो गतिरतिकैर्बाह्यपर्षदन्तर्गतैर्देवैर्वेगेन गच्छत्सु विमानेषु उत्कृष्टेन उत्कर्षवशेन यो मुच्यते सिंहनादो, यश्च क्रियते बोलो नाम मुखे हस्तं दत्त्वा महता शब्देन फूत्करणं, यश्च कलकलो व्याकुलशब्दसमूहस्तद्रवेण, मेरुमिति योगः । किंविशिष्टम् ?, इत्याह-अच्छमतीव स्वच्छमतिनिर्मलजाम्बूनदरत्नबहुलत्वात्, पर्वतराजं पर्वतेन्द्रं, प्रदक्षिणावर्त्तं मण्डलचारं यथा भवति तथा मेरुमनु लक्षीकृत्य 'परियट्टंति' पर्यटन्ति । सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० । जी० ।

(बाह्यज्योतिष्कदेवेन्द्रस्थानम् 'इंदट्ठाण' शब्दे द्वितीयभागे ५३५ पृष्ठे गतम्)

ता बहिया णं मणुस्सखेत्तस्स जे चंदिमसूरियगह० जाव ताराख्वा ते णं देवा किं उड्ढोववण्णगा, कप्पोववण्णगा, विमाणोववण्णगा, चारोववण्णगा, चारट्ठितिया, गतिरतिया, गतिसमावण्णगा ? । ता ते णं देवा णो उड्ढोववण्णगा, णो कप्पोववण्णगा, विमाणोववण्णगा, णो चारोववण्णगा, चारट्ठितिया, णो गइरइया, णो गतिसमावण्णगा पक्किट्ठगसंठाणसंठितेहिं जोयणसतसाहस्सिएहिं तावक्खेत्तेहिं सतसाहस्सियाहिं बाहिराहिं वेउव्वियाहिं परिसाहिं महताऽऽहतणट्टगीयवाइय० जाव रवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरंति, सुहलेस्सा मंदलेस्सा [मंदातवलेसा] चित्तंतरलेसा अन्नोण्णसमोगाढाहिं लेस्साहिं कूडा इव ठाणट्ठिता ते पदेसे सव्वतो समंता ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पभासेंति, ता तेसि णं देवाणं जाहे इंदा चयंति

से कहमिदाणिं पकरेंति, ता० जाव चत्तारि पंच सामाणिया देवा तं ठाणं तहेव० जाव छम्मासे ।

" ता बाहिया ण " इत्यादि प्रश्नसूत्रमिदं प्राग्वद् व्याख्येयम् । भगवानाह-"ता ते ण" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । ते मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्वर्तिनश्चन्द्राऽऽदयो देवा नोर्ध्वोपपन्नाः, नापि कल्पोपपन्नाः, किं तु विमानोपपन्नाः । तथा नो चारोपपन्नाश्चारयुक्ताः, किं तु चारस्थितिकाः । अत एव नो गतिरतयो, नापि गतिसमापन्नकाः, पक्केष्टकासंस्थानसंस्थितैर्योजनशतसाहस्रिकैरातपक्षेत्रैर्यथा पक्केष्टका आयामतो दीर्घा भवति, विस्तारतस्तु स्तोका, चतुरस्रा च, तथा तेषामपि मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्व्यवस्थितानां चन्द्रसूर्याणामातपक्षेत्राण्यायामतोऽनेकयोजनशतसहस्रप्रमाणानि, विस्तरत एकयोजनशतसहस्राणि, चतुरस्राणि चेति । तैरित्थंभूतैरातपक्षेत्रैः शतसाहस्रिकाभिरनेकसहस्रसंख्याभिर्बाह्याभिः पर्षद्भिः, अत्रापि बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया । महतेत्यादि पूर्ववत् । दिवि भवान् दिव्यान्, भोगभोगान् भोगार्हान् शब्दाऽऽदीन् भोगान्, भुञ्जाना विहरन्ति । कथंभूताः ?, इत्याह-शुभलेश्याः एतच्च विशेषणं चन्द्रमसः प्रति, तेन नातिशीततेजसः, किं तु सुखोत्पादपरमलेश्याका इत्यर्थः । मन्दा लेश्या रश्मिसंघातो येषां ते तथा । कथंभूताश्चन्द्राऽऽदित्याः ?, इत्याह-चित्रान्तरलेश्याः-चित्रमन्तरं लेश्या च येषां ते तथा । भावार्थश्चास्य पदस्य प्रागेवोपदर्शितः । तत इत्थंभूताश्चन्द्राऽऽदित्याः परस्परमवगाढाभिर्लेश्याभिः । तथाहि-चन्द्रमसां सूर्याणां च प्रत्येकं लेश्या योजनशतसहस्रप्रमाणं, विस्तारश्चन्द्रसूर्याणां च सूचीपङ्क्त्या व्यवस्थितानां परस्परमन्तरं पञ्चाशद्योजनसहस्राणि । ततश्चन्द्रप्रभासंमिश्राः सूर्यप्रभाः, सूर्यप्रभासंमिश्राश्चन्द्रप्रभाः, इत्थं परस्परमवगाढाभिर्लेश्याभिः कूटानि च पर्वतोपरि व्यवस्थितशिखराणीव स्थानस्थिताः सदैव एकत्र स्थाने स्थिताः, तान् प्रदेशान् स्वस्वप्रत्यासन्नान् अवभासयन्ति, उद्द्योतयन्ति, तापयन्ति, प्रकाशयन्ति । "ता तेसि णं जाहे इंदे चयति" इत्यादि प्राग्वद् व्याख्येयम् । सू० प्र० १९ पाहु० । जी० । चं० प्र० ।

(२४) संप्रति चन्द्रसूर्यपाश्च्यवनोपपातौ वक्तव्याविति तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते चयणोववाते आहिए ति वदेज्जा ? । तत्थ खलु इमाओ पणवीसं पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थ एगे एवमाहंसु-ता अणुसमयमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु । एगे पुण एवमाहंसु-ता अणुमुहुत्तमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु जहेव हेट्ठा तहेव० जाव ता एगे पुण एवमाहंसु-ता अणु ओसप्पिणीउस्सप्पिणीमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, एगे एवमाहंसु । वयं पुण एवं वदामो-ता चंदिमसूरिया णं देवा महिड्ढिया महाजुईया महाबला महाजसा महासोक्खा महाणुभावा वरवत्थधरा वरमल्लधरा वरगंधधरा वराभरणधारी अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा ।

"ता कह ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण भगवन् ! त्वया चन्द्राऽऽदीनां च्यवनोपपातौ व्याख्याताविति वदेत् ? । सूत्रे च द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात् । उक्तं च-"बहुवयणेण दुवयणं" इति । एवं प्रश्ने कृते भगवानेतद्विषये यावन्त्यः प्रतिपत्तयः सन्ति तावतीरुपदर्शयति-" तत्थ " इत्यादि । तत्र च्यवनोपपातविषये खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्चविंशतिः प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-"तत्थेगे " इत्यादि । तेषां पञ्चविंशतिपरतीर्थिकानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः-'ता' इति । तेषां प्रथमं स्वशिष्यं प्रत्येकवक्तव्यतोपक्रमे क्रमोपदर्शनार्थम्, अनुसमयमेव चन्द्रसूर्या अन्ये पूर्वोत्पन्नाश्च्यवन्ते च्यवमानाः, अन्ये अपूर्वा उत्पद्यन्ते उत्पद्यमाना आख्याता इति वदेत् । अत्रोपसंहारमाह-'ता' एके एवमाहुः । एके पुनरेवमाहुः-अनुमुहूर्तमेव चन्द्रसूर्या अन्ये पूर्वोत्पन्नाश्च्यवन्ते च्यवमानाः, अन्येऽपूर्वा उत्पद्यन्ते उत्पद्यमाना आख्याता इति वदेत् । उपसंहारमाह-" एगे एवमाहंसु जहा हिट्ठा तहेव० जाव " इत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेण यथा अधस्तात् षष्ठे प्राभृते ओजःसंस्थितौ चिन्त्यमानायां पञ्चविंशतिप्रतिपत्तय उक्तास्तथैवात्रापि वक्तव्याः । "ता अणुओसप्पिणिउस्सप्पिणीमेव " इत्यादि चरमसूत्रम् । ताश्चैवं भणितव्याः-" एगे पुण एवमाहंसु-ता अणुराइंदियमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिया इति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ३ । एगे पुण एवमाहंसु-ताणुपक्खमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिया इति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ४ । एगे पुण एवमाहंसु-ता अणुमासमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ५ । एगे पुण एवमाहंसु-ता अणु उउमेव चंदिमसूरिया अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति, आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ६ । एवं ता अणुअयणमेव ७ । ता अणुसंवच्छरमेव ८ । ता अणुजुगमेव ९ । ता अणुवाससयमेव १० । ता अणुवाससहस्समेव ११ । ता अणुवाससयसहस्समेव १२ । ता अणुपुव्वमेव १३ । ता अणुपुव्वसयमेव १४ । ता अणुपुव्वसहस्समेव १५ । ता अणुपुव्वसयसहस्समेव १६ । ता अणुपलिओवममेव १७ । ता अणुपलिओवमसयमेव १८ । ता अणुपलिओवमसहस्समेव १९ । ता अणुपलिओवमसयसहस्समेव २० । ता अणुसागरोवममेव २१ । ता अणुसागरोवमसयमेव २२ । ता अणुसागरोवमसहस्समेव २३ । ता अणुसागरोवमसयसहस्समेव २४ ।" पञ्चविंशतितमप्रतिपत्तिसूत्रं तु साक्षादेव सूत्रकृता दर्शितम् । तदेवमुक्ताः परतीर्थिकप्रतिपत्तयः । एताश्च सर्वा अपि मिथ्यारूपाः । तत एताभ्यः पृथग्भूतं स्वमतं भगवानुपदर्शयति-" वय पुण " इत्यादि । वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञाना एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह-"ता चंदिम" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । चन्द्रसूर्याः, णमिति वाक्यालङ्कारे । देवा महर्द्धिकाः, महती ऋद्धिर्विमानपरिवाराऽऽदिका येषां ते तथा । तथा महती द्युतिः शरीराऽऽभरणाऽऽश्रिता येषां ते महाद्युतयः, तथा महद् बलं शारीरप्रमाणं येषां ते महाबलाः, तथा महद् विस्तीर्णं सर्वस्मिन्नपि जगति विश्रुतत्वाद् यशः श्लाघा येषां ते महायशसः । तथा महद् भवनपतिव्यन्तरेभ्योऽतिप्रभूतं, तदपेक्षया तेषां प्रशान्तत्वात्, सौख्यं येषां ते महासौख्याः, तथा महान् अनुभावो वैक्रियकरणाऽऽदिविषयोऽचिन्त्यः शक्तिविशेषो येषां ते महानुभावाः । वरवस्त्रमाल्यधरा वरगन्धधरा वराऽऽभरणधरा अव्यवच्छित्तिनयार्थतया द्रव्यास्तिकनयमतेन कालं वक्ष्यमाणप्रमाणं स्वस्वा-

कुर्वन्त्येवच्छेदे, अन्ये पूर्वोत्पन्नाश्च्यवन्ते च्यवमानाः, अन्ये तथा जगत्स्वाभाव्यात् षण्मासादारतो नियमत उत्पद्यन्ते उत्पद्यमाना आख्याता इति वदेत् स्वशिष्येभ्यः । सू० प्र० १७ पाहु० ।

[२५] ता पुक्खरवरोदे णं समुद्दे केवतिया चंदा पभासेंसु वा,पभासंति वा,पभासिस्संति वा पुच्छा तहेव ?। ता पुक्खरोदे णं समुद्दे ण सखेज्जा चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा,पभासिस्संति वा० जाव संखेज्जाओ तारागणकोडिकोडीओ सोभिंसु वा,सोभंति वा, सोभिस्संति वा। एतेणं अभिलावेणं वरुणवरे दीवे वरुणोदे समुद्दे ४, खीरवरे दीवे खीरोदे समुद्दे ५, घतवरे दीवे घतोदे समुद्दे ६, खोतवरे दीवे खोतोदे समुद्दे ७, णंदिस्सरवरे दीवे णंदिस्सरवरे समुद्दे ८,अरुणे दीवे अरुणोदे समुद्दे ९, अरुणवरे दीवे अरुणवरे समुद्दे १०, अरुणवरोवभासे दीवे अरुणवरोवभासे समुद्दे ११, कुंडले दीवे कुंडलोदे समुद्दे १२,कुंडलवरे दीवे कुंडलवरोदे समुद्दे १३,कुंडलवरोवभासे दीवे कुंडलवरोवभासे समुद्दे १४, सव्वेसिं विक्खंभपरिक्खेवजोतिसाइं पुक्खरोदसागरसरिसाइं ।

" सव्वेसिं " इत्यादि । सर्वेषामुक्तस्वरूपाणां द्वीपसमुद्राणामन्यत्र कुण्डलवरावभाससमुद्रपर्यन्तानां विष्कम्भपरिक्षेपज्योतिषाणि पुष्करोदसागरसदृशानि च वक्तव्यानि, सङ्ख्येययोजनप्रमाणो विष्कम्भः, सङ्ख्येययोजनप्रमाणः परिक्षेपः, सङ्ख्येयाश्चन्द्राऽऽदयो वक्तव्या इत्यर्थः। सू० प्र० १६ पाहु०। च०प्र०।

ता रुयगे णं दीवे केवतिया चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा पुच्छा ?। ता रुयगे णं असंखेज्जाइं चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा० जाव असंखेज्जाओ तारागणकोडिकोडीओ सोभं सोभिंसु वा,सोभंति वा, सोभिस्संति वा, एवं रुयगे समुद्दे, रुयगवरे दीवे, रुयगवरोदे समुद्दे,रुयगवरोवभासे दीवे,रुयगवरोवभासे समुद्दे, एवं तिपडोयारा णेतव्वा० जाव सूरे दीवे, सूरोदे समुद्दे, सूरवरे दीवे, सूरवरे समुद्दे, सूरवरोवभासे दीवे, सूरवरोवभासे समुद्दे, सव्वेसिं विक्खंभपरिक्खेवज्जोतिसाइं रुयगवरदीवसरिसाइं ॥

"सव्वेसिं" इत्यादि । सर्वेषां रुचकसमुद्राऽऽदीनां सूर्यवरावभासमसमुद्रपर्यन्तानां विष्कम्भपरिक्षेपज्योतिषाणि रुचकद्वीपसदृशानि वक्तव्यानि, असङ्ख्येययोजनप्रमाणो विष्कम्भोऽसङ्ख्येययोजनप्रमाणः परिक्षेपोऽसङ्ख्येयाः प्रत्येकं चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारका वक्तव्या इति भावः। सू० प्र० १९ पाहु० । च०प्र०।

ता देवे णं दीवे केवतिया चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा पुच्छा तहेव ? । ता देवे णं दीवे असंखेज्जा चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा० जाव असंखेज्जाओ तारागणकोडिकोडीओ सोभं सोभेंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा । एवं देवोदे समुद्दे, णागे दीवे, णागोदे समुद्दे,जक्खे दीवे,जक्खोदे समुद्दे, भूते दीवे,भूतोदे समुद्दे,सयंभूरमणे दीवे,सयंभूरमणे समुद्दे सव्वे देवदीवसरिसा। सू०प्र० १९ पा० । चं०प्र०।जी०।

(२६) चन्द्रसूर्ययोः परिवारो यथा-

एगमेगस्स णं भंते ! चंदिमसूरियस्स केवतिओ णक्खत्तपरिवारो पण्णत्तो ?, केवतिओ महग्गहपरिवारो पण्णत्तो ?, केवतिओ तारागणकोडाकोडीओ परिवारो पण्णत्तो ? । गोयमा ! एगमेगस्स णं चंदिमसूरियस्स-

"अट्ठासीइं च गहा, अट्ठावीसं च होइ णक्खत्ता ।
एगससीपरिवारो, एत्तो ताराणं वोच्छं ॥१॥
छावट्ठिसहस्साइं, णव चेव सयाइँ पंचसयराइं ।
एगससीपरिवारो, तारागणकोडिकोडीणं" ॥२॥

"एगमेगस्स णं भंते ! चंदिमसूरियस्स' इत्यादि। एकैकस्य भदन्त ! चन्द्रसूर्यस्य, अनेन च पदेन यथा नक्षत्राऽऽदीनां चन्द्रः स्वामी, तथा सूर्योऽपि, तस्याऽपीन्द्रत्वादिति ख्यापयन्ति। कियन्ति नक्षत्राणि परिवारः प्रज्ञप्तः ?,कियन्तो महाग्रहा अङ्गारकाऽऽदयः परिवारः प्रज्ञप्तः ?, कियत्यस्तारागणकोटीकोट्यः परिवारः प्रज्ञप्तः ? इह भूयान् पुस्तकेषु वाचनाभेदो,गलितानि च सूत्राणि बहुषु पुस्तकेषु, ततो यथाऽवस्थितवाचनाभेदप्रतिपत्त्यर्थं गलितसूत्रोद्धरणार्थं चैवं सुगमान्यपि विव्रियन्ते । भगवानाह-गौतम ! एकैकस्य चन्द्रसूर्यस्य अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि परिवारः प्रज्ञप्तः, अष्टाशीतिर्महाग्रहाः परिवारः प्रज्ञप्तः । "छावट्ठिसहस्साइं " इति गाथा। षट्षष्टिः सहस्राणि नव चैव शतानि पञ्चसप्ततानि एकशशिपरिवारः तारागणकोटीकोटीनाम्, कोटीकोटीति कोट्य एव सञ्ज्ञा, ततस्तारागणकोटीनामिति द्रष्टव्यम् । जी० ३ प्रति० १ उ० । एते च यद्यपि चन्द्रस्यैव परिवारोऽन्यत्र श्रूयन्ते,तथापि सूर्यस्यापीन्द्रत्वादेत एव परिवारतयाऽवसेया इति । स० ८८ सम० । भ० । सू० प्र० ।

(२७) कीदृशश्चन्द्राऽऽदीनामनुभाव इति, ततस्तद्विषयप्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते अणुभावे आहिते ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमाओ दो पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थ एगे एवमाहंसु-ता चंदिमसूरिया णं णो जीवा, अजीवा, णो घणा, झुसिरा, बादरबोंदिधरा, कलेवरा नत्थि णं तेसिं उट्ठाणे ति वा कम्मे ति वा बले ति वा विरिए ति वा पुरिसक्कारपरक्कमे ति वा,ते णो विज्जुं लवंति,णो असणिं लवंति,णो थणितं लवंति,अहे य णं बादरे वाउकाए समुच्छति,अहे य णं बादरे वाउकाए समुच्छित्ता विज्जुं पि लवंति, असणिं पि लवंति, थणितं पि लवंति, एगे एवमाहंसु । एगे पुण एवमाहंसु-ता चंदिमसूरिया णं जीवा, णो अजीवा, घणा, णो झुसिरा बादरबुंदिधरा, नो कलेवरा अत्थि णं तेसिं उट्ठाणे ति वा कम्मे ति वा बले ति वा विरिए ति वा पुरिसक्कारपरक्कमे ति वा, ते वि विज्जुं पि लवंति, असणिं पि लवंति, थणियं पि लवंति, एगे एवमाहंसु । वयं पुण एवं वदामो-ता चंदिमसूरिया णं देवा महिड्डिया० जाव महाणुभावा वरवत्थधरा वरमल्लधरा वराभरणधारी अव्वोच्छित्तिणयट्ठताए अन्ने चयंति, अन्ने उववज्जंति ।

"ता कह ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण चन्द्राऽऽदीनामनुभावः स्वरूपविशेष आख्यात इति वदेत् ?। एवमुक्ते भगवानाह-एतद्विषये द्वे प्रतिपत्ती। ते उपदर्शयति-" तत्थ खलु " इत्यादि । तत्र चन्द्राऽऽदीनामनुभावविषये खल्विमे द्वे प्रतिपत्ती परतीर्थिकाभ्युपगमरूपे प्रज्ञप्ते । तद्यथा-" तत्थेगे " इत्यादि । तत्र तेषां द्वयानां परतीर्थिकानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः-(ता इति) तेषां परतीर्थिकानां प्रथमं स्वाशिष्यं प्रत्यनेकवक्तव्यतोपक्रमे क्रमोपदर्शनार्थं चन्द्रसूर्यां , णमिति वाक्यालङ्कारे, नो जीवा जीवरूपा , किं त्वजीवाः। तथा नो घनानि निबिडप्रदेशोपचया , किं तु शुषिरा । तथा बादरबोन्दिधरा प्रधानसुजीवशुभ्यकावयवशरीरोपेता., किं तु कलेवरा. कलेवरमात्रास्तथा नास्ति, णमिति वाक्यालङ्कारे,तेषां चन्द्राऽऽदीनाम्, उत्थानमूर्द्धीभवनम्, इतिरुपदर्शने, वाशब्दो विकल्पे, समुच्चये वा। कर्म उत्क्षेपणावक्षेपणादि, बलं शारीरप्रमाणं, वीर्यमान्तरोत्साहः ,(पुरिसक्कारपरक्कमे इति) पुरुषकारः पौरुषाभिमानः, पराक्रमः स एवासाधिताभिमतप्रयोजनः । पुरुषकारश्च पराक्रमश्च पुरुषकारपराक्रममिति। वाशब्द सर्वत्रापि पूर्ववत्। तथा ते चन्द्राऽऽदित्या (नो विज्जुयं लवंति ति) न विद्युतं प्रवर्त्तयन्ति, नाप्यशनिं विद्युद्विशेषरूपं, नापि गर्जितं मेघध्वनिं, किं तु "अहे णं "इत्यादि। चन्द्राऽऽदित्याऽऽदीनामधो,णमिति पूर्ववत्। बादरो वायुकायिकः समूर्च्छति,अधश्च बादरो वायुकायिकः समूर्च्छ्य, (विज्जुं पि लवइ त्ति) विद्युतमपि प्रवर्तयन्ति अशनिमपि प्रवर्तयन्ति, गर्जितमपि प्रवर्त्तयन्ति, विद्युदादिरूपेण परिणमन्ति इति भावः । अत्रोपसंहारमाह-(एगे एवमाहंसु) १। एके पुनरेवमाहुः- 'ता' इति प्राग्वत्। चन्द्रसूर्या ,णमिति वाक्यालङ्कारे,जीवा जीवरूपाः, न पुनरजीवा , यथाऽऽहुः परतीर्थिकाः, तथा घना , न शुषिरा , तथा बादरबोन्दिधराः,न कलेवरमात्राः,तथा अस्ति तेषाम् "उट्ठाणे इति वा" इत्यादि पूर्ववत् व्याख्येयम्।(ते वि विज्जुं पि लवंति) विद्युतमपि प्रवर्त्तयन्ति, अशनिमपि प्रवर्त्तयन्ति, गर्जितमपि प्रवर्तयन्ति। किमुक्तं भवति ?,विद्युदादिकं सर्वं चन्द्राऽऽदित्याः प्रवर्तन्त इति । अत्रोपसंहारमाह-(एगे एवमाहंसु) २। एवं परतीर्थिकप्रतिपत्तिद्वयमुपदर्श्य सम्प्रति भगवान् स्वमतं कथयति-" वयं पुण " इत्यादि । वयं पुनरेवं वदामः। कथं वदथ?, इत्याह-'ता' इति पूर्ववत्, चन्द्रसूर्या ,णमिति वाक्यालङ्कारे, देवा देवस्वरूपाः,न सामान्यतो जीवमात्राः। कथंभूतास्ते देवाः?, इत्याह-महर्द्धिकाः महती ऋद्धिर्विमानपरिवाराऽऽदिका येषां ते तथा (०जाव महाणुभावा इति) यावत्करणात्-"महज्जुइया महाबला महाजसा महेसक्खा " इति द्रष्टव्यम् । तत्र महती द्युतिः शरीराऽऽभरणविषया येषां ते महाद्युतयः। तथा महद् बलं शारीरप्रमाणं येषां ते महाबला , तथा महद् यशः ख्यातिर्येषां ते महायशसः, तथा महेशा इति महान् ईश ईश्वर इत्याख्या येषां ते महेशाख्याः । क्वचित्,"महासोक्खा" इति पाठः । तत्र महत्सौख्यं येषां ते महासौख्याः। तथा महाननुभावो विशिष्टवैक्रियकरणाऽऽदिविषया अचिन्त्या शक्तिर्येषां ते महानुभावा , वरवस्त्रधराः वरमाल्यधरा वराभरणधारिणः, अव्यवच्छित्तिनयार्थतया द्रव्यास्तिकनयमतेन, अन्ये पूर्वोत्पन्ना आयुःक्षयं च्यवन्ते, अन्ये तूत्पद्यन्ते । सू० प्र० २० पाहु० । (ज्योतिष्काणां कामभोगौ ' कामभोग ' शब्दे तृतीयभागे ४४२ पृष्ठे द्रष्टव्यौ)

(२८) सम्प्रति चन्द्रसूर्ययोः संस्थानमभिधित्सुः कथं श्वेततायाः संस्थितिराख्यातेति ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते सेअआए संठिती आहिता ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमा दुविहा संठिती पण्णत्ता । तं जहा-चंदिमसूरियसंठिती य, तावक्खेत्तठिती य। ता कहं ते चंदिमसूरियासंठिती आहिता ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमातो सोलस पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ। तत्थेगे च एवमाहंसु-ता समचउरंससंठिता चंदिमसूरियसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु-ता विसमचउरंससंठिता चंदिमसूरियसंठिती पण्णत्ता २। एवं समचउक्कोणसंठिता ३ विसमचउक्कोणसंठिया ४ समचक्कवालसंठिता ५ विसमचक्कवालसंठिता ६ चक्कद्धचक्कवालसंठिता,एगे एवमाहंसु ७। एगे पुण एवमाहंसु-ता छत्तागारसंठिता चंदिमसूरियसंठिती पण्णत्ता ८,गेहसंठिता ९, गेहावणसंठिता १०, पासादसंठिता ११ गोपुरसंठिया १२ पेच्छाघरसंठिता १३ वलभीसंठिता १४ हम्मियतलसंठिता १५ वालग्गपोतियासंठिता चंदिमसूरियसंठिती पण्णत्ता १६। तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता समचउरंससंठिता चंदिमसूरियसंठिती पण्णत्ता, एतेणं णएणं णेतव्वा,णो चेव णं इतरेहिं ।

"ता कहं ते सेअआए संठिई आहिया ति वदेज्जा ?"। 'ता' इति पूर्ववत्। कथं भगवन् ! त्वया श्वेततायाः संस्थितिराख्याता इति भगवान् वदेत् ?। एवं भगवता गौतमेनोक्ते वर्द्धमानस्वामी भगवानाह-" तत्थ " इत्यादि । तत्र श्वेततायाः विषये खल्विमे वक्ष्यमाणस्वरूपा द्विविधा संस्थितिः प्रज्ञप्ता। तामेव तद्यथेत्यादिनोपदर्शयति । तद्यथेत्यत्र तच्छब्दोऽव्ययम् । ततोऽयमर्थः-सा श्वेतता यथा येन प्रकारेण द्विविधा भवति तथोपदर्श्यते-चन्द्रसूर्यसंस्थितिस्तापक्षेत्रसंस्थितिश्च। इह श्वेतता चन्द्रसूर्यविमानानामपि विद्यते, तत्कृततापक्षेत्रस्य च, ततः श्वेततायोगादुभयमपि श्वेतताशब्देनोच्यते । तेनोक्तप्रकारेण श्वेतता द्विविधा भवति । तत्र चन्द्रसूर्यसंस्थितिविषये प्रश्नयति-" ता कहं ते " इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत्। कथं ते त्वया भगवन् ! चन्द्रसूर्यसंस्थितिराख्याता इति वदेत् ?। इह चन्द्रसूर्यविमानानां संस्थानरूपा संस्थितिः प्रागेवाभिहिता, तत इह चन्द्रसूर्याणां संस्थितिश्चतुर्णामपि अवस्थानरूपा द्रष्टव्या । एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावन्त्यः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयस्तावतीरुपदर्शयति-" तत्थ " इत्यादि । तत्र चन्द्रसूर्यसंस्थितौ विचार्यमाणायां खल्विमाः षोडश प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-एके वादिन एवमाहुः -समचतुरस्रसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिः प्रज्ञप्ता। समचतुरस्रं संस्थितं संस्थानं यस्याश्चन्द्रसूर्यसंस्थितेः सा तथा। अत्रैवोपसंहारवाक्यमाह-"एगे एवमाहंसु १" । एवं सर्वत्रापि प्रत्येकमुपसंहारवाक्यं द्रष्टव्यम् । एके पुनरेवमाहुः -विषमचतुरस्रसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिराख्याता । अत्रापि विषमचतुरस्रं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथेति विग्रहः २ । (एवं समचउक्कोणसंठिय त्ति) एवमुक्तेन प्रकारेणापरेषामभिप्रायेण समचतुष्कोणसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्वक्तव्या । सा चैवम् " एगे पुण एवमाहंसु-समचउक्कोणसंठिआ चंदिमसूरियसंठिई पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । "

अत्र (समचउक्कोणसंठिय त्ति) समाश्चत्वारः कोणा यत्र तत् समचतुष्कोणं, समचतुष्कोणं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथेति विग्रहः ३ । (विसमचउक्कोणसंठिय त्ति) विषमाश्चत्वारः कोणा यत्र तद्विषमचतुष्कोणं, तत्संस्थितं संस्थानं यस्याः चन्द्रसूर्यसंस्थितेः सा तथा, अन्येषामभिप्रायेण वक्तव्या । सा चैवम्- " एगे पुण एवमाहंसु-विसमचउक्कोणसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु"४। (समचक्कवालसंठिय त्ति) समचक्रवालं समचक्रवालरूपं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । अपरेषामभिप्रायेण चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्वक्तव्या । सा चैवम्- " एगे पुण एवमाहंसु-समचक्कवालसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु" ५। (विसमचक्कवालसंठिय त्ति) विषमचक्रवालं विषमचक्रवालरूपं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । अन्येषां मतेन चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्वक्तव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-विसमचक्कवालसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु"६। (चक्कद्धचक्कवालसंठिय त्ति) चक्रस्य रथाङ्गस्य यदर्द्धचक्रवालं चक्रवालस्यार्द्धं तद्रूपं संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अन्येषामभिप्रायेण वक्तव्या। सा चैवम्-"एगे पुण एवमाहंसु-चक्कद्धचक्कवालसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु " ७। "एगे पुण" इत्यादि । एके पुनराहुः-छत्राऽऽकारसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिः प्रज्ञप्ता । अत्रैवोपसंहारः-"एगे एवमाहंसु" ८। (गेहसंठिय त्ति) गेहस्येव वास्तुविद्योपनिबद्धस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । अपरेषां मतेन चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्वक्तव्या । सा चैवम्- "एगे पुण एवमाहंसु-गेहसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु" ९। (गेहावणसंठिय त्ति) गृहयुक्त आपणो गृहाऽऽपणो वास्तुविद्याप्रसिद्धः, तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा। अन्येषामभिप्रायेण वक्तव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-गेहावणसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु" १० । (पासायसंठिय त्ति) प्रासादस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अन्येषामभिप्रायेण वक्तव्या । सा चैवम्-"एगे पुण एवमाहंसु-पासायसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु " ११। (गोपुरसंठिय त्ति) गोपुरस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अन्येषां मतेनाभिधातव्या । सा चैवम्- " एगे पुण एवमाहंसु-गोपुरसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु " १२ । (पेच्छाघरसंठिय त्ति) प्रेक्षागृहस्येव वास्तुविद्याप्रसिद्धस्य संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अपरेषां मतेनाभिधातव्या । तद्यथा-"एगे पुण एवमाहंसु पिच्छाघरसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु " १३ । (वलभीसंठिय त्ति) वलभ्या इव गृहाणामाच्छादनस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । अन्येषां मतेनाभिधातव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-वलभीसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु " १४ । (हम्मियतलसंठिय त्ति) हर्म्यं धनवतां गृहं, तस्य तलमुपरितनो भागस्तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अपरेषामभिप्रायेण वक्तव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-हम्मियतलसंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु " १५ । (वालग्गपोत्तियासंठिय त्ति) वालाग्रपोतिकाशब्दो देशीशब्दत्वादाकाशे तडागमध्ये व्यवस्थितक्रीडास्थानलघुप्रासादमाह, तस्या इव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अपरेषां मतेन अभिधानीया । तद्यथा-"एगे पुण एवमाहंसु-वालग्गपोत्तियासंठिया चंदिमसूरियसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु" १६ । तदेवमुक्ताः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः, एतासां च मध्ये या प्रतिपत्तिः समीचीना तामुपदर्शयति-" तत्थ " इत्यादि । तत्र तेषां षोडशानां परतीर्थिकानां मध्ये ये ते वादिन एवमाहुः-समचतुरस्रसंस्थिता चन्द्रसूर्यसंस्थितिः प्रज्ञप्ता इति, एतेन नयेन नेतव्यम्-एतेनाभिप्रायेणास्मिन्मतेऽपि चन्द्रसूर्यसंस्थितिरवधार्येति भावः। तथाहि-इह सर्वेऽपि कालविशेषाः सुषमाऽऽदयो युगमूला युगस्य चाऽऽदौ श्रावणे मासि बहुलपक्षप्रतिपदि प्रातरुदयसमये एकः सूर्यो दक्षिणपूर्वस्यां दिशि वर्त्तते, तद्द्वितीयस्त्वपरोत्तरस्याम, चन्द्रमा अपि तत्समयमेको दक्षिणापरस्यां दिशि वर्त्तते, द्वितीय उत्तरपूर्वस्याम्, अत एते युगस्याऽऽदौ चन्द्रसूर्याः समचतुरस्रसंस्थिता वर्त्तन्ते, यद्यत्र मण्डलकृतं वैषम्यं, यथा-सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्तेते, चन्द्रमसौ सर्वबाह्ये इति तदल्पमिति कृत्वा न विवक्ष्यते । तदेवमेतत् सकलकालविशेषाणां सुषमसुषमाऽऽदिरूपाणामादिभूतस्य युगस्याऽऽदौ समचतुरस्रसंस्थिताः सूर्याचन्द्रमसौ भवन्ति, ततस्तेषां संस्थितिः समचतुरस्रसंस्थानोपवर्णिता, अन्यथा वा संप्रदाय समचतुरस्रसंस्थितिः परिभावनीयेति । (नो चेव णं इयरेहिं ति) नो चैव-नैव, इतरैः शेषैर्नयैश्चन्द्रसूर्यसंस्थितिर्ज्ञातव्या, तेषां मिथ्यारूपत्वात् । तदेवमुक्ता चन्द्रसूर्यसंस्थितिः । सू० प्र० ४ पाहु० । चं० प्र० । ज० । जी० । (चन्द्रविमानाऽऽदीनां संस्थानाऽऽदि ' जोइसियविमाण ' शब्देऽग्रे वक्ष्यते)

(२९) सम्प्रति चन्द्राऽऽदिचारा वक्तव्या इति, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता कहं ते चारा आहिता ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमा दुविहा चारा पएणत्ता । तं जहा-आदिच्चचारा य, चंदचारा य ॥

" ता कह ते " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत्, कथं केन प्रकारेण किंप्रमाणया संख्यया ?, इत्यर्थः । चारा आख्याता इति वदेत् ?। भगवानाह-"तत्थ" इत्यादि । तत्र चारविचारविषये खल्विमे वक्ष्यमाणस्वरूपा द्विविधा द्विप्रकाराश्चाराः प्रज्ञप्ताः । द्वैविध्यमेवाह-तद्यथा-आदित्यचाराश्चन्द्रचाराश्च । चशब्दौ परस्परसमुच्चये ।

तत्र प्रथमतश्चन्द्रचारपरिज्ञानार्थं तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते चंदचारा आहिते ति वदेज्जा ?। ता पंचसंवच्छरिए णं जुगे अभिइणक्खत्ते सत्तसट्ठिचारे चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ॥

"ता कह ते" इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत्, कथं केन प्रकारेण, कया संख्यया ?, इत्यर्थः । त्वया भगवन् ! चन्द्रचारा आख्याता इति वदेत् ?। भगवानाह-"ता पंच" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत्, पञ्चसांवत्सरिके चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धितचन्द्राभिवर्द्धितरूपपञ्चसंवत्सरप्रमाणे, णमिति वाक्यालङ्कारे, युगेऽभिजिन्नक्षत्रं सप्तषष्टिचारान् यावत् चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति योगमुपपद्यते । किमुक्तं भवति ? चन्द्रोऽभिजिन्नक्षत्रेण सह संयुक्तो युगमध्ये सप्तषष्टिसंख्यान् चारान् चरतीति । कथमेतदवसीयते इति चेत् ?। उच्यते-इह योगमधिकृत्य सकलनक्षत्रमण्डलीपरिसमाप्तिरेकेन नक्षत्रमासेन भवति, नक्षत्रमासाश्च युगमध्ये सप्तषष्टिः, एतावन्ति भाव-

यिष्यते । तत प्रतिनक्षत्रपर्यायमेकैक चारमभिजिता नक्षत्रेण सह चन्द्रस्य योगसंभवाद्रुपपद्यते चन्द्रोऽभिजिता नक्षत्रेण सह सयुक्तो युगमध्ये सप्तषष्टिसङ्ख्यान् चारान् चरतीति । एव प्रतिनक्षत्र भावनीयम् ।

सम्प्रत्यादित्यचारविषय प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते आइच्चचारा आहिते ति वदेज्जा ?। ता पंच-संवच्छरिए णं जुगे अभिईणक्खत्ते पंच चारे सूरेण सद्धिं जोयं जोएति, एवं० जाव उत्तरासाढाणक्खत्ते पंच चारे सूरेण सद्धिं जोय जोएति ॥

" ता कह ते " इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत् । कथ किंप्रमाणया सङ्ख्यया भगवन् ! त्वया आदित्यचारा आख्याता इति वदेत् ?। भगवानाह-" ता पचसवच्छरिए ण " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । पञ्चसांवत्सरिके चन्द्राऽऽदिपञ्चसवत्सरप्रमाणे, युगे युगमध्ये, अभिजिन्नक्षत्र पञ्च चारान् यावत् सूर्येण सह योग युनक्ति । अत्राप्यय भावार्थ -अभिजिता नक्षत्रेण सह सयुक्त. सूर्यो युगमध्ये पञ्चसङ्ख्यान् चारान् चरति । कथमेतदवगम्यते इति चेत् ? । उच्यते-इह योगमधिकृत्य सूर्यस्य सकलनक्षत्रमण्डलीपरिसमाप्तिरेकेन सूर्यसवत्सरेण । सूर्यसवत्सराश्च युगे भवन्ति पञ्च । तत. प्रतिनक्षत्रपर्यायमेकैकचारमभिजिता नक्षत्रेण सह योगस्य सभवाद् घटते अभिजिता नक्षत्रेण सह सयुक्त सूर्यो युगे पञ्च चारान् चरतीति । एव शेषनक्षत्रेष्वपि भावना भावनीया । सू० प्र० १८ पाहु० ।

(३०) सम्प्रति चन्द्रसूर्याऽऽदीना भूमेरूर्द्धमुच्चत्वप्रमाण वक्तव्यमिति ततस्तद्विषय प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते उच्चत्ते आहिते ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमाओ पणवीसं पडिवत्तीओ पन्नत्ताओ । तत्थेगे एवमाहंसु-ता एगं जोयणसहस्सं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं दिवड्ढं चंदे,एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु-ता दो जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं चंदे,एगे एवमाहंसु २। एगे पुण एवमाहंसु--ता तिन्नि जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धुट्ठाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ३ । एगे पुण एवमाहंसु-ता चत्तारि जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धपंचमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ४ । एगे पुण एवमाहंसु-ता पंचजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धछट्ठाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ५। एगे पुण एवमाहंसु-ता छजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धसत्तमाए चंदे, एगे एवमाहंसु ६। एगे पुण एवमाहंसु-ता सत्तजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धट्ठमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ७। एगे पुण एवमाहंसु-ता अट्ठजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धनवमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ८। एगे पुण एवमाहंसु-ता नवजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धदसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु ९। एगे पुण एवमाहंसु-ता दसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धएक्कारस चंदे, एगे एवमाहंसु १०। एगे पुण एवमाहंसु-एक्कारसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धबारस चंदे, एगे एवमाहंसु ११। एतेणं अभिलावेणं णेतव्वं बारस सूरे अद्धतेरस चंदे १२। तेरस सूरे अद्धचोद्दस चंदे १३। चोद्दस सूरे अद्धपण्णरस चंदे १४। पण्णरस सूरे अद्धसोलस चंदे १५। सोलस सूरे अद्धसत्तरस चंदे १६। सत्तरस सूरे अद्धअट्ठारस चंदे १७। अट्ठारस सूरे अद्धएगुणवीसं चंदे १८। एगुणवीसं सूरे अद्धवीसं चंदे १९। वीसं सूरे अद्धएगवीसं चंदे २०। एगवीसं सूरे अद्धबावीसं चंदे २१। बावीसं सूरे अद्धतेवीसं चंदे २२। तेवीसं सूरे अद्धचउवीसं चंदे २३। चउवीसं सूरे अद्धपणवीसं चंदे, एगे एवमाहंसु २४। एगे पुण एवमाहंसु-पणवीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धछव्वीसं चंदे, एगे एवमाहंसु २५ । वय पुण एवं वदामो-ता इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ सत्तणउए जोयणसए उड्ढं उप्पतित्ता हेट्ठिल्ले तारविमाणे चारं चरति, अट्ठजोयणसए उड्ढं उप्पतित्ता सूरविमाणे चारं चरति, अट्ठअसीइए जोयणसए उड्ढं उप्पतित्ता चंदविमाणे चारं चरति, णवजोयणसताइं उड्ढं उप्पतित्ता उवरिं तारविमाणे चारं चरति, हेट्ठिल्लाओ तारविमाणाओ दस जोयणाइं उड्ढं उप्पतित्ता सूरविमाणे चार चरति, नवउत्तिजोयणाइं उड्ढं उप्पतित्ता चंदविमाणे चार चरति, दसुत्तरं जोयणसत उड्ढ उप्पतित्ता उवरिल्ले तारारूवे चार चरति, ता सूरविमाणाओ असीतिजोयणाइ उड्ढं उप्पतित्ता चंदविमाणे चारं चरति, जोयणसतं उड्ढं उप्पतित्ता उवरिल्ले तारारूवे चारं चरति.ता चंदविमाणाओ णं वीसं जोयणाइ उड्ढं उप्पतित्ता उवरिल्ले तारारूवे चारं चरति। एवामेव सपुव्वावरेणं दसुत्तरजोयणसत बाहल्ले तिरियमसंखज्जे जोतिसविसए जोतिसं चारं चरति आहिते ति वदेज्जा ।

" ता कह ते " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण भगवन् ! त्वया भूमरूर्ध्वं चन्द्राऽऽदीनामुच्चत्वमाख्यातमिति वदेत् ?। एव प्रश्ने कृते भगवानतद्विषये यावन्त्य प्रतिपत्तयस्तावतीरुपदर्शयति-" ता तत्थ " इत्यादि । तत्र उच्चत्वविषये खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपा. पञ्चविंशतिप्रतिपत्तय. परतीर्थिकाभ्युपगमरूपा प्रज्ञप्ता । ता एव " तत्थगे " इत्यादिना दर्शयति । तत्रैनेषा पञ्चविंशतिपरतीर्थिकाना मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहु -'ता' इति पूर्ववत् । एकयोजनसहस्रं सूर्यो भूमेरूर्द्धमुच्चत्वेन व्यवस्थितो, द्व्यर्द्धं सार्द्धयोजनसहस्रं भूमेरूर्द्धं चन्द्र । किमुक्त भवति ?-भूमेरूर्द्धं योजनसहस्रे गतेऽत्रान्तरे सूर्यो व्यवस्थित , सार्द्धे च योजनसहस्रगते चन्द्र । सूत्रे च योजनसङ्ख्यापदस्य सूर्याऽऽदिपदस्य च तुल्याधिकरणत्वनिर्देशोऽभेदोपचारात् । यथा पाटलिपुत्राद् राजगृह नवयोजनानीत्यादौ । एवमुत्तरेष्वपि सूत्रेषु भ वनीयम । अत्रोपसहारमाह-" एगे एवमाहंसु १ "। एके पुनरेवमाहु -' ता ' इति

पूर्ववत्। द्वे योजनसहस्रे भूमेरूर्द्ध्वं सूर्यो व्यवस्थितः, अर्द्धतृतीयानि योजनसहस्राणि चन्द्र । अत्रोपसंहारः-" एगे एवमाहंसु २ "। एवं शेषाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि। " एगए " इत्यादि । एतेनानन्तरोदितेनाभिलापेन शेषप्रतिपत्तिगतमपि सूत्रजातं नेतव्यम् । तच्चैवम्-"तिण्णि" इत्यादि । "एगे पुण एवमाहंसु-तिण्णि जोअणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धट्ठाइ चंदे, एगे एवमाहंसु ३ "। " ता चत्तारि " इत्यादि । " एगे पुण एवमाहंसु-ता चत्तारि जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धपंचमाइ चंदे, एगे एवमाहंसु ४ "। " ता पंच " इत्यादि । " एगे पुण एवमाहंसु-ता पंच जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धछट्ठाइ चंदे, एगे एवमाहंसु ५ । एवं छ सूरे अद्धसत्तमाइ चंदे । एगे पुण एवमाहंसु-ता छजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धसत्तमाइ चंदे, एगे एवमाहंसु ६ । सत्त सूरे अद्धट्ठमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता सत्तजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धट्ठमाइ चंदे, एगे एवमाहंसु ७। अट्ठ सूरे अद्धनवमाइ चंदे इति। एगे पुण एवमाहंसु-ता अट्ठजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धनवमाइ चंदे, एगे एवमाहंसु ८। नव सूरे अद्धदसमाइ चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता नवजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धदसमाइ चंदे, एगे एवमाहंसु ९। दस सूरे अद्धएक्कारसाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता दसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धएक्कारसाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १० । एक्कारस सूरे अद्धबारसचंदे इति। एगे पुण एवमाहंसु-ता इक्कारसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धबारस चंदे, एगे एवमाहंसु ११। बारस सूरे अद्धतेरसमाइं चंदे इति। एगे पुण एवमाहंसु-ता बारसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धतेरसमाइ चंदे, एगे एवमाहंसु १२। तेरस सूरे अद्धचउद्दसमाइ चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता तेरसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धचोद्दसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १३। चोद्दस सूरे अद्धपन्नरसमाइ चंदे इति। एगे पुण एवमाहंसु-ता चोद्दसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धपन्नरसमाइ चंदे, एगे एवमाहंसु १४। पन्नरस सूरे अद्धसोलसमाइं चंदे इति। एगे पुण एवमाहंसु-ता पन्नरसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धसोलसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १५। सोलस सूरे अद्धसत्तरसमाइं चंदे इति। एगे पुण एवमाहंसु-ता सोलसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धसत्तरसमाइ चंदे, एगे एवमाहंसु १६। सत्तरसमाइं सूरे अद्धट्ठारसमाइ चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता सत्तरसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धट्ठारसमाइ चंदे, एगे एवमाहंसु १७। अट्ठारस सूरे अद्धएगुणवीसमाइं चंदे इति। एगे पुण एवमाहंसु-ता अट्ठारसजोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धएगुणवीसमाइ चंदे, एगे एवमाहंसु १८ । एगुणवीस सूरे अद्धवीसमाइं चंदे इति। एगे पुण एवमाहंसु-ता एगुणवीस जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु १९। वीस सूरे अद्धएगवीसमाइ चंदे इति। एगे पुण एवमाहंसु-ता वीस जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धएगवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २० । एगवीस सूरे अद्धबावीसाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता इक्कवीस जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धबावीसमाइ चंदे, एगे एवमाहंसु २१ । बावीस सूरे अद्धतेवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता बावीस जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धतेवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २२। तेवीस सूरे अद्धचउवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता तेवीस जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धचउव्वीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २३। चउवीस सूरे अद्धपणवीसमाइं चंदे इति । एगे पुण एवमाहंसु-ता चउव्वीसं जोयणसहस्साइं सूरे उड्ढं उच्चत्तेण अद्धपणवीसमाइं चंदे, एगे एवमाहंसु २४ । पंचविंशतितमप्रतिपत्तिसूत्रं तु साक्षाद्दर्शयति-" एगे पुण एवमाहंसु-ता पणवीस" इत्यादि । एतानि च सूत्राणि सुगमत्वात्स्वयं भावनीयानि। तदेवमुक्ताः परप्रतिपत्तयः। संप्रति स्वमतं भगवानुपदर्शयति-वयं पुनरुत्पन्नकेवलाविदस्तु एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह-" ता इमीसे " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्द्ध्वं सप्तयोजनशतानि नवत्यधिकानि उत्प्लुत्य गत्वा, अत्रान्तरेऽधस्तनं ताराविमानं चारं चरति-मण्डलगत्या परिभ्रमणं प्रतिपद्यते, तथा अस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्द्ध्वमष्टौ योजनशतान्युत्प्लुत्यात्रान्तरे सूर्यविमानं चारं चरति । तथा अस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्द्ध्वमष्टौ योजनशतान्यशीत्यधिकानि उत्प्लुत्यात्रान्तरे चन्द्रविमानं चारं चरति, तथा अस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्द्ध्वं परिपूर्णानि नवयोजनशतान्युत्प्लुत्यात्रान्तरे सर्वोपरितनं ताराविमानं चारं चरति, अधस्तनात्ताराविमानादूर्द्ध्वं दशयोजनान्युत्प्लुत्यात्रान्तरे सूर्यविमानं चारं चरति । तत एवाधस्तनात् ताराविमानान्नवतियोजनान्यूर्द्ध्वमुत्प्लुत्यात्रान्तरे चन्द्रविमानं चारं चरति। तत एव सर्वाधस्तनात्ताराविमानाद्दशोत्तरं योजनशतमूर्द्ध्वमुत्प्लुत्यात्रान्तरे सर्वोपरितनं ताराविमानं चारं चरति । "ता सूरविमाणाओ" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत् । सूर्यविमानादूर्द्ध्वमशीतियोजनशतान्युत्प्लुत्यात्रान्तरे चन्द्रविमानं चारं चरति। तस्मादेव सूर्यविमानादूर्ध्वं योजनशतमुत्प्लुत्यात्रान्तरे सर्वोपरितनं तारारूपं ज्योतिश्चक्रं चारं चरति। "ता चंदविमाणाओ" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत् । चन्द्रविमानादूर्द्ध्वं विंशतियोजनशतानि उत्प्लुत्यात्रान्तरे सर्वोपरितनं ताराविमानं ज्योतिश्चक्रं चारं चरति (एवामेवेत्यादि) एवमेव उक्तेनैव प्रकारेण (सपुव्वावरेण ति) सह पूर्वापरेण वर्त्तत इति सपूर्वं, सपूर्वं च तत् अपरं च सपूर्वापरं, तेन पूर्वापरमीलनेनेत्यर्थः । दशोत्तरयोजनशतबाहल्येन । तथाहि-सर्वाधस्तनात्तारारूपाद् ज्योतिश्चक्रादूर्द्ध्वं दशभिर्योजनैः सूर्यविमानं, ततोऽप्यशीत्या योजनैश्चन्द्रविमानं, ततो विंशत्या सर्वोपरितनं तारारूपं ज्योतिश्चक्रचारविषयस्य दशोत्तरं योजनशतं बाहल्यं, तस्मिन् दशोत्तरे योजनशतबाहल्ये । पुनः कथंभूते ? इत्याह-तिर्यगसंख्येये योजनकोटाकोटीप्रमाणे ज्योतिर्विषये मनुष्यक्षेत्रविषयं ज्योतिश्चक्रं चारं चरति, चारं चरन्मनुष्यक्षेत्राद् बहिः पुनरवस्थितमास्यात इति वदेत् । सू० प्र० १८ पाहु० । चं० प्र० । जं० । जी० ।

धरणियलाउ समाओ, सत्त उ नउएहिँ जोयणसएहिं ।
हिट्ठिल्लो होइ तलो, सूरो पुण अट्ठहिँ सएहिं ॥ ७४ ॥
अट्ठसए आसीए, चंदो तह चेव होइ उवरितले ।
एगं दसुत्तरसयं, बाहल्लं जोइसस्स भवे ॥ ७५ ॥
द्वी० प०।

(३१) देवसामर्थ्यप्रस्तावात्तदैव ज्योतिष्कानधिकृत्याऽऽह–

ता अत्थि ण चंदिमसूरियाणं देवाणं हिट्ठं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि, सम पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि, उप्पिं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि ?। ता अत्थि। ता कह ते चंदिमसूरियाणं देवाण हिट्ठ पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि, समं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि, उप्पिं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि ?। ता जहा जहा णं तेसिं णं देवाणं तवणियमबंभचेराइं ऊसियाइं भवंति, तहा तहा णं तेसिं देवाणं एवं भवति, तं अणुत्ते वा तुल्लत्ते वा, ता एवं खलु चंदिमसूरियाणं देवाणं हिट्ठं पि तारारूवा अणुं पि तुल्ला वि ॥

"ता अत्थि ण" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। अस्त्येतद् भगवन्! यदुत चन्द्रसूर्याणा देवानां (हिट्ठ पि त्ति) क्षेत्रापेक्षया अधस्तना अपि तारारूपविमानाधिष्ठातारो देवा द्युतिविभवलेश्याऽऽदिकमपेक्ष्य केचिदणवोऽपि लघवोऽपि, भवन्तीत्यर्थः। केचित्तुल्या अपि भवन्ति। तथा सममपि चन्द्रविमानैः सूर्यविमानैश्च क्षेत्रापेक्षया समश्रेण्याऽपि ये व्यवस्थितास्तारारूपास्ताराविमानाधिष्ठातारो देवा, तेऽपि चन्द्रसूर्याणा देवाना द्युतिविभवाऽऽदिकमपेक्ष्य केचिदणवोऽपि भवन्ति, केचित्तुल्या अपि, इति गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह–(ता अत्थि त्ति) यदेतत् त्वया पृष्टं तत्सर्वं तथैवास्ति। एवमुक्ते पुन प्रश्नयति–"ता कह ते" इत्यादि सुगमम्। भगवानाह–"ता जह जहा" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। यथा यथा। णमिति वाक्यालङ्कारे। तेषा देवानां तारारूपविमानाधिष्ठातृणा प्राग्भवे तपोनियमब्रह्मचर्याणि उच्छ्रितानि उत्कटानि भवन्ति, तथा तथा तेषा देवाना तस्मिन् तारारूपविमानाधिष्ठातृभावे एव भवति, यथा-अणुत्व वा, तुल्यत्व वा। किमुक्त भवति?–यैः प्राग्भवे तपोनियमब्रह्मचर्याणि मन्दानि कृतानि ते तारारूपविमानाधिष्ठातृदेवभवमनुप्राप्ताश्चन्द्रसूर्येभ्यो देवेभ्यो द्युतिविभवाऽऽदिकमपेक्ष्य हीना भवन्ति, यैस्तु भवान्तरे तपोनियमब्रह्मचर्याणि अत्युत्कटान्यासेवितानि ते तारारूपविमानाधिष्ठातृरूप देवत्वमनुप्राप्ता द्युतिविभवाऽऽदिकमपेक्ष्य चन्द्रसूर्यैर्देवैः सह समाना भवन्ति। न चैतदनुपपन्नम्। दृश्यन्ते हि मनुष्यलोकेऽपि केचिज्जन्मान्तरोपचिततथाविधपुण्यप्राग्भारा राजत्वमप्राप्ता अपि राज्ञा सह तुल्यद्युतिविभवा इति। "ता एव खलु" इत्यादि निगमनवाक्य सुगमम्। सू० प्र० १७ पाहु०। च० प्र०। जी०। जं०। (मन्दराद्यपेक्षया ज्योतिष्काणा चारः 'अबाहा' शब्दे प्रथमभागे ६८९ पृष्ठे प्ररूपित)

[३२] ता जंबुद्दीवे णं दीवे कतरे णक्खत्ते सव्वब्भंतरिल्लं चारं चरति, कतरे णक्खत्ते सव्वबाहिरिल्लं चार चरति, कयरे णक्खत्ते सव्वुवरिल्लं चार चरति, कयरे णक्खत्ते सव्वहेट्ठिल्लं चार चरति ?। अभिई णक्खत्ते सव्वब्भंतरिल्लं चारं चरति, मूले णक्खत्ते सव्वबाहिरिल्लं चारं चरति, साती-णक्खत्ते सव्वुवरिल्लं चार चरति, भरणीणक्खत्ते सव्वहेट्ठिल्लं चार चरति।

"ता जंबुद्दीवे ण दीवे कयरे नक्खत्ते" इत्यादि सुगमम्। नवरम्, अभिजिन्नक्षत्र सर्वाभ्यन्तरं नक्षत्रमण्डलिकामपेक्ष्य, एव मूलाऽऽदीनि सर्वबाह्याऽऽदीनि वेदितव्यानि। सू० प्र० १८ पाहु०। उक्त च–"सव्वब्भतरभिई, मूलो पुण सव्वबाहिरो भमइ। सव्वोवरिं च साई, भरणी पुण सव्वहिट्ठिमया" ॥ ६६ ॥ द० प०। च० प्र०। जी०।

(३३) चन्द्र. सूर्यो वा कियत्क्षेत्र प्रकाशयतीति ततस्तद्विषय प्रश्नसूत्रमाह–

ता केवतियं खेत्तं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति, आहिता ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमाओ बारस पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ। तत्थेगे एवमाहंसु–ता एगं दीवं एगं समुद्द चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति, एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु–ता तिण्णि दीवे तिण्णि समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति, एगे एवमाहंसु २। एगे पुण एवमाहंसु–ता अद्धुट्ठे दीवे अद्धुट्ठे समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति, एगे एवमाहंसु ३। एगे पुण एवमाहंसु–ता सत्त दीवे सत्त समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ४। एगे पुण एवमाहंसु–दस दीवे दस समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ५। एगे पुण एवमाहंसु–ता बारस दीवे बारस समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ६। एगे पुण एवमाहंसु–ता बायालीसं दीवे बायालीसं समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ७। एगे पुण एवमाहंसु–बावत्तरिं दीवे बावत्तरिं समुद्दे चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ८। एगे पुण एवमाहंसु–ता बायालीसं दीवसतं बायालीसं समुद्दसतं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ९। एगे पुण एवमाहंसु–ता बावत्तरिं दीवसतं बावत्तरिं समुद्दसतं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु १०। एगे पुण एवमाहंसु–ता बायालीसं दीवसहस्सं बायालीसं समुद्दसहस्सं चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु ११। एगे पुण एवमाहंसु–ता बावत्तरिं दीवसहस्स बावत्तरिं समुद्दसहस्स चंदिमसूरिया ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पगासेंति एके, एगे एवमाहंसु १२।

"ता केवइय" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। कियत्क्षेत्र, चन्द्रसूर्यबहुवचन जम्बूद्वीपे चन्द्रद्वयस्य सूर्यद्वयस्य च भावात्। अवभासयन्ति, तत्रावभासो ज्ञानस्यापि प्रतिभासो व्यवह्रियते, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह-उद्द्योतयन्ति, स चोद्द्योतो यद्यपि लो-

के भेदेन प्रसिद्धो, यथा-सूर्यगत आतप इति, चन्द्रगतः प्रकाश इति, तथाप्यातपशब्दश्चन्द्रप्रभायामपि वर्त्तते । यदुक्तम्—" चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना, तथा चन्द्रातपः स्मृतः ।" इति। प्रकाशशब्दः सूर्यप्रभायामपि, एतच्च प्रायो बहूनां सुप्रतीतं, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थमुभयसाधारणं भूयोऽप्येकार्थिकद्वयमाह-तापयन्ति प्रकाशयन्ति आख्याता इति । इहाऽऽख्याता इति वाच्यन्तपदेनापि सह नामपदस्य समन्वयो भवति । तत एवमर्थयोजना द्रष्टव्या-कियत्क्षेत्रं चन्द्रसूर्यौ अवभासयन्त उद्द्योतयन्तस्तापयन्तः प्रकाशयन्त आख्याता भगवतेति भगवान् वदेत् ?। एवं गौतमेनोक्ते भगवानेतद्विषये परतीर्थिकप्रतिपत्तीनां मिथ्याभावोपदर्शनाय प्रथमतस्ता एवोपन्यस्यति-"तत्थ" इत्यादि। तत्र चन्द्रसूर्याणां क्षेत्रावभासनविषये इमाः खलु द्वादश प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-"तत्थ" इत्यादि। तत्र तस्यां द्वादशानां परतीर्थिकानां मध्ये एके प्रथमास्तीर्थान्तरीया एवमाहुः-एकं द्वीपमेकं समुद्रं चन्द्रसूर्यौ अवभासयन्तौ, उद्द्योतयन्तौ, तापयन्तौ, प्रकाशयन्तौ। सूत्रे द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात्। उक्तं च-"बहुवयणे दुवयणं" इत्यादि। द्विवचनं चात्र तात्त्विकमवसेयम्, परतीर्थिकैरेकस्य चन्द्रमस एकस्य च सूर्यस्याभ्युपगमात्। सम्प्रति अस्यैव प्रथममतस्योपसंहारमाह-(एगे एवमाहंसु) एवं सर्वाण्युपसंहारवाक्यानि भावनीयानि । १ । एके द्वितीयाः पुनरेवमाहुः- त्रीन् द्वीपान् त्रीन् समुद्रान् चन्द्रसूर्यौ, अवभासयत उद्द्योतयतस्तापयतः प्रकाशयत इति । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् २। तद्यथा-एके पुनस्तृतीयाः एवमाहुः-(अद्धचउत्थे इति) अर्द्धं चतुर्थं येषां ते अर्द्धचतुर्थाः, अयं परिपूर्णांस्त्रीन् चतुर्थस्य चार्द्धमित्यर्थः । अर्द्धचतुर्थान् द्वीपान्, अर्द्धचतुर्थान् समुद्रान् चन्द्रसूर्यावभासयत इत्यादि प्राग्वत् ।३। एके चतुर्थाः पुनरेवमाहुः- सप्त द्वीपान् सप्त समुद्रान् चन्द्रसूर्यावभासयतः । ४ । एके पुनः पञ्चमा एवमाचक्षते-दश द्वीपान् दश समुद्रान् चन्द्रसूर्यावभासयतः । ५ । एके पुनः षष्ठा एवमभिदधति-द्वादश द्वीपान् द्वादश समुद्रान् चन्द्रसूर्यावभासयतः । ६ । एके पुनः सप्तमा एवं भाषन्ते-द्विचत्वारिंशतं द्वीपान् द्विचत्वारिंशतं समुद्रान् चन्द्रसूर्यावभासयतः ।७। एके पुनरष्टमा एवमाहुः-द्वासप्ततिं द्वीपान् द्वासप्ततिं समुद्रान् चन्द्रसूर्यावभासयतः ।८। एके पुनर्नवमा एवमाहुः-द्विचत्वारिंशदधिकं द्वीपशतं द्विचत्वारिंशदधिकं समुद्रशतं चन्द्रसूर्यावभासयतः । ९ । एके पुनर्दशमा एवं जल्पन्ति-द्वासप्ततं द्वासप्तत्यधिकं द्वीपशतं द्वासप्तत्यधिकं समुद्रशतं चन्द्रसूर्यावभासयतः ।१०। एके एकादशाः पुनरेवमाहुः-द्वाचत्वारिंशद्द्वाचत्वारिंशत्यधिकं द्वीपसहस्रं द्वाचत्वारिंशत्यधिकं समुद्रसहस्रं चन्द्रसूर्यावभासयतः । ११ । एके द्वादशाः पुनरेवमाहुः-द्वासप्ततिं द्वासप्तत्यधिकं द्वीपसहस्रं द्वासप्तत्यधिकं समुद्रसहस्रं चन्द्रसूर्यावभासयतः १२ ।

एताश्च सर्वा अपि प्रतिपत्तयो मिथ्यारूपाः, तथा च भगवानेता व्युदस्य स्वमतं भिन्नमेव कथयति-

वयं पुण एवं वदामो-ता अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं० जाव परिक्खेवेणं पण्णत्ते। से णं एगाए जगतीए सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते सा णं जगती तहेव जहा जंबुद्दीवपण्णत्तीए० जाव एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे चोद्दस सलिलासयसहस्सा छप्पन्नं च सलिलासहस्सा भवंतीति मक्खाता, जंबुद्दीवे णं दीवे पंच चक्कभागे संठिता आहिता ति वदेज्जा। ता कहं जंबुद्दीवे दीवे पंचचक्कभागसंठिते आहिता ति वदेज्जा ?। ता जया णं एते दुवे सूरिया सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति, तदा णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स तिण्णि पंचचक्कभागे ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पभासेंति त एगे वि एगं दिवड्ढं पंचचक्कभागं ओभासेंति एके, एगे वि एगं दीवड्ढं पंचचक्कभागं ओभासेति एकं । तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ, ता जया णं एते दुवे सूरिया सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति, तदा णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स दोण्णि पंचचक्कभागे ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पभासेंति। तं एगे वि एगं पंचचक्कभागं ओभासति, उज्जोवेइ, तवेइ, पभासेइ, एगे वि एगं पंचचक्कभागं ओभासेइ एगं, तता णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति।

" वयं पुण " इत्यादि । वयं पुनरुत्पन्नकेवलचक्षुषः केवलचक्षुषा यथाऽवस्थितं जगदुपलभ्य, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामः। तमेव प्रकारमाह-"ता अयं णं" इत्यादि । अत्र (जहा जंबुद्दीवपण्णत्तीए त्ति) यथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ-"अयं णं जंबुद्दीवे दीवे" इत्यारभ्य यावत् "एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे चोद्दस सलिलासयसहस्सा छप्पन्नं च सलिलासहस्सा भवंतीति मक्खाया" इत्युक्तम्। तथा एतावद्ग्रन्थसहस्रचतुष्टयप्रमाणमपि वक्तव्यं, परं ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते, केवलं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिपुस्तकमेव निरीक्षणीयमिति । अयमवरूपो जम्बूद्वीपः पञ्चसंख्यैः पञ्चभिश्चक्रभागैश्चक्रवालभागैः संस्थित आख्यातो मया इति वदेत्स्वशिष्येभ्यः पुरतः। एवमुक्ते भगवान् गौतमः स्वशिष्याणां स्पष्टावबोधार्थं भूयः पृच्छति-"ता कहं" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत् । कथं भगवन् ! त्वया जम्बूद्वीपो द्वीपः पञ्चचक्रभागसंस्थित आख्यात इति वदेत् ?। भगवानाह-"ता जया णं" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत् । यदा णमिति वाक्यालङ्कारे, एतौ प्रवचनवेदिनां प्रसिद्धौ द्वौ सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः, तदा तौ समुदितौ द्वावपि सूर्यौ जम्बूद्वीपस्य त्रीन् पञ्चचक्रवालभागान् अवभासयतः, उद्द्योतयतः, तापयतः, प्रकाशयतः। कथं प्रकाशयतः ?, इति परप्रश्नावकाशमाशङ्क्य एतदेव विभागत आह-"एगे वि" इत्यादि । एकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य एकं पञ्चमं चक्रवालभागं द्व्यर्द्धमिति द्वितीयमर्द्धं यस्य स द्व्यर्द्धः पूरणार्थो वृत्तावन्तर्भूतो, यथा-तृतीयो भागस्त्रिभाग इत्यत्र, तम् । अत्र च भावार्थः-एकपञ्चमं चक्रवालभागं द्वितीयस्य पञ्चमस्य चक्रवालभागस्यार्द्धेन सहितं प्रकाशयति । तथा एकोऽपि अपरोऽपि, द्वितीयोऽपीत्यर्थः । एकं पञ्चमं चक्रवालभागं द्व्यर्द्धं प्रकाशयतीति, उभयप्रकाशितभागमीलने परिपूर्णं भागत्रयं प्रकाश्यं भवति। इयमत्र भावना जम्बूद्वीपगतं प्रकाश्यं चक्रवालं षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागं कल्प्यते ३६६०। तस्य पञ्चमो भागो द्वात्रिंशदधिकसप्तशतप्रमाणः ७३२, सार्द्धं सत्र

भागानामधिकसहस्रभागमान- १०९८। तत- सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्तमान एकोऽपि सूर्य- षट्त्रिंशच्छतसंख्याना भागानामष्टानवत्यधिक सहस्र प्रकाशयति, द्वितीयोऽप्यष्टानवत्यधिक सहस्रम्, उभयमीलने एकविंशतिशतानि षण्णवत्यधिकानि २१९६ प्रकाश्यमानानि लभ्यन्ते, तदा च द्वौ पञ्चचक्रवालभागौ रात्रिः । तद्यथा-एकतोऽपि पञ्चमो भागो द्वात्रिंशदधिकसप्तशतभागसंख्या रात्रि, परतोऽपि एक पञ्चमो भागो द्वात्रिंशदधिकसप्तशतभागसंख्यौ रात्रि ,उभयमीलने चतुर्दशशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि भवन्ति । १४६४ । षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागानां रात्रिः, सर्वभागमीलने षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि भवन्ति । सम्प्रति तत्र दिवसरात्रिप्रमाणमाह-" तया ण " इत्यादि । तदाऽऽभ्यन्तरमण्डलचारकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्तः परमप्रकर्षप्राप्त उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति । जघन्या द्वादश मुहूर्ता रात्रि । ततो द्वितीये अहोरात्रे द्वितीयमण्डले वर्तमान एकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपस्यैक पञ्चम चक्रवालभागं सार्द्धषष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागद्वयहीन प्रकाशयति । अपरोऽपि सूर्य एक पञ्चम चक्रवालभाग सार्द्धषष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागद्वयहीन प्रकाशयति । तृतीये अहोरात्रे तृतीये मण्डले वर्त्तमान एकोऽपि सूर्य एक पञ्चमं चक्रवालभाग सार्द्धे षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागचतुष्टयन्यून प्रकाशयति । अपरोऽप्येक पञ्चम चक्रवालभाग सार्द्धषष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागचतुष्टयन्यून प्रकाशयति । एव प्रत्यहोरात्रमेकैक' सूर्य- षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागद्वयमोचनेन प्रकाशयन् तावदवसेयो यावत्सर्वबाह्यं मण्डल सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परतस्त्र्यशीत्यधिकशततमं, तत- प्रतिमण्डल भागद्वयमोचनेन यदा सर्वबाह्य मण्डले चरति, तदा त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि भागानां त्रुट्यन्ति, त्र्यशीत्यधिकस्य शतस्य द्वाभ्यां गुणने एतावत्या' संख्याया भावात् । त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि पञ्चमचक्रवालभागस्य द्वात्रिंशदधिकसप्तशतभागप्रमाणस्यार्द्धं परिपूर्णं तत्र मण्डले त्रुट्यतीति एक एव परिपूर्णः पञ्चमचक्रवालभागस्तत्र प्रकाश्य- । तथा चाह-" ता जया ण " इत्यादि । तत्र यदा, णमिति पूर्ववत् । एतौ प्रवचनप्रसिद्धौ द्वावपि सूर्यौ सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चार चरत-, तदा तौ समुदितौ जम्बूद्वीपस्य द्वौ चक्रवालपञ्चमभागौ अवभासयत उद्द्योतयतस्तापयतः प्रकाशयत- । तद्यथा-एकोऽपि सूर्य एक पञ्चम चक्रवालभाग प्रकाशयति । एकोऽपि अपरोऽपि,द्वितीयोऽपीत्यर्थः । एक पञ्चम चक्रवालभाग प्रकाशयति । " तया ण " इत्यादि । तदा सर्वबाह्यमण्डलचारकाले उत्तमकाष्ठाप्राप्ता उत्कर्षिका अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रि-, जघन्यतो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवस । इह यथा निष्क्रामतो- सूर्ययोर्जम्बूद्वीपविषयप्रकाशविधिः क्रमेण हीयमान उक्तः, तथा सर्वबाह्याद् मण्डलादभ्यन्तर प्रविशतोः क्रमेण वर्द्धमानो वेदितव्य- । तद्यथा-द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीये अहोरात्रे सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाकनेऽनन्तरे द्वितीये मण्डले वर्त्तमान एकोऽपि सूर्य एक जम्बूद्वीपस्य पञ्चम चक्रवालभाग षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतसप्तभागसत्कभागद्वयाधिक प्रकाशयति । अपरोऽपि सूर्य एकं पञ्चमं चक्रवालभाग षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतसंख्यभागसत्कभागद्वयाधिक प्रकाशयति । द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीयेऽहोरात्रे सर्वबाह्याद् मण्डलादर्वाकने तृतीये मण्डले वर्त्तमान एक पञ्चम चक्रवालभाग षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छत-

सख्यभागसत्कभागचतुष्टयाधिक प्रकाशयति । अपरोऽपि सूर्यः परत एक पञ्चम चक्रवालभाग यथोक्तभागचतुष्टयाधिक प्रकाशयति । एव प्रतिमण्डलमेकैकः सूर्य' षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतभागसत्कभागद्वयवर्द्धनेन प्रकाशयन् तावदवसेयो यावत्सर्वाभ्यन्तर मण्डलम् । तस्मिंश्च सर्वाभ्यन्तरे मण्डले द्वितीयस्य पञ्चमचक्रवालभागस्यार्द्धं परिपूर्णं भवति । तत एकोऽपि सूर्यस्तत्र मण्डले एक पञ्चम चक्रवालभाग सार्द्धं जम्बूद्वीपस्य प्रकाशयत्यपरोऽप्येक पञ्चम चक्रवालभाग सार्द्धम् । तथा जम्बूद्वीपस्य दश भागान् परिकल्प्यान्यत्राप्युक्तम्-

" छच्चेव चउदसभागे, जम्बूदीवस्स दो वि दिवसयरा ।
तार्विति दित्तलेसा, अब्भितरमण्डले सता ॥ १ ॥
चत्तारि य दसभागे, जम्बूदीवस्स दो वि दिवसयरा ।
तार्विति सतलेसा, बाहिरए मण्डले सता ॥ २ ॥
छत्तीसे भागसए, सट्ठे काऊण जम्बुदीवस्स ।
तिरिय तत्तो दो भा-गे वड्ढइ व हायइ वा ॥ ३ ॥ "

सू० प्र० ३ पाहु०। च० प्र० । (चन्द्रसूर्ययोर्दक्षिणोत्तरचाराः ' अयण ' शब्दे प्रथमभागे ७५० पृष्ठे द्रष्टव्याः)

(३४) अथ जम्बूद्वीपे चन्द्राऽऽदीनां चारक्षेत्रविष्कम्भमानमाह-

दीवे असिइसयं जो-यणाण तीसऽहिअ तिन्नि सय लवणे। खित्तं पणसय दसऽहिअ,भागा अडयाल इगसट्ठी ॥ ८ ॥

द्वीपे जम्बूद्वीपे चन्द्रयो सूर्ययोश्च क्षेत्र चारक्षेत्र विष्कम्भतोऽशीत्यधिक शत योजनानां १८०, लवणे च त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि योजनानाम् ३३० । उभयोर्मीलने दशाधिकानि पञ्चशतानि योजनानामष्टचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य ५१० । $\frac{४८}{६१}$ । नक्षत्राणामपि चारक्षेत्रमेतदेव, सर्वाभ्यन्तरसर्वबाह्यमण्डलयो- परस्पर दशाधिकपञ्चशतयोजनप्रमाणान्तरालत्योक्तत्वात । ग्रहाणां तारकाणा च चारक्षेत्रविष्कम्भमान व्यक्तया शास्त्रेषु नोपलभ्यत इति । म० ।

(३५) (ज्योतिष्काणामल्पबहुत्व 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६४१ पृष्ठे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिपाठतो गतार्थम्, न तत इह ग्रन्थान्तरपाठो वितन्यतेऽतस्तत एवावधार्यम्)

(३६) सम्प्रति चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराणा क शीघ्रगतिर्भगवताख्यात इति, ततस्तद्विषय प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते सिग्घगती वत्थु आहिते ति वदेज्जा ? । ता एतेसि णं चंदिमसूरियगहगणणक्खत्ततारारूवाणं चंदेहिंतो सूरा सिग्घगती, सूरेहिंतो गहा सिग्घगती, गहेहिंतो णक्खत्ता सिग्घगती, णक्खत्तेहिंतो तारा सिग्घगती, सव्वऽप्पगती चंदा, सव्वसिग्घगती तारा ।

"ता कह ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं भगवन् ! त्वया चन्द्रसूर्याऽऽदिक वस्तु शीघ्रगत्यात्मक शीघ्रगति आख्यात इति वदेत् ? । भगवानाह -" ता एएसि ण " इत्यादि । एतेषां चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारकाणां पञ्चाना मध्ये चन्द्रेभ्य- सूर्या- शीघ्रगतयः , सूर्येभ्योऽपि ग्रहा- शीघ्रगतय-, ग्रहेभ्योऽपि नक्षत्राणि शीघ्रगतीनि, नक्षत्रेभ्योऽपि तारा शीघ्रगतय । अत एवैतेषां पञ्चानां मध्ये सर्वाल्पगतयश्चन्द्राः,सर्वशीघ्रगतयस्तारा- ।

(३७) एतस्यैवार्थस्य सविशेषपरिज्ञानाय प्रश्न करोति-

ता एगमेगेणं मुहुत्तेणं चंदे केवतियाइं भागसताइं ग-

च्छति ? । ता जं जं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तस्स तस्स मंडलपरिक्खेवस्स सत्तरस अट्ठट्ठे भागा सते गच्छति, मंडलं सतसहस्सेणं अट्ठाणउतीए सतेहिं छेत्ता । ता एगमेगेणं मुहुत्तेणं सूरिए केवतियाइं भागसताइं गच्छति । ता जं जं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तस्स तस्स मंडलपरिक्खेवस्स अट्ठारस तीसे भागसते गच्छति, मंडलं सतसहस्सेणं अट्ठाणउतिसतेहिं छेत्ता । ता एगमेगेणं मुहुत्तेणं णक्खत्ते केवतियाइं भागसताइं गच्छति ? । ता जं जं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तस्स तस्स मंडलस्स परिक्खेवस्स अट्ठारसपणतीसे भागसते गच्छति, मंडलं सतसहस्सेणं अट्ठाणउतिसतेहिं छेत्ता ।

"ता एगमेगेण" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकेन मुहूर्तेन चन्द्रः कियन्ति मण्डलस्य भागशतानि गच्छति ? । भगवानाह-"ता जं जं" इत्यादि । यद्यद् मण्डलमुपसंक्रम्य चन्द्रश्चारं चरति, तस्य तस्य मण्डलस्य सम्बन्धिनः परिक्षेपस्य परिधेः सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि भागानां गच्छति, मण्डलं मण्डलपरिक्षेपमेकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैश्छित्त्वा विभज्य । इयमत्र भावना-इह प्रथमतश्चान्द्रमसो मण्डलकालो निरूपणीयः, तदनन्तरं तदनुसारेण मुहूर्तगतपरिमाणभावनीयम् । तत्र प्रथममण्डलकालनिरूपणार्थमिदं त्रैराशिकं यदि सप्तदशभिः शतैरष्टषष्ट्यधिकैः सकलयुगवर्तिभिरर्द्धमण्डलैरष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि रात्रिन्दिवानि लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यामर्द्धमण्डलाभ्यामेकेन (मण्डलेनेति भावः) कति रात्रिन्दिवानि लभ्यन्ते ?। राशित्रयस्थापना-१७६८ । १८३० । २ । अत्रान्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यस्य राशेर्गुणनं, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि । ३६६० । एतेषामाद्येन राशिना भागहरणं, लब्धे द्वे रात्रिन्दिवे, शेषं तिष्ठति चतुर्विंशत्यधिकं शतम् । १२४ । तत्रैकैकस्मिन् रात्रिन्दिवे त्रिंशन्मुहूर्ता इति, तस्य त्रिंशता गुणने जातानि सप्तत्रिंशच्छतानि विंशत्यधिकानि । ३७२० । तेषां सप्तदशभिः शतैरष्टषष्ट्यधिकैर्भागे हृते लब्धौ द्वौ मुहूर्तौ, ततः शेषस्य छेद्यच्छेदकराश्योरष्टकेनापवर्तना, जातश्छेद्यो राशिस्त्रयोविंशतिः, छेदकराशिर्द्वे शते एकविंशत्यधिके, आगता मुहूर्तस्यैकविंशत्यधिकशतद्वयभागास्त्रयोविंशतिः । २३/२२१ एतावता कालेन द्वेऽर्द्धमण्डले परिपूर्णे चरति । किमुक्तं भवति ?-एतावता कालेन परिपूर्णमेकं मण्डलं चन्द्रश्चरति । तदेव मण्डलकालपरिज्ञानं कृतम् । साम्प्रतमेतदनुसारेण मुहूर्तगतिपरिमाणं चिन्त्यते-तत्र ये द्वे रात्रिन्दिवे ते मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्येते, जाता षष्टिर्मुहूर्ताः । ६० । तत उपरितनौ द्वौ मुहूर्तौ प्रक्षिप्तौ, जाता द्वाषष्टिः । ६२ । एषा सवर्णनार्थं द्वाभ्यां शताभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां गुण्यते, गुणयित्वा चोपरितना त्रयोविंशतिः क्षिप्यते, जातानि त्रयोदशसहस्राणि सप्तशतानि पञ्चविंशत्यधिकानि । १३७२५ । एतदेकमण्डलकालगतमुहूर्तस्यैकविंशत्यधिकशतद्वयभागानां परिमाणं, ततस्त्रैराशिककर्मावसरः-यदि त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैरेकविंशत्यधिकशतद्वयभागानां मण्डलभागा एकं शतसहस्रमष्टानवतिशतानि लभ्यन्ते, तत एकेन मुहूर्तेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१३७२५ । १०९८०० । १ । इहाऽऽद्यो राशिर्मुहूर्तगतैकविंशत्यधिकशतद्वयभागरूपस्ततः सवर्णनार्थ-

मन्त्यो राशिरेकलक्षणो द्वाभ्यां शताभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां गुण्यते, जाते द्वे शते एकविंशत्यधिके । २२१ । ताभ्यां मध्यराशिर्गुण्यते, जाते द्वे कोटी चतुर्विंशतिर्लक्षाः पञ्चषष्टिः सहस्राणि अष्टौ शतानि । २४२६५८०० । तेषां त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागो ह्रियते, लब्धानि सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि । १७६८ । एतावतो भागान् यत्र तत्र एकमण्डले चन्द्रो मुहूर्तेन गच्छति । "ता एगमेगणं" इत्यादि 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकेन मुहूर्तेन सूर्यः कियन्ति भागशतानि गच्छति ? । भगवानाह-"ता जं जं" इत्यादि । यद्यन्मण्डलमुपसंक्रम्य सूर्यश्चारं चरति तस्य तस्य मण्डलसम्बन्धिनः परिक्षेपस्य परिधेरष्टादशभागशतानि त्रिंशदधिकानि गच्छति, मण्डलं शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैश्छित्त्वा । कथमेतदवसीयत इति चेत् ?। उच्यते-त्रैराशिकबलात्' तथाहि-यदि षष्ट्या मुहूर्तैरेकं शतसहस्रमष्टानवतिः शतानि मण्डलभागानां लभ्यन्ते, तत एकेन मुहूर्तेन कति भागान् लभामहे ?। राशित्रयस्थापना ६० । १०९८०० । १ । अत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यस्य राशेर्गुणनं, जातः स तावानेव । "एकेन गुणितं तदेव भवति" इति वचनात् । ततस्तस्याऽऽद्येन राशिना षष्टिलक्षणेन भागो ह्रियते, लब्धान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि । १८३० । एतावतो भागान् मण्डलस्य सूर्य एकैकेन मुहूर्तेन गच्छति । "ता एगमेगेणं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकेन मुहूर्तेन कियतो भागान्मण्डलस्य नक्षत्रं गच्छति । भगवानाह-" ता जं जं " इत्यादि । यद्यदात्मीयमाकालप्रतिनियतमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तस्य तस्याऽऽत्मीयस्य मण्डलसम्बन्धिनः परिक्षेपस्य परिधेरष्टादशभागशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि गच्छति, मण्डलं शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैश्छित्त्वा । इहापि प्रथमतो मण्डलकालो निरूपणीयः ततस्तदनुसारेणैव मुहूर्तगतपरिमाणभावना । तत्र मण्डलकालप्रमाणचिन्तायामिदं त्रैराशिकम्-यद्यष्टादशभिः शतैः पञ्चत्रिंशदधिकैः सकलयुगभाविभिरर्द्धमण्डलैरष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि रात्रिन्दिवानां लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यामर्द्धमण्डलाभ्यामेकेन परिपूर्णेन (मण्डलेनेति भावः) किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१८३५ । १८३० । २ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि । ३६६० । तत आद्येन राशिना भागहरणम् । १८३५ । लब्धमेकं रात्रिन्दिवम् । १ । शेषाणि तिष्ठन्त्यष्टादशशतानि पञ्चविंशत्यधिकानि । १८२५ । ततो मुहूर्ताऽऽनयनार्थमेतानि त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि । ५४७५० । तेषामष्टादशभिः शतैः पञ्चत्रिंशदधिकैर्भागे हृते लब्धा एकोनत्रिंशन्मुहूर्ताः । २९ । ततः शेषच्छेद्यच्छेदकराश्योः पञ्चकेनापवर्तना, जात उपरितनो राशिः, त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणि । ३०७ । छेदकराशिः त्रीणि शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि । ३६७ । तत आगतमेकं रात्रिन्दिवम्, एकस्य च रात्रिन्दिवस्यैकोनत्रिंशन्मुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तषष्ट्यधिकत्रिशतभागानां त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणि । २९ । ३०७ । इदानीमेतदनुसारेण मुहूर्तगतिपरिमाणं चिन्त्यते-तत्र रात्रिन्दिवे त्रिंशन्मुहूर्ताः । ३० । तेषूपरितना एकोनत्रिंशन्मुहूर्ताः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि एकोनषष्टिर्मुहूर्तानां, ततः सा सवर्णनार्थं त्रिभिः शतैः सप्तषष्ट्यधिकैर्गुण्यते, गुणयित्वा चोपरितनानि त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणि प्रक्षिप्यन्ते, जातान्य-

कोटिशतिसहस्राणि नवशतानि षष्ट्यधिकानि । २१६६० । ततस्त्रैराशिक यदि मुहूर्तगतसप्तषष्ट्यधिकत्रिशद्भागानामे कविंशत्या सहस्त्रैर्नवभि शतैः षष्ट्यधिकैरेक शतसहस्रमष्टा- नवतिशतानि मण्डलभागानां लभ्यन्ते, तत एकेन मुहूर्तेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-२१९६०। १०९८००। १ अत्रा- न्त्यो राशिर्मुहूर्तगतसप्तषष्ट्यधिकत्रिशद्भागरूप, ततोऽन्त्या- ऽपि राशिस्त्रिभि शतैः सप्तषष्ट्यधिकैर्गुण्यते, जातानि त्रीण्येव शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि ३६७। तैर्मध्ये राशिर्गुण्यते, जाताश्च- तस्र. कोट्यो द्वे लक्षे पञ्चषष्टिसहस्राणि षट्शतानि । ४०२६६- ६०० । तेषामाद्येन राशिनैकविंशति सहस्राणि नवशतानि षष्ट्यधिकानीत्येवरूपेण भागो ह्रियते, लब्धान्यष्टादशशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि । १८३५ । एतावतो भागान्नक्षत्र प्रतिमु- हूर्तं गच्छति, तदेव यत्रचन्द्रो यत्र तत्र वा मण्डले एकैकेन मुहूर्तेन मण्डलपरिक्षेपस्य सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि भा- गानां गच्छति, सूर्योऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि नक्षत्रम, अष्टादशशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि । ततश्चन्द्रेभ्य शीघ्रगतय- सूर्याः, सूर्येभ्य शीघ्रगतीनि नक्षत्राणि, ग्रहास्तु वक्रानुवक्राऽऽ- दिगतिभावतोऽनियतगतिप्रस्थाना, ततो न तेषामुक्तप्रकारेण गतिप्रमाणप्ररूपणा कृता।

उक्त च-

"चंदेहिं सिग्घयरा, सूरा सूरेहिं होंति नक्खत्ता ।
अणिययगइपत्थाणा, हवंति सेसा गहा सव्वे ॥ १ ॥
अट्ठारस पणतीसे, भागसए गच्छइ मुहुत्तेण ।
नक्खत्त चंदो पुण, सत्तरस सए उ अडसट्ठे ॥ २ ॥
अट्ठारसभागसए, तीसे गच्छइ रवी मुहुत्तेणं ।
नक्खत्तसीमछेदो, सो चेव इहं पि नायव्वो ॥ ३ ॥"

इद गाथात्रयमपि सुगमम् । नवरं नक्षत्रसीमाच्छेद स ए- वात्रापि ज्ञातव्य इति । किमुक्त भवति ?-अत्रापि मण्डलमेकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैः प्रविभक्तव्यमिति ।

(३८) सम्प्रत्युक्तस्वरूपमेव चन्द्रसूर्यनक्षत्राणा परस्पर माकलनागतिविषयविशेष निर्द्धारयति—

ता जया णं चंदं गतिसमावण्णे भवति से णं गतिमा- ताए केवतियं विसेसेति ?। बावट्ठिभागे विसेसेति। ता जया णं चंदं गतिसमावण्णणक्खत्ते गतिसमावण्णे भवइ से णं गतिमा- ताए केवतियं विसेसेति ?। सत्तट्ठिं भागे विसेसेति । ता जया णं सूरं गतिसमावण्णणक्खत्ते गतिसमावण्णे भवति से णं गतिमाताए केवतियं विसेसेति ?। ता पंचभागे विसेसेति। ता जया णं चंदगतिसमावण्णे अभिईणक्खत्ते णं गतिसमावण्णे पुरच्छिमाते भागाते समासादित्ता णवमुहुत्ते सत्तावीसे च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोएति, जोअं जो- एत्ता जोअं अणुपरियट्टंति, जोअं जोएत्ता विजेति, विजह- ति, विप्पजहाति, विगतजोई यावि भवति । ता जया णं चंद- गतिसमावण्णं समावण्णे णक्खत्ते गतिसमावण्णे पुरच्छिमा तिभागा देसमासादेति, पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता तीसं मुहुत्ते चंदेणं सद्धिं जोअं जोएति, जोअं जोएत्ता जोअं अणुपरिअट्टति, जोअं जोएत्ता विजेति, विजहति, विप्पजहति, विगतजोई यावि भवति । एवं एएणं अभि- लावेणं णेतव्वं पण्णरस मुहुत्ता राई, तिसतीमुहुत्ताइ भाणि- यव्वाई० जाव उत्तरासाढा ।

"ता जया ण" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । यदा णमिति वा- क्यालङ्कार। चन्द्रगतिसमापन्नमपेक्ष्य सूर्यो गतिसमापन्नो विव- क्षितो भवति । किमुक्त भवति ?-प्रतिमुहूर्तचन्द्रगतिमपेक्ष्य सूर्य- गतिश्चिन्त्यते, तदा सूर्यो गतिमात्रया एकमुहूर्तगमनगतिपरिमाणे- न कियतो भागान्मुहूर्तानां विशेषयति ?, एकेन मुहूर्तेन चन्द्राक्र- मितेभ्यो भागेभ्य. कियतोऽधिकतरान् भागान् सूर्य आक्रामतीति भाव । भगवानाह-द्वाषष्टिभागान् विशेषयति। तथाहि-चन्द्र ए- केन मुहूर्तेन सप्तदशभागशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि गच्छति।१७६८। सूर्योऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि । १८३० । ततो भवति द्वा- षष्टिभागकृत परस्परविशेषः । " ता जया णं " इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत् । यदा चन्द्रगतिसमापन्नमपेक्ष्य नक्षत्र गतिसमाप- न्न विवक्षित भवति, तदा नक्षत्र गतिमात्रया एकमुहूर्तगतग- तिपरिमाणेन कियन्त विशेषयति ?, चन्द्राक्रमितेभ्यो भागेभ्यः कियतो भागानधिकानाक्रामतीति भावः । भगवानाह-सप्तष- ष्टिभागान्नक्षत्रं ह्येकेन मुहूर्तेन अष्टादशभागशतानि पञ्चत्रिंशद- धिकानि गच्छति । चन्द्रस्तु सप्तदशभागशतान्यष्टषष्ट्यधिका- नि, तत उपपद्यते सप्तषष्टिभागकृतो विशेष. । " ता जया णं " इत्यादि प्रश्नसूत्र प्राग्वद् भावनीयम् । भगवानाह-" ता पच " इत्यादि। पञ्च भागान् विशेषयति,सूर्याऽऽक्रान्तभागेभ्यो नक्षत्रा- ऽऽक्रान्तभागानां पञ्चभिरधिकत्वात् । तथाहि-सूर्य एकेन मुहूर्ते- नाष्टादशभागशतानि त्रिंशदधिकानि गच्छति । नक्षत्रमष्टादश- भागशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि। ततो भवति परस्पर पञ्चभा- गकृतो विशेष । " ता जया ण " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । यदा णमिति वाक्यालङ्कार, चन्द्रगतिसमापन्नमपेक्ष्याभिजिन्न- क्षत्र गतिसमापन्न भवति, तदा पौरस्त्याद्भागात्प्रथमतोऽभिजि- न्नक्षत्र चन्द्रमस समासादयति। एतच्च प्रागेव भावितम्। समा- साद्य च नव मुहूर्तानि, दशमस्य च मुहूर्तस्य सप्तविंशति. सप्तष- ष्टिभागान् चन्द्रेण सार्द्धं योग युनक्ति, करोति, एतदपि प्रागेव भावितम्। एवंप्रमाण च काल योग युक्त्वा पर्यन्तसमये योगमनु परिवर्तयति । श्रवणनक्षत्रस्य योग समर्पयतीति भाव । योग च परावर्त्य तेन सह योग विजहाति। किं बहुना ?, विगतयोगी चापि भवति । " ता जया ण " इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत् । यदा चन्द्र गतिसमापन्नमपेक्ष्य श्रवणनक्षत्र समापन्न भवति, तदा तच्छ्रवणनक्षत्र प्रथमत' पौरस्त्याद्भागात्पूर्वेण भागेन चन्द्र- मस समासादयति,समासाद्य चन्द्रेण सार्द्धं त्रिंशन्मुहूर्तान् याव- द्योग युनक्ति, एवंप्रमाण च काल यावद्योग युक्त्वा पर्यन्तसमये योगमनु परिवर्तयति । धनिष्ठानक्षत्रस्य योग समर्पयितुमारभते इत्यर्थ. । योगमनुपरिवर्त्य च तेन सह योग विप्रजहाति । किं बहुना?, विगतयोगी चाऽपि भवति। "एव" इत्यादि। एवमुक्तेन प्रकारेणैतेनानन्तरोपदर्शितेनाभिलापेन यानि पञ्चदश मुहू- र्तानि शतभिषक्प्रभृतीनि नक्षत्राणि, यानि त्रिंशन्मुहूर्तानि धनि- ष्ठाप्रभृतीनि,यानि च पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्तान्युत्तरभद्रपदाऽऽदीनि, सर्वाण्यपि क्रमेण तावद्भणितव्यानि यावदुत्तराषाढा। तत्राभि- लाप सुगमत्वात्स्वय भावनीय , प्र थगौरवभयात्तु लिख्यत इति।

(३९) सम्प्रति ग्रहमधिकृत्य योगचिन्तां करोति-

ता जया णं चंदगतिसमावण्णं गहगतिसमावण्णे पुरच्छि-

माते भागाते समासादेति,पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता चंदेणं सद्धिं अद्धा जोगं जुंजति,अद्धा जोगं जुंजतित्ता अद्धा जोगं अणुपरियट्टति, अद्धा जोगं अणुपरियट्टतित्ता विजेति, विजहति, विप्पजहति, विगतजोई यावि भवति।

" ता जया णं " इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । यदा णमिति वाक्यालङ्कारे, चन्द्रं गतिसमापन्नमपेक्ष्य ग्रहो गतिसमापन्नो भवति, तदा स ग्रहः पौरस्त्याद्भागात्पूर्वेण भागेन प्रथमतश्चन्द्रमसं समासादयति, समासाद्य च यथासम्भवं योगं युनक्ति, यथासम्भवं योगं युक्त्वा पर्यन्तसमये यथासंभवं योगमनुपरिवर्त्तयति, यथासम्भवमन्यस्य ग्रहस्य योगं समर्पयितुमारभते इति । प्राग्योगमनुवर्त्य च तेन सह योगं विजहाति, विप्रजहाति । किं बहुना ?, विगतयोगी चापि भवति ।

(४०) अधुना सूर्येण सह नक्षत्रस्य योगचिन्तां करोति-

ता जया णं सूरं गतिसमावण्णं अभिई णक्खत्ते गतिसमावण्णे पुरच्छिमाते भागाते समासादेति,पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते सूरेणं सद्धिं जोयं जोएत्ति, जोयं अणुपरियट्टति,अणुपरियट्टित्ता विजेति,विजहति,विप्पजहति,विगतजोई यावि भवति। एवं अहोरत्ता छ एक्कवीसं मुहुत्ता य, तेरस अहोरत्ता बारस मुहुत्ता य, वीसं अहोरत्ता तिण्णि मुहुत्ता य, ताव सव्वे भाणितव्वा जाव उत्तरासाढाणक्खत्ता।

"ता जया ण" इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत् । यदा सूर्यं गतिसमापन्नमपेक्ष्याभिजिन्नक्षत्रं गतिसमापन्नं भवति, तदाऽभिजिन्नक्षत्रं प्रथमतः पौरस्त्याद्भागात्सूर्यं समासादयति, समासाद्य चतुरः परिपूर्णानहोरात्रान्, पञ्चमस्य चाहोरात्रस्य षड्मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण सह योगं युनक्ति । एवंप्रमाणं च कालं यावद्योगं युक्त्वा पर्यन्तसमये योगमनुपरिवर्त्तयति। श्रवणनक्षत्रस्य योगं समर्पयितुमारभत इति भावः। अनुपरिवर्त्य च तेन सह योगं विजहाति,विप्रजहाति,किं बहुना ?,विगतयोगी चापि भवति। 'एवं' इत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेण पञ्चदशमुहूर्त्तानां शतभिषक्प्रभृतीनां षडहोरात्राः, सप्तमस्याहोरात्रस्यैकविंशतिमुहूर्त्ताः। त्रिंशन्मुहूर्तानां श्रवणाऽऽदीनां त्रयोदश अहोरात्राश्चतुर्दशस्याहोरात्रस्य द्वादश मुहूर्त्ताः, पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तानामुत्तरभद्रपदाऽऽदीनां विंशतिरहोरात्राः, एकविंशतितमस्य चाहोरात्रस्य त्रयो मुहूर्त्ताः, क्रमेण सर्वे तावद्भणितव्या यावदुत्तराषाढानक्षत्रम् ।

तत्रोत्तराषाढानक्षत्रगतमभिलापं साक्षाद्दर्शयति-

ता जता णं सूरं गतिसमावण्णं उत्तरासाढाणक्खत्ते गतिसमावण्णे पुरच्छिमाते भागाते समासादेति, पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएति, जोयं जोएत्ता जोयं अणुपरियट्टति,जोयं अणुपरियट्टित्ता विजेति, विजहति, विप्पजहति, विगतजोई यावि भवति ।

'ता जया' इत्यादि सुगमम् । एतदनुसारेण शेषा अप्यालापाः स्वयं वक्तव्याः, सुगमत्वात्तु नात्र दर्श्यन्ते ।

(४१) सम्प्रति सूर्येण सह ग्रहस्य योगचिन्तां करोति-

ता जता णं सूरं गतिसमावण्णं गहगतिसमावण्णे पुरच्छिमाते भागाते समासादेति, पुरच्छिमाते भागाते समासादेत्ता सूरेण सद्धिं अद्धा जोयं जुंजति, अद्धा जोयं जुंजित्ता अद्धा जोयं अणुपरियट्टति, अद्धा जोयं अणुपरियट्टित्ता विजेति०जाव विगतजोई यावि भवति।

" ता जया णं " इत्यादि सुगमम् ।

(४२) अधुना चन्द्राऽऽदयो नक्षत्रेण मासेन कति मण्डलानि चरन्तीत्येतन्निरूपयितुकाम आह-

ता णक्खत्तेणं मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ? । ता तेरस मंडलाइं चरति, तेरस य सत्तट्ठिभागे मंडलस्स । ता णक्खत्तेणं मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ? । ता तेरस मंडलाइं चरति, चोत्तालीसं च सत्तट्ठिभागे मंडलस्स । ता णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ?। ता तेरस मंडलाइं चरति, अद्धसीतालीसं च सत्तट्ठिभागे मंडलस्स ।

" ता णक्खत्तेण " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । नक्षत्रेण मासेन चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ?। एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह-"ता तेरस" इत्यादि । त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य मण्डलस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागान् । कथमेतदवसीयते ? इति चेत् । उच्यते-त्रैराशिकबलात् । तथाहि-यदि सप्तषष्ट्या नक्षत्रमासैरष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेन नक्षत्रमासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-६७। ८८४ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्य सप्तषष्ट्या भागहरणं, लब्धानि त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य च मण्डलस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः । १३ । १३/६७ । " ता णक्खत्ते णं " इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-" ता तेरस" इत्यादि । त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य च मण्डलस्य चतुश्चत्वारिंशतं सप्तषष्टिभागान् । तथाहि-यदि सप्तषष्ट्या नक्षत्रैर्मासैर्नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि मण्डलानां सूर्यस्य लभ्यन्ते, तत एकेन नक्षत्रेण मासेन कति मण्डलानि लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-६७ । ९१५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, तत आद्येन राशिना भागहारः, लब्धानि त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य च मण्डलस्य चतुश्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः ।१३। ४४/६७ । "ता णक्खत्ते" इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-"ता तेरस" इत्यादि । त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य च मण्डलस्य अर्द्धसप्तचत्वारिंशतं सार्धषट्चत्वारिंशतं सप्तषष्टिभागान् चरति । तथाहि-यदि सप्तषष्ट्या नक्षत्रैर्मासैरष्टादशशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि अर्द्धमण्डलानि नक्षत्रस्य लभ्यन्ते, तत एकेन नक्षत्रेण मासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-६७ । १८३५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, तत आद्येन राशिना भागहारः, लब्धानि सप्तविंशतिरर्द्धमण्डलानि, अष्टाविंशतितमस्य चार्द्धमण्डलस्य षड्विंशतिः सप्तषष्टिभागाः २७ । २६/६७ । ततो द्वाभ्यामर्द्धमण्डलाभ्यामेकं मण्डलमित्यस्य राशेरर्द्धकरणेन लब्धानि त्रयोदश मण्डलानि, चतुर्दशस्य मण्डलस्य सार्द्धषट्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः । १३ । ४६/६७ ।

(४३) सम्प्रति चन्द्रमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलनिरूपणां करोति-

ता चंदेण मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ? । चोद्दस

चउब्भागाइं मंडलाइं चरति, एगं च चउवीससयभागं मंडलस्स। ता चंदेणं मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ?। ता पण्णरस चउब्भागूणाइं मंडलाइं चरति, एगं च चउवीससयभागं मंडलस्स । ता चंदेणं मासेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ?। ता पण्णरस चउभागूणाइं मंडलाइं चरति, छच्च चउवीससतभागे मंडलस्स ॥

" ता चंदेण " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । चन्द्रेण मासेन प्रागुक्तस्वरूपेण, चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ? । भगवानाह-" ता चउद्दस " इत्यादि । चतुर्दशस्य चतुर्भाग-मण्डलानि चतुर्भागसहितानि मण्डलानि चरति, एकं च चतुर्विंशतितम मण्डलस्य । किमुक्तं भवति ?-परिपूर्णानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य चतुर्भागं चतुर्विंशत्यधिकशतसत्कैकत्रिंशद्भागप्रमाणम, एकं च चतुर्विंशत्यधिकशतस्य भागं द्वात्रिंशत, पञ्चदशस्य मण्डलस्य चतुर्विंशत्यधिकशतभागान् चरति । तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेनाष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यां पर्वाभ्यां किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१२४।८८४।२।अत्रान्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यराशेर्गुणन, जातानि सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि १७६८। तेषां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणं,लब्धानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य द्वात्रिंशच्चतुर्विंशत्यधिकशतभागाः । १४ ३२/१२४ । " ता चंदेण " इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । " ता पण्णरस" इत्यादि । पञ्चदश चतुर्भागन्यूनानि मण्डलानि चरति, एकं च चतुर्विंशत्यधिकशतभागं मण्डलस्य । किमुक्तं भवति?-चतुर्दश परिपूर्णानि मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य चतुर्नवतिचतुर्विंशत्यधिकशतभागान् चरति । तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि मण्डलानां लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यां किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१२४ । ९१५ । २ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणन, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि । १८३० । एतेषामाद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागहरण, लब्धानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य चतुर्नवतिचतुर्विंशत्यधिकशतभागाः । १४ ९४/१२४ । इति । "ता चंदेण" इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-" ता पण्णरस " इत्यादि । पञ्चदश मण्डलानि चतुर्भागन्यूनानि चरति, षट्चतुर्विंशत्यधिकशतभागान्मण्डलस्य । किमुक्तं भवति ?—परिपूर्णानि चतुर्दशमण्डलानि चरति, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य नवनवतिचतुर्विंशत्यधिकशतभागान् । तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेनाष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि अर्द्धमण्डलानां लभ्यन्ते,ततो द्वाभ्यां पर्वभ्यां किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१२४ । १८३५ । २। अत्रान्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यराशेर्गुणन, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि सप्तत्यधिकानि । ३६७० । एतेषामाद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकशतरूपेण भागहरण, लब्धा एकोनत्रिंशत, शेषास्तिष्ठन्ति चतुःसप्तति । इद मर्द्धमण्डलगत परिमाणम् । द्वाभ्यां चार्द्धमण्डलाभ्यामेकं परिपूर्णं मण्डल,ततोऽस्य राशेर्द्विकेन भागहारः, लब्धानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य नवनवतिश्चतुर्विंशत्यधिकशतभागाः । १४ ९९/१२४ ।

(४४) साम्प्रतमृतुमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डल-निरूपणा करोति-

ता उउणा मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ?। ता चोद्दसमंडलाइं चरति, तीसं च एगट्ठिभागे मंडलस्स । ता उउणा मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ? । ता पण्णरस मंडलाइं चरति । ता उउणा मासेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ?। ता पण्णरस मंडलाइं चरति,पंच य बावीससतभागे मंडलस्स ।

"ता उउमासेण चंदे " इत्यादि । ऋतुमासेन कर्ममासेन चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ?। भगवानाह -" ता चोद्दस " इत्यादि । चतुर्दश मण्डलानि चरति । पञ्चदशस्य च मण्डलस्य त्रिंशतमेकषष्टिभागान् । तथाहि-यदि एकषष्ट्या कर्ममासैरष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलाना लभ्यन्ते,तत एकेन कर्ममासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-६१ । ८८४ । १ । अत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यराशेर्गुणन, जातः स तावानेव । तस्य एकषष्ट्या भागहरण, लब्धानि परिपूर्णानि चतुर्दश मण्डलानि, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य त्रिंशदेकषष्टिभागाः । १४ ३०/६१ । " ता उउणा मासेण " इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-" ता पण्णरस " इत्यादि । पञ्चदश परिपूर्णानि मण्डलानि चरति । तथाहि-यद्येकषष्ट्या कर्ममासैर्नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि सूर्यमण्डलानां लभ्यन्ते, तत एकेन कर्ममासेन किं लभामहे ? । राशित्रयस्थापना-६१ । ९१५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते,जातः स तावानेव,तस्यैकषष्ट्या भागहरण, लब्धानि परिपूर्णानि पञ्चदश मण्डलानि । १५ ।"ता उउणा मासेण"इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-"ता पण्णरस" इत्यादि । पञ्चदश मण्डलानि चरति,षोडशस्य च मण्डलस्य पञ्चद्वाविंशतिशतभागान् । तथाहि-यदि द्वाविंशेन कर्ममासशतेनाष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि मण्डलानि नक्षत्रस्य लभ्यन्ते,तत एकेन कर्ममासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१२२ । १८३५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणन,जातः स तावानेव,तस्याऽऽद्येन राशिना द्वाविंशत्यधिकशतरूपेण भागहरण,लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि, षोडशस्य च पञ्चद्वाविंशशतभागा । १५ ५/१२२ ।

(४५) संप्रति सूर्यमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलानि निरूपयति-

ता आइच्चेणं मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ? । ता चोद्दसमंडलाइं चरति, एक्कारस य पण्णरसभागे मंडलस्स । ता आइच्चेणं मासेण सूरे कति मंडलाइं चरति ? । ता पण्णरस चउभागाइं मंडलाइं चरति । ता आइच्चेणं मासेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ? । ता पण्णरस चउब्भागाइं मंडलाइं चरति, पंचतीसं च वीससतभागे मंडलस्स ॥

" ता आइच्चेण " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । आदित्येन मासेन चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ?। भगवानाह-चतुर्दश मण्डलानि चरति, पञ्चदशस्य च मण्डलस्य एकादश पञ्चदश भागान् । तथाहि-यदि षष्ट्या सूर्यमासैरष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानां चन्द्रस्य लभ्यन्ते, तत एकेन सूर्यमासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-६० । ८८४ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणन, जातः स

तावानेव, तस्य षष्ट्या भागहरणं, लब्धानि चतुर्दश मण्डलानि, शेषास्तिष्ठन्ति चतुश्चत्वारिंशत् । ४४ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योश्चतुष्केनापवर्तना, जात उपरितनो राशिरेकादशरूपोऽधस्तनः पञ्चदशरूपः, लब्धाः पञ्चदशमण्डलस्यैकादशभागाः । १४ । ११/१५ । "ता आइच्चेणं" इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-पञ्चदशचतुर्भागाधिकानि मण्डलानि चरति । तथा हि-यदि षष्ट्या सूर्यमासैर्नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि मण्डलानां सूर्यस्य लभ्यन्ते, तत एकेन मासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-६० । ९१५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्य षष्ट्या भागहरणं, लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि, षोडशस्य च षष्टिभागविभक्तस्य पञ्चदशभागात्मकाश्चतुर्भागाः । १५ । १५/६० । "ता आइच्चेणं" इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-"ता पन्नरस" इत्यादि । पञ्चदश मण्डलानि चतुर्भागाधिकानि पञ्चत्रिंशतं विंशत्यधिकशतभागान् मण्डलस्य चरति । किमुक्तं भवति ?-षोडशस्य च मण्डलस्य पञ्चत्रिंशतं विंशत्यधिकशतभागान् चरति । तथाहि-यदि विंशेन सूर्यमासशतेनाष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि मण्डलानां नक्षत्रस्य लभ्यन्ते, तत एकेन सूर्यमासेन किं लभ्यते ?। राशित्रयस्थापना-१२० । १८३५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुणितः, जातस्तावानेव, तस्य विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणं, लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि, पञ्चत्रिंशच्च विंशत्यधिकाः शतभागाः षोडशस्य । १५ । ३५/१२० ।

(४६) अधुनाऽभिवर्द्धितमासमधिकृत्य चन्द्राऽऽदीनां मण्डलानि निरूपयन्नाह—

ता अभिवड्ढितेणं मासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ?। ता पन्नरस मंडलाइं चरति, तेसीति-छलसीतिसतभागे मंडलस्स । ता अभिवड्ढितेणं मासेणं सूरे कति मंडलाइं चरति ?। ता सोलस मंडलाइं चरति तेहिं भागेहिं ऊणगाइं, दोहिं अडयालेहिं सएहिं मंडलं छित्ता । ता अभिवड्ढितेणं मासेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ?। ता सोलस मंडलाइं चरति, सीतालीसाएहिं भागेहिं अहियाइं चोद्दसहिं अट्ठासीएहिं सएहिं मंडलं छेत्ता ॥

"ता अभिवड्ढितेणं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । अभिवर्द्धितेन मासेन चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ?। भगवानाह-"ता पण्णरस" इत्यादि । पञ्चदश मण्डलानि चरति, षोडशस्य च मण्डलस्य त्र्यशीतिषडशीत्यधिकशतभागान् । तथाहि-अत्रैव त्रैराशिकम्-इह युगेऽभिवर्द्धितमासाः सप्तपञ्चाशत्, सप्त चाहोरात्राः, एकादश मुहूर्त्तास्त्रयोविंशतिश्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य । एषां च राशिः सांऽशः इति न तत्त्रैराशिककर्मविषयः । ततः परिपूर्णमासप्रतिपत्त्यर्थमयं राशिः षट्पञ्चाशदधिकेन शतेन गुण्यते, जातानि परिपूर्णानि नवाशीतिशतान्यष्टाविंशत्यधिकान्यभिवर्द्धितमासानाम् । किमुक्तं भवति ?-षट्पञ्चाशदधिकशतसंख्येषु युगेष्वेतावन्तः परिपूर्णा अभिवर्द्धितमासा लभ्यन्ते । एतच्च द्वादशप्राभृते सूत्रकृतैव साक्षादभिहितम् । ततस्त्रैराशिककर्मावतारः । यद्यष्टाविंशत्यधिकैरभिवर्द्धितमासैर्नवाशीतिशतैः षट्पञ्चाशदधिकशतसंख्यया युगभाविभिश्चान्द्रमण्डलानामेकं लक्षं सप्तत्रिंशत्सहस्राणि नवशतानि चतुरुत्तराणि लभ्यन्ते, तत एकेनाभिवर्द्धितमासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना ८९२८ । १३७९०४ । १ । अत्रान्त्येन राशिनैककलक्षणेन मध्यराशेस्ताडना, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन ८९२८ राशिना भागहरणं, लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि । १५ । शेषमुद्वरति एकोनचत्वारिंशच्छतानि चतुरशीत्यधिकानि । ३९८४ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योरष्टाचत्वारिंशताऽपवर्त्तना, जात उपरितनो राशिस्त्र्यशीतिरधस्तनः षडशीत्यधिकं शतम् । ८३/१८६ । आगतं षोडशमण्डलस्य त्र्यशीतिः षडशीत्यधिकशतभागाः । "ता अभिवड्ढितेणं" इत्यादि सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-"ता सोलस" इत्यादि । षोडश मण्डलानि त्रिभिर्भागैर्न्यूनानि चरति । मण्डलं द्वाभ्यामष्टाचत्वारिंशदधिकाभ्यां शताभ्यां छित्त्वा । तथाहि-यदि षट्पञ्चाशदधिकशतसंख्ययुगभाविभिरष्टाविंशदधिकैरभिवर्द्धितमासनवाशीतिशतैः सूर्यमण्डलानामेकं लक्षं, द्विचत्वारिंशत्सहस्राणि, सप्त शतानि चत्वारिंशदधिकानि लभ्यन्ते, तत एकेनाभिवर्द्धितमासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना—८९२८ । १४२७४० । १ । अत्रान्त्येन राशिनैककलक्षणेन मध्यराशिर्गुण्यते, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन ८९२८ राशिना भागो ह्रियते, लब्धानि पञ्चदश मण्डलानि । १५ । शेषमुद्वरन्ति अष्टाशीतिशतानि विंशत्यधिकानि । ८८२० । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योः षट्त्रिंशताऽपवर्तना, जात उपरितनो राशिर्द्वे शते पञ्चचत्वारिंशदधिके । २४५ । अधस्तनो द्विशतेऽष्टचत्वारिंशदधिके । २४८ । आगतं षोडशमण्डलं त्रिभिर्भागैर्न्यूनं द्वाभ्यामष्टाचत्वारिंशदधिकाभ्यां शताभ्यां प्रविभक्तम् । २४८ । "ता अभिवड्ढितेणं" इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-"ता सोलस" इत्यादि । षोडश मण्डलानि सप्तचत्वारिंशता भागैरधिकानि चतुर्दशभिः शतैरष्टाशीत्यधिकैर्मण्डलं छित्त्वा । तथाहि-यदि षट्पञ्चाशदधिकशतसंख्ययुगभाविभिरभिवर्द्धितमासनवाशीतिशतैरष्टाविंशत्यधिकैर्नक्षत्रमण्डलानामेकं लक्षं त्रिचत्वारिंशत्सहस्राणि शतमेकं विंशदधिकं लभ्यते, तत एकेनाभिवर्द्धितमासेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-८९२८ । १४३१२० । १ । अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन ८९२८ राशिना भागो ह्रियते, लब्धानि षोडश मण्डलानि, शेषमुद्वरति द्वे शते द्वासप्तत्यधिके । २७२ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योः षट्केनापवर्तना, जाता उपरि सप्तचत्वारिंशत्, अधस्तु चतुर्दश शतान्यष्टाशीत्यधिकानि । ४७/१४८८ । आगताः सप्तचत्वारिंशद् अष्टाशीत्यधिकचतुर्दशशतभागाः ।

(४७) सम्प्रत्येकैकेनाहोरात्रेण चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं कति मण्डलानि चरन्तीत्येतन्निरूपणार्थमाह—

ता एगमेगेणं अहोरत्तेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ?। ता एगं अद्धमंडलं चरति, एकतीसाए भागेहिं ऊणं णवहिं पन्नरसेहिं सतेहिं अद्धमंडलं छेत्ता । ता एगमेगेणं अहोरत्तेणं सूरिए कति मंडलाइं चरति ?। ता एगं अद्धमंडलं चरति । ता एगमेगेणं अहोरत्तेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ?। ता एगं अद्धमंडलं चरति, दोहिं भागेहिं अधियं सत्तहिं दुतीसेहिं सएहिं अद्धमंडलं छेत्ता ।

"ता एगमेगेणं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकेनाहोरात्रेण चन्द्रः कति मण्डलानि चरति ?। भगवानाह-"ता एग"

इत्यादि । एकमर्द्धमण्डलं चरति, एकत्रिंशता भागैर्न्यून नवभिः पञ्चदशोत्तरै शतैरर्द्धमण्डलं छित्वा । तथाहि-रात्रिन्दिवानामष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तदश शतान्यष्टषष्ट्यधिकान्यर्द्धमण्डलानां चन्द्रस्य लभ्यन्ते, तत एकेन रात्रिन्दिवेन किं लभ्यते ?। राशित्रयस्थापना-१८३०।१७६८।१। अत्राप्यन्त्येन राशिनैककलक्षणेन मध्यराशिर्गुण्यते, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन १८३० राशिना भागहरणं, स चोपरितनस्य राशेः स्तोककत्वाद्भाग न लभते। ततश्छेद्यच्छेदकराश्योर्द्विकेनापवर्तना, जात उपरितनो राशिरष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि,अधस्तनो नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि । ८८४/९१५ । तत आगतमेकत्रिंशता भागैर्न्यूनमेकमर्द्धमण्डलं नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैः प्रविभक्तमिति । " ता एगमेगेण " इत्यादि सूर्यविषय प्रश्नसूत्र सुगमम्। भगवानाह-" ता एगमेगेण " इत्यादि । एकमर्द्धमण्डलं चरति । एतच्च सुप्रतीतमेव । " ता एगमेगेण " इत्यादि नक्षत्रविषय प्रश्नसूत्र सुगमम्। भगवानाह-" ता एगमेगेण " इत्यादि । एकमर्द्धमण्डलं द्वाभ्यां भागाभ्यामधिक चरति, द्वात्रिंशदधिकैः सप्तभिः शतैरर्द्धमण्डलं छित्वा । तथाहि-यद्यहोरात्राणामष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैरष्टादशशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि नक्षत्राणामर्द्धमण्डलानि लभ्यन्ते, तत एकेनाहोरात्रेण किं लभ्यते ?। राशित्रयस्थापना-१८३० । १८३५ ।१। अत्रान्त्येन राशिनैककरूपेण मध्यराशेर्गुणना, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन १८३० राशिना भागहरणं, लब्धमेकमर्द्धमण्डलं, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्च । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योरर्द्धतृतीयैरपवर्तना, जातावुपरि द्वौ अधस्तात्सप्त शतानि द्वात्रिंशदधिकानि, २/७३२ । लब्धौ द्वौ द्वात्रिंशदधिकसप्तशतभागौ ।

(४७) अधुना एकैकं परिपूर्णं मण्डलं चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं कतिभिरहोरात्रैश्चरन्तीत्येतन्निरूपणार्थमाह-

ता एगमेगं मंडलं चंदे कतिहिं अहोरत्तेहिं चरति ? । ता दोहिं अहोरत्तेहिं चरति, एकतीसाए भागेहिं अहिगेहिं चउहिं चोतालेहिं सतेहिं राइंदिएहिं छेत्ता। ता एगमेगं मंडलं सूरे कतिहिं अहोरत्तेहिं चरति ?। ता दोहिं अहोरत्तेहिं चरति। ता एगमेगं मंडलं णक्खत्ते कतिहिं अहोरत्तेहिं चरति ? । ता दोहिं अहोरत्तेहिं चरति, दोहिं भागेहिं ऊणेहिं तिहिं सत्तट्ठेहिं सतेहिं राइंदियं छेत्ता ।

" ता एग " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एकैक मण्डलं चन्द्रः कतिभिरहोरात्रैश्चरति ?। भगवानाह-" ता दोहिं " इत्यादि । द्वाभ्यामहोरात्राभ्यां चरति, एकत्रिंशता भागैरधिकाभ्यां चतुर्भिश्चत्वारिंशदधिकैः शतै रात्रिन्दिवं छित्वा। तथाहि-यदि चन्द्रस्य मण्डलानामष्टभिः शतैश्चतुरशीत्यधिकैरहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि लभ्यन्ते, तत एकेन मण्डलेन कति रात्रिन्दिवानि लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-८८४।१८३०। १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन राशिना चतुरशीत्यधिकाष्टशतप्रमाणेन भागहरणं, लब्धौ द्वावहोरात्रौ, शेषास्तिष्ठन्ति द्वाषष्टि । ६२ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योर्द्विकेनापवर्तना, जात उपरितनो राशिरेकत्रिंशदू-पोऽधस्तनश्चत्वारि शतानि द्वाचत्वारिंशदधिकानि । ३१/४४२ । तत आगतमेकत्रिंशद् द्विचत्वारिंशदधिकचतुःशतभागाः । "ता एगमेग " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकं मण्डलं सूर्यः कतिभिरहोरात्रैश्चरति ?। भगवानाह-"ता दोहिं" इत्यादि । द्वाभ्यामहोरात्राभ्यां चरति । तथाहि-यदि सूर्यस्य मण्डलानां नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैरष्टादश शतानि त्रिंशदधिकान्यहोरात्राणां लभ्यन्ते, तत एकेन मण्डलेन कत्यहोरात्रान् लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-९१५ । १८३० । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन ९१५ राशिना भागहरणं, लब्धौ द्वावहोरात्राविति । " ता एगमेग " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकमात्मीय मण्डलं नक्षत्रं कतिभिरहोरात्रैश्चरति ?। भगवानाह-"ता दोहिं " इत्यादि । द्वाभ्यामहोरात्राभ्यां चरति, द्वाभ्यां भागाभ्यां हीनाभ्यां त्रिभिः सप्तषष्टैः सप्तषष्ट्यधिकैः शतै रात्रिन्दिवं छित्वा । तथाहि-यदि नक्षत्रस्य मण्डलानामष्टादशभिः शतैः पञ्चत्रिंशदधिकैः षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि रात्रिन्दिवानां लभामहे, तदैकेन मण्डलेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१८३५ । ३६६० । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेस्ताडना, जातः स तावानेव, तस्याऽऽद्येन १८३५ राशिना भागहरणं, लब्धमेकं रात्रिन्दिवं, शेषाणि तिष्ठन्त्यष्टादश शतानि पञ्चविंशत्यधिकानि । १८२५ । ततश्छेद्यच्छेदकराश्योः पञ्चकेनापवर्तना । जात उपरितनो राशिस्त्रीणि शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३६५ । छेदकराशिस्त्रीणि शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि, ३६७ तत आगतं द्वाभ्यां सप्तषष्ट्यधिकशतभागाभ्यां हीनं द्वितीयं रात्रिन्दिवमिति ।

(४८) सम्प्रति चन्द्राऽऽदयः प्रत्येकं कति मण्डलानि युगे चरन्तीत्येतन्निरूपणार्थमाह-

ता जुगेणं चंदे कति मंडलाइं चरति ?। ता अट्ठचुलसीते मंडलसते चरति । ता जुगेहिं सूरे कति मंडलाइं चरति ?। ता णव पण्णरसे मंडलसते चरति । ता जुगेणं णक्खत्ते कति मंडलाइं चरति ?। ता अट्ठारस पणतीसे दुभागमंडलसते चरति ॥

" ता जुगेण " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । युगेन कति मण्डलानि चरति ?। भगवानाह-"ता अट्ठ" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । अष्टौ मण्डलशतानि चतुरशीत्यधिकानि चरति । तथाहि-चन्द्र एकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या शतैः प्रविभक्तस्य मण्डलस्याष्टषष्ट्यधिकसप्तदशशतसंख्यान् भागान् एकेन मुहूर्त्तेन गच्छति । युगे च मुहूर्त्ताः सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि, नव शतानि, ततः सप्तदश शतानि अष्टषष्ट्यधिकानि चतुःपञ्चाशता सहस्रैर्नवभिश्च शतैर्गुण्यन्ते,जाता नव कोटयः, सप्ततिर्लक्षास्त्रिषष्टि सहस्राणि, द्वे शते ९७०६३२०० । ततोऽस्य राशेरेकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैः १०९८०० मण्डलाऽऽनयनाय भागो ह्रियते, लब्धानि अष्टौ शतानि चतुरशीत्यधिकानि मण्डलानामिति । "ता जुगेण ' इत्यादि सूर्यविषय प्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह-"ता नव पणरस"इत्यादि ।'ता इति पूर्ववत् । नव मण्डलशतानि पञ्चदशाधिकानि चरति । तथाहि-यदि द्वाभ्यामहोरात्राभ्यामेकं सूर्यमण्डलं लभ्यते, ततः सकलयुगभाविभिरष्टादशभिरहोरात्रशतैस्त्रिंशदधिकैः कति मण्डलानि लभ्यन्ते ?। राशित्रयस्थापना-२।१।१८३० । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशेर्गुणनं, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०। तेषामाद्येन राशिना द्विकरूपेण भागहरणं,

लब्धानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५। " ता जुगण " इत्यादि नक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्र सुगमम । भगवानाह-"ता अट्ठार-स"इत्यादि। अष्टादशद्विभागमण्डलशतानि अर्द्धमण्डलशतानि पञ्चत्रिंशानि पञ्चत्रिंशदधिकानि चरति । तथाहि-नक्षत्रमेकेन शतसहस्रेणाष्टानवत्या च शतैः प्रविभक्तस्य मण्डलसत्कान् पञ्चत्रिंशदधिकाष्टादशशतसङ्ख्यान् भागान् एकेन मुहूर्तेन गच्छति, युगे च मुहूर्त्ताः सर्वसङ्ख्यया चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि, नव शतानि। ततस्तैः चतुष्पञ्चाशता सहस्रैर्नवभिःशतैरष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि गुण्यन्ते, जाता दश कोटयः, सप्त लक्षाः, एकचत्वारिंशत् सहस्राणि, पञ्चशतानि १००७४१५०० । अर्द्धमण्डलानि चेह ज्ञातुमिष्टानि, तत एकस्य शतसहस्रस्याष्टानवतेश्च शतानामर्द्धे यानि चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि नव शतानि, तैर्भागो ह्रियते, लब्धानि अष्टादश शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि अर्द्धमण्डलानामिति । सू० प्र० १५ पाहु० । च० प्र० । ज्यो० । द० प० ।

(५०) " चंदेहि उ सिग्घयरा, सूरा सूरेहिँ तह गहा सिग्घा ।
नक्खत्ता उ गहेहि य, नक्खत्तेहिं तु ताराओ ॥ ६४ ॥
सव्वऽप्पगई चंदा, तारा पुण हुंति सव्वसिग्घगई ।
एसो गइविसेसो, जोइसियाण तु देवाण ॥६५॥" द० प० ।

(५१) अथ चन्द्रसूर्यनक्षत्रताराणामल्पर्द्धिकत्व महर्द्धिकत्व च विवक्षुराह-

एतेसि णं भंते ! चंदिमसूरिअगहणक्खत्ततारारूवाणं कयरे सव्वमहिड्ढिआ,कयरे सव्वप्पिड्ढिआ ?। गोयमा ! तारारूवेहिंतो णक्खत्ता महिड्ढिआ, णक्खत्तेहिंतो गहा महिड्ढिआ, गहेहिंतो सूरिआ महिड्ढिआ,सूरेहिंतो चंदा महिड्ढिआ,सव्वप्पिड्ढिआ तारारूवा, सव्वमहिड्ढिआ चंदा ।

" एतेसि ण " इत्यादि । एतेषां भदन्त ! चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारारूपाणा मध्ये कतरे सर्वमहर्द्धिकाः,कतरे च,चकारोऽत्र गम्य । सर्वाल्पर्द्धिका' ? । भगवानाह-गौतम ! तारारूपेभ्यो नक्षत्राणि महर्द्धिकानि, नक्षत्रेभ्यो ग्रहा महर्द्धिकाः, ग्रहेभ्य सूर्या महर्द्धिकाः,सूर्येभ्यश्चन्द्रा महर्द्धिकाः। अत एव सर्वाल्पर्द्धिकास्तारारूपाः, सर्वमहर्द्धिकाश्चन्द्रा । इयमत्र भावना-गतिविचारणायां येभ्यः शीघ्रा उक्तास्ते तेभ्य ऋद्धिविचारणायामुत्क्रमतो महर्द्धिका ज्ञेया इति । ज० ७ वक्ष० । जी० । सू० प्र० । च० प्र० । (चन्द्रसूर्ययोरुदयास्तमयने, तत्र बहूनां विप्रतिपत्तयस्तन्निराकरण च ' सूरमंडल ' शब्दे वक्ष्यते) गणितप्रतिपादके ज्योति शास्त्रे, स० । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

जोइसियदेवित्थी-ज्योतिष्कदेवस्त्री-स्त्री० । चन्द्राऽऽदिज्योतिष्कदेवानामग्रमहिष्याम्, जी० ।

से किं तं जोइसियदेवित्थियाओ ?। जोइसियदेवित्थियाओ पंचविहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-चंदविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, सूरविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, गहविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, णक्खत्तविमाणजोइसियदेवित्थियाओ, ताराविमाणजोइसियदेवित्थियाओ । सेत्त जोइसियदेवित्थियाओ । जी० २ प्रति० ।

जोइसियमंडल-ज्योतिष्कमण्डल-न० । चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराणां मण्डले, जं० ७ वक्ष० । (ज्योतिष्कमण्डलनिष्पत्तिस्वरूप ' मंडल ' शब्दे वक्ष्यते) (अथ सूर्यमण्डलानां मिथश्चन्द्रमण्डलानां चान्तराणि 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे द्रष्टव्यानि)

अथ कति मण्डलानि द्वीपे, कति च निषधलवणे चन्द्रसूर्ययोर्भवन्तीत्याह-

संततमंतरमेयं, रवीण पणसट्ठि मंडला दीवे ।
तत्थ विसट्ठि निसढे, तिन्नि अबाहाएँ तस्सेव ॥११॥

सन्ततं निरन्तरम, एतत्पूर्वोक्त सूर्याचन्द्रयोश्च मध्ये प्रविशतोर्बहिर्निर्गच्छतोश्च मण्डलानां परस्परमन्तर ज्ञेय, तत्र रव्योः पञ्चषष्टिमण्डलानि द्वीपे, तत्रापि द्वाषष्टि निषधपर्वते,त्रीणि च तस्य बाहायाम । इदं तु श्रीमुनिचन्द्रसूरिनिरुक्त समवायाङ्गवृत्तौ। त्रिषष्टिस्थाने जम्बूद्वीपस्य पर्यन्तिमेऽशीत्युत्तरे योजनशते पञ्चषष्टिर्भवन्ति । तत्र निषधपर्वते नीलवन्तपर्वते च त्रिषष्टि सूर्योदया , सूर्यमण्डलानि इत्यर्थ । तदन्ये तु द्वे जगत्यां, शेषाणि तु लवणे इत्युक्तमस्ति ' सग्रहणीवृत्त्यादावपि त्रिषष्टि २ मण्डलानि निषधनीलवतो , द्वे द्वे हरिवर्षकोट्यादौ ॥ ११ ॥

चंदाणं निसढे वि अ, मंडल पण गुरूवएसि दीसंति ।
सेसाइँ मंडलाइं, दोण्ह वि जलहिस्स मज्झम्मि ॥१२॥

तथा चन्द्रयोर्निषधनीलवत्पर्वते यत्र पञ्च मण्डलानि गुरूपदेशे दृश्यन्ते । शेषाणि द्वयोरपि जलधौ रवेर्दश, पञ्च शशिनश्च भवन्ति । तत्राप्यय विशेषः—१ । २ । ३ । ४ । ५ । ११ । १२ । १३ । १४ । १५ । एतानि चन्द्रस्य सूर्यस्याऽपि साधारणानि । ६ । ७ । ८ । ९ । १० रूपाणि पुनश्चन्द्रस्यैव भवन्ति, न जातुचिदपि तेषु सूर्यः समायाति । चन्द्रस्य मण्डलान्तराणि चतुर्दश सन्ति । तत्र चतुर्षु सर्वाभ्यन्तरेषु सर्वबाह्यमण्डलान्तरेषु च सूर्यस्य प्रत्येकं द्वादश मण्डलानि स्युः, मध्यवर्त्तिषु षट्सु चन्द्रमण्डलान्तरेषु सूर्यमण्डलानि त्रयोदश भवन्ति ॥ १२ ॥ म० ।

चन्द्रमण्डलाऽऽदिविष्कम्भो यथा-

एगट्ठिभागे छेत्तू-ण जोयणं तस्स होंति जे भागा ।
ते चंदा छप्पन्नं, अडयालीसं भवे सूरा ॥

एकषष्ट्या योजनप्रमाणाङ्गुलनिष्पन्न भित्त्वा तस्य भवन्ति ये भागा एकषष्टिसङ्ख्या,ते च चन्द्राश्चन्द्रमण्डलानि षट्पञ्चाशद् भवन्ति । सूर्यमण्डलानि भवन्त्यष्टाचत्वारिंशद्भागा । किमुक्त भवति ?-योजनस्यैकषष्टिभागाः षट्पञ्चाशच्चन्द्रमण्डलस्य विष्कम्भपरिमाण सूर्यमण्डलस्याष्टाचत्वारिंशत् । एतदेव गव्यूतपरिमाणेन चिन्त्यते-तत्र चतुर्गव्यूत योजनमिति षट्पञ्चाशच्चतुर्भिर्गुण्यते, जाते द्वे शते चतुर्विंशत्यधिके । २२४ । तथा एकषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रय' क्रोशाः, एकस्य च क्रोशस्य एकचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः । विष्कम्भार्द्धं चोत्सेध, ततोऽष्टाविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्योत्सेधपरिमाण चन्द्रमण्डलस्य सातिरेकगव्यूतमेकचत्वारिंशद्विसप्तत्यधिकभागा गव्यूतस्य, तथा सूर्यमण्डलस्याष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य चतुर्भिर्गुण्यते, जात द्विनवत्यधिक शतम् । १९२ । तस्यैकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रय क्रोशाः,क्रोशस्य च नवैकषष्टिभागा विष्कम्भार्द्धमुत्से

घ इत्यु-सेधपरिमाण चतुर्विंशत्येकषष्टिभागा योजनस्य । यदि वा अर्द्धं गव्यूत, नव च द्वाविंशत्यधिकशतभागान् गव्यूतस्य। तथा चन्द्रस्य चन्द्रमण्डलस्य परिधे परिमाण द्वे योजने, त्रय क्रोशा , एकस्य क्रोशस्य सप्तत्रिंशदेकषष्टिभागा विशेषाधिका । सूर्यमण्डलस्य द्वे योजने, एक क्रोश , अष्टापञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागाः क्रोशस्य विशेषाधिका।। नक्षत्राऽऽदिमण्डलाना तु विष्कम्भाऽऽदिपरिमाण सग्रहणीटीकायां तत्त्वार्थटीकाया चाभिहितमस्माभिरिति ततोऽवधार्यम । ज्यो० ७ पाहु० । (चन्द्रसूर्यनक्षत्रग्रहताराणा मुहूर्त्तगतिप्रमाण 'जोइसिय' शब्दे १६०५ पृष्ठे गतम)

जोइसियराय–ज्योतिष्कराज–पुं० । चन्द्रे, सूर्ये च ।" चदसूरिया य पत्थ दुवे जोइसिदा जोइसियरायाणो परिवसति । " प्रज्ञा० २ पद । स्था० । सू० प्र० ।

जोइसियविमाण–ज्योतिष्कविमान–न० । चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराणा विमाने, "एत्थ ण जोइसियाण देवाण तिरियमसखेज्जा जोइसियविमाणावाससयसहस्सा हवति । " प्रज्ञा० २ पद। (सर्वा विमानवक्तव्यता 'विमाण' शब्दे वक्ष्यते)

जोइस्सर–योगीश्वर–पुं० । योगो धर्म शुक्लध्यानलक्षण ,स येषा विद्यते इति योगिन साधव , तैरीश्वर सदुपदेशेन तेषा प्रवृत्तेस्तत्सबन्धाऽऽदिति, तेषां वा ईश्वरो योगीश्वर । प्रभुरित्यनर्थान्तरम् । योगिनां प्रभौ, आव० ४ अ० ।

यदुक्तम्-

"चाण्डाल किमय द्विजातिरथवा, शूद्रोऽथ वा तापस ,
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वर कोपि वा ? ।
इत्यस्वल्पविकल्पजल्पमुखरै सभाष्यमाणो जनै-
र्नो रुष्टो न हि चैव हृष्टहृदया योगीश्वरो गच्छति ॥१॥" उत्त० ३ अ० । याज्ञवल्क्यमुनौ, योगिनां श्रेष्ठे च । दुर्गायाम्, स्त्री० । ङीप् । वाच०

योगेश्वर–पुं० । युज्यन्त इति योगा मनोवाक्कायव्यापारलक्षणा , तैरीश्वरः प्रधानो योगेश्वर । योगप्रधाने, आव० ४ अ० । श्रीकृष्णे,दुर्गायां, वन्ध्याकर्कोटक्यां च, स्त्री० । ङीप् । वाच० ।

योगिसमर्य–त्रि० । योगिना चिन्तनीये, आव० ४ अ० ।

जोईरस्सिचारण–ज्योतीरश्मिचारण–पुं० । चारणभेदे, चन्द्रार्कग्रहनक्षत्राऽऽद्यन्यतमज्योतीरश्मिसबन्धेन भुवीव चरणचङ्क्रमणप्रवणा ज्योतीरश्मिचारणा । प्रव० ६७ द्वार ।

जोईरस–ज्योतीरस–न० । रत्नभेदे, रा० । ज्ञा० । आ० म० । औ० । ज्योतीरस नाम रत्नम । जी० ३ प्रति० ।

जोईरसमय–ज्योतीरसमय–त्रि० । ज्योतीरसाऽऽख्यरत्नाऽऽत्मक, " जोईरसमया उत्तरगा । " " जोईरसमया वसा । " ज्योतीरस नाम रत्न तन्मया वशा । रा० ।

जोक्कारकरण–जोत्कारकरण–न० । पित्रादीनां जोत्कारकरणाऽऽत्मके जिनभवनगताशातनाभेदे, ध० २ अधि० ।

जोग–योग–पुं० । योजन योग । युज्-घञ् । बन्धे, योगो बन्ध इत्यनर्थान्तरमिति । द० सू० ४ सूत्र । संबन्धे, बृ० ६ उ० । आतु० । स्था० । ज्ञा० । प्रश्न० । विशे० । सम्म० , द्वा० १० द्वा० । अप्राप्तज्ञानाऽऽदिप्रापणे, कल्प० १ क्षण ।

(१) " जोगक्खेम वट्टमाणा पडिवहति । " अलब्धस्योपलस्य वस्तुनो लाभो योगो, लब्धस्य परिपालन क्षेम इति । ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । योगो बीजाऽऽधानोद्भेदपोषणकरणम्, क्षेम तत्तदुपद्रवाऽऽपादनम् । रा० । सयोग, मेलने, वर्माऽऽदिधारणे, युक्तौ, शब्दाऽऽदीना प्रयोगे, समुदायशब्दस्यावयवार्थसबन्धे, ' योगबल समाख्या ' इति मीमासका । " योग कर्मसु कौशलम् " इत्युक्ते यथास्थितवस्तुनोऽन्यथारूपप्रतिपादने, वाच० । विधिकर्त्रनुकूलपरिवारसपत्तौ, प्रति० । युज्यते बाह्ये मनोवाक्कायव्यापारे, स० । आ० म० । आ० चू० । न० । अनु० । नि० चू०, । पं० व० । प्र० । स्था० । प्रश्न० । आव० । उत्त० । सूत्र० । विशे० । योगो, व्यापार , कर्म, क्रियेत्यनर्थान्तरमिति । विशे० । आतु० । व्य० । जीत० । "जोगा मणमाईआ।" योगा मनोव्यापाराऽऽदय । प्रति० । आचा० । स्था० । सूत्र० । "मणवयसकाइए जोगे वट्टमाणाण" स्था० ६ ठा० ।

(२) स च द्विधा । द्रव्ययोगो, भावयोगश्च-

दव्वे मणवइकाए-जोगा दव्वा दुहा उ भावम्मि ।
जोगो सम्मत्ताई, पसत्थ इयरो य विवरीओ ॥

द्रव्य इति द्वारपरामर्श । (मणवइकाए-जोगा दव्वा इति) मनोवाक्काययोग्यानि द्रव्याणि द्रव्ययोग । इयमत्र भावना-जीवेनागृहीतानि गृहीतानि वा स्वव्यापारप्रवृत्तानि द्रव्ययोग । (दुहा उ भावम्मि त्ति) द्विधैव,तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद् द्विप्रकार एव,भावे भावविषया योग । तद्यथा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । तत्र प्रशस्त सम्यक्त्वाऽऽदि । आदिशब्दाद् ज्ञानाऽऽचरणपरिग्रह । प्रशस्तता चास्य प्रशस्यते युज्यते अनेनाऽऽत्माऽपवर्गेणेत्यन्वर्थबलात । इतरो मिथ्यात्वाऽऽदियोगो विपरीतोऽप्रशस्त , युज्यतेऽनेनाऽऽत्मा अष्टविधेन कर्मणेति व्युत्पत्तिभावात । आ० म० १ अ० २ खण्ड । " दव्वजोगो-तिण्ह चउण्ह वा जोगाण जोगो । अहवा—मणवइकायपाओग्गाणि दव्वाणि । भावजोगो-" जोगो विरिय थामो, उच्छा-ह परक्कमो तहा चेट्ठा । सत्ती सामत्थ ति य, जोगस्स हवति पज्जाया " ॥१॥ सो य सम्मत्ताइगुणतो पसत्थो, मिच्छत्तअणाणअविरतिगओ अपसत्थो " । आ० चू० १ अ० ।

(३) मनोवाक्कायाऽऽत्मको योग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवेत्तदुभयरूप इति प्रेरक प्राह-

ननु मणवइकाजोगा, सुभाऽसुभा वि समयम्मि दीसंति ।
दव्वम्मि मीसभावो,भवेज्ज न उ भावकरणम्मि ।१९३६।

ननु मनोवाक्काययोगा शुभा अशुभाश्च,मिश्रा इत्यर्थ । एकस्मिन्समये दृश्यन्ते। तत्कथम्? उच्यते-"सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि त्ति(१९३५गाथा)"तथाहि-किञ्चिद्दाविधिना दानाऽऽदिवितरण चिन्तयत शुभाशुभो मनोयोग । तथा-किमप्यविधिनैव दानाऽऽदिधर्ममुपदिशत शुभाशुभो वाग्योग । तथा किमप्यविधिनैव जिनपूजावन्दनाऽऽदिकायचेष्टा कुर्वत शुभाशुभ काययोग इति। तदेतदयुक्तम्। कुत इत्याह-"दव्वम्मि" इत्यादि। इदमुक्त भवति-इह द्विविधो योग द्रव्यतो, भावतश्च। तत्र मनोवाक्काययोगप्रवर्त्तकानि द्रव्याणि, मनोवाक्कायपरिस्पन्दाऽऽत्मको योगश्च द्रव्ययोग । यस्त्वेतदुभयरूपयोगहेतुरध्यवसाय

स भावयोगः । तत्र शुभाशुभरूपाणां यथोक्तचिन्तादेशनाकायचेष्टानां प्रवर्त्तके त्रिविधेऽपि द्रव्ययोगे व्यवहारनयदर्शनविवक्षामात्रेण भवेदपि शुभाशुभत्वलक्षणो मिश्रभावः, न तु मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे भावकरणे भावाऽऽत्मके योगे । अयमभिप्रायः-द्रव्ययोगो व्यवहारनयदर्शनेन शुभाशुभरूपोऽपीष्यते । निश्चयनयेन तु सोऽपि शुभोऽशुभो वा केवलः समस्ति, यथोक्तचिन्तादेशनाऽऽदिप्रवर्त्तकद्रव्ययोगाणामपि शुभाशुभरूपमिश्रणा तन्मतेनाभावात् । मनोवाक्कायद्रव्ययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे तु भावकरणे भावयोगे शुभाशुभरूपो मिश्रभावो नास्ति, निश्चयनयदर्शनस्यैवाऽऽगमेऽत्र विवक्षितत्वात् । न हि शुभान्यशुभानि वाऽध्यवसायस्थानानि मुक्त्वा शुभाशुभाध्यवसायस्थानरूपस्तृतीयो राशिरागमे कचिदपीष्यते, येनाध्यवसायरूपे भावयोगे शुभाशुभत्वं स्यादिति भावः । तस्माद्भावयोग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवति, न तु मिश्रः । विशे० । प्रति० ।

(४) योगाश्च दोषाय गुणाय च भवन्ति, तदेतत्प्रतिपादयति-

मणो य वाय काओ य, तिविहो जोगसंगहो ।
ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स य गुणावहा ॥

मनोयोगो, वाग्योगः, काययोगश्चेति त्रिविधो योगसंग्रहो भवति, सङ्क्षेपतस्त्रिधा योगो भवतीत्यर्थः । ते मनोवाक्काययोगा अयुक्तस्यानुपयुक्तस्य दोषाय कर्मबन्धाय भवन्ति, युक्तस्य तु त एव गुणाऽऽवहा कर्मनिर्जराकारिणः संपद्यन्ते । बृ० ३ उ० । तदात्मके आश्रवद्वारभेदे, स० ५ सम० । योजनं योगो, जीवस्य वीर्यपरिस्पन्द इति यावत् । यदि वा-युज्यते धावनवल्गनाऽऽदिक्रियासु व्यापार्यत इति योगः । कर्मणि घञ् । यद्वा-युज्यते संबध्यते धावनवल्गनाऽऽदिक्रियासु जीवोऽनेनेति "पुनाम्नि"-॥५।३।१३०॥ इति करणे घञ्प्रत्ययः । कर्म० ३ कर्म० । स० । प० स० । आव० । अनु० । भावतः कायाऽऽदिकरणयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषे, स्था० १ ठा० । अष्ट० ।

(५) स च मनोवाक्कायलक्षणसहकारिकारणभेदात्त्रिविधः-

"परिणामाऽऽलम्बणगह-णसाहणं तेण लद्धनामतिगं ॥" क० प्र० ।

अस्यावतरणिका-परिणमनं परिणामः । अन्तर्भूतणिजर्थात् (व्यञ्जनात्—) ॥ ५ । ३ । १३२ ॥ इति घञ्प्रत्ययः । परिणामाऽऽपादानमित्यर्थः । आलम्ब्यत इत्यालम्बनम्, 'अनट्' । ५ । ३ । १२४ । इति भावेऽनट्प्रत्ययः । गृहीतिर्ग्रहणं, तेषां साधनं, साध्यतेऽनेनेति साधनं, योगसंज्ञि वीर्यं "करणाऽऽधारे" । ५ । ३ । १२६ । इत्यनट्प्रत्ययः । तथाहि-तेन वीर्यविशेषेण योगसंज्ञिनेनौदारिकाऽऽदिशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो गृह्णाति, गृहीत्वा च प्राणाऽपानाऽऽदिरूपतया परिणमयति, परिणमय्य च तन्निसर्गहेतुसामर्थ्यविशेषसिद्धये तानेव पुद्गलानवलम्बते । यथा मन्दशक्तिः कश्चिन्नगरे परिभ्रमणाय यष्टिमवलम्बते, ततस्तदवष्टम्भतो जातसामर्थ्यविशेषः सन् तान् प्राणापानाऽऽदिपुद्गलान् विसृजतीति । परिणामाऽऽलम्बनग्रहणसाधनं वीर्यं, तेन च वीर्येण योगसंज्ञिकेन मनोवाक्कायावष्टम्भतो जायमानेन (लद्धनामतिगं ति) लब्धनामत्रिकं-मनोयोगः, वाग्योगः, काययोग इति । तत्र मनसा करणभूतेन योगो मनोयोगः, वाचा योगो वाग्योगः, कायेन योगः काययोगः । कर्म० ५ कर्म० ।

(६) योगप्ररूपणायाऽऽह—

तिविहे जोगे पण्णत्ते । तं जहा-मणजोगे, वयजोगे, कायजोगे ॥

"तिविहे जोगे" इत्यादि । इह च वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थलब्धिविशेषप्रत्ययमभिसन्ध्यनभिसन्धिपूर्वकमात्मनो वीर्यं योगः । आह च-"जोगो विरियं थामो, उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा । सत्ती सामत्थं ति य, जोगस्स हवंति पज्जाया" ॥१॥ इति । स च द्विधा-सकरणोऽकरणश्च । तत्रालेश्यस्य केवलिनः कृत्स्नयोर्ज्ञेयदृश्ययोरर्थयोः केवलज्ञानं, दर्शनं चोपयुञ्जानस्य योऽसावपरिस्पन्दः प्रतिघो वीर्यविशेषः सोऽकरणः । स च नेहाधिक्रियते, सकरणस्यैव त्रिस्थानकावतारित्वात् । अतस्तस्यैव व्युत्पत्तिः, तमेव चाऽऽश्रित्य सूत्रव्याख्या युज्यते । जीवः कर्मभिर्येन "कम्मं जोगनिमित्तं बज्झइ" इति वचनाद् युङ्क्ते वा प्रयुङ्क्ते यं पर्यायं स योगो, वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितो जीवपरिणामविशेष इति ।

आह च-

"मणसा वयसा काए-ण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो ।
जीवस्स अप्पणिज्जो, स जोगसन्नो जिणक्खाओ ॥ १ ॥
तेओजोगेण जहा, रत्तत्ताई घडस्स परिणामो ।
जीवकरणप्पओगे, विरियमवि अप्पपरिणामो " ॥ २ ॥ इति ।

स्था० ३ ठा० १ उ० । औदारिकाऽऽदिशरीरस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः, औदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीरव्यापाराऽऽहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः । न० । प० स० । स्था० । सूत्र० । मनसा करणेन युक्तस्य जीवस्य योगो वीर्यपर्यायो दुर्बलस्य यष्टिकाद्रव्यवदुपष्टम्भकरो मनोयोग इति । स चतुर्विधः-सत्यमनोयोगः, मृषामनोयोगः, सत्यमृषामनोयोगः, असत्यमृषामनोयोगश्चेति । मनसो वा योगः करणकारणानुमतिरूपो व्यापारो मनोयोगः । एवं वाग्योगोऽपि । एवं काययोगोऽपि । नवरं, स सप्तविधः, औदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियवैक्रियमिश्राऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रकार्मणकाययोगभेदादिति । तत्रौदारिकाऽऽदयः शुद्धाः सुबोधाः । औदारिकमिश्रस्तु औदारिक एवापरिपूर्णो मिश्र उच्यते । यथा-गुडमिश्रं दधि न गुडतया नापि दधितया व्यपदिश्यते, तत्ताभ्यामपरिपूर्णत्वादेवं, एवमौदारिकमिश्रः कार्मणेन नौदारिकतया, नापि कार्मणतया व्यपदेष्टुं शक्यमपरिपूर्णत्वादिति तस्य मिश्रव्यपदेशः । एवं वैक्रियाऽऽहारकमिश्रावपीति शतकटीकालेशः । प्रज्ञापनाव्याख्यानांशस्त्वेवम्-औदारिकाऽऽद्याः शुद्धास्तत्पर्याप्तकस्य, मिश्रास्त्वपर्याप्तकस्येति । तत्रोत्पत्तावौदारिककायः कार्मणेन, औदारिकशरीरिणश्च वैक्रियाऽऽहारककरणकाले वैक्रियाऽऽहारकाभ्यां मिश्रो भवतीति, एवमौदारिकमिश्रः । तथा वैक्रियमिश्रो देवाऽऽद्युत्पत्तौ कार्मणेन कृतवैक्रियस्य चौदारिकप्रवेशाद्वाऽथौदारिकेण । आहारकमिश्रस्तु साधिताऽऽहारककार्यप्रयोजनः पुनरौदारिकप्रवेशे औदारिकेणेति कार्मणस्तु विग्रहे केवलिसमुद्घाते चेति सर्व एवायं योगः पञ्चदशधेति । सङ्ग्रहोऽस्य—"सच्चं मोसं मीसं, असच्चमोसं मणो वए चेव । काओ उराल विउव्विय, आहारग मीस कम्म जोगो त्ति" ॥ १ ॥ स्था० ३ ठा० १ उ० ।

(७) कायव्यापारविशेषावेव मनोवाग्योगौ वक्ष्येते यद्यस्मात्ततोऽयमदोषः, न हि कायिको योगः कस्याञ्चिदप्यवस्थायां शरीरि-

षां जन्तूनां न वर्त्तते, अशरीरिणां सिद्धानामेव तन्निवृत्तेरि-त्यतो वाङ्निसर्गाऽऽदिकालेऽपि सोऽस्त्येवेति भाव. ।

तर्हि समुच्छिद्यतां मनोवाग्योगकथा । नेत्याह-

किं पुण तणुसंरंभे-ण जेण मुंचइ स वाइओ जोगो ।
मण्णइ य स माणसिओ, तणुजोगो चेव य विभत्तो ।३५९।

'किं पुण त्ति' तथाऽपीत्यस्यार्थे । ततश्चेदमुक्तं भवति-यद्यपि काययोग. सर्वत्रानुगतोऽस्ति, तथाऽपि येन मनोवाग्द्रव्याणा-मुपादानं करोति, स कायिको योग.। येन तु संरम्भेण तान्येव मुञ्चति, स वाचिक । येन तु मनोद्रव्याणि चिन्तायां व्यापारय-ति, स मानसिकः । इत्येव तनुयोग एवैक उपाधिभेदात्त्रिधा विभक्त इति । एतावन्मात्रभेदेन त्रयोऽप्यमी योगा व्यवह्रियन्ते । परमार्थतस्त्वेक एव सर्वत्र कायिको योग इति ।३५९।

तथा च प्रमाणयन्ति-

तणुजोगो चिअ मणवइ-जोगा काएण दव्वगहणाओ ।
आणापाणु व्व न चे, तओ वि जोगंतरं होज्जा ॥३६०॥

तनुयोग एव मनोवाग्योगौ, तदन्तर्गतावेवैतावित्यर्थ' । इय प्रतिज्ञा, कायेनैव तद्द्रव्यग्रहणादिति हेतु ,प्राणापानवदिति दृष्टान्त. । यथा-कायेन द्रव्यग्रहणात् प्राणापानव्यापार कायि-कयोगान्न भिद्यते, एवं मनोवाग्योगावपीति भाव' । न चेदेव-न चेत् त्वया प्राणापानव्यापारस्तनुयोगतयाऽभ्युपगम्यते, तर्हि ततोऽपि सोऽपि प्राणापानव्यापारो योगान्तरं स्यात्, ततो योगचतुष्टयमङ्ग , अनिष्टं चैतत्, तस्मात्कायिकयोग एवाय-मिति ॥३६०॥

अत्र पर. प्राह-

तुल्ले तणुजोगत्ते, कीस व जोगंतरं तओ न कओ ?।
मणवइजोगा व कया, भण्णइ ववहारसिद्धत्थं ॥३६१॥

ननु त्वदुक्तयुक्त्यैव सर्वेषां तुल्ये तनुयोगत्वे मनोवाग्योगव-त्किमिति ततोऽसौ प्राणापानव्यापारः कायिकयोगाद् योगान्तर न कृत , किमिति चतुर्थो योगो न कृत इत्यर्थ ?। अथ नैव क्रियते, तर्हि तुल्येऽपि तनुयोगत्वे मनोवाग्योगौ काययोगात्किमिति पृथक् कृतौ ?, तस्मात्तनुयोगत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वादेक एव काययोगः क्रियताम् । उपाधिभेदेन तु चत्वारो वा योगाः क्रिय-न्ताम् । अन्यथा पक्षपातमात्रमेव स्याद्, न तु युक्तिरिति भाव । अत्रोत्तरमाह-"भण्णइ" इत्यादि । भण्यतेऽत्रोत्तर,किं तत्?, इत्या-ह-व्यवहारस्य लोकलोकोत्तररूढस्य सिद्ध्यर्थं प्रसिद्धिनिमि-त्त, मनोवाग्योगावेव पृथक्कृतौ, न प्राणापानयोग इति ॥३६१॥

व्यवहारोऽपि किमितीत्थं प्रवृत्त इत्याह-

कायकिरियाऽऽइरित्तं, नाऽऽणापाणयफलं जह वईए ।
दीसइ मणसो य फुडं, तणुजोगऽब्भंतरो तो सो ॥३६२॥

कायक्रिया कायव्यापारः, तद्व्यतिरिक्त तदभ्यधिक प्राणापान-फल न किमपि दृश्यते । यथा वाचो मनसश्च स्फुट तद् दृश्य-ते । इदमुक्त भवति-यथा वाच' स्वाध्यायविधानपरप्रत्यायनाऽऽ-दिक,मनसश्च धर्मध्यानाऽऽदिक, विशिष्ट स्फुट कायक्रियाऽतिरि-क्त फलमुपलभ्यते,नैव प्राणापानयो',इति तनुयोगाऽभ्यन्तरत्वमे-वासौ प्राणापानव्यापारो व्यवह्रियते, न पृथक् । न च वक्तव्य-जीवस्य साम्येऽपि प्रतीतिजननाऽऽदिक प्राणापानफलमप्युपल-भ्यत एवेति; एवंभूतस्य प्रयोजनमात्रस्य सर्वत्र विद्यमानत्वाद् धावनवल्गनाऽऽदिव्यापारस्यापि पृथग् योगत्वप्रसङ्गात्,तस्मा-द्विशिष्टव्यवहाराङ्गभूतपरप्रत्यायनाऽऽदिफलत्वाद्वाङ्मनोयोगा-वेव पृथक् कृतौ,न प्राणापानयोग इति । तदेव तनुयोगो वाङ्नि-सर्गविषये व्याप्रियमाणो वाग्योगः, मनने तु व्याप्रियमाणो म-नोयोग ; वाग्विषयो योगो वाग्योगः, मनोविषयो योगो मनोयो-ग इति कृत्वा । इत्येव तनुयोगविशेषावेव वाङ्मनोयोगौ इत्ये-तद्दर्शितम् ॥३६२॥

अथवा स्वतन्त्रावेवैतौ इति दर्शयन्नाह-

अहवा तणुजोगाहिअ-वइदव्वसमूहजीववावारो ।
सो वइजोगो भण्णइ, वाया निसिरिज्जए तेणं ॥ ३६३॥
तह तणुवावाराहिअ-मणदव्वसमूहजीववावारो ।
सो मणजोगो भण्णइ, मन्नइ नेयं जओ तेणं ॥ ३६४ ॥

अथवा-तनुयोगेन कायव्यापारेणाऽऽहृतो गृहीतो योऽसौ वाग्-द्रव्यसमूह', तेन सहकारिकारणभूतेन तन्निसर्गार्थं योऽसौ जीवस्य व्यापार', स वाग्योगो भण्यते; वाचा सहकारिकारण-भूतया जीवस्य योगो वाग्योग इति कृत्वा । किं पुनस्तेन क्रियते?, इत्याह-सैव वाक् तेन जीवव्यापारेण निसृज्यते-परप्रत्यायना-र्थमुत्सृज्यत इति । तथा तनुव्यापारेणाऽऽहृतो योऽसौ मनोद्रव्यस-मूह , तेन सहकारिकारणभूतेन वस्तुचिन्तनाय योऽसौ जी-वस्य व्यापार., स मनोयोगो भण्यते, मनसा सहकारिकारण-भूतेन जीवस्य योगो मनोयोग इति व्युत्पत्ते. । कुत. पुनरस्य म-नोयोग ?,इत्याह-यतस्तेन ज्ञेयं जिनमूर्त्यादिकं मन्यते चिन्त्यते-ऽतस्तस्य मनोयोगत्वमिति । तदेवमत्र पक्षे वाग्द्रव्यनिसर्गाऽऽ-दिकाले तनोर्व्यापारः सन्नपि न विवक्षितः, किं तु वाङ्मनोद्र-व्यसचिवस्य जीवस्यैवेति स्वतन्त्रावेव वाङ्मनोयोगौ, न तु त-नुयोगविशेषभूताविति भाव. । आनापानद्रव्यसाचिव्यात्, त-न्मोचने जन्तोस्तद्योगोऽपि स्वतन्त्र पृथक् प्राप्नोतीति चेत् । न । "भण्णइ ववहारसिद्धत्थ । (३६१ गाथा)" इत्यादिना प्रतिवि-हितत्वादिति ॥ विशे० ॥

(८) सामान्येन योग प्ररूप्य विशेषतो नारकाऽऽदिषु चतु-र्विंशतौ पदेषु तमतिदिशन्नाह-

एवं णेरइयाणं विगलिंदियवज्जाणं० जाव वेमाणियाणं ।

" एव " इत्यादि कण्ठ्य, नवरमतिप्रसङ्गपरिहारायेदमुक्तम । (विगलिंदियवज्जाण ति) तत्र विकलेन्द्रिया अपञ्चेन्द्रिया-स्तेषां त्वेकेन्द्रियाणा काययोग एव, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां तु काययोगवाग्योगाविति । स्था० ३ ठा० १ उ० । जी० । (यो-गानाश्रित्य दण्डक. 'पओग' शब्दे वक्ष्यते)

उत्पलजीवानधिकृत्य-

ते णं भंते ! जीवा किं मणजोगी,वइजोगी, कायजोगी ?। गोयमा ! णो मणजोगी, णो वयजोगी, कायजोगी वा, कायजोगिणो वा ॥ भ० ११ श० १ उ० । जी० ।

मनुष्याणां योगो यथा-

ते णं भंते ! जीवा किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी, अजोगी ?। गोयमा ! मणजोगी वि,वइजोगी वि,कायजोगी वि, अजोगी वि ॥

योगद्वारे मनोयोगिनो, वाग्योगिनः, काययोगिनोऽयोगिनश्च। तत्रायोगिनः शैलेश्यवस्था प्रतिपन्नाः। जी० १ प्रति०। (पुलाकाऽऽदीनां योगो 'णियंठ' शब्दे। संयताऽऽदीनां योगः 'संजय' शब्दे वक्ष्यते)

(९) नैरयिकाऽऽदिद्ण्डकेषु समविषमयोगावधिकृत्य योगाधिकारादेवेदमाह–

दो भंते ! णेरइया पढमसमयउववण्णगा किं समजोगी, विसमजोगी ?। गोयमा ! सिय समजोगी, सिय विसमजोगी। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–सिय समजोगी, सिय विसमजोगी ?। गोयमा ! आहारयाओ वा से अणाहारए, अणाहारयाओ वा से आहारए, सिय हीणे, सिय तुल्ले, सिय अब्भहिए, जइ हीणे असंखेज्जइभागहीणे वा, संखेज्जइभागहीणे वा, संखेज्जगुणहीणे वा, असंखेज्जगुणहीणे वा, अह अब्भहिए असंखेज्जइभागमब्भहिए वा, संखेज्जइभागमब्भहिए वा, संखेज्जगुणमब्भहिए वा, असंखेज्जगुणमब्भहिए वा, से तेणट्ठेणं० जाव सिय समजोगी, सिय विसमजोगी, एवं० जाव वेमाणिया।

"दो भंते !" इत्यादि। प्रथमे समये उपपन्नयोर्ययोस्तौ प्रथमसमयोपपन्नौ, उत्पत्तिश्चेह नरकक्षेत्रप्राप्तिः, सा च द्वयोरपि विग्रहेण, ऋजुगत्या वा, एकस्य वा विग्रहेण, अन्यस्य च ऋजुगत्येति। (समजोगि त्ति) समो योगो विद्यते ययोस्तौ समयोगिनौ, एवं विषमयोगिनौ। "आहारयाओ वा" इत्यादि। आहारकाद्वा, आहारकं नारकमाश्रित्य (से त्ति) स नारकोऽनाहारकः। अनाहारकाद्वा, अनाहारकं नारकमाश्रित्याहारकः। किमित्याह ?–(सिय हीणे त्ति) यो नारको विग्रहाभावेनागत्याऽऽहारकः सन्नेवोत्पन्नोऽसौ निरन्तराऽऽहारकत्वादुपचित एव, तदपेक्षया च यो विग्रहगत्याऽनाहारको भूत्वोत्पन्नोऽसौ हीनः पूर्वमनाहारकत्वेनानुपचितत्वाद्धीनयोगत्वेन च विषमयोगी स्यादिति भावः। (सिय तुल्ले त्ति) यौ समानसमयया विग्रहगत्याऽनाहारकौ भूत्वोत्पन्नौ, ऋजुगत्या वा गत्वोत्पन्नौ, तयोरेक इतरापेक्षया तुल्यः, समयोगी भवतीति भावः। (अब्भहिए त्ति) यो विग्रहाभावेनाहारक एवाऽऽगतोऽसौ विग्रहगत्यनाहारकापेक्षयोपचिततरत्वेनाभ्यधिको विषमयोगीति भावः। इह च–"आहारयाओ वा से अणाहारए" इत्यनेन हीनतायाः, "अणाहारयाओ वा आहारए" इत्यनेन चाभ्यधिकताया निबन्धनमुक्तम्। तुल्यतानिबन्धनं तु समानधर्मतालक्षणं प्रसिद्धत्वान्नोक्तमिति। भ० २५ श० १ उ०। (सयोगिमनोयोगिवाग्योगिकाययोग्ययोगिकानामल्पबहुत्वं, संसारसमापन्नजीवानां योगाल्पबहुत्वं च 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६५६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्। एकेन्द्रियाऽऽदीनां योगभवो, अनन्तानुबन्ध्युदयरहिते मिथ्यादृष्टौ यावन्तो योगास्तेऽपर्याप्तानां योगत्रयं स्थितिबन्धप्रस्तावे 'बंध' शब्दे द्रष्टव्याः) श्रुतोपदिष्टे संयमहेतौ सम्यङ्मनोवाक्कायव्यापारे च। योगाः श्रुतोपदिष्टाः संयमहेतवः। स्था० १ उ०। योगाः सम्यङ्मनोवाक्कायव्यापारा इति। अने० ३ अधि०। योगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापार इति च। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। समाधौ, उत्त० १ अ०। ध्यानविशेषे, षो० २ विव०। आत्माभ्यन्तरपरिणामे, द्वा० १६ द्वा०।

(१०) कतिविधो योग इत्याह–

सालम्बनो निराल–म्बनश्च योगः परो द्विधा ज्ञेयः।
जिनरूपध्यानं खल्वाद्यस्तत्तत्त्वगस्त्वपरः ॥ १ ॥

सह आलम्बनेन चक्षुरादिज्ञानविषयेण प्रतिमाऽऽदिना वर्तत इति सालम्बनः, निरालम्बनश्चाऽऽलम्बनाद्विषयभावापत्तिरूपान्निष्क्रान्तो निरालम्बनः, यो हि छद्मस्थेन ध्यायते, न च स्वरूपेण दृश्यते, तद्विषयो निरालम्बन इति यावत्। योगो ध्यानविशेषः, परः प्रधानो, द्विधा ज्ञेयो द्विविधो वेदितव्यः। जिनरूपस्य समवसरणस्थितस्य, ध्यानं चिन्तनं, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, आद्यः प्रथमः, सालम्बनो योगः। तस्यैव जिनस्य तत्त्वं केवलजीवप्रदेशसङ्घातरूपं केवलज्ञानाऽऽदिस्वभावं, तस्मिन् गच्छतीति तत्त्वगः। तुरेवकारार्थः, अपरोऽनालम्बनः, मुक्तपरमात्मस्वरूपध्यानमित्यर्थः ॥ १ ॥

कथं पुनर्जिनरूपं ध्यातव्यमित्याह–

अष्टपृथग्जनचित्त–त्यागाद्योगिकुलचित्तयोगेन।
जिनरूपं ध्यातव्यं, योगविधावन्यथा दोषः ॥ २ ॥

अष्ट च तानि पृथग्जनचित्तानि च, तेषां त्यागात्परिहारात्, योगिकुलस्य चित्तं मनः, तद्योगेन तत्सम्बन्धेन, जिनरूपं परमात्मरूपं, ध्यातव्यं ध्येयं, योगविधौ योगविधाने, अन्यथा दोषोऽपराधः ॥ २ ॥

तान्येव चाष्टौ चित्तान्याह–

खेदोद्वेगक्षेपो–त्थानभ्रान्त्यन्यमुद्रुगाऽऽसङ्गैः।
युक्तानि हि चित्तानि, प्रबन्धतो वर्जयेन्मतिमान् ॥ ३ ॥

खेदः श्रान्तता, क्रियास्वप्रवृत्तिहेतुः पथि परिश्रान्तवत्। खेदाभावेऽप्युद्वेगः, स्थानस्थितस्यैव उद्विग्नता, कुर्वाणोऽप्युद्विग्नः करोति न सुखं लभते। क्षेपः क्षिप्तचित्तता, अन्तराऽन्तराऽन्यत्र न्यस्तचित्तवत्। उत्थानं चित्तस्याप्रशान्तवाहिता, मनःप्रभृतीनामुद्रेकात् मदावष्टब्धपुरुषवत्। भ्रान्तिस्तस्मिंस्तद्ग्रहरूपा, शुक्तिकायां रजताध्यारोपवत्। अन्यमुद् अन्यहर्षः। रुग् रोगः, पीडाभङ्गो वा। आसङ्गोऽभिष्वङ्गः। खेदश्चोद्वेगश्च, क्षेपश्चोत्थानं च, भ्रान्तिश्चान्यमुच्च, रुक् चाऽऽसङ्गश्च, तैर्युक्तानि हि सम्बद्धानि हि, चित्तानि प्रस्तुतान्यष्ट, प्रबन्धतः प्रबन्धेन, वर्जयेत्परिहरेत्, मतिमान् बुद्धिमान् ॥ ३ ॥

खेदाऽऽदींश्चित्तदोषान् फलद्वारेणोपदर्शयन्नाह–

खेदे दार्ढ्याभावा–न्न प्रणिधानमिह सुन्दरं भवति।
एतच्चेह प्रवरं, कृषिकर्मणि सलिलवद् ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

खेदे चित्तदोषे सति, दार्ढ्याभावाद् दृढत्वाभावात्, न प्रणिधानमैकाग्र्यम्, इह प्रस्तुते योगे, सुन्दरं भवति। एतच्च प्रणिधानम्, इह योगे, प्रवरं प्रधानं, कृषिकर्मणि धान्यनिष्पत्तिफले, सलिलवज्जलवज्ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

उद्वेगे विद्वेषा–द्विष्टिसमं करणमस्य पापेन।
योगिकुलजन्मबाधक–मलमेतत्तद्विदामिष्टम् ॥ ५ ॥

उद्वेगे चित्तदोषे, विद्वेषाद्योगविषयतो, विष्टिसमं राजविष्टिरूपं, करणमस्य योगस्य, पापेन हेतुभूतेन, एतच्चैवंविधं करणम्,

योगिनां कुले यज्जन्म, तस्य बाधकम् । अनेन योगिकुलजन्मापि जन्मान्तरे न लभ्यते इति कृत्वा योगिकुलजन्मबाधकम्, अत्यर्थम्, एतत्खेदादि योगविदामभिमतम् ॥ ५ ॥

क्षेपेऽपि चाम्रकृष्या-दिष्टफलसमृद्धये न जात्वेतत् ।
नासकृदुत्पाटनतः, शालिरपि फलाऽऽवहः पुंसः ॥६॥

क्षेपेऽपि च चित्तदोषे, प्रबन्धात्प्रबन्धाभावात्, चित्तस्य इष्टफलसमृद्धये विपक्षिमफलसमृद्ध्यर्थं योगनिष्पत्तये, न, जातु कदाचित्, एतत्करणं, चित्तं वा भवति । किमिवेत्याह-आम्रकृष्या चित्तप्रक्षेपे फलसमृद्धिर्न भवतीति । आह-नासकृदनेकशः, उत्पाटनत उत्खननात्, शालिरपि धान्यविशेषः, फलाऽऽवहः फलसंयुक्तः, पुंसः पुरुषस्य यतो भवति ॥ ६ ॥

उत्थाने निर्वेदात्, करणमकरणोदय सदैवास्य ।
अत्यागत्यागोचित-मेतत्तु स्वसमयेऽपि मतम् ॥ ७ ॥

उत्थाने चित्तदोषे सत्यप्रशान्तवाहितायां, निर्वेदाद्धेतोः, करणं निष्पादनम् अकरणोदय भाविकालमाश्रित्याकरणस्यैवोदयो यस्मिन्निति तत्तथा, सदैवास्य योगस्य, न चिरन्त्यागो यस्य कथञ्चिदुपादेयत्वात्तदत्याग, त्यागायाचितं योग्यम्, अप्रशान्तवाहितादोषात् । अत्यागं च तत्त्यागोचितं च अत्यागत्यागोचितम्, एतत्तु एतत्पुनः, करणमभिसंबध्यते । स्वसमयेऽपि स्वसिद्धान्तेऽपि, मतमिष्टम् ॥ ७ ॥

भ्रान्तौ विभ्रमयोगान्, न हि संस्कारः कृतेतराऽऽदिगतः ।
तदभावे तत्करणं, प्रक्रान्तविरोध्यनिष्टफलम् ॥ ८ ॥

भ्रान्तौ चित्तदोषे सति, विभ्रमयोगान्मनोविभ्रमसम्बन्धात्, न हि संस्कारो नैव वासनाविशेषः, कृतेतराऽऽदिगत -इदं मया कृतमिदमकृतम् । आदिशब्दादिदं मयोच्चरितमिदमनुच्चरितम् । एतद्गत एतद्विषयः । न हि मनोविभ्रमे कृतेतराऽऽदिसंस्कारो भवति । तदभावे संस्काराभावे, तत्करणं तस्य प्रस्तुतस्य योगस्य करणं, प्रक्रान्तविरोधि प्रस्तुतयोगविरोधि, अनिष्टफलमिष्टफलरहितम् ॥ ८ ॥

अन्यमुदि तत्र रागात्, तदनादरताऽर्थतो महापाया ।
सर्वानर्थनिमित्तं, मुद्विषयाङ्गारवृष्ट्याभा ॥ ९ ॥

अनुष्ठीयमानादन्यत्र मुत्प्रमोदः, तस्यां सत्यां चित्तदोषरूपायां, तत्रान्यस्मिन् वा, रागादभिलाषातिरेकात्, तदनादरता अनुष्ठीयमानानादरभावो, अर्थतः सामर्थ्यात्, महापाया महानपायो यस्याः सकाशात्सा तथा, सर्वानर्थनिमित्तं सर्वेषामनर्थानां हेतुः, तदनादरताऽभिसम्बध्यते । मुद्विषयाङ्गारवृष्ट्याभा-मुदो हर्षस्य विषयो यस्तस्मिन्नङ्गारवृष्ट्याभाऽङ्गारवृष्टिप्रतिच्छायाऽङ्गारवृष्टिसदृशी, प्रमोदविषयार्थोपघातकारिणीत्यर्थः । इयं चान्यमुत्सुन्दरेष्वपि शास्त्रोक्तेषु चैत्यवन्दनास्वाध्यायकरणाऽऽदिषु श्रुतानुरागाच्चैत्यवन्दनाऽऽद्यनाद्रियमाणस्य तत्करणवेलायामपि तदुपयोगाभावेनेतरत्राऽऽसक्तचित्तवृत्ते सदोषा, न हि शास्त्रोक्तयोरनुष्ठानयोरस्य विशेषः समस्ति-यदुतैकमादरविषयोऽन्यदनादरविषय इति ॥ ९ ॥

रुजि निजजात्युच्छेदात्, करणमपि हि नेष्टसिद्धये नियमात् ।
अस्येत्यननुष्ठान, तेनैतद् वन्ध्यफलमेव ॥ १० ॥

रुजि रोगे चित्तदोषे सति, निजजात्युच्छेदादिति । कोऽर्थः ?, करणमपि हि नेष्टसिद्धये नाभिमतफलनिष्पत्तये, नियमान्नियमेन, अस्य प्रस्तुतस्यार्थस्य, इत्यननुष्ठानम्-इतिहेतोरननुष्ठानमकरण, तेन कारणेन, एतत्करणं, वन्ध्यफलमेवेष्टफलाभावात् । इयं हि रुग्भङ्गरूपा पीडारूपा वाऽनुष्ठानजातिच्छेदकरणद्वारेण सर्वानुष्ठानानां वन्ध्यफलत्वाऽऽपादनाय प्रभवति, तेन सदोषा विवेकिना परिहर्तव्येति दर्शिता ॥ १० ॥

आसङ्गेऽप्यविधाना-दसङ्गतवत्युचितमित्यफलमेतत् ।
भवतीष्टफलदमुच्चै-स्तदप्यसङ्गं यतः परमम् ॥ ११ ॥

आसङ्गेऽपि चित्तदोषे सति विधीयमानानुष्ठाने इदमेव सुन्दरमित्येवंरूपे, अविधानादशास्त्रोक्तविधेरभावात्, भक्तिरनवरतप्रवृत्तिर्न विद्यते सङ्गो यस्यां सेयमसङ्गाऽभिष्वङ्गाभाववती, असङ्गा चासौ सत्क्रिया च, तस्या उचितं योग्यमिति कृत्वा, अफलमेतदिष्टफलरहितमेतदनुष्ठानम्, भवति जायते, इष्टफलदमिष्टफलप्रापकम्, उच्चैरत्यर्थं, तदपि शास्त्रोक्तमनुष्ठानम्, असङ्गमभिष्वङ्गरहितम्, यतो यस्मात्, परमं प्रधानम् । असङ्गयुक्तं ह्यनुष्ठानं तन्मात्रगुणस्थानकस्थितिनिकार्येव, न मोहोन्मूलनद्वारेण केवलज्ञानोत्पत्तये प्रभवति, तस्मात्तदर्थिना आसङ्गस्य दोषरूपता विज्ञेयेति ॥ ११ ॥

एवमष्टपृथग्जनचित्तदोषान् प्रतिपाद्य, तत्त्यागद्वारेण योगिचित्तमुपदर्शयन्नाह-

एतद्दोषविमुक्तं, शान्तोदात्ताऽऽदिभावसंयुक्तम् ।
सततं परार्थनियतं, सङ्क्लेशविवर्जितं चैव ॥ १२ ॥

एतद्दोषविमुक्तमष्टचित्तदोषवियुक्तम्, शान्तोदात्ताऽऽदिभावसंयुक्तम्-शान्त उपशमवान् । यथोक्तम्-" न यत्र दुःखं न सुखं न रागो, न द्वेषमोहौ न च काचिदिच्छा । रसः स शान्तो विहितो मुनीनां, सर्वेषु भावेषु समः प्रदिष्टः ॥ १ ॥ " उदात्त उदारः । यत उक्तम्-" अयं निजः परो वेति, गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम् ॥१॥ " आदिशब्दाद्गम्भीरधीराऽऽदिभावपरिग्रहः । तैः संयुक्तं समन्वितम्, सततमनवरतम्, परार्थनियतं परोपकारनियतवृत्ति, सङ्क्लेशविवर्जितं चैव-सङ्क्लेशो विशुद्धिप्रतिपक्षः कालुष्यं, तेन विरहितं चैव ॥ १२ ॥

सुस्वप्नदर्शनपरं, समुल्लसद्गुणगणौघमत्यन्तम् ।
कल्पतरुबीजकल्पं, शुभोदयं योगिनां चित्तम् ॥१३॥

सुस्वप्नदर्शनपरं-शोभनाः स्वप्नाः सुस्वप्नाः श्वेतसुरभिपुष्पवस्त्राऽऽतपत्रचामराऽऽदयः, तद्दर्शनप्रवृत्तम्, समुल्लसन् गुणगणौघो गुणनिकरप्रवाहो यस्मिंस्तत्समुल्लसद्गुणगणौघम्, अत्यन्तमतिशयेन, कल्पतरुबीजकल्पं कल्पतरोर्बीजं स्वजनकं कारणं-तेन तुल्यम्, शुभोदयं योगिनां चित्तं, शुभ उदयोऽस्येति शुभोदयम् ॥१३॥

कस्य पुनरेवंविधं विशेषेण योगिनश्चित्तं भवतीत्याह-

एवंविधमिह चित्तं, भवति प्रायः प्रवृत्तिचक्रस्य ।
ध्यानमपि शस्तमस्य, त्वधिकृतमित्याहुराचार्याः ॥१४॥

एवंविधमनन्तरस्वरूपम्, इह प्रक्रमे, चित्तं मनः, भवति सम्भवति, प्रायो बाहुल्येन, प्रवृत्तचक्रस्य प्रवृत्तरात्रिन्दिवानुष्ठानसमूहस्य योगिनः, ध्यानमपि पूर्वोक्तस्वरूपम्, शस्तं प्रशस्तम्, अस्य त्वस्यैव, अधिकृतं प्रस्तुतम्, इत्याहुराचार्याः सूरयो ब्रुवते ॥१४॥

कथं पुनस्तद्ध्याने देशाऽऽद्यपेक्षया भवतीत्याह—

शुद्धे विविक्तदेशे, सम्यक्संयमितकाययोगस्य ।
कायोत्सर्गेण दृढं, यद्वा पर्यङ्कबन्धेन ॥ १५ ॥

शुद्धे शुचौ, विविक्तदेशे जनाऽऽकीर्णाऽऽदिरहिते, सम्यग्वैपरीत्येन, संयमितकाययोगस्य नियमितसर्वकायचेष्टस्य, कायोत्सर्गेण ऊर्द्ध्वस्थानरूपेण, दृढमत्यर्थम्, यद्वा-पर्यङ्कबन्धेनाऽऽसनविशेषरूपेण ॥ १५ ॥

साध्वागमानुसारात्, चेतो विन्यस्य भगवति विशुद्धम् ।
स्पर्शाऽऽवेधात्तदिह-द्धयोगिसंस्मरणयोगेन ॥ १६ ॥

साधु यथा भवत्येवमागमानुसारात् सिद्धान्तानुसारेण, चेतश्चित्तम्, विन्यस्य निक्षिप्य, भगवति जिने, विशुद्धं विशुद्धिमत्, स्पर्शस्तत्त्वज्ञानम्, तस्याऽऽवेधात् संस्कारात्, तस्मिन्ध्याने, सिद्धप्रतिष्ठिता लब्धाऽऽत्मलाभा ये योगिनस्तेषां संस्मरणयोगः स्मरणव्यापारः, तेन । यो हि यत्र कर्मणि सिद्धस्तदनुस्मरणं तदिष्टफलसिद्धये भवति ॥ १६ ॥ षो० १४ विव० ।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति पातञ्जलोक्ते सर्वविषयेभ्योऽन्तःकरणवृत्तेर्निरोधे, वाच० । योगो मनोवाक्कायनिरोध इति । स्था० । योगश्चाध्ययनमिति । उत्त० १२ अ० । "मोक्षेण योजनादेव, योगो ह्यत्र निरुच्यते । लक्षणं तेन तन्मुख्य-हेतु व्यापारताऽस्य तु ॥ १ ॥" इत्युक्तलक्षणे मोक्षमुख्यहेतौ व्यापारे, द्वा० ८ ।

(११) योगस्य मोक्षहेतुत्वमेव भावयन्नाह—

मोक्षहेतुर्यतो योगो, भिद्यते न ततः क्वचित् ।
साध्याभेदात्, तथाभावे, तूक्तिभेदो न कारणम् ॥ ३ ॥

मोक्षहेतुर्निर्वृतिनिमित्तं, यतो यस्मात् कारणात्, योगः सर्वैर्योगशास्त्रकारैः सङ्गीयते । भिद्यते भेदमनुभवति, न नैव ततो मोक्षहेतुत्वाद्धेतोः क्वचिद्योगशास्त्रे । एतदपि कुतः ?, इत्याह-साध्याभेदात्-साध्यस्य योगाभ्यासनिष्पाद्यस्य मोक्षस्याभेदादेकरूपत्वात् । सकलकर्मक्लेशक्षयलक्षणो हि मोक्षः, न तत्र कश्चिद्भेद इति । एवंसति यत्सिद्धं तदाह-तथाभावे तु मोक्षाभेदभावे पुनः सति, उक्तिभेदो योगशास्त्रे स्वात्माऽऽदीनां योगाख्याना यो भणितः सः, न कारणं हेतुर्योगभेदस्य । न हि नाममात्रभेदेन भावा भिद्यन्ते, एकस्यापि शक्राऽऽदेरनेकेन नाम्ना व्यवह्रियमाणत्वात् ॥ ३ ॥

अथात्रैव विशेषमाह—

मोक्षहेतुत्वमेवास्य, किं तु यत्नेन धीधनैः ।
सदाचाराऽऽदिसंशुद्धं, मृग्यं स्वहितकाङ्क्षिभिः ॥ ४ ॥

मोक्षहेतुत्वमेव मोक्षनिमित्तभाव एव, नापरं किञ्चित्, अस्य योगस्य, किं तु केवलं, यत्नेनाऽऽदरेण, धीधनैर्बुद्धिमद्भिः, मृग्यमित्यनुसरेण योगः । कीदृशम् ?, इति । आह-सदाऽनुपचरितेन, गोचराऽऽदिनाऽऽनन्तरमेव दर्शयिष्यमाणेन संशुद्धमनवद्यं, मृग्यम् । कीदृशैरात्माऽऽदौ मोक्षहेतुर्योगो युज्यते इत्येवंरूपेण निपुणोहापोहयोगेन गवेषणीयम् ?, स्वहितकाङ्क्षिभिरात्मकल्याणाभिलाषिभिः । योगव्यञ्जनार्था हि सर्वपुरुषार्थव्यञ्जना नियमात्संपद्यते । यदवाचि— "एसो य उत्तमो जं, पुरिसत्थो एत्थ वंचिओ नियमा । वंचिज्जइ सव्वेसुं, कल्लाणेसु न संदेहो ॥ १ ॥" ॥ ४ ॥

अथ कस्मादस्य गोचराऽऽदिशुद्धिर्मृग्यते ?, इत्याशङ्क्याऽऽह—

गोचरश्च स्वरूपं च, फलं च यदि युज्यते ।
अस्य योगस्ततोऽयं यद् मुख्यशब्दार्थयोगतः ॥ ५ ॥

गोचरो विषयः परिणामिजीवलक्षणः, स्वरूपं सर्वार्थेषु चित्तप्रवृत्तिलक्षणम्, फलं मोक्षाऽऽत्मकम्, चकारा उक्तसमुच्चये । यदि इत्यभ्युपगमे । युज्यते घटते, अस्य योगस्य, योगः । ततो गोचराऽऽदियोगात्, अयं प्रस्तुतो, योगः स्यात् । एतदपि कुतः ?, इत्याह-मुख्यस्यानुपचरितस्य शब्दार्थस्य मोक्षेण योजनाद्योग इत्येवंलक्षणस्य योगतो घटनात् ॥ ५ ॥ यो० वि० ।

(१२) योगस्य लक्षणं निरूपयन्नाह—

मोक्षेण योजनादेव, योगो ह्यत्र निरुच्यते ।
लक्षणं तेन तन्मुख्य-हेतुव्यापारताऽस्य तु ॥ १ ॥

योगो हि योगशब्दो हि, अत्र लोके, प्रवचने वा; मोक्षेण योजनादेव, निरुच्यते व्युत्पाद्यते, तेनास्य योगस्य तु, तन्मुख्यहेतुव्यापारता, लक्षणं, निरुक्तार्थस्याप्यनतिप्रसक्तस्य लक्षणत्वानपायात् ॥ १ ॥

मुख्यत्वं चान्तरङ्गत्वात्, फलाऽऽक्षेपाच्च दर्शितम् ।
चरमे पुद्गलाऽऽवर्त्ते, यत एतस्य संभवः ॥ २ ॥
न सन्मार्गाभिमुख्यं स्या-दावर्त्तेषु परेषु तु ।
मिथ्यात्वच्छन्नबुद्धीनां, दिङ्मूढानामिवाङ्गिनाम् ॥ ३ ॥

मुख्यत्वं चान्तरङ्गत्वान्मोक्षं प्रत्युपादानत्वात्, फलाऽऽक्षेपात्फलजनने प्रत्यविलम्बत्वाच्च, दर्शितं प्रवचने, यतो यस्माद्, चरमे पुद्गलाऽऽवर्त्ते, एतस्य योगस्य संभवः । इत्थं चाभव्यदूरभव्याक्रियावादव्यवच्छेदः कृतो भवति, एकस्य मोक्षानुपादानत्वादन्यस्य च फलविलम्बादिति ध्येयम् ॥ २ ॥ नेति स्पष्टम् ॥ ३ ॥

तदा भवाभिनन्दी स्यात्, संज्ञाविष्कम्भणं विना ।
धर्मकृत् कश्चिदेवाज्ञो, लोकपङ्क्तिकृताऽऽदरः ॥ ४ ॥

तदाऽचरमेष्वावर्त्तेषु, अज्ञः प्राणी, संज्ञाविष्कम्भणम् आहाराऽऽदिसंज्ञोदयव्यञ्जनलक्षणं विना, कश्चिदेव धर्मकृल्लौकिकलोकोत्तरप्रव्रज्याऽऽदिधर्मकारी, लोकपङ्क्तौ लोकसदृशभावसंपादनरूपायां, कृताऽऽदरः कृतयत्नः स्यात् ॥ ४ ॥

क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो, मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्याद्, निष्फलाऽऽरम्भसङ्गतः ॥ ५ ॥

क्षुद्रः कृपणः, लोभरतिर्याच्ञाशीलः, दीनः सदैवादृष्टकल्याणः, मत्सरी परकल्याणदुःस्थितः, भयवान्नित्यभीतः, शठो मायावी, अज्ञो मूर्खः, भवाभिनन्दी— "असारोऽप्येष संसारः, सारवानिव लक्ष्यते । दधिदुग्धाम्बुताम्बूल-पण्यपण्याङ्गनाऽऽदिभिः ॥ १ ॥" इत्यादिवचनैः संसाराभिनन्दनशीलः, स्याद्भवेद्, निष्फलाऽऽरम्भसङ्गतः सर्वदा तत्त्वाभिनिवेशाद्वन्ध्यक्रियासंपन्नः ॥ ५ ॥

लोकाऽऽराधनहेतोर्या, मलिनेनान्तराऽऽत्मना ।
क्रियते सत्क्रिया सा च, लोकपङ्क्तिरुदाहृता ॥ ६ ॥

लोकाऽऽराधनहेतोर्लोकचित्ताऽऽवर्जननिमित्तं या मलिनेन कीर्त्तिस्पृहाऽऽदिमालिन्यवताऽन्तरात्मना चित्तरूपेण, क्रियते सत्क्रिया शिष्टसमाचाररूपा, सा च योगनिरूपणायां लोकपङ्क्तिरुदाहृता योगशास्त्रे ॥ ६ ॥

महत्यल्पत्वबोधेन, विपरीतफलाऽऽवहा ।
भवाभिनन्दिनो लोक-पङ्क्त्या धर्मक्रिया मता ॥ ७ ॥

महति अपरीकृतकल्पद्रुचिन्तामणिकामधेनौ धर्मे, अल्पत्वबोधेनातितुच्छकीर्त्यादिमात्रहेतुत्वज्ञानेन, विपरीतफलाऽऽवहा दुरन्तसंसारानुबन्धिनी, भवाभिनन्दिनो जीवस्य, लोकपङ्क्त्या धर्मक्रिया मता, नात्र केवलमफलत्वमेव, किं तु विपरीतफलत्वमिति भावः ॥ ७ ॥

धर्मार्थं सा शुभायापि, धर्मस्तु न तदर्थिनः ।
क्लेशोऽपीष्टो धनार्थं हि, क्लेशार्थं जातु नो धनम् ॥८॥

धर्मार्थं सम्यग्दर्शनाऽऽदिमोक्षबीजाऽऽधाननिमित्तम्, सा लोकपङ्क्तिः, दानसमानोचितसंभाषणाऽऽदिभिस्त्रिरूपाये. शुभाय कुशलानुबन्धायापि । धर्मस्तु तदर्थिनो लोकपङ्क्त्यर्थिनो न शुभाय, हि यतो, धनार्थं क्लेशोऽपीष्टो-धनार्थिना राजसेवाऽऽदौ प्रवृत्तिदर्शनात् । क्लेशार्थं जातु कदाचिद्, धनं नेष्टम्, न हि 'धनाद् मे क्लेशो भवतु' इति कोपीच्छति प्रेक्षावान् ।

तदिदमुक्तं योगबिन्दौ-

" धर्मार्थं लोकपङ्क्तिः स्यात्, कल्याणाङ्ग महामते ।
तदर्थं तु पुनर्धर्मः, पापायाल्पधियामलम् ॥ ६० ॥ "

तथा—

" जनप्रियत्वं शुद्धं, सद्धर्मसिद्धिफलदमलम् ।
धर्मप्रशंसनाऽऽदे-र्बीजाऽऽधानाऽऽदिभावेन ॥८॥ " ॥८॥ इति ।

अनाभोगवतः साऽपि, धर्माहानिकृतो वरम् ।
शुभा तत्त्वेन नैकाऽपि, प्रणिधानाऽऽद्यभावतः ॥ ९ ॥

अनाभोगवतः संमूर्छनजप्रायस्य स्वभावत एव वैनयिकप्रकृतेः, साऽपि लोकपङ्क्त्या धर्मक्रियाऽपि, धर्माहानिकृतो धर्मे महत्त्वस्यैव यथास्थितस्याज्ञानाद्भवोत्कटेच्छाया अभावेन महत्त्वपत्याप्रतिपत्तेर्धर्मेऽहान्यकारिणो, वरमन्यापेक्षया मनाक् सुन्दरा, तत्त्वेन तत्त्वतः, पुनर्नैकाऽपि प्रणिधानाऽऽद्यभावतो नैकाऽपि वरं, प्रणिधानाऽऽदीनां क्रियाशुद्धिहेतुत्वात् ॥ ९ ॥

तानेवाऽऽह-

प्रणिधानं प्रवृत्तिश्च, तथा विघ्नजयस्त्रिधा ।
सिद्धिश्च विनियोगश्च, एते कर्मशुभाऽऽशयाः ॥ १० ॥

कर्मणि क्रियायां, शुभाऽऽशयाः स्वपुष्टिशुद्ध्यनुबन्धहेतवः-शुभपरिणामाः; पुष्टिरुपचयः, शुद्धिश्च ज्ञानाऽऽदिगुणविघातिघातिकर्मह्रासोत्थनिर्मलता, इत्यवधेयम् ॥ १० ॥

प्रणिधानं क्रियानिष्ठ-मधोवृत्तिकृपाऽनुगम् ।
परोपकारसारं च, चित्तं पापविवर्जितम् ॥ ११ ॥

प्रणिधानं क्रियानिष्ठमधिकृतधर्मस्थानादविचलितस्वभावम्, अधोवृत्तिषु स्वप्रतिपन्नधर्मस्थानादधस्ताद्वर्त्तमानेषु, प्राणिषु कृपाऽनुगं करुणाऽन्वितं, न तु हीनगुणत्वेन तेषु द्वेषसमन्वितं, परोपकारसारं च परार्थनिष्पत्तिप्रधानं च, चित्तं पापविवर्जितं सावद्यपरिहारेण निरवद्यवस्तुविषयम् ॥ ११ ॥

प्रवृत्तिः प्रकृतस्थाने, यत्नातिशयसंभवा ।
अन्याभिलापरहिता, चेतःपरिणतिः स्थिरा ॥ १२ ॥

प्रवृत्तिः प्रकृतस्थानेऽधिकृतधर्मविषये,यत्नातिशयसंभवा पूर्वप्रयत्नाधिकोत्तरप्रयत्नजनिता, अन्याभिलाषेणाधिकृतेतरकार्याभिलाषेण रहिता,चेतसोऽन्तरात्मनः परिणतिः स्थिरा एकाग्रा, स्वविषय एव यत्नातिशयाज्जाता तत्रैव च तज्जननमित्यर्थः ॥१२॥

बाह्यान्तर्व्याधिमिथ्यात्व-जयव्यङ्ग्याऽऽशयाऽऽत्मकः ।
कण्टकज्वरमोहानां, जयैर्विघ्नजयः समः ॥ १३ ॥

बाह्यव्याधयः शीतोष्णाऽऽदय अन्तर्व्याधयश्च ज्वराऽऽदयः, मिथ्यात्वं भगवद्वचनाश्रद्धानं,तेषां जयस्तत्कृतवैक्लव्यनिराकरणं तद्व्यङ्ग्याऽऽशयाऽऽत्मकः कण्टकज्वरमोहानां जयैः समो विघ्नजयः। इत्थं च हीनमध्यमोत्कृष्टत्वेनास्य त्रिविधत्वं प्रागुक्तं व्यक्तीकृतम् । तथाहि-कस्यचित् पुंसः कण्टकाऽऽकीर्णमार्गावतीर्णस्य कण्टकाविघ्नो विशिष्टगमनविघातहेतुः,तद्रहिते तु पथि प्रवृत्तस्य निराकुलं गमनं संजायते, एवं कण्टकविघ्नजयसमः प्रथमो विघ्नजयः । तथा-तस्यैव ज्वरवेदनाऽभिभूतशरीरस्य विह्वलपादन्यासस्य निराकुलं गमनं चिकीर्षोरपि तत्कर्तुमशक्नुवतः कण्टकविघ्नादभ्यधिको ज्वरविघ्नः, तज्जयस्तु निराकुलप्रवृत्तिहेतुः । एवं ज्वरविघ्नसमो द्वितीयो विघ्नजयः । तस्यैव चाध्वनि जिगमिषोर्दिङ्मोहकल्पो मोहविघ्नः, तेनाभिभूतस्य प्रेर्यमाणस्याप्यध्वनीनैर्न गमनोत्साहः कथञ्चित्प्रादुर्भवति, तज्जयस्तु स्वरसतो मार्गगमनप्रवृत्तिहेतुः । एवमिह मोहविघ्नजयसमस्तृतीयो विघ्नजयः । इति फलैकोद्देश्याः खल्वेते ॥ १३ ॥

सिद्धिस्तात्त्विकधर्माऽऽप्तिः, साक्षादनुभवाऽऽत्मिका ।
कृपोपकारविनया-न्विता हीनाऽऽदिषु क्रमात् ॥ १४ ॥

सिद्धिः तात्त्विकस्याभ्यासशुद्धस्य, न त्वाभ्यासिकमात्रस्य, धर्मस्य अहिंसाऽऽदेः,आप्तिरुपलब्धिः,साक्षादनुपचारेण, अनुभवाऽऽत्मिका आत्मन आत्मना आत्मनि संवित्तिरूपा ज्ञानदर्शनचारित्रैकमूर्तिका, हीनाऽऽदिषु क्रमात् कृपोपकारविनयान्विता, हीने कृपाऽन्विता, मध्यमे उपकारान्विता, अधिके च विनययुता ॥ १४ ॥

अन्यस्य योजनं धर्मे, विनियोगस्तदुत्तरम् ।
कार्यमन्वयसंपत्त्या, तदवन्ध्यफलं मतम् ॥ १५ ॥

अन्यस्य स्वव्यतिरिक्तस्य, योजनं धर्मेऽहिंसाऽऽदौ विनियोगः, तदुत्तरं सिद्ध्युत्तरं कार्यम् । तदन्वयसंपत्त्याऽविच्छेदसिद्ध्या, अवन्ध्यफलमव्यभिचारिफलं मतम् । स्वपरोपकारबुद्धिलक्षणस्यानेकजन्मान्तरसन्ततोद्बोधेन प्रकृष्टधर्मस्थानावाप्तिहेतुत्वात् ॥ १५ ॥

एतैराशययोगैस्तु, विना धर्माय न क्रिया ।
प्रत्युत प्रत्यपायाय, लोभक्रोधक्रिया यथा ॥ १६ ॥

एतैः प्रणिधानाऽऽदिभिः ,आशययोगैस्तु विना धर्माय न क्रिया बाह्यकायव्यापाररूपा, प्रत्युतान्तर्मालिन्यसद्भावात् प्रत्यपायायेष्यमाणप्रतिपक्षविघ्नाय, यथा लोभक्रोधक्रिया कूटतुलाऽऽदिसद्भामाऽऽदिलक्षणा । तदुक्तम्-"तत्त्वेन तु पुनर्नैकाऽप्यत्र धर्मक्रिया मता । तत्प्रवृत्त्याद्यवैगुण्या-ल्लोभक्रोधक्रिया यथा ॥ " ॥ १२ ॥ (यो० विं०) ॥ १६ ॥

तस्मादचरमाऽऽवर्त्ते-ष्वयोगो योगवर्त्मनः ।
योग्यत्वेऽपि तृणाऽऽदीनां, घृतत्वाऽऽदेस्तदा यथा ॥१७॥

तस्मात्प्रणिधानाऽऽद्यभावात्, अचरमाऽऽवर्त्तेषु योगवर्त्मनो योगमार्गस्य, अयोगोऽसंभवः । योग्यत्वेऽपि योगस्वरूपयोग्यत्वेऽपि, तृणाऽऽदीनां, तदा तृणाऽऽदिकाले, यथा घृतत्वाऽऽदेरयोग -तृणाऽऽदिपरिणामकाले तृणाऽऽदेर्घृताऽऽदिपरि-

णामस्वरूपयोग्यत्वेऽपि घृताऽऽदिपरिणामसहकारियोग्यताऽभावाद् यथा न घृताऽऽदिपरिणाम, तथा प्रकृतेऽपि भावनीयम् । अत एव सहकारियोग्यताऽभाववति तत्र काले कार्यानुपधानम् ।

तद् योग्यताऽभाववत्त्वेनैव साधयितुमभिप्रेत्याऽऽह (योगबिन्दौ) हरिभद्रसूरिः-

" तस्मादचरमाऽऽवर्त्ते-ष्वध्यात्मं नैव युज्यते ।
कायस्थितितरोर्यद्व-त्तज्जन्मस्वामर सुखम् ॥ ९३ ॥
तेजस्माना च जीवाना, भव्यानामपि नो तदा ।
यथा चारित्रमित्येव, नान्यदा योगसंभव ॥९४॥" इति ।१७।

नवनीताऽऽदिकल्पस्त-च्चरमाऽऽवर्त इष्यते ।
अत्रैव विमलो भावो, गोपेन्द्रोऽपि यदभ्यधात् ॥ १८ ॥

नवनीताऽऽदिकल्पो घृतपरिणामनिबन्धननवनीतदधिदुग्धाऽऽदितुल्यः,तत्तस्मात्, चरमाऽऽवर्त्त इष्यते योगपरिणामनिबन्धनम् । अत्रैव चरमाऽऽवर्त्त एव,विमलो भावो भवाभिष्वङ्गाभावाद्भवति । यद्गोपेन्द्रोऽपि अभ्यधाद् नङ्ग्यन्तरेण ॥ १८ ॥

अनिवृत्ताधिकारायां, प्रकृतौ सर्वथैव हि ।
न पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिन्, जिज्ञासाऽपि प्रवर्तते ॥ १९ ॥

अनिवृत्त प्रतिलोमशक्त्याऽन्तर्लीनोऽधिकार' पुरुषाभिभवरूपो यस्यास्तस्यां प्रकृतौ, सर्वथैव हि सर्वैरेव प्रकारैः, अपुनर्बन्धस्थानस्याप्यप्राप्तावित्यर्थ । न नैव, पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिन् वक्तुमुपक्रान्ते,जिज्ञासाऽपि ज्ञातुमिच्छाऽपि, किं पुनस्तदभ्यास ?, इत्यपिशब्दार्थः। प्रवर्तते सञ्जायते ॥ १९ ॥

साधिकारप्रकृतिम-त्यावर्त्ते हि नियोगतः ।
पथ्येच्छेव न जिज्ञासा, क्षेत्ररोगोदये भवेत् ॥ २० ॥

साधिकारा पुरुषाभिभवप्रवृत्ता या प्रकृति , तद्वत्यावर्त्ते हि, नियोगतो निश्चयत , जिज्ञासा तत्त्वमार्गपरिज्ञानेच्छा,न भवेत् । क्षेत्ररोगोदये इव पथ्येच्छा । क्षेत्ररोगो नाम-रोगान्तराऽऽधारभूत कुष्ठाऽऽदिरोग., ततो यथा पथ्यापथ्यधीविपर्यास , तथा प्रकृतेऽपि ॥ २० ॥

पुरुषाभिभवः कश्चित्, तस्यामपि हि हीयते ।
युक्तं तेनैतदधिक-मुपरिष्टाद् भणिष्यते ॥ २१ ॥

तस्यामपि हि जिज्ञासायामपि हि सत्यां,कश्चित्पुरुषाभिभव', प्रकृतेर्हीयते निवर्तते, न ह्येकान्तेनाक्षीणपापस्य विमलो भाव संभवति, तेनैतद्गोपेन्द्रोक्त युक्तम् । अधिकमपरिणाम्यात्मपक्षे तदभिभवतन्निवृत्त्याद्यनुपपत्तिलक्षणम्, उपरिष्टादग्रिमद्वात्रिंशिकाया, भणिष्यते ॥ २१ ॥

भावस्य मोक्षहेतुत्वं, तेन मोक्षे व्यवस्थितम् ।
तस्यैव चरमाऽऽवर्त्ते, क्रियाया अपि योगतः ॥ २२ ॥

तेन भावस्यान्त परिणामस्य, मोक्षे मुख्यहेतुत्व व्यवस्थित, तेन स एव योग इत्युक्त भवति । तस्यैव योगतश्चरमाऽऽवर्ते क्रियाया अपि मोक्षे मुख्यहेतुत्वम्, अतस्तस्या अपि योगत्वमिति भाव ॥ २२ ॥

रसानुवेधात्ताम्रस्य, हेमत्वं जायते यथा ।
क्रियाया अपि सम्यक्त्वं, तथा भावानुवेधतः ॥ २३ ॥

ताम्रस्य रसानुवेधात्सिद्धरससंपर्काद्, यथा हेमत्वं जायते, तथा क्रियाया अपि भावानुवेधत. सम्यक्त्व मोक्षसंपादनशक्तिरूपम् ॥ २३ ॥

भावसात्म्ये त एवास्याः, भङ्गेऽपि व्यक्तमन्वयः ।
सुवर्णघटतुल्यां तां, ब्रुवते सौगता अपि ॥ २४ ॥

अत एवास्या. क्रियाया भावसात्म्ये स्वजननशक्त्या भावव्याप्तिलक्षणे सति, भङ्गेऽपि तथाविधकषायोदयान्नाशेऽपि,व्यक्त प्रकटम्, अन्वयो भावानुवृत्तिलक्षण ,तदुव्यक्त्यभावेऽपि तच्छक्त्यनपगमात् । अत एव ता भावशुद्धा क्रिया,सौगता अपि सुवर्णघटतुल्या ब्रुवते । यथा हि सुवर्णघटो भिद्यमानोऽपि न सुवर्णानुबन्ध मुञ्चति,एव शुभक्रिया तथाविधकषायोदयाद्भग्नाऽपि शुभफलैवेति । तदिदमुक्तम्-" भाववृद्धिरतोऽवश्य, सानुबन्ध शुभोदयम् । गीयतेऽन्यैरपि ह्येतत्, सुवर्णघटसन्निभम् ॥ ३५१ ॥" (यो० विं०) इति ।२४।

शिरोदकसमो भावः, क्रिया च खननोपमा ।
भावपूर्वादनुष्ठानाद्, भाववृद्धिरतो ध्रुवा ॥२५॥

शिरोदकसमस्तथाविधकूपे सहजप्रवृत्तशिराजलतुल्यो भाव', क्रिया च खननोपमा शिराऽऽश्रयकूपाऽऽदिखननसदृशी, अतो भावपूर्वादनुष्ठानाद्भाववृद्धिर्ध्रुवा, जलवृद्धौ कूपखननस्येव भाववृद्धौ क्रियाया हेतुत्वाद्भावस्य दलत्वेऽपि बहुदलमेलनरूपाया वृद्धेस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् ॥ २५ ॥

मण्डूकचूर्णसदृशः, क्लेशध्वंसः क्रियाकृतः ।
तद्भस्मसदृशस्तु स्याद् , भावपूर्वक्रियाकृतः ॥ २६ ॥

क्रियाकृत. केवलक्रियाजनित.,क्लेशध्वंसो रागाऽऽदिपरिक्षय , मण्डूकचूर्णसदृश', पुनरुत्पत्तिशक्त्यन्वितत्वात् । भावपूर्वक्रियाकृतस्तु तद्भस्मसदृशो मण्डूकभस्मसदृश स्यात्, पुनरुत्पत्तिशक्त्यभावात् । एव च क्लेशध्वंसविशेषजनक शक्तिविशेष एव क्रियाया भाववृद्ध्यनुकूल इति फलितम् ॥ २६ ॥

तथा च-

विचित्रभावद्वारा तत्, क्रिया हेतुः शिवं प्रति ।
अस्या व्यञ्जकताऽप्येषा, परा ज्ञाननयोचिता ॥२७॥

विचित्रो भावोऽध्यात्माऽऽदिरूप ,तद्द्वारा क्रिया, शिव प्रति हेतु , दण्ड इव चक्रभ्रमिद्वारा घटे । करणता च तस्या. शक्तिविशेषेण, न तु भावपूर्वकत्वेनैव, भावस्यान्यथासिद्धिप्रसङ्गात् । अस्या. क्रियायाः, व्यञ्जकताऽप्येषा हेतुना विशेषरूपा परा । अत एव भावस्य ज्ञापकत्वरूपाऽभिव्यञ्जकता ज्ञाननयोचिता ज्ञाननयप्राधान्योपयुक्ता, न तु व्यवहारतो वास्तवी, अन्यथा सत्कार्यवादप्रसङ्गादिति भाव ॥ २७ ॥

व्यापारश्चिद्विवर्तत्वाद्, वीर्योल्लासाच्च स स्मृतः ।
विविच्यमाना भिद्यन्ते, परिणामा हि वस्तुनः ॥२८॥

स योग , चिद्विवर्तत्वाद् ज्ञानपरिणामात्, वीर्योल्लासादात्मशक्तिस्फोरणाच्च, व्यापार स्मृत , क्रमवत प्रवृत्तिविषयस्य व्यापारत्वात् । एतेन द्रव्याऽऽदेर्व्यवच्छेद । हि यतो,विविच्यमाना भेदनयेन गृह्यमाणा, वस्तुन. परिणामा भिद्यन्ते । तथा च-न व्यापाराऽऽश्रयस्यापि व्यापारत्वमिति भाव ॥ २८ ॥

एतदेवाऽऽह-

जीवस्थानानि सर्वाणि, गुणस्थानानि मार्गणाः ।
परिणामा विवर्तन्ते, जीवस्तु न कदाचन ॥ २९ ॥

सर्वाणि चतुर्दशापि जीवस्थानानि गुणस्थानानि तावन्त्येव, मार्गणा गतीन्द्रियाऽऽद्याः परिणामा विवर्तन्ते-दशाविशेष भजन्ते, जीवस्तु कदाचन न विवर्तते, तस्य शुद्धज्ञायकभावस्यैकस्वभावत्वात् ॥ २९ ॥

उपाधिः कर्मणैव स्या-दाचाराऽऽदौ श्रुतं ह्यदः ।

विभावानित्यभावेऽपि, ततो नित्यः स्वभाववान् ॥ ३० ॥

आचाराऽऽदौ ह्यद- श्रुतम्-यदुत उपाधि कर्मणैव स्यात्, "कम्मुणा उवाही जायति त्ति " वचनात्। ततो विभावानां मिथ्यात्वगुणस्थानादारभ्यायोगिगुणस्थान यावत् प्रवर्तमानानामौपाधिकभावानाम्, अनित्यभावेऽपि स्वभाववानात्मा नित्यः, तस्योपाध्यजनितत्वात्. उपाधिनिमित्तका अप्यात्मनो भावास्तद्रूपा एव युज्यन्ते इति चेत्। सत्यम्। शुद्धनयदृष्टयाऽऽत्मपुद्गलयो' स्वस्वशुद्धभावजननचरितार्थत्वे सयोगजभावस्य भित्तौ खटिकाश्वेतिम्न इव विविच्यमानस्यैकस्याप्यनन्तभावेन मिथ्यात्वात् ॥ ३० ॥

द्रव्याऽऽद्देः स्यादभेदेऽपि, शुद्धभेदनयाऽऽदिना ।

इत्थं व्युत्पादनं युक्तं, नयसारा हि देशना ॥ ३१ ॥

द्रव्याऽऽदे- परिणामेभ्यः स्यात् कथञ्चिदभेदेऽपि शुद्धः केवलो यो भेदनयस्तदादिना, इत्थमुक्तरीत्या,व्युत्पादन युक्तम्। नयसारा नयप्रधाना हि देश । शास्त्रे प्रवर्तते, अन्यथाऽनुयोगपरिणत आत्माऽपि योग इतीष्यत एव, चरणाऽऽत्मनोऽपि भगवत्यां प्रतिपादनादिति भाव ॥ ३१ ॥

योगलक्षणमित्येवं, जानानो जिनशासने ।

परोक्तानि परीक्षेत, परमाऽऽनन्दवृद्धधीः ॥ ३२ ॥

योगलक्षणमिति स्पष्टम् ॥ ३२ ॥ द्वा० १० द्वा० ।

(१३) स्वकीय योगलक्षणमन्यदीययोगलक्षणे विचारिते सति स्थिरीभवतीति तदर्थमयमारम्भः-

चित्तवृत्तिनिरोधं तु, योगमाह पतञ्जलिः ।

द्रष्टुः स्वरूपावस्थानं, यत्र स्यादविकारिणि ॥ १ ॥

पतञ्जलिस्तु चित्तवृत्तिनिरोधं योगमाह। तथा च सूत्रम्-"योगश्चित्तवृत्तिनिरोध ।" (१-२) इति । तत्र चित्तपदार्थं व्याचष्टे-द्रष्टु पुरुषस्य, स्वरूपे चिन्मात्ररूपतायाम्, अवस्थान यत्र यस्मिन् स्यात्, अविकारिणि व्युत्पन्नविवेकख्यातेश्चित्तकर्तृत्वाभिमाननिवृत्तौ प्रोन्मुक्तपरिणामेन । तथा च सूत्रम्-"तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानमिति ।" (१-३) ॥ १ ॥

आपन्ने,विषयाऽऽकारं, यत्र चेन्द्रियवृत्तितः ।

पुमान् भाति तथा चन्द्र-श्चलनीरे चलन् यथा ॥ २ ॥

यत्र चेन्द्रियवृत्तित इन्द्रियवृत्तिद्वारा, विषयाऽऽकारमापन्ने विषयाऽऽकारपरिणते सति, पुमान् पुरुषस्तथा भाति यथा चलनीरे चलन् चन्द्र, स्वगतधर्माध्यारोपाधिष्ठानत्वेन प्रतीयत इत्यर्थ । तथा च सूत्रम्-"वृत्तिसारूप्यमितरत्रेति ।" (१-४) ॥ २ ॥

तच्चित्तं वृत्तयस्तस्य, पञ्चतय्यः प्रकीर्तिताः ।

मानं भ्रमो विकल्पश्च, निद्रा च स्मृतिरेव च ॥ ३ ॥

तच्चित्त तस्य वृत्तिसमुदायलक्षणस्यावयविनोऽवयवभूताः पञ्चतय्यो वृत्तय प्रकीर्तिता । तदुक्तम्-" वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टा ।" (साख्य० २-३२) { 'अक्लिष्टा' योग० १-५) क्लिष्टा क्लेशाऽऽक्रान्ता', तद्विपरीता अपि तावत्य एव । ता पञ्चोद्दिशति-मान प्रमाणम्, भ्रमो, विकल्पो, निद्रा च, स्मृतिरेव च । तदाह-" प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रा- स्मृतयः ।" (१-६) ॥ ३ ॥

आसां क्रमेण लक्षणमाह-

मानं ज्ञानं यथार्थं स्या-दतस्मिंस्तु मतिर्भ्रमः ।

पुंसश्चैतन्यमित्यादौ, विकल्पोऽवस्तुशाब्दधीः ॥ ४ ॥

निद्रा च वासनाऽभाव-प्रत्ययाऽऽलम्बना स्मृता ।

सुखाऽऽदिविषया वृत्ति-र्जागरे स्मृतिदर्शनात् ॥ ५ ॥

तथाऽनुभूतविषया-सम्प्रमोषः स्मृतिः स्मृता ।

आसां निरोधः शक्त्याऽन्तः-स्थितिर्हेतौ बहिर्हतिः ॥६॥

मान यथार्थं तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञान स्यात्। तदाह-' अविसंवादि ज्ञान प्रमाणमिति।" भ्रमोऽतस्मिंस्तदभाववति तन्मति । यदाह-" विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ।" (१-८) संशयोऽपि स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यतद्रूपप्रतिष्ठत्वादत्रैवान्तर्भवति । पुंसश्चैतन्यमित्यादौ अवस्तुविषया शाब्दधीर्विकल्प । अत्र हि देवदत्तस्य कम्बल इतिवत् शब्दजनिते ज्ञाने षष्ठ्यर्थो भेदोऽध्यवसीयते, तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्तनेऽध्यवसाय । वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुष इति । तदाह-" शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो (असदर्थव्यवहारविषयो) विकल्प ।" (१-९) इति । भ्रमविशेष एवायमस्त्विति चेत् । न । तथाविधशब्दजन्यजनकभावेनास्य विलक्षणत्वात्,विषयाभावज्ञानेऽपि प्रवृत्तेश्च। यद्भोज "वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यवसाय स विकल्प इत्युच्यते" इति ॥४॥ अभावप्रत्ययाऽऽलम्बना भावप्रत्ययाऽऽलम्बनविरहिता वासना च निद्रा स्मृता, सन्ततमुद्रिक्तत्वात्तमस । समस्तविषयपरित्यागेन या प्रवर्तत इत्यर्थ । तदाह-"अभावप्रत्ययाऽऽलम्बना वृत्तिर्निद्रा ।" (१-१०) इय च जागरे जाग्रदवस्थायां स्मृतिदर्शनात् सुखमहमस्वाप्समिति स्मृत्यालोचनात्सुखाऽऽदिविषया वृत्ति ,स्वापकाले सुखाननुभवे तदा तत्स्मृत्यनुपपत्ते ॥५॥ तथाऽनुभूतविषयस्य प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्राऽनुभूतार्थस्यासम्प्रमोष संस्कारद्वारेण बुद्धावुपारोह स्मृति स्मृता । तदाह-"अनुभूतविषयासम्प्रमोष स्मृतिरिति ।" (१-११) आसामुक्तानां पञ्चानामपि वृत्तीनाम्,हेतौ स्वकारणे,शक्त्या शक्तिरूपतया, अन्तर्बाह्याभिनिवेशनिवृत्त्याऽन्तर्मुखतया स्थितिरवस्थान,बहिर्हतिः प्रकाशप्रवृत्तिनियमरूपविघात । एतदुभय निरोध उच्यते ॥ ६ ॥

स चाभ्यासाच्च वैराग्या-त्तत्राभ्यासः स्थितौ श्रमः ।

दृढभूमिः स च चिरं, नैरन्तर्याऽऽदराऽऽश्रितः ॥ ७ ॥

स चोक्तलक्षणो निरोधश्च अभ्यासाद्वैराग्याच्च भवति । तदुक्तम्-' अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध इति ।" (१-१२) तत्राभ्यास स्थितौ वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठे परिणामे श्रमो यत्न- पुन पुनस्तथात्वेन चेतसि निवेशनरूप । तदाह-" तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास इति ।" (१-१३) स च चिरं चिरकाल नैरन्तर्येणाऽऽदरेण चाऽऽश्रितो दृढभूमि स्थिरो भवति। तदाह-"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिरिति" (१-१४) ॥ ७ ॥

या वशीकारसंज्ञा स्याद्, दृष्टाऽऽनुश्रविकार्थयोः ।

वितृष्णस्यापरं तत् स्या-द्वैराग्यमनघीनता ॥ ८ ॥

दृष्ट इहैवोपलभ्यमान शब्दाऽऽदि ,आनुश्रविकश्चार्थो देवलोकाऽऽ-

द्विः। अनुश्रूयते गुरुमुखादित्यनुश्रवो वेदः,ततः प्रतीयमान आनुश्रविक इति व्युत्पत्तेः। तयो परिणामविरसत्वदर्शनाद्, वितृष्णस्य विगतगर्धस्य, या वशीकारसंज्ञा 'ममैवैते वश्या नाहमेतेषां वश्यः' इत्येव विमर्शाऽऽत्मिका । तदपर वक्ष्यमाणपरवैराग्यात्पाश्चात्यं वैराग्यं स्यात् अनधीनता फलत पराधीनताऽभावरूपम् । तदाह-"दृष्टाऽऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यमिति ।" (१-१५) ॥ ८ ॥

तत्परं जातपुंख्याते-र्गुणवैतृष्ण्यसंज्ञकम् ।
वहिर्वैमुख्यमुत्पाद्य, वैराग्यमुपयुज्यते ॥ ९ ॥

जातपुंख्यातेरुत्पन्नगुणपुरुषविवेकख्याते ,गुणवैतृष्ण्यसंज्ञकं गुणेष्वपि तृष्णाऽभावलक्षणम्, यथार्थाभिधान,परं प्रकृष्टं, तद्वैराग्यम् । तदाह-"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यमिति।"(१-१६) प्रथमं हि विषयविषयं, द्वितीयं च गुणविषयमिति भेदः । वहिर्वाह्यविषये वैमुख्यं दोषदर्शनजन्यात्प्रवृत्त्यभावलक्षणमुत्पाद्य वैराग्यमुपयुज्यते उपकाराऽऽधायकं भवति ॥ ९ ॥

निरोधे पुनरभ्यासो, जनयन् स्थिरतां दृढाम् ।
परमाऽऽनन्दनिष्यन्द-शान्तस्रोतःप्रदर्शनात् ॥ १० ॥

निरोधे चित्तवृत्तिनिरोधे, अभ्यास पुनर्दृढामतिशयितां स्थिरतामवस्थितिलक्षणां जनयन्, परमाऽऽनन्दनिष्यन्दस्यानिशायिनसुखार्णवनिर्झरभूतस्य शान्तस्रोतस शान्तरसप्रवाहस्य प्रदर्शनात्, उपयुज्यते इत्यन्वयः । तत्रैव सुखमग्नस्य मनसोऽन्यत्र गमनायोगात् । इत्थं च 'चित्तवृत्तिनिरोधः' इति योगलक्षणं सोपपत्तिकं व्याख्यातम् ॥ १० ॥

(१४) अथ तद् दूषयन्नाह-

न चैतद्युज्यते किञ्चि-दात्मन्यपरिणामिनि ।
कूटस्थे स्यादसंसारो-ऽमोक्षो वा तत्र हि ध्रुवम् ॥११॥

न चैतत् पूर्वोक्तं किञ्चिदपरिणामिनि आत्मनि युज्यते, तत्राऽऽत्मनि हि कूटस्थे एकान्तिकस्वभावे सति असंसारः संसाराभाव एव स्यात्, पुष्करपत्रवन्निर्लेपस्य तस्याविचलितस्वभावत्वात् । प्रकृतितद्विकारोपहितस्वभावे च तस्मिन् संसारदशायामभ्युपगम्यमाने, ध्रुवं निश्चितममोक्षो मोक्षाभावो वा स्यात्, मुक्तिदशायां पूर्वस्वभावस्य त्यागे कौटस्थ्यहानिप्रसङ्गात् ॥११॥

प्रकृतेरपि चैकत्वे, मुक्तिः सर्वस्य नैव वा ।
जमायाश्च पुमर्थस्य, कर्तव्यत्वमयुक्तिमत् ॥ १२ ॥

प्रकृतेरपि चैकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सर्वस्य मुक्तिः स्यात्, नैव वा कस्यचित्स्यात् । एकं प्रति विलीनोपधानायास्तस्याः सर्वान् प्रति तथात्वात्, एकं प्रत्यनष्टस्याश्च सर्वान् प्रत्यतथात्वात् । अन्यथा स्वभावभेदे प्रकृतिभेदप्रसङ्गात् । किं च-आत्मनोऽव्याप्रियमाणस्य भोगसम्पादनार्थमेव प्रकृतिः प्रवर्तत इति प्रवतामभ्युपगम । तदुक्तम्-"द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।" (२-२०) "तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मेति।" (२-२१) जमायाश्च तस्या पुमर्थस्य कर्तव्यत्वमयुक्तिमत् । पुरुषार्थो मया कर्तव्य इत्येव मिथ्याध्यवसायो हि पुरुषार्थकर्तव्यता, तत्स्वभावे च प्रकृतेर्जडत्वव्याघात इति ॥ १२ ॥

अत्र स्वसिद्धान्ताऽऽशयं प्रकटयन् पूर्वपक्षी शङ्कते-

ननु चित्तस्य वृत्तीनां, सदा ज्ञाननिबन्धनात् ।
चिच्छायासंक्रमाध्देतो-रात्मनोऽपरिणामिता ॥ १३ ॥

ननु चित्तस्य वृत्तीनां प्रमाणाऽऽदिरूपाणाम्,सदा सर्वकालमेव, ज्ञाननिबन्धनात्परिच्छेदहेतोः । चिच्छायासंक्रमाद्धेतोश्चिदात्मनोऽपरिणामिताऽनुमीयते । इदमुक्तं भवति-पुरुषस्य चिद्रूपस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेन सिद्धस्य यदन्तरङ्गं निर्मलं ज्ञेयं सत्त्वं, तस्यापि सदैव व्यवस्थितत्वात्तदेनार्थेनोपरक्तं भवति तथाविधस्य दृश्यस्य चिच्छायासंक्रान्तिसद्भावात् सदा ज्ञातृत्वं सिद्धं भवति । परिणामित्वे त्वात्मनश्चिच्छायासंक्रमस्यासार्वदिकत्वात् सदा ज्ञातृत्वं न स्यादिति । तदिदमुक्तम्-" सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयः तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वादिति "। (४-१८) ॥ १३ ॥

ननु चित्तमेव सत्त्वोत्कर्षाद्यदि प्रकाशकं तदा तस्य स्वप्रकाशरूपत्वाद्दर्शस्येवाऽऽत्मनोऽपि प्रकाशकत्वेन व्यवहारोपपत्तौ किं ग्रहीत्रन्तरेण ?, इत्यत आह-

स्वाऽऽभासं खलु नो चित्तं, दृश्यत्वेन घटाऽऽदिवत् ।
तदन्यदृश्यतायां चा-नवस्थास्मृतिसङ्करौ ॥ १४ ॥

चित्तं खलु,नो नैव,स्वाऽऽभासं स्वप्रकाशं,किं तु द्रष्टृवेद्यं,दृश्यत्वेन दृग्विषयत्वेन,घटाऽऽदिवत् । यद् यद् दृश्यं तत्तद् द्रष्टृवेद्यमिति व्याप्तेः । तदिदमुक्तम्-"न तत् स्वाभास दृश्यत्वात् ।" (४-१९) अन्तर्बहिर्मुखव्यापारद्वयविरोधात्, तन्निष्पाद्यफलद्वयस्यासंवेदनाच्च बहिर्मुखतयैवार्थनिष्ठत्वेन चित्तस्य संवेदनार्थनिष्ठमेव तत्फलं, न स्वनिष्ठमिति राजमार्त्तण्ड । तथापि चित्तान्तरदृश्यं चित्तमस्त्वित्यत आह-तदन्यदृश्यतायां च चित्तान्तरदृश्यतायां च, चित्तस्याभ्युपगम्यमानायामनवस्थास्मृतिसङ्करौ स्याताम् । तथाहि-यदि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरेण वेद्येत तदा साऽपि बुद्धिः स्वयं बुद्धा बुद्ध्यन्तरं प्रकाशयितुमसमर्थेति, तस्या ग्राहकं बुद्ध्यन्तरं कल्पनीयम्, तस्याप्यन्यदित्यनवस्थानात्पुरुषायुषः सहस्रेणाप्यर्थप्रतीतिर्न स्यात् । न हि प्रतीतावप्रतीतायामर्थः प्रतीतो भवति । तथा स्मृतिसङ्करोऽपि स्यात् । एकस्मिन् रूपे, रसे वा समुत्पन्नायां बुद्धौ तद्ग्राहिकाणामनन्तानां बुद्धीनामुत्पत्तेस्तज्जनितसंस्कारैर्युगपद् बह्वीषु स्मृतिषूत्पन्नासु कस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्नेति ज्ञातुमशक्यत्वात् । तदाह-" एकसमये चोभयानवधारणम् ।" (४-२०) " चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्चेति " (४-२१) ॥ १४ ॥

नन्वेवं कथं विषयव्यवहार इत्यत्राऽऽह-

अक्रियावचरान्यां, चितिरप्रतिसंक्रमा ।
द्रष्टृदृश्योपरक्तं तत्, चित्तं सर्वार्थगोचरम् ॥ १५ ॥

चितिः पुरुषरूपा चिच्छक्तिः,अक्रियाभावचरान्यां परिणामपरिणामिभावगमनाभ्याम्, अप्रतिसंक्रमाऽन्येनासंकीर्णा । यथा हि गुणाः स्वबुद्धिगमनलक्षणे परिणामेऽङ्गिनमुपसंक्रामन्ति तद्रूपतामिवाऽऽपद्यन्ते,यथा वाऽऽलोकपरमाणवः प्रसरन्तो विषयं व्याप्नुवन्ति, नैवं चितिशक्तिः,तस्याः सर्वदैकरूपतया स्वप्रतिष्ठितत्वेन व्यवस्थितत्वादित्यर्थः। तत्सन्निधिसन्निधाने बुद्धेस्तदाकारताऽऽपत्तौ चेतनायामिवोपजायमानायां, बुद्धिवृत्तिप्रतिसंक्रान्ताया च चिच्छक्तेर्बुद्धिविशिष्टतया संपत्तौ स्वसंवेदनमुपपद्यते इत्यर्थः । द्रष्टृदृश्याभ्यामुपरक्तं द्रष्टृरूपतामिवाऽऽपन्नं, गृहीतविषयाऽऽकारपरिणाम च चित्त, सर्वार्थगोचरं सर्वविषयग्रहणसमर्थं भवति । तदुक्तम्-"चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाऽऽकाराऽऽपत्तौ स्वबु

रूिसंवेदनम्।"(४-२२)'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।'(४-२३) यथा हि निर्मलं स्फटिकदर्पणाऽऽद्येव प्रतिबिम्बग्रहणसमर्थम्,एवं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं शुद्धत्वाच्चिच्छायाग्रहणसमर्थं, न पुनरशुद्धत्वाद्रजस्तमसी। ततो न्यग्भूतरजस्तमोरूपमङ्गितया सत्त्वं निश्चलप्रदीपशिखाऽऽकारं सदैवैकरूपतया परिणममानं चिच्छायाग्रहणसामर्थ्यादामोक्षप्राप्तेरवतिष्ठते, यथाऽयस्कान्तसन्निधाने लोहस्य चलनमाविर्भवति,एवं चिद्रूपपुरुषसांनिधाने सत्त्वस्याभिव्यङ्ग्यमभिव्यज्यते चैतन्यमिति ॥ १५ ॥

इत्थं च द्विविधा चिच्छक्तिरित्याह-

नित्योदिता त्वभिव्यङ्ग्या, चिच्छक्तिर्द्विविधा हि नः ।
आद्या पुमान् द्वितीया तु, सत्त्वे तत्संनिधानतः ॥ १६ ॥

नित्योदिता, तु पुनः,अभिव्यङ्ग्या, द्विविधा हि नः-अस्माकं चिच्छक्तिः-आद्या नित्योदिता पुमान् पुरुष एव, द्वितीयाऽभिव्यङ्ग्या तु,तत्सांनिधानतः पुंसः सामीप्यात्,सत्त्वे सत्त्वनिष्ठा। यद्भोजः-"अत एवास्मिन् दर्शने द्वे चिच्छक्ती-नित्योदिता, अभिव्यङ्ग्या च। नित्योदिता चिच्छक्तिः पुरुषः, तत्सांनिधानाभिव्यक्तयाऽभिव्यक्तं चैतन्यं सत्त्वमभिव्यङ्ग्या चिच्छक्तिरिति ॥ १६ ॥

इत्थं च भोगोपपत्तिमप्याह-

सत्त्वे पुंस्थितचिच्छाया-समाऽन्या तदुपस्थितिः ।
प्रतिबिम्बाऽऽत्मको भोगः, पुंसि भेदाऽऽग्रहादयम् ॥१७॥

सत्त्वे बुद्धे सात्त्विकपरिणामे, पुंस्थिता या चिच्छाया, तत्समा याऽन्या, सा स्वकार्यचिच्छाया, तस्या उपस्थितिरभिव्यक्तिः, प्रतिबिम्बाऽऽत्मको भोगः। अन्यत्रापि हि प्रतिबिम्बे प्रतिबिम्ब्यमानच्छायासदृशच्छायान्तरोद्भव एव प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते। पुंसि पुनरयं भोगो भेदाऽऽग्रहादत्यन्तसांनिध्येन विवेकाग्रहणाद् व्यपदिश्यते। यत्तु व्यापकस्यातिनिर्मलस्य चाऽऽत्मनः कथं सत्त्वे प्रतिबिम्बनमिति ?। तन्न। व्यापकस्याप्याकाशस्य दर्पणाऽऽद्यावप्रकृष्टनैर्मल्यवति च जलाऽऽद्यावादित्याऽऽदीनां प्रतिबिम्बदर्शनात् स्वस्थितचिच्छायासदृशचिच्छायाऽभिव्यक्तिरूपस्य प्रतिबिम्बस्य प्रतिबिम्बान्तरवैलक्षण्याभावेनेति भोजः ॥ १७ ॥

इत्थं प्रत्यात्मनियतं, बुद्धितत्त्वं हि शक्तिमत् ।
निर्वाहे लोकयात्रायाः, ततः क्वातिप्रसञ्जनम् ? ॥ १८ ॥

इत्थमुक्तप्रकारेण, प्रत्यात्मनियतम् आत्मानमात्मानं प्रति नियतफलसंपादकम्। बुद्धितत्त्वं हि लोकयात्राया लोकव्यवहारस्य निर्वाहे व्यवस्थापने,शक्तिमत्समर्थम्,ततः क्वातिप्रसञ्जनं, योगाद्येकस्य मुक्तावन्यस्यापि मुक्त्यापत्तिरूपं, प्रकृतेः सर्वत्रैकत्वेऽपि बुद्धिव्यापारभेदेन भेदोपपत्तेः। तथा च सूत्रम्-"कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वादिति।" (२-२२) ॥ १८ ॥

यच्चोक्तम्-"जडायाश्च पुमर्थस्य" इत्यादि, तत्राऽऽह-

कर्तव्यत्वं पुमर्थस्या-नुलोम्यप्रातिलोम्यतः ।
प्रकृतौ परिणामानां, शक्ती स्वाभाविके उभे ॥ १९ ॥

पुमर्थस्य कर्तव्यत्वं प्रकृतौ परिणामानां महदादीनाम्, आनुलोम्यप्रातिलोम्यतः, उभे शक्ती स्वाभाविके स्वभावसिद्धे, पुमर्थे सतीति शेषः। न त्वन्यद्, महदादिमहाभूतपर्यन्तः खल्वस्या बहिर्मुखतयाऽनुलोमः परिणामः, पुनः स्वकारणानुप्रवेशद्वारेणास्मितान्तः प्रतिलोमः परिणामः। इत्थं च पुरुषस्य भोगपरिसमाप्तेः सहजशक्तिद्वयक्षयात् कृतार्था प्रकृतिः, न पुनः परिणाममारभते। एवंविधाया च पुरुषार्थकर्तव्यतायां प्रकृतेर्जडत्वेन कर्तव्याध्यवसायाभावेऽपि न काचिदनुपपत्तिरिति ॥ १९ ॥

ननु यदि प्रतिलोमशक्तिरपि सहजैव प्रधानस्यास्ति, तत् किमर्थं योगिभिर्मोक्षार्थं यत्नः क्रियते ?। मोक्षस्य चानर्थनीयत्वे तदुपदेशकशास्त्रस्याप्यानर्थक्यमित्यत आह-

न चैवं मोक्षशास्त्रस्य, वैयर्थ्यं प्रकृतेर्यतः ।
ततो दुःखनिवृत्त्यर्थं, कर्तृत्वस्मयवर्जनम् ॥ २० ॥

न चैवं मुक्तौ प्रकृतेरेव सामर्थ्ये,मोक्षशास्त्रस्य वैयर्थ्यमानर्थक्यं, यतो यस्मात्,ततो मोक्षशास्त्राद्,दुःखनिवृत्त्यर्थं दुःखनाशाय,प्रकृतेः प्रधानस्य,कर्तृत्वस्मयस्य कर्तृत्वाभिमानस्य, वर्जनं निवृत्तिर्भवति। अनादिरेव हि प्रकृतिपुरुषयोर्भोक्तृभोग्यभावलक्षणः संबन्धः,तस्मिन् सति, व्यक्तमचेतनायाः प्रकृतेः कर्तृत्वाभिमानाद् दुःखानुभवे सति 'कथमियं दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी मम स्याद्' इति भवत्येवाध्यवसायः, अतो दुःखनिवृत्त्युपायोपदेशकशास्त्रोपदेशापेक्षाऽप्यस्य युक्तिमतीति ॥ २० ॥

व्यक्तं कैवल्यपादेऽदः, सर्वं साध्विति चेन्न तत् ।
एवं हि प्रकृतेर्मोक्षो, न पुंसस्तदवो वृथा ॥ २१ ॥

कैवल्यपादे योगानुशासनचतुर्थपादे, अदः एतत्, व्यक्तं प्रकटं, सर्वमखिलं, साधु निर्दोषमिति। समाधत्ते-इति चेन्न तत्, यत्प्राक् प्रपञ्चितं, हि यतः, एवमुक्तरीत्या, प्रकृतेर्मोक्षः स्यात्, तस्या एव कर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या दुःखनिवृत्त्युपपत्तेः, न पुंसः, तस्याबद्धत्वेन मुक्त्ययोगाद्, मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात्। तत्तस्मादवो वक्ष्यमाणं भवद्ग्रन्थोक्तं, वृथा कण्ठशोषमात्रफलम् ॥ २१ ॥

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि, मुच्यते नात्र संशयः ॥२२॥

अत्र हि पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानात् पुरुषस्यैव मुक्तिरुक्ता, सा च न संभवतीति। न च भोगव्यपदेशवन्मुक्तिव्यपदेशोऽप्युपचारादेव पुंसि संभवतीति वाच्यम्, एवं हि तत्र चैतन्यस्याप्युपचारेण सुवचत्वाऽऽपत्तेः। बाधकाभावान्न तत्र तस्योपचार इति चेत्, तत्र कृत्याऽऽदिसामानाधिकरण्यस्याप्यनुभूयमानस्य किं बाधकम् ?,येन तेषां भिन्नाऽऽश्रयत्वं कल्प्यते। आत्मनः परिणामित्वाऽऽपत्तिर्बाधिकेति चेद्, न। तत्परिणामित्वेऽप्यन्वयानपायात्,अन्यथा चित्तस्यापि तदनापत्तेः,प्रतिक्षणं चित्तस्य नश्वरत्वोपलब्धेः। "अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदो धर्माणाम्।" (४-१२) "ते व्यक्तसूक्ष्मगुणाऽऽत्मानः।" (४-१३) "परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वमिति।" (४-१४) सूत्रपर्यालोचनाद्धर्मभेदेऽपि तेषामङ्गाङ्गिभावपरिणामैकत्वाद् न चित्तानन्वय इति चेत्, तदेतदात्मन्येव पर्यालोच्यमानं शोभते, कूटस्थत्वश्रुतेः शरीराऽऽदिभेदपरत्वेनाप्युपपत्तेरिति सम्यग् विभावनीयम् ॥ २२ ॥

किञ्च-

बुद्ध्या सर्वोपपत्तौ च, मानमात्मनि मृग्यते ।
संहत्यकारिता मानं, पारार्थ्यनियता च न ॥ २३ ॥

बुद्ध्या महत्तत्त्वेन, सर्वोपपत्तौ सकललोकयात्रानिर्वाहे च सति, आत्मनि मानं प्रमाणं मृग्यते। कृत्याऽऽद्याश्रयव्यतिरिक्ते आत्मनि प्रमाणमन्वेषणीयमित्यर्थः। न च पारार्थ्यनियता परा-

र्थकत्वव्याप्या, संहत्यकारिता संभूयमिलितार्थक्रियाकारिता, मानमतिरिक्ताऽऽत्मानि प्रमाणं,यत्संहत्यार्थक्रियाकारि तत्परार्थं दृष्टम्, यथा शय्याशयनाऽऽसनाऽऽद्यर्था. । सत्त्वरजस्तमांसि च चित्तलक्षणपरिणामभाञ्जि संहत्यकारीणि.अत. परार्थानि, यश्च परः स पुरुष इति । तदुक्तम्-" तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रम् पि परार्थं, संहत्यकारित्वादिति । " (४ २४) ॥ २३ ॥

कुतः ?, इत्याह-

सत्त्वाऽऽदीनामपि स्वाङ्गि-न्युपकारोपपत्तितः ।
बुद्धिर्नामैव पुंसस्तत्, स्याच्च तत्त्वान्तरव्ययः ॥ २४ ॥

सत्त्वाऽऽदीनां धर्माणां, स्वाङ्गिन्यपि स्वाऽऽश्रयेऽपि, उपकारोपपत्तित. फलाऽऽधानसंभवादुक्तनियमे मानाभावात् सत्त्वाऽऽदौ संहत्यकारित्वस्य विलक्षणत्वात् । अन्यथा-असंहतरूपपरासिद्धेर्धर्माणां साश्रयत्वव्याप्तेश्च बुद्ध्यैव सफलत्वाद् नैवमात्मा कश्चिदतिरिक्त. सिद्ध्येदिति भाव. । तत्तस्माद् बुद्धिः पुंसः पुरुषस्यैव नाम स्यात् । च पुन., तत्त्वान्तरव्ययोऽहङ्कारऽऽदितत्त्वोच्छेद. स्यात् ॥ २४ ॥

तथाहि-

व्यापारभेदादेकस्य, वायोः पञ्चविधत्ववत् ।
अहङ्काराऽऽदिसंज्ञानो-पपत्तिः सुकरत्वतः ॥ २५ ॥

एकस्य वायोः, व्यापारभेदादूर्ध्वगमनाऽऽदिव्यापारभेदात्, पञ्चविधत्ववत्-पञ्च वायव. प्राणापानाऽऽदिभेदादिति व्यपदेशवत् । अहङ्काराऽऽदिसंज्ञानामुपपत्तेः सुकरत्वत. सौकर्यात् । तथाहि-बुद्धिरेवाहङ्कारव्यापारं जनयन्ती अहङ्कार इत्युच्यताम्, सैव च प्रसुप्तस्वभावा साधिकारा प्रकृतिरिति व्यपदिश्यताम्, किमन्तर्गडु तत्त्वान्तरपरिकल्पनयेति ॥ २५ ॥

पुंसश्च व्यञ्जकत्वेऽपि, कूटस्थत्वमयुक्तिमत् ।
अधिष्ठानत्वमेतच्चेत्, तदेत्यादिनिरर्थकम् ॥ २६ ॥

पुंस. पुरुषस्य च व्यञ्जकत्वेऽभ्युपगम्यमाने, कूटस्थत्वमयुक्तिमदसङ्गतम् । अभिव्यञ्जकत्वं ह्यभिव्यक्तिजनकत्वम् । तथा च-" अकारणमकार्यं च पुरुष " इति वचनं व्याहन्येतेति भाव. । अधिष्ठानत्वमभिव्यक्तिदेशाऽऽश्रयत्वम्, एतद् व्यञ्जकत्वं, पुरुषस्तु सदैकरूप इति चेत्, तर्हि तदेत्यादि "तदा द्रष्टुः स्वरूपावस्थानम् ।"(१-३)इति सूत्रं निरर्थकम्,तदेत्यस्य व्यवच्छेद्याभावात् । काल्पनिकत्वे चैतद्विषयस्य घटाऽऽदिव्यवहारविषयस्यापि तथात्वाऽऽपत्तौ शून्यवादिमतप्रवेश इति भाव ॥ २६ ॥

निमित्तत्वेऽपि कौटस्थ्य-मथास्यापरिणामतः ।
स्याद्भेदो धर्मभेदेन, तथापि भवमोक्षयोः ॥ २७ ॥

अथास्याऽऽत्मनो,निमित्तत्वेऽपि,सत्त्वनिष्ठामभिव्यञ्जकतां चिच्छक्तिं प्रति, अपरिणामत परिणामाभावात् । कौटस्थ्यमकारणमित्यस्यानुपादानकारणमित्यर्थात् उपादानकारणस्यैव परिणामित्वात् परिणामस्य चावस्थान्तरगमनलक्षणत्वादिति भावः । तथाऽपि भवमोक्षयोः संसारापवर्गयो.,धर्मभेदेन भोगानिमित्तानिमित्तत्वधर्मभेदेन,स्यात्कथञ्चित्,भेद आवश्यक. । मोक्षेऽपि पूर्वस्वभावसत्त्वे कारणान्तराभावाच्च भोग इति को भेद इति चेत्?। सौम्य ! कथं तर्हि न भवमोक्षोभयस्वभावे विरोधः ? । उभयैकस्वभावत्वाद् नायमिति चेद् भङ्ग्यन्तरेणायमेव स्याद्वाद इति किं वृथा खिद्यसे ?॥ २७ ॥

असङ्कताद्वस्थ्यं च, बुद्धेर्भेदेऽपि तत्त्वतः ।
प्रकृत्यन्ते लये मुक्ते-र्न चेदव्याप्यवृत्तिता ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदेऽपि प्रत्यात्मनियतत्वेऽप्यभ्युपगम्यमाने, तत्त्वतः परमार्थतः, प्रकृत्यन्ते प्रकृतिविश्रान्ते, लये तु ध्वंसे सति, प्रसङ्गताद्वस्थ्यम्, एकस्य मुक्तावन्यस्यापि तदापत्तिरित्यस्यापरिहार एव, प्रकृतेरेव मुक्तेरभ्युपगम्यमानत्वात्, तस्याश्च मुक्तत्वामुक्तत्वोभयविरोधात् । एकत्र वृक्षे संयोगतदभावयोरिव प्रकृतौ विभिन्नबुद्ध्यवच्छेदेन न मुक्तत्वामुक्तत्वयोर्विरोध इत्यत आह-चेद् यदि,मुक्तेरव्याप्यवृत्तिता, न,अभ्युपगम्यत इति शेष. । तदभ्युपगमे च मुक्तेऽप्यमुक्तत्वव्यवहाराऽऽपत्तिरेव दूषणम् । किं चैवं मुक्तस्याप्यात्मनो भवस्थशरीरावच्छेदेन भोगाऽऽपत्तिरिति तत्प्रकृतिनिवृत्तिरवश्यमभ्युपेयेति द्रष्टव्यम् ॥ २८ ॥

प्रधानभेदे चैतत् स्यात्, कर्मबुद्धिगुणः पुमान् ।
स्याद् ध्रुवश्चाध्रुवश्चेति, जयताद् जैनदर्शनम् ॥ २९ ॥

उक्तदोषभिया प्रधानभेदे चाभ्युपगम्यमाने. आत्मभोगापवर्गनिर्वाहकमेतत् कर्म स्यात्,पुमान् पुरुष बुद्धिगुण स्यात् । बुद्धिलब्धिज्ञानानामनर्थान्तरत्वात् । स्यात्कथञ्चिद्,ध्रुवश्च द्रव्यतोऽध्रुवश्च पर्यायत इत्येव जैनदर्शनं जयताद्,दोषलवस्याप्यस्पर्शात् । ननु च पुंसो विषयग्रहणसमर्थत्वेनैव चिद्रूपत्वं व्यवतिष्ठत इति विकल्पाऽऽत्मकबुद्धिगुणत्वं न युक्तम्, अन्तर्बहिर्मुखव्यापारद्वयविरोधादिति चेत् । न । अनुभूयमानक्रमिकैकोपयोगस्वभावत्वेन तदविरोधादिति ॥ २९ ॥

तथा च कायरोधाऽऽदा-वव्याप्तं प्रोक्तलक्षणम् ।
एकाग्रताऽवधौ रोधे, वाच्ये च प्राचि चेतसि ॥ ३० ॥

तथा च जैनदर्शनजयसिद्धौ च, प्रोक्तलक्षणं पतञ्जल्युक्तयोगलक्षणम्, कायरोधाऽऽदावव्याप्तम्, आदिना वाङ्निरोधाऽऽदिग्रह । एकाग्रताऽवधावेकाग्रतानिरोधमात्रसाधारणे च रोधे वाच्ये, प्राचि एकाग्रताया. पूर्वभाविनि, चेतस्यप्यात्माऽऽदिशुद्धे, व्याप्तम् ॥ ३० ॥

योगाऽऽरम्भोऽथ विक्षिप्ते, व्युत्थानं क्षिप्तमूढयोः ।
एकाग्रे च निरुद्धे च, समाधिरिति चेन्न तत् ॥ ३१ ॥

अथ विक्षिप्ते चित्ते योगाऽऽरम्भः क्षिप्तमूढयोश्चित्तयोर्व्युत्थानम्, एकाग्रे च निरुद्धे च चित्ते समाधिरिति एकाग्रतापूर्वभाविन श्चित्तस्यालक्ष्यत्वादेव न तत्राव्याप्ति । क्षिप्तं हि रजस उद्रेकादस्थिरं बहिर्मुखतया सुखदुःखाऽऽदिविषयेषु कल्पितेषु सन्निहितेषु वा रजसा प्रेरितम्,तच्च सदैव दैत्यदानवाऽऽदीनाम्,मूढं तमस उद्रेकात् कृत्याकृत्यविभागासंगत क्रोधाऽऽदिभिर्विरुद्धकृत्येष्वेव नियमितम्, तच्च सदैव रक्षः पिशाचाऽऽदीनाम्, विक्षिप्तं तु सत्त्वोद्रेकात्परिहृत्य दुःखसाधनेष्वेव शब्दाऽऽदिषु प्रवृत्तम्, तच्च सदैव देवानाम् । एतास्तिस्रश्चित्तावस्था न समाधावुपयोगिन्यः । एकाग्रतानिरुद्धरूपे द्वे एव सत्त्वोत्कर्षाद् यथोत्तरमवस्थितत्वाच्च समाधावुपयोगं भजेते इति चेद्, न तत् ॥ ३१ ॥

योगाऽऽरम्भेऽपि योगस्य, निश्चयेनोपपादनात् ।
मदुक्तं लक्षणं तस्मात्, परमाऽऽनन्दकृत् सताम् ॥ ३२ ॥

योगाऽऽरम्भेऽपि योगप्रारम्भकालेऽपि,निश्चयेन निश्चयनयेन,यो-

गस्योपपादनात् व्यवस्थापनात्, क्रियमाणं कृतमिति तदभ्युपगमाद् आद्यसमये तदनुत्पत्तावग्रिमसमयेष्वपि तदनुत्पत्त्यापत्तेः। वस्तुतो योगविशेषप्रारम्भकालेऽपि कर्मक्षयरूपफलान्यथाऽनुपपत्त्या व्यवहारेणापि योगसामान्यसद्भावोऽवश्यमभ्युपेय इति प्रागुक्तातिव्याप्तिर्वज्रलेपायितैव। तस्मान्मदुक्तं लक्षणं 'मोक्षमुख्यहेतुव्यापारः' इत्येवरूपं, सतां व्युत्पन्नानाम्, अदुष्टत्वप्रतिपत्तिद्वारा परमाऽऽनन्दकृत् ॥ ३१ ॥ द्वा० ११ द्वा० ।

(१५) योगभेदाः -अत्र मिथ्यात्वाऽऽदिहेतुगतं मनोवाक्काययोगत्रयं, तच्च कर्मवृद्धिहेतुत्वाद् न ग्राह्यम्, किं तु मोक्षसाधनहेतुभूतं शुद्धाध्यात्मभावनाभावितचेतनावीर्यपरिणामसाधनकारकप्रवर्त्तनरूपं ग्राह्यं द्रव्यभावभेदं बाह्याऽऽचारविशोधिपूर्वकाभ्यन्तराऽऽचारशुद्धिरूपम्-

मोक्षेण योजनाद् योगः, सर्वोऽप्याचार इष्यते ।
विशिष्य स्थानवर्णार्था-ऽऽलम्बनैकाग्र्यगोचरः ॥ १ ॥

सकलकर्मक्षयो मोक्षः, तेन योजनाद् योग उच्यते। स च सर्वोऽप्याचारो जिनशासनोक्तः चरणसप्ततिकरणसप्ततिरूपो मोक्षोपायत्वाद् योग इष्यते। तत्र विशेषेण स्थानम् १, वर्ण २, अर्थ ३, आलम्बनम् ४, एकाग्रता ५, इति पञ्चप्रकारयोगो मोक्षोपायहेतुर्मतः, इत्यनेनानादिपरभावाऽऽसक्तभवभ्रमणग्रहात् पुद्गलभोगमग्नानां न भवत्ययमभिप्रायः-यतोऽस्माकं मोक्षः साध्योऽस्ति। स च गुरुवचनस्मरणतत्स्वजिज्ञासाऽऽदियोगेन स्वरूपं निर्मलं निःसङ्गं परमाऽऽनन्दमयं स्मृत्वा तत्कथाश्रवणप्रीत्यादिकं करोति, स परम्परया सिद्धियोगी भवति। न हि मरुदेवावत् सर्वेषामल्पप्रयासा सिद्धिः, तस्या हि भवत्वाऽऽशातनादोषकारकत्वेन निष्प्रयासा सिद्धिः। अन्यजीवानां चिराऽऽशातनाबद्धगाढकर्मणां तु स्थानाऽऽदिक्रमेणैव भवति ॥ १ ॥

अथ योगपञ्चके बाह्यान्तरङ्गसाधकत्वमुपदिशति-

कर्मयोगद्वयं तत्र, ज्ञानयोगत्रयं विदुः ।
विरतेष्वेव नियमाद्, बीजमात्रं परेष्वपि ॥ २ ॥

तत्र मोक्षसाधने, कर्मयोगद्वयं, क्रियाऽऽचरणायोगरूपम्, त्रयम् अर्थप्रमुखं, ज्ञानयोगं विदुः प्राहुर्बुधाः। तत्र विंशतिकाऽनुसारेण लक्षणाऽऽदिकं निरूप्यते-तत्र स्थानरूपं कायोत्सर्गाऽऽदिजैनाऽऽगमोक्तक्रियाकरणे करचरणाऽऽसनमुद्रारूपम्। उक्तं च विंशतिकायाम्-"ठाणवणत्थालंबण--रहिओ तंतम्मि पंचहा एसो। दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणजोगो उ" ॥१॥ एष पञ्चप्रकारो योगः, विरतेषु देशविरतसर्वविरतेषु, नियमाद् भवति। योगपञ्चकं हि चापल्यवारणम्, तेन योगवता भवितव्यम्। परेषु मार्गानुसारिप्रमुखेषु बीजमात्रं भवति किञ्चिन्मात्रं भवति। उक्तं च विंशतिकायाम्-"देसे सव्वे य तहा, नियमेणेसो चरित्तिणो होइ। इयरस्स बीयमित्तं, इत्ति चेअ केइ इच्छंति ।१।"

(१६) अत्र योगोत्पत्तिहेतवः प्रोच्यन्ते—

कृपानिर्वेदसंवेग-प्रशमोत्पत्तिकारिणः ।
भेदाः प्रत्येकमत्रेच्छा-प्रवृत्तिस्थिरसिद्धयः ॥ ३ ॥

कृपा अनुकम्पा-दुःखितेषु दुःखमोचनलक्षणः आर्द्रतापरिणामः। निर्वेदः भवोद्वेगः-चतुर्गतिषु चारकवद्वासनम्। संवेगः मोक्षाभिलाषः, प्रशमः कषायाभावः। एते परिणामाः-यो योगो मोक्षोपायः, तस्योत्पत्तिकारिणः करणशीलाः, एतादृक्परिणामपरिणतस्य संसारोद्विग्नस्य शुद्धाऽऽत्मस्वादेच्छ-

कस्य योगसाधना भवन्ति। अत्र योगपञ्चके, प्रत्येकमेकैकस्य चत्वारो भेदाः। ते च इमे-इच्छा १, प्रवृत्तिः २, स्थिरता ३, सिद्धिः ४ इत्येव भेदा ज्ञेयाः। उक्तं च विंशतिकायाम्-"इक्किक्को य चउद्धा, इत्थ पुण तत्तओ मुणेयव्वो। इच्छापवित्तिथिरसिद्धिभेयओ समयनीईए" ॥१॥ इत्यादि ॥ ३ ॥

इच्छा तद्वत्कथाप्रीतिः, प्रवृत्तिः पालनं परम् ।
स्थैर्यं बाधकभीहानिः, सिद्धिरन्यार्थसाधनम् ॥ ४ ॥

इच्छा साधकभावाभिलाषः, तद् योगपञ्चकं येषु विद्यन्ते तद्वन्तः श्रमणाः, तेषां कथासु गुणकथनाऽऽदिषु प्रीतिः-इष्टता। उक्तं च हरिभद्रपूज्यैः -"तज्जुत्तकहापीई, संगयाऽविपरिणामिणी इच्छा।" इति। तस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदिगुणवृद्धिहेतुभूतं क्रियाश्रुताभ्यासपालनं परं परा उत्कृष्टा सा प्रवृत्तिः। उक्तं च- 'सव्वत्थुवसमसारं, तप्पालणमो पवित्ती उ।" इति। इत्येवं योगद्वयं बाह्यरूपत्वात् क्रियामुख्यत्वात् साध्यावलम्बिना कारणरूपम्। शेषाणां तु शुभवन्धनिबन्धनं स्थैर्य-बाधका अशुद्धाध्यवसाया अतीचाराः, तेषां भीर्भयं, तस्य हानिरभावः, निरतिचारगुणपालनारूपं यत्र तत् स्थैर्यम्। क्षयोपशमोऽपि प्रतिगुणसाधनापरिणमनेन सहजभावत्वात् निर्दोषगुणसाधनो भवति। उक्तं च-"तह चेव एयबाहग-चिंतारहियं थिरत्तणं नेयं।" शुद्धानामर्थानां परमात्मरूपाणां साधनं स्वरूपालम्बनं शुद्धतत्त्वसाधनं सिद्धिः। उक्तं च-"सव्वं परमत्थसाहग-रूवं पुण होइ सिद्धि त्ति।" एवं सप्रभेदं त्रयम् ॥ ४ ॥

यावद् ध्यानैकत्वं न भवति तावद् न्यासमुद्रावर्णशुद्धिपूर्वकमावश्यकचैत्यवन्दनप्रत्युपेक्षणाऽऽदिकमुपयोगयोगचापल्यवारणार्थमवश्यं करणीयं, महद् हितकरं सर्वजीवानां, तेन स्थानवर्णक्रमेण तत्त्वप्राप्तिरिति-

अर्थाऽऽलम्बनयोश्चैत्य-वन्दनाऽऽदौ विभावनम् ।
श्रेयसे योगिनः स्थान-वर्णयोर्यत्न एव च ॥ ५ ॥

अर्थो वाक्यस्य भावार्थः, आलम्बनं वाच्ये पदार्थे अर्हत्स्वरूपे उपयोगस्यैकत्वम्, अर्थश्च आलम्बनं च अर्थालम्बने, तयोश्चैत्यवन्दनाऽऽदौ अर्हद्वन्दनाधिकारे, विभावनं स्मरणं करणीयं, श्रेयसे कल्याणार्थं, च पुनः, स्थानं वन्दनकं कायोत्सर्गशरीरावस्थानम्, आसनमुद्राऽऽदिकं, वर्णा अक्षराणि, तयोर्यत्न एव शुद्धिः श्रेयसे कल्याणाय भवति। उक्तं चाऽऽवश्यके-"जं वाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, विणयहीणं, घोसहीणं, जोगहीणं, सुट्ठु दिन्नं, दुट्ठु पडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाए सज्झाइयं, सज्झाए न सज्झाइयं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।" इत्यनेन द्रव्यक्षेत्रकालविशुद्धौ भावसाधनसिद्धिः, तेन द्रव्यक्रिया हिता ॥५॥

आलम्बनमिह ज्ञेयं, द्विविधं रूप्यरूपि च ।
अरूपि गुणसायुज्य-योगोऽनालम्बनं परम् ॥ ६ ॥

इह जैनमार्गे, आलम्बनं द्विविधं ज्ञेयम्। एकं-रूपि, अपरम्-अरूपि। तत्र रूप्यालम्बनं जिनमुद्राऽऽदिकपिण्डस्थपदस्थरूपस्थपर्यन्तं यावत् अर्हदवस्थाऽऽलम्बनं, तावत् कारणावलम्बनं शरीरातिशयो येन रूप्यवलम्बनं, तत्र अनादिपरभावशरीरधनस्वजनावलम्बी परत्र परिणतचेतनः विषयाऽऽस्वादाऽऽर्थं तीर्थङ्कराऽऽद्यवलम्बनमपि भवहेतुः। तथैव च स्वरूपाऽऽनन्दपिपासिनः स्वरूपसाधनार्थं प्रथमं कारणरूपं जिनेश्वरवीतरागाऽऽदिगुणस-

मूर्तिरवलम्बते यावद् मुद्राऽऽद्यालम्बनी,तावत् रूप्यावलम्बनी,स एव अर्हत्सिद्धस्वरूप ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽद्यनन्तपर्यायविशुद्धं शुद्धाध्यात्मधर्ममवलम्बते इति। अरूप्यालम्बनी तत्र भाव्यते-अनादितो जीवो मूर्तपुद्गलस्कन्धावलम्बनपरिणतः कथं प्रथमत एवामूर्ताऽऽनन्दरूपं स्वरूपमवलम्बते?,यत अतिशयोपेतवीतरागमुद्राऽऽदिकं परं मूर्तं चालम्ब्य विषयकषायवृद्धिकरं स्त्र्याद्याऽऽद्यवलम्बनं त्यज्यति इत्येका परावृत्तिः। पुनः स एव अतिशयाऽऽदिरूपं मूर्तं नालम्बनीयम्, अहं तु अमूर्तं ,मूर्तभावरसिकत्वं नोपयुज्यते। यद्यपि अर्हतः सवद्ध तथापि औदयिकं नालम्बनम्, अनन्तगुणाऽऽलम्बनमुत्तममिति गुणावलम्बनी मूर्तान् भावान् न रसिकत्वेन गृह्णाति,सापेक्षपरत्वेन पश्यतीति द्वितीया परावृत्तिः। एवममूर्ताऽऽत्मगुणरसिको भवति, तेन परमेष्ठिस्वरूपं कारणेनावधार्य स्वीयासंख्येयप्रदेशव्याप्यव्यापकभावावच्छिन्नद्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकानन्तस्वभावममलामूर्ताऽऽनन्दमयं ध्येयत्वेनावलम्बते इति तृतीया परावृत्तिरिति। साधनपद्धतिः सर्वेषां तत्स्वरूपसाधनम्, अरूपिगुणाः सिद्धगुणाः, तेषां भावनं सायुज्यं तदात्मता, तया योगः आत्मोपयोगयोजनं यद्यपि ईषदवलम्बनं श्रुताऽऽदीनां, तथापि अनालम्बनमेव परं उत्कृष्टो योगः। उक्तं च पाठकैः-"तत्राप्रतिष्ठितः खलु,यतः प्रवृत्तश्चलत्यतस्तत्र। सर्वोत्तमो हि मनुजः,तेनानालम्बनो गीतः ॥१॥" निरालम्बनयोगेन धारावाहिप्रशान्तवाहिता नाम चिन्तितस्य स्वरसत एव मनः सहजधारायां वर्तते, न प्रयासो भवति। उक्तं च विंशतिकायाम्-"आलंबणं पि एयं, रूविमरूवी य इत्थ परमो त्ति। तग्गुणपरिणइमित्तो, सुहुमो आलंबणो नाम" ॥ १ ॥ एकाग्रयोगस्यैवापरनाम अनालम्बनयोग इति। एवं स्थानाऽऽद्याः पञ्च इच्छाऽऽदिगुणिता विंशतिर्भवन्ति। ते च प्रत्येकमनुष्ठानचतुष्कयोजिता अशीतिप्रकारा भवन्ति ॥ ६ ॥

तत्स्वरूपनिरूपणायोपदिशति-

प्रीतिभक्तिवचोऽसङ्गैः, स्थानाऽऽद्यपि चतुर्विधम्।
तस्मादयोगियोगाऽऽप्ते-र्मोक्षयोगः क्रमाद् भवेत् ॥ ७ ॥

एते स्थानाऽऽदय , प्रीतिभक्तिवचनमसङ्ग इति भेदचतुष्टयैरशीतिभेदाः भवन्ति। तस्माद् योगात्क्रमेण अयोगिनामा योग ,तस्याऽऽप्तिः प्राप्तिर्भवति,अयोगी योगशैलेशीकरणं सकलयोगचापल्यरहितो योगस्तं प्राप्नोति,तेन पुनः क्रमाद् मोक्षः। "सर्वकर्माभावलक्षण आत्मनस्तादात्म्यावस्थानं मोक्षः।"एवं योग सयोग ,क्रमात् अनुक्रमेण भवति। (अथ प्रीत्या-द्यनुष्ठानस्वरूपं तु षोडशकपाठेन 'अणुट्ठाण' शब्दे प्रथमभागे ३७७ पृष्ठे गतार्थम्) एवं क्रमेण योगसाधनारतः सर्वयोगरोधं कृत्वा अयोगी भवति ॥ ७ ॥

स्थानाऽऽद्ययोगिनस्तीर्थो-च्छेदाऽऽद्यालम्बनादपि।
सूत्रदाने महादोषः, इत्याचार्याः प्रचक्षते ॥ ८ ॥

इति स्थानाऽऽदिप्रवृत्तियोगरहितस्य सूत्रदानं महादोष इति आचार्या हरिभद्राऽऽदय , प्रचक्षते कथयन्ति,कस्मात् ?,तीर्थोच्छेदाऽऽद्यालम्बनात्, निरास्तिकस्य सूत्रदाने कदाचित् कुप्ररूपणाकरणेन तीर्थोच्छेदो भवति।

उक्तं च विंशतिकायाम्-

" तित्थस्सुच्छेयाइ वि, नालंबणमित्थ जं स एमेव।
सुत्तकिरियाइनासो, एसो असमंजसविहाणो ॥ १ ॥
सो एस वंकओ चिय, न यऽसयमयाण मारियाणमविसेसा।
एयं पि भावियव्वं, इह तित्थुच्छेयभीरूहिं ॥ २ ॥
मुत्तूण लोगसन्नं, नाऊण य साहुसमयसब्भावं।
सम्मं पयट्टियव्वं, बुहेण मइनिउणबुद्धीए " ॥ ३ ॥

एवं प्रथमं स्थानाऽऽदिविशुद्धिं कृत्वा इच्छाऽऽदिपरिणतः क्रमेण स्वस्वरूपाऽऽलम्बनाऽऽदि गृहीत्वा प्रीत्याद्यनुष्ठानेन असङ्गानुष्ठानयोगतः सर्वज्ञो भूत्वा अयोगीभूय सिद्धो भवति,अतः क्रमसाधना श्रेयस्करी। इति व्याख्यातं योगाष्टकम् ॥ अष्ट० २७ अष्ट०।

अध्यात्मं भावना ध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तो, योगमार्गविशारदैः ॥ १ ॥

द्वा० १८ द्वा०। अष्ट०। (सर्वे भेदाः 'भावणा' शब्दे विवेचनासहिता वक्ष्यन्ते)

(१७) वृत्तिरोधोऽपि योगश्चेद्, भिद्यते पञ्चधाऽप्ययम्।
मनोवाक्कायवृत्तीनां,रोधे व्यापारभेदतः ॥ २७ ॥

मोक्षहेतुलक्षणो योगः पञ्चधा भिन्न इति प्रदर्शितं, वृत्तिरोधोऽपि चेद्योग उच्यते, अयमपि पञ्चधा भिद्यते, मनोवाक्कायवृत्तीनां रोधे व्यापारभेदतोऽनुभवसिद्धानां भेदानां दुरपह्नवत्वात् ; अन्यथा शून्यमात्रपरिशेषप्रसङ्गादिति भावः ॥ २७ ॥

प्रवृत्तिस्थिरताभ्यां हि, मनोगुप्तिद्वये किल।
भेदाश्चत्वार इष्यन्ते, तत्रान्त्यायां तथाऽन्तिमः ॥ २८ ॥

प्रवृत्तिः प्रथमाभ्यासः,स्थिरता तत्कर्षकाष्ठाप्राप्तिः,ताभ्यां मनोगुप्तिद्वये किल आद्याश्चत्वारो भेदाः-अध्यात्मभावनाध्यानसमतालक्षणा इष्यन्ते,व्यापारभेदादेकत्र क्रमेणोभयोः समावेशाद् यथोत्तरं विशुद्धत्वात्। तथाऽन्त्यायां चरमायां,तत्र मनोगुप्तौ, अन्तिमो वृत्तिसंक्षय इष्यते। इत्थं हि पञ्चापि प्रकारा निरपाया एव ॥ २८ ॥

विमुक्तकल्पनाजालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।
आत्माऽऽरामं मनश्चेति, मनोगुप्तिस्त्रिधोदिता ॥ २९ ॥

विमुक्तं परित्यक्तं,कल्पनाजालं सङ्कल्पविकल्पचक्रं,येन तत्,तथा समत्वे सुप्रतिष्ठितं सम्यग् व्यवस्थितम्,आत्माऽऽरामं स्वभावप्रतिबद्धं, मनः , तद्भेदैस्तद्भेदिभिः, मनोगुप्तिस्त्रिधा त्रिभिः प्रकारैः, उदिता कथिता ॥ २९ ॥

अन्यासामवतारोऽपि, यथायोगं विभाव्यताम्।
यतः समितिगुप्तीनां, प्रपञ्चो योग उत्तमः ॥ ३० ॥

अन्यासां वाक्कायगुप्तीयोसमित्यादीनाम्,अवतारोऽप्यन्तर्भावोऽपि, यथायोगं यथास्थानं, विभाव्यतां विचार्यतां, यतो यस्मात्, समितिगुप्तीनां प्रपञ्चो यथापर्यायं विस्तारो, योग उच्यते उत्तम उत्कृष्ट , न तु समितिगुप्तिविभिन्नस्वभावो योगपदार्थोऽतिरिक्तः कोऽपि विद्यत इति ॥ ३० ॥

उपायत्वेऽत्र पूर्वेषा-मन्त्य एवावशिष्यते।
तत्पञ्चमगुणस्थाना-दुपायोऽर्वागिति स्थितिः ॥ ३१ ॥

अत्राध्यात्माऽऽदिभेदेषु योगेषु पूर्वेषामध्यात्माऽऽदीनाम्, उपायत्वे योगोपायत्वमात्रे वक्तव्ये,अन्त्य एव वृत्तिक्षय एव योगोऽवशिष्यते। तत्तस्मात्,पञ्चमगुणस्थानादर्वाक् पूर्वसेवारूप उपायः, ततः आरभ्य तु सानुबन्धयोगप्रवृत्तिरेवेति स्थितिः सत्सम्प्रदाया ॥ ३१ ॥

जगवद्वचनस्थित्या, योगः पञ्चविधोऽप्ययम् ।
सर्वोत्तमं फलं दत्ते, परमाऽऽनन्दमञ्जसा ॥ ३२ ॥

निगदसिद्धोऽयम् ॥ ३२ ॥ द्वा० १८ द्वा० ।

(१८) अध्यात्माऽऽदीन् योगभेदानुपदर्श्य तदवान्तरनानाभेदप्रदर्शनेन तद्विवेकमेवाऽऽह-

इच्छां शास्त्रं च सामर्थ्य-माश्रित्य त्रिविधोऽप्ययम् ।
गीयते योगशास्त्रज्ञै-र्निर्व्याजं यो विधीयते ॥ १ ॥

इच्छां,शास्त्र,सामर्थ्यं चाऽऽश्रित्य त्रिविधोऽप्ययं योगो योगशास्त्रज्ञैर्गीयते, इच्छायोग , शास्त्रयोग , सामर्थ्ययोगश्चेति यो निर्व्याजं निष्कपटं विधीयते। सव्याजस्तु योगाऽऽभासो गणनायामेव नावतरतीति ॥ १ ॥

इच्छायोगमाह-

चिकीर्षोस्तु श्रुतार्थस्य, ज्ञानिनोऽपि प्रमादिनः।
कालाऽऽदिविकलो योगः, इच्छायोग उदाहृतः ॥ २ ॥

चिकीर्षोः-तथाविधक्षयोपशमाभावेऽपि निर्व्याजमेव कर्तुमिच्छोः, श्रुतार्थस्य श्रुताऽऽगमस्य अर्यतेऽनेन तत्त्वमिति, तत्त्वार्थशब्दस्याऽऽगमवचनत्वात् । ज्ञानिनोऽपि अवगतानुष्ठेयतत्त्वार्थस्यापि,प्रमादिनो विकथाऽऽदिप्रमादवत ,कालाऽऽदिना विकलोऽसम्पूर्णो,योगश्चैत्यवन्दनाऽऽदिव्यापार ,इच्छायोग उदाहृत. प्रतिपादित ॥ २ ॥

प्रधानस्येच्छायोगत्वे तदङ्गस्यापि तथात्वमिति दर्शयन्नाह-

साङ्गमप्येककं कर्म, प्रतिपन्ने प्रमादिनः ।
न त्वेच्छायोगत इति, श्रवणादत्र मज्जति ॥ ३ ॥

साङ्गमपि अङ्गसाकल्येनाधिकलमपि,एकक स्वल्प किञ्चित्कर्म, प्रतिपन्ने बहुकालव्यापिनि प्रधाने कर्मण्यङ्गीकृते, प्रमादिन प्रमादवत , न त्वेच्छायोगत इति श्रवणात्,अत्र इच्छायोगे, मज्जति मग्न भवति। अन्यथा हि इच्छायोगाधिकारी भगवान् हरिभद्रसूरिर्योगदृष्टिसमुच्चयप्रकरणप्रारम्भे मृषावादपरिहारेण सर्वथौचित्याऽऽरम्भप्रदर्शनार्थं न त्वेच्छायोगतोऽयोगमित्यादि नावक्ष्यत, वाङ्नमस्कारमात्रस्याल्पस्य विधिगुरुस्यापि सम्भवात्। प्रतिपन्नस्वपर्यायान्तर्भूतत्वेन च प्रकृतनमस्कारस्यापि इच्छायोगप्रभवत्वमदुष्टमिति विभावनीयम् ॥ ३ ॥

यथाशक्त्यप्रमत्तस्य,तीव्रश्रद्धाऽवबोधतः।
शास्त्रयोगस्त्वखण्डार्था-ऽऽराधनादुपदिश्यते ॥ ४ ॥

यथाशक्ति स्वशक्त्यनतिक्रमेण, अप्रमत्तस्य विकथाऽऽदिप्रमादरहितस्य,तीव्रौ तथाविधमोहापगमात्पटुतरौ,यौ श्रद्धाऽवबोधौ जिनप्रवचनाऽऽस्तिक्यतत्त्वपरिच्छेदौ, तत अखण्डार्थाऽऽराधनात् कालाऽऽद्यविकलवचनानुष्ठानात् तु शास्त्रयोग उपदिश्यते ॥४॥

शास्त्रेण दर्शितोपायः, फलपर्यवसायिना ।
तदतिक्रान्तविषयः, सामर्थ्याऽऽख्योऽतिशक्तितः ॥ ५ ॥

फलपर्यवसायिना मोक्षपर्यन्तोपदेशेन शास्त्रेण दर्शित सामान्यतो ज्ञापित उपायो यस्य, सामान्यत फलपर्यवसानत्वाच्छास्त्रस्य द्वारमात्रबोधनेन विशेषहेतुदिक्प्रदर्शकत्वात् अतिशक्तित. शक्तिप्राबल्यात्, तदतिक्रान्तविषय शास्त्रातिक्रान्तगोचर , सामर्थ्याऽऽख्यो योग उच्यते ॥ ५ ॥

शास्त्रातिक्रान्तविषयत्वमस्य समर्थयन्नाह-

शास्त्रादेव न बुध्यन्ते, सर्वथा सिद्धिहेतवः ।
अन्यथा श्रवणादेव, सर्वज्ञत्वं प्रसज्यते ॥ ६ ॥

सिद्धिहेतवः सर्वे,सर्वथा सर्वैः प्रकारैः, शास्त्रादेव न बुध्यन्ते, अन्यथा शास्त्रादेव सर्वसिद्धिहेतूनां बोधे, सर्वज्ञत्व प्रसज्यते श्रवणादेव, सर्वसिद्धिहेतुज्ञाने सार्वज्ञ्यसिद्ध्युपधायकोत्कृष्टहेतुज्ञानस्याप्यावश्यकत्वात्सङ्कलमाऽऽत्मस्वरूपाऽऽवरणरूपचारित्रस्यापि विलम्बाभावात् सर्वसिद्ध्युपायज्ञानस्य सार्वज्ञ्याप्यत्वाच्च ।

तदिदमुक्तम्-

" सिद्ध्याख्यपदसम्प्राप्ते-र्हेतुभेदा न तत्त्वतः ।
शास्त्रादेवावगम्यन्ते, सर्वथैवेह योगिभिः ॥ १ ॥
सर्वथा तत्परिच्छेदात्, साक्षात्कारित्वयोगतः ।
तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धे:, तदा सिद्धिपदाऽऽप्तितः ॥२॥" ॥ ६ ॥

प्रातिभज्ञानगम्यस्तत्, सामर्थ्याऽऽख्योऽयमिष्यते ।
अरुणोदयकल्पं हि, प्राच्यं तत्केवलार्कतः ॥ ७ ॥

तत्तस्मात्,प्रातिभज्ञानगम्योऽय सामर्थ्याऽऽख्यो योग उच्यते, सार्वज्ञ्यहेतु. खल्वय मार्गानुसारिप्रकृष्टोहस्यैव विषयो, न तु वाचाम्,क्षपकश्रेणिगतस्य धर्मव्यापारस्य स्वानुभवमात्रवेद्यत्वादिति भाव. । ननु प्रातिभमपि श्रुतज्ञानमेव, अन्यथा षष्ठज्ञानप्रसङ्गात्,तथा च कथ शास्त्रातिक्रान्तविषयत्वमस्येत्यत आह-तत् प्रातिभ हि, केवलार्कत. केवलज्ञानभानुमालिन , प्राच्य पूर्वकालीनम्, अरुणोदयकल्पम् ॥ ७ ॥

एतदेव भावयति-

रात्रेर्दिनादपि पृथग्, यथा नो वाऽरुणोदयः ।
श्रुताच्च केवलज्ञानात्, तथेदमपि भाव्यताम् ॥८॥

यथाऽरुणोदयो रात्रेर्दिनादपि पृथग्,नो वा, अपृथगित्यर्थ । न पुनरत्रैकरूप्य विवेचयितु शक्यते, पूर्वापरत्वाविशेषेणोभयभागसम्भवात् । श्रुतात् केवलज्ञानाच्च,तथेदमपि प्रातिभ ज्ञान भाव्यता, तत्काल एव तथाविधक्षयोपशमभाविनस्तस्य श्रुतत्वे-न तत्त्वतोऽसव्यवहार्यतया श्रुताद्शेषद्रव्यपर्यायाविषयत्वेन, क्षायोपशमिकत्वेन च केवलज्ञानाद्भिन्नत्वात् केवलश्रुतपूर्वापरकोटिव्यवस्थितत्वेन, तद्धेतुकार्यतया च ताभ्यामभिन्नत्वाच ॥ ८ ॥

ऋतम्भराऽऽदिभिः शब्दैः, वाच्यमेतत्परैरपि ।
इष्यते गमकत्वं चा-मुष्य व्यासोऽपि यज्जगौ ॥ ९ ॥

एतत् प्रकृत प्रातिभज्ञान,परैरपि पातञ्जलाऽऽदिभि , ऋतम्भराऽऽदिभि शब्दैर्वाच्यमिष्यते, आदिना तारकाऽऽदिशब्दग्रह । गमकत्व सामर्थ्ययोगज्ञापकत्व च, अमुष्य प्रातिभस्य परैरिष्यते, यद् यस्माद्व्यासोऽपि जगौ ॥ ९ ॥

आगमेनानुमानेन, ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां, लभते योगमुत्तमम् ॥ १० ॥

आगमेन शास्त्रेण, अनुमानेन लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानरूपेण, ध्यानाभ्यासस्य रस श्रुतानुमानप्रज्ञाविलक्षण ऋतम्भराऽऽख्या विशेषविषय , तेन च, त्रिधा प्रज्ञा प्रकल्पयन्, उत्तम सर्वोत्कृष्ट, योग लभते ॥ १० ॥

द्विधाऽयं धर्मसंन्यास-योगसंन्याससंज्ञितः ।

क्षायोपशमिका धर्माः, योगाः कायाऽऽदिकर्म तु ॥ ११ ॥

द्विधा द्विप्रकारोऽयं सामर्थ्ययोगः धर्मसंन्यास-योगसंन्याससंज्ञो जाते यस्य स तथा । संज्ञा चेह तथा संज्ञायत इति कृत्वा,तत्स्वरूपमेव गृह्यते । क्षायोपशमिका -क्षयोपशमनिर्वृत्ताः क्षान्त्यादयो धर्माः , योगास्तु-कायाऽऽदिकर्म कायोत्सर्गकरणाऽऽदय कायाऽऽदिव्यापारा ॥ ११ ॥

द्वितीयापूर्वकरणे, प्रथमस्तात्त्विको भवेत् ।
आयोज्यकरणादूर्ध्वं, द्वितीय इति तद्विदः ॥ १२ ॥

द्वितीयापूर्वकरण इति । ग्रन्थिभेदनिबन्धनप्रथमापूर्वकरणव्यवच्छेदार्थं द्वितीयग्रहणं, प्रथमेऽधिकृतसामर्थ्ययोगासिद्धेः। अपूर्वकरणस्य तु तत्रासज्जानपूर्वग्रन्थिभेदाऽऽदिफलेनाभिधानाद् यथाप्राधान्यमयमुपन्यासः । चारुश्च पश्चानुपूर्व्येति समयविदः । ततो द्वितीयेऽस्मिंस्तथाविधकर्मस्थितेस्तथाविधसख्येयसागरोपमातिक्रमभाविनि प्रथमो धर्मसंन्याससंज्ञितः सामर्थ्ययोगः तात्त्विकः पारमार्थिको भवेत्, क्षपकश्रेणियोगिनः क्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्मनिवृत्तेः । अतात्त्विकस्तु प्रव्रज्याकालेऽपि भवति, प्रवृत्तिलक्षणधर्मसंन्यासवायाः प्रव्रज्याया ज्ञानयोगप्रतिपत्तिरूपत्वात् । अत एवास्या भवविरक्त एवाधिकार्युक्तः । यथोक्तम्-" अथ प्रव्रज्याऽर्हः , आर्यदेशोत्पन्नः, विशिष्टजातिकुलान्वितः,क्षीणप्रायकर्ममलबुद्धिः ,दुर्लभं मानुष्यं, जन्म मरणनिमित्तं, सम्पदश्चपला , विषया दुःखहेतवः , संयोगे वियोगान्तः , प्रतिक्षणं मरणं, दारुणो विपाकः, इत्यवगतससारनैर्गुण्यः, तत एव तद्विरक्तः ,प्रतनुकषायोऽल्पहास्याऽऽदिः ,कृतज्ञो,विनीतः, प्रागपि राजामात्यपौरजनबहुमतोऽद्रोहकारी,कल्याणाङ्गः ,श्राद्धः, समुपसम्पन्नश्चेति" । न ह्यनीदृशो ज्ञानयोगमाराधयति,न चेदृशो नाराधयतीति भावनीयम् । सर्वज्ञवचनमागमः ,तत्रायमनिरूतार्थ इति,आयोज्यकरणं केवलाऽऽभोगेनाचिन्त्यवीर्यतया भवोपग्राहिकर्माणि तथा व्यवस्थाप्य तत्क्षपणव्यापारणं शैलेश्यवस्थाफलं,तत ऊर्ध्वं द्वितीयो योगसंन्याससंज्ञित इति,तद्विदोऽभिदधति, शैलेश्यवस्थाया कायाऽऽदियोगानां संन्यासेनायोगाऽऽख्यस्य सर्वसंन्यासलक्षणस्य सर्वोत्तमस्य योगस्य प्रोक्तेरिति ॥१२॥

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चेति, सामान्येन द्विधाऽप्ययम् ।
तात्त्विको वास्तवोऽन्यस्तु, तदाभासः प्रकीर्तितः ॥१३॥

सामान्येन विशेषभेदानुपग्रहेण, तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चेति द्विधाऽप्ययं योग इष्यते । तात्त्विको वास्तवः , केनापि नयेन मोक्षयोजनफल इत्यर्थः । अन्योऽतात्त्विकस्तु तदाभासः तल्लक्षणविरहितोऽपि, योगोचितवेषाऽऽदिना योगवदाभासमानः प्रकीर्तितः ॥ १३ ॥

अपुनर्बन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः ।
अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥ १४ ॥

अपुनर्बन्धकस्योपलक्षणत्वात् सम्यग्दृष्टेश्च, अयं योगो, व्यवहारेण कारणस्यापि कार्योपचाररूपेण, तात्त्विकोऽध्यात्मरूपो, भावनारूपश्च, निश्चयेन निश्चयनयेनोपचारपरिहाररूपेणोत्तरस्य तु चारित्रिण एव ॥ १४ ॥

सकृदावर्तनाऽऽदीना-मतात्त्विक उदाहृतः ।
प्रत्यपायफलप्रायः, तथावेषाऽऽदिमात्रतः ॥ १५ ॥

सकृदेकवारम, आवर्तन्ते उत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तीति सकृदावर्तनाः, आदिशब्दाद् द्विरावर्तनाऽऽदिग्रहः। तेषामतात्त्विको व्यवहारतो, निश्चयतश्चातत्त्वरूपोऽशुद्धपरिणामत्वादुक्तरूपोऽध्यात्मभावनारूपो योगः। प्रत्यपायोऽनर्थः फलं,प्रायो बाहुल्येन,यस्य स तथा। तथा तत्प्रकारभावमाराध्याऽऽत्मभावनायुक्तयोगियोग्य यद्वेषाऽऽदिमात्रं नेपथ्यचेष्टाभाषालक्षणं श्रद्धानशून्यं वस्तु तस्मात्,तत्र हि वेषाऽऽदिमात्रमेव स्याद्,न पुनस्तेषां काचिच्छ्रद्धालुतेति ॥१५॥

शुद्ध्यपेक्षो यथायोगं, चारित्रवत एव च ।
हन्त ! ध्यानाऽऽदिको योग-स्तात्त्विकः प्रविजृम्भते ॥१६॥

यथायोगं यथास्थानं,शुद्ध्यपेक्षः उत्तरोत्तरं शुद्धिमपेक्ष्य प्रवर्तमानचारित्रवत एव च, हन्त ! तात्त्विकः पारमार्थिकैकस्वरूपो, ध्यानाऽऽदिको योगः, प्रविजृम्भते प्रोल्लसति ॥ १६ ॥

अपायभावाभावाभ्यां, सानुबन्धोऽपरश्च सः ।
निरुपक्रमकर्मैवा-पायो योगस्य बाधकम् ॥ १७ ॥

अपायस्य भावाभावाभ्यां सद्भावासद्भावाभ्यां,सानुबन्धः,अपरो निरनुबन्धश्च,स योगः अपायरहितः सानुबन्धः,तत्सहितश्च निरनुबन्ध इति । योगस्य बाधकं निरुपक्रमं विशिष्टानुष्ठानचेष्टयाऽप्यनुच्छेद्यमनार्यं,सर्वविपाकसामर्थ्यं वा, कर्मैव चारित्रमोहनीयाऽऽख्यमपायः ॥ १७ ॥

बहुजन्मान्तरकरः, सापायस्यैव साऽऽश्रवः ।
अनाश्रवस्त्वेकजन्मा, तत्त्वाद्वाऽप्यव्यवहारतः ॥ १८ ॥

बहुजन्मान्तरकरो देवमनुष्याऽऽद्यनेकजन्मविशेषहेतुः ,निरुपक्रमकर्मणोऽवश्यवेदनीयत्वात्,सापायस्यैवापायवत एव,साऽऽश्रवो योगः , एकमेव वर्तमानं जन्म यत्र स त्वनाश्रवः। ननु कथमेतत्?, अयोगिकेवलिगुणस्थानादर्वाक् सर्वसंवराभावेनानाश्रवत्वासम्भवादित्यत आह-तत्त्वाद्वा निश्चयप्रापको यो व्यवहारः, ततस्तेन साम्परायिककर्मबन्धनलक्षणस्य वाऽऽश्रवस्याभ्युपगमात्तदभावे इत्वराऽऽश्रवभावेऽपि नानाश्रवयोगस्तिरिति भावः ।

तदुक्तम्-

" आश्रवो बन्धहेतुत्वाद्, बन्ध एवेह यन्मतः ।
स साम्परायिको मुख्यः, तदेषोऽर्थोऽस्य सङ्गतः ॥ ३७५ ॥
एवं चरमदेहस्य, सम्परायवियोगतः ।
इत्वराऽऽश्रवभावेऽपि, स तथाऽनाश्रवो मतः ॥ ३७६ ॥
निश्चयेनात्र शब्दार्थः, सर्वत्र व्यवहारतः ।
निश्चयव्यवहारौ यद्,द्वावप्यभिमतार्थदौ ॥३७७॥" (यो॰बि॰)
निश्चयेनेत्युपलक्षणे तृतीया, ततो निश्चयेनोपलक्षितात् तत्प्रापकव्यवहारत इत्यन्वयः ॥ १८ ॥

इत्थं साऽऽश्रवानाश्रवत्वाभ्यां योगद्वैविध्यमुक्त्वा, शास्त्रसापेक्षस्वाधिकारिकत्वतद्विपर्ययाभ्यां तद्द्वैविध्याभिधानाभिप्रायवानाह-

शास्त्रेणाधीयते चायं, नासिद्धैर्गोत्रयोगिनाम् ।
सिद्धैर्निष्पन्नयोगस्य, नोद्देशः पश्यकस्य यत् ॥१६॥

अयं च योगो गोत्रयोगिनां गोत्रमात्रेण योगिनाम्, असिद्धैर्भिन्नान्तराऽऽत्मतया योगसाध्यफलाभावात् शास्त्रेण योगतन्त्रेण नाधीयते, तथा सिद्धैः सामर्थ्ययोगित एव कार्यनिष्पत्तेः निष्पन्नयोगस्याऽऽसङ्गानुष्ठानप्रवाहप्रदर्शनेन सिद्धयोगस्याय शास्त्रेण नाधीयते, यद् यस्मात्, पश्यकस्य स्वत एव विदितवेद्यस्य, उ-

दिश्यत इत्युद्देश', सदसत्कर्त्तव्याकर्त्तव्याऽऽदेशो नास्ति। यतो-ऽभिहितमाचारे-" उद्देसो पासगस्स नत्थि त्ति " ॥ १६ ॥

कुलप्रवृत्तचक्राणां, शास्त्रात् तत्तन्नुपक्रिया ।
योगाऽऽचार्यैर्विनिर्दिष्टं, तल्लक्षणमिदं पुनः ॥ २० ॥

कुलयोगिनां,प्रवृत्तचक्रयोगिनां च,शास्त्राद् योगतन्त्रात्,सा विचित्रत्वेन प्रसिद्धा,तदुपक्रिया योगसिद्धिरूपा भवति। तदुक्तं योगदृष्टिसमुच्चये-"कुलप्रवृत्तचक्रा ये, त एवास्याधिकारिणः । योगिनो न तु सर्वेऽपि, तथा सिद्धयादिभावत."॥१॥ तेषां कुलप्रवृत्तचक्रयोगिनां, लक्षणं पुनरिदं वक्ष्यमाणं, योगाऽऽचार्यैर्योगप्रतिपादकैः सूरिभिर्विनिर्दिष्टम् ॥२०॥ द्वा०१६द्वा०।(कुलयोगिलक्षणं 'कुलजोगि' (ए) शब्दे तृतीयभागे ५९८ पृष्ठे द्रष्टव्यम् । प्रवृत्तचक्रयोगिलक्षणं च ' पवत्तचक्क ' शब्दे वक्ष्यामः)

आद्यावञ्चकयोगाऽऽप्त्या, तदन्यद्वयलाभिनः ।
एतेऽधिकारिणो योग-प्रयोगस्येति तद्विदः ॥ २४ ॥

आद्यावञ्चकयोगस्य योगावञ्चकयोगस्य, आप्त्या प्राप्त्या हेतुभूतया, तदन्यद्वयलाभिनः क्रियावञ्चकफलावञ्चकयोगलाभवन्त , तदवन्ध्यभव्यतया तत्त्वतस्तेषां तल्लाभवत्त्वात् । एतेऽधिकारिणो, योगप्रयोगस्याधिकृतयोगव्यापारस्य, इत्येवं, तद्विदो योगविदोऽभिदधति ॥ २४ ॥ द्वा० १६ द्वा० ।

सद्भिः कल्याणसंपन्नै-र्दर्शनादपि पावनैः ।
तथा दर्शनतो योग, आद्यावञ्चक उच्यते ॥ २९ ॥

सद्भिरुत्तमैः ,कल्याणसंपन्नैर्विशिष्टपुण्यवद्भिः , दर्शनादप्यवलोकनादपि, पावनैः पवित्रैः, तथा तेन प्रकारेण, गुणवत्तयेत्यर्थः । दर्शनतो योग सबन्ध , आद्यावञ्चकः सद्योगावञ्चकः, उच्यते इष्यते ॥ २९ ॥

तेषामेव प्रणामाऽऽदि-क्रियानियम इत्यलम् ।
क्रियाऽवञ्चकयोगः स्याद्, महापापक्षयोदयः ॥३०॥

तेषामेव सतामेव, प्रणामाऽऽदिक्रियानियम , इत्यलं, क्रियाऽवञ्चकयोग स्यात्, महापापक्षयस्य नीचैर्गोत्रकर्मक्षयस्य, उदय उत्पत्तिर्यस्मात् स तथा ॥ ३० ॥

फलावञ्चकयोगस्तु, सद्भ्य एव नियोगतः ।
सानुबन्धफलावाऽऽप्ति-र्धर्मसिद्धौ सतां मता ॥ ३१ ॥

फलावञ्चकयोगस्तु, सद्भ्य एवानन्तरोदितेभ्य , नियोगतोऽवश्यंभावेन सानुबन्धस्योत्तरोत्तरवृद्धिमत , फलस्यावाऽऽप्ति', तथा सदुपदेशाऽऽदिना धर्मसिद्धौ विषये सतां मता ॥ ३१ ॥

इत्थं योगविवेकस्य, विज्ञानात्क्षीणकल्मषः ।
यतमाना यथाशक्ति, परमाऽऽनन्दमश्नुते ॥३२॥

इत्थमिति स्पष्टम् ॥ ३२ ॥ द्वा० १६ द्वा० ।

अनन्तरोक्तो योगविवेक. स्वाभिमतयोगभेदे परोक्तयोगानामवतारे सति व्यवतिष्ठते, इत्यतोऽय निरूप्यते-

संप्रज्ञातोऽपरश्चेति, द्विधाऽन्यैरयमिष्यते ।
सम्यक् प्रज्ञायते येन, संप्रज्ञातः स उच्यते ॥ १ ॥

संप्रज्ञात , अपरोऽसंप्रज्ञातश्चेति, अन्यै पातञ्जलैः, अयं योगो, द्विधेष्यते, सम्यक्-संशयविपर्ययानध्यवसायरहितत्वेन, प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते, भाव्यस्य स्वरूप येन स संप्रज्ञात उच्यते ॥ १ ॥

वितर्केण विचारेणा-ऽऽनन्देनास्मितयाऽन्वितः ।
भाव्यस्य भावनाभेदात्, संप्रज्ञातश्चतुर्विधः ॥ २ ॥

वितर्केण विचारेण,आनन्देनास्मितयाऽन्वितः क्रमेण युक्त , भाव्यस्य, भावनाया' विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुन. पुनर्निवेशनलक्षणाया', भेदात्, संप्रज्ञातश्चतुर्विधो भवति । तदुक्तम्-" वितर्कविचाराऽऽनन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञात इति । " (१-१७) ॥ २ ॥

पूर्वापरानुसन्धानात्, शब्दोल्लेखाच्च भावना ।
महाभूतेन्द्रियार्थेषु, सविकल्पोऽन्यथाऽपरः ॥ ३ ॥

पूर्वापरयोरर्थयो.,अनुसन्धानात्,शब्दोल्लेखाच्छब्दार्थोपरागाच्च; यदा भावना प्रवर्त्तते महाभूतेन्द्रियलक्षणेष्वर्थेषु स्थूलविषयेषु, तदा सविकल्प -सवितर्क' समाधि'। अन्यथाऽस्मिन्नेवाऽऽलम्बने, पूर्वापरानुसन्धानशब्दार्थोल्लेखशून्यत्वेन भावनायामपरो निर्विकल्पः-निर्वितर्कः ॥ ३ ॥

तन्मात्रान्तःकरणयोः, सूक्ष्मयोर्भावना पुनः ।
दिक्कालधर्मावच्छेदात्, सविचारोऽन्यथाऽपरः ॥ ४ ॥

तन्मात्रान्तःकरणयोः सूक्ष्मयोर्भाव्ययो.,दिक्कालधर्मावच्छेदाद्-देशकालधर्मावच्छेदेन,भावना पुनः सविचार. समाधि'। अन्यथा तस्मिन्नेवाऽऽलम्बने, देशकालधर्मावच्छेद विना धर्मिमात्रावभासित्वेन भावनायाम्, अपरो निर्विचार समाधि ॥ ४ ॥

यदा रजस्तमोलेशा-नुविद्धं भाव्यते मनः ।
तदा भाव्यसुखोद्रेकात्, चिच्छक्तेर्गुणभावतः ॥ ५ ॥

यदा रजस्तमसोर्लेशेनानुविद्धं मनोऽन्त करणतत्त्व भाव्यते, तदा भाव्यस्य भावनाविषयस्य, सुखस्य सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य, उद्रेकादाधिक्यात्, चिच्छक्तेर्गुणभावतोऽनुद्रेकात् ॥५॥

साऽऽनन्दोऽत्रैव जायन्ते, विदेहा बद्धवृत्तयः ।
देहाहङ्कारविगमात्, प्रधानपुमदर्शिनः ॥ ६ ॥

साऽऽनन्द' समाधिर्भवत्युक्तहेतुन , अत्रैव समाधौ, बद्धवृत्तयो विदेहा भवन्ते, देहाहङ्कारविगमाद् बहिर्विषयाऽऽवेशनिवृत्ते , प्रधानपुमदर्शिनः प्रधानपुरुषतत्त्वाऽऽविर्भावकाः ॥ ६ ॥

सत्त्वं रजस्तमोलेशा-नाक्रान्तं यत्र भाव्यते ।
स सास्मितोऽत्र चिच्छक्ति-सत्त्वयोर्मुख्यगौणता ॥७॥

यत्र रजस्तमोलेशेनानाक्रान्त सत्त्व भाव्यते, स सास्मितः समाधि'। अत्र चिच्छक्तिसत्त्वयोर्मुख्यगौणता, भाव्यस्य शुद्धसत्त्वस्य, न्यग्भावाच्चिच्छक्तेरुद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वाच्चात्र सास्मितत्वोपपत्तिः । न चाहङ्कारास्मितयोरभेद शङ्कनीय , यतो यत्रान्त करणमहमित्युल्लेखेन विषय वेदयते सोऽहङ्कार , यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमेव भाति, साऽस्मितेति ॥ ७ ॥

अत्रैव कृततोषा ये, परमाऽऽत्मानवेक्षिणः ।
चित्ते गते ते प्रकृति-लया हि प्रकृतौ लयम् ॥ ८ ॥

अत्रैव सास्मितसमाधावेव, ये कृततोषाः परमाऽऽत्मानवेक्षिण परमपुरुषादर्शिन ,ते हि चित्ते प्रकृतौ लयं गते सति प्रकृतिलया उच्यन्ते ॥ ८ ॥

ग्रहीतृग्रहणग्राह्य-समापत्तित्रयं किल ।

अत्र सास्मितसाऽऽनन्द-निर्विचारान्तविश्रमम् ॥ ९ ॥

सास्मितसमाधिपर्यन्ते पर पुरुष ज्ञात्वा भावनायां विवेकख्यातौ ग्रहीतृसमापत्तिः, साऽऽनन्दसमाधिपर्यन्ते ग्रहणसमापत्तिः, निर्विचारसमाधिपर्यन्ते च ग्राह्यसमापत्तिर्विश्रान्तेत्येतदर्थः ॥९॥

मणेरिवाभिजातस्य, क्षीणवृत्तेरसंशयम् ।
तात्स्थ्यात्तदञ्जनत्वाच्च, समापत्तिः प्रकीर्तिता ॥ १० ॥

मणेरिव स्फटिकाऽऽदिरत्नस्येव, अभिजातस्य जात्यस्य, क्षीणवृत्तेः क्षीणमलस्य, असंशय निश्चित, तात्स्थ्यात्तत्रैकाग्रत्वात्, तदञ्जनत्वाच्च तन्मयत्वात्, न्यग्भूते चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्यैकत्वोत्कर्षात्, समापत्तिः प्रकीर्तिता । तदुक्तम्-"क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्ति ।"(१-४१) यथा हि निर्मलस्फटिकमणेस्तद्रूपाऽऽश्रयवशात्तद्रूपताऽऽपत्ति ,एव निर्मलचित्तसत्त्वस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तद्रूपताऽऽपत्तिः। यद्यपि ग्रहीतृग्रहणग्राह्येत्युक्त,तथाऽपि भूमिकाक्रमवशेन व्यत्ययो बोध्य । यतः-प्रथमं ग्राह्यनिष्ठः समाधिः,ततो ग्रहणनिष्ठ ,ततोऽस्मिनोपरागेण ग्रहीतृनिष्ठः, केवलस्य पुरुषस्य ग्रहीतुर्भाव्यत्वासम्भवादिति बोध्यम् ॥ १० ॥

संकीर्णा सा च शब्दार्थ-ज्ञानैरपि विकल्पतः ।
सवितर्का परैर्भेदै-र्भवतीत्थं चतुर्विधा ॥ ११ ॥

सा च समापत्तिः,शब्दार्थज्ञानैर्विकल्पतोऽपि संकीर्णा सवितर्का । यदाह-" तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सकीर्णा सवितर्का।" (१-४२)तत्र श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यः,स्फोटरूपो वा शब्दः,अर्थो जात्यादिः, ज्ञान सत्त्वप्रधाना बुद्धिवृत्तिः, विकल्पः-शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्योऽर्थः,एतैः सकीर्णा,-यत्रैते शब्दाऽऽदयः परस्पराध्यासेन प्रतिभासन्ते-गौरिति शब्दो,गौरित्यर्थो, गौरिति ज्ञानमित्याकारेण, इत्थ परैर्भेदैश्चतुर्विधैव भवति । तथाहि-" महास्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।" (१-४३) यदाह-'उक्तलक्षणविपरीता निर्वितर्केति'। यथा च स्थूलभूताऽऽदिविषया सवितर्का, तथा सूक्ष्मतन्मात्रेन्द्रियाऽऽदिकमर्थ शब्दार्थविकल्पसहितत्वेन,देशकालधर्मावच्छेदेन च गृह्णन्ती सविचारा भण्यते, धर्मिमात्रतया च त गृह्णन्ती निर्विचारेति । यत उक्तम्-"एतयैव सविचारा,निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।" (१-४४) " सूक्ष्मविषयत्व चालिङ्गपर्यवसानम् ।" (१-४५) न क्वचिल्लियते,न वा किञ्चिल्लिङ्गति गमयतीत्यलिङ्ग प्रधान,तत्पर्यन्तमित्यर्थः। गुणानां हि परिणामे चत्वारि पर्वाणि-विशिष्टलिङ्गम्, अविशिष्टलिङ्ग, लिङ्गमात्रम्,अलिङ्ग चेति। विशिष्टलिङ्ग भूतानि, अविशिष्टलिङ्ग तन्मात्रेन्द्रियाणि, लिङ्गमात्र बुद्धि , अलिङ्ग च प्रधानमिति । एताश्च समापत्तयः सप्रज्ञातरूपा एव । यदाह-" ता एव सबीजः समाधिरिति । " (१-४६) सह बीजेनाऽऽलम्बनेन वर्त्तत इति सबीज , सप्रज्ञात इत्यर्थः ॥ ११ ॥

इतरासां समापत्तीनां निर्विचारफलत्वान्निर्विचाराया: फलमाह—

अध्यात्मं निर्विचारत्व-वैशारद्ये प्रसीदति ।
ऋतम्भरा ततः प्रज्ञा, श्रुतानुमितितोऽधिका ॥ १२ ॥

निर्विचारत्वस्य चरमसमापत्तिलक्षणस्य, वैशारद्ये प्रकृष्टाभ्यासवशेन नैर्मल्ये,अध्यात्म बुद्धिसत्त्व, प्रसीदति क्लेशवासनारहितस्थितिप्रवाहयोग्य भवति । यदुक्तम्-" निर्विचारत्ववैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।" (१-४७) ततोऽध्यात्मप्रसादात्, ऋतम्भरा प्रज्ञा भवति। ऋतं सत्यमेव बिभर्ति, न कदाचिदपि विपर्ययेणाऽऽच्छाद्यते या सा ऋतम्भरा। तदुक्तम्-" ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।" (१-४८) सा च श्रुतानुमितित आगमानुमानाभ्यां सामान्यविषयाभ्यां विशेषविषयत्वेनाधिका । यदाह-" श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वादिति ।" (१-४९) ॥१२॥

तज्जन्मा तत्त्वसंस्कारः, संस्कारान्तरबाधकः ।
असंप्रज्ञातनामा स्यात् , समाधिस्तन्निरोधतः ॥ १३ ॥

तत ऋतम्भरप्रज्ञाया ,जन्मोत्पत्तिर्यस्य स तथा,तत्त्वसस्कारः परमार्थविषयः सस्कारः, संस्कारान्तरस्य स्वेतरस्य-व्युत्थानजस्य, समाधिजस्य वा संस्कारस्य बाधकस्तत्प्रतिष्ठकार्यकरणशक्तिमङ्गकृदिति यावत् । तदुक्तम्-" तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी । " (१—५०) तस्य निरोधतः सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयात् , सस्कारमात्रोदितवृत्तिलक्षणोऽसंप्रज्ञातनामा समाधिः स्यात् । तदुक्तम्-" तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधी निर्बीजः समाधिरिति ।" (१-५१) ॥ १३ ॥

विरामप्रत्ययाभ्यासाद्, नेति नेति निरन्तरात्।
ततः संस्कारशेषाच्च, कैवल्यमुपतिष्ठते ॥ १४ ॥

विरामो वितर्काऽऽदिचिन्तात्याग ,स एव प्रत्ययो विरामप्रत्यय , तस्याभ्यास पौन पुन्येन चेतसि निवेशन, तत , नेति नेति निरन्तरादन्तरराहितात् , सस्कारशेषादुत्पन्न', ततोऽसम्प्रज्ञातसमाधेः । यत उक्तम्-" विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः सस्कारशेषोऽन्य इति । " (१-१८) कैवल्यमात्मनः स्वप्रतिष्ठत्वलक्षणम्, उपतिष्ठत आविर्भवति ॥ १४ ॥

(१६) तदेवमुक्तौ पराभिमतौ सभेदौ सोत्पत्तिक्रमौ च सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञाताऽऽख्यौ योगभेदौ; अथानयोर्यथासम्भवमवतारमाह-

संप्रज्ञातोऽवतरति, ध्यानभेदेऽत्र तत्त्वतः ।
तात्त्विकी च समापत्ति-र्नाऽऽत्मनो भाव्यतां विना ॥१५॥

अत्र सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातयोर्योगभेदयोर्मध्ये, सम्प्रज्ञातस्तत्त्वतो ध्यानभेदेऽवतरति,स्थिराध्यवसानरूपत्वात्, अध्यात्माऽऽदिकमारभ्य ध्यानपर्यन्तं यथाप्रकर्षं सम्प्रज्ञातो विश्राम्यतीत्यर्थ । यदाह योगबिन्दुकृत-" समाधिरेष एवान्यै , सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते । सम्यक् प्रकर्षरूपेण, वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा " ॥४१८॥ इति । एष एवाध्यात्माऽऽदियोग तात्त्विकी निरुपचरिता च समापत्तिरात्मनो भाव्यता भावनाविषयता विना न घटते, शुद्धस्याभाव्यत्वे विशिष्टस्यापि तत्त्वायोगाद् विशेषणसम्बन्ध विना वैशिष्ट्यस्यापि दुर्वचत्वाच्चेति । तथा च ग्रहीतृसमापत्तिर्ग्राह्यमात्रमेवेति भाव. ॥ १५ ॥

परमाऽऽत्मसमापत्ति-र्जीवाऽऽत्मनि हि युज्यते।
अभेदेन तथा ध्याना-दन्तरङ्गस्वशक्तितः ॥ १६ ॥

जीवाऽऽत्मनि हि परमाऽऽत्मसमापत्ति ,तथापरिणामलक्षणा युज्यते,अभेदेन तथा परमात्मत्वेन ध्यानाद् जीवाऽऽत्मनोऽन्तरङ्गया उपादानभूताया स्वशक्तितस्तथापरिणमनात्तात्मशक्तेः शुक्लस्त एव व्यक्त्या परिणमनस्य तथा सामग्रीतः सम्भवादिति भाव. ॥ १६ ॥

(२०) जीवाऽऽत्मनि परमाऽऽत्मनः सत्त्वोपपत्त्यर्थमात्मत्रयं सन्निहितमुपदर्शयन्ति–

बाह्याऽऽत्मा चाऽन्तराऽऽत्मा च, परमाऽऽत्मेति च त्रयः।
कायाधिष्ठायकध्येयाः, प्रसिद्धा योगवाङ्मये ॥ १७ ॥

कायः स्वाऽऽत्मधिया प्रतीयमानः,–'अहं स्थूलोऽहं कृशः,' इत्याद्युल्लेखेनाधिष्ठायकः कायचेष्टाजनकप्रयत्नवान्, ध्येयश्च ध्यानभाव्यः, एते त्रयो–बाह्याऽऽत्मा च अन्तराऽऽत्मा च, परमाऽऽत्मा चेति योगवाङ्मये योगशास्त्रे प्रसिद्धाः। एतेषां च स्वेतरभेदप्रतियोगित्वध्यातृत्वध्येयत्वैर्ध्यानोपयोगस्तात्त्विकातात्त्विकैकत्वपरिणामतश्च सन्निधानमतात्त्विकपरिणामनिवृत्तौ तात्त्विकपरिणामोपलम्भश्च समापत्तिरिति ध्येयम् ॥ १७ ॥

अन्ये मिथ्यात्वसम्यक्त्व–केवलज्ञानभागिनः।
मिश्रे च क्षीणमोहे च, विश्रान्तास्ते त्वयोगिनि ॥ १८ ॥

अन्ये पुनराहुः–मिथ्यात्वसम्यक्त्वकेवलज्ञानभागिनो बाह्याऽऽत्मान्तराऽऽत्मपरमाऽऽत्मानः। ते तु–मिश्रे च क्षीणमोहे चायोगिनि च गुणस्थाने क्रमेण विश्रान्ताः तत्र च बाह्याऽऽत्मतादशायामन्तराऽऽत्मपरमाऽऽत्मनोः शक्तिः, तदेकद्रव्यत्वात्, अन्तराऽऽत्मदशाया च परमाऽऽत्मनः शक्तिः, बाह्याऽऽत्मनस्तु पूर्वनयेन योगः। परमाऽऽत्मतादशायां च बाह्याऽऽत्मान्तराऽऽत्मनोर्द्वयोरपि भूतपूर्वनयेनैव योग इति वदन्ति। तत्त्वमत्रत्यमध्यात्ममतपरीक्षाया व्यवस्थापितमस्माभिः ॥ १८ ॥

विषयस्य समापत्ति–रुत्पत्तिर्भावसंज्ञिनः।
आत्मनस्तु समापत्ति–र्भावो द्रव्यस्य तात्त्विकः ॥१९॥

विषयस्याऽऽत्मातिरिक्तस्य ग्राह्यस्य, समापत्तिर्भावसंज्ञिनो भावाभिधानस्योत्पत्तिरुच्यते। वदन्ति हि नयदक्षाः–'अग्न्युपयुक्तो माणवकोऽप्यग्निरेवेति'। शब्दार्थप्रत्ययानां तुल्याभिधानत्वात् न वस्त्वर्थज्ञानयोः कश्चनैकवृत्त्यारूढतया एकत्वपरिणामः संभवति, चेतनत्वाचेतनत्वयोर्विरोधादिति भावः। आत्मनस्तु समापत्तिर्द्रव्यस्य परमाऽऽत्मदलस्य, तात्त्विकः सहजशुद्धो भावः परिणामः ॥ १९ ॥

अत एव च योऽर्हन्तं, स्वद्रव्यगुणपर्ययैः।
वेदाऽऽत्मानं स एव स्वं, वेदेत्युक्तं महर्षिभिः ॥ २० ॥

यत एव दलतया परमाऽऽत्मैव जीवाऽऽत्मा, अत एव च, योऽर्हन्तं तीर्थकरं, स्वद्रव्यगुणपर्ययैर्निजशुद्धाऽऽत्मकेवलज्ञानस्वभावपरिणमनलक्षणैः, वेद जानाति, स एव स्वमात्मानं वेद तत्त्वतो जानाति, तथाज्ञानस्य तथाध्यानद्वारा तथासमापत्तिजनकत्वादिति महर्षिभिरुक्तम्। यतः पठ्यते–"जो जाणइ अरहंते, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं। सो जाणइ अप्पाणं, मोहो खलु जाइ तस्स लयं ॥१॥" न चैतद्गाथाकर्तुर्दिगम्बरत्वेन महर्षित्वाभिधानं न निश्चयामिति मूढधिया शङ्कनीयम्, सत्यार्थकथनगुणेन व्यासाऽऽदीनामपि हरिभद्राऽऽचार्यैस्तथाऽभिधानादिति द्रष्टव्यम् ॥ २० ॥

(२१) असंप्रज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंक्षयः।
सर्वतोऽस्मादकरण–नियमः पापगोचरः ॥ २१ ॥

असंप्रज्ञातनामा तु समाधिर्वृत्तिसंक्षयः संमतः, सयोग्ययोगिकेवलित्वकाले मनोविकल्पपरिस्पन्दरूपवृत्तिक्षयेण तदुपगमात्। तदुक्तम्–"असंप्रज्ञात एषोऽपि, समाधिर्गीयते परैः। निरुद्धाशेषवृत्त्यादि, तत्स्वरूपानुवेधतः ॥४२०॥" (यो० बिं०) इति। धर्ममेघ इत्यप्यस्यैव नाम। यावत्तत्त्वभावनेन फलमलिप्सोः सर्वथा विवेकख्यातौ धर्ममशुक्लकृष्णं मेहति सिञ्चतीति व्युत्पत्तेः। तदुक्तम्–"प्रसंख्याने कुशीदस्य सर्वथा विवेकख्यातौ धर्ममेघः समाधिरिति।" (४–२९) एवमन्येषामपि तत्तत्तन्त्रसिद्धानां शब्दानामर्थोऽत्र यथायोगं भावनीयः। तदाह–"धर्ममेघोऽमृताऽऽत्मा च, भवशत्रुः शिवोदयः। सत्त्वाऽऽनन्दः परश्चेति, योज्योऽत्रैवार्थयोगतः ॥४२१॥" (यो० बिं०) अस्माद् वृत्तिसंक्षयात् फलीभूतात्, सर्वतः सर्वैः प्रकारैः, पापगोचरः पापविषयः, अकरणनियमः, अनुमीयत इति शेषः। नरकगमनाऽऽदिवृत्तिनिर्वृत्तेर्महारम्भपरिग्रहाऽऽदिहेत्वकरणनियमेनैवोपपत्तेः ॥२१॥

ग्रन्थिभेदे यथाऽयं स्याद्, बन्धहेतुं परं प्रति।
नरकाऽऽदिगतिष्वेवं, ज्ञेयस्तद्धेतुगोचरः ॥ २२ ॥

यथाऽयमकरणनियमो, बन्धहेतुं मिथ्यात्वं परमुत्कृष्टं सप्ततिकोटिकोट्यादिस्थितिनिमित्तं, प्रत्याश्रित्य ग्रन्थिभेदे निरूप्यते। एवं नरकाऽऽदिगतिषु निवर्तनीयासु, तद्धेतुगोचरो नरकाऽऽदिहेतुविषयोऽकरणनियमो ज्ञेयः ॥ २२ ॥

दुःखात्यन्तविमुक्त्यादि, नान्यथा स्यात् श्रुतोदितम्।
हेतुः सिद्धश्च भावोऽस्मि–न्निति वृत्तिक्षयौचिती ॥ २३ ॥

अन्यथा तु दुःखात्यन्तविमुक्त्यादि, श्रुतोदितं सिद्धान्तप्रतिपादितं, न स्यात्। तदाह–"अन्यथाऽऽत्यन्तिको मृत्युर्भूयस्तत्राऽऽगतिस्तथा। न युज्यते हि सन्न्याया–दित्यादि समयोदितम् ॥" ॥४१६॥ (यो० बिं०) न च तत्त्वज्ञानेनैव दुःखात्यन्तविमुक्त्युपपत्तौ किमकरणनियमेनेति वाच्यम्?, तस्याऽऽत्यन्तिकमिथ्याज्ञाननाशद्वारा हेतुत्वोपगमे तद्धेत्वकरणनियमस्यावश्याऽऽश्रयणीयत्वादिति भावः। अस्मिंस्तत्तत्पापस्थानाकरणनियमे च, सिद्धः परापराधनिवृत्तिहेतुतत्त्वज्ञानानुगततया प्रतिष्ठितो भावोऽन्तःकरणपरिणामो हेतुः। तदुक्तम्–"हेतुमस्य परं भावं, सत्त्वाद्यागो निवर्तनम्। प्रधानं करुणारूपं, ब्रुवते सूक्ष्मदर्शिनः" ॥ ४१७ ॥ (यो० बिं०) इति एतमकरणनियमोपपत्तौ, वृत्तिक्षयौचिती वृत्तिक्षयस्य न्याय्यता, हेत्वकरणनियमेन फलानुत्पत्तिपर्यायोपपत्तेस्तत्प्रागभावापगमस्यापि योग्यताविगमाऽऽत्मकस्य हेत्वकरणनियमेनैव फलवत्त्वात्तद्विरहितस्य तस्य फलनियतत्वात्। तदुक्तम्–"मण्डूकभस्मन्यायेन, वृत्तिबीजं महामुनिः। योग्यताऽपगमाद्दग्ध्वा, ततः कल्याणमश्नुते" ॥ ४२२ ॥ (यो० बिं०) इति ॥ २३ ॥

(२२) ननु यद्येक एव योगस्तदा कथं भेदः?, भेदे च प्रकृते किं तदन्तर्भावप्रयासेन?, इत्यत आह–

योगे जिनोक्तेऽप्येकस्मिन्, दृष्टिभेदः प्रवर्तते।
क्षयोपशमवैचित्र्यात्, समेघाऽऽद्यद्दृष्टिवत् ॥ २४ ॥

जिनोक्ते सर्वज्ञप्रोक्ते, तत्त्वत एकस्मिन्नपि योगे क्षयोपशमवैचित्र्याद् दृष्टिभेदो दर्शनविशेषः प्रवर्तते समेघाऽऽदौ मेघसहितरात्र्यादौ, घोरदृष्टिवत्–सामान्यदर्शनमिव। यथा हि एकस्मिन्नपि दृश्ये समेघायां रात्रौ दृष्टिः किञ्चिन्मात्रग्राहिणी, अमेघायां तु मनागधिकतरग्राहिणी। एवं समेघाऽमेघयोर्दिवसयोरप्यस्ति विशेषः। तथा ससग्रहग्रहाविष्टानाविष्टयोस्तयाऽमर्भकयोरपि मुग्धान्यविवेकाभ्याम् इत्यादि...

दोषगुणाभ्यां ग्राहकयोरपि, तथा प्रकृतेऽपि योगदृष्टिभेद इति भावनीयम् । एतन्निबन्धनोऽयं दर्शनभेद इति योगाऽऽचार्योः न चाल्वय स्थिराऽऽदिदृष्टिमतां भिन्नग्रन्थीनां योगिनां यथाविषयं नयभेदावबोधात्प्रवृत्तिरप्यमीषां परार्थं शुद्धबोधभावेन विनिवृत्ताऽऽग्रहतया मैत्र्यादिपारतन्त्र्येण गम्भीरोदाराऽऽशयत्वाच्चारिचरकसञ्जीविन्यचरकचारणनीत्येत्याहुः ॥२४॥ द्वा० १० द्वा०।

योगस्य कारणानि विवक्षुर्योगस्य प्रथमोपायभूतां पूर्वसेवामाह-

पूर्वसेवा तु योगस्य, गुरुदेवाऽऽदिपूजनम् ।
सदाचारस्तपो मुक्त्य-द्वेषश्चेति प्रकीर्तिताः ॥१॥ द्वा० १२ द्वा०।

(यमाऽऽदीना योगाङ्गत्व योगबीजानि यमाऽऽदियोगाङ्गयुक्तानां मित्राद्या दृष्टयश्च 'जोगदिट्ठि' शब्दे वक्ष्यन्ते)

(२३) योगमार्गाधिकारिणस्तु-

योजनाद् योग इत्युक्तो, मोक्षेण मुनिसत्तमैः ।
स निवृत्ताधिकारायां, प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः ॥ १४ ॥

योजनाद् घटनाद्, मोक्षेण, इत्यस्माद्धेतोः, मुनिसत्तमैः ऋषिपुङ्गवैः, योग उक्तः, स निवृत्ताधिकारायां व्यावृत्तपुरुषाभिनवायां, प्रकृतौ सत्यां, लेशतः किञ्चिद्वृत्त्या, ध्रुवो निश्चितः ॥ १४ ॥

गोपेन्द्रवचनादस्मा-देवंलक्षणशालिनः ।
परैरस्येष्यते योगः, प्रतिश्रोतोऽनुगत्वतः ॥ १५ ॥

अस्माद् गोपेन्द्रवचनात्, एवंलक्षणशालिनः शान्तोदात्तत्वाऽऽदिगुणयुक्तस्यापुनर्बन्धकस्य, परैस्तीर्थान्तरीयैः, योग इष्यते-उच्यते, प्रतिश्रोतोऽनुगच्छति यः स प्रतिश्रोतोऽनुगः, तद्भावस्तत्त्वं, तत इन्द्रियकषायानुकूला । ह वृत्तिरनुश्रोतः, तत्प्रतिकूला तु प्रतिश्रोत इति । इत्थं हि प्रत्यहं शुभपरिणामवृद्धिः, सा च योगफलमित्यस्य योगौचित्यम् । तदाह-" वेलावलनवन्नद्याः-स्तदापूरोपसङ्गतेः । प्रतिश्रोतोऽनुगत्वेन, प्रत्यहं वृद्धिसंयुतः " ॥ २०२ ॥ (यो० बिं०) इति ॥ १५ ॥

तत्क्रियायोगहेतुत्वाद्, योग इत्युचितं वचः ।
मोक्षेऽतिदृढचित्तस्य, भिन्नग्रन्थेस्तु भावतः ॥१६॥

तद्वचः, क्रियायोगस्य सदाचारलक्षणस्य, हेतुत्वाद् योग इत्येवमुचितम्, अस्य द्रव्ययोगवत्त्वाद्, मोक्षे निर्वाणेऽतिदृढचित्तस्यैकधारालग्नहृदयस्य, भिन्नग्रन्थेर्विदारितातितीव्ररागद्वेषपरिणामस्य तु, भावतो योगः सम्भवति । सम्यग्दृष्टेर्हि मोक्षाऽऽकाङ्क्षाक्षणिकचित्तस्य, या या चेष्टा, सा सा मोक्षप्राप्तिपर्यवसानफलिकेति तस्यैव भावतोऽयम्, अपुनर्बन्धकस्य तु न सार्वदिकस्तथा परिणाम इति द्रव्यत एवेति । तदुक्तम्-"भिन्नग्रन्थेस्तु यत् प्रायो, मोक्षे चित्तं भवे तनुः । तस्य तत्सर्व एवेह, योगो योगो हि भावतः ॥२०३॥ (यो० बिं०) इति ॥१६॥

अन्यसक्तस्त्रियो भर्तृ-योगोऽप्यश्रेयसे यथा ।
तथाऽमुष्य कुटुम्बाऽऽदि-व्यापारोऽपि न बन्धकृत् ॥१७॥

अन्यस्मिन् स्वभर्तृव्यतिरिक्ते पुंसि, सक्ताया अनुपरतरिरंसाया, स्त्रियो योषित, भर्तृयोगोऽपि पतिशुश्रूषणाऽऽदिव्यापारोऽपि, यथाऽश्रेयसे पापकर्मबन्धाय, तथाऽमुष्य भिन्नग्रन्थेः, कुटुम्बाऽऽदिव्यापारोऽपि, न बन्धकृत्, पुण्ययोगेऽपि पापपरिणामेन पापस्येव बन्धवदशुभकुटुम्बचिन्तनाऽऽदियोगेऽपि शुद्धपरिणामेन सदनुबन्धस्यैवोपपत्तेः ।

तदुक्तम्-

" नार्या यथाऽन्यसक्ताया-स्तत्र भावे सदा स्थिते ।
तद्योगः पापबन्धश्च, तथा मोक्षेऽस्य दृश्यताम् ॥ २०४ ॥
न चेह ग्रन्थिभेदेन, पश्यतो भावमुत्तमम् ।
इतरेणाऽऽकुलस्यापि, तत्र चित्तं न जायते " ॥ २०५ ॥
(यो० बिं०) १७ ॥

निजाऽऽशयविशुद्धौ हि, बाह्यो हेतुरकारणम् ।
शुश्रूषाऽऽदिक्रियाऽप्यस्य,शुद्धश्रद्धाऽनुसारिणी ॥१८॥

निजाऽऽशयविशुद्धौ हि सत्यां, बाह्यो हेतुः कुटुम्बचिन्तनाऽऽदिव्यापारोऽकारणं, कर्मबन्धं प्रति भवहेतूनामेव परिणामविशेषेण मोक्षहेतुत्वेन परिणमनात्-"जे जत्तिया य हेऊ,भवस्स ते तत्तिआ य मुक्खस्स । " इति वचनप्रामाण्यात् । ननु किमेकेन शुभपरिणामेन?, क्रियाया अपि मोक्षकारणत्वात्, तदभावे तस्याकिञ्चित्करत्वात्; इत्यत आह-शुश्रूषाऽऽदिक्रियाऽप्यस्य सम्यग्दृशः, शुद्धश्रद्धाऽनुसारिणी जिनप्रवचनप्रामाण्यप्रतिपत्त्यनुगामिनी, परिशुद्धोहापोहयोगस्य हि प्रकृतेरप्रवृत्तिविरोधिप्रकृतियोगाभ्यां सम्यगनुष्ठानाबन्ध्यकारणतायैनैव तदाक्षिप्यत इति भावः ।

तदुक्तम्-

" चाह चैतद् यतो ह्यस्य, तथोहः संप्रवर्त्तते ।
एतद्वियोगविषयः, श्रद्धाऽनुष्ठानभाक् स यत् ॥२०६॥
प्रकृतेरा यतश्चैव, नाप्रवृत्त्यादिधर्मताम् ।
तथा विहाय घटते, ऊहोऽस्य विमलं मनः ॥२०७॥
सति चास्मिन् स्फुरद्रत्न-कल्पे सत्त्वोल्बणत्वतः ।
भावस्तैमित्यतः शुद्ध-मनुष्ठानं सदैव हि" ॥२०८॥ (यो० बिं०)

ननु सम्यग्दृष्टिपर्यन्तमन्यत्र द्रव्ययोग एवोच्यते इति कथमत्र भावतोऽयमुक्त इति चेत् ?, चारित्रप्रतिपन्थिनामनन्तानुबन्धिनामपगमे तद्गुणप्रादुर्भावनियम इति निश्चयाऽऽश्रयणादल्पभेदविवक्षापरेण व्यवहारेण त्वत्राय नेष्यत एव । "एतच्च योगहेतुत्वाद्,योग इत्युचितं वचः। मुख्याया पूर्वसेवाया-मतताद्योऽस्य केवलम् " ॥ २०९ ॥ (यो० बिं०) इत्यनेनापुनर्बन्धकातिशयाभिधान तु सम्यग्दृशो नैगमनयशुद्धिप्रकर्षकाष्ठापेक्षमिति न कश्चिद्विरोध इति विभावनीय सुधीभिः ॥ १८ ॥

एतन्निश्चयवृत्त्यैव, यद् योगः शास्त्रसंज्ञितः ।
त्रिधा शुद्धादनुष्ठानात्, सम्यक्प्रत्ययवृत्तितः ॥ १९ ॥

एतद् यदुक्तम्-भिन्नग्रन्थेरेव भावतो योग इति, निश्चयवृत्त्यैव परमार्थवृत्त्यैव, न तु कल्पनया, यद् यस्माद्, शास्त्रेणैव सही, तद्विना त्वसङ्क्षिप्तदृ काप्यर्थे प्रवर्त्तमानो यः, तस्य, त्रिधा वक्ष्यमाणैस्त्रिभिः प्रकारैः, शुद्धान्निरवद्याद्, अनुष्ठानाद्व्यापारात्, सम्यक्प्रत्ययेनाऽऽत्मगुरुलिङ्गशुद्ध्या स्वकृतिलाघवताऽऽप्रान्तविश्वासेन, वृत्तिः प्रवृत्तिः , तता भवतीति ॥ १९ ॥

शास्त्रमासन्नभव्यस्य, मानमामुष्मिके विधौ ।
सेव्यं यद्विचिकित्सायाः, समाधेः प्रतिकूलता ॥२०॥

आसन्नभव्यस्यादूरवर्त्तिमोक्षलाभस्य प्राणिन , आमुष्मिके विधौ पारलौकिके कर्मणि, शास्त्रं मानं, धर्माधर्मयोरतीन्द्रियत्वेन तदुपायत्वबोधने प्रमाणान्तरासामर्थ्याद् । अतः सेव्य सर्वत्र

प्रवृत्तौ पुरस्करणीय, न तु क्वचिदप्यंशेऽनादरणीयम । यद् य-स्माद्, विचिकित्साया -युक्त्या समुपपन्नेऽपि मतिव्यामोहोत्प-न्नचित्तविप्लुतिरूपाया.,समाधे चित्तस्वास्थ्यरूपस्य, ज्ञानदर्श-नचारित्राऽऽत्मकस्य वा, प्रतिकूलता विरोधिताऽस्ति । अर्थो हि त्रिविध -सुखाधिगमो, दुराधिगमोऽनधिगमश्चेति श्रोतार प्रति भिद्यते । आद्यो यथा-चक्षुष्मतश्चित्रकर्मनिपुणस्य रूपसि-द्धि ,द्वितीय. सैवानिपुणस्य, तृतीयस्त्वन्धस्येति । तत्र प्रथमचर-मयोर्नास्त्येव विचिकित्सा, निश्चयादसिद्धेश्च । द्वितीये तु देश-कालस्वभावविप्रकृष्टे धर्माधर्माऽऽदौ भवन्ती सा महानर्थका-रिणी । यदागम.-" वितिगिंछ समावन्नेण अप्पाणेण णो लह-ति समाहिं ।" अतश्चित्तशुद्ध्यर्थं शास्त्रमेवाऽऽदरणीयमिति भाव.। यत उक्तम्-" मलिनस्य यथाऽत्यन्त, जल वस्त्रस्य शो-धनम । अन्त करणरत्नस्य, तथा शास्त्र विदुर्बुधाः " ॥ २२८ ॥ (यो० विं०) ॥ २० ॥ द्वा० १४ द्वा० ।

(२४) आत्माऽऽदिप्रत्ययं विना न सिद्धिरित्युपक्रम्य-

सद्योगाऽऽरम्भकस्त्वेनं, शास्त्रसिद्धमपेक्षते ।
सदा भेदः परेभ्यो हि, तस्य जात्यमयूरवत् ॥ २९ ॥

सद्योगाऽऽरम्भकस्तु सानुबन्धयोगाऽऽरम्भक एव, एनमात्मा-ऽऽदिप्रत्यय, शास्त्रसिद्धमतीन्द्रियार्थसार्थसमर्थनसमर्थाऽऽगम-प्रतिष्ठितम्, अपेक्षतेऽवलम्बते । परेभ्यो हि असद्योगाऽऽरम्भके-भ्यो हि, तस्य सद्योगाऽऽरम्भकस्य, सदा भेदो वैलक्षण्य, जात्यम-यूरवत् सर्वोपाधिविशुद्धमयूरवत् । यथा हि-जात्यमयूरोऽजात्य-मयूरात् सदैव भिन्न , तथा सद्योगाऽऽरम्भकोऽप्यन्यस्मादिति भावना । तदुक्तम्-" न च सद्योगभव्यस्य, वृत्तिरेवं-विधाऽपि हि । न जात्वजात्यधर्मान् यज्जात्य. सन् भजते शिखी " ॥२४१॥ (यो० विं०) ॥ २६ ॥

यथा शक्तिस्तदण्डाऽऽदौ, विचित्रा तद्वदस्य हि ।
गर्भयोगेऽपि मातृणा, श्रूयतेऽत्युचिता क्रिया ॥ ३० ॥

यथा तदण्डाऽऽदौ जात्यमयूराण्डचञ्चुचरणाऽऽद्यवयवेषु, श-क्ति विचित्राऽजात्यमयूरावयवशक्तिविलक्षणा, तद्वदस्य हि स-द्योगाऽऽरम्भकस्याऽऽदित एवाऽऽरभ्येतरेभ्यो विलक्षणा श-क्तिरित्यर्थः । यत उक्तम्-"यश्चात्र शिखिदृष्टान्त , शास्त्रे प्रोक्तो महात्मभि. । स तदण्डरसाऽऽदीना, सच्छक्त्यादिप्रसाधन " ॥ २४५ ॥ इति (यो० विं०) अत एव सद्योगाऽऽरम्भकस्येति गम्यम् । मातृणा जननीना, गर्भयोगेऽपि किं पुनरुत्तरकाल ?, इ-त्यपिशब्दार्थ । श्रूयते निशम्यते, शास्त्रेषु अत्युचिता लोकाना-मतिश्लाघनीया, क्रिया प्रशस्तमाहात्म्यलाभलक्षणा । यत एव पठ्यते-"जणणी सव्वत्थ वि णि-च्छएसु सुमइ त्ति तेण सुमइ जिणो।" (४२ गाथा) तथा-"गब्भगए ज जणणी, जाय सुध-म्म त्ति तेण धम्मजिणो।" (४७ गाथा) तथा-"जाया जणणी ज सु-व्वय त्ति मुणिसुव्वओ तम्हा।" (५० गाथा) (आव० २ अ०) इत्यादि । इह गर्भावस्थायामुक्तम । उत्तरकालेऽप्यत्युचितैव तेषां क्रिया । यत उक्तम्-" औचित्याऽऽरम्भिणोऽक्षुद्रा , प्रे-क्षावन्तः शुभाऽऽशया । अवन्ध्यचेष्टा कालज्ञा , योगधर्माधि-कारिण " ॥ २४४ ॥ (यो० विं०) इति । तदेवं सिद्ध' सद्यो-गाऽऽरम्भक इतरेभ्यो विलक्षण , स चाऽऽत्माऽऽदिप्रत्ययम-पेक्षत एवेति ॥ ३० ॥ द्वा० १४ द्वा० ।

(२५) योगस्य फल कर्मक्षय., तथा च कर्माण्यधिकृत्य-

क्लेशाः पापानि कर्माणि, बहुभेदानि नो मते ।
योगादेव क्षयस्तेषां, न भोगादनवस्थितेः ॥ ३१ ॥
ततो निरुपमं स्थान-मनन्तमुपतिष्ठते ।
भवप्रपञ्चरहितं, परमाऽऽनन्दमेदुरम् ॥ ३२ ॥

नोऽस्माकं, मते, पापान्यशुभविपाकानि, बहुभेदानि विचित्राणि, कर्माणि ज्ञानाऽऽवरणीयानि, क्लेशा उच्यन्ते । अत. कर्मक्षय एव क्लेशहानिरिति भाव. । ननु-" नाभुक्त क्षीयते कर्म, कल्पको-टिशतैरपि । अवश्यमेव भोक्तव्य, कृत कर्म शुभाशुभम ॥१॥ " इति वचनाद्भोगादेव कर्मणां क्षये तस्याप्यपुरुषार्थत्वमनिवारि-तमेवेत्यत आह-योगादेव ज्ञानक्रियासमुच्चयलक्षणात् क्षय , ते-षां नानाभवार्जितानां प्रचितानां, न भोगादनवस्थितेर्भोगजनि-तकर्मान्तरस्यापि भोगनाश्यत्वादनवस्थानात् । ननु निरभिष्वङ्ग-भोगस्य न कर्मान्तरजनकत्वं, प्रचितानामपि च तेषां क्षयो योगजादृष्टाधीनकायव्यूहबलादुत्पत्स्यत इति चेत् । न । प्राय-श्चित्ताऽऽदिनाऽपि कर्मनाशोपपत्ते. कर्मणां भोगैकनाश्यत्वस्या-पि व्यवस्थितौ योगेनापि तन्नाशसम्भवे कायव्यूहाऽऽदिकल्पने प्रमाणाभावात् । कर्मणां ज्ञानयोगनाश्यतायाः-"ज्ञानाग्नि. सर्व-कर्माणि, भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।" इति भवदागमेनापि सिद्धत्वा-त् । नराऽऽदिशरीरसत्त्वे शूकराऽऽदिशरीरानुपपत्ते. कायव्यूहा-नुपपत्तेर्मनोऽन्तरप्रवेशाऽऽदिकल्पने गौरवाच्च । ये त्वाहु पातञ्ज-ला -अग्ने. स्फुलिङ्गानामिव कायव्यूहदशायामेकस्मादेव चि-त्तात्प्रयोजकाद्नानाचित्तानां परिणामोऽस्मितामात्रादिति । तदु-क्तम "निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।" (४-४) "प्रवृत्तिभेदे प्रयोजक चित्तमेकमनेकेषामिति । " (४-५) तेषामप्यनन्त-कालप्रचितानां कर्मणां नानाशरीरोपभोगनाश्यत्वकल्पन मोह एव । तावद्दृष्टानां युगपद् वृत्तिलाभस्याप्यनुपपत्तेरिति निरुप-क्रमकर्मणामेव भोगैकनाश्यत्वमाश्रयणीयमिति सर्वमवदातम । ॥ ३१ ॥ तत इति व्यक्तम ॥ ३२ ॥ द्वा० २५ द्वा० ।

(२६) योगस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यौपयिक माहात्म्यमुपदर्शयन्नाह-

शास्त्रस्योपनिषद् योगो, योगो मोक्षस्य वर्तिनी ।
अपायशमनो योगो, योगः कल्याणकारणम् ॥ १ ॥
संसारवृद्धिर्धनिनां, पुत्रदाराऽऽदिना यथा ।
शास्त्रेणापि तथा योगं, विना हन्त ! विपश्चिताम् ॥२॥
इहापि लब्धयश्चित्राः, परत्र च महोदयः ।
पराऽऽत्माऽऽयत्तता चैव, योगकल्पतरोः फलम् ॥ ३ ॥
योगसिद्धेः श्रुतज्ञस्य, बहुधा दर्शितं फलम् ।
दर्श्यते लेशतश्चैतद्, यदन्यैरपि दर्शितम् ॥ ४ ॥

इय चतुश्लोकी सुगमा । द्वा० २६ द्वा० ।

प्रायश्चित्तं पुनर्योगः, प्राग्जन्मकृतपाप्मनाम् ।
अब्धीनां निश्चयादन्तः-कोटाकोटिस्थितेः किल ॥ २३ ॥

प्राग्जन्मकृतपाप्मना पुन. प्रायश्चित्त योग ,तन्नाशकत्वात्तस्य । तथा किलेति सत्ये, अब्धीना सागरोपमाणाम्, अन्त.कोटाको-टिस्थितेर्निश्चयादपूर्वकरणाऽऽरम्भेऽपि तावत्स्थितिककर्मस-द्भावाऽऽवश्यकत्वस्य महाभाष्याऽऽदिप्रसिद्धत्वात्, तस्य च धर्मसन्यासैकनाश्यत्वादिति ॥ २३ ॥

निकाचितानामपि यः, कर्मणां तपसा क्षयः ।
सोऽभिप्रेत्योत्तमं योग-मपूर्वकरणोदयम् ॥ २४ ॥

निकाचितानामपि उपशमनाऽऽदिकरणान्तरयोग्यत्वेन व्यवस्थापितानामपि, कर्मणां यस्तपसा क्षयो, भणित इति शेषः । "तवसा उ निकाइआण वि," इति वचनात् । सोऽपूर्वकरणोदयम्, उत्तमं योगं धर्मसन्न्यासलक्षणमभिप्रेत्य, न तु यत्किञ्चित्तप इति द्रष्टव्यम् । तत्त्वमत्रत्यमध्यात्मपरीक्षाऽऽदौ विपश्चितम् ॥ २४ ॥

अपि क्रूराणि कर्माणि, क्षणाद् योगः क्षिणोति हि ।
ज्वलनो ज्वालयत्येव, कुटिलानपि पादपान् ॥ २५ ॥
दृढप्रहारिशरणं, चिलातीपुत्ररक्षकः ।
अपि पापकृतां योगः, पक्षपातान्न शङ्कते ॥ २६ ॥
अहर्निशमपि ध्यातं, योग इत्यक्षरद्वयम् ।
अप्रवेशाय पापानां, ध्रुवं वज्रार्गलायते ॥ २७ ॥
आजीविकाऽऽदिनाऽर्थेन, योगस्य च विडम्बना ।
पवनाभिमुखस्थस्य, ज्वलनज्वालनोपमा ॥ २८ ॥
योगस्पृहाऽपि संसार-तापव्ययतपात्ययः ।
महोदयसरस्तीर-समीरलहरीलवः ॥ २९ ॥
योगानुग्राहको योऽन्यैः, परमेश्वर इष्यते ।
अचिन्त्यपुण्यप्राग्भार-योगानुग्राह्य एव सः ॥ ३० ॥
भरतो भरतक्षोणी, भुञ्जानोऽपि महामतिः ।
तत्कालं योगमाहात्म्याद्, बुभुजे केवलश्रियम् ॥ ३१ ॥
पूर्वमप्राप्तधर्माऽपि परमाऽऽनन्दनन्दिता ।
योगप्रभावतः प्राप, मरुदेवा परं पदम् ॥ ३२ ॥

अष्टश्लोकी सुगमा । द्वा० २६ द्वा० ।

योगमाहात्म्यमेवाऽऽह-

योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो, योगश्चिन्तामणिः परः ।
योगः प्रधानं धर्माणां, योगः सिद्धेः स्वयं ग्रहः ॥ ३७ ॥

योग उक्तो निरुक्तः, कल्पतरुः कल्पद्रुमः, श्रेष्ठोऽन्यकल्पद्रुमेभ्योऽतिशायी । तथा योगश्चिन्तामणिश्चिन्तारत्नं, परः प्रकृष्टः, योगः प्रधानं वस्तु, धर्माणां शेषधर्मस्थानानाम् । तथा योगः सिद्धेर्निवृत्तिलक्षणायाः, स्वयंग्रहहेतुत्वात्स्वयंग्रहः । यदत्र पुनःपुनर्योगशब्दोपादानं तदस्यात्यन्तमादरणीयताख्यापनार्थमिति ॥ ३७ ॥

तथा च जन्मबीजाग्नि-र्जरसोऽपि जरा परः ।
दुःखानां राजयक्ष्माऽयं, मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः ॥ ३८ ॥

तथा चेति समुच्चये, जन्मबीजाग्निः पुनःपुनर्जन्मकारणकर्मशक्तिदाहकारी, तथा जरसोऽपि जराया अपि, जरा, वयोहानिकारणत्वात्, परा प्रकृष्टा । तथा दुःखानां शारीरमानसाऽऽबाधारूपाणां, राजयक्ष्मा राजमान्द्यमिव, अयं योगः, तथा मृत्योरन्तकस्य मृत्युरुदाहृतः शास्त्रकारैर्निरूपितः ॥ ३८ ॥

किञ्च-

कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि, मन्मथास्त्राणि सर्वथा ।
योगवर्माऽऽवृते चित्ते, तपश्छिद्रकराण्यपि ॥ ३९ ॥

कुण्ठीभवन्ति मन्दानि जायन्ते, तीक्ष्णानि निशितानि, मन्मथास्त्राणि कामशस्त्राणि-शब्दाऽऽदिविषयरूपाणि, सर्वथा सर्वप्रकारैः । क ?, इत्याह-योगवर्माऽऽवृते योगसंनाहवति, चित्ते मनसि । कीदृशानि ? इत्याह-तपश्छिद्रकराण्यपि मासक्षपणाऽऽदिनपोभ्रंशकारीण्यपि, तथाविधयोगविकलानां तपस्विनामिति ॥ ३९ ॥

अक्षरद्वयमप्येतत्, श्रूयमाणं विधानतः ।
गीतं पापक्षयायोच्चै-र्योगसिद्धैर्महात्मभिः ॥४०॥

अक्षरद्वयमपि, किं पुनः पञ्चनमस्काराऽऽदीन्यनेकान्यक्षराणीत्यपिशब्दार्थः ?। एतद् योग इति शब्दलक्षणं, श्रूयमाणमाकर्ण्यमानं, तथाविधार्थानवबोधेऽपि विधानतो विधानेन, श्रद्धासंवेगाऽऽदिशुद्धभावोल्लासकरकुड्मलयोजनाऽऽदिलक्षणेन, गीतमुक्तं, पापक्षयाय मिथ्यात्वमोहाऽऽद्यकुशलकर्मनिर्मूलनाय उच्चैरत्यर्थम् । कैर्गीतम् ?, इत्याह-योगसिद्धैर्योग सिद्धो निष्पन्नो येषा ते तथा, तैर्जिनगणधराऽऽदिभिः, महात्मभिः प्रशस्तस्वभावैरिति ॥४०॥

तथा-

मलिनस्य यथा हेम्नो, वह्नेः शुद्धिर्नियोगतः ।
योगाग्नेश्चेतसस्तद्व-दविद्यामलिनाऽऽत्मनः ॥ ४१ ॥

मलिनस्य ताम्राऽऽदिमलबहुलस्य, यथेति दृष्टान्तार्थः । हेम्नः सुवर्णस्य, वह्नेर्वैश्वानरात्, शुद्धिर्निर्मलता, नियोगतो नियमेन, शुद्धकारणानां स्वकार्याव्यभिचारात् । योगाग्नेर्योगवह्नेः, चेतसो मनसः, शुद्धिः, तद्वदेवमवत् । कीदृशो मनसः ?, इत्याह-अविद्यामलिनाऽऽत्मनः असद्भूतवस्तुविषयभ्रान्तिवशाशुद्धीकृतस्वरूपस्येति ॥ ४१ ॥

तथा-

अमुत्र संशयाऽऽपन्न-चेतसोऽपि ह्यतो ध्रुवम् ।
सत्स्वप्नप्रत्ययाऽऽदिभ्यः, संशयो विनिवर्तते ॥ ४२ ॥

अमुत्र परलोकविषये, संशयाऽऽपन्नचेतसो भवान्तरं समस्ति, न वेति भ्रान्तमनसः, किं पुनरन्यस्येत्यपि हीतिशब्दार्थः । अतो योगाद्, ध्रुवमसंशयं, सत्स्वप्नप्रत्ययाऽऽदिभ्यः सत्स्वप्नाभिरूयमाणावस्थायां स्वर्गाऽऽदिजन्मान्तरदर्शनलक्षणाऽऽत्प्रत्ययः प्रतीतिर्भवान्तरस्य, आदिशब्दाभिजोहापोहतथाविधाऽऽगमाभ्यासजन्यप्रत्ययग्रहः, तेभ्यः सकाशात्, संशयः संदेहो, विनिवर्तते उपरमति ॥ ४२ ॥

शुद्धसमाचारा हि साधवः सत्स्वप्नलाभेन निजोहापोहयोगेन, सदागमाभ्यासेन च, प्राक् संशयितमनसोऽपि व्यावर्तितविपर्यासहेतुमिथ्यात्वाऽऽदिमोहोदया अपवरकगृहान्तर्वर्तितप्रदीपप्रज्ञोदाहरणेन भवान्तरं निर्णयन्त्येवेति । न च वक्तव्यं स्वप्नोऽपि कथं लभ्यते इति ? ।

यतः-

अल्पक्लेशान्नियोगेन, बाह्ययोगवतोऽपि हि ।
शुक्लस्वप्ना भवन्तीष्ट-देवतादर्शनाऽऽदयः ॥ ४३ ॥

अल्पक्लेशाद् बहुमानात्क्षाद्, नियोगेन नियमेन, बाह्ययोगवतोऽपि हि तथाविधोपयोगशून्यतया भावयोगानुरूपक्रियामात्रयुक्तस्य, किं पुनरबाह्ययोगवत इत्यपि हीतिशब्दार्थः । किम् ?, इत्याह-शुक्लस्वप्ना अमलीमसाः स्वप्नाः, भवन्ति जायन्ते, इष्टदेवतादर्शनाऽऽदयः -दिवसाऽऽराध्याऽऽराधनजिनगुरुधार्मिकदर्शनाऽऽदिलक्षणाः ॥ ४३ ॥

तथा-

देवान् गुरून् द्विजान् साधून्, सत्कर्मस्था हि योगिनः ।
प्रायः स्वप्ने प्रपश्यन्ति, हृष्टान् सञ्चोदनापरान् ॥ ४४ ॥

देवान्-आराध्यतमान् जिनाऽऽदीन्,गुरून् धर्माऽऽचार्याऽऽदीन्,मातापित्रादीन् वा;द्विजान् ब्रह्मदीक्षानामकद्वितीयजन्मनो मुनीन्, साधून् शेषशिष्टलोकान्,सत्कर्मस्थाः स्वसिद्धान्ताविरुद्धक्रियाश्रिताः;हिः प्राग्वत्,योगिनो योगाभ्यासपराः प्राणिनः, किम्?,इत्याह-प्रायो बाहुल्येन, स्वप्ने प्रतीतरूपे एव, प्रपश्यन्ति प्रेक्षन्ते, हृष्टान् हर्षवतः, तथा सञ्चोदनापरान् शुभार्थविषयप्रेरणपरायणान् ॥४४॥

न चासौ भ्रान्तेति भावयन्नाह—

नोदनाऽपि च सा यत्रो, यथार्थैवोपजायते ।
तथाकालाऽऽदिभेदेन, हन्त ! नोपप्लवस्ततः ॥ ४५ ॥

नोदनाऽपि च न केवलं देवतादर्शनाऽऽदि,सा देवाऽऽदिकृता,यतो यस्मात्कारणात्,यथार्थैव सुचितप्रयोजनफलैवोपजायते । कथम्?,इत्याह-तथाकालाऽऽदिभेदेन तत्प्रकारकालक्षेत्रभावविशेषेण,हन्त ! इति प्राग्वत् । न नैव,उपप्लवः-वाताऽऽदिधातुविकारजनितश्चित्तसङ्क्षोभो वर्तते प्रेरणा; ततो यथार्थत्वाद् हेतोः, न हि यथार्थफलभाजः प्रतिभासा अविसंवादिरूपत्वाल्लोके उपप्लवरूपता लभन्ते, किं तु सत्यरूपतामेवेति ॥ ४५ ॥

तथा—

स्वप्नमन्त्रप्रयोगाच्च, सत्यः स्वप्नोऽभिजायते ।
विद्वज्जनेऽविगानेन, सुप्रसिद्धमिदं तथा ॥ ४६ ॥

स्वप्नमन्त्रप्रयोगाच्च-स्वप्नलाभफलो मन्त्रविशेषः, तत्प्रयोगात्, चकाराद्गुरुप्रयोगाच्च, सत्यः स्वप्नो यथार्थः स्वप्नः, अभिजायते आविर्भवति,एतदेव रूढीकुर्वन्नाह-विद्वज्जने मतिमल्लोके,अविगानेनाविप्रतिपत्त्या, सुप्रसिद्धमतीव ख्यातिमागतम्, इदं स्वप्नमन्त्रप्रयोगात्सत्यः स्वप्नो जायत इत्येतत्,तथा तेन प्रकारेण ॥ ४६ ॥

नैवंभूतहेतुकोऽयं व्यवहार इति दर्शयति-

न ह्येतद्भूतमात्रत्व-निमित्तं संगतं वचः ।
अयोगिनः समध्यक्षं, यत्नैवंविधगोचरम् ॥ ४७ ॥

न हि नैव,एतदुक्तरूपं देवतादर्शनाऽऽदि,भूतमात्रत्वनिमित्तं भूतमात्रत्वं केवलभूतभाव एव, निमित्तं हेतुर्यस्य तत्तथा, इत्येवं परेण प्रवर्तमानं, सङ्गतं घटमानकं,वचो वचनम्, एतत्स्वप्नदर्शनाऽऽदि,यत्कैश्चिद् भूतमात्रमित्युच्यते, तदसङ्गतं वच इत्यर्थः । कुतः?,इत्याह-अयोगिनोऽर्वाग्दर्शिनः प्रमातुः,समध्यक्षं प्रत्यक्षं चाक्षुषाऽऽदि,यत् यस्माद्,नैव,एवंविधगोचरम्-एवंविधः स्वप्नदर्शनाऽऽदिरतीन्द्रियोऽर्थो भूतमात्रानिमित्तो,न तु देवताऽनुग्रहमन्त्रप्रयोगाऽऽदिनिमित्तक इत्यादिकोऽर्थो गोचरो विषयो यस्य तत्तथा । इदमुक्तं भवति-अर्वाग्दृशः पृथिव्यादिरूपभूतमात्रपरिहारेणातीन्द्रिये देवताऽऽद्यर्थे विधिप्रतिषेधयोः प्रत्यक्षमक्षममेव, तस्य तदविषयत्वादिति ॥ ४७ ॥

एतदेव भावयति-

प्रलापमात्रं च वचो, यदप्रत्यक्षपूर्वकम् ।
यथेहाप्सरसः स्वर्गे, मोक्षे चाऽऽनन्द उत्तमः ॥ ४८ ॥

प्रलापमात्रमनर्थकमेव,च: समुच्चये; वचो वचनम् । कीदृशम्?,इत्याह-यदप्रत्यक्षपूर्वकं प्रत्यक्षेणानुपलभ्य यद्भाषितम् । दृष्टान्तमाह-यथा इह मर्त्यलोके,कश्चिद् वाक् प्रसर्पकवादी मीमांसकाऽऽदिः,अप्सरसो मेनकारम्भाऽऽद्याः स्वर्गे सन्ति,मोक्षे च मुक्तौ पुनरानन्द आह्लादः, उत्तमः सर्वातिशायी;साक्षाददृष्टे हि स्वर्गे अप्सरःप्रमुखे ब्रुवाणो मीमांसकाऽऽदिः प्रलापमात्रकार्येव स्यात्; एवं नास्तिकोऽप्यतीन्द्रियं देवताऽऽदिकं निह्नुवान इति । अथैवमनवकाशीकृतः कदाचित्परलोकसंशयवादी, मीमांसको वा ब्रूयात् ? ॥४८॥

यथा—

योगिनो यत्समध्यक्षं, ततश्चेदुक्तनिश्चयः ।
आत्माऽऽदेरपि युक्तोऽयं, तत एवेति चिन्त्यताम् ॥४९॥

योगिनो दिव्यदृशः प्रमातुः,यत्समध्यक्षं प्रत्यक्षज्ञानं,ततस्तत्समध्यक्षाद्,चेद् यदि,उक्तनिश्चयः-अप्सरसः स्वर्गे,मोक्षे चाऽऽनन्द इति प्रागुक्तार्थनिर्णयो जायते, एवं तर्हि आत्माऽऽदेरप्यतीन्द्रियार्थस्य । किं पुनः प्रस्तुतस्य ?, इत्यपिशब्दार्थः । युक्तो घटमानोऽयं निश्चयः, तत एव योगिसमध्यक्षादेव, इत्येतच्चिन्त्यतां विमृश्यतामिति ॥४९॥

एतदेव भावयति—

अयोगिनो हि प्रत्यक्ष-गोचरातीतमप्यलम् ।
विजानात्येतदेवं च, बाधाऽत्रापि न विद्यते ॥ ५० ॥

अयोगिनोऽर्वाग्दृशः प्रमातुः,हिर्यस्मात् प्रत्यक्षगोचरातीतमपि ऐन्द्रियकाध्यक्षविषयभावातिक्रान्तमपि आत्माऽऽदि वस्तु, किं पुनरितररूपम्?,इत्यपिशब्दार्थः । अलमत्यर्थम्,हस्ततलन्यस्तनिस्तलस्थूलमुक्ताफलावलोकनोदाहरणेन,विजानाति प्रेक्षते । एतद्योगिसमध्यक्षं, दिव्यदर्शनत्वात्तस्य । यदि नामैव ततः किं सिद्धम्?,इत्याह-एवं च अस्मिंश्च प्रकारे सति,बाधा अघटनालक्षणा, अत्रापि आत्माऽऽदिविनिश्चये, न केवलमप्सरःप्रभृतावर्थे,इत्यपिशब्दार्थः । न विद्यते नास्ति ॥५०॥

(२७) इत्थमागमगम्यत्वमभिधायाधुनाऽनुमानविषयत्वमाह-

आत्माऽऽद्यतीन्द्रियं वस्तु, योगिप्रत्यक्षभावतः ।
परोक्षमपि चान्येषां, न हि युक्त्या न युज्यते ॥ ५१ ॥

आत्माऽऽदि आत्मकर्मसर्वज्ञाऽऽदि,अतीन्द्रियमिन्द्रियाविषयभावातीतं वस्तु,न हि न, युज्यते इत्युत्तरेण योगः । कीदृशम् ?,इत्याह-योगिप्रत्यक्षभावतः सर्वज्ञज्ञानविषयभावेन, परोक्षमपि च इन्द्रियज्ञानागोचरमपि,किं पुनरपरोक्षम्?,इत्यपिचशब्दार्थः । अन्येषामस्मादृशाम् अर्वाग्दृशां, न हि नैव, युक्त्या शुद्धहेतुप्रयोगरूपया, न युज्यते, किं तु युज्यत एव ।

तत्र युक्तिः-

" अचेतनानि भूतानि, न तद्धर्मो न तत्फलम् ।
चेतनाऽस्ति च यस्येह, स एवाऽऽत्मेति बुध्यताम् ॥ १ ॥
यदीय भूतधर्मः स्यात्, प्रत्येकं तेषु सर्वदा ।
उपलभ्येत सत्त्वाऽऽदि, कठिनत्वाऽऽदयो यथा ॥ २ ॥
काठिन्यादिस्वभावानि, भूतान्यध्यक्षसिद्धितः ।
चेतना तु न तद्रूपा, सा कथं तत्फलं भवेत्? ॥३॥" इत्यादि ।

" तुल्यप्रतापोद्यमसाहसानां,
केचिल्लभन्ते निजकार्यसिद्धिम् ।
परे न तामत्र निगद्यतां मे
कर्मास्ति हित्वा यदि कोऽपि हेतुः ॥ १ ॥
विचित्रदेहाऽऽकृतिवर्णगन्ध-

प्रभावजातिप्रभवस्वभावाः ।
केन क्रियन्ते भुवनेङ्गिवर्गा-
श्चिरन्तन कर्म निरस्य चित्राः ? ॥ २ ॥
विवर्ध्य मासान्नवगर्भमध्ये,
बहुप्रकारैः कललाऽऽदिभावैः ।
बहुत्यं निष्काशयते सविज्या.,
को गर्भेन. कर्म विहाय पूर्वम् ? " ॥ ३ ॥ इत्यादि ।
"वीतरागोऽस्ति, सर्वज्ञ प्रमाणाबाधितत्वतः ।
सर्वदा विदितः सद्भिः, सुखाऽऽदिकमिव ध्रुवम् ॥ १ ॥
क्षीयते सर्वथा राग., क्वापि कारणहानितः ।
ज्वलनो हीयते किं न, काष्ठाऽऽदीनां वियोगतः ॥ २ ॥
प्रकर्षस्य प्रतिष्ठान, ज्ञान क्वापि प्रपद्यते ।
परिमाणमिवाऽऽकाशे, तारतम्योपलब्धितः" ॥३॥ इत्यादि ।

अत्रैवाभ्युच्चयमाह—

किं चान्यद् योगतः स्थैर्य, धैर्यं श्रद्धा च जायते।
मैत्री जनप्रियत्वं च, प्रातिभं तत्त्वभासनम् ॥ ५२ ॥

किं च इत्यभ्युच्चये, अन्यत्प्रागुक्ताद्भिलक्षणं योगफलमस्ति । तदेव दर्शयति-योगतो योगात्, स्थैर्यं स्थिरभावः प्रतिपन्ननिर्वाहणो, धैर्यं व्यसनाशनिसन्निपातेऽपि अविचलितप्रकृतिभावः, श्रद्धा च रुचिस्तत्त्वमार्गानुगा, जायते आविर्भवति, मैत्री सर्वसत्त्वेषु मित्रभावः, जनप्रियत्वं च शिष्टलोकवल्लभभावः, प्रातिभ सहजप्रतिभाप्रभव, तत्त्वभासन जीवादितत्त्वावलोकन भवतीति ॥ ५२ ॥

तथा—

विनिवृत्ताऽऽग्रहत्वं च, तथा द्वन्द्वसहिष्णुता ।
तदभावश्च लाभश्च, बाह्यानां कालसङ्गतः ॥ ५३ ॥

विनिवृत्ताऽऽग्रहत्व च निर्मुक्तानुचितार्थाभिनिवेशित्वं च, तथा द्वन्द्वसहिष्णुता निरुपक्रमक्लिष्टकर्मोदयाऽऽपादितानामिष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगाऽऽदीना व्यसनानां सम्यक् सहनभाव. । तदभावश्च द्वन्द्वविनाशश्च प्राय. परिशुद्धयोगोपहतशक्तिकत्वाद् द्वन्द्वसपादकोपायानाम्, लाभश्च प्राप्तिश्च बाह्याना निर्वाहाऽऽदीना समाधिहेतूना, कालसङ्गतो यो यत्र काले योग्य इति ।५३।

तथा-

धृतिः क्षमा सदाचारो, योगवृद्धिः शुभोदया ।
आदेयता गुरुत्वं च, शमसौख्यमनुत्तरम् ॥ ५४ ॥

धृतिर्येन केनचिद् व्यसनभोजनाऽऽदिना निर्वाहमात्रनिमित्तेन सन्तोषः। क्षमा सत्येतरदोषश्रवणेन कार्यतत्त्वमविचार्यान्तर्बहिश्च कोपोदयाद् विक्रियामापाद्यमानस्याऽऽत्मनो निरोधनम्। सदाचार. सर्वोपकारप्रियवचनाकृत्रिमोचितस्नेहाऽऽदिका सज्जनचेष्टा। योगवृद्धि सम्यग्दर्शनाऽऽदिमुक्तिबीजोत्कर्षरूपा । शुभोदया प्रशस्तफलोक्रमहेतु । धृत्यादेः प्रत्येकविशेषणमेतत् । आदेयता परैरादरणीयवचनचेष्टनरूपता । गुरुत्व च सर्वत्र गौरवलाभलक्षणम् । तथा शमसौख्यमनिमन्दीभूतकषायविषदोषतया प्रशमशर्म । अनुत्तर विषयसेवाजनिताऽऽनन्दातिशायि । यत पठ्यते-" निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् । विनिवृत्तपराशाना-मिहैव मोक्ष. सुविहितानाम्" ॥१॥ इति । अत्र च श्लोकत्रये चकारास्तथाशब्दश्च समुच्चयार्थ ॥५४॥

आ विद्वदङ्गनासिद्ध-मिदानीमपि दृश्यते ।
एतत्प्रायस्तदन्यत्तु, सुबह्वागमभाषितम् ॥ ५५ ॥

आ विद्वदङ्गनासिद्धम्-आ-विद्वद्भ्यः आ-अङ्गनाभ्यश्च यो लोक.,तस्येत्यर्थ. । सिद्ध प्रतीतम्, इदानीमपि दुःषमायां, किं पुनः सुषमदुःषमाऽऽदावित्यपिशब्दार्थ. । दृश्यते अवलोक्यते, एतत् प्रागुक्तं योगफल, प्रायो बाहुल्येन, तदन्यत्तूक्तादन्यत् पुनर्योगफल, सुबहु अतिभूरि,आमर्षौषध्यादिक हि प्राप्तिरूपम्, आगमभाषितम्-आवश्यकनिर्युक्त्यादिनिरूपितम् ।

यदुक्त तत्र-

" आमोसहि विप्पोसहि-खेलोसहि जल्लमोसही चेव ।
सभिन्नसोय उजुमइ, सव्वोसहि चेव बोधव्वो ॥६८॥
चारण आसीविस केवली य मणणाणिणो य पुव्वधरा ।
अरहत चक्कवट्टी, बलदेवा वासुदेवा य" ॥ ६६ ॥ इति ।
"अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्व,
गन्ध शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्ति. प्रसाद. स्वरसौम्यता च,
योगप्रवृत्तेः प्रथम हि लिङ्गम् ॥ १ ॥
मैत्र्यादियुक्तं विषयेषु चेत.,
प्रभावद्धैर्यसमन्वित च ।
द्वन्द्वैरधृष्यत्वमभीष्टलाभो,
जनप्रियत्वं च तथा परं स्यात् ॥ २ ॥
दोषव्यपायः परमा च तृप्ति-
रौचित्ययोग. समता च गुर्वी ॥
वैराऽऽदिनाशोऽथ ऋतंभरा धी.,
निष्पन्नयोगस्य तु चिह्नमेतत् " ॥ ३ ॥

अथोक्तादेव योगफलात्तत्त्वान्तरप्रसिद्धिमाह-

न चैतद्भूतसङ्घात-मात्रादेवोपपद्यते ।
तदन्यभेदकाभावे, तद्वैचित्र्याप्रसिद्धितः ॥ ५६ ॥

न च नैव, एतद्योगमाहात्म्य भावयोगिषूपलभ्यमान, भूतसङ्घातमात्रादेव पृथिव्यादिमहाभूतसङ्घातात् केवलादात्माऽऽदिरूपतत्त्वान्तरशून्याद्, उपपद्यते घटते । कुत. ?, इत्याह-तदन्यभेदकाभावे-तस्माद् भूतसङ्घाताद् यदन्यत्तत्त्वान्तरमात्मकाऽऽदिलक्षण,भेदक विशेषकारि,तस्याभावे तद्वैचित्र्याप्रसिद्धितः, तेषां भूतसङ्घाताना कायाऽऽकारपरिणतानामपि, वैचित्र्यस्य नानात्वस्य, योगमाहात्म्ययुक्तत्वेतरलक्षणस्य,अप्रसिद्धेरघटनात्। अतो बलात् अनुमिमीमहे भूतसङ्घातातिरिक्त विचित्रशक्तिसङ्गत तत्त्वान्तरं समस्ति, यद्वशादय योगमाहात्म्यभावाभावलक्षणो भेद. सपद्यते ॥५६॥ यो०बिं० ।

अथ निगमयन्नाह-

एवं च तत्त्वसंसिद्धे-र्योग एव निबन्धनम् ।
अतो यन्निश्चितैवेयं, नान्यतस्त्वीदृशी क्वचित् ॥ ६४ ॥

एवं चोक्तन्यायेनैव,तत्त्वसंसिद्धे -आत्माद्यऽऽदिप्रतीते ,योग एव नापर किञ्चिद्, निबन्धन हेतुर्वर्तते । एतदपि कुत ?, इत्याह-अत. योगात्,यत् यस्मात्,निश्चितैव अविपर्यासवत्येव,इय तत्त्वसिद्धि स्याद्,न नैव,अन्यतोऽन्यस्माद्वादप्रतिवादाऽऽदेः,तु पुनरर्थे,ईदृशी निश्चितरूपा तत्त्वसंसिद्धि ,क्वचित् देशाऽऽदौ ।६४।

(२८) अतोऽत्रैव महान् यत्न-स्तत्तत्तत्त्वप्रसिद्धये ।
प्रेक्षावता सदा कार्यो, वादग्रन्थास्त्वकारणम् ॥ ६५ ॥

अत.-अस्मात्कारणात्, अत्रैव योगे, महान् अन्योपायातिशायी, यत्न आदर', तस्य तस्य तत्त्वस्य स्वर्गनरकाऽऽदे', प्रसिद्ध्ये प्रतीत्यर्थं, प्रेक्षावता बुद्धिमता, सदा सर्वकाल, कार्यो विधेय.। उपायान्तरप्रतिषेधमाह-वादग्रन्थाः परपक्षनिराकरणेन स्वपक्षप्रतिष्ठापनानि तर्कप्रकरणानि, तु. प्राग्वद्, प्रकारेण तत्त्वप्रतीतेरहेतवः ॥६५॥

एतदेव समर्थयमान आह—

उक्तं च योगमार्गज्ञै–स्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।
भावियोगिहितायोच्चै–र्मोहदीपसमं वचः ॥ ६६ ॥

उक्तं च निरूपित पुन , योगमार्गज्ञै.-अध्यात्मविद्भि. पतञ्जलिप्रभृतिभि , तपोनिर्धूतकल्मषै. प्रशमप्रधानेन तपसा क्षीणमार्गानुसारिबोधबाधकमोहमलै , भावियोगिहिताय-भाविष्यद्विवक्षितकालिकालयोगिहितार्थम, उच्चैरत्यर्थं, मोहदीपसममतिमोहान्धकारप्रदीपस्थानीयम्, वचो वचनम ॥६६॥

एतदेव दर्शयति—

वादांश्च प्रतिवादांश्च, वदन्तो निश्चितांस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद्गतौ ॥६७॥

वादांश्च पूर्वपक्षरूपान्, प्रतिवादांश्च परोपन्यस्तपक्षप्रतिवचनरूपान्,चौ समुच्चये,वदन्तो ब्रुवाणा.,निश्चितानसिद्धानैकान्तिकाऽऽदिहेतुदोषपरिहारेण,तथा तेन प्रकारेण तत्तच्छास्त्रप्रसिद्धेन, सर्वेऽपि दर्शनिनो मुमुक्षवोऽपि, किम ?, इत्याह-तत्त्वान्तम आत्माऽऽदितत्त्वप्रसिद्धिरूपं, नैव गच्छन्ति न प्रतिपद्यन्ते । तिलपीलकवद् निरुद्धाक्षसञ्चारतिलयन्त्रवाहननियुक्तैकगोमहिषाऽऽदिवत् गतौ वहनरूपायां सत्यामपि; यथा असौ तिलपीलको गवादिर्निरुद्धाक्षतया नित्य भ्रमन्नपि न तत्परिमाणमवबुध्यते, एवमेतेऽपि वादिन स्वपक्षाभिनिवेशान्धा विचित्र वदन्तोऽपि नोपगमानतत्त्व प्रतिपद्यन्त इति ॥ ६७ ॥ यो० बि० । चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां वृषभानुजाताऽऽदिके योगे च । सू० प्र० ।

(२१) ते च दश-

तत्थ खलु इमे दसविधे जोए पएणत्ते । तं जहा–वसभाणुजाते १, वेणुयाणुं जाते २, मंचे ३, मंचाइमंचे ४, छत्ते ५, छत्तातिछत्ते ६, जुअणद्धे ७, घणे ८, पीणिते ९, मंडुकप्पुत्ते णाम दसमेत्ता १० ॥

"तत्थ खलु" इत्यादि । तत्र युगे,खल्वय वक्ष्यमाणो,दशविधो योग. प्रज्ञप्त. । तद्यथा-वृषभानुजात. । अत्र अनुजातशब्द. सदृशवचनः, वृषभस्यानुजात सदृशो वृषभानुजात , वृषभाऽऽकारेण चन्द्रसूर्यनक्षत्राणि यस्मिन् योगे एव तिष्ठन्ति स वृषभानुजात इति भावना। एवं सर्वत्रापि भावयितव्यम । वेणुर्वंश , तदनुजातस्तत्सदृशो वेणुकानुजात । मञ्चो मञ्चसदृश.। मञ्चात् व्यवहारप्रसिद्धात् द्वित्रादिभूमिकाभावतोऽतिशायी मञ्चो मञ्चातिमञ्च , तत्सदृशो योगोऽपि मञ्चातिमञ्च. । छत्र प्रसिद्धम्, तदाकारो योगोऽपि छत्रम । छत्रात् सामान्यरूपात् उपर्यन्यान्यच्छत्रभावतोऽतिशायि छत्र छत्रातिच्छत्रम,तदाकारो योगोऽपि छत्रातिच्छत्रम,युगमिव नद्धो युगनद्ध ,यथा युग वृषभस्कन्धयोरारोपित वर्तते तद्वद् योगोऽपि य. प्रतिभाति, स युगनद्ध इत्युच्यते । घन. समर्दरूप., यत्र चन्द्र सूर्यो वा ग्रहस्य नक्षत्रस्य वा मध्ये गच्छति, प्रीणित उपचय नीत. य. प्रवृत्तश्चन्द्रमस. सूर्यस्य वा एकतरस्य ग्रहेण नक्षत्रेण वा एकतरेण जातः, तदनन्तर द्वितीयेन सूर्याऽऽदिना सहोपचय गतः स प्रीणित इति भाव । मण्डूकप्लुतो नाम दशमः। तत्र मण्डूकप्लुत्या यो जातो योग स मण्डूकप्लुत', स च ग्रहेण सह वेदितव्यः. अन्यस्य मण्डूकप्लुतिगमनासम्भवात् । उक्तं च-चन्द्रसूर्यनक्षत्राणि प्रतिनियतगतानि, ग्रहास्त्वनियतगतय इति । यदित्थ यथावबोध दशानामपि योगानां स्वरूपमात्रभावना कृता यथासम्प्रदायमन्यथा वाच्या, तत्र युगे छत्रातिच्छत्रवर्जाः शेषा नवापि योगाः प्रायो बहुशो बहुषु च देशेषु भवन्ति। छत्रातिच्छत्रयोगस्तु कदाचित्क्वचिदेव देशे । सू० प्र० १२ पाहु० ।

(३०)योगाक्षराद् योगाः। यमाऽऽदिकेषु योगाङ्गेषु,(ते च'जोगंग' शब्देऽनुपदमेव १३३८ पृष्ठे वक्ष्यन्ते) उत्साहे,यो० ३ विव० । आकाशगमनाऽऽदिफले पादलेपाऽऽदिके द्रव्यसघात,योग आकाशगमनाऽऽदिफलो द्रव्यसघातः । पिं० । योगा वशीकरणाऽऽदिप्रयोजनाद् द्रव्यसयोगा इति।प्रश्न० २ सव० द्वार । "जोगो पुण होइ पायलेवाई।" नि० चू० १३ उ० । "वसिकरणपायलेवाऽऽदिया तु जोगा मुणेयव्वा।" प०भा०। प०चू०। पादप्रलेपाऽऽद्य. सौभाग्यदौर्भाग्यकरा योगाः । ध०३ अधि०। योगसौभाग्याऽऽदिकृद् द्रव्यनिचय इति । ग० १ अधि० । (अन्ययूथिकानां, गृहस्थाना वा योगकरणे प्रायश्चित्ताऽऽदिसूत्राणि 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४७२ पृष्ठे द्रष्टव्यानि । तेषां सूत्राणां व्याख्यारूपा गाथाः 'पसिणापसिण' शब्दे द्रष्टव्याः) मन्त्रात्मके पञ्चदशे उत्पादनादोषे च । पिं० । (तद्वक्तव्यता ' जोगपिंड ' शब्दे द्रष्टव्या) श्रुतोपधाने, " जोगा य बहुविकप्पा । " योगा उपधानानि,बहुविकल्पा गच्छभेदेन बहुभेदाः । व्य०१ उ० । "आगाढमणागाढे, दुविधे जोगे समासता होइ " । जोगो दुविधो-आगाढो य, अणागाढो य । जम्मि जोगे अतणा सो आगाढो । यथा भगवतीत्यादि । इतरो अणागाढो, यथोत्तराध्ययनाऽऽदि । नि० चू० ४ उ० । आगाढमुत्तराध्ययनभगवत्यादिकम, अनागाढं दशवैकालिकाऽऽदिकमिति । जीत० । स्था० । वाक्ये, वाक्यस्यैकार्थिकानधिकृत्य-"वइजोगजोगे य।" दश० ७ अ० । ज्योतिषोक्तेषु रविचन्द्रयोगाधीनेषु विष्कुम्भाऽऽदिषु तिथिवारनक्षत्राऽऽदीनामन्यतरान्यतमानाममृतयोगोऽर्द्धोदययोग इत्यादिके योगविशेषे,वाच० । षाण्मासिकयोगाऽऽदौ दत्तिप्रत्याख्यान कार्यते, तत् किं " सपाणभोअण पचदत्तिय आयबिल पच्चक्खाइ ।" इत्याचाम्लाऽऽदिस्थाने पठ्यते?, अथवा-"सपाणभोअण पचदत्तिअ एगासण पच्चक्खाइ । " इत्येकाशनकाऽऽदिस्थाने पठ्यते ?,इति प्रश्ने,उत्तरम-"सपाणभोयण पचदत्तिअ आयबिल पच्चक्खाइ " इत्येवरूपं प्रत्याख्यान गुरुपरम्परया पठ्यमानमुपलभ्यते, न त्वन्यथेति । ७६ प्र० । सेन० १ उल्ला० । योगमध्ये रात्रावनाहारग्रहणं भवति, न वा ? , इति प्रश्ने,उत्तरम-रात्रौ योगिना सघट्टकाभावात् किमपि ग्रहीतु न कल्पते,सघट्टक तु साय मुक्तमिति प्रातः प्रवचनप्रवेदनानन्तरमेव तद्ग्रहण कल्पत इति । १०३ प्र० । सेन० २ उल्ला० । आवश्यकोत्तराध्ययनाऽऽदियोगेषु पक्वान्नीयमुद्गगोधूममोदकान् केचन गृह्णन्ति, केचन न?, इति प्रश्ने,उत्तरम्-न गृह्णन्तीति वृद्धपरम्पराऽस्तीति । १३५ प्र० । सेन० २ उल्ला० । आवश्यकयोगसबद्धदशवैकालिकयोगप्रवेश. शुध्यति ?, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-शुध्यतीति । ४३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । येन साधुना ये योगा न व्यूढा., तेन तद्योगाना प्रवेशोच्चारण

वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-मुख्यवृत्त्या येन ये योगा व्यूढा, तेन तेषामेव प्रवेशोत्सारणाऽऽदिकं विधीयते, तदभावे तु नन्द्यनुयोगद्वारयोगाऽऽदिना सर्वेष्वव्यूढयोगेषु प्रवेशः, तेभ्यो निर्गमनं च कार्यते, तयोः क्रियाया असंबद्धत्वादिति परम्पराऽप्यस्ति, परं सर्वथैव तत्क्रियाकारिता न शुद्ध्यतीति । ३६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । चतुर्विंकलस्य साधोः पार्श्वे कालिकोत्कालिकयोगस्य क्रिया कृता शुद्ध्यति, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-कालिकोत्कालिकयोगक्रिया चतुर्विंकलस्य साधोः पार्श्वे प्रायो न शुद्ध्यतीति ज्ञातमस्ति । ६५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

विषयसूची-

(१) अलब्धेप्सितवस्तुलाभ-वीर्याऽऽधानोद्भेदपोषणकरण-संयोग-मेलन-धर्माऽऽदिधारण-युक्ति-शब्दाऽऽदिप्रयोगसमुदायशब्दनिष्ठावयवार्थसंबन्ध यथास्थितवस्त्वन्यथारूपप्रतिपादन-विधिकर्मानुकूलपरिवारसंपत्तिमनोवाक्कायव्यापाराऽऽद्यो योगशब्दार्थाः ।

(२) द्रव्यभावभेदेन योगस्य द्वैविध्यप्ररूपणे प्रशस्ताप्रशस्तत्व निरूप्य द्रव्ययोगभावयोगयोर्निर्वचनम् ।

(३) योगस्य मनोवाक्कायाऽऽत्मकस्य एकस्मिन् काले युगपत् शुभाशुभत्वनिरसनम् ।

(४) मनोवाक्कायतया योगस्य द्वैविध्यमुपपाद्य, योगानामयुक्तस्य कर्मबन्धकारकत्वं युक्तस्य कर्मनिर्जराकारित्वं च भवतीति प्रतिपादनम् ।

(५) परिणामालम्बनग्रहणसाधनत्वेन मनोवाक्कायलक्षण-सहकारिकारणभेदाद् योगस्य त्रैविध्यम् ।

(६) आत्मनो वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थलब्धिविशेषप्रत्ययमभिसन्ध्यनभिसन्धिपूर्वकत्वं योगस्य प्रतिपादनम् ।

(७) मनोवाग्योगयोः कायव्यापारविशेषत्वेन विचारः ।

(८) सामान्ययोगप्ररूपणानन्तरं विशेषतो नारकाऽऽदिषु योगविचारः ।

(९) नैरयिकाऽऽदिदण्डकेषु समविषमयोगावधिकृत्य प्ररूपणा ।

(१०) ध्यानतत्स्वरूपसालम्बनिरालम्बनत्वेन योगस्य द्वैविध्यं प्ररूप्य, ध्याननिरूपण-खेदाऽऽद्यष्टविधचित्तपरिहारप्ररूपण-तत्फलाफलत्वप्रदर्शन-शान्तोदात्ताऽऽदियुक्तचित्तव्यावर्णनाऽऽदिविस्तरः ।

(११) योगस्य मोक्षहेतुत्वेन प्रदर्शनम् ।

(१२) योगस्य लक्षणं निरूप्य, दुरभव्याभव्यलक्षणनिरूपणाऽऽद्यनेकविषयोपपत्तिः ।

(१३) स्वकीय लक्षणे परकीयलक्षणे विचारिते सति स्थिरीभवतीति पतञ्जलिप्रणीतयोगशास्त्रानुसारियोगस्य लक्षणाऽऽदिनिरूपणम् ।

(१४) विस्तरतो हि पुनस्तस्य परकीयप्रज्ञापितयोगस्य खण्डनम् ।

(१५) स्थानवर्णार्थालम्बनैकाग्र्यरूपेण योगस्य पञ्चविधत्वं प्ररूप्य, विरतेषु तस्य नियतभावित्वं, परेषु तु बीजमात्रमेवेति विवेचनम् ।

(१६) योगोत्पत्तिहेतून् निरूप्य स्थानाऽऽदीनां प्रीतिभक्तिवचोऽसङ्गैरशीतिभेदस्याऽऽविर्भावनं, स्थानाऽऽद्ययोगिनः सूत्रदाने दोषोद्भावनं च ।

(१७) वृत्तिनिरोधस्यापि योगत्वं तस्यापि पञ्चविधत्वाऽऽद्यनेकविषयविवेचनम् ।

(१८) योगस्येच्छाशास्त्रसामर्थ्याऽऽद्यवान्तरभेदप्रदर्शनेन तद्विवेकः ।

(१९) संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोर्यथासंभवमवतारः ।

(२०) जीवाऽऽत्मनि परमाऽऽत्मनः संस्पर्शोपपत्त्यर्थमात्मस्वरूपनिरूपणानन्तरं विषयाऽऽत्मनोः समापत्त्यादिनिर्वचनम् ।

(२१) असंप्रज्ञातनाम्नः समाधेर्निर्वचनम् ।

(२२) एकस्मिन्नपि योगेऽन्येषां समावेशाऽऽदिविचारः ।

(२३) योगमार्गाधिकारिणः ।

(२४) आत्माऽऽदिप्रत्ययं विना न योगसिद्धिः ।

(२५) योगादेव कर्मक्षयो भवतीति प्रतिपादनम् ।

(२६) योगस्य माहात्म्यम् ।

(२७) योगस्याऽऽगमगम्यत्वप्रदर्शनानन्तरमनुमानगम्यत्वप्रदर्शनम् ।

(२८) योगे एव महान् यत्नो विधेय इत्युपदेशः ।

(२९) युगे योगस्य दशविधत्वप्रदर्शनम् ।

(३०) प्रकीर्णकविषयाः ।

जोगंग-योगाङ्ग-न० । यमाऽऽदिके, "योगाङ्गं च यमो भवेत् ।" द्वा० २१ द्वा० । अहिंसाऽऽदियमानधिकृत्य-"योगसाङ्कर्यतोऽमीषां, योगाङ्गत्वमुदाहृतम् ।" यथोक्तम्-"यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्येति ।" द्वा० २२ द्वा० । यो० । पुरुषसप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

जोगंत-योगान्त-पुं० । शैलेश्यवस्थायाम्, द्वा० २५ द्वा० ।

जोगंतरग-योगान्तरक-न० । अन्यो योगो व्यापारो योगान्तरम्, तदेव योगान्तरकम् । अन्यस्मिन् योगे, पञ्चा० ५ विव० ।

जोगंधरायण-यौगन्धरायण-पुं० । उदायननृपते स्वनामख्यातेऽमात्ये, "न हरामि नृपस्यार्थे, नाहं यौगन्धरायणः ।" आव० ४ अ० । आ० चू० ।

जोगक्खेम-योगक्षेम-न० । योगश्च क्षेमं च समाहारद्वन्द्वः । अलब्धलाभचिन्तासहिते लब्धपरिरक्षणे, "योगक्षेमं वहाम्यहम्" वाच० । "जोगक्खेमं वहमाणा पालिंसहंति ।" आ० १ श्रु० ५ अ० । रा० ।

जोगक्खेमपय-योगक्षेमपद-न० । योगक्षेमाय पद्यते गम्यते येनार्थस्तत् पदं योगक्षेमपदम् । योगक्षेमार्थके पदे, "अणुत्तरं जोगक्खेमपयं लंभिए समाणे ।" सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

जोगचलणा-योगचलना-स्त्री० । चलनाभेदे, भ० १७ श० ३ उ० । (अस्यास्त्रिविधत्वं 'चलणा' शब्दे तृतीयभागे ११६५ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

जोगचित्त-योगचित्त-त्रि० । योगबीजोपादानप्रणिधानचित्ते, द्वा० २१ द्वा० ।

जोगजुत्त-योगयुक्त-त्रि० । दशविधचक्रवालसामाचार्याऽऽचरणप्रगुणे, कर्म० १ कर्म० ।

जोगजुत्तया-योगयुक्तता-स्त्री० । अनगारगुणभेदे, "जोगसच्चजुत्तता ।" आव० ४ अ० । प्रश्न० ।

जोगट्ठाण-योगस्थान-न० । योगो वीर्यं, तस्य स्थानं योग-

त्वानम् । वीर्याऽऽदिविभागांशसधाने, कर्म० ५ कर्म० । (तद्वक्तव्यता ' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे ६५६ पृष्ठे गता)

जोगणिओग–योगनियोग–पुं० । क० स० । 'कार्मणवशीकरणाऽऽदिप्रकारे, योगनियोगैः कार्मणवशीकरणाऽऽदिप्रकारैरिति । सं० ।

जोगणिग्गह–योगनिग्रह–पुं० । कायोत्सर्गे, " उस्सग्गो त्ति वा जोगणिग्गहो त्ति वा ।" आ० चू० ५ अ० ।

जोगणिरोह–योगनिरोध–पुं० । योगाश्चौदारिकाऽऽदिशरीरसंयोगसमुत्था आत्मपरिणामविशेषव्यापारा एव, तेषां निरोधन निरोध प्रलयकरणम्, योगनिरोध । मनोवाक्कायव्यापारप्रलयकरणे, स एव च जिनानां ध्यानम् । " जोगणिरोहो जिणाणं तु ।" आव० ४ अ० । आ० म० ।

जोगणिव्वत्ति–योगनिर्वृति–स्त्री० । योगनिष्पत्तौ, भ० १ श० १ उ० । " कइविहा ण भंते ! जोगणिव्वत्ती पण्णत्ता । गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा–मणजोगणिव्वत्ती, वइजोगणिव्वत्ती, कायजोगनिव्वत्ती, एवं० जाव वेमाणिया जस्स जइविहो जोगो ।" भ० १९ श० ८ उ० ।

जोगत्तिय–योगत्रिक–न० । कृतकारितानुमतिरूपे व्यापारत्रिके, दश० १० अ० ।

जोगदिट्ठि–योगदृष्टि–स्त्री० । योगजप्रातिभज्ञाने, द्वा० १६ द्वा० । मित्राऽऽदिकायां योगदृष्टौ च । ध० १ अधि० ।

सच्छ्रद्धासंगतो बोधो, दृष्टिः सा चाष्टधोदिता ।
मित्रा तारा बला दीप्रा, स्थिरा कान्ता प्रभा परा ॥२५॥

सच्छ्रद्धया शास्त्रबाह्याभिप्रायविकल्पसदूहलक्षणया, संगतो, बोधो दृष्टि, तस्या उत्तरोत्तरगुणाऽऽधानद्वारा सत्प्रवृत्तिपदाऽऽवहत्वात् । तदुक्तम्–"सच्छ्रद्धा संगतो बोधो, दृष्टिरित्यभिधीयते । असत्प्रवृत्तिव्याघात–सत्प्रवृत्तिपदाऽऽवह " ॥ १ ॥ इति । सा चाष्टधोदिता–मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा चेति ॥ २५ ॥

तृणगोमयकाष्ठाग्नि–कणदीपप्रभोपमा ।
रत्नताराऽर्कचन्द्राऽऽभा, क्रमेणेक्ष्वादिसन्निभा ॥२६॥

मित्रा दृष्टिस्तृणाग्निकणोपमा, न तत्त्वतोऽभीष्टकार्यक्षमा, सम्यक्प्रयोगकालं यावदनवस्थानात् । अल्पवीर्यतया नत. पटुस्मृतिबीजसंस्काराऽऽधानानुपपत्ते., विकलप्रयोगभावाद्भावतो वन्दनाऽऽदिकार्यायोगादिति । तारा दृष्टिर्गोमयाग्निकणसदृशी । इयमप्युक्तकल्पैव, तत्त्वतो विशिष्टस्थितिवीर्यविकलत्वात्, अतोऽपि प्रयोगकाले स्मृतिपाटवासिद्धे, तदभावे प्रयोगवैकल्यात्, ततस्तथा तत्कार्याभावादिति । बला दृष्टि काष्ठाग्निकणतुल्या । ईषद्विशिष्टोक्तबोधद्वयात् । तद्भावेनात्र मनाक् स्थितिवीर्ये, अत पटुप्राया स्मृति, इह प्रयोगसमये, तद्भावे चार्थप्रयोगमात्रप्रीत्या यत्नलेशभावादिति । दीप्रा दृष्टिर्दीपप्रभासदृशी । विशिष्टतरोक्तबोधत्रयात् । अतोऽत्रोदग्रे स्थितिवीर्ये, तत्पट्व्यपि प्रयोगसमये स्मृति । एवं भावतोऽप्यत्र द्रव्यप्रयोगा वन्दनाऽऽदौ, तथा भक्तितो यत्नभेदप्रवृत्तेरिति प्रथमगुणस्थानकप्रकर्ष एतावानिति समयविद. । स्थिरा च भिन्नग्रन्थेरेव, सा च रत्नाभा, तद्वबोधो हि रत्नाभासमान, तद्भावोऽप्रतिपाती प्रवर्द्धमानो निरपायो नापरपरितापकृत परितोषहेतु. प्रायेण प्रणिधानाऽऽदियोनिरिति । कान्ता ताराऽऽभा, तदवबोधस्ताराभासमानः । अतः स्थित एव प्रकृत्या निरतिचारमत्रानुष्ठानं शुद्धोपयोगानुसारि विशिष्टाप्रमादसचिवं विनियोगप्रधान गम्भीरोदाराऽऽशयमिति । प्रभा अर्काभा । तदवबोधस्तरणिभासमान', सद्ध्यानहेतुरेव सर्वदा, नेह प्रायो विकल्पावसर' । प्रशमसारं सुखमिह, अकिञ्चित्कराण्यत्रान्यशास्त्राणि, समाधिनिष्ठमनुष्ठान, तत्सन्निधौ वैराऽऽदिनाशः, परानुग्रहकर्तृता, औचित्ययोगो विनयेषु, तथाऽवन्ध्या सत्क्रियेति । परा तु दृष्टिश्चन्द्राऽऽभा । तदवबोधश्चन्द्रचन्द्रिकाभासमान , सद्ध्यानरूप एव सर्वदा, विकल्परहित मन., तदा भावेनोत्तम सुखम्, आरूढाऽऽरोहणभावतोऽनुष्ठान प्रतिक्रमणाऽऽदि, परोपकारित्व, यथा भव्यमवन्ध्या क्रियेति, तथा क्रमेण मित्राऽऽद्यनुक्रमेणेक्ष्वादिसन्निभा दृष्टिरिक्षुरसकक्कबगुडकल्पाः खण्डाद्याश्चतस्र खण्डशर्करामत्स्यण्डवर्षोलकसमाश्चाग्रिमा इत्याचार्या. । इक्ष्वादिकल्पानामेव रुच्यादिगोचराणां संवेगमाधुर्यभेदोपपत्ते , नलाऽऽदिकल्पानामभव्याना संवेगमाधुर्यशून्यत्वादिति ॥ २६ ॥

यमाऽऽदियोगयुक्तानां, खेदाऽऽदिपरिहारतः ।
अद्वेषाऽऽदिगुणस्थानां, क्रमेणैषा सतां मता ॥ २७ ॥

यमाऽऽदयो योगाङ्गत्वाद् योगा । यथोक्तम्–"यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्येति ।" (२–२९) तैर्युक्तानां खेदाऽऽदीना ध्यानाभिधानस्थले प्रोक्तानां योगप्रत्यनीकाऽऽशयलक्षणानां परिहारतोऽद्वेषाऽऽदयो येऽष्टौ गुणा । तदुक्तम्–"अद्वेषो जिज्ञासा, शुश्रूषा श्रवणबोधमीमांसा. । परिशुद्धा प्रतिपत्ति , प्रवृत्तिरष्टाङ्गिकी तत्त्व ॥१॥ " इति । तत्स्थाना तत्प्रतिबद्धवृत्तीना क्रमेणैषा दृष्टि' सतां भगवत्पतञ्जलिभदन्तभास्कराऽऽदीना योगिनां मतेष्टा ॥ २७ ॥

आद्याश्चतस्रः सापाय–पाता मिथ्यादृशामिह ।
तत्त्वतो निरपायाश्च, भिन्नग्रन्थेस्तथोत्तराः ॥ २८ ॥

आद्याश्चतस्रो मित्राऽऽद्या दृष्टय, इह जगति, मिथ्यादृशां भवन्ति । सापायपाता दुर्गतिहेतुकर्मबन्धेन तन्निमित्तभावादपायसहिताः । कर्मवैचित्र्याद् अप्रयोगेन, सपाताश्च, न तु सपाता एव, तास्वः तदुत्तरभावादिति । तथोत्तराश्चतस्र स्थिराऽऽद्या दृष्टयो भिन्नग्रन्थेस्तत्त्वत. परमार्थतश्च निरपाया , श्रेणिकाऽऽदीनामेतद्भावोपात्तकर्मसामर्थ्ये हि तस्यापायस्यापि सदृष्ट्यविघातेन तत्त्वतोऽनपायत्वाद् वज्रतण्डुलवत्पाकेन तदाशयस्य कायदुःखभावेऽपि विक्रियाऽनुपपत्ते , योगाऽऽचार्या एवात्र प्रमाणम् । तदुक्तम्–"प्रतिपातयुताश्चाद्या श्चतस्रो नोत्तरास्तथा । सापाया अपि चैतास्तत. प्रतिपातेन नेतरा ॥१॥ " इति ॥ २८ ॥

प्रयाणभङ्गाभावेन, निशि स्वापसमः पुनः ।
विघातो दिव्यभवत–श्चरणस्योपजायते ॥ २९ ॥

प्रयाणस्य कान्यकुब्जाऽऽदावनवरतगमनलक्षणस्य, भङ्गाभावेन निशि रात्रौ, स्वापसम पुनर्विघात. प्रतिबन्ध , पुनर्दिव्यभवतः स्वर्गजन्मन सकाशात्, चरणस्य चारित्रस्योपजायते ॥ २९ ॥

तादृश्यौदयिके भावे, विलीने योगिनां पुनः ।
जाग्रन्निरन्तरगति–प्राया योगप्रवृत्तयः ॥ ३० ॥

तादृशि स्वर्गगतिनिबन्धने सरागचारित्रदशावति, औदयिके भावे प्रशस्तरागाऽऽदिरूपे, विलीने पुनर्योगिना जाग्रतो या निरन्तरा गतय., तत्प्राया योगिनां प्रवृत्तयो भवन्ति, अक्षेपेणैव

मोक्षपुरप्राप्त्युपपत्तेः तथाविधकर्मरूपप्रमाभावेन, तदपनयनार्थं प्रापमस्वत्वभावेनाविलम्बादिति भावः ॥ ३० ॥

मिथ्यात्वे मन्दतां प्राप्ते, मित्राऽऽद्या अपि दृष्टयः ।
मार्गाभिमुखभावेन, कुर्वते मोक्षयोजनम् ॥ ३१ ॥

मिथ्यात्वे मिथ्यात्वमोहनीये कर्मणि, मन्दतां प्राप्तेऽपुनर्बन्धकत्वाऽऽदिभावेन मित्राऽऽद्या अपि दृष्टयस्तत्त्वतः, किं पुनः स्थिराऽऽद्या इत्यर्थः ?, मार्गाभिमुखभावेन मार्गसांमुख्येन रूप्ययोग्यतया मोक्षयोजनं कुर्वते, चरमाऽऽवर्तभावित्वेन समुचितयोग्यतासिद्धेः ॥ ३१ ॥

प्रकृत्या भद्रकः शान्तो, विनीतो मृदुरुत्तमः ।
सूत्रे मिथ्यादृगप्युक्तः, परमाऽऽनन्दभागतः ॥ ३२ ॥

अत उक्तहेतोः, सूत्रे जिनप्रवचने, प्रकृत्या निसर्गेण, भद्रको निरुपमकल्याणमूर्तिः, शान्तः क्रोधविकाररहितः, विनीतोऽनुद्धतप्रकृतिः, मृदुर्निर्दम्भः, उत्तमः सन्तोषसुखप्रधानः, मिथ्यादृगपि, परमाऽऽनन्दभाक् निरतिशययोगसुखभाजनयुक्तः, शिवराजर्षिवदिति ॥३२॥ द्वा० २० द्वा० । (शिवराजर्षिचरित्रं 'सिव' शब्दे वक्ष्यते) (मित्रा-तारा-बला-दीप्रा-स्थिरा-कान्ता-प्रभा-पराणां योगदृष्टीनां व्याख्यानं स्वस्वशब्दे द्रष्टव्यम्)

जोगदुप्पणिहाण-योगदुष्प्रणिधान-न० । सावद्यप्रवर्तनालक्षणे कायवाङ्मनसां प्रणिधाने, ध० १ अधि० ।

योगदुष्प्रणिधानानि, स्मृतेरनवतारणम् ।
अनादरश्चेति जिनैः, प्रोक्ताः सामायिके व्रते ॥५८॥

योगदुष्प्रणिधानादयस्ते प्रक्रमात्पञ्चातिचाराः सामायिकव्रते जिनैः प्रोक्ता इत्यन्वयः । तत्र योगाः कायवाङ्मनांसि, तेषां दुष्टानि प्रणिधानानि प्रणिधयो दुष्प्रणिधानानि, सावद्ये प्रवर्त्तनालक्षणानीत्यर्थः । तत्रापि शरीरावयवानां पाणिपादाऽऽदीनामनिभृततयाऽवस्थापनं कायदुष्प्रणिधानम् । वर्णसंस्काराभावोऽर्थानवगमश्चापल्यं च वाग्दुष्प्रणिधानम् । क्रोधलोभद्रोहाभिमानेर्ष्याऽऽदयः कार्यव्यासङ्गः सम्भ्रमश्च मनोदुष्प्रणिधानम् । ध० २ अधि० । (एतेषां सामायिकव्रतस्यातिचारत्वं 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते)

जोगपच्चक्खाण-योगप्रत्याख्यान-न० । मनोवाक्कायानां व्यापारो योगः, तस्य प्रत्याख्यानं परिहारो योगप्रत्याख्यानम् । उत्त० २९ अ० । प्राणातिपाताऽऽदिषु कृतकारितानुमतिलक्षणानां मनःप्रभृतिव्यापाराणां निरोधप्रतिज्ञाने, प्रव० १५ द्वा० १ उ० ।

योगप्रत्याख्यानफलं प्रश्नपूर्वकमाह—

जोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। जोगपच्चक्खाणेणं अजोगित्तं जणयइ । अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ ॥ ३७ ॥

हे भगवन् ! योगप्रत्याख्यानेन जीवः किं जनयति ?। योगप्रत्याख्यानेन अयोगित्वं जनयति-शैलेशीभावं भजति । अयोगी हि जीव चतुर्दशगुणस्थाने प्रवर्तमानो जीवो नवं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं कर्म निर्जरयति, क्षपयतीति भावः । उत्त० २९ अ० ।

जोगपट्ट-योगपट्ट-न० । योगाभ्यासार्थे पट्टम् । योगिधार्ये पट्टसूत्रभेदे, वाच० । गुरूणां धार्ये विशिष्टे उत्तरपट्टे च । पुं० ।

" चम्मछेयणपट्टे य, चिलिमिली धारए गुरू । " पट्टो योगपट्ट इति । ध० ३ अधि० ।

जोगपडिक्कमण-योगप्रतिक्रमण-न० । मनोवचनकायव्यापाराणामशोभनानां व्यावर्तनरूपे प्रतिक्रमणभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

जोगपर-योगपर-त्रि० । उत्साहपरे, पो० ४ विव० ।

जोगपरिणाम-योगपरिणाम-पुं० । योग एव परिणामो योगपरिणामः । जीवपरिणामभेदे, स च मनोवाक्कायभेदात्त्रिधेति । स्था० ८ ठा० ।

जोगपिंड-योगपिण्ड-पुं० । योगो वशीकरणाऽऽदिफलो द्रव्यसंयोगः । पञ्चा० १३ विव० । योगादञ्जनाऽऽदेरवाप्तः पिण्डो योगपिण्डः । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० । योगः पादप्रलेपनाऽऽदि तत्प्रयोगेण लब्धः पिण्डो योगपिण्डः । जीत० । यदा मुग्धलोकान् सौभाग्याऽऽदिनिक्षेपनराजवशीकरणाऽऽदितिलकेन जलस्थलमार्गोल्लङ्घनसुजनगदुर्जनगादिविधिमुपदिश्याऽऽहारं गृह्णाति, तदा योगपिण्डदोषः । इत्युक्तलक्षणे पञ्चदशे उत्पादनादोषे, उत्त० २६ अ० । पिं० । ग० । ध० । स्था० ।

उत्पादनादोषाधिकारे योगद्वारमधिकृत्य-"पायलेवणे जोगे" इति व्याख्यानयन्नाह-

सोभगदोभग्गकरा, जोगा आहारिया य इयरे य ।
आघंसधूववासा, पायपलेवाइणो इयरे ॥

योगाः सौभाग्यदौर्भाग्यकरा जनप्रियत्वाप्रियत्वकराः । ते च द्विधा-आहार्याः, इतरे च । तत्राऽऽहार्या ये पानीयाऽऽदिना सहाभ्यवह्रियन्ते । तद्विपरीता इतरे । तत्राद्या-आघर्षाः, धूपावासाश्च । ये पानीयाऽऽदिना सह घर्षयित्वा पीयन्ते ते आघर्षाः। धूपावासाः प्रतीता । अथ चूर्णस्य योगानां च परस्परं कः प्रतिविशेषः, द्वयोरपि क्षोदरूपत्वाविशेषात् ?। उच्यते-सामान्यद्रव्यनिष्पन्नं शुष्कं आर्द्रं वा क्षोदः चूर्णं, सुगन्धद्रव्यनिष्पन्नाश्च शुष्कपर्व पिष्टा वासाः, इतरे वाऽऽहार्या योगाः पादप्रलेपनाऽऽदयः । पिं० ।

जे भिक्खू जोगपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥७१॥
जो भिक्खु जोगपिंडं, भुंजेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ २०४ ॥

पादलेवाऽऽदिजोगेहिं आउट्टेउं जो पिंडं उप्पादेति, तस्स आणादी दोसा । नि० चू० १३ उ० । "असिवादिकारणेसु वा जोगपिंडं उप्पाएज्जा ण दोसो त्ति ।" नि० चू० १३ उ० ।

अत्र दृष्टान्तं गाथात्रयेण भावयति-

अइकन्ह-बिन्न-दीवे, पंचसया तावसाण निवसंति ।
पव्वदिवसेसु कुलवइ, पालेवुत्तारे सक्कारो ॥
जणे सावगाण खिसण, समिय खमाइ ठाण लेवेणं ।
सावयपयत्तकरणं, अविणय लोए चलणधोए ॥
पडिलाभिय वच्चंता, निब्बुड नइकूल मिलण समियाओ ।
विम्हियपंचसया ता-वसाण पव्वज्ज साहा य ॥

" पृथ्व्यां प्रतिष्ठं नगरं, सुप्रतिष्ठः क्षितीश्वरः ।
कृष्णा वेणा च वाहिन्यौ, तिष्ठतस्तत्पुरान्तिके ॥ १ ॥
ब्रह्मद्वीपस्तयोरन्त-स्तत्राऽऽसन् केऽपि तापसाः ।
व्रजन्ति पादलेपेन, ते जलोपरिचारिणः ॥ २ ॥

जोगवहण-योगवहन-न० । योगोद्वहने, सेन० । प्राग् योगोद्वहनं कृत्वा साधवो द्वादशाङ्गीं पठेयुः, किं वाऽन्यथा वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-प्राग् योगमुद्वाह्य द्वादशाङ्गीं पठेयुः । कदाचित्केनचिद्योगोद्वहनं विनाऽपि द्वादशाङ्गी पठिता शास्त्रे दृश्यते, तदपि कर्तव्यम्, आगमव्यवहारिकृतत्वात् । यत आगमव्यवहारी यथा लाभं जानाति, तथा करोतीति । ११६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

जोगवाहि(न्)-योगवाहिन्-पुं० । योगेन वहति,वह-णिनिः। पारदे, कारभेदे च । वाच० । श्रुतोपधानकारिणि, स्था० १० ठा० । ध० । टी० (एतद्वक्तव्यता 'जोगविहि' शब्दे १६५५ पृष्ठे वक्ष्यते) योगेन समाधिना सर्वत्रानुत्सुकत्वलक्षणेन वहतीत्येवंशीलो योगवाही । समाधिस्थायिनि, स्था० १० ठा० ।

जोगविंदु-योगबिन्दु-पुं० । योगस्य मोक्षहेतोरनुष्ठानस्य बिन्दुरवयवो योगबिन्दुः । योगावयवे. योगावयवाना प्रतिपादके आचार्यहरिभद्रसूरिविरचिते स्वनामख्याते प्रकरणग्रन्थभेदे च । यो० बिं० ।

तस्य चेदमादिसूत्रम्-

नत्वाऽऽद्यन्तविनिर्मुक्तं, शिवं योगीन्द्रवन्दितम् ।
योगबिन्दुं प्रवक्ष्यामि, तत्त्वसिद्ध्यै महोदयम् ॥ १ ॥

नत्वाऽभिवन्द्य, आदिः प्रथमभावः, अन्तः पर्यवसान, ताभ्यां विनिर्मुक्त विरहितं, किम् ?, इत्याह-शिवं सकलोपप्लवकलाविकलं देवताविशेषम् । कीदृशम् ?, इत्याह-योगीन्द्रवन्दित गणधराऽऽदिमहामुनिनमस्कृतम् । किम् ?, इत्याह-योगबिन्दुम्-योगस्य मोक्षहेतोरनुष्ठानस्य, बिन्दुरवयवो योगबिन्दुः, तत्प्रतिपादकतया प्रकरणमपि योगबिन्दुरुच्यते; ततो योगबिन्दुनामक प्रकरणं, प्रवक्ष्यामि अभिधास्ये । किमर्थम् ?, इत्याह-तत्त्वसिद्ध्यै आत्माऽऽदितत्त्वप्रतीतिनिमित्तम् । पुनरपि कीदृश योगबिन्दुम् ?, इत्याह-महोदयं महान् प्रशस्य उदयो निःश्रेयसाभ्युदयसंसिद्धिरूपो यस्मात् स तथा तम् ॥ १ ॥

पुनरपि कीदृशं योगबिन्दुम् ?, इत्याह-

सर्वेषां योगशास्त्राणा-मविरोधेन तत्त्वतः ।
सन्नीत्या स्थापकं चैव, मध्यस्थाँस्तद्विदः प्रति ॥२॥

सर्वेषां कपिलसुगताऽऽदिप्रणीतयोगशास्त्राणामध्यात्मग्रन्थानाम्, अविरोधेन अविघटनेनोपपद्यति,नरवत ऐदम्पर्यपर्यालोचनेन,न पुनः शब्दन्यायेनापि तस्य प्रतिदर्शनम्, अन्यथाऽन्यथाप्रवृत्तत्वात् । पठ्यते च-"प्रशान्तवाहितासञ्ज्ञं,विसभागपरिक्षयम् । शिववर्त्म ध्रुवाद्वेति,योगिभिर्गीयते ह्यदः" ॥१॥ इति । तथा सन्नीत्या अन्वयव्यतिरेकशुद्धयुक्तिरूपया,स्थापकमविसंवादाऽऽपादनेन प्रतिष्ठाकारि सर्वयोगशास्त्राणामेव । चैव इति समुच्चये । ननु योगशास्त्रकाराणां निजनिजमताभ्यस्तानिनिवेशेन विप्रतिपन्नत्वात्कथ सर्वयोगशास्त्राणां सस्थापकमिदं प्रकरण स्यात् ?,इत्याशङ्कयाऽऽह-मध्यस्थान् स्वदर्शनरागपरदर्शनद्वेषयोर्मध्यभागवर्तिनः, तद्विदो योगशास्त्रविद्, श्रोतॄन् प्रति इति स्वदर्शन प्रतीत्य,अमध्यमेषु श्रोतृषु वस्तुस्थापनाऽयोगात् । तथा चोक्तम्-"आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा । पक्षपातरहितस्य तु युक्ति-र्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् " ॥ १ ॥ इति । आद्यन्तविनिर्मुक्तमिति च विशेषणं शिवसन्तानापेक्षम् । न पुनरेक कश्चिदनादिशुद्ध. शिव समस्ति,तस्य शास्त्रान्तरे महता प्रबन्धेन प्रतिषिद्धत्वात् । अत्र च नत्वा शिवमित्यनेन विघ्नोपहेतुः शास्त्रमूलं मङ्गलमुक्तम् । योगबिन्दुमित्यनेन प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थमभिधेयम् । तत्त्वसिद्ध्यै इत्यनेनानन्तरप्रयोजनम् । महोदयमित्यनेन तु परम्पराप्रयोजनमभिहितम् । अभिधानाभिधेयलक्षणश्च संबन्धः स्वयमेव वाच्य इति सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन इत्युक्तम् ॥२॥ यो० बिं० ।

अथाऽस्य योगशास्त्रविरचनस्य प्रयोजनमुद्भावयन्नात्मानं च सूचयन् शास्त्रकार इदमाह-

स्वल्पमत्यनुकम्पायै, योगशास्त्रमहार्णवात् ।
आचार्यहरिभद्रेण, योगबिन्दुः समुद्धृतः ॥ ५२५ ॥

स्वल्पमत्यनुकम्पायै तुच्छमतिजनानुग्रहाय, योगशास्त्राण्येव तत्तच्छास्त्रान्तरप्रसिद्धानि महार्णवो महासमुद्रः,तस्मात् । आचार्यहरिभद्रेणेति शास्त्रकर्तुर्नाम । किम् ?,इत्याह-योगबिन्दुः समुद्धृतः पृथक्कृत इति ॥ ५२५ ॥

अथ शास्त्रकृदेवप्रणिधानमाह-

समुद्धृत्यार्जितं पुण्यं, यदेन शुभयोगतः ।
भवाऽऽन्ध्यविरहात् तेन, जनः स्ताद्योगलोचनः ॥५२६॥

समुद्धृत्य-उद्धारस्थानाविसंवादेन पृथक्कृत्य, अर्जितमुपात्तम्, पुण्यं शुभकर्म,यद्विशिष्टस्वरूपम्, एन योगबिन्दुम्, शुभयोगतः परोपकाररूपशुभव्यापारात, भवाऽऽन्ध्यविरहात् रागद्वेषमोहलक्षणसंसारान्धभावस्य परिहारेण, तेन शुभकर्मणा, जनो भव्यलोकः,स्तात्भवतात् कीदृश ?,इति आह-योगलोचन:-यथाऽवस्थितवस्तुपरिज्ञानावन्ध्यकारणत्वाद् योग एव लोचनमाक्षि यस्य स तथा । विरह इति च भगवत श्रीहरिभद्रसूरेः स्वप्रकरणाङ्कप्रद्योतक इति । यो० बिं० ।

जोगविसुद्ध-योगविशुद्ध-पुं० । निरवद्यव्यापारे, " उग्गओ जोगविसुद्धा । " पञ्चा० १८ विव० ।

जोगविहि-योगविधि-पुं० । योगविधाने, ध० १३ विव० । उपधानवहन विना श्राद्धस्य, योगोद्वहनं च विना साधोः सत्त्वोचितश्रुताध्ययनवाचनाऽऽदिकमधर्म इति स्थितम् । योगाङ्गानि चैतानि-" तिहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीतीवएज्जा। तं जहा-अणिदाणयाए, दिट्ठिसंपन्नयाए, जोगवाहित्ताए । " इति स्थानाङ्गतृतीयस्थाने । तथा-" दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसि भद्दगत्ताए कम्म पकरेंति । तं जहा-अणिदाणयाए, दिट्ठिसंपन्नयाए, जोगवाहित्ताए, खंतिखमणयाए, जिइंदियत्ताए, अमाइल्लयाए, अपासत्थयाए, सुसामण्णयाए, पवयणवच्छल्लयाए, पवयणउब्भावणयाए । " इति स्थानाङ्गदशमस्थाने । तथा-" णीयावित्ती अचवले, अमाई अकुतूहले । विणीअविणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥" (२७ गाथा) तथा-"पयणुकोहमाणे अ, मायालोभे पयणुए । पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥ " (२६गाथा) इति चतुस्त्रिंशोत्तराध्ययने । तथा-"अणिस्सिओवहाणे त्ति " समवायाङ्गे द्वात्रिंशद्योगसङ्ग्रहाधिकारे । तथा-"नाणं पंचविहं पन्नत्तं । तं जहा-आभिणिबोहिअनाणं० जाव केवलणाणं । तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं णो उद्दिसंति, णो समुद्दिसंति, णो अणुण्णविज्जंति, सुअनाणस्स उद्देसो १, समुद्देसो २, अणुण्णा ३, अणुओगो ४, पवत्तइ । " इत्याद्यनुयोगद्वारे उद्देशाऽऽदिकरणं च योगस्यैवेतिकर्तव्यता ।

एवं कालग्रहणाऽऽदिविधिरप्युत्तराध्ययनाऽऽदिगतो द्रष्टव्य. । उपधान च यथासिन्नङ्गाऽऽदौ भणित,नत्तद्विधिश्च योगविधिप्रतिपादकग्रन्थतो ज्ञेय' । कालक्रमश्च आचाराङ्गाऽऽदेस्त्रिवर्षाऽऽदिपर्यायः सूत्रोक्त.,तदुल्लङ्घनेन ददतस्तु आज्ञाभङ्गाऽऽदयो दोषा एव। स च कालो यथा—

" तिवरिसपरिआगस्स उ, आयारपकप्पणाममज्झयणं ।
चउवरिसस्स य सम्मं, सूअगडं नाम अंग ति ॥ १ ॥
दसकप्प ववहारा, संवच्छरपणगदिक्खिअस्सेव ।
ठाणं समवाओ वि अ, अंगाइ अट्ठवासस्स ॥ २ ॥
दसवासस्स विवाहा, एक्कारसवासयस्स य इमाओ ।
खुड्डिअविमाणमाई, अज्झयणा पंच णायव्वा ॥ ३ ॥
बारसवासस्स तहा, अरुणुववायाइ पंच अज्झयणा ।
तेरसवासस्स तहा, उट्ठाणसुआइआ चउरो ॥ ४ ॥
चउदसवासस्स तहा, आसीविसभावणं जिणा बिंति ।
पणरसवासगस्स य, दिट्ठीविसभावणं तह य ॥ ५ ॥
सोलसवासाईसु य, एक्कुत्तरवड्ढिएसु जहसंखं ।
चारणभावणमहसुवि-णभावणा तेअगनिसग्गा ॥ ६ ॥
एगूणवीसगस्स उ, दिट्ठीवाओ दुवालसममंग ।
वीसइ पुण वासवरिसो, अणुवाई सव्वसुत्तस्स " ॥७॥ इति ।

आवश्यकाऽऽदेस्तु योगोद्वहनोत्तरकाल एव काल इत्यवसेयम्। ध० ३ अधि० ।

अहुणा सेससाहूणं जोगविही विपाहिज्जइ । तत्थ पढमं कालग्गहणविही भणइ—"दिए १ वसहि २ कालवेला ३, दिसि ४ सोही ५ कालविहि ६ समक्खाया । सज्झायप्पट्ठवणं ७,वुच्छामि जहागमं सुगमं"॥१॥ दारं । तत्थ चित्तस्स आसोयस्स य सुक्कपंचमीए, आसाढस्स कत्तियस्स य सुक्कचउद्दसीए य मज्झण्हाओ आरब्भ पडिवयंतेसु दिणेसु तारेसु पुण सावणपुण्णिमाए महाअसज्झायं ति काउं कालग्गहणं—अज्झयणुद्देसाइयं ण कीरइ, जगवईवज्जं जोगा य ण णिक्खिप्पंति । चित्तसुद्धपणगारमीओ आरब्भ पुन्निमतेसु दिवसेसु अचित्तरजओहमावणत्थं पडिक्कमणाणंतरं चउज्जोअगर चिंतयमाणो काउस्सग्गो कीरइ । अह न सुमरियं तो संवच्छरं जाव भूमीए पज्जंताए असज्झाओ । सूरग्गहणे मुक्के तं चेव अहोरत्तमसज्झाइय, अमुक्के तं चेव, अन्नं च । एवं चंदग्गहणे मुक्के सा चेव राई; अमुक्के सा राई. अन्नं च अहोरत्तं ॥

यत —

"सग्गह निव्वुड एवं, सूराई जेण हुंतिऽहोरत्ता ।
आइन्न दिणमुक्के, सो चिय दिवसो य राई य" ॥१॥

गंधव्वनगरादिसिदाहउक्काविज्जूहिं इक्किका पोरिसी असज्झाओ । गज्जिए दो पोरिसी । रविजुयअद्दानक्खत्ताओ जाव साइयंता दस नक्खत्ता, ताव विज्जुगज्जिएहिं न असज्झाओ । धमहम्मे भूमिकंपे य अट्ठप्पहरा । मंसरुधिरपञ्जिवुड्ढिमए सत्तघरअंतरगए य अहोरत्तं । महियाए रओवुट्ठीए महाकलहे आसन्ने पुरिसाणं इत्थीणं वा जुज्झधूलिमाइमहे गाढपलीवणे जच्चिरं दंभिए कालगए ठवियंवे जाव असमंजसं, ताव असज्झाओ । निरंतरं बुब्बुयवुट्ठीए तिन्हं, सामन्नधाराए पंचण्हं, फुसियमित्ताए सत्तण्हं दिणाणं परेण आउकायभावियं ति भिन्नमासं असज्झाओ । वसही पुण गीयत्थेण उभयकालं दव्वाइएहिं सोहियव्वा—तत्थ तेरिच्छं सोणियमंसचम्मअट्ठिरूवं अणुब्भियं सत्तट्ठहत्थअब्भंतरे पढणकालाओ पोरिसितिगमसज्झाओ । सोणियं पुण भूमिपडियं उद्दिठं न कप्पइ । मंसे पुण वहि धोए अंतो पक्के कप्पइ । अंडए भिन्ने गवाइपसूयाए तहा जराए पडिए तहेव पोरिसितिगमसज्झाओ । विरालाइणा महाकायमूसगाइगहिए अंतो सट्ठिहत्थस्स अहोरत्तमसज्झाओ । हयवाहेण वूढे अग्गिणा दड्ढे परियावन्ने विवन्ने गिलिओगिलिए उभयनिग्गमसगरुवाहिए हंतरिए य न असज्झाओ, माणुस्सए वि नवरं हत्थसए तिण्णि अहोरत्तं । अट्ठिए पुण वारस वरिसाणि । दंते नट्ठे पयत्तेण गविट्ठे अदिट्ठे तस्सोहडावणट्ठं अट्ठुस्सासो उस्सग्गो कीरइ । इत्थीए मासाविए महाउवत्ताए तिन्नि दिणाणि असज्झाओ; परओ तहा पावासुयाए वसवेहिं पन्नवियाए अणत्थंताए तहेव काउसग्गो । पसूयाए कवडए जाव सत्तदिणे, कन्नियाए पुण अट्ठदिणं, जगदलाइएसु बाहिं धोइयवूढखयगाढबंधिए न असज्झाइयं । तह विगलंतेहिं तिन्नि बंधा कायव्वा । अणाहमडए बाहिं नीणियमित्ते विसुज्झइ ।

"रुहाइगिहसुसाणे, आसिवोमाऽऽयाएँ बार वरिसाणि ।
असज्झाइयं च रुहिरे, मच्छियपाओ जहिं खुप्पे ॥१॥
असज्झाइएँ आलोए, कालाईए अणुच्चरण कुज्जा।
घाणामुत्तपुरीसे, चिलिमिलि अन्नत्थ गम्मइ वा ॥२॥"

एवं सुद्धे दिवसे पच्छिमपोरिसीए सोहित्तु गुरुपुरओ वसहीए पवेइयाए आवस्सए कए फिडियाए कालवेलाए जहाकाले उस्सग्गेसु तिसु चउसु वा कएसु कालो सज्झायस्स घेप्पइ,न हि वाघाइओ कालो घित्तव्वो। अङ्करत्ते पुण फिडणे अड्ढरत्तिओ, तइयपहरंतसमयए वेरत्तिओ, तओ वेरत्तियसज्झायपट्ठवणं । तस्सज्झायकरणकालं विलंबिय, जहा खलियाइणा अट्ठवेलाइए कालग्गहणवेला, पडिक्कमणवेला य पहुच्चइ, तहा पाभाइओ घेत्तव्वो । तहा तिसु तिण्हि तारगाओ त्ति पाभाइए अदिट्ठे वि वासासु अ तारगा चउरो उन्नम्मि दिट्ठो वि कालग्गहणवेलाए आयरियस्स सज्झाइकरणविक्खेवाइणा वायणायरियअभावे य कालग्गाहिणो असमर्थाए हिंसाए निरावाहट्ठाणे ठवणायरि-

यं ठवित्तु पढमकालकाउस्सग्गं एयदिसाभिमुहो चेव करिंति।
तं जहा–"पाउसिअ अहोरत्ते, उत्तरदिसि पुव्व पेहए कालं।
वेरत्तियम्मि भयणा, पुव्वदिसा पच्छिमे काले" ॥ १ ॥
कालग्गाही पुण पुरिसगुणजुत्तो कालं गिण्हइ ।
" पियधम्मो दढधम्मो, संविग्गो चेवऽवज्जभीरू य ।
खेयन्ने य अभीरू, कालं पडिलेहए साहू " ॥२॥
सामन्नेण ताव कालग्गहणविही भणइ–
"कणगा हणंति कालं, ति पंच सत्तेव सिसिरवासेसु ।
उक्का उ सरेहा जा, रेहारहिओ भवे कणगो" ॥ ३ ॥
कणगो सण्हरेहो, पगासविरहिओ य । उक्का महंतरेहा, पगासकारिणी य। अहवा–रेहाविरहिओ विप्फुलिंगो पगासकरो उक्का चेव। काले गिण्हमाणे कालग्गाहिणो दंडधरस्स वा वच्चंतस्स णियत्तंतस्स कालिल्लियावणिया, काउस्सग्गो वा वढणाणंतरं संदिसावणपवेयणसमए वा पावासुयाई रुयंतेहिं अच्चायासेण रुयंति अजं परिहिंडगेण जंपिऊण अण्णेणावि वीसरसद्दरुयंतेण ढींगाछित्तयविहसियनिट्ठुरपहरणरोसाविच्छस्स गर्हि सिढिमारिहिच्चाइ अणिट्टनिमएण च ठच्चउविहम्मं ति सव्वत्थ जोइवुच्छिखलियाइएहि य उवहविओ पाभाइओ पुण उवहओ इक्किक्कमंडले तिन्नि वारे घित्तुं कप्पइ। अभावे पुण तहिं चेव नववेला घिप्पइ। इमिणा विहिणा जइ संदिसावणपुव्वं भज्जइ, तो मूलाओ घिप्पइ। अह संदिसावणाणंतरं वच्चंतस्स कालमंडलस्स पडिलेहणाणंतरं पुव्व वा भज्जइ, तो एमेव नियत्तियकालगिण्हवो ठवणायरियसमीवे खमासमणपुव्वं संदिसावणविहिणा कालमंडलं आगच्छइ। अह कालमंडले पडिलेहणाणंतरं कालकाउस्सग्गेण काउस्सग्गाणंतरं कालमंडले ठियस्स तो तत्थेव ठिओ ठवणायरियसंमुहं ठाऊण पंचंगखमासमणपुव्वं संदिसाविय पुणो मूलाओ काउस्सग्गं करेइ । अह कालकाउस्सग्गाणंतरं गच्छंतस्स पवेयणसमए भज्जइ, तो मूलाओ घिप्पइ ।

विसेसेण कालग्गहणविही भण्णइ–तत्थ पाउसिए पढमं कालभूमिं पमज्जिय दक्खिणदिसाए ठवणायरियं ठवित्तु कालग्गाही दंडियाहत्थवामपासट्ठियदंडधरसमीवे खमासमणपुव्वं भणइ–इच्छाकारेण संदिस्सह वाघाइअकालपडियरउं, इत्थ मत्थएण वंदामि । आवसी इत्थं आसज्ज ३, निसीही १ आसज्ज ३, निसीही १ आसज्ज ३, निसीही नमो खमासमणाणं भणिय कालसगासे दो वि चिट्ठंति। तओ दंडधरो दिसाऽऽलोयं करिय हत्थट्ठियदंडियासंमुहं मत्थएण वंदामि। आवसी इत्थं इच्चाइ नमो खमासमणाणं भणिय ठवणायरियसमीवे खमासमणं दाउं एवं भणइ–इच्छाकारेण संदिसह वाघाइय च कालं वावट्टइ, इत्थं मत्थएण वंदामि। आवसी इत्थ आसज्जइ ३, इच्चाइ नमो खमासमणाणमित्थं भणिय कालग्गाहिसमीवे दक्खिणाभिमुहो चिट्ठइ । इत्थ गंडकमकएहिं दिट्ठंतो नायव्वो । जइ दंडधरेण महंतसरेण घुट्ठं, तो जेण न सुयं, तस्स कालो न दिज्जइ, अह न एहिं न सुयं, तो दंडधरस्स न दिज्जइ । तओ कालग्गाही दंडियासंमुहं मत्थएण वंदामि, आवसी इत्थं आसज्जइ ३, इच्चाइ नमो खमासमणाणमित्यन्तम्। तओ ठवणायरियसमीवे खमासमणपुव्वं इरिय पडिक्कमइ, नमोक्कारं चिंतेइ, पारित्ता नमुक्कारं भणइ खमासमणाणं पुव्वि मुहपुत्तिं पेहिय बारसावत्तं वंदणं दाउं–इच्छाकारेण संदिसह वाघाइअकालालिआवणियं इत्थं मत्थएण वंदामि। आवसी इत्थं आसज्ज ३, नमो खमासमणाणमिच्चाइणा कालमंडले जाइ दंडधरो, तस्संमुहं दंडियं धरेइ, तओ कालग्गाही तयग्गे ओहडिउं मत्थएण वंदामि, इरियावहियं पडिक्कमिउं इत्थं इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए भणिउ काउस्सग्गे नमुक्कारं चिंतइ। पारित्ता नमुक्कार भणिय संडासए पडिलेहिय दो वि उवविसंति। तओ कालग्गाही दाहिणचलणोवरि संबद्धं कालमंडले रयहरणं ठविय मुहपुत्तिं उवरि कायं च पेहिय वामहत्थेण कालमंडलं संघट्टिय दाहिणहत्थगहियरयहरणेण पाए पमज्जिय मुहपुत्तिं संगोविय दाहिणजंघमूले रयहरणं वामहत्थेण निवेसिय रयहरणदसियाहिं दाहिणहत्थं तिण्णिवारे हिट्ठोवरि संघट्टिय कालमंडलसंडियकयसंपुडहत्थदुगंगुट्ठएहिं नासाए दाहिणकन्ने वा तिन्नि वारे उवओगं करिय हिट्ठोवरि दोहिं हत्थेहिं एगंतरियं तिन्नि वारे आवत्तेण भूमिं परामुसिय दाहिणहत्थगहियरयहरणेण कालमंडलट्ठियवामकरंगुट्ठअंगुलीणं अंतरे तिन्नि वारे पमज्जिय वामजाणुणा कालमंडलं संघट्टिय दंडधरहत्थाओ दंडियं गहिय पेहिय कडीए निवेसेइ । एवं तिन्नि वारे पुत्तिपेहणपुव्व मंडलं पडिलेहिय दंडियं नमोक्कारपुव्वं दंडधरकरे समप्पेइ । तओ दोहिं हत्थेहिं कालमंडलं संघट्टिय हत्थेसु पाएसु समगलाइंतो निसीही नमो खमासमणाणं ति भणंतो कालमंडले पविसइ, चोलपट्टं पडिलेहेइ, सागारियस्स भावे उड्ढो होऊण रयहरणेणं तं पमज्जिय भणइ–वाघाइकालियावणियं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थूससिएणं० जाव वोसिरामि। कालग्गाहे उद्धट्ठिए दंडधरो वि उड्ढो होऊण भणइ–इच्छकारि साहवो ! उवउत्ता होह । वाघाइयकालं वावट्टइ, दंडियं तस्स रज्जे धरइ, अभिक्खणं कालग्गाहिस्स पाए पमज्जइ य, इयरे काउस्सग्गे नमुक्कारं चिंतिय साणियं वाढाओ समाहट्टु रयहरणसणाहं मुहपुत्तियं मुहे दाउं सत्तावीसुस्सासं चउवीसं थयं चिंतेइ । तओ दुमपुप्फियं

सामन्नपुव्वियं अज्झयणे, तइयज्झयणस्स सिलोगं च । एवमुत्तराए चिंतिय पुव्वाए दाहिणाए पच्छिमाए चिंतेइ, पुणो उत्तराए बाहाओ अवलंबिय नमुक्कार चिंतेइ, पारित्ता नमुक्कारं कड्ढित्ता मत्थएण वंदामि आवस्सी इच्छ इच्चाइविहिणा उत्तरायरियसमीवे पवेसिय खमासमणपुव्वं इरियं पडिक्कमइ; काउस्सग्गे नमुक्कारं चिंतिय भणित्ता य खमासमणपुव्वं पुत्तिं पेहिय वंदणं दाउं इच्छाकारेण संदिसह वाघाइअकालं पवेमिउं, इच्छ खमासमण इच्छकारि साहवो वाघाइयकालो सुज्झइ । भगवन् ! सुद्धो वाघाइओ कालो सुद्धो । तओ मंगलाइमज्झायं करिंति । दंडधरो खमासमणपुव्वं भणइ—साहवो ! दिट्ठं सुयं किंचि पुच्छिए,सुद्धो कालो । एवं अड्ढरत्तियपाभाइया वि घिप्पंति । केवलं तयभावे पाभाइए इच्छाकारेण संदिसह पाभाइओ कालग्गिओ० जाव सुद्ध त्ति भन्नइ । एवं सुद्धे काले पाभाइए य उत्तरायरियसमीवे गुरूहिं सम खमासमणपुव्वं पुत्तिं पेहिय वंदणे दिन्ने साहवो भणंति—इच्छाकारेण संदिसह सज्झायं संदिसाविउं । गुरू भणइ—संदिसावेह । साहवो इच्छं ति भणिय खमासमणं दाऊण भणंति—इच्छाकारेण संदिसह सज्झायं पट्ठविउ । गुरू भणइ—पट्ठवेह । साहवो इच्छं ति भणंति । तओ गुरूहिं एवं चेव पट्ठाविए सव्वे भणंति—सज्झायस्स पट्ठावणियं करेमि काउस्सग्गमिच्चाइ० जाव वोसिरामि । तओ नमुक्कार चिंतिय सणियं सणियं बाहाओ साहट्टु सत्तावीसुस्सासं चउवीसत्थयं दुमपुप्फियं सामन्नपुव्वियं तइयज्झयणसिलोगं च चिंतिय बाहाओ अवलंबिय नमुक्कारं चिंतिय पारित्ता नमुक्कारं भणिय वंदणं दाउं गुरुं भणइ—इच्छाकारेण संदिसह सज्झायं पवेइउं इच्छं पुणो खमासमणपुव्वं भणइ—इच्छकारि साहवो सज्झाओ सुज्झइ । भगवन् ! सुद्धो सज्झाओ सुद्धो । एवं साहूहिं वि गुरुपुरओ सज्झाए पवेइए सव्वे समगं सज्झायं करिंति । तओ वंदणगं सज्झायं करिंति । तओ वंदणगं दाउ गुरूहिं वइसणगे संदिसाविए खमासमणपुव्वं वइसणगे ठामि त्ति भणिए इयरे वि तहेव करिंति । पाभाइयसज्झायं पुण तओ०जाव सुद्ध त्ति भन्नइ । अत्रापि क्षुतस्खलिताऽऽदिभिः कालव्याघातः । एवं सुद्धे सज्झाए पोरिसिं०जाव सज्झाइत्ता उत्तरायरियसमीवे खमासमणपुव्वं इच्छाकारेण संदिसह सज्झायं पडिक्कमिउ इच्छं सज्झायपडिक्कमावणियं करेमि काउस्सग्गमिच्चाइ नमुक्कारचिंतणं, भणणं च । एवं कालपडिक्कमणं पि पाभाइए पुण पच्छिमपोरिसीए पुणो वि सज्झाय पट्ठविय करिय पडिक्कमिय कालो पडिक्कमेयव्वो । असुद्धे पुण पाभाइए अन्नो वि कालो सुपडिजग्गिओ पाभाइयठाणे ठाएयव्वो ॥ दारं ॥ ७ ॥

"जोगिगुणा १ जोगुक्खिव २, सुय अंगुद्देसऽणुन्न नंदी य ३ । जोगाणुट्ठाणविही ४, कप्पु ५ स्संघट्ट ६ निक्खेवो ७ ॥ १ ॥

तत्थ—

गुरुभत्तो अपमत्तो, खंतो य निरुयगत्तो ।
धीरचित्तो दढसत्तो, विणयजुत्तो भवविरत्तो ॥ २ ॥
जियलोहो जियनिद्दो, हियपियमियजंपिरो मिउ असत्थो ।
अप्पाहारो अप्पो–वही य दक्खो सुदक्खिन्नो ॥ ३ ॥
पंचसमिओ तिगुत्तो, उज्जुत्तो संजमे तवे चरणे ।
परिसहसह होइ मुणी, विसेसओ जोगवाहि त्ति ॥ ४ ॥
कयसोहिल्लोयकम्मे, तिवासपरियाइएण कालेण ।
आयारपकप्पाई, उद्दिसिउ कप्पई जुग्गो" ॥ ५ ॥

तत्थ जोगा दुविहा—गणिजोगा, बाहिरजोगा य । गणिजोगा विवाहपन्नत्ती, बाहिरजोगा उक्कालिया । उक्कालिया आवस्सगाई । ते पुण संघट्टयं, कालिए सुसंघट्टयं । ते दुविहा—आगाढा, अणागाढा य । आगाढा—उत्तरज्झयणासत्तिक्कयाविवाहपन्नत्तीपन्हवागरणमहानिसीहाणि । आगाढा नाम—सव्वसम्मत्तीए उत्तरिज्जइ त्ति काउं आगाढेसु उत्तरज्झयणवज्जेसु आउवाणयं च हवइ । सेसा सव्वे अणागाढा । असम्मत्तीए वि कारणे दिणतिगाणंतरं उत्तरेज्जइ त्ति गोसे पडिक्कमणाणंतरं चूलियाए पवेइयाए पडिलेहणाणंतरं वसहीए पवेइआए साहू लवओगं करिय गये आणिय गओ पुरओ पुत्तिं पेहिय खमासमणपुव्वं भणइ—इच्छकारि तुम्हे अम्हे जोगुक्खेवावणियं देवे वंदावेह । तओ सक्कत्थयं भणिय खमासमणपुव्वं जोगुक्खेवावणियं सत्तावीसुस्सासं काउस्सग्गं रज्जं करिय चउवीसत्थयं भणइ । कालिएसु पुण गुरूहिं जोगवाहिए सज्झायपट्ठविए जोगुक्खेवे कए सुयक्खंधस्स अंगस्स उद्देसे अणुन्ना य नंदी भवइ । तत्थ खमासमणपुव्वं अमुगसुयखंधं अगउद्देसावणियं वा नंदिकड्ढावणियं वा मनिक्खेवं करेह । एवं देवे वंदावेह । तओ वड्ढंतियाहिं थुईहिं देवे वंदिय बारसावत्तं वंदणं देइ । तओ दो वि नंदिकड्ढावणियं सत्तावीसुस्सासं काउस्सग्गं करिंति, चउवीसत्थयं भणंति । तओ गुरू नमुक्कारपुव्वं नंदिं कड्ढइ । सा चेयं—नाणं पंचविहं पन्नत्तं । तं जहा—आभिणिबोहियनाणं, सुयणाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवलनाणं । तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं नो उद्दिसिज्जंति, नो समुद्दिसिज्जंति, नो अणुन्नविज्जंति, सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो य पवत्तइ । जइ सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो य पवत्तइ, किं अंगपविट्ठस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो य पवत्तइ ? । अंगपविट्ठस्स जइ उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ, अंगबाहिरस्स वि

उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ । जइ अंगबाहि-
रस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ,किं आवस्स-
गस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ,आवस्सगवइ-
रित्तस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ ?॥४॥ जइ
आवस्सगवइरित्तस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ,
कालियस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ। उक्का-
लियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ, दसवेयालि-
यस्स रायपसेणियस्स जीवाभिगमस्स पण्णवणाए महा-
पण्णवणाए नंदीए अणुओगदाराणं देविंदत्थयस्स तंदुलवेया-
लियस्स चंदाविज्झयस्स पोरिसिमंडलस्स मंडलिपवेसस्स
गणिविज्जाए विज्जाचरणविणिच्छियस्स झाणविभत्तीए
मरणविभत्तीए आयविसोहीए संलेहणासुयस्स वीयराग-
सुयस्स विहारकप्पस्स चरणविहीए आउरपच्चक्खा-
णस्स सव्वेसिं पि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणु-
ओगो पवत्तइ । जइ कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अ-
णुण्णाणुओगो पवत्तइ, उक्कालियस्स वि उद्देसो समुद्देसो
अणुण्णाणुओगो पवत्तइ । जइ आवस्सगवइरित्तस्स
उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ, कालियस्स वि
उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ, उक्कालियस्स वि
उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ ॥५॥ जइ उक्कालि-
यस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ,दसवेयालियस्स
रायपसेणियस्स जीवाभिगमस्स पण्णवणाए महापण्णवणाए
नंदीए अणुओगदाराणं देविंदत्थयस्स तंदुलवेयालियस्स
चंदाविज्झयस्स पोरिसिमंडलस्स मंडलिपवेसस्स गणिविज्जाए
विज्जाचरणविणिच्छियस्स झाणविभत्तीए मरणविभत्तीए
आयविसोहीए संलेहणासुयस्स वीयरागसुयस्स विहारकप्प-
स्स चरणविहीए आउरपच्चक्खाणस्स सव्वेसिं पि एएसिं
उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ ॥६॥ जइ कालियस्स
उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्तइ,किं उत्तरज्झयणा-
णं कप्पस्स ववहारस्स इसिभासियाणं निसीहस्स महानि-
सीहस्स सूरपण्णत्तीए जंबूदीवपण्णत्तीए चंदपण्णत्तीए दीवसा-
गरपण्णत्तीए खुड्डियाविमाणपविभत्तीए महल्लियाविमाण-
पविभत्तीए अंगचूलियाए वंगचूलियाए विवाहचूलियाए
अरुणोववाए देविंदत्थयस्स [वरुणोववायस्स] तंदुलवेया-
लियस्स चंदाविज्झयस्स पोरिसिमंडलस्स मंडलिपवेसस्स ग-
णिविज्जाए विज्जाचरणविणिच्छियस्स झाणविभत्तीए मर-
णविभत्तीए आयविसोहियस्स गरुलोववायस्स धरणोववा-
यस्स वेसमणोववायस्स वेलंधरोववायस्स [देविंदोववायस्स]
उट्ठाणसुयस्स समुट्ठाणसुयस्स नागपरियावलियाण निर-
यावलियाणं कप्पियाणं कप्पवडिंसियाणं पुप्फियाणं पु-
प्फिआवलियाणं वन्हियाणं वन्हिदसाणं आसीवि-
सभावणाणं दिट्ठीविसभावणाणं चारणभावणाणं महा-
सुमिणभावणाणं तेयग्गनिसग्गाणं सव्वेसिं वि एएसिं उद्देसो
समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ ॥ ७ ॥ जइ अंगपविट्ठस्स
उद्देसो समुद्देसो अणुन्नाणुओगो पवत्तइ, किं आयारस्स
सूयगडस्स ठाणस्स समवायस्स विवाहपन्नत्तीए नायाध-
म्मकहाणं उवासगदसाणं अंतगडदसाणं अणुत्तरोववा-
इयदसाणं पण्हवागरणाणं विवागसुयस्स दिट्ठिवायस्स
सव्वेसिं पि एएसिं उद्देसो समुद्देसो अणुण्णाणुओगो
पवत्तइ ॥८॥ इम पुण पट्ठवणं पडुच्च इमस्स साहुस्स साहु-
णीए वा अमुयसुयक्खंधस्स अंगस्स च उद्देसो नंदी अणु-
न्ना णंदी वा पवत्तइ, तओ उवविसिय मंताणं सेज्जं
वामदाणं ; तओ जोगवाही खमासमणं दाउं भणइ-
इच्छकारि तुम्हे अमुगसुयक्खंधं अंगं वा उद्दिसह । गुरू भ-
णइ-उद्दिसामि । बीयखमासमणेणं संदिसह-किं भणामि ?।
तइए अमुगसुयक्खंधं अंगं वा उद्दिट्ठं । इच्छामि अणुसट्ठिं।
गुरू भणइ-उद्दिट्ठं उद्दिट्ठं । खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं
अत्थेणं तदुभएणं जोगं करिज्जाहि । चउत्थे तुम्हाणं
पवेइयं साहूणं पवेइयम्मि । पंचमे नमुक्कारेणं पयक्खिणाइं,
एवं तिन्नि वारा । छट्ठे तुम्हाणं पवेइयं साहूणं साहूणीणं
पवेइयं संदिसह-काउस्सग्ग करेमि । सत्तमए अमुगसुयक्खंध-
अंगउद्दिसावणियं करेमि काउस्सग्गं इत्यादि सत्तावीसु-
स्सासचिंतणं चउवीसत्थयभणनं। एवमणुन्नाए वि; नवरं
सम्मं धारिज्जा, अन्नेसिं च पविज्जाहि । समुद्देसे पुण थिरप-
रिचियं करिज्जाहि। सुयक्खंधे उद्दिट्ठे तस्स अज्झयणाइं उ-
द्दिसिय अज्झयणंतं उद्दिसिज्जइ। तं तिविहं-एगसरं, समु-
द्देसं, विसमुद्देसं च । एगसरं नाम-उद्देसगरहियं । समुद्देसं
दुविहं-दुउद्देसं, चउछक्कउद्देसगं । विसमुद्देसं-तिगपणग-
उद्देसं । तत्थ एगसरं अज्झयणं उद्दिसिय समुद्दिसिय
तिविहेण संदिसाविय खमासमणपुव्वं गिण्हामि त्ति
भणिय खमासमणदुगेण कालमंडलं संदिसावेमि, पमि-
लेहिस्सामि,० खमासमणदुगेण वइसणए ठामि, तओ
वंदणं दाउं अज्झयणमणुन्नविय खमासमणदुगेण
कालमंडलं संदिसावेमि, पडिलेहियस्सामि, खमासमणदुगेण
सज्झायं पडिकमिस्सामि,तिविहेण वि वइसणं संदिस्सावे-
मि, पमिलेहिस्सामि, [खमासमणदुगेण सज्झायं पमिकमि-
स्सामि,तिविहेण वि वइसणं संदिस्सावेमि,पमिलेहिस्सामि,
खमासमणदुगेणं सज्झायं पडिकमिस्सामि,] तिविहेण वि
वइसणं संदिसाविय खमासमणदुगेण वइसणए ठामि
तओ वंदणं दाउं अज्झयणमणुन्नाविय खमासमणदुगेण
कालमंडल० खमासमण० सज्झायं पडिकमामि, खमा-

समणदुगेण काउं पमिकमामि, तओ वइसणावंदणं । एवं एगसरे तिन्नि काउस्सग्गए एगं दिणं दुउद्देसज्झयणा बंदणं दाउं अज्झयणमुद्दिसिय पढमुद्देसए बीयउद्देसो उद्दिसिज्जइ, तं पढमुद्देसे समुद्दिसिय बीयउद्देसो उद्दिसिज्जइ। तं पढमुद्देसो समुद्देसिज्जइ, तओ बीओ, तओ अज्झयणे, तओ वायणाइयं, तओ वंदणं दाउं पढमुद्देसो अणुन्नविज्जइ, तओ बीओ, तओ अज्झयणं, तओ कालमंमलाइयं। एवं तवउवसग्गा दिणमेगं; एवं सए वि जत्थ एगो काओ नवगं आइल्ला अंतिल्ला उद्देसा इति वत्तव्वं। वग्गे वि एवं। नवरं अज्झयणं ति वत्तव्वं, चउराइयमुद्देसे वंदणं दाउं अज्झयणुद्देसपुव्वं पढमं पढमे बीओ बीए उद्देसो उद्दिसिज्जइ। तओ दो वि उद्देसमसमुद्देसयवायणाइयं काउं वंदणयपुव्वं दो वि अणुन्नविज्जंति। एवं उस्सग्गा सत्तदिणमेगं। एवं सेसा दो दो उद्देसा छहिं उस्सग्गेहिं एक्किकादिणेण वच्चंति, अंतिल्ला पुण दो उद्देसा उद्दिसिय समुद्दिसिय तओ अज्झयणं समुद्दिसिय वायणाइयं काउं उद्देसदुगमज्झयणं च अणुन्नविज्जइ। एवं अट्ठ उस्सग्गा दिणमेगं। एवं विसमुद्देसेसु वि। नवरं उद्देसमुद्दिसिय अज्झयणं समुद्दिसिज्जइ, तओ उद्देसमणुन्नविज्जइ, एवं उस्सग्गा पंच,दिणमेगं,तहा सुयखंधो। तत्थ दो दिणा–एगेण समुद्देसो,एगेण अणुन्ना। जत्थेगे दो सुयखंधे तत्थेगदिणेण सुयखंधस्स समुद्देसो, एगेण अणुन्ना। जत्थेगे दो सुयखंधा तत्थेगदिणेण सुयखंधस्स समुद्देसो, अंगसुयखंधो, उद्देससमुद्देसो, एगेण अणुन्ना। जत्थेगदिणेण सुयखंधस्स समुद्देसो, अणुन्ना य, अंगसुयखधो उद्देसो अणुन्ना वि ण य पडिनिरुद्धं करियउं पारणगं वा निद्दिसंति आयामाइपारणगं, निव्विइयं, तओ खमासमणपुव्वं पच्चक्खाणं करेइ, तओ वइसणावंदणग। इत्थं वइसणाणंतरं पवेइयव्वं, तो पढमं वइसणयं संदिसावणयं न किज्जइ, पच्चक्खाणाणंतरं वइसणयं वंदणेण वेसाइ,तओ खए संघट्टय मुहपत्ती खए संघट्टय संदिसाविय खए सघट्टलेओ० जाव सरीरखए संघट्टाल्लियावणियं काउस्सग्गे नमुक्कारचिंतण, भणणं च। एवं आउत्तवाणयं पि,नवरं तइए खमासमणाणंतरं तवा तउआ सीसा काँसा सोना रूपा हाडचामरुधिर वालमूकी मांसाऽऽदि; इत्येवमादि ओहमावणिय करेमि काउस्सग्गमित्यादि कायोत्सर्गो पूर्ववत्। भगवईए पच्चूहाए आउत्तवाणए पुत्तीओ न पेहिज्जंति, इक्किके काले दो दो सज्झाया, दो दो कालमंमलाणि, एवं सव्वं पि पढमपोरिसिमज्झे न पट्टविज्जा, तो काले पइ इक्किकं सज्झायं पट्ठविता अणुट्ठाणं कीरइ, दो सज्झाया कालमंडलाणि य पच्छिमपोरिसाणंतरं वि करिज्जा, अह न पट्टविज्जा, नो कय पि अणुट्ठाणं मूलाओ उच्छिज्जा, वाघाइयकाले सुद्धे अज्झयणे दिवसाइय राईए वि करिज्जा, तहा पच्छिमपोरिसीए कालियजोगेसु वइसणावंदणं संघट्टा आउत्तवाणयं पि उट्ठावणिकाउस्सग्गं च कीरइ, संघट्टेण पुण आरभदिणा पारइ छम्मासाणंतरं आरओ चेव पूरिज्जति।

"आवस्सगे य एगो, सुयखंधो छच्च हुंति अज्झयणा।
दुन्नि दिणा सुयखंधे, सव्वे वि य हुंति अट्ठ दिणा ॥१॥
दसयालियम्मि एगो, सुयखंधो बारसेव अज्झयणा।
पंचम नवमे दो चउ, उद्देसा दिवस पन्नरसा ॥ २ ॥
छत्तीसं अज्झयणा, एगेगादिणेण तुरियमस्संखा।
दो दिण दो सुयखंधे, गुणचत्ता उत्तरज्झयणे ॥ ३ ॥
अट्ठेवेगसरा चउदस, एगेगदिणेण दुन्नि तइय दिणा।
'सत्तावीसं वासी' ' ·····मो इ पन्निइकप्पे " ॥ ४ ॥

असंखं पुण जइ पढमपोरिसीए उद्दिसइ, तो आयंबिलेण अणुन्नविज्जइ, जइ बीयदिणे पोरिसिमज्झे, तो निव्वीएण; अह ततो बीयदिणे वि आयंबिलं। एवं ऊणचत्ता अट्ठावीस दिणा छअट्ठज्झयणुद्देसा ॥

"सत्त य छ६चउ४ चउरो, छ६पंच५ अट्ठेव सत्त चउरो य।
इक्कारस११तिउ३ति३ दो२दो२, दो दो सत्तेक एक्को य"॥१॥

सुयखंधयदिणसमं आयरे सव्वदिणा पन्नत्ता। सत्थपरिण्णाए उद्देसा ७ दिण ४ लोगविजए उद्देसा ६ दिण ३ सीओसणिज्जे उद्देसा ४ दिण २ सम्मत्ते उद्देसा ४ दिण २ आवंईए उद्देसा ६ दिण ३ धुवज्झयणे उद्देसा ५ दिण ३ विमोहे उद्देसा ८ दिण ४ वहाणसुए उद्देसा ४ दिण २ महपरिण्णयज्झयणं वुच्छिन्नं, दिणमेगं सुयखंधं। णंदीए ण, एवं दिन २४। पिंडेसणाए उद्देसा ११ दिण ६ सिज्जाए उद्देसा ३ दिण २ भासज्जायाए उद्देसा २ दिण १ पाएसणीए उद्देसा २ दिण १ उवग्गहपडिमाए उद्देसा २ दिण १ सत्तसत्तिकया आउत्तवाणएणं दिण ७ भावणज्झयणे दिण १ विमुत्तिज्झयणे दिण १ बीओ सुयक्खधो। दिण १ अंगे दिण २ एवं आचारांगे दिण ५०। एयम्मि बूढे य कप्पजोगी हवइ, दिणसंप सव्वेसिं जोगवाहीण कप्पइ भत्तपाण पडिगाहित्तए।

"पढमज्झयणउद्देसा,चउ तिय चउ दो दु गार इक्कसरा १६।
बीए सत्तिकसरा २३, सूयगडे सव्वदिण तीसं" ॥१॥

तीसज्झयणेसु छव्वीस दिणा दो सुयक्खंधेसु इक्कं दिणं, अंगे दो दिणा, एवं तीसं दिणा।

"इक्कसरं १ चउ ३ चउ ४ निय,उद्देसा तउ पणेगसरा १०।
ठाणा अट्ठारस दिणा, उ सगडगदुनंदि तिन्नि दिणा"॥१॥
इयाणिं जगवई। सा य छम्मासेहिं छहि दिणेहिं ओडत्तवाणए एवं वच्चइ । इत्थ नत्थि सुयक्खंधो। सयाणि पुण इक्कतालीसं, सत्तरिं काला । इत्थ विवाहपन्नत्तिअंग नंदीए छद्दिसिय पढमसयं उद्दिसिज्जइ । तत्थ य उद्देसा दस इक्किक्कदिणेण दो दो जंति, एवं दिणा ५ । बीयसए वि दस उद्देसगा, नवरं पढमो खंदगुद्देसओ आयंबिलदुगेण सपाणभोयणाहि पचहिं दत्तीहिं दोहिं दिणेहि वच्चइ, सेसा नवुद्देसा पचहिं दिणेहिं, एवं दिणा सत्त । तइयसए देमुद्देसो पढमउद्देसओ एगदिणेण वच्चइ, बीओ चमरुद्देसओ खंदओ अ दोहिं दिणेहिं वच्चइ। एवं पन्नरसेहिं कालेहिं चमरेहिं अणुन्नाए ओगाहिमविगइविसज्जणत्थं अट्ठुस्सासो काउस्सग्गो कीरइ,छट्टजोगो वि लग्गइ। पच निव्विइया,छट्ठं आयंबिलं। तहा मोडयवघारियतीमणाइ कप्पइ। सेसा अट्ठुद्देसा चउहिं दिणेहिं वच्चंति। चउत्थसए दस उद्देसा। तत्थ पढमा अट्ठ आइल्लअनिल्ल त्ति काउस्सग्गेहिं एगदिणेण जंति। सेसा दो उद्देसगा अट्ठुस्सग्गेहिं एगेहिं दिणेण जंति। सव्वदिण वीसं । नवमदसमसएसु चउतीस उद्देसा, नव नव वग्गा, इक्किक्कं दिणं । इक्कारसमे सए उद्देसा १२ दिन १। बारसमे तेरसमे चउदसमे य उद्देसा १०दिन २। इक्किक्कदिणे पन्नरसमे गोसालए आयामदुगं, सपाणभोयणाओ तिन्नि दत्तीओ, दो दिणे, एवं एगेण चत्ताए कालेहिं गोसाले अणुन्नाए अट्ठम जोगो लग्गइ, सत्त निव्विइया, अट्ठमं आइल्लं पुण अट्ठमचउद्दसीसु आयामं । सेसाणि छव्वीसं सयाणि नव नव उस्सग्गेहिं इक्किक्कदिणेण जंति। तत्थ सोलसमे सए उद्देसा १४। सत्तरसमे उद्देसा १७। अट्ठारसमे उद्देसा१०। एगुणवीसइमे उद्देसा१०।वीसइमे उद्देसा१०।इक्कवीसइमे उद्देसा८०। बावीसइमे उद्देसा ६०। तेवीसइमे उद्देसा५०। करिंसुगसए२७ उद्देसा११। कम्मस' जेणाणसए २८ उद्देसा ११। उव्वट्टणासए ३२ उद्देसा २८। एगिंदियजुम्मसयाणि बारस ३३। तेसु चउव्वीसगमय दुहा काउं ६२। सेढीसयाणि बारस ३४ उद्देसा १२४। एगिंदियमहाकम्मसयाणि बारस ३५ उद्देसा १३२। बेइंदियमहाजुम्मसयाणि बारस ३६ उद्देसा १३२। चउरिंदियमहाजुम्मसयाणि बारस ३८ उद्देसा १३२। सन्निपंचिंदियमहाजुम्मसयाणि बारस ४० उद्देसा १३१। रासीजुम्मसए ४१ उद्देसा १९६ । एव काला ७५ अंगसमुद्देसे अणुन्नाए य इक्किं दिणं। एवं सव्वे सत्तहत्तरिं काला अणुन्नाए नंदीए नाम ठविज्जइ ।

"नायसुए गुणवीसं, एगारसऽज्झयण पढमसुयखंधे।
बीए पुण दस वग्गा, पण नंदी दिवस तिचीसं ॥१॥
दुसु दुसु वग्गेसु कमा, अज्झयणा हुंति दस य चउपन्ना।
बत्तीसा चउ अट्ठं, धम्मकहा बीयसुयखंधे ॥२॥
सत्तमए पुण अंगे, दस अज्झयणाणि एगसरयाणि।
चउदस दिण नंदितियं, एगो य तहा सुयक्खंधो ॥३॥
बारस दिण अट्ठमए, अंगे वग्गट्ठएसु अज्झयणा।
दस अट्ठ तेर दस दस, सोलस तेरस दस कमेण ॥४॥
नवमंगे सत्त दिणा, वग्गतिए तेसु अज्झयणसत्ता।
दसगं तेरस दसगं, नंदितियं एगसुयखंधो ॥५॥
दसमंगे एगसरा, दस अज्झयणाणि चउदस दिणा य ।
बूहाइ भगवईए, कप्पइ इह छट्टजोगि व्व ॥६॥
पढमम्मी सुयखंधे, एगसरा दस हवंति अज्झयणा ।
बीए वि दसेगसरा, चउवीस दिणा विवागसुए" ॥७॥

इयाणिं उवंगा–आयारे उवाइयं १,सूयगमे रायपसेणइयं २, ठाणे जीवाभिगमो ३, समवाए पन्नवणा ४, एए उक्कालिया । भगवईए सूरपन्नत्ती ५, नायाणं जंबुद्दीवपन्नत्ती ६, उवासगदसाए चंदपन्नत्ती ७। एए कालिया। सव्वे वि उद्देससमुद्देसअणुन्नत्थ आयंबिलतिगेण वच्चंति। अन्नेसिं पुण पन्नवणजुत्ते जोगमज्झे आयंबिलतिगपूरणत्थं वि वच्चति । अंतगडदसाइपंचन्हमंगाणं निरयावलियसुयक्खंधो उवंगं। तम्मि पंच वग्गा-कप्पियाओ,कप्पवर्डिसियाओ,पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ। एएसु चउसु दस दस अज्झयणा। वन्हिदसासु बारस। एवं दिणा ५,सुयक्खंधे दिणा २,सव्वे दिणा७।
अहुणा छेअग्गंथा–निसीहज्झयणा एगसरा दिन १८, सुयखंधे दिन २, एवं वीसं दिणा ।

"पढमेगसरं नव सो–ल सोल बारस,चउक्क उग वीसा।
सत्तऽज्झयणेसु निवियं, पइन्नगं तत्थ नदीए" ॥१॥

अणुओगदाराए तिन्नि निव्विइया। देविंदत्थया तंदुलवेयालियं चंदाविज्झया आउरपच्चक्खाण गणिविज्जा। एवमाइसु इक्किक्कं निव्वीइय॥ एवं आवश्यके दिन ८, दशवैकालिके दिन १५,[मंडलिके ७] उत्तराध्ययने ३९,आचारांगे ५०,सूत्रे ३०, ठाणांगे १८, समवायांगे ३,भगवती १८६,ज्ञाताधर्मकथा ३३, उपासकदशांग १४, अंतगडदशा १२,अणुत्तरोववाई ७,पण्हवागरण १४,विपाक २४,उवाई ३,रायपसेणी ३,जीवाभिगम ३, पन्नवणा ३, सूर्यप्रज्ञप्ति ३, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३, चन्द्रप्रज्ञप्ति ३, निरयावली ७, निशीथ १०, कल्पव्यवहार २०, महानिशीथ ४५, पंचकल्प १, जीतकल्प १, नंदी ३, अनुयोगद्वार १, ग० १ । सर्वसंख्या इगुवीस मास, दिन ६,संपयं आउत्तवाणए कप्पाकप्पविही। तत्थ सगच्छसवासयच्छिन्नाणं जोगवाहिसञ्ञी असज्झायं

य न उवहणइ । उल्लासन्नासणुपसाणमज्जाराईणं आमिसासीणं पक्खीणं अंतिणभक्खिणोच्चनयरस्स गयहयखगणं छिक्का समाणी उड्डं हड्ड चम्मं च उवहणइ । घणावंतीए वंतीए वंते अदिस्समाणे न उवहम्मइ । संभियमणुयतिरियपंचिंदियसंघट्टे उवहम्मइ । कप्पइ निव्विइगइयतिल्लीहिं कारणोपायगायगायाइ अब्भंगित्तए सीवणतुन्नणलेवणाइयं न कप्पइ काउं । आ उट्ठजोगाओ सव्वाविगईहिं बाबरूहत्थाए उट्ठजोगलग्गे पुण भोगाहिमवज्जाहिं भत्तपाणं उवहम्मइ । पगरणसंसट्ठमाइसराबाइठियं च न उवहणइ । तदिणनवणीयमिस्सकज्जलनयणंजियाए तद्दिणतिल्लमिस्सकुंकुमपिंजरियाए अब्भंगिएण य उवहम्मइ । कयाइ थिरं विगइसंसट्ठं उत्तिविमंतियमकप्पभायणं दुयंतरियं च न उवहणइ । एवं तिरिच्छन्तविएसु परोप्परं संबन्धेसु दायगेसु वि एसो उवहयाणुवहयविही भत्तपाणणिमित्तं काउस्सग्गे कए दट्ठव्वो । तहा ककवइक्खुरसगुल्लवणीणिसमसक्करक्खीरदुद्धसादियाकक्करियगुलहाणी वीसदणवाटनंदिहल्लनालियरातिलयरातिल्लीइ तहा वासीमोइमंक्खियमंमल्लामोइयसत्तुयकुल्लुरियोलासिहरणितिल्लवट्टिकरंबाइ छट्ठजोगा आउरं कप्पंति । छट्ठे जोगे पुण लग्गे न तत्ताद्दिणमोडवग्घारियतीमणाइयं कप्पइ । अववाएण असुहस्स तिन्हं घाणोतक्खियं विइंजणं न कप्पइ । गिहिभायणसइसजायणेणावि अप्पणा कप्पइ चंदपरिगाहित्तए । तहा जं जत्थ जोगे कप्पइ, तं चेव आवस्सयाइसु कप्पइ । भत्तपाणपमिलेहणकाले वीहिणुच्छगे रयहरणं च विअणुत्तरं परागयवीहीए पत्तबंधा पमत्तरिं कप्पइ पणवीसं उवही पेहिय उवसंतो भत्तपाणअगाहिए पुच्चिरयहरणे वेइयाबाहिरा पच्छितो य पुणो वि काउस्सग्गे संघट्टं वहइ । रओहरणपुच्चिवज्जो जा सरीरसंबंधी हवइ, सो पुणो वि पमिलेहियव्वो । वेइयाबाहिरगयं छुद्धजोयणोवरिगयं च भत्तं पाणं च मज्झपविट्ठं अंगुलिचउक्कोग्गहियं तिपणाइयं मज्झपविट्ठं अंगुट्ठाहियं पत्ताइयं च उस्संघट्टिज्जइ । भत्तं पाणं वा उगुडिजन्नूमीए रयहरणं पुच्चि वा भूमीए पमिए ठिओ निस्संनिसन्ने ठियस्स च अप्पेइ उगुमिउभूमीए ठियं संघट्टेइ । विगहाउ असंखडं वा करेमाणो तुयट्टो वा संघट्टे वा पेयलाइई पायचारिमणुयतिरियच्छिन्ने य ऊस्सेवट्ट २ भुंजइ, अकालसण्णं उद्धं वा करेइ, कालमंडलाणि थंमिल्लाणि य न पडिलेहइ, दिणवुड्ढी जोगनिक्खेवो वि उक्खेवसरिसो, नवरं पुच्चि पेहिय वंदणं दाउं पच्चक्खाणं काउं विगइविसज्जावणियं अट्ठुस्सासं काउस्सग्गं करिंति, पारिए नमुक्कारं भणंति ।

"इय वुत्तो जोगविही, संखेवेणं सुयाणुसारेणं ।
जं च न इत्थ उ भणियं, गीयायरणाउ तं नेयं ॥१॥
उम्मायं गुरुरोगा-ऽधम्मन्भरियं तु सव्वसंसारं ।
जोगविहीएऽपमत्तो, वायंतो कुज्ज जहभणियं ॥२॥"

एसा जोगविही जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं पवेइया सुअक्खाया सुपण्णत्ता भुज्जो भुज्जो णिग्गथाणं निग्गंथीणं जाणियव्वा पासियव्वा फासियव्वा पालियव्वा तीरइयव्वा किट्टइयव्वा, एसा णो अतिक्कामिअव्वा । एसाए विहीए बाहिया सुत्तपमिणीया अत्थपमिणीया तदुभयपमिणीया जिणाणाए विराहगा णिएहगा चेव अणंतसंसारिया, तेसिं पासे जोगविहीए विणा कडकिरियाकलावे एगंतसो मिच्छादिट्ठिया चेव, पुण जंबू ! एयारिसाए जोगविहीए बाहिया ते साहू कल्लाणं मंगलं देवयं चेइअमिव पज्जुवासणिज्जा मोक्खफलदायगा णेयव्वा, पुण जे जंबू ! अणुणाअणुओगकिरियावहिया साहुवेसे विहरंता वि किरियाए फलामोवं दंसइत्ता वि ते असाहू, दिट्ठीए वि ण दट्ठव्वा; सेवं भंते भंते त्ति । "तमेव सच्चं णिस्संकं, जं जिणेहिं पवेइअं ॥" अंग० ।

(आगाढानागाढयोगविधौ स्वाध्यायभूमेर्द्विविधत्वम् 'चरियापविट्ठ' शब्दे तृतीयभागे ११५६ पृष्ठे द्रष्टव्यम) अत्र महोपाध्यायश्रीविमलर्षिगणिकृतप्रश्नो यथा-षाण्मासिकयोगोद्वाहकानां षड्दिवसाधिकैर्वा षण्मासैर्वा, षड्दिवसहीनैर्वा, षण्मास्यालोचना दीयते । यदि षाऽधिकैस्तदानीमस्वाध्यायसम्बन्धिद्वादशदिनक्षेपवच्चातुर्मासिकास्वाध्यायदिनचतुष्टयमपि कथं न क्षिप्यते ? । तथा च दशदिनाधिकाः षण्मासा भवन्तीति कथमालोचनाविधिरिति प्रसाद्यम् ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-षाण्मासिकयोगवाहिनां षड्दिवसाधिकैः षण्मासैरस्वाध्यायदिनगणनानिरपेक्षमेव आलोचना दातव्येति वृद्धसंप्रदाय इति । १८ प्र० । ही० १ प्रका० । व्य० । (योगवाहकस्य कारणे विकृतिः कल्पत इति 'विगइ' शब्दे वक्ष्यते)

जोगविरिय-योगवीर्य-न० । भाववीर्यभेदे, स च त्रिधा, मनोवाक्कायभेदात् । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

जोगवीय-योगबीज-न० । मोक्षयोजकानुष्ठानकारणे, द्वा० २१ द्वा० । (तानि च 'जोगदिट्ठि' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १६४६ पृष्ठे गतानि)

जोगसंगह-योगसंग्रह-पुं० । युज्यन्ते इति योगा मनोवाक्कायव्यापारा, ते चेह प्रशस्ता एव विवक्षिताः, तेषां शिष्याऽऽचार्यगतानामालोचनानिरपलापाऽऽदिना प्रकारेण संग्रहणानि संग्रहाः, प्रशस्तयोगसंग्रहा, प्रशस्तयोगसंग्रहनिमित्तत्वादालोचनाऽऽदयोऽपि योगसंग्रहाः । प्रशस्तयोगसंग्रहनिमित्तेषु आलोचनाऽऽदिषु, स० ।

ते च त्रिंशद् भवन्ति । तदुपदर्शकं श्लोकपञ्चकमाह-

आलोयण निरवलावे, आवईसु दढधम्मया ।
अणिस्सिओवहाणे य, सिक्खा णिप्पडिकम्मया ॥७३॥

(आलोयण त्ति) प्रशस्तमोक्षसाधनयोगसङ्ग्रहाय शिष्येणाऽऽचार्याय सम्यगालोचना दातव्या १। (निरवलावे त्ति) आचार्योऽपि प्रशस्तमोक्षसाधको योगसङ्ग्रहायैव प्रदत्तायामालोचनायां निरपलापः स्यात्, नान्यस्मै कथयेदित्यर्थः २। एकारान्तश्च प्राकृते प्रथमान्तो भवतीत्यसकृदावेदितम्। यथा-"कतरे आगच्छइ दित्तरूवे" इत्यादि। (आवईसु दढधम्मया त्ति) तथा योगसङ्ग्रहायैव सर्वेण साधुना आपत्सु द्रव्याऽऽदिभेदासु दृढधर्मता कार्या, आपत्सु सतीषु, सुतरां दृढधर्मेण भवितव्यमित्यर्थः ३। (अणिस्सिओवहाणे त्ति) योगसङ्ग्रहायैवानिश्रितोपधानेन भवितव्यम्। अथवा-अनिश्रितोपधाने च यत्नः कार्यः, उपदधातीत्युपधानं तपः। तदनिश्रितम्, निश्रितं च। तच्च तदुपधानं चेति समासः ४। (सिक्खा त्ति) प्रशस्तयोगसङ्ग्रहायैव शिक्षा आसेवितव्या। सा च द्विप्रकारा भवति-ग्रहणशिक्षा, आसेवनशिक्षा च ५। (निप्पडिकम्मया त्ति) प्रशस्तयोगसङ्ग्रहायैव निष्प्रतिकर्मशरीरेणासेवनीया, न पुनर्नागदत्तवदन्यथा वर्तितव्यमिति प्रथमगाथासमासार्थः ॥ ६ ॥ (नागदत्तदृष्टान्तः 'णिप्पडिकम्मया' शब्दे वक्ष्यते)

अण्णायया अलोभे य, तितिक्खा अज्जवे सुई।
सम्मदिट्ठी समाही य, आयारे विणओ वए ॥ ७४ ॥

(अण्णायय त्ति) तपसि अज्ञानता कार्या, यथाऽन्यो न जानाति तथा तपः कार्यम्। प्रशस्तयोगसंग्रहायेत्येतत्सर्वत्र योज्यम्। ७। (अलोभे य त्ति) अलोभश्च कार्यः। अथवा-अलोभेन यत्नः कार्यः ८। (तितिक्ख त्ति) तितिक्षा कार्या, परीषहाऽऽदिजय इत्यर्थः ९। (अज्जवे त्ति) ऋजोर्भाव आर्जवं, तच्च कर्तव्यम् १०। (सुइ त्ति) शुचिना भवितव्यं,संयमवतेत्यर्थः ११। (सम्मदिट्ठि त्ति) सम्यगविपरीता दृष्टिः कार्या, सम्यग्दर्शनशुद्धिरित्यर्थः १२। (समाही य त्ति) समाधिश्च कार्यः, समाधानं समाधिश्चेतसः स्वास्थ्यम् १३। (आयारे विणओ त्ति) द्वारद्वयम्। आचारोपगमः स्यात्, न मायां कुर्यादित्यर्थः १४। तथा विनयोपगमः स्यात्,न मानं कुर्यादित्यर्थः १५। इति द्वितीयगाथासमासार्थः ॥ ७४ ॥

धिई मई य संवेगे, पणिही सुविहि संवरे।
अत्तदोसोवसंहारे, सव्वकामविरत्तया ॥ ७५ ॥

(धिई मई य त्ति) धृतिर्मतिश्च कार्या, धृतिप्रधाना मतिरित्यर्थः १६। (संवेगे त्ति) संवेगः संसाराद्भयं, मोक्षाभिलाषो वा कार्यः १७। (पणिहि त्ति) प्रणिधिस्त्याज्यो, माया न कार्येत्यर्थः १८। (सुविहि त्ति) सुविधिः कार्यः १९। (संवरो त्ति) संवरः कार्यः, न तु न कार्य इति व्यतिरेकोदाहरणमत्र भावि २०। (अत्तदोसोवसंहारे त्ति) आत्मदोषोपसंहारः कार्यः २१। (सव्वकामविरत्तय त्ति) सर्वकामविरक्तता भावनीया २२। इति तृतीयगाथासमासार्थः ॥ ७५ ॥

पच्चक्खाणे विउस्सग्गे, अप्पमाए लवालवे।
झाणसंवरजोगे य, उदए मारणंतिए ॥ ७६ ॥

(पच्चक्खाणे त्ति) मूलगुणोत्तरगुणविषयं प्रत्याख्यानं कार्यमिति द्वारद्वयम् २३-२४। (विउस्सग्गे त्ति) विविध उत्सर्गो व्युत्सर्गः, स च कार्य इति द्रव्यभावभेदभिन्नः २५। (अप्पमाए त्ति) न प्रमादोऽप्रमादः, अप्रमादः कार्यः २६। (लवालवे त्ति) कालोपलक्षणं क्षणे क्षणे सामाचार्यनुष्ठानं कार्यम् २७। (झाणसंवरजोगे य त्ति) ध्यानसंवरयोगश्च कार्यः, ध्यानमेव संवरयोगः २८। (उदए मारणंतिए त्ति) वेदनोदये मारणान्तिकेऽपि न क्षोभः कार्यः २९। इति चतुर्थगाथासमासार्थः ॥ ७६ ॥

संगाणं य परिण्णा य, पच्छित्तकरणे वि य।
आराहणा य मरणंते, बत्तीसं जोगसंगहा ॥ ७७ ॥

(संगाणं च परिण्णा य त्ति) सङ्गानां च परिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञाभेदेन परिज्ञा कार्या ३०। (पच्छित्तकरणे वि य त्ति) प्रायश्चित्तकरणं कार्यम् ३१। (आराहणा य मरणंते त्ति) आराधना च मरणान्ते कार्या, मरणान्तकाल इत्यर्थः ३२। एते द्वात्रिंशद्योगसङ्ग्रहाः। इति पञ्चमगाथासमासार्थः ॥७७॥ आव० ४ अ०। स०। ध०। "ते य इमे बत्तीसं जोगसंगहा-धम्मं सोलसविध,एवं सुक्कं पि। एते बत्तीसं जोगसंगह त्ति।" आ० चू० ४ अ०। (आलोचनाऽऽदीनां योगसंग्रहाणामुदाहरणाऽऽदि तत्तच्छब्दे द्रष्टव्यम्) योगविधिप्रान्ते लिखितमस्ति यत्प्राभातिककालो वैरात्रिककालस्थाने स्थाप्यते इत्यत्राकसन्ध्यादिकारणायैतत्स्थापनमन्यथा वेति प्रश्ने ?, उत्तरम्-प्राभातिककालो वैरात्रिककालस्थाने स्थाप्यतामाकसन्ध्यादिकारणे सति,तथा वैरात्रिकप्राभातिककालभेदाकसन्ध्यादिसद्भावे समुद्देशानुज्ञयोर्मध्ये कारणतो यद्यन्तरं जायते, तदा अग्रे दिनमेकं वृद्ध्या दीयते, आगाढयोगे तु आकसन्धिपूरणानन्तरं यावत् आचाम्लमेव कार्यं, गुर्वाज्ञया शुद्ध्यति, योगविध्यादौ तथैव प्रतिपादनादिति। ३७ प्र०। सेन० १ उल्ला०।

जोगसच्च-योगसत्य-न०। मनोवाक्काययोगेषु सत्यं योगसत्यम्। उत्त० २९ अ०। योगा मनोवाक्कायाः, तेषां सत्यमवितथत्वं योगसत्यम्। भ० १७ श० ३ उ०। मनःप्रभृतीनामवितथत्वरूपे सत्यभेदे, प्रश्न० ५ संव० द्वार। योगतः संबन्धतः सत्यं योगसत्यम्। तथा दण्डयोगाद् दण्डः, छत्रयोगाच्छत्र एव उच्यते, इत्येवरूपे सत्यभेदे च। स्था० १० ठा०।

योगसत्यस्य फलं प्रश्नपूर्वकमाह-

जोगसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। जोगसच्चेण जोगे विसोहेइ ॥ ५२ ॥

हे भदन्त ! योगसत्येन मनोवाक्काययोगानां सत्यं योगसत्यं, तेन योगसत्येन मनोवाक्कायसाफल्येन जीवः किं जनयति ?। तदा गुरुराह-हे शिष्य ! योगसत्येन योगान् विशोधयति मनोवाक्काययोगान् विशदीकरोतीति कर्मबन्धाभावान्निर्दोषान् करोतीति भावः ॥५२॥ उत्त० २९ अ०। योगः सबन्धः, तस्मात्सत्या योगसत्या। छत्रयोगाद् विवक्षितशब्दप्रयोगकाले छत्राभावेऽपि छत्रयोगस्य सम्भवात् छत्री। एवं दण्डयोगाद्दण्डीत्येवरूपे पर्याप्तभाषाभेदे, स्त्री-टाप्। प्रज्ञा० ११ पद।

जोगसण्णास-योगसंन्यास-पुं०। सामर्थ्ययोगमधिकृत्य-"द्विधाऽयं धर्मसंन्यास-योगसंन्याससंज्ञितः।" द्वा० १९ द्वा० (तद्वक्तव्यता 'जोग' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १६२७ पृष्ठे गता)

जोगसत्थ-योगशास्त्र-न०। पातञ्जलाऽऽदिष्वध्यात्मचिन्ताशास्त्रेषु, द्वा० २३ द्वा०। यो० बिं०। "पठ्यन्ते योगशास्त्रेषु।" योगाचार्यव्याख्या-

त्मग्रन्थेषु पातञ्जलाऽऽदिदृष्टिनि । पञ्चा० १ विव० । हेमचन्द्राऽऽचार्यविरचिते योगशास्त्रनामके प्रकरणग्रन्थे च ।

जोगसद्द-योगशब्द-पुं० । योगप्रतिपादके शब्दे, अत्र पाविमत-श्रीजगमालगणिकृतप्रश्नो यथा-" आवस्सियाए जस्स जोगो सिज्जातर०" इत्यत्र योगशब्देन किमुच्यते ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-'जस्स योगो' भिक्षार्थं गच्छन्निद वक्ति, यस्य योगोयेन वस्तुना सह सबन्धो भविष्यति, तद् ग्रहीष्यामीत्यर्थः । इति ओघनिर्युक्तिवृत्तौ । १० प्र० । ही० १ प्रका० ।

जोगसिद्ध-योगसिद्ध-पुं० । योगेषु योगे वा सिद्धो योगसिद्धः । योगातिशयवति सिद्धभेदे, आ० म० ।

साम्प्रत योगसिद्ध प्रतिपादयन्नाह-

सव्वे वि दव्वजोगा, परमच्छेरयफलाऽहवेगो वि ।
जस्सेस होज्ज सिद्धो, स जोगसिद्धो जहा समितो ॥

सर्वेऽपि कार्त्स्न्येन द्रव्ययोगाः परमाऽऽश्चर्यफलाः परमाद्भुतकार्याः । अथवा-एकोऽपि योगः परमाऽऽश्चर्यफलो यस्य भवेत सिद्धः स योगेषु योगे वा सिद्धो योगसिद्धोऽतिशयवान् । यथा समित आचार्य इति गाथाक्षरार्थः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । (कथानक ' जोगपिंड ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १६४० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

जोगसिद्धि-योगसिद्धि-स्त्री० । योगनिष्पत्तौ, यो० बिं० ।

जोगसुद्धि-योगशुद्धि-स्त्री० । योगाः कायवाङ्मनोव्यापारलक्षणा , तेषां शुद्धि । सोपयोगान्तरगमननिरवद्यभाषणशुभाचिन्तनाऽऽदिरूपाया शुद्धौ, ध० २ अधि० ।

जोगसुद्धितव-योगशुद्धितपस्-न० । मनोवाक्कायव्यापाराऽनवद्यतासंपादके तपोविशेषे, पञ्चा० १९ विव० । यत्र निर्विकृताऽऽचामाम्लोपवासा एकैकयोगमभिश्रित्य विधीयन्तेऽसौ योगशुद्धिः, इह च परिपाटीत्रयेण नव तपोदिनानि स्युरिति । पञ्चा० १९ विव० ।

जोगसुद्धिसचिव-योगशुद्धिसचिव-त्रि० । मनोवाक्कायविशुद्धिसहिते, षो० १३ विव० ।

जोगहाणि-योगहानि-स्त्री० । योगानां संयमव्यापाररूपाणां हानि । संयमव्यापारहानौ, " संवच्छरेणावि न तेसि आसी, जोगाण हाणी दुविहे वलम्मि । " व्य० १ उ० ।

जोगहीण-योगहीन-न० । असम्यक्कृतपत्रपचारे श्रुतदोषभेदे, आव० ४ अ० ।

जोगाऽइसय-योगातिशय-पुं० । आत्माभ्यन्तरपरिणामोत्कर्षे, द्वा० १६ द्वा० ।

जोगायरिय-योगाचार्य-पुं० । पतञ्जल्यादिके, " योगाऽऽचार्यैर्यथोदितम् । " योगाऽऽचार्यैः पतञ्जल्यादिभिरिति । द्वा० २१ द्वा० । योगप्रतिपादके सूरौ च । " योगाऽऽचार्यैर्विनिर्दिष्टं, तल्लक्षणमिदं पुनः । " योगाऽऽचार्यैः योगप्रतिपादकैः सूरिभिरिति । द्वा० १९ द्वा० ।

जोगायार-योगाऽऽचार-पुं० । योगेनाऽऽचरति । आ-चर्-घञ् । बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्रवादिनि बौद्धभेदे, बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्रसमभिरूढो योगाऽऽचार इति । सम्म० १ काण्ड । वाच० ।

जोगारूढ-योगाऽऽरूढ-पुं० । योगमारूढः । आ-रुह्-क्तः । "यदा तु नेन्द्रियार्थेषु,न कर्मस्वनुषज्जते । सर्वसंकल्पसंन्यासी, योगाऽऽरूढस्तदोच्यते ॥१॥ " इत्युक्ते योगिभेदे, "योगाऽऽरूढस्य तस्यैव, शम कारणमुच्यते । " इति । वाच० । योगे सम्यग्दर्शनचारित्रे आत्मीयसाधनरत्नत्रयीलक्षणे आरूढो योगाऽऽरूढः । सम्यग्दर्शनचारित्रेषूत्सुके, " योगाऽऽरूढः शमादेव, शुध्यत्यन्तर्गतक्रियः ।" अष्ट० ६ अष्ट० ।

जोगि (ण्)-योगिन्-पुं० । ' जोइ (ण्) ' शब्दार्थे, षो० १५ विव० ।

जोगिणाण-योगिज्ञान-न० । 'जोइणाण' शब्दार्थे,सम्म०२काण्ड ।

जोगिणाह-योगिनाथ-पुं० । 'जोइणाह' शब्दार्थे, द्वा० १५ द्वा० ।

जोगिणीपट्टण-योगिनीपट्टन-न० । ' जोइणीपट्टण ' शब्दार्थे, ती० ४७ कल्प ।

जोगिय-यौगिक-त्रि० । 'जोइय' शब्दार्थे, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

जोगिवुड्डि-योगिवृद्धि-स्त्री० । 'जोइवुड्डि' शब्दार्थे, त० ।

जोग्ग-योग्य-त्रि० । योगमर्हति । युज्-यत्, ण्यत् वा । योगार्हे, वाच० । अर्हे, " अरिहो त्ति वा, जोग्गो त्ति वा एगट्ठ ।" आ० चू० १ अ० । योग्यमर्हमित्यनर्थान्तरम् । विशे० । आ० म० । उचिते, दश० १ अ० । प्रभौ, " पभु त्ति वा जोग्गो त्ति वा एगट्ठ ।" नि० चू० २० उ० । घटमानके, " अजोग्गरूव इह सजयाण ।" अयोग्यरूपमघटमानकम् । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । मिपुणे, शक्ते, पुष्यनक्षत्रे च । पुं० । ऋद्धिनामौषधे,न० । वाच० । चाटौ, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोग्गा-योग्या-स्त्री० । योगमर्हति, युज्-यत्-कुत्वम् । ण्यत् वा । गुणनिकायाम, भ० ११ श० ११ उ० । औ० । अभ्यासे, ज० ३ वक्ष० । " खुरली तु श्रमो योग्याऽभ्यासः" इति वचनात् । कल्प० ३० क्षण । शस्त्राभ्यासे, सूर्यस्त्रियां च । वाच० । गर्भधारणसमर्थायां योनौ, त० ।

कोसायारिं जोणिं, संपत्ता सुक्कमीसिया जइया ।
तइया जीवुव्वाए, जोग्गा भणिया जिणिंदेहिं ॥११॥

ते रुधिरबिन्दवः कोशाऽऽकारा योनिं सप्राप्ताः सन्तः शुक्रमिश्रिता ऋतुदिनत्रयान्ते पुरुषसयोगेन असयोगेन वा पुरुषवीर्येण मिलिताः (तइय त्ति) तदा जीवोत्पादे गर्भसभूतिलक्षणे, योग्या भणिता कथिताः, जिनेन्द्रैः सर्वज्ञैः ॥ ११ ॥ त० ।

जोग्गोवयरिया-योग्योपचर्या-स्त्री० । योग्याना देवगुरुसाधर्मिकस्वजनदीनानाथाऽऽदीनामुचितोपचर्या योग्योपचर्या । धूपपुष्पवस्त्रविलेपनाऽऽसनदानाऽऽदिगौरवाऽऽत्मिकायां देवगुरुसाधर्मिकस्वजनदीनानाथाऽऽदीनामुचितोपचर्यायाम,ध० २ अधि० ।

जोड-यौट-सम्बन्धे,भ्वादि०-पर०-सक०-सेट् । यौटति,अयौटीत् । चङि न ह्रस्व । वाच० । नक्षत्रे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोडिअ-पुं० । देशी-व्याधे, दे० ना० ३ वर्ग ।

जो[ण्]-योन्-पुं० । योनिं सचित्ताऽऽदिका चतुरशीतिलक्षसंख्यावच्छिन्नां करोतीति णयन्तात् क्विपि णिलुक् । ससारे, क्षे० गा० ।

जोण–योन–पुं० । अनार्यप्राये देशभेदे, ज्ञा० ।

जोणयपल्हविय इसिणियथोरुणियलसियलउसियदामिडि-

सिंहलिआरबिपुलिंदिपक्कणिबहलिमुरुंडिसबरिपारसीहिं ।

योनिकाभिः, पल्हविकाभिः, इसिनिकाभिः, थोरुनिकाभिः, लासिकाभिः, लकुसिकाभिः, द्राविडीभिः, सिंहलीभिः, आरबीभिः, पुलिन्दीभिः, पक्कणीभिः, बहलिकाभिः, मुरुण्डीभिः, शबरीभिः, पारसीभिः, नानादेशीभिरनार्यप्रायदेशोत्पन्नाभिरित्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जोणि–योनि–पुं० स्त्री० । उत्पत्तिस्थाने, उत्त० ३ अ० । सूत्र० । मण्यादीनामुत्पत्तिस्थाने आकरे, वाच० । कारणे, पञ्चा० ४ विव० । उत्पत्तिहेतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उपाये, स्था० ३ ठा० ३ उ० । (अर्थयोनयः 'अत्थजोणि' शब्दे प्रथमभागे ५०६ पृष्ठे भाविताः) 'यु' मिश्रणे इति वचनात् युवन्ति तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिकाऽऽदिशरीरयोग्यस्कन्धसमुदायेन मिश्रीभवन्ति जीवा यस्यां सा योनिः । प्र० १० श० २ उ० । औणाऽऽदिको निप्रत्ययः । जीवानामुत्पत्तिस्थानविशेषे, स्था० ७ ठा० । प्रव० । आचा० । प्रज्ञा० । न० । स० । प्रश्न० । असुमतामुत्पत्तिस्थानं योनिर्भण्यतीयेति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । योषिद्वाच्यदेशे, तनु० । सा च स्मरकूपिका ।

तल्लक्षणम्–

इत्थीए नाभिहिट्ठा, सिरादुगं पुप्फनालियागारं ।

तस्स य हिट्ठा जोणी, अहोमुहा संठिया कोसा ॥ ९ ॥

स्त्रिया नार्याः, नाभेरधोऽधोभागे, पुष्पनालिकाऽऽकारं सुमनोवृन्तसदृशं, शिराद्विकं धमनियुग्मं वर्तते, च पुनः, तस्य शिराद्विकस्याधो योनिः स्मरकूपिका संस्थिताऽस्ति । किंभूता ?, अधोमुखा । पुनः किंभूता ?,-(कोस त्ति) कोशा खड्गपिधानकाऽऽकारेत्यर्थः ॥ ६ ॥ त० ।

योनिसंख्या यथा–

चोरासीइजोणिप्पमुहसयसहस्सा पण्णत्ता ।

चतुरशीतिर्योनयो जीवोत्पत्तिस्थानानि. त एव प्रमुखानि द्वाराणि योनिप्रमुखानि, तेषां शतसहस्राणि लक्षाणि योनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । स० ८४ सम० ।

पुढवि दग अगणि मारुअ, इक्किक्के सत्तजोणिलक्खाओ ।

वण पत्तेअ अणंते, दस चउदस जोणिलक्खाओ ॥ ९८२ ॥

विगलिंदिएसु दो दो, चउरो चउरो अ नारयसुरेसु ।

तिरिएसु हुंति चउरो, चउदसलक्खाउ मणुएसुं ॥ ९८३ ॥

'यु' मिश्रणे, इत्यस्य धातोः, युवन्ति भवान्तरसंक्रमणकाले तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्तो जीवा औदारिकाऽऽदिशरीरप्रायोग्यपुद्गलस्कन्धैर्मिश्रीभवन्त्यस्यामित्यौणादिके 'नि' प्रत्यये योनिः ; जीवानामुत्पत्तिस्थानमित्यर्थः । तत्र पृथिव्युदकाग्निमरुतां सर्वेष्वप्येकैकस्मिन् समूहे सप्त सप्त योनिलक्षा भवन्ति । तद्यथा–सप्त पृथिवीनिकाये, सप्तोदकनिकाये, सप्ताग्निनिकाये, सप्त वायुनिकाये । वनस्पतिनिकायो द्विविधः । तद्यथा–प्रत्येकोऽनन्तकायश्च । तत्र प्रत्येकवनस्पतिनिकाये दश योनिलक्षाः, अनन्तवनस्पतिनिकाये चतुर्दश । विकलेन्द्रियेषु द्वीन्द्रियाऽऽदिषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियरूपेषु प्रत्येकं द्वे द्वे योनिलक्षे । तद्यथा–द्वे योनिलक्षे द्वीन्द्रियेषु, द्वे योनिलक्षे त्रीन्द्रियेषु, द्वे चतुरिन्द्रियेषु । तथा चतस्रो योनिलक्षा नारकाणां, चतस्रो देवानां, तथा तिर्यक्षु पञ्चेन्द्रियेषु चतस्रो योनिलक्षाः । तथा चतुर्दश योनिलक्षा मनुष्येषु । सर्वसंख्यायाश्च मीलने चतुरशीतिर्योनिलक्षा भवन्ति इति । न च वक्तव्यम्, अनन्तानां जीवानामुत्पत्तिस्थानान्यप्यनन्तानि प्राप्नुवन्ति, यतो जीवानां सामान्याऽऽधारभूतो लोकोऽप्यसंख्येयप्रदेशात्मक एव, विशेषाऽऽधाररूपाण्यपि नरकनिष्कुटेष्टिकाश्च, येन प्रत्येकसाधारणजन्तुशरीराण्यसंख्येयान्येव, ततो जीवानामानन्त्येऽपि कथमुत्पत्तिस्थानानन्त्यम् । भवतु तर्ह्यसंख्येयानीति चेत् ?। नैवम् । यतो बहून्यपि तानि केवलिदृष्टेन केनचिद्वर्णाऽऽदिना धर्मेण सदृशान्येकैव योनिरिष्यते, ततोऽनन्तानामपि जन्तूनां केवलिविवक्षितवर्णाऽऽदिसादृश्यतः परस्परान्तर्भावचिन्तया चतुरशीतिलक्षसंख्या एव योनयो भवन्ति, न हीनाधिकाः ॥९८२॥९८३॥

एतदेवाऽऽह–

समवण्णाइसमेआ, बहवो वि हु जोणिलक्खभेआओ ।

सामन्ना घेप्पंति हु, एक्कगजोणीएँ गहणेणं ॥ ९८४ ॥

समैः सदृशैः, वर्णाऽऽदिभिर्वर्णगन्धरसस्पर्शैः, समेता युक्ताः, समानवर्णगन्धरसस्पर्शा इत्यर्थः । बहवोऽपि प्रभूता अपि, योनिभेदलक्षाः, हुर्निश्चितम, इह एका योनिर्जातिग्रहणेन गृह्यते । कुतः ?, सामान्यात्, व्यक्तिभेदतः प्राचुर्येऽपि समानवर्णगन्धरसस्पर्शसद्भावेन सादृश्यादिति । ननु योनिकुलयोः कः प्रतिविशेषः ?। उच्यते–योनिः जीवानामुत्पत्तिस्थानं, यथा–वृश्चिकाऽऽदेर्गोमयाऽऽदि । कुलानि तु–योनिप्रभवाणि । तथाहि–एकस्यामेव योनावनेकानि कुलानि भवन्ति, यथा छगणयोनौ कृमिकुलं, कीटकुलं, वृश्चिककुलमित्यादि । यदि वा तस्यैव वृश्चिकाऽऽदेर्गोमयाऽऽद्येकयोनित्वेनोत्पन्नस्यापि कपिलरक्ताऽऽदिवर्णभेदादनेकविधानि कुलानीति । प्रव० १५१ द्वार । सम० । आचा० ।

योनिभेदाः–

तिविहा तिविहा जोणी, अंडा पोया जराउया चेव ।

बेइंदिय तेइंदिय, चउरो पंचिंदिया चेव ॥ १५४ ॥

"तिविहा" इत्यादि । अत्र हि शीतोष्णमिश्रभेदात्तथा सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्तथा संवृतविवृततदुभयभेदात्तथा स्त्रीपुंनपुंसकभेदाच्च इत्यादीनि बहूनि योनीनां त्रिकाणि सम्भवन्ति । तेषां सर्वेषां संग्रहार्थं त्रिविधा त्रिविधेति वीप्सानिर्देशः । तत्र नारकाणामाद्यासु तिसृषु भूमिषु शीतैव योनिः, चतुर्णामुपरितननरकेषु शीता, अधस्तननरकेषूष्णा, पञ्चमीषष्ठीसप्तमीषूष्णैव, नेतरे, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणामशेषदेवानां च शीतोष्णा योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसमूर्छनजतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिविधाऽपि योनिः–शीता, उष्णा, शीतोष्णा चेति । तथा नारकदेवानामचित्ता, नेतरे, द्वीन्द्रियाऽऽदिसमूर्छनजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिविधाऽपि योनिः सचित्ताचित्तमिश्रयोनिर्नेतरे । तथा देवनारकाणां संवृता योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुरिन्द्रियसमूर्छनजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां विवृता योनिर्नेतरे, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणां संवृतविवृता योनिर्नेतरे, तथा नारकानपुंसकजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां विवृता योनिर्नेतरे, गर्भयोनय एव । तिर्यञ्चस्त्रिविधाः–स्त्रीपुनपुंसकयोनयोऽपि मनुष्या अप्येवं त्रैविध्यभाजः । देवा स्त्रीपुंयोनय एव । तथा पर मनुष्ययोनेस्त्रैविध्यम् । तद्यथा–कूर्मोन्नता, तस्यां चार्हच्चक्रवर्त्यादिसत्पुरुषाणामुत्पत्तिः । तथा शङ्खाऽऽवर्ता, सा

च क्षीरत्नस्यैव, तस्यां च प्राणिनां सम्भवो नास्ति, न निष्पत्तिः । तथा वंशीपत्रा, सा च प्राकृतजनस्येति । तथा पर त्रैविध्यं निर्युक्तिकृद्दर्शयति । तद्यथा-अण्डजा, पोतजा, जरायुजा चेति । तत्राण्डजाः पक्ष्यादयः, पोतजा वल्गुली-गजकलभाऽऽदयः, जरायुजा गोमहिषीमनुष्याऽऽदयः, तथा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदाश्च भिद्यन्ते । आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

सत्त्वानां योनयः प्रतिपाद्यन्ते-

कतिविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा जोणी पण्णत्ता । तं जहा-सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ।

"कतिविहा णं भंते ! जोणी" इत्यादि । कतिविधा कतिप्रकारा, णमिति पूर्ववत्, भदन्त ! योनिः प्रज्ञप्ता ?। अथ योनिरिति कः शब्दार्थः ?। उच्यते-"यु" मिश्रणे, युवन्ति तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिकाऽऽदिशरीरप्रायोग्यपुद्गलस्कन्धसमुदयेन मिश्रीभवन्त्यस्यामिति योनिरुत्पत्तिस्थानम् । औणादिको निप्रत्ययः । भगवानाह-गौतम ! त्रिविधा योनिः प्रज्ञप्ता । तद्यथा-शीता, उष्णा, शीतोष्णा । तत्र शीतस्पर्शपरिणामा शीता, उष्णस्पर्शपरिणामा उष्णा, शीतोष्णरूपोभयस्पर्शपरिणामा शीतोष्णा ।

योनिविशेषप्रतिपादनायाऽऽह-

नेरइयाणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! सीता वि जोणी, उसिणा वि जोणी, नो सीतोसिणा जोणी । असुरकुमाराणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! नो सीता जोणी, नो उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी, एवं० जाव थणियकुमाराणं । पुढवीकाइयाणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! सीता वि जोणी, उसिणा वि जोणी, सीतोसिणा वि जोणी । एवं आउवाउवणस्सइबेइंदियतेइंदियचउरिंदियाण वि पत्तेयं भाणियव्वं । तेउकाइयाणं नो सीता, उसिणा, नो सीतोसिणा । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! सीता वि जोणी, उसिणा वि जोणी, सीतोसिणा वि जोणी । संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण वि एवं चेव । गब्भवक्कंतियमणुस्साणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! नो सीता जोणी, नो उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी । मणुस्साणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! सीता वि, उसिणा वि, सीतोसिणा वि जोणी । संमुच्छिममणुस्साणं भंते ! किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! तिविहा वि जोणी । वाणमंतरदेवाणं किं सीता जोणी, उसिणा जोणी, सीतोसिणा जोणी ?। गोयमा ! नो सीता, नो उसिणा, सीतोसिणा जोणी । जोइसियाणं वेमाणियाण वि एवं चेव ॥

तत्र नैरयिकाणां द्विविधा योनिः-शीता, उष्णा च । न तृतीया शीतोष्णा । कस्यां पृथिव्यां का योनिरिति चेत् ?, उच्यते-रत्नप्रभायां शर्कराप्रभायां वालुकाप्रभायां च यानि नैरयिकाणामुपपातक्षेत्राणि तानि सर्वाण्यपि शीतस्पर्शपरिणामपरिणतानि उपपातक्षेत्रव्यतिरेकेण चान्यत् सर्वमपि तिसृष्वपि पृथिवीषूष्णस्पर्शपरिणामपरिणत, तेन तत्रत्या नैरयिकाः शीतयोनिका उष्णां वेदनां वेदयन्ते । पङ्कप्रभायां बहून्युपपातक्षेत्राणि शीतस्पर्शपरिणामपरिणतानि, स्तोकान्युष्णस्पर्शपरिणामपरिणतानि, येषु च प्रस्तटेषु नरकाऽऽवासेषु शीतस्पर्शपरिणामान्युपपातक्षेत्राणि, तेषु तद्व्यतिरेकेण चान्यत्सर्वमुष्णस्पर्शपरिणाम, तेषु प्रस्तटेषु नरकाऽऽवासेषु चोपपातक्षेत्राण्युष्णस्पर्शपरिणामानि, तेषु तद्व्यतिरेकेण चान्यत्सर्वं शीतस्पर्शपरिणाम, तेन तत्रत्या बहवो नैरयिकाः शीतयोनिका उष्णां वेदनां वेदयन्ते, स्तोका उष्णयोनिकाः शीतवेदनामिति । धूमप्रभायां बहून्युपपातक्षेत्राणि उष्णस्पर्शपरिणामपरिणतानि, स्तोकानि शीतस्पर्शपरिणामानि, येषु च प्रस्तटेषु येषु च नरकाऽऽवासेषु चोष्णस्पर्शपरिणामपरिणतान्युपपातक्षेत्राणि, तेषु तद्व्यतिरेकेणान्यत्सर्वं शीतपरिणाम, येषु च शीतस्पर्शपरिणामान्युपपातक्षेत्राणि, तेष्वन्यत्सर्वमुष्णस्पर्शपरिणाम, तेन च तत्रत्या बहव उष्णयोनिकाः शीतवेदनां वेदयन्ते, स्तोकाः शीतयोनिका उष्णवेदनामिति । तमःप्रभायां तमस्तमःप्रभायां चोपपातक्षेत्राणि सर्वाण्यप्युष्णस्पर्शपरिणामपरिणतानि, तद्व्यतिरेकेण चान्यत्सर्वं तत्र शीतस्पर्शपरिणाम, तेन तत्रत्या नारका उष्णयोनिकाः शीतवेदनां वेदयितार इति । भवनवासिनां गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां चोपपातक्षेत्राणि शीतोष्णरूपोभयस्पर्शपरिणामपरिणतानि, तेन तेषां योनिरुभयस्वभावा-न शीता, नाप्युष्णा । एकेन्द्रियाणामग्निकायिकवर्जानां द्वित्रिचतुरिन्द्रियसंमूर्च्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंमूर्च्छिममनुष्याणां चोपपातस्थानानि शीतस्पर्शान्युष्णस्पर्शान्युभयस्पर्शान्यपि भवन्तीति, तेषां त्रिविधा योनिः-तैजस्कायिकाः उष्णयोनिकाः, तथा प्रत्यक्षत उपलभ्ये. । प्रज्ञा० ९ पद । (एतेषामल्पबहुत्वम 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६५७ पृष्ठे गतम्) शीताऽऽदियोनिप्रकरणार्थसंग्रहस्तु प्रायेणैवम्-" सीओसिणजोणीया, सव्वे देवा य गब्भवक्कंती । उसिणा य तेउकाए, दुह निरए तिविह सेसेसु ॥ १ ॥ " (गब्भवक्कंति त्ति) गर्भोत्पत्तिकाः । भ० १० श० २ उ० । स्था० ।

भूयोऽपि प्रकारान्तरेण योनीनां त्रैविध्यं प्रतिपिपादयिषुराह-

कतिविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा जोणी पण्णत्ता । तं जहा-सचित्ता, अचित्ता, मीसिया ॥

" कतिविहा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ?। " इत्यादि । सचित्ता जीवप्रदेशसम्बद्धा, अचित्ता सर्वथा जीवविप्रमुक्ता, मिश्रा जीवविप्रमुक्ताविप्रमुक्तस्वरूपा ।

नेरइयाणं भंते ! किं सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, मीसिया जोणी ?। गोयमा ! नो सचित्ता जोणी, अचित्ता, नो मीसिया जोणी । असुरकुमाराणं भंते ! किं सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, मीसिया जोणी ?। गोयमा !

नो सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, नो मीसिया। एवं० जाव थणियकुमाराणं। पुढवीकाइयाणं भंते! किं सचित्ता जोणी, अचित्ता जोणी, मीसिया जोणी?। गोयमा! सचित्ता वि जोणी, अचित्ता वि जोणी, मीसया वि जोणी। एवं० जाव चउरिंदियाणं। सम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, सम्मुच्छिममणुस्साण य एवं चेव; गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं गब्भवक्कंतियमणुस्साण य नो सचित्ता, नो अचित्ता, मीसिया जोणी। वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं॥

तत्र नैरयिकाणां यदुपपातक्षेत्रं तत्र न केनचिज्जीवेन परिगृहीतमिति तेषामचित्ता योनिः। यद्यपि सूक्ष्मैकेन्द्रियाः सकललोकव्यापिनः, तथाऽपि न तत्प्रदेशैरुपपातस्थानपुद्गला अन्योन्यानुगमसंबद्धा इति अचित्तैव तेषां योनिः। एवमसुरकुमाराऽऽदीनां भवनपतीनां व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां वा अचित्ता योनिर्भावनीया। पृथिवीकायिकाऽऽदीनां संमूर्च्छिममनुष्यपर्यन्तानामुपपातक्षेत्रं जीवैः परिगृहीतमपरिगृहीतमुभयस्वभावं च संभवतीति त्रिविधा योनिः, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां च यत्रोत्पत्तिस्तत्र सचित्ताचित्ता अपि शुक्रशोणिताऽऽदिपुद्गलाः सन्तीति मिश्रा तेषां योनिः। प्रज्ञा० ९ पद। (अल्पबहुत्वम् 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६५८ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

सचित्ताऽऽदियोनिप्रकरणार्थसंग्रहस्तु प्रायेणैवम्-

" अचित्ता खलु जोणी, नेरइयाण तहेव देवाण।
मीसा य गब्भवासे, तिविहा पुण होइ सेसेसु "॥ १॥

सत्यप्येकेन्द्रियसूक्ष्मजीवनिकायसंभवे नारकदेवानां यदुपपातक्षेत्रं तत्र केनचिज्जीवेन परिगृहीतमित्यचित्ता तेषां योनिः। गर्भवासयोनिस्तु मिश्रा, शुक्रशोणितपुद्गलानामचित्तानां गर्भाशयस्य च सचेतनस्य भावादिति। शेषाणां पृथिव्यादीनां समूर्च्छजानां च मनुष्याऽऽदीनामुपपातक्षेत्रे जीवेन परिगृहीतेऽपरिगृहीते उभयरूपे चोत्पत्तिरिति त्रिविधाऽपि योनिरिति। भ० १० श० २ उ०। स्था०। प्रव०।

भूयोऽपि प्रकारान्तरेण योनीः प्रतिपादयितुकाम आह-

कतिविहा णं भंते! जोणी पण्णत्ता?। गोयमा! तिविहा जोणी पण्णत्ता। तं जहा-संवुडा जोणी, वियडा जोणी, संवुडवियडा जोणी। नेरइयाणं भंते! किं संवुडा जोणी, वियडा जोणी, संवुडवियडा जोणी?। गोयमा! संवुडा जोणी, नो वियडा जोणी, नो संवुडवियडा जोणी। एवं० जाव वणस्सइकाइयाणं। बेइंदियाणं पुच्छा?। गोयमा! नो संवुडजोणी, वियडजोणी, नो संवुडवियडजोणी। एवं० जाव चउरिंदियाणं। संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं संमुच्छिममणुस्साण य एवं चेव। गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियगब्भवक्कंतियमणुस्साण य नो संवुडा जोणी, नो वियडा जोणी, संवुडवियडा जोणी। वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा नेरइयाणं॥

तत्र नारकाणां संवृता योनिः, नरकनिष्कुटानां नारकोत्पत्तिस्थानानां संवृतगवाक्षकल्पत्वात्। तत्र च जाता सन्तो नैरयिका प्रवर्द्धमानमूर्तयस्तेभ्यः पतन्ति शीतेभ्य उष्णेषु, उष्णेभ्यः शीतेष्विति। भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामपि संवृता योनिः, तेषां देवशयनीयदेवदूष्यान्तरिते उत्पादात्, "देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिए अंगुलासंखेज्जइभागमेत्ताए सरीरोगाहणाए उववज्जइ" इति वचनात्। एकेन्द्रिया अपि संवृतयोनिकाः, तेषामपि योनिः स्पष्टमनुपलक्ष्यमाणत्वात्। द्वीन्द्रियाऽऽदीनां चतुरिन्द्रियपर्यन्तानां सम्मूर्च्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसम्मूर्च्छिममनुष्याणां च विवृता योनिः, तेषामुत्पत्तिस्थानस्य जलाऽऽशयाऽऽदेः स्पष्टमुपलभ्यमानत्वात्। गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां च संवृतविवृता योनिः, गर्भस्य संवृतविवृतरूपत्वात्। गर्भो ह्यन्तःस्वरूपतो नोपलभ्यते, बहिस्तूदरवृद्ध्यादिनोपलक्ष्यते इति। प्रज्ञा० ९ पद। (अल्पबहुत्वम् 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६५८ पृष्ठे गतम्)

संवृताऽऽदियोनिप्रकरणार्थसंग्रहस्तु प्राय एवम्-

" एगिंदियनेरइया, संवुडजोणी तहेव देवा य।
विगलिंदियसु वियडा, संवुडवियडा य गब्भम्मि॥ १॥ "

एकेन्द्रियाणां संवृता योनिः, तथास्वभावत्वात्। नारकाणामपि संवृतैव। यतो नरकनिष्कुटाः संवृतगवाक्षकल्पाः, तेषु च जातास्ते वर्द्धमानमूर्तयः, तेभ्यः पतन्ति शीतेभ्यो निष्कुटेभ्य उष्णेषु नरकेषु, उष्णेभ्यस्तु शीतेष्विति। देवानामपि संवृतैव। यतो देवशयनीये देवदूष्यान्तरितोऽङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहनो देव उत्पद्यत इति। भ० १० श० २ उ०। स्था०। सूत्र०। न०।

सम्प्रति मनुष्ययोनिविशेषप्रतिपादनार्थमाह-

कतिविहा णं भंते! जोणी पण्णत्ता?। गोयमा! तिविहा जोणी पण्णत्ता। तं जहा-कुम्मुन्नया, संखावत्ता, वंसीपत्ता। कुम्मुन्नया णं जोणी उत्तमपुरिसमाऊयाणं कुम्मुन्नयाए णं जोणीए उत्तमपुरिसा गब्भं वक्कमंति। तं जहा-अरहंतचक्कवट्टीणं बलदेवा वासुदेवा। संखावत्ता णं जोणी इत्थीरयणस्स, संखावत्ताए णं जोणीए बहवे जीवा य पोग्गला य वक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उववज्जंति, नो चेव णं निप्फज्जंति। वंसीपत्ता णं जोणी पिहुजणस्स, वंसीपत्तियाए णं जोणीए पिहुजणे गब्भं वक्कमंति॥

"कइविहा णं भंते! जोणी पण्णत्ता?।" इत्यादि। कूर्मपृष्ठमिवोन्नता कूर्मोन्नता। शङ्खस्येवाऽऽवर्तो यस्याः सा शङ्खावर्ता। संयुक्तवंशीपत्रद्वयाऽऽकारत्वाद् वंशीपत्रा। शेषं सुगमं, नवरं शङ्खावर्तायां योनौ बहवो जीवा जीवसंबद्धाः पुद्गलाश्चावक्रमन्ते, आगच्छन्ति, व्युत्क्रामन्ति गर्भतयोत्पद्यन्ते, तथा चीयन्ते सामान्यतश्चयमागच्छन्ति, उपचीयन्ते विशेषत उपचयमायान्ति, परं न निष्पद्यन्ते, अतिप्रबलकामाग्निपरितापतो ध्वंसगमनादिति वृद्धप्रवादः। प्रज्ञा० ६ पद।

एतद्वक्तव्यतासंग्रहस्त्वेवम्-

" संखाऽऽवत्ता जोणी, इत्थीरयणस्स होइ विन्नेया।
तीए पुण उप्पन्नो, नियमाउ विणस्सई गब्भो॥ १॥
कुम्मुन्नयजोणीए, तित्थयरा चक्कि-वासुदेवा य।

रामा वि य जायते, सेसाए सेसगजणाओ ॥ २ ॥" इति।
भ० १० श० २ उ० । स्था० । प्रव० ।

तथा शुभाशुभभेदेन योनीनामनेकत्वं गाथाभिः प्रदर्श्यते-

" सीयाऽऽई जोणीओ, चउरासी-तीयसय-सहस्साइं ।
असुभाओ य सुभाई, तत्थ सुभाओ इमा जाण ॥१॥
असंखा उ मणुस्सा, राईसरसंखमादिआईण ।
तित्थगरनामगोत्त, सव्वसुह होइ नायव्व ॥२॥
तत्थ वि य जाइसंपन्नतादि सेसा उ हुंति असुभाओ ।
दोसु वि किब्बिसादी, सेसाओ हुंति असुभाओ ॥३॥
पंचिंदियतिरिएसु, हयगयरयणे हवंति उ सुभाओ ।
सेसाओ असुभाओ, सुभवन्नेगिंदियादीया ॥४॥
देविंदचक्कवट्टि-त्तणाइँ मोत्तु च तित्थगरभावं ।
अणगारभाविता वि य, सेसा उ अणंतसो पत्ता "॥५॥

आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अथ स्त्रीणां कियद्भ्यो वर्षेभ्यः पुनरूर्ध्वं योनिविध्वंसो भवतीत्याह-

पणपन्ना य परेणं, जोणी पमिलायए महिलियाणं ।
पणसत्तरीइ परओ,पाएण पुमं भवेऽवीओ ॥२१॥

महिलानां स्त्रीणा प्रायः प्रवाहेण (पणपन्ना य त्ति) पञ्चपञ्चाशद्वर्षेभ्यः (परेण ति) ऊर्ध्वं योनिः प्रम्लायति, गर्भधारणाऽसमर्था भवतीत्यर्थः । तं० । (एतद्गता बहुवक्तव्यता 'गब्भ' शब्दे तृतीयभागे ८३१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

सम्प्रति जीवविशेषयोनिवक्तव्यतादिरर्थ उच्यते । तत्र-चेद सूत्रम्-

अह भंते ! सालीणं वीहीणं गोधूमाणं जवाणं जवजवाणं एएसि णं धन्नाणं कोट्ठाउत्ताणं पल्लाउत्ताणं मंचाउत्ताणं मालाउत्ताणं ओलित्ताणं लित्ताणं पिहियाणं मुद्दियाणं लंछियाणं केवइयं कालं जोणी संचिट्ठइ ?। गोयमा ! जहन्नं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसं तिन्नि संवच्छराइं, तेण परं जोणी पमिलायइ, तेण परं जोणी विद्धंसइ, तेण परं बीए अबीए भवइ, तेण परं जोणीवोच्छेदे पन्नत्ते, समणाउसो ! भ० ६ श० ७ उ० ।

" भंते त्ति " पद साधनीयमिति, भंतो भंते त्ति महावीरमामन्त्रयन्नुक्तवान् गौतमाऽऽदिः । शालीनां, कलमाऽऽदिकानामिति विशेषः । शेषाणां व्रीहीणामिति सामान्यम् । यवयवा यवविशेषा एव । एतेषामभिहितत्वेन प्रत्यक्षाणा कोष्ठे कुशूले आगुप्तानि प्रक्षेपणेन संरक्षितानि कोष्ठागुप्तानि,तेषाम् । एव सर्वत्र,नवर पल्य वंशकटकाऽऽदिकृतो धान्याऽऽधारविशेषः,मञ्च स्थूणानामुपरिस्थापितवंशकटकाऽऽदिमयो जनप्रतीत ,मालको गृहस्योपरितनभाग । अभिहित च-"अकुड्डो होइ मचो, मालो य घरोवरिं होइ" इति । (ओलित्ताण ति) द्वारदेशे पिधानेन सह गोमयाऽऽदिना अवलिप्तानाम् । (लित्ताण ति) सर्वतः (पिहियाणं ति) स्थगितानाम् (मुद्दियाणं ति) मृत्तिकाऽऽदिमुद्रावताम् (लंछियाण ति) रेखाऽऽदिभि कृतलाञ्छनानाम् । (केवइय ति) कियन्त कालं योनिर्यस्यामङ्कुर उत्पद्यते, तत परं योनिः प्रम्लायति,वर्णाऽऽदिना हीयते,प्रतिध्वस्यते विध्वंसाभिमुखीभवति । विध्वस्यते,क्षीयते । एव च तद् बीजमबीजं भवति उप्तमपि नाङ्कुरमुत्पादयति । किमुक्त भवति?-ततः पर योनिव्यवच्छेदः प्रज्ञप्तो मया,अन्यैश्च केवलिभिरिति शेष स्पष्टम । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अह भंते ! कलायमसूरतिलमुग्गमासनिप्फावकुलत्थआलिसंदगसतीणपलिमंथमाईणं एएसि णं धन्नाणं ?। जहा सालीणं तहा एयाणि वि,णवरं पंचसंवच्छराइं,सेसं तं चेव । अह भंते ! अयसिकुसुंभगकोद्दवकंगुवरगरालगकोदूसगसणसरिसवमूलगबीयमाईणं एएसि णं धन्नाणं ?। एयाणि वि तहेव, णवरं सत्त संवच्छराइं, सेसं तं चेव। भ० ६ श० ७ उ०।

अहेत्यादि सूत्रसिद्धम् । नवरम्, अथेति परप्रश्नार्थः । भदन्तेति गुर्वामन्त्रणम् । (अयसीति) अतसी कुसुम्भो रट्टारालकः कङ्गूविशेषः सणस्त्वक्प्रधानो धान्यविशेषः, सर्षपाः सिद्धार्थकाः, मूलकः शाकविशेषः,तस्य बीजानि ककारलोपसन्धिभ्याम् "मूलाबीय त्ति" प्रतिपादितमिति । शेषाणां पर्याया लोकरूढितो ज्ञेया इति । यावद्ग्रहणात्-" मंचाउत्ताण मालाउत्ताण ओलित्ताण लंछियाणं मुद्दियाण।" इति दृष्टव्यम् । व्याख्याऽस्य प्रागिवेति । पुनर्यावत्करणात्-"पविद्धंसइ विद्धंसइ से बीए अबीए भवइ तेण पर।" इति दृश्यम् । स्था० ७ ठा० । कोष्ठाऽऽदिषु निक्षिप्तानाम्, उपलक्षणमेतत्-पिहितानामवलिप्तानां लाञ्छितानां मुद्रितानां चोत्कर्षानां स्थितौ सप्तवर्षाणि भवन्ति, जघन्येन पुनः सर्वेषामपि पूर्वोक्तानां धान्यानामन्तर्मुहूर्तं स्थितिर्भवेत्, अन्तर्मुहूर्तात् परतः स्वायुःक्षयादेवाचित्त जायते । सा च परमार्थतोऽतिशयज्ञानेनैव सम्यक् परिज्ञायते, न छाद्मस्थिकज्ञानेनेति न व्यवहारपथमवतरति । अत एव च पिपासापीडितानामपि साधूनां स्वभावतः स्वायुःक्षयेणाचित्तीभूतमपि तडागोदकपानाय वर्द्धमानस्वामी भगवान् नानुज्ञातवान् । इत्यभूतस्याचित्तीभवनस्य छद्मस्थाना दुर्लक्षत्वेन मा भूत्सर्वत्रापि तडागोदके सचित्तेऽपि पाश्चात्यसाधूना प्रवृत्तिप्रसङ्ग इति कृत्वा । प्रव० १५४ द्वार । त० । स० प्र० । सूत्र० । (कियद्दूरगमनेन धान्यानामचित्तत्वमिति ' अचित्त ' शब्दे प्रथमभागे १८५ पृष्ठे द्रष्टव्यम) अन्येषामुत्पादकत्वाद् जीवे जीवस्याभिव्यक्तमात्याधिकृत्य-"जोणीए त्ति वा" योनिरन्येषामुत्पादकत्वात् । भ० २० श० २ उ० । भगनामके देवे, तद्देवताके पूर्वाफल्गुनीनक्षत्रे च । स्था० २ ठा० ३ उ० । वाच० । योनिविचारे-यत्र मनुष्योत्पत्तिस्तत्रैव द्वीन्द्रियाऽऽदीनामुत्पत्तिर्दृश्यते, तथा च योनिसङ्करः स्यात् ?, इति प्रश्ने,उत्तरम्-मनुष्यद्वीन्द्रियाऽऽदीनां योन्येकत्वेऽपि स्वस्वजातावेव योन्येकत्वव्यवहारो, न तु भिन्नजातौ । अत एव छगणाऽऽदिषु अप्युत्पन्नानां भूयसां कृम्यानां द्वीन्द्रियाऽऽदीनां स्वजात्यपेक्षया योन्येकत्व, भिन्नजातीयानामपि तत्रोत्पन्नानां स्वजात्यपेक्षयैकयोनिकत्व, तेन न योनिसङ्करः सभाव्यत इति । १०२ । प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

जोणिघात-योनिघात-पुं० । योनिविध्वंसे, नि० चू० ४ उ० । (अस्य विस्तरः ' गब्भ ' शब्दे ८३१ पृष्ठे द्रष्टव्य.)

जोणिजम्मणणिक्खमण-योनिजन्मनिष्क्रमण-न० । योन्या जन्मार्थनिष्क्रमणे, कल्प० २ क्षण ।

जोणिपाहुड-योनिप्राभृत-न० । जीवयोनिभेदस्वरूपप्रतिपादके पूर्वगताऽधिकारविशेषे, सू० १ उ० ।

जोणिप्पमुह-योनिप्रमुख-त्रि० । योनिद्वारके, विपा० १ श्रु० १ अ० । " चउरासीइजोणिप्पमुहसयसहस्सा । " स० ८४ सम० । योनिप्रमुखानि योनिप्रवाहाणि एकस्यामेव योनावनेकजातिकुलसम्भवादिति । जी० ३ प्रति० । प्रव० ।

जोणिब्भूय-योनिभूत-त्रि० । योन्यवस्थे बीजाऽऽदौ, " जोणिब्भूए बीए, जीवोऽवक्कमइ सो व अन्नो वा । " आचा० नि० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । अत्र भूतशब्दोऽवस्थावचन , योन्यवस्थे बीजे योनिपरिणाममजहतीत्यर्थः । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । बीजे योनिभूते योन्यवस्थां प्राप्ते योनिपरिणाममजहतीति भाव । बीजस्य हि द्विविधाऽवस्था । तद्यथा-योन्यवस्था, अयोन्यवस्था च । तत्र यदा बीज योन्यवस्थां न जहाति, अथ चोज्झित जन्तुना, तदा तद् योनिभूतमित्यभिधीयते । प्रज्ञा० १ पद । नि० चू० ।

जोणिमुहणिप्फडिय-योनिमुखनिस्फटित-त्रि० । स्मरमन्दिरतुरगनिर्गते, त० ।

जोणिय-योनिक-त्रि० । योनदेशोद्भवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

योनिज-त्रि० । योनिस्थानाद् जायते । जन-ड । देहभेदे, जरायुजेऽण्डजे च देहे, वाच० ।

जोणिलक्खचुलसी-योनिलक्षचतुरशीति-स्त्री० । चतुरशीतियोनिलक्षसमूहे, प्रव० १५१ द्वार । (तद्वक्तव्यता ' जोणि ' शब्दे १६५२ पृष्ठे गता)

जोणिविहाण-योनिविधान-न० । योनिभेदे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

जोणिसंगह-योनिसंग्रह-पुं० । योनिरुत्पत्तिहेतुर्जीवस्य तया सग्रहोऽनेकेषामेकशब्दाभिलाप्यत्व योनिसग्रह । भ० ७ श० ५ उ० । योनिभिरुत्पत्तिस्थानविशेषैर्जीवाना सग्रहो योनिसग्रह । योनिप्रतिपादनद्वाराऽनेकेषां जीवानामेकशब्देन प्रतिपादने, स्था० ।

योनिसंग्रहतो जीवानाह-

सत्तविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते । तं जहा-अंडजा, पोतजा, जराउया, रसया, संसेयया, संमुच्छिमा, उब्भिया ॥

" सत्तविहे " इत्यादि । योनिभिरुत्पत्तिस्थानविशेषैर्जीवानां संग्रहो योनिसंग्रह । स च सप्तधा, योनिभेदात्सप्तधा जीवा इत्यर्थ । अण्डजा पक्षिमत्स्यसर्पाऽऽदय । पोतं वस्त्र, तज्जाताः पोतादिव वा बोहित्थाज्जाता, अजरायुवेष्टिता इत्यर्थ । पोतजा हस्तिवल्गुलीप्रभृतयो जरायौ गर्भवेष्टने जातास्तद्वेष्टिता इत्यर्थ । जरायुजा मनुष्या ,गवादयश्च । रसे तीमनकाञ्जिकाऽऽदौ जाता रसजा । सस्वेदाज्जाता सस्वेदजा -यूकाऽऽदय । सम्मूर्च्छनेन निर्वृत्ता सम्मूर्च्छिमा कृम्यादय , उद्भिदो भूमिभेदाज्जाता उद्भिज्जा खञ्जनकाऽऽदय । स्था० ७ ठा० ।

अट्ठविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते । त जहा-अंडया, पोयया, जाव उब्भिया उववाइया ॥

" अट्ठविहे " इत्यादि सुगम, नवरमौपपातिका देवनारका । स्था० ८ ठा० ।

सम्प्रति पक्षिणां प्रकारान्तरेण भेदप्रतिपादनार्थमाह-

पक्खीण भंते ! कइविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! तिविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते । तं जहा-अंडया, पोयया, संमुच्छिमा ॥

" पक्खीणं भंते ! " इत्यादि । पक्षिणां भदन्त ! कतिविधः कतिप्रकारो योनिसग्रहो, योन्युपलक्षित सग्रहणमित्यर्थः ? । भगवानाह-गौतम ! त्रिविधो योनिसग्रह प्रज्ञप्त । तद्यथा-अण्डजा -मयूराऽऽदय , पोतजा -वल्गुल्यादय , सम्मूर्च्छिमा -खञ्जरीटाऽऽदय । जी० ३ प्रति० ।

भुयगाणं भंते ! कइविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! तिविहे जोणिसंगहे पण्णत्ते । तं जहा-अंडया, पोयया, संमुच्छिमा, एवं जहा खहयराण ॥

" भुयगाण भंते ! " इत्यादि । भुजगानां भदन्त ! कतिविधो योनिसग्रह प्रज्ञप्तः ? इत्यादि पक्षिवत् सर्वं निरवशेष वक्तव्यम । जी० ३ प्रति० ।

चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-जराउया संमुच्छिमया । जराउया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-इत्थी, पुरिसा, नपुंसगा । तत्थ णं जे ते संमुच्छिमा ते सव्वे णपुंसगा ॥

" चउप्पयाण " इत्यादि । चतुष्पदानां भदन्त ! कतिविधो योनिसग्रह प्रज्ञप्त ? । भगवानाह-गौतम ! द्विविधो योनिसग्रह प्रज्ञप्त । तद्यथा-पोतजा , सम्मूर्च्छिमाश्च । इह ये अण्डजव्यतिरिक्तगर्भव्युत्क्रान्तास्ते सर्वे जरायुजा , अजरायुजा वा पोतजा इति विवक्षितमतोऽत्र द्विविधो यथोक्तरूपो योनिसग्रह उक्त । अन्यथा गवादीनां जरायुजत्वात् तृतीयोऽपि जरायुजलक्षणो योनिसग्रहो वक्तव्य स्यादिति । तत्र ये पोतजा ते त्रिविधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा-स्त्रिय , पुरुषा , नपुंसकाश्च । तत्र ये ते सम्मूर्च्छिमास्ते सर्वे नपुंसका । जी० ३ प्रति० ।

जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-अंडया, पोयया, संमुच्छिमा, एवं जहा भुयगपरिसप्पाणं ॥

" जलचराण " इत्यादि । जलचराणां भदन्त ! कतिविधो योनिसग्रह प्रज्ञप्त ? । भगवानाह-गौतम ! त्रिविधो योनिसग्रह प्रज्ञप्तः । तद्यथा-अण्डजाः, पोतजा , सम्मूर्च्छिमाश्च । जी० ३ प्रति० ।

जोणिसमुच्छेय-योनिसमुच्छेद-पुं० । योनिविध्वंसे, " एस जोणी जगाण दिट्ठा न कप्पइ जोणिसमुच्छेओ । " प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

जोण्ह-ज्योत्स्न-पुं० । ज्योत्स्नाऽन्विते शुक्लपक्षे, ज्यो० ४ पाहु० ।

जोण्हा-ज्योत्स्ना-स्त्री० । ' जोइसिणा ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

जोत्त-योक्त्र-न० । युज्यतेऽनेन । युज-ष्ट्रन् । ईषादण्डाऽऽदौ, युगबन्धनार्थे दामनि, वाच० । " सुकिरणतवणिज्जजोत्तकलिय " ज० ३ वक्ष० । " जोत्तलयकसप्पहारपादपपिइजाणु । " योक्त्र यूपे वृषभसयमनमिति । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । ज्ञा० ।

योत्र-न० । यु-ष्ट्रन् । योक्त्रे, वाच० । सूत्र० ।

जोय-योक्त्र-न० । ' जोत्त ' शब्दार्थे, ज० ३ वक्ष० ।

जोयण–योजन–न० । युज-भावाऽऽदौ ल्युट् । संयोगे, णिच् ल्युट् । संयोगकरणे, वाच० । संबन्धने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उत्त० । चतुर्गव्यूताऽऽत्मके अध्वमानविशेषे, जं०७ वक्ष० । स्था० । " चउगाउए जोयणे पण्णत्ते । " स० १ सम० । भ० । आ० म० । प्रज्ञा० । " चत्तारि य पणधणुसहस्सं, दुण्णि सहस्साइं गाउअं तेसिं । चत्तारि गाउआ पुण, जोअणमेगं मुणेयव्वं " ॥ १ ॥ प्रव० २५६ द्वार । " अठेव धणुसहस्सा, जोयणमाणं पमाणेणं । " ज्यो० २ पाहु० ।

संप्रति मागधयोजनमाह–

मागहस्स णं जोयणस्स अट्ठधणुसहस्साइं नीहारे पण्णत्ते ।

" मागह " इत्यादि । मगधेषु भवं मागधं मगधदेशव्यवहृतं, तस्य योजनस्याध्वमानविशेषस्याष्टधनुः सहस्राणि नीहारो निर्गमः, प्रमाणमिति यावत् । (निहत्ते त्ति) क्वचित्पाठः । तत्र निधत्तं निकाचितं निश्चितं, प्रमाणमिति गम्यते । इदं च प्रमाणं परमाण्वादिना क्रमेणावसेयम् ।

तथाहि–

" परमाणू तसरेणू, रहरेणू अग्गयं च वालस्स ।
लिक्खा जूया य जवो, अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो ॥ १ ॥ "

तत्र परमाणुरनन्तानां निश्चयपरमाणूनां समुदयरूपः ऊर्ध्वरेण्वादिभेदा अनुयोगद्वाराभिहिता अनेनैव संगृहीता द्रष्टव्याः, तथा पौरस्त्यादिवायुप्रेरितस्त्रस्यति गच्छतीति त्रसरेणुः, रथगमनोत्खातो रथरेणुरिति । एवं चाष्टौ यवमध्यान्यङ्गुलं, चतुर्विंशतिरङ्गुलानि हस्तः, चत्वारो हस्ता धनुः, द्वे सहस्रे धनुषां गव्यूतं, चत्वारि गव्यूतानि योजनमिति । मागधग्रहणात् क्वचिदन्यदपि योजनं स्यादिति प्रतिपादितम् । तत्र यस्मिन् देशे षोडशभिर्धनुःशतैर्गव्यूतं स्यात्तत्र षड्भिः सहस्रैश्चतुर्भिः शतैर्धनुषां योजनं भवतीति । स्था० ८ ठा० । आव० । " भरहो वि पगयत्रो पूय काऊण चक्करयणस्स अट्ठाहियामहिमं करियाइ, इओ निग्गत्ताए अट्ठाहियाए तं चक्करयणं पुव्वमुहं पहावियं, भरहो सव्वबलेण तमणुगच्छिआइ, उड्ढं जोयणं गतूण ठियं, ततो सा जोयणसण्णा जाया " । आव० १ अ० ।

जोयणनीहारि [ण्]–योजननीहारिन्–त्रि० । योजनातिक्रामिणि, " जोयणनीहारिणा सरेणं । " योजनातिक्रामिणा शब्देन । उपा० २ अ० । " जोयणनीहारी सरो । " तीर्थकृतामेकत्रिंशत्तम अतिशयः । स० ३४ सम० ।

जोयणपरिमंडल–योजनपरिमण्डल–त्रि० । योजनं योजनप्रमाणं परिमण्डलं, गुणप्रधानोऽयं निर्देशः, पारिमाण्डल्यं यस्य स योजनपरिमण्डलः । योजनप्रमाणपारिमाण्डल्योपेते, " जोयणपरिमंडलं सुस्सरं घंट तिक्खुत्तो उल्लालेमाणे । " रा० ।

जोयणा–योजना–स्त्री० । युज-णिच्-युच् । संयोगकरणे, नि० चू० २ उ० । " उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत् । नीचमल्पप्रदानेन, सदृशं च पराक्रमैः " ॥१॥ दश० ३ अ० ।

जोयणिज्ज–योजनीय–त्रि० । सम्बन्धनीये, नि० चू० १ उ० ।

जोयत्तिय–जोगत्रिक–न० । 'जोगत्तिय' शब्दार्थे, दश० १० अ० ।

जोव–न० । देशी-बिन्दौ, स्तोके च । दे० ना० ३ वर्ग ।

जोवारी–स्त्री० । देशी-धान्ये, दे० ना० ३ वर्ग ।

जोव्वण–यौवन–न० । यूनो भावः-अण् । " औत ओत् " ॥८।१।१५९ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणाऽऽदेरौत ओकारः । प्रा० १ पाद । " तैलाऽऽदौ " ॥८।२।९८ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणानादौ वर्तमानस्यान्त्यस्यानन्त्यस्य च व्यञ्जनस्य द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । तारुण्ये, प्रश्न० ४ संव० द्वार । ज्ञा० । प० व० । नि० चू० । " निरुवहयसरसजोव्वणकक्कसतरुणवयभावमुवगयाओ । " निरुपहत रोगाऽऽदिना अबाधितं सरसं च शृङ्गाररसोपेतं निरुपहतो वा रसो रसो यत्र तत्तथाविधं यौवनं, तथा कर्कशोऽरूपाकृतया यस्तरुणवयोभावस्तारुण्यं, तं चोपगता यास्तास्तथा । इह च यौवनतरुणभावयोर्यद्यप्येकार्थता, तथापि सरसत्वारूपाकृत्वलक्षणयोर्मनःशरीराश्रितयो प्रधानतया विवक्षितयोर्धर्मयोराधारतया भेदेन विवक्षणाद् न पौनरुक्त्यमिति । औ० । " जोव्वणेण य अपत्ते । " उत्त० २१ अ० । यौवनं परमस्तरुणिमेति । प्रज्ञा० ३५ पद । " आषोडशाद् भवेद् बालस्ततस्तरुण उच्यते । वृद्धः स्यात्सप्ततेरूर्ध्वम्, " इत्युक्तलक्षणेऽवस्थाभेदे, " अह जोव्वणं समणुपत्तो । " यौवनं वयोविशेषलक्षणमिति । आ० म० १ अ० २ खण्ड । वाच० । सूत्र० । " यौवनमुद्ग्रकाले, विदधाति विरूपकेऽपि लावण्यम् । दर्शयति पाकसमये, निम्बफलस्यापि माधुर्यम् " ॥१॥ इति । दश० ३ अ० । " वयो अच्चेइ जोव्वणं च । " वयोग्रहणेनैव यौवनस्यगतत्वात्तदुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थं, धर्मार्थकामानां तन्निबन्धनत्वात्सर्ववयसां यौवनं साधीयस्तदपि त्वरितं यातीति । उक्तं च-" नइवेगसमं चवलं, च जीवियं जोव्वणं च कुसुमसमं । सोक्खं च जं अणिच्चं, तिण्णि वि तुरमाणभोज्जाइं ॥१॥ " आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

जोव्वणकरण–यौवनकरण–न० । कालकृतवयोऽवस्थाविशेषाऽऽत्मके रसायनाऽऽद्यापादितवयोऽवस्थाविशेषाऽऽत्मके च करणभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जोव्वणकिड्डग–यौवनक्रीडक–त्रि० । तारुण्यावस्थायां क्रीडाकर्तरि, तथा चोक्तम्-" पियपुत्तभाइकिड्डगा, णत्तू किड्डगा य सयणकिड्डगा य । एते जोव्वणकिड्डगा, पच्छन्नपई महिलियाणं ॥१॥ " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

जोव्वणग–यौवनक–न० । यौवनमेव यौवनकम् । दशा० १० अ० । यौवने, " जोव्वणगमणुप्पत्ते । " आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

जोव्वणगुण–यौवनगुण–पुं० । युवतीनां प्रियभाषित्वाऽऽदिके गुणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

जोव्वणमद–यौवनमद–पुं० । तारुण्यगर्वे, " विहवावलेवनडिए-हिँ जाइँ कीरंति जोव्वणमएण । वयपरिणामे सरिया-इँ ताइँ हिअए खुडुक्कंति ॥१॥ " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

जोव्वणिया–यौवनिका–स्त्री० । यौवने, रा० ।

जोसंत–जुषत्–त्रि० । सेवमाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

जोसण–जोषण–न० । सेवने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । आव० ।

जोसणा–जोषणा–स्त्री० । प्रीतौ, सेवायां च । ' जुषी ' प्रीतिसेवनयोरिति वचनात् । औ० । स० ।

जोसिय–जुष्ट–त्रि० । सेविते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

जोसियंग-योषिदङ्ग-न० । स्त्रीणामङ्गे, तथा चोक्तम्-" कार्य्ये ऽपीषन्मतिमान्-निरीक्षते योषिदङ्गमस्थिरया । अस्निग्धया दृशाऽव-ज्ञया ह्यकुपितोऽपि कुपित इव ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

जोसियाण-जोषित्वा-अव्य० । प्रीतयित्वेत्यर्थे, व्य० ७ उ० ।

जोह-योध-पु० । युध्यति शत्रून् प्रतिसहरतीति योधः । युद्धं कृत्वा शत्रूणां जेतरि, उत्त० २४ अ० । शूरपुरुषे, " जोहाण य उप्पत्ती । " योधानां शूरपुरुषाणाम् । स्था० १० ठा० । सुभटे, "यथा योधैः कृतं युद्धम् । " अष्ट० १५ अष्ट० । ते च भटेभ्यो विशिष्टतराः सहस्रयोधाऽऽदयः । औ० । भ० । रा० । ज्ञा० । सूत्र० । " सावरणो वि हु छलिज्जइ जोहो । " बृ० १ उ० । सहस्रयोधित्वाभावेऽपि योधित्वमिदानीम् ।

तथा च-

साहस्सीमल्ला खलु, महपाणा पुव्व आसि जोहा उ ।
तत्तुल्ला नत्थि एण्हिं, किं ते जोहा न होंती तो ? ॥

पूर्वं योधा महाप्राणाः सहस्रमल्ला आसीरन्, इदानीं तेषां तुल्या न सन्ति, किन्त्वनन्तभागहीनाः, ततः किं ते योधा न भवन्ति ?, भवन्त्येव, कालौचित्येन तेषामपि युद्धकार्यकरणादिति भावः । व्य० ३ उ० । युध्यत इति योधः सुभटः, योध इव योधः । कर्मवैरिपराजयकारके बहुश्रुताऽऽदौ, " अप्पमिहयबले जोहे, एव हवइ बहुस्सुए । " उत्त० ११ अ० । भावे घञ् । युद्धे, वाच० ।

योद्धृ-पु० । युध-तृच् । युद्धकर्तरि, वाच० ।

जोहजुज्झसज्ज-योधयुद्धसज्ज-त्रि० । योधानां युद्धं तन्निमित्त सज्जः प्रगुणीभूतो यः स योधसज्जः । योधानां युद्धार्थं प्रगुणीभूते, जी० ३ प्रति० ।

जोहट्ठाण-योधस्थान-न० । आलीढाऽऽदिके युद्धकालभवे योधानामङ्गविन्यासविशेषे, स्था० १ ठा० । तानि च-" लोयप्पवाए पंच ठाणाणि । तं जहा-आलीढं, पच्चालीढं, वइसाहं, मंडलं, समपादं । " आ० म० १ अ० २ खण्ड । " एयाणि पंच ठाणाणि लोयप्पवाएण सयणकरणट्ठाणि त्ति । " आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । उत्त० ।

तथा च योधाऽऽदिस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

आलीढे पच्चलीढे, वेसाहे मंडले य समपाए ।

योधानां स्थानं पञ्चविधम् । तद्यथा-आलीढं, प्रत्यालीढं, वैशाखं, मण्डलं, समपादं च । एतैर्हि पञ्चभिरपि स्थानैर्योधा यथायोगं युध्यन्ते, तत एतानि योधस्थानानीति । व्य० १ उ० । "अण्णे भणंति-जं एतेसिं चेव ठाणाणं जहासंभवं चलिय ठितो पासतो पिट्ठतो वा जुज्झति, तं छट्ठं चलियणामठाणं ति । " नि० चू० २० उ० । (आलीढाऽऽदीनां स्वरूपं तत्तच्छब्दे)

जोहिया-योधिका-स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

झड-शद्-धा० । शातने, भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् । " शदो झड-पक्खोडौ " ॥ ८ । ४ । १३० ॥ इति प्राकृतसूत्रेण शीयतेर्झडादेशः । 'झडइ' । प्रा० ४ पाद । शीयते, अशदत् । वाच० ।

झर-क्षर्-धा० । सञ्चलने, भ्वादि०-पर०-अक०-सेट् । "क्षर-खिर-झर-पज्झर-पच्चड-णिच्चल-णिट्टुआः" ॥ ८ । ४ । १७३ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण क्षरतेर्झरादेशः । प्रा० ४ पाद । क्षरति, अक्षारीत् । वाच० ।

इति श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प-भट्टारक-
जैनश्वेताम्बराऽऽचार्यश्री १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-
विरचिते "अभिधानराजेन्द्रे" जकाराऽऽदिशब्द-
सङ्कलनं समाप्तम् ।

झमिल-जटिल-त्रि० । "जटिले जो झो वा" ॥८।१।१९४॥ जटिले जस्य झो वा भवति । 'झमिलो'-'जमिलो' निचिमे,प्रा०१ पाद ।

झमी-स्त्री० । देशी-निरन्तरवृष्टौ, दे० ना० ३ वर्ग ।

झत्थ-न० । देशी-गते, नष्टे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झमाल-न० । देशी-इन्द्रजाले,दे० ना० ३ वर्ग ।

झय-ध्वज-पुं० । ध्वज-अच् । शौण्डिके, सर्पे च । वाच० । चक्रसिंहाऽऽदिचिह्नोपेते, भ० ए श० ३३ उ० । चतुष्कोणाऽऽकारे वंशदण्डोपरिस्थिते वस्त्रखण्डे, वाच० । औ० । चतुर्दशानामष्टमे स्वप्नभेदे, कल्प० ।

तओ पुणो जच्चकणगलट्ठिपइट्ठिअं समूहनीलरत्तपीअसुक्किल्लसुकुमालुल्लसियमोरपिच्छकयमुद्धयं झयं अहियसस्सिरीयं फालिअसंखंककुंददगरयरययकलसपंडुरेणं मत्थयत्थेण सीहेण रायमाणेण रायमाणं भित्तुं गगणतलमंडलं चेव ववसिएणं पिच्छइ सिवमउयमारुयलयाहयकपमाणं अइप्पमाणं जणपिच्छणिज्जरूवं ॥

"तओ पुणो जच्च" इत्यादितः "जणपिच्छणिज्जरूवं" इतिपर्यन्तम् । ततः सा त्रिशला पुनरष्टमे स्वप्ने (झयं ति) ध्वज पश्यति । किं विशिष्टं ध्वजम्?-"जच्चकणग" इत्यादि । जात्यम् उत्तमजातीय यत् (कणगं ति) कनकं सुवर्णं तस्य (लट्ठि त्ति) यष्टिः, तत्र (पइट्ठिअ ति) प्रतिष्ठित, सुवर्णमयदण्डशिखरे स्थितमित्यर्थः । पुनः किं विशिष्टम् ?-(समूह त्ति) समूहीभूतानि, बहूनि इत्यर्थः । (नीलरत्तपीअसुक्किल त्ति) नीलरक्तपीनशुक्लवर्णमनोहराणीत्यर्थः । (सुकुमाल त्ति) सुकुमालानि (उल्लसिय त्ति) उल्लसन्ति, वातेन लहलहायमानानि इत्यर्थः । एवंविधानि यानि (मोरपिच्छ त्ति) मयूरपिच्छानि, तैः कृता मूर्द्धजा इव केशा इव यस्य स तथा तम् । अयमर्थः-यथा मनुष्यशिरसि वेणिर्भवति,तथा तस्य ध्वजस्य वर्णस्थाने मयूरपिच्छसमूहः स्थापितोऽस्तीति । पुनः किं विशिष्टम् ?-(अहियसस्सिरीयं ति) अधिकसश्रीकम्,अतिशोभितम् इत्यर्थः। पुनः किं विशिष्टम्?-एवंविधेन सिंहेन राजमानम् इति विशेषणयोजना । अथ कीदृशेन सिंहेन?-"फालिय" इत्यादि । स्फटिक रत्नविशेषः, शङ्ख प्रसिद्धः, अङ्कोऽपि रत्नविशेष , (कुंद त्ति) कुन्दस्य धवलपुष्पविशेषस्य माल्यम्, (दगरय त्ति) दकरजांसि जलकणाः, (रययकलस त्ति) रजतकलशो रूप्यघट., (पंडुरेण त्ति) उक्तसर्ववस्तुवत् उज्ज्वलवर्णेन, (मत्थयत्थेण त्ति) मस्तकस्थितेन, चित्रतया ध्वजशिरसि आलेखितेनेत्यर्थः । पुनः कीदृशेन सिंहेन ?-(रायमाणेण त्ति) राजमानेन, सुन्दरत्वात् शोभमानेनेत्यर्थः । (रायमाणं ति) राजमानम् इति तु योजितम् । पुन कीदृशेन सिंहेन ?-(भित्तुं) भेत्तु द्विधा कर्तुं, किम् ?-(गगणतलमंडलं ति) आकाशतलमण्डलम् । (चेव त्ति) उत्प्रेक्षायाम् (ववसिएण त्ति) सोद्यमेनेव । अयमर्थः-ध्वजस्तावद्वायुतरङ्गेण कम्पते । कम्पमाने च ध्वजे सिंहोऽपि गगन प्रति उच्छलति । तथा च उत्प्रेक्षते-अयं सिंह. किं गगनतलं भेत्तुम् उद्यमं करोतीति ?। (पिच्छइ त्ति) प्रेक्षते इति प्राग्वत् । अथ पुन किं विशिष्टं ध्वजम् ?-"सिव" इत्यादि । शिव. सौम्य सुखकारी, अत एव (मउअ त्ति) मृदुको, मन्दमन्द इति यावत् । एवंविधो यो (मारुअ त्ति) मारुतो वायुः, तस्य (लय त्ति) लय आश्लेषो, मिलनमिति यावत् । तेन (आहय त्ति) आहत आन्दोलितो यः । तत एव (कपमाण त्ति) चलनस्वभावो यः स तथा तम् । पुन किंविशिष्टम् ?-(अइप्पमाण ति) अतिप्रमाणम्, महान्तम् इत्यर्थः । पुन किंविशिष्टम् ?-(जणपिच्छणिज्जरूव ति) जनानां प्रेक्षणीय द्रष्टुं योग्य रूपं स्वरूपं यस्य स तथा तम् । कल्प० ३ क्षण । आ० म० । खट्वाऽङ्गे, मेढ्रे च । पु० । न० । वाच० । स्त्रियां टाप् । औ० । ज्ञा० । नि० । स्था० । विपा० ।

झर-स्मर-धा० । स्मरणे, भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् । "स्मरेर्झर-झूर-भर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहा." । ८ । ४ । ७४ । इति झरादेशः । झरइ । प्रा० ४ पाद ।

झरअ-पुं० । देशी-सुवर्णकारे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झरंक-पु० । देशी-तृणमयपुरुषे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झरग-ध्यातृ-पुं० । ध्यायतीति ध्याता । ध्यानकर्त्तरि, " भवग करग झरग, पभावग णाणदसणगुणाणं । " त० ।

झरण-झरण-स्त्री० । क्षरणे, व्य० १ उ० ।

झरणा-झरणा-स्त्री० । क्षरणे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

झरुअ-पु० । देशी-मशके, दे० ना० ३ वर्ग ।

झरेयव्व-स्मर्त्तव्य-त्रि० । परिचेतव्ये, बृ० ५ उ० ।

झलक्किअ-दग्ध-त्रि० । भस्मीभूते,"तक्ष्यादीना छोल्लाऽऽदय." । ८ । ४ । ३९५ । इति दहस्य झलक्कादेश ,क्तप्रत्यये "सराणां०" । ८ । ४ । २३८ । क-कि , " कगच०- " । ८ । १ । १७७ । तलुक् । स्वार्थे कः । स्-१-१ । "कग०" । ८।१ । १७७ । कलुक् । "स्यमोरस्योत्" ।८।४। ३३१ । ' अउ ' झलक्किअउ । दु० ४ पाद । " सासानलझलक्किअउ, वाहसलिलसंसित्तउ । " प्रा० ४ पाद ३९५ सूत्र ।

झलक्कित-त्रि० । भस्मीभूते, प्रा०४ पाद ।

झलझलिआ-स्त्री० । देशी-झोलिकायाम, दे० ना० ३ वर्ग ।

झला-स्त्री० । देशी-मृगतृष्णायाम, दे० ना० ३ वर्ग ।

झलुसिगअ-न० । देशी-दग्धार्थे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झलुंकिअ-न० । देशी-दग्धार्थे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झल्लरी-झल्लरी-स्त्री० । झर्झति झर्झ-अरन्-पृ० । वाच० । उभयतो विस्तीर्णे चर्मावनद्धमुखे मध्ये सङ्क्षिप्ते डक्काकारे वाद्यभेदे, आ०म०१ अ०१ खण्ड । प्रज्ञा० । जी० । अल्पोच्छ्रये महामुखे (भ० ए श०३३ उ०) चतुरङ्गुलनालिके करटिसदृशे वलयाकारे आतोद्यविशेषे च । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । आ० म० । कल्प० । रा० । औ० । ज्ञा० । विशे० । " सत्तो सदइ गधारं, मज्झिम पुण झल्लरी । " स्था० ७ ठा० । अनु० ।

झल्लरीसंठिय-झल्लरीसंस्थित-त्रि० । झल्लरीसंस्थानवति, अल्पोच्छ्रायत्वान्महाविस्तारत्वाच्च तिर्यग्लोकक्षेत्रलोको झल्लरीसंस्थित । भ० ११ श० १० उ० । स्था० ।

झवण-ध्यापन-न० । उपशमश्रेण्यां कर्मानुदयलक्षणे विध्यापने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

झवणा-क्षपणा-स्त्री० । क्षपणाऽपचयो निर्जरा पापकर्मणामस्मादिति क्षपणा । विशे० (६६१ गाथा) । "पावाण खवण त्ति" पापकर्मक्षपणहेतुत्वात्क्षपणा । भावाध्ययने सामायिकाऽऽदिश्रुतविशेषे, अनु० । स्था० । (अस्या निक्षेपस्तु 'खवणा' शब्दे तृतीयभागे ७३३ पृष्ठे गतः)

झस-झष-पुं० । झष्यते कर्मणि घ. । मत्स्ये, जी० ३ प्रति० । वाच० । तं० । ज० । प्रश्न० । विशे० । ज्ञा० । मीनराशौ च । भावे घ. । तापे, अच् । खिले वने च । न० । नागवल्ल्याम्, स्त्री० । वाच० । "झसविहगसुजायपीणकुच्छी ।" जी० ३ प्रति० । ज० । टङ्कच्छिन्ने, अयशसि, तटे, तटस्थे, दीर्घगम्भीरे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झसिअ-न० । देशी-पर्यस्ते, आकृष्टे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झसुर-न० । देशी-ताम्बूले, अर्थे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झाअइ-ध्याति-स्त्री० । "स्वरादनतो वा" । ८ । ४ । २४० । अकारान्तवर्जितात्स्वरान्ताद्धातोरन्तेऽकाराऽऽगमो वा भवति । 'झाइ'। 'झाअइ ।' प्रा० ४ पाद । ध्याने, स्था० ६ ठा० । आव० ।

झाइ-ध्याति-स्त्री० । 'झाअइ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

झाइय-ध्यात-त्रि० । अनुप्रेक्षिते, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

झाइयव्व-ध्यातव्य-त्रि० । ध्येये, आव० ४ अ० ।

झाउल्ल-न० । देशी-कार्पासफले, दे० ना० ३ वर्ग ।

झाड-झाट-पुं० । झट्-णिच् अच् । निकुञ्जे कान्तारे, व्रणाऽऽदीनां च मार्जने, वाच० । लतागहने, दे० ना० ३ वर्ग ।

झाडन-झाटन-न० । क्षोभे, स्था० ५ ठा० २ उ० । प्रस्फोटने, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

झाण-ध्यान-न० । 'ध्यै' चिन्तायाम् । आ० चू० ४ अ० । ध्यायते चिन्त्यते वस्त्वनेन, ध्यातिर्वा ध्यानम् । प्रव० ६ द्वार । "साध्वसध्यह्यां झः" ॥ ८ । २ । २६ ॥ इति ध्यस्य झः । प्रा० २ पाद । चिन्तायाम्, आ० चू० ४ अ० । परिणामस्थिरतायाम्, अष्ट० ६ अष्ट० । एकाऽऽलम्बनसंस्थस्य सदृशप्रत्ययस्य च प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तप्रवाहे, षो० १२ विव० । आन्तर्मुहूर्त्तमात्रकालमेकाग्रचित्तताऽध्यवसाने, प्रव० ६ द्वार । एकावलम्बनेन मनःस्थैर्ये, विशे० । सूत्र० । योगनिरोधे, स० १ सम० । प्रश्न० । पञ्चा० । स्था० । ग० । सूत्र० ।

विषयसूची-

(१) ध्यानस्वरूपम्—

उपयोगे विजातीय-प्रत्ययाव्यवधानभाक् ।
शुभैकप्रत्ययो ध्यानं, सूक्ष्माऽऽभोगसमन्वितम् ॥ ११ ॥

(उपयोग इति) उपयोगे स्थिरप्रदीपसदृशे धारालग्ने ज्ञाने, विजातीयप्रत्ययेन तद्विच्छेदकारिणा विषयान्तरसञ्चारेणालक्ष्यकालेनापि, अव्यवधानभागनन्तरित, शुभैकप्रत्ययः प्रशस्तैकार्थबोधो, ध्यानमुच्यते; सूक्ष्माऽऽभोगेनोत्पाताऽऽदिविषयसूक्ष्माऽऽलोचनेन, समन्वित सहितम् । द्वा० १८ द्वा० ।

ध्यानं च विमले बोधे, सदैव हि महात्मनाम् ।
सदा प्रसृमरोऽनभ्रे, प्रकाशो गगने विधोः ॥ २० ॥

(ध्यान चेति) विमले बोधे च सति, महात्मनां सदैव हि ध्यान भवति, तस्य तन्नियतत्वात् । दृष्टान्तमाह-अनभ्रेऽभ्ररहिते गगने, विधोरुदितस्य प्रकाशः सदा प्रसृमरो भवति, तथाऽवस्थास्वाभाव्यादिति । द्वा० २४ द्वा० ।

(२) तच्चतुर्विधम्—

चत्तारि झाणा पण्णत्ता । तं जहा-अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे ।

सुगमं चैतद्-नवरं-ध्यानतो ध्यानानि, अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालं चित्तस्थिरतालक्षणानि । उक्तं च-"अंतो मुहुत्तमित्तं, चित्ताऽवत्थाणमेगवत्थुम्मि । छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं ति" ॥१॥ तत्र ऋतं दुःखं, तस्य निमित्तं, तत्र वा भवम्, ऋते वा पीडिते भवमार्त्तध्यानं, दुष्टोऽध्यवसायो हिंसाऽऽद्यतिक्रौर्यानुगतं रौद्रं, श्रुतचरणधर्मादनपेतं धर्म्यं, शोधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं, शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम् । स्था० ४ ठा० १ उ० । विशे० । ध० । भ० । ग० । औ० । आ० चू० । तत्र ध्यातिर्ध्यानमिति भावसाधनः, तत्पुनः कालतोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रं, भेदतस्तु चतुःप्रकारमार्त्ताऽऽदिभेदेन, ध्येयप्रकारास्त्वमनोज्ञविषयसम्प्रयोगाऽऽद्यः । तत्र शोकाऽऽक्रन्दनविलपनाऽऽदिलक्षणमार्त्तं, तेन उत्सन्नवधाऽऽदिलक्षणं रौद्रं, तेन जिनप्रणीतभावश्रद्धानाऽऽदिलक्षणं धर्म्यं, तेन अवधासंमोहाऽऽदिलक्षणं शुक्लम् । तेन फलं पुनरेषां तिर्यङ्नरकदेवगत्या विमोक्षाऽऽख्यमिति क्रमेण अथ, ध्यानसमासार्थः । व्यासार्थस्तु-ध्यानशतकादवसेयः । तच्चेद ध्यानशतकम्-अस्य च महार्थत्वाद्वस्तुतः शास्त्रान्तरत्वाद प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमाह-

वीरं सुक्कज्झाण-ऽग्गिदड्ढकम्मिंधणं पणमिऊणं ।
जोईसरं सरण्णं, झाणज्झयणं पवक्खामि ॥ १ ॥

वीरं शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धनं, प्रणम्य, ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीति योगः । तत्र 'ईर' गतिप्रेरणयोरित्यस्य विपूर्वस्याजन्तस्य विशेषेण ईरयति कर्म गमयति, याति वेह शिवमिति वीरः; त वीरं, किंविशिष्टम् ?, इत्यत आह-शुचं क्लामयतीति शु-

क्ल, शोकं ग्लपयतीत्यर्थः । 'ध्यै'-ध्यायने चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमिति ध्यानम्, एकाग्रचित्तनिरोध इत्यर्थः। शुक्लं च तद् ध्यानं च, तदेव कर्मेन्धनदहनादग्निः शुक्लध्यानाग्निः, तथा मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगैः क्रियन इति कर्म-ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदि, तदेवातितीव्रदुःखानलनिबन्धनत्वादिन्धनं कर्मेन्धनं, ततश्च शुक्लध्यानाग्निना दग्धं स्वस्वभावापनयनेन भस्मीकृतं कर्मेन्धनं येन स तथाविधः,तं प्रणम्य,प्रकर्षेण मनोवाक्काययोगैर्नत्वेत्यर्थः। किम् ?, समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा-प्रत्ययविधानाद् ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीति योगः। तत्राधीयत इत्यध्ययनं, कर्मणि ल्युट्, पठ्यत इत्यर्थः।ध्यानप्रतिपादकमध्ययनं ध्यानाध्ययनम्। तद्याथात्म्यमङ्गीकृत्य प्रकर्षेण वक्ष्येऽभिधास्ये, किंविशिष्टं वीरं प्रणम्य ?, इत्यत आह-योगेश्वर, योगीश्वरं वा। तत्र युज्यन्त इति योगा मनोवाक्कायव्यापारलक्षणाः, तैरीश्वरः प्रधानः, तम्। तथाहि-अनुत्तरा एव भगवतो मनोवाक्कायव्यापारा इति।

यथोक्तम्-

" दव्वमणोजोएण, मणनाणीण अणुत्तराण य ।
ससयवोच्छित्तिं के-वलेण नाऊण सति कुणइ ॥ १ ॥
भिन्नियपयक्खरसग्ला मिच्छिन्नगतिरिच्छलागिरपरिणामा ।
मणणेञ्जाणी वाणी, जोयणनीहारिणी चेव ॥ २ ॥
एक्का य अणेगेसिं, ससयवोच्छेयणम्मि अपमिहया ।
न य निव्विज्जइ सोआ, तिप्पइ सव्वाउएण वि ॥ ३ ॥
सव्वसुरेहिंतो वि हु, अहिगो कंतो य कायजोगो से ।
तह वि य पसंतरूवे,कुणइ सया पाणिसघाए" ॥४॥ इत्यादि।

युज्यते वाऽनेन केवलज्ञानाऽऽदिनाऽऽत्मेति योगो धर्मशुक्लध्यानलक्षणः। स येषां विद्यते इति योगिनः साधवः, तैरीश्वरः, तदुपदेशेन तेषां प्रवृत्तेः, तत्सबन्धादिति। तेषां वा ईश्वरो योगीश्वरः प्रभुः स्वामीत्यनर्थान्तरम्।तं योगीश्वरम्। अथवा योगिस्मार्य-योगिनां चिन्त्य, ध्येयमित्यर्थः। पुनरपि स एव विशेष्यते-शरण्य-तत्र शरणे साधुः शरण्यः,तं रागाऽऽदिपरिभूताऽऽश्रितसत्त्ववत्सलं,रक्षकमित्यर्थः। ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीत्येतद् व्याख्यातमेव।

अत्राऽऽह-यः शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धनः स योगीश्वर एव, यश्च योगीश्वरः स शरण्य एवेति गतार्थे विशेषणे। न। अभिप्रायापरिज्ञानात्। इह शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धनः सामान्यकेवल्यपि भवति, न त्वसौ योगेश्वरः, वाक्काद्यतिशयाभावात्;स एव च तत्त्वतः शरण्य इति ज्ञापनार्थमेवादुष्टमेतदपि। तथा चोभयपदव्यभिचारे एकपदव्यभिचारे अज्ञातज्ञापनार्थे च शास्त्रे विशेषणाभिधानमनुज्ञातमेव पूर्वमुनिभिरित्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ १ ॥

(३) साम्प्रतं ध्यानाध्यानलक्षणं प्रतिपादयन्नाह-

जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं ।
तं हुज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता ॥ २ ॥

यदित्युद्देशः, स्थिरं निश्चलम्,अध्यवसानं, मन एकाग्रनाऽऽलम्बनमित्यर्थः। तदिति निर्देशे, ध्यानं-प्राङ्निरूपितशब्दार्थम्। ततश्चेतदुक्तं भवति-यत्स्थिरमध्यवसानं तद्ध्यानमभिधीयते, यच्चलमिति यत्पुनरनवस्थितं तच्चित्तम्। तच्चौघतस्त्रिधा भवतीति दर्शयति। तद्भवेद्भावना वेति-तच्चित्तं भवेत्। का ?, भावना-भाव्यतेऽनेन भावना, ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थः। वा विभाषायाम्, अनुप्रेक्षा वेति-अनु पश्चाद्भावे,प्रेक्षणं प्रेक्षा, सा च स्मृतिः, ध्यानाद् भ्रष्टस्य चित्तचेष्टेत्यर्थः। वा पूर्ववत्। अथवा (चिंते त्ति) अथवाशब्दः प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थः। चिन्तेति-या खलूक्तप्रकारद्वयरहिता मनश्चेष्टा, सा चिन्तेति गाथार्थः ॥ २ ॥

इत्थं ध्यानाऽध्यानलक्षणमोघतोऽभिधायाधुनाऽध्यानमेव कालस्वामिभ्यां निरूपयन्नाह-

अंतोमुहुत्तमित्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि ।
छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥ ३ ॥

इह मुहूर्त्तः सप्तसप्ततिलवप्रमाणः कालविशेषो भण्यते।(आव०) अन्तर्मध्यकरणे,ततश्च अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं, कालमिति गम्यते।मात्रशब्दस्तदधिककालव्यवच्छेदार्थः। ततश्च भिन्नमुहूर्त्तमेव कालम्,किम् ?, चित्तावस्थानमिति-चित्तस्य मनसः,अवस्थानं चित्तावस्थानम्, अवस्थितिरवस्थानं,निष्प्रकम्पतया वृत्तिरित्यर्थः। क ?, एकवस्तुनि-एकमद्वितीयं, वसन्त्यस्मिन् गुणपर्याया इति वस्तु-चेतनाऽऽदि;एकं च तद्वस्तु च एकवस्तु,तस्मिन्। छद्मस्थानां ध्यानमिति-तत्र छादयतीति छद्म-पिधानं, तच्च ज्ञानाऽऽदीनां गुणानामावारकत्वाद् ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिलक्षणं घातिकर्म, छद्मनि स्थिताः छद्मस्थाः, अकेवलिन इत्यर्थः। तेषां छद्मस्थानां, ध्यानं प्राग्वत्। ततश्चायं समुदायार्थः-अन्तर्मुहूर्त्तकालं यच्चित्तावस्थानम् एकस्मिन् वस्तुनि तत् छद्मस्थानां ध्यानमिति। योगनिरोधो जिनानां त्विति। तत्र योगास्तत्त्वत औदारिकाऽऽदिशरीरसंयोगसमुत्था आत्मपरिणामविशेषव्यापारा एव। यथोक्तम्-" औदारिकाऽऽदिशरीरयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः, तथौदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीरव्यापाराऽऽहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः, तथौदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीरव्यापाराऽऽहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोग इति। अमीषां निरोधो योगनिरोधः, निरोधनं निरोधः, प्रलयकरणमित्यर्थः। केषां ?, जिनानां केवलिनां, तुशब्द एवकारार्थः। स चावधारणे, योगनिरोध एव, न तु चित्तावस्थानं, चित्तस्यैवाभावात्। अथवा योगनिरोधो जिनानामेव ध्यानं, नान्येषाम्,अशक्यत्वादित्यलं विस्तरेण। यथा चायं योगनिरोधो जिनानां ध्यानं यावन्तं च कालं तद्भवत्येतदुपरिष्टाद्वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥३॥

साम्प्रतं छद्मस्थानामन्तर्मुहूर्त्तात्परतो यद्भवति,
तदुपदर्शयन्नाह—

अंतोमुहुत्तपरओ, चिंता झाणंतरं व हुज्जाहि ।
सुचिरं पि हुज्ज बहुव-त्थुसंकमे झाणसंताणो ॥ ४ ॥

अन्तर्मुहूर्त्तात्परत इति-भिन्नमुहूर्त्तादूर्द्ध्वं, चिन्ता प्रागुक्तस्वरूपा, तथा ध्यानान्तरं वा भवेत्। तत्रेह न ध्यानादन्यद् ध्यानं ध्यानान्तरं परिगृह्यते, किं तर्हि ?, भावनाऽनुप्रेक्षाऽऽत्मकं चेत इति। इदं च ध्यानान्तरं तदुत्तरकालभाविनि ध्याने सति भवति, तत्राप्ययमेव न्याय इति कृत्वा ध्यानसन्तानप्राप्तिर्यतः, अतस्तत्मेव कालमानं वस्तुसङ्क्रमद्वारेण निरूपयन्नाह—सुचिरमपि प्रभूतमपि, कालमिति गम्यते। भवेत्, बहुवस्तुसङ्क्रमे सति, ध्यानसन्तानो ध्यानप्रवाह इति। तत्र बहूनि च तानि वस्तूनि बहुवस्तूनि, आत्मगतपरगतानि गृह्यन्ते। तत्राऽऽत्मगतानि मनःप्रभृतीनि, परगतानि द्रव्याऽऽदीनीति,तेषु सङ्क्रमः सञ्चरणमिति गाथार्थः ॥४॥

(४) अथ ध्यानस्यैव भेदानाह-

कायाऽऽदिविहिकिकं, तिव्वं मउयं च मज्झं च ।
जह सीहस्स गत्तीओ, मंदा य पुता दुया चेव ॥

पुनर्दृढाध्यवसायाऽऽत्मक चित्त त्रिधा-कायिकं, वाचिकं, मानसिकं च। कायिक नाम-यत्कायव्यापारेणोपयुक्तो प्रक्रकचारणिकां करोति, कूर्मवद्वा सलीनाङ्गोपाङ्गस्तिष्ठति । वाचिकं तु-मयेदृशी निरवद्या भाषा भाषितव्या, नेदृशी सावद्येति विमर्शपुरस्सर यद्भाष्यते । यद्वा-विकथाऽऽदिव्युदासेन श्रुतपरावर्त्तनाऽऽदिकमुपयुक्त करोति तद्वाचिकम्। मानस तु-एकस्मिन् वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता । पुनरेकैक त्रिविध—तीव्र, मृदुक च, मध्य च । तत्र तीव्रमुत्कटम्, मृदुक च मन्दम्, मध्य च-नातितीव्र नातिमृदुकमित्यर्थ । यथा सिंहस्य गतयस्तिस्रो भवन्ति । तद्यथा-मन्दा च, प्लुता, द्रुता च । तत्र मन्दा—विलम्बिता, प्लुता-नातिमन्दा नाति त्वरिता, द्रुता-अतिशीघ्रवेगा । वृ० १ उ० । दर्श० ।

इत्थ तावत् सप्रसङ्ग ध्यानस्य सामान्येन लक्षणमुक्तम्,अधुना विशेषलक्षणाभिधित्सया ध्यानोद्देश विशिष्टफलहेतु भाव च सङ्क्षेपत प्रदर्शयन्नाह-

(५) प्रशस्ताप्रशस्तानि ध्यानानि-

अट्टं १ रुद्द २ धम्मं ३, सुक्क ४ झाणाइँ तत्थ अंताइं ।
निव्वाणसाहणाइं, भवकारणमट्टरुद्दाइं ॥ ५ ॥

आर्त्तं,रौद्र,धर्म्म, शुक्लम्। तत्र ऋत दु ख,तन्निमित्तो दृढोऽध्यवसाय ,ऋते भवमार्त्त,क्लिष्टमित्यर्थ । हिंसाऽऽद्यतिक्रौर्यानुगत रौद्रम्।चरणश्रुतधर्मानुगत धर्म्मम्। शोधयत्यष्टप्रकार कर्ममल,शुच वा क्लमयतीति शुक्लम्। अमूनि ध्यानानि वर्त्तन्ते। अधुना फलहेतुत्वमुपदर्शयति-तत्र ध्यानचतुष्टये, अन्ते चरमे-सूत्रक्रमप्रामाण्याद् धर्मशुक्ले इत्यर्थ । किम्?, निर्वाणसाधने । इह निर्वृतिर्निर्वाण,सामान्येन सुखमभिधीयते । तस्य साधने,कारणे इत्यर्थ । ततश्च-" अट्टेण तिरिक्खगतिं, रोद्दज्झाणेण गम्मती नरय । धम्मेण देवलोय, सिद्धिगतिं सुक्कझाणेण ॥ १ ॥ " इति यदुक्त, तदपि न विरुध्यते । देवगतिसिद्धिगत्या सामान्येन सुखसिद्धेरिति । अथापि निर्वाणमोक्ष ,तथाऽपि पारम्पर्येण धर्मध्यानस्यापि तत्साधनत्वादविरोध इति । तथा भवकारणमार्त्तरौद्रे इति । तत्र भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्त्तिन प्राणिन इति भव -ससार एव, तथाऽन्यत्र व्याख्यातमेतो विशेषप्रतिपत्तेस्तिर्यङ्नारकभवग्रह इति गाथार्थ ॥ ५ ॥ आव० ४ अ० । सम्म० ।

(६) अथ शुभाशुभध्यानप्रज्ञापनार्थमिदमाह-

वण्णरसगंधफासा, इट्ठाणिट्ठा विभासिया सुत्ते ।
अहिकिच्च दव्वलेसा, ताहिं उ साहिज्जई भावो ॥

सूत्रे प्रज्ञापनाऽऽदौ, कृष्णाऽऽदीना लेश्याना यद्वर्णगन्धरसस्पर्शा , इष्टा अनिष्टाश्च, विभाषिता विविधमनेकैरुपमानैर्वर्णिता । (लेश्यावर्णन 'लेस्सा' शब्दे वक्ष्यते) तदेतत् सर्वमपि द्रव्यलेश्या अधिकृत्य प्रतिपत्तव्यम्। ताभिश्च द्रव्यलेश्याभि शुभाशुभाध्यवसायरूप साध्यते भाव । वृ० १ उ० । आव० । दर्श० ।

(आर्तध्यानवक्तव्यता ' अट्टज्झाण ' शब्दे प्रथमभागे २३५ पृष्ठे निरूपिता । रौद्रध्यानवक्तव्यता तु 'रोद्दज्झाण' शब्दे वक्ष्यते)

धर्मशुक्लध्यानयोस्तु परमार्थतो ध्यानत्वादिहैव व्याख्या ।

(७) साम्प्रत धर्म्मध्यानावसरः, तत्र तदभिधित्सयैवाऽऽद्याविद द्वारगाथाद्वयमाह-

झाणस्स भावणाओ, देसं कालं तहाऽऽसणविसेसं ।
आलंबण कम्मं झा-इअव्वयं जे अ झायारो ॥ २८ ॥
तत्तोऽणुप्पेहाओ, लेस्सा लिंगं फलं च नाऊण ।
धम्मं झाइज्ज मुणी, तग्गयजोगो तओ सुक्कं ॥ २९ ॥

ध्यानस्य प्राङ्निरूपितशब्दार्थस्य,किम्? भावना -ज्ञानाऽऽद्या , ज्ञात्वेति योग । किं च-देश तदुचित,काल, तथाऽऽसनविशेष तदुचितमिति; आलम्बन वाचनाऽऽदि,क्रम मनोनिरोधाऽऽदि, तथा ध्यातव्य ध्येयमाज्ञाऽऽदि,तथा ये च ध्यातार -अप्रमादाऽऽदियुक्ता ,ततोऽनुप्रेक्षाः-ध्यानोपरमकालभाविन्योऽनित्यत्वाऽऽद्यालोचनारूपा , तथा लेश्याः-शुद्धा एव,तथा लिङ्ग-श्रद्धानाऽऽदि, तथा फल-सुरलोकाऽऽदि । चशब्द स्वगतानेकभेदप्रदर्शनपर । एतद् ज्ञात्वा, किम्?, धर्ममिति-धर्मध्यान, ध्यायेन्मुनिरिति । तद्गतयोग -धर्मध्यानकृताभ्यास , तत पश्चात्, शुक्लध्यानमिति गाथाद्वयसमासार्थः । व्यासार्थं तु प्रतिद्वार ग्रन्थकार स्वयमेव वक्ष्यति । २८ । २९ ।

तत्राऽऽद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाऽऽह—

पुव्वकयब्भासो भा-वणाहिँ झाणस्स जुग्गयमुवेइ ।
ताओ अ नाणदंसण-चरित्तवेरग्गनियआओ ॥३०॥
"वेरग्गजणिआओ" इति पाठान्तरम् ।

पूर्वं ध्यानात्प्रथम, कृतो निर्वर्त्तित , अभ्यास आसेवनालक्षणो येन स तथाविध , काभि पूर्वकृताभ्यासः?-भावनाभि करणभूताभिः,भावनासु वा भावनाविषये पश्चाद्,ध्यानस्याधिकृतस्य, योग्यताम्-अनुरूपताम्,उपैति यातीत्यर्थ । ताश्च भावना ज्ञानदर्शनचारित्रवैराग्यनियता वर्त्तन्ते, नियता इति परिच्छिन्नाः । पाठान्तरे वा जनिता इति गाथार्थ ॥ ३० ॥

(८) साम्प्रत ज्ञानभावनास्वरूप गुणदर्शनायेदमाह—

णाणे निच्चब्भासो, कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च ।
नाणगुणमुणिअसारो, तो झाइ सुनिच्चलमईओ ॥ ३१ ॥

ज्ञाने श्रुतज्ञाने, नित्य सदा, अभ्यास आसेवनालक्षण , करोति निर्वर्त्तयति, किम्?, मनसोऽन्त करणस्य, चेतस इत्यर्थ । धारणमशुभव्यापारनिरोधेनावस्थानमिति भावना । तथा विशुद्धिं च, तत्र विशोधन विशुद्धि ,सूत्रार्थयोरिति गम्यते । नाम,चशब्दाद् भवनिर्वेद च । एव ज्ञानगुणज्ञातसार इति-ज्ञानेन गुणाना जीवाजीवाऽऽश्रिताना, 'गुणपर्याय च द्रव्यम्' इति वचनात्, पर्यायाणा च तदविनाभाविना (मुणितो) ज्ञात सार परमार्थो येन स तथोच्यते, ज्ञानगुणेन वा ज्ञानमाहात्म्येनेति भाव । ज्ञानः सारो येन, विश्वस्येति गम्यते । स तथाविध । ततश्च पश्चाद्, ध्यायति चिन्तयति; किंविशिष्ट सन्?, निश्चला निष्प्रकम्पा, सम्यग्ज्ञानतोऽन्यथाप्रवृत्तिकम्परहितेति भाव । मतिर्बुद्धिर्यस्य स तथाविध इति गाथार्थ ॥ ३१ ॥ उक्ता ज्ञानभावना ।

साम्प्रत दर्शनभावनास्वरूप गुणदर्शनार्थमिदमाह-

संकाइदोसरहिओ, पसमत्थिज्जाइगुणगणोवेओ ।
होइ असंमूढमणो, दंसणसुद्धीइ झाणम्मि ॥३२॥

(सङ्कादिदोषरहित इति) शङ्कन शङ्का,आदिशब्दात्काङ्क्षाऽऽदि-

परिग्रहः । उक्तञ्च-"शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसापरपाषण्डसंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः" इति । (एतेषां च स्वरूपं प्रत्याख्यानाध्ययने न्यक्षेण वक्ष्यामः) तत्र शङ्काऽऽदय एव सम्यक्त्वाऽऽख्यप्रथमगुणातिचारत्वाद्दोषाः शङ्काऽऽदिदोषाः, तैः रहितः त्यक्तः; उक्तदोषरहितत्वादेव । किम् ?-प्रश्रमस्थैर्याऽऽदिगुणगणोपेतः । तत्र प्रकर्षेण श्रमः प्रश्रमः खेदः । स च स्वपरसमयतत्त्वाधिगमरूपः, स्थैर्यं तु जिनशासने निष्प्रकम्पता । आदिशब्दात् प्रभावनाऽऽदिपरिग्रहः । उक्तञ्च-"सपरसमए कोसल्लं, थिरिया जिणसासणे पभावणया । आययणसेवणत्ती, दंसणदीवा गुणा पंच" ॥१॥ प्रश्रमस्थैर्याऽऽदय एव गुणाः, तेषां गणः समूहः, तेनोपेतो युक्तो यः स तथाविधः । अथवा-प्रशमाऽऽदिना स्थैर्याऽऽदिना च गुणगणेनोपेतः । तत्र प्रशमाऽऽदिगुणगणः प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणः, स्थैर्याऽऽदिस्तु दर्शित एव । य इत्थम्भूतः, असौ भवत्यसंमूढमनाः, तत्त्वान्तरेऽभ्रान्तचित्त इत्यर्थः । दर्शनशुद्ध्योक्तलक्षणया हेतुभूतया, क ?, ध्याने इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ उक्ता दर्शनभावना ।

साम्प्रतं चारित्रभावनास्वरूपं गुणदर्शनायेदमाह-

नवकम्माणायाणं, पोराणविणिज्जरं सुभादाणं ।
चारित्तभावणाए, झाणमयत्तेण य समेइ ॥ ३३ ॥

नवकर्मणामनादानमिति-नवान्युपचीयमानानि प्रत्यग्राणि भण्यन्ते, क्रियन्ते इति कर्माणि-ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदीनि, तेषामनादानमग्रहणम्; चारित्रभावनया समेति गच्छतीति योगः । तथा पुराणविनिर्जरां- चिरन्तनक्षपणामित्यर्थः । तथा शुभाऽऽदानमिति-शुभं पुण्यं सम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्रात्मकं, तस्याऽऽदानं ग्रहणम् । किम् ?-चारित्रभावनया हेतुभूतया ध्यानं, चशब्दान्नवकर्मानादानाऽऽदि वा; अयत्नेनाक्लेशेन, समेति गच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः ।

तत्र चारित्रभावनयेति कोऽर्थः ?, 'चर' गतिभक्षणयोरित्यस्य "अर्त्तिलूधूसूखनिसहचर इत्रः" ॥३।२।१८४॥ इति (पाणि०) इत्रप्रत्ययान्तस्य चरित्रमिति भवति । चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रं-क्षयोपशमरूपं, तस्य भावश्चारित्रम् । एतदुक्तं भवति-इहान्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसञ्चयापचयाय चरणभावः चारित्रमिति, सर्वसावद्ययोगविनिवृत्तिरूपा क्रियेत्यर्थः । तस्य भावनाऽभ्यासश्चारित्रभावनेति गाथार्थः । उक्ता चारित्रभावना ॥ ३३ ॥

साम्प्रतं वैराग्यभावनास्वरूपं गुणदर्शनार्थमाह-

सुविइअजगस्सहाओ, निस्संगो निब्भओ निरासो अ ।
वेरग्गभाविअमणो, झाणम्मि सुनिच्चलो होइ ॥ ३४ ॥

सुष्ठु अतीव विदितो ज्ञातः जगतश्चराचरस्य । यथोक्तम्-
"जगन्ति जङ्गमान्याहु-र्जगद् ज्ञेयं चराचरम् ॥"
स्वो भावः स्वभावः ।
"जन्म मरणाय नियतं, बन्धुर्दुःखाय धनमनिर्वृतये ।
तन्नास्ति यन्न विपदे, तथापि लोको निरालोकः" ॥१॥
इत्यादिलक्षणो येन स तथाविधः । कदाचिदेवम्भूतोऽपि कर्मपरिणतिवशात् ससङ्गो भवत्यत आह— निःसङ्गो विषयस्नेहसङ्गरहितः । एवम्भूतोऽपि कदाचित् सभयो भवत्यत आह- निर्भयः -इहलोकाऽऽदिसप्तभयविप्रमुक्तः कदाचिदेवम्भूतोऽपि विशिष्टपरिणत्यभावात् परलोकमधिकृत्य साऽऽशंसो भवत्यत आह-निराशश्च-इहपरलोकाऽऽशंसाविप्रमुक्तः, चशब्दात्तथाविधक्रोधाऽऽदिरहितश्च । य एवंविधो वैराग्यभावितमना भवति स खल्वज्ञानाऽऽद्युपद्रवरहितत्वाद् ध्याने सुनिश्चलो भवतीति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ उक्ता वैराग्यभावना, मूलद्वारगाथाद्वये ध्यानस्य भावना इति व्याख्यातम् ।

(६) अधुना देशद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह-

निच्चं चिअ जुवइपसू-नपुंसगकुसीलपरिवज्जिअं जइणो ।
ठाणं विअणं भणिअं, विसेसओ झाणकालम्मि ॥ ३५ ॥

नित्यमेव सर्वकालमेव, न केवलं ध्यानकाल इति । किम् ?, युवतिपशुनपुंसककुशीलपरिवर्जितं, यतेः स्थानं विजनं भणितमिति । तत्र युवतिशब्देन मनुष्यस्त्री दैवी च परिगृह्यते । पशुशब्देन तु तिर्यक्स्त्रीति । नपुंसकं प्रतीतं, कुत्सितं निन्दितं शीलं वृत्तं येषां ते कुशीलाः, ते च तथाविधा द्यूतकाराऽऽदयः ।

उक्तञ्च-
"जूइयरसोलमेंठा, वट्टा चङ्गामगाइणो जे य ।
एते हुंति कुसीला, वज्जेयव्वा पयत्तेण" ॥ १ ॥

युवतिश्च पशुश्चेत्यादिद्वन्द्वः । युवत्यादिभिः, परि समन्ताद्, वर्जितं रहितमिति विग्रहः । यतेस्तपस्विनः साधोः, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति साध्व्याश्च । किं ?, स्थानमवकाशलक्षणम् । तदेव विशेष्यते-युवत्यादिव्यतिरिक्तशेषजनापेक्षया विगतं जनं विजनं, भणितमुक्तं, तीर्थकरैर्गणधरैश्चेदमेवम्भूतं नित्यमेव, अन्यत्र प्रवचनोक्तदोषसम्भवाद्, विशेषतो ध्यानकाल इति । अपरिणतयोगाऽऽदिनाऽन्यत्र ध्यानस्याऽऽराधयितुमशक्यत्वादिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

इत्थं तावदपरिणतयोगाऽऽदीनां स्थानमुक्तम्, अधुना परिणतयोगाऽऽदीनधिकृत्य विशेषमाह-

थिरकयजोगाणं पुण, मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं ।
गामम्मि जणाइण्णे, सुन्नेऽरण्णे व न विसेसो ॥ ३६ ॥

तत्र स्थिराः संहननधृतिभ्यां बलवन्त उच्यन्ते, कृता निवेशिताः, अभ्यस्ता इति यावत् । के ?-युज्यन्त इति योगाः -ज्ञानाऽऽदिभावनाऽऽदिव्यापाराः, सत्त्वसूत्रतपःप्रभृतयो वा यैस्ते कृतयोगाः, स्थिराश्च ते कृतयोगाश्चेति विग्रहः । तेषाम् । अत्र च स्थिरकृतयोगयोश्चतुर्भङ्गी भवति । तद्यथा-'थिरे णामेगे णो कयजोगे' इत्यादि । स्थिरा वा पौनःपुन्यकरणेन परिचिताः कृता योगा यैस्ते तथाविधाः, तेषाम् । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि ?-तृतीयभङ्गवतां, न शेषाणां, स्वभ्यस्तयोगानां वा । मुनीनामिति मन्यन्ते जीवाऽऽदीन् पदार्थानिति मुनयो विपश्चितः साधवः, तेषाम्, तथा ध्याने अधिकृते एव धर्मध्याने, सुष्ठु अतिशयेन निश्चलं निष्प्रकम्पं मनो येषां ते तथाविधाः, तेषाम् । एवंविधानां स्थानं प्रति ग्रामे जनाऽऽकीर्णे, शून्येऽरण्ये वा, न विशेष इति । तत्र ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान् इति ग्रामः, गम्यो वा कराऽऽदीनामिति ग्रामः, सन्निवेशविशेषः । इह चैकग्रहणेन तज्जातीयग्रहणान्नगरखेट-कर्बटाऽऽदिपरिग्रह इति । जनाऽऽकीर्णे जनाऽऽकुले ग्रामे एवोद्यानाऽऽदौ, तथा शून्ये तस्मिन्नेव, अरण्ये वा कान्तारे वेति, वा विकल्पेन विशेषान्न भेदः, सर्वत्र तुल्यभावत्वात् परिणतत्वात्तेषामिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

तो जत्थ समाहाणं, होइ मणोवयणकायजोगाणं ।
भूओवरोहरहिओ, सो देसो झायमाणस्स ॥ ३७ ॥

यत एतदुक्तमतस्तस्मात् कारणाद्, यत्र ग्रामाऽऽदौ स्थाने, स-

माधान स्वास्थ्यं, भवति जायते । केषाम् ?, इत्यत आह-मनोवाक्काययोगानां प्राक्प्रनिरूपितस्वरूपाणामिति । आह-मनोयोगसमाधानमस्तु, वाक्काययोगसमाधान त्वत्र क्वोपयुज्यते, न हि तन्मयं ध्यानं भवति ?। अत्रोच्यते तत्समाधानम्-तावन्मनोयोगोपकारकं ध्यानमपि च तदात्मकं भवत्येव ।

यथोक्तम्-

"एवंविधा गिरा मे, वत्तव्वा एरिसी न वत्तव्वा ।
इय वेयालिय वक्क-स्स भासओ वाइय झाए ॥ १ ॥"

तथा—

" सुसमाहियकरपाय-स्स अ कज्जे कारणम्मि जयणाए ।
किरियाकरणं ज त, काइयझाणं भवे जइणो ॥१॥"

न चात्र समाधानमात्रकारित्वमेव गृह्यते, किं तु भूतोपरोधरहितं, तत्र भूतानि पृथिव्यादीनि, उपरोधस्तत्संघट्टनाऽऽदिलक्षणः, तेन रहितः परित्यक्तो य.। एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात् अनृताऽऽदत्ताऽऽदानमैथुनपरिग्रहाऽऽद्युपरोधरहितश्च,स देशो,ध्यायतः-चिन्तयत , उचित इति शेष । अयं गाथार्थ. ॥३७॥ गतं देशद्वारम् ।

(१०) अधुना कालाऽऽसनाऽऽलम्बनक्रमद्वारेषु क्रमप्राप्तं कालद्वारमभिधित्सुराह-

कालो वि सो च्चिअ जहिं, जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ ।
न उ दिवसनिसावेला-इनिअमणं झाइणो भणिअं ।३८।

कलन काल., कलासमूहो वा, स चार्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु चन्द्रसूर्यगतिक्रियोपलक्षितो दिवसाऽऽदिरवसेयः । अपिशब्दो देशनियमेन तुल्यत्वसम्भावनार्थः। तथा चाह-कालोऽपि स एव, ध्यानोचित इति गम्यते । यत्र काले, योगसमाधान मनोयोगाऽऽदिस्वास्थ्यम्, उत्तम प्रधान, लभते प्राप्नोति,न तु पुनर्नैव, तुशब्दस्य पुन.शब्दार्थत्वादेवकारार्थत्वाद्वा । किम् ?, दिवसनिशावेलाऽऽदिनियमनं ध्यायिनो भणितमिति। दिवसनिशे प्रतीते। वेला सामान्यत एव तदेकदेशो मुहूर्त्ताऽऽदि । आदिशब्दात्पूर्वाह्णापराह्णाऽऽदिसूचा । एतन्नियमन विधैवेत्यादिलक्षणं,ध्यानिनः सत्त्वस्य, भणितमुक्त, तीर्थकरगणधरैर्नैवेति गाथार्थ. । गतं कालद्वारम् ॥३८॥

आसनविशेषद्वार व्याचिख्यासयाऽऽह-

जच्चिअ देहावत्था, जिआ ण झाणोवरोहिणी होइ ।
झाइज्जा तदवत्थो. ठिओ निसण्णोऽनिसण्णो वा ॥३९॥

इह यैव काचिद्,देहावस्था शरीरावस्था निषण्णाऽऽदिरूपा, किंम्?,जितेत्यभ्यस्ता,उचिता वा, तथाऽनुष्ठीयमाना,न,ध्यानोपरोधिनी भवति-नाधिकृतधर्मध्यानपीडाकरी भवतीत्यर्थ.। ध्यायेत, तदवस्थ इति-सैवावस्था यस्य स तदवस्थ , तमेव विशेषतः आऽऽह-स्थितः कायोत्सर्गेण,ईषन्नताऽऽदिना निषण्ण उपविष्टो, वीरासनाऽऽदिनाऽनिषण्ण शयितो दण्डाऽऽयताऽऽदिना,वा विभाषायामिति गाथार्थ. ॥३९॥

आह-किं पुनरयं देशकालाऽऽसनानामनियम इति?,अत्रोच्यते-

सव्वासु वट्टमाणा, मुणओ जं देसकालचिट्ठासु ।
वरकेवलाइभावं, पत्ता बहुसो समियपावा ॥ ४० ॥

सर्वास्वित्यशेषासु,देशकालचेष्टास्विति योग । चेष्टा देहावस्था, किम् ?, वर्त्तमाना अवस्थिता . के ?,मुनय प्राक्प्रनिरूपितशब्दार्थाः, यद्यस्मात्कारणात्; किम् ?,वरः प्रधानश्चासौ केवलाऽऽदिभावश्च,त,प्राप्ता इति । आदिशब्दान्मन.पर्यायज्ञानाऽऽदिपरिग्रह । किं सकृदेव प्राप्ता ?, न । केवलमर्जं बहुशोऽनेकश , किंविशिष्टा ?, शान्तपापा., तत्र पातयति नरकाऽऽदिष्विति पापम्, शान्तमुपशमं नीत पाप यैस्ते तथाविधा इति गाथार्थ ॥४०॥

तो देसकालचिट्ठा-नियमो झाणस्स नत्थि समयम्मि ।
जोगाण समाहाणं, जह होइ तह पयइयव्वं ॥ ४१ ॥

यस्मादिति पूर्वगाथायामुक्त,तेन सहास्याभिसंबन्धः,तस्माद्,देशकालचेष्टानियमो,ध्यानस्य,नास्ति न विद्यते । क?,समये आगमे,किंतु योगानां मन प्रभृतीनां, समाधान पूर्वोक्त, यथा भवति तथा वतितव्य यत्न कार्य इत्यत्र नियम एवेति गाथार्थ. ॥४१॥ गतमासनद्वारम् ।

अधुना आलम्बनद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाऽऽह-

आलंवणाऽऽइवायण-पुच्छणपरिअट्टणाणुचिंताओ ।
सामाइआइ एआ-इ सद्धम्माऽऽवस्सयाइं च ॥ ४२ ॥

इह धर्मध्यानाऽऽरोहणार्थमालम्ब्यन्त इत्यालम्बनानि, वाचना पृच्छना परावर्त्तनाऽनुचिन्ता इति । तत्र वाचनं वाचना,विनेयाय निर्जरायै सूत्राऽऽदिदानमित्यर्थः। शङ्किते सूत्राऽऽदौ संशयापनोदाय गुरुपृच्छनं प्रश्न इति । परिवर्त्तन तु पूर्वाधीतस्यैव सूत्राऽऽदेरविस्मरणनिर्जरानिमित्तमभ्यासकरणमिति। अनुचिन्तनमनुचिन्ता, मनसैवाविस्मरणनिमित्त सूत्रानुस्मरणमित्यर्थ.। वाचना च, प्रश्नश्चेत्यादि द्वन्द्वः । एतानि च श्रुतधर्मानुगतानि वर्त्तन्ते । तथा सामायिकाऽऽदीनि सद्धर्माऽऽवश्यकानि चेति । अमूनि तु चरणधर्मानुगतानि वर्त्तन्ते। सामायिकमादौ येषां तानि सामायिकाऽऽदीनि । सामायिक प्रतीतम्, आदिशब्दान्मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणाऽऽदिलक्षणसकलचक्रवालसामाचारीपरिग्रह. । यावत्तुमरपि सामायिकमिति । एतान्येव विधिवदासेव्यमानानि,सन्ति शोभनानि, सन्ति च तानि चारित्रधर्माऽऽवश्यकानि चेति विग्रह.। आवश्यकानि नियमतः करणीयानि । चः समुच्चये। इति गाथार्थ. ॥४२॥

साम्प्रतममीषामेवाऽऽलम्बनत्वे निबन्धनमाह-

विसमम्मि समारोहइ, दढदव्वाऽऽलंबणो जहा पुरिसो ।
सुत्ताऽऽइकयाऽऽलंबो, तह झाणवरं समारुहइ ॥ ४३ ॥

विषमे निम्ने दुःसचारे, समारोहति सम्यगपरिक्लेशेनोर्ध्वं याति । कः?, दृढ बलवत्,द्रव्य रज्ज्वाद्यालम्बन यस्य स तथाविधः। यथा पुरुष पुमान्कश्चित्सूत्राऽऽदिकृताऽऽलम्बन.,वाचनाऽऽदिकृताऽऽलम्बन इत्यर्थ.। तथा तेनैव प्रकारेण, ध्यानवर धर्मध्यानमित्यर्थ.। समारोहतीति गाथार्थः। गतमालम्बनद्वारम् ।

अधुना क्रमद्वारावसरः। तत्र लाघवार्थं क्रम धर्मस्य शुक्लस्य च प्रतिपादयन्नाह-

झाणप्पडिवत्तिकम्मो, होइ मणोजोगनिग्गहाईओ ।
भवकाले केवलिणो, सेसस्स जहा समाहीए ॥ ४४ ॥

ध्यान प्राक्प्रनिरूपितशब्दार्थं,तस्य प्रतिपत्तिक्रम इति समास । प्रतिपत्तिक्रम. प्रतिपत्तिपरिपाट्यभिधीयते। स च भवति मनोयोगनिग्रहाऽऽदि । तत्र प्रथमं मनोयोगनिग्रहः,ततो वाग्योगनिग्रहः,ततः काययोगनिग्रह इति। किमयं सामान्येन सर्वस्यैवेत्थंभूतः क्रम ?; न, किं तु भवकाले केवलिन. । अत्र भवकालशब्देन मोक्षगमनप्रत्यासन्न. अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण एव शैलेश्यवस्थान्तर्गतः परिगृह्यते । केवलमस्यास्तीति केवली, तस्य शुक्लध्यान एवायं क्रम प्रतिपत्तिक्रम.। शेषस्यान्यस्य धर्मध्यानप्रतिपत्तु , योगका-

त्वावाश्रित्य, किम्?, यथा समाधिनेति-यथैव स्वास्थ्ये भवति, तथैव प्रतिपत्तिरिति गाथार्थः ॥४४॥ गतं क्रमद्वारम् ।

(११) इदानीं ध्यातव्यमुच्यते-

आणा विजए अवाए,विवागे संठाणओ अ नायव्वा ।
एए चत्तारि पया, झायव्वा धम्मझाणस्स ॥ ४५ ॥

तच्चतुर्भेदमाज्ञाऽऽदि । उक्तं च-आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमित्यादि । (तत्राद्यभेदम् 'आणा' शब्दे द्वितीयभागे ११५ पृष्ठे गतम्)

अधुना द्वितीय उच्यते-

रागद्दोसकसाया-ऽऽसवाइकिरियासु वट्टमाणाणं ।
इहपरलोगावाए, झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥ ५१ ॥

रागद्वेषकषायाऽऽश्रवाऽऽदिक्रियासु वर्त्तमानानां इहपरलोकापायान् ध्यायेत् । यथा-रागाऽऽदिक्रियैहिकाऽऽमुष्मिकविरोधिनी ।

उक्तं च-

" रागः सम्पद्यमानोऽपि, दुःखदो दुष्टगोचरः ।
महाव्याध्यभिभूतस्य, अपथ्यान्नाभिलाषवत्" ॥ १ ॥

तथा-

" द्वेषः सम्पद्यमानोऽपि, तापयत्येव देहिनम् ।
कोटरस्थो ज्वलन्नाशु, दावानल इव द्रुमम्" ॥ २ ॥

तथा-

" दृष्ट्यादिभेदभिन्नस्य, रागस्याऽऽमुष्मिकं फलम् ।
दीर्घः संसारः एवोक्तः, सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः " ॥३॥ इत्यादि ।

तथा-

"दोसानलसंसत्तो, इह लोगे चेव दुक्खिओ जीवो ।
परलोगम्मि य पावो, पावइ निरयानलं तत्तो" ॥४॥ इत्यादि ।

तथा-

कषायाः क्रोधाऽऽदयः, तदपायाः पुनः-

"कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो" ॥ ५ ॥

"कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइँ पुणब्भवस्स" ॥६॥

तथा आश्रवाः कर्मबन्धहेतवो मिथ्यात्वाऽऽदयः, तदपायाः पुनः-

"मिच्छत्तमोहियमई, जीवो इहलोग एव दुक्खाइं ।
निरओवमाइं पावो, पावति पसमाऽऽइगुणहीणो" ॥७॥

तथा-

"अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधाऽऽदिभ्योऽपि सर्वदोषेभ्यः ।
अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनाऽऽवृतो लोकः ।"॥८॥

तथा-

" जीवा पावंति इहं, पाणवहाईअविरईए पावाए ।
नियसुयघायणमाई, दोसे जणगरहिए पावे ॥ ९ ॥
परलोगम्मि वि एवं, आसवकिरियाहि अज्जिए कम्मे ।
जीवाण चिरमवाया, निरयाइगतिं भमंताण"॥१०॥ इत्यादि ।

आदिशब्दः स्वगतानेकभेदव्यापकः, प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धभेदग्राहकः इत्यन्ये । क्रियास्तु कायिक्याऽऽदिभेदाः पञ्च । एताः पुनरुपरिष्टाद् व्यक्षेण वक्ष्यामः ।

विपाकः पुनः-

" किरियासु वट्टमाणा, काइगमाईसु दुक्खिया जीवा ।
इह चेव य परलोगे, संसारपवड्ढगा भणिया ॥१॥"

ततश्चैवं रागाऽऽदिक्रियासु वर्त्तमानानामपायान् ध्यायेत् । किंविशिष्टः सन्निति?, आह-वर्ज्यपरिवर्जी-तत्र वर्जनीयं वर्ज्यमकृत्यं परिगृह्यते, तत्परिवर्जी, अप्रमत्त इति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ उक्तस्तु द्वितीयो ध्यातव्यभेदः ।

अधुना तृतीय उच्यते-

पयइठिइप्पएसा-णुभावभिन्नं सुहासुहविभत्तं ।
जोगाणुभावजणियं, कम्मविवागं विचिंतिज्जा ॥ ५२ ॥

तत्र प्रकृतिस्थितिप्रदेशानुभावभिन्नं शुभाशुभविभक्तमित्यत्र प्रकृतिशब्देनाष्टौ कर्मप्रकृतयोऽभिधीयन्ते, ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिभेदा इति । प्रकृतिरंशो भेद इति पर्यायाः । स्थितिः-तासामेवावस्थानं जघन्याऽऽदिभेदभिन्नम् । प्रदेशशब्देन जीवप्रदेशकर्मपुद्गलसंबन्धोऽभिधीयते, अनुभावशब्देन तु विपाकः । एते च प्रकृत्यादयः शुभाशुभभेदभिन्ना भवन्ति । ततश्चैतदुक्तं भवति-प्रकृत्यादिभेदभिन्नं शुभाशुभविभक्तं योगानुभावजनितं मनोयोगाऽऽदिगुणप्रभवं, कर्मविपाकं विचिन्तयेदिति गाथाक्षरार्थः ॥

भावार्थः पुनर्वृद्धविवरणादवसेयः । तच्चेदम्-" इह पयतिभिन्नं सुभासुभविभत्तं कम्मविपागं विचिंतेज्जा । तत्थ पयतीओ त्ति कम्मणो भेदा,ससा णाणावरणिज्जाइणो अट्ठ,तेहिं भिन्नं पि इत्तं च, सुभं पुन्नं-साताऽऽदिय, असुभं पावं, तेहिं विभिन्नं विभिन्नविपागं, जहा कम्मपगडीए तहा विसेसेण विनेज्जा विचिंतेज्जा । किंच ठितिभिन्नं च सुभासुभविभिन्नं कम्मविपाकं विचिंतेज्जा । ठिति त्ति तासिं चेव अट्ठण्ह पगडीण जहन्नमज्झिमुक्कोसकालावत्था, जहा कम्मपगडीए । किं च पएसभिन्नं शुभाशुभ० जाव कृत्वा पूर्वविधानं पदयोस्तावेव पूर्ववद्वर्ग्यौ वर्गघनौ कुर्यात् । तां तृतीयराशेः, तत प्राग्वत् कृत्वा पूर्वविधानमिति २५६। अमीषां घने कृते राशिरयमागच्छति । अथवा चतुर्भिरष्टौ वारा गुणिते अस्य राशेः पूर्वपदस्य घनाऽऽदि कृत्वा, तस्य वर्गाऽऽदि । तत द्वितीयपदस्य इदमेव विपरीतं क्रियते । तत एतावेव वर्ग्यते । ततस्तृतीयपदस्य वर्गघनौ क्रियेते । एवमनेन क्रमेणाव राशिः १६७७७२१६ चिंतेज्जा । पदेसो त्ति जीवपदेसाणं कम्मपदेसेहिं सुहुमेहिं एक्कक्खेत्तावगाढेहिं पुग्गलाढयणतणुबादरउट्टेहिं भेदेहिं बंधाए वित्थरओ य कम्मपगडीए भणियाए कम्मविपाकं चिंतेज्जा । किं च-अणुभावभिन्नं सुभासुभविभत्तं कम्मविवागं विचिंतेज्जा । तत्थ अणुभावो त्ति, तासिं चेवऽट्ठण्ह पगडीण पुव्वबद्धनिकाइयाण उदयाओ अणुभावणं, तं च कम्मविपाकं जोगाणुभावजणियं विचिंतेज्जा । तत्थ जोगा मणवयकाया, अणुभावो जीवगुण एव । स च मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायाः, तेहिं अणुभावेण य जणियमुप्पाइयं जीवस्स कम्मं जं, तस्स विपाकं उदयं विचिंतेज्जा " इति । उक्तस्तृतीयो ध्यातव्यभेदः ।

साम्प्रतं चतुर्थ उच्यते-

जिणदेसिआइँ लक्खण-संठाणासणविहाणमाणाइं ।
उप्पायट्ठिइभंगा, पज्जाया जे अ दव्वाणं ॥ ५३ ॥

जिनाः प्राङ्निरूपितशब्दार्थास्तीर्थकराः, तैर्देशितानि कथितानि जिनदेशितानि । कानि? अत आह-लक्षणसंस्थानाऽऽसनवि-

ध्यानमानानि। किम्?,-'विचिन्तयेत्' इति पर्यन्ते वक्ष्यति षष्ट्यां(?) (५८) गाथायामिति। तत्र लक्षणाऽऽदीनि विचिन्तयेदत्रापि गाथान्ते द्रव्याणामित्युक्त,तत्प्रतिपदमायोजनीयमिति। तत्र लक्षण धर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्याणां गत्यादि,तथा संस्थान मुख्यवृत्त्या पुद्गलरचनाऽऽकारलक्षण परिमण्डलाऽऽद्यजीवानाम्। यथोक्तम्-"परिमण्डले पवट्टे, तसे चउरंस आयते चेव।" जीवशरीराणां च समचतुरस्राऽऽदि। यथोक्तम्-"समचउरंसे णिग्गोहमण्डले साति वामणे खुज्जे। हुंडे वि य संठाणे, जीवाण छ मुणेयव्वा ॥१॥" धर्माधर्मयोरपि लोकक्षेत्रापेक्षया भावनीयमिति। उक्त च-" हेट्ठा मज्झे उवरिं, छव्वीझल्लरिमुइंगसंठाणो। लोगो अद्धागारो, अद्धा खित्तागिई णेआ ॥१॥" तथाऽऽसनान्याधारलक्षणानि धर्मास्तिकायाऽऽदीनां लोकाऽऽकाशाऽऽदीनि,स्वस्वरूपाणि वा। तथा विधानानि धर्मास्तिकायाऽऽदीनामेव भेदानीत्यर्थ.। यथा-" धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिकायस्स पदेसे " इत्यादि। तथा मानानि-प्रमाणानि धर्मास्तिकायाऽऽदीनामेवाऽऽत्मीयानि। तथा उत्पादस्थितिभङ्गाऽऽदिपर्याया ये च द्रव्याणा धर्मास्तिकायाऽऽदीनां, तान्विचिन्तयेदिति। तत्रोत्पादाऽऽदिपर्यायसिद्धि. "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" इति वचनात्।

युक्तिः पुनरत्र-

" घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य, जनो याति सहेतुकम ॥ १ ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रत ॥
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्व त्रयाऽऽत्मकम ॥ २ ॥"

ततश्च धर्मास्तिकायो विवक्षितसमयसंबन्धरूपापेक्षयोत्पद्यते, तदनन्तरातीतसमयसंबन्धरूपापेक्षया तु विनश्यति, धर्मास्तिकायद्रव्याऽऽत्मना तु नित्य इति। उक्त च-" सर्वव्यक्तिषु नियत, क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेष। सत्योश्चित्यपचित्यो-राकृतिजातिव्यवस्थानात् ॥१॥" आदिशब्दादगुरुलघ्वादिपर्यायपरिग्रह। चशब्द' समुच्चयार्थ इति गाथाऽर्थ ॥५३॥

किञ्च—

पचत्थिकायमइअं, लोगमणाइनिहणं जिणक्खायं।
नामाइभेअविहिअं, तिविहमहोलोगभेआई ॥ ५४ ॥

पञ्चास्तिकायमय लोकमनाद्यनिधन जिनाऽऽख्यातमिति,क्रिया पूर्ववत्। तत्रास्तय प्रदेशा ,तेषा काया अस्तिकाया ,पञ्च च ते अस्तिकायाश्चेति विग्रह। एते च धर्मास्तिकायाऽऽदयो गत्याद्युपग्रहकरा ज्ञेया इति।

उक्तं च—

" जीवाना पुद्गलाना च, गत्युपग्रहकारणम।
धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य, दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥ १ ॥
जीवाना पुद्गलानां च, स्थित्युपग्रहकारणम्।
अधर्म पुरुषस्येव, तिष्ठासोरवनि समा ॥ २ ॥
जीवाना पुद्गलानां च, धर्माधर्मास्तिकाययो.।
बादराणां घटो यद्व-दाकाशमवकाशदम् ॥ ३ ॥
ज्ञानाऽऽत्मा सर्वभावज्ञो, भोक्ता कर्ता च कर्मणाम्।
नानासंसारिमुक्ताऽऽख्यो, जीव प्रोक्तो जिनाऽऽगमे ॥४॥
स्पर्शरसगन्धवर्ण-शब्दमूर्तिस्वभावका।
सङ्घातभेदनिष्पन्ना:, पुद्गला जिनदेशिता. " ॥ ५ ॥

तन्मयं तदात्मकम, लोक्यत इति लोकस्तम, कालत किंभूतमिति?, अत आह-अनाद्यनिधनम्-अनाद्यपर्यवसितमित्यर्थ। अनेनेश्वराऽऽदिकृतव्यवच्छेदमाह। असावपि दर्शनभेदात्स्विद एवेत्यत आह-जिनाऽऽख्यात तीर्थकरप्रणीतम।

आह-जिनदेशितानीत्यस्माज्जिनप्रणीतधर्माधिकारोऽनुवर्त्तत एव, ततश्च जिनाऽऽख्यातमित्यतिरिच्यते। न। अस्याऽऽदरख्यापनार्थत्वात्, आदरख्यापनाऽऽदौ च पुनरुक्तदोषानुपपत्ते।

तथोक्तम्-

" अनुवादाऽऽदरवीप्सा-भृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु।
ईषत्संभ्रमविस्मय-गणनस्मरणे न पुनरुक्तम" ॥१॥

तथा-नामाऽऽदिभेदविहित भेदतो नामाऽऽदिभेदावस्थापितमित्यर्थ.।

उक्तञ्च-

" नाम ठवणा दविए, खेत्ते काले भवे च भावे य।
पज्जवलोगे य तहा, अट्ठविहो लोगनिक्खेवो ॥ १ ॥"

भावार्थश्चतुर्विंशतिस्तवविवरणादवसेयः।

साम्प्रत क्षेत्रलोकमधिकृत्याऽऽह-त्रिविध त्रिप्रकारम, अधोलोकभेदाऽऽदीनि प्राकृतशैल्याऽधोलोकाऽऽदिभेदम, आदिशब्दात्तिर्यगूर्ध्वलोकपरिग्रह। इति गाथाऽर्थ ॥ ५४ ॥

किं च-तस्मिन्नेव क्षेत्रलोके इद चेद च विचिन्तयेदिति प्रतिपादयन्नाह-

खिइवलयदीवसागर-निरयविमाणभवणाइसंठाणं।
वोमाइपइट्ठाणं, निच्चं लोगट्ठिइविहाणं ॥ ५५ ॥

क्षितिवलयद्वीपसागरनिरयविमानभवनाऽऽदिसंस्थान,तत्र क्षितय खलु घर्माऽऽद्या ईषत्प्राग्भारावसाना अष्टौ भूमय. परिगृह्यन्ते। वलयानि घनोदधिघनवाततनुवाताऽऽत्मकानि धर्माऽऽदिसप्तपृथिवीपरिक्षेपीण्येकविंशति.। द्वीपा जम्बूद्वीपाऽऽदय. स्वयम्भूरमणद्वीपान्ता असङ्ख्येया। सागरा लवणसागराऽऽदय स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्ता असङ्ख्येया एव। निरया सीमन्तकाऽऽद्या अप्रतिष्ठानावसाना सङ्ख्येया।

यत उक्तम—

" तीसा य पन्नवीसा, पनरस य दसेव सयसहस्साइं।
तिन्नेग पञ्चूण, पञ्च य नरगा जहा कमसो " ॥ १ ॥

विमानानि ज्योतिष्काऽऽदिसम्बन्धीन्यनुत्तरविमानान्ता यस - ङ्ख्येयानि, ज्योतिष्कविमानानामसङ्ख्येयत्वात्।

भवनानि भवनवास्यालयलक्षणानि असुराऽऽदिदशनिकायसम्बन्धीनि सङ्ख्येयानि।

उक्त च-

" सत्तेव य कोडीओ, हवन्ति बावत्तरिं सयसहस्सा।
एसो भवणसमासो, भवणवईण वियाणेज्जा ॥ १ ॥"

आदिशब्दादसङ्ख्येयव्यन्तरनगरपरिग्रह।

उक्त च -

" हेट्ठोवरि जोयणसय-रहिए रयणाए जोयणसहस्से।
पढम वनरियाण, भोमा नगरा असंखेज्जा ॥ १ ॥"

ततश्च क्षितयश्च वलयानि चेत्यादिद्वन्द्व। एतेषा संस्थानम् आकारविशेषलक्षण, विचिन्तयेदिति। तथा व्योमाऽऽदिप्रतिष्ठितमित्यत्र प्रतिष्ठितिः प्रतिष्ठान,भावे ल्युट्। व्योम आकाशम् आदिशब्दाद्वाताऽऽदिपरिग्रह। व्योमाऽऽदौ प्रतिष्ठानमस्येति व्योमाऽऽदिप्रतिष्ठान, धोक्तिस्थितमिति [illegible] योग। नित्यं शाश्वतम्, प्रकार इत्यर्थ। लोकस्य स्थिति व्यवस्थानि [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible]। किंभूतम्?, [illegible] [illegible] इति गाथाऽर्थः ॥ ५५ ॥

किं च-

उवओगलक्खणमणा-इनिहणमत्थंतरं सरीराओ ।
जीवमरूविं कारिं, भोइं च सयस्स कम्मस्स ॥ ५६ ॥

उपयुज्यतेऽनेनेत्युपयोगः, साकारानाकाराऽऽदिः। उक्तं च-"स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।" स एव लक्षणं यस्य स उपयोगलक्षणस्तम्, जीवमिति वक्ष्यति। तथा-अनाद्यनिधनम् अनाद्यपर्यवसितं, भवापवर्गप्रवाहापेक्षया नित्यमित्यर्थः। तथाऽर्थान्तरं पृथग्भूतं, कुतः?, शरीरात्,जात्यपेक्षमेकवचनम्-शरीरेभ्य औदारिकाऽऽदिभ्य इति। किमिति?,अत आह-जीवति, जीविष्यति, जीवितवान् वा जीव इति, तम्। किंभूतमिति?, अत आह-अरूपिणममूर्त्तमित्यर्थः। तथा कर्त्तारं निर्वर्त्तकं, कर्मण इति गम्यते। तथा भोक्तारमुपभोक्तारम्, कस्य?-स्वकस्य आत्मीयस्य, कर्मणो ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदेरिति गाथार्थः॥ ५६॥

तस्स य सकम्मजणिअं, जम्माइजलं कसायपायालं ।
वसणसयसावयमणं, मोहाऽऽवत्तं महाभीमं ॥ ५७ ॥

तस्य च जीवस्य च, स्वकर्मजनितम्-आत्मीयकर्मनिर्वर्तितम्। कम्?-संसारसागरमिति वक्ष्यति। किम्भूतम्?,जन्माऽऽदिजलं, जन्म प्रतीतम्, आदिशब्दाज्जरामरणपरिग्रहः। एतान्येवातिबहुत्वाज्जलमिव जलं यस्मिन्स तथाविधस्तम्। तथा कषायपातालं-कषाया पूर्वोक्ताः, त एवागाधभवजननसामान्येन पातालमिव पातालं यस्मिन् स तथाविधस्तम्। तथा व्यसनशतश्वापदवन्तम्-व्यसनानि दुःखानि,द्यूताऽऽदीनि वा,तथा तान्येव पीडाहेतुत्वात् श्वापदानि, तान्यस्य विद्यन्त इति तद्वान्, तं, (मण ति) देशीशब्दो मत्वर्थीयः। उक्तं च-"मतुवत्थम्मि मुणेज्जह, आल इल्ल मणं च मणुय च" इति। तथा मोहाऽऽवर्त्तम्-मोहो मोहनीयं कर्म, तदेव तत्र विशिष्टभ्रमिजनकत्वात् आवर्त्तो यस्मिन् स तथाविधस्तम्। तथा महाभीमम्-अतिभयानकमिति गाथार्थः ॥५७॥

किं च-

अन्नाणमारुएरिअ-संजोगविओगवीइसंताणं ।
संसारसागरमणो-रपारमसुहं विचिंतिज्जा ॥ ५८ ॥

अज्ञानं ज्ञानाऽऽवरणकर्मोदयजनित आत्मपरिणामः, स एव तत्प्रेरकत्वान्मारुतो वायुः,तेनेरितः प्रेरितः, कः?-संयोगवियोगवीचिसन्ताना यस्मिन् स तथाविधस्तम्। तत्र संयोगः केनचित्सह सम्बन्धः, वियोगस्तेनैव विप्रयोगः। एतावेव सततप्रवृत्तत्वाद्वीचयः ऊर्मयस्तत्प्रवाहः सन्तान इति भावना। संसरणं संसारः सागर इव संसारसागरस्तम्। किम्भूतम्?-"अणोरपारं" अनाद्यपर्यवसितम्, अशुभमशोभनं, विचिन्तयेत्, तस्य गुणरहितस्य जीवस्येति गाथार्थः ॥ ५८॥

तस्स य संतरणसहं, सम्मद्दंसणसुबंधणं अणहं ।
नाणमयकन्नधारं, चारित्तमयं महापोअं ॥ ५९ ॥

तस्य च संसारसागरस्य, सन्तरणसहं सन्तरणसमर्थं, पोतमिति वक्ष्यति। किंविशिष्टम्?, सम्यग्दर्शनमेव शोभनं बन्धनं यस्य स तथाविधः, तम्, अनघम्-अपापम्। ज्ञानं प्रतीतं,तन्मयस्तदात्मकः, कर्णधारो निर्यामकविशेषो यस्य यस्मिन् वा स तथाविधस्तम्, चारित्रं प्रतीतम्, तदात्मकम्। महापोतमिति महाबोहित्थम्, क्रिया पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ ५९॥

संवरकयनिच्छिड्डं, तवपवणाऽऽविद्धजवणतरवेगं ।
वेरग्गमग्गपडिअं, विसुत्तिआवीइनिक्खोहं ॥ ६० ॥

इहाऽऽश्रवनिरोधः संवरः, तेन कृतं निश्छिद्रम्, स्थगितरन्ध्रमित्यर्थः। अनशनाऽऽदिलक्षणं तपः, तदेवेष्टपुरं प्रति प्रेरकत्वात् पवन इव तपःपवनः, तेनाऽऽविद्धस्य प्रेरितस्य, जवनतरः शीघ्रतरः, वेगो रयो यस्य स तथाविधस्तम्। तथा विरागस्य भावो वैराग्यं, तदेवेष्टपुरप्रापकत्वाद् मार्ग इव वैराग्यमार्गः, तस्मिन् पतितो गतस्तम्; तथा विस्रोतसिका अपध्यानानि, एता एवेष्टपुरप्राप्तिविघ्नहेतुत्वाद्वीचय इव विस्रोतसिकावीचयः, ताभिर्निःक्षोभ्यः निष्प्रकम्पस्तमिति गाथार्थः ॥६०॥

एवम्भूतं पोतम्। किम्?-

आरोढुं मुणिवणिआ, महग्घसीलंगरयणपडिपुन्नं ।
जह तं निव्वाणपुरं, सिग्घमविग्घेण पावंति ॥ ६१ ॥

आरोढुमित्यारुह्य, के?, मुनिवणिजः-मन्यन्ते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनयः, त एवातिनिपुणमायव्ययपूर्वकप्रवृत्तेर्वणिज इव मुनिवणिजः। पोत एव विशेष्यते-महार्घाणि महार्हाणि, शीलाङ्गानि पृथिवीकायसमारम्भपरित्यागाऽऽदीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि,तान्येवैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकसुखहेतुत्वाद्रत्नानि,तैः प्रतिपूर्णो भृतस्तम्। यथा येन प्रकारेण, तत्प्रक्रान्तं, निर्वाणपुरं सिद्धिपत्तनं परिनिर्वाणपुरं वेति पाठान्तरम्। शीघ्रम् आशु,स्वल्पेन कालेनेत्यर्थः। अविघ्नेनान्तरायमन्तरेण, प्राप्नुवन्त्यासादयन्ति, तथा विचिन्तयेदिति वर्त्तते। इत्यय गाथार्थः ॥ ६१॥

तत्थ य तिरयणविणिओ-गमइअमेगंतिअं निराबाहं ।
साहाविअं निरुवमं, जह सुक्खं अक्खयमुविंति ॥६२॥

तत्र च परिनिर्वाणपुरे,त्रिरत्नविनियोगाऽऽत्मकमिति-त्रीणि रत्नानि ज्ञानाऽऽदीनि,विनियोगस्तेषां क्रियाकरणं, ततः प्रसूतेस्तदात्मकमुच्यते। तथैकान्तिकमिति-एकान्तभावि, निराबाधमित्याबाधारहितं, स्वाभाविकं न कृत्रिमम्, निरुपममुपमाऽतीतमिति। उक्तं च-"ण वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं।" इत्यादि। यथा येन प्रकारेण, सौख्यं प्रतीतम्, अक्षयमपर्यवसानम्, उपयान्ति सामीप्येन प्राप्नुवन्ति, क्रिया प्राग्वदिति गाथार्थः ॥ ६२॥

किं बहुणा सव्वं चिअ, जीवाइपयत्थवित्थरोवेअं ।
सव्वनयसमूहमयं, झाइज्जा समयसब्भावं ॥६३॥

किं बहुना भाषितेन?, सर्वमेव निरवशेषमेव, जीवाऽऽदिपदार्थविस्तरोपेतं-जीवाजीवाऽऽश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाऽऽख्यपदार्थप्रपञ्चसमन्वितं, समयसद्भावमिति योगः। किंविशिष्टम्?-सर्वनयसमूहाऽऽत्मकं द्रव्यास्तिकायाऽऽदिनयसङ्घातमयमित्यर्थः। ध्यायेद्विचिन्तयेदिति भावना। समयसद्भावं सिद्धान्तार्थमिति हृदयम्। अय गाथार्थः। गतं ध्यातव्यद्वारम् ॥६३॥

(१२) साम्प्रतं येऽस्य ध्यातारस्तान्प्रतिपादयन्नाह-

सव्वप्पमायरहिआ, मुणओ खीणोवसंतमोहा य ।
झायारो नाणधणा, धम्मज्झाणस्स निद्दिट्ठा ॥६४॥

प्रमादा मद्याऽऽदयः। यथोक्तम्-" मज्जं विसयकसाया, निद्दा विकहा य पंचमी भणिया।" सर्वप्रमादैः रहिताः सर्वप्रमादरहिताः,अप्रमादवन्त इत्यर्थः। मुनयः साधवः क्षीणोपशान्तमो-

द्याश्चेति-क्षीणमोहाः क्षपकनिर्ग्रन्था , उपशान्तमोहा उपशामकनिर्ग्रन्था । चशब्दादन्ये चाप्रमादिन , ध्यातारश्चिन्तका., धर्मध्यानस्येति सम्बन्ध । ध्यातार एव विशेष्यन्ते-ज्ञानधना ज्ञानवित्ताः , विपश्चित इत्यर्थ । निर्दिष्टाः प्रतिपादिता., तीर्थकरगणधरैरिति गाथाऽर्थ ॥६४॥ उक्ता धर्मध्यानस्य ध्यातार. ।

साम्प्रत शुक्लध्यानस्याऽऽद्यभेदद्वयस्याविशेषेणैत-
एव यतो ध्यातार इत्यतो नान्ये पुनरभिधेया
भविष्यतीति लाघवार्थं चरमभेदद्वयस्य
च प्रसङ्गत एतानेवाभिधित्सुराह-

एए च्चिय पुव्वाणं, पुव्वधरा सुप्पसत्थसंघयणा ।
दुन्ह सजोगाजोगा, सुक्काण पराण केवलिणो ॥ ६५ ॥

एत एव येऽनन्तरमेव धर्मध्यानध्यातार उक्ता ,पूर्वयोरित्याद्ययोर्द्वयोः शुक्लध्यानभेदयो पृथक्त्ववितर्कं सविचारम्, एकत्ववितर्कमविचारमित्यनयो ,ध्यातार इति गम्यते। अय पुनर्विशेष.- पूर्वधराश्चतुर्दशपूर्वविदस्तदुपयुक्ता , इद च पूर्वधरविशेषणमप्रमादवतामेव वेदितव्यम्, न निर्ग्रन्थानां, माषतुषमरुदेव्यादीनामपूर्वधराणामपि तदुपपत्ते । सुप्रशस्तसहनना इत्याद्यसहननयुक्ता ,इद पुनरोघत एव विशेषणमिति। तथा द्वयो. शुक्लयो , परयोरुत्तरकालभाविनो प्रधानयोर्वा सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिव्युपरतक्रियाप्रतिपातिलक्षणयोर्यथासङ्ख्य सयोग्ययोगिकेवलिनो , ध्यातार इति योग.। एव च गम्यते-"सुक्कज्झाणाइदुगवोलीणस्स तनियमपत्तस्स एयाए झाणंतरियाए वट्टमाणस्स केवलनाण समुप्पज्जइ,केवलियसुक्कलेसो अज्झाणी य० जाव सुहुमकिरियमनियट्टि त्ति "गाथार्थ ॥ ६५ ॥ उक्तमानुषङ्गिकम् ।

(१२) इदानीमवसरप्राप्तमनुप्रेक्षाद्वार व्याचिख्यासुरिदमाह-

झाणोवरमे वि मुणी, निच्चमणिच्चाइचिंतणोवरमो ।
होइ सुभावियचित्तो, धम्मज्झाणेण जो पुव्विं ॥६६॥

इह ध्यान धर्मध्यानमभिगृह्यते ; तदुपरमेऽपि तद्विगमेऽपि, मुनि साधु , नित्यं सर्वकालम्, अनित्याऽऽदिचिन्तनोपरमो भवति । आदिशब्दादनित्याशरणैकत्वससारपरिग्रह.। एताश्चतस्रोऽनुप्रेक्षा भावयितव्या ,इष्टजनसम्प्रयोगर्द्धिविषयसुखसपद इत्यादिना ग्रन्थेन। फल चासा सचित्ताऽऽदिष्वनभिष्वङ्गभवनिर्वेदादि नि भावनीयम् । अथ किविशिष्टोऽनित्याऽऽदिचिन्तनोपरमो भवति ?,अत आह-सुभावितचित्त सुभावितान्त करण ,केन ?, धर्मध्यानेन प्राङ्निरूपितस्वरूपेण, य कश्चित्, पूर्वमादाविति गाथाऽर्थ ॥ ६६ ॥ गतमनुप्रेक्षाद्वारम् ।

अधुना लेश्याद्वारप्रतिपिपादयिषयाऽऽह-

हुंति कमविसुद्धाउ, लेसाओ पीअपम्हसुक्काओ ।
धम्मज्झाणोवगय-स्स तिव्वमंदाइभेआओ ॥ ६७ ॥

इह भवन्ति सजायन्ते, क्रमविशुद्धा परिपाटिविशुद्धा ,का ?, लेश्याः । ताश्च पीतपद्मशुक्ला. । एतदुक्त भवति-पीतलेश्यायाः पद्मलेश्या विशुद्धा, तस्या अपि शुक्ललेश्येति क्रम. । कस्यैता भवन्ति?, अत आह-धर्मध्यानोपगतस्य, धर्मध्यानयुक्तस्येत्यर्थ । किविशिष्टाश्चैता भवन्ति ?, अत आह—तीव्रमन्दाऽऽदिभेदा इति । तत्र तीव्रभेदा. पीताऽऽदिस्वरूपेष्वन्त्या , मन्दभेदास्त्वाद्या. । आदिशब्दान्मध्यमपरिग्रह । इत्थञ्चैवमेव परिणामविशेषात् तीव्रमन्दाऽऽदिभेदा इति गाथाऽर्थः ॥ ६७ ॥ उक्त लेश्याद्वारम् ।

इदानीं लिङ्गद्वार विवृण्वन्नाह-

आगमउवएसाऽऽणा-निसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं ।
भावाणं सद्दहणं, धम्मज्झाणस्स त लिंगं ॥ ६८ ॥

इहाऽऽगमोपदेशाऽऽज्ञानिसर्गतो यज्जिनप्रणीताना तीर्थङ्करप्ररूपिताना, भावाना द्रव्याऽऽदिपदार्थानां, श्रद्धानम्-अवितथा एत इत्यादिलक्षण, धर्मध्यानस्य, तल्लिङ्गमिति । तत्र श्रद्धानेन लिङ्ग्यते धर्मध्यानीति । इह चाऽऽगम. सूत्रमेव, तदनुसारेण कथनमुपदेश., आज्ञा त्वर्थ , निसर्ग स्वभाव इति गाथाऽर्थ. ॥ ६८ ॥

किं च-

जिणसाहुगुणुक्कित्तण-पसंसणादाणविणयसंपन्नो ।
सुअसीलसंजमरओ, धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ॥ ६९ ॥

जिनसाधुगुणोत्कीर्तनप्रशसादानविनयसपन्न । इह जिनसा धव प्रतीताः,तद्गुणाश्च निरतिचारसम्यग्दर्शनाऽऽदय ,तेषामुत्कीर्तन सामान्येन सशब्दनमुच्यते । प्रशसा त्वहो श्लाघ्यतया भक्तिपूर्विका स्तुति ,विनयोऽभ्युत्थानाऽऽदि दानमशनाऽऽदिप्रदानम्, एतत्सपन्न एतत्समन्वित. । तथा श्रुतशीलसयमरत -तत्र श्रुत सामायिकाऽऽदिबिन्दुसारान्त,शील व्रताऽऽदिसमाधानलक्षण, सयमस्तु प्राणातिपाताऽऽदिनिवृत्तिलक्षण । यथोक्तम्-पञ्चाऽऽश्रवादित्यादि । एतेषु भावतो रत , किम् ?, धर्मध्यानी विज्ञातव्य इति गाथाऽर्थ. ॥ ६९ ॥ गत लिङ्गद्वारम् ।

(१४) अधुना फलद्वारावसर । तच्च लाघवार्थं शुक्लध्यानफलाधिकारे वक्ष्यतीति। उक्त धर्मध्यानम्। इदानीं शुक्लध्यानावसर इत्यस्य चान्वर्थ. प्राग्निरूपित एव। इहापि च भावनाऽऽदीनि फलान्तानि तान्येव द्वादश द्वाराणि भवन्ति। तत्र भावनादेशकालाऽऽसनविशेषेषु धर्मध्यानादस्याविशेष एवेत्यतस्तान्यनादृत्याऽऽलम्बनाऽऽदीन्यभिधित्सुराह-

अह खंतिमद्दवऽज्जव-मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ ।
आलंबणेहिं जेहिं, सुक्कज्झाणं समारुहइ ॥ ७० ॥

अथेत्यानन्तर्यविशेषाऽऽनन्तर्ये,क्षान्तिमार्दवाऽऽर्जवमुक्तय -क्रोधमानमायालोभपरित्यागरूपाः। परित्यागश्चाक्रोधेन वर्त्तनम्,उदयनिरोध ,उदीर्णस्य च विफलीकरणमिति। एव मानाऽऽदिष्वपि भावनीयम् । एता एव क्षान्तिमार्दवाऽऽर्जवमुक्तयो विशेष्यन्ते-जिनमतप्रधाना इति-जिनमते तीर्थकरदर्शने, कर्मक्षयहेतुनामधिकृत्य प्रधाना जिनमतप्रधाना.। प्राधान्य चाऽऽसामकषाय चारित्रम्, चारित्राच्च नियमतो मुक्तिरितिकृत्वा । ततश्चैता आलम्बनानि प्राङ्निरूपितशब्दार्थानि,यैरालम्बनै करणभूतै शुक्लध्यान समारोहति। तथाच क्षान्त्याद्यालम्बन एव शुक्लध्यानमासादयति, नान्य इति गाथाऽर्थ । व्याख्यात शुक्लध्यानमधिकृत्याऽऽलम्बनद्वारम्।

(शुक्लध्यानभेदाश्च ' सुक्कज्झाण ' शब्दे विलोकनीया)

साम्प्रत क्रमद्वारावसर -क्रमश्चाऽऽद्ययोर्द्वयो-
धर्मध्यान एवोक्त । इह पुनरय विशेष.-

तिहुयणविसय कमसो,संखिविअ मणं अणुम्मि छउमत्थो ।
झायइ सुनिप्पकंपो, झाण अमणो जिणो होइ ॥७१॥

त्रिभुवनमधोतिर्यगूर्ध्वं लोकभेद, तद्विषयो गोचर आलम्बन

यस्य,मनस इति योगः। तत त्रिभुवनविषय,क्रमशः क्रमेण,परिपाट्या प्रतिवस्तुत्यागलक्षणया,संक्षिप्य तर्कोच्य, किम्?, मन -अन्तःकरणम् । क्व?, अणौ परमाणौ, त्रिधायेति शेष । कः?, छद्मस्थः प्राइनिरूपितशब्दार्थ ।ध्यायति चिन्तयति, सुनिष्प्रकम्पोऽतीव निश्चल इत्यर्थ । ध्यान शुक्ल, ततोऽपि प्रयत्नविशेषात्मनः अपनीय, अमना अविद्यमानान्तःकरणो, जिनो भवत्यर्हन्, भवति, चरमयोर्द्वयोर्ध्यातेति वाक्यशेष । तत्राप्याद्यस्यान्तर्मुहूर्त्तेन शैलेशीमप्राप्तस्तस्या च द्वितीयस्येति गाथाऽर्थ ॥७४॥

आह-कथ पुन छद्मस्थ त्रिभुवनविषय मनः संक्षिप्याणौ धारयति, केवली वा ततोऽप्यपनयति ?। (अत्र दृष्टान्त 'जिणविज' शब्दे तृतीयभागे १५०६ पृष्ठे गत.)

अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तान्तरमभिधातुकाम आह-

ओसारिएंधणभरो, जह परिहाइ कम्मसो हुआसो वा ।
थोविंधणावसेसो, निव्वाइ तओऽवणीओ अ ॥ ७५ ॥

अपसारितेन्धनभर —अपनीतदाह्यसंघात , यथा परिहीयते हानिं प्रपद्यते, क्रमशः क्रमेण,हुताशोऽग्निः , वा विकल्पार्थ,स्तोकेन्धनावशेषः हुताशनमात्र भवति, तथा निर्वाति विध्यापयति, तत स्तोकेन्धनादपनीतश्चेति गाथाऽर्थ ॥७५॥

अस्यैव दृष्टान्तस्योपनयमाह—

तह विसयंधणहीणो, मणोहुआसो कमेण तणुअम्मि ।
विसयंधण निरुज्झइ, निव्वाइ तओऽवणीओ अ ॥७६॥

तथा विषयेन्धनहीनो गोचरेन्धनहीन इत्यर्थ । मन एव तु खदाहकारणत्वाद् हुताशो मनोहुताशः, क्रमेण परिपाट्या, तनुके कृशे,क्व?-विषयेन्धने, अणावित्यर्थ । किम्?, निरुध्यते-निश्चयेन ध्रियते, तथा निर्वाति, ततस्तस्मादणो अपनीतश्चेति गाथाऽर्थ ॥ ७६ ॥

पुनरप्यस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तोपनयावाह—

तोयमिव नालिआए, तत्तायसभायणोदरत्थं वा ।
परिहाइ कमेण जहा, तह जोगिमणोजलं जाण ॥७७॥

तोयमिव उदकमिव नालिकायाः घटिकायाः,तथा-तप्तं च तदायसभाजन लोहभाजन, तदुदरस्थ,वा विकल्पार्थः ।परिहीयते क्रमेण यथा । एष दृष्टान्त.। अयमुपनय -तथा तेनैव प्रकारेण, योगिमन एवाऽविकलत्वाज्जल योगिमनोजलं, जानीहि अवबुध्यस्व तथा-अप्रमादानलतप्तजीवभाजनस्थ मनो जल परिहीयत इति भावना । अलमतिविस्तरेण इति गाथाऽर्थ ॥७७॥

अपनयति ततोऽपि जिनवैद्य इति वचनादेव तावत्केवली मनोयोग निरुणद्धीत्युक्तम् ।

अधुना शेषयोगनिरोधविधिमभिधातुकाम आह-

एवं चिअ वयजोगं, निरुंभइ कमेण कायजोगं पि ।
तो सेलेसु व्व थिरो, सेलेसी केवली होइ ॥ ७८ ॥

एवमेव एभिरेव विषाऽग्निदृष्टान्तै ,किम्?, वाग्योग, निरुणद्धि। तथा क्रमेण काययोगमपि, निरुणद्धीति वर्त्तते। ततः शैलेश इव मेरुरिव, स्थिर सन शैलेशी केवली भवतीति गाथाऽर्थ।

(आव०) (इह च भावार्थ. ' सेलेसी ' शब्दे वक्ष्यते)

(१४) इदानीं ध्यानद्वार विवृण्वन्नाह-

उप्पायट्ठिइभंगा-ऽऽइपज्जवाणं जमेगदव्वम्मि ।
नाणानयाणुसरणं, पुव्वगयसुआणुसारेणं ॥ ७९ ॥

उत्पादस्थितिभङ्गाऽऽदिपर्यायाणाम्, उत्पादाऽऽदय प्रतीताः। आदिशब्दान्मूर्त्तामूर्त्तग्रह । अर्माणां पर्यायाणां, यदेकस्मिन् द्रव्ये अण्वात्माऽऽदौ, किम् ?,नानानयैर्द्रव्यास्तिकायाऽऽदिभिः, अनुस्मरण चिन्तनम् । कथम्?, पूर्वगतश्रुतानुसारेण पूर्वविदः। मरुदेव्यादीनां त्वन्यथा । तत्किमित्याह-

सवियारमत्थवंजण-जोगतरओ तयं पढमसुक्कं ।
होइ पुहुत्तवितक्कं, सवियारमरागभावस्स ॥ ८० ॥

सविचारम्-सह विचारेण वर्त्तत इति सविचारम्,"विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रमः" इति आह च । अर्थव्यञ्जनयोगान्तरम -अर्थो द्रव्य, व्यञ्जन शब्द , योगो मनःप्रभृति, एतदन्तरत एतद्भेदेन,सविचारम्, अर्थाद्व्यञ्जन संक्रामतीति विभाषा । तत्, कथं?-एतत प्रथम शुक्लमाद्य शुक्ल भवति । किंनाम्ना?, इत्यत आह-पृथक्त्ववितर्कं सविचार -पृथक्त्वेन भेदेन विस्तीर्णभावेन अन्ये वितर्कः श्रुतं यस्मिंस्तत्तथा । कस्येदं भवति ?, इत्यत्राऽऽह-अरागभावस्य रागपरिणामरहितस्येति गाथाऽर्थ ॥८०॥

जं पुण सुनिप्पकंपं, निवायसरणप्पईवमिव चित्तं ।
उप्पायट्ठिइभंगा-इयाणमेगम्मि पज्जाए ॥ ८१ ॥

यत्पुन सुनिष्प्रकम्पं विक्षेपरहित, निर्वातशरणप्रदीप इव निर्गतवातगृहैकदेशस्थदीप इव, चित्तमन्तःकरण, क्व?, उत्पादस्थितिभङ्गाऽऽदीनामेकस्मिन पर्याये ॥८१॥

तत्किम ? अत आह-

अवियारमत्थवंजण-जोगंतरओ तयं बिइयसुक्कं ।
पुव्वगयसुआलंबण-मेगत्तवितक्कमवियारं ॥ ८२ ॥

अविचारमसंक्रमम, कुत ?, अर्थव्यञ्जनयोगान्तरत इति पूर्ववत् । तत, किमेवंविधम् ?,द्वितीय शुक्लं भवति । किमभिधानमिति?,अत आह-एकत्ववितर्कमविचार-एकत्वेनाभेदेन वितर्कः व्यञ्जनरूप ,अर्थरूपो वा यस्य तत्तथा । इदमपि च पूर्वगतश्रुताऽऽलम्बनम्, पूर्वगतश्रुतानुसारेणैव भवति । अविचाराऽऽदि पूर्ववदिति गाथाऽर्थः ॥८२॥

निव्वाणगमणकाले, केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स ।
सुहुमकिरियाऽनिअट्टिं, तइअं तणुकायकिरियस्स ॥८३॥

निर्वाणगमनकाले मोक्षगमनप्रत्यासन्नसमये, केवलिन सर्वज्ञस्य, मनोवाग्योगद्वये निरुद्धे सति, अर्द्धनिरुद्धकाययोगस्य, किम्?, सूक्ष्मक्रियानिवर्त्ति-सूक्ष्मा क्रिया यस्मिन् तत्सूक्ष्मक्रिय, सूक्ष्मक्रिय च तदनिवर्त्ति चेति नाम-निवर्त्ततु शीलमस्येति निवर्त्ति, प्रवर्धमानतरपरिणामात्, न निवर्त्ति अनिवर्त्ति, तृतीय, ध्यानमिति गम्यते । तनुकायक्रियस्येति-तन्वी उच्छ्वासनि श्वासाऽऽदिलक्षणा, कायक्रिया यस्य स तथाविधस्तस्येति गाथाऽर्थ ॥८३॥

तस्सेव य सेलेसिं, गयस्स सेलेसु व निप्पकंपस्स ।
वुच्छिन्नकिरिअमप्पडि-वाई झाणं परमसुक्कं ॥ ८४ ॥

तस्यैव च केवलिन शैलेशीं गतस्य, शैलेशी प्राग्वर्णिता, तां प्राप्तस्य, किंविशिष्टस्य?, निरुद्धयोगत्वाच्छैलेश इव निष्प्रकम्पस्य, मेरुरिव स्थिरस्येत्यर्थ । किम्?,व्यवच्छिन्नक्रिय,योगाभावात्, अप्रतिपाति अनुपरतिस्वभावमिति। एतदेव चास्य नाम, ध्यानं परमशुक्लं, प्रकटार्थमेव तदिति गाथाऽर्थ ॥ ८४ ॥

इत्थं चतुर्विधं ध्यानमभिधायाधुनैतत्प्रतिबद्धमेव वक्तव्यताशेषमभिधित्सुराह-

पढमं जोगे जोगे-सु वा मयं बिइअमेगजोगम्मि ।
तइअं च कायजोगे, सुक्कमजोगिम्मि अ चउत्थं ॥ ८५ ॥

प्रथमं पृथक्त्ववितर्कं सविचारं, योगे मनआदौ, योगेषु वा सर्वेषु,मतमिष्टम,तच्चाऽऽगमिकश्रुतपाठिन. । द्वितीयम्-एकत्ववितर्कमविचार, तदेकयोग एव,अन्यतरस्मिन् सङ्क्रमाभावात्' तृतीयं च-सूक्ष्मक्रियानिवर्त्ति, काययोगे, न योगान्तरे, शुक्लम्' अयोगिनि च शैलेशीकेवलिनि, चतुर्थम-व्युपरतक्रियाऽप्रतिपाति, इति गाथाऽर्थ ॥ ८५ ॥

आह-शुक्लध्यानोपरिमभेदद्वये मनो नास्ति, अमनस्कत्वात् केवलिन , ध्यान च मनोविशेष , 'ध्यै' चिन्तायामिति पाठात्, तदेतत्कथम ?, इति । उच्यते-

जह छउमत्थस्स मणो, झाणं भण्णइ सुनिच्चलं संतं ।
तह केवलिणो काओ, सुनिच्चलो भण्णए झाणं ॥ ८६ ॥

यथा छद्मस्थस्य मन., किम ?,-ध्यान भण्यते । सुनिश्चलं सत, तथा तेनैव प्रकारेण, योगत्वाव्यभिचारात्, केवलिनः, कायः सुनिश्चलो भण्यते ध्यानम । इति गाथाऽर्थ ॥ ८६ ॥

आह-चतुर्थे निरुद्धत्वादसावपि न भवति, तथाविधभावेऽपि च सर्वभावप्रसङ्गः, तत्र का वार्ता ?, इत्युच्यते-

पुव्वप्पओगओ वि अ, कम्मविणिज्जरणहेउओ चावि ।
सद्दत्थबहुत्ताओ, तह जिणचंदागमाओ अ ॥ ८७ ॥
चित्ताभावे वि सई, सुहुमोवरयकिरियाइ भण्णंति ।
जीवोवओगसब्भा-वओ भवत्थस्स झाणाइं ॥ ८८ ॥

काययोगनिरोधिनो योगिनोऽयोगिनो वा, चित्ताभावेऽपि सति सूक्ष्मोपरतक्रिये भण्येते । सूक्ष्मग्रहणात्सूक्ष्मक्रियानिवर्त्तिनो ग्रहण,उपरतग्रहणाद्व्युपरतक्रियाऽप्रतिपातिन इति ॥ पूर्वप्रयोगादिति हेतु , कुलालचक्रभ्रमणवदिति दृष्टान्तोऽभ्यूह्य. । यथा नचक्र भ्रमणनिमित्तदण्डाऽऽदिक्रियाऽभावेऽपि भ्रमति,तथाऽस्यापि मन प्रभृतियोगोपरमेऽपि जीवोपयोगसद्भावतो भावमनसो भावात् भवस्थस्य ध्याने इति । अपिशब्दश्चोदनानिर्णयप्रथमहेतुसम्भावनाऽर्थ. । चशब्दस्तु प्रस्तुतहेत्वनुकर्षणार्थः । एव शेषहेतवोऽप्यनया गाथया योजनीया ॥ विशेषस्तूच्यते-कर्मविनिर्जरणहेतुतश्चापि-कर्मविनिर्जरणहेतुत्वात्, क्षपकश्रेणिवत् । भवति च क्षपकश्रेण्यामिवास्य भवोपग्राहिकर्मनिर्जरेति भाव. । चशब्द. प्रस्तुतहेत्वनुकर्षणार्थ. । अपिशब्दस्तु द्वितीयहेतुसम्भावनार्थ इति ॥ तथा शब्दार्थबहुत्वात्, यथैकस्यैव हरिशब्दस्य शक्रशाखामृगाऽऽदयोऽनेकेऽर्था., एव ध्यानशब्दस्यापि, न विरोध. । 'ध्यै ' चिन्तायाम, 'ध्यै ' काययोगनिरोधे, 'ध्यै ' अयोगित्वे,इत्यादि ॥ तथा जिनचन्द्राऽऽगमाच्चैनदेवमिति । उक्त च-" आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम । अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ १ ॥" इत्यादि गाथाद्वयार्थ. ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ उक्त ध्यातव्यद्वारम ।

ध्यातारस्तु धर्मध्यानाधिकारे उक्ता. ।

अधुनाऽनुप्रेक्षाद्वारमुच्यते-

सुक्कज्झाणसुभाविअ-चित्तो चिंतेइ झाणविगमे वि ।
णिअयमणुप्पेहाओ, चत्तारि चरित्तसंपन्नो ॥ ८९ ॥

शुक्लध्यानसुभावितचित्तश्चिन्तयति ध्यानोपरमेऽपि नियतमनुप्रेक्षाश्चतस्रश्चारित्रसम्पन्न.,तस्य परिणामरहितस्य तदभावादिति गाथाऽर्थ. ॥ ८९ ॥

ताश्चैताः—

आसवदारावाए, तह संसारासुहाणुभावं च ।
भवसंताणमणंतं, वत्थूणं विपरिणामं च ॥ ९० ॥

आश्रवद्वाराणि मिथ्यात्वाऽऽदीनि,तदपायान् दुःखलक्षणान्;तथा-संसाराशुभानुभाव च "असुभानुभावधी ससारो" इत्यादि । भवसन्तानमनन्त भाविनारकाऽऽद्यपेक्षया । वस्तूनां विपरिणामञ्च सचेतनाचेतनानाम्;"सव्वट्ठाणाणि असासयाणि" इत्यादि । एताश्चतस्रोऽप्यपायाशुभानन्तविपरिणामानुप्रेक्षा आद्यद्वयभेदसङ्गता एव द्रष्टव्या. । इति गाथाऽर्थ. ॥ ९० ॥ उक्तमनुप्रेक्षाद्वारम् ।

इदानीं लेश्याद्वाराभिधित्सयाऽऽह-

सुक्काए लेसाए, दो तइअं परमसुक्कलेसाए ।
थिरयाजिअसेलेसं, लेसाईअं परमसुक्कं ॥ ९१ ॥

सामान्येन शुक्लायां लेश्यायां, द्वे आद्ये शुक्ललक्षणे, तृतीयमुक्तलक्षणमेव, परमशुक्ललेश्यायां स्थिरताजितशैलेश मेरोरपि निष्प्रकम्पतरमित्यर्थ. । लेश्याऽतीत परमशुक्ल चतुर्थमिति गाथाऽर्थः ॥ ९१ ॥ उक्त लेश्याद्वारम ।

इदानीं लिङ्गद्वार विवर्णयिषुस्तेषां नामप्रमाणस्वरूपगुणभावनार्थमाह-

अवहासंमोहविवे-गवुस्सग्गा तस्स हुंति लिंगाइं ।
लिंगिज्जइ जेहिँ मुणी, सुक्कज्झाणोवगयचित्तो ॥ ९२ ॥
चालिज्जइ बीहेइ व, धीरो न परीसहोवसग्गेहिं ।
सुहुमेसु न संमुज्झइ, भावेसु न देवमायासु ॥ ९३ ॥
देहविवित्तं पिच्छइ, अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे ।
देहोवहिवुस्सग्गं, निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥ ९४ ॥

अवधासंमोहविवेकव्युत्सर्गा.,तस्य शुक्लध्यानस्य,भवन्ति लिङ्गानि, लिङ्ग्यते गम्यते यैर्मुनि' शुक्लध्यानोपगतचित्त इति गाथाऽक्षरार्थ. ॥ ९२ ॥ अधुना भावार्थमाह-चाल्यते ध्यानात् परीसहोपसर्गैर्बिभेति वा धीरो बुद्धिमान्स्थिरो वा,न तेऽन्य इत्यवधलिङ्गम् । सूक्ष्मेष्वत्यन्तगहनेषु न सम्मुह्यति न सम्मोहमुपगच्छति,भावेषु पदार्थेषु, न देवमायास्वनेकरूपास्वित्यसम्मोहलिङ्गम्, इति गाथाऽर्थः ॥ ९३ ॥ देहविविक्त पश्यति आत्मान, तथा च सर्वसयोगानिति विवेकलिङ्गम् । देहोपधिव्युत्सर्गं नि सङ्ग' सर्वथा करोतीति व्युत्सर्गलिङ्गमिति गाथाऽर्थ. ॥ ९४ ॥ गत लिङ्गद्वारम् ।

साम्प्रत फलद्वारमुच्यते । इह च लाघवार्थं प्रथमोपन्यस्त धर्मफलमभिधाय शुक्लध्यानफलमाह, धर्मफलानामेव शुद्धतराणामाद्यशुक्लद्वयफलत्वादत आह-

हुंति सुभाऽऽसवसंवर-विणिज्जराऽमरसुहाइँ विउलाइं ।
झाणवरस्स फलाइं, सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥ ९५ ॥

भवन्ति शुभाऽऽश्रवसंवरनिर्जरामरसुखानि–शुभाऽऽश्रवः–पुण्याऽऽश्रवः, संवरः–अशुभकर्माऽऽगमनिरोधः, विनिर्जरा–कर्मक्षयः, अमरसुखानि–देवसुखानि । एतानि च दीर्घस्थितिविशुद्ध्युपपाताढ्या विपुलानि विस्तीर्णानि, ध्यानवरस्य ध्यानप्रधानस्य, फलानि शुभानुबन्धीनि सुकुलप्रत्ययानि पुनर्बोधिलाभभोगप्रव्रज्याकेवलशैलेश्यपवर्गानुबन्धीनि, धर्मध्यानस्येति गाथाऽर्थः ॥ ९५ ॥ उक्तानि धर्मध्यानफलानि ।

अधुना शुक्लमधिकृत्याऽऽह–

ते अ विसेसेण सुहा–ऽऽसवादओऽणुत्तरामरसुहं च ।
दुन्हं सुक्काण फलं, परिनिव्वाणं परिल्लाणं ॥ ९६ ॥

ते च विशेषेण शुभाऽऽश्रवाऽऽदयोऽनन्तरोदिताः, अनुत्तरामरसुखं च, द्वयोः शुक्लयोः, फलमाद्ययोः । परिनिर्वाणं मोक्षगमनं (परिल्लाण ति) चरमयोर्द्वयोरिति गाथाऽर्थः ॥ ९६ ॥

अथवा सामान्येनैव संसारप्रतिपक्षभूते एते इति–दर्शयति–

आसवदारा संसा–रहेअओ जं न धम्मसुक्केसु ।
संसारकारणाइं, न तो धुवं धम्मसुक्काइं ॥ ९७ ॥

आश्रवद्वाराणि संसारहेतवो वर्त्तन्ते, तानि च यद् यस्मान्न धर्मशुक्लयोर्भवन्ति । संसारकारणानि न तस्माद् ध्रुवं नियमेन धर्मशुक्लानि । इति गाथार्थः ॥ ९७ ॥

(१६) संसारप्रतिपक्षतया च मोक्षहेतुर्ध्यानमित्यावेदयन्नाह–

संवरविणिज्जराओ, मुक्खस्स पहो तवो पहो तासिं ।
झाणं च पहाणंगं, तवस्स तो मुक्खहेऊ तं ॥ ९८ ॥

संवरविनिर्जरे मोक्षस्य पन्थाः–अपवर्गस्य मार्गः, तपः पन्थाः मार्गः, तयोः संवरनिर्जरयोः । ध्यानं च प्रधानाङ्गं तपस आन्तरकारणत्वात् । ततो मोक्षहेतुस्तद् ध्यानमिति गाथाऽर्थः ॥९८॥

अमुमेवार्थं सुखप्रतिपत्तये दृष्टान्तैः प्रतिपादयन्नाह–

अंबरलोहमहीणं, कमसो जह मलकलंकपंकाणं ।
सोज्झावणयणसोसे, साहंति जलानलाइच्चा ॥ ९९ ॥

अम्बरलोहमहीनां वस्त्रलोहक्षितीनां, क्रमशः क्रमेण, यथा मलकलङ्कपङ्कानां यथासंख्यं शोध्यापनयनशोषान् यथासंख्यमेव, साधयन्ति निर्वर्तयन्ति, जलानलाऽऽदित्याः । इति गाथाऽर्थः ॥९९॥

तह सुज्झाइसमत्था, जीवंबरलोहमेइणिगयाणं ।
झाणजलानलसूरा, कम्ममलकलंकपंकाणं ॥ १०० ॥

तथा शोध्यादिसमर्था जीवाम्बरलोहमेदिनीगतानां ध्यानमेव जलानलसूर्याः, कर्मैव मलकलङ्कपङ्काः, तेषामिति गाथाऽर्थः ॥ १०० ॥

किञ्च–

तावो सोसो भेओ, जोगाणं झाणओ जहा निअयं ।
तह तावसोसभेआ, कम्मस्स वि झाइणो निअमा ॥ १०१ ॥

तापः, शोषो, भेदः, योगानां, ध्यानतो ध्यानाद्, यथा नियतमवश्यम् । तत्र तापो दुःखं, तत एव शोषो दौर्बल्यम्, तत एव भेदो विदारणं, योगानां वागादीनां, तथा तेनैव प्रकारेण, तापशोषभेदाः, कर्मणोऽपि भवन्ति । कस्य ?–ध्यायिनः, न यदृच्छया, नियमाद् नियमेनेति गाथाऽर्थः ॥ १०१ ॥

किं च–

जह रोगाऽऽसयसमणं, विसोसणविरेअणोसहविहीहिं ।
तह कम्माऽऽमयसमणं, झाणाणसणाइजोगेहिं ॥ १०२ ॥

यथा रोगाऽऽशयशमनं रोगनिदानचिकित्सा, विशोषणविरेचनौषधविधिभिः–अभोजनविरेकौषधप्रकारैः; तथा कर्माऽऽमयशमनं कर्मरोगचिकित्सा, ध्यानानशनाऽऽदिभिर्योगैः, आदिशब्दाद् ध्यानवृद्धिकारकशेषतपोभेदग्रहणमिति गाथाऽर्थः ॥ १०२ ॥

किञ्च–

जह चिरसंचिअमिंधण, जलणो पवणसहिओ दुअं दहइ ।
तह कम्मिंधणममिअं, खणेण झाणानलो डहइ ॥ १०३ ॥

यथा चिरसंचितं प्रभूतकालसंचितम्, इन्धनं काष्ठाऽऽदि, ज्वलनोऽग्निः, पवनसहितो वायुसमन्वितः, द्रुतं शीघ्रं, दहति भस्मीकरोति । तथा दुःखतापहेतुत्वात्कर्मैवेन्धनम्, अमितमनेकभवोपात्तम्, अनन्तं, क्षणेन समयेन, ध्यानमनल इव ध्यानानलः, असौ, दहति भस्मीकरोतीति गाथाऽर्थः ॥ १०३ ॥

जह वा घणसंघाया, खणेण पवणाहया विलयमिंति ।
झाणपवणावहूआ, तह कम्मघणा विलिज्जंति ॥ १०४ ॥

यथा वा घनसङ्घाताः–मेघोत्कराः, क्षणेन, पवनाहता वायुप्रेरिताः, विलयं विनाशं, यान्ति गच्छन्ति । ध्यानपवनावधूता ध्यानवायुविक्षिप्ताः, तथा कर्मैव जीवस्वभावावरणाद् घनाः कर्मघनाः ।

उक्तं च–

"स्थितः शीतांशुवज्जीवः, प्रकृत्या भावशुद्धया ।
चन्द्रिकावच्च विज्ञान, तदावरणमभ्रवत्" ॥ १ ॥

इत्यादि । विलीयन्ते विनाशमुपयान्ति, इति गाथाऽर्थः ॥१०४॥

किञ्चेदमन्यदिहलोकप्रतीतमेव ध्यानफलमिति दर्शयति–

न कसायसमुत्थेहि अ, वाहिज्जइ माणसेहिँ दुक्खेहिं ।
ईसाविसायसोगा–इएहिँ झाणोपगयचित्तो ॥ १०५ ॥

न कषायसमुत्थैश्च न क्रोधाऽऽद्युद्भवैश्च, बाध्यते पीड्यते, मानसैः दुःखैः, मानसग्रहणाच्छारीरैः इत्याद्यपि यदुक्तम्, तन्न बाध्यते; ईर्ष्याविषादशोकाऽऽदिभिः, तत्र प्रतिपक्षाभ्युदयोपलम्भजनितो मत्सरविशेष ईर्ष्या, विषादो वैक्लव्यम्, शोको दैन्यम्, आदिशब्दाद् हर्षाऽऽदिपरिग्रहः । ध्यानोपगतचित इति प्रकटार्थम् । अयं गाथाऽर्थः ॥ १०५ ॥

सीआयवायएहि अ, सारीरेहि सुबहुप्पगारेहिं ।
झाणसुनिच्चलचित्तो, न वहिज्जइ निज्जरापेही ॥ १०६ ॥

इह कारणे कार्योपचाराच्छीताऽऽतपाऽऽदिभिश्च, आदिशब्दात् क्षुदादिपरिग्रहः । शारीरैः, सुबहुप्रकारैरनेकभेदैः, ध्यानसुनिश्चलचित्तो ध्यानभावितमतिः, न स बाध्यते, ध्यानसुखादिति गम्यते । अथवा न शक्यते चालयितुं, तत एव निर्जराऽपेक्षी कर्मक्षयापेक्षक । इति गाथाऽर्थः ॥१०६॥ उक्तं फलद्वारम् ।

अधुनोपसंहरन्नाह–

इयमव्वगुणाऽऽइठाणं, दिट्ठादिट्ठसुहसाहणं झाणं ।
सुपसत्थं सद्धेअं, नेअं झेअं च निच्चं पि ॥ १०७ ॥

पंचुत्तरेण गाहा–सएण झाणसयगं समुद्दिट्ठं ।
जिणभद्दखमासमणे–हिँ कम्मसोहीकरं जइणा ॥ १०८ ॥

'इय' एवमुक्तेन प्रकारेण, सर्वगुणाऽऽधानमशेषगुणस्थानं, दृष्टादृष्टसुखसाधनं ध्यानमुक्तन्यायात्सुष्ठु प्रशस्तं तीर्थकराऽऽदिभिरासेवितत्वाद्, यतश्चैवमतः श्रद्धेयं, नान्यथैतदिति भावनया, ज्ञेयं ज्ञातव्यं, स्वरूपतः ध्येयमिति, चिन्तनीयं क्रियया। एवं च सति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्यासेवितानि भवन्ति, नित्यमपि सर्वकालमपि। आह-एवं तर्हि शेषक्रियालोपः प्राप्नोति। न। तदासेवनस्यापि तत्त्वतो ध्यानत्वात्। नास्ति काचिदसौ क्रिया, या आगमानुसारेण क्रियमाणा साधूनां ध्यानं न भवतीति गाथार्थः ॥१०७॥ ॥ १०८ ॥ समाप्तं ध्यानशतकम्। आव० ४ अ०। षो० सघा०। ('केवलिसमुग्घाय' शब्दे तृतीयभागे ६६७ पृ० शैलेश्यवस्थायां ध्यानमुक्तम्)

(१७) १ तत्स्वरूपं निरूपयन्नाह-

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयं यस्यैकतां गतम्।
मुनेरनन्यचित्तस्य, तस्य दुःखं न विद्यते ॥ १ ॥
ध्याताऽन्तराऽऽत्मा ध्येयस्तु, परमाऽऽत्मा प्रकीर्तितः।
ध्यानं चैकाग्र्यसंवित्तिः, समापत्तिस्तदेकता ॥ २ ॥
मणौ विम्बप्रतिच्छाया, समापत्तिः पराऽऽत्मनः।
क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्याना-दन्तराऽऽत्मनि निर्मले ॥ ३ ॥
आपत्तिश्च ततः पुण्य-तीर्थकृत्कर्मबन्धतः।
तद्भावाभिमुखत्वेन, संपत्तिश्च क्रमाद्भवेत् ॥ ४ ॥
इत्थं ध्यानफलाद्युक्तं, विंशतिस्थानकाऽऽद्यपि।
कष्टमात्रं त्वभव्याना-मपि नो दुर्लभं भवेद् ॥ ५ ॥
जितेन्द्रियस्य धीरस्य, प्रशान्तस्य स्थिराऽऽत्मनः।
सुखाऽऽसनस्य नासाग्र-न्यस्तनेत्रस्य योगिनः ॥ ६ ॥
रुद्धबाह्यमनोवृत्ते-र्धारणाधारया रयात्।
प्रसन्नस्याप्रमत्तस्य, चिदानन्दसुधालिहः ॥ ७ ॥
साम्राज्यमप्रतिद्वन्द्व-मन्तरेव वितन्वतः।
ध्यानिनो नोपमा लोके, सदेवमनुजेऽपि हि ॥ ८ ॥

अष्ट० ३० अष्ट०। "बीए झाणं झियायइ।" दिनस्य द्वितीये प्रहरे ध्यानं ध्यायतीति प्रतिदिनक्रिया। उत्त० २६ अ०। करणप्रत्ययेन निर्विषये मनसि, उत्त० १२ अ०।

झाणंतर-ध्यानान्तर-न०। अदृढाध्यवसायध्यानस्य चान्तरिकायाम्, बृ० १ उ०।

झाणंतरिया-ध्यानान्तरिका-स्त्री०। ध्यानयोः शुक्लध्यानद्वितीयतृतीयभेदलक्षणयोरन्तरं मध्यं ध्यानान्तरम्, तदेव ध्यानान्तरिका। स्था० ९ ठा०। अन्तरस्य विच्छेदस्य करणमन्तरिका, ध्यानस्यान्तरिका ध्यानान्तरिका। भ० ५ श० ४ उ०। ध्यानस्य मध्यभागे, कल्प० ६ क्षण। आरब्धध्यानस्य समाप्तावपूर्वध्यानारम्भणे, भ० ५ श० ४ उ०। द्रव्याऽऽदीनामन्यतमध्यानवतो यदा चित्तमुत्पद्यते-सम्प्रति शेषाणां ध्यातव्यानां कतरद् ध्यायामीत्येवंविधे विमर्शे, बृ०।

केयं पुनर्ध्यानान्तरिकेति ?, उच्यते-

अन्नतरझाणऽतीतो, बिइअं झाणं तु सो असंपत्तो।
झाणंतरम्मि वट्टइ, बिपहे व विकुंचियमईओ ॥

अन्यतरस्माद् द्रव्याऽऽद्यन्यतरवस्तुविषयाद् ध्यानादतीतो यः कश्चिदद्यापि द्वितीयध्यानं न सम्प्राप्नोति, स द्वितीयं ध्यानमसंप्राप्तः सन् ध्यानान्तरे वर्तते, सा ध्यानान्तरिका भवतीति शेषः। इयमत्र भावना-द्रव्याऽऽदीनामन्यतमध्यानवतो यदा चित्तमुत्पद्यते-सम्प्रति शेषाणां ध्यातव्यानां कतरद् ध्यायामीति, एवंविधो विमर्शो ध्यानान्तरिकेत्युच्यते। अत्र यथा-(विपहे व विकुंचियमईओ त्ति) द्विपथं मार्गद्वयस्थानं तत्र कश्चिदेकेन पथा गच्छन् पुरस्ताद् द्विपथे मार्गद्वये दृष्टे सति विकुञ्चितमतिकोऽनयोर्मार्गयोः कतरेण व्रजामीति विमर्शाऽऽकुलबुद्धिः सन्नपान्तराले वर्तते। एवमेषोऽपि ध्यानान्तरे इति। बृ० १ उ०।

झाणकोट्ठोवगय-ध्यानकोष्ठोपगत-पुं०। ध्यानं-धर्मध्यानं, शुक्लध्यानं च। तदेव कोष्ठः कुशूलो ध्यानकोष्ठः, तमुपगतो ध्यानकोष्ठोपगतः। यथा हि कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तं विप्रसृतं भवति, एवं ध्यानतोऽविप्रकीर्णेन्द्रियान्तःकरणवृत्तौ, रा०। च० प्र०। भ०। जं०। सू० प्र०। विपा०। औ०। धर्मध्यानकोष्ठमनुप्रविश्येन्द्रियमनांस्यधिकृत्य संवृताऽऽत्मनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। नि०। औ०।

झाणजुत्त-ध्यानयुक्त-त्रि०। ध्यानं चित्तनिरोधः, तेन युक्तो यः स तथा। चित्तनिरोधवति, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार।

झाणजोग-ध्यानयोग-पुं०। ७ त०। चित्तनिरोधलक्षणे धर्मध्यानाऽऽदौ विशिष्टमनोवाक्कायव्यापारे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

झाणज्झयण-ध्यानाध्ययन-न०। ध्यानप्रतिपादके आवश्यकाध्ययने, आव० ४ अ०।

झाणज्झयणरइ-ध्यानाध्ययनरति-स्त्री०। ७ त०। ध्यानं चाध्ययनं च ध्यानाध्ययने, अध्ययनपूर्वकत्वेऽपि ध्यानस्याल्पाच्तरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च पूर्वनिपातः। एकालम्बनसंस्थस्य सदृशप्रत्ययस्य च प्रत्ययान्तरप्रवाहस्वाध्याययोरासक्तौ, षो० १२ विव०।

झाणप्पयास-ध्यानप्रकाश-पुं०। ध्यानप्रतिपादके ग्रन्थविशेषे, उक्तञ्च ध्यानप्रकाशे-"जायचिरप्पो चिरकालीओ।" अष्ट० ८ अष्ट०।

झाणवर-ध्यानवर-न०। ध्यानश्रेष्ठे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। प्रधानध्याने, आव० ४ अ०। प्रश्न०। धर्मध्याने, आव० ४ अ०।

झाणविभत्ति-ध्यानविभक्ति-स्त्री०। ध्यानान्यार्त्तध्यानाऽऽदीनि, तेषां विभजनं विभक्तिर्यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा। उत्कालिकश्रुतविशेषे, न०। पा०।

झाणसंवरजोग-ध्यानसंवरयोग-पुं०। ध्यानमेव संवरयोगो ध्यानसंवरयोगः। स० ३२ सम०।

ध्यानसंवरयोगमाह-

"नगरं च सिंधुवद्धण, मुंडिवगो अज्जपुस्सभूई य।
आणयणं पुस्समित्ते, सुहुमे झाणे विवाओ य ॥ १ ॥"
'आसीन्मुण्डिवको राजा, नगरं सिन्धुवर्द्धने।
पुष्यभूत्यभिधास्तस्मि-न्नाचार्याः सुबहुश्रुताः ॥ १ ॥
बोधितस्तैः स राजेन्द्रः, परमं श्रावकोऽभवत्।
पुष्यमित्रश्च शिष्योऽस्ति, तेषामनिबहुश्रुतः ॥ २ ॥
अवमध्वनयाऽन्यत्र, तिष्ठति स्म परं सुखी।

अन्यदा दुर्बलपुष्पाचार्याः,सूक्ष्मध्याने प्रवेशनम् ॥ ३ ॥
महाप्राणसमं तच्च, तत्र स्याद्वेदनाऽपि न ।
अगीतार्थाश्च तत्पार्श्वे, पुष्पमित्रोऽथ शङ्कितः ॥ ४ ॥
आगतः कथित तस्य, प्रपन्न तेन तेऽप्यथ ।
स्थित्वैकत्रापवरके, ध्यानमारेभिरे दृढ. ॥ ५ ॥
दत्ते ढौक न कस्यापि, स तेषां किं तु वक्त्यदः ।
अत्रस्था एव वन्दध्व, व्याकुलाः सन्ति सूरयः ॥ ६ ॥
दिनै. कतिपयैरन्ये-ऽमन्त्रयन् साधवो मिथः ।
कुर्वन्तः सन्ति किं पूज्या.?, एकस्तत्र न्यभालयत् ॥ ७ ॥
तावद् गुरुर्न चलति, न स्पन्दते न वक्ति च ।
आख्यत्तदर्थं सर्वेषां, रुष्टाः सर्वेऽपि सा त्रव. ॥ ८ ॥
आर्याऽऽख्यासि त्वमाचार्यान्, किं न कालगतानपि ? ।
माऽवक्कालगता नैते, ध्यान ध्यायन्ति किं त्वमी ॥ ९ ॥
व्याघातमेषां मा कार्षु-रुचुस्ते धूर्तना तव ।
त्व साधयितुकामोऽसि, वेताल पूर्णलक्षणैः ॥ १० ॥
आचार्यैरिति ते सर्वे, तेन सार्द्धं व्यधु कलिम ।
आनिन्ये तैस्ततो राजा-ऽऽचार्या. कालगता इति ॥ ११ ॥
इत्तेऽसौ लिङ्गिकः किं तु, न निर्याण कथञ्चन ।
राजा स्वयमथाऽऽलोक्य, मेने कालगतान् गुरून् ॥ १२ ॥
पुष्पमित्रमवज्ञाय, शिविका सज्जिता ततः ।
अन्याद्यपाये महति, स्पृश्योऽङ्गुष्ठो मम त्वया ॥ १३ ॥
पुष्यस्तमिति सकेतात्, पस्पर्श प्रत्यबुद्ध सः ।
ऊचे किमार्य ! व्याघात., सोऽवक् व. शिष्यकैः कृत. ॥ १४ ॥
उक्तास्ते न कृत स्य, भङ्गो ध्यानस्य नः कृत. ।
प्रवेश्यमीदृशे ध्याने, येन स्याद्योगसंग्रहः ॥१५॥ " आ० क० ।
आव० । आचू० । अष्टाविंशे योगसंग्रहे,प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

झाणसयग-ध्यानशतक-न० । ध्यानप्रतिपादके गाथाशतके, "पञ्चुत्तरेण गाहा-सपण झाणसयग समुद्दिट्ठं"। (१०८ गाथा) आव० ४ अ० । ध० ।

झाणोवओगचित्त-ध्यानोपयोगचित्त-त्रि० । ध्यानोपयोगे विशिष्टध्याना.यासे चित्त यस्य सः । विशिष्टध्यानाभ्यासचित्ते, संथा० ।

झाम-ध्मात-त्रि० । दग्धे, आचा० २ श्रु०१ अ० १ उ०। आ० चू०। ध्याम-त्रि० । अनुज्ज्वले, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

झामण-ध्मापन-न० । प्रदीपनके, व्य० २ उ० । सूत्र० ।

झामथंडिल्ल-ध्मातस्थण्डिल-न० । दग्धभूमौ, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

झामिय-ध्यामित-त्रि० । अग्निना दग्धे, व्य० ७ उ० । सू० । " धान्नघर सन्त्र झामिय । " आ० म० १ अ० १ खण्ड । दे० ना० ।

झाय-ध्मात-त्रि० । भस्मीकृते, न० ।

झायव्व-ध्यातव्य-त्रि० । ध्येये, आव० ४ अ० । दर्श० ।

झाया-ध्यातृ-त्रि० । चिन्तके, आव० ४ अ० । दर्श० ।

झारुअ-स्त्री० । देशी-चीरीम, " झारुअझारुक्कुहे, झिरिंडए एस ज गझिही । " (४७ गाथा) चीरीलनामहत्कूहे जीर्णकूपे एप यत् पतिष्यति, इत्यर्थः । दे० ना० ३ वर्ग ।

झावण-ध्मापन-भस्मसात्करणे, आचा० १ श्रु०१ अ० ५ उ० ।

झावणा-ध्मापना-स्त्री० । अग्निसंस्कारे, आ० म० १ अ० १ खण्ड। स च भगवतो निर्वाणप्राप्तस्यान्येषां च साधूनामिक्ष्वाकूणामितरेषां च प्रथमं त्रिदशै. कृतः, पश्चाल्लोकेऽपि सजात. । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

झिंगिर-झिङ्गिर-पुं० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

झिंगिरड-झिङ्गिरड-पुं० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

झिंझिय-झिञ्झित-त्रि० । बुभुक्षाऽऽर्ते, बृ०६ उ० ।

झिंझिरी-झिञ्झिरी-स्त्री० । वल्लीभेदे, झञ्झिरीवल्लीए सागो त्ति । " आचा० २ श्रु० १ अ उ० । वल्लीपलाशके, बृ० १ उ० ।

झिम्म-जैह्म्य-न० । येन परयञ्जनाि येण जैह्म्य क्रियासु मान्द्यमालम्ब्यते तस्मिन्भावे, भ० १२ श ५ उ० ।

झियायंत-ध्यायत्-त्रि० । चिन्तयति, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

झियायमाण-ध्मायमान-त्रि० । जाज्वल्यमाने, दशा० १० अ०। ज्वलति, भ० ७ श० ६ उ०। सूत्र०। दह्यमाने, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। ध्यायमान-त्रि० । चिन्त्यमाने, दशा० ५ अ०। भ० ।

झिरिंड-न० । देशी-जीर्णकूपे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झिल्लिया-झिल्लिका-स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

झिल्लिरिआ-स्त्री० । देशी-चीहीतृणे, मशके च । दे०ना०३ वर्ग ।

झिल्ली-झिल्ली-स्त्री० । चिल्लति-चिल-अच्-पृषो०-गौरा०-ङीप् । कीटभेदे, सञ्ज्ञायां कन् । आतपरुचौ, वर्त्यां च । वाच० । कन्दभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

झीण-क्षीण-त्रि० । क्षि-क्तः। दुर्बले, क्षामे च । वाच० । अष्ट० । क० प्र० । अङ्गे, कीटे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

झीर-स्त्री० । देशी--लज्जायाम, दे० ना० ३ वर्ग ।

झुंख-पुं०। देशी-तुणपाऽऽख्ये वाद्यविशेषे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झुंझिय-झुञ्झित-त्रि० । बुभुक्षिते, क्षुरितके च । भ० १६ श० ४ उ० ।

झुंझुमुसयय-न० । देशी-मनोदु खे, दे० ना० २ वर्ग ।

झुंटण-देशी-प्रवाहे, दे० ना० ३ वर्ग ।

झुंबणग-झुम्बनक-न० । प्रालम्बे कर्णाऽऽभरणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

झुट्ट-न० । देशी-अलीके, दे० ना० ३ वर्ग ।

झुण-जुगुप्स-धा० । निन्दायाम, " जुगुप्सेर्झुणदुगुच्छदुगुञ्छाः " ॥ ८ । ४ । ४ ॥ इति जुगुप्सतेर्झुणाऽऽदेश. । 'झुणइ' प्रा० ४ पाद ।

झुणि-ध्वनि-पुं० ध्वन्-इन् । "ध्वनिविष्वचोरु" ॥७ । १ । ५२॥ इति आदेरस्य उत्वम् । प्रा० १ पाद । अव्यक्ते मृदङ्गाऽऽदिशब्दे, अलङ्कारोक्ते उत्तमकाव्ये च । वाच० । "झुणि कन्नडप्पइट्ठं।" प्रा० ४ पाद ।

इति श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प–भट्टारक–
जैनश्वेताम्बराऽऽचार्यश्री १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-
विरचिते "अभिधानराजेन्द्रे" ऊकाराऽऽदिशब्द–
सङ्कलनं समाप्तम् ।

टकार

ट-ट-' ट ' इत्ययं वर्णो मूर्धस्थानीयः स्पर्शसञ्ज्ञः । वाच० ।

ट-पुं० । टल- डः । वामने, पादे, निःस्वने, वाच० । धने, स्तनौ, करटे, धूमे, पाते, आवर्ते, भानुरश्मौ, ताडने, त्रासे, स्थिरे, अश्वे च । एका० । करङ्के, टङ्कारे च । न० । वाच० ।

टक-टङ्क-पुं० । टकि-घञ्,अच् वा । कोपे, कोषे,खड्गे,पाषाणभेदनेऽस्त्रे, वाच० । खड्गाऽऽदीनामग्रभागे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । मुद्राचिह्नविशेषे,पञ्चा० ४ विव० । आव० । प्रज्ञा० । छिन्नतटे कूटे, न० । भ० । एकदिशि छिन्ने पर्वते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । शत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प० । लोमपक्षिभेदे च । जी० १ प्रति० । चतुर्माषकरूपे परिमाणे, नीलकपित्थे, खनित्रे, दर्पे च । पुं० । वाच० । खड्गे, छिन्ने, खाते, जङ्घायाम, खनित्रे, भित्तौ, नटे च । दे० ना० ४ वर्ग ।

टकण-टङ्कन-पुं० । टकि-युच् । 'सोहागा' इतिख्याते क्षारभेदे, वाच० । उत्तरापथे म्लेच्छदेशवास्तव्ये स्वनामख्याते म्लेच्छजातिभेदे, विशे० । आ० म० । आ० चू० । सूत्र० ।

टका-टङ्का-स्त्री० । स्वनामख्याते तीर्थे, यत्र वीरः पूज्यते । ती० ४३ कल्प ।

टकिअ-न० । देशी-प्रसृते, दे० ना० ४ वर्ग ।

टवरअ-त्रि० । देशी-भारिके, दे० ना० ४ वर्ग ।

टक्कार-टङ्कार-पुं० । अङ्गुल्यादिना शिरआदौ टगिति करणे, व्य० १ उ० ।

टगर-तगर-पुं० । तृ-अच । तस्य क्रोडस्य गरः । वाच० । " तगर-त्रसर-तूवरे ट " ॥ ८ । १ । २०५ ॥ इति तस्य टः । प्रा० १ पाद । स्वनामख्याते वृक्षे, वाच० ।

टमरुक-डमरुक-पुं० । " चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ " ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति डस्य टः । प्रा० ४ पाद । वाद्यभेदे, कापालिकयोगवाद्ये चमत्कारे च । वाच० ।

टसर-त्रसर-पुं० । त्रस-अरन् । तन्तुवायोपकरणभेदे, वाच० । " तगर-त्रसर-तूवरे ट " ८ । १ । २०५ । इति त्रस्य टः । प्रा० १ पाद ।

टा-टा-स्त्री० । घटिकायाम, भुवि, भूत्यायां, व्यावृत्तौ, निगरेऽपि च । एका० ।

टाल-टाल-न० । अबद्धास्थिनि फले, दश० ७ अ० । आचा० ।

टिंपुरी-टिम्पुरी-स्त्री० । तीर्थभेदे, ती० ।

तत्कल्प यथा-

" श्रीपार्श्वं चेह्रुणाभिख्य, ध्यात्वा श्रीवीरमप्यथ ।
कल्प श्रीटिम्पुरीतीर्थ-स्याभिधास्ये यथाश्रुतम् ॥ १ ॥
पारेतजनपदान्त-श्चर्मण्वत्यास्तटे महानद्या ।
नानाघनवनगहना, जयत्यसौ टिम्पुरीति पुरी " ॥ २ ॥

अत्रैव भारते वर्षे विमलयशा नाम भूपतिरभूत् । तस्य सुमङ्गलादेव्या सह विषयसुखमनुभवतः क्रमाज्जातमपत्ययुगलम् । तत्र पुत्रः पुष्पचूल , पुत्री पुष्पचूला । अनर्थसार्थमुत्पादयितुः पुष्पचूलस्य कृत लोके -" वङ्कचूल " इति नाम । महाजनोपालम्भेन राज्ञा रुषितेन निःसारितो नगराद्वङ्कचूल । गच्छँश्च पतितो भीषणायामटव्या सह निजपरिजनेन स्वस्रा च स्नेहवशया । तत्र च क्षुत्पिपासाऽऽर्दितो दृष्टो भिल्लैः, नीत स्वपल्लीं, स्थापितश्च पूर्वपल्लीपतिपदे । पर्यपादयच्चाऽन्यम,अलुण्टयद्ग्रामनगरसार्थाऽऽदीन् । अन्यदा सुस्थिताचार्या अर्बुदाचलादष्टापदयात्रायै प्रस्थितास्तामेव सिंहगुहा नाम पल्लीं सगच्छा प्रापुः । जातश्च वर्षाकाल । अजनि च पृथ्वी जीवाऽऽकुला । साधुभि सहाऽऽलोच्य मार्गयित्वा वङ्कचूलाद् वसतिं स्थितास्तत्रैव सूरयः । तेन च प्रथममेव व्यवस्था कृता । मम सीमाऽन्तर्धर्मकथा न कथनीया; यतो युष्मत्कथायामहिंसाऽऽदिको धर्म , न चैव मल्लोको निर्वहति । 'एवमस्तु' इति प्रतिपद्य तस्थुरुपाश्रये गुरवः । तेन चाऽऽहूय सर्वे प्रधानपुरुषा भणिता । अहं राजपुत्रः, मत्समीपे ब्राह्मणाऽऽदय आगमिष्यन्ति, ततो नवद्भिः जीववधो,मांसमद्याऽऽदिप्रसङ्गश्च पल्ल्या मध्ये न कर्त्तव्य । एवं कृते तु यतीनां न भक्तपानमजुगुप्सित कल्पत इति । तैस्तथैव कृत यावच्चतुरो मासान् । प्राप्तो विहारसमयः । अनुज्ञापितो वङ्कचूलः सूरिभि -" समणाण सउणाण " इत्यादिवाक्यै । ततस्तैः सह चालितो वङ्कचूलः स्वसीमा प्राप । तेन विज्ञप्त-वय परकीयसीमायां न प्रविशाम इति । भणितः सूरिभि -वयं सीमान्तरमुपेताः, तत्किमप्युपदिशामस्तुभ्यम् । तेनोक्तम्-यन्मयि निर्वहति तदुपदेशेनानुगृह्यतामय जन । ततः सूरिभिश्चत्वारो नियमा दत्ता । तद्यथा-अज्ञातफलानि न भोक्तव्यानि, सप्ताष्टानि पदान्यपसृत्य घातो देय , पट्टदेवी नाभिगन्तव्या, काकमांस च न भक्षणीयमिति । प्रतिपन्नास्तेन ते । गुरून् प्रणम्य स स्वगृहानागमत् । अन्यदा गत सार्थस्योपरि धाट्या, शकुनकरणाद्गत सार्थः । त्रुटितं च तस्य पथ्यदनम् । पीडिता क्षुधा राजन्या , दृष्टश्च तैः किंपाकतरु फलितः, गृहीतानि फलानि, न जानाति तन्नामधेयमिति तेन न भुक्तानि । इतरे सर्वेऽपि बुभुजिरे,मृताश्च ते किंफलैः । ततश्चिन्तित तेन-अहो ! नियमाना फल, तत एकाक्येवाऽऽगत पल्लीं,रजन्या प्रविष्ट स्वगृह,दृष्टा पुष्पचूला दीपाऽऽलोकेन पुरुषवेषा निजपत्न्या सह प्रसुप्ता । जातस्तस्य कोपस्तयोरुपरि । द्वावप्येतौ खड्गप्रहारेण छिनद्मीति यावदचिन्तयत्तावत् स्मृतो नियम । ततः सप्ताष्टपदान्यपक्रम्य घात ददन्, खाद्दृढमुपरि खड्गेन, व्याहृत स्वस्रा, जीवतु वङ्कचूल इति । साऽपि तद्वच श्रुत्वा लज्जितोऽनायपृच्छत्-किमेतदिति ? । साऽपि तद्वृत्तान्तमचीकथत् । कालक्रमेण तस्य तद्राज्य शासतस्तत्रैव पल्ल्या तस्यैवाऽऽचार्यस्य शिष्यौ धर्मऋषिधर्मदत्तनामानौ कदाचिद्वर्षारात्रमवास्थिपाताम । तत्र तयोरेक साधुस्त्रिमासक्षपण विदधे, द्वितीयश्चतुर्मासक्षपणम । वङ्कचूलस्तु तद्दत्तनियमानामायतिशुभफलतामवधार्य व्यजिज्ञपत् । भदन्तौ ! मदनुक-

स्पयाः कमपि पेशलं धर्मोपदेशं दत्त । ततस्ताभ्यां चैत्यविधापनदेशना क्लेशनाशिनी विदधे । तेनापि शराविकापर्वतसमीपवर्तिन्यां तस्यामेव पल्ल्यां चर्मण्वतीसरित्तीरे कारितमुच्चैस्तरं चारु चैत्यम् । स्थापितं श्रीमन्महावीरबिम्बम् । तीर्थतया च रूढं तत् । प्रयान्ति स्म चतुर्दिग्भ्यः सङ्घाः । कालान्तरे कश्चिन्नैगमः सभार्यः सर्वथा तद्यात्रायै प्रस्थितः, प्राप्तः क्रमेण रन्तिनदीम् । नावमारूढौ च दम्पती चैत्यशिखरं व्यलोकयताम् । ततः सरत्नसौवर्णिककच्चोलके कुङ्कुमचन्दनकर्पूरं प्रक्षिप्य जलं सेक्तुमारब्धवती नैगमगृहिणी । प्रमादान्निपतितं तदन्तर्जलतलम् । तां ततो भणितं वणिजा-" अहो ! इदं कच्चोलकं नैककोटिमूल्यरत्नखचितं राज्ञा ग्रहणकेऽर्पितमासीत्, ततो राज्ञः कथं छुटितव्यम् ?। इति चिरं विषद्य वङ्कचूलस्य पल्लीपतेर्विज्ञापितं तत् । यथा-अस्य राजकीयवस्तुनो विचितिः कार्यताम् । तेनापि धीवर आदिष्टस्तच्छोधयितुम् । प्राविशदन्तर्नदम् । विचिन्वता चान्तर्जलतलं दृष्टं तेन हिरण्मयरथस्थं जीवत्स्वामिश्रीपार्श्वनाथबिम्बं तावत्, पश्यति स्म स बिम्बस्य हृदये तत् कच्चोलकम् । धीवरेणोक्तम्-धन्याविमौ दम्पती, यदङ्गदत्तो वक्षसि घुसृणचन्द्रचन्दनविलेपनार्द्रे कच्चोलक स्थितम् । ततो गृहीत्वा तदर्पितं नैगमस्य । तेनापि दत्तं तस्मै बहु द्रव्यम् । उक्तं च बिम्बस्य रूपं नाविकेन । ततो वङ्कचूलेन श्रद्धालुना तमेव प्रवेश्य निष्कासितं तद् बिम्बम् । कनकरथस्तु तत्रैव मुक्तः । निवेदितं हि केनापि स्वप्ने प्राग्भाविना नृपते-यत्र क्षिप्ता सती पुष्पमाला गत्वा तिष्ठति तत्र बिम्बं शोध्यमिति । तदनुसारेण बिम्बमानीय समर्पितं राज्ञे वङ्कचूलाय । तेनापि स्थापितं श्रीवीरबिम्बस्य बहिर्मण्डपे यावत् कालं नव्यं चैत्यमस्मै कारयामीत्यभिसन्धिमता । कारिते चैत्यान्तरे यावत्तत्र स्थापनार्थमुत्थापयितुमारभन्ते राजकीयाः पुरुषास्तावद्बिम्बं नोत्तिष्ठति स्म । देवताधिष्ठानात्तत्रैव स्थितम् । अद्यापि तत्रैवाऽऽस्ते । धीवरेण पुनर्विज्ञप्तः पल्लीपतिः-यत्तत्र देव ! मया नद्यां प्रविष्टेन बिम्बान्तरमपि दृष्टं, तदपि बहिरानयनेनौचितीमञ्चति, पूजाऽऽरूढं हि भवति । ततः पल्लीश्वरेण पृष्टा स्वपरिषत्-भो ! जानीते कोऽप्यनयोर्बिम्बयोः सविधानकं ?, केन रथस्थौ नद्यन्तर्जलतले न्यस्ते ?। इत्याकर्ण्यैकेन पुराविदा स्थविरेण विज्ञप्तम्-देव ! एकोऽस्मिन्नगरे पूर्वं नृपतिरासीत् । स च परचक्रेण समुपेयुषा सार्द्धं योद्धुं सकलचमूसमूहसन्नहनेन गतः । तस्याग्रमहिषी च निजं सर्वस्वमेतच्च बिम्बद्वयं कनकरथस्थं विधाय जलदुर्गमिति कृत्वा चर्मण्वत्यां कोटिम्बके प्रक्षिप्य स्थिता । चिरं युद्ध्यमानस्तस्य कोऽपि खलः किल वार्त्तामानैषीत्-यदयं नृपतिस्तेन परचक्राधिपतिनृपतिना व्यापादित इति । तत् श्रुत्वा देवी तत्कोटिम्बकमाक्रम्यान्तर्जलतलं प्राक्षिपत् । एकं च तयोरानीतं पूज्यमानं चास्ति । द्वितीयमपि चेद् निःसरति तदोपक्रम्यतामिति । तदाकर्ण्य वङ्कचूलः परमार्हतचूलामणिस्तमेव धीवरं तदानयनाय नद्यां प्रावीविशत् । स च तद्बिम्बं कटीदघ्नवपुर्जलतलेऽवतिष्ठमानं बहिः स्थशेषाङ्गं चावलोक्य निष्कासनोपायाननेकानकार्षीत् । न च तन्निर्गतमिति दैवतप्रभावमाकलय्य समागत्य च विशामीशाय न्यवेदयत् तत्स्वरूपम् । अद्यापि तत्किल तथैवाऽऽस्ते । श्रूयतेऽद्यापि-केनापि धीवरस्थविरेण नौकायाः स्तम्भे जाते तत्कारणं विचिन्वता तस्य हिरण्मयरथस्य कीलिका लब्धा । तां कनकमयीं दृष्ट्वा लुब्धेन तेन व्यचिन्ति-यदिमं रथं क्रमात्सर्वं गृहीत्वा श्रीमान् भविष्यामीति । ततश्च रात्रौ निद्रां न लेभे । उक्तश्च केनाप्यदृष्टपुरुषेण-यदिमां तत्रैव विमुच्य स्थेयाः, नो चेत्सद्य एव त्वां हनिष्यामीति । तेन भयाऽऽर्तेन तत्रैव मुक्ता युगकीलिका इत्यादि । किं न सम्भाव्यते दैवताधिष्ठितेषु पदार्थेषु ?। श्रूयते च सम्प्रति काले कश्चिन्म्लेच्छः पाषाणपाणिः श्रीपार्श्वनाथप्रतिमां भङ्क्तुमुपस्थितः स्तम्भितबाहुर्जातः, महति पूजाविधौ कृते सज्जतामापन्न इति । श्रीवीरबिम्बं महत्, तदपेक्षया लघीयस्तरं श्रीपार्श्वनाथबिम्बमिति महावीरस्याग्रकरूपोऽयं देव इति भेदाश्चेल्लण इत्याख्या प्राचीकशत । श्रीमच्चेल्लणदेवस्य महीयस्तममाहात्म्यनिधेः पुरः ताभ्यां महर्षिभ्यां सुवर्णमुकुटमहाऽऽम्नायः समाधितः प्रकाशितश्च भव्येभ्यः । सा च सिंहगुहापल्ली कालक्रमात् ' टिम्पुरी ' इत्याख्यया प्रसिद्धा नगरी सञ्जाता । अद्यापि स भगवान् श्रीमहावीरः सचेल्लणपार्श्वनाथः सकलसङ्घेन तस्यामेव पुर्यां यात्रोत्सवैराराध्यत इति । अन्यदा वङ्कचूल उज्जयिन्यां खात्रपातनाय चौर्यवृत्त्या कस्यापि श्रेष्ठिनः सद्मनि गतः, कोलाहलं श्रुत्वा ततश्चलितः । ततो देवदत्ताया गणिकाया गणिकामाणिक्यभूताया गृहं प्राविशत् । दृष्टा सा कुष्ठिना सह प्रसुप्ता । ततो निःसृत्य गतः पुरः श्रेष्ठिनो वेश्म । तत्रैकस्त्रीशोपको लेख्यके त्रुट्यतीति परुषवाग्भिर्निर्भर्त्स्य निःसारितो गेहात् पुत्रः श्रेष्ठिना । विरराम च यामिनी । यावद्राजकुलं यामीत्यचिन्तयत् तावदुज्जगाम धामनिधिः । पल्लीशश्च निःसृत्य नगरात्कोधां गृहीत्वा तरुतले दिनं नीत्वा पुना रात्रावागाद्राजकुलम् । भाण्डागाराद् बहिर्गोधापुच्छे विलग्य प्राविशत्कोशम् । दृष्टो राजाग्रमहिष्या । रुष्टया पृष्टश्च-कस्त्वमिति ?। तेनोचे-चौर इति । तयोक्तम्-मा भैषीः, मया सह सङ्गमं कुरु । सोऽवादीत्-का त्वम् ?। साऽप्यूचे-अग्रमहिष्यहमिति । चौरोऽवादीद्-यद्येवं तर्हि ममाम्बा भवसि, अतो यामि ?। इति चौरेण निश्चिते, तया स्वाङ्गं नखैर्विदार्य पूत्कृतिपूर्वमाहूता रक्षकाः । गृहीतस्तैः । राज्ञा चानुनयार्थमागतेन तद् दृष्टम् । राज्ञोक्तास्ते-पौरुष्यामेनं गाढं कुर्वीध्वमिति तैः ठक्कितः । प्रातः पृष्टः क्षितिभृता । तेनाप्युक्तम्-देव ! चौर्यायाहं प्रविष्टः पश्चाद्देव भाण्डागारे देव्या दृष्टोऽस्मि । यावदन्यन्न कथयति तावत्तुष्टो विदितवेद्यो नरेन्द्रः, स्वीकृतः पुत्रतया । स्थापितश्च सामन्तपदे । देवी विडम्ब्यमाना रक्षिता वङ्कचूलेन । अहो ! नियमानां शुभफलमित्यनवरतमयमभ्यासीत् । प्रेषितश्चान्यदा राज्ञा कामरूपनृपसाधनार्थम् । घातैर्जर्जरितो विजित्य तमगात् स्वस्थानम् । आहूताश्च राज्ञा वैद्याः, यावद् गूढोऽपि घातव्रणो विकशति । तैरुक्तम्-देव ! काकमांसेन शोभनो भवत्ययम् । तस्य च जिनदासश्रावकेण सार्द्धं प्रागेव मैत्र्यमासीत् । ततस्तदानयनाय प्रेषितः पुरुषः पुरुषाधिपतिना, येन तद्वाक्यात्काकमांसं भक्षयतीति । तदाहूतश्च जिनदासोऽवन्तीमागच्छन्नुभे देव्यौ रुदत्यावद्राक्षीत् । तेन पृष्टे-किं रुदिथ ?। ताभ्यामुक्तम्-अस्माकं भर्ता सौधर्माच्च्युतः, अतो राजपुत्रं वङ्कचूलं प्रार्थयावहे, त्वयि गते स मांसं भक्षयिता, तेन गन्ता दुर्गतिम्, तेन रुदिव । तेनोक्तम्-तथा करिष्ये, यथा तन्न भक्षयिता । गतश्च तत्र राजोपरोधाद्वङ्कचूलमवोचत्-गृहाण बलिभुक्पिशितम्, यद् भुक्तः सन् प्रायश्चित्तं चरेः । वङ्कचूलोऽवोचत्-जानासि त्वं यदाचर्य्याप्येकान्त प्रायश्चित्तं ग्राह्यं, ततः प्रागेव तदनाचरणं श्रेय इति, "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् ।" इति वाक्यात् । निषिद्धो नृपतिः । विशेषप्रतिपन्नव्रतनिवहश्चाच्युतकल्पमगमत् । वलमानेन जिनदासेन ते देव्यौ तथैव रुदत्यौ दृष्टा प्रो-

कम्-किमिति रुदिथः ? ; न तावत्स मांसं प्राहितः । ताभ्याम-भिदधे-स अधिकाराधनवशाद्च्युत प्राप्तः ।

" चेल्लणापार्श्वनाथस्य, कल्पमेतं यथाश्रुतम् ।
किञ्चिद्विरचयांचक्रुः, श्रीजिनप्रभसूरयः " ॥ १ ॥

इति श्रीचेल्लणापार्श्वनाथस्य कल्पः ॥

टिम्पुरीस्तवस्त्वयम्-

" वस्तुभैर्विविधैर्नगैरुपलमच्छायैर्गिरिभ्राजिता,
श्रीवीरप्रभुपार्श्वसुवनयुगाऽऽदीशाऽऽदिबिम्बैर्युता ।
पल्ली भूतलविश्रुता नियमिन श्रीवङ्कचूलस्य या,
सा भूत्वा चिरमद्भुतां कलयतु प्रौढिं पुरी टिम्पुरी ॥१॥
व्योमचुम्बिशिखर मनोहर, रन्तिदेवतटिनीतटस्थितम् ।
अत्र चैत्यमवलोक्य यात्रिकाः, शैत्यमाशु ददति स्वचक्षुषोः ॥२॥
मूलनायक इहान्त्यजिनेन्द्र-श्चारुलेपघटितोद्धरमूर्त्तिः ।
दक्षिणे जयति चेल्लणपार्श्वो, नात्युदक्तदपर फणिकेतुः ॥३॥
एकत आदिजिनोऽत्र जिनोऽन्यो-ऽन्यत्र पुनर्मुनिसुव्रतनाथः ।
एवमनेकजिनेश्वरमूर्त्ति-स्फूर्तिमदत्र चकास्ति जिनौकः ॥४॥
अत्राम्बिकाद्वारसमीपवर्त्तिनौ,
श्रीक्षेत्रपालौ भुजपट्टकभास्वरौ ।
सर्वज्ञपादाम्बुजसेवनालिनौ,
सङ्घस्य विघ्नौघमपोहत क्षणात् ॥ ५ ॥
यात्रोत्सवानिह सिते सहसो दशम्या-
मालोक्य लोकसमवायविधीयमानान् ।
सभावयन्ति भविका कलिकालगेहे,
प्राघूर्णकं कृतयुग ध्रुवमभ्युपेतम् ॥ ६ ॥
अमरमहितमेतत्तीर्थमाराध्य भक्त्या,
फलितसकलकामा, सर्वतीर्जयन्ति ।
बहलपरिमलाऽऽढ्य चन्दन प्राप्य यद्वा,
क इह सहतु तापव्यापमालिङ्गिताङ्गम् ? ॥ ७ ॥
शशधरदृग्धीकाक्षोणीमिते १२६१ शकवत्सरे,
प्रहमणिमहे सङ्घान्वीना उपेत्य पुरीमिमाम् ।
मुदितमनसस्तीर्थस्यास्य प्रभावमहोदधि-
रिति विरचयांचक्रुः स्तोत्र जिनप्रभसूरयः " ॥ ८ ॥
टिम्पुरीस्तोत्रम् । ती० ४३ कल्प ।

टिंवरु-पु० । देशी-स्थविरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

टिक्क-न० । देशी-तिलके, दे० ना० ४ वर्ग ।

टिग्घर-पु० । देशी-स्थविरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

टिट्टिभ-टिट्टिभ-पु० । 'टिट्टि' इत्यव्यक्त भाषते । (टिट्टिर) पक्षिभेदे, स्वार्थे कन्, अत्रैवार्थे, वाच० । स्त्रियां ङीप् । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

टिट्टियावण-टिट्टियापन-न० । शब्दायमानकरणे, " मयूरी अ-डय अभिक्खणं अभिक्खणं नो उव्वट्टेइ० जाव नो टिट्टिया-वेइ ।" ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । स्वकीयकर्णसमीपे धृत्वा टिट्टियावे-ति-शब्दायमानं करोति । ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । वृ० ।

टिप्पी-स्त्री० । देशी-तिलके, दे० ना० ४ वर्ग ।

टिरिटिल्ल-भ्रम-धा० । चलने, भ्वा० पर०-अक०-सेट् । वाच० । "भ्रमेष्टिरिटिल्ल-दुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-भमाड-तलअट-झट झंप-भुम-गुम फुम फुस-ढुम-ढुस-परी परा " ८।४। १६१॥ इति टिरिटिल्लाऽऽदेशः । 'टिरिटिल्लइ', 'भमइ' । प्रा० ४ पाद ।

टिविडिक्क-मण्ड-धा० । भूषायाम्, चुरा०-उभ०-पक्षे-भ्वा०-पर०-सक०-सेट्-इदित् । वाच० । " मण्डेश्चिञ्च-चिञ्चअ-चिञ्चिल्ल-रीड-टिविडिक्का. " ८।४।११५। इति टिविडिक्काऽऽदेशः । 'टिविडिक्कइ' । प्रा० ४ पाद ।

टुंट-पु० । देशी-छिन्नकरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

टुवर-तुवर-पु० । तरति छिनत्ति रोगानसौ । तृ-ष्वरच् । नि०-गुणाभावः । वाच० । 'तगर-त्रसर-तूवरे ट ' ॥ ८ । १ ।२०५॥ इति तस्य टः । प्रा० १ पाद । धान्यभेदे, कषायरसे च, तद्वति, त्रि० । आढक्याम्, सौराष्ट्रमृत्तिकायां च । स्त्री० । गिरादि ङी-ष् । स्वार्थे कन् । तुवरिकाऽप्यत्रैव । वाच० ।

टेंटा-स्त्री० । देशी-द्यूतस्थाने, दे० ना० ४ वर्ग ।

टेक्कर-न० । देशी-स्थले, दे० ना० ४ वर्ग ।

टोक्कण-न० । देशी-मद्यपरिणामभाजने, दे० ना० ४ वर्ग ।

टोक्कल-टोक्कल-पु० । पक्वधान्यनिष्पन्ने व्यञ्जनभेदे, पक्वधान्य-निष्पन्नान्यपि पूलिकास्थूलरोटकमण्डकघर्घरकघूघरीटोक्कलपू-लीचारकणिकाऽऽदीनि पृथक् पृथक् नामाऽऽस्वादवत्त्वेन पृथक् पृथक् रूपाणि । ध० २ अधि० ।

टोप्परिया-टोप्परिका-स्त्री० । " दवरी " इति ख्याते जलाऽऽ-दिनिक्षेपणार्थे वस्तुनि, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । ग० । अ-घन्योपकरणेषु टोप्परिकाऽपि गृह्यते ।

टोलंब-देशी-मधूके, दे० ना० ४ वर्ग ।

टोल-पु० । देशी-शलभे, दे० ना० ४ वर्ग ।

टोलगइ-टोलगति-पु० । पञ्चमे वन्दनदोषे, " टोलो व्व उ कि-इतो, ओसक्कभिसक्कण कुहओ।" बृ० ३ उ० । प्रव० । पञ्चमं दोषमाह- अवष्वष्कणं पश्चाद्गमनम्, अभिष्वष्कणमभिमुखग-मनं, तेऽवष्वष्कणाभिष्वष्कणे टोलवत्ति द्ववत्प्लवमान क-रोति यत्र तट्टोलगतिवन्दनकमित्यर्थः । प्रव० २ द्वार । आव० । वृ० । उष्ट्राऽऽदिसमप्रचारे च । भ० ७ श० ६ उ० । ज० ।

टोलागइ-टोलाकृति-त्रि० । प्रशस्ताऽऽकारे, भ० ७ श० ६ उ० ।

इति श्रीसौधर्मवृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-भट्टारक-
जैनश्वेताम्बराऽऽचार्यश्री १००८ श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-
विरचिते " अभिधानराजेन्द्रे " टकाराऽऽदिशब्द-
सङ्कलनं समाप्तम् ।

ठकार

ठ-ठ-'ठ' इत्यय वर्णो मूर्द्धस्थानीय. स्पर्शसंज्ञक । वाच० ।

ठ-पु० । महेशमहामन्त्रे, मन्त्रिणि, नृपे,वाऊवे, आसने, शयने, आकाशे, जलाऽऽशये,घटे, चक्रे, मुद्रायाम,कुण्डले,भगवत्कचे, बृहद्ध्वाने, साहसे, स्तम्भे, चन्द्रमण्डले च । न० । शवे,शून्ये, मनोज्ञे, कठिने च । त्रि० । एका० ।

ठइअ-पु० । देशी-उत्क्षिप्ते, अवकाशे, दे० ना० ४ वर्ग ।

ठकार-ठकार-पु० । शङ्करे, विषये, दरे, भासे, शङ्खनिनादे, क्रये, रौद्ररसे, ध्वनौ च । एका० ।

ठक्का-ढक्का-स्त्री० । "चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति ढस्य ठ । प्रा० ४ पाद । स्वनामख्याते वाद्यभेदे, वाच० ।

ठक्कुर-ठक्कुर-पु० । ग्रामाऽऽदिप्रभौ,विशे० । आ० म० ।

ठट्ठारत्त-ठट्ठारत्व-न० । शुल्वनागवङ्कास्यपित्तलाऽऽदीनां करणघटनाऽऽदिना जीविकायाम्, ध० २ अधि० ।

ठड्ढ-स्तब्ध-त्रि० । "स्तब्धे ठ-ढौ" ॥ ८ । २ । ३९ ॥ इति स्तब्धे सयुक्तयोर्यथाक्रम ठढौ भवत । जमे, प्रा० २ पाद ।

ठप्प-स्थाप्य-न० । असंव्यवहार्ये, अनु० । भ० ।

ठरिअ-न० । देशी-गौरविते, ऊर्ध्वस्थिते, दे० ना० ४ वर्ग ।

ठल्ल-पु० । देशी-निर्धने, दे० ना० ४ वर्ग ।

ठवणपुरिस-स्थापनापुरुष-पु० । पुरुषप्रतिमाऽऽदौ, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

ठवणप्पमाण-स्थापनाप्रमाण-न० । आकारविशेषवद्वस्तुप्रतिपादके नामनि, अनु० ।

से किं तं ठवणप्पमाणे ?। ठवणप्पमाणे सत्तविहे पण्णत्ते । तं जहा-

"णक्खत्तादेवय-कुले, पासंम-गणे अ जीवियाहेऊ ।
आभिप्पाइयनामे, ठवणानामं तु सत्तविहं" ॥ १ ॥

अथ किं तत् स्थापनाप्रमाणम् ?। स्थापनाप्रमाण सप्तविधमित्यादि । "णक्खत्तगाहा ।" इयमत्र हृदयम्-नक्षत्रदेवताकुलपाषण्डगणाऽऽदीनि वस्तून्याश्रित्य यस्य किञ्चिन्नामस्थापन क्रियते,सेह स्थापना गृह्यते । न पुनर्यत्तु तदर्थवियुक्त तदभिप्रायेण, यच्च तत्करणीत्यादिना पूर्वं परिभाषितस्वरूपा सैव प्रमाण तेन हेतुभूतेन नाम सप्तविध भवति । अनु० ।

ठवणसव्व-स्थापनासर्व-न० । स्थापनया सर्वमेतदिति कल्पनया अक्षाऽऽदिद्रव्य सर्वं, स्थापनैव वा अक्षाऽऽदिद्रव्यरूपा सर्वं स्थापनासर्वम् । स्था० १० ठा० ।

ठवणा-स्थापना-स्त्री० । स्थाप्यतेऽमुकोऽयमित्यभिप्रायेण क्रियते निर्वर्त्यते इति स्थापना । काष्ठकर्माऽऽदिगताऽऽवश्यकवत सत्त्वाऽऽदिरूपे, अनु० । स्था० । लेप्याऽऽदिकर्मणि,स्था०२ ठा०४ उ० । सर्वस्य वस्तुनो निजे निजे आकारे, विशे० । आकारविशेषे, आ०म०१ अ०१ खण्ड । लेप्याऽऽदिकर्म- अर्हदादिविकल्पेन स्थाप्यते । स्था० १० ठा० । सद्भावासद्भावरूपप्रतिकृतौ, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । पत्राऽऽदिलिखिते आकारे, नयो० । आ० म० । स्था० । तच्चित्र स्थापनेति-तस्य घटस्य चित्र पत्राऽऽदिलिखित आकार. स्थापना ।

तल्लक्षण चेद स्मरन्ति-

"यत्तु तदर्थवियुक्त, तदभिप्रायेण यच्च तत्करणि ।
लेप्याऽऽदिकर्म तत् स्था-पनेति क्रियतेऽल्पकाल च" ॥१॥

एतदर्थोऽयम् यद्वस्तु,तदर्थवियुक्त भावेन्द्रार्थरहित,तदभिप्रायेण तद्बुद्ध्या, करणिराकृति', यच्चेन्द्राऽऽद्याकृतिलेप्याऽऽदिकर्म क्रियते, चशब्दादाकृतिशून्य चाक्षनिक्षेपाऽऽदि, तत् स्थापनेति, तच्चाल्पकालमित्वरमित्यर्थ. । चशब्दाद् यावद्द्रव्यभावि च मृद्द्रव्यमिति, घटकारणभूता मृदेव द्रव्यघट इत्यर्थ । नयो० ।

ननु साद्दश्यसम्बन्धस्य स्थापना निक्षेपनि यामकत्वेऽसङ्गा वस्थापनोच्छेदप्रसङ्गोऽभिप्रायसम्बन्धस्यापि तन्नियामकत्व च नाम्न्यपि तस्य सुवचनत्वादति-
प्रसङ्गस्तद्वस्थस्त्वेत्याशङ्कायामाह-

अतिप्रसङ्गो नैव चा-ऽभिप्रायाऽऽकारयोगतः ।
यच्छ्रुतोक्तमनुल्लङ्घ्य, स्थापना नाम चान्यतः ॥ ९९ ॥

(अतिप्रसङ्ग इति) एवमुक्तासद्दकरप्रकारेण च, अतिप्रसङ्गो न भवति, यत् श्रुतोक्त सिद्धान्तवचनमनुलङ्घ्य,अक्षाऽऽवेवाभिप्रायसम्बन्ध, प्रतिमादावेव चाऽऽकारसम्बन्ध पुरस्कृत्य, स्थापनाऽऽख्याने, अन्यतोऽन्यस्थल च, नाम निक्षेप इति क्वातिप्रसङ्ग ?। तथा च-सूत्रबोधितवलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताकतज्ज्ञगुणस्मृतिजनकसंस्कारोद्बोधकाभिप्रायाऽऽकारान्यतरसम्बन्धवत्त्व तत्स्थापनात्वमिति फलित भवति ॥ ९९ ॥

उक्तविशेषप्रयोजनमेवोपदर्शयितुमाह-

अत एव न धीरर्ह-त्प्रतिमायामिवार्हतः ।
भावसाधोः स्थापनायाः, द्रव्यलिङ्गिनि कीर्तिता ॥ १०० ॥

"अत एव" इत्यादि । अत एवोक्तविशेषणनिवेशधौव्यादेव, अर्हत्प्रतिमायामर्हत इव, द्रव्यलिङ्गिनि प्रकटप्रतिषेविणि पार्श्वस्थाऽऽदौ, स्थापनाया., भावसाधो , धी , सिद्धान्ते, न कीर्तिता ॥ १०० ॥

कुत. ?, इत्याह-

सा हि स्थाप्यस्मृतिद्वारा, भावाऽऽदरविधायिनी ।
न चोत्कटतरे दोषे, स्थाप्यस्थापकभावना ॥ १०१ ॥

सा हि स्थापनाधीर्हि, स्थाप्यस्मृतिद्वारा "एकसम्बन्धिज्ञाने अपरसम्बन्धिस्मृति "इति नियमविधया स्थाप्यस्मृतिव्यापारेण, भावाऽऽदरस्य स्थाप्यगतगुणप्रणिधानोद्रेकस्य, तज्जनितानिर्जराऽतिशयस्य वा, विधायिनी । न च स्थापनाविषये उत्कटतरे दोषे, प्रतिसन्धीयमाने इति शेष. । स्थाप्यस्थापकभावना, फल-

वतीति शेष. । तथा च द्रव्यलिङ्गिदर्शनादपि न भावसाधुगुणाः । ननु स्मृतिरेव तन्नियामकप्राभिकसादृश्यस्य रजोहरणगोच्छकपतद्ग्रहाऽऽदिरूपस्य तस्याबाधितत्वात्, किं तूत्कटदोषवत्त्वेन प्रतिसन्धीयमानस्य सा दृश्या । वन्दनकनिर्युक्तौ-

" तित्थयरगुणा पडिमा-सु णऽत्थि णिस्ससय विआणतो ।
तित्थयरु त्ति णमतो, सो पावइ णिज्जर विउल ॥५८॥
लिंग जिणपण्णत्त, एव णमतस्स णिज्जरा विउला ।
जइ वि गुणविप्पहीण, वदइ अज्झप्पसोहीए ॥ ५९ ॥ "

(अनयोरर्थ 'किइकम्म' शब्दे तृतीयभागे ५१६ पृष्ठे द्रष्टव्य.) इति गाथाभ्यां सादृश्यसम्बन्धमात्रेणार्हत्प्रतिमाया अर्हतो द्रव्यलिङ्गिनो भावसाधोस्तटस्थेन स्मृतेरुत्थापकतयाऽध्यात्मशुद्धिप्रभवनिर्जराऽङ्गत्वेन वन्दनीयत्व यदाक्षिप्त पूर्वपक्षिणा । तत्र । आचार्येणात्रोत्कटदोषवत्त्वेनोपस्थितसमानसविन्संवेद्यताल्लभ्यगुणवत्सादृश्यधीस्तत्कृतदोषानुमतिरूपतया गुणवदपकर्षव्यञ्जकत्वेन तन्निदानरूपत्वेन बलवदनिष्टानुबन्धावहा, अन्यत्र चोक्तकारणाभावान्न तथात्वमिति वैधर्म्यमुद्भावयित्वा समाधान कृतम् ।

" सता तित्थयरगुणा, तित्थयरे तेसिम तु अज्झप्प ।
ण य सावज्जा किरिया, इयरेसु धुवा समणुमन्ना" ॥६०॥ इति ।

अस्या अर्थ —सन्तो विद्यमाना. शोभना वा तीर्थंकरत्वेन प्रतीयमानस्य गुणा . तीर्थकरेऽर्हति, इय च प्रतिमा,तेषां नमस्कुर्वताम्,इदमध्यात्म-समापत्त्यादिफलकानुभूयमानतीर्थकरगुणस्मृताऽऽलम्बनम् । यद्वा-तेषां गुणानाम्, इदमध्यात्मम्-अध्यारोपविषय , तटस्थेन स्मृतौ योगजीवातुसमापत्त्यासिद्धे । न च तासु प्रतिमासु सावद्या सपापा, क्रिया, इतरेषु पार्श्वस्थाऽऽदिषु, ध्रुवा, सेति योज्यते । तत. समनुज्ञा सावद्यक्रियायुक्तपार्श्वस्थाऽऽदिप्रणमनाद्, ध्रुवेति योग· । एव च सति प्रतिमायामुभयक्रियाभावप्रसञ्जित उभयफलाभावस्तदालम्बनकस्थाप्यगुणसकल्परूपमन शुद्धेर्बलवत्तयैव निराक्रियमाण. पार्श्वस्थाऽऽदिवन्दनेऽपि मन शुद्धेर्बलवत्तयैव दोषाभाव गुणोदय च साधयितु कथ न प्रगल्भते ?,इत्याशङ्काशेष उभयविकल एव आकारमात्रतुल्ये कतिपयगुणान्विते चोत्कृष्टगुणाध्यारोपशुभसकल्परूपतामास्कन्दन्निर्जराहेतु । अन्यत्र त्वसावशुभसकल्परूपत्वेन निरवद्यकर्माभाववद्विशेष्यकत्वस्य गौरवेणानन्तत्वात् सावद्यकर्मवद्विशेष्यकतयैव विपर्यासलक्षणसमन्वयेन वाऽनन्तक्लेशाऽऽवह इत्यभिप्रायेणाऽऽचार्येणात्रैव निराकृत. ।

तथाहि-

" जइ सावज्जा किरिया, णत्थि य पडिमासु एवमियरा वि ।
तयभावे णत्थि फल, अह होइ अहेउअ होइ ॥ ६१ ॥
काम उभयाभावो, तह वि फल अत्थि मणविसुद्धीए ।
तीइ पुण मणविसुद्धी-इ कारण हुति पडिमाओ ॥ ६२ ॥
जइ वि अ पडिमा उ जहा, मुणिगुणसकप्पकारण लिंग ।
उभयमवि अत्थि लिंगे, ण य पडिमासूभय अत्थि ॥ ६३ ॥
णियमा जिणेसु उ गुणा, पडिमाओ दिस्स ज मणे कुणइ ।
अगुणे उ वियाणतो क नमउ मणे गुण काउ ? ॥ ६४ ॥
जह वेलबगलिंग, जाणतस्स णमओ धुव दोसो ।
णिद्धधसमिअ णाऊ-ण वदमाणे धुवो दोसो" । ६५ । इति । १०१ ।

(आसा गाथानामर्थ 'किइकम्म' शब्दे तृतीयभागे ५१९ पृष्ठे गत)

नन्वेव स्थापनास्थले सावद्यकर्माभाववद्विशेष्यगुणसंकल्पत्वे भावस्य निर्जराहेतुत्वमित्यागतम् । तन्नायुक्तम् । लाघवेन निरवद्यकर्मवद्विशेष्यकत्वेनैव तद्धेतुत्वौचित्याल्लक्षणगौरवापेक्षया कारणभावगौरवस्य महादोषत्वात् । किञ्च-स्थापनास्थलीयभावे जात्युपाध्यन्यतरकृतातिरिक्तविशेषाभावे यथोक्तरूपेणैव हेतुत्वे मायाच्छादितदोषे भालयविहाराऽऽदिना शुद्धताप्रतिसधानदशायां वन्द्यमाने साधौ कथ निर्जरोत्पत्ति संगच्छते ? । न च तत्र निरवद्यकर्मयुक्ततयाऽगृहीतासंसर्गकगुणसकल्पेन पृथगेव निर्जराहेतुत्वाददोष । तथा सति तुल्यन्यायतया सावद्यकर्मयुक्तत्वेनागृहीतासंसर्गकगुणसकल्पत्वेन बन्धहेतुताया एव युक्तत्वात्, प्रतिमावन्दनादुभयाभावाऽऽपत्ते. । न च सत्त्वशुद्धिविधया कारणतायामयमेव प्रकार., अवञ्चकयोगविधया कारणताया तु वास्तवविषयताया एव निवेशान्न दोष इति वाच्यम् । सत्त्वशुद्धिविधयैव प्रतिमावन्दनान्निर्जरोत्पत्ते , " तह वि फल अत्थि मणविसुद्धीए। " इत्यनेन प्रतिपादनात् । किं च--गुणदोषोभयवैकल्यमात्रेण प्रतिमायामर्हद्व्यवसायस्य निर्जराऽङ्गत्वे प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितयोरविशेषाऽऽपत्ते. । न च-

" सयकारियाइ एसा, नायइ ठवणाइ बहुफला केइ ।
गुरुकारियाइ अन्ने, विसिट्ठविहिकारियाए य ॥ १ ॥
वद्धिल्ले वि य एसा, मणवयणाए पसत्थगा चेव ।
आयासगोमयाई-हिं पत्थमुच्छेवणाइ हियं ॥ २ ॥
ववयारगा इह सो-वओगमाहारणाण फला ।
किं च विसेसेण तओ, सव्वे वि य ते विभइअव्वा " ॥३॥

इतिपूजाविधिविंशिकावचनपर्यालोचनायामिष्टपदेति वाच्यम् । तत्र प्रतिष्ठितत्वव्याप्यधर्मपुरस्कारेणेव मानसप्रतिष्ठापुरस्कारेण प्रवृत्तानां पूजाविधिकल्पानां विधिप्रतिष्ठितपूजाजन्यताऽवच्छेदकजातिव्याप्यजात्यवच्छेदेन, मानसाभिप्रायशोधिताविधिप्रतिष्ठितपूजाजन्यतावच्छेदकजात्यवच्छेदेन च फलभेदाद्धेतुभेदो युक्त इत्यभिप्रायेण प्रवृत्तावपि प्रतिष्ठासामान्यस्याकिञ्चित्करत्वे तात्पर्याभावात्, अन्यथा प्रतिष्ठाविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

तत. प्रतिष्ठाऽऽदिविधिजनित प्रतिमागतोऽतिशयविशेष कश्चित्स्थापनानिक्षेपो निहन्यतामित्याशङ्कायाम-" सता तित्थयरगुणा " । (आव० ६० गाथा) इत्यादिगाथामेव व्याख्यानान्तरसूचित पक्षान्तर परिष्कुर्वन्नाह-

यद्वा प्रतिष्ठावि-धिना, स्वाऽऽत्मन्येव पराऽऽत्मनः ।
स्थापना स्यात्समापत्ति-र्बिम्बे सा चोपचारतः ॥ १०२ ॥

यद्वा पक्षान्तरे, प्रतिष्ठाविधिना प्रतिष्ठाकारयितु स्वाऽऽत्मन्येव,पराऽऽत्मन. परमगुणवत त्रिभुवनभर्तु. ध्यानतारतम्ये च तात्स्थ्यतदञ्जनत्वस्वरूपा समापत्तिरेव स्थापना स्यात् , निश्चयत सर्वक्रियाणा तत्फलाना च कर्तृस्थसम्बन्धित्वेन व्यवह्रियमाणानामपि स्वात्मसम्बन्धित्वस्यैव भाष्याऽऽदौ व्यवस्थापनात् । पराऽऽत्मन इत्युपलक्षणम् । स्वभावस्याऽऽर्हत्यादिप्रतिष्ठया कारयितरि स्वभाव एव स्थाप्यते । परम्परया तु तन्मूलप्रमाणानुपङ्क्त्या विषयवचनाऽऽद्यप्रवर्तकत्वसम्बन्धस्मारित । तत्र च खलु प्रतिष्ठा निजभावस्य एव,देवतोद्देशात् स्वात्मन्येव,पर यत् स्थापनामिह वचननीत्या ऊचे-" बीजमिद परम यत्, परमाया एव

समरसाऽऽपत्तेः । स्थाप्येन तदपि मुख्या, इन्तैवेति विज्ञेया ॥ १ ॥" इति । नन्वेवं निश्चयतः स्थापनाया आत्मगतायाः प्राप्तौ प्रतिमाया तद्व्यवहारः कथम् ?। अत आह-बिम्बे च, सा स्थापना उपचारेण, स्वाऽऽत्मनि स्थापितस्य भावस्याऽऽलम्बनतया समापत्तिविषयीक्रियमाणस्य परमाऽऽत्मनः साकारयोगमुद्राऽनुकारितया वा लक्षणया एव इत्यर्थः ॥ १०२ ॥

नन्वेवं यजमानगतादृष्टमेव प्रतिष्ठाफलं भवद्भिरुपपादितम्, तावता वन्दकपूजकाऽऽदीनां का सिद्धिः ?। सा हि तदा स्यात् यदि प्रतिष्ठाऽऽहितश्चाण्डालाऽऽदिस्पर्शनाश्यः पूजाफलप्रयोजकः कश्चिदतिशयोऽभ्युपगतः स्यात्, प्रतिष्ठितप्रतिमावन्दनपूजनत्वाऽऽदिना फलविशेषहेतुत्वस्य इत्थमेव वक्तुं शक्यत्वात् । न च यजमानगतादृष्टं तदाहितं, तथा चाण्डालाऽऽदिस्पर्शेन व्यधिकरणेन तन्नाशयोगाद् यजमानस्य तददृष्टक्षये पूज्यत्वानापत्ते । एतेन सम्बन्धविशेषेण यजमानगतादृष्टस्य प्रतिमागतत्वसमर्थनमपि प्रत्याख्यातम् ।

यत्तु-प्रतिष्ठाविधेर्देवतासन्निधानस्य स्वाभेदस्वीयत्वाऽऽदिज्ञानदाहितसंस्काररूपस्य उत्पादात् फलोत्पत्तिः, चाण्डालाऽऽदिस्पर्शे च तदभावात् फलाभाव इति कस्यचिद् मतम् । तत्तु मुक्तिप्रतिष्ठितदेवताया अभिमानाभावात्, प्रतिष्ठया तदुपकरणस्य अशक्यक्रियत्वात् चाऽऽचार्यैरेव दूषितम् । तदुक्तम्-" मुक्त्यादौ तत्त्वेन,प्रतिष्ठिताया न देवतायास्तु । स्थाप्ये न च मुख्ये तत्, तदधिष्ठानाऽऽद्यभावेन" ।१। इत्यादेर्न च तस्या उपकारः कश्चिदत्र मुख्य इति, तदतत्त्वकल्पनैषा बालक्रीडासमा भवतीति ।

यदपि-" प्रतिष्ठितं पूजयेत् " इति विधिः प्रतिष्ठाकालीनयावदस्पृश्यस्पर्शाभावविशिष्टं प्रतिष्ठाध्वंसं, तद्विशिष्टप्रतिमापूजनं वा फलप्रदं, क्तप्रत्ययाद् अतीतत्वलाभात्" इति गङ्गेशोपाध्यायैरुक्तम् । तदपि तुच्छम् । प्रतिष्ठारूपायां पूजायामेवाऽऽगते, तद्ध्वंसस्यैव फलजनकव्यापारस्याऽऽश्रयणे चादृष्टमात्रस्यैव दत्तजलाञ्जलित्वप्रसङ्गात् । कथं चैवं प्रतिष्ठितेऽप्यप्रतिष्ठितत्वज्ञाने न पूजाफलम् ?, प्रतिष्ठाध्वंसवत्त्वेन प्रमीयमाणत्वस्य पूजाफलजनकताऽवच्छेदककोटौ निवेशेन प्रतिष्ठावत्त्वेन प्रमीयमाणत्वस्यैव निवेशौचित्यम्, इति नकिञ्चिदेतत् ।

तस्माद् वन्दनपूजनाऽऽदिफलप्रयोजकत्वं कथं प्रतिष्ठाया ?, इति जिज्ञासायामाह-

प्रतिष्ठितप्रत्यभिज्ञा-समापन्नपराऽऽत्मनः ।
आहार्याऽऽरोपतः सा च, द्रष्टॄणामपि धर्मकृत् ॥ १०३ ॥

(प्रतिष्ठितेति) सा स्थापना, प्रतिष्ठितप्रत्यभिज्ञया, समापन्नो यः परमाऽऽत्मा भगवान्, तस्य, आहार्याऽऽरोपतः, द्रष्टॄणाम्, उपलक्षणाद् वन्दकानां पूजकानां च, धर्मभूः धर्मकारणं भवति । अयं भावः-प्रतिमाया भगवदभेदाऽऽरोपं विना न तावद्वन्दनपूजनाऽऽदिफलहेतुमहत्त्वमपि सम्पद्यते, स च काष्ठपाषाणत्वाऽऽदिना भेदप्रत्यक्षे सति स्वरसतो नोदयतीत्याहार्य एव सम्पादनीयः । आहार्यत्वं चेच्छाजन्यत्वम् । इच्छा च इष्टसाधनताज्ञानसाध्या, इति इष्टसाधनताज्ञानसम्पादनाय प्रतिष्ठिता प्रतिमा भगवदभेदेन अध्यारोपणीया इति विधिः कल्पनीयः । तथा चाऽऽहार्यभगवदध्यारोपविषयप्रतिमापूजनत्वाऽऽदिना फलविशेषहेतुत्वे आहार्यत्वप्रयोजकेच्छाजनकज्ञानविशेष्यताऽवच्छेदककुक्षिप्रविष्टत्वेन प्रतिष्ठाया अपि परम्परया प्रयोजकत्वमित्युक्तं भवति । "प्रतिष्ठितं पूजयेत्" इत्यत्रापि क्तप्रत्ययस्य स्वारसिकशक्त्या लक्षणाऽऽदिना वा प्रतिष्ठाप्रयुक्ताऽऽहार्याऽऽरोपविषयपूजनत्वाऽऽदिनैव फलहेतुता । क्तप्रत्ययस्य चौत्सर्गिकस्य कृत्प्रत्ययार्थेनाप्रत्ययत्वेनैवार्थवत्त्वेति चिन्तामणिकाराद्यप्यतिसूक्ष्ममतिनिपुणं च वयमीक्षामहे ॥ १०३ ॥

उक्तमेव वक्ष्यमाणफलान्वयेनाऽऽह-

तत्कारणेच्छाजनक-ज्ञानगोचरबोधकाः ।
विधयोऽप्युपयुज्यन्ते, तेनेदं दुर्मतं हतम् ॥ १०४ ॥

(तत्कारणेति) तस्याऽऽहार्याऽऽरोपस्य, कारणं या इच्छा, तज्जनकं यत् "प्रतिष्ठितां प्रतिमां भगवदभेदेनाध्यारोपयेत्" इति विधिजनितं ज्ञानं, तद्गोचरीभूतायाः प्रतिष्ठाया बोधकाः, इष्टसाधनत्वबोधनाऽऽदिद्वारा तदुत्पत्तिहेतव इति यावत् । विधयो विधिवाक्यानि, अप्युपयुज्यन्ते फलवन्तो भवन्ति, ते प्रतिष्ठोत्पादने प्रतिष्ठितप्रतिमायामारोपविधिना भगवदभेदाध्यारोपोपपत्तौ पूजाफलप्रयोजकरूपसिद्धेः । तेनेदं वक्ष्यमाणं, दुर्मतं माध्यात्मिकाऽऽभासानां, हतं निराकृतम् ॥ १०४ ॥

किं तत् ?, इत्याह-

प्रतिष्ठाऽऽद्यनपेक्षायां, शाश्वतप्रतिमाऽर्चने ।
अशाश्वतार्चापूजायां, को विधिः किं निषेधनम् ? ॥ १०५ ॥

शाश्वतप्रतिमाऽर्चने प्रतिष्ठाया आदाविह प्रथमतोऽनपेक्षाया तत्रैव तस्याः फले व्यभिचारात् । अशाश्वतार्चानां कृत्रिमप्रतिमानां पूजायां, " प्रतिष्ठितां प्रतिमां पूजयेत् " इति विधिः कः ?। "अप्रतिष्ठितं न पूजयेत्" इति निषेधनं च किम् ?, प्रतिष्ठातदभावयोरिष्टानिष्टसाधनतया व्यभिचारादज्ञानेन तत्र विधिनिषेधार्थान्वयस्यायोग्यत्वात् । इति भावः ॥ १०५ ॥

कथमेतन्निरस्तम् ?, इत्याह-

पूजाऽऽदिविधयो ज्ञान-विध्यङ्गित्वं यदाश्रिताः ।
शाश्वताशाश्वतार्चासु, विभेदेन व्यवस्थिताः ॥ १०६ ॥

(पूजाऽऽदीति) पूजाऽऽदिविधयः -"प्रतिष्ठितां प्रतिमां पूजयेत्' इत्यादिवाक्यलक्षणाः, ज्ञानविधेः 'प्रतिष्ठितां प्रतिमां भगवदभिन्नत्वेनाध्यारोपयेत्" इत्यङ्गवाक्याऽऽत्मकस्य, अङ्गित्वं प्रधानत्वम्, आश्रिताः, शाश्वताशाश्वतार्चासु, विभेदेन भिन्नरूपेण, व्यवस्थिताः । तथा च-प्रतिष्ठाया न पूजासहकारित्वम्, किं तु स्वकर्तव्यताबोधकविध्यङ्गताऽऽपन्नविधिविषयनिर्वाहकत्वेन प्रयोजकत्वम् । तच्चाशाश्वतप्रतिमास्थले । अन्यत्र त्वनादिप्रतिष्ठितत्वप्रत्यभिज्ञाया एव सत्त्वे, तादृशशिष्टाऽऽचारेण तथैव विधिबोधनादिति विकल्पेनानयोः पूजाफलप्रयोजकत्वाहतेर्न कोऽपि दोष इति । अत एव निश्चितानिश्चिताऽऽदिभेदेन स्वल्पबहुभक्तिविधानाऽऽदेर्ज्ञानविशेषाऽऽपेक्षकत्वेन व्यवस्थितविकल्पोपपादकत्वमगच्छते । अत एव चाविधिप्रतिष्ठितेऽप्यविच्छेदाऽऽदिकारणाऽऽलम्बनोपबृंहितवैज्ञानिकविधिना विधिप्रतिष्ठिततुल्यतामामनन्ति सम्प्रदायवृद्धाः । भावशोधितशुद्धनिमित्तनैमित्तिकैकान्तशुद्ध्यभावेऽपीदानीन्तनयतिधर्मपौषधाऽऽदिक्रियावत्तत्र भावशोधनमात्रेण मध्यमशुद्धिप्रत्ययत्वात्तस्या अपि च शुभानुबन्धसारत्वादिव्यादिकमुपपादितं प्रतिमाशतकाऽऽदौ । तस्मात् स्थापनातत्त्वेन भगवद्गुणस्मारकतया तदाहार्याऽऽरोपप्रयोजकतया वा सम्यङ्नयेनाप्यवश्यं स्वीकर्तव्या इति व्यवस्थापितम् ॥ १०६ ॥

एतेन तदभ्युपगतव्यवहारोऽपि निरस्त इत्याह-

एतेन व्यवहारोऽपि, स्थापनाऽनाग्रहो हतः ।
तत्रार्द्धजरतीयं किं, नाम्नाऽपि व्यवहर्त्तरि ? ॥ १०७ ॥

(एतेनेति) एतेनानुपदोक्तयुक्तिकदम्बकेन सम्प्रदस्थापना-व्यवस्थापनेन, व्यवहारोऽपि, स्थापनाया अनाग्रहोऽस्वीकारो, हतो निरस्तः, केषाञ्चिदाचार्याणाम्, यतस्तत्र व्यवहारे, नाम्नाऽपि नामनिक्षेपणाऽपि, व्यवहर्त्तरि व्यवहारमभ्युपगच्छति, किमिदमर्द्धजरतीयम् ?, यदुत स्थापनया व्यवहार इति, न हि गोप्रतिमाया गोव्यवहारो भवति, तथात्वमपि भ्रान्त एव । न वा नामाऽऽदिप्रतिपक्षव्यवहारस्य दूषणम्, इत्येकमादिम्यमानत्यागश्च परित्यजन् केवलमाहोपुरुषिकामात्रमेवेति ॥ नयो० ।

अथ सामान्येनैव स्थापनायाः स्वरूपमाह-

जं पुण तदत्थसुण्णं, तयभिप्पाएण तारिसाऽऽगारं ।
कीरइ व निरागारं, इत्तरमियरं व सा ठवणा ॥२६॥

सा स्थापनाऽभिधीयते, यत्, किम् ?, इत्याह-परिकल्पते-इन्द्राऽऽदिस्थापनारूपतया विधीयते वस्तु, पुनःशब्दो नामलक्षणात् स्थापनालक्षणस्य वैसदृश्यद्योतकः । केन ?, इत्याह-तदभिप्रायेण-तस्य सद्भूतेन्द्रस्याभिप्रायोऽध्यवसायस्तेन । कथम्भूतं तद्वस्तु ?, इत्याह-तदर्थशून्यं-स चासौ अर्थश्च तदर्थः-सद्भूतेन्द्रलक्षणः, तेन शून्यं तदर्थशून्यम् । पुनरपि कथम्भूतम् ?, तादृशाऽऽकार-सद्भूतेन्द्रसमानाऽऽकारम्, तादृशस्य निराकारम्, वाऽपि निराकारं वा, सद्भूतेन्द्राऽऽकारशून्यमित्यर्थः । चित्रलेप्यकाष्ठपाषाणाऽऽदिषु तादृशाऽऽकारं भवति, अक्षाऽऽदिषु तु निराकारमित्यर्थः । पुनः किम्भूतम् ?, इत्वरम्-अल्पकालीनम् । इतरद्वा-यावत्कथिकम् । तत्रेत्वरं चित्राक्षाऽऽदिगतम् । यावत्कथिकं तु-नन्दीश्वरचैत्यप्रतिमाऽऽदि । तदपि हि 'तिष्ठतीति स्थापना' इति स्थापनात्वेन समये निर्दिष्टमेव । तदिदमिह तात्पर्यम्-यद्वस्तु सद्भूतेन्द्राद्यर्थशून्यं सत्तद्बुद्ध्या तादृशाऽऽकारं, निराकारं वा स्तोककालं, यावत्कथिकं वा स्थाप्यते सा स्थापनेति । प्रकृते योजना तु स्वयं क्रियते-चित्रकर्माऽऽदिगतं परममुनि, स्थापनं स्थापना, तथा मङ्गलम्, स्थाप्यते इति वा स्थापना, तया मङ्गलं, स्थापनामङ्गलमिति व्यपदिश्यते । इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

अथ भाष्यकारः स्वयमेव नामस्थापनामङ्गलयोरुदाहरणमुपदर्शयन्नाह-

जह मंगलमिह नामं, जीवाजीवोभयाण देसीओ ।
रूढ जलणाईणं, ठवणाए सोत्थियाईणं ॥ २७ ॥

यथाशब्द उदाहरणोपन्यासार्थः । क यथा ?, इत्याह-जीवाजीवोभयानां ज्वलनाऽऽदीनां, देशीतो देशीभाषया, मङ्गलमिति नाम रूढम् । तत्र जीवस्याग्नेर्मङ्गलमिति नाम रूढम्, सिन्धुविषये अजीवस्य द्वरकवलनकस्य मङ्गलमिति नाम रूढम्, लाटदेशे जीवाजीवोभयस्य तु मङ्गलमिति नाम रूढं वन्दनमालायाः, द्वारिकाऽऽदीनामिहाचेतनत्वात्, पत्राऽऽदीनां तु सचेतनत्वात् जीवाजीवोभयत्वं भावनीयम् । स्वस्तिकाऽऽदीनां तु या स्थापना लोके, तस्या रूढं स्थापनामङ्गलत्वमिति शेषः । इति गाथार्थः ॥ २७ ॥ विशे० ।

"ठविओ य आरियत्ते, जम्हा तू तेण ठवण त्ति ।" पं०भा० ।

पण्डितजनगणिकृतप्रश्नः-गणधराः प्रतिक्रमणं कुर्वाणाः स्थापनां कुर्वन्ति, न वा ?, कुर्वाणा अपि तीर्थङ्करस्य, अन्यस्य वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-तीर्थङ्करस्य देवगुरुरूपत्वेन तत्समीपे प्रतिक्रमणाऽऽदि कुर्वतां स्थापनाप्रयोजनं न स्यात्, जिनपरोक्षे तु कुर्वतां तु स्थापनाकरणमागमानुसारेण सम्भाव्यते ॥ ह्री० ३ प्रका० । हीरविजयसूरिकृतप्रश्नः-अक्षमालाऽऽदिका स्थापना या नमस्कारेण स्थाप्यते, तदुपरि उद्भूतेन हस्तेन प्रत्यक्षरम्, अन्यथा कथं च भवति ?, तदीया च स्थापना शुद्ध्यति, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र अक्षमालापुस्तकाऽऽदिकस्थापना नमस्कारेण स्थाप्यते, स्थापनाऽनन्तरं च क्रियाकरणे यावदुद्योते यथाशक्ति हस्तपर्यायौ स्वयंत्र अथवाऽपि, हस्तपर्यायोरन्तरे जाते तु पुनः स्थापनां कृत्वा अग्रेतनक्रिया क्रियते । यतः स्थापना द्विधा-इत्वरा, यावत्कथिका च । तत्र इत्वराऽक्षमालाऽऽदिका, या नमस्कारेण स्वयं स्थापिता हस्तपर्याययोः सतोरेव तिष्ठति । यावत्कथिका चाक्षप्रतिमाऽऽदिका या गुरूपदेशात् स्थाप्यते, सा पुनः पुनः स्थापिता न विलोक्यते इति ॥ ह्री० ४ प्रका० । कायोत्सर्ग-वन्दनकदानावसरे च स्थापनाऽऽचार्याक्षः शुद्ध्यति, न वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र कायोत्सर्गकरणावसरे, वन्दनकदानावसरे च स्थापनाऽऽचार्याक्षः न शुद्ध्यतीत्यक्षरं ज्ञातो नास्तीति । १४ प्र० । ह्री० ४ प्रका० । पण्डितगुणविजयगणिकृतप्रश्नः-स्थापना कियति प्रदेशे ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च दूरे स्थापिता क्रियाशुद्धिहेतवो भवन्ति ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-अवग्रहे मस्तकात् पादयोरधस्तात् तिर्यक् च हस्तमात्रे स्थाने स्थापिता स्थापना क्रियाशुद्धिनिमित्तं न भवन्तीति वृद्धवादः । यत्तु-उपरितनभूम्यादौ स्थापितासु तासु अधस्तनभूम्यादौ कापि क्रिया क्रियमाणाऽस्ति, तत्कारणं किमिति ज्ञेयम् । ४ प्र० । ह्री० ३ प्रका० ।

स्थापने, न० । 'णिक्खेवो' स्थापनाऽन्यासक इत्यनर्थान्तरम् । आ० चू० १ अ० । न्यासे, पञ्चा० ७ विव० । निधानं निधिर्निक्षेपो न्यासो विरचना प्रस्तारः स्थापनेति पर्यायाः । अनु० । (जिनबिम्बस्थापना 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२७० पृष्ठे निरूपिता, सा च तत एवावधार्या) पञ्चमे उद्गमदोषे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । स्थाप्यते साधुनिमित्तं कियन्तं कालं यावन्निधीयते इति स्थापना । यद्वा-स्थापनं साधुभ्यो देयमिदमिति बुद्ध्या देयवस्तुनः कियन्तं कालं व्यवस्थापनं स्थापना, तद्योगाद्देयमपि स्थापना । स्वस्थाने चुल्लीस्थाल्यादौ, परस्थाने सुस्थितकच्छब्बकाऽऽदौ चिरकालमित्वरकालं च साध्वर्थनिमित्तं धार्यमाणमशनाऽऽदिकं स्थापनेति व्युत्पत्तेः । प्रव० ६७ द्वार । पि० । पं० व० । पञ्चा० । आचा० । ध० । उत्त० । ग० । दर्श० ।

अथ स्थापनाद्वारमाह-

सट्ठाणे परट्ठाणे, दुविहं च ठियं तु होइ नायव्वं ।
खीराऽऽदिपरंपरए, हत्थगयघरंतरं जाव ॥

स्थापितं साधुनिमित्तं, घृतभक्ताऽऽदि । तच्च द्विधा । तद्यथा-स्वस्थाने, परस्थाने च । तत्र स्वस्थानं-चुल्ल्यवचुल्लाऽऽदि । परस्थानं-छब्बकाऽऽदि । एकैकं द्विधा-अनन्तरं, परम्परं च । तत्र यस्य साधुनिमित्तं स्थापितस्य सतो विकारान्तरं न भविष्यति, यथा घृताऽऽदि, तदनन्तरस्थापितम् । क्षीराऽऽदिकं तु परम्परके परम्परास्थापितम् । तथाहि-क्षीरं स्थापितं सद् दधि भवति, दधि भूत्वा नवनीतं, नवनीतं भूत्वा घृतं, ततो यदेव साधुनिमित्तं क्षीरं भूत्वा घृतीकृत्य ददाति, तदा तत् क्षीरं परम्परास्थापितं भवति । एवमन्यदपीक्षुरसाऽऽदिकं द्र-

(कुसुए वि य त्ति) कुसुणितमपि-करम्बाऽऽदिरूपतया कृतमपि, यावन्तं कालमविनाशनात् कालं, तस्य स्थापना द्रष्टव्या । परतस्तु कथितत्वाद् दुष्यते एवेति भावः । तदेवं क्षीराऽऽदिक परम्परास्थापितमुक्तम् ।

साम्प्रतमिक्षुरसाऽऽदिकमपि परम्परास्थापितमाह-

रसकक्कबपिण्डगुल्ला-मच्छंडियखंडसक्कराणं च ।

होइ परंपरठवणा, अन्नत्थ व जुज्जए तत्थ ॥

इह केनापि साधुना किमपि प्रयोजनमुद्दिश्य कोऽपीक्षुरस याचितः । स प्रतिज्ञातवान् क्षणान्तरे दास्यामि । साधुना चान्यत्रेक्षुरसो लब्धः । पूर्वमभ्यर्थितश्च ऋणमीत इव तमिक्षुरस कक्कब करोति, यावत् शर्करेति । एतेषां चेक्षुरसकक्कबाऽऽदीनामुत्तरोत्तरपिण्डगुडाऽऽदिपर्यायाऽऽपादनपुरस्सरं ध्रियमाणानां स्थापना परम्परस्थापना । एवमन्यत्रापि द्रव्यान्तरे यत्रेक्षु परम्परया स्थापना घटते, तत्र परम्परास्थापना द्रष्टव्या । यावच्च स्थापितस्य नाधाकर्मसंभवः, तावदात्मार्थीकृतं कल्पते । कृतपाकाऽऽरम्भं तु न कल्पते ।

सम्प्रति " हत्थगयघरनर जाव " इति व्याचिख्यासुराह-

भिक्खग्गाही एग-त्थ कुणइ बिइओ दोसु उवओगं ।

तेण परं उक्खित्ता, पाहुडिया होइ ठविया उ ॥

भिक्षाग्राही एकत्रोपयोग करोति, द्वितीयस्तु द्वयोर्गृहयो ,तत्र त्रिषु गृहेषूपयोगसम्भवे स्थापनादोषो न भवति । गृहत्रयात्परं साध्वर्थमुत्पादिता भिक्षा प्राभृतिका स्थापना भवति । उक्त स्थापनाद्वारम । पिं० । स्थाप्यते इति स्थापना । वक्ष्यमाणेनाऽऽरोपणाप्रकारेण शुद्धीभूतेभ्यः सञ्चयमासेभ्यो ये शेषा मासास्तेषां प्रतिनियतदिवसग्रहणतो व्यवस्थापने, व्य० १ उ० । नि० चू० । (प्रस्थापनाभेदाः 'पच्छित्त' शब्दे वक्ष्यन्ते) अनुज्ञायाम्, एतच्च पञ्चम गौणमनुज्ञानाम । न० । पर्युषणायाम्, वर्षाकल्पादन्या मर्यादा स्थाप्यते अनयेति व्युत्पत्तेः । नि० चू० १० उ० । (विशेषः ' पज्जुसणा ' शब्दे वक्ष्यते)

ठवणाकप्प-स्थापनाकल्प-पुं० । अकल्पस्थापनाकल्प-शैक्षस्थापनाकल्पोभयरूपे साध्वाचारे, बृ० ।

ठवणाकप्पो दुविहो, अकप्पठवणा य सेहठवणा य ।

पढमो अकप्पिएणं, आहाराऽऽई न गिण्हावे ॥

स्थापनाकल्पो द्विविधः-अकल्पस्थापनाकल्प , शैक्षस्थापनाकल्पश्च । तत्राकल्पिकेनानधीतपिण्डैषणाऽऽदिसूत्रार्थेन, आहाराऽऽदिक न ग्राहयेत्-नाऽऽनाययेत् । तेन नीत न कल्पत इत्यर्थः । एष प्रथमः-अकल्पस्थापनाकल्प उच्यते ।

अट्ठारसे य पुरिसे, वीसं इत्थीउ दस णपुंसा य ।

दिक्खेति जो ण एते, सेहट्ठवणाए सो कप्पो ॥

अष्टादश भेदाः पुरुषे पुरुषविषयाः, विंशतिः स्त्रियो, दश नपुंसकाः । एतानष्टचत्वारिंशतमनलान् शैक्षान् यो न दीक्षते,स एव कल्पकल्पवतोरभेदात् शैक्षस्थापनाकल्प उच्यते । बृ० ६ उ० । नि० चू० । पं० भा० ।

ठवणाकम्म-स्थापनाकर्मन्-न० । स्थापन प्रतिष्ठापन स्थापना, तस्याः कर्म करण स्थापनाकर्म । येन ज्ञातेन परमत दूषयित्वा स्वमतस्थापना क्रियते तत्स्थापनाकर्मेति भावः । तच्च द्वितीयाङ्गे द्वितीयश्रुतस्कन्धे प्रथमाध्ययन पुण्डरीकाऽऽख्यम् । तत्र इदमुक्तम्-अस्ति काचित् पुष्करिणी कर्दमप्रचुरजला । तन्मध्यदेशे महापुण्डरीकम् । तदुद्धरणार्थं चतसृभ्यो दिग्भ्यश्चत्वारः पुरुषाः सकर्दममार्गं प्रवेष्टुमारब्धाः । ते चाकृततदुद्धरणा एव पङ्के निमग्नाः । अन्यस्तु तटस्थोऽसंस्पृष्टकर्दम एवामोघवचनतया तदुद्धृतवानिति ज्ञातम । उपनयश्चायम्-अत्र कर्दमस्थानीया विषयाः, पुण्डरीक राजाऽऽदिर्भव्यपुरुषः, चत्वारः पुरुषाः परतीर्थिकाः, पञ्चमः पुरुषः साधुः, अमोघवचन धर्मदेशना, पुष्करिणी संसारः, तदुद्धारो निर्वाणमिति । अनेन च ज्ञातेन विषयाभिष्वङ्गवतामन्यतीर्थिकानां अन्यस्य संसारानुत्तारकत्वं, साधोश्च तद्विपर्ययं वदता आचार्येण परमतदूषणेन स्वमत स्थापितमतो भवतीति, इद ज्ञात स्थापनाकर्मेति । अथवा-आपन्न दूषणमपोह्य स्वाभिमतस्थापना कार्येत्येवंविधार्थप्रतिपत्तिर्यतो जायते तत् स्थापनाकर्म । यथा किल-मालाकारेण केनापि राजमार्गे पुरीषोत्सर्गलक्षणापराधापोहाय तत्स्थाने पुष्पपुञ्जकरणेन किमिदमिति पृच्छतो लोकस्य हिङ्गुशिवो देवोऽयमिति वदता व्यन्तराऽऽयतनस्थापना कृतेति । एतस्मात् किलाऽऽख्यानकादुक्तार्थः प्रतीयते । इद स्थापनाकर्मेति ॥ स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अधुना स्थापनाद्वारमभिधित्सुराह—

ठवणाकम्मं एकं, दिट्ठंतो तत्थ पोंडरीअं तु ।

अहवा विसज्जदव्वण-हिंगुसिवकय उदाहरणं ॥ ६६ ॥

स्थाप्यते इति स्थापना, तया, तस्या ,तस्यां वा कर्म-सम्यगभीष्टार्थप्ररूपणलक्षणा क्रिया स्थापनाकर्म । एकमिति तज्जात्यपेक्षया, दृष्टान्तो निदर्शनम् । तत्र स्थापनाकर्मणि, पौण्डरीक तु, तुशब्दात्तथाभूतमन्यच्च । तथा च पौण्डरीकाध्ययने पौण्डरीक प्ररूप्य प्रक्रिययैवान्यमतनिरासेन स्वमतमवस्थापितमिति । अथवेत्यादि पश्चार्द्धं सुगमम । लौकिक चेदमिति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः । तच्चेदम्-"जहा एगम्मि णगरे एगो मालायारो सण्णाइओ-करडे पुप्फे घेत्तूण वीहीए एइ । सो अईव अच्चाहिओ, ताहे तेण सिग्घ वोसिरिऊण, सा पुप्फपिडिगा तस्सेव उवरिं पल्हत्थिया । ताहे लोओ पुच्छइ-किमेय ति जेणित्थ पुप्फाणि छड्डेसि ? । ताहे सो भणइ-अह अल्लोविओ, एत्थ हिंगुसिवो नाम । एत त वाणमंतर हिंगुसिव नाम उप्पन्न । लोएण परिग्गहिय । पूया से जाया । सा इ गय, अज्ज वि त पाडलिपुत्ते हिंगुसिव नाम वाणमंतर । एव जइ किं वि उड्डाह पावयणीय कय होज्जा केण वि पमाएण, ताहे तहा पच्छादेयव्व, जहा पच्चुय पवयणुब्भावणा हवइ । सजाए उड्डाहे जह गिरिसिद्धेहिं कुसलबुद्धीहिं लोयस्स धम्मसद्धा पवयणवण्णेण सुट्ठु कया "। एव तावच्चरणकरणानुयोग लोक चाधिकृत्य स्थापनाकर्म प्रतिपादितम ।

अधुना द्रव्यानुयोगमधिकृत्योपदर्शयन्नाह—

सव्वभिचारं हेउं, सहसा वोत्तुं तमेव अन्नेहिं ।

उववूहइ सप्पसरं, सामत्थं चऽप्पणो नाउं ॥ ६७ ॥

सह व्यभिचारेण वर्त्तत इति सव्यभिचार ,त हेतु-साध्यधर्मान्वयाऽऽदिलक्षण, सहसा तत्क्षणमेव, 'वोत्तु' अभिधाय तमेव हेतुमन्यैर्हेतुभिरेव, उपबृहते समर्थयति,सप्रसरमनेकधा स्फारयत् सामर्थ्य प्रज्ञाबलम । चशब्दो भिन्नक्रम । आत्मनश्च स्वस्य च ज्ञात्वा विज्ञाय, चशब्दात्परस्य चेति गाथार्थः ॥ ६७ ॥

भावार्थस्त्वयम्-द्रव्यास्तिकाऽऽद्यनेकनयसंकुलप्रवचनज्ञेन साधुना तत्स्थापनाया नयान्तरमतापेक्षया सव्यभिचार हेतुमभिधाय प्रतिपन्ननयमतानुसारतः तथा समर्थनीयं यथा सम्यगनेकान्तवादप्रतिपत्तिर्भवतीति । आह-उदाहरणभेदस्थापनाऽधिकाराचिन्तायां सव्यभिचारहेत्वभिधानं किमर्थमिति ? । उच्यते-तदाश्रयेण भूयसामुदाहरणानां प्रवृत्तेः, तदन्वितं चोदाहरणमपि प्राय इति ज्ञापनार्थम्, अलं प्रसङ्गेन । अभिहितं स्थापनाकर्मद्वारम् । दश० नि० १ उ० ।

ठवणाकुल-स्थापनाकुल-न० । प्रतिकुष्टकुले, ध० ३ अधि० । स्थापनाकुलानि निर्विशति । अथवा-यानि लोके गर्हितानि कुलानि स्थापितान्युच्यन्ते, तेषामपरिभोग्यतया जिनैः स्थापितत्वात्, तेभ्य आहाराऽऽदिकमुत्पादयति । व्य० १ उ० ।

इदाणिं ठवणेति-

ठवणाकुलेसु ठविए-सु वारए अलसे णिद्धम्मे ।

अस्या व्याख्या-ठवणापच्छद्धं । ठवणाकुला आतिशयकुला भण्णति, येष्वाचार्याऽऽदीनां भक्तमानीयते, तेसु ठविएसु अलसे णिद्धम्मे पविसते, णिवारते, इत्यर्थः । नि०चू०१ उ० । "सज्जातरसामगाइकुलाइ ठवणकुलाइं भण्णति ।" नि० चू० ४ उ० ।

जे भिक्खू ठवणाकुलाइं अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय पुव्वामेव पिंडवायपडियाए अणुपविसइ,अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

(जे भिक्खू ठवणाकुलाई इति) ठप्पाकुला ठवणाकुला, अभोज्जा इत्यर्थः । साधुठवणाए वा ठविज्जंति त्ति ठवणाकुला, सेज्जातरा इत्यर्थः । पुव्वदिट्ठे पुच्छा, अदिट्ठे गवेसणा । अधवा-णामेण वा गोत्तेण वा दिसाए वा पुच्छा, थूभियाइचिंधेहिं गवेसणा, पूर्वं प्रथमम्, आदावेव । जो पुण पुच्छणगवेसणं करेति, तस्य पूर्वं न भवतीत्यर्थः ।

गाहा-

ठवणाकुला तु दुविधा, लोइय लोउत्तरा समासेण ।

इत्तरिय आवकहिया, दुविधा पुण लोइया होंति ॥५६॥

समासो संखेवो, लोइया दुविहा-इत्तरिया, आवकहिया य ।

इमे इत्तरिया । गाहा--

सूयगमतगकुलाइ, इत्तरिया जे य होंति णिज्जूढा ।

जे जत्थ जुंगिता खलु, ते होंती आवकधिया तु ॥६०॥

कालावधीए जे ठप्पा कया ते णिज्जूढा, (जे त्ति) कुला,जत्थ विसए,जुंगिता दुगुंछिता, अभोज्जा इत्यर्थः । कम्मेण वा, सिप्पेण वा,जातीए वा। कम्मे-णहाणिया, सोहका, मोरपोसगा । सिप्पेहेट्ठणहविता, तेरिमा, पयकारा, णिल्लेवा, जातीए-पाणा, डोंबा, मारेसिया य । खलुसद्दोऽवधारणे । ते चेव अण्णत्थ अजुंगिता,जहा सिंधुए णिल्लेवगा ।

इमे लोगुत्तरा । गाहा-

दुविधा लोउत्तरिया, वसधीसंबद्ध एतरा चेव ।

सत्तघरंतर जाव तु, मुत्तूणं वसधिमबद्धा ॥ ६१ ॥

वसहीए संबद्धा य, असंबद्धा य । वसहीए मोत्तुं सत्तघरा वसहिसंबद्धा, तेसु भत्तं वा पाणं वा वेत्तव्वं ।

इमा असंबद्धा । गाहा-

दाणे अभिगमसड्ढे, संमत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।

मामाए अचियत्ते, एवं इतरे वि णायव्वा ॥ ६२ ॥

अहाभद्दो दाणरुई दाणसड्ढो सम्मदिट्ठी गिहीताणुव्वओ अभिगमसड्ढो (सम्मत्ते त्ति) अविरयसम्मद्दिट्ठी । एतेसु एसणादोसा । खलुसद्दो पादपूरणे । (मिच्छत्त त्ति) अभिग्गहियमिच्छे साहुपडिणीए । ईसालुत्तणेणं मा मम घरं एहि समण त्ति भणाइ । अप्पत्तस्स ईसा खलु अत्तणेण चेव-साहू घरं पविसंता अचियत्ता याए भणाति न किंचि वि । एतेसु विसगरपतावणादि दोसा । (इयरे त्ति) असंबद्धा ॥

गाहा-

एतेसामण्णतरे, ठवणकुल जो तु पविसती भिक्खू ।

पुव्वं अपुच्छितेणं, सो पावति आणमादीणि ॥ ६३ ॥

कंठा ।

चोदग आह-लोउत्तरे ठिवाण लोइयठवणपरिहारेण किंच धम्मं ? । आचार्य आह-

लोउत्तरम्मि ठविता-ण लोगणिव्वाहिरत्तमिच्छंति ।

लोगजढे परिचत्ता, तित्थविवड्ढी य वण्णो य ॥ ६४ ॥

पुव्वद्धं कंठं । लोगदुगुंछिया जे, ते परिहरंतेण तित्थस्स विवड्ढी कता भवति, (वण्णो त्ति) जसो पभावितो भवति तो भण्णति ।

लोइयठवणकुलेसु गेण्हंतस्स इमे दोसा । गाहा-

अयसो पवयणहाणी, विप्परिणामो तहेव य दुगुंछा ।

लोइयठवणकुलेसुं, गहणे आहारमादीणं ॥ ६५ ॥

अयसो त्ति अवण्णो, पवयणहाणी-न कश्चित्प्रव्रजति, समत्तचरित्ता सेहा विप्परिणमति,कावालिया इव लोए दुगुंछिता भवति, अस्पृश्या इत्यर्थः । पच्छद्धं कंठं ।

लोउत्तरिएसु दाणाइसड्ढकुलेसु पविसतस्स इमे दोसा । गाहा-

आयरियबालवुड्ढा, खवगगिलाणा महोदराऽऽएसा ।

सव्वे वि परिचत्ता, जो ठवणकुलाई णिव्विसति ॥६६॥

महोदरोऽत्र बह्वाशी, आएसः प्राघूर्णकः, णि-आधिक्येन, विशति निविशति, प्रविशतीत्यर्थः ।

इम पच्छित्तं । गाहा-

आयरिए य गिलाणे, गुरुगा लहुगा य खमगे पाहुणए ।

गुरुगो य बालवुड्ढे,सेहे,य महोदरे लहुओ ॥६७॥

जो एते ठवणाकुले ण णिविसति, तस्सिमे गुणा । गाहा-

गच्छो महाणुभागो, सबालवुड्ढोऽणुकंपिओ तेण ।

जिनकल्पिकाऽऽदिरत्नानामाकरत्वात् समुद्रवद् महानुभाग, बालवृद्धगिलाणादीनां च साधारणत्वान्महानुभाग, जो तेसु ण णिव्विसति तेण सो गच्छो अणुकंपितो ।

गाहा-

उग्गमदोसा य जढा, जो ठवणकुलाई परिहरइ ॥६८॥

उद्गमदोषाश्च परित्यक्ता भवन्ति।

गच्छवासीण इमा सामायारी। गच्छम्मि गाहा-

गच्छम्मि एस कप्पो, वासावासे तहेव उडुबद्धे ।

कप्पो विधी, एस वासावासे, उडुबद्धे वा ।

गामनगरनिगमेसुं, अतिसेसी ठावते सड्ढी ।। ६९ ।।

गामणगरातिसु विहरंताण अतिसयदव्वा उप्पज्जंति, ते जेसु कुलेसु लब्भति, ते ठावियव्वा, ण सव्वसाधुणो गता तेसु पविसति (सड्ढि त्ति) संजमे सड्ढा जस्स सो सड्ढी, आयरिओ ।

मज्जाद गाहा-

मज्जादठावणेणं, पवत्तगा सव्वखेत्ते आयरिया ।

जो तु अम्मज्जासिट्ठो, आवज्जति मासियं लहुयं ।।७०।।

मज्जाया मेरा, ताए ठवणा,पवत्तगा य सव्वखेत्तेसु आयरिया भवन्ति । जो पुण आयरिओ मज्जाय ण ठवेति, ण पवत्तेति वा, सो अमज्जाकारी असमायारिणिप्फण्ण मासलहु पावति । नि० चू० ४ उ० ।

अथ स्थापनामजिघित्सुः प्रस्तावनामाह-

भत्तट्ठिया च खमगा, अमंगलं चोयण जिणाहरणं ।

जइ खमगा वंदंता, दासंतियरे विहिं वोच्छं ।। ७४४ ।।

ते हि साधवः क्षेत्रं प्रविशन्तो भक्तार्थिनो वा भवेयुः, क्षपका वा । यदि क्षपकाः, ततो नोदकस्य नोदना प्रेरणा-यथा प्रथममेव तावदमङ्गलमिदं यदुपवास प्रत्याख्याय प्रविश्यते । सूरिराह-(जिणाहरण) जिनानामुदाहरणं मन्तव्यम् । ते हि भगवन्तो निष्क्रमणसमये प्रायश्चतुर्थादि तपः कृत्वा निष्क्रामन्ति, न च तत्तेषाममङ्गलम् । एवं तत्रापि भावनीयम् । ततश्च यदि ते क्षपकाः, तदा चैत्यानि वन्दमाना एव दर्शयन्ति स्थापनाकुलानि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः । अथ भक्तार्थिनस्ते, तत (इयरे त्ति) इतरेषु भक्तार्थिषु यो विधिस्तं वक्ष्ये ।

तमेवाऽऽह-

सव्वे दट्ठुं उग्गा-हिएण ओदरि भयं समुप्पज्जे ।

तम्हेक्क दोहिँ तिहिँ वा, उग्गाहिय चेइए वंदे ।।७४५।।

चैत्यवन्दनार्थं गन्तुकामा यदि सर्वेऽपि पात्रकमुद्ग्राहयेयुः, ततः सर्वान् साधूनुद्ग्राहितेन पात्रकेण दृष्ट्वा अहो ! औदारिका एते इति श्रावकश्चिन्तयति । भयं च तस्य समुत्पद्यते । यथा-कथमेतावता मयैकेन दास्यत इति ? । तस्मादेकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा साधुभिरुद्ग्राहितपात्रकैः, शेषैः पुनरनुद्ग्राहितपात्रकैः सहिताः सूरयश्चैत्यानि वन्दन्ते ।

अथ यद्येकोऽपि साधुः पात्रकं नोद्ग्राहयति, ततः को दोषः ?, इत्याह--

सड्ढाभंगोऽणुग्गा-हियम्मि ठवणाइया जवे दोसा ।

घरचेइएँ आयरिए, कइपयगमणं च गहणं च ।।७४६।।

अथानुद्ग्राहिते पात्रके प्रयान्ति, ततश्चैत्यानि वन्दमानान् दृष्ट्वा कोऽपि धर्मश्रद्धावान् भक्तपानेन निमन्त्रयेत्, तदा यदि भाजनं नास्तीति कृत्वा न गृह्णाते, ततः श्रद्धाभङ्गस्तस्योपजायते । अथ ब्रुवते-पात्रं गृहीत्वा यावद्वयमागच्छाम, तावदेवमेव तिष्ठतु, ततः स्थापनाऽऽदयो दोषा भवेयुः । तस्मादुद्ग्राहणीयं पात्रकम् । जिनगृहेषु च वृन्देन सर्वेऽपि चैत्यानि वन्दित्वा गृहचैत्यवन्दनार्थमाचार्येण कतिपयैः साधुभिः उद्ग्राहितपात्रकैः सम गमनं कर्त्तव्यं, तत्र यदि श्रावकः प्रासुकेन भक्तपानेन निमन्त्रयेत्, ततो ग्रहणमपि तस्य कर्त्तव्यम् । बृ० १ उ० ।

कानि पुनः कुलानि चैत्यवन्दनं विदधानास्ते (सूरयः) दर्शयन्ति ? । उच्यते-

दाणे अभिगमसड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।

मामाए अचियत्ते, कुलाइं दावेंति गीतत्था ।।७१।।

रातो दिवसतो वा बाहिट्ठिया वसहीए वा निक्खंते हिंडता ठवणकुले दासेंति ।

इरिमिनेसु गुरुणो इमा सामायारी-

दाणे अभिगमसड्ढे, संमत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।

मामाए अचियत्ते,कुलाइ ठाएंति गीयत्था।।७२।। नि० चू० ४ उ०।

एतानि कुलानि स्थापयन्ति गीतार्थाः, अमीषु प्रवेष्टव्यममीषु तु नेति व्यवस्थापयन्तीत्यर्थः ।

अथ न स्थापयन्ति तदा किम् ?,इत्याह-

दाणे अभिगमसड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।

मामाए अचियत्ते, कुलाइँ अट्ठवेति चउ गुरुगा ।।७४७।।

एतानि कुलान्यस्थापयतश्चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तम् ।

यत एवमत -

कयउस्सग्गाऽऽमंतण, अपुच्छणे अकहिएगयरदोसा ।

ठवणकुलाण य ठवणं, पविसइ गीयत्थसंघाडो ।।७५०।।

उत्सर्गे-चैत्यवन्दनं विधाय गतानामैर्यापथिकीकायोत्सर्गे कृते, यद्वा-(ओसय त्ति) आवश्यके कृते सर्वेऽपि साधवो गीतार्थैरामन्त्रणीयाः-आगच्छत क्षमाश्रमणाः !, आचार्याः स्थापना प्रवर्तयिष्यन्ति । इत्थमुक्ते सर्वेऽप्यागम्य * गुरुपदकमलमभिवन्द्य रचिताञ्जलयस्तिष्ठन्ति । तत आचार्यैः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्रष्टव्याः -कथयत कानि कुलानि प्रवेष्टव्यानि,कानि वा नेति ? । ततस्तैरपि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैर्विधिवत्कथनीयम् । यद्याचार्याः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकांश्च पृच्छन्ति, ते च पृष्टाः सन्तो न कथयन्ति, ततस्तेषु प्रविशता ये संयमाऽऽत्मविराधनाऽऽदयो दोषास्तानेकतरे-सूरय ,क्षेत्रप्रत्युपेक्षका वा, प्राप्नुवन्ति । ततः कथिते सति यानि गृहीतमिथ्यात्वमामकाचियत्तानि तानि सर्वथैव स्थाप्यानि, यथा नैतेषु केनापि प्रवेष्टव्यम्,यानि तु दानश्राद्धाऽऽदीनि स्थापनाकुलानि तेषामपि स्थापनं कर्त्तव्यम् । कथम् ?, इत्याह-प्रविशति एक एव गीतार्थसङ्घाटको गुर्वादिवैयावृत्यकरः, तेषु ।

इदमेव भावयति-

गच्छम्मि एस कप्पो, वासावासे तहेव उडुबद्धे ।

गामनगरनिगमेसुं, अइसेसी ठावए सड्ढी ।। ७५१ ।।

वर्षावासे, तथैव ऋतुबद्धे, ग्रामनगरनिगमेषु स्थितानां गच्छे एष कल्पः । कः ?, इत्याह-अतिशेषाण्यतिशायीनि क्षिप्रमधुरद्रव्याणि प्राप्यन्ते येषु तान्यतिशेषाणि (सड्ढि त्ति) दानश्राद्ध-

* " वा ल्यपि " ।। ६ । ४ । ३८ ।। अनुनासिकलोपः । आगत्य, आगम्य ।

न्ति, एवंविधानि कुलानि स्थापयेत् । एकं गीतार्थसङ्घाटकं मुक्त्वा, शेषसङ्घाटकान् तत्र प्रवेशं कारयेत् ।

आह निर्युक्तिकारः-

किं कारणं चमढणा, दव्वक्खओ उग्गमो वि य न सुज्झे ।
गच्छम्मि नियय कज्जं, आयरियगिलाणपाहुणए ॥७५२॥

किं कारणं को हेतुः ?, येन स्थापनाकुलेष्वेक एव सङ्घाटकः प्रविशति ? । सूरिराह-(चमढण त्ति) अन्यैरन्यैश्च सङ्घाटकैः प्रविशद्भिस्तानि कुलान्युद्वेगं प्राप्यन्ते । ततश्च द्रव्याणां स्निग्धमधुराणां क्षयो भवति । तदुद्गमोऽपि च न शुध्यति । गच्छे च नियतं निश्चितं प्रायोग्यद्रव्यैः कार्यं भवति । किमर्थम् ?, इत्याह-आचार्यग्लानप्राघूर्णकानां हेतोरिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथ भाष्यकार एनामेव विवृणोति-

पुव्विं पि वीरसुणिया, भणिया नाणिया पहावए तुरियं ।
सा चमढणाएँ सिग्गा, नेच्छइ दट्ठुं पि गंतुं जे ॥७५३॥

" जइ काइ वीरसुणिया केणइ पारद्धिएण तित्तिराईण गहणे सिक्खाविया समाणी तित्तिराईणि गिण्हइ, पच्छा सा तेहिं सावएण विणा वि छिक्कारेइ, सा वीरसुणिया इतो तओ पहावेइ, जाव न किंचि पेच्छइ, ताहे सा चेयारिया समाणी जइ सो सावय दट्ठु पच्छा छिक्कारेइ, तहा वि एय पि न इच्छइ गंतु । " अथ गाथाक्षरयोजना-यः शुनिकाद्वितीयः शस्त्राद्यपेक्षारहितो मृगया करोति स वीर उच्यते । तस्य शुनिका, यथा पूर्वमदृष्टेऽपि श्वापदे भणिता छीत्कृता छीत्कृता सती (तुरियं) त्वरितमितस्ततः प्रधावति, ततः सा 'चमढणया' निरर्थकमुत्थापनया, 'सिग्गा' श्रान्ता सती, सन्तमपि श्वापदं दृष्ट्वा, पदमपि गन्तुं, 'जे' इति पादपूरणे, नेच्छति । एष दृष्टान्तः ।

अथोपनयस्त्वेवम्-

एवं सड्ढकुलाइं, चमढिज्जंताइँ अन्नमन्नेहिं ।
नेच्छंति किंचि दाउं, संतं पि तहिं गिलाणस्स ॥७५४॥

एवममुनैव प्रकारेण, श्राद्धकुलानि (चमढिज्जनाइ ति) उद्वेज्यमानानि, अन्यान्यैः-क्षुल्लकस्थविरक्षपकाऽऽदिभिः । यद्वा-(अन्नमन्नेहिं ति) अन्योन्यैः परिफल्गुप्रायैः कारणैः । यथा एकः प्राह-ग्लानस्य शीर्षं दुष्यति, शर्करां प्रयच्छ । अपरः प्राह-ममोदरं दुष्यति, दध्ना करम्बेन प्रयोजनम् । तदपरः प्राह-प्राघूर्णक आयातोऽस्ति घृताऽऽदिकं देहि । अन्यः प्राह-अहमाचार्यस्य हेतोरायातोऽस्मि, दुग्धं सशर्करं प्रतिलाभयेत्यादि । ततस्तानि ब्रवीरन्-यूयं सर्वे एव ग्लानाः, अतो वयं कियन्तं प्रयच्छाम ?, को वा जानाति-यूयमाचार्याऽऽदीनां हेतोर्गृह्णीथ, आहोस्विदात्मार्थम् । इत्येवमुद्वेज्यमानानि नेच्छन्ति यदपि विद्यमानमपि, घृताऽऽदिकं, किञ्चित् स्तोकमात्रमपि, ग्लानस्य, उपलक्षणत्वात्-आचार्यप्राघूर्णकाऽऽदेरप्यर्थाय दानम् । ततश्च यत्ते ग्लानाऽऽदयः परिताप्यन्ते, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । गतं चमढणाद्वारम् ।

अथ द्रव्यक्षयोद्गमाशुद्धिकारणमाह-

अन्नो चमढणदोसो, दव्वक्खओ उग्गमो वि य न सुज्झे ।
खीणे दुल्लभदव्वे, नत्थि गिलाणस्स पाउग्ग ॥ ७५५॥

अन्योऽपरश्चमढणायां दोषः क ?, इत्याह-द्रव्यस्यावगाहिमघृताऽऽदेः, कारणमन्तरेणापि दिने दिने गृह्यमाणस्य, क्षयो भवति । ततश्च यद्यन्निमवमवगाहिमाऽऽदिद्रव्यं साधूनामर्थाय करोति, क्रीणाति वा, तत उद्गमोऽपि च न शुध्यति, सदोषत्वात् तदुत्पादितमपि न कल्पत इति भाव । ततः क्षीणे व्यवच्छिन्ने दुर्लभद्रव्ये, प्रयोजने उत्पन्नेऽपि नास्ति ग्लानस्य प्रायोग्यं, ततः परितापमहादुःखाऽऽदिका ग्लानाऽऽरोपणाद्रव्याभद्रकप्रान्तकृताश्च दोषा भवन्ति ।

तानेवाह-

दव्वक्खएण पंतो, इत्थि घाएइ कीस ते दिन्नं ? ।
भद्दो हट्ठपहट्ठो, करिज्ज अन्नं पि साहूणं ॥७५६॥

इह कस्यापि प्रान्तस्य भार्या श्राद्धिका, ततस्तया अन्यान्यसाधूनां याचमानानां प्रायोग्यं द्रव्य सर्वमपि प्रदत्तम । ततस्तस्याः पतिर्भोजनार्थमुपविष्टः सन् ब्रूते-क्रूर मे परिवेषय । सा प्राह-साधूनां प्रदत्त । स प्रतिब्रूयात्-पूपुलिकां तर्हि परिवेषय । सा प्राह-ता अपि प्रदत्ताः । एवं सूपदुग्धदधिप्रभृतीन्यपि साधूनां वितीर्णानि । इत्थं द्रव्यक्षयेण प्रान्तः कुपितः सन् स्त्रियं घातयेत्-कुट्टयेत् । कस्मात्किमर्थं, त्वया तेभ्यः सर्वमपि दत्तमिति कृत्वा ?। अत्र पाठान्तरम्-" दव्वक्खएण लुद्ध त्ति " लुब्धो लोभाभिभूत, शेषं प्राग्वत् । यस्तु भद्रको गृहपतिः, स श्राद्धिकया सर्वस्मिन्नपि दत्ते, तथैव च कथिते, हृष्टप्रहृष्टो भवति; हृष्टो-नाम मनसि परितोषवान् । प्रहृष्टस्तु प्रहसितवदनः समुद्भूतरोमहर्ष इति । ततश्च कुर्यादन्यदपि, अवगाहिमाऽऽदिकं साधूनामर्थाय कारयेदित्यर्थः । एतद्दोषपरिहरणार्थमेकं गीतार्थसङ्घाटकं मुक्त्वा, शेषाः स्थापनाकुलानि न निर्विशेयुः । प्राघूर्णके चाऽऽयाते सति प्राघूर्ण्यं विधेयं, तच्च स्वभावानुमतैरेव भक्तपानैः ।

यथा चात्र दृष्टान्तमाह-

जड्डे महिसे चारिं, आसो गोणे य जे य जावसिया ।
एएसिं पडिवक्खे, चत्तारि उ संजया होंति ॥७५७॥

जड्डो हस्ती, महिषाश्वौ प्रतीतौ, गोणो बलीवर्दः । एतेषां ये यावसिका यवसस्तत्प्रायोग्यमुद्गमाषादिरूप आहारः, तेन तद्वहनेन चरन्तीति यावसिकाः, ते अनुकूलां चारीं मानयन्ति । एतेषां जड्डाऽऽदीनां प्रतिपक्षौ प्रतिरूपः, पक्षसदृशपक्ष इत्यर्थः । तत्र चत्वारः प्राघूर्णकसंयता भवन्ति । तद्यथा-जड्डसमानो, महिषसमानः, अश्वसमानः, गोसमानश्चेति ।

अथामीषामेव व्याख्यानमाह-

जड्डो जं वा तं वा, सुकुमालं महिसओ महुरमासो ।
गोणो सुगंधिदव्वं, इच्छइ एमेव साहू वि ॥७५८॥

जड्डो हस्ती, स यद्वा तद्वा-सकर्कशकटुकाऽऽदिकमप्याहारयति । यस्तु महिषः, स सुकुमारं वंशकरीराऽऽदिकमभिलषति । अश्वो मधुरं मुद्गमाषाऽऽदिकमभिकाङ्क्षति । गौर्बलीवर्दः, स सुगन्धिद्रव्यमर्जुनकग्रन्थिपर्णाऽऽदिकमिच्छति । एवमेव साधवश्चत्वारश्चतुर्विधं भक्तमिच्छन्ति । " तत्थ पढमो जड्डसमाणो पाहुणगसाहू भणइ-मम जं दोसि पच्चाउरहग वा कलिय वा लब्भइ, त चेव आणेहि; नयरं उदरपूर । एव भणिए किं दोसी-

ण चेव आणेयव्वं, न विसेसेण सोहए तस्स आणेयव्वं । वि-इओ पाहुणयसाहू भणइ-पर मे नेहराहिया विधूवासिया सु-कुमाला होउ । तइओ भणइ-महुर नवरि मे होउ । चउत्थो भणइ-अन्नं वा पाणं वा निप्पक्किगर्धं मे आणेह । एवं ताणं भणताण जं लोग न सड्ढयकुलेहिंतो विसेसिय माणिज्जइ । सं ठविएसु चेव सड्ढयकुलेसु लब्भइ, ता ठविएसुं पाहुने य कीरमाणे महतो निज्जरालाभो साहुक्कारो य पाविज्जइ । अतो कायव्वं त जहाविहिं साहूहिं ति । "

आह-यद्येव तर्हि श्राद्धकुलेषु मा सोऽपि प्रवेशमकार्षीत्, यदा प्राघूर्णकाऽऽदिकार्यं समुत्पन्नं भविष्यति, तदा प्रवेश करिष्याम., ततश्च बहुतरमुत्कृष्टं च लप्स्यामहे ।

सूरिराह-

एवं च पुणो ठविए, अप्पविसंते इमे भवे दोसा ।
वीसरण संजयाणं, विसुक्कगोणीइ आरामे ॥७५९॥

एव च तावद्यमदणाया दोषा अभिहिता' । पुन'शब्दो विशे-षणार्थ' । यदि पुन स्थापनाकुलानि सर्वथैव स्थाप्यन्ते, ततो (ठविए त्ति) तथैवं स्थापितेषु अप्रविशतां साधूनामेते दोषा भवेयुः । तत्र ग-विस्मरण संयताना भवति, भिक्षा दातव्येति-नियमाभावात् । अत्र च विशुष्कया गवा, आरामेण च दृष्टा-न्त -"जहा एगस्स चोदधिज्झाइयस्स गोणी-धेणू । सा य पओ-सपच्चूसेसु कुडव कुडव दुद्धस्स य पयच्छेइ । तस्स य दसहिं दिवसेहिं सखडी भविस्सइ । ताहे सो चिंतेइ-एसा यावी ताव बहुय खीरं देइ, तया य दुल्लह खीरं भविस्सइ, समयंतया अवस्सं कज्जं, तो इयाणिं न दुहामि । तया चेव एक्कसराए दुहिस्सामि, वर मे दस कुलवा होंतया । पत्ते च संखमिदिवसे महत कुडय गहाय गोणीदुहणट्ठयाए दुक्को जाव विसुक्का, चुलुओ वि नत्थि दुद्धस्स । एव सजया वि अणल्लियंतो तेसिं सड्ढाण'प-म्हुट्ठा न चेव जाणनि-किं सजया अत्थि, न वा ? । ते वि सजया जम्मि दिवसे कज्ज ति मिगया जाव न सति ताणि दव्वाणि, तम्हा दोण्ह वा तिण्ह वा दिवसाण अवस्सं गंतव्वं । "

अहवा आरामदिट्ठतो-जहा एगो आरामिओ सो चिंतेइ-मम आरामे पुप्फाणं आढय दिणे दिणे उट्ठेइ, इदमहदिवसे अ बहुजणो पुप्फाण कायओ भविस्सइ, तो मा दिणे दिणे पुप्फाइं उच्चेमि, तद्दि-वस वरं बहूणि पुप्फाणि होंताणि त्ति । पत्ते य इदमहदिवसे सो प-लियाउं घेत्तु गओ, ताव सो आरामो उप्फुल्लो, एगमवि पुप्फ न-त्थि । एव ते यद्दिवसं कज्जमुप्पन्न तद्दिवस पविट्ठा ठवणाकुलेसु । ताहे सड्ढा भणंति-तुम्भे इह चिय अत्थता न मुणह वेल अम्ह, एए चत्ता वेला अप्पविसंतेसु य न कोइ दमण पडिवज्जइ । न वा अणुव्वए गिलाणपाउग्ग वि नत्थि । " यतश्चैवमत. प्रवेष्टव्य स्थापनाकुलेषु गीतार्थसघाटकेन ।

स कीदृग्दोषैर्विरहित.?, इत्यत आह-

अलसं घसिर सुविरं, खमगं कोहमाणमायलोहिल्लं ।
कोऊहलपडिबद्धं, वेयावच्चं न कारिज्जा ॥७६०॥

अलसं निरुद्यम, घसितार बहुभक्षिण, सुवार स्वप्नशीलम् । "शीलाऽऽद्यर्थस्येर" ॥८। २।१४५॥ इति प्राकृतलक्षणबलाद्रुम-त्रापि तृन्प्रत्ययस्येरादेश । क्षपक प्रतीत (कोहमाणमायालो-हिल्ल त्ति) को धवन्त, मानवन्त, मायावन्त, लोभवन्तम् । सर्वत्रापि मतुप्प्रत्यय. । यथा गोमानिति । (कोऊहल त्ति) मत्वर्थीयप्रत्य-यलोपात्कौतूहलिन, प्रतिबद्ध सूत्रार्थग्रहणसक्तम् । एतान् वैयावृ-त्यमाचार्यो न कारयेदिति समासार्थ' ।

अथैनामेव गाथां विवरीषु' प्रथमतः प्रायश्चित्तमाह-

तिसु लहुओ तिसु लहुआ, गुरुओ गुरुआ य लहुग लहुगो य ।
पेसगकरितगाणं, आणाइ विराहणा चेव ॥७६१॥

अलसाऽऽदीन् य आचार्य. स्ववैयावृत्त्यार्थं प्रेषयति, व्यापारय-तीत्यर्थः । यश्चैभिर्दोषैर्दुष्टः स्वव वैयावृत्य करोति, तयोः प्रेष-ककुर्वतो. प्रायश्चित्तम् । तद् यथा-त्रिषु अलसबह्वाशिनिद्रालुषु लघुको मास', त्रिषु क्षपककोपनाभिमानिषु चत्वारो लघव, मायावति गुरुको मास. । लोभवति चत्वारो गुरुकाः । कौतूह-लवति चत्वारो लघुकाः, सूत्रार्थप्रतिबद्धे लघुमासः । आज्ञा-ऽऽदयश्च दोषा. ; विराधना चाऽऽत्मसंयमविषया ।

तत्रालसस्वप्नशीलभोजनादोषानाह-

ता अत्थइ ना फिडिओ, सड्ढाओ अप्पसमाविरे दोसा ।
गुरुमाई तेण विणा, विराहणुस्सक्कठवणादी ॥७६२॥

अलस. स्वप्नशीलश्च तावदुपविष्ट शयानो वा आस्ते, यावद् सन् विद्यमानकाल. सत्काल, भिक्षाया स्फिटितोऽतिक्रान्त, तदा च पर्यटन्नसौ बद्धा तद्वा भक्तपान लभते, न प्रायोग्य, तेन प्रायोग्ये-ण विना या गुर्वादीनामाचार्यबालवृद्धग्लानाऽऽदीनां विराधना तन्निष्पन्न प्रायश्चित्तम् । यद्वा-अतिक्रान्तायां वेलायामायान्त वै-यावृत्यकर मत्वा प्रायोग्यस्यानुत्ष्वष्कणं श्राद्धकानि कुर्यु., उ-त्सुरे तद्विदध्युरिति भाव. । यद्वा-तदुपस्कृत प्रायोग्य भक्त स्था-पयेयु , तत. स्थापनादोष. । आदिशब्दात्साधूनामसविभक्त भ-क्तं कथ मुखे प्रक्षिप्यते ? , इति वुध्या तेषामभुञ्ज्यमानानाम-न्तरायाऽऽदयो दोषा ॥

अप्पत्ते वि अलजो, हाणी ओसक्कणा य भज्जदे ।
अणहिंमंतो अ चिरं, न लहइ जं किंचि आणेइ ॥७६३॥

अथ यदेतत् कर्मासाक मध्ये समापतितं तन्निर्वाहित प्र-वर्तिंवति कृत्वा अप्राप्ते काले भिक्षामटति, तदा अलाभो-न किमपि प्राप्यते । ततश्चाऽऽचार्याऽऽदीना हानिरसस्तर भवति । यस्तु अतिभद्रकोऽतीव धर्मश्रद्धावान्, गूहयति सोऽवष्वष्कण, विवक्षितकालादर्वाक् भक्तनिष्पादन कुर्यात् । यद्वा-अभावस-स्वान्निद्रालुत्वाद्वा चिरमहिण्डमान सन् किमपि लभते; यत्किञ्चिद्वा पर्युषितं वल्लचणकाऽऽदिक वा आनयति, तेन भुक्तेनापथ्यतया गुर्वादीना ग्लानत्व भवति; तत. परि-तापमहादुःखाऽऽदिका ग्लानाऽऽरोपणा ।

अथ 'घसिर त्ति' पद भावयति-

गिण्हामि अप्पणो ता, पज्जत्तं तो गुरूण घित्थामि ।
घेत्तुं च तेसि घेत्यं, सीयल्लओसक्कओमाई ॥७६४॥

यो महोदर. स वैयावृत्ये नियुक्तो भिक्षामटन् चिन्तयति-गृ-ह्णामि तावदात्मनो योग्य पर्याप्त, ततो गुरूणां हेतोर्ग्रहीष्यामि । यद्वा-तेषां गुरूणां योग्य गृहीत्वा, तत आत्मनो अर्थाय ग्र-हीष्ये, इत्य विचिन्त्य यदि प्रथम गुरूणा योग्य गृहीत्वा प-श्चादात्मार्थं गृह्णाति, ततो यावता कालेनाऽऽत्मना पूर्यते, तत्प-र्याप्त भवति, तावता स्थापनाकुलेषु वेलाऽतिक्रमो प्रभवे ।

अथ वेलाऽतिक्रमभयादेशक एव तेषु प्रविशति, तत आत्मनोऽवश भवेत्, उदरपूरण न भवेदिति भाव. । ततश्चैवमाद्वारतया तस्यैव अनागाढपरितापनाऽऽदयो दोषाः ।

अथ क्षपकक्रोधवतो दोषानाह-

परितावितिज्जइ खमओ, अह गिरहइ अप्पणो इयर-हाणी ।
अविदिन्ने कोहिल्लो, रूसइ किं वा तुमं देसि ? ॥७६५॥

यदि क्षपको गुरुणा हेतोः प्रायोग्यं गृह्णाति,नाऽऽत्मन', तत. स एव परिताप्यते । अथाऽऽत्मनो गृह्णाति, तत इतरेषामाचार्याणां, हानि परितापना । यस्तु क्रोधवान्. सोऽवितीर्णे-अदत्ते सति रुष्यति । रुष्टश्चागारिण भणति-यदि भवान् न ददाति, तर्हि मा दात् । किं भवदीय गृह हस्ताऽऽसामि प्रव्रज्या प्रतिपन्नोऽसि ?। किं वा त्व ददासि, येनैवमह ददामीति गर्वितो भवसि ? । इत्यादिनिर्दुर्वचनैः सार्द्धं विपरिणमयति ।

मानिमायिनोर्दोषानाह-

कण्णुट्ठमदिन्ने, थद्धो न य गच्छए पुणो जं वा ।
माई भद्दगभोई, पंतेण व अप्पणो छाए ॥७६६॥

य. स्तब्ध' मानी, स कृने तुच्छे दत्ते, (अणुट्ठ त्ति) अभ्युत्थाने वा अकृते (अदिन्न त्ति) सर्वथैव वा अदत्ते सति, पुनर्भूय, तदीय गृह न गच्छति । भणति च-श्रावकाणामितरेषा च को विशेष.?, यदि द्वितयेऽपि साधूनामभ्युत्थानाऽऽदिविनयप्रक्रियामन्तरेण भिक्षा प्रयच्छन्ति ?, ततो नाहममुष्य गृह भूयः प्रविशामीति । ततो (जं व त्ति) तद्गृहप्रवेशं विना प्रायोग्यस्यालाभे यत्किञ्चिदाचार्याऽऽदीनां परितापनाऽऽदिकं भवति, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्तम् । यस्तु मायी भद्रकभोजी, प्रायोग्यमुपाश्रयाद्बहिर्भुक्त्वा प्रान्तमानयतीति भाव । यद्वा-प्रान्तेन वल्लचणकाऽऽदिना, आत्मनो योग्य स्निग्धमधुरद्रव्यं छादयति, छादयित्वा च गुरूणा दर्शयति ।

लुब्धस्य दोषानाह-

ओभासइ खीराई, दिज्जंते वा न वारई लुद्धो ।
जेऽणेगविसणदोसा, एगस्स वि ते उ लुद्धस्स ॥७६७॥

यो लुब्ध. सन् स्थापनाकुलेषु क्षीराऽऽदीन्यवभाषते । यद्वा-श्रद्धाऽतिरेकतस्तैर्दीयमानानि स्निग्धमधुराणि न वारयति, ततश्च येऽनेकेषु स्थापनाकुल ; प्रविशत्सु उद्गमदण्डाऽऽदयो दोषा व र्णिता., ते सर्वेऽप्येकस्यापि लुब्धस्य प्रवेशतो द्रष्टव्या. ।

कुतूहलिन सूत्रार्थप्रतिबद्धस्य च दोषानाह-

नडमाई पिच्छंतो, ता अत्थइ जाव फिट्टई वेला ।
सुत्तत्थे पडिबद्धो, ओसक्कऽहिसक्कमाईया ॥७६८॥

य कुतूहली, स नटाऽऽदीन् प्रेक्षमाणस्तावदास्ते, यावद्वेला स्फिटति । यस्तु सूत्रे अर्थे वा प्रतिबद्ध आसक्त , स गुरूणां धर्मकथाऽऽदिव्यग्रतया यदैवान्तर लभते, तदैवाप्राप्तकालेऽपि भिक्षार्थमवतरति । वेलाऽतिक्रम वा कृत्वाऽकालवेलाऽऽदावतरति, ततोऽवष्वष्कणाभिष्वष्कणाऽऽदयो दोषा ।

यतश्चैवमत किं कर्त्तव्यमिति ?, आह-

एयदोसविमुक्कं, कडजोगिं नायसीलमायारं ।
गुरुभत्तिमं विणीयं, वेयावच्चं तु कारेज्जा ॥७६९॥

एभिरनन्तरोक्तै',दोषैर्विमुक्त वर्जितम् ।किंविशिष्टम् ?,इत्याह-कृतयोगिन गीतार्थम् ।ज्ञातशीलाऽऽचारम् ज्ञात सम्यगवगत,शील प्रियधर्मताऽऽदिरूपम्,आचारश्चक्रवालसामाचारीरूपो यस्य स तथा, तम । तथा गुरव आचार्या',तेषु भक्तिमन्तमान्तरप्रतिबन्धोपेतम । विनीतमभ्युत्थानाऽऽदिबाह्यविनयवन्तम् । एवंविध शिष्य वैयावृत्त्यमाचार्य' कारयेत् * ।

आह-किमर्थं वैयावृत्त्यकरस्येयन्तो गुणा मृग्यन्ते ? ।

उच्यते-

साहंति य पियधम्मा, एसणदोसे अभिग्गहविसेसे ।
एवं तु विहिग्गहणे, दव्वं वड्ढंति गीयत्था ॥७७०॥

प्रियधर्माण , उपलक्षणत्वादपरैरप्यनन्तरोक्तगुणैर्युक्ता वैयावृत्त्यकरा. (साहति त्ति) कथयन्ति, एषणादोषान्-म्रक्षितनिक्षिप्ताऽऽदीनि । यथा-इत्थ म्रक्षितदोषो भवति, इत्थ तु निक्षिप्त इत्यादि । एतैश्च दोषैर्दुष्ट साधूनां न दीयते । अभिग्रहविशेषांश्च जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकसम्बन्धिन., कथयन्ति । एवम्-उक्तेन विधिना, स्थापनाकुलेषु ग्रहणे,श्रद्धा वर्द्धयन्तो गीतार्था ,द्रव्यमपि घृताऽऽदिक वर्द्धयन्ति ।

इदमेव भावति-

एसणदोसे व कए, अकए वा जइगुणविकत्थंता ।
कहयंति असढभावा, एसणदोसे गुणे चेव ॥७७१॥

एषणादोषे म्रक्षिताऽऽदौ,कृते वा अकृते वा,यतिगुणान् क्षान्तिमार्दवाऽऽदीन्, विकत्थमाना -विविध श्लाघमाना , अशठभावा कैतववर्जिता., न भक्तपानोपायनिमित्तमिति भाव । एषणादोषान् कथयन्ति । तथा गुणा -साधूनां प्रासुकैषणीयभक्तपानप्रभवा. पापकर्मनिर्जराऽऽदयः,तांश्च,गीतार्था कथयन्ति । यथा-"समणोवासगस्स ण भंते ! तहारूवं समण वा माहण वा फासुएण एसणिज्जेण असणपाणखाइमसाइमेण पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ? । गोयमा ! एगतसो निज्जरा कज्जइ,नत्थि य सो पावकम्मे कज्जइ त्ति " ।

अथैतेत्थ न कथयेयु , तत के दोषा इति ?. आह-

बालाई परिचत्ता, अकहिंतेऽणेसणाइगहणं वा ।
न य कहपवंचदोसा,अह य गुणा साहिया होंति ॥७७२॥

तेषु श्राद्धकुलेषु जिनकल्पिका भिक्षार्थमायाता , तेषा परमान्नाऽऽदिक लेपकृतमुपनीत, तैश्च भगवद्भि प्रतिषिद्धम् । ततस्तानि श्राद्धकाणि चिन्तयेयु.-'एत एव प्रधाना साधव ,इतरे तु स्निग्धमधुरद्रव्यग्राहिण. सर्वेऽपि नामधारकमात्रा साध्वाभासा एव इति । तत श्रद्धाभङ्गमाजितानि भूय प्रायोग्यद्रव्य नोपढौकयेयु । एवमभिग्रहविशेषानकथयद्भिर्गीतार्थैर्बालाऽऽदय परित्यक्ता भवन्ति । अनेषणातो दोषान्, शुद्धभक्तपानदानस्य च गुणाश्च कथयेयु, ततस्तानि श्राद्धकान्यनेषणा कुर्यु ,तत्र च यदि प्रतिषिध्यति, तदाऽपि बालाऽऽदय परित्यक्ता , तेषा प्रायोग्याभावे मस्तरणाभावात् । अथ न प्रतिषिध्यते, ततोऽनेषणाऽऽदिग्रहण भावयेत् । आदिशब्द एव-

* 'ह्रक्रोरन्यतरस्याम्' ॥ १ । ४ । ५३ ॥ (पाणि०) ह्रक्रोर्णौ य कर्ता स णौ कर्म वा स्यात् । " ह्रक्रोर्नवा ॥ २ । २ । ८ ॥ (हैम०) ह्रक्रोरणिकर्ता णौ कर्म वा स्यात् ।

णादोषाणामेव स्वगतानेकभेदसूचकः । आह-गोचरप्रविष्टानां साधूनां कथाप्रबन्धः कर्तुं न कल्पते । अमी च साधव इत्थमेषणादोषाऽऽदीनां कथाप्रबन्धतः कथं न दोषभाजो भवन्तीति ? । उच्यते-न च नैवात्र, कथाप्रबन्धदोषा भवन्ति । यदिह भक्तपानलोलुपतया कथां प्रबध्नीयुः, ततो भवेयुर्दोषाः, तच्च नास्ति, एषणाशुद्धिहेतोरेव तेषामित्थं कथनात् । अथ च प्रत्युतेत्थं कथयद्भिस्तैर्गीतार्थैर्गुणाः-बालवृद्धाऽऽद्युपष्टम्भगुरुप्रभृतयः, साधिता भवन्ति ।

कथं पुनस्ते कथयन्ति ?, इत्याह-

ठाणं गमणागमणं, वावारं पिंमसोहिमुल्लोगं ।
जाणंताण वि तुब्भं, बहुवक्खेवाण कहयामो ॥७७३॥

स्थानं नाम-आत्मप्रवचनसंयमोपघातवर्जितो भूभागः । यत्र स्थितस्य गवाश्वमहिषाऽऽदेराहननाऽऽदि न भवति, स आत्मोपघातवर्जितः । यत्र तु निर्द्धमनाऽऽद्यशुचिस्थानव्यतिरिक्ते प्रदेशे स्थितस्य लोकः प्रवचनस्यावर्णं न ब्रूयात्, स प्रवचनोपघातवर्जितः । यत्र पुनः पृथिव्यादिकायानां विराधना न भवति, स संयमोपघातवर्जितः । गमनं, गच्छता षट्कायानामुपमर्दनं कुर्वता न गन्तव्यम् । एवमागमनमपि, भिक्षां गृहीत्वा साधुसमुखमागच्छता दायकेनोपयुक्तेनाऽऽगन्तव्यम् । व्यापारः कर्त्तनकण्डनपेषणाऽऽदिकः । तं च सम्यग् ज्ञापयन्ति-ईदृशे व्यापारे भिक्षा ग्रहीतुं कल्पते, ईदृशे तु नेति । पिण्डशुद्धेरुद्गोक लेशोद्देशं कथयन्ति-इत्थमाधाकर्माऽऽदयो दोषा उपजायन्ते; इत्थमेभिर्दोषैरदुष्टं पिण्डं साधूनां दीयमानं शुद्धो बहुफलश्च भवतीत्येवपिण्डनिर्युक्तिलेशतो ज्ञापयन्तीति भावः । तथा यद्यपि यूयमिदं साधुधर्मरूपमग्रेऽपि जानीथ, तथाऽपि युष्माकं बहुव्याक्षेपाणामविस्मरणार्थं कथयाम इति ।

अपि च-

केसिंचि अभिग्गहिया, अणभिग्गहिएसणा य केसिंचि ।
मा हु अवन्नं काहिह, सव्वे वि हु ते जिणाणाए ॥७७४॥

केषाञ्चित्साधूनाम्,अभिगृहीता एषणा । यथा जिनकल्पिकानाम् । केषाञ्चित्तु अनभिगृहीता । यथा-गच्छवासिनाम्, सप्तस्वपि एषणासु तेषां भक्तपानस्य ग्रहणात् । एवं चापरां भक्तपानग्रहणसामाचारीं दृष्ट्वा यूयं मा अवज्ञां करिष्यथ । कुतः ?, इत्याह-सर्वेऽपि ते भगवन्तो जिनकल्पिकाः स्थविरकल्पिकाश्च, जिनाऽऽज्ञायां वर्तन्ते, स्वस्वकल्पस्थितिपरिपालनात् । अतो न केऽप्यवज्ञातुमर्हन्तीति भावः ।

किं च-

संविग्गभावियाणं, लुद्धगदिट्ठंतभावियाणं च ।
मुत्तूण खेत्तकाले, भावं च कहिंति सुद्धुंछं ॥७७५॥

येषां श्राद्धानां पुरत एषणादोषाः कथ्यन्ते, ते द्विधा-संविग्नभाविता, लुब्धकदृष्टान्तभाविताश्च । संविग्नैरुद्यतविहारिभिर्भाविताः संविग्नभाविताः । ये तु पार्श्वस्थाऽऽदिभिर्लुब्धकदृष्टान्तेन भाविनास्ते लुब्धकदृष्टान्तभाविताः । कथमिति चेत् ? । उच्यते-पार्श्वस्था श्राद्धानित्थं प्रज्ञापयन्ति । यथा-कस्यापि हरिणस्य पृष्ठतो लुब्धको धावति, तस्य हरिणस्य पलायनं श्रेयः, लुब्धकस्यापि तत्पृष्ठतोऽनुधावनं श्रेयः । एवं साधोरप्यनेषणीयग्रहणतः पलायितुमेव युज्यते; श्रावकस्यापि तेन तेनोपायेन साधोरेषणीयमनेषणीयं वा दातुमेव युज्यते इति । इत्थं द्विविधानामपि श्राद्धानां पुरतः शुद्धं द्वाचत्वारिंशद्दोषरहितं,यदुञ्छमिवोञ्छं-स्तोकस्तोकग्रहणात्, तच्छुद्धोञ्छम्, उत्सर्गपदमित्यर्थः । तत्कथयन्ति । किं सर्वदैव ? , नेत्याह-मुक्त्वा क्षेत्रकालौ, भावं चेति । क्षेत्रं कर्कशक्षेत्रमध्वानं वा, कालं दुर्भिक्षाऽऽदिकं, भावं ग्लानत्वाऽऽदिकं प्रतीत्य, ते श्राद्धाः किञ्चिदपवादमपि ग्राह्यन्ते ।

अपि च-इदमपि ते श्राद्धा ज्ञापनीयाः-

संथरणम्मि असुद्धं, दोण्ह वि गिण्हंतदितयाणऽहियं ।
आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥७७६॥

संस्तरणं नाम-प्रासुकमेषणीयं वा अशनाऽऽदि पर्याप्तं प्राप्यते, न च किमपि ग्लानत्वं विद्यते; तत्राशुद्धम्-अप्रासुकमनेषणीयं च, गृह्णतो ददतश्च, द्वयोरपि,अहितमपथ्यम्; गृह्णतः संयमबाधाविधायित्वात् । ददतस्तु भवान्तरे स्वल्पायुर्निबन्धनकर्मोपार्जनात् । तदेवाशुद्धम्, असंस्तरणे अनिर्वाहे, दीयमानं च हितं पथ्यं भवति । आह-कथं यदेवाकल्प्यं, तदेव च कल्प्यं भवितुमर्हतीति ? । उच्यते-आतुरो रोगी, तस्य दृष्टान्तेनेदं मन्तव्यम् । यथा हि-रोगिणः कामप्यवस्थामाश्रित्य अन्नौषधाऽऽदिकमपथ्यं भवति, काञ्चित्पुनः समाश्रित्य तदेव पथ्यम्; एवमिहापि भावनीयम् । तदेव भावितम्-" साहति य पियधम्मा, एसणदोसे अभिग्गहविसेसे । " (७७० गाथा) इति ।

अथ यदुक्तम्-(एव तु विहिग्गहणे त्ति) तत्र विधिग्रहणं भावयति-

संचइयमसंचइयं, नाऊण असंचयं तु गिण्हंति ।
संचइयं पुण कज्जे, निब्बंधे चेव संतरितं ॥७७७॥

प्रायोग्यद्रव्यं द्विधा-साञ्चयिकमसाञ्चयिकं च । साञ्चयिकं घृतगुडमोदकाऽऽदि । असञ्चयिकं तु-दुग्धदधिशालिसूपाऽऽदि । तत्र यदसञ्चयिकं, तत् स्थापनाकुलेषु प्रभूतं ज्ञात्वा गृह्णन्ति । सञ्चयिकं पुनर्ग्लानप्राघूर्णकाऽऽदौ महति कार्ये उत्पन्ने गृह्णन्ति । अथ श्राद्धानां महानिर्बन्धो भवति, ततोऽग्लाना अपि गृह्णन्ति, परं सान्तरितम्, न दिने दिने इति भावः । एष सञ्चयिकग्रहणस्यापवाद उक्तः ।

अथापवादस्यापवादमाह-

अहवण सड्ढाविभवे, कालं भावं च बालवुड्ढाई ।
नाउं निरंतरगहणं, अन्निन्नभावे य ठायंति ॥७७८॥

"अहवण त्ति" अखण्डमव्ययं प्रकारान्तरद्योतनार्थम् । श्रावकाणां श्रद्धां दानरुचिं तीव्रां परिज्ञाय, विभवं च विपुलतरं तदीयगृहेऽवगम्य, कालं दुर्भिक्षाऽऽदिकं, भावं च ग्लानत्वाऽऽदिकं, ज्ञात्वा,बालवृद्धाऽऽदयो वा आप्यायिता भवन्तीति ज्ञात्वा, निरन्तरग्रहणमपि कुर्वन्ति: सञ्चयिकमपि दिने दिने गृह्णन्तीति भावः । यावच्च दायकस्य दानभावो न व्यवच्छिद्यते, तावदच्छिन्ने भावे तिष्ठन्ति, दीयमानं प्रतिषेधयन्तीत्यर्थः । यथा तेषां भूयोऽपि श्रद्धा जायते ।

अथ स्थापनाकुले भक्तपानग्रहणे सामाचारीमभिधित्सुराह-

दव्वपमाणं गणणा, खारिय फोडिय तहेव अद्धा य ।
संविग्ग एगठाणे, अणेगसाहूसु पन्नरस ॥७७९॥

द्रव्य शाल्यादि, तस्य प्रमाणं ज्ञातव्यम्-कियदत्र गृहे दसवस्यां शालिमुद्गाऽऽदि दिने दिने प्रविशति ?। गणना नाम-कियन्ति घृतपलान्यत्र प्रविशन्ति। यद्वा कियन्ति मानुषाण्यत्र जेम (य) न्ति। क्षारो लवणं, तेन संस्कृतानि क्षारितानि-करीराऽऽदीनि व्यञ्जनानि, तानि कियन्त्यत्र पच्यन्त इति ?। (फोडिय त्ति) स्फोटितानि मरिचजीरकाऽऽदिकटुभाण्डधूपितानि शालनकानि। एतेषामपि तथैव प्रमाणं ज्ञातव्यम्। अद्धा कालः,स ज्ञातव्यः-किमत्र प्रहरे वेला, उत सार्द्धप्रहरे,आहोस्वित्प्रहरद्वये इति। एतद् द्रव्यप्रमाणाऽऽदि विज्ञाय संविग्नो मोक्षाभिलाषी । (एगठाणे त्ति) एकः संघाटकः,तत्र प्रविशति। यदि पुनरनेके साधवः स्थापनाकुलेषु प्रविशन्ति, ततः पञ्चदशाऽऽधाकर्माऽऽदयोऽनिसृष्टान्ता उद्गमदोषा भवन्ति, अध्यवपूरकस्य मिश्रजातप्रान्तर्भावात्। एष संग्रहगाथासमासार्थः ।

अस्या एव भाष्यकृद् व्याख्यानमाह-

असणाइदव्वमाणे, दसपरिमिए एगभत्तमुव्वराति।
सो एगदिणं कप्पइ, निच्चं तुऽज्झोयरो इहरा * ॥७८०॥

अशनमोदनमुद्गाऽऽदि, आदिग्रहणात्पानकखादिमस्वादिमपरिग्रहः । एतेषां द्रव्याणां परिमितानामपरिमितानां च मानं प्रमाणं ज्ञातव्यम्। यत्र परिमितमशनाऽऽदि द्रव्यं प्रविशति,तत्र दशानां मानुषाणां हेतोरुपस्क्रियमाणे, एकस्यापरस्य योग्यं भक्तं भक्तार्थमुद्धरति। स च भक्तार्थ एकस्य साधोः परिपूर्णाऽऽहारमात्ररूप एकं दिनं ग्रहीतुं कल्पते। इतरथा यदि द्वितीयाऽऽदिदिवसेषु गृह्णन्ति, तदा (निच्च तु त्ति) स साधुभिः प्रतिदिवसं गृह्यमाणो भक्तार्थो नित्यजेमनमेव तैः श्राद्धैर्गण्यते, ततश्च तदर्थमध्यवपूरकं प्रक्षिप्येत। एवं तावत्परिमितमाश्रित्योक्तम्।

अथापरिमितमधिकृत्याऽऽह-

अपरिमियाउद्धेण वि, दसएहमुव्वरइ एगभत्तट्ठो ।
वंजणमपितिमपिट्ठे, वेसणमाईसु य तहेव ॥७८१॥

यत्र पुनरपरिमितं राध्यते, तत्र दशानां मानुषाणामर्वागपि नवाष्टाऽऽदिसङ्ख्याकानामपि हेतोः, राद्धे, एकस्य योग्यो भक्तार्थ उद्धरति। स च दिने दिने कल्पत इति । आह च चूर्णिकृत्-"अपरिमिए पुण भत्ते, दसण्हद्वारेण वि एगस्स भत्तट्ठो दिणे दिणे कप्पइ चेव।" तथा व्यञ्जनानि तीमनवटिकाभर्जिकाऽऽदीनि। (समिनिम त्ति) समिता कणिका, तया निष्पन्ना समितिमा-मण्डका,पूपलिका वा, पिष्टमुष्करकाऽऽदि। सक्तुप्रभृति वा। (वेसण) मरिचजीरकहिङ्गुप्रभृतिकं कटुभाण्डम् । आदिग्रहणाल्लवणशुण्ठ्यादिपरिग्रहः । एतेषामपि परिमाणं तथैव द्रष्टव्यं, यथा अशनाऽऽदीनाम्। एतावता द्रव्यप्रमाणं गणना क्षारितस्फोटितानीति गाथादलं भावितम्।

अथ " अद्धा य त्ति " पदं व्याचष्टे-

सतिकालद्धं नाउं, कुले कुले ताहि तत्थ पविसंति।
ओसक्कणाइ दोसा, अलंभे बालाइहाणी य ॥७८२॥

सत्कालाद्धा-भिक्षायाः सबन्धी यः, तत्र देशकालरूपोऽद्धा, तं ज्ञात्वा, कुले कुले, तस्मिन् देशे, तत्र काले, प्रविशन्ति। अथ देशकाले अतिक्रान्तेऽप्राप्ते वा प्रविशन्ति, ततोऽवष्वष्कणाऽऽदयो दोषाः। अथावष्वष्कणाऽऽदिकं नानि श्राद्धकान्यशुद्धदानदोषभ्रयणव्युत्पन्नमतीनि न कुर्युः, ततः प्रायोग्यद्रव्यस्यालाभे बालाऽऽदीनां हानिर्भवेदिति।

एगो व होज्ज गच्छो, दोन्नि व तिन्नि ठवणा असंविग्ग।
सोही गिलाणमाई, असई दवाइ एमेव ॥ ७८३ ॥

विवक्षितक्षेत्रे एको वा गच्छो भवेत्, द्वौ वा, त्रयो वा। तत्रैकं गच्छमाश्रित्य विधिरुक्तः। अथ द्व्यादीन् गच्छानधिकृत्य विधिरभिधीयते-(ठवणा असंविग्गे त्ति) येषु असंविग्ना प्रविशन्ति, तेषां श्राद्धकुलानां स्थापना कर्त्तव्या । न तेषु प्रवेष्टव्यम्। अथ प्रविशन्ति, तत पञ्चदशोद्गमदोषानापद्यन्ते। (सोहि त्ति) तद्दोषनिष्पन्ना शोधिः प्रायश्चित्तम्। यद्वा-"सोहि त्ति पदं गिलाणमाई" इत्युत्तरपदेन सह योज्यते। अतोऽयमर्थः-ग्लानप्राघूर्णकाऽऽदीनामर्थाय, असंविग्नभावितेष्वपि कुलेषु शोधिरेषणाशुद्धिः; तया शुद्धं भक्तं गृह्यते, न कश्चिद्दोषः । "(असई दवाइ एमेव त्ति)" अन्यत्रासति अविद्यमाने, द्रव्याऽऽदिकमप्येवमेव-असंविग्नभावितकुलेषु ग्रहीतव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवरीषुराह-

संविग्गमणुन्नाते, अतिंति अहवा कुले विरंचिंति ।
अण्णातुंछं च सहू, एमेव य संजईवग्गे ॥ ७८४ ॥

इह यैस्तत् क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं, तेषु पूर्वस्थितेषु ये अन्ये साधवः समायान्ति, ते साम्भोगिकाः, असाम्भोगिकाश्च । तत्र चासाम्भोगिकेषु संविग्नेषु विधिरुच्यते-संविग्नैर्वास्तव्यसाधुभिः,अनुज्ञाते पूर्वस्थापनाकुलेषु, 'प्रविशत. वयमज्ञातोञ्छं गवेषयिष्याम.', इत्येवमनुज्ञाया प्रदत्तायामागन्तुका संविग्ना स्थापनाकुलेषु (अतिंति त्ति) प्रविशन्ति। वास्तव्यास्तु स्थापनाकुलवर्जेषु गुरुग्लानवृद्धाऽऽदीनामात्मनश्च हेतोर्भक्तपानमुत्पादयन्ति। अथवा वास्तव्या असहिष्णव , ततो यावन्तो गच्छा , तावद्भिर्भागैः स्थापनाकुलानि विरचयन्ति-आर्या 'एतावत्सु कुलेषु भवद्भिः प्रवेष्टव्यम, एतावत्सु पुनरस्माभिरिति। अथवा यद्यागन्तुका (सहू इति) सहिष्णवः समर्थशरीरा., ततोऽज्ञातोञ्छं गवेषयन्त पर्यटन्ति। एवमेव च संयतीवर्गेऽपि द्रष्टव्यम्। ता अपि द्व्यादिगच्छसद्भावे एवंविधमेवविधं कुर्वन्तीत्यर्थ.।

एव तु अण्णसंभो-इआण संभोइआण ते चेव ।
जाणित्ता निब्बंधं, वत्थव्वेणं स तु पमाणं ॥ ७८५ ॥

एव, तु. पुनरर्थे, एष पुनर्विधिरन्यसाम्भोगिकानामुक्तः ये तु साम्भोगिका परस्परमेकसामाचारीका, तेषामागन्तुकानामर्थाय त एव वास्तव्या. स्थापनाकुलेभ्यो भक्तपानमानीय प्रयच्छन्ति। अथ श्राद्धा प्राघूर्णकभद्रका अतीव निर्बन्ध कुर्युः । यथा-प्राघूर्णकसंघाटकोऽप्यस्मद्गृहे प्रस्थापनीय। ततो निर्बन्ध ज्ञात्वा, वास्तव्यसंघाटकेनाऽऽगन्तुकसंघाटकं गृहीत्वा तत्र गन्तव्यम्। यदि च-तत्र प्रचुरप्रायोग्यं प्राप्यते, तत आगन्तुकसंघाटकेन गवेषणा न कर्त्तव्या। यथा किमित्येतावत्प्रचुरं दीयते?। किं तु, (स तु) स एव वास्तव्यसंघाटकः, तत्र प्रमाणं यावन्मात्रं ग्रहीतव्यम्, यद्वा कल्पनीयं, तदेतत्सर्वमपि स एव जानातीति भावः। एष एकस्यां वसतौ स्थितानां विधिरुक्त. । बृ० १ उ०। ओघ०।

* " सो एगदिणं कप्पतिऽणेकतिएं ओदरो इहरा ।" इति प्राचीनपुस्तकस्थपाठ. ।

अथ पृथग्वसतिव्यवस्थितानामाह–

असइ वसहीएँ वीसुं, रायणिए वसहिभोयणा गम्मा * ।
असहू अपरिणया वा, ताहे वीसुं सहू वियरे ॥७७६॥

विस्तीर्णाया वसतेरसत्यभावे. विष्वक् पृथग्, अन्यस्यां वसतौ स्थितानाम्, आगन्तुको वास्तव्यो वा यो रत्नाधिक आचार्य.,तस्य वसतावागम्यावमरत्नाधिकेन भोजनं कर्त्तव्यम् । अथैकस्मिन् गच्छे, द्वयोर्वा गच्छयोरसहिष्णवो ग्लाना भवेयु ; अपरिणता वा शैक्षा –परस्परमिलिताः सन्तोऽसखमं कुर्यु., तदा (वीसु त्ति) अपरिणतान् पृथक् पृथग् भोजयन्ति। (सहू वियरे त्ति) अकारप्रश्लेषादसहिष्णूनां प्रथमालिकां वितरन्ति प्रयच्छन्ति, ततोऽपरिणतान् वसतौ स्थापयित्वा कृतमालिकान् सहिष्णून् गृहीत्वा, सर्वेऽपि रत्नाधिकवसतौ गत्वा मण्डल्यां भुञ्जते। अथ वोत्तरार्द्धमन्यथा व्याख्यायते–(असहू इति) यद्यवमरत्नाधिक आचार्य. स्वयमसहिष्णुर्न शक्नोति रत्नाधिकाऽऽचार्यसन्निधौ गन्तु, न वा तावतीं वेलां प्रतिपालयितु शक्त., अपरिणता वा अगीतार्थास्तस्य शिष्या', तेषां नास्ति कोऽपि सामाचार्या उपदेष्टा, आलोचनाया वा प्रतीच्छक. । ततो विष्वग्वसतौ द्वावप्याचार्यौ समुद्दिशतः (सहू वियरे त्ति) अथवा-यदि रत्नाधिक. सहिष्णुः, तत इतरस्यावमरत्नाधिकस्योपाश्रय गत्वा समुद्दिशति । एव तावद् द्वयोर्गच्छयोर्विधिरुक्त. ।

अथ त्रयो गच्छा भवेयु , ततः को विधिरिति ?, आह–

तिएहं एक्केण समं, भत्तट्ठं अप्पणो अवड्ढं तु ।
पच्छा इयरेण समं, आगमणेँ विरेगोँ सो चेव ॥७७७॥

यद्येक आचार्यो वास्तव्यो भवति, द्वौ चाऽऽगन्तुकौ, तत इत्थं त्रयाणामाचार्याणां सङ्गत्वे द्वयोरागन्तुकयोर्मध्याद् यो रत्नाधिक , तस्य सम्बन्धी यो वैयावृत्यकर , तेनैकेन समं वास्तव्याऽऽचार्यवैयावृत्यकरः पर्यटन् प्राघूर्णकाऽऽचार्यस्य हेतोर्भक्तार्थं परिपूर्णाऽऽहारमात्ररूपम्, आत्मनश्चाऽऽत्मीयाऽऽचार्यार्थमपार्धमर्धमात्रं, श्राद्धकुलेभ्यो गृह्णाति। पश्चादितरेणाऽऽगन्तुकावमरत्नाधिकाऽऽचार्यसम्बन्धिना वैयावृत्यकृता समं पर्यटन् तथैव तद्योग्यं भक्तार्थमात्मनश्चार्धमात्रं गृह्णाति । (आगमणेँ विरेगोँ सो चेव त्ति) यदि त्रिचतुःप्रभृतीनामाचार्याणामागमनं भवति, तत स एव विरेको विभजनम् । किमुक्तं भवति ?–तदीयैरपि वैयावृत्यकरैः समं यथाक्रमं पर्यटता वास्तव्यसाधुना आत्मीयाऽऽचार्यार्थं तथा त्र्यादिभिर्भागैर्भक्तार्थं विभज्य भक्तं ग्रहीतव्यं, यथा सर्वान्तिमवैयावृत्यकरेण समं पर्यटश्चात्मगुरूणां भक्तार्थं परिपूरयतीति ।

अथ "गिलाणमाई असति त्ति" पदं विवृणोति–

अतरंतस्स उ जोगा–सई इयरेहिँ भाविओवसितं।
अन्नपहाणसुवक्खम, जं वा सन्नी सय भुंजे ॥७७८॥

अतरन्तो ग्लान ,तस्य,उपलक्षणत्वाद्-आचार्यस्यापि,यद्योग्यं प्रायोग्य,तस्यासत्यलाभे,इतरे नाम असंविग्ना ,तैर्भावितेषु श्राद्धकुलेषु, प्रातरेव, यस्मिन्महानसे तेऽसंविग्ना अव्ययपूरकाऽऽदिदोषदुष्टां भिक्षां गृह्णते, तद्वर्जयित्वा, यदन्यस्मिन्महानसे केवलं गृहार्थमेवोपस्कृत, ततो ग्लानाऽऽद्यर्थं गृह्यते । यद्वा भक्तं पृथगुपस्कृतं, सन्नी स गृहस्वामी श्रावक., स्वयं भुङ्क्ते, ततो वा गृह्यते, अन्यदीयाद्वा कुतोऽपि गृहाद्यत्प्रहेणकाऽऽदिकमायात तद् गृह्यते।

अथ ' दवाइ एमेव त्ति ' पदं व्याख्यानयन्ति–

असतीए व दवस्स व,परिसित्तियकंजिगुलदवाईणि ।
अत्तट्ठियाइँ गिण्हइ, सव्वालम्भे विमिस्साई ॥७७९॥

यदि ग्लानस्य गच्छस्य वा योग्य द्रवं पानकं संविग्नभाविते ष्वपि कुलेषु (परिसित्तिय त्ति) येनोष्णोदकेन दधिभाजनानि लेप्यन्ते, तत् परिषिक्तपानकं काञ्जिकमारनालम्, गुलद्रवं नाम यस्यां केवलिकायां गुड उत्काल्यते, तस्यां यच्छमनसं वा पानीयं तद् गुडोपलिप्तं द्रवं गुडद्रवम् । आदिग्रहणाद्विश्रापानकाऽऽदिपरिग्रहः। एतानि पानकानि यदि तै. श्राद्धैरात्माऽऽर्थितानि प्रथममेवाऽऽ मार्थं कृतानि, ग्लानाद्यर्थं गृह्णाति। (सव्वालम्भे त्ति) यदि सर्वथैव ग्लानस्य वा गच्छस्य वा योग्यमेषणीयं न लभ्यते, तदा (विमिस्साइ त्ति) विमिश्राणि असंविग्नाना श्रावकाणां चार्थायाचित्तीकृतानि, तान्यपि द्वितीयपदे गृह्यन्ते ।

अथ " असईइ दवाइ " इत्यत्र योऽयमादिशब्दः, तस्य सफलतामुपदर्शयन्नाह–

पाणट्ठाणपविट्ठो, विसुद्धमाहारछंदिओ गिण्हे ।
अद्धाणाइअसंथरे , जइउं एमेव जदसुद्धं ॥७८०॥

पानकार्थं वा प्रविष्टो यदि विशुद्धेनैषणीयेनाऽऽहारेण गृहपतिना छन्द्यते निमन्त्र्यते, ततश्छन्दित. सन् तमपि गृह्णाति । तथा–(अद्धाणाइ त्ति) अध्वनिर्गतानां साधूनां हेतो , आदिशब्दादवमौदर्याशिवाऽऽदिषु वा असंस्तरणे, असंविग्नभावितकुलेषु, एवमेव स्थानोक्तविधिना शुद्धान्वेषणे, यतित्वा यत्नं कृत्वा, ततो यदशुद्धमनेषणीयं, तदप्यागमोक्तनीत्या गृह्णन्ति । उक्त स्थविरकल्पिकानधिकृत्य विहारद्वारम् । बृ० १ उ० ।

ठवणाणंतय–स्थापनानन्तक–न० । स्थापनानन्तकं यदक्षादावनन्तकमिति स्थाप्यते । तस्मिन्ननन्तकभेदे, स्था० १० ठा० । (इदं च ' अणतग ' शब्दे प्रथमभागे २६० पृष्ठे द्रष्टव्यम)

ठवणाणय–स्थापनानय–पुं० । स्थापनाप्राधान्यमिच्छति नये, स्थापनानय आह- स्थापमेत्याकार.। तत्र–"प्रमाणमिदमेवार्थस्याऽऽकारमयता प्रति। नामाऽऽदि न विनाऽऽकार, यत. केनापि वेद्यते"॥१॥ तथाहि-नाम्नोऽर्थान्तरेऽपि वर्त्तयितुं शक्यत्वाद् न तदुल्लेखेऽप्याकारावज्ञासमन्तरेण नियतनीलाऽऽद्यर्थग्रहणमित्याकारग्रहण एव ग्रहात् सर्वस्य सिद्धमाकारमयत्वम्, ततो ज्ञानज्ञेयाभिधानाभिधेयाऽऽदिसकलमाकाराऽऽरोपितमेव संव्यवहारावतारि, तद्विकलस्य खपुष्पस्येवासत्त्वात् । उत्त० १ अ० ।

आगारो चिय मइस–द्दवत्थुकिरियाफलाभिहाणाइं ।
आगारमयं सव्वं, जमणागारं तयं नत्थि ॥६४॥

आकार एव आकारमात्ररूपाण्येव, कानि?, इत्याह–मतिश्च शब्दश्चेत्यादिद्वन्द्व । तत्र मतिस्तावज्ज्ञेयाऽऽकारग्रहणपरिणतत्वादाकारवती । तदनाकारवत्त्वे तु–" नीलस्येदं संवेदनं न पीताऽऽदे ,' इति नैयत्यं न स्यात्, नियामकाभावात् । नीलाऽऽद्याकारो हि नियामक , यदा च स नेष्यते, तदा 'नीलग्राहिणी मतिर्न पीताऽऽदिग्राहिणी" इति कथं व्यवस्थाप्येत?, विशेषाभा-

* गतु, इति प्राचीनपुस्तके पाठ. ।

णात्, तस्मादाकारवत्त्वेव मतिरभ्युपगन्तव्या । शब्दोऽपि पौद्गलिकत्वादाकारवानेव । घटाऽऽदिकं तु वस्त्वाकारवत्त्वेन प्रत्यक्षसिद्धमेव । क्रियाऽप्युत्क्षेपणावक्षेपणाऽऽदिका क्रियावतोऽनन्यत्वादाकारवत्येव । फलमपि कुम्भकाराऽऽदिक्रियासाध्यं घटाऽऽदिकं मृत्पिण्डाऽऽदिवस्तुपर्यायरूपत्वादाकारवदेव । अभिधानमपि शब्दः; स च पौद्गलिकत्वादाकारवानित्युक्तमेव । तस्माद् यदस्ति तत्सर्वमाकारमयमेव । यत्त्वनाकारं तन्नास्त्येव, वन्ध्यापुत्राऽऽदिरूपत्वात्तस्येति गाथाऽर्थः ॥ ६४ ॥

अथ प्रयोगद्वारेणानाकारं वस्तु निराचिकीर्षुराह-

न पराणुमयं वत्थुं, आगाराभावओ खपुप्फं व ।
उवलंभव्ववहारा-भावाओ नाणऽऽगारं च ॥ ६५ ॥

परस्याऽऽकारवद्वस्तुनिषेधकस्य, अनुमतमभिप्रेत, सामर्थ्याद् यदनाकारवद् वस्तु, तन्नास्ति, आकाराभावात्, खपुष्पवत् । अपरमपि हेतुद्वयमाह-" उवलभ" इत्यादि । (नाणगारमिति) नास्त्यनाकारं वस्तु, सर्वथैवानुपलभ्यमानत्वात्, तेनाणीयसोऽपि व्यवहारस्याभावाच्च इति पर्यन्तवर्ती, चकारोऽत्र योजनीय, खपुष्पवदिति दृष्टान्तो हेतुद्वयेऽपि स एवेति गाथाऽर्थः । ॥ ६५ ॥ विशे० ।

ठवणापुरिस-स्थापनापुरुष-पुं० । पुरुषप्रतिमाऽऽदौ, स्था० ३ ठा० १ उ० । काष्ठाऽऽदिनिर्मिते जिनप्रतिमाऽऽदिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

ठवणायरिय-स्थापनाऽऽचार्य-पुं० । अक्षवराटकाऽऽदिषु स्थापिते आचार्ये, (ध०) श्रावकस्य स्थापनाऽऽचार्यविचार - ननु "गुरुविरहम्मि उ ठवणा, गुरूवएसोवदंसणत्थं च । जिणविरहम्मि व जिणबिं-बसेवणामंतणं सहलं ॥१॥" इत्यादिविशेषाऽऽवश्यकवचनप्रामाण्याद् यतिसामायिकप्रस्तावे भदन्तशब्दं व्याख्यानयता भाष्यकृता साधुमाश्रित्य स्थापनाऽऽचार्यस्थापनमुक्तं, न श्रावकमाश्रित्येति कुतस्तेषां स्थापनाऽधिकार इति चेत् ? । न । भदन्तशब्दं भणता तेषां स्थापनाऽऽचार्यस्थापनं युक्तमेव । अन्यथा भदन्तशब्दपठनं व्यर्थमेव स्यात् । अथ च स्थापनाऽऽचार्यस्थापनमन्तरेणापि वन्दनाऽऽद्यनुष्ठानं विधीयते, तदा वन्दनकनिर्युक्तौ-"आयप्पमाणमित्तो, चउद्दिसिं होइ उग्गहो गुरुणो ।" इत्युक्तैर्गुरोरवग्रहप्रमाणमुक्तम्, तत्कथं घटते ? । न हि गुर्वभावे गुरुगतावग्रहप्रमाणं घटमानं स्यात्, ग्रामाभावे तत्सीमव्यवस्थावत् । ध० २ अधि० । (त्रयोदशभिः प्रतिलेखनाभिः स्थापनाऽऽचार्यस्य प्रतिलेखना 'पडिलेहणा' शब्दे वक्ष्यते)

ठवणावीर-स्थापनावीर-पुं० । वीरवर्द्धमानस्वामिस्थापनावत् सुभटस्य स्थापनायाम्, सू० प्र० २० पाहु० ।

ठवणासच्च-स्थापनासत्य-न० । स्थाप्यत इति स्थापना, यल्लेप्याऽऽदिकमर्हद्विकल्पेन स्थाप्यते तद्विषये सत्यं स्थापनासत्यम् । यथा-अजिनोऽपि जिनोऽनाचार्योऽप्याचार्योऽयमिति । स्था० १० ठा० । जिनप्रतिमाऽऽदिषु जिनाऽऽदिव्यपदेशे, प्रश्न० २ सब० द्वार । स्थापना सत्या यथाविधमङ्काऽऽदिविन्यासं मुद्राविन्यासं चोपलभ्य प्रयुज्यते, यथा-एककं पुरतो बिन्दुद्वयसहितमुपलभ्य शतमिदमिति, बिन्दुत्रयसहितं सहस्रमिदमिति । तथाविधं मुद्राविन्यासमुपलभ्य मृत्तिकाऽऽदिषु माषोऽयं कार्षापणोऽयमिति । प्रज्ञा० ११ पद । ध० ।

ठवणिंद-स्थापनेन्द्र-पुं० । इन्द्राऽऽकारलक्षिते, स्था०३ ठा०१ उ० । (व्याख्या चास्य 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३३ पृष्ठे गता)

ठविआ-स्त्री० । देशी-प्रतिमायाम्, दे० ना० ४ वर्ग ।

ठवित्ता-स्थापयित्वा-अव्य० । प्ररूप्येत्यर्थे, व्य० १ उ० ।

ठविय-स्थापित-त्रि० । संयतार्थं स्वस्थाने परस्थाने वा स्थापिते स्थापनादोषदुष्टे, व्य० ३ उ० । "ठविय संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलम् ।" (६५गाथा) दश०५ अ०१ उ० । स्थापितं द्विविधम्-चिरस्थापितम्, अचिरस्थापितं च । तत्र चिरस्थापिते मासलघु । बृ० १ उ० । ऊर्ध्वे, निकटे, हिक्कायां च । दे० ना०४ वर्ग ।

ठवियगभोइ(ण्)-स्थापनकभोजिन्-त्रि० । स्थापनादोषदुष्टप्राभृतकभोजिनि, व्य १ उ० ।

ठविया-स्थापिता-स्त्री० । आरोपणाभेदे, (स्था०) यत्प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्य स्थापितं कृतं, न वाहयितुमारब्धमित्यर्थं । आचार्याऽऽदिवैयावृत्यकरणार्थम्, तद्धि वहन्न शक्नोति वैयावृत्यं कर्तुम्, वैयावृत्यसमाप्तौ तु तत्करिष्यतीति, स्थापितोच्यत इति । स्था० ५ ठा० २ उ० । " मासाऽऽदी निक्खित्तं, जं सेसं दिज्जए तं तु ।" नि० चू०१ उ० । यदि पुनर्यन्मासाऽऽदिकमापन्नं तद् वैयावृत्यमाचार्याऽऽदीनां करोतीति स्थापितं क्रियते, तस्मिंश्च स्थापिते यदन्यत् शेषमुद्घातमनुद्घातं वाऽऽपद्यते, तत्सर्वमपि प्रमादनिवारणार्थमनुद्घातं दीयते सा 'हाडहडा' आरोपणा । व्य० १ उ० ।

ठा-स्था-धा० । गतिनिवृत्तौ, " स्थष्ठाथक्कचिट्ठनिरप्पाः " ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति तिष्ठतेष्ठाऽऽदेशः । 'ठाई' ठाअइ' 'ठाण' । प्रा०४ पाद । "जाहे एया जिव्वइ ताहे णव ठाहेति ।" नि० चू०१ उ० ।

ठाउं-स्थातुम्-अव्य० । 'ष्ठा' गतिनिवृत्तौ इत्यस्य तुमुन्प्रत्ययान्तस्य भवति । अवस्थायेत्यर्थे, आव० ५ अ० । " इच्छामि ठाउं काउस्सग्गं ।" आव० ५ अ० ।

ठाऊण-स्थित्वा-अव्य० । अवस्थायेत्यर्थे, पञ्चा० १८ विव० ।

ठाग-स्ताघ-न० । अवकाशे, बृ० ३ उ० ।

ठाण-स्थान-न० । ' स्था ' भावाऽऽदौ ल्युट् । " स्थष्ठाथक्कचिट्ठनिरप्पाः " ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति स्थाधातोष्ठाऽऽदेशः । प्रा०४ पाद । अवस्थितिविशेषे, आव० ५ अ० । एकत्रैव (दश०४ अ०) उपवेशने, दशा० ३ अ० । निषद्यायाम्, स्था० १० ठा० । निषदनस्थाने, त्वग्वर्तनस्थाने, भ० १४ श० ८ उ० । पादन्यासविशेषे, भ० ७ श० ९ उ० । अवस्थाने, प्रव० ११२ द्वार । आसने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । गमनाद्युपरम्य निवेशं कृत्वा क्वचित् प्रदेशेषु अवस्थाने, बृ० १ उ० । स्थितौ, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । बृ० । कुड्याऽऽदिषु स्थाने, नि० चू० १ उ० । माने, दे० ना० ४ वर्ग ।

जे भिक्खू अणंतरहियाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएइ, चेयतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥ जे भिक्खू

ससरक्खाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥ जे भिक्खू ससणिद्धाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥ जे भिक्खू चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुए कोलावासंसि वा दारुए जाव पइट्ठिए सअंडे सपाणे सबीए सहरिए सउस्से सउत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडसंताणयंसि ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

ससणिद्धससरक्खसिलालेलुकोलावासा सअंडे सपाणे सबीए सउस्से उत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडसंकमणं, एते सुत्तपदा ।

इमं वक्खाणं । गाहा-

पुढवीमादी ठाणा, जत्तियमित्ता उ आहिया सुत्ते ।
तेसु ठाणादीणी, चेतेंताऽऽणादिणो दोसो ॥ २ ॥

ठाणं काउस्सग्गं, आदिसद्दातो णिसीयणतुयट्टणा, चेयणं करणं, अणंतरहिया णाम सचित्ता तम्मि सट्ठाणे पच्छित्तं चउलहुं ।

अहवा । गाहा-

अंतररहिताऽणंतर, ईसिं उल्ला उ होति ससणिद्धा ।
आतरणविभिन्ना फा-सुगाय पुढवी तु ससरक्खा ॥ ३ ॥

अंतरं ववधाणं, तेण रहिता, निरंतरमित्यर्थः । अहवा-पुढवी अणंतभावेण रहिता असंखातजीविका, पज्जत्तपमुहा सचेया वि । अहवा-जीए पुढवीए अंतो जीवेहिं रहिया ण अंतरहिया अणंतरहिता, सर्वा सचेतना, न मिश्रा इत्यर्थः । ईसिं उल्ला ससणिद्धा. सेव पुढवी अचित्ता, सचित्तेण आरण्णेण विभिन्ना ससरक्खा ।

गाहा-

चित्तं जीवो भणितो, तेणं सह संगया तु होति सचित्ता ।
पासाणसिला रुंदा, लेलू पुण मट्टिया लेट्टू ॥ ४ ॥

सचेयणा रुंदा महासिला, सचित्तो वा लेलू लेट्टुओ ।

गाहा-

कोला उ घुणा तेसिं, आवासो तप्पतिट्ठियं दारुं ।
अंडा तु मुइंगादी, पाणग्गहणे तसा चउरो ॥ ५ ॥

बितियं तु अप्परूढं, तदेव रूढं तु होति हरिताऽऽदी ।
कीडगनगरुत्तिंगो, सअंकुर णिरंकुरो पणगो ॥ ६ ॥

कोला घुणा, तेसिं आवासदारुए वा, जीवपतिट्ठिए सपाणे दारुए, पुढवीए वा । एवं सबीए दारुए पुढवीए वा अणंकुरियं बीयं, तं चेव अंकुरितं हरितं, कीडगणगरगो-उत्तिंगो, पउमगद्दभो वा, पणगो पंचवण्णो-सअंकुरो अणंकुरो वा उमावेहो, अंडगा मुइंगाऽऽदिगा, दगमट्टिया-चिक्खल्लो, सचित्तो, मीसो वा ।

गाहा-

मक्कडसंताणो पुण, लूतापुडगो उ अफुडितो जाव ।
संकमणं तस्सेव उ, पिपीलिकादीणिअ तेसिं ॥ ७ ॥

कोलियपुडगं अफुडियं संताणगं, तस्सेव पुरुसस्स गमणकाले संकमणं भण्णति । अहवा-संताणगं संकमणं पिपीलियमक्कोडगादीणं भण्णति । ठाणं उद्धट्ठाणं, सेज्जा आसणं, निसीहिका सज्झायकरणं । एएसिं चेयणं करणं, आवण्णत्ताणं, पच्छित्तं, आणादिया य दोसा, आयसंजमे य दोसा जहासंभवं जाणियव्वा । पुढवादिएगिंदियाणं संघट्टणादिकरणे वेयणोवमा इमा ।

गाहा-

थेरुवमा अक्कंते, मत्ते सुत्ते व जारिसं दुक्खं ।
एमेव य अव्वत्ता, वियणा एगिंदियाणं तु ॥ ८ ॥

जहा थेरस्स जराए जिण्णस्स वरिससतायुस्स तरुणेण बलवता जमलपाणिणा सव्वायामेण अक्कंतस्स जारिसा वेयणा, तारिसा पुढविक्काईयाणं अधिकतरा ठाणादिट्ठियकतेहिं वेयणा भवति । वेयणा य जीवस्स भवति, णो अजीवस्स, ते य जीवलिंगा एगिंदिएसु अव्वत्ता जहा मत्ते सुत्ते वा अव्वत्तं सुहदुक्खलिंगं, एवं एगिंदिएसु वि अव्वत्ता वेयणा दट्ठव्वा, लिंगं च ।

किं च-एगिंदियाण उवयोगपसाहगा इमे दिट्ठंता । गाहा-

जोयणे वा खित्तिए वा, जहा णेहो तणुट्ठितो ।
पावल्ले णेहकज्जेसु, कारेंतुं जे अपच्चलो ॥ ९ ॥

जहा रुक्खे त्ति जोयणे सुहुमो णेहगुणो अत्थि जा, ता तेणाहारितेण सरीरोवचयो भवति, ण य अव्वत्तणओ लक्खिज्जति । तहा पुढवीए अत्थि णेहो सुहुमो, सो वि सुहुमत्तणेण ण दिस्सति, जओ पुढवीए तणुट्ठितो अल्प., ततो तेण प्राबल्य नेहकज्जे हत्थादिसरीरमक्खणं कर्तुमशक्यम् ।

अस्स दिट्ठंतस्स उवसंहारो । गाहा-

कोहातिया परीणामा, तहा एगिंदिआण तु ।
पावल्ले तेसु कज्जेसु, कारेंतु जे अपच्चलं ॥ १० ॥

एगिंदियाणं कोहादिया परिणामा, सागारिया य उवयोगा, तहा सातादियाओ वेयणाओ, एते सव्वे भावा सुहुमत्तणओ अणतिसयस्स अणुवलक्खा । जहा मणुस्सा पज्जत्ता कोहुदया उक्कोसंति, तिवलिं भिउडिं वा करेंति, तेसु ते अप्पीतिकज्जेसु तहा प्राबल्येन एगिंदिया अपच्चला, असमर्था इत्यर्थः । जम्हा पुढवीकाया एवंविधवेदणमणुभवंति, तम्हा तेसु ठाणादिय ण कायव्वं ।

अववादतो वा करेज्ज । गाहा-

वोसट्टकायअसिवो, गेलण्णऽद्धाणसंभमेगतरे ।
वसहीवाघाएण य, असती जयणा य जा जत्थ ॥ ११ ॥

वोसट्ठकायो पाओवगतो, सो परप्पओगा अणुकंपपडिणीयत्तणेण वा अणंतरहियाठाणेसु ठवेज्जेज्जा, असिवगहिया वसहिमलभंता रुक्खादिहेट्ठेसु ठायंति, वेज्जट्ठा, ओसहट्ठा वा गिलाणो जया णिज्जति, तदा वसहिअभावे थंडिले ठाएज्ज, अद्धाणे पडिवण्णा वा ठायंति, अगणिमादिसंभवे वा वसहिणिग्गता ठायंति, वसहिवाघाए वा ठायंति, सव्वहा वा वसहिअभावे ठायंति, अणंतरहिताठियकिलाण जा जत्थ जयणा संभवति पमज्जणपडिलेहणादिणा वा, सा सव्वा वि कायव्वा ॥

सुत्त-

जे भिक्खू थुणंसि वा गिहेलुयंसि वा ओसुकालंसि वा कामजलंसि वा ठाणं वा सिज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

गाहा-

घुणाऽऽदी ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते ।
तेसिं ठाणादीणी, चेतेंताऽऽणादिणो दोसा ॥१२॥

घुणा वेली. गिहेलुको उंबरो, उसुकालं उक्खलं, कामजल ण्हाणपीढं ।

गाहा-

घुणा उ होति वियली, गिहेलुओ उंबरो उ नायव्वो ।
उदुक्खलं उसुकालं, सिणाणपीढं तु कामजलं ॥ १३ ॥

गतार्थो । णवरं-सिणाण मज्जणा दो वि एगट्ठा ।

विनियपदं । गाहा-

वोसिट्टकाएँ असिवे, गेलण्णऽद्धाणसंभमेगतरे ।
वसहीवाघाएण य, असती जयणा य जा जहिया ॥१४॥

पूर्ववत् ।

जे भिक्खू कुलियंसि वा भित्तिंसि वा लेलुयंसि वा अंतरिक्खजायंसि वा ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

कुलियं कुड्डं, तं जतो णिच्चमयतरति, इयरा सद् करअच्छण जित्ती, नईण वा तमी भित्ती. सिन्ना लेट्टू पुव्वुत्ता पढमसुत्ते णियमा सच्चित्ता इह भणिज्जा । शेषं पूर्ववत् ।

गाहा-

कुलियादी ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते ।
तेसु ठाणादीणी, चेतेंता आणमादीणि ॥ १५ ॥

पूर्ववत् ।

वोसिट्टकाएँ असिवे, गेलण्णऽद्धाणसंभमेगतरे ।
वसहीवाघाएण य,असती जयणा य जा जहिया ।१६।

पूर्ववत् ।

सुत्त-

जे भिक्खू खंधंसि वा फलिहंसि वा अकुडंसि वा गिहमालंसि वा दुब्बंधे दुनिक्खित्ते चलचले ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएइ चेयंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

(जे भिक्खू खंधंसि वा इत्यादि) खंध पागारो, पेढ वा, फलिहो अग्गला,अकुडो मचो।सो य मडवो। गिहोवरि मालो दुभूमिगादीणि। जहा गवक्खोवसोभितो पासादो सव्वोवरि दाता ज हम्मितलं भूमितलं नर वा हम्मतलं । एस सुत्तत्थो ।

इमा णिज्जुत्ती । खंधादिगाहा-

खंधो खलु पागारो, पेढं फलिहा तु अग्गला होति ।
अहवा खंधो उ घरो, मंचो अकुड्डों गिहमालो ॥१७॥

अहवा खंधो घरो, गृहे इष्टकादारुसघातो, स्कन्ध इत्यर्थः । दुबधे त्ति । बधो दुविधो-रज्जुबधो,कट्ठादिसु वेहबंधो वा। तेण सुबद्ध दुबद्ध दुणिक्खित्त नि-णिहित,स्थापितमित्यर्थः। तेण सुणिक्खित्त केति त्ति दुणिरिक्खित्त ति आलावगो, त अपमिलेहिय दुप्पडिलेहिय वा,न निप्पकंप अनिप्पकंप, अनिप्पकंपित्वादेव चलाचलं चलनाचलनस्वभावं, तादृशे स्थानाऽऽदि न कर्त्तव्यम्-

रज्जुवेहो बंधो, णिहयाणिहतं तु होति निक्खवणं ।
अनिरिक्ख अपडिलेहा, चलाचलमणिप्पकंपं तु ॥ १८ ॥

पवमंतो कायवहे, आउवघाओ य णाणभेदादी ।
तस्सेव पुणो करणे, अहिगरणं अप्पकरणे वा ॥ १९ ॥

गतार्था । णवरं (णिहताणिहय त्ति) णिक्खयमणिक्खय वा । तारिसे सदोसे ठाणाइ करेंतस्स इमे दोसा—

ततो पवमंतो छण्हं कायाण विराहणं करेज्ज, अप्पणो वा से हत्थपादादिविराहणा हवेज्जा । भाणादि वा उवकरणजातं विराधेज्जा । तस्स य घुणादियस्स पामियस्स रज्जुबद्धस्स वा ओडितस्स वा वि संघातियस्स पुणो करणे अप्पणस्स वा अहिणवस्स करणे, अधिकरणं भवति । पडिसिद्धकरणे आणादिया दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं ।

वोसिट्टकाएँ असिवे, गेलण्णऽद्धाण संभमेगतरे ।
वसहीवाघाएण य, असती जयणा य जा जत्थ ॥२०॥

पूर्ववत् । नि० चू० १३ उ० । स्वरूपप्राप्तौ, सम्म० ३ काण्ड । ऊर्ध्वस्थाने. व्य० ४ उ० । कायोत्सर्गे, बृ० १ उ० । नि० चू० । ओघ० । पं० भा० । आचा० । स्था० । आव० । सूत्र० ।

पञ्च स्थानानि मुक्त्वा निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीभिरेकत्र कायोत्सर्गो न कार्य —

पंचहिं ठाणेहिं निग्गंथा य निग्गंथीओ य एगयओ ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएमाणा णाइक्कमंति । तं जहा-अत्थेगइया निग्गंथा य निग्गंथीओ य एगं महं आगामियं छिन्नावायं दीहमद्धमडविमणुपविट्ठा, तत्थेगयाओ ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएमाणा णाइक्कमंति १। अत्थेगइया णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य गामंसि वा नगरंसि वा० जाव रायहाणिंसि वा वासं उवगया एगइया जत्थ उवस्सयं लभंति, एगइया णो लभंति, तत्थेगयाओ ठाणं वा० जाव णाइक्कमंति २। अत्थेगइया य णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य णागकुमारावासंसि वा सुवन्नकुमारावासंसि वा वासं उवगया, तत्थेगयाओ ठाणं वा० जाव णाइक्कमंति ३ । आमोसगा दीसंति इच्छंति णिग्गंथीओ चीवरपडियाए पडिगाहेत्तए, तत्थेगयाओ ठाणं वा० जाव णाइक्कमंति ४। जुवाणा दीसंति ते इच्छंति णिग्गंथीओ मेहुणपडियाए पडिगाहेत्तए, तत्थेगयाओ ठाणं वा० जाव णाइक्कमंति ५। इच्चेहिं पंचहिं ठाणेहिं० जाव णाइक्कमंति ।

" पंचहिं " इत्यादि सुगमम् । नवरम् (एगयओ त्ति) एकत्र (ठाण ति) कायोत्सर्ग , उपवेशनं वा । (सेज्जं त्ति) शयनम् । (निसीहिय त्ति) स्वाध्यायस्थानं, चेतयन्त कुर्वन्तो नातिक्रामन्ति-न लङ्घयन्ति, आज्ञामिति गम्यते। (अत्थि त्ति) सन्ति भवन्ति, (एगइय त्ति) एके केचन, एकामहितां वा, महतीं विपुलामग्रामिकामकामिका वा अनभिलषणीया छिन्नाम, आपाता सार्थगोकुलाऽऽदीना यस्यां सा तथा, ताम् । दीर्घोऽध्वा मार्गो यस्यां सा तथा, तां दीर्घाध्वाम् । मकारस्त्वागमिक । दीर्घोऽद्धा वा कालो निस्तरणे यस्या सा दीर्घाद्धा,तामटवीं कान्तारम्,अनुप्रविष्टा दुर्भिक्षाऽऽदिकारणवशात् , तत्राटव्याम (एगइओ त्ति) एकत्र , एकत्रेत्यर्थ । स्थानाऽऽदि कुर्वन्त आग-

भोकसामाचारीं नातिक्रामन्ति १। तथा राजधानी-यत्र राजाऽभिषिच्यते, वासमुपगताः, निवासं प्राप्ता इत्यर्थः। (एगइया य त्ति) एकका एकतरा, निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थिका वा, च पुनरर्थे। अत्र ग्रामाऽऽदौ उपाश्रयं गृहपतिगृहाऽऽदिकमिति ।२। तथा (अत्थे त्ति) अत्र गृहपतिगृहाऽऽदिकमुपाश्रयमलभमाना। (एगइया) एके केचन नागकुमाराऽऽवासाऽऽदौ वासमुपगता। अथवा (अत्थे त्ति) इह संबध्यते, अस्ति सन्ति भवन्ति, निवासमुपगताः, तस्य च नागकुमाराऽऽवासाऽऽदेरतिशून्यत्वात्। अथवा बहुजनाऽऽश्रयत्वाद्नायकत्वाच्च निर्ग्रन्थिकारक्षार्थमेकत्र स्थानाऽऽदि कुर्वाणा नातिक्रामन्तीति ३। तथा आमुष्णन्तीत्यामोषकाश्चौराः, दृश्यन्ते च इच्छन्ति निर्ग्रन्थिकाः (चीवरवत्तियाए त्ति) चीवरप्रतिज्ञया वस्त्राणि गृहीष्याम इत्यभिप्रायेण, प्रतिग्रहीतुं यत्रेति गम्यते। तत्र निर्ग्रन्थास्तद्रक्षणार्थमेकतः स्थानादिकमिति ४। तथा मैथुनप्रतिज्ञया-मैथुनार्थमिति ५। इदमपवादसूत्रम्। उत्सर्गश्चापवादसहितो भाष्यगाथाभिरवसेयः।

ताश्चेमाः--

" भयणपयाण चउण्ह, अन्नतरजुए उ सजए संते।
जे भिक्खू विहरेज्जा, अह वा वि करिज्ज सज्झायं " ॥ १ ॥
(एकः साधुरेका स्त्रीत्यादिभङ्गकानामित्यर्थः)।

" असणाईं वा हारी, उच्चाराईं च आवरिज्जाहिं।
निट्ठुरमसाधुजुत्तं, अणतरकहं च जो कहए ॥ २ ॥ "
(स्त्रीभिः सहेति)

" सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं तहा दुविहं।
पावइ जम्हा तेणं, एए उ पए वि वज्जेज्जा ॥ ३ ॥ "
" बीयपयमणप्पज्झे गेलन्नुवसग्गरोहगद्धाणे।
संभमभयवासासु य, खंतियमाईण णिक्खमणे ॥ ४ ॥" त्ति।
(अपवादोऽनात्मवश इत्यर्थः) स्था० ५ ठा० २ उ०।
परमाण्वादीनां स्थितिपरिणामे, विशे०। स्थीयते अनेनेति स्थानम्। कायोत्सर्गपर्यङ्कबन्धपद्माऽऽसनाऽऽदिसकलशास्त्रसिद्धे आसनविशेषे, पो० १२ विव०। प्रकारे, स्था० १० ठा०। भेदे, आ० चू० ४ अ०। स०। स्था०। पदे, स्था० १० ठा०। उत्कर्षापकर्षरूपे (उत्त० ३४ अ०) गुणविशेषे, स्था० ५ ठा० ३ उ०। आकारे, ओघ०। पर्याये, आव० ४ अ०। कारणे, स्था० २ ठा० ४ उ०। वृ०। उपादानकारणे सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। आचा०। निमित्ते, स० २६ सम०। तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानम्। सामान्ये, भ० १ श० १ उ०। आचा०। ध्य०। वस्तुनि, स्था० ९ ठा०। ज्योतिःस्थाने, यत्रस्थाने च। नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ०। आश्रये, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। स्था०। आव०। आवासे, उत्त० ५ अ०।

स्थानस्य पञ्चदशधा निक्षेपमाह-

नामं ठवणा दविए, खेत्तऽद्धा उड्ढ उवरई वसही।
संजम पग्गह जोधे, अचल गणण संघणा भावे ॥७३॥

तत्र द्रव्यस्थानं-ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं, द्रव्याणां सचित्ताचित्तमिश्राणां स्थानमाश्रय। क्षेत्रस्थानं-भरताऽऽदि, ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकाऽऽदि चेति; यत्र क्षेत्रे स्थानं व्याख्यायते। अद्धाकालस्तत्स्थानं-द्विधा, कायस्थिति-भवस्थितिभेदात्। तत्र कायस्थितिः पृथिव्यप्तेजोवायूनामसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः। वनस्पतेस्तु ता एवानन्ताः, विकलेन्द्रियाणामसंख्येया वर्षसहस्राः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुजानां सप्ताष्टौ वा, भवस्थितिस्तु वायूदकवनस्पतिपृथिवीनां त्रिसप्तदशद्वाविंशतिवर्षसहस्राऽऽत्मिका, तेजसस्त्रीण्यहोरात्राणि, द्वीन्द्रियाणां शङ्खाऽऽदीनां द्वादश वर्षाणि, त्रीन्द्रियाणां पिपीलिकानामेकोनपञ्चाशदहोरात्राणि, चतुरिन्द्रियाणां भ्रमराऽऽदीनां षण्मासाः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां त्रीणि पल्योपमानि, देवानां नारकाऽऽदीनां च कायस्थितेरभावाद् भवस्थितिः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति। इयमुत्कृष्टा। जघन्या तु सर्वेषामन्तर्मुहूर्त्ताऽऽत्मिका, नवरं देवनारकयोर्दशवर्षसहस्राणीति। अथवा अद्धास्थानं-समयावलिकामुहूर्त्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगपल्योपमसागरोपमोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपुद्गलपरावर्त्तातीतानागतसर्वाद्धारूपमिति। ऊर्ध्वस्थानं तु-कायोत्सर्गाऽऽदिकम्, अस्योपलक्षणत्वान्निषद्याऽऽद्यपि गृह्यते, उपरतिर्विरतिः, तत्स्थानं-देशे सर्वत्र च श्रावकसाधुविषयम्। वसतिस्थानं-यो यत्र ग्रामगृहाऽऽदौ वसति। संयमस्थानं-संयमः सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराये यथाख्यातरूपः, तस्य पञ्चविधस्याप्यसंख्येयानि संयमस्थानानि। किं तदसंयमं?, इति चेत्, अतीन्द्रियत्वाद्यस्य न साक्षान्निर्देष्टुं शक्यते। आगमानुसारोपमया तूच्यते-इहैकसमयत्वेन सूक्ष्माग्निजीवा असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणा उत्पद्यन्ते, तेभ्योऽग्निकायत्वेन परिणता असंख्येयगुणाः, ततोऽप्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणाः, ततोऽप्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानि संयमस्थानान्यप्येतावन्त्येवेति सामान्यतः। विशेषतस्तूच्यते-सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धीनां प्रत्येकमसंख्येयलोकाऽऽकाशतुल्यानि संयमस्थानानि सूक्ष्मसंपरायस्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वादन्तर्मुहूर्त्तसमयतुल्यान्यसंख्येयानि संयमस्थानानि, यथाख्यातस्य त्वेकमेवाजघन्योत्कृष्टं संयमस्थानम्। अथवा-संयमश्रेण्यन्तर्गतानि संयमस्थानानि ग्राह्याणि; सा चानेन क्रमेण भवति। तद्यथा-अनन्तचारित्रपर्यायनिष्पादितमेकं संयमस्थानमसंख्येयसंयमस्थाननिर्वर्त्तितं कण्डकं, तैश्चासंख्येयैर्जनितं षट्स्थानकं, तदसंख्येयाऽऽत्मिका श्रेणीति। प्रग्रहस्थानं तु-प्रकर्षेण गृह्यन्ते वाचोऽस्येति प्रग्रहः, प्राह्यवाक्यो नायक इत्यर्थः। स च लौकिको, लोकोत्तरश्च। तस्य स्थानं प्रग्रहस्थानम्। लौकिकं तावत्पञ्चविधम्। तद्यथा-राजा, युवराजो, महत्तरः, अमात्यः, कुमारश्चेति। लोकोत्तरमपि पञ्चविधम्। तद्यथा-आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिस्थविरगणावच्छेदिभेदात्। योधस्थानं पञ्चधा। तद्यथा-आलीढप्रत्यालीढवैशाखमण्डलसमपादभेदात्। अचलस्थानं तु-चतुर्द्धा, सादिसपर्यवसानमेदात्। तद्यथा सादिसपर्यवसानं परमाण्वादेर्द्रव्यस्यैकप्रदेशाऽऽदाववस्थानं जघन्यत एकं समयम्, उत्कृष्टतश्चासंख्येयकालमिति। साद्यपर्यवसानानां सिद्धानां भविष्यदद्धारूपम्; अनादिसपर्यवसानमतीताद्धारूपस्य शैलेश्यवस्थाऽन्त्यसमये कार्मणतैजसशरीरभव्यत्वानां चेति। अनाद्यपर्यवसानं धर्माधर्माऽऽकाशानामिति। गणनास्थानम्-एकद्व्यादिकं शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तम्। सन्धानस्थानं द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च। पुनरप्येकैकं द्विधा, छिन्नाच्छिन्नभेदात्। तत्र द्रव्यच्छिन्नसन्धानं कञ्चुकाऽऽदेः। अच्छिन्नसन्धानं तु पक्ष्मोत्पद्यमानतन्त्वादेरिति। भावस्थानमपि-प्रशस्ताप्रशस्तभेदाद् द्वेधा। तत्र प्रशस्ताच्छिन्नभावसन्धानमुपशमक्षपकश्रेण्यामारोहतो जन्तो-

रपूर्वसंयमस्थानान्यच्छिन्नान्येव भवन्ति; श्रेणिव्यतिरेकेण वा प्रवर्द्धमानकण्डकस्येति । छिन्नप्रशस्तभावसन्धानं पुनरौपशमिकाऽऽदिभावादौदयिकाऽऽदिभावान्तरगतस्य पुनरपि शुभपरिणामवतस्तत्रैव गमनम् । अप्रशस्ताच्छिन्नभावसन्धानमुपशमश्रेण्यां प्रतिपततोऽविशुद्धयमानपरिणामस्यानन्तानुबन्धिमिथ्यात्वोदय यावत्, उपशमश्रेणिमन्तरेणापि कषायवशावन्ध्याध्यवसायस्थानान्युत्तरोत्तराण्यवगाहमानस्य वा इति । अप्रशस्तच्छिन्नसन्धानं पुनरौदयिकभावादौपशमिकाऽऽदिभावान्तरसङ्क्रान्तौ सत्यां पुनस्तत्रैव गमनमिति । इह द्वारद्वयं यौगपद्येन व्याख्यातम् । तत्र सन्धानस्थानं द्रव्यविषयम्, इतरत्तु भावविषयमिति । उक्तं स्थानम् ।

अथवा भावस्थानं कषायाणां यत् स्थानमिह परिगृह्यते, तेषामेव जेतृद्रव्यत्वेनाधिकृतत्वात्तेषां किं स्थानं, यदाश्रित्य च ते भवन्ति ? । शब्दाऽऽदिविषयानाश्रित्य च ते भवन्तीति

तद्दर्शयति-

पंचसु कामगुणेसुं, सद्दफरिसरसरूवगंधेसु ।
जस्स कसाया वट्टन्ति मूलठाणं तु संसारे ॥ ८४ ॥

तत्रेच्छाऽनङ्गरूपः कामः, तस्य गुणाः यानाश्रित्य चासौ चेतसो विकारमादर्शयति । ते च शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः, तेषु पञ्चस्वपि व्यस्तेषु समस्तेषु वा विषयभूतेषु,यस्य जन्तोर्विषयसुखपिपासाऽभिमुखस्यापरमार्थदर्शिनः संसाराभिष्वङ्गिणो रागद्वेषतिमिरोपप्लुतमनसोऽङ्गनरविषयोपश्लेषौ सत्यां कषाया वर्तन्ते प्रादुर्भवन्ति,तन्मूलश्च संसारपादपः प्रादुर्भवतीत्यतः शब्दाऽऽदिविषयोद्भूतकषायाः,संसारे संसारविषयं,मूलस्थानमेवेति । एतदुक्तं भवति-रागाऽऽद्युपहतचेताः परमार्थमजानानोऽतत्स्वभावेऽपि तत्स्वभावाऽऽरोपणेनान्धादप्यन्धतमः कामी मोदते । तत आह-

" दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितं,
रागान्धस्तु यदस्ति तत्परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति ।
कुन्देन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमल्लतापल्लवा-
नारोप्याशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते ॥ १ ॥ "

द्वेषं वा कर्कशशब्दाऽऽदौ व्रजतीति । ततश्च मनोज्ञेतरशब्दाऽऽदिविषयाः कषायाणां मूलस्थानं, ते च संसारस्येति गाथातात्पर्यार्थः । आचा० नि० १ श्रु० २ अ० १ उ० । उत्त० । नि० चू० । सूत्र० ।

कहि णं भंते ! बादरपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सट्ठाणेणं अट्ठसु पुढवीसु । तं जहा-रयणप्पभाए, सक्करप्पभाए, वालुयप्पभाए, पंकप्पभाए, धूमप्पभाए, तमप्पभाए, तमतमप्पभाए, अहे सत्तमाए ईसिप्पब्भाराए, अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु निरएसु निरयावलियासु निरयपत्थडेसु, उड्ढलोए कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु, तिरियलोए टंकेसु कूडेसु सेलेसु सिहरिसु पब्भारेसु विजयेसु वक्खारेसु वासेसु वासहरपव्वएसु वेलासु वेइयासु दारेसु तोरणेसु दीवेसु समुद्देसु । एत्थ णं बादरपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे ।

'कहि णं भंते !' इत्यादि । (कहि त्ति) कस्मिन्, ' णं ' शब्दो वाक्यालङ्कारे । भदन्तेति परमगुर्वामन्त्रणम् । बादरपृथिवीकायिकानां पर्याप्तानां स्थानानि स्वस्थानाऽऽदीनि प्रज्ञप्तानि प्ररूपितानि ? । एवं गौतमस्वामिना प्रश्ने कृते भगवान् वर्द्धमानस्वाम्याह-गौतम ! "सट्ठाणेणं" इत्यादि । ननु गौतमोऽपि भगवानुपचितकुशलमूलो गणधरः तीर्थकरभाषितमातृकापदश्रवणमात्रावाप्तप्रकृष्टश्रुतज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमश्चतुर्दशपूर्ववित् सर्वाक्षरसन्निपाती विवक्षितार्थप्रतिज्ञानसमन्वित एव, ततः किमर्थं पृच्छति ?, न हि चतुर्दशपूर्वविदः सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसमन्वितस्य किञ्चित् प्रज्ञापनीयमविदितमस्ति । यत उक्तम् " संखाईए वि भवे, साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा । न य णं अणाइसेसी, वियाणई एस छउमत्थो " ॥ १ ॥ सत्यमेतत् । केवलं जानन्नेव गौतमस्वामी भगवान् अन्यत्र विनेयेभ्यः प्रतिपाद्य तत्सम्प्रत्ययनिमित्तं विवक्षितार्थं पृच्छति । यदि वा-प्रायः सर्वत्र गणधरप्रश्नतीर्थकरनिर्वचनरूपं सूत्रम्,अतो भगवानार्यश्यामोऽपीत्थमेव सूत्रं रचयति । अथवा सम्भवति तस्यापि गणभृतो गौतमस्वामिनोऽनाभोगः,छद्मस्थत्वात् । उक्तं च-"न हि नामानाभोगः,छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति । ज्ञानाऽऽवरणीयं हि, ज्ञानाऽऽवरणप्रकृतिकर्म ॥ १ ॥" ततो जानसंशयः सन् पृच्छतीति न कश्चिद्दोषः । 'गोयमा' इति लोकप्रथितमहाविशिष्टगोत्राभिधायकोपमाऽऽमन्त्रणध्वनिः । हे गौतम ! गौतमगोत्रेति भावार्थः । (सट्ठाणेणं इति) स्वस्थानं यत्राऽऽसते बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ताः आसनाश्च वर्णाऽऽदिविभागनाऽऽदेषु शक्यन्ते तत्स्वस्थानमिति भावः । स्वस्थानग्रहणमुपपातसमुद्धातस्थाननिवृत्त्यर्थम्,तेन स्वस्थानेन,स्वस्थानमङ्गीकृत्येति भावः । अष्टासु पृथिवीषु, सर्वत्र बादरपृथिवीकायिकानां पर्याप्तानां स्थानानीति योगः । ता एवाष्टौ पृथिवीर्नामग्राहमाह-" तं जहा " इत्यादि । तद्यथा-रत्नप्रभायां यावदष्टम्यामीषत्प्राग्भारायाम्, तथाऽधोलोके-पातालेषु पातालकलशेषु वलयामुखप्रभृतिषु, भवनेषु भवनपतिनिकायाऽऽवासरूपेषु भवनभूमिकारूपेषु । इह भवनग्रहणेन भवनानामेव केवलानां ग्रहणम्, भवनप्रस्तटग्रहणेन तु भवनानामपान्तरालस्यापि, तथा नरकेषु प्रकीर्णकरूपेषु नरकाऽऽवासेषु, नरकाऽऽवलिकासु आवलिकाव्यवस्थितेषु नरकाऽऽवासेषु, नरकप्रस्तटेषु नरकभूमिरूपेषु, अत्रापि नरकनरकाऽऽवलिकाग्रहणेन केवला एव नरकाऽऽवासाः परिगृह्यन्ते, नरकप्रस्तटग्रहणेन तु नरकापान्तरालमपि । ऊर्द्धलोके-कल्पेषु सौधर्मिकाऽऽदिकल्पेषु, अनेन द्वादश देवलोकपरिग्रहः । विमानेषु ग्रैवेयकसम्बन्धिषु प्रकीर्णकरूपेषु, विमानाऽऽवलिकासु आवलिकाप्रविष्टेषु ग्रैवेयकाऽऽदिविमानेषु, विमानप्रस्तटेषु विमानभूमिकारूपेषु, अत्रापि प्रस्तटग्रहणं विमानान्तरालभाविनामपि यथासम्भवभाविनां बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकानां स्थानपरिग्रहार्थं, तथाऽपि तिर्यग्लोके-टङ्केषु छिन्नटङ्केषु, कूटेषु सिद्धाऽऽयतनकूटप्रभृतिषु, शैलेषु शिखरहीनपर्वतेषु, शिखरिषु शिखरयुक्तेषु पर्वतेषु, प्राग्भारेषु ईषत्कुब्जेषु, विजयेषु कच्छाऽऽदिषु, वक्षस्कारेषु विद्युत्प्रभाऽऽदिषु पर्वतेषु, वर्षेषु भरताऽऽदिषु, वर्षधरेषु हिमवदादिपर्वतेषु, वेलासु समुद्राऽऽदिपानीयरमणभूमिषु वेदिकासु जम्बूद्वीपजगत्यादिसम्बन्धिनीषु, द्वारेषु विजयाऽऽदिषु, तोर-

णेषु द्वाराऽऽदिसंबन्धिषु, किं बहुना ?, सामस्त्येन सर्वेषु द्वीपेषु समुद्रेषु । 'एत्थ णं" इत्यादि । अत्र एतेषु स्थानेषु बादरपृथिवीकायिकानां पर्याप्तानां स्थानानि प्रज्ञप्तानि, मया, अन्यैरपि तीर्थकृद्भिः । " उववाएणं " इत्यादि । उपपातो बादरपृथिवीकायिकानां पर्याप्तानां यदनन्तरमुक्तं तत्प्राप्त्याभिमुख्यमिति भावः, तेनोपपातमङ्गीकृत्येति भावः । लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्यासङ्ख्येयभागे । अत्रैके व्याचक्षते-ऋजुसूत्रनयो विचित्रः, ततो यदा परिस्थूरऋजुसूत्रनयदर्शनेन बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ताश्चिन्त्यन्ते, तदा ये स्वस्थानप्राप्ता आहाराऽऽदिपर्याप्तिपरिसमाप्त्या विशिष्टविपाकतो बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकाऽऽयुर्वेदयन्ते त एव द्रष्टव्याः,नापान्तरालगतावपि,तदानीं विपाकाऽऽयुर्वेदनासम्भवात् । स्वस्थानं च तेषां रत्नप्रभाऽऽदिकं समुदितमपि लोकस्यासङ्ख्येयभागे वर्तते । तत उपपातेनापि लोकस्यासङ्ख्येयभागगता वेदितव्याः । अन्ये त्वभिदधति-पर्याप्ता हि नाम-बादरपृथिवीकायिकाः सर्वस्तोकाः,ततस्तेऽपान्तरालगतावपि परिगृह्यमाणा लोकस्यासङ्ख्येयभाग एवेति न कश्चिद्दोषः । तथा च-समुद्घातेनापि लोकस्यासङ्ख्येयभाग एव वक्ष्यन्ते । अन्यथा समुद्घातावस्थायामपि स्वस्थानातिरेकेण क्षेत्रान्तरवर्तित्वसम्भवादसङ्ख्येयभागवर्तिता नोपपद्यत इति । तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति, विशिष्टश्रुतविदो वा । तथा-(समुग्घाएणं लोगस्स असंखेज्जइ भागे इति) समुद्घातेन समुद्घातमधिकृत्य,लोकस्यासङ्ख्येयभागे । इयमत्र भावना-यदा बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकाः सोपक्रमायुषो, निरुपक्रमायुषो वा त्रिभागाऽऽद्यवशेषायुषः परभविकमायुर्बद्ध्वा मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहन्यन्ते,तदा ते विक्षिप्ताऽऽत्मप्रदेशदण्डा अपि लोकस्यासङ्ख्येयतम एव भागे वर्तन्ते, स्तोकत्वात् । बादरपृथिवीकायिकपर्याप्तायुश्चाद्याप्यक्षीणमिति पर्याप्तबादरपृथिवीकायिका अपि लभ्यन्ते । इह पूर्वं पृथिव्यादिषु स्वस्थानमात्रमुक्तम् । इदानीं स्वस्थानेनापि कियति लोकस्य भागे वर्तन्ते इति निरूपयति-(सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइ भागे इति) स्वस्थानं रत्नप्रभाऽऽदि । तच्च समुदितमपि लोकस्यासङ्ख्येयभागवर्ति । तथाहि-रत्नप्रभा अशीतियोजनसहस्राधिकलक्षप्रमाणपिण्डभावा, एवं शेषा अपि पृथिव्यः स्वस्वघनभावेन वक्तव्याः । पातालकलशा अपि योजनलक्षावगाहाः,नरकाऽऽवासास्त्रिसहस्रयोजनोच्छ्रयाः, विमानान्यपि द्वात्रिंशद्योजनशतबहुलानि, ततः सर्वेषामपि परिमितभावात् समुदितानामप्यसङ्ख्येयभागवर्तित्वमेवेति ॥

कहि णं भंते ! बादरपुढविकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पमत्ता ? । गोयमा ! जत्थेव बादरपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पमत्ता, तत्थेव बादरपुढविकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पमत्ता । उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे ॥

बादरापर्याप्तपृथिवीकायिकसूत्रे-(उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए इति) इहापर्याप्ता बादरपृथिवीकायिका अपान्तरालगतावपि स्वस्थानेऽपि चापर्याप्तबादरपृथिवीकायिकाऽऽयुर्विशिष्टविपाकतो वेदयन्ते, तथा देवनैरयिकवर्जेभ्यः शेषसर्वकायेभ्यश्चोपपद्यन्ते, उद्वृत्ता अपि च देवनैरयिकवर्जेषु शेषेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु गच्छन्ति । ततोऽपान्तरालगतावपि वर्तमाना अमी गृह्यन्ते इति । प्रभूताश्च स्वभावतोऽपीत्युपपातेन समुद्घातेन च सर्वलोके वर्तन्ते । अन्ये त्वभिदधति-स्वभावत एवामी बहव इति,उपपातेन समुद्घातेन च सर्वलोकव्यापिनः, तत्रोपपातः केषाञ्चिद्वक्रगत्या, तत्र ऋजुगतिः सुप्रतीता । वक्रा गतिर्भावना चैवम्-अत्र यदेव प्रथमं वक्रमेके संहरन्ति, तदेवापरे तद्वक्रदेशमापूरयन्ति; एवं द्वितीयवक्रदेशसंहरणेऽपि, तत्रोत्पत्तावपि प्रवाहतो निरन्तरमापूरणं भावनीयम् । (सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे इति) यथा पर्याप्ता भाविताः, तथा अपर्याप्तानामपि भावनीयम्, तन्निश्रयैस्तेषामुत्पादभावात् ।

कहि णं भंते ! सुहुमपुढविकाइयाणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाण य ठाणा पमत्ता ? । गोयमा ! सुहुमपुढविकाइया जे पज्जत्तगा, जे य अपज्जत्तगा, ते सव्वे एगविहा अविसेसा अनाणत्ता सव्वलोए परियावन्नगा पण्णत्ता समणाउसो ! । प्रज्ञा० २ पद ।

कहि णं भंते ! अणंतरोववन्नगबायरपुढविकाइयाणं ठाणा पमत्ता ? । गोयमा ! सट्ठाणेणं अट्ठसु पुढवीसु । तं जहा-रयणप्पभा जहा सट्ठाणपदे० जाव दीवसमुद्देसु । एत्थ णं अणंतरोववन्नगाणं बादरपुढविकाइयाणं ठाणा पमत्ता । उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे । (भ०) सट्ठाणेणं सव्वेसिं जहा ठाणपदे, तेसिं पज्जत्तगाणं बायराणं उववायसमुग्घायसट्ठाणाणि जहा तेसिं चेव अपज्जत्तगाणं बादराणं,सुहुमाणं सव्वेसिं जहा पुढवीकाइयाणं भणिया, तहेव भाणियव्वा० जाव वणस्सइकाइय त्ति । भ० ३४ श० १ उ० ।

कहि णं भंते ! बादरआउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पमत्ता ? । गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु घणोदधिसु सत्तसु घणोदधिवलएसु, अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु, उड्ढलोए कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु सरेसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु णिज्झरेसु चिल्ललेसु, पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु जलभूमिआसु । एत्थ णं बादरआउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पमत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे० । कहि णं भंते ! बायरआउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पमत्ता ? । गोयमा ! जत्थेव बादरआउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा, तत्थेव बादरआउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पमत्ता । उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! सुहुमआउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पमत्ता ? । गोयमा ! सुहुमआउकाइया जे य पज्जत्तगा, जे य अपज्जत्तगा, ते सव्वे एगविहा अविसेसा

अनाणत्ता सव्वलोए परियावन्नगा पण्णत्ता समणाउसो ! । कहि णं भंते ! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सट्ठाणेणं अंतोमणुस्सखेत्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु निव्वाघाएणं पन्नरससु कम्मभूमीसु वाघायं पडुच्च पंचसु महाविदेहेसु । एत्थ णं बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! बादरतेउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! जत्थेव बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा, तत्थेव बादरतेउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स दोसु उड्ढकवाडेसु तिरियलोयतट्टे य, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! सुहुमतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाण य ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सुहुमतेउकाइयाणं जे पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य, ते सव्वे एगविहा अविसेसा अनाणत्ता सव्वलोए परियावन्नगा पण्णत्ता समणाउसो ! । कहि णं भंते ! बादरवाउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु घणवाएसु, सत्तसु घणवायवलएसु, सत्तसु तणुवाएसु सत्तसु तणुवायवलएसु, अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु भवणच्छिद्देसु भवणनिक्खुडेसु निरएसु निरयावलियासु निरयपत्थडेसु निरयच्छिद्देसु निरयनिक्खुडेसु, उड्ढलोए कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु विमाणच्छिद्देसु विमाणनिक्खुडेसु, तिरियलोएसु पाईणपडीणदाहिणउदीणेसु सव्वेसु चेव लोगागासच्छिद्देसु लोगनिक्खुडेसु य । एत्थ णं बादरवाउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु । कहि णं भंते ! बादरवाउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! जत्थेव बादरवाउकाइयाणं पज्जत्तगाणं, तत्थेव बादरवाउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु । कहि णं भंते ! सुहुमवाउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सुहुमवाउकाइयाणं जे पज्जत्ता अपज्जत्ता य, ते सव्वे एगविहा अविसेसा अनाणत्ता सव्वलोयपरियावन्नगा पण्णत्ता समणाउसो ! । कहि णं भंते ! बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु घणोदहीसु सत्तसु घणोदहिवलएसु, अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु, उड्ढलोए कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु, तिरियलोए अगडेसु तलागेसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु । एत्थ णं बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! बादरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! जत्थेव बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा, तत्थेव बादरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! सुहुमवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाण य ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सुहुमवणस्सइकाइया जे पज्जत्तगा जे अपज्जत्तगा य, ते सव्वे एगविहा अविसेसा अनाणत्ता सव्वलोयपरियावण्णगा पण्णत्ता समणाउसो ! । कहि णं भंते ! बेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! उड्ढलोए तदेकदेसभागे, अहोलोए तदेकदेसभागे, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु नदीसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु । एत्थ णं बेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! तेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! उड्ढलोए तदेकदेसभाए, अहोलोए तदेकदेसभाए, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु । एत्थ णं तेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । कहि णं भंते ! चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! उड्ढलोए तदेगदेसभाए, अहोलोए तदेगदेसभागे, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु निज्झरेसु उज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पि-

लोएसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु। एत्थ णं चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। कहि णं भंते ! पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! उड्ढलोए तदेकदेसभागे, अहोलोए तदेकदेसभागे, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु णिज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु। एत्थ णं पंचिंदियाण पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएण लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेण लोयस्स असंखेज्जइभागे। कहि णं भंते ! नेरइयाण पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! नेरइया परिवसंति ?। गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु पुढवीसु। तं जहा–रयणप्पभाए सक्करप्पभाए वालुयप्पभाए पंकप्पभाए धूमप्पभाए तमप्पभाए तमतमप्पभाए। एत्थ णं नेरइयाण चउरासिं निरयावाससयसहस्साइ भवंतीति मक्खाय। ते णं णरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेदवसापूयरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊयगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा असुभा नरएसु वेयणाओ। एत्थ णं नेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। एत्थ णं बहवे नेरइया परिवसंति काला कालोभासा गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकण्हा वण्णेणं पण्णत्ता। ते णं तत्थ णिच्चं भीया णिच्चं तत्था णिच्चं तासिया णिच्च उव्विग्गा णिच्च परमसुभमसंबद्धनरगभय पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। कहि णं भंते ! रयणप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! रयणप्पभापुढविनेरइया परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एग जोयणसहस्समोगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं रयणप्पभापुढविनेरइयाणं तीसं निरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खाय। ते णं नरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेदवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊयगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा असुभा नरगेसु वेदणाओ। एत्थ णं रयणप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे रयणप्पभापुढविनेरइया परिवसंति। काला, कालोभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो !। ते णं णिच्चं भीया णिच्चं तत्था णिच्चं तसिया णिच्चं उव्विग्गा णिच्चं परमममुभमसंबद्ध नरगभय पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। कहि णं भंते ! सक्करप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?। कहि णं भंते ! सक्करप्पभापुढविणेरइया परिवसंति ?। गोयमा ! सक्करप्पभापुढवीए बत्तीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए, उवरिं एगं जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे तीसुत्तरजोयणसयसहस्से। एत्थ णं सक्करप्पभापुढविणेरइयाणं पणवीसं णिरयावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते ण नरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरणक्खत्तजोइसपहा मेयवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊयगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा, असुभा नरगेसु वेयणाओ। एत्थ णं सक्करप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे सक्करप्पभापुढविणेरइया परिवसंति। काला, कालोभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो ! ते ण निच्चं भीता निच्चं तत्था निच्च तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्च परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। कहि णं भंते ! वालुयप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! वालुयप्पभापुढवीए अट्ठावीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एग जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता, हेट्ठा चेग जोयणसहस्स वज्जित्ता, मज्झे छव्वीसुत्तरजोयणसयसहस्से। एत्थ णं वालुयप्पभापुढविणेरइयाणं पण्णरस निरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं। ते णं नरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरणक्खत्तजोइसपहा मेयवसापू-

पयमंसरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काउयगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा, असुभा णरएसु वेयणा। एत्थ णं वालुयप्पभापुढवीणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे वालुयप्पभापुढवीणेरइया परिवसंति । काला, कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा,परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो !। ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं णरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । कहि णं भंते ! पंकप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! पंकप्पभापुढवीए वीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठारसुत्तरे जोयणसयसहस्से। एत्थ णं पंकप्पभापुढविनेरइयाणं दस निरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं । ते णं णरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेयवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काउयगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा, असुभा नरगेसु वेयणाओ। एत्थ णं पंकप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे पंकप्पभापुढविणेरइया परिवसंति । काला, कालोभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो ! । ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । कहि णं भंते ! धूमप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! धूमप्पभापुढवीए अट्ठारसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए, उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे सोलसुत्तरे जोयणसयसहस्से । एत्थ णं धूमप्पभापुढविणेरइयाणं तिण्णि निरयावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं नरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेयवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काउयगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा असुभा नरगेसु वेयणाओ । एत्थ णं धूमप्पभापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे धूमप्पभापुढविणेरइया परिवसंति । काला, कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा, उत्तासणगा, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो ! । ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ।

कहि णं भंते ! तमप्पभापुढविनेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तमापुढवीए सोलसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे चोद्दसुत्तरे जोयणसहस्से । एत्थ णं तमप्पभापुढविणेरइयाणं एगे पंचूणे नरगावाससयसहस्से हवंतीति मक्खायं । ते णं नरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेदवसापूयपडलरुहिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा असुभा नरगेसु वेयणाओ । एत्थ णं तमापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे,समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे,सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे तमप्पभापुढविणेरइया परिवसंति । काला,कालोभासा,गंभीरलोमहरिसा, भीमा,उत्तासणगा,परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो ! । ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं तसिया निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । कहि णं भंते ! तमतमापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । गोयमा ! तमतमापुढवीए अट्ठुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि अद्धतेवण्णजोयणसहस्साइं उग्गाहित्ता, हेट्ठा वि अद्धतेवण्णजोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे तिसु जोयणसहस्सेसु । एत्थ णं तमतमापुढविणेरइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताण पंचदिसिं पंच अणुत्तरा महइमहालगा महानिरया पण्णत्ता । तं जहा–काले, महाकाले, रोरुए, महारोरुए, अपइट्ठाणे । ते णं नरगा अंतो वट्टा,बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणसंठिया, निच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा मेयपूयवसारुहिरमसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा

कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा असुभा नरगेसु वेअणाओ। एत्थ णं तमतमापुढविनेरइयाणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभाए, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभाए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभाए। तत्थ णं बहवे तमतमापुढविनेरइया परिवसंति। काला,कालाभासा, गंभीरलोमहरिसा, भीमा,उत्तासणया, परमकिण्हा वण्णेणं पण्णत्ता समणाउसो!। ते णं निच्चं भीया निच्चं तत्था निच्चं उव्विग्गा निच्चं परममसुभसंबद्धं नरगभयं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति।

"आसीयं वत्तीसं, अट्ठावीसं च होइ वीसं च।
अट्ठारस सोलसगं, अट्ठुत्तरमेव हेट्ठिमया॥ १॥
अट्ठुत्तर वत्तीसं, छव्वीसं चेव सयसहस्सं तु।
अट्ठारस सोलसगं, चोद्दसमहियं तु छट्ठीए॥ २॥
अद्धतिवण्ण सहस्सा, उवरिमहो वज्जिऊण तो भणियं।
मज्झे उ तिसु सहस्से-सु होंति नरगा तमतमाए॥ ३॥
तीसा य पन्नवीसा, पन्नरस दसेव सयसहस्साइं।
तिन्नि य पंचूणेगं, पंचेव अणुत्तरा नरगा॥ ४॥"

कहि णं भंते! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता?। गोयमा! उड्ढलोए तदेकदेसभाए, अहोलोए तदेकदेसभाए, तिरियलोए अगडेसु तलाएसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु वप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु। एत्थ णं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे,सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे।

कहि णं भंते! मणुस्साणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता?। गोयमा! अंतोमणुस्सखित्ते पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अंतरदीवेसु। एत्थ णं मणुस्साणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे।

कहि णं भंते! भवणवासीणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता?, कहि णं भवणवासी देवा परिवसंति?। गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता,हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठुत्तरि जोयणसयसहस्से, एत्थ णं भवणवासीणं देवाण पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं सत्त भवणकोडीओ बावत्तरिं च भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो समचउरंसा, अहे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिया उक्किण्णंतरविउलगंभीरखातफलिहा पागारऽट्टालयकवाडतोरणपडिदुवारदेसभागा जंतसयग्घिमुसलमुसंढिपरिवारिया अउज्झा सया जया सया गुत्ता अडयालकोट्ठरइया अडयालकयवणमाला खेमा सिवा किंकरामरदंडोवरक्खिया लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदनदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धयाभिरामा सुगंधवरगंधगंधिया गंधवट्टीभूया अच्छरगणसंघसंविकिन्ना दिव्वतुडियसद्दसंपणादिया सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरिया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। एत्थ णं भवणवासीणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। उववाएणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे भवणवासी देवा परिवसंति।

तं जहा-

"असुरा नागसुवण्णा, विज्जू अग्गी य दीव उदही य।
दिसि पवणथणियणामा,दसहा एए भवणवासी॥१॥"

चूडामणिमउडरयणभूसणा णागगरुलवइरपुण्णकलसंकिउप्फेसा सीहमगरगयंकअस्सवरवद्धमाणनिज्जुत्तचित्तचिंधमता सुरूवा महिड्ढिया महज्जुतिया महायसा महाबला महाणुभावा महासोक्खा हारविराइयवत्था कडगतुडियथंभियभुया अंगदकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुत्तीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेस्साए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं भवणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं तायत्तीसाणं साणं साणं लोगपालाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं परियाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाह-

स्सीणं अन्नेसिं च बहूण भवणवासीणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजेमाणा विहरंति ।

कहि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पएणत्ता ?, कहि णं भंते ! असुरकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता,मज्झे अट्ठहुत्तरे जोयणसयसहस्से बाहल्लाए । एत्थ णं असुरकुमाराणं देवाणं चोवट्ठिभवणावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं । ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा, अहे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिया उक्किन्नंतरविउलगंभीरखायफलिहा पागारट्टालयकवाडतोरणपडिदुवारदेसभागा जंतसयग्घिमुसलमुसंढिपरिवारिया अउज्झा सदा जया सदा गुत्ता अडयालकोट्ठगरइया अडयालकयवणमाला खेमा सिवा किंकरामरदंडोवरक्खिया लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवण्णसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधगंधिया गंधवट्टिभूया अच्छरगणसंघसंविकिण्णा दिव्वतुडियसद्दसंपणदिया सव्वरयणामया अच्छा सण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरिया सउज्जोया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । एत्थ णं असुरकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पएणत्ता । उववाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे असुरकुमारा देवा परिवसंति । काला, लोहितक्खा, बिंबोट्ठा, धवलपुप्फदंता, असियकेसा,वामेयकुंडलधरा,अद्दचंदणाणुलित्तगत्ता ईसीसिलिंधपुप्फपगासाइं असंकिलिट्ठाइं सुहुमाइं वत्थाइं पवरपरिहिया,वयं च पढमं समइक्कंता, बिइयं च असंपत्ता, भद्दे जोव्वणे वट्टमाणा तलभंगयतुडियपवरभूसणनिम्मलमणिरयणमंडियभुया दसमुद्दामंडियग्गहत्था चूडामणिविचित्तचिंधगता सुरूवा महिड्ढिया महज्जुइया महायसा महब्बला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवच्छा कडयतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडयलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए भासाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए पभाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा । ते णं तत्थ साणं साणं भवणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं तायत्तीसाणं साणं साणं लोगपालाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं भवणवासीणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजेमाणा विहरंति । चमरबलिणो इत्थ दुवे असुरकुमारिंदा असुरकुमाररायाणो परिवसंति । काला,महानीलसरिसा, नीलगुलियगवलअयसिकुसुमप्पगासा, वियसियसयवत्तनिम्मलईसीसियरत्ततंबनयणा गरुलाययउज्जुतुंगनासा उवचियसिलप्पवालबिंबफलसन्निहाहरोट्ठा पंडुरससिसगलविमलनिम्मलदहिघणसंखगोखीरकुंददगरयमुणालियाधवलदंतसेढी हुयवहनिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा अंजणघणकसिणरुयगरमणिज्जनिद्धकेसा वामेयकुंडलधरा अद्दचंदणाणुलित्तगत्ता ईसीसिलिंधपुप्फप्पगासाइं असंकिलिट्ठाइं सुहुमाइं वत्थाइं पवरपरिहिया, वयं च पढमं समइक्कंता, बिइयं च असंपत्ता, भद्दे जोव्वणे वट्टमाणा तलभंगयतुडियपवरभूसणनिम्मलमणिरयणमंडियभुया दसमुद्दामंडियग्गहत्था चूडामणिविचित्तचिंधगता सुरूवा महिड्ढिया महज्जुइया महायसा महब्बला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवच्छा कडयतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए भासाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए पभाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा । ते णं तत्थ साणं साणं भवणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं तायत्तीसाणं साणं साणं लोगपालाणं साणं साणं

अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाण साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साण आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं भवणवासीणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजेमाणा विहरंति ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाण असुरकुमारदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! दाहिणिल्ला णं असुरकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं दाहिणिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं देवीण य चोत्तीसं भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा, सो चेव वण्णओ० जाव पडिरूवा । एत्थ णं दाहिणिल्लाणं असुरकुमारदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे दाहिणिल्ला असुरकुमारदेवा देवीओ परिवसंति। काला, लोहियक्खा तहेव० जाव भुंजेमाणा विहरंति । एवं सव्वत्थ भाणियव्व भवणवासीण ।

चमरे इत्थ असुरकुमारिंदे असुरकुमारराया परिवसइ । काले महानीलसरिसे० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ चउत्तीसाए भवणावाससयसहस्साणं चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं पंचण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराण तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउण्हं च चउसट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूण दाहिणिल्लाणं देवाणं देवीण य आहेवच्च पोरेवच्चं० जाव विहरति ।

कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! उत्तरिल्ला असुरकुमारा देवा परिवसंति ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से । एत्थ णं उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराणं देवाणं देवीण य तीसं भवणावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं । ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा, सेसं जहा दाहिणिल्लाणं० जाव विहरंति । बली इत्थ वइरोयणिंदे वइरोयणराया परिवसइ, काले महानीलसरिसे० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ तीसाए भवणावाससयसहस्साणं सट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं पंचण्हं अग्गमहिसीण सपरिवाराणं तिण्ह परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्ह अणीयाहिवईणं चउण्हं सट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूण उत्तरिल्लाण असुरकुमाराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं० जाव कुव्वमाणे विहरंति ।

कहि णं भंते ! नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! नागकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए, उवरि एग जोयणसहस्सं वज्जिऊण, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से । एत्थ णं नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताण चुलसीइभवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खाय । ते णं भवणा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा० जाव पडिरूवा। तत्थ णं नागकुमाराणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे नागकुमारा देवा परिवसंति महिड्ढिया महज्जुइया सेसं जहा ओहियाणं० जाव विहरंति। धरणभूया एंदा एत्थ दुवे नागकुमाररायाणो परिवसंति महिड्ढिया,सेसं जहा ओहियाणं० जाव विहरंति। कहि णं भंते! दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! दाहिणिल्ला ण नागकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेण इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए, उवरि एग जोयणसहस्सं उग्गाहित्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहत्तरिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं चोयालीसं भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खाय । ते णं भवणा बाहिं वट्टा० जाव पडिरूवा । एत्थ णं दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता, तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे । एत्थ णं बहवे दाहिणिल्ला णं नागकुमारा देवा परिवसंति महिड्ढिया० जाव विहरंति । धरणे एत्थ नागकुमारिंदे नागकुमारराया परिवसंति महिड्ढीए० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ चोयालीसाए भवणावाससयसहस्साणं छण्ह सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं छण्हं अग्गमहिसीणं

सपरिवाराणं तिएहं परिसाणं सत्तएहं अणीयाणं सत्तएहं अणीयाहिवईणं चउवीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं० जाव कुव्वमाणे विहरंति।

कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! उत्तरिल्ला नागकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता, हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठहुत्तरिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं उत्तरिल्लाणं नागकुमाराणं देवाणं चत्तालीसं भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा, सेसं जहा दाहिणिल्लाणं० जाव विहरंति। भूयाणंदे इत्थ नागकुमारिंदे नागकुमारराया परिवसइ महिड्ढिए० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ चत्तालीसाए भवणावाससयसहस्साणं आहेवच्चं० जाव विहरइ।

कहि णं भंते ! सुवण्णकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए० जाव एत्थ णं सुवण्णकुमाराण देवाणं बावत्तरिभवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भवणा बाहिं वट्टा० जाव पडिरूवा, तत्थ णं सुवण्णकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति महिड्ढिया, सेसं जहा ओहियाणं० जाव विहरंति। वेणुदेवे वेणुदाली य इत्थ दुवे सुवएणकुमारिंदा सुवण्णकुमाररायाणो परिवसंति, महिड्ढिया० जाव विहरंति।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताण ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! दाहिणिल्ला सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे० जाव मज्झे अट्ठहुत्तरिजोयणसयसहस्से। एत्थ णं दाहिणिल्लाण सुवण्णकुमाराणं अट्ठत्तीसं भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खाय। ते णं भवणा बाहिं वट्टा० जाव पडिरूवा। तत्थ णं दाहिणिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं पज्जत्तापज्जत्ताण ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे। एत्थ णं बहवे सुवण्णकुमारा देवा परिवसंति। वेणुदेवे इत्थ सुवण्णिंदे सुवण्णकुमारराया परिवसंति, सेसं जहा नागकुमाराण।

कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं सुवण्णकुमाराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! उत्तरिल्ला सुवएणकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए० जाव एत्थ णं उत्तरिल्लाणं सुवएणकुमाराणं वत्तव्वया भणिया, तहा सेसाण वि चोद्दसएहं इंदाणं भाणियव्वा; नवरं भवणनाणत्तं इंदाण नाणत्तं वण्णेण नाणत्तं परिहाणनाणत्तं च इमाहिं गाहाहिं अणुगंतव्वं–

"चोवट्ठी असुराणं, चुलसीती चेव होइ नागाणं ।
बावत्तरिं सुवण्णे, वाउकुमाराण छण्णउती ॥ १ ॥
दीवदिसाउदहीणं, विज्जुकुमारिंदथणियमग्गीणं ।
छएहं पि जुयलयाणं, छावत्तरिमो सयसहस्सा ॥ २ ॥
चोत्तीसा चोयाला, अट्ठतीसं होइ सयसहस्साइं ।
पएणा चत्तालीसा, दाहिणओ होंति भवणाइं ॥ ३ ॥
तीसा चत्तालीसा, चोत्तीसं चेव सयसहस्साइं ।
छायाला छत्तीसा, उत्तरओ होंति भवणाइं ॥ ४ ॥
चउसट्ठी सट्ठी खलु, छच्च सहस्सा उ असुरवज्जाणं ।
सामाणियाउ एए, चउग्गुणा आयरक्खाओ ॥ ५ ॥
चमरे धरणे तह वे-णुदेवहरिकंतअग्गिसीहे य ।
पुण्णे जलकंते य, अमिए वेलंबे घोसे य ॥ ६ ॥
बलि भूयाणंदे वे-णुदालिहरिसहऽग्गिमाणवविसिट्ठे ।
जलप्पभे अमियवाहणे, पभंजणे वा महाघोसे ॥७॥"

उत्तरिल्लाणं० जाव विहरंति ।

"काला असुरकुमारा, नागा उदही य पंडुरा दो वि ।
वरकणगणिहसगोरा, होंति सुवण्णा दिसा थणिया ॥१॥
उत्तत्तकणगवण्णा, विज्जू अग्गी य होंति दीवा य ।
सामा पियंगुवण्णा, वाउकुमारा मुणेयव्वा ॥ २ ॥
असुरेसु होंति रत्ता, सीलिंधपुप्फभायणा उदही ।
आसासयवसणधरा, होंति सुवएणा दिसा थणिया ॥३॥
नीलाणुरागवसणा, विज्जू अग्गी य होंति दीवा य ।
संझाऽणुरागवसणा, वाउकुमारा मुणेयव्वा ॥४॥"

कहि णं भंते ! वाणमंतराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! वाणमंतरा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडयस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरिं एगं जोयणसयं ओगाहित्ता, हिट्ठा वि एगं जोयणसयं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु। एत्थ णं वाणमंतराणं देवाणं तिरियमसंखेज्जाओ भोमेज्जानगरावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं भोमेज्जा णगरा बाहिं वट्टा, अंतो चउरंसा, अहे पुक्खरकन्नियासंठाणसंठिया, उक्किन्नंतरविउलगंभीरखायफलिहा पागारऽट्टालयकवाडतोरणपडिदुवार-

सन्नागा जंतसयग्घिमुसलज्जुमंढिपरिवारिया अउज्झा सया जया सया गुत्ता अम्यालकुट्टरइयअम्पालकयवणमाला खेमा सिवा किंकरामरदंडोवरक्खिया लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचगुलितला उवचियचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवन्नसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधिया गंधवट्टिभूया अच्छरगणसंघविकिण्णा दिव्वतुडियसद्दसंपणादिया पडागमालाउलाभिरामा सव्वरयणमया अच्छा सण्हा लट्ठा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । एत्थ णं वाणमंतराणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे । तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा परिवसंति । तं जहा—पिसाया भूया जक्खा रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा भुयगवइणो य महाकाया गंधव्वगणा य निउणगंधव्वगीतरइणो अणवण्णियपणवण्णियइसिवाइयभूयवाइयकंदियमहाकंदियकोहंडपयंगदेवा चलचवलचित्तकीलणदवप्पिया गहिरहसियपिया गीयणच्चरती वणमालाऽऽमेलमउलकुंडलसच्छंदविउव्वियाभरणचारुभूसणधरा सव्वोयसुरभिकुसुमसुरइयपलंबसोहंतकंतवियसितचित्तवणमालरइयवच्छा कामकामा कामरूवदेहधरा णाणाविहवन्नरागवरवत्थललिताचित्तचिल्लगणियंसणा विविहदेसनेवत्थगहियवेसा समुइयकंदप्पकलहकेलिकोलाहलप्पिया—हासा बोलबहुला असिमोग्गरसत्तिकुंतहत्था अणेगमणिरयणविविहनिज्जुत्तविचित्तचिंधगया सुरूवा महिड्ढिया महज्जुतिया महायसा महाबला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडजुयलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिकल्लाणगपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा । ते णं तत्थ साणं साणं भोमेज्जाणगरावाससयसहस्साणं असंखिज्जाणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं सपरिसाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजेमाणा विहरंति ।

कहि णं भंते ! पिसायाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! पिसाया देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडयस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरिं एगं जोयणसयं ओगाहित्ता, हिट्ठा चेगं जोयणसयं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु, एत्थ णं पिसायाणं देवाणं तिरियमसंखेज्जा भोमेज्जानगरावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं भोमेज्जा नगरा बाहिं वट्टा, जहा ओहिओ भवणवण्णओ, तहा भाणियव्वो० जाव पडिरूवा । एत्थ णं पिसायाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे,तत्थ णं बहवे पिसाया परिवसंति महिड्ढिया जहा ओहिया०जाव विहरंति । काला,महाकाला,इत्थ दुवे पिसाइंदा पिसायरायाणो परिवसंति महिड्ढिया महज्जुइया० जाव विहरंति ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं पिसायाणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! दाहिणिल्ला पिसाया देवा परिवसंति ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडयस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरिं एगं जोयणसयं ओगाहित्ता. हिट्ठा चेगं जोयणसयं वज्जित्ता, मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु, एत्थ णं दाहिणिल्लाणं पिसायाणं देवाणं तिरियमसंखिज्जा भोमेज्जानगरावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । ते णं भवणा जहा ओहिओ भवणवण्णओ तहेव भाणियव्वो० जाव पडिरूवा, एत्थ णं दाहिणिल्लाणं पिसायाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता, तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे दाहिणिल्ला पिसाया देवा परिवसंति,महिड्ढिया जहा ओहिया० जाव विहरंति । काले यत्थ पिसाइंदे पिसायराया परिवसति महिड्ढिए० जाव पभासेमाणे, से णं तत्थ तिरियमसंखेज्जाणं भोमेज्जा णगरावाससयसहस्साणं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं दाहिणिल्लाणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं० जाव विहरंति ।

उत्तरिल्लाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहेव दाहिणिल्लाणं वत्तव्वया, तहेव, उत्तरिल्लाणं पि, नवरं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं महाकाले जत्थ पिसाइंदे पिसायराया परिवसति० जाव विहरति। एवं जहा पिसायाणं तहा भूयाणं पि०जाव गंधव्वाणं,नवरं इंदेसु नाणत्तं भाणियव्वं, इमेणं पि विहिणा भूयाणं सुरूवपडिरूवा, जक्खाणं पुन्नभद्दमाणिभद्दा, रक्खसाणं भीममहाभीमा, किन्नराणं किन्नरकिंपुरिसा, किंपुरिसाणं सप्पुरिसमहापुरिसा,महोरगाणं अइकायमहाकाया, गंधव्वाणं गीतरई गीतजसा० जाव गीयजसे विहरति।

"काले य महाकाले, सुरूव पडिरूव पुण्णभद्दे य ।
अमरवइ माणिभद्दे, भीमे य तहा महाभीमे ॥१॥
किन्नर किंपुरिसे खलु, सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे ।
अइकाए महाकाए, गीयरती चेव गीयजसे" ॥२॥ विहरति।

कहि णं भंते ! अणवन्नियाणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता ?;कहि ण भंते! अणवन्निया देवा परिवसंति?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडयस्स जोयणसहस्सबाहल्लस्स उवरि हिट्ठा य एग जोयणसय वज्जित्ता, मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु,एत्थ णं अणवन्नियाणं देवाणं तिरियमसंखिज्जा नवरा वासमयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं०जाव पडिरूवा, एत्थ ण अणवन्नियाणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता । उववाएणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, समुग्घाएणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं अणवन्निया देवा परिवसति,महिड्ढिया जहा पिसाया०जाव विहरंति, सन्निहियसामाणा,इत्थ दुवे अणवन्निंदा अणवन्नियकुमाररायाणो परिवसंति महिड्ढिया,जहा कालमहाकाला, एवं जहा कालमहाकालाणं दोण्हं पि दाहिणिल्लाणं उत्तरिल्लाण य भणिया, तहा संनिहियसामाणाणं पि भाणियव्वा ॥

संगहणिगाहा–

"अणवन्निएं पणवन्निएं, इसिवाइए भूयवाइए चेव ।
कंदिएं य महाकंदिएं, कोहंडएं पयगदेवा य ॥१॥"

इमे इंदा–

"संनिहिए सामाणिएं, धाइ विधाए इसी य इसिवाले।
ईसरे महेसरे वि य, हवइ सुवत्थे विसाले य ॥ १ ॥
हासे हासरई वि य, सेए य भवे तहा महासेए।
पयगे पयगवए वि य, नेयव्वा आणुपुव्वीए ॥ २ ॥"

कहि णं भंते! जोइसियाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता ?, कहि णं भंते ! जोइसिया देवा परिवसंति ? । गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ सत्तणउए जोयणसए उड्ढं उप्पइत्ता, दसुत्तर जोयणसयं बाहल्ले, तिरियमसंखिज्जे जोइसविसए। एत्थ णं जोइसियाणं देवाणं तिरियमसंखिज्जा जोइसियविमाणा वाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा अद्धकविट्ठगसंठाणसंठिया सव्वफालियामया अब्भुग्गयमुसियपहसिया इव विविहमणिकणगरयणभत्तिचित्ता वाउद्धूतविजयवेजयंतीपडागा छत्ताइच्छत्तकलिया तुंगा गगनतलमहिलंघमाणसिहरा जालंतररयणपंजरुम्मीलिय व्व मणिकणगथूभियागा वियसियसयपत्तपोंडरीया तिलगरयणद्धचंदचित्ता नानामणिमयदामालंकिया अंतो बाहिं च सण्हा तवणिज्जरुइलवालुया पत्थमा सुहफासा ससिरीयरूवा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, एत्थ णं जोइसियाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता । तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे। तत्थ णं बहवे जोइसिया देवा परिवसंति । त जहा–बहस्सई,चंदा,सूरा,सुक्का,सणिच्छरा, राहुधूमकेतुबुधा,अंगारगा, तत्ततवणिज्जकणगवन्ना जे गहा जोइसिम्मि चारं चरंति, केतू य गतिरइया अट्ठावीसइविहा य नक्खत्ता देवयगणा नाणासंठाणसंठियाओ य पंचवन्नाओ तारयाओ वि य तेयलेस्साचारिणो अविस्सामममंडलगई पत्तेयं णामकपगडियचिंधमउडा महिड्ढिया०जाव पभासेमाणा, ते ण तत्थ साणं साणं विमाणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं अग्गमहिसीण सपरिवाराणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं अणीयाणं साण साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं जोइसियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं० जाव विहरंति । चंदिमसूरिया य, एत्थ दुवे जोइसिंदा जोइसियरायाणो परिवसंति महिड्ढिया० जाव पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं जोइसियविमाणावाससयसहस्साणं चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्ह अणीयाण सत्तण्हं अणीयाहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं जोइसियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं० जाव विहरंति ।

कहि णं भंते ! वेमाणियाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?, कहि णं भंते ! वेमाणिया देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहनक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं बहुगाओ जोयणकोडीओ बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, एत्थ णं सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलोगलंतगमहासुक्कसहस्सारआणयपाणय–

आरणअच्चुयगेविज्जाणुत्तरेसु तत्थ इत्थ णं वेमाणियाणं देवाणं चउरासीविमाणसयसहस्सा सत्ताणउइं च सहस्साओ तेवीसं विमाणा हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, इत्थ णं वेमाणियाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे वेमाणिया देवा परिवसंति। तं जहा—सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलोगलंतगमहासुक्कसहस्सारआणयपाणयआरणअच्चुयगेविज्जगाणुत्तरोववाइया देवा, ते णं मियमहिसवराहसीहछगलदद्दुरहयगयवइभुयगखग्गउसभंकविडिमपागडियचिंधमउडा पसिढिलवरमउडतिरीडधारिणो वरकुंडलुज्जोइयाणणा मउडदित्तसिरया रत्ताभा पउमपम्हगोरा सेया सुहवण्णगंधफासा उत्तमवेउव्विणो पवरवत्थगंधमल्लाणुलेवणधरा महिड्ढिया महज्जुइया महायसा महब्बला महाणुभागा महासोक्खा हारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया अंगदकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलीकल्लाणगपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं वण्णेणं, दिव्वेणं गंधेणं, दिव्वेणं फासेणं, दिव्वेणं संघयणेणं, दिव्वेणं संठाणेणं, दिव्वाए इड्ढीए, दिव्वाए जुईए, दिव्वाए पभाए, दिव्वाए छायाए, दिव्वाए अच्चीए, दिव्वेणं तेएणं, दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा, ते णं तत्थ साणं साणं विमाणावाससयसहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं तायत्तीसगाणं साणं साणं लोगपालाणं साणं साणं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं साणं साणं परिसाणं साणं साणं अणीयाणं साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं वेमाणियाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा पालेमाणा महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति।

कहि णं भंते! सोहम्मगदेवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता?; कहि णं भंते! सोहम्मगदेवा परिवसंति?। गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहगणनक्खत्तताराणं बहूणि जोयणसयाइं बहूणि जोयणसहस्साइं बहूणि जोयणसयसहस्साइं बहुगाओ जोयणकोडीओ बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता एत्थ णं सोहम्मे नामं कप्पे पन्नत्ते। पाईणपडीणायते उदीणदाहिणवित्थिन्ने अद्धचंदसंठाणसंठिए अच्चिमालिभासरासिवन्नाभे असंखेज्जाओ जोयणकोडीओ असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं सव्वरयणामए अच्छे सण्हे लण्हे घट्टे मट्ठे० जाव पडिरूवे। तत्थ णं सोहम्मगदेवाणं बत्तीसं विमाणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा। तेसि णं विमाणाणं बहुमज्झदेसभाए पंच वडेंसया पण्णत्ता। तं जहा—असोगवडेंसए, सत्तवन्नवडेंसए, चंपगवडेंसए, चूयवडेंसए, मज्झे तत्थ सोहम्मवडेंसए। ते णं वडेंसया सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा. एत्थ णं सोहम्मगदेवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता, तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे सोहम्मगदेवा परिवसंति महिड्ढिया० जाव पभासेमाणा। ते णं तत्थ साणं साणं विमाणावाससयसहस्साणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं एवं जहेव ओहियाण तहेव एतेसिं पि भाणियव्वं० जाव आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं सोहम्मगकप्पवासीणं वेमाणियाणं देवाणं देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं० जाव विहरंति। सक्के इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ वज्जपाणी पुरंदरे सयक्कऊ सहस्सक्खे मघवं पागसासणे दाहिणड्ढलोगाहिवई बत्तीसविमाणावाससयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे अरयंबरवत्थधरे आलइयमालमउडे नवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडे महिड्ढिए० जाव पभासेमाणे से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणावाससयसहस्साणं चउरासीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं सोहम्मकप्पवासीणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं कुव्वमाणे० जाव विहरति।

कहि णं भंते! ईसाणगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता?; कहि णं भंते! ईसाणगदेवा परिवसंति?। गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियगहगणनक्खत्ततारारूवाणं बहूइं

जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं ईसाणे नामं कप्पे पन्नत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणवित्थिन्ने, एवं जहा सोहम्मे० जाव पडिरूवे। तत्थ णं ईसाणगदेवाणं अट्ठावीसं विमाणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा। तेसि णं बहुमज्झदेसभाए पंच वडेंसगा पण्णत्ता। तं जहा–अंकवडेंसए, फलिहवडेंसए, रयणवडेंसए, ० जाव जायरूववडेंसए, मज्झे इत्थ ईसाणवडेंसए। ते णं वडेंसया सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा। इत्थ णं ईसाणाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, सेसं जहा सोहम्मगदेवाणं० जाव विहरंति, ईसाणे इत्थ देविंदे देवराया परिवसति सूलपाणी वसभवाहणे उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाणावाससयसहस्साहिवई अरयंवरवत्थधरे, सेसं जहा सक्कस्स० जाव पभासेमाणे, तत्थ अट्ठावीसाए विमाणावाससयसहस्साणं असीतीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्ह अणीयाहिवईणं चउण्हं असीतीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं ईसाणकप्पवासीणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं कुव्वमाणे० जाव विहरइ।

कहि णं भंते! सणंकुमारदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता?; कहिं णं भंते! सणंकुमारा देवा परिवसंति?। गोयमा! सोहम्मस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसयसहस्साइं बहुगाओ जोयणकोडीओ बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, तत्थ णं सणंकुमारे नामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणायए, उदीणदाहिणवित्थिन्ने, जहा सोहम्मे कप्पे० जाव पडिरूवे। तत्थ णं सणंकुमाराण देवाणं बारस विमाणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा, तेसि णं विमाणाणं बहुमज्झदेसभागे पंच वडेंसगा पण्णत्ता। तं जहा–असोगवडेंसए, सत्तवण्णवडेंसए, चंपगवडेंसए, चूयवडेंसए, मज्झे जत्थ सणंकुमारवडेंसए, ते णं वडेंसया सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा। तत्थ णं सणंकुमारदेवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे सणंकुमारा देवा परिवसंति महिड्डिया० जाव पभासेमाणा विहरंति, नवरं अग्गमहिसीओ णत्थि सणंकुमारे, इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, अरयंबरवत्थधरे, सेसं जहा सक्कस्स, से णं तत्थ बारसण्हं विमाणावाससयसहस्साणं बावत्तरीए सामाणियसाहस्सीणं, सेसं जहा सक्कस्स अग्गमहिसीवज्जं, नवरं चउण्हं बावत्तरीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं० जाव विहरइ।

कहि णं भंते! माहिंदाणं देवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता?; कहि णं भंते! माहिंदगा देवा परिवसंति?। गोयमा! ईसाणस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं० जाव बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, तत्थ णं माहिंदे णामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणायए० जाव एवं जहेव सणंकुमारे, नवरं अट्ठ विमाणावाससयसहस्सा वडेंसया, जहा ईसाणे, नवरं मज्झे तत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, अरयंबरवत्थधरे, एवं जहा सणंकुमारे० जाव विहरइ, नवरं अट्ठण्हं विमाणावाससयसहस्साणं सत्तरीए सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं सत्तरीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं० जाव विहरइ।

कहि णं भंते! बम्भलोगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता?; कहि णं भंते! बंभलोगा देवा परिवसंति?। गोयमा! सणंकुमारमाहिंदाण कप्पाणं उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं बहूइं जोयणाइं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं बंभलोए नाम कप्पे पाईणपडीणायते, उदीणदाहिणवित्थिन्ने, पडिपुन्नचंदसंठाणसंठिए अच्चिमाली भासरासिप्पभे, अवसेसं जहा सणंकुमाराणं, नवरं चत्तारि विमाणावाससयसहस्सा वडेंसगा, जहा सोहम्मस्स वडेंसया, नवरं मज्झे इत्थ बंभलोयवडेंसए, इत्थ णं बंभलोगाणं देवाणं ठाणा पण्णत्ता। सेसं तहेव० जाव विहरंति। बंभे इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ अरयंबरवत्थधरे, एवं जहा सणंकुमारे० जाव विहरंति, नवरं चउण्हं विमाणावाससयसहस्साणं सट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं चउण्ह य सट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं० जाव विहरइ।

कहि णं भंते! लंतगदेवाण पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता?; कहि णं भंते! लंतगदेवा परिवसंति?। गोयमा! बंभलोगस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं बहूइं जोयणसयाइं० जाव बहुईओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता, इत्थ णं लंतए नामं कप्पे पण्णत्ते। पाईणपडीणायते जहा बंभलोए, नवरं पन्नासा विमाणावाससहस्सा हवंतीति मक्खायं, वडेंसगा जहा ईसाणवडेंसगा, नवरं मज्झे इत्थ लंतगवडेंसए देवा तहेव० जाव विहरंति, लंतए इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, जहा सणंकुमारे, नवर पन्नासाए विमाणावाससहस्साणं, पन्नासाए सामाणियसाह–

स्सीणं चउण्हं पन्नासाणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्ने-सिं च बहूणं० जाव विहरइ ।

कहि णं भंते ! महासुक्काणं देवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! महासुक्का देवा परिवसंति ?। गोयमा ! लंतगस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खि सपडिदिसिं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं महासुक्के नामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणायते, उदीणदाहिणविच्छिन्ने, जहा बंभलोए, नवरं चत्तालीसं विमाणावाससहस्सा हवंतीति मक्खायं, वडेंसगा जहा सोहम्मवडेंसगा, नवरं मज्झे तत्थ महासुक्कवडेंसए० जाव विहरइ। महासुक्के इत्थ देविंदे देवराया जहा सणंकुमारे, नवरं चत्तालीसाए विमाणावाससाहस्सीणं चत्तालीसाए सामाणियसाहस्सीणं चउण्हं चत्तालीसाणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं० जाव विहरंति ।

कहि णं भंते ! सहस्सारदेवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! सहस्सारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! महासुक्कस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खि सपडिदिसिं० जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं सहस्सारे नामं कप्पे पण्णत्ते, पाईणपडीणायते, जहा बंभलोए, नवरं छ विमाणावाससहस्सा हवंतीति मक्खायं, देवा तहेव वडेंसगा, जहा ईसाणस्स वडेंसगा, नवरं मज्झे जत्थ सहस्सारवडेंसए० जाव विहरंति । सहस्सारे इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, जहा सणंकुमारे, नवरं छण्हं विमाणावाससहस्साणं तीसाए सामाणियसाहस्सीणं चउण्ह य तीसाणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं ०जाव आहेवच्चं पोरेवच्चं कारेमाणे विहरंति ।

कहि णं भंते ! आणयपाणयदेवाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! आणयपाणयदेवा परिवसंति ?। गोयमा! सहस्सारस्स कप्पस्स उप्पिं सपक्खि सपडिदिसिं० जाव उप्पइत्ता,इत्थ णं आणयपाणयणामेणं दुवे कप्पा पण्णत्ता, पाईणपडीणायते, उदीणदाहिणविच्छिन्ना,अद्धचंदसंठाणसंठिआ अच्चिमाली भासरासिप्पभा,सेसं जहा सणंकुमारे० जाव पडिरूवा । तत्थ णं आणयपाणयदेवाणं चत्तारि विमाणावाससया हवंतीति मक्खायं० जाव पडिरूवा वडेंसगा, जहा सोहम्मे, नवरं मज्झे पाणयवडेंसए, ते णं वडेंसगा सव्वरयणामया अच्छा०जाव पडिरूवा, इत्थ णं आणयपाणयदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता; तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे आणयपाणयदेवा परिवसंति, महिड्ढिया० जाव पच्चणुभवमाणा। ते णं तत्थ साणं साणं विमाणावाससयाणं० जाव विहरंति । पाणए एत्थ देविंदे देवराया परिवसंति, जहा सणंकुमारे, नवरं चउण्हं विमाणावाससयाणं वीसाए सामाणियसाहस्सीणं असीतीए आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं० जाव विहरंति ।

कहि णं भंते ! आरणच्चुयाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ? ; कहि णं भंते ! आरणच्चुया देवा परिवसंति ?। गोयमा ! आणयपाणयाणं कप्पाणं उप्पिं सपक्खि सपडिदिसिं इत्थ णं आरणच्चुया नाम दुवे कप्पा पण्णत्ता , पाईणपडीणायता, उदीणदाहिणविच्छिन्ना, अद्धचंदसंठाणसंठिया अच्चिमाली भासरासिवण्णाभा असंखिज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला णिप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । इत्थ णं आरणच्चुयाणं देवाणं तिन्नि विमाणावाससया हवंतीति मक्खायं । ते णं विमाणा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा ससिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, तेसि णं विमाणाणं बहुमज्झदेसभाए पंच वडेंसया पण्णत्ता। तं जहा–अंकवडेंसए, फलिहवडेंसए, रयणवडेंसए० जाव रूववडेंसए, मज्झे जत्थ अच्चुयवडेंसए, ते णं वडेंसया सव्वरयणामया०जाव पडिरूवा; इत्थ णं आरणच्चुयाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे आरणच्चुया देवा० जाव विहरंति। अच्चुए तत्थ देविंदे देवराया परिवसइ। जहा पाणए०जाव विहरति,नवरं तिण्हं विमाणावाससयाणं दसण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तालीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीणं आहेवच्च०जाव कुव्वेमाणे विहरति।

" बत्तीसऽट्ठावीसा, वारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा ।
पन्ना चत्तालीसा, छच्च सहस्सा सहस्सारे ॥ १ ॥
आणयपाणयकप्पे, चत्तारि सयाऽरणच्चुए तिन्नि ।
सत्तविमाणसयाइं, चउसु वि एएसु कप्पेसु ॥ २ ॥"

सामाणियसंगहणीगाहा–

" चउरासीइ असीई, बावत्तरि सत्तरी य सट्ठीए ।
पन्ना चत्तालीसा, तीसा वीसा दस सहस्सा॥ १ ॥ "
एए चेव आयरक्खा चउग्गुणा ।

कहि णं भंते ! हिट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता ?; कहि णं भंते ! हेट्ठिमगेविज्जगा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! आरणच्चुयाणं कप्पाणं उप्पिं० जाव उड्ढं दूरं उप्पइत्ता,इत्थ णं हेट्ठिमगेविज्जाणं देवाणं तओ गेवेज्जविमाणपत्थडा पण्णत्ता,पाईणपडीणायया उदीणदा-

ट्ठिणविस्थिसा पमिपुन्नचंदसंठाणसंठिया अच्चिमाली भासरासिवन्नाभा,सेसं जहा बंभलोगे०जाव पमिरूवा। तत्थ णं हेट्ठिमगेविज्जगाणं देवाणं एक्कारसुत्तरे विमाणावा-समए हवंतीति मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरयणामया ०जाव पमिरूवा, इत्थ णं हेट्ठिमगेविज्जगाणं देवाणं प-ज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोगस्स अ-संखेज्जइनागे, तत्थ णं बहवे हेट्ठिमगेविज्जगा देवा परि-वसंति, सव्वे समममहिड्ढिया सव्वे समज्जुतीया सव्वे स-मजसा सव्वे समबला सव्वे समाणुन्नावा महासोक्खा अ-णिंदा अप्पेस्सा अपुरोहिया अहमिंदा नामं ते देवगणा प-ण्णत्ता, समणाउसो!।

कहि णं भंते! मज्झिमगाणं गेविज्जगदेवाणं पज्जत्ता-पज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता?; कहि णं भंते! मज्झिमगेविज्ज-गदेवा परिवसंति?। गोयमा! हेट्ठिमगेविज्जगाणं उप्पिं सप-क्खिं सपडिदिसिं०जाव उप्पइत्ता, इत्थ णं मज्झिमगेवि-ज्जगदेवाणं तओ गेविज्जगविमाणपत्थडा पण्णत्ता,पाईणपमी-णायता, जहा हेट्ठिमगेविज्जगाणं, नवरं सत्तुत्तरे विमाणा-वाससए हवंतीति मक्खाए। ते णं विमाणा०जाव पडिरूवा, इत्थ णं मज्झिमगेविज्जाणं देवाणं० जाव तिसु वि लोगस्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे मज्झिमगेविज्जगा देवा प-रिवसंति ० जाव अहमिंदा नामं देवगणा पण्णत्ता, समणा-उसो!।

कहि णं भंते! उवरिमगेविज्जगाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ता-णं ठाणा पण्णत्ता?; कहि णं भंते! उवरिमगेविज्जगा देवा परिवसंति?। गोयमा! मज्झिमगेविज्जगदेवाणं उप्पिं० जाव उप्पइत्ता, तत्थ णं उवरिमगेविज्जगाणं देवाणं तओ गेविज्ज-गविमाणपत्थडा पण्णत्ता, पाईणपमीणाओ, सेसं जहा हेट्ठिमगेविज्जगाण, नवरं एगे विमाणावाससए हवंतीति म-क्खायं, सेसं तहेव भाणियव्वं० जाव अहमिंदा नामं ते देवगणा पण्णत्ता, समणाउसो!।

" एक्कारसुत्तरं हे-ट्ठिमए सत्तुत्तरं च मज्झिमए।
सयमेग उवरिमए, पंचेव अणुत्तरविमाणा" ॥ १ ॥

कहि णं भंते! अणुत्तरोववाइयाण देवाणं पज्जत्ताप-ज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता?; कहि णं भंते! अणुत्तरोववा-इया देवा परिवसंति?। गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ नूमिभागाओ उड्ढं चंदिम-सूरियगहगणनक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं बहूइं जोयणसयसहस्साइं बहुगाओ जोयणकोमीओ बहुगाओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलोगलं-तगसुक्कसहस्सारआणयपाणयआरणअच्चुयकप्पा तिण्णि य अट्ठारसुत्तरे गेविज्जविमाणावाससए वीतीवइत्ता ते ण परं दूरं गता णीरया निम्मला वितिमिरा वि-सुद्धा पचदिसिं पंच अणुत्तरा महतिमहालया महावि-माणा पण्णत्ता। तं जहा-विजए,वेजयंते,जयंते, अपराजि-ए, सव्वट्ठसिद्धे। ते णं विमाणा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकड-च्छाया सप्पभा ससिरीया सउज्जोया पासादीया दरिस-णिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, इत्थ णं अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता। तिसु वि लोग-स्स असंखेज्जइभागे, तत्थ णं बहवे अणुत्तरोववाइया दे-वा परिवसंति, सव्वे सममहिड्ढिया सव्वे समबला सव्वे समाणुभावा महासोक्खा अणिंदा अप्पेस्सा अपुरोहिया अहमिंदा ते देवगणा पण्णत्ता, समणाउसो!।

कहि णं भंते! सिद्धाणं ठाणा पण्णत्ता?, कहि णं भंते! सिद्धा परिवसंति?। गोयमा! सव्वट्ठस्स महाविमाणस्स उवरिल्लाओ थूभियग्गाओ दुवालसजोयणे उड्ढं अबा-हाए, इत्थ णं ईसीपब्भारा नामं पुढवी पण्णत्ता। पणया-लीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, एगं जोयण-कोमीओ बायालीसं च सयसहस्साइं तीसं सहस्साइं दो-न्नि य अउणापन्ने जोयणसए किंचि विसेसाहिए परि-क्खेवेणं पण्णत्ता, ईसीपब्भाराए णं पुढवीए बहुमज्झदेस-भाए अट्ठ जोयणिए खेत्ते अट्ठजोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते, ततो अणंतरं च णं माताए २ पएसपरिहाणी २ परिहाय-माणी २ सव्वेसु चरिमंतेसु मच्छियपत्तातो तणुयरी अं-गुलस्स संखेज्जइभागे बाहल्लेणं पण्णत्ता, ईसीपब्भाराए ण पुढवीए दुवालसनामधेज्जा पण्णत्ता, ईसीति वा ईसीपब्भाराइ वा तणुयरीति वा तणुतणुयरीति वा सिद्धिति वा सिद्धालए-ति वा मुत्तीइ वा मुत्तालएइ वा लोयग्गेति वा लोयग्गथूभि-याति वा लोयपमिबुज्झणाइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसु-हावहाइ वा ईसीपब्भारा णं पुढवी सेता संखदलविम-लसोत्थियमुणालदगरयतुसारगोक्खीरहारवन्ना उत्ताणयछ-त्तसंठाणसंठिया सव्वज्जुणसुवण्णमई अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया स-प्पभा ससिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अ-भिरूवा पडिरूवा, ईसीपब्भाराए णं सीताए जोयणम्मि लोगंतो, तस्स णं जोयणस्स जे से उवरिल्ले गाउए, तस्स णं गाउयस्स जे से उवरिल्ले छब्भागे, एत्थ णं सिद्धा भगवं-तो सादिया अपज्जवसिया अणेगजातिजरामरणजोणिसं-सारकलंकलीभावपुणब्भवगब्भवासवसहीं० एवं च समइक्क-ता सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठति। तत्थ वि य ते

अवेदा अवेयणा निम्ममा असंगा य संसारविप्पमुक्का। पदेसनिव्वत्तिसंठाणा ।

अत्र शिष्यः पृच्छन्नाह-

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदिं चइत्ता णं, कत्थ गंतूण सिज्झइ ? ॥ १ ॥

" कहिं पडिहया सिद्धा " इत्यादि । ' कहिं ' इत्यत्र सप्तमी तृतीयार्थे,प्राकृतत्वात् । यथा " तिसु तिसु अलंकिया पुढवी " इत्यादि । ततोऽयमर्थः-केन प्रतिहताः केन स्खलिताः ?, सिद्धा मुक्ता ,तथा क कस्मिन् स्थाने, सिद्धाः, प्रतिष्ठिता अवस्थिता. तथा क कस्मिन् क्षेत्रे,बोन्दिस्तनुः शरीरमित्यनर्थान्तर, तां त्यक्त्वा, क गत्वा सिद्ध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्ति ?। " सिज्झइ " इत्यत्रानुस्वारलोपो द्रष्टव्य , अथ चैकवचनोपन्यासोऽपि सूत्रशैल्या न विरोधभाक् । तथा चान्यत्राप्येवं प्रयोग.-" वत्थगंधमलंकार, इत्थीओ सयणाणि य । अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥१॥ " इति ।

एवं शिष्येण प्रश्ने कृते सूरिराह-

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इह बोंदिं चइत्ता णं, तत्थ गंतूण सिज्झइ ॥ २ ॥

"अलोए पडिहया सिद्धा" इत्यादि । अत्रापि सप्तमी तृतीयार्थे । अलोकेन केवलाऽऽकाशास्तिकायरूपेण, प्रतिहताः स्खलिताः, सिद्धाः, इह तत्र धर्मास्तिकायाऽऽद्यभावात्तदानन्तर्यावृत्तितैव प्रतिस्खलन, न तु सबन्धे सति विघात , अप्रतिघत्वात्,सप्रतिघाना हि सम्बन्धे सति विघातो, नान्येषामिति । तथा लोकस्य पञ्चास्तिकायाऽऽत्मकस्य, अग्रे मूर्द्धनि, प्रतिष्ठिता अपुनरागत्या व्यवस्थिताः, इह मनुष्यलोके, बोन्दिं तनुं, त्यक्त्वा, तत्र लोकाग्रे, समयान्तरप्रदेशान्तरास्पर्शनेन गत्वा सिद्ध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्ति ।

सम्प्रति तत्र गतानां यत्संस्थानमान तदभिधित्सुराह-

दीहं वा हस्सं वा, जं चरिमभवे हविज्ज संठाणं ।
तत्तो तिभागहीणा, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥ ३ ॥

" दीहं वा हस्सं वा " इत्यादि । दीर्घं वा पञ्चधनुःशतप्रमाण, ह्रस्वं वा हस्तद्वयप्रमाण, वाशब्दाद् मध्यम वा विचित्र, यच्चरमभवे पश्चिमभवे, भवेत् संस्थान,ततस्तस्मात्संस्थानात्, त्रिभागहीना वदनोदरादिरन्ध्रपूरणेन तृतीयेन भागेन हीना, सिद्धानामवगाहना, अवगाहन्ते अस्यामित्यवगाहना स्वावस्थैव, भणिता तीर्थकरगणधरैरिति । अत्र गतस्य संस्थानप्रमाणापेक्षया त्रिभागहीन तत्र संस्थानमिति भावः ।

एतदेव स्पष्टतरमुपदर्शयति-

जं संठाणं तु इह, भवं चयंतस्स चरमसमयम्मि ।
आसी य पदेसघणं, तं संठाणं तहिं तस्स ॥ ४ ॥

" जं संठाणं तु इह " इत्यादि । यत्संस्थान यावत्प्रमाणं संस्थानम्, इह मनुष्यभवे आसीत्, तदेव, भवन्ति प्राणिनः कर्मवशवर्त्तिनोऽस्मिन्निति भव शरीर, त्यजत परित्यजत', काययोग परिजिहानस्येति भाव । चरमसमये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानबलेन वदनोदराऽऽदिरन्ध्रपूरणात्त्रिभागेन हीनं प्रदेशघनमासीत् (त संठाणं तहिं तस्स त्ति) तदेव च प्रदेशघन सूक्ष्मप्रमाणापेक्षया त्रिभागहीनप्रमाण संस्थान, तत्र लोकाग्रे, तस्य सिद्धस्य, नान्यदिति ।

साम्प्रतमवगाहनामुत्कृष्टाऽऽदिभेदभिन्नामभिधित्सुराह-

तिन्नि सया तेत्तीसा, धणुत्तिभागो य होइ नायव्वो ।
एसा खलु सिद्धाणं, उक्कोसोगाहणा भणिया ॥ ५ ॥
चत्तारि य रयणीओ, रयणि तिभागूणिया य बोधव्वा ।
एसा खलु सिद्धाणं, मज्झिम ओगाहणा भणिया ॥६॥
एगा य होइ रयणी, अट्ठेव य अंगुलाइ सहियाइं ।
एसा खलु सिद्धाणं, जहन्न ओगाहणा भणिया ॥ ७ ॥

त्रीणि शतानि, त्रयस्त्रिंशानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि,धनुस्त्रिभागश्च भवति बोद्धव्यः । एषा खलु सिद्धानामुत्कृष्टावगाहना भणिता तीर्थकरगणधरैः, सा च पञ्चधनुःशततनुकानामवसेया । ननु मरुदेवा नाभिकुलकरपत्नी,नाभेश्च पञ्चविंशत्यधिकानि पञ्चधनुःशतानि शरीरप्रमाण, यदेव च तस्य शरीरमान तदेव मरुदेवाया अपि, " संघयण संठाण, उच्चत्त चेव कुलगरेहिं समं " इति वचनात् । मरुदेवा च भगवती सिद्धा, ततस्तस्या देहमानस्य त्रिभागे पातिते सिद्धावस्थाया. सार्द्धानि त्रीणि धनुःशतान्येवावगाहना प्राप्नोति, कथमुक्तप्रमाणा उत्कृष्टावगाहना घटते ? इति । नैष दोषः । मरुदेवाया नाभे. किञ्चिदूनप्रमाणत्वात्, स्त्रियो हि उत्तमसंस्थाना उत्तमसंस्थानेभ्य. पुरुषेभ्य' स्वस्वकालापेक्षया किञ्चिदूनप्रमाणा भवन्ति । ततो मरुदेवाऽपि पञ्चधनुःशतप्रमाणेति न काश्चिद् दोष.। अपि च-हस्तिस्कन्धाधिरूढा सङ्कुचिताङ्गी सिद्धा । ततः शरीरसङ्कोचनभावान्नाधिकावगाहनासंभव इत्यविरोधः । आह च भाष्यकृत्-" कह मरुदेवामाणं, नाभीतो जेण किंचिदूणा सा । तो किर पंच सय च्चिय, अहवा संकोचतो सिद्धा " ॥ ५ ॥ (३१६७ विशे०) " चत्तारि य रयणीओ" इत्यादि । चतस्रो रत्नयो, रत्निश्च त्रिभागोना च बोधव्या, एषा खलु सिद्धानामवगाहना भणिता मध्यमा । आह-जघन्यपदे सप्तहस्तोच्छ्रितानामागमे सिद्धिरुक्ता, तत एषा जघन्या प्राप्नोति, कथं मध्यमा ?। तदयुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । जघन्यपदे हि सप्तहस्तानां सिद्धिरुक्ता तीर्थकरापेक्षया, सामान्यकेवलिनां तु हीनप्रमाणानामपि भवति। इदमपि चावगाहनामान चिन्त्यते सामान्यसिद्धापेक्षया, ततो न कश्चिद्दोष. ॥६॥ "एगा य होइ" इत्यादि । एका रत्नि. परिपूर्णा अष्टौ चाङ्गुलान्यधिकानि, एषा भवति सिद्धानामवगाहना जघन्या । सा च कूर्मापुत्राऽऽदीनां द्विहस्तानामवसेया। यदि वा-सप्तहस्तोच्छ्रितानामपि यन्त्रपीलनाऽऽदिना संवर्त्तितशरीराणाम् ।

आह च भाष्यकृत्-

" जेट्ठा उ पंचधणुसय, पत्त मज्झा य सत्तहत्थस्स ।
देहत्तिभागहीणा, जहन्निया जा विहत्थस्स" ॥ ३१६६ ॥
"सत्तूसिएसु सिद्धी, जहन्नतो कहमिह विहत्थेसु ? ।
सा किर तित्थयरेसु, सेसाण सिज्झमाणाण ॥३१६८॥
ते पुण होज्ज विहत्था. कुम्मापुत्तादओ जहन्नेण ।
अन्ने संवट्टियसत्तहत्थसिद्धस्स हीण त्ति ॥ ३१६६ ॥"
(विशे०) ॥ ७ ॥

साम्प्रतमुक्तानुवादेनैव लक्षणं सिद्धानामभिधित्सुराह-

ओगाहणाए सिद्धा, भवत्तिभागेण होइ परिहीणा ।

संठाणमणित्थंथं, ज जरामरणविप्पमुक्काणं ॥ ८ ॥

" ओगाहणाए " इत्यादि सुगमं, नवरम् (अणित्थंथमिति) इत्थंप्रकारमापन्नमित्थम्, तत् तिष्ठतीति इत्थंस्थ, न इत्थंस्थम् अनित्थंस्थम्, शरीराऽऽदिशुषिरप्रतिपूरणेन पूर्वाऽऽकारान्यथात्वमापन्नोऽनियताऽऽकारमिति भावः। योऽपि च सिद्धाऽऽदिगुणेषु "न दीहे न हस्से " इत्यादिना दीर्घत्वाऽऽदीनां प्रतिषेध सोऽपि पूर्वाऽऽकारापेक्षया संस्थानस्यानित्थंस्थतया प्रतिपत्त्य, न पुन सर्वथा संस्थानस्याभावः ।

आह च भाष्यकृत्-

" सुसिरपरिपूरणाओ, पुव्वागारऽन्नहावत्थाओ ।
संठाणमणित्थंथं, ज भणिय अणियमागारं ॥ ३१७२ ॥
जत्तो च्चिय पडिसेहो, सिद्धाइगुणेसु दीहयाऽऽईणं ।
जमणित्थंथं पुव्वा-ऽऽगारावेक्खाए नाभावो ॥ ३१७३ ॥ "
(विशे०) ॥ ८ ॥

नन्वेते सिद्धा परस्पर देशभेदेन व्यवस्थिता., उत नेति ?। नेति ब्रूम । कस्मादिति चेत् ?, उच्यते-

जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।
अन्नोन्नसमोगाढा, पुट्ठा सव्वे वि लोयंते ॥ ९ ॥

"जत्थ य" इत्यादि । यत्रैव देशे, चशब्दस्य एवकारार्थत्वात्, एक सिद्धो निर्वृत ,तत्रानन्ता भवक्षयविमुक्ता । अत्र भवक्षयग्रहणेन स्वेच्छया भवावतरणशक्तिमतामिष्टव्यवच्छेदमाह । अन्योन्यसमवगाढा., तथाविधाचिन्त्यपरिणामत्वाद्धर्मास्तिकायाऽऽदिवत् । तथा स्पृष्टा लग्ना सर्वेऽपि लोकान्ते ॥ ९ ॥

फुसइ अणंते सिद्धे, सव्वपएसेहिँ नियमसो सिद्धा ।
ते वि असंखेज्जगुणा, देसपदेसेहिँ जे पुट्ठा ॥ १० ॥

"फुसइ" इत्यादि । स्पृशत्यनन्तान् सिद्धान् सर्वप्रदेशैरात्मसबन्धिभिर्नियमत सिद्ध । तथा तेऽपि सिद्धा सर्वप्रदेशस्पृष्टेभ्योऽसङ्ख्येयगुणा वर्त्तन्ते,ये देशप्रदेशै. स्पृष्टा.। कथमिति चेत्?,उच्यते-इहैकस्य सिद्धस्य यदवगाहनक्षेत्र, तत्रैकस्मिन्नपि परिपूर्णेऽवगाढा अन्येऽप्यनन्ता सिद्धा प्राप्यन्ते। अपरे तु ये तस्य क्षेत्रस्य एकैक प्रदेशमाक्रम्यावगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ता ,एव द्वित्रिचतुष्पञ्चाऽऽदिप्रदेशवृद्ध्या येऽवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ता , तथा तस्य मूलक्षेत्रस्य एकैक प्रदेश परित्यज्य येऽवगाढास्तेऽपि प्रत्येकमनन्ता । एव च सति प्रदेशवृद्धिहानिभ्या ये समवगाढा ,ते परिपूर्णैकक्षेत्रावगाढेभ्योऽसङ्ख्येयगुणा भवन्ति, अवगाढप्रदेशानामसङ्ख्यातत्वात् ।

आह च भाष्यकृत्-

" एगफ्फासे सेऽणंता, पएसपरिवुड्ढिहाणिओ तत्तो ।
हुंति असंखेज्जगुणा-ऽसंखपएसो जमवगाहो " ॥ ३१८० ॥
(विशे०) ॥ १० ॥

सम्प्रति सिद्धानेव लक्षणत प्रतिपादयति-

असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणे य नाणे य ।
सागारमणागारं, लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥ ११ ॥

" असरीरा " इत्यादि । अविद्यमानशरीरा अशरीरा.; औदारिकाऽऽदिपञ्चविधशरीररहिता इत्यर्थ. । जीवाश्च ते घनाश्च वदनोदराऽऽदिशुषिरपूरणाद् जीवघना ; उपयुक्ता दर्शने-केवलदर्शने, ज्ञाने च-केवलज्ञाने । यद्यपि सिद्धत्वप्रादुर्भावसमये केवलज्ञानमिति ज्ञान प्रधान, तथाऽपि सामान्यविशेषलक्षणमेतदिति ज्ञापनार्थमादौ सामान्याऽऽलम्बन दर्शनमुक्तम । तथा च सामान्यविषय दर्शन, विशेषविषय ज्ञानमिति । तत साकारानाकार, सामान्यविशेषोपयोगरूपमित्यर्थ' । सूत्रे मकारोऽलाक्षणिक । लक्षण- तदन्यव्यावृत्तिस्वरूपम, एतत अनन्तरोक्त, तुशब्दो वक्ष्यमाणनिरुपमसुखविशेषणार्थ., सिद्धानां निष्ठितार्थानामिति ॥ ११ ॥

सम्प्रति केवलज्ञानदर्शनयोरशेषविषयतामुपदर्शयति-

केवलणाणुवउत्ता, जाणंती सव्वभावगुणभावे ।
पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठीहिंऽणंताहिं ॥१२॥

" केवलणाणुवउत्ता " इत्यादि । केवलज्ञानेनोपयुक्ता . न त्वन्त करणेन, तदभावादिति केवलज्ञानोपयुक्ता ,जान त्यवगच्छन्ति,सर्वभावगुणभावान् सर्वपदार्थगुणपर्यायान् । प्रथमो भावशब्द पदार्थवचन , द्वितीय पर्यायवचन । गुणपर्याययोश्चायं विशेष -सह वर्तिनो गुणा , क्रमवर्तिन पर्याया इति । तथा पश्यन्ति सर्वत. खलु,खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् सर्वत एव, केवलदृष्टिभिरनन्ताभि . अनन्त केवलदर्शनैरित्यर्थ । केवलदर्शनानां चानन्तता, सिद्धानामनन्तत्वात् , इहाऽऽदौ ज्ञानग्रहण प्रथमतया तदुपयोगस्था. सिद्ध्यन्तीति ज्ञापनार्थम् ॥ १२ ॥

सम्प्रति निरुपमसुखभाजस्ते इति दर्शयति-

न वि अत्थि माणुसाणं, त सोक्खं नत्थि सव्वदेवाणं ।
जं सिद्धाणं सुक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥ १३ ॥

" न वि अत्थि " इत्यादि । नैव अस्ति मनुष्याणां चक्रवर्त्यादीनामपि, तत्सौख्यं, नैव सर्वदेवानामनुत्तरपर्यवसानामपि, यत सिद्धाना सौख्यम, अव्याबाधामुपगताना, न विविधा आबाधा अव्याबाधा. ताम, उप सामीप्येन गतानां प्राप्तानाम ॥ १३ ॥

यथा नास्ति तथा भङ्ग्या उपदर्शयति-

सुरगणसुहं समत्तं, सव्वद्धापिंडियं अणंतगुणं ।
न वि पावइ मुत्तिसुहं-ऽणंताहिँ वि वग्ग वग्गूहिं ॥१४॥

"सुरगणसुह" इत्यादि । सुरगणसुख देवसङ्घातसुख, समस्त सम्पूर्णम, अतीतानागतवर्त्तमानकालोद्भवमित्यर्थ' । पुन सर्वाद्धापिण्डित सर्वकालसमयगुणितम, तथाऽनन्तगुणमिति, तदेव प्रमाण किलासत्कल्पनया एकैकाऽऽकाशप्रदेशे स्थाप्यते, इत्येव सकलाऽऽकाशप्रदेशपूरणेन यद्यप्यनन्त भवति, तदनन्तरमप्यनन्तैर्वर्गैर्वर्गितम्, तथाऽप्येव प्रकर्षगतमपि मुक्तिसुख सिद्धिसुख, न प्राप्नोति ॥ १४ ॥

एतदेव स्पष्टतर भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादयति-

सिद्धस्स सुहोरासी, सव्वद्धापिंडिओ जइ हविज्जा ।
सोऽणंतवग्गभइओ, सव्वागासे ण माइज्जा ॥ १५ ॥

" सिद्धस्स सुहोरासी " इत्यादि । सुखानां राशि सुखराशि सुखसङ्घात , सिद्धस्य सुखराशि. सिद्धसुखराशि , सर्वाद्धापिण्डित सर्वथा साद्यपर्यवसितया अद्धया, यत्सुख, सिद्ध प्रतिसमयमनुभवति, तदेकत्र पिण्डीकृतमिति भाव । सोऽनन्तवर्गभक्तोऽनन्तैर्वर्गमूलैरपवर्तित , अनन्तैर्वर्गमूलैस्तावदपवर्तितो यावत्सर्वाकाशप्रदेशरूपेण गुणकारेण गुणने यदधिक जात,तस्य सर्वस्या-

पर्यन्ते. सिद्धत्वाद्यः समयभाविसुखमात्रतां प्राप्त इति भावः । सर्वाकाशे न माति-एतावन्मात्रेऽपि सर्वाकाशे न माति, सर्वस्तु दूरापास्तप्रसर एवेति ज्ञापनार्थं पिण्डयित्वा पुनरपवर्तनं सुखराशेः । इयमत्र भावना-इह किल विशिष्टाऽऽह्लादरूपं सुखं परिगृह्यते, ततश्च यत आरभ्य शिष्टानां सुखशब्दप्रवृत्तिः,तमाह्लादमधिकृत्य एकैकगुणवृद्धितारतम्येन तावदसावाह्लादो विशिष्यते,यावदनन्तगुणवृद्ध्या निरतिशयनिष्ठामुपगतः, सोऽयमत्यन्तोपमाऽतीतैकान्तौत्सुक्यविनिवृत्तिरूपस्तिमिततमकल्पपरमाऽऽह्लादः सदा सिद्धानां यस्माच्चारतः प्रथमाद्योर्द्धमपान्तरालवर्त्तिनो ये गुणास्तारतम्येनाऽऽह्लादविशेषरूपाः, ते सर्वाऽऽकाशप्रदेशेभ्योऽप्यतिभूयांसः । ततः किलोक्तम्-"सव्वाऽऽगासे न माएज्जा" इति । अन्यथा यत्सर्वाऽऽकाशे न माति, तत्कथमेकस्मिन् सिद्धे मायात् ?, इति पूर्वसूरिसम्प्रदायः ॥१५॥

साम्प्रतमस्य निरुपमतां प्रतिपादयति-

जह नाम कोइ मिच्छो, नगरगुणे बहु विजाणंतो ।
ण चएइ * परिकहेउं, उवमाए तहिँ असंतीए ॥१६॥

"जइ नाम" इत्यादि । यथा नाम कश्चिन्म्लेच्छो नगरगुणान् गृहनिवासाऽऽदीन्,बहुविधान् अनेकप्रकारान्,विजानन्,अरण्याऽऽगतः सन् अन्यम्लेच्छेभ्यो न शक्नोति परिकथयितुम् । कस्माद् न शक्नोति? इत्यत आह-उपमाया तत्रासत्याम् । "निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम् ।" इति न्यायाद् हेतौ सप्तमी । तत्र उपमाया अभावादिति रूपकम् । एष गाथाऽक्षरार्थः ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्-"एगो महारण्णवासी मिच्छोऽरण्णे चिट्ठति । इतो य एगो राया आसेण अवहरितो तं अडविं पवेसितो । तेण दिट्ठो सक्कारेऊण जणवयं नीतो । रन्ना वि सो नगरे पच्छा उवगारि त्ति गाढमुपचरितो-जहा राया चिट्ठइ धवलघराइभोगेण वि, वासाकालेणऽरण्णं सरिउमारद्धो, रन्ना विसज्जिओ, ततोऽरण्णगा पुच्छंति-केरिसं नयरं ति ?। सो वियाणंतो वि तत्थोवमाऽभावा न सक्केइ नयरगुणे परिकहेउं । एस दिट्ठंतो" ॥१६॥

अयमर्थोपनयः-

इय सिद्धाणं सोक्खं, अणोवमं नत्थि तस्स ओवम्मं ।
किंचि विसेसेणित्तो, सारिक्खमिणं सुणह वोच्छं ॥१७॥

"इय सिद्धाण" इत्यादि । इति एवं,सिद्धानां सौख्यमनुपमं वर्त्तते । किमिति ?, तत आह-यतो नास्ति तस्यौपम्यं, तथापि बालजनप्रतिपत्तये किञ्चिद्विशेषेण, "इत्तो" इति । आर्षत्वादस्येत्यर्थः । सादृश्यमिदं वक्ष्यमाणं, शृणुत ॥१७॥

जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोइ ।
तण्हाछुहाविमुक्को, अच्छिज्ज जहा अमियतित्तो ॥१८॥

"जह सव्व" इत्यादि । यथेत्युदाहरणोपदर्शनार्थः । भुज्यते इति भोजनं,सर्वकामगुणितं सकलसौन्दर्यसंस्कृतं,कोऽपि पुरुषो, भुक्त्वा,क्षुत्तृड्विमुक्तः सन्,यथा अमृततृप्तः,तथा तिष्ठति ॥१८॥

इय सव्वकालतित्ता, अउलं निव्वाणमुवगया सिद्धा ।
सासयमव्वाबाहं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥१९॥

"इय" इत्यादि । इति एवं, निर्वाणं मोक्षमुपगताः सिद्धाः, सर्वकालं साद्यपर्यवसितं कालं,तृप्ताः सर्वथौत्सुक्यविनिवृत्तिभावतः परमसन्तोषमधिगताः, अतुलमनन्यसदृशम्, उपमातीतत्वात्; शाश्वतं प्रतिपाताभावात्; अव्याबाधं लेशतोऽपि व्याबाधाया असम्भवात्; सुखं प्राप्ताः, अत एव सुखिनस्तिष्ठन्ति ॥१९॥

एतदेव सविशेषतरं भावयति-

सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य, पारगय त्ति य परंपरगय त्ति ।
उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य ॥२०॥

"सिद्ध त्ति य" इत्यादि । सितं बद्धमष्टप्रकारं कर्म, ध्मातं भस्मीकृतं, यैस्ते सिद्धाः । "पृषोदराऽऽदयः" ॥३।२।१५५॥ (हैम०) इति रूपनिष्पत्तिः, निर्दग्धानेकभवकर्मेन्धना इत्यर्थः । ते च सामान्यतः कर्माऽऽदिसिद्धा अपि भवन्ति । यत उक्तम्-"कम्मे सिप्पे य विज्जाए,मंते जोगे य आगमे । अत्थ-जत्ता-अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय" ॥३६२॥ (आव० नि०)(३०२८विशे०) ततः कर्माऽऽदिसिद्धव्यपोहायाऽऽह-(बुद्ध त्ति) अज्ञाननिद्राप्रसुप्ते जगति अपरोपदेशेन जीवाऽऽदिरूपं तत्त्वं बुद्धवन्तो बुद्धाः,सर्वज्ञसर्वदर्शिस्वभावबोधरूपा इति भावः । एतेऽपि च संसारनिर्वाणोभयपरित्यागेन स्थितवन्तः कैश्चिदिष्यन्ते, "संसारे न च निर्वाणे, स्थितो भुवनभूतये । अचिन्त्यः सर्वलोकानां; चिन्तारत्नाधिको महान्" ॥१॥ इतिवचनात् । ततस्तन्निरासार्थमाह-पारगताः-पारं पर्यन्तं संसारस्य,प्रयोजनव्रातस्य वा,गताः पारगताः । तथा भव्यत्वाऽऽक्षिप्तसकलप्रयोजनसमाप्त्या निरवशेषकर्तव्यशक्तिविप्रमुक्ता इति भावः । इत्थंभूता अपि कैश्चिद् यदृच्छावादिभिरक्रमसिद्धत्वेनापि गीयन्ते । तथोक्तम्-"नैकादिसंख्याक्रमतो, वित्तप्राप्तिनियोगतः । दरिद्रराज्याऽऽप्तिसमा, तद्वन्मुक्तिः क्वचिन्न किम् ? ॥१॥" ततस्तन्मतव्यपोहायाऽऽह-परम्परागता इति । परम्परया ज्ञानदर्शनचारित्ररूपया,मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतिसम्यग्दृष्टिदेशविरतिप्रमत्तनिवृत्त्यनिवृत्तिबादरसम्परायसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिगुणस्थानभेदभिन्नया, गताः । एते च कैश्चित्तत्त्वतोऽनुन्मुक्तकर्मकवचा अभ्युपगम्यन्ते,तीर्थनिकारदर्शनादिहाऽऽगच्छन्तीति वचनतः पुनः संसारावतरणाभ्युपगमात्, तन्मतापाकरणार्थमाह-उन्मुक्तकर्मकवचाः-उत्प्राबल्येनापुनर्भवरूपतया मुक्तं परित्यक्तं कर्म कवचमिव कर्मकवचं यैस्ते उन्मुक्तकर्मकवचाः । अत एव अजराः शरीराभावतो जरसोऽभावात् , अमराः अशरीरत्वादेव प्राणत्यागासम्भवात् । उक्तं च-" वयसो हाणीह जरा, पाणच्चाओ य मरणमाहिट्ठं । सइ देहम्मि तदुभयं, तदभावे नेव कस्सेव ॥१॥ " असङ्गाः बाह्याभ्यन्तरसङ्गरहितत्वात् ॥२०॥

णित्थिन्नसव्वदुक्खा, जातिजरामरणबंधणविमुक्का ।
अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहोंती सासयं सिद्धा ॥२१॥

"नित्थिन्न" इत्यादि । निस्तीर्णं लङ्घितं सर्वं दुःखं यैस्ते निस्तीर्णसर्वदुःखाः । कुतः ?, इत्याह-(जातिजरामरणबंधणविमुक्का) जातिर्जन्म, जरा वयोहानिलक्षणा,मरणं प्राणत्यागरूपं,बन्धनानि तन्निबन्धनरूपाणि कर्माणि, तैर्विशेषतो निःशेषापगमनेन मुक्ता जातिजरामरणबन्धनविमुक्ताः । हेतावियं प्रथमा । यतो जरामरणबन्धनविमुक्तास्ततो निस्तीर्णसर्वदुःखाः , कारणाभावात् । ततोऽव्याबाधं सौख्यं शाश्वतं सिद्धा अनुभवन्ति ॥२१॥ प्रज्ञा० २ पद । जी० । एतदर्थप्रतिपादके प्रज्ञापनाया द्वितीये पदे,प्रज्ञा० २ पद । जी० । तिष्ठति अनवस्थाननिबन्धनकर्माभावेन सदाऽवस्थितो भवति यत्र तत् स्थानम् । क्षीणकर्मणो जीवस्य स्व-

---

* "शकेश्चय तर-तीर-पाराः" ॥८।४।८६॥ शक्नोतेरेते चत्वार आदेशा भवन्ति । 'चयइ' । त्यजतेरपि 'चयइ' ।

रूपे, लोकाग्रे वा। भ०१ श०१ उ०। औ०। सं०। तिष्ठन्ति सकलकर्मकृदाघातानन्तज्ञानसुखरूपाण्यासिताः मुक्तात्मानोऽस्मिन्निति स्थानम्। सम्म० २ काण्ड। व्यवहारतः सिद्धिक्षेत्रे, निश्चयतो यथाऽवस्थितात्मस्वरूपे, स्थानस्थानिनोरभेदोपचारात् सिद्धिगतिनामधेये, औ० ३ प्रति०। प्रदेशे, पा०। दश०। तिष्ठन्ति मुमुक्षवो येषु तानि स्थानानि। महाव्रतेषु, पञ्चा० १९ विव०। पञ्चा० म०। स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानम्। दुर्गतिगमनाऽऽदिके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। अवगाहनायाम्, स्था० म० २ अ०। तिष्ठन्ति मायावोऽस्मिन्निति स्थानम्। वसतौ, बृ० २ उ०। तिष्ठन्त्यस्मिन् कर्माणि प्रायश्चित्ताऽऽन्तराणि इति स्थानम्। पाराञ्चिके, जी० १ प्रति०। तिष्ठन्त्यस्मिन् प्रतिपाद्यतया जीवाऽऽदय इति स्थानम्। स्थानाङ्गाऽऽख्ये प्रवचनपुरुषस्य तृतीयेऽङ्गे, स० २ अङ्ग। समुदाये, धर्म० ५ धर्म०।

ठाणंग-स्थानाङ्ग-न०। तिष्ठन्ति प्रतिपाद्यतया जीवाऽऽदय पदार्था अस्मिन्निति स्थानम्। न०। स०। तिष्ठन्ति आसते वसन्ति यथावदभिधेयतयैकत्वाऽऽदिविशेषिता आत्माऽऽदय पदार्था यस्मिन् तत्स्थानम्। अथवा-स्थानशब्देनैकत्वाऽऽदिकः सङ्ख्याभेदोऽभिधीयते, ततश्चाऽऽत्माऽऽदिपदार्थगतानामेकाऽऽदिदशान्तानां स्थानानामभिधायकत्वेन आचाराभिधायकत्वादाचारवदिति स्थान, तच्च प्रवचनपुरुषस्य क्षायोपशमिकभावरूपस्याङ्गमिवाङ्ग चेति समुदायार्थः। स्था० १ ठा०। प्रवचनपुरुषस्य तृतीयेऽङ्गे, स० १ अङ्ग।

से किं तं ठाणे?। ठाणेणं जीवा ठाविज्जंति, अजीवा ठाविज्जंति, जीवाजीवा ठाविज्जंति, ससमए ठाविज्जइ, परसमए ठाविज्जइ, ससमयपरसमए ठाविज्जइ, लोए ठाविज्जइ, अलोए ठाविज्जइ, लोयालोए ठाविज्जइ। ठाणेणं टंका कूडा सेला सिहरिणो पब्भारा कुंडाइं गुहाओ आगरा दहा नईओ आघविज्जंति। ठाणेणं एगाइयाए एगुत्तरियाए वुड्डीए दसट्ठाणगविवड्डियाणं भावाणं परूवणा आघविज्जइ। ठाणस्स णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए तइए अंगे एगे सुयक्खंधे दस अज्झयणा एगवीसं उद्देसणकाला एगवीसं समुद्देसणकाला बावत्तरिपयसहस्सा पयग्गे णं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति, से एवं आया एवं नाया एवं विण्णाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, से तं ठाणे।

"से किं तं" इत्यादि। अथ किं तत् स्थानम्?। तिष्ठन्ति प्रतिपाद्यतया जीवाऽऽदय पदार्था अस्मिन् इति स्थानम्। तथा चाऽऽह सूरि-"ठाणेण" इत्यादि। स्थानेन, स्थाने वा, णमिति वाक्यालङ्कारे, जीवाः स्थाप्यन्ते यथाऽवस्थितस्वरूपप्ररूपणया व्यवस्थाप्यन्ते, शेष प्रायो निगदसिद्धं, नवर (टंक त्ति) छिन्नतटं टङ्कम्, कूटानि पर्वतस्योपरि। यथा-वैताढ्यस्योपरि सिद्धाऽऽयतनकूटाऽऽदीनि नव कूटानि, शैला हिमवदादयः, शिखरिणः शिखरेण समन्विताः, ते च वैताढ्याऽऽदयः। तथा यत् कूटमुपरि कुब्जाम्रवत् कुब्ज तत्प्राग्भारम्। यद्वा-यत् पर्वतस्य उपरि हस्तिकुम्भाऽऽकृति कुब्ज विनिर्गतं, तत्प्राग्भारम्। कुण्डानि गङ्गाकुण्डाऽऽदीनि, गुहास्तामिस्रागुहाऽऽदयः, आकरा रूप्यसुवर्णाऽऽद्युत्पत्तिस्थानानि, ह्रदाः पौण्डरीकाऽऽदयः, नद्यो गङ्गासिन्ध्वादय, आख्यायन्ते। तथा स्थानेन। अथवा-स्थाने, णमिति वाक्यालङ्कारे एकाद्येकोत्तरिकया वृद्ध्या दशस्थान यावद् विवर्द्धितानां भावाना प्ररूपणा आख्यायते। किमुक्तं भवति?-एकसंख्यायां द्विसंख्यायां यावद्दशसंख्यायां ये ये भावा यथाऽन्तर्भवन्ति, तथा ते ते प्ररूप्यन्ते इत्यर्थः। यथा "एगे आया" इत्यादि, तथा "ज इत्थ च णं लोगे त सव्वं दुप्पडोयारं जीवा चेव अजीवा चेव" इत्यादि। "ठाणस्स णं परित्ता वायणा" इत्यादि सर्वं प्राग्वत्परिभावनीयम्। पदपरिमाणं च पूर्वस्मादङ्गादुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नङ्गे द्विगुणमवसेय, शेष पाठसिद्धं यावन्निगमनम्। न०। निपुणबुद्ध्यादिगुणगणमाणिक्यरोहणधरणीकल्पेन माण्डागारनियुक्तेनेव गणधरेण पूर्वकाले चतुर्वर्णश्रीश्रमणसङ्घभट्टारकस्य तत्सन्तानस्य चोपकाराय निरूपितस्य विविधार्थरत्नभारस्य देवताऽधिष्ठितस्य विद्याक्रियाबलवताऽपि पूर्वपुरुषेण केनापि कुतोऽपि कारणादनुन्मुद्रितस्यात एव च केषाञ्चिदनर्थभीरूणां मनोरथगोचरातिक्रान्तस्य महानिधानस्येव स्थानाङ्गस्य तथाविधविद्याऽऽदिबलविकलैरपि केवल धार्ष्ट्यप्रधानैः स्वपरोपकारार्थविनियोजनाभिलाषिभिरत एव चाविगणितस्वयोग्यतैर्निपुणपूर्वपुरुषप्रयोगानुपसृत्य किञ्चित् समस्योद्भेदय तथाविधवर्त्तमानजनानापृच्छ्य च तद्दुरुपायान् द्यूताऽऽदिमहाव्यसनोपेतैरिवास्माभिरुन्मुद्रणमिवानुयोग. प्रारभ्यत इति शास्त्रप्रस्तावना। तस्य चानुयोगस्य फलाऽऽदिद्वारनिरूपणतः प्रवृत्तिः। यत उक्तम्-"तस्स फलजोगमङ्गल-समुदायत्था तहेव दाराइं। तब्भेयनिरुत्तिकम-पयोयणाइं च वच्चाइं" ॥१॥ इति। तत्र प्रेक्षावतां प्रवृत्तये फलमवश्य वाच्यम्। अन्यथा हि निष्प्रयोजनत्वमस्याऽऽशङ्कमानाः श्रोतारः कण्टकशाखामर्दन इव न प्रवर्त्तेरन्निति। तच्चानन्तरपरम्परभेदाद् द्विधा। तत्रानन्तरमर्थावगमः, तत्पूर्वकानुष्ठानतोऽपवर्गप्राप्तिर्या सा परम्परप्रयोजनमिति। तथा योग. सम्बन्धः। स च यदि उपायोपेयभावलक्षणो, यदुतानुयोग उपाय, अर्थावगमाऽऽदि चोपेयमिति, तदा सप्रयोजनाभिधानादेवाभिहित इत्यवसरलक्षण. सम्बन्धोऽस्य वाच्यः। कोऽस्य दाने सम्बन्धोऽवसर इति, भावयोग्यो वा दाने कस्य क इति?। तत्र भव्यस्य मोक्षमार्गाभिलाषिण. स्थितगुरूपदेशस्य प्राणिनोऽष्टवर्षप्रमाणप्रव्रज्यापर्यायस्यैव सूत्रतोऽपि स्थानाङ्गं देयमिति। अयमवसरो, योग्योऽपि चायमेवेति।

यथोक्तम्-

"तिवरिसपरियागस्स उ, आयारपकप्पणाममज्झयणं।
चउवरिसस्स य सम्मं, सूयगडं नाम अंग ति ॥१॥
दसकप्पववहारा, संवच्छरपणगदिक्खियस्सेव।
ठाणं समवाओ वि य, अंगे ते अट्ठवासस्स ॥२॥" इति।

अन्यथा दानेऽस्याऽऽज्ञाभङ्गाऽऽदयो दोषा इति। स्था०१ठा०।

ठाणंतर-स्थानान्तर-न०। स्वस्थानात्परस्थाने, व्य० २ अधि०।

ठाणकप्प-स्थानकल्प-पुं० । कल्पभेदे, "अधुणा तु ठाणकप्पो, उद्दट्ठाणादिओ मुणेयव्वो । ठितकप्पसंजतस्स वि, अणुप्पमो अट्ठितस्सेव ॥१॥ " पं० भा० । पं० चू० ।

ठाणगुण-स्थानगुण-पुं० । स्थानं स्थितिर्गुणः कार्यं यस्य स स्थानगुणः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । जीवपुद्गलानां स्थितिपरिणतानां स्थित्युपष्टम्भहेतौ गुणतोऽधर्मास्तिकाये, भ० १ श० १ उ० ।

ठाणचंचल-स्थानचञ्चल-पुं० । चञ्चलशब्दोक्तार्थके चञ्चलभेदे, बृ० १ उ० ।

ठाणठवणा-स्थानस्थापना-स्त्री० । उचितस्थानन्यासे, पञ्चा० ८ विव० ।

ठाणठाइ[ण्]-स्थानस्थायिन्-पुं० । उचितस्थानस्थातरि, बृ० १ उ० । नि० चू० ।

ठाणठिइ-स्थानस्थिति-स्त्री० । विहारान्तरं वसतिप्रवेशात्प्राक् मध्ये स्थितौ, ओघ० । (एतद्वक्तव्यता च 'मासकप्पविहार' शब्दे वक्ष्यते)

ठाणठिय-स्थानस्थित-त्रि० । उत्तरोत्तरविशिष्टसंयमस्थानाध्यासिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

षष्ठे द्वारे स्थानस्थितो भवतीदमुक्तं, स च एभिः कारणैः-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए णइष्फाणे ।
फिडिए गिलाणे कालगए,वासे ठाणट्ठिओ होइ ॥१७७॥

अशिवे देवताजनितोपद्रवे सति तस्मिन् यत्राभिप्रेतं गमनं कदाचिदपान्तराले भवति, ततश्चानेन कारणेन स्थानस्थितो भवति । (ओमोयरिए त्ति) दुर्भिक्षे विवक्षिते देशे जाते अपान्तराले वा, ततश्च स्थानस्थितो भवति । (रायदुट्ठि त्ति) राजद्विष्टं कदाचित्तत्र भवत्यभिप्रेतदेशे, अपान्तराले वा, तेन च कारणेन स्थानस्थितो भवति । स्तेनाऽऽदिभयं विवक्षिते देशे,अपान्तराले वा, ततस्तेन कारणेन स्थानस्थितो भवति । (नइ त्ति) कदाचिन्नदी विवक्षिते देशे अपान्तराले वा भवति, तेन प्रतिबन्धेन स्थानस्थितो भवति । (फिडिय त्ति) कदाचिदसावाचार्यस्तस्मात् क्षेत्रात् च्युतोऽपगतो भवति, ततश्च तावदास्ते यावद्वार्त्ता लभ्यते, अनेन कारणेन स्थानस्थितो भवति । (गिलाणे त्ति) ग्लानः कदाचिदसावाचार्यो भवति, तेन प्रतिबन्धेन स्थानस्थितो भवति । (कालगए त्ति) कदाचिदसावाचार्यः कालगतो मृतो भवति तथा च यावत्तन्निश्चयो भवति तावत् स्थानस्थितो भवति । (वासे त्ति) वर्षाकालः सञ्जातस्ततस्तत्प्रतिबन्धात् स्थानस्थितो भवति, तत्रैव ग्रामाद्यावास्ते । इयं द्वारगाथा ॥१७७॥

इदानीं निर्युक्तिकार एव तानि द्वाराणि व्याख्यानयन्नाह-

तत्थेव अंतरा वा, असिवाऽऽदी सोउ परिरयस्सऽसति ।
संचिट्ठे जाव सिवं,अहवा वी ते तओ फिडिया ॥१७८॥

(तत्थ त्ति) तत्र योऽसौ विवक्षितो देशः,तत्रैव(अंतरा)अन्तराले वा, अशिवाऽऽद्यो जाता इति श्रुत्वा आकर्ण्य । आदिग्रहणात् अवमौदरिकराजद्विष्टभयानि परिगृह्यन्ते ।(परिरयस्सऽसइ त्ति) 'भमाडयस्स' असति अभावे तिष्ठति । एतदुक्तं भवति-यदि गन्तुं शक्नोति श्रमणः ततोऽपान्तराले परिहृत्याशिवस्थानं गच्छति, अथ न शक्यते गन्तुं ततः (संचिट्ठे त्ति) संतिष्ठेत । कियन्तं कालं यावत् ?, अत आह-(जाव सिवं) यावत् शिवं निरुपद्रवं जातमिति । (अहवा वी ते तओ फिडिया) अथवा ते आचार्याऽऽदयस्तस्मात् क्षेत्रादपगता भ्रष्टा इति, ततश्च वार्त्तोपलम्भं यावत् तिष्ठति ॥ १७८ ॥

इदानीं भाष्यकृत् शेषद्वाराणि व्याख्यानयन्नाह-

पुन्ना व नई चउमा-सवाहिणी वि य न कोइ उत्तारे ।
तत्थंतरालदेसे, उद्धिय ण वि लब्भइ पवित्ती ॥१७९॥

पूर्णा भृता, का ?, नदी, किंविशिष्टा ?, चतुर्मासवाहिनी, न च कश्चिदुत्तारयति, ततोऽपान्तराले एव तिष्ठति । तत्र, अन्तराले वा देशे, उत्थितः उद्भ्रमितः, न च प्रवृत्तिर्वार्त्ता लभ्यते, अतस्तिष्ठति तावत् ॥१७९॥

फिडिएसु जा पवत्ती, सयं गिलाणो परं व पडियरइ ।
कालगय त्ति पवित्ती, समंकिए जाव निस्संकं ॥१८०॥

(फिडिएसु) तस्मात् क्षेत्रादपगतेषु सत्सु (जा पवत्ती) यावद्वार्त्ता भवति, तावत्तिष्ठति । तथा-(सयं गिलाणो) स्वयमेव ग्लानो जातः, ततस्तिष्ठति । (परं व पडियरइ) अन्यं वा ग्लानं सन्तं प्रतिचरति (कालगय त्ति पवित्ती) अथवा-कालगतास्ते आचार्याः, इति एवम्भूता,प्रवृत्तिः श्रुता, ततः (समंकिए जाव निस्संकं) सशङ्कायां वार्त्तायामनिश्चितायां तावदास्ते, यावन्निःशङ्कं सञ्जातमिति ॥१८०॥

वासासु उब्भिन्ना, बीयाऽऽई तेण अंतरा चिट्ठे ।
तेगिच्छि भोगि सार-क्खणट्ठे य ठाणमिच्छंति ॥१८१॥

वर्षासूद्भिन्ना बीजाऽऽदयः, आदिशब्दादनन्तकायः, तेन कारणेन अन्तराल एव तिष्ठति । मन्दश्च (तेगिच्छि त्ति) चिकित्सकं, तथा (भोइ त्ति) भोगिकं ग्रामस्वामिनं पृच्छति । किमर्थं पुनः वैद्यभोगिकयोः पृच्छनं करोतीत्यत आह-(सारक्खणट्ठे) वैद्यं पृच्छति मन्दतायां सत्यां (दृढे त्ति) दृढीकरणार्थम्, भोगिकं पृच्छति सरक्षणार्थं परिभवाऽऽदेः, ततः स्थानं च वसनमिच्छन्ति केचित् ॥१८१॥

तत आह-

संविग्गमन्निजइग-अहप्पहाणेसु भोइयघरे वा ।
ठवणा आयरियस्सा, सामायारी पउंजणया ॥ १८२ ॥

वैद्यभोगिकयोः कथयित्वा संविग्नेषु मोक्षाभिलाषिषु तिष्ठति, (सन्नि त्ति) संज्ञी श्रावकः, तद्गृहे तिष्ठति, भद्रकः साधूनामुपकारकः, तद्गृहे तिष्ठति, तद्गृहे निवासं करोति । (अहप्पहाणेसु त्ति) यथाप्रधानेष्विति-यो यत्र ग्रामाऽऽदौ प्रधानः प्रथितस्तेषु यथाप्रधानेष्विति । एतेषामभावे (भोइयघरे व त्ति) भोगिकगृहे वा ग्रामस्वामिगृहे वा तिष्ठति । तत्र च तिष्ठन् किं करोतीति ?,अत आह-(ठवणा आयरियस्सा) स्थापकाऽऽदिमाचार्यं कल्पयति निराबाधे प्रदेशे, अयमाचार्य इति तस्य चाग्रतः सकलां चक्रवालसामाचारीं प्रयुङ्क्ते, निवेद्य करोतीत्यर्थः ॥१८२॥

एतच्च कारणिकद्वारम्-

एवं ता कारणिओ, दूइज्ज जुत्तो अप्पमाएणं ।
निक्कारणिओ एत्तो, चइओ अहिंडिओ चेव ॥ १८३ ॥

एवं तावत्कारणिकः , (दूइज्ज त्ति) विहरति । कथं विहरति ?, (जुत्तो अप्पमाएणं) अप्रमादेन युक्तः, प्रयत्नपर

इत्यर्थः । निष्कारणिकोऽत्र ऊर्द्धमुच्यते, स द्विविधः (चरमो) त्याजित सारणावारणाऽऽदिभिस्त्याजित ; आहिण्डकः-अगीतार्थश्चकस्तूपाऽऽदिदर्शनप्रवृत्त ॥१८३॥

तत्र तावत त्याजित उच्यते-

जह सागरम्मि मीणा, संखोभं सागरस्स असहंता ।
णिंति तम्रो सुहकामी, निग्गयमेत्ता विणस्संति ॥१८४॥

यथा सागरे समुद्रे, मीना मत्स्याः, संक्षोभं सागरस्य असहमाना, निर्गच्छन्ति, तत समुद्रात्, सुखकामिनः सुखाभिलाषिण, निर्गतमात्राश्च विनश्यन्ति ॥१८४॥

एवं गच्छसमुद्दे, सारणवीईहिँ चाइया संता ।
णिंति तओ सुहकामी, मीणा व जहा विणस्संति ॥१८५॥

एवं गच्छसमुद्रे सारणवारणा एव वीचय, ताभिस्त्याजिताः सन्तो निर्गच्छन्ति, ततो गच्छात्, सुखाभिलाषिणो, मीना इव मीना यथा विनश्यन्ति । उक्त त्याजितद्वारम ॥१८५॥ ओघ०। (आहिण्डकस्तु ' आहिंडग ' शब्दे द्वितीयभागे ४२७ पृष्ठे प्रतिपादित)

ठाणणिउत्त-स्थाननियुक्त-त्रि० । स्थाने पदे नियुक्तो व्यापारित. स्थाननियुक्त । प्रवर्त्तकस्थविरगणावच्छेदकेषु, ग०१ अधि०। सामान्यसाधौ, ध० ३ अधि० ।

ठाणतिग-स्थानत्रिक-न० । स्थानत्रये,ध०। पिण्डग्रहणं कुर्वता स्थानत्रय परिहरणीयम । तद्यथा-आत्मोपघाति, संयमोपघाति, प्रवचनोपघाति चेति । ध० ३ अधि० ।

ठाणपडिमा-स्थानप्रतिमा-स्त्री०। स्थानं कायोत्सर्गाऽऽद्यर्थ आश्रय, तत्र प्रतिमा स्थानप्रतिमा । स्थानविषयके तथाऽभिधेऽभिग्रहे,"चत्तारि ठाणपडिमा ।" (स्था०) स्थान कायोत्सर्गाऽऽद्यर्थं आश्रय, तत्र प्रतिमा. स्थानप्रतिमा. । तत्र कस्यचिद् भिक्षोरेवभूतोऽभिग्रहो भवति-यदहमचित्त स्थानमुपाश्रयिष्यामि, तत्र चाऽऽकुञ्चनप्रसारणाऽऽदिकां क्रिया करिष्ये, तथा किञ्चिदचित्त कुड्याऽऽदिकमवलम्बयिष्ये,तथा तत्रैव स्तोक पादविहरणं समाश्रयिष्यामीति प्रथमा प्रतिमा । द्वितीया तु आकुञ्चनप्रसारणाऽऽदिक्रियामवलम्बन च करिष्ये,न पादविहरणमिति। तृतीया तु आकुञ्चनप्रसारणमेव, नालम्बनपादविहरणे इति । चतुर्थी पुनर्यत्र त्रयमपि न विद्यते । स्था० ४ ठा० ३ उ०।

ठाणपरिणाम-स्थानपरिणाम-पुं० । परिणमन परिणामः, तत्तद्भावगमनमित्यर्थ. । यदाह-परिणामो ह्यर्थान्तराऽऽगमन, न च सर्वथा व्यवस्थानं, न च सर्वथा विनाशः । परिणामभेदे, स्था० १० ठा० ।

ठाणभट्ठ-स्थानभ्रष्ट-त्रि० । स्थानाच्चारित्राद्, गुरुकुलाऽऽवासाऽऽदिकात्, सिद्धान्तव्याख्यानरूपाद्वा सूत्रप्ररूपणेन भ्रष्टे, दुराचारे च । त० ।

ठाणरय-स्थानरत-त्रि० । कायोत्सर्गकारिणि, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

ठाणविच्छुय-स्थानवृश्चिक-न० । सम्मूर्च्छिमनपुंसकजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

ठाणसत्तिक्कय-स्थानसप्तैकक-पुं० । आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे सप्तैककानां प्रथमे, आचा० २ श्रु० २ चू० । स्था० । (अत्रत्यः सर्वो विषयो ' वसहि ' शब्दे वक्ष्यते)

ठाणाइगा-स्थानायतिका-स्त्री० । ऊर्ध्वस्थायाम, बृ० । नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः स्थानायतयो भवितु स्थानायत नामोर्द्ध्वस्थानरूपमायत स्थानं,तदस्यामस्ति सा स्थानायतिका । बृ०५उ०।

स्थानादिगा-स्त्री० । ऊर्ध्वस्थायाम, केचित्तु ' ठाणाइगा ' इति पठन्ति । तत्रायमर्थः-सर्वेषां निषदनाऽऽदीनां स्थानानामादिभूतमूर्द्धस्थानमत. स्थानानामादौ गच्छतीति स्थानाऽऽदिग तदुच्यते, तद्योगादार्यिकाऽपि स्थानाऽऽदिगेति व्यपदिश्यत । बृ० ५ उ० । (एतच्च ' आसन ' शब्दे द्वितीयभागे ४७० पृष्ठे उक्तम)

ठाणाइय-स्थानातिद-पुं० । स्थानं कायोत्सर्गाऽऽदिकमतिशयेन ददाति प्रकरोति अतिगच्छति वेति । स्था० ७ ठा० । भ० । कायोत्सर्गकारिणि, धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् कायक्लेशभेदे च । स्था० ७ ठा० ।

स्थानातिग-पुं० । कायक्लेशभेदे, स्था० ७ ठा० ।

स्थानायतिक-पुं० । कायक्लेशभेदे, स्था० ७ ठा० ।

ठाणायय-स्थानाऽऽयत-न० । ऊर्ध्वस्थानरूपे आयतस्थाने, बृ० ५ उ० ।

ठाणि [ण्]-स्थानिन्-पुं० । त्रि० । स्थानानि विद्यन्ते येषां ते स्थानिनः । स्थानवत्सु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

ठाणुक्कुडुय-स्थानोत्कुटुक-त्रि० । स्थानमासनमुत्कुटुकमाधारे पुतालगनरूप यस्यासौ स्थानोत्कुटुकः । आसनाभिग्रहविशेषवति, भ० २ श० १ उ० ।

ठाणुप्पाइयमह-स्थानोत्पातिकमह-पुं० । स्वनामख्याते अपूर्वे उत्सवविशेषे, बृ० १ उ० ।

ठावण-स्थापन-न० । आरोपणे, पो० १२ विव० । धारणे, पञ्चा० १३ विव० ।

ठावणा-स्थापना-स्त्री० । निक्षेपे, न्यासे, स्था० १ ठा० । प्रतिष्ठायाम, बृ० । प्रतिष्ठा स्थापना स्थान व्यवस्था संस्थितिः स्थितिरवस्थानम, अवस्था चैकार्थिकानि पदानि । बृ० ५ उ० ।

ठावित्ता-स्थापयितृ-त्रि० । स्थापनशीले, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

ठिअलेस्स-स्थितलेश्य-न० । लेश्याभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । (अर्थस्तु 'बालमरण' शब्दे वक्ष्यते)

ठिइ-स्थिति-स्त्री० । अवस्थाने, आव० ४ अ० । विशे० । आ० । बृ० । स्थाने, स्था० ५ ठा० ३ उ० । जीत स्थिति. कल्पो व्यवस्था समयो मर्यादेति हि पर्यायाः । नं० । दर्शा० । "दुविहा ठिई पण्णत्ता । तं जहा-कायठिई चेव, भावट्ठिई चेव । " स्था० २ ठा० ३ उ० । आव० । आ० चू० । (व्याख्या 'कप्पट्ठिइ' शब्दे तृतीयभागे २३३ पृष्ठे प्रदर्शिता) स्थिति. प्रकल्पमवस्थानं विकल्पनमित्येकार्थम । स्था० ४ ठा० ३ उ० । स्वभावव्यवस्थायाम, द्वा० २१ द्वा० । क्रमे, स्था० ४ ठा० १ उ० । आयुषि, भ० १४ श० ५ उ० । प्रश्न० । तन्नत्रशास्त्रे आयुषि, कल्प० ६ क्षण ।

नैरयिकाणाम्-

नेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ।

नैरयिकाणां भदन्त ! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता ? । तत्र स्थीयतेऽवस्थीयते अनयाऽऽयुष्कर्मानुभूत्येति स्थितिः, स्थितिरायुष्कर्मानुभूतिर्जीवनमिति पर्यायाः। यद्यप्यत्र जीवेन मिथ्यात्वाऽऽदिभिरुपात्तानां कर्मपुद्गलानां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूपतया परिणतानां यदवस्थानं सा स्थितिरिति प्रसिद्ध, तथापि नारकाऽऽदिव्यपदेशहेतुरायुष्कर्मानुभूतिः । तथाहि-यद्यपि नरकगतिपञ्चेन्द्रियजात्यादिनामकर्मोदयाऽऽश्रयो नारकत्वपर्यायः, तथाऽपि नारकाऽऽयुःप्रथमसमयसंवेदनकाल एव तन्निबन्धननारकक्षेत्रमप्राप्तोऽपि नारकस्य व्यपदेशं लभते । तथा च भगवतीन्द्र प्रवचनम्-" नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जइ, अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ ? । गोयमा ! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ,नो अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ"इत्यादि । तत सैवाऽऽयुष्कर्मानुभूतिरिह यथोक्तव्युत्पत्त्या स्थितिरभिधीयते इति । अत्र निर्वचनमाह-" गोयमा !" इत्यादि । एतच्च पर्याप्तापर्याप्तविभागाभावेन सामान्यत उक्तम् ।

यदा तु पर्याप्तापर्याप्तविभागेन चिन्ता, तदेदं सूत्रम् -

अपज्जत्तगनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ॥

" अपज्जत्तगनेरइयाण भंते !" इत्यादि । इहापर्याप्ता द्विविधाः-लब्ध्या,करणैश्च। तत्र नैरयिका देवा संख्येयवर्षायुष्कतिर्यग्मनुष्याः करणैरेवापर्याप्ताः, न लब्ध्या, लब्ध्यपर्याप्तकाना तेषु मध्ये उत्पादासम्भवात् । तत एते उपपातकाल एव करणैः कियन्त कालमपर्याप्ता लब्ध्या। शेषास्तु तिर्यग्मनुष्या लब्ध्या अपर्याप्ता उपपातकाले च ।

उक्तं च—

" नारगदेवा तिरिमणु-यगब्भजा जे असंखवासाऊ ।
एए अपज्जत्ता, उववाए चेव बोद्धव्वा ॥ १ ॥
सेसा य तिरियमणुया, लद्धिं पप्पोववायकाले य ।
दुहओ वि य भइयव्वा, पज्जत्तियरे य जिणवयणं ॥ २ ॥"

अपर्याप्तकाश्च जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्त्तम्। अत उक्तम्-" गोयमा ! जहन्नेण उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्त " ।

पज्जत्तगनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ॥

अपर्याप्ताद्धाऽपगमे च शेषकाल पर्याप्ताद्धा। तत उक्तं पर्याप्तसूत्रे-" गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइ अंतोमुहुत्तूणाइ, उक्कोसेण तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइ । " एतञ्च पृथिव्यविभागेन चिन्तितम् ।

सम्प्रति पृथिवीविभागेन चिन्तयति-

रयणप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं सागरोवमं । अपज्जत्तयरयणप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयरयणप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तूणं । प्रज्ञा० ४ पद । अनु० स० ।

इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए अत्थेगइयाणं नेरइयाणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । सम० ३३ सम० ।

सक्करप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं एगं सागरोवमं, उक्कोसेणं तिन्नि सागरोवमाइं । अपज्जत्तयसक्करप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयसक्करप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं तिन्नि सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

वालुयप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं तिण्णि सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्त सागरोवमाइं । अपज्जत्तयवालुयप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयवालुयप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं तिण्णि सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्त सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

पंकप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहण्णेणं सत्त सागरोवमाइं,उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं । अपज्जत्तयपंकप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयपंकप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्त सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

धूमप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं दस सागरोवमाइं,उक्कोसेण सत्तर सागरोवमाइं । अपज्जत्तयधूमप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयधूमप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्तर सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ॥

तमप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तर सागरोवमाइं, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं । अपज्जत्तयतमप्पभापुढ-

विनेरइयाए भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयतमप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं सत्तरस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

अहेसत्तमपुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । अपज्जत्तयअहेसत्तमपुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयअहेसत्तमपुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेण तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

देवानां स्थितिः-

देवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । अपज्जत्तयदेवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयदेवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

देवीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं पणपन्नं पलिओवमाइं । अपज्जत्तगदेवीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयदेवीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं पणपन्नं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

भवणवासीणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं । अपज्जत्तयभवणवासीणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयभवणवासीणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

भवणवासिणीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओवमाइं । अपज्जत्तियाणं भंते ! भवणवासिणीणं देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तियाणं भंते ! भवणवासिणीणं देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

असुरकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं साइरेगं सागरोवमं । अपज्जत्तयअसुरकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयअसुरकुमाराणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं अंतोमुहुत्तूणं ॥

असुरकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओवमाइं । अपज्जत्तियाणं असुरकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तियाणं असुरकुमारीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

नागकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं दोण्णि पलिओवमाइं देसूणाइं । अपज्जत्तयाणं भंते ! नागकुमाराणं देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयाणं भंते ! नागकुमाराणं देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं दोण्णि पलिओवमाइं देसूणाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

नागकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणं पलिओवमं । अपज्जत्तियाणं नागकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तियाणं नागकुमारीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं देसूणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

सुवण्णकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई प-

एणत्ता ?। गोयमा ! जहएणेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं देसूणाइं। अपज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं देसूणाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

सुवएणकुमारीणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणं पलिओवमं। अपज्जत्तियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं; उक्कोसेणं देसूणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं।

एवं एएणं अभिलावेणं ओहियअपज्जत्तपज्जत्तसुत्तत्तयं देवाण य देवीण य णेयव्वं० जाव थणियकुमाराणं जहा नागकुमाराणं।

पुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं। प्रज्ञा० ४ पद।

सएहपुढवीणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं एगं वाससहस्सं। सुद्धपुढवीपुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस वाससहस्सा। वालुयापुढवीपुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं चउदस वाससहस्सा। मणोसिलापुढवीपुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सोलस वाससहस्साइं। सक्करापुढवीपुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठारस वाससहस्साइं। खरपुढवीपुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सा।

" सएहपुढविकाइयाणं " इत्यादि। श्लक्ष्णपृथिवीकायिकानां भदन्त ! कियन्त कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता ?। भगवानाह-गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षत एकं वर्षसहस्रम्। एवमन्येनाभिलापेन शेषाणामपि पृथिवीनाम्। शुद्धपृथिव्या द्वादश वर्षसहस्राणि, वालुकापृथिव्याश्चतुर्दश वर्षसहस्राणि, मनःशिलापृथिव्याः षोडश वर्षसहस्राणि, शर्करापृथिव्या अष्टादश वर्षसहस्राणि, खरपृथिव्या द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि। सर्वासामपि चामूषां पृथिवीनां जघन्येन स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तं वक्तव्या। जी० ३ प्रति०।

अपज्जत्तयपुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?। गोयमा ! जहएणेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयपुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं। सुहुमपुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। अपज्जत्तयसुहुमपुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयसुहुमपुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। बादरपुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं। प्रज्ञा० ४ पद।

बायरस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पएणत्ता। जी० ६ प्रति०। अपज्जत्तयबादरपुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयबादरपुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

आउकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं। अपज्जत्तयआउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयआउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं। आउकाइयाणं ओहियाणं अपज्जत्तयाणं पज्जत्तयाणं जहा सुहुमपुढविकाइयाणं तहा भाणियव्वं। बादरआउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं। अपज्जत्तयबादरआउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

तेउकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि राइंदियाइं। अपज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि राइंदियाइं अंतोमुहुत्तूणाइं। सुहुमतेउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। अपज्जत्तापज्जत्ताणं सुहुमाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। बायरतेउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि राइंदियाइं। अपज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिएिण राइंदियाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

वाउकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिएिण वाससहस्साइं।

अपज्जत्तयवाउकाइयाण पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिरिण वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । सुहुमवाउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोण अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। अपज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। बादरवाउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं तिरिण वाससहस्साइं। अपज्जत्तबादरवाउकाइयाण पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तबादरवाउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिरिण वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

वणस्सइकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं। अपज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं। सुहुमवणस्सइकाइयाणं ओहियाण अपज्जत्तपज्जत्ताण य अंतोमुहुत्तं। बादरवणस्सइकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं। अपज्जत्तबादरवणस्सइकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तबादरवणस्सइकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

बेइंदियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहरणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं। अपज्जत्तबेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तबेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

तेइंदियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहरणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं एगूणवरणराइंदियाइं। अपज्जत्तयतेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्ततेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं एगूणवरणराइंदियाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

चउरिंदियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छम्मासा। अपज्जत्तयचउरिंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयचउरिंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं छम्मासा अंतोमुहुत्तूणा।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहरणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिरिण पलिओवमाइं। अपज्जत्तयपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोमी। अपज्जत्तयसंमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयसम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोमी अंतोमुहुत्तूणा। गब्भवक्कतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिरिण पलिओवमाइं। अपज्जत्तगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिरिण पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पुव्वकोडी। अपज्जत्तजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण पुव्वकोमी अंतोमुहुत्तूणा। सम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पुव्वकोमी। अपज्जत्तयसम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तसम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण पुव्वकोमी अंतोमुहुत्तूणा । गब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोण अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पुव्वकोमी। अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण पुच्छा ?। गोयमा ! जहरणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तगब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण पुच्छा ?। गोयमा ! जहरोणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोमी अंतोमुहुत्तूणा।

चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। अपज्जत्तयचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण पुच्छा?। गोयमा ! जहण्णेण अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउरासीइं वाससहस्साइं । अपज्जत्तयसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउरासीइं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी। अपज्जत्तयउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा ।

सम्मुच्छिमसामण्णपुच्छा कायव्वा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण तेवण्णवाससहस्साइं। अपज्जत्तगसम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तगसम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेवण्णवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । गब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी। अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तगगब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा।

भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पुव्वकोडी। अपज्जत्तयभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा । सम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बायालीसं वाससहस्साइं । अपज्जत्तयसम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगसम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण बायालीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । गब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । अपज्जत्तगब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयगब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा ।

खहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे। अपज्जत्तयखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे अंतोमुहुत्तूणे। सम्मुच्छिमखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावत्तरिवाससहस्साइं । अपज्जत्तयसम्मुच्छिमखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयसम्मुच्छिमखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावत्तरिवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं । गब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे। अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतो-

मुहुत्त । पज्जत्तयगब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्त, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागो अंतोमुहुत्तूणो।

मणुस्साणं भंते! केवइयं काल ठिई पण्णत्ता?। गोयमा! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण तिण्णि पलिओवमाइं। अपज्जत्तयमणुस्साण पुच्छा ?। गोयमा! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। पज्जत्तयमणुस्साणं पुच्छा ?। गोयमा! जहएणेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं। प्रज्ञा० ४ पद।

(निर्ग्रन्थानां स्थिति 'णिग्गंथ' शब्दे वक्ष्यते)

स्त्रीणाम्—

मणुस्सित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?। गोयमा! खेत्तं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। धम्मचरणं पडुच्च जहएणेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। कम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिती पएणत्ता ?। गोयमा! खेत्तं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिएिण पलिओवमाइं। धम्मचरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। भरहेरवयकम्मभूगमणुस्सित्थीणं भंते! केवतिय कालं ठिती पएणत्ता ?। गोयमा! खेत्त पडुच्च जहएणेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। धम्मचरण पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! केवतिय कालं ठिती पएणत्ता ?। गोयमा! खेत्तं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी। धम्मचरणं पडुच्च जहएणेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। अकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! केवतियं काल ठिती पएणत्ता ?। गोयमा! जम्मं णं पडुच्च जहएणेणं देसूणं पलिओवमं, पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। संहरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। हेमवए एरन्नवए जहएणेणं देसूण पलिओवमं, पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणग, उक्कोसेण पलिओवमं। संहरण पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्त, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। हेमवए एरन्नवए पडुच्च जहएणेणं देसूण पलिओवमं, पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणग, उक्कोसेणं पलिओवमं। संहरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। हरिवासरम्मगवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?। गोयमा! जम्मं णं पडुच्च जहएणेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं, पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागे ऊणाइं, उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं। संहरणं पडुच्च जहएणेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?। गोयमा! जम्मं णं पडुच्च जहएणेणं देसूणाइं तिण्णि पलिओवमाइं, पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेणं ऊणगाइं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। संहरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते! केवतियं कालं ठिती पएणत्ता ?। गोयमा! जम्मं णं पडुच्च जहएणेणं देसूणं पलिओवमं, पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेणं ऊणयं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं। संहरणं पडुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी॥

मनुष्यस्त्रीषु क्षेत्र प्रतीत्य, क्षेत्राऽऽश्रयणेनेति भाव.। जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षतो देवकुर्वादिषु, भरताऽऽदिष्वपि च, एकान्तसुषमाऽऽदिकाले त्रीणि पल्योपमानि। धर्मचरण धर्मसेवन प्रतीत्य, जघन्येनान्तर्मुहूर्तमेव। तच्च तद्भवस्थिताया एव परिणामवशतः प्रतिपातापेक्षया द्रष्टव्यम्। चरणधर्मस्य मरणमन्तरेण सर्वस्तोकतयाऽप्येतावन्मात्रकालावस्थानभावात्। तथाहि-काचित् स्त्री तथाविधक्षयोपशमभावत सर्वविरतिं प्रतिपद्य तावन्मात्रक्षयोपशमभावात् अन्तर्मुहूर्तानन्तर भूयोऽपि अविरतसम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व च प्रतिपद्यते इति। अथवा-धर्मचरणमिह देशचरण प्रतिपत्तव्य, न सर्वचरणम्; देशचरणप्रतिपत्तिस्तु जघन्यतोऽप्यन्तर्मौहूर्त्तिकी, तस्या भङ्गबहुलत्वात्। अथोभयाऽऽचरणसंभवे किमर्थमिह देशचरण परिगृह्यते ?। उच्यते-देशचरणपूर्वक प्राय. सर्वचरणमिति ख्यापनार्थम्। अत एवोक्त वृद्धै -" सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहुत्तेण सावओ होइ। चरणुवसमो खयाण, सागरसंखतरा होंति ॥ १ ॥ अपरिवडिए" इत्यादि। उत्कर्षतो देशूना पूर्वकोटी, अष्टसांवत्सरिकयाश्चरणधर्मप्राप्ते, तदूर्ध्वं चरमान्तर्मुहूर्त्ते यावदप्रतिपतितपरिणामभावात्। पूर्वपरिमाण चेदम्-" पुव्वस्स उ परिमाण, सयरिं खलु वासकोडिलक्खाओ। छप्पएणं च सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीणं ॥१॥" इति। सम्प्रति कर्मभूमिकाऽऽदिविशेषस्त्रीणा वक्तव्यतामाह-(कम्मभूमगमणुस्सित्थीण इत्यादि) अक्षरगमनिका सुगमा। भावार्थस्त्वयम्-कर्मभूमिकमनुष्यस्त्रीणां क्षेत्र कर्मभूमिसामान्यलक्षणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि। तानि च भरतैरावतेषु सुषमसुषमालक्षणे अरके वेदितव्यानि। धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी। भावना चात्र प्रागिव द्रष्टव्या। एवमुत्तरसूत्रद्वयेऽपि। अत्रैव विशेपचिन्तां चिकीर्षुराह-"भरहेरवयवासकम्मभूमग" इत्यादि सुगम, नवरं भरतैरवतेषु त्रीणि पल्योपमानि, सुषमायां पूर्वविदेहापरविदेहेषु केवल. पूर्वकोटि, तत ऊर्ध्वं तत्र तथा क्षेत्रस्वाभाव्यादायुषोऽसम्भवात्। (अकम्मभूमगेत्यादि) जन्म प्रतीत्येति। अकर्मभूमिषूत्पत्तिमाश्रित्य, जघन्यतो देशोन पल्योपमं,

त्संख्येयभागन्यूनमपि देशोन भवति । ततो विशेषख्यापनाया-ऽऽह-पल्योपमस्यासंख्येयभागोनम् । एतच्च हैमवतैरण्यवतक्षेत्रापेक्षया द्रष्टव्यम् । तत्र जघन्यत. स्थितेरेतावत्प्रमाणाया: सम्भवात्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि, तानि च देवकुर्वपेक्षया । (संहरणं पडुच्चेत्यादि) संहरणं नाम—कर्मभूमिजायाः स्त्रियोऽकर्मभूमिषु नयन, तत्प्रतीत्य तदाश्रित्य, जघन्येनान्तर्मुहूर्तम, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । इयमत्र भावना इह कर्मभूमिकाऽप्यकर्मभूमिषु संहृता अकर्मभूमिकेति व्यवह्रियते, तत्क्षेत्रसम्बन्धभावात् । यथा लोके कश्चित् मगधाऽऽदिदेशात् सुराष्ट्रान् प्रस्थितो, गिरिनगरेषु निवास कल्पयितुकाम: सुराष्ट्रपर्यन्तग्राम प्राप्त सन् समुत्पद्यमानेषु तथाविधेषु प्रयोजनेषु सौराष्ट्र इति व्यवह्रियते; तद्वदभिहिताऽपि तत्र संहृता सती काचिदन्तर्मुहूर्त जीवति । ततोऽपि वा भूयोऽपि संह्रियते काचित्पूर्वकोट्यायुष्का यावज्जीवमपि तत्रावतिष्ठते, ततो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुक्तम, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटीति ।

आह-भरतैरवतान्यपि कर्मभूमौ वर्तन्ते; तत्र चैकान्तसुषमाऽऽदौ त्रीण्यपि पल्योपमानि स्थितिरस्या भवति, संहरण च सम्भवति, तत्कथ देशोना पूर्वकोटी भण्यते इति ?। अत्रोच्यते-कर्मकालविवक्षयाऽभिधानादस्य चैतावन्मात्रत्वादिति हैमवतैरण्यवतकर्मभूमिकमनुष्यस्त्रीणां जन्मतो जघन्येन देशोन पल्योपम, पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनम,उत्कर्षतः परिपूर्ण पल्योपमम । संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, भावना प्रागिव । एव "हरिवासरम्मग" इत्याद्यपि सूत्रत्रय भावनीयम । नवर हरिवर्षरम्यकयोर्जन्मतो जघन्येन द्वे पल्योपमे, पल्योपमासंख्येयभागन्यूने । उत्कर्षतः परिपूर्णे द्वे पल्योपमे । देवकुरूत्तरकुरुषु जन्मतो जघन्येन त्रीणि पल्योपमानि, पल्योपमासंख्येयभागहीनानि । उत्कर्षत. परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि । अन्तरद्वीपेषु जघन्यतो जघन्येन देशोनपल्योपमासंख्येय. । कियता देशोन इति चेत ?, अत आह-पल्योपमासंख्येयभागोन. । किमुक्त भवति ?-उत्कृष्टात् पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणादायुषो जघन्यमायुःपल्योपमासंख्येयभागन्यूनम, नवरमूनताहेतुः पल्योपमासंख्येयो भागोऽतीव स्तोको द्रष्टव्य. । संहरणमधिकृत्य सर्वत्रापि जघन्यत उत्कर्षतश्च तावदेव प्रमाणम । जी० २ प्रति० ।

नपुंसकानाम्—

मणुस्सणपुंसगस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ? । गोयमा ! खेत्तं पडुच्च जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । धम्मचरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । कम्मभूमगभरहेरवयपुव्वविदेहअवरविदेहमणुस्सणपुंसगस्स वि तहेव । अकम्मभूमगमणुस्सणपुंसगस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?। गोयमा ! जम्मणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । संहरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी । एवं० जाव अंतरदीवगाणं ॥

सामान्यतो मनुष्यनपुंसकस्यापि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम,उत्कर्षत. पूर्वकोटी । कर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य क्षेत्र प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम,उत्कर्षत. पूर्वकोटी । धर्मचरणं बाह्यवेषपरिकरितप्रव्रज्याप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तं, तत ऊर्द्ध मरणाऽऽदिभावात् । उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, संवत्सराष्टकादूर्द्धं प्रतिपद्य जन्मपालनात् । भरतैरवतकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य च क्षेत्र, धर्मचरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैवमेव वक्तव्यम । अकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य जन्म प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तम,उत्कर्षेणापि अन्तर्मुहूर्तम । अकर्मभूमौ हि सम्मूर्च्छिमा मनुष्या नपुंसका एव भवन्ति, न गर्भव्युत्क्रान्तिका:, युगलधर्मिकाणां नपुंसकत्वाभावात् । सम्मूर्च्छिमाश्च जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्तायुष., केवल जघन्यादुत्कृष्टमन्तर्मुहूर्तं बृहत्तरमवसेयम । संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, संहरणादूर्द्धमामरणान्तमवस्थानसंभवात् । देशोनता च पूर्वकोट्या गर्भनिर्गतस्य संभवात् । एव विशेषचिन्तायां हैमवतैरण्यवताकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमिकमनुष्यनपुंसकस्य, अन्तरद्वीपकमनुष्यनपुंसकस्य च जन्म, संहरणं च प्रतीत्यैवमेव वक्तव्यम । जी० ३ प्रति० ।

सम्मुच्छिममणुस्साणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । गब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं । अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

उत्तरकुरुमनुष्याणा जघन्येन पल्योपमस्यासंख्येयभागेनोनानि त्रीणि पल्योपमानि, उत्कर्षात् परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि । जी० ३ प्रति० ।

वाणमंतराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं पलिओवमं । अपज्जत्तयवाणमंतरदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयवाणमंतरदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं । प्रज्ञा० ४ पद । प० द० ।

अकामकायक्लेशतपस्विनां व्यन्तरेषूपपन्नानां दश वर्षसहस्राणि स्थिति. । औ० । बालमरणेन मृतानां व्यन्तरेषूपपन्नाना द्वादश वर्षसहस्राणि स्थितिः । औ० । विधवानामल्पारम्भप्रवृत्तानां व्यन्तरेषूपपन्नानां चतुर्दश वर्षसहस्राणि स्थिति । औ० । अकामकायक्लेशतपस्विनीनां स्त्रीणां व्यन्तरेषूपपन्नानां चतु:षष्टिर्वर्षसहस्राणि स्थिति । औ० । उदकद्वितीयाऽऽदीनां पाखण्डव्रतिनां निर्विकृतिकानां व्यन्तरेषूपपन्नानां चतुरशीतिवर्षसहस्रं स्थिति. । औ० ।

वाणमंतरीणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं । अपज्जत्तियाणं भंते ! वाणमंतरीणं देवीणं पुच्छा ? । गो-

यमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तियाणं भंते ! वाणमंतरीणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

जोइसियाणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?। गोयमा ! जहस्रेणं पलिओवमऽट्ठभागो, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं । अपज्जत्तयजोइसियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयजोइसियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं पलिओवमट्ठभागो अंतोमुहुत्तूणो, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं ॥

जोइसिणी णं भंते ! देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं पलिओवमट्ठभागो, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पण्णासवाससहस्समब्भहियं । अपज्जत्तियाणं जोइसिणी णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तियाणं जोइसिणी णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं पलिओवमट्ठभागो अंतोमुहुत्तूणो, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पण्णासवाससहस्सेहिं अब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं ॥ प्रज्ञा० ४ पद । जी० ।

ज्योतिष्काऽऽदीनां वानप्रस्थानां ज्योतिष्केषूपपन्नानां वर्षशतसहस्राधिक पल्योपम स्थिति । औ० ।

चंदविमाणे णं भंते ! देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं चउब्भागपलिओवमं, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं । चंदविमाणे णं भंते ! अपज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । चंदविमाणे णं भंते ! पज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं चउब्भागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं ।

चंदविमाणे णं भंते ! देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पण्णासाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं । चंदविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । चंदविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं चउब्भागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पण्णासाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं ।

सूरविमाणे णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?। गोयमा ! जहस्रेणं चउब्भागपलिओवमं, उक्कोसेण पलिओवमं वाससहस्समब्भहियं । सूरविमाणे णं अपज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सूरविमाणे णं पज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं चउब्भागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससहस्समब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं ।

सूरविमाणे णं भंते ! देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं चउब्भागपलिओवमं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पंचहिं वाससएहिं अब्भहियं । सूरविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सूरविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पंचहिं वाससएहिं अब्भहियं अंतोमुहुत्तूणं ।

गहविमाणे णं भंते ! देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं चउब्भागपलिओवमं, उक्कोसेणं पलिओवमं । गहविमाणे णं अपज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । गहविमाणे णं पज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

गहविमाणे णं भंते ! देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं । गहविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । गहविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेण चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

णक्खत्तविमाणे णं भंते ! देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं । णक्खत्तविमाणे णं अपज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । णक्खत्तविमाणे णं पज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं चउब्भागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेण अद्धपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

णक्खत्तविमाणदेवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं चउभागपलिओवमं, उक्कोसेणं सातिरेगं चउभागपलिओवमं । णक्खत्तविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । णक्खत्तविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं सातिरेगं चउभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

ताराविमाणे णं भंते ! देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं अट्ठभागपलिओवमं, उक्कोसेण चउब्भागपलिओवमं । ताराविमाणे णं अपज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहस्रेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ताराविमाणे णं पज्ज-

णदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं चउब्भागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं । ताराविमाणे णं भंते ! देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं, उक्कोसेणं साइरेगं अट्ठभागपलिओवमं । ताराविमाणे णं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ताराविमाणे णं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं साइरेगं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

वेमाणियाणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ? । गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । अपज्जत्तवेमाणियाणं भंते ! देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तवेमाणियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद । सू०प्र० । जी० । जं० ।

वेमाणिणीणं भंते ! देवीणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ? । गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं पणपन्नं पलिओवमाइं । अपज्जत्तियाणं देवीणं वेमाणिणीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पज्जत्तयाणं वेमाणिणीणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पणपण्णं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं ।

सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स केवइयं कालं ठिती पएणत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता । सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स सामाणियपरिसोववएणगाणं देवाणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता । रा० । स्था० । जी० ।

(शक्राऽऽदीनां देवानां पर्षत्सु स्थितिः 'परिसा' शब्दे वक्ष्यते)

सोहम्मे णं भंते ! कप्पे देवाणं केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ? । गोयमा ! जहएणेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं । प्रज्ञा० ४ पद । स० । द० प० । सोहम्मे कप्पे अपज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सोहम्मे कप्पे पज्जत्तदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

सोहम्मे कप्पे देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं पन्नासं पलिओवमाइं । सोहम्मे कप्पे अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सोहम्मे कप्पे पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पन्नासं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

सोहम्मे कप्पे परिग्गहियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं सत्त पलिओवमाइं । सोहम्मे कप्पे परिग्गहियाणं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सोहम्मे कप्पे परिग्गहियाणं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवम अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं सत्त पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

सोहम्मे कप्पे अपरिग्गहियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं पन्नासं पलिओवमाइं । सोहम्मे कप्पे अपरिग्गहियाणं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सोहम्मे कप्पे अपरिग्गहियाणं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पएणासं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

ईसाणे कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगं पलिओवमं, उक्कोसेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं । ईसाणे कप्पे अपज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ईसाणे कप्पे पज्जत्तयाणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं सातिरेगं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेण सातिरेगाइं दो सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अग्गमहिसीणं नव पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता । स्था० ९ ठा० ।

ईसाणे कप्पे देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं सातिरेगं पलिओवमं, उक्कोसेणं पणपएणपलिओवमाइं । ईसाणे कप्पे देवीणं अपज्जत्तियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ईसाणे कप्पे पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पणपन्नपलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

ईसाणे कप्पे परिग्गहियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगं पलिओवमं, उक्कोसेणं नव पलिओवमाइं । ईसाणे कप्पे परिग्गहियाणं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ईसाणे कप्पे परिग्गहियाणं पज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं नव पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

ईसाणे कप्पे अपरिग्गहियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगं पलिओवमं, उक्को

वमाइं । ईसाणे कप्पे अपरिग्गहियाणं अपज्जत्तियाणं देवीणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । ईसाणे कप्पे अपरिग्गहियाणं पज्जत्तियाणं देवीण पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगं पलिओवमं अंतोमुहुत्तूणं, उक्कोसेणं पणपन्न पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ॥

ईसाणस्स णं देविंदस्स मज्झिमए परिसाए देवाणं छ पलिओवमा ठिई पण्णत्ता । स्था० ६ ठा० ।

('लोगपाल' शब्दे सर्वेन्द्राणां लोकपालानां स्थितिवक्तव्यता) कन्दर्पिकाऽऽदीनां श्रमणानामुत्कर्षेण सौधर्मकल्पे कन्दर्पिकेषु देवेषूपपन्नानां वर्षसहस्रमभ्यधिक पल्योपम स्थितिः । औ० । भ० । द० प० । स्था० ।

सणंकुमारे कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं दो सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्त सागरोवमाइं । सणंकुमारे कप्पे अपज्जत्तगाणं देवाण पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सणंकुमारे कप्पे पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं दो सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेण सत्त सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

माहिंदे कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्त साहियाइं सागरोवमाइं । माहिंदे कप्पे अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । माहिंदे कप्पे पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्त साहियाइं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ? । सोहम्मे कप्पे देवाणं उक्कोसेण दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । ईसाणे कप्पे देवाणं उक्कोसेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । सणंकुमारे कप्पे देवाणं जहण्णेणं दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । माहिंदे कप्पे देवाणं जहन्नेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

बंभलोए कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्त सागरोवमाइं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं । बंभलोए अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । बंभलोए पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्त सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

मस्करिसाङ्ख्ययोगिकापिलाऽऽदीनां चरकपरिव्राजकानामुत्कर्षेण ब्रह्मलोककल्पे देवेषूपपन्नाना दश सागरोपमा स्थितिः-

तद् यथा-

ते णं परिव्वायगा एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियाइं पाउणिंति, बहूइं वासाइं परियाइं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तेहिं तेसिं गई दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । सेसं तं चेव ॥१२॥ औ० ।

अम्मडस्य देवस्य ब्रह्मलोककल्पे देवेषूपपन्नस्य दश सागरोपमा स्थितिः । औ० ।

लंतए पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं दस सागरोवमाइं, उक्कोसेणं चउदस सागरोवमाइं । लंतए अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । लंतए पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं चउदस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

ग्रामाऽऽकराऽऽदिषु प्रव्रजितानामाचार्याऽऽदिप्रत्यनीकानामुत्कर्षेण लान्तके कल्पे देवकिल्बिषिकेषूपपन्नानां त्रयोदश सागरोपमा स्थितिः । औ० ।

तद् यथा-

से इमे गामाऽऽगरणगरसंनिवेसेसु पव्वइया समणा भवंति । तं जहा-आयरियपडिणीया, उवज्झायपडिणीया, कुलपडिणीया, गणपडिणीया, आयरियउवज्झायाणं अयसकारगा अवण्णकारगा अकित्तिकारगा बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणिंति, बहुयस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं लंतए कप्पे देवकिव्विसिएसु देवकिव्विसियत्ताए उववत्तारो हवंति । तेहिं तेसिं गती तेरस सागरोवमाइं ठिती अणाराहगा, सेसं तं चेव ॥ १५ ॥ औ० ।

महासुक्के देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं चउदस सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्तर सागरोवमाइं । महासुक्के अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । महासुक्के पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं चोदस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्तर सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

सहस्सारे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तर सागरोवमाइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमाइं । सहस्सारे अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सहस्सारे पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तर सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

संक्षिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकापर्याप्तकानां शुभैः परिणामैः स-
ञ्जिपूर्वजातिस्मरणे समुत्पन्ने स्वयमेव पञ्चाणुव्रतानि परिवर्ज्य-
यित्वा बहूनि शीलव्रतगुणाविरमणप्रत्याख्यानपोषधोपवासाऽऽ-
दीनात्मना भावयमानानामुत्कर्षेण सहस्रारे कल्पे देवेषूपप-
न्नानामष्टादश सागरोपमा स्थितिः । औ० ।

आणए कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अट्ठारस सागरोवमाइं, उक्कोसेणं एगूणवीसं सागरोवमाइं । आणए अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । आणए पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अट्ठारस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं,उक्कोसेणं एगूणवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

पाणए कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं एगूणवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमाइं। पाणए अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पाणए पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं एगूणवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । आरणे कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं वीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं एगवीसं सागरोवमाइं । आरणे अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । आरणे पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं वीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं एक्कवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

अच्चुए कप्पे देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं एक्कवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं । अच्चुए अपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । अच्चुए पज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं एक्कवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । प्रज्ञा० ४ पद ।

आजीवकानामच्युते कल्पे देवेषूपपन्नानामात्मोत्कर्षिकादीनां ग्रामाऽऽकराऽऽदिसन्निवेशेषु प्रव्रजितानां श्रमणानामुत्कर्षेणाच्युते कल्पे आभियोगिकेषु देवेषूपपन्नानां च द्वाविंशतिसागरोपमा स्थितिः । औ० ।

हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं बावीसं सागरोवमाइं,उक्कोसेण तेवीसं सागरोवमाइं । हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जगअपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जगपज्जत्ताणं देवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

हिट्ठिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं तेवीसं सागरोवमाइं,उक्कोसेणं चउवीसं सागरोवमाइं । हिट्ठिममज्झिमगेविज्जगअपज्जत्तगदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । हिट्ठिममज्झिमगेविज्जगपज्जत्तगदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं तेवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं,उक्कोसेणं चउवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

हिट्ठिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं चउवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं पणवीसं सागरोवमाइं । हेट्ठिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । हिट्ठिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं चउवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं पणवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं पंचवीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं छव्वीसं सागरोवमाइं । मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं पणवीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं छव्वीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

मज्झिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं छव्वीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्तावीसं सागरोवमाइं । मज्झिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । मज्झिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं छव्वीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सत्तावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

मज्झिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं सत्तावीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं अट्ठावीसं सागरोवमाइं । मज्झिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । मज्झिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जहएणेणं सत्तावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं अट्ठावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

उवरिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अट्ठावीसं सागरोवमाइं,उक्कोसेणं एगूणतीसं सागरोवमाइं। उवरिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । उवरिमहेट्ठिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ? । गोयमा ! जह-

एणेणं अट्ठावीसं सागरोवमाइ अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं एगूणतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

उवरिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं एगूणतीसं सागरोवमाइं,उक्कोसेणं तीसं सागरोवमाइं । उवरिममज्झिमगेविज्जगदेवाण अपज्जत्ताणं पुच्छा ?। गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्त। उवरिममज्झिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं एगूणतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं,उक्कोसेणं तीस सागरोवमाइ अंतोमुहुत्तूणाइं ।

उवरिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं तीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं। उवरिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। उवरिमउवरिमगेविज्जगदेवाणं पज्जत्ताण पुच्छा ?। गोयमा! जहण्णेणं तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं,उक्कोसेण एक्कतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइ। प्रज्ञा० ४ पद। औ० ।

विजयवेजयंतजयंतअपराजिएसु णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं,उक्कोसेण तेत्तीसं सागरोवमाइं । विजयवेजयंतजयंतअपराजितदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। विजयवेजयंतजयंतअपराजितदेवाणं पज्जत्ताणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण एक्कतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइ, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइ ।

सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! अजहण्णमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं अपज्जत्ताणं पुच्छा ?। गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । सव्वट्ठसिद्धदेवाणं पज्जत्ताणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा! अजहण्णमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ठिई पण्णत्ता । प्रज्ञा० ४ पद । भ० । औ० ।

(देवस्थितिविषये यथा ऋषिभद्रपुत्र' "जहन्नेण दस वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता । तेण परं समाहिया दुसमाहिया० जाव दससमाहिया संखेज्जसमाहिया, असंखेज्जसमाहिया, उक्कोसेण तेत्तीस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । तेण परं वोच्छिन्ना देवा य,देवलोगा य।" इति प्रतिपेदे, भगवता वीरजिनेन च सत्यार्थत्वेन मत , तथा 'इसिभद्दपुत्त' शब्दे द्वितीयभागे ६३४ पृष्ठेऽस्माभिरदर्शि)

भव्याऽऽदिदेवानां स्थितिः-

भवियदव्वदेवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। णरदेवाणं भंते! पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं सत्त वाससयाइ, उक्कोसेणं चउरासीतिपुव्वसयसहस्साइं । धम्मदेवाणं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेण देसूणाइं पुव्वकोडी। देवाहिदेवाणं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं बावत्तरिं वासाइ, उक्कोसेणं चउरासीइपुव्वसयसहस्साइं। भावदेवाणं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ।

" भवियदव्वदेवाण " इत्यादि । (जहन्नेण अंतोमुहुत्त ति) अन्तर्मुहूर्त्तायुषो पञ्चेन्द्रियतिरश्चो', देवेषूत्पादाद्भव्यद्रव्यदेवस्य जघन्याऽन्तर्मुहूर्तस्थितिः । (उक्कोसेण तिण्णि पलिओवमाइं ति) उत्तरकुर्वादिमनुजाऽऽदीनां देवेष्वेवोत्पादात् ते भव्यद्रव्यदेवा.,तेषा चोत्कर्षतो यथोक्ता स्थितिरिति । (सत्त वाससयाइ ति) यथा ब्रह्मदत्तस्य (चउरासीतिपुव्वसयसहस्साइ ति) यथा भरतस्य । धर्मदेवानाम (जहन्नेण अंतोमुहुत्त ति) योऽन्तर्मुहूर्त्तावशेषाऽऽयुश्चारित्र प्रतिपद्यते तदपेक्षमिदम्। (उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी ति) यो देशोनपूर्वकोट्यायुश्चारित्रं प्रतिपद्यते तदपेक्षमिति । ऊनता च पूर्वकोट्या अष्टाभिर्वर्षै., अष्टवर्षस्यैव प्रव्रज्याऽर्हत्वात् । यच्च षड्वर्षस्त्रिवर्षो वा प्रव्रजितोऽतिमुक्तको वैरस्वामी वा, तत्कादाचित्कमिति न सूत्रावतारीति । देवाधिदेवानाम् (जहण्णेण बावत्तरिं वासाइं ति) श्रीमन्महावीरस्येव। (उक्कोसेण चउरासीइपुव्वसयसहस्साइ ति) ऋषभस्वामिनो यथा । भावदेवानाम् (जहण्णेण दस वाससहस्साइं ति) यथा व्यन्तराणाम् । (उक्कोसेण तेत्तीस सागरोवमाइ ति) यथा सर्वार्थसिद्धदेवानाम्। भ० १२ श० ९ उ० ।

एएसि णं अट्ठविहाणं लोगंतियाणं देवाणं अजहन्नमणुक्कोसेणं अट्ठ सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥ स्था० ७ ठा० ।

(वेदनीयस्य कर्मण. स्थिति. 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २७८ पृष्ठे स्थितिकर्मप्रस्तावे उक्ता)

पुन्नपुंसकाना स्थिति -

पुरिसस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइ । तिरिक्खजोणियपुरिसाणं मणुस्सपुरिसाणं जं चेव इत्थीणं ठिती,सा चेव भाणियव्वा।

" पुरिसस्स णं भंते ! " इत्यादि । पुरुषस्य स्वभवभावमजहतो भदन्त ! कियन्त कालं यावत् स्थिति' प्रज्ञप्ता ?। भगवानाह-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं,तत ऊर्द्ध्वं मरणभावात् । उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। तान्यनुत्तरसुरापेक्षया द्रष्टव्यानि, अन्यस्य एतावत्या' स्थितेरसम्भवात् । तिर्यग्योनिकानामौघिकानां जलचराणा स्थलचराणा खचराणा यथा स्त्रीणा स्थितिरुक्ता,तथा वक्तव्या। मनुष्यपुरुषस्याप्यौघिकस्य कर्मभूमकस्य सामान्यतो विशेषतो भरतैरावतकस्य पूर्वविदेहापरविदेहकस्याकर्मभूमकस्य सामान्यतो विशेषतो हैमवतैरण्यवतिकस्य हरिवर्षरम्यकदेवकुरूत्तरकुरुकस्य अन्तरद्वीपकस्य यैवाऽऽत्मीये आत्मीये स्थाने स्त्रिया ,सैव पुरुषस्यापि वक्तव्या। तद्यथा-सामानिकतिर्यग्योनिकपुरुषाणा जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम, उत्कर्षत. त्रीणि पल्योपमानि । ज॰ ...

जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतः पूर्वकोटी । चतुष्पदस्थलचरपुरुषाणां जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । उरःपरिसर्पस्थलचरपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतः पूर्वकोटी । एवं भुजपरिसर्पस्थलचरपुरुषाणामपि खचरपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतः पल्योपमस्यासङ्ख्येयो भागः, सामान्यतो मनुष्यपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् । एतच्च बाह्यलिङ्गप्रव्रज्याप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य वेदितव्यम् । अन्यथा चरणपरिणामस्यैकसामायिकस्यापि सम्भवादेकं समयमिति ब्रूयात् । अथवा देशचरणमधिकृत्येदं वक्तव्यम् । देशचरणप्रतिपत्तेर्भङ्गबहुलतया जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तसम्भवात् । तत्र सर्वचरणसम्भवेऽपि देशचरणमधिकृत्योक्तम् । तद्देशचरणपूर्वकं प्रायः सर्वचरणमिति प्रतिपत्त्यर्थम् । तथा चोक्तम्—" सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहुत्तेण सावओ होइ । चरणोवसमखयाण, सागरसंखतरा होंति ॥ १ ॥ " (पं० सू० टी०) अत्र यदाद्यं व्याख्यातं, तत् स्त्रीवेदचिन्तायामपि द्रष्टव्यम्; यच्च स्त्रीवेदचिन्तायां व्याख्यातं, तदत्रापीति । उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, वर्षाष्टकादूर्ध्वमुत्कर्षतोऽपि पूर्वकोट्यायुष एव चरणप्रतिपत्तिसम्भवात् । कर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । चरणप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । भरतैरावतकर्मभूमिकमनुष्याणां पुरुषाणां क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । तानि च सुषमसुषमाऽरके वेदितव्यानि । धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । सामान्यतोऽकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनमेकं पल्योपमम्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि । संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षेण देशोना पूर्वकोटी । पूर्वविदेहकस्यापरविदेहकस्य वा अकर्मभूमौ संहृतस्य जघन्यत उत्कर्षतश्च एतावदायुःप्रमाणसम्भवात् । हैमवतैरण्यवताकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन पल्योपमं पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनम्, उत्कर्षतः परिपूर्णं पल्योपमम् । संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । भावना प्रागिव । हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्यतो द्वे पल्योपमे पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूने, उत्कर्षतः परिपूर्णे द्वे पल्योपमे । संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्यतः पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनानि त्रीणि पल्योपमानि । उत्कर्षतः परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि । संहरणमधिकृत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी । अन्तरद्वीपकाकर्मभूमिकमनुष्यपुरुषाणां जन्म प्रतीत्य जघन्येन देशोनः पल्योपमासङ्ख्येयभागः, उत्कर्षतः परिपूर्णः पल्योपमासङ्ख्येयभागः, संहरणमधिकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटीति ॥ जी० २ प्रति० ।

सम्प्रति स्थितिप्रतिपादनार्थमाह–

नपुंसगस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिती पएणत्ता ? । गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ॥

"नपुंसगस्स णं भंते !" इत्यादि सुगमं, नवरमन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यङ्मनुष्यापेक्षया द्रष्टव्यम् । त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सप्तमपृथिवीनारकापेक्षया । जी० २ प्रति० । " वासाण य दसाण, वाससहस्साणं महापईणं च । दीवाणं उदहीणं, पलिओवमगाउयठिईणं " ॥ १ ॥ द्वी० । स्थितिप्रतिपादके प्रज्ञापनायाश्चतुर्थे पदे, प्रज्ञा० ४ पद । (अप्कायादिजीवानां स्थितिः 'वणप्फइ' शब्दे द्रष्टव्या) (कषायाणां स्थितिः ' कसाय ' शब्दे तृतीयभागे ३६७ पृष्ठे प्ररूपिता)

ठिइअव्वट्टणा–स्थित्यपवर्त्तना–स्त्री० । स्थितिकर्मविषयकापवर्त्तनाकरणे, पं० सं० ५ द्वार । क० प्र० । ('अववट्टणा' शब्दे प्रथमभागे ७६६ पृष्ठेऽस्या व्याख्या)

ठिइउदय–स्थित्युदय–पुं० । अबाधाकालरूपायाः स्थितेः क्षयेण उदीरणाकरणरूपेण प्रयोगेण वा कर्मोदयरूपे उदयभेदे, पं० सं० ५ द्वार । क०प्र० । (स च ' उदय ' शब्दे द्वितीयभागे ७७५ पृष्ठे व्याख्यातः)

ठिइउदीरणा–स्थित्युदीरणा–स्त्री० । स्थितिकर्मविषयकोदीरणाकरणे, पं० सं० ५ द्वार । क० प्र० ।

ठिइउव्वट्टणा–स्थित्युद्वर्त्तना–स्त्री० । स्थितिकर्मविषयकोद्वर्त्तनाकरणे, क० प्र० । पं०सं० । (सा च ' उव्वट्टणा ' शब्दे द्वितीयभागे ११२० पृष्ठे व्याख्याता)

ठिइकप्प–स्थितिकल्प–त्रि० । प्रथमचरमजिनसाधूनां सतताऽऽसेवनेनावस्थिते आचेलक्याऽऽदिदशविधे कल्पे, प्रव० ७७ द्वार ।

ठिइकम्म [ण्]–स्थितिकर्मन्–न० । कर्मभेदे, कर्म० ५ कर्म० ।

ठिइकरण–स्थितिकरण–न० । स्थापने, सू० १० अङ्ग ।

ठिइकल्लाण–स्थितिकल्याण–न० । स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणा कल्याणं येषां ते । सर्वोत्कर्षस्थितिकेषु, सू० ८०० सम० ।

ठिइकारण–स्थितिकारण–न० । "वातेरिता णया इव, पकंपमाणाण तरुणमाईणं । होंति थिरा बहुतो, तरु व्व थिरकरणतेण तु ॥ १ ॥ " इति निरूपितायां सप्तदश्यां गौणाऽनुज्ञायाम्, प० भा० । नं० ।

ठिइक्खय–स्थितिक्षय–पुं० । आयुष्काऽऽदिकर्मणां स्थितेर्निर्जरणे, भ० ७ श० ९ उ० । आयुषः स्थितिबन्धक्षये, स्था० ७ ठा० । वेदने, भ० २ श० १ उ० । विगमने, विपा० २ श्रु० १० अ० । स्थितिर्वैक्रियशरीरे अवस्थानं, तस्याः क्षयेऽपूर्णीकरणे । कल्प० १ क्षण ।

ठिइघाय–स्थितिघात–पुं० । बृहत्प्रमाणाया ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मस्थितेरपवर्त्तनाकरणेन खण्डने, कर्म० १ कर्म० । क० प्र० । पं० सं० । (स च " उवसमसेढि " शब्दे द्वितीयभागे १०४४ पृष्ठे उक्तः)

ठिइठाण–स्थितिस्थान–न० । आयुषो विभागे, भ० १ श० ५

ज० । क० प्र० । पं० सं० । (नैरयिकाऽऽदीनां स्थितिस्थानमाश्रित्य दण्डको "जीव" शब्दे चतुर्थभागे १५४२ पृष्ठे उक्तः)

ठिइणामणिहत्ताउय-स्थितिनामनिधत्तायुष्-न० । स्थितिर्यथा स्थातव्य तेन भावेनाऽऽयुर्दलिकस्य सैव नाम परिणामो, धर्म इत्यर्थः । स्थितिनाम गतिजात्यादिकर्मणां च प्रकृत्यादिभेदेन चतुर्विधानां य स्थितिरूपो भेदस्तत् स्थितिनाम, तेन सह निधत्तमायु स्थितिनामनिधत्ताऽऽयुः । आयुर्बन्धभेदे, स० । स्था० । भ० । प्रज्ञा० ।

ठिइपरिणाम-स्थितिपरिणाम-पुं० आयुषो याऽन्तर्मुहूर्त्ताऽऽदित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमान्ता स्थितिर्भवति स स्थितिपरिणामः । आयु परिणामभेदे, स्था० ६ ठा० ।

ठिइप्पगप्प-स्थितिप्रकल्प-पुं० । स्थितौ अवस्थाने चलितव्यविषये प्रकल्पः सङ्कल्प स्थितिप्रकल्प' । अवस्थानविषयके सङ्कल्पे, भ०३ श०१ उ० । स्थितिप्रकल्पमवस्थान विकल्पनम्-तेष्वह विष्ठेयमिति, एते वा मम तिष्ठन्तु स्थिरीभवनिघरयेवरूपे, स्थित्या वा मर्यादया विशिष्टः प्रकल्प । आचाराऽऽसेवायाम्, स्था० ३ ठा० ३ उ० । यानीमानि सुप्रसिद्धतया प्रत्यक्षाणि स्थविराणा स्थविरकल्पिकानां स्थितौ समाचारे प्रकल्पानि प्रकल्पनीयानि योग्यानि विशुद्धपिण्डशय्याऽऽदीनि स्थितिप्रकल्पानि । पिण्डाऽऽदिकानां च कल्पाना मासकल्पाऽऽदिकानां च स्थितीना वृन्दे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

ठिइबंध-स्थितिबन्ध-पुं० । अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य स्थितिकालनियमने, कर्म० ५ कर्म० । प० स० । अष्टाना ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मप्रकृतीना जघन्याऽऽदिभेदभिन्नावस्थानस्य निवर्त्तने, स० १ सम० । स्था० । मूलोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । कर्म० । क० प्र० । प० स० । (एकेन्द्रियाऽऽदिजीवानामित्यात्पबहुत्वम "अप्पाबहुय" शब्दे प्रथमभागे ६१८ पृष्ठे वक्ष्यते) (अत्रत्यं सर्वं "बंध" शब्दे प्रदर्शयिष्यामि) ।

ठिइबंधपरिणाम-स्थितिबन्धपरिणाम-पुं० । येन पूर्वभवाऽऽयुःपरिणामेन परभवाऽऽयुषो नियता स्थितिं बध्नाति,स स्थितिबन्धपरिणाम । यथा तिर्यगायु परिणामेन देवाऽऽयुष उत्कर्षतोऽष्टादश सागरोपमाणीति । आयु परिणामभेदे, स्था० ६ ठा० ।

ठिइवडिय-स्थितिपतित-त्रि० । कुलक्रमादागते पुत्रजन्मानुष्ठाने, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । कुलस्य लोकस्य वा मर्यादायां गताया पुत्रजन्ममहप्रक्रियायाम्, भ० ११ श० ११ उ० । रा० । विपा० । ज्ञा० ।

ठिइसंकम-स्थितिसंक्रम-पुं० । मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च स्थितेरुत्कर्षणेऽपकर्षणे प्रकृत्यन्तरस्थितौ नयने, (स्था०) "ठिइसकमो त्ति वुच्चइ, मूलुत्तरपगईओ य जा हि ठिई । उव्वट्टिया व ओव-ट्टिया व पगई नियाव्वा" ॥ १ ॥ स्था० ४ ठा० २ उ० । क० प्र० । प० स० । (स च 'सकम' शब्दे वक्ष्यते)

ठिइसंतकम्म-स्थितिसत्कर्म-न० । कर्मस्थितिसत्कसत्कर्मणि, क० प्र० । पं० सं० । ('सकम्म' शब्दे प्ररूपयिष्यते)

ठिइसाहण-स्थितिसाधन-न० । दीक्षामर्यादाकथने, पञ्चा० १२ विव० ।

ठिइसिद्धि-स्थितिसिद्धि-स्त्री० । व्यवस्थानसाधने, द्वा० २५ अष्ट० ।

ठिय-स्थित-त्रि० । व्यवस्थिते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अवस्थिते, स्था०२ ठा० ४ उ० । उत्त० । पञ्चा० । उपा० । अप्रच्युते, अनु० । आ० म० । निषण्णे, उत्थिते, अगतिपरिणामे, नि० चू० १ उ० । कटीस्तम्भेन ऊर्ध्वस्थाने, बृ० १ उ० । ऊर्ध्वस्थानस्थिते, भ० ६ श० ३३ उ० । सूत्राऽऽदित आरभ्य पठनक्रियं यावदन्यदेवाविस्मरणतश्चेतसि स्थितत्वात् स्थितम् । द्वितीये आगमतो द्रव्याऽऽवश्यकभेदे, अनु० १ श्रु० ए अ० । आ० चू० । विशे० । प्रथमे कल्पभेदे, "अत्थे विणओयकारिसे ठियस्स जहा विज्जाओ फल पयच्छंति ।" नि० चू० १ उ० ।

ठियकप्प-स्थितकल्प-पुं० । अवस्थितसमाचारे, बृ० ६ उ० । नि० चू० । प्र० । प्रव० । पञ्चा० । नि० । (प्रथमचरमयोस्तीर्थकरयोराचेलक्याऽऽदयो दश कल्पा अवस्थिता एवेति 'कप्प" शब्दे तृतीयभागे २२५ पृष्ठे दर्शिता.)

अयमपर' स्थितकल्प -

ठितकप्पमो तु तत्तो, वोच्छामि गुरूवदेसेणं ।
गच्छाणुकंपताए, सुत्तत्थाविसारए य आयरिए ॥
आगाढे पढमसंजय-ल्लवगाहिए य कप्पदुए ।
गच्छो जदि हीरिज्जा, आयरियं वाऽतिवायते कोइ ॥
परिसए आगाढे, जस्स तु जो होति लद्धीओ ।
सो न पमादेती पढ-मणियठे पुलागलद्धीओ ॥
गच्छोवग्गहहेउं, करणपकप्पिट्ठितोऽणुण्णा ॥
दुपए ति साहुसाहुणि, तदट्ठहेतु तु एव मूलगुणे ।
भणिता सेवा एसा, सीसो पुच्छति तु अह इणमो ॥
जह कारणम्मि भणिता, मूलगुणेसुं तु एव पडिसेवा ।
तह होज्ज कारणम्मी, पडिसेवा उत्तरगुणे वि ? ॥
गुरुयतरएसु एवं, मूलगुणेसुं तु जदि भवेऽणुण्णा ।
उत्तरगुणेसु तत्तो, लहुयतरेसु भवेऽणुण्णा ॥
ठितकप्पो सो भणितो," ... ... | पं०भा० ।

"इयाणिं ठियकप्पो । तत्थ गाहा-(गच्छाणु०) आयरिया वा उवज्झाया वा गच्छो वा हीरइज्जा, उवगरण आसियावेज्जइ हेमते, ताहे मारिया चेव भवति सीएण, एएहिं कारणेहिं आगाढे जइ अत्थि पुलागलद्धी, अएण वा सामत्थ, ताहे परिक्कमइ । ओघमाहिमो नाम-गच्छोपग्रहकरः । एकप्पठियस्स एवमणुण्णाय । गाहा-(दुपं ति) साहूण साहूणीण य पडिसेवणा, एव मूलगुणेहिं भणिया पडिसेवणा । सीसो पुच्छइ-जहा मूलगुणेसु पडिसेवा भणिया, तहा उत्तरगुणेसु वि होज्जा ? । उच्यते-जइ ताव गुरुएसु अणुण्णाया, उत्तरगुणेसु लहुएसु पागेव अणुण्णाया । ट्ठियकप्पो नाम एसु कारणेसु पत्तेसु अवस्सं कायव्व । एस ट्ठियकप्पो " पं० चू० ।

कप्पट्ठितमाट्टिए पुण, वोच्छामऽहुणा समासेणं ।
संघयणवज्जिओ वि हु, दुक्खक्खयकारओ पणगजाओ ।
संघयणसमग्गस्स वि, अजातचतुरो अमोक्खाए ।
पंच तु महव्वयाइं, पणगं तेसिं करे पयत्तं तु ॥

जाओ जो निप्फएणो, अजातो णियमा अणिप्फएणो।
ठियमट्ठिए विकप्पे, संघयणेणावि जो विहीणो तु ॥
सो कुणति दोक्खमोक्खं, जो पुण न करे पयत्तं तु ।
पंचसु महव्वएसुं, संघयणेणं तु जदि वि संपएणो ॥
सो चउगतिसंसारे, नमती ण य पावती मोक्खं । पं० भा०।

" इयाणिं ठियमट्ठिया समा चेव जंति। चोदग आह-अस्मिन् काले संहननवर्जितानां साधूनां कीदृशी संयमशुद्धिः ? । तत्थ गाहा-(संघयण०) उच्यते-वत्स ! संहननवर्जितोऽपि अत्र पर्याप्तिभूषणामन्त्रणेषु । यद्यपि ऋषभादिसंहननम, अज्जकाले सेवर्त्तसंहननिनः साधव. पञ्चमहाव्रतयुक्ताश्च, तथापि दु.क्खक्षय कुर्वन्ति, संहननसपन्नो तु जइ बलवीरियं गूहेइ, जइ न करेइ पंचसु महव्वएसु पयत्त, सो चउसु गइसु अणुयरिं गइ जाइ, न य से मोक्खो अत्थि, एव ठियकप्पे अठियकप्पे वि आयरतो विमुच्चइ ससाराओ, इयरो चउगइसु अणुयरिं गइ गच्छइ, पुव्ववण्णिया य एए ठियमट्ठियकप्पा । " प० चू० ।

ठियच्चि-स्थितार्चिस्-त्रि० । स्थिता शुद्धस्वभावाऽऽत्मना अर्चिर्लेश्या यस्य स भवति स्थितार्चिः । सुविशुद्धस्थिरलेश्ये, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

ठियप्पा-स्थिताऽऽत्मन्-पुं० । स्थितो व्यवस्थितोऽशेषकर्मविगमात्मस्वरूप आत्मा यस्य स भवति स्थितात्मा। ज्ञानक्रियायोः प्रधानफलयोगेन मुक्तमहें, सूत्र०१ श्रु०१० अ०। महासत्त्वे, दश० ६ अ० । ज्ञानाऽऽदिके मोक्षाध्वनि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । सम्यक्त्वमार्गे, सूत्र० १ श्रु १० अ० ।

ठीण-स्त्यान-न० । "ई: स्त्यानखल्वाटे" ॥ ८।१।७४ ॥ स्त्यानखल्वाटयोरादेरात ईर्भवति। "स्त्यानचतुर्थार्थे वा"॥८।२।३३॥ एषु सयुक्तस्य ठो वा भवति। 'ठीणं' 'थीणं'। प्रा०२ पाद। 'स्त्यै' भावे क्त, तस्य न. । स्नेहे, घनत्वे, सहतौ, आलस्ये, प्रतिशब्दे च । कर्तरि क्त । सहतिकारके, ध्वनिकारके च । त्रि० । वाच० ।

ठुंठ-पुं० । छिन्नावशिष्टवनस्पतीना शुष्कावयवे, अ० १ वक्ष० । स० प्र० ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प—
श्रीमद्भट्टारक—जैनश्वेताम्बराचार्यश्रीश्री १००८ श्री
विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
ठकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

डकार

ड-ड-पुं०। डकारो व्यञ्जनवर्णभेदः चतुर्थवर्गीयः मूर्धस्थानीयः स्पर्शसञ्ज्ञः। डीङ्-ड। वाग्वाम्नौ, शब्दे, वाडवाग्नौ, शिवे, वाच०। प्रचण्डरनादे, चन्द्रे, चञ्चलयोषिति, जिह्वायाम्, कुण्डलिन्याम्, एका०। शङ्करे, विषये, दरे, भासे, शङ्कनिनादे, क्षये, रौद्ररसे, ध्वनौ च। एका०। वाचि, सत्तायाम्, प्रज्ञायाम्, स्त्री०। भवे, उमे, पटौ, डमरुके, आन्दोलने, डामरे च। न०। एका०।

डओयर-दकोदर-न०। जलोदरनाम्नि रोगे, नि० चू० १ उ०।

डंक-दङ्क-पुं०। वृश्चिकाऽऽदिकण्टके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। नि० चू०। आव०।

डंख-संतप-धा०। सतापे, "सतपेर्डङ्खः" ।८।४।१४। सतप्यते-डंख इत्यादेशो वा भवति। 'डङ्खइ,' पक्षे-'संतप्पइ' प्रा० ४ पाद।

डंड-दण्ड-पु०। न०। "दशनदष्टदग्धदोलादण्डदरदाहदम्भदर्भकदनदोहदे दो वा ड" ॥ ८। १। २१७॥ इति दस्य वा डः। प्रा० १ पाद। दण्ड-अच्। निग्रहे, पिण्डा० १ श्रु० ३ अ०। द्वात्रिंशे स्वनामख्याते आतोद्यभेदे, रा०। 'लाठी' इतिख्याते लगुडे, व्यूहभेदे, प्रकाण्डे, अश्वे, कोणे, मन्थनदण्डे, सैन्ये च। पु०। दण्ड्यतेऽनेन दम-ड। मस्य च नत्वम्। घटिषष्ट्यात्मके काले, 'काठा' इतिप्रसिद्धे भूमिमानभेदे, सूर्यानुचरे, पु०। दण्ड-भावे घञ्। अर्थापहाररूपे राज्ञां चतुर्थोपाये, दण्ड-कर्त्तरि अच्। यमे, पु०। वाच०। सूच्या सङ्ख्यादिलेषु पक्षाभासेषु, दे० ना० ४ वर्ग।

डंडअ-पुं०। देशी-रथ्यायाम्, दे० ना० ४ वर्ग।

डंडग-दण्डक-पु०। साधूपकरणे दण्डे, आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ०। नि० चू०।

डंडगा-दण्डका-स्त्री०। दण्डकाऽरण्ये जनस्थाननामके वने, वाच०। आ० क०।

डंडगि-दण्डकि-पु०। उत्तरापथे कुम्भकारकृतनगरस्य राज्ञि, यत्पुरोहितेन पालकनाम्ना पूर्वं वादपराजितप्रवाराज स्कन्दकः प्रव्रज्य भगिनीं पुरन्दरयशसं द्रष्टुमागतो मारितः सन् अग्निकुमारेषूपपन्नः। नि० चू० १६ उ०। व्य०।

डंडमणगार-दण्डानगार-पु०। स्वनामख्याते अनगारे, यस्य यमुनातीरे यमुनावक्रोद्याने यमुनाराजेन हतस्य केवले उत्पन्ने महिमार्थं शक्र आगतः। यो० विं०। आ० चू०। आव०। ती०। सथा०।

डंडय-दण्डक-पुं०। 'डंडग' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ०। नि० चू०।

डंडया-दण्डका-स्त्री०। 'डंडगा' शब्दार्थे, वाच०। आ० क०।

डंडि[ण्]-दण्डिन्-पु०। दण्डधारके, औ०।

डंडिखंडवसण-दण्डिखण्डवसन-पुं०। दण्डिखण्डरूपं वसनं यस्य येषां ते। दण्डिखण्डरूपवस्त्रवति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

डंभ-दम्भ-पु०। "दशनदष्ट०-" ॥ ८। १। २१७॥ इत्यादिना दस्य डः। 'डंभो' 'दम्भो'। प्रा० १ पाद। दन्भ-घञ्। कपटे, शाठ्ये च। वाच०। मायाप्रयोगे, प्रश्न० १ सब० द्वार।

डंभण-दम्भन-न०। सूचीप्राये दम्भकारके अङ्गुलिषु प्रक्षेप्ये शस्त्रविशेषे, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

डंभिअ-पुं०। देशी-द्यूतकारे, दे० ना० ४ वर्ग।

डंबर-पु०। देशी-घर्मे, दे० ना० ४ वर्ग।

डंस-दंश-धा०। दशने, भ्वा०-पर०-सक०-अनिट्। वाच०। "दशदहोः" ॥ ८। १। २१८॥ इति धात्वादेर्दस्य डः। 'डसइ'। प्रा० १ पाद। सूत्र०। आ० म०।

डक्क-दष्ट-त्रि०। "अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम्" ॥ ८। २। ८९॥ इति पदस्यानादौ वर्तमानस्य द्वित्वम्। 'डक्को' प्रा० २ पाद। "शक्तमुक्तदष्टरुग्णमृदुत्वे को वा" ॥ ८। २। २॥ इति संयुक्तस्य वा कः। 'डक्को,' 'दट्ठो'। प्रा० २ पाद। दशनाऽऽहते, नि० चू० १ उ०। प्रश्न०। आव०। दंष्ट्राविषाऽऽदिना दष्टस्य प्राणिनः सीमाकारिणि विषपरिणामे, स्था० ६ ठा०। दन्तगृहीते, दे० ना० ४ वर्ग।

डगण-डगण-न०। यानविशेषे, बृ० १ उ०।

डगलग-डगलक-पु०। न०। अतीव पक्वेष्टकासु, ओघ०। लघुपाषाणाऽऽदौ, ओघ०। पक्वेष्टकाखण्डे, पिं०। पुरीषोत्सर्गानन्तरमपानप्रोञ्छनकपाषाणाऽऽदिखण्डे, पिं०। बृ०।

डगल-पु०। देशी-भवनोपरिभूमितले, दे० ना० ४ वर्ग।

डज्झमाण-दह्यमान-पु०। दह-क्यच्। "दहो ज्झः" ॥ ८। ४। २४६॥ दहोऽन्त्यस्य कर्मभावे द्विरुक्तो ज्झो वा भवति, तत्संनियोगे क्यस्य लुक् च। प्रा० ४ पाद। भस्मसात्क्रियमाणे, उत्त० १४ अ०। आव०। प्रति०। आ० म०। भ०। नि० चू०। सूत्र०। प्रश्न०।

डज्झमाणधूव-दह्यमानधूप-पु०। भस्मसात्क्रियमाणे अनेकसुगन्धद्रव्यसंयोगसमुद्भूते दशाङ्गाऽऽदिधूपके, कल्प० २ क्षण।

डट्ठ-दष्ट-त्रि०। "दशनदष्ट०-" ॥ ८। १। २१७॥ इत्यादिना दस्य वा डः। 'डट्ठो' 'दट्ठो'। दशनाऽऽहते, प्रा० १ पाद।

डड्ढ-दग्ध-त्रि०। भस्मीकृते, आव० ४ अ०। प्रश्न०। औ०। नि० चू०। बृ०। सथा०।

डड्डाड-स्त्री०। देशी-दवमार्गे, दे० ना० ४ वर्ग।

डप-डप-धा०। सहतौ, चुरा०। पक्षे-भ्वा०-आत्म०-सक० सेट्। डपयति, डपयते, डपते। अमीडपत, अडीडपत, अडापिष्ट। वाच०। 'डप' 'रिपुण' सघाते। डपन्ति मिलन्ति। सघा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

डप्फ-न०। देशी-सेल्लाऽऽख्ये आयुधे, दे० ना० ४ वर्ग।

डब्भ-दर्भ-पुं०। 'दृभ' ग्रन्थे घञ्। "दशनदष्ट०-" ॥ ८। १।

२१७ ॥ इत्यादिना दस्य वा डः । 'डब्भो' 'दब्भो' । प्रा० १ पाद । " कुशाः काशा बल्वजाश्च, तथाऽन्ये तीक्ष्णरोमशाः । मौञ्जाश्च शाद्वलाश्चैव, षड् दर्भाः परिकीर्तिताः" ॥१॥ इत्युक्तेषु काशाऽऽदिषु षट्सु तृणेषु, वाच० ।

डंभग-डम्भक-पुं० । म्लेच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

डमर-डमर-पुं० । न० । स्वराष्ट्रक्षोभे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । परराजकृतोपद्रवे, जं० २ वक्ष० । स्वचक्रपरचक्रकृते विप्लवे, प्रव० ४ द्वार । कलहे, आचा० २ श्रु० ३ चू० ४ अ० । ज्ञा० । विग्रहे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । विड्वरे, औ० । प्रश्न० । राजकुमाराऽऽदिकृतविड्वरे, रा० । नि० । ज्ञा० । कुमाराऽऽद्युत्थाने, स्था० ६ ठा० । अशोभने, आव० १ अ० ।

डमरगर-डमरकर-त्रि० । परस्परेण कलहविधायके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विड्वरकारिणि, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० । वाक्कायमनोभिर्विचित्रतामनकरणशीले, आ० म० २ अ० ।

डमरय-डमरक-पुं० । न० । अशोभने, आव० १ अ० ।

डमरुग-डमरुक-न० । चूलिकापैशाचिकेऽन्येषामाचार्याणां मतेन तृतीयस्य स्थाने प्रथमे प्राप्ते " नादियुज्योरन्येषाम् " ॥ ८ । ४ । ३२७ ॥ इति निषेधान्न टः । 'डमरुगो' प्रा० ४ पाद । वाद्यभेदे, वाच० ।

डमरुयमणिनाय-डमरुकमणिन्याय-पुं० । एकस्यैव पदस्य पूर्वस्मिन् परस्मिंश्च पदे वाक्ये वा संबन्धद्योतके न्याये, विशे० । उत्त० ।

डर-त्रस-धा० । उद्वेगे, "त्रसेर्डरबोज्जवज्जाः" ॥ ८ । ४ । १९८ ॥ त्रसेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति । 'डरइ,' 'बोज्जइ,' 'वज्जइ' 'तसइ' प्रा० ४ पाद ।

डर-अव्य० । दृ-अप् । " दशनदष्ट०-" ॥ ८ । १ । २१७ ॥ इत्यादिना दस्य वा डः । 'डरो,' 'दरो' । प्रा० १ पाद । ईषदर्थे, भये, गर्ते च । पुं० । न० । कन्दरे, पुं० । स्त्री० । स्त्रीत्वे ङीप् । वाच० ।

डल्ल-पुं० । देशी-लोष्टे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डल्ल-न० । देशी-पिटिकायाम्, दे० ना० ४ वर्ग ।

डल्लग-डल्लक-न० । वंशाऽऽदिरचिते 'डाला' इतिख्याते पात्रविशेषे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । वाच० ।

डव्व-पुं० । देशी-वामकरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डसण-दशन-न० । भावे-ल्युट् । "दशनदष्ट०" ॥ ८ । १ । २१७ ॥ इत्यादिना दस्य डः । 'डसणं' 'दसणं' । दशनाऽऽहते, प्रा० १ पाद । करणे ल्युट् । दंष्ट्रायाम्, वाच० ।

डह-दह-धा० । दाहे, भ्वादि०-पर०-सक०-अनिट् । वाच० । 'दशादहो' ॥ ८ । १ । २१८ ॥ इति दहधातोर्दस्य डः । प्रा० १ पाद । "दहेरहिऊलाऽऽलुङ्खौ " । ८ । ४ । २०८ । " दहेरेतावादेशौ वा भवतः । 'अहिऊलइ,' 'आलुङ्खइ,' 'डहइ ।' प्रा० ४ पाद ।

डहण-दहन-पुं० । दह-ल्युट् । भस्मीकरणे, बृ० १ उ० । आचा० । अग्नौ, चित्रकवृक्षे, भल्लातके, दुष्टचेतसि च । वाच० । भावे ल्युट् । दाहे, न० । वाच० । केवलिसमुद्घातध्यानाग्निना वेदनीयस्य भस्मसात्करणे, शेषस्य च दग्धरज्जुतुल्यत्वाऽऽपादने च । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । पाटलिपुत्रवास्तव्यस्य हुताशनब्राह्मणस्य स्वनामख्याते पुत्रे, स च पितृभ्यां भ्रात्रा च सह प्रव्राजितः । आव० १ अ० ।

डहर-डहर-पुं० । लघौ, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । बृ० । ओघ० । ज्यो० । दश० । पुत्रनप्त्रादौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । बालके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आचा० । अप्राप्तवयसि, दश० ६ अ० १ उ० । यावत्परिपूर्णानि पञ्चदशवर्षाणि षोडशवर्षादर्वाक् तावड्डहरक उच्यते समयविद्भिः । व्य० ३ उ० । क्षुल्लके, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

डहरयगाम-डहरकग्राम-पुं० । क्षुल्लकग्रामे, व्य० ७ उ० ।

डहरिया-डहरिका-स्त्री० । जन्मतोऽष्टादशवर्षावधिकायां योषिति, जन्मपर्यायेण यावदष्टादशिका अष्टादशवर्षप्रमाणा तावद्भवति डहरिका । व्य० ४ उ० ।

डाकुलीभीमेसर-डाकुलीभीमेश्वर-पुं० । स्वनामख्याते तीर्थे, यत्र श्रीपार्श्वनाथः पूज्यते । ती० ४३ कल्प । ('जिणपडिमा' शब्दोऽत्र १४६४ पृष्ठे विलोक्यः)

डाग-डाक-पुं० । शाके, पिं० । प्रश्न० । सू० प्र० । स० । पत्रशाके, दशा० १ अ० । नि० चू० । डालप्रधाने शाके, आचा० २ श्रु० २ चू० १२ उ० । वास्तुकाऽऽदिभर्जिकायाम्, भ० ७ श० १० उ० । च० प्र० । वृन्ताकचिर्भिटिकाचणकाऽऽदय संस्कृताः पत्रशाकान्ता डाकशब्देन भण्यन्ते । प्रव० २ द्वार । आव० ।

डागवच्च-डाकवर्चस्-न० । यत्र पतितो डाकः सटन् वर्चो भवति तादृशे स्थले, आचा० २ श्रु० २ चू० १० अ० ।

डागिणी-डाकिनी-स्त्री० । पूतनायाम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

डाय-डाक-पुं० । 'डाग' शब्दार्थे, पिं० । प्रश्न० । सू० प्र० । स० ।

डायाल-डायाल-न० । हर्म्यतले, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

डाल-डाल-न० । शाखायाम्, प्रज्ञा० १९ विश० । स्था० । शाखैकदेशे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १० उ० ।

डाला-डाला-स्त्री० । शाखायाम्, "लिङ्गमतन्त्रम्" । ८ । ४ । ४४५ ॥ अपभ्रंशे लिङ्गमतन्त्रं व्यभिचारि प्रायो प्रवर्तते, येन

"सिरि चडिआ खन्ति फलइँ, पुणु डालइँ मोडन्ति ।
तो वि महद्दुम सउणाहं, अवराहिउ न करन्ति" ॥ १ ॥

इत्यत्र डालइँ इति स्त्रीलिङ्गस्य नपुंसकत्वम् । प्रा० ४ पाद ।

डाली-डाली-स्त्री० । शाखायाम्, नि० चू० १ उ० । दे० ना० ।

डाव-पुं० । देशी-वामकरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

डाह-दाह-पुं० । " दशनदष्ट०-" ॥ ८ । १ । २१७ ॥ इत्यादिना दस्य वा डः । 'डाहो' दाहः । भस्मीकरणे, प्रा० १ पाद । आचा० । अनु० ।

डिंगर-डिङ्गर-पुं० । पादमूलिके, नि० चू० १५ उ० ।

डिंडिम-डिण्डिम-पुं० । 'डिण्डि' इति शब्दं मिनोति प्रकाशयति । पटहाऽऽदिवाद्यविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । रा० । आ० चू० । प्रथमप्रस्तावनासूचके पणवविशेषे, जं० ३ वक्ष० ।

जी०। गर्भे, सू० ३ उ०। कांस्यभाजने, न०। आचा० २ श्रु०१ चू०१ अ०११ उ०।

डिंडिल्लिअ-न०। देशी-खलिखचितवस्त्रे, स्खलितहस्तेच। दे० ना० ४ वर्ग।

डिंडी-स्त्री०। देशी-सूच्या सङ्कलितेषु वस्त्रखण्डेषु, दे०ना०४ वर्ग।

डिंडीबंध-हिण्डीबन्ध-पुं०। गर्भसम्भवे, नि० चू० ११ उ०।

डिंडीर-डिण्डीर-पुं०। 'डिण्डि' इति शब्दोऽस्त्यस्य रः। पूर्वपददीर्घः। समुद्रफेने, वाच०। फेने, आ०म०१ अ०१ खण्ड।

डिंफिअ-न०। देशी-जलपतिते, दे० ना० ४ वर्ग।

डिंब-डिम्ब-पुं०। डिबि-घञ्। शिशौ, अण्डे, प्लीहनि, विप्लवे, शस्त्रे, कललै, परएमे, भयहेतुके ध्वनौ, भये, समरे, फुप्फुसे, वाच०। वघ्रे, स्था० ९ ठा०। प्र०। औ०। आचा०। नि०। रा०। ज्ञा०। स्वदेशोत्थविप्लवे, न०। ज०२ वक्ष०। जी०। पराऽऽनीतशृगालिके, पुं०। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

डिंभ-डिम्भ-पुं०। डिभि-अच्। लघुतरवयसि बालके, सू० २ उ०। आ० म०। नि०। आ० क०। ज्ञा०।

डम्भ्-धा०। अध पतने, "सप्तेर्डंसर्डिंभौ" ॥ ८।४।१७७॥ इति डभेर्डिंभाऽऽदेशः। 'डिंभइ' 'सलइ'। प्रा० ४ पाद।

डिग्गी-स्त्री०। देशी-स्थूणायाम्, दे० ना० ४ वर्ग।

डिड्डर-न०। देशी-भेके, दे० ना० ४ वर्ग।

डिल्ली-झिल्ली-पुं०। ग्रामभेदे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

डीण-क्षीण-त्रि०। क्षि-क्त। "क्षः खः क्वचित्तु छझौ" ॥ ८।२।३॥ क्षस्य खो भवति, क्वचित्तु छझावपि। 'खीण'। 'छीणं।' 'झीणं।' प्रा० २ पाद। दुर्बले, क्षामे च। वाच०। अवतीर्णे, दे० ना० ४ वर्ग।

डीणोवय-न०। देशी-उपरि, दे० ना० ४ वर्ग।

डीर-देशी-कन्दले, दे० ना० ४ वर्ग।

डुंग-मुद्ग-न०। शिलावृन्दे, ज० २ वक्ष०।

डुंगर-मुद्गर-पुं०। शिलोच्चयमात्ररूपे पर्वते, भ० १ श० २ उ०। नि० चू०। आ० चू०। "जिम मुग्गर तिम कुड्डरइ"। प्रा० ४ पाद। शैले, दे० ना० ४ वर्ग।

डुघ-पुं०। देशी-नारिकेरमये उदञ्चनविशेषे, दे० ना० ४ वर्ग।

डुंडुअ-पुं०। देशी-जीर्णघण्टे, दे० ना० ४ वर्ग।

डुंब-डोम्ब-पुं०। एकाधशतितमे म्लेच्छभेदे, प्रव०६ द्वार। प० चू०। व्य०। जी०। श्वपचे, दे० ना० ४ वर्ग।

डुमवण-द्रुमवन-न०। वृक्षसमूहे, प्रा०।

डुहिल-डुहिल-पुं०। द्रोहस्वभावे, विशे०।

डेवण-डेपन-पुं०। आत्मनः प्रतिक्षेपे, व्य०३ उ०। आ०म०। गर्ताघराद्याऽऽदीनां रयेणोल्लङ्घने, जीत०। व्य०। महा०। ग०। ओघ०।

डेवमाण-डेपयत्-पुं०। अतिक्रामति, भ० १ श० ७ उ०।

डोंगर-कुड्डर-पुं०। 'डुंगर' शब्दार्थे, भ० १ श० २ उ०।

डोंगिली-स्त्री०। देशी-ताम्बूलभाजनविशेषे, दे० ना० ४ वर्ग।

डोंब-डोम्ब-पुं०। एकाधिशतितमे म्लेच्छभेदे, प्रव० ६ द्वार।

डोंबिलग-डोम्बिलक-पुं०। म्लेच्छजातीये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। प्रज्ञा०।

डोअ-पुं०। देशी-दारुहस्ते, दे० ना० ४ वर्ग।

डोल-मोल-पुं०। तिकाऽऽख्ये प्राणिनि, बृ० १ उ०। जी०। उत्त०। मधूकफलाऽऽदौ, पं० व० २ द्वार। प्रव०।

डोला-दोला-स्त्री०। दुल-अच्-टाप्। "दशनदष्ट०-" ॥८।१।२१७॥ इत्यादिना दस्य डः। 'डोला' दोला। प्रा० १ पाद। 'डोली' इतिख्याते यानभेदे, उद्यानाऽऽदौ क्रीडाऽर्थे दोलनयन्त्रे च। स्वार्थे कन्। पूर्वोक्तार्थे, वाच०।

डोलायमाण-दोलायमान-त्रि०। पुं०। दोलां दोलनमयते। अय्-शानच्। वाच०। शिविकायाम्, दे०ना०४ वर्ग। चलचित्तवृत्तौ, नि०चू०१० उ०। दोलनं कुर्वति, दोलायन्त्ररूढे च। वाच०।

डोल्लणग-दोल्लनक-पुं०। उदकसजाते सस्वेदजे जीवे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०।

डोलिअ-पुं०। देशी-कृष्णसारे, दे० ना० ४ वर्ग।

डोव-पुं०। देशी-दर्व्याम्, न०।

डोहल-दोहद-पुं०। न०। "दशनदष्ट०-" ॥ ८। १। २१७ ॥ इत्यादिना दस्य ड.। 'डोहलो, दोहदो'। प्रा०१ पाद। मनोरथे, ज्ञा० १ श्रु०१ अ०। आव०। नि० चू०। गर्भिणीतदपत्ययोर्हृद्द्वयमत्र गर्भे दोहमाकर्षं ददातीति दा-क.। गर्भिण्यभिलाषे, लालसायां च। चिह्ने, गर्भलक्षणे च। न०। वाच०।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प—
श्रीमद्भट्टारक—जैनश्वेताम्बराचार्यश्रीश्री १००८ श्री—
विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
डकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

ढकार

ढ-ढ-पु० । ढकारो व्यञ्जनवर्णभेदो मूर्द्धस्थानीयः स्पर्शसंज्ञः ।
ढक्कायाम्, निर्गुणे, दास्ये, एका० । शुनि, तल्लाङ्गूले, ध्वनौ च । वाच० । गोमुखे, न० । एका० ।

ढंक-ढङ्क-पुं० । काकपक्षिविशेषे, जं० २ वक्ष० । सूत्र० । उत्त० । प्रज्ञा० । आ० म० । आ० चू० । स्था० । भ० । श्रावस्त्यां तिन्दुकोद्याने पञ्चशतानि साधूनां सहस्रं साध्वीनां ढङ्केन कुम्भकारश्रावकेण जमालिं मुक्त्वा प्रतिबोधितानीति । आ० क० । आ० म० । विशे० । वायसे, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंकण-ढङ्कन-पु० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

ढंकणग-ढङ्कनक-पु० । पिधाने, अनु० । आचा० ।

ढंकणय-ढङ्कनक-पु० । 'ढकणग' शब्दार्थे, अनु० ।

ढंकणी-स्त्री० । देशी-पिधानिकायम्, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंकवत्थुल-ढङ्कवास्तुल-पु० । शाकविशेषे, ध० २ अधि० । प्रव० ।

ढकुण-पु० । देशी-मत्कुणे, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंखरी-स्त्री० । देशी-वीणाभेदे, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंढण-ढण्ढन-पु० । नेमितीर्थकराशिष्ये, भरतेश्वरवृत्तौ ।

ढंढणी-स्त्री० । देशी-कपिकच्छूरूपेऽर्थे, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंढरीअ-पु० । देशी-ग्रामतरौ, कर्दमे, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंढल्ल-भ्रम-धा० । चलने, पर०-अक०-सेट् । वाच० । "भ्रमेष्टिरिटिल्ल०-" ॥८।४।१६१॥ इत्यादिना ढण्ढल्लाऽऽदेशः । 'ढंढल्लइ' 'भमइ' । प्रा० ४ पाद । भ्रमति, अभ्रमीत् । फणा० । भ्रेमतु', बभ्रमतु' । ऋक्ति न ह्रस्वः । ज्वला० । भ्रम', भ्राम' । वाच० ।

ढंढसिअ-पु० । देशी-ग्रामयक्षे,ग्रामतरौ,कर्दमे,दे० ना० ४ वर्ग ।

ढंढोल्ल-गवेष-धा० । अन्वेषणे, अदा०-चुरा०-आत्म०-सेट् । "गवेषेर्डुंदुल्लढंढोलगमेसघत्ताः" ॥८।४।१८९॥ 'ढंढोलइ' 'गवेसइ.' प्रा० ४ पाद । गवेषयते, अजगवेषत् । वाच० ।

ढंस-वि-वृत्-धा० । "विवृतेर्ढंसः" ॥८।४।११८॥ विवृतेर्ढंस इत्यादेशो वा भवति । 'ढंसइ' 'विवट्टइ' । प्रा० ४ पाद । विवर्त्तते । वाच० ।

ढंसय-न० । देशी-अयशसि, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढक्क-छदि-धा० । उद्-पिच् । आवरणे, "छदेर्णेर्णुमनूमसंनुमढक्कौम्बालपव्वालाः" ॥८।४।२१॥ इति छदेर्ण्यन्तस्य ढक्काऽऽदेशः । 'ढक्कइ', 'छायइ' "पइ पइ वज्जइ ढक्क" । प्रा० ४ पाद ।

ढक्कय-न० । देशी-तिलके, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढक्करि-अद्भुत-न० । "शीघ्राऽऽदीनां वहिल्लाऽऽदयः" ॥८।४।४२२॥ इत्यनेन अद्भुतस्य ढक्करि । आकस्मिके उल्कापाताऽऽदौ, "हियमा पइँ एँहु बोल्लिअउ, महु अग्गइ सयवार ॥ फुट्टिसु पिएँ पवसंति हउं, भमय ढक्करि सार ॥१॥" प्रा० ४ पाद ।

ढक्का-ढक्का-स्त्री० । ढक इति कायति । कै-कः । भम्भायाम्, जी० ३ प्रति० । स्था० । भेर्याम्, आ० म० १ अ० १ खण्ड । यशःपटहे, स्वनामख्याते वाद्यभेदे च । वाच० ।

ढक्किय-ढकित-त्रि० । स्थगितद्वारे, व्य० ६ उ० । समाच्छादिते, व्य० ४ उ० । अनु० ।

ढक्केयव्व-ढकितव्य-त्रि० । पिधानीये, दशा० २ अ० ।

ढड्ढ-पु० । देशी-भेर्याम्, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढड्ढर-ढड्ढर-न० । एकत्रिंशे वन्दनकदोषे, "उच्चसरेणं वदइ, ढड्ढर एय तु होइ बोधव्वं ।" उच्चस्वरेण महता शब्देन वन्दनकमुच्चारयन् यद्वन्दते तदेतद् ढड्ढरमिति बोद्धव्यम् । वृ० ३ उ० । प० व० । आ० चू० । प्रव० । आ० क० । ध० ।

ढिंकण-ढिङ्कन-पु० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उत्त० ३६ अ० ।

ढिंकुण-ढिङ्कुन-पुं० । क्षुद्रजीवविशेषे, ज० २ वक्ष० ।

ढिंग-ढिङ्ग-पु० जीवविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

ढिक्क-गर्ज-धा० । ऊर्जाहेतुकशब्दे, भ्वादि०-पर०-सक०-सेट् । वाच० । 'वृषेर्ढिक्कः' ॥ ८ । ४ । ९९ ॥ वृषकर्तृकस्य गर्जेर्ढिक्काऽऽदेशः । 'ढिक्कइ', वृषो गर्जतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

ढुंढुण-ढुण्ढुण-न० । तीर्थभेदे, ती० ४ कल्प ।

ढुंढुल्ल-गवेष-धा० । अन्वेषणे, अदा०-चुरा०-आत्म०-सेट् । "गवेषेर्ढुंढुल्ल०-" ॥८ ।४।१८९॥ इत्यादिना "ढुंढुल्ल," आदेशः । 'ढुंढुल्लइ, गवेसइ ।' प्रा० ४ पाद । भ्रम-धा० । चलने, पर०-सक०-सेट् । वाच० । "भ्रमेष्टिरिटिल्ल०-" ॥ ८।४।१६१ ॥ इत्यादिना ढुंढुल्लाऽऽदेशः । 'ढुंढुल्लइ' । 'भमइ' । प्रा० ४ पाद ।

ढेंकिय-गर्जित-न० । वृषशब्दे, आव० ४ अ० ।

ढेंकी-स्त्री० । देशी-बलाकायाम्, दे० ना० ४ वर्ग ।

ढेणियालग-ढेणिकालक-पु० । पक्षिविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

ढेणी-ढेणी-स्त्री० । पक्षिविशेषे, अनु० ३ वर्ग १ अ० ।

ढेल्ल-पुं० । देशी-निर्धने, दे० ना० ४ वर्ग ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्री-
विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
ढकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

ढंढण-'अलाभपरीसह' शब्दे प्रथमभागे ७७२ पृष्ठे कथा

णकार

ण-ण-पुं० 'ण' इति टवर्गस्य पञ्चमो वर्णो मूर्धन्यः। संस्कृते केचि-णकाराभिधा णकाराऽऽदयः शब्दा न सन्ति। ये चोपदेशे 'णम' प्रह्वत्वे, शब्दे च, इत्यादयो धातवः पठ्यन्ते, तेषामपि "णो नः" ॥६।१।६५॥ (पाणि०) इति सूत्रेण नमतीत्यादीनि नकारा-ऽऽदीन्येव रूपाणि भवन्ति। प्राकृते तु नकाराऽऽदयोऽपि णकारादय-शब्दाः "नो णः" ॥८।१।२२८॥ इति पाठे कृते णकाराऽऽदि-र्भवन्तीति, तस्मान्निर्दिष्टशिष्टमायाः णाऽऽदयः शब्दा नाद्योऽपि शुद्धा एवोदाहृताः। 'णक' गतौ गः। पुं०-बालक। विन्दुदेवे, भूषणे, गुणवर्जिते, ज्ञानरूपाते, निर्णये, ज्ञाने च। वाच०। निर्गुणे, ज्ञाने, बोधे, दुष्टे, कोष्टे, तस्करे, पद्मपुष्पे च। एका०।

" णो निर्गुणे ज्ञाने बोधे, दुष्टे कोष्टे च तस्करे।
पद्मपुष्पे स्त्रियां णा स्त्री, वृद्धभावे ण ण पुमान् ॥ ४८ ॥
समन्वये तथा स्यार्थे, णु कोणे वेदवस्तुपि।
र्णीति रज्जु धने स्थाने, णी पुमान् नायको जिनः ॥ ४९ ॥
समे स्वरे चैव बारे, चरणे निर्णयात्मकः। "
इति विश्वदेवशम्भुमुनिः। एका०।

अपि च-

" त्रिलिङ्गो निर्गुणे गृहे, सौम्ये सत्यापमत्ययोः।
णकारः कर्कटे गाने, भैरवगो ध्वजे पुमान् ॥ ३९ ॥
णा तु स्त्री रजनीशय्या-धेनुनामाऽऽप्यपि।
च नरोऽञ्जले ग्रामे, गगने चरणे रणे ॥ ४० ॥
णशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु, भवेद् वस्तुपवस्तुनि" ॥ इति माधव। एका०।

न-अव्य०। 'नह' बन्धने ड.। प्रतिषेधे, नि० चू० १ उ०। नञ्-शब्दवाचकशब्दोऽप्यस्ति; अत एव न एक नैक, नाप नक्ष, किन्तु न इति; अन्यथा न लोपः स्यादिति। आ० म० १ अ० २ खण्ड। नि० चू०। तत्र क्रियायोगे अभावे, तद्भिन्नयोगे तु भेदे, "नकारो सओगमाइसु पडिसेहे।" नकारः पुनः संयोगाऽऽदिषु संयोगसमवायसामान्यविशेषचतुष्टये प्रतिषेधं करोति।

अत्रोदाहरणम्-

अथ संयोगाऽऽदिविषयं नकारप्रतिषेधं भावयति-

संजोगे समवाए, सामन्ने खलु तहा विसेसे अ।
कालतिए पडिसेहो, जत्थुवओगो नकारस्स ॥८२२॥

संयोगे, समवाये, सामान्ये, विशेषे चेति चतुर्धा प्रतिषेधो नकारस्य भवति। स च प्रत्येकमतीतानागतवर्तमानलक्षणका-लत्रिकविषयत्वादेकैकः त्रिविध इति सर्वसंख्यया द्वादशविधो

नकारप्रतिषेधः। यत्र च क्वापि नकारस्योपयोगो भवति तत्रा-मीषां द्वादशानां भेदानामन्यतमः प्रतिषेधः प्रतिपत्तव्य इति।

अथ संयोगाऽऽदिषु यथाक्रमं प्रतिषेधमुदाहरति-

नत्थिघरे जिणदत्तो, पुव्वपसिद्धाण तेसि दोण्हं पि।
संजोगो पडिसिज्झइ, न सव्वसो तेसिं अत्थित्तं ॥८२३॥
समवाए खरसिंगं, सामन्ने नत्थि एरिसो चंदो।
नत्थि घडप्पमाणा, विसेसओ होंति मुत्ताओ ॥८२४॥

'नास्ति गृहे जिनदत्तः' इत्यत्र प्रयोगे पूर्वप्रसिद्धयोस्तयोर्गृहजि-नदत्तयोर्द्वयोरपि संयोगः सम्बन्धमात्रं प्रतिषिध्यते, न पुनः सर्वथैव तयोरस्तित्वमिति संयोगप्रतिषेधः। समवायप्रतिषेधे तु खरशृङ्गमुदाहरणं, खरोऽप्यस्ति, शृङ्गमप्यस्ति, परं खरशिरसि शृङ्गं नास्तीति समवायः, 'एकत्र संश्लेषः उभयोरपि' प्रति-षिध्यते इति समवायप्रतिषेधः। सामान्यप्रतिषेधो यथा-ना-स्त्यस्मिन् स्थानेऽन्य ईदृशश्चन्द्रमा इति। विशेषमाश्रित्य पुनरयं प्रतिषेधः-न सन्ति घटप्रमाणा मुक्ताः, मुक्ताफलानीत्यर्थः। सन्ति मुक्ताफलानि, परं न घटप्रमाणानीति घटप्रमाणत्वलक्षण-स्य विशेषस्य प्रतिषिध्यमानत्वाद्विशेषप्रतिषेधो भावितः। भावितः संयोगाऽऽदिचतुष्टयप्रतिषेधः।

सम्प्रति कालत्रयविषयं तमेव भावयति-

नेवासी न भविस्सइ, णेव घडो अत्थि इति तिहा कालो।
पडिसेहेइ नकारो, सव्वं तु अकारनोकारा ॥८२५॥

नैवाऽऽसीत भविष्यति, नैवास्ति घट इति यथाक्रमम-तीतानागतवर्तमानभेदात् त्रिधा कालविषयं वस्तु नकारः प्रति-षेधयति। अकारनोकारौ तु सद्यो वर्तमानकालमेव प्रायः प्र-तिषेधयतः। यथा-अकरोपि त्वं, नो कल्पते तालप्रलम्बं प्रतिगृ-हीतुमित्यादि। नाकारस्य त्रिविधकालप्रतिषेधकत्वं पूर्वमुक्तमे-वेति न पुनरुच्यते। बृ० १ उ०। नि० चू०। सूत्र०। उपमाया-म्, प्रस्तुते च। वाच०। नराऽऽदिषु, एका०।

" नो नरे च सनाथेऽपि, नो नाथेऽपि प्रदर्श्यते।
नृशब्दोऽपि नरे नाथे, ना नरौ नर इत्यपि ॥ ७६ ॥
ननौ इति निपातौ द्वौ, नू दर्पेऽपि तथोदितः।
पृच्छाया नु वितर्केऽपि, निर्निशब्दौ तथाऽव्ययम् ॥ ७७ ॥
नीधन्तो सद्धर्मवाच्य स्या-न्नीनैतरि नियौ निय।
नु स्तुतौ दीर्घह्रस्वे स्त्री, नेनौश्च तरणौ स्त्रियाम् ॥ ७८ ॥
नूशब्दः पातके पुंसि, धात्रौ क्लीबे नु वारिणि।
न प्रशाखि तथाऽनन्ते, सानन्दे न च नन्दने ॥ ७९ ॥"
इति विश्वदेवशम्भुमुनिः। एका०।

" नकारस्तु स्त्रिया नाभौ, न नास्यज्ञानयोर्भवेत्।
नशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु, पठ्यते भिन्नसूक्ष्मयोः ॥ ५३ ॥
प्रस्तुते वा परिक्लिष्टे, शुद्धे निर्णेतरि स्मृतः।
नु. स्त्रियां नु स्तुतौ नावि, नौरनयैव निरूप्यते।
नुमशब्दस्त्रिलिङ्गः स्या-न्निष्ठयुक्तार्थवाचकः।
अव्ययं प्रतिषेधेऽल्पे, नकारः स्थिरनिश्चये ॥ ५५ ॥
नानाप्रकारे नेद स्यात्, भावे नन्ववधारणे ॥" इति माधव।
एका०।

नञ्-अव्य०। सर्वनिषेधे, पर्युदासे, न०। स्था०। कुत्सार्थे, य-था कुत्सितो ब्राह्मणोऽब्राह्मणः। ध० १ अधि०। कुत्सित शील-

मशीलमिति । अनु० । दुःशब्दार्थे, यथा अशीलाः, दुःशीला इत्यर्थः । स्था० ३ ठा० ३ उ० । अल्पार्थे, यथाऽय पुमानज्ञः, स्वल्पज्ञान इत्यर्थः । आचा० १ श्रु० ६ अ० ६ उ० ।

णइ-णइ-अव्य० । अवधारणे,"णइ चेअ चिअ च्च अवधारणे" ॥८।२।१८४॥ इत्यवधारणे णइ इति प्रयोगः । 'णइ' प्रा०२ पाद ।

नति-स्त्री० । नमने, नम्रीभवने, वाच० ।

णइग्गाम-नदीग्राम-पुं० । "समासे वा" ॥ ८ । २ । ९७ ॥ इति समासे द्वित्व वा, द्वित्वे ह्रस्वः । नदीतटस्थे ग्रामे, प्रा०२ पाद ।

णइसोत्त-नदीस्रोतस्-न० । " दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ " ॥८।१।४ ॥ इति दीर्घेकारस्य वा ह्रस्वः । नद्याः प्रवाहे, प्रा० १ पाद ।

णइसंतार-नदीसन्तार-पु० । ' णईसतार ' शब्दार्थे, जीत० ।

णई-नदी-स्त्री० । सरिति, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । उत्त० । ज्ञा० । सलिलायाम्, भ० ९ श० २ उ० । प्रश्न० । गङ्गा नदी षष्ठारके रथपथप्रमाणा भविष्यति, न वा, चेद्भविष्यति, तदाऽन्याश्चतुर्दशसहस्रमिता नद्यः क यास्यन्तीति प्रश्ने ?, उत्तरम्-गङ्गा यथोक्तप्रमाणा भविष्यति, अन्यास्तु चतुर्दशसहस्रमिता नद्यः पृथिव्या भूयस्तरतापवशेन शोषं यास्यन्तीति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्तावितेि । ६७ प्र० सेन० १ उल्ला० । तथा जम्बूद्वीपमध्ये चतुर्दशलक्षषट्पञ्चाशत्सहस्राश्चेत्तत्स्तदा महाविदेहमध्यविजयविभेदविधायिः षट् नद्योऽन्या. प्रतिवैताढ्यमध्यगोन्मग्ना निमग्नाभिधाना नद्यश्च संख्यामध्ये कथ नागता. ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-पूर्वाचार्याणां विवक्षैव प्रमाणं, जम्बूद्वीपसंग्रहणीकारेण तु साधिकसप्तदशलक्षमिता नद्यो जम्बूद्वीपमध्ये सकलिताः सन्तीति । ६८ प्र० । सेन० प्र० १ उल्ला० ।

(सलिला महानद्योऽन्तरनद्यश्च "जंबुदीव" शब्दे चतुर्थभागे १३७५ पृष्ठे उक्ताः) (गङ्गासिन्ध्वोर्वक्तव्यता स्वस्वस्थाने)

णईकच्छ-नदीकच्छ-पु० । नदीगहने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णईगाम-नदीग्राम-' णइग्गाम ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

णईजल-नदीजल-न० । सामान्यनदीजले, गङ्गानदीजलं यथा लवणाब्धौ विश्राम्यति तथा मानुषोत्तरपर्वतसमुखविनिर्गतनदीजलमपि कुत्र विश्राम्यतीति प्रश्ने ?, उत्तरम्-मानुषोत्तराभिमुखनिर्गतनदीजल पुष्करवरसमुद्रे विश्राम्यतीति स्थानाऽऽदावस्तीति । २६४ प्र० । सेन० प्र० ३ उल्ला० ।

णईपमुह-नदीप्रमुख-त्रि० । नदीह्रदाऽऽदिके, प्रव० ८२ द्वार ।

णईमासय-न० । देशी-जलोद्भवे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णईसंतार-नदीसन्तार-पुं० । नद्युत्तरणे, नदीसन्तारश्चतुर्धा-अर्धजङ्घादघ्नोदकः, संघट्टस्तदूर्ध्वं नाभिद्वयसोदकः, लेपस्तदूर्ध्वजलो, लेपोपरि बाहुभ्यामुडुपैर्वा चतुर्थः । चतुर्ष्वेषु प्रायः कायोत्सर्गः । जीत० ।

जलोत्तरणप्रकाराः-

जंघातारिम कत्थइ, कत्थइ बाहाहि अप्प ण तरेज्जा ।
कुंभे दतिए तुंबे, णावा उडुवे य पण्णी य ॥ १९१ ॥

समासतो जलसतरणं दुविह-थाहं, अथाहं च । जं थाहं तं तिविहं संघट्टो, लेवो, लेवोवरियं च । एवं तिविह पि जघासंतारिमभाइएण गहियं । (कत्थइ त्ति) कचित्प्रयादिषु ईदृश भवतीत्यर्थः । वितिय (कत्थइ त्ति) कचित्प्रयादिषु अत्थाह प्रवतीत्यर्थः । एत्थ य बाहाहिं अप्पणा णो तरेज्जा, हत्थाऽऽदिप्रक्षेपे बहूदकोपघातत्वात् । जलजाविपर्हिं इमेहिं सतरणं कायव्वं-कुंभेण, तदभावा दतिएण, तदभावा तुबेण, तदभावा उडुवेण, तदभावा पण्णीए, तदभावा णावाए । बधऽणुलोमा मज्झे णावागहणं कतं ।

एत्तो एगतरेणं, तरियव्वं कारणम्मि जातम्मि ।
एतेसिं विवच्चासे, चातुम्मासा भवे लहुया ॥ १९२ ॥

गाहा कंठा । णवरं (विवच्चासे त्ति) सति कुंभस्स दतिएण तरति तो चउलहुयं । एव एक्केकस्स विवच्चासे चउलहुय दट्ठव्वं । सव्वते कुभाती इमाए जयणाए घेत्तव्वा ।

णावं पुण अहिकिच्च प्रभति-

णवाऽणवे विभासा तु, भाविताऽभाविते त्ति य ।
दगऽप्पभाविए चेव, उड्ढाऽणोल्ल य मग्गणा ॥ १९३ ॥

सा णावा महाकम्मेण य जाति, संजयट्ठा वा अहाकडाए गतव्व । असति अहाकम्माए संजयट्ठाए वि जा जाति, ताए वि गतव्व । सा दुविहा-(णवाऽणवे विभास त्ति) णवा, पुराणा वा । णवाए गतव्व, न पुराणाए, सप्रत्यपायत्वात् । णवा दुविहा-(भावियाऽभाविय त्ति) उदगभाविता, अभाविता य । जा उदगे बूढपुव्वा, सा उदगभाविया । इतरा अभाविया । भावियाए गंतव्व, ण इतराए । मा उदगरुजा भविष्यतीति कृत्वा । तदुदयभाविया दुविहा-(उड्डाऽणोल्ल त्ति) समाणा उल्ला तिता, अणोल्ला सुक्का । उल्लाए गतव्व, ण इयराए, दगाकर्षणभयात् । (मग्गणे त्ति) एषा एव मार्गणा, याऽभिहिता, परिसणावाए पुण गच्छति । नि० चू० १ उ० ।

(चत्वारो नौसंतरणप्रकाराः ' णावा ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

महार्णवसूत्रम्-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा इमाओ पंच महण्णवाओ महानदीओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा । तं जहा-गंगा, जउणा, सरऊ, कोसिया, मही ।

नो कल्पन्ते न युज्यन्ते । सूत्रे एकवचननिर्देशः प्राकृतत्वात् । निर्ग्रन्थानाम्, इमाः प्रत्यासन्ना. पञ्च महार्णवा बहूदकतया महासमुद्रगामिन्यो महानद्यो गुरुनिम्नगा उद्दिष्टाः सामान्येनाभिहिताः, यथा महानद्य इति । गणिता यथा पञ्चेति । व्यञ्जिता व्यक्तीकृता यथा गङ्गेत्यादि । अन्तर्मध्ये मासस्य द्वि:कृत्वो वा त्रि:कृत्वो वा उत्तरीतुं बाहुजङ्घाऽऽदिना,संतरीतुं नावादिना । तद्यथा-गङ्गा १ यमुना २ सरयू ३ कौशिकी ४ मही ५ । एष सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यकारः कानिचिद्विषमपदानि विवृणोति-

इमाओ त्ति सुत्तउत्ता, उद्दिट्ठ नदीउ गणिय पंचेव ।
गंगादि वंजिताओ, बहुउदगा महण्णवाओ तु ॥५१४॥

(इमा इति) प्रत्यक्षवाचिना सर्वनाम्ना सूत्रोक्ता उच्यन्ते । उद्दिष्टा नद्य इति । गणिताः पञ्चेति । व्यञ्जिता गङ्गाऽऽदिपदैः

र्थीकृता', यास्तु बहूदकास्ता महार्णवा उच्यन्ते । कृता विष-मपदव्याख्या प्राग्व्याकृता ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः-

पंचएहं गहणेणं, सेसा वि तु सूइया महासलिला ।
तत्थ पुरा विहरिंसु, ण य ताओ कयाइ सुक्खंति ॥७१५॥

पञ्चानां गङ्गाऽऽदीनां ग्रहणेन शेषा अपि या महासलिला बहूदका अविच्छेदवाहिन्यस्ताः सूचिता मन्तव्याः । स्याद् बुद्धिः किमर्थं गङ्गाऽऽदीनां ग्रहणम् ?, इत्याह-(तत्थ इत्यादि) येषु गङ्गाऽऽदयः पञ्च महानद्यो वहन्ति,तेषु पुरा साधवो विहृतवन्तः, न च ताः कदाचिदपि शुष्यन्ति, अतस्तासां ग्रहणम् ।

पंच परूवेऊणं, णावासंतारिमं तु जं जत्थ ।
उत्तरणम्मि वि लहुगा,तत्थ वि आणाऽऽदिणो दोसा ॥७१६॥

पञ्चापि महानदीः प्ररूप्य, या यादृशी यत्र विषये, तां तथा वर्णयित्वा प्रस्तुतमभिधातव्यम् । तद्यथा-नौसंतारिमं यत्रोदकं तत्र यः षट्कायविराधनां प्राप्नोति, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तं, यत्रापि जङ्घाऽऽदिनोत्तरणं भवति, तत्रापि चतुर्लघुकाः । अपि-शब्दात्संतरणेऽपि चतुर्लघु । तत्राप्युत्तरणे आज्ञाऽऽदयो दोषाः, किं पुनः संतरणे ?, इत्यपिशब्दार्थः । बृ० ४ उ० । स्था० । ग० । नि० चू० ।

सन्तरणे दोषाः । तत्र संतरणे तावद्दोषानाह-

अणुकंपा पडिणीया, व होज्ज बहवो य पच्चवायाओ ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥७१७॥

अनुकम्पादोषाः, प्रत्यनीकदोषाः, बहवो वा प्रत्यपाया नावमारूढानां भवन्ति । एतेषां च नानात्वं विभागं यथाऽऽनुपूर्व्या वक्ष्यामि ।

तदेवाऽऽह-

दुभणं जले थलातो, अएणे वोचारिता दुभति साहू ।
ठवणं व पत्थिताए, दट्ठुं णावं च आणाती ॥७१८॥

साधु तरणार्थिनं ज्ञात्वा नौवाणिजो, नाविको वा अनुकम्पया नावं स्थलाज्जले प्रक्षिपेत् । ये वा पूर्वं नावमारोपिताः, तानुदके, तटे वाऽवतार्य साधून् प्रक्षिपेत्, नावमारोपयेदित्यर्थः । संप्रस्थिता वा नावं साधवस्तरिष्यन्तीति कृत्वा स्थापयेत् । साधून् वा दृष्ट्वा परकूलान्नावमानयेत् ।

अत्र चामी दोषाः-

णावियसाधुपदोसा, णियत्तणत्थंतगा य हरियाऽऽदी ।
जं तेणसावएहि व, पवहण अएणाएँ किण्णं वा ॥७१९॥

ये नैमिकाया अवतारिताः, ते नाविकस्य वा, साधूनां वा प्रद्वेषं गच्छेयुः । यद्वा—ते निवर्तमानास्तत्रैव तिष्ठन्तो हरिताऽऽदीनां विराधनामन्यद्वाऽधिकरणं यत् कुर्वन्ति । यद्वा-स्तेनश्वापदेभ्य उपद्रवं प्राप्नुवन्ति, अवहन्तीं वा नावं यत्प्रवाहयिष्यन्ति, अन्यस्या नावः क्रयणं करिष्यन्ति ते, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

परकूलान्नावानयने दृष्टान्तमाह-

मज्जणगतो मुरुंडो, णावं दठूण अप्पणा णेति ।
कहिगा भति अ कलेवा,तति लहुगा मग्गणा पच्छा ॥७२०॥

मज्जनगतः स्नानं कुर्वन्, मुरुण्डो राजा साधून् दृष्ट्वा नावमात्मना नयति,ततो नावारूढः साधुः कथिकाः कथयितुं लग्नः,यावन्तश्च तत्र वल्लकक्षेपास्तावन्ति चतुर्लघूनि,पश्चाच्च साधूनां मार्गणाः संयमविराधना १, आत्मविराधना २, उभयविराधना वा । यदि वा उदकमवतरतः, नावारूढस्य, नावं उत्तरतश्चेति । एतेषां त्र-याणामेकतरस्मिन् बहवः प्रत्यपाया भवन्ति । उक्तं संतरणम् ।

उत्तरणे जङ्घासंघट्टाऽऽदिदोषाः । अथोत्तरणमाह-

उत्तरणम्मि परूविते, उत्तरमाणस्स चउलहू होंति ।
आणाऽऽदिणो य दोसा, विराहणा संजमाऽऽताए ॥७२९॥

उत्तरणं नाम यन्नावं विना वक्ष्यमाणैः संघट्टाऽऽदिभिः प्रकारैरुत्तीर्यते, तस्मिन्नुत्तरणे प्ररूपिते सतीदमभिधीयते, यदि जङ्घाऽऽदिनाऽप्युत्तरति, तदा चतुर्लघु, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः, संयमाऽऽत्मविराधना च भवति ।

तस्य चोत्तरणस्यैते भेदाः-

जंघद्धा संघट्टो, संघट्टुवरिं तु लेवो जा णाभी ।
तेण परं लेवोवरि, तुंबाऽऽदी णाववज्जेसु ॥७३०॥

यस्मिन् कूले उत्तरतां पादतलादारभ्य जङ्घाया अर्द्धं भ्रमति स संघट्टः, तस्यैव संघट्टस्योपरि यावन्नाभिरेव तावद्यत् प्रविशति स लेपः । ततः परं नाभेरारभ्योपरि सर्वमपि लेपोपरि भण्यते । तच्च द्विधा-स्ताघमस्ताघं च । यत्र नासिका न ब्रुडति तत् स्ताघं, यत्र तु नासिका ब्रुडति तदस्ताघम् । तत्र तुम्बोडुपाऽऽदिभिर्नौवर्जितैर्यदुत्तीर्यते तदुत्तरणं मन्तव्यम् ।

तत्रोत्तरणे एते संयमाऽऽत्मविराधनादोषाः-

संघट्टणा य सिंचण, उवगरणे पडण संजमे दोसा ।
चिक्खिल्लखाणुकंटग, सावतजयवाहणे आया ॥७३१॥

लोकेन साधोः संघट्टनं भवेत्, साधुर्वा जलं संघट्टयेत्,संघट्टनग्रहणात् परितापनमपद्रावणं च सूचितम् । एतेषु कायनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । प्रत्यनीकः साधुमुपधिं वा सिञ्चति, स्वयं वा साधुरात्मानं सिञ्चेत्, साधोरुपकरणस्य जले पतनम् । एते संयमे दोषाः । तथा चिक्खिल्ले निमज्जति,जलमध्ये वा चक्षुरविषयतया स्थाणुना कण्टकेन वा विद्ध्यते, मकराऽऽदिश्वापदभयं वा भवति, नदीवाहेन वा वाहनम् । एषा सर्वाऽप्यात्मविराधना ।

ऐरावतीकुणालाया सूत्रम्-

अह पुण एवं जाणिज्जा-एरवई कुणालाए जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा, एवं एहं कप्पइ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा; नो चक्किया एवं एहं नो कप्पइ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा ।

अथ पुनरेवं जानीयात्-ऐरावती नाम नदी कुणालायाः नगर्याः समीपे जङ्घार्द्धप्रमाणेनोद्वेधेन वहति, तस्यामन्यस्यां वा यत्रैव (चक्किया) शक्नुयात्, उत्तरीतुमिति शेषः । कथमिति ?, आह-एकं पादं जले कृत्वा, एकं पादं स्थले आकाशे कृत्वा । एवं एहमिति वाक्यालङ्कारे । यत्रोत्तरीतुं शक्नुयात्, तत्र कल्पते अन्तर्मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं लङ्घयितुम्,संतरीतुं भूयः प्रत्यागन्तुं,यत्र पुनरेवमुत्तरीतुं न शक्नुयात्, तत्र नो कल्पते अन्तर्मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं लङ्घयितुं,संतरीतुं भूयः प्रत्यागन्तुम्,यत्र पुनरेवमुत्तरीतुं न श-

पनुयात, तत्र नो कल्पते अन्तर्मासस्य द्विः कृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं वा संतरीतुं वा । इति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यकृद्विषमपदानि व्याचष्टे-

एरवइ जहिँ चक्किय, जलथलकरणे इमं तु णाणत्तं ।
एगो जलम्मि एगो, थलम्मि इहइं थलागासं ॥७३२॥

ऐरावती नाम यत्र नदी, तस्यां जलस्थलयोः पादकरणेनोत्तरीतुं शक्यम् । इदमेव चात्र नानात्वं, यत्सर्वसूत्रोक्तासु महानदीषु मासान्तर्द्वौ त्रीन् वारान् न कल्पते । यच्चात्रैको जले, एकश्च पादः स्थले इत्युक्तं, तदिह स्थलमाकाशमुच्यते ।

एरवइ कुणालाए, वित्थिन्ना अद्धजोयणं वहति ।
कप्पति तत्थ अपुण्णे, गंतुं जा एरिसी अण्णा ॥७३३॥

ऐरावती नदी कुणालानगर्या अदूरे अर्द्धयोजनविस्तीर्णा वहति । सा चोद्वेधेन च जङ्घार्द्धप्रमाणा, तत्र ऋतुबद्धे काले मासकल्पे अपूर्णे, त्रिः कृत्वो भिक्षाग्रहणलेपाऽऽनयनाऽऽदौ कार्ये यतनया गन्तुं कल्पते, या चेदृशी अन्याऽपि नदी, तस्यामपि त्रिःकृत्वो गन्तुं कल्पते । कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता ।

सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः-

संकमथले य णो-थल पासाणजले य वालुगजले य ।
सुद्धदगे पंकमीसे, परित्तऽणंते तसा चेव ॥७३४॥

नदीमुत्तरतस्तु ये पन्थानः । तद्यथा-संक्रमस्थलं, नोस्थलं च तत्र यदेकाङ्गिकाऽऽदिना संक्रमेण गम्यते, तत् संक्रमस्थलं, नद्यां कूर्परेण वरणेन वा यद् नदीजलं परिहृत्य गम्यते । नोस्थलं चतुर्विधम्-पाषाणजलं, वालुकाजलं, शुद्धोदकं, पङ्कमिश्रजलम् । एतेषु चतुर्ष्वपि गच्छतां यथासंभवं परीत्तानन्तकायास्त्रसाश्च विराधनां प्राप्नुवन्ति ।

तथा-

उदए चिक्खिल्लपरि-त्तऽणंतकाइगतसे य मीसे य ।
अक्कंतमणक्कंते, संजोए होंति अप्पबहुं ॥७३५॥

उदके चिक्खल्लाऽऽदिकः पृथिवीकायो, वनस्पतयश्च परीत्तकायिकाः, अनन्तकायिका वा, त्रसाश्च द्वीन्द्रियाऽऽदयो भवेयुः । एते च सर्वेऽपि यथासंभवं मिश्राः सचित्ता अचित्ता वा, आक्रान्ता अनाक्रान्ता वा, स्थिरा अस्थिरा वा, सप्रत्यपाया निष्प्रत्यपाया वा भवेयुः । एतेषु बहवः संयोगा उपयुज्य वक्तव्याः । तेषु यत्राल्पबहुत्वं भवति, अल्पतरसंयमाऽऽत्मविराधनादोषाः, बहवश्च गुणा भवन्तीत्यर्थः । तत्र कारणे समुत्पन्ने गन्तव्यम् ।

यत्र च संक्रमो भवति, तत्रामी भङ्गविकल्पा भवेयुः-

एगंगिचलथिरपारि-साडिसालंबवज्जिए सभए ।
पडिवक्खेसु तु गमणं, तज्जातितरे य संडेवा ॥७३६॥

संक्रमः एकाङ्गिको वा स्याद्, अनेकाङ्गिको वा । एकाङ्गिको य एकेन फलकाऽऽदिना कृतः । अनेकाङ्गिको योऽनेकफलकाऽऽदिनिर्मितः । अनेकाङ्गिकेन गन्तव्यम्, न अनेकाङ्गिकेन । एवं स्थिरेण, न च चलेन । अपरिशाटिना, नो परिशाटिना । सालम्बेन गन्तव्यं, न वर्जितेन; निरालम्बेनेत्यर्थः । सालम्बोऽपि द्विधा-एकतः सालम्बः, द्विधा सालम्बश्च । पूर्वं द्विधा सालम्बेन, तत एकतः सालम्बेनापि । तथा निर्भयेन गन्तव्यं, न सभयेन ।

अत एवाऽऽह-(पडिवक्खेसु य गमणं ति) अनेकाङ्गिकचलपरिशाटिनिरालम्बसभयाऽऽख्यानां पञ्चानां पदानां, ये एकाङ्गिकाऽऽदयः प्रतिपक्षाः, तेषु गमनं कर्तव्यम् । अत्र पञ्चभिः पदैर्द्वात्रिंशद्भङ्गाः । एकाङ्गिकः, स्थिरोऽपरिशाटी, सालम्बो, निर्भय इत्यादि । एषु प्रथमो भङ्गः शुद्धः, शेषा अशुद्धाः । तेष्वपि बहुगुणतरेषु गमनं, यतना च कर्तव्या । संडेवका अपि संक्रमभेदा एव । तज्जातकाः, इतरे वा अतज्जातकाः संडेवका भवेयुः । अत आह-तत्रैव जातास्तज्जाताः, शिलाऽऽदयः । अन्यतः स्थानादानीय स्थापिता अतज्जाताः, इट्टालकाऽऽदयः । तेष्वपि चलाचलाऽऽक्रान्तानाक्रान्ताऽऽदयो भेदाः कर्तव्याः । उक्तः संक्रमः ।

अथ स्थलमाह-

नदिकोप्परवरणेण व, थलमुदयं णोथलं तु तं चउहा ॥
उवलजलवालुगजलं, सुद्धमहीपंकमुदगं च ॥ ७३७॥

नद्या आकुण्टितकूर्पराऽऽकारजलेन नदीकूर्परमुच्यते । जलोपरि कपाटानि मुक्त्वा पालिबन्धः क्रियते, स वरण उच्यते । एताभ्यां यदुदकं परिहृत्य गम्यते, तत् स्थलं द्रष्टव्यम् । अथ नोस्थलं, तच्चतुर्विधम् । उपलजलम्-अधः पाषाणा, उपरि जलम् । वालुकाजलम्-अधो वालुकाः, उपरि पानीयं च । शुद्धोदकम्-अधः शुद्धा मही, उपरि जलम् । पङ्कोदकम्-अधः कर्दम उपरि जलम् ।

पङ्कोदकस्य चामूनि विधानानि-

लत्तगपहे य खलुए, तहऽद्धजंघाएँ जाणुउवरिं च ।
लेवो य लेवउवरिं, अक्कंतादी उ संजोगा ॥ ७३८॥

यावन्मात्रमलक्तकेनेव पादो रज्यते, तावन्मात्रो यत्र पथि कर्दमः स लक्तकपथः । खलुकमात्रः पादघुण्टकप्रमाणः, अर्धजङ्घामात्रो जङ्घार्द्धं यावद् भवति, जानूपरि जानुमात्रं यावद्भवति, लेपो नाभिप्रमाणः, तत ऊर्ध्वं सर्वोऽपि लेपोपरि । एते सर्वेऽपि कर्दमप्रकाराश्चतुर्विधे नोस्थले कर्दमे च, आक्रान्तानाक्रान्तसभयानिर्भयाऽऽदयः संयोगा यथासंभवं वक्तव्याः ।

सदोषः पन्थाः । अमुना दोषेण युक्तः पन्थाः परिहर्तव्यः-

जो वि पहो अक्कंतो, हरियादितसेहिँ चेव परिहीणो ।
तेण वि तु ण गंतव्वं, जत्थ अवाया इमे होंति ॥७३९॥

योऽपि च पन्था आक्रान्तो दरमलितो, हरिताऽऽदिभिस्त्रसैश्च परिहीणो भवति, तत्रोऽपि न गन्तव्यम्, यत्रामी अपाया भवन्ति ।

गिरिनदि पुण्णा वाला-हिकंटगा दूरपारमावत्ता ।
चिक्खिल्लकल्लुगाणि य, गारा सेवाल उवला य ॥७४०॥

यत्र पथि गिरिनदी पूर्णा तीव्रवेगा वहति । मकराऽऽदयो व्याला अहयो वा यत्र जलमध्ये भवन्ति, कण्टका वाऽऽपूरेणाऽऽनीता, दूरपारम्, आवर्तबहुलं वा जलं भवेत् । चिक्खल्लो वा नदीषु तद्देशो-यत्र पादौ निमज्जति, कल्लुकाः, गाथायां नपुंसकत्वं प्राकृतत्वात् । पाषाणेषु द्वीन्द्रियजातिविशेषा भवन्ति, ते पादौ छेदयन्ति । गाराः पाषाणशर्करिकाः, सेवालः प्रसिद्धः, उपलाः छिन्नपाषाणाः । एभिरपायैर्वर्जितेन पूर्वं स्थलेन गन्तव्यम्, तदभावे संक्रमेण, तदभावे नोस्थलेनापि ।

तत्र चतुर्विधे नोस्थले पूर्वममुना गन्तव्यम्-

उवलजलेण तु पुव्वं, अक्कंते निरवाए गंतव्वं ।

तस्सऽसति अणक्कंते, निरच्चएणं तु गंतव्वं ॥७४१॥

उपलजले कर्दमो न भवति, स्थिरसंहनन च तद् भवति, अतः पूर्वं तेनाऽऽक्रान्ते निरत्ययेन सुष्ठुनिष्प्रत्यपायेन गन्तव्यम् । तदभावे अनाक्रान्ते निरत्ययेनापि गन्तव्यम् ।

एमेव सेसएसु वि, सिगतजलादीहिँ होंति संजोगा ।
पंकमहुसित्थलत्तग-खलऽद्धजंघा य जंघा य ॥७४२॥

उपलाद् वालुका अल्पसंहनना, तत उपलजलाभावे वालुकाजलेन गन्तव्यम् । वालुकायाः शुद्धा पृथिवी स्वल्पतरसंहनना, ततो वालुकाजलानन्तर शुद्धोदकेन गम्यते, तेष्वपि सिकताजलादि, शेषपदेषु एवमेव प्राग्वदाक्रान्ताऽनाक्रान्ताऽऽदयः सयोगा भवन्ति । पङ्कजलं बहुप्रत्यपायमतः सर्वेषामुपलजलाऽऽदीनामभावे तेन गम्यते । स च यो मधुसित्थाऽऽकृतिकमतस्तयोरेव केवल भवति, यो वा अलक्तकमात्रस्तेन पूर्वं गम्यते, पश्चात् खलुकमात्रेण, पश्चादर्द्धजङ्घामात्रेण, ततो जङ्घामात्रेणापि, आजानुप्रमाणेनेत्यर्थः । यस्तु जानुप्रमाणादुपरि पङ्कस्तेन न गन्तव्यम् ।

यत आह-

अद्धोरुगमित्तातो, जो खलु उवरिं तु कद्दमो होति ।
कंटादिजढो वि य सो, अत्थाहजलं व सावायं ॥७४३॥

अर्द्धोरुकमात्राद् आनुप्रमाणादुपरि यः कर्दमो भवति, स कण्टकाऽऽद्यपायवर्जितोऽप्यस्ताघजलमिव गन्तुमशक्यत्वाद सापायो मन्तव्यः । एष विधिः सर्वोऽपि सचित्तपृथिव्यामुक्तः ।

अथाचित्तपृथिव्यां तमेवाऽऽह-

जत्थ अचित्ता पुढवी, तहियं आउतरुजीवसंजोगो ।
जोणिपरित्तथिरेहि य, अक्कंतणिरच्चएहिँ च ॥७४४॥

यत्र पृथिवी अचित्ता तत्राप्कायजीवानां तरुजीवानां च सयोगाः कर्तव्याः । तद्यथा-पृथिवी सर्वत्राप्यचित्ता । किमप्कायेन गन्तव्यम्, किं वा वनस्पतिना ? । उच्यते-अप्काये नियमाद्वनस्पतिरस्ति, तस्मात्तेन मा यात । वनस्पतिना गच्छन् तत्रापि परीत्तयोनिकेन स्थिरसंहननेन आक्रान्तेन निरत्ययेन निष्प्रत्यपायेन । अत्र षोडश भङ्गाः । तद्यथा-प्रत्येकयोनिक स्थिर आक्रान्तो निष्प्रत्यपायः । एष प्रथमो भङ्गः । सप्रत्यपायेन द्वितीयः । अनाक्रान्तेऽप्येवमेव द्वौ विकल्पौ । एवं स्थिरे चत्वारो विकल्पा लब्धाः । अस्थिरेऽप्येव चत्वारः । एते प्रत्येकयोनिकेनाष्टौ भङ्गा लब्धाः । अनन्तयोनिकेऽप्येवमेवाष्टौ लभ्यन्ते । एवं सर्वसङ्ख्यया वनस्पतिकाये परीत्ताऽऽदिभिः पदैः षोडश भङ्गा भवन्ति ।

अथाप्कायस्य, त्रसानां च संयोगानाह-

एमेव य संजोगा, उदगस्स चउव्विहेहिँ तु तसेहिँ ।
अक्कंतथिरसरीरे, णिरच्चएहिँ तु गंतव्वं ॥७४५॥

चतुर्विधास्त्रसा द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति । एतैश्चतुर्विधैरपि त्रसैराक्रान्ताऽऽदिभिः पदैरेवमेव उदकेन सह संयोगाः कार्याः । तद्यथा-आक्रान्ताः स्थिराः सप्रत्यपायाः । एवं त्रिभिः पदैरष्टौ भङ्गा भवन्ति । एते च द्वीन्द्रियाऽऽदिषु चतुर्ष्वपि प्रत्येकमष्टावष्टौ लभ्यन्ते, जाता भङ्गकानां द्वात्रिंशत् ।

अथ सान्तरनिरन्तर विकल्पविवक्षा क्रियते, तदाऽनुपाति संयोगा उपलभ्यन्ते । अत्र चाऽऽक्रान्तास्थिरनिरत्ययैः [illegible]गन्तव्यम्, नाप्काये यावत्-

तेउवाउविहूणा, एवं सेसा वि सव्वसंजोगा ।
उदगस्स उ कायव्वा, जेणऽहिगारो इहं उदए ॥७४६॥

तेजोवायुकाययोर्गमनं न सम्भवतीति कृत्वा तेजोवायुविहीनाः । एवं शेषा अपि संयोगाः सर्वेऽपि कर्तव्याः । तत्राप्कायस्य वनस्पतिना त्रसैश्च सह भङ्गका उक्ताः । (सू०)

"अतो मासस्स दुक्खुत्तो वा" इत्यादिसूत्रं व्याख्याति-

एरवइ जत्थ चक्किय, तारिसए ण उवहम्मती खेत्तं ।
एमिसिव्वं उत्तरणं, अभासति खेत्तऽणुण्णातं ॥७४७॥

या ऐरावती नदी कुणालाजनपदे योजनार्द्धं विस्तीर्णं जङ्घार्द्धमानमुदकं वहति, तस्यां केचित्प्रदेशाः शुष्काः, न तत्रोदकमस्ति । तामुत्तीर्य यदि भिक्षाचर्यां गम्यते, तदा ऋतुबद्धे तु ये उदकसङ्घट्टाः, ते च गताऽऽगतेन षड् भवन्ति । वर्षासु सप्त उदकसङ्घट्टाः, ते च गताऽऽगतेन चतुर्दश भवन्ति । एवमीदृशे सङ्घट्टप्रमाणे क्षेत्रं नोपहन्यते । इत एकेनाप्यधिके सङ्घट्टे उपहन्यते । अन्यतोऽन्यत्रापि यत्राधिकतरसङ्घट्टाः, तत्रोत्तरणं प्रतिषिद्धम् । पूर्णे मासकल्पे, वर्षावासे वा यद्यनुत्तीर्णानामपरं मासकल्पप्रायोग्यं क्षेत्रमस्ति, ततो नोत्तरणीयम् । अथानुत्तीर्णानामन्यत् क्षेत्रं नास्ति, ततः असति क्षेत्रे उत्तरणमनुज्ञातम् ।

इदमेव व्याचष्टे-

सत्त उ वासासु भवे, दगघट्टा तिण्णि होंति उडुबद्धे ।
जे तु ण हणंति खेत्तं, भिक्खायरियं च ण हणंति ॥७४८॥

सप्तोदकसंघट्टाः वर्षासु, त्रयः संघट्टा ऋतुबद्धे भवन्ति । ये एतावन्तः क्षेत्रं नोपघ्नन्ति, न वा भिक्षाचर्यामुपघ्नन्ति ।

जह कारणम्मि पुण्णे, अंतो तह कारणम्मि असिवाऽऽदी ।
उवहिस्स गहणलिंपण-नावोदगतं वि जतणाए ॥७४९॥

यथा कारणे पूर्णे मासकल्पे, वर्षावासे वा अपरक्षेत्राभावे दकमुत्तरणं, तथा मासस्यान्तरेऽप्यशिवाऽऽदिभिः कारणैः, उपधेर्वा ग्रहणार्थं, लेपस्याऽऽनयनार्थं चोत्तरणीयम्, कारणे यत्र नावाऽप्युदकं तार्यते, तत्रापि यतनया सतरणीयम् ।

तत्र चायं विधिः -

नावथललेवहिट्ठा, लेवो वा उवरि एव लेवस्स ।
दोण्णद्धदिवड्ढमेगं, अद्धं णावाएँ परिहाती ॥ ७५० ॥

तत्र पूर्वार्द्धपश्चार्द्धपदानां यथासङ्ख्येन योजना । नावुत्तरणस्थानाद् यदि द्वे योजने स्थलेन गम्यते, तेन गन्तव्यं, न च नौरारोढव्या । (लेवहिट्ठ त्ति) लेपस्याधस्ताद् उदकसङ्घट्टेन यदि सार्द्धयोजनपरिरयेण गम्यते, ततस्तत्र गम्यतां, न च नावमधिरोहेत् । एवं योजनपरिहारेण लेपेन गच्छतु, न च नावमधिरोहेत । अर्द्धयोजनपरिहारेण स्थलेन एकयोजनपरिरयेण सङ्घट्टेन अर्द्धयोजनपरिहारेण वा लेपेन गम्यताम्, न च लेपोपरिणा । लेपोत्तरणस्थानादेकयोजनपरिहारेण स्थलेनार्द्धयोजनपरिहारेण वा संघट्टेन गन्तव्य, न लेपेन । सङ्घट्टोत्तरणस्थानादर्द्धयोजनपरिहारेण स्थलेन गम्यताम्, न च सङ्घट्टेन । एतेषां परिहरमाणानामभावे नावा लेपोपरिणा लेपेन संघट्टेन वा गम्यते, न कश्चिद्दोषः । ।

अत्र 'नावथल त्ति' पदं व्याचष्टे-

दो जोयणाइँ गंतुं, जहियं गम्मति थलेण मेत्तं वए ।

मा य दुरूहे नावं, तत्थावाया बहू वुत्ता ॥ ७५१ ॥

द्वे योजने गत्वा यत्र स्थलेन गम्यते, तेन पथा व्रजेत् , मा च नावमारोहेत् । यतस्तत्र बहवोऽपायाः पूर्वमेवोक्ताः । कारणे तु तत्रापि गम्यते ।

तत्र संघट्टे गच्छतां तावद्यतनामाह-

थलसंकमणे जयणा, पलोगणा पुच्छिऊण उत्तरणं ।
परिहरिऊणं गमणं, जति पंथो तेण जयणाए ॥७५२॥

स्थलसंक्रमणे यतना कार्या; एकं पादं जले, एकं पादं स्थले कुर्यादित्यर्थः । प्रलोकना नाम-लोकमुत्तरन्तं प्रलोकयति, यस्मिन् पार्श्वे जङ्घाऽऽर्धमात्रमुदकं तत्र गच्छति । अथोत्तरतो न पश्यति, ततः प्रातिपथिकम्, अन्यं वा पृच्छति । ततो यत्र नीचतरमुदकं, तत्रोत्तरणं विधेयम् । (परिहरिऊण) इत्यादि । यदि तस्योदकस्य परिहारेण पन्था विद्यते, तदा तं परित्यज्य यतनया तेन गन्तव्यम् ।

अथ स्थलपदे अमी दोषा भवेयुः-

समुदाणं पंथो वा, वसही वा थलपधेण जति णत्थि ।
सावयतेणभयं वा, संघट्टेणं ततो गच्छे ॥ ७५३ ॥

समुदानं भिक्षा तत्र नास्ति, स्थलपथ एव वा नास्ति, वसतिर्वा स्थलपथेन यदि न समस्ति, श्वापदभयं, स्तेनभयं वा तत्र विद्यते, ततः स्थलपथं मुक्त्वा संघट्टेन प्रथमतो गच्छेत्, तदभावे लेपेन ।

तत्रेयं यतना-

निब्भएँऽगारत्थाणं, तु मग्गतो चोलपट्टमुस्सारे ।
सज्जये अत्थाघे वा, उत्तिणेसुं घणं पट्टं ॥ ७५४ ॥

यदि स साधुर्गृहिसार्थसहायः, ततः उदकसमीपं गत्वोर्ध्वकायं मुखवस्त्रिकया, अधःकायं रजोहरणेन प्रमार्ज्योपकरणमेकतः कृत्वा, यदि निर्भयं चौरभयं नास्ति, ततो गृहस्थानां मार्गतः सर्वतः पश्चादुदकमवतरति, यथा यथा चोपरमुण्डतरजलमवगाहते, तथा तथोपर्युपरि चोलपट्टकमुत्सारयेत्; येन न तीम्यते । अथ तत्र सज्जयं, अस्ताघं वा जलं, ततो यदा कियन्तोऽपि गृहस्था अग्रतोऽवतीर्णाः, तदा मध्ये साधुनाऽवतरणीयम्, चोलपट्टकं च घनं दृढं बध्नीयात् ।

एतेन विधिनोत्तीर्णस्य यदि चोलपट्टकोऽन्यद्वा किञ्चिदुपकरणजातं तीमितं तदाऽयं विधिः-

दगतीरे ता चिट्ठे, णिप्पगलो जाव चोलपट्टो तु ।
सभए पलंबमाणं, गच्छति काएण अफुसंतो ॥७५५॥

उदकतीरे स्निग्धपृथिव्यामप्कायरक्षणार्थं तावत्तिष्ठेद् यावच्चोलपट्टकोऽन्यद्वोपकरणं निष्पगलं भवति । अथ तत्र तिष्ठतः सभयं, ततः प्रगलन्तमेव तं चोलपट्टकं कायेनास्पृशन् बाह्यां प्रलम्बमानं नयन् गच्छति ।

यत्र सार्थविरहित एकाकी समुत्तरति, तत्रायं विधिः-

असइ गिहि णालियाए, आणक्खेउं पुणोऽवि पडियरणं ।
एगाभोगं च करे, उवगरणं लेव उवरिं च ॥७५६॥

गृहिणामभावे सर्वोपकरणमवतरणतीरे मुक्त्वा नासिकामात्रमप्रमाणाच्चतुरङ्गुलातिरिक्तां यष्टिं गृहीत्वा, तया (आघ्राय वा) अस्ताघनामनुमीय, तीरात् पुनरपि जले प्रतिचरणं करोति, प्रत्यागच्छतीत्यर्थः । आगत्य च तदुपकरणमेकाभोगं करोति, एकत्र नियन्त्रयतीत्यर्थः । ततस्तद् गृहीत्वा, तेन परीक्षितजलपथेनोत्तरति । एष लेपे, लेपोपरौ वा विधिरुक्तः । बृ०४उ० ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो परेहिं सद्धिं परिजविय परिजविय गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा [७४०] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से जंघासंतारिमे उदए सिया, से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पादे य पमज्जेज्जा, से पुव्वामेव पमज्जित्ता० जाव एगं पादं जले किच्चा एगं पादं थले किच्चा, तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदगे अहारियं रीएज्जा [७४१] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जंघासंतारिमे उदगे अहारियं रीयमाणे णो हत्थेण वा हत्थं पादेण वा पादं काएण वा कायं आसाएज्जा, से अणासादए अणासायमाणे तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा [७४२] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीयमाणे णो सायावडियाए णो परिदाहवडियाए महति महालयंसि उदगंसि कायं विउसेज्जा, तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा-पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा काएण उदगतीरे चिट्ठेज्जा [७४३]

'से' इत्यादि स्पष्टम् । नवरमत्रेय सामाचारी-यदुदकार्द्रं वस्त्रं तत् स्वत एव यावन्निष्पगलं भवति, तावदुदकतीर एव स्थेयम् । अथ स्वत एव चौराऽऽदिभयात् गमनं स्यात्, ततः प्रलम्बमानं कायेनास्पृशता नेयमिति । तथा 'से' इत्यादि कण्ठ्यम् । नवरं (परिजविय इति) परैः सार्द्धं भृशमुल्लापं कुर्वन् गच्छेदिति । इदानीं जङ्घासन्तरणविधिमाह-"से" इत्यादि । तस्य भिक्षोर्ग्रामान्तरं गच्छतो यदन्तराले जानुदघ्नाऽऽदिकमुदकं स्यात्, ततः कायं मुखवस्त्रिकया, अधःकायं च रजोहरणेन प्रमृज्योदकं प्रविशेत्प्रविश्य पादमेकं जले कृत्वा, अपरं स्थले आकाशे कृत्वा पादाङ्गुलिपादमेकं जले कृत्वा, अपरं स्थले आकाशे कृत्वा गन्तव्यमित्यर्थः (अहारियं रीएज्ज त्ति) यथा ऋजु भवति तथा गच्छेद्, नार्दवितर्दं विकारं वा कुर्वन् गच्छेदिति । 'से' इत्यादि । स भिक्षुर्यथार्थमेव गच्छन् महत्युदके महाश्रये वक्षस्थलाऽऽदिप्रमाणे जङ्घासंतरणीये नदीह्रदाऽऽदौ पूर्वविधिनैव कायं प्रवेशयेत् । प्रविष्टश्च यद्युपकरणं निर्वोढयितुमसमर्थस्ततः सर्वम्, असारं वा परित्यजेत् । अथैवं जानीयात्क्षमोऽहं पारगमनाय, ततस्तथाभूत एव गच्छेत् । उत्तीर्णश्च कायोत्सर्गाऽऽदि पूर्ववत् कुर्यादिति । आचा०२ श्रु०१ चू० ३ अ० २ उ० ।

अथापवादमाह-

पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ । तं जहा-भयंसि वा, दुब्भिक्खंसि वा पव्वहेज्ज व णं कोइ, दओघंसि वा एज्जमाणंसि महता वा, अणारिएहिं ।

(पचेत्यादि) भये राजप्रत्यनीकाऽऽदेः सकाशादुपध्याद्यपहारविषये सति १, दुर्भिक्षे वा भिक्षाऽभावे सति २, (पव्वहेज त्ति) प्रव्यथते बाधते, अन्तर्भूतकारितार्थत्वाद्वा प्रवाहयेत् क्वचित् प्रत्यनीकस्तत्रैव गङ्गाऽऽदौ प्रक्षिपेदित्यर्थः ३ । (दओघसि त्ति) उदकौघे वा गङ्गाऽऽदीनामुन्मार्गगामित्वेनागच्छति सति, तेन प्लाव्यमानानामित्यर्थः । महता वा आटोपेनेति शेषः ४ । (अणारिएहिं ति) विभक्तिव्यत्ययादनार्यैर्म्लेच्छाऽऽदिभिर्जीवितचारित्रापहारिभिः, अभिभूतानामिति शेषः । ५ । म्लेच्छेषु वा, आगच्छत्स्विति शेषः। एतानि पुष्टान्यालम्बनानीति तत्तरणेऽपि न दोष इति ।

उक्तञ्च-

" सालंबणो पडंतो, विअप्पयं दुग्गमे वि धारेइ ।
इय सालंबणसेवी, धारेइ जई असढभावं ॥ १ ॥
आलंबणहीणो पुण, निवडइ खलिओ अहे दुरुत्तारे ।
इय निक्कारणसेवी, पडइ भवोहे अगाहम्मि " ॥ २ ॥ इति ।
बृ० ५ उ० २ उ० ।

अथ नाव यैः कारणैरारोहेद्, तानि दर्शयति-

विइयपयं तेणसावय-भिक्खे वा कारणे व आगाढे ।
कज्जुवहिमगरवुज्झण-नावोदग तं पि जतणाए ॥७५७॥

द्वितीयपदमत्रोच्यते । स्थलसघट्टाऽऽदिपदेषु शरीरोपधिस्तेनाः, सिंहाऽऽदयो वा श्वापदा प्रवेयुः, भैक्ष्यं वा न लभ्यते, आगाढं वा कारणमहिदष्टविषविसूचिकाऽऽदिकं भवेत्, तत्र त्वरितमौषधान्यानेतव्यानि, कुलाऽऽदिकार्यं वा आक्षेपेण करणीयमुपस्थितम्, उपधिरुपादकेनोदके प्रक्षिप्येत, ततः एकाभोगकृतेषु भाजनेषु बिलग्नस्तरतीति । (नावोदगत पि जयणाए त्ति) यदि बलाभियोगेन नावुदकस्योत्सेचापनं कार्यते, तदा तदपि यतनया कर्त्तव्यम् ।

कथं पुनरेकाभोगमुपकरणं करोतीत्याह-

पुरतो दुरुहणमेग-त्ते पमिलेह पुव्व पच्छ समगं व ।
सीसे मग्गतो मज्झे, वितियं उवगरण जयणाए ॥७५८॥

गृहिणां पुरतः उपकरणं न प्रत्युपेक्षते, न वा एकाभोगं करोति, (दुरुहण त्ति) नावमारोढुकामेन एकान्तमपक्रम्योपकरणं प्रत्युपेक्षणीयं, ततोऽधःकायं रजोहरणेन, उपरिकायं मुखानन्तकेन प्रमृज्य भाजनान्येकत्र बध्नाति, तेषामुपरिष्टादुपधिं सुनियन्त्रितं करोति। (पुव्व पच्छ समग व त्ति) किं गृहिभ्यः पूर्वमारोढव्यम्,उत पश्चात्,उताहो समकम् ?। अत्रोत्तरम्-यदि भद्रका भाविकाऽऽदयो, यदि च स्थिरा नौर्न दोलायते, ततः पूर्वं समारोढव्यम् । अथ प्रान्तास्ततः पूर्वं नारुह्यते,मा अमङ्गलमिति कृत्वा प्रद्वेषं गमन्; तेषां प्रान्तानां भावं ज्ञात्वा समकं, पश्चाद्वा आरोहणीयम् । (सीसे त्ति) नावः शिरसि न स्थातव्यं, देवतास्थानं तदितिकृत्वा, मार्गतोऽपि न स्थातव्यं, निर्यामकपात्रं तिष्ठतीतिकृत्वा, मध्येऽपि यत्र कूपकस्थानं, तत्र न स्थातव्यं, तन्मुक्त्वा यदपरं मध्यस्थानं, तत्र स्थेयम् । अथ मध्ये नास्ति स्थानं, ततः शिरसि पृष्ठतो वा यत्र ते स्थापयन्ति, तत्र निराबाधे स्थीयते,साकारं भक्तं प्रत्याख्याय नमस्कारपरस्तिष्ठति । उत्तरन्नपि न पूर्वमुत्तरति, न वा पश्चाद्, किं तु मध्ये उत्तरति । सारोपधिश्च पूर्वमेवाल्पसागारिकैः क्रियते, यदन्तप्रान्तं चीवरं, तत्प्रावृणोति, यदि च तरपण्यं नाविको मार्गयति, तदा धर्मकथा, अनुशिष्टिश्च क्रियते । अथ न मुञ्चति, ततो द्वितीयपदे यदन्तप्रान्तमुपकरणं, तद् यतनया दातव्यम् । अथ तन्नेच्छति, निरुणद्धि वा, ततोऽनुकम्पया यद्यन्यो ददाति तदा न वारणीयः । बृ०४ उ० ।

साम्प्रतं नौगमनविधिमधिकृत्याऽऽह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से णावासंतारिमं उदयं सिया, सेज्जं पुण णावं जाणेज्जा-अस्संजए भिक्खुपडियाए किणेज्ज वा,पामिच्चेज्ज वा, णावाए वा णावापरिणामं कट्टु थलाओ वा णावं जलंसि ओगाहेज्जा, जलाओ वा णावं थलसि उक्कसेज्जा, पुण्णं वा णावं उस्सिंचेज्जा, सण्णं वा णावं उप्पीलावेज्जा, तहप्पगारं णावं उड्ढगामिणिं वा अहेगामिणिं वा तिरियगामिणिं वा परं जोयणमेराए अद्धजोयणमेराए वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा णो दुरूहेज्ज गमणाए । [७३१]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा पुव्वामेव तिरिच्छसंपातिमं णावं जाणेज्जा, जाणित्ता से तमायाए एगतमवक्कमेत्ता भंडगं पडिलेहेज्जा, पडिलेहित्ता एगओ भोयणभंडगं करेज्जा, करित्ता ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जेज्जा, पमज्जित्ता सागारियं भत्तं पच्चक्खाएज्जा, पच्चक्खाइत्ता एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा, तओ संजयामेव णावं दुरूहेज्जा । [७३४]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णावं दुरूहमाणे णो णावाए पुरओ दुरूहेज्जा, णो णावाए अग्गओ दुरूहेज्जा, णो णावाए मज्झतो दुरूहेज्जा,णो बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलीए उवदंसिय २ उण्णमिय २ णिज्झाएज्जा । से णं परो णावागतो णावागयं वएज्जा-आउसंतो ! समणा ! एयं तुमं णावं उक्कसाहि वा, वोक्कसाहि वा, खिवाहि वा, रज्जुए वा गहाय आगसाहि,णो सेयं परिण्णं परिजाणिज्जा,तुसिणीओ उवेहेज्जा । से णं परो णावागतो णावागयं वएज्जा-आउसंतो ! समणा ! णो संचाएसि तुमं णावं उक्कसित्तए वा, वोक्कसित्तए वा, खिवित्तए वा, रज्जुयाए वा गहाय आकसित्तए, आहर एतं णावाए रज्जुयं, सयं चेव णं वयं णावं उक्किस्सामो वा० जाव रज्जुए वा गहाय आकसिस्सामो, णो सेयं परिण्णं परिजाणिज्जा,तुसिणीओ उवेहेज्जा । से णं परो णावागओ णावागयं वएज्जा-आउसंतो ! समणा ! एयं ता तुमं णावं अलित्तेण वा पीढेण वा वंसेण वा वलएण वा अवल्लएण वा वाहेहि, णो सेयं परिण्णं० जाव उवेहेज्जा । से णं परो णावागओ णावागत वदेज्जा-आउसंतो ! समणा ! एतं ता तुमं णावाए उदयं हत्थेण वा पाएण वा मत्तेण वा पडिग्गहेण वा णावा उस्सिंचणेण वा उस्सिंचाहि, णो सेयं परिण्णं परिजाणेज्जा । से णं परो णावागतो णावागतं वएज्जा-आउसंतो ! समणा ! एतं ता तुमं णावाए

उत्तिंगं हत्थेण वा पाएण वा बाहुणा वा ऊरुणा वा उदरेण वा सीसेण वा काएण वा णावाउस्सिंचणेण वा चेलेण वा मट्टियाए वा कुसपत्तएण वा कुरुविंदेण वा पेहेहि, णो सेयं पारिणं परिजाणेज्जा ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णावाए उत्तिंगेणं उदयं आसवमाणं पेहाए उवरुवरि णावं कज्जलावेमाणं पेहाए णो परं उवसंकमित्तु एवं बूया-आउसंतो ! गाहावइ ! एयं ते णावाए उदयं उत्तिंगेण आसवति, उवरुवरि वा णावा कज्जलावेति, एतप्पगारं मणं वा वायं वा णो पुरओ कट्टु विहरेज्जा, अप्पुस्सुए अवहिलेस्से एगंतिगएणं अप्पाणं विपोसेज्ज समाहीए, तओ संजयामेव णावासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा । एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं, जं सव्वट्ठेहिं सहिते सदा जएज्जासि त्ति बेमि । (७३२)

स भिक्षुर्ग्रामान्तराले यदि नौसंतार्यमुदकं जानीयात्तावं चैवभूतां विजानीयात् । तद्यथा-असंयतो गृहस्थो भिक्षुप्रतिज्ञया नावं क्रीणीयात्, अन्यस्माद्वोच्छिन्नां वा गृह्णीयात्, परिवर्तनं वा कुर्यात् । एवं स्थलाद्वाऽऽनयनाऽऽदिक्रियोपेतां नावं ज्ञात्वा नारुहेदिति । शेषं सुगमम् । इदानीं कारणजाते नावारोहणविधिमाह-'से' इत्यादि सुगमम् । तथा 'से' इत्यादि स्पष्टं, नवरं नो नाव अग्रभागमारुहेद्, नियामकोपद्रवसम्भवात् । नावारोहिणां वा पुरतो नाऽऽरोहेत्, प्रवर्तनाधिकरणसंभवात् । तत्रस्थश्च नौव्यापारं नापरेण चोदितः कुर्यात्, नाप्यन्य कारयेत् । (उत्तिंग त्ति) रन्ध्र (कज्जलावेमाण त्ति) प्लाव्यमानाम्, (अप्पुस्सुए त्ति) अविमनस्कः शरीरोपकरणाऽऽदौ मूर्च्छामकुर्वन् तस्मिंस्तूदकेनावगच्छन् (अहारियमिति) यथार्यं भवति, तथा गच्छे शिष्टाध्यवसायो यायादित्यर्थः । एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति । आचा०२ श्रु०१ चू०३ अ०१ उ० ।

जे भिक्खू अणट्ठाए णावं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥

णो अट्ठाए अणट्ठाए, दुरूहइ त्ति, विलग्गइ त्ति, आक्रमति त्ति एगट्ठ । आणाऽऽदिया दोसा चउलहुं ॥

गाहा-

बारसमे उद्देसे, नावासंतारिमम्मि जे दोसा ।
ते चेव अणट्ठाए, अट्ठारसमे निरवसेसा ॥ २ ॥

कंठ्या ।

अणट्ठे इमेति । गाहा-

अंतो मह केरिसिया, णावारूढेहिँ गम्मति कहं वा ? ॥
अहवा णाणादिजढं, दुरूहणं होतऽणट्ठाए ॥ ३ ॥

केरिसि अब्भंतर त्ति चक्खुदंसणपडियाए आरुहति, गमकुतूहलेण वा दुरुहति । अहवा नाणादिजढं दुरूहंतस्स सेसं सव्वं अणट्ठा ।

अपवादेण आगाढे कारणे दुरुहेज्जा थलपहेण संघटातियजलेण वा जइ इमे दोसा हवेज्जा । गाहा-

नितियपद तेणसावय-भिक्खेवा कारणे व आगाढे ।
कज्जुवहिमगरवुब्भण-नावोदग तं पि जयणाए ॥ ४ ॥

एस वारसमुद्देसे जहा, तहा भाणियव्वा ।

सुत्तदिट्ठकारणा विभाणियव्वं, केरिसं पुण णावं किणाति, केरिसं वा ण किणाति ?, अतो सुत्तं भण्णति-

जे भिक्खू णावं किणइ, किणावेइ, किणावंतं दिज्जमाणं णावं दुरूहइ,दुरूहंतं वा किणावेइ,किणावंतं वा साइज्जइ।२।

जे भिक्खू णावं पामिच्चेइ, पामिच्चावेइ, पामिच्चियमाहट्टु दिज्जमाणं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू णावं परियट्टेइ, परियट्टावेइ, परियट्टियमाहट्टु दिज्जमाणं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू णावं अच्छिज्जं अणिसिट्ठं अभिहडमाहट्टु दिज्जमाणं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

अप्पणा किणइ, अण्णेण वा किणावेति, अणुमोयति वा, तथा पामिच्चेति,पामिच्चावेति, पामिच्चंतं अणुमोदति । पामिच्चितं णाम उच्छिण्णं जो णावं परियट्टेति ॥ ३ ॥ तहा उदरियसाला-ए महल्लं णाय परिसावेति साहू ।

एतेहिं सुत्तपदेहिं सव्वे उग्गमुप्पायणेसणादोसा य सूचिता, तेण णावणिज्जुत्तिं भणाति । गाहा-

णावा उग्गमउप्पा-यणेसणा सुत्तसूइया दोसा ।
जावुत्तरणमकारण, अट्ठविहा ताव निज्जुत्ती ॥ ५ ॥

उग्गमदोसेसु जे चउलहुआ, ते अहासंजयं जाव पडुच्च दत्तव्वा ।

गाहा-

उवस्स जत्तिए वा, दुविहा किणणा उ होति णावाए ।
हीणाहियणावाए, भंगगुरू तेण पामिच्चे ॥ ६ ॥

साधूअट्ठाए उवस्सयाए णावं किणाति, सर्वथा आत्मीकरोतीत्यर्थः । (जत्तिए त्ति) भाडयणं गेण्हति अप्पणा, से णावा हीणप्पमाणा, आहियप्पमाणा वा । अहवा-(भंगगुरु त्ति) ज तत्थ भंगमारोविज्जति, तं गुरुं, साहू य णो कामिहिति त्ति, ता एवमादिकज्जेहिं णावं पामिच्चेति ।

अहवा-सा णावा स्वयमेव गुरू, गुरुत्वाद् न शीघ्रगामिनीत्यर्थः । गाहा-

दोण्ह वि उवट्ठिताणं, जत्ताए णाहियसिग्घट्ठा ।
णावा परियट्टिज्जइ, एवं साहुट्ठ आपरिया ॥ ७ ॥

दो णाविया जत्ताए णावाहिं उवट्ठिता,तत्थ य एगस्स हीणा, अण्णस्स अहिया, तो परोप्परं णावा परिणामं करेंति, णावा नाव परावर्त्तयन्तीत्यर्थः । अहवा-मन्दगामिनीं शीघ्रगामिन्या परावर्तयन्ति, एवं साध्वर्थमपि ।

गाहा-

एमेव सेसएसु वि, उप्पायणएसणाइदोसेसुं ।
जं जं जुज्जति सुत्ते, विभासियव्वं दुवत्ताए ॥ ८ ॥

कीयकमादिणावासुत्तेसु जं जं जुज्जति, तं त पिंडणिज्जुत्तीए भाणियव्वं । दुवत्ता बायालीसा-सोलस उग्गमदोसा, सोलस उप्पायणादोसा, दस एसणादोसा । एते भिक्खिया बातालं

उग्गमउप्पायणेसणा तिविधा वारगता।
संजोगाऽदिवाणं चउण्हं इमा विभासा। गाहा-

संजोए तणमादी, जलेण णावाएँ होति माणं तु।
मुहवण्णो इंगालं, छड्डी लोहाऽऽदिसू धूमो॥ ए॥

साधुअट्ठाए तणमादि किंचि कट्ठं संजोएति, आसणमज्झ- दूरगमणा जलप्पमाणसाधुप्पमाणाओ य होखं जुत्तमधिय प- माणेण वा वावा होज्ज (मुहवण्णो त्ति) रागेणं इंगालसरिस व- ण्णं करेति, णावागमणे छड्डी हवइ,दुट्ठा वाहया वा नावाभएण सरीरसखोहो भवति, कंपो, मुच्छा, सिरत्ती य। एवमा- दिदोसा वरणधूमिभणेण सम करेति।

गाहा-

कारणेँ विलंगियव्वं, अकारणे चउलहू मुणेयव्वं।
किं पुण कारण होज्जा, असिवादि थलासति दुरूहेइ॥१०॥

णावागमणे कारणेण य दुरूहियव्वं, निक्कारणे चउलहु। असिवाइकारणे वा गच्छतस्स त नावातारिम चउव्विहं। गाहा-

नावासंतारपहो, चउव्विहो वण्णितो उ जो पुव्वं।
णिज्जुत्तीएँ सुविहिए, सो चेव इहं पि णायव्वो॥११॥

निज्जुत्तीपेढ इमस्सेव जहा पेढया आउक्कावाहिगारेण भा- णिया, तहा भाणियव्वा।

गाहा-

तिरिओयाणुजाणो, समुद्दगामी य चेव नावाए।
चउलहुगा अंतगुरू, जोयणमद्धऽद्ध जाणु पदं॥१२॥

तत्र इव। गाहा-

बीयपएँ तेणसावएँ, भिक्खे वा कारणे व आगाढे।
वत्थूवहिमगरवुड्डण-नावोदग तं पि जयणाए॥१३॥

वारसमे पूर्ववत्।

सुत्तं-

जे भिक्खू थलाओ णावं जले उक्कसावेइ, उक्कसावंतं वा साइज्जइ॥६॥

स्थलस्य जले कारेति।

जे भिक्खू जलाओ णावं थले उक्कसावेइ, उक्कसावंतं वा साइज्जइ॥७॥

जलस्य स्थले कारेति।

सुत्तं-

जे भिक्खू पुण्णणावं उस्सिचइ,उस्सिचंतं वा साइज्जइ॥८॥
जे भिक्खू सएणं णावं उप्पिलावेइ, उप्पिलावंतं वा साइज्जइ॥९॥

(सण त्ति) कद्दमे खुत्ता (उप्पिलावेइ त्ति) ततो उक्कामति।

गाहा-

गाहेइ जलाउ थलं, जाव थलाओ जलयमोगाहे।
सणं व उप्पिलावे, दोसा ते तउ वितियपदं॥१४॥

दोसा जे वारमे भणिता, ते भवति, वितियपद ज तत्थेव भणिय, त चेव भाणियव्वं।

४३७

जे भिक्खू पडिणावियं कट्टणावाए दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ॥१०॥ जे भिक्खू उड्ढगामिणि वा णावं अहेगामिणि वा णावं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ॥११॥ जे भिक्खू जोयणवेलागामिणी वा अद्धजोयण- वेलागामिणि वा णावं दुरूहइ, दुरूहंतं वा साइज्जइ॥१२॥ जे भिक्खू णावं आकसइ, आकसावेइ, आकसावंतं वा साइज्जइ॥१३॥ जे भिक्खू णावं खेवावेइ, खेवावंतं वा साइज्जइ॥१४॥ जे भिक्खू णावं रज्जुणा वा कड्ढावेइ, कड्ढावंतं वा साइज्जइ॥१५॥ जे भिक्खू णावं अलित्त- एण वा पहिएण वा दंडएण वा वंसेण वा वल्लेण वा वा- हेइ, वाहंतं वा साइज्जइ॥१६॥ जे भिक्खू णावाए उदगं हत्थेण वा पडिग्गहेण वा मत्तेण वा णावाउस्सिंचएण वा उस्सिंचइ, उस्सिंचंतं वा साइज्जइ॥१७॥

जे भिक्खू उव्वड्ढिय णावं उत्तिंगं वा उदगं आसिंचमाणिं वा उवरुवरि वा कज्जलावेमाणिं पेहाए हत्थेण वा पाएण वा असिपत्तेण वा कुसपत्तेण वा मट्टियाए वा चेलेण वा पमिपिहेइ, पडिपिहंतं वा साइज्जइ॥१८॥

जलो नाव वेलाए हीरहि त्ति दीहरज्जुए तडत्ति रुक्खे वा कीलगे वा बद्ध वा मुच्चिता वाहेज्जा, बुज्झमाणिं वा बंधिज्जा, उत्तिंगेण वा भरितं भरिज्जमाणिं वा जो उस्सिंचति सवल- पाणिवस्स, रित्त वा थिमिता गच्छउ त्ति पाणियस्स भ- रेति, तस्स चउलहु।

गाहा-

उव्वड्ढएँ वाहेती, बंधइ बुज्झंॅ भरिएँ उस्सिंचे।
रित्ती वा पूरेती, ते दोसा तं वितियपदं॥१५॥

कण्ठा।

जे णावं आगसति वा इत्यादि। जे णावाए उदगं हत्थेण वा० जाव उस्सिंचति, णावाए उत्तिंग० जाव पिहितं वा साइज्जइ।

एतेसिं सुत्ताणं पदा सुत्तसिद्धा चेव, तहा वि कोइ पदे सुत्तफासिता फुसति। गाहा-

नावाएँ खिवणवाहण-उस्सिंचणपिहणसाहणं वा वि।
जे भिक्खू कुज्जाही, सो पावति आणमादीणि॥१६॥

अणुणावट्ठितो जलठितो तडट्ठिओ वा णावपराहुत्त खिवति, जाव ऽप्पतरणयणप्पगारेण नयण वाहण भवति। उत्तिंगादिणा- वापविट्ठमुदगं अण्णयरेण कट्ठाऽदिणा उस्सिंचएण उस्सिंच- ति। उत्तिंगाऽऽदिणा उदगहत्थाऽऽदिणा पिहति, एवमप्पणा करेति, अण्णस्स वा कहेति; आणादि, चउलहुं च।

एतेसु य अण्णेसु य सुत्तपदेसु इमं वितियपद। गाहा-

वितियपएँ तेणमावएँ, भिक्खे वा कारणे व आगाढे।
कज्जोवहिमगरवुड्डण-णावोदग तं पि जतणाए॥१७॥

पूर्ववत्।

गाहा-

आकड्ढणमाकसणं, उक्कसणं पेल्लणं तु जउ उदगं।
उड्ढमहातिरियकड्ढण, रज्जुएँ कट्ठम्मि वा पेत्तुं॥१८॥

अप्पणो तेण आकड्डणमाकसणं, उदगवेगेण प्रेरणं उक्कसणं।(उक्के त्ति)णदीगए समुद्दे वा वेलापाणियस्स प्रतिकूलं उच्छु (अह त्ति) तस्सेव उदगस्स श्रोतोऽनुकूलम् अहो भण्णति। नो प्रतिकूलं,नो अनुकूलं वि तिरिच्छं तिरियं भण्णति। एयं उच्छं अहं तिरियं वा रज्जुए कडम्मि वा वेलु कड्डति।

गाहा-

तणुयमलित्तं आसो, पच्चे सिरसो पिढो हवति खंदो।
वंसे णवा उ गम्मति, वलएण वलिज्जती णावा ॥१९॥

तणुयमदीह, (अलित्तमिति) अलित्त आसो दो वि पत्तो, तस्स पच्चस्स सिरसो खंदो पिढो भवति,वसो वेणू, तस्स अवडम्भेण, पादेहिं परिवावे णावा गच्छति,जेण वाम दक्खिणं वा वलिज्जति, सो वलतारए पि भण्णति।

गाहा-

मूले रुंद अवल्ला, अंते तणुगा वहंति णायव्वा।
दव्वी तणुगी लहुगी, दोणी वाहिज्ज वीतीयं ॥२०॥

पुव्वद्धं कंठ। लहुगी जा दोणी, सा तीए दव्वीए वाहिज्जति। णावाउस्सिंचणग च दुगं दव्वगादि वा भवति। उस्सिग णामभिद, त हत्थमादीहिं पिहेति।

गाहा-

इसिगाइ विप्पितती,होति उ उसुमट्टिया य तम्मिस्सा।
मोयगुलवंजणाती, अहुवा छल्ली कुविंदो उ ॥२१॥

अहवा सरसछल्ली ईसिगि त्ति, तस्सेव उवरिं तस्स छली, सो य मुंजो दब्भो वा, एते विप्पितति, कुट्टिया पुणो मट्टियाए सह कुट्टिज्जति। एस उसुमट्टिता, कुसुमट्टिया वा मोदगुलवंजणाती, आदिसद्दातो वमविप्पसआसतयमादिदाणवक्को मट्टियाए सह कुट्टिज्जति, सो कुविंदो भण्णति। अहवा चेलेण सह मट्टिया कुट्टिया चेलमट्टिया भण्णति। एवमाइएहिं त उस्सिग पिहेति जो, तस्स चउलहु, आणादिया य दोसा। सुत्तं-(जे णावाए उदग आसवमाण पेहाए इत्यादि)उस्सिगेण णावाए उदग आसवति, पेहेति, प्रेक्ष्य उवरुवरिं कज्जलमाणे विज्जरिज्जमाण पक्खित्ता परस्स दापति, आणादिया चउलहु च।

गाहा-

उत्तिंगो पुण छिड्डं, तेणासिवें उवरिएण कज्जलणं।
बितियपदेण दुरूढो, णावाए भंजतो वा ॥ २२ ॥

पुव्वद्धं गतार्थम्। असिवादिएणादिकारणेहिं दुरूढो णावं जहा जम तहा णिव्वावारभूतेण भवियव्व। सव्वसुत्ते आणि वा पमिसिद्धाणि,ताणि कारणारूढो सव्वाणि सय करेज्ज, कारवेज्ज वा, जओ तत्थ साहुणो णिव्वावारे दट्ठुं कोइ पडिणीओ जले पक्खिवेज्ज नि० चू० १८ उ०।

नौगतस्य विध्यन्तरम्-

से णं परो णावागए णावागयं वएज्जा-आउसंतो! समणा! एयं ता तुमं छत्तगं वा० जाव चम्मच्छेयणगं वा गिण्हाहि, एयाणि तुमं विरूवरूवाणि सत्थजायाणि धारेहि, एयं ता तुमं दारगं वा दारियं वा पज्जेहि, णो से तं परिण्णं परिजाणेज्जा, तुसिणीओ उवेहेज्जा। [७१३]

(से णमित्यादि) अपरो गृहस्थाऽऽदिर्नौव्यवस्थितः तत्साधमेव साधुमेव ब्रूयात्। तद्यथा-आयुष्मन् श्रमण! एतन्मदीय तावच्छत्रकाऽऽदि गृहाण, तथैतानि शस्त्रजातान्यायुधविशेषान् धारय, तथा दारकाऽऽद्युदकं पायय, इत्येतां परिज्ञां प्रार्थनां परस्य न शृणुयादिति।

तदकरणे च परः प्रद्विष्टः सन् यदि नावः प्रक्षिपेत्, तत्र यत्कर्त्तव्यं तदाह-

से णं परो णावागओ णावागयं वदेज्जा-आउसंतो! एस णं समणे णावाए भंडभारिए भवति, से णं बाहाए गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवह। एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म से य चीवरधारी सिया खिप्पामेव चीवराणि उव्वेढेज्ज वा, णिव्वेढेज्ज वा,उप्पोसं वा करेज्जा [७१४] अह पुण एवं जाणेज्जा-अभिकंतकूरकम्मा खलु बाला बाहाहिं गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवेज्जा। से पुव्वामेव वएज्जा-आउसंतो! गाहावती! मा मेत्तो बाहाए गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवह। सयं चेव णं अहं णावातो उदगंमि ओगाहिस्सामि। से णेवं वयंतं परो सहसा बलसा बाहाहिं गहाय णावाए उदगंसि पक्खिवेज्जा। तं णो सुमणे सिया, णो दुम्मणे सिया, णो उच्चावयं मणं णियच्छेज्जा, णो तेसिं बालाणं घाताए वहाए समुट्ठेज्जा, अप्पुस्सुए० जाव समाहीए, ततो संजयामेव उदयंसि पवज्जेज्जा। [७१५]

(से णमित्यादि) स परः, णमिति वाक्यालङ्कारे। नौगतस्त सुसाधुमुद्दिश्य अपरमेव ब्रूयात्। तद्यथा-आयुष्मन्! अयमत्र श्रमणो भारकत्वविभ्रेष्टत्वाद् गुरुः,भाण्डेन वा उपकरणेन गुरुः,तदेनं स्ववाहुग्राह नाव उदके प्रक्षिपत यूयमित्येवप्रकारं शब्दं श्रुत्वा, तथाऽन्यतो वा कुतश्चिन्निशम्य अवगम्य, स साधुर्गच्छतो निर्गतो वा,तेन च चीवरधारिणैतद्विधेयं-क्षिप्रमेव चीवराणि गुरुत्वान्निर्वाहयितुमशक्यानि चोद्वेष्टयेत्-पृथक्कुर्यात्, तद्विपरीतानि तु निर्वेष्टयेत्, सुबद्धानि कुर्यात्। तथा (उप्पोस वा करेज्ज त्ति) शिरोवेष्टन वा कुर्यात्। येन सवृतोपकरणो निर्व्याकुलत्वात् सुखेनैव जल तरति, तांश्च धर्मदेशनया अनुकूलयेत्। अथ पुनरेव जानीयादित्यादि कण्ठ्यमिति।

साम्प्रतमुदकं प्लवमानस्य विधिमाह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदगंसि पवमाणे णो हत्थेण हत्थं पाएण पायं काएण कायं आसादेज्जा, से अणासादए अणासायमाणे तओ संजयामेव उदगंसि पवेज्जा। [७१६] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदगंसि पवमाणे णो उम्मज्जणिमज्जियं करेज्जा,मा मेयं उदगं कण्णेसु वा अच्छीसु वा णक्कंसि वा मुहंसि वा परियावज्जेज्जा, तओ संजयामेव उदगंसि पवेज्जा।[७१७]से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदगंसि पवमाणे दोब्बलियं पाउणेज्जा, खिप्पामेव उवधिं विगिंचेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, णो चेव णं सातिजेज्जा। अह पुण एवं जाणेज्जा-पारए सिया उदगाओ

तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा ससिणि-द्धेण वा काएण उदगतीरे चिट्ठेज्जा [७३८] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदउल्लं वा ससिणिद्धं वा कायं णो आमज्जे-ज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, संलिहेज्ज वा, णिल्लिहेज्ज वा, उव्व-लेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा। अह पुण एवं जाणेज्जा-विगतोदए मे काए वोच्छिण्णसिणेहे तह-प्पगारं कायं आमज्जेज्ज वा० जाव पयावेज्ज वा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा। (७३९)

'से' इत्यादि। स भिक्षुरुदके प्लवमानो हस्ताऽऽदिक हस्ताऽऽदिना नाऽऽस्वादयेद् न संस्पृशेत्, अप्कायाऽऽदिसंरक्षणार्थमिति भावः। ततस्तया कुर्वन् संयत एवोदके प्लवेदिति। तथा 'से' इत्यादि। स भिक्षुरुदके प्लवमानो मज्जनोन्मज्जने नो विदध्यादिति सुगमामिति। किञ्च-'से' इत्यादि। स भिक्षुरुदके प्लवमानो दौर्ब-ल्यात् श्रमं प्राप्नुयात्ततः क्षिप्रमेवोपधिं त्यजेत्, तद्देशं वा विशोध-येत् त्यजेदिति नैवोपधावाशक्तो भवेत्। अथ पुनरेवं जानीया-त्-(पारए सिय त्ति) समर्थोऽहमस्मि सोपधिरेवोदकपारगम-नाय, ततस्तस्मादुदकादुत्तीर्णः स संयत एवोदकाऽऽर्द्रेण गल-द्बिन्दुना कायेन सस्निग्धेन वा उदकतीरे तिष्ठेत्, तत्र चेर्या-पथिकां च प्रतिक्रामेन्न चैतत् कुर्यात्। आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ०।

णउ-ननु-अव्य०। असूयायाम्, आव० ४ अ०।

णउअ-नि[न्य]युत-न०। चतुरशीतिलक्षगुणिते नियुताङ्गे, स्था० २ ठा० ४ उ०। जी०। अनु०। भ०।

णउअंग-नि[न्य]युताङ्ग-न०। चतुरशीतिलक्षगुणिते प्र-युते, अनु०। स्था०। जी०।

णउल-नकुल-पु०। चमौ, उपा० २ अ०। सूत्र०। 'नेवला' इति ख्याते जीवे, प्रज्ञा०१ पद। माद्रीजाते पाण्डुराजपुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। वाद्यभेदे, आ० चू० १ अ०। रा०। (नकुलो-दाहरणम् "अणुओग" शब्दे प्रथमभागे ३८७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

णउलय-नकुलक-पु०। 'नौली' इतिख्याते रूप्यकभरणचर्मणि, बृ० ४ उ०।

णउली-न (ना) कुली-स्त्री०। सर्पविद्याप्रतिपक्षभूतायां वि-द्यायाम्, विशे०। जी०। कल्प०। आ० म०। आ० क०। ती०।

णओवएस-नयोपदेश-पुं०। जिनप्रवचने, सर्वं वस्त्वनन्तधर्मा-ऽऽत्मकतया संकीर्णस्वभावमिति तत्परिच्छेदकेन प्रमाणेनापि तथैव भवितव्यमित्यसंकीर्णप्रतिनियतधर्मप्रकारकव्यवहार-सिद्धये समर्थाना नयानां व्युत्पादने, तदर्थगर्भे ग्रन्थे च। नयो०।

तद्विषयश्च यशोविजयकृतनयामृततरङ्गिणीनाम्न्यां नयोपदेशटीकायां दर्शितो यथा-

" नयोपदेशटीकेयं, नयामृततरङ्गिणी।
सेव्यताममृतप्राप्त्यै, मिथ्यात्वविषतापहृत्॥ १॥
सकलविषयसन्निविष्टधर्म-
व्यतिकरसङ्करशङ्कयाऽऽविलानाम्।
जयति भगवतो नयोपदेशः,
पटुरखिलाङ्गभृतां हितं विधातुम्॥ २॥
इह खलु न हि मे स्मयो न रोषो,
न च परबुद्धिपराभवाभिलाषः।
अपि तु पितुरिव प्रजाहितस्य,
प्रथमगुरोर्वचनाऽऽदरो निमित्तम्॥ ३॥
न च नयवचनेषु पक्षपातः,
क्वचन समाकलितप्रमाणदृष्टेः।
अभिमतविषये हि गोपनीया-
अनभिमते यदमी विगोपनीयाः॥ ४॥
प्रजति फलवति प्रमाणवाक्ये,
नयवचनं बहुरूपभङ्गभावम्।
तदिह विविधभङ्गजालयुक्तं,
वचनादिह न विशङ्कनीयमार्यैः॥ ५॥
प्रथम इह लौकिकोऽर्थबोध-
स्तदनु नयात्मक एव मध्यमः स्यात्।
तदुपरि परितः प्रसर्पिभङ्ग-
व्यतिकरसवलितः प्रमाणबोधः॥ ६॥
श्रुतमय उदितः किलाऽऽद्यबोधोऽ-
मतद्वतकृन्मयचिन्तया द्वितीयः।
कुमतमदहरः परस्तृतीयः,
सकलजगद्धितकाम्यया पवित्रः॥ ७॥
नयमिदमधिकृत्य लोकलोको-
त्तरपथभङ्गभयं ननाश यस्मात्।
गुरुमत इव चोपपत्तिकार्थे,
न हि परिपन्थि चिरस्य बोधकत्वम्॥ ८॥
अपि च नियतकृतस्वजन्यबोधा-
विषमधियो विरहोऽत्र शाब्दबोधे।
स्वनियतमनुयायि तत्परत्वं,
तदिह मतस्तदतत्कृतबोधभेदः॥ ९॥
न च शुकवचनादतत्परादप्-
यधिगमदर्शनतः प्रतीपमेतत्।
श्रुतमयमपहाय बोधियुग्मे,
यदिह न तत्परताधियोऽनपेक्षाः॥ १०॥
वक्तृतात्पर्यमज्ञात्वा-ऽप्येतदुन्नीय वास्तवम्।
प्रामाण्यमप्रमाणेऽपि, वाक्ये सम्यग्दृशां मतम्॥ ११॥
सम्यक्श्रुतस्य मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्टिपरिग्रहात्।
मिथ्याश्रुतस्य सम्यक्त्वं, सम्यग्दृष्टिग्रहादतः॥ १२॥
लौकिकान्यपि वाक्यानि, प्रमाणानि श्रुतार्थतः।
तात्पर्यार्थे प्रमाणं तु, सप्तभङ्गाऽऽत्मकं वचः॥ १३॥
नाप्रमाणं प्रमाणं वा, स्वतः किं स्वर्थतः श्रुतम्।
इति यत् कल्पभाष्योक्तं, तदित्थमुपपद्यते॥ १४॥
तात्पर्यं कल्पपेक्षानय इति च सम स्थापितं शास्त्रगर्भं,
तस्कल्लोलैर्विचित्रैः समयजलनिधौ जायते चित्रिवर्तः।
यत् स्वैकं निस्तरङ्गं परमसुखमयं ब्रह्म सर्वातिशायि,
स्थायि ज्ञानस्वभावं तदिह ददतु वोऽनल्पसत्कल्पजालम्॥१५॥
निक्षेपा वा नया वा तदुभयजनिताः सप्तभङ्गाऽऽत्मका वा,
प्रकाराः सार्ववाचः परगुणरचनाजातरोचिष्णुभावाः।
यस्याग्रे भान्ति किञ्चिन्न निरुपधिविधुदुग्धशुद्धस्वभावात्,
तद्रूपं स्वीयमुच्चैः प्रकटय भगवन्! गाढमात्मन्! प्रसीद"॥१६॥
इति महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्री-

लाभविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितजीतविजयगणिसतीर्थ्यतिलकपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलसेविना पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेणोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचिताऽमृततरङ्गिणी नाम्नी नयोपदेशटीका संपूर्णा । नयो० ।

णं-णं-अव्य०। नन्वर्थे,"णं नन्वर्थे"॥८।४।२८३॥ शौरसैन्यां नन्वर्थे णमिति निपातः प्रयोक्तव्यः। णं अफलोदया,णं अय्यामिस्सेहिं पढमं य्येव आणत्तं, ण भवं मे अग्गदो चलदि । आर्षे वाक्यालङ्कारेऽपि दृश्यते-नमोऽत्थु णं । जया णं।तया णं।प्रा० ४ पाद। तेणं काले णं तेणं समए णं । णमिति वाक्यालङ्कारे। सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । ति० । प्रश्न० । रा० । औ० । कल्प० । स० । ल० प्र० । विशे० । स्था० । प्रश्ने, अभ्युपगमसूचने, सम्म० २ काण्ड । निपातानामनेकार्थत्वात् (प्रज्ञा० १५ पद) णमित्युपसंहारवाक्यम् । रा० । " णे ण मि अम्मि अम्ह मम्ह मं ममं मिम अहं अमा " ॥ ८ । ३ । १०७ ॥ इत्यनेन अमासहितस्यास्मदो णमादेशः । प्रा० ३ पाद । ' ण ' इत्यात्मनिर्देशे, नि० चू० २ उ० ।

णंगल-लाङ्गल-न०। "लाहल-लाङ्गल-लाङ्गूले वाऽऽदेर्णः"॥८।१।२५६॥ इत्यनेन सूत्रेण आदिलस्य णत्वं वा । ईषायाम्,प्रा० १ पाद ।

णंगलग्गाम-लाङ्गलग्राम-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र वासुदेवगृहे वीरजिनः प्रतिमया स्थितः, तेन सह विहरन् गोशालो डिम्भत्रापनयाऽक्षिविक्रियां कुर्वन् तत्पित्रादिभिः कुट्टितो मुनिपिशाच इत्युपेक्षितः । कल्प० ६ क्षण । आ०म० । आ०चू० ।

णंगालिय-लाङ्गलिक-पुं० । गलावलम्बितसुवर्णाऽऽदिमयलाङ्गलप्रतिकृतिधारिणि भट्टविशेषे, भ० ९ श० ३ उ० । जं० । कल्प० । औ० ।

णंगुल-लाङ्गूल-न०। "लाहल-लाङ्गल-लाङ्गूले वाऽऽदेर्णः"॥८ । १ । २५६ । इति सूत्रेण आदिलस्य णत्वं वा । पुच्छे, प्रा० १ पाद । ज० ।

णंगोलिय-लाङ्गोलिक-पुं० । हिमवतः पश्चिमायां दिशि पर्यन्तादारभ्य पश्चिमोत्तरस्यां दिशि त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्योपरि दंष्ट्रायां चतुर्थेऽन्तरद्वीपे, कर्म० १ कर्म० । नं० । जी० । स्था० । तद्वासिनि मनुष्ये च । प्रज्ञा० १ पद ।

णंतग-न०। देशी-वस्त्रे,वस्त्रवृक्षेषु परिहीयमाणेषु भगवता वस्त्रोत्पादनिमित्तं वस्त्रशिल्पमुत्पादितम् । आ० म० १ अ० १ खण्ड । यथा-' मुहणतग ' मुखवस्त्रिका । आव० ५ अ० ।

णंद-नन्द-पुं० । नन्दयति, नन्दतीति वा नन्दः । समृद्धे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । " जय जय णंदा ! जय जय भद्दा !" नन्दति समृद्धो भवतीति नन्दः। तस्य सम्बोधनं हे नन्दा ! । दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । कल्प० ५ क्षण । प्रश्न० । स्वनामख्याते राजगृहजे मणिकारश्रेष्ठिनि,स च मणिकारश्रेष्ठी राजगृहे वीरजिनान्तिके श्रावको भूत्वाऽपि मिथ्यात्वं गतः। श्रेणिकाऽऽज्ञया राजगृहस्य बहिरारोग्यशालाऽऽदिशोभितवनखण्डचतुष्कपरिवृतां नन्दापुष्करिणीं निर्माप्य तदध्यवसायेन मृत्वा तत्रैव पुष्करिण्यां दर्दुरो जातः । ततो जातिस्मरणेन वीरसमवसरणमागच्छन् श्रेणिकाश्वकिशोरेणाऽऽक्रान्तो मृत्वा सौधर्मे कल्पे दर्दुरेऽवतंसके दर्दुरो नाम देवो जातः, ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यति । ज्ञा०१ श्रु०१३अ० । (इति'दद्दुर'शब्दे वक्ष्यते) अरिष्टनेमेः प्रथमभिक्षादे श्रावके, कल्प० ७ क्षण । आ०चू० । ति० । आ०म० । काशीस्थे नाविकभेदे,ती० ।

तद्वृत्तम्-

काश्यां नन्दाभिधानो नाविकस्तरिपण्यजिघृक्षया मुमुक्षु धर्मरुचिं विराध्य तस्य हुङ्कारेण भस्मीभूय गृहकोकिलहंससिंहभवान् यथासंख्य सभामृगाङ्गनीराञ्जनगिरिष्ववाप्य तस्यैवानगारस्य तेजोनिसर्गेण विपद्य वास्यामेव (काश्यां) पुर्यां बटुर्भूत्वा तत्रैव निधनमधिगत्यास्यामेव राजा समजनिष्ट जातिस्मर. सार्द्धं श्लोकमकरोत्, अन्येद्युस्तत्राऽऽगत तमनगारं समस्यापूरणाद्विज्ञायामयदानपुरस्सरमुपगत्य च क्षमयित्वा परमाऽऽर्हतोऽभूत्, सिद्धश्च धर्मरुचिः क्रमात् ।

सा चेयं समस्या विज्ञेया-

" गंगाए नाविओ नंदो, सभाए घरकोइलो ।
हंसो मयंगतीराए, सीहो अंजणपव्वए ॥ १ ॥
वाणारसीए बडुओ, राया तत्थेव आगओ ।
एएसिं घायओ जाओ, सो इत्थेव समागओ ॥ २ ॥ "

ती० ३७ कल्प । आ० क० । आ० म० । तं० । ('राग' शब्दे उदाहरणम्) वीरमोक्षात्पञ्चाशत्तमे वर्षे जाते पाटलिपुत्रस्य महाराजे, ति० । नव नन्दा आसन्, तत्र प्रथमस्य यावदष्टमस्य वृत्तं कथाऽनुयोगादवसेयम्, अत्र नोपन्यस्यते । नवमेन नन्देन चाणक्यो विप्रो यथा कदर्थितो, यथा च-" कोशैश्च भृत्यैश्च निबद्धमूलं,पुत्रैश्च भृत्यैश्च विवृद्धशाखम् । उत्पाट्य नन्दं परिवर्तयामि, महाद्रुमं वायुरिवोग्रवेगः " ॥ १ ॥ इति प्रतिज्ञाऽनुसारेण नन्दमुन्मूलितवान् । आ० क० । न० । आचा० । आ० चू० । आ० म० । आव० । ('एतच्च चन्दगुत्त' शब्दे तृतीयभागे १०६८ पृष्ठे दर्शितम्) (चन्द्रगुप्तस्य बिन्दुसारः,तस्य चाशोकश्रीः,तस्य कुणालः, तस्य संप्रतिमहाराज इत्येवं मौर्यवंश्यस्याशोकाभिधः श्रेणिकापरनामत्वाङ्गीकारे नन्दवंशो वीरजिनात् पूर्वमेव द्वितीये तृतीये वा शतके जायते इति युक्तं स्यात्,तद् न सञ्जाघटीते, तस्मान्मौर्यादशोकश्रीनाम्नोऽशोकचन्द्रापरनामा वीरजिनसमकालीनः श्रेणिकोऽन्य इति वीरजिनमोक्षादर्वागेव नन्दवंशो मौर्यवंशश्च पाटलिपुत्रराज्यमकार्षीत् इति प्रतिजानाति) (नवानां नन्दाना कल्पकवंश्या मन्त्रिण आसन् इति ' कप्पय ' शब्दे तृतीयभागे २३२ पृष्ठे उक्तम्) (नवमनन्दस्य मन्त्रितां शकटालसुत. स्थूलभद्रोऽनङ्गीकृत्य प्रवव्राजेति 'थूलभद्द' शब्दे वक्ष्यते) ('नंदराय' शब्देऽनुपदमेव १७५० पृष्ठेऽस्य संक्षिप्तवक्तव्यतां वक्ष्यामि) वीरजिनकाले ब्राह्मणग्रामे स्वनामख्याते प्रधानपुरुषे, कल्प० । ततः स्वामी ब्राह्मणग्राममगात् , तत्र नन्दोपनन्दभ्रातृद्वयसम्बन्धिनौ द्वौ पाटकौ, स्वामी नन्दपाटके प्रविष्ट. , प्रतिलाभितश्च नन्देन । गोशालस्तूपनन्दगृहे पर्युषिताऽन्नदानेन रुष्टः, यद्यस्ति मे धर्माचार्यस्य तपस्तेजस्तदाऽस्य गृहं दह्यतामिति शशाप । तदनु तद्गृहमासन्नदेवता ददाह । कल्प०६ क्षण । आ० चू० । आ० म० । श्रेयांसजिनस्य प्रथमभिक्षादायके, आ० म० १ अ० १ खण्ड । स० । पाटलिपुत्रे स्वनामख्याते लुब्धवणिजि, आ० म०१ अ०२ खण्ड । (उदाहरणं ' लोभ ' शब्दे वक्ष्यते) । उत्सर्पिण्यां जनिष्यमाणे प्रथमवासुदेवे, स० । नि० । नासिक्यपुरे सुन्दरीभर्तरि, न० । वृत्तसोदासने,ज्ञा०१ श्रु०१ अ० । प्र० । आ०म० । मुहूर्तयोगभेदे, द० प० । नन्दने, कल्प० ७ क्षण । सप्तमदेवलोकस्थे विमानभेदे, सप्तमदेवलोके नन्दाऽऽख्यानि विमानानि । स० ।

" जे देवा णंदं सुणंदं णंदावत्तं णंदप्पभं सुकंतं णंदवण्णं णंदलेसं णंदज्झयं णंदसिंगं णंदसिट्ठं णंदकूडं णंदुत्तरवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववण्णा । " स० १५ सम० ।

णंदग-नन्दक-पुं० । समृद्धिकारके नन्दकाभिधाने वासुदेवखड्गे, स० ।

णंदण-नन्दन-पुं० । नन्दतीति नन्दनः । 'टुनदि' समृद्धौ, "नन्दि-ग्रहिपचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः" ॥३।१।१३४॥ इति (पा०) ल्युट् । न० । पुत्रे, कल्प० ७ क्षण । भरतवर्षे जाते सप्तमे बलदेवे, प्रव० २०९ द्वार । ति० । ती० । आव० । स० । पञ्चविंशे भवे श्रीवीरजिने, पञ्चविंशतितमे इहैव भरतक्षेत्रे छत्रिकायां नगर्यां जितशत्रुनृपतेर्भद्रादेव्याः कुक्षौ पञ्चविंशतिवर्षलक्षाऽऽयुर्नन्दनो नाम पुत्रः । कल्प० २ क्षण । आ० म० । आ० चू० । स० । श्रेणिकपुत्रपद्मस्य नन्दनाख्ये अपत्ये, स च वीरजिनान्तिके प्रव्रज्य त्रीन् वर्षान् प्रव्रज्यापर्यायं पालयित्वा मृत्वाऽच्युते कल्पे देवो भूत्वा महाविदेहे सेत्स्यति । इति कल्पावतंसिकाया दशमेऽध्ययने सूचितम् । नि० १ श्रु० २ वर्ग १ अ० । मर्यादासमुन्दर्या. पूर्वजन्मसाकेतनगरे ज्ञातकयोः पितरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । (मर्यादासुन्दर्या लोभे उदाहरणम्) पूर्वभवे मल्लितीर्थकृज्जीवे, स० । मोकाया नगर्या बहिश्चैत्ये, " तीसे णं मोयाए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए नंदणनाम चेइए होत्था । " भ० ३ श० १ उ० । भूतवे, दं० ना० ४ वर्ग ।

णंदणकर-नन्दनकर-त्रि० । वृद्धिकरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

णंदणकूड-नन्दनकूट-न० । नन्दनवनकूटे, स० ५०० सम० । नि० । ('कूड' शब्दे तृतीयभागे ६७२ पृष्ठे वक्ष्यते उक्तं))

णंदणभद्द-नन्दनभद्र-पुं० । आर्यसम्भूतविजयस्य माठरसगोत्रस्य प्रथमशिष्ये, कल्प० ८ क्षण ।

णंदणवण-नन्दनवन-न० । मेरौ पञ्चयोजनशतोच्छ्रितप्रथममेखलाभाविनि पञ्चयोजनशतोच्छ्रिते स्वनामके द्वितीयवने, स० १७ सम० । ज्यो० । द्वा० । सूत्र० । जं० । " दो णंदणवणा । " मेरोश्चत्वारि वनानि-

" भूमीए भद्दसालं, मेहलजुयलम्मि दोन्नि रम्माइं ।
णंदणसोमणसाइं, पंडगपरिमंडियं सिहरं ॥ १ ॥ "

इति वचनाद् मेरोर्द्वित्वे नन्दनवनस्यापि द्वित्वम् । स्था० २ ठा० ३ उ० । ओघ० ।

नन्दनवनवक्तव्यता-

कहि णं भंते ! मंदरे पव्वए णंदणवणे णामं वणे पण्णत्ते ? । गोयमा ! भद्दसालवणस्स बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ पंच जोयणसयाइं उड्ढं उप्पइत्ता, एत्थ णं मंदरे पव्वए णंदणवणे णामं वणे पण्णत्ते, पंच जोअणसयाइं चक्कवालविक्खंभेणं वट्टे वलयाकारसंठिए, जेणं मंदरं पव्वयं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता णं चिट्ठइ । णव जोअणसहस्साइं णव य चउप्पण्णे जोअणसए छच्चेगारसभाए जोअणस्स बाहिं गिरिविक्खंभो । एगतीसं जोअणसहस्साइं चत्तारि अ अउणासीए जोअणसए किंचि विसेसाहिए बाहिं गिरिपरिरए ण । अट्ठ जोअणसहस्साइं णव य चउप्पण्णे जोअणसए छच्चेगारसभाए जोअणस्स अंतोगिरिविक्खंभो । अट्ठावीसं जोअणसहस्साइं तिण्णि य सोलसुत्तरे जोयणसए अट्ठ य इक्कारसभाए जोयणस्स अंतो गिरिपरिरये णं । से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते वण्णओ० जाव देवा आसयंति । मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं महं एगे सिद्धाययणे पण्णत्ते । एवं चउद्दिसिं चत्तारि सिद्धाययणा, विदिसासु पुक्खरिणीओ, तं चेव पमाणं सिद्धाययणाणं पुक्खरिणीण य, पासायवडेंसगा तहेव सक्केसाणाणं, तेणं चेव पमाणेणं ।

"कहि णं" इत्यादि प्रश्नः प्रतीतः । उत्तरसूत्रे-गौतम ! भद्रशालवनस्य बहुसमरमणीयाद् भूमिभागात्पञ्चयोजनशतान्यूर्ध्वमुत्पत्य गत्वाऽत्रा, वक्ष्यमाणस्थाने इति गम्यम् । मन्दरे पर्वते एकस्मिन् प्रदेशे नन्दनवनं नाम वनं प्रज्ञप्तम् । पञ्च योजनशतानि चक्रवालविष्कम्भेन-चक्रवालविशेषस्य सामान्येऽनुप्रवेशात् समचक्रवालं, तस्य यो विष्कम्भः स्वपरिक्षेप्यस्य सर्वतः समप्रमाणतया विस्तारस्तेन, अनेन विषमचक्रवालाऽऽदिविष्कम्भनिरासः । अत एव वृत्तं, तच्च मोदकाऽऽदिवद् घनमपि स्यादत आह-वलयाऽऽकारं मध्ये शुषिरं यत् संस्थानं तेन संस्थितम् । इदमेव द्योतयति-मन्दरं पर्वतं सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य वेष्टयित्वा तिष्ठति । अथ मेरोर्बहिर्विष्कम्भाऽऽदिमानमाह-(णव जोयण इत्यादि) मेखलाविभागे हि गिरीणां बाह्याभ्यन्तररूपं विष्कम्भद्वयं भवति, तत्र मेरौ बाह्यविष्कम्भोऽयम्-नव योजनसहस्राणि नवशतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि षट् चैकादश भागा योजनस्य । तथाहि-मेरोरूर्ध्वमेकस्मिन् योजने गते विष्कम्भसम्बन्धी एकादशभागो योजनस्य गतो लभ्यते इति प्रागुक्तं, ततोऽत्र त्रैराशिकं यदि एकयोजनाऽऽरोहे मेरोरुपरि व्यासस्यापचयः सर्वत्रैकादशभागो योजनस्यैको लभ्यते, तत पञ्चशतयोजनाऽऽरोहे कोऽपचयो लभ्यते ? । लब्धानि ४५ योजनानि ५/११ । एतद् समभूतलगतव्यासाद् दशयोजनसहस्ररूपात् त्यज्यते, जातं यथोक्तं मानम् । एतच्च नन्दनवनस्य बहिः पूर्वापरयोरुत्तरदक्षिणयोर्वा अन्तयोः संभवति, अतो नन्दनवनाद् बहिर्वर्तित्वेन बाह्यो गिरिविष्कम्भः । तथा एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि चत्वारि शतानि एकोनाशीत्यधिकानि, किञ्चिद्विशेषाधिकानि । इत्ययं बाह्यो गिरिपरिरयो, मेरुपरिधिरित्यर्थः । णमिति वाक्यालङ्कारे । अन्तर्गिरिविष्कम्भो नन्दनवनादर्वाक् यो गिरिविस्तारः सोऽष्टयोजनसहस्राणि नव च योजनशतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि षट् च एकादश भागा योजनस्येत्येतावत्प्रमाणः । अयं च बाह्यगिरिविष्कम्भे सहस्रोने यथोक्तः स्यात् । तथा अष्टाविंशतियोजनसहस्राणि, त्रीणि च योजनशतानि षोडशाधिकानि, अष्ट चैकादश भागा योजनस्यैतावत्प्रमाणोऽन्तर्गिरिपरिरय इति । णमिति प्राग्वत् । अथात्र पद्मवरवेदिकाऽऽद्याह-" से णं एगाए पउम " इत्यादि व्यक्तम् । अथात्र सिद्धायतनाऽऽदिवक्तव्यतामारभते-(मंदरस्स णमित्यादि) मन्दरस्य पूर्वस्याम्, अत्र नन्दने पञ्चाशद् योजनातिक्रमे महदेकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तम् । (पमाणमिति) भद्रशालवनानुसारेण चतसृषु दिक्षु चत्वारि

सिद्धाऽऽयतनानि, विदिक्षु पुष्करिण्यः। सदेव प्रमाण सिद्धाऽऽयतनानां पुष्करिणीनां च यद्भद्रशाले उक्तम। प्रासादावतंसकास्तथैव शक्रेशानयोर्वाच्याः, यथा भद्रशाले, दक्षिणदिक्सम्बद्धविदिग्वर्तिनः प्रासादाः शक्रस्य, तथोत्तरदिक्सम्बद्धविदिग्वर्तिनस्तु ईशानेन्द्रस्य, तेनैव प्रमाणेन पञ्चयोजनशतोच्चत्वाऽऽदिनेति ॥ अत्र च पुष्करिणीनां नामानि सूत्रकारालिखितत्वाद्, लिपिप्रमादाद्वा आदर्शेषु न दृश्यन्ते इति । तत्रैशान्यादिप्रासादक्रमादिमानि नामानि द्रष्टव्यानि पूज्यप्रणीतक्षेत्रविचारतः- नन्दोत्तरा १ नन्दा २ सुनन्दा ३ नन्दिवर्द्धना ४ । तथा नन्दिषेणा १ अमोघा २ गोस्तूपा ३ सुदर्शना ४ । तथा सुभद्रा १ विशाला २ कुमुदा ३ पुण्डरीकिणी ४ । तथा विजया १ वैजयन्ती २ अपराजिता ३ जयन्ती ४ इति । ज० ४ वक्ष० । स्था० । (अत्र नन्दनाऽऽदीनि नव कूटानि 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६२२ पृष्ठे उक्तानि) द्वारिकायां रैवताचलपर्वतस्य वने, अन्त० ५ वर्ग २ अ० । "तस्स णं रेवयगस्स पव्वयस्स अदूरसामंते, एत्थ णं णंदणवणे णामं उज्जाणे होत्था । " नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० । आ० चू० । आ० म० । ज्ञा० । विजयपुरनगरस्योद्याने, विपा० २ श्रु० ५ अ० ।

णंदणीपिया-नन्दनीपितृ-पुं० । श्रावस्तीनगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, उपा० ।

तद्वृत्तम्-

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी णयरी, कोट्ठए चेइए, जियसत्तू राया । तत्थ णं सावत्थीए णंदणीपिया णामं गाहावई परिवसइ। अड्ढे चत्तारि हिरण्णकोडीओ णिहाणपउत्ता, वुड्ढिपवित्थरपत्ताओ चत्तारि, वया दस गोसाहस्सिएणं वएणं, अस्सिणी भारिया । सामी समोसढो, जहा आणंदो तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ। सामी बहिया विहरइ । तए णं से णंदणीपिया समणोवासए जाए विहरइ, तए णं तस्स णंदणीपियस्स बहूहिं सीलव्वयगुणव्वयं० जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा वितिक्कंता, तहेव जेट्ठपुत्तं ठवेइ । धम्मपण्णत्तिं वीसं वासाइं परिआयं पाउणित्ता अरुणगविमाणे उववाए महाविदेहे वासे सिज्झिहि त्ति । उपा० ९ अ० । स्था० । आ० म० ।

णंदमाण-नन्दत्-त्रि० । सौख्यं भुञ्जाने, तं० ।

णंदराय-नन्दराज-पुं० । पाटलिपुत्रमहाराजे नन्दे, ती० ।

तद्यथा-

पाटलीनाम्ना पाटलिपुत्रं पत्तनमासीत् । असमकुसुमबहुलतया च कुसुमपुरमित्यपि नाम रूढम् । तन्मध्ये श्रीनेमिचैत्यं राज्ञाऽकारि । तत्र पुरे गजाश्वरथशालाप्रासादसौधप्राकारगोपुरपण्यशालासत्राऽऽगाररम्ये चिरं राज्यं जैनधर्मं चापालयदुदायिनरेन्द्रः । तस्मिन्नुपात्तपौषधेऽभ्यदेदायिमारकेण स्वर्गाऽऽतिथ्यं प्रापिते नापितकासुतो नन्दः श्रीवीरमोक्षाच्च षष्टिवत्सरामतीतायां क्षितिपतिरजनि । तदन्वये सप्त नन्दा नृपा जाताः । नवमनन्दे राजनि परमार्हत्कल्पकान्वयी शकटालो मन्त्र्यभूत् । तस्य पुत्रौ स्थूलभद्रश्रीयकौ, सप्त च पुत्र्यो यक्षायक्षदत्ताभूताभूतदत्तासेणावेणारेणाऽऽख्याः क्रमादेकादिसप्तान्तवारश्रुतपाठिन्योऽजनिषत । तत्रैव पुरे कोशा वेश्या, तज्जामिरूपकोशा चाभूताम् । तत्रैव च चाणिक्य. सचिवो नन्दं समूलमुन्मूल्य मौर्यवंश्यं श्रीचन्द्रगुप्तं न्यवीविशद्विशां पतित्वे । तद्वंशे तु बिन्दुसारोऽशोकश्रीः कुणालसूनुस्त्रिखण्डभरताधिपः परमार्हतोऽनार्यदेशेष्वपि प्रवर्त्तितश्रमणविहार. सम्प्रतिमहाराजश्चाभवत् । मूलदेवः सकलकलाकलापज्ञो बलसार्थवाहो महाधनी, देवदत्ता च गाणिक्य तत्रैव प्रागभवत् । उमास्वातिवाचकः कौभीषणिगोत्रः पञ्चशतसंस्कृतप्रकरणप्रसिद्ध. तत्रैव तत्त्वार्थाधिगमसूत्रं सभाष्यं व्यरचयत् । चतुरशीतिवादशालाश्च तत्रैव विदुषां परितोषाय पर्यणंसिषुः । तत्रैव चोत्तुङ्गतरङ्गोत्सङ्गितगगनाङ्गणा परिवहति महानदी गङ्गा, तस्यैव चोत्तरादिशि विपुल वालुकास्थल नातिदूरे । यत्राऽऽरूढ कल्की, प्रातिपदाऽऽचार्यप्रमुखसङ्घश्च सलिलप्लवान्निस्तरीता । तत्रैव च भविष्यति कल्किनृपति. । धर्मदत्ताजितशत्रुमेघघोषाऽऽदयश्च तद्वंश्याः। तत्रैव च विद्यन्तेऽन्तर्निहितनन्दसत्कनकनवतिद्रव्यकोटय. पञ्च स्तूपा', येषु धनाशया श्रीलक्ष्मणावतीसुरत्राणस्तांस्तानुपाक्रमतोपक्रमान् । ते च तत्सैन्योपप्लवायैवाकल्पन्त । तत्रैव विहृतवन्तः श्रीभद्रबाहुमहागिरिसुहस्तिवज्रस्वाम्यादयो युगप्रवराऽऽगमाः, विहरिष्यन्ति च प्रातिपदाऽऽचार्योऽऽदयः। तत्रैव महाधनधनश्रेष्ठिनन्दना रुक्मिणी श्रीवज्रस्वामिनं प्रतीयन्ती, प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोभचूडामणिना प्रव्राजिता । तत्रैव सुदर्शनश्रेष्ठी मर्हषिरभयाराज्ञ्या व्यन्तरीभूतया भूयस्तरमुपसर्गितोऽपि न क्षोभमभजत । तत्रैव स्थूलभद्रमहामुनि. षड्रसाऽऽहारपर' कोशायाश्चित्रशालायामुत्पादितमदश्चकार वर्षारात्र चतुर्मासीम् । सिंहगुहावासिमुनिरपि तत्स्पर्द्धिष्णुस्तत्रैव कोशया तदानीतरत्नकम्बलस्य चन्द्रनिकाप्रक्षेपेण प्रतिबोध्य पुनश्चारुतरां चरणश्रियमङ्गीकारितः । तत्रैव द्वादशाब्दे दुर्भिक्षे गच्छे देशान्तर प्रोषिते सति सुस्थिताऽऽचार्यशिष्यौ क्षुल्लकावदृश्यीकरणाञ्जनाकलकुशौ चन्द्रगुप्तनृपतिना सह बुभुजाते कियन्त्यपि दिनानि । तदनु गुरुप्रत्युपालम्भाद्विष्णुगुप्त एव तयोर्निर्वाहमकरोत् । तत्रैव श्रीवज्रस्वामी पौरस्त्रीजनमनःसंक्षोभरक्षणार्थं प्रथमदिने सामान्यमेव रूप विकृत्य, द्वितीयेऽह्नि वाहो नास्य भगवतो गुणानुरूप रूपमिति देशनारसहृतहृदयजनमुखात् संलापात् श्रुत्वाऽनेकलब्धिमान् महत्तमप्रातिरूप रूप विकुर्व्य सौवर्णसहस्रपत्रे निषद्य देशनां विधाय राजादिजनताममोदयत । तस्यैव पुरस्य मध्ये सप्रभावातिशया मातृदेवता आसन्, तदनुभावात् तत्पुरं परैराग्रहवद्भिरपि न खलु ग्रहीतुमशाकि । चाणिक्यमत्रसोत्पाटिते पुनर्जनैर्मातृमण्डले गृहीतवन्तौ चन्द्रगुप्तचाणक्यौ । पद्माद्यनेकसंविधानकनिधाने तत्र नगरेऽष्टादशसु विद्यासु स्मृतिषु पुराणेषु च द्वासप्ततौ कलासु भरतवात्स्यायनचाणिक्यलक्षणरत्नत्रयम्, मन्त्रतन्त्रयन्त्रविद्यासु रसवादधातुनिधिवादाञ्जनगुटिकापादप्रलेपरत्नपरीक्षावास्तुविद्याऽश्वगजाश्ववृषभाऽऽदिलक्षणेन्द्रजालाऽऽदिग्रन्थेषु काव्येषु च नैपुण्यचणास्ते ते पुरुषाः प्रत्यूषकीर्तनीयनामधेयाः। आर्यरक्षितोऽपि हि चतुर्दशविद्यास्थानानि तत्रैवाधीत्य दशपुरमागमत् । आद्यास्तु तत्रैवाविधा वसन्ति स्म, एके योजनसहस्रगमने यानि गजपदानि भवेयुस्तानि प्रत्येकं स्वर्णसहस्रेण पूरयितुमीशते । अन्ये च तिलानामाढके प्रकृष्टे सुफलिते यावन्तस्तिलाः स्युः, तावन्ति हेमसहस्राणि बिभ्रति गृहेऽपरेऽन्नवनामका. प्रवरगिरिनदीप्रवाहपूरस्यैकदिनोत्पन्नेन

गवाकृतनवनीतेन सवरं विरचय्य पयोरयं स्खलयितुमक्षम । अन्यतमे चैकदेशाद्व्जात्यनवाकिशोराणा समुद्भूतैः स्कन्धकेशैः पादाक्षिपुत्रं समन्ताद्वेष्टयितुमचेष्टन् । इतरे च शालिरन्नद्वयं वेश्मनि विमर्दयांबभूवु । तत्रैकः शालिर्निजाभिज्ञशालिबीजप्रसूतिमान्, अन्यश्च गर्दभिकाशालिर्यो लूनलून पुनः पुनः फलति। ती० ३५ कल्प ।

णंदवई–नन्दवती–स्त्री० । श्रेणिकमहाराजभार्यायाम्, सा च राजगृहे स्वनामख्याता वीरान्तिके प्रव्रजिता विंशतिवर्षपर्याया सिद्धा । उपा०१ अ० । रतिकरपर्वते शक्रसामानिकानां दक्षिणदिक्स्थाया राजधान्याम्, द्वी० ।

णंदसंहिया–नन्दसंहिता–स्त्री० । नन्दनिर्मितग्रन्थपद्धतौ, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णंदसिरी–नन्दश्री–स्त्री० । वाराणस्यां भद्रसेनजीर्णश्रेष्ठिनः सुतायाम्, ती० । "वाणारसीएँ कोट्ठएँ, पासे गोवारिभद्दसेणे य । णंदसिरी पउमदह–रायगिहे सेणिए वीरे" ॥ १ ॥ अत्रैव पुर्यां भद्रासनो जीर्णश्रेष्ठी, तस्य भार्या नन्दा । तयोः पुत्री नन्दश्रीर्वरकरहिता । अत्रैव कोष्ठके चैत्ये अन्यदा पार्श्वस्वामी समवासरत्; नन्दश्रीः प्राव्राजीद् गोचारिपर्षाया शिष्यतयाऽर्पिता । सा च पूर्वमुग्रं विहृत्य पश्चादवसन्नीभूता हस्तपादाऽऽद्यक्षालयत्, साध्वीभिर्वार्यमाणा तु भिन्नकायां वसतौ स्थिता, तदनालोच्य मृता क्षुल्लहिमवति पद्मह्रदे श्रीदेवी जज्ञे देवगणिका, भगवतः श्रीवीरस्य राजगृहे समवसृतस्याग्रे नाट्यविधिमुपदर्श्य गता । अन्ये त्वाहु–करिणीरूपेण वातनिसर्गमकरोत्, श्रेणिकेन तस्याः स्वरूपे पृष्टे भगवानाख्यत् तस्याः पूर्वजन्मावसन्नतावृत्तम् । ती० ३७ कल्प । आ० क० । आव० ।

णंदा–नन्दा–स्त्री० । ज्योतिषसङ्केतिते तिथिभेदे, तत्र प्रतिपत्, षष्ठी, एकादशी च नन्दा । चं० प्र०१० पाहु० । जं० । सू० प्र० । द० प० । श्रीशीतलजिनस्य मातरि, प्रव० १३ द्वार । ति० । आव० । स० । स्था० । वीरजिनसत्कस्य अचलभ्रातुर्नाम गणधरस्य मातरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । श्रेणिकभार्यायामभयकुमारमातरि, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । अनु० । सा च बेन्नातटनगरे कस्यचित् क्षीणधनस्य श्रेष्ठिनो दुहिताऽपि सनाऽऽहृता श्रेणिकेन तत्र गत्वा परिणीता, क्रमेणाभयकुमारं नाम पुत्रं जनितवती । तेन च वयःप्राप्तेन साकं राजगृहमागता श्रेणिकेन संमानिता राजभोगाननुबभूवे । न० । (इति 'उप्पत्तिया' शब्दे द्वितीयभागे ८२७ पृष्ठे क्षुल्लकोदाहरणावसरे प्रत्यपादि)

तदनन्तरम्–

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे, गुणसिलए चेइए, सेणिए राया । वण्णओ । तस्स णं सेणियस्स रण्णो णंदा नामं देवी होत्था । वण्णओ । सामी समोसढे, परिसा णिग्गया, तते णं सा णंदा देवी इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठा कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता जा णं जहा पउमावती० जाव एकारस अंगाइं अहिज्जित्ता वीसं वासाइं परियायं० जाव सिद्धा ।

अन्त० ७ वर्ग १ अ० । ज्ञा० । आ० म० । कल्प० । कौशाम्बीराजशतानीकमन्त्रिण सुगुप्तस्य भार्यायां शतानीकराजमहिष्या मृगावत्याः सख्याम्, तया च सूर्पकोणस्थकुल्माषाभिग्रहवन्त वीरभगवन्तं प्रतिलाभयन्त्या, तद्ग्रहणपराङ्मुखं दृष्ट्वा अभिग्रहविशेषवानयमिति निश्चित्य मृगावतीद्वारा शतानीको राजोपालब्धः । तदनु दधिवाहनभूभुक्पुत्र्या वसुमत्या धनश्रेष्ठिना पुत्रीत्वेन क्रीतया चन्दनानाम्न्या पूरितोऽभिग्रहः । आ० क० । आ० म० । (इति 'वीर' शब्दे वक्ष्यते) वाराणस्यां नन्दश्रीमातरि भद्रासनश्रेष्ठिभार्यायाम्, आ० चू० ११ अ० । ती० । आव० । तालफलाऽऽहतपुरुषभगिन्यां श्रीऋषभदेवेन परिणीतायां बाहुबलीसुन्दरीतिमिथुनकमातरि, आ० म० १ अ० १ खण्ड । पौरस्त्यरुचकपर्वतस्य द्वितीयतपनीयकूटवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० क० । द्वी० । ती० । स्था० । जं० । उत्तरपौरस्त्ये रतिकरपर्वते ईशानाग्रमहिष्याः कृष्णराजराजधान्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ० । ती० । जी० । आ० चू० । स्वनामप्रसिद्धायां पुष्करिण्याम्, तत्र शाश्वतपुष्करिण्यः सर्वा अपि सामान्येन नन्दा इत्युच्यन्ते । विशेषेण तु–१ नन्दा २ नन्दोत्तरा ३ आनन्दा ४ नन्दिवर्धनेति चतस्रोऽञ्जनकपर्वतवर्णके वर्णिताः । स्था० ४ ठा० ३ उ० । जी० । रा० । ज्ञा० । (राजगृहे नन्देन मणिकारश्रेष्ठिना कारिताया नन्दायाः पुष्करिण्याः वर्णको 'दद्दुर' शब्दे वक्ष्यते) गावि, दे० ना० ४ वर्ग ।

णंदावत्त–नन्द्यावर्त–पुं० । प्रतिदिक्नवकोणके स्वस्तिके, अ०३ वक्र० । रा० । प्रज्ञा० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

णंदि–नन्दि (न्दी)–पुं० । स्त्री० । 'टुनदि' धातोः नुमि नन्दन नन्दिः । हर्षे, नन्दिहेतुत्वाद् ज्ञानपञ्चके, नन्दन्ति प्राणिनोऽनेनास्मिन् वेति नन्दिः । इप्रत्ययः । ज्ञाते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । अथ नन्दिरिति कः शब्दार्थः? । उच्यते–'टुनदि' समृद्धौ इत्यस्य धातोः "इदितो नुम्०–" ॥७।१।५८॥ इति नुमि विहिते नन्दन नन्दिः, प्रमोदो हर्ष इत्यर्थः । नन्दिहेतुत्वात् ज्ञानपञ्चकाभिधायकमध्ययनमपि नन्दिः । नन्दन्ति प्राणिनोऽनेनास्मिन् वेति नन्दिः । इदमेव प्रस्तुतमध्ययनम् आविष्टलिङ्गत्वाच्चाध्ययनेऽपि वर्तमानस्य नन्दिशब्दस्य पुंस्त्वम् "इः सर्वधातुभ्यः" । इत्यौणादिक इः प्रत्ययः । अपरे तु 'नन्दीति' पठन्ति, ते "ईक्कृष्यादिभ्यः" इति सूत्रादीकप्रत्ययं समानीय स्त्रीत्वेऽपि वर्णयन्ति । ततश्च "इतोऽक्त्यर्थात्" ॥२।४।३२॥ इति ङीप्रत्ययः । स च नन्दिश्चतुर्धा । तद्यथा–नामनन्दिः, स्थापनानन्दिः, द्रव्यनन्दिः भावनन्दिश्च । तत्र नामनन्दिर्यस्य कस्यचिज्जीवस्याऽजीवस्य वा नन्दिशब्दार्थरहितस्य नन्दिरिति नाम क्रियते, स नाम्ना नन्दिर्नामनन्दिः । यद्वा–नामनामवतोरभेदोपचाराद् नाम चासौ नन्दिश्च नामनन्दिः । नन्दिरिति नामवान् नामनन्दिः । तथा–सद्भावमाश्रित्य लेप्यकर्माऽऽदिषु, असद्भावं चाऽऽश्रित्याक्षवराटकाऽऽदिषु भावनन्दिर्मत' । साध्वादेर्या स्थापना स स्थापनानन्दिः । अथवा द्वादशविधतूर्यरूपद्रव्यनन्दिस्थापना स्थापनानन्दिः । द्रव्यनन्दिर्द्विधा–आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो नन्दिपदार्थस्य ज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तः, अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात् । नोआगमतस्तु त्रिधा । तद्यथा–ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः, भव्यशरीरद्रव्यनन्दिः, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यनन्दिश्च । तत्र य-

नन्दिपदार्थज्ञस्यापगतजीवितस्य शरीरं सिद्धशिलातलाऽऽदि-गत तद् भूतभावतया ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः । यस्तु बालको नेदानीं नन्दिशब्दार्थमवबुध्यते, अथ चावश्यमायत्यां तेनैव शरीरसमुच्छ्रयेण भोत्स्यते, स भाविभावनिबन्धनत्वाद् भव्यशरीरद्रव्यनन्दिः । इह हि यद् भूतभाव, भाविभाव वा वस्तु, तद् यथाक्रम विवक्षितभूतभाविभावापेक्षया द्रव्यमिति तत्त्ववेदिनां प्रसिद्धिमुपागमत् । उक्त च-" भूतस्य भाविनो भावा', भावस्य हि कारण तु यल्लोके । तद् द्रव्य तत्त्वज्ञैः, सचेतनाचेतन कथितम् " ॥ १ ॥ ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तस्तु द्रव्यनन्दिः क्रियाविशिष्टो द्वादशविधतूर्यसमुदाय. । उक्त च-" दव्वे तूरसमुदओ । " तानि च द्वादशविधतूर्याण्यमूनि-" भंभा १ मुकुंद २ मद्दल, ३ कडव ४ झल्लरि ५ हुडुक ६ कंसाला ७ । काहल ८ तलिमा ९ वंसो १०, संखो ११ पणवो १२ य बारसमो " ॥१॥ भावनन्दिर्द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो नन्दिपदार्थस्य ज्ञाता, तत्र चोपयुक्त', "उपयोगो भावनिक्षेप." इतिवचनात् । नोआगमतः पञ्चप्रकारो ज्ञानसमुदयः, " भावम्मि य पंच नाणाइं " इति वचनात् । नं० । अथवा पञ्चप्रकारज्ञानस्वरूपमात्रप्रतिपादकोऽध्ययनविशेषो भावनन्दि., नोशब्दस्यैकदेशवाचित्वात्, अस्य चाध्ययनस्य सर्वश्रुतैकदेशत्वात् । तथाहि-अयमध्ययनविशेष. सर्वश्रुतान्यन्तरभूतो वर्तते, तत एकदेशः । अत एव चाय सर्वश्रुतस्कन्धाऽऽरम्भेषु सकलप्रत्यूहनिवृत्तये मङ्गलार्थमादौ तत्त्ववेदिभिरभिधीयते । नं० । पा० । विशे० । तदुक्तम्-" नंदी चउक्कदव्वे, संखबारसगतूरसघातो । भावम्मि नाणपणग, पच्चक्खियरं च त दुविहं ॥ १ ॥ " बृ० १ उ० । " णदी य मगलट्ठा, पंचग दुग तिग दुगे य चोद्दसए । अंगगयमणगगए, का तत्थ परूवणा एगत ॥ २ ॥ " इति वक्तव्यार्थेन प्रतिज्ञायाऽऽह कल्पकार.-

> नंदी मंगलहेऊ, न यावि सा मंगला हि वइरित्ता ।
> कज्जाभिलप्पनेया, अपुहो य पुहो य जह सिद्धा ॥३॥

नन्दिर्ज्ञानपञ्चकरूपो, मङ्गलहेतुर्मङ्गलनिमित्त वक्तव्य । आह-यदि मङ्गलनिमित्त नन्दिर्वक्तव्यः,तत. स मङ्गलादेकान्तेन भिन्नः प्राप्त.,अन्यथा तदुत्पादननिमित्त तस्योपादानमिति व्यवहारानुपपत्तेः । उपादान हि तस्य सिद्धस्य सतो भवति,उत्पाद्य चाप्यसिद्धं, तत. कथमनयोरभेदः, किं तु भेद एव ? । तत आह-न चापि स नन्दिर्मङ्गलाद् व्यतिरिक्त', अपिशब्दादव्यतिरिक्तोऽपि स्यात्, व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्त इत्यर्थ । कथमेतत् श्रद्धेयमिति चेत् ? । अत आह-(कज्जेत्यादि) यथा कार्याभिलाप्यज्ञेयानि कारणाभिलापज्ञानेभ्यः पृथक्त्वापृथक्त्वसिद्धानि, तथा नन्देर्मङ्गलमपि । तथाहि-कार्यं पट , कारणं तन्तवः। तत्र तन्तव एव पुरुषव्यापारमपेक्ष्य तानवितानभावेन परिणममानाः पटकार्यरूपतया परिणमन्ते, तेषु च तथा परिणतेषु सत्सु न कार्यकारणयोर्भेद , किं त्वभेद. । एवमिहापि नन्दिर्ज्ञानपञ्चकाभिधानरूप उत्तरोत्तरशुभाध्यवसायविशेषसमवसंव्यपेक्षतरतमभावेन परिणममानो वाञ्छिताधिगतिलक्षणमङ्गलरूपतया परिणमते इति नन्दिमङ्गलयोरभेदः; प्राचीना त्ववस्थामपेक्ष्य भेद । यथा-तन्तुभ्यः पटस्य, तथा अभिलापशब्देन कदाचिदभिलाप्यस्याभिलाप्यमानतोच्यते, अभिलपनमभिलाप इति व्युत्पत्तेः । कदाचित्तद्वाचकशब्दः, अभिलाप्यते वस्त्वभिलाप्यमनेनेति व्युत्पादनात् । तत्र यदा अभिलाप्यमानतोच्यते, तदाऽभिलाप्याभिलापकयोरभेदो, धर्मधर्मिभावात् । यदा तु तद्वाचकशब्द', तदा भेदः, शब्दार्थयोर्भिन्नदेशत्वाद्भिन्नस्वरूपत्वाच्च । ज्ञानशब्देनापि क्वचिद् ज्ञेयस्य ज्ञानमतोच्यते, ज्ञातिर्ज्ञानमिति भावे व्युत्पादनात् । कदाचिदात्मधर्मो, ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति करणे व्युत्पत्ते' । तत्र यदा ज्ञायमानता, तदा ज्ञानज्ञेययोरभेदो, धर्मधर्मिभावात् । यदा त्वात्मधर्म.,तदा भेदो, भिन्नस्वरूपत्वात् । एवमिहापि नन्दिशब्दो यदा भावसाधनो नन्दनं नन्दिरिति, तदा नन्दन समृद्धीभवन वाञ्छितस्याधिगतिरित्यनर्थान्तरं, मङ्गलमपि चैवंस्वरूपमिति परस्परमभेद. । यदा तु प्राचीनावस्थामपेक्ष्य करणसाधनो नन्दिशब्दो, नन्द्यतेऽनेनेति नन्दिरिति, तदा भेद', कालभेदेन भेदादिति । बृ० १ उ० । आ० चू० । नमस्कारत्रयरूपे मङ्गले, ध० २ अधि० । विशे० । श्रावकश्राविकाणां नन्दीसूत्रभावण " नाणं पंचविहं पण्णत्तं " इत्यादिरूप, नमस्कारत्रयरूप वा क्रियते ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र श्रावकश्राविकाणां नन्दीसूत्र नमस्कारत्रयरूप भाण्यते इति । ३१ प्र० । ही० ४ प्रका० ।

साम्प्रत पञ्चमः-

> अइगरुअमोहविहुणिय-सुहबोहा केइ धम्ममगणिंता ।
> कारेंति नंदिमाई, सड्ढीणं संजईहिंतो ॥ १ ॥

अतिगुरुकमोहविधूनितशुभबोधा बृहत्तरमूढताकम्पितप्रभावमतयः, केचनैके, धर्मं ज्ञानादिकम्, अगणयन्तस्तिरस्कुर्वाणाः, कारयन्ति विधापयन्ति, नन्द्यादिक, मकारोऽत्र प्राकृतप्रभवः । आदिशब्दाद्विविधानुष्ठानाऽऽदिग्रह. । तत्र नन्दिरुपधानाऽऽदिषु समयप्रतीतो विधि, श्राद्धीनां श्राविकाणां, (संजईहिंतो त्ति) संयतिनीभ्यो व्रतिनीभ्य सकाशात् । ' हिंतो त्ति ' पञ्चम्याः स्थाने निर्देशः, " डहिंतोलोपास्तस्यातः पञ्चम्याः " ॥ इति प्राकृतेन । स च दर्शित एव । अयमभिप्राय.-स्वव विहारं व्रजन्तोऽन्येषु त्वाचार्येषु बहुश्रुताऽऽदिषु विद्यमानेषु विशार्यिकाभि. श्राविकाणां नन्द्यादि कारयन्ति । यदि पुनरेकोऽप्याचार्यस्तत्र भवति, तत. सामाचार्यो अविरुद्धमपि भवेदिति गाथाऽर्थ' ॥ १ ॥

एतस्यापि आगमसंवादपूर्वकप्रतिषेधपूर्वं जीवोपदेशमाह—

> आरेण अज्जरक्खिय-इच्चाईवयणओ न तं जुत्तं ।
> रागद्दोसविमुक्को, रे जीव ! ताहिं पि मा मुज्झ ॥२॥

(आरेणेति) अर्वाक्, ' आरोवणं पच्छित्तदाण चेति ' इदम्, सुबोध च । अयमभिप्राय.-निगोदजीवविचारार्थाऽऽयातदेवेन्द्रवन्दिताऽऽर्यरक्षिताऽऽचार्यात् पूर्वं सामायिकाऽऽदिषु आर्यिकाणामनुज्ञा, अर्वाक् पुनर्नास्ति । सामायिकाऽऽदिक च नन्दिपूर्वकं क्रियते, अतस्तत्प्रतिषेधादेतदपि प्रतिषिद्ध बोद्धव्यम् । अतो नेति निषेधे, युक्त संगतम् । रागद्वेषविमुक्तोऽभिष्वङ्गमत्सररहितो, जीव ! इत्यामन्त्रणे, तत्रापि नन्द्यादिकरणेऽपि, न केवल पूर्वोक्तेषु, इत्यपिशब्दार्थः । मेति निषेधे, मुह्यस्व मोह विधेहीति गाथाऽर्थ । समाप्तोऽयमार्यिकानन्दिवक्तव्यताऽऽख्य पञ्चमः साध्वीनां पाठः । जीवा० ५ अधि० ।

अन्यतीर्थीयः कश्चिद्यदि तुर्यव्रतमुच्चारयति, तदा किं

नन्दि विनाऽप्युच्चारयति, उत नन्दिसहितमेव ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रत्याख्यातीर्थीत्र कश्चित्सुर्यव्रतमुच्चारयति, तत्रा नन्दि विनाऽपि उच्चार्येते, तदाश्रित्य निषेधः कोऽपि ज्ञातो नास्तीति । ३६ प्र० । ह्री० ४ प्रका० । तपःसंयमयोगानां स्फीतौ, बृ० १ उ० ।

नंदंति जेण तवसं-जमेसु नेव य दर त्ति खिज्जंति ।
जायंति न दीणा वा, नंदी अ ततो समयसभा ॥

येन द्रव्येणाभ्यवहृतेन तपःसंयमयोर्नन्दन्ति समाधिमनुभवन्ति, तन्नन्दिः । तथा येन द्रव्येणोपभुक्तेन नैव (दर त्ति) मृत खिद्यन्ते, न कृशीभवन्तीत्यर्थः, तन्नन्दि । अथ वा येनोपयुक्तेन न दीना जायन्ते, तदपि निरुक्तिवशान्नन्दि । अत्र पाठान्तरम्-(जायंति नंदिया व त्ति) नन्द्या ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽत्मिकया समृद्ध्या युक्ता साधवो यतस्तेन द्रव्येण जायन्ते, ततस्तस्य नन्दिरिति समयसंज्ञा आगमपरिभाषा । बृ० १ उ० । नि० चू० । मङ्गल नन्दि । आनन्दे, स्था० ५ ठा० २ उ० । प्रमोदे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । मनस्तुष्टौ, आचा० १ श्रु० ३ अ० ६ उ० । समृद्धौ, ध० २ अधि० । अनु० । "सिद्धे भो पयओ नमो जिणमए, नंदी सया संजमे" । आ० चू० ५ अ० । गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५१ सम० । द्वादशतूर्याणां घोषे, उत्त० ११ अ० । ज्ञा० । ध० । अ० । प्रश्न० । पञ्चा० । औ० । वृक्षभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

नन्दिन्-पुं० । महेश्वराऽऽश्रयभ्यन्तरस्य शिष्ये, आ० चू० ४ अ० । आ० क० । आव० ।

णंदिअ-न० । देशी-सिंहरुते, दे० ना० ४ वर्ग ।

णंदिक्ख-पुं० । देशी-सिंहे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णंदिगर-नन्दिकर-त्रि० । वृद्धिकरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णंदिगाम-नन्दिग्राम-पुं० । मङ्गलावतीविजये स्वनामख्याते ग्रामे, आ० चू० १ अ० । आ० म० । मगधदेशान्तर्गते ग्रामे, यत्र जातो नन्दिषेणो गौतमपुत्रः पित्रोर्मृतयोर्दीक्षां जगृहे । आ० क० । आ० च० । वीरभगवत्पितृमित्रनन्दीवासस्थानग्रामे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० ।

णंदिघोस-नन्दिघोष-पुं० । द्वादशविधतूर्यनिनादे, भ० । रा० । ज्ञा० । नन्दीसदृशघोषकारके, त० । कल्प० ।

णंदिचुण्णग-नन्दिचूर्णक-न० । द्रव्यसंयोगनिष्पादितोष्ठम्रक्षणचूर्णे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

णंदिज्ज-नन्दीय-न० । स्थविरादार्यरोहणान्निर्गतस्य उद्देहगणस्य पञ्चमे कुले, कल्प० ८ क्षण ।

णंदिज्जमाण-नन्द्यमान-त्रि० । जय जय नन्देतिसमृद्धिमुपनीयमाने, औ० ।

णंदिणी-नन्दिनी-स्त्री० । नन्दयति नन्द-णिनिः । वसिष्ठधेनौ, सुतायाम्, उमायां, गङ्गायां, ननन्दरि, व्याडिमातरि, रेणुकौषधौ च । वाच० । पार्श्वनाथस्य प्रथमश्राविकायाम्, आ० चू० १ अ० । गवि, दे० ना० ४ वर्ग ।

णंदित-नन्दित-त्रि० । हृष्टे, क्षुभिते च । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णंदितूर-नन्दितूर्य-न० । युगपद् वाद्यमाने द्वादशविधतूर्यसमुदाये, बृ० १ उ० । आव० ।

णंदिपिणद्ध-नान्दिपिनद्ध-त्रि० । कुम्भिकायुक्ते, ज्यो० २ पाहु० ।

णंदिपुर-नन्दिपुर-न० । शाण्डिल्यदेशराजधान्याम्, प्रव० २७५ द्वार । प्रज्ञा० । नन्दिपुरनगरराजस्य मित्राभिधानस्य श्रीको नाम महानसिकोऽभूत् । स्था० १० ठा० ।

णंदिफल-नन्दिफल-न० । नन्दिवृक्षाभिधानतरुफले, तदुदाहरणप्रतिपादके तृतीये ज्ञाताध्ययने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आ० चू० । स० । आव० । प्रश्न० ।

नन्दिफलोदाहरण चेत्थम्-

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए, जितसत्तू राया । तत्थ णं चंपाए नगरीए धण्णे नामं सत्थवाहे होत्था । अड्ढे० जाव अपरिभूए । तीसे णं चंपाए णयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए अहिच्छत्ता नामं नयरी होत्था रिद्धित्थियसमिद्धा, वण्णओ । तत्थ णं अहिच्छत्ताए नयरीए कणगकेऊ नामं राया होत्था, महया वण्णओ । तेणं तस्स धण्णस्स सत्थवाहस्स अन्नदा कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि इमे एयारूवे अत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-सेयं खलु मम विपुलं पणितं भंडमायाए अहिच्छत्तं णगरिं वाणिज्जाए गमेत्तए एवं संपेहेइ, गणिमं च० ४ चउव्विहं भंडं गेण्हति, गेण्हतित्ता सगडीसागडं सज्जेति, सगडीसागडं भरेति, कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिए ! चंपाए नगरीए सिंघाडग० जाव पहेसु एवं खलु देवाणुप्पिए ! धण्णे सत्थवाहे विउलं पणियं गहाय इच्छति अहिच्छत्तनगरिं वाणिज्जाए गमेत्तए । तं जे णं देवाणुप्पिया ! चरए वा चीरिए वा चम्मखंडिए वा भिक्खुंडे वा पंडरागे वा गोतमे वा गोव्वतिए वा गिहिधम्मे वा धम्मचिंतए वा अविरुद्धविरुद्धवुड्ढसावगरत्तपडनिग्गंथपभितियपासंडे वा गिहत्थे वा धण्णेण सद्धिं अहिच्छत्तं नगरिं गच्छति, तस्स णं धण्णे अच्छत्तगस्स छत्तगं दलयइ, अवाहणस्स वाहणं दलयति, अकुंडियस्स कुंडियं दलयति, अपत्थयणस्स पत्थयणं दलयति, अपक्खेवस्स पक्खेवगं दलयति, अंतरा वि य से पडियस्स वा भग्गलुग्गसाहज्जं दलयति, सुहं सुहेण य अहिच्छत्तं संपावेइ त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि घोसेह, घोसेतित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा० जाव एवं वयासी-हंदि ! णिसुणंत भवंतो ! चंपाणगरी वत्थव्वा, बहवे चरग० जाव पच्चप्पिणंति । तए णं ते कोडुंबिपुरिसाणं अंतिए सोच्चा चंपाए बहवे चर० जाव गिहित्था जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छति । तए णं धण्णे सत्थवाहे तेसिं चरगाण य० जाव गिहत्थाण य अच्छत्तगस्स छत्तं दलयति० जाव पत्थयणं दलाति, दलातित्ता एवं वयासी-गच्छह

ण तुमे देवाणुप्पिया ! चंपाए नगरीए वहिया अणुज्जाणंमि ममं पडिलाभेमाणा पडिलाभेमाणा चिट्ठह । तए णं ते चरगा य धएणेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा० जाव चिट्ठंति । तए णं ते धएणे सत्थवाहे सोहणंसि तिहिकरणणक्खत्तंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता मित्तं आमंतेति, भोयणा भोयावेति, भोयावेतित्ता आपुच्छति, सगडीसागडं जोयावेति, जोयावेतित्ता चंपाए णगरीए निग्गच्छति, णातिविगिट्ठेहिं अद्धाहिं वसमाणे २ सुहेहिं वसहिपायरासीहिं अगजणवयं मज्झं मज्झेणं जेणेव देसग्गे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सगडीसागडं मोयावेति, सत्थनिवेसं करेइ, कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयइ-तुज्झे णं देवाणुप्पिया ! मम सत्थनिवेसंसि महया महया सद्द उग्घोसेमाणा एवं वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! इमीसे आगमियाए छिन्नावायाए दीहमद्धाए अडवीए बहुमज्झदेसभाए बहवे णंदिफला णामं रुक्खा पएणत्ता किएहा० जाव पत्तिया पुप्फिया फलिया हरिया रिज्जमाणा सिरीए अईव २ उवसोभेमाणा चिट्ठंति, मणुएणा वएणेणं० जाव मणुएणा फासेणं, मणुएणा छाया, ते जो णं देवाणुप्पिया ! तेसिं णंदिफलाणं रुक्खाणं मूलाणि वा कंदतयपत्तपुप्फफलवीयाणि वा हरियाणि वा आहारेइ, छायाए वा वीसमति, तस्स णं आवाए भद्दए भवति, ततो उ पच्छा परिणममाणा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेति । त मा णं देवाणुप्पिया ! केइ तेसिं नंदिफलाणं मूलाणि वा० जाव छायाए मा वीसमउ, मा णं सेविय अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जति, तुब्भे णं देवाणुप्पिए ! अएणेसिं रुक्खाण मूलाणि य० जाव हरियाणि य आहारेह, छायासु वीसमह त्ति घोसेणं घोसह० जाव पच्चप्पिणंति । तए णं धएणे सत्थवाहे सगडी सागडं जोएत्ता जेणेव णंदिफला रुक्खा, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेसिं णंदिफलाणं अदूरसामंते सत्थणिवेसं करेति, दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयइ-तुज्झे णं देवाणुप्पिए ! मम सत्थनिवेसंसि उग्घोसेमाणा २ एवं वयह-एए णं देवाणुप्पिए ! ते णंदिफला किएहा० जाव मणुएणा छायाए, ते जो णं देवाणुप्पिए ! एएसिं णंदिफलाणं रुक्खाणं मूलाणि वा कंदपुप्फतयपत्तफल० जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेति । तं मा णं तुब्भे वीसमह, मा णं अकाले० जाव जीवियाओ ववरोविस्सह । अएणेसिं रुक्खाणं मूलाणि य० जाव वीसमह त्ति कट्टु घोसेणं पच्चप्पिणंति । तत्थ णं अप्पेगइया पुरिसा धएणस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं सद्दहंति० जाव रोयंति, एयमट्ठं सद्दहमाणा रोएमाणा तेसिं णंदिफलाणं दूरेणं परिहरमाणा, अएणेसिं रुक्खाणं मूलाणि य० जाव वीसमंति ; तेसि णं आवाए नो भद्दए भवति, ततो पच्छा परिणममाणा २ सुहरूवत्ताए य भुज्जो २ परिणमंति । एवामेव समणाउसो ! जो अम्ह निग्गंथो वा निग्गंथी वा० जाव पंचसु कामगुणेसुं नो सज्जति, नो रज्जति, से णं इहभवे चेव बहूण समणाणं समणीणं णिग्गंथाणं णिग्गथीणं अच्चणिज्जे परलोए नो आगच्छति० जाव वीतीवतिस्सति, जहा वा ते पुरिसा । तत्थ णं अप्पेगतिया पुरिसा धएणस्स एयमट्ठं नो सद्दहंति, धएणस्स एयमट्ठं असद्दहमाणा जेणेव ते णंदिफला, तेणेव उवागच्छति, तेसिं णंदिफलाणं मूलाणि य० जाव वीसमंति, तेसि णं आवाए भद्दए भवति, तओ पच्छा परिणममाणा० जाव ववरोवेंति । एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा पव्वइए पंचसु कामगुणेसु सज्जति० जाव अणुपरियट्टिस्सति, जहा व ते पुरिसा । तए णं से धएणे सगडीसागडं जोयावेति, जेणेव अहिच्छत्ता नगरी, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अहिच्छत्ताए नगरीए बहिया अग्गोज्जाणंमि सत्थनिवेसं करेति, सगडीसागडं मोयावेति । तए णं से धएणे सत्थवाहे महत्थे रायारिहं पाहुडं गिएहेति, बहूहिं पुरिसेहिं सद्धिं संपरिवुडे अहिच्छत्तणगरस्स मज्झं मज्झेणं अणुप्पविस्सति, जेणेव कणगकेऊ राया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता करयल० जाव वद्धावेति, वद्धावेतित्ता तं महयं पाहुडं उवणेति । तए णं से कणगकेऊ राया हट्ठतुट्ठ० धएणस्स सत्थवाहस्स तं महत्थं० ३ जाव पडिच्छति, धएणं सत्थवाहं सक्कारेति, सक्कारेतित्ता संमाणेति, संमाणेतित्ता उस्सुक्कं वियरति, वियरतित्ता पडिविसज्जेति, पडिविसज्जेतित्ता भंडविणिमयं करेति, करेतित्ता पडिभंडं गिएहति, सुहं सुहेण जेणेव चंपा णगरी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता मित्तणातिअभिसमएणागए विउलाइं माणुस्सगाइं भोग० जाव विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरागमणं, धएणे धम्मं सोच्चा जिट्ठपुत्ते कुडुंबे ठवेत्ता पव्वइए सामाइयमाइयाइं एक्कारसंगाइं बहूणि वासाणि सामएणमासियाए अएणयरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववएणे महाविदेहे वासे सिज्झिहिति ।

अधुना पञ्चदशं विव्रियते, अस्य चैव पूर्वेण सह सम्बन्धः- पूर्वस्मिन्नपमाननाद्विषयत्यागः प्रतिपादितः, इह तु जिनोपदेशात् । तत्र च सात्यर्थप्राप्तिः, तदभावे त्वनर्थप्राप्तिरभिधीयते, इत्येव सम्बन्धमिदं सर्वं सुगमं, नवरं (चरए वेत्यादि) तत्र च रको धाटिभिक्षाचरः, चीरिको रथ्यापतितचीवरपरिधानः, चीरोपकरण इत्यन्ये । चर्मखण्डिकश्चर्मपरिधानः, चर्मोपकरण इत्यन्ये ।

करण इति चान्ये। भिक्खोण्डो भिक्षाभोजी, सुगतशासनस्थ इत्यन्ये। पण्डुरंगः शैव। गौतमः-लघुतराक्षमालाचर्चितविचित्रपादपतनाऽऽदिशिक्षाकलापवत्प्रतिवृषभकोपायतः कणभिक्षाग्राही। गोव्रतिकः-गोचर्याऽनुकारी। उक्तं च-"गावीहिँ समं निग्गमपवेसठाणाऽऽसणाइ पकरिंति। भुंजंति जहा गावी, तिरिक्खवासं विभावेंता ॥ १ ॥" गृहधर्मा गृहस्थधर्म एव श्रेयानित्यभिसधाय तद्यथोक्तकारी। धर्मचिन्तको धर्मसंहितापरिज्ञानवान्। सभासद् अविरुद्धो वैनयिकः। उक्तं च-"अविरुद्धो विणयकारी, देवाईण य पराऍ भत्तीए। जह वेसियायणसुओ, एवं अन्ने वि नायव्वा ॥ १ ॥" विरुद्धोऽक्रियावादी, परलोकानभ्युपगमात् सर्ववादिभ्यो विरुद्ध एव। वृद्धस्तापसः, प्रथममुत्पन्नत्वात्प्रायो वृद्धकाले च दीक्षाप्रतिपत्तेः। श्रावको ब्राह्मणः। अन्ये तु वृद्धश्रावक इति व्याचक्षते। स च ब्राह्मण एव। रक्तपटः परिव्राजकः। निर्ग्रन्थः साधुः। प्रभृतिग्रहणात् कपिलाऽऽदिपरिग्रह इति। (पत्थयण त्ति) पथ्यदनं शम्बलं (पक्खेव त्ति) अर्द्धपथे त्रुटितसम्बलस्य सम्बलपूरणं द्रव्यं प्रक्षेपकः। (पडियस्स त्ति) वाहनात्पतितस्य, रोगे वा पतितस्य (भग्गलुग्गस्स त्ति) वाहनात्स्खलनात्पतने भग्नस्य, रुग्णस्य च जीर्णतां गतस्येत्यर्थः। "हृदि त्ति" आमन्त्रणे। (नाइविगिट्ठेहिँ अद्धाहिं ति) नातिविकृष्टेषु नातिदीर्घेष्वध्वसु प्रयाणकमार्गेषु वसद्भिरनुकूलैर्वसतिप्रातराशैरावासस्थानैः, प्रातर्भोजनकालैश्चेत्यर्थः। 'देसग्ग ति' देशान्तम्। इहोपनयस्तत्राभिहित एव।

विशेषत पुनरेव त प्रतिपादयन्ति-

"चपा इव मणुयगती, धणो व्व भयवं जिणो दयक्करसो।
अहिछत्तानयरिसमं, इह निव्वाणं मुणेयव्वं ॥ १ ॥
घोसणया इव तित्थ-करस्स सिवमग्गदेसणमणग्घं।
चरगाइणो व्व इत्थ, सिवसुहकामा जिया बहवे ॥ २ ॥
नंदिफलाइ व्व इह, सिवपहपडिवन्नगाण विसयाओ।
तब्भक्खणा उ मरणं, जह तह विसएहिँ ससारो ॥ ३ ॥
तव्वज्जणेण जह इ-ट्ठपुरगमो विसयवज्जणेण तहा।
परमाणंदनिबंधण-सिवपुरगमणं मुणेयव्वं" ॥ ४ ॥ ज्ञा० १ श्रु० १५ अ०।

णंदिवद्धण-नन्दिवर्धन-पुं०। गौतमस्वामिप्रतिष्ठितस्य बद्धभ्यागतस्य चन्द्रप्रभस्य पूजके, ती० ४३ कल्प। पाएमवस्थापिते मूलकुण्डग्रामे महावीरस्वामिनो ज्येष्ठभ्रातरि, चेटकराजसुतायाः चेल्लणास्वसुः ज्येष्ठायाः पत्यौ, आ० चू० ४ अ०। कल्प०। आ० म०। आव०। आचा०। लोकोत्तररीत्या कार्तिकमासे, कल्प० ६ क्षण। नन्दिषेणमुनेर्गुरौ, आ० चू० ४ अ०। आव०। मथुरायां श्रीदामराजपुत्रे, विपा०।

तत्कथा-

एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं महुरा णयरी, भंडीरे उज्जाणे, सुदरिसणे जक्खे, सिरिदामे राया, बंधुसिरी भारिया, पुत्ते णंदिवद्धणे णामं कुमारे अहीण० जाव जुवराया। तस्स णं सिरिदामस्स सुबंधू णामं अमच्चे होत्था, सामदंडभेय०। तस्स णं सुबंधुस्स अमच्चस्स बहुमित्ती पुत्ते णामं दारए होत्था, अहीण०। तस्स णं सिरिदामस्स रण्णो चित्ते णामं अलंकारिए होत्था। सिरिदामस्स रण्णो चित्ते बहुविहं अलंकारियकम्मं करेमाणे सव्वट्ठाणेसु सव्वभूमियासु य अंतेउरे य दिण्णवियारे यावि होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे, परिसा राया य णिग्गओ० जाव गया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स जेट्ठे० जाव रायमग्गं ओगाढे, तहेव हत्थी आसे पुरिसे। तेसिं च णं पुरिसाणं मज्झगयं एगं पुरिसं पासइ० जाव णरणारीसंपरिवुडं। तए णं तं पुरिसं रायपुरिसा चच्चरंसि तत्तंसि अओमयंसि समजोइयंसि सिंहासणंसि णिवेसावेइ। तयाणंतरं च णं पुरिसाण मज्झगयं बहूहिं अयकलसेहिं तत्तेहिं समजोइब्भूएहिं अप्पेगइयाणं तंबभरिएहिं, अप्पेगइयाणं तउयभरिएहिं, अप्पेगइयाणं सीसगभरिएहिं, अप्पेगइयाणं कलकलभरिएहिं, अप्पेगइयाणं खारतेल्लभरिएहिं, महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचइ। तयाणंतरं च णं तत्तअओमयं समजोइब्भूयं अओमयसंडासगं गहाय हारं पिणद्धइ। तयाणंतरं च णं हारं अद्धहारं० जाव पट्टं मउडं चिंता तहेव० जाव वागरेइ। एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे सीहपुरे णामं णयरे होत्था रिद्धत्थि०। तत्थ णं सीहपुरे सीहरहे णामं राया। तस्स णं सीहरहस्स रण्णो दुज्जोहणे णामं चारगपालए होत्था अहम्मिए० जाव दुप्पडियाणंदे। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स इमे एयारूवे चारगभंडे होत्था। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे अयकुंभीओ अप्पेगइयाओ तंबभरियाओ, अप्पेगइयाओ तउयभरियाओ, अप्पेगइयाओ सीसगभरियाओ, अप्पे० कलकलभरियाओ, अप्पे० खारतेल्लभरियाओ, अगणिकायंसि अद्दहियाओ चिट्ठंति। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे उट्टियाओ आसमुत्तभरियाओ, अप्पेगइयाओ हत्थीमुत्तभरियाओ, अप्पे० उट्टमुत्तभरियाओ, अप्पे० गोमु०, अप्पे० एलयमु०, अप्पे० महिसमु०, बहुपडिपुण्णाओ चिट्ठइ। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे हत्थंडुयाण य पायंदुयाण य हडीण य णियलाण य संकलाण य पुंजा य णिगरा य सण्णिखित्ता चिट्ठंति। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे वेणुलयाण य चिंचाछिवाण य कसाण य वायरासीण य पुंजा णिगरा चिट्ठंति। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे सिलाण य लउडाण य मोग्गराण य कणंगराण य पुंजा णिगरा चिट्ठइ। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स वरत्ताण य वागरज्जूण य वालसुत्तरज्जूण य पुंजा णिगरा संचिट्ठइ। तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे असिपत्ताण य करपत्ताण य खुरपत्ताण य कलंबचीरपत्ताण य पुंजा णिगरा संचिट्ठइ।

तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे लोहखीलाण य कमसकराण य चम्मपट्टाण य अलिपत्ताण य पुंजा णिगरा संचिट्ठइ । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे सूचीण य डंडणाण य कोट्टिल्लाण य पुंजा णिगरा संचिट्ठइ । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे सत्थाण य पिप्पलाण य कुहाडाण य णहच्छेयणाण य दब्भाण य पुंजा णिगरा संचिट्ठइ । तस्स णं से दुज्जोहणस्स चारगपालस्स सीहरहस्स रण्णो बहवे चोरे य पारदारिए य गंठिभेदे य रायावकारी य अणाहारए य बालघाते य वीसंभघाते य जुइकरे य खंडपट्टे य पुरिसेहिं गिण्हावेइ, गिण्हावेइत्ता उत्ताणए पाडेइ, लोहदंडेण मुहं विहाडेइ, अप्पेगइए तत्तं तंबं पज्जेइ, अप्पे० तउयं पज्जेइ, अप्पे० सीसगं पज्जेइ, अप्पे० कलकलं पज्जेइ, अप्पे० खारतेल्लं पज्जेइ, अप्पे० तेणं चेव अभिसेगं करेइ, अप्पे० उत्ताणए पाडेइ, अप्पे० आसमुत्तं पज्जेइ, अप्पे० हत्थिमुत्तं पज्जेइ० जाव एलयमुत्तं पज्जेइ, अप्पे० हिट्ठा मुहं पाडेइ, अप्पे० वलस्स वमावेइ, अप्पे० तेणं चेव उवीलं दलयइ, अप्पे० हत्थंडुयाहिं बंधावेइ, अप्पे० पायंडुयाहिं बंधावेइ, अप्पे० हडिबंधणं करेइ, अप्पे० णियलबंधणं करेइ, अप्पे० संकोडियं करेइ, अप्पे० संकलबंधणं करेइ, अप्पे० हत्थच्छिण्णए करेइ० जाव सत्थोवाडिए करेइ, अप्पे० वेणुलयाहि य० जाव वेयरासीहि य एहावेइ, अप्पे० उत्ताणए करेइ, करेइत्ता उरे सिलं दलावेइ, दलावेइत्ता लउलं दावेइ, पुरिसेहिं उक्कंपावेइ, अप्पे० तंतीहि य० जाव सुत्तरज्जुहि य हत्थेसु य पादेसु य बंधावेइ, अगमम्मि ओचूलं पाणगं पज्जेइ, अप्पे० असिपत्तेहि य० जाव कलंबचीरपत्तेहि य पच्छावेइ, खारतेल्लेणं अब्भंगावेइ, अप्पे० णिलाडेसु य अवदुसु य कोप्परेसु य जाणुसु य खलुएसु य लोहकीलएसु य कमसकरासु य दलावेइ, अलए भंजावेइ, अप्पे० सूतीओ य दंभणाणि य हत्थंगुलियासु य पायंगुलियासु य कोट्टिल्लएहिं आउडावेइ, आउडावेइत्ता भूमिं कंडूयावेइ, अप्पे० सत्थिएहि य० जाव णहच्छेदणएहि य अंगं पच्छावेइ, दब्भेहि य कुसेहि य उल्लदब्भेहि य वेढावेइ, आयवंसि दलयइ, सुक्के समाणे चडचडस्स उप्पाडेइ । तए णं से दुज्जोहणचारए एयकम्मे० सुबहुपावं समज्जिणित्ता एगतीसं वाससयाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसं बावीसं सागरोवमाइं ठिइएसु णेरइएसु उववण्णे । से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव महुराए णयरीए सिरिदामस्स रण्णो बंधुसिरीए देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववण्णे । तए णं बंधुसिरी णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं० जाव दारगं पयाया । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णिव्वत्तबारसाहे इमं एयारूवं णामधेज्जं करेइ—होउ णं अम्हं दारगे णंदिसेणे णामेणं । तए णं से णंदिसेणे कुमारे पंचधाइपरिवुडे० जाव परिवड्ढइ । तए णं से णंदिसेणे कुमारे उम्मुक्कबालभावे० जाव विहरइ० जाव जुवराया जाए यावि होत्था । तए णं से णंदिकुमारे रज्जे य० जाव अंतेउरे य मुच्छिए० ४ इच्छइ सिरिदामं रायं जीवियाओ ववरोवित्ता सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणे पालेमाणे विहरित्तए । तए णं से णंदिसेणे कुमारे सिरिदामस्स रण्णो अंतरं अलभमाणे अण्णया कयाइ चित्तं अलंकारियं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी—तुमं णं देवाणुप्पिया! सिरिदामं रायं सव्वट्ठाणेसु सव्वभूमियासु य अंतेउरे य दिण्णवियारे सिरिदामं रायं अभिक्खणं अभिक्खणं अलंकारियकम्मं करेमाणे विहरइ । तं णं तुम्हं देवाणुप्पिया! सिरिदामं रायं अलंकारियकम्मं करेमाणे गीवाए खुरं णिवेसेहि, ता णं अहं तुब्भं अद्धरज्जियं करेस्सामि, तुमं अम्हेहिं सद्धिं उराले भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्सइ । तए णं से चित्ते अलंकारिए णंदिसेणस्स कुमारस्स वयणं एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता—तए णं तस्स चित्तस्स अलंकारियस्स इमे एयारूवे० जाव समुप्पज्जित्था । जइ णं ममं सिरिदामे राया एयमट्ठं आगमेइ, तए णं ममं ण णज्जइ केणइ असुभेणं कुमरणेणं मारिस्सति त्ति कट्टु भीए० ४, जेणेव सिरिदामे राया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सिरिदामं रायं रहसि एवं करयल० जाव एवं वयासी—एवं खलु सामी ! णंदिसेणे कुमारे रज्जे य० जाव मुच्छिए० ४ इच्छइ तुब्भे जीवियाओ ववरोवित्ता सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणे पालेमाणे विहरित्तए । तए णं से सिरिदामे राया चित्तस्स अलंकारियस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते० ४ जाव साहट्टु णंदिसेणं कुमारं पुरिसेहिं गिण्हावेइ, एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ । त एवं खलु गोयमा ! णंदिसेणे पुत्ते० जाव विहरइ । णंदिसेणे कुमारे भयवं ! इओ चुओ कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ?। गोयमा ! । णंदिसेणे कुमारे सट्ठिवासाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए संसारो तहेव; ततो हत्थिणाउरे णयरे मच्छत्ताए उववज्जिहिति । से णं तत्थ मच्छिएहिं वहिए समाणे तत्थेव सेट्ठिकुले बोहिं पाउणित्ता सोहम्मे कप्पे महाविदेहे वासे सिज्झिहिति, बुज्झिहिति, मुच्चिहिति, परिणिव्वाहिति । विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

णंदिवद्धणा-नन्दिवर्द्धना-स्त्री० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वे रु-चककरस्य पर्वतस्य रजतकूटवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, स्था० ८ ठा० । आ० म० । आ० चू० । जं० । आ० क० । शाश्वतपुष्करिणीभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० । ती० । जी० ।

णंदिभाण-नन्दिभाजन-न० । औपग्रहिकोपकरणभेदे, बृ० ।

तदुपयोगश्च-

एक्कं भरेमि भाणं, अणुकंपा णंदिभाण दरिसेंति ।
गिंहि व तं वइगाऽऽईसु, गालिंति तह चम्मकरएणं ॥

अथ प्रतिपद्यानां कोऽप्यनुकम्पया ब्रूयात्-अहं युष्माकं दिने दिने एकं भाजनं बिभर्मि पूरयामि, ततस्तत्र नन्दिभाजनं बिभर्ति पूरयन्ति,ततस्तत्र नन्दीभाजनं दर्शयन्ति । अथवा-तद् नन्दिभाजनं भिक्षाचर्यया मजिकाऽऽदिषु नयन्ति । तथा प्रासुकं तद् द्रव्यं पानकं चर्मकरकेण गालयन्ति । बृ० १ उ० । ओघ० । नि० चू० ।

इदानीमेतदेव भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह-

वेयावच्चगरो वा, नंदीभाणं धरे उवग्गहिय ।
सो खलु तस्स विसेसो, पमाणजुत्तं तु सेसाणं ॥१०५॥

वैयावृत्यकरो वा नन्दीपात्रं धारयत्यौपग्रहिकम्, आचार्येण समर्पितं,नित्यं वा स खलु तस्यैव वैयावृत्यकरस्य विशेषः । एतदुक्तं भवति-यदतिरिक्तपात्रकधारणम्, अयं तस्यैव वैयावृत्यकरस्य विशेषः क्रियते । शेषाणां साधूनां प्रमाणयुक्तमेव पात्रकं भवति, उदरप्रमाणयुक्तमित्यर्थः ॥१०५॥

एतच्च प्रमाणातिरिक्तेन पात्रकेन प्रयोजनं भवति-

देज्जाहि भाणपूरं, तु रिद्धिम कोइ रोहमाईसु ।
तत्थ वि तस्सुवओगो, सेसं कालं तु पडिकुट्ठो ॥१०६॥

दद्यात् भाजनपूरं कश्चिदृद्धिमान्-पात्रकभरणं कश्चिदीश्वरः कुर्यात् । कदा ?, एतन्निरोधकाऽऽदौ । तत्र पात्रकभरणे तस्य नन्दीपात्रस्योपयोग, शेषकालमुपयोगं तस्य प्रतिकुष्टः प्रतिषिद्धः, कारणमन्तरेणेत्यर्थः । ओघ० । पं० व० ।

णंदिमित्त-नन्दिमित्र-पुं० । भाविनि द्वितीये वासुदेवे, ती० २० कल्प । मल्ल्या सह प्रव्रजिते राजपुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णंदिमुइंग-नन्दिमृदङ्ग-पुं० । एकत: सङ्कीर्णेऽन्यत्र विस्तृते मुरजविशेषे, रा० । आ० चू० ।

णंदिमुह-नन्दिमुख-पुं० । द्व्यङ्गुलप्रमाणशरीरके पक्षिविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । औ० । रा० ।

णंदिय-नन्दित-त्रि० । समृद्धितरतामुपगते, औ० । स्वनामख्याते स्थविरे, कल्प० । " मिउमद्दवसंपन्नं, उवउत्तं नाणदंसणचरित्ते । थेरं च णंदियं पि य, कासवगुत्तं पणिवयामि " ॥ १ ॥ कल्प० ८ क्षण ।

णंदियगपोसण-नन्दितकपोषण-न० । मनोज्ञाऽऽहाराऽऽदिभिर्वृषभस्य परिपालने, बृ० १ उ० ।

णंदियावत्त-नन्द्यावर्त-पुं० । प्रतिदिग्नवकोणके स्वस्तिके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज० । रा० । औ० । प्रव० । ब्रह्मलोके कल्पे तदिन्द्रस्य पारियानिके विमाने, स्था० १० ठा० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । स्तनितकुमारेन्द्रस्य घोषस्य महाघोषस्य च लोकपालभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । सिद्धश्रेणिकापरिकर्मभेदे, स० १२ अङ्ग० ।

णंदिराय-नन्दिराज-पुं० । श्रीस्वामिज्येष्ठभ्रातरि नन्दिवर्द्धने, कल्प० ५ क्षण ।

नन्दिराग-पुं० । समृद्धौ सत्यां हर्षे, भ० २ श० ५ उ० ।

णंदिरुक्ख-नन्दिवृक्ष-पुं० । धववृक्षे, अश्वत्थवृक्षे, तुणे, कुबेरके, मेषशृङ्ग्या च । वाच० । प्रज्ञा० । औ० । ति० । स० । रा० ।

णंदिसूरि-नन्दिसूरि-पुं० । श्रीशत्रुञ्जयतीर्थोद्धारकारके स्वनामके सूरौ, ती० २ कल्प ।

णंदिसेण-नन्दिषेण-पुं० । मथुरायां श्रीदामराजसुते युवराजे नन्दिवर्धनापरनामके, स्था० १० ठा० । विपा० । स्वनामख्याते पार्श्वापत्यीये आचार्ये, यो हि भद्दिकापुर्यां वीरे भगवत्यागते प्रतिमया स्थितः श्रीशुल्पानपाऽऽरक्षकपुरुषेण मुक्ताऽऽहतो जाताधिः स्वर्जगाम । कल्प० ५ क्षण । आ० म० । आ० चू० । नन्दिग्रामे गौतमपुत्रे नन्दिवर्धनसूरिशिष्ये, आ० क० ।

" मगधे हि नन्दिग्रामे, गौतमः कणवृत्तिकः ।
तत्पत्नी धारणी तस्या, गर्भे षाण्मासिके पिता ॥ १ ॥
मृतो माताऽपि जाते च, मातुलेन स वर्द्धितः ।
नन्दिषेणाभिधस्तस्य, गृहे कर्म चकार सः ॥ २ ॥
प्रतारितः स लोकेन, मातुलेन स्थिरीकृतः ।
मा भैषीर्लोकवाक्यानि, तिस्रः सन्ति सुता मम ॥ ३ ॥
दास्यामि तव नेयुस्ता , कुरूपमिति तं परम् ।
निर्विण्णः सोऽथ निर्गत्य, मुमूर्षुर्यावत् क्वचित् ॥ ४ ॥
नन्दिवर्द्धनसूरीणां, सन्निधौ व्रतमग्रहीत् ।
स षष्ठतपकः ख्यातः, यशःकीर्तिरभून्मुनिः ॥ ५ ॥
वैयावृत्येऽभिग्रही च, बालग्लानाऽऽदिसाधुषु ।
शक्रोऽशासत्तमेकोऽथा-श्रद्धानः सुरोऽभ्यगात् ॥ ६ ॥
चक्रे श्रमणरूपे द्वे, बहिरेकोऽतिसारकी ।
स्थितोऽगाद्परो मध्ये, साधूपान्ते ब्रवीदिदम् ॥ ७ ॥
ग्लानर्षिः पतितोऽस्त्येको, वैयावृत्यकरोऽस्ति चेत् ।
स उत्तिष्ठतु तच्छ्रुत्वा, षष्ठपारणकेऽपि हि ॥ ८ ॥
सहसा नन्दिषेणर्षि-र्मुक्तवा कवलमुत्थितः ।
क्वचेऽर्थं केन सोऽप्यादीद्, जलेनाऽऽगात् स तत्कृते ॥ ९ ॥
अनेषणा सुरश्चक्रे-ऽनेषणीयं न सोऽग्रहीत् ।
भ्रान्त्वा त्रिभिः स शुद्धाम्भो, गृहीत्वाऽऽगात्तदन्तिके ॥ १० ॥
आक्रुक्रोश स तं ग्लानो, मुनिं निष्ठुरया गिरा ।
त्वं वैयावृत्यकारीति, श्रुतो नाम्नैव वर्त्तसे ॥ ११ ॥
स तद्गिरं सुधासारां, मन्यमानः क्षमानिधिः ।
अशोकः क्षालयामास, तं विष्ठाऽऽक्तिमप्युविम् ॥ १२ ॥
अथाऽऽदौ त्वं यामान्त-र्नीरुजं त्वां करोमि यत् ।
ग्लानोऽवक् न क्षमः सोऽवक्, पृष्ठमारोह तर्हि मे ॥ १३ ॥
पृष्ठमारोप्य तं गच्छ-स्तेन देवेन मायया ।
नन्दिषेणः पुरीषेण, लिप्तोऽतीव विगन्धिना ॥ १४ ॥
आक्रुश्य कथ वेग-भङ्गान्मे मृतमारणम् ।
करोषि भोःकुकामस्त्व, मजग्रत्यन्तरंहसा ॥ १५ ॥
मुनिश्चम्पकलेपं तं, मन्यानोऽमेध्यलेपनम् ।
आक्रोश चाऽऽशिष दध्यौ, कथ स्यादस्य निर्वृतिः ? ॥ १६ ॥
देवस्तुष्टोऽथ संहृत्य, मायां नत्वा च तं मुनिम् ।
शक्रप्रशंसां चाऽऽवेद्य, स्वं विमानं जगाम सः ॥ १७ ॥

षसतौ मुनिरप्यागा-दूरोदालोच्य शुद्धकथान् ।
एषणासमितिः पाल्या, तदेवं मुनिपुङ्गवैः " ॥ १८ ॥
आ० क० । आव० । तं० । नि० चू० । स्था० । श्रेणिकस्य पुत्रे, स च पूर्वभवे कस्यचिद् धिग्जातिकस्य दास आसीत्, तेन च यज्ञपाटे नियुक्तेन स्वामिनो यज्ञशेषं याचित्वा साधवे दत्त्वा तत्पुण्येन देवलोके गत्वा ततः च्युत्वा श्रेणिकस्य पुत्रो जज्ञे (आ० चू० ४ अ० । आव०) स च वीरजिनान्तिके प्रव्रज्यां जगृहे,तस्य साधोः श्रेणिकपुत्रस्य नन्दिषेणस्य स्वशिष्यस्य व्रतमुज्झितुकामस्य स्थिरीकरणाय भगवद्वर्द्धमानस्वामिवन्दननिमित्तचलितमुक्ताऽऽभरणश्वेताम्बरपरिधानरूपरमणीयताविनिर्जितामरसुन्दरीक स्वान्तःपुरदर्शनकारिनम् । (सा पारिणामिकी बुद्धिः) स हि [नन्दिषेणस्य]तादृशमन्तःपुरं नन्दिषेणः परित्यक्त दृष्ट्वा दृढतरं संयमे स्थिरो बभूव । नं० । आ० क० । आ० चू० । ती० । आ० म० । शीलावसन्ने चारणमुनौ, महा० । स चावसीदन् मुमूर्षां चकार ।

तद् यथा—

"ता गोयम ! णंदिसेणेणं, गिरिपडणं जाव पत्थुयं ।
ताव आयासे इमा वाणी, पमिओ वि णो मरेज्ज तं ॥
दिसामुहाइ जा जोए, ता पेच्छा चारणं मुणिं ।
अकाले नत्थि ते मच्चू, विरम विसयादितो गओ ॥
ताहे वि अणहियासेहिं, विसएहिं जाव पीडिओ ।
ताव चिंता समुप्पन्ना, जहा किं जीविएण मे ? ॥
कुंदेदुनिम्मलयरागं, तित्थं पावमती अहं ।
उड्डाहिंतो य सिज्झिस्सं, कत्थ गंतुमणारिओ ? ॥
अहवा सलंछणो चंदो, कुंदस्स उणका पहा ।
कलिकलुसकलंकेहिं, वज्जियं जिणसासणं ॥
ता एयं सयलदालिद्द-दुहकिलेसक्खयंकरं ।
पवयणं खिंसाविंतो, कत्थ गंतूण सिज्झिहं ? ॥
दुगुट्टकं गिरी रोढुं, अत्ताणं चुन्निमो धुवं ।
जाव विसयवसेणाहं, किंचि उड्डाहयं करे ॥
एवं पुणो वि आरोढुं, टंकुच्छिन्नं गिरीतडं ।
संचरे किल निरागार, गयणे पुणरवि चारणं ॥
अकाले नत्थि ते मच्चू, चरिमं तुज्झ इमं तणुं ।
ता बद्धपुट्ठं भोगहलं, वेइत्ता संजमं कुरु ॥
एवं तु जाव बेवारा, चारणसमणेहिं सेहिओ ।
ताहे गंतूण सो लिंगं,गुरुपायमूले निवेदिओ"॥महा०६अ०।

भरतक्षेत्रजाभिनन्दनतीर्थकृत्समकालीने ऐरवतजे तीर्थकरे, ति० । ती० । शत्रुञ्जयतीर्थे जिनशान्तिविधायके गणेशे, ती० १ कल्प । द्वीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, द्वी० । अजितशान्तिस्तवग्रन्थकारके आचार्ये, जै० इ० ।

णंदिसेणा-नन्दिषेणा-स्त्री० । पूर्वस्मिन्नञ्जनकपर्वते पूर्वस्यां दिशि नन्दापुष्करिण्याम्, जी० ३ प्रति० । ती० । द्वी० । स्था० । अञ्जनकपर्वतानामुत्तरस्यां नन्दापुष्करिण्याम्, द्वी० । नन्दिवर्धनापरनामिकायां पूर्वरुचकवरवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम, द्वी० । स्था० । रतिकरपर्वतानामुत्तरादिक्स्थासु शक्रसामानिकराजधानीषु, द्वी० ।

णंदिसेणिया-नन्दिषेणिका-स्त्री० । स्वनामख्यातायां श्रेणिकभार्यायाम, सा च वीरान्तिके प्रव्रजिता सिद्धा, इति अन्तकृद्दशाना सप्तमे वर्गे चतुर्थेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ६ वर्ग १६ अ० ।

णंदिस्सर-नन्दिस्वर-पुं० । द्वादशतूर्यसंघातस्वरे, जी० ३ प्रति० । तं० । रा० ।

नन्दीश्वर-पुं० । महेश्वराऽऽचार्यव्यन्तरस्य शिष्यभेदे, आ० चू० ४ अ० । आ० क० । नन्दी समृद्धिः, तस्या ईश्वरो द्वीपो नन्दीश्वरः । अनु० । " जबू लवणे धायइ-कालोयपुक्खराइ अुयलाइ । वारुणिखीरघयक्खू, नदीसरअरुण-ईपुवई ॥ १ ॥ " इति गणनयाऽष्टमे द्वीपे, स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रव० । रा० ।

तत्कल्प यथा-

" आराध्य श्रीजिनाधीशान्, सुगधीशार्चितक्रमान् ।
कल्पं नन्दीश्वरद्वीप-स्याऽऽख्येऽहं विश्वपावनम् ॥ १ ॥
अस्ति नन्दीश्वरो नाम्ना-ऽष्टमो द्वीपो सुसन्निभ ।
तत्परिक्षेपिणा नन्दी-श्वरेणाम्भोधिना युतः ॥ २ ॥
एतद्वलयविष्कम्भे, लक्षाशीतिश्चतुर्युगा ।
योजनानां त्रिषष्टिश्च, कोट्यः कोटिशतं तथा ॥ ३ ॥
असौ विविधविन्यासो-द्यानवान् देवभोगभूः ।
जिनेन्द्रपूजासक्त-सुरसंपातसुन्दरः ॥ ४ ॥
अस्य मध्यप्रदेशे तु, क्रमात्पूर्वाऽऽदिदिक्षु च ।
अञ्जनवर्णाश्चत्वार-स्तिष्ठन्त्यञ्जनपर्वताः ॥ ५ ॥
दशयोजनसाहस्रा-तिरिक्ताविस्तृतास्तले ।
सहस्रयोजनाश्चोर्ध्वे, क्षुद्रमेरूच्छ्रयाश्च ये ॥ ६ ॥
तत्र प्राग्देवरमणो, नित्योद्द्योतश्च दक्षिणः ।
स्वयप्रभः प्रतीच्यस्तु, रमणीयोदकस्थिरः ॥ ७ ॥
शतयोजन्यायतानि, तदर्द्धं विस्तृतानि च ।
द्विसप्ततियोजनोच्चा-न्यर्हच्चैत्यानि तेषु च ॥ ८ ॥
पृथग्द्वाराणि चत्वार्यू-र्द्धानि षोडशयोजनम् ।
प्रवेशो योजनान्यष्ट, विस्तारोऽप्यष्ट तेषु तु ॥ ९ ॥
तानि देवासुरनाग-सुपर्णाना दिवौकसाम् ।
समाश्रयास्तेषामेव, नामभिर्विश्रुतानि च ॥ १० ॥
षोडशयोजनाऽऽयामा-स्तावन्मात्राश्च विस्तृतौ ।
अष्टयोजनकोत्सेधा-स्तन्मध्ये मणिपीठिकाः ॥ ११ ॥
सर्वरत्नमया देव-च्छन्दका पीठिकोपरि ।
पीठिकाभ्योऽधिकाऽऽयामो-च्छ्रयभाजश्च तेषु तु ॥ १२ ॥
ऋषभो वर्द्धमानस्तु, तथा चन्द्राननोऽपि च ।
वारिषेणो चेति नाम्ना, पर्यङ्कासनसंस्थिताः ॥ १३ ॥
रत्नमय्यो युता स्वस्व-परिवारेण हारिणा ।
शाश्वतार्हत्प्रतिमाः प्र-त्येकमष्टोत्तरं शतम् ॥ १४ ॥
द्वे द्वे नागयक्षभूत-कुण्डभृत्प्रतिमे पृथक् ।
प्रतिमानां पृष्ठतस्तु, छत्रभृत्प्रतिमैकका ॥ १५ ॥
तेषु धूपघटीदाम-घण्टाष्टमङ्गलध्वजाः ।
छत्रतोरणचङ्गेर्यः, पटलान्यासनानि च ॥ १६ ॥
षोडश पूर्णकलशाः, द्दीप्त्यलङ्करणानि च ।

सुवर्णरुचिररजो-वालुकास्तत्र भूमयः ॥ १७ ॥
आयतनप्रमाणेन, रुचिरा मुखमण्डपाः ।
प्रेक्षार्थमण्डपा अक्ष-वाटिका मणिपीठिकाः ॥ १८ ॥
रम्याश्च स्तूपप्रतिमा-श्चैत्यवृक्षाश्च सुन्दराः ।
इन्द्रध्वजा पुष्करिण्यो, दिव्याः सन्ति यथाक्रमम् ॥ १९ ॥
प्रतिमा षोडश चतु-र्द्वारस्तूपेषु सर्वतः ।
स्युश्चतुर्दिशमेव, ताः साष्टशततयुताः ॥ २० ॥
प्रत्येकमञ्जनाद्रीणां, ककुप्सु चतसृष्वपि ।
गते लक्षे योजनानां, निर्मत्स्यस्वच्छवारयः ॥ २१ ॥
सहस्रयोजनोद्वेधाः, विष्कम्भे लक्षयोजनाः ।
पुष्करिण्यः सन्ति तासां, क्रमान्नामानि षोडश ॥ २२ ॥
नन्दिषेणा चामोघा च, गोस्तूपाऽथ सुदर्शना ।
तथा नन्दोत्तरा नन्दा, सुनन्दा नन्दिवर्धना ॥ २३ ॥
भद्रा विशाला कुमुदा, पुण्डरीकिणिका तथा ।
विजया वैजयन्ती च, जयन्ती चापराजिता ॥ २४ ॥
प्रत्येकमासां योजन-पञ्चशत्या परत्र च ।
योजनानां पञ्चशतीं, यावद्विस्तारभाञ्जि तु ॥ २५ ॥
लक्षयोजनदीर्घाणि, महोद्यानानि तानि तु ।
अशोकसप्तच्छदक-चम्पकचूतसञ्ज्ञया ॥ २६ ॥
मध्ये पुष्करिणीनां च, स्फाटिकाः पल्यमूर्तयः ।
रम्यामवेदुद्यानानि, चिह्ना दधिमुखाद्रयः ॥ २७ ॥
चतुःषष्टिसहस्रोच्चाः, सहस्रं चावगाहिनः ।
सहस्राणि दशाधस्ता-दुपरिष्टाच्च विस्तृताः ॥ २८ ॥
अन्तरे पुष्करिणीनां, द्वौ द्वौ रतिकराचलौ ।
ततो भवन्ति द्वात्रिंश-देते रतिकराचलाः ॥ २९ ॥
शैलेषु दधिमुखेषु, तथा रतिकराद्रिषु ।
शाश्वतान्यर्हच्चैत्यानि, सन्त्यञ्जनगिरिष्विव ॥ ३० ॥
चत्वारो द्वीपविदिक्षु, तथा रतिकराचलाः ।
दशयोजनसाहस्रा-ऽऽयामविष्कम्भशालिनः ॥ ३१ ॥
योजनानां सहस्रं तु, यावदुच्चत्वशोभिताः ।
सर्वरत्नमया दिव्याः, झल्लर्याकारधारिणः ॥ ३२ ॥
तत्र द्वयो रतिकरा-चलयोर्दक्षिणस्थयोः ।
शक्रस्येशानस्य पुन-रुत्तरास्थितयोः पृथक् ॥ ३३ ॥
अष्टानां महादेवीनां, राजधान्योऽष्टदिक्षु ताः ।
लक्षोद्वेधा लक्षमानाः, जिनाऽऽयतनभूषिताः ॥ ३४ ॥
सुजाता सौमनसा चा-र्चिमाली च प्रभाकरा ।
पद्मा शिवा शुचिरञ्जने, भूता भूतावतंसिका ॥ ३५ ॥
गोस्तूपा सुदर्शने अ-प्यमलाप्सरसौ तथा ।
रोहिणी नवमी चाथ, रत्ना रत्नोच्चयाऽपि च ॥ ३६ ॥
सर्वरत्ना रत्नसञ्च-या वसुर्वसुमित्रिका ।
वसुभागाऽपि च वसु-धरानन्दोत्तरे अपि ॥ ३७ ॥
नन्दोत्तरकुरुर्देव-कुरुः, कृष्णा ततोऽपि च ।
कृष्णराजीरमारम-रक्षिताः प्राक्क्रमादमूः ॥ ३८ ॥
सर्वर्द्धयस्तासु देवाः, कुर्वते सुपरिच्छदाः ।
चैत्ये अष्टाहिकाः पुण्य-तिथिषु श्रीमदर्हताम् ॥ ३९ ॥
प्राच्येऽञ्जनगिरौ शक्रः, कुरुतेऽष्टाहिकोत्सवम् ।
प्रतिमानां शाश्वतीनां, चतुर्द्वारे जिनालये ॥ ४० ॥
तस्य चाग्रे चतुर्दिक्स्थ-महावापीविचारिषु ।
स्फाटिकेषु दधिमुख-पर्वतेषु चतुर्ष्वपि ॥ ४१ ॥
चैत्येष्वर्हत्प्रतिमानां, शाश्वतीनां यथाविधि ।
चत्वारः सर्वदिक्पालाः, कुर्वतेऽष्टाहिकोत्सवम् ॥ ४२ ॥
ईशानेन्द्रस्त्वौत्तराहे-ऽञ्जनाद्रौ विदधाति तम् ।
तल्लोकपालास्तद्वापी-दधिमुखाद्रिषु कुर्वते ॥ ४३ ॥
चमरेन्द्रो दाक्षिणात्ये-ऽञ्जनाद्रावुत्सवं चरेत् ।
तद्वाप्यन्तर्दधिमुखे-ष्वस्य दिक्पतयः पुनः ॥ ४४ ॥
पश्चिमे जिनशैले तु, बलीन्द्रः कुरुते महम् ।
तद्दिक्पालास्तु तद्वाप्य-न्तर्गतदधिमुखाद्रिषु ॥ ४५ ॥
पर्वोपदिनाऽऽरब्धा-नुपवासान् कृततिथौ ।
कुर्वन्नन्दीश्वरोपास्त्यै, श्रेयसीं श्रियमार्जयेत् ॥ ४६ ॥
भक्त्या चैत्यानि वन्दारु-स्तत्स्तोत्रस्तुतिपाठनात् ।
नन्दीश्वरमुपासीनो-ऽनुपर्वाहस्ततुत्तरम् ॥ ४७ ॥
प्राय. पूर्वाऽऽचार्य-ग्रथितैर्वाक्यमावित श्लोकैः ।
श्रीनन्दीश्वरकल्पो, लिखित इति श्रीजिनप्रभाऽऽचार्यैः" ॥४८।
इति श्रीनन्दीश्वरकल्पः । ती० ४९ कल्प ।

णंदी–नन्दी–स्त्री० । 'णंदि' शब्दार्थे, आ० म० द्वि० । गवि, दे० ना० ४ वर्ग ।

णंदीचुण्णग–नन्दीचूर्णक–न० । 'णंदिचुण्णग' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

णंदीसरवर–नन्दीश्वरवर–पुं० । नन्दीश्वर एव वरश्च मनुष्यद्वीपापेक्षया बहुतरजिनभवनाऽऽदिसद्भावेन तस्य वरत्वादिति । अष्टमे द्वीपे, स्था० ४ ठा० २ उ० । जी० । द्वी० ।

तद्वक्तव्यता चैवम्–

खोदोदं णं समुद्दं नंदीसरवरे णामं दीवे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते तहेव० जाव परिक्खेवो पउमवरवणसंडे परिदारा दारंतरपदेसा जीवा तहेव ०; से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–णंदीसरवरो दीवो णंदीसरवरो दीवो ? । गोयमा ! देसे देसे बहुओ खुड्डा खुड्डियाओ वावीओ० जाव विलपंतियाओ खोदोदगपडिहत्थाओ उप्पातपव्वया सव्ववइरामया अच्छा० जाव पडिरूवा. अदुत्तरं च णं गोयमा ! णंदीसरदीवचक्कवालविक्खंभबहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं चउद्दिसिं चत्तारि अंजणपव्वया पण्णत्ता ।

(खोदोद ण समुद्दमित्यादि) खोदोद,णमिति पूर्ववत् । समुद्रं,नन्दीश्वरवरो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थित, सर्वतः समन्तात्, सपरिक्षिप्य तिष्ठति । चक्रवालविष्कम्भपरिक्षेपाऽऽदिवक्तव्यता प्राग्वत्, यावद् जीवोपपातसूत्रम् । सम्प्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह–(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केन कारणेन एवमुच्यते–नन्दीश्वरवरो द्वीपः नन्दीश्वरवरद्वीप इति ?। भगवानाह–गौतम ! नन्दीश्वरद्वीपे बहवः " खुड्डा खुड्डियाओ वावीओ" इत्यादि प्रागुक्तं सर्वं तावद्वक्तव्यं, यावत् "वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति० जाव विहरंति) नवरमत्र वाप्यादयः क्षोदोदकप्रतिपूर्णा वक्तव्याः, पर्वतकाः, पर्वतकेष्वासनानि, गृहकाणि, गृहकेष्वासनानि, मण्डपकाः, मण्डपकेषु शिलापट्टकाः सर्वाऽऽत्मना वज्रमयाः, शेषं तथैव । (अदुत्तरं च णं गोयमा ! इत्यादि) अथान्यद् गौतम ! नन्दीश्वरे चत्वारो दिशः समाहृताश्चतुर्दिक्, तस्मिन् चक्रवालविष्कम्भेण बहुमध्यदेशभागे एकैकस्यां दिशि एकैकभागेन चत्वारोऽञ्जनकपर्वताः महान्तः । तद्यथा–पूर्वस्यां दिशि, एवं पश्चिमायां, दक्षिण–

स्यामुत्तरस्याम । जी० ३ प्रति० । प्रव० । चं० प्र० । सू० प्र० । स्था० । (अञ्जनकपर्वताः स्वस्थाने उक्ताः) " णंदीसरवरदीवस्स णं दीवस्स अतो सत्त दीवा पण्णत्ता । तं जहा-जंबुद्दीवे, धायइसंडे, पुक्खरवरे, वारुणिवरे, खीरवरे, घयवरे, खोयवरे । णंदीसरवरस्स णं दीवस्स अतो सत्त समुद्दा पएणत्ता । तं जहा-लवणे, कालोए, पुक्खरोदे, वरुणोदे, खीरोदे, घओदे, खोओए । स्था० ७ ठा० ।

णंदीसरवरोद-नन्दीश्वरवरोद-पुं० । नन्दीश्वरद्वीपस्याश्रितः समुद्रे, जी० ।

णंदीसरवरे णं दीवे णंदीसरवरोदे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए० जाव सव्वं तहेव अट्ठो, जहा खोदोदगस्स० जाव सुमणसोमणसा य अत्थ दो देवा महिड्ढिया० जाव परिवसंति, सेसं तहेव० जाव तारग्गं ॥

"णंदीसरवरे णं" इत्यादि । नन्दीश्वरवरं,णमिति पूर्ववत् । नन्दीश्वरवरोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्य तिष्ठति । यथैव क्षोदोदकसमुद्रस्य वक्तव्यता, तथैवास्यापि अर्थसहिता वक्तव्यता, नवरमत्र सुमनसौमनसौ च द्वौ देवौ वक्तव्यौ, तावतिशयेन स्फीताविति । जी० ३ प्रति० ।

णंदुत्तर-नन्दोत्तर-पुं० । भवनपतीन्द्राणां रथानीकाधिपतिषु, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

णंदुत्तरा-नन्दोत्तरा-स्त्री० । उत्तरपौरस्त्ये रतिकरपर्वते ईशानस्य देवेन्द्रस्य कृष्णाया अग्रमहिष्या राजधान्याम्, जी० ३ प्रति० । स्वनामख्यातायां शाश्वतनन्दापुष्करिण्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ० । मन्दरस्य पर्वतस्य रिष्टकूटवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, ज० ५ वक्ष० । द्वी० । स्था० । ति० । ती० । जी० । आ० म० । स्वनामख्यातायां श्रेणिकमहाराजभार्यायाम्, सा च वीरजिनान्तिके प्रव्रज्य सिद्धा, इत्यन्तकृद्दशानां सप्तमे वर्गे तृतीयेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ७ वर्ग० १ अ० । ती० ।

णकर-नगर-न० । " चूलिकापैशाचिके तृतीयचतुर्थयोराद्यद्वितीयौ " ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति गस्य कः । प्रा० ४ पाद । प्रांशुप्राकारबद्धे सन्निवेशे, आचा० १ श्रु० ७ अ० ६ उ० ।

णक्क-नासिक्य-न० । नासिकान्तर्नाड्याम, विपा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० ।

नक्क-न० । ' नाक ' इति ख्याते जलचरभेदे, प्रज्ञा० १ पद । प्रश्न० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० ।

णक्ख-नख-पु० । "सेवाऽऽदौ वा" ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति खद्वित्वम् । प्रा० २ पाद । करुरुहे, जी० ३ प्रति० । औ० । करजे, मदनाङ्कुशे च । पु० । न० । हैम० । नखेषु, दे० ना० ४ वर्ग ।

णक्खछ्णिया-नखार्चनिका-स्त्री० । नखहरणिकायाम्, " नक्खअणं नखकटाई" नखार्थं नखहरणिका, सा नखच्छेदनार्थं, कण्टकाऽऽदिशल्योद्धरणार्थं वा गृह्यते । बृ० १ उ० ।

णक्खत्त-नक्षत्र-न० । ज्योतिष्कभेदे, स० प० ।

विषयसूची-

(१) योग इति वस्तुनो नक्षत्रजातस्य क्रमेण चन्द्रसूर्यैः सह संपातविषये पञ्च प्रतिपत्तीरुद्भाव्य भगवन्मतनिरूपणम् ।
(२) यानि नक्षत्राणि प्रत्येकं द्वे द्वे, तेषां प्रतिपादनम् ।
(३) अष्टाविंशतेर्नक्षत्राणामष्टाविंशतिदेवतानां सामान्यतो नामनिदर्शनम् ।
(४) जम्बूद्वीपेऽभिजिद्वर्जितैः सप्तविंशतिनक्षत्रैर्व्यवहारो भवतीति प्रतिपादनम् ।
(५) येषु नक्षत्रेषु गमनप्रस्थानाऽऽदीनि कार्याणि कर्तव्यानि, येषु नेति, तदुद्घाटनम् ।
(६) पादोपगमनलोचकर्माऽऽदीनि येषु नक्षत्रेषु कर्तव्यानि वर्ज्यनक्षत्राण्युदस्य तेषां निरूपणम् ।
(७) क्षिप्रमृदुसंज्ञकानि स्वाध्यायाऽऽदिनक्षत्राणि ।
(८) तपःकर्मोपकरणगणसंग्रहनक्षत्रप्ररूपणं, करणप्ररूपणं च ।
(९) ज्ञानवृद्धिकराणां नक्षत्राणां निदर्शनम् ।
(१०) प्रतिनक्षत्रं मुहूर्तपरिमाणविचारे चन्द्रेण सार्द्धं नक्षत्रयोगप्रतिपादनम् ।
(११) तथैव सूर्येणापि साकं तदभिधानम् ।
(१२) नक्षत्राणामादानविसर्गपरिज्ञाननिमित्तनिरूपणम् ।
(१३) चन्द्रसूर्ययोगे नक्षत्रशोधनपरामर्शः ।
(१४) यावन्ति भागानि नक्षत्राणि चन्द्रेण सह युज्यन्ते, तेषां प्रतिपादनम् ।
(१५) यानि प्रमर्दयोगीनि नक्षत्राणि, तेषामभिधानम् ।
(१६) यावन्ति नक्षत्राणि यावन्ति भागानि पूर्णिमाऽमावास्यां, तत्परामर्शः ।
(१७) यद् नक्षत्रं यावच्चारं भवति, तन्निर्देशः ।
(१८) यावन्ति नक्षत्राणि स्वयमस्तगमनाहोरात्रपरिसमापकतया च मासं नयन्ति, तन्निरूपणम् ।
(१९) येषां नक्षत्राणां या देवतास्तासामभिजिन्नक्षत्रत उत्तराषाढापर्यन्तं विशिष्य विवेचनम् ।
(२०) नक्षत्राणां गोत्राणि ।
(२१) नक्षत्रेषु यानि भोजनानि, तन्निरूपणम् ।
(२२) यन्नक्षत्रं यद्द्वारिकं, तत्प्रदर्शनम् ।
(२३) नक्षत्रविचयनिदर्शनम् ।
(२४) सायं प्रातश्च नक्षत्रचन्द्रयोगविचारः ।
(२५) पूर्णिमासु चन्द्रनक्षत्रयोगस्य सूर्यनक्षत्रयोगस्य च प्ररूपणम् ।
(२६) यस्मिन् देशे यन्नक्षत्रं यावता कालेन भूयश्चन्द्रेण सह सूर्येण वा साकं योगमुपागच्छति, तावतः कालस्य प्ररूपणम् ।
(२७) नक्षत्राणां संस्थानानि ।
(२८) नक्षत्राणामन्तर्बहिश्च चारप्रतिपादनम् ।

(१) तत्संख्या-

ता जोए ति वत्थुस्स आवलियनिवाते आहिते ति वदेज्जा । ता कहं ते जोगे ति वत्थुस्स आवलियनिवाते आहिते ति वदेज्जा ? । तत्थ खलु इमाओ पंच पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थेगे एवमाहंसु-ता सव्वे वि णं णक्खत्ता कत्तिआदीआ भरणीपज्जवसिआ आहितेति वदेज्जा, एगे

एवमाहंसु । १ । एगे पुण एवमाहंसु–ता सव्वे वि णं णक्खत्ता महाऽऽदीआ अस्सेसापज्जवसिआ आहितेति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु । २ । एगे पुण एवमाहंसु–ता सव्वे वि णं णक्खत्ता धणिट्ठाऽऽदिया सवणपज्जवसिया आहिता ति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु । ३ । एगे पुण एवमाहंसु–ता सव्वे वि णं णक्खत्ता अस्सिणीआदिआ रेवतिपज्जवसिआ आहिता ति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु । ४ । एगे पुण एवमाहंसु–ता सव्वे वि णक्खत्ता भरणीआदिआ अस्सिणीपज्जवसिता आहितेति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु ।५। वयं पुण एवं वदामो–ता सव्वे वि णं णक्खत्ता अभिजिताऽऽदिआ उत्तरासाढापज्जवसिआ आहिता ति वदेज्जा । तं जहा–अभिजिए, सवणो, धणिट्ठा, सतभिसता, पुव्वभद्दवता, उत्तराभद्दवता, रेवती, अस्सिणी, भरणी, कत्तिया, रोहिणी, मिगसिरं, अद्दा, पुणव्वसू, पुस्सो, असिलेसा, मघा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साती, विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा ।

अत्र चायमर्थाधिकारः । यथा–योगमिति किं भगवन् ! त्वया समाख्यायत इति ? । ततस्तद्विषयं निर्वचनसूत्रमाह–" ता जोगे ति वत्थुस्स " इत्यादि । ' ता ' इति । आस्तां तावदन्यत्कथनीयम्, इदानीं तावदेतदेव कथ्यते–योग इति वस्तुनो नक्षत्रजातस्य (आवलियानिवाते त्ति) आवलिकया क्रमेण, निपातश्चन्द्रसूर्यैः सह संपातः, आख्यातो मयेति वदेत् स्वशिष्येभ्यः । एवमुक्ते भगवान् गौतमः पृच्छति–" ता कह ते " इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत्, कथं केन प्रकारेण, भगवन् ! त्वया योग इति योगस्य वस्तुनो नक्षत्रजातस्याऽऽवलिकानिपातः, स आख्यात इति वदेत् ? । भगवानाह–" तत्थ खलु " इत्यादि । तत्र तस्मिन् नक्षत्रजातस्याऽऽवलिकानिपातविषये, खल्विमाः पञ्च प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा–तत्र तेषां पञ्चानां परतीर्थिकानां मध्ये, एके परतीर्थिका एवमाहुः–' ता ' इति पूर्ववत् । सर्वाण्यपि नक्षत्राणि कृत्तिकाऽऽदीनि भरणीपर्यवसानानि प्रज्ञप्तानि । क्लीबत्वे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । तत्रैवोपसंहारमाह–" एगे एवमाहंसु १ " । एवं शेषप्रतिपत्तिचतुष्टयगतान्यपि सूत्राणि परिभावनीयानि । तदेवं परप्रतिपत्तीरुपदर्श्य संप्रति स्वमतमुपदर्शयति–" वयं पुण " इत्यादि । वयं पुनरेवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह–" ता सव्वे वि णं " इत्यादि । " ता " इति पूर्ववत् । सर्वाण्यपि नक्षत्राण्यभिजिदादीनि, उत्तराषाढापर्यवसानानि प्रज्ञप्तानि । कस्मात् ?, इति चेत् । उच्यते–इह सर्वेषामपि सुषमसुषमाऽऽदिरूपाणां कालविशेषाणामादिर्युगम्, " एए उ सुसमसुसमादओ अद्धाविसेसो जुगाइणा सह पवत्तते, जुगं तेण सह समप्पंति, इति श्रीपादलिप्तसूरिवचनप्रामाण्यात्, युगस्य चाऽऽदिः प्रवर्तते श्रावणे मासि बहुलपक्षे प्रतिपदि तिथौ बालवकरणे अभिजिति नक्षत्रे चन्द्रेण सह योगमुपगच्छति । तथा चोक्तं ज्योतिष्करण्डके–

" सावणबहुलपडिवए, बालवकरणे अभीइणक्खत्ते ।
सव्वत्थ पढमसमए, जुगस्स आइं वियाणाहि ॥ १ ॥ "

अत्र (सव्वत्थेति) भरते ऐरवते महाविदेहे च, शेषं सुगमम् । ततः सर्वेषामपि कालविशेषाणामादौ चन्द्रयोगमधिकृत्याभिजिन्नक्षत्रस्य प्रवर्त्तमानत्वादभिजिदादीनि नक्षत्राणि प्रज्ञप्तानि । तान्येव तद् यथेत्यादिनोपदर्शयति–"अभिई सवणो" इत्यादि । सू० प्र० १० पाहु० १ पाहु० ।

(२) एतानि नक्षत्राणि प्रत्येकं द्वे द्वे–

दो कत्तियाओ, दो रोहिणीओ, दो मियसिराओ, दो अद्दाओ, एवं भाणियव्वं–

"कत्तिय रोहिणि मियसिर, अद्दा य पुणव्वसू य पुस्सो य ।
तत्तो वि अस्सलेसा, महा य दो फग्गुणीओ य ॥ १ ॥
हत्थो चित्ता साई, य विसाहा होंति अणुराहा ।
जेट्ठा मूलो पुव्वा–आसाढा उत्तरा चेव ॥ २ ॥
अभिई सवण धणिट्ठा, सयभिसया दो य होंति भद्दवया ।
रेवइ अस्सिणि भरणी, णेयव्वा आणुपुव्वीए " ॥३॥

एवं गाहाणुसारेण णायव्वं० जाव दो भरणीओ ।

द्वे कृत्तिके नक्षत्रापेक्षया, न तु तारकाऽपेक्षया, इत्येवं सर्वत्रेति । " कत्तिए " इत्यादि गाथात्रयेण नक्षत्रसूत्रसंग्रहः ।

(३) कृत्तिकाऽऽदीनामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां क्रमेणाग्न्यादयोऽष्टाविंशतिरेव देवता भवन्ति । ता आह–

दो अग्गी, दो पयावई, दो सोमा, दो रुद्दा, दो अदिई, दो बहस्सई, दो सप्पा, दो पिई, दो भगा, दो अज्जमा, दो सविया, दो तट्ठा, दो वाऊ, दो इंदग्गी, दो मित्ता, दो इंदा, दो निरई, दो आऊ, दो विस्सा, दो बम्हा, दो विण्हू, दो वसू, दो वरुणा, दो अया, दो विविद्धी, दो पुसा, दो अस्सा, दो जमा ।

द्वावग्नी १, एवं प्रजापती २, सौमौ ३, रुद्रौ ४, अदिती ५, बृहस्पती ६, सर्पौ ७, पितरौ ८, भगौ ९, अर्यमणौ १०, सवितारौ ११, त्वष्टारौ १२, वायू १३, इन्द्राग्नी १४, मित्रौ १५, इन्द्रौ १६, निर्ऋती १७, आपः १८, विश्वौ १९, ब्रह्माणौ २०, विष्णू २१, वसू २२, वरुणौ २३, अजौ २४, विवृद्धी (२५)। ग्रन्थान्तरे अहिर्बुध्नावुक्तौ २५ । पूषणौ २६, अश्विनौ २७, यमाविति २८ ।

ग्रन्थान्तरे पुनरश्विनीत आरभ्यैता एवमुक्ताः–

"अश्वियमदहनकमलज–शशिशूलभृददितिजीवफणिपितरः ।
योन्यर्यमदिनकृत्त्व–ष्टृपवनशक्राग्निमित्राऽऽख्याः ॥ १ ॥
ऐन्द्रो नैर्ऋतितोऽय, विश्वौ ब्रह्मा हरिर्वसुर्वरुणः ।
अजपादोऽहिर्बुध्न्यः, पूषा चेतीश्वरा भानाम् " ॥ २ ॥

स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

(४) जंबुद्दीवे दीवे अभिईवज्जेहिं सत्तावीसाए णक्खत्तेहिं संववहारे वट्टति ।

जम्बूद्वीपे, न धातकीखण्डाऽऽदौ, अभिजिद्वर्जैः सप्तविंशत्या नक्षत्रैर्व्यवहारः प्रवर्त्तते, अभिजिन्नक्षत्रस्योत्तराषाढचतुर्थपादानुप्रवेशनादिति । स० २७ सम० ।

(५) केषु नक्षत्रेषु कानि कार्याणि गमनप्रस्थानाऽऽदीनि कर्त्तव्यानि-

पुस्सऽस्सिणि मिगसिर रे-वई य हत्थो तहेव चित्ता य ।
अणुराह जिट्ठ मूलो, नव णक्खत्ता गमणसिद्धा ॥११॥
मिगसिर महा य मूलो, विसाह तहचेव होइ अणुराहा ।
हत्थुत्तर रेवइ अ-स्सिणी य सवणे य णक्खत्ते ॥१२॥
एएसु य अद्धाणं, पत्थाणं ठाणयं च कायव्वं ।
जइ य गहुत्थ न चिट्ठइ, संझामुक्कं च जइ होइ ॥१३॥
उप्पन्नन्नत्तपाणो, अध्दाणम्मि उ सया उ जो होइ ।
फलपुप्फवग्गुवेओ, गओ वि खेमेण सो एइ ॥ १४ ॥

सन्ध्यागताऽऽदीनि-

संझागयं रविगयं, विड्डेरं सग्गहं विलंबिं च ॥
राहुहय गहभिन्नं, च वज्जए सत्त नक्खत्ते ॥ १५ ॥
अत्थमणे संझागय, रविगय जह पट्ठिओ उ आइच्चो ।
विड्डेरमविद्दारिय, सग्गह कूरग्गहठियं तु ॥ १६ ॥
आइच्चपिट्ठओ जं, विलंबि राहूहयं जहिँ गहणं ।
मज्झेण गहो जस्स उ, गच्छइ तं होइ गहभिन्नं ॥१७॥
संझागयम्मि कलहो, होइ विवाओ विलंबि नक्खत्ते ।
विड्डेरे परविजओ, आइच्चगए अणिव्वाणि ॥ १८ ॥
जं सग्गहम्मि कीरइ, नक्खत्ते तत्थ निग्गहो होइ ।
राहुहयम्मि य मरणं, गहभिन्ने सोणिउग्गालो ॥ १९ ॥
संझागयं गहगयं, आइच्चगयं च दुब्वलं रिक्खं ।
संझाऽऽइच्चविमुक्कं, गहमुक्कं चेव बलियाइं ॥ २० ॥

(६) पादोपगमनलोचकर्माऽऽदीनि-

पुस्सो हत्थो अभिई य, अस्सिणी भरणी तहा ।
एएसु य रिक्खेसु य, पाओवगमणं करे ॥ २१ ॥
सवणेण धणिट्ठाए, पुणव्वसू न वि करिज्ज निक्खमणं ।
सयभिसयस्स न बंभे, विज्जाऽऽरंभे पविसिज्जा ॥२२॥
हत्थाइ पंच रिक्खा, वत्थुस्स पसत्थगा विणिद्दिट्ठा ।
उत्तर तिन्नि धणिट्ठा, पुणव्वसू रोहिणी पुस्सो ।२३। द०प०।
पुणवसुणा पुस्सेणं, सवणेण धणिट्ठया ।
एएहिँ चउरिक्खेहिं, लोयकम्माणि कारए ॥ २४ ॥
द० प० । विशे० । व्य० । आ० म० । प० व० ।

कत्तियाहि विसाहाहिं, मघाहिँ भरणीहि य ।
एएहिँ चउरिक्खेहिं, लोयकम्माणि वज्जए ॥ २६ ॥
तिहिं उत्तराहिँ तह रो-हिणीहिँ कुज्जा उ सेहनिक्खमणं ।
सेहोवट्ठावण कुज्जा, अणुन्ना गणिवायए ॥ २७ ॥
गणसंगहणं कुज्जा, गणहर चेव ठावए ।
उग्गह वसहिट्ठाणं, थावराणि पवत्तए ॥ २८ ॥

(७) स्वाध्यायाऽऽदिनक्षत्राणि क्षिप्रमृदुसंज्ञकानि-

पुस्सो य हत्थो अभिई, अस्सिणी य तहेव य ।
चत्तारि खिप्पकारीणि, विज्जाऽऽरंभेसु सोहणा ॥२९॥
विज्जाणं धारणं कुज्जा, बंभजोगे य साहए ।
सज्झायं च अणुन्नं च, उद्देसो य समुद्देसो ॥ ३० ॥
अणुराहा रेवई चेव, चित्ता मिगसिरं तहा ।
मिऊ णेयाणि चत्तारि, मिउकम्मं तेसु कारए ॥ ३१ ॥
भिक्खाचरणऽमत्ताणं, कुज्जा गहणधारणं ।
संगहोवग्गहं चेव, बालवुड्ढाण कारए ॥ ३२ ॥
(८) अद्दा अस्सेस जिट्ठा य, मूलो चेव चउत्थओ ।
गुरुणो कारए पडिमं, तवोकम्मं च कारए ॥ ३३ ॥
दिव्वमाणुस्सतेरिच्छ-उवसग्गेऽहियासए ।
गुरूसु चरणकरणं, उग्गहोवग्गहं करे ॥ ३४ ॥
महा भरणि पुव्वाणि, तिन्निओ य वियाहिया ।
एएसु य तवं कुज्जा, सब्भितरयबाहिरं ॥ ३५ ॥
तिन्नि सयाणि सट्ठाणि, तवोकम्मा य आहिया ।
उग्गनक्खत्तजोएसु, तेसुमन्नतरं करे ॥ ३६ ॥
कत्तिया य विसाहा य, उण्हा एयाणि दुन्निओ ।
लिंपणं सिंचणं कुज्जा, संथारग्गहधारणं ॥ ३७ ॥
उवगरणभंडमाईणं, विवायं चीवराण य ।
उवगरणं विज्जागं च, आयरियाणं च कारए ॥ ३८ ॥
धणिट्ठा सयभिसा साई, सवणो य पुणव्वसू ।
एएसु गुरुसुस्सूसं, चेइयाणं च पूयणं ॥ ३९ ॥
सज्झायकरणं कुज्जा, विज्जाऽऽरम्भे य कारए ।
चेओवट्ठावणं कुज्जा, अणुन्नं गणिवायए ॥ ४० ॥
गणसंगहणं कुज्जा, सेहनिक्खमणं तहा ।
संगहोवग्गहं कुज्जा, गणावच्छेइयं तहा ॥ ४१ ॥
बव१ बालवं च२ तह को-लवं च३ तेतीलयं४ गराइं च५ ।
वणियं६ विट्ठी७ य तहा, सुद्धपक्खिवए निसाईया ॥४२॥
सउणि चउप्पय नागं, किंतुग्घं च करणा धुवा हुंति ।
किण्हचउद्दसिरत्तिं, सउणी पडिवज्जए करणं ॥ ४३ ॥
काऊण तिहिं वि ऊणं, जम्हेगो साहए न पुण काले ।
सत्तहि हरिज्ज भागं, जं सेसं तं भवे करणं ॥ ४४ ॥
द० प० । स० । स्था० । च० प्र० ।

(९) ज्ञानवृद्धिकराणि नक्षत्राणि-

दस नक्खत्ता णाणवुड्ढिकरा पण्णत्ता । तं जहा-
"मिगसिर अद्दा पुस्सो, तिन्नि अ पुव्वाइ मूलमस्सेसा ।
हत्थो चित्ता य तहा, दस वुड्ढिकरा य नाणस्स" ॥१॥
स० १० सम० । द० प० ।

(१०) चन्द्रनक्षत्रयोगः-

ता कहं ते मुहुत्तग्गे आहिते ति वदेज्जा ?। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ते, जे णं णव मुहुत्ते,

सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सार्द्धं जोयं जोएति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं पन्नरस मुहुत्ते णं चंदेण सर्द्धिं जोयं जोइंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सर्द्धिं जोग जोइति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं पणतालीस मुहुत्ते णं चंदेण सर्द्धिं जोगं जोइति । ता एएसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं कयरे णक्खत्ते, जे णं नव मुहुत्ते, सत्तावीसं च सत्तट्ठिभाए मुहुत्तस्स चंदेण सर्द्धिं जोय जोएवि ? । कयरे णक्खत्ता, जे ण पणरस मुहुत्ते चंदेण सर्द्धिं जोयं जोइंति ? । कयरे णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चदेण सर्द्धिं जोगं जोइति ? । कयरे णक्खत्ता, जे णं पणयालीसं मुहुत्ते चंदेण सर्द्धिं जोय जोइंति ?। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं तत्थ जे ते णक्खत्ते,जे णं णव मुहुत्ते,सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सर्द्धिं जोयं जोएति; से णं एगे अभिई। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं पन्नरस मुहुत्ते चंदेण सर्द्धिं जोय जोइति; ते ण छ। त जहा-सतभिसया, भरणी, अद्दा, अस्सेसा, साती, जेट्ठा । तत्थ जे णं तीसं मुहुत्तं चंदेण सर्द्धिं जोगं जोइति; ते पन्नरस । तं जहा-सवणो, धणिट्ठा, पुव्वाभद्दवता, रेवती, अस्सिणी,कत्तिया, मगसिरं, पुस्सो, महा, पुव्वाफग्गुणी,हत्थो,चित्ता,अणुराहा, मूलो, पुव्वासाढा । तत्थ जे ते णक्खत्ता, ते णं पणतालीस मुहुत्ते चदेण सर्द्धिं जोगं जोइंति, ते णं छ । त जहा-उत्तराभद्दवता, रोहिणी, पुणव्वसू, उत्तराफग्गुणी, विसाहा, उत्तरासाढा ।

'ता' इति पूर्ववत्। कथ भगवन् ! प्रतिनक्षत्र मुहूर्ताग्र मुहूर्त्तपरिमाणमाख्यातमिति वदेत् ?। एवमुक्ते भगवानाह-"ता एएसि ण" इत्यादि ।'ता' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशति-नक्षत्राणा मध्ये, अस्ति तन्नक्षत्र, यन्नव मुहूर्तान्, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तविंशतिसप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण सार्द्धं योग युनक्ति उपैति । तथाऽस्ति निपातत्वादव्ययत्वाद्वा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि पञ्चदश मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगमुपयान्ति । तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि त्रिंशत मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगमश्नुवते। तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि पञ्चचत्वारिंशत मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योग युञ्जन्ति। एव सामान्येन भगवतोक्ते विशेषनिर्द्धारणार्थं भगवान् पृच्छति गौतम -" ता एएसि ण " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये,कतरद् तन्नक्षत्र, यन्नव मुहूर्त्तान्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशतिसप्तषष्टिभागान् यावच्चन्द्रेण सह योग युनक्ति ?। तथा कतराणि तानि नक्षत्राणि, यानि पञ्चदश मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योग युञ्जन्ति ?। तथा कतराणि तानि नक्षत्राणि, यानि त्रिंशत मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगमश्नुवते ?। तथा कतराणि तानि नक्षत्राणि,यानि पञ्चचत्वारिंशत मुहूर्त्तान् यावच्चन्द्रेण सार्द्धं योगमुपयान्ति ? । एव गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह-" ता एएसि ण " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामष्टाविंशतिनक्षत्राणा मध्ये यन्नक्षत्र नव मुहूर्त्तान्,एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तविंशतिसप्तषष्टिभागान् यावच्चन्द्रेण सह योग युनक्ति । तदेकमभिजिन्नक्षत्रमवसेयम् । कथमिति चेत् ?। उच्यते-इह अभिजिन्नक्षत्र सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रस्यैकविंशतिभागान् चन्द्रेण सह योगमुपैति । ते चैकविंशतिरपि भागा मुहूर्त्तगतभागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि षट्शतानि त्रिंशदधिकानि ६३० । तथा चैतावान् कालमधिकृत्य सीमाविस्तारोऽभिजिन्नक्षत्रस्यान्यत्राप्युक्तः-"छ च्चेव सया तीसा,भागाण अभिइ सीमविक्खंभो । दिट्ठो सव्वदरिसीहिं, सव्वेहिंऽणतणाणीहिं ॥ १ ॥ " तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा नव मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागाः । ९ । २७/६७ । उक्त च-" अभिइस्स चदजोगो, सत्तट्ठी खण्डिओ अहोरत्तो । भागा य एगवीस, ते पुण अहिया नव मुहुत्ता " ॥१॥ तथा " तत्थ " इत्यादि । तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि पञ्चदश मुहूर्तान् यावच्चन्द्रेण सह योगमश्नुवते, तानि षट्। तद्यथा-" सतभिसया " इत्यादि । तथाहि-एतेषां षण्णामपि नक्षत्राणा प्रत्येक सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रस्य सत्कान् सार्द्धान् त्रयस्त्रिंशद्भागान् यावच्चन्द्रेण सह योगो भवति, ततो मुहूर्त्तगतसप्तषष्टिभागकरणार्थं त्रयस्त्रिंशत् त्रिंशता गुण्यते, जातानि नवशतानि नवत्यधिकानि ९९० । यदपि सार्द्धं, तदपि त्रिंशता गुणयित्वा द्विकेन भज्यते,लब्धाः पञ्चदश मुहूर्तस्य सप्तषष्टिभागाः, ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जात पूर्वराशिः सहस्र पञ्चोत्तरम् १००५ । तथा चैतेषां प्रत्येक कालमधिकृत्य सीमाविस्तारो मुहूर्त्तगतसप्तषष्टिभागाना पञ्चोत्तर सहस्रमुक्त -"सयभिसया भरणीए, अद्दा अस्सेस साइ जिट्ठा य। पचोत्तर सहस्स, भागाण सीमविक्खभो ॥१॥ " अस्य पञ्चोत्तरसहस्रस्य सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते,लब्धाः पञ्चदश मुहूर्ता। उक्त च-"सयभिसया भरणीओ, अद्दा अस्सेस साइ जिट्ठा य। एए छ णक्खत्ता, पन्नरस मुहुत्तसजोगा ॥ १ ॥ " तथा-तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि त्रिंशत मुहूर्तान् यावच्चन्द्रेण सह योग युञ्जन्ति, तानि पञ्चदश। तद्यथा-" सवणो " इत्यादि । तथाहि-एतेषा कालमधिकृत्य प्रत्येक सीमाविष्कम्भो मुहूर्तगतसप्तषष्टिभागानां दशोत्तरे द्वे सहस्रे २०१० । ततस्तयोः सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रिंशन्मुहूर्ताः । तथा-तत्र यानि नक्षत्राणि पञ्चचत्वारिंशत मुहूर्तान् यावच्चन्द्रेण सार्द्धं योगं युञ्जन्ति, तानि षट्। तद्यथा-उत्तरभाद्रपदा इत्यादि । तेषां हि प्रत्येक कालमधिकृत्य सीमाविष्कम्भो मुहूर्तगतसप्तषष्टिभागाना त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि ३०१५ । ततस्तेषा सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धाः पञ्चचत्वारिंशदेव मुहूर्ता लभ्यन्ते ।

उक्त च-

" तिन्नेव उत्तराइ,पुणव्वसू रोहिणी विसाहा य ।
एए छ नक्खत्ता, पणयालमुहुत्तसजोगा ॥ १ ॥
अवसेसा नक्खत्ता, पनरसए हुति तीसइमुहुत्ता ।
चदम्मि एस जोगो, नक्खत्ताण समक्खाओ ॥ २ ॥ "

तदेवमुक्तो नक्षत्राणा चन्द्रेण सह योग। ।

(११) सम्प्रति सूर्येण सह तमभिधित्सुराह-

ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ते, जे णं चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते णं सूरेण सर्द्धिं

जोयं जोएंति । अत्थि णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एगवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति । अत्थि णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते बारस य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति । अत्थि णक्खत्ता, जे णं वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति । ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं कतरे णक्खत्ते, जं चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते णं सूरेण सद्धिं जोयं जोएति ?। कतरे णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एगवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति ?। कतरे णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते बारस य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति ? । कतरे णक्खत्ता, जे णं वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति । ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं, तत्थ जे से णक्खत्ते, जे णं चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएति, से णं एगे अभिई । तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एगवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति, ते णं छ । तं जहा-सतभिसया, भरणी, अद्दा, असेसा, साती, जेट्ठा । तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते दुवालस य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति, ते णं पण्णरस । तं जहा-सवणो, धणिट्ठा, पुव्वभद्दवता, रेवती, अस्सिणी, कत्तिया, मग्गसिरं, पुस्सो, महा, पुव्वाफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, अणुराधा, मूलो, पुव्वासाढा । तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं वीस अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोइंति, ते णं छ । तं जहा-उत्तराभद्दवता, रोहिणी, पुणव्वसू, उत्तराफग्गुणी, विसाहा, उत्तरासाढा ।

"ता एतेसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामनन्तरोदितानामष्टाविंशतिनक्षत्राणां मध्ये अस्ति तन्नक्षत्रं, यच्चतुरो अहोरात्रान् षट् च मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण सार्द्धं योगमुपैति । तथाऽस्तीति सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि षडहोरात्रानेकविंशतिं च मुहूर्त्तान् सूर्येण सार्द्धं योगं युञ्जन्ति । तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि त्रयोदश अहोरात्रान्, द्वादश च मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण सह योगमुपयान्ति । तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि विंशतिमहोरात्रान् त्रीन् मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण समं योगं युञ्जन्ति । एवं भगवता सामान्येनोक्ते विशेषावगमनिमित्तं भूयोऽपि भगवान् गौतमः पृच्छति-"ता एतेसि णं" इत्यादि सुगमम् । भगवान् निर्वचनमाह-"ता एतेसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यन्नक्षत्रं चतुरो अहोरात्रान् षट् च मुहूर्त्तान् सूर्येण सार्द्धं योगं युनक्ति, तदेकमभिजिन्नक्षत्रमवसेयम् ।

तथाहि-सूर्ययोगविषयं पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शितमिदं करणम्-

"जं रिक्खं जावइए, वच्चइ चंदेण भाग सत्तट्ठी ।
तं पणभागे राइं-दियस्स सूरेण तावइए" ॥ १ ॥

अस्या अक्षरगमनिका-यत् ऋक्षं नक्षत्रं यावतो रात्रिन्दिवस्याहोरात्रस्य सम्बन्धिनः सप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण सह योगं व्रजति, तन्नक्षत्रं रात्रिन्दिवस्य पञ्च भागान् तावतः सूर्येण समं व्रजति । तत्राभिजिदेकविंशतिसप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण समं वर्तते, तत एतावतः पञ्चभागानहोरात्रस्य सूर्येण समं वर्तमानमवसेयम् । एकविंशतिश्च पञ्चभिर्भागे हृते लब्धाश्चत्वारोऽहोरात्राः, एकः पञ्चमो भागोऽवतिष्ठते, स मुहूर्त्ताऽऽनयनाय त्रिंशता गुण्यते, जातास्त्रिंशत्, तस्याः पञ्चभिर्भागे हृते लब्धाः षण्मुहूर्त्ता इति ।

उक्तं च-

"अभिई छ च मुहुत्ते, चत्तारि य केवले अहोरत्ते ।
सूरेण समं वच्चइ, एत्तो सेसाण वुच्छामि ॥ १ ॥"

तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि षडहोरात्रानेकविंशतिं च मुहूर्त्तान् यावत् सूर्येण समं योगमुपयान्ति । तानि षट् । तद्यथा-"सयभिसया" इत्यादि । तथाहि-एतानि नक्षत्राणि प्रत्येकं चन्द्रेण समं सार्द्धान् त्रयस्त्रिंशत्संख्याकान् सप्तषष्टिभागानहोरात्रस्य व्रजन्ति, अपार्द्धक्षेत्रत्वादेतेषाम्, तत एतावतः पञ्चभागानहोरात्रस्य सूर्येण समं व्रजन्तीति प्रत्येतव्यं, प्रागुक्तकरणप्रामाण्यात् । त्रयस्त्रिंशतश्च पञ्चभिर्भागे हृते लब्धाः षडहोरात्राः, पश्चादवतिष्ठन्ते सार्द्धास्त्रयः पञ्चभागाः, ते सवर्णनायां जाताः सप्त, मुहूर्त्ताऽऽनयनाय त्रिंशता गुण्यन्ते, जाते द्वे शते दशोत्तरे २१० । एते च मुहूर्त्तार्द्धगते, ततः परिपूर्णमुहूर्त्ताऽऽनयनाय दशभिर्भागो ह्रियते, लब्धा एकविंशतिर्मुहूर्त्ताः । उक्तं च-"सयभिसया भरणीओ, अद्दा अस्सेस साइ जिट्ठा य । वच्चंति मुहुत्ते इग-वीसं छच्चेवऽहोरत्ते ॥१॥"

तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि त्रयोदश अहोरात्रान् द्वादश मुहूर्त्तान् यावत् सूर्येण समं योगं युञ्जन्ति, व्रजन्तीति पाठान्तरे । तानि पञ्चदश । तद्यथा-"सवणो" इत्यादि । तथाहि-अमूनि परिपूर्णान् सप्तषष्टिभागान् चन्द्रेण समं व्रजन्ति, ततः सूर्येण सह एतानि पञ्चभागानप्यहोरात्रस्य सप्तषष्टिसंख्यान् गच्छन्ति । सप्तषष्टेश्च पञ्चभिर्भागे हृते लब्धास्त्रयोदश अहोरात्राः, शेषौ च द्वौ भागौ तिष्ठतः, तौ त्रिंशता गुण्येते, जाता षष्टिः, तस्याः पञ्चभिर्भागे हृते लब्धा द्वादश मुहूर्त्ताः । उक्तं च-"अवसेसा नक्खत्ता, पनरस वि सूरसहगया जंति । बारस चेव मुहुत्ते, तेरस य समे अहोरत्ते" ॥१॥ तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि विंशतिमहोरात्रान् त्रीन् मुहूर्त्तान् यावत्सूर्येण समं योगमश्नुवते, तानि षट् । तद्यथा-"उत्तरभद्दवया" इत्यादि । एतानि हि षडपि नक्षत्राणि प्रत्येकं चन्द्रेण समं सप्तषष्टिभागानां, शतमेकस्य च सप्तषष्टिभागस्यार्द्धं व्रजन्ति । तत एतावतः पञ्च भागान् अहोरात्रस्य सूर्येण समं व्रजन्तीत्येवमवगन्तव्यम्, शतस्य च पञ्चभिर्भागे हृते लब्धा विंशतिरहोरात्राः । यदपि चैकस्य पञ्चभागस्यार्द्धमुद्वरति, तदपि त्रिंशता गुण्यते, जाता त्रिंशत्, तस्या दशभिर्भागे हृते लब्धास्त्रयो मुहूर्त्ताः । सू० प्र० १० पाहु० २ पाहु० । ज्यो० ।

(१२) नक्षत्राणामादानविसर्गपरिज्ञाननिमित्तनिरूपणम्-

एएसिं रिक्खाणं, आयाणविसग्गजाणणाकरणं ।
चंदम्मि य सूरम्मि य, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

एतेषामनन्तरोदितानां नक्षत्राणामष्टाविंशतिसंख्यानाम्, आदानविसर्गज्ञानकरणमादानविसर्गपरिज्ञाननिमित्तम् । तत्र विवक्षिते दिने चन्द्रेण सूर्येण वा सह वर्त्तते यन्नक्षत्रं, तस्य किल चन्द्रेण सूर्येण वा कृतं परिग्रह इत्यादानम् । पाश्चात्यादीनि नक्षत्राणि गतानि, तानि किल मुक्तानि, परित्यक्तानि, तेषां परित्यागो विसर्गः । तयोः परिज्ञानं-केन नक्षत्रेण सह चन्द्रस्य सूर्यस्य वा

योगो वर्त्तते ?,कानि च प्रागतीतानि ?, इति सम्यग् ज्ञातं, तन्निमित्तं करणं,चन्द्रे सूर्ये च प्रत्येकं यथाऽनुपूर्व्या क्रमेण वक्ष्यामि ।
तत्र यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात् प्रथमतः
चन्द्रविषयं करणमाह-

पव्वं पन्नरसगुणं, तिहिसहियं ओमरत्तपरिहीणं ।
बासीइए विभत्ते, लद्धे अंसे वियाणाहि ॥
जं हवइ भागलद्धं, कायव्वं तं चउग्गुणं णियमा ।
अभिइस्स एक्कवीसा, भागे सोहेहि लद्धम्मि ॥
सेसाण रासीणं, सत्तावीसा तु मंडला सोज्झा ।
अभिइस्स सोहणाऽसं-भवे तु इणमो विही होइ ॥
सेसाओ रासीओ, रूवं घेत्तूण सत्तसट्ठि काऊणं ।
पक्खिवव लद्धेसु पुणो, अभिजिइ सोहेउ पुव्वकमा ॥
पंच दस तेरसऽट्ठा-रसे य बावीस सत्तवीसा य ।
सोज्झा दिवड्ढखेत्तं, तं जइवई असाढता ॥
एयाणि सोहइत्ता, जं सेसं त हविज्ज नक्खत्तं ।
सोज्झा तीसगुणाओ, सत्तट्ठिहते मुहुत्ताओ ॥

यस्मिन् दिने चन्द्रेण सह युक्त नक्षत्रं ज्ञातुमिष्यते, तस्माद् दिनात् प्राक् यानि पर्वाणि युगमध्येऽतीतानि, तानि संख्यया परिज्ञाय तत्संख्या ध्रियते । सूत्रे च पर्वसंख्याऽप्युपचारात् पर्वेत्यभिहिता । पर्व पञ्चदशतिथ्यात्मकम्, अतस्तत् पञ्चदशभिर्गुण्यते, गुणयित्वा च तेषां पर्वाणामुपरि विवक्षितायास्तिथेर्याः प्रागतीतास्तिथयः , ताभिः सहितं संयुक्तं पञ्चदशगुणनाऽनन्तरं पर्वोपरिवर्तिन्योऽतीतास्तिथयो मध्ये प्रक्षिप्यन्त इति । ततो येऽवमरात्रा अतिक्रान्तेषु पर्वसु गताः, तैः परिहीणं क्रियते, ततोऽपनीयत इत्यर्थः । ततो द्व्यशीत्या भागो ह्रियते । तत्र भागे हृते यल्लब्धं, ये चांशा अवतिष्ठमानाः, तदेतत्सर्वं विजानीहि, बुद्ध्या सम्यगवधारयेति भावः । लब्धं चोपरि स्थापय, अंशाश्चाऽधस्तात् लब्धश्च राशिरिति व्यवह्रियते, अंशाश्च शेषो राशिरिति ॥ तत्र यद् भवति वर्तते भागलब्धं, तद् नियमाच्चतुर्गुणं कर्तव्यं, कृते च सति लब्धरूपात् राशेरभिजितो नक्षत्रस्य सम्बन्धिनः एकविंशतिभागान् शोधय ॥ शेषाणां तु राशीनामधस्तनस्थानवर्तिनां मध्यात्सप्तविंशतिसंख्यं नक्षत्रमण्डलं शोध्यं, सप्तविंशतिः शोध्या इत्यर्थः ॥ अथोपरितनो राशिः स्तोकतया एकविंशतिरूपं शोधनं न सहते, तत आह-"सेसाओ" इत्यादि । शेषात् अधस्तनरूपात् राशेरेकं रूपं गृहीत्वा सप्तषष्टिभागीक्रियते, कृत्वा च पुनस्ते सप्तषष्टिभागा लब्धेषु लब्धराशिमध्ये प्रक्षिपेत् । प्रक्षिप्य च ततोऽभिजिदष्टादशनक्षत्रसम्बन्धेमेकविंशतिभागान्, पूर्वक्रमात् पूर्वक्रमानुसारेण शोधय ॥ शोधयित्वा च पञ्चदशत्रयोदशाष्टादशद्वाविंशतिसप्तविंशतिरूपान् शोध्यान् द्व्यर्द्धक्षेत्रान् द्व्यर्द्धक्षेत्रपर्यन्तसूचकान्, तानपि शोधय । एतदेव व्यक्तमाचष्टे-भाद्रपदाऽऽदीन् आषाढान्तान्, उत्तरभाद्रपदान्,उत्तराषाढापर्यन्तसूचकानित्यर्थः । तथाहि-पञ्चकं श्रवणादारभ्योत्तरभाद्रपदारूपद्व्यर्द्धक्षेत्रपर्यन्तसूचकः। दशको रोहिणीरूपद्व्यर्द्धक्षेत्रसीमासूचकः। त्रयोदशकः पुनर्वसुरूपद्व्यर्द्धक्षेत्रपर्यन्तख्यापकः । अष्टादशक उत्तरफाल्गुनीरूपद्व्यर्धक्षेत्रसीमापरिज्ञापकः ।द्वाविंशतिर्विशाखारूपद्व्यर्द्धक्षेत्रसीमासूचिकेत्यर्थः । सप्तविंशतिरुत्तराषाढारूपद्व्यर्द्धक्षेत्रसीमासूचकः। शोधितेषु चामूषु तदुपरितनेषु यदस्ति तत् त्रिंशता गुणयित्वा,सप्तषष्ट्या भागे हृते ये लब्धास्ते मुहूर्ता ज्ञातव्याः। तत्राप्यवशेषांशा मुहूर्तस्य सप्तषष्टिभागा अवसेया इति करणगाथाक्षरार्थः ।

संप्रति भावना क्रियते-

युगस्य प्रथमे संवत्सरे दशसु पर्वसु गतेषु पञ्चम्यां केन नक्षत्रेण सह योक्तव्यम् ? , इति जिज्ञासायां पर्वसंख्या दशको ध्रियते, ते च दश पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातं पञ्चाशदधिकं शतम् १५० । पञ्चम्यां च नक्षत्रेण सह चन्द्रस्य योगो ज्ञातुमिष्ट इति दशानां पर्वणामुपरितनास्तिथयोऽतिक्रान्ताः,ताः प्रक्षिप्यन्ते, जाते चतुष्पञ्चाशदधिकं शतम् १५४ । दशसु पर्वसु द्वाववमरात्रौ,ततस्तौ तस्मात्पात्येते,जातं द्विपञ्चाशदधिकं शतम् १५२। तस्य द्व्यशीत्या भागो ह्रियते, लब्धमेकं रूपं, तच्च उपरि न्यस्यते, न्यस्य च चतुर्भिर्गुण्यते, जाताश्चत्वारः ४ । शेषं चाधस्ताद्वर्तते सप्ततिः । तत्रोपरितनो राशिः स्तोकत्वादेकविंशतिरूपं शोधनं न सहते, ततः सप्ततेरेकं रूपं गृहीत्वा सप्तषष्टिखण्डीक्रियते ते च सप्तषष्टिभागा उपरितनराशिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते जात उपरितनो राशिरेकसप्ततिः ७१। अधस्ताच्चैकोनसप्ततिः ६९/६७ । तत उपरितनराशेरभिजित एकविंशतिः शोध्यते, अधस्तनराशेश्च नक्षत्रमण्डलं सप्तविंशतिः , तत उपरि पञ्चाशत् जाताः ५० । अधस्ताद् द्विचत्वारिंशज्जाताः ४२/६७ । ततः पुनरप्युपरितनराशेरेकविंशतिः शुद्धाः, अधस्ताच्च सप्तविंशतिः । तत उपरि एकोनत्रिंशत् २९ जाताः, अधस्तात् पञ्चदश १५/६७ । ततो भूयोऽप्युपरितनराशेरभिजित एकविंशतिः शोध्यते ८ । अधस्ताच्च पञ्चदशसु त्रयोदशकमष्टकस्थानं पुनर्वसुनक्षत्रपर्यन्तस्तबकम्, अतः पुनर्वसुपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि । शेषौ द्वौ तिष्ठतः। तस्य द्वे नक्षत्रे शुद्धे । तद्यथा-पुष्यः,आश्लेषा च । उपरि च तिष्ठन्त्यष्टौ । ते त्रिंशता गुण्यन्ते,जाते द्वे शते चत्वारिंशदधिके २४०। तयोः सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रयो मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः। एकस्य च मुहूर्तस्य सत्केष्वेकोनचत्वारिंशत्संख्येषु सप्तषष्ट्या भागेषु चन्द्रेण भुक्तेषु पञ्चम्यां सूर्य उदित इति ॥ तथा युगे प्रथमदिवसे प्रतिपदि केन नक्षत्रेण सह युक्तश्चन्द्रः ?, इति चिन्तायां पाश्चात्ययुगपर्वसंख्या ध्रियते चतुर्विंशं शतं १२४ । तत पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि षष्ट्यधिकान्यष्टादशशतानि १८६०। युगे च त्रिंशदवमरात्रा इति तेभ्यस्त्रिंशत्पात्यते,जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३०। तेषां द्व्यशीत्या भागो ह्रियते,लब्धा द्वाविंशतिः । सा उपरि न्यस्यते,न्यस्य च चतुर्भिर्गुण्यते,जाता अष्टाशीतिः ।शेषमधस्ताद्वर्तते षड्विंशतिः ६६/६७। तत्रोपरितनराशेरेकविंशतिरभिजित शोध्यते, स्थिता पश्चात् सप्तषष्टिः ६७ । तया च किलैकं नक्षत्रं लभ्यते। अधस्ताच्च षड्विंशतिरिति सर्वसंकलनया सप्तविंशतिरपि नक्षत्राण्युत्तराऽऽषाढापर्यन्तानि शुद्धानि । तत आगतमुदयसमय एवाभिजिन्नक्षत्रं चन्द्रेण सह योगमुपयातीति ॥ तथा युगे द्वितीयेऽहोरात्रे द्वितीयायां केन नक्षत्रेण सह युक्तश्चन्द्र ?,इति चिन्तायां पाश्चात्या तिथिरतिक्रान्ता प्रतिपल्लक्षणा, तत्संख्या एकको ध्रियते, स द्व्यशीत्या भागं न सहते, ततः सप्तषष्टिभागीक्रियते, तस्मादेकविंशतिरभिजितः शोध्यते, स्थिता पश्चात् षट्चत्वारिंशत् ४६ । सा मुहूर्तकरणार्थम् ३० त्रिंशता गुण्यते । जातानि त्रयोदशशतान्यशीत्यधिकानि

१३८० । तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा मुहूर्त्ता विंशतिः २० । स्थिताः पश्चात् चत्वारिंशत् ४० । आगत श्रवणनक्षत्र विंशतिमुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु चन्द्रेण भुक्तेषु युगे द्वितीये अहोरात्रे द्वितीयायां सूर्य उदयते । एवं सर्वत्रापि भावनीयम् । ज्यो० ए पाहु० ।

[१३] पन्नं पन्नरसगुणं, तिहिसहियं ओमरत्तपरिहीणं ।
तिहि उावट्ठसएहिं, भागे सेसम्मि सोहणगं ॥

युगमध्ये विवक्षितात् दिनात् प्राक् यानि पर्वाणि अतीतानि, तत्संख्या स्थाप्यते,स्थापयित्वा च पञ्चदशभिर्गुण्यते, ततो विवक्षितात् दिनात् प्राक् पर्वणामुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्ताभिः सहिता क्रियते । ततस्तदनन्तरमधिकृतात् दिनादर्वाग् ये गता अवमरात्राः, तैः परिहीना क्रियते, ते तत्र पात्यन्त इत्यर्थः । ततः शेषस्य त्रिभिः शतैः पद्षष्ट्यधिकैर्विभजेत भाग हरेत्, भागे च हृते यत् शेषं, तस्मिन् शेषे, शोधनक वक्ष्यमाणस्वरूप कुर्यात् ।

तत्र यस्मिन् शोधनके शुद्धे यन्नक्षत्रं शुद्धं भवति, तदेतन्निरूपयन्नाह-

चउवीसं च मुहुत्ता, अट्ठेव य केवला अहोरत्ता ।
एए पुस्से सेसा, एत्तो सेसाण वोच्छामि ॥

चतुर्विंशतिर्मुहूर्त्ता ,अष्टौ च केवलाः परिपूर्णा अहोरात्राः एते एतावन्तो मुहूर्ताः, अहोरात्राश्च पुष्ये पुष्यनक्षत्रे, शोध्याः । किमुक्त भवति ?-एतेषु शोधितेषु पुष्यनक्षत्र शोधित भवति । अत ऊर्ध्वं शेषाणां नक्षत्राणां शोधनकानि वक्ष्ये ।

तानि च क्रमेण आह-

राइंदिया विसड्डी, य मुहुत्ता वारसुत्तरा फुग्गा ।
सोलससयं विसाहा, वीसंदेवा य तेसीयं ॥

द्वाषष्टिर्द्वाषष्टिसंख्यानि, रात्रिन्दिवानि, द्वादश च मुहूर्त्ताः, एतावति शोधिते उत्तरफाल्गुनीनक्षत्र शुद्ध भवति । तथा षोमशशत षोमशाधिकं शत, विशाखा विशाखापर्यन्तसूचक, ततस्तस्मिन् शोधिते विशाखाऽन्तानि नक्षत्राणि शोधितानि भवन्तीति भाव. । तथा ञ्यशीत ञ्यशीत्यधिक शत, विश्वग्देवा-विश्वग्देवाधिपतिरुत्तराषाढा इत्यर्थः । अत्राऽयं भावार्थः-ञ्यशीत्यधिक शतमुत्तराषाढापर्यन्तसूचकमिति ।

दो चउपन्ने उच्चे-व मुहुत्ता उत्तरा उ पोट्ठवया ।
तिएऐव एक्कवीसा, उच्च मुहुत्ता उ रोहिणिया ॥

द्वे शते चतुष्पञ्चाशे चतुष्पञ्चाशदधिके, षट् च मुहूर्ताः, उत्तराप्रोष्ठपदा-उत्तराभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदपर्यन्तसूचका इत्यर्थः । ततस्त्रीणि शतान्येकविंशत्यधिकानि, षट् च मुहूर्त्ताः,रोहिणी-रोहिणीसूचका इति योगः ।

तिन्नेगट्ठा वारस, य मुहुत्ता सोधणं पुणव्वसुणो ।
जं सोहुणं न गच्छइ, नक्खत्तं तं तु सूरगयं ॥

त्रीणि शतान्येकषष्ट्यधिकानि द्वादश मुहूर्ताः,एतावत् शोधनक पुनर्वसोः पुनर्वसुनक्षत्रस्य । एतानि च शोधकानि पुष्य मुक्त्वा शेषाणि द्व्यर्द्धक्षेत्रपर्यन्तानामुक्तानि । तत एतेषामपान्तराले यानि नक्षत्राणि,तान्यात्मीयेन प्रमाणेन शोध्यन्ते । तद्यथा-अर्द्धक्षेत्राणि षड्भिरहोरात्रैरेकविंशत्या च मुहूर्त्तैः; समक्षेत्राणि त्रयोदशभिर्दिनैर्द्वादशभिश्च मुहूर्त्तैः ,द्व्यर्द्धक्षेत्राणि विंशत्या दिनैस्त्रिभिश्च मुहूर्त्तैरिति । यत्पुनरुद्धरित शोधन न गच्छति, तन्नक्षत्र सूर्यगतमवसेयम् । शोऽपि राशिः स्तोकतया षट्षष्ट्यधिकशतत्रयभाग न सहते,तथापि यथायोग शोधन कर्त्तव्यम् । उक्त करणम् ।

सम्प्रत्येतद्विषया भावना क्रियते-

युगस्य प्रथमे संवत्सरे चान्द्रे दशसु पर्वस्वतिक्रान्तेषु पञ्चम्यां केन नक्षत्रेण सह योगो दिवसाधिपतेः ?, इति चिन्तायां पर्वसंख्या दश ध्रियते,तत पञ्चदशभिर्गुण्यते,जात पञ्चाशदधिक शतम् १५० । दशाना च पर्वणामुपरि पञ्चम्याः प्राक् तिथयोऽतिक्रान्ताश्चतस्रः, ततस्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जात चतुःपञ्चाशदधिक शतम् १५४ । दशसु च पर्वसु द्वाववमरात्रौ । ततस्तौ तस्मात् पात्येते, जात द्विपञ्चाशदधिक शतम् १५२ । अयं च राशिः षट्षष्ट्यधिक शतत्रयभाग न सहते, ततो यथासम्भव शोधनकं कर्त्तव्यम् । तत्र षोडशाधिकेन शतेन विशाखाऽन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, शेषाणि षट्त्रिंशत् । ततोऽनुराधा त्रयोदशभिरहोरात्रैर्द्वादशभिर्मुहूर्त्तैः शुद्धा, शेषास्तिष्ठन्ति द्वाविंशतिर्दिवसाः, अष्टादश च मुहूर्ताः । पुनः षड्भिर्दिवसैरेकविंशत्या च मुहूर्त्तैर्ज्येष्ठा शुद्धा, शेषा पञ्चदश दिवसाः सप्तविंशतिर्मुहूर्ता अवतिष्ठन्ते । तेभ्यस्त्रयोदशभिर्दिवसैर्द्वादशभिश्च मुहूर्त्तैर्मूलनक्षत्रं शुद्ध, शेषौ द्वौ दिवसौ, पञ्चदश मुहूर्त्तास्तिष्ठन्ति । एतावान् कालः पर्वदशकातिक्रमे पञ्चम्या पूर्वाषाढाप्रविष्टस्य सूर्यस्याभूत् ॥ तथा युगस्य प्रथमसंवत्सरपर्यन्ते केन नक्षत्रेण सह समेतो भास्कर ?, इति चिन्तायां प्रथमसंवत्सरे पर्वाणि चतुर्विंशति , तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि ३६० । संवत्सरे च षडवमरात्रा इति षट् तेभ्य पात्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि चतुष्पञ्चाशदधिकानि ३५४ । अत्रापि त्रिभि. शतैः षट्षष्ट्यधिकैर्भागो न पूर्यते, ततो यथासम्भव शोधन कर्तव्यम् । तत्र त्रिभि. शतैरेकविंशत्याऽधिकैः षड्भिश्च मुहूर्तैरोहिण्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, शेषास्तिष्ठन्ति द्वात्रिंशदहोरात्राश्चतुर्विंशतिश्च मुहूर्ताः । तेभ्योऽपि त्रयोदशभिर्दिवसैर्द्वादशभिश्च मुहूर्तैर्मृगशिरो नक्षत्र,शेषा अवतिष्ठन्ते एकोनविंशतिरहोरात्राः, द्वादश च मुहूर्ताः । तेभ्योऽपि षड्भिर्दिवसैरेकविंशत्या च मुहूर्त्तैरार्द्रा नक्षत्र शुद्ध, शेषास्तिष्ठन्ति द्वादश दिवसाः, एकविंशतिर्मुहूर्ताः । एतावान् कालस्तदानीं पुनर्वसुनक्षत्रप्रविष्टस्य सूर्यस्याभवत् । इह यन्नक्षत्रमहोरात्र काल यावच्चन्द्रेण सह योगमपारूढ वर्तते, तस्य सूर्येण सह यावन्त काल योग., तस्य त्रिंशत्तमभागप्रमाण एक सूर्यमुहूर्त । एव त्रयोदश मुहूर्ता , एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागा., एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य किञ्चित्समधिका सार्द्धास्त्रिपञ्चाशद्भागा । एवप्रमाणा मुहूर्ता अर्धक्षेत्राणां पञ्चदश, समक्षेत्राणां त्रिंशत्, द्व्यर्द्धक्षेत्राणां पञ्चचत्वारिंशत् । तत्र द्वादशभिर्दिनैरेकविंशत्या च मुहूर्तैर्ये चतुष्पञ्चाशदधिकशतत्रयस्योपरि द्वादश द्वाषष्टिभागाश्चान्द्रसंवत्सरसत्का ,ते चाष्टाविंशतिसंख्या. किञ्चित्समधिका सूर्यमुहूर्ता भवन्ति, शेषास्तु किञ्चित्समधिका' । एवप्रमाणा सूर्यमुहूर्ता. षोडश तिष्ठन्ति । तदुच्यते सूर्यप्रज्ञप्तौ-" जे ण दोच्चस्स चंदसंवच्छरस्स आई, से ण पढमस्स चंदसंवच्छरस्स पज्जवसाणे, अणंतरपच्छाकडे समए । त समय च ण चंदे केण णक्खत्तेण जोएइ, जोएत्ता उत्तराहिं आसाढाहिं उत्तराण आसाढाण छव्वीस मुहुत्ता, उ-

त्तीसे च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स,बावट्ठिभाग च सत्तट्ठिहा छेत्ता चउपण्णं चुण्णिया भागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केण णक्खत्तेणं जोएइ, जोइत्ता पुणव्वसुस्स सोलस मुहुत्ता अट्ठ य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभाग च सत्तट्ठिहा छित्ता बीस चुण्णिया भागा सेसा" इति ।

सम्प्रति पञ्चाशदधिकेन शतेन भागे हृते लब्धा. षडहोरात्रा, शेषं तिष्ठति पञ्चोत्तर शत, ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनाय छेदराशेरर्द्धक्षेत्राऽऽदीनां नक्षत्राणां कालपरिमाणज्ञानार्थं करणमाह-

नक्खत्तचंदजोगे, नियमा सत्तट्ठिए समुप्पन्ने ।
पएणेण सएण भए, लहई सूरस्स सो जोगो ॥

नक्षत्राणां यावत् प्रमाणो योग. सप्तषष्ट्या नियमान्निश्चयेन, प्रत्युत्पद्यते इत्यर्थ । तस्मिन् चन्द्रनक्षत्रयोगे सप्तषष्ट्या प्रत्युत्पन्ने पञ्चाशेन पञ्चाशदधिकेन शतेन भजेत् भागहार कुर्यात्, भागे हृते यद् लब्ध, स तावत्कालप्रमाण सूर्यस्य योग. ।

इयमत्र भावना-कोऽपि पृच्छति-यस्मिन् क्षेत्रे पञ्चदश मुहूर्त्तानवतिष्ठते चन्द्र', तत्र सूर्य. कियन्त कालमवस्थान करोति?। तत्र पञ्चदश सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जात पञ्चोत्तर सहस्रम् १००५। तस्य पञ्चाशदधिकशतरूपस्य त्रिंशता भागहरण, लब्धा. पञ्च, तेन पञ्चोत्तरशतस्य भागे हृते लब्धा एकविंशतिर्मुहूर्त्ता । एतावानर्द्धक्षेत्राणां प्रत्येक सूर्येण सम योग. । तथा समक्षेत्राणां त्रिंश मुहूर्त्ताश्चन्द्रयोगपरिमाण, तत्त्रिंशत्सप्तषष्ट्या गुण्यते, जाते द्वे सहस्रे दशोत्तरे २०१० । तेषा पञ्चाशदधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धा त्रयोदश अहोरात्रा., शेषास्तिष्ठन्ति षष्टि , ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनात् छेदराशेस्त्रिंशता भागहरण, स्थिता पञ्च, तै षष्टेर्भागो ह्रियते, लब्धा द्वादश मुहूर्त्ता , एतावान् समक्षेत्राणां प्रत्येक सूर्येण सह योग । तथा द्व्यर्द्धक्षेत्राणां पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्ताश्चन्द्रयोगः पञ्चचत्वारिंशत्सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातानि त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि ३०१५। तेषा पञ्चाशदधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धा विंशतिरहोरात्रा , शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चदश, ततो मुहूर्त्ताऽऽनयनाय छेदराशेस्त्रिंशता भागहरण, स्थिता. पञ्च, तथा दशानां भागे हृते लब्धास्त्रय पञ्च मुहूर्त्ता , एतावान् द्व्यर्द्धक्षेत्राणां प्रत्येक सूर्येण सम योग. ।

साम्प्रत यथा सूर्ययोगपरिमाणदर्शनत चन्द्रयोगपरिमाणज्ञान भवति, तथा प्रतिपादयति-

नक्खत्तसूरजोगो, मुहुत्तरासीकओ उ पंचगुणो ।
सत्तट्ठीएँ विभत्तो, लद्धो चंदस्स सो जोगो ॥

नक्षत्राणामर्द्धक्षेत्राऽऽदीनां य सूर्येण सह योग' स मुहूर्त्तराशीक्रियते, कृत्वा च पञ्चभिर्गुण्यते, तत सप्तषष्ट्या भागे हृते यल्लब्ध, स चन्द्रस्य योग.। अत्रापीय भावना-कोऽपि शिष्य पृच्छति-यत्र सूर्य षड् दिवसान् एकविंशतिं च मुहूर्त्तान् अवतिष्ठते, तत्र चन्द्र कियन्त काल तिष्ठतीति ?। तत्र मुहूर्त्तराशिकरणार्थं षड् दिवसा. त्रिंशता गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरि एकविंशतिर्मुहूर्त्ता प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते एकोत्तरे २०१ । ते पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जात पञ्चोत्तर सहस्रम् १००५। तस्य सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धा पञ्चदश मुहूर्त्ता ,एतावानर्द्धक्षेत्राणां प्रत्येक चन्द्रेण सम योग । तथा समक्षेत्राणां सूर्ययोगस्त्रयोदशदिवसा द्वादश मुहूर्त्ता', तत्र दिवससख्या मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि नवत्यधिकानि ३९० । उपरितनाश्च द्वादश मुहूर्त्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि चत्वारि शतानि द्व्युत्तराणि ४०२। तानि पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे सहस्रे दशोत्तरे २०१०। तेषां सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रिंशन्मुहूर्त्ता. ३०। एतावान् समक्षेत्राणां प्रत्येक चन्द्रयोग ।तथा द्व्यर्द्धक्षेत्राणां सूर्ययोग. विंशतिरहोरात्रास्त्रयो मुहूर्त्ता , तत्राहोरात्रसख्या मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यते, जातानि षट् शतानि, उपरितनाश्च त्रयो मुहूर्त्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि षट् शतानि त्र्युत्तराणि ६०३। तानि पञ्चभिर्गुण्यन्ते,जातानि त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि ३१५ । तेषा सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धा. पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्ता. ४५ । एतावान् द्व्यर्द्धक्षेत्राणां प्रत्येक चन्द्रेण सह योग. ।

सम्प्रत्युपसंहारमाह-

नक्खत्ताणं जोगा, चंदाऽऽइच्चेसु करणसंजुत्ता ।
भणिया [मुणाहि एत्तो, पविभागं मंमलाणं तु] ॥

नक्षत्राणां चन्द्राऽऽदित्येषु चन्द्रविषये, आदित्यविषये च करणसंयुक्ता योगा भणिता. प्रतिपादिता.। ज्यो० ९ पाहु० ।

(१८) कति भागानि नक्षत्राणि चन्द्रेण सह युज्यन्ते-

ता कहं ते एवंभागा आहिता ति वदेज्जा ?। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताण अत्थि णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पुव्वंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता । अत्थि णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पच्छंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता । अत्थि णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता णत्तंभागा अवड्ढक्खेत्ता पण्णरस मुहुत्ता पण्णत्ता । अत्थि णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता उभयंभागा दिवड्ढक्खेत्ता पणयालीस मुहुत्ता पण्णत्ता । ता एएसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं कतरे णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पुव्वंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता ? । कतरे णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पच्छंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता ?। कतरे णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता णत्तंभागा अवड्ढक्खेत्ता पण्णरस मुहुत्ता पण्णत्ता ? । कतरे णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता उभयंभागा दिवड्ढक्खेत्ता पणयालीसइमुहुत्ता पण्णत्ता ?। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताण, तत्थ णं जे ते णक्खत्ता,जे णं णक्खत्ता पुव्वंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता। ते णं छ। तं जहा-पुव्वभद्दवया १, कत्तिता २, महा ३, पुव्वफग्गुणी ४, मूलो ५, पुव्वासाढा ६ । तत्थ णं जे ते णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता पच्छंभागा समक्खेत्ता तीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता। ते णं दस। तं जहा-अभिई १, सवणो २, धणिट्ठा ३, रेवती ४, अस्सिणी ५, मिगसिरं ६, पुस्सो ७, हत्थो ८, चित्ता ९, अणुराहा १० एवं पच्छंभागा दस हवंति। तत्थ णं जे ते णक्खत्ता, जे णं णक्खत्ता णत्तंभागा अवड्ढक्खेत्ता पण्णरस मुहुत्ता पण्णत्ता।

ते णं छ । तं जहा-सतभिसया १, भरणी २, अद्दा ३, अस्सेसा ४, साती ५, जेट्ठा ६ । तत्थ णं जे ते णक्खत्ता उभयंभागा दिवड्ढक्खेत्ता पणयालीसतिमुहुत्ता पण्णत्ता । ते णं छ । तं जहा-उत्तरभद्दवया १, रोहिणी २, पुणव्वसू ३, उत्तराफग्गुणी ४, विसाहा ५, उत्तरासाढा ६ ।

"ता कहं ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत्, कथं केन प्रकारेण भगवन् ! त्वया पूर्वभागानि वक्ष्यमाणप्रकारभागानि नक्षत्राणि आख्यातानि इति भगवान् वदेत् ? । एवमुक्ते भगवानाह-"ता एएसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽस्तीति सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि पूर्वभागानि-दिवसस्य पूर्वभागश्चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य विद्यते येषां तानि पूर्वभागानि, समक्षेत्राणि-सम पूर्णं क्षेत्रमहोरात्रप्रतीत चन्द्रयोगमधिकृत्यास्ति येषां तानि समक्षेत्राणि ; अत एव त्रिंशन्मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि । तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि पश्चाद्भागानि-दिवसस्य पश्चात्तनो भागः चन्द्रयोगमधिकृत्य विद्यते येषां तानि पश्चाद्भागानि, समक्षेत्राणि त्रिंशन्मुहूर्त्तानि प्रज्ञप्तानि । तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि नक्तभागानि-नक्तं रात्रौ चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य भागोऽवकाशो येषां तानि । तथा अपार्द्धक्षेत्राणीति-अपगतमर्द्धं यस्य तदपार्द्धम्, अर्द्धमात्रमित्यर्थः । अपार्द्धमर्द्धमात्रं क्षेत्रमहोरात्रप्रतीत येषां चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य तान्यपार्द्धक्षेत्राणि । अत एव पञ्चदश मुहूर्तानि-पञ्चदश चन्द्रयोगमधिकृत्य मुहूर्त्ता विद्यन्ते येषां तानि । तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि,यानि नक्षत्राणि उभयभागानि उभय दिवसं रात्रिं,तस्य उभयस्य-दिवसस्य,रात्रेश्चेत्यर्थः । चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य भागो येषां तानि । तथा द्व्यर्द्धक्षेत्राणि-द्वितीयमर्द्धं यस्य तद् द्व्यर्द्धं, सार्द्धमित्यर्थः । द्व्यर्द्धं सार्द्धमहोरात्रप्रमितं क्षेत्रं येषां तानि तथा । अत एव पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि । एवं सामान्येनोक्ते विशेषावबोधनार्थं भगवान् गौतमः पृच्छति-"ता एतेसि णं" इत्यादि सुगमम् । भगवान् प्रतिवचनमाह-"ता एतेसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि पूर्वभागानि समक्षेत्राणि त्रिंशन्मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि, तानि षट् । तद्यथा-"पुव्वभद्दवया" इत्यादि । (एतच्चानन्तरे एव प्राभृतप्राभृते योगस्याऽऽदौ चिन्त्यमाने भावयिष्यते) । तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि पश्चाद्भागानि समक्षेत्राणि त्रिंशन्मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि । तानि दश । तद्यथा-"अभिई" इत्यादि । तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि नक्तभागानि अपार्द्धक्षेत्राणि पञ्चदश मुहूर्तानि प्रज्ञप्तानि । तानि षट् । तद्यथा-"सयभिसया" इत्यादि । तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राण्युभयभागानि द्व्यर्द्धक्षेत्राणि पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्तानि । तानि षट् । तद् यथा-"उत्तरभद्दवया" इत्यादि । चं० प्र० १० पाहु० ३ पाहु० । स्था० । स० । सू० प्र० ।

(१५) प्रमर्दयोगीनि नक्षत्राणि-

अट्ठ णक्खत्ता णं चंदेण सद्धिं पमद्दं जोगं जोएंति । तं जहा-कत्तिया, रोहिणी, पुणव्वसू, महा, चित्ता, विसाहा, अणुराहा, जिट्ठा ।

(पमद्दं ति) प्रमर्दश्चन्द्रेण स्पृश्यमानता, तल्लक्षणं योगं योजयन्ति, आत्मनश्चन्द्रेण सार्द्धं कदाचिद्, न तु तमेव सदैवेति । उक्तं च-"पुणवसु रोहिणि चित्ता, मह जेट्ठऽणुराह कत्तिय विसाहा । चंदस्स उभयजोगी" इति । यानि च दक्षिणोत्तरयोगीनि, तानि प्रमर्दयोगीन्यपि कदाचिद्भवन्ति, यतो लोकश्रीटीकाकृतोक्तम्-एतानि नक्षत्राण्युभययोगीनि चन्द्रस्य दक्षिणेनोत्तरेण च युज्यन्ते, कदाचिच्चन्द्रेण भेदमप्युपयान्तीति । एतत्फलं चेदम्-"एतेषामुत्तरगः, प्रहाः सुभिक्षाय चन्द्रमा नितराम् ।" इति । स्था० १० ठा० ।

(१६) कति नक्षत्राणि कति भागानि पूर्णिमाऽमावस्याम्-

ता कहं ते जोगस्सादी आहिता ति वदेज्जा ? । ता अभिई, सवणो खलु दुवे णक्खत्ता पच्छंभागा समक्खेत्ता सातिरेगऊणतालीसमुहुत्ता तं पढमताए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोइंति । ततो पच्छा अवरं सातिरेगं दिवसं । एवं खलु अभिई, सवणो दुवे णक्खत्ता एगं रातिं एगं च सातिरेगं दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएंति, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टंति, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं धणिट्ठाणं समप्पेंति, समप्पेंतित्ता धणिट्ठा खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते तीसतिमुहुत्ते तप्पढमताए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति । ततो पच्छा अवरं दिवसं । एवं खलु धणिट्ठा णक्खत्ते एगं रातिं एगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टति, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं सतभिसताणं समप्पेति । ता सतभिसता खलु णक्खत्ते णत्तंभागे अवड्ढखेत्ते तप्पढमताए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, णो लभति अवरं दिवसं । एवं खलु सतभिसता णक्खत्ते एगं रातिं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता अणुपरियट्टति, अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं पुव्वाणं पोट्ठवयाणं समप्पेति, ता पुव्वा पोट्ठवता खलु णक्खत्ते पुव्वंभागे समक्खेत्ते तीसतिमुहुत्ते तप्पढमताए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, पच्छा अवरं राइं । एवं खलु पुव्वा पोट्ठवता णक्खत्ते एगं च दिवसं एगं च रातिं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता अणुपरियट्टति, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं उत्तराणं पोट्ठवताणं समप्पेति । उत्तरपोट्ठवता खलु णक्खत्ते पणयालीसतिमुहुत्ते तप्पढमताए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, अवरं च रातिं, ततो पच्छा अवरं दिवसं । एवं खलु उत्तरापोट्ठवता णक्खत्ते दो दिवसे, एगं च रातिं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टति, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं रेवतीणं समप्पेति । ता रेवती खलु णक्खत्ते पच्छंभागे समक्खेत्ते जहा धणिट्ठा० जाव सायं चंदं अस्सिणीणं समप्पेति । भरणी खलु णक्खत्ते णत्तंभागे अवड्ढ० जहा सतभिसता० जाव पातो चंदं

कत्तियाणं समप्पेति० जाव पातो चंदं रोहिणीणं समप्पेति, रोहिणी जहा उत्तरभद्दवया, मिगासिरं जहा धणिट्ठा। एवं जहा सताभिसता, तहा णचंभागा णेयव्वा । एवं जहा पुव्वाभद्दवता, तहा पुव्वंभागा अपि णेयव्वा । जहा धणिट्ठा तहा पच्छंभागा अट्ठ णेयव्वा० जाव एवं खलु उत्तरासाढा दो दिवसे एग च रातिं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टति, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंद अभिईसवणाणं समप्पेइ ।

"ता कह ते" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्, कथ ते त्वया भगवन्! योगस्याऽऽदिराख्यात इति वदेत् ?। इह निश्चयनयमतेन चन्द्रयोगस्याऽऽदिता सर्वेषामपि नक्षत्राणामप्रतिनियतकालप्रमाणा, तत. सा करणवशादवगन्तव्या । तच्च करण ज्योतिष्करण्डके समस्तीति तट्टीका कुर्वता तत्रैव सप्रपञ्च भावितमतस्ततोऽवधार्यम्। अत्र तु व्यवहारनयमधिकृत्य बाहुल्येन यस्य नक्षत्रस्य यदा चन्द्रयोगस्याऽऽदिर्भवति तमभिधित्सुराह-"ता अभिई" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। द्वे अभिजिच्छ्रवणाऽऽख्ये नक्षत्रे पश्चाद्भागे समक्षेत्रे। इहाभिजिन्नक्षत्र समक्षेत्र, नाप्यर्द्धक्षेत्र, नापि द्व्यर्द्धक्षेत्रं, केवल श्रवणेन सह सयद्धमुपात्तमित्यभेदोपचारात् तदपि समक्षेत्रमुपकल्प्य समक्षेत्रम् इत्युक्तम्। सातिरेकैकोनचत्वारिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणे । तथाहि-सातिरेका नव मुहूर्ता अभिजितः, त्रिंशन्मुहूर्ता' श्रवणस्येत्युभयमीलने यथोक्त मुहूर्त्तपरिमाण भवति । तत्प्रथमतया चन्द्रयोगस्य प्रथमतया, साय विकालवेलायाम, इह दिवसस्य कतिनमाच्चरमाद्भागादारभ्य यावद्रात्रे. कतितमो भागो यावन्नापि परिस्फुटनक्षत्रमण्डलाऽऽलोक., तावान् कालविशेष सायमिति द्रष्टव्य , तथा लोके व्यवहारदर्शनात्। तस्मिन् साय समये, चन्द्रेण सार्द्ध योग युङ्क्त । इहाभिजिन्नक्षत्र यद्यपि युगस्याऽऽदौ प्रातश्चन्द्रेण सह योगमुपैति, तथाऽपि श्रवणेन सह सम्बद्धमिह तद्विवक्षितम् । श्रवणनक्षत्र च मध्याह्नादूर्द्ध्वमपसरति, दिवसे चन्द्रेण सह योगमुपादत्ते। ततस्तत्साहचर्यात्तदपि साय समये चन्द्रेण सार्द्ध युज्यमान विवक्षित तत' सामान्यत साय चन्द्रेण सार्द्ध योग युञ्जन्तीत्युक्तम *। अथवा युगस्याऽऽदिमतिरिच्यान्यदा बाहुल्यमधिकृत्येदमुक्त, ततो न कश्चिद्दोष । "ततो पच्छा" इत्यादि । पश्चात तदूर्द्ध्वम, अपरमन्य सातिरेकदिवस यावत। एतदेवोपसहारव्याजेन व्यक्तीकरोति-"एव खलु" इत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेण, खल्विति निश्चये, अभिजिच्छ्रवणौ द्वे नक्षत्रे, साय समयादारभ्य एकां रात्रिमेक च सातिरेक दिवस, चन्द्रेण सार्द्ध युङ्क्त.। एतावन्त च काल युक्त्वा तदनन्तर योगमनुपरिवर्त्तयति, आत्मनश्च्यावयत इत्यर्थ । योग चानुपरिवर्त्य साय दिवसस्य कतितमे पश्चाद्भागे चन्द्रं धनिष्ठाया समर्पयत'। तदेवमभिजित श्रवण धनिष्ठा साय समये चन्द्रेण सह प्रथमतो योग युञ्जन्ते । तेनामूनि त्रीण्यपि पश्चाद्भागान्यवसेयानि। ततः समर्पणादनन्तर धनिष्ठा खलु नक्षत्र पश्चाद्भाग साय समये तस्य प्रथमतश्चन्द्रेण सह युज्यमानत्वात् समक्षेत्र त्रिंशन्मुहूर्त्त तत्प्रथमतया साय समये चन्द्रेण सार्द्ध योग युनक्ति। चन्द्रेण सह योग युक्त्वा तत साय समयादूर्द्ध्व, ततः पश्चाद्रात्री., अपर च दिवस यावद् योग युनक्ति । एतदेवोपसहारव्याजेनाऽऽचष्टे-" एव खलु " इत्यादि सुगमं, यावद् योगमनुपरिवर्त्य साय समये चन्द्र शतभिषजः समर्पयति । प्रायः परिस्फुटनक्षत्रमण्डलावलोके तत इद नक्षत्रं नक्तभाग द्रष्टव्यम् । तथा चाऽऽह-(ता इत्यादि) ' ता ' इति । ततः समर्पणादनन्तर शतभिषग्नक्षत्र खलु नक्तभागमपार्द्धक्षेत्रं पञ्चदशमुहूर्त्त तत्प्रथमतया चन्द्रेण सार्द्ध योग युनक्ति । तच्च तथा युक्तं सन्न लभते अपरं दिवस, पञ्चदशमुहूर्त्तप्रमाणत्वात, किन्तु रात्रित एव योगमधिकृत्य परिसमाप्तिमुपैति । तथा चाऽऽह-"एव खलु" इत्यादि सुगमम । यावद् योगमनुपरिवर्त्य प्रातश्चन्द्र पूर्वयो. प्रोष्ठपदयोर्भद्रपदयो. समर्पयति । इह पूर्वप्रोष्ठपदानक्षत्रस्य प्रातश्चन्द्रेण सह प्रथमतया योग. प्रवृत्त इतीह पूर्वभागमुच्यते। तथा चाऽऽह-(ता पुव्वेत्यादि) ततः समर्पणादनन्तर पूर्वप्रोष्ठपदा खलु नक्षत्र पूर्वभाग समक्षेत्र त्रिंशन्मुहूर्त्त तत्प्रथमतया प्रातश्चन्द्रेण सह योग युनक्ति। तच्च तथा युक्त सत्तत' समयादूर्द्ध्व त सकल दिवसम्, अपरां च रात्रिं यावद्वर्त्तते । एतदेवोपसहारव्याजेनाऽऽह-"एव खलु" इत्यादि सुगम, यावद् योगमनुपरिवर्त्य प्रातश्चन्द्रमुत्तरयो. प्रोष्ठपदयोः समर्पयति। इद किलोत्तराभाद्रपदाऽऽख्य नक्षत्रमुक्तप्रकारेण प्रातश्चन्द्रेण सह योगमधिगच्छति, केवल प्रथमान् पञ्चदश मुहूर्त्तानधिकानपनीय समक्षेत्रत्व कल्पयित्वा यदा योगश्चिन्त्यते, तदा नक्तमपि योगोऽस्तीत्युभयभागमवसेयम। तथा चाऽऽह-तत. समर्पणादनन्तर प्रोष्ठपदा नक्षत्र खलूभयभाग द्व्यर्द्धक्षेत्र पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्त तत्प्रथमतया प्रातश्चन्द्रेण सार्द्ध योग युनक्ति। तच्च तथा युक्त सत्सकलमपि दिवसमपरा च रात्रिं तत. पश्चादपर दिवस यावद्वर्त्तते। एतदेवोपसहारव्याजेन व्यक्तीकरोति-(एव खलु) इत्यादि सुगमम, यावद्योगमनुपरिवर्त्य साय समये चन्द्र रेवत्याः समर्पयति । ततो रेवतीनक्षत्र सायं समये चन्द्रेण सह योगमधिगच्छति; ततस्तत्पश्चाद्भागमवसेयम । तथा चाऽऽह-"ता रेवती" इत्यादि। 'ता' इति। तत समर्पणादनन्तर, शेष सुगमम । इद च चन्द्रेण युक्त सत साय समयादूर्द्ध्व सकलां रात्रिमपर च दिवस यावदवतिष्ठते, समक्षेत्रत्वात् । एतदेवोपसहारत आह-"एव खलु" इत्यादि सुगमम् । यावद् योगमनुपरिवर्त्य साय समये चन्द्रमश्विन्या. समर्पयति। तत इदमप्यश्विनी नक्षत्र साय समये चन्द्रेण सह युज्यमानत्वात् पश्चाद्भागमवसेयम् । तथा चाऽऽह-"ता" इत्यादि सुगम, नवरमिदमप्यश्विनी नक्षत्रं समक्षेत्रत्वात साय समयादारभ्य तां सकलां रात्रिमपर च दिवस यावच्चन्द्रेण सह युक्तमवतिष्ठते। एतदेवोपसहारव्याजेनाऽऽह-"एव खलु" इत्यादि सुगमम । यावद् योगमनुपरिवर्त्य साय प्राय' परिस्फुटनक्षत्रमालावलोकसमये चन्द्र भरण्याः समर्पयति। इद च भरणी नक्षत्रमुक्तयुक्त्या रात्रौ चन्द्रेण सह योगमुपैति, ततो नक्तभागमवसेयम। तथा चाऽऽह-"भरणी" इत्यादि पाठसिद्धम । नवरमिदमपार्द्धक्षेत्रत्वाद्रात्रौ त योग परिसमापयति, ततो न लभते चन्द्रेण सह युक्तमपर दिवसम। एतदेवोपसहारव्याजेनाऽऽह-"एव खलु" इत्यादि सुगमम्। यावद् योगमनुपरिवर्त्य प्रातश्चन्द्र कृत्तिकानां समर्पयति । इद च कृत्तिकानक्षत्रमुक्तयुक्त्या प्रातः चन्द्रेण सह योगमुपैति, तत' पूर्वभागमवसेयम् । एतदेवोपसंहारव्याजेन व्यक्तीकरोति-"एव खलु" इत्यादि सुगम, यावद्योगमनुपरिवर्त्य प्रातश्चन्द्र रोहिण्याः समर्पयति । इद च रोहिणीनक्षत्र द्व्यर्द्धक्षेत्रम, अत प्राग्युक्तयुक्तिवशादुभयभाग प्रतिपत्तव्यम्। (रोहिणी जहा उत्तरभद्दवया इति) रोहिणी यथा प्रागुत्तरभद्रपदा उक्ता, तथा

* बहुत्व प्राकृतानुवादवशात् ।

वक्तव्या । सा चैवम्-" ता रोहिणी खलु णक्खत्ते उभयभागे दिवड्ढखेत्ते पणयालीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोग जोएइ, अवरं च राइ, ततो पच्छा अवरं दिवस । एव खलु रोहिणी णक्खत्ते दो दिवसे एग च राइ चदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोगं जोइत्ता जोग अणुपरियट्टइ,जोग अणुपरियट्टित्ता साय चद मिगसिरस्स समप्पेइ । " इति । " मिगसिर जहा धणिट्ठ त्ति । " मृगशिरो नक्षत्रं यथा प्राक् धनिष्ठोक्ता तथा वक्तव्यम् । तद्यथा-"ता मिगसिरे खलु णक्खत्ते पच्छभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमताए साय चदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोग जोइत्ता ततो पच्छा अवर दिवस । एव खलु मिगसिरे णक्खत्ते एग राइ एग च दिवस चदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोग जोइत्ता जोग अणुपरियट्टइ, जोग अणुपरियट्टित्ता साय * चंद अद्दाए समप्पेइ" इति । "एव जहा सयभिसया, तहा णत्तभागा खेयव्वा । एव जहा पुव्वाभद्दवया तहा पुव्वभागा छप्पि णेयव्वा । जहा धणिट्ठा तहा पच्छभागा अट्ठ णेयव्वा" इति । एवमुक्तेन प्रकारेण यथा शतभिषगुक्ता, तथा सर्वाण्यपि नक्तभागानि नेतव्यानि । यथा पूर्वाभद्रपदा, तथा पूर्वभागानि षडपि नेतव्यानि । यथा धनिष्ठा तथा पश्चाद्भागानि अष्ट नेतव्यानि । उपलक्षणमेतत् । तेन यथोत्तराभद्रपदा, तथा सर्वाण्यप्युभयभागानि द्रष्टव्यानि । तानि चैवम्-" ता अद्दा खलु णक्खत्ते णत्तंभागे अवड्ढक्खेत्ते पन्नरसमुहुत्ते तप्पढमयाए साय चदेण सद्धिं जोग जोएति, णो लहइ अवर दिवस । एव खलु अद्दा एग राइ चदेण सद्धिं जोग जोएइ,जोग जोइत्ता जोग अणुपरियट्टइ, जोग अणुपरियट्टित्ता पातो चद पुणव्वसूण समप्पेइ । " इद पुनर्वसुनक्षत्र द्व्यर्द्धक्षेत्रत्वात् प्रागुक्तयुक्तेरुभयभागमवसेयम् । ततश्चैव तत्सूत्रम्-" ता पुणव्वसू णक्खत्ते उभयभागे दिवड्ढक्खेत्ते पणयालीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चदेण सद्धिं जोग जोएइ, अवर च राइ, ततो पच्छा अवर दिवसं । एव खलु पुणव्वसू णक्खत्ते दो दिवसे एग च राइ चदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोग जोइत्ता जोग अणुपरियट्टइ,जोगं अणुपरियट्टित्ता साय चद पुस्सस्स समप्पेइ" । इद च पुष्यनक्षत्रं साय समये दिवसावसानरूपे चन्द्रेण सह योगमधिगच्छति, ततः पश्चाद्भागमवसेयम् । तत एव तत्सूत्रम्-' ता पुस्से य खलु णक्खत्ते पच्छभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए साय चदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोग जोइत्ता ततो पच्छा अवर दिवस । एव खलु पुस्से णक्खत्ते एग राइ एग च दिवस चंदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोग जोइत्ता जोग अणुपरियट्टइ, जोग अणुपरियट्टित्ता साय चद असिलेसाए समप्पेइ ।" इद चाऽऽश्लेषा नक्षत्र सायं समये परिस्फुटनक्षत्रमण्डलाऽऽलोकरूपे प्रायश्चन्द्रेण सह योगमुपैति; तत इद नक्तभागमवसेयम्, अपार्द्धक्षेत्रत्वाच्च तस्यामेव रात्रौ योग परिसमापयति । तत एवं तत्सूत्रम्-"ता असिलेसा खलु णक्खत्ते नत्तभागे अवड्ढक्खेत्ते पन्नरसमुहुत्ते तप्पढमयाए साय चदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोग जोइत्ता नो लभइ अवर दिवस । एव खलु असिलेसा णक्खत्ते एग राइ चदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोग जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोग अणुपरियट्टित्ता पातो चद मघाणं समप्पेइ" इति । इद तु मघानक्षत्रमुक्तयुक्त्या प्रातश्चन्द्रेण सह योगमश्नुते, तत. पूर्वभागमवसेयम् । एवं च तत्सूत्रम्-"ता मघा खलु णक्खत्ते पुव्वभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चदेण सद्धिं जोगं जोएइ, ततो पच्छा अवर राइ । एव खलु मघा णक्खत्ते एगं दिवसं एगं च राइ चंदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोगं जोइत्ता जोग अणुपरियट्टइ, जोग अणुपरियट्टित्ता पातो चद पुव्वाफग्गुणीए समप्पेइ" । इदमपि पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्र प्रातश्चन्द्रेण सह योगमुक्तनीत्या समधिगच्छति, तत. पूर्वभाग प्रत्येतव्यम् । एव च तत्सूत्रम्-"ता पुव्वाफग्गुणी णक्खत्ते पुव्वभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चदेण सद्धिं जोग जोएइ, ततो पच्छा अवर राइ, एव खलु पुव्वाफग्गुणीणक्खत्ते एग च दिवसमेग च राइ चदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोग जोइत्ता जोग अणुपरियट्टइ, जोग अणुपरियट्टित्ता पातो चदमुत्तराण फग्गुणीण समप्पेइ ।" एतच्चोत्तराफाल्गुनीनक्षत्र द्व्यर्द्धक्षेत्रम्,अत. प्रागुक्तयुक्तिवशादुभयभाग वेदितव्यम् । एव च तत्सूत्रम्-"ता उत्तराफग्गुणी णक्खत्ते उभयभागे दिवड्ढक्खेत्ते पणयालीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चदेण सद्धिं जोग जोएइ, अवर च राइ, ततो पच्छा अवर च दिवस । एव खलु उत्तराफग्गुणी णक्खत्ते दो दिवसे एग च राइं चदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोग जोइत्ता जोग अणुपरियट्टइ, जोग अणुपरियट्टित्ता साय चद हत्थस्स समप्पेइ " । एतच्च हस्तनक्षत्र साय दिवसावसानसमये चन्द्रेण सह योगमधिरोहति, तेन पश्चाद्भागमवसेयम् । तत्सूत्र चैवम्-" ता हत्थे खलु णक्खत्ते पच्छभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए साय चदेण सद्धिं जोगं जोएइ, ततो पच्छा अवरं दिवस । एव खलु हत्थ नक्खत्ते एग राइमेग च दिवसं चदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोग जोइत्ता जोग अणुपरियट्टइ, जोग अणुपरियट्टित्ता साय चद चित्ताए समप्पेइ ।" इदमपि चित्रा नक्षत्र साय समये प्रायो दिवसावसानसमये चन्द्रेण सह योगमुपैति, तत इदमपि पश्चाद्भागमवसेयम् । एव च तत्सूत्रम्-" ता चित्ता खलु णक्खत्ते पच्छभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए साय चदेण सद्धिं जोग जोएइ, ततो पच्छा अवर दिवस । एव खलु चित्ता णक्खत्ते एग राइमेग च दिवस चदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोग जोइत्ता जोग अणुपरियट्टइ, जोग अणुपरियट्टित्ता चंदं साय साईए समप्पेइ " । स्वातिश्च सायं समये प्राय परिस्फुट दृश्यमाने नक्षत्रमण्डलरूपे चन्द्रेण सह योगमुपैति । तत इय नक्तभागा प्रत्येया । तत्सूत्र चेत्थम्-" ता साई खलु णक्खत्ते णत्तभागे अवड्ढक्खेत्ते पन्नरसमुहुत्ते तप्पढमयाए साय चदेण सद्धिं जोग जोएइ, नो लभइ अवर दिवस । एव खलु साई णक्खत्ते एगं राइ चदेण सद्धिं जोग जोएइ, जोग जोइत्ता जोग अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चद विसाहाण समप्पेइ " । इद च विशाखानक्षत्र द्व्यर्द्धक्षेत्र, तत. प्रागुक्तयुक्तिवशादुभयभागमवसेयम् । एव च तत्सूत्रम्-" विसाहा खलु णक्खत्ते उभयभागे दिवड्ढक्खेत्ते पणयालीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चदेण सद्धिं जोग जोएइ, अवर च राइ, ततो पच्छा अवर दिवसं । एव खलु विसाहा णक्खत्ते दो दिवसे एग च राइ चदेण सद्धिं जोग जोएइ,जोग जोइत्ता जोग अणुपरियट्टइ, जोग अणुपरियट्टित्ता साय चद अणुराहाए समप्पेइ ।" इद चानुराधानक्षत्र साय समये दिवसावसानरूपे चन्द्रेण सह योगमुपैति, ततः प्रागुक्तयुक्तिवशात् पश्चाद्भागमवसेयम् । इत्थ च तत्सूत्रम्-' ता अणुराहा खलु णक्खत्ते पच्छभागे स-

* अत्र सायमिति प्राय. परिस्फुटनक्षत्रमण्डलाऽऽलोकसमये, अत एवैतन्नक्तभागम् ।

मक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ। ततो पच्छा अवरं दिवसं। एवं खलु अणुराहा णक्खत्ते एगं च राइं एगं च दिवसं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता सायं चंदं जेट्ठाए समप्पेइ।" ज्येष्ठायाश्च सायं समये समर्पयति प्रायः परिस्फुटं दृश्यमाननक्षत्रमण्डले, तत इदं ज्येष्ठा नक्षत्रं नक्तंभागमवसेयम्। तत्सूत्रं चैवम्-" ता जेट्ठा खलु णक्खत्ते नत्तंभागे अवड्ढक्खेत्ते पन्नरसमुहुत्ते तप्पढमयाए सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, नो लभइ अवरं दिवसं। एवं खलु जेट्ठा णक्खत्ते एगं राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं मूलस्स समप्पेइ।" मूलनक्षत्रं चोक्तप्रकारेण प्रायश्चन्द्रेण सह योगमधिगच्छति प्रातः, तत इदं पूर्वभागमवसातव्यम्। तत्सूत्रं चेदम्-" ता मूलणक्खत्ते पुव्वभागे समक्खेत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, ततो पच्छा अवरं राइं। एवं खलु मूलणक्खत्ते एगं च दिवसमेगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं पुव्वासाढाणं समप्पेइ।" इदमपि पूर्वाषाढानक्षत्रं प्रातश्चन्द्रेण सह योगमुक्तयुक्त्या समुपैतीति पूर्वभागमवसेयम्। एवं च तत्सूत्रम्-" ता पुव्वासाढा खलु णक्खत्ते तीसइमुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, अवरं च राइं। एवं खलु पुव्वासाढा णक्खत्ते एगं च दिवसमेगं च राइं चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, जोगं जोइत्ता जोगं अणुपरियट्टइ, जोगं अणुपरियट्टित्ता पातो चंदं उत्तरासाढाणं समप्पेइ।" उत्तराषाढा नक्षत्रं च अर्धक्षेत्रत्वादुभयभागं वेदितव्यम्। तत्सूत्रं चैवम्-" ता उत्तरासाढा खलु णक्खत्ते उभयभागे दिवड्ढक्खेत्ते पणयालीसं मुहुत्ते तप्पढमयाए पातो चंदेण सद्धिं जोगं जोएइ, अवरं च राइं, ततो पच्छा अवरं दिवसं।" अत ऊर्द्धं चैतद्गतं सूत्रं साक्षादाह-" ०जाव एवं खलु उत्तरासाढा दो दिवसे" इत्यादि। यावत्करणात् पाश्चात्यनक्षत्रगतानि सूत्राण्यनुक्तान्यपि द्रष्टव्यानि। तानि च तथोपदर्शितानि। तदेवं बाहुल्यमधिकृत्योक्तप्रकारेण यथोक्तेषु कालेषु नक्षत्राणि चन्द्रेण सह योगमुपयान्ति, ततः कानिचित्पूर्वभागानि, कानिचित्पश्चाद्भागानि, कानिचिन्नक्तभागानि, कानिचिदुभयभागानि। चं० प्र० १० पाहु० ४ पाहु०। सू० प्र०। न०। (अमापूर्णिमाभिर्नक्षत्रचन्द्रयोगः 'अमावसा' शब्दे प्रथमभागे ७४३ पृष्ठे उक्तः) (कुलोपकुलकुलोपकुलसञ्ज्ञकानि नक्षत्राणि 'कुल' शब्दे तृतीयभागे ५७२ पृष्ठे उक्तानि)

(१७) किं नक्षत्रं कतितारम्-

ता कहं ते तारग्गे आहिते ति वदेज्जा ?। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अभिई णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ?। तितारे पण्णत्ते। सवणे णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ?। तितारे पण्णत्ते। धणिट्ठा णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ?। पचतारे पण्णत्ते। सतभिसया णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ?। सततारे पण्णत्ते। पुव्वापोट्ठवता णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ?। दुतारे पण्णत्ते। एवं उत्तरा वि। रेवती णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ?। बत्तीसइतारे पण्णत्ते। अस्सिणी णक्खत्ते कतितारे पण्णत्ते ?। तितारे पण्णत्ते। एवं सव्वे पुच्छिज्जंति। भरणी तितारे पण्णत्ते। कत्तिया छत्तारे पण्णत्ते। रोहिणी पंचतारे पण्णत्ते। मिगसिरे तितारे पण्णत्ते। अद्दा एगतारे पण्णत्ते। पुणव्वसू पंचतारे पण्णत्ते। पुस्से णक्खत्ते तितारे पण्णत्ते। अस्सेसा छत्तारे पण्णत्ते। महा सत्ततारे पण्णत्ते। पुव्वाफग्गुणी दुतारे पण्णत्ते। एवं उत्तरा वि। हत्थे पंचतारे पण्णत्ते। चित्ता एगतारे पण्णत्ते। साती एगतारे पण्णत्ते। विसाहा पंचतारे पण्णत्ते। अणुराहा चउतारे पण्णत्ते। जेट्ठा तितारे पण्णत्ते। मूले एगारसतारे पण्णत्ते। पुव्वासाढा चउतारे पण्णत्ते। उत्तरासाढा णक्खत्ते चउतारे पण्णत्ते।

"ता कह ते" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। कथं केन प्रकारेण ते त्वया भगवन् ! नक्षत्राणां ताराग्रं ताराप्रमाणमाख्यातमिति वदेत् ?। एवं सामान्यतः प्रश्नं कृत्वा सम्प्रति नक्षत्रं पृच्छति-"ता एएसि णं" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽभिजिन्नक्षत्रं कतितारं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-अभिजिन्नक्षत्रं त्रितारं प्रज्ञप्तम्। एवं शेषाण्यपि प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि भावनीयानि।

ताराप्रमाणसङ्ग्राहिके चेमे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसत्के गाथे-

" तिग तिग पंचग सय दुग, दुग बत्तीसं तिग तह तिग च।
छ प्पंचग तिग एक्कग, पंचग तिग छक्कग चेव ॥ १ ॥
सत्तग दुग दुग पंचग, इक्किक्कग पंच चउ तिग चेव।
इक्कारसग चउक्कं, चउक्कग चेव तारग्गं" ॥ २ ॥

सू० प्र० १० पाहु० ६ पाहु०। स्था०।

" जेट्ठापज्जवसाणाणं एगोणवीसाए णक्खत्ताणं अट्ठाणउओ ताराओ तारग्गेणं पण्णत्ताओ।" स० ६६ सम०।

(१८) कति नक्षत्राणि स्वयमस्तगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया कं मासं नयन्तीति-

ता कहं ते णेता आहिते ति वदेज्जा ?। ता वासाणं पढमं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?। ता चत्तारि णक्खत्ता णेंति। तं जहा-उत्तरासाढा, अभिई, सवणो, धणिट्ठा। उत्तरासाढा चोद्दस अहोरत्ते णेति, अभिई सत्त अहोरत्ते णेति, सवणो अट्ठ अहोरत्ते णेति, धणिट्ठा एगं अहोरत्तं णेति। तंसि च णं मासंसि चउरंगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति। तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे दो पदाइं चत्तारि य अंगुलाणि पोरिसी भवति। ता वासाणं दोच्चं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?। ता चत्तारि णक्खत्ता णेंति। तं जहा-धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवया, उत्तरापोट्ठवया। धणिट्ठा चोद्दस अहोरत्ते णेति, सयभिसया सत्त अहोरत्ते णेति, पुव्वाभद्दवया अट्ठ अहोरत्ते णेति, उत्तरापोट्ठवता एगं अहोरत्तं णेति। तंसि च णं मासंसि अट्ठंगुले पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति। तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे दो पदाइं अट्ठंगुलाइं पोरिसी

भवति । ता वासाणं तनियं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?। ता तिन्नि णक्खत्ता णेंति । तं जहा–उत्तरापोट्ठवता, रेवती, अस्सिणी । उत्तरापोट्ठवता चोद्दस अहोरत्ते णेति, रेवती पण्णरस अहोरत्ते णेति, अस्सिणी एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि दुवालसंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे लेहट्ठाणि तिपदाइ पोरिसी भवति । ता वासाणं चउत्थमासं कति णक्खत्ता णेंति ? । ता तिण्णि णक्खत्ता णेंति । तं जहा–अस्सिणी, भरणी कत्तिया । अस्सिणी चउद्दस अहोरत्ते णेति । भरणी पन्नरस अहोरत्ते णेति । कत्तिया एगं अहोरत्त णेति । तसिं च णं मासंसि सोलसंगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टइ । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे तिन्नि पयाइं चत्तारि अंगुलाइं पोरिसी भवति । ता हेमंताणं पढमं मास कति णक्खत्ता णेंति ?। ता तिन्नि णक्खत्ता णेंति । तं जहा–कत्तिया, रोहिणी, संठाणा । कत्तिया चोद्दस अहोरत्ते णेति । रोहिणी पण्णरस अहोरत्ते णेति । संठाणा एग अहोरत्तं णेनि । तसि च णं मासंसि वीसंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे तिन्नि पदाइं अट्ठंऽगुलाइ पोरिसी भवति । ता हेमंताणं दोच्चे मासे कति णक्खत्ता णेंति ? । चत्तारि णक्खत्ता णेंति । तं जहा–संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, पुस्सो । संठाणा चोद्दस अहोरत्ते णेति, अद्दा सत्त अहोरत्ते णेति, पुणव्वसू अट्ठ अहोरत्ते णेति, पुस्सो एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि चउवीसंगुलपोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स ण मासस्स चरिमे दिवसे लेहट्ठाणि चत्तारि पदाइं पोरिसी भवति । ता हेमंताण ततियं मास कति णक्खत्ता णेंति ? । ता तिण्णि णक्खत्ता णेंति । तं जहा–पुस्से, अस्सेसा, महा । पुस्से चोद्दस अहोरत्तं णेति, अस्सेसा पचदस अहोरत्ते णेति, महा एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि वीसंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे तिन्नि पदाइं अट्ठंऽगुलाइ पोरिसी भवति । ता हेमंताण चउत्थमासं कति णक्खत्ता णेंति ?। ता तिन्नि णक्खत्ता णेंति । तं जहा–महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी । महा चोद्दस अहोरत्ते णेति । पुव्वाफग्गुणी पन्नरस अहोरत्ते णेति । उत्तराफग्गुणी एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि सोलस अंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे तिन्नि पदाइं चत्तारि अंगुलाइं पोरिसी भवति । ता गिम्हाणं पढमं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?। ता तिण्णि णक्खत्ता णेंति । तं जहा–उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता । उत्तराफग्गुणी चोद्दस अहोरत्ते णेति । हत्थो पण्णरस अहोरत्ते णेति । चित्ता एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि दुवालसअंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे लेहट्ठाणि तिन्नि पदाइं पोरिसी भवति । ता गिम्हाणं बितियं मासं कति णक्खत्ता णेंति ?। ता तिण्णि णक्खत्ता णेंति । तं जहा–चित्ता, साई, विसाहा । चित्ता चोद्दस अहोरत्ते णेति । साती पण्णरस अहोरते णेति । विसाहा एगं अहोरत्तं णेति । तंसि च णं मासंसि अट्ठंऽगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे दो पदाइं अट्ठऽगुलाइ पोरिसी भवति । गिम्हाणं ततियं मास कति णक्खत्ता णेंति ?। ता चत्तारि णक्खत्ता णेंति । त जहा–विसाहा, अणुराधा, जेट्ठा, मूलो । विसाहा चोद्दस अहोरत्ते णेति । अणुराहा सत्त, जेट्ठा अट्ठ, मूले एगं अहोरत्त णेति । तंसि च णं मासंसि चउरंगुलाए पोरिसीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे दो पदाणि चत्तारि य अंगुलाणि पोरिसी भवति । ता गिम्हाणं चउत्थं मास कति णक्खत्ता णेंति ?। तिन्नि णक्खत्ता णेंति । तं जहा–मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा । मूलो चोद्दस अहोरत्ते णेति । पुव्वासाढा पन्नरस अहोरत्ते णेति । उत्तरासाढा एगं अहोरत्त णेति । तंसि च णं मासंसि वट्टाए समचउरंससंठाणसंठिताए णग्गोधपरिमंडलाए सकायमणुरंगिणीए छायाए सूरिए अणुपरियट्टति । तस्स णं मासस्स चरिमे दिवसे लेहट्ठाणि दो पदाइ पोरिसी भवति ।

(ता कह ते णेता आहिते ति वदेज्जा) 'ता' इति पूर्ववत् । कथ केन प्रकारेण भगवन् ! ते त्वया स्व-यमस्तगमनेनाहोरात्रपरिसमापको नक्षत्ररूपो नेता आख्यात इति वदेत् ? । एवमेव प्रतिमास पिपृच्छिषुराह–(ता वासाणमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । वर्षाणा वर्षाकालस्य चतुर्मासप्रमाणस्य प्रथम मास श्रावणलक्षण कति नक्षत्राणि स्वयमस्तगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया नयन्ति गमयन्ति ? । भगवानाह–(ता चत्तारीत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । चत्वारि नक्षत्राणि स्वयमस्तगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया क्रमेण नयन्ति । तद्यथा–उत्तराषाढा, अभिजित्, श्रवणो, धनिष्ठा च । तत्रोत्तराषाढा प्रथमान् चतुर्दश अहोरात्रान् स्वयमस्तगमनेना-होरात्रपरिसमापकतया नयति, तदनन्तरमभिजिन्नक्षत्र स-प्ताहोरात्रान्नयति । तत. पर श्रवणनक्षत्रमष्टौ अहोरात्रान्नयति । एव च सर्वसकलनया श्रावणमासस्यैकोनत्रिंशदहोरात्रा गता । ततः पर श्रावणमासस्य सबन्धिन चरममेकमहोरात्र ध-निष्ठा नक्षत्र स्वयमस्तगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया नयति । एव चत्वारि नक्षत्राणि श्रावणमास नयन्ति । (तसि च ण-

मित्यादि) तस्मिंश्च श्रावणे मासे चतुरङ्गुलपौरुष्या चतुरङ्गुलाधिकपौरुष्या छायया सूर्योऽनु प्रतिदिवसं परावर्त्तते । किमुक्तं भवति ? -श्रावणे मासे प्रथमादहोरात्रादारभ्य प्रतिदिनमन्यान्यमण्डलसङ्क्रान्त्या तथा कथञ्चनापि परावर्त्तते, यथा तस्य श्रावणमासस्य पर्यन्ते चतुरङ्गुलाधिका द्विपदा पौरुषी भवति । तदेवाऽऽह-(तस्स णमित्यादि) तस्य श्रावणमासस्य चरमे दिवसे द्वे पदे चत्वारि चाङ्गुलानि पौरुषी भवति । (ता वासाणमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । वर्षाणां वर्षाकालस्य चतुर्मासप्रमाणस्य द्वितीयं भाद्रपदलक्षणं मासं कति नक्षत्राणि नयन्ति ? । अस्य वाक्यस्य भावार्थः प्राग्वद्भावनीयः । भगवानाह-('ता' इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । चत्वारि नक्षत्राणि नयन्ति । तद्यथा-धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वाप्रोष्ठपदा, उत्तराप्रोष्ठपदा च । तत्र धनिष्ठा तस्मिन् भाद्रपदे मासे प्रथमान् चतुर्दश अहोरात्रान् स्वयमस्तगमनेनाहोरात्रपरिसमापकतया नयति । तदनन्तरं शतभिषक् नक्षत्रं सप्ताहोरात्रान्, ततः परमष्टावहोरात्रान् पूर्वाप्रोष्ठपदा । तदनन्तरमेकमहोरात्रमुत्तराप्रोष्ठपदा । एवमेनं भाद्रपदं मासं चत्वारि नक्षत्राणि नयन्ति । (तंसि च णमित्यादि) तस्मिंश्च 'ण' इति वाक्यालङ्कारे । मासे भाद्रपदे अष्टाङ्गुलपौरुष्या अष्टाङ्गुलाधिकपौरुष्या छायया सूर्यो अनु प्रतिदिवसं परावर्त्तते । अत्राप्ययं भावार्थः-भाद्रपदे मासे प्रथमादहोरात्रादारभ्य प्रतिदिवसमन्यान्यमण्डलसङ्क्रान्त्या तथा कथमपि परावर्त्तते, यथा तस्य भाद्रपदस्य मासस्यान्ते अष्टाङ्गुलिका पौरुषी भवति । एतदेवाऽऽह-(तस्स णमित्यादि) सुगमम् । एवं शेषमासगतान्यपि सूत्राणि भावनीयानि, नवरं (लिहट्ठाणि तिपदाइं ति) रेखा पादपर्यन्तवर्त्तिनी सीमा, तत्स्थानि त्रीणि पदानि पौरुषी भवति । किमुक्तं भवति ?-परिपूर्णानि त्रीणि पदानि पौरुषी भवति । एवं चतुरङ्गुला प्रतिमासं वृद्धिस्तावद्वक्तव्या यावत्पौषमासः, तदनन्तरं प्रतिमासं चतुरङ्गुला हानिर्वक्तव्या । सा च तावद् यावदाषाढो मासः । तेनाऽऽषाढपर्यन्ते द्विपदा पौरुषी भवति । इदं च पौरुषीपरिमाणं व्यवहारत उक्तं, निश्चयतः सार्द्धत्रिंशता अहोरात्रैश्चतुरङ्गुला वृद्धिर्हानिर्वा वेदितव्या ।

तथा च निश्चयतः पौरुषीपरिमाणप्रतिपादनार्थमिमाः पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शिता सव्याख्या करणगाथा:-

"पव्वे पण्णरसगुणे, तिहिसहिए पोरिसीएँ आणयणे ।
छलसीइसयविभत्ते, जं लद्धं तं वियाणाहि" ॥ १ ॥

व्याख्या-युगमध्ये यस्मिन् पर्वणि यस्यां तिथौ पौरुषीपरिमाणं ज्ञातुमिष्यते, ततः पूर्वयुगाऽऽदित आरभ्य यानि पर्वाण्यतिक्रान्तानि, तानि ध्रियन्ते, धृत्वा च पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, गुणयित्वा च विवक्षितायास्तिथेर्याः प्राग्तिक्रान्तास्तिथय ,ताभिः सहितानि क्रियन्ते, कृत्वा च षडशीत्यधिकेन शतेन तेषां भागो ह्रियते । इह एकस्मिन्नयने त्र्यशीत्यधिकमण्डलशतपरिमाणे चन्द्रनिष्पादितानां तिथीनां षडशीत्यधिकं शतं भवति, ततस्तेन भागहरणं, भागे च हृते यल्लब्धं तद्विजानीहि, सम्यगवधारयेत्यर्थः ॥ १ ॥

"जइ होइ विसमलद्धं, दक्खिणमयणं हविज्ज नायव्वं ।
अह हवइ समं लद्धं, नायव्वं उत्तरं अयणं" ॥ २ ॥

तत्र यदि लब्धं विषमं भवति, यथा-एककस्त्रिकः , पञ्चकः, सप्तको, नवको वा, तदा तत्पर्यन्तवर्त्ति दक्षिणमयनं ज्ञातव्यम् । अथ भवति लब्धं समम् । तद्यथा-द्विकश्चतुष्कः , षट्कोऽष्टको, दशको वा । तदा तत्पर्यन्तवर्त्ति उत्तरायणमवसेयम् । तदेवमुक्तो दक्षिणायनोत्तरायणपरिज्ञानोपायः ॥ २ ॥

सम्प्रति षडशीत्यधिकेन शतेन भागे हृते यच्छेषमवतिष्ठते, यदि वा भागासम्भवेन यच्छेषं तिष्ठति, तद्गतविधिमाह-

"अयणगए तिहिरासी, चउग्गुणे पव्वपायभइयव्वं ।
जं लद्धमंगुलाणि य, खयवुड्ढी पोरिसीए उ" ॥ ३ ॥

'अयणगए' इत्यादि । यः पूर्वं भागे हृते, भागासम्भवे वा शेषीभूतोऽयनगतस्तिथिराशिर्वर्त्तते, स चतुर्भिर्गुण्यते, गुणयित्वा च पर्वपादेन-युगमध्ये यानि सर्वसङ्ख्यया पर्वाणि चतुर्विंशत्यधिकशतसङ्ख्यानि, तेषां पादेन चतुर्थेनांशेन, एकत्रिंशता इत्यर्थः । तथा भागे हृते यल्लब्धं, तान्यङ्गुलानि,चकाराद्ङ्गुलांशाश्च पौरुष्याः क्षयवृद्ध्योर्ज्ञातव्यानि । दक्षिणायने पदध्रुवराशेरुपरि वृद्धौ ज्ञातव्यानि, उत्तरायणे पदध्रुवराशेः क्षये ज्ञातव्यानीत्यर्थः ॥ अथैवम्भूतस्य गुणकारस्य भागहारस्य वा कथमुपपत्तिः ? । उच्यते-यदि षडशीत्यधिकेन तिथिशतेन चतुर्विंशतिरङ्गुलानि क्षये वृद्धौ वा प्राप्यन्ते, तत एकस्यां तिथौ का वृद्धिः, क्षयो वा ? । राशित्रयस्थापना-१८६।२४।१। तत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यमो राशिश्चतुर्विंशतिरूपो गुण्यते, जातः स तावानेव, 'एकेन गुणितं तदेव भवति' इति वचनात् । ततः आद्येन राशिना षडशीत्यधिकशतरूपेण भागो ह्रियते तत्रोपरितनराशेः स्तोकत्वाद्भागो न लभ्यते,ततः छेद्यच्छेदकराश्योः षड्भिरपवर्तना, जात उपरितनो राशिश्चतुष्करूपोऽधस्तन एकत्रिंशत्,लब्धमेकस्यां तिथौ चत्वार एकत्रिंशद्भागाः क्षये वृद्धौ चेति चतुष्को गुणकार उक्त एकत्रिंशद्भागहार इति ॥३॥

इह यल्लब्धं तान्यङ्गुलानि क्षये वृद्धौ वा ज्ञातव्यानीत्युक्तं तत्र कस्मिन्नयने कियत्प्रमाणध्रुवराशेरुपरि वृद्धौ, कस्मिन् वा अयने किंप्रमाणध्रुवराशेः क्षये ?, इत्येतन्निरूपणार्थमाह-

"दक्खिणवुड्ढी दुपया-उ अंगुलाणं तु होइ नायव्वा ।
उत्तरअयणे हाणी, कायव्वा चउहिँ पायाहिँ" ॥ ४ ॥

"दक्खिणवुड्ढी" इत्यादि । दक्षिणायने द्विपदात् पदद्वयस्योपरि अङ्गुलानां वृद्धिर्ज्ञातव्या, उत्तरायणे चतुर्भ्यः पादेभ्यः सकाशादङ्गुलानां हानिः ॥ ४ ॥

तत्र युगमध्ये प्रथमे संवत्सरे दक्षिणायने यतो दिवसादारभ्य वृद्धिः, तन्निरूपयति-

"सावणबहुलपडिवए, दुपया पुण पोरिसी धुवा होइ।
चत्तारि अंगुलाइं, मासेण वड्ढए तत्तो ॥ ५ ॥
इक्कत्तीसइ भागा, तिहिए पुण अंगुलस्स चत्तारि ।
दक्खिणमयणे वुड्ढी, जाव उ चत्तारि उ पयाइं" ॥ ६ ॥

"सावण" इत्यादिगाथाद्वयम् । युगस्य प्रथमे संवत्सरे श्रावणे मासि बहुलपक्षे प्रतिपदि पौरुषी द्विपदा पदद्वयप्रमाणा ध्रुवा भवति, ततस्तस्याः प्रतिपद आरभ्य प्रतितिथिक्रमेण तावद्वर्धते यावन्मासेन सूर्यमासेन सार्द्धत्रिंशदहोरात्रप्रमाणेन चन्द्रमासापेक्षयैकत्रिंशत्तिथिभिरित्यर्थः । चत्वारि अङ्गुलानि वर्धन्ते ॥५॥ कथमेतदवसीयते, यथा मासेन सूर्यमासेन सार्द्धत्रिंशदहोरात्रप्रमाणेनैकत्रिंशत्तिथ्यात्मकेनेति ?, अत आह । "इक्कत्तीस इत्यादि) यत एकस्यां तिथौ चत्वार एकत्रिंशद्भागा वर्द्धन्ते,एतच्च प्रागेव भावितम् । परिपूर्णे तु दक्षिणायने वृद्धिः । परिपूर्णानि चत्वारि पदानि । ततो मासेन सूर्यमासेन सार्द्धत्रिंशदहोरात्रप्रमाणैनैकत्रिंशत्तिथ्यात्मकेनेत्युक्तम् । तदेवमुक्ता वृद्धिः ॥ ६ ॥

संप्रति हानिमाह—

"उत्तरअयणे हाणी, चउहिं पायाहिँ जाव दो पाया ।
एवं तु पोरिसीए, वुड्डिखया हुंति नायव्वा" ॥ ७ ॥

" उत्तर " इत्यादि । युगस्य प्रथमे संवत्सरे माघमासे बहुलपक्षे सप्तम्या आरभ्य चतुर्भ्यः पादेभ्यः सकाशात्प्रतितिथ्येकत्रिंशद्भागचतुष्टयहानिस्तावदवसेया, यावदुत्तरायणपर्यन्ते द्वौ पादौ पौरुषीति । एष प्रथमसंवत्सरगतो विधिः । द्वितीये संवत्सरे श्रावणमासि बहुलपक्षे त्रयोदशीमादौ कृत्वा वृद्धि । माघमासे शुक्लपक्षे चतुर्थीमादिं कृत्वा क्षयः । तृतीये संवत्सरे श्रावणमासे शुक्लपक्षे दशमी वृद्धेरादिः । माघमासे बहुलपक्षे प्रतिपत् क्षयस्याऽऽदिः । चतुर्थे संवत्सरे श्रावणमासे बहुलपक्षे सप्तमी वृद्धेरादिः । माघमासे बहुलपक्षे त्रयोदशी क्षयस्याऽऽदिः । पञ्चमे संवत्सरे श्रावणमासे शुक्लपक्षे दशमी वृद्धेरादिः । माघमासे बहुलपक्षे प्रतिपत् क्षयस्याऽऽदिः । चतुर्थे संवत्सरे श्रावणे चतुर्थी वृद्धेरादिः । माघमासे शुक्लपक्षे दशमी क्षयस्याऽऽदिः । एतच्च करणगाथाऽनुपात्तमपि पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शितव्याख्यानादवसितम् । सम्प्रत्युपसंहारमाह-"एवं तु" इत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेण पौरुष्या पौरुषीविषये वृद्धिक्षयौ यथाक्रमं दक्षिणायनेषूत्तरायणेषु वेदितव्यौ । तदेवमक्षरार्थमधिकृत्य व्याख्याता करणगाथा ॥ ७ ॥

सम्प्रत्यस्य करणस्य भावना क्रियते-कोऽपि पृच्छति-युगं आदित आरभ्य पञ्चाशीतितमे पर्वणि पञ्चम्यां तिथौ कतिपदा पौरुषी भवति ? । तत्र चतुरशीतिर्ध्रियते, तस्याश्चाधस्तात्पञ्चम्यां तिथौ पृष्टमिति । पञ्च चतुरशीतिश्च पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि द्वादश शतानि षष्ट्यधिकानि १२६० । एतेषु मध्येऽधस्तनाः पञ्च प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि १२६५ । तेषां षडशीत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाः षट्, आगतं षड् अयनान्यतिक्रान्तानि, सप्तममयनं वर्त्तते । तद्गतं च शेषमेकोनपञ्चाशदधिकं शतं तिष्ठति १४९ । ततश्चतुर्भिर्गुण्यते, जातानि पञ्चशतानि षण्णवत्यधिकानि ५९६ । तेषामेकत्रिंशता भागहरणे लब्धा एकोनविंशतिः । शेषास्तिष्ठन्ति सप्त । तत्र द्वादशाङ्गुलानि पाद इत्येकोनविंशतेर्द्वादशभिः पदं लब्धम् । शेषाणि तिष्ठन्ति सप्त अङ्गुलानि, षष्ठं चायनमुत्तरायणं, तद्गतं सप्तमं तु दक्षिणायनं वर्त्तते । ततः पदमेकं, सप्ताङ्गुलानि पदद्वयप्रमाणे ध्रुवराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि त्रीणि पदानि सप्ताङ्गुलानि । ये च सप्त एकत्रिंशद्भागाः शेषीभूता वर्तन्ते, तान् यवान् कुर्मः । तत्राष्टौ यवा अङ्गुले इति ते सप्त अष्टभिर्गुण्यन्ते, जाता षट्पञ्चाशत् ५६ । तस्या एकत्रिंशता भागे हृते लब्ध एको यवः । शेषास्तिष्ठन्ति यवस्य पञ्चविंशतिरेकत्रिंशद्भागाः । आगतं पञ्चाशीतितमे पर्वणि पञ्चम्यां त्रीणि पदानि, सप्ताङ्गुलानि, एको यवः, एकस्य च यवस्य पञ्चविंशतिरेकत्रिंशद्भागाः । इत्येतावती पौरुषीति । तथाऽपरः कोऽपि पृच्छति-सप्तनवतितमे पर्वणि पञ्चम्यां तिथौ कतिपदा पौरुषी भवति ? । तत्र षण्णवतिर्ध्रियते, तस्याश्चाधस्तात् पञ्च षण्णवतिश्च पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि चतुर्दश शतानि चत्वारिंशदधिकानि १४४० । तेषां मध्येऽधस्तनाः पञ्च प्रक्षिप्यन्ते । जातानि चतुर्दशशतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि १४४५ । तेषां षडशीत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धानि सप्त अयनानि । शेषं तिष्ठति त्रिचत्वारिंशदधिकं शतम् १४३ । तच्चतुर्भिर्गुण्यते, जातानि पञ्च शतानि द्विसप्तत्यधिकानि ५७२ । तेषामेकत्रिंशता भागो ह्रियते, लब्धान्यष्टादश अङ्गुलानि १८ । तेषां मध्ये द्वादशभिरङ्गुलैः पदमिति लब्धमेकं षडङ्गुलानि, उपरि चांशा उद्धरन्ति चतुर्दश, ते यवाऽऽनयनार्थमष्टभिर्गुण्यन्ते, जातं द्वादशोत्तरं शतम् ११२ । तस्यैकत्रिंशता भागे हृते लब्धास्त्रयो यवाः, शेषास्तिष्ठन्ति यवस्यैकोनविंशतिरेकत्रिंशद्भागाः, सप्त चायनान्यतिक्रान्तानि । अष्टमं वर्तते, अष्टमं चायनमुत्तरायणम्, उत्तरायणे च पदचतुष्टयरूपात् ध्रुवराशेर्हानिर्वक्तव्या, ततः एकं पदं सप्ताङ्गुलानि, त्रयो यवाः, एकस्य च यवस्यैकोनविंशतिरेकत्रिंशद्भागा इति पदचतुष्टयात् पात्यते, शेषं तिष्ठति द्वे पदे चत्वारि चाङ्गुलानि, चत्वारो यवाः, एकस्य च यवस्य द्वादश एकत्रिंशद्भागाः । एतावती युगे आदित आरभ्य सप्तनवतितमे पर्वणि पञ्चम्यां तिथौ पौरुषीति । एवं सर्वत्र भावनीयम् ।

सम्प्रति पौरुषीपरिमाणतोऽयनगतपरिमाणज्ञापनार्थमियं करणगाथा—

"वुड्डी वा हाणी वा, जावइया पोरिसीएँ दिट्ठाओ ।
तत्तो दिवसगएणं, जं लद्धं तं खु अयणगयं ॥ ८ ॥"

" वुड्डी वा " इत्यादि । पौरुष्यां यावती-वृद्धिर्हानिर्वा दृष्टा, ततः सकाशाद् दिवसगतेन प्रवर्तमानेन वा त्रैराशिककर्मानुसारतो यल्लब्धं, तदयनगतमयनस्य तावत्प्रमाणं गतं वेदितव्यम् । एष करणगाथाऽक्षरार्थः ॥ ८ ॥

भावना त्वियम्-तत्र दक्षिणायने पदद्वयस्योपरि चत्वार्यङ्गुलानि वृद्धौ दृष्टानि । ततः कोऽपि पृच्छति-कियद् गतं दक्षिणायनस्य ? । अत्र त्रैराशिककर्मावतारः; यदि चतुर्भिरङ्गुलस्यैकत्रिंशद्भागैरेका तिथिर्लभ्यते, ततश्चतुर्भिरङ्गुलैः कति तिथीर्लभामहे ? । राशित्रयस्थापना-४ । १ । ४ । अत्रान्त्यो राशिरङ्गुलरूप एकत्रिंशद्भागकरणार्थमेकत्रिंशता गुण्यते, जातं चतुर्विंशत्यधिकं शतम् १२४ । तेन मध्यो राशिर्गुण्यते, जातं तदेव चतुर्विंशत्यधिकं शतम् १२४, 'एकेन गुणितं तदेव भवति' इति वचनात् । तस्य चतुष्करूपेणाऽऽदिराशिना भागो ह्रियते, लब्धा एकत्रिंशत्तिथयः । आगतं दक्षिणायने एकत्रिंशत्तमायां तिथौ चतुरङ्गुला पौरुष्या वृद्धिरिति । तथा उत्तरायणे पदचतुष्टयादङ्गुलाष्टकं हीनं पौरुष्यामुपलभ्य कोऽपि पृच्छति-कियद् गतमुत्तरायणस्य ? । अत्रापि त्रैराशिकम् । यदि चतुर्भिरङ्गुलस्यैकत्रिंशद्भागैरेका तिथिर्लभ्यते, ततोऽष्टभिरङ्गुलैर्हीनैः कति तिथयो लभ्यन्ते ? । राशित्रयस्थापना-४ । १ । ८ । अत्रान्त्यो राशिरेकत्रिंशद्भागकरणार्थमेकत्रिंशता गुण्यते, जाते द्वे शतेऽष्टाचत्वारिंशदधिके २४८ । ताभ्यां मध्यो राशिरेकरूपो गुण्यते, जाते ते एव द्वे शते अष्टाचत्वारिंशदधिके २४८ । तयोराद्येन राशिना चतुष्करूपेण भागहरणम्, लब्धा द्वाषष्टिः ६२ । आगतमुत्तरायणे द्वाषष्टितमायां तिथावष्टावङ्गुलानि पौरुष्या हीनानीति ।

" तंसि च णं मासंसि वट्टाए " इत्यादि । तस्मिन्नाषाढे मासे प्रकाश्यस्य वस्तुनो वृत्तस्य वृत्तया, समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितस्य च समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितया, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानस्य न्यग्रोधपरिमण्डलया । उपलक्षणमेतत्-शेषसंस्थानसंस्थितस्य प्रकाश्यस्य वस्तुनः शेषसंस्थितया । आषाढे हि मासे प्रायः सर्वस्यापि प्रकाश्यस्य वस्तुनो दिवसस्य चतुर्भागेऽतिक्रान्ते शेषे वा स्वप्रमाणा छाया भवति । निश्चयतः पुनराषाढमासस्य चरममण्डले, तत्रापि सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्तमाने सूर्ये । ततो यत्प्रकाश्यं वस्तु यत्संस्थानं भवति, तस्य छायाऽपि तथासंस्थानोपजायते । तत उ-

क वृत्तस्य वृत्तया इत्यादि । एतदेवाऽऽह-स्वकायमनुरङ्गिण्या-स्वस्य स्वकीयस्य छायानिबन्धनस्य वस्तुन काय· शरीर स्वकाय, तमनुरज्यते अनुकार विदधातीत्येवंशीला स्वकायानुरङ्गिणी। "सपृचानुरुधाङ्यमाङ्यसपरिसृससृजपरिदेवि सज्वरपरिक्षिपपरिरटपरिवदपरिदहपरिमुहदुषद्विषद्रुह०-" ॥ ३ । २ । १४२ ॥ (पाणि०) इत्यादिना घिनुण् प्रत्यय ।तया स्वकायमनुरङ्गिण्या छायया सूर्योऽनु प्रतिदिवस परावर्तते । एतदुक्त भवति-आषाढस्य प्रथमादहोरात्रादारभ्य प्रतिदिवसमन्यान्यमण्डलसङ्क्रान्त्या तथा कथञ्चनापि सूर्य· परावर्तते, यथा सर्वस्यापि प्रकाश्यस्य वस्तुनो दिवसस्य चतुर्भागेऽतिक्रान्ते, शेषे वा स्वानुकारा स्वप्रमाणा च छाया भवतीति । शेष सुगमम् । सू० प्र० १० पाहु० १ पाहु०। (नक्षत्राण्यधिकृत्य चन्द्रमार्गा· 'चंदमग्ग' शब्दे तृतीयभागे १०८५ पृष्ठे उक्ता·)

(१६) नक्षत्राणां देवता -

ता कहं ते देवताणं अज्झयणा आहिता ति वदेज्जा ?। ता एएसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अभिई णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ?। ता बंभदेवताए पण्णत्ते। सवणे णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ? । ता विण्हुदेवताए पण्णत्ते । धणिट्ठा णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ? । ता वसुदेवताए पण्णत्ते । सयभिसया णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ?। ता वरुणदेवताए पण्णत्ते। पुव्वापोट्ठवया णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ?। अजदेवताए पण्णत्ते । उत्तरापोट्ठवया णक्खत्ते किंदेवताए पण्णत्ते ? । ता अहिवद्धिदेवताए पण्णत्ते । एवं सव्वे वि पुच्छिज्जंति । रेवती पुस्सदेवयाए, अस्सिणी अस्सदेवयाए, भरणी जमदेवयाए, कत्तिया अग्गिदेवयाए, रोहिणी पयावइदेवयाए, संठाणा सोमदेवयाए, अद्दा रुद्दवयाए, पुणव्वसू अदितिदेवयाए, पुस्सो बहस्सइदेवयाए, अस्सेसा सप्पदेवयाए, महा पितिदेवयाए, पुव्वाफग्गुणी भगदेवयाए, उत्तराफग्गुणी अज्जमदेवयाए, हत्थे सवितिदेवयाए, चित्ता तट्ठदेवयाए, साती वाउदेवयाए, विसाहा इंदग्गिदेवयाए, अणुराधा मित्तदेवयाए, जेट्ठा इंददेवयाए, मूले णिरितिदेवयाए, पुव्वासाढा आउदेवयाए, उत्तरासाढा विस्सदेवयाए पण्णत्ता ॥

"ता कह ते देवताण" इत्यादि । 'ता' इति । पूर्ववत् । कथ केन प्रकारेण भगवन् ! त्वया नक्षत्राधिपतीना देवतानामध्ययनानि, अधीयन्ते ज्ञायन्ते यैस्तान्यध्ययनानि,नामानीत्यर्थ । आख्यातानीति वदेत् ?। एव प्रश्ने कृते भगवानाह-"ता एएसि ण" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामन्तरोदितानामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणा मध्येऽभिजिन्नक्षत्र किंदेवताक किंनामधेयदेवताक प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-'ता' इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत् । ब्रह्मदेवताक ब्रह्माभिधदेवताक प्रज्ञप्तम् । श्रवणनक्षत्र किंदेवताक प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-'ता' इत्यादि । विष्णुदेवताक विष्णुनामदेवताक प्रज्ञप्तम् । एव शेषाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि ।

देवताऽभिधानसंग्राहिकाश्चेमास्तिस्रः प्रवचनप्रसिद्धाः संग्रहणिगाथा·-

"बम्हा विण्हू य वसू, वरुणो सह अजो अणंतरं होइ ।
अभिवड्ढि पूस गव-व्व चेव परतो जमो होइ ॥ १ ॥
अग्गि पयावइ सोमे, रुद्दे अदिई बहस्सई चेव ।
नागे पिइ भग अज्जम, सविया तठा य वाऊ य ॥ २ ॥
इंदग्गी मित्तो वि य, इंदे निरई य आउ विस्सो अ ।
नामाणि देवयाण, हवंति रिक्खाण जहकमसो ॥ ३ ॥"

जं० ७ वक्ख०। सू० प्र० १० पाहु० १४ पाहु० ।

(२०) नक्षत्राणां गोत्राणि-

ता कहं ते गोत्ता आहिता ति वदेज्जा ? । ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अभिई णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। ता मोग्गलायणसगोत्ते पण्णत्ते । सवणे णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। संखायणसगोत्ते पण्णत्ते । धणिट्ठा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । अग्गतावसगोत्ते पण्णत्ते । सतभिसया णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। कण्णिायणसगोत्ते पण्णत्ते। पुव्वापोट्ठवता णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। जातुकण्णीयसगोत्ते पण्णत्ते । उत्तरापोट्ठवता णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । धणंजयसगोत्ते पण्णत्ते । रेवती णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। पुस्सायणसगोत्ते पण्णत्ते। अस्सिणी णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। अस्सायणसगोत्ते पण्णत्ते । भरणी णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। भग्गवेससगोत्ते पण्णत्ते ? । कत्तिया णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । अग्गिवेससगोत्ते पण्णत्ते ? । रोहिणी णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । गोतमसगोत्ते पण्णत्ते । संठाणा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । भारद्दायसगोत्ते पण्णत्ते। अद्दा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । लोहिच्चायणसगोत्ते पण्णत्ते । पुणव्वसू णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । वासिट्ठसगोत्ते पण्णत्ते । पुस्से णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। ओमजायणसगोत्ते पण्णत्ते । अस्सेसा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। मंडव्वायणसगोत्ते पण्णत्ते । महा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । पिंगायणसगोत्ते पण्णत्ते?। पुव्वाफग्गुणी णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। गोवल्लायणसगोत्ते पण्णत्ते। उत्तराफग्गुणी णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। कासवगोत्ते पण्णत्ते। हत्थे णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। कोसियगोत्ते पण्णत्ते । चित्ता णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । दब्भियायणसगोत्ते पण्णत्ते । साई णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । चामरच्छगोत्ते पण्णत्ते । विसाहा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। सुंगायणसगोत्ते पण्णत्ते। अणुराधा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ? । गोलव्वायणसगोत्ते पण्णत्ते। जेट्ठा णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?

तिगिच्छायणसगोत्ते पएणत्ते । मूले णक्खत्ते किंगोत्ते पएणत्ते ? । कच्चायणसगोत्ते पएणत्ते । पुव्वासाढा णक्खत्ते किंगोत्ते पएणत्ते ? । वज्झियायणसगोत्ते पएणत्ते । उत्तरासाढा णक्खत्ते किंगोत्ते पएणत्ते ? । वग्घावच्चसगोत्ते पएणत्ते ।

इह नक्षत्राणां स्वरूपतो न गोत्रसंभवः, यत इह गोत्रस्य स्वरूपं लोके प्रसिद्धिमुपागमत्-प्रकाशकाऽऽद्यपुरुषाभिधानस्तदपत्यसन्तानो गर्गाभिधानो गोत्रमिति । न चैवंस्वरूपं नक्षत्राणां गोत्रं संभवति, तेषामौपपातिकत्वात् । तत इत्थं गोत्रसंभवो द्रष्टव्यः-यस्मिन्नक्षत्रे शुभैरशुभैर्वा ग्रहैः समानं यस्य गोत्रस्य यथाक्रमं शुभमशुभं वा भवति, तत्तस्य गोत्रम्, ततः प्रश्नोपपत्तिः । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं त्वया नक्षत्राणां गोत्राणि आख्यातानीति वदेत् ? । भगवानाह-"ता एएसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽभिजिन्नक्षत्रं मौद्गलायनसगोत्रं मौद्गलायनेन सह गोत्रेण वर्त्तते यत्तत्तथा । श्रवणनक्षत्रं सङ्ख्यायनसगोत्रम् । एवं शेषाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि ।

क्रमेण गोत्रसंग्राहिकाश्चेमा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसत्कास्ततः संग्रहणिगाथाः-

"मोग्गल्लायण संखा-यणे य तह अग्गताव कणिल्ले ।
तत्तो य जाउकरणे, धणंजए चेव बोधव्वे ॥ १ ॥
पुस्सायणे अस्साय-णे, य भग्गवेसे य अग्गिवेसे य ।
गोयम भारद्दाए, लोहिच्चे चेव वासिट्ठे ॥ २ ॥
ओमज्जायणे मंड-व्वायण पिंगायणे य गोवल्ले ।
कासव कोसिय दब्भा-यण चामरत्था य सुंगा य ॥ ३ ॥
गोलव्वायण तिगिच्छा-यणे य कच्चायणे हवइ मूले ।
तत्तो य वज्झियायणे, वग्घावच्चे य गोत्ताइं ॥ ४ ॥"

(जं० ७ वक्ख०) सू० प्र० १० पाहु० १६ पाहु० । चं० प्र० ।

(२१) संप्रति भोजनानि वक्तव्यानि, ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते भोयणा आहिता ति वदेज्जा ? । ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं कत्तियाहिं दधिणा भोच्चा कज्जं साधेति ? । रोहिणीहिं वसभमंसं भोच्चा कज्जं साहेति । संठाणाहिं मिगमंसं भोच्चा कज्जं साहेति । अद्दाहिं णवणीतेण भोच्चा कज्जं साहेति । पुणव्वसुणा घतेणं भोच्चा कज्जं साधेति । पुस्सेणं खीरेणं भोच्चा कज्जं साधेति । अस्सेसाहिं दीवगमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । महाहिं कसोरिं भोच्चा कज्जं साधेति । पुव्वाफग्गुणीहिं मेढगमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । उत्तराहिं फग्गुणीहिं णखीमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । हत्थेणं वच्छाणीयपत्तेणं भोच्चा कज्जं साधेति । चित्ताहिं मुग्गसूवेणं भोच्चा कज्जं साधेति । सादिणा फलाइं भोच्चा कज्जं साधेति । विसाहाहिं आसित्तिआ भोच्चा कज्जं साधेति । अणुराहाहिं मासाकूरं भोच्चा कज्जं साधेति । जेट्ठाहिं कोलट्ठिएणं भोच्चा कज्जं साधेति । मूलेण मूलगसागेणं भोच्चा कज्जं साधेति । पुव्वाहिं आसाढाहिं आमलगसारिएण भोच्चा कज्जं साधेति । उत्तराहिं आसाढाहिं बिल्लेहिं भोच्चा कज्जं साधेति । अभिइणा पुप्फेहिं भोच्चा कज्जं साधेति । सवणेणं खीरेणं भोच्चा कज्जं साधेति । धणिट्ठाहिं जूसेणं भोच्चा कज्जं साधेति । सयभिसयाए तुवरीओ भोच्चा कज्जं साधेति । पुव्वाहिं पोट्ठवयाहिं कारिल्लएहिं भोच्चा कज्जं साधेति । उत्तराहिं पोट्ठवताहिं वराहमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । रेवतीहिं जलयरमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । अस्सिणीहिं तित्तिरमंसं भोच्चा कज्जं साधेति । भरणीहिं तिलतंदुलकं भोच्चा कज्जं साधेति ।

ता कह ते भोयणा इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण नक्षत्रविषयाणि भोजनानि आख्यातानीति वदेत् ? । भगवानाह-"ता एएसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामनन्तरोदितानामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये कृत्तिकाभिः पुमान् कार्यं साधयति दध्ना समिश्रमोदनं भुक्त्वा । किमुक्तं भवति ?-कृत्तिकासु प्रारब्धं कार्यं दधि भुक्ते प्रायो निर्विघ्नं सिद्धिमासादयतीति भावः । एवं शेषेष्वपि सूत्रेषु भावना द्रष्टव्या । सू० प्र० १० पाहु० १७ पाहु० । चं० प्र० ।

(२२) किं नक्षत्रं किं द्वारिकम्-

ता कहं ते जोतिसस्स दारा आहिता ति वदेज्जा ? । तत्थ खलु इमाओ पंच पडिवत्तीओ पएणत्ताओ । तत्थेगे एवमाहंसु-ता कत्तियादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पएणत्ता, एगे एवमाहंसु । १ । एगे पुण एवमाहंसु-ता अणुराहादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पएणत्ता, एगे एवमाहंसु । २ । एगे पुण एवमाहंसु-ता धणिट्ठादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पएणत्ता, एगे एवमाहंसु । ३ । एगे पुण एवमाहंसु-अस्सिणीयादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पएणत्ता, एगे एवमाहंसु । ४ । एगे पुण एवमाहंसु-ता भरणियादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पएणत्ता । ५ । तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता कत्तियादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पएणत्ता, ते एवमाहंसु-तं जहा-कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, पुस्सो, अस्सेसा । महादिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पएणत्ता । तं जहा-महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साई, विसाहा । अणुराधादिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पएणत्ता । तं जहा-अणुराधा, जेट्ठा, मूले, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा, अभिई, सवणो । धणिट्ठादिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पएणत्ता । तं जहा-धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवता, उत्तरापोट्ठवता, रेवती, अस्सिणी, भरणी । तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता महादिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पएणत्ता, ते एवमाहंसु-तं जहा-पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साती, विसाहा । अणुराधादिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पएणत्ता ।

तं जहा-अणुराधा, जेट्ठा, मूले, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा, अभिई, सवणो । धणिट्ठाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता । तं जहा-धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवता, उत्तरापोट्ठवता, रेवती, अस्सिणी, भरणी । कत्तियाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता । तं जहा-कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, पुस्सो, अस्सेसा । तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता धणिट्ठाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, ते एवमाहंसु-तं जहा-धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वाभद्दवया, उत्तराभद्दवया, रेवती, अस्सिणी, भरणी । कत्तियाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता । तं जहा-कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, अस्सेसा । महाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता । तं जहा-महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साती, विसाहा । अणुराधाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता । तं जहा-अणुराधा, जेट्ठा, मूले, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा, अभिई, सवणो । तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता अस्सिणीआदिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, ते एवमाहंसु-तं जहा-अस्सिणी, भरणी, कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू । पुस्साऽऽदिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता । तं जहा-पुस्सो, अस्सेसा, महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता । सातीआदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता । तं जहा-साती, विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा । अभिईआदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता । तं जहा-अभिई, सवणो, धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वाभद्दवया, उत्तराभद्दवया, रेवती । तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता भरणीआदिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता, ते एवमाहंसु-तं जहा-भरणी, कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू, पुस्सो । अस्सेसाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता । तं जहा-अस्सेसा, महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता, साई । विसाहाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता । तं जहा-विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूलो, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा, अभिई । सवणाऽऽदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता । तं जहा-सवणो, धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवया, उत्तरापोट्ठवया, रेवती, अस्सिणी । एते एवमाहंसु । वयं पुण एवं वदामो-ता अभिईआदिया सत्त णक्खत्ता पुव्वदारिया पण्णत्ता । तं जहा-अभिई, सवणो, धणिट्ठा, सतभिसया, पुव्वापोट्ठवया, उत्तरापोट्ठवया, रेवती । अस्सिणीआदिया सत्त णक्खत्ता दाहिणदारिया पण्णत्ता । तं जहा-अस्सिणी, भरणी, कत्तिया, रोहिणी, संठाणा, अद्दा, पुणव्वसू । पुस्साऽऽदिया सत्त णक्खत्ता पच्छिमदारिया पण्णत्ता । पुस्से, अस्सेसा, महा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता । सातीआदिया सत्त णक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता । तं जहा-साती, विसाहा, अणुराहा, जेट्ठा, मूले, पुव्वासाढा, उत्तरासाढा ॥

"ता कहं ते जोइसदारा" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण, केन क्रमेणेत्यर्थः ? ज्योतिषां नक्षत्रजातस्य, द्वाराणि आख्यातानीति वदेत् ? । एवमुक्ते भगवानेतद्विषये या-वत्यः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः, तावतीरुपदर्शयति-(तत्थे-त्यादि) तत्र द्वारविचारविषये खल्विमाः पञ्च प्रतिपत्तयः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः । ता एव क्रमेणाऽऽह-"तत्थेगे" इत्यादि । तत्र तेषां पञ्चानां परतीर्थिक-मतावलम्बिनां मध्ये एके एवमाहुः-कृत्तिकाऽऽदीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि प्रज्ञप्तानि । इह येषु नक्षत्रेषु पूर्वस्यां दिशि गच्छतः प्रायः शुभमुपजायते, तानि पूर्वद्वारकाणि । एवं दक्षिणद्वारकाऽऽदीन्यपि वक्ष्यमाणानि ज्ञातव्यानि । अत्रैवोपसं-हारमाह-'एगे एवमाहंसु" । एके पुनरेवमाहुः-अनुराधाऽऽदी-नि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि प्रज्ञप्तानि । अत्राप्युपसंहारमाह-"एगे एवमाहंसु" । एवं शेषाण्युपसंहारवाक्यानि योजनीयानि । एके पुनरेवमाहुः-धनिष्ठाऽऽदीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि । एके पुनरेवमाहुः-अश्विन्यादीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्वद्वारकाणि प्रज्ञप्तानि । एके पुनरेवमाहुः-भरण्यादीनि सप्त नक्षत्राणि पूर्व-द्वारकाणि । संप्रत्येतेषामेव पञ्चानामपि मतानां भावनिकामाह-"तत्थ जे ते एवमाहंसु" इत्यादि सुगमम् । भगवान् स्वमत-माह-"वयं पुण" इत्यादि पाठसिद्धम् । सू० प्र० १० पाहु० २१ पाहु० ।

(२३) नक्षत्रविचय'-

ता कहं ते णक्खत्तविचए आहिते ति वदेज्जा ? । ता अय णं जंबुद्दीवे दीवे० जाव परिक्खेवेणं । ता जंबुद्दीवे णं दीवे दो चंदा पभासेंसु वा, पभासेंति वा, पभासिस्संति वा । दो सूरिया तविंसु वा, तवेंति वा, तविस्संति वा । छप्पण्णं णक्खत्ता जोयं जोएंसु वा, जोयंति वा, जोइस्संति वा । तं जहा-दो अभिई, दो सवणा, दो धणिट्ठा, दो सतभिसया, दो पुव्वापोट्ठवया, दो उत्तरापोट्ठवया, दो रेवती, दो अस्सिणी, दो भरणी, दो कत्तिया, दो रोहिणी, दो संठाणा, दो अद्दा, दो पुणव्वसू, दो पुस्सा, दो अस्सेसा, दो महा, दो पुव्वाफग्गुणी, दो उत्तराफग्गुणी, दो हत्था, दो चित्ता, दो साई, दो विसाहा, दो अणुराधा, दो जेट्ठा, दो मूला, दो पुव्वासाढा, दो उत्तरासाढा । ता एएसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ता, जे णं णव मुहुत्ते, सत्तावीसं

च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं पणरस मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं पणयालीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं कतरे णक्खत्ते, जे णं णव मुहुत्ते सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ?। कतरे णक्खत्ता, जे णं पणरस मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ?। कतरे णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ?। कतरे णक्खत्ता, जे णं पणतालीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति ?। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं, तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं णव मुहुत्ते सत्तावीसं च सत्तट्ठिभागे मुहुत्तस्स चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं दो अभिई। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं पणरस मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं बारस। तं जहा-दो सतभिसया, दो भरणी, दो अद्दा, दो असेसा, दो साती, दो जेट्ठा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं तीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं तीसं। तं जहा-दो सवणा, दो धणिट्ठा, दो पुव्वाभद्दवया, दो रेवती, दो अस्सिणी, दो कत्तिया, दो संठाणा, दो पुस्सा, दो महा, दो पुव्वाफग्गुणी, दो हत्था, दो चित्ता, दो अणुराधा, दो मूला, दो पुव्वासाढा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं पणयालीसं मुहुत्ते चंदेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं बारस। तं जहा-दो उत्तरापोट्ठवया, दो रोहिणी, दो पुणव्वसू, दो उत्तराफग्गुणी, दो विसाहा, दो उत्तरासाढा॥ ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ता, जे णं चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एक्कवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते बारस मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। अत्थि णक्खत्ता, जे णं वीसं अहोरत्ते तिन्नि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं कयरे णक्खत्ता, जे णं तं चेव उच्चारेयव्वं ?। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं, तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं चत्तारि अहोरत्ते छच्च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं दो अभिई। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं छ अहोरत्ते एक्कवीसं च मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं बारस। तं जहा-दो सतभिसया, दो भरणी, दो अद्दा, दो असेसा, दो साती, दो जेट्ठा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं तेरस अहोरत्ते बारस मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं तीसं। तं जहा-दो सवणा० जाव दो पुव्वासाढा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जे णं वीसं अहोरत्ते तिण्णि य मुहुत्ते सूरेण सद्धिं जोयं जोएंति। ते णं बारस। तं जहा-दो उत्तरापोट्ठवया० जाव दो उत्तरासाढा।

"ता कह ते" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। कथं केन प्रकारेण (णक्खत्तविचए त्ति) विपर्ययेण समासात् सरूपनिर्णये वर्तते। तथा चोक्तमन्यत्र-"आप्तवचनं प्रवचनं, ज्ञाता विचयस्तदर्थनिर्णयनम्।" तत्र विचयनं विचयः, नक्षत्राणां विचयो नक्षत्रविचयः-नक्षत्राणां स्वरूपनिर्णयः, आख्यात इति वदेत् ?। भगवानाह-"ता अय णं" इत्यादि। इह जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् परिपूर्णं स्वयं कृत्वा परिभावनीयम्। "ता जबुद्दीवे णं" इत्यादि। तत्र जम्बूद्वीपे, णमिति वाक्यालङ्कारे। द्वीपे द्वौ चन्द्रौ प्रभासितवन्तौ, प्रभासेते, प्रभासिष्येते। द्वौ सूर्यौ तापितवन्तौ, तापयतः, तापयिष्यतः। षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि चन्द्राऽऽदिभिः सह योगमयुञ्जन्, युञ्जन्ति, योक्ष्यन्ति। तत्र तान्येव षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि दर्शयति-(तं जहा) इत्यादि सुगमम्। इह भरतक्षेत्रे प्रतिदिवसमष्टाविंशतिरेव नक्षत्राणि चारं चरन्ति। ततः पूर्वमस्य दशमस्य प्राभृतस्य द्वितीये प्राभृतप्राभृतेऽष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां चन्द्रमसा सूर्येण च सह योगपरिमाणं चिन्तितम्। सम्प्रति पुनः सकलमेव जम्बूद्वीपमधिकृत्य नक्षत्राणि चिन्त्यमानानि वर्त्तन्ते, तानि च सर्वसंख्यया षट्पञ्चाशत्। ततस्तेषां सर्वेषामपि चन्द्रसूर्याभ्यां सह योगमधिकृत्य मुहूर्त्तपरिमाणं चिचिन्तयिषुरिदमाह-"ता एएसि णं" इत्यादि। एतच्च प्रागुक्तद्वितीयप्राभृतप्राभृतवत्परिभावनीयम्। तदेवं कालमधिकृत्य चन्द्रमसा सूर्येण च सह योगपरिमाणं चिन्तितम्।

सम्प्रति क्षेत्रमधिकृत्य तं चिचिन्तयिषुः प्रथमतः सीमाविष्कम्भविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते सीमाविक्खंभो आहिते ति वदेज्जा ?। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं अत्थि णक्खत्ता, जेसि णं छसया तीसा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। अत्थि णक्खत्ता, जेसि णं सहस्सं पंचोत्तरं सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। अत्थि णक्खत्ता, जेसि णं दो सहस्सा दसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। अत्थि णक्खत्ता, जेसि णं तिण्णि सहस्सा पणरसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं कतरे णक्खत्ता, जेसि णं छसया तीसा० तं चेव उच्चारेयव्वं ?। ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं तत्थ जे ते णक्खत्ता, जेसि णं छसया तीसा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। ते णं दो अभिई। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जेसि णं सहस्सं पंचोत्तरं सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। ते णं बारस। तं जहा-दो सतभिसया० जाव दो जेट्ठा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जेसि णं दो सहस्सा दसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो। ते णं तीसं। तं जहा-दो सवणा० जाव दो पुव्वासाढा। तत्थ जे ते णक्खत्ता, जेसि णं ति-

ण्णि सहस्सा पण्णरसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसतिभागाणं सीमाविक्खंभो । ते णं बारस । तं जहा–दो उत्तरापोट्ठवता० जाव दो उत्तरासाढा ।

"ता कहं ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण, कियत्या विभागसंख्यया इत्यर्थः । भगवन् ! त्वया सीमाविष्कम्भ आख्यात इति वदेत् ? । भगवानाह–"ता एतेसि णं" इत्यादि । इहाभिजिदाद्या नक्षत्रे स्वगत्या स्वकालपरिमाणेन क्रमशो यावत् क्षेत्रं बुद्ध्या व्याप्यमानं संभाव्यते, तावदेकमर्द्धमण्डलमुपकल्प्यते, एतावत्प्रमाणमेव द्वितीयमर्द्धमण्डलम्, इत्येवंप्रमाणं बुद्धिपरिकल्पितमेकं परिपूर्णमण्डलम् । तस्य मण्डलस्य "ममसंसयसहस्सेण अट्ठाणउतीए सयाहि छेत्ता इच्चेस णक्खत्तखेत्तपरिभागो णक्खत्तविजए पाहुडे आहिए त्ति बेमि" इति वक्ष्यमाणवचनात् महानवतिशताधिकशतसहस्रविभागैर्विभज्यते । किमेवं संख्यानां भागानां कल्पते निबन्धमिति चेत् ? । उच्यते–इह त्रिविधानि नक्षत्राणि । तद्यथा–समक्षेत्राणि, अर्द्धक्षेत्राणि, द्व्यर्द्धक्षेत्राणि च । तत्र यावत्प्रमाणं क्षेत्रमहोरात्रेण गम्यते सूर्येण, तावत्क्षेत्रप्रमाणं चन्द्रेण सह योगमुपयान्ति गच्छन्ति, तानि समक्षेत्राणि । तानि पञ्चदश । तद्यथा श्रवणो, धनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरः, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूलम्, पूर्वाषाढा इति । तथा यानि अहोरात्रप्रमितस्य क्षेत्रस्यार्द्धं च चन्द्रेण सह योगमश्नुवते, तान्यर्द्धक्षेत्राणि, तानि च षट् । तद्यथा–शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वातिर्ज्येष्ठेति । तथा द्वितीयमर्द्धं यस्य तद् द्व्यर्द्धं, सार्द्धमित्यर्थः । द्व्यर्द्धमर्द्धाधिकं क्षेत्रमहोरात्रप्रमितं चन्द्रेण योगयोग्यं येषां तानि द्व्यर्द्धक्षेत्राणि । तान्यपि षट् । तद्यथा–उत्तराभाद्रपदा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, रोहिणी, पुनर्वसु, विशाखा चेति । तत्र सीमापरिमाणचिन्तायामहोरात्रः सप्तषष्टिभागीक्रियते, इति समक्षेत्राणां क्षेत्रं प्रत्येकं सप्तषष्टिभागाः परिकल्प्यन्ते । अर्द्धक्षेत्राणां त्रयस्त्रिंशदर्द्धं च द्व्यर्द्धक्षेत्राणां शतमेकमर्द्धं च अभिजिन्नक्षत्रस्यैकविंशतिसप्तषष्टिभागाः । समक्षेत्राणि च नक्षत्राणि पञ्चदशेति सप्तषष्टिः पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातं सहस्रं पञ्चोत्तरम् १००५ । अर्द्धक्षेत्राणि षडिति । तत सार्द्धास्त्रयस्त्रिंशत्षड्भिर्गुण्यते, जाते द्वे शते एकोत्तरे २०१ । द्व्यर्द्धक्षेत्राण्यपि षट् । तत. शतमेकमर्द्धं च षड्भिर्गुण्यते, जातानि षट् शतानि द्व्युत्तराणि ६०२ । अभिजिन्नक्षत्रस्य एकविंशतिः, सर्वसंख्यया जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । एतावद्भागपरिमाणमेकमर्द्धमण्डलम्, एतावद्भागमेव द्वितीयमिति त्रिंशदधिकान्यष्टादशशतानि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि ३६६० । एकैकस्मिन्नहोरात्रे किल त्रिंशन्मुहूर्ता इति प्रत्येकमेतेषु षष्ट्यधिकषट्त्रिंशच्छतसंख्येषु भागेषु त्रिंशद्भागकल्पनायां त्रिंशता गुण्यन्ते, जातमेकं शतसहस्रमष्टानवतिशतानि । १०९८०० । तत इत्थं मण्डलस्य भागान् परिकल्प्य भगवान् प्रतिवचनं ददाति–"ता" इति । तत्र एतेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये, अस्तीति निपातत्वाद्बहुवचनार्थत्वाद्वा स्तः, ते नक्षत्रे, ययोः प्रत्येकं षट् शतानि त्रिंशानि त्रिंशदधिकानि, सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः सीमापरिमाणम् । तथाऽस्तीति सन्ति तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं पञ्चोत्तरं सहस्रं सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । सन्ति तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं द्वे सहस्रे दशोत्तरे सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । सन्ति तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि, सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । एवं भगवता सामान्येनोक्ते भगवान् गौतमो विशेषावगमनिमित्तं भूयः प्रश्नयति–"ता एतेसि णं" इत्यादि । तत्र एतेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये कतराणि तानि नक्षत्राणि, येषां षट्शतानि त्रिंशानि सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः ? । (न चेव उच्चारेयव्व त्ति) तदेवमन्तरोक्तमुक्तप्रकारेणोच्चारयितव्यम् । तद्यथा–"कयरे खलु णक्खत्ता, जेसिं सहस्सं पंचोत्तरं सत्तट्ठिभागतीसइभागाणं सीमाविक्खंभो ? । कयरे णक्खत्ता, जेसिं दो सहस्सा दसुत्तरा सत्तट्ठिभागतीसइभागाणं सीमाविक्खंभो" इति । चरमं तु सूत्रं साक्षादाह–"कयरे णक्खत्ता" इत्यादि । एतानि त्रीणि सूत्राणि सुगमानि । भगवानाह–"ता एतेसि णं" इत्यादि । तत्र एतेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि, येषां षट्शतानि त्रिंशानि सप्तषष्टिभागत्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । ते द्वे अभिजिन्नक्षत्रे । कथमेतदवसीयते ?, इति चेत् । उच्यते–इह एकैकस्याभिजितो नक्षत्रस्य सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रगम्यस्य क्षेत्रस्य सत्का एकविंशतिर्भागाश्चन्द्रयोगयोग्याः, एकैकस्मिंश्च भागे त्रिंशद्भागपरिकल्पनादेकविंशतिस्त्रिंशता गुण्यते, जातानि षट् शतानि त्रिंशदधिकानि ६३० । तथा तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं पञ्चोत्तरं सहस्रं सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । तानि द्वादश । तद्यथा–द्वे शतभिषजौ (०जाव दो जेट्ठाओ त्ति) यावच्छब्दकरणादेव द्रष्टव्यम्–"दो भरणीओ, दो अद्दाओ, दो असलेसाओ, दो साईओ, दो जेट्ठाओ" इति । तथाहि–एतेषां द्वादशानामपि नक्षत्राणां प्रत्येकं सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रगम्यस्य क्षेत्रस्य सत्का सार्द्धास्त्रयस्त्रिंशद्भागाश्चन्द्रयोगयोग्याः, ततस्त्रयस्त्रिंशत् त्रिंशता गुण्यते, जातानि नवशतानि नवत्यधिकानि ९९० । अर्द्धस्यापि च त्रिंशता गुणयित्वा द्वाभ्यां भागे हृते लब्धाः पञ्चदश १५, सर्वसंख्यया जातं पञ्चोत्तरं सहस्रम् १००५ । तथा तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि, येषां द्वे सहस्रे दशोत्तरे सप्तषष्टिभागत्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । तानि त्रिंशत् । तद्यथा–द्वौ श्रवणौ (०जाव दो पुव्वासाढा इति) यावच्छब्दादेव पाठो द्रष्टव्य.–"दो धणिट्ठा, दो पुव्वाभद्दवया, दो रेवई, दो अस्सिणी, दो कत्तिया, दो मिगसिरा, दो पुस्सा, दो मघा, दो पुव्वाफग्गुणीओ, दो हत्था, दो चित्ता, दो अणुराहा, दो मूला, दो पुव्वासाढा" इति । तथाहि–एतानि नक्षत्राणि समक्षेत्राणि । तत एतेषां सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रगम्यस्य क्षेत्रस्य सत्का. परिपूर्णाः सप्तषष्टिभागाः प्रत्येकं चन्द्रयोगयोग्या. । तेन सप्तषष्टिस्त्रिंशता गुण्यते, जाते द्वे सहस्रे दशोत्तरे इति २०१० । तथा तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि, येषां प्रत्येकं त्रीणि सहस्राणि पञ्चदशोत्तराणि सप्तषष्टित्रिंशद्भागानां सीमाविष्कम्भः । तानि द्वादश । तद्यथा–द्वे उत्तरे प्रोष्ठपदे (०जाव दो उत्तरासाढा इति) यावच्छब्दकरणादेव द्रष्टव्यम्–"दो रोहिणी, दो पुणव्वसू, दो उत्तराफग्गुणी, दो विसाहा, दो उत्तरासाढा" इति । एतानि हि नक्षत्राणि द्व्यर्द्धक्षेत्राणि । ततः सप्तषष्टिखण्डीकृतस्याहोरात्रगम्यस्य क्षेत्रस्य सत्काश्चन्द्रयोगयोग्या भागा, शतमेकमर्द्धं च प्रत्येकमवसातव्याः । तत्र शतं त्रिंशता गुण्यते, जातानि त्रीणि

सहस्राणि, अर्द्धमपि त्रिंशता गुणयित्वा द्वाज्यां विभज्यते, लब्धाः पञ्चदशेति । सू० प्र० १० पाहु० २२ पाहु० ।

(२४) साय प्रातर्नक्षत्रचन्द्रयोगः-

ता एतेसि णं छप्पण्णाए णक्खत्ताणं किं सता पादो चंदेणं सद्धिं जोयं जोएति ?। किं सता सायं चंदेण सद्धिं जोयं जोएति ?। किं सता दुहओ पविट्ठित्ता पविट्ठित्ता चंदेण सद्धिं जोयं जोएति ?। ता एतेसि णं णक्खत्ताणं णो सया पादो चंदेण सद्धिं जोयं जोएति, णो सया सायं चंदेण सद्धिं जोगं जोएति, णो सया दुहओ पविट्ठित्ता पविट्ठित्ता चंदेण सद्धिं जोयं जोएति । णऽण्णत्थ दोहिं अभिईहिं । ता एतेसि णं दो अभिईआ पायं चिय पायं चिय चोत्तालीसं अमावासं जोएंति, णो चेव णं पुण्णिमासिणिं ॥

" ता एतेसि णं " इत्यादि । ' ता ' इति । तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये किं नक्षत्रं यत्सदा प्रातरेव चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति ?, किं नक्षत्रं यत्सदा सायं दिवसावसानसमये चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति ?, किं तन्नक्षत्रं यत्सदा द्विधा प्रातः सायं च समये, प्रविश्य प्रविश्य चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति ? । भगवानाह-" ता एतेसि णं " इत्यादि । तत्रैतेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये न किमपि तन्नक्षत्रमस्ति, यत् सदा प्रातरेव चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति, नापि तन्नक्षत्रमस्ति यत्सदा साय समये चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति, नापि तदस्ति नक्षत्रं, यत्सदा द्विधा प्रातः साय समये च, प्रविश्य प्रविश्य चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति । किं सर्वथा ?, नेत्याह-" णऽण्णत्थ " इत्यादि । नेति प्रतिषेधे, अन्यत्र द्वाभ्यामभिजिद्भ्यामवसेय. । कस्मात् ?, इत्याह-"ता एतेसि णं" इत्यादि । 'ता' इति । तत्र तेषां षट्पञ्चाशतो नक्षत्राणां मध्ये, एते अनन्तरोदिते द्वे अभिजिती, अभिजिन्नक्षत्रे युगे युगे प्रातरेव प्रातरेव चतुश्चत्वारिंशत्तमाममावास्या चन्द्रेण सह योगमुपगम्य युङ्क्तः परिसमापयत., नो चैव पौर्णमासीम् । अथ कथमेतदवसीयते-यथा युगे युगे चतुश्चत्वारिंशत्तमाममावास्यां सदैव प्रात. समये अभिजिन्नक्षत्रं चन्द्रेण सार्द्धं योगमुपागम्य परिसमापयतीति ? । उच्यते-पूर्वाऽऽचार्योपदर्शितकरणवशात् । तथाहि-तिथ्यानयनार्थं तावत्करणमिदम्-

" तिहिरासिमेव बाव-ट्ठीभइए सेसमेगसट्ठिगुण ।
बावट्ठीए विभत्ते, सेसा अंसा तिहिसमत्ती " ॥ १ ॥

अस्या अक्षरगमनिका-ये युगमध्ये चन्द्रमासा अतिक्रान्ताः,ते तिथेरानयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, गुणयित्वा च तस्य राशेर्भागो द्वाषष्ट्या ह्रियते, हृते च भागे यदवतिष्ठते, तस्मिन्नेकषष्ट्या गुणयित्वा द्वाषष्ट्या विभक्ते ये अंशा उद्धरन्ति, सा विवक्षिते दिने विवक्षिततिथिपरिसमाप्ति. । ततश्चतुश्चत्वारिंशत्तमायाममावास्यायां चिन्त्यमानाया त्रिचत्वारिंशच्चन्द्रमासा., एक च चन्द्रमासस्य पर्वावाप्यते । ततस्त्रिचत्वारिंशत् त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि द्वादश शतानि नवत्यधिकानि १२९० । तत उपरितना. पर्वगता. पञ्चदश प्रक्षिप्यन्ते, जातानि त्रयोदश शतानि पञ्चोत्तराणि १३०५ । तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकविंशति , सा त्यज्यते, शेषास्तिष्ठन्ति त्रय, ते एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जात त्र्यशीत्यधिक शतम् १८३ । तस्य द्वाषष्ट्या भागे हृते लब्धौ द्वौ, तौ त्यक्तौ, शेषास्तिष्ठन्त्येकोनषष्टिः ५९ । आगतमेकोनषष्टिर्द्वाषष्टिभागाः, तस्मिन् दिने अमावास्यासु पौर्णमासीषु च नक्षत्राऽऽनयनार्थं प्रागुक्तमेव करणम् । तत्र ध्रुवराशिः षट्षष्टिर्मुहूर्त्ता., एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागा , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकः सप्तषष्टिभाग. ६६ । $\frac{५}{६२}$ । $\frac{१}{६७}$ । तत्र चतुश्चत्वारिंशत्तमा अमावास्या चिन्तयितुमारब्धा, ततश्चतुश्चत्वारिंशता सा गुण्यते, जातानि मुहूर्त्तानामेकोनत्रिंशच्छतानि चतुरुत्तराणि २९०४ । एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागानां द्वे शते विंशत्यधिके २२० । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा $\frac{४४}{६७}$ । तत्र पुनर्वसुप्रभृतिकमुत्तराषाढापर्यन्त चत्वारि शतानि द्विचत्वारिंशदधिकानि मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्चत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागा. ४४२ । $\frac{४६}{६२}$ । इत्येवं प्रमाणं शोध्यते, जातानि मुहूर्त्ताना चतुर्विंशतिशतानि द्वाषष्ट्यधिकानि २४६२ । एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुःसप्तत्यधिक शतं द्वाषष्टिभागानाम् १७४ । ततोऽभिजिदादिसकलनक्षत्रमण्डलशोधनकमष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागा.; एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टि. सप्तषष्टिभागा. ८१९ । २४ । ६६ । इत्येवप्रमाणं यावत्सम्भव शोधनीयम् । तत्र त्रिगुणमपि शुद्धिमासादयतीति त्रिगुणं कृत्वा शोध्यते, स्थिता पश्चात् षट् मुहूर्त्ता', एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तत्रिंशद् द्वाषष्टिभागा', एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागा ६ । ३७ । ४७ । आगत चतुश्चत्वारिंशत्तमाममावास्यामभिजिन्नक्षत्रं, षट्सु मुहूर्त्तेषु सप्तमस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु गतेषु परिसमापयति ।

(२५) सप्रत्यमावास्यापौर्णमासीप्रक्रमादेव तत्प्ररूपणां चिकीर्षुरिदमाह-

तत्थ खलु इमाओ बावट्ठि पुण्णिमासिणीओ बावट्ठि अमावासाओ पण्णत्ताओ । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे चरिमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति, ता एतेणं पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता, एत्थ णं से चंदे पढमं पुण्णिमासिणिं जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे पढमं पुण्णिमासिणिं जोएति,ता एतेणं पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता, एत्थ णं से चंदे दोच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे दोच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति, ता एतेणं पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता, एत्थ णं तच्चं चंदे पुण्णिमासिणिं जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसमं पुण्णिमासिणिं चंदे कंसि देसंसि

जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे तच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दोण्णि अट्ठासीते भागसते उवातिणावेत्ता एत्थ णं से चंदे दुवालसम पुण्णिमासिणिं जोएति ॥ एवं खलु एतेणुवाएणं ताते २ पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंमलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता तसि तंसि देसंसि त तं पुण्णिमासिणिं चंदे जोएति। ता एतेसि णं पंचण्ह संवच्छराणं चरमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं चंदे कसि देसंसि जोएति ?। ता जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स पाईणपडीणाऽऽयतउदीणदाहिणाऽऽयताए जीवाए मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दाहिणिल्लंसि चउब्भागमंडलंसि सत्तावीसं च भागे उवातिणावेत्ता अट्ठावीसतिभागं वीसहा छेत्ता अट्ठावीसतिभागे उवातिणावेत्ता तिहिं भागेहिं दोहि य कलाहिं पच्चच्छिमिल्लचउब्भागमंडलं असंपत्ते एत्थ णं से चंदे चरिम बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति ।

ता एतेसि ण पंचण्ह संवच्छराणं पढम पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि सूरे चरिमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिभागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे पढम पुण्णिमासिणिं जोएइ। ता एतेसि ण पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि सूरे पढमं पुण्णिमासिणिं जोएइ, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिभागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे दोच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति। ता एतेसि णं पंचण्ह संवच्छराणं तच्चं पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि ण देसंसि सूरे दोच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिभागे उवातिणावेत्ता एत्थ ण से सूरे तच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति। ता एतेसि णं पंचण्ह संवच्छराणं दुवालसमं पुण्णिमासिणिं सूरे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि सूरे तच्चं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंमलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता अट्ठचत्ताले भागसते उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे दुवालसमं पुण्णिमासिणिं जोएति। एवं खलु एतेणुवाएणं ताते २ पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंमलं चउव्वीसेणं सतेण छेत्ता चउणउतिचउणउतिभागे उवातिणावेत्ता तसि तंसि देसंसि त त पुण्णिमासिणिं सूरे जोयं जोएति। ता एतेसि ण पंचण्हं संवच्छराणं चरिम बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं सूरे कसि देसंसि जोएति ?। ता जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स पाईणपडीणाऽऽयतउदीणदाहिणाऽऽयताए जीवाए मंमलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता पुरच्छिमिल्लंसि चउब्भागमंमलंसि सत्तावीसभागे उवातिणावेत्ता अट्ठावीसतिभाग वीसधा छेत्ता अट्ठारसभागे उवातिणावेत्ता तिहिं भागेहिं दोहि य कलाहिं दाहिणिल्लचउब्भागमंमलं असंपत्ते एत्थ णं से सूरे चरिमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति ।

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं अमावासं चंदे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे चरिमं बावट्ठिं अमावासं जोएति, ताते अमावासट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से चंदे पढमं अमावासं जोएति । एवं जेणेव अभिलावेणं चंदस्स पुण्णिमासिणीओ भणिताओ, तेणेव अभिलावेणं अमावासाओ भणितव्वाओ। तं जहा-बितिया, ततिया, दुवालसमी। एवं खलु एतेणुवाएणं ताते २ अमावासट्ठाणातो मंमलं चउव्वीसेण सतेणं छेत्ता दुतीसं दुतीसं भागे उवातिणावेत्ता तंसि तंसि देसंसि तं तं अमावासं चंदे जोएति। ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरमं बावट्ठिं अमावास चंदे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे चरिमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंमल चउव्वीसेण सतेणं छेत्ता सोलसभागे ओसक्कावइत्ता एत्थ णं से चंदे चरिमं बावट्ठिं अमावासं जोएति । ता एतेसि णं पंचण्ह संवच्छराण पढमं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि णं देसंसि सूरे चरिमं बावट्ठिं अमावासं जोएति, ताते अमावासट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता चउणउतिभागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे पढमं अमावासं जोएति। एवं जेणेव अभिलावेणं सूरस्स पुण्णिमासिणीओ, तेणेव अमावासाओ वि। त जहा-बितिया, ततिया, दुवालसमी। एवं खलु एतेणुवाएणं ताते अमावासट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता चउणउतिचउणउतिभागे उवातिणावेत्ता तसि तंसि देसंसि त त अमावासं सूरे जोएति । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरिमं बावट्ठिं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएति ?। ता जंसि ण देसंसि सूरे चरिमं बावट्ठिं अमावासं जोएति, ताते पुण्णिमासिणिट्ठाणातो मंडलं चउव्वीसेणं सतेण छेत्ता सत्तालीसं भागे ओसक्कावइत्ता एत्थ णं से सूरे चरिमं बावट्ठिं अमावासं जोएति ।

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेण जोएति ?। ता धणिट्ठाहिं, धणिट्ठा

तिणि मुहुत्ता, एगूणवीसं च बावट्टिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता पणट्ठिचुण्णियाभागा सेसा।

"तत्थ खलु" इत्यादि। तत्र युगे खलु इमा वक्ष्यमाणस्वरूपा. द्वाषष्टिः पौर्णमास्यो,द्वाषष्टिरमावास्याः प्रज्ञप्ताः। एवमुक्ते भगवान् गौतमः पृच्छति-" ता " इत्यादि। 'ता' इति। तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां चन्द्राऽऽदीनां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमा पौर्णमासीं चन्द्र. कस्मिन् देशे युनक्ति परिसमापयति ?। भगवानाह-" ता जंसि णं " इत्यादि। तत्र यस्मिन् देशे चन्द्रश्चरमा पाश्चात्ययुगपर्यन्तवर्तिनीं द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं युनक्ति परिसमापयति,तस्मात् पौर्णमासीस्थानाच्चरमद्वाषष्टितम· पौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानात् परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य, तद्गतान् द्वात्रिंशद्भागानुपादाय गृहीत्वा, अत्र द्वात्रिंशद्भागरूपे देशे चन्द्र प्रथमां पौर्णमासीं युनक्ति परिसमापयति। भूयः प्रश्नं करोति-"ता एतेसि णं" इत्यादि। "ता" इति। तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणा मध्ये या द्वितीया पौर्णमासी, ता चन्द्र कस्मिन् देशे परिसमापयति ?। भगवानाह-" ता जंसि णं " इत्यादि। तत्र यस्मिन् देशे चन्द्र· प्रथमा पौर्णमासीं युनक्ति परिसमापयति,तस्मात् पौर्णमासीस्थानात् प्रथमपौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानात् परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा तद्गतान् द्वात्रिंशद्भागानुपादायात्र प्रदेशे स चन्द्रो द्वितीयां पौर्णमासीं परिसमापयति। एवं तृतीयपौर्णमासीविषयमपि सूत्रं व्याख्येयम्। एवं द्वादशपौर्णमासीविषयमपि। नवरं (दोण्णि अट्ठासीते भागसते त्ति) तृतीयस्या· पौर्णमास्या· परतो द्वादशी किल पौर्णमासी नवमी भवति, ततो नवभिर्द्वात्रिंशतो गुणने द्वे शतेऽष्टाशीत्यधिके भवत· २८८। संप्रत्यतिदेशमाह-"एवं खलु" इत्यादि। एवमुक्तेन प्रकारेण खलु निश्चितमेतेनानन्तरोदितेनोपायेन या पौर्णमासीं यत्र यत्र देशे परिसमापयति,तस्या· तस्या· पौर्णमास्यास्ततोऽनन्तरां पौर्णमासीं तस्मात्तस्मात् पाश्चात्यपाश्चात्यपौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानाद् मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा परतस्तद्गतान् द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशतं भागानुपादाय तस्मिन् तस्मिन् देशे तां ता पौर्णमासीं चन्द्रः परिसमापयति। स चैव परिसमापयस्तावद्वेदितव्यो, यावद् भूयोऽपि चरमा द्वाषष्टि पौर्णमासीं तस्मिन् देशे परिसमापयति,यस्मिन् देशे पाश्चात्ययुगे चरमा द्वाषष्टि पौर्णमासीं परिसमापितवान्। कथमेतदवसीयते ?,इति चेत्। उच्यते-गणितक्रमवशात्। तथाहि-पाश्चात्ययुगे चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानात् परतो मण्डलस्य चतुर्विंशत्यधिकशतप्रविभक्तस्य सत्कानां द्वात्रिंशतो भागानामतिक्रमे तस्यास्तस्या पौर्णमास्याः परिसमाप्ति, द्वाषष्टिश्च सर्वसङ्ख्यया युगे पौर्णमास्यः। ततो द्वात्रिंशद् द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकोनविंशतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि १९८४। तेषां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धा· षोडश सकलमण्डलपरावर्ता·, समस्तस्यापि च राशेर्निर्लेपीभवनादागत-यस्मिन् देशे पाश्चात्ययुगसंबन्धिचरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्ति ,तस्मिन्नेव देशे विवक्षितस्यापि च युगस्य चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्ति। सम्प्रति चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिदेश पृच्छति-" ता एतेसि णं " इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्। तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चाना संवत्सराणा मध्ये चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं चन्द्र कस्मिन् देशे युनक्ति· परिसमापयति ?। भगवानाह-(ता जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। जम्बूद्वीपस्य, णमिति वाक्यालङ्कारे। द्वीपस्योपरि प्राचीनापाचीनाऽऽयतया, इह प्राचीनग्रहणेनोत्तरपूर्वा गृह्यते,अपाचीनग्रहणेन दक्षिणापरा। ततोऽयमर्थ ·पूर्वोत्तरदक्षिणापराऽऽयतया,एवमुदीच्यदक्षिणाऽऽयतया, पूर्वदक्षिणोत्तरापराऽऽयतया जीवया प्रत्यञ्चया, दवरिकया इत्यर्थः। मण्डलं चतुर्विंशेन शतेन चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य, भूयश्चतुर्भिर्विभज्यते। ततो दाक्षिणात्ये चतुर्भागमण्डले एकत्रिंशद्भागप्रमाणे सप्तविंशतिभागानुपादायाष्टाविंशतितमं च भागं विंशतिधा छित्त्वा, तद्गतानष्टाविंशतिभागानुपादाय शेषैस्त्रिभिर्भागैश्चतुर्थस्य भागस्य द्वाभ्यां कलाभ्यां पाश्चात्यचतुर्भागमण्डलमसप्राप्तोऽस्मिन् प्रदेशे चन्द्रो द्वाषष्टितमां चरमा पौर्णमासीं परिसमापयति। तदेव चन्द्रस्य पौर्णमासीपरिसमाप्तिदेश उक्त·।

सम्प्रति सूर्यस्य पौर्णमासीपरिसमाप्तिदेशं प्रतिपिपादयिषुस्तद्विषय प्रश्नसूत्रमाह—(ता एतेसि णं इत्यादि) 'ता' इति। तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां पौर्णमासीं सूर्य· कस्मिन् देशे स्थित· सन् युनक्ति-परिसमापयति ?। भगवानाह-(ता जंसि णं इत्यादि) तत्र यस्मिन् देशे स्थित· सन् सूर्यश्चरमां पाश्चात्ययुगवर्तिनीं द्वाषष्टितमा पौर्णमासीं युनक्ति-परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात् चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानात् परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य, तद्गतान् चतुर्नवतिभागान् उपादाय,अत्र प्रदेशे सूर्य प्रथमा पौर्णमासीं परिसमापयति। किमत्र कारणमिति चेत् ?, उच्यते-इह परिपूर्णेषु त्रिंशदहोरात्रेषु परिसमाप्तेषु सत्सु स एव सूर्यस्तस्मिन्नेव देशे वर्तमान प्राप्यते, न कतिपयभागन्यूनेषु, पौर्णमासी च चन्द्रमासपर्यन्ते परिसमाप्तिमुपैति ; चन्द्रमासस्य च परिमाणमेकोनत्रिंशदहोरात्राः, एकस्य चाहोरात्रस्य द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः। ततस्त्रिंशत्तमेऽहोरात्रे द्वात्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु गतेषु सूर्यश्चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानात् चतुर्नवतौ चतुर्विंशत्यधिकशतभागेष्वतिक्रान्तेषु प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयन्नवाप्यते। किमुक्तं भवति ?-त्रिंशता भागैस्तमेव देशमप्राप्त· सन्नवाप्यते, त्रिंशतो द्वाषष्टिभागानामहोरात्रसत्कानामद्यापि स्थितत्वात्। भूय· प्रश्नयति-(ता एतेसि णमित्यादि) 'ता' इति। तत्र युगे एतेषां पञ्चानां संवत्सराणा मध्ये द्वितीया पौर्णमासीं सूर्य कस्मिन् देशे स्थित सन् युनक्ति—परिसमापयति ?। भगवानाह-(ता जंसि णमित्यादि) 'ता' इति। तत्र यस्मिन् देशे स्थित सन् सूर्य प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात् प्रथमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानात् परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा तद्गतान् चतुर्नवतिभागान् उपादाय अत्र देशे स्थित सन् सूर्यो द्वितीयां पौर्णमासीं परिसमापयति। एवं तृतीयपौर्णमासीविषयमपि सूत्रं वक्तव्यम्। एवं द्वादशपौर्णमासीविषयमपि। नवरं (अट्ठचत्ताले भागसते त्ति) तृतीयस्या· पौर्णमास्या· परतो द्वादशी किल पौर्णमासी नवमी,ततश्चतुर्नवतिर्नवभिर्गुण्यते, जातान्यष्टौ शतानि षट्चत्वारिंशदधिकानि ८४६। संप्रति शेष-

पौर्णमासीविषयमतिदेशमाह-(एवं खलु इत्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण,खलु निश्चितम,एतेनानन्तरोदितेनोपायेन यां यां पौर्णमासीं यत्र यत्र देशे परिसमापयति,तस्यास्तस्या: पौर्णमास्यास्तां तामनन्तरामनन्तरां पौर्णमासीं तस्मात् तस्मात् पाश्चात्यपाश्चात्यपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानाद् मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा परतस्तद्गतान् चतुर्नवतिचतुर्नवतिभागानुपादाय तस्मिन् तस्मिन् देशे स्थित: सन् सूर्यस्तां तां पौर्णमासीं परिसमापयति । स चैव परिसमापयन् तावद् वेदितव्यो यावद् भूयोऽपि चरमा द्वाषष्टितमा पौर्णमासी तस्मिन् देशे परिसमापयति यस्मिन् देशे पाश्चात्ययुगसबन्धिनीं चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापितवान् । एतच्चावसीयते गणितक्रमवशात् । तथाहि-पाश्चात्ययुगचरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनात् स्थानात् परतो मण्डलस्य चतुर्विंशत्यधिकशतप्रविभक्तस्य सत्कानां चतुर्नवतिभागानामतिक्रमे तस्या: तस्या: पौर्णमास्या: परिसमाप्ति, ततश्चतुर्नवतिर्द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातान्यष्टापञ्चाशच्छतानि अष्टाविंशत्यधिकानि ५८२८ । तेषां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धा: सप्तचत्वारिंशत् सकलमण्डलपरावर्त्ता । न च तै: प्रयोजन, केवलं राशेर्निर्लेपीभवनादागत-यस्मिन् देशे स्थित: सन् पाश्चात्ययुगसबन्धिचरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमापक:, तस्मिन्नेव देशे विवक्षितस्यापि युगस्य चरमा द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयतीति । सम्प्रति चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धन देश पृच्छति-"ता एतेसि णं" इत्यादि सुगमम । भगवानाह-"ता जंबुद्दीवस्स ण" इत्यादि ।'ता' इति पूर्ववत् । जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य प्राचीनापाचीनाऽऽयतया, अत्रापि प्राचीनग्रहणेनोत्तरपूर्वा दिग् गृह्यते। अपाचीनग्रहणेन दक्षिणाऽपरा। ततोऽयमर्थ:-उत्तरपूर्वदक्षिणापराऽऽयतया, एवमुदीच्यदक्षिणाऽऽयतया, उत्तरापरदक्षिणपूर्वाऽऽयतया जीवया दवरिकया, मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य भूयश्चतुर्भिर्भक्त्वा (पुरच्छिमिल्लंसि त्ति) पूर्वदिग्वर्तिनि चतुर्भागमण्डले एकत्रिंशत्भागप्रमाणे सप्तविंशतिभागानुपादायाष्टाविंशतितम च भाग विंशतिधा छित्त्वा तद्गतानष्टादशभागानुपादाय शेषैस्त्रिभिर्भागैश्चतुर्थस्य च भागस्य द्वाभ्यां कलाभ्यां, विंशतितमाभ्यामित्यर्थ । दाक्षिणात्यचतुर्भागमण्डलमसम्प्राप्त: सन्नत्र प्रदेशे स सूर्यश्चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयति । तदेव सूर्याचन्द्रमसो: पौर्णमासीपरिसमाप्तिदेश उक्त: ।

सम्प्रति तयोरेवामावास्यापरिसमाप्तिदेशं प्रतिपिपादयिषु प्रथमन चन्द्रविषय प्रश्नसूत्रमाह-(ता एतेसि णमित्यादि) तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमाममावास्यां चन्द्र: कस्मिन् देशे स्थित: परिसमापयति ?। भगवानाह-(ता जंसि णमित्यादि) तत्र यस्मिन् देशे स्थित: सन् चन्द्रश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिसमापयति, ततोऽमावास्यास्थानादमावास्यापरिसमाप्तिस्थानात्, परतो मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा तद्गतान् द्वात्रिंशत भागान् उपादायात्र प्रदेशे स चन्द्र: प्रथमाममावास्यां परिसमापयति । (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण येनैवाभिलापेन चन्द्रस्य पौर्णमास्यो भणिता:, तेनैवाभिलापेनामावास्या अपि भणितव्या: । तद्यथा-द्वितीया, तृतीया, द्वादशी च । ताश्चैवम-" ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं अमावासं कंसि देसंसि जोएइ ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे पढमं अमावासं जोएइ,ताओ णं अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छित्ता दुवत्तीसं भागे उवातिणावेत्ता एत्थ णं से चंदे तच्चं अमावासं जोएइ । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसमं अमावासं चंदे कंसि देसंसि जोएइ ?। ता जंसि णं देसंसि चंदे तच्चं अमावासं जोएइ,ताओ णं अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता दोण्णि अट्ठासीए भागसए उवातिणावेत्ता एत्थ णं चंदे दुवालसमं अमावासं जोएइ । " सम्प्रति शेषास्वमावास्यास्वतिदेशमाह-"एवं खलु" इत्यादि । एतत् प्राग्वद् व्याख्येयम। सम्प्रति चरमद्वाषष्टितमामावास्यापरिसमाप्तिनिबन्धन देश पृच्छति-" ता एतेसि णं " इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-(ता जंसि णमित्यादि) तत्र यस्मिन् देशे स्थित: सन् चन्द्रो द्वाषष्टितमां चरमां पौर्णमासीं युनक्ति परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात्-पौर्णमासीपरिसमाप्तिस्थानात् मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्य पूर्वं षोडशभागानवष्वष्क्य । चरमा हि द्वाषष्टितमा अमावास्या चरमद्वाषष्टितमपौर्णमास्या: पक्षेण पश्चात्पक्षेण च विवक्षितप्रदेशात् षोडशभिश्चतुर्विंशत्यधिकशतभागै: परत: प्ररूप्यते, मासेन द्वात्रिंशता भागै: परतो वर्त्तमानस्य लभ्यमानत्वात् । तत: षोडशभागान् पूर्वमवष्वष्कयेत्युक्तम । अत्रास्मिन् प्रदेशे स्थित: सन् चन्द्रश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिसमापयति । सम्प्रति सूर्यस्यामावास्यापरिसमाप्तिनिबन्धनं देश पिपृच्छिषुराह-(ता एतेसि णमित्यादि) एतत्प्राग्वद् व्याख्येयम । (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण येनैवाभिलापेन सूर्यस्य पौर्णमास्य उक्ता:,तेनैवाभिलापेनामावास्या अपि वक्तव्या: । तद्यथा-द्वितीया, तृतीया, द्वादशी च । ताश्चैवम-" एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएइ ?। ता जंसि णं देसंसि सूरिए पढमं अमावासं जोएइ, ताओ अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता चउणउइभागे उवाइणावेत्ता एत्थ णं से सूरे दोच्चं अमावासं जोएइ । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएइ ?। ता जंसि णं देसंसि दोच्चं अमावासं जोएइ, ताओ णं अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता चउणउइभागे उवातिणावेत्ता तच्चं अमावासं जोएइ । ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसमं अमावासं सूरे कंसि देसंसि जोएइ ?। ता जंसि णं देसंसि सूरे तच्चं अमावासं जोएइ, ताओ अमावासट्ठाणाओ मंडलं चउव्वीसेणं सएणं छेत्ता अट्ठछत्ताले भागसए उवातिणावेत्ता एत्थ णं से सूरे दुवालसमं अमावासं जोएइ । " संप्रति शेषास्वमावास्यासु अतिदेशमाह-(एवं खलिवत्यादि) एतत् प्राग्वद् व्याख्येयम । सम्प्रति चरमद्वाषष्टितमामावास्यापरिसमाप्तिनिबन्धन देश पृच्छति-" ता एतेसि णं " इत्यादि सुगमम । भगवानाह-(ता जंसि णमित्यादि) यस्मिन् देशे स्थित: सन् सूर्यश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिसमापयति, तस्मात् पौर्णमासीस्थानात् पौर्णमासीपरिसमाप्तिनिबन्धनाद् देशात् मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा विभज्याधिक सप्तचत्वारिंशत भागानवष्वष्क्य अत्र प्रदेशे स्थित: सन् सूर्यश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां युनक्ति परिसमापयति । अथ का पौर्णमासी केन नक्षत्रेण युक्तश्चन्द्र: सूर्यो वा परिसमापयति ?, इति प्रष्टुकाम आह-(ता एतेसि णमित्यादि)

'ता' इति । तत्र युगे एतेषामनन्तरोदितानां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां पौर्णमासीं चन्द्रः । उपलक्षणमेतत्-सूर्यो वा; केन नक्षत्रेण सह योगमुपागतः सन् युनक्ति-परिसमापयति ? । भगवानाह-(ता धणिट्ठाहिं इत्यादि) 'ता' इति । तत्र तेषां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां पौर्णमासीं चन्द्रः परिसमापयति धनिष्ठाभिः; धनिष्ठानक्षत्रस्य पञ्चतारत्वात् तदपेक्षया बहुवचनम्, अन्यथा त्वेकवचन द्रष्टव्यम । तासां च धनिष्ठानां त्रयो मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनविंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा पञ्चषष्टिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-पौर्णमासीविषयस्य चन्द्रनक्षत्रयोगस्य परिज्ञानार्थं करणं प्रागेवोक्तं, तत्र षट्षष्टिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभागः ६६। $\frac{५}{६२}$ $\frac{१}{६७}$ इत्येवरूपो ध्रुवराशिर्ध्रियते; धृत्वा च प्रथमायां पौर्णमास्यां चन्द्रनक्षत्रयोगो ज्ञातुमिष्ट इत्येकेन गुण्यते, 'एकेन गुणित तदेव भवति' इति तावानेव जातः, तस्मादभिजितो नव मुहूर्त्ता । एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः; इत्येवप्रमाण शोधनक शोध्यते । तत्र षट्षष्टेर्नव मुहूर्त्ताः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात् सप्तपञ्चाशत्, तेभ्य एको मुहूर्त्तो गृहीत्वा द्वाषष्टिभागीकृत, ते च द्वाषष्टिरपि भागा द्वाषष्टिभागराशौ पञ्चकरूपे प्रक्षिप्यन्ते, जाताः सप्तषष्टिर्द्वाषष्टिभागाः, तेभ्यश्चतुर्विंशतिः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात् त्रिचत्वारिंशत, तेभ्य एक रूपमादाय सप्तषष्टिभागाः क्रियन्ते । ते च सप्तषष्टिरपि भागाः सप्तषष्टिभागैकमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता अष्टषष्टिः सप्तषष्टिभागाः । तेभ्यः षट्षष्टिः शुद्धाः, स्थितौ द्वौ पश्चात्सप्तषष्टिभागौ, ततस्त्रिंशता मुहूर्त्तैः श्रवणः शुद्धः, स्थिता पश्चान्मुहूर्त्ताः षड्विंशति । तत इदमागतम्-धनिष्ठानक्षत्रस्य त्रिषु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनविंशतिसङ्ख्येषु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चषष्टिसंख्येषु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमपौर्णमासी परिसमाप्तिमुपयाति ।

सम्प्रति सूर्यनक्षत्रयोग पृच्छन्नाह-

तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता पुव्वाहिं फग्गुणीहिं अट्ठावीसं मुहुत्ता, अट्ठत्तीस च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता दुवत्तीसं चुण्णियाभागा सेसा । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेण जोएति ? । ता उत्तराहिं पोट्ठवताहिं, उत्तराण पोट्ठवताण सत्तावीसं मुहुत्ता, चोद्दस य बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता बत्तीसं चुण्णियाभागा सेसा ।

(त समयं च णमित्यादि) त समयमित्यत्र "कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ" ॥ २ । २ । ४२ ॥ इत्यधिकरणत्वेऽपि द्वितीया । ततोऽयमर्थ -तस्मिन् समये, यस्मिन् समये धनिष्ठा नक्षत्र चन्द्रेण युक्त यथोक्तविशेष परिसमापयति, तस्मिन् क्षणे इत्यर्थ । सूर्य केन नक्षत्रेण युक्तः सन् तां प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयति । भगवानाह-" ता पुव्वाहिं " इत्यादि । 'ता' इति । तदा पूर्वाभ्यां फाल्गुनीभ्यां, पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रस्य द्वितारत्वात्तदपेक्षया द्विवचनम । द्विवचने च प्राप्ते प्राकृते बहुवचनम । तयोश्च पूर्वाफाल्गुन्योस्तदानीमष्टाविंशतिर्मुहूर्त्ता, अष्टात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का द्वात्रिंशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-स एव षट्षष्टिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभाग इत्येवप्रमाणो ध्रुवराशिर्ध्रियते ६६।५।१। धृत्वा च एकेन गुणयेत, 'एकेन च गुणित तदेव भवति' इति तावानेव जातः, ततस्तस्मात् पुष्यशोधनकमेकोनविंशतिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः १९।४३।३३। इत्येवप्रमाण शोध्यते । अथैतावत्प्रमाणस्य पुष्यशोधनकस्य कथमुत्पत्तिरिति ?। उच्यते-इह पूर्वयुगपरिसमाप्तिवेलायां पुष्यस्य त्रयोविंशतिः सप्तषष्टिभागाः परिसमाप्ताः, चत्वारिंशदवतिष्ठते । ततस्ते चतुश्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागा मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रयोदश शतानि विंशत्यधिकानि १३२० । तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकोनविंशतिर्मुहूर्त्ताः । शेषास्तिष्ठन्ति सप्तचत्वारिंशत् ४७ । ते द्वाषष्टिभागाऽऽनयनार्थं द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि एकोनत्रिंशच्छतानि चतुर्दशोत्तराणि २९१४ । तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रिचत्वारिंशद्द्वाषष्टिभागाः $\frac{४३}{६२}$ । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः $\frac{३३}{६७}$ । एतद् ध्रुवराशेः शोध्यते । तद्यथा-षट्षष्टिर्मुहूर्त्तेभ्य एकोनविंशतिर्मुहूर्त्ताः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात्सप्तचत्वारिंशत्, तेभ्य एको मुहूर्त्तो गृह्यते, स्थिताः षट्चत्वारिंशत् गृहीतस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागान् कृत्वा द्वाषष्टिभागराशौ पञ्चकरूपे प्रक्षिप्यन्ते, जाता द्वाषष्टिभागाः सप्तषष्टिः, तेभ्यस्त्रिचत्वारिंशत् शोध्यन्ते, स्थिताः पश्चाच्चतुर्विंशति, तेभ्य एक रूपमुपादीयते, जाता त्रयोविंशतिः, गृहीतस्य च रूपस्य सप्तषष्टिभागाः क्रियन्ते, कृत्वा च सप्तषष्टिभागैकमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता अष्टषष्टिः सप्तषष्टिभागाः । तेभ्यस्त्रयस्त्रिंशत् शुद्धाः, स्थिताः पञ्चत्रिंशत् । ततः पञ्चदशभिर्मुहूर्त्तैराश्लेषा, त्रिंशता च मुहूर्त्तैर्मघा शुद्धा, स्थितः पश्चादेको मुहूर्त्तः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोविंशतिर्द्वाषष्टिभागाः । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चत्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः १ । $\frac{२३}{६२}$ । $\frac{३५}{६७}$ ततः आगतं पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रस्याष्टाविंशतौ मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टात्रिंशति द्वाषष्टिभागस्य द्वात्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु सूर्यः प्रथमां पौर्णमासीं परिसमापयति । एते च सूर्यमुहूर्त्ता एवभूतैश्च सूर्यमुहूर्त्तैस्त्रिंशता त्रयोदश रात्रिन्दिवानि, एकस्य च रात्रिन्दिवस्य द्वादश व्यावहारिका मुहूर्त्ता भवन्ति । तत एतदनुसारेण गतैकदिवसभागगणना, शेषस्थितदिवसगणना च पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रस्य स्वय कर्त्तव्या । एवमुत्तरसूत्रेष्वपि सूर्यनक्षत्रयोगे परिभावनीयम । "ता एतेसि ण" इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम । भगवानाह-(ता उत्तराहिं इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । उत्तराभ्यां प्रोष्ठपदाभ्याम, अत्रापि द्विवचनम, उत्तराप्रोष्ठपदानक्षत्रस्य द्वितारकत्वात्, बहुवचन च सूत्रे प्राकृतत्वात् । उत्तरयोश्च प्रोष्ठपदयोः सप्तविंशतिर्मुहूर्त्ताः, चतुर्दश च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एक च द्वाषष्टिभाग सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काश्चतुःषष्टिश्चूर्णिकाभागा शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वितीयपौर्णमासीचिन्तायां द्वाभ्यां गुण्यते, मुहूर्त्तानां जातं द्वात्रिंशत शतम १३२ । एकस्य च मुहूर्त्तस्य दश द्वाषष्टिभागाः १० । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वौ सप्तषष्टिभागौ २, ततः पूर्वरीत्या अभिजितो

नव मुहूर्ता., एकस्य च मुहूर्तस्य चतुस्त्रिंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः शोध्यन्ते, जात द्वात्रिंश शत मुहूर्तानाम,एकस्य च मुहूर्तस्य स सचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा., एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रय. सप्तषष्टिभागाः १२२ । ४७/६२ । ३/६७ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तै. श्रवण , त्रिंशता धनिष्ठा, पञ्चदशभि' शतभिषक्,त्रिंशता पूर्वाभाद्रपदा शुद्धेति स्थिता. पश्चात्सप्तदश मुहूर्ता. १७ । शेष तथैव ।४७।३। तत आगतम्-उत्तराभाद्रपदानक्षत्रस्य सप्तविंशतौ मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्दशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुःषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु गतेषु शेषेषु द्वितीया पौर्णमासी परिसमाप्तिमुपैति । सू॰ प्र॰ १० पाहु॰ २२ पाहु॰ । च॰ प्र॰ ।

संप्रत्यस्यामेव पौर्णमास्यां सूर्यनक्षत्रयोगं चन्द्रनक्षत्रयोग च पृच्छति-

तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता उत्तराहिं फग्गुणीहिं. उत्तराणं फग्गुणीणं सत्त मुहुत्ते, तेत्तीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता एकतीसं चुण्णियाभागा सेसा । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता अस्सिणीहिं,अस्सिणीणं एकवीसं मुहुत्ता, णव य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तेवट्ठिं चुण्णियाभागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता चित्ताहिं, चित्ताणं एगो मुहुत्तो, अट्ठावीसं च बावट्ठिभागं मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तीसं चुण्णियाभागा सेसा । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसमं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता उत्तराहिं आसाढाहिं,उत्तराणं आसाढाणं छव्वीसं मुहुत्ता, छव्वीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता चउपण्णं चुण्णिआभागा सेसा । तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएइ ?। ता पुणव्वसुणा,पुणव्वसुस्स सोलस मुहुत्ता,अट्ठ य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता वीसं चुण्णियाभागा सेसा । ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरमं बावट्ठिं पुण्णिमासिणिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता उत्तराहिं आसाढाहिं,उत्तराणं आसाढाणं चरमसमए । तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता पुस्सेणं, पुस्सस्स एगूणवीसं मुहुत्ता. तेत्तालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तेत्तीसं चुण्णियाभागा सेसा ॥

"तं समयं च णं" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-(ता उत्तराहिं इत्यादि) ' ता ' इति पूर्ववत् । उत्तराभ्यां फाल्गुनीभ्यां, तयोश्च उत्तरयो फाल्गुन्योस्तदानीं द्वितीयपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायां सप्त मुहूर्ता', त्रयस्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य, द्वाषष्टिभागं च सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का एकत्रिंशत् चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिर्ध्रियते ६६ । ५ । १ । धृत्वा च द्वितीयस्या. पौर्णमास्या संप्रति चिन्त्येति द्वा-

भ्यां गुण्यते, जातं द्वात्रिंश शतं मुहूर्तानाम,एकस्य च मुहूर्तस्य दश द्वाषष्टिभागा ,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वौ सप्तषष्टिभागौ । १३२।१०/६२।२/६७। तत एतस्मात् पुष्यशोधनकमेकोनविंशतिर्मुहूर्त्ता , एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिचत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागा , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशत् सप्तषष्टिभागा. १९। ४३/६२। ३३/६७। इत्येव परिमाणं पूर्वरीत्या शोध्यते,स्थित पश्चाद् द्वादशोत्तर शत मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्याष्टाविंशतिर्द्वाषष्टिभागा , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्त्रिंशत् सप्तषष्टिभागाः ११२ । २८/६२ । ३६/६७। तत. पञ्चदशभिर्मुहूर्तैरश्लेषा,त्रिंशता मघा,त्रिंशता पूर्वाफाल्गुनी शुद्धा,स्थिता. पश्चान्मुहूर्ता. सप्तत्रिंशत, शेष तथैव । तत आगतं-सूर्येण युक्तमुत्तराफाल्गुनीनक्षत्र सप्तमुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य त्रयस्त्रिंशत्द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकत्रिंशत्सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु द्वितीयां पौर्णमासीं परिसमापयति । अधुना तृतीयपौर्णमासीविषय चन्द्रनक्षत्रयोग पृच्छति-"ता एतेसि णं" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-(अस्सिणीहिं इत्यादि) अश्विनीनक्षत्र त्रितारमिति तदपेक्षया बहुवचनम्, तदानीं च तृतीयपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायामश्विनीनक्षत्रस्य एकविंशतिर्मुहूर्ता', एकस्य च मुहूर्तस्य नव द्वाषष्टिभागा , एक च द्वाषष्टिभाग सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रिषष्टिश्चूर्णिकाभागा' शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । ७ । तृतीया पौर्णमासी चिन्त्यमाना वर्तत इति त्रिभिर्गुण्यते;जातमष्टानवत्याधिक शत मुहूर्तानाम,एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चदश द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयः सप्तषष्टिभागाः १९८ । १५/६२ । ३/६७। " तत उगुणठ पोठवया " इत्यादिवचनात् एकोनषष्ट्यधिकेन शतेन चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीन्युत्तराभाद्रपदपर्यन्तानि षट् नक्षत्राणि शुद्धानि, पश्चादवतिष्ठन्तेऽष्टात्रिंशन् मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य द्विपञ्चाशत् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वार' सप्तषष्टिभागा. ३८। ५२/६२ । ४/६७ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तै रेवती नक्षत्रं शुद्ध, तिष्ठन्त्यष्टौ मुहूर्ता', तत आगत चन्द्रयुक्तमश्विनीनक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य नवसु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिसमापयति । संप्रत्यस्यामेव तृतीयस्यां सूर्यनक्षत्रयोगं पृच्छति-" त समय च ण " इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-" ता चित्ताहिं " इत्यादि । चित्रायुक्त. सूर्य. परिसमापयति । तदानीं च तृतीयपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायां चित्रायामेको मुहूर्त ,एकस्य च मुहूर्तस्याष्टाविंशतिर्द्वाषष्टिभागा , एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रिंशच्चूर्णिकाभागा. शेषा. । तथाहि-स एव ध्रुवराशि. ६६।५।१। संप्रति तृतीयपौर्णमासीचिन्तति त्रिभिर्गुण्यते, जातमष्टानवत्याधिक शतं मुहूर्तानाम, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चदश द्वाषष्टिभागा , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रय. सप्तषष्टिभागा. १९८।१५/६२।३/६७। तत एतस्मात्पुष्यशोधनकम १९ । ४३ । ३३ पूर्वोक्तप्रकारेण शोध्यते, स्थित पश्चादष्टसप्तत्यधिकं मुहूर्तानां शतम्, एकस्य च मुहूर्तस्य त्रयस्त्रिंशद् द्वाषष्टिभागा., एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तत्रिंशत्सप्तषष्टिभागा. १७८ । ३३/६२ । ३७/६७ । ततः पञ्चाशदधिकेन मुहूर्तशतेनाश्लेषाऽऽदीनि हस्तपर्यन्तानि पञ्च नक्षत्राणि शुद्ध्यन्ति । शेषास्तिष्ठन्त्यष्टाविंशतिर्मुहूर्ता. । शेष तथैव २८। ३३।३७। तत आगतम्-सूर्येण सह संप्रयुक्तं चित्रानक्षत्रमेकस्मिन् मुहूर्ते,एकस्य च मुहू-

तेस्याष्टाविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु तृतीयां पौर्णमासीं परिसमापयति। सम्प्रति द्वादश्यां पौर्णमास्यां चन्द्रनक्षत्रयोगं पृच्छति "ता एतेसि णं" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-"ता उत्तराहिं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । उत्तराभ्यामाषाढाभ्यां द्वादशीं पौर्णमासीं चन्द्रः परिसमापयति । तदानीं च तयोरुत्तरयोराषाढयोः षड्विंशतिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षड्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काश्चतुष्पञ्चाशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः। तथाहि-स एव ध्रुवराशिः-६६ । ५ । १ । द्वादशी किल पौर्णमासी चिन्त्यते इति द्वादशभिर्गुण्यते, जातानि सप्तशतानि द्विनवत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षष्टिर्द्वाषष्टिभागाः । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादश सप्तषष्टिभागाः ७९२ । ६० । १२ । ततः एतस्मात् "मूले सत्तेव चोयाला" इत्यादिवचनात् सप्तभिश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्त्तानां शतैः एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि मूलपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, ततस्त्रिंशता मुहूर्त्तैः पूर्वाषाढा, शेषं तिष्ठन्त्यष्टादश मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चत्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः १८ । ३५ । १३ । ततः आगतं-चन्द्रेण युक्तमुत्तराषाढानक्षत्रं द्वादशीं पौर्णमासीं षड्विंशतौ मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षड्विंशतौ द्वाषष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशत्सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिसमापयति । सम्प्रत्यस्यामेव द्वादश्यां पौर्णमास्यां सूर्यनक्षत्रयोगं पृच्छति- "त समय च ण" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-"ता पुणव्वसुणा" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । पुनर्वसुना युक्तः सूर्यः परिसमापयति । तदानीं च द्वादशीपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायां पुनर्वसुनक्षत्रस्य षोडश मुहूर्त्ताः, अष्टौ च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का विंशतिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वादशभिर्गुण्यते, जातानि सप्त शतानि द्विनवत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षष्टिर्द्वाषष्टिभागा, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादश सप्तषष्टिभागा ७९२ । ६० । १२ । ततः एतस्मात्पुष्यशोधनकं १६ । ४३ । ३३ पूर्वोक्तप्रकारेण शोध्यते, स्थितानि पश्चात्सप्तशतानि त्रिसप्तत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षोडश द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः । ७७३ । १६ । ४६ । ततः एतस्मात्सप्तभिः शतैश्चतुश्चत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरश्लेषाऽऽद्यान्याद्रापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, पश्चादवतिष्ठन्ते अष्टाविंशतिर्मुहूर्त्ता, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागा, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः २८ । ५३ । ४७ । ततः आगतं पुनर्वसुनक्षत्रं सूर्येण सह योगमुपागतं षोडशसु मुहूर्त्तेषु शेषेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु द्वादशीं पौर्णमासीं परिसमापयति । "ता एतेसि णं" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-"ता उत्तराहिं" इत्यादि । उत्तराभ्यामाषाढाभ्यां युक्तश्चन्द्रश्चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयति । तदानीं चरमद्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायामुत्तरयोराषाढयोश्चरमसमयः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ । चरमा द्वाषष्टितमा पौर्णमासी सम्प्रति चिन्त्यमाना वर्त्तते, इति द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातानि मुहूर्तानां चत्वारिंशच्छतानि द्विनवत्यधिकानि, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागानां त्रीणि शतानि दशोत्तराणि, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाषष्टिः सप्तषष्टिभागाः ४०९२ । ३१० । ६२ । ततः एतस्मात्-"अट्ठसयउगुणवीसा, सोहणग उत्तराण साढाण । चउवीस खलु भागा, छावट्ठी चुण्णियाओ य" ॥ १ ॥ इत्येवंप्रमाणमेकं सकलनक्षत्रपर्यायशोधनकं पञ्चभिर्गुणयित्वा शोध्यते । तच्च पूर्वोक्तेन प्रकारेण शोध्यमानं परिपूर्णं शुद्धिमासादयतीति न किञ्चित्पश्चादवतिष्ठते । ततः आगतम्-उत्तराषाढानक्षत्रं चन्द्रेण सह युक्तं चरमसमये चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयति । सम्प्रत्यस्यामेव द्वाषष्टितमायां पौर्णमास्यां सूर्यनक्षत्रयोगं पृच्छति-"त समय च णं" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-"ता पुस्सेणं" इत्यादि । पुष्येण युक्तः सूर्यश्चरमां द्वाषष्टितमां पौर्णमासीं परिसमापयति । तदानीं च द्वाषष्टितमपौर्णमासीपरिसमाप्तिवेलायामेकोनविंशतिर्मुहूर्त्ताः त्रिचत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य, द्वाषष्टिभागं च सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रयस्त्रिंशच्चूर्णिकाभागा शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातानि मुहूर्तानां चत्वारिंशच्छतानि द्विनवत्यधिकानि, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागानां त्रीणि शतानि दशोत्तराणि, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाषष्टिः सप्तषष्टिभागाः ४०९२ । ३१० । ६२ । इह पुष्यस्य दशमुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्याष्टादशसु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेष्वतिक्रान्तेषु पाश्चात्ययुगं परिसमाप्तिमुपैति, तदनन्तरमन्ययुगं प्रवर्त्तते । पुष्यस्यापि च तावन्मात्रादतिक्रान्तात् परतो यावद् भूयोऽपि तावन्मात्रस्य पुष्यस्यातिक्रमः, एतावत्प्रमाण एकः परिपूर्णो नक्षत्रपर्यायः । तस्य च प्रमाणमष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागा, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः ८१९ । २४ । ६६ । ततः एतत् पञ्चभिर्गुणयित्वा प्राक्तनाद् ध्रुवराशेर्द्वाषष्टिगुणिताच्छोध्यते, तच्चापरिपूर्णं शुद्ध्यति, पश्चाच्च राशिर्निर्लेपो जायते, ततः आगतं-पुष्यस्य सूर्येण युक्तस्य दशसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य अष्टादशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु अतिक्रान्तेषु एकोनविंशतौ च मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु चरमा द्वाषष्टितमा पौर्णमासी परिसमाप्तिमगमदिति । तदेवं पौर्णमासीविषयश्चन्द्रनक्षत्रयोगः, सूर्यनक्षत्रयोगश्चोक्तः । सू० प्र० १० पाहु० २२ पाहु० । चं०प्र० । (अमावास्याविषयश्चन्द्रनक्षत्रयोगः, सूर्यनक्षत्रयोगश्च 'अमावसा' शब्दे प्रथमभागे ७४३ पृष्ठे निरूपितः)

(२६) सम्प्रति यन्नक्षत्रं यादृशनामकं तदेव वा तस्मिन्नेव देशे अन्यस्मिन् वा यावता कालेन भूयश्चन्द्रेण सह योगमुपागच्छति तावन्तं कालं निर्दिदिक्षुराह—

ता जेण अज्ज णक्खत्तेणं चंदे जोयं जोएति जंसि देसंसि,से णं इमाणि अट्ठ एगूणवीसाणि मुहुत्तसताइं, चउवी-

सं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता बावट्ठिचुणियाभागे उवातिणावेत्ता पुणरवि से चंदे अण्णेणं सरिसएणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति अण्णंसि देसंसि । ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं चंदे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं सोलस अट्ठतीसं मुहुत्तसताइं अउणापण्णं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता पणण्टिचुण्णियाभागे उवातिणावेत्ता पुणरवि से चंदे तेणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति अण्णंसि देसंसि। ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं चंदे जोयं जोएति जंसि देसंसि,से णं इमाइं चउप्पण्णं मुहुत्तसहस्साइं, णव य मुहुत्तसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से चंदे अण्णेणं तारिसएणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि देसंसि। ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं चंदे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमे एगं मुहुत्तसयसहस्सं अट्ठाणउतिं चेव मुहुत्तसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से चंदे तेणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि तंसि देसंसि ।

"ता जेण अज्ज णक्खत्तेणं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । येन नक्षत्रेण सह चन्द्रो अद्य विवक्षिते दिने योग युनक्ति करोति यस्मिन् देशे, स चन्द्रः, णमिति वाक्यालङ्कारे । इमानि वक्ष्यमाणसंख्याकानि । तान्येवाह-अष्टौ मुहूर्तशतान्येकोनविंशान्येकोनविंशत्यधिकानि, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिद्वाषष्टिभागान्, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा द्वाषष्टिचूर्णिकाभागानुपादाय गृहीत्वा, अतिक्रम्येत्यर्थः । पुनरपि स चन्द्रोऽन्येन द्वितीयेन सदृशनाम्ना नक्षत्रेण योग युनक्ति अन्यस्मिन् देशे । इयमत्र भावना-इह चन्द्रसूर्यनक्षत्राणां मध्ये नक्षत्राणि सर्वशीघ्राणि, तेभ्यो मन्दगतयः सूर्याः, तेभ्योऽपि मन्दगतयश्चन्द्रमसः । (एतच्चाग्रे स्वयमेव प्रपञ्चयिष्यते) षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि प्रतिनियतापान्तरालदेशानि चक्रवालसमरूपतया व्यवस्थितानि सदैवैकरूपतया परिभ्रमन्ति । तत्र किल युगस्याऽऽदावभिजिता नक्षत्रेण सह योगमधिगच्छति चन्द्रमाः, स च योगमुपागतः सन् शनैः शनैः पश्चादवष्वष्कते; तस्य नक्षत्रेभ्योऽतीव मन्दगतित्वात् । ततो नवानां मुहूर्तानामेकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिद्वाषष्टिभागानाम्, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिसप्तषष्टिभागानामतिक्रमे पुरतः श्रवणेन सह योगमायाति । ततस्ततश्चन्द्रोऽपि शनैः पश्चादवष्वष्कमाणस्त्रिंशता मुहूर्तैः श्रवणेन सह योग समाप्य पुरतो धनिष्ठया सह योगमुपागच्छति । एवं स्वं स्वं कालमपेक्ष्य सर्वैरपि नक्षत्रैः सह योगस्तावद्वक्तव्यो यावदुत्तराषाढानक्षत्रयोगपर्यन्तः । एतावता च कालेनाष्टौ मुहूर्तशतानि, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागा अभवन् । तथाहि-षट् नक्षत्राणि, पञ्चचत्वारिंशन् मुहूर्तानीति षट् पञ्चचत्वारिंशता गुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके २७० । षट् च नक्षत्राणि पञ्चदश मुहूर्तानीति भूयः षट् पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जाता नवतिः पञ्चदश त्रिंशन्मुहूर्तानीति पञ्चदश त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि चत्वारि शतानि पञ्चाशदधिकानि ४५० । अभिजितो नव मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागा इति भवति सर्वेषामेकत्र मीलने यथोक्ता मुहूर्तसंख्या । एष एतावान् नक्षत्रमासः । ततस्तदनन्तरं यदभिजिन्नक्षत्रमतिक्रान्त तदपरेण द्वितीयेनाभिजिता नक्षत्रेण सह नवमुहूर्ताऽऽदिकालं योगमुपागच्छति, ततः परमपरेण द्वितीयाद्यविंशतिसम्बन्धिना श्रवणेन सह योगमश्नुते, एवं पूर्ववत् तावद्वाच्य यावदुत्तराषाढा, तदनन्तरं भूयः प्रथमेनैवाभिजिता नक्षत्रेण सह योग याति । ततः प्रागुक्तक्रमेण श्रवणाऽऽदिभिः, एवं सकलकालमपि ततो विवक्षिते दिने यस्मिन् देशे येन नक्षत्रेण सह योगमगमच्चन्द्रमाः स यथोक्तमुहूर्तसंख्याऽतिक्रमे भूयस्तादृशेनैवापरेण नक्षत्रेण सह अन्यस्मिन् देशे योगमादत्ते, न तेनैवापि तस्मिन्नेव देशे इति । तथा (ता जेणमित्यादि) अद्य विवक्षिते दिने येन नक्षत्रेण सह योग युनक्ति यस्मिन् यस्मिन् देशे चन्द्रमाः, स इमानि वक्ष्यमाणसंख्याकानि । तान्येवाह-षोडश मुहूर्तशतानि अष्टात्रिंशदधिकानि, एकोनपञ्चाशतं द्वाषष्टिभागान् मुहूर्तस्य, एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्कान् पञ्चषष्टिचूर्णिकाभागानुपादायातिक्रम्य पुनरपि स चन्द्रस्तेनैव नक्षत्रेण सह योग युनक्ति, परमन्यस्मिन् देशे, न तु तस्मिन्नेव । कुतः?, इति चेत् । उच्यते-इह भूयस्तस्मिन्नेव देशे तेनैव नक्षत्रेण सह योग, युगद्वयकालातिक्रमे तथा केवलवेदसा ज्योतिश्चक्रगतेरुपलब्धेः । जम्बूद्वीपे च षट्पञ्चाशदेव नक्षत्राणि, ततो विवक्षितनक्षत्रयोगे सति तत आरभ्य षट्पञ्चाशन्नक्षत्रातिक्रमेण तेन नक्षत्रेण सह योगमादत्ते, षट्पञ्चाशन्नक्षत्रातिक्रमश्च प्रागुक्ताष्टाविंशतिनक्षत्रमुहूर्तसंख्यया । तत उक्तम्-" सोलस अट्ठतीस मुहुत्तसया " इत्यादि । तदेव तादृशेन तेन वा नक्षत्रेण सह अन्यस्मिन् देशे यावता कालेन भूयोऽपि योग उपजायते, तावान् कालविशेष उक्तः । सम्प्रति तस्मिन्नेव देशे तादृशेन तेन वा नक्षत्रेण सह भूयोऽपि योगो यावता कालेन भवति, तावन्त कालविशेषमाह-(ता जेण अज्ज णक्खत्तेण इत्यादि) अद्य विवक्षिते दिने येन नक्षत्रेण सह योग चन्द्रो युनक्ति यस्मिन् देशे, स चन्द्रमा इमानि वक्ष्यमाणसंख्याकानि । तान्येवाह-चतुःपञ्चाशन्मुहूर्तसहस्राणि । नव च मुहूर्तशतान्युपादायातिक्रम्य पुनरपि स चन्द्रोऽन्येन तादृशेनैव नक्षत्रेण सह योग युनक्ति तस्मिन्नेव देशे । इयमत्र भावना-विवक्षिते युगे विवक्षितानामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये येन नक्षत्रेण सह यस्मिन् देशे यदा चन्द्रमसो योगो जातो, भूयस्तस्मिन्नेव देशे तदेव तेनैव नक्षत्रेण सह योगो विवक्षितयुगादारभ्य तृतीये युगे, न तु द्वितीये । कुतः?, इति चेत् । उच्यते-इह युगाऽऽदित आरभ्य प्रथमे नक्षत्रमासे यान्येकान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि समतिक्रामन्ति द्वितीयेन नक्षत्रमासेन, तेभ्योऽपराणि द्वितीयानि ततो भूयस्तृतीयेन नक्षत्रमासेन, तान्येव प्रथमान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि चतुर्थेन भूयस्तान्येव द्वितीयानि । एवं सकलकालं युगे च नक्षत्रमासाः सप्तषष्टिः । सा च सप्तषष्टिसंख्या विषमेति विवक्षितयुगपरिसमाप्तौ सत्यामन्यस्य युगस्य प्रारम्भे यानि विवक्षितयुगस्याऽऽदौ भुक्तानि नक्षत्राणि, तेभ्योऽपराण्येव द्वितीयानि भोगमायान्ति, न तु तान्येव, युगद्वये च चतुस्त्रिंशन्नक्षत्रमासशतं भवति । सा च चतुस्त्रिंशन्नक्षत्रमासशतसंख्या समेति द्वितीययुगपरिसमाप्तौ षट्पञ्चाशदपि नक्षत्राणि समाप्तिमुपयान्ति, ततो वि- वक्षितयुगादारभ्य तृतीये युगे तेनैव नक्षत्रेण तस्मिन्नेव दे-

तदा चन्द्रमसो योगः, युगे चाहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि; एकैकस्मिंश्चाहोरात्रे मुहूर्तास्त्रिंशत्; ततोऽष्टादशानां शतानां त्रिंशदधिकानां त्रिंशता गुणने भवति यथोक्ता मुहूर्तसङ्ख्या, यथोक्तमुहूर्तसङ्ख्याऽतिक्रमे च तादृशेनैव नक्षत्रेण सह योगः चन्द्रमसस्तस्मिन्नेव देशे, न तु तेन नक्षत्रेण, अन्यस्मिन्वा देशे इति । (ता जेणमित्यादि) इदं सूत्रमक्षरार्थमधिकृत्य सुगमम् । भावना तु प्रागेव कृता, नवरं युगद्वयकाले षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि अहोरात्राणाम्, एकैकस्मिंश्चाहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्ता इति षट्त्रिंशच्छतानां षष्ट्यधिकानां त्रिंशता गुणने यथोक्ता मुहूर्तसङ्ख्या भवति । तदेव तादृशेन तेन वा नक्षत्रेण सहान्यस्मिन् तस्मिन् वा देशे चन्द्रमसो योगे कालप्रमाणमुक्तम् ।

संप्रति सूर्यविषये तदाह–

ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं सूरे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं तिण्णि छावट्ठाइं-राइंदियसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से सूरिए अण्णेणं तारिसएणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि देसंसि । ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं सूरे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से ण इमाइं सत्तदुवत्तीसं राइंदियसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से सूरे तेणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि देसंसि । ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं सूरे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं अट्ठारस तीसाइं राइंदियसताइं उवातिणावेत्ता पुणरवि सूरे अण्णेणं तारिसएणं चेव णक्खत्तेणं जोगं जोएति तंसि देसंसि । ता जेणं अज्ज णक्खत्तेणं सूरे जोयं जोएति जंसि देसंसि, से णं इमाइं छत्तीसं सट्ठाइं राइंदियसयाइं उवातिणावेत्ता पुणरवि से सूरे तेणं चेव णक्खत्तेणं जोयं जोएति तंसि देसंसि । ता जया णं इमे चंदे गतिसमावण्णए भवति, तता णं इतरे वि चंदे गतिसमावण्णए भवति, जता णं इतरे वि चंदे गतिसमावण्णए भवति, तता णं इमे वि चंदे गतिसमावण्णए भवति । ता जया णं इमे सूरिए गतिसमावण्णे भवति, तया णं इयरे वि सूरिए गतिसमावण्णे भवति, जता णं इतरे सूरिए गतिसमावण्णे भवति, तया णं इमे वि सूरिए गतिसमावण्णे भवति । एवं गहे वि, णक्खत्ते वि । ता जता णं इमे चंदे जुत्ते जोगेणं भवति, तता णं इतरे वि चंदे जुत्ते जोगेणं भवति, जया णं इयरे चंदे जुत्ते जोगेणं भवति, तता णं इमे वि चंदे जुत्ते जोगेणं भवति । एवं सूरे वि, गहे वि, णक्खत्ते वि । सया वि णं चंदा जुत्ता जोएहिं, सता वि णं सूरा जुत्ता जोगेहिं, सया वि णं गहा जुत्ता जोगेहिं, सया वि णं णक्खत्ता जुत्ता जोगेहिं । दुहतो वि णं चंदा जुत्ता जोगेहिं, दुहतो वि णं सूरा जुत्ता जोगेहिं, दुहतो वि णं गहा जुत्ता जोगेहिं, दुहतो वि णं णक्खत्ता जुत्ता जोगेहिं ।

"ता जेणं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । अद्य विवक्षिते दिने येन नक्षत्रेण सह सूर्यो यस्मिन् देशे योगं युनक्ति, स इमानि त्रीणि षट्षष्ट्यधिकानि रात्रिंदिवशतानि उपादाय अतिक्रम्य, पुनरपि स सूर्यस्तस्मिन्नेव देशे तादृशेनैवान्येन नक्षत्रेण सह योगं युनक्ति, न तु तेनैव । कुतः ?, इति चेत् । उच्यते-इह चन्द्रो नक्षत्रमासेनैकेनाष्टाविंशतिनक्षत्राणि भुङ्क्ते । सूर्यस्तु त्रिभिरेवाहोरात्रशतैः षट्षष्ट्यधिकैः । त्रीणि चाहोरात्रशतानि षट्षष्ट्यधिकानि एकः सूर्यसंवत्सरः । ततोऽन्यैस्त्रिभिरहोरात्रशतैः षट्षष्ट्यधिकैरन्यानि द्वितीयान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि परिभुङ्क्ते । तदनन्तरं भूयस्तान्येव प्रथमान्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि तावत्याऽहोरात्रसङ्ख्यया क्रमेण युनक्ति । ततः षट्षष्ट्यधिकरात्रिन्दिवशतत्रयातिक्रमेण सूर्यस्य तस्मिन्नेव देशे तादृशेनैवापरेण नक्षत्रेण सह योगः, न तु तेनैव । (ता जेण इत्यादि) इदं सूत्रमक्षरार्थमधिकृत्य सुगमम्, भावना च प्रागेव कृता । (ता जेणमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । अद्य विवक्षिते दिने येन नक्षत्रेण सह सूर्यो यस्मिन् देशे योगं युनक्ति, स इमानि अष्टादश रात्रिंदिवशतानि त्रिंशदधिकानि उपादायातिक्रम्य, पुनरपि तस्मिन्नेव देशेऽन्येनैव तादृशेन नक्षत्रेण सह योगं युनक्ति, न तु तेनैव । कस्मात् ?, इति चेत् । उच्यते-इह रात्रिन्दिवानामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि युगे भवन्ति । तत्र सूर्यो विवक्षितदिनादारभ्य तस्मिन्नेव देशे तदेव दिने तेनैव नक्षत्रेण सह योगमागच्छति । तृतीये संवत्सरे युगे च सूर्यवर्षाणि पञ्च; ततस्तृतीये पञ्चमे वा सूर्यसंवत्सरे सूर्यः तेनैव नक्षत्रेण तस्मिन्नेव काले योगमादत्ते, न तु युगातिक्रमे षष्ठे वर्षे इति । "ता जेण" इत्यादि सुगमं, नवरं षट्त्रिंशद्रात्रिंदिवशतानि षष्ट्यधिकानि युगद्वये भवन्ति, युगद्वये च दश सूर्यवर्षाणि । ततो युगद्वयातिक्रमे एकादशे वर्षे सूर्यस्य तेनैव नक्षत्रेण सह तस्मिन्नेव देशे योग उपपद्यत इति । इह जम्बूद्वीपे द्वौ चन्द्रमसौ, द्वौ सूर्यौ, एकैकस्य चन्द्रमसो भिन्नो ग्रहाऽऽदिकः परिवार इति श्रुत्वा कश्चिदेवमपि मन्येत-यथा भिन्नकालं मण्डलेषु चन्द्राऽऽदीनां गतिः, भिन्नकालं च तेषां नक्षत्राऽऽदिभिः सह योग इति । ततस्तदाशङ्काऽपनोदार्थमाह-(ता जया णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । यदा यस्मिन् काले, अयं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानो भरतक्षेत्रे प्रकाशयन् विवक्षितश्चन्द्रः, विवक्षिते मण्डले इति गम्यते । गतिसमापन्नो गतियुक्तो भवति, तदा तस्मिन् काले इतरोऽपि ऐरावतक्षेत्रं प्रकाशयन् तस्मिन्नेव विवक्षिते मण्डले गतिसमापन्नो भवति । एवं शेषाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि । नवरम् (एवं गहे वि, एवं णक्खत्ते वि त्ति) एवमुक्तेन प्रकारेण ग्रहेऽपि द्वावालापकौ वक्तव्यौ, नक्षत्रेऽपि च । तद्यथा- "ता जया णं इमे गहे गइसमावण्णे भवइ, तया णं इतरे वि गहे गइसमावण्णे भवइ, ता जया णं इतरे गहे गइसमावण्णे भवइ, तया णं इमे वि गहे गइसमावण्णे भवइ ।" एवं नक्षत्रेऽपि वाच्यम् । "ता जया णं इमे चंदे जुत्ते जोगेणं" इत्यादि सुगमं, नवरं (दुहतो वि त्ति) उभयतोऽपि दक्षिणोत्तरयोः, पूर्वपश्चिमयोर्वा । सू० प्र० १० पाहु० २२ पाहु० । (संवत्सरान्तेषु नक्षत्रचन्द्रयोगः 'संवच्छर' शब्दे वक्ष्यते) (संवत्सरेषु चन्द्रः केन नक्षत्रेणाऽऽवृत्तिं योजयतीति 'आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३३ पृष्ठे उक्तम्) (अर्द्धमासे केन नक्षत्रेण चन्द्रश्चारं चरतीति 'चंदमंडल' शब्दे तृतीयभागे १०८१ पृष्ठे उक्तम्)

(२७) नक्षत्राणां संस्थानानि–

ता कहं ते णक्खत्तसंठिती आहिता ति वदेज्जा ? । ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अभिई णक्खत्ते गो-

सीसाऽऽवलिसंठिए पएणत्ते १, सवणे णक्खत्ते काहारसंठिए पएणत्ते २, धणिट्ठा णक्खत्ते सउणिपलीणगसंठिए पएणत्ते ३, सतभिसया णक्खत्ते पुप्फोवयारसंठिए पण्णत्ते ४, पुव्वापोट्ठवया णक्खत्ते ५, उत्तरभद्दवया णक्खत्ते अ वावीसंठिए पएणत्ते ६, रेवती णक्खत्ते णावासंठिए पण्णत्ते ७, अस्सिणी णक्खत्ते अस्सखंधगसंठिए पण्णत्ते ८, भरणी णक्खत्ते भगसंठिए पण्णत्ते ९, कत्तिया णक्खत्ते छुरघरसंठिए पएणत्ते १०, रोहिणी णक्खत्ते सगडसंठिए पण्णत्ते ११, मगसिरे णक्खत्ते मगसीसाऽऽवलिसंठिए पण्णत्ते १२, अद्दा णक्खत्ते रुहिरबिंदुसंठिते पण्णत्ते १३. पुणव्वसू णक्खत्ते तुलासंठिए पण्णत्ते १४, पुस्से णक्खत्ते वद्धमाणगसंठिए पएणत्ते १५, असिलेसा णक्खत्ते पडागसंठिए पण्णत्ते १६, महा णक्खत्ते पागारसंठिए पण्णत्ते १७, पुव्वाफग्गुणी णक्खत्ते अद्धपलियसंठिए पण्णत्ते १८, उत्तरा वि एवं चेव १९, हत्थे हत्थसंठिए पण्णत्ते २०, चित्ता णक्खत्ते मुहफुल्लगसंठिए पएणत्ते २१, साई णक्खत्ते खीलगसंठिए पएणत्ते २२. विसाहा णक्खत्ते दामणिसंठिए पण्णत्ते २३, अणुराहा णक्खत्ते एगावलिसंठिए पण्णत्ते २४, जेट्ठा णक्खत्ते गजदंतसंठिए पण्णत्ते २५, मूले णक्खत्ते विच्छुयलंगूलसंठिए पण्णत्ते २६, पुव्वासाढा णक्खत्ते गयविक्कमसंठिए पण्णत्ते २७, उत्तरासाढा णक्खत्ते सीहणिसाइसंठिए पण्णत्ते २८ ।

नक्षत्राणां संस्थानं वक्तव्यमिति ततस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह- "ता कह ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण भगवन्! नक्षत्राणां संस्थितिः संस्थानमाख्यातमिति वदेत्? । एवमुक्ते भगवानाह-"ता एतेसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामनन्तरोदितानामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्येऽभिजिन्नक्षत्रं गोशीर्षाऽऽवलिसंस्थितं प्रज्ञप्तम् । गो. शीर्षं, तस्याऽऽवली तत्पुद्गलानां दीर्घरूपा श्रेणिः, तत्सम संस्थानं प्रज्ञप्तम् । श्रवणनक्षत्रं कासारसंस्थितं प्रज्ञप्तम् । एवं शेषाण्यपि संस्थानानि नक्षत्राणि भावनीयानि, नवरं दामनी पशुबन्धनं, शेषं प्रायः सुगमम् ।

संस्थानसंग्राहिकाश्चेमा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसत्कास्तिस्रो गाथाः-

" गोसीसाऽऽवलि काहा-र सउणि पुप्फोवयार वावी य ।
नावा आसक्खंधग, भग छुरघरए य सगडुद्धी ॥ १ ॥
मिगसीसाऽऽवलि रुहिर-स्स बिंदु तुल वद्धमाणग पडागा ।
पागारे पल्लंके, हत्थे मुहफुल्लए चेव ॥ २ ॥
कीलग दामणि एगा-वली य गयदंत विच्छुअअले य ।
गयविक्कमे य तत्तो, सीहनिसाई य सठाणा" ॥ ३ ॥ इति ।

जं० ७ वक्ष० । चं० प्र० १० पाहु० ७ पाहु० । (नक्षत्राणां पङ्क्तयः 'जोइसिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५६३ पृष्ठे उक्ता.) (२८) (नक्षत्राणामन्तर्बहिश्च चारः 'जोइसिय' शब्देऽस्मिन्नेव भाग १६०३ पृष्ठे प्रत्यपादि)

णक्खत्तचंदजोग-नक्षत्रचन्द्रयोग-पुं० । सप्तविंशत्या नक्षत्रैः साकल्येन चन्द्रस्य योगे, ज्यो० २ पाहु० । (नक्षत्रस्य चन्द्रेण योगो 'णक्खत्त' शब्दे १७८० पृष्ठे समुक्तः)

णक्खत्तणाम [न्]-नक्षत्रनामन्-न० । नक्षत्राणामभिधायके शब्दे, अनु० ।

नक्षत्राण्याश्रित्य यन्नाम स्थाप्यते तद्दर्शयति-

से किं तं णक्खत्तणामे ?। णक्खत्तणामे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-कत्तिआहिं जाए कत्तिए, कत्तियादिण्णे, कत्तियाधम्मे, कत्तियासम्मे, कत्तियादेवे, कत्तियादासे, कत्तियासेणे, कत्तियारक्खिए । रोहिणीहिं जाए रोहिणीए, रोहिणीदिण्णे, रोहिणीधम्मे, रोहिणीसम्मे, रोहिणीदेवे, रोहिणीदासे, रोहिणीसेणे, रोहिणीरक्खिए । एवं सव्वणक्खत्तेसु णामा भाणियव्वा ।

एत्थ संगहणिगाहाओ-

" कत्तिअ रोहिणि मगसिर, अद्दा य पुणव्वसू अ पुस्से अ ।
तत्तो अ अस्सिलेसा, महा उ दो फग्गुणीओ अ ॥ १ ॥
हत्थो चित्ता साती, होइ विसाहा तहा य अणुराहा ।
जेट्ठा मूला पुव्वा-साढा तह उत्तरा चेव ॥ २ ॥
अभिई सवण धणिट्ठा, सतभिसया दो अ होंति भद्दवया ।
रेवइ अस्सिणि भरणी, एसा णक्खत्तपरिवाडी " ॥३॥

सेत्तं णक्खत्तणामे ।

कृत्तिकासु जातः कार्त्तिकः, कृत्तिकाभिर्दत्तः कृत्तिकादत्तः । एवं कृत्तिकाधर्म', कृत्तिकाशर्म , कृत्तिकादेवः, कृत्तिकादास', कृत्तिकासेनः, कृत्तिकारक्षितः । एवमन्यान्यपि रोहिण्यादिसप्तविंशतिनक्षत्राण्याश्रित्य नामस्थापना द्रष्टव्या । तत्र सर्वनक्षत्रसंग्रहार्थं " कत्तिया रोहिणी" इत्यादि गाथात्रयं सुगमम् । नवरमभिजिन्नक्षत्रेण सह पठ्यमानेषु नक्षत्रेषु कृत्तिकाऽऽदिरेव क्रम इत्यश्विन्यादिक्रममुत्सृज्येत्थमेव पठितव्यानीति । अनु० ।

णक्खत्तणेमी-देशी-विष्णौ, दे० ना० ४ वर्ग ।

णक्खत्तमंमल-नक्षत्रमण्डल-न० । नक्षत्राणां सम्बन्धिनि मण्डले, जं० ।

नक्षत्रमण्डलस्य अष्टभिर्द्वारैः प्ररूपणा—तत्राष्टौ द्वाराणि यथा—मण्डलसंख्याप्ररूपणा १, मण्डलचारक्षेत्रप्ररूपणा २, अभ्यन्तराऽऽदिमण्डलस्थायिनामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां परस्परमन्तरनिरूपणा ३, नक्षत्रविमानानामायामाऽऽदिनिरूपणम् ४, नक्षत्रमण्डलानां मेरुतोऽबाधानिरूपणम् ५, तेषामेवाऽऽयामाऽऽदिनिरूपणम् ६, मुहूर्तगतिप्रमाणनिरूपणम् ७, नक्षत्रमण्डलानां चन्द्रमण्डलैः समवतारनिरूपणम् ८ ।

तत्राऽऽद्यौ मण्डलसंख्याप्ररूपणाप्रश्नमाह १-

कइ णं भंते ! णक्खत्तमंडला पएणत्ता ?। गोयमा ! अट्ठ णक्खत्तमंडला पण्णत्ता ।

" कइ णं भंते ! " इत्यादि । कति भदन्त ! नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ? । भगवानाह-गौतम ! अष्ट नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि, अष्टाविंशतेरपि नक्षत्राणां प्रतिनियतस्वस्वमण्डलेष्वेतावत्स्वेव संचरणात् ।

एतदेव क्षेत्रविभागं प्रश्नयति-

जंबुद्दीवे दीवे केवइयं ओगाहित्ता केवइया णक्खत्तमंडला पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे असीयं जोयण-

सयं ओगाहित्ता एत्थ णं दो णक्खत्तमंडला पण्णत्ता। लवणे णं समुद्दे केवइयं ओगाहेत्ता केवइया णक्खत्तमंडला पण्णत्ता ?। गोयमा ! लवणे णं समुद्दे तिण्णि तीसे जोयणसए ओगाहित्ता एत्थ णं छ णक्खत्तमंडला पण्णत्ता। एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे लवणसमुद्दे अट्ठ णक्खत्तमंडला भवंतीति मक्खायं ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे कियत्क्षेत्रमवगाह्य कियन्ति नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ?। भगवानाह-गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे अशीतमशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्यात्रान्तरे द्वे नक्षत्रमण्डले प्रज्ञप्ते । लवणसमुद्रे कियदवगाह्य कियन्ति नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ?। भगवानाह-गौतम ! लवणसमुद्रे त्रीणि त्रिंशदधिकानि योजनशतान्यवगाह्यात्रान्तरे षट् नक्षत्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि । अत्रोपसंहारवाक्येनोक्तसंख्यां मीलयति-एवमेव सपूर्वापरेण जम्बूद्वीपे द्वीपे लवणसमुद्रे चाष्टौ नक्षत्रमण्डलानि भवन्ति, इत्याख्यातम् । मकारोऽत्राऽऽगमिकः ।

अथ मण्डलचारक्षेत्रप्ररूपणा २-

सव्वब्भंतराओ णं भंते ! णक्खत्तमंडलाओ केवइआए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचदसुत्तरे जोयणसए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ॥

सर्वाभ्यन्तराद् भदन्त ! नक्षत्रमण्डलात् कियत्या अबाधया सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! पञ्चदशोत्तराणि योजनशतान्यबाधया सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् । इदं च सूत्रं नक्षत्रजात्यपेक्षया बोद्धव्यम्, अन्यथा सर्वाभ्यन्तरमण्डलस्थायिनामभिजिदादिद्वादशनक्षत्राणामवस्थितमण्डलकत्वेन सर्वबाह्यमण्डलस्यैवाभावात् । तेनायमर्थः सवत्र-सर्वाभ्यन्तरनक्षत्रमण्डलजातीयात् सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलजातीयमियत्या अबाधया प्रज्ञप्तमिति बोध्यम् ।

अथाभ्यन्तराऽऽदिमण्डलस्थायिनामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां परस्परमन्तरनिरूपणा ३-

णक्खत्तमंडलस्स णं भंते ! णक्खत्तमंडलस्स य एस णं केवइयाए अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दो जोयणाइं णक्खत्तमंडलस्स णक्खत्तमंडलस्स य अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥

"णक्खत्त" इत्यादि । नक्षत्रमण्डलस्य नक्षत्रविमानस्य, नक्षत्रमण्डलस्य नक्षत्रविमानस्य च भदन्त ! कियत्या अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! द्वे योजने नक्षत्रविमानस्य नक्षत्रविमानस्य च अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम्। अयमर्थः -अष्टास्वपि मण्डलेषु यत्र यत्र मण्डले यावन्ति नक्षत्राणि विमानानि, तेषामन्तरबोधकमिदं सूत्रम् । यथा अभिजिन्नक्षत्रविमानस्य श्रवणविमानस्य च परस्परमन्तरं द्वे योजने, न तु नक्षत्रसत्कसर्वाभ्यन्तराऽऽदिमण्डलानामन्तरसूचकम्, अन्यथा नक्षत्रमण्डलानां वक्ष्यमाणचन्द्रमण्डलसमवतारसूत्रेण सह विरोधात् ।

अथ नक्षत्रविमानानामायामाऽऽदिप्ररूपणा ४-

णक्खत्तमंडले णं भंते ! केवइयं आयामविक्खंभेणं, केवइयं परिक्खेवेणं, केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! गाउयं आयामविक्खंभेणं, तंतिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं, अद्धगाउयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

" णक्खत्त " इत्यादि । नक्षत्रमण्डलं भदन्त ! कियदायामविष्कम्भाभ्यां, कियत् परिक्षेपेण, कियद् बाहल्येनोच्चैस्त्वेन प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! गव्यूतमायामविष्कम्भाभ्यां, तत्त्रिगुणयात् विशेषात् परिक्षेपेण, अर्द्धगव्यूतं बाहल्येन प्रज्ञप्तमिति ।

सम्प्रत्येषामेव मेरुमधिकृत्याबाधाप्ररूपणा ५-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए सव्वब्भंतरे णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! चोआलीसं जोयणसहस्साइं अट्ठ य वीसे जोयणसए अबाहाए सव्वब्भंतरे णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ।

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वाभ्यन्तरं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि, अष्ट च विंशत्यधिकानि योजनशतान्यबाधया सर्वाभ्यन्तरं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ।

अथ बाह्यमण्डलाऽबाधां पृच्छति-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! पणयालीसं जोयणसहस्साइं तिण्णि अ तीसे जोयणसए अबाहाए सव्वबाहिरए णक्खत्तमंडले पण्णत्ते ।

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम ! पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि, त्रीणि च त्रिंशदधिकानि योजनशतान्यबाधया सर्वबाह्यं नक्षत्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ।

अथ तेषामेवाऽऽयामाऽऽदिनिरूपणम् ६-

सव्वब्भंतरेणं भंते ! णक्खत्तमंडले केवइयं आयामविक्खंभेणं, केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! णवणउतिजोयणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोयणसए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोयणसयसहस्साइं पण्णरस सहस्साइं एगूणणउतिं च जोयणाइं किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते ।

'सव्वब्भंतरेण' इत्यादि प्राग्वत् ।

अथ सर्वबाह्यमण्डलं पृच्छति-

सव्वबाहिरए णं भंते ! णक्खत्तमंडले केवइयं आयामविक्खंभेणं, केवइयं आयामपरिक्खेवेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! एगं जोयणसहस्सं छच्च सट्ठे जोयणसए आयामविक्खंभेणं, तिण्णि अ जोयणसयसहस्साइं अट्ठारस य सहस्साइं तिण्णि अ पण्णरसुत्तरे जोयणसए ।

" सव्वबाहिरए " इत्यादि प्राग्वत् । मध्यमेषु षट्सु मण्डलेषु तु चन्द्रमण्डलानुसारेणाऽऽयामविष्कम्भपरिक्षेपाः परिभाव्याः, अष्टावपि नक्षत्रमण्डलानि चन्द्रमण्डले समवतरन्तीति भणिष्यमाणत्वात् ।

अथ मुहूर्त्तगतिद्वारम् ७-

जया णं परिक्खेवेण भंते ! णक्खत्ते सव्वब्भंतरं मंमलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइयं खेत्तं गच्छइ ?। गोयमा ! पंच जोयणसहस्साइं दोणि अ पणट्ठे जोयणसए अट्ठारस भागसहस्से दोणिण अ तेवट्ठे भागसए गच्छइ मंमलं एकवीसाए भागसहस्सेहिं णवहि अ सट्ठेहिं सएहिं छेत्ता ।

"जया णं" इत्यादि । यदा भदन्त ! परिक्षेपेण नक्षत्र सर्वाभ्यन्तर मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति, तदैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति ?। नक्षत्रमित्यत्र जात्यपेक्षयैकवचनम्, अन्यथाऽभ्यन्तरमण्डलगतिचिन्तायां द्वादशानामपि नक्षत्राणां समुदाय बहुवचनस्यौचित्यात् । भगवानाह-गौतम ! पञ्च योजनसहस्राणि, द्वे च पञ्चषष्ट्यधिकयोजनशते, अष्टादश च भागसहस्राणि, द्वे च त्रिषष्ट्यधिके भागशते गच्छति मण्डलमेकविंशत्या भागसहस्रैर्नवभिश्च षष्ट्यधिकैः शतैः छित्त्वा इति । अत्रोपपत्तिः-इह नक्षत्रमण्डलकाल एकोनषष्टिर्मुहूर्त्ता, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तषष्ट्यधिकत्रिंशद्भागानां त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणीति ५९। ३०७/३६७ । इदानीमेतदनुसारेण मुहूर्त्तगतिश्चिन्त्यते-तत्र रात्रिंदिवे त्रिंशन्मुहूर्त्ता', तेषु उपरितना एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्ता प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकोनषष्टिर्मुहूर्त्तानाम । ततः सवर्णनार्थं त्रिभिः शतैः सप्तषष्ट्यधिकैर्गुणयित्वा उपरितनानि त्रीणि शतानि सप्तोत्तराणि प्रक्षिप्यन्ते, जातान्येकविंशतिसहस्राणि नव शतानि षष्ट्यधिकानि २११६० । अथ प्रतिमण्डल परिधेः छेदकराशि । तत्र सर्वाभ्यन्तरमण्डलपरिधि ३१५०८९ । अयं च योजनाऽऽत्मको राशिर्भागाऽऽत्मकेन राशिना भजनार्थं त्रिभिः सप्तषष्ट्यधिकैः शतैः ३६७ गुण्यते । जातम् ११५६३७६६३ । अस्य राशेरेकविंशत्या सहस्रैर्नवभिः शतैः षष्ट्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि ५२६५ । शेषम् १८२६३२१९६० भागा । एतावती सर्वाभ्यन्तरमण्डलेऽभिजिदादीना द्वादशनक्षत्राणां मुहूर्त्तगति ।

अथ बाह्यनक्षत्रमण्डले मुहूर्त्तगतिं पृच्छति-

जया णं भंते ! णक्खत्ते सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेण केवइयं खेत्तं गच्छइ ? । गोयमा ! पंच जोयणसहस्साइं तिण्णि अ एगूणवीसए जोयणसए सोलस य भागसहस्से तिण्णि अ पणट्ठे भागसए गच्छइ मंडलं एगवीसाए भागसहस्सेहिं णवहि अ सट्ठेहिं सएहिं छेत्ता ।

"जया णं" इत्यादि । यदा भदन्त ! नक्षत्रं सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चार चरति, तदा एकैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्र गच्छति ?। अत्राप्येकवचन प्राग्वत् । भगवानाह-गौतम ! पञ्च योजनसहस्राणि त्रीणि चैकोनविंशत्यधिकानि योजनशतानि षोडश च भागसहस्राणि त्रीणि च पञ्चषष्ट्यधिकानि भागशतानि गच्छति मण्डलमेकविंशत्या भागसहस्रैर्नवभिश्च षष्ट्यधिकैः शतैः छित्त्वा इति । अत्रोपपत्तिः-अत्र मण्डले परिधिः ३१८३१५ । अयं त्रिभिः सप्तषष्ट्यधिकैः शतैः ३६७ गुण्यते, जातम्-११६८२१६०५। अस्य राशेरेकविंशत्या सहस्रैर्नवभिः शतैः षष्ट्यधिकैः भागे लब्धानि ५३१९ योजनानि । शेषम् १६३६५।२१९६० भागा । एतावती सर्वबाह्यनक्षत्रमण्डले मृगशीर्षप्रभृतीनामष्टानां नक्षत्राणां मुहूर्त्तगतिः । उक्ता तावत् सर्वाभ्यन्तरसर्वबाह्यमण्डलवर्तिना नक्षत्राणां मुहूर्त्तगतिः ।

अथ नक्षत्रतारकाणामवस्थितमण्डलकत्वेन प्रतिनियतगतिकत्वेन चावशिष्टेषु षट्सु मण्डलेषु मुहूर्त्तगतिपरिज्ञान दुष्करमिति तत्कारणभूत मण्डलपरिज्ञानं कर्त्तुं नक्षत्रमण्डलानां चन्द्रमण्डलेषु समवतारं प्रश्नमाह ८-

एते णं भंते ! अट्ठ णक्खत्तमंडला कतिहिं चंदमंमलेहिं समोअरंति ?। गोयमा ! अट्ठहिं चंदमंमलेहिं समोअरंति । तं जहा-पढमे चंदमंडले, ततिए, छट्ठे, सत्तमे, अट्ठमे, दसमे, इक्कारसमे, पणणरसमे चंदमंमले ।

"एते णं" इत्यादि । एतानि भदन्त ! अष्टौ नक्षत्रमण्डलानि कतिषु चन्द्रमण्डलेषु समवतरन्ति अन्तर्भवन्ति ?, चन्द्रनक्षत्राणां साधारणमण्डलानि कानीत्यर्थः ? । भगवानाह-गौतम ! अष्टासु चन्द्रमण्डलेषु समवतरन्ति । तद्यथा-प्रथमे चन्द्रमण्डले प्रथम नक्षत्रमण्डलं चारक्षेत्रम्, सदाऽऽरेणानवस्थितचारिणां च सर्वेषां ज्योतिष्काणां जम्बूद्वीपे अशीत्यधिकयोजनशतमवगाह्य मण्डलप्रवर्त्तनात् । तृतीये चन्द्रमण्डले द्वितीय नक्षत्रमण्डलम् । एते च द्वे जम्बूद्वीपे । षष्ठे लवणे भाविनि चन्द्रमण्डले तृतीयम् । तत्रैव भाविनि सप्तमे चतुर्थम् । अष्टमे पञ्चमम् । दशमे षष्ठम् । एकादशे सप्तमम् । पञ्चदशे अष्टमम् । शेषाणि तु द्वितीयाऽऽदीनि सप्त चन्द्रमण्डलानि नक्षत्रैर्विरहितानि । तत्र प्रथमे चन्द्रमण्डले द्वादश नक्षत्राणि । तद्यथा-अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, भरणी, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, स्वातिश्च । द्वितीये पुनर्वसु, मघा च । तृतीये कृत्तिका । चतुर्थे रोहिणी, चित्रा च । पञ्चमे विशाखा । षष्ठे अनुराधा । सप्तमे ज्येष्ठा । अष्टमे मृगशिरः, आर्द्रा, पुष्यः, अश्लेषा, मूलो, हस्तश्च । पूर्वाषाढोत्तराषाढयोर्द्वे द्वे तारे अभ्यन्तरतो, द्वे द्वे बाह्यत इति । एवं स्वस्वमण्डलावतारलक्षणचन्द्रमण्डलपरिध्यनुसारेण प्रागुक्तरीत्या द्वितीयाऽऽदीनामपि नक्षत्रमण्डलानां मुहूर्त्तगतिः परिभावनीया । उक्ता प्रतिमण्डल चन्द्राऽऽदीना योजनाऽऽत्मिका मुहूर्त्तगतिः । जं० ७ वक्ष० ।

णक्खत्तमास-न (ना) क्षत्रमास-पुं० । चन्द्रस्य नक्षत्रमण्डले परिवर्त्तमाने निष्पन्न इत्युपचारतो मासोऽपि नक्षत्र, नक्षत्रेषु भवो नाक्षत्रः, स चासौ मासश्च । चन्द्रश्चार चरन् यावता कालेनाभिजित आरभ्योत्तराषाढानक्षत्रपर्यन्त गच्छति तत्कालप्रमाणे मासभेदे, व्य० १ उ० । नि० चू० । स्था० । तन्मानम्-नक्षत्रमासः-सप्तविंशतिरहोरात्रः, एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य । नक्षत्रसंवत्सरे ह्यहोरात्रास्त्रीणि शतानि सप्तविंशत्यधिकानि, एकपञ्चाशश्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य । तत्रयाणां शतानां सप्तविंशत्यधिकाना द्वादशभिर्भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तविंशतिरहोरात्राः, शेषास्त्रयस्तिष्ठन्ति । तेऽपि सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जाते द्वे शते एकोत्तरे । २०१ । येऽपि च उपरितना एकपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः, तेऽपि

च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके २५२। तेषां द्वादशभिर्भागे हृते लब्धा एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः, आगतं यथोक्तं नक्षत्रमासपरिमाणम् । ज्यो० २ पाहु० । नि० चू० । बृ० । "एगमेगेणं णक्खत्तमासे सत्तावीसाहिं राइंदियाहिं राइंदियग्गेणं पण्णत्ता" । स० २७ सम० । ('मास' शब्देऽन्यद् वक्ष्यते)

णक्खत्तमुह–नक्षत्रमुख–न० । चन्द्रे, " णक्खत्ताण मुहं चंदो, णक्खत्ताण मुह चंदो । " उत्त० २५ अ० ।

णक्खत्तविचय–नक्षत्रविचय–पुं० । विपूर्वश्चिञ् स्वभावात् स्वरूपनिर्णये वर्तते । तथा चोक्तमन्यत्र–"आप्तवचनं प्रवचनं, ज्ञात्वा विचयस्तदर्थनिर्णयनम् ।" तत्र विचयनं विचयः,नक्षत्राणां विचयो नक्षत्रविचयः । नक्षत्राणां स्वरूपनिर्णये, सू० प्र० १ पाहु० । (स च 'णक्खत्त' शब्देऽत्रैव भागे १७७७ पृष्ठे उक्तः)

णक्खत्तसंवच्छर–न [ना] क्षत्रसंवत्सर–पुं० । नक्षत्रेषु भवो नाक्षत्रः । किमुक्तं भवति ?–चन्द्रश्चारं चरन् यावता कालेनाभिजित आरभ्योत्तराषाढानक्षत्रपर्यन्तं गच्छति तत्प्रमाणो नाक्षत्रो मासः । यदि वा चन्द्रस्य नक्षत्रमण्डले परिवर्तनतानिष्पन्न इत्युपचारतो मासोऽपि नक्षत्रम् । स च द्वादशगुणो नक्षत्रसंवत्सरः । जं० ७ वक्ष० । चन्द्रस्य नक्षत्रमण्डलभोगकालो नक्षत्रमासः, स च सप्तविंशतिर्दिनानि, एकविंशति सप्तषष्टिभागा दिवसस्येत्येवंविधद्वादशमासमिते संवत्सरभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । स चायं त्रीणि शतानि अह्नां सप्तविंशत्युत्तराणि एकपञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा इति । स्था० ५ ठा० ३उ० ।

संप्रति नक्षत्रसंवत्सरमाह–

णक्खत्तचंदजोगो, बारसगुणिओ उ णक्खत्तो ।

नक्षत्रचन्द्रयोगः सप्तविंशत्या नक्षत्रैः साकल्येन च एकत्र चन्द्रेण योगः, एष द्वादशभिर्गुणितो नक्षत्रो नक्षत्रसंवत्सरो भवति । अत्र पुनरेकः समस्तनक्षत्रयोगपर्याय एव नक्षत्रमासः । स च सप्तविंशतिरहोरात्राः, एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य, एष राशिर्यदा द्वादशभिर्गुण्यते तदा त्रीण्यहोरात्रशतानि सप्तविंशत्यधिकानि, एकपञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य । एतावत्प्रमाणो नक्षत्रसंवत्सरः । ज्यो० २ पाहु० ।

नामनिरुक्तिमुक्त्वाऽथ तेषां भेदानाह–

णक्खत्तसंवच्छरे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुवालसविहे पण्णत्ते । तं जहा–सावणे, भद्दवए, आसोए० जाव असाढे । जं वा बिहप्फई महग्गहे दुवालसेहिं संवच्छरेहिं सव्वणक्खत्तमंडलं समाणेइ । सेत्तं णक्खत्तसंवच्छरे ॥

"णक्खत्त" इत्यादि। नक्षत्रसंवत्सरो भगवन् ! कतिविधः प्रज्ञप्तः ? । भगवानाह–गौतम ! द्वादशविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा–श्रावणः, भाद्रपदः, आश्विनः । यावत्पदात् कार्तिकाऽऽदिसंग्रहः । द्वादशस्वाषाढ । अयं भावः–इहैकः समस्तनक्षत्रयोगपर्यायो द्वादशनिर्गुणितो नक्षत्रसंवत्सरः । ततो ये नक्षत्रसंवत्सरस्य पूरकाः द्वादश समस्तनक्षत्रयोगपर्यायाः श्रावणमाद्रपदाऽऽदिनामानः, तेऽवयवे समुदायोपचारात् नक्षत्रसंवत्सरः । तत्र श्रावणाऽऽदिद्वादशविधो नक्षत्रसंवत्सरः । वा इति पक्षान्तरसूचने । अथवा बृहस्पतिर्महाग्रहो द्वादशभिः संवत्सरैर्योगमधिकृत्य यत् सर्वं नक्षत्रमण्डलमभिजिदादीन्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि परिसमापयति, तावान् कालविशेषो द्वादशवर्षप्रमाणो नक्षत्रसंवत्सरः । जं० ७ वक्ष० । चं० प्र० । लक्षणस्वरूपे प्रमाणसंवत्सरभेदे, वक्ष्यमाणस्वरूपे प्रमाणसंवत्सरभेदे, वक्ष्यमाणस्वरूपे लक्षणसंवत्सरभेदे च ।

तत्स्वरूपं च–

ता णक्खत्तेणं संवच्छरस्स पंचविहं लक्खणं पण्णत्ते । तं जहा–"समगं णक्खत्ता जोगं,जोएंति समगं उऊ परिणमंति । णऽच्चुण्हं णातिसीते, बहुउदओ होति णक्खत्तो " ॥ १ ॥

"ता णक्खत्त" इत्यादि। 'ता' इति । तत्र नक्षत्रसंवत्सरस्य लक्षणमधिकृत्य पञ्चविधं प्रज्ञप्तम् । किमुक्तं भवति ?–नक्षत्रसंवत्सरस्य पञ्चविधं लक्षणं प्रज्ञप्तमिति । तदेव गाथयाऽऽह–(समगं णक्खत्ता जोगं जोएंति त्ति) यस्मिन् संवत्सरे समकं समकमेव–एककालमेव, ऋतुभिः सहेति गम्यते । नक्षत्राणि उत्तराषाढाप्रभृतीनि, योगं युञ्जन्ति सन्निहिता पौर्णमासीं परिसमापयन्ति । तथा समकमेव–एककालमेव, तया तया परिसमाप्यमानया पौर्णमास्या सह ऋतवो निदाघाऽऽद्याः परिणमन्ति परिसमाप्तिमुपयान्ति । इयमत्र भावना–यस्मिन् संवत्सरे नक्षत्रैर्माससदृशनामकैस्तस्य तस्य ऋतोः पर्यन्तवर्ती मासः परिसमाप्यते, तेषु च तां तां पौर्णमासीं परिसमापयत्सु तया तया पौर्णमास्या सह ऋतवोऽपि निदाघाऽऽदिकाः परिसमाप्तिमुपयान्ति । यथा–उत्तराषाढानक्षत्रे आषाढीं पौर्णमासीं परिसमापयति, तया आषाढ्या पौर्णमास्या सह निदाघोऽपि ऋतुः परिसमाप्तिमुपैति, स नक्षत्रसंवत्सरः, नक्षत्रानुरोधेन तथापरिणममानत्वात् । एतेन च लक्षणद्वयमभिहितं द्रष्टव्यम् । तथा न विद्यते अतिशयेन उष्णम् उष्णरूपः परितापो यस्मिन् स नात्युष्णः, तथा न विद्यते अतिशयेन शीतं यत्र स नातिशीतः । बहु उदकं यस्मिन् स बहूदकः । एवंरूपैः पञ्चभिः समग्रैर्लक्षणैरुपेतो भवति नक्षत्रसंवत्सरः । चं० प्र० १० पाहु० २० पाहु० । स्था० ।

णक्खि [ण्]–नखिन्–त्रि० । नखाः करजा विद्यन्ते येषां ते नखिनः । प्रशंसायामत्र मतुप्, यथा रूपवती कन्येत्यादिषु । " द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः " । ८ । २ । ९० । द्वितीयतुर्ययोर्द्वित्वप्रसङ्गे उपरि पूर्वो भवत । * इति खकारस्य ककारः, द्वित्वं च । सुनखेषु, बृ० १ उ० ।

णग–नग–पुं० । पर्वते, औ० । जी० । तं० । सूत्र० । ज्ञा० । प्रश्न० । " जहा से णगाण पवरे सुमहं मंदरो गिरी ।" उत्त० ११ अ० । वृक्षे च । वाच० ।

णगय–नाग्न्य–न० । नग्नस्य भावो नाग्न्यम् । सरजस्कत्वे,"णगइत्ते जह णगाण " । सथा० ।

णगर–नकर–न० । नास्मिन् करोऽस्तीति नकरम् । नञाऽऽदित्वान्नञोऽकाराभावः । बृ० १ उ० । दश० । आचा० । नि० चू० । कल्प० । स्था० । अष्टादशकररहिते, प्र० १ श्रु० १ उ० । प्रज्ञा० । स्था० । उत्त० । स्य० । ज्ञा० । ग० । अकरदायिलोकाऽऽवासे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

* यथा–"नक्खाइ, वग्घो, मुच्छा, निज्झरो," इत्यादि ।

नगर–न०। चतुर्गोपुरोद्भासिनि पत्तने, औ०। ज०।

"ग्रामो वृत्यावृतः स्याद्, नगरमुरुचतुर्गोपुरोद्भासिशोभम्,
खेटं नद्यद्रिवेष्टं, परिवृतमभितः खर्वटं पर्वतेन।
ग्रामैर्युक्तं मडम्बं, मिलितदशशतैः पत्तनं रत्नयोनिं,
द्रोणाऽऽख्यं सिन्धुवेलावलयितमथ सम्बाधनं वाऽद्रिशृङ्गे"॥१॥

सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

" पुण्यक्रियाऽऽदिनिपुणै-श्चातुर्वर्ण्यजनैर्युतम्।
अनेकजातिसंबद्धं, नैकशिल्पिसमाकुलम्॥
सर्वदैवतसंनद्धं, नगरं त्वभिधीयते।" वाच०।

नगरवासिषु प्रकृतिषु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०। सैन्यनिवासिप्रकृतिषु, भ० ७ श० ६ उ०।

णगरगुत्तिय–नगरगुप्तिक–पुं०। नगररक्षके, ज्ञा०१ श्रु०२ अ०। कोट्टपाले, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

णगरट्ठाण–नगरस्थान–न०। उद्धसग्रामस्थाने, कल्प० ४ क्षण।

णगरणिद्धमण–नगरनिर्धमन–न०। नगरजलनिर्गमने, भ० ३ श० ७ उ०। नगरजलनिर्गमनकाले, ज्ञा० १ श्रु०२ अ०।

णगरणिवेस–नगरनिवेश–पुं०। नगरवासकल्पनायाम्, स० ७२ सम०।

णगरधम्म–नगरधर्म–पुं०। नगराऽऽचारे, स्था० १० ठा०।

णगरमाण–नगरमान–न०। नगरस्य द्वादशयोजनाऽऽयामनवयोजनव्यासाऽऽदिपरिज्ञाने, कलशाऽऽदिनिरीक्षणपूर्वकसूत्रन्यासयथास्थानवर्णाऽऽदिव्यवस्थापरिज्ञाने, ज०। पञ्चचत्वारिंशोऽयं कलाभेदः। ज० २ वक्ष०। ज्ञा०। स०।

णगरमारी–नगरमारी–स्त्री०। नगरवासिलोकानां मारिकृते प्राणक्षये, जी० ३ प्रति०।

णगररक्खिय–नगररक्षिक–पुं०। नगरं रक्षति यः स नगररक्षिकः। कोट्टपाले, नि० चू० ४ उ०।

णगरवह–नगरवध–पुं०। सर्वेषां नगरवासिनामपराध्यनपराध्यविवेकेन प्रत्यनीकराजाऽऽज्ञया मारणे, " से सुव्वई नगरवहे व सद्दे।" अथ तेषां नारकाणां भयानकशब्दो नगरवध इव श्रूयते। यथा नगरसम्बन्धी महानाक्रन्दः स्यात्तादृशो, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

णगराय–नगराज–पुं०। मन्दरे, मेरौ च, स्था० ६ ठा०।

णगरावास–नगराऽऽवास–पुं०। नगराणामावासेषु, नगररूपेषु वा आवासेषु, स०।

णगरी–नगरी–स्त्री०। पुर्याम्, औ०।

तद्वर्णकः–

ते णं काले णं ते णं समए णं चंपा नामं नयरी होत्था–रिद्धत्थिमियसमिद्धा, पमुइयजणजाणवया, आइण्णजणमणुस्सा, हलसयसहस्ससंकिट्ठविकिट्ठलट्ठपण्णत्तसेउसीमा, कुक्कुडसंडेयगामपउरा, उच्छुजवसालिकलिया, गोमहिसगवेलगप्पभूता, आयारवंतचेइयजुवइविविहसंणिविट्ठबहुला,* उक्कोडियगायगंठिभेयभडतक्करखंडरक्खरहिया, खेमा, णिरुवद्दवा, सुभिक्खा, पासंमिगिहत्थवीसत्थसुहावासा, अणेगकोडिकुडुंबियाऽऽइण्णणिव्वुयसुहा, णडणट्टगजल्लमल्लमुट्ठियवेलंबयकहगपवगलासगआइक्खगलंखमंखतूणइल्लतुंबवीणियअणेगतालायराणुचरिया, आरामुज्जाणअगडतलागदीहियवप्पिणगुणोववेया, * उव्विद्धविउलगंभीरखायफलिहा, चक्कगयभुसुंढिओरोहसयग्घिजमलकवाडघणदुप्पवेसा, धणुकुडिलवंकपागारपरिक्खित्ता, कविसीसयवट्टरइयसंठियविरायमाणा, अट्टालयचरियदारगोपुरतोरणउण्णयसुविभत्तरायमग्गा, छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीला, विवणिवणियछेत्तसिप्पियाऽऽइण्णणिव्वुयसुहा, सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरपणियाऽऽवणविविहवत्थुपरिमंडिया, सुरम्मा, नरवइपविइण्णमहिवइपहा, अणेगवरतुरगमत्तकुंजररहपहकरसीयसंदमाणीयाऽऽइण्णजाणजुग्गा विमउलणवणलिणिसोभियजला, पंडुरवरभवणसण्णिमहिया, उत्ताणणयणपेच्छणिज्जा, पासाईया, दरिसणिज्जा, अभिरूवा पडिरूवा।

तत्र योऽयं णंशब्दः स वाक्यालङ्कारार्थः। 'ते' इत्यत्र च य एकारः, स प्राकृतशैलीप्रभवः। यथा–"करेमि भंते!" इत्यादिषु। ततोऽयं वाक्यार्थो जातः–तस्मिन् काले तस्मिन् समये, यस्मिन्नसौ नगरी बभूवेति। अधिकरणे चेयं सप्तमी। अथ कालसमययोः कः प्रतिविशेषः?। उच्यते–काल इति सामान्यकालः वर्तमानावसर्पिण्याश्चतुर्थविभागलक्षणः। समयस्तु तद्विशेषः, यत्र सा नगरी, स राजा, वर्द्धमानस्वामी च बभूव। अथवा–तृतीयैवेयम्। ततश्च तेन कालेन अवसर्पिणीचतुर्थाऽऽरकलक्षणेन हेतुभूतेन, समयेन तद्विशेषभूतेन हेतुना चम्पा नाम नगरी (होत्थ त्ति) अभवदासीदित्यर्थः। ननु चेदानीमपि साऽस्ति, किं पुनरधिकृतग्रन्थकरणकाले, तत्कथमुक्तमासीदिति?। उच्यते–अवसर्पिणीत्वात्कालस्य वर्णकग्रन्थवर्णितविभूतियुक्ता सा इदानीं नास्तीति। (रिद्धत्थिमियसमिद्धा) ऋद्धा भवनाऽऽदिभिर्वृद्धिमुपगता, स्तिमिता भयवर्जितत्वेन स्थिरा, समृद्धा धनधान्याऽऽदियुक्ता। ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः। (पमुइयजणजाणवया) प्रमुदिता हृष्टाः, प्रमोदकारणवस्तूनां सद्भावात्; जना नगरीवास्तव्यलोकाः, जानपदाश्च जनपदभवाः, तत्राऽऽयाताः सन्तो यस्याम्, सा प्रमुदितजनजानपदा। पाठान्तरे–"पमुइयजणुज्जाणजणवया"। तत्र प्रमुदितजनान्युद्यानानि जनपदाश्च यस्यां सा तथा। (आइण्णजणमणुस्सा) मनुष्यजनेनाऽऽकीर्णा सङ्कीर्णा, मनुष्यजनाऽऽकीर्णेति वाच्ये राजदन्ताऽऽदिदर्शनादाकीर्णजनमनुष्येत्युक्तम्। आकीर्णो वा गुणव्याप्तो मनुष्यजनो यस्यां सा तथा। (हलसयसहस्ससंकिट्ठविकिट्ठलट्ठपण्णत्तसेउसीमा) हलानां लाङ्गलानां शतैः, सहस्रैश्च, शतसहस्रैर्वा लक्षैः, सङ्कृष्टा विलिखिता विकृष्टं दूरं यावत्, अविकृष्टा वा आसन्ना, लष्टा मनोज्ञा, कर्षकाभिमतफलसाधनसमर्थत्वात्। (पण्णत्त त्ति) योग्यीकृता बीजवपनस्य सेतुसीमा मार्गसीमा यस्याः सा तथा। अथवा सङ्कृष्टाऽऽदिविशेषणविशिष्टानि सेतूनि कुल्या जलसेकक्षेत्राणि सीमासु यस्याः सा तथा। अथवा–हलशतसहस्राणां सं–

* 'अरिहंतचेइयजणवयविसण्णिविट्ठबहुला' इति पाठान्तरम्।

* 'णंदणवणसण्णिभप्पगासा' इति क्वचित् पाठः।

कृष्टेन संकर्षणेन विकृष्टा दूरवर्तिन्यो लष्टाः प्रज्ञपिताः कथिताः सेतुसीमा यस्याः सा तथा; अनेन तज्जनपदस्य लोकबाहुल्यं, क्षेत्रबाहुल्यं चोक्तम् । (कुक्कुडसंडेयगामपउरा) कुक्कुटाः ताम्रचूडाः, षण्डेयाः षण्डपुत्रकाः षण्ढा एव, तेषां ग्रामाः समूहास्ते प्रचुराः प्रचूताः यस्यां सा तथा, अनेन लोकप्रमुदितत्वं व्यक्तीकृतम्; प्रमुदितो हि लोकः क्रीडाऽऽर्थं कुक्कुटान् पोषयति, षण्डांश्च करोतीति । (उच्छुजवसालिकलिया) पाठान्तरेण-" उच्छुजवसालिमालिणीया ।" एतदूव्याप्तेत्यर्थः । अनेन च जनप्रमोदकारणमुक्तं, न ह्येवंप्रकारवस्त्वभावे प्रमोदो जनस्य स्यादिति । (गोमहिसगवेलगप्पभूता) गवादय. प्रभूताः प्रचुरा यस्यामिति वाक्यम, गवेलका उरभ्राः (आयारवंतचेइयजुवइविविहसण्णिविट्ठबहुला) आकारवन्ति सुन्दराऽऽकाराणि, आकारचित्राणि वा यानि चैत्यानि देवताऽऽयतनानि, युवतीनां च तरुणीनां,पण्यतरुणीनामिति हृदयम् । यानि विविधानि सन्निविष्टानि सन्निवेशनानि पाटकाः, तानि बहुलानि यस्यां सा तथा । " अरिहतचेइयजणवइविसण्णिविट्ठबहुला" इति पाठान्तरम् । तत्रार्हच्चैत्यानां जनानां व्रतिनां च विविधानि यानि सन्निविष्टानि पाटकास्तैर्बहुलेति विग्रह । " सुजागचित्तचेइयजूयचिइसण्णिविट्ठबहुला " इति च पाठान्तरम् । तत्र च सुयागाः शोभनयज्ञाः, चित्रचैत्यानि प्रतीतानि, यूपचितयो यज्ञेषु यूपचयनानि, द्यूतानि वा क्रीडाविशेषाश्चितयस्तेषां सन्निविष्टानि निवेशाः, तैर्बहुला या सा तथा । (उक्कोडियगायगंठिभेयभडतक्करखंडरक्खरहिया) उत्कोटा उत्कोचा, लञ्चेत्यर्थ. । तया ये व्यवहरन्ति ते औत्कोटिकाः, गात्रात् मनुष्यशरीरावयवविशेषात् कट्यादेः सकाशाद् ग्रन्थिं कार्षापणाऽऽदिपुट्टलिकां भिन्दन्त्याच्छिन्दन्तीति गात्रग्रन्थिभेदकाः । " उक्कोडियगाहगंठिभेय " इति च पाठान्तर व्यक्तम् । भटाश्चारभटाः बलात्कारप्रवृत्तयः,तस्करास्त एव चौर्यं कुर्वन्तीत्येवंशीलाः, खण्डरक्षा दण्डपाशिका', शुल्कपाला वा, एभी रहिता या सा तथा; अनेन तत्रोपद्रवकारिणामभावमाह । (खेमा) अशिवाभावात् । (णिरुवद्दवा) निरुपद्रवा, अविद्यमानराजाऽऽदिकृतोपद्रवेत्यर्थः । (सुभिक्खा) सुष्ठु मनोज्ञा प्रचुरा भिक्षा भिक्षुकाणां यस्यां सा सुभिक्षा, अत एव पाषण्डिनां गृहस्थानां च (वीसत्थसुहावासा) विश्वस्तानां निर्भयानामनुत्सुकानां वा सुख. सुखस्वरूपः शुभो वाऽऽवासो यस्यां सा तथा । (अणेगकोडिकुडुंबियाऽऽइण्णनिव्वुयसुहा) अनेका. कोटयो द्रव्यसङ्ख्यानां स्वरूपपरिमाणे वा येषां ते अनेककोटयः, तैः कौटुम्बिकैः कुटुम्बिभिराकीर्णा सङ्कुला या सा तथा । सा चासौ निर्वृता च सन्तुष्टजनयोगात्सन्तोषवतीति कर्मधारय, अत एव सा चासौ सुखा च शुभा वेति कर्मधारय. । (नडनट्टगजल्लमल्लमुट्ठियवेलंबयकहगपवगलासगआइक्खगलंखमंखतूणइल्लतुंबवीणियअणेगतालायराणुचरिया) नटाः नाटकानां नाटयितार', नर्तका ये नृत्यन्ति, अङ्किल्ला इत्येके । जल्ला वरत्राखेलका., राज्ञःस्तोत्रपाठका इत्यन्ये । मल्लाः प्रतीताः । मौष्टिका मल्ला एव, ये मुष्टिभि. प्रहरन्ति । विडम्बकाः विदूषका, कथकाः प्रतीता., प्लवका ये उत्प्लवन्ते, नद्यादिकं वा तरन्ति । लासका ये रासकान् गायन्ति. जयशब्दप्रयोक्तारो वा, भाण्डा वा इत्यर्थ. । आख्यायका ये शुभाशुभमाख्यान्ति । लङ्खा महावंशाग्रखेलका, मङ्खाश्चित्रफलकहस्ता भिक्षुका., 'तूणइल्ला' तूणाभिधानवाद्यविशेषवन्तः,तुम्बवीणका वीणावादकाः, अनेके च ये तालाचराः-तालाऽऽदानेन प्रेक्षाकारिणः,तैरनुचरिता आसेविता या सा तथा । (आरामुज्जाणअगडतलागदीहियवप्पिणगुणोववेया) आरमन्ति येषु माधवीलतागृहाऽऽदिषु दम्पत्यादीनि क्रीडन्ति ते आरामाः,उद्यानानि पुष्पाऽऽदिसद्वृक्षसङ्कुलान्युत्सवाऽऽदौ बहुजनभोग्यानि (अगड त्ति) अवटाः कूपाः, तडागानि प्रतीतानि,दीर्घिका सारणी, (वप्पिण त्ति) केदारः । एतेषां ये गुणाः रम्यताऽऽदय.,तैरुपपेता युक्ता या सा तथा । उप अप इत इत्येतस्य शब्दत्रयस्य स्थाने शकन्ध्वादिदर्शनादकारलोपे उपपेतेति भवति । क्वचित्पठ्यते-" नंदणवणसण्णिभप्पगासा " नन्दनवन मेरोर्द्वितीयवन, तत्प्रकाशसन्निभ. प्रकाशो यस्यां सा तथा । इह चैकस्य प्रकाशशब्दस्य लोप उष्ट्रमुख इत्यादाविवेति । (उव्विद्धविउलगंभीरखायफलिहा) ' उव्विद्धं ' ऊर्द्धं विपुलं विस्तीर्णं गम्भीरमलब्धमध्य खातमुपरि विस्तीर्णम् अध. सङ्कटं,परिखा च अध उपरि च समा खातरूपा यस्यां सा तथा ।(चक्कगयभुसुंढिओरोहसयग्घिजमलकवाडघणदुप्पवेसा) चक्राणि रथाङ्गानि, अरघट्टाङ्गानि वा, गदाः प्रहरणविशेषा., भुसुण्ड्योऽप्येवम् । अवरोधः प्रतोलिद्वारेष्ववान्तरप्रकारः सम्भाव्यते । शतघ्न्यो महायष्टयः, महाशिला वा, या उपरिष्टात्पातिताः सत्यः शतानि पुरुषाणां घ्नन्तीति, यमलानि समसंस्थितद्वयरूपाणि यानि कपाटानि घनानि च निश्छिद्राणि तैर्दुष्प्रवेशा या सा तथा । (धणुकुडिलवंकपागारपरिक्खित्ता) धनुः कुटिल कुटिलधनुः, ततोऽपि वक्रेण प्राकारेण परिक्षिप्ता या सा तथा । (कविसीसयवट्टरइयसंठियविरायमाणा) कपिशीर्षकैर्वृत्तरचितैर्वर्तुलकृतैः संस्थितैर्विशिष्टसंस्थानवद्भिर्विराजमाना शोभमाना या सा तथा । (अट्टालयचरियदारगोपुरतोरणउण्णयसुविभत्तरायमग्गा) अट्टालका 'प्राकारोपरिवर्त्याश्रयविशेषा., चरिका अष्टहस्तप्रमाणा नगरप्राकारान्तरालमार्गाः, द्वाराणि प्राकारद्वारिकाः, गोपुराणि पुरद्वाराणि, तोरणानि प्रतीतानि, उन्नतानि गुणवन्ति उच्चानि च यस्यां सा तथा । सुविभक्ताः विविक्ता राजमार्गा यस्यां सा तथा । तत' पदद्वयस्य कर्मधारयः । (छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीला) छेकेन निपुणेनाऽऽचार्येण शिल्पिना रचितो दृढो बलवान् परिघोऽर्गला, इन्द्रकीलश्च गोपुरावयवविशेषो यस्यां सा तथा । (विवणिवणियच्छेत्तसिप्पियाऽऽइण्णणिव्वुयसुहा) विपणीनां वणिक्पथानां हट्टमार्गाणा, वणिजां च वाणिजकानां च क्षेत्रं स्थान या सा तथा । शिल्पिभिः कुम्भकाराऽऽदिभिराकीर्णा, अत एव जनप्रयोजनसंसिद्धिर्जनानां निर्वृतत्वेन सुखितत्वेन च निर्वृतसुखा च या सा तथा । वाचनान्तरे-छेत्तशब्दस्य स्थाने छेयशब्दोऽधीयते । तत्र च छेकशिल्पिकाऽऽकीर्णेति व्याख्येयम् । (सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरपणियाऽऽवणविविहवत्थुपरिमंडिया) शृङ्गाटकं त्रिकोण स्थानं, त्रिकं यत्र रथ्यात्रयं मिलति, चतुष्कं रथ्याचतुष्कमेलकं, चत्वरं बहुरथ्याऽऽपातस्थान, पणितानि भाण्डानि, तत्प्रधाना आपणा हट्टा विविधवस्तूनि अनेकविधद्रव्याणि,एभि परिमण्डिता या सा तथा । पुस्तकान्तरेऽधीयते-"सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु पणियाऽऽपणविविहवेसपरिमंडिया ।" तत्र चतुर्मुखं चतुर्द्वार देवकुलाऽऽदि, महापथो राजमार्गः,पन्थास्तदितर', ततश्च शृङ्गाटकाऽऽदिषु पणिताऽऽपणैर्विविधवेशैश्च जनैर्विविधवेश्याभिर्वा परिमण्डिता या सा तथा । (सुरम्मा) अतिरमणीया,(नरवइपविइण्णमहिवइपहा)

नरपतिना राज्ञा प्रविकीर्णो गमनाऽऽगमनाभ्यां व्याप्तो महीपतिपथो राजमार्गो यस्यां सा तथा । अथवा-नरपतिना प्रविकीर्णा विक्षिप्ता निरस्ताऽन्येषां महीपतीनां प्रभा यस्या सा तथा । अथवा-नरपतिभिः प्रविकीर्णा महीपते. प्रभा यस्यां सा तथा । (अणेगवरतुरगमत्तकुंजररहपकरसीयसंदमाणियाऽऽइण्णजाणजुग्गा) अनेकैर्वरतुरगैर्मत्तकुञ्जरै. (रहपकरे त्ति) रथनिकरैः शिविकाभिः स्यन्दमानाभिराकीर्णा व्याप्ता यानैर्युग्यैश्च या सा तथा । अथवा-अनेके वरतुरगाऽऽदयो यस्यामाकीर्णानि च गुणवन्ति यानाऽऽदीनि यस्यां सा तथा । तत्र शिविकाः कूटाऽऽकारेण छादिता. ' जम्पान ' विशेषा , स्यन्दमानिका. पुरुषप्रमाणा जम्पानविशेषा , यानानि शकटाऽऽदीनि, युग्यानि गोल्लविषयप्रसिद्धानि द्विहस्तप्रमाणानि वेदिकोपशोभितानि जम्पानान्येवेति । (विमुउलणवणलिणिसोभियजला) विमुकुलाभिर्विकासितकमलाभिर्नवाभिर्नलिनीभिः शोभितानि जलानि यस्या सा तथा । (पमुरवरभवणसण्णिमहिया) पाण्डुरैः सुधाधवलै. वरभवनै. प्रासादैः सम्यक् निरन्तर महितेव महिना पूजिता या सा तथा । (उत्ताणणयणपेच्छणिज्जा) सौभाग्यातिशयादुत्तानितैरनिमिषितैर्नयनैर्लोचनैः प्रेक्षणीया या सा तथा । (पासाईया) चित्तप्रसन्नकारिणी । (दरिसणिज्जा) यां पश्यच्चक्षु श्रमं न गच्छति । (अभिरूवा) मनोज्ञरूपा । (पडिरूवा) द्रष्टार द्रष्टार प्रति ' रमणीय ' रूप यस्याः सा तथेति । औ० । चं० प्र० । ज्ञा० । रा० ।

णगाहिराय-नगाधिराज-पुं० । श्रीशत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प ।

णगिंद-नगेन्द्र-पुं० । पर्वतप्रधाने मेरौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

णगिण-नग्न-त्रि० । भावतो निर्ग्रन्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

णग्ग-नग्न-त्रि० । नज-क्त । " अधो मनयाम् " । ८ । २ । ७८ । इति संयुक्तस्य नस्य लुक् । प्रा० २ पाद । " अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम् " ॥ ८ । २ । ८९ ॥ इत्यनादौ वर्तमानस्य गस्य द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । दिगम्बरे, न० । आ० म० ।

णग्गइ-नग्नजित्-पुं० । गन्धारविषये पुरुषपुराधिपतौ स्वनामख्याते राज्ञि, आव० ४ अ० । " नमी राया विदेहेसु, गंधारेसु य णग्गई । " प्रव्रजित इति शेषः । उत्त० १८ अ० ।

अथास्य पूर्वभवचरितनिबद्ध वृत्तमुद्भाव्यते-

अस्मिन् भरते पुण्ड्रवर्द्धन नाम नगरमस्ति । तत्र सिंहरथो राजा वर्तते गन्धारदेशाधिपतिः । तस्य राज्ञोऽन्यदा द्वावश्वौ प्राभृते समायातौ । तयो. परीक्षार्थमेकस्मिन् तुरङ्गे राजाऽधिरूढ , द्वितीये तुरङ्गेऽपरो नर आरूढः । तेन सममपरैश्चाश्ववारशतै परिवृतो भूपतिर्बाह्यामिकायां गत. । परीक्षां कुर्वता च राज्ञाऽश्व प्रधानगत्या विमुक्त । सोऽपि बलवता वेगेन निर्ययौ । यथा यथा राजा वल्गामाकर्षयति, तथा तथा स वायुवेगोऽभवत् । पुरोपवनान्यतिक्रम्य सोऽश्वो राजानं लात्वा महाटव्या प्रविष्टः । श्रान्तेन भूपेन तदाऽस्य वल्गा विमुक्ता । अथ यदा वल्गामोचनेऽश्व. स्थिरीबभूव,तदा राजैन विपरीतमश्व मन्यते स; ततस्तस्मादुत्तीर्य राजा भूमिचरो बभूव । तं च पानीय पाययित्वा वृक्षे बबन्ध, स्वप्राणवृत्तिं च फलैर्विदधे । तत एक नगमारुह्य कस्मिंश्चित्प्रदेशे सुन्दरमेक महावास ददर्श । राजा कुतूहलात्तस्मिन्नावासे प्रविष्ट । तत्रैकाकिनीं पवित्रगात्रां कन्या भूपतिर्दृष्टवान् । सा राजानमागच्छन्तं दृष्ट्वा भूरिहर्षाऽऽसनं ददौ । राज्ञा ऊचे-का त्वम् ?, कोऽयमद्रिनिवास. ?, किमिदं रम्य धाम ? । सा प्राऽऽह-भूपाल ! प्रथम मत्पाणिग्रहण कुरु, साम्प्रत सिंहविशिष्ट लग्नमस्ति, पश्चात्सर्वं वृत्तान्तमह कथयिष्यामि । तथेत्युक्ते नरपतिस्तत्र कन्यया सम पूजित जिनबिम्बं प्रणम्योद्वाहमाङ्गल्यमलञ्चकार । नृपतिना परिणीता सा कन्या विविधान् भोगोपचारान् चकार, विचित्राश्च भक्तीर्दर्शयामास । अवसरे राजा तां प्रत्येवमाह-विमल. पुण्यैरावयोः सम्बन्धो जातोऽस्ति,पर त्व स्ववृत्तान्त वद-काऽसि त्वम् ?, कथमत्रैकाकिनी वससि ? । स्वभर्त्रैवमुक्ते सा स्वसम्बन्ध मूलतो वक्तुमारेभे-क्षितिप्रतिष्ठे नगरे जितशत्रुर्नृपोऽस्ति, सोऽन्यदा परदेशाऽऽयातचरानेवमाह-अहो ! मद्राज्ये किञ्चिद् न्यूनमस्ति । ते प्राऽऽहु.-सर्वमस्ति तव राज्ये, पर विचित्रचित्रा सभा नास्ति । ततो नृपतिश्चित्रकरानाकार्य सभागृहभित्तिभागास्तेषां सर्वेषां समाश्चित्रयितु दत्ता. । सर्वेऽपि चित्रकरा. स्वस्वभित्तिभागान् गाढोद्यमेन चित्रयन्ते । तत्रैको वृद्धश्चित्रकर. सकलचित्रकलावेदी स्वभित्तिभागं चित्रयितुमारब्धवान् । सहायशून्यस्य तस्य निरन्तर गृहत. कनकमञ्जरी रूपवती तत्पुत्री भक्त तत्राऽऽनयति । अन्यदा सा स्वगृहाद् भक्तमानयन्ती राजमार्गे गच्छन्त्यश्ववारमेक ददर्श । स च बालस्त्रीवराकाऽऽदिजनसङ्कीर्णेऽपि राजमार्गे त्वरितमश्वमवाहयत् । लोकास्तु तद्भयादितस्ततो नष्टाः । साऽपि कस्मिंश्चित्स्थले स्थिता, पश्चात् तत्राऽऽयाता । भक्तपात्रहस्तां तामागतां वीक्ष्य स वृद्धश्चित्रकर. पुरीषोत्सर्गार्थं बहिर्जगाम । एकत्राऽऽहारपात्रमाच्छादयित्वा सा कस्मिंश्चिद्भित्तिदेशे वर्णकैर्मयूरपिच्छमालिलेख । अथ तत्र राजा संप्राप्त । भित्तिचित्राणि पश्यन् कुमार्या लेखिते केकिपिच्छे साक्षात्पिच्छ मन्यमान. कर चिक्षेप । भित्त्यास्फालनतो नखभङ्गेन विलक्षीभूतं त नृपं सामान्यपुरुषमेव जानन्ती सा चित्रकरपुत्र्येवमाह-चतुर्थ. पादस्त्व मया लब्ध । नृपः प्राऽऽह-पूर्वं त्वया केन त्रयः पादा लब्धाः,साम्प्रतमहं कथं त्वया चतुर्थ. पादो लब्ध. ? । सा प्राऽऽह-श्रूयताम्-योऽद्य राजमार्गे त्वरितमश्वं वाहयन् बालस्त्रीप्रमुखजनानां त्रासमुत्पादयन् दृष्टः, स मूर्खत्वे प्रथम पादः । द्वितीयः पाद इतो राजा, य कुटुम्बलोकसहितैश्चित्रकरै. समं भित्तिभागं जराऽऽतुरस्यैकस्यैव मम पितुर्ददौ । तृतीयः पादो मम पिता, यो नित्य भक्ते समायाते बहिर्याति । चतुर्थस्तु त्वम्, योऽस्मिन् भित्तिदेशे मल्लिखिते मयूरपिच्छे कर चिक्षेप । किमित्येवं त्वया न विमृष्टम् यदत्र सुधाघृष्टे भित्तिदेशे निराधारा मयूरपिच्छस्थितिः कथम् ? । एव तस्या वचश्चातुरीरञ्जितो राजा तत्पाणिग्रहणवाञ्छकः सन् तस्या. पितु. समीपे स्वमन्त्रिणं प्रेषयित्वा तां प्रार्थितवान् । पित्राऽपि सा दत्ता, सुमुहूर्ते परिणीता, राज्ञः प्रकाम प्रेमपात्रा बभूव । सर्वान्त पुरीषु च मुख्या जाता । विविधानि दूष्याणि,रत्नाऽऽभरणानि चाऽऽससाद । एकदा तया मदनाभिधाना स्वदासी रहस्येवं बभाषे-भद्रे ! यदा मदनशान्तो नृपतिः स्वपिति, तदा त्वयाऽहमेवं प्रष्टव्या-स्वामिनि ! कथां कथयेति । तयोक्तम्-अवश्यमहं तदानीं प्रक्ष्ये । अथ रात्रिसमये राजा तद्गृहे समायात., तां भुक्त्वा रतश्रान्तो यावत् स्वपिति, तावता दास्या इय पृष्टा-स्वामिनि ! कथां कथय । राज्ञी प्राऽऽह-यावद्राजा निद्रां नाऽऽप्नोति तावन्मौन कुरु, पश्चात् त्वदग्रे यथेष्टं कथां कथयिष्यामि । राजाऽपि तां कथां श्रोतुकामः कपटनिद्रया सुष्वाप । पुनर्दास्या साम्प्रत कथां कथयेति पृष्टा चित्रकरपुत्री कथां कथयितुमारेभे-

मधुपुरे वरुणश्रेष्ठयेककरप्रमाणं देवकुलमकारयत्, चतुःकरप्रमाणो देवस्तत्र स्थापितः,स तस्मै देवश्चिन्तितार्थदायको बभूव। अथ दासी प्राऽऽह-एकहस्ते देवकुले चतुःकरप्रमाणो देवः कथं माति ?, इति तया पृष्टे सा राज्ञी प्राऽऽह-इमं रहस्यं तव कल्यरात्रौ कथयिष्यामि, अद्य तु निद्रा समायातीति प्रोच्य सा राज्ञी राज्ञः शय्यायाः पुरो भूमौ सुप्ता । सा दासी तां तथा दृष्ट्वा स्वगृहे गता । राजा मनस्येवं चिन्तयामास-कल्यरात्रावपीदं कथानकं मया श्रोतव्यमिति निश्चित्य सुप्तः सुखनिद्रामवाप । द्वितीयदिनेऽपि राजा तस्या एव गृहे रात्रौ समायातः, रात्र्यर्द्धं यावत् सुखं भेजे, पश्चाद्रतश्रान्तोऽपि पूर्वकथानकश्रवणाय कपटनिद्रया सुप्तः । दासी प्राऽऽह-स्वामिनि! कल्यकथितकथानकरहस्यं वद । राज्ञी प्राऽऽह-एकहस्ते देवकुले चत्वारः करा यस्य स चतुःकरो देवो नारायणाऽऽदिस्तत्र स्थापित इति रहस्यम् । इति एका कथा १ ।

अथ तृतीयदिनरात्रावपि राजा तथैव कपटनिद्रया सुप्तः । पुनः कथामद्य कथयेति दासी तामाह । सा प्राऽऽह-विन्ध्याचले पर्वते कोऽपि रक्ताशोकद्रुमः प्रौढोऽस्ति, तस्य घनानि पत्राणि सन्ति, परं छाया नास्ति । दासी प्राऽऽह-पत्राऽऽवृतस्य तस्य छाया कथं न जायते ? । राज्ञी प्राऽऽह-एतद्रहस्यं तव कल्यरात्रौ कथयिष्यामि, अद्याहं रतश्रान्ता निद्रासुखमनुभविष्यामीत्युक्त्वा सुप्ता । सा दासी तु स्वगृहे गता । अपररात्रावपि राजा भोगान् भुक्त्वा तथैव तत्र सुप्तः । दासी प्राऽऽह-स्वामिनि! कल्यसत्ककथारहस्यं कथनीयम् । राज्ञी प्राऽऽह-तस्य वृक्षस्य सूर्याऽऽतप्तस्य मूर्ध्नि छाया नास्ति, किन्त्वध एव छायाऽस्ति । इति द्वितीया कथा २ ।

अथ पुनस्तथैव रात्रौ नृपे सुप्ते दासीपृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-क्वचिन्निवेशे कश्चिदुष्ट्रश्चरन् कदाऽपि बब्बूलतरुं ददर्श । तदभिमुखां ग्रीवां कुर्वन्नप्राप्तशाखः प्रकामं खिन्नस्तस्यैव बब्बूलतरोरुपरि पुरीषोत्सर्गं कृतवान् । दासी राज्ञीं पप्रच्छ-हे स्वामिनि ! कथमेतद् घटते, स्वग्रीवया बब्बूलतरुर्न प्राप्तः तदुपरि कथमसावुत्सर्गं चकार? । राज्ञी प्राऽऽह-अद्य निद्रा समायाति, तेनैतत्कथारहस्यं कल्यरात्राववश्यं कथयिष्यामीत्युक्त्वा सुप्ता । कल्यदिनरात्रावपि तथैव नृपे सुप्ते दासीपृष्टा राज्ञी तत्कथातत्त्वं प्राऽऽह-स उष्ट्रः कूपमध्यस्थं तं बब्बूलतरुं ददर्शेति घटत एवेदम् । इति तृतीया कथा ३।

पुनस्तथैव नृपे सुप्ते रात्रौ दासीपृष्टा सा राज्ञी कथामाचख्यौ-कस्मिंश्चिन्नगरे काचित्कन्या भृशं रूपसौभाग्यवत्यासीत्, तद्वरणार्थं तन्मातापितृभ्यां त्रयो नरा आहूताः समायाताः । तदानीं फणिना दष्टा सा कन्या मृता । तया समं मोहादेको वरस्तच्चितायां प्रविष्टो भस्मसाद् बभूव । द्वितीयस्तद्भस्मपिण्डमाऽऽदाता तद्भस्मोपरि वासं चकार । तृतीयस्तु सुरमाराध्यामृतं प्राप्तः । तदमृतेन तच्चितायाः सिक्तायाः कन्यां प्रथमं वरं च सद्योऽजीवयत् । कन्याऽप्युत्थिता तान् त्रीन् वरान् ददर्श । राज्ञीं दासी प्राऽऽह-हे सखि ! ब्रूहि, तस्याः कन्यायाः को वरो युक्तः ?। दासी प्राऽऽह-अहं न वेद्मि त्वमेव ब्रूहि । राज्ञी प्राऽऽह-अद्य निद्रा समायाति, कल्यरात्रौ कथयिष्यामीत्युक्त्वा सुप्ता । द्वितीयदिनरात्रौ दासीपृष्टा साऽवदत्-यस्तस्याः सञ्जीवकः स पिता, यः सहोद्भूतः स बन्धुः । यो भस्मपिण्डमाऽऽदाता, स तत्पतिरिति । इति चतुर्थी कथा ४।

तथैवाऽन्यरात्रौ नृपे सुप्ते दासीपृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-कश्चिद् नृपः स्वपत्न्यै दिव्यमलङ्कारवरं सुगुप्तभूमिगृहे रत्नाऽऽलोकात् सुवर्णकारैरजीघटत् । तत्रैकः सुवर्णकारः सन्ध्यां पतितां ज्ञातवान् । राज्ञी प्राऽऽह-हे सखि ! तेन रत्नाऽऽलोकसहिते सुगुप्तभूमिगृहे यामिनीमुखं कथं ज्ञातम् ?। दासी प्राऽऽह-नाहं वेद्मि, त्वमेव ब्रूहि । राज्ञी प्राऽऽह-साम्प्रतं निद्रा समायातीत्युक्त्वा सुप्ता । द्वितीयदिनरात्रौ दासीपृष्टा सा प्राऽऽह-स सुवर्णकारो रात्र्यन्ध आसीदिति ज्ञातं तेन । इति पञ्चमी कथा ५ ।

पुनरेकदा रात्रौ सुप्ते नृपे दासीपृष्टा सा प्राऽऽह-केनापि राज्ञा द्वौ मलिम्लुचौ निश्छिद्रपेट्यां क्षिप्तौ समुद्रमध्ये प्रवाहितौ,क्वापि तटे सा पेटी लग्ना केनचिद् नरेण गृहीता, उद्घाट्य तौ दृष्ट्वा पृष्टौ-भो ! युवयोरद्य क्षिप्तयोः कतमो दिवसोऽयम्? । तयोर्मध्ये चैकः प्राऽऽह-अद्य चतुर्थो दिवसः। राज्ञी प्राऽऽह-हे सखि! तेन चतुर्थो दिवसः कथं ज्ञातः ?। दासी प्राऽऽह-अहं न वेद्मि, त्वमेव ब्रूहि । राज्ञी तु साम्प्रतं निद्रा समायातीत्युक्त्वा सुप्ता । द्वितीयदिने रात्रौ दासीपृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-स चतुर्थदिनवक्ता पुरुषस्तुर्यज्वरी वर्त्तते स्मेति तेन तथा प्ररूपितम् । इति षष्ठी कथा ६ ।

पुनरन्यदा दासीपृष्टा सा राज्ञी रात्रौ कथामाचख्यौ-काचित् स्त्री सपत्नीभयेन निजाङ्गभूषणानि पेट्यां निक्षिप्य मुद्रां च दत्त्वाऽऽलोकभूमौ मुमोच । अन्यदा सा स्त्री सखीनिवासे गता, सपत्नी च विजनं विलोक्य तां पेटीमुद्घाट्यानेकाऽऽभरणश्रेणिमध्यादेकं हारं निष्कास्य स्वतनयायै ददौ । तनया च स्वपतिगृहे तं गुप्तं चकार । कियत्कालानन्तरं सा स्त्री तत्राऽऽयाता, तां पेटीं दूरादवलोक्यैव ज्ञातवती-यदस्याः पेट्या मध्यान्मम हारोऽनयाऽपहृत इति सपत्नीं चौर्येण दूषयामास । सपत्नी शपथान् कुर्वती हारापहारं न मन्यते स्म । तदा सा स्त्री तां सपत्नीं दुष्टदेवपादस्पर्शशपथायाऽऽकारितवती। तदानीं भयभ्रान्ता सपत्नी तं हारं तनयागृहादानीय तस्यै ददौ। दासी प्राऽऽह-हे स्वामिनि ! तया कथं ज्ञातो हारापहारः ?। राज्ञी प्राऽऽह-कल्ये रात्रौ कथयिष्यामीत्युक्त्वा सुप्ता । द्वितीयदिनरात्रौ पुनस्तया पृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-सा पेटी स्वच्छकाचमयी बभूवेति ज्ञातं तया । इति सप्तमी कथा ७ ।

कस्यचिद्राज्ञः कन्या केनापि खेऽटेनापहृता । तस्य राज्ञश्चत्वारः पुरुषाः सन्ति-एको निमित्तवेदी, द्वितीयो रथकृत्, तृतीयः सहस्रयोधा, चतुर्थो वैद्यः । तत्र निमित्तवेदी दिशं विवेद । रथकृद्दिव्यं रथं चकार । खगामिनं तं रथमारुह्य सहस्रयोधा, वैद्यश्च विद्याधरपुरं गतौ । सहस्रयोधी तं खेऽटं हतवान् । हन्यमानेन तेन खेऽटेन कन्याशिरश्छिन्नम्, तदैव तेन वैद्येनौषधेन शिरः संयोजितम् । राजा तु पश्चादागतेभ्य एभ्यश्चतुर्भ्यस्तां सुतां ददौ । कन्या प्राऽऽह-एषु मध्ये यो मया सह चिताप्रवेशं करिष्यति, तमहं वरिष्यामि । इति प्रोच्य सा कन्या सुरङ्गाद्वारि रचितायां चितायां प्रविष्टा । यस्तया सह तत्र प्रविष्टः, स तां कन्यामूढवान् । दासी प्राऽऽह-हे स्वामिनि ! चतुर्षु मध्ये कोऽत्र प्रविष्टः ?। राज्ञी प्राऽऽह-अद्य रतिश्रान्ताया मे निद्रा समायातीत्युक्त्वा सुप्ता । द्वितीयवासररात्रौ पुनर्दासीपृष्टा राज्ञी प्राऽऽह-निमित्तवेदी-'इयं न मरिष्यति' इति मत्वा चितां प्रविष्टस्ततस्तामूढवान् । इत्यष्टमी कथा ८ ।

पुनरपि रात्रौ दासीपृष्टा राज्ञी कथामाह-जयपुरनगरे सुन्दरनामा राजाऽऽसीत् । स चान्यदा विपरीताश्वेनैकः एवाटव्यां नीतः, ततो वल्गां शिथिलीकृत्याश्वात् स राजा समुत्तीर्णः ।

तमश्वं क्वचित्तरौ बद्ध्वा स्वयमितस्ततो भ्रमन् स कस्मिंश्चित् सरसि जलं पपौ। तत्रैकां सुरूपां तापसपुत्रीं ददर्श। तापसपुत्र्याहूत स तापसाऽऽश्रमं प्राप। तत्र तापसास्तस्य भृशं सत्कारं चक्रुः। सा कन्या तापसैर्दत्ता, राज्ञा च परिणीता। तां नवोढां कन्यां गृहीत्वा तमेवाश्वमधिरुह्य पश्चाद्वलितोऽन्तरालमार्गे क्वचित् भरपाल्यां राजा सुप्तोऽपि जाग्रदेवाऽऽसीत्। राज्ञी तु निद्राणा। केशरिराक्षसेन तत्राऽऽगत्य नृपस्यैव कथितम्-षण्मासान् यावद् बुभुक्षितोऽहं त्वां भक्षयं प्राप्याद्य तृप्तो भविष्यामि, अन्यथा मद्वाञ्छितं देहि। राज्ञोक्तम्-ब्रूहि स्ववाञ्छितम्। तेनोक्तम्—कश्चिदष्टादशवर्षीयो ब्राह्मणपुत्रः शिरसि पितृदत्तपदस्त्वया खड्गेन हतः सप्तदिनमध्ये चेद्बलिर्दीयते, तदाऽहं त्वां मुञ्चामि, नान्यथा इति। राज्ञा प्रतिपन्नम्। प्रभाते राजा चलितः कुशलेन स्वपुरं गतः। सैनिकाः सर्वेऽपि मिलिताः। राज्ञा स्वमन्त्रिणं प्रति राक्षसवृत्तान्तः कथितः। मन्त्री सुवर्णपुरुषं निर्माय पटहवादनपूर्वं नगरे भ्रामयामास। तेनैवं चोद्घोषितम्-यो हि ब्राह्मणपुत्रो राक्षसाय स्वजीवितदानेन नृपजीवितं रक्षते, तस्य पित्रोरयं सुवर्णपुरुषो दीयते। इयमुद्घोषणा षट् दिनानि यावत् तत्र जाता। सप्तमदिने एकत्र प्राज्ञो ब्राह्मणपुत्रस्तां निर्घोषणां श्रुत्वैव मातापितरावबोधयत्-प्राणा गत्वराः सन्ति, मातापित्रोश्चेदुपकारं मम प्राणैः कृत्वा भवेत्, तदा वरं, तेनाहं नृपजीवितरक्षाऽर्थं स्वजीवितं राक्षसाय दत्त्वा सुवर्णपुरुषं दापयामि। एवं भृशमाग्रहेण मातापित्रोरनुमतिं गृहीत्वा राज्ञः समीपे गतः। राज्ञा तु तत्पितुः पादौ शिरसि दापयित्वा स्वयमाकृष्टखड्गस्तस्य पृष्ठतो भूत्वा राक्षसस्य समीपमानीतः। यावता राक्षसो दृष्टस्तावता नृपेणोक्तम्-भो ब्राह्मणपुत्र! इष्टं स्मर। एवं नृपेणोक्तः स ब्राह्मणपुत्र इतस्ततो नेत्रे निक्षिपन् जहास। तदानीं राक्षसस्तुष्टः प्राऽऽह-यदिष्टं तन्मार्गयेति। स प्राऽऽह-यदि त्वं तुष्टस्तदा हिंसां त्यज, जिनोदितं दयाधर्मं कुरु। राक्षसेनापि तद्वचसा दयाधर्मः प्रतिपन्नः। राजादयोऽपि तं दारकं प्रशंसितवन्तः। अथ दासी प्राऽऽह-हे राज्ञि! तस्य ब्राह्मणपुत्रस्य को हास्यहेतुः?। तयोक्तम्-साम्प्रतं मे निद्रा समायातीत्युक्त्वा सा सुप्ता। द्वितीयदिने दासीपृष्टा सा राज्ञी प्राऽऽह-हे हले! अथ तस्य हास्यहेतुः-नृणां हि माता, पिता, नृपः शरणं, ते त्रयोऽपि मत्पार्श्वस्थाः, अहं पुनः कमन्यं शरणं श्रयामि?, इति विचिन्त्य तस्य हास्यमुत्पन्नम्। इति नवमी कथा ९।

एवं सा चित्रकरसुता कथाभिर्मुहुर्मुहुर्मोहयन्ती राजानं वशीचकार। राजा तु तस्यामेवाऽऽसक्तोऽन्यासां राज्ञीनां नामापि न जग्राह। ततस्तस्याश्छिद्राणि पश्यन्त्यः सर्वा अपि सपत्न्यः परमद्वेषं वहन्ति स्म। चित्रकरसुता तु निरन्तरं मध्याह्ने रहस्येकाकिनी कपाटयुगलं दत्त्वा गृहान्तः प्रविश्य पूर्ववस्त्राणि प्रावृत्याऽऽत्मानमेव शिक्षयामास-आत्मन्! तवायं पूर्ववेषः, साम्प्रतं राजप्रसादादुत्तरामवस्थां प्राप्य गर्वं मा कुर्याः। एवमात्मनः शिक्षां ददतीं दृष्ट्वा सपत्न्यो राजानमेव विज्ञपयामासुः-स्वामिन्! एषा क्षुद्रा तवाहर्निशं कार्मणं कुरुते, यद्यस्माकं वचनं न मन्यसे, तदा मध्याह्ने स्वयं तद्गृहं गत्वा तस्याः स्वरूपं विलोकय। नृपतिस्तासां वाक्यं निशम्य मध्याह्ने तस्या गृहं गतः। सा तु तथैव पूर्वनेपथ्यं परिधायाऽऽत्मनः शिक्षां ददती नृपतिना दृष्टा। सर्वाणि तद्वचांस्यपि श्रुतानि। राजा तस्या निर्गर्वतां ज्ञात्वा परमं प्रमोदमवाप। इमां च पट्टराज्ञीं चकार। राज्ञो विशेषात्मनो विनोदमिव व्यधात्। अन्यदा तन्नगरोद्याने विमलाऽऽचार्याः समायाताः। राज्ञ्या सह नृपस्तद्वन्दनाय तत्र गतः, नगरलोकोऽपि तद्वन्दनार्थं गतः। तदा विमलाऽऽचार्यो देशनां चकार। चित्रकरसुता, नृपश्च द्वावपि प्रतिबुद्धौ श्रावकधर्मं गृहीतवन्तौ, परस्परमनाबाधया त्रिवर्गसाधनं कुरुतः। अन्येद्युस्तया दत्तपञ्चपरमेष्ठिश्रीनमस्कारस्तत्पिता मृतो व्यन्तरो जातः। कालान्तरेणाऽऽर्हतं धर्ममाराध्य चित्रकरसुता राज्ञी मृता देवीत्वं प्राप। ततश्च्युत्वा वैताढ्ये तोरणाभिधे पुरे दृढशक्तिखेचरस्य पुत्री कनकमाला बभूव। प्राप्तयौवनां तामेकदा वीक्ष्य कन्दर्पतप्तो वासवनामा कश्चित् खेचरोऽपहृत्यात्र महाद्रौ मुक्त्वा स्वचित्ते प्रमोदं बभार। अत्र विद्याबलात् समग्रां सामग्रीं विधाय स वासवविद्याधरो यावद्गान्धर्वोद्वाहाय समुत्सुकोऽभवत्, तावत् कनकमालाऽग्रजः सुवर्णतेजास्तदनुपदिकस्तत्राऽऽयातस्तं वासवं विद्याधरमधिक्षिप्तवान्। तौ द्वावपि कोपाद् घोरं युद्धं कुर्वाणौ परस्परप्रहाराद् मृतौ। कनकमाला तु भृशं भ्रातृशोकं चकार। तदानीं कश्चिद्देवस्तत्राऽऽगत्य कनकमालां प्रत्येवमवदत्-पुत्रि! भ्रातृशोकं मुञ्च, चित्तं स्वस्थं कुरु, ईदृश एव संसारोऽस्ति, त्वं मम पूर्वभवे पुत्र्यभूः, तिष्ठ त्वमत्रैव गिरौ। अत्र स्थितायास्तव सर्वं भव्यं भविष्यति। एवं देववचनमाकर्ण्य कनकमाला चिन्तयामास-कोऽसौ देवः?, कथमस्याहं पुत्री?, असौ मयि स्निह्यते, अहमप्यस्मिन् स्निह्यामि। यावदेव कनकमाला चिन्तयति-तावत्तज्जनको विद्याधरेन्द्रो दृढशक्तिनामा धावन् तत्राऽऽयातः, स्वपुत्रं स्वर्णतेजसं, विरोधिनं वासवविद्याधरं च मृतं दृष्ट्वा छिन्नमस्तकां च तां पुत्रीं दृष्ट्वैवं विचारयामास-अयं सुतः, इयं सुता, अयं शत्रुस्त्रयोऽप्यमी ईदृगवस्थां प्राप्ताः। स्वप्नोपमं जगत्सर्वं दृश्यते। एवं ध्यायतस्तस्य दृढशक्तिविद्याधरस्य जातिस्मरणमुत्पन्नम्। ततोऽसौ शासनदेवीप्रदत्तवेषश्चारणश्रमणो यतिरभूत्। अथ स व्यन्तरस्तया पुत्र्या सह तं श्रमणं ननाम। जीवन्तीं तां पुत्रीं वीक्ष्य स चारणश्रमणस्तं व्यन्तरं नमन्तमपृच्छत्-किमिदमिन्द्रजालं मया दृष्टम्?। व्यन्तरः प्राऽऽह-तव पुत्रः शत्रुश्च मिथो नियुध्य मृतौ। इयं च कन्या जीवन्त्यपि मया तव मृता दर्शिता। मुनिः प्राह-कथं त्वया मृता कृता?। स व्यन्तरः स्मृत्वैवमाह-हे मुनिनायक! एतद्वार्तां शृणु-क्षितिप्रतिष्ठनृपतेर्जितशत्रोरियं प्राग्भवे पत्न्यभवत्, चित्राङ्गदनाम्नश्चित्रकृतो ममैषा पुत्र्यभवत्, एतया प्राग्भवेऽन्त्यसमये मम नमस्कारा दत्ताः, तत्प्रभावादहं व्यन्तरो जातः। एषा अपि मृता देवी जाता, देवीत्वमनुभूय तव सुताऽत्र भवे जज्ञे। तेन विद्याधरेणापहृत्यात्र चैत्ये मुक्ता, यात्रार्थमायातेन मया दृष्टा, एतस्या बन्धौ वैरे च मृते यावदिमामहमाश्रयामि तावद्भवन्तोऽत्र प्राप्ताः। मया विमृष्टम्-इयमनेन जनकेन समं मा यात्विति मयैतस्या गोपनमाया विहिता। यत्तव निराशत्वं मया तदानीं कृतं, तत् क्षन्तव्यम्। मुनिरूचे-अहो! व्यन्तर! या त्वया तदा माया कृता, सा ममत्वमायापहारिणी जाता, तेन मम त्वयैवोपकृतं, न किमप्यपराधः। एवमुक्त्वा स मुनिर्धर्माऽऽशिषं दत्त्वाऽन्यत्र विजहार। अथ प्राग्भववृत्तान्तं श्रुत्वा सा कन्या जातिस्मृतिमागमत्, प्राग्जन्मजनकं व्यन्तरं प्राऽऽह-तात! तं पूर्वभवपतिं मेलय। व्यन्तरः प्राऽऽह-स ते प्राग्भवभर्ता जितशत्रुनृपतिर्देवीभूय च्युतः साम्प्रतं सिंहरथो नाम राजा जातोऽस्ति। स ०।

देशे पुण्ड्रवर्द्धननगरादश्वापहृतोऽत्र समायास्यति। स अत्रैव सकलसामग्र्या परिणेष्यति। यावत् स इह

घत् त्वमत्रैव तिष्ठेत्युक्त्वा स व्यन्तरः पुराचले शाश्वतजिनबिम्बानि नन्तुं गतवान् ।

इद सर्वं वृत्तान्तं कथयित्वा सा कन्या राजानं प्रत्याह-स्वामिन् ! त्वमत्र मद्भाग्याऽऽकर्षितः समायातः । सिंहरथराजाऽपीमां पूर्वभवकथां श्रुत्वा पूर्वभवश्वशुरं तं व्यन्तरमस्मरत् । तेन स्मृतः स व्यन्तरस्तत्राऽऽगत्य, दिव्यवादित्रनिर्घोषं कृतवान् । मध्याह्ने जिनबिम्बान्यभ्यर्च्य नृपो भुङ्क्ते स्म । ततस्तेन व्यन्तरेण पूरिताशेषवाञ्छितोऽसौ नृपतिस्तत्र मासमेकं स्थितवान् । चिरकालेन स्वराज्यानिष्टशङ्कया राजा तां दयितां प्रतीदमाह-प्रिये ! प्रबलो वैरिव्रजो मे राज्यमुपद्रोष्यति, ततोऽहं स्वपुरं यामि। दयिता जगाद-यदि राज्यं मोक्तुं न शक्यते, तदा व्योमगमनसाधिका प्रज्ञप्तिविद्यां मन्मुखाद् गृहाण,यतस्ते व्योमगतिर्यथासुखं स्यात्। प्रियाप्रदत्तां तां विद्यामासाद्य सिंहरथो राजा विद्याधराग्रणीर्बभूव । प्राग्भवप्रेमपूर्णां तां प्रियामापृच्छ्य स राजा स्वपुरे व्योममार्गेण समागतः। तत्र पुरे कियद्दिनानि स्थित्वा सिंहरथनृपतिस्तं पर्वतं पुनर्गतः। एवं स्वनगरात् तस्मिन्नगे नित्यं गताऽऽगतं कुर्वन् नृपतिः सिंहरथो लोकान्नग्गतिरितिनामप्रसिद्धिं प्राऽऽप । अन्यदा तत्र नगे तं भूपं स व्यन्तर एवमाह-अहं मत्स्वामिनिदेशाद् देशान्तरं गमिष्यामि, त्वं मत्पुत्रीं स्वनगरे नीत्वेमं नगं शून्यं मा कार्षीः । एवमुक्त्वा स व्यन्तरः स्थानान्तरमगात् । नृपस्तन्नगे महन्नगरं व्यधात्, तस्य नग्गतिपुरमिति नाम कृतवान् । तत्रस्थो राजा तया राज्ञ्या सह भोगान् भुञ्जानः सुखेन कालं निर्गमयति स्म । तत्र राज्यं पालयतस्तस्य बहुतरः कालो ययौ । अन्यदा नग्गतिर्नृपः पुरपरिसरे वसन्तोत्सवं द्रष्टुं जगाम, मार्गे च मञ्जरीपुञ्जमञ्जुलमाम्रवृक्षमद्राक्षीत् । तत एकां मञ्जरीं नृपतिर्लीलया स्वकरेण जग्राह । ततो "गतानुगतिका प्रायो, दृश्यन्ते बहवो नराः । स्वभूपमनुवर्त्तन्ते, यथा राजा तथा प्रजाः ॥ १ ॥" इति न्यायात् सर्वं तस्य मञ्जरीपत्राऽऽदिकं जगृहुः । भूमिपालः क्रीडां कृत्वा ततः पश्चाद्वलितस्तमाम्रवृक्षं काष्ठशेषमालोक्यैवं चिन्तितवान्-अयमाम्रवृक्षो नेत्रप्रीतिकरो, यो मया पूर्वं गच्छता दृष्टः, सोऽयं काष्ठशेषो विगतशोभः साम्प्रतं दृश्यते यथा, तथा सर्वोऽपि जीवः कुटुम्बधनधान्यदेहाऽऽदिसौन्दर्यभ्रष्टो नैव शोभां प्राप्नोति । एतच्च सर्वं विनश्वरं यावन्न क्षीयते तावत्संयमे यत्नः कार्यं इति चिन्तयन्नग्गतिः प्रतिबुद्धो जातः, शासनदेवीप्रदत्तवेषः संयममाददे । उत्त० ६ अ० । आव० । आ० चू० । क्षत्रियपरिव्राजकभेदे, औ० ।

णग्गयमग्ग-नगगतमार्ग-पुं० । विषमपर्वतमार्गे, त० ।

णग्गभाव-नग्नभाव-पुं० । अचेलत्वे, "समणाणं णिग्गंथाणं नग्गभावे मुण्डभावे ।" स्था० ६ ठा० ।

णगिणया-नग्निका-स्त्री० । अवस्त्रायाम्, विशे० ।

णग्गोह-न्यग्रोध-पुं० । वटे, प्रज्ञा० १ पद । नि० चू० ।

णग्गोहपरिमंडल-न्यग्रोधपरिमण्डल-न० । न्यग्रोधवत्परिमण्डलं यस्य स तथा । यथा न्यग्रोध उपरि सपूर्णप्रमाणोऽधस्तु हीनः, तथा यत् सस्थानं नाभेरुपरि सपूर्णम्, अधस्तनु, तस्मिन् संस्थानभेदे, त० ।

णग्गोहवरपायव-न्यग्रोधवरपादप-पुं० । वटप्रधानवृक्षे, अन्त० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० ।

णच्च-नृत-धा० । गात्रविक्षेपे, "शकवृतमदां च्चः ॥८।४।२२५॥ एषामन्त्यस्य द्विरुक्तः 'च्च' इति च्चः । 'णच्चइ,' नृत्यति । प्रा० ४ पाद ।

नृत्य-न० । पादजङ्घोरुकटिपृष्ठरवाहुग्रीवावदननयनभ्रूमुखाऽऽदिविकारकरणे, नि० चू० १७ उ० । नाट्ये, स्था० ६ ठा० ।

णच्चंत-नृत्यत्-त्रि० । अङ्गविकारकारके, औ० । नि० चू० । "णच्चंताणि वा हसंताणि वा रमंताणि वा ।" आचा० २ श्रु० २ चू०४ अ० । "नच्चतकबंधपउरे।" नृत्यन्ति कबन्धानि शिरोरहितकलेवराणि प्रचुराणि यत्र स तथा । प्रश्न०२ आश्र० द्वार ।

णच्चग-नर्तक-पुं० । नटानां नायके, व्य० ६ उ० ।

णच्चा-ज्ञात्वा-अव्य० । "त्वथ्वद्वध्वां चछजझाः क्वचित्" ॥ ८ । २ । १५ ॥ प्रा० २ पाद । अवगम्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । अवबुध्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । दश० । आचा० । उत्त० । "सव्वं णच्चा अहिट्ठिए ।" सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

णच्चाविय-नर्तित-न० । नृत्यवदिव कृते, स्था० ६ ठा० ।

णच्चिर-पुं० । देशी-रमणशीले, दे० ना० ४ वर्ग ।

णज्ज-न्याय्य-त्रि० । न्यायोपपन्ने युक्ते, द्वा० २६ अष्ट० ।

णज्जंत-ज्ञायमान-त्रि० । "ज्ञो णव्वणज्जौ" ॥ ८ । ४ ।२५२॥ इति जानातेः कर्मणि भावे वा 'णज्ज' इत्यादेशः । अवगम्यमाने, प्रा० ४ पाद । नि० ।

णज्जर-पुं० । देशी-मलिने, दे० ना० ४ वर्ग ।

णज्झर-पुं० । देशी-विमले, दे० ना० ४ वर्ग ।

णट्ट-नाट्य-न० । नटस्य भावः कर्म वा । करचरणाऽऽदिविक्षिप्तपरिस्पन्दविशेषे, आव० ३ अ० । नृत्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० । ज० । जी० । स्था० । करपादभ्रूशिरोऽक्ष्योष्ठाऽऽदीनां साविकारे चलने, ध० ३ अधि० । नृत्ये, ज्ञ० १४ श० ६ उ० । साभिनयनिरभिनयभेदभिन्ने ताण्डवे, ज० ५ वक्ष० । उत्त० । "चउव्विहे णट्टे पण्णत्ते । तं जहा-अंचिए, रिभिए, आरभडे, भसोले ।" एतच्च सम्प्रदायाभावान्न विवृतम् । स्था० ४ ठा०४ उ० । आ० चू० । एतेऽञ्चिताऽऽदयश्चत्वारोऽपि भेदा नाट्यशास्त्रसिद्धाः । अथवा-" नट्टं होइ अगीयं, गीयजुयं नाडयं तु नायव्वं ।" बृ०१ उ० । एते नाट्यविधयो भरताऽऽदिशास्त्रेभ्योऽवसेयाः । ज० ५ वक्ष० । " बत्तीसतिविहे णट्टे पण्णत्ते । " द्वात्रिंशद्विधं नाट्यमभिनयविषयवस्तुभेदाद्, यथा राजप्रश्नकृताभिधानद्वितीयोपाङ्ग इति सम्भाव्यते । द्वात्रिंशत्पात्रप्रतिबद्धमिति केचित् । स० ३२ सम० ।

तते णं से सूरियाभे देवे समणं भगवं महावीरं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी-तुब्भे णं भंते ! सव्वं जाणह तव्वदंसितए त्ति कट्टु समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ,करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणति, समोहणतित्ता संखिज्जाइं जोयणाइं उड्ढं दंडं निस्सरइ, निस्सरइत्ता अहाबुहुमे दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं० जाव बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउव्वइ । से

जहानामए आलिंग पुक्खरेति वा० जाव मणीणं फासो । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे पेच्छाघरमंडवे विउव्वइ, अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं वण्णओ । अंतो बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउव्वइ, उल्लोयं अक्खाडगं मणिपेढियं विउव्वइ । तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं सीहासणं सपरिवारं० जाव दामो चिट्ठंति । तए णं से सूरियाभे देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स आलोए पणामं करेति, पणामं करेतित्ता अणुजाणउ मे भगवं ति कट्टु सीहासणवरगयतित्थयराभिमुहे सण्णिसण्णे । तए णं से सूरियाभे देवे तप्पढमयाए णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहणिउणोवचियमिसिमिसिंतविरतियमहाभरणकडगतुडियवरभूसणुज्जलं पीवरपलंबं दाहिणभुयं पसारेति । तओ णं सरिसयाणं सरिसतयाणं सरिसवयाणं सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणं एगाभरणवसणगहियणिज्जोगाणं दुहतो संवेल्लियग्गणियत्थाणं आविद्धतिलयामेलाणं पिणद्धगेविज्जकंचुयाणं उप्पीलियचित्तपट्टपरियरसफेणगावत्तरइयसंगयपलंबवत्थंतचित्तचिल्ललगनियसणाणं एगावलिकंठरइयसोभंतवच्छपरिहत्थभूसणाणं अट्ठसयं णट्टसज्जाणं देवकुमाराणं णिग्गच्छइ । तयाणंतरं च णं णाणामणि०जाव पीवरपलंबं वामभुयं पसारेइ । तओ सरिसयाणं सरिसतयाणं सरिसवयाणं सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणं एगाभरणवसणगहियनिज्जोयाणं दुहतो संवेल्लियग्गनियत्थाणं आविद्धतिलयामेलाणं पिणद्धगेविज्जकंचुयाणं णाणामणिकणगरयणभूसणविराइयंगमंगाणं० जाव अट्ठसयं नट्टसज्जाणं देवकुमारियाणं णिग्गच्छइ । तते णं से सूरियाभे देवे अट्ठसयं संखाणं विउव्वइ, अट्ठसयं संखवायगाणं विउव्वइ, अट्ठसयं संगाणं विउव्वइ, अट्ठसयं संगवायगाणं विउव्वइ, अट्ठसयं संखियाणं विउव्वइ, अट्ठसयं संखियावायगाणं विउव्वइ, अट्ठसयं खरमुहीणं विउव्वइ, अट्ठसयं खरमुहीवायगाणं विउव्वइ, अट्ठसयं पेयाणं विउव्वइ, अट्ठसयं पेयावायगाणं विउव्वइ, अट्ठसयं पिरिपिरियाणं विउव्वइ, ० एवमादियाणं एगूणपण्णं आउज्जविहाणाइं विउव्वति, विउव्वित्ता ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य सद्दावेइ । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य सूरियाभेणं देवेणं सद्दाविया समाणा हट्ठतुट्ठ० जाव हियया जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तेणेव सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं० जाव वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-संदिसतु मे देवाणुप्पिया ! जं अम्हेहिं कायव्वं । तए णं से सूरियाभे देवे बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेह, करेतित्ता वंदह, णमंसह, वंदित्ता णमंसित्ता गोयमाऽऽइयाणं समणाणं निग्गंथाणं तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं बत्तीसइविहं नट्टविहिं उवदंसेह, उवदंसित्ता खिप्पामेव एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठकरयल० जाव पडिसुणेंति, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता समणं भगवं महावीरं० जाव णमंसित्ता जेणेव गोयमाऽऽइया समणा णिग्गंथा, तेणेव णिग्गच्छंति । तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समामेव समोसरणं करेंति, समामेव समोसरणं करेत्ता समामेव पंती बंधंति, समामेव पंती बंधेत्ता नमंसंति, नमंसित्ता समामेव उण्णमंति, उण्णमंतित्ता समामेव उण्णमंति, समामेव उण्णमंतित्ता, एवं सहितामेव उण्णमंति, उण्णमंतित्ता थिमियामेव उण्णमंति, उण्णमंतित्ता संगयामेव उण्णमंति, उण्णमंतित्ता० जाव समामेव आउज्जविहाणाइं गिण्हंति, समामेव य वाइंसु, पगाइंसु, पणच्चिंसु । किं ते उरेणं मंदं सिरेणं तारं कंठेण य तारं समयरेयगरइयं गुंजावक्ककुहरोवगूढं रत्तं तिट्ठाणकरणसुद्धं सकुहरगुंजंतवंसतंतीतलतालसयगहसुसंपउत्तं महुरसमसुललितं मणहरं मिउरिभितपयसंचारं सुरइसुनातिवरचारुरूवं दिव्वं नट्टसज्जं गेयं पगिया वि होत्था । किं ते उद्धमंताणं संखाणं संगाणं संखियाणं खरमुहीणं पेयाणं पिरिपिरियाणं, आहणंताणं पणवाणं पडहाणं, अप्फालिज्जंतीणं भंभाणं होरंभाणं, तालिज्जंतीणं भेरीणं झल्लरीणं दुंदुहीणं, आलवंताणं मुरजाणं मुइंगाणं नंदिमुइंगाणं, उत्तालिज्जंताणं आलिंग कुत्थुंवीण गोमुहीणं मद्दलाणं, मुच्छिज्जंताणं वीणाण विपंचीणं वल्लकीणं, कुट्टिज्जंतीणं महतीणं कच्छभीणं चित्तवीणाणं, सारिज्जंतीणं वद्धीसाणं सुघोसाणं णंदिघोसाणं, फुरिज्जंतीणं भामरीणं परिवाइणीणं, फामंतीणं तूणाणं तुंबवीणाणं, आमोडिज्जंतीणं णउलाणं, मुच्छिज्जंतीणं मुगुंदाणं हुडुक्कीणं चिच्चिकीणं, वाइज्जंताणं करडाणं डिंडिमाणं किणियाणं कडंवाणं, उत्ताडिज्जंताणं दद्दराणं दद्दरियाणं कुडुंबरूणं कलसियाणं मड्डयाणं, आताडिज्जंताणं तलाणं तालाणं कंसतालाण, घट्टिज्जंताणं गिरिसयाणं लत्तियाणं मगरियाणं सुंसमारियाणं, फूमिज्जंताणं वंसाणं वेणूणं वालीणं पिरिलीणं बद्धगाण, तते णं से दिव्वे णट्टे दिव्वे गीए दिव्वे वा-

इए,एवं अब्भुए सिंगारे उराले मणुण्णे मणहरे गीए वाइए णट्टे, उप्पिंजलभूए कहकहभूए दिव्वे देवरमणे पवत्ते यावि होत्था। तए णं ते वहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स सोत्थियसिरिवत्थनंदिया-वत्तवद्धमाणभद्दासणकलसमच्छदप्पणमंगलभत्तिचित्तं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १ । तते णं ते वहवे देवकुमारा य देवकुमारीयाओ य समामेव समोसरणं करेंति,समोसरणं करेत्ता तं चेव भाणियव्वं०जाव दिव्वे देवरमणे पवत्ते यावि होत्था। तते णं ते वहवे देवकुमारा य देवकुमारीयाओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स आवडपच्चावमसेढिपसेढिसोत्थियसिरिवत्थिपूसमाणगवद्धमाणगमच्छंमामकरंमाजारा-मारापुल्लावलिपउमपत्तसागर तरंगवासंतीलयपउमलयभत्ति-चित्तं णाम दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति २ । एवं एक्केक्कियाए नट्टविहीए समोसरणादिए सा वत्तव्वया० जाव देवरमणे पवत्ते यावि होत्था । तते णं ते वहवे देवकुमारा य देवकुमारीयाओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स ईहामियउसभ-तुरगणरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुंजरवणलय-पउमलयभत्तिचित्तं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ३ । एगओचक्कं दुहओचक्कं एगओचक्कवालं दुहओचक्कवालं च-क्कद्धचक्कवालं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ४। चंदाव-लिपविभत्तिं सूरावलिपविभत्तिं च वलयावलिपविभत्तिं च हंसावलिपविभत्तिं च एगावलिपविभत्तिं च तारावलिपविभ-त्तिं च मुत्तावलिपविभत्तिं च कणगावलिपविभत्तिं च रयणा-वलिपविभत्तिं च आवलियापविभत्तिणामं दिव्वं णट्टविहिं उ-वदंसेंति५। चंदुग्गमणपविभत्तिं च सूरुग्गमणपविभत्तिं च उ-ग्गमणुग्गमणपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ६। चं-दागमणपविभत्तिं च सूरागमणपविभत्तिं च आगमणागमणप-विभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ७। चंदावरणप-विभत्तिं च सूरावरणपविभत्तिं च आवरणावरणपविभत्तिं णाम दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ८ । चंदत्थमणपविभत्तिं च सूरत्थमणपविभत्तिं च अत्थमणत्थमणपविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ९ चंदमंडलपविभत्तिं च सूरमंडलपविभत्तिं च नागमंडलपविभत्तिं च जक्खमंडलपविभत्तिं च भूयमंडलपविभत्तिं च रक्खसमहोरगगंधव्वमंडलप-विभत्तिं च मंडलपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदं-सेंति १० । उसभललियविक्कंतं सीहललियविक्कंतं हय-विलंबियं गयविलंबियं हयविलसियं गयविलसियं मत्तहय-विलसियं मत्तगयविलसियं मत्तहयविलंबियं मत्तगयविलं-बियं दुयविलंबियं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ११ । सागरपविभत्तिं च नागरपविभत्तिं च सागरनागरपविभत्तिं च णाम दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १२ । णंदापविभत्तिं च चंपापविभत्तिं च णंदाचंपापविभत्तिणामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १३ । मच्छंडापविभत्तिं च मगरंडापविभत्तिं च जारापविभत्तिं च मारापविभत्तिं च मच्छंडामगरंडा-जारामारापविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १४। क त्ति ककारपविभत्तिं च ख त्ति खकारपविभत्तिं च ग त्ति गकारपविभत्तिं च घ त्ति घकारपविभत्तिं च ङ त्ति ङकारप-विभत्तिं च ककारखकारगकारघकारङकारपविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति १५ । एवं चकारवग्गो वि १६ । टकारवग्गो वि १७ । तवग्गो वि १८ । पवग्गो वि १९। अ-सोयपल्लवपविभत्तिं च अंबपल्लवपविभत्तिं च जंबुपल्लवपवि-भत्तिं च कोसंवपल्लवपविभत्तिं च पल्लवपविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति २०। पउमलयापविभत्तिं च नाग-लयापविभत्तिं च०जाव सामलयापविभत्तिं च लयापविभत्तिं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति २१। दुयणामं णट्टविहिं उवदंसेंति २२। विलंबियं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २३। दु-यविलंबियं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २४। अंचियं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २५। रिभियं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २६। अंचियरिभियं णामं०उवदंसेंति २७। आरंभडं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २८ । भसोलं णामं णट्टविहिं उवदंसेंति २९। आरंभडभसोलं० उवदंसेंति ३०। उप्पायणि-वायपरिणिवायपसत्तं संकुचियं पसारियं रेयारचियं-भंतं संभंतं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ३१ । तते णं ते वहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समामेव समोसरणं करेंति० जाव दिव्वे देवरमणे पवत्ते यावि होत्था । तए णं ते वहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स पुव्वभवचरियणिवद्धं देव-लोयचरियणिबद्धं चवणचरियणिबद्धं च गब्भसंहरणच-रियणिवद्धं च जम्मणचरियणिबद्धं च अभिसेयच-रियणिवद्धं च बालभावचरियणिवद्धं च जोव्वणच-रियणिवद्धं च कामभोगचरियणिवद्धं च णिक्खमणच-रियणिबद्धं च तवचरणचरियणिवद्धं च णाणुप्पायच-रियणिवद्धं च तित्थपवत्तणचरियणिवद्धं च परिणिव्वाण-चरियणिवद्धं च चरमचरियणिबद्धं च णामं दिव्वं णट्ट-विहिं उवदंसेंति ३२। तते णं ते वहवे देवकुमारा य देवकुमा-रीओ य चउव्विहं वाइत्तं वायंति। तं जहा-ततं,विततं,घणं, झुसिरं । तते णं ते वहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य चउव्विहं गेयं गायंति । त जहा-उक्खित्तं, पायंतं, मंदायं, रोइयावसाणं च। तते णं ते वहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य चउव्विहं णट्टविहिं उवदंसेंति। तं जहा-अंचियं १,रिभियं २, आरंभडं ३, भसोलं च ४। तते णं ते वहवे देवकुमारा

य देवकुमारीओ य चउव्विहं अभिणयं अभिणयंति। तं जहा-दिट्ठंतियं, पाडिसुयंतियं, सामंतोवायाणिवाइयं, अंतोमज्झावसाणियं। तते णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य गोयमाऽऽदियाणं समणाणं णिग्गंथाणं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं बत्तीसइविहं णाडगं उवदंसित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावेंतित्ता एवमाणत्तियं पच्चप्पिणंति।

"तए णं" इत्यादि। ततः सूर्याभो देवस्तीर्थकरस्य भगवत आलोके प्रणामं करोति। कृत्वा चानुजानातु भगवान् मामित्यनुज्ञापनां कृत्वा सिंहासनवरगततीर्थकराभिमुखः सन्निषण्णः। 'तए णं' इत्यादि। ततः सूर्याभो देवस्तत्प्रथमतया-तस्य नाट्यविधेः प्रथमतायां, दक्षिणं भुजं प्रसारयति। कथंभूतम्?, इत्याह-(णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहणिउणोवचियमिसमिसंतविरइयमहाभरणकडगतुडियवरभूसणुज्जलमिति) नानाविधानि मणिकनकरत्नानि येषु तानि नानामणिकनकरत्नानि, मणयो नानाविधाश्चन्द्रकान्ताऽऽदयः। कनकानि नानावर्णतया, रत्नानि नानाविधानि कर्केतनाऽऽदीनि, तथा विमलानि निर्मलानि, तथा महान्तमुपभोक्तारमर्हन्ति, यदि वा महद् उत्सवं क्षणमर्हन्तीति महार्हाणि, तथा निपुणं निपुणबुद्धिगम्यं यथा भवति (एवमुवचिय त्ति) परिकर्मितानि। (मिसमिसंत इति) दीप्यमानानि, विरचितानि महाभरणानि यानि कटकानि कलाचिकाऽऽभरणानि, त्रुटितानि बाहुरक्षिकाः, अन्यानि च यानि वरभूषणानि, तैरुज्ज्वलं भास्वरम्। तथा पीवरं स्थूलं प्रलम्बं दीर्घं (तओ णं इत्यादि)। ततस्तस्माद् दक्षिणभुजात् अष्टशतमष्टाधिकं शतं देवकुमाराणां निर्गच्छति। कथंभूतानाम्?, इत्याह-सदृशानां, समानाऽऽकाराणामित्यर्थः। तत्राऽऽकारेण कश्चित् सदृशोऽपि वर्णतः सदृशो न भवति, ततः सदृग्वर्णत्वप्रतिपादनार्थमाह-(सरिसत्तयाणमिति) सदृशी सदृग्वर्णा त्वग् येषां ते तथा। सदृक्त्वगपि कश्चिद् वयसा विसदृशः सम्भाव्येत, तत आह-(सरिसवयाणं) सदृक् समानं वयो येषां ते। (सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणमिति) सादृश्येन लावण्येन सलावण्यम्ना, अतिशुभगया शरीरकान्त्येति भावः। रूपेण आकृत्या यौवनेन यौवनिकया गुणैर्दक्षत्वप्रियंवदत्वाऽऽदिभिरुपपेताः सदृशलावण्यरूपयौवनगुणोपपेताः, तेषाम्। (एगाभरणवसणगहियनिज्जोगाणमिति)। एकः समान आभरणवसनलक्षणो गृहीतो निर्योग उपकरणमर्थान्नाट्योपकरणं यैस्ते तथा, तेषाम्। (दुहतो संवेल्लियग्गानियत्थाणं ति) द्विधातो द्वयोः पार्श्वयोः संवेल्लितानि अग्राणि यस्य तत् द्विधातः संवेल्लिताग्रं, निवसनं सामर्थ्यादुत्तरं यैस्ते तथा, तेषाम्। तथा-(उप्पीलियचित्तपट्टपरियरसफेणावत्तरइयसंगयपलंबवत्थंतचित्तचिल्ललगनियंसणाणमिति) उत्पीडित अत्यन्तबद्धश्चित्रपट्टो विचित्रवर्णपट्टरूपः परिकरो यैस्ते तथा, तथा यस्मिन्नावर्तेनैव फेनविनिर्गमो भवति स फेनकाऽऽवर्तः, तेन रचिताः संगता नाट्यविधावुपपन्ना प्रलम्बा वस्त्रान्ता यस्य निवसनस्य तत्तथा; तत् चित्रं वर्णं 'चिल्ललगं' देदीप्यमानं निवसनं परिधानं येषां ते तथा। ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः। तेषाम्, (एगावलिकंठरइयसोभंतवच्छपडिहत्थभूसणाणमिति) एकावली या कण्ठे रचिता तया शोभमानं वक्षो येषां ते तथा। 'पडिहत्थ' शब्दो देश्यः परिपूर्णवाचकः। पडिहत्थानि पूर्णानि भूषणानि येषां ते तथा। ततः पूर्वपदेन कर्मधारय, तेषां (नट्टसज्जाण) नृत्ये सज्जाः प्रगुणीभूता नृत्यसज्जाः, तेषाम्। तदनन्तरं च यथोक्तविशेषणविशिष्टं वामं भुजं प्रसारयति, तस्माद् वामभुजादष्टशतं देवकुमारिकाणां विनिर्गच्छति। कथंभूतम्?, इत्याह-"सरिसयाणं सरिसत्तयाणं सरिसवयाणं सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणं एगाभरणवसणगहियनिज्जोगाणं दुहतो संवेल्लियग्गानियत्थाणं" इति पूर्ववत्। (आविद्धतिलयामेलाणमिति) आविद्धस्तिलक आमेलश्च शेखरको यकाभिस्ता आविद्धतिलकाऽऽमेलाः, तासां (पिणद्धगेविज्जकंचुयाणमिति) पिनद्धं ग्रैवेयकं ग्रीवाऽऽभरणं कञ्चुकश्च यकाभिस्तथा, तासां (णाणामणिकणगरयणभूसणविराइयअंगमंगाणमिति) नानाविधानि मणिकनकरत्नानि येषु भूषणेषु तानि नानामणिकनकरत्नभूषणानि, तैर्विराजितान्यङ्गोपाङ्गानि यासां तास्तथा, तासाम्। यावत्करणात्-"चंदाणणाणं चंदद्धसमनिडालाणं चंदाहियसोमदंसणाणं उक्का इव उज्जोवेमाणीणं" इति सुगमम्। तथा-"सिंगारागारचारुवेसाणं हसियभणियचिट्ठियविलाससललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकुसलाणं गहियाउज्जाणं नट्टसज्जाणं" इति पूर्ववत्। 'तए णं से सूरियाभे देवे' इत्यादि। ततः सूर्याभो देवोऽष्टशतं शङ्खानां विकुर्वति, अष्टशतं शङ्खवादकानाम्, अष्टशतं शृङ्गाणामष्टशतं शृङ्गवादकानाम् १, अष्टशतं शङ्खिकानामष्टशतं शङ्खिकावादकानाम्, ह्रस्वः शङ्खो जात्यन्तराऽऽत्मकः शङ्खिका, तस्या हि स्वरो मनाक् तीक्ष्णो भवति, न तु शङ्खवदतिगम्भीरः २, तथाऽष्टशतं खरमुखीनाम्-काहलानाम्, अष्टशतं खरमुखीवादकानाम् ३, अष्टशतं पेयानां, पेया नाम महती काहला, अष्टशतं पेयावादकानाम् ४, अष्टशतं पिरिपिरिकाणां कौलिकपुटावनद्धमुखवाद्यविशेषरूपाणाम्,(एवमादियाणमिति) अष्टशतं पिरिपिरिकावादकानाम् ५, अष्टशतं पणवानां, पणवो भाण्डं पटहो वा, अष्टशतं पणववादकानाम् ६, अष्टशतं पटहानामष्टशतं पटहवादकानाम् ७, अष्टशतं भम्भानां, भम्भा ढक्का, अष्टशतं भम्भावादकानाम् ८, अष्टशतं होरम्भाणां, होरम्भा महाढक्का, अष्टशतं होरम्भावादकानाम् ९, अष्टशतं भेरीणां ढक्काऽऽकृतिवाद्यविशेषरूपाणाम्, अष्टशतं भेरीवादकानाम् १०, अष्टशतं झल्लरीणां, झल्लरी नाम चर्मावनद्धा विस्तीर्णवलयाऽऽकारा, अष्टशतं झल्लरीवादकानाम् ११, अष्टशतं दुन्दुभीनाम्, अष्टशतं दुन्दुभिवादकानां, दुन्दुभिर्भेर्याकारा संकटमुखी देवाऽऽतोद्यविशेषः १२, अष्टशतं मुरजानां, महाप्रमाणो मर्दलो मुरजः, अष्टशतं मुरजवादकानाम् १३, अष्टशतं मृदङ्गानां, लघुमर्दलो मृदङ्गः, अष्टशतं मृदङ्गवादकानाम् १४, अष्टशतं नन्दीमृदङ्गानाम्, नन्दीमृदङ्गो नाम एकतः सङ्कीर्णोऽन्यत्र विस्तृतो मुरजविशेषः, अष्टशतं नन्दीमृदङ्गवादकानाम् १५, अष्टशतमालिङ्गानाम्, आलिङ्गो मुरजवाद्यविशेष एव। अष्टशतमालिङ्गवादकानाम् १६, अष्टशतं कुस्तुम्बीनां, कुस्तुम्बी-चर्मावनद्धपुटो वाद्यविशेषः। अष्टशतं कुस्तुम्बीवादकानाम् १७, अष्टशतं गोमुखीनां, गोमुखी लोकतोऽवसेया, अष्टशतं गोमुखी-

वादकानाम १८, अष्टशत मर्दलानां, मर्दल उभयतः समः, अष्टशत मर्दलवादकानाम् १९, अष्टशतं विपञ्चीनां, विपञ्ची त्रितन्त्री वीणा, अष्टशत विपञ्चीवादकानाम २०, अष्टशत वल्लकीनां, वल्लकी सामान्यतो वीणा । अष्टशत वल्लकीवादकानाम २१, अष्टशत भ्रमरीणाम्, अष्टशत भ्रमरीवादकानाम २२, अष्टशतं भ्रामरीणाम, अष्टशतं भ्रामरीवादकानाम २३, अष्टशतं परिवादिनीनां. परिवादिनी सप्ततन्त्री वीणा । अष्टशत परिवादिनीवादकानाम २४, अष्टशतं चर्चसानाम, अष्टशतं चर्चसावादकानाम २५, अष्टशत सुघोषाणाम, अष्टशत सुघोषावादकानाम् २६, अष्टशत नन्दीघोषाणाम्, अष्टशत नन्दीघोषावादकानाम् २७, अष्टशत महतीनाम्, अष्टशत महतीवादकानाम् २८, अष्टशत कच्छभीनाम, अष्टशत कच्छभीवादकानाम् २९, अष्टशत चित्रवीणानाम्, अष्टशत चित्रवीणावादकानाम् ३०, अष्टशतमामोदानाम्, अष्टशतमामोदवादकानाम् ३१, अष्टशत दण्कानाम्, अष्टशत दण्मावादकानाम् ३२, अष्टशत नकुलानाम्, अष्टशतं नकुलवादकानाम् ३३, अष्टशत तूणानाम, अष्टशत तूणावादकानाम् ३४, अष्टशतं तुम्बवीणानां, तुम्बयुक्ता वीणा याऽद्यकल्यप्रसिद्धा । अष्टशतं तुम्बवीणावादकानाम् ३५, अष्टशत मुकुन्दानां, मुकुन्दो मुरजो वाद्यविशेषो योऽतिलीन प्रायो वाद्यते, अष्टशत मुकुन्दवादकानाम ३६, अष्टशतं हुडुक्कीनाम्, अष्टशत हुडुक्कीवादकानाम, हुडुक्की प्रतीता । ३७, अष्टशत चिच्चिक्कीनाम, अष्टशत चिच्चिक्कीवादकानाम् ३८, अष्टशत करटीनाम्, अष्टशत करटीवादकानाम, करटी प्रतीता ३९, अष्टशत डिण्डिमानाम, अष्टशत डिण्डिमवादकानाम, प्रथमप्रस्तावनास्तवकः पणवविशेषो डिण्डिमः ४०, अष्टशत किणितानाम, अष्टशतं किणितवादकानाम् ४१, अष्टशत कडम्बानाम, अष्टशतं कडम्बावादकानाम, कडम्बा करटिका ४२, अष्टशतं दर्दरकाणाम, अष्टशतं दर्दरकवादकानाम, दर्दरकः प्रतीतः ४३, अष्टशत दर्दरिकाणाम, अष्टशत दर्दरिकावादकानाम, लघुर्दर्दरी दर्दरिका ४४, अष्टशतं कुतुम्बरूणाम, अष्टशतं कुतुम्बरुवादकानाम् ४५ अष्टशतं कलशिकानाम, अष्टशत कलशिकावादकाम ४६, अष्टशत तलानाम्, अष्टशत तलवादकानाम ४७, अष्टशतं तालानाम, अष्टशत तालवादकानाम् ४८, अष्टशतं कांस्यतालानाम्, अष्टशत कांस्यतालवादकानाम ४९, अष्टशतं गिरिशिकानाम्, अष्टशतं गिरिशिकावादकानाम ५०, अष्टशतं मकरिकाणाम्, अष्टशतं मकरिकावादकानाम् ५१, अष्टशतं शिशुमारिकाणाम, अष्टशतं शिशुमारिकावादकानाम ५२, अष्टशत वंशानाम, अष्टशतं वंशवादकानाम ५३, अष्टशतं वालीनाम, अष्टशतं वालीवादकानाम, वाली तूणविशेषः, स हि मुखे दत्त्वा वाद्यते ५४। अष्टशतं वेणूनाम्, अष्टशतं वेणुवादकानाम ५५, अष्टशत पिरिलीनाम्, अष्टशतं पिरिलीवादकानाम ५६, अष्टशतं बद्धकानाम्, अष्टशत बद्धकवादकानाम्, बद्धकस्तूर्यविशेषः ५७, अव्याख्यातास्तु भेदा लोकत प्रत्येतव्याः । एवमादीनि बहून्यातोद्यानि, आतोद्यवादकांश्च विकुर्वति । सर्वसंख्यया तु मूलभेदापेक्षयाऽऽतोद्यभेदापेक्षया आतोद्यभेदा एकोनपञ्चाशत्, शेषास्तु भेदा एतेष्वेवान्तर्भवन्ति । यथा वंशाऽऽतोद्यविधाने वालीवेणुपिरलीबद्धका इति । यथा चाऽऽह-"एवमाइयाइं एगूणपन्नं आउज्जविहाणाइं विउव्वइ त्ति"। विकुर्व्य च तावत स्वयं विकुर्वितान् बहून् देवकुमारान् देवकुमारिकाश्च शब्दयति । ते च शब्दिताः सन्तो हृष्टतुष्टाऽऽनन्दितचित्ताः सूर्याऽऽभसमीपमागच्छन्ति, आगत्य च करतलपरिगृहीत दशनखं शिरसावर्त्तं मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वा जयेन विजयेन वर्द्धापयित्वा एवमवादिषुः-सन्दिशन्तु देवानां प्रियाः! यदस्माभिः कर्त्तव्यम् । ततः स सूर्याभो देवस्तान् देवकुमारान् देवकुमारिकाश्च एवमवादीत्-गच्छत यूय देवानां प्रियाः! श्रमण भगवन्तं महावीरं त्रिःकृत्वः, आदक्षिणप्रदक्षिण कुरुत, कृत्वा वन्दध्वं, नमस्यत, वन्दित्वा नमस्यित्वा गौतमाऽऽदीनां श्रमणानां निर्ग्रन्थानां तां देवजनप्रसिद्धां दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां देवद्युतिं दिव्यं देवानुभाव दिव्य द्वात्रिंशद्विध नाट्यविधिमुपदर्शयत, उपदर्श्य चैतामाज्ञप्तिकां क्षिप्रमेव प्रत्यर्पयत । "तए ण" इत्यादि । ततस्ते बहवो देवकुमारा देवकुमारिकाश्च सूर्याभेन देवेन एवमुक्ताः सन्तो हृष्टा यावत्प्रतिशृण्वन्ति, अभ्युपगच्छन्तीत्यर्थः । प्रतिश्रुत्य च यत्र श्रमणो भगवान् महावीरस्तत्रोपागच्छन्ति, उपागत्य च श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिःकृत्व आदक्षिणप्रदक्षिणं कुर्वन्ति, कृत्वा च वन्दन्ते, नमस्यन्ति, वन्दित्वा नमस्यित्वा च यस्मिन् प्रदेशे गौतमाऽऽदयः श्रमणास्तत्र समकालमेव एककालमेव समवसरन्ति, मिलन्तीत्यर्थः । समवसृत्य च समकमेव एककालमेव अवनमन्ति, अधो नीचा भवन्ति । अवनम्य च समकमेव उन्नमन्ति, ऊर्द्धमवतिष्ठन्त इति भावः । तदनन्तरं चैव क्रमेण सहित संगतम्, स्तिमितं चावनमनमुन्नमन च वाच्यम् । अमीषां च संहिताऽऽदीनां भेद. सम्यक्कौशल्योपेतनाट्योपाध्यायादवगन्तव्य. । ततः स्तिमितं समकमुन्नम्य समकमेव प्रसरन्ति, प्रसृत्य च समकमेव यथायोगमातोद्यविधानानि गृह्णन्ति । गृहीत्वा च समकमेव वादितवन्त, समकमेव प्रगीतवन्त., समकमेव प्रनर्तितवन्त । 'किं ते' इत्यादि । केचिद् देवकुमारा देवकुमारिकाश्च एवं प्रगीता अप्यभवन्निति योग. । कथम् ?, इत्याह-(उरेण मदमिति) सर्वत्र सप्तम्यर्थे तृतीया । उरसि मन्द यथा भवति एवं प्रगीताः । (सिरेण तार कंठेण च तारमिति) शब्देन यथावल्लक्षणोपेतम । किमुक्तं भवति ?-उरसि प्रथमतो गीतमुत्क्षिप्यते, उत्क्षेपकाले च गीत मन्द भवति । " आदिमिउमारभंता, " इति वचनात् । अन्यथा गीतगुणक्षते, तत उक्तमुरसि मन्दमिति । ततो गायतां मूर्द्धानमभिघ्नन् स्वर उच्चैस्तरो भवति । स्थानक च द्वितीय तृतीय वा समधिरोहति । ततः शिरसि तारमित्युक्तं, शिरसश्च प्रतिनिवृत्तः सन् स्वर कण्ठे घुलति, घुलंश्चातिमधुरो भवति । (समयरेचगरइयमिति) (गुंजावक्ककुहरोवगूढ) गुञ्जन गुञ्जा, तत्प्रधानानि यानि चक्राणि शब्दमार्गाप्रतिकूलानि कुहराणि तेषूपगढ गुञ्जावक्रकुहरोपगूढम । किमुक्तं भवति ?-तेषां देवकुमाराणां देवकुमारिकाणां च तस्मिन् प्रेक्षागृहमण्डपे गायतां गीत तेषु प्रेक्षागृहमण्डपसत्केषु च कुहरेषु स्वानि रूपाणि प्रतिशब्दसहस्राण्युत्थापयद्वर्त्तते इति । (रत्तमिति) रक्तम, इह यद् गेयरागरक्तेन गीतं गीयते तत रक्तमिति । तद् द्विधा प्रसिद्ध (तिठाणकरणसुद्धमिति) त्रीणि स्थानानि उर.प्रभृतीनि तेषु करणेषु क्रियया शुद्ध त्रिस्थानकरणशुद्धम । तद् यथा-उर शुद्ध, कण्ठशुद्ध, शिरोविशुद्धं च । तत्र यदि उरसि स्वरः स्वभूमिकाऽनुसारेण विशालो भवति, तत उरोविशुद्धं, स एव यदि कण्ठे वर्त्तितो भवति अस्फुटितश्च, ततः कण्ठविशुद्धं, यदि पुनः शिरः प्राप्तः सन सानुनासिको भवति, ततः शिरोविशुद्धम् । यदि वा यत उरःकण्ठशिरोभिः श्लेष्मणाऽव्याकुलितैर्विशुद्धैर्गीयते तत उर.कण्ठशिरोविशुद्ध-

त्वात् त्रिस्थानकरणविशुद्धम्। तथा सकुहरो गुञ्जन् यो वंशो,ये च तन्त्रीतलताललयग्रहाः, तेषु सुष्ठु अतिशयेन सम्प्रयुक्तं सकुहरगुञ्जद्वंशतन्त्रीतलताललयग्रहसुसम्प्रयुक्तम्। किमुक्तं भवति?-सकुहरे वंशे गुञ्जति तन्त्र्यां च वाद्यमानायां यत् वंशतन्त्रीस्वरेणाविरुद्धं तत् सकुहरगुञ्जद्वंशतन्त्रीसुसम्प्रयुक्तं, तथा परस्परहतहस्ततलस्वरानुवर्ति यत् तत् तलसुसम्प्रयुक्तं, मुरजकांशिकाऽऽदीनामातोद्यानामाहतानां यो ध्वनिः यश्च नृत्यं पादोत्क्षेपः, तेन समं यत् तत् तालसुसम्प्रयुक्तम्, तथा शृङ्गमयो दारुमयो दन्तमयोऽङ्गुलिकोशिकस्तेनाऽऽहतायास्तन्त्र्याः स्वरप्रकारो लयस्तमनुसरद् गेयं लयसुसम्प्रयुक्तम्, तथा यः प्रथमं वंशतन्त्र्यादिभिः स्वरो गृहीतस्तन्मार्गानुसारि ग्रहसुसम्प्रयुक्तम्, तथा (महुरमिति) मधुरस्वरेण गीयमानं मधुरं कोकिलारुतवत्, तथा (सममिति) तलवंशस्वराऽऽदिसमनुगतं समं (सललियं ति) यत् स्वरघोलनाप्रकारेण ललतीव, सह ललितेन ललनेन वर्त्तते इति। श्रोत्रेन्द्रियस्य शब्दस्पर्शनमतीव सूक्ष्ममुत्पादयति सुकुमारमिव च प्रतिभासते तत् सललितमिति। अत एव मनोहरम्। पुनः कथंभूतम्?, इत्याह-(मिउरिभितपदसंचारं) तत्र मृदु मृदुना स्वरेण युक्तो निष्ठुरेण, तथा यत्र स्वरोऽक्षरेषु घोलनास्वरविशेषेषु च संचरन् रङ्गतीव प्रतिभासते,स पदसञ्चारो रिभित उच्यते। मृदुः रिभितः पदेषु गेयनिबद्धेषु सञ्चारो यत्र गेये तत् मृदुरिभितपदसंचारं, तथा (सुरइ इति) शोभना रतिर्यस्मिन् श्रोतॄणां तत् सुरति,तथा शोभना नतिरवनामोऽवसानो यस्मिन् तत् सुनति, तथा वरं प्रधानं चारु विशिष्टचङ्गिमोपेतं रूपं स्वरूपं यस्य तद् वरचारुरूपं दिव्यं प्रधानं नृत्तसज्जं गेयं प्रगीता अप्यभवन्। "किं ते" इत्यादि। किञ्च-ते देवकुमारा देवकुमारिकाश्च प्रगीतवन्तः, प्रनर्तितवन्तश्च (उद्धमताणं संखाणमित्यादि) अत्र सर्वत्रापि षष्ठी सप्तम्यर्थे। ततोऽयमर्थः-यथायोगमुध्मायमानाऽऽदिषु शङ्खाऽऽदिषु, इह शङ्खशृङ्गशङ्खिकाखरमुहीपेयापिरिपिरिकाणां वादनमुद्ध्मातमिति प्रसिद्धम्। पणवपटहानामाहननम्, भम्भाहोरम्भाणामास्फालनम्, भेरीझल्लरीदुन्दुभीनां ताडनम्, मुरजमृदङ्गनन्दीमृदङ्गानामालपनम्, आलिङ्गकुस्तुम्बगोमुखीमर्दलानामुत्ताडनम्, वीणाविपञ्चीवल्लकीनां मूर्च्छनम्, महतीकच्छपीतन्त्रिवीणानां कुट्टनम्, बद्धीसासुघोषानन्दिघोषाणां सारणं, भ्रामरीपरिवादिनीनां स्पन्दनम्, तूणतुम्बवीणानां स्पर्शनम्, नकुलानामामोटनम्,मुकुन्दहुडुक्कविचिक्कीनां मूर्छनम्, करटाडिण्डिमकिणिककडम्बानां वादनम्, दर्दरदर्दरिकाकुतुम्बरुकलशिकामड्डुकानामुत्ताडनम्, तलतालकांस्यतालानामाताडनम्, गिरिशिकालत्तिकामकरिकाशिशुमारिकाणां घट्टनं, वंशवेणुवालीपिरिलीबद्धकानां फूत्करणम्। अत उक्तम्-"उद्धमताणं संखाणं" इत्यादि। (तए णं से दिव्वे णट्टे दिव्वे गीए इत्यादि) यत एव प्रगीतवन्त इत्यादि, ततो यामिनि पूर्ववत्। तद् दिव्यं गीतं, दिव्यं वादितं, दिव्यं नृत्यमभूदिति योगः। दिव्यं नाम प्रधानम्। एवम्-(अब्भुए गीए अब्भुए वाइए अब्भुए नट्टे) अद्भुतमाश्चर्यकारि, (सिंगारे गीए, सिंगारे वाइए, सिंगारे णट्टे) शृङ्गारं शृङ्गाररसोपेतत्वात्। अथवा शृङ्गारं नामालङ्करणमुच्यते, तत्र यदन्यस्य विशेषकरणेनालङ्कृतमिव गीतं वादनं नृत्यं वा तत् शृङ्गारमिति। (उराले गीए उराले वाइए उराले णट्टे) उदारं स्फारं परिपूर्णगुणोपेतत्वात्, न तु क्वचिदपि हीनं, (मणुण्णे गीए मणुण्णे वाइए मणुण्णे णट्टे) मनोज्ञं मनोऽनुकूलं द्रष्टॄणां श्रोतॄणां च मनोनिर्वृत्तिकरमिति भावः। तच्च मनोनिर्वृत्तिकरत्वं सामान्यतोऽपि स्यादतः प्रकर्षविशेषप्रतिपादनार्थमाह-(मणहरं इति) (मणहरे गीए मणहरे वाइए मणहरे णट्टे) मनो हरति आत्मवशं नयति, तद्विषमप्यतिचमत्कारकारितयेति मनोहरम्। एतदेवाऽऽह-(उप्पिंजलभूए) उत्पिञ्जलमाकुलम्, आकुलभूते। किमुक्तं भवति?-महर्द्धिकदेवानामप्यतिशायितया परमक्षोभोत्पादकत्वेन सकलदेवासुरमनुजसमूहचित्ताऽऽक्षेपकारीति। (कहकहभूते इति) कहकहेत्यनुकरणं, कहकहेतिभूतं प्राप्तं कहकहभूतम्। किमुक्तं भवति?-निरन्तरं तत्तद्विशेषदर्शनतः समुद्वलितप्रमोदभरपरवशसकलदिक्चक्रवालवर्तिप्रेक्षकजनकृतप्रशंसावचनबोलकोलाहलव्याकुलीभूतमिति। अत एव दिव्यं देवरमणमपि देवानामपि रमणं क्रीडनं प्रवृत्तमभूत्। रा०। आ० म०।

इह द्वात्रिंशद् नाट्यविधयः। ते च येन क्रमेण भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः पुरतः सूर्याभदेवेन भाविताः राजप्रश्नीयोपाङ्गे च दर्शिताः, तेन क्रमेण विनेयजनानुग्रहार्थमुपदर्श्यन्ते-तत्र स्वस्तिकश्रीवत्सनन्द्यावर्तवर्द्धमानकभद्रासनकलशमत्स्यदर्पणरूपाष्टमङ्गलाऽऽकाराभिनयाऽऽत्मकः प्रथमो नाट्यविधिः। द्वितीय आवर्तप्रत्यावर्तश्रेणिप्रतिश्रेणिस्वस्तिकश्रीवत्सपुष्पमाणवकवर्द्धमानकमत्स्याण्डकमकराण्डकजारमारपुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरङ्गवासन्तीलतापद्मलताभक्तिचित्राभिनयाऽऽत्मकः। तृतीय ईहामृगऋषभतुरगनरमकरविहगव्यालकिन्नररुरुसरभचमरकुञ्जरवनलतापद्मलताभक्तिचित्राऽऽत्मकः। चतुर्थ एकतश्चक्रद्विधातश्चक्र एकतश्चक्रवालद्विधातश्चक्रवालचक्रार्द्धचक्रवालाभिनयाऽऽत्मकः। पञ्चमः चन्द्राऽऽवलिप्रविभक्तिसूर्याऽऽवलिप्रविभक्तिवलयाऽऽवलिप्रविभक्तिहंसाऽऽवलिप्रविभक्तिएकाऽऽवलिप्रविभक्तितारावलिप्रविभक्तिमुक्ताऽऽवलिप्रविभक्तिकनकाऽऽवलिप्रविभक्तिरत्नाऽऽवलिप्रविभक्तियुक्ताऽऽवलिप्रविभक्तिनामा। षष्ठश्चन्द्रोद्गमप्रविभक्तिसूर्योद्गमप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मक उद्गमोद्गमप्रविभक्तिनामा। सप्तमश्चन्द्राऽऽगमनप्रविभक्तिसूर्याऽऽगमनप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मक आगमनागमनप्रविभक्तिनामा। अष्टमश्चन्द्राऽऽवरणप्रविभक्तिसूर्याऽऽवरणप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मक आवरणावरणप्रविभक्तिनामा। नवमश्चन्द्रास्तमनप्रविभक्तिसूर्यास्तमनप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मकोऽस्तमयास्तमयप्रविभक्तिनामा। दशमश्चन्द्रमण्डलप्रविभक्तिसूर्यमण्डलप्रविभक्तिनागमण्डलप्रविभक्तियक्षमण्डलप्रविभक्तिभूतमण्डलप्रविभक्तिराक्षसमहोरगगन्धर्वमण्डलप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मको मण्डलप्रविभक्तिनामा। एकादश ऋषभमण्डलप्रविभक्तिसिंहमण्डलप्रविभक्तिहयविलम्बितगजविलम्बितहयविलसितगजविलसितमत्तहयविलसितमत्तगजविलसितमत्तहयविलम्बितमत्तगजविलम्बिताभिनयो द्रुतविलम्बितनामा। द्वादशः सागरप्रविभक्तिनागरप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मकः सागरनागरप्रविभक्तिनामा। त्रयोदशो नन्दाप्रविभक्तिचम्पाप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मको नन्दाचम्पाप्रविभक्त्यात्मकः। चतुर्दशो मत्स्याण्डकप्रविभक्तिमकराण्डकप्रविभक्तिजारप्रविभक्तिमारप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मको मत्स्याण्डकमकराण्डकजारमारप्रविभक्तिनामा। पञ्चदशः क इति ककारप्रविभक्तिः ख इति खकारप्रविभक्तिः ग इति गकारप्रविभक्तिः घ इति घकारप्रविभक्तिः ङ इति ङकारप्रविभ...

काराऽऽदिप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मक । ६

ङकारप्रविभक्तिनामा । एवं चोमशाभ्रकारछकारजकारझकार-
ञकारप्रविभक्तिनामा । सप्तदशः-टकारठकारडकारढकारण-
कारप्रविभक्तिनामा । अष्टादशस्तकारथकारदकारधकारनकार-
प्रविभक्तिनामा । एकोनविंशतितमः पकारफकारबकारभकारम-
कारप्रविभक्तिनामा । विंशतितमोऽशोकपल्लवप्रविभक्त्याम्रप-
ल्लवप्रविभक्तिजम्बूपल्लवप्रविभक्तिकोशाम्बपल्लवप्रविभक्त्यात्मि-
याऽऽत्मकः पल्लवप्रविभक्तिनामा । एकविंशतितमः पद्मलताप्रवि-
भक्तिनागलताप्रविभक्त्यशोकलताप्रविभक्तिचम्पकलताप्रविभ-
क्तिचूतलताप्रविभक्तिवनलताप्रविभक्तिवासन्तीलताप्रविभक्त्य-
तिमुक्तकलताप्रविभक्तिश्यामलताप्रविभक्त्यभिनयाऽऽत्मको
लताप्रविभक्तिनामा । द्वाविंशतितमो द्रुतनामा । त्रयोविंशतितमो
विलम्बितनामा । चतुर्विंशतितमो द्रुतविलम्बितनामा । पञ्चवि-
शतितमस्त्वञ्चितनामा । षड्विंशतितमो रिभितनामा । सप्तवि-
शतितमोऽञ्चितरिभितनामा । अष्टाविंशतितम आरभटनामा । ए-
कोनत्रिंशत्तमो भसोलनामा । त्रिंशत्तम आरभटभसोलनामा । ए-
कत्रिंशत्तम उत्पातनिपातपरिनिपातप्रसक्तसङ्कुचितप्रसारितरे-
चकारचितभ्रान्तसम्भ्रान्तनामा । द्वात्रिंशत्तमस्तु चरमनामानिब-
द्धनामा । स च सूर्याऽऽभदेवेन भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः पुरतो
भगवतश्चरमपूर्वमनुष्यभवचरमदेवलोकभवचरमच्यवनचरम-
गर्भसंहरणचरमभरतक्षेत्रावसर्पिणीतीर्थकरजन्माभिषेकचरम-
बालभावचरमयौवनचरमकामभोगचरमनिष्क्रमणचरमतपश्च-
रणचरमज्ञानोत्पादचरमतीर्थप्रवर्त्तनचरमनिर्वाणाभिनयाऽऽत्म-
को भावितः ३२ । तत्रैतेषां द्वात्रिंशतो नाट्यविधीनां मध्ये
काँश्चन नाट्यविधीन् उपन्यस्यति-अप्येकका देवा द्रुत द्रुतनामक
द्वाविंशतितम नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति । एवमप्येकका विलम्बित
नाट्यविधिम्,अप्येकका अञ्चितं नाट्यविधिम्,अप्येकका रिभित
नाट्यविधिम्, अप्येकका अञ्चितरिभित नाट्यविधिम्, अप्ये-
कका आरभट नाट्यविधिम्, अप्येकका भसोल नाट्यविधिम्,
अप्येकका आरभटभसोल नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति । अप्येकका
देवा उत्पातनिपातम्, उत्पातपूर्वो निपातो यस्मिन् स उत्पात-
निपात, तम् । एव निपातोत्पात, सङ्कुचित प्रसारित, रेच-
कारचितमिति गमनागमन भ्रान्त संभ्रान्त नाम नाट्यविधि
सामान्यतो नर्त्तनविधिं द्वात्रिंशद्वाद्युत्तीर्णमुपदर्शयन्ति । अप्ये-
कका देवाश्चतुर्विधं वाद्य वादयन्ति । तद्यथा-ततं मृदङ्गप-
टहाऽऽदि, वितत वीणाऽऽदिक, घन कांसिकाऽऽदि,शुषिरं काह-
लाऽऽदि । अप्येकका देवाश्चतुर्विधं गेयं गायन्ति । तद्यथा-प्र-
थमत समारभ्यमाणमुत्क्षिप्तम्, उत्क्षेपावस्थातो विक्रान्त मना-
क् भरेण प्रवर्तमान पादान्तम् । (मदायमिति) मध्यभागे मूर्छना-
ऽऽदिगुणोपेततया मन्दं मन्द घोलनाऽऽत्मकम् । रोचितावसान-
मितिरोचित यथोचितलक्षणोपेततया भावित, सत्यापितमिति
यावत्, अवसानं यस्य तत् रोचितावसानम् । जी० ३ प्रति० ।
नट्-धा० । नृत्ये, भ्वादि०-परस्मै०-सेट् । "शकाऽऽदीना द्वि-
त्वम्" ॥ ८ । ४ । २३० ॥ इत्यन्त्यस्य द्वित्वम् । 'णट्टइ,' नट-
ति । प्रा० ४ पाद ।

णट्टग-नर्त्तक-पुं० । स्वय नृत्यकर्त्तरि, कल्प० ५ क्षण । औ० ।
रा० । ज्ञा० । प्रश्न० । अनु० ।

णट्टपाल-नाट्यपाल-पुं० । नाट्यस्वामिनि सूत्रधारे, "णट्ट-
पालो णिउत्तो तेण गीतवाउत्तकधाऽऽदीहिं आवज्जिओ । "
आ० चू० १ अ० ।

णट्टमालय-नृत्यमालक-पुं० । खण्डकप्रपातगुहानां स्वामिषु
देवेषु, यावयः खण्डकप्रपातगुहास्तावन्तो नृत्यमालकाः ।
स्था० २ ठा० ३ उ० । आ० म० । सुषमसुषमभाविनि कल्प-
द्रुमविशेषे, जं० २ वक्ष० ।

णट्टवत्थु-नाट्यवस्तु-न० । नृत्यप्रतिपादके पापश्रुते, प्रश्न० ५
सम्ब० द्वार । आव० ।

णट्टवाइत्त-नाट्यवादित्र-न० । नर्तकीत्वे, बृ० ५ उ० ।

णट्टविहि-नाट्यविधि-पुं० । ६ त० । नृत्यकरणप्रकारे, स्था० ६
ठा० । नायकचरिताभिनये, भ० ११ श० ११ उ० । सामान्यतो नर्त्तन-
विधौ, जी० ३ प्रति० । (तस्य द्वात्रिंशत्प्रकाराः ' णट्ट ' शब्दे
१८०३ पृष्ठे दर्शिताः)

णट्टाणीय-नाट्यानीक-पुं० । ब० । नाट्यकारकजनसमूहे, भ०
१४ श० ६ उ० ।

णट्ठ-नष्ट-त्रि० । सर्वथाऽदृश्यीभूते, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।
व्य० । अपगते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । हारिते, बृ० ३ उ० ।
" णट्टे ति वा विगए ति वा अंतद्धाणे ति वा एगट्ठा । " आ०
चू० १ अ० । " णट्ठसप्पहसब्भावे " नष्टोऽपगतः सत्पथः सद्-
भावः सन्मार्गः परमार्थो येभ्यस्ते । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।
रात्रिन्दिवस्य सप्तदशे मुहूर्त्ते, स० ३० सम० ।

णट्ठमइय-नष्टमतिक-त्रि० । मत्या स्वविषयकानिश्चायके,
ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णट्ठरय-नष्टरजस्-त्रि० । नष्टं सर्वथाऽदृश्यीभूतं रजो यत्र स
तथा । जी० ३ प्रति० । अदृश्यमानरजस्के, आ० म० १ अ० १
खण्ड ।

णट्ठवं-नष्टवत्-त्रि० । अहोरात्रस्य षड्विंशे मुहूर्ते, स० ३०
सम० ।

णट्ठसण्ण-नष्टसंज्ञ-त्रि० । मनसा भ्रान्ते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णट्ठसुइय-नष्टश्रुतिक-पुं० । निर्यामके, शास्त्रेण दिगादिविवेचन-
स्य करणेऽशक्ते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णड-नट-पुं० । " टो डः " ॥ ८ । १ । १९५ ॥ इति टस्य डः । प्रा० १
पाद । नाटकानां नाटयितरि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । अनु० ।
नटा ये नाटकानि नर्त्तयन्ति । व्य० ३ उ० । नि० चू० । कल्प० ।
औ० । " णडा दुविहा-संजका, वग्गुरिया य । " पं० चू० ।
नटति नट् अच् । नाटकाऽऽदिदृश्यकाव्याभिनयकर्त्तरि, नर्त्तके-
भेदे, जायाजीविनि वर्णसङ्करभेदे, अशोकवृक्षे, शोनाकवृक्षे,
नले, किष्कुपर्वणि, गोदन्तहरिताले च । वाच० ।
गुप्-धा० । व्याकुलीभावे, दिवा०-पर०-सक०-सेट् । " गुपे-
र्विरणडौ " ॥ ८ । ४ । १५० ॥ इति गुप्यतेर्णडाऽऽदेशः । ' णडइ '
' गुप्पति ' । प्रा० ४ पाद ।

णडखाइता-नटखादिता-स्त्री० । नटस्येव संवेगविकलधर्म-
कथाकरणोपार्जितभोजनाऽऽदीना खादितं भक्षण यस्यां सा
नटखादिता । प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णडपिडय-नटपिटक-पुं० । स्वनामख्याते भृगुकच्छावन्त्यन्तरा-
लग्रामे, यत्र कश्चिद् गुरुप्रेषित. साधु वर्षापातेनावरुद्ध-

सामाचारीमुपयुक्त एवाऽऽचरन् लवालवे उदाहरणम् । आ० क० । आव० ।

णमपेहा–नटप्रेक्षा–स्त्री० । नटा नाटकानां नाटयितारः, तेषां प्रेक्षा नटप्रेक्षा । नटप्रेक्षणके, जी० ३ प्रति० । वीरसाधूनामृजुजमत्वे,कल्प० १ क्षण । वृ० । (नटप्रेक्षोदाहरणम् 'कप्प' शब्दे तृतीयभागे २२६५ पृष्ठे गतम्)

णमाइणाय–नटाऽऽदिज्ञात–न० । नर्तकप्रभृत्युदाहरणे, पञ्चा० १६ विव० ।

णमाल–ललाट–न० । "ललाटे च" ॥८।१।२५७॥ इति लस्य णः । "एकाऽऽक्कारललाटे वा" ॥८।१।४७॥ इत्यादेरत इत्वाभावपक्षे । मस्तके, प्रा० १ पाद ।

णमिय–नटित–त्रि० । विडम्बिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णमी–नटी–स्त्री० । नर्तक्याम्, बृ० ३ उ० । नटजायायाम्, स्था० ६ ठा० ।

णमीरंग–नटीरङ्ग–पुं० । नर्तकीरङ्गे नाटयस्थाने, बृ० ३ उ० ।

णमुरी–देशी–प्रेके, दे० ना० ४ वर्ग ।

णमुल–नड्वल–त्रि० । नमा० सन्त्यत्र ड्वलच् । नडयुक्ते देशे, वाच० । कारणे कार्योपचाराद् नमुल० पादरोग इति । विशे० । आचा० ।

णमुली–स्त्री० । देशी–कच्छपे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णणु–ननु–अव्य० । आशङ्कितावधारणे, नि० चू० १ उ० । वितर्के, षो० १६ विव० । अक्षमायाम, दश० १ अ० । जी० । विशे० । प्रति० । असूयायाम, विशे० ।

णणसूरि–नन्नसूरि–पुं० । चन्द्रगच्छोद्भवे श्रीवप्पभट्टिसूरिशिष्ये सर्वदेवसूरिगुरौ, स च विक्रमसंवत्सरे ९०० मिते विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

णत्त–नक्त–न० । रात्रौ, च० प्र० १० पाहु० ३ पाहु० ।

णत्तंदिव–नक्तन्दिव–न० । अहोरात्रे, अष्ट० ६ अष्ट० ।

णत्तंभाग–नक्तम्भाग–पुं० । नक्त रात्रौ चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य विद्यन्ते येषां तानि नक्षत्राणि तथा । च० प्र० १० पाहु० ३ पाहु० । चन्द्रस्य समयोगिषु नक्षत्रेषु, " अद्धाऽसेसा साई,सयभिस अभिई य जेट्ठसमजोगा । " स्था० ६ ठा० ।

णत्तिअ–नप्तृक–पुं० । " इदुतौ वृष्टवृष्टिपृथङ्मृदङ्गनप्तृके " । ८ । १ । १३७। इति ऋत इकारोकारौ । प्रा० १ पाद । पुत्रस्य दुहितुर्वा पुत्रे, नि० चू० २ उ० । आ० म० । बृ० । विशे० ।

णत्तिआ–नप्तृका–स्त्री० । पौत्र्यां, दौहित्र्यां च । विपा० १ श्रु० ३ अ० । ग० ।

णत्तुअ–नप्तृक–पुं० । 'णत्तिअ' शब्दार्थे, नि० चू० २ उ० । आ० म० । बृ० । विशे० ।

णत्तुआ–नप्तृका–स्त्री० । " णत्तिआ " शब्दार्थे, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ग० ।

णत्तुआवइ–नप्तृकापति–पुं० । पौत्रीणां दौहित्रीणां वा भर्तृषु, बृ० १ उ० ।

णत्तुइणी–नप्तृकिनी–स्त्री० । पौत्रदौहित्रभार्यायाम, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

णत्थ–न्यस्त–त्रि० । साध्वर्थमुपकल्पिते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । स्थापिते, अष्ट० ३० अष्ट० ।

णत्थिअ–नास्तिक–पुं० । नास्ति जीवः परलोको वेत्येवं मतिर्यस्य स. । अक्रियावादिनि,स्था० ४ ठा० ४ उ० । आचा० । सूत्र० । (८४ भेदा० 'अकिरियावाइ (ण्) ' शब्दे प्रथमभागे १२७ पृष्ठे उक्ता.) नास्तिकवादिगणमतम्–न सन्ति सप्त स्वपरस्थाः । स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० ।

तद् यथा–

नत्थि जीवो, न जाइ, इह परे वा लोए न य किंचि वि फुसइ पुण्णपावं, नत्थि फलं सुकयदुक्कयाणं, पंचमहब्भूतियं सरीरं भासंति हं वातजोगजुत्तं, पंच य खंधे भणंति केइ, मणं च मणजीविका वदंति, वाउजीवो त्ति एवमाहंसु, सरीरं सादियं सनिधणं इहभवे एगे भवे तस्स विप्पणासंसि सव्वनासो त्ति एवं जंपंति मुसावाई ॥

शून्यमिति,जगदिति गम्यते, कथम् ?, आत्माऽऽद्यभावात्,एतदाह–नास्ति जीवः, तत्प्रसाधकप्रमाणाभावात् । स हि न प्रत्यक्षग्राह्य', अतीन्द्रियत्वेन तस्याभ्युपगमत्वात् । नाप्यनुमानग्राह्य , प्रत्यक्षाप्रवृत्तावनुमानस्याप्यप्रवृत्तेः । आगमानां च परस्परतो विरुद्धत्वेनाप्रमाणत्वादिति । असत्त्वादेवासौ न याति न गच्छति । इहेति मनुष्यापेक्षया मनुष्यलोके, 'परे वा' परस्मिन् तदपेक्षयैव देवाऽऽदिलोके,न च किञ्चिदपि स्पृशति बध्नाति पुण्यपाप शुभाशुभं कर्म, नास्ति फल सुकृतदुष्कृतानां पुण्यपापकर्मणां, जीवासत्त्वेन तयोरप्यसत्त्वात् । तथा पञ्चमहाभौतिक शरीर भाषन्ते । 'हं' इति निपातो वाक्यालङ्कारे । वातयोगयुक्तं प्राणवायुना सर्वक्रियासु प्रवर्त्तितमित्यर्थ. । तत्र पञ्चमहाभौतिकमिति, महान्ति च तानि लोकव्यापकत्वाद् भूतानि च सद्भूतवस्तूनि महाभूतानि । तानि चामूनि-पृथिवी कठिनरूपा, आपो द्रवलक्षणाः, तेज उष्णरूपम, वायुश्चलनलक्षण , आकाशं शुषिरलक्षणमिति । एतन्मयमेव शरीर,नापर. शरीरवर्त्ती तन्निष्पादकोऽस्ति जीव इति विवक्षा । तथाहि–भूतान्येव सन्ति, प्रत्यक्षेण तेषामेव प्रतीयमानत्वात् । तदितरस्य तु सर्वथाऽप्रतीयमानत्वात् । यत्तु चैतन्य भूतेषूपलभ्यते, तद् भूतेष्वेव कायाऽऽकारपरिणतेष्वभिव्यज्यते, मद्याङ्गेषु समुदितेषु मदशक्तिवत् । तथा न भूतेभ्योऽतिरिक्त चैतन्य, कार्यत्वात्, मृदो घटवदिति । ततो भूतानामेव चैतन्याभिव्यक्तिर्जलस्य बुद्बुदाभिव्यक्तिवदिति । अलीकवादिता चैषामात्मन. सत्त्वात्,सत्त्व च प्रमाणोपपत्ते । प्रमाण च सर्वजनप्रतीत जातिस्मरणाऽऽद्यन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणमनेकधा शास्त्रान्तरप्रसिद्धमिति । न च भूतधर्मश्चैतन्य, तद्भावेऽपि तस्याभावाद्,विवक्षितभूताभावेऽपि प्रेताऽऽद्यवस्थाया चैतन्यसद्भावाच्चेति । (पच य खधे भणति केइ त्ति) पञ्च च स्कन्धान् रूपवेदनाविज्ञानसञ्ज्ञासंस्काराऽऽख्यान्, भणन्ति केचिदिति बौद्धा. । तत्र रूपस्कन्ध पृथिवीधात्वादयो, रूपाऽऽदयश्च । वेदनास्कन्ध. पुन सुखदु'खासुखदुःखेति त्रिविधवेदनास्वभाव । विज्ञानस्कन्धस्तु रूपाऽऽदिविज्ञानलक्षण. । सञ्ज्ञास्कन्धश्च सञ्ज्ञानिमित्तोद्ग्रहणाऽऽत्मक. प्रत्यय । संस्कारस्कन्ध पुनः पुण्यापुण्याऽऽदिधर्मसमुदाय इति । न चैतेभ्यो व्यतिरिक्त कश्चिदात्माऽऽख्य पदार्थोऽस्यक्षाऽऽदिभिरवसीयन इति । तथा-(मण च मणजीविया वयनि त्ति) न केवलं पञ्चैव स्कन्धान्, मनश्च मनस्कारो रूपाऽऽदिज्ञानलक्षणानामुपादानकारणभूत ,यमाश्रित्य परलोकोऽभ्युपगम्यते बौद्धै ; मन एव जीवो येषां ते म-

नोजीवाः,त एव मनोजीविकाः । अलीकवादिता चैषां सर्वथाऽनुगामिनि मनोमात्ररूपे जीवे कल्पितेऽपि परलोकासिद्धेः। तदसिद्धिश्च-अवस्थितस्यैकस्याऽऽत्मनोऽसत्त्वात्, मनोमात्राऽऽत्मनः क्षणान्तरस्यैवोत्पादादकृताभ्यागमाऽऽदिदोषप्रसङ्गात् । कथञ्चिदननुगामिनि तु मनसि जीवत्वाभ्युपगमः सम्यक् पक्ष एवेति। तथा (वाउजीवो त्ति एवमाहंसु त्ति) वात उच्छ्वासाऽऽदिलक्षणो जीव इत्याहुरेके। तद्भावाभावयोर्जीवनमरणव्यपदेशाद् नान्यः परलोकयाय्यात्माऽस्तीति । अलीकवादिता चैषां वायोर्जडत्वेन चैतन्यजीवरूपत्वायोगात्। तथा शरीरं साऽऽदि,उत्पन्नत्वात्,सनिधनं,क्षयदर्शनात् । (इह भवे एगे भव त्ति) इह भवे एव प्रत्यक्षजन्मैव एको भव एक जन्म,नान्यः परलोकोऽस्ति, प्रमाणाविषयत्वात्, तस्य शरीरस्य, विविधैः प्रकारैः प्रकृष्टो नाशः प्रणाशस्तस्मिन् सति सर्वनाश इति नाऽऽत्मा शुभाशुभरूप वा कर्मातिनिष्टमवशिष्यते । एवमेव उक्तप्रकारं 'जपति' जल्पन्ति मृषावादिनः । मृषावादिता चैषां जातिस्मरणाऽऽदिना जीवपरलोकसिद्धेः । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । दश० । यथावस्थितं हि वस्त्वनेकान्ताऽऽत्मकं, तथास्त्येकान्ताऽऽत्मकमेव चास्तीति प्रतिपन्नैमन्तः सर्वेऽपि नास्तिकाः । स्था० ८ ठा० ।

एकान्ताभिनिवेशे तु जात्या सर्वेषां तुल्यत्वमेवेत्याह-

स्वरूपतस्तु सर्वेऽपि, स्युर्मिथोऽनिश्रिता नयाः ।
मिथ्यात्वमिति को भेदो, नास्तित्वास्तित्वनिर्मितः? ॥१२५॥

स्वरूपतस्त्विति स्पष्टः । (मिथोऽनिश्रिता इति) स्याद्वादमुद्रया परस्पराऽऽकाङ्क्षारहिता इत्यर्थः ॥१२५॥

ननु नास्तिकास्तिकव्यवहारप्रयोजकतयैवैतेषां भेदो भविष्यतीत्यत आह-

धर्म्यंशे नास्तिको ह्येको, बार्हस्पत्यः प्रकीर्तितः ।
धर्मांशे नास्तिका ज्ञेयाः, सर्वेऽपि परतीर्थिकाः ॥१२६॥

(धर्म्यंशे इति) धर्मिण आत्मनोऽंशे नास्तित्वभागे, एको बार्हस्पत्यश्चार्वाको नास्तिकः प्रकीर्तितः । धर्माणामात्मनः शरीरप्रमाणत्वनानात्वपरिणामित्वभुवत्वसर्वज्ञजातीयत्वाऽऽदीनामंशे नास्तित्वपक्षे सर्वेऽपि नैयायिकवैशेषिकवेदान्तिसाङ्ख्यपातञ्जलजैमिनीयाऽऽदय परतीर्थिका नास्तिका ज्ञेया । यत्र यथावदस्तित्वं तत्र तथा तदनभ्युपगमस्य, स्वरसतो भगवद्वचनाश्रद्धानस्यैव वा नास्तिकपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वादिति भावः । चार्वाकाऽऽदिभिन्नदर्शनस्वीकर्तृत्वमेवास्तिकत्वमिति रूढिस्त्वनुकम्पामात्रम् । नयो० । भा० म० । ('उसभ' शब्दे द्वितीयभागे ११३४ पृष्ठे ललिताङ्गदेववक्तव्यतायां नास्तिकवादिनं सुबुद्धिं प्रति स्वयंबुद्धकृत उपदेशो द्रष्टव्यः)

णत्थिभाव-नास्तिभाव-पुं० । अविद्यमानभावे, " णत्थिभावो त्ति वा अविज्जमाणभावो त्ति वा एगट्ठा । " आ० चू० १ अ० ।

णत्थून-नष्ट्वा-अव्य० । नश-क्त्वा । " तूनत्थूनौ ष्ट्वः " ॥ ८ । ४ । ३१३ ॥ इति ष्ट्वा इत्यस्य स्थाने त्थूनाऽऽदेशः । अदर्शयित्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

णदिआययण-नद्यायतन-न० । नद्याः प्रधानस्थाने, यत्र तीर्थस्थानेषु लोकाः पुण्यार्थं स्नानाऽऽदि कुर्वन्ति । आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० ।

णदी-नदी-स्त्री० । गङ्गासिन्धुमहीकोशीप्रभृतिषु सरित्सु, स० ३ अङ्ग । प्रज्ञा० । गिरिनद्यादिषु, प्रज्ञा० ११ पद ।

णद्दिय-नर्दित-न० । घोषे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

णद्ध-नद्ध-त्रि० । नियन्त्रिते, त० । आरूढे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णपुंसग-नपुंसक-पुं० । न० । न स्त्री न पुमान् नपुंसकम् । ग० १ अधि० । स्त्रीपुरुषोभयाभिलाषिणि पुरुषाऽऽकृतौ पुरुषे, ध० २ अधि० । " स्तनाऽऽदिश्मश्रुकेशाऽऽदि-भावाभावसमन्वितम् । नपुंसकं बुधाः प्राहु-र्मोहानलसुदीपितम् ॥ १ ॥ " तं० ।

तिविहा णपुंसगा पण्णत्ता । तं जहा-णेरइयणपुंसगा, तिरिक्खजोणियणपुंसगा, मणुस्सणपुंसगा । तिरियणपुंसगा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-जलचरा, थलचरा, खहचरा । मणुयणपुंसगा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-कम्मभूमिया, अकम्मभूमिया, अंतरदीवया । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

"स्तनकेशवती स्त्री स्या-ल्लोमशः पुरुषः स्मृतः । उभयोरन्तरं यच्च, तदभावे नपुंसकम् ॥ १ ॥ " स्था० ३ ठा० १ उ० । नपुंसकः पण्डक इति पर्यायौ । बृ० ४ उ० । आव० । (पण्डकलक्षणानि ' पंडग ' शब्दे वक्ष्यन्ते) " अज्झवसायविसेसं त इह ते हुंति णपुंसगे । " महा० १ अ० ।

दश नपुंसकाः-

पंडए १ वाइए २ कीवे, ३ कुंभी ४ ईसालुए ५ त्ति अ ।
सउणी ६ तक्कम्मसेवी अ ७, पक्खियापक्खिए इअ ८ ॥८००॥
सोगंधिए अ ९ आसत्ते १०, दस एए नपुंसगा ।
संकिलिट्ठि त्ति साहूणं, पव्वावेउं अकप्पिआ ॥८०१॥

प्रव० १०९ द्वार ।

पण्डकाऽऽदयो दश नपुंसकाः संक्लिष्टचित्ता इतिकृत्वा साधूनां प्रव्राजयितुमकल्प्याः । संक्लिष्टत्वं चैषां सर्वेषामप्यविशेषतो नगरदाहसमानकामाध्यवसायसंपन्नत्वेन स्त्रीपुरुषसेवामाश्रित्य विज्ञेयम् , उभयसेविनो ह्येते । ध० ३ अधि० ।

नपुंसकानामिमे षड् भेदाश्चान्येऽपि-

.... , वद्धिए चिप्पिए त्ति य ।
मंतोसहिउवहतए, इसिसत्ते देवसत्ते य ॥ २१९ ॥

नि० चू० ११ उ० । पं० भा० । पं० चू० । आव० ।

नपुंसका द्विविधाः-स्त्रीनेपथ्यकाः, पुरुषनेपथ्यकाश्च ।

तद् यथा-

एमेव होंति दुविहा, पुरिसनपुंसा वि सन्नि असन्नी ।
मज्झत्थाऽऽभरणपिया, कंदप्पा काहिया चेव ॥४३२॥

पुरुषसागारिकाभावे कदाचिन्नपुंसकसागारिकः प्रतिश्रयो लभ्यते, तत्राप्येवमेव भेदाः कर्तव्या । तत्र नपुंसका द्विधा-स्त्रीनेपथ्यकाः, पुरुषनेपथ्यकाः । ये पुरुषनेपथ्यकाः ते द्विधा-प्रतिसेविनः , अप्रतिसेविनश्च । ये तु स्त्रीनेपथ्यकास्ते नियमात्प्रतिसेविनः । तत्र पुरुषनपुंसका अपि, न केवलं पुरुषा इत्यपिशब्दार्थः । सञ्ज्ञिनः, असञ्ज्ञिनश्चेति द्विविधाः । उभयेऽपि चतुर्विधाः-मध्यस्थाः , आभरणप्रियाः, कान्दर्पिकाः, काथिकाश्च ।

एकेक्का ते तिविहा, थेरा तह मज्झिमा य तरुणा य ।
एवं सन्नी बारस, असन्निणो होंति एकेके ॥४३३॥

ते मध्यस्थाऽऽदयस्त्रिविधा -स्थविराः,मध्यस्थाः,तरुणाश्च । एवं संज्ञिनो द्वादश । असंज्ञिनोऽपि द्वादश भवन्ति । बृ० १ उ० । नि० चू० ।

'नपुंसको भवति' इति महाभाष्यप्रयोगात् अस्य पुंस्त्वमपि । लिङ्गस्य शब्दगतत्वेऽपि शब्दार्थे तद्व्यवहारस्तु अभेदाऽऽरोपात् । तद्यथा-लिङ्गत्वं च प्राकृतगुणगतावस्थाऽऽत्मको धर्म एव,तद्विशेषश्च पुनपुंसकत्वाऽऽदि । तथाहि-सर्वेषां त्रिगुणप्रकृतिकार्यतया शब्दानामपि तथात्वेन गुणगतविशेषाच्छब्देषु त्रिशेष इति कल्प्यते । स च विशेष शास्त्रे इत्यमन्वधायि । विकृतसत्त्वाऽऽदीना तुल्यरूपेणावस्थानाद् नपुंसकत्व, सत्त्वन्याऽऽधिक्ये पुंस्त्वम्, रजआधिक्ये स्त्रीत्वमिति । एव च लिङ्गस्य शब्दधर्मत्वेऽपि शब्देन सहार्थाभेदारोपादसति बाधकेऽर्थेऽपि साक्षात् तत्पारम्पर्येण वा सर्वत्र तस्य विशेषणत्वम्, शाब्दबोधे शब्दज्ञानस्येष्टत्वाच्च, शब्दस्य नामार्थतावत् तद्गतलिङ्गस्यापि नामार्थतौचित्यात् " न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, य शब्दानुगमादृते । " इति हर्युक्ते , " शब्देऽपि यदि भेदेन, विवक्षा स्यात्तदा तथा । नो चेत् श्रोत्राऽऽदिभि॰ सिद्धोऽप्यसावर्थेऽवभासते ॥१॥ " इति हर्युक्तेश्च,शब्दाना तदर्थताऽवगतेः । तथा प्रातिपदिकार्थः । अभेदविवक्षाया तु श्रोत्राऽऽदिभिरेव सिद्धो ज्ञात॰ सन् अर्थे प्रकारतया भासते इति तदर्थः । युक्त चैतत्-'पुल्लिङ्ग शब्द॰' इति व्यवहारात् " स्वमोर्नपुंसकात् " ॥ ७ । १ । २३ ॥ इति पाणिनिसूत्रे शब्दस्यैव नपुंसकत्वव्यपदेशात् । दारानित्यादौ पुंस्त्वान्वयबाधाच्च लिङ्गस्य शब्दधर्मत्वम्, अन्यथैतेषु लिङ्गानन्वयाऽऽपत्तेर्व्यवहारसूत्रनिर्देशासङ्गत्यापत्तेश्च । तथा अर्थभेदाच्छब्दभेदवद् लिङ्गभेदादपि शब्दभेद इति कल्प्यते,प्रागुक्तधर्मविशेषरूपभेदकसद्भावात् । उक्तं च भाष्ये-"एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्ट लिङ्गान्यत्वम्" इति एवं च तटाऽऽदिशब्दानामनेकलिङ्गत्वव्यवहार समानानुपूर्वीकत्वेनैव । वस्तुतस्तेषां भिन्नानामेव लिङ्गत्वमिति दिक् । वाच॰ । जीवाभिगमाऽऽदिषु नपुंसकस्य धर्मचरणमुक्त, तत्सम्यक्त्व देशसंयम, सर्वसंयम वा ?। पञ्चदश भेदा॰ सिद्धाना प्रोक्ता॰, तत्र मूलनपुंसकत्वे, कृत्रिमत्वे वा मोक्ष॰?, तत् साक्षर प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-जातिनपुंसकस्य सम्यक्त्व देशविरतिं च यावत्प्रतिपत्तिर्भवति,न तु परतस्तेन न मोक्षाऽऽप्ति ,मोक्षावाप्तिरपि कृत्रिमनपुंसकानामिति । १६६ प्र॰ । सेन॰ प्र॰ ३ उल्ला॰ ।

णपुंसगपएणवणी-नपुंसकप्रज्ञापनी-स्त्री॰ । स्तनाऽऽदिश्मश्रुकेशाऽऽदिभावाभावाऽऽदिसमन्वितमित्यादिलक्षणायां नपुंसकलक्षणाभिधायिन्यां भाषायाम्,शब्दव्यवहारानुगत नपुंसकलक्षणमाश्रित्यैतल्लक्षणाऽघटनेऽपि उच्यमाना वाङ् न मृषेति भाषाशब्दे, प्रज्ञा॰ ११ पद ।

णपुंसगलिंगसिद्ध-नपुंसकलिङ्गसिद्ध-पुं॰ । तीर्थंकरप्रत्येकबुद्धवर्जिते नपुंसकलिङ्गशरीरनिर्वृत्तिरूपे व्यवस्थिते सति सिद्धे, न॰ । पा॰ ।

णपुंसगवयण-नपुंसकवचन-न॰ । पीठं देवकुलमित्यादिके नपुंसकलिङ्गे शब्दे, आचा॰ २ श्रु॰१ चू॰ ४ अ॰१ उ॰। प्रज्ञा॰। अनु॰। अव्यक्तगुणसंदोहे नपुंसकलिङ्ग प्रयुज्यते। जी॰ १प्रति॰।

णपुंसगवेय-नपुंसकवेद-पुं॰। वेद्यत इति वेद॰, नपुंसकस्य वेदो नपुंसकवेद । प्रज्ञा॰ २३ पद । स्त्रीपुंसयोरुपर्यभिलाषे, तद्धेतुके वेदनीयकर्मणि, यदुदये नपुंसकस्य स्त्रीपुंसयोरुभयोरभिलाषः पित्तश्लेष्मणोरुदये मज्जिताभिलाषवत्, स महानगरदाहाग्निसमानो नपुंसकवेद॰ । स्था॰ ६ ठा॰ । कर्म॰ । वृ॰ । प॰ स॰ । जी॰ । स॰ ।

णभ-नभस्-न॰ । न भाति न दीप्यते इति नभ॰ । प्र॰ २० श॰ २ उ॰ । " खघथधभाम् " ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इत्यस्य प्रायिकत्वाद् न ह । प्रा॰ १ पाद । " स्नमदामशिरोनभ " ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इति नभःपर्युदासान्न पुंस्त्वम् । प्रा॰ १ पाद । आकाशे, औ॰ । सूत्र॰ ।

णभप्पईव-नभःप्रदीप-पुं॰ । नभ आकाश प्रदीपयति यस्तत्था । सूर्ये, कल्प॰ ३ क्षण ।

णभसूर-नभःसूर-पुं॰ । चन्द्र सूर्यं वा गृह्णतो राहोः कृष्णपुद्गलभेदे, सू॰ प्र॰ २० पाहु॰ ।

णभसेण-नभःसेन-पुं॰ । अष्टचत्वारिंशे ऋषभदेवपुत्रे, कल्प॰ ७ क्षण ।

णमंसण-नमस्यत्-न॰ । नमसित्यव्ययस्य " नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् ।३।१।१९। इति क्यच् । दर्श॰ १ अ॰ । प्रणमने, ज्ञा॰ १ श्रु॰ १ अ॰ । भ॰ । नि॰ । औ॰ । आव॰ । सथा॰ । स्था॰ ।

णमंसित्तए-नमस्यितुम्-अव्य॰ । प्रणामपूर्वकप्रशस्तध्वनिभिर्गुणोत्कीर्त्तन कर्तुमित्यर्थे, उपा॰ १ अ॰ । स्था॰ । रा॰ । प्रति॰ । आ॰ चू॰ ।

णमंसित्ता-नमस्यित्वा-अव्य॰ । प्रणम्येत्यर्थे, स्था॰ ३ ठा॰ १ उ॰ ।

णमण-नमन-न॰ । शिरसा प्रणाममात्रे, सू॰ १ उ॰ । नि॰ । प॰ भा॰ । नमस्कारे, उत्त॰ १ अ॰ । विनयकरणे, उत्त॰ ५ अ॰ । प्रह्वीकरणे, सूत्र॰ १ श्रु॰ ४ अ॰ १ उ॰ ।

णमणी-नमनी-स्त्री॰ । "गिहिसाधूहिं णमिज्जति, तम्हा जं होति णमणि त्ति ।" पं॰ भा॰ । तृतीयगौणानुज्ञायाम्,न॰ ।

णमंत-नमत्-त्रि॰ । आचार्याऽऽदेः प्रणाम कुर्वति, आचा॰१ श्रु॰ ६ अ॰ ४ उ॰ ।

णमि-नमि-पुं॰ । स्वनामख्याते विदेहराजे, उत्त॰ ।

अत्र निर्युक्तिकृत्-

णिक्खेवो उ नमिम्मी,चउव्विहो दुविहो उ होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमओ, नोआगमओ य सो तिविहो ॥९५॥
जाणगसरीर भविए, तव्वइरित्ते य से भवे तिविहो ।
एगभविय बद्धाउय, अभिमुहओ नामगोत्ते य ॥९६॥
नमिआउनामगोयं, वेयंतो भावओ नमी होइ (९७)

निक्षेपो न्यास॰, तु' पूरणे, नमौ नमिविषयश्चतुर्विधश्चतुर्भेदो नामाऽऽदि । तत्र च नामस्थापने सुगमे । द्विविधो भवति द्रव्ये द्रव्यविषयः। तमेवाऽऽह-आगमनोआगमत । तत्राऽऽगमतो ज्ञातानुपयुक्तो, नोआगमतश्च । स त्रिविध॰-(जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते य त्ति)नमिशब्दस्य प्रत्येकमभिसबन्धाद् ज्ञशरीरनमिर्भव्यशरीरनमिः, तद्व्यतिरिक्तनमिश्च । स तद्व्यतिरिक्तनमिर्भवेत् त्रिविधः-एकभविको, बद्धाऽऽयुष्कोऽऽभिमुखनामगोत्रश्च । एतत्स्वरूप च प्राग्वत् । तथा नम्यायुर्नामगोत्र वेदयन् भावतो नमिर्भवति । उत्त॰ ९ अ॰ ।

अथ तृतीयप्रत्येकबुद्धनमिचरित्रमुच्यते-

मालवमण्डलमण्डनं सुदर्शनपुरमस्ति ; तत्र मणिरथो

राजा, तस्य भ्राता युगबाहुर्वर्तते स्म। तस्य भार्या सुशीला सुरूपा मदनरेखा वर्तते स्म। सा बाल्यावस्थात आरभ्य सम्यक्त्वमूलद्वादशव्रतानि जग्राह। तस्याः पुत्रश्चन्द्रयशा वर्तते स्म। अन्यदा मणिरथेन मदनरेखा दृष्टा, तद्रूपमोहितो नृप एवं चिन्तयति स्म-इयं मदनरेखा मम कथं वशवर्तिनी भवतु?। भवतु, प्रथमं तावत् साधारणैः कृत्यैस्तां विश्वासयामि, पश्चात्कामाभिलाषमपि तस्याः समये कारयिष्येऽहम्। दुष्करं कार्यं बुद्ध्या किं न सिद्ध्यति?। एवं चिन्तयित्वा राजा तस्यै ताम्बूलकुसुमवस्त्रालङ्काराऽऽदिकं प्रेषयति स्म। साऽपि निर्विकारा ज्येष्ठप्रेषितत्वात् सर्वं गृह्णाति स्म। एकदा मणिरथस्तामेकान्ते स्वयमित्युवाच-भद्रे! त्वं मां भर्तारं विधाय यथेष्टं सुखं भुङ्क्ष्व। सा जगौ-राजन्! तव लघुबन्धुकलत्रे मय्येतादृशं वचनमयुक्तम्, त्वं निष्कलङ्को भूरिसत्त्वश्च पञ्चमो लोकपालोऽसि, एवं वदंस्त्वं किं न लज्जसे?, शस्त्राग्निविषप्रयोगैर्मृत्युसाधनं वरं,निजकुलाऽऽचाररहितं जीवितं न श्रेयः। परस्त्रीलम्पटाः स्वजीवितं यशश्च नाशयन्ति। तथैव प्रतिबोधितोऽपि नृपः कदाग्रहं न मुमोच। एवं च व्यचिन्तयत्-यदाऽस्याः प्रीतिपात्रं मद्बन्धुर्युगबाहुर्व्यापाद्यते,तदेयं मम वशीभविष्यति। अन्यदा मदनरेखा स्वप्ने पूर्णेन्दुं ददर्श। तया युगबाहवे निवेदितः स्वप्नः। युगबाहुना कथितम्-तव सुलक्षणः पुत्रो भविष्यति। तस्या गुरुदेववन्दनार्चनदोहदमुत्पन्नं युगबाहुरपूरयत्। अन्यदा युगबाहुर्वसन्ते मदनरेखया सममुद्याने रन्तुं गतः, तत्रैव रात्रौ कदलीगृहे सुप्तः। परिवारः समन्तात्तद्गृहं वेष्टयित्वा स्थितः। तदाऽवसरं ज्ञात्वा मणिरथनृपस्तत्रैकाकी समायातः। 'अद्य युवराजाऽत्र कथं सुप्तः?' इति यामिकान् प्रत्युवाच। युगबाहुरपि कदलीगृहाद् बहिरागत्य मणिरथपादौ ननाम। नमतोऽस्य स्कन्धदेशे मणिरथः खड्गं चिक्षेप। उवाच चैवम्-धिग् मे प्रमादतः करात् खड्गं पतितं, मणिरथेङ्गिताऽऽकारेण तद्दुष्कर्म ज्ञात्वाऽपि स्वामिन्युपेक्षितः। इतोऽवसरे मणिरथः सद्यस्ततो गतः। पितृघातवार्तां निशम्य चन्द्रयशाः पुत्रो घातचिकित्सकैः परिवृतस्तत्राऽऽयातः। चिकित्सकैरन्त्यावस्थागतं युगबाहुं निरीक्ष्य धर्म एवास्यौषधमिति प्रोक्तम्। मदनरेखा स्वभर्तुरन्त्यावस्थां विलोक्य विधिनाऽऽराधनां कारयामास-हे दयित! मे विज्ञप्तिं शृणु, धनाङ्गनाऽऽद्येषु मोहं त्यज, जैनधर्मं स्वीकुरु, हितं भजस्व, धर्मप्रसादादेव प्रधानं कुटुम्बदेहगेहाऽऽदिकं भवान्तरे प्राप्स्यसि, सर्वाण्यपि पापानि सिद्धसाक्षिकमालोचय, पुण्यान्यनुमोदय, सर्वजीवान् क्षामय, अष्टादश पापस्थानानि व्युत्सृज, अनशनं च कुरु, शुभभावनां भावय, चतुःशरणान्याश्रय, परमेष्ठिमन्त्रस्मरणं कुरु, मनसा सम्यक्त्वमाश्रय। इत्येवं मदनरेखावचनानि श्रद्दधानः पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रं स्मरन् युगबाहुः परलोकमसाधयत्। मदनरेखा मनस्येवं व्यचिन्तयत्-अथ स्वतन्त्रो ज्येष्ठो मम शीलं विध्वंसयिष्यति, ततो निःसरणावसरो मम साम्प्रतमेवास्तीति निश्चित्य मदनरेखा वेगतो निर्गता, सद्य एकाकिन्येव व्रजन्त्युत्पथमाश्रित्य क्वापि महाटव्यां प्राप्ता, विभावरी विरराम, जातं प्रभातं, देवगुरूणां स्मरणं चकार, मध्याह्ने सा प्राणयात्रां फलैरेवाकरोत्। तस्यामेवाटव्यां रात्रौ सुप्तायास्तस्याः शीलप्रभावेण न किञ्चिद्भयं बभूव। सा सती चार्धरात्रौ पुत्रं सुषुवे, पितृनामाङ्कितमुद्रिका तस्याङ्गुलौ क्षिप्त्वा रत्नकम्बलेन वेष्टयित्वा शुचिभूमौ निक्षिप्य मदनरेखा शौचार्थं सरसि गता। तत्र स्नानं कुर्वती जलकारिणा शुण्डादण्डेन गृहीता नभसि उत्क्षिप्ता। नभसोऽपि पतन्तीं च तां कश्चित्तरुणविद्याधरो वैताढ्यं निनाय। सा विद्याधरं प्राऽऽह बन्धो! अहमद्य निरयटव्यां पुत्रमजीजनम्। स तु रत्नकम्बलवेष्टितो मया तत्रैव मुक्तोऽस्ति। अहं तु सरसि स्नानं कुर्वती जलकरिणोत्क्षिप्ता त्वया गृहीताऽत्राऽऽनीता। अथ त्वं ततो मत्पुत्रमिहाऽऽनय, मां वा तत्र नय। अन्यथा बालस्य तत्र मरणाऽऽपद्भविष्यति, त्वं प्रसीद, मां पुत्रेण मेलय, पुत्रभिक्षाप्रदानेन त्वं मे दयां कुरु। सोऽपि युवा विद्याधर एतस्यां सरागं चक्षुः क्षिपन्नेवमुवाच-गन्धारदेशे रत्नवाहं नाम नगरमस्ति। तत्र विद्याधरेन्द्रो मणिचूडो वर्तते। तस्य प्रिया कमलावती मणिप्रभनामानं पुत्रं मामसूत। यौवनावस्थां च गतस्य मे श्रेणिद्वयराज्यं दत्त्वा मणिचूडः स्वयं प्रव्रज्यां जग्राह। स चारणमुनिश्चतुर्ज्ञानीभूत्वा साम्प्रतमष्टमे द्वीपे जिनबिम्बानि नन्तुं समायातोऽस्ति। अहं तत्र वन्दितुं गच्छन्नभूवम्। अन्तराले त्वां दृष्ट्वा लात्वा चाहं पुनरत्राऽऽगतः। अतः परं त्वं मे प्रिया भव, तवाऽऽदेशकरोऽहमस्मि, तव पुत्रसम्बन्धो मया प्रज्ञप्तिविद्यया ज्ञातः, अश्वापहृतो मिथिलेश्वरः पद्मरथाऽऽख्यस्तत्राऽऽयातः,तं बालं सुरूपं दृष्ट्वा गृहीत्वा च स्वपत्न्यै दत्तवान्, तत्रायं प्रकामं सुखभागेवास्ति। एवं तद्वचः श्रुत्वा मदनरेखाऽचिन्तयत्-असौ स्वतन्त्रो युवा हठः शीलभङ्गं मे करिष्यति, तावत्कालं मे विलम्बः श्रेयान्, यावदस्य पिता साधुर्न वन्द्यते, तदुपदेशात् सर्वं भविष्यतीति ध्यात्वा मदनरेखाऽवदत्-हे भद्र! त्वं मां प्रथमं नन्दीश्वरे नय,यथाऽहं तज्जिनबिम्बानि वन्दे,पश्चात् कृतकृत्याऽहं तवेप्सितं करिष्यामि। एवं तयोक्ते सहर्षो मणिप्रभस्तां विमानान्तर्निधाय नन्दीश्वरद्वीपे गतः। तत्र शाश्वतजिनबिम्बानि नत्वा मदनरेखाऽऽत्मानं कृतार्थं मन्यमाना मणिप्रभेण समं चतुर्ज्ञानधरं चारणश्रमणं प्रासादमण्डपोपविष्टं मणिचूडमुनिं प्रणनाम। स मुनिस्तां सतीं मत्वा स्वसुतं च लम्पटं ज्ञात्वा तथा देशनां विस्तारयामास, यथाऽसौ विद्याधरः स्वदारसन्तोषव्रतं जग्राह। मदनरेखां च स्वां भगिनीं मेने। हृष्टमानसा सती स्वपुत्रस्य कुशलोदन्तं पप्रच्छ। मुनिराह-महानुभावे! शोकं मुक्त्वा सर्वं सुतवृत्तान्तं शृणु-जम्बूद्वीपे पुष्कलावतीविजयोऽस्ति, तत्र मणितोरणपुरी, तस्यां मितयशा राजा। स च चक्रवर्त्यभूत्, तस्य पुष्पवती कान्ता, तयोः पुष्पसिंहरत्नसिंहाभिधानौ पुत्रावभूतां, तौ सदयौ धर्मकर्मरतौ विनीतौ स्तः। अन्यदा तौ राज्ये स्थापयित्वा चक्रवर्ती तपस्यां जग्राह। तौ द्वावपि भ्रातरौ चतुरशीतिलक्षपूर्वं यावद्राज्यं प्रपालयतः स्म। एकदा च तौ दीक्षां गृहीतवन्तौ, षोडश पूर्वलक्षाणि यावद्दीक्षां पालयतः स्म,अन्ते समाधिना मृत्वाऽच्युतकल्पे सामानिकौ देवौ जातौ। ततश्च्युत्वा धातकीखण्डभरते हरिषेणराज्ञः समुद्रदत्ताभार्यासुतौ सागरदेवदत्ताभिधानौ धार्मिकौ जातौ। अन्यदा तौ द्वादशतीर्थङ्करस्य दृढसुव्रतस्य बहुव्यतिक्रान्ते तीर्थे सुगुरुसमीपे दीक्षामगृह्णीताम्। तृतीये दिवसे तौ द्वावपि विद्युत्पातेन मृत्वा शुक्रदेवलोके महर्द्धिकौ देवावभूताम्। अन्येद्युस्तौ देवावत्रैव भरते श्रीनेमिजिनेश्वरमिति पृष्टवन्तौ-भगवन्! नावद्यापि कियान् संसारस्तिष्ठति?। स भगवान् प्राऽऽह-युवयोर्मध्ये एकोऽत्रैव भरते मिथिलापुर्यां विजयसेनन्नृपते पद्मरथाऽऽख्यः पुत्रो भावी, एकस्तु सुदर्शनपुरे युगबाहुपुत्रो मदनरेखाकुक्षिसम्भूतो नमिनामा भविष्यति। तस्मिन् भवे द्वावपि युवां शिवपदं प्राप्स्यथ। एवं नेमिजिनवच-

नं निशम्य निजमायुः पूर्णं विधायैको मिथिलापुर्यां पद्मरथो नृपोऽभवत्। तेन पद्मरथेनाश्वापहृतेन तस्मिन् वने समायातेन हे महानुभावे ! स पुत्रो दृष्टो, गृहीतश्च, मिथिलायां नीत्वा स्वपत्न्यै च समर्पितः। तज्जन्ममहोत्सवो महान् विहितः ॥" अत्रान्तरे तत्र नन्दीश्वरप्रासादेऽन्तरिक्षादेकं विमानमवततार। तन्मध्यादेको दिव्यविभूषाधरः सुरो निर्गत्य मदनरेखां त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य प्रथमं प्रणनाम, पश्चाद् मुनिं प्रणम्याग्रे निविष्टः सुरः । मणिरथविद्याधरेन्द्रेण विनयविपर्यासकारणं पृष्टम्। स सुरः प्राऽऽह-अहं पूर्वभवे युगबाहुर्मणिरथनाम्ना बृहद्भ्राता निहतः, अनया ममाऽऽराधनानशनाऽऽदिकृत्यानि कारितानि, तत्प्रभावादहमीदृशो देवो ब्रह्मदेवलोके जातः। ततो धर्माऽऽचार्यत्वादहमिमां प्रथमं प्रणतः। एवं खेचरं प्रतिबोध्य स सुरो मदनरेखां जगौ-हे सति ! त्वं समादिश,किं ते प्रियं कुर्वे?। सा प्राऽऽह-मम मुक्तिरेव प्रिया, नान्यत्किमपि, तथाऽपि सुताऽऽननं द्रष्टुमुत्सुकां मां त्वमितो मिथिलापुरीं नय, तत्राहं निर्वृताऽऽत्मना परलोकहितं करिष्यामि। इत्युक्तवतीं तां देवो मिथिलां पुरीं निनाय। तत्र प्रथमं मदनरेखा जिनचैत्यानि नत्वा श्रमणीनामुपाश्रये जगाम। वन्दित्वा पुरोनिविष्टां तां प्रवर्तिन्येवं प्रतिबोधयामास-मूढचेतसो जना धर्मोज्झिता भवक्षयमिच्छन्तोऽपि मोहवशेन पुत्राऽऽदिषु स्नेहं कुर्वन्ति। संसारे हि मातृपितृबन्धुभगिनीदयिताबधूप्रियतमपुत्राऽऽदीनामनन्तशः सम्बन्धो जातः। अतः कुटुम्बदेहाऽऽदिकं सर्वं विनश्वरम्, धर्म एवैकः शाश्वतः। इत्यादि साध्वीवाक्यैः प्रतिबुद्धा सा सती देवेन पुत्रदर्शनार्थं प्रार्थितैवमाह-भववृक्षकरेण प्रेमपूरेण ममालम्, अतः परं तु साध्वीचरणा एव शरणमित्युक्त्वा साध्वीसमीपे सा प्रव्रज्यां जग्राह। देवस्तां वन्दित्वा स्वस्थाने जगाम। पद्मरथस्य गृहे यथा यथाऽयं बालो वर्द्धते, तथा तथा तस्यान्ये राजानोऽनमन्। ततः पद्मरथराजा तस्य बालस्य नमिरिति नाम कृतवान्। वृद्धिं व्रजतस्तस्य बालस्य कलाऽऽचार्यसेवनात् सर्वाः कलाः समायाताः, सकललोकलोचनहरं यौवनमप्यस्याऽऽयातम्। पित्रा चाष्टाधिकसहस्रराजकन्यानां पाणिग्रहणं कारितम्। पद्मरथोऽस्मै राज्यं दत्त्वा स्वयं तपस्यां गृहीत्वा केवलज्ञानं प्राप्य मोक्षं गतवान्। नमिराजा प्राज्यं राज्यं पालयामास, न्यायेन यशःपात्रमभूत् ॥ अथ पूर्वं युगबाहुं हत्वा मणिरथो नृपोऽसिद्धमनोरथः स्वधाम प्राप्तस्तत्र तदानीमेव प्रचण्डसर्पेण दष्टस्तुर्यं नरकं जगाम। द्वयोर्भ्रात्रोरौर्द्धदेहिकीं क्रियां कृत्वा मन्त्रिभिर्युगबाहुपुत्रश्चन्द्रयशा राज्येऽभिषिक्तः । स न्यायेन राज्यं पालयति स्म। अन्यदा नमिराज्ञो धवलकान्तिर्गजो मदोन्मत्त आलानस्तम्भमुन्मूल्यापरान् हस्तिनोऽश्वान्मनुष्यानपि भ्रामयन् चन्द्रयशोनृपनगरसीम्नि समायातः । चन्द्रयशा नृपस्तमागतं श्रुत्वा समन्तात्सुभटैर्वेष्टयित्वा स्वयं वशीकृत्य च जग्राह । नमिराजाऽष्टभिर्दिनैस्तां वार्तां श्रुत्वा चन्द्रयशोऽन्तिके दूतं प्रेषितवान्। दूतोऽपि तत्र गत्वा धवलकरिणं मार्गयामास। कुपितश्चन्द्रयशा दूतं गले धृत्वा नगराद् बहिर्निष्कासयामास । दूतोऽपि नमेः पुरो गत्वा स्वाऽपमानं जगौ । कुपितो नमिराजाऽतुलसैन्यैर्वेष्टितोऽविच्छिन्नप्रयाणैः सुदर्शनपुरसमीपे समायातः । चन्द्रयशा नृपतिं स्वसैन्यवेष्टितो यावदभिमुखं युद्धार्थं चलितः, तावदपशकुनैर्वारितो मन्त्रिभिरेवमूचे-स्वामिन् ! कोट्टं सज्जीकृत्य तव साम्प्रतं पुरान्तरेऽवस्थातुं युक्तम्, कालविलम्बेनैतत्कार्यं कर्तव्यम् । ततश्चन्द्रयशाः कोट्टं शतघ्नीभिर्जलाऽऽद्युपस्करैश्च सज्जीकृतवान्, नमिस्तु कोट्टं स्वसैन्यैरवेष्टयत् । अथ सैनिकैः सहोद्भटस्थानां सैनिकानां महान् संग्रामः प्रववृते स्म। नमिः कोट्टभङ्गे विविधानुपायान् विदधाति स्म। चन्द्रयशा नृपस्तु कोट्टरक्षणे विविधानुपायान् करोति स्म । अस्मिन्नवसरे तयोर्माता साध्वी मदनरेखा प्रवर्तिनीमनुज्ञाप्य तत्संग्रामवारणार्थं प्रथमं नमिराजसैन्ये समायाता। नमिरपि तां साध्वीं ननाम। आसने चोपविश्य नमेः पुरः सा साध्वी एवं वाचं विस्तारयामास-अनन्तदुःखैकभाजनेऽस्मिन् संसारे नृभवं प्राप्य पापैस्त्वं किं मुह्यसे?, राजन् ! तव बन्धुना चन्द्रयशसा स्वयमागतो हस्ती चेद् गृहीतः, तर्हि तेन समं किं युद्धं करोषि?, क्रुद्धस्त्वं न किञ्चिद्वेत्सि। यदुक्तम्-" लोभी पश्येद् धनप्राप्तिं, कामिनीं कामुकस्तथा। भ्रमं पश्येद्यथोन्मत्तो, न किञ्चिच्च क्रुधाऽऽकुलः ॥ १ ॥" इदं साध्वीवचो निशम्य नमिश्चिन्तयामास-'अयं चन्द्रयशा युगबाहुभवोऽस्ति, अहं तु पद्मरथपुत्रोऽस्मि, इयं साध्वी सत्यवादिनी सती कथं मम चानेन समं भ्रातृत्वं वदति' इति विमृश्य साध्वीं प्रत्येवं भाषते स्म-हे पूज्ये! असौ क्व?, अहं क्व?, भिन्नकुलसम्भवयोर्मदेतयोः कथं भ्रातृत्वं वदसि?। इति नमिनोक्ता साध्वी प्राऽऽह-वत्स ! यौवनैश्वर्यभवं मदं मुक्त्वा यदि शृणोषि, तदा सकलं स्वरूपं कथ्यते। अथ श्रोतुमुत्सुकाय नमिनृपाय सर्वं पूर्वस्वरूपं साध्वी जगाद। पुनरेवं बभाषे-सुदर्शनपुरस्वामी युगबाहुस्तवास्य च पिता, अहं मदनरेखा तव मातेति। पद्मरथस्तु तव पालकः पितेति। अनेन भ्रात्रा समं मा विरोधं कुरु, बुद्ध्यस्व हितमिति साध्वीप्रोक्तं युगबाहुनामाङ्कितकरमुद्रादर्शनतः सर्वं नमिः सत्यं विवेद। तां साध्वीं प्रकामं चित्तोल्लासेन स्वमातरं मत्वा विशेषान्नमिः प्रणनाम। उवाच च-मातः ! यत् त्वया प्रोक्तं, तत् सर्वं तथ्यमेव। नात्र काचिद्विचारणाऽस्ति, ममेयं करमुद्रा युगबाहुसुतत्वं ज्ञापयति। अथ चन्द्रयशा मे ज्येष्ठभ्राता भवत्येव, परं लोकः कथं प्रत्याय्यते?। लघुभ्रातृवात्सल्यतो ज्येष्ठश्चेत् सम्मुखमायाति, तदाऽहमुचितं विनयं कुर्वन् शोभामुद्वहामि। एवं नमिनृपोक्तमाकर्ण्य सा साध्वी दुर्गद्वारवर्त्मना प्रविश्य राजसौधे जगाम। चन्द्रयशा नृपस्तु तामकस्मादागतामुपलक्ष्य स्वमातरं साध्वीं विशेषादभ्युत्थाय नतवान्, उचिताऽऽसनोपविष्टां तां साध्वीं वृत्तान्तं पृष्टवान्। साध्वी सकलं वृत्तान्तं नमिराजमिलनं यावत् कथयामास। चन्द्रयशा नृपस्तं नमिं निजलघुभ्रातरं मत्वा सभालोकान् प्रत्येवमुवाच-" सुजनाः सन्ति सर्वेषां, पुत्रपत्न्यादयः शुभाः। दुर्लभः सोदरो बन्धु-र्लभ्यते सुकृतैर्यदि ॥१॥" इत्युक्त्वा चन्द्रयशा नृपोऽपि पुराद् बहिर्निर्गतः। नमिरपि तं ज्येष्ठभ्रातरमभ्यागच्छन्तं दृष्ट्वा सिंहाऽऽसनादुत्थाय भूतलमिलच्छिरः प्रणनाम। चन्द्रयशा नृपोऽपि स्वकराभ्यां भूतलादुत्थाय भृशमालिलिङ्ग। तुल्याऽऽकारौ तुल्यवर्णौ तावेकमातृपितृसम्भूतावेव तदा परमप्रीतिपदं जातौ, लोकैः सहोदरौ ज्ञातौ। चन्द्रयशा नृपस्तु तदानीमेव नमिबन्धवे सुदर्शनपुरराज्यं ददौ, स्वयं सङ्ग्रामाङ्गणमध्ये दीक्षां ललौ । क्रमेण राज्यद्वयं पालयन्नमिः क्षितौ प्रचण्डाऽऽज्ञो जज्ञे। अन्यदा नमेर्वपुषि दाघज्वरो जातः पूर्वकर्मदोषेण तस्य षाण्मासिकी पीडा महती उत्पन्ना, तया निद्रामपि न लेभे, अन्तःपुरीनूपुरशब्दा अपि कर्णशूलायाऽऽसन्।

नमिराज्ञो दाघज्वरशान्तये स्वयं चन्दनं घर्षयन्तीनामन्तःपुरीणां वलयशब्दाः रोमसु भल्लप्राया बभूवुः । तत्र ताभिर्वलयानि समस्तान्युत्तारितानि, केवलमेकैकं मङ्गलाय रक्षितम् । तदानीं नूपुरकङ्कणशब्दाऽश्रवणेन नमिना कश्चिन्निकटस्थः सेवकः पृष्टः-कथमधुना कङ्कणशब्दा न श्रूयन्ते ? । तेनोक्तम्-स्वामिन् ! भवत्पीडाकरत्वेनान्तःपुरीभिः कङ्कणान्युत्तारितानि, केवलमेकैकं मङ्गलाय रक्षितमिति, तेन नैकैककङ्कणशब्दाः श्रूयन्ते, परस्परघर्षाभावात् । एवं तद्वचः श्रुत्वा प्रतिबुद्धो नमिरेवं चिन्तयामास-यथा संयोगतः शुभा अशुभाः शब्दा जायन्ते, तथा रागाऽऽदिका दोषाः संयोगत एव भवन्ति । यद्यस्माद्रोगादहं मुक्तः स्यां, तदा सर्वसङ्गं विमुच्य दीक्षां ग्रहीष्यामि । तस्येति ध्यायमानस्य रात्रौ सुखेन निद्रा समायाता । निद्रायां स्वप्नमेवं ददर्श-गजमारुह्याहं मन्दरगिरिमारूढः । प्रातः प्रतिबुद्धो नीरोगो जातः । स एवं व्यचिन्तयत्-अमुं पर्वतं क्वाप्यहमपश्यम्, एवमूहाऽपोहं कुर्वतस्तस्य जातिस्मरणमुत्पन्नम् । एवं च पूर्वभवमपश्यत्-यदाऽहं पूर्वभवे शुक्रकल्पे सुरोऽभवम्, तदाऽर्हज्जन्माभिषेककरणायाहमस्मिन् मेरावगमम् । अथ कङ्कणदृष्टान्तेनैकत्वं सुखकारीति चिन्तयन् प्रत्येकबुद्धत्वं प्राप्य प्रव्रजितो नमिः । तदा राज्यमन्तःपुरमेकपदे त्यजन्तं नमिं ब्राह्मणरूपधरः शक्रः समागत्य परीक्षितवान्, प्रणतवांश्च । शक्रपरीक्षासमये नमिराजसत्कशक्रप्रश्ननमिराजर्ष्युत्तररूपमुत्तराध्ययनान्तर्गतं नवममध्ययनं सञ्जातम् । उत्त० ९ अ० । इह हि करकण्डुद्विमुखनमिनग्गतिराजानश्चत्वारोऽपि प्रत्येकबुद्धाः संयमिनो विहरन्ति स्म । एकदा ते क्षोणीप्रतिष्ठनगरं प्राप्ताः, तत्र चतुर्मुखदेवकुले क्रमतः पूर्वाऽऽद्येषु चतुर्दिग्द्वारेषु युगपत्प्रविष्टाः, तेषामादरकरणार्थं चतुर्मुखो यक्षः समन्तात् सम्मुखोऽभवत् । तदानीं करकण्डुः स्वदेहकण्डूरोगोपशमनाय कर्णधृतां शलाकां गोपयन् द्विमुखेन संयमिनोक्तः-पुरमन्तःपुरं राज्यं देशं च विमुच्य पुनस्त्वं किं सञ्चयं कुरुषे ? । करकण्डुमुनिर्यावत् तं प्रति वक्ति, तावद् भगवन्नमिराजर्षिणा द्विमुखं प्रत्येवमुक्तम्-सर्वाणि राजकार्याणि मुक्त्वा पुनस्त्वया किमिति शिक्षारूपं कार्यं वक्तुमारब्धम् ? । यावद् द्विमुखो मुनिर्नमिराजर्षिं प्रति प्रत्युत्तरं दत्ते, तावन्नग्गतिराजर्षिरेवमुवाच-यदा राज्यं परित्यज्य भवान् मुक्तावुत्सहते, तदाऽन्यतिक्रमव्याख्यातुं नार्हति । अथ करकण्डुमुनिस्तान् त्रीन् प्रत्येवमुवाच-साधुषु साधुर्हितं वदन् न दूषणाय भवति, कण्डूपशमनाय कर्णधृतशलाकासञ्चयोऽयुक्त एव, परमसहता मयेयं धृताऽस्तीति । एवं चत्वारोऽपि परस्परं संबुद्धाः सत्यवादिनः सर्वथा संयमाऽऽराधकाः केवलज्ञानमासाद्य शिवं जग्मुः । उत्त० ९ अ० । (करकण्ड्वादीनामुत्पत्तिकथा, प्रव्रज्याकारणं च करकण्ड्वादीनामवसरे तृ०भागे ३५७ पृष्ठे, चतुर्थभागे १७७५ पृष्ठे प्रतिपादितम्, द्विमुखस्य 'दुमुख' शब्दे वक्ष्यते)

तथा च नमिचरित्रं क्रमाद्रुपन्यस्यते-

मिहिलावइस्स णमिणो,
छम्मासाऽऽतंकवेज्जपमिसेहो ।
कत्तिएं सुविणगदंसण,
अहिमंदर णंदिघोसे य ॥ १ ॥
दोण्णि वि नमी विदेहा,
रज्जाइं पजहिऊण पव्वइया ।
एगो नमि तित्थयरो,
एगो पत्तेयबुद्धो उ ॥ २ ॥
जो से नमितित्थयरो,
सो साहस्सीयपरिवुमो जगवं ।
गंधमवहाय पव्वएँ,
पुत्तं रज्जे ठवेऊणं ॥ ३ ॥
बितिओ वि नमी राया,
रज्ज चइऊण गुणगणसमग्गं ।
गंधमवहाय पव्वएँ,
अहिगारो एत्थ बिइएणं ॥ ४ ॥
पुप्फुत्तराओ चवणं,
पव्वज्जा होइ एगसमएणं ।
पत्तेयबुद्धकेवलि-
सिद्धिगया एगसमएणं ॥ ५ ॥
सेयं सुजायं सुविभत्तसिंगं,
जो पासिया वसहं गोट्ठमज्झे ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिया णं,
कलिंगराया वि समिक्ख धम्मं ॥ ६ ॥
वुट्टिं च हाणिं वसभस्स दट्ठु,
पूरावरेग च महाणईणं ।
अहो अणिच्चं अधुवं च णच्चा,
पंचालराया वि समिक्ख धम्मं ॥ ७ ॥
जा इंदकेउं सुअलंकियं तु,
दट्ठुं पडंतं वि विलुप्पमाणं ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिया णं,
पंचालराया वि समिक्ख धम्मं ॥ ८ ॥
बहुयाण सद्दयं सोचा,
एगस्स य असद्दयं ।
वलयाणं नमी राया,
निक्खंतो मिहिलाहिवो ॥ ९ ॥
जो चूयरुक्खं तु मणाभिरामं,
समंजरीपल्लवपुप्फचित्तं ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहियाणं,
गंधारराया वि समिक्ख धम्मं ॥ १० ॥
जहा रज्जं च रट्ठं च, पुरं अंतेउरं तहा ।
सव्वमेयं परिचज्ज, संचयं किं करेसिमं ? ॥ ११ ॥
जया ते पेइए रज्जे, कया किच्चकरा बहू ।
तेसिं किच्चं परिचज्ज, अज्ज किच्चकरो भवं ? ॥ १२ ॥
जया सव्वं परिचज्ज, मोक्खाय घमसी भवं ।

परं गरिहसी कीस, अत्तनिस्सेसकारए ? ॥ १३ ॥

मोक्खमग्गं पवन्नेसु, साहूसुं बंभयारिसु ।

अहियत्थं निवारिंतो, न दोसं वत्तुमारिहसि ॥ १४ ॥

एतदर्थस्तु प्रायः संप्रदायादवसेय इति तावत् स एवोच्यते । अ-क्षरार्थस्तु स्पष्ट एव । नवरं मिथिला नाम नगरी, तस्याः पतिः स्वामी मिथिलापतिः, तस्य, अनेनान्येषामपि नमीनां सम्भवात्तद्व्यव-च्छेदार्थमाह-नमेर्नमिनाम्नः ,(छम्मासाऽऽयंकवेज्जपमिसेहो त्ति) ष-ण्मासानातङ्को दाहज्वराऽऽत्मको रोग षण्मासाऽऽतङ्क , तत्र वैद्यै-र्भिषग्भिः प्रतिषेधो निराकरणम्-अचिकित्स्योऽयमित्यभिधानरू-प ,षण्मासाऽऽतङ्कवैद्यप्रतिषेध । (कत्तिए त्ति) कार्तिकमासे(सुवि-णगदसणमिति) स्वप्न एव स्वप्नक , तस्मिन् दर्शन स्वप्नकदर्शनम्, अभूदिति शेष । कयो ? (अहिमदर त्ति) अहिमन्दरयोर्नागराजा-चलराजयो , (नदिग्घोसे य त्ति) द्वादशतूर्यसघातो नन्दी, तस्या घोष , स च स्वप्नमवलोकयतो जात , तेन चासौ प्रतिबोधित इत्युपस्कार ॥१॥ इह च मिथिलापतिर्नमिरित्युक्तौ मा भूत्तथावि-धस्य तीर्थकरस्यापि नमे सम्भवाद् व्यामोह इति द्वौ नमी वै-देहावित्याद्युक्तम् ॥२॥ तथा [पुप्फुत्तर त्ति] पुष्पोत्तरविमानात् च्यवन प्रसवनम्, एकसमयेनेति योज्यते । प्रव्रज्या च निष्क्रमण भवत्येकसमयेनैव । तथा प्रत्येकमिति-एकैक हेतुमाश्रित्य बुद्धा अवगततत्त्वा प्रत्येकबुद्धा ,केवलिन उत्पन्नकेवलज्ञानाः, सिद्धि-गता मुक्तिपदप्राप्ताः, त्रयाणामपि कर्मधारयः । एकसमयेनैव इति, चतुर्णामपि समसमयसम्भवात् ॥४॥ तथा[सिय सुजाय त्ति] श्वेत वर्णत , सुजात प्रथमत एवाहीनसमस्ताङ्गोपाङ्गतया, सुष्ठु शोभने, विभक्ते विभागेनावस्थिते, शृङ्गे विषाणे यस्य स तथा तम्,ऋद्धि बलोपचयाऽऽत्मिकाम्,आराद्वै तस्यैव बलापचयात्त-रणाऽऽदिपरिभवरूपां,(समुपेहिया ण त्ति) सम्यगुत्प्रेक्ष्येति पर्या-लोच्य,पाठान्तरत समुत्प्रेक्ष्यमाणो वा,कलिङ्गराजोऽपीत्यत्राऽपि-शब्द उत्तरापेक्षया समुच्चये ॥६॥ तथा (पूरावरेय त्ति) पूरः पूर्णता, अवरेको रिक्तता,अनयोः समाहार पूरावरेकम् ॥७॥ तथेन्द्रकेतु-मिन्द्रध्वज,प्रविलुप्यमानम् इति,जनैः स्वस्वयस्त्राऽऽदिग्रह-णत इतश्चेतश्च विक्षिप्यमाणम् ॥८॥ तथा (समजरीपल्लवपुप्फचित्त त्ति) सह मञ्जरीभिः प्रतीताभिः, पल्लवैश्च किशलयैर्यानि पुष्पा-णि कुसुमानि, तैश्चित्र कर्बुरः समञ्जरीपल्लवपुष्पचित्रः, तम; यद्वा-सह मञ्जरीपल्लवपुष्पैर्वर्तते य स तथा, चित्र आश्चर्योऽन-योर्विशेषणसमासः । [समिक्ख त्ति] आर्षत्वात्समीक्ष्यते पर्या-लोचयत्यनेकार्थत्वादङ्गीकुरुते वा, वर्तमाननिर्देशः प्राग्वद् । यद्वा-(समिक्ख त्ति) समैक्षिष्ट समीक्षितवान्, धर्म यतिधर्मम् ॥१०॥ यदा ते त्वया पैतृके पितुरागते राज्ये कृता विहिताः, कृत्यानि कुर्वन्त्यनुतिष्ठन्ति कृत्यकरा नियोगिनः,बहवः प्रभूताः,तदैव कृत्य-करत्व स्वय तथा तव कर्तुमुचितमासीदित्युपस्कार । तेषामिति कृत्यकराणां कृत्य परापराधपरिज्ञानाऽऽदिकर्त्तव्यं परित्यज्य मनाङ्गीकारादपहाय, अद्य कृत्यकरो नियुक्तकोऽन्यदोषचिन्तो भवाँस्त्वं,किमिति जात इति शेष ? ॥१२॥ तथा [मोक्खाय घ-डसीति]प्राकृतत्वाद् मोक्षाय मोक्षार्थ,घटते चेष्टते,तथा(अत्तनि-स्सेसकारए त्ति) आत्मनो निःशेषमिति शेषाभाव, प्रक्रमात् कर्मण , करोति विधत्ते इत्यात्मनि शेषकारकः । यद्वा-(निस्सेस त्ति) नि श्रेयसो मोक्ष , तत्कारक ॥१३॥ मोक्षमार्गं मुक्त्यध्वा-नं प्रतिपन्नेष्वङ्गीकृतवत्सु साधुषु ब्रह्मचारिषु (अहियत्थ त्ति) अहितार्थं,निवारयन्निषेधयन्,न दोष परापवादलक्षणम्,व-क्ष्येति शेष , वक्तुमभिधातुमर्हसि । यथा हि प्रवानहिनान्निवार-यन् कथमर्हतीत्याह, एव नमिरपि अद्य कृत्यकरो भवान्नि-ति कृत्यकरत्वलक्षणादहितान्निवारयति, तथा दुर्मुखोऽपि सचय किं करोषीति सञ्जयत एवाहितान्निषेधतीति नाय परापवाद इति वक्तुमुचितम् । यद्वा-(अहियत्थ निवारंतो त्ति) सुपव्यत्ययादहितार्थान्निवारयन् (न दोसमिति) मतुब्लोपात् दोषमिति न दोषवन्त वक्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

सम्प्रति सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नस्यावसरः, स च सूत्रे सति प्रवर्ततीति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्-

चइऊण देवलोगा, उववन्नो माणुसम्मि लोगम्मि ।

उवसंतमोहणिज्जो, सरई पोराणयं जाइं ॥ १ ॥

च्युत्वा देवलोकात् प्रतीतात्, उत्पन्नो जातो, मानुषे मानुषभव-लक्षणे, लोके प्राणिगणे, उपशान्तमनुदयप्राप्त, मोहनीय द-र्शनमोहनीय यस्यासावुपशान्तमोहनीयः, स्मरति चिन्त-यति, स्मेति शेष । वर्तमाननिर्देशो वा प्राग्वत् । कामित्याह-(पोराणय ति) पुराणामेव पौराणिकीं,विनयाऽऽदित्वात् ठक् । चिरन्तनीमित्यर्थः । जातिमुत्पत्तिं, देवलोकाऽऽद्यावितिप्रक्रमः । तत्कृतसकलचेष्टोपलक्षण चेह जातिरिति सूत्रार्थ ॥ १ ॥

ततः किमित्याह-

जाई सरित्तु भयवं, सहसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे ।

पुत्तं ठवेत्तु रज्जे, अभिणिक्खमई नमी राया ॥ २ ॥

जातिमुक्तरूपां स्मृत्वा, भगशब्दो यद्यपि धैर्याऽऽदिष्वने-कार्थेषु वर्तते । यदुक्तम्-" धैर्यसौभाग्यमाहात्म्य-यशोऽर्क-श्रुतिधीश्रियः । तपोऽर्थोपस्थपुण्येश-प्रयत्नतनवो भगा ॥१॥" इति । तथाऽपीह प्रास्तावाद् बुद्धिवचन एव गृह्यते, ततो भगो बुद्धिर्यस्यास्तीति भगवान्, (सह त्ति) स्वय-मात्मनैव सबुद्ध सम्यगवगततत्त्वः सहसंबुद्ध , नान्यप्रति-बोधित इत्यर्थः । अथवा-(सहस त्ति) आर्षत्वात् सह जातिस्मृ-त्यनन्तर झगित्येव, बुद्धः । क ? , इत्याह-अनुत्तरे प्रधाने, धर्मे चारित्रधर्मे, पुत्र सुतं, स्थापयित्वा निवेश्य, क ?, राज्ये, अभि-निष्क्रामति धर्माभिमुख्येन गृहवासपर्यायान्निर्गच्छति, स्मेतीहा-पि शेषः । ततश्च प्रव्रजितवानित्यर्थः । प्राग्वत्तिङ्व्यत्ययेन वा व्याख्येयम् । नमिर्नमिनामा, राजा पृथ्वीपातिरिति सूत्रार्थ ॥२॥

स्यादेतत्, कुत्रावस्थितः कीदृशान् वा भोगान् भुक्त्वा सबुद्धः किं वाऽभिनिष्क्रामन् करोतीत्याह-

सो देवलोगसरिसे, अंतेउरवरगओ वरे भोए ।

भुंजित्तु नमी राया, बुद्धो भोगे परिच्चयइ ॥ ३ ॥

स इत्यनन्तरमुद्दिष्ट , (देवलोगसरिस त्ति) देवलोकभोगैः सदृशा देवलोकसदृशाः, मयूरव्यसकाऽऽदित्वान्मध्यमपदलोपी समास । (अंतेउरवरगओ त्ति) वर प्रधानं, तच्च तदन्त पुरं च वरान्तःपुर, तत्र गत स्थितो वरान्तःपुरगत । प्राकृतत्वाच्च वरशब्दस्य परनिपात । वरान्तःपुर हि रागहेतुरिति तद्गतस्या-स्य भोगपरित्यागाभिधानेन जीववीर्योल्लासातिरेक उक्त । तत्रा-पि कदाचिद्वरा शब्दाऽऽदयो न स्यु , तत्सन्नयेऽपि वा सुबन्धु-रिव कुतश्चिन्निमित्तान्न भुञ्जीताऽपीत्याह-वरान् प्रधानान् भोगान् मनोज्ञशब्दाऽऽदीन्, भुक्त्वा आसेव्य, नमिनामा राजा,

कुलो विज्ञाततत्त्वो, भोगानुकूलरूपान्, परित्यजति, स्मेति शेषः । इह पुनर्भोगग्रहणमतिविस्मरणशीला अप्यनुग्राह्या एवेति ज्ञापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

किं भोगानेव त्यक्त्वाऽभिनिष्क्रान्तवान्, उतान्यदपि ?, इत्याह–

मिहिलं सपुरजणवयं, बलमवरोहं च परियणं सव्वं ।
चिच्चा अभिणिक्खंतो, एगंतमहिट्ठिओ भयवं ॥ ४ ॥

मिथिलां मिथिलानाम्नीं नगरीं, सह पुरैरन्यनगरैर्जनपदेन च वर्त्तते या सा तथोक्ता, तां, न त्वेककामेव, बलं हस्त्यश्वाऽऽदि-चतुरङ्गम्, अवरोधं चान्तःपुरं, परिजनं परिवर्गं, सर्वं निरवशेषं, न तु तथाविधप्रतिबन्धास्पदं किञ्चिदेव, त्यक्त्वाऽपहाय, अभिनिष्क्रान्तः प्रव्रजितः, (एगत त्ति) एकोऽद्वितीयः कर्मणामन्तो यस्मिन्निति मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात्समासः । ततः एकान्तो मोक्षः, तमधिष्ठित इवाऽऽश्रितवानिवाधिष्ठितः, तदुपायसम्यग्दर्शनाऽऽद्यासेवनादधिष्ठित एव वा, इहैव जीवन्मुक्त्यवाप्तेः। यद् वा-एकान्तं रूप्यतो विजनमुद्यानाऽऽदि । भावतश्च "एकोऽहं न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित्। त त पश्यामि यस्याहं, नासौ दृश्योऽस्ति यो मम ॥१॥" इति भावनात् एक एवाहमित्यभ्यो निश्चय एकान्तः, प्राग्वत्समासः । तमधिष्ठितो भगवानिति धैर्यवान्, श्रुतवान् वेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

तत्रैवमभिनिष्क्रामति यदभूत्तदाह, यदि वा यदुक्तं 'सर्वं परित्यज्याभिनिष्क्रान्तः', इति, तत्र कीदृक् त्यज्यमानमासीत् ?, इत्याह–

कोलाहलगसंभूयं, आसी मिहिलाएँ पव्वयंतम्मि ।
तइया रायरिसिम्मी, नमिम्मि अभिणिक्खमंतम्मि ॥ ५ ॥

कोलाहलो विलपिताऽऽक्रन्दितकः, कोलाहल एव कोलाहलकः, संभूत इति जातो यस्मिन् तत् कोलाहलकसंभूतम्, आहिताऽऽदेराकृतिगणत्वाद् निष्ठान्तस्य परनिपातः। यदि वा भूतशब्द उपमार्थः, ततः कोलाहलकसंभूतमिति कोलाहलकरूपतामिवाऽऽपन्नम्-हा तात ! हा मातरित्यादिकलकलाऽऽकुलितम्, आसीदभूत्, मिथिलायां, सर्वे गृहविहाराऽऽरामाऽऽदीति प्रक्रमः। क्व सति ?, प्रव्रज्यामाददाने, तदा तस्मिन् काले, राजा चासौ राज्यावस्थामाश्रित्य, ऋषिश्च तत्कालापेक्षया राजर्षिः, यदि वा-राज्यावस्थायामपि ऋषिरिव ऋषिः, क्रोधाऽऽदिषड्वर्गजयात्। तथा च राजनीतिः-"कामः क्रोधस्तथा लोभो, हर्षो मानो मदस्तथा । षड्वर्गमुत्सृजेदेतं, तस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः ॥ १ ॥" तस्मिन्नमौ नमिनाम्न्यभिनिष्क्रा-[illegible] गृहात्कषायाऽऽदिभ्यो वा निर्गच्छति । इति सूत्रार्थः ॥५॥

पुनरत्रान्तरे यदभूत्तदाह (शक्रसंवादः)–

अब्भुट्ठियं रायरिसिं, पव्वज्जाठाणमुत्तमं ।
सक्को माहणवेसेण, इमं वयणमब्बवी ॥ ६ ॥

अभ्युत्थितमभ्युद्यतं, राजर्षिं प्राग्वत्, प्रव्रज्यैव स्थानं-तिष्ठन्ति सम्यग्दर्शनाऽऽदयो गुणा अस्मिन्निति कृत्वा प्रव्रज्यास्थानं, प्रतीति शेषः । उत्तमं प्रधानं, सुप्व्यत्ययेन सप्तम्यर्थे वा द्वितीया । ततः प्रव्रज्यास्थाने उत्तमेऽभ्युद्यतं तद्विषयोद्यमवन्तं, शक्र इन्द्रो, माहनवेषेण ब्राह्मणवेषेण, आगत्येति शेषः । तदा हि तस्मिन्महात्मनि प्रव्रज्यां ग्रहीतुमनसि तदाशयं परीक्षितुकाम स्वयमिन्द्र आजगाम, ततः स इदं वक्ष्यमाणम्, उच्यते इति वचनं वाक्यम्, अब्रवीदुक्तवानिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

यदुक्तवाँस्तदाह–

किं णु भो अज्ज मिहिलाए, कोलाहलगसंकुला ।
सुव्वंति दारुणा सद्दा, पासाएसु गिहेसु य ॥ ७ ॥

किमिति परिप्रश्ने, नु इति वितर्के, भो इत्यामन्त्रणे। अद्येत्यस्मिन् दिने, मिथिलायां नगर्यां कोलाहलकेन बहलकलकलाऽऽत्मकेन संकुला व्याकुलाः कोलाहलकसंकुलाः, श्रूयन्ते इत्याकर्ण्यन्ते, शब्दा ध्वनय इति सम्बन्धः । ते च कदाचिद्वन्दिवृन्दोदीरिता अपि स्युः, तन्निराकरणायाऽऽह–दारयन्ति जनमनांसीति दारुणा विलपिताऽऽक्रन्दिताऽऽदय, क्व पुनस्ते ?, प्रासादेषु सप्तभूमाऽऽदिषु, गृहेषु सामान्येन वेश्मसु, तथा 'प्रासादो देवतानरेन्द्राणाम्' इति वचनात् प्रासादेषु देवतानरेन्द्रसम्बन्धिस्थानपदेषु, गृहेषु तदितरेषु, चशब्दात् त्रिकचतुष्कचत्वराऽऽदिषु चेति सूत्रार्थः ॥७॥

ततश्च–

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ८ ॥

एतमनन्तरोक्तम्, अर्थमिति, उपचारादर्थाभिधायिनं ध्वनिं, निशम्याऽऽकर्ण्य, हिनोति गमयति विवक्षितमर्थमिति हेतुः, स च पञ्चावयववाक्यरूपः, कारणं चान्यथाऽनुपपत्तिमात्रं, ताभ्यां चोदितः प्रेरितो हेतुकारणचोदितः, कोलाहलकसंकुलाः दारुणाः शब्दाः श्रूयन्त इत्यनेन हि उभयमेतत् सूचितम् । तथाहि–अनुचितमिदं भवतोऽभिनिष्क्रमणमिति प्रतिज्ञा, आक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुत्वादिति हेतुः, प्राणव्यपरोपणाऽऽदिवदिति दृष्टान्तः, यद्यदाक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुस्तत्तद् धर्मार्थिनोऽनुचितं, यथा प्राणव्यपरोपणाऽऽदि, तथा चेदं भवतोऽभिनिष्क्रमणमित्युपनयः, तस्मादाक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुत्वादनुचितं भवतोऽभिनिष्क्रमणमिति निगमनमिति पञ्चावयवं वाक्यमिह हेतुः, शेषावयवाविवक्षाविरहितं त्वाक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुत्वं भवदभिनिष्क्रमणानुचितत्वं विनाऽनुपपन्नमित्येतावन्मात्रं कारणम्, अनयोस्तु पृथगुपादानं प्रतिपाद्यभेदतः साधनवाक्यवैचित्र्यसूचनार्थम्। तथा च श्रुतकेवली–"कत्थ वि पञ्चावयवं, दसहा वा सव्वहा ण पडिसिद्धं । न य पुण सव्वं भण्णति, हंदी सवियारमक्खायं ॥१॥" तथा–"जिणवयणं सिद्धं चिय, भण्णति कत्थ वि उदाहरणं । आसज्ज उ सोतारं, हेऊ वि कहिं वि वत्तव्वो ॥१॥" (नि०) अथवाऽन्वयव्यतिरेकलक्षणो हेतुः, उपपत्तिमात्रं तु दृष्टान्ताऽऽदिरहितं कारणम् । यथा निरुपमसुखः सिद्धो, ज्ञानाऽनाबाधप्रकर्षात्, अन्यत्र हि निरुपमसुखासम्भवान्नोदाहरणमस्ति । दृष्टाश्च प्रकृष्टमत्यादिज्ञानानाबाधाः परमसुखिनो मुनय इति ज्ञानानाबाधप्रकर्षो निरुपमसुखत्वे हेतुरुच्यते । तथा च पूज्याः–"हेऊ अणुगमवतिरे-गलक्खणो सज्झवत्थुपज्जाओ । आहरणं दिट्ठंतो, कारणमुववत्तिमेत्तं तु ॥१७७॥" (विशे०) इहापि आक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुत्वमेव हेतुः, तस्योक्तन्यायेनान्वयान्वितत्वात्सति चान्वये व्यतिरेकस्यापि सम्भवात् । इदमेव चान्वयव्यतिरेकविकलतया विवक्षितमुपपत्तिमात्रं कारणम् । एवं सर्वत्र कारणभावना कार्येत्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतमेव सूत्रमनुश्रियते–ततः प्रेरणानन्तरं, नमिर्नमिनामा, राजर्षिर्देवेन्द्रं शक्रमिदं वक्ष्यमाणमब्रवीदुक्तवानिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

किं तदुक्तवानित्याह–

मिहिलाए चेइए वच्छे, सीयच्छाए मणोरमे ।
पत्तपुप्फफलोवेए, बहूणं बहुगुणे सया ॥ ९ ॥

णमि

मिथिलायां पुरि, चितिरिह प्रस्तावात्पत्रपुष्पाऽऽद्युपचयः, तत्र साधु चित्यं,ततः प्रज्ञाऽऽदेराकृतिगणत्वात् स्वार्थिकेऽणि चैत्यमुद्यानम्। तस्मिन्(चच्छे त्ति) सूत्रत्वाद्विशब्दलोपे वृक्षैः,शीता शीतला छाया यस्य तच्छीतलच्छायं, तस्मिन्, मनश्चित्तं रमते धृतिमवाप्नोति यस्मिन् तन्मनोरमम्-मनोरमाभिधानं, तस्मिन्, पत्रपुष्पफलानि प्रतीतानि, तैरुपेतं युक्तं पत्रपुष्पफलोपेतं,तस्मिन्, बहूनां प्रक्रमात् खगाऽऽदीनां, बहवो गुणा यस्मात्तत्तथा, तस्मिन्। कोऽर्थः?, फलाऽऽदिभिः प्रचुरोपकारकारिणि,सदा सर्वकालमिति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

तत्र किम् ?, इत्याह—

वाएण हीरमाणम्मि, चेइयम्मि मणोरमे ।

दुहिया असरणा अत्ता, एए कंदंति भो ! खगा ॥१०॥

वातेन वायुना, ह्रियमाणे इतस्ततः क्षिप्यमाणे; वातश्च तदा शक्रेणैव कृत इति संप्रदायः। चितिरिहेष्टकाऽऽदिचयः, तत्र साधुर्योग्यश्चित्यः प्राग्वत्, स एव चैत्यः, तस्मिन्। किमुक्तं भवति?-मधो बद्धपीठिके उपरि चोच्छ्रितपताके मनोरमे मनोऽभिरतिहेतौ, वृक्षे इति शेषः। दुःखं संजातं येषां ते दुःखिताः,अशरणास्त्राणरहिताः,अत एवाऽऽर्ताः पीडिताः, एते प्रत्यक्षाः,क्रन्दन्त्याक्रन्दशब्दं कुर्वन्ति,भो इत्यामन्त्रणम्, खगाः पक्षिणः। 'इह च किमद्य मिथिलायां दारुणाः शब्दाः श्रूयन्ते?' इति यत् स्वजनजनाऽऽक्रन्दनमुक्तं, तत् खगक्रन्दनप्रायम्, आत्मा च वृक्षकल्पः, ततो हि नियतकालमेव सहावस्थितत्वेन, उत्तरकाल च स्वस्वगतिगामितया द्रुमाऽऽश्रितखगोपमा एवामी स्वजनाऽऽदयः।

उक्तं हि-

"यद्वद् द्रुमे महति पक्षिगणा विचित्राः,
कृत्वाऽऽश्रयं हि निशि यान्ति पुनः प्रभाते ।
तद्वज्जगत्यसकृदेव कुटुम्बजीवाः,
सर्वे समेत्य पुनरेव दिशो भजन्ते ॥१॥" इति ।

ततश्चाऽऽक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दहेतुत्वेनाभिधीयमानमसिद्धम् । एते हि स्वजनाऽऽदयो वातेन प्रेर्यमाणा द्रुमाविश्लिष्यत्खगा इव स्वस्वप्रयोजनहानिमेवाऽऽशङ्कमानाः क्रन्दन्ति ।

आह च-

"आत्मार्थे सीदमानं स्वजनपरजनो रौति हा हा कुलाऽऽर्तो,
भार्या चाऽऽत्मोपभोगं गृहविभवसुखं स्व वयस्याश्च कार्यम् ।
क्रन्दन्त्यन्योऽन्यमन्यस्त्विह हि बहुजनो लोकयात्रानिमित्तं,
यश्चान्यस्तत्र कश्चिद् मृगयति हि गुणं रोदितीष्टः स तस्मै"॥१॥

एवं चाऽऽक्रन्दाऽऽदिदारुणशब्दानामभिनिष्क्रमणहेतुकत्वमसिद्धम्, स्वप्रयोजनहेतुकत्वात्तेषाम्, तथा च भवदुक्तहेतुकारणे असिद्धे एवेत्युक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

ततश्च-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ११॥

एनमर्थं निशम्य हेतुकारणयोरनन्तरसूत्रसूचितयो , चोदितः- असिद्धोऽयं भवदभिहितो हेतु , कारणं चेत्यनुपपत्त्या प्रेरितो हेतुकारणचोदितः, ततो नमिं राजर्षिं देवेन्द्र इदं वक्ष्यमाणमब्रवीदिति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

किं तत् ?, इत्याह—

एस अग्गी य वाऊ य, एयं डज्झइ मंदिरं ।

भयवं ! अंतेउरंते णं, कीस णं नावपेक्खइ ?॥ १२ ॥

एष इति प्रत्यक्षोपलभ्यमानोऽग्निश्च वैश्वानरो, वातश्च पवनः, तथैतदिति प्रत्यक्षं, दह्यते भस्मसात् क्रियते, प्रक्रमाद्वातेरितेनाग्निनैव, मन्दिरं वेश्म, भवत्संबन्धीति शेषः। भगवन्निति पूर्ववत् । (अतेउरंते णं ति) अन्तःपुराभिमुखं, (कीस त्ति) कस्मात्, णमिति वाक्यालङ्कारे। नावप्रेक्षसे नावलोकयसे ?। इह च यद्यदात्मनः स्वं तत्तद्रक्षणीयं, यथा ज्ञानाऽऽदि, स्वं चेदं भवतोऽन्तःपुरमित्यादिहेतुकारणभावना प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

ततश्च--

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।

तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ १३ ॥

प्राग्वत् ॥१३॥

किमब्रवीत् ?, इत्याह--

सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचण ।

मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण ॥ १४ ॥

सुखं यथा भवत्येवं वसामस्तिष्ठामो,जीवामः प्राणान् धारयाम , येषां (मो इति) अस्माकं, नास्ति न विद्यते, किञ्चन वस्तुजातम् । यतः--"एकोऽहं न मे कश्चित्, स्व परो वाऽपि विद्यते । यदेको जायते जन्तु-र्म्रियतेऽप्येक एव हि ॥ १ ॥" इति न किञ्चिदन्तःपुराऽऽदि मत्सत्कं, यतश्चैवमतो-मिथिलायामस्यां पुरि दह्यमानायां न मे दह्यते किञ्चित् स्वल्पमिति ॥ मिथिलाग्रहणं तु-न केवलमन्तःपुराऽऽद्येव न मत्सबन्धि, किं त्वन्यदपि स्वजनाऽऽदि, स्वस्वकर्मफलभुजो हि जन्तवस्तथा तथाऽस्मिन् भ्राम्यन्तीति किमत्र कस्य स्वं परं वेति ख्यापनार्थम् ॥ ततश्चानेन प्रागुक्तहेतोरसिद्धत्वमुक्तं, तत्त्वतो ज्ञानाऽऽदिव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यास्वकीयत्वादित्यादि प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥१४॥

एतदेव भावयितुमाह-

चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो ।

पियं न विज्जए किंचि, अप्पियं पि न विज्जए ॥१५॥

बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो ।

सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगंतमणुपस्सओ ॥ १६ ॥

त्यक्ताः परिहृताः-पुत्राश्च सुता , कलत्राणि च दाराः, येन स तथा, तस्य, अत एव निर्व्यापारस्य परिहृतकृषिपाशुपाल्याऽऽदिक्रियस्य, भिक्षोरुक्तरूपस्य, प्रियमिष्टं, न विद्यते नास्ति, किञ्चिदल्पमपि, अप्रियमप्यनिष्टमपि, न विद्यते नास्ति, प्रियाप्रियविभागास्तित्वे हि सति पुत्रकलत्रत्यागं न कुर्यात्, एतयोरेवातिप्रतिबन्धविषयत्वादिति भावः । एतेन यदुक्तं-नास्ति किञ्चनेति तत्समर्थितं, तत् स्वकीयत्वं हि पुत्राऽऽद्यत्यागतोऽभिष्वङ्गतः स्यात्, स च निषिद्ध इति ॥ एवमपि कथं सुखेन वसनं जीवनं च ?,इत्याह-बहु विपुलं, खुरवधारणे, बहेव,मुनेस्तपस्विनो,भद्रं कल्याणं सुखं च, अनगारस्य भिक्षोरिति च प्राग्वत् । सर्वतो बाह्यादभ्यन्तराच्च । यद्वा-स्वजनात्परजनाच्च, विप्रमुक्तस्येति पूर्ववत् । एकान्तमेव-कोऽहमित्याद्युक्तरूपैकत्वभावनाऽऽत्मकम्, अनुपश्यतः पर्यालोचयत इति सूत्रद्वयार्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥

पुनरपि-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ १७ ॥

प्राग्वत् ॥१७॥

पागारं कारइत्ता णं, गोपुरऽट्टालगाणि य ।

उस्सूलगसयग्घीओ, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥ १८ ॥

प्रकर्षेण कुर्वन्ति तमिति प्राकारः, तं,धूलीष्टकाऽऽदिविरचितं, कारयित्वा विधाप्य, गोपुराट्टालकानि च-तत्र गोभिः पूर्यन्ते इति गोपुराणि प्रतोलीद्वाराणि, गोपुरग्रहणमर्गलाकपाटोपलक्षणम् । अट्टालकानि प्राकारकोष्ठकोपरिवर्तीन्यायोधनस्थानानि, (उस्सूलग त्ति) खातिका परबलपातार्थमुपरिच्छादितगर्त्ता, (सयग्घीओ त्ति) शतं घ्नन्ति शतघ्न्यः, ताश्च यन्त्रविशेषरूपाः, तत एव सकलं निराकुलीकृत्य (गच्छसि इति) तिङ्व्यत्ययाद् गच्छ । क्षतात् त्रायत इति क्षत्रियः, तत् संबोधनं क्षत्रिय !,हेतूपलक्षणं चेदम् । स चायम्-यः क्षत्रियः स पुररक्षं प्रत्यवहितो, यथोदितोदयाऽऽदिः,क्षत्रियश्च भवान्,शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ।१८।

तत.-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।

तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ १९ ॥

प्राग्वत् ॥ १९ ॥

सद्धं च नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं ।

खंतिं निउण-पागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसगं ॥ २० ॥

धणू परक्कमं किच्चा, जीवं च इरियं सया ।

धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेणं पलिमंथए ॥ २१ ॥

तवनारायजुत्तेणं, भेत्तूणं कम्मकंचुयं ।

मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चइ ॥ २२ ॥

श्रद्धां तत्त्वरुचिरूपाम,अशेषगुणगणधारणतया नगरीं पुरीं,कृत्वा हृदि विधाय, अनेन च प्रशमसंवेगाऽऽदीनि गोपुराणि कृत्वेत्युपलक्ष्यते, अर्गलाकपाटं तर्हि किम् ?, इत्याह-तपोऽनशनाऽऽदि बाह्यान्तरप्रधानः संवर आश्रवनिरोधलक्षणस्तपःसंवरः, तं, मिथ्यात्वाऽऽदिदुष्टनिवारकत्वेनार्गला परिघं, तत्प्रधानं कपाटमप्यर्गलेत्युक्तम्,ततोऽर्गलामर्गलाकपाटं,कृत्वेति संबन्धः। प्राकारः कः ?,इत्याह-क्षान्तिः क्षमा,निपुणमिव निपुणं शत्रुरक्षणं प्रति,अक्राविरोध्यनन्तानुबन्धिकषायपरोधितया प्राकारं,कृत्वेति संबन्धः । उपलक्षणं चैषां मानाऽऽदिनिरोधिनां मार्दवाऽऽदीनाम् । तिसृभिरट्टालकोच्छूलकशतघ्नीस्थानीयाभिर्मनोगुप्त्यादिगुप्तिभिर्गुप्तम् । मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात्समासः । प्राकारस्य विशेषणम् । अत एव दुःखेन प्रधृष्यते परैरभिभूयत इति दुःप्रधर्षं ,स एव दुःप्रधर्षक ,तम् । पठन्ति च-"खंतिं निउण-पागारं,तिगुत्तिं दुप्पधंसयं" इति स्पष्टम् । इत्थं यदुक्तं प्राकाराऽऽदीन् कारयित्वेति तत्प्रतिवचनमुक्तम् ॥ संप्रति तु प्राकाराट्टालकेष्ववश्यं योद्धव्यम्, तच्च सत्सु प्रहरणाऽऽदिषु,प्रतिविधेये च वैरिणि संभवति । अत आह-धनुः कोदण्डं,पराक्रमं जीववीर्योल्लासरूपमुत्साहं कृत्वा, जीवां च प्रत्यञ्चां च, ईर्यामीर्यासमितिम्, उपलक्षणत्वाच्छेषसमितीश्च, सदा सर्वकालं,तद्विरहितस्य जीववीर्यस्याप्यकिञ्चित्करत्वात् । धृतिं च धर्माभिरतिरूपां,केतनं शृङ्गमयधनुर्मध्ये काष्ठमयमुष्टिकाऽऽत्मकम्, तदुपरि स्नायुना निबध्यते, इदं तु केन बन्धनीयम् ?,इत्याह-सत्येन मनःसत्याऽऽदिना(पलिमंथए त्ति) बध्नीयात् ॥ ततः किम् ?,इत्याह-तपः षड्विधमान्तरं परिगृह्यते, तदेव कर्मप्रत्यमित्रभेदकतया नाराचः-अयोमयो बाणः, तद्युक्तेन प्रक्रमाद्धनुषा, भित्त्वा विदार्य,कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदि, कञ्चुक इव कर्मकञ्चुकः ,तम् । इह कर्मकञ्चुकग्रहणेनाऽऽत्मैवाऽऽवृतो वैरीत्युक्तं भवति । वक्ष्यति च-"अप्पा मित्तममित्तं च,दुप्पट्ठिए सुपट्ठिए ।" कर्मणस्तु कञ्चुकत्वं तद्गतमिथ्यात्वाऽऽदिप्रकृत्युदयवर्तिनः अध्याकारमुपकल्पत आत्मनो दुर्निवारत्वात्, मुनिः प्राग्वत् । कर्मभेदे जेयस्य जितत्वाद् विगतः संग्रामो यस्य यस्माद्वेति विगतसंग्राम उपरताऽऽयोधनः सन् ,भवन्त्यस्मिन् शारीरमानसानि दुःखानीति भवः संसारः,तस्मात्परिमुच्यते । एतेन च यदुक्तम्-प्राकारं कारयित्वेत्यादि,तदिलक्षसाधनम् । इत्थं श्रद्धानगररक्षणाभिधानाद् भवतश्च तत्त्वतस्तद्विकलतेति चोक्तं भवति । न च भवदभिमतप्राकाराऽऽदिकरणे सकलशारीरमानसक्लेशवियुक्तिलक्षणा मुक्तिरवाप्यते, इतस्तु तदवाप्तिरपीति सूत्रत्रयार्थः ॥२०।२१।२२॥

एव च तेनोक्ते-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ २३ ॥

प्राग्वत् ॥२३॥

पासाए कारइत्ता णं, वद्धमाणगिहाणि य ।

वालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥२४॥

प्रसीदन्ति नृणां नयनमनांसि येषु ते प्रासादाः, तानुक्तरूपान्, वर्द्धमानगृहाणि चानेकधा वास्तुविद्याऽभिहितानि । (वालग्गपोइय त्ति) देशीपदं वलभीवाचकम्, ततो वलभीश्च कारयित्वा; अन्ये त्वाकाशतडागमध्यस्थितं क्षुल्लकप्रासादमेव " वालग्गपोइयाओ त्ति" देशीपदाभिधेयमाहुः । ततस्ताश्च क्रीडास्थानभूताः कारयित्वा,ततोऽनन्तरं गच्छ क्षत्रिय !। एतेन च यः प्रेक्षावान् स सति सामर्थ्ये प्रासादाऽऽदि कारयिता,यथा ब्रह्मदत्ताऽऽदि , प्रेक्षावांश्च सति सामर्थ्ये भवानित्यादिहेतुकारणयोः सूचनमकारीति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥

एव च शक्रेणोक्ते-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।

तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ २५ ॥

प्राग्वत् ॥२५॥

संसयं खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणई घरं ।

जत्थेव गंतुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ॥ २६ ॥

संशीतिः संशयः-इदमित्थं भविष्यति,न वा?,इत्युभयांशाऽऽवलम्बनप्रत्ययः, तं, खलुरेवकारार्थः । ततः संशयमेव, स कुरुते; यथा-मम कदाचिद् गमनं भविष्यतीति । यो मार्गे कुरुते गृहं । गमननिश्चये तु करणायोगात्,अहं तु न संशयितेत्याशयः; सम्यग्दर्शनाऽऽदीनां मुक्तिं प्रत्यवन्ध्यहेतुत्वेन मया निश्चितत्वादवासत्वाच्च । यदि नाम न संशयितस्तथापि किमिहैव गृहं न कुरुषे ?। अत आह-यत्रैव विवक्षितप्रदेशे,गन्तुं यातुम्, इच्छेदभिलषेत् । (तत्थेति) व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यस्य तत्रैव-जिगमिषितप्रदेशे, कुर्वीत विदधीत,स्वस्याऽऽत्मनः ,आश्रयो वेश्म स्वाश्रयः ,तम् । यद्वा-शाश्वतं नित्यं,प्रक्रमाद् गृहमेव । ततोऽयमर्थः-इह तावदिहावस्थानं मार्गावस्थानप्रायमेव, यत्र तु जिगमिषितप्रदेशे कुर्वीत विदधीतास्माभिस्तन्मुक्तिपदं, तदाश्रयविधाने च प्रवृत्ता एव वयम्, ततस्तत्करणप्रवृत्तत्वात् कथं प्रेक्षावत्त्वक्षतिः ?। तथा च यः प्रेक्षावानित्याद्यपि तत्त्वतः सिद्धसाधनतयैवावस्थितमिति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥

तत पुनरपि-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ २७ ॥

प्राग्वत् ॥२७॥

आमोसे लोमहारे य, गंठिभेए य तक्करे ।
नगरस्स खेमं काऊणं, तओ गच्छसि खत्तिआ ! ॥२८॥

आ समन्तात् मुष्णन्ति स्तैन्यं कुर्वन्तीत्यामोषाः, तान्, लोमानि हरन्ति व्यपनयन्ति प्राणिनां ये ते लोमहाराः । किमुक्तं भवति ?-निर्स्त्रिंशतया, आत्मविघाताऽऽशङ्कया च प्राणान् निहत्यैव ततः सर्वस्वमपहरन्ति । तथा च वृद्धाः-" लोमहाराः प्राणहाराः " इति । तांश्च, ग्रन्थिं द्रव्यसंबन्धिनीं भिन्दन्ति घुर्घुरककत्रिकर्तिकाऽऽदिना विदारयन्तीति ग्रन्थिभेदाः, तान्, चशब्दो भिन्नक्रमः । तदेव कुर्वन्ति तस्कराः, सर्वकालं चौर्यकारिणः, तांश्च । यत आहुर्वैयाकरणाः-"तद्बृहतो' करपत्योश्चोर-देवतयो' सुट् तलोपश्च ।" (वार्ति०) इह चोत्साद्येति गम्यते, प्रविश्य पिण्डीमित्युक्तौ भक्षयेतिवत् । यद्वा-सप्तम्येवेय,षष्ठ्यर्थे चैकवचनम्,ततश्चाऽऽमोषाऽऽदिषूपतापकारिषु सत्सु,नगरस्य पुरस्य क्षेमं सुस्थं, कृत्वा विधाय, ततस्तदनन्तरं, गच्छ क्षत्रिय ! । एतेनापि य. सधर्मा नृपतिः, स इहाधर्मकारिनिग्रहकृत्, यथा भरताऽऽदिः, सधर्मनृपतिश्च भवानित्यादिहेतुकारणसूचना कृतैवेति सूत्रार्थः ॥२८॥

इत्थं शक्रोक्तौ-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ २९ ॥

असई तु मणुस्सेहिं, मिच्छा दंमो पउंजइ ।
अकारिणोऽत्थ बज्झंति, मुच्चई कारओ जणो ॥ ३० ॥

असकृदनेकधा, तुरेवकारार्थः, ततश्चासकृदेव, मनुष्यैर्मनुजैः,मिथ्या व्यलीकं । किमुक्तं भवति ?-अनपराधिष्वप्यज्ञानाहङ्काराऽऽदिहेतुभिरपराधिष्विव, दण्डनं दण्डो देशत्यागशरीरनिग्रहाऽऽदिः,प्रयुज्यते व्यापार्यते । कथमिदम् ?,इत्याह-अकारिण आमोषणाऽऽद्यविधायिनः, अत्रेत्यस्मिन् प्रत्यक्षत उपलभ्यमानमनुष्यलोके, बध्यन्ते निगडाऽऽदिभिर्नियन्त्र्यन्ते; मुच्यते त्यज्यते,कारको विधायकः, प्रकृतत्वादामोषणाऽऽदीनाम् । जनो लोकः । तदनेन यदुक्तम्-प्रागामोषकाऽऽद्युत्सादनेन नगरस्य क्षेमं कृत्वा गच्छेति, तत्र तेषां ज्ञातुमशक्यतया क्षेमकरणस्याप्यशक्यत्वमुक्तम् । यत्तु यः सधर्मेत्यादि सूचितम्, तत्रापरिज्ञानतोऽनपराधिनामपि दण्डमाददतां सधर्मनृपतित्वमपि तावन्निस्त्यमित्यसिद्धता हेतोरिति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥ ३० ॥

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ३१ ॥

प्राग्वत् ॥३१॥

गवरमियता स्वजनान्तःपुरपुरप्रासादनृपतिधर्मविषयः किमस्याभिष्वङ्गोऽस्ति, नेति वेति विमृश्य, सम्प्रति द्वेषाभावं विवेक्तुमिच्छुर्विजिगीषुतामूलत्वात् द्वेषस्य, तामेव परीक्षितुकामः शक्र इदमुक्तवान्-

जे केइ पत्थिवा तुब्भं *, नाणमंति नराहिवा ! ।
वसे ते ठावइत्ता णं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥३२॥

ये केचिदिति सामस्त्योपदर्शकम्,पार्थिवा भूपालाः,(तुब्भं ति) तुभ्यं, नानमन्ति न मर्यादया प्रह्वीभवन्ति, तुभ्यमिति नमतीतियोगेऽपि चतुर्थी,"मात्रे पित्रे सवित्रे च,नमामि" इत्यादिवददुष्टैव । वाचनान्तरे पठ्यते च-(तुज्झ ति) तत्र च तवेति शेषविवक्षया षष्ठी । 'नराहिवा !' इत्यत्राऽऽकारो "ह्रस्वदीर्घौ मिथो वृत्तौ" ॥ ८ । १ । ४ ॥ इति लक्षणात् * । ततश्च हे नराधिप ! नृपते !, वशे इत्यात्माऽऽयत्ते, तानित्यन्यान्पार्थिवान्, स्थापयित्वा निवेश्य, कृत्वेति यावत् । ततो गच्छ क्षत्रिय ! । इहापि यो नृपतिः स नानमत्पार्थिवं नमयिता, यथा भरताऽऽदिरित्यादिहेतुकारणे अर्थत आक्षिप्ते, इति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥

एवं तु सुरपतिनोक्ते-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ३३ ॥

सूत्रं प्राग्वत् ॥३३॥

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥ ३४ ॥

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ? ।
अप्पणा चेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥ ३५ ॥

पंचिंदियाणि कोहं, मायं माणं तहेव लोभं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥ ३६ ॥

य इत्यनुद्दिष्टनिर्देशे,सहस्रं दशशताऽऽत्मकं, सहस्राणां प्रक्रमात् सुभटानाम्,सङ्ग्रामे युद्धे, दुर्जये दुरापपरपरिभवे, जयेदभिभवेत् । सम्भावने लिङ् । एकमद्वितीयं, जयेद् यदि कथञ्चिज्जीववीर्योल्लासतोऽभिभवेत्, कम् ?,आत्मानं स्वं,दुराचारप्रवृत्तमिति गम्यते । एषोऽनन्तरोक्तः,(से इति) तस्य जेतुः, सुभटदशशतसहस्रजयात्परमः प्रकृष्टो, जयः परेषामभिभवः,तदनेनाऽऽत्मन एवातिदुर्जयत्वमुक्तम् ॥ ३४ ॥ तथा च (अप्पाणमेव त्ति) तृतीयार्थे द्वितीया । ततश्चात्मनैव सह, युद्ध्यस्व सङ्ग्रामं कुरु । यद्वा-युधेरन्तर्भावितण्यर्थत्वाद्युध्यस्वेति योधयस्व । कम् ?, आत्मानम्, इहाप्यात्मनैव सहेति शेषः । किम् ?, न किञ्चिदित्यर्थः । ते तव, युद्धेन सङ्ग्रामेण, बाह्यत इति बाह्याः पार्थिवाऽऽदिकमाश्रित्य, यदि वा बाह्य इति तृतीयार्थे तसि ,ततो बाह्येन युद्धेनेति सम्बध्यते । एवं च (अप्पणा चेव त्ति) आत्मनैवान्यव्यतिरिक्तेन, आत्मानं स्वं, [जइत्त त्ति] जित्वा, सुखमैकान्तिकात्यन्तिकमुक्तिसुखाऽऽत्मकम्, एधत इति-अनेकार्थत्वाद्धातूनां प्राप्नोति । (अहवा सुहमेहए त्ति) शुभं पुण्यमेधते-अन्तर्भावितण्यर्थत्वाद् वृद्धिं नयति॥३५॥ कथमात्मन्येव जिते सुखावाप्तिः ?,इत्याह-पञ्चेन्द्रियाणि श्रोत्राऽऽदीनि, क्रोधः कोपो,मानोऽहङ्कारो,माया निकृतिः,तथैव लोभश्च गार्ध्यलक्षणो, दुर्जयो दुरभिभवः,च समुच्चये । एवेति पूरणे । अतति सततं गच्छति तानि तान्यध्यवसायस्थानान्तराणीति व्युत्पत्तेरात्मा मनः , सर्वत्र च सूत्रत्वाज्जात्मना निर्देशः ।सर्वमशेषमिन्द्रियादि, उपलक्षणत्वाद् मिथ्यात्वाऽऽदि च,आत्मनि जीवे, जितेऽभिभूते, जितमित्यभिभूतमेव । ननु मनसि जिते जितानि

* तुज्झमिति पाठान्तरम् ।

* अयं तु प्रमादेनोल्लेखः, यतो हि 'गो दीर्घो वा' ॥८।३।३८॥ इतिसूत्रं विवेचयता हेमचन्द्रसूरिणा प्राप्ताप्राप्तविभाषात्वमस्य सूत्रस्य समर्थितम् । तद् यथा-हे गुरू, हे गुरु, हे पहू, हे पहु, एषु प्राप्ते विकल्पः । हे गोयमा !, हे गोयम ! इह त्वप्राप्ते विकल्पः ।

पञ्चेन्द्रियाऽऽदीनीति, किं पृथक् तज्जयाभिधानेन ?। सत्यम्-तथाऽपि प्रत्येकं दुर्जयत्वख्यापनाय पृथगुपन्यास इत्यदोषः। यद्वा-[दुज्जयं चेव अप्पाणं त्ति] चकारो हेत्वर्थः, एवोऽवधारणे, भिन्नक्रमश्च-आत्मशब्दानन्तरं द्रष्टव्यः। ततश्च यस्मादात्मैव जीव एव दुर्जयस्ततः सर्वमिन्द्रियाऽऽद्यात्मनि जिते जितम्। अनेन चेन्द्रियाऽऽदीनामेव दुःखहेतुत्वात्तज्जयतः सुखप्राप्तिः समर्थिता भवति। एवं च फलोपदर्शनद्वारेणैवंविधैव जिगीषुता श्रेयसीत्याचष्टे। ततश्च यो नृपतिरित्याद्यपि वस्तुतो विजिगीषुत्वदर्शनात् सिद्धसाधनतया प्रत्युक्तमिति सूत्रत्रयार्थः ॥३६॥

भूयोऽपि-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ३७ ॥

प्राग्वत् ॥३७॥

नवरमनन्तरपरीक्षातो क्रोधोऽप्यनेन परिहृत इति निश्चित्य, जिनप्रणीतधर्मं प्रति स्थैर्यं परीक्षितुकामः शक्र इदमवोचत्-

जइत्ता विउले जण्णे, भोइत्ता समणमाहणे ।
दच्चा भोच्चा य जिट्ठा य, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥३८॥

[जइत्त त्ति] याजयित्वा विपुलान् विस्तीर्णान्, यज्ञान् यागान्, भोजयित्वा-अभ्यवहार्य, श्रमणाश्च निर्ग्रन्थाऽऽदयो, ब्राह्मणाश्च द्विजाः, श्रमणब्राह्मणाः, तान्, द्विजाऽऽदिभ्यो गोभूमिसुवर्णाऽऽदीन् दत्त्वा, भुक्त्वा च मनोज्ञशब्दाऽऽदीन्, इष्ट्वा च राजर्षित्वात् स्वयमेव यज्ञान्, ततो गच्छ क्षत्रिय !। अनेन यद्यत्प्राणिप्रीतिकरं तत्तद् धर्माय, यथा हिंसोपरमाऽऽदि, प्राणिप्रीतिकराणि चामूनि यागाऽऽदीनीत्यादिनीत्या हेतुकारणे सूचिते एवेति सूत्रार्थः ॥३८॥

शक्रवचनानन्तरम्-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥३९॥

सूत्रं प्राग्वत् ॥३९॥

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए ।
तस्सा वि संजमो सेओ, अदिंतस्स वि किंचण ॥ ४० ॥

यः सहस्रं सहस्राणां दशलक्षाऽऽत्मकं, मासे मासे, गवां प्रतीतानां, (दए त्ति) दद्यात्, तस्याप्येवंविधस्य दातुर्यदि कथञ्चिच्चारित्रमोहनीयक्षयोपशमेन संयम आश्रवाऽऽदिविरमणाऽऽत्मकः स्यात्, तदा स एव श्रेयानतिशयप्रशस्यः। कथंभूतस्यापि ?, अददतोऽप्ययच्छतोऽपि, किञ्चन स्वल्पमपि वस्तु। यद्वा-(तस्सा वि त्ति) तस्मादप्युक्तरूपाद् ददतुरवधित्वेन विवक्षितात्संयच्छति प्राणिहिंसाऽऽदिभ्यः सम्यगुपरमतीति, सर्वधातूनां पचाऽऽदिषु दर्शनादचि संयमः संयमवान्, साधुरित्यर्थः। श्रेयान् प्रशस्यतरः। अथवा तस्यापि दातुः, प्रक्रमाद्गोदानधर्मात्, संयम उक्तरूपः, श्रेयान्। शेषं पूर्ववत्। गोदानं चेह यागाऽऽद्युपलक्षणमतिप्रभूतजनाऽऽचरितमित्युपात्तम्। एवं च संयमस्य प्रशस्यतरत्वमभिदधता यागाऽऽदीनां सावद्यत्वमर्थादावेदितम्। तथा च यज्ञप्रणेतृभिरुक्तम्-"षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचनाद्, न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १ ॥" इयत्स्वस्तु वधे च कथमसावद्यता नाम ?। तथा दानान्यप्यशनाऽऽदिविषयाणि, धर्मोपकरणगोचराणि च धर्माय वर्ण्यन्ते ?। यत आह-" अशनाऽऽदीनि दानानि, धर्मोपकरणानि च। साधुभ्यः साधुयोग्यानि, देयानि विधिना बुधैः" ॥१॥ शेषाणि तु सुवर्णगोभूम्यादीनि प्राण्युपमर्दहेतुतया सावद्यान्येव, भोगानां तु सावद्यत्वं सुप्रसिद्धम्; तथा च प्राणिप्रीतिकरत्वादित्यसिद्धो हेतुः। प्रयोगश्च-यत्सावद्यं तत्प्राणिप्रीतिकरं न, यथा हिंसाऽऽदि, सावद्यानि च यागाऽऽदीनीति सूत्रार्थः ॥४०॥

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ४१ ॥

'एयमट्ठं' सूत्रं प्राग्वत् ॥४१॥

नवरम्, इत्थं जिनधर्मस्थैर्यमवधार्य, प्रव्रज्यां प्रति दृढोऽयमुत नेति परीक्षणार्थं शक्र इदमब्रवीत्-

घोराऽऽसमं चइत्ता णं, अन्नं पत्थेसि आसमं ।
इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा ! ॥ ४२ ॥

घोरोऽत्यन्तदुरनुचरः, स चासावाश्रमश्च, आङिति स्वपरप्रयोजनाभिव्याप्त्या, श्राम्यन्ति खेदमनुभवन्त्यस्मिन्निति कृत्वा घोराऽऽश्रमो गार्हस्थ्यम्, तस्यैवाल्पसत्त्वैः दुष्करत्वात्। यत आहुः-" गृहाऽऽश्रमसमो धर्मो, न भूतो न भविष्यति। पालयन्ति नराः शूरा, क्लीबाः पाखण्डमाश्रिताः ॥१॥" त, त्यक्त्वाऽपहाय, "जहित्ता ण ति" क्वचित्पाठः। तत्र च हित्वा, अन्यमेतद्व्यतिरिक्तं कृषिपाशुपाल्याऽऽद्यशक्तकातरजनाभिनन्दितं, प्रार्थयसेऽभिलषसि, आश्रमं प्रव्रज्यालक्षणं, नेदं क्लीबसत्त्वानुचरितं भवादृशामुचितमित्यभिप्रायः। तर्हि किमुचितम् ?, इत्याह-इहैवास्मिन्नेव गृहाश्रमे, स्थित इति गम्यते। पोषं धर्मपुष्टिं धत्त इति पोषधः, अष्टम्यादितिथिषु व्रतविशेषः, तत्र रत आसक्तः पोषधरतो, (भवाहि त्ति) भव, अणुव्रताऽऽद्युपलक्षणमेतत्, अस्यैवोपादानं पोषधादिनेष्ववश्यभावतस्तपोऽनुष्ठानख्यापकम्। यत आह आश्वसेनः-"सर्वेष्वपि तपोयोगः, प्रशस्तः कालपर्वसु। अष्टम्यां पञ्चदश्यां च, नियतः पोषधं चरेत् ॥१॥" इति। मनुजाधिप ! नृपते !, अत्र च घोरपदेन हेतुराक्षिप्तः। तथाहि-यद्यद् घोरं तत्तदकर्मार्थिनाऽपि अनुष्ठेयं, यथाऽनशनाऽऽदि, तथा चायं गृहाऽऽश्रमः, शेषमेतदनुसारतोऽभ्यूह्यमिति सूत्रार्थः ॥४२॥

ततश्च-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ४३ ॥

प्राग्वत् ॥४३॥

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेण उ भुंजए ।
न सो सुअक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥४४॥

" मासे मासे " इति वीप्सायां द्विर्वचनम्, तुरिहोभयत्र चैवकारार्थः, ततश्च मासे मास एव, न त्वेकस्मिन्नेव मासे, अर्द्धमासाऽऽदौ वेति, यः कश्चिद् बालोऽविवेकः, कुशाग्रेणैव तृणविशेषप्रान्तेन, भुङ्क्ते। एतदुक्तं भवति-यावत् कुशाग्रेऽवतिष्ठते तावदेवाभ्यवहरन्, नातोऽधिकम्, अथवा कुशाग्रेणेति जातावेकवचनम्। तृतीया तु ओदनेनासौ भुङ्क्ते इत्यादिवत् साधकतमत्वेनाऽन्यविवक्षितत्वेऽपि विवक्षितत्वात्। नेति निषेधे। स इति यः कुशाग्रैर्भुङ्क्ते स एवविधकष्टानुष्ठाय्यपि, सुष्ठु शोभनः सर्वसावद्यविरतिरूपत्वात्, आङिति अभिव्याप्त्या, ख्यातस्तीर्थकराऽऽदिभिः कथितः स्वाख्यातः, तथाविधो

धर्मो यस्य सोऽयं स्वाख्यातधर्मा, तस्य, चारित्रिण इत्यर्थः । कलां भागमपि,अर्हति षोडशीं षोडशपूरणीम् ॥ इदमुक्तं भवति-स समोऽपि न भवति, किं पुनस्तुल्यः, अधिको वा । ततो यदुक्तं-यदव् घोरं न तद्धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयम्,अनशनाऽऽदिवदित्यत्र घोरत्वादित्यनैकान्तिको हेतुः । घोरस्यापि स्वाख्यातधर्मस्यैव धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयत्वात्, अन्यस्य त्वात्मविघाताऽऽदिवदन्यथात्वात् । प्रयोगश्चात्र-यत् स्वाख्यातधर्मरूपं न भवति घोरमपि न तद्धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयम्, यथा-आत्मवधाऽऽदिः, तथा च गृहाऽऽश्रमः, तद्रूपत्वं चास्य सावद्यत्वाद् हिंसाऽऽदिवदित्यसं प्रसङ्गेन । शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥४४॥

ततश्च—

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ४५ ॥

'एय' सूत्रं प्राग्वत् ॥ ४५ ॥

भवतं यतिधर्मे दृढोऽयमिति निश्चित्य, दुरन्तोऽयमभिष्वङ्ग इति तद्भावं परीक्षितमपि पुनः परीक्षितुमिन्द्र उवाच-

हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं, कंसं दूसं च वाहणं ।
कोसं वड्ढावइत्ता णं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥ ४६ ॥

हिरण्य सुवर्णं, सर्णं शोभनवर्णं, विशिष्टवर्णकमित्यर्थः । यद्वा-हिरण्यं घटितस्वर्णम्,इतरत्तु सुवर्णं,मणयश्चेन्द्रनीलाऽऽदयः, मुक्ताश्च मौक्तिकानि, मणिमुक्तम् । तथा कांस्यं कांस्यभाजनाऽऽदि, दूष्यं वस्त्राणि, चः स्वगतानेकभेदसंसूचकम् । वाहनं रथाश्वाऽऽदि । वाचनान्तरे पठन्ति च-(सवाहण त्ति) सह वाहनैर्वर्तत इति सवाहनम्,हिरण्याऽऽदीति सम्बन्धः । कोशं भाण्डागारं धर्मलाभाऽऽद्यनेकवस्तुस्वरूपं [वड्ढावइत्ता ण त्ति] वृद्धिं प्रापय्य, ततः समस्तवस्तुविषयेच्छापरिपूर्तौ, गच्छ क्षत्रिय ! । अयमाशयः-यः साऽऽकाङ्क्षो, नासौ धर्मानुष्ठानयोग्यो भवति, यथा मम्मणवणिक्, साऽऽकाङ्क्षश्च भवान्, आकाङ्क्षणीयहिरण्याऽऽदिवस्त्वपरिपूर्तेः, तथाविधरूपकत्वादिति । शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ ४६ ॥ [तत्कथा ' मम्मण ' शब्दे वक्ष्यते]

ततः-

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ४७ ॥

प्राग्वत् ॥४७॥

सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥ ४८ ॥
पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुहिं सह ।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥ ४९ ॥

सुवर्णं रूप्यं च सुवर्णरूप्यमिति समाहारः । तस्य, तु पूरणे । यद्वा-आर्षत्वाद्विभक्तिलोपः, तुशब्दश्च समुच्चये, ततः सुवर्णस्य रूप्यस्य च पर्वता इव पर्वताः पर्वतप्रमाणा राशयः,(भवे त्ति) भवेयुः स्युः,पर्वतप्रमाणत्वेऽपि च लघुपर्वतप्रमाणा एव स्युः,अत आह-[सिया हु त्ति] स्यात् कदाचित्, हुरवधारणे, भिन्नक्रमश्च, ततः कैलाशसमा एव कैलाशपर्वततुल्या एव, न त्वन्यलघुपर्वतप्रमाणाः, तेऽप्यसंख्यकाः संख्याविरहिताः, न तु द्वित्रा एव, नरस्य पुरुषस्य, उपलक्षणत्वात् स्त्रियः, पण्डकस्य वा । न तैः कैलाशसमैरसंख्येयैरपि सुवर्णरूप्यपर्वतैः, किञ्चिदप्यल्पमपि, परितोषोत्पादनं प्रति क्रियत इति शेषः । वाचनान्तरे पठ्यते च-[न तेण त्ति] अत्र च सूत्रत्वाद्वचनव्यत्ययः । कुतः पुनरिदम् ?,इत्याह-इच्छा अभिलाषो,हुरिति यस्मात्, आकाशेन समा तुल्या आकाशसमा, अनन्तिका अन्तरहिता । तथा चैतदनुवादी वाचकः-"न तुष्टिरिह शताज्जन्तो-र्न सहस्राच्च कोटितः । न राज्याच्चैव देवत्वा-दैन्द्रत्वादपि विद्यते ॥ १ ॥ " ॥ ४८ ॥

किं सुवर्णरूप्ये केवले एव नेच्छापरिपूर्तये?,इत्याशङ्कयाऽऽह-पृथ्वी मही, शालयो लोहितशाल्यादयः,यवाः प्रतीताः, चः शेषधान्यसमुच्चयार्थः । एवोऽवधारणे,स च भिन्नक्रमो नेत्यस्यान्तरं योज्यते । हिरण्यं सुवर्णं, ताम्राऽऽद्युपलक्षणमेतत्, पशुभिर्गवाश्वाऽऽदिभिः,सह सार्द्धं,प्रतिपूर्णं समस्तम् । वाचनान्तरे पठन्ति च-(सव्व त ति) सर्वमशेषं, न तु कियदेव, तत् पृथिव्यादि । नेति नैव,अलं समर्थं, प्रक्रमादिच्छापरिपूर्त्तये । एकस्याद्वितीयस्य,जन्तोरिति गम्यते । इत्येतत् श्लोकद्वयोक्तम्, (विज्ज त्ति)सूत्रत्वाद्विदित्वा । यद्वा-इतीत्यस्माद्धेतोः, विद्वान् पण्डितः,तपो द्वादशविधं, चरेदासेवेत । ततः एव निस्पृहतयेच्छापरिपूर्तिसम्भवादिति भावः । अनेन च संतोष एव निराकाङ्क्षतायां हेतुर्न तु हिरण्याऽऽदिवर्द्धनमित्युक्तम् । तथा च हिरण्याऽऽदि वर्द्धयित्वेत्यत्र यदनुमानमुक्तं, तत्र साकाङ्क्षत्वलक्षणो हेतुरसिद्धः, न साऽऽकाङ्क्षणीयवस्त्वपरिपूर्तेस्तस्य सिद्धत्वं, संतुष्टतया ममाऽऽकाङ्क्षणीयवस्तुनः एवाभावादिति सूत्रार्थः ॥४९॥

भूयोऽपि—

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ५० ॥

' एयमट्ठं ' सूत्रं प्राग्वत् ॥५०॥

भवतम, अविद्यमानविषयेषु विषयवाञ्छानिवृत्तोऽयमिति निश्चित्य,सत्सु तेष्वभिषङ्गोऽस्तु, न वा ?,इति विवेचयितुमिन्द्र उवाच-

अच्छेरयमब्भुदए, भोए जहसि पत्थिवा ! ।
असंते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहम्मसि ॥ ५१ ॥

(अच्छेरय ति) आश्चर्यं वर्त्तते,यत् त्वमेवंविधोऽपि (अब्भुदए त्ति) अद्भुतकानाश्चर्यरूपान्, भोगान् कामान्, जहासि त्यजसि । वाचनान्तरे पठ्यते च-(चयसि त्ति)पार्थिव ! पृथिवीपते ! पाठान्तरश्च-क्षत्रिय ! । अथवा-(अब्भुदए त्ति) अभ्युदये; ततश्च यदभ्युदयेऽपि भोगांस्त्वं जहासि तदाश्चर्यं वर्त्तते । तथा-तस्यागतश्च-असतोऽविद्यमानान्, कामान्, प्रार्थयसेऽभिलषसि यत्,तदप्याश्चर्यमिति संबन्धः । अथवा-कस्तवात्र दोषः ?, सकलेन उत्तरोत्तरप्रासभोगाभिलाषरूपेण विकल्पेन, विहन्यसे विविधं बाध्यसे, एवंविधसंकल्पस्यापर्यवसितत्वात्क्रम, अमीषां स्थूलसूक्ष्माणामिन्द्रियार्थविधायिनां शब्दाऽऽदयोऽपि नो तृप्तिविशेषाणामुपागता । यद्वा-(अच्छेरगमब्भुदए त्ति) मकारोऽलाक्षणिकः । ततश्चाऽऽश्चर्याद्भुतयोरेकार्थत्वेऽप्युपादानमतिशयख्यापनार्थम् । अतिशयाद्भुतान् भोगान् जहासि पार्थिव !, असतश्च कामान् प्रार्थयसि यत्,तत्संकल्पेनैवोक्तरूपेण,विहन्यसे बाध्यसे । कथं ह्यन्यथा विवेकिमस्तवैतत्समवेत्,एतेन च यः सद्विवेको,नासौ

काङ्क्षया परिहरति; यथा भुलदत्तचक्रवर्त्यादि., सद्विवेकश्च भवानित्याद्विहेतुकारणे सूचिते इति सूत्रार्थः ॥ ५१ ॥ (तत्कथा 'बंभदत्त' शब्दे)

तदनु—

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ५२ ॥

प्राग्वत् ॥ ५२ ॥

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेज्जमाणा य, अकामा जंति दुग्गइं ॥ ५३ ॥

(सल्ल ति)देहान्तश्चलतीति शल्यं शरीरान्तः प्रविष्टं तोमराऽऽदि, शल्यमिव शल्यम्। के ते?,काम्यमानत्वात् कामाः, मनोज्ञशब्दाऽऽदयः। यथाहि-शल्यमन्तश्चलद्विविधबाधाविधायि, तथैतेऽपि, तत्त्वत एतामपि सदा बाधाविधायित्वात्। तथा वेवेष्टि व्याप्नोतीति विषं तालपुटाऽऽदि, विषमिव विषं कामाः, यथैव हि तदुपभुज्यमानं मधुरमित्यापातसुन्दरमिवाऽऽभाति, अथ परिणतावतिदारुणम्, एवमेते अपि कामाः, तथा कामाः-आशीषो दंष्ट्रा ,तासु विषमस्येत्याशीविषः, तदुपमाः । यथा ह्ययमङ्गैरवलोक्यमान स्फुरन्मणिफणामण्डित इति शोभन इव विभाव्यते, स्पर्शनाऽऽदिभिरनुभूयमानश्च विनाशायैव भवति, तथैतेऽपि कामाः?। किञ्च-कामान् प्रार्थयमानाः अभिलषन्तः, अपि शब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात्प्रार्थयमाना अपि, अकामा इष्यमाणकामाभावाद्, यान्ति गच्छन्ति, दुर्गतिं दुष्टां नरकाऽऽदिगतिम्। तदनेन न केवलं शल्याऽऽदिवदनुभूयमाना एवामी दोषकारिणः, किं तु प्रार्थ्यमाना अपीत्युक्तं भवति। तथा यः सद्विवेको, नासौ प्राप्तमप्राप्तमाऽऽकाङ्क्षया जहातीत्यादौ सद्विवेकत्वमनैकान्तिको हेतुः। न ह्ययमेकान्तः, यथा-प्राप्तमप्राप्तार्थेनः प्राप्तस्याप्यपायहेतोस्तदुच्छेदकाप्राप्तार्थं विवेकिभिः परिहियमाणत्वात्; अनभ्युपगतोपालम्भश्चायम्,मुमुक्षुणा कचिदाकाङ्क्षाया एवासम्भवात्। उक्तं हि- "मोक्षे भवे च सर्वत्र,निःस्पृहो मुनिसत्तमः" इति सूत्रार्थः॥५३॥

कथं पुनः कामान् प्रार्थयमाना दुर्गतिं यान्ति?, अत आह-

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥ ५४ ॥

अधो नरकगतौ,व्रजति गच्छति,क्रोधेन कोपेन,मानेनाहङ्कारेण,अधमा नीचा गतिः, भवतीति गम्यते। (माय त्ति) सुब्व्यत्ययात् मायया परवञ्चनाऽऽत्मिकया, गतेः-प्रस्तावात् सद्गतेः, प्रतिघातो विनाशो गतिप्रतिघातो भवति। लोभात्कार्येषु लक्षणात्, (दुहओ ति) द्विधा द्विःप्रकारम्-ऐहिकं, पारत्रिकं च। बिभ्यत्यस्मादिति भयं दुःखं,तदाशङ्कने साध्वसं च। कामेषु प्रार्थ्यमानेष्ववश्यभावी क्रोधसम्भवः, स चेहगिति कथं न, तत् प्रार्थनातो दुर्गतिगमनमित्यभिप्रायः। यद्वा-सर्वमपि यदिन्द्रेणोक्तं तत्कषायानुपातीति तद्विपाकानुवर्णनमिदमिति सूत्रार्थः ॥ ५४ ॥

एवं बहुभिरप्युपायैस्तमिन्द्रः क्षोभयितुमशक्तः किमकरोत्?, इत्याह-

अवउज्झिऊण माहण-रूवं च विउव्विऊण इंदत्तं ।
वंदइ अभित्थुणंतो, इमाहि महुराहि वग्गूहिं ॥ ५५ ॥
अहो ! ते निज्जितो कोहो, अहो ! माणो पराजितो ।
अहो ! निरक्किया माया, अहो ! लोभो वसीकओ ॥ ५६ ॥
अहो ! ते अज्जवं साहु, अहो ! ते साहु मद्दवं ।
अहो ! ते उत्तमा खंती, अहो ! ते मुत्ति उत्तमा ॥ ५७ ॥

(अवउज्झिऊण त्ति)अपोह्य त्यक्त्वा, ब्राह्मणरूपं धिग्वर्णवेषं, (विउव्विऊण त्ति) विकृत्य, इन्द्रत्वमुत्तरवैक्रियरूपमिन्द्रमार्ग, यन्द्रतेऽनेकार्थत्वात् प्रणमति, अभिष्टुवन्नाभिमुख्येन स्तुतिं कुर्वन्, इमाभिरनन्तरवक्ष्यमाणाभिः, मधुराभिः श्रुतिसुखाभिः,(वग्गूहिं ति)आर्षत्वाद् वाग्भिर्वाणीभिः ॥५५॥ तद्यथा-अहो! इति विस्मये, (ते त्ति) त्वया,नितरामतिशयेन जितोऽभिभूतो निर्जितः, क्रोधः कोपः, यतस्त्वमनानमत्पार्थिववशीकरणप्रेरणायामपि न क्षुभित इत्यभिप्रायः । तथा अहो! त्वया मानोऽहमितिप्रत्ययहेतुः, पराजितोऽभिभूतः,यस्त्वं मन्दिरं दहति इत्याद्युक्तेऽपि कथं मयि जीवतीदमिति नाहङ्कृतिं कृतवानिति ॥५६॥ तथा-(अहो निरक्किय त्ति) प्राकृतत्वान्निराकृताऽपास्ता माया, यस्त्वं पुनः रक्षाहेतुप्राकाराट्टालकोच्छूलकाऽऽदिषु निकृतिहेतुकेष्वामोपकोत्सादनाऽऽदिषु च न मनो निहितवान्। तथा अहो ते लोभो वशीकृत इति नियन्त्रित ,यस्त्वं हिरण्याऽऽदि वर्द्धयित्वा गच्छेति सहेतुकमभिहितोऽपि इच्छाया आकाशसमत्वमेवोदाहृतवान्,अत एव अहो!ते तवाऽऽर्जवं विनयवत्त्वं,साधु शोभनम्,अहो! ते साधु मार्दवं मृदुत्वम्,अहो! ते उत्तमा प्रधाना क्षान्तिः कोपोपशमलक्षणा, अहो! ते मुक्तिर्निर्लोभता, उत्तमा; व्यत्ययनिर्देशस्त्वनानुपूर्व्यापि प्ररूपणाङ्गमितिकृत्वेति सूत्रार्थः ॥५७॥

इत्थं गुणोपवर्णनद्वारेणाभिष्टुत्य सम्प्रति फलोपदर्शनद्वारेण प्रस्तुवन्नाह-

इहं सि उत्तमो भंते!, पच्छा होहिसि उत्तमो ।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥ ५८ ॥

इहास्मिन् जन्मनि,असि भवसि,उत्तमः प्रधानः,उत्तमगुणान्वितत्वात्। (भंते त्ति)पूज्याभिधानम्। पश्चात् प्रेत्य परलोके भविष्यस्युत्तमः। कथमित्याह-लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य,उत्तममुपरिवर्त्ति लोकोत्तमम् । उत्तमं-दर्वलाकोऽऽद्यपेक्षया प्रधानम्। अथवा-(लोगुत्तममुत्तमं त्ति)मकारोऽलाक्षणिकः, ततो लोकस्य लोके वा,उत्तमोत्तममतिशयप्रधानं लोकोत्तमम्,तिष्ठन्त्यस्मिन्नतः परं गच्छन्तीति स्थानं, किं तत्?,इत्याह-सिद्धिं मुक्तिं,गच्छसि सूत्रत्वाद् गमिष्यसि, निर्गतो रजसः कर्मणः,इति सूत्रार्थः ॥५८॥

उपसंहारमाह-

एवं अभित्थुणंतो, रायरिसिं उत्तमाएँ सद्धाए ।
पायाहिणं करेंतो, पुणो पुणो वंदई सक्को ॥ ५९ ॥

एवमनुनोक्तन्यायेन,अभिष्टुवन् राजर्षिमुक्तरूपं, प्रक्रमान्नमिम्, उत्तमया प्रधानया, श्रद्धया भक्त्या, (पायाहिणं ति) प्रदक्षिणां, कुर्वन् विदधत्, पुनः पुनः वन्दते प्रणमति, शक्रः पुरन्दरः, इति सूत्रार्थः ॥५९॥

अनन्तरं च यत् कृतवाँस्तदाह-

तो वंदिऊण पाए, चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्स ।
आगासेणुप्पइओ, ललियचवलकुंडलतिरीडी ॥६०॥

ततस्तदनन्तरं, पाठान्तरतश्च-(स इति) शक्रः, वन्दित्वा, पादौ चरणौ, चक्रं चाङ्कुशश्च प्रतीतावेव, तत्प्रधानानि लक्षणानि

ययोस्तौ, तथा मुनिवरस्य, नमिनाम्न इति प्रक्रमः । तत आकाशेन नभसा, उत्पतितः, उत्पति इति ऊर्द्ध-देवलोकाभिमुखं, पतितो गत उत्पतितः, ललिते च ते सविलासतया, चपले च चञ्चलतया ललितचपले, तथाविधे कुण्डले कर्णाऽऽभरणे यस्यासौ ललितचपलकुण्डलः, स चासौ तिरीटी च मुकुटवान्, ललितचपलकुण्डलतिरीटीति सूत्रार्थः ॥ ६० ॥

स एवंविधः स्वयमिन्द्रेणाभिष्टूयमानः किमुत्कर्षं मनस्यासवान्, उत न ?, इत्याह-

नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ ।
चइऊण गेहं वइदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिए ॥६१॥

नमिर्नमयति भावतः प्रह्वीभवन्तमात्मानं स्व तत्त्वभावनया विशेषतः प्रगुणयति तत्त्वच्छिद्रकतां नयति । तत्कालापेक्षया लट् । कथंभूतः सन् ?, साक्षात् प्रत्यक्षतामुपगम्य, शक्रेणेन्द्रेण,(चोइओ त्ति) प्रेरितः,त्यक्त्वाऽपहाय,गेहं गृहं, (वइदेहि त्ति)सूत्रत्वाद् विदेहनामा जनपदः,सोऽस्यास्तीति वैदेही,विदेहजनपदाधिपः, न त्वन्य एव कश्चिदिति भावः। यद्वा-विदेहेषु भवा वैदेही मिथिलापुरी, सुपूर्व्यत्ययात् तां च, त्यक्त्वेति सम्बन्धनीयम् । श्रामण्ये श्रमणभावे पर्युपस्थिते, उद्यतोऽभूदिति शेषः । यद्वा-नमिर्नमयति संयमं प्रति प्रवणीकरोत्यात्मानम्,कीदृशः ?, शक्रेण प्रेरितः, कथम् ?, साक्षात् स्वयं, न त्वन्यपार्श्वप्रहितसन्देशकाऽऽदिना, श्रामण्ये पर्युपस्थितः, न तु तत्प्रेरणतोऽपि धर्मं प्रति विप्लुतोऽभूदिति भावः । इति सूत्रार्थः ॥६१॥

किमेष एवैवंविधः, उतान्येऽपि ?, इत्याह-

एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से नमी रायरिसी ॥६२॥ त्ति बेमि ।

(एवमिति) यथैतेन नमिना निश्चलत्वं कृतं,तथाऽन्येऽपि कुर्वन्ति, उपलक्षणत्वादकार्षुः, करिष्यन्ति च । न त्वयमेव, निदर्शनतयैवास्योपात्तत्वात् । कीदृशाः पुनरन्येऽप्येवं कुर्वन्ति ?, संबुद्धा मिथ्यात्वापगमतोऽवगतजीवाजीवाऽऽदितत्त्वाः। पण्डिताः सुनिश्चितशास्त्रार्थाः, प्रविचक्षणा अभ्यासातिशयतः क्रियां प्रति प्राप्तोपायाः सन्तः,तथाविधाश्च सन्तः किं विदधति ?, विनिवर्तन्ते विशेषेण तदनासेवनादुपरमन्ति, केभ्यः ?,(भोगेसु त्ति) भोगेभ्यः, किंवत् ?, यथा स नमिर्नमिनामा राजर्षिर्निश्चलो भूत्वा तेभ्यो निवृत्त इति ॥ यद्वा-उपदेशपरमेतद्,यत एव कुर्वन्ति संबुद्धाः पण्डिताः प्रविचक्षणाः। एवमिति कथम् ?, इत्याह--भोगेभ्यो विनिवर्तन्ते विशेषेणात्यन्तनिश्चलतालक्षणेन, निवर्तन्ते, यथा स नमिनामा राजर्षिः, ततो भवद्भिरप्येवंविधैरित्थमेव विधेयमिति सूत्रार्थः ॥ ६२ ॥ इति ब्रवीमीति पूर्ववत् नयाश्च प्राग्वदिति । उत्त० ९ अ० । सूत्र० । आ० चू० । आव० । ऋषभजिनसहप्रव्राजितस्य कच्छस्य सुते विनमिभ्रातरि, यो हि कुसुमोच्चयेन भगवन्तं प्रसाद्य धरणेन्द्राऽऽदेशाद् विद्याधरर्द्धिसंप्राप्तो वैताढ्ये नगे दक्षिणश्रेण्यां राज्यं चकार । (आ०म०१ अ०१ खण्ड ।कल्प० । आ० चू०) ततो विजययात्रागतेन भरतचक्रिणा पराजितो रत्नानि दत्त्वा क्षमयां चकार । आव० १ अ० । आ० म० । (शत्रुञ्जयेऽस्य प्रतिमा ।)"आत्तासिना विनमिना, नमिना च निषेवितः । स्वर्गाऽऽरोहणचैत्ये च,श्रीनाभेयः प्रभासते ॥१॥" ती०१कल्प । स्वनामके चोच र्व्यौ, " श्रीस्मद्भाभिधनस्याख्यौ, खेचरेन्द्रमहाभृती । कोटिश्च्या महर्षीणां,सहितौ सिद्धिमीयतुः ॥१॥" ती०१ कल्प । अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे एकविंशे तीर्थंकरे,परीषहोपसर्गाऽऽदिनामनाद् "नमेस्तु वा" इति विकल्पेनोपान्त्यस्याकाराभावपक्षे नमि'। धर्म०२ अधि०। प्राकृतशैल्या शब्दसत्त्वाल्लक्षणान्तरसंभवाच्च "तत्थ सव्वे वि परीसहोवसग्गा णामिया कसाय त्ति सामन्न, विसेसो पुण-"पणया पच्चंतनिवा, दंसिअमित्ता जिणम्मि तेण णमी । " (५१) आव० २ अ० । तथा गर्भस्थे भगवति परचक्रनृपैरपि प्रणतिः कृतेति नमिः । ध० २ अधि० । अनु० । (' तित्थयर ' शब्दे सर्वं वक्ष्यते) " नवरं नमीए अरहा दसवाससहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे० जाव पहीणे । " स्था० १० ठा० । कल्प० । "नमिस्स णं अरहओ एगूणचत्तालीसं आहोहियसया होत्था ।" स०३९ सम० । "नमिस्स णं अरहओ एगचत्तालीसं अज्जियासाहस्सीओ होत्था।"स०४०सम०। प्रव० । आ० चू० । अन्तकृद्दशानां प्रथमाऽऽध्ययनोक्तवक्तव्यताकेऽन्तकृत्साधौ, * स्था० १० ठा० ।

णमिऊण-नत्वा--अव्य० । प्रणम्येत्यर्थे, दश०१ अ० । "णमिऊणऽरहंताणं, सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं ।" नि० चू० १ उ० । पञ्चा० । पं० स० ।

णमिपव्वज्जा-नमिप्रव्रज्या-स्त्री० । नमेः प्रव्रज्याऽत्राभिधीयते इति नमिप्रव्रज्या । मिथिलाराजस्य नमेः प्रव्रज्यायां शक्रसंवादरूपे नवमे उत्तराध्ययने, उत्त० ६ अ० । स० । ("णमि" शब्दे चैतद्वक्तव्यतोक्ता)

णमिय-नमित-त्रि० । नम्रे, जी० ३ प्रति० । " कुसुमफलभारनमियसाला ।" जी० ३ प्रति० । नीचैर्भावं प्रापिते,ज० १ वक्ष० ।

नत्वा-अव्य० । प्रणम्येत्यर्थे, कर्म० ४ कर्म० ।

णमियणमिय-नमितनमित-त्रि०। देवर्षिवन्दिते, प०सू० १ सूत्र।

णमिसाहु-नमिसाधु-पुं० । थारापद्रपुरीयगच्छीयश्रीशान्तिभद्रसूरिशिष्ये, अनेन रुद्रटरचितकाव्यालङ्कारग्रन्थोपरि टिप्पणं कृतम् । अयं च ११२५ वि० वर्षे विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

णमुदय-नमुदय-पुं० । आजीविकोपासकभेदे, भ० ७ श० १० उ० ।

णमोक्कार-नमस्कार-पुं०। नमस्करणं नमस्कारः। नमस्-कृ-घञ् । "नमस्कारपरस्परे द्वितीयस्य" ॥ ८ । १ । ६२ ॥ अनयोर्द्वितीयस्यात ओत्वम्, इत्योत्वमतः । प्रा० १ पाद । " क्ष्मस्कयोर्नाम्नि " ॥ ८ । २ । ४ ॥ इति नाम्नीति निर्देशान्न खः । प्रा० २ पाद । अञ्जलिबन्धशिरोनमनाऽऽदिलक्षणे प्रणाममात्रे, कायेन प्रणमने, ज्ञा०१श्रु०१अ०।ध० । अर्हदादिप्रणतौ, विशे०। सङ्घा०।

(१) नमस्कारस्य व्याख्यानं चोत्पन्नाऽऽद्यनुयोगद्वारैर्विधेयम्, तानि चामूनि-

उप्पत्ती निक्खेवो, पयं पयत्थो परूवणा वत्थुं ।
अक्खेव पसिद्धि कमो, पओयण फलं नमोक्कारो ॥२८०५॥

उत्पदनमुत्पत्तिः-प्रसूतिः, सा चास्य नमस्कारस्य नयानुसारेण चिन्त्या । तथा--निक्षेपणं निक्षेपो न्यासः, स चास्य कार्यः । पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदं नामिकाऽऽदि,तच्चेह चिन्तनीयम् ।पदस्यार्थः पदार्थः,स चास्य वक्तव्यः। प्रकर्षेण रूपणा प्ररूपणा,

* परमस्यान्तकृद्दशासु नामापि न श्रूयते ।

सा चास्य त्रिविधाऽऽदिभेदतो विधेया । वसन्त्यस्मिन् गुणा इति वस्तु, तच्च नमस्कारार्हं वाच्यम् । आक्षेपणमाक्षेपः पूर्वपक्षो वाच्य.। प्रसिद्धिस्तत्परिहाररूपा वक्तव्या । क्रमोऽर्हदादिरभिधेयः। प्रयोजनमर्हदादिक्रमस्य कारणं वाच्यम् । अथवा-येन प्रयुक्तः प्रवर्त्तते तन्नमस्कारस्य प्रयोजनमपवर्गाऽऽख्यं वाच्यम् । तथा-फलं च नमस्करणाऽऽदिक्रियाऽनन्तरभावि स्वर्गाऽऽदिकं निरूपणीयम् । अन्ये तु व्यत्ययेन प्रयोजनफलयोरर्थं प्रतिपादयन्ति-(नमोक्कारो त्ति) नमस्कारः एभिर्द्वारैश्चिन्तनीय.। इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थ' ॥ २८०५ ॥

(२) अथ निर्युक्तिकार एवोत्पत्तिद्वार विस्तरेणाऽऽह-

उप्पन्नाऽणुप्पण्णो, इत्थ नया णेगमस्सऽणुप्पण्णो ।
सेसाणं उप्पण्णो, जइ कत्तो तिविहसामित्ता ॥२८०६॥

उत्पन्नश्चासावनुत्पन्नश्चेत्युत्पन्नानुत्पन्नो नमस्कारो मन्तव्यः । आह-कथमेक एवोत्पन्नोऽनुत्पन्नश्च भवति, विरोधात् ?, इत्याह-(इत्थ इत्यादि) अत्र नया. प्रवर्त्तन्ते । ते च नैगमाऽऽदयः सप्त । नैगमो द्विविध.-सर्वसंग्राही, देशसंग्राही च । तत्राऽऽदिनैगमस्य सामान्यमात्रावलम्बित्वात्, तस्य चोत्पादव्ययरहितत्वाद् नमस्कारस्यापि तदन्तर्गतत्वादनुत्पन्नः । (सेसाण उप्पण्णो त्ति) शेषा विशेषग्राहिण , तेषां शेषाणां विशेषग्राहित्वात्, तस्य चोत्पादव्ययवत्त्वाद्, उत्पादव्ययशून्यस्य वान्ध्येयाऽऽदिवदवस्तुत्वात्, नमस्कारस्य तु वस्तुत्वादुत्पन्न इति । (जइ कत्तो त्ति) यद्युत्पन्नः, कुत. ?, इत्याह-(तिविहसामित्ता) त्रिविधं च तत्स्वामित्व चेति समास.। तस्मात्त्रिविधस्वामित्वात् त्रिविधस्वामिभावात्त्रिविधकारणादित्यर्थ. ॥ २८०६ ॥

तदेव त्रिविधस्वामित्व दर्शयति-

समुट्ठाणवायणाल-द्धिओ य पढमे नयत्तिए तिविहं ।
उज्जुसुयपढमवज्जं, सेसनया लद्धिमिच्छंति ॥ २८०७ ॥

(समुट्ठाणेत्यादि) समुत्थानत', वाचनातः, लब्धितश्च , ' नमस्कार उत्पद्यते ' इति वाक्यशेषः । तत्र सम्यक् सङ्गत वोत्तिष्ठतेऽस्मादिति समुत्थानम्, निमित्तमित्यर्थः । किं पुनस्तदिह ?, इति । उच्यते-अन्यस्याश्रुतत्वात्, तदाधारतया प्रत्यासन्नत्वाद्देहोऽत्र परिगृह्यते; देहो हि नमस्कारकारणम्, तद्भावभावित्वाद्, बीजवदङ्कुरस्य, इत्येवं देहलक्षणात् समुत्थानाद् नमस्कार उत्पद्यते । तथा-वचन वाचना गुरुभ्यः श्रवणमधिगम इत्यर्थः, तस्याश्च वाचनायाः सकाशाद् नमस्कारो जायते । तथा-लब्धिस्तदावरणक्षयोपशम.लक्षणा, तस्याश्चायमुपजायते । इत्येतत्त्रिविधं कारण, प्रथमे नैगमसंग्रहव्यवहारलक्षणे त्रिके, नैगमाऽऽदिनयत्रयमतेनावगन्तव्यमित्यर्थ.। तथा-ऋजुसूत्रस्य प्रथमवर्जं वाचनालब्धिद्वय नमस्कारस्य कारणम्, तच्छून्यस्य जन्तोर्देहमात्रसद्भावेऽपि नमस्काराऽऽख्यकार्योत्पत्तिव्यभिचारात् । शेषनयास्तु शब्दाऽऽदयो लब्धिमेवैकां नमस्कारकारणत्वेनेच्छन्ति, वाचनाया अपि लब्धिशून्येष्वभव्याऽऽदिषु नमस्काराजनकत्वात्, लब्धियुक्तेषु तु प्रत्येकबुद्धाऽऽदिषु तदभावेऽपि तत्सद्भावतो व्यभिचारित्वात् । इति निर्युक्तिगाथाक्षरार्थः ॥ २८०७ ॥

" उप्पण्णाऽणुप्पण्णो " (२८०६) इत्यत्र भाष्यम्-

सत्तामेत्तग्गाही, जेणाऽऽइम-नेगमो तओ तस्स ।
उप्पज्जइ नाभूय, भूयं न य नासए वत्थुं ॥ २८०८ ॥

येन यस्मात्कारणात्, आद्यनैगमः सत्तामात्रग्राही, ततस्तस्याऽऽद्यनैगमस्य मतेन सर्वं वस्तु नाभूतं नाऽविद्यमान, किं तु सर्वदैव सर्वं सदेव । 'ततः किम् ?, इत्याह-(उप्पज्जइ न) इत्येत्रमिहापि नञ् सम्बध्यते, आवृत्तिन्यायस्यागात् । इदमुक्तं भवति-यत्सर्वदैव सत्, तन्नोत्पद्यते । यथा-नभ., तस्याप्युत्पादाभ्युपगम उत्पन्नस्याप्युत्पादप्रसङ्गेनानवस्थाप्राप्तेः । तथा-यद् भूतं विद्यमानं सर्वदैव सद्वस्तु, तन्न नश्यति, सर्वथा सर्वदैव सतो विनाशायोगादिति ॥ २८०८ ॥

तो तस्स नमोक्कारो, वत्थुत्तणओ नहं व सो निच्चो ।
संतं पि न तं सव्वो, मुणइ सरूवं व वरणाओ ॥२८०९॥

यत एवम्, ततस्तस्याऽऽद्यनैगमस्य, स नमस्कारो नित्य एव, वस्तुत्वात्, नभोवत्, नोत्पद्यते, नाऽपि विनश्यतीत्यर्थ. । अत एवैतन्मतेनानुत्पन्नोऽसावभिधीयते । आह-ननु यदि नमस्कारः सर्वदैव संस्तदा मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां किमित्यसौ न लक्ष्यते ?, इत्याह--(संत पीत्यादि) सर्वावस्थासु सन्तमपि नमस्कारमतिशयज्ञानिनं विहाय न सर्वोऽपि ' मुणति ' जानातीति प्रतिज्ञा । (वरणाओ त्ति) आवरणकर्मसद्भावादिति हेतुः, आत्मनः स्वरूपवदिति दृष्टान्त. । इदमुक्तं भवति-मिथ्यादृष्ट्यवस्थायामपि द्रव्यरूपतया नमस्कारोऽस्ति । सर्वथाऽसतः खरविषाणस्येव पश्चादप्युत्पादायोगात्, केवलं ज्ञानाऽऽवरणेनाऽऽवृतत्वाद् छद्मस्थजन्तवस्तद्रूपतया सन्तमपि त नमस्कार न लक्षयन्ति, यथाऽऽत्मनः स्वरूपम् । न हि आत्मनः स्वरूप नास्ति, केवलममूर्तत्वात् सर्वदा सदपि तत्केवलिन विहाय न कोऽपि लक्षयति । एव नमस्कारोऽपि । इत्यत. सर्वदैव सत्त्वादसत्त्वादिनैगमाभिप्रायेणानुत्पन्न उच्यत इति ॥२८०९॥

" सेसाणं उप्पन्नो " [२८०६] इत्येतद् गाथावयवं व्याचिख्यासुराह-

सेसमयं नत्थि तओ-ऽणुप्पायविणासओ खपुप्फं व ।
जमिहऽत्थि तदुप्पाय-व्वयधुवधम्मं जहा कुंभो ॥२८१०॥

शेषाणां विशेषवादिनयानाम्, एतन्मतम्-तकोऽसौ पराभिमतो नमस्कारो नास्ति, इति प्रतिज्ञा । अनुत्पादविनाशाद्-उत्पादविनाशाभावादिति हेतु' । खपुष्पवदिति दृष्टान्तः । इह यदस्ति तत्सर्वमुत्पादव्ययध्रुवधर्मकम्, यथा कुम्भ', यस्य पुनरुत्पादाऽऽदयो न सन्ति, तत्सदपि न भवति, यथा खरविषाणम्, उत्पाद-विनाशशून्यश्च परैर्नमस्कारोऽभ्युपगम्यते; ततो नास्त्यसावपि ॥ २८१० ॥

यदुक्तम्-आवरणात्सतोऽप्यस्याग्रहणम्, तत्राऽऽह-

आवरणादग्गहणं, नाभावाउ त्ति तत्थ को हेऊ ? ।
जत्तीए नमोक्कारो, कहमत्थि य सा नयग्गहणं ? ॥२८११॥

नन्वावरणाद् ज्ञानाऽऽवरणोदयात् सन्नपि नमस्कारः सर्वेण न गृह्यते, न पुनरभावादित्यत्र को हेतु.-किं नियामकम् ?, न किञ्चिदित्यर्थः । अभावादेवाय सर्वेण सर्वदा न गृह्यते, न पुनरावरणोदयादिति शेषनयाभिप्राय. । किञ्च-तीर्थकराऽऽदिषु भक्तिर्नमस्कारोऽभिधीयते, सा च सर्वदाऽस्ति, न च मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां गृह्यत इति परस्परव्याहतमिदम् । तस्मादुत्पन्नोऽसौ गृह्यते, अनुत्पन्नस्तु न गृह्यते, इत्येतदेव सुन्दरम्, किमावरणाऽऽदिकल्पनया ?, इत्यभिप्राय. ॥ २८११ ॥

अथाऽऽद्यनैगमनयमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह–

अह परसंतो त्ति तओ, संतो किं नाम कस्स नासंतं ?।
अहणाऽऽइव्वत्ति एसो, नेवं न य परधणाफलया ॥२८१२॥

अथैवं ब्रूषे-(परसंतो त्ति तओ सतो त्ति) परसन्ताने सर्वदैवास्ति नमस्कार., नानाजीवेषु तस्य सर्वकालमव्यवच्छेदात्। योऽयमत्र नोपलभ्यते, तत्राप्यसौ [संतो त्ति] सन्नुच्यते। अत्रोत्तरमाह-[किं नाम कस्स नासत ? ति] यदि हि अन्यसन्तानवर्त्यपि वस्त्वन्यस्य सदुच्यते, तर्हि किं नाम व स्तु धनाऽऽदिकं कस्य नासत् ?, अपि तु सर्वं सर्वस्यासत्प्राप्नोति । अस्य चोपलक्षणत्वात्-' इत्थ सर्वं सर्वस्य सत्प्राप्नोति ' इत्यपि द्रष्टव्यम् । ततश्चैवम्-ईश्वरधनेन दरिद्राणामधनानामपि धनवत्त्वादधनव्यपदेश. कस्यापि न स्यात् । न चेत्थ परधनस्याफलता भवेत्, अन्यधनस्यान्यत्रापि सत्त्वात्, तथा च तत्फलस्यापि सद्भावादिति ॥२८१२॥

तत. किं भवेद् ?, इत्याह–

सव्वधणं सामन्नं, पावइ भत्तीफल व सेसं च ।
किरियाफलमेवं चा-ऽकयागमो कयविणासो य ॥२८१३॥

एव सति यदेकस्येश्वरस्य सवन्धि तत्सर्वेषा दरिद्राणामपि धन सामान्यं साधारण प्राप्नोति । यद्वा-यदेकस्य नमस्कारवतोऽर्हदादिभक्तिफल, तन्मिथ्यादृशामपि नमस्कारशून्याना सामान्य प्राप्नोति; तथा शेष च यद्दान-ध्याना-हिंसा-ऽमृषावादाऽऽदिक्रियाफल, तत्सर्वेषां सामान्य प्राप्नोति । एव च सत्यकृतस्यापि पुण्य-पाप-सुखदु खाऽऽदेरागम., कृतस्यापि च पुण्यपापाऽऽदेर्विनाशः स्यादिति ॥ २८१३ ॥

पुनरपि नैगममतमाशङ्क्य परिजिहीर्षव. शेषनया. प्राऽऽहु –

अह जत्तिमंतसंता-णओ स निच्चो त्ति कहमणुप्पन्नो ? ।
नणु संताणिच्चओ, स होइ बीयंकुराइ व्व ॥२८१४॥

अथानुत्पन्ननमस्कारवादिन् ! एव ब्रूषे-भक्तिमतां सम्यग्दृष्टीना य सन्तान. प्रवाह, तस्मात् तमाश्रित्य, नित्यो नमस्कार.। सम्यग्दृष्टीना हि सन्तानो न कदाचिद् व्यवच्छिद्यते। अव्यवच्छिन्नत्वाच्च नित्योऽसौ, यच्च नित्य तदाकाशवन्नोत्पद्यते। तत. किलानुत्पन्नो नमस्कार इति परस्याऽऽकूतम् । अत्रोत्तरमाह-(कहमणुप्पन्नो त्ति) नन्वेवमपि कथमनुत्पन्नो नमस्कार ?, न कथञ्चिदित्यर्थ. । कुत ?, इत्याह-(नणु इत्यादि) ननु यद्यपि सम्यग्दृष्टीनां सन्तानो नित्य., तथाऽपि सम्यग्दृष्टय सन्तानिनो नित्या एव, मनुष्याऽऽदिभावेन तेषामुत्पादविनाशादिति । सम्यग्दृष्ट्यव्यतिरेकाच्च नमस्कारोऽपि सन्तानी, सन्तानित्वाच्च (स होइ त्ति) स नमस्कारो जवत्युत्पद्यते, बीजाङ्कुराऽऽदिसन्तानिवदिति । इह य. सन्तानी स उत्पद्यते, यथा बीजाङ्कुराऽऽदिः, सम्यग्दृष्टिसन्तान्यव्यतिरेकात्,सन्तानी च नमस्कार इति उत्पद्यत एव । तत. कथमनुत्पन्नोऽसौ ?, इति ॥ २८१४ ॥

किञ्च–

होज्जाहि नमोक्कारो, नाणं सद्दो व कायकिरिया वा ।
अहवा तस्संजोगो,न सव्वहा सो अणुप्पत्ती ॥२८१५॥

नमस्कारो हि ज्ञानं वा भवेत्, " नमो अरिहंताणं " इत्यादिशब्दो वा, शिरोनमनकरकुड्मलमीलनविघटितावयवसङ्कोचनाऽऽदिलक्षणा कायक्रिया वा, द्विकाऽऽदिको वा ज्ञानाऽऽदिसंयोगो भवेदिति चत्वारः पक्षा. । किञ्चातः ?, इत्याह-(न सव्वहा सो अणुप्पत्ति त्ति) सर्वथा सर्वैरपि प्रकारैर्नायमनुत्पत्तिर्नानुत्पन्नो घटत इत्यर्थ.। ज्ञानाऽऽदीनां चतुर्णामप्युत्पादाऽऽदिधर्मकत्वादिति ॥ २८१५ ॥

अथ नैगमः प्राऽऽह-ननु ज्ञानाऽऽदीनामुत्पादाऽऽदिधर्मकत्वमसिद्ध, नित्यत्वात्, आकाशवत् । तत्र ज्ञानस्य तावन्नित्यत्वं साधयन्नाह–

नणु जीवाओऽणन्नं, नाणं णिच्चो य सो तओ तं पि ।
निच्चुग्घामो य सुए,जमक्खराणंतभागो त्ति ॥२८१६॥

ननु जीवादनन्यदभिन्न ज्ञान, नित्यश्चासौ जीव., ततस्तदव्यतिरेकात्तदपि,'नित्यम्' इति शेष.। ततो नोत्पादाऽऽदिधर्मक ज्ञानम्, नित्यत्वात्, नभोवदिति भाव । एवमुत्तरत्रापि भावार्थो वक्तव्य. । किञ्च-"सव्वजीवाण पि य ण अक्खरस्स अणतभागो निच्चुग्घाडियओ " इति वचनाद् न क्षरति न विनश्यतीत्यक्षर केवलज्ञानम्, तस्यानन्तभागो नित्योद्घाटो नित्यावस्थितोऽनावृत एव सर्वदा तिष्ठतीति यत्समाच्छ्रुतेऽभिहितम्, तस्माच्च नित्य ज्ञानं, नित्यानावृतत्वाद्, नभोवदिति ॥ २८१६ ॥

अहवा अरूवगुणओ, नाणं निच्चं नहावगाहो व्व ।
खयणप्पयासपरिणा-मओ य सव्वं जहा अणवो ।२८१७।

अथवा-नित्य ज्ञानम्, अरूपद्रव्यगुणत्वाद्, यथा नभोद्रव्यस्यावगाहगुण । अथवा-सर्वमपि ज्ञानशब्दाऽऽदिकं नित्य, क्षयनप्रकाशपरिणामत्वात्, तिरोभावाऽऽविर्भावधर्मकत्वादित्यर्थ , यथा परमाणव इति ॥ २८१७ ॥

अथ विशेषतोऽपि शब्दस्य नित्यत्व साधयन्नाह-

दरिसणपरत्थयाओ, अइंदियत्थत्तओऽणवत्थाओ ।
संबंधनिच्चयाओ, सद्दावत्थाणमणुमेअं ॥ २८१८ ॥

इह शब्दस्यावस्थान सदाऽवस्थितत्व नित्यत्वमनुमेय साध्यम् । (दरिसणपरत्थयाओ त्ति) दर्शन प्रकटन शब्दस्योच्चारण व्यापारण प्रयोग इति यावत्, तस्य दर्शनस्य शब्दप्रयोगस्य परार्थत्व परप्रत्यायकत्व, तस्माद्दर्शनपरार्थत्वादिति हेतु । इदमुक्त भवति-न खलु वक्तृभि शब्दोत्पादनमात्रार्थमेव शब्दप्रयोग. क्रियते, किं तु परार्थत्वात् परप्रत्यायननिमित्तत्वादिति; यच्च परार्थं व्यापार्यते तत् तद्व्यापारकालात् प्रागप्यस्ति, यथा-वृक्षाऽऽदिच्छेदनक्रियानिमित्त व्यापार्यमाण. कुठारः छेदनक्रियाव्यापारकालात्प्रागप्यस्ति; तत. शब्दः सदाऽवस्थितत्वान्नित्य. सिद्ध. ।

अत्रैव द्वितीय हेतुमाह-(अइंदियत्थत्तओ त्ति) अतीन्द्रिया मेरुस्वर्गाऽऽदयोऽर्था अभिधेयत्वेन यस्यासावतीन्द्रियार्थ.,तद्भावोऽतीन्द्रियार्थत्व,तस्मादतीन्द्रियार्थत्वान्नित्यः शब्द',केवलज्ञानवत्। इदमुक्त भवति-ये इन्द्रियग्राह्या घटाऽऽदयोऽर्था.,तेषु सकेतवशात्कृतक एव किल वाच्यवाचकत्वसबन्ध ,अतस्तत्साच्छब्दस्य नित्यत्व न सिध्यति; ये त्वतीन्द्रिया मेरुस्वर्गाऽऽदयोऽर्था., तेषामतीन्द्रियत्वेनैव किल सकेतः कर्तुं न शक्यते, अतोऽनादिकालसंसिद्धोऽकृतक एव शब्दस्य तेषु वाच्यवाचकभावसबन्धः। अतोऽतीन्द्रियार्थे सद्भावादिकालसंसिद्धादकृतकत्वेन नित्याद्

वाच्यवाचकभावसबन्धात्सिद्ध किलशब्दस्य नित्यत्वम् । न हि स्वयमनित्यस्यानादिकालससिद्धैर्नित्यैर्मेर्वादिभिरर्थैः सह वाच्यवाचकभावसबन्धः सिद्ध्यतीति भावः । तर्हि घटाऽऽदिवाचकशब्दानां कथ नित्यत्व सिध्यति ?,इति चेत् । उच्यते-मेर्वादिवाचकशब्दानां नित्यत्वे सिद्धे तेषामपि तत्साध्यते,तद्यथा-नित्या घटाऽऽदिवाचकशब्दा , शब्दत्वाद्, मेर्वादिशब्दवदिति ।

अत्रैव तृतीयहेतुमाह-(अणवत्थाओ त्ति) अय च विपर्यये बाधक एव हेतु' । मूलहेतुस्त्विदथ द्रष्टव्यः-नित्याः सर्वेऽपि घटाऽऽदिवाचकाः शब्दाः, अनादिकालात् तद्वाचकत्वेन तेषा सिद्धत्वाद्, इह यदनादिकालसिद्ध तन्नित्य दृष्टम्, यथा चन्द्रार्कविमानाऽऽदय., अनादिकालसिद्धाश्च घटाऽऽदिवाचकशब्दा , तस्मान्नित्या इति । ननु साङ्केतिका एव घटाऽऽदिवाचकशब्दास्ततोऽसिद्धममीषामनादिकालसिद्धत्वमिति चेत् । तदयुक्तम् । सङ्केतस्य कर्तुमशक्यत्वात् । कुत ?, इत्याह-'अनवस्थात', अनवस्थाप्रसक्तोऽत्र बाधकं प्रमाणमित्यर्थः । तथाहि-येन शब्देन सङ्केत क्रियते, तत्रापि सङ्केतकारक शब्दान्तरमपेक्षणीयम्, तत्राप्यन्यत्, पुनस्तत्राप्यपरमिति, एवमनवस्थाप्रसङ्गतोऽशक्य सङ्केतकरणम् । अथ पर्यन्ते कश्चिदकृतसङ्केतोऽपि ध्वनिरिष्यते, तर्हि प्राक्तना अपि सर्वे ध्वनयोऽकृतसङ्केता , शब्दत्वात्, पर्यन्तध्वनिवत्, इत्यसाङ्केतिकत्वात्सिद्धं घटाऽऽदिवाचकशब्दानामनादिकालसिद्धत्वमिति ।

चतुर्थं हेतुमाह--(संबन्धनिच्चयाओ त्ति) नित्यः शब्दः, उक्तन्यायेन तस्य घटाऽऽदिभिः सह वाच्यवाचकभावसंबन्धस्य नित्यत्वात्, तस्यानित्यत्वे वाच्यवाचकभावसंबन्धनित्यत्वानुपपत्तेरिति । इत्थ च ज्ञानाऽऽदीनां नित्यत्वे सिद्धे सिद्धोऽनुत्पन्नस्तदात्मको नमस्कार इत्याद्यनैगमाभिप्राय इति ॥२८१८॥

अथ शेषनया एतैरेव जीवानन्यत्वाऽऽदिहेतुभिर्ज्ञानाऽऽदीनामनित्यत्व साधयन्ति-

जेणं चिय जीवाओ-ऽणन्नं तेणेव नाणमुप्पाइ ।
उप्पज्जइ जं जीवो, बहुहा देवाऽऽइभावेण ॥ ३०१९ ॥

येनैव कारणेन जीवादनन्यदभिन्न ज्ञानं, तेनैव तदुत्पद्यते,यस्मात्, बहुधा जीवो देवाऽऽदिभावेनोत्पद्यते, तदुत्पादे च ज्ञानस्याप्युत्पादादिति ॥ २८१६ ॥

यदुक्तम्-"निच्चुग्घाडो य सुए"(२८१६) इति तत्राऽऽह-

अविसिट्ठऽक्खरभागो,सुत्तेऽभिहिओ न सम्मनाणं ति ।
कोऽवसरो तस्स इहं, सम्मंनाणाहिगारम्मि ? ॥२८२०॥

अक्षरस्य योऽनन्ततमो भागो नित्योद्घाट' श्रुतेऽभिहित, सोऽविशिष्ट एव सम्यग्मिथ्याविशेषरहित एवोक्त ,न तु सम्यग्ज्ञानरूप' । तत सम्यग्ज्ञानविचारेऽत्र प्रस्तुते कस्तस्याधिकार. ? । इदमुक्तं भवति—यद्यविशिष्टज्ञानरूपोऽक्षरानन्तभागो नित्योद्घाटत्वेन नित्य., तर्हि नमस्काररूपस्य सम्यग्ज्ञानस्य नित्यत्वे किमायातम् ?, अतो यत्किञ्चिदेतदिति ॥ २८२० ॥

यदुक्तम्-" अहवा अरूवगुणओ नाण निच्च " (२०१७) इत्यादि तत्राऽऽह-

अवगाहणाऽऽइओ नणु, गुणत्तओ चेव पत्तधम्म व्व ।
उप्पायाऽऽइसहावा, तह जीवगुणा वि को दोसो ? ।३०२१।

नन्ववगाहनाऽऽदय उत्पादाऽऽदिधर्मका एव,गुणत्वात,पत्रनीलताऽऽदिगुणवद्;एव जीवगुणा अपि नमस्काराऽऽदय उत्पादाऽऽदिधर्मका एव, गुणत्वात, पत्रधर्मवत्, इत्यपि त्वदुक्तविपरीत ब्रुवतां को दोषः ?, न कश्चिदिति ॥२८२१॥

किञ्च-

अवगाहारं च विणा, कुओऽवगाहो त्ति तेण संजोगो ?।
उप्पाई सोऽवस्सं, गच्चुवगाराऽऽदओ चेवं ॥ ३०२२ ॥

अवगाहार अवगाहक जीव-परमाण्वादिक विना विचार्यमाणः कुतोऽन्योऽवगाह इति वक्तव्यम् ? । तेनावगाहेन नभसा सहावगाहकस्य जीवाऽऽदे, तेन चावगाहकेन जीवाऽऽदिना सहावगाह्यस्य नभस सयोगोऽवगाह इति चेत् । ननु यद्येव, जितमस्माभि., यतोऽवश्यमुत्पादी असौ, संयोगत्वात्, अङ्गुल्याऽऽदिसयोगवदिति । एव गत्युपकारो गत्युपकार., स आदिर्येषा स्थित्युपकाराऽऽदीनां ते गत्युपकाराऽऽदयो धर्मास्तिकायाऽऽदिगुणा , तेऽप्येवमेवोत्पादवन्तो द्रष्टव्याः, गुणत्वाद्, अवगाहगुणवदिति ॥ २८२२ ॥

अपि च, आकाशपरमाण्वादिदृष्टान्ततो भवता नित्यत्वं साध्यते, तत्राऽऽकाशाऽऽदीनां नित्यत्वमेकान्तमसिद्धम्; कुतः ?, इत्याह-

न य पज्जवओ भिन्नं, दव्वमिहेगंतओ जओ तेण ।
तन्नासम्मि कहं वा, नहाऽऽदओ सव्वहा निच्चा ? ।३०२३।

न च पर्यायाद् घटाऽऽदिसंयोगवर्णगन्धाऽऽदेः सकाशाद्,यतो यस्माद्,द्रव्यमेकान्ततो भिन्नम्,किन्त्वभिन्नमपि तदस्मादिष्यते, तेन तस्मात्कारणात्,तस्याश्च पर्यायस्य विनाशे, कथं वा केन वा प्रकारेण, नभःपरमाण्वादयः सर्वथा नित्याः ?। कथञ्चिद्यदि नित्या भवन्ति, तर्हि भवन्तु । यत्तु सर्वथा नित्यत्वं, तदेषां न घटते, पर्यायविनाशे तद्रूपतया तेषामपि विनाशादिति भावः । तत एकान्तनित्यत्वे साध्ये नैतेषां दृष्टान्तत्व युक्तमिति ॥२८२३॥

यदुक्तम्-"दरिसणपरत्थयाओ " (२८१८) इत्यादि, तत्र दूषणातिदेशमाह-

निच्चत्तसाहणाणि य, सहस्साऽसिद्धयाऽऽइदुट्ठाइं ।
संभवओ वच्चाइं, पक्खोदाहरणदोसा य ॥ ३०२४ ॥

दर्शनपरार्थत्वाऽऽदीनि शब्दस्य नित्यत्वसाधनानि यानि उक्तानि,तानि न्यायमार्गानुसारिभिः स्वयमेवाभ्यूह्य यथासंभवमसिद्धताऽऽदिदोषदुष्टानि वाच्यानि । तथाहि-दर्शनपरार्थत्वादित्यसिद्धो हेतु , स्वावबोधार्थमपि कदाचिच्छब्दप्रयोगदर्शनात्; तथाऽनैकान्तिकश्च, विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् । विरुद्धो वा, प्रयोगानन्तरमेव विशरारुत्वदर्शनात्; कृतकत्वाद्वा शब्देऽनित्यत्वस्यैव दर्शनात् । इत्यादिदूषणानि सर्वत्राप्यूह्य वक्तव्यानि । तथा-पक्षोदाहरणदोषाश्च वाच्याः, यत तु साक्षान्न भ्रूम , ग्रन्थविस्तरभयात । तत्र प्रत्यक्षाऽऽदिबाधितः पक्ष , साध्यसाधनविकलमुदाहरणम् । इत्यादिदोषा. स्वयमेव द्रष्टव्या इति ॥ २८२४ ॥

तदेव नैगमोक्त दूषयित्वा स्वपक्षसिध्यर्थं शेषनया. प्राऽऽहुः-

भणिरुप्पाई इंदिय-गज्झत्ताओ पयत्तजत्ताओ ।
पुग्गलसंजूईओ, पच्चयभेए य नेयाओ ॥ ३०२५ ॥
उप्पाइ नाणमिट्ठं, निमित्तसब्भावओ जहा कुंभो ।
तह सद्दकायकिरिया,तस्संजोगो य सोऽनिमओ ।३०२६।

उत्पद्यत इत्युत्पादी ध्वनिरिति प्रतिज्ञा,इन्द्रियग्राह्यत्वात्, घटवदिति । तथा-प्रयत्नाज्जायत इति प्रयत्नजः,तद्भावः प्रयत्नजत्व,तस्मात्प्रयत्नजत्वात्।तथा-पुद्गलेभ्यः सभूते । तथा-ताल्वादिप्रत्ययभेदभेदित्वादुत्पादी शब्द घटवदिति सर्वत्र द्रष्टव्यम्। यश्चोत्पादी स विनाशित्वादनित्य इति सिद्धमेवेति ॥२८२५॥ तथा-उत्पादि ज्ञान नमस्कारज्ञानमिष्टमिति प्रतिज्ञा, निमित्तसद्भावादिति हेतुः, जिनाऽऽदिविषयाज्जायमानत्वादित्यर्थ । यथा कुम्भ इति दृष्टान्तः । न केवलं ज्ञान, तथा शब्दशिरोनमनाऽऽदिका कायक्रिया, तेषा च ज्ञानाऽऽदीनां यो द्विकाऽऽदिसयोगो नित्यत्वेनाभिमत परस्य, एतत्सर्वमुत्पादि, निजनिजनिमित्ताज्जायमानत्वात्, यथा कुम्भ । ततो ज्ञानाऽऽद्यात्मको नमस्कार उत्पन्न इति सिद्धम्।तदेव "सेसाण उप्पन्नो"(२८०६) इति व्याख्यातम् ॥ २८२६ ॥

" जइ कत्तो तिविहसामित्ता?" (२८०६) इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

उप्पत्तिमओऽवस्सं, निमित्तमस्स उ णयात्तियं तिविहं ।
इच्छइ णिमित्तमेत्तो, जमण्णहा नत्थि संभूई ॥२८२७॥

यदि नामोत्पन्नो नमस्कारस्तत किम ?। अत्रोच्यते-उत्पत्तिमतश्च वस्तुनोऽवश्य निमित्तम, 'अस्ति' इति क्रियाऽध्याहार । तथा च-सत्यस्य नमस्कारस्योत्पत्तिमत्त्वादविशुद्धनैगमसग्रहव्यवहारलक्षण प्रथमनयत्रिक समुत्थान-वाचनालब्धिस्वरूपं त्रिविध निमित्तमिच्छति । कुत ?, इत्याह-(एत्तो इत्यादि) यस्मादेतस्मात्त्रिविधाद् निमित्तादन्यथाऽन्येन प्रकारेण नमस्कारस्य नास्ति सभूतिरुत्पत्तिरिति ॥ २८२७॥

तत्र समुत्थानलक्षण निमित्त व्याचिख्यासुराह-

देहसमुत्थाणं चिय, हेऊ भवपच्चयावहिस्सेव ।
पुव्वुप्पण्णस्स वि से, इहभवभावो समुत्थाणं ॥२८२८॥

सम्यक् सङ्गत वा उत्तिष्ठति जायतेऽस्मादिति समुत्थानम, देह एव समुत्थानं, तदेव तावद्धेतुर्निमित्तम्, 'से' तस्य नमस्कारस्य । आह-यदाऽयमन्यभव एव स्वाऽऽवरणक्षयादुत्पन्नः स्यात्तदा कथमत्र देहो हेतु ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-(पुव्वुप्पन्नस्स वि से इहभवभावो समुत्थाण ति) प्राग्भवे उत्पन्नस्यापि नमस्कारस्येहभवभाव इहभवशरीर समुत्थान कारण भवति, एतद्भावभावित्वात्तस्य । दृष्टान्तमाह-(भवपच्चयावहिस्सेव त्ति) यथा हि भवप्रत्ययोऽवधिस्तीर्थकराऽऽदिसबन्धी प्रागुत्पन्नोऽप्येतद्भवशरीरमन्तरेण न भवति । ततश्चेहभवशरीर तस्य समुत्थानमेव नमस्कारस्यापीति । एतदुक्त भवति-यथा पूर्वोत्पन्ना अपि घटाऽऽदयो दीपेनाभिव्यज्यन्ते,तथा पूर्वोत्पन्नोऽपि नमस्कार इहभवदेहेनाभिव्यज्यते, इत्यसौ तस्य निमित्त व्यपदिश्यत इति ॥२८२८॥

अत्र परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अण्णे सयमुत्थाणं, सविरियमण्णोवगारविमुहं ति ।
तदजुत्तं तदवत्थे, चुयलद्धे लद्धिओ णण्णं ॥ २८२९ ॥

अन्ये सूरय स्वकमुत्थान स्वमुत्थान, स्ववीर्यमित्याचक्षते। कुत ?, इत्याह-(अण्णोवगारविमुह ति) अन्येनापान्तरालवर्तिना कारणान्तरेण कृत उपकारोऽन्योपकार, तद्विमुख तन्निरपेक्ष, यतोऽनन्तरकारणमित्यर्थः, तस्मादन्योपकारविमुखत्वादनन्तरकारणत्वात्स्ववीर्यंनमस्कारस्य समुत्थान कारणमिति । एतन्निरासार्थमाह-(तदजुत्तं ति) तद्वीर्यमयुक्तम, नमस्कारानन्तरकारणतया व्यभिचारित्वात् । कुतः ?, इत्याह-(तदवत्थे इत्यादि) यतस्तदवस्थेऽपि विद्यमाने वीर्ये कस्यापि लब्धोऽपि नमस्कारः स्वाऽऽवरणोदयात्पुनरपि च्यवते भ्रश्यति; च्युतोऽपि कदाचित् तदावरणक्षयोपशमात्पुनरपि लभ्यते । तत एवं तदवस्थेऽपि वीर्ये च्युतलब्धे नमस्कारे सति विज्ञायते-लब्धितो नान्यद्वीर्ये किमपि नमस्कारकारणमस्ति, व्यभिचारित्वात् । व्यभिचारित्वं च नमस्कारस्य तदन्वयव्यतिरेकाननुविधायित्वात् । लब्धिस्तु तस्याव्यभिचारि कारणम, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादिति ॥ २८२९ ॥

तदेवं समुत्थानं व्याख्याय वाचनालब्धिस्वरूप व्याचिख्यासुराह-

परओ सवणमहिगमो, परोवएसो त्ति वायणाऽभिमया ।
लद्धी य तयाऽऽवरण-क्खओवसमओ सयं लाभो ।२८३०।

परतो गुरुभ्यो यच्छ्रवणम्, तथा-अधिगमः, परोपदेशश्च, सा वाचनाऽभिधीयते । लब्धिस्तु का ?, इत्याह-परतो वाचनामन्तरेण नमस्कारस्य य स्वय लाभः । कुतः पुनर्या लब्धिः ?, इत्याह-तदावरणक्षयोपशमात्-नमस्काराऽऽवरणकर्मक्षयोपशमादित्यर्थः । आह-ननु तदावरणक्षयोपशम एव लब्धिरन्यत्र प्रसिद्धा, तत् कथमिह तत्कार्यभूतो नमस्कारलाभो लब्धित्वेनोच्यते, नमस्कारकारणस्यैवेह चिन्तयितु प्रस्तुतत्वात् यथोक्ताया एव च लब्धेर्नमस्कारकारणत्वात् ?। सत्यम्, किन्तु तत्कार्यभूतोऽपि नमस्कारलाभोऽत्र लब्धिरुक्ता, कारणे कार्योपचारादिति । एतदविशुद्धनैगमसग्रहव्यवहारनयमतेन त्रिविधं नमस्कारकारणं मन्तव्यमिति ॥ २८३० ॥

ऋजुसूत्रमतेन तु द्विविधमेव कारणमिति दर्शयन्नाह-

उज्जुसुयणयमयमिणं, पुव्वुपण्णस्स किं समुत्थाणं ?।
अह संपइमुप्पज्जइ, न वायणालद्धिभिन्नं तं ॥२८३१॥

ऋजुसूत्रनयस्येदं मतम-यदि पूर्वभवोत्पन्नो नमस्कारः,तदेहभवदेहलक्षण समुत्थान तस्य किं करोति ?, न किञ्चिदित्यभिप्राय ,उत्पन्नस्य कारणापेक्षायोगादिति । अथ साम्प्रतमिहभवे समुत्पद्यते नमस्कार, तर्हि यस्तस्य कारण तद्वाचनालब्धिभ्यां भिन्न व्यतिरिक्तं न किञ्चित्पश्याम ; अत इदमेवं द्विविध तस्य कारणमिति ॥ २८३१ ॥

इदमेव भावयन्नाह-

परओ सयं व लाभो, जइ परओ वायणा सयं लद्धी ।
जं न परओ सयं वा, तओ किमण्णं समुत्थाणं ?॥२८३२॥

नमस्कारस्य हि लाभो जायमान परतोऽपि भवेत्, स्वयं वा ?, इति द्वयी गतिः, तत्र यदि परत इति पक्ष, तर्हि (वायण त्ति) गुरुपदेशलक्षणा वाचनैव तत्र कारणम । अथ स्वयमिति पक्ष, तर्हि (लद्धि त्ति)तदावरणक्षयोपशमलक्षणा लब्धिरेव तत्र कारण, नापरम । यश्च परतः स्वयं वा नोत्पद्यते, तत्खरविषाणकल्पमवस्त्वेवेत्यध्याहार; वस्तुन उत्पत्तौ यथोक्तप्रकारद्वयस्यैव सभवात्, अनुत्पन्नस्य चावस्तुत्वादिति । ततस्तस्माद्वाचनालब्धिभ्यामन्यत्किं नाम समुत्थान, यत्स्वय परतो वाऽनुत्पन्नस्यावस्तुन कारण भवेदिति ? ॥ २८३२ ॥

अथ परभवे समुत्पन्नस्य नमस्कारस्येहभवे स्वतः परतो वाऽनुत्पन्नस्य तस्याभिव्यक्तिलक्षणाया उत्पत्तेः कारणं समुत्थानं भविष्यति । तदप्ययुक्तम् । कुतः ?, इत्याह-

उप्पज्जइ नाईयं, तक्किरिओवरमओ कयघडो व्व ।
अहवा कयं पि कीरइ, कीरउ निच्चं कओ णिट्ठा ? ।२८३३।

इहातीतोत्पादक्रियं वस्त्वतीतमभिप्रेतम् । तदेवंभूतं पूर्वभवेऽतीतोत्पादक्रियमतीतं नमस्कारलक्षणं वास्त्विह भवे पुनरपि नोत्पद्यत इति प्रतिज्ञा । (तक्किरिओवरमओ त्ति) तस्य नमस्कारस्योत्पादलक्षणा क्रिया तत्क्रिया, तस्या उपरमो विरामः तत्क्रियोपरमः, तस्मादिति हेतुः । कृतघटवदिति दृष्टान्तः । इह यस्योत्पत्तिक्रियोपरता तत्पुनरपि नोत्पद्यते, यथा पूर्वकृतो घटः; उपरतोत्पत्तिक्रियश्च पूर्वभवोत्पन्नो नमस्कार इष्यते, तत इहभवे पुनरपि नोत्पद्यत इति ॥ अथवा पूर्वं कृतमपि पुनः क्रियते, तर्हि पुनः पुनर्नित्यमेव क्रियताम्, पूर्वकृतत्वाविशेषात् । तथा च सति कुतः करणक्रियाया निष्ठा ?, इति । तदेव य इहोत्पद्यते नासौ पूर्वोत्पन्न इति सामर्थ्यादुक्तम् ॥ २८३३ ॥

अथवा-भवतु पूर्वोत्पन्नः, तथाऽपि मत्पक्षसिद्धिरिति दर्शयन्नाह-

होउ व पुव्वुप्पाओ, तह वि न सो लद्धिवायणाभिन्नो ।
जेण पुरा वि सयं वा, परओ वा होज्ज से लाभो ॥२८३४॥

भवतु वा नमस्कारस्य पूर्वजन्मन्युत्पादः, तथाऽपि न स तदुत्पादो लब्धिवाचनाभ्यां भिन्नः-न लब्धिवाचनालक्षणकारणद्वयव्यतिरेकेण समुत्थानलक्षणेन कारणेन नमस्कारो जन्यत इत्यर्थः । कुतः ?, इत्याह-येन यस्मात्पुरा परभवेऽपि प्रष्टव्योऽसि त्वं स्वयं वा परतो वा (से) तस्य नमस्कारस्य लाभ इति वक्तव्यम् ? । यदि स्वयं, तर्हि लब्धिरेव तत्कारणम् । अथ परतः, तर्हि वाचना तद्धेतुरिति न किमप्येतत्कारणद्वयव्यतिरिक्तं समुत्थानलक्षणं कारणं पश्याम इति ॥२८३४॥

अथ " सेसनया लद्धिमिच्छंति " (२८०७) इत्येतद्व्याचिख्यासुराह-

सद्दाऽऽइमयं न लहइ, जं गुरुकम्मा पवायणाए वि ।
पावइ य तयावरण-क्खओवसमओ जओऽवस्सं ।२८३५।

शब्दसमभिरूढैवंभूतनयानामेतन्मतम्-यद्यस्मात्कारणाद् गुरुकर्मा प्राणी गुरुभ्यः प्रवाचनायां सत्यामपि नमस्कारं न लभते, लघुकर्मा तु वाचनामन्तरेणाऽपि तदावरणकर्मक्षयोपशमाद् यतोऽवश्यमेव नमस्कारं प्राप्नोति ॥ २८३५ ॥

तो हेऊ लद्धि च्चिय, न वायणा जइ मइक्खओवसमो ।
तक्कारणो त्ति तम्मि वि, णणु साऽणेगंतिगी दिट्ठा ।२८३६।

(तो हेऊ लद्धि च्चिय त्ति) ततस्तस्माद्वाचनाया नमस्कारजनने व्यभिचारित्वात्तदावरणक्षयोपशमलक्षणा लब्धिरेव तद्धेतुर्न वाचनेति । यदि तु ऋजुसूत्रः कथमप्येवं ब्रूयात्-ननु मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमस्तत्कारणो वाचनाजन्य, तथा च सति तत्क्षयोपशमजन्यस्य नमस्कारस्य पारम्पर्येण वाचनाऽपि कारणं भवति । अत्रोच्यते-ननु तस्मिन्नपि मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमे जन्ये सा वाचनाऽनैकान्तिकी दृष्टा, गुरुकर्मणां वाचनातोऽपि यथोक्तक्षयोपशमादर्शनादिति ॥ २८३६ ॥

अथ कस्यापि तावद्वाचनातः कर्मक्षयोपशमो भवन्नुपलभ्यते, तमाश्रित्य वाचना नमस्कारकारणं भविष्यति । तदप्ययुक्तम् । कुतः ?, इत्याह-

जस्स वि स तन्निमित्तो, तस्स वि तम्मत्तकारणं होज्जा ।
न नमोक्कारस्स तई, कम्मक्खओवसमलब्भस्स ॥२८३७॥

यस्यापि जीवस्य स मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमस्तन्निमित्तो वाचनाहेतुको दृश्यते, तस्यापि तन्मात्रकारणं यथोक्तक्षयोपशमनिमित्तं (तइ त्ति) सा वाचना भवेत्, न तु नमस्कारस्य कारणं सा युज्यते । कथंभूतस्य ?, इत्याह-कर्मक्षयोपशमलभ्यस्य । इदमुक्तं भवति-एवमपि मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिक्षयोपशमादेवानन्तरं नमस्कार उत्पद्यते, न तु वाचनात्, ततोऽसावेव तत्कारणं युज्यते, न तु वाचना, तस्या यथोक्तक्षयोपशमजनकत्वेनाऽन्यकारणत्वादिति ॥ २८३७ ॥

पुनरपि परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अह कारणोवगारि, त्ति कारणं तेण कारणं सव्वं ।
पायए वज्झवत्थुं, को नियमो सद्दमेत्तम्मि ? ॥२८३८॥
अह पच्चासण्णतरं, कारणमेगंतियं तओ लद्धी ।
पभिवज्ज न चेदेवं, न वायणामेत्तनियमो ते ॥२८३९॥

अथ कारणस्य यथोक्तक्षयोपशमस्योपकारिणी वाचनेति, अतः कारणकारणत्वादसौ नमस्कारस्य कारणमिष्यते । अत्रोच्यते-(तेणेत्यादि) तेन तर्हि प्रायेण सर्वमपि क्षितिशय्याऽऽसनाऽऽहार-वस्त्र-पात्राऽऽदिकं बाह्यं वस्तु नमस्कारकारणस्य यथोक्तक्षयोपशमस्योपकारित्वात्परम्परया नमस्कारस्य कारणं प्राप्नोति । अतः को नाम वाचनालक्षणे शब्दमात्रे तत्कारणत्वनियमः ?, इति ॥२८३८॥ अथ परम्परया सर्वस्य बाह्यवस्तुनो नमस्कारकारणोपकारित्वे सत्यपि यदेव प्रत्यासन्नतरं वाचनालक्षणं वस्तु, तदेवाऽऽसन्नोपकारित्वान्नमस्कारस्य कारणमिष्यते । ननु तथाऽपि नमस्कारजनने तदेवैकान्तिकमित्युक्तमेव । तत एकान्तिकमानन्तर्येणातिप्रत्यासन्नतरं लब्धिमेव तत्कारणं प्रतिपद्यस्व । न चेदेवं प्रतिपद्यसे, तर्हि न वाचनामात्रस्य नमस्कारकारणत्वनियमः ' ते ' तव सिध्यति; क्षित्यादेरपि पूर्वोक्तनीत्या तत्कारणत्वप्राप्तेः । तदेवं प्रथमनयत्रयस्य त्रिविधं कारणम्, ऋजुसूत्रस्य द्विविधं, शब्दनयास्तु लब्धिमेवैकां नमस्कारकारणमिच्छन्तीति स्थितम् । इति द्वात्रिंशद्गाथार्थः ॥ २८३९ ॥ तदेवमभिहितमुत्पत्तिद्वारम् ।

(३) इदानीं निक्षेपद्वारमुच्यते-तत्र नमस्कारस्य निक्षेपश्चतुर्धा-नामनमस्कारः, स्थापनानमस्कारः, द्रव्यनमस्कारः, भावनमस्कारश्चेति । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यनमस्काराऽभिधित्सया पुनराह-

निण्हगाऽऽइ दव्व भावो-वउत्त जं कुज्ज सम्मदिट्ठी उ ।
नेवाइयं पयं द-व्वभावसंकोयणपयत्थो ॥ २८४० ॥

नमस्कारतद्वतोरभेदोपचारान्निह्नवाऽऽदिर्द्रव्यनमस्कारः, भा-

दिशब्दाद् यो द्रव्यार्थं विद्यामन्त्रदेवताऽऽदीनां नमस्कारः क्रियते, सोऽपि द्रव्यनमस्कारः । निह्नवाऽऽदिनमस्कारस्य च द्रव्यत्वमप्राधान्यात, अप्राधान्यं च तेषां मिथ्यात्वाऽऽदिकलुषितत्वादिति । भावनमस्कारस्त्वागमतः स विज्ञेयो, यमुपयुक्तः सम्यग्दृष्टिरर्हदादीनां कुर्यादिति द्वारम ॥

(४) अथ पदद्वारमुच्यते-पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदम् । तच्च पञ्चधा-नामिकम्, नैपातिकम, औपसर्गिकम्, आख्यातिकम, मिश्र चेति । तत्र 'अश्वः' इति नामिकम । 'खलु' इति नैपातिकम्, 'परि' इत्यौपसर्गिकम् । 'धावति' इत्याख्यातिकम । 'संयतः' इति मिश्रम् । एवं नामिकाऽऽदिपञ्चप्रकारपदसंभवे सत्याह-(नेवाइय पय ति) निपतत्यर्हदादिपदानामादिपर्यन्तयोरिति निपातः, निपातादागत, तेन वा निर्वृत्त, स एव वा स्वार्थिकप्रत्ययविधानान्नैपातिकम 'नमः' इति पदम । इति पदद्वारम ।

(५) अथ पदार्थद्वारमुच्यते-(दव्वभावसंकोयण पयत्थो त्ति) इह 'नमोऽर्हद्भ्यः' इत्यादिषु यत् 'नमः' इति पद, तस्य नम इति पदस्यार्थः पदार्थः, स च पूजालक्षण । सा च का ?, इत्याह-(दव्वभावसकोयण त्ति) द्रव्यसकोचनम्, भावसकोचन च । तत्र द्रव्यसकोचन कराशिरःपादाऽऽदिसंकोचः, भावसकोचन तु विशुद्धस्य मनसोऽर्हदादिगुणेषु निवेश । अत्र च भङ्गचतुष्टयम् । तद्यथा-द्रव्यसकोचो न भावसंकोचः, यथा पालकाऽऽदीनाम, भावसकोचो न द्रव्यसकोच इत्यनुत्तरसुराऽऽदीनाम, द्रव्यसकोचो भावसंकोचश्च, यथा शम्बस्य, न द्रव्यसकोचो न भावसकोच इति शून्यः । इह च भावसकोचप्रधानो द्रव्यसकोचोऽपि तच्छुद्धिनिमित्तः ॥ इति निर्युक्तिगाथासक्षेपार्थ ॥ २८४० ॥

अथ नमस्कारस्य भाष्यकारो नामाऽऽदिनिक्षेप विस्तरतो व्याचिख्यासुराह-

नामाऽऽइचउब्भेओ, निक्खेवो मंगलं च सो नेओ ।
नामं नमोऽभिहाणं, ठवणा नासोऽहवाऽऽगारो ॥२८४१॥

नामस्थापनाऽऽदिचतुर्भेदो नमस्कारस्य निक्षेपः । स चाधस्तादुक्तमङ्गलस्येव विस्तरतो विज्ञेयः । सक्षेपतस्त्विहाप्युच्यते-(नाम ति) नामनमस्कारो 'नमः' इत्यभिधानम् । स्थापनानमस्कारस्तु-'नमः' इत्यक्षरद्वयस्य विन्यासः । अथवा-नमस्कारकरणप्रवृत्तस्य संकोचितकरचरणस्य काष्ठपुस्तकचित्राऽऽदिगतस्य साध्वादेराकारः स्थापनानमस्कार इति ॥ २८४१ ॥

द्रव्यनमस्कारमाह-

आगमओऽणुवउत्तो, अज्झेया दव्वओ नमोक्कारो ।
नोआगमओ जाणय-भव्वसरीराइरित्तोऽयं ॥२८४२॥

द्रव्यनमस्कारो द्वेधा-आगमतः, नोआगमतश्च । तत्रानुपयुक्तो नमस्कारस्याध्येता-आगमतो द्रव्यनमस्कारः । नोआगमतोऽयं द्रव्यनमस्कारो ज्ञशरीर-भव्यशरीर-तद्व्यतिरिक्तभेदात्त्रिविध इति । तत्र ज्ञशरीर-भव्यशरीर-वक्तव्यता क्षुण्णा ॥ २८४२ ॥

तद्व्यतिरिक्तं तु द्रव्यनमस्कारमाह-

मिच्छोवहया जं ना-वओ वि कुव्वंति निन्हवाऽऽईया ।
सो दव्वनमोक्कारो, सम्माणुवउत्तकरणं च ॥ २८४३ ॥

मिथ्यात्वोपहता निह्नवाऽऽदयो भावतोऽपि य नमस्कार कुर्वन्ति, स ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तोऽप्रधानत्वाद् द्रव्यनमस्कारः । तथा सम्यग्दृष्टिरप्यनुपयुक्तो य नमस्कारं करोति स तद्व्यतिरिक्तो द्रव्यनमस्कार इति ॥ २८४३ ॥

आह-ननु भावतोऽपि कुर्वतां निह्नवाऽऽदीनां किमिति द्रव्यनमस्कारः ? । अत्रोच्यते-अज्ञानित्वात् । अज्ञानित्व च तेषां मिथ्यादृष्टित्वात, 'मिथ्यादृष्टेरज्ञानम्' एतदपि कुतः ?, इत्याह-

सदसदविसेसणाओ, भवहेउ जदिच्छिओवलंभाओ ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥२८४४॥

भागसकृद् व्याख्यातार्था ॥ २८४४ ॥

प्रकारान्तरेणापि द्रव्यनमस्कारमाह-

जो वा दव्वत्थमसं-जयस्स व भयाइणाऽहवा सो वि ।
दव्वनमोक्कारो च्चिय, कीरइ दमएण रण्णो व्व ॥२८४५॥

यो वा द्रव्यार्थं क्रियते स द्रव्यनमस्कारः । अथवा-द्रव्यलाभ विनाऽपि योऽसयतस्य राजाऽऽदेर्भयाऽऽदिकारणतो द्रमकाऽऽदिना क्रियते, सोऽपि तद्व्यतिरिक्तो द्रव्यनमस्कार इति ।२८४५।

अथाऽऽगमतो नोआगमतश्च द्विविध भावनमस्कारमाह-

आगमओ विन्नाया, तच्चित्तो भावओ नमोक्कारो ।
नोआगमओ सो च्चिय, सेसयकरणोवउत्तो त्ति ॥२८४६॥

तस्मिन् नमस्कारार्थे चित्तमुपयोगो यस्य नान्यत्र-असौ तच्चित्तो विज्ञाता आगमतो भावनमस्कार, स एव मनस्करणेनोपयुक्तो नमस्कारकर्त्ता यदा शेषकाभ्यामपि वाक्कायकरणाभ्यामुपयुक्तो नमस्कार करोति-वचनेन 'नमोऽर्हद्भ्यः' इति ब्रुवाण, कायेन तु सकोचितकरचरणो यदा नमस्कार करोतीत्यर्थः, तदाऽसौ नोआगमतो भावनमस्कार उच्यते, उपयोगलक्षणस्याऽऽगमस्य वाक्कायकरणक्रियाभिभत्वात, नोशब्दस्य चेह मिश्रवचनत्वादिति ॥ २८४६ ॥

अथामु नामाऽऽदिनिक्षेपमपि नयैर्विचार-यन्नाह-

भावं चिय सद्दनया, सेसा इच्छंति सव्वनिक्खेवे ।
ठवणावज्जे संगह-ववहारा केइ इच्छंति ॥२८४७॥

भावमेव भावनमस्कारमेव इच्छन्ति त्रयोऽपि शब्दनयाः, शुद्धत्वात । शेषास्तु ऋजुसूत्रान्ताश्चत्वारो नयाः, सर्वाँश्चतुरोऽपि निक्षेपानिच्छन्ति, अविशुद्धत्वात । केचित्तु व्याचक्षते-सङ्ग्रहव्यवहारौ स्थापनावर्जांस्त्रीन्निक्षेपानिच्छतः, सद्भावाऽसद्भावस्थापनायाः किल साङ्केतिकनामाभिधेयत्वेन नामनिक्षेप एवान्तर्भावादिति ॥ २८४७ ॥

तथा-

दव्वट्ठवणावज्जे, उज्जुसुओ तं न जुज्जए जम्हा ।
इच्छइ सुयम्मि भणिय, सो दव्वं किं तु न पुहत्तं ॥२८४८॥

द्रव्यस्थापनावर्जौ शेषौ द्वावेव नामभावनिक्षेपाविच्छति ऋजुसूत्रः । तदेतद् व्याख्यानं न युज्यते, यस्मादसौ ऋजुसूत्रो द्रव्यमिच्छत्येव, केवलं पृथक्त्व नेच्छति-बहूनि द्रव्याऽऽवश्यकाऽऽदीनि नेच्छतीत्यर्थः । एतच्च सूत्रेऽनुयोगद्वारलक्षणे,

भणितं प्रतिपादितम् । तद्यथा-" उज्जुसुयस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ एगे दव्वावस्सए पुहत्तं नेच्छइ " इति ॥ २८४८ ॥

स्थापनेच्छामप्यस्याऽऽह-

इच्छंतो य स दव्वं, तदणागारं तु भावहेउ त्ति ।
नेच्छेज्ज कहं ठवणं, सागारं भावहेउ त्ति ? ॥२८४९॥

इच्छंश्च ऋजुसूत्रस्तत्प्रसिद्धं सुवर्णाऽऽदिकं द्रव्यं पिण्डभावस्थायामनाकारं तथाविधकटककेयूराऽऽद्याकाररहितम्, विशिष्टेन्द्राऽऽद्याकाररहितं वा । कुत इच्छन् ?, इत्याह-भावहेतुर्यतस्तद्- भविष्यत्कुण्डलाऽऽदिपर्यायलक्षणभावहेतुत्वादित्यर्थः । कथं नाम नेच्छेत्स्थापनाम् ?। कथंभूताम् ?, साकारां विशिष्टेन्द्राऽऽद्याकारसहितामपीत्यर्थः । पुनरपि किंविशिष्टाम् ?, इत्याह-भावहेतुभूतां-साकारत्वेन विशिष्टेन्द्राऽऽद्यभिप्रायकारणभूतामित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-यो ह्यनाकारमपि भावहेतुत्वाद् द्रव्यमिच्छति ऋजुसूत्रः, स साकारामपि विशिष्टेन्द्राऽऽदिभावहेतुत्वात् स्थापना किमिति नेच्छेत् ?, इच्छेदेव, नात्र संशय इति ॥ २८४९ ॥

उपपत्त्यन्तरेणापि द्रव्यस्थापनेच्छामस्य साधयन्नाह-

नामं पि होज्ज सण्णा, तव्वच्चं वा तदत्थपरिसुण्णं ।
हेउ त्ति तदिच्छंतो, दव्वट्ठवणा कहं नेच्छे? ॥२८५०॥

ननु ऋजुसूत्रस्तावन्नाम निर्विवादमिच्छति । तच्च नाम इन्द्राऽऽदिसंज्ञामात्रं वा भवेत्, तद्वाच्यं वा तदर्थपरिशून्यमिन्द्रशब्दवाच्यं वा, इन्द्रार्थरहितं वा गोपालदारकाऽऽदि वस्तु भवेदिति द्वयी गतिः । इदं चोभयरूपमपि नामहेतुर्भावकारणमिति कृत्वा इच्छन्नसौ ऋजुसूत्रो द्रव्यस्थापने कथं नाम नेच्छेत् ?, भावकारणत्वाविशेषादिति भावः ॥ २८५० ॥

अह नामं भावम्मि वि, तेणेच्छइ तेण दव्वठवणा वि ।
भावस्साऽऽसन्नपरा, हेऊ सद्दो उ बज्झयरो ॥२८५१॥

अथेन्द्राऽऽदिकं नाम भावेऽपि भावेन्द्रेऽपि सन्निहितमस्ति, तेन तस्मादिच्छति तदृजुसूत्रः । तेन तर्हि जितमस्माभिः, अस्य न्यायस्य द्रव्यस्थापनापक्षे सुलभतरत्वात् । तथाहि-द्रव्यस्थापने अपि भावस्येन्द्रपर्यायस्यासन्नतरौ हेतू, शब्दस्तु तन्नामलक्षणो बाह्यतर इति । एतदुक्तं भवति-इन्द्रमूर्तिलक्षणं द्रव्यं, विशिष्टतदाकाररूपा तु स्थापना, एते द्वे अपीन्द्रपर्यायस्य तादात्म्यसम्बन्धेनावस्थितत्वात् सन्निहिततरे, शब्दस्तु नामलक्षणो वाच्यवाचकभावसंबन्धमात्रेणैव स्थितत्वाद् बाह्यतर इति । अतो भावे सन्निहितत्वान्नामेच्छन् ऋजुसूत्रो द्रव्यस्थापने सन्निहिततरत्वात्सुतरामिच्छेदिति । तदेवमृजुसूत्रस्य चतुर्विधनिक्षेपेच्छासाधनेनानन्तरोक्तत्वात्परिहृतं तद्विषयं दुर्व्याख्यानम् ॥ २८५१ ॥

अथ प्राग् यदुक्तम्-" ठवणावज्जे संगहववहारा " [२८४७] इत्यादि, तत्परिहरन्नाह-

संगहिओ असंगहिओ, सव्वो वा नेगमो ठवणमिच्छे ।
इच्छइ जइ संगहिओ, तं नेच्छे संगहो कीस ? ॥२८५२॥

इह संग्राहिकोऽसंग्राहिकः सर्वो वा नैगमस्तावन्निर्विवादं स्थापनामिच्छत्येव । तत्र संग्राहिकः संग्रहमतावलम्बी, सामान्यवादीत्यर्थः । असंग्राहिकस्तु-व्यवहारनयमतानुसारी, विशेषवादीत्यर्थः, सर्वस्तु समुदित । ततश्च यदि संग्राहिकः संग्रहमतावलम्बी नैगमस्तां स्थापनामिच्छति, तर्हि संग्रहस्तत्समानमतोऽपि तां किमिति नेच्छति ?, इच्छेदेवेत्यर्थः ॥२८५२॥

अहव मयमसंगहिओ, तो ववहारो वि किं न तस्समा ? ।
अह सव्वो तो तस्सम-धम्माणो दो वि ते जुत्ता ॥२८५३॥

(अहव मयमित्यादि) 'अथवा' इत्यव्ययोऽथार्थे । अथ परस्य मतम्-यद्यपि सामान्येन सर्वो नैगमः स्थापनामिच्छति, तथापि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरसंग्राहिकोऽसौ तामिच्छतीति प्रतिपत्तव्यम् । 'न संग्रहिकः' इत्यध्याहारः, न तत् संग्रहस्य स्थापनेच्छा निषिध्यत इति भावः । अत्रोत्तरमाह-'तो' इत्यादि । तर्ह्येकत्र साधितस्ततोऽन्यत्र प्रत्यवते, एवं हि सति व्यवहारोऽपि स्थापना किमिति 'नेच्छति' इति शेषः । कुतः ?, इत्याह-यतस्तद्धर्मोऽसौ-असंग्राहिकनैगमसमानधर्मो व्यवहारनयोऽपि वर्तते, विशेषवादित्वात् । ततश्चैषोऽपि स्थापनामिच्छेदेवेति, निषिद्धा चास्यापि त्वया,"ठवणावज्जे संगहववहारा " इति वचनादिति । अथ सर्वोऽखण्डः परिपूर्णो नैगमः स्थापनामिच्छति, न तु संग्रहिकोऽसंग्रहिको वेति भेदवान्, अतस्तद्दृष्टान्तात्संग्रहव्यवहारयोर्न स्थापनेच्छा साधयितुं युक्तेति भावः । अत्रोच्यते-'तो' इत्यादि । ततस्तर्हि तत्समधर्माणौ नैगमसमानधर्माणौ द्वावपि समुदितौ ताविति संग्रहव्यवहारौ युक्तावेव । इदमत्र हृदयम्-तर्हि प्रत्येकं तयोरेकतरनिरपेक्षयोः स्थापनाऽभ्युपगमो मा भूदिति समुदितयोस्तयोः संपूर्णनैगमरूपत्वात्तदभ्युगमः केन वार्यते, अविभागस्थाद् नैगमात्प्रत्येकं तदेकैकताग्रहणात् ?, इति ॥ २८५३ ॥

इतश्च स्थापनाऽभ्युपगमः संग्रहव्यवहारयोर्युक्तः । कुतः ?, इत्याह-

जं च पवेसो नेगम-नयस्स दोसु बहुसो समक्खाओ ।
तो तम्मयं पि सिद्धं, मयमियरेसिं विभिन्नाणं ॥ २८५४॥

यच्च यस्मात् प्रवेशोऽन्तर्भावः, " जो सामन्नग्गाही सो नेगमो संगहं गओ " इत्यादिना ग्रन्थेन प्रागत्रान्यत्र च नैगमनयस्य द्वयोः संग्रहव्यवहारयोर्बहुशोऽनेकधा समाख्यातः प्रतिपादितः । ततस्तन्मतमपि स्थापनाऽभ्युपगमलक्षणं नैगमनयमतमपीतरयोः संग्रहव्यवहारयोर्विभिन्नयोर्भेदवतोर्भिन्नं पृथग्मतं सम्मतमिति । इदमुक्तं भवति-यथा विभिन्नयोः संग्रहव्यवहारयोर्नैगमोऽन्तर्भूतः, तथा स्थापनाऽभ्युपगमलक्षणं तन्मतमपि तयोरन्तर्भूतमेव; ततो भिन्नभेदेन तौ तदिच्छत एव-स्थापनासामान्यं संग्रह इच्छति, स्थापनाविशेषाँस्तु व्यवहार इत्येतदेव युक्तं, तदनिच्छा तु सर्वथाऽनयोर्न युक्तेति ॥ २८५४ ॥

अत्रैवोपचयमाह-

सामण्णाऽऽइविसिट्ठं, बज्झं पि जमुज्जुसुत्तपज्जंता ।
इच्छंति वत्थुधम्मं, तो तेसिं सव्वनिक्खेवो ॥ २८५५ ॥

यस्माच्च सामान्याऽऽदिविशिष्टं बाह्यमपि च विचित्रं बहुप्रकारमृजुसूत्रपर्यन्ता नया वस्तुधर्ममिच्छन्ति, ततस्तेषां सर्वेऽपि नामाऽऽदयो निक्षेपाः संमता एवेति । अतः " ठवणावज्जे संगहववहारा " (२८४७) इत्यादिना यत्केषाञ्चिन्मतं, तदसंगतमेवेति ॥ २८५५ ॥

'नेवाइय पयं' [२७४०] इत्येतद्
व्याचिख्यासुराह-

निवयइ पयाऽऽइपज्जं-तओ जओ तो नमो निवाउ त्ति ।
सो च्चिय निययत्थपरो, पयमिह नेवाइयं नाम ॥२७५६॥
पूयत्थमिणं सा पुण, सिरकरपायाऽऽइदव्वसंकोओ ।
भावस्स य संकोओ, मणसा सुद्धस्स विणिवेसो ।२७५७।

यतो यस्मान्निपतति पदाऽऽदिपर्यन्तयोस्ततो 'नम' इति पद निपातो भण्यते । स एव 'नम' इति निपातो निजकार्थपरः स्वार्थिकप्रत्ययोपादानो नैपातिक पदमित्युच्यत इति ॥ २७५६ ॥ इद च 'नम' इति पद पूजार्थम्, शेष सुगमम् ॥ २७५७ ॥

अत्र च भावसकोचलक्षण भावकरणमेव प्रधानमिति-
दर्शयन्नाह-

एत्थं तु भावकरणं, पहाणमेगंतियं ति तस्सेव ।
बज्झं सुद्धिनिमित्तं, भावावेयं तु त विफलं ॥२७५८॥
जं जुञ्जंतो वि तयं, न तप्फलं लहइ पालगाइ व्व ।
तव्विरहिया लहंति य, फलमिह जमणुत्तराऽऽईया।२८५९।
तह वि विसुद्धी पाए-ण वज्झसहियस्स जा न सा इहरा ।
संजायइ तेणोभय-मिट्ठं संवरस वा नमओ ॥२७६०॥

सुगमा., गतार्थाश्च । नवर भावापेत भावरहित तद् बाह्यकरण विफलमेव । इति विंशतिगाथार्थ' ॥ २८५८।२८५९।२७६० ॥

(६) अथ प्ररूपणाद्वारमाह-

दुविहा परूवणा छ-प्पया य नवहा य छप्पया इ णमो ।
किं कस्स केण व कहिं, केवचिरं कइविहो व भवे ?।२७६१।

द्विविधा द्विप्रकारा, प्रकृष्टा प्रधाना, प्रगता वा रूपणा वर्णना प्ररूपणेति । तदेव द्वैविध्यमाह-षट्पदा च षट्प्रकारा, नवधा च नवप्रकारा, चशब्दात्पञ्चपदा, चतुष्पदा च । तत्र षट्पदा 'णमो' इति पद किं, कस्य, केन वा, क्व वा, कियच्चिरं, कतिविधो वा भवेन्नमस्कार.? इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥२७६१॥

तत्र किंद्वारव्याख्यानार्थमाह-

किं जीवो तप्परिणओ, पुव्वपडिवन्नओ य जीवाणं ।
जीवस्स य जीवाण य, पडुच्च पडिवज्जमाणं तु ।२७६२।

किं वस्तु नमस्कार' ?, इत्याह-(जीवो त्ति) सामान्येन अविशुद्धनैगमाऽऽदिनयाना जीव., तद्ज्ञानलब्धियुक्तो योग्यो वा नमस्कार.। शब्दाऽऽदिशुद्धनयमत त्वधिकृत्याऽऽह-(तप्परिणओ त्ति) शब्दाऽऽदिविशुद्धनयमतेन तु जीव., तत्परिणतो नमस्कारपरिणामपरिणत एव नमस्कारो, नापरिणत इति । उक्त किंद्वारम् ।

अथ कस्येतिद्वारमुच्यते-तत्र च यदा पूर्वप्रतिपन्नो नमस्कारः चिन्त्यते, तदा जीवानामसौ विज्ञेय., बहुजीवस्वामिक इत्यर्थ' । प्रतिपद्यमान तु नमस्कार प्रतीत्य यदा एको जीवस्त प्रतिपद्यते, तदा जीवस्यासौ विज्ञेय', एकजीवस्वामिक इत्यर्थः । यदा तु बहवो जीवास्त प्रतिपद्यन्ते, तदा जीवानामेष ज्ञातव्य, बहुजीवस्वामिक इत्यर्थ । इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ।२७६२।

अथ किंद्वारविषय भाष्यम्-

किं होज्ज नमोक्कारो, जीवोऽजीवोऽहवा गुणो दव्वं ।
जीवो नो खंधो त्ति य, वह नोगामो नमोक्कारो ॥२७६३॥

किं वस्तु नमस्कारो भवेत् ?—जीवः, अजीवो वा । जीवाजीवत्वेऽपि किं गुणो, द्रव्य वा नमस्कार.?, इति प्रश्ने नैगमाऽऽद्यविशुद्धनयमतमङ्गीकृत्याऽऽह-जीवो नमस्कार', नाऽजीवः । स च संग्रहनयापेक्षया मा भूदविशिष्ट' पञ्चास्तिकायमयः स्कन्धः । यथाऽऽहुस्तन्मतावलम्बिन -" पुरुष एवेद ग्नि सर्वं यद् भूत यच्च भाव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति " इत्यादि । तथा सग्रहनयविशेषापेक्षयैव मा भूदविशिष्टग्राम इति, 'अतो नो स्कन्धो नो ग्राम.।' इति निर्युक्तिगाथाया वाक्यशेष. । पञ्चास्तिकायमयस्कन्धैकदेशत्वान्नोशब्दस्य च देशवचनत्वान्नोस्कन्धो जीवो नमस्कार, तथा- चतुर्दशविधभूतग्रामैकदेशत्वाद् नोशब्दस्य च देशवचनत्वाद् नोग्रामरूप. प्रतिनियतः कोऽपि जीवो नमस्कार इति ।२७६३।

ननु कस्माज्जीवो नमस्कार., नाऽजीव.?, इत्याह-

जं जीवो णाणमओ-ऽणन्नो नाणं च जं नमोक्कारो ।
तो सो जीवो दव्वं, गुणो त्ति सामाइएऽभिहियं ।२७६४।

यद्यस्माद् ज्ञानमयो जीव., ज्ञान च यस्मात् श्रुतज्ञानरूपो नमस्कार., अनन्यश्चाव्यतिरिक्तश्च ज्ञानाज्जीव. । तत. स नमस्कारो 'जीवो त्ति' जीव एव, नाजीव., तस्य ज्ञानशून्यत्वादिति । भवतु जीवो नमस्कार, केवल द्रव्यमसौ, गुणो वा ?, इति वक्तव्यमित्याह-' द्रव्य गुणो वा नमस्कार.' इत्येतत्सामायिके 'किं सामायिक' इति द्वारे-" जीवो गुणपडिवन्नो, नयस्स दव्वट्ठियस्स सामइय । सो चेव पज्जवट्ठिय-नयस्स जीवस्स एस गुणो ॥ १ ॥ " (२६४३) इत्यादिना ग्रन्थेनाभिहितमेव, केवल सामायिकस्थाने नमस्कारो वाच्य इति । ॥ २७६४ ॥

भवतु जीवो नमस्कारः, किन्तु नोस्कन्धो नोग्रामश्च कथमसौ ?, इत्याह-

सव्वत्थिमओ खंधो, तदेक्कदेसो य जं नमोक्कारो ।
देसपडिसेहवयणो, नोसद्दो तेण नोखंधो ॥२७६५॥
भूयग्गामो गामो, तदेक्कदेसो तउ त्ति नोगामो ।
देसो त्ति सो किमेक्को-ऽणेगो नेओ नयमयाओ ॥२८६६॥

सर्वे पञ्चास्तिकायाः, तन्मयस्तैर्निर्वृत्त. परिपूर्ण., स्कन्ध उच्यते । तदेकदेशश्च यस्मान्नमस्कारवान् जीवः, नमस्कारतद्वतोश्चाभेदोपचारान्नमस्कारोऽपि तदेकदेशः । देशप्रतिषेधवचनश्च नोशब्दः, तेन तस्मात्स्कन्धैकदेशो जीव, अभेदोपचारान्नमस्कारश्च नोस्कन्ध इति । तथा-"एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियरपणिंदिया सबितिचउ । पज्जत्तापज्जत्ता, भेएण चउद्दसग्गामा ।१।" इति वचनाच्चतुर्दशविधो भूतग्रामो ग्राम उच्यते । तदेकदेशश्च यस्मात्तकोऽसौ नमस्कारवान् देवमनुष्याऽऽदिजीवोऽभेदोपचारान्नमस्कारोऽपि तदेकदेश इत्यतोऽसौ नोग्रामोऽभिधीयते । 'देसो त्ति' पृच्छति विनेय.-भूतग्रामस्य देश सन् स नमस्कार, किमेकोऽनेको वा ?, इति वक्तव्यम् । गुरुराह-ज्ञेयो नयमताद-एकत्वमनेकत्व च तस्य नयमताद्विज्ञेयमित्यर्थ. । तदेतावता 'किं जीवो' (२८६२) इति व्याख्यातम् ॥ २८६५। २७६६ ॥

अथ 'तप्परिणओ' (२८६२) इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

तप्परिणओ च्चिय जया, सद्दाईणं तया नमोक्कारो ।
सेसाणमणुवउत्तो, वि लद्धिसहिओऽहवा जोग्गो ॥२७६७॥

तत्परिणत एव नमस्कारपरिणामपरिणत एव, यदा जीवो भवति, तदाऽसौ शब्दाऽऽदिनयत्रयमतेन नमस्कारोऽभिधीयते। शेषाणां तु नैगमाऽऽदिनयानामनुपयुक्तोऽपि नमस्कारो जीवो नमस्कार उच्यते। किं सर्वः ?, नेत्याह-लब्धिसहितस्तदावरणकर्मक्षयोपशमयुक्तः, अथवा-योग्यो भव्यशरीराऽऽदिको राज्यार्हकुमारराजवदिति ॥ २८६७ ॥

अथ कथं पुनर्नयमतेन नमस्कारस्यैकत्वमनेकत्वं च ज्ञेयम् ?, इत्याह-

संगहनओ नमोक्का-रजाइसामन्नओ सया एगं ।
इच्छइ ववहारो पुण, एगमिहेगं बहू बहवो ॥२८६८॥
उज्जुसुयाऽऽईणं पुण, जेण सयं संपयं व वत्थुं ति ।
पत्तेयं पत्तेयं, तेण नमोक्कारमिच्छंति ॥ २८६९ ॥

द्वे अपि सुगमे, नवरं व्यवहारनयः पुनरेकं नमस्कारवन्तं जीवमेकं नमस्कारमिच्छति, बहूँस्तद्वतो बहून्नमस्कारानिच्छति, लोकव्यवहारपरत्वात्, लोके चेत्थं दर्शनादिति। ऋजुसूत्राऽऽदयस्तु बहुत्वं नेच्छन्ति, वर्तमानसमयवर्तिनः स्वकीयस्यैवैकस्य प्रत्येकं प्रत्येकमभ्युपगमादिति ॥ व्याख्यातं किमितिप्ररूपणाद्वारम् ॥ २८६८ ॥ २८६९ ॥

अथ कस्येतिद्वारे " पुव्वपडिवण्णओ य जीवाणं " (२८६२) इत्यादि व्याचिख्यासया प्राऽऽह-

पडिवज्जमाणओ पुण, एगोऽणेगे व संगहं मोत्तुं ।
इट्ठो सेसनयाणं, पडिवन्ना णियमओऽणेगे ॥२८७०॥

प्रतिपद्यमानको नमस्कारस्यैकोऽनेके वा जीवा भवन्तीत्ययं पक्षः सग्रहनयं मुक्त्वा शेषनयानामिष्टः संमतः, पूर्वप्रतिपन्नास्तु नियमेनानेके तेषामिष्टाः, गतिचतुष्टयेऽपि पूर्वप्रतिपन्नस्य सम्यग्दृष्टीनामसंख्येयानां सदैव लाभात् । संग्रहनयस्तु-बहुत्वं सर्वत्र नेच्छतीति तद्वर्जनमिति। तदेवं 'कस्य नमस्कारः ?', इति पृष्टे एकानेकजीवस्वामिको नमस्कार इति निर्णीतम् ॥ २८७० ॥

अथ जीवस्वामिके सत्यपि 'किं नमस्कार्यजीवस्वामिको नमस्कारः, नमस्कर्तृजीवस्वामिको वा ?', इति जिज्ञासाया नयैर्निर्णयमाह-

कस्स त्ति नमोक्कारो, पुज्जस्स य संपयाणभावाओ ।
नेगमववहारमयं, जह भिक्खा कस्स जइणो त्ति ॥२८७१॥

कस्य नमस्कारः-किंस्वामिकोऽसौ ?, इति पृष्टे गुरुराह-नैगमव्यवहारनयमतमिदम्-पूज्यस्य नमस्कार्यस्य नमस्कारः, न पुनस्तत्कर्तुः। कुतः ?, सम्प्रदानभावतः-तेन पूज्यस्यैव सम्प्रदीयमानत्वात्। लोकेऽपि प्रकारो भवन्ति-कस्य भिक्षा ?, 'यतेः,' इति, न पुनस्तद्दातुः ॥ २८७१ ॥

हेत्वन्तरेणापि नमस्कार्यस्वामिकत्वं नमस्कारस्यैतौ समर्थयतः। कथम् ?, इत्याह-

पुज्जस्स व पज्जाओ, तप्पच्चयओ घडाऽऽयधम्म व्व ।
तब्भेउब्भावओ वा, घडविण्णाणाभिहाणं व ॥ २८७२॥

अथवा-पूज्यस्यैव पर्यायो नमस्कार इति प्रतिज्ञा। (तप्पच्चयओ त्ति) पूज्ये पूज्योऽयमिति प्रत्ययजनकत्वादिति हेतुः। (घडाऽऽयधम्म व्व त्ति) घटस्याऽऽत्मीयरूपाऽऽदिवदिति दृष्टान्तः, यथा-घटे घटप्रत्ययजनकत्वात्तद्रूपाऽऽदयस्तत्पर्याया इत्यर्थः। अथवा-अस्यामेव प्रतिज्ञायां तद्धेतुभावादिति हेतुः-नमस्कारोत्पत्तिहेतुत्वादित्यर्थः। घटविज्ञानाभिधानवदिति दृष्टान्तः। इयमत्र भावना-नमस्कार्येऽर्हदादौ दृष्टे भव्यजन्तोर्विशिष्टोल्लासो नमस्कारकरणाभिप्राय उत्पद्यते, ततस्तन्नमस्कारस्य नमस्कार्यो हेतुः, ततस्तद्धेतुभावान्नमस्कार्यस्यैव पूज्यस्यैव पर्यायो नमस्कारः; यथा घटविषयविज्ञानाभिधाने घटहेतुकत्वाद् घटपर्यायाविति ॥ २८७२ ॥

किञ्च-युक्त्यन्तरेणापि पूज्यस्वामिक एव नमस्कारः, कथम् ?, इत्याह-

अहवा स करेंतो चे-व तस्स जं निच्चभावमावण्णो ।
का तस्स नमोकारे, चिंता दासक्खरोवम्मे ॥ २८७३ ॥

अथवा-यद्यस्मात् स नमस्कारकर्ता नमस्कारं कुर्वाण एव तस्य नमस्कार्यस्याऽर्हदादेर्भृत्यभावं दासत्वमापन्नः; ततस्तस्य नमस्कारकर्तुर्नमस्कारे का चिन्ता ?-किं ममत्वम् ?। ननु नमस्कारस्तावद् दूरे तिष्ठतु, तस्याऽऽत्माऽपि नात्मीयः, पूज्यस्य भृत्यभावेन समर्पणात्। किंविशिष्टे नमस्कारे चिन्ता न विधेया?, इत्याह-(दासक्खरोवम्मे त्ति) दाससंबन्धिना खरेणौपम्यमुपमानं यस्य तस्मिंस्तथाभूते। इदमुक्तं भवति-" दासेण से खरो कीओ, दासो वी से खरो वी से।"इति सिद्धान्तोक्त्याया दासकल्पो नमस्कारकर्ता, खरकल्पस्तु नमस्कारः, द्वावप्येतौ नमस्कार्यस्यार्हदादेरेव, न पुनर्नमस्कारकर्तुः किञ्चिदिति किं तस्य चिन्तया ?, इति। तदेवं पूज्यस्यैव नमस्कार इति नैगमव्यवहारनयमतेन प्रतिष्ठितम् ॥ २८७३ ॥

पूज्यं च वस्तु द्विविधं-जीवरूपं जिनाऽऽदि, अजीवरूपं च तत्प्रतिमाऽऽदि। अस्य च जीवाजीवपदद्वयस्यैकवचनबहुवचनाभ्यामष्टौ भङ्गा भवन्ति। तद्यथा-जीवस्य १, अजीवस्य २, जीवानाम् ३, अजीवानाम् ४, जीवस्याऽजीवस्य च ५, जीवस्याजीवानां च ६, जीवानामजीवस्य च ७, जीवानामजीवानां च ८। इमामेवाष्टभङ्गीं सोदाहरणां भाष्यकारः प्राऽऽह-

जीवस्स सो जिणस्स व,अज्जीवस्स उ जिणिंदपडिमाए ।
जीवाण जईणं पि व, अज्जीवाणं तु पडिमाणं ॥२८७४॥
जीवस्साऽजीवस्स य, जइणो बिंबस्स चेगओ समयं।
जीवस्साऽजीवाण य, जइणो पडिमाण चेगत्थं ॥२८७५॥
जीवाणमजीवस्स य, जईणं बिंबस्स चेगओ समयं ।
जीवाणमजीवाण य, जईण पडिमाण चेगत्थं ॥२८७६॥

तिस्रोऽपि गतार्थाः ॥ २८७४।२८७५।२८७६ ॥

अत्र परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

जीवो त्ति णमोक्कारो, णणु सव्वमयं कहं पुणो भेओ ?।
इह जीवस्सेव सओ,भण्णइ सामित्तचिंतेयं ॥२८७७॥

ननु " किं जीवो तप्परिणओ " (२८६२) इत्यत्र पूर्वं जीवो नमस्कार इति सर्वनयसमतं समानाधिकरणमुक्तम्। इह तु " जीवस्स सो जिणस्स व " (२८७४) इत्यादिषष्ठीनिर्देशात्कथं भेदोऽभिधीयते ?। अत्रोच्यते-(इहेत्यादि) इहास्यामष्टभङ्ग्यां जीवस्यैव सतो नमस्कारस्य तथैव समाना-

धिकरणभाजः सतो नमस्कारस्येत्यर्थः । किम् ?, अत आह- स्वामित्वचिन्तेयं भण्यते-'स जीवरूपो नमस्कारः किं नमस्कार्यस्य सम्बन्धी, नमस्कर्तुर्वा ?,' इत्येवमादिह चिन्त्यत इति भावः । एतच्च नैगमव्यवहारनयमतेन चिन्तितम् ॥ २८७७ ॥

अथ सङ्ग्रहनयमतेन चिन्तयन्नाह-

सामण्णमेत्तगाही, सपरजिअयरविसेसनिरवेक्खो ।
संगहनओऽभिमण्णइ, तमिहेगस्साविसिट्ठस्स ॥२८७८॥

सामान्यमात्रग्राही संग्रहनयोऽभिमन्यते तमिदं नमस्कारं, सम्बन्धितया कस्य ?, इत्याह-एकस्य । कथम्भूतस्य ?, अविशिष्टस्य जीवाजीवविशेषणरहितस्यैकस्यैवाविशिष्टस्य सत्तामात्ररूपस्य सम्बन्धितया नमस्कारमसौ मन्यते, न तु द्वयो, बहूनां चेत्यर्थः । अत्रोपपत्तिमाह-" सपरजिअयरविसेसनिरवेक्खो त्ति ।" स्वश्च परश्च स्वपरौ, स्वपरौ च तौ जीवौ च स्वपरजीवौ, तौ चेतरेऽजीवाश्च स्वपरजीवेतराः, तेषां विशेषा एकाद्व्यादयः, स्वपरजीवेतराश्च ते विशेषाश्च स्वपरजीवेतरविशेषाः, तन्निरपेक्षो नयोऽसौ, ततस्तन्निरपेक्षत्वात् सामान्यमात्रस्यैव सङ्ग्रहो नमस्कारं मन्यत इति ॥२८७८॥

एतदेव भावयति-

जीवस्साऽजीवस्स व,सस्स परस्स व विसेसणेऽभिण्णो ।
न य भेयमिच्छइ सया, स नमोमामण्णमेत्तस्स ॥२८७९॥

(जीवस्सेत्यादि) जीवस्याऽजीवस्य वा स्वस्य परस्य वा नमस्कारस्येत्येवं विशेषणे कर्त्तव्येऽभिन्नोऽभेदवानसौ एतैर्भेदैर्नमस्कारं न विशेषयति, किं तु सामान्यमात्रग्राहित्वात् सामान्यमात्रस्यैव नमस्कारमसौ मन्यत इत्यर्थः । न केवलमेव, किं तु नमःशब्दरूपं नमस्कारं स्वस्वरूपेणाऽऽधाराऽऽदिभेदाद्भिन्नमसौ मन्यते, अभिन्नं वा ?, इत्याशङ्कयाऽऽह-न च नमस्कारसामान्यमात्रस्याऽऽधाराऽऽदिभेदेऽपि सदा सर्वकालं स सङ्ग्रहनयो भेदमिच्छति, सर्वतः सामान्यमात्रग्राहित्वादिति ॥२८७९॥

अथवा जीवस्य नमस्कार इति षष्ठ्या भेदनिर्देशं मूलत सङ्ग्रहो न मन्यत एव, किमनया तस्य स्वामित्वचिन्तया ?, इति दर्शयन्नाह-

जीवो नमु त्ति तुल्ला-हिगरणयं वेइ न उ स जीवस्स ।
इच्छइ वाऽसुद्धयरो, तं जीवस्सेव नऽण्णस्स ॥२८८०॥

(जीवो इत्यादि) सङ्ग्रह ' जीवो नमस्कार " इति तुल्याधिकरणता समानाधिकरणतामेव ब्रवीति,न पुनरसौ जीवस्य नमस्कार इति व्यधिकरणमिच्छति, जीवनमस्काराऽऽद्यर्थानां सर्वेषामप्यभेदवादित्वादिति । किमयमेक एव प्रकारस्तस्य ?, नेत्याह-(इच्छइ इत्यादि) इच्छति वाऽशुद्धतरः सङ्ग्रहनयस्तं नमस्कारं सम्बन्धितया, कस्य ?, जीवस्यैव जीवसामान्यस्यैव, न पुनरन्यस्याऽऽद्यभङ्गरहितस्य शेषसप्तभङ्गीगतस्याजीवाऽऽदेरिति ।२८८०।

अथ ऋजुसूत्रमधिकृत्याऽऽह-

उज्जुसुयमयं नाणं, सद्दो किरिया च जं नमोकारो ।
होज्ज न हि सव्वहा सो, जुत्तो तक्कत्तुरन्नस्स ॥२८८१॥

ऋजुसूत्रनयस्येदं मतम्-यद्यस्माज्ज्ञानमुपयोगरूपं, शब्दो वा " नमोऽर्हद्भ्य " इत्यादिकं, क्रिया वा शिरोनमनाऽऽदिरूपा नमस्कारो भवेद् ?, इति त्रयी गतिः । ततो न हि नैव, सर्वथा सर्वैरपि प्रकारैः, तत्कर्त्तारं विनाऽन्यस्य युक्तः स नमस्कारः । तस्मान्नमस्कर्तृस्वामिक एवासौ युज्यते, न तु नमस्कार्यस्वामिक इतीह भावार्थः ॥ २८८१ ॥

कुतः ?, इत्याह-

नाणं जीवाणऽन्नं, तं कहमत्थंतरस्स पुज्जस्स ? ।
जीवस्स होउ कह वा,पडिमाए जीवरहियाए ? ॥२८८२॥

(नाणमित्यादि) यदि ज्ञानं नमस्कारस्तदा गुणत्वेन तन्नमस्कर्तृजीवादनन्यदव्यतिरिक्तं वर्त्तते, तत्कथमर्थान्तरस्य पूज्यस्य नमस्कार्यस्यार्हदादेः सम्बन्धि वक्तुं युज्यते ? । यदि वा-अघटमानकमप्यभ्युपगम्य ब्रूतः-जीवस्य पूज्यस्यापि सम्बन्धि तद् भवतु, जीवरहितायास्त्वचेतनायाः प्रतिमायाः कथं वा केन प्रकारेण तद्भवेत् ?, तस्याः सर्वथा ज्ञानशून्यत्वेन कष्टतरं महासाहसमिदमित्यभिप्रायः ॥ २८८२ ॥

एवं सद्दो किरिया, य सद्द-किरियावओ जओ धम्मो ।
न य धम्मो दव्वंतर-संचारी तो न पुज्जस्स ॥ २८८३ ॥

एवं शब्दः क्रिया च यस्माच्छब्दक्रियावतो नमस्कर्तुर्धर्मः, धर्मश्च न द्रव्यान्तरसञ्चारी, ततो न पूज्यस्य नमस्कार्यस्य नमस्कार इति ॥ २८८३ ॥

कुतः पुनर्धर्मो द्रव्यान्तरसञ्चारी न स्याद् ?, इत्याह-

एवं च कयविणासा-ऽकयागमेगत्तसंकराऽऽईया ।
अन्नस्स नमोक्कारे, दोसा बहवो पसज्जंति ॥ २८८४ ॥

एवं ह्यनेन पूजकेन कृते नमस्कारे, अन्यस्य पूज्यस्याभ्युपगम्यमाने बहवो दोषाः प्रसजन्ति । के ?, इत्याह कृतनाशाकृताऽऽगमैकत्वसङ्कराऽऽदयः । तत्र येन कृतस्तस्यानभ्युपगमात्कृतनाशः, येन च न कृतः पूज्येन, तत्स्वामित्वाभ्युपगमेऽकृताऽऽगमः । तथा-द्वयोरप्यभिन्ननमस्कारधर्मकत्वादेकत्वं, सङ्करो वा । आदिशब्दात्सद्दोत्पत्तिविनाशाऽऽदय इति ॥ २८८४ ॥

नैगमाऽऽदिनयवादी पूर्वपक्षयन्नाह-

जइ सामिभावओ हो-ज्ज पूयणिज्जस्स सो तो को दोसो ? ।
अत्थंतरभूयस्स वि, जह गावो देवदत्तस्स ॥२८८५॥

यदि पूजकादर्थान्तरभूतस्यापि पूजनीयस्य पूजके स्थितोऽपि स्वामिभावेन स नमस्कारो भवेत्, तर्हि को दोषः स्यात् ?- धर्मस्य द्रव्यान्तरे सञ्चरणाभ्युपगमान्न कश्चिदित्यर्थः । यथाऽन्यत्र स्थितानामपि गवां देवदत्तः स्वामीति ॥२८८५॥

ऋजुसूत्र उत्तरमाह-

अस्सेदं ववएसो, हवेज्ज दव्वम्मि न उ गुणे जुत्तो ।
पमयस्स सुक्कभावो, जम्हा न हि देवदत्तस्स ॥२८८६॥

अन्यत्र स्थितेऽपि गवादिके द्रव्ये, अन्यत्र स्थितस्यापि देवदत्ताऽऽदेरस्येदमिति स्वामित्वव्यपदेशो भवेद्युज्यते, गुणे त्वयं न्यायो न युक्तः, न हि पटस्य शुक्लभावः शुक्लगुणो देवदत्तस्य भण्यते, साङ्कर्यैकत्वाऽऽदिदोषप्रसङ्गादिति ॥ २८८६ ॥

पुनरपि पर प्राऽऽह-

ववएसाऽभावम्मि वि, नणु सामित्तमणिवारियं चेव ।
अन्नाधाराणं पि हु, सगुणाण व भोगभावाओ ॥२८८७॥

ननु गुणेष्वप्ययं न्यायो दृश्यत एव; तथाहि-अन्याऽऽधाराणामपि देवदत्तसम्बन्धिपटाऽऽदिगतानामपि, शुक्लाऽऽदिगुणानामिति शेषः । देवदत्तस्यैते शुक्लाऽऽदिगुणा इति व्यपदेशाभावेऽपि ननु तस्य तत्स्वामित्वमनिवारितमेव । कुतः ?, इत्याह-भोगभावादिति, निजपटाऽऽदिगतशुक्लाऽऽदिगुणानां देवदत्तेन भुज्यमानत्वादित्यर्थः । केषां यथा कस्य स्वामित्वम् ? इत्याह-

यथा-स्वगुणाना रूपाऽऽदीनां देवदत्तस्य स्वामित्वम् । तत पूजके स्थितस्यापि नमस्कारस्य यदि पूज्य. स्वामी भवेत्, तदा को दोषः ?, इति प्रकृतम् ॥ २८८७ ॥

ऋजुसूत्र. प्राऽऽह-तथाऽपि पूज्यस्य नमस्कार इति न मन्यामहे । कुत ?, इत्याह-

एवं पि न सो पुज्ज-स्स तप्फलाभावओ परधणं व ।
जुत्तो फलाभावाओ, सधणं पि व पूजयंतस्स ॥२८८८॥

एवमपि न स नमस्कार. पूज्यस्य युक्त, तत्फलस्य स्वर्गाऽऽदेरभावात्परधनवदिति । युक्त. पुनरसौ पूजकस्य, स्वर्गाऽऽदेः फलस्य सद्भावात्, स्वधनवादिति ॥ २८८८ ॥

पुनरपि नैगमाऽऽदिनयमतमाशङ्क्य ऋजुसूत्र. परिहरन्नाह-

णणु पुज्जस्सेव फलं, दीसइ पूया न पूजयंतस्स ।
नाणुवजीवित्तणओ,त तस्स फलं जहा नभसो ।२८८९।

ननु पूज्यस्यैव पूजालक्षण फल प्रत्यक्षतो दृश्यते,न तु पूजकस्य, ततः तत्फलाभावादित्यसिद्धो हेतु । एव नैगमाऽऽदिवादिना प्रोक्ते ऋजुसूत्र प्राऽऽह--न तत्तस्य पूज्यस्य पूजालक्षण फलम्, अनुपजीवित्वात्, यथा नभस. । इह यो यस्यानुपजीवी न तत्तस्य फल,यथा नभसो दह्यमानागुरुकर्पूराऽऽदिधूमपटलप्रसरत्सुमनोगन्धाऽऽदिफल न भवति,किं तु तदुपजीवकस्य देवदत्ताऽऽदेरेव, अनुपजीवी च पूजाया वीतरागः, अतो न तस्य तत्फलं किं तु पूजकस्यैवेति ॥ २८८९ ॥

न य दिट्ठफलत्थोऽयं, जुत्तो पुज्जस्स वोवगाराय ।
किं तु परिणामसुद्धी, फलमिट्ठं सा य पूजयओ ।२८९०।

न च दृष्टमेव प्रत्यक्ष पूजाऽऽदिक फलमर्थ. प्रयोजन यस्याऽसौ दृष्टफलार्थोऽय नमस्कर्तुं. नमस्कारो युक्तः, नापि च पूज्योपकारायासौ, किं त्वनन्तर परिणामविशुद्धि फलमिष्ट नमस्कारस्य, परम्पराफल तु स्वर्गापवर्गाऽऽदि । सा च परिणामशुद्धिः, तच्च स्वर्गप्राप्त्यादिक फल पूजयत. पूजकस्यैव भवति, न तु पूज्यस्येति । तस्मात्स नमस्कारस्तस्य नमस्कर्तुरेव, न नमस्कार्यस्येति ॥ २८९० ॥

ऋजुसूत्रनयप्रतिज्ञाहेतुनाऽऽह-

कत्तुरहीणत्तणओ, तग्गुणओ तप्फलोवओगाओ ।
तस्स खओवसमओ, तज्जोगाओ य सो तस्स ।२८९१।

कर्तुरेवाधीनत्वात्, तदधीनत्व च तेनैव क्रियमाणत्वादिति । तथा तद्गुणत्वाद्, ज्ञानशब्दक्रियारूपत्वेन नमस्कारस्य कर्तृगुणत्वादित्यर्थ । तथा-तस्य नमस्कारस्य यत् फल स्वर्गाऽऽदिक तदुपभोगादिति । तथा-तस्य नमस्कारस्य यः कारणभूत कर्मक्षयोपशम, तस्य कर्तर्येव सद्भावात्, कारणपरित्यागेन च कार्यस्यान्यत्रायोगादिति । तथा -तद्योगात्-तत्परिणामरूपत्वादिति । दृष्टान्तास्तु पञ्चस्वपि हेतुषु स्वधनवदित्यादय स्वयमभ्यूह्या इति ॥ २८९१ ॥

अथ शब्दाऽऽदिनयत्रयमतेन स्वामित्वचिन्तामाह-

जं नाण चेव नमो, सद्दाऽऽईण न सद्दकिरियाओ ।
तेण विसेसेण तयं, वज्झस्स न तेऽणुमन्नंति ।२८९२।

यद् यस्माद् नमो नमस्कार शब्दाऽऽदिनयमतेनोपयोगरूपं ज्ञानमेव,न तु शब्दक्रिये,शुद्धत्वेन ज्ञानवादित्वात् तेषामिति भाव । तेन विशेषत एव त नमस्कार ते शब्दाऽऽदयो बाह्यस्य जिनेन्द्राऽऽदेस्तत्प्रतिमाऽऽदेर्वा नाऽनुमन्यन्ते नेच्छन्ति,किं तु तदुपयोगवतोऽन्तरङ्गस्यैव पूजकजीवस्य ते तमिच्छन्ति । इति त्रिंशद्गाथार्थ. ॥ २८९२ ॥ गत कस्येति प्ररूपणाद्वारम् ।

अथ केनेति द्वारमाह-

नाणाऽऽवरणिज्जस्स य, दंसणमोहस्स जो खओवसमो ।
जीवमजीवे अट्ठसु, भंगेसु य होइ सव्वत्थ ॥ २८९३ ॥

ज्ञानाऽऽवरणीयस्येत्यनेन मतिश्रुतज्ञानाऽऽवरणद्वय गृह्यते; नमस्कारस्य मतिश्रुतज्ञानान्तर्गतत्वाद्; ज्ञानस्य च सम्यक्त्वसहचरितत्वाद्दर्शनमोहनीयमप्याक्षिप्यते । ततो मतिश्रुतज्ञानाऽऽवरणद्वयस्य, दर्शनमोहनीयस्य च कर्मणो य क्षयोपशम. 'तेन हेतुभूतेन नमस्कारो लभ्यते ' इत्यध्याहार. । तस्य चाऽऽवरणस्य द्विविधानि स्पर्द्धकानि भवन्ति-सर्वोपघातीनि, देशोपघातीनि च । तत्र सर्वेषु सर्वघातिषु हतेषु देशोपघातिना च प्रतिसमयमनन्तैर्भागैर्विमुच्यमान. क्रमेण नमस्कारस्य प्रथम नमस्कारलक्षणमक्षर लभते । एवमेकैकवर्णप्राप्त्या समस्तनमस्कार प्राप्नोतीति । गत केनेतिद्वारम् ।

अथ कस्मिन्निति द्वारमाभिधित्सुराह- [जीवमजीवे इत्यादि] मकारोऽलाक्षणिकः । नमस्कारस्य जीवगुणत्वाज्जीव , ततो नमस्कारवान् जीवो यदा गजेन्द्राऽऽदौ जीवेऽधिकरणे वर्तते तदा जीवे नमस्कारोऽभिधीयते, यदा तु कटाऽऽद्यजीवे तदाऽजीवेऽसौ व्यपदिश्यते । यदा तु जीवाजीवोभयाऽऽत्मके वस्तुनि तदा जीवाजीवयोः । इत्येकबहुवचनाभ्या प्रागुक्तेष्वष्टसु भङ्गेषु सर्वत्राय भवति ॥ इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थ. ॥ २८९३ ॥

विस्तरार्थं त्वभिधित्सुर्भाष्यकारः प्राऽऽह-

केणं ति णमोक्कारो, साहिज्जइ लब्भए व जणियम्मि ।
कम्मक्खओवसमओ, किं कम्म को खओवसमो? ।२८९४।

केन हेतुना नमस्कार. साध्यते, लभ्यते वा ?, इति भणिते गुरुराह-कर्मक्षयोपशमतोऽसौ लभ्यते । विनेय. प्राऽऽह-किं तत्कर्म, कश्च क्षयोपशम. ?, इति ॥ २८९४ ॥

तत्र कर्म तावदाह-

मइसुयनाणाऽऽवरणं, दंसणमोहं च तदुवघाईणि ।
तप्फड्डयाइँ दुविहा-इँ सव्वदेसोवघाईणि ॥ २८९५ ॥
सव्वेसु सव्वघाई-सु हएसु देसोवघाइयाणं च ।
भागेहिँ मुच्चमाणो, समए समए अणंतेहिं ॥ २८९६ ॥
पढम लहइ नकारं, एक्केक्कं वन्नमेवमन्न पि ।
कमसो विसुज्झमाणो, लहइ समत्तं नमोक्कारं ।२८९७।

तिस्रोऽपि गतार्था , नवर मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिस्पर्द्धकानि तीव्रमन्दमध्यमाऽऽदिभेदभिन्नरसविशेषरूपाणि स्थानान्तरादवसेयानीति ॥ २८९५ ॥ २८९६ ॥ २८९७ ॥

यदुक्तम्-' कश्च क्षयोपशम ? ' इति, तत्राऽऽह-

खीणमुइन्नं सेसय-मुवसंत भण्णई खओवसमो ।
उदयविघाय उवसमो,जा समुइन्नस्स य विसुद्धी ।२८९८।

पूर्वार्द्धमेवोत्तरार्द्धेन व्याचष्टे-अनुदितस्योदयविघात उपशम ,

समुदीर्णस्योदितस्य पुनर्या विशुद्धिः क्षपणं, स क्षय इति शेष । क्षयेणोपलक्षित उपशमः क्षयोपशम इति समास. ॥ २८९८ ॥

अथ मतिश्रुताऽऽवरणद्वयस्य, दर्शनमोहनीयस्य च क्षयोपशम इह किमिति गृह्यते ?, इत्याह-

सो सुयनाणं मइमणु-गयं च तं जं च सम्मदिट्ठिस्स ।
तो तल्लाभे जुगवं, मइसुयसम्मत्तलाभो त्ति ॥ २८९९ ॥

स नमस्कारस्तावत्स्वय श्रुतज्ञान, तच्च श्रुतज्ञानम् " मइपुव्व जेण सुयं " इत्यादिवचनान्मत्यनुगत मतिपूर्वमेव भवति । एते च मतिश्रुते यस्मात्सम्यग्दृष्टेरेव भवत. । ततस्तल्लाभे नमस्कारलाभे, युगपत्समकाल, मतिश्रुतसम्यक्त्वानां लाभो भवतीति । अतो मतिश्रुतज्ञानाऽऽवरणीयद्वयस्य, दर्शनमोहनीयस्य च क्षयोपशमोऽत्र गृह्यत इति ॥ २८९९ ॥ तदेव व्याख्यातं केनेति द्वारम् ।

अथ कस्मिन्निति द्वार व्याचिख्यासुराह-

कम्हि नमोक्कारोऽयं, बाहिरवत्थुम्मि कत्तुराहारो ।
नेगमववहारमयं, जीवादावट्ठभेयम्मि ॥ २९०० ॥
जं सो जीवाणन्नो, तेण तओ जत्थ सो वि तत्थेव ।
एगम्मि अणेगेसु य, जीवाजीवोभएसुं च ॥ २९०१ ॥

कस्मिन् वस्तुन्याधारभूते नमस्कारोऽय भवतीति विनेयेन पृष्टे गुरुराह-नैगमव्यवहारमत तावदिदम्-अष्टभेदे पूर्वोक्तभङ्गाष्टकनिर्दिष्टे नमस्कर्तृजीवस्याऽऽधारभूते जीवाऽऽदौ बाह्यवस्तुनि नमस्कारो भवतीति ॥ २९०० ॥ कस्मात्पुनर्नमस्कर्तृजीवाऽऽधारे वस्तुन्ययं भवति ?, इत्याह-(जमित्यादि) यस्मादसौ नमस्कारो नमस्कर्तृजीवादनन्य ,तेन तस्मात्तकोऽसौ नमस्कर्तृजीवो यत्रैकस्मिन्-जीवे, अजीवे, उभयस्मिन् वा; अनेकेषु जीवेषु, अजीवेषु, उभयेषु वा भवति, सोऽपि नमस्कारः, तत्रैव स्याद्, अन्यथा-अभेदायोगादिति ॥ २९०१ ॥

एवमुक्ते पूर्वापरविरोधमुद्भावयन्नाह-

णणु नेगमाऽऽइनयणं, पुज्जस्स तओ कहं न तत्थेव ? ।
तस्स य न य तम्मि तओ, धन्नं व नरस्स खेत्तम्मि ॥ २९०२ ॥

ननु नैगमाऽऽदिवचन पूर्वमेव व्याख्यातम्-पूज्यस्य संबन्धी तकोऽसौ नमस्कार, तत्कथमसौ तत्रैव पूज्ये न भवति ? । सत्यम्-(तस्स य त्ति) तस्यैव पूज्यस्य नैगमाऽऽदिमतेन नमस्कार इति मन्यामहे, न हि किञ्चिद्विस्मृतमिदम्, केवलम् (न य तम्मि तओ त्ति) तस्मिन्नेव पूज्ये तकोऽसौ नमस्कार इति न नियम । न हि यद्यस्य संबन्धि तस्य स एवाऽऽधारः, अन्यथाऽपि दर्शनात्; यथा-धान्यं भवति देवदत्ताऽऽदिनरस्य संबन्धि, न च तत्तत्रैव, किं तु क्षेत्रे आधारभूते तदिति ॥ २९०२ ॥

संग्रहमतेन नमस्कारस्याऽऽधारमाह-

सामन्नमेत्तगाही, सपरजिएयरविसेसनिरवेक्खो ।
संगहनओऽभिमन्नइ, आहारे तमविसिट्ठम्मि ॥ २९०३ ॥

व्याख्या पूर्ववत्, नवरमविशिष्टे सामान्यमात्रे आधारे संग्रहस्त नमस्कार मन्यत इति ॥ २९०३ ॥

एतदेव भावयति-

जीवम्मि अजीवम्मि व,सम्मि परम्मि व विसेसणेऽभिन्नो ।
न य भेदमिच्छइ सया, नमोसामन्नमेत्तस्स ॥ २९०४ ॥

आधारस्य जीवाऽऽदिविशेषणे कर्त्तव्ये सामान्यवादित्वाद्यस्मादभिन्नोऽभेदतत्परोऽसौ, तस्मादविशिष्टे आधारे नमस्कारं मन्यत इति । न चाऽऽधाराऽऽदिभेदेन नमस्कारसामान्यमात्रस्यापि सदा भेदमिच्छत्यसौ, किं त्वभेदमेवेच्छति, सामान्यवादित्वादेवेति ॥ २९०४ ॥

अथवा-अन्योऽन्यत्र वर्त्तत इति व्यधिकरण संग्रहो मूलत एव नेच्छति, इच्छति वा कोऽप्यशुद्धतरो नमस्कार जीव एव, नाजीवे, इत्येतद्दर्शयन्नाह-

जीवो नमो त्ति तुल्ला-हिगरणय वेइ न उ स जीवम्मि ।
इच्छइ वाऽसुद्धयरो, तं जीवे चेव नन्नम्मि ॥ २९०५ ॥

गतार्था ॥ २९०५ ॥

अथ ऋजुसूत्रनयमतेनाऽऽधारचिन्तामाह-

उज्जुसुयमयं नाणं, सद्दो किरिया च जं नमोक्कारो ।
होज्ज न हि सव्वहा सो,मओ तदत्थंतरज्जूओ ॥ २९०६ ॥

प्रागुक्तार्था, नवर न खलु सर्वथाऽसौ नमस्कार , तस्मात्कर्तुरर्थान्तरभूतो मतः, किं तु कर्त्तर्येवाऽऽधारे नमस्कार इति भावः ॥ २९०६ ॥

एतदेव समर्थयति—

सगुणम्मि नमोक्कारो, तग्गुणओ नीलया व पत्तम्मि ।
इहरा गुणसंकरओ, सव्वेगत्ताऽऽदओ दोसा ॥ २९०७ ॥

स्वस्याऽऽत्मनो गुणी स्वगुणी, तस्मिन् स्वगुणिनि कर्त्तरि नमस्कार,नान्यत्रेति प्रतिज्ञा । तद्गुणत्वादिति हेतु. । पत्रे नीलतावदिति दृष्टान्त । विपर्यये बाधकमाह-इतरथा-अन्यगुणस्य अन्यत्र गमने, गुणानां परस्पर साङ्कर्याद्, गुणिनां सर्वेषामपि साङ्कर्यैकत्वाऽऽदयो दोषा भवेयुरिति ॥ २९०७ ॥

अत्र कश्चित्प्रेरयति-

भिन्नाऽऽधारं पीच्छइ,णणु रिउसुत्तो जहा वसइ खम्मि ।
दव्वं तत्थाहिगयं, गुणगुणिसंबंधचिंतेयं ॥ २९०८ ॥

ननु भिन्नाऽऽधारमपि अन्यस्यान्यमप्याधारमृजुसूत्र इच्छत्येव,यथा-अनुयोगद्वारेषु वसतिदृष्टान्तमृजुसूत्रमतेनाभिदधता प्रोक्तम्-' क वसति भवान् ?' 'खे आकाशे वसामीति' । तत्कथमिह भिन्नाऽऽधारता निषिध्यते ?, इति । अत्रोत्तरमाह-(दव्वमित्यादि) इदमत्र हृदयम्-द्रव्य देवदत्ताऽऽदिकं द्रव्यान्तरे आकाशे वर्त्तत इति मन्यत एव ऋजुसूत्रः । इह तु गुण-गुणिसंबन्धचिन्ता प्रस्तुता । ततोऽन्यगुणोऽन्यत्र वर्त्तत इतीहासौ न मन्यत इति न कश्चिद्विरोध इति ॥ २९०८ ॥

एतदेव व्यक्तीकरोति—

सो संमन्नइ न गुणं,निययाहारं तया सयं इहरा।
को दोसो जइ दव्वं, हव्वेज्ज दव्वंतराऽऽहार ? ॥ २९०९ ॥

गतार्था,नवर निजादाधारादाधारान्तरमाश्रयो यस्य स तथा, तमेवभूत गुण न समन्यतेऽसाविति ॥ २९०९ ॥

शब्दाऽऽदिनयमतमधिकृत्याऽऽह-

जं नाणं चेव नमो, सद्दाऽऽईणं न सद्दकिरिया वि ।
तेण विसेसेण तयं, वज्झम्मि न तेऽणुमन्नंति ॥२९१०॥
इच्छइ अवि उज्जुसुओ, किरियं पि स तेण तस्स काए वि ।
इच्छंति न सद्दनया, नियमा तो तेसि जीवम्मि ॥२९११॥

यद् यस्माच्छब्दाऽऽदिमते नमो नमस्कारो ज्ञानमेव, न तु शब्दक्रिये अपि, तेन विशेषत एव तं नमस्कारं तत्कर्तुर्जीवाद् बाह्ये वस्तुनि ते शब्दाऽऽदयो नानुमन्यन्त इति ॥२९१०॥ तर्हि ऋजुसूत्राच्छब्दाऽऽदीनां न कश्चिद्भेदः, सर्वैरपि कर्तरि नमस्कारस्याभ्युपगमात् । तदयुक्तम् । यत इच्छत्यपि ऋजुसूत्रः (किरियं पि) क्रियारूपमपि, अपिशब्दाच्छब्दरूपमपि नमस्कारं, तेन तस्य मते " नमोऽर्हद्भ्यः " इत्यादिशब्दमुच्चारयतः शिरोनमनाऽऽदिक्रियां च कुर्वतः कर्तुः कायेऽपि स नमस्कारो भवति । शब्दनयास्तु शब्दक्रियारूपं नमस्कारं नेच्छन्त्येव । किं तूपयोगरूपं ज्ञानमेव तमिच्छन्ति । अतस्तेषां मते नियमात् तदुपयोगवति कर्तृजीव एव नमस्कारो, न काये इति विशेषः । इत्यष्टादशगाथार्थः ॥२९११॥ व्याख्यातं कस्मिन्निति द्वारम् ।

अथ कियच्चिरं कालं नमस्कारो भवतीति द्वारम्, तत्राऽऽह-

उवओग पडुच्चंतो, मुहुत्त लद्धीएँ होइ उ जहन्ना ।
उक्कोसठिया छाव-ट्ठि सागरा अरिहाऽऽइ पंचविहो ॥२९१२॥

उपयोग प्रतीत्य जघन्यतः, उत्कृष्टतश्च नमस्कारस्यान्तर्मुहूर्तं स्थितिर्भवति । लब्धेस्तु तदावरणक्षयोपशमरूपाया जघन्याऽन्तर्मुहूर्तमेव स्थितिः । उत्कृष्टतस्तु साधिकानि षट्षष्टिः सागरोपमाणि स्थितिर्भवति । इय च-" दो वारे विजयाइसु " (२७६२) इत्यादिना मतिज्ञानाऽऽदीनामिव भावनीयेति द्वारम् ।

अथ कतिविधो नमस्कार इति द्वारमाह-(अरिहाऽऽइ इत्यादि) अर्हत्सिद्धाऽऽदिपञ्चपदानामादौ नम इति पदस्य निपातात्पञ्चविधो नमस्कार । इति निर्युक्तिगाथाऽर्थः ॥ २९१२ ॥

अत्र भाष्यम्-

सो कइविहो त्ति भणिए, पचविहो भणइ णणु पुराऽभिहियं ।
इक्कं नमोऽभिहाणं, केण विहाणेण पंचविहं ? ॥२९१३॥

स नमस्कारः कतिविधः ?, इति भणिते पृष्टे गुरुराह-पञ्चविध इति । अत्र भणति प्रेरक -ननु पुरा पूर्वं "नेवाइय पद" (२८४०) इत्यत्राभिहित प्रतिपादितम्, एकमेव 'नमः' इत्यभिधानम् । तत्केन विधानेन केन भेदेन पञ्चविधमुच्यते ?, इति ॥ २९१३ ॥

अत्रोत्तरमाह-

एगं नमोऽभिहाणं, तदरुहयाईयसन्निवायाओ ।
जायइ पंचविगप्पं, पंचविहत्थोवओगाओ ॥ २९१४ ॥

सत्यम्, एकविधमेव नमोऽभिधानं, किं त्वर्हदादिपञ्चपदानामादौ सन्निपातात्पञ्चविधेऽर्हदादिकेऽर्थे उपयोगान्नमस्करणक्रिययोपयुज्यमानत्वात्पञ्चविकल्पं पञ्चभेद जायत इति ॥२९१४॥

अथवा " एकं नमोऽभिधानम् " (२९१४) इत्यासिद्धं नैपातिकमिति, सान्वर्थाभिधानेनैव प्रागपि तस्यानेकविधत्वसूचनाऽऽदिति दर्शयन्नाह-

अहवऽन्नपयाइनिवा-यणा हि नेवाइयं च ताइं च ।
पंचारुहयाऽऽईणि य, पयाणि तं निवयए जेसु ॥२९१५॥

अथवा-अन्यपदानामादौ निपातनान्नैपातिक पदमिद प्रागुक्तम् । तच्च येष्वन्यपदेष्वादौ निपतति तान्यर्हत्सिद्धाऽऽदीनि पञ्च पदानि, अतः पञ्चानामन्यपदानामादौ निपतनान्नैपातिकमित्यन्वर्थत एव पञ्चविधमिद सामर्थ्यात्प्रागप्युक्तम् । अत्र तु कतिविधो नमस्कार इति द्वारे स एवार्थो व्यक्तीकृत इति ॥ २९१५ ॥

अथवा-पूर्वं पदद्वार एव पञ्चविधो नमस्कार उक्तः, इह तु कतिविधो भवेत् ?, इति द्वारे पञ्चविधानामर्हदादिपदानामर्थः कथ्यत इत्येतद्दर्शयन्नाह-

अहवा नेवाइयपय-पयत्थमेत्ताभिहाणओ पुव्वं ।
इहमरिहदाइपंचवि-हपयपयत्थोवदेसणया ॥ २९१६ ॥

अथवा-नैपातिक यत्पदं तस्य यत्पदार्थमात्रं पञ्चानामर्हदादिपदानामादौ निपतनाद् नैपातिकमित्येवस्वरूपं तस्य यदभिधानं कथनं तस्मान्नैपातिकपदपदार्थमात्राभिधानात्पूर्वमेव पदद्वारे सामर्थ्याद् ' पञ्चविधो नमस्कार उक्तः ' इति शेषः । इह तु ' कतिविधो नमस्कारः ? ' इति द्वारे तेषामेव पञ्चानामर्हदादिपदानां " नमोऽर्हद्भ्यो, नमः सिद्धेभ्यो, नम आचार्येभ्यः " इत्यादिको यः पदार्थस्तस्यैवोपदेशना कथना कार्या, तस्या एव प्रागनुक्तत्वादिति ॥ २९१६ ॥

अत्र परस्य प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

णणु वत्थुम्मि पयत्थो, न जओ तक्कहणं तहिं जुत्तं ।
तह वि पयत्थं तत्थे-व लाघवत्थं पवोच्छिहिइ ॥२९१७॥

नन्वग्रे वस्तुद्वारेऽर्हदादिपदानामर्थो वक्ष्यते, तत्कथमुच्यते-' इहार्हदादिपदानामर्थोपदेशनात् ' इति ? । तदेतत् परोक्तं न, यतो यस्मादिह ' नमोऽर्हद्भ्यः ' इत्यादिके पदार्थे कथिते सति ततस्तत्र वस्तुद्वारेऽर्हदादीनां " देवासुरमणुएसु, अरिहा पूयंसुरुत्तमा जम्हा । अरिणो हंता रयं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति " ॥ १ ॥ इत्यादिकं, (तक्कहणं ति) तत्त्वकथन स्वरूपनिवेदन युक्तं भवति । क्रियतां तर्ह्यत्रैव, कथ्यतामत्र पदार्थ इति चेत् । अत्राऽऽह-(तह वि इत्यादि) यद्यप्यत्र पदार्थे कथिते सति तत्र स्वरूपकथन युज्यते, तथाऽपि नेह पदार्थः कथ्यते, किं तु ग्रन्थलाघवार्थं तत्रैव वस्तुद्वारे पदार्थं वक्ष्यतीति, अन्यथा यत्रार्हदादिपदानामर्थ , तत्र त्वर्हदादीनां स्वरूपकथनमिति ग्रन्थगौरवमेव स्यादिति गाथापञ्चकार्थः । तदेवमुक्ता षड्विधप्ररूपणा ॥ २९१७ ॥

अथ नवविधां तामभिधित्सुराह-

संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खेत्त फुसणा य ।
कालो य अंतरं भा-गभावअप्पाबहुं चेव ॥२९१८॥

इति द्वारगाथा । एतैः सत्पदप्ररूपणताऽऽदिभिर्नवभिर्द्वारैर्नमस्कारस्य नवविधेयं प्ररूपणा प्रोच्यते ॥२९१८॥

तत्र प्रथमद्वारमधिकृत्याऽऽह-

संतपयं पडिवन्ने, पडिवज्जते य मग्गणा गइसु ।
इंदिय काए जोए, वेए य कसाय-लेसासु ॥२९१९॥

सम्मत्तनाणदंसण-संजयउवओगओ य आहारे ।
भासगपरित्तपज्ज-त्तसुहुमसन्नी य भवचरिमे ॥२९२०॥

सच्च तत्पदं च सत्पदं, विद्यमानार्थं पदमित्यर्थः; तच्चेह नमस्कारलक्षणम् । तस्य नमस्कारलक्षणस्य सत्पदस्य पूर्वप्रतिपन्नान्, प्रतिपद्यमानकांश्चाऽऽश्रित्य (मग्गण त्ति) मार्गणा अन्वेषणा कर्त्तव्या । कासु ?, चतसृष्वपि गतिषु । तद्यथा-नमस्कारः किमस्ति, न वा ?। अस्तीति ब्रूमः । तत्र चतुष्प्रकारायामपि गतौ नमस्कारस्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमतो विद्यन्ते, प्रतिपद्यमानास्तु विवक्षितकाले भाज्या -कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्नेति । एवमिन्द्रियाऽऽदिष्वपि चरमान्तेषु द्वारेषु यथा पीठिकायां मतिज्ञानस्य सत्पदप्ररूपणता कृता, तथा नमस्कारस्यापि कर्त्तव्या, तयोरभिन्नस्वामित्वेनैकवक्तव्यत्वादिति । तदेवं गतं सत्पदप्ररूपणताद्वारम् ॥ २११९ ॥ २१२० ॥

अथ द्रव्यप्रमाणद्वारमुच्यते-तत्र नमस्कारवज्जीवद्रव्यप्रमाण वक्तव्यम् । एकस्मिन् समये कियन्तो नमस्कारं प्रतिपद्यन्ते, सर्वे वा कियन्त इति ?। क्षेत्रमिति क्षेत्र वक्तव्यम्-कियति क्षेत्रे नमस्कारः संभवति ?। स्पर्शना च वक्तव्या-कियत्क्षेत्रं नमस्कारवन्तः स्पृशन्ति । इदं च द्वारत्रयमधिकृत्याऽऽह-

पलियमसंखेज्जइमो, पमिवन्नो होज्ज खेत्त लोगस्स ।
सत्तसु चोद्दसभागे-सु होज्ज फुसणा वि एमेव ॥२९२१॥

(पलियेत्यादि) इह सूत्रमात्सूत्रस्यायमर्थः-नमस्कारस्य प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य लोके कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्नेति । यदि भवन्ति जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, उत्कृष्टतस्तु सूक्ष्मक्षेत्रे पल्योपमासङ्ख्येयभागप्रदेशराशितुल्या इति । पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यतः सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागप्रदेशराशिपरिमाणा एव, उत्कृष्टतस्तेभ्यो विशेषाधिका इति । (खेत्त त्ति) क्षेत्रद्वारमुच्यते-तत्र नमस्कारवान् जीव ऊर्ध्वमनुत्तरसुरेषु गच्छल्लोकस्य सप्तसु चतुर्दशभागेषु भवति, अधस्तु षष्ठपृथिव्यां गच्छन् पञ्चसु चतुर्दशभागेषु भवतीति द्रष्टव्यम् । स्पर्शनाद्वारमप्येवं वक्तव्यम् । क्षेत्रस्पर्शनयोस्तु प्रागुक्तो विशेष इति ॥ २१२१ ॥

कालान्तरमात्रलक्षण द्वारत्रयमधिकृत्याऽऽह-

एगं पडुच्च हेट्ठा, जहेव नाणाजियाण सव्वद्धा ।
अंतर पडुच्चमेगं, जहन्नमंतोमुहुत्तं तु ॥ २९२२ ॥
उक्कोसऽणतकालं, अवड्ढपरियट्टगं च देसूणं ।
णाणाजीवे णत्थि उ, भावे य भवे खओवसमे ॥२९२३॥

एक नमस्कारवन्त जीव प्रतीत्य (हेठा जहेव त्ति) यथैवाऽधस्तादनन्तरमिहैव "उवओग पडुच्चतो,मुहुत्तमन्तोपं होइ उ जहन्ना ।" (२११२) इत्यादिना काल उक्तः, तथेहापि वक्तव्यः । नानाजीवानां तु नमस्कारः सर्वाद्धा सर्वकाल भवति, लोके तस्य सर्वदाऽविच्छेदादिति प्रतिपत्तिः । तस्य पुनर्लाभेऽन्तरमप्येक जीव प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं भवति ॥ २१२२ ॥ उत्कृष्टतस्त्वपार्द्धपुद्गलपरावर्तलक्षणोऽनन्तकाल इति । नानाजीवांस्तु प्रतीत्य नास्त्यन्तरं, तदविच्छिन्नत्वेरेवेति । भावे तु क्षायोपशमिके नमस्कारो भवेदिति प्राचुर्यमङ्गीकृत्यैतदुक्तम्, अन्यथा-क्षायिकौपशमिकयोरप्येके वदन्ति, क्षायिके यथा-श्रेणिकाऽऽदीनाम्, औपशमिके श्रेण्यन्तर्गतानामिति ॥ २९२३ ॥

भागद्वारमाह-

जीवाणऽणंतभागो, पमिवन्नो सेसगा अणंतगुणा ।
वत्थुं तरहंताई, पंच भवे तेसिमो हेऊ ॥ २९२४ ॥

जीवानामनन्ततमो भागो नमस्कारस्य प्रतिपन्नः प्राप्यते । शेषकास्तु तमप्रतिपन्ना मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः । इह च भागद्वार गाथायां भावद्वारात्पूर्वमुपन्यस्तमपि व्यत्ययेन निर्दिष्ट, विचित्रत्वात्सूत्रगतेः । अल्पबहुत्वद्वारमपि नेह विवृतम् । पीठिकायां मतिज्ञानस्येव च भावनीयमिति । साम्प्रत चशब्दाऽऽक्षिप्तां पञ्चविधाऽऽदिप्ररूपणामनभिधाय वस्तुद्वारं तावदाह-(वत्थुमित्यादि) वस्तु द्रव्य दलिकं नमस्कारस्य योग्यमर्हंमित्यनर्थान्तरम्,तच्चेह नमस्कारार्हाः पञ्चार्हदादयो मन्तव्याः । तेषां च वस्तुत्वेन नमस्कारार्हत्वेऽप्य वक्ष्यमाणलक्षणो हेतुः । इति निर्युक्तिगाथासप्तकार्थः ॥ २१२४ ॥

इह " एग पडुच्च हेट्ठा जहेव " (२१२२) इत्यादिना नमस्कारस्य कालद्वार निरूपितम् । अथवा-अन्यथा तच्चिन्तनीय, कथम् ?, इत्याह भाष्यकारः-

अहवोसप्पुस्सप्पिणि-कालो नियओ य तव्विसिट्ठो य ।
तत्थऽत्थि नमोक्कारो, न व त्ति णेयं जहा सुत्तं ॥२९२५॥

अथवा-अत्रोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणः कालो गृह्यते । स च भरतैरवतेषु नियतः प्रतिनियतेन निजस्वरूपेण वर्तते, हैमवतहरिवर्षदेवकुरूत्तरकुरुमहाविदेहरम्यकैरण्यवतेषु पुनस्तद्विशिष्ट । तस्मादुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालाद्विशिष्टो विशेषितस्तत्प्रतिभागरूप एव कालोऽस्ति । तत्र द्विविधेऽपि काले नमस्कारोऽस्ति, न वा ?, इति चिन्तायां यथा श्रुत श्रुतसामायिक पूर्वमुक्तं, तथाऽत्रापि ज्ञेयं, नमस्कारस्यापि श्रुतविशेषरूपत्वादिति ॥ २१२५ ॥

इह च "संतपयपरूवणया" (२११८) इत्यादिनवद्वाराणां किञ्चिद्व्याख्यात, किञ्चिन्नेत्यतो भाष्यकारोऽतिदेशमाह-

मइसुयनाणं नवहा, नंदीए जह परूवियं पुव्वं ।
तह चेव नमोक्कारो, सो वि सुयब्भंतरो जम्हा ॥२९२६॥

सुगमा ॥२९२६॥ विशे० । आ० म० ।
(आभिनिबोधिकश्रुतज्ञानशब्दावलोकनावसेया चेयम्)

अथ चशब्दसूचितां पञ्चविधप्ररूपणामाह-

आरोवणा य भयणा, पुच्छा तह दायणा य निज्जवणा ।
एसा वा पंचविहा, परूवणा रोवणा तत्थ ॥२९२७ ॥

आरोपणा च भजना, पृच्छा तथा-दायना दर्शना दापना वा, निर्यापना वक्ष्यमाणरूपा, एषा वा प्ररूपणा पञ्चविधा ज्ञेया इति ॥ २१२७ ॥

तत्राऽऽरोपणा का ?,इत्याह-

किं जीवो होज्ज नमो, नमो व जीवो त्ति जं परोप्परओ ।
अज्झारोवणमेसो, पज्जणुजोगो मया रुवणा ॥ २९२८ ॥

किं जीव एव भवेन्नमस्कार, नमस्कार एव वा जीव इति यत् परस्परावधारणादध्यारोपण पर्यनुयोजनमेष पर्यनुयोग आरोपणा मता समतेति ॥ २१२८ ॥

भजनाव्याख्यानमाह-

जीवो नमोऽनमो वा, नमो उ नियमेण जीव इति भयणा।
जह चूओ होइ दुमो,दुमो उ चूओ अचूओ वा ॥२९२९॥

जीवस्तावदनवधारित एव नमो नमस्कारो वा स्यात्सम्यग्दृष्टि', अनमोऽनमस्कारो वा स्यान्मिथ्यादृष्टि' । नमो नमस्कारस्त्ववधारितो नियमेन जीव एव भवति, अजीवस्य नमस्कारासम्भवात् । यथा चूतो द्रुम एव भवति, द्रुमस्तु चूतोऽचूतो वा खदिराऽऽदि॰ स्यादिति । एषा एकपदव्यभिचाराद्भजनेति ।२९२९।

पृच्छास्वरूपमाह-

तो जइ सव्वो जीवो, न नमोक्कारो उ तो मया पुच्छा ।
सो होज्ज किंविसिट्ठो,को वा जीवो नमोक्कारो ?॥२९३०॥

ततो यदि सर्वोऽपि जीवो न नमस्कार', किं तर्हि ?,कश्चिदेव । तत॰ पृच्छा मता पृच्छामो भवत -यो जीवो नमस्कार , स किंविशिष्टो भवेदिति कथ्यतां ?, को वा जीवो नमस्कार' ?, इत्यपि निवेद्यतामिति । एषा पृच्छेति ॥ २९३० ॥

दापनानिर्यापनयोर्व्याख्यानमाह-

अह दायणा नमोक्का-रपरिणओ जो तओ नमोक्कारो ।
निज्जवणाए सो च्चिय,जो सो जीवो नमोक्कारो ।२९३१।

अथानन्तरोक्तप्रश्नस्य निर्वचनरूपा दापनोच्यते-किं पुनस्तन्निर्वचनम् ?,यो नमस्कारपरिणतो जीवस्तकोऽसौ नमस्कार , यस्तु तदपरिणत' स खल्वनमस्कार इति निर्यापनायां स एव नमस्कारपरिणत एव, योऽसौ जीवः स एव नमस्कार॰, नमस्कारोऽपि जीवपरिणाम एव नाजीवपरिणाम इति ॥२९३१॥

अथ दापनानिर्यापनयो को विशेषः ?, इत्याह-

दायणनिज्जवणाणं, को भेओ दायणा तयत्थस्स ? ।
वक्खाणं निज्जवणा, पच्चन्नासो निगमणं ति ॥२९३२॥

दापनानिर्यापनयोः को भेदः कः प्रतिविशेष॰ ? । अत्रोच्यते-दापना तदर्थस्य " सो होज्ज किंविसिट्ठो, को वा जीवो नमोक्कारो । " (२९३०) इत्येव पृच्छापृष्टस्य तस्य नमस्कारस्यार्थस्तदर्थो भण्यते। यथा-" नमोक्कारपरिणओ जो तओ नमोक्कारो त्ति । " निर्यापना तु दापनादर्शितस्यैवार्थस्य प्रत्याम्नासः प्रत्युच्चारण निगमन, यथा-स एव नमस्कारपरिणत एव योऽसौ जीवः स एव नमस्कारः,नमस्कारोऽपि जीवपरिणाम एव नाऽजीवपरिणाम इति । एव च निगमनीयम् । निगमनकृत एव च दापनानिर्यापनयोर्भेद॰, न त्वात्यन्तिक इति भावनीयम् ।२९३२।

अथवा-अन्यथाऽनयोर्भेदो दर्श्यते । कथम् ?, इत्याह-

तप्परिणय एव जहा, जीवो अवहिओ वा तहा जुज्जो ।
तप्परिणओ स एव हि,निज्जवणाए मओऽणन्नो ।२९३३।

अथवा—यथा दापनायां जीवो (अवहिओ त्ति) जीवोऽवधृतो नियमेन॰ । तद्यथा—तत्परिणत एव नमस्कारपरिणत एव जीवो नमस्कारो नान्य इति । (तहा जुज्जो त्ति) तथा तेनैव प्रकारेण निर्यापनायां भूयोऽपि प्रकारान्तरतोऽवधार्यते । कथम् ?,इत्याह (तप्परिणओ स एव हि त्ति) यथा दापनायां नमस्कारपरिणत एव जीवो नमस्कार इत्यवधृत, तथाऽत्र निर्यापनायां तत्परिणतो नमस्कारपरिणतो जीव॰ स एव मतो नमस्कार एव मत इति भूयोऽवधार्यते । कुत' ?,इत्याह-अनन्य इति कृत्वा,अनन्यत्वादभिन्नत्वादित्यर्थ' । इदमुक्त भवति-यथाऽभ्युपयुक्तो माणवकस्तदुपयोगानन्यत्वादग्निरेव भवति, तथा नमस्कारपरिणतो जीवस्तदुपयोगानन्यत्वान्नमस्कार एव निर्यापनायां भवति । इति दापनानिर्यापनयोर्विशेष इति । तदेवमभिहिता पञ्चविधाऽपि प्ररूपणा ॥ २९३३ ॥

अथवा चतुर्विधा प्ररूपणा सा, कथम् ?, इत्याह-

पयईए अगारेण य, नोगारोभयनिसेहओ वा वि ।
इह चिंतिज्जइ जुज्जो, को होज्ज तओ नमोक्कारो? ।२९३४।

प्रकृत्या स्वभावेन, अकारेण च प्रतिषेधवाचकेन, नोकारेण, निषेधोभयेन च सहितोऽत्र भूयोऽपि नमस्कारश्चिन्त्यते । तत्र प्रकृतिपक्षे नमस्कारः, अकारसहितस्त्वनमस्कार , नोकारयुक्तस्तु नोनमस्कार', निषेधोभयसहितस्तु नोअनमस्कार इति । एव च चिन्त्यमाने ततः कः किं वस्तु नमस्कारो भवेत् ? । उपलक्षण चेद, को वाऽनमस्कार', कश्च नोनमस्कार॰, को वा नोअनमस्कार इत्यपि वक्तव्यमिति ॥ २९३४ ॥

एवं च जिज्ञासिते सति भाष्यकार॰ प्राऽऽह-

पयइ त्ति नमोक्कारो, जीवो तप्परिणओ स चाभिहिओ ।
अनमोक्कारो परिणइ-रहिओ तल्लद्धिरहिओ वा ।२९३५।

प्रकृतिस्तावन्नमस्कार' । स च क' ?, इति यदि पृच्छ्यते, तदाऽसौ जीवस्तत्परिणतो नमस्कारपरिणतो नमस्कार इति प्रागभिहितमेव । अनमस्कारस्तु परिणतिरहितो नमस्कारपरिणतिवर्जितोऽनुपयुक्त॰ सम्यग्दृष्टि । तल्लब्धिविरहितो वा नमस्कारकारणकर्मक्षयोपशमशून्यो वा मिथ्यादृष्टिरिति ।२९३५।

नोनमस्कारस्तर्हि कः ?, इत्याह-

नोपुव्वो तप्परिणय-देसो देसपडिसेहपक्खम्मि ।
पुणरनमोक्कारो च्चिय, सो सव्वनिसेहपक्खम्मि ॥२९३६॥

नोपूर्वस्तु नोशब्दोपपदो नमस्कारो, नोनमस्कार इत्यर्थः । (तप्परिणयदेसो त्ति) देशप्रतिषेधवचने नोशब्दे तत्परिणतस्य नमस्कारपरिणामयुक्तस्य सम्यग्दृष्टिजीवस्य देश एकदेशो भण्यते । सर्वनिषेधवचने तु नोशब्दे स नोनमस्कारः पुनरप्यनमस्कार एव गम्यत इति ॥ २९३६ ॥

नोअनमस्कारः कः ?, इत्याह-

नोअनमोक्कारो पुण, दुनिसेहपगइगमयभावाओ ।
होइ नमोक्कारो चिय, देसनिसेहम्मि तद्देसो ॥२९३७॥

नोअनमस्कारः पुनर्नोशब्दस्य सर्वनिषेधपक्षे नमस्कार एव भवति, द्वयोर्निषेधयो॰ प्रकृतिगमकत्वाद " द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयतः" इति न्यायादित्यर्थः । देशनिषेधवचने तु नोशब्दे तस्य पूर्वोक्तस्वरूपस्य नमस्कारस्यैकदेश प्रतीयत इति ॥२९३७॥

इह च " नमस्कारोऽनमस्कारः " इत्यादिभङ्गचतुष्टये बहुपचरितं, यच्च वास्तवं, तन्निर्धारयन्नाह-

उवयारदेसणाओ, देस पएस त्ति नोनमोक्कारो ।
नोअनमोक्कारो वा, पयइनिसेहाउ सब्भूया ॥२९३८॥

(देस पएस त्ति) इह यथासङ्ख्येन सम्बन्धः । तृतीयभङ्गे यो देशो नमस्कारैकदेशो (नोनमोक्कारो त्ति) नोनमस्कार उक्त॰, यश्च चतुर्थभङ्गे प्रदेशोऽनमस्कारैकदेशो (नोअन-

मोक्कारो त्ति) नोअनमस्कार उक्त, स उपचारदेशनादिति संबन्ध. । औपचारिकत्व चेह नोनमस्काररूपस्य, नोअनमस्काररूपस्य च देशप्रतिषेधवचने नोशब्दे सपूर्णस्य वस्तुनोऽभावादिति । अथ सद्भूतभङ्गकप्रतिपादनार्थमाह-(पयईत्यादि) प्रकृतिः प्रथमो भङ्ग, निषेधस्तु द्वितीयभङ्गः, एतौ द्वावपि सद्भूतौ निरुपचरितौ, एतद्भङ्गवाच्यस्य नमस्कारानमस्काररूपस्य वस्तुन' संपूर्णस्य सद्भावादिति । तुशब्दादुपरिमावपि द्वौ भङ्गौ सर्वनिषेधवचने नोशब्दे सति सद्भूताविति द्रष्टव्यम्, तद्वाच्यस्यापि नमस्कारानमस्काररूपस्य वस्तुन सपूर्णस्य सद्भावादिति ॥ २६३८ ॥

अथैतांश्चतुरो भङ्गान्नयैर्निरूपयन्नाह-

सव्वो वि नमोक्कारो, अनमोक्कारो य वंजणनयस्स ।
होउं चउरूवो वि हु, सेसाणं सव्वभेया वि ॥२९३९॥

इहशब्दनयास्त्रयोऽपि शुद्धत्वादखण्ड सपूर्ण देशप्रदेशरहितमेव वस्तु इच्छन्ति । शेषास्तु नैगमाऽऽदयोऽविशुद्धत्वाद्देशप्रदेशरूपमपि मन्यन्त इति । एव च स्थिते व्यञ्जननयस्य त्रिविधस्यापि शब्दनयस्य भङ्गकप्ररूणामात्रेण प्रकृत्यकारनोकारतदुभययोगाच्चतूरूपोऽपि नमस्कारो भूत्वा परिशिष्ट' सर्वोऽपि नमस्कारोऽनमस्कारश्चेति द्विरूप एवावशिष्यते; प्रथमद्वितीयभङ्गवाच्य एवावतिष्ठते । तृतीयचतुर्थभङ्गकौ तु तन्मतेन शून्यावेव, तद्वाच्यस्य देशस्य प्रदेशस्य चासत्त्वादिति । शेषाणा तु नैगमाऽऽदिनयानां सर्वे चत्वारोऽपि भङ्गरूपा भेदा. सद्भूतार्था एव, तन्मतेन देशस्य प्रदेशस्य च सत्त्वादिति । तदेवमुक्ता चतुर्विधाऽपि प्ररूपणा, तद्भणने च गत सप्रसङ्ग प्ररूपणाद्वारम् ॥ २६३९ ॥ विशे० । आ० म० । आ० चू० । " णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो बंभीए लिवीए । " भ० १ श० १ उ० । दशा० ।

(७) नमस्कारस्याऽऽर्षत्वम्-

ये तु वदन्ति-नमस्कारपाठ एव नाऽऽर्ष , युक्तिरिक्तत्वात्-सिद्धानामभ्यर्हित्वेन पूर्वमर्हन्नमस्कारस्याऽघटमानत्वात्;आचार्याऽऽदिना सर्वसाधवो न वन्दनीया इति तथास्थितपञ्चमपदानुपपत्तेश्चेति । पापिष्ठतरास्तेऽप्यनाकर्णनीयवाचोऽदृष्टव्यमुखाः । स्वकपोलकल्पिताऽऽशङ्कया व्यवस्थितसूत्रत्यागायोगात्,ईदृशकदाशङ्कानिराशपूर्वमसाक्षिप्तविस्तृतस्य नमस्कारपाठस्य स्थितक्रमस्य निर्युक्तिकृतैव व्यवस्थापितत्वाच्च ।

तदाह-

" न वि संखेवो न वित्थारो, सखेवो दुविह सिद्ध-साहूणं ।
वित्थरओऽणेगविहो, पचविहो न जुज्जए तम्हा ॥ ३२०१ ॥
अरिहताऽऽई नियमा, साहू साहू उ तेसु भइयव्वा ।
तम्हा पचविहो खलु, हेउनिमित्त हवइ सिद्धो" ॥ ३२०२ ॥
" पुव्वाणुपुव्वि न कमो, नेव य पच्छाणुपुव्विए स भवे ।
सिद्धाऽऽईआ पढमा, बीयाए साहुणो आई " ॥ ३२१० ॥
अरिहतुवएसेण, सिद्धा नज्जंति तेण अरहाऽऽई ।
न वि कोई परिसाए,पणमित्ता पणमए रन्नो *॥३२१३॥विशे०।
इत्यादिना सामान्यतः सर्वसाधुनमस्करणेन च नास्थानविनयकरणाऽऽदिदूषणम् । अत एव-" सिद्धाण णमो किच्चा, संजयाणं च भावओ । " इत्याद्युत्तराध्ययनोक्तं सगच्छत इति । पञ्चपदनमस्कारश्च सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तरभूतो, नवपदश्च समूलत्वात् पृथक् श्रुतस्कन्ध इति प्रसिद्धमाम्नाये । अस्य हि निर्युक्तिचूर्ण्यादयः पृथगेव प्रभूता आसीरन्, कालेन तद्व्यवच्छेदे मूलसूत्रमध्ये तल्लेखन कृत पदानुसारिणा वज्रस्वामिनेति महानिशीथपञ्चमाध्ययने व्यवस्थितम् । प्रति० ।

* एतदर्थस्त्वग्रेऽस्मिन्नेव शब्दे आक्षेपद्वारे स्पष्टीभविष्यति ।

तथा च तद्ग्रन्थः-

एयं तु जं पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स वक्खाणं, तं महया पबंधेणं अणंतगमपज्जवेहिं सुत्तस्स य पियभूयाहिं णिज्जुत्तिभासचुन्नीहिं जहेव अणंतनाणदसणधरेहिं तित्थयरेहिं वक्खाणियं, तहेव समासओ वक्खाणिज्जं तं आसि, अहऽन्नया कालपरिहाणिदोसेणं ताओ णिज्जुत्तिभासचुन्नीओ वुच्छिन्नाओ । इओ य वच्चंतेणं कालेणं समएणं महिड्ढिपत्ते पयाणुसारी वइरसामी नाम दुवालसंगसुअहरे समुप्पन्ने । तेण य पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स उद्धारो मूलसुत्तस्स मज्झे लिहिओ । मूलसुत्तं पुण सुत्तत्ताए गणहरेहिं अत्थत्ताए अरिहंतेहिं भगवंतेहिं धम्मतित्थयरेहिं तिलोगमहिएहिं वीरजिणिंदेहिं पन्नवियं ति एस वुड्ढसंपयाओ । महा० ५ अ० ।

(तद्विषयोपधानाध्ययनविधिश्च ' उवहाण ' शब्दे द्वितीभागे १०५० पृष्ठे उक्त.)

जहुत्तविहाणेणं चेव पंचमंगलपभिइसुयनाणस्स वि उवहाणं करेज्जा, से णं गोयमा ! नो हीलिज्जा सुत्तं,नो हीलिज्जा अत्थं,णो हीलिज्जा सुत्तत्थोभए,से णं नो आसाइज्जा तिकालभावी तित्थयरे, णो आसाइज्जा तिलोगसिहरवासी विहूयरयमले सिद्धे, णो आसाइज्जा आयरियउवज्झायसाहुणो, सुट्ठयरं चेव भवेज्जा पियधम्मे दढधम्मे भत्तिजुत्ते,एगंतेणं भावेज्जा सुत्तत्थाणुरंजियमाणससद्धासंवेगमावन्नो, से एस णं ण लभेज्जा पुणो पुणो भववारगे गब्भवासाइयं अणेगहा जंतणं ति। णवरं गोयमा ! जे णं वाले जाव अविन्नायपुन्नपावाणं विसेसो, ताव णं से पंचमंगलस्स ण गोयमा ! एगंतेणं अजोग्गे, तस्स णं पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स एगमवि आलावगं ण दायव्वं, जओ अणाइभवंतरसमज्जियाऽसुहकम्मरासिदहणट्ठमिणं लभित्ता णं न वाले सम्ममाराहेज्जा । लहुत्तं च जणइत्ता तस्स केवलं धम्मकहाए गोयमा ! भत्ती समुप्पाइज्जा । तओ नाऊण पियधम्मं दढधम्मं भत्तिजुत्त, ताहे जावइयं पच्चक्खाणं निव्वाहेउं समत्थो भवइ, तावइयं कारवेज्जइ, राईभोयणं च दुविहतिविहचउव्विहेणं वा जहासत्तीए पच्चक्खाविज्जइ, गोयमा ! णं पणयालाए नमोकारसहियाणं चउत्थं चउवीसाए पोरिसीहिं वारसहिं पुरिमड्ढेहिं दसहिं अवड्ढेहिं छहिं निव्विइएहिं चउहिं एगट्ठाणगेहिं

दोहिं आयंबिलेहिं एगेणं सुद्धत्थायंबिलेणं अव्वावारत्ताए रोद्दज्झाणविगहाविरहियस्स सज्झायएगग्गचित्तस्स गोयमा ! एवमायंबिलं मासक्खमणं विसेसेज्जा, तओ य जावइयं तवोवहाणमवि समंतो करेज्जा, तावइयं अणुगणेऊणं जाहे जाणेज्जा-जहा णं भत्तियमित्तेणं तवोवहाणेणं पंचमंगलस्स जोग्गीभूओ, ताहे आउत्तो पढेज्जा,ण अण्णह त्ति । से भयवं ! पभूयं कालाइक्कमं एयं, जइ कहमवि अंतराले पंचत्तमुवगच्छे, तओ नमोक्कारविरहिए कह मुत्तिमट्ठं साहेज्जा ?। गोयमा ! जं समयं चेव सुत्तोवयारानिमित्तेणं असढभावत्ताए जहासत्तीए किंचि तवमारभेज्जा, तं समयमेवमहीयसुत्तत्थोभयं दट्ठव्वं । जओ णं सो तं पंचनमोक्कारं सुत्तत्थोभयं ण अविहीए गिण्हे,किं तु तहा गेण्हे,जहा भवंतरेसु वि ण विप्पणस्से,एयस्सेव अज्झवसायत्ताए आराहगो भवेज्जा । से भयवं ! जेण उ ण अण्णेसिमहीयमाणाणं सुयावरणखओवसमेण कण्णहारित्तणेणं पंचमंगलमहियं भवेज्जा, से वि य किं तवोवहाणं करेज्जा ?। गोयमा ! करेज्जा । से भयवं केणं अट्ठेणं ?। गोयमा ! सुलभबोहिलाभनिमित्तेणं । एवं चेइयाइअकुव्वमाणे नाणकुसीले णेए तहा गोयमा ! णं पव्वज्जादिवसप्पभिइए जहुत्तविणओवहाणेणं ॥ महा० ३ अ० ।

" एसो पंचणमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाण च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं" ॥ १ ॥

(८) नमस्कारसूत्रसंपदः । अक्षराणि च पदसंपत्कृतानीत्यतो-

ऽक्षरपदसंपदिति द्वारत्रयं प्रस्तावाऽऽयातम्, तत्र
च प्रथमं तावत्पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारमा-
श्रित्य तदाह-

वण्णऽट्ठसट्ठि नवपएँ, नवकारे अट्ठ संपया तत्थ ।
सगसंपय पयतुल्ला, सतरऽक्खर अट्ठमी दुपया ॥२२७॥

अथ कोऽत्र व्याख्यानेऽवसरः, चैत्यवन्दनाविधानस्याधिकृतत्वात् ?। सत्यम् । यदा जिनबिम्बाभावे स्थापनाऽऽचार्यपुरतश्चैत्यवन्दना विधीयते, तदाऽनेन पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रेणाऽनाकारस्थापनयाऽक्षाऽऽदिषु जिनाऽऽदयः स्थाप्यन्ते । यदुक्तं बृहद्भाष्ये- " जिणबिंबाभावे पुण, ठवणा गुरुसक्खिया वि कीरंति । चिइवंदण बिय इमा, तत्थ वि परमेट्ठिठवणा उ " ॥१॥ इति । यथा श्रेयोभूतं चैतत् स्तुतिस्तोत्राऽऽदिप्रधानं चैत्यवन्दनाविधानं स्वर्गापवर्गाबन्ध्यनिबन्धनसम्यग्दर्शनाऽऽदिहेतुत्वात्;तथा चाऽऽगमः-"थयथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। थयथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्त, बोहिलाभं च जणयइ । नाणदंसणचरित्तसंपन्नेणं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहेइ" इति । अतो निर्विघ्नेनैतद्विधानसिद्ध्यर्थं प्रथमं पञ्चमङ्गलमेव व्यावर्ण्यते । तथा चोक्तं महानिशीथचतुर्थाध्ययने-*"तस्स य सयलसुक्खहेउभूयस्स न इट्ठदेवयाणमुक्कारविरहिए केइ पारं गच्छिज्जा, इट्ठदेवयाणं च नमुक्कारो पंचमंगलमेव गोयमा ! नो णमन्नं ति, ता नियमओ पंचमंगलस्सेव पढमं ताव विणओवहाणं कायव्वं ।" इत्यलं विस्तरेण ।

संप्रति भाष्यगाथा व्याख्यायते-वर्णा अक्षराणि अष्टषष्टिः, नमस्कारे पञ्चपरमेष्ठिमहामन्त्ररूपे भवन्तीति शेषः । उक्तं च-" पंचपयाण पणतीस वण्ण चूलाइवण्ण तित्तीसं । एवं इमो समप्पइ, फुडमक्खरमट्ठसट्ठीए " ॥ १ ॥ तथा नवपदानि विवक्षितावधियुक्तानि " नमो अरिहंताणमित्यादीनि, न तु स्त्याद्यन्तानि । भणितं च-"सत्त १ पण २ सत्त ३ सत्त य, ४ नव ५ अट्ठ य ६ अट्ठ ७ अट्ठ ८ नव ९ पहुति । इय पयअक्खरसंखा, असट्ठ पूरेइ अडसट्ठी ॥ १ ॥ " तथाऽष्टौ संपदो विश्रामस्थानानि (तत्थ त्ति) तास्वष्टासु सपत्सु मध्ये क्रमेण सप्त संपदः-पदैः पूर्वोक्तस्वरूपैस्तुल्याः समानाः । अष्टमी पुनः संपत् सप्तदशाऽक्षरप्रमाणा, पर्यन्तपदवर्त्तिपदद्वयाऽऽत्मिका च । यथा-" मंगलाण च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं । " यदुक्तं चैत्यवन्दनाभाष्यप्रवचनसारोद्धाराऽऽदिषु-" पंचपरमिट्ठिमंते, पए पए सत्त संपया कमसो । पज्जंते सत्तरऽक्खर-परिमाणा अट्ठमी भणिया ॥ १ ॥ " तथा एव वा चतुर्थपदस्य पाठः-" नवऽक्खरऽट्ठमी दुपयट्ठी " ॥ अष्टमी संपत्-" पढमं हवइ मंगलं " इति नवाऽक्षरप्रमाणा ज्ञेया । षष्ठी पुनः-" एसो पंचनमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो । " इति । द्विपदमाना । अभ्यधायि-" अंतिमचूलाइतिय, सोल १ ऽट्ठ २ नवक्खरा तय चेव १ । जो पढइ भत्तिजुत्तो, सो पावइ सासयं ठाणं ॥ ४ ॥ " एवं च त्रयस्त्रिंशदक्षरप्रमाणचूलिकासहितो नमस्कारो भणनीय इत्युक्तं भवति । तथा चोक्तं बृहन्नमस्कारफले-"सत्त पण सत्त सत्त य, नवऽक्खरपमाणपयरूपंचपयं । तित्तीसऽक्खरचूलं, सुमिरह नवकारवरमंतं ॥१॥ " सिद्धान्तेऽपि स्फुटाक्षरैः -"हवइ मंगलं" इति भणितम् । तथाहि महानिशीथचतुर्थाऽध्ययने सूत्रम्-" तहेव च तदत्थाणुगमियं इक्कारसपयपरिच्छिन्नं ति आलावगतित्तीसऽक्खरपरिमाणं । "एसो पंचनमुक्कारो,सव्वपावप्पणासणो । मंगलाण च सव्वेसिं,पढमं हवइ मंगलं ॥१॥ इय चूलं ति अहिज्जंति त्ति । " तत्र प्रकृतं तदेवम्-" हवइ मंगलं " इत्यस्य साक्षादागमे भणितत्वात्, प्रभुश्रीवज्रस्वामिप्रभृतिसुबहुश्रुतसुविहितसविग्नपूर्वाऽऽचार्यसमतत्वाच्च " पढमं हवइ मंगलं " इतिपाठेन अष्टषष्ट्यक्षरप्रमाण एव नमस्कारः पठनीयः । तथा च महानिशीथे-" एय तु जं पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स वक्खाणं तं महया पबंधेण अणंतगमपज्जवेहिं सुत्तस्स य पियभूयाहिं निज्जुत्तिभासचुण्णीहिं जहेव अणंतनाणदंसणधरेहिं तित्थयरेहिं वक्खाणियं, तहेव समासओ वक्खाणिज्जं तं आसि । अहऽन्नया कालपरिहाणिदोसेण ताओ निज्जुत्तिभासचुण्णीओ वुच्छिन्नाओ,इओ य वच्चंतेण कालेण समएण महिड्ढिपत्ते पयाणुसारी वइरसामी दुवालसंगसुयहरे समुप्पन्ने, तेणासो पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स उद्धारो मूलसुत्तस्स मज्झे लिहिओ, मूलसुत्तं पुण सुत्तत्ताए गणहरेहिं अत्थत्ताए अरिहंतेहिं भगवंतेहिं धम्मतित्थगरेहिं तिलोयमहियाएहिं वीरजिणिंदेहिं पन्नवियं ति,एस वुड्ढसंपयाओ एत्थ य । जत्थ य पयंपएणाणुलग्गं सुत्तालावगं न संपज्जइ,तत्थ तत्थ सुयहरेहिं ति ओगवए वि कुलिहियदोसो न दायव्वु त्ति, किं तु जो सो एयस्स अचिंतचिंतामणिकप्पभूयस्स महानिसीहसुयक्खंधस्स पुव्वायरिसो आसि महुराए सुपासनाहथूहे पन्नरसएहिं उववासेहिं विहिएहिं सासणदेवीए मम अप्पिओ त्ति तहिं चेव खंडासंमोए उद्देहियाइएहिं हेऊहिं बहवे पत्तगा परिसमिया,

* तृतीयाध्ययने इति पाठो दृश्यते ।

तहा वि अच्चंतसुमहत्थाइसयं ति इमं महानिसीहसुयक्खंधं कसिणपवयणस्स परमसारभूयं परं तत्तं महत्थं ति क-लिऊण पवयणवच्छलत्तणेण बहुभव्वसत्तोवयारयं च काउं तहा य आयहियट्ठयाए आयरियहरिभद्देण जं तत्थायरिसे दिट्ठं, तं सव्वं समतीए सोहिऊणं लिहिअं ति अन्नेहिं पि सिद्ध-सेणदिवायरवुड्ढवाइजक्खसेणदेवगुत्तजसवद्धणखमासमण-सीसरविगुत्तनेमिचंदजिणदासगणिखवगसच्चसिरिपमुहेहिं जु-गप्पहाणसुयहरेहिं बहु मन्निथमिणं ति ॥"(महा० ३ अ०) अन्यत्र तु संप्रति वर्त्तमानाऽऽगमे, तत्र मध्ये न कुत्राऽप्येव नवपदा-ऽष्टसपदादिप्रमाणो नवकार उक्तो दृश्यते। यतो भगवत्यादा-वेव पञ्चपदान्युक्तानि—" नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, न-मो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, णमो बंभीए लिवीए " इ-त्यादि । क्वचिद्-" नमो लोए सव्वसाहूणं " इति पाठ इति। तद्वसिप्रत्याख्यानपारणाप्रस्तावे चूर्णावित्युक्तम्-" नमो अरि-हंताणं ५ " भणित्वा पारयति। नवकारनिर्युक्तिचूर्णौ त्वेवमु-क्तम्-" सो नमुक्कारो कमा पयाणि छ वा, दस वा। तत्थ छ-प्पयाणि-नमो १ अरिहंत २ सिद्ध ३ आयरिय ४ उव-ज्झाय ५ साहूणं ६ ति। दश त्वेवम्-" अरिहंताणं नमो ३ सिद्धाणं ४ " इत्यादि । यत्पुनर्नमस्कारनिर्युक्तावशीतिप-दमाना विंशतिगाथाः सन्ति। यथा-" अरिहंतनमुक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ। " (३५७) इत्यादयस्ता नवकार-माहात्म्यप्रतिपादका न पुनर्नवकाररूपं भवितुमर्हन्ति, बहु-पदत्वात् तासाम्, नवकारस्य तु नवपदाऽऽत्मकत्वात् । किञ्च-तास्वपि गाथासु वर्षशतात् तद्वृद्धयाश्च पूर्वपूर्वतरप्रतिषु "हवइ" इति पाठो दृश्यते । श्रीमलयगिरिणाऽप्यावश्यकवृत्तिं कुर्व-ता वृत्तिमध्ये ता गाथा " हवइ " इति पाठत एव लिखि-ताः, एतन्निश्चयार्थिना तद्वृत्तिर्निरीक्षणीया, इति परमार्थं ज्ञात्वा कदाग्रहाभिनिवेशाऽऽदिविलसितकल्पितमागमानुक्तं "होइ" इति मुक्त्वा साक्षात्परमागतसूत्रान्तर्गतं श्रीवज्रस्वामि-प्रभृतिदशपूर्वधराऽऽदिबहुश्रुतसंविग्नसुविहितव्याख्यातमाद्दतं " हवइ " त्ति पाठतोऽष्टषष्टिवर्णप्रमाणं परिपूर्णं नवकारसूत्रम-ध्येतव्यम् । तच्चैवम्-"नमो अरिहंताणं १, नमो सिद्धाणं २, नमो आयरियाणं ३, नमो उवज्झायाणं ४, नमो लोए सव्वसाहूणं ५ । एसो पंचनमुक्कारो ६, सव्वपावप्पणासणो ७ । मंगलाणं च सव्वेसिं ८, पढमं हवइ मंगलं ९ "॥१॥ अस्य च व्याख्यानं यदेव श्रीवज्रस्वाम्यादिभिः छेदग्रन्थाऽऽदिमध्ये लिखितं, तदेव भक्तिब-हुमानातिशयतो विशेषतश्च भव्यसत्त्वोपकारकमिति दर्श्यते। तथाहि-" से भयवं ! किमेयस्स अचिंतचिंतामणिकप्पभूय-स्स णं पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स सुत्तत्थं पन्नत्तं । तं जहा-जे णं एस पंचमंगलमहासुयक्खंधे से णं सयलागमंतरोववत्ती तिलतेल्लकमलमयरंदसव्वलोयपंचत्थिकायमिव जहत्थकिरि-याऽणुगयसब्भूयगुणकित्तणे जहिच्छिए य फलप्पसाहगे चेव परमत्थुइवाए। सा य परमत्थुई केसिं कायव्वा ? । सव्वजगुत्त-माणं। सव्वजगुत्तमुत्तमे य जे केइ भूए, जे केइ भवंति, जे केइ भविस्संति, ते सव्वे चेव अरिहंतादओ चेव नो णमन्नेसिं । ते य पंचहा-अरिहंते १, सिद्धे २, आयरिए ३, उवज्झाए ४, साहुणो ५। तत्थ एएसिं चेव गब्भत्थसब्भावो इमो। तं जहा-सनरामरासुरस्स णं सव्वस्सेव जगस्स अट्ठमहापाडिहेराइ-पूयाइसओवलक्खियं अणन्नसरिसमचिंतमप्पमेयकेवलाहि-ट्ठियं पवरुत्तमत्तं। (महा० ३ अ०) "अरिहंति वंदणनम-सणाणि अरिहंति पूयसक्कारं। सिद्धिगमणं च अरिहा, अरिहंता तेण वुच्चंति" ॥१॥ (आ० म० द्वि०) सङ्ग्रा० १ अधि० ३ प्रस्ता० ।

(६) वस्तुद्वारम्-

अथ यदुक्तम्-" वत्थु तरहंताऽऽई, पंच भवे तेसिमो हेऊ । " (२६२४) इति तदेतत्प्ररूपणायामसमर्थितायामन्तराले प्रागुपन्य-स्तत्वास्सांन्यासिक इवमासीत् । तदेदानीं प्ररूपणायाः समर्थि-तत्वाद्यथाऽवसराऽऽयात वस्तुद्वारं विस्तरेण व्याचिख्यासुराह-

वत्थुं अरहा पुज्जा, जोग्गा के जे नमोऽभिहाणस्स ।
संति गुणरासओ ते, पंचारुहयाऽऽइजाईया ॥ २९४० ॥

वस्तु दलिकम्, अर्हा· पूज्या योग्या नमोऽभिधानस्य के ?, इति पृष्टे गुरुराह-ये नमोऽभिधानस्य योग्यास्ते पञ्च सन्तीति सबन्ध । किंविशिष्टास्ते ?, गुणराशयो गुणसमूहा । पुन किं प्रकारा ?, इत्याह-अर्हदादिजातीया अर्हदादिप्रकारा -अर्हत्सि-द्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधव इत्यर्थ । तदेवमत्र वस्त्वर्हदादयो गु-णराशय सन्ति, इतिगुणगुणिनोरभेद उक्तः ॥ २६४० ॥

अथ तयोर्भेदोपचारादिदमाह-

भेओवयारओ वा, वसंति नाणाऽऽइओ गुणा जत्थ ।
तं वत्थुमसाहारण-गुणालओ पंचजाईयं ॥ २९४१ ॥

सुबोधा । नवरं "घटे रूपाऽऽदय·" इत्यादिष्विव गुणगुणिनो-र्भेदोपचारादिहैवमुच्यते-वसन्ति ज्ञानाऽऽदयो गुणा यत्र तत्प-ञ्चप्रकारं वस्त्वस्तीति ॥ २९४१ ॥

अथ तानेव विशेषेणाऽऽह-

ते अरिहंता सिद्धा-ऽऽयरिओवज्झायसाहवो नेया ।
जे गुणमयभावाओ, गुणा व पुज्जा गुणत्थीणं ॥२९४२॥

ते पञ्चविधवस्तुरूपा अर्हत्सिद्धाऽऽदयो ज्ञेया·, ये ज्ञानाऽऽदि-गुणसमूहमयत्वान्मूर्त्तज्ञानाऽऽदिगुणा इव गुणार्थिना ज्ञानाऽऽ-दिगुणाभिलाषिणा भव्यजीवाना पूज्या इति । तदत्रार्हदादीनां पूज्यत्वे " गुणमयत्वात् " इति हेतुरुक्त ॥ २६४२ ॥

अथवा हेत्वन्तरमप्याह-

मोक्खत्थिणो व जं मो-क्खहेयओ दंसणाऽऽदितियगं व ।
तो तेऽभिवंदणिज्जा, जइ व मई हेयओ कह ते ? ॥२९४३॥

यस्माद्वा मोक्षार्थिनो भव्यसत्त्वस्य मोक्षहेतवोऽर्हदादय , त-तस्तेऽभिवन्दनीयाः पूज्या·, मोक्षहेतुत्वात्, दर्शनाऽऽदित्रिकवदि-ति । यदि वा-इहैवम्भूता परस्य मति स्यात्कथं केन हेतुना ते मोक्षहेतवः ?, तदा तमपि हेतुं कथयाम· । इति सप्तदश गाथार्थ· ॥ २६४३ ॥

यथा ते हेतवस्तथाऽऽह--

मग्गो अविप्पणासो, आयारे विणयया सहायत्तं ।
पंचविहनमोक्कारं, करेमि एएहि हेऊहिं ॥ २९४४ ॥

अर्हतां नमस्काराऽर्हत्वे मार्ग· सम्यग्दर्शनाऽऽदिलक्षणो हेतु·, यस्मादसौ तै· प्रदर्शित , तस्माच्च मुक्ति , ततश्च पारम्पर्येण मुक्तिहेतुत्वात्पूज्यास्त इति । (अविप्पणासो त्ति) सिद्धा-नां तु नमस्कारार्हत्वे अविप्रणाश· शाश्वतत्व हेतु । त-थाहि-तदविप्रणाशमवगम्य प्राणिन· संसारवैमुख्येन मोक्षाय घटन्त इति । (आयारे त्ति) आचार्याणां तु नमस्कारार्हत्वे आचार एव हेतु । तथाहि-तानाचारवत आचारख्यापकाश्च

प्राप्य प्राणिन आचारस्य विज्ञातारोऽनुष्ठातारश्च भवन्तीति । (विणयय त्ति) उपाध्यायानां तु नमस्काराऽर्हत्वे विनयता विनयो हेतु , यतस्तान् स्वयं विनीतान् प्राप्य कर्मविनयनसमर्थस्य ज्ञानाऽऽदिविनयस्यानुष्ठातारो भवन्ति । (सहायत्त त्ति) साधूनां तु नमस्काराऽर्हत्वे सहायत्व हेतुः, यतस्ते सिद्धिवधूसङ्गमैकलालसाना जन्तूनां तदवाप्तिक्रियासाहाय्यमनुतिष्ठन्तीति । अत एवाऽऽह-पञ्चविध नमस्कार करोम्येभिर्हेतुभिरिति निर्युक्तिगाथासङ्क्षेपार्थ' ॥ २६४४ ॥

विस्तरार्थं त्वभिधित्सुर्भाष्यकार प्राऽऽह-

मग्गोवएसणाओ, अरिहंता हेयओ हि मोक्खस्स ।
तब्भावे भावाओ, तयभावेऽभावओ तस्स ॥२९४५॥

अर्हन्तो यस्माद् मोक्षहेतवस्तस्मात् पूज्या इति प्रक्रम । सम्यग्दर्शनाऽऽदेस्तन्मार्गस्योपदेशनादिति हेतु । श्रुतज्ञानवदिति दृष्टान्त· स्वय द्रष्टव्य· । यदि नाम ते तन्मार्गमुपदिशन्ति तथाऽपि कथ मोक्षहेतव ?, इत्याह-(तब्भावे इत्यादि) तस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदिमार्गस्य भावे भावात, तदभावे चाभावात् तस्य मोक्षस्येति ॥ २९४५ ॥

यद्येव, तर्हि सम्यग्दर्शनाऽऽदिमार्ग एव मोक्षहेतु', तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् तस्य; ये तु तदुपदेशकत्वेन तस्य मार्गस्य हेतवोऽर्हन्तस्ते कथ मोक्षहेतवो न युक्ताः ?, इत्येतत्प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

मग्गो च्चिय सिवहेऊ, जुत्तो तब्भेयओ कहं जुत्ता ? ।
तदहीणत्तणओऽहव,कारण कज्जोवयाराओ ॥२९४६॥

प्रेरकोपन्यस्त पूर्वार्द्धमुक्तार्थमेव । उत्तरमाह-(तदहीणत्तणओ इत्यादि) सत्यम, मार्ग एव मोक्षहेतु·, केवलमर्हन्तोऽपि तद्धेतव एव, तस्यापि मार्गस्य तदुपदेशज्ञेयत्वेन तदधीनत्वादिति । अथवा-मोक्षहेतवोऽर्हन्त·, कारणेऽर्हल्लक्षणे मार्गलक्षणकार्यधर्मस्य मोक्षहेतुत्वस्योपचाराद्ध्यारोपादिति ॥ २९४६ ॥

आह--नन्वेतावता मार्गस्योपदेशकत्वेनोपकारिणोऽर्हन्तस्तनो मार्गजन्यस्य मोक्षस्य तेऽपि हेतवोऽभिधीयन्त एव इत्युक्तम, एव चातिप्रसङ्ग· । कथम ?, इत्याह--

मग्गोवयारिणो जइ, पुज्जा गिहिणो वि तो तदुवगारी ।
तस्साहणदाणाओ, सव्वं पुज्जं परंपरया ॥ २९४७ ॥

(तस्साहणदाणाओ त्ति) तस्य मार्गस्य साधनानि यानि वस्त्रपात्राऽऽहारशय्याऽऽसनाऽऽदीनि तद्दानादिति । शेष सुगमम् ॥ २९४७ ॥

अत्रोत्तरमाह-

जं पच्चासन्नतरं, कारणमेगंतियं च नाणाइं ।
मग्गो तदायारो, सयं च मग्गो त्ति ते पुज्जा ॥२९४८॥

सत्यपि विश्वत्रयस्य परम्परया मार्गोपकारित्वे यत्प्रत्यासन्नतरमैकान्तिक च मोक्षस्य कारण ज्ञानाऽऽदित्रय मोक्षस्य मार्ग इति, तस्य दातारस्तावदर्हन्त एव, न तु गृहस्था , नापि वस्त्राऽऽहारशय्याऽऽसनाऽऽदीनि तत्साधनानि, तेषामर्हद्भ्यो लब्धस्य ज्ञानाऽऽदित्रयस्योपकारित्वमात्र एव वर्तनादिति । स्वयमपि च मोक्षस्य मार्गोऽर्हन्त·, दर्शनमात्रेणैव भव्यजन्तूनां तत्प्राप्तिहेतुत्वात, अतो ज्ञानाऽऽदिमार्गदातृत्वात्, स्वयमपि च मार्गत्वाच्चेऽर्हन्त एव पूज्या·, न तु गृहस्थाऽऽदयः, इति नातिप्रसङ्ग· ॥ २९४८ ॥

एतदेवाऽऽह-

भत्ताई-वज्झयरो, हेऊ न य नियमओ सिवस्सेव ।
तद्दायारो गिहिणो, सयं न मग्गो त्ति नो पुज्जा ॥२९४९॥

भक्तपानवस्त्राऽऽदिभिर्बाह्यतरो दूरवर्ती परम्परया मोक्षस्य हेतु । न च ज्ञानाऽऽदित्रयवदसावेव नियमतः शिवस्य मोक्षस्य हेतु', तमन्तरेणाऽप्यन्तकृत्केवल्यादीनां तत्सिद्धेः । अतस्तस्य बाह्यतरानैकान्तिकहेतोर्भक्तपानाऽऽदेर्दातार ,तद्दातारो गृहिणो न पूज्या·, अर्हतामिव तेषामन्तरङ्गैकान्तिकमोक्षहेतुज्ञानाऽऽदित्रयदातृत्वाभावादिति । न च तेऽर्हन्त इव स्वयं मोक्षमार्ग·, तद्दर्शनाऽऽदिना मुक्त्यनवाप्तेः, इत्यतोऽपि न ते पूज्या इति ॥ २९४९ ॥

अथाविप्रणाशलक्षण सिद्धनमस्काराऽर्हत्वे हेतुं व्याचिख्यासुराह-

मग्गेणाणेण सिवं, पत्ता सिद्धा जमविप्पणासेणं ।
तेण कयत्थत्तणओ, ते पुज्जा गुणमया जं च ॥२९५०॥

यद्यस्मात्सिद्धा· सम्प्राप्तनिर्वाणसुखा अनेन मार्गेण ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणेन शिव मोक्षं प्राप्ताः । कथम ?, अविप्रणाशेनाविच्छिन्नसन्तानभावेन,तस्मात्कृतार्थत्वात्ते पूज्या· । अत्र प्रयोग - पूज्या सिद्धा·, अविप्रणाशबुद्धिजनकत्वेन मार्गोपकारित्वात्, जिनेन्द्रवदिति । (गुणमया ज च त्ति) इतश्च ते पूज्या -ज्ञानाऽऽदिगुणसमूहाऽऽत्मकत्वात् , जिनाऽऽचार्याऽऽदिवदिति ॥ २९५० ॥

अत्र प्रेरक· प्राऽऽह-

गुणपूयामेत्ताओ, फलं ति तप्पूयणं पवज्जामो ।
जं पुण जिणु व्व मग्गो-वयारिणो ते तयं कत्तो ?॥२९५१॥

गुणानां सम्यग्ज्ञानाऽऽदीनां पूजामात्रतोऽपि फल विशिष्ट स्वर्गापवर्गाऽऽदिकमस्तीति तत्पूजन तेषां गुणवतां सिद्धाना पूजन प्रतिपद्यामहे । यत्पुनरुच्यते-' जिनवत्ते सिद्धा अपि मार्गोपकारिणः ' इति, तत्तेषां सिद्धानां कुत· ?, न मन्यामहे एतदित्यर्थः, इह तेषामभावात्,असतश्चोपकारायोगादित्यभिप्राय·॥२९५१॥

अत्रोत्तरमाह-

जइ तग्गुणपूयाओ, फलं पवन्नं नणूवगारो सो ।
तेहिंतो तदभावे, का पूया किं फलं वा से ? ॥२९५२॥

यदि तद्गुणपूजातो गुणवत्सिद्धगुणपूजनात्फलमस्तीति त्वया प्रतिपन्न, तर्हि नन्वसावेव तेभ्यः सिद्धेभ्य उपकारस्त्वयाऽपि प्रतिपन्न·, अन्यथा तदभावे सिद्धाभावे का तेषा पूजा, किं वा ' से ' तस्य पूजकस्य फलम् ? । एव च सति निर्वृताविप्रणाशबुद्धिरपि सिद्धाभावे न भवतीत्ययमुपकारस्तेभ्य· किं नेष्यते ?, इति ॥ २९५२ ॥

अथवा " अविप्रणाशबुद्धिहेतुत्वान्मार्गोपकारिणः सिद्धाः " इत्ययमर्थोऽन्यथाऽपि साध्यते । कथम ?, इत्याह-

गंतुरणासाओ वा, सम्मग्गोऽयं जहिच्छियपुरस्स ।
सिद्धो सिद्धेहिंतो, तदभावे पच्चओ कत्तो ? ॥२९५३॥

अथवा-अय सम्यग्दर्शनचारित्रलक्षणो मार्गो यथेप्सितपुरस्य मोक्षनगरस्य सन्मार्ग इत्येव सिद्धेभ्य एव सिद्धो निश्चितः, नान्यस्मात् । कुतः ?, इत्याह-(गतुरणासाओ त्ति) मोक्षपुरं गन्तुर्मुमुक्षोरपायाभावतोऽनाशादविप्रणाशात् । तदनाशे च सन्मार्गोऽयं सम्यग्दर्शनाऽऽदिको मोक्षपुरस्य मार्ग इत्येव मुमुक्षूणां प्रत्ययोत्पादात् । तदभावे तु सिद्धविप्रणाशे कुतोऽयं प्रत्ययः स्यात् ?, न कुतश्चिदित्यर्थः । इदमत्र हृदयम्-यथा पाटलिपुत्राऽऽदिनगरमार्गं कश्चिद् यथेप्सितपुरं गन्तुं सार्थवाहस्य निरपायगमनेनाविप्रणाशात्सन्मार्गोऽयमिति निश्चीयते, एवं सम्यग्दर्शनाऽऽदिको मोक्षपुरमार्गोऽपि तदभीष्टं मोक्षपुरं गन्तुर्भव्यजन्तुसार्थस्य निरपायगमनेनाविप्रणाशात्सन्मार्गोऽयमिति निश्चीयते । अत एवंभूतनिश्चयजनकत्वान्मार्गोपकारिणः सिद्धाः, ततः पूज्या इति ॥ २९५३ ॥

अपि च-

मग्गम्मि रुई तदवि-प्पणासओ तप्फलोवलंभाओ ।
जं जायइ तेहिंतो, नेयरहा तदुवगारो से ॥ २९५४ ॥

यदस्मात्सम्यग्दर्शनाऽऽदिको मोक्षमार्गो यथावदयमित्येव रुचिः प्रीतिर्जायते उत्पद्यते भव्यजन्तूनां (तेहिंतो त्ति) तेभ्यः सिद्धेभ्य एव, नेतरथा नाऽन्यथा । कुतः ?, इत्याह-तदविप्रणाशात्-तेषां सिद्धानां शाश्वतभावोपगमात्, तथा-तत्फलोपलम्भात्-तेषामेव सिद्धानां शाश्वतानुपमसुखलक्षणस्य फलस्योपलम्भात् । ततस्तदुपकारोऽसौ मार्गे रुच्याविर्भावलक्षणः सिद्धकृतोऽस्याबुपकार इति ॥ २९५४ ॥

अत्र परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

णणु जिणवयणाउ च्चिय, तदत्थिया तप्फलोवलंभो य ।
सच्चं तहा वि तप्फल-सब्भावाओ रुई होइ ॥२९५५॥

ननु जिनवचनाज्जिनोपदेशादेव, तदर्थिता तत्र मार्गे रुचिलक्षणाऽर्थिता, तस्य मार्गस्य यत्फलं सिद्धिसुखलक्षणं तदुपलम्भश्च सर्वमिदं जायते, तत्किमविप्रणाशहेतूपन्यासेन ? । सत्यम् । तथाऽपि तस्य मार्गस्य यत्फलं सिद्धत्वप्राप्तिलक्षणं तस्य सद्भावादविप्रणाशाच्छाश्वतभावाद्विशेषिततरा मार्गे रुचिर्भवति इति । अतो वक्तव्य एव सिद्धानामविप्रणाशलक्षणो हेतुरिति ॥ २९५५ ॥

पुनरपि परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अप्प च्चिय सिवमग्गो, निच्छयओ तह रुई सम्मत्तं ति ।
मग्गोवयारिणो जह, जिणा तहा खीणसंसारा ॥२९५६॥

ननु " छुप्पाथिओ अमित्तं, अप्पा सुप्पाथिओ हवइ मित्तं । " इत्यादिवचनान्निश्चयतो निश्चयनयमतेनाऽऽत्मैव शिवमार्गो मोक्षमार्गः, तथा-रुचिश्च सम्यक्त्वमात्मैव नापर इति, अतः किमत्र बाह्येनाविप्रणाशहेतुनोपन्यस्तेन ? । सत्यम् । तथाऽपि व्यवहारनयमतेन यथा मार्गोपदेशनाज्जिनास्तीर्थकरा मार्गोपकारिण उच्यन्ते, तथा क्षीणसंसारा अपि सिद्धा अविप्रणाशेन मार्गोपकारिणोऽभिधीयन्त इति न दोषः ॥ २९५६ ॥

अथाऽऽचार्याणामुपाध्यायानां च नमस्कारार्हहेतुत्वं व्याचिख्यासुराह-

आयारदेसणाओ, पुज्जा परमोवगारिणो गुरवो ।
विणयाऽऽग्गाहणा वा, उवज्झाया सुत्तदा जं च ॥२९५७॥

पूज्याः परमोपकारिणो गुरवः, स्वयमाचारपरत्वात्, परेभ्यश्चाऽऽचारदेशनादिति । तथा-पूज्या उपाध्यायाः, स्वयं विनयवत्त्वात्, शिष्याणां च विनयग्राहणाद्विनयशिक्षणात् । यतश्च सूत्रपाठदास्ते, अतोऽपि पूज्या इति ॥ २९५७ ॥

अथ साधूनां पूज्यार्हत्वकारणम्, तथा-पञ्चानामप्यर्हदादीनां सामान्येन तत्कारणमुपदर्शयन्नाह-

आयारविणयसाहण-साहज्जं साहओ जओ दिंति ।
तो पुज्जा ते पंच वि, तग्गुणपूयाफलनिमित्तं ॥२९५८॥

ततः साधवः पूज्याः, यतः किम् ?, इत्याह-(आयार इत्यादि) आचारवत्त्वाद्, विनयवत्त्वाद्, मोक्षसाधने साहाय्यदानात्पूज्यास्ते इति भावार्थः । तथा-सामान्येन पञ्चाप्यर्हदादयः पूज्याः, तद्गुणानां ज्ञानाऽऽदीनां या पूजा, तस्याः यत्फलं स्वर्गापवर्गाऽऽदिकं, तन्निमित्तं ते भवन्तीति कृत्वा, तद्गुणपूजाफलनिमित्तत्वादित्यर्थः । इति चतुर्दशगाथार्थः ॥ २९५८ ॥

एवं तावत्समासेनार्हदादीनां नमस्काराऽर्हत्वद्वारेण मार्गदेशकत्वाऽऽदयो गुणा उक्ताः ।

साम्प्रतं संसाराटवीमार्गदेशकत्वभवसमुद्रनिर्यामकत्वषड्विधजीवनिकायगोपनत्वप्ररूपणाऽऽदिना प्रपञ्चेनार्हतां गुणानुपदर्श्य-

यन्नाह-

अमवीएँ देसयत्तं, तहेव निज्जामया समुद्दम्मि ।
छक्कायरक्खणट्ठा, महगोवा तेण वुच्चंति ॥ २९५९ ॥

भवाटव्यां देशकत्वं मार्गोपदेशकत्वं कृतमर्हद्भिः, तथैव निर्यामकाः संसारसमुद्रे भगवन्त एव, षट्कायरक्षणार्थं यतः प्रयत्नं चक्रुर्महागोपास्तेनोच्यन्ते ॥ इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥२९५९॥

अथ " जह निव्वुइपुरमग्गं " इत्यादिका विस्तरार्थप्रतिपादनपराः सप्तदश गाथाः सुगमाः । सति च वैषम्ये मूलाऽऽवश्यकटीकाऽनुसारतो भावनीया इति न प्रतिपादिताः ।

तदेवमुक्तप्रकारेणार्हतां नमस्कारार्हत्वे हेतवो गुणाः प्रतिपादिताः, साम्प्रतं तु प्रकारान्तरेण तद्धेतुभूतानेव गुणान् प्रतिपादयन्नाह-

रागदोसकसाए, य इंदियाणि य पंच वि परीसहे ।
उवसग्गे नामयंता, नमोऽरिहा तेण वुच्चंति ॥२९६०॥

रागद्वेषकषायान् इन्द्रियाणि च पञ्चाऽपि परीषहान्, उपसर्गान्नमयन्तोऽर्हन्तो नमोऽर्हाः । इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥२९६०॥

(एतद्व्याख्यानरूपं भाष्यं तु नेह प्रपञ्चितं विस्तरभयात्, किन्तु रागद्वेषाऽऽदिशब्देषु यथास्थानेषु द्रष्टव्यम्)

अथ "नामयंता नमोऽरिहा" (२९६०) इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

पहवीकरणं नामण-महवा नासणमओ जहाजोगं ।
नेयं रागाऽऽईणं, तन्नामाओ नमोअरिहा ॥ ३००८ ॥

रागाऽऽदीनां प्रह्वीकरणं वश्यभावाऽऽपादनं नमनमुच्यते, मूलतो नाशनं वा । अतो रागाऽऽदीनामेवंविधं नमनं यथायोगं यथाघटमानकं ज्ञेयम् । तन्नामनाच्च नमो नमस्कारस्यार्हा अर्हन्त इति ॥ ३००८ ॥

साम्प्रतं प्राकृतशैल्या अनेकधाऽर्हच्छब्दनिरुक्तसम्भव इति

दर्शयन्नाह-'इदिय' इत्यादि चतस्रो गाथाः, एता अपि तथैव। इदानीमिममेवार्थं ख्यापनार्थमपान्तरालिक नमस्कारफलमुपदर्शयति-

अरहंतनमोक्कारो, जीवं मोएइ जवसहस्साओ ।
जावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥३००७॥

इह नामस्थापनाद्रव्यभावलक्षणनमस्कारश्चतुर्विधो गृहीतः, तत्राहेच्छब्देन बुद्धिस्था अर्हदाकारवती स्थापना गृह्यते, तस्या नमस्कारः स्थापनानमस्कार इति व्युत्पत्त्या स्थापनानमस्कारः सगृहीतः । (नमोक्कारो त्ति) इत्यनेन नामनमस्कारः । (कीरमाणो त्ति) अञ्जलिप्रग्रहाऽऽदिना क्रियमाण इत्यनेन द्रव्यनमस्कारः । (भावेण त्ति) अनेन तु भावनमस्कार इति । तत्राहेन्नमस्कार क्रियमाणो जीव मोचयति भवसहस्राद्, प्रस्तावादनन्तभवेभ्य इत्यर्थः । अनन्तभवमोचनाच्च मोक्षं प्रापयतीत्युक्त भवति । यद्यपि च कश्चित्तद्भव एव मोक्षं न प्रापयति, तथाऽपि भावेनोपयोगविशेषेण क्रियमाणो भावनाविशेषत एवान्यस्मिन्नपि जन्मनि पुनरपि बोधिलाभाय भवति । बोधिलाभश्च निश्चितोऽचिरान्मोक्षहेतुरिति । एवं यावत्स्यन्तरेण नामाऽऽदिचतुर्विधविधानेन नमस्कारः क्रियमाणो जीवं भवाद् मोचयति, पुनर्बोधिबीजं च जायते ॥ इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ३००६ ॥

अत्र भाष्यम्-

अरहंताऽऽगारवई, ठवणा नामं मयं नमोक्कारो ।
भावेणं ति य जावो,दव्वं पुण कीरमाणो त्ति ॥३०१०॥
इय नामाऽऽइचउव्विह-बज्झऽन्तरविहाणकरणाओ ।
सो मोएइ भवाओ, होइ पुणो बोहिबीयं च ॥ ३०११ ॥

गतार्थे ॥३०१०।३०११॥

तथा चाऽऽह-

अरहंतनमोक्कारो, धन्नाण जवक्खयं करंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियावारओ होइ ॥३०१२॥

धन ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणमर्हन्तीति धन्याः साध्वादय, तेषां भवक्षयं तद्भवजीवितक्षपण कुर्वतां यावज्जीवं हृदयमनुन्मुञ्चन् विस्रोतिकाया विमार्गगमनस्यापध्यानस्य वाऽऽवारकोऽर्हन्नमस्कारो भवति । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ३०१२ ॥

भाष्यम्-

धन्ना नाणाऽऽइधणा, परित्तसंसारिणो पयणुकम्मा ।
जवजीवियं पुणजवो, तस्सेह खय करिंताणं ॥३०१३॥
इह विस्सोओगमणं, चित्तस्स विसोत्तिया अवज्झाणं ।
अरहंतनमोक्कारो, हिययगओ तं निवारेइ ॥ ३०१४ ॥

गतार्थे ॥३०१३।३०१४॥

अथार्हन्नमस्कारस्यैव महार्थतां दर्शयति-

अरहंतनमोक्कारो, एवं खलु वन्निओ महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवग्गे,अभिक्खणं कीरई बहुसो।३०१५।

अर्हन्नमस्कार एव खलु वर्णितो महार्थ इति महान् अर्थो यस्य स महार्थोऽल्पाक्षरोऽपि द्वादशाङ्गार्थसंग्राहित्वान्महार्थः । कथ पुनरेतदेवम् ?, इत्याह-यो नमस्कारो मरणे प्राणोपरमलक्षणे उपाग्रे समीपभूते, अभीक्ष्णमनवरतं क्रियते बहुशोऽनेकशः । ततश्च महत्यामापदि द्वादशाङ्गीं मुक्त्वा तत्स्थानेऽनुस्मरणान्महार्थः ॥ इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ३०१५ ॥

कथ पुनर्द्वादशाङ्गार्थो नमस्कारः ?, इत्याशङ्क्य युक्तिमाह भाष्यकारः-

जलणाऽऽइभए सेसं, मोत्तुं एगरयणं महामोल्लं ।
जुधि वाऽतिभए घेप्पइ,अमोहमत्थं जह तहेह ॥३०१६॥
मोत्तुं पि बारसंगं, मरणाऽऽइजएसु कीरए जम्हा ।
अरहंतनमोक्कारो, तम्हा सो बारसंगत्थो ॥ ३०१७ ॥
सव्वं पि बारसंगं, परिणामविसुद्धिहेउमित्तागं ।
तक्कारणजावाओ,कह न तयत्थो नमोक्कारो ?॥३०१८॥
न हु तम्मि देसकाले, सक्को बारसविहो सुयक्खंधो ।
सव्वो अणुचिंतेउं, धंतं पि समत्थचित्तेणं ॥ ३०१९ ॥

चतस्रोऽपि सुगमाः, नवरं (देसकाले त्ति) देश प्रस्ताव, तद्रूप कालो देशकाल , तस्मिन्मरणलक्षणे देशकाल इति । (धंतं पि त्ति) धनितमत्यर्थमिति ॥ ३०१६ । ३०१७। ३०१८ । ३०१९ ॥

एकस्मिन्नपि यत्र वीतरागोक्ते पदे सति जीवः संवेग गच्छति, येन च पदेन विरागत्व भवति निर्वेदमुपैति, तत्तस्यैकमपि पद समस्तमोहजालोच्छेदहेतुत्वात्संपूर्णद्वादशाङ्गरूप ज्ञानमेव भवति, तत्कार्यकर्तृत्वात्, किं पुनरनेकपदाऽऽत्मको नमस्कारः सम्पूर्णं द्वादशाङ्गज्ञानं न भविष्यति ?, इत्यन्यथा भङ्ग्या नमस्कारस्य द्वादशाङ्गरूपतां साधयन्नाह-

एगम्मि वि जम्मि पए, संवेगं कुणइ वीयरायमए ।
तं तस्स होइ नाणं, जेण विरागत्तणमुवेइ ॥३०२०॥
एगम्मि वि जम्मि पए, संवेगं कुणइ वीयरागमए ।
सो तेण मोहजालं, छिंदइ अज्झप्पओगेणं ॥३०२१॥
ववहाराओ मरणे, तं पयमेक्कं मयं नमोक्कारो ।
अन्नं पि निच्छयाओ, त चेव य बारसंगत्थो ॥३०२२॥

गतार्थो एव, नवरं किं पुन प्रस्तुते तदेक पदम् ?, इत्याह- " ववहाराओ " इत्यादि । यथा लोकव्यवहारे ' साम्प्रतमल्पस्तन्दुल', प्रचुरो गोधूमः, सपन्नो यव , ' इत्यादावनेकमप्येकमुच्यते, तथा मरणसमये क्रियमाण " पच नमोक्कारो " अनेकपदाऽऽत्मकोऽपि व्यवहारत एक पदमत्राभिमत । निश्चयनयमतेन तदन्यदपि सुबन्तं तिङन्त वा लघ्वपि यत्संवेगकर निर्जराफल पद तदेतद् द्वादशाङ्गार्थ इति ॥ ३०२० । ३०२१ । ३०२२ ॥

यदुक्त निर्युक्तिकृता-' अभिक्खणं कीरई बहुसो ' । (३०१५) इति । तत्र किं कारणम् ?, इत्याशङ्क्याऽऽह—

जं सोऽतिनिज्जरत्थो, तिमयरत्थो वन्निओ महत्थो वि ।
कीरइ निरंतरमभि-क्खणं तु बहुसो बहू वारा ॥३०२३॥

यद् यस्मादसौ नमस्कारोऽतिनिर्जरार्थः, तथा द्वादशाङ्गगणिपिटकार्थो महार्थश्चोक्तप्रकारेण वर्णित , तस्मादभीक्ष्ण निरन्तर बहुशो बहुधो वाराः क्रियते ॥ इति गाथाऽष्टकार्थ ॥ ३०२३ ॥

अथ निर्युक्तिकृदुपसहरन्नाह-

अरहंतनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।

मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ ३०२४ ॥

अत्र "सव्वपावप्पणासणो" इत्यस्य व्याख्यानमाह-

पंसेइ पिबइ व हियं, पाइ जवे वा जियं तओ पावं ।
तं सव्वमट्ठसाम-न्नजाइभेयं पणासेइ ॥ ३०२५ ॥

पांशयति मलिनयति जीवमिति पापम, पिबति वा हित-मिति पापम्, पाति वा भव एव रक्षति जीवं, न पुनस्त-स्मान्नि सर्तुं ददातीति पापम; तच्च सर्वं, कर्मेहाभिप्रेतम् । कथम्भूतम् ?, इत्याह—(अट्ठसामन्नजाइभेयं ति) अष्टौ सामान्येन ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽद्यो जातिभेदा यस्य तदष्ट-सामान्यजातिभेदं प्रणाशयत्युच्छेदयतीति सर्वपापप्रणाशन इति ॥ ३०२५ ॥

" मगलाणं च सव्वेसि " (३०२४)
इत्यादेर्व्याख्यानमाह—

नामाऽऽइमंगलाणं, पढमं ति पहाणमहव पंचण्हं ।
पढमं एहाणतरयं, व मंगलं पुव्वभणियत्थं ॥३०२६॥

अर्हन्नमस्कारलक्षण मङ्गलं नामस्थापनाऽऽदिमङ्गलानां मध्ये प्रथम प्रधानम, मोक्षलक्षणप्रधानपुरुषाऽर्थसाधकत्वात् । अथवा-प्रस्तुतानामेव पञ्चानामर्हत्सिद्धाऽऽदिनावमङ्गलानामेतत्प्रथममाद्यम, आदावेव निर्दिष्टत्वात् । अथवा-प्रधानतरं प्रथम, सिद्धाऽऽद्यपेक्षयाऽर्हतां प्रधानतरपरोपकारार्थसाधकत्वादिति । " मगालयइ भवाओ," (२४) इत्यादिना च मङ्गल पूर्वभणितशब्दार्थमेव । इति गाथात्रयार्थः ॥३०२६॥ इत्यर्हन्नमस्कार. समाप्त. । विशे० । (सिद्धनमस्कारशब्दार्थ ' सिद्ध ' शब्देऽभिधास्यते)

संप्रति सिद्धनमस्कारवक्तव्यतामाह-

सिद्धाण नमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥
सिद्धाण नमोक्कारो, धन्नाण भवक्खय करेंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियाऽऽवारओ होइ ॥
सिद्धाण नमोक्कारो, एवं खलु वन्नितो महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरए बहुसो ॥
सिद्धाण नमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, बीयं हवइ मंगलं ॥

गाथाचतुष्टयमप्यर्हन्नमस्कार इव वेदितव्यम् । उक्तः सिद्धनमस्काराधिकार । आ० म० १ अ० २ खण्ड । (सिद्धशब्दार्थ. ' सिद्ध ' शब्दे वक्ष्यते)

साम्प्रतमाचार्यनमस्कारावसरः-

आयरियनमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥
आयरियनमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियाऽऽवारओ होइ ॥
आयरियनमोक्कारो, एवं खलु वन्नितो महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरए बहुसो ॥
आयरियनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, तइयं हवइ मंगलं ॥

गाथाचतुष्टयमप्यर्हन्नमस्कारवदवसेयम, विशेषस्तु सुगम एव इत्युक्त आचार्यनमस्काराधिकार । आ० म० १ अ० २ खण्ड । (आचार्यशब्दार्थस्तु ' आयरिय ' शब्दे द्वितीयभागे ३०२ पृष्ठे निरूपितः)

साम्प्रतमुपाध्यायनमस्कार-

उवज्झायनमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥
उवज्झायनमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियाऽऽवारओ होइ ॥
उवज्झायनमोक्कारो, एवं खलु वन्निओ महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरए बहुसो ।
उवज्झायणमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, चउत्थं हवइ मंगलं ॥

गाथाचतुष्टयमपि सामान्यार्हन्नमस्कारवदवसेयम् । विशेषस्तु सुगम एवेत्युक्त उपाध्यायनमस्काराधिकारः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । (उपाध्यायशब्दार्थस्तु ' उवज्झाय ' शब्दे द्वितीयभागे ८८२ पृष्ठे गत.)

अथ साधुनमस्कारः-

साहूण नमोक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाभाए ॥
साहूण नमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियाऽऽवारओ होइ ।
साहूण नमोक्कारो, एवं खलु वन्नितो महत्थो त्ति ।
जो मरणम्मि उवगए, अभिक्खणं कीरए बहुसो ॥
साहूण नमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पंचमं हवइ मंगलं ॥

इद गाथाचतुष्टयमप्यर्हन्नमस्कारवदवसेयम्, विशेषस्तु सुखोन्नेय ।

एसो पंचनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ॥

पाठसिद्धा । तदेव गत वस्तुद्वारम । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

(१०) अथाऽऽक्षेपद्वारं वक्तव्यम । तत्र परः प्राऽऽह-

न वि संखेवो न वित्थारो, संखेवो दुविह सिद्धसाहूणं ।
वित्थरओऽणेगविहो, पंचविहो न जुज्जए तम्हा ॥३२०१॥

इह किल सूत्रं सक्षेपविस्तरावतिक्रम्य न वर्त्तते । तत्र सक्षेपवद् यथा सामायिकसूत्रम, विस्तरवद् यथा चतुर्दश पूर्वाणि । इद पुनर्नमस्कारसूत्रमुभयातीतम, यतोऽत्र न सक्षेपो, नाऽपि विस्तर । तथा-(सखेवो दुविह त्ति) यद्यय सक्षेप. स्यात्तस्तस्मिन् सति द्विविध एव नमस्कारो भवेत्सिद्धसाधुभ्यामिति, परिनिर्वृताऽर्हदादीनां सिद्धशब्देन ग्रहणात्, ससारिणा तु साधुशब्देनेति । ससारिणो ह्यर्हदाचार्याऽऽदयो न साधुत्वमतिवर्तन्ते । अथाय विस्तरत. । तदप्ययुक्तम् । यतो वि-

स्तरतोऽनेकविधो नमस्कारः प्राप्नोति । तथाहि-ऋषभाऽजित-सम्भवाऽऽदिभ्यो नामग्राहं सर्वतीर्थकरेभ्य, तथा-सिद्धेभ्योऽप्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चाऽऽदिसमयसिद्धेभ्यो यावदनन्तसमयसिद्धेभ्य, तथा-तीर्थसिद्धप्रत्येकबुद्धाऽऽदिविशेषणविशिष्टेभ्य इत्यादिभिर्भेदैर्विस्तरतोऽनन्तभेदो नमस्कारः प्राप्नोति । यतश्चैवं, तस्मादमु पक्षद्वयमङ्गीकृत्य पञ्चविधोऽयं नमस्कारो न युज्यत इति ॥ ३२०१ ॥ तदेवमुक्तमाक्षेपद्वारम् ।

(११) अथ प्रसिद्धिद्वारम् । तत्र प्रसिद्धिराक्षेपस्य प्रतिविधानमभिधीयते। इह चेद् प्रतिविधानम्-'न सङ्क्षेपो, नाऽपि विस्तरतः' इत्येतदसिद्धम्, सङ्क्षेपत्वादस्य। अथ सङ्क्षेपकारणवशात्कृतार्थाकृतार्थपरिग्रहेण सिद्धसाधुमात्रक एवोक्त इति चेत् । तदयुक्तम् । कारणान्तरस्यापि सद्भावात् । तथा चाऽऽह-

अरिहंताऽऽई नियमा, साहू साहू उ तेसु भइयव्वा ।
तम्हा पंचविहो खलु, हेउनिमित्तं हवइ सिद्धो ॥३२०२॥

इहार्हदादयो नियमात्साधव, तद्गुणानामपि तत्र भावात् । साधवस्तु तेष्वर्हदादिषु भक्त्या विकल्पनीया, यतस्ते न सर्वेऽप्यर्हदादय, किं तर्हि ?, केचिदर्हन्त, येषां तीर्थकरनामकर्मोदयोऽस्ति, केचित्तु सामान्यकेवलिन, अन्ये त्वाचार्या विशिष्टसूत्रार्थदेशका, अपरे तूपाध्याया. सूत्रपाठका, अन्ये त्वेतद्विशिष्टा. सामान्यसाधव एव शिक्षकाऽऽदयो, न पुनरर्हदादय । तदेवं साधूनामर्हदादिषु व्यभिचारात् तन्नमस्करणेऽपि नाऽर्हदादिनमस्कारसाध्यस्य विशिष्टस्य फलसिद्धि· । ततश्च सङ्क्षेपेण द्विविधनमस्करणमयुक्तमेव, अव्यापकत्वादिति । अत्र प्रयोगः- साधुमात्रनमस्कारो विशिष्टोऽर्हदादिगुणनमस्कृतिफलप्रापणसमर्थो न भवति, तत्सामान्याभिधाननमस्कारकृत्वात्, मनुष्यमात्रनमस्कारवद्, जीवमात्रनमस्कारवद्वेति । तस्मात्सङ्क्षेपतोऽपि पञ्चविध एव नमस्कारो; न तु द्विविध, अव्यापकत्वात्, विस्तरतस्तु नमस्कारो न विधीयते, अशक्यत्वात् । तथा-"मग्गे अविप्पणासो" इत्यादिको यः पूर्वं पञ्चविधो हेतुरुक्त, तन्निमित्तमप्ययं पञ्चविधः सिद्धो भवति । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥३२०२॥

अथ भाष्यकार आक्षेपविवरणमाह--

निव्वुयसंसारिकया-कयत्थलक्खणविहाणओ वुत्तो ।
संखेवनमोक्कारो, दुविहोऽयं सिद्धसाहूणं ॥ ३२०३ ॥
उसभाऽऽईणमणंतर-सिद्धाऽऽईणं जिणाऽऽइयाण च ।
वित्थरओ पंचविहो, न वि संखेवो न वित्थारो ॥३२०४॥

गतार्थे ॥ ३२०३।३२०४ ॥

अथ प्रसिद्धिविवरणमाह-

जइ वि जइग्गहणाओ, होइ कयं गहणमरुहयाऽऽईणं ।
तह वि न तग्गुणपूया, जइगुणसामण्णपूयाओ ॥३२०५॥
परिणामसुद्धिहेउं, व पयत्तो सा य वत्थुवत्थूओ ।
पायं गुणाहिआओ, जा सा न तदूणगुणभत्ता ।३२०६।
जइ मणुयाऽऽइग्गहणे, होइ कयं गहणमरुहयाऽऽईणं ।
न य तव्विसेसबुद्धी, तह जइसामण्णगहणम्मि ।३२०७।
जइ एवं वित्थरओ, वुत्तो तदणंतगुणविहाणाओ ।
भणइ तदसज्झमओ, पंचविहो हेउभेयाओ ॥३२०८॥
मग्गोवएसणाई, सोऽभिहिओ तप्पभेयओ भेओ ।
जह लावगाऽऽइभेओ, दिट्ठो लवणाऽऽइकिरियाओ ।३२०९।

एता अपि गतार्था एव ॥३२०५।३२०६॥ नवरं (नइ जइत्यादि) तथा तेनैव प्रकारेण, यते. साधोः सामान्य, तद्ग्रहणे सति नार्हदादिविशेषवति बुद्धिरुपजायत इति ॥ ३२०७॥

(तदनन्तगुणेत्यादि) तेषामर्हदादीना ये अनन्ता गुणा. प्रत्येक केवलकालजातिगोत्रप्रमाणाऽऽकृतिवय सयमाऽऽदिविशेषरूपा उपाधयस्तै कृत्वा विधानाद् नमस्कारस्य करणादिति ॥३२०८॥

(जह लावगाऽऽइत्यादि) यथा लावक-प्लावक-पावक-पाठक-याचकाऽऽदीना लवन-प्लवन-पचन-पठन-याचनाऽऽदिक्रियातो भेदो दृष्ट ॥ ३२०९ ॥

(१२) अत्र क्रमद्वारविचारमाह-

पुव्वाणुपुव्वि न कमो, नेव य पच्छाणुपुव्विए स भवे ।
सिद्धाऽऽईया पढमा, बिइयाए साहुणो आई ॥३२१०॥

इह क्रमस्तावद् द्विविध.-पूर्वानुपूर्वी वा, पश्चानुपूर्वी वेति । अनानुपूर्व्यां किल क्रम एव न भवति, असमञ्जसत्वात् । तत्रायमर्हदादिक्रम. पूर्वानुपूर्वी न भवति, सिद्धानामादावनभिधानादेकान्तकृतकृत्यत्वेन । तथा-" सिद्धाण नमोक्कारं, काऊण-मभिग्गहं तु सो गिण्हे । " इति वचनादर्हन्नमस्कार्यत्वेन च सिद्धाना प्रधानत्वात्, प्रधानस्य चाऽभ्यर्हितत्वेन पूर्वाभिधानादिति भावार्थ । तथा-नैव च पश्चानुपूर्व्येष क्रमो भवेत्, साधूना प्रथममनभिधानात्, इहाऽप्रधानत्वात्सर्वपाश्चात्यतया हि साधव । ततश्च तानादौ प्रतिपाद्य यदि पर्यन्ते सिद्धाऽभिधान स्यात्, तदा भवेत्पश्चानुपूर्वी । तस्मात्प्रथमाया. सिद्धाऽऽदित्वात्, द्वितीयायास्तु साध्वादित्वाद् नेयं पूर्वानुपूर्वी, नापि पश्चानुपूर्वी ॥ इति निर्युक्तिगाथार्थ. ॥३२१०॥

एतदेव भाष्यकार. प्राऽऽह-

जेण कयत्था सिद्धा, न जिणा सिद्धाऽऽइओ कमो जुत्तो ।
पच्छक्कमो व जइ सं-जयाऽऽइसिद्धावसाणा तो ।३२११।
जं च जिणाण वि पुज्जा, सिद्धा जं तेसि निक्खमणकाले ।
कयसिद्धनमोक्कारा, करेंति सामाइयं सव्वे ॥ ३२१२ ॥

गतार्थे ॥ ३२११ ॥ ३२१२ ॥

अत्रोत्तरमाह--

अरहंतुवएसेणं, सिद्धा नज्जंति तेण अरहाऽऽई ।
न वि कोई परिसाए, पणमित्ता पणमई रन्नो ॥३२१३॥

इह तावदयं पूर्वानुपूर्वीक्रम एव । यदप्युक्तम्-" सिद्धादिरयं प्राप्नोति " । तदयुक्तम् । यतोऽर्हदुपदेशेनैव सिद्धा अपि ज्ञायन्ते, प्रत्यक्षाऽऽदिगोचरातीतत्वेनाऽऽगमगम्यत्वात् तेषाम् । तेन तस्मादर्हदादिरेव, पूर्वानुपूर्वीक्रम इति गम्यते । अत एव चार्हताम्भ्यर्हितत्वमवसेयम् । कृतकृत्यत्वमप्यल्पकालव्यवहितत्वात् प्राय. समानमेव । तथा-नमस्कार्यत्वमप्यसाधकमेव, अर्हन्नमस्कारपूर्वकमेव सिद्धत्वप्राप्तेरर्हतामपि वस्तुत सिद्धनमस्कार्यत्वादिति । आह-यद्येवं तर्ह्याचार्याऽऽदिभि. क्रम. प्राप्त, अर्हतामप्याचार्योपदेशेन परिज्ञानादिति । तदयुक्तम् । यस्मादर्हत्सि-

ह्वयोरेवाय वस्तुतस्तुल्यवलयोर्विचार श्रेयान्, परमनायकप-द्वर्तित्वात्तयो । आचार्यास्त्वर्हतां परिषत्कल्पा एव वर्तन्ते। नाऽपि कश्चित्परिषदे (पणमित्ता) प्रणाम कृत्वा, तत. प्रणमति राज्ञे; इत्यतोऽप्रेर्यमेवेदम्। इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ३२१३ ॥

भाष्यकार प्राऽऽह–

जइ एवं आयरिओ-वएसओ जं जिणाऽऽइपमिवत्ती ।
तेणाऽऽयरियाऽऽइकमो, जुत्तो नो चेदणेगंतो ॥३२१४॥

यद्यर्हदुपदेशेन सिद्धा ज्ञायन्त इत्यर्हतामादौ नमस्कार, तर्ह्येव सत्याचार्योपदेशत एव यस्माज्जिनाऽऽदीनामर्हदाऽऽदीनां प्रतिपत्तिर्भव्यलोकस्योपजायते, तस्मादाचार्यादिरेव क्रमो युक्त, न चेदेवमिष्यते, तर्ह्यनैकान्तोऽय-यदुपदेशेन यो ज्ञायते तस्य प्राधान्यमितरस्य च गुणभाव इति ॥ ३२१४ ॥

पर एवाऽऽह–

जुत्तो व गणहराणं, जिणाऽऽइओ जं जिणोवएसेणं ।
जाणंति ते विसेसे, सेसा उ गुरूवएसेणं ॥ ३२१५ ॥

काक्का वदति-युक्तो वा गणधराणा गौतमाऽऽदीनामय जिनाऽऽदिरर्हदादिक्रम , यस्मात्ते गौतमाऽऽदयो जिनस्याऽर्हत एवोपदेशेनाशेषान् सिद्धाऽऽचार्याऽऽदीन् जानन्ति, शेषास्तु गणधराशिष्यप्रशिष्याऽऽदयो निजनिजगुरूपदेशेन सिद्धाऽऽदीनर्हतश्च जानन्ति, तत. केषाञ्चिदर्हदादि., केषाञ्चिदाचार्याऽऽदि. क्रमस्त्वदभिप्रायतोऽनियमेन भवत्विति ॥ ३२१५ ॥

तथा पर एवाऽऽह–

अहवा आयरिउ च्चिय, सो तेसिं मइ तओ पसत्तो भे ।
आयरियाऽऽइउ च्चिय, एवं सइ सव्वसाहूणं ॥३२१६॥

अथवा मति.-स जिनो भगवानाचार्य एव तेषां गणधराणामाचारप्रवर्तकत्वमाश्रित्येति भाव । ततश्चैवं सति-' भे ' भवतामाचार्याऽऽदिरेव सर्वसाधूना गणधराऽऽदीना क्रमः प्रसक्त' प्राप्त इति ॥ ३२१६ ॥

अत्र सूरिरुत्तरमाह–

पढमोवएसगहणं, तं चारुहओ न सेसएहिंतो ।
गुरवो वि तदुवइट्ठ-स्स चेव अणुभासया नवरं ॥३२१७॥
अरहंतगुरुवज्झा-यभावओ तस्स गणहराणं पि ।
जुत्तो तयाइउ च्चिय, न गुरु त्ति तओ जिणो न नवे॥३२१८॥
स जिणो जिणाऽऽइसयओ, सो चेव गुरू गुरूवएसाओ ।
करणाऽऽइविणयणाओ,सो चेव मओ उवज्झाओ ।३२१९।

इह यद्यप्याचार्याऽऽदयोऽप्यर्हदादीनुपदिशन्ति,तथाऽपि यत्प्रथममुपदेशग्रहण गणधराणां तदधिकृत्योच्यते । तच्चाऽर्हत एव सकाशाद्, न शेषेभ्य आचार्योपाध्यायाऽऽदिभ्यः। येऽपि गुरव आचार्याऽऽदयोऽर्हदादीनुपदिशन्ति, तेऽपि तदुपदिष्टस्यार्हदुपदिष्टस्यैव, केवलमनुभाषका , न पुन' स्वातन्त्र्येण देशका इति ॥३२१७॥ अथवा यद्यप्याचार्याऽऽद्युपदेशेनाऽर्हन्तो ज्ञायन्त इत्यभ्युपगम्यते, तथाऽप्यर्हदादिरेव क्रमः। कुत ?, इत्याह-(अरहतेत्यादि) गणधराणाम, अपिशब्दाच्छेषाऽऽचार्याऽऽदीनामपि,तदादिरर्हदादिरेव क्रमो युक्त.। कुत ?, इत्याह-तस्याऽर्हत एवार्हद्गुरूपाध्यायभावत.। स एव हि महावीराऽऽदिर्भगवानष्टमहाप्रातिहार्याऽऽद्यतिशययोगादर्हन्,स एव तत्त्वोपदेशाऽऽदिभ्यो गुरुराचार्य , स एव चेन्द्रियकषाययोगाऽऽदिविनयनादुपाध्यायः, ततश्चाऽऽचार्याऽऽदिक्रमेऽपि परेणाऽऽपाद्यमाने सामर्थ्यादर्हदादिरेव क्रमः सपद्यत इति भाव. ॥३२१८॥ न चाऽय गुरुराचार्य इत्यतो जिनोऽर्हन्न भवेत्, किं तु भवेदेव,जिनातिशययोगादिति।एतदेवाऽऽह-(स जिणो इत्यादि) गतार्थो ।३२१९।

अथ यदुक्तम्-"ज च जिणाण वि पुज्जा सिद्धा" (३२१२) इत्यादि, तत्राऽऽह–

जइ सिद्धनमोकारं, छउमत्थो कुणइ न य तदाईओ ।
त पइ तया न दोसो, न हि सो तक्कालमरुहंतो ॥३२२०॥

यदि निष्क्रमणकाले भगवाँश्छद्मस्थो गुणाधिकानां सिद्धानां नमस्कारं करोति, करोतु नाम तदा, न कश्चिद्दोष ।क प्रति न दोष. ?, इत्याह-त छद्मस्थतीर्थंकर प्रति । न ह्यसौ तत्कालमर्हन्, केवलोत्पत्तावेव तद्भावादिति । यदि छद्मस्थतीर्थंकरापेक्षया गुणाधिकाः सिद्धा भवद्भिरपीष्यन्ते, तर्हि कथ छद्मस्थतीर्थंकराऽऽदिनमस्कार ?, इति चेत् । तदयुक्तम्। कुतः ?,इत्याह-न च तदादिश्छद्मस्थतीर्थंकराऽऽदिर्नमस्कार इष्यतेऽस्माभिः, किं तु समुत्पन्नकेवलज्ञानाऽर्हदादिरेव । स च केवल्यर्हन् सिद्धाऽऽदिवस्तुस्तोमस्वरूपोपदेशदानत. सिद्धेभ्यो गुणाधिक इत्युक्तमेवेति; अतोऽर्हदादिरेव नमस्कार इति ॥३२२०॥

अत्राऽऽक्षेपपरिहारौ प्राऽऽह–

एवमकयत्थकाले, सिद्धाऽऽई होउ भणइ तया वि ।
अन्ने संतरुहंता, तओ तयाई तओ निच्चं ॥ ३२२१ ॥

यदि छद्मस्थतीर्थंकरापेक्षया गुणाधिका' सिद्धा., तर्ह्येव सत्यकृतार्थछद्मस्थतीर्थंकरकाले सिद्धाऽऽदिर्नमस्कारो भवतु, न्यायोपपन्नत्वादिति । भणयतेऽत्रोत्तरम-हन्त ! यदाऽत्र भरताऽऽदौ छद्मस्थतीर्थंकरस्तदाऽपि महाविदेहेष्वन्ये केवलिनोऽर्हन्त. सन्ति, ततस्तदादिरर्हदादिरेव, तकोऽसौ नमस्कारो, नित्य सर्वदा ॥ इति गाथाऽष्टकार्थ. ॥ ३२२१ ॥ तदेवमुक्तं क्रमद्वारम्।

(१३) अथ प्रयोजनफलयोर्दर्शनार्थमाह–

एत्थ य पओयणमिणं, कम्मक्खयमंगलाऽऽगमो चेव ।
इहलोयपारलोइय-दुविहफल तत्थ दिट्ठंता ॥ ३२२२ ॥

अत्र च नमस्कारकरणे प्रयोजनमिदम् । यदुत-करणकाल एवाऽऽक्षेपेण ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षय., अनन्तकर्मपुद्गलापगममन्तरेण भावतो नमस्कारस्याऽप्यप्राप्तेरित्युक्तमेव। तथा-मङ्गलाऽऽगमश्चैव य. करणकालभावीति,तथा-कालान्तरभावि पुनरैहलौकिकपारलौकिकभेदभिन्न द्विविध फलम् । तत्र दृष्टान्ता वक्ष्यमाणलक्षणा इति ॥ ३२२२ ॥

तदेव द्विविध फल तावद्विवृण्वन्नाह–

इहलोएँ अत्थकामा, आरोग्गं अभिरई य निप्फत्ती ।
सिद्धी य सग्गसुकुल-प्पच्चायाऽऽई य परलोए ॥३२२३॥

इहलोके नमस्कारादर्थकामौ भवत., आरोग्य नीरुजत्वमुपजायते । एते चाऽर्थादय. शुभविपाकिनोऽस्माद्भवन्ति । तथा चाऽऽह-आभिमुख्येन रतिरभिरति , सा चेहलोकेऽप्यर्थादिभ्यो भवति, परलोकविषया तु तेभ्य एव, शुभानुबन्धित्वात्, निष्पत्तिः ' पुण्यस्य ' इति गम्यते। अथवा-' अभिरतेश्च निष्पत्ति.' इत्येकवाक्यतैव। तथा-सिद्धिश्च,मुक्तिश्च,स्वर्ग ,सुकुलप्रत्यायाऽऽदिश्च परलोके इत्यस्याऽऽमुष्मिकफलमिति ॥३२२३॥

(१४) अथाऽत्र द्विविधेऽपि फले पूर्वोपक्षिप्तान् दृष्टान्तानाह-

इहलोयम्मि तिदंडी, सा दिव्वं माउलुंगवणमेव ।
परलोए चंमपिंगल,हुंमियजक्खो य दिट्टंता।३२२४। विशे०।

इहलोके नमस्कारार्थमुदाहरण त्रिदण्डी—

"एगस्स सावगस्स पुत्तो धम्म न य लेइ। सो य सावगो कालगतो। सो वि याहिराहभो (विग्राहिओ) एव चेव विहरइ। अन्नया तेसिं घरसमीवे परिव्वायगो आवासितो। सो तेण समं मेत्तिं करेइ। अन्नया भणइ-आणेह निरुयएयं अणाहं मडयं, जेण ते ईसरिय करेमि। तेण मगिओ, लद्धो उब्बद्धो मणुस्सो। सो मसाण नीतो। ज च तत्थ पाउग्गं त च नीयं। सो य दारगो पियरेण नमोक्कार सिक्खावितो, भणितो य-जाहे वीहेज्जासि,ताहे एय पढिज्जासि, विज्जा एसा। सो य तस्स मयगस्स पुरतो ठविओ। तस्स य मयगस्स हत्थे असी दिन्नो। परिव्वायगो विज्ज परियट्टेइ। उट्ठेतुमारद्धो वेयालो। सो दारगो भीतो हियए नमोक्कार परियट्टेइ। सो वेयालो पमितो। पुणो वि जवाति। पुणो वि उट्ठिओ। सुट्ठुतरगं परियट्टेइ। पुणो वि पडितो। तिदंडी भणइ-किं वि जाणसि?। भणइ-न किं पि जाणामि। पुणो वि जवइ। तइयवार पुणो वि उट्ठितो। पुणो नमोक्कारं परियट्टेइ। ताहे वाणमंतरेण रूसिऊण त खग्ग गहाय सो तिदंडी दो खडा कओ। सुवण्णकोमी (जाडो) जातो। अंगोवंगाणि य से जुत्तजुत्ताइं काउं सव्वरत्तिं छूढं। इस्सरो नमोक्कारपभावेण जातो। जइ न होंतो नमोक्कारो, तो वेयालेण मारिज्जतो सो सुवण्ण होंतो"।

कामनिप्फत्ती नमोक्कारतो कहं?-

"एगा साविगा आसी, तीसे भत्ता मिच्छादिट्ठी अण्ण भज्जं आणेउं मग्गइ, तीसे तणए न लब्भइ त्ति। स सवत्तग ति चिंतेइ-कहं मारेमि?। अण्णया कण्हसप्पो घमए छुभित्ता आणीतो, सगोवितो य। जिमितो भणइ-आणेह पुप्फाणि अमुगे घरए ठवियाणि। सा पविट्ठा अधकार ति नमोक्कारं परियट्टती चिंतेइ-जइ वि मे कोइ खाएज्जा, तो वि मे मरंतीए नमोक्कारो न नस्सिहिति। ता छूढो हत्थो। सप्पो देवयाए अवहितो पुप्फमाला कया। सा गहिया, दिण्णा य से। सो संभंतो चिंतेइ-अण्णाणि एयाणि। पुच्छइ य। तीए कहिय-ततो चेव घडातो आणीयाणि एयाणि। गतो तत्थ पेच्छइ घडग, पुप्फगध च। न वि तत्थ कोइ सप्पो। ततो आउट्टो पाए पमितो सव्व कहेइ, खामेइ य। पच्छा सा चेव घरसामिणी जाया। एव कामावहो नमोक्कारो"।

आरोग्गाभिरईए उदाहरणं—

"एगं नगरं नदीतीरे। सरकाम्मियण सरीरचिंताए निग्गएणं नदीए वुब्भत माउलुगं दिट्ठ। रायाए उवणीय। रन्ना सूयस्स हत्थे दिन्न। तेण जिम्मियंतस्स उवणीय पमाणेण वण्णेण गंधेण य अइरित्तं। तस्स मणुसस्स राया तुट्ठो। दिण्णा भोगा। राया भणइ-अणुनदीए मग्गह जाव लद्ध भवे। पत्थयणं गहाय पुरिसा गया। दिट्ठो वणसमो। जो फलाणि गेण्हइ सो मरइ। रण्णो कहियं। भणइ-अवस्स आणेयव्वाणि, गोलग-(अक्ख) पडिया वच्चतु। एव गया आणेंति। तत्थ जस्स गोलगो आगतो सो एगो वणे पविसइ। पविसित्ता फलाणि बाहिं छुभइ, ततो अण्णे आणेंति। जो छुहइ सो मरइ। एव काले वच्चते सावगस्स परिवाडी जाया। तत्थ गतो चिंतेइ-मा विराहियसामण्णो को वि होज्ज त्ति निसीहियं भणित्ता नमोक्कार पढतो ढुक्कइ। वाणमंतरस्स चिंता जाया-कत्थ मए एयं सुयपुव्वं?, णायं, संबुद्धो वन्दइ, भणइ य-अहं तत्थेव साहरामि। गतो रण्णो कहियं। रण्णा संमाणितो। तस्स उस्सीसए दिणे दिणे ठवेइ। एवं तेण अभिरई,भोगा य लद्धा। जीवियातो य किं अन्न आरोग्गं?। राया वि परितुट्ठो त्ति"।

परलोगे वि नमोक्कारफलं-

"वसंतपुरे नयरे जियसत्तू राया। तस्स गणिया साविया। सा चडपिंगलेण चोरेण समं वसति। अन्नया कयाइ तेण रन्नो घरं एय (हायं),हारो आणीतो,भीएहिं संगोविज्जइ। अण्णया उज्जाणियाए गमणं। सव्वाओ विभूसियाओ गणियाओ वच्चति। तीए सव्वासो अतिसयामि त्ति सो हारो आविद्धो। जीसे देवीए सो हारो, तीए दासीए सो नातो। कहियं रण्णो। सा केण समं वसइ?। कहिए चडपिंगलो गहितो सूले भिन्नो। तीए वि चिंतियं-मम दोसेण मारिओ त्ति सा से नमोक्कार देइ, भणइ य निदाण। करेहि जहा एयस्स रन्नो पुत्तो आयासि त्ति। कय निदाण। अग्गमहिसीए उदरे उववन्नो। दारगो जातो। सा साविया कीलावणधाती जाया। अन्नया चिंतेइ-कालो समो गब्भस्स मरणस्स य होज्जा। कयाइ रमावती भणइ-मा रोव चमपिंगल! त्ति जाई सरिया। संबुद्धो राया मतो। सो राया जातो। सुचिरेण कालेण दो वि पव्वइयाणि"।

एव सुकुलप्पच्चायातीत सग्गगमण सिद्धिगमणमिति।

अह वा वितिय उदाहरणं-

"महुराए नयरीए जिणदत्तो सावगो। तत्थ हुंडिओ चोरो नगर परिमुसइ। सो कयाइ गहिओ सूले भिन्नो। रन्ना भणिय-पमिवरह वितिया वि से नज्जिहिं ति। ततो रायमणूसा पडिचरंति। सो जिणदत्तो सावगो तस्स नाइदूरे वीतीवयइ। सो चोरो भणइ-सावग! तुममणुकंपगो सि त्ति साइतोऽह,देह मम पाणिय, जा मरामि। सावगो भणइ-इम नमोक्कार पढेज्जा, ते आणेमि पाणिय। जइ विस्सारेसि तो ते आणीय पि न देमि। सो ताए लोलयाए पढइ। सावगो वि पाणिय गहाय आगतो। ता वेला पयाय (पवेलं पाहामि) त्ति णमोक्कार घोसतस्सेव निग्गतो जीवो। जक्खो उववन्नो। सावगो तेहिं मणुस्सेहिं गहितो, चोरभत्तदायगो त्ति रण्णो निवेइय। राया भणइ-एयं पि सूले भिंदह। आघायणं दिज्जइ। जक्खो ओहिं पउंजइ। पेच्छइ सावग अप्पणो य सरीर। ततो पव्वय उप्पामेऊण नयरस्स उवरिं ठवेइ। भणइ य-सावग भट्टारय न याणह, खामेह,मा भे सव्वे चूरेहामि। ततो मुक्को खामितो विभूईए नयर पवेसितो। नयरस्स पुव्वेण जक्खस्स आयतण कयं। एवं नमोक्कारेण फलं लब्भइ।" उक्ता नमस्कारनियुक्तिः। आ०म० १ अ० २ खण्ड।

अथ भाष्यकारः प्रयोजनफलयोर्विवरणमाह-

सयओवओगकिरिया-गुणलाभो तप्पओयणमिहेव।
कालंतरनिप्फत्ती, फलमिहपरलोगमोक्खेसु ॥३२२५॥
कम्मक्खओऽणुसमयं, तल्लाभे चेव तदुवओगाओ।
सव्वत्थेसु य मंगल-मविग्घहेऊ नमोक्कारो ॥३२२६॥

तस्य नमस्कारस्य प्रयोजन तत्प्रयोजनमिहैवेहलोक एव। किमिति?। अत्रोच्यते-तद्विषयसततोपयोगक्रियया य: कर्मक्षय-क्षयोपशमाऽऽदिगुणस्य लाभ। फल तु नमस्कारस्य (का-

लंतरनिप्फत्ति ति) । कालान्तरे निष्पत्तिर्यस्य तत्कालान्तरनिष्पत्ति, कालान्तरभावीत्यर्थः । तत्र (इह त्ति) इहलोके, अर्थकामाऽऽदिकम । (परलोए त्ति) परलोके स्वर्गाऽऽदिक, मोक्षे तु जरामरणाभावाऽऽदिकमिति । तदेवं सामान्यतः प्रयोजन फलं चोपदर्शितम ॥ ३२२५ ॥ अथ प्रयोजन विशेषतो दर्शयति-(कम्मेत्यादि) (तल्लाभे चेव त्ति) तस्य नमस्कारस्य लाभकाल एव, तदुपयोगान्नमस्कारोपयोगादनुसमय कर्मक्षयो भवति । तथा-सर्वार्थेषु च सर्वकार्येषु प्रवृत्तानां मङ्गलमविघ्नहेतुर्नमस्कारः सपद्यत इति ॥ ३२२६ ॥

अत्र कश्चिदाह-"ननु नमस्कारोपयोगात्कर्मक्षयो भवति" इत्येतत्कुत· ?, इत्याह-

सुयमागमो त्ति य तओ, सुओवओगप्पओयणो तं च ।
आयहियपरिण्णाभा-वसंवराऽऽइ-बहुविगप्प च ॥३२२७॥

तकोऽसौ नमस्कारः श्रुतमागम इत्यर्थ । स च श्रुतोपयोगप्रयोजन श्रुतोपयोग प्रयोजन फलमस्येति कृत्वा । तच्च श्रुतोपयोगप्रयोजनमात्महितभावसंवराऽऽदिभेदेन बहुविकल्प बहुभेदम । उक्त च-" आयहियपरिण्णाभा-वसन्वरो नवनवो य सवेगो । निक्कपया तओ नि-ज्जरा य परदेसियत्त च ॥ १ ॥" इत्यादि । अतो नमस्कारस्य श्रुतरूपत्वाद्भवत्येव तदुपयोगात्कर्मक्षय इति ॥ ३२२७ ॥

(१५) अत्र प्रेरक प्राऽऽह-

पूयाफलप्पया न हि, नहं व कोवप्पसायविरहाओ ।
जिणसिद्धा दिट्ठंतो, वइधम्मेणं निवाऽऽईया ॥३२२८॥

नमस्कारलक्षणाया· पूजाया फल पूजाफल तत्प्रदौ न हि नैव जिनसिद्धौ, कोपप्रसादरहितत्वात्, नभोवदिति । ये तु पूजाफलदा· ते कोपप्रसादरहिता न भवन्ति, यथा नृपाऽऽदय इत्येष वैधर्म्येण दृष्टान्त इति ॥ ३२२८ ॥

एतदेव समर्थयन्नाह-

पूयाऽणुवगाराओ, अपरिग्गहाओ विमुत्तिभावाओ ।
दूराऽऽइभावओ वा, विफला सिद्धाऽऽइपूय त्ति ॥३२२९॥

विफला सिद्धाऽऽदिपूजेति प्रतिज्ञा । हेतूनाह-पूजाया अनुपक्रियमाणत्वात्, तदपरिग्राहित्वाद्, अमूर्तत्वात्, दूराऽऽदिभावात्, नभोवदिति ॥ ३२२९ ॥

अत्र प्रतिविधानमाह-

जिणसिद्धा दिंति फल, पूयाए केण वा पवण्णमिणं ? ।
धम्माऽधम्मनिमित्तं, फलमिह जं सव्वजीवाणं ॥३२३०॥
ते य जओ जीवगुणा, तओ न देया न वा समादेया ।
कयनासाऽकयसंजो-गसंकरेगत्तदोसाओ ॥३२३१॥

नन्वयमनुक्तोपालम्भ· सर्वोऽपि पूर्वोक्त, यस्माद् "जिनसिद्धाः पूजाया फल ददति" इति केनेद प्रपन्नम ?। धर्माधर्मनिमित्तमेव हि यस्मात स्वर्गनरकाऽऽदिक फलमिह सर्वजीवानामिति ॥ तौ च धर्माधर्मौ यतो जीवगुणौ, ततो न कस्यापि देयौ दातव्यौ, नाऽपि कुतश्चित्समादेयौ ग्राह्यौ, ज्ञानाऽऽदिगुणवत् । कुत· ?, इत्याह-(कयनासेत्यादि) यदि ह्येते जिनसिद्धा कुपिता सन्त कस्याऽपि धर्ममपहरेयुरधर्मं च प्रयच्छेयु, तदा कोपविषयभूतस्य प्राणिन· कृतस्य धर्मस्य नाश·, अकृतस्य चाऽधर्मस्याऽऽगमः स्यात्, प्रसन्ना वा यदि कस्याऽप्याकस्मिक धर्मं प्रयच्छेयु, अधर्मं चापहरेयु, तदाऽकृतस्य धर्मस्याऽऽगम, कृतस्य चाधर्मस्य नाशो भवेदिति । एव यदा ते प्रसन्नाः कुपिता वा कस्याऽपि सबन्धिनौ धर्माधर्मावाच्छिद्यान्यस्य दद्यु, अन्यस्य सबन्धिनौ चापरस्य, तदा प्राणिनां परस्पर धर्माधर्मयो· सकरः, एकत्व वा स्यात् । एव स्वर्गनरकाऽऽदिके धर्माधर्मफलेऽपि कृतनाशाऽऽदिभावना कार्येति ॥ ३२३० ॥ ३२३१ ॥

अपि च-

नाणानावाहसुहं, मोक्खो पूयाफलं जओऽभिमयं ।
तं नाऽऽयपज्जयाओ, देयं जीवाऽऽइभावो व्व ॥३२३२॥

ज्ञाने सत्यनाबाधस्य यत्सुख तद्रूपो यो मोक्ष, स एव यस्मान्नमस्कारलक्षणाया· पूजाया· परमार्थतो मुख्यं फलमभिमतं, स्वर्गाऽऽदेरानुषङ्गिकफलत्वात् । तच्च यथोक्त सुखं न कस्याऽपि देय दातु शक्यम, आत्मपर्यायत्वात, जीवचैतन्याऽऽदिभाववत् । ततश्च पूजाफलदाननिषेधे सिद्धसाधनमेवेति ।३२३२।

यदि पूजाफल न देयं, तर्हि किं देयमिह भवेद् ?, इत्याह-

भत्ताऽऽइ होज्ज देयं, न तदत्थो पूयणप्पयत्तोऽयं ।
तं पि सकओदयं चिय, वज्झनिमित्तं परो नवरं ।३२३३।

शाल्योदनाऽऽदिरूप भक्ताऽऽदिक परस्मै देय भवेत्, स्थूलपुद्गलस्कन्धमयत्वात्, घटाऽऽदिवत् । केवल तदर्थो भक्ताऽऽद्यर्थोऽय पूजनप्रयत्नो न भवति, किं तु मोक्षाऽर्थ· । किञ्च-तदपि भक्ताऽऽदिक स्वकृतात्कर्मण उदय उत्पत्तिर्यस्य तत्स्वकृतोदय, स्वकृतकर्मजनितमेवेत्यर्थ· । यस्तु पर· कश्चिद्दाता दृश्यते, स केवल बाह्यनिमित्तमात्रमेव । निश्चयतस्तु बाह्यो न कोऽपि कस्यापि दाता, अपहर्ता चेति ॥ ३२३३ ॥

एतदेव समर्थयन्नाह-

कम्मं सुहाऽऽइहेऊ, बज्झयर कारणं जया देहो ।
सद्दाऽऽइ बज्झतरयं, जइ दायरि कहा का णु ?॥३२३४॥
तम्हा सकारणं चिय, सुहाऽऽइ बज्झं निमित्तमेत्तायं ।
को कस्स देइ हरइ व, निच्छयओ का कहा सिद्धे ? ।३२३५।

यदि हन्त ! सुखदु खानामन्तरङ्ग कर्मैव हेतु, देहस्तु यदा तेषां बाह्यतर कारण, शब्दरूपाऽऽदिक तु शुभाशुभमपि बाह्यतर कारण, तदाऽतिबाह्यतरादपि परभूते दातरि काऽत्र किल कारणत्वकथा ?, इति ॥३२३४॥ तस्मात्स्वमात्मीय कर्मैव कारण यस्य तत्स्वकारणमेव सुखाऽऽदि, बाह्य तु देहशब्दरूपाऽऽदिक निमित्तमात्रकमेव । ततो निश्चयत· क कस्मै ददाति, अपहरति वा ?, न कश्चिदित्यर्थ । तथा च सति क्षीणरागद्वेषे सिद्धे का नमस्कारफलदातृत्वकथा ?, इति ॥ ३२३५ ॥

अत्र परप्रेर्यं परिहार चाऽऽह-

जइ सव्वं सकयं चिय, न दाणहरणाऽऽइफलमिहाऽऽवन्नं ।
णणु जत्तो च्चिय सकयं, तत्तो च्चिय तप्फलं जुत्तं ।३२३६।
दाणाऽऽइपराणुग्गह-परिणामविसेसओ सओ चेव ।
पुन्नं हरणाऽऽइपरो-वघायपरिणामओ पावं ॥ ३२३७ ॥
तं पुन्नं पावं वा, ठियमत्ताणे वज्झपच्चयावेक्खं ।
कालंतरपागाओ, देइ फलं न परओ लब्भं ॥ ३२३८ ॥

यदुक्तप्रकारेण यल्लोक· शुभमशुभ वा फलमनुभवति, तत्स-

र्थं स्वकृतमेवेष्यते, न पुनः कोऽपि कस्याऽपि किमपि ददात्यपहरति वा, तर्हि दानापहरणाऽऽदीनामिह दातुरपहर्तुर्वा न किञ्चित्फलमित्यापन्नं, स्वकृतस्यैव फलेन तस्य प्राप्तत्वादिति । सूरिराह—ननु यत एव तत्स्वकृतं, तत एव तत्फलं दातुरपहर्तुश्च युक्तम् । दाता हि दानसमये परानुग्रहपरिणामविशेषात्स्वत एव पुण्यं बध्नाति, अपहर्ता तु परोपघातपरिणामात् स्वत एव पापं बध्नाति । अतस्तयोस्तत्पुण्यपापलक्षणं फलं स्वकृतमेवेति कथं न युक्तम् ?, युक्तमेवेति ॥३२३६॥ एतदेवाह–(दाणाऽऽईत्यादि) आदिशब्दाद्दयाऽऽदिपरिग्रहः । (सओ चेव त्ति) स्वत एव स्वकृतमेव दातुः पुण्यं, स्वत एव चापहर्तुः पापम् । शेषं गतार्थमिति ॥३२३७॥ तच्च पुण्यं पापं वा स्वपरिणामजनितमात्मन्येव स्थितं, किं तु बाह्यनिमित्तमात्रापेक्षं कालान्तरे विपाकाच्छुभमशुभं वा फलं ददातीति "परकृतम्" इति व्यपदिश्यते, न पुनः परमार्थतस्तत् पुण्यपापफलं परतो लभ्यमिति ॥ ३२३८ ॥

ननु परतस्तल्लाभे को दोषः ?, इत्याह–

जइ वा परलहियव्वं, तत्तो च्चिय जेण तप्परिग्गहियं ।
तो तम्मि सिवं पत्ते,कुगइगए वा कुओ लब्भं ? ॥३२३९॥

स्पष्टा ॥३२३९॥

अपि च–यदि येन यद्दत्तं तस्मै तद्देयम्, यस्य चाऽऽपहृतमसावपि तस्याऽऽहरति, तर्हीदं दूषणम् । किं तत् ?, इत्याह–

लहइ अदिंतो व कओ, साहू जं देज्ज पुव्वदायस्स ? ।
कत्तोऽवहारिणो तं, जं पडिहीरिज्ज से धणिणो ॥३२४०॥
अहव मई जं तेण वि, दिन्नं अण्णस्स तं तओ लद्धुं ।
पडिदेइ तहाऽऽहारी, हारीओ अन्नओ लद्धुं ॥३२४१॥

वा अथवा, इह निर्ग्रन्थत्वेन साधुर्दानमददत्प्रयच्छन्मृत्वा भवान्तरं प्राप्तः पूर्वमदत्तत्वात्कुतः कस्मादाहाराऽऽदि तल्लभते, यत्पूर्वभवसंबन्धिने आहाराऽऽदिदातुस्तदानीं दद्यात् ?, इति । यो वा पूर्वभवे कस्याऽपि संबन्धिनमपहृत्य मृतो जन्मान्तरे निःस्वो जातः (से) तस्य परधनाऽपहारिणः कुतस्तद्धनं यत्पूर्वभवधनिना प्रतिह्रियते ?, इति ॥ ३२४० ॥ अथ मतिः परस्य भवेत्–तेनापि साधुना यदनेकभवेष्वन्यस्याऽऽहाराऽऽदिकं दत्तं तत् ततो लब्ध्वा पूर्वभवदातुः प्रतिददाति । तथा–योऽपि पूर्वभवे परधनमपहृत्येहभवे निःस्वो जातस्तस्यापि संबन्धिनं नानाभवेष्वन्येनान्येन वाऽपहृतमास्ते, ततश्चासौ ततः स्वधनापहारिणोऽन्यतः सकाशात्स्वापहृतं लब्ध्वा यस्य सत्कं तेन पूर्वमपहृतं तस्मै, 'प्रतिदद्यात्', इति शेषः ॥ ३२४१ ॥

तदेतत्सर्वमयुक्तम्, कुतः ?, इत्याह–

एवं होउऽणवत्था, दाणग्गहणाणमपरिभोगो य ।
जइ परओ लद्धव्वं,दिन्नं वा तस्स तं चेव ॥३२४२॥

यदि दानाऽऽदिविषयस्वपरिणामवशात्पुण्यपापे नेष्येते,किंतु यद्यस्मै दत्तं तत्तस्मादेव परतो लभ्यमित्यभ्युपगम्यते । यस्माद्वा यदाहाराऽऽदिकं कदाऽपि लब्धं, तस्यैवाऽन्यदा दत्तं, न पुनर्दायकेन ग्राहकस्य किमप्यधिकं कृतमिति चेष्यते; तदैवं सति दानग्रहणयोरनवस्था प्राप्नोति, यस्मै दानं तस्मात्पुनर्ग्रहणं, पुनरपि चान्यस्मै दानं, पुनरपि तस्माद् ग्रहणमित्यादि । ततश्च दानग्रहणपरम्पराव्यापृतस्य मोक्षाभावप्रसङ्गः, दानफलस्य च स्वयमपरिभोगः प्राप्नोति, अन्योन्यदानग्रहणाभ्यामायव्ययविशुद्धत्वादिति ॥ ३२४२ ॥

तदेवं तीर्थिकविशेषाणां सौगातिकाऽऽदीनां मतमपाकृत्योपसंहारपूर्वकं स्वाऽभिमतमुपदर्शयन्नाह–

तम्हा सपराणुग्गह–परिणामाओ सुपत्तविणिओगा ।
दाया पुण्णं पावइ, जं तत्तो से फलं होइ ॥३२४३॥

तस्मात्स्वपरानुग्रहपरिणामेन सुपात्रेषु वित्तविनियोगाद्दाता यत्पुण्यं प्राप्नोति, ततः (से) तस्य दातुः फलं स्वर्गाऽऽदिकं भवतीति ॥ ३२४३ ॥

तदेवमुक्तनीत्या दाता स्वत एवेदं स्वर्गाऽऽदिफलं लभते,न तु परतः, गृहीताऽप्येवमेव द्रष्टव्य इति दर्शयन्नाह–

जह सो पत्ताणुग्गह–परिणामाओ फलं सओ लहइ ।
तह गेण्हंतो वि फलं, तदणुग्गहओ सओ लहइ ॥३२४४॥

गतार्था ॥ ३२४४ ॥

एवं परधनापहार्यपि स्वत एव वधबन्धननरकाऽऽदिकं पापफलं लभते, न परत इति दर्शयति–

हारी वि हरणपरिणा–मदूसिओ वज्जपच्चयावेक्खं ।
पावो पावं पावइ, जं तत्तो से फलं होइ ॥ ३२४५ ॥

इयमप्युक्तार्थप्राया ॥ ३२४५ ॥

अथ प्रकृतयोजनामाह–

जह सायत्तं दाणे, परिणामाओ फलं तहेहावि ।
निययपरिणामओ च्चिय,सिद्धं जिणसिद्धपूयाए ॥३२४६॥

प्रकटार्थप्राया ॥ ३२४६ ॥

(१६) अथ जिनाऽऽदिपूजाप्रतिष्ठार्थं प्रमाणयन्नाह–

कज्जा जिणाऽऽइपूया, परिणामविसुद्धिहेउओ निच्चं ।
दाणाऽऽदउ व्व मग्ग–प्पभावणाओ य कहणं व ॥३२४७॥

कार्या नित्यं जिनाऽऽदिपूजेति प्रतिज्ञा,स्वपरिणामविशुद्धहेतुत्वादिति हेतुः, दानाऽऽदिवदिति दृष्टान्तः । अथवा–कार्या नित्यमेव जिनाऽऽदिपूजा, मोक्षमार्गप्रभावकत्वात्, धर्मकथनवदिति ॥३२४७॥

"कोपप्रसादरहितत्वात्" इति परोक्तहेतोरनैकान्तिकतां दर्शयन्नाह–

कोवप्पसायरहियं, पि दीसए फलदमन्नपाणाऽऽई ।
कोवप्पसायरहियं, ति निप्फलं तो अणेगंतो ॥३२४८॥

पूर्वार्द्धं सुबोधम् । ततः "कोपप्रसादरहितं वस्तु निष्फलम्" इत्यनेकान्तः, अन्नपानाऽऽदिभिर्व्यभिचारादिति ॥ ३२४८ ॥

अपि च–विरुद्धोऽप्ययं हेतुरिति दर्शयन्नाह–

कोवाऽऽइविरहियं चिय,सव्वं जमणुग्गहोवघायाय ।
दीसइ तेण विरुद्धं, फलमिह कोवप्पसायाओ ॥३२४९॥

इहाऽऽकाशान्नपानपीयूषविषचिन्तामणयन्धोपलकल्पद्रुमविषवृक्षगुडनागरहरीतकीमरीचाऽऽद्यौषधाऽऽदिकं सर्वमपि वस्तु कोपप्रसादविरहितमेव यस्मादनुग्रहोपघातयोः प्रवर्तमानं दृश्यते, तेन तस्मादिह कोपप्रसादतः सकाशात्फलमुच्यमानं विरुद्धमेव

संपद्यते । तथाहि-कोपाऽऽदिरहिताद्देवाऽऽकाशाऽऽदेर्भ्रंश उपघात', पट्टकबन्धाऽऽदेस्त्वनुग्रह ; हितमिताशपानाऽऽदेरनुग्रह', तस्माद्विपरीतात्तुनरुपघातः। एव पीयूषविषाऽऽदेरपि सकाशात्कोपाऽऽदिविरहितादेवानुग्रहोपघातौ दृश्येते । ततो विरुद्धोऽय हेतु , विपक्ष एव वृत्तिदर्शनादिति ॥ ३२४९ ॥

अथ राजाऽऽदीनां हरणप्रदानहेतव कोपप्रसादा भवन्तीति प्रत्यक्षत एव दृष्टमिति परस्य मतिर्भवेत्; ननु तदपि सर्वस्वाऽऽहरण, प्रदान वा स्वपापपुण्यकृतमेव । यस्तु पर , स तत्र केवल निमित्तमात्रमेवेति प्रागेव भणितमिति दर्शयन्नाह-

हरणप्पयाणहेऊ, हवेज्ज कोवाऽऽदओ मई त पि ।
णणु सकयं चिय जणियं, निमित्तमेत्तं परो नवर ।३२५०।

गतार्था ॥ ३२५० ॥

अथवाऽपहरणप्रदानाऽऽदिक स्वकृत नेष्यते, तत्राऽऽह-

जइ वा न सकयहेऊं, तं तो कोवप्पसाययं राया ।
सो सव्वसेवयाणं, समानफलदो कह न भवे ? ।।३२५१।।

पाठसिद्धा ॥ ३२५१ ॥

अपि च-

दीसइ य विसमफलदो, विफलो य समाणसेवयाणं पि ।
भण्णइ य सुकयपुण्णो, तो से रायप्पसाउ त्ति ॥ ३२५२ ॥

समानसेवकानामपि विषमफलद केषाञ्चिद्विफलश्च दृश्यते राजा । ततो ज्ञायते-स्वकृतपुण्यपापकृतमेवेद सर्वमपि वैचित्र्यम, राजाऽऽदिस्तु तत्र निमित्तमात्रमेवेति। अपरं च लोकेऽपि भण्यते लोकेऽप्येव वक्तारो भवन्ति-"सुकृतपुण्य स देवदत्ताऽऽदि (तो से त्ति) तत 'से' तस्यैव राजप्रसादो जात" इति। तत एवमादिलोकोक्तेश्च स्वकृतपुण्यपापानुमान प्रवर्तत इति।३२५२।

अपि च-

कोवप्पसायहेउं, च जं फलं न हि तदत्थमारंभो ।
न परप्पसायणत्थं, किंतु नियप्पसायत्थं ॥ ३२५३ ॥

कोपप्रसादहेतुक च यत्किमपि फल तदर्थो नैवायमस्माकमर्हदादिनमस्कारपूजाऽऽरम्भ , नाऽपि परप्रसादनार्थ, किं तु निजकाचित्तस्य य प्रसाद प्रसत्तिरर्हदादिगुणबहुमानेन शुभरूपता, तदर्थोऽयमारम्भ इति ॥ ३२५३ ॥

परप्रसादनार्थं नाऽऽरम्भ इत्याह-

धम्माऽधम्मा न पर-प्पसायकोवाणुवत्तिणो जम्हा ।
तो न परो त्ति पसण्णो, धम्मो कुविउ त्ति वाऽधम्मो ।३२५४।

धर्मार्थो ह्ययमारम्भः । धर्माऽधर्मौ च यस्मान्न परप्रसादकोपानुवर्तिनौ, किं तर्हि ?, जीवगतशुभाशुभपरिणामानुयायिनौ; तत ' पर प्रसन्न ' इत्येतावता न धर्म , नापि 'पर कुपित ' इत्येतावन्मात्रेणाऽधर्म , किं तु निजशुभाशुभपरिणामवशाद्धर्माधर्मौ । तत्र च शुभाशुभपरिणामस्याऽऽलम्बनमर्हदादयो नमस्क्रियमाणा सपद्यन्ते । शुभपरिणामाच्च धर्म । तस्माच्चार्थकामाऽऽदय , स्वर्गापवर्गौ च भवत । इति सपद्यत एवार्हन्नमस्कारस्य यथोक्त फलमितीह तात्पर्यमिति ॥ ३२५४ ॥

यदि परप्रसादकोपाऽनुवर्तिनौ धर्माधर्मौ स्यातां, ततः को दोषो भवेत् ?, इत्याह-

तस्साहणस्समस्से वि, जइ वा धम्मो परप्पसायाओ ।
तो जो जस्स पसन्नो, स तस्स देज्जा जगद्धम्मं ।३२५५।
कुविओ हरेज्ज सव्वं, दिज्जा धम्मं व तइ य पावं ति ।
अकयाऽऽगमकयनासा, मोक्खगयाण पि चापडणं ।३२५६।

वाशब्द प्रस्तावनायां, सा च कृतैव । तस्य धर्मस्य दयादानप्रशमब्रह्मचर्याऽर्हदादिपूजाऽऽदीनि साधनानि, तै शून्यस्यापि यदि धर्म परप्रसादमात्रादेवेष्यते, ततस्तर्हि य ईश्वराऽऽदिर्यस्य देवदत्ताऽऽदे प्रसन्न स ईश्वराऽऽदिर्जगतोऽपि सबन्धिन धर्ममपहृत्य तस्यैवैकस्य देवदत्ताऽऽदे सर्वं दद्यात् । तथा-कुपितः स एव तस्य देवदत्ताऽऽदे सबन्धिन सर्वं धर्ममपहरेत्, अधर्म वा सर्वमपि प्रयच्छेत् । तथा च सत्यकृताऽऽगमकृतनाशौ प्राप्नुतः, एकस्याकृतयोरपि धर्माऽधर्मयोरागमात्, अन्येषां तु स्वयकृतयोरपि तयोर्नाशादिति । मोक्षगतानामपि च सिद्धानामेव पतन स्यात्तदीयपूर्वसुकृतस्यान्यत्र सचरणात्, अन्यदीयाधर्मस्य च तेषु प्रक्षेपादिति ॥ ३२५५ ॥ ३२५६ ॥

किञ्च-परकीयकोपप्रसादाभावेऽपि धर्माऽधर्मौ तवापि प्रसिद्धौ । कथम ?, इत्याह—

जइ वीयरागदोसं, मुणिमक्कोसिज्ज कोइ दुट्ठऽप्पा ।
कोवप्पसायरहिओ, मुणि त्ति किं तस्स नाधम्मो ? ।३२५७।
सवओ तस्साऽधम्मो, जइ वंदंतस्स तो धुव धम्मो ।
कोवप्पसायरहिए, तइ जिणसिद्धे वि को दोसो ? ।३२५८।

वीतावपगतौ रागद्वेषौ यस्य त वीतरागद्वेषं मुनिं यदि दुष्टाऽऽत्मा कश्चिदाक्रोशेत्, तदा"वीतरागद्वेषत्वात्कोपप्रसादरहित स मुनिः" इत्येतावन्मात्रेण किं तस्याऽऽक्रोष्टुर्नाऽधर्म स्यात् ?, ननु स्यादेवाऽसौ, सकलशास्त्रलोकप्रतीतत्वादिति ॥ ३२५७ ॥ ततश्च (सवओ त्ति) मुनिं शपमानस्य तस्याऽऽक्रोष्टुर्यद्यधर्मोऽभ्युपगतस्त्वया, ततस्तर्ह्यन्यस्य कस्यापि शुभपरिणामस्य तमेव मुनिं वन्दमानस्य ध्रुव निश्चित धर्मोऽप्येष्टव्य एव, स्वपरिणाममात्रनिबन्धनत्वस्येहाऽपि समानत्वादिति । यदि नामैव, ततः प्रकृते किम ?, इत्याह-तथा तेनैवोक्तप्रकारेण कोपप्रसादरहिते जिने सिद्धे च नमस्कर्तुर्निजशुभपरिणामवशाद्यथोक्तफलप्राप्तौ को दोष ?, न कश्चिदिति ॥ ३२५८ ॥

(१७) दृष्टान्तान्तरेणाऽप्यर्हदादिभ्यः फलप्राप्ति समर्थयन्नाह-

हिंसामि मुसं भासे, हरामि परदारमाविसामि त्ति ।
चिंतेज्ज कोइ न य चिं-तियाण कोवाऽऽइसंभूई ।।३२५९।।
तइ वि य धम्माधम्मो-दयाऽऽइ संकप्पओ तहेहावि ।
वीयकसाए सवओ-ऽधम्मो धम्मो य संथुणओ ।।३२६०।।

"हिनस्मि हरिणाऽऽदीन्, मृषा भाषेऽहं, तद्भाषणाच्च वञ्चयामि देवदत्ताऽऽदीन्,धनमपहरामि तेषामेव,परदारानाविशामि निषेवेऽहम," इत्यादि कश्चिच्चिन्तयेत् । न च तेषां चिन्तितानां हिंसाऽऽदिचिन्ताविषयभूतानां हरिणाऽऽदीनां तत्काल कोपाऽऽदिसभूति कोपाऽऽदिसभवोऽस्ति ।।३२५९।। तथाऽपि हिंसाऽऽदिचिन्तकस्याधर्म , दयाऽऽदिसंकल्पतस्तु तद्वतो धर्मो भवति। इत्यावयोरविगानेन प्रसिद्धमेव, तथेहापि प्रस्तुते वीतकषायानप्यर्हत्सिद्धाऽऽदीन् शपमानस्याऽधर्म , सस्तुवतस्तु धर्म इति किं नेष्यते ?, इति ॥ ३२६० ॥

अथोपसंहारपूर्वकं प्रस्तुतमुपदर्शयन्नाह-

तम्हा धम्माऽधम्मा, जुत्ता नियपप्पसायकोवाओ ।
धम्मत्थिणा पयत्तो, कज्जो तो सप्पसायम्मि ॥३२६१॥
सो य नियपप्पसाओ-ऽवस्सं जिणसिद्धपूयणाउ त्ति ।
जस्स फलमप्पमेयं, तेण तयत्थो पयत्तोऽयं ॥३२६२॥

सुगमे, नवरं यस्य निजमनःप्रसादस्याप्रमेयमनन्तं फलं येनानन्तफलोऽसौ, तेन कारणेन तदर्थो निजमनःप्रसादार्थं एवार्हदादिनमस्कारप्रयत्न इति ॥ ३२६१ ॥ ३२६२ ॥

अस्यैवार्थस्य साधनार्थं प्रमाणयन्नाह-

नाणाऽऽइमयत्ते सइ, पुज्जा कोवप्पसायविरहाओ ।
नियपप्पसायहेउं,नाणाऽऽइतियं व जिणसिद्धा ॥३२६३॥

निजमनःप्रसादहेतोः पूज्या जिनसिद्धा इति प्रतिज्ञा, ज्ञानाऽऽदिमयत्वे सति कोपप्रसादविरहादिति हेतुः, ज्ञानाऽऽदित्रिकवदिति दृष्टान्तः । कोपाऽऽदिविरहिता लेष्टुकाष्ठाऽऽदयोऽपि विद्यन्ते, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं ज्ञानाऽऽदिमयत्वे सतीति हेतोर्विशेषणमिति ॥ ३२६३ ॥

(१८) परः प्राऽऽह-

पुज्जा जिणाऽऽइवज्जा, न हि मोक्खत्थं सरागदोस त्ति ।
अकयत्थत्तावओ वि य, दव्वट्ठाए दरिद्द व्व ॥३२६४॥

जिनसिद्धान्वर्जयित्वा शेषा आचार्योपाध्यायसाधवो, न हि नैव, मोक्षार्थं पूज्या इति प्रतिज्ञा, सरागद्वेषत्वाद्, अत एवाऽकृतार्थभावाच्च, द्रव्यार्थं दरिद्रा इवेति ॥ ३२६४ ॥

अत्र प्रतिविधानमाह-

कलुसफलेण न जुज्जइ, किं चित्तं तत्थ जं विगयरागो ।
संते वि जो कसाए, न गिण्हई सो वि तत्तुल्लो ॥३२६५॥

किं तत्र चित्रं किमाश्चर्यं, यद्विगतरागः कलुषफलेन कषायजनितेन चित्तकालुष्येण न युज्यते, विगतकषायोदयत्वात्तस्य । ननु सोऽपि तत्तुल्यो वीतरागसमान एव यः सतोऽपि कषायान्न गृह्णाति । ततश्चास्मात्परमगुरुवचनादाचार्याऽऽदयोऽपि वीतरागतुल्या एव, सतामपि कषायाणां निग्रहात् । ततः सरागद्वेषत्वादित्यसिद्धो हेतुरिति भावः । इयं च गाथा केषुचिदादर्शेषु न दृश्यते; पूर्वटीकाकारैरपि न व्याख्याता; अस्माभिस्तु बहुष्वादर्शेषु दर्शनात्सोपयोगत्वाच्च लिखितेति ॥ ३२६५ ॥

'अकृतार्थत्वात्' इत्ययमपि हेतुरनैकान्तिकः, अकृतार्थत्वे सत्यपि कारणान्तरतोऽपि पूजासंभवादिति दर्शयन्नाह-

न परोवयारओ च्चिय, धम्मो न परोवयारहेउं च ।
पूयाऽऽरंभो नणु सप-रिणामसुद्धत्थमक्खाओ ।३२६६।

'अकृतार्थभावात्' इति ब्रुवतस्तव किमयमभिप्रायः-'स्वयमकृतार्थाः सन्त आचार्याऽऽदयो न परोपकारक्षमाः, अतस्तदसामर्थ्या दरिद्रा इव न ते नमस्करणीयाः' इति । एतच्चायुक्तम् । यतो न परस्मादर्हदादेरुपकारत एव धर्मो नमस्कर्तुः, नापि परस्यार्हदादेरुपकारहेतोस्तस्य नमस्कारपूजाऽऽरम्भः । ननु स्वपरिणामशुद्ध्यर्थमाख्यातोऽसौ । ततः किञ्चिदकृतार्थत्वे सत्यपि स्वशुभपरिणामनिबन्धनत्वात्पूज्या एवाऽऽचार्याऽऽदय इति ॥ ३२६६ ॥

अथ पञ्चानामपि पूज्यत्वसमर्थनार्थं प्रमाणमाह-

पूया परोवयारा-भावे वि सिवाय जिणवराऽऽईणं ।
परिणामसुद्धिहेउं, सुन्नकिरियाओ य बंभं व ॥३२६७॥

शिवाय मोक्षार्थं भवति पूजा, परोपकाराभावेऽपि पञ्चानामपि जिनवराऽऽदीनामिति साध्यम्, पूजकपरिणामशुद्धिहेतुत्वात्, तन्नमस्कारक्रियायाश्च ज्ञानाऽऽदिगुणविषयबहुमानत्वेन निरवद्यत्वेन च शुभत्वाद्, ब्रह्मचर्याऽऽदिवदिति ॥ ३२६७ ॥

अथ सुप्रसिद्धदृष्टान्तोपदर्शनेनापि जिनाऽऽदिपूजा परोपकाराभावेऽपि शिवायेति समर्थयन्नाह-

परहिययगया मेत्ती, करेइ भूयाण कमुवयारं सा ।
अवयारं दूरत्थो, कं' वा हिंसाऽऽइसंकप्पो ? ॥३२६८॥
धम्माऽधम्मानिमित्तं, तहा वि तह चेह निरुवगारो वि ।
पूयासुहसंकप्पो, धम्मानिमित्तं जिणाऽऽईणं ॥ ३२६९ ॥

परहृदयगता साधुहृदयस्थिता सर्वभूतेषु या मैत्री सा तेषां पृथिव्यादिभूतानां कमुपकारं करोति ?, न कञ्चित् । तथा-कं वा देवदत्ताऽऽदिहृदयगतो दूरस्थहरिणाऽऽदिभूतग्रामविषयो दूरस्थहरिणाऽऽद्यपेक्षया दूरस्थो हिंसास्तेयाऽऽदिसंकल्पोऽपकारं कुर्यात् ?, न कञ्चित्; तथाऽपि मैत्री हिंसाऽऽदिसंकल्पश्च भूतानामुपकाराऽपकारविरहेऽपि द्वावपि यथासंख्यं धर्माऽधर्मनिमित्तं भवत एव । तथा चैवं चोक्तप्रकारेण निरुपकारोऽपि जिनाऽऽदीनामुपकारमकुर्वन्नपि भूतानां साधुगतमैत्रीसंकल्पवज्जिनाऽऽदीनां पूजा शुभसंकल्पः पूजकस्य धर्मनिमित्तं भवतीति ॥ ३२६९ ॥

(१९) आह-ननु यथा दानं साध्वादीनामुपकारं करोति, नैवं जिनाऽऽदीनां नमस्कारपूजा, तत्कथमसौ धर्मनिमित्तं भवति ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-

दाणे वि पराऽणुग्गह-लक्खणसंकप्पमेत्तओ चेव ।
फलमिह न उ पच्छा त-क्कओवगाराऽवगाराओ ।३२७०।
इहरोवउत्तभत्ता-जिण्णाऽऽइ वहम्मि दक्खिणेयस्स ।
दिंतस्स वहावत्ती, तेणाऽऽदाणप्पसंगोऽयं ॥ ३२७१ ॥

साध्वादिदानेऽपि पराऽनुग्रहलक्षणसंकल्पमात्रत एवेह दातुः फलनिष्पत्तिः, न पुनः पश्चात्तत्कृताद् दानकृतादुपकारादपकाराद्वेति ॥ ३२७० ॥ इतरथोपयुक्ते साध्वादिना भुक्ते योऽजीर्णाऽऽदिदोषस्तेन दाक्षिणेयस्य-दक्षिणा दानं तद्विषयभूतस्य साध्वादेर्वधे मरणे सति दातुर्वधाऽऽपत्तिर्हिंसाऽऽदिदोषसमापत्तिः । तेन च हिंसाऽऽदिदोषेणाऽऽदानप्रसङ्गोऽयं प्राप्नोति, अनिष्टं चैतद्, दातुर्विशुद्धपरिणामत्वात् । न हि तेन साध्वादिजिघांसया दानं दत्तं, किं तु तद्गुणबहुमानाऽऽदिपरिणामेन । न चैवं विशुद्धपरिणामस्यापि पापसम्बन्धो घटते, अन्यथा मातृस्तन्यपानादजीर्णाद् बालस्य मरणे मातुस्तद्वधकृतपापप्रसङ्गादिति । तदेवं प्राग् यदुक्तं "पूयाऽणुवगाराओऽपरिग्गहाओ" (३२२६) इत्यादि, तत्र पूजाऽनुपकारादित्ययं हेतुरपाकृतः ॥ ३२७१ ॥

अथ "अपरिग्रहात्" इत्यमुं निराचिकीर्षुराह-

न परपरिग्गहउ च्चिय,धम्मो किं तु परिणामसुद्धीओ ।
पूया अपरिग्गहम्मि वि, सा य धुवा तो तदारंभो ।३२७२।

न खलु पूजायाः परेण पूज्येन परिग्रहादेव स्वीकारादेव ध-

र्मः, किं तु स्वपरिणामशुद्धितः । सा च परिणामशुद्धिः पूजा- या• परेणापरिग्रहेऽपि ध्रुवा निश्चिता स्वसंवेदनसिद्धा समस्ति, ततस्तदारम्भो नमस्कारपूजाऽऽरम्भ इति ॥ ३२७२ ॥

किञ्च—दानस्यापरिग्रहत्वमभ्युपगम्योक्त,
वस्तुतस्तु तन्नास्त्येवेति दर्शयन्नाह-

इह चोयगमणुमोयग-मणिसेहगमेव संपयाणं ति ।
बहुमुणिपडिमाऽऽइ जओ,न दाणमपरिग्गहं तेण ।३२७३।

इह यतो यस्मात्सत्कृत्य सम्यग्वा प्रदीयते यस्मै तत्संप्रदानम् । तच्च त्रिविधम् । तद्यथा-' दीयतां मह्य, बहुफलं भवतां भविष्यति' इत्यादिवचनप्रपञ्चेन किञ्चित्प्रेरकं,यथा बटुर्ब्राह्मण ; अपरं त्वित्थमप्रेरकमपि दानस्य ग्रहणपरिभोगाभ्यामनुमोदक भवति । यथा मुनि साधुः, अन्यत्तु पुष्पाऽऽद्यानिषेधादनिषेधक,यथाऽर्हत्प्रतिमाऽऽदि,सर्वत्र संप्रदानाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् । तेन तस्मान्न क्वचिद्दानमपरिग्रहमस्तीति ॥ ३२७३ ॥

अपि च-किमनया दानस्य परिग्रहापरिग्रहाचिन्तया ?,
कार्यस्यान्यथैव स्थितत्वात्, कथम् ?, इत्याह—

दाणमपरिग्गहम्मि वि, धम्मो निययपरिणामसुद्धीओ ।
अपरिग्गहे वि जइ सा,को नाम परिग्गहग्गाहो ?।३२७४।
किं च परहियपनियया, मेत्ती जणहिँ संपरिग्गहिया ।
हिंसासंकप्पो वा, जं धम्माधम्महेउ त्ति ॥ ३२७५ ॥
एव जिणाऽऽइपूया, सद्धासंवेगसुद्धिहेउओ ।
अपरिग्गहा वि धम्मा-य होइ सीलव्वयाऽऽई व ।३२७६।

तिस्रोऽपि व्यक्तार्था• ॥ ३२७४।३२७५।३२७६ ॥

अथ "विमूर्तिभावात्" इत्यस्य हेतोर्निरासार्थमाह-

जं चिय मुत्तिविउत्ता, मुत्ता गुणरासओ विसेसेणं ।
तेणं चिय ते पुज्जा,नाणाऽऽइतियं व मोक्खत्थं ।३२७७।

यस्मादेव मूर्तिवियुक्ता अमूर्त्ता मुक्ता• सिद्धा•, तेनैव ते शरीरसबन्धजनितसकलक्लेशविमुक्तत्वाद् गुणराशय• सन्तो विशेषेण मोक्षार्थं पूज्या•, ज्ञानाऽऽदित्रिकवदिति ॥ ३२७७ ॥

अपि च-

मुत्तिमओ वि न मुत्ती, पूइज्जइ किं तु जे गुणा तस्स ।
ते मुत्तिविउत्त च्चिय,नणु सिद्धगुणा विसेसेणं ॥३२७८॥

मूर्तिमतोऽपि सबन्धिनी मूर्तिर्न पूज्यते, किं तु गुणा•, ते च मूर्तिवियुक्ता एवामूर्ता एव । ततश्च " न पूज्या सिद्धाः, अमूर्त्तत्वात्, नभोवत्," इति त्वदुक्तप्रमाणे विरुद्धाव्यभिचारित्वाद् विरुद्धो हेतु• । तथाह्येतदपि शक्यते वक्तुम्-पूज्या सिद्धाः,अमूर्तत्वात्, मूर्त्तसाधुसबन्ध्यमूर्तज्ञानाऽऽदिगुणवदिति । अथ सिद्धगुणा अमूर्ता न भवन्तीति चेदित्याह-ननु सिद्धगुणा• विशेषेणैवामूर्त्ता , मूर्त्तसाधुगुणा हि ज्ञानाऽऽदयो मूर्त्ताद्व्यतिरिक्तत्वाद् कथञ्चिन्मूर्ता अपि शक्यन्ते वक्तुम्, सिद्धगुणास्तु नैवम्, ततो विशेषेण ते अमूर्त्ता एव; इति न तेषां पूजाविरोध इति ॥ ३२७८ ॥

अथ परमतमाक्षिप्य परिहरन्नाह-

अहव मई मुत्तिमओ, गुणपूया होइ मुत्तिपूयाओ ।
तग्गुणसंबंधाओ, सिद्धगुणाणं तु सा नत्थि ॥३२७९॥

पुया मुत्तिगुणाणं, संबंधे फलमितीह को हेऊ ? ।
अन्नो परिणामाओ, तस्स य को केण संबंधो ? ॥३२८०॥
हियत्थो * परिणामो, बज्झत्थालंबणानिमित्तमित्तागो ।
देइ फलं सव्वो च्चिय, सिद्धगुणाऽऽलंबणो चेवं ॥३२८१॥

सुगमाः ॥ ३२७९ ॥ नवरम् (पूयेत्यादि) परिहारवचन, पूजा च मूर्त्तिश्च गुणाश्च, तेषां पूजामूर्तिगुणानां त्रयाणामपि, सबन्ध एवाऽभिमत फलमवाप्यत इतीह स्वगतविशुद्धपरिणामादन्यः को हेतु• ?, न कोऽपीति । तस्य च स्वगतपरिणामस्य क सबन्धः केनचिद् बाह्येन ?, न कश्चिदिति ॥ ३२८० ॥ केवल निजहृदयस्थशुभपरिणामो यथा बाह्यार्हदाद्यालम्बननिमित्तमात्रक• सर्वोऽपि ददात्यभिमतफलमेवममूर्त्तसिद्धगुणाऽऽलम्बनोऽपीति ॥ ३२८१ ॥

अथ यदुक्त-"दूराऽऽइभावओ वा,विफला सिद्धाइपूय त्ति" (३२२६) तत्र दूराभावादित्यस्य हेतोर्निराकरणार्थमाह-

जह दूरत्थे वि धिई, बंधुम्मि सरीरपुट्ठिवलहेऊ ।
तणुदोव्बल्लाइफलो, कत्थइ सोगाऽऽइसंकप्पो ॥३२८२॥
तह परिणामो सुद्धो, धम्मफलो हि दूरसंथे वि ।
अविसुद्धो पावफलो, दूरासन्नं ति को भेओ ? ॥३२८३॥
अहवाऽऽयसब्भावोऽयं, परिणामो तेण सव्वमेवेह ।
दूरमहाऽऽलंबणओ,तस्साऽऽसन्न तओ सव्वं ॥३२८४॥

यथा दूरस्थेऽपि बन्धौ बान्धवजने सुखिनि श्रुते तत्सुखवार्तासकल्पजनिता धृति• कस्याऽपि तद्बान्धवस्य दूरस्थस्यापि शरीरपुष्टिबलहेतुर्भवति, क्वचित्तु प्रस्तावे तस्मिन्नपि दु खिनि श्रुते शोकाऽऽदिसकल्पस्तनुदौर्बल्याऽऽदिफल• सपद्यते ॥३२८२॥ तथा तेनैव प्रकारेण दूरस्थेऽपि सिद्धाऽऽद्यालम्बने तद्गुणबहुमानरूपत्वाच्छुद्धपरिणामः सद्धर्मफलोऽविशुद्धस्तु पापफल• सजायते । अतो दूरस्थमासन्न वा सिद्धाऽऽद्यालम्बनमिति को भेद ? केय निष्फला तद्भेदचिन्ता ?, इत्यर्थ ॥ ३२८३ ॥ अथवा-आत्मस्वभावोऽय तद्गुणबहुमानलक्षणशुभपरिणामस्तेन तस्मादिह यदनात्मस्वभाव किमपि वस्तु तत्सर्वमप्यस्य विपरीतरूपत्वाद् दूरस्थमेव । अथाऽऽलम्बनत आलम्बनभावमाश्रित्य चिन्त्यते, ततस्तर्हि सर्वमप्यर्हत्सिद्धाऽऽदिक वस्तु तस्य यथोक्ताऽऽत्मपरिणामस्याऽऽसन्नमेवेति, अत का सिद्धेषु दूरस्थता ?, इति ॥ ३२८४ ॥

अत्राऽऽक्षेपपरिहारावाह-

जइ सपरिणामउ च्चिय, धम्मोऽधम्मो व्व किंत्थ बज्झेण ।
जं बज्झाऽऽलंबणओ,सो होइ तओ तदत्थं तं ॥३२८५॥

ननु यदि स्वगतपरिणामादेव धर्मोऽधर्मश्च भवति, तर्हि किमत्र बाह्येनाऽर्हत्सिद्धाऽऽद्यालम्बनेनापेक्षितेन, स्वपरिणामत एव कार्यसिद्धे तदपेक्षाया निष्फलत्वात् ?, इति । सूरिराह-यस्मात्सोऽपि परिणामो बाह्याऽऽलम्बनत एव भवति, नाऽन्यथा, ततस्तदर्थं स्वपरिणामोत्पादनार्थं तद् बाह्याऽऽलम्बनमपेक्ष्यत इति ॥ ३२८५ ॥

एतदेव भावयति-

परिणामो बज्झाऽऽलं-बणो सया चेव चित्तधम्मो त्ति ।
विण्णाण पि व तम्हा,सुहबज्झाऽऽलं ८६।

* ' नियत्थो ' इति पाठान्तरम् ।

शुभोऽशुभो वा परिणामः सदैव बाह्याऽऽलम्बनत एव प्रवर्तते, चित्तधर्मत्वात्,विज्ञानवदिति। यथा विज्ञानं बाह्य नीलपीताऽऽदिक वस्तु विना न प्रवर्तते, एवं परिणामोऽपीति भावः। तस्मादिह मोक्षाधिकारे शुभबाह्याऽऽलम्बनप्रयत्नो मोक्षार्थिना-मिति ॥ ३२८६ ॥

अत्र परः प्राऽऽह-

जत्तो तत्तो व सुभो, होइ किमा-लंबणप्पभेएण ।
जह नाऽणाऽऽलंबणओ,विवरीयाओ वि सो न तहा॥३२८७॥

ननु यतस्ततो वाऽऽलम्बनात् शुभपरिणामो प्रवर्त्तु, किमिह शुभाशुभभेदत आलम्बनप्रभेदेन-किमिति शुभाऽऽलम्बनादेव शुभपरिणाम इष्यते?,इति भावः। गुरुराह-(जह णाऽणाऽऽलंबणओ त्ति) यथाऽनालम्बन आलम्बनरहितः शुभपरिणामो न प्रवर्तते, तथा विपरीतादप्यशुभाऽऽलम्बनादसौ न भवति, अन्यथा नीलाऽऽदेरपि शुक्लाऽऽदिज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गादिति ॥ ३२८७ ॥

यदि विपरीताऽऽलम्बनान्न शुभः परिणामः,तर्हि कुतोऽसौ प्रवर्तते ?, इत्याह-

किं तु सुभाऽऽलंबणओ,पाएण सुभो वि धम्मओ इयरो।
जं होइ तं पयत्तो, सुभासुभाऽऽदाणवोसग्गो ॥३२८८॥

सुगमा, नवरं शुभस्याऽऽलम्बनस्याऽऽदाने,अशुभस्य तु तस्य व्युत्सर्गे शुभपरिणामार्थिना प्रयत्नः कर्तव्य इति ॥३२८८॥

प्रायोग्रहणस्य व्यवच्छेद्यमाह-

अन्नाणिणो मुणिम्मि वि,न सुभो दिट्ठो सुभो य निस्सीले।
जइ परिणामाउ च्चिय,फलमिह किं पत्तचिंताए ?॥३२८९॥

अज्ञानिनोऽभव्यस्य दूरभव्यस्य वा शुभाऽऽलम्बनरूपे मुनावपि न शुभपरिणामो दृष्टः, शुभश्चाऽसौ तस्य निःशीले नास्तिकाऽऽदौ दृष्टः,ततोऽनन्तरगाथाया "सुभालंबणओ पाएण सुभो वि" (३२८८) इत्यत्र "प्रायेण" इत्युक्तमिति भावः। प्रेरक प्राऽऽह-यद्येवं, तर्ह्यन्यत् प्रेर्यमापन्नं,परिणामादेव भवद्भिस्तावत्फलमिष्यते, ततः किं पात्रापात्रचिन्तया ?, इति । अयमत्र भावार्थः-यदि निःशीलेऽपि पात्रे शुभपरिणामो दृष्टः, 'शुभपरिणामाच्च शुभं फलं भवति' इति भवद्भिरपि प्रागसकृद् समर्थितं, ततः किं सुशीलनिःशीलपात्रचिन्तया, निःशीलेऽपि पात्रे शुभपरिणामदर्शनात्,तस्माच्च शुभफलभावात् ?, इति ॥३२८९॥

अत्रोत्तरमाह-

सुहपरिणामनिमित्तं, होज्ज सुहं जइ तओ सुहो होज्ज ।
उम्मत्तस्स व न उ सो,सुहो विवज्जाससब्भावाओ ॥३२९०॥

ननु तस्य मिथ्यादृष्टेः शुभपरिणामनिमित्तं शुभपरिणामहेतुकं शुभं फलं स्वर्गाऽऽदिकं भवेत्, को वै न मन्यते, यदि तस्याऽऽदित एव तकोऽसौ निःशीलपात्रविषयपरिणामः शुभो भवेत् ?। न चोन्मत्तस्येव तस्याऽसौ शुभः। कुतः ?, इत्याह-विपर्याससद्भावात् निःशीलेऽपि सुशीलाध्यवसायादिति कुतस्तस्य फलं शुभम् ?, इति । यदप्यस्माभिरुक्तम्-"सुभो य निस्सीले" (३२८९) इति, तदपि तदपेक्षयैव। स हि मिथ्यादृष्टिस्तं शुभपरिणामं मन्यते, तत्त्ववेदिनस्तु तस्य शुभत्वं नेच्छन्त्येव, विपर्यासादिति ॥३२९०॥

पुनरपि परः प्राऽऽह-

णणु मुणिवेसच्छन्ने, निस्सीले वि मुणिबुद्धिए देंतो ।
पावइ मुणिदाणफलं, तह किं न कुलिंगदाया वि ॥३२९१॥

ननु मुनेर्वेषो मुनिवेषस्तेन छन्नोऽविज्ञातो य उदायिनृपमारकाऽऽदिस्तस्मिन्नपि निःशीलेऽपि मुनिबुद्ध्या दानं ददद्दाता मुनिदानफलं स्वर्गाऽऽदिकं प्राप्नोति, इत्येतद्भवतामपि तावत्सम्मतम्, तथा तेनैव प्रकारेण कुत्सितलिङ्गी कुलिङ्गी सरजस्काऽऽदिस्तस्मै दाता कुलिङ्गदाता, सोऽपि किं न मुनिफलं प्राप्नोति, मुनिबुद्धेस्तस्यापि तत्र सद्भावात् ?, इति ॥ ३२९१ ॥

गुरुराह-

जं थाणं मुणिलिंगं, गुणाण सुन्नं पि तेण पडिम व्व ।
पुज्जं थाणमईए, न कुलिंगं सव्वहा जुत्तं ॥ ३२९२ ॥

यस्मान्मुनिलिङ्गं ज्ञानाऽऽदिगुणानां स्थानमाश्रयः,तेन तस्मात्कस्याऽपि मायाविनः सम्बन्धि तच्छून्यमपि गुणैरविज्ञात पाषाणाऽऽदिविनिर्मिताऽर्हत्प्रतिमावत्स्थानमत्याऽपि पूज्यम्। कुलिङ्गं तु सर्वथा पूजयितुं न युक्तं, ज्ञानाऽऽदिगुणानां सर्वथैवाऽनाश्रयत्वादिति ॥ ३२९२ ॥

पुनरपि परः प्राऽऽह-

णणु केवलं कुलिंगे, वि होइ तं भावलिंगओ न तओ ।
मुणिलिंगमंगभावं, जाइ जओ तेण तं पुज्जं ॥३२९३॥

ननु केवलं केवलज्ञानं कुलिङ्गेऽपि वर्त्तमानानामन्यतीर्थिकानां भवतीत्यागमे श्रूयते, तत्किमिति स्थानबुद्ध्या तत्पूज्यं नेष्यते ?। गुरुराह-तत्केवलज्ञानं भावलिङ्गतो भवति, न पुनस्ततः कुलिङ्गात्, तस्य केवलज्ञानानङ्गत्वात्। मुनिलिङ्गं पुनर्यस्मात्ज्ञानाऽऽदेः केवलज्ञानस्य कारणतां याति, तेन तस्मात्तत्पूज्यमिति ॥ ३२९३ ॥

(२०) तदेवं कोपप्रसादविरहाऽऽदीन् पञ्चापि परोपन्यस्तहेतून्निराकृत्योपसंहरन्नाह-

तेण सुहाऽऽलंबणओ, परिणामविसुद्धिमिच्छया निच्चं ।
कज्जा जिणाऽऽइपूया, भव्वाणं बोहणत्थं च ॥३२९४॥

येनैव, तेन तस्मात्परिणामविशुद्धिमिच्छता कार्या विधेया जिनाऽऽदीनां नित्यमेव पूजा। कुतः?, इत्याह-शुभाऽऽलम्बनतः शुभाऽऽलम्बनरूपत्वात्। न केवलं स्वपरिणामविशुद्धिनिमित्तं, भव्यजनावबोधनार्थं च विधेया जिनाऽऽदिपूजा। तद्दर्शने ह्यनेके भव्याः प्रतिबुध्यन्ते, जिनधर्ममासादयन्ति, समासादिते च स्थिरीभवन्ति। अत एव तत्करणकारणानुमोदनाऽऽदिप्रवृत्तसंवेगातिशयात्क्षपितकर्माणोऽन्तकृत्केवलिनो भूत्वाऽनन्तेन कालेनाऽनन्ताः सिद्धान्ते सिद्धाः श्रूयन्ते॥ इति सप्ततिगाथार्थः ॥३२९४॥ तदेवमवसितः पञ्चनमस्कारः। विशे०। ल०। ध०।

("णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं" इति शक्रस्तवः 'चेइयवंदण' शब्दे तृतीयभागे १३१७ पृष्ठे, "णमो जिणाणं जियभयाणं" इति च तस्मिन्नेव शब्दे १३१७ पृष्ठे "सिद्धाणं बुद्धाणं" इत्यपि तस्मिन्नेव शब्दे १३१९ पृष्ठे सूत्रपाठक्रमेणोक्तः। व्याख्या चैषां प्रतिपदं तत्तत्स्थानेषु। "इक्को वि णमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स। संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं व ॥१॥" इत्यपि "चेइयवंदण" शब्दे तृतीयभागे १३२० पृष्ठे उपपादितम्। "जो देवाण वि देवो" इत्यपि तत्रैव पृष्ठे निरूपितम्) "सर्वान् देवान्नमस्यन्ति, नैकं देवं समाश्रिताः। जितेन्द्रिया जितक्रोधा, दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १॥' द्वा० १२ द्वा०।

विषयसूची—

(१) नमस्कारस्य व्याख्यानार्थमुत्पत्ति-निक्षेप-पद-पदार्थ-प्ररूपणा-वस्त्वाक्षेप-प्रसिद्धि-क्रम-प्रयोजन-फलरूपाणां द्वाराणां सग्रहः ।

(२) नमस्कारोत्पत्तिद्वारविस्तरे ज्ञानशब्दयोर्नित्यत्वानित्यत्वविचारः ।

(३) निक्षेपद्वारे नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदेन निक्षेपस्य चातुर्विध्यम् ।

(४) पदद्वारे नामिक-नैपातिकौपसर्गिकाऽऽख्यातिक-मिश्रभेदेन पदस्य पञ्चविधत्वम् ।

(५) द्रव्यसंकोचो न भावसंकोचः, भावसंकोचो न द्रव्यसंकोचः, द्रव्यसंकोचो भावसंकोचश्च, न द्रव्यसंकोचो न भावसंकोच इति भङ्गचतुष्टयप्रतिपादनपुरस्सरं पदार्थद्वारम् ।

(६) प्ररूपणाद्वारे "किं कस्य केन क्व कियच्चिरं कतिविधो वा नमस्कारः," "इन्द्रियकाययोगवेदकषायलेश्याऽऽहाराऽऽदिचरमान्तः," इत्यादिषट्प्रकारनवप्रकाराभ्यां प्ररूपणाया द्वैविध्यम् ।

(७) नमस्कारपाठस्य युक्तायुक्तत्वे विचार्यमाणे पञ्चपदस्य सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तरभूतत्वं, नवपदस्य पृथक् श्रुतस्कन्धत्वमित्यत्र श्रीमहानिशीथसूत्रसंवादः ।

(८) नमस्कारसूत्रसपत्स्वरूपप्रदर्शनं-नवपदविवेचनम् ।

(९) वस्तुद्वारे गुणगुणिनोर्भेदाभेदपक्षनिरूपणपुरस्सरमर्हत्सिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधूनां नमस्कारार्हत्वे मार्गदेशकत्वाऽऽदिगुणनिरूपणानन्तरं संसाराटवीमार्गदेशकत्व-भवसमुद्रनिर्यामकत्व-षड्विधजीवनिकायगोपनत्वं प्ररूप्यार्हदादीनां नमस्कारफलप्रदर्शनम् ।

(१०) आक्षेपद्वारे सिद्धसाधुभ्यामेव द्वाभ्यां नमस्कारः कथं न?, परिनिर्वृतार्हदादीनां सिद्धशब्देन, आचार्याऽऽदीनां संसारिणां साधुशब्देन ग्रहणात् । तथा-ऋषभाजितसंभवाऽऽदिभ्यो नामग्राहं तीर्थकरेभ्यः, सिद्धेभ्योऽपि एकद्वित्रिचतुष्पञ्चाऽऽदिसमयेभ्यो यावदनन्तसिद्धेभ्यस्तीर्थलिङ्गप्रत्येकबुद्धाऽऽदिविशेषणविशिष्टेभ्य इत्यनन्तभेदस्य नमस्कारस्य पञ्चविधत्वं न युज्यते इति पञ्चविधनमस्काराऽऽक्षेपः ।

(११) प्रसिद्धिद्वारे तदाक्षेपस्य प्रतिविधानम् ।

(१२) क्रमद्वारेऽर्हदादीनां नमस्कारे पौर्वापर्यक्रमव्युत्क्रमाऽऽक्षेपप्रतिविधानविस्तरः ।

(१३) प्रयोजनफलद्वारयोरैहलौकिकपारलौकिकफलप्रदर्शनम् ।

(१४) द्विविधेऽपि फले दृष्टान्तपञ्चकप्रदर्शनम् ।

(१५) अर्हतां पूजाफलदत्त्वं किमस्ति,न वेति विचारविस्तरः ।

(१६) जिनाऽऽदिपूजाऽर्थं सोपपत्तिकप्रमाणोपन्यासः ।

(१७) "हिनस्मि हरिणाऽऽदीन्, मृषा भाषेऽहं, तद्भाषणाच्च वञ्चयामि देवदत्ताऽऽदीन्, धनमपहरामि तेषामेव, परदारान् निषेवेऽहम्" इत्यादिचिन्तया न हि तेषां चिन्तितानां तत्काल कोपाऽऽदिसंभूतिः, तथापि हिंसाऽऽदिचिन्तकस्याधर्म, दयाऽऽदिसंकल्पतस्तु तद्वतो धर्मः, तथेहापि तीर्थकरसिद्धाऽऽदीन् शपमानस्याधर्मः, संस्तुवतस्तु धर्म इत्यर्हदादिभ्यः फलप्राप्तिसमर्थनम् ।

(१८) सरागद्वेषत्वात् कृतार्थाभावाच्चाऽऽचार्योपाध्यायसाधवो वन्दनीया न वेत्याक्षेपपरिहारौ ।

(१९) साध्वादीनां दानमुपकारं यथा करोति नैव जिनाऽऽदीनां नमस्कारपूजा, तत्कथमसौ धर्मनिमित्तेतिशङ्कानिरासाय युक्तिप्ररूपणम् ।

(२०) परिणामविशुद्धिमिच्छता जिनाऽऽदीनां नित्यमेव पूजा विधेयेत्युपसंहारः ।

णमोक्काराणिज्जुत्ति—नमस्कारनिर्युक्ति—स्त्री० । नमस्कारप्रतिपादकाऽऽवश्यकनिर्युक्तिगाथाकदम्बे, आ० क० ।

णमोक्कारसहियपच्चक्खाण—नमस्कारसहितप्रत्याख्यान—न० । अद्धाप्रत्याख्यानभेदे, (ध०)

साम्प्रतं सूत्रार्थौ—

उग्गए सूरे नमुक्कारसहियं पच्चक्खाइ, चउव्विहं पि आहारं-असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ ।

उद्गते सूर्ये, सूर्योदमादारभ्येत्यर्थः । नमस्कारेण परमेष्ठिस्तवेन सहितं युक्तं नमस्कारसहितं, प्रत्याख्याति " सर्वे धातवः करोत्यर्थेन व्याप्ताः " इति न्यायात् नमस्कारसहितं प्रत्याख्यानं करोति, विधेयतयाऽभ्युपगच्छतीत्यर्थः । इदं गुरोरनुवादभङ्ग्या वचनम् । शिष्यस्तु 'प्रत्याख्यामि' इत्याह । एवं व्युत्सृजतीत्यत्रापि वाच्यम् । कथं प्रत्याख्याति ?, इत्याह-चतुर्विधमप्याहारमिति न पुनरेकविधाऽऽदिकम्, आहारमभ्यवहार्यं, व्युत्सृजतीत्युत्तरेण योगः । इदं चतुर्विधाऽऽहारस्यैव भवतीत्युक्तमेव, रात्रिभोजनतीरणप्रायत्वादस्य, तथा मुहूर्तमानं नमस्कारोच्चारणावसानं च । ननु कालस्यानुक्तत्वात्सङ्केतप्रत्याख्यानमेवेदम् । नैवम् । सहितशब्देन मुहूर्तस्य विशेषणात् । अथ मुहूर्तशब्दो न श्रूयते तत्कथं तस्य विशेष्यत्वम् ?। उच्यते-अद्धाप्रत्याख्यानमध्येऽस्य पाठबलात्,पौरुषीप्रत्याख्यानस्य च वक्ष्यमाणत्वादवश्यं तदर्वाग्मुहूर्तं एवावशिष्यते । अथ मुहूर्तद्वयाऽऽदिकमपि कुतो न लभ्यते?। उच्यते-अल्पाऽऽकारत्वादस्य, पौरुष्यां हि षडाकाराः, तदस्मिन् प्रत्याख्याने आकारद्वयवति स्वल्प एव कालोऽवशिष्यते, स च नमस्कारेण सहितः, पूर्णेऽपि काले नमस्कारपाठमन्तरेण प्रत्याख्यानस्याऽऽपूर्यमाणत्वात्, सत्यपि नमस्कारपाठे मुहूर्ताभ्यन्तरे प्रत्याख्यानभङ्गात् । तत्सिद्धमेतत्-मुहूर्तमानकालं नमस्कारसहितप्रत्याख्यानमिति । अथ चतुर्विधाऽऽहारमेव व्यक्त्या प्रदर्शयति-अशनम् १,पानम् २, खादिमं ३, स्वादिमं चेति ४। तत्राश्यते इति अशनम्, 'अश भोजने' इत्यस्य ल्युमन्तस्य भवति । तथा-पीयत इति पानम्, 'पा' धातोः । तथा-खाद्यत इति खादिमम्, 'खाद भक्षणे' इत्यस्य वकव्यादिमत्प्रत्ययान्तस्य । एवं स्वाद्यत इति स्वादिमं, 'स्वद आस्वादने' इत्यस्य च रूपम् । अथवा-खाद्यं स्वाद्यं चेति । अशनाऽऽद्याहारविभागश्चैव श्राद्धविधिवृत्तौ-"अशनं-शाल्यादि सक्त्वादि पेयाऽऽदि मोदकाऽऽदि क्षीराऽऽदि सूरणाऽऽदि मण्डकाऽऽदि च ।

यदाह–

" असणं ओअणसत्तुग–मुग्गजगाराऽऽइ खज्जगविही अ ।
खीराऽऽइ सुरणाऽऽई, मंडगपभिई अ विन्नेय ॥ १ ॥ "

पान–सौवीरयवाऽऽदिधावनं सुराऽऽदि सर्वश्चाप्कायः कर्कट-जलाऽऽदिकं च ।

यदाह–

" पाणं सोवीरजवो–दगाऽऽइ चित्तं सुराऽऽइअं चेव ।
आउक्काओ सव्वो, कक्कडगजलाऽऽइअं च तहा ॥ २ ॥ "

खाद्य—भृष्टधान्यगुमपर्पटिकाखर्जूरनालिकेरद्राक्षाकर्कट्याम्र-पनसाऽऽदि ।

यदाह–

" भत्तोस दंताऽऽई, खज्जूरगनालिकेरदक्खाऽऽई ।
कक्कडिअंबगफणसाऽऽ–इ बहुविह खाइम नेअं ॥ ३ ॥ "

स्वाद्य–दन्तकाष्ठताम्बूलतुलसिकापिण्डार्जकमधुपिप्पल्यादि ।

यदाह–

" दंतवणं तंबोलं, चित्तं तुलसी कुहेडगाऽऽईअ ।
महुपिप्पलिसुंठाऽऽई, अणेगहा साइम होइ ॥ ४ ॥ "

(अणेगहेति) सुण्ठी-हरीतकी-पिप्पली मरीच-जीरक-अजमक-जातिफल-जावत्री-कसेल्लक–कत्थक- खदिरवटिका-ज्येष्ठीमधु-तमालपत्र-एला-लवङ्ग-काठीविमङ्ग-विमलवण-अजक-अजमोद-कुलिञ्जण-पिप्पलीमूल-चिणीकबाबा–कच्चूरक–मुस्ता–कण्टाचेलिओ-कर्पूर-सौवर्चल-हरडा-बिभीतक-कुम्भठो-बब्बूल-धव खदिर-खीचडाऽऽदिकच्छलीपत्र पूग-हिङ्गुलाष्टक-हिङ्गुत्रेवीसु-पञ्चकूल-जवासकमूल-बावची-तुलसी-कर्पूरीकन्दाऽऽदिकम् । जीरक स्व-भाष्यप्रवचनसारोद्धाराभिप्रायेण स्वाद्यम्, कल्पवृत्त्यभिप्रायेण तु खाद्यम्, अजमकं खाद्यमिति केचित् । सर्वं स्वाद्यम् एलाकर्पूराऽऽदिजल च द्विविधाऽऽहारप्रत्याख्याने कल्पते । वेसण-विरहाली-सोआ-कोठवमी-आमला-गण्ठी-आबागोली-कच्चिली-चूहपत्रप्रमुख खाद्यत्वाद् द्विधाऽऽहारे न कल्पते । त्रिविधाऽऽहारे तु जलमेव कल्पते । शास्त्रेषु मधुगुडशर्कराखण्डाऽऽद्यपि खाद्यतया द्राक्षाशर्कराऽऽदिजल तक्राऽऽदि च पानकतयोक्तमपि द्विविधाऽऽहाराऽऽदौ न कल्पते । उक्त च–"दक्खापाणाऽऽईअं, पाणं तह साइमं गुडाऽऽईअं । पढिअं सुअम्मि तह वि हु, तित्तीजणग ति नाऽऽयरिअं " ॥१॥ अनाहारतया व्यवह्रियमाणान्यपि प्रसङ्गतो दर्श्यन्ते । यथा–पञ्चाङ्गनिम्ब–गुडूची–कशूकिरिआतु–अतिविस–चीमि-सूकडि-रक्षा-हरिद्रा–रोहिणी-उपलोट-वज्र–त्रिफला-बावलछल्लीत्यन्ये धमासो-नाहिआ–सन्धिरीङ्गणी-पल्लीओ-हरमीद्दल-वउणि–बदरी–कंथेरिकरीरमूल–पुआम–मजीठ-बोलबोउ-कुमारि-चित्रक-कुन्दरुप्रभृत्यनिष्टाऽऽस्वादानि रोगाऽऽद्यापदि चतुर्विधाहारेऽप्येतानि कल्प्यानीति कृतं प्रसङ्गेन । अत्र निरवलम्बनत्वादाकारावाह-(अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेण) अत्र पञ्चम्यर्थे तृतीया, अन्यत्रेति परिवर्जनार्थः, यथा-' अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां, सर्वे योद्धाः पराङ्मुखाः ।' इति । ततोऽन्यत्रानाभोगात् सहसाकाराच्च, एतौ वर्जयित्वेत्यर्थः । तत्रानाभोगोऽत्यन्तविस्मृतिः, सहसाकारोऽतिप्रवृत्तयोगानिवर्त्तनमिति । ध० २ अधि० । पं० व० । आव० । प्रव० । ल० ।

पण्डितआनन्दसागरगणिकृतप्रश्नो यथा–

नमस्कारसहितप्रत्याख्यान रात्रिप्रत्याख्यानमध्ये, पृथग् वा ? । तेन प्रत्याख्यानेन श्राद्धः पौरुषीं यावत्स्थितस्तस्य पौरुष्या लाभो द्विघटिकसत्को वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्–नमस्कारसहितप्रत्याख्यान दिनमध्ये आयाति, न तु रात्रिमध्ये, तथा–प्रत्याख्यानं विधाय पौरुषीं यावदनुपयोगेन स्थीयते तदा न लाभ, उपयोगपूर्वं तु लाभायेति । २ प्र० ही० ३ उल्ला० ।

णमोरिह–नमोऽर्ह–पु० । जिने, आ० म० ।

पालेंति जहा गावो, गोवा अहिसाभयाऽऽइदुग्गेहिं ।
पउरतणपाणियाणि य, वणाणि पावेंति तह चेव ॥
जीवनिकाया गावो, जं ते पालेंति ते महागोवा ।
मरणाऽऽइभयाहि जिणा, निव्वाणवणं च पावेंति ॥
ते उवगारित्तणतो, नमोऽरिहा भवियजीवलोगस्स ।
सव्वस्सेह जिणिंदा, लोगुत्तमभावतो तह य ॥

यथा गोपा गाः पालयन्ति रक्षन्ति अहिश्वापदाऽऽदिदुर्गे वनानि च, प्रचुरतृणपानीयानि प्रापयन्ति, तथैव च जीवनिकाया एव गावः जीवनिकायगावः, तान् ते भगवन्तोऽर्हन्तो महागोपाः, पालयन्ति रक्षन्ति मरणाऽऽदिभयेभ्यो, निर्वाणवनं प्रापयन्ति । एव ते जिनेन्द्रा इह अस्मिन् जीवलोके उपकारितो हेतोः सर्वस्य भव्यजीवलोकस्य नमोऽर्हाः ।

एवं तदुक्तेन प्रकारेण नमोऽर्हत्वहेतवो गुणाः प्रतिपादिताः, साम्प्रतं प्रकारान्तरेण नमोऽर्हत्वहेतुगुणाऽभिधित्सयाऽऽह

रागद्दोसकसाए, इंदियाणि य पंच वि ।
परीसहे उवसग्गे, नामयंता नमोरिहा ॥

रागद्वेषकषायानिन्द्रियाणि च पञ्चापि परीषहानुपसर्गान् नामयन्तो नमोऽर्हाः । इति गाथासमासार्थः । आ०म०१ अ०२खण्ड ।

णम्मया–नम्रता–स्त्री० । औचित्येन नमनशीलतायाम्, १२ द्वा० ।

नर्मदा–स्त्री० । रेवापर्याये अमरकण्टकाद्दुद्गत्य पश्चिमसमुद्रे प्रविष्टे नदीभेदे, " दिवा काकरवाद् भीता, रात्रौ तरति नर्मदाम् । " आव० २ अ० ।

णय–नत–त्रि० । प्रह्वीभूते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । आचा० ।

नय–पु० । नयत्यनेकांशाऽऽत्मक वस्त्वेकांशावलम्बनेन प्रतीतिपथमारोपयतीति, नीयते वा अनेन तस्मिन् ततो वा नयनम् । उत्त० १ अ० । प० चू० । नीयते परिच्छिद्यतेऽनेनास्मादस्मिन्वा नयः । अनन्तधर्माऽऽत्मकस्य वस्तुन एकांशपरिच्छित्तौ, अनु० । स्था० । आ० म० । अनन्तधर्माऽऽत्मकस्य वस्तुनो नियतैकधर्माऽऽत्मकावलम्बनेन प्रतीतौ प्रापणे, उत्त० अ० । "नयतीति नया वत्थुतत्त अवबोहमोयर पावयति ति अन्ये भणन्ति–नयन्तीति नयाः कारकाः, व्यञ्जकाः, प्रकाशकाः इत्यर्थः । आ० चू० १ उ० । नि० चू० । विशे० ।

विषयसूची–

(८) सामान्यविशेषविचारः ।
(९) सप्तभङ्ग्यां नयविभागोपदर्शनम् ।
(१०) एकत्रानेकाऽऽकारा प्रमाणधीः ।
(११) नयानां प्रमाणाप्रमाणत्वनिर्णयः ।
(१२) समत्वादौ यद्भिन्निविष्टेतरनयखण्डनं तत्साधनंनिमित्तं बौद्धाऽऽदिनयपरिग्रहा अपि शुद्धपर्यायाऽऽदिवस्तुप्राप्त्या फलतो न मिथ्यारूपा इत्यादिनिरूपणम् ।
(१३) नयविभागे द्रव्यपर्यायार्थिकतया नयस्य संक्षेपतो द्वैविध्यम् ।
(१४) संग्रहविशेषौ द्रव्यपर्यायौ सामान्यविशेषशब्दवाच्याविव्यत्र विचारः ।
(१५) द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्नैगमाऽऽदिनयानामन्तर्भावः ।
(१६) सप्तसु नैगमाऽऽदिषु मूलनयेषु विचारे नैगमाऽऽदीनां मतसंग्रहः ।
(१७) सिद्धसेनदिवाकरमते षम् नयाः, नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावात् ।
(१८) प्रस्थकवसतिप्रदेशदृष्टान्तेन नयप्रमाणपरामर्शः ।
(१९) तत्र प्रस्थकदृष्टान्तः ।
(२०) वसतिदृष्टान्त ।
(२१) प्रदेशदृष्टान्त ।
(२२) सर्वे नयाः स्वस्वस्थाने शुद्धाः ।
(२३) ७०० सप्त शतानि नयाः ।
(२४) असंख्याता नया इति मतान्तरनिरूपणम् ।
(२५) निक्षेपनययोजना ।
(२६) द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्मिथो विचारः ।
(२७) तौ सव्यपेक्षौ प्रमाणम् ।
(२८) यद् दर्शन यस्मान्नयाद् जात सामान्यतस्तन्निरूपणम् ।
(२९) निश्चयव्यवहारयोः सर्वनयान्तर्भावः ।
(३०) दिगम्बरमते नयाः ।
(३१) व्यवहारनयात् साङ्ख्यं प्रवृत्तम् ।
(३२) वेदान्तिसाङ्ख्यदर्शनयो शुद्धाशुद्धत्वम् ।
(३३) नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावः ।
(३४) ये शब्दनया ये चार्थनयास्तेषां निरूपणम् ।
(३५) नयोत्पादितेष्वपरिमितेषु दर्शनेषु यस्य मिथ्यात्वं, यस्य च सम्यक्त्व तन्निरूपणम् ।
(३६) नयफलविमर्शः ।
(३७) ज्ञानक्रियानयद्वारे संग्रहाऽऽदीनां समवतारो भवतीति तत्स्वरूपनिरूपणम् ।
(३८) नयानां पार्थक्ये यैः समवतारः, यत्र चाऽनवतारस्तन्निरूपणम् ।
(३९) आलोचनाऽऽद्यष्टनयाना निरूपणम् ।

(१) अथ नयनिरुक्तिमाह–

स नयइ तेण तहिं वा,तओऽहवा वत्थुणो व जं नयणं ।
बहुहा पज्जायाणं, संभवओ सो नओ नाम ॥ ८१४ ॥

स एव वक्ता संभवद्भिः पर्यायैर्वस्तु नयति गमयतीति नयः । अथवा–नीयते परिच्छिद्यते अनेन, अस्मिन्, अस्माद् वेति नयः; अनन्तधर्माध्यासिते वस्तुन्येकांशग्राहको बोध इत्यर्थः । यदि वा–बहुधा वस्तुनः पर्यायाणां संभवाद्विवक्षितपर्यायेण

वस्तुनमधिगमनं परिच्छेदनमसौ नयो नाम ॥ ८१४ ॥ विशे० । इह हि जिनप्रवचने सर्वं वस्त्वनन्तधर्माऽऽत्मकतया संकीर्णस्वभावमिति तत्परिच्छेदकेन प्रमाणेनाऽपि तथैव भवितव्यमित्यसंकीर्णप्रतिनियतधर्मप्रकारकव्यवहारसिद्धये नयानामेव सामर्थ्यम् । नयो० ।

(२) नयतत्त्वं प्ररूपयन्ति–

नीयते येन श्रुताऽऽख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ॥ १ ॥

अत्रैकवचनमतन्त्रम्, तेनांशावंशा वा, येन परामर्शविशेषेण श्रुतप्रमाणप्रतिपन्नवस्तुनो विषयीक्रियन्ते तदितरांशौदासीन्यापेक्षया स नयोऽभिधीयते । तदितरांशप्रतिक्षेपे तु तदाभासता प्रज्ञप्स्यते ('नयाभास' शब्दे) ।

प्रत्यपादयाम च स्तुतिद्वात्रिंशति–

"अहो ! चित्रं चित्रं तव चरितमेतन्मुनिपते !,
स्वकीयानामेषां विविधविषयव्याप्तिवशिनाम् ।
विपक्षापेक्षाणां कथयसि नयानां सुनयतां,
विपक्षक्षेप्तॄणां पुनरिह विभो ! दुष्टनयताम् ॥१॥"

पञ्चाशति च–

"निःशेषांशजुषां प्रमाणविषयीभूय समासेदुषां,
वस्तूनां नियतांशकल्पनपराः सप्त श्रुताऽऽसङ्गिनः ।
औदासीन्यपरायणास्तदपरे चांशे भवेयुर्नया–
श्चेदेकान्तकलङ्कपङ्ककलुषास्ते स्युस्तदा दुर्नयाः ॥ १ ॥"

रत्ना० ७ परि० ।

(३) नयलक्षणे नयस्वरूपोपपत्तिमाह–

सत्त्वाऽसत्त्वाऽऽद्युपेतार्थे–ष्वपेक्षावचनं नयः ।
न विवेचयितुं शक्यं, विनाऽपेक्षां हि मिश्रितम् ॥ २ ॥

(सत्त्वाऽसत्त्वेति) सत्त्वाऽसत्त्वाऽऽद्यो ये धर्माः, आदिना नित्याऽनित्यत्वभेदाऽभेदाऽऽदिरिति परिग्रहः । तैरुपेतास्तदात्मका येऽर्थाः जीवपुद्गलाऽऽदयः, तेष्वपेक्षावचन प्रतिनियतधर्मप्रकारकापेक्षाऽऽश्रयशाब्दबोधजनक वचनम्, नयवाक्यमित्यर्थः । इदं वचनरूपस्य नयस्य लक्षणं, ज्ञानरूपस्य तु नयस्य अपेक्षाऽऽत्मकशाब्दबोधत्वमेवेति द्रष्टव्यम् । अपेक्षात्वं च क्षयोपशमजन्यताऽवच्छेदको जातिविशेषो, विषयताविशेषो वेत्यन्यदेतत् ॥ ननु घटोऽस्तीत्यादिवाक्यश्रवणाद् घटविषयक शाब्दज्ञानं मम जातमित्येव लोकाः प्रतियन्ति;न तु तत्रापेक्षात्वमपीत्यपेक्षाऽऽत्मकनयज्ञानसत्त्वे किं प्रमाणम् ?; अत आह–हि निश्चित,मिश्रित विरुद्धत्वेन प्रतीयमानैर्नानाधर्मैः करम्बित वस्तु, अपेक्षा विना विवेचयितु विवक्षितैकधर्मप्रकारकनिक्षेपविषयीकर्तुं,न शक्यम्; तद्विरुद्धधर्मवत्ताज्ञानस्यानपेक्षाऽऽत्मकस्या[स्या]नुपपत्तेर्बाधप्रतिबद्धताऽऽवच्छेदककोटौ लाघवेनाऽनपेक्षाऽऽत्मकत्वस्यैव निवेशात्,अव्याप्यवृत्तित्वज्ञानकालीनाऽऽहार्यदोषविशेषजन्याऽऽदीनामपेक्षाऽऽत्मकत्वेनैव तद्वारकविशेषणानुपादानात्।तथा च तद्धर्मप्रतिपक्षधर्मवत्तया ज्ञातेऽपि तद्धर्मवत्तया ज्ञायमानस्या[ऽऽहार्यदोषविशेषजन्या]ऽऽदीनामपेक्षाऽऽत्मकतयाऽन्यथाऽनुपपत्तिरेवाऽपेक्षात्वे मानम्,तस्या एव सर्वतो बलवत्प्रमाणत्वात्। तदाह श्रीहर्षः–"अन्यथाऽनुपपत्तिश्चेद्–स्तु वस्तुप्रसाधिका*।पिनष्टयदृष्टैवमस्य,यतः सर्वबाधिका"।१। इति।न चाऽपेक्षां विना लौकिकोऽपि व्यवहार सगच्छते,अग्राऽऽद्यवच्छेदेन कपिसयोगाभाववति

* – दृस्त्वपेक्षाप्रसाधिकेति पाठः स्यात् ।

वृक्षे शाखाऽऽपेक्षयैव कपिसंयोगवत्त्वव्यवहारात्। न चाऽवच्छेदकावगाह्येवाय[व्यवहारो]न त्वपेक्षाऽऽत्मक इति वाच्यम्,शाखाऽवच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगवान्,न तु संपूर्ण इति प्रत्ययस्य स्कन्धदेशापेक्षां विनाऽनुपपत्तेः । कथं चैवं सामान्यविशेषापेक्षां विना "घटपटयोः रूपं,घटपटयोर्न रूपम्"इत्यादयो विचित्रनयापेक्षाप्रत्ययाः समर्थनीयाः। सङ्ग्रहनयाऽऽश्रयणेनैव हि घटपटोभयरूपसामान्योद्भूत [त] त्वविवक्षया घटपटयो रूपमिति प्रत्ययस्योपपत्ते ,द्वयोर्भेदविवक्षाया प्रत्येकाऽन्वयस्य धर्मद्वयावच्छिन्नवाचकपदोपादानस्थल एव व्युत्पन्नत्वात् । व्यवहाराऽऽश्रयणात्तु प्रकृतप्रयोगोऽनुपपन्न एव,मिलितवृत्तित्वान्वय एव तस्य साकाङ्क्षत्वाद् घटपटयोर्न रूपमिति बोधस्यैव तस्मादुत्पत्तेः । यत्तु घटपटयोर्न रूपमिति वाक्य तात्पर्यभेदेन योग्यायोग्य-घटपटयोः रूपत्वावच्छिन्नाभावान्वयतात्पर्येऽयोग्यमेव, रूपत्वावच्छेदेन घटपटोभयवृत्तित्वाभावान्वयतात्पर्ये च योग्यमेव; घटपटयो रूपमित्यादौ च घटपटोभयवृत्तित्वस्यापि रूपत्वाऽऽदिसामानाधिकरण्येन अन्वयबोध एव साकाङ्क्षत्वाद् न तयोर्घटरूपमित्यपि स्यादिति कैश्चित्कल्प्यते । तदसत् । प्रतिवस्तुन्याकाङ्क्षावैचित्र्यस्यापेक्षाबोधाऽऽत्मकफलवैचित्र्यार्थमेवाऽऽश्रयणात्, उभयरूपसामान्यस्य प्रत्येकरूपविशेषात्कथञ्चिद्भेदानभ्युपगमे त्वदुक्तान्यव्युत्पत्तिग्रहाद् घटपटयोर्घटरूपमिति जायमानस्य बोधस्य प्रामाण्याऽऽपत्तेश्च; अस्माकं तु स्यादर्थानुप्रवेशस्यैवातिप्रसङ्गभञ्जकत्वान्न दोषः । किञ्चैवम्-द्वयोर्गुरुत्वं न गन्ध इत्यादौ का गतिः ?,गुरुत्वसामानाधिकरण्येनेव गन्धत्वसामानाधिकरण्येनाऽपि पृथिवीजलोभयत्वा [ऽऽश्रयवृत्तित्वा]त् विधिनिषेधविषयार्थानिरुक्तेः । अत्र सप्तम्या स्वार्थान्वयिताऽवच्छेदकस्वरूपत्वादुभयाख्याऽतिरिक्तैवाऽऽधेयताऽर्थ (?)। तत्र च प्रकृत्यर्थस्य तन्निष्ठनिरूपितत्वविशेषणान्वयात्पृथिवीजलोभयविशिष्टाऽऽधेयतात्वेन गुरुत्वं विधेयतया, गन्धश्च निषेध्यतया प्रतीयते, इत्युक्तौ च नामान्तरेण गुरुत्वसामान्यस्यैव विधेयत्वं, गन्धसामान्यस्यैव च निषेध्यत्वमायुष्मतामतिरिक्ताऽऽधारताया अनिरूपणात् । अन्यथा घटपटयोर्न घटरूपमित्यादौ जातिघटयोर्न सत्त्वमित्यादाविव घटपटोभयनिरूपितत्वाभाववदाधेयतावद् घटरूपमित्यन्वयोपपादनेऽपि घटपटरूपे इत्यस्योपपादयितुमशक्यत्वाद् घटरूपत्वाऽऽदिस्वरूपाया आधेयताया उभयानिरूपितत्वात् । तत्र द्वित्वाऽऽदिस्वरूपैवाऽऽधेयतेति चेद्, द्वयो प्रत्येकरूपावच्छेदेन द्वित्वाभावान्निषेधस्याऽपि प्रवृत्ति स्यात्। अनुयोगिताऽवच्छेदकावच्छेदेनैव सप्तम्यर्थाऽऽधेयत्वान्वयव्युत्पत्तेर्नाऽयं दोष इति चेत्,तथाऽपि घटरूपाऽऽकाशे इत्यादिकं कथम् ?, एतद्द्वित्वाऽऽदिस्वरूपाया आधेयताया उभयानिरूपितत्वात्, तत्र तात्पर्यवशाद् द्वित्वान्वयेऽप्युभयस्यानाधेयत्वाभावात् ; तस्मान्नयापेक्षाभेदेनाऽत्र विचित्र एव बोधः स्वीकार्यः ॥ २ ॥

(४) नन्वनन्तधर्ममिश्रितं वस्तु कथं विवेचयितुमशक्यम् ?, अनन्तानामपि धर्माणां धर्मि[र्म्य]भिन्नत्वेन धर्मिग्राहकप्रत्याक्षाऽऽदेरेव तद्विवेकरूपत्वात्, सति च तद्विवेके किमपेक्षाऽऽश्रयणेन ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-

यद्यप्यनन्तधर्माऽऽत्मा, वस्तु प्रत्यक्षगोचरः ।
तथाऽपि स्पष्टबोधः स्यात्, सापेक्षो दीर्घताऽऽदिवत् ॥३॥

यद्यपि वस्तु घटपटाऽऽदिकम् अनन्तधर्माऽऽत्मकं सत् प्रत्यक्षगोचरः प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणविषयः एकस्मिन् घटाऽऽदौ गृह्यमाणे गृह्यमाणधर्मोपरागेण द्रव्यार्थादेशेनातीतानागतवर्तमानानां तद्वृत्तिधर्माणां यावतामेव ग्रहात् परेषां सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिस्थानेऽभिषिक्तस्य घटविषयकतिर्यक्सामान्योपयोगस्य घटताया व्यापकविषयताकप्रत्यक्षत्वं तादृशज्ञानत्वं वा यथा कार्यताऽवच्छेदकं च तथा तद्विषयकोर्ध्वतासामान्यस्य तादात्म्यसंबन्धेनाऽऽधेयत्वसंबन्धेन वा घटव्यापकविषयताकप्रत्यक्षत्वस्य तादृशज्ञानत्वस्य वा कार्यताऽवच्छेदकताया न्यायसिद्धत्वात् । अत एव-" जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ " इति पारमर्षवचनानुरोधोऽपि, एकवस्तुग्रहे तद्गतस्वपरपर्यायकुक्षिप्रवेशेन सर्वेषां ग्रहादनुवृत्तिव्यावृत्तिसंबन्धपर्यालोचने तावत्प्रमाणस्यैव वस्तुनोऽनुभवात् । तदाह महावादी सम्मतौ-
" एगदवियम्मि जे अत्थपज्जवा वयणपज्जवा वा वि ।
तीयाणागयभूआ, तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ ३१ ॥ " (सम्म० १ काण्ड) इति । नन्वेवं सर्वस्य सार्वज्ञ्याऽऽपत्तिरिति चेत् । न । द्रव्यार्थे इष्टत्वात्, उक्तभगवद्वचनरुच्यनुवेधेन सम्यक्त्वसपक्षत्वानतिप्रसङ्गाद् यद्यप्येवं, तथापि स्पष्टबोधः सत्त्वासत्त्वाऽऽदिप्रतिनियतधर्मप्रकारको बोधः, सदसदाद्याकारको वा बोधः सापेक्षः शाब्दस्थले नयापेक्षया जनित , प्रत्यक्षस्थले चावध्यवच्छेदकाऽऽदिज्ञानापेक्ष स्यात्। किंवत् ?,दीर्घताऽऽदिवत् आदीयतेऽनेनेत्यादि ज्ञानं, दीर्घताप्रत्यक्षवदित्यर्थः । यथा हि दण्डाऽऽदिज्ञानकाले तत्परिमाणग्रहेऽप्ययमस्माद्दीर्घ इति दीर्घत्वप्रकारकं ज्ञानं नियतावध्यपेक्षयैव, तथा सदसदाद्यात्मकवस्तुग्रहेऽपि सत्त्वाऽऽदिप्रकारकं ज्ञानं स्वद्रव्याऽऽद्यपेक्षयैवेत्यर्थः, अयमेव तदपेक्षया दीर्घ इतिवत् स्वद्रव्याऽऽद्यपेक्षया सन् परद्रव्याऽऽद्यपेक्षयाऽसन्नित्येव व्यवहारात् । नन्वेवं व्यवहार एव सापेक्षो,न तु बोध इति चेत्। न । व्यवहर्तव्यज्ञाने सति सत्यां चेच्छायां व्यवहारेऽपि तदपेक्षणात् । अन्यथाऽभावज्ञानेऽपि प्रतियोग्यपेक्षा न स्यात्,तद्व्यवहार एव सप्रतियोगिकत्वस्थितेः। अथ दीर्घो दण्ड इति ज्ञानं चक्षुःसन्निकर्षमात्राज्जायत एवामुष्मादपेक्षया दीर्घ इति दीर्घत्वत्वावान्तरजात्यवगाहिज्ञानं एव चावधिज्ञानापेक्षेति चेत् । न । ह्रस्वत्वेन ज्ञाने दीर्घत्वेन ज्ञानस्यैवापेक्षा विनाऽनुपपत्तेः । तद्वदिहापि परद्रव्याऽऽदिनाऽसत्त्वेन स्वद्रव्याऽऽद्यपेक्षयैव सत्त्वज्ञानमिति प्रतिपत्तव्यम् । अवच्छेदकानवगाहिनस्तु अनवधारणरूपत्वादेवानुपयोगः, द्विहस्ताऽऽदिमात्रेऽनुवृत्तैकहस्तावच्छेदेन महत्त्वग्रहस्तु देशापेक्षयैवेति तस्य निरपेक्षत्वम् । अत एवाऽऽवरणापगमे स्कन्धापेक्षया परिणामे द्विहस्तत्वग्रहेऽपि तावदवच्छेदेन ह्रस्वत्वग्रहस्य नाप्रामाण्यं, देशस्कन्धभेदेनोभयोपपत्तेः। एतेन भूयोऽवयवावच्छेदेन चक्षुःसंयोगाभावाद्भार्द्धनिखातवंशाऽऽदेर्द्विहस्ताऽऽदेः परिमाणग्रह इति प्राच्यनैयायिकानां प्रलापो निरस्तः । यावति भागे नाऽऽवरणं तावति भागे परिमाणवत इव परिमाणस्य ग्रहादेव स्कन्धपर्याप्तपरिमाणग्रहे तत्पर्याप्त्यवच्छेदकयावदवयवावच्छेदेनाऽऽवरणाभावलक्षणयोग्यताया एव हेतुत्वे दोषाभावात्। किञ्च-भूयोऽवयवावच्छेदेनेत्यस्य कोऽर्थः ?, यावदवयवसन्निकर्षस्य तत्राऽप्यसम्भवात्, अनेकतरसंयोगस्य चातिप्रसञ्जकत्वाद् भूयोऽवयवावच्छिन्नत्वोपलक्षिताऽऽधारताविशेषस्य च देशस्कन्धापेक्षावैचित्र्यमुखनिरीक्षकत्वादिति न किञ्चिदेतत् । यत्तु विषयतासंबन्धेन परिमाणसाक्षात्कारित्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसंबन्धेन तत्तदावरकसंयोगत्वेन प्रतिबन्धकत्वाद् ना-

र्द्धनिखातवशाऽऽदिपरिमाणग्रहः । यद्वा-अर्द्धनिखातवशाऽऽदेर्महत्त्वाऽऽदिक गृह्यत एव, महानयं वश इति प्रतीतेः । तद्वान्तरवैजात्य तु नानुभूयत इति तत्तद्वैजात्यग्रहं प्रत्यावरकसयोगस्य विरोधिता । न च निखाताऽनिखातसदृशवशयोः सन्निकर्षकतायां तन्महत्त्वाऽऽदिवृत्तिवैलक्षण्यानुभवाद् वैजात्यप्रत्यक्षं [प्रत्यक्ष] प्रत्यावरकसयोगानां प्रतिबन्धकत्वासंभव इति वाच्यम, तादृशवैलक्षण्यप्रकारकं प्रत्यक्ष प्रत्येव तेषां विरोधित्वात् । विशेष्यत्व प्रतिबध्यताऽवच्छेदक सबन्ध., स्वाश्रयमेव तत्र प्रतिबन्धतावच्छेदकम्, इत्यनतिप्रसङ्गात् । न चैवम्,निखातसंनिकर्षात् तादृशवैलक्षण्यविशेष्यकसाक्षात्काराऽऽपत्तेर्दुर्वारत्वात् । किञ्च-एवमावृत्तैकपार्श्वविच्छेदेन यस्य चक्षु.सयोगाल्लोकवैजात्यस्य ग्रह., तस्यैवान्यदा पुरुषान्तरस्य वा तदानीं पार्श्वान्तरावच्छेदेन चक्षु सयोगेऽप्यग्रह. स्यात्, आवरकसयोगस्य विरोधिन' सत्त्वात् । तत्तत्कालीनतत्तत्पुरुषीयमहत्त्वाऽऽदिप्रत्यक्षं प्रत्येवोक्तप्रतिबन्धकत्वे त्वनावरणकालीनस्य विलक्षणमहत्त्वाऽऽदिप्रत्यक्षस्याऽऽवरणदशायामुत्पत्तिप्रसङ्ग. । न हि तत्रापि सन्निकर्ष विना अन्यद्विशिष्टकारण क्लृप्त, येन तद्विलम्बाद्विलम्ब. स्यात् । अपि च-एवमावृतादृष्टस्थले प्रतिबध्याप्रसिद्धि स्वप्राचीस्थपुरुषीयोक्तवैजात्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्न एव स्वप्रतीच्यवच्छिन्नाऽऽवरकसयोगत्वेन प्रतिबन्धकत्वे तु द्रव्यचाक्षुषेऽप्येवमित्यादिसयोगप्रतिबन्धकत्वेन निर्वाहे व्यवहितार्थादर्शनान्यथाऽनुपपत्त्या चक्षु प्राप्यकारित्वसाधनप्रयासस्य वैफल्याऽऽपत्तिरिति न किञ्चिदेतत् । एतेन तादृशवैलक्षण्यसाक्षात्कारप्रयोजकतया चक्षुरादिसयोगनिष्ठवैजात्यान्तरस्वीकारेणैव निर्वाह इति कल्पनाऽपि तेषामपास्ता, तद्वतोरिति न्यायेनाऽऽभिमुख्यविशेषेणाऽऽवरणाभावविशेषेण वा निर्वाहे तादृशवैजात्यकल्पनायां महागौरवात्, अन्यापेक्षयैव स्वदेशापेक्षयाऽपि न्यूनाधिकभावरूपवैजात्यानुभवस्यापेक्षां विनाऽनुपपत्तेश्चेति दिक् ॥ २ ॥ नयो० । द्रव्या० ।

(५) तत्र नय इति किमुच्यते ?, कतिभेदश्चायम् ?, इत्याह-

एगेण वत्थुणोऽणे-गधम्मुणो जमवधारणेणेव ।
नयणं धम्मेण तओ,होइ नओ सत्तहा सो य ॥२१८०॥

अनेकधर्मणोऽनन्तधर्माऽऽत्मकस्य वस्तुनो यदेकेन नित्यत्वाऽऽदिना, अनित्यत्वाऽऽदिना वा धर्मेणावधारणेनैव सावधारण नयन प्ररूपण तकोऽसौ नयो भवति । अनन्तधर्माऽऽत्मक वस्त्वेकांशेनैव नयति प्ररूपयतीति नयः । कथ पुनरेकस्य वस्तुनो युगपदनन्तधर्माऽऽत्मकत्वम् ? । अत्रोच्यते-सर्वमेव वस्तु तावत्सपर्यायम् । ते च पर्याया द्विविधाः-रूपरसाऽऽदयो युगपद्भाविनः, नवपुराणाऽऽदयस्तु क्रमभाविन. । पुनः शब्दार्थपर्यायभेदात्सर्वेऽपि द्विविधा. । तत्र " इन्द्रो दुश्च्यवनो हरि. " इत्यादिशब्दैर्येऽभिलप्यन्ते, ते सर्वेऽपि शब्दपर्यायाः । ये त्वभिलपितु न शक्यन्ते श्रुतज्ञानविषयत्वातिक्रान्ताः केवलाऽऽदिज्ञानविषयास्तेऽर्थपर्याया । पुनरेते द्विविधा.-स्वपर्यायाः, परपर्यायाश्च । पुनस्तेऽपि केचित्स्वाभाविका., केचित् तु पूर्वापराऽऽदिशब्दवद्व्यापेक्षिका. । पुनरेते सर्वेऽप्यतीतानागतवर्तमानकालभेदात्त्रिविधा इत्यादिना प्रकारेण समयानुसारत. सुधिया वस्तुनो युगपदनन्तधर्मकत्वं भावनीयम् । स च नय. सप्तविधः सप्तप्रकार इति ॥ २१८० ॥ विशे० । आ० म० ।

ननु नयस्य प्रमाणाद्भेदेन लक्षणप्रणयनमयुक्तम्, स्वार्थव्यवसायाऽऽत्मकत्वेन तस्य प्रमाणस्वरूपत्वात् । तथाहि-नयः प्रमाणमेव, स्वार्थव्यवसायकत्वादिष्टप्रमाणवत् , स्वार्थव्यवसायकस्याप्यस्य प्रमाणत्वानभ्युपगमे प्रमाणस्यापि तथाविधस्य प्रमाणत्वं न स्यादिति कश्चित् । तदसत् । नयस्य स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणत्वेन स्वार्थव्यवसायकत्वासिद्धेः । ननु नयविषयतया सम्मतोऽर्थैकदेशोऽपि यदि वस्तु तदा तत्परिच्छेदी नयः प्रमाणमेव, वस्तुपरिच्छेदलक्षणत्वात्प्रमाणस्य । स न चेद्वस्तु तर्हि तद्विषयो नयो मिथ्याज्ञानमेव स्यात्, तस्यावस्तुविषयत्वलक्षणत्वादिति चेत् । तदवद्यम् । अर्थैकदेशस्य वस्तुत्वावस्तुत्वपरिहारेण वस्त्वंशतया प्रतिज्ञानात् ।

तथा चाऽवाचि-

" नाऽय वस्तु न चाऽवस्तु, वस्त्वंश कथ्यते बुधैः ।
नाऽसमुद्र' समुद्रो वा, समुद्रांशो यथैव हि ॥ १ ॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे, शेषांशस्याऽसमुद्रता ।
समुद्रबहुता वा स्यात्, तत्त्वे क्वास्तु समुद्रवित् ? ॥ २ ॥ "

यथैव हि समुद्रांशस्य समुद्रत्वे शेषसमुद्रांशानामसमुद्रत्वप्रसङ्गात् समुद्रबहुत्वाऽऽपत्तेर्वा तेषामपि प्रत्येक समुद्रत्वात्; तस्याऽसमुद्रत्वे वा शेषसमुद्रांशानामप्यसमुद्रत्वात् क्वचिदपि समुद्रव्यवहारायोगात् समुद्रांशः समुद्रांश एवोच्यते, तथा-स्वार्थैकदेशो नयस्य न वस्तु,स्वार्थैकदेशान्तराणामवस्तुत्वप्रसङ्गाद् वस्तुबहुत्वानुषक्तेर्वा; नाप्यवस्तु, शेषांशानामप्यवस्तुत्वेन क्वचिदपि वस्तुव्यवस्थाऽनुपपत्तेः । किं तर्हि वस्त्वंश एवासौ तादृक्प्रतीतेर्बाधकाभावात् ? ततो वस्त्वंशे प्रवर्त्तमानो नय. स्वार्थैकदेशव्यवसायलक्षणो न प्रमाण, नापि मिथ्याज्ञानमिति ॥ १ ॥ (रत्ना०)

नयप्रकारसूचनायाऽऽहु.-

स व्याससमासाभ्यां द्विप्रकारः ॥ ३ ॥

स प्रकृतो नयः व्यासो विस्तरः, समास सक्षेपः, ताभ्यां द्विभेदः-व्यासनय., समासनयश्चेति ॥ ३ ॥

व्यासनयप्रकारान् प्रकाशयन्ति-

व्यासतोऽनेकविकल्पः ॥ ४ ॥

एकांशगोचरस्य हि प्रतिपत्त्रभिप्रायविशेषस्य नयस्वरूपत्वमुक्त, ततश्चानन्तांशाऽऽत्मके वस्तुन्येकैकांशपर्यवसायिनो यावन्तः प्रतिपत्तॄणामभिप्रायास्तावन्तो नया , ते च नियतसंख्यया संख्यातु न शक्यन्त इति व्यासतो नयस्यानेकप्रकारत्वमुक्तम् ॥ ४ ॥

समासनयं भेदतो दर्शयन्ति-

समासतस्तु द्विभेदो- द्रव्यार्थिकः, पर्यायार्थिकश्च ॥५॥

नय इत्यनुवर्त्तते; द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यं, तदेवार्थ , सोऽस्ति यस्य विषयत्वेन स द्रव्यार्थिकः । पर्येत्युत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति पर्याय. स एवार्थ , सोऽस्ति यस्यासौ पर्यायार्थिक' । एतावेव च द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकाविति, द्रव्यस्थितपर्यायास्थिताविति, द्रव्यार्थपर्यायार्थाविति च प्रोच्येते । ननु गुणविषयस्तृतीयो गुणार्थिकोऽपि किमिति नोक्त इति चेत्, गुणस्य पर्याय एवान्तर्भूतत्वेन पर्यायार्थिकेनैव तत्संग्रहात् । पर्यायो हि द्विविध -क्रमभावी, सहभावी च । तत्र सहभावी गुण इत्यभिधीयते; पर्यायशब्देन तु पर्यायसामान्यस्य स्वव्याप्तिव्यापिनोऽभिधानान्न दोष. । ननु द्रव्यपर्यायव्यतिरिक्तौ सामान्यविशेषौ वि-

येते ततस्तद्गोचरमपरमपि नयद्वय प्राप्नोतीति चेत्। नैतदनुपपन्नम्। द्रव्यपर्यायाभ्यां व्यतिरिक्तयोः सामान्यविशेषयोरप्रसिद्धेः। तथाहि-द्विप्रकारं सामान्यमुक्तम्-ऊर्ध्वतासामान्यं, तिर्यक्सामान्यं च। तत्रोर्ध्वतासामान्यं द्रव्यमेव; तिर्यक्सामान्यं तु प्रतिव्यक्तिसदृशपरिणामलक्षणं व्यञ्जनपर्याय एव। स्थूलाः कालान्तरस्थायिनः शब्दानां सङ्केतविषया व्यञ्जनपर्याया इति प्रावचनिकप्रसिद्धेः। विशेषोऽपि वैसदृश्यविवर्तलक्षणः पर्याय एवान्तर्भवतीति नैताभ्यामधिकनयावकाशः ॥ ५ ॥

द्रव्यार्थिकभेदानाहुः-

आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा ॥ ६ ॥

आद्यो द्रव्यार्थिकः ॥ ६ ॥

तत्र नैगमं प्ररूपयन्ति-

धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः ॥ ७ ॥

पर्याययोर्द्रव्ययोर्द्रव्यपर्याययोश्च मुख्यामुख्यरूपतया यद्विवक्षणं स एवरूपो नैके गमा बोधमार्गा यस्याऽसौ नैगमो नाम नयो ज्ञेयः ॥ ७ ॥

अथास्योदाहरणाय सूत्रत्रयीमाहुः-

सच्चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः ॥ ८ ॥

प्रधानोपसर्जनभावेन विवक्षणमितीहोत्तरत्र च सूत्रद्वये योजनीयम्। अत्र चैतन्याऽऽख्यस्य व्यञ्जनपर्यायस्य प्राधान्येन विवक्षणम्, विशेष्यत्वात्। सत्त्वाऽऽख्यस्य तु व्यञ्जनपर्यायस्योपसर्जनभावेन; तस्य चैतन्यविशेषणत्वादिति धर्मद्वयगोचरो नैगमस्य प्रथमो भेदः ॥ ८ ॥

वस्तुपर्यायवद् द्रव्यमिति धर्मिणोः ॥ ९ ॥

अत्र हि पर्यायवद् द्रव्यं वस्तु वर्त्तत इति विवक्षायां पर्यायवद् द्रव्याऽऽख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन प्राधान्यम्, वस्त्वाख्यस्य तु विशेषणत्वेन गौणत्वम्। यद्वा—किं वस्तु पर्यायवद् द्रव्यमिति विवक्षायां वस्तुनो विशेष्यत्वात् प्राधान्यम्, पर्यायवद् द्रव्यस्य तु विशेषणत्वाद् गौणत्वमिति धर्मियुग्मगोचरोऽयं नैगमस्य द्वितीयो भेदः ॥ ९ ॥

क्षणमेकं सुखी विषयाऽऽसक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः ॥ १० ॥

अत्र हि विषयाऽऽसक्तजीवाऽऽख्यस्य धर्मिणो मुख्यता, विशेष्यत्वात्, सुखलक्षणस्य तु धर्मस्याप्रधानता, तद्विशेषणत्वेनोपात्तत्वादिति धर्मधर्म्यालम्बनोऽयं नैगमस्य तृतीयो भेदः। न चास्यैव प्रमाणाऽऽत्मकत्वानुषङ्गो धर्मधर्मिणोः प्राधान्येनात्र ज्ञप्तेरसंभवात् तयोरन्यतर एव हि नैगमनयेन प्रधानतयाऽनुभूयते। प्राधान्येन द्रव्यपर्यायद्वयाऽऽत्मकं चार्थमनुभवद्विज्ञानं प्रमाणं प्रतिपत्तव्यं नान्यत् ॥ १० ॥ (रत्ना०)

अथ संग्रहस्वरूपमुपवर्णयन्ति-

सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः ॥ १३ ॥

सामान्यमात्रमशेषविशेषरहितं सत्त्वद्रव्यत्वाऽऽदिकं गृह्णातीत्येवंशीलः, समेकीभावेन पिण्डीभूततया विशेषराशिं गृह्णातीति संग्रहः। अयमर्थः-स्वजातेर्दृष्टेष्टाभ्यामविरोधेन विशेषाणामेकरूपतया यद् ग्रहणं स संग्रह इति ॥ १३ ॥

अमुं भेदतो दर्शयन्ति-

अयमुभयविकल्पः-परोऽपरश्च ॥ १४ ॥

तत्र परसंग्रहमाहुः-

अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परसंग्रहः ॥ १५ ॥

परामर्श इत्यत्रैतनेऽपि योजनीयम् ॥ १५ ॥

उदाहरन्ति-

विश्वमेकं सदाविशेषादिति यथा ॥ १६ ॥

अस्मिन् उक्ते हि सदिति ज्ञानाभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताकत्वेनैकत्वमशेषार्थानां संगृह्यते ॥ १६ ॥ (रत्ना०)

अथापरसंग्रहमाहुः-

द्रव्यत्वाऽऽदीन्यवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः ॥ १७ ॥

द्रव्यत्वमादिर्येषां पर्यायत्वप्रभृतीनां तानि तथा, अवान्तरसामान्यानि सत्ताऽऽख्यमहासामान्यापेक्षया कतिपयव्यक्तिनिष्ठानि तद्भेदेषु द्रव्यत्वाऽऽद्याश्रयभूतविशेषेषु द्रव्यपर्यायाऽऽदिषु गजनिमीलिकामुपेक्षाम् ॥ १७ ॥

उदाहरन्ति-

धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामैक्यं द्रव्यत्वाभेदादित्यादिर्यथा ॥ २० ॥

अत्र द्रव्यं द्रव्यमित्यभिन्नज्ञानाभिधानलक्षणलिङ्गानुमितद्रव्यत्वाऽऽत्मकत्वेनैक्यं षण्णामपि धर्माऽऽदिद्रव्याणां संगृह्यते। आदिशब्दाच्चेतनाचेतनपर्यायाणां सर्वेषामेकत्वम्; पर्यायत्वाविशेषादित्यादि दृश्यम् ॥ २० ॥ (रत्ना०)

अथ व्यवहारनयं व्याहरन्ति-

संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः ॥ २३ ॥

संग्रहगृहीतान् सत्त्वाऽऽद्यर्थान् विधाय, न तु निषिध्य यः परामर्शविशेषः, तानेव विभजते, स व्यवहारनयस्तज्ज्ञैः कीर्त्यते ॥ २३ ॥

उदाहरन्ति-

यथा यत्सत्तद् द्रव्यं पर्यायो वेत्यादिः ॥ २४ ॥

आदिशब्दादपरसंग्रहगृहीतार्थगोचरव्यवहारोदाहरणं दृश्यम्। यद् द्रव्यं तज्जीवाऽऽदि षड्विधं, यः पर्यायः स द्विविधः-क्रमभावी, सहभावी चेति। एवं यो जीवः स मुक्तः संसारी च, यः क्रमभावी पर्यायः स क्रियारूपः, अक्रियारूपश्चेत्यादि ॥ २४ ॥ (रत्ना०)

द्रव्यार्थिकं त्रेधाऽभिधाय पर्यायार्थिकं प्रपञ्चयन्ति-

पर्यायार्थिकश्चतुर्धा-ऋजुसूत्रः, शब्दः, समभिरूढः, एवंभूतश्च ॥ २७ ॥

एषु ऋजुसूत्रं तावद्वितन्वन्ति-

ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः ॥ २८ ॥

ऋजु अतीतानागतकालक्षणलक्षणकौटिल्यवैकल्यात् प्राञ्जलम्, अयं हि द्रव्यं सदपि गुणीभावान्नार्पयति, पर्यायांस्तु क्षणध्वंसिनः प्रधानतया दर्शयतीति ॥ २८ ॥

उदाहरन्ति-

यथा सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्तीत्यादिः ॥ २९ ॥

अनेन हि वाक्येन क्षणस्थायिसुखाऽऽख्य पर्यायमात्रं प्राधान्येन प्रदर्श्यते, तदधिकरणभूतं पुनरात्मद्रव्य गौणतया नार्प्यते; आदिशब्दाद् दुःखपर्यायोऽधुनाऽस्तीत्यादिक प्रकृतनयनिदर्शनमभ्यूहनीयम ॥ २९ ॥ (रत्ना०)

शब्दनय शब्दयन्ति-

कालाऽऽदिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः ॥३१॥

कालाऽऽदिभेदेन कालकारकलिङ्गसंख्यापुरुषोपसर्गभेदेन ॥३२॥

उदाहरन्ति-

यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः ॥ ३३ ॥

अत्राऽतीतवर्तमानभाविष्यल्लक्षणकालत्रयभेदात् कनकाऽचलस्य भेद शब्दनयः प्रतिपद्यते । द्रव्यरूपतया पुनरभेदममुष्योपेक्षते । एतच्च कालभेदे उदाहरणम् । करोति क्रियते कुम्भ इति कारकभेदे, तटस्तटी तटमिति लिङ्गभेदे, दारा कलत्रमित्यादि सख्याभेदे, एहि मन्ये रथेन यास्यासि न हि यास्यसि यातस्ते पितेति पुरुषभेदे, सतिष्ठतेऽवतिष्ठत इत्युपसर्गभेदे ॥ ३३ ॥ (रत्ना०)

समभिरूढनयं वर्णयन्ति-

पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः ॥ ३६ ॥

शब्दनयो हि पर्यायभेदेऽप्यर्थाभेदमभिप्रैति, समभिरूढस्तु पर्यायभेदे भिन्नानर्थानभिमन्यते, अभेद त्वर्थगत पर्यायशब्दानामुपेक्षत इति ॥ ३६ ॥

उदाहरन्ति-

इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिषु यथा ॥ ३७ ॥

इत्यादिषु पर्यायशब्देषु यथा निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन्नभिप्रायविशेष समभिरूढः, तथाऽन्येष्वपि घटकुटकुम्भाऽऽदिषु द्रष्टव्य. ॥ ३७ ॥ (रत्ना०)

एवंभूतनयं प्रकाशयन्ति-

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाऽऽविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाऽभ्युपगच्छन्नेवंभूतः ॥ ४० ॥

समभिरूढनयो हीन्दनाऽऽदिक्रियायां सत्यामसत्यां च वासवाऽऽदेरर्थस्येन्द्राऽऽदिव्यपदेशमभिप्रैति, पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत् तथा रूढेः सद्भावात् । एवम्भूत. पुनरिन्दनाऽऽदिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्राऽऽदिव्यपदेशभाजमभिमन्यते, न हि कश्चिदक्रियाशब्दोऽस्यास्ति, गौरश्व इत्यादिजातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वाद्— गच्छतीति गौ., आशुगामित्वादश्व इति । शुक्लो नील इति गुणशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव-शुचिभवनात् शुक्लो, नीलनान्नील इति । देवदत्तो यज्ञदत्त इति यदृच्छाशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव-देव एन देयात्, यज्ञ एन देयाश्विति । सयोगिद्रव्यशब्दा. समवायिद्रव्यशब्दाश्चाभिमताः क्रियाशब्दा एव-दण्डोऽस्याऽस्तीति दण्डी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यास्ति क्रियाप्रधानत्वात् । पञ्चतयी तु शब्दानां व्यवहारमात्राद् न निश्चयादित्यय नय स्वीकुरुते ॥ ४० ॥

उदाहरन्ति-

यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः, शकनाक्रियापरिणतः शक्रः,पूर्दारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते ॥ ४१ ॥ रत्ना० ७ परि० ।

(६) ननु सर्वत्र वास्तव्येवापेक्षा नयप्रवृत्तिहेतुः, उत वैज्ञानिक्यपि ? । उच्यते- क्वचिद् वैज्ञानिक्यपि, यत्र मतभेदोऽध्यवसायः । तथा चाऽऽह-

नानानयमयो व्यक्तो, मतभेदो ह्यपेक्षया ।
कोट्यन्तरनिषेधस्तु, प्रस्तुतोत्कटकोटिकृत् ॥ ४ ॥

(नानेति) हि निश्चित मतभेद.—बौद्धौपनिषदादिदर्शनभेद ,नानानयमयः-स्वेच्छानिवेशितत्वेनाऽनेकनयाविकाररूप., वस्तुत्वप्रकृतिरूपो वा, अपेक्षया व्यक्तः, शुद्धपर्यायशुद्धद्रव्याऽऽद्यपेक्षयैव तत्तदर्थव्यवस्थितेः । नयविशेषतात्पर्यमेतद्, न त्वपेक्षेति चेत् । न । तात्पर्यस्याऽपि वस्तुसम्बन्धरूपापेक्षामालम्ब्य प्रवृत्ते., असति सम्बन्धे तात्पर्यस्य प्रामाण्याप्रसरात् । सा चेयमपेक्षा वैजातिकः सम्बन्ध., अत एव विकल्पसिद्धस्य धर्मिणः प्रतिषेधाऽऽदिसाधनमामनन्ति साम्प्रदायिका । ईश्वरो नास्ति, प्रकृतिर्नास्तीत्यादौ विशिष्टज्ञानाऽऽकाराविषयत्वेन तत्र धर्मिणो विकल्पसिद्धत्वाद्विशिष्टवस्तुसिद्धौ कथ विशिष्टाऽऽकारो भवेदिति चेत् ?; यथा तव विशिष्टानतिरेकेऽपि विशिष्टाभावोऽतिरिक्त. प्रतिबिम्बबलात् सिद्धः, तथा मम विशिष्टाऽऽकारोऽपीति किं बाधकम् ?; खण्डश. प्रसिद्धधर्मधर्मिरूपसद्उपरागेणासदाकारोत्पत्तेर्नास्त्यस्यातिप्रसङ्ग. [?] । यद्वा-आलयविज्ञानसन्ततिरूप आत्माऽपि यदि क्षणिक , किं पुनर्वाच्यं बाह्यवस्तुभिरिति वैराग्यप्रतिपन्थितृष्णोच्छेदकानित्यभावनोद्देशेन बौद्धदर्शनस्य ?, मुमुक्षुणा सर्वं परित्यज्य स्वात्मनिष्ठेन भवितव्यम्, स च एक एवेति शोकक्लेशाऽऽदिनिबन्धनानेकसम्बन्धबुद्धिमलप्रक्षालनगङ्गाजलसमानैकत्वभावनोद्देशेन च वेदान्तिकदर्शनस्य प्रवृत्ते : तत्तद्दर्शनार्थज्ञानेषु तत्तद्भावनोद्देशप्रयुक्तमेवापेक्षात्व, तेनैव तस्य सुनयत्वव्यवस्थितेः । अन्यथा बौद्धसिद्धान्ते बाह्यार्थज्ञानाऽऽदिवादानां, वेदान्तिसिद्धान्ते च प्रतिबिम्बाभासावच्छेदवादसृष्टिवादाऽऽदीनामन्योऽन्यविप्रतिषिद्धत्वेन जात्या दुर्नयत्व सम्यग्दृष्टिपरिग्रहेणाऽपि निराकर्तुमशक्यत्वात् । न हि जात्या हलाहल सद्वैद्यहस्तोपादानमात्रेणाऽमृनायते, रसायनीकरण तु तत्प्रोक्तापेक्षयैवेति दृढतरमवधेयम् ।

ननूक्तापेक्षयाऽतिशुद्धर्जुसूत्राऽऽदीनामितरनयार्थप्रतिषेधवृत्तौ कथ न दुर्नयत्वम् ?, इतरांशौदासीन्यस्यैव सुनयलक्षणत्वात् । दृश्यन्ते च ते नया. स्वसमये,परसमये च स्वेतरनयार्थबाधेनैव प्रगल्भमाना इत्याशङ्कयाऽऽह-कोट्यन्तरस्येतरनयार्थस्य, निषेधो निराकरण, प्रस्तुता या उत्कटकोटिस्तत्कारी,विशिष्टाविधेर्विशेषणविश्रामेण प्रस्तुतकोटेरुत्कटत्वकृदित्यर्थः । अय भाव -यदीतरनयार्थप्रतिषेधो द्वेषबुद्ध्या तदा दुर्नयत्वमेव, यदि चोक्तभावनादार्ढ्यानुगतस्वविषयोत्कर्षाऽऽधानाय, तदा सुनयत्वमेव, जात्या दुर्नयस्याऽपि चिन्ताज्ञानेन फलत सुनयीकरणाद्, भावनाज्ञानेन ऐदम्पर्यार्थप्रधानकरणप्रमाणवाक्यैकदेशत्वाऽऽपादनाच्च ।

तदाहु श्रीहरिभद्रसूरय. षोडशप्रकरणे-

"ऐदम्पर्यं शुद्ध्यति, यत्राऽसावागमः सुपरिशुद्ध. ।
तदभावे तद्देश , कश्चित् स्यादन्यथाग्रहणात् ॥ १२ ॥"

अस्य व्याख्या-ऐदम्पर्यं तात्पर्यं पूर्वोक्तं,शुध्यति स्फुटीभवति य-त्राऽऽगमे,असावागमः सुपरिशुद्धः प्रमाणभूतः,तदभावे ऐदम्पर्य-शुद्ध्यभावे,तद्देशः परिशुद्धाऽऽगमैकदेशः,कश्चिदन्य आगमः स्यात्, न तु मूलाऽऽगम एव,अन्यथाग्रहणाद् मूलाऽऽगमैकदेशस्य सतो विषयस्याऽन्यथाप्रतिपत्तेर्यतः समतामवलम्बमानास्तेऽपि तथे-च्छन्ति॥१२॥(षो० १६ विव०)तत्राऽपि च न द्वेषः कार्यो,विषयस्तु यत्नतो मृग्यः,तस्याऽपि न सद्वचनं सर्वं यत्प्रवचनादन्यदिति ।

नन्वथ स्वसमयनयवाक्येभ्यः परसमयनयवाक्यानां को विशेषः, फलतो जातितश्च शुद्ध्यशुद्ध्योरविशेषात् ?। न हि ज्ञानदर्शनलिङ्गचारित्राऽऽदिवादेषु स्वसमये स्थितपक्षोऽपि स्वविषये प्राधान्यं विदधानः ज्ञानाऽऽदिनयविषये च तन्निराकुर्वाणो जात्या शुद्धत्वमङ्गीकुरुते । तथा च स्थितपक्षवचनम्-" जम्हा दंसणनाणा, संपुण्णफलं न दिंति पत्तेयं । चारित्तजुआ दिंति उ, विसिस्सए तेण चारित्तं " ॥१॥ इति । अत्र हि ज्ञानाऽऽदिनये नैतद्वक्तुं शक्यम्, यथा त्वया संपूर्णफलप्रापकत्वेन चारित्रमुत्कृष्यते, तथा मया तदुपनायकत्वेन " दासेण मे * " इत्यादिन्यायाद् व्यापारतया चारित्रान्यथासिद्ध्यापादनाच्च ज्ञानाऽऽदिकमेवोत्कर्षमारोपणीयमिति । विजृम्भितं चेदमध्यात्ममतपरीक्षायां बहुधाऽस्माभिः । तथा च प्राधान्यस्याप्यनवस्थितत्वात् कुत्र केन नयेन जात्या व्यवस्थेयम् ?,फलतः शुद्धिस्तु स्वपरसमययोरविशिष्टेति चेत्,अत्रास्माकमाभाति-यथा देशप्रदेशकल्पपरमाणुवादीनां स्कन्ध[सबन्ध-] समबन्धान्यां भेदः, तथा स्वसमयपरसमयस्थविचित्रनयानां प्रमाणवाक्यान्तर्भावबहिर्भावाभ्याम्।तौ च पदार्थवाक्यार्थाऽऽदिन्यायेन साकाङ्क्षतया,स्वातन्त्र्येण निराकाङ्क्षतया चेति न जातिभेदाऽनुपपत्तिः।स्वसमये नयेषु निराकाङ्क्षप्रमाणबोधपर्यवसाने तदत्यन्तोत्कर्षरूपकेवलज्ञानफलोद्देशः,परसमये नयेषु च उक्तभावनामात्रफलोद्देश इति फलतोऽपि भेदो व्यक्त एवेति सर्वमवदातम्।

ननु यद्येवं नयार्था आपेक्षिकाः, तदा अवयव्येकत्वमपि द्वित्वाऽऽदिवद्बुद्धिजन्यमेव स्यात्; उभयमपि वा ज्ञानाऽऽकारमात्रं इति चेत् । न । एकत्वद्वित्वाऽऽदीनामनन्तानां संख्यापर्यायाणामेकद्रव्यवृत्तीनामेव सतां यथा क्षयोपशमबुद्धिविशेषेण प्रतिनियतानामेव ग्रहणमित्यभ्युपगमात् । युक्तं चैतत् । अन्यथा एकत्रैव घटे तद्रूपतद्रसवतोरैक्यमित्यादिना द्विवचनप्रयोगस्य, बहुषु करि-तुरग-रथ-पदातिषु सेनेत्येकवचनप्रयोगस्याऽनुपपत्तेः। अथैकत्वद्वित्वाऽऽदितत्तद्धर्मप्रकारकबुद्धिविषयत्वाऽऽदिकं गौणमेव द्वित्वाऽऽदिव्यवहारनिमित्तं, तच्च तत्तद्धर्मावच्छेदेन पर्याप्तमिति नैको द्वावित्यादेः प्रसङ्गः;मुख्यं तु द्वित्वम्-अपेक्षाबुद्धिजन्यं द्वित्वमन्यदेवेति न दोष इति चेत् । न । उक्तविषयतारूपद्वित्वाऽऽदेरप्येकत्वपर्याप्तत्वात् तत्तद्धर्मप्रकारतानिरूपितत्वविशिष्टविषयताया अपि क्वचित्संबन्धाऽऽदिभेदेन प्रकारताभेदादेकस्या अभावात्,भावेऽपि च द्वयस्य प्रत्येकानतिरिक्तत्वेन एकधर्मावच्छेदेन द्वित्वाऽऽदिपर्याप्तिप्रसङ्गाद्,धर्मगतद्वित्वस्यैव तत्पर्याप्त्यवच्छेदकताऽवच्छेदकत्वस्वीकारे च तत्राऽपि द्वित्वस्य वास्तवस्याऽभावाद् रूपत्वरसत्वाऽऽदिप्रकारकबुद्धिविषयत्वस्यैव गौणस्य स्वीकारे,तत्पर्याप्त्यवच्छेदकाऽऽदिगवेषणेऽनवस्थिते वास्तवद्वित्वाऽऽद्यभावे ज्ञानाऽऽकारतापर्यवसानेन साकारवादप्रसङ्गात् । तस्माद् द्रव्यत्वावच्छिन्नैकत्वाऽऽदेः पर्याप्तिस्वीकारेऽनेकान्तवाद एवानाविलो व्यवस्थेयेति ध्येयम् । अत एव-" दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं ।" इत्यादि पारमर्षम् ।

इदमप्यत्र विचार्यते-द्वित्वाऽऽदिकमपेक्षाबुद्ध्या जन्यं वा,व्यङ्ग्यं वेति ?। तत्र जन्यमेवेति नैयायिकाः। व्यङ्ग्यमिति प्राभाकराः । तत्र नैयायिकानयमाशयः-द्वित्वस्य व्यङ्ग्यत्वनये अपेक्षाबुद्धेर्द्वित्वत्वप्रकारकलौकिकप्रत्यक्षत्वकार्यताऽवच्छेदकत्वं वाच्यम्, जन्यत्वनये तु द्वित्वमेवेति लाघवम्। न च व्यङ्ग्यत्वनयेऽपि लौकिकप्रकारतासंबन्धेन द्वित्वमेव तत्कार्यताऽवच्छेदकं वक्तुं शक्यम्,गुणत्वसत्त्वव्याप्यजातित्वाऽऽदिना विनाऽप्यपेक्षाबुद्धिं तत्प्रत्यक्षप्रसङ्गात्,तेन रूपेण तत्प्रत्यक्षं प्रति तस्या हेतुत्वकल्पने चातिगौरवात्। न च स्वाश्रयविषयतया द्वित्वत्वस्य कार्यताऽवच्छेदकतया न दोष इति वाच्यम् । तथाऽपि व्यङ्ग्यत्वनये स्वाश्रयविषयत्वं कार्यताऽवच्छेदकताऽवच्छेदकः संबन्धः,जन्यत्वनये तु समवाय इति जन्यत्वपक्ष एव श्रेयान्,लाघवात्। अथ द्वित्वप्रत्यक्षेऽपि प्रत्यक्षत्वमेव कार्यताऽवच्छेदकम्, द्वित्ववृत्तिविषयतायाः कार्यताऽवच्छेदकसंबन्धत्वेनैवानतिप्रसङ्गात् । अन्यथा द्वित्वप्रत्यक्षस्य विषयतया द्वित्वत्वाऽऽदावपि जायमानत्वेन व्यभिचारात् अपेक्षाबुद्धित्वं कारणताऽवच्छेदकं, तच्च मानसत्वव्याप्यो जातिविशेषः,कारणताऽवच्छेदकः संबन्धः स्वविषयपर्याप्तत्वम्,तेन घटपटैकत्वबुद्धित्वेनाऽपेक्षाबुद्धेर्घटपटद्वित्वप्रत्यक्षहेतुत्वेऽनन्तकार्यकारणभावाऽऽपत्तिः, द्वित्वप्रत्यक्षताऽवच्छिन्नेऽपेक्षाबुद्धित्वेन सामान्यतो हेतुत्वेऽपि घटपटद्वित्वप्रत्यक्षकाले घटकुड्यद्वित्वप्रत्यक्षाऽऽपत्तिः,स्वविषयवृत्तित्वसंबन्धेनापेक्षाबुद्धेस्तत्राऽपि सत्त्वादित्यादिदूषणानवकाशः। घटपटैकत्वबुद्धेर्घटकुड्यद्वित्वे स्वविषयपर्याप्तत्वसंबन्धेनाऽसत्त्वादिति व्यङ्ग्यत्वनयेऽपि न गौरवमिति चेत् । न । एवं सति प्रत्यक्षत्वं वा कार्यताऽवच्छेदकं,ज्ञानत्वं वाऽनुभवत्वं वेत्यादौ विनिगमकाभावात् । किञ्च-व्यङ्ग्यत्वपक्षे मैत्रीयापेक्षाबुद्ध्या सन्निकर्षाऽऽदिवशाद् चैत्रीयप्रत्यक्षोत्पत्तिवारणाय चैत्रीयापेक्षाबुद्धित्वस्य चैत्रीयप्रत्यक्षत्वाऽऽदिना कार्यकारणभावो वाच्य इति गौरवमेव । अथ तव पुरुषान्तरापेक्षाबुद्धिजनितद्वित्वस्य पुरुषान्तराप्रत्यक्षत्वाय द्वित्वनिष्ठविषयतासंबन्धेन चैत्रीयप्रत्यक्षे मैत्रीयद्वित्वाऽऽदिभेदस्याऽपि हेतुत्वं कल्पनीयम् । यद्वा-चैत्रीयद्वित्वप्रत्यक्षं प्रति चैत्रापेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्वेन हेतुता कल्पनीया, कार्यताऽवच्छेदकः संबन्धो द्वित्वनिष्ठविषयताकारणताऽवच्छेदकस्तादात्म्यम्। अत एव-चैत्रमैत्रापेक्षाबुद्धिभ्यां तुल्यविषयाभ्यां युगपदुत्पन्नाभ्यामुत्पादितं द्वित्वमेकमेवेति मतेऽपि न क्षतिरिति कल्पनायामधिकं गौरवमिति चेत् । न। तद्गौरवस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वात् । यद्यपि द्वित्वाऽऽदावपेक्षाबुद्धेर्नैकत्वावगाहिबुद्धित्वेन हेतुता, अयं घट एक इति बुद्धितोऽपि द्वित्वोत्पत्त्यापत्तेः, नाऽपि नैकत्वावगाहिबुद्धित्वेन,अयमेकश्चिरन्तनो घटश्चैक इति बुद्धितोऽपि तदापत्तेः,तथाऽपि द्वित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदका मानसत्वव्याप्या नानाजातयो वाच्या , अन्यदा कदाचिद् द्वित्वं कदाचित्त्रित्वमिति नियमो न स्यात्। न च स्मृतित्वव्याप्यत्वमेव तासां न कुत ?, इति वाच्यम् , यद्व्यक्तिविशेष्यत्वैकस्मरणं कस्याऽपि न जातं, तत्र स्मरणाऽनुभवकार्यकारणभावकल्पने संस्कारव्यवधानेन क्षणविलम्बे च गौरवात्,स्मृतित्वव्याप्यत्वेऽपि स्मरणाऽऽत्मकैकत्वबुद्धिकल्पनाक्षणे मानसोत्पत्तौ बाधकाभावादुपनायकज्ञानघटितसामग्रीसत्त्वात् मानसं प्रति तत्तत्स्मृतिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पने च महागौरवात्। सन्तु वा चाक्षुषत्वाऽऽदि-

* 'दासेण मे खरो कीओ,दासो वी मे खरो वि मे" इतिन्यायः ।

व्याप्या नानाजातयः, द्वित्वाऽऽदौ मानाभावात्। द्वौ मय इत्यादिविलक्षणबुद्धेर्विजातीयज्ञानप्रकारभेदं विनाऽसंभवात्। अन्यथा-सर्वत्र विषयनिरपेक्षैरेव ज्ञानैस्तद्व्यवहारजननप्रसङ्गात्। न च ज्ञानित्वादिबुद्धेर्विजातीयज्ञानं विषयः, प्रत्यक्षानुभवत्वाऽऽपत्तेः। न च 'इमौ द्वौ मधुपौ, एते त्रयः कमलकह्लारकलहंसाः" इत्यादौ युगपदेव द्वित्वत्रित्वप्रतीतिः, एकत्र बुद्धौ द्वित्वजनकताऽवच्छेदकजात्यभ्युपगमे जातिसंकरप्रसङ्ग इति वाच्यम्; द्वित्वत्रित्वोत्पादकापेक्षाबुद्ध्युत्पादे सूक्ष्मकालभेदकल्पनात्, 'गिरिरयं वह्निमान्, अहं तद्ज्ञानवान्' इत्यनुमितिप्रत्यक्षयोरिव। अथ तत्र भिन्नविषयेऽनुमितिसामग्र्या प्रतिबन्धकत्वादस्तु तयोर्युगपदनुत्पादः, न तु प्रकृते इति चेत्, तर्हि प्रतिबन्धकं किञ्चिदत्राऽपि कल्प्यताम्, अन्यथाऽनुपपत्तेर्बलीयस्त्वात्। अस्तु वा तदत्रापेक्षाबुद्ध्याद्युभयजनकताऽवच्छेदको जातिविशेषः, स च द्वित्वत्रित्वयोस्तज्जन्यताऽवच्छेदको जातिविशेषः। एतेन समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानामविशिष्टत्वे द्वित्वत्रित्वाऽऽद्युत्पत्तिनियमे किं कारणम्?, द्वाभ्यामेकत्वाभ्यां द्वित्वं त्रिभिस्त्रित्वमारभ्यते इति वक्तुमशक्यत्वात्, एकत्वेषु द्वित्वाऽऽदेरभावात्। न च शुद्धयाऽपेक्षाबुद्ध्या द्वित्वं, द्वित्वसहितया च तया त्रित्वमुत्पाद्यते इत्यपि सुवचम्, द्वित्वत्रित्वयोर्युगपदेव तत्प्रत्ययविषयत्वात्। न चैकत्वेष्विव द्वित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदका जातिविशेषा अभ्युपेयाः, तत एव द्वित्वाऽऽदिव्यवहारोपपत्तौ द्वित्वाऽऽद्युच्छेदप्रसङ्गादित्यादिपर्यनुयोगो निरस्तः; अपेक्षाबुद्धिनिष्ठद्वित्वत्रित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदकजातिभेदेनैव ततः सामग्रीभेदात् एकापेक्षाधीजन्यद्वित्वत्रित्वयोरप्यन्यत्र परिपुष्टभेदकजातीयत्वेनैव भेदात्॥ उदयनाऽऽचार्यः-तद् द्वित्वप्रागभावगर्भैव द्वित्वसामग्री, त्रित्वप्रागभावगर्भा च त्रित्वसामग्रीति तयोर्विशेषः। इतोऽपि हि प्रागभावसिद्धिः; अन्यथा तयोर्विशेषो न स्यात्, पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वाऽऽदिकं प्रति पर्याप्तिसंबन्धेन तत्प्रागभाव एव नियामकः; अत एवैकस्मिन्पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वाऽऽदिप्रत्ययः तत्प्रागभावस्यैकस्मिन्पर्याप्त्यभावेन तस्याऽपि तदभावादित्याहुः॥ अथापेक्षाबुद्धिजन्यत्वे द्वित्वस्य 'द्वे द्रव्ये' इति लौकिकप्रत्यक्षानुपपत्तिः, अपेक्षाबुद्धिरथ द्वित्वम्, अथ द्वित्वत्वनिर्विकल्पकं, ततो द्वित्वत्वविशिष्टप्रत्यक्षं, तदेव च द्वित्वत्वनिर्विकल्पकेन स्वोत्तरवृत्तिविशेषगुणविधया जनितोऽपेक्षाबुद्धिविनाशः, ततश्च 'द्वे द्रव्ये' इति लौकिकप्रत्यक्षं, तदेव चापेक्षाबुद्धिविनाशाद् द्वित्वविनाश इति द्वित्वत्वाऽभिमता व्यवस्था, साऽत्रानुपपन्ना; अपेक्षाबुद्धेस्तज्जन्यसंस्कारेण द्वित्वनिर्विकल्पकोत्पत्तिक्षण एव नाशात्। योग्यविभुविशेषगुणनाशं प्रति स्वोत्तरवृत्तियोग्यजातीयविभुविशेषगुणत्वेन हेतुत्वात् सुषुप्तिप्राक्कालवर्तिज्ञाननाशकतयैव तत्सिद्धेः, अन्यथाऽनुभवत्वेनैव संस्काराऽन्यथासिद्धेरिति चेत्। न। अपेक्षाबुद्धेः संस्काराजनकत्वादपेक्षाबुद्धित्वस्यापि संस्कारजनकताऽवच्छेदककोटिप्रदेशात्। न चैवमप्यपेक्षाबुद्धिजनितैकत्वाऽऽदिविशिष्टबुद्ध्या अपेक्षाबुद्धिनाशप्रसङ्गः। तदुक्तम्-"अपेक्षाबुद्धिः संस्कारान् माकार्षीत्, विशिष्टबुद्धिस्तु कुर्यादेव" इति वाच्यम्, विशिष्टबुद्धिजननेऽपि द्वित्वसामग्र्यादेरेव फलबलेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्। वस्तुतोऽपेक्षाबुद्धिनाशे द्वित्वलौकिकप्रत्यक्षस्य विशिष्य कारणत्वकल्पनान्न दोषः। न च तथाऽपि पूर्वापेक्षाजनितद्वित्वनिर्विकल्पकेन स्वद्वितीयक्षणोत्पन्नेनापेक्षाबुद्धेस्तृतीयक्षणे नाशप्रसङ्गः, प्रतियोगितयाऽपेक्षाबुद्धिनाशे स्वविषयजनकत्वसंबन्धेन द्वित्वलौकिकप्रत्यक्षत्वेन हेतुत्वात्। नन्वेवमपि 'द्वे द्रव्ये' इति लौकिकप्रत्यक्षं कथं, तदुत्पत्तिक्षणे द्वित्वनाशादिति चेत्? नैवम्। द्वित्वस्य हि तत्प्रत्यक्षे विषयविधया हेतुत्वं, न तु कार्यसहवर्तितयेति दोषाभावात्। न हि सर्वेषां कारणानां कार्यसहवर्तितयैव हेतुत्वम्, प्रागभावप्रध्वंसाऽऽदेरहेतुत्वप्रसङ्गादिति॥ प्राभाकरवृद्धानुसारिणस्तु-सोऽयं नैयायिकाऽऽशयो न युक्तः, अनन्तद्वित्वाऽऽदिध्वंसप्रागभावाऽऽदिकल्पनायां गौरवात्, तद्व्यङ्ग्यत्वपक्षस्यैव युक्तत्वात्। अन्यथा नानापुरुषीयक्रमे काऽपेक्षाबुद्धिः?, समसंख्यतुल्यव्यक्तिकनानाद्वित्वाऽऽदिकल्पनेऽपि महागौरवात्। मम तु नित्यानामेव तेषां तत्तदपेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यत्वाद् दोषाभावात्। न चैवं तेषां जातित्वाऽऽपत्तिः, असमवायित्वे सत्यनेकसमवेतत्वस्य, समवेतत्वस्यैव वा जातिव्यवहारनिमित्तत्वात्। न च विशेषेऽतिप्रसङ्गः, तत्र मानाभावात्। किञ्च-द्वित्वाऽऽदेर्जन्यत्वे प्रतियोगितया नाशजन्यतन्नाशे स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेनापेक्षाबुद्धिनाशत्वेन हेतुता वाच्या; तथा च-द्व्यणुकपरिमाणहेतुपरमाणुद्वित्वस्येश्वरापेक्षाबुद्धिजन्यस्य नाशानुपपत्तिः। न च चैत्रीयद्वित्वनाशे चैत्रापेक्षाबुद्धिनाशो हेतुरित्येवं विशेष्यैव कल्प्यते; परमाणुद्वित्वे तु यादृशोपाधिविशिष्टया ईश्वरापेक्षाबुद्धेर्हेतुत्वं, तादृशोपाधिनाशादेव तन्नाशः, अविशिष्टायास्तस्या हेतुत्वे सर्वदा द्वित्वोत्पत्तिप्रसङ्गादिति वाच्यम्; स्वाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्नत्वेनैव तस्यापेक्षाबुद्धित्वमिति तन्नाशात्परमाणुद्वित्वनाशे तस्य क्षणिकत्वप्रसङ्गात्, अतिरिक्तानुगतोपाध्यनिर्वचनात्। अपि च-एवं तत्तद्द्वित्वनाशे तत्तदपेक्षाबुद्धिनाशत्वेन हेतुत्वे महागौरवम्। न च फलमुखत्वादस्यादोषत्वम्, अस्यां कल्पनायामेव तावद् गुरुतरं कल्पनीयमिति प्रागेवोपस्थितौ तद्दोषतया पङ्कलेपत्वात्, तद्दोषत्वे प्रागनुपस्थितेरेव बीजत्वात्। अपि च-मानसत्वाऽऽदिव्याप्यजातिविशेषेणापेक्षाबुद्धेर्द्वित्वाऽऽदिहेतुत्वे ईश्वरापेक्षाबुद्ध्या परमाणुद्वित्वाऽऽद्यजननापत्तिः, ईश्वरज्ञानसाधारणद्वित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदकजातिस्वीकारे च जन्यसाक्षात्कारित्वाऽऽदिना साङ्कर्यं भिन्नत्वाऽऽद्युत्पत्तिकाले द्वित्वाऽऽद्यापत्तिश्च दुर्निवारा। एतेन द्वित्वाऽऽदिजनकताऽवच्छेदकतयाऽपेक्षाबुद्धिनिष्ठलौकिकविषयत्वस्वीकारोऽपि निरस्तः, परार्धाऽऽदिसंख्याऽनुत्पत्तिप्रसक्तेश्च, तावद्यावद्द्रव्यवृत्तिलौकिकविषयताया असम्भवात्, ईश्वरीयापेक्षाबुद्ध्यैव तदुत्पत्त्यङ्गीकारे चाऽन्यत्रापि कारणान्तरोच्छेद इति न किञ्चिदेतदित्याहुः॥ केचित्तु द्वित्वत्रित्वाऽऽदिकं तुल्यव्यक्तिवृत्तिकमेव सामान्यम्, अनित्यस्य संयोगाऽऽदेरिव नित्यस्याऽपि द्वित्वाऽऽदेर्व्यासज्यवृत्तित्वे विरोधाभावात्, भिन्नेन्द्रियग्राह्याणां रूपरसाऽऽदीनामिव समानेन्द्रियग्राह्याणामपि सत्यप्येकावच्छेदेन समानदेशत्वे प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वे विरोधाभावात्, सहचारदर्शनमात्रस्याकिञ्चित्करत्वात्। भेदश्च विरुद्धधर्माऽध्यासात्। स च न्यूनाधिकदेशपर्याप्तवृत्तिकत्वमित्याहुः॥ परे तु घटकुटकुम्भकुशलेषु द्वित्वत्रित्वाऽऽदिप्रतीतावेकतरनाशे तद्व्यक्तेर्द्वित्वाऽऽदेरपि संयोगाऽऽदेरिव विनाशप्रत्ययादनित्यवृत्तिनानाव्यक्तिकमेव द्वित्वाऽऽदिकम्, आश्रयविनाशोत्पादाभ्यामेव तस्योत्पादविनाशौ। असमवायिकारणं तु चाऽऽश्रयस्यैकत्वं, परिमाणं वा, एकवृत्तिकमेकत्वमिव तुल्यव्यक्तिवृत्तिकं द्वित्वाऽऽद्यपि नाऽनेकम्, तुल्यव्यक्तिवृत्तिकाद्वित्वाऽऽदेः प्रतिबन्धकत्वात्। बुद्धिविशेषस्तद्व्यञ्जको, न तूत्पादको, नित्येषु चैकव्यक्तिकमनेकव्यक्तिकं वा नित्यमित्याहुः॥ वयं तु ब्रूमः-जन्यत्वनये अपेक्षाबुद्धेर्जनकता-

वच्छेदकमेकत्वान्यसंख्यात्वं वाच्यम् । यद्वा-एकत्वजन्यतावच्छेदकतया द्वित्वमारभ्य परार्द्धपर्यन्तमेका जातिः सिध्यति, लाघवात् । ननु जन्यसंख्यात्वमेवैकत्वजन्यताऽवच्छेदकं,कारणकार्यैकार्थप्रत्यासत्तिभेदात् इति तस्यैव द्वित्वाऽऽदिपरार्द्धपर्यन्तसंख्यावृत्तिजातिविशेषितस्य तथात्वम् । व्यञ्जकत्वनये चैकत्वाऽन्यसंख्याप्रत्यक्षत्वम् , उक्तजातिविशेषप्रत्यक्षत्वं वाऽपेक्षाबुद्धेर्जन्यताऽवच्छेदकं वाच्यम् । द्वयोरप्यनयोर्मतयोरेको धान्यराशिरित्यादिप्रत्ययसिद्धेः सामूहिकैकत्वे व्यभिचारः । न च तत्रैकत्वं गौणमेव, वस्तुतस्त्वपेक्षाबुद्ध्या राशि-सेना-वनाऽऽदौ बहुत्वविशेष एवोत्पाद्यते,व्यज्यते वेति वाच्यम्;स्वारसिकैकत्वानुभवविरोधात् । एते बहवः कणाः,एते बहवः करि-तुरग-रथ-पदातयः, एते बहवः आम्र-निम्ब-धव-खदिरा इत्यादौ राशित्व-सेनात्व-वनत्वाऽऽद्यनापत्तेश्च । अपेक्षाबुद्ध्या तत्र राशित्वाऽऽदिरूपस्यैव बहुत्वत्वमेकत्वद्वित्वान्यसंख्यात्वं त्रित्वमारभ्य परार्द्धपर्यन्तवृत्ति जातिविशेषो वा,राशित्वाऽऽदिरूपबहुत्वे चापेक्षाबुद्धिविशेषजन्यताऽवच्छेदकस्तद्व्याप्य एव जातिविशेषः । बहुत्वं च तदवच्छिन्नोपस्थितिनिश्चैकवचनान्तराश्यादिपदं वेति शाब्दबोधस्थलेनानुपपत्तिः । प्रत्यक्षे च बहव इत्यादौ क्वचिद् दोषवशात्तदग्रहान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम्; अनुभूयमानैकत्वप्रतीतेर्बहुत्वाविशेषेण समर्थने द्वित्वाऽऽदिप्रतीतेरप्येकत्वविशेषेणैव समर्थयितुं शक्यत्वाद्;वास्तवाभावे गौणानुपपत्तेरप्युक्तत्वाच्च । न च 'ताविमौ नीलपीतौ' इति गौणद्वित्वाऽऽदिलक्षणं द्वाविमौ घटपटावित्यत्र द्वित्वमनुभूयते । न चैकत्र ज्ञाने द्वित्वं प्रकारः, अन्यत्र तु नेत्यपि विनिगन्तुं शक्यम्; विजातीयज्ञानविषयत्वसम्बन्धेन स्वाश्रितस्वप्रकारतया बुद्धिवैलक्षण्योपपादनमप्युभयत्र तुल्ययोगक्षेमम् । एकत्राऽपि च घटे नीलत्वघटत्वाभ्यां द्वित्वमनुभूयत एव,अनुभूयते एव चैते वृक्षा वनमिति बहुत्वाऽवच्छिन्नेऽपि केनचिदुपाधिना एककारत्वमिति स्वसामग्रीप्रभवैकत्वद्वित्वानन्तपर्यायोपेतद्रव्य एवाक्षाबुद्धिहेतोरपेक्षाऽऽत्मकस्वभावतया क्षयोपशमं कदाचिदेकत्वप्रकारकं कदाचिच्च द्वित्वाऽऽदिप्रकारकं ज्ञानं जायते,इत्यपेक्षाबुद्धिगम्यत्वमेव द्वित्वाऽऽदेर्युक्तम् । अत एव नयरूपत्वादस्या नयान्तरसंयोजनया सप्तभङ्गीरीतिरपि संगता । यादृशविषयताविशिष्टाया अपेक्षाबुद्धेः परैर्जनकत्वं व्यञ्जकत्वं वा स्वीक्रियते, तादृशविषयतानिरूपितापेक्षात्वाऽऽख्यविषयता द्वित्वाऽऽदौ नाऽस्माकमसुलभा । सामान्यविशेषत्वाऽऽदेरापेक्षिकत्वेऽपीयमेव रीतिरनुसर्तव्या । न चैवमनपेक्षैकत्वद्वित्वाऽऽदिप्रत्यक्षाऽनुपपत्तिः,द्रव्यनयावलम्बनेनानपेक्षाऽऽत्मकविषयतान्तरस्याऽपि स्वीकारात् । अत एव सापेक्षत्वमपि स्याद्वादः, अस्मदुक्तपक्ष एवापेक्षाबुद्धिद्वित्वबुद्ध्योः पौर्वापर्यानवभासोपपत्तिः, अनन्तकार्यकारणभावप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाऽऽदिकल्पनागौरवदूषणानवकाशश्चेति सर्वमवदातम् ।

(७) तस्मात्स्वसमये परसमये एकत्वद्वित्वाऽऽदिप्रकारकनानाविधलौकिकव्यवहारे च नयापेक्षयैव विविक्तो बोध इति स्थितम् । फलितमाह-

> तेन सापेक्षभावेषु, प्रतीत्यवचनं नयः ।
>
> अभावाऽभावरूपत्वात्, सापेक्षत्वं विधावपि ॥ ५ ॥

(तेनेति) तेनोक्तहेतुना सापेक्षत्वभावेषु परस्परप्रतियोगिषु धर्मेषु प्रतीत्यवचनमपेक्षाऽऽत्मकं वाक्यं नय इति सिद्धम् । नन्वेवं स्यान्नाऽस्त्येवेत्येकवचनं नयः स्यात्, न तु स्यादस्त्येवेति, तदर्थस्य विधेरप्रतियोगिकत्वात् । अत एवाऽऽह-विधावपि अस्तित्वाऽऽदिभावेऽपि, अभावाभावरूपत्वान्नास्तित्वाऽऽद्यभावरूपत्वात्तेन रूपेण प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणतया सापेक्षत्वमस्त्येव ।

अथ भावः-अभावज्ञानेऽपि न सर्वत्र प्रतियोगिज्ञानापेक्षा,प्रतियोगिज्ञानं विनाऽपीदन्त्वप्रमेयत्वाऽऽदिनाऽभावभानस्य सार्वजनीनत्वात् । घटाभावत्वाऽऽदिना घटाऽभावाऽऽदिज्ञाने घटज्ञानाऽऽद्यपेक्षाप्रतियोगिनिरूपणेन तेषां सप्रतियोगिकत्वं ग्रहीष्यते, तर्हि नास्तित्वाभावत्वाऽऽदिनाऽस्तित्वाऽऽदीनां तेन रूपेण तथात्वे तुल्यमभावाभावः प्रतियोग्येवेति परेषामपि मूलसिद्धान्तात्, संयोगाऽऽद्यभावेष विशेषणतात्वकल्पनया निर्बाढेण नास्तीति प्रतीतिबलादतिरिक्त एव स इति नव्यमतनिर्युक्तिकत्वात् । तस्मात्स्वरूपतोऽभावाभावत्वयोरपि निष्प्रतियोगिकत्वं, विशिष्टतया तु द्वयोरपि सप्रतियोगिकत्वमिति स्याद्वाद एव श्रेयान् । अथ निष्प्रतियोगिकाभावपक्षे प्रतियोगिज्ञानस्याऽभावप्रत्यक्षहेतुत्वे विना प्रतियोगिज्ञानेनेत्याकारकप्रत्ययाऽऽपत्तिः । न चाभावत्वस्याऽपीदन्त्वेन ग्रहादापादकाभावः, प्रथममभावाभावत्वयोर्निर्विकल्पकेऽभाव इत्याकारकप्रत्यक्षाऽऽपत्तेर्दुर्वारत्वात्,इन्द्रियस्य चक्षुस्त्वगादिभेदभिन्नत्वेन महागौरवम् । न च पृथक्प्रतियोगिधीहेतुत्वेऽपि नेत्याकारकप्रत्यक्षाऽऽपत्तिः, उपस्थितस्य प्रतियोगिनोऽभावे वैशिष्ट्यभाने बोधकाभावात् । न चाऽभावो न घटीय इत्यादिबाधधीदशायां तदापत्तिः, अभावत्वावच्छेदेनाभावे तादृशबाधधियः आहार्यत्वात्, अभावत्वसामानाधिकरण्येन च तद्दशायामपि प्रतियोगिवैशिष्ट्यभानसम्भवात् । यद्वा-घटत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताकस्य प्रत्यक्षे घटाऽऽदिधियो हेतुत्वम्, अन्यथा घटाऽऽद्यभाव इत्याकारकप्रत्यक्षं च न जायते, निखिलप्रतियोगिज्ञानकार्यताऽवच्छेदकाऽऽक्रान्तदृशप्रत्यक्षं यत्किञ्चित्प्रतियोगिज्ञाने असंभवात्, यावत्प्रतियोगिज्ञानस्य चाऽसंभवात्, अभावत्वांशे निर्विकल्पकत्वं, भावांशे यत्किञ्चित्प्रतियोगिविशिष्टविषयत्वाद् यत्किञ्चित्प्रतियोगित्वात् साध्यमेवेति नानुपपत्तिरिति चेत् । न । प्रतियोगिज्ञानाभावेऽप्यभावत्वमात्रेण प्रत्यक्षस्येष्टत्वात्, शून्यमिदं दृश्यते इत्यादिप्रत्ययात् तत्समेवाभावत्वस्य भावभेदस्य पिशाचाऽऽदिभेदवद् योग्यस्य घटो नाऽस्तीत्यादौ स्वरूपतो भानमिति प्राचां वचनस्योपपत्तेः । नञुल्लेखस्तु प्रतियोगिवाचकपदनियतो न सार्वत्रिकः । किञ्च-उक्तरीत्या प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वे केवलाऽभावत्वनिर्विकल्पकाऽऽपत्तिः, अभावत्वस्याखण्डत्वात् । अन्यथाऽभावविशिष्टबुद्धावपि तन्निर्विकल्पकायोगात् । अपि च-घटपटौ नेत्यादिप्रत्यक्षे घटज्ञानपटज्ञानाऽऽदिकार्यताऽवच्छेदकाऽनाऽऽक्रान्ततया तद्विरहेऽपि स्यात्, तस्माद् घटपटत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविषयताकप्रत्यक्षत्वमेव लाघवाद् घटाऽऽदिधीकार्यताऽवच्छेदकं युक्तमिति घटाऽस्तित्वनास्तित्वयोः सप्रतियोगिताऽप्रतियोगिकत्वे तुल्ययोगक्षेमे, त्वदुक्तहेतुसद्भावेऽपि लाघवाद् भावांशत्यागेन केवलाऽभावस्येव केवलभावस्याऽपि न भानमिति वक्तुं शक्यत्वात्, निर्विकल्पके प्रमाणाभावात् क्षयोपशमविशेषेणैव तद्विशिष्टज्ञानोपपत्तौ तस्य तदकल्पकत्वात् । अत एव "द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः । क्व कदा केन किंरूपा, दृष्टा मानेन केन वा ? " ॥१॥ इत्यसम्मप्रदायवृद्धाः सङ्गिरन्ते । शुद्धाभावप्रत्यक्षप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताकप्रत्यक्ष एव विशेषणतया हेतुत्वाच्च भवतीत्यपि रिक्तं वचः, प्रतियोगितामात्रेण द्रव्यं नास्ति मेयं नास्तीत्यादे

वापत्ते ; प्रकारीभूतकिञ्चिद्धर्मावच्छिन्नस्यैव प्रतियोगिताविशेषणेऽपि न विस्तारः, घटाऽभावपटाऽभावयोरुभयो. संनिकर्षे घटाऽभावांशे प्रतियोगिविशेषितस्य पटाभावांशे च तदविशेषितस्य समूहाऽऽलम्बनस्य प्रमाणात् । किञ्चैवमिदन्त्वादिनाऽभावप्रत्यक्ष न स्यात्, न स्याद्घाभावप्रतियोगिघट इत्याद्याकार, तादृशप्रत्यक्षेष्वपि पृथक्कारणत्वकल्पने चाऽतिगौरवम् । तस्मात्संनिकर्षमात्रस्यैव किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नविषयतानिरूपितविषयताकप्रत्यक्षत्वाऽवच्छिन्ने, विशिष्टाऽऽकारप्रत्यक्षत्वाऽवच्छिन्ने वा हेतुत्वम् । अतो नापायमात्रस्य विचारजन्यचरमशुद्धद्रव्योपयोगितुल्यतेति भावांशेऽभावांशे वा न शुद्धविषयक प्रत्यक्षमित्यभाव एव सापेक्षो, न भाव इति किमिदमर्द्धजरतीयम् । एतेनाऽभावलौकिकप्रत्यक्षस्य घटाऽऽद्यन्यतमविशिष्टविषयकत्वनियमाद्विशेषसामग्रीं विना सामान्यसामग्रीमात्रात् कार्यानुत्पत्तेर्नाभावनिर्विकल्पक, नेत्याकारकप्रत्यक्ष वा,विशेषणाऽऽदिज्ञानरूपविशेषसामग्र्यभावात्।न चाऽभावलौकिकप्रत्यक्षत्वघटत्वाऽऽदिविशिष्टविषयकप्रत्यक्षत्वयोर्व्याप्यव्यापकभावाऽभावात्कथं विशेषसामग्रीत्वमिति वाच्यम्;कार्यताऽवच्छेदकीभूततद्धर्माऽऽश्रययत्किञ्चिद्व्यक्तिनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताऽवच्छेदकयावत्प्रत्येकवत्तदवच्छिन्नसामग्रीत्वादवश्य कार्यतद्धर्मावच्छिन्नोत्पत्तिरित्येव नियमात्, तद्धर्मव्याप्यधर्माऽवच्छिन्नयत्किञ्चिद्व्यक्तिनिष्ठकार्यतानिरूपितेत्याद्युक्तौ व्याप्तिज्ञानपरामर्शयो सत्त्वे बाधधीसत्त्वेऽप्यनुमित्यापत्तौ [सद्धर्म] तद्धर्मव्याप्यव्यापकधर्माऽवच्छिन्नयत्किञ्चिद्व्यक्तिनिष्ठकार्यतानिरूपितेत्याद्युक्तौ गौरवात् । घटत्वाऽऽदिविशिष्टवैशिष्ट्यविषयकप्रत्यक्षत्वस्याऽभावलौकिकप्रत्यक्षत्वव्याप्यतत्सद्भावालौकिकप्रत्यक्षत्वव्याप्यतत्सद्भावलौकिकप्रत्यक्षत्वव्यापकत्वात्प्रकृतासिद्धेश्चेत्यादि नव्यकल्पनाऽपि निरस्ता । एवं सति द्रव्यविषयकप्रत्यक्षस्य,वस्तुविषयकप्रत्यक्षस्य वा यत्किञ्चित्पर्याप्तिविशिष्टविषयकत्वनियमेन भावनिर्विकल्पकस्य शुद्धभावप्रत्यक्षस्याऽपि चाऽसम्भवात्। अत एव संविचारया सामान्यदृष्ट्या सर्वं निर्विकल्पकम्, विशेषदृष्ट्या च सर्वं सविकल्पकमित्यनेकान्तः पुरुषदृष्टान्तेन सम्मतौ प्रतिपादित ।

तथाहि-

"वजणपज्जायस्स उ, पुरिसो पुरिसो त्ति निच्चमविअप्पो ।
बालाऽऽइवियप्पं पुण, पासइ से अत्थपज्जाओ ॥ ३४ ॥
सविअप्प णिव्विअप्प, इय पुरिसं जो भणेज्ज अवियप्प ।
सविअप्पमेव वा णि-च्छएण ण य णिच्छिओ समए ॥३५॥"

व्याख्या-व्यञ्जयति व्यनक्ति अर्थानिति व्यञ्जन शब्द , न पुन शब्दनय , तस्य ऋजुसूत्रसमानपर्यायविषयत्वात् । तस्य पर्यायो वाच्यता तद्ग्राहकनयेन पुरुष पुरुष इति पुरुषत्वप्रकारकज्ञानविषय इति नित्यमाजन्मनो मरणान्त यावदविकल्प. पुरुषत्वाऽतिरिक्ताप्रकारकज्ञानाविषय । इदमुपलक्षणम्-द्रव्यवस्तुत्वाऽऽदिनाऽप्यविकल्पत्वस्य शुद्धद्रव्योपयोगे तु पदद्वयस्य निर्धर्मकत्वलक्षणया शुद्धधर्मिविषयकमानविषयत्वमेवाविकल्पकत्व द्रष्टव्यम् । 'से' तस्य पुरुषस्याऽर्थपर्याय ऋजुसूत्राद्यर्थग्राहकनय. पुनर्बालाऽऽदिविकल्पमेव वा,निश्चयमविकल्प स्यात्काराऽङ्कितत्तदुभयपदघटितमहावाक्यबोध्यस्वरूपपुरुषद्रव्य यो भणेद्-अविकल्पमेव सविकल्पमेव वा निश्चयेनैकान्तेन स्वसमये परमार्थे न निश्चित.-निश्चयो निश्चित तदस्यास्तीति निश्चित , अर्श आदित्वादच्प्रत्ययो, न तदन्यथेत्यर्थः । दुर्नयाभिवेशान्नयद्वयाद्वा संपूर्णानेकान्तवस्तुस्वरूपापरिच्छेदादिति रहस्यम् ॥ तदेव निषेधवद् विधावपि एतत्व प्रतिपादितम् । एवं स्वद्रव्याऽऽद्यपेक्षया सन् परद्रव्याऽऽद्यपेक्षयाऽसन् इति तृतीयोल्लिख्यमानावच्छेदकप्रतीत्याऽपि सापेक्षत्व भावनीयम् । अत एव परेऽपि व्याप्यवृत्तावव्याप्यवृत्ताविव प्रतीतिबलात् तत्तदवच्छिन्नवृत्तिकल्पन स्वीकुर्वते इति दिक् । नयो० । रत्ना० ।

(७) सामान्यविशेष.। एव निर्विकल्पसविकल्पस्वरूपे प्रतिपाद्यैव पुरुषाऽऽदिवस्तुनि तद्विपर्ययेण तद्वस्तु प्रतिपादयन् वस्तुस्वरूपानवबोधस्वात्मानि व्यापयतीति दर्शनार्थमाह-

सविअप्पणिव्विअप्पं, इय पुरिसं जो भणेज्ज अविअप्पं ।
सविअप्पमेव वा णि-च्छएण ण य निच्छिओ समए ॥३५॥

सविकल्पनिर्विकल्प स्यात्कारपदलाञ्छित पुरुष द्रव्य य. प्रतिपादकस्तद्वस्तु ब्रूयादविकल्पमेव सविकल्पमेव वा, निश्चयेनेत्यवधारणेन, स यथाऽवस्थितवस्तुप्रतिपादने प्रस्तुतेऽन्यथाभूतं वस्तुतत्त्व प्रतिपादयन्न निश्चित इति निश्चित तदस्यास्तीति निश्चित.,अर्श आदित्वादच् । समये परमार्थिनो वस्तुसत्त्वस्य परिच्छेत्तेति यावत् । तथाहि-प्रमाणपरिच्छिन्न तथैव वादिसुसंवादि वस्तु प्रतिपादयन् वस्तुनः प्रतिपादक इत्युच्यते । न च तथाभूतं वस्तु केनचित्कदाचित् प्रतिपन्न प्राप्यते वा,येन तथाभूत तद्वस्तत्र प्रमाण भवेत्, तथाभूतवचनाभिधानात् । न चाप्रमाणतया लोके व्यपदेशमासादयेत् ।

परस्पराक्रान्तभेदाभेदाऽऽत्मकस्य वस्तुन सदसद्भावमभिधायकस्य वचस पुरुषस्याऽपि तदभिधानद्वारेण सम्यग् मिथ्यावादित्वं प्रतिपाद्याधुना भावविषय तत्रैवैकान्तानेकान्ताऽऽत्मकमश प्रतिपादयतो विवक्षया सुनयदुर्नयप्रमाणरूपतां तत्प्रतिपादक वचो यथाऽनुभवति, तथा प्रपञ्चत प्रतिपादयितुमाह । यद्वा-यथैव तद्वस्तु व्यवस्थित तथैव वचनात्प्रतिपादयतो निपुणत्व भवति । अन्यथा साङ्ख्यबौद्धकणभुजामिव भिन्नाभिन्नपरस्परनिरपेक्षोभयवस्तुस्वरूपाभिधानाया वस्तुधर्ममर्हन्मतानुसारिणामपि स्याद्स्तीत्यादिसप्तविकल्परूपतामनापन्नवचनलक्षणस्यात्कारपदालाञ्छितवस्तुधर्मप्रतिपादयतामनिपुणता भवेदिति प्रपञ्चतः सप्तविकल्पोत्थाननिमित्तमुपदर्शयितु गाथासमूहमाह-

अत्थंतरभूएहि अ, नियएहि य दोहि समयमाईहिं ।
वयणविसेसाऽऽईयं, दव्वमवत्तव्वयं पडइ ॥ ३६ ॥

अस्यास्तात्पर्यार्थः.-अर्थान्तरभूत पटाऽऽदि , निजो घट',नाभ्यां निजार्थान्तरभूताभ्या सदसत्त्व घटवस्तुनः प्रथमद्वितीयभङ्गनिमित्तं प्रधानगुणभावेन भवतीति प्रथमद्वितीयौ भङ्गौ । यदा तु ताभ्यामपि युगपत्तद्वस्त्वभिधातुमभीष्टं भवति, तदाऽवक्तव्यप्रश्ननिमित्त तथाभूतस्य वस्तुनोऽभावात् तत्प्रतिपादकवचनातीतत्वात् तृतीयभङ्गसद्भावो, वचनस्य वा तथाभूतस्याभावादवक्तव्य वस्तु । तथाहि-असत्त्वोपसर्जनसत्त्वप्रतिपादने प्रथमो भङ्ग , तद्विपर्ययेण तत्प्रतिपादने द्वितीय., द्वयोस्तु धर्मयो. प्राधान्येन गुणभावेन च प्रतिपादने न किञ्चिद्वच समर्थं, यतो न तावत्समासवचनं तत्प्रतिपादकम्, नापि वाक्य संभवति । समासः षड्विध. । तावन्न बहुव्रीहिरत्र समर्थ ,तस्याऽन्यपदार्थप्रधानत्वात्, अत्र चोभयप्रधानत्वात् । अव्ययीभावोऽपि नात्र प्रवर्त्तते, तस्याऽऽर्थेऽसम्भवात् । द्वन्द्वसमासे तु यद्यप्युभयपद-

प्राधान्यं,तथाऽपि द्रव्यवृत्तिस्तावन्न प्रकृतार्थप्रतिपादकः,गुणवृत्तिरपि द्रव्याऽऽश्रितगुणप्रतिपादको,द्रव्यमन्तरेण गुणानां तेषूत्पादादिक्रियाऽऽरम्भासंभवात्तस्या द्रव्याऽऽश्रितत्वात् न प्रधानाऽऽश्रितयोर्गुणयोः प्रतिपाद्यत्वम् । तत्पुरुषोऽपि नाऽत्र विषये प्रवर्त्तते, तस्याऽप्युत्तरपदार्थप्रधानत्वात् । नाऽपि द्विगुः, सङ्ख्यावाचिपूर्वपदत्वात्तस्य । कर्मधारयोऽपि न, गुणाऽऽधारद्रव्याऽऽश्रयत्वात् । न च समासान्तरसद्भावः,येन युगपद्गुणद्वयं प्रधानभावेन समासपदवाच्यं स्यात् । अत एव न वाक्यमपि तथाभूतगुणद्वयप्रतिपादकं संभवति, तस्यापि पृथग्भिन्नार्थत्वात् । न च केवलं पदं वाक्यं वा लोकप्रसिद्धम्, तस्याऽपि परस्परापेक्षद्रव्याऽऽदिविषयतया तथाभूतार्थप्रतिपादकत्वायोगात् । न च-"तौ सत्" ॥३।२।१२७॥ (पाणि०) इति शतृशानचोरिव साङ्केतिकपदवाच्यत्वम्, विकल्पप्रभवशब्दवाच्यत्वप्रसक्ते, विकल्पानां च युगपदप्रवृत्तेर्नैकदा तयोस्तद्वाच्यतासंभवः,न च तेनार्थान्तरैकान्ताभ्युपगमेऽप्यर्थस्य वाच्यता, तथाभूतस्यात्यन्तासत्त्वात्, सर्वथा भवेऽनयोर्व्यावृत्तत्वान्महासामान्यवदवाच्यत्वानुपपत्तेः, अर्थान्तरत्वे पररूपादिव स्वरूपादपि व्यावृत्तौ खरविषाणवदसत्त्वादवाच्यत्वैव । न च घटत्वे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्ते विधिरूपे सिद्धे असत्त्व एव अर्थान्तरत्वे पररूपादपि तत्र पटाऽऽद्यर्थप्रतिषेध इति वाच्यम्, पटाऽऽदेस्तत्राभावाभावत्वे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य घटत्वस्यैवासिद्धेः, शब्दानां चार्थज्ञापकत्वं न कारकत्वमिति तथाभूतार्थप्रकाशेन तथाभूतेन शब्देन विज्ञेयमिति नासंबद्धस्तत्र पटाऽऽद्यर्थप्रतिषेध । अथवा सर्वं सर्वाऽऽत्मकमिति साङ्ख्यमतव्यवच्छेदार्थं तत्प्रतिषेधो विधीयते, तत्र तस्य प्रतीत्यभावात् । यद्वा-नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेषु विधित्सिताविधित्सितप्रकारेण प्रथमतृतीयौ भङ्गौ,न च तत्प्रकाराभ्यां युगपदादिष्टोऽयम्, तथाऽभिधेयपरिणामरहितत्वात्तस्य,यतो यद्यपि विधित्सितरूपेणाऽपि घटः स्यात्,प्रतिनियतनामाऽऽदिभेदव्यवहाराभावप्रसक्तिः । तथा च विधित्सितस्याऽपि नाऽस्मत्तान् इति सर्वाभाव एव भवेत् । तथा यद्यविधित्सितप्रकारेणाऽप्यघटः स्यात्,तदा तन्निबन्धनव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरेव,एकपक्षाभ्युपगमेऽपि तदितराभावे तस्याप्यभाव इत्यपि वाच्य । अथवा-स्वीकृतप्रतिनियतप्रकारे तत्रैव नामाऽऽदिके यःसंस्थानाऽऽदिस्तत्स्वरूपेण घटः, इतरेण चाघट इति प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तेरवाच्यः । विवक्षितसंस्थानाऽऽदिनेव यदीतरेणाऽपि; घटरूपादेकस्य सर्वघटाऽऽत्मकत्वप्रसक्तिः । अथ विवक्षितेन, अघटे पटाऽऽदाविव घटार्थिनस्तत्राऽप्यप्रवृत्तिप्रसक्तिः । एकान्ताभ्युपगमेऽपि तथाभूतस्य प्रमाणाऽविषयत्वतोऽसत्त्वादवाच्य ॥३॥ यदि वा-स्वीकृतप्रतिनियतसंस्थानाऽऽदौ मध्यावस्थायां निजरूपम्,कुशूलकपालाऽऽदिलक्षणे पूर्वोत्तराऽवस्थेऽर्थान्तररूपम्, ताभ्यां सदसत्त्वे प्रथमद्वितीयौ, युगपत्ताभ्यामभिधातुमसामर्थ्यादवाच्यलक्षणस्तृतीयो भङ्गः। तथाहि-मध्यावस्थावदितरावस्थायामपि यदि घटः स्यात्तस्यानाऽऽद्यनन्तत्वप्रसक्तिः। अथ मध्यावस्थारूपेणाऽप्यघट, सर्वदा घटाभावप्रसक्तिः। अतीतानागतवर्त्तमानक्षणरूपतया सदसत्त्वात् प्रथमद्वितीयभङ्गौ,ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तेरवाच्यलक्षणस्तृतीय । तथाहि-यदि वर्त्तमानक्षणवत्पूर्वोत्तरक्षणयोरपि घटः स्याद्वर्त्तमानक्षणत्वमेवाऽसौ जात, पूर्वोत्तरयोर्वर्त्तमानताप्राप्ते । न च वर्त्तमानक्षणमात्रमपि, पूर्वोत्तरापेक्षस्य तदभावेऽभावात् । अथाऽतीतानागतवर्त्तमानक्षणरूपतयाऽप्यघट, एवं सति सर्वदा तस्याभावप्रसक्तिः, एकान्तपक्षेऽप्ययमेव दोष इत्यभावादेवावाच्यः ॥४॥ यद्वा-रूपपरिणतिरूपे घटे लोचनजप्रतिपत्तिविषयत्वाभ्यां निजार्थान्तरभूताभ्यां सदसत्त्वात् प्रथमद्वितीयौ भङ्गौ,ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तयोऽवाच्यः। तथाहि-लोचनजप्रतिपत्तिविषयत्वेनेव यदीन्द्रियान्तरजप्रतिपत्तिविषयत्वेनाऽपि घटः स्यादिन्द्रियान्तरकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिः, इन्द्रियसङ्करप्रसक्तिश्च । अथेन्द्रियान्तरजप्रतिपत्तिविषयत्वेनेव चक्षुर्जप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि न घट,तर्हि तस्याऽरूपत्वप्रसक्तिरेकान्तवादेऽपि तदितराभावे तस्याप्यभावादवाच्य एव । अथ वा-लोचनजप्रतिपत्तिविषये तस्मिन्नेव घटे घटशब्दवाच्यता निजं रूपं, कुटशब्दाभिधेयत्वमर्थान्तरभूतं रूपं, ताभ्यां प्रथमद्वितीयौ, युगपत्ताभ्यामभिधातुमिष्टोऽवाच्य । यदि हि घटशब्दवाच्यत्वेनेव कुटशब्दवाच्यत्वेनापि घट स्यात्तर्हि त्रिजगत एकशब्दवाच्यताप्रसक्तिः, घटस्य वाऽशेषपटाऽऽदिशब्दवाच्यत्वप्रतिपत्तौ समस्तवाचकशब्दप्रतिपत्तिप्रसङ्गश्च । तथा घटशब्देनाऽपि यद्यवाच्य स्याद्, घटशब्दोच्चारणवैयर्थ्यप्रसक्ति । एकान्ताभ्युपगमेऽपि घटस्यैव सत्त्वात्सङ्केतद्वारेणाऽपि न तद्वाचक कश्चिच्छब्द इत्यवाच्य एव । अथवा-घटशब्दाभिधेये तत्रैव घटे हेयोपादेयान्तरङ्गबहिरङ्गोपयोगायोगरूपतया सदसत्त्वात्प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः। यदि हि हेयबहिरङ्गार्थक्रियाकार्यसन्निहितरूपेणार्थक्रियाक्षमाऽऽदिरूपेणेव घट स्यात्,तदा पटाऽऽदीनामपि घटत्वप्रसक्तिः, तर्हि घटोपादेयसन्निहिताऽऽदिरूपेणाप्यघटः स्यात् । अन्तरङ्गस्य वक्त्रनुगतहेतुफलभूतघटाकारावबोधकत्वे तस्योपयोगस्याऽप्यभावे घटस्याऽप्यभावप्रसङ्ग इत्यवाच्यः,एकान्ताभ्युपगमेऽप्ययमेव प्रसङ्ग इत्यवाच्यः । अथवा-तत्रैवोपयोगवदर्थावबोधकत्वानभिमतार्थाऽनवबोधकत्वेन सदसत्त्वात् प्रथमद्वितीयौ , ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः, विवक्षितार्थप्रतिपादकत्वेनेवेतरेणाऽपि यदि घट स्यात्प्रतिनियतोपयोगाभाव, तथाऽभ्युपगमे प्रतिनियतरूपोपयोगप्रतिपत्तिर्न भवेत् । तदुपयोगरूपेणापि यद्यघटो भवेत्,तदा सर्वाभावो, विशेषप्रसङ्गो वा । न चैवम्, तथाऽप्रतीते; एकान्तपक्षेऽप्ययमेव प्रसङ्ग इत्यवाच्यः ॥ ६ ॥ अथवा सत्त्वमसत्त्व वाऽर्थान्तरभूतं, निजं घटत्व,ताभ्यां प्रथमद्वितीयावभेदेन,ताभ्यामनिर्दिष्टो घटोऽवक्तव्यो भवति । तथाहि-यदि सत्त्वमासाद्य घटत्वं विधीयते तदा सत्त्वस्य घटत्वव्याप्तेर्घटस्य सर्वगतत्वप्रसङ्ग, तथाऽभ्युपगमे प्रतिभासबाध्यव्यवहारविलोपश्च । तथा-असत्त्वमर्थमभ्यनूद्य यदि घटत्वं विधीयते, तर्हि प्रागभावाऽऽदेश्चतुर्विधस्याऽपि घटेन व्याप्तेरघटत्वप्रसङ्ग, अघटत्वमनूद्य सत्त्व विधीयते तदा घटत्व असदेव सदसत्त्वे प्रसज्येत । तथा च-पटाऽऽदीनां प्रागभावाऽऽदीनां वा भावप्रसक्तिरिति प्राक्तनन्यायेन विशेषणविशेष्यलोपात्स न घट इत्येवमवक्तव्योऽघट इत्येवमप्यवक्तव्य ; न चैतत्तो वाच्य, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवाच्य इति न कश्चिद्दोष ॥ १० ॥ यद् व्यञ्जनपर्यायोऽऽर्थान्तरभूतस्तदतद्विषयत्वात्तस्य घटार्थपर्यायस्त्वन्यत्राप्रवृत्तेर्निज , ताभ्यां प्रथमद्वितीयाभ्यां भेदेन ताभ्यां निर्देशो वक्तव्य , यतोऽत्रापि यदि व्यञ्जनमत्तार्थघटपर्यायविधि ,तदा तस्याऽशेषघटाऽऽत्मकताप्रसक्तिरिति भेदनिबन्धनतद्व्यवहारविलोप । अथाऽर्थपर्यायमनूद्य व्यञ्जनपर्यायविधि , तत्रापि कार्यकारणव्यतिरेकाभावप्रसक्ति , सिद्धविशेषानुवादेन घटत्वसामान्य-

विधाने तस्याकार्यत्वात्। एवं च घटस्याभावादवाच्यः,अनेकान्तपक्षेऽपि युगपदभिधातुमशक्यत्वात् कथञ्चिदवाच्यः सिद्धः ॥१३॥ यद्वा-सर्वमर्थान्तरभूतं,तस्य विशेषवदेकस्मादनन्वयिरूपता,अत एव न तद्वाच्यमन्यविशेषवत्,अन्यविशेषस्तु निजः सोऽप्यवाच्य , अनन्वयात् । प्रत्येकमवक्तव्याभ्यां ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवक्तव्यः । अथवा-सद्भूतरूपाः सत्त्वाऽऽदयो घट इत्यत्र दर्शने अर्थान्तरभूताः सत्त्वाऽऽदयो निजसद्भूतरूपत्वाभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, यतः सद्भूतरूपस्य सत्त्वरजस्तमःस्वरूपत्वे रजस्तमसामभावप्रसक्तिः, तेषां परवैलक्षण्येनैव सत्त्वासद्भूतरूपत्वे च वैलक्षण्यभावादभाव इति विशेष्याभावादवाच्य । असत्त्वे त्वसत्कार्योत्पादप्रसङ्ग । न चैतदभ्युपगम्यते,अभ्युपगमेऽपि विशेषणाभावादवाच्यः। अथैव रूपाऽऽदयोऽर्थान्तरभूता असद्भूतरूपमेवं निज,ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्य.,यथा ह्यरूपाऽऽदिभ्यावृत्ता रूपाऽऽदय',त एव च रूपाऽऽदीनां घटतामवाप्ता ,रूपाऽऽदित्वाद् घटस्य,न हि परस्परविलक्षणबुद्धिग्राह्या रूपाऽऽदय एकानेकाऽऽत्मकप्रत्ययग्राह्यरूपाऽऽदिरूपघटता प्रतिपद्यन्ते, इय घटना अवाच्यरूपाऽऽदित्वाद् घटस्य न हि परस्परविलक्षणेति विशेष्यलोपादवाच्यः। यदि वा-रूपाऽऽदयोऽर्थान्तरभूताः, असद्भूतार्थो निजः, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्य., रूपाऽऽद्यात्मकैराभासप्रत्ययविषयव्यतिरेकेणापरसम्बन्धाश्रयगतेर्विशेष्याभावाद्रूपाऽऽदिमान् घट इत्यबाह्यगतैवाकारप्रतिभासाद् व्यतिरेकेणापररूपाऽऽदिप्रतिभास इति विशेषणाभावादप्यवाच्य., अनेकान्ते तु कथञ्चिदवाच्यः ॥ १५ ॥ अथवा-बाह्योऽर्थान्तरभूत.,उपयोगस्तु निजः,ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्य.। तथाहि-य उपयोगः स घट इति यद्युपेत.,तदुपयोगमात्रकमेव घट इति सर्वोपयोगस्य घटत्वप्रसक्तिरिति प्रतिनियतस्वरूपाभावादवाच्यः । अथाऽय घटस्य उपयोग इत्युच्यते, तथाऽप्युपयोगस्यार्थत्वप्रसक्तिरित्युपयोगाभावे घटस्याऽप्यभावः, ततश्च कथञ्चिदवाच्यः ॥१६॥ एते च त्रयो भङ्गा गुणप्रधानभावेन सकलधर्माऽऽत्मकैकवस्तुप्रतिपादकाः स्वय तथाभूताः सन्तो निरवयवप्रतिपत्तिद्वारेण सकलादेशाः। वक्ष्यमाणास्तु चत्वारः सावयवप्रतिपत्तिद्वारेणाशेषधर्माऽऽक्रान्त वस्तु प्रतिपादयन्तोऽपि विकलादेशा इति केचित्प्रतिपन्ना.। वाक्यं च सर्वमेकानेकाऽऽत्मकं सत्स्वाभिधेयमपि तथाभूतमवबोधयति,यतो न तावन्निरवयवेन वाक्येन वस्तुस्वरूपाभिधान सम्भवति। अनन्तधर्माऽऽक्रान्तैकाऽऽत्मकत्वाद्वस्तुनो निरवयववाक्यस्य त्वेकस्वभाववस्तुविषयत्वात्तथाभूतस्य च वस्तुनोऽसम्भवान्निरवयवस्य तस्य वाक्यमभिधायकम,नाऽपि सावयव वाक्य वस्त्वभिधायक सम्भवति, वस्तुन एकत्वात् । न च वस्तुनो व्यतिरिक्तास्तद्देशा., तद्व्यतिरेकेण तेषामप्रतीतेरेकस्वरूपव्याप्त्याऽनेकांशप्रतिभास ,न च तदेकाऽऽत्मकमेव,अनेकांशानुरक्तस्यैवैकाऽऽत्मनः प्रतिभासनात्,अतो वस्तुन एकानेकस्वभावत्वात्तथाभूतवस्त्वभिधायका शब्दा अपि तथाभूता एव,नैकान्तत सावयवा.,उत नैकान्ततो निरवयवरूपा वा;तत्र विवक्षाकृतप्रधानभाव. सदेकधर्माऽऽत्मकस्यापेक्षितोऽपराशेषधर्मक्रोडीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यताप्रतीते.,स्यादस्ति घट', स्यान्नाऽस्ति घट.,स्यादवक्तव्यो घटः,इत्येते त्रयो भङ्गा इति सकलादेशा'। विवक्षाविरचितद्विचित्रधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसमुचितसकलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थरूपस्य प्रतिपत्ते-श्चत्वारो वक्ष्यमाणका विकलादेशा.-स्यादस्ति च नास्ति घट इति प्रथमो विकलाऽऽदेशः, स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च घट इति द्वितीयः, स्यान्नास्ति चाऽवक्तव्यश्च घट इति तृतीय., स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति चतुर्थ. । एत एव सप्त भङ्गाः स्यात्पदलाञ्छनविरहिणोऽवधारणैकस्वभावा विषयाभावतो दुर्नया भवन्ति । धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाकरणात् स्वार्थमात्रप्रतिपादनप्रवणा एत एव सुनयरूपतामासादयन्ति;स्यात्पदलाञ्छनविवक्षितैकधर्मावधारणवशाद्वा सुनयाः । द्रव्यादेरेकदेशस्य व्यवहारनिबन्धनत्वेन विवक्षितत्वाद् धर्मान्तरस्य वा निषिद्धत्वात. स्यादस्तीत्यादिप्रमाणमस्त्येवेत्यादिर्दुर्नयः, अस्तीत्यादिक. सुनय' ।

ननु सद्व्यवहारात् स्यादस्त्येवेत्यादि. सुनय एव व्यवहारकारणम्, स्वपराव्यावृत्तवस्तुविषयप्रवर्तकवाक्यव्यवहारकारणत्वात. अन्यथाऽतद्योगादेवं निरवयववाक्यस्वरूप दर्शयितुमाह-

अह देसो सब्भावे, देसोऽसब्भावपज्जवे णियओ ।
तं दवियमत्थि नत्थि य, आएसविसेसियं जम्हा ॥३७॥

(अथेति) यदा देशो वस्तुनोऽवयवसद्भावेऽस्तित्वे नियतः सद्भावायमित्येव निश्चितोऽपरश्च देशोऽसद्भावे एव पर्याये नास्तित्व एव ।नियतोऽसद्भावायमित्यवगत.; अवयवेभ्योऽवयविनः कथञ्चिदभेदादवयवधर्मैस्तस्याऽपि तथाव्यपदेशो यथा कुण्ठो देवदत्त इति; ततोऽवयवसत्त्वासत्त्वाभ्यामवयव्यपि सन् न संभवति। ततस्तद् द्रव्यमस्ति च नास्ति चेति भवत्युभयप्रधानावयवभागेन विशेषित यस्मात्। तथाहि-यदवयवो न विशिष्टधर्मिणोऽस्ति, परद्रव्याऽऽदिरूपेण च स एव नाऽस्ति। तथा च पुरुषाऽऽदिवस्तुविवक्षितपर्यायेण बालाऽऽदिना परिणतं, कुमाराऽऽदिना वा परिणतमित्यादिष्टमिति योज्यम् ।

पूर्वभङ्गकप्रदर्शितन्यायेन पञ्चमभङ्गकप्रदर्शनमाह—

सब्भावे आइट्ठो, देसो देसो य उभयहा जस्स ।
तं अत्थि अवत्तव्वं, च होइ दविअं वियप्पवसा ॥३८॥

सद्भावेऽस्तित्वे यस्य वस्य संभवति घटाऽऽदेर्धर्मिणो देशो धर्म आदिष्टोऽवक्तव्यानुविद्धस्वभाव.,अन्यथा तदसत्त्वात्,न ह्यपरधर्माप्रविभक्ततामन्तरेण विवक्षितधर्मास्तित्वमस्य सम्भवति । खरविषाणाऽऽदेरिव तस्यैवापरो देश उभयथाऽस्तित्वनास्तित्वप्रकाराभ्यामेकदैव विवक्षितोऽस्तित्वानुविद्ध एवावक्तव्यस्वभावः;अन्यथा तदसत्त्वप्रसक्तिः। न ह्यस्तित्वाभावे उभयानिरिक्तता शशशृङ्गाऽऽदेरिव तस्य सम्भवति, प्रथमतृतीयकेवलभङ्गव्युदासस्तथाविवक्षावशात्कृतो द्रष्टव्यः, तत्र प्रथमतृतीययोर्भङ्गकयो' परस्पराविशेषणभूतयोः प्रतिपाद्येनाधिगन्तुमिष्टत्वात्, प्रतिपादकेनाऽपि तथैव विवक्षितत्वाद्, तत्र तु तद्विपर्ययादनेकधर्माऽऽत्मकस्य धर्मिण प्रतिपाद्यानुरोधेन तथाभूतधर्माऽऽक्रान्तत्वेन च वक्तुमिष्टत्वात्तद्द्रव्यमस्ति चाऽवक्तव्यम, तद्धर्मविकल्पनवशात् ।

धर्मयोस्तथापरिणतयोस्तथा व्यपदेशे धर्मोऽपि तद्द्वारेण तथैव व्यवदिश्येतेति षष्ठभङ्गकं दर्शयितुमाह-

आइट्ठोऽसब्भावे, देसो देसो अ उभयहा जस्स ।
तं णऽत्थि अवत्तव्वं, च होइ दवियं वियप्पवसा ॥३९॥

आदेशमन्तरेण विवक्षितधर्म्मास्तित्वमस्य न संभवति, यस्य वस्तुनो देशोऽसत्त्वे निश्चितोऽसन्नेवायमित्यवक्तव्याऽनुविद्धोऽपरस्मादनुविद्ध उभयथा सन्नसँश्चेत्येव युगपन्निश्चितस्तदा तद्द्रव्यं नास्ति चावक्तव्यं च भवति, विकल्पवशाद् व्यपदेशाद् द्रव्यमपि तद्व्यपदेशमासादयति । केवलद्वितीयतृतीयभङ्गकव्युदासेन षष्ठभङ्गः प्रदर्शितः ।

सप्तमप्रदर्शनायाऽऽह–

सब्भावाऽसब्भावे, देसो देसो य उभयहा जस्स ।
तं अत्थि णत्थिऽवत्त–व्वयं च दवियं वियप्पवसा ॥५०॥

यस्य देशिनो देशोऽवयवो देशो धर्मो वा सद्भावे नियतो निश्चितोऽपरस्त्वसद्भावादभावेऽसत्त्वे, तृतीयश्चोभयथेत्येव देशानां सदसत्त्व वक्तव्य, व्यपदेशात्तदपि द्रव्यमस्ति च नास्ति चावक्तव्य च भवति, विकल्पवशात्; तथाभूतविशेषणाध्यासितस्य द्रव्यस्यानेन प्रतिपादनादपरसङ्कव्युदास. । एते च परस्पररूपापेक्षया सप्तभङ्गाऽऽत्मका. प्रत्येक स्वार्थं प्रतियन्ति, नान्यथेति प्रत्येक तत्समुदायो वा सप्तभङ्गाऽऽत्मकः प्रतिपाद्यमपि तथाभूत दर्शयतीति व्यवस्थितमत्र चाऽऽद्यभङ्गकस्त्रिधा; द्वितीयोऽपि त्रिधैव; तृतीयो दशधा; चतुर्थोऽपि दशधैव, पञ्चमाऽऽदयस्तु त्रिंशदधिकशतपरिमाणाः। प्रत्येक श्रीमन्मल्लवादिप्रभृतिभिर्निर्दर्शिता', पुनश्च षड्विंशत्यधिका चतुर्दशशतपरिमाणास्त एव च द्व्यादिसयोगकल्पनया कोटिशो भवन्तीत्यभिहित तैरेव । अत्र तु ग्रन्थविस्तरभयात्तथा न प्रदर्शिताः, तत एवावधार्या. । अथानन्तधर्माऽऽत्मके वस्तुनि तत्प्रतिपादकवचनस्य सप्तधा कल्पनेऽष्टमवचनविकल्पपरिकल्पनमपि किं न क्रियते? इति न वक्तव्यम्, तत्परिकल्पननिमित्ताभावात् । तथाहि-नैतत्साऽवयवाऽऽत्मकादपरं निमित्तं तत्परिकल्पयितु युक्तम्, चतुर्थाऽऽदिवचनविकल्पेषु तस्यान्तर्भावप्रसक्तेः । नाऽपि निरवयवाऽऽत्मकमन्योन्यानिमित्तकं तत्परिकल्पनामर्हति, प्रथमाऽऽदिषु तत्पूर्वप्रसक्तेः। न च गत्यन्तरमस्तीति नाऽष्टमभङ्गपरिकल्पना युक्ता। किञ्चाऽसौ क्रमेण धीतधर्मद्वय प्रतिपादयति, यौगपद्येन वा प्रथमपक्षे गुणप्रधानभावेन तत्प्रतिपादने प्रथमद्वितीययोरन्तर्भावः। प्रधानभावेन तत्प्रतिपादने चतुर्थे, यौगपद्येन तत्प्रतिपादने तृतीये, भङ्गकसयोगकल्पनया भङ्गान्तरकल्पनाया प्रथमद्वितीयभङ्गक एव प्रसज्यते । प्रथमतृतीयसयोगात्पञ्चमप्रसक्ति, द्वितीयतृतीयसंयोगात् षष्ठप्रसक्ति, प्रथमद्वितीयतृतीयसयोगात्सप्तम., प्रथमसयोगे द्विसयोगकल्पनाया पुनरुक्तदोष, तस्मान्न कथञ्चिदष्टमभङ्गसंभव इत्युक्तन्यायाद्वस्तुप्रतिपादने सप्तविध एव वचनमार्ग. ।

अन्योऽन्यापरित्यागव्यवस्थितस्वरूपवाक्यनयानां शुद्ध्यशुद्धिविभागेन संग्रहाऽऽदिव्यपदेशमासादयता द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयावेव मूलाधार इति प्रदर्शनार्थमाह–

एवं सत्तवियप्पो, वयणपहो होइ अत्थपज्जाए ।
वंजणपज्जाए पुण, सवियप्पो णिव्वियप्पो उ ॥५१॥

एवमित्यनन्तरोक्तप्रकारेण सप्तविकल्प. सप्तभेदः वचनमार्गो वचनपथो भवत्यर्थपर्यायेऽर्थनये संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रलक्षणे सप्ताप्यनन्तरोक्ता भङ्गका भवन्ति । तत्र प्रथम. संग्रहे सामान्यग्राहिणि, द्वितीयस्तु नास्तीत्यय तु व्यवहारे विशेषग्राहिणि, ऋजुसूत्रे तृतीयः, चतुर्थः संग्रहव्यवहारयो', पञ्चम. संग्रहर्जुसूत्रयो', षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्रयो', सप्तम' संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रेषु । व्यञ्जनपर्याये शब्दनये सविकल्प', प्रथमे पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावेऽप्यर्थस्यैकत्वात् । द्वितीयतृतीये निर्विकल्प., द्रव्यार्थसामान्यलक्षणान्तर्गतपर्यायाभिधायकत्वात्, समभिरूढस्य पर्यायभेदभिन्नार्थत्वात्, एवंभूतस्याऽपि विवक्षितक्रियाकालार्थत्वाल्लिङ्गसंख्याक्रियाभेदेन भिन्नस्यैकशब्दवाच्यत्वात् शब्दाऽऽदिषु तृतीयः, प्रथमद्वितीयसंयोगे चतुर्थः, तेष्वेव चानभिधेयसयोगे पञ्चमषष्ठसप्तमा वचनमार्गा भवन्ति । अथवा-प्रदर्शितस्वरूपा सप्तभङ्गी संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रेषु चार्थनयेषु भवतीत्याह–" एवं सत्तवियप्पा " इत्यादिगाथाम् । अस्यास्तात्पर्योऽर्थ'–अर्थनय एव सप्तभङ्गा, शब्दाऽऽदिषु त्रिषु नयेषु प्रथमतृतीयावेव भङ्गौ । यो ह्यर्थमाश्रित्य वक्तृस्थसंग्रहव्यवहारसूत्राऽऽख्यप्रत्ययः प्रादुर्भवति सोऽर्थनय., अर्थवशेन तदुत्पत्ते., अर्थं प्रधानतयाऽसौ व्यवस्थापयतीति कृत्वा। शब्दं तु स्वप्रभवमुपसर्जनतया व्यवस्थापयति, तत्प्रयोगस्य परार्थत्वात् । यस्तु श्रोतरि तच्छब्दश्रवणादुपजायते शब्दसमभिरूढएवंभूताऽऽख्य प्रत्ययस्तस्य शब्दप्रधान, तद्वशेन तदुत्पत्तेरर्थं प्रधान तथाऽप्युपसर्जनं तदुत्पत्तावनिमित्तत्वात्, स शब्दनय उच्यते । तत्र च वचनमार्ग' सविकल्पनिर्विकल्पतया द्विविध.· सविकल्प सामान्यनिर्विकल्पपर्याय, तदभिधानाद्वचनमपि तथा व्यपदिश्यते। तत्र शब्दसमभिरूढौ सङ्ख्याक्रियाभेदेऽप्यभिन्नमर्थं प्रतिपादयत इति तदभिप्रायेण सविकल्पो वचनमार्ग. प्रथमभङ्गकरूप.। एवंभूतस्तु क्रियाभेदाद्भिन्नमेवार्थं तत्क्षणे प्रतिपादयतीति निर्विकल्पो द्वितीयभङ्गकरूपस्तद्वचनमार्ग । अवक्तव्यभङ्गकस्तु व्यञ्जननये न संभवत्येव, यत. श्रोत्रभिप्रायो व्यञ्जननय, स च शब्दश्रवणादर्थं प्रतिपद्यते, न शब्दाश्रवणात् । अवक्तव्यस्तु शब्दाभावविषय इति नावक्तव्यभङ्गको व्यञ्जनपर्याये संभवतीत्यभिप्रायवता व्यञ्जनपर्याये तु सविकल्पनिर्विकल्पौ प्रथमद्वितीयावेव भङ्गावभिहितावाचार्येण । तुशब्दस्य गाथायामेवकारार्थत्वात् ।

इदानीं परस्परूपापरित्यागप्रवृत्तसंग्रहाऽऽदिनयप्रादुर्भूत-तथाविधा एव वाक्यनयास्तथाविधार्थप्रतिपादका इत्येतत्प्रतिपाद्यान्यथाऽभ्युपगमे तेषामप्यध्यक्षविरोधतोऽभाव एवेत्येतद्दुपदर्शनाय केवलानां तेषा तावन्मतमुपन्यस्यति–

जह दवियमप्पियं तं, तहेव अत्थि त्ति पज्जवणयस्स ।
ण य स समयपन्नवणा, पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा ॥ ४२ ॥

यथा वर्त्तमानकालसंबन्धितया यद् द्रव्यमर्पित प्रतिपादयितुमभीष्ट, तत्तथैवाऽस्ति, नान्यथा, अनुत्पन्नविनष्टनयभाविभूतयोरविद्यमानत्वेनाप्रतिपत्ते, अप्रतीयमानयोश्च प्रतिपादयितुमशक्तेरिति प्रसङ्गात् वर्त्तमानसबन्धेनैव तस्य प्रतीतेरिति पर्यायार्थिकनयवाक्यस्याऽभिप्राय। एतदेकान्तवादी दूषयितुमाह–नेति प्रतिषेधे, स इति तथाविधो वाक्यनय परामृश्यते, समय इति सम्यङ् मीयते परिच्छिद्यत इति समयोऽर्थ, तस्य प्रज्ञापना प्ररूपणा, पर्यायनयमात्रे द्रव्यनयानिरपेक्षे पर्यायनये प्रतिपूर्णो पुष्कला सपद्यते। न स वाक्यनय सम्यगर्थप्रत्याययन पूरयतीति पर्यायनयस्य साधारणैकान्तप्रतिपादनरूपस्याध्यक्षबाधनात् । तद्बाधां चाग्रतः प्रतिपादयिष्यते ।

द्रव्यार्थिकवाक्यनयेऽप्ययमेव न्याय इति तदभिप्राय तावदाह–

पडिपुष्मजोव्वणगुणो, जह लज्जइ बालभावचरिएहिं ।
कुणइ य गुणपणिहाणं, अणागयसुहोवहाणत्थं ॥४३॥

प्राप्तयौवनगुण पुरुषो लज्जते बालभावसमृत्ताऽऽत्मीयानुष्ठानस्मरणात्-पूर्वमहमम्बस्पृश्यसंस्पर्शाऽऽदिव्यवहारमनुष्ठितवान् । यथेत्युदाहरणार्थो गाथायामुपन्यस्त.,यथैव ततोऽतीतवर्त्तमानयोरेकत्वमवसीयते । करोति च गुणेषूत्साहाऽऽदिषु प्रणिधानमेकाग्र्यम,अनागत यत्सुख तस्योपधान प्राप्ति , तस्यै तदर्थमपि, तस्मात्सुखसाधनात्सुख प्राप्तव्यमिति, यतश्चैवमतोऽनागतवर्तमानयोरैक्यम् ।

अत्राऽपि मते यथाऽवस्थितवस्तुस्वरूपप्ररूपणा न प्रतिपूर्यत इति सूत्रान्तरेण दर्शयति-

ण य होइ जोव्वणत्थो, बालो अण्णो वि लज्जइ ण तेण ।
ण वि य अणागयवयगुण-पसाहणं जुज्जइऽविभत्ते ॥४४॥

न च भवति यौवनस्थ पुरुषो बाल.,अपि त्वन्य एव,अन्योऽपि न लज्जते बालचरितेन पुरुषान्तरवत् , तेनाऽन्येन । अथाऽनागतवृद्धावस्थाया सुखप्रसाधनार्थमुत्साहस्तस्य युज्यते अत्यन्तभेदे । एतदेवाऽऽह-विभक्त इति । विभक्तिर्भेद' । अकारप्रश्लेषादविभक्ते भेदाभावे अविचालितस्वरूपतया तत्प्रसाधकगुणयत्नासभवात,नत्साभाभेदमात्र तत्त्य, कथञ्चिद्भेदव्यवहारनिप्रतिभासबाधितत्वात, नापि भेदमात्रम, एकत्वव्यवहारप्रतिपत्तिनिराकृतत्वादिति भेदाभेदाऽऽत्मकं तत्त्वमभ्युपगन्तव्यम । अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः ।

एवमभेदभेदाऽऽत्मकस्य पुरुषतत्त्वस्य यथाऽतीतानागतदोषगुणनिन्दाऽभ्युपगमाभ्या सबन्ध', तथैव भेदाऽभेदाऽऽत्मकस्य तस्य सबन्धाऽऽदिभिर्योग इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपसहारार्थमाह-

जाइकुलरूवलक्खण-सण्णासंबंधओ अहिगयस्स ।
बालाऽऽइभावदिट्ठवि-गयस्स जह तस्स संबंधो ॥४५॥

जाति पुरुषत्वाऽऽदिका,कुल प्रतिनियतपुरुषजन्यत्वम,रूप सुरूपकुरूपाऽऽदित्व,लक्षण तिलकाऽऽदि सुखाऽऽदिसूचकम,सज्ञा प्रतिनियतशब्दाभिधेयत्वम । एभिर्य. सबन्धस्तदात्मपरिणाम , ततस्तमाश्रित्याधिगतस्य ज्ञानस्य तदात्मकत्वेनाभिभावभासविषयस्य । यद्वा-सबन्धो जन्यजनकभाव.,एभिरधिगतस्व लक्षणतत्स्वभावस्यैकाऽऽत्मकस्येति यावत् । बालाऽऽदिभावैर्दृष्टविगतस्य तैरुत्पादविगमाऽऽत्मकस्य तथा भेदप्रतीतेस्तस्य,यथा तस्य सबन्धो भेदाभेदपरिणतिरूपो,भेदाभेदाऽऽत्मकत्वप्रतिपत्तेर्बाह्याध्यक्षेणाध्यात्मिकाऽध्यक्षतोऽपि तथा प्रतीते.।

तथारूप तदस्त्विति प्रतिपादयन्नाह दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपसहारेण-

तेहिँ अतीतानागय-दोसगुणदुगंछणब्भुवगमेहिं ।
तह बंधमोक्खसुहदु-क्खपत्थणा होइ जीवस्स ॥४६॥

ताभ्यामतीतानागतदोषगुणजुगुप्साऽभ्युपगमाभ्यां यथा भेदाभेदाऽऽत्मकस्य पुरुषत्वस्य सिद्धि ,तदा दार्ष्टान्तिकेऽपि (तह बधमोक्खसुहदु-क्खपत्थणा होइ जीवस्स इति) तथा बन्धमोक्षसुखदु.खप्रार्थना; तत्र च बन्धनोपादानपरित्यागद्वारेण भेदाभेदाऽऽत्मकस्यैव जीवद्रव्यस्य भवति, बालाऽऽद्यात्मकपुरुषद्रव्यवत् । ततो जीवस्य पूर्वोत्तरभावानुभवितुरभावाद्बन्धमोक्षभावाभाव , उत्पादव्ययध्रौव्याऽऽत्मकतयाऽनान्तस्य प्रसाधितत्वात् । तथाहि-मरणचित्त भावाऽऽद्युत्पादस्थित्यात्मक, मरणचित्तत्वात, जीवदवस्थाविनाशचित्तवत् । तथा जन्माऽऽदौ चित्तप्रादुर्भावोऽतीतचित्तस्थितिविनाशाऽऽत्मक .चित्तप्रादुर्भावत्वात,मध्यावस्थाचित्तप्रादुर्भाववत् । अन्यथा तस्याप्यभावप्रसक्ति. । न चास्याभाव ,हर्षविषादाऽऽद्यनेकाविवर्त्ताऽऽत्मकस्यानन्यत्वात बाह्यस्यान्तर्मुखाऽऽकारतया स्वसवेदनाऽध्यक्षतः शरीरवैलक्षण्यतोऽनुभूते.। न च तथा प्रतीयमानस्याप्यभाव',शरीराऽऽदेरपि बहिर्मुखाऽऽकारतया प्रतीयमानस्याऽभावप्रसक्ते । न च नित्यैकान्तरूपे आत्मनि जन्ममरणेऽप्यसभवे, कुतो बन्धमोक्षप्रसक्तिः ? । न च नित्यस्याऽप्यात्मनोऽभिनवबुद्धिशरीरेन्द्रियैर्योगो जन्म, तद्वियोगो मरणमितिकल्पना सगता, अस्या पूर्वं निषिद्धत्वात । न चैकान्तोत्पादविनाशाऽऽत्मके विषये इहलोके परलोके च परलोकव्यवस्था,बन्धाऽऽदिव्यवस्था वा युक्ता । यत ऐहिककार्यत्यागेनाऽऽमुष्मिकतदुपादानमेकस्यापरलोक , पूर्वग्रामपरित्यागादथ तदितरैकपुरुषरूपवत् । न च दृष्टान्तेऽप्येकत्वमसिद्धम,उभयावस्थायास्तस्यैकत्वेन प्रतिपत्तेः। न चेय मिथ्या,बाधकाभावात, विरुद्धधर्मसंसर्गाऽऽदे बाधकस्याऽध्यक्षबाधाऽऽदिना निरस्तत्वात् । न च पूर्वावस्थात्याग एकस्योत्तरावस्थोपादानमन्तरेण दृष्टः,पृथुबुध्नोदराऽऽद्याकारविनाशवन्मृद्द्रव्यस्य कपालोत्पादनमन्तरेण दर्शनात । न च कपालोत्पादनमन्तरेण घटविनाश एव न सिद्ध., घटकपालव्यतिरेकेणाऽपरस्य नाशस्याप्रतीतेरिति वक्तव्यम् , कपालोत्पादस्यैव कथञ्चिद् घटविनाशाऽऽत्मकतया प्रतिपत्ते.; अत एव सहेतुकत्व विनाशस्य,कपालोत्पादस्य सहेतुकत्वात । न च कपालाना भावरूपतैव केवला, घटानिवृत्तौ तद्विविक्ततायां नेष्टभावप्रसक्ते । न चैकस्योभयत्र व्यापारविरोध , दृष्टत्वात । न च घटनिवृत्तिकपालयोरेकान्तेन भेद.,कथञ्चिदेकत्वप्रतीतेः। न च मुद्गराऽऽदेर्नाश प्रत्यव्यापारे क्वचिदभ्युपयोगे कपालेषु न तदुपयोग.,अन्त्यावस्थायामपि घटक्षणान्तरोत्पत्तिप्रसक्तेः, तस्य तदुत्पादनसामर्थ्याविनाशात,तस्य स्वर [स]तो विनाशात्तदव्यतिरेकसामर्थ्यस्याविनाश । न पूर्वं तद्विनाशेऽपि तस्याविनाशो विरोधिमुद्गरसन्निधानात । ननु समानजातीया क्षणान्तर जनयतीति चेत् । न । घटविरोधी न च तद्विनाशयतीति व्याहतत्वाल् । न च तद्धेत्वभावात्सामर्थ्याभाव.,तथाविधकार्यजननसमर्थहेतोर्भावात् । अन्यथा प्रागपि तथाविधफलोत्पत्तिर्न भवेत । न च स्वहेतुनिर्वर्तित एव दण्डाऽऽदिसन्निधौ सामर्थ्याभाव ,दण्डाऽऽदिसन्निधिमपेक्षमाणस्य तस्य तद्धेतुत्वोपपत्ते', अन्यत्रापि तद्भावस्य तन्मात्रनिबन्धनत्वात् । न च तद्व्यापारानन्तर तदुपलम्भात्तस्य तत्कार्यत्वे मृद्द्रव्यस्याऽपि तत्कार्यताप्रसक्ति , तस्य सर्वदोपलम्भात. सर्वदा तस्यानभ्युपगमे उत्पादविनाशयोरभावप्रसक्तिश्चेति प्रतिपादितत्वाच्च ,तस्यैव तद्रूपतया परिणतौ कथञ्चिदुत्पादस्यापीष्टत्वात । यदि च पूर्वोत्तराऽऽकारत्यागोपादानतयैक मृदादिवस्त्वध्यक्षतोऽनुभूयते, तदा तत्तदपेक्षकारण कार्यविनष्ट च उत्पन्नमनुत्पन्न चैककालमनेककाल च भिन्नमभिन्न चेति कथ नाभ्युपगमविषय ? । न चाऽत्र विरोध , मृद्व्यतिरिक्ततया घटकपालयोरुत्पन्नाविनष्टस्थितिस्वभावतया प्रतीते । न च प्रतीयमाने वस्तुस्वरूपे विरोध , अन्यथा ग्राह्यग्राहकाऽऽकाराभ्यामेकत्वेन स्वसवेदनाऽध्यक्षत प्रतीयमानस्य सवेदनस्य विरोधप्रसक्ते । न च सशयदोषप्रसक्तिरिति, उत्पत्तिस्थितिनिरोधाना निश्चितरूपतया वस्तुन्यधिगमात् । न च स्थाणुर्वा

पुरुषो वेति प्रतिपत्त्यादिव प्रकृतानिश्चये सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशय इति निमित्तमस्ति । न च व्यधिकरणेनादोषप्रसक्तिरिति, घटकपालविनाशोत्पादयोर्मृद्रूव्याऽऽधिकरणतया प्रतिपत्तेः। न चोभयदोषानुषङ्ग, ऽयात्मकस्य वस्तुनो जात्यन्तरत्वात् । सङ्करदोषप्रसक्तिरपि नास्ति, अनुगतव्यावृत्तेस्तदात्मके वस्तुनि स्वस्वरूपेणैव प्रतिभासनात् । अनवस्थादोषोऽपि न सम्भवी, भिन्नोत्पादव्ययध्रौव्यव्यतिरेकेण तदात्मकस्य वस्तुनोऽध्यक्षे प्रतिभासनात् स्वयमतदात्मकस्याऽपरयोगेऽपि तदात्मकताऽनुपपत्तेः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तथा प्रतिभासादेवाभावादोषोऽपि न सम्भवी, अबाधितप्रतिभासस्य तद्भावेऽभावाद्, भावे वा न तावद्वस्तुव्यवस्थितिरिति सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः। न च ऽयात्मकत्वमन्तरेण घटस्य कपालदर्शनाद्विनाशानुमान सम्भवति, तत्र तेषां प्रतिबन्धानवकाशात्। न हि तद्विनाशनिमित्तानि मुद्गराऽऽदीनि, हेतुत्वाद् भावस्य कारणत्वात्सत्त्वासत्त्वाश्च यद्यपि घटहेतुकानि तानि, तथाऽपि घटसद्भावमेव गमयेयुर्न तदभावम्, न हि धूमः पावकहेतुकस्तदभावगमक उपलब्ध, न वा भिन्ननिमित्तजन्यता तयो प्रतिबन्ध, भावस्यांशकार्यताऽभ्युपगमात् । नाऽपि तादात्म्यलक्षण, तयोस्तादात्म्यायोगात्। न च घटस्वरूपव्यावृत्तत्वात्तेषां नष्टभावप्रतिपत्तिजनकत्वम्, सकलत्रैलोक्याभावप्रतिपत्तिजनकत्वप्रसक्तेः, तेषां ततोऽपि व्यावृत्तस्वरूपत्वात्। न च घटविनाशरूपत्वात्तेषां नाय दोष, तेषां वस्तुरूपत्वाद्विनाशस्य च निःस्वभावत्वात्, तथा च तादात्म्यविरोध, अन्यथा घटानुपलम्भवत्तेषामपि तदनुपलब्धिर्भवेत्, तस्मात्प्रागभावाऽऽत्मक सन् घट प्रध्वंसाभावाऽऽत्मकतां प्रतिपद्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तिः । सत्त्वलक्षणस्याऽपि हेतोर्गमकत्वमनेनैव प्रकारेण सम्भवति। अन्यथोत्पत्त्यभावादस्तित्वाभाव, तदभावे विनाशस्याऽप्यभाव, असतो विनाशायोगादिति ऽयात्मकमेक वस्त्वभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा तदनुपपत्तेरिति प्राक् प्रदर्शितत्वाद् न पुनरुच्यते। यथा चाऽऽत्मनः परलोकगामित्व शरीरमात्रव्यापकत्व च तथा प्रतिपादितमेव । ननु शरीरमात्रव्यापित्वे तस्य गमनाभावाद्देशान्तरे तद्ग्रहणोपलब्धिर्न भवेत्, न च तदधिष्ठितशरीरस्य गमनाविरोधात्पुरुषाधिष्ठितदारुयन्त्रवत्। न च मूर्त्तामूर्त्तयोर्घटाऽऽकाशयोरिव प्रतिबन्धाभावान्मूर्तशरीरगमनेऽपि नामूर्त्तस्याऽऽत्मनो गमनमिति वक्तव्यम्, संसारिणस्तस्यैकान्तेनामूर्त्तत्वासिद्धेस्तत्र प्रतिबद्धत्वाभावासिद्धेः ।

एतदेवाऽऽह-

अण्णोण्णाऽणुगयाणं, इमं व तं व त्ति विभयणमजुत्तं ।
जह दुद्धपाणियाणं, जावंतविसेसपज्जाया ॥ ४७ ॥

अन्योन्यानुगतयोः परस्परानुप्रविष्टयोरात्मकर्मणोरिदं वा तद्वेतीदं कर्म अयमात्मेति यद्विभजनं पृथक्करण तदयुक्तमघटमानकम्, प्रमाणाभावेन कर्तुमशक्यत्वात्, यथा दुग्धपानीययोः परस्परप्रवेशानुप्रविष्टयो । किंपरिमाणोऽयमविभागो जीवकर्मप्रदेशयोरित्याह-यावन्तो विशेषपर्याया, तावान्, अत एवमवस्तुत्वप्रसक्तेरन्त्यविशेषपर्यन्तत्वात्सर्वविशेषाणाम् ।

अन्त्य इति विशेषणाऽन्यथाऽनुपपत्तेर्जीवकर्मणोरन्योऽन्यानुप्रवे-- --त्याह-

---ऽऽइपज्जवा जे, देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि ।
ते अण्णोण्णाऽणुगया, पण्णवणिज्जा भवत्थम्मि ॥ ४८ ॥

रूपरसगन्धस्पर्शाऽऽदयो ये पर्याया देहाऽऽश्रिता जाबद्ध्ये विशुद्धरूपे च ये ज्ञानाऽऽदयस्तेऽन्योन्यानुगता जीवे रूपाऽऽदयो देहे ज्ञानाऽऽदय इति प्ररूपणीया भवस्थे संसारिणि, अकारप्रश्लेषाद्वाऽसंसारिणि। न च संसारावस्थायां देहाऽऽत्मनोरन्योन्यानुबन्धाद्रूपाऽऽदिभिस्तद्व्यपदेश, मुक्तावस्थायां तु तदभावान्नासौ युक्त इति वक्तव्यम्, तदवस्थायामपि देहाऽऽश्रितरूपाऽऽदिग्रहणपरिणतज्ञानदर्शनपर्यायधारणाऽऽत्मनस्तथाविधत्वात्, तथा व्यपदेशसंभवादात्मपुद्गलयो रूपाऽऽदिज्ञानाऽऽदीनामन्योऽन्यानुप्रवेशात्कथञ्चिदेकत्वमनेकत्व च मूर्त्तत्वममूर्त्तत्व वा व्यतिरेकात्सिद्धमिति ।

एतदेवाऽऽह-

एवं एगे आया, एगे दंडे य होइ किरियाए ।
करणविसेसेण य तिवि-हजोगसिद्धी उ अविरुद्धा ॥४९॥

एवमित्यनन्तरोदितप्रकारेण मनोवाक्कायद्रव्याणामात्मन्यनुप्रवेशादात्मा, न तद्व्यतिरिक्तोऽस्त इति तृतीयाङ्कस्थान (ठा० अ० १ ठा०) प्रथमस्तत्र प्रतिपादित सिद्ध एक आत्मा एवं दण्डोऽपि क्रियास्वेकोऽपि भवति, मनोवाक्कायेषु दण्डक्रियाशब्दा-- --वसाना-- --वा, करणविशेषेण च मनोवाक्कायस्वरूपा-- --ऽऽत्मन्यप्रवेशादात्मनो विविधयोगस्वरूपत्वात्त्रिविधयोगनिष्पत्तिरप्यविरुद्धेति । एकस्य सतस्तस्य त्रिविधयोगाऽऽत्मकत्वादनेकान्तरूपता व्यवस्थितैव, न चाऽन्योन्यानुप्रवेशादेकाऽऽत्मकत्वे बाह्याभ्यन्तरविभागाभाव इति । अत्र हर्षविषादाऽऽद्यनेकविवर्त्ताऽऽत्मकमेक चैतन्य, यथेह बालकुमारयौवनाऽऽद्यनेकावस्थाऽऽत्मकमेक शरीरमध्यक्षत संवेद्यत इत्यस्याविरोध, बाह्याभ्यन्तरविभागावपि निमित्तान्तरकृतव्यपदेशसम्भवात् ।

एतदेवाऽऽह-

ण य बाहिरओ भावो, अब्भिंतरओ य अत्थि समयम्मि ।
णो इंदियं पुण पडु-च्च होइ अब्भिंतरो भावो ॥५०॥

आत्मपुद्गलयोरन्योऽन्यानुप्रवेशादुक्तप्रकारेणार्हत्प्रणीतशासने न बाह्यो भावोऽभ्यन्तरो वा सम्भवति, मूर्तामूर्त्युत्पादितत्वादनेकाऽऽत्मकत्वाच्च, समारोदरवर्तिन· सकलवस्तुनोऽभ्यन्तर इति व्यपदेशस्तु नोइन्द्रियमन·प्रतीतस्याऽऽत्मपरिणतिरूपस्य पराप्रत्यक्षत्वाच्छरीरवानिव । न च शरीराऽऽत्मावयवयो· परस्परानुप्रवेशात् शरीराभेदे आत्मनोऽपि तद्वत्परप्रत्यक्षताप्रसक्ति, इन्द्रियज्ञानस्याशेषपदार्थस्वरूपग्राहकत्वायोगादित्यस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। अत· शरीरप्रतिबद्धत्वमात्मनो न भवति, अमूर्तत्वात्। अत्र योगे हेतुरसिद्ध, यदि चात्मपरिणतिरूपमनस शरीरादात्यन्तिको भेद स्यात्तद्विकाराविकाराभ्यां शरीरस्य तत्त्व न स्यात्, तदुपकारापकाराभ्यां वा आत्मनः सुखदुःखानुभवश्च न भवेत्, शरीरविघातकृतश्च हिंसकत्वमनुपपन्नं भवेत् । शरीरपुष्ट्याद्यै रागाऽऽद्युपचयहेतुत्वं, शरीरस्य कृशोऽहं स्थूलोऽहमिति प्रत्ययविषयत्व च दूरोत्सारित भवेत् । पुरुषान्तरशरीरस्येव घटाऽऽकाशयोरपि प्रदेशोऽन्योन्यप्रदेशलक्षणो बन्धोऽस्त्येवेत्ययुक्तो दृष्टान्तः, अन्यथा घटस्यावस्थितिरेव न भवेत्, न चाऽन्योन्यानुप्रवेशसद्भावेऽप्याकाशवच्छरीरपरतन्त्रताऽऽत्मनोऽनुपपन्ना, मिथ्यात्वाऽऽदेः पारतन्त्र्यनिमित्तस्याऽऽत्मनि भावात्, आकाशे

च तदभावात् । न च शरीराऽऽयत्तत्वे सति तस्य मिथ्यात्वाऽऽदिबन्धहेतुभिर्योग , तस्माच्च तत्प्रतिबन्धमितीतरेतराश्रयत्वम्,अनादित्वाभ्युपगमेनास्य निरस्तत्वात् । न च शरीरसम्बन्धात् प्रागात्मनोऽमूर्त्तत्वम्, सदा तैजसकार्मणः शरीरसम्बन्धात् संसारावस्थायां तस्यान्यथाभावात् स्थूलशरीरसम्बन्धित्वायोगात् । पुद्गलोपष्टम्भव्यतिरेकेणोर्द्धगतिस्वभावस्यापरादिगमनासम्भवात्स्थूलशरीरेणातिसूक्ष्मस्य रज्ज्वादिनेवाऽऽकाशस्य सम्बन्धायोगात् संसारिशून्यमन्यथा जगत्स्यादिति संसार्यात्मन. सूक्ष्मशरीरसम्बन्धित्व सर्वदाऽभ्युपगन्तव्यम् । अथ शरीराऽऽत्मनोस्तादात्म्ये शरीरावयवच्छेदे आत्मावयवस्यापि छेदप्रसक्ति , अच्छेदे तयोर्भेदप्रसङ्ग. । न । कथञ्चिच्छेदस्याभ्युपगमाद्, अन्यथा शरीरात्पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न भवेत् । न च भिन्नावयवानुप्रविष्टस्य पृथगात्मत्वप्रसक्तिः, तत्रैव पश्चादनुप्रवेशाच्छिन्ने हस्ताऽऽदौ कम्पाऽऽदितल्लिङ्गादर्शनादियं कल्पना । न चाऽन्यत्र गमनात् तस्य तल्लिङ्गानुपलब्धिरेकत्वादात्मन ,शेषस्याऽपि तेन सह गमनप्रसक्तावेकत्र सततावनेक आत्मेत्येकज्ञानवद् ज्ञानिनामेकत्राऽनुभवाधारे प्रतिभासप्रसक्ते ,शरीरान्तरव्यवस्थितात्मान्तरवत् । न च पृथग्भूतहस्ताऽऽद्यवयवव्यवस्थितोऽसौ,न तत्रैव विनष्ट इति कल्पनाऽपि युक्तिसंगता,शेषस्याऽप्येकत्वेन तद्वद्विनाशप्रसक्ते. । ततोऽन्यत्रागतेस्तत्रासत्त्वाद्विनष्टत्वाच्च तदनुप्रवेशोऽवसीयते,गत्यन्तराभावात् । न चैकत्वे आत्मनो विभागाभावात् छेदाभाव इति वक्तव्यम्,शरीरद्वारेण तस्यापि सविभागत्वात् । अन्यथा सावयवशरीरव्यापिता तस्य कथं भवेत् ? । न चामूर्तद्रव्याऽऽदिव्यवच्छिन्नावयवस्य संबेद्येव तस्य तथाभाव., उत्तरकालमपि तदवयवोपष्टम्भोपलब्धस्यार्थस्य तथैव स्मरणादन्यथा त्वतद्दर्शनात् । न चासावारभ्य मूर्त्तद्रव्यवद्व्यणुकाऽऽदिप्रक्रमेणावस्थितसंयोगैस्तैरभाव , येन तद्वत्त्वस्य तथैव भावप्रसक्ति । न चानारब्धत्वात्तस्य निरवयवत्व, शरीरसर्वगतत्वाभावप्रसक्ते. । न च शरीरासर्वगतोऽसौ, तत्र सर्वत्रैव स्पर्शोपलम्भात् । न तद्व्यापकस्य तच्छेदे छेद , अतिप्रसङ्गात् । न च तदवयवच्छेदेन भिन्न., तत्र कम्पाऽऽद्युपलब्धेरतस्तत्रैवानुप्रविष्ट एकत्वादिति ज्ञायते कथं भिन्नाभिन्नयो. संघटनं पश्चादिति । न चैकान्तेन च्छेदाभावात्पद्मनालतन्तुवद् विच्छेदाभ्युपगमाद् विघटनमपि तथाभूतादृष्टवशादविरुद्धमेव । न चाऽऽत्मन शरीरमात्रव्यापकत्वेऽन्यशरीरगत्यन्तरसम्बन्धान्यथानुपपत्त्या गतिक्रियाप्रसक्तेरनित्यत्वप्रसक्तिर्दोष ,कथञ्चित्तस्येष्टत्वात्,गृहान्तर्गतप्रदीपप्रभावत् संकोचविकाशाऽऽत्मकत्वेन तस्य न्यायप्राप्तत्वात् । न च देहाऽऽत्मनोरन्योन्यानुप्रवेशत्वे देहे भस्मसाद्भावे आत्मनोऽपि तथात्वप्रसक्ति., क्षीरोदकवत्तयोर्लक्षणभेदाद्भेदात् । न हि भिन्नस्वरूपयोरन्योन्यानुप्रवेशे सत्यप्येकक्षयोऽपरस्य क्षयाय,यथा पच्यमाने क्षीरे प्रथममुदकक्षयोऽपि न क्षीरक्षयाय । न चेह लक्षणभेदो नास्ति । तथाहि-रूपरसगन्धस्पर्शाऽऽदिधर्मवन्त. पुद्गला , चेतनालक्षणश्चात्मेति सिद्धस्तयोर्लक्षणभेद. । यथा चैकान्तामूर्ताऽऽदिरूपत्वेऽर्थक्रियाऽऽदेर्व्यवहारस्याभावस्तथा प्रतिपादितमनेकधेति मूर्त्तामूर्त्ताद्यनेकान्ताऽऽत्मकत्वमात्मनोऽभ्युपगन्तव्यम् ।

अस्य च मिथ्यात्वाऽऽदिपरिणतिवशोपात्तपुद्गलान्ताद् विभागलक्षणो बन्ध , तद्वशोपनतसुखदु खाऽऽद्यनुभवस्वरूपश्च भोगोऽनेकान्ताऽऽत्मत्वे सत्युपपद्यते । अन्यथा तयोरयोग इति प्रतिपादनार्थमाह-(दव्वट्ठियस्सेत्यादि) अथवा परस्परसापेक्षद्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकयो' प्ररूपणा प्रदर्शितन्यायेन सम्भविनी, निरपेक्षयोः कथसा ?, इत्याह-

> दव्वट्ठियस्स आया, बंधइ कम्मं फलं च वेएइ ।
> बिइयस्स भावमेत्तं, ण कुणइ ण य कोइ वेएइ ॥५१॥

द्रव्यास्तिकस्येयं प्ररूपणाऽऽत्मैकस्थायी कर्म ज्ञानाऽऽदिनिबन्धकं बध्नाति स्वीकरोति, तस्य कर्मण. फलं च कार्यभूतं वेदयते भुङ्क्ते आत्मैव । द्वितीयस्य तु पर्यायार्थिकस्येय प्ररूपणा-नैवाऽऽत्माप्यस्ति, किं तु भावमात्रं विज्ञानमात्रमिति न करोति, न च कश्चिद्वेदयते, उत्पत्तिक्षणानन्तरध्वसिन. कर्तृत्वानुभवितृत्वायोगात् ।

तथेयमपि तयोर्भूतयो. प्ररूपणेत्याह-

> दव्वट्ठियस्स जो चे-व कुणइ सो चेव वेयई णियमा ।
> अण्णो करेइ अण्णो, परिभुंजइ पज्जवणयस्स ॥ ५२ ॥

य एव करोति स एव वेदयते, नित्यत्वात्, द्रव्यास्तिकस्यैतन्मतम् । अन्य. करोत्यन्यश्च भुङ्क्ते,क्षणिकत्वात्,पर्यायस्य नयस्यैतन्मतम् । ननु पूर्वगाथोक्तमेव पुनरपि तदेव तावत्पिष्टपेषणमाचार्येण कृतं भवेत् । न । उत्पत्तिसमनन्तरमेव करणं भोगो वा सम्भवीति प्राक् प्रतिपादितम्, इहोत्पत्तिक्षण एव कर्त्ता तदनन्तरक्षणश्च भोक्तेति न पुनरुक्तम् । भोक्तृत्वं च परै. भुक्तिर्येषां क्रिया सैव कारक. सैव चोचित इति ।

इयमसंयुक्तयोरनयो. स्वसमयप्ररूपणा न भवति, या तु स्वसमयप्ररूपणा, तामाह-

> जं वयणिज्जवियप्पा, संजुज्जंतेसु होंति एएसु ।
> सा ससमयपण्णवणा, तित्थयरासायणा अन्ना ॥ ५३ ॥

ये वचनीयस्याभिलापस्य विकल्पास्तत्प्रतिपादका अभिधानभेदाः, संयुज्यमानयोरन्योऽन्यसम्बद्धयोर्भवन्त्यनयोर्द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकवाक्यनययो', ते च कथञ्चिन्नित्य आत्मा कथञ्चिदमूर्त इत्येवमादय., सैषा स्वसमयस्येति तदर्थस्य प्रज्ञापना निदर्शना । अन्या तु निरपेक्षयोरनयोरेव नययोर्या प्ररूपणा तीर्थकरस्याऽऽसादनाऽधिक्षेप. । " एगमेगेण जीवस्स पएसे अणतेहिं णाणावरणिज्जपोग्गलेहिं आवेढिए परिवेढिए " इति तीर्थकृद्वचने प्रमाणोपपन्ने सत्यपि " नामूर्त्तं मूर्त्ततामेति, मूर्त्तं नायात्यमूर्त्तताम् । द्रव्य कालत्रयेऽपीत्थ, च्यवते नात्मरूपत." ॥१॥ इति तीर्थकृन्मतमेवैतन्नयवादनिरपेक्षमिति कैश्चित्प्रतिपादयद्भिस्तस्याधिक्षेपप्रदानात् परस्परनिरपेक्षयोः नययोः प्रज्ञापना तीर्थकराऽऽसादनेति ।

अस्यापवादमाह-

> पुरिसज्जायं तु पडु-च्च जाणओ पण्णविज्ज अण्णयरं ।
> परिकम्मणानिमित्तं,दाएही सो विसेसं पि ॥ ५४ ॥

पुरुषजातं प्रतिपन्नपर्यायान्यतरस्वरूपं श्रोतारं वा प्रतीत्याऽऽश्रित्य ज्ञायक. स्याद्वादवित्,प्रज्ञापयेदवक्रीत, अन्यतरत् पर्यायं द्रव्य वाऽभ्युपेतपर्याय द्रव्यमेवाङ्गीकृतद्रव्यार्थं च पर्यायमेव कथयेत् । किमित्येकमेव कथयेत् ?,परिकर्मनिमित्तं बुद्धिसंस्कारार्थं,परिकर्मितमते दर्शयिष्यते । स स्याद्वादाभिज्ञ. विशेषमपि द्रव्यपर्याययोः परस्पराविनिर्भागरूपम्,एकांशविषयविज्ञानस्यान्यथा विपर्ययरूपताप्रसक्ति. स्यात्, तदितराभावे तद्विषयस्याऽ-

प्यभावात् । सम्म० १ काण्ड । स्या० । (सप्तभङ्गीप्ररूपणा तु ' सत्तभंगी ' शब्दे वक्ष्यते)

(७) अथ सप्तभङ्ग्यामित्थं नयविभागमुपदर्शयन्ति श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः-

"एवं सत्तवियप्पो, वयणपहो होइ अत्थपज्जाए।
वंजणपज्जाए पुण, सवियप्पो णिव्वियप्पो उ" ॥४१॥ (स०१ का०)

एवमनन्तरोक्तप्रकारेण सप्तविकल्पः सप्तभेदो वचनपथो भवत्यर्थपर्याये ऽर्थनये सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रलक्षणे । तत्र प्रथमो भङ्गः सङ्ग्रहे सामान्यग्राहिणि, द्वितीयस्तु नास्तीत्ययं व्यवहारे विशेषग्राहिणि, ऋजुसूत्रे तृतीयः, चतुर्थः सङ्ग्रहव्यवहारयोः, पञ्चमः सङ्ग्रहर्जुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्रयोः, सप्तमः सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रेष्विति । प्रयोगश्चैतेश्चतुर्थतृतीययोर्व्यत्यये नेष्यते इति न तृतीये ऋजुसूत्रयोजनाऽनुपपत्तिः । अत्र यद्धर्मप्रकारकः सङ्ग्रहाऽऽख्यो बोधः प्रथमभङ्गफलत्वेनाभिमतः, तद्धर्माभावप्रकारको व्यवहाराऽऽख्यो बोध एव द्वितीयभङ्गफलत्वेनेष्टव्यः । तेन स्याद् घटः स्यान्नीलघटः इत्यादिसामान्यविशेषसङ्ग्रहव्यवहाराभ्यां न सप्तभङ्गीप्रवृत्तिः ; न वैकवचनबहुवचनाऽऽदिना भङ्गान्तरवृद्धिरित्यवधेयम् । अथ तृतीयभङ्गस्यर्जुसूत्रनिमित्तकतायाः किं बीजम्?, युगपत्सत्त्वासत्त्वासात्, इष्टे हि सङ्ग्रहव्यवहारावप्यवक्तव्यमेव ब्रूतः, सङ्ग्रहव्यवहारौ युगपदुभयथा दिशत एव नेति चेत्, ऋजुसूत्रोऽपि कथं तथा देष्टुं प्रगल्भताम्?, मध्यमक्षणरूपायाः सत्तायास्तेनाप्यभ्युपगमात् सङ्ग्रहाभिमतयावदनुवृत्तसामान्यानभ्युपगमात् । ऋजुसूत्रेणावक्तव्यभङ्ग उत्थाप्यत इति चेत्, सोऽयं प्रत्येकावक्तव्यत्वकृतोऽवक्तव्यत्वभङ्गः, तदुत्थापने च सङ्ग्रहोऽपि समर्थः । ऋजुसूत्राभिमतमध्यमक्षणरूपसत्तानभ्युपगमात् तेनाऽपि तदुत्थापनस्य सुकरत्वादिति चेत् । अत्रेदमाभाति-सङ्ग्रहव्यवहारौ युगपत्नोभयथा देष्टुं प्रगल्भेते, स्वानभिमतांशादेशेऽनिष्टसाधनत्वप्रतिसन्धानात्, ऋजुसूत्रस्य तु वर्तमानपर्यायमात्रग्राहिणस्तिर्यगूर्द्धताऽऽधाराशान्यतररूपं सामान्यम्, अन्यापोहरूपो विशेषश्चेति द्वावपि संवृताविवेति तदपेक्षया युगपदुभयथाऽऽहार्यतदादेशसम्भवादवक्तव्यभङ्गोत्थानमनाबाधम् । न चैवमपि तज्जनितबोधस्य प्रसङ्गरूपत्वाद् विपर्ययपर्यवसाने सङ्ग्रहव्यवहारान्यतरसामान्यमिति वाच्यम्, विषयाबाधे कूटलिङ्गजाऽनुमितिरिव प्रकृतिभङ्गजबोधस्य प्रमात्वेन विपर्ययपर्यवसानकदर्थनाऽनवकाशात्, व्यञ्जनपर्याये शब्दनये पुनः सविकल्पः, प्रथमे पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावादर्थस्यैकत्वाच्च, द्वितीयतृतीययोर्निर्विकल्पश्च, द्रव्यार्थात्सामान्यलक्षणाश्रितस्य पर्यायरूपस्य विकल्पस्याभिधायकत्वात्तयोः । तथा च घटो नाम घटवाचकयावच्छब्दवाच्यः । शब्दनयेऽस्त्येव समभिरूढैवम्भूतयोर्नास्त्येवेति द्वौ भङ्गौ लभ्येते, लिङ्गसङ्ख्याक्रियाभेदेन भिन्नस्यैकशब्दवाच्यत्वात् शब्दाऽऽदिषु तृतीयः, प्रथमद्वितीययोगाच्चतुर्थः, तेष्वेव चानभिधेयसंयोगे पञ्चमषष्ठसप्तमा वचनमार्गा भवन्ति । अथवा शब्दनये पर्यायान्तरसहिष्णौ सविकल्पो वचनमार्गः, तदसहिष्णौ तु निर्विकल्प इति द्वावेव भङ्गौ, अवक्तव्यभङ्गस्तु व्यञ्जननये न सम्भवत्येव, श्रोतरि शब्दोपरक्तार्थबोधनस्यैव तत्प्रयोजनत्वात्, अवक्तव्यबोधनस्य च तन्नये सम्प्रदायविरुद्धत्वेन तथा बुबोधयिषाया एवासम्भवादिति । अधिकमस्मत्कृतानेकान्तव्यवस्थायाम् ॥ तदेव प्रतिपर्यायं सप्तप्रकारकबोधजनकतापर्याप्तिमद्वाक्यं प्रमाणवाक्यमिति लक्षणं सिद्धम् ॥ इत्थं च तदन्तर्भूतस्य तद्बहिर्भूतस्य वाऽन्यतरभङ्गस्य प्रदेशपरमाणुदृष्टान्तेन नयवाक्यत्वमेवेत्यर्थतो लभ्यते । इतरप्रतिक्षेपी तु नयो नयाभासो, दुर्नयो वेत्युच्यते ॥ मलयगिरिचरणास्तु-नयो दुर्नयः सुनयश्चेति दिगम्बरव्यवस्था, न त्वस्माकम्, नयदुर्नययोरर्थाविशेषात्स्याच्छब्देन विवक्षितधर्मोपरागेण कालाऽऽदिभिरेतद्वृत्त्याऽभेदोपरागाद्वाऽनन्तधर्माऽऽत्मकवस्तुप्रतिपादने प्रमाणवाक्यस्यैव व्यवस्थितेः । अत एव स्याच्छब्दलाञ्छिततयैव सर्वत्र साधूनां भाषाविनयो विहितः । अवधारणीयभाषा च निषिद्धा; तस्या नयरूपत्वात्, नयानां च सर्वेषां मिथ्यादृष्टित्वात् । तथा चानुस्मरन्ति-" सव्वे णया मिच्छावाइणो त्ति । " न च सप्तभङ्ग्यात्मकं प्रमाणवाक्यम्, एकभङ्ग्यात्मकं च नयवाक्यमित्यपि नियन्तुं शक्यम्, सप्तभङ्ग्याः सप्तविधजिज्ञासोपाधिनिमित्तत्वात् । न च तासां सार्वत्रिकत्वम् । 'को जीवः?' इति प्रश्ने लक्षणमात्रजिज्ञासया "स्याद् ज्ञानाऽऽदिलक्षणो जीवः" इति प्रमाणवाक्यरूपस्योत्तरस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात् । स्यात्पदस्य चात्राऽनन्तधर्माऽऽत्मकत्वद्योतकत्वेन प्रमाणाङ्गत्वम् । द्योतकत्वं चात्रोपसर्पादनकी शक्तिर्लक्षणा वेत्यन्यदेतत् । तत्र च श्रुतपदप्रतिपादनधर्मांशे लौकिकी विषयता स्यात्पदद्योत्या, अनन्तधर्माऽऽत्मकत्वांशे च लोकोत्तरेति विशेष इत्यपि निःसन्दिग्धते । तन्मतमनुरुद्ध्य प्रमाणलक्षणान्तरं समुच्चिनोति च पुनर्वाक्यमेकधर्मकं प्रतिनियतैकधर्मप्रतिपिपादयिषया प्रयुक्तं स्यात्पदादपरे येऽनन्ता धर्मास्ताननुल्लिखतीत्येवंशीलं वाक्यं तदपि प्रमाणवाक्यं व्यवहर्तव्यमित्यर्थः । अयं च समुच्चयरूव्यमपि सम्प्रदायमतमिति कृत्वा समुन्नीतः । वस्तुतो नयदुर्नयप्रमाणविभागेनैवादर एव । हेमसूरिभिरपि-"सदेव सत्स्यात्सदिति त्रिधाऽर्थो, मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः २८" (स्या०) इत्यादिविभज्याभिधानात्, आकरे नयतदाभासानां व्यक्तेरुदाहृतत्वाच्च । अवधारणी च भाषा एकान्तवादाऽऽत्मिकैव निषिद्धा, न तु नयरूपाणि, तस्याः प्रमाणपरिकल्पितत्वेन तत्रावधारणीयत्वस्य निश्चायकत्वरूपभाषालक्षणान्वयेनैव सिद्धान्तसिद्धत्वात् । अत एव निराकाङ्क्षानासत्त्याऽऽदिस्थले शाब्दसमानाकारमानसस्वीकारे किमपराद्धं शाब्दबोधेनेति पर्यनुयोगो मानसस्य संशयाऽऽकारस्यापि सम्भवान्निश्चायकरूपशाब्दबोधानुपपत्तेरेव यौक्तिकैर्निराकृतः । न च भाषामात्रस्यावधारणीयत्वेऽप्याराधकत्वविराधकत्वतदुभयानुभयैः सत्याऽऽदिभेदचतुष्टयोपदेशाच्चयभाषाया देशाऽऽराधकत्वेन तृतीयभङ्ग एव निक्षेपात्साधूनामनादरणीत्वमित्यपि युक्तम्, चतुर्धा विभागस्य रूव्यभावभाषायामेवोपदेशात्, तत्र च परिगणितमिश्रभाषाभेददशकानामन्तर्भावादेव नयभाषाया दोषाभावात्, श्रुतभावभाषायां च तृतीयभाषायामेवानधिकृतत्वाच्चारित्रभावभाषायामाद्यन्तयोर्भेषयोरधिकृतत्वेऽप्यायुक्ततया चतसृणामपि भाषणेऽपराधकत्वाविरोधस्य प्रज्ञापनाऽऽदावुक्तत्वात् । किञ्च-प्रतीत्यसत्यात्वलक्षणमत्र स्फुटमेव किं नोन्नीयते?, न च सप्तभङ्ग्यात्मकवाक्यस्यैव प्रतीत्यसत्यात्वम्, अपेक्षाऽऽत्मकबोधजनकवाक्यत्वस्यैव तल्लक्षणत्वात्, अन्यथैकत्रापेक्षया ह्रस्वदीर्घाऽऽदिलौकिकवचनस्यालक्ष्यत्वाऽऽपत्तेः । न च सत्या सर्वत्रालौकिक्येव लक्ष्या, जनपदसत्याऽऽदिभेदानामसङ्ग्रहाऽऽपत्तेः । ननु तथाऽप्युत्सर्गतोऽनादरणीयनयदुर्नयभाषयोरविशेषः । तथोक्तं वादिना-"सीसमईविप्फारण-मित्तत्थोऽयं कओ समुल्लावो । इहरा कहामुहं चेव णत्थि एवं ससमयम्मि ॥२५॥" (सम्म० ३ काण्ड) इति चेत् । न ।

शिष्यमतिविस्तारकत्वं हि नयवाक्यस्य प्रमाणाऽऽत्मकमहावाक्यजन्यशाब्दबोधजनकावान्तरवाक्यार्थज्ञानजनकत्वं, तदनुक्ताऽऽकाङ्क्षोत्थापकत्वं वा, तेन तस्याऽऽदरणीयत्वस्यैव सिद्धेः । तदुक्तं वादिनैव-"पुरिसज्जायं तु पडुच्च जाणओ पन्नविज्ज अण्णयरं। परिकम्मणानिमित्तं, दाएही सो विसेसं पि" ॥५४॥ (सम्म० १ का०) इति । प्रमाणवाक्यमपि ह्यनेकान्तरुचिशालिनं पुरुषविशेषमधिकृत्यैव प्रयुज्यते; तदनयोर्द्वयोरपि कारणिकत्वे प्राप्ते स्वस्वकाले औत्सर्गिकत्वमेव न्यायसिद्धम्; विप्रतिपिद्धकारणाभिधित्सले तथाव्युत्पत्तेः । तस्मात् "स्याद् ज्ञानाऽऽदिलक्षणो जीवः" इत्यपि सुनयवाक्यमेव, एकभङ्गरूपत्वात् । प्रमाणवाक्यता तत्राऽप्युत्थाप्याऽऽकाङ्क्षाक्रमेण भङ्गपट्कसयोजनयैव । सकलाऽऽदेशत्वं च प्रतिभङ्गमनन्तधर्माऽऽत्मकत्वद्योतनेन, अन्यथा च विकलाऽऽदेशत्वमित्येके ॥ अखण्डवस्तुविषयत्वेन त्रिष्वेवाऽऽद्यभङ्गेषु तत्, चतुर्षु चोपरितनेषु एकदेशविषयत्वेन विकलाऽऽदेशत्वमित्यन्ये ॥ अथ व्युत्पत्तिविशेषः सर्वसप्तभङ्गीसाधारणः, स्याच्छब्दसाङ्गिनैकमात्रेण तु न प्रमाणवाक्यविश्रामः, सुनयवाक्यार्थस्यैव ततः सिद्धेः । अत एव कृष्णः सर्प इत्यादिविशेषणविशेष्यभावबोधकवाक्येऽपि सर्पमात्रे कृष्णत्वस्याभावादनन्ते व्यभिचारात् पृष्ठावच्छेदेन कृष्णोऽप्युदरावच्छेदेन शुक्लत्वोपलम्भात् स्याच्छब्दसयोजनया नयवाक्यत्वमित्याह समन्तभद्रः । लक्ष्यलक्षणाऽऽदिव्यवहारोऽपि नयवाक्यैरेव सिद्ध्यति, उद्देश्यलौकिकबोधस्यानतिप्रसक्तस्य तेभ्य एव सिद्धेः । प्रमाणवाक्यस्य लौकिकबोधार्थं सप्तभङ्ग्यात्मकमेवाऽऽश्रयणीयम् । अत एव तद्व्यापकत्वं सम्मत्यादौ महता च यत्नेन साधितमिति किमतिविस्तरेण ? ॥ ६ ॥

(१०) नन्वेकत्र वस्तुन्यनेकाऽऽकारा प्रमाणधीः, एकाऽऽकारा च नयधीः कथमुत्पद्यते ?, इति जिज्ञासायामाह-

यथा नैयायिकैरिष्टा, चित्रेऽनेकैकरूपधीः ।
नयप्रमाणभेदेन, सर्वत्रैव तथाऽऽर्हतैः ॥ ७ ॥

(यथेति) यथा नैयायिकैश्चित्रे नीलपीताऽऽदिना शबले घटाऽऽदावनेकरूपा नीलपीताऽऽद्याकारा, एकरूपा च चित्राऽऽकारा धीरिष्टाऽभ्युपगता, तथाऽनुभवात्, स्यान्मतभेदाऽऽश्रयणाद्वा, तथा सर्वत्रैव वस्तुन्येकानेकरूपतया चित्रे प्रमाणनयभेदेन द्विविधा बुद्धिरार्हतैरिष्टा, अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधाभावादिति भावः । यथा च सर्वस्य वस्तुनश्चित्रत्वं तथोक्तमस्माभिरात्मख्यातौ, विस्तरभिया नेह प्रतन्यते ।

चित्ररूपे तु मतभेदं तर्करसिकव्युत्पत्त्यर्थमुपदर्शयामः-तत्र नीलं नीलान्यरूपासमवायिकारणं न वेति चित्ररूपे विप्रतिपत्तिः, विधिकोटिः सामानाधिकरण्येन, निषेधकोटिरवच्छेदकावच्छेदेन । तेन नाऽऽशतो बाधः, सिद्धसाधनं वा । यत्तु नीलरूपासमवायिकारणकं पीतरूपासमवायिकारणकं न वेति प्रतिपत्तिरिति । तन्न । नीलरूपासमवायिकारणस्य नीलस्य पक्षत्वे बाधात् । चित्ररूपस्य पक्षत्वे आश्रयासिद्धेः । यदपि नीलरूपासमवायिकारणकवृत्तित्वविशिष्टरूपत्वं पीतरूपासमवायिकारणवृत्ति न वेति केषाञ्चिद्विप्रतिपत्त्युद्भावनम् । तदपि न रमणीयम् । विशिष्टस्य, विशिष्टाऽऽधेयताया वाऽनतिरिक्तत्वादिति दिक् ।

तत्र साम्प्रदायिकाः-नानारूपवदवयवाऽऽरब्धे वस्तुनि नीलपीताऽऽदिभिरेकं संभूय चित्ररूपमारभ्यते । न च सामग्रीसत्त्वात् नीलाऽऽदिभिर्नीलाऽऽदेरपि तत्र जननाऽऽपत्तिः, अगत्या नीलेतररूपाऽऽदेर्नीलाऽऽदिकप्रतिबन्धकत्वकल्पनात्, प्रतिबन्धकताऽवच्छेदकः संबन्धः स्वसमवायिसमवेतत्वम्, प्रतिबध्यतावच्छेदकश्च समवायः । चित्रत्वावच्छिन्नेऽपि नीलेतरपीतेतररूपत्वाऽऽदिनैव हेतुता, तेन न केवलनीलकपालाऽऽरब्धे चित्रोत्पत्तिप्रसङ्गः । यत्त्ववयवनिष्ठनीलाभावाऽऽदिघटकस्यैव चित्रं प्रति हेतुत्वमिति । तन्न । नीलपीतोभयकपालाऽऽरब्धे घटपाकनाशिनावयवपीते स्वचित्रेऽवयवे व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिकाले चित्रोत्पत्त्यापत्तेः । न च कार्यसहभावेन नीलाभावाऽऽदीनां तद्धेतुत्वादयमदोषः, नीलपीतश्वेतत्रितयकपालाऽऽरब्धे पीतश्वेतयोः क्रमेण नाशे श्वेतनाशकालेऽपि तदापत्तेरिति; पाकजचित्रे च न व्यभिचारः; पाकादवयवे नानारूपः, अन्यत्रानन्तरमेवावयविनि चित्रस्वीकारात्; पाकचित्रस्वीकारे च विजातीयचित्रं प्रति नीलेतरत्वाऽऽदिना हेतुता, अग्निसंयोगजचित्रे चावच्छेदकत्वसंबन्धावच्छिन्न [प्रति] योगिताका नीलजनकाग्निसंयोगाऽऽदेरभावरूपजनकविजातीयाग्निसंयोगाश्च हेतवः । अस्तु वा तेजःसंयोगमात्रजन्ये विजातीये चित्रे विजातीयतेजःसंयोगस्य हेतुत्वं, पाकयोरुभयजन्ये विजातीये चित्रे चोभयोरेव रूपमात्रजाऽतिरिक्त एव वा विजातीयतेजःसंयोगो हेतुः, फलबलेन वैजात्यकल्पनात् । न चाग्निसंयोगजमात्रातिरिक्ते रूपमेव हेतुरस्तु इति विनिगमकाभावः। उभयस्थले नीलेतराऽऽदिसमाजाभावस्यैव विनिगमकत्वादित्याहुः ॥ शिरोमणिभट्टाऽऽचार्यमतानुसारिणस्तु-चित्रघटेऽव्याप्यवृत्त्येव नीलपीताऽऽदीनि नानारूपाणि, एकरूपमिति प्रतीतेरेकोऽन्नराशिरितिवत्समूहैकत्वविषयत्वात्, सविषयावृत्तिव्याप्यवृत्तिजातेरव्याप्यवृत्तित्वविरोधस्तु प्रामाणिक एव । अत एव "लोहितो यस्तु वर्णेन, मुखे पुच्छे च पाण्डुरः । श्वेतः खुरविषाणाभ्यां, स नीलो वृष उच्यते" ॥१॥ इति स्मृतिरप्युपपद्यते । अथाऽव्याप्यवृत्तिनीलाऽऽदिकल्पने गौरवम् । तथाहि-अवच्छेदकतासंबन्धेन नीलाऽऽदिकं प्रति समवायेन नीलेतररूपाऽऽदीनां प्रतिबन्धकत्वमस्मिन् पक्षे वाच्यम्, अन्यथा पीतावयवावच्छेदेन नीलोत्पत्तिप्रसङ्गात् । न च नीलस्य स्वाश्रयावच्छेदेन नीलजन्यत्वस्वाभाव्यादेव न तदापत्तिः, विनैतादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावं तथा स्वाभाव्यानिर्वाहात् । ननु समवायेन नीलं जायत एव पीतावयवावच्छेदेनेत्यत्र चाऽऽपादकाभाव इति चेत् । न । समवायस्येवावच्छेदकताया अपि कारणनियम्यत्वात् । एवं च नीलाऽऽदौ नीलेन रूपाऽऽदीनां, नीलेतररूपाऽऽदौ वा नीलाऽऽदीनां प्रतिबन्धकत्वे विनिगमकाभावः । मम नीलेतररूपाऽऽदौ नीलाऽऽदीनां न प्रतिबन्धकत्वम् । नीलपीताऽऽरब्धे नीलरूपत्वप्रसङ्गस्य बाधकत्वादिति चेत् । मैवम् । ममाऽपि नीलत्वाऽऽदिकमेव प्रतिबध्यताऽवच्छेदकं, न तु नीलेतररूपत्वाऽऽदि, गौरवादिति वक्तुं शक्यत्वात् । न च नीलत्वेन प्रतिबन्धकत्वं, न तु नीलेतरत्वेन, गौरवादित्येव किं न स्यादिति वाच्यम्; प्रतिबन्धकताऽवच्छेदकगौरवस्यादोषत्वात् । अस्तु वाऽवच्छेदकतया नीलाऽऽदौ समवायेन नीलाऽऽदीनामेव हेतुत्वम् । न च नानारूपवत्कपालाऽऽरब्धघटनीलस्य तत्कपालावच्छेदेनोत्पत्तिप्रसङ्गः, केवलनीलत्वाऽऽदिनैव तद्धेतुत्वात् । न च केवलत्वं नीलाभविसमानाधिकरणत्वमिति गौरवम्, अनवच्छिन्नसमवायेन नीलाऽऽदिहेतुत्वस्यैव तदर्थत्वात् । समवायेन नीलाऽऽदौ च स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्धेन नीलाऽऽदीनां हेतुत्वं, व्याप्यवृ-

त्तिनीलस्थलेऽव्याप्यवृत्तित्ववारणाय चावच्छेदकतया नीला- ऽऽदौ स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायित्वसम्बन्धेन नीलेतररू- पाऽऽदीनां हेतुत्वमित्यव्याप्यवृत्तित्वपक्षेऽष्टादश कार्यकारण- भावाः, चित्ररूपपक्षेऽप्येतावन्त एव । चित्ररूपे नीलेतररूपाऽऽ- दीनां षट्कस्य, नीलाऽऽदौ च नीलाऽऽदिषट्कस्य हेतुत्वम्, नीले- तराऽऽदिषट्कस्य च नीलाऽऽदौ प्रतिबन्धकत्वमित्याधिक्याऽऽ- धिक्याभावात् । वस्तुतोऽवच्छेदकतया नीलाऽऽदौ स्वसमवा- यिसमवेतद्रव्यसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतररूपाविशि- ष्टनीलत्वाऽऽदिनैव हेतुत्वम् । न च नीलेतरत्वाऽऽद्यवच्छिन्नं प्रति नीलविशिष्टनीलेतरत्वाऽऽदिना हेतुत्वे विनिगमकाभावः, नीलत्वापेक्षया नीलेतरत्वस्य गुरुत्वात्, इत्थं चाभिनिष्कर्षेऽस्मा- कं द्वादशैव कार्यकारणभावा इति लाघवादित्याहुः । तदसत् । चित्ररूपस्वीकारपक्षेऽपि नीलाऽऽदौ नीलेतराऽऽदप्रतिबन्धक- त्वेनैव शुक्लावयवमात्राऽऽरब्धे नीलाऽऽद्यनुत्पत्तिनिर्वाहात्, नीलाऽऽदौ नीलाऽऽदिहेतुत्वाकल्पनात्, कार्यकारणभाव- संख्यासाम्यादव्याप्यवृत्तिनानारूपतत्प्रागभावभावाद्ध्वंसाऽऽ- दिकल्पने परं परस्यैव गौरवात् । किञ्च-अव्याप्यवृत्तिरूपप- क्षेऽवच्छेदकतासम्बन्धेन रूपे उत्पन्ने पुनस्तेनैव संबन्धेना- वयवे रूपोत्पत्तिवारणायावच्छेदकतासम्बन्धेन रूपं (प्रत्यवच्छेद- कतासम्बन्धेन रूपं) प्रतिबन्धकं कल्पनीयमिति गौरवम् । न चाव- यविनि समवायेनोत्पद्यमानमवयवेऽवच्छेदकतयोत्पत्तुमर्हतीत्य- वयविनि रूपस्य प्रतिबन्धकस्य सत्त्वेन रूपसामग्र्यभावादेव नावयवेऽवच्छेदकतया तदा रूपोत्पत्त्यापत्तिरिति वाच्यम् । एवं ह्यवयविनिष्ठरूपाभावोऽवच्छेदकतासम्बन्धेन रूपं प्रति हेतुर्वाच्यः, तथा च नानारूपवत्कपालाऽऽरब्धघटस्य नीलरूपाऽऽदेर्नीलक- पालिकाऽवच्छेदेनानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तदवयविनि कपाले रूपस- त्त्वात् । अपि च-नीलपीतवत्याग्निसंयोगात्कपालनीलनाशात्तदव- च्छेदेनानुत्पत्तिर्न स्यात्, समवायेन रूपं प्रति तेन रूपस्य प्रतिबन्ध- कत्वात्, तदवच्छिन्नरूपे तदवच्छिन्नरूपस्य प्रतिबन्धकत्वकल्प- ने चातिगौरवम् । अथावच्छिन्ननीलाऽऽदौ नीलाभावाऽऽदिषट्क- मवयवगतमवयविगतं च हेतुः, रक्तनीलाऽऽरब्धे रक्तनाशकपाकेन व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तौ चावयविनि नीलाभावाभावानवच्छिन्न- नीलोत्पत्तिः, केवलनीले पाकेन क्वाचिद्रक्तोत्पत्तौ च प्राक्तन- नीलनाशादेवावच्छिन्ननीलोत्पत्तिरिति चेत् । न । नीलपीतश्वेता- ऽऽद्यारब्धे श्वेताऽऽद्यवच्छेदेन नीलजनकपाके सति प्राक्तननील- नाशेन तत्तदवच्छिन्ननानानीलक्रमस्य नाशापेक्षया एकचित्रकल्प- नाया एव लघुत्वात् । अथ व्याप्यवृत्तिरूपस्या[व्य]वच्छेदकस्वी- कारादवच्छेदकतया नीलाऽऽदिकं प्रत्येव समवायेन नीलाऽऽदेर्हे- तुत्वम् । न चैव घटेऽपि तया नीलाऽऽद्युपपत्तिः, अवयवनीलत्वेन, द्रव्यविशिष्टनीलत्वेन वा तद्धेतुत्वात् । न च नीलमात्रपीतमात्रक- पालिकाद्वयाऽऽरब्धनीलपीतकपाले तदापत्तिः, नीलकपालिका- ऽवच्छिन्नतदवच्छेदेन तदुत्पत्तेरिष्टत्वात्, अस्तु वा तया नीलाऽऽदौ नीलेतररूपाऽऽदेरेव विरोधित्वमिति चेत् । न । नीलाऽऽदौ नीलेत- ररूपाऽऽदिप्रतिबन्धकतयैवोपपत्तौ तत्र नीलाऽऽदिहेतुताया मा- नाभावान्नानारूपवदवयवाऽऽरब्धे चित्ररूपस्यैव प्रामाणिकत्वाद- व्याप्यवृत्तेरवच्छेदकायोगान्नीलेतराऽऽदौ नीलाऽऽदेः प्रतिबन्धक- त्वेऽविनिगमाच्च । यदि च-स्वाऽऽश्रयसम्बन्धेन नीलं प्रति स्वव्यापक- समवायेन नीलरूपं हेतुरुपेयते, नीलपीताऽऽद्यारब्धस्थले च स्वाऽऽ- श्रयसम्बन्धेन नीलरूपस्य पीतकपालेऽपि सम्भवेन व्यभिचारात्, उक्तसंबन्धेन हेत्वभावादेव न तत्र नीलोत्पत्तिरिति विभाव्यते, तदा नीलं प्रति नीलेतररूपाऽऽदेः प्रतिबन्धकत्वे चित्ररूपत्वाऽऽ- दिना न कल्पनीयमित्यभिप्रायम् । एवं च सामानाधिकरण्य- संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको नीलेतराभावः समानावच्छेद- कत्वप्रत्यासत्त्या नीलहेतुरित्यपि निरस्तम्; समानाधिकरणस्य व्याप्यवृत्तित्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराभावा- सत्त्वाच्चेति यद्वा संप्रदाय समादधते । केचित्तु-विजातीयचित्रं प्रति स्वविजातीयत्वस्वसमवायित्वोभयसम्बन्धेन रूपविशिष्टरू- पत्वेनैव हेतुत्वम् । स्ववैजात्यं च चित्रत्वाव्यतिरिक्त यत्स्ववृत्ति तद्भिन्नधर्मसमवायित्वम्, स्वसमवायितत्वं च स्वसमवायिसम- वेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्वम् । न च सत्त्वाननुगमः, सम्बन्धमध्ये तत्तत्प्रवेशात्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां हेतुत्वादित्याहुः ॥ परे तु नीलपीतोभयाभावपीतरक्तोभयाभावाऽऽदीनां स्वसम- वायिसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकानां समवायावच्छि- न्नप्रतियोगिताकानां विजातीयपाकोभयाभावाऽऽदीनां यावत्स्वा- वच्छिन्नप्रतियोगिताक एको भावभिन्नान्यावच्छिन्नं प्रति हेतुरि- त्याहुः ॥ रूपत्वेनैव चित्रं प्रति हेतुत्वम्, कार्यसहभावेनाचित्रेतरा- भावस्याहेतुत्वेनानतिप्रसङ्गादित्यन्ये ॥ परे तु चित्रत्वावच्छिन्ने रू- पत्वेनैव हेतुत्वम्, नीलपीतोभयाऽऽरब्धवृत्तिचित्रत्वावान्तरवैल- क्षण्यावच्छिन्ने च नीलपीतोभयत्वेन हेतुना । एवं तत्त्रितयाऽऽरब्धे तत्त्रितयत्वेन, नीलपीतोभयाऽऽदिमात्राऽऽरब्धे च नीलपीतान्यतरा- दितररूपत्वेन प्रतिबन्धकत्वात्र त्रितयारब्धचित्रवति द्वितयाऽऽर- ब्धसम्प्रयोगः । न चैव गौरवम्, प्रामाणिकत्वात् । वस्तुतः समवायेन द्वितयजचित्रादौ स्वाधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्वसम्बन्धेनैव द्वितया- ऽऽदीनां हेतुत्वम्, नातः प्रागुक्तप्रतिबन्धकत्वकल्पनागौरवमित्याहुः । वृद्धास्तु नीलपीतरक्ताऽऽद्यारब्धघटाऽऽदौ नीलपीतरक्ताऽऽदि- भेदेन नीलपीतोभयजपीतरक्तोभयजतत्त्रितयजादीनामुत्पत्तिः, स- र्वेषां सामग्रीसत्त्वात् । नात्र चरमं व्याप्यवृत्ति, इतराणि त्वव्याप्य- वृत्तीनीति विशेषः । न चैकमेव तदस्त्विति वाच्यम्, तत्तदवयवद्व- यमात्रावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षे विलक्षणविलक्षणचित्रोपलम्भात् । न च नीलपीताऽऽदिविशिष्टचित्रेणावान्तरचित्रप्रतीतिसम्भवोऽ- लमोऽत्र, सामान्यचित्रत्वेनाखण्डावान्तरचित्रत्वाना सामाना- धिकरण्यप्रत्ययात् । न चेदेव तदा नीलाऽऽद्यविशेषिता ये नी- लाऽऽदिभेदास्तत्तदाश्रयरूपसमुदायेनानुगतचित्रप्रतीतेश्चित्रत्व नीलाऽऽदिभेदसमुदायेन नीलाऽऽद्यनुगतप्रतीतिसम्भवान्नील- त्वाऽऽदिकमपि च विलीयेतेति जातेरव्याप्यवृत्तित्वे पुनरस्त्वेक- मेव यत्किञ्चिदवच्छेदेन तत्र नीलत्वपीतत्वरक्तत्वविलक्षणचित्रत्वा- ऽऽदिसम्भवादित्याहुः ॥ तदिदमखिलमशिक्षितप्रलापमात्रम् ॥ चि- त्रपटोचिते च रूपाप्रतिपत्तेरनुभवविरुद्धत्वात्, शुक्लाऽऽदिरूपा- णामपि परस्परभिन्नाना साक्षात्सम्बन्धेन निर्विगानं तत्र प्रतीतेः, प्रत्येतव्यकल्पनागौरवेण प्रतीतिबाधे रूपाऽऽदेस्तु तन्मात्रगत- त्वाऽऽपत्तेः । तदिदमाहुः संमतिटीकाकृतः -"न च चित्रपटाऽऽदाव- पास्तशुक्लाऽऽदिविशेषरूपमात्रं तदुपलम्भान्यथानुपपत्त्याऽस्तीत्य- भ्युपगन्तव्यम्, कथं चित्ररूपः पट इति प्रतिभासाभावप्रसक्ते- रिति, एकाधिकरण्यावच्छिन्नशुक्लाऽऽद्यवयवावच्छेदं, एवं कथ- ञ्चित्समुदायव्यतिरिक्तचित्रमिति, नत्र शुक्लाऽऽद्यग्रहे चित्राग्रह- प्रसक्तिरित्येव तात्पर्यम् । किञ्चिच्छुक्लावयवावच्छेदेनाऽपि चक्षु- र्संनिकर्षेण चित्रोपलम्भः स्यात्, अथ चित्रत्वग्रहे परम्परयाऽवयव- गतनीलेतररूपपीतेतररूपाऽऽदिमत्त्वग्रहो हेतुः, अतएव त्र्यणुकं चि- त्रं चक्षुषा न गृह्यत इत्याचार्याः । न च चित्रत्वनिष्ठविषयतया चित्र-

ग्यग्रहे स्वविशेषसमवेतत्वसंबन्धेनोक्तस्य हेतुत्वे घटावयवगततद्ग्रहात् शुक्लावयवावच्छेदेन चित्रपटसन्निकर्षेऽपि तद्रूपचित्रत्वप्रत्यक्षाऽऽपत्तिरिति वाच्यम्, विशेष्यतया चित्रत्वप्रकारकप्रत्यक्ष एव चरमसमवेतत्वावधिनिर्मुक्तसंबन्धेन तद्धेतुत्वात् । न च नीलेतररूपत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारताग्रहो न हेतुर्नीलपीतत्वाऽऽदिनाऽवयवगतनीलपीताऽऽदिग्रहेऽप्यवयविचित्रप्रत्यक्षोत्पादादिति वाच्यम्, विलक्षणचित्रप्रत्यक्षे तेन तेन रूपेण तत्तद्ग्रहस्यापि हेतुत्वात् । वस्तुतो नीलेतररूपत्वाऽऽदिव्याप्यत्वेन नीलेतररूपत्वपीतत्वाऽऽद्यनुगमान्न क्षतिरिति चेत् । न । त्र्यणुकचित्ररूपाग्रहे चतुरणुकचित्रप्रत्यक्षानुपपत्तेः, चित्रावयवाऽऽरब्धे चित्रग्रहेऽवयवविषयकनीलेतररूपत्वाऽऽदिव्याप्यचित्रत्वावच्छिन्नप्रकारकग्रहस्यैव हेतुत्वात् । यदि च नीलेतररूपपीतेतररूपाऽऽदिमदवयवावच्छिन्नेन्द्रियसन्निकर्षस्यावयवनीलाऽऽदिगतनीलत्वाऽऽदिग्रहप्रतिबन्धकदोषाभावाना च चित्रप्रत्यक्षे हेतुत्वम्, अतस्त्रसरेणुचित्रस्याऽपि चक्षुषा ग्रह इत्युच्यते, तदाऽनन्तहेतुहेतुमद्भावकल्पनागौरवात्, चित्रत्वं व्यासज्यवृत्त्यैव, तत्र च समानाधिकरणनानारूपग्रहव्यङ्ग्यत्वमित्येव कल्प्यमानं शोभते । न ह्येवं गौरवं, चित्रत्वग्रहे सामानाधिकरण्येन रूपविशिष्टरूपग्रहत्वेनैव हेतुत्वादुक्तहेत्वभावे चित्रत्वविनिर्मुक्तचित्रप्रत्यक्षस्य चोभयोस्तुल्यत्वात् । यदि च नानाऽवयवावच्छिन्नपर्या[य] सत्त्वात्ति एक चित्रमप्यनुभूयतेऽत एवैकावयवावच्छेदेन चित्राभावप्रतीतेरप्युपपत्तिरिति स्वीक्रियते, तदैकानेकचित्रद्रव्यस्वभावाभ्युपगमं विना न काऽप्युपपत्तिः, देशस्कन्धनियतधर्माणां तद्ग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वेनैवोक्तोपपत्ते. । देशस्कन्धपरिमाणविशेषग्रहेऽपीयमेव गतिरिति दिक् । किञ्च-नीलेतररूपाऽऽदिपदस्यैव चित्ररूपे हेतुत्वमित्येतावतैव नोपपत्तिः, अवयवगतोत्कृष्टापकृष्टनीलाभ्यामपि चित्रसम्भवात् । ते चोत्कर्षापकर्षा विचार्यमाणा अनन्ता एव ।

तदाह श्रीसिद्धसेन.-

"पच्चुप्पण्णम्मि वि प-ज्जयम्मि भयणागइं पडइ दव्वं ।
जं एगगुणाऽऽईया, अणंतकप्पा गुणविसेसा" ॥६॥ (स० ३ का०)

व्याख्या-प्रत्युत्पन्ने वर्त्तमानेऽपि पर्याये भजनागतिं भेदाभेदप्रकारं पतत्यासादयति द्रव्यम्, यस्मादेकगुणाऽऽदय. कृष्णत्वाऽऽदयोऽनन्तप्रकारास्तत्र गुणविशेषा. प्रकारवाचिन. ।

तेषां च मध्ये केनचिदेव गुणविशेषेण युक्तं तदिति कृष्णं हि द्रव्यं द्रव्यान्तरेण तुल्यमधिकमूनं वा भवेत्, प्रकारान्तराभावात् । आद्ये सर्वतुल्यत्वे तदेकताऽऽपत्तिः । उत्तरयो संख्येयाऽऽदिभागगुणवृद्धिहानिभ्या षट्स्थानकप्रतिपत्तिरवश्यभाविनी । तथा च प्रतिनियतहानिवृद्धियुक्तकृष्णाऽऽदिपर्यायेण सत्त्व, नाऽन्येनेति । इत्थं च नीलत्वाऽऽद्यवान्तरजातीनामनन्तत्वात् तरतमशब्दमात्रेण तदनुगमस्य कर्तुमशक्यत्वात् । तत्तदवान्तरजातीयनीलपीताऽऽदीनामनन्तचित्रहेतुत्वकल्पने गौरवमिति षट्स्थानपतितवर्णपर्यायेण चित्रद्रव्यमेव स्वसामग्रीप्रभवमभ्युपगन्तव्यम्, आर्थसमाजसिद्धधर्मस्याऽपि तथा जन्यत्वकार्यतावच्छेदकत्वस्वीकारात् । एतेन चित्रप्रत्यक्षमनेकताऽवच्छेदकमपि चक्षुःसंयोगनिष्ठं वैजात्यं स्वीकर्त्तव्यमित्यपि निरस्तम् । सूक्ष्मेक्षिकयाऽनन्तावान्तरचित्रानुभवादनन्तवैजात्यकल्पनाऽऽपत्तेरत्य-तामामाणित्वाद्विति द्रष्टव्यम् । अव्याप्यवृत्तिरूपपक्षेऽप्यवयवगतोत्कृष्टापकृष्टनीलाभ्यामवयविनीलेतयोरवच्छिन्नयोः सामान्यसामग्रीवशादर्थादनवच्छिन्नस्य नीलस्योत्पत्तिप्रसङ्गोऽवयविनीलेतरत्वाऽऽद्यवच्छिन्न एवावयवनीलेतरत्वाऽऽदिना हेतुत्वे नीलत्वावच्छिन्नस्याऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गः । किमाकस्मिकत्वमिति चेत् ?, तद्धर्मावच्छिन्नार्थे तयाप्रवृत्तिविरह , एतत्कारणसत्त्वे नीलत्वावच्छिन्नस्यावश्यमुत्पत्तिरित्यनिश्चयश्च प्रतीयते । तत्र नीलसामान्यमनवच्छिन्नम्, अवच्छिन्नाश्च तद्विशेषा. । केवलशुक्लेऽपि च स्वल्पबह्ववयवावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षेऽणुमहत्त्वोपेतशुक्लविशेषा., तदनुगतं शुक्लसामान्यं चेत्येकानेकवर्णविशिष्टद्रव्यपरिणामाभ्युपगमं विना न कथमपि विस्तार । एतेनाऽव्याप्यवृत्तिनीलाऽऽदिकल्पने ग्राहकान्तरकल्पने अव्याप्यवृत्तिद्रव्यसमवेतप्रत्यक्षत्वाऽवच्छिन्नं प्रति चक्षुःसंयोगकावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसंबन्धावच्छिन्नाऽऽधारतासन्निकर्षेण संयोगाऽऽदिप्रत्यक्षस्थले क्लृप्तेनैवानतिप्रसङ्गात् । नीलपीतोभयकपालाऽऽरब्धघटीयनीले च नीलकपालिकयेव परम्परया ऽवच्छेदिकेत्यभ्युपगमादित्यादि निरस्तम् । शाखामूलोभयावच्छिन्नदीर्घतन्तुतरुसंयोगवन्नीलेतरोभयाऽऽद्यवयवावच्छिन्नविलक्षणरूपस्याऽनुभवसिद्धत्वेन तद्ग्राहकोभयाऽऽदिपर्याप्तावच्छेदकताकाऽधिकरणतागर्भसन्निकर्षाऽऽदिकल्पनाया अप्यावश्यकत्वादुपदर्शितसंयोगस्थलेऽपि एकैकावच्छिन्नसंयोगद्वयस्वीकारे च तद्वृत्तिकृता सर्वैश्च नीलेतराऽऽरब्धेऽवयविनि नीलानीलं स्वस्वावच्छेदेन समुत्पद्यमानं रूपमविरोधाद् व्यापकमेवोत्पद्यते, सजातीयविजातीयेषु नानापदार्थेषु जायमानं समूहाऽऽलम्बनमित्येकं ज्ञानमिति सर्वं विलूनशीर्णं स्यात्, यथा दर्शनसंस्कारतात्पर्यान्यां नानैकसंयोगरूपाभ्युपगमे व्यञ्जितं स्याद्विनैव (?)। एतेन नानारूपवदवयवाऽऽरब्धे व्याप्यावृत्तीन्येव नीलपीताऽऽदीन्युत्पद्यन्ते, नीलाऽऽदिकं प्रति नीलेतराऽऽदिप्रतिबन्धकत्वनीलाऽऽदिकारणत्वकल्पनापेक्षया व्याप्यवृत्तिनीलपीताऽऽदिकल्पनाया एव न्याय्यत्वादित्यपि परेषां मतं निरस्तम् ; नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे पीताऽऽद्युपलम्भाऽऽपत्तेरपि तत्र दोषत्वात् । तदाह सम्मतिटीकाकारः-"आश्रयव्यापित्वेऽप्येकावयवसहितेऽप्यवयविन्युपलभ्यमानेऽपरावयवानुपलब्धावप्यनेकरूपप्रतिपत्ति. स्यात्, सर्वरूपाणामाश्रयव्यापित्वादिति ।" न च नीलाऽऽद्यवयवावच्छिन्नसन्निकर्षस्य नीलाऽऽदिग्राहकत्वकल्पनाददोष, पीतकपालिकाऽवच्छिन्ननीलपीतोभयकपालावच्छेदेन सन्निकर्षेऽपि नीलग्रहप्रसङ्गात् । न च केवलनीलावयवावच्छिन्नसन्निकर्ष एव ग्राहक इति वाच्यम्, नीलपीतोभयद्व्यणुकाऽऽरब्धत्रसरेणुनीलप्रत्यक्षाऽऽपत्तेः । परमाणुसन्निकर्षेऽस्यैव परमाण्ववच्छिन्नसन्निकर्षस्याऽपि द्रव्याग्राहकत्वेन तद्गतरूपाग्राहकतया चित्रस्वभावत्वमानुभविकम्, तथा ग्राहके ज्ञानेऽपि तत्राखण्डमाया एकाऽऽकारताया, सखण्डानां च नानाऽऽकारताविशेष्यतासांसर्गिकविषयतानां नयनिरूपितानां शुद्धानां चानुलोमप्रतिलोमभावेन समानम्, सावित्सत्त्वेद्यतानियामकवैचित्र्यशालिनीना च बह्वीनामनुभवात् । अत एव "सावज्जजोगविरओ, तिसु गुत्तो छसु सुसंजुत्तो । उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होइ ॥१॥" इति सप्तनयाऽऽत्मकमहावाक्यार्थज्ञाने एकाऽवशिष्टा प्रमाणाऽऽकारता, अनेकाश्चांशिक्यो नयविषयतापरस्परसंयोगजाश्च बह्व्योऽनुभूयन्ते । नैयायिकास्तु-विशेषण, तत्र च विशेषणान्तरम् १, विशिष्टस्य वैशिष्ट्यम् २, एकविशिष्टेऽपरवैशिष्ट्यम् ३, एकत्र द्वयम् ४, इत्येव चतुर्धा

विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धिः । तत्र मध्यमद्वये विशेषेण विशेष्यताऽ-
वच्छेदकप्रकारकनिश्चयत्वाभ्यां हेतुता, इतरद्वये तु विशेषणज्ञा-
नासंसर्गाग्रहयोः, विशेष्ये विशेषणमितिरीत्या बुद्धित्व-रक्तत्वाऽऽ-
द्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितदण्डत्वाऽऽद्यवच्छिन्नप्रकारकबुद्धि-
त्वम्, तेन दण्डो रक्तो दण्डवान्पुरुष इति समूहाऽऽलम्बने नाति-
प्रसङ्गः, तत्र दण्डत्वावच्छिन्नप्रकारतायाः रक्तत्वावच्छिन्नप्र-
कारतानिरूपितत्वात् । न च विशिष्टवैशिष्ट्यविषयतास्वीकारे र-
क्तदण्डवानित्यत्र विशेष्ये विशेषणमितिविषयितायां दण्डो
रक्तो दण्डवान्पुरुष इति समूहालम्बनव्यावृत्तायां मानाभावः ।
रक्तरूपदण्डत्वोभयावच्छिन्नदण्डनिष्ठप्रकारताभिन्नाया र-
क्तरूपत्वाऽवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितशुद्धदण्डत्वावच्छिन्नप्र-
कारताया आनुभविकत्वम् । किञ्च-रक्तदण्डवानित्यादि-
वाक्यादयुगपदुपस्थितस्वघटकाखिलपदार्थाज्जायमानाया अन-
न्वितान्वयबुद्धेः रक्तो दण्डो दण्डवान्पुरुष इति वाक्यजसमूहा-
ऽऽलम्बनावैलक्षण्ये रक्तदण्डाभाववानित्यादिबाधधीकालेऽ-
प्युत्पत्त्यापत्तिरिति तत्प्रतिबध्यताऽवच्छेदकतयैव तत्सिद्धिरु-
कबाधधिया रक्तरूपत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितशुद्धदण्डत्वा-
वच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपुरुषत्वाऽवच्छिन्नविशेष्यताकधियैव प्र-
तिबद्धत्वाद्विशिष्टवैशिष्ट्यविषयताया बाधप्रतिबध्यतावच्छेद-
कत्वे उक्तस्थल एवानुपपत्तेः। अपि च-विशकलितज्ञानाद् व्या-
पकविषयताशालिमानसस्वीकारेण तत्साधारण्येनैव प्रतिबद्ध-
त्व युक्तिमत् । यथैव दण्डो रक्तो न वेति संशयकाले उक्तवा-
क्याद्विशेष्ये विशेषणमिति रीत्याऽन्वयबोधाऽऽपत्तिरिति चेत् ।
न । प्रथममिष्टत्वात्, अनन्तरं च विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमिति रीत्याऽ-
न्वयधिय संभवात् । तदनुभवोऽप्यविरुद्धः, प्रात्यक्षिकी बुद्धिर-
प्युक्तसंशयकाले रक्तत्वांशे संशयाकारा इष्टैव । यत्तु घटघटत्वाऽऽ-
दिनिर्विकल्पकोत्तरं घटवदित्याकारा धीर्विशेष्ये विशेषणमिति
रीत्या जायत इति । तत्र घटाऽऽद्यंशे तद्धीप्रकारताया निरवच्छि-
न्नत्वेऽपसिद्धान्त, जात्यतिरिक्तस्य किञ्चित्प्रकारेणैव भानात् ।
तादृशधीविरोधिनोऽसंसर्गाग्रहस्यासंभवात्तथा विशेषणधियो-
ऽहेतुत्वाच्च । तस्या घटत्वाऽऽद्यवच्छिन्नत्वे तु तद्धियो घटो
नास्तीत्यादिबुद्धिवद्विशिष्टवैशिष्ट्यधीत्वस्यैवाव्यवसितप्रकार-
कज्ञानमेवोपनायकम्, तस्य च कार्यतावच्छेदकं लौकिकविषयि-
ताशून्यम्, तद्विषयिकज्ञानत्वापेक्षया लाघवाद्विशिष्टवैशिष्ट्या-
ऽऽख्यविषयताशालिप्रत्यक्षत्वमेवेति घटत्वप्रकारकज्ञानोत्तरं
जायमानायां घटवदिति बुद्धौ विशिष्टवैशिष्ट्यधीत्वमेव; निर्वि-
कल्पकोत्तरं तु विशेष्ये विशेषणमितिरीत्या लौकिकविषयताशा-
लिज्ञानस्यैव स्वीकारात् । न च दण्ड इत्याद्यात्मकमानसबोधास-
म्भवः, तत्र ज्ञानांशे दण्डस्य प्रकारकत्वात् । न चात्मन्युपनीतभावे
च ज्ञानाभावेऽपि तत्रागत्या लौकिकविषयताशून्यत्व निवेशनीयम्;
तादात्म्येन स्वस्मिन् स्वप्रकारकत्वाभ्युपगमादित्यादिनिरस्तम् ।
नव्यनये निर्विकल्पकसाधारणप्रत्यासत्तिस्वीकारेणोपनयका-
र्यताऽवच्छेदके लौकिकाविषयिताशून्यत्वस्यैव निवेशात् घटव-
दित्यादौ सर्वत्र विशेष्ये विशेषणमितिरीत्या विषयतायां
मागसकृदुक्तबाधकस्यैव न साम्राज्यार्थैवेति(?)भावः, दण्डी न
वेति संशयकाले दण्डाभाववदितिधीर्विशेष्ये विशेषणमिति
रीत्या स्यात्, तयाऽभावे प्रतियोगिताऽवच्छेदकाविशिष्टप्रतियो-
गिनो बुद्धेरप्रसिद्ध्या तत्प्रतिबन्धकत्वस्याप्ययोगादिति चेत् ।न।
तादृशबुद्धेरप्रसिद्धत्वे दण्डाभावसंसर्गाग्रहाऽऽदिसामान्यसाम-
ग्र्या विशिष्टवैशिष्ट्यविषयिताबोध एव हेतुत्वात्, तादृशबुद्धेरा-
पादकाभावाद्विशेष्ये विशेषणमिति विषयितायाः वैशिष्ट्यवि-
षयिताकबोध एव हेतुत्वात्, तादृशबुद्धेरापादकाभावाद्विशेष्ये
विशेषणमिति विषयितायाः विशिष्टवैशिष्ट्यविषयिताव्यापकत्वे
दण्डाभाववदिति ज्ञानेऽपि तस्याः सत्त्वेन तदवच्छिन्नं प्रति प्रति-
बन्धकत्वसंभवाच्च । अत एव दण्डी रक्तो न वेति संशयकाले
यदि विशेष्ये विशेषणमिति रीत्याऽपि रक्तदण्डवानिति धियो
नोत्पत्तिः, तदा तत्र दण्डी रक्त इत्यादिनिश्चयाभावविशिष्टो
दण्डी रक्तो न वेत्यादिसंशयः प्रतिबन्धकः स्वीक्रियते । इत्थं
च व्यापकत्वाद् विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या विषयतैवानु-
मितिप्रवृत्त्यादिजनकताऽवच्छेदिका । विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वं तु
रक्तदण्डत्वाऽऽदिविशिष्टपर्याप्तप्रकारताकबुद्धित्वं रक्तदण्डेन
जानामीति प्रतीतेरिति संप्रदायविदः । तदसत् । अस्या एवाऽ-
नुमित्यादिजनकताऽवच्छेदकत्वे विशिष्टवैशिष्ट्यविषयितायां
मानस्य दूरापास्तत्वात् । रक्तदण्डवानित्यादिज्ञानेऽपि रक्तत्वा-
ऽऽदिप्रकारतानिरूपितदण्डाऽऽदिनिष्ठविशेष्यताया एवानुभवात्
रक्ताऽऽदेर्दण्डाऽऽदिविशेष्य इत्येव प्रतीतेः। तस्माद्विशिष्टवैशिष्ट्य-
विषयताकबुद्धित्वमेवानुमित्यादिजनकताऽवच्छेदकम् । विशेष्ये
विशेषणमिति बुद्धित्वं तु विशेषणताऽवच्छेदकसंशयकालीनज्ञान-
साधारणमित्यलं संशयप्रतिबन्धकत्वेन, विशिष्टपर्याप्तप्रकारत्वा-
संभवभिया परामर्शवैशिष्ट्यबुद्धित्वमित्यपि न युक्तम् । वह्निव्या-
प्ये धनवानित्यादौ विशिष्टव्याप्तेरसिद्धत्वेन प्रकारत्वासंभवभिया
परामर्श, दीधितौ खण्डशो निरुक्तेरानर्थक्याऽऽपातात् । अनेन वै-
शिष्ट्य च वैज्ञानिकम्, तेन लोहितवह्निमानित्यादौ न विशिष्टवै-
शिष्ट्यबोधानुपपत्तिरिति मथुरानाथाद्युक्तमपास्तम् । विशिष्टवै-
शिष्ट्यविषयताविशेषणताऽवच्छेदकसंबन्धभेदेन भिन्नेति सर्वैः
स्वीकारेण समवायाऽऽदिघटिततदसंभवस्य वैज्ञानिकसंबन्धेन
समाधातुमशक्यत्वाच्च, तत्तत्संबन्धेन विशेषणताऽवच्छेदकप्र-
कारकनिश्चयस्य तत्तत्संबन्धनिरूपितवैज्ञानिकसंबन्धेनैव वि-
शिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वाऽवच्छिन्नं प्रति हेतुत्वकल्पने त्वतिगौर-
वम्, संशयदशायामपि शुद्धसंबन्धेन कार्याऽऽपत्तिश्च। न चेष्टाप-
त्तिः, अनुभवविरोधात्। अन्यथा विशिष्टवैशिष्ट्य न कार्यतावच्छे-
दकम्, अर्थसमाजासिद्धत्वाद्विशेषणज्ञानद्वयादेव तादृशबोधाऽऽ-
पत्तिरिति मिश्रमतसाम्राज्याऽऽपत्तिः, दण्डी रक्तो न वेति संशया-
नन्तरमजायमानस्य, दण्डी रक्त इति निश्चयानन्तरं च जा-
यमानस्य बोधस्याऽनुभवसिद्धत्वात् । एवं हि तत्रोक्तकार्यकारण-
भावेन तन्मतं निराक्रियते, नियतसंबन्धगर्भत्वेऽप्ययमेव यु-
क्तिरिति । इदं तु स्याद्रक्तदण्डवानित्यत्र दण्डाऽऽश्रितैव प्रका-
रता, तदवच्छेदकता च रक्तदण्डत्वे च पर्याप्ता, रक्तेन दण्डत्वेन
चामुमहं जानामीति प्रतीतेर्व्यधिकरणस्याप्यवच्छेदकत्वात् । त-
स्त्ववच्छेदकत्वाऽऽदिकम् इदं रजतमित्यादि पीतशङ्खवदित्यादि-
भ्रमवदविरुद्धम् । साऽवच्छेदकता तत्तद्धर्मांशे समानाधिकरण-
व्यधिकरणतत्तत्संबन्धावच्छिन्ना, तत्र निरूपकबुद्धित्वं विशिष्ट-
वैशिष्ट्यबुद्धित्वं वह्निव्याप्ये धनवानित्यादावपि संभवती-
त्यलं दीधितिकृतः खण्डशो निरुक्ता, इयमेवानुमित्यादि-
जनकताऽऽवच्छेदिका नानाप्रकारताऽऽदिघटितधर्मस्य जनकता-
ऽऽद्यवच्छेदकत्वे गौरवादिति । अथ दण्डो रक्त इति निर्णय-
स्य रक्तत्वदण्डत्वोभयधर्माऽवच्छिन्नप्रकारताकत्वं जन्यताऽव-
च्छेदकमित्यभ्युपगमेऽपि रक्तत्वधर्मिताऽवच्छेदकदण्डत्वप्रका-
रकनिर्णयजन्ये दण्डरक्तवानिति विशिष्टवैशिष्ट्यबोधे व्यभि-
चार इति चेत् । न । रक्तत्वप्रकारतानिरूपितदण्डत्वावच्छिन्न-

विशेष्यताशालित्वस्याऽपि तादृशनिर्णयजन्यतावच्छेदके प्रवे-
शात्, उक्तस्थले दण्डत्वप्रकारतानिरूपितरक्तत्वावच्छिन्नविशे-
ष्यताया एव सत्त्वात्। उभयधर्मावच्छिन्नप्रकारतां परित्यज्योभ-
यपर्याप्तप्रकारतानिवेशेन हेतुत्वस्वीकारे तु पर्वतो लौहित्या-
भाववानिति ज्ञानकाले लोहितवह्निमानिति विशिष्टवैशिष्ट्य-
बुद्ध्यवगमाऽऽपत्तिः; पर्वतो न लोहित इति ज्ञानस्य लौहित्य-
प्रकारकपर्वतविशेष्यकज्ञान एव प्रतिबन्धकत्वात्। न च रक्त-
त्वावच्छिन्नविशेष्यताकरक्तप्रकारकस्य रक्तो रक्त इति स्मरण-
स्य प्रसङ्गः, तत्र तथा निर्णयस्य हेतुत्वादिति वाच्यम्; रक्त-
त्वावच्छिन्नविशेष्यतायास्तत्र रक्तत्वप्रकारतानिरूपितत्वेऽपि
रक्तत्वावच्छिन्नविशेष्यतात्वे तस्यास्तादृशप्रकारतानिरूपित-
त्वानभ्युपगमात्, तेन रूपेण रक्तत्वप्रकारतानिरूपितत्वेऽपि र-
क्तत्वावच्छिन्नविशेष्यतात्वे तच्छालित्वं ज्ञानस्यैव, रक्तो रक्त
इत्याकारकस्मृतिजनकतया तादृशस्मरणाऽऽपत्त्यसम्भवात्।
दण्डो रक्तो न वेति संशयानुव्यवसायस्तु वस्तुत्वाविशि-
ष्टदण्डवैशिष्ट्यावगाही रक्तदण्डमेन सन्देहीत्यप्रत्ययात्, किं तु
रक्तत्वतदभावप्रकारकत्ववदण्डविशेष्यकत्वावगाही रक्तत्वेन त-
दभावेन च दण्डं सन्देहीति प्रत्ययादिति न तत्र व्यभिचार
इति केचित्। तच्चिन्त्यम्। समुच्चयानुव्यवसायवत्तद्विशे-
षणद्वयानिरूपितवैशिष्ट्यविषयताशालित्वस्यैव वक्तुं शक्य-
त्वात्। रक्तदण्डे न सन्देहीत्यनभिलापस्य दण्डिनं जानामीत्यन-
भिलापवदेवोपपत्तेर्ज्ञानत्वेन संदेहाऽनुव्यवसाये चोक्तप्रका-
राभावाद्विशेषणोपर्युल्लिख्यमानस्य विशेषणताऽवच्छेदकस्य वि-
शेष्यनिष्ठसम्बन्धावगाहितायाः एवोक्तज्ञाने समर्थने चान्यत्रा-
प्यतिप्रसङ्गात्। तस्माद्विशेष्ये विशेषणमिति रीत्यैव संश-
यानुव्यवसाय इति न व्यभिचार इति बहवः। न च संदेही-
त्यनुव्यवसायस्य विशेषणमिति रीत्याऽभ्युपगमे रक्तदण्डो
द्रव्यमिति व्यवसायानन्तरमपि रक्तदण्डं जानामीत्यनुव्य-
वसायप्रसङ्ग इति वाच्यम्, रक्तविशिष्टप्रकारतानिरूपितविष-
यित्वसांसर्गिकविषयितानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेनाऽव्यवसा-
यं प्रति रक्तत्वप्रकारतानिरूपितदण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यता-
कत्वेन व्यवसायहेतुताया आवश्यकत्वात्। अन्यथा रक्तो दण्ड
इति प्रत्यक्षानन्तरं रक्तवान् दण्डश्चेति समूहाऽऽलम्बनस्मर-
णाऽऽदिस्थले रक्तदण्डं स्मरामीत्यनुव्यवसायोपपत्तेः। न च
दण्डो रक्त इति ज्ञानोपरमेऽपि रक्तदण्डं करोमीत्याकारककृ-
तिसाक्षात्कारोत्पत्त्या व्यभिचारः, हेतुताऽवच्छेदके ज्ञानज्ञाने-
निवेशे च रक्तदण्ड इत्यनुद्बुद्धसंस्काराद्रक्तत्वनिर्विकल्पक-
दशाया विशिष्टबोधाऽऽपत्तिः, उद्बोधकानां संस्कारजवि-
शिष्टवैशिष्ट्यबोधहेतुत्वेऽपि तदभावे सामान्यसामग्र्या
फलजननेबाधकाभावादिति वाच्यम्, कृतिसाक्षात्कारपूर्वं
नियमतो दण्डो रक्त इति स्मरणानभ्युपगमात्। वस्तुतः
संस्कारव्यावृत्तज्ञानेच्छाकृतिवृत्तिजातिविशेषं कल्पयित्वा वि-
शेषणताऽवच्छेदकप्रकारकविजातीयगुणत्वेनैव हेतुत्वं स्वीक्रि-
यते, अनन्तस्मृतिव्यक्तिहेतुत्वकल्पनापेक्षया तादृशजाति-
कल्पनाया एवोचितत्वात्। न च कृतिसाक्षात्कारपूर्वं विषय-
स्मृतिकल्पनमावश्यकम्, अन्यथोपनायकज्ञानविरहेण विषयभा-
नासंभवेन कृतिसाक्षात्कारानुदयप्रसङ्गादिति वाच्यम्; ज्ञान-
लक्षणप्रत्यासत्तेरपीच्छाकृतिसाधारणतद्विषयकविजातीयगुण-
त्वेनैव हेतुत्वोपगमात्। अवश्यं च गुणमानसजनकावच्छेदकत-
या संस्काराऽऽदिव्यावृत्तजातिविशेषकल्पनम्। अन्यथा सं-

स्काराऽऽदिमानसताऽऽपत्तेरिति विशिष्टवैशिष्ट्यानुभवत्वमेव च
जन्यताऽवच्छेदकमास्थीयते, स्मरणे च तादृशविषयतानियामक
इति बहवः। केचित्तु अनुभवत्वजातौ मानाभावेन ज्ञानत्वस्या-
ऽपि नित्यसाधारणतया जन्यताऽवच्छेदकत्वाज्जन्यप्रत्यक्षवृत्ति-
जातिविशेष एव विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकनिर्णयजन्यताऽ-
वच्छेदकोऽनुमित्यादौ च परामर्शाऽऽदिरेव तादृशविषयतानि-
यामकः, एवं शाब्दबोधेऽवान्तरवाक्यार्थबोध एव, तथाऽप्यवि-
जातीयप्रत्यक्षत्वस्य तज्जन्यताऽवच्छेदकत्वे इतरव्यापकीभूता-
भावप्रतियोगिपृथिवीत्ववती पृथिवीत्याकारकपरामर्शादितर-
भेदत्वप्रकारकज्ञानदशायामिव तच्छून्यदशायामपि पृथिवीत-
रभेदवतीत्याकारकविशिष्टवैशिष्ट्यविषयताशालिनाऽनुमितेरा-
पत्तिः, तादृशानुमितान्वयव्याप्तिज्ञानस्यैव हेतुत्वापत्तिरित्यु-
क्तौ च स्वातन्त्र्येणेतरभेदत्वप्रकारकज्ञानस्य सत्त्वे तादृशानुमित्य-
नुदयाऽऽपत्तिः। न च पृथिव्यामितरभेदविशेष्यकानुमितेरेव स्वी-
काराभ्युपगमापत्तिः, साध्यविशेष्यकानुमितौ साध्यप्रसिद्धेर्विरोधि-
नया तत्र तादृशानुमित्युत्पादासम्भवात्। न च विशेष्ये विशेषण-
मिति रीत्या पृथिवीतरभेदवतीत्याकारानुमितिस्तत्र जायत ए-
वेति वाच्यम्, तथा सति साध्यज्ञानशून्यकाले तादृशपरामर्शा-
त्पृथिव्यामितरभेदः पृथिवीतरभेदवतीत्याद्याकारकद्विविधविष-
यताशालिन्या अनुमितेरापत्तेः। न च विशिष्टबुद्धिं प्रति विशे-
षणज्ञानस्य हेतुत्वान्नियमापत्तिः, एवमपि प्रमेयत्वेनेतरभेदज्ञा-
नकाले तथाविधानुमितेरापत्तिसम्भवात्। न च प्रमेयत्वाऽऽदिना
साध्यज्ञानकाले साध्यविशेष्यकानुमितिप्रतिबन्धकीभूत—
साध्यसिद्धिसत्त्वे तत्र तथाविधविषयताशाल्यनुमित्यापत्तिरिति
वाच्यम्, साध्यताऽवच्छेदकप्रकारकसिद्धेरेव साध्यविशेष्यका-
नुमितिविरोधित्वात्। अन्यथेतरभेदत्वरूपेण भेदान्तरावगाहि-
सिद्धिकाले तादृशानुमितिवारणाय तत्र पक्षविषयतानिवेश्यासि-
द्धेः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावान्तराऽऽपत्ते, तस्मादितरभेदत्व-
प्रकारकज्ञानकालीनव्यतिरेकव्याप्तिज्ञानजन्यानुमितिविशिष्टवै-
शिष्ट्यविषयतास्वीकार आवश्यकः, तत्साधारण्यं च विशेष-
णताऽवच्छेदकप्रकारकज्ञानजन्यताऽवच्छेदकस्यावश्यकम्। तथा
च सतीतरभेदत्वप्रकारकज्ञानशून्यकाले विशेष्ये विशेषण-
मिति रीत्येतरभेदत्वप्रकारकद्विविधविषयताशाल्यनुमित्याप-
त्तिः, विशिष्टवैशिष्ट्यानवगाहिन्या विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या
जायमानाया अनुमितेरप्रसिद्धेः। विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिन्यां
च विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकनिर्णयस्य हेतुत्वादिति चेत्, एव-
मप्यनुमितौ स्वातन्त्र्येणैव हेतुत्वम्, अनुमितिसाधारणजन्यताऽ-
वच्छेदकत्वे नित्यव्यावर्तनाय जन्यत्वनिवेशस्यावश्यकत्वम्, मिथो
विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेण नानाकार्यकारणभा-
वस्याऽऽवश्यकत्वादवच्छेदकप्रकारकज्ञानशून्यकालीनस्मरणे ई-
श्वरज्ञाने च विशेष्ये विशेषणमित्येतादृशविषयतामात्रमभ्यु-
पेयते, अतो न व्यभिचारः, न वा नित्यसाधारणमित्याहुः।
केचित्तु-विशेषणताऽवच्छेदकसंशयकाले विशिष्टवैशिष्ट्यबोधं
स्वीकृत्य विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमाहुः।
तदसत्। संशयसाधारणज्ञानस्य हेतुत्वेऽप्रामाण्यनिर्णयस्यैवो-
त्तेजकतया निर्णयत्वेन हेतुत्वे त्वप्रामाण्यज्ञानस्यैव तथात्वे
निर्णयत्वेन हेतुत्वकल्पनाया एवोचितत्वात्।
णताऽवच्छेदप्रकारकज्ञानीयनिर्णयत्वापेक्षया
ण्यज्ञाननिर्णयत्वस्य निवेशने २ १।
णताऽवच्छेदकसंशयकाले तत्र च। ।

इव ममापि विशिष्टवैशिष्ट्यबोधो न जायते, इत्यप्रामाण्यज्ञानत्वावच्छिन्नाभावस्यैव निवेशे क दोषः ?, इति चेत्, एवमपि संशयसाधारणज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यबोधहेतुत्वेऽनुमित्यादिक प्रति परामर्शहेतुत्वे व्याप्यत्वांशे निर्णयत्वनिवेशो महागौरवाद्विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्य चानाहार्यस्यैव हेतुत्वस्वीकारादाहार्यतदुत्तरोत्पन्नज्ञाने व्याप्यांशे निर्णयत्वनिवेशानावश्यकत्वात् । ननु तथाऽपि विशेष्ये विशेषणमिति ज्ञानसाधारण्ये चाऽतिरिक्तप्रकारिताऽस्तु, तदवच्छिन्नेऽप्रामाण्यनिश्चयाभावकूटविशिष्टसंशयाभावस्य नियामकतया— प्रामाण्यज्ञानाभावकूटविशिष्टनिश्चयत्वावच्छिन्नतो लघुत्वादियमेव योग्यता ज्ञानाऽऽदिनिष्ठहेतुताऽवच्छेदिका, बाधाऽऽदिप्रतिबन्धकताऽवच्छेदिका च । अत एवानन्वितान्वयबुद्धेर्बाधाऽऽदिप्रतिबध्यत्वप्रतिबन्धकत्वे, अत एव च व्याप्तिप्रकारक निश्चयोत्तरमपि व्याप्यभावांशे आहार्यसंशयाऽऽत्मकतथाविधज्ञानादनुमित्यनापत्तिः, कार्यतामदभावेन तथाविधसंशयस्य प्रतिबन्धकत्वादिति चेत् । न । अप्रामाण्यनिश्चयत्वावच्छिन्नाभावविशिष्टनिरुक्तसंशयाभावत्वेन हेतुत्वे गौरवात्,प्रतियोगिताऽवच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्य प्रतियोगिताऽवच्छेदकविशिष्टविषयकेऽभावस्य प्रत्यक्षे हेतुत्व कल्पमानमभावांशाप्रवेशेन लाघवात्तादृशज्ञान एव युक्तमिति तद्बलेन निश्चयजन्यताऽवच्छेदकविशिष्टवैशिष्ट्यविषयतासिद्धेश्च; शाकपाकजत्वाऽऽदौ साध्यव्यापकत्वसन्देहेनाहिते हेतौ साध्यव्यापकत्वव्यभिचारसन्देह ; उपाधिरित्युक्तस्तु फलीभूतसन्देहे शाकपाकजत्वविशिष्टे साध्यव्यापकस्याऽविशेषणात् । अन्यथा तु श्यामत्वाऽऽदौ तस्य निश्चयात्तत्र तद्विशेषणे तु साध्यव्यापकत्वांशे विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या संशयाऽऽकार एव स रक्तो दण्डो न वेति संशयकालीनो रक्तो दण्डवानिति प्रात्यक्षिकबोध इव रक्तत्वांश इति द्रष्टव्यम् । इद तु बोध्यम्-किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ने यद्विशेषणताऽवच्छेदक तत्प्रकारकनिश्चयत्वेनैव हेतुत्वमन्तरा धर्मिताऽवच्छेदकानियन्त्रितस्थले दण्डवदित्यादौ तु दण्डत्वाऽऽदिप्रकारकज्ञानत्वेनैव निर्धर्मिताऽवच्छेदकनिश्चयत्वस्य दुर्वचत्वात्, तत्प्रवेशे वैयर्थ्याच्चेति । विशिष्टवैशिष्ट्यमिति बुद्धित्व तु रक्तदण्डत्वोभयधर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितप्रकारताशालिबुद्धित्वम् । कारणता च तत्र दण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितरक्तत्वप्रकारताशालिनिर्णयत्वेन । कार्यता च रक्तत्वविशिष्टदण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यताशालिज्ञानत्वेनैव । तेनैकत्रद्वयमिति रीत्या दण्डो रक्तोऽप्रमेयश्चेति ज्ञाने न व्यभिचारः,तत्र दण्डत्वविशिष्टविशेष्यताया रक्तत्वानवच्छिन्नत्वेन, रक्तत्व धर्मितावच्छेदकीकृत्य प्रमेयत्वाऽऽदिबाधकालेऽपि तथाविधज्ञानाऽऽपत्तिरिति तादृशविशेष्यताया रक्तत्वावच्छिन्नत्वमावश्यकमिति वाच्यम् । एकाऽपि प्रमेयत्वाऽऽदिप्रकारतानिरूपितदण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यताभिन्ना एव रक्तत्वावच्छिन्नविशेष्यताया अभ्युपगमादेकस्या विशेष्यताया रक्तदण्डत्वोभयानवच्छिन्नत्वेनाव्यभिचारात्; तत्रापि रक्तत्वधर्मिताऽवच्छेदकदण्डत्वप्रकारकनिर्णयजन्ये दण्डो रक्तः प्रमेय इत्येतादृशबोधे व्यभिचारवारणाय तादृशविशेष्यतायां रक्तप्रकारकताऽऽदिनिरूपितदण्डत्वावच्छिन्नविशेष्यताभिन्नत्वं निवेशनीयम् । एकत्र द्वयमिति विषयिता च प्रकारिताद्वयावच्छिन्नविशेष्यतारूपा । यथा-चैत्रो दण्डी कुण्डली चेत्यत्र । न चैकमेकत्र त्रयादिकमप्यतिरिच्येत, एकत्र द्वयमिति सङ्ख्यैव सम्प्रदायात् । अय च दण्डी चैत्रो न कुण्डली, दण्डी चैत्रः कुण्डली-त्युभयत्र सत्त्वादुद्देश्यताऽवच्छेदकत्वविधेयत्वयोः प्रकारताविशेषत्वात् तादृशबाधधीप्रतिबध्यताऽवच्छेदकत्वादेव चास्याऽवैयर्थ्येन शरीरद्वयेनेद कुण्डलमहाद्येकत्र चैत्रो दण्डी कुण्डली चेति विधियो विशेषो रक्तदण्डाभावधियः समूहालम्बनादिव, इव चैकविशिष्टेऽपरवैशिष्ट्यावगाहितव्यापिका दण्डी कुण्डली चैत्रो द्रष्टव्यमित्यत्रेव दण्डी कुण्डली चैत्र इत्यत्राऽपि संशयानुप्रयोजकमामर्षाव्यापकसामर्थ्यकत्वाच्चेति वदन्ति । तदसत् । सामान्यविशेषयोरैक्यैकानेकाऽऽत्मकवस्त्वनभ्युपगमे एकान्तवादस्य कुत्राप्यघटमानत्वात् । विशिष्टबुद्धिष्वपि हि सामान्यत एका, विशेषतश्च परनिरूपितत्वेन बहुतरा अपि विषयता अनुभूयन्त इति चतुर्द्धैवेति कोऽभिनिवेशः ?। अत एवैकत्र द्वयस्थलेऽप्येकत्र भासमानयोर्विशेषणयोः परस्परमपि सामानाधिकरण्येन वैशिष्ट्यभानाद्विषयताभेदः,यदि च तत्र प्रकारकतया तयोर्निरूपितत्वविशेषान्नातिरेकः, तदा विशिष्टवैशिष्ट्यस्थलेऽपि एकप्रकारताऽवच्छिन्नापरप्रकारतयोपपत्तावतिरेके किं मानम् ?। विशेष्ये विशेषणमिति स्थले हि रक्तत्वप्रकारतानिरूपिता दण्डत्वावच्छिन्ना प्रकारता, विशिष्टवैशिष्ट्यस्थले च रक्तप्रकारताऽवच्छिन्ना दण्डत्वावच्छिन्ना प्रकारतेत्येवं विशेषसम्भवात् । स्वीक्रियतां वा तत्रावच्छेदकत्वाऽऽदेरित्येव प्रकारताप्रकारताद्वयघटितरूपेण तु यथा हेतुतावच्छेदकत्व तथा प्रागुक्तमेव, यथा सन्निवेशभौन्येनेति न रक्तत्वदण्डत्वोभयावच्छिन्नप्रकारतयैव रक्तदण्डस्यैव विशिष्टवैशिष्ट्यविषयता । अन्यथा रक्तदण्डव्यवानित्यतो रक्तदण्डवानित्यस्य वैलक्षण्याद्रक्तत्वदण्डस्यैव त्वनिष्टद्वित्वावच्छिन्नपर्याप्तधीरनाकारवच्छेदकताकप्रकारताऽऽश्रयणेऽतिगौरवात् । गुणवान् दण्डवानित्यतो वैलक्षण्यसम्पादनाय रक्तत्वत्वविशिष्टदण्डत्वोभयपर्याप्तावच्छेदताकप्रकारकतानुधावने रक्तत्वेन दण्डो,पीतावगाहिनि तादृशबोधेऽवगतेश्च तस्माद् रक्तत्वावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपकदण्डत्वावच्छिन्नप्रकारताकबुद्धित्वमेव रक्तदण्डवानिति विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वमाश्रयणीयम्,अनुमितिहेतुपरामर्शोऽपि हेतुनाऽवच्छेदकतानिरूपितप्रतियोगित्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिताधिकरणनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिताधेयत्वावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपितहेतुताऽवच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकत्वमेव निवेश्यताम् । न च यत्र व्याप्तिधूमत्वयोरैकत्वे द्वयमिति रीत्यैव हेतुनिष्ठप्रकारताऽवच्छेदकत्वे तादृशपरामर्शादनुमित्यापत्ति , इष्टापत्तौ च विरोधव्यभिचारयोर्हेत्वाभासत्वानुपपत्तिः, तादृशज्ञानस्य तद्ज्ञानाप्रतिबध्यत्वादिति तत्साधारणाय व्याप्तिप्रकारतानिरूपितविशेष्यतात्वेन धूमत्वावच्छिन्नप्रकारता निवेशनीया । तत्त्वेन धूमत्वावच्छिन्नत्व च धूमप्रकारतायां तत्रैव यत्र धूमत्वस्य व्याप्तिधर्मिताऽवच्छेदकत्वम्, अन्यत्र तु धूमप्रकारकत्वेनैवेति नाऽतिप्रसङ्गः । तथा च-प्रागुक्तरीत्या व्याप्यत्वाऽवच्छिन्ननिवेशस्यैवौचित्यात् । न चाऽयमेकान्तोऽपि युक्तः,परस्परानिरूपितावान्तरावयवे स्थानीयविषयताया अप्यनुभवात् । न च विशिष्टपर्याप्तप्रकारतैकान्तपक्षोऽपि युक्त , विशिष्टविशिष्टपर्याप्तप्रकारतान्तरस्याऽपि सिद्धापत्ते ,तत्सिद्धाविष्टापत्ति । दण्डविशिष्टपुरुषविशिष्टभूतलपर्याप्तप्रकारताकबुद्धौ च दण्डांशे निश्चयाऽऽत्मकदण्डविशिष्टपुरुषवद् भूतलमिति निश्चयो हेतु ,अत एव दण्डांशे पुरुषांशे च संशयनिश्चयाऽऽत्मकतादृशज्ञानाद्दण्डांशे विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या पुरुषांशे विशिष्टनिरूपितवैशिष्ट्यविषयताशालिज्ञानाऽऽपत्तिरित्यभ्युपगमे च विशेषणविशिष्टवै-

शिष्टबुद्धिकाले नवत्यशो निश्चयाऽऽत्मकमेकं ज्ञानं हेतुभूतं कल्पनीयम् । तत पूर्व चैकैकहासेनाष्टानवतिज्ञानानि पश्चानुपूर्व्या हेतुभूतानि कल्पनीयानीति सर्वमिदमनुभवसिद्धम् । तत्र विशृङ्खलोपस्थितवह्निविशेषणमिति रीत्या बोधस्वीकारे च तत्र इदमंशेऽनुभूयमानस्य निश्चयाऽऽकारस्य नियामक', तत्र संशयसामग्र्यभाव एवाऽवाच्यः । तथा च-विशिष्टवैशिष्ट्यविषयिता वह्निव्याप्यतद्भाववद्धूमवानित इव पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवांश्चेत्यादितोऽपि व्यावृत्ताऽस्तु,तदवच्छिन्नज्ञाननियामकश्च तत्तत्संशयसामग्र्यभाव एवेति विषयताविशेषपर्यनुयोगे किमुत्तरम् ?, तस्मात् क्षयोपशमविशेषजन्यताऽवच्छेदिकाः समनियता एवैता विषयिताः, अत्राऽपेक्षाभेदेन प्रतीयमाना असमुदितपर्यायाः अनेका प्रतिपत्तव्या., ग्राह्यस्येव ग्राहकस्य विचित्रस्वभावस्यापेक्षयैव विवेचयितुं शक्यत्वात् । इत्थमेवमखण्डोऽपि विषयताविशेष सिद्धयेत्, सामान्यद्दष्ट्या तथाऽप्यनुभवात् । तथा च-एतेनैव परामर्शोऽऽदेर्हेतुत्वाऽऽपत्तिरिति चेत् । सत्यम् । भावसप्रदेण विषयताविशेषणे शक्तिविशेषणे वा हेतुत्वेऽभावसप्रदेण चाभावविशेषणे तथात्वे बाधकाभावात् व्यवहारोच्छेदस्य व्यवहारनयसिद्धकार्यकारणभावे तैरेव निराकरणात् । अनुभवसिद्धास्तु ग्राह्यग्राहकनिष्ठा सामान्यविशेषधर्मा न कल्पनामात्रेणाऽऽपादितुं शक्या इति दिक् ।

" उल्लिखन्तु विकल्पवीचिनिचया. पर्यायमर्यादया,
क्ल्यार्थाऽऽदियुते तु चेतसि चिरं शाम्यन्तु तत्रैव ते ।
वस्तु प्रस्तुतमस्तु सागरसमं सर्वोपपाचितम्,
बाह्यं वा स्फुटमान्तरं समुचितस्याद्वादमुद्राङ्कितम् ॥१॥
ईहाऽपायपरम्परापरिचय. सर्वोऽप्ययं युज्यते,
वस्त्वंशेऽप्युपयोगमाकलयतामन्तर्मुहूर्तावधि ।
अन्येषां तु विकल्पशिल्पघटितो बोधस्तृतीयक्षण-
ध्वंसी ध्वस्तसमस्तहेत्वमिलित. कस्मिन् विचारे क्रमः ? ॥२॥

तदेवमनेकान्तेकरूपा नयप्रमाणप्रतिपत्तयः प्रामाणिका इति स्थितम् ॥ ७ ॥ नयो० ।

(११) ननु यदि प्रमाणं नयाः तर्हि 'प्रमाणनयैरधिगमः' इति प्रमाणनयभेदकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्ति. । अथाप्रमाणं, तथाऽप्यधिगमानुपपत्ति., तत्पृथग्भूतस्यापरस्यासंवेदनात्, प्रमाणाभावप्रसक्तिश्च । असदेतत् । यतोऽप्रमाणं नयाः, नयन्तीतररूपसापेक्षं स्वविषयं परिच्छिन्दन्तीति नया इति व्युत्पत्ते' । न चापरिच्छेदका', नयतेर्गत्यर्थत्वेन ज्ञानार्थत्वात्, ज्ञानस्य च परिच्छेदाऽऽत्मकत्वात् । न च परिच्छेदाऽऽत्मकत्वेऽपि प्रमाणता, समस्तनयविषयीकृतानेकान्तवस्तुग्राहकत्वेन प्रकृष्टं मानं प्रमाणम्, इतरांशसव्यपेक्षस्वांशग्राही नय इति, ततस्तत्त्वव्यवस्थिते । न चाऽनेकान्ताऽऽत्मकवस्तुग्राहिणो नया न भवन्ति, प्रत्येकं स्वविषयनियतत्वात् तेषां तद्व्यतिरिक्तस्य चाऽन्यस्य तद्विषयस्याऽननुभवात् । प्रमाणाभावोऽपि न आत्मन', कथञ्चित् तद्व्यतिरिक्तस्य प्रमाणत्वेनानुभवसिद्धत्वात् । तत्तन्नयविषयीकृताशेषवस्त्वंशाऽऽत्मकैकरूपग्राहकत्वस्य तत्र प्रतीते' । न च सशयाऽऽदिज्ञानैरात्मनः प्रमाणत्वेऽतिप्रसङ्ग', प्रमीयतेऽनेन प्रमिणोतीति वा प्रमाणमिति प्रशब्देन तस्य निरस्तत्वात् । न चाऽऽत्मनः कर्तृत्वात् करणरूपप्रमाणताऽनुपपत्ति',उत्पादव्ययध्रौव्याऽऽत्मकस्य तस्याऽनेकरूपत्वेन कर्तृकरणभावाविरोधात् । एतेन प्रत्येकं मिथ्यादृष्टयो नया. समुदिताः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्त इत्यत्र नयसमुदायार्थे दृष्टे प्रत्येकमदृष्टत्वाद् आत्यन्धसमूहवदित्येतन्निरस्तम्, अदृष्टतत्समूहसम्यक्त्वानभ्युपगमात् ; स्वविषयपरिच्छेदकत्वाच्च नयानामदृष्टत्वाच्च । नयानामदृष्टत्वादिति हेतुरसिद्धः, परिपूर्णवस्त्वनधिगन्तृत्वाऽऽदिहेतौ प्रतिज्ञार्थैकदेशाऽसिद्धिः; सिद्धसाध्यता च समुदायिनो दृष्टत्वनिषेधे साध्ये; अथ तत्समुदायस्य दृष्टत्वनिषेधः साध्यः, तदाऽभ्युपगमविरोध, समुदायव्यतिरिक्तस्यैकान्तेन समुदायस्याभावात् धर्मिणोऽप्रसिद्धि', साध्यतावचनसमुदायाभावे नया एव परस्परव्यावृत्तस्वरूपा इति न क्वचित् सम्यक्त्वम्, नयप्रमाणाऽऽत्मकैकचैतन्यप्रतिपत्ते, रत्नावलीवदिति ।

एतदाह-

जह ऽणेगलक्खणगुणा, वेरुलियाऽऽईमणी विसंजुत्ता ।
रयणावलिववएसं, न लहंति महग्घमुल्ला वि ॥ २२ ॥

यद्वा-यत् प्रत्येकं न नयेषु सम्यक्त्वं तत्तेषां समुदायेऽपि न भवति, यथा सिकतासु प्रत्येकमभवत् तैलं तासां समुदायेऽपि न भवति । अत्र हेतोरनैकान्तिकताप्रतिपादनार्थमाह-(जह ऽण• गलक्खणेत्यादि) यथाऽनेकप्रकारा.-विविधानि हेतुत्वाऽऽदीनि लक्षणानि नीलत्वाऽऽदयश्च गुणा येषां ते,वैडूर्याऽऽदयोऽनर्घ्यमणयः पृथग्भूता रत्नावलीव्यपदेशं न लभन्ते महार्घमूल्या अपि ।

तह णिययवायसुविणिच्छिया वि अण्णोण्णपक्खणिरवेक्खा ।
सम्मद्दंसणसद्दं, सव्वे वि णया ण पावेंति ॥ २३ ॥

तथा प्रमाणावस्थायामितरसव्यपेक्षस्वविषयपरिच्छेदकाले वा स्वविषयपरिच्छेदकत्वेन सुनिश्चिता अप्यन्योऽन्यपक्ष-निरपेक्षाः प्रमाणमित्याख्या सर्वेऽपि नया न प्राप्नुवन्ति निजकवादनिरपेक्षाः, सामान्याऽऽदिवादे सुविनिश्चिता हेतुप्रदर्शनकुशला अन्योऽन्यपक्षनिरपेक्षत्वात् सम्यग्दर्शनशब्द सुनया इत्येवं रूपं सर्वेऽपि सग्रहाऽऽदयो नया न प्राप्नुवन्ति ।

जइ पुण ते चेव मणी, जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा ।
रयणावलि त्ति भण्णइ, जहंति पाडिक्कसण्णाओ ॥२४॥

यथा पुनस्त एव मणयो यथा गुणविशेषपरिपाट्या प्रतिबद्धा रत्नावलीत्याख्यामासादयन्ति, प्रत्येकाभिधानानि च त्यजन्ति, रत्नानुविद्धतया रत्नावल्यास्तदनुविद्धतया च रत्नानां प्रतीते रत्नावलीति तत्र व्यपदेश, न पुन. प्रत्येकाभिधानम् ॥ २४ ॥

तह सव्वे णयवाया, जहाऽणुरूवं विणिउत्तवत्तव्वा ।
सम्मद्दंसणसद्दं, लहंति ण विसेससण्णाओ ॥ २५ ॥

तथा सर्वे नयवादा यथाऽनुरूपं विनियुक्तवक्तव्या इति । यथेति वीप्साऽर्थे, अनुरिति सादृश्ये, रूपमिति स्वभाव, तेनानुरूपमित्यव्ययीभाव' । पुनर्यथाशब्देन स एव "यथा सादृश्ये" । २ । १ । ७ । (पाणि०) इत्यनेन । यद्यदनुरूपं तत्र विनियुक्तं वक्तव्यम्, उपचाराद्वाचक. शब्दो येषां ते तथा, यथाऽनुरूपं द्रव्यध्रौव्याऽऽदिषु प्रमाणाऽऽत्मकत्वेन व्यवस्थिता' सम्यग्दर्शनं प्रमाणमित्याख्यां लभन्ते, न विशेषसंज्ञा पृथग्भूताभिधानानि, एकाऽऽत्मकत्वेन चैतन्यप्रतिपत्तेः; अन्यथा चाऽप्रतिपत्तेरिति । ननु नयप्रमाणाऽऽत्मकचैतन्यस्याध्यक्षसिद्धत्वेन रत्नावलीतिदृष्टान्तोपादानं व्यर्थम्, न । अध्यक्षसिद्धमप्यनेका-

न्तमनभ्युपगच्छन्तं प्रति व्यवहारसाधनाय दृष्टान्तोपादानस्य साफल्यात् । प्रवर्तितश्च तेनाऽपि तत्रानेकान्तव्यवहारः ।

दृष्टान्तगुणप्रतिपादनायाऽऽह–

सोऽयपरिच्छिन्नयसुहो–ऽनिच्छुयवयणपमिवत्तिमग्गो य ।
अह पएणवणाविसओ, त्ति तेण वीसत्थमुवणीओ॥२६॥

व्युत्पत्तिकसनाद् युक्त प्राणिसमूहसुखग्राह्यत्वमेकानेकाऽऽत्मकभावविषयवचो वाऽऽगमजनकत्व वा । अथेत्यवधारणार्थे, अनन्तधर्माऽऽत्मकवस्तुप्ररूपकवाक्यविषयत्व दृष्टान्तस्यैव ते कारणै. शङ्काव्यवच्छेदेनायमुपदर्शित इति गाथातात्पर्यार्थ ।

न चाऽऽवलयवस्थाया प्रागुत्तरकाल च रत्नानां पृथगुपलम्भादिह च सर्वदा तथोपलम्भाभावाद्विपममुदाहरणमिति वक्तव्यम्,अवस्थाया उदाहरणत्वेनोपन्यासात् । न च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो' सर्वथा साम्यम्, तत्र तदभावानुपपत्तेः। रत्नाऽऽदिकारणेष्वावल्यादि कार्यं सदैवेति साङ्ख्य., तेपामेवानेन रूपेण व्यवस्थितत्वात् । तद्व्यतिरिक्त विकारमात्र कार्यं तदेवेति साख्यविशेष एव । न कार्यं कारणे विद्यते इति तेभ्यस्तत् पृथग्भूत, न हि कारणमेव कार्यरूपेण व्यवतिष्ठते परिणमते इति वैशेषिकाऽऽदय' । न च कार्य कारण वाऽस्ति, द्रव्यमात्रमेव तत्त्वमित्यपर.। एवंभूताभिप्रायवन्त एकान्तवादिनो दृष्टान्तस्य साध्यसमता मन्यन्ते । तान् प्रत्याह–

इहरा समूहसिद्धो, परिणामकउ व्व जो जहिं अत्थो ।
ते तं च ण तं तं चे–व व त्ति नियमेण मिच्छत्तं ॥२७॥

इतरथोक्तप्रकारादन्यथा, समूहे रत्नानां, सिद्धो निष्पन्न परिणामकृतो वा मण्यादिष्वावल्यादि., क्षीराऽऽदिषु दध्यादिर्वा । यो यत्राऽर्थ. त ते मण्यादय आवल्यादिकार्यं, क्षीर दध्यादिक, तत्र तदसद्भावात्, तस्य तत्परिणामरूपत्वात् समूह. सिद्ध. परिणामकृतो वेति च द्वयोरुपादान लौकिकव्यवहारापेक्षया । परमार्थतस्तु परमाणुसमूहपरिणामाऽऽत्मकत्वात् सर्व एव समूहकृत., परिणामकृतो वेति न भेद.। अय चाभ्युपगमो मिथ्या (मिथ्यात्व च सम्मतौ विवृतम्) । सम्म० १ काण्ड ।

(१२) ननु नयग्रन्थे सम्मत्यादौ बौद्धाऽऽदिदर्शनपरिग्रहेण नैयायिकाऽऽदिदर्शनखण्डन श्रूयते, तत्र दुर्नयपरिग्रहे किं न मिथ्यात्वैकान्त इत्याशङ्क्याऽऽह–

बौद्धाऽऽदिदृष्टयोऽप्यत्र, वस्तुस्पर्शेन नाऽप्रमाः ।
उद्देश्यसाधने रत्न–प्रभायां रत्नबुद्धिवत् ॥ ११ ॥

(बौद्धाऽऽदीति) अत्र नयग्रन्थे उद्देश्य यदपि निर्विष्टेतरनयखण्डन, तत्साधने तत्साधननिमित्त, बौद्धाऽऽदिदृष्टयोऽपि बौद्धाऽऽदिनयपरिग्रहा अपि, वस्तुस्पर्शेन शुद्धपर्यायाऽऽदिवस्तुप्राप्त्या, नाप्रमाः फलतो न मिथ्यात्वरूपा इत्यर्थ. । किंवत् ?, रत्नप्रभायां रत्नबुद्धिवत् । यथा हि तत्राऽरत्ने रत्नावगाहितया स्वरूपतो न प्रामाण्यम्, दूरविप्रकर्षेऽपि वस्तुप्रापकतया फलतः प्रमाण्यम्, तथा दुर्नयान्तरच्छेदाय दुर्नयान्तरपरिग्रहेऽपीति न कश्चिद्दोषः ॥ ११ ॥

(१३) एव सामान्यलक्षणं विचिन्त्य तद्विभागमाह–

अयं संक्षेपतो द्रव्य–पर्यायार्थतया द्विधा ।
द्रव्यार्थिकमते द्रव्यं, तत्त्वं नेष्टमतः पृथक् ॥ १२ ॥

(अयमिति) अय सामान्यलक्षणलक्षितो नयः सङ्क्षेपतोऽवान्तरभेदापरिग्रहेण द्रव्यपर्यायतया द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति द्विधा द्विप्रकार, तीर्थङ्करवचनसंग्रहविशेषप्रस्तारमूलत्वेनेत्थमेव मूलनयविभजनात् । तदाह वादी–"तित्थयरवयणसंगह–विसेसपत्थारमूलवागरणी । दव्वट्ठिओ य पज्ज–वणओ य सेसा वियप्पा सिं ॥३॥" इति । (सम्म० १ काण्ड) तत्राऽऽदौ द्रव्यार्थिकमत आह–द्रव्यार्थिकस्य मते द्रव्य तत्त्व परमार्थ सदत. द्रव्यात् पृथग् भिन्न विकल्पासिद्ध गुणपर्यायस्वरूप तत्त्व नेष्टम् सम्प्रति सतोऽपि तस्य परमार्थतोऽसत्त्वादिति भाव.॥१२॥ नयो० । द्रव्या० ।

(१४) अत्र कुण्ठधियोऽप्यन्तेवासिनो योग्यताप्रतिपादनार्थं प्रकरणाऽऽरम्भः प्रतिपादित । सा च विशिष्टसामान्यविशेषाऽऽत्मकतदुपायभूतार्थप्रतिपादनमन्तरेणात. प्रकरणान्न सपद्यत इति प्रकरणाभिधेय योग्यतोपायभूतमर्थम्–

तित्थयरवयणसंगह–विसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जव–णओ य सेसा विगप्पा सिं ॥३॥

इत्यनया गाथया निर्दिशति । अस्याश्च समुदायार्थ पातनिकयैव प्रतिपादित. । अवयवार्थस्तु–तरन्ति ससारार्णव येन तत्तीर्थं द्वादशाङ्गम्,तदाधारो वा सङ्घ .तत्कुर्वन्त्युत्पद्यमानमुत्पादयन्ति तत्स्वाभाव्यात्तीर्थंकरनामकर्मोदयाद्वेति हेत्वाद्यर्थे टच् । तीर्थकराणां वचनमाचाराऽऽदि, अर्थतस्तस्य तदुपदिष्टत्वात्, तस्य सग्रहविशेषौ द्रव्यपर्यायौ सामान्यविशेषशब्दवाच्याववभिधेयौ, तयोः प्रस्तारः–प्रस्तार्यते येन नयराशिना सग्रहाऽऽदिकेन स प्रस्तार , तस्य सग्रहव्यवहारप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी आद्यवक्ता ज्ञाता वा द्रव्यास्तिक. द्युतिर्भवन द्रव्य सत्त्वेति यावत् । तत्राऽस्तीति मतिरस्य द्रव्यास्तिक "सह सुपा"। २ । १ । ४ । इत्यत्र "सुपा सह" इति योगविभागाद्, मयूरव्यसकाऽऽदित्वाद्वा द्रव्यास्तिकशब्दयोः समास. । द्रव्यमेव वाऽर्थोऽस्येति द्रव्यार्थिक., द्रव्ये वा स्थितो द्रव्यस्थित. । परि समन्तादवनमव. पर्यवो विशेषः, तद् ज्ञाता वक्ता वा यो नयः नीति. स पर्यवनयः। अत्र छन्दोभङ्गभयात्पर्यायास्तिक इति वक्तव्ये पर्यवनय इत्युक्तम्, तेनाऽत्राऽपि पर्याय एवाऽस्तीति द्रव्यास्तिकवद् व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या । स च विशेषप्रस्तारस्य ऋजुसूत्रशब्दाऽऽदेराद्यो वक्ता । ननु च मूलव्याकरणीति.अस्य द्रव्यास्तिकपर्यायनयावभिधेयाविति द्विवचनेन भाव्य, न प्रत्येक, वाक्यपरिसमाप्ते । अत एव चकारद्वय सूत्रनिर्दिष्टम् । शेषास्तु नैगमाऽऽदयो विकल्प्या भेदा., अनयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोः (सिमिति) प्राकृतशैल्या "बहुवयणेण दुवयण" इति द्विवचनस्य बहुवचनम् । तथाहि–परस्परविविक्तसामान्यविशेषविषयत्वाद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकावेव नयौ । न च तृतीय प्रकारान्तरमस्ति, यद्विषयोऽन्यस्ताभ्या व्यतिरिक्तो नय. स्यात् । तृतीयविषयस्य चाऽसभव , भेदाभेदविनिर्मुक्तस्य भावात् प्रकृतविकल्पानतिवृत्ते , तत्स्वभावातिक्रमे वा खपुष्पसदृशत्वप्रसक्तेः, ताभ्यां तद्वतोऽर्थान्तरस्य सर्वथा सबन्धप्रतिपादनापायासम्भवात्समयस्य तैरसबन्धे तद्व्यपदेशानुपपत्तेः समवायान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेर्विशेषणविशेष्यसबन्धकल्पनायामप्यपरापरतत्कल्पनाप्रसक्तेर्न सबन्धसिद्धि । तत स्थितमेतत् किञ्चिन्नयद्वयबहिर्भाविभावस्वभावान्तरविकल्पनाऽऽविद्धं विद्यते प्ररूपणान्तरमिति । केवल तयोरेव शुद्ध्य-

शुद्धिभ्यामनेकधा वस्तुस्वभावनिरूपणविकल्पाऽभिधानवृत्तयो व्यवतिष्ठन्ते । तत्र शुद्धो द्रव्यास्तिको नयग्रहनयाभिमतविषयप्ररूपक । तथा च-सग्रहनयाभिप्राय -सर्वमेव सत्, अविशेषात् । सम्म० १ काण्ड । विशे० । (द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकयोर्मतम् 'दव्वट्ठिय-पज्जवट्ठिय' शब्दयोर्द्रष्टव्यम्)

(१५) तदेवमुक्तौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकलक्षणौ मूलनयभेदौ, अनयोर्नैगमाऽऽदिषु मतभेदेन यथाऽन्तर्भावस्तथाऽऽह-

तार्किकाणां त्रयो भेदाः, आद्या द्रव्यार्थतो मताः ।
सैद्धान्तिकानां चत्वारः, पर्यायार्थगताः परे ॥ १८ ॥

(तार्किकाणामिति) तार्किकाणा वादिसिद्धसेनमतानुसारिणामाद्यास्त्रयो भेदा' नैगमसग्रहव्यवहारलक्षणा. द्रव्यार्थतो मता द्रव्यमेवार्थं विषयीकृत्याभिप्रेता., आद्यास्त्रयो भेदास्तार्किकमते द्रव्यार्थिका इति समुदितोऽर्थ. । सैद्धान्तिकानां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणवचनानुसारिणां चत्वार आद्या ऋजुसूत्रसहिता , द्रव्यार्थिका इति शेषः । परे तु उक्तशेषा., उभयेषामपि पर्यायार्थगता पर्यायार्थिका -ऋजुसूत्राऽऽदयश्चत्वार पर्यायार्थिका वादिन , शब्दाऽऽदयस्त्रय एव च क्षमाश्रमणानामिति निर्गलितोऽर्थ । ऋजुसूत्रो यदि द्रव्य नाभ्युपेयात्, तदा " उज्जुसुयस्स एगे अणुवउत्ते एग दव्वावस्सय पुहत्ते णेच्छइ " इति सूत्र विरुध्येतेति सैद्धान्तिका । तार्किकानुसारिणस्तु-अतीतानागतपरकीयभेदपृथक्त्वपरित्यागादनु सूत्रेण स्वकार्यसाधकत्वेन स्वकीयप्रवर्तमानवस्तुन एवोपगमात्तस्य तुल्यांशध्रुवांशलक्षणद्रव्याभ्युपगम , अत एव नास्यासद्घटितभूतभाविपर्यायकारणत्वद्रव्यत्वाभ्युपगमोऽपि, अध्रुवधर्माऽऽधाराशे द्रव्यमपि नास्य विषय , शब्दनयेष्वतिप्रसङ्गात्। उक्तसूत्र त्वनुपयोगांशमादाय वर्त्तमानाऽऽवश्यकपर्यायद्रव्यपदोपचारात्समाधेयम्,पर्यायार्थिकेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव प्रतिक्षेपात् । यदि चैवमप्येकोऽनुपयुक्त एक द्रव्यावश्यकमित्यत्रानुपयोगस्य विषयनियन्त्रितत्वेनार्थैक्यादुद्देश्यविधेयभावानुपपत्तिरिति विभाव्यते, यथा द्रव्याऽऽवश्यकपद द्रव्याऽऽवश्यकत्वेन व्यवहर्तव्यम्, पर विवरणपरतया चैतदयोजनीयमिति न कश्चिद् दोष इत्यालोचयाम ॥१८॥ (नयो०) सर्वधर्मविरहः शून्यतेति शुद्धतरपर्यायास्तिकमतावलम्बी ऋजुसूत्र एव व्यवस्थित., अथवा सौत्रान्तिकवैभाषिकौ बाह्यार्थमाश्रितावृजुसूत्रशब्दौ, यथाक्रम वैभाषिकेण नित्याऽनित्यशब्दवाच्यपुद्गलस्याऽभ्युपगमात् । शब्दनये तु प्रवेश ,तस्य चार्थप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्रसमभिरूढो योगाचार , एकानेकधर्मविकलतया विज्ञानमात्रस्याप्यभाव इत्येवभूतो व्यवस्थित , एवभूतो माध्यमिक इति व्यवस्थितमेतत् । तस्य तु शब्दाऽऽदय शाखा सूक्ष्मभेदा इति न योगद्वारवत्, शेषास्तु योगद्वारेष्वपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ मूलव्याकरणिनाविति दर्शयत्यनयोर्व्यापकताम् । सम्म० १ काण्ड । अनु० । विशे० ।

(१६) नैगमाऽऽदयो मूलनया'-

से किं तं णए ?। सत्त मूलणया पण्णत्ता। तं जहा-णेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूए॥अनु०।

नैगमः संग्रहश्चैव, व्यवहारर्जुसूत्रकौ ।
शब्दः समभिरूढाऽऽख्यः, एवंभूतश्च सप्त ते ॥ १९ ॥

(नैगम इति) स्पष्ट', ते मूलनयप्रभेदा ॥ १९ ॥ नयो० । अनु० । विशे० । दश० । स्था० । ज्ञा० । रा० । भ० । प्रव० । आ० म० ।

तत्र नैगमनयस्य सग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावात्, शेषाणा सग्रहाऽऽदीना षण्णा नयानां सक्षिप्य मत तावदुपदर्शयन्नाह--

सामन्नमह विसेसो, पच्चुप्पन्नं च भावमेत्तं च ।
पइसद्दं च जहत्थं, च वयणमिह संगहाऽऽईणं ॥२५८६॥

इह सामान्यमेवास्ति न विशेष इति सग्रहस्य वचनम्, विशेषा एव सन्ति न सामान्यमिति व्यवहारस्य वच' । प्रत्युत्पन्न च वर्तमानमेव वस्त्वस्ति न त्वतीतमनागत वेति ऋजुसूत्रस्य वचनम् । नामाऽऽदिनिक्षेपाणा मध्ये भावेन्द्राऽऽदिक भावनिक्षेप एवास्ति, न नामाऽऽदिक्षेपा इति शब्दनयस्य वचः । इन्द्रशक्रपुरन्दराऽऽदिशब्दाना प्रतिशब्दमन्यान्य एवाऽर्थो वाच्यः, न त्वेक एवेति समभिरूढस्य वच' । यथार्थमेव स्वाभिधायकशब्दवाच्यमर्थं कुर्वदेव घटाऽऽदिक वस्तु भवति, नाऽन्यथा, इत्येवभूतनयस्य वचनम् । इत्युक्तप्रकार सग्रहाऽऽदीनां वचन मत सक्षेपेणावगन्तव्यमिति ॥ २५८६ ॥ विशे० ।

स्वरूपमाह-

नैगमो देशसंग्रही, व्यवहारर्जुसूत्रकौ ।
शब्दः समभिरूढश्चे-त्येवमेते प्रचक्षते ॥ ४५ ॥

(नैगम इति) नैगमो नैगमनय' देशसग्राही अवान्तरसंग्रह , सर्वसग्रहस्य सन्मात्रार्थत्वात् तत्त्याग । व्यवहारर्जुसूत्रकौ व्यवहारनय ऋजुसूत्रनयश्च शब्द. समभिरूढश्चेत्येते नया एव प्रचक्षते ॥ ४५ ॥

भावमौदयिकं गृह्ण-न्नेवंभूतो व्यवस्थितम् ।
जीवं प्रवक्त्यजीवं तु, सिद्धं वा पुद्गलाऽऽदिकम् ॥४६॥

(भावमिति) एवभूतनयस्तु औदयिक भाव व्युत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्ततया गृह्णन् अवस्थित ससारिण जीव प्रवक्ति-जीवशब्देन व्यपदिशति, अजीवमजीवपदार्थं तु सिद्धं वा पुद्गलाऽऽदिद्रव्य वेत्त्यसौ ॥ ४६ ॥

नो अजीवश्च नो जीवो, न जीवाऽजीवयोः पृथक् ।
देशप्रदेशौ नास्येष्टा-विति विस्तृतमाकरे ॥ ४७ ॥

(नो इति) नो जीवो नो अजीवश्च एतन्नये जीवाजीवयोर्वक्तव्ययोः सतोः पृथग् न पार्थक्य नापद्यते, यतोऽस्य नयस्य देशप्रदेशौ नेष्टाविति, नोशब्द. सर्वनिषेधार्थ एव घटते, इत्येतदाकरेऽनुयोगद्वाराऽऽदौ विस्तृतम् ॥ ४७ ॥

इत्थ स्वसमयसिद्धामेवभूतनयार्थप्रक्रियामुपपाद्य,तया दिगम्बरोक्तप्रक्रिया दूषयति-

सिद्धो निश्चयतो जीवः, इत्युक्तं यद्दिगम्बरैः ।
निराकृतं तदेतेन, यन्नयेऽन्त्येऽन्यथा प्रथा ॥ ४८ ॥

(सिद्ध इति) एतेन पूर्वोक्तेन सिद्धो निश्चयतो जीव इति यद्दिगम्बरैरुक्तम्-"तिकाले च दुपाणा, इंदियबलमाउ आणपा-

णा य । ववहारा सो जीवो, णिच्छयनो दुवेदणा जस्स ॥१॥"
इत्यादिना, तन्निराकृतम् । यद् यस्मादस्मे एवंभूतनयेऽन्यथा प्र-
थाऽप्रसिद्धो जीव इत्येव प्रसिद्धि, शुद्धनिश्चयश्च स एवेति
कथ निश्चयतः सिद्धो जीव इति वक्तु शक्यमिति ? ॥४८॥

नन्वेवभूतः पर्यायार्थिकेष्वेव शुद्धनिश्चयस्तेनाऽस्मदुक्तावनु-
पपत्तावपि द्रव्यार्थिकप्रभेदेन सर्वसंग्रहनयेन शुद्ध-
निश्चयेन तदुपपादयिष्याम इत्याकाङ्क्षायामाह-

आत्मत्वमेव जीवत्व-मित्ययं सर्वसंग्रहः ।
जीवत्वप्रतिभूः सिद्धेः, साधारण्य निरस्य न ॥४६॥

(आत्मत्वमिति) आत्मत्वमेव जीवत्व जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तं, पारिणामिकभावस्य कालत्रयानुगतत्वेन सत्यत्वात्, औद-यिकभावस्य चौपाधिकत्वेन कालत्रयानुगतत्वेन च तुच्छत्वा-दित्यर्थ । सर्वसग्रहनयस्तु सिद्धिसाधारण्य भवस्थतौल्यं नि-रस्य जीवत्वसाधने न प्रतिभू., सर्वत्र तुल्यजीवत्वादेवैको व्य-वहारतो जीवोऽन्यश्च निश्चय इति विभागकरणमसमीक्षिता-भिधानमेवाऽऽपद्येत, सर्वसग्रह एव हि कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्ध-द्रव्यार्थिक ,तेन च ससारि चैतन्यमपि निरुपराग शुद्धमिति परिणेष्यत एव । तदुक्त द्रव्यसग्रहे-" मग्गणगुणठाणेहि अ, चउ दस य हवति तह असुद्धणया । विण्णेया ससारी, स-व्वे सुद्धा उ सुद्धणया ॥ १ ॥ " इति । न च संसारिचैतन्य-स्य सग्रहनयेन शक्त्या शुद्धचैतन्य, निश्चयेऽपि व्यक्त्या शुद्ध-चैतन्यस्य सिद्ध एव निश्चयान्न साधारण्यमिति शङ्कनीयम, सग्रहस्य शक्तिग्राहकत्वेन शक्तिग्राहकताया व्यवहार एव विश्रान्तेर्निश्चयतो हि चेतनाशाली सिद्ध एव जीव इत्यस्य व्याघातात् ॥ ४९ ॥

नन्वेव निश्चयतः सिद्धस्याऽजीवत्वे भवद्भिरिष्यमाणे भव-तामेव ग्रन्थे ससारिसिद्धसाधारणजीवपदार्थाभिधान कथ-मित्याशङ्कायामाह-

यज्जीवत्व क्वचिद् द्रव्य-भावप्राणान्वयात् स्मृतम् ।
विचित्रनैगमाऽऽकूतात्, तद् ज्ञेयं न तु निश्चयात् ॥५०॥

(यदिति) यज्जीवत्व क्वचिद् ग्रन्थे द्रव्यप्राणाना भावप्रा-णानां चान्वयादेवीकरणात् स्मृत, ससारिसिद्धसाधारण्यमि-ति विशेष. । तद्विचित्रो विविधावस्थो यो नैगमस्तस्याऽऽकू-तादभिप्रायाद् ज्ञेय, न तु निश्चयादेवभूतनयात, तथा चैव-भूतनयेनैव सिद्धमजीव वय प्रतिजानीमहे, न तु नयान्तरा-भिमतेन जीवत्वेऽपि विप्रतिपद्यामहे, इति शुद्धाशुद्धेन नैगम-नयेन साधारणजीवत्वाभ्युपगमेऽपि न क्षति. । इयास्तु विशेष - प्रसिद्धनैगम औदयिकभावोपलक्षितमात्मत्वाऽऽश्रय पारिणा-मिकभावमेव जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तमभ्युपैति, तद्विशेषश्च क-श्चिदुपचारोपजीवी द्रव्यभावप्राणान्यतरत्वेनानुगतमौदयि-कक्षायिकभावद्वयमिति नेद सिद्धान्तार्णवे नयविकल्पकल्लो-लवैचित्र्य तत्मस्तव्यसनविक्षोभाऽऽवहम ॥ ५० ॥

ननु ' जीव ' प्राणधारणे इत्यत्र भावप्राणधारणत्वमेव धात्व-र्थस्य विवक्षितत्वात्, निश्चयत सिद्धस्य जीवत्व समर्थयि-ष्याम इत्याकाङ्क्षायामाह-

धात्वर्थे भावनिक्षेपा-त्परोक्तं न च युक्तिमत् ।
प्रसिद्धार्थोपरोधेन, यन्नयान्तरमार्गणा ॥ ५१ ॥

(धात्वर्थ इति) धात्वर्थे जीवत्यर्थे भावनिक्षेपाद् भावसंकेतम-हात् परोक्त निश्चयतः सिद्ध एव जीव इति दिगम्बरोक्त न नैव युक्तिमत् । यद् यस्मात्प्रसिद्धोऽनादिधातुपाठाऽऽदिप्रती मानो योऽर्थस्तदनुरोधेन नयान्तरस्य मार्गणा विचार भवति । तथा च यादृशधात्वर्थमुपलक्षणीकृत्येतरनयार्थप्र सन्धान तादृशधात्वर्थप्रकारकजिज्ञासयैवभूताऽभिधानस्य स प्रदायिकत्वान्न तत्र भावनिक्षेपाऽऽश्रयण युक्तमित्यर्थ. । अन्य तत्राऽपि निक्षेपान्तराऽऽश्रयणेऽनवस्थानात्प्रकृतमात्रापर्यवसान दन्तनो प्रानाद्वैते शून्यतायां वा पर्यवसानात् । किञ्चैनादृगुपरि नैवंभूतस्य प्राक्नैवंभूताभिधानात् पूर्वमेवाभिधान युक्तम्,अन् थाऽप्राप्तकालत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् व्यवहाराऽऽद्यभिमत व्युत्पत्त्यनुरोधेनौदयिकभावग्राहकत्वमेवास्य सूरिभिरुक्तं युक मिति स्मर्तव्यम । न चेन्द्रियरूपप्राणानां क्षयोपशमिकत्वात्क मेवंभूतस्यौदयिकभावमात्रग्राहकत्वमित्यप्याशङ्कनीयम, प्रा धान्येनायु:कर्मोदयलक्षणस्यैव जीवनार्थस्य ग्रहणात् । उ पहतेन्द्रियेऽप्यायुरुदयेनैव जीवननिश्चयादिति दिक् ॥ ५१

शङ्काशेषमुपन्यस्य परिहरति-

शैलेश्यन्त्यक्षणे धर्मो, यथा सिद्धिस्तथाऽसुमान् ।
वाच्य नेत्यपि यत्तत्र, फले चिन्तेह धातुगा ॥५२॥

(शैलेश्यन्त्यक्षण इति) शैलेश्या अयोगिगुणस्थानस्यान्त्यक्ष च चरमक्षणे यथा निश्चयतो धर्मस्तदर्वाक्तनकालभावी व्यवहारत एव । तदुक्त धर्मसग्रहण्या हरिभद्राऽऽचार्यै.-"ह उभयक्खयहेऊ, सेलेसीचरमसमयभावी जो । सेसो पुण णि च्छयओ, तस्सेह पसाहगो भणिओ " ॥ १ ॥ इति । तथाऽसुमा जीवोऽपि निश्चयत सिद्ध एव भविष्यतीत्यपि न वाच्यम् । यत स्तत्र " सो उभयक्खय " इत्यादिगाथाया धारयति सिद्धि तावात्मानमिति धर्म., इति फले फलरूपे धात्वर्थे चिन्ता । सा कुर्वद्रूपत्वेन कारणत्व वदत एवभूतनयस्य मते शैलेश्यन्त्यक्ष एव धर्मपदार्थसिद्धिसाक्षिणि,तदनन्तर सिद्धिसाधारणरूपस फलव्यवधानात्,इह तु धातुगा धात्वर्थावच्छिन्नस्वरूपविषयि णी चिन्ता,सा च केन सहाव्यवधान गवेषयत ?। स्वरूप तु सिद्ध्यनुरोधेन ससारिण्येव पर्यवसायमेव तु सिद्ध इ महान् विशेष । स्यादेतत् । धर्मपदेऽपि धात्वर्थो धारणमा मान्यमेव,तत्र यतो विशेषतात्पर्यवशात्सिद्धिसाधारणरूपविशे पर्यवस्यति,तथा जीवपदार्थोऽपि विशेषे पर्यवस्यति, सिद्ध ए दत्तपदो भविष्यति । मैवम् । 'जीव' प्राणधारणे इत्यत्र प्राणपद समभिव्याहृतसाधारणस्य भूरिप्रयोगवशादौदयिकप्राणधा रण एव पर्यवसानात् । अत एव गोपदस्य नानाऽर्थत्वेऽपि तत भूरिप्रयोगवशात्सास्नाऽऽदिमत एवोपस्थिते',अश्वाऽऽदेस्तु पद न्तरसमभिव्याहाराऽऽदिनेति तान्त्रिका । तदेवमेवभूतनयाभि प्रायेण सिद्धो न जीव इति व्यवस्थापितम् । यदि पुन प्रस कन्यायाद्विशुद्धतरनैगमभेदमाश्रित्य प्रागुक्तस्वग्रन्थगाथाव्य ख्यायते परै. तदा न किञ्चिदस्माकं दुष्यतीति किमल्पीयसि दद्वतरक्षोदेन ? ।

"वेन्द्री तति प्रणयिपुण्यमिवाङ्कुराग्रै-
र्यत्पादपद्मकिरणै कलयत्युदीनम ।
स्नात्वाऽञ्जसा दलितयादवदुष्टकष्टं,
शङ्खेश्वरप्रभुमिम शरणीकरोमि ॥ ५२ ॥ "

(' जीव ' शब्दे १५२१ पृष्ठेऽय विषय. प्रासङ्गिकत्वेनोक्तोऽपि जयपरत्वेन वाग्रोपेक्षित)

(१७) सिद्धसेनीयाः पुन एवमेव नयानभ्युपगतवन्तः, नैगमस्य सग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावविवक्षणात् । तथाहि-यदा नैगम. सामान्यप्रतिपत्तिपरस्तदा सग्रहेऽन्तर्भवति, सामान्याभ्युपगमपरत्वात् । विशेषाभ्युपगमनिष्ठस्तु व्यवहारे ।

आह च सिद्धसेनीयमतमुपसंजिघृक्षुर्भाष्यकृत्-

जो सामन्नगाही, स नेगमो संगहं गतो अहवा ।
इअरो ववहारमितो, जो तेण समाणनिदेसो ॥ ३९ ॥
आ० म० १ अ० १ खण्ड। विशे०।

(नैगमाऽऽदीना नयानां पृथक् पृथङ् मत स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यम्)

(१८) शुद्धयशुद्धी नयानां, प्रस्थकाऽऽदिदृष्टान्तश्च-

से किं तं णयप्पमाणे? । णयप्पमाणे तिविहे पएात्ते । तं जहा-पत्थगदिट्ठंतेणं, वसहिदिट्ठंतेणं, पएसदिट्ठंतेण ।

(से किं त णयप्पमाणे इत्यादि) अनन्तधर्मणो वस्तुन एकांशेन नयन नय , स एव प्रमाण नयप्रमाण त्रिविध प्रज्ञप्तमिति। यद्यपि नैगमसंग्रहाऽऽदिभेदतो बहवो नया , तथाऽपि प्रस्थकाऽऽदिदृष्टान्तत्रयेण सर्वेषामिह निरूपयितुमिष्टत्वात् त्रैविध्यमुच्यते । तथा चाऽऽह । तद्यथा-प्रस्थकदृष्टान्तेनेत्यादि प्रस्थकाऽऽदिदृष्टान्तत्रयेण हेतुभूतेन त्रिविध नयप्रमाण भवतीत्यर्थ ।

(१९) प्रस्थकदृष्टान्त दर्शयति-

से किं त पत्थगदिट्ठंतेणं ? । पत्थगदिट्ठंतेण से जहानामए केइ पुरिसे परसुं गहाय अमवीसंमुहचो गच्छेज्जा,तं पासित्ता कोइ वएज्जा-कहिं भवं ! गच्छसि ?। अविसुध्दो नेगमो भणइ-पत्थयस्स गच्छामि । तं च कोइ छिंदमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं ! छिंदसि ?। विसुद्धो नेगमो भणइ-पत्थयं छिंदामि । त च कोइ तच्छमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं तच्छसि ?। विसुध्दतराओ णेगमो भणइ-पत्थय तच्छामि । त च कोइ उक्कीरमाण पासित्ता वएज्जा-किं भव ! उक्कीरसि ?। विसुध्दतराओ णेगमो भणइ-पत्थयं उक्कीरामि । तं च कोइ लिहमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं ! लिहसि?। विसुध्दतराओ णेगमो भणइ-पत्थयं लिहामि । एवं विसुध्दतरणेगमस्स नामाउट्टिओ पत्थओ। एवामेव ववहारस्स वि संगहस्स मिउमेज्जसमारूढो पत्थओ । उज्जुसुयस्स पत्थओ वि पत्थओ, मेज्जं पि पत्थओ, तिएह सद्दनयाण पत्थयस्स अत्थाहिगारं जाणओ, जस्स वा वसेणं पत्थओ निप्फज्जइ, से त पत्थयदिट्ठंतेणं ।

तद् यथा नाम—कश्चित्पुरुष. परशु कुठार गृहीत्वा, अटवीसमुखो गच्छेदित्यादि । इदमुक्त भवति—प्रस्थको मागधदेशप्रसिद्धो धान्यमानविशेष । तद्धेतुभूतकाष्ठकर्तनाय कुठारव्यग्रहस्त तत्काऽऽदिपुरुषमटवीं गच्छन्त दृष्ट्वा कश्चिदन्यो वदेत्-क भवान् गच्छति ? । तत्राऽविशुद्धनैगमो भणति, अविशुद्धनैगमनयमतानुसारी सत्रसौ प्रत्युत्तरयतीत्यर्थ. । किमित्याह-प्रस्थकस्य गच्छामि । इदमुक्तं भवति-नैको गमो वस्तुपरिच्छेदो यस्याऽपि तु बहव., स निरुक्तवशान्नकारलोपतो नैगम उच्यते । अतो यद्यप्यत्र प्रस्थककारणभूतकाष्ठनिमित्तमेव गमन,न तु प्रस्थकनिमित्तम, तथाऽप्यनेकप्रकारवत्त्वमभ्युपगमपरत्वात्कारणे कार्योपचार' । तथा व्यवहारदर्शनादेवमप्यभिधत्तेऽसौ-प्रस्थकस्य गच्छामि इति । त च कश्चित् छिन्दन्त वृक्ष पश्येत्, दृष्ट्वा च वदेत्-किं भवांश्छिनत्ति ?। तत प्राक्तनात्किञ्चिद्विशुद्धनैगमनयमतानुसारी सत्रसौ भणति-प्रस्थकं छिनद्मि । अत्रापि कारणे कार्योपचारात् तथा व्यवहृतिदर्शनादेव काष्ठेऽपि छिद्यमाने प्रस्थक छिनद्मीत्युत्तर, केवलं काष्ठस्य प्रस्थक प्रति कारणताभावस्याऽत्र किञ्चिदासन्नत्वाद्विशुद्धत्व प्राक्पुनरतिव्यवहितत्वाद् मलीमसत्वम, एवं पूर्वपूर्वापेक्षया यथोत्तरस्य विशुद्धता भावनीया,. नवरं तक्ष्णन्त तनूकुर्वन्तम्, उत्किरन्त वेधनकेन मध्यादुत्किरन्तं लेखन्या मृष्ट कुर्वाणम् । एवमेतेन प्रकारेण तावन्नेय यावद्विशुद्धतरनैगमस्य (नामाउट्टिओ त्ति) आकुट्टितनामा प्रस्थकोऽयमित्येव नामाङ्कितो निष्पन्न' प्रस्थक इति । एवमेव व्यवहारस्याऽपीति लोकव्यवहारप्राधान्येन यो व्यवहारनय , लोके च पूर्वोक्तावस्थासु सर्वत्र प्रस्थकव्यवहारो दृश्यते, अतो व्यवहारनयोऽप्येवमेव प्रतिपद्यते इति भाव' । (संगहस्सेत्यादि) सामान्यरूपतया सर्वं वस्तु सगृह्णाति क्रोडीकरोतीति सग्रह , तस्य मतेन चिताऽऽदिविशेषणविशिष्ट एव प्रस्थो भवति, नान्य । तत्र चितो धान्येन व्याप्त । स च देशतोऽपि भवत्यत आह-मित पूरित. । अनेनैव प्रकारेण मेय समारूढ यत्र स आहिताऽऽद्देराकृतिगणत्वाद् मेयसमारूढ । अयमत्र भावार्थ -प्राक्तननयद्वयस्याऽविशुद्धत्वात्प्रस्थककारणमपि प्रस्थक उक्तो निष्पन्न प्रस्थकोऽपि स्वकार्याकरणकालेऽपि प्रस्थक इष्ट., अस्य तु ततो विशुद्धत्वाद्धान्यमानलक्षण स्वार्थं कुर्वन्नेव प्रस्थक ,तस्य तदर्थत्वात् । तदभावे च प्रस्थकव्यपदेशेऽतिप्रसङ्गादिति यथोक्त एव प्रस्थक । सोऽपि प्रस्थकसामान्याद् व्यतिरेकाद् व्यतिरेकप्रस्थकत्वप्रसङ्गात्सर्व एक एव प्रस्थक इति प्रस्तुतनयो मन्यते,सामान्यवादित्वादिति । (उज्जुसुयस्सेत्यादि) ऋजुसूत्र पूर्वोक्तशब्दार्थ ,तस्य निष्पन्नस्वरूपोऽर्थक्रियाहेतु' प्रस्थकोऽपि प्रस्थक., तत्परिच्छिन्न धान्याऽऽदिकमपि वस्तु प्रस्थकः, उभयत्र प्रस्थकोऽयमिति व्यवहारदर्शनात्तथा प्रतीते । अपर चाऽसौ पूर्वस्माद्विशुद्धत्वाद्वर्तमाने एव मानमेये प्रस्थकत्वेन प्रतिपद्यते, नाऽतीताऽनागतकाले, तयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनासत्वादिति । (तिएह सद्दनयाण इत्यादि) शब्दप्रधाना नया. शब्दनया' शब्दसमभिरूढैवंभूता', शब्देऽन्यथा स्थितेऽर्थमन्यथा नेच्छन्त्यमी, किं तु यथैवशब्दो व्यवस्थितस्तथैव शब्देनार्थं गमयन्तीत्यत' शब्दनया उच्यन्ते । आद्यास्तु यथा कथञ्चिच्छब्दा प्रवर्तन्तामर्था एव प्रधानमित्यभ्युपगमपरत्वादर्थनया प्रकीर्त्यन्ते । अत एषा त्रयाणां शब्दनयाना प्रस्थकार्थाधिकारज्ञ प्रस्थकस्वरूपपरिज्ञानोपयुक्त' प्रस्थक । भावप्रधानात्तु ते नया इत्यतो भावप्रस्थकमेवेच्छन्ति, भावप्रस्थकोपयोगोऽत. स प्रस्थक',तदुपयोगवानपि च, ततोऽव्यतिरेकात्प्रस्थक । यो हि यत्रोपयुक्त सोऽमीषां मते स एव भवति, उपयोगलक्षणो जीवः, उपयोगश्चेत्प्रस्थकाऽऽदिविषयतया परिणत. किमन्यजीवस्य रूपान्तरमस्ति ? यत्र व्यपदेशान्तर स्यादिति भाव. । (जस्स वा वसेणेत्यादि) यस्य वा प्रस्थककर्तृगतस्योपयोगस्य वशेन प्रस्थको निष्पद्यते, तत्रोपयोगे वर्त्तमानः कर्ता प्रस्थकः । न हि प्रस्थकेऽनुपयुक्तः

प्रस्थकं निर्वर्तयितुं कर्ता समर्थः, ततस्तदुपयोगानन्यत्वात्स एव प्रस्थकः । इमां च तेऽत्र युक्तिमभिदधति–सर्वं वस्तु स्वात्मन्येव वर्तते, न स्वात्मव्यतिरिक्ते आधारे वक्ष्यमाणयुक्त्या, एतन्मतेनाऽन्यस्याऽन्यत्र वृत्त्ययोगात्, प्रस्थकश्च निश्चयाऽऽत्मकमानमुच्यते, निश्चयश्च ज्ञानम, तत्कथं जडाऽऽत्मनि काष्ठभाजने वृत्तिमनुभविष्यति ?, चेतनाचेतनयोः सामानाधिकरण्याभावात्, तस्मात्प्रस्थकोपयुक्त एव प्रस्थकः । " से तं " इत्यादि निगमनम् । अनु० ।

प्रस्थकदृष्टान्तं विवेचयति–

प्रस्थकार्थं व्रजामीति, वने गच्छन् ब्रवीति यत् ।
आदिमो ह्युपचारोऽसौ, नैगमव्यवहारयोः ॥ ६२ ॥

(प्रस्थकार्थमित्यादि) प्रस्थको मगधदेशप्रसिद्धो धान्यमानहेतुर्द्रव्यविशेषः, तदर्थं व्रजामीति वने गच्छन् यद् ब्रवीति कश्चिद्,असौ नैगमव्यवहारयोर्हि निश्चितमादिम उपचारः ॥६२॥

नन्वत्र प्रस्थकार्थं वने गच्छतः प्रस्थकेच्छाया मुख्यार्थस्याबाधितत्वात्कथं प्रस्थकपदस्योपचार इति ?।

अत्र आह–

अत्र प्रस्थकशब्देन, क्रियाऽऽविष्टवनैकधीः ।
प्रस्थकेऽहं व्रजामीति, ह्युपचारोऽपि च स्फुटः ॥ ६३ ॥

(अत्रेति) अत्राधिकृतप्रयोगे क्वेत्यधिकरणाकाङ्क्षया, प्रस्थकार्थमिति चतुर्थ्याः, प्रकृतार्थेनैव निवृत्तेः प्रस्थकदलयोग्यवृक्षप्राप्तिरूपक्रियाऽऽविष्टवनस्यैकाऽद्वितीया धीरिति, तत्रोपचार आवश्यक इत्यर्थः । ननु तथाऽपि सप्तम्यन्तप्रश्ने सप्तम्यन्तमेवोत्तरमुचितमित्यत आह–क्व भवान् गच्छतीति प्रश्ने प्रस्थकेऽहं व्रजामीति सप्तम्यन्तप्रस्थकपदस्योपचारोऽपि वने स्फुट एव दृश्यत इत्यर्थः । तथा च वनगमने प्रस्थकशब्देन वनाभिधानं नैगमव्यवहारयोः प्रथम उपचार इति सिद्धम् ॥ ६३ ॥

छिनद्मि प्रस्थकं तक्ष्णो–म्युत्किराम्युल्लिखामि च ।
करोमि चेति तदनू–पचाराः शुद्धताभृतः ॥ ६४ ॥

(छिनद्मीति) किं भवान् छिनत्तीति प्रश्ने प्रस्थकं छिनद्मीत्युत्तरे प्रस्थकपदस्य च्छेदकयोग्ये काष्ठे उपचारः, स पूर्वस्मात् शुद्धः । एवं क्रमेण किं भवान् तक्ष्णोति, उत्किरति, उल्लिखति, करोतीति प्रश्नेषु, प्रस्थकं तक्ष्णोमि, उत्किरामि, उल्लिखामि, करोमीत्युत्तरेषु प्रस्थकपदस्य तक्षणाऽऽदिक्रियायोग्यकाष्ठेषूपचाराद् यथोत्तरं भवन्तः क्रमेण शुद्धताभृतो भवन्ति । ननु सर्वत्र प्रस्थकपदस्य प्रस्थकयोग्यकाष्ठ एक एवोपचारः, तत्क्रियाविशेषितार्थधीश्च तत्तत्क्रियावाचकपदसमभिव्याहारादेव भविष्यतीति कथमेतावन्त उपचारा यथाक्रमशुद्धा उच्यन्त इति चेत् ?। सत्यम् । दुग्धमायुर्दध्यायुर्घृतमायुरित्यादौ दुग्धाऽऽदिकारणे आयुःकार्योपचारस्यातिशयविशेषेण तारतम्यवत् प्रकृतेऽपि छेदनाऽऽदिक्रियाव्यापाराऽऽवेशेन तज्जन्यावयवसंयोगाऽऽदिविशेषजन्यतया वा विलक्षणेषु काष्ठद्रव्येषु काष्ठप्रस्थकपर्यायैरपास्तिव्यवधानाऽव्यवधानाभ्यां प्रस्थकपदोपचारतारतम्यस्यानुभवसिद्धत्वात् ॥ ६४ ॥

वमेतावतिशुद्धौ तू–त्कीर्णनामानमाहतुः ।
चितं मितं तथा मेया–रूढमेवाऽऽह संग्रहः ॥ ६५ ॥

(तमिति) अतिशुद्धौ त्वेतौ नैगमव्यवहारनयौ तं प्रस्थकमुत्कीर्णनामानं प्रस्थकपर्यायवन्तं प्रस्थकमाहतुः, अनुत्कीर्णनाम्नोऽद्रव्यादविशेषादिति भावः । संग्रहनयस्तु चितमासादितप्रस्थकपर्यायं, मितमाकुञ्चितनामानं, मेयं धान्यविशेषम्, आरूढं प्रस्थकमाह, मेयारूढपदेन तदनारूढस्यान्यद्रव्याविशिष्टस्यासंग्रहाद् नैगमोपदर्शितार्थसंकोचकत्वेन स्वनाम्नोऽन्वर्थत्वसिद्धेः । अयं हि विशुद्धत्वात् कारणे कार्योपचारं कार्यकारणकाले प्रस्थकं च नाङ्गीकुरुते । न च तदा तस्य घटाऽऽद्यात्मकत्वप्रसङ्गः, तदर्थक्रियां विना तस्यायोगात् । घटाऽऽदिशब्दार्थक्रिया यथा कथञ्चित्तत्रास्त्येवेति चेत्, साधारणतदर्थक्रियाकारित्वस्यैव तदात्मकत्वप्रयोजकत्वात्, तथाऽपि प्रस्थकक्रियाविरहे नाऽयं प्रस्थको घटाऽऽद्यनात्मकत्वाच्च नाप्रस्थक इत्यनुभयरूपः स्यान्न स्यात्, प्रतियोगिकोटौ स्वस्याऽपि प्रवेशेन यावद् घटाऽऽद्यनात्मकत्वासिद्धेः । अर्थक्रियाभावाभावाभ्यां द्रव्यभेदाभ्युपगमे ऋजुसूत्रमतानुप्रवेश इति चेत् । न । नैगमनयोपगतार्थासंकोचनाय कादाचित्कतयोपगमेऽपि सर्वत्र तथाऽभ्युपगमाभावेन तदननुप्रवेशात्, इत्थं चार्थक्रियाकारितदकारिप्रस्थकव्यक्तिभेदादर्थक्रियाजनकप्रस्थकव्यक्तौ प्रस्थकत्वसामान्यमपि नास्तीत्यभ्युपगमेऽपि न कश्चिद्दोषः । वस्तुतो व्यावृत्तिविशेषाऽऽद्यतिरिक्तेन नैयायिकाऽऽदिकल्पितसामान्येन क्वचिदपि निर्वाहः, तन्मते घटत्वाऽऽदिसामान्यस्याऽपि समर्थयितुमशक्यत्वात् । मृत्स्वर्णरजतपाषाणाऽऽदिघटेषु मृत्त्वस्वर्णत्वाऽऽदिना साङ्कर्येण तदसिद्धेः, अस्तु मृत्त्वे स्वर्णत्वाऽऽदिव्याप्यता, नैव घटत्वम् । कुम्भस्वर्णकारजन्यताऽऽद्यवच्छेदकतया तन्नानात्वस्याऽऽवश्यकत्वात् । न हि स्वर्णघटाऽऽदौ चक्राऽऽदिकं मृद्घटाऽऽदौ च लोहवर्तुलाऽऽदिकं हेतुः, अननुगतधीस्तु कथञ्चित् सौसादृश्यात्, घटपदं तु नानार्थकमित्यभ्युपगमे कथञ्चिदित्याद्यनिर्वचनेनैवाशङ्किताविच्छिद्यते । अननुगतानां जातीनामिव व्यक्तीनामपि सौसादृश्येनैवानुगमसंभवेन जात्युच्छेदाऽऽपत्तिः, घटपदस्य नानार्थत्वे स्पष्ट एव लौकिकव्यवहारबाधश्च, घटत्वाऽऽदिकमेकत्ववृत्त्यैव मृत्त्वाऽऽदिकमेव वा, तथा कुम्भकारस्वर्णकाराऽऽदेर्विजातीयकृतिमत्त्वेन चक्राऽऽदिवर्तुलाऽऽदेश्च कथञ्चिद्विजातीयव्यापारकत्वेन हेतुत्वमित्यादिनवीनकल्पना तु(?)दोषादेकत्वाग्रहेऽपि घटत्वाऽऽदिग्रहादेकत्वस्यैकत्वात्प्रसिद्धरूपेण कार्यकारणभावोच्छेदे व्यवहारविलोपाद्यानुपपत्तेरिति नयविशेषेण तत्र तत्र व्यावृत्तिविशेषरूपसामान्याभ्युपगमं विना न निर्वाह इति प्रकृते कार्याकरणकाले व्यावृत्तिविशेषरूपप्रस्थकत्वसामान्याभावाभ्युपगमे न क्षतिरिति किमति प्रपञ्चितेन ? ॥६५॥

प्रस्थकश्चर्जुसूत्रस्य, मानं मेयमिति द्वयम् ।
न ह्यकर्तृगताभावा–च्छब्दानां सोऽतिरिच्यते ॥ ६६ ॥

(प्रस्थकश्चेति) ऋजुसूत्रस्य मानं मेयं चेति द्वयमेव प्रस्थकस्वरूपं, तन्मेयधान्ये च समवहित एव प्रस्थकव्यवहारादेकतरविनाशभावे तत्परिच्छेदासंभवात् । किञ्च–मेयाऽऽरूढः प्रस्थकः प्रस्थकत्वेन व्यपदेश्य इति संग्रहनयमते मेयारूढः प्रस्थकः, प्रस्थकाऽऽरूढं मेयं वा, तथेत्यत्र विनिगमकाभावादुभयत्रैव प्रस्थकपदशक्तेर्व्यासज्यवृत्तित्वं युक्तम् । कथं तर्हि प्रस्थकेन धान्यं मीयत इति प्रयोगः एकोत्तरोभयवाचकपदेनैकस्यानुपस्थापनादिति चेत् । न । एतन्नयेन कथञ्चित्प्रस्थकपदशक्यताऽवच्छेदकस्य व्यासज्यवृत्तित्वेन विवक्षाभेदात् करणरूपानुप्रवेशस्या–

ऽपि सम्भवान्न तदनुपपत्तिरिति द्रष्टव्यम् ॥ शब्दानां शब्दसमभिरूढैवम्भूताऽऽख्यानां त्रयाणां नयानां मते स प्रस्थकः इकर्तृगताद्भावान्नातिरिच्यते न भिद्यते।ज्ञश्च कर्ता च ज्ञकर्त्तारौ,ज्ञकर्त्तारोगतो ज्ञकर्तृगतः,तस्मादिति समासः।प्रस्थकाद् ज्ञगतात् प्रस्थककर्तृगताद्वा प्रस्थकोपयोगादतिरिक्तं प्रस्थकं ते न सहन्ते निश्चयज्ञानात्मकप्रस्थकस्य जडवृत्तित्वायोगाद् बाह्यप्रस्थकस्याऽप्यनुपलम्भकालेऽसत्त्वेनोपयोगानतिरेकाऽऽश्रयणादन्ततो ज्ञानाद्वैताय पर्यवसानाद्वा। न च ज्ञानाऽऽत्मकत्वोभयनयविषयसमावेशविरोधात्प्रत्येकमनयत्वमाशङ्कनीयम्, तादात्म्येनोभयरूपासमावेशेऽपि विषयत्वतादात्म्याभ्यां तदुभयसमावेशात्।विषयत्वमपि कथञ्चित्तादात्म्यमिति तु नयान्तराऽऽकूतम्, यदाश्रयेण 'अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेयाः' इति प्राचीनैर्गीयत इति दिग् ॥ ६६ ॥ विवेचितः प्रस्थकदृष्टान्तः । नयो० ।विशे० ।

(२०) वसतिदृष्टान्त -

से किं तं वसहिदिट्ठंतेणं ?। वसहिदिट्ठंतेण से जहानामए केइ पुरिसे किंचि पुरिसं वएज्जा-कहिं भवं वससि ?। अविसुद्धो णेगमो भणइ-लोगे वसामि।लोगे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-उड्ढलोए, अहोलोए, तिरिअलोए । तेसु सव्वेसु भवं वससि ?। विसुद्धो णेगमो भणइ-तिरिअलोए वसामि । तिरिअलोए जंबुद्दीवाऽऽइआ सयंभूरमणपज्जवसाणा असंखिज्जा दीवसमुद्दा पण्णत्ता, तेसु सव्वेसु भवं वससि ?। विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-जंबुद्दीवे वसामि । जंबुद्दीवे दस खेत्ता पण्णत्ता । तं जहा-भरहे, एरवए, हेमवए, एरण्णवए, हरिवस्से, रम्मगवस्से, देवकुरू, उत्तरकुरू, पुव्वविदेहे, अवरविदेहे। तेसु सव्वेसु भवं वससि ?। विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-भरहे वासे वसामि। भरहे वासे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-दाहिणड्ढभरहे, उत्तरड्ढभरहे अ । तेसु सव्वेसु भवं वससि ?। विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-दाहिणड्ढभरहे वसामि । दाहिणड्ढभरहे अणेगाइं गामागरणगरखेडकव्वडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसण्णिवेसाइं,तेसु सव्वेसु भवं वससि ?। विसुद्धतराओ णेगमो भणइ-पाडलिपुत्ते वसामि । पाडलिपुत्ते अणेगाइं गिहाइं, तेसु सव्वेसु भवं वससि ?। विसुद्धो णेगमो भणइ-गब्भघरे वसामि । एवं विसुद्धस्स णेगमस्स वसमाणो वसइ। एवमेव ववहारस्स वि। संगहस्स संथारसमारूढो वसइ । उज्जुसुअस्स जेसु आगासपएसेसु ओगाढो तेसु वसइ । तिण्हं सद्दनयाणं आयभावे वसइ । सेत्तं वसहिदिट्ठंतेणं ।

(से किं तं वसहीत्यादि) वसतिर्निवासः, तद्दृष्टान्तेन नयविचार उच्यते। तद्यथानामकः कश्चित्पुरुषः पाटलिपुत्राऽऽदौ वसन्तं कश्चित्पुरुषं वदेत्-क्व भवान् वसति ?। तत्राविशुद्धो नैगमो भणति-अविशुद्धनैगमनयमतानुसारी सन्नसौ प्रत्युत्तरं प्रयच्छति-लोके वसामि। तन्निवासक्षेत्रस्याऽपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकादनर्थान्तरत्वात्; इत्थमपि च व्यवहारदर्शनात्। विशुद्धनैगमस्त्वतिव्याप्तिपरत्वादिदमसङ्गतं मन्यते। ततस्तिर्यग्लोके वसामीति सङ्क्षिप्योत्तरं ददाति विशुद्धतरास्त्विदम्। अथातिविशुद्धतरस्त्विदमप्यतिव्याप्तिनिष्ठं मन्यते । ततो जम्बूद्वीपे वसामीति सङ्क्षिप्ततरमाह । एवं भारतवर्षदक्षिणार्द्धभरतपाटलिपुत्रदेवदत्तगृहगर्भगृहेष्वपि भावनीयम् । (एवं विसुद्धस्स णेगमस्स वसमाणो वसइ त्ति) एवमुत्तरोत्तरभेदापेक्षया विशुद्धतरनैगमस्य वसन्नेव वसति, नान्यथा । इदमुक्तं भवति-यत्र गृहाऽऽदौ सर्वदा निवासत्वेनाऽसौ विवक्षितस्तत्र तिष्ठन्नेव एष तत्र वसतीति व्यपदिश्यते । यदि पुनः कारणवशतोऽन्यत्र रथ्यादौ वर्तते, तदा तत्र विवक्षिते गृहाऽऽदौ वसतीति न प्रोच्यते, अतिप्रसङ्गादिति भावः । (एवमेवेत्यादि) लोकव्यवहारानिष्ठो हि व्यवहारनयः, लोके च नैगमोक्तप्रकाराः सर्वेऽपि दृश्यन्त इति भावः । अथ चरमनैगमोक्तप्रकारो लोके नेष्यते, कारणतो ग्रामाऽऽदौ वर्तमानेऽपि देवदत्ते पाटलिपुत्रे एष वसतीति व्यपदेशदर्शनादिति चेत्। नैतदेवम् । प्रोषिते देवदत्ते स इह वसति न वेति केनचित् पृष्टो, प्रोषितोऽसौ नेह वसतीत्यस्याऽपि लोकव्यवहारस्य दर्शनादिति । (संगहस्सेत्यादि) प्राक्तनाद्विशुद्धत्वात्सङ्ग्रहनयस्य गृहाऽऽदौ तिष्ठन्नपि संस्तारकाऽऽरूढ एव शयनक्रियावान् वसतीत्युच्यते। इदमुक्तं भवति-संस्तारेऽवस्थानादन्यत्र निवासार्थ एव न घटते,चलनाऽऽदिक्रियावत्त्वान्मार्गाऽऽदिप्रवृत्तवत् । संस्तारके च वसतो गृहाऽऽदौ वसतीति व्यपदेशायोग एव, अतिप्रसङ्गात् । तस्मात् क्वाऽसौ वसतीति निवासजिज्ञासायां संस्तारके शय्यामात्रस्वरूपे वसतीत्येतदेवास्य मतेनोच्यते,नान्यदिति भावः । स च नानादेशाऽऽदिगतोऽप्येक एव, सङ्ग्रहस्य सामान्यवादित्वादिति । ऋजुसूत्रस्य तु पूर्वस्माद्विशुद्धत्वाद् येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढ ,तेष्वेव वसतीत्युच्यते, न संस्तारके; सर्वस्याऽपि वस्तुवृत्त्या नभस्येवावगाहात् । येषु प्रदेशेषु संस्तारको वर्तते, संस्तारकेणैवाऽऽक्रान्तास्ततो येष्वेव प्रदेशेषु स्वयमवगाढस्तेष्वेव वसतीत्युच्यते । स च वर्तमानकाले एवास्ति, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनैतन्मतेऽसत्त्वादिति। त्रयाणां शब्दनयानामात्मभावे स्वस्वरूपे सर्वोऽपि वसति, अन्यस्याऽन्यत्र वृत्त्ययोगात्। तथाहि-अन्योऽन्यत्र वर्तमानः किं सर्वाऽऽत्मना वर्त्तते?, देशाऽऽत्मना वा ?। यद्याद्यः पक्षस्तर्हि तस्याऽऽधारव्यतिरेकिणा स्वकीयरूपेणाप्रतिभासनप्रसङ्गः । यथा हि-संस्तारकाऽऽद्याधारस्य स्वरूपं सर्वाऽऽत्मना तत्र वृत्तं न तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यते, एवं देवदत्ताऽऽदिरपि सर्वाऽऽत्मना तत्राधीयमानस्तद्व्यतिरेकेण नोपलभ्यते । अथ द्वितीयो विकल्पः स्वीक्रियते, तर्हि तत्राऽपि देशेऽनेन वर्तितव्यम् । ततः पुनरपि विकल्पद्वयम्-किं सर्वाऽऽत्मना वर्तते, देशाऽऽत्मना वेति ?। सर्वाऽऽत्मपक्षे देशिनो देशरूपताऽऽपत्तिः । देशाऽऽत्मपक्षे तु पुनस्तत्रापि देशो देशिना वर्तितव्य, ततः पुनरपि तदेव विकल्पद्वयम्, तदेव दूषणमित्यनवस्था । तस्मात्सर्वोऽपि स्वस्वभाव एव निवसति, तत्परित्यागेनान्यत्र निवासे तस्य निःस्वभावताप्रसङ्गादित्यसकृद्भावितया । "सेत्तं" इत्यादि निगमनम् । अनु० । नयो० । ननु वसनं नाम वर्त्तनमुच्यते। तथा च-देवदत्तो गृहे वसतीति । किमुक्तं भवति?-देवदत्तो गृहे वर्तते, तच्च वर्त्तनं सर्वस्याऽपि वस्तुनः स्वस्वरूप एव, नाऽन्यत्र, तथा प्रत्यक्षत उपलभ्यमानत्वात् । तथाहि-यद् घटगतं स्वरूपं तत् घटे एव वर्त्तते, नाऽन्यत्र भूतले पटाऽऽदौ वेति । प्रसिद्धमेतत्, देवद-

त्ताऽऽदिलक्षणं वस्तु स्वरूपमपहाय कथमन्यत्र विलक्षणस्वरूपे वस्तुनि आकाशलक्षणे वर्त्तितुमुत्सहते । तथा चाऽत्र प्रयोग - यद्वस्तु सत् तत् सर्वमात्मस्वरूपे वर्त्तते, यथा चेतना जीवे, वस्तु च देवदत्ताऽऽदिकमिति तदपि स्वस्वरूप एव वर्त्तते, नान्यत्रेति । अथवाऽत्र व्यतिरेकमुखेन प्रयोग -विवादाऽऽस्पदीभूतो देवदत्तो नाऽऽकाशप्रदेशेष्ववतिष्ठते, ततो विलक्षणत्वात्, यद् यतो विलक्षणं न तत्तत्र वर्त्तते, यथा छाया आतपे, विलक्षणाश्चाचेतनत्वेन देवदत्तादाकाशप्रदेशा इति नासौ तत्र वर्त्तते ।

उक्तं च भाष्यकारेण -

" आगासे वसइ त्ति य, जणिए भणइ किह अन्नमन्नम्मि ।
मोत्तूणाऽऽयसहावं, वसेज्ज वत्थु विहम्मम्मि ॥ २२४१ ॥
वत्थु वसइ सहावे, सत्ताओ चेयणा व जीवम्मि ।
न विलक्खणत्तणाओ, भिन्ने छायातवे चेव ॥ २२४२ ॥

एष वसतिदृष्टान्त. ।

(२१) सम्प्रति प्रदेशदृष्टान्तभावना-

तत्र प्रकृष्टो देश. प्रदेश., स एव दृष्टान्त. प्रदेशदृष्टान्त. । स चायम्-नैगमो वदति-षण्णां जगति प्रदेश । तद्यथा-धर्मास्तिकायप्रदेश , अधर्मास्तिकायप्रदेश , आकाशास्तिकायप्रदेश , जीवप्रदेश , स्कन्धप्रदेश., स्कन्धगतैकदेशप्रदेशश्च । सर्वत्र षष्ठीतत्पुरुष. समास. । यथा धर्मास्तिकायस्य प्रदेशो धर्मास्तिकायप्रदेश । एवं सर्वत्रापि । स च धर्मास्तिकायप्रदेशाऽऽदि. सामान्यविवक्षया एको, विशेषविवक्षयाऽनेक इति । एवं वदति नैगमे सङ्ग्रहो वदति-यद् ब्रूषे-षण्णा प्रदेश इत्यादि । तन्न भवति । यस्माद् य स्कन्धगतैकदेशप्रदेश , स तस्यैव स्कन्धस्य प्रदेश , देशस्य स्कन्धाव्यतिरिक्तत्वात् । तथा च लोकेऽपि वक्तार.-" दासेन मे खर. क्रीतो, दासोऽपि मे खरोऽपि मे । " एवं यत्स्कन्धस्य सबन्धिनो देशस्य प्रदेश , स तस्यैव स्कन्धस्य । ततो मैवं वादी -यदुत षण्णां प्रदेश इत्यादि, किं त्वेवं वद-यथा पञ्चानां प्रदेश. । तद्यथा-धर्मास्तिकायप्रदेश., अधर्माऽस्तिकायप्रदेश , आकाशास्तिकायप्रदेश , जीवप्रदेश., स्कन्धप्रदेश इति । अयं च धर्मास्तिकायप्रदेश. स्वस्वधर्मास्तिकायाऽऽद्यनुगत सर्वोऽप्येक एव रूपत्व , सामान्यविवक्षणात् । एवं च सङ्ग्रहोऽविशुद्ध प्रतिपत्तव्य, अपरसामान्याभ्युपगमात् । एवमभिदधान सङ्ग्रह प्रति व्यवहारोऽभिधत्ते-यद्वदति भवान् पञ्चाना प्रदेश इति, नान्यथा । न चैतदस्ति । तस्मादेव वक्तव्यम्-पञ्चविध प्रदेश । तद्यथा-धर्मास्तिकायप्रदेशो यावत् स्कन्धप्रदेश इति । एवमुक्ते व्यवहारेण ऋजुसूत्रो वदति-यद्भाषते भवान्-पञ्चविध प्रदेश इत्यादि । तदसम्यक् । तत्राऽपि शब्दार्थे विचार्यमाणेऽतिप्रसङ्गदोषापत्ते. । तथाहि-पञ्चविध. प्रदेश इत्युक्ते शब्दार्थपर्यालोचनाया यो य. प्रदेश स पञ्चविध इति प्राप्तम्, एवं च सत्येकैक प्रदेश. पञ्चविंशतिविध. प्रदेश प्रसक्त । न चैतदस्ति । तस्मादेवमत्र वक्तव्यम्-भाज्य. प्रदेश । तद्यथा-स्याद्धर्मास्तिकायप्रदेश , स्यादधर्मास्तिकायप्रदेश , स्यादाकाशास्तिकायप्रदेश , स्याज्जीवप्रदेश , स्यात् स्कन्धप्रदेश । एवमाचक्षाणमृजुसूत्र शब्दनय. प्रत्याचष्टे-यद्वदसि भाज्य प्रदेश इत्यादि । तन्न भवति । कथमुच्यते ? । यदि भाज्य प्रदेश इति सम तत स्यात्पदलाञ्छने प्रतिनियते धर्मास्तिकायाऽऽद्यनुगतप्रदेशस्वरूपावधारणासंभवात्, धर्मास्तिकायप्रदेशोऽपि स्यादधर्मास्तिकायप्रदेश , अधर्मास्तिकायप्रदेशोऽपि स्याद्धर्मास्तिकायप्रदेश इत्यादि । तत एवं वक्तव्यम्-धर्मास्तिकायः प्रदेश. प्रदेशोऽधर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकाय प्रदेश. प्रदेशो धर्मास्तिकाय इत्यादि । एवं हि वदत. शब्दनयस्यायमभिप्राय.-य एव धर्मास्तिकायाऽऽदिरूपो देशी स एव देश. प्रदेशो वा न स्यात्, तदव्यतिरिक्तत्वात् । न खलु देशिनो भिन्नो देशः प्रदेशो वा भवितुमर्हति, भेदे सति तस्याऽसौ देशः प्रदेशो वेति सबन्धानुपपत्तेः । न हि घट पटस्येति सचेतसा वक्तुं शक्यम्, सबन्धश्चेत्तर्हि सबन्धस्याऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वाद्देश' प्रदेशो वा देशिनः सकाशादभिन्न प्रतिपत्तव्य, तथा च सति य एव देशी स एव देश. प्रदेशश्चेति सिद्धं सामानाधिकरण्यम् । एतदेव च सामाधिकरण्य समभिरूढोऽपि मन्यते । एवंभूतस्तु प्रदेशवस्तुनो देशः प्रदेशो वा, शुक्लयोगात् । तथाहि-देश. प्रदेशो वा देशिनो भिन्नोऽभिन्नो वा, गत्यन्तराभावात् । यदि भेदस्तस्येति सबन्धानुपपत्ति । अथाभेदस्ततो देशः प्रदेशो वा देश्येव, तदव्यतिरिक्तत्वात्, स्वरूपवत् । तथा च सति यौ देशप्रदेशशब्दौ तौ परमार्थतो धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशप्रतिपादकौ, ततो यथा पर्यायशब्दत्वादेककालमेकस्मिन् वस्तुनि घटकुटौ नोच्चार्येते, एकेनाऽपि शब्देन तदर्थस्य प्रतिपादने द्वितीयशब्दप्रयोगस्य नैरर्थक्यात् । एवमिहापि धर्मास्तिकायाऽऽदिरूपे वस्तुनि धर्मास्तिकायाऽऽदिशब्दो देशप्रदेशाऽऽदिशब्दश्च नैककालमुच्चारणमर्हत ,द्वयोरप्येकार्थतयैकेनापि तदर्थस्याऽभिधानत्वेऽपरशब्दप्रयोगस्य वैयर्थ्यात् । तथा च सति धर्मास्तिकायप्रदेश.,अधर्मास्तिकायप्रदेश इत्यादि वचनजात सर्वमुपपन्नम् । देशप्रदेशशब्दयो परमार्थतो धर्मास्तिकायाऽऽदिरूपदेशिवाचकतया पौनरुक्त्यदोषानुषङ्गात् । योऽपि च नोशब्द एकदेशवचन ,सोऽप्येतन्मते सर्वथाऽनुपपन्न.,तत्राप्युक्तदोषानतिक्रमात् । तथाहि-नोशब्द सम्पूर्णं वस्त्वाभिदध्यात्,वस्त्वेकदेशं वा ? । यदि सम्पूर्णं, ततस्तस्य प्रयोगो निरर्थक ,धर्मास्तिकायाऽऽदिपदेनैव तस्याऽभिधानात् । अथ वाऽस्त्वेकदेशमिति पक्ष. । सोऽप्यसमीचीन.,वस्तुनो देशाभावात् । न हि वस्तुनो भिन्नो देश उपपद्यते, तस्येति सबन्धाऽभावात् । अभेदे तु देश्येव, न देश इत्युपपादितमेतत् ।

उक्तं च भाष्यकारेण-

" नो सद्दो वि समत्त, देस व भणिज्ज जइ समत्त तो ।
तस्स पओगोऽणत्थो, अह देसो तो न सो वत्थु ॥२२५६॥ "

अत्र (न सो वत्थु त्ति) न स देशो वस्तु, भेदपक्षेऽभेदपक्षे वा, तस्यासम्भवादिति । येऽपि च नीलोत्पलाऽऽदय. शब्दा लोकप्रसिद्धा ,तेऽप्येतन्मतेन विचार्यमाणा सर्वथाऽनुपपन्ना. । तथाहि-तन्मतेन सर्वं वस्तु प्रत्येकमखण्डरूप, न तस्य गुणाः पर्याया वा देशा. प्रदेशा वा सर्वथा कथञ्चिद्भिन्ना वस्त्वन्तररूपा वर्तन्ते, ततो नीलशब्देनाऽपि तदेव वस्त्वखण्डमभिधीयते, उत्पलशब्देनाऽपि तदेवेति, नीलोत्पलशब्दयोरन्यतरशब्देन तदर्थस्याऽभिधानात् । द्वितीयशब्दप्रयोगो व्यर्थ इत्ययुक्ता नीलोत्पलाऽऽदय शब्दा' । प्रकृते प्रदेशदृष्टान्तभावनाऽपि तथैव । तदेवमुक्ता नया. । एतेषां च नयानामाद्याश्चत्वारो नया अर्थनयाः, मुख्यवृत्त्या जीवाऽऽद्यर्थसमाश्रयणात् । शेषास्तु त्रय. शब्दाऽऽदयो नया शब्दनया , शब्दत एवार्थभेदोपयोगात् ।

उक्तं च-

" चत्वारोऽर्थनया ह्येते, जीवाऽऽद्यर्थविनिश्चयात् ।
त्रय. शब्दनया. सत्य-पदविद्या समाश्रिता. " ॥१॥

तत्र (सत्यपदद्धियां समाश्रिता इति) सत्यानि अविपरीतानि, शब्दानुशासनोपदर्शितयथोक्तलक्षणोपेतानीति भाव । तानि च तानि पदानि सत्यपदानि, तेषां विद्या परिज्ञान कालकारकाऽऽदिभेदतोऽवगम । तां समाश्रिता, तद्वशादर्थभेदमभ्युपगतवन्त इत्यर्थः ।

सप्रत्येतेषामेव नयानां प्रभेदसंख्याप्रदर्शनार्थमाह निर्युक्तिकार.-

इक्केको य सयविहो, सत्त नयसया हवंति एमेव ।

अन्नो वि य आएसो, पंचेव सया नयाणं तु ॥२२६४॥

नया मूलभेदापेक्षया यथोक्तरूपा नैगमाऽऽदय सप्त, एकैकश्च प्रभेदत शतविध. शतभेद , तत. सर्वप्रभेदगणनया सप्त नयशतानि भवन्ति । एवमन्येऽपि च आदेशा पञ्चशतानि भवन्ति नयानां शब्दाऽऽदीनामेकत्वादेकैकस्य च शतविधत्वादिति हृदयम । अपिशब्दात षट् चत्वारि द्वे वा शते । तत्र षट् शतान्येवम-नैगम. सामान्यग्राही सग्रहे प्रविष्टो, विशेषग्राही व्यवहारे । उक्तं च भाष्यकारे.-"जो सामन्नग्गाही, स नेगमो सगहं गतो अहवा । इयरो ववहारमितो, जो तेण समाणनिद्देसो " ॥ ३६ ॥ ततः षमेव मूलनयाः, एकैकश्च प्रभेदत शतभेद., इति षट् शतानि । अपरादेशाः सग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा इति चत्वार एव मूलनया , एकैकश्च शतविध इति चत्वारि शतानि । शतद्वय तु नैगमाऽऽदीनामृजुसूत्रपर्यन्ताना द्रव्यास्तिकत्वात, शब्दाऽऽदीनां तु पर्यायास्तिकत्वात, तयोश्च प्रत्येक शतभेदत्वात । अथ वा यावन्तो वचनपथा., तावन्तो नया इत्यसंख्याता. प्रतिपत्तव्याः । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

प्रदेशदृष्टान्तस्तु-

से किं तं पएसदिट्ठंतेणं ?। पएसदिट्ठंतेणं णेगमो भणइ-छण्हं पएसो । तं जहा-धम्मपएसो, अधम्मपएसो, आगासपएसो, जीवपएसो, खंधपएसो, देसपएसो । एवं वयंतं णेगमं संगहो भणइ-जं भणसि छण्हं पएसो, तं न भवइ, कम्हा ?, जम्हा देसपएसो, सो तस्स दव्वस्स एव, जहा को दिट्ठंतो-"दासेण मे खरो कीओ, दासो वी मे खरो वि मे ।" तं मा भणाहि छण्हं पएसो, भणाहि-पंचण्हं पएसो । त जहा-धम्मपएसो, अधम्मपएसो, आगासपएसो, जीवपएसो, खंधपएसो । एवं वयंतं संगहं ववहारो भणइ-जं भणसि-पंचण्ह पएसो, तं न भवइ, कम्हा ?, जइ जहा पंचण्हं गोट्ठिआणं पुरिसाणं केइ दव्वजाए सामन्ने भवइ । तं जहा-हिरण्णे वा, सुवण्णे वा, धणे वा, धण्णे वा, तहा पंचण्हं पएसो, तं मा भणाहि पंचण्हं पएसो, भणाहि-पंचविहो पएसो । त जहा-धम्मपएसो, अधम्मपएसो, आगासपएसो, जीवपएसो, खंधपएसो । एव वयंत ववहारं उज्जुसुओ भणइ-जं भणसि-पंचविहो पएसो, तं न भवइ, कम्हा ?, जइ ते पंचविहो पएसो, एवं ते एक्केको पएसो पंचविहो, एवं ते पणवीसविहो पएसो भवइ, तं मा भणाहि पंचविहो पएसो, भणाहि-भइयव्वो पएसो, सिअ धम्मपएसो, सिअ अधम्मपएसो, सिअ आगासपएसो, सिअ जीवपएसो, सिअ खंधपएसो । एवं वयंतं उज्जुसुयं पइ सद्दनओ भणइ-जं भणसि-भइयव्वो पएसो, तं न भवइ, कम्हा ?, जइ भइअव्वो पएसो, एवं ते धम्मपएसो वि सिअ अधम्मपएसो सिअ आगासपएसो सिअ जीवपएसो सिअ खंधपएसो; अधम्मपएसो वि सिअ धम्मपएसो० जाव खंधपएसो । जीवपएसो वि सिअ धम्मपएसो० जाव सिअ खंधपएसो, खंधपएसो वि सिअ धम्मपएसो० जाव सिअ खंधपएसो । एवं ते अणवत्था भविस्सइ, तं मा भणाहि भइयव्वो पएसो, भणाहि-धम्मे पएसे से पएसे धम्मे, अहम्मे पएसे से पएसे अहम्मे, आगासे पएसे मे पएसे आगासे, जीवे पएसे से पएसे नो जीवे, खधे पएसे से पएसे नो खंधे । एवं वयंतं सद्दनयं समभिरूढो भणइ-जं भणसि-धम्मे पएसे से पएसे धम्मे, जीवे पएसे से पएसे नोजीवे, खधे पएसे से पएसे नोखंधे, तं न भवइ, कम्हा ?, इत्थं खलु दो समासा भवंति । तं जहा-तप्पुरिसे अ, कम्मधारए अ । तं ण णज्जइ कयरेणं समासेणं भणसि, किं तप्पुरिसेणं ?, किं कम्मधारएणं ?। जइ तप्पुरिसेणं भणसि, तो मा एवं भणाहि, अह कम्मधारएणं भणसि, तो विसेसओ भणाहि-धम्मे अ से पएसे अ मे से पएसे धम्मे, अहम्मे अ से पएसे अ मे से पएसे अहम्मे, आगासे अ से पएसे अ मे से पएसे आगासे, जीवे अ से पएसे अ मे से पएसे नो जीवे, खंधे अ से पएसे अ मे से पएसे नो खंधे । एवं वयंतं समभिरूढं पइ एवंभूओ भणइ-जं जं भणसि तं तं सव्वं कसिणं पडिपुण्णं निरवसेसं एगगहणगहितं, देसे वि मे अवत्थू, पएसे वि मे अवत्थू । से तं पएसदिट्ठंतेणं । से तं नयप्पमाणे ॥

(से किं तं पएसदिट्ठतेणमित्यादि) प्रकृष्टो देशः प्रदेशो, निर्विभागो भाग इत्यर्थ. । स एव दृष्टान्त., तेन नयमतानि चिन्त्यन्ते । तत्र नैगमो भणति-षण्णां प्रदेश । तद्यथा-(धम्मपएस इत्यादि) धर्मशब्देन धर्मास्तिकायो गृह्यते, तस्य प्रदेशो धर्मप्रदेशः । एवमधर्माऽऽकाशजीवास्तिकायेष्वपि योज्यम् । स्कन्धः पुद्गलद्रव्यनिचय, तस्य प्रदेश. स्कन्धप्रदेश., देश एषामेव पञ्चाना धर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्याणा प्रदेशद्व्याऽऽदिनिर्वृत्तोऽवयवः, तस्य प्रदेशो देशप्रदेश । अयं च प्रदेशसामान्याव्यभिचाराद षण्णां प्रदेश इत्युक्तम, विशेषविवक्षाया तु षट् प्रदेशाः, एव वदन्त नैगमं प्रति निपुणतर. सग्रहो भणति, यद्भणसि-षण्णां प्रदेश इति, तन्न भवति तन्न युज्यते । कस्माद् ?, यस्माद्यो देशप्रदेश इति षष्ठे स्थाने भवतां प्रतिपादित, तदसङ्गतमेव । यतो धर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्यस्य सबन्धी यो देशस्तस्य यः प्रदेश , स वस्तुवृत्त्या तस्यैव द्रव्यस्य यत्सबन्धी देशो विवक्ष्यते, द्रव्यान्यतिरिक्तस्य देशस्य यः प्रदेशः स द्रव्यस्यैव भवति । यथा कोऽत्र दृष्टान्त इत्याह-" दासेणेत्यादि " लोकेऽ-

प्येवं व्यवहृतिर्दृश्यते । यथा कश्चिदाह-मदीयदासेन खरः क्रीतः, तत्र दासोऽपि मदीयः, खरोऽपि मदीयः, दासस्य मदीयत्वात् तत्क्रीतः खरोऽपि मदीय इत्यर्थः । एवमिहाऽपि देशस्य द्रव्यसंबन्धित्वात् तत्प्रदेशोऽपि द्रव्यसंबन्ध्येवेति भावः । तस्मान्मा भण-षण्णां प्रदेशः, अपि त्वेवं भण-पञ्चानां प्रदेश इति, त्वदुक्तषष्ठदेशस्यैवाऽघटनादित्यर्थः । तदेव दर्शयति-तद्यथा-धर्मप्रदेश इत्यादि । एतानि पञ्च द्रव्याणि, तत्प्रदेशश्चेत्येवमविशुद्धसंग्रह एवं मन्यते, अवान्तरद्रव्यसामान्याऽऽश्रयत्युपगमात् । विशुद्धस्तु द्रव्यबाहुल्यं प्रदेशकल्पनां च नेच्छत्येव,सर्वस्यैव वस्तुसामान्यक्रोडीकृतत्वेनैकत्वादित्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतमुच्यते-एवं वदन्त संग्रहं ततोऽपि निपुणो व्यवहारो भणति-यद्भणसि-पञ्चानां प्रदेश इति, तन्न भवति न युज्यते, कस्मात् ?, यदि यथा पञ्चानां गोष्ठिकानां पुरुषाणां किञ्चित् द्रव्य सामान्यमेकं भवति । तद्यथा-हिरण्यं वेत्यादि । एवं यदि प्रदेशोऽपि स्यात्ततो युज्यते वक्तुं पञ्चानां प्रदेश इति । इदमुक्तं भवति-यथा केषाञ्चित्पञ्चानां पुरुषाणां साधारण किञ्चिद्धिरण्याऽऽदि भवति, एवं पञ्चानामपि धर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्याणां यद्येक. कश्चित्साधारणप्रदेश. स्यात्तदेयं वाचो युक्तिर्घटेत, न चैतदस्ति, प्रतिद्रव्यं प्रदेशभेदात् । तस्मान्मा भण-पञ्चानां प्रदेशः । अपि तु पञ्चविधः पञ्चप्रकारः प्रदेशः, द्रव्यलक्षणस्याऽऽश्रयस्य पञ्चविधत्वादिति भावः । तदेवाऽऽह-धर्मप्रदेश इत्यादि । एवं वदन्तं व्यवहारमृजुसूत्रो भणति—यद्भणसि—पञ्चविधः प्रदेशः, तन्न भवति, कस्मात् ?, यस्मादेव पञ्चविधः प्रदेश', एवमेकैको धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेश. पञ्चविधः प्रसक्त., शब्दादत्र वस्तुव्यवस्था, शब्दे त्वेवमेव प्रतीतिर्भवति । एव च सति पञ्चविंशतिविधः प्रदेश. प्राप्नोति । तन्मा भण-पञ्चविधः प्रदेशः, किं त्वेवं भण-भाज्यः प्रदेशः स्याद्धर्मप्रदेश इत्यादि । इदमुक्तं भवति-भाज्यो विकल्पनीयो विभजनीयः प्रदेश. कियद्भिर्विभागैः स्याद्धर्मप्रदेश इत्यादि पञ्चभिः, ततश्च पञ्चभेद एव प्रदेश. सिध्यति । स च यथा स्वमात्मीयमात्मीय एवाऽस्ति, न परकीयः, तस्यार्थक्रियासाधकत्वात्, प्रस्तुतनयमतेनासत्त्वादिति । एव भणन्तमृजुसूत्र प्रति शब्दनयो भणति-यद्भणसि-भाज्य. प्रदेश.,तन्न भवति, कुत.?,यदि भाज्य' प्रदेश., एव ते धर्मास्तिकायप्रदेशोऽपि कदाचिदधर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशः स्यात्, अधर्मास्तिकायप्रदेशोऽपि कदाचिद्धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेश. स्यात्, इत्थमपि भजनाया अनिवारितत्वात्, यथा एकोऽपि देवदत्त. कदाचिद्राज्ञो भृत्य.,कदाचिदमात्याऽऽदेरिति । एवमाकाशास्तिकायाऽऽदिप्रदेशेऽपि वाच्यम् । तदेव नैयत्याभावादनवस्था प्रपद्यते । तन्मैव भण-भाज्यः प्रदेश.,अपि तु इत्थं भण-"धम्मे पएसे से पएसे धम्मे" इत्यादि । इदमुक्त भवति-धर्मप्रदेश इति,धर्माऽऽत्मक. प्रदेश इत्यर्थ. । अत्राऽऽह-नन्वयं प्रदेशः सकलधर्मास्तिकायादव्यतिरिक्त' सन् धर्माऽऽत्मक इत्युच्यते,आहोस्वित् तदेकदेशाव्यतिरिक्तः सन् , यथा सकलजीवास्तिकायैकदेशैकजीवद्रव्याव्यतिरिक्त' संस्तत्प्रदेशो जीवाऽऽत्मक इति व्यपदिश्यत इत्याह-(से पएसे धम्मे त्ति) स प्रदेशो धर्म , सकलधर्मास्तिकायादव्यतिरिक्त इत्यर्थ । जीवास्तिकाये हि परस्पर भिन्नान्येवानन्तानि जीवद्रव्याणि भवन्त्यतो य एकजीवद्रव्यस्य प्रदेश., स नि शेषजीवास्तिकायैकदेशवृत्तिरेव सन् जीवाऽऽत्मक इत्युच्यते । अत्र तु धर्मास्तिकाय एकमेव द्रव्य, ततः सकलधर्मास्तिकायाव्यतिरिक्त एव संस्तत्प्रदेशो धर्मात्मक उच्यत इति भावः । अधर्माऽऽकाशास्तिकाययोरप्येकैकद्रव्यत्वादेवमेव भावनीयम् । जीवास्तिकाये तु (जीवे पएसे पएसे नो जीवे त्ति) जीवः प्रदेश इति, जीवास्तिकायाऽऽत्मकः प्रदेश इत्यर्थः । स च प्रदेशो नोजीवः, नोशब्दस्येह देशवचनत्वात्, सकलजीवास्तिकायैकदेशवृत्तिरित्यर्थः । यो ह्येकजीवो द्रव्याऽऽत्मकः प्रदेशः स कथमनन्तजीवद्रव्याऽऽत्मके समस्तजीवास्तिकाये वर्तेत इति भावः । एव स्कन्धाऽऽत्मकः प्रदेशो नोस्कन्धः, स्कन्धद्रव्याणामनन्तत्वादेकदेशवर्तीत्यर्थ. । एवं वदन्तं शब्दनयं नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः प्राऽऽह-यद्भणसि-धर्मः प्रदेशो धर्म इत्यादि, तन्न भवति न युज्यते, कस्मात् ?,इत्याह-इह खलु द्वौ समासौ भवतः । तद्यथा-तत्पुरुष., कर्मधारयश्च । इदमुक्त भवति-"धम्मे पएसे से पएसे धम्मे" इत्युक्ते समासद्वयाऽऽरम्भकवाक्यद्वयमत्र संभाव्यते । तथाहि--यदि धर्मशब्दात् सप्तमीयं तदा सप्तमीतत्पुरुषस्याऽऽरम्भकमिद वाक्यम् । यथा वने हस्तीत्यादि । अथवा-प्रथमा, तदा कर्मधारयस्य । यथा-नीलमुत्पलमित्यादि । ननु यदि वाक्यद्वयमेवाऽत्र संभाव्यते, तर्हि कथं द्वौ समासौ भवत इत्युक्तम् ?। उच्यते-समासाऽऽरम्भकवाक्ययोः समासोपचारात् । अथवा-अलुक्समासविवक्षया समासावप्येतौ भवतः, यथा-कण्ठे काल इत्यादीत्यदोषः । यदि नाम द्वौ समासावत्र भवतः, तत. किमित्याह-तन्न ज्ञायते कतरेण समासेन भणसि ?-किं तत्पुरुषेण ?, कर्मधारयेण वा ? । यदि तत्पुरुषेण भणसि, तन्मैवं भण, दोषसंभवादिति शेषः । स चाऽयं दोषः-धर्मे प्रदेश इति भेदाऽऽपत्तिः, यथा कुण्डे बदराणीति । न च प्रदेशप्रदेशिनौ भेदेनोपलभ्येते । अथ अभेदेऽपि सप्तमी दृश्यते । यथा-घटे रूपमित्यादि । एवमुभयत्र दर्शनात्संशयलक्षणो दोष. स्यात् । अथ कर्मधारयेण भणसि, ततो विशेषेण (धम्मे अ से पएसे अ से त्ति) धर्मश्च स प्रदेशश्च स इति समानाधिकरणः कर्मधारयः । एव च सप्तम्याशङ्काऽभावतो न तत्पुरुषसंभव इति भावः । आह-नन्वय प्रदेश समस्तादपि धर्मास्तिकायादव्यतिरिक्तः सन् समानाधिकरणतया निर्दिश्यते, उत तदेकदेशवृत्ति सन् ?, यथा जीवास्तिकायैकदेशवृत्तिर्जीवप्रदेश इत्याशङ्क्याऽऽह-(से से पएसे धम्मे त्ति) स च प्रदेश सकलधर्मास्तिकायाऽऽदिव्यतिरिक्तो, न पुनस्तदेकदेशवृत्तिरित्यर्थ । शेषभावना पूर्ववत् । "से पएसे नो जीवे से पएसे नो खंधे" इत्यत्राऽपि पूर्ववदेवार्थकथनम् । एव वदन्त समभिरूढं प्रत्येवभूतो भणति-यद्यद् धर्मास्तिकायाऽऽदिक वस्तु भणसि, तत्तत्सर्वं समस्त कृत्स्नं देशप्रदेशकल्पनारहित प्रतिपूर्णमात्मस्वरूपेणाऽविकलं निरवशेष तदेवैकत्वान्निरवयवम्, एकग्रहणगृहीतम् एकाभिधानाभिधेय, नामानि ह्येकस्मिन्नर्थे नेच्छन्ति, अभिधानभेदे वस्तुभेदाभ्युपगमात् । तदेवभूतं तद् धर्मास्तिकायाऽऽदिक वस्तु भण, न तु प्रदेशाऽऽदिरूपतया, यतो देशप्रदेशौ ममाप्रदेशौ अवस्तुभूतौ, अखण्डस्यैव वस्तुन. सत्त्वेनोपगमात् । तथाहि-प्रदेशप्रदेशिनोर्भेदोऽभेदो वा ? । यदि प्रथमः पक्ष , तर्हि भेदेनोपलब्धिप्रसङ्गः, न च तथोपलब्धिरस्ति । अथाऽभेदस्तर्हि धर्मप्रदेशशब्दयो. पर्यायतैव प्राप्ता , एकार्थविषयत्वात् । न च पर्यायशब्दयोर्युगपदुच्चारणं युज्यते, एकेनैव तदर्थप्रतिपादने

द्वितीयस्य वैयर्थ्यात्, तस्मादेकाभिधानाभिधेयं परिपूर्णमेकमेव वस्त्विति । तदेवमेते निजनिजार्थसत्यताप्रतिपादनपरा विप्रतिपद्यन्ते नयाः । एते च परस्पर निरपेक्षा दुर्नयाः सौगताऽऽदिसमयवत्, परस्परसापेक्षास्तु सुनया', तैश्च परस्परसापेक्षैः समुदितैरेव सपूर्णजिनमतं भवति, नैकैकावस्थायाम् ।

उक्तं च स्तुतिकारेण–

" उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः"॥१॥

एते च नया ज्ञानरूपा., ते जीवगुणत्वेन यद्यपि गुणप्रमाणेऽन्तर्भवन्ति, तथाऽपि प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणेभ्यो नयरूपतामात्रेण पृथक् सिद्धत्वाद् बहुविचारविषयत्वाज्जिनाऽऽगमे प्रतिस्थानमुपयोगित्वाच्च गुणप्रमाणा. पृथगुक्ता., तदेतत्प्रदेशदृष्टान्तेनेति निगमनम् । प्रस्थकाऽऽदिदृष्टान्तत्रयेणैव नयप्रमाण प्रतिपाद्योपसंहरति–तदेतन्नयप्रमाणमिति । अनेन च दृष्टान्तत्रयेण दिग्मात्रदर्शनमेव कृत, यावता यत्किमपि जीवाऽऽदिवस्त्वस्ति, तत्र सर्वत्र नयविचारः प्रवर्तते, इत्यल बहुजल्पितेनेति । अनु० ।

(२२) एतैर्दृष्टान्तैरयमस्मान्नयाच्छुद्ध इति कथ ज्ञेयम्?, इत्याह–

शुद्धा ह्येतेषु सूक्ष्मार्थाः, अशुद्धाः स्थूलगोचराः ।
फलतः शुद्धतां त्वाहु–र्व्यवहारे न निश्चये ॥ ७४ ॥

(शुद्धा हीति) एतेषु नयेषु उक्तदृष्टान्तरीत्या ये यतः सूक्ष्मार्थाः ते तत शुद्धा , ये च यत. स्थूलगोचराः ते ततोऽशुद्धा', सूक्ष्मत्व स्थूलत्व चाऽर्थानां तादृशतादृशशुद्धिविषयत्वेनानुगमनीयम्, न तु बह्वल्पविषमभावेन, तथासत्युत्तरोत्तरेभ्य. पूर्वपूर्वेषां सूक्ष्मार्थत्वप्राप्ते । यत उक्तम् * –' पूर्व पूर्वो नय. प्रचुरगोचर., पर परस्तु परिमितविषयः ॥ ४६ ॥ सन्मात्रगोचरात् संग्रहान्नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः ॥ ४७ ॥ सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद् बहुविषय. ॥ ४८ ॥ वर्तमानविषयादृजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिकालविषयाऽवलम्बित्वादनल्पार्थः ॥ ४९ ॥ कालाऽऽदिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिन. शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वान्महार्थ. ॥ ५० ॥ प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सत. समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात्प्रभूतविषय. ॥ ५१ ॥ प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात् समभिरूढस्तदन्यथाऽर्थस्थापकत्वाद् महागोचर' ॥५२॥ " इति । एव सदृजुसूत्राऽऽदेर्व्यवहारस्य बह्वर्थत्वेन सूक्ष्मार्थत्व स्यादिति बहुविचारमहत्वं सूक्ष्मार्थत्वम्, अल्पविचारसहत्व च स्थूलार्थत्वमित्यादिक वा यथासमय परिभावनीयम्, इत्थ च निश्चयनया एवैतेषु शुद्धा , व्यवहारनयाश्चाशुद्धा इति फलितम् । निश्चयत्वं च व्यवहारतदुपजीवनयान्यनयत्व व्यवहारतदुपजीवितयाऽन्यतरत्वमिति विवेक ।" अहवा सव्वणयमय, विणिच्छओ इगमयं च ववहारो (विशे०)" इति भाष्योक्तं पक्षान्तर च निश्चयस्य सप्तभङ्ग्यादिविशेषिततयोपपादनीयम । अयं च निश्चयव्यवहारयो शुद्धाशुद्धत्वोपन्यास' स्वरूपत'; फलतः शुद्धतां त्वभियुक्तां व्यवहारनये प्राहुर्न तु निश्चये ॥ ७४ ॥ नयो० । न्य० ॥

(२३) के पुनस्ते प्रभेदा ?, इत्याह–

इक्किको य सयविहो, सत्त नयसया हवंति एमेव ।
अन्नो वि य आएसो, पंचेव सया नयाणं तु ॥२२६४॥

एतेषां मूलजातिभेदत. सप्तानां नैगमाऽऽदिनयानामेकैक' प्रभेदतः शतविध. शतभेदः । एवं च सर्वैरपि प्रभेदैः सप्त नयशतानि भवन्ति । अन्योऽपि चाऽऽदेशः प्रकारः, तेन पञ्च नयशतानि भवन्ति । शब्दाऽऽदिभिस्त्रिभिरपि नयैर्यदा एक एव शब्दनयो विवक्ष्यते तदा पञ्चैव मूलनया भवन्ति, एकैकस्य च शतविधत्वात्पञ्चशतविधत्व नयानाम् । (अन्नो वि य त्ति) अपिशब्दात्षट्, चत्वारि, द्वे वा शते नयानाम् । तत्र यदा सामान्यग्राहिणो नैगमस्य सग्रहे, विशेषग्राहिणस्तु व्यवहारेऽन्तर्भावो विवक्ष्यते, तदा मूलनयानां षड्विधत्वादेकैकस्य च शतभेदत्वात्षट् शतानि नयानाम्; यदा तु संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रलक्षणास्त्रयोऽर्थनयाः विवक्ष्यन्ते, एकस्तु शब्दनय' पर्यायास्तिकस्तदा चत्वारो मूलनया भवन्ति, प्रत्येक च शतभेदत्वाच्चत्वारि नयशतानि । यदा तु नैगमाऽऽदयश्चत्वारोऽप्येको द्रव्यास्तिक', शब्दनयास्तु त्रयोऽप्येक एव पर्यायास्तिक इत्येव द्वावेव नयौ विवक्ष्येते, तदा अनयोः प्रत्येक शतभेदत्वाद्द्वे नयशते भवतः । इति निर्युक्तिगाथार्थ. ॥२२६४॥

(२४) अथवा किमनेन स्तोकभेददर्शनेन ?, उत्कृष्टतोऽसंख्याता अपि नया भवन्ति, तेऽपि चापिशब्दाद् द्रष्टव्या इति दर्शयन्नाह–

जावंतो वयणपहा, तावंतो वा नया विसद्दाओ ।
ते चेव य परसमया, सम्मत्तं समुदिया सव्वे ॥२२६५॥

' वा ' अथवा, यावन्तो वचनपथा वचनमार्गा' वचनप्रकारास्तेऽपीहापिशब्दात्संगृहीताः । य एव च नयास्त एव च सावधारणाः सर्वेऽपि परसमयास्तीर्थिकसिद्धान्ता', समुदितास्तु निरवधारणा' स्याच्छब्दलाञ्छिता. सर्वेऽपि नयाः सम्यक्त्व जिनशासनभावं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । आह च स्तुतिकारः–" उदधाविव सर्वसिन्धव. समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः । न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः " ॥ १ ॥ इति ॥ २२६५ ॥

एतदक्षममाण. परः प्राऽऽह–

न समेंति न य समेया, सम्मत्तं नेव वत्थुणो गमगा ।
वत्थुविघायाय नया, विरोहओ वेरिणो चेव ॥२२६६॥

न समयन्ति न समुदायभावमापद्यन्ते नयाः, नाऽपि समेतास्ते सम्यक्त्व भवन्ति, प्रत्येकावस्थायां मिथ्यादृष्टित्वात् , तत्समुदाये महामिथ्यात्वप्रसङ्गात्, प्रचुरविषलवसमुदाये विषप्राचुर्यवत् । नाऽपि ते समेता वस्तुनो गमका , प्रत्येकावस्थायां तदगमकत्वात् । समुदिताश्च ते विवदमानाः प्रत्युत वस्तुविघातायैव भवन्ति, न पुनस्तद्गमका । कुतः पुनस्ते न समयन्ति ?, न च समुदिता' सम्यक्त्वं, नाऽपि वस्तुगमका ?, इत्याह–विरोधित्वाद्वैरिवदिति ॥ २२६६ ॥

अत्रोत्तरमाह–

सव्वे समयंति सम्मं, चेगवसाओ नया विरुद्धा वि ।
भिच्चववहारिणो इव, राओदासीणवसवत्ती ॥ २२६७ ॥

परस्परविरुद्धा अपि नयाः सर्वेऽपि समयन्ति समुदिता जायन्ते, सर्वे च सम्यक्त्वं भवन्ति । कुतः ?, इत्याह–एकस्य जिनसाधोर्वशवर्तित्वात्, राजवशवर्तिनानाऽभिप्रायभृत्यवर्गवत् । अथवा–व्यवहारिण इवोदासीनवशवर्तिन । इदमुक्तं भवति–यथा नयदर्शिना आकासारेण एकेन यद्दा विरोधाऽभिनिविष्टमनाः–

---

* प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे ।

पन्ना बहवोऽपि भृत्याः सम्यगुपायतो विरोधाऽऽदिकारणान्यपनीय एकत्र मीलयन्ते, सत्प्रवृत्तिं च कार्यन्ते; यथा वा धनधान्यभूम्याद्यर्थे परस्पर विवदमाना बहवोऽप्यर्थिप्रत्यर्थिलक्षणा व्यवहारिण. सम्यग् न्यायदर्शिना केनाऽप्युदासीनेन युक्तिभिर्विवादकारणान्यपनीय मील्यन्ते, सन्मार्गे च ग्राह्यन्ते, तथेहापि परस्परविरुद्धान्यहूनपि नयान् सम्यग्ज्ञानी जैनसाधुस्तेषां सावधारणतालक्षणं विरोधकारणमपनीय एकत्र मीलयति, सावधारणत्वे च मिथ्यात्वकारणेऽपनीते तान् सम्यग्रूपतां ग्राहयति । प्रचुरविषलवा अपि हि प्रौढमन्त्रवादिना निर्विषीकृत्य कुष्ठाऽऽदिरोगिणो दत्ता अमृतरूपतां प्रतिपद्यन्त एवेति ॥२२६७॥

प्रत्येकावस्थायामेकैकांशग्राहित्वात्समुदिता अपि कथं ते वस्तुगमकाः ?, इत्याह–

देसगमगत्तणाओ, गमग च्चिय वत्थुणो सुयाऽऽइ व्व ।
सव्वे समत्तगमगा, केवलमिव सम्मत्तावम्मि ॥२२६८॥

इह नया वस्तुनस्तावत्सामान्येन गमका अवबोधका', प्रापका इति पक्ष , तद्देशगमकत्वात् । ननु वस्तुनो देशमात्रमेव प्रत्येकममी गृह्णन्ति, तत्कथ वस्तुगमका उच्यन्ते ?, इत्याह–श्रुताऽऽदिवत् । इदमुक्त भवति-घटाऽऽदीनां रूपमात्रमेव चक्षुर्गृह्णाति, न रसाऽऽदिधर्मान्; पर्वताऽऽदीनां चार्वाग्देशमात्रमेव गृह्णाति, न परभागमिति । एव देशग्राहकमपि सद्वस्तु गमयत्येव, एवं नया अपि । किञ्च–एत एव सर्वे नया. मिथ्यात्वापगमेन सम्यक्त्वसद्भावे क्रमेण विशुद्ध्यमाना सर्वाऽऽवरणप्रतिबन्धाभावात्समस्तवस्तुगमका भवन्ति, केवलज्ञानमिवेति ॥२२६८॥

आह–ननु यदि ते प्रत्येकमपि वस्तुगमकाः, तर्हि मिथ्यादृष्टय. कथम् ?, इत्याह–

जमणेगधम्मणो व–त्थुणो तदंसे च सव्वपमिवत्ती ।
अंध व्व गयात्रयवे, तो मिच्छदिट्ठिणो वीसुं ॥२२६९॥

यद्यस्मादनेकधर्मस्यानेकधर्माऽऽत्मकस्य वस्तुनस्तदंशेऽपि गृहीतेऽनित्यत्वादेकधर्ममात्रेऽपि परिच्छिन्ने बौद्धाऽऽदेर्नयवादिनः " समस्त वस्तु मया गृहीतम् " इत्येवभूता प्रतिपत्तिर्भवति; ततस्तस्माद्भिन्नकपृथगेकैकशो मिथ्यादृष्टयः, विपर्यस्तबुद्धित्वात्, एकस्मिन्पुच्छपादाऽऽद्यवयवे समस्तगजप्रतिपत्तारोऽन्धा इवेति ॥ २२६९ ॥

समुदिता अपि तर्हि कथ ते सम्यग्दृष्टय. ?, इत्याह–

जं पुण समत्तपज्जा–यवत्थुगमग त्ति समुदिया तेणं ।
सम्मत्तं चक्खुमओ, सव्वगयावयवगहणे व्व ॥२२७०॥

यस्मात् तु समुदिता नया. समस्तपर्याया यस्य वस्तुनः, तत्समस्तपर्याय वस्तु, तस्य गमकाः प्रापकाः भवन्ति । तेन ते सम्यक्त्व सम्यग्वादिनो व्यपदिश्यन्ते । यथा समस्तगजावयवग्रहणे सर्वगजावयवसमुदायाऽऽत्मकगजवादिनश्चक्षुष्मन्त. । निरवधारणोऽपरनयसापेक्षः स्यात्पदलाञ्छित एकोऽपि नयः सम्यग्वादी, ये तु सावधारणा अन्योन्यमनपेक्षाः स्यात्पदलाञ्छिता. ते बहवोऽपि समुदिता मिथ्यादृष्टय एवेतीह तात्पर्यम् । अत एव ये सावधारणास्ते बहवोऽपि समुदितव्यपदेशं न लभन्ते, तत्त्वतस्तेषामसमुदितत्वात् । निरवधारणास्तु नया. पृथगपि स्थिताः परस्पर सापेक्षत्वेन समुदिता भण्यन्त इति ॥ २२७० ॥

दृष्टान्तान्तरेणाऽपि समुदितानां समस्तवस्तुगमकत्व समर्थयन्नाह–

न समत्तवत्थुगमगा, वीसुं रयणाऽऽवलीएँ मणओ व्व ।
सहिया समत्तगमगा, मणओ रयणाऽऽवलीए व्व ॥२२७१॥

न समस्तवस्तुगमकाः पृथग्भूता नयाः, परस्परनिरपेक्षत्वात्, पृथक्स्थितरत्नावलीव्यपदेशानर्हमणय इव । त एव समुदिता' समस्तवस्तुगमका', यथास्थानविनियोगेन परस्परसापेक्षत्वात्, एकसूत्रक्रमप्रोतरत्नावलीमणय इवेति ॥ २२७१ ॥

अथ परस्परं विवदमानान्नयान्समीक्ष्य ये मुह्यन्ति, ' न किञ्चिदिह परस्परं मिलति' इत्यादि जल्पतः समयाऽऽशातनां च कुर्वन्ति, तदुपदेशगर्भमुपसहरन्नाह–

एवं सविसयसच्चे, परविसयपरंमुहत्तए नाउं ।
नेएसु न संमुज्झइ, न य समयाऽऽसायणं कुणइ ॥२२७२॥

एवमुक्तप्रकारेण यो यस्य द्रव्यास्तिकायाऽऽदिनयस्याऽऽत्मीयो नित्यत्वाऽऽदिको विषयस्तन्मात्रप्रतिपादने सत्योऽवितथो नय., परस्य तु पर्यास्तिकाऽऽदिनयस्य योऽनित्यत्वाऽऽदिको विषयस्तत्र पराङ्मुखः, न तं निराकरोति, निरवधारणत्वेन सम्यग्नयत्वात्, नाऽपि तं स्थापयति, नयत्वेनैकांशग्राहित्वादित्यर्थः । एवभूतान् सर्वानपि नयान् ज्ञात्वाऽन्योऽन्यरूपतया तेषा स्वविषयप्रतिपादनेऽपि नयविधिज्ञ. साधुर्ज्ञेयेषु वस्तुषु न संमुह्यति, न दोलायमानमानसो भवति । नाऽपि निन्दाऽऽदिभि समयाऽऽशातनां विधाय मिथ्यात्वमुपगच्छति, किं तु ' कथञ्चिदेतदप्यस्ति, कथञ्चिदिदमपि च घटते ' इत्यादिरूपतया नयान्विषयविभागेन व्यवस्थाप्य वस्त्वर्थं गमयतीति ॥२२७२॥ विशे० । उत्त० । स्था० ।

(२५) वस्तुनिबन्धनाऽध्यवसायनिमित्तव्यवहारमूलकारणतामनयोः प्रतिपाद्याधुनाऽध्यारोपितानध्यारोपितनामस्थापनाद्रव्यभावनिबन्धनव्यवहारनिबन्धनतामनयोरेव प्रतिपादयन्नाहाऽऽचार्यः–

नामं ठवणा दविए, तिएसु दव्वट्ठियस्स निक्खेवो ।
भावो उ पज्जवट्ठिअ–परूवणा एस परमत्थो ॥ ६ ॥

(नामं ठवणेत्यादि) अस्यात्र समुदायार्थः–नामस्थापनाद्रव्यमित्येष द्रव्यार्थिकस्य निक्षेपः । भावस्तु पर्यायार्थिकनिरूपणाया निक्षेप इत्येष परमार्थ. । सम्म० १ काण्ड । (नामाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने । नामस्थापनाद्रव्यभावनयानां स्वस्वस्थाने मतानि)

तदेवं नामाऽऽदिनयानां परस्परविप्रतिपत्तिमुपदर्श्योपसंहारपूर्वकं मिथ्येतरभाव दर्शयितुमाह–

एवं विवयंति नया, मिच्छाऽभिनिवेसओ परोप्परओ ।
इयमिह सव्वनयमयं, जिणमयमणवज्जमच्चतं ॥ ७२ ॥

एवमुक्तप्रकारेण परस्परतो मिथ्याभिनिवेशाद् विवदन्ते विवाद कुर्वन्ति नामनयाऽऽदयो नयाः । ततश्च मिथ्यादृष्टय एते, असंपूर्णार्थग्राहित्वात्, गजगात्रभिन्नदेशसंस्पर्शने बहुविधविवादमुखरजात्यन्धवृन्दवत् । यदि नामैते मिथ्यादृष्टय., तर्हि निर्मिथ्यं किम् ?, इत्याह–इदमिहैव लोके वर्तमानमनुभवप्रत्यक्षसिद्धं जिनमतं जैनाऽभ्युपगमरूपम् । कथभूतम् ?, सर्वनयमय निःशेषनयसमूहाभ्युपगमानिर्वृत्तम्, अत्यन्तमनवद्यं नामाऽऽदिनय परस्परोद्भाविताऽविद्यमाननिःशेष–

द्योषम, सम्पूर्णाऽर्थग्राहित्वात्, चक्षुष्मतां समन्तात् समस्तहस्तिशरीरदर्शनोल्लापवत् ॥ इति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

तथा च सम्पूर्णाऽर्थग्रहरूपं जिनमतमेव दर्शयति–

नामाऽऽइभेअसद्द–त्थबुद्धिपरिणामभावओ निययं ।
जं वत्थुमत्थि लोए, चउपज्जाय तयं सव्वं ॥ ७३ ॥

घटपटाऽऽदिकं यत् किमपि वस्त्वस्ति लोके,तत् सर्वं प्रत्येकमेव नियतं निश्चितं चत्वारः पर्याया नामाऽऽकारद्रव्यभावलक्षणा यत्र तच्चतुष्पर्यायम्; न पुनर्यथा नामाऽऽदिनयाः प्राहुः, यथा–केवलनाममय वा, केवलाऽऽकाररूपं वा, केवलद्रव्यनाश्लिष्टं वा, केवलभावाऽऽत्मकं वेति भावः । कुतश्चतुष्पर्यायमेव ?, इत्याह–(नामादिभेअ इत्यादि) नामाऽऽदिभेदेष्वेकत्वपरिणतिसंवलितनामाऽऽकार–द्रव्य–भावेष्वेवेत्यर्थः । शब्दश्चाऽर्थश्च बुद्धिश्च शब्दाऽर्थबुद्धयस्तासां परिणामस्तस्य भावः सद्भावस्तस्मात्,नामाऽऽदिभेदेषु समुदितेष्वेव योऽयं शब्दाऽर्थबुद्धीनां परिणामसद्भावस्तस्माद्धेतोः सर्वं चतुष्पर्यायं वस्त्विति अर्थः । प्रयोगः– यत्र शब्दार्थबुद्धिपरिणामसद्भावः, तत् सर्वं चतुष्पर्यायम्, चतुष्पर्यायत्वाभावे शब्दाऽऽदिपरिणामभावोऽपि न दृष्टः, यथा शशशृङ्गे, तस्माच्छब्दाऽऽदिपरिणामसद्भावे सर्वत्र चतुष्पर्यायत्वं निश्चितमिति भावः । इदमुक्तं भवति–अन्योऽन्यसवलितनामाऽऽदिचतुष्टयाऽऽत्मन्येव वस्तुनि घटाऽऽदिशब्दस्य तदभिधायकत्वेन परिणतिर्दृष्टा, अर्थस्याऽपि पृथुबुध्नोदराऽऽद्याकारस्य नामाऽऽदिचतुष्टयाऽऽत्मकतयैव परिणामः समुपलब्धः, बुद्धेरपि तदाकारग्रहणरूपतया परिणतिस्तदात्मन्येव वस्तुन्यवलोकिता । न चेदं दर्शनं भ्रान्तम्, बाधकाऽभावात् । नाऽप्यदृष्टाऽऽशङ्कयाऽनिष्टकल्पना युक्तिमती, अतिप्रसङ्गात्, न हि दिनकराऽस्तमयोदयोपलब्धरात्रिन्दिवाऽऽदिवस्तूनां बाधकसम्भावनयाऽन्यथात्वकल्पना सङ्गतिमावहति । न चेहाऽपि दर्शनाऽदर्शने विहायाऽन्यद् निश्चायकं प्रमाणमुपलभामहे, तस्मादेकत्वपरिणत्यापन्ननामाऽऽदिभेदेष्वेव शब्दाऽऽदिपरिणतिदर्शनात् सर्वं चतुष्पर्यायं वस्त्विति स्थितम् । इति गाथाऽर्थः ॥ ७३ ॥

आह–ननु यदि नामाऽऽदिचतुष्पर्यायं सर्वं वस्तु, तर्हि किं नामाऽऽदीनां भेदो नास्त्येव ?, इत्याह–

इय सव्वभेअसंघा–यकारिणो भिन्नलक्खणा एते ।
उप्पाया इति ज पि व, धम्मा पइवत्थुमाउज्जा ॥ ७४ ॥

इत्येवं ये पूर्वं भिन्नलक्षणा भिन्नस्वरूपा धर्मा नामाऽऽदय उक्ताः, ते प्रतिवस्त्वायोज्या आयोजनीया इति सम्बन्धः । कथम्भूताः सन्तः ?, इत्याह–भेदश्च सङ्घातश्च भेदसङ्घातौ, सर्वस्य स्वाऽऽश्रयभूतवस्तुनो भेदसङ्घातौ, तौ कर्तुं शीलं येषां ते सर्वभेदसङ्घातकारिणः, निजाऽऽश्रयस्य सर्वस्याऽपि वस्तुनः कथञ्चिद् भेदकारिणः,कथञ्चिदभेदकारिण इत्यर्थः । तथाहि–केनचिदिन्द्र इत्युच्चरिते अन्यः प्राऽऽह–किमनेन नामेन्द्रो विवक्षितः, आहोस्वित् स्थापनेन्द्रः, द्रव्येन्द्रः, भावेन्द्रो वा ?। नामेन्द्रोऽपि द्रव्यतः किं गोपालदारकः, हालिकदारकः, क्षत्रियदारकः, ब्राह्मणदारकः, वैश्यदारकः, शूद्रदारको वा ? इत्यादि । तथा क्षेत्रतोऽपि नामेन्द्रः किं भारतः, ऐरवतः, महाविदेहजो वा ?, इत्यादि । कालतोऽपि किमतीतकालसंभवी, वर्तमानकालभावी, भविष्यन् वा ? इत्यादि, अतीतकालभाव्यपि किमितोऽनन्तसमयभावी, असङ्ख्याततमसमयभावी, सङ्ख्याततमसमयभावी वा ?, इत्यादि । भावतोऽपि किं कृष्णवर्णः, गौरवर्णः, दीर्घः, मन्थरो वा ? इत्यादि । तदेवमेकोऽपि नामेन्द्रस्याऽऽश्रयभूतोऽर्थस्तावद् द्रव्य–क्षेत्रकालभावभेदाऽधिष्ठितोऽनन्तभेदत्वं प्रतिपद्यते । तथा स्थापना-द्रव्य-भावाऽऽश्रयस्याऽप्युक्ताऽनुसारतः प्रत्येकमनन्तभेदत्वमनुसरणीयम् । इत्येवमेते नामाऽऽदयो भेदकारिणः । अभेदकारिणस्तर्हि कथम् ?,इति चेत् । उच्यते–यदैकस्मिन्नपि वस्तुनि नामाऽऽदयश्चत्वारोऽपि प्रतीयन्ते, तदाऽभेदविधायिनः । तथाहि–एकस्मिन्नपि शचीपत्यादौ 'इन्द्र' इति नाम, तदाकारस्तु स्थापना, उत्तरावस्थाकारणत्वं तु द्रव्यत्वम्, दिव्यरूप–सम्पत्तिकुलिशधारण–परमैश्वर्याऽऽदिसंपन्नत्वं तु भाव इति चतुष्टयमपि प्रतीयते । तस्मादेवं सर्वस्य स्वाऽऽश्रयभूतस्य वस्तुनो भेदसङ्घातकारिणो भिन्नलक्षणा एते नामाऽऽदयो धर्मा उत्पादव्ययध्रौव्यत्रिकवत् प्रतिवस्तु आयोजनीयाः परस्पराऽविनाभाविनः प्रतिवस्तु द्रष्टव्या इति तात्पर्यम् । इति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

" नत्थि नएहिँ विहूणं, सुत्तं अत्थो अ जिणमए किंचि ।
आसज्ज उ सोयारं, नए य विसारओ बूया " ॥ १ ॥

इति वचनाज्जिनमते सर्वं वस्तु प्रायो नयैर्विचार्यते,
अतो नामस्थापनाऽऽदीनपि प्रस्तुतान्
नयैर्विचारयन्नाह–

नामाऽऽइतियं दव्व–ट्ठियस्स भावो य पज्जवनयस्स ।
संगहववहारा पढ–मगस्स सेसा य इयरस्स ॥ ७५ ॥

एतेषु नामाऽऽदिषु मध्ये नामस्थापना–द्रव्यनिक्षेपत्रयं द्रव्यास्तिकनयस्यैवाऽभिमतं, न पर्यायास्तिकस्य, नामाऽऽदिनिक्षेपत्रयस्य विवक्षितभावशून्यत्वात्, पर्यायास्तिकस्य तु भावग्राहित्वादिति । भावो भावनिक्षेपः पुनः पर्यायास्तिकनयस्याऽभिमतो नेतरस्य, तस्य द्रव्यमात्रग्राहित्वेन भावाऽनवलम्बित्वादिति । आह–ननु नया नैगमाऽऽदयः प्रसिद्धाः, ततस्तैरेवाऽस्य विचारो युज्यते, अथ तेऽत्रैव द्रव्य–पर्यायास्तिकनयद्वयेऽन्तर्भवन्ति, तर्ह्युच्यतां कस्य कस्मिन्नन्तर्भावः ?, इत्याशङ्क्याऽऽह–(संगहेत्यादि) नैगमस्तावत् सामान्यग्राही संग्रहेऽन्तर्भवति, विशेषग्राही तु व्यवहारे, संग्रहव्यवहारौ तु प्रस्तुतनयद्वयस्य मध्ये प्रथमकस्य द्रव्यास्तिकस्य मतमभ्युपगच्छतः द्रव्यास्तिकमतेऽन्तर्भवत इति तात्पर्यम् । शेषास्तु ऋजुसूत्राऽऽदय इतरस्य द्वितीयस्य पर्यायास्तिकस्य मतमभ्युपगच्छन्तोऽत्रैवाऽन्तर्भवन्तीति हृदयम् । आचार्यसिद्धसेनमतेन चेह ऋजुसूत्रस्य पर्यायास्तिकेऽन्तर्भावो दर्शितः, सिद्धान्ताऽभिप्रायेण तु संग्रहव्यवहारवद् ऋजुसूत्रस्याऽपि द्रव्यास्तिक एवान्तर्भावो द्रष्टव्यः । तथा चोक्तं सूत्रे–" उज्जुसुयस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ एगं दव्वावस्सयं पुहत्तं नेच्छइ " इति ।

[अस्याऽर्थः –ऋजुसूत्रस्यैकोऽनुपयुक्त आगमत एकं द्रव्यावश्यकं पृथक्त्वं नेच्छति । अनुयोगद्वारसूत्रस्योऽयं पाठः । तट्टीका चेयम्–" उज्जुसुयस्सेत्यादि "–ऋजु अतीताऽनागतपरकीयपरिहारेण प्राञ्जलं वस्तु सूत्रयत्यभ्युपगच्छतीति ऋजुसूत्रः, अयं हि वर्तमानकालभाव्येव वस्तु अभ्युपगच्छति, नाऽतीतम्, विनष्टत्वात्; नाऽप्यनागतम्, अनुत्पन्नत्वात्, वर्तमानकालभाव्यपि स्वकीयमेव मन्यते, स्वकार्यसाधकत्वा-

त्, स्वधनवत्, परकीयं तु नेच्छति, स्वकार्याऽप्रसाधकत्वात्, परधनवत् । तस्मादेको देवदत्ताऽऽदिरनुपयुक्तोऽस्य मते आगमत एकं द्रव्याऽऽवश्यकमिति । " पुहत्तं नेच्छइ त्ति " अतीताऽनागतभेदतः परकीयभेदतश्च पृथक्त्वं पार्थक्यं नेच्छत्यसौ, किं तर्हि ?, वर्तमानकालीनं स्वकमेव वाऽभ्युपैति, तच्चैकमेवेति ।]

तदनेनाऽस्य द्रव्यवादित्वं दर्शितम्, इति कथं पर्यायास्तिकेऽन्तर्भावः स्यात् ? । इति गाथाऽर्थः ॥ ७५ ॥

आह-ननु सङ्ग्रहाऽऽदिनया नामनिक्षेपं सर्वमप्येकत्वेनेच्छन्ति; भेदेन वा ?, एवं स्थापनाऽऽदिनिक्षेपेष्वपि प्रत्येकं वक्तव्यम्, इत्याशङ्क्याऽऽह-

जं सामन्नग्गाही, संगिएहइ तेण संगहो नियमं ।
जेण विसेसग्गाही, ववहारो तो विसेसेइ ॥ ७६ ॥
सद्दुज्जुसुया पज्जा-यवायगा भावसंगहं वेंति ।
उवरिमया विवरीआ, भावं भिंदंति तो नियमं ॥ ७७ ॥

यद् यस्मात् कारणात् सङ्ग्रहनयः सामान्यग्राही सामान्यवादी, तेन कारणेन सङ्गृह्णात्येकत्वेनाऽध्यवस्यति प्रत्येकं त्रितयं नामस्थापनाद्रव्यनिक्षेपलक्षणं यानि कानिचिद् नाममङ्गलानि तत् सर्वमप्येकं नाममङ्गलम्, तथा स्थापनामङ्गलान्यशेषाण्यप्येकं स्थापनामङ्गलम्, एवं द्रव्यमङ्गलान्यपरिशिष्टान्यप्येकं द्रव्यमङ्गलमित्यर्थः । व्यवहारनयस्तु येन कारणेन विशेषग्राही, ततो नामाऽऽदिनिक्षेपान् विशेषयति भेदेनेच्छति-नाममङ्गलानि सर्वाण्यपि पृथक् नाममङ्गलत्वेनेच्छति, एवं स्थापनाऽऽदिनिक्षेपेष्वपि वाच्यम् ॥ ७६ ॥ (सद्दुज्जुसुयेत्यादि) शब्दर्जुसूत्रनयौ पुनः पर्यायैरेकार्थभिन्नाऽभिधानैर्वस्तु वक्तुं शीलं ययोस्तौ पर्यायवाचिनौ सन्तौ नामस्थापनाद्रव्यनिक्षेपपरिहारेणैकस्यैव भावस्य भावनिक्षेपस्य सङ्गृहीतिः सङ्ग्रहोऽभिन्नत्वमेकत्वं भावसङ्ग्रहस्तं ब्रूतः प्रतिपादयतः । इदमुक्तं भवति-ऋजुसूत्रशब्दनयौ पूर्वनयेभ्यो विशुद्धत्वाद् नाम-स्थापना-द्रव्यनिक्षेपं तावद् नेच्छतः, किन्त्वेकमेव भावनिक्षेपमभ्युपगच्छतः, केवलं समभिरूढैवम्भूतनयाऽपेक्षयाऽविशुद्धत्वाद् विभिन्नाऽनेकपर्यायाऽभिधेयत्वेऽपि भावनिक्षेपस्य सङ्ग्रहमेकत्वमेव प्रतिपद्यते, न भिन्नत्वमिति भावः । ततश्चैतन्मतेन यदेव मङ्गलशब्दवाच्यं भावमङ्गलं प्रत्यूहोपशमकाऽनिष्टविघातकृद् विघ्नापहरणाऽऽदिशब्दानामपि तदेव वाच्यम्, न भिन्नम्, इति तात्पर्यम् । (उवरिमया विवरीआ इत्यादि) उपरितनौ तु समभिरूढैवम्भूतौ नयौ ऋजुसूत्रशब्दनयाऽपेक्षया विपरीतौ भिन्नाऽनेकपर्यायाऽभिधेयस्य भावस्यैकत्वं नेच्छतः, किन्तु भिन्नत्वमभ्युपगच्छतः । तथाहि-समभिरूढमतेनाऽन्यदेव मङ्गलशब्दवाच्यं भावमङ्गलम्, अन्यच्च प्रत्येकं प्रत्यूहोपशमकाऽऽदिपर्यायवाच्यम् । एवम्भूतस्याऽप्येवमेव, केवलमयं पूर्वस्माद् विशुद्धत्वादेकपर्यायाभिधेयमपि भावमङ्गलं भावमङ्गलकार्यं कुर्वदेव मन्यते, नाऽन्यदा, यथा धर्मोपकरणाऽन्वितः सम्यक् चारित्रोपयोगे वर्त्तमानः साधुरिति । तदेवमृजुसूत्रशब्दनयाऽभ्युपगमापेक्षया विपरीताऽभ्युपगमपरत्वाद् विपरीतावेतौ (तो त्ति) तस्माद् भावं भावमङ्गलाऽऽदिकमर्थं नियतं निश्चितं पर्यायभेदाद् भिन्त-भेदेनेच्छत इत्यर्थः । यदि हि पर्यायभेदेऽपि वस्तुनो न भेदः, तर्हि घट-पटाऽऽदीनामपि स न स्यादित्यादियुक्तेः पर्यायभेदेन भिन्नमेव भावमङ्गलमभ्युपगच्छत इति भावः । इति गाथाद्वयाऽर्थः ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ विशे० ।

(२६) परस्पर द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ-

तत्क्षणक्षयप्रधाने प्रत्यक्षाऽऽदेः प्रमाणस्यानवतारात्साधकत्वेन च तस्यैकत्वाध्यवसायिनः प्रवृत्तिप्रतिपादनाद् न पर्यायास्तिकाभिमतपूर्वापरक्षणविविक्तमध्यक्षणमात्रं वस्तु, किं त्वतीताऽनागतपर्यायाऽऽधारमेकं द्रव्यं वास्तिवति द्रव्यार्थिकनिक्षेपः सिद्धः, द्रव्यं वा न भूतपर्यायमनुभविष्यत्, पर्यायं चैकमेव, तेनाऽनुभूतपर्यायशब्देन तत्कदाचिदभिधीयते, कदाचित्त्वानुभविष्यत्पर्यायशब्देन, यथाऽतीतघृतसम्बन्धो घटो घृतघट इत्यभिधीयते, भविष्यत्तत्सम्बन्धोऽपि तथैवाभिधानगोचरचारी, शुद्धतरपर्यायास्तिकेन च निराकारस्य ज्ञानस्याऽर्थग्राहकत्वाऽसम्भवात्, साकारस्य ज्ञानार्थग्राहकत्वासम्भवात् साकारं ज्ञानमभ्युपगत, तत्स्वेदनमेव वाऽर्थसंवेदनं ज्ञानाऽनुभवव्यतिरेकेणाऽपरस्याऽर्थानुभवस्याभावाद् घटोपयोग एव घटः, तन्मतेन तत्पर्यायेणाऽतीतेन परिणंस्यद्वा द्रव्यं तच्छब्दवाच्यं द्रव्यार्थिकमतेन व्यवस्थित पूर्ववत्, अत एव घटाऽऽद्यर्थाभिन्नस्तत्र चानुपयुक्तो द्रव्यमिति प्रतिपादितो द्रव्यार्थिकनिक्षेपश्च, द्रव्यमागमे वाच्यमनेकधा प्रतिपादितम्, इह तु युक्तिसस्पर्शमात्रमेव प्रदर्श्यते । तदर्थत्वात्प्रयासस्य । भवति विवक्षितवर्तमानसमयपर्यायरूपेणोत्पद्यत इति भावः "विभाषा ग्रह." ॥ ३ । १ । १४३ ॥ (पाणि०) इत्यत्र सूत्रे केचिद्भवनेश्चेत्यपीष्यते । अथवा-भूतिर्भावो वज्रकिरीटाऽऽदिधारणवर्त्तमानपर्यायेण इन्द्राऽऽदिरूपतया वस्तुनो भवनं, तद्ग्रहणपर्यायेण वा ज्ञानस्य भवनं, यथा चाय पर्यायार्थिकप्ररूपणा तथा प्रदर्शित एव प्राक्, न पुनरुच्यते । एष एव नयनिक्षेपानुयोगः प्रतिपादितः, उभयप्रविभागः परमार्थः, परमं हृदयमागमस्यैतद्व्यतिरिक्तविषयत्वात्सर्वेनयवादानाम्, न हि शास्त्रपरमहृदयनयव्यतिरिक्तः कश्चिन्नयो विद्यते । सामान्यविशेषस्वरूपविषयद्वयव्यतिरिक्तविषयोऽन्तराभावाद्विषयिणोऽप्यपरस्य नयान्तरस्याभाव इति प्राक् प्रतिपादितम् ।

एतदपि नयद्वयं शास्त्रस्य परमहृदयम्-द्रव्यं पर्यायाशून्यं, पर्यायाश्च द्रव्याविरहिण इत्येवभूतार्थप्रतिपादनपरम्, नाऽन्यथेत्येतस्याऽर्थस्य प्रदर्शनार्थमाह-

पज्जवनिस्सामण्णं, वयणं दव्वट्ठियस्स अत्थि त्ति ।
अवसेसो वयणविही, पज्जवभयणा सपडिवक्खो ॥७॥

परस्परनिरपेक्षस्य नयद्वयस्य प्रत्येकमेव वचनविधिः-द्रव्यास्तिकस्यानुपक्तविशेषं वचनमस्तीत्येतावन्मात्रं पर्यायास्तिकस्य स्वपराभूतसत्त्वासत्त्वभावं द्रव्यं पृथिवी घटः शुक्ल इत्याद्याश्रितपर्यायं परस्परनिरपेक्षं चोभयनयवचोऽसदेव, वचनाथोसत्त्वाद्वचनमसदर्थमिति तदर्थस्याऽप्यसत्त्वमावेदितं भवतीति समुदायार्थः ।

अवयवार्थस्तु-पर्यायनयेन सह निःसामान्यमसाधारणं वचनं द्रव्यास्तिकस्याऽस्तीत्येतद् भेदवाद्यभ्युपगतस्य, विशेषस्य त्वनुरूपानुप्रवेशात्, एतच्च वचो निर्विषयं निर्विशेषत्वाद् वियत्कुसुमाऽभिधानवत् । "निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् शशविषाणवत् ।" इति प्रसाधितत्वात् नान्याप्ति, हेतोरसिद्धिः एतदभ्युपगमादेव परिहृता । तत्र । एकान्तभावनाप्रवृत्तस्य द्रव्यास्तिकनयस्य परमार्थिता, पर्यायास्तिकस्याऽप्येवप्रवृत्तस्य न सेति

पश्चार्द्धेन प्रतिपादयति-अवशेष इति शेषः, स चोपयुक्तादन्य ; वचनविधिर्वचनभेदः सत्ताविकल्पविशेषप्रतिपादकः पर्यायेषु सत्ताव्यतिरिक्तेष्वसत्सु प्रजनात् सत्ताया आरोपणात्,सत्प्रतिपक्ष इति-सतः प्रतिपक्षो विरोध्यसन् भवति ॥ तथाहि-प्रतिपादको वचनविधिरवस्तुविषयो, निःसामान्यत्वात्, खपुष्पवत् । भावना तु द्रव्यार्थिकवचनविपर्ययेण प्रयोगस्य कार्या । अथवा-अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया इत्यनयोः स्वरूपमभिधायाभिधानस्य द्रव्यास्तिकस्वरूपस्य तदभिधायकस्य प्रतिपादनार्थमाह-(पज्जवणिस्सामण्णमित्यादि) पर्यायाभिष्क्रान्तं तद्विकल्प, सामान्य सग्रहस्वरूप यस्मिन् वचने तत्पर्यायनि.सामान्य वचनम् । किं पुनस्तदित्याह-अस्तीति,तच्च द्रव्यार्थिकस्य रूप,प्रतिपादक वा । यद्वा-पर्यायश्चजुसूत्रनयविषयादन्यो द्रव्यत्वाऽऽदिविशेष.,स एव च निश्चित सामान्यं वचनं, द्रव्यत्वाऽऽदिसामान्यविशेषाऽभिधायीति यावत् । तच्चाशुद्धद्रव्यार्थिकसबन्धि, तत्प्रतिपादकत्वेन तत्स्वरूपत्वेन वा अवशेषो वचनविधिर्वर्णपद्धति., स प्रतिपक्षोऽस्य वचनस्य पर्यायार्थिकनयरूपः, तत्प्रतिपादको वा पर्यायमेव, अन्यथा कथमवशेषवचनविधि. स्यात्, यदि विशेष नाऽभ्येत् ? ।

एवं तावद् द्रव्यार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्यानेकान्तभावाभावतयैवैषां सत्यता नान्यथेत्प्रतिपादनार्थं ज्ञानानेकान्तमेव तावदाह-

पज्जवणयवोक्कंतं, वत्थुं दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं ।

जाव दविओवओगो, अपच्छिमवियप्पनिव्वयणो ॥८॥

द्रव्यास्तिकस्य वक्तव्यं परिच्छेद्यो विषयो, निश्चयकर्तृवचनं च विकल्पनिर्वचन, विद्यते पश्चिमं यस्मिन् विकल्पनिर्वचने तत्तथा, तत. पर विकल्पवचनाप्रवृत्तेः, यावदपश्चिमविकल्पनिर्वचनो द्रव्योपयोग. प्रवर्तते, तावद् द्रव्यार्थिकस्य विषयो वस्तुतत्त्वपर्यायाऽऽक्रान्तमेव । अन्यथा ज्ञानार्थयोरप्रतिपत्तेरसत्त्वप्रसक्ति. । न हि पर्यायानाक्रान्तसत्तामात्रसद्भावग्राहक प्रत्यक्षमनुमान वा प्रमाणमस्ति, द्रव्याऽऽदिपर्यायाऽऽक्रान्तस्यैव सर्वदा सत्तारूपस्य ताभ्यामवगते. । यद्वा-यद्वस्तु सूक्ष्मतरतमाऽऽदिबुद्धिना पर्यायनयेन स्थूलरूपत्यागेनोत्तरतत्सूक्ष्मरूपाऽऽश्रयणाद् व्युत्क्रान्त गृहीतत्यक्तम्, यथा किमिदभूतसामान्य घटाऽऽदिभिर्विना प्रतिपत्तिविषय , तावत् शुक्लतमरूपस्वरूपोऽन्यो विशेष एव, न द्रव्यार्थिकस्य वस्तुविषयो, यतो यावदपश्चिमविकल्पनिर्वचनोऽन्यो विशेषस्तावद् द्रव्योपयोगो द्रव्यज्ञान प्रवर्तते । न हि द्रव्याऽऽदयो विशेषान्ता. सदादिप्रत्यया विशिष्टैकान्तव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यतया प्रतीयन्ते, तथाऽप्रतीयमानास्तथाऽभ्युपगमार्हा , अतिप्रसङ्गात् ।

तदेव न सत्ता विशेषविरहिणी, नाऽपि विशेषाः सत्ताविकला इति प्रदर्श्योपसहरन्नाह-

दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा, नत्थि णओ नियम सुद्धजाईओ ।

न य पज्जवट्ठिओ णा-म को य भयणाय उ विसेसो ॥ ९ ॥

तस्माद् द्रव्यार्थिक इति नय. शुद्धजातीयो विशेषविनिर्मुक्तो नास्ति नियमेनेत्यवधारणार्थं , विषयाभावेन विषयिणोऽप्यभावात् । न च पर्यायार्थिकोऽपि कश्चिन्नयो नामेति प्रसिद्धोऽर्थो नियमेन शुद्धस्वरूप सभवति, सामान्यविकलात्यन्तव्यावृत्तविशेषविषयाभावेन विषयिणोऽप्यभावात् । यदि विषयाभावादिमौ नयौ न स्त., यदुक्तम्-'तीर्थकरवचनसग्रह' इत्यादि, तद्विरुध्यते इत्याह-(भयणाय उ विसेसो त्ति) भजनायास्तु विवक्षाया एव विशेष इद द्रव्यमय पर्याय इत्ययं भेद', तथा तद्भेदाद्विषयिणोऽपि तथैव भेद इत्यभिप्राय. । भजना च सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुतत्त्वे उपसर्जनीकृतविशेष यदन्वयिरूपं तद्द्रव्यम् इति विवक्ष्यति यदा तदा द्रव्यार्थिकविषय., यदा तूपसर्जनीकृतान्वयिरूप तस्यैव वस्तुनो यदसाधारणं रूपं तद्विवक्ष्यते तदा पर्यायनयविषयस्तद्भवतीति ।

एवंरूपभजनाकृतमेव भेद दर्शयितुमाह-

दव्वट्ठियवत्तव्वं, अवत्थु णियमेण होइ पज्जाए ।

तह पज्जव वत्थु अव-त्थुमेव दव्वट्ठियनयस्स ॥ १० ॥

पर्यायास्तिकस्य द्रव्यास्तिकाभिधेयमस्तित्वमवस्त्वेव, भेदरूपापन्नत्वात्, द्रव्यास्तिकस्याऽपि पर्यायास्तिकाभ्युपगता भेदा अवस्तुरूपा एव भवन्ति, सत्तारूपाऽऽपन्नत्वात् । अतो भजनामन्तरेणैकत्र सत्ताया अपरत्र भेदाना नष्टत्वादिदं द्रव्यमेते च पर्याया इति नास्ति भेदः । न च प्रतिभासमानयोर्द्रव्यपर्याययो' कथ पर्यायास्तिकद्रव्यास्तिकाभ्या प्रतिक्षेपः कर्तव्यम् ?, यतः प्रतिभासोऽप्रतिभासस्य बाधकः, न तु मिथ्यात्वस्य, मिथ्यारूपस्यापि प्रतिभासनात् । तथाहि-पर्यायास्तिकः प्राऽऽह-न मया द्रव्यप्रतिभासो निषिध्यते, तस्याऽनुभूयमानत्वात्, किं तु विशेषव्यतिरेकेण द्रव्यस्याप्रतिभासनाद्व्यतिरेके तु व्यक्तिस्वरूपवत्तस्यामन्वयात्, उभयरूपतायाश्चैकत्र विरोधाऽऽदिगत्यन्तराभावाद् द्रव्याऽप्रतिभासस्तत्र मिथ्यैव, विशेषप्रतिभासस्त्वन्यथा, बाधकाभावात्, यत. प्रतिक्षणं वस्तुनो वृत्तेर्नाशोत्पादौ पर्यायलक्षण न स्थिति. । द्रव्यार्थिकस्तु भजनोत्थापितात्मरूपः प्राऽऽह-अस्माकमप्ययमेवाभ्युपगम , न विशेषप्रतिभासप्रतिक्षेप , किं तु तस्य भेदोभयविकल्पैर्बाध्यमानत्वाद् मिथ्यारूपतैव, अभेदप्रतिभासस्त्वनुत्पादव्ययलक्षणस्य द्रव्यतद्विषयसर्वदाऽवस्थितेरबाध्यमानत्वात् सत्य इति कल्पना ।

व्यवस्थापितपर्यायास्तिकद्रव्यास्तिकयोरेवलक्षणप्रदर्शितस्वरूपयोर्मिथ्यारूपताप्रतिपत्ति सुकरा भविष्यतीत्याह—

उप्पज्जंति वयंति अ, भावा नियमेण पज्जवणयस्स ।

दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥ ११ ॥

उत्पद्यन्ते प्रागभूत्वा भवन्ति,विशेषेण निरन्वयरूपतया व्रजन्ति गच्छन्ति नाशमनुभवन्ति भावा पदार्था नियमेन इति अवधारणे । पर्यायनयस्य मतेन प्रतिक्षणमुत्पादविनाशस्वभावा एव भावा पर्यायस्याऽभिमता , द्रव्यार्थिकस्य सर्वं वस्तु सदाऽनुत्पन्नमविनष्टम्,आकाल स्थितिस्वभावमेवेति मतम् । एतच्च नयद्वयस्याऽभिमतवस्तुकस्य सर्वं वस्तु सदाऽनुत्पन्नमिति प्राक् प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते ।

परस्परानिरपेक्षे च उभयनयप्रदर्शित वस्तु प्रमाणाभावतो न सभवतीत्याह-

दव्वं पज्जवविजुयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।

उप्पायट्ठिइभंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ॥ १२ ॥

द्रव्यं पर्यायविमुक्तं नास्ति. मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलाऽऽद्यनुगतमृत्सामान्यप्रतीते । द्रव्यविरहिताश्च पर्याया न सन्ति, अनुगतैकाऽऽकारमृत्सामान्यात् तु विरूपतया मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलाऽऽदीनां विशेषाणां प्रतिपत्ते । अतो द्रव्यार्थिकाभिमत वस्तु पर्यायाऽऽक्रान्तमेव,न तद्विविक्तं पर्यायाऽभिमतमपि द्रव्यार्थानुपक्तं तद्विकल,परस्परविविक्तयो कदाचिदप्यप्रतिभासनात् । कि-

भूतं पुनर्द्रव्यमस्ति ?, इत्याह-उत्पादस्थितिभङ्गा यथा व्यावर्णित-स्वरूपा. परस्पराविनिर्भागवर्तिन ,इन्दीत्युपप्रदर्शने । द्रव्यलक्षण द्रव्यास्तित्वव्यवस्थापको धर्म एव दृश्यताम्, यत. पूर्वोत्तर-पर्यायपरित्यागोत्पादाऽऽत्मकैका स्वय प्रतिपत्ति तथाभूतद्रव्य-सत्त्वं प्रतिपादयतीति उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षण वस्त्वभ्युपगन्त-व्यम् । एतच्च त्रितय परस्परानुविद्धम्, अन्यतमाभावे तदितर-योरप्यभावात् । सम्म० १ काण्ड ।

(२७) एते च परस्परसव्यपेक्षा द्रव्यलक्षणं न स्वतन्त्रा इति प्रदर्शनायाऽऽह-

एए पुण संगहओ, पाडिक्कमलक्खणं दुविएहं पि ।
तम्हा मिच्छद्दिट्ठी, पत्तेयं दो वि मूलणया ॥ १३ ॥

एते उत्पादादय संग्रहत. शिबिकोद्वाहिपुरुषा इव परस्परस्व-रूपोपादानेनैव लक्षण,प्रत्येकमेकका उत्पादादयो द्वयोरपि द्रव्या-स्तिकपर्यायास्तिकयोरलक्षणम्,उक्तवत्तथाभूततद्विषयाभावे त-द्ग्राहकयोरपि तथाभूतयोरभावात्, उत्पादादीनां च परस्प-राविनिक्तरूपाणामसम्भवात् । तस्मान्मिथ्यादृष्टी एव प्रत्येक परस्प-राविविक्तौ द्वावप्येतौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकस्वरूपौ मूलनयौ समस्तनयराशिकारणभूतस्योत्पादे ।

भवतु परस्परनिरपेक्षयोर्मिथ्यात्वम्, उभयनयाऽऽरब्ध-स्त्वेक· सम्यग्दृष्टिर्भविष्यतीत्याह-

ण य तइओ अत्थि णओ, ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्णं ।
जेण दुवे एगंता, विभज्जमाणा अणेगंता ॥ १४ ॥

न च तृतीय· परस्परसापेक्षोभयथाऽस्ति नय कश्चित्, तथाभू-तार्थस्यानेकान्ताऽऽत्मकत्वात्तद्ग्राहिण प्रत्ययस्य नयाऽऽत्मकत्वा-नुपपत्ते·। न च सम्यक्त्व न तयो प्रतिपूर्णम्, प्रतिषेधद्वयेन प्रकृ-तार्थविगतेः, अशेष हि प्रामाण्य सापेक्ष गृह्यमाणयोरेव विषय-योर्व्यवस्थितम्, येन द्वावप्येकान्तरूपतया व्यवस्थितौ मिथ्यात्व-निबन्धनतरपरित्यागेनान्वयव्यतिरेकौ विशेषेण परस्परात्याग-रूपेण भज्यमानौ गृह्यमाणावनेकान्तौ भवत इति सम्यक्त्वहेतु-त्वमेतयोरिति । एव सापेक्षद्वयग्राहिणो नयत्वानुपपत्तेस्तृती-यनयाभाव ।

प्रदर्शितनिरपेक्षग्राहिणा तु मिथ्यात्वं दर्शयितुमाह-

जह एए तह अण्णे, पत्तेयं दुण्णया णया अन्ने ।
हंदि हु मूलणयाणं, पण्णवणा वावडा ते वि ॥ १५ ॥

यथैतौ निरपेक्षद्वयग्राहिणौ मूलनयौ मिथ्यादृष्टी, तथा उभय-वादरूपेण व्यवस्थितानामपि परस्परनिरपेक्षत्वस्य मिथ्यात्व-निबन्धनस्य तुल्यत्वात् प्रत्येकमितरानपेक्षा अन्येऽपि दुर्नया.। न च प्रकृतनयद्वयव्यतिरिक्तनयान्तराऽऽरब्धत्वादुभयवादस्य न-यानामपि वैचित्र्यादन्यथाऽऽरोपयितुमशक्यत्वात् तद्रूपस्या-न्ये सम्यक् प्रत्यया भविष्यन्तीति वक्तव्यम्,यत इन्दीत्येव गृह्य-ताम्,हुरिति हेतौ,मूलनयद्वयपरिच्छिन्नवस्तुनि ये व्यापृतास्तेऽपि तद्विषयव्यतिरिक्तविषयान्तराऽभावात् सर्वनयवादाना च सा-मान्यविशेषोभयैकान्तविषयत्वात् तन्न नयान्तरसद्भाव·, यतस्त-दारब्धोऽभयवादे नयान्तर भवेत् ।

ननु सग्रहाऽऽदिनयसद्भावात् कथ तद्व्यक्तिनयान्तराभाव ?। सत्यम् । सन्ति संग्रहाऽऽदय·, किं तु तद्विषयव्यतिरिक्तविषया-न्तराभावतस्तदुदितयविषयास्तेऽपि तद्दूषणेनैव दूषिता यतो न मूलच्छेदे तच्छाखास्तदवस्था सभवन्तीत्याह-

सव्वणयसमूहम्मि वि, णत्थि णओ उभयवायपण्णवओ ।
मूलणयाण उ आणं, पत्तेयविसेसियं विंति ॥ १६ ॥

सग्रहाऽऽदिसकलनयसमूहेऽपि नास्ति कश्चिन्नय उभयवा-दप्ररूपक·, यतो मूलनयाज्ञामेव यत प्रतिज्ञातं वस्तु त-देवाऽऽश्रित्य प्रत्येकरूपाः सग्रहाऽऽदय· पूर्वपूर्वनयाधिगतांश-विशिष्टमशान्तरमधिगच्छन्तीति न विषयान्तरगोचर·।

अतोऽवस्थित परस्परात्यागप्रवृत्तसामान्यविशेषविषयसग्रहाऽऽ-द्यात्मकनयद्वयाधिगमाऽऽत्मकत्वात् वस्त्वप्युभयाऽऽत्मक न केवल बाह्यघटाऽऽदि वस्तु उभयात्मकं,तथाविधप्रमाणग्राह्यत्वा-त्,किन्त्वान्तरमपि, हर्षशोकभयकरुणौदासीन्याऽऽद्यनेकाऽऽका-रविवर्त्ताऽऽत्मकैकचेतनास्वरूपं तदात्मकहर्षाऽऽद्यनेकवि-काराऽनेकाऽऽत्मक च स्वसवेदनाध्यक्षप्रतीतं, तस्य भे-दैकान्तैकरूपताऽभ्युपगमे इष्टाऽनिष्टविषयसुखदुःख-साधनस्वीकारत्यागार्थप्रवृत्तिनिवृत्तिस्वरूप-सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरिति प्रतिपाद-यितुमाह—

ण य दव्वट्ठियपक्खे, संसारो णेव पज्जवणयस्स ।
सासयवियत्तिवाई, जम्हा उच्छेअवाईआ ॥ १७ ॥

द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयाऽभिमते वस्तुनि न ससारः सम्भवति, शाश्वतव्यक्तिप्रतिक्षणान्यत्वैकान्ताऽऽत्मकचैतन्यग्रा-हकाविषयीकृतत्वात्, पावकज्ञानविषयीकृते उदकवत् । तथा-हि-ससारः ससृतिः, सा चैकान्तनित्यस्य पूर्वावस्थापरित्यागे सति न सभवति;तत्परित्यागेनैव गतेर्भवान्तराऽऽपत्तेर्वा ससृते· संभवात् । नाऽप्युच्छेदे उत्पत्त्यनन्तरानिरन्वयध्वंसलक्षणे ससृतिः संभवति, गतेर्भावान्तरापत्तेर्वा कथञ्चिदन्वयिरूपमन्तरेणायो-गात् । अथैकस्य पूर्वापरशरीराभ्यां वियोगयोगौ ससारः, असावपि सदाऽविकारिणि न सम्भवति, नित्यस्य पूर्वाऽपरश-रीराभ्यां वियोगयोगाऽनुपपत्तेः । निरन्वयक्षणक्षयिणोऽप्येका-धिकरणत्वाऽसम्भवान्न तल्लक्षणः संसारः,न चाऽमूर्तस्याऽऽत्मनः सर्वगतैकमनोऽभिष्वक्तशरीरेण विशिष्टयोगयोगौ संसारो, म-नसोऽकर्तृकत्वेन शरीरसबन्धस्याऽनुपपत्ते·। यो ह्यदृष्टस्य वि-धाता स तन्निर्वर्तितशरीरेण सह सबध्यते, न चैव मनः। न च मनस· शरीरसबन्धेऽपि तत्कृतसुखदु खोपभोक्तृत्वमा-त्मनि तस्याऽपगमात्, तदर्थं च शरीरसबन्धोऽभ्युपगम्यत इति तत्सबन्धपरिकल्पन मनसो व्यर्थम्, मनसि सुखदु खो-पभोक्तृत्वाभ्युपगमे वा आत्मन कल्पनावैयर्थ्यम्, मनस आ-त्मसिद्ध· ॥ १७ ॥

सुहदुक्खसंपओगो, ण जुज्जई णिच्चवायपक्खम्मि ।
एगंतच्छेयम्मि वि, सुहदुक्खवियप्पणमजुत्तं ॥ १८ ॥

सुखेनाऽबाधस्वरूपेण , दुःखेन बाधनालक्षणेन , सम्प्र-योग सबन्धो, न युज्यते न घटते आत्मन·, नित्यवादपक्षे द्रव्यास्तिकाभ्युपगमे सुखस्वभावस्याऽविचलितरूपत्वात् सदा सुखरूपतैवाऽऽत्मनो न दुःखसम्प्रयोग·,दुःखस्वभावत्वे तद्रूपतैव, तत्त्वादेव,एकान्तोच्छेदे च पर्यायास्तिकपक्षे सुखदुःखसम्प्रयोगो न युज्यत इति सवन्ध·। तथा पक्षद्वयेऽपि सुखार्थं दुःखवि-योगार्थं च विशिष्टनयन कल्पतेरत्र यतनार्थत्वात्, अयु-क्तमघटमानक सुखदुःखोपादानत्यागार्थप्रयत्नस्याप्ययुक्तत्वम्, उक्तन्यायात् । ससरति निरुपभोगभावैरधिवासित लिङ्गमिति साङ्ख्यमतमपि निरस्तम्, न्यायस्य सर्वैकान्तसाधारणत्वात् ।

एकान्तपक्षे आत्मसुखदुःखोपभोगनिर्वर्तकशरीरसंबन्धहेत्वदृष्टोत्पादकनिमित्तानामप्यसंभवं दर्शयन्नाह-

कम्मं जोगनिमित्तं, बज्झइ बंधट्ठिई कसायवसा ।
अपरिणउच्छिण्णेसु य, बंधट्ठिइकारणं णत्थि ॥ १९ ॥

कर्मादृष्टं योगनिमित्तं मनोवाक्कायव्यापारनिमित्तं, बध्यते आदीयते, बध्यत इति बन्धोऽदृष्टमेव, तस्य स्थितिः कालान्तरफलदातृत्वेनाऽऽत्मन्यवस्थानम्, सा कषायवशात्क्रोधाऽऽदिसामर्थ्यात् । एतदुभयमप्येकान्तवाद्यभ्युपगते आत्मचैतन्यलक्षणे भावे अपरिणते उत्सन्ने च बन्धस्थितिकारणम्, नास्ति । न ह्यपरिणामिन्यत्यन्तानाधेयातिशये आत्मनि क्रोधाऽऽदयः संभवन्ति । नाऽप्येकान्तोत्सन्नेऽनुसन्धानविकले अहमनेनाक्रुष्ट इति द्वेषसंभवः । तथा चाऽन्य आक्रुष्टोऽन्यो व्यापृनोऽपरो बद्धोऽपरश्च मुक्त इति कुशलाऽकुशलकर्मगोचरप्रवृत्त्याद्यारम्भवैफल्यशक्तिः, न ह्येकसन्ततिनिमित्तोऽयं व्यवहारः, क्षणिकैकान्तपक्षे सन्ततिकल्पनाबीजभूतोपादानोपादेयभावस्यैवाऽघटमानत्वात् । न चेयमनुसन्धानप्रतिपत्तिः, मिथ्याद्वेषगर्वशाठ्यासन्तोषाऽऽदीनामन्योन्यविरुद्धस्वभावानां क्रमवर्तिनां चिद्विवर्तानां स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धानां तथा तथाऽनुभवितुश्च संशयविपर्यासादृढज्ञानागोचरीकृतस्यैकस्य चैतन्यस्यानुभवात् । न च बाधारहितानुभवविषयस्यापह्नवः, सुखाऽऽदेरप्यनुभवविषयस्यापह्नुतिप्रसङ्गात् । तथा च प्रमाणप्रमेयाऽऽदिव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः । यदपि मिथ्याऽध्यारोपहानार्थे यत्ने सत्यपि मोक्षरीत्युक्तं, तदप्यनेनैव प्रतिविहितम्, यथोक्तप्रतिपत्तेर्मिथ्यात्वासिद्धेः । न चाऽनुमाननिश्चितेऽर्थे आरोपबुद्धेरुत्पत्तिर्धूमनिश्चयावगतधूमध्वज इव । न च मिथ्याज्ञानस्य सहजत्वाद्विपरीतार्थोपस्थापकानुमानप्रवृत्तिः, तथाऽभ्युपगमे बोधसन्तानवत्तस्य सर्वदाऽनिवृत्तिरित्यनुमितिप्रसक्तिः, असहजं तु तत्त्वज्ञानप्रादुर्भावोऽवश्यं निवर्तते शुक्तिकावगमे रजतभ्रम इव, अनिवृत्तौ वा न प्रमाणबाधकं भवेत् । न च क्षणक्षयनिश्चये स एवाऽहमितिप्रत्ययो युक्तः, अपि तु स इवेति स्यात्, न हि गवयनिश्चये गौरेवेति प्रत्ययो दृष्टः, अपि तु गौरिवेति । न च क्रमवत्स्वभिन्नद्वेषाऽऽदिपर्यायेषु चैतन्याऽनुस्यूतिप्रत्ययस्य मानसत्वमात्मनि क्षणक्षयम्, अनुमानानिश्चितत्वेऽपि तदेव स्पष्टमनुभूयमानत्वाद्, विकल्पद्वयस्य युगपदुत्पत्तिः परैर्नेष्टेति विकल्परूपत्वे एकत्वप्रत्ययस्य क्षणिकत्वनिश्चयसमये सद्भावो न भवेदित्येकान्तनित्याऽनित्यच्युतोभयपक्ष एव बन्धस्थितिकारणं युक्तिसङ्गतम् ।

किञ्चैकान्तवादिनां संसारनिवृत्तिस्तत्सुखमुक्तिप्राप्त्यर्था प्रवृत्तिश्चासङ्गतेत्याह-

बंधम्मि अपूरंते, संसारभओहदंसणं मोज्झं ।
बंधं च विणा मोक्खसुहपत्थणा णत्थि मोक्खो य ॥ २० ॥

बन्धे चासति संसारो जन्ममरणाऽऽदिप्रबन्धः, तत्र तत्कारणे वा मिथ्यात्वाऽऽदावुपचारात् तच्छब्दवाच्ये भयौघो भीतिप्राचुर्यं, तस्य दर्शनम्-सर्वं चतुर्गतिपर्यटनं दुःखाऽऽत्मकमिति पर्यालोचनं, मौढ्यं मूढताऽनुपपद्यमानं संसारदुःखोऽध्यविषयत्वाद् मिथ्याज्ञानं बन्ध्यासुतजनितबाध्यगोचरभीतिविषयपर्यालोचनवद्, मिथ्याज्ञानपूर्विका च प्रवृत्तिर्विसंवादिन्येव बन्धं विना संसारनिवृत्तिः, तत्सुखप्रार्थना च न भवत्येव । अथ मोक्षस्याऽनुपपत्तौ निरपराधपुरुषवदबद्धस्य मोक्षासंभवात्, बन्धाभावश्च योगकषाययोः, प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाऽऽत्मकबन्धहेत्वोरेकान्तपक्षे विरुद्धत्वात् । न चैकरूपत्वाद् ब्रह्मणो बन्धाऽऽद्यभावप्रेरणा न दोषाय, चेतनाऽचेतनाऽऽदिभेदरूपतया जगतः प्रतिपत्तेः । न च भेदप्रतिपत्तिर्मिथ्याऽविद्यानिर्मितत्वादिति वक्तव्यम्, अविद्याया प्रतिपत्तिजननविरोधात्, अविरोधे विद्यारूपताप्राप्तेः द्वैतप्राप्तिरिति प्रतिविहितश्चाद्वैतवाद इति न पुनः प्रतन्यते ।

तदेवमेकान्ताभ्युपगमे बन्धहेत्वाद्यनुपपत्तेरैहिकाऽऽमुष्मिकसर्वव्यवहारविलोप इत्येकान्तव्यवस्थापकाः सर्वेऽपि मिथ्यादृष्टयो नयाः, अन्योऽन्यविषयापरित्यागवृत्तयस्तु त एव सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्त इत्युपसंहरन्नाह-

तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा ।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण, हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ २१ ॥

यस्मादेकान्तनित्याऽनित्यवस्त्वभ्युपगमो बन्धाऽऽदिकारणयोगकषायाऽभ्युपगमबाधितः, तदभ्युपगमोऽपि नित्याऽऽद्येकान्ताऽभ्युपगमप्रतिहत इत्येवंभूतपूर्वोत्तराभ्युपगमस्वरूपाः, तस्मान्मिथ्यादृष्टयः सर्वेऽपि नयाः स्वपक्षप्रतिबद्धाः-स्व आत्मीयः पक्षोऽभ्युपगमः, तेन प्रतिबद्धाः प्रतिहता ये ते इति, नयज्ञानानां च मिथ्यात्वे तद्विषयस्य तदभिधानस्य च मिथ्यात्वमेव । तेनैव प्रयोगः-मिथ्या सर्वनयवादाः, स्वपक्षेणैव प्रतिहतत्वात्, चौरवाक्यवत् ॥ अथ तेषां मिथ्यात्वे बन्धाऽऽद्यनुपपत्तौ सम्यक्त्वाऽनुपपत्तिः सर्वत्रेत्याह-अन्योऽन्यनिःसृताः परस्परापरित्यागेन व्यवस्थिताः, पुनरिति त एव सम्यक्त्वस्य यथाऽवस्थितवस्तुप्रत्ययस्य, सद्भावा भवन्तीति न बन्धाऽऽद्यनुपपत्तिः । ननु यदि नया प्रत्येकं सन्ति, कथं प्रत्येकावस्थाया तेषां सम्यक्त्वाभावः ?, स्वरूपव्यतिरेकेणापरसम्यक्त्वाभावात्, तस्य च तेष्वभ्युपगमात् । अथ न सन्ति, कथं तेषां समुदायः सम्यक्त्वनिबन्धनो भवेत्, असतां समुदायानुपपत्तेः ? । न चाऽसतोऽपि सम्यक्त्वं, नयवादिष्वपि सम्यक्त्वप्रसक्तेः । न च प्रत्येकं तेषां सतामसम्यक्त्वेऽपि तत्समुदाये सम्यक्त्वं भविष्यति, "दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा, णत्थि णओ" (६) इत्याद्युपसंहारः, तत्र विरोधात् । न च प्रत्येकमेकैकांशग्राहिणः संपूर्णवस्तुग्राहकाः समुदिता इति सम्यक्त्वव्यपदेशमासादयन्ति, तत्तत्स्वगोचरापरित्यागेन तत्राऽपि विषयान्तरे तेषामप्रवृत्तेः । न च प्रत्येकमसम्यक्त्वे समुदायेऽपि सम्यक्त्वं युक्तम्, सिकतासु तैलवत् असतः सदुत्पत्तेर्विरोधात् । अत्राऽभिधीयते-प्रत्येकमप्यपेक्षितेतरांशस्वविषयग्राहकतयैव सन्तो नयाः, तद्व्यतिरिक्तरूपतया त्वसन्त इति सतां तत्समुदाये सम्यक्त्वे न कश्चिद्दोषः । नन्वितरेतरविषयापरित्यागवृत्तीनां ज्ञानानां कथं समुदायः संभवी ?, येन तत्र सम्यक्त्वमभ्युपगम्येत ?, अनुक्तोपालम्भ एषः । न ह्येकज्ञानोत्पादतस्तेषां समुदायो विवक्षितोऽपि तु स्वपरित्यक्तेतररूपविषयाध्यवसाय एव समुदायः, "अन्योऽन्यनिश्रिताः" इत्यनेनानेकार्थः प्रतिपादितः । न हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यामत्यन्तपृथग्भूताभ्यामङ्गुलिद्वयसंयोगवदुभयवादोऽपरप्रारब्धः । सम्म० १ काण्ड ।

(२७) अथ दर्शनयोजनामभिधित्सुराह-

जातं द्रव्यास्तिकाच्छुद्धा-दर्शनं ब्रह्मवादिनाम् ।
तत्रैके [illegible], चित्तन्मात्रं परे जगुः ॥ ११० ॥

(जालमित्यादि) शुद्धाद् द्रव्यास्तिकाद् ब्रह्मवादिनां दर्शन जानम् । तदाह वादी-"दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणा विसओ ॥" (४) इति। तत्रैके ब्रह्मवादिनः शब्दसन्मात्रमिच्छन्ति, अन्ये च चित्सन्मात्रम् । तत्राऽऽद्यमतावलम्बी शब्दस्वभावं ब्रह्म सर्वेषां शब्दानां सर्वेषां चार्थानां प्रकृतिरित्यभ्युपैति। नयो०। सम्म०। सर्वमेकं सत्, अविशेषादिति द्रव्यास्तिकाऽभिप्रायः। सम्म० ३ काण्ड। स्या०। (शब्दब्रह्मवादिनां मतम् ' सद्द ' शब्दे वक्ष्यते)

(२९) अथवा व्यवहारनिश्चयनयद्वये तेषां समवतारोऽतस्तस्यैव व्यवहारनिश्चयनयद्वयस्य स्वरूपमुपदर्शयन्नाह—

लोगव्ववहारपरो, ववहारो भणइ कालओ भमरो ।
परमत्थपरो मण्णइ, निच्छइओ पंचवण्णो त्ति ॥३५८९॥

लोकव्यवहाराऽभ्युपगमपरो नयो व्यवहारनय उच्यते । स च कालवर्णस्यैव उत्कटत्वेन लोके व्यवह्रियमाणत्वाद्भणति प्रतिपादयति कालको भ्रमर इति। परमार्थपरस्तु पारमार्थिकार्थवादी नैश्चयिको निश्चयनय उच्यते । स पुनर्मन्यते-'पञ्चवर्णो भ्रमरः' बादरस्कन्धत्वेन तच्छरीरस्य पञ्चवर्णपुद्गलैर्निष्पन्नत्वात्, शुक्लाऽऽदीनां च न्यग्भूतत्वेनानुपलक्षणादिति ॥ ३५८९ ॥ विशे०।

निश्चयव्यवहारौ हि, द्वौ च मूलनयौ स्मृतौ ।
निश्चयो द्विविधस्तत्र, शुद्धाऽशुद्धविभेदतः ॥ १ ॥

(निश्चय इति) हि निश्चितम्, अध्यात्मभाषायां मूलनयौ द्वौ स्मृतौ । तौ च निश्चयव्यवहारौ, निश्चिनोति तत्त्वमिति निश्चय । १ । व्यवह्रियते इति व्यवहार । २ । तत्राऽपि निश्चयो नाम द्विविधो द्विप्रकार, एक. शुद्धनिश्चयनय., द्वितीयोऽशुद्धनिश्चयनय. । एव द्विप्रकारो ज्ञेय ॥ १ ॥

यथा केवलज्ञानाऽऽदि-रूपो जीवोऽनुपाधिकः ।
शुद्धो मत्यादिकस्त्वात्मा-ऽशुद्धः सोपाधिकः स्मृतः ॥२॥

यथा हि केवलज्ञानाऽऽदिरूपो जीवोऽनुपाधिकः, उपाधि. कर्मजन्य , तेन विहीनोऽनुपाधिकः, शुद्ध इति शुद्धनिश्चयभेदेन प्रथम. । अत्र हि केवलज्ञानमासाद्य शुद्धगुणमयाऽऽत्मकरूपेण जीवस्याऽभेदो दर्शित. । तथा च मतिज्ञानाऽऽदिक आत्मा अशुद्धनिश्चयभेदेन द्वितीयः । अत्र हि आत्मनः सोपाधिकस्याऽऽवरणक्षयजनितज्ञानविकल्पेनाऽऽत्मा मतिज्ञानी अशुद्ध उपलक्ष्यते । सोपाधिकत्वात् केवलज्ञानाऽऽख्यो गुण. शुद्धगुणस्तदुपेत आत्माऽपि शुद्धस्तन्नामनयोदयात् शुद्धनिश्चयनयः । १ । मतिज्ञानाऽऽदिगुणोऽशुद्धस्तदुपेत आत्माऽप्यशुद्धस्तदाख्यया नयोऽपि अशुद्धनिश्चय इति । निश्चयशब्द आत्ममात्रपर, शुद्धशब्द. कर्माऽऽवरणविशिष्ट. । आवरणक्षये शुद्धः, सति तस्मिन्नशुद्ध. ॥ २ ॥

अथ व्यवहारस्य भेद दर्शयति-

सद्भूतश्चाऽप्यसद्भूतो, व्यवहारो द्विधा भवेत् ।
तत्रैकविषयस्त्वाद्यः, परः परगतो मतः ॥ ३ ॥

व्यवहारोऽपि सद्भूत पुनरसद्भूत इति भेदाभ्यां द्विधा द्विप्रकार. । तत्र आद्य. प्रथम एकविषय एकद्रव्याऽऽश्रितः सद्भूतव्यवहारः । परः परविषयः परद्रव्याऽऽश्रितोऽसद्भूतव्यवहार इति ॥ ३ ॥

उपचरितसद्भूता-नुपचरितभेदतः ।
आद्यो द्विधा च सोपाधि-गुणगुणिनिदर्शनात् ॥ ४ ॥

उपचरितसद्भूतभेदेन, अनुपचरितसद्भूतभेदेन च आद्यः एकद्रव्याऽऽश्रितसद्भूतव्यवहारो द्विधा द्विप्रकारः । तत्र च सोपाधिकगुणगुणिभेदात् प्रथमो भेदो भवति ॥ ४ ॥

यथोपचारतो लोके, जीवस्य मतिरुच्यते।

यथा जीवस्य मतिज्ञानम् । अत्र हि मतिरुपाधि कर्माऽऽवरणकलुषिताऽऽत्मनः सकलज्ञानत्वेन ज्ञानमिति कल्पन सोपाधिकम्, उपचारतो जातमिदम् ।

अथ द्वितीयभेदमाह-

अनुपचरितसद्भूतो-ऽनुपाधिगुणतद्वतोः ॥ ५ ॥

उपाधिरहितेन गुणेन अनुपाधिक आत्मा यदा सपद्यते, तदा अनुपाधिकगुणगुणिनोर्भेदाभिन्नोऽनुपचरितसद्भूतोऽपि द्वितीयो भेद. समुत्पद्यते इति ॥ ५ ॥

अथास्योदाहरण श्लोकार्द्धेनाऽऽह-

केवलाऽऽदिगुणोपेतो, गुण्यात्मा निरुपाधिकः ।

केवलाऽऽदिगुणोपेतः केवलज्ञानसहित. कर्मक्षयाविर्भूतप्रभूतानुभवभावाऽऽत्मको जीवो निरुपाधिकगुणोपेतो निरुपाधिको गुणी भवति । आत्मा हि संसारावस्थायाम् अष्टकर्मजनिताऽऽवरणपरिस्फुटप्रभावभावित' सोपधिकगुणैर्मत्यादिभिस्तद्वानिति सोपाधिक आत्मेति व्यपदेशभाग् भवति। अत्र तु तदभावे तदभावाद् निरुपाधिकगुणगुणिभेदभावनासमुत्पादादनुपचरितसद्भूतभेदोऽपि समुत्पन्न। केवलाऽऽदिरिति केवलस्यैकत्वात् आदिरिति तदुत्थानन्तगुणोदयात् केवलादिरिति कथनम् ।

अथाऽसद्भूतव्यवहारस्यापीत्थमेव भेदद्वय प्रकटयन्नाह श्लोकार्द्धेन-

असद्भूतव्यवहारो, द्विधैवं परिकीर्तितः ॥ ६ ॥

(असद्भूतेति) असद्भूतव्यवहारोऽपि एव पूर्वोक्तसद्भूतवद् द्विधा द्विप्रकार' परिकीर्तित कथित इति ॥ ६ ॥

अथैतस्यासद्भूतव्यवहारस्य भेदद्वयं सोदाहरण—पूर्वक प्रकटयन्नाह-

असंश्लेषितयोगेऽन्यो, देवदत्तधनं यथा ।
स्यात्संश्लेषितयोगेऽन्यो, यथाऽऽस्ते देहमात्मनः ॥७॥

(असंश्लेषितेति) अत्र द्वयोरपि भेदयोर्मध्ये, अग्र अग्रे भवोऽग्र्यो मुख्य' प्रथम', असंश्लेषितयोगे कल्पितसंबन्धविषये उपचरितासद्भूतव्यवहारो भवेत् । यथा-देवदत्तधनम् । इह धनेन देवदत्तस्य संबन्ध. स्वस्वामिभावरूपश्च जायते, तदपि काल्पितत्वात् उपचरितम् । यतो देवदत्त पुनर्धन चैकद्रव्य, न हि तस्माद्भिन्नद्रव्यत्वादसद्भूतभावनाकरणेनासद्भूतव्यवहार इति । तथा द्वितीयोऽन्य संश्लेषितयोगे कर्मजसंबन्धे भवति । यथा आत्मनो जीवस्य देहमिति आस्ते तिष्ठति । अत्र हि आत्मदेहयो संबन्धे देवदत्तधनसंबन्धमिव कल्पन नास्ति विपरीतभावनानिवर्त्यत्वाद् यावज्जीवस्थायित्वादनुपचरित, तथा भिन्नविषयत्वादसद्भूतव्यवहार इति ॥७॥

अथोक्तविषयस्वामित्वमाह—

नयाश्चोपनयाश्चैते, तथा मूलनयावपि ।
इत्थमेव समादिष्टं, नयचक्रेऽपि तत्कृता ॥ ८ ॥

(नयेति) एते नया उक्तलक्षणाः, च पुनरुपनयास्तथैव द्वौ मूलनयौ, अपि निश्चयेन इत्थममुना प्रकारेण एव, नयचक्रेऽपि दिगम्बरदेवसेनकृते शास्त्रे नयचक्रेऽपि, तत्कृता तस्य नयचक्रस्य कृता उत्पादकेन समादिष्ट कथितम् । एतावता दिगम्बरमतानुगननयचक्रग्रन्थपाठपठितनयोपनयमूलनयाऽऽदिकं सर्वमपि सर्वज्ञप्रणीतसदागमोक्तयुक्तियोजनासमानतन्त्रत्वमेवाऽऽस्ते, न किमपि विसंवादितयाऽस्तीति । ८ ।

अथ पुनरपि श्वेताम्बरदिगम्बरयोः समानतन्त्रत्वमुपदिशन्नाह—

यद्यपीहार्थभेदो न, तस्याऽस्माकमपि स्फुटम् ।
तथाऽप्युत्क्रमशैल्याऽसौ, दह्यते चाऽन्तराऽऽत्मना ॥९॥

यद्यपि तस्य देवसेनस्य दिग्वाससोऽपि, तथा अस्माकं श्वेतभिक्षूणां,स्फुटं प्रकटं यथा स्यात्तथा,इह द्रव्याऽऽदिपरिज्ञानोपयोगिनि नयविचारे, अर्थभेदो विषयभेदो नास्ति, तन्नयोरप्यर्थाऽऽदेशे विषयाभेदत्वमेव,शब्दाऽऽदेशे किमपि पाठान्तरत्वाद् न किमपि दोषः । यथा हि अर्थे प्रयोजनवन्तस्तार्किकाः, शब्दस्याऽप्रयोजकत्वात् । तथाऽप्यसौ देवसेनो दिगम्बर उत्क्रमशैल्या विपरीतपरिभाषया अर्थस्य तादृशत्वेन शब्दस्यातादृशत्वेन च उत्क्रमशैल्या कृत्वा, अन्तराऽऽत्मना अन्तरङ्गपरिणामेन ईर्ष्यालुत्वाद्, दह्यते खिद्यते । ईर्ष्यालवो हि अन्तरुपतापपरा एव भवन्ति निष्कारणमेवेति । यतः—" यद्यपि न भवति हानि ,परकीयां चरति रासभो द्राक्षाम् । असमञ्जसं तु दृष्ट्वा, तथाऽपि परिखिद्यते चेतः ॥१॥ " इति वचनाद् यथोक्तभागवतसिद्धान्तशुद्धपरिभाषा त्यक्त्वा स्वकपोलकल्पितसंस्कृतभाषया श्रीवीतरागोक्तार्थविषयमङ्गीकृत्य नवीनग्रन्थं विरचय्य प्रभावं ख्यापयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

(३०) अथ बोटिकमताऽभिमतविपरीतपरिभाषां दर्शयन्नाह—

तत्त्वार्थेऽपि नयाः सप्त, पञ्चाऽऽदेशान्तरेऽपि वा ।
अन्तर्भूतौ समुद्धृत्य, नवेति किमु कल्पते ? ॥१०॥

तत्त्वार्थसूत्रे नयाः सप्त उक्ताः, पुनरादेशान्तरे मतान्तरे तत्रैव नयाः पञ्च प्रतिपादिताः । तथा च तत्सूत्रम्—" सप्त मूलनयाः, पञ्च इत्यादेशान्तरे " इति । शब्दः, समभिरूढः, एवंभूत इति नयत्रिकं शब्दनय इति नाम्ना सङ्गृहीतानां त्रयाणामेवैकं नाम शब्दनय इति जायते, ततः प्रथमे चत्वारोऽतस्तैः सह पञ्च नया इति । अथैकैकस्य भेदानां शतमस्ति, तत्र च सप्तशतं तथा पञ्चशतम्,एवं मतद्वयेऽपि भेदकल्पनम् । तथोक्तमावश्यके—"इक्किको य सयविहो, सत्त णयसया हवंति एमेव । अण्णो वि हु आएसो, पंचेव सया णयाण तु " ॥ (२२६४) एतादृशीं शास्त्रपरिभाषां त्यक्त्वा द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनामानौ एष्वन्तर्भावितावेव उद्धृत्य दूरे कृत्वा नव नयाः कथिताः, इति किमु कल्पते देवसेनेन कः प्रपञ्चः क्रियते ? ॥ १० ॥

पुनश्चर्चा कथयन्नाह—

यदि पर्यायद्रव्यार्थ—नयौ भिन्नौ विलोकितौ ।
अर्पितानर्पिताभ्यां तु, स्युर्नैकादश तत्कथम् ? ॥११॥

(यदीति) यदि पर्यायार्थद्रव्यार्थनयौ भिन्नौ विलोकितौ पृथक् दृष्टौ, तत्सप्तैव नया इति कथम् ?, अर्पितानर्पिताभ्यां सह एकादश नया इति कथं न स्युः, अपि तु स्युः । भावार्थस्त्वयम्-नैगमसङ्ग्रहव्यवहारभेदाद् आद्यो द्रव्यार्थिकस्त्रिधा, पर्यायार्थिकश्चतुर्धा-ऋजुसूत्र, शब्दः, समभिरूढः, एवंभूतश्चेति । अर्पितानर्पितभेदावपि सामान्यविशेषपर्यायौ, तौ च द्रव्यपर्याययोश्चेति । तथाहि-सामान्यं द्विप्रकारम्, ऊर्द्धतासामान्यं, तिर्यक्सामान्यं च । तत्र ऊर्द्धतासामान्यं द्रव्यमेव, तिर्यक्सामान्यं तु प्रतिव्यक्ति सदृशपरिणतिलक्षणं व्यञ्जनपर्याय एव, स्थूलाः कालान्तरस्थायिनः शब्दानां सङ्केतविषया व्यञ्जनपर्याया इति प्रावचनिकप्रसिद्धेः । विशेषोऽपि वैसदृश्यविवर्त्तलक्षणः पर्याय एवान्तर्भवतीति, नैताभ्यामधिकनयावकाशः ॥११॥

संग्रहे व्यवहारे च, यदीमौ युङ्क्थ केवलम् ।
तदाद्यन्तनयस्तोके, किं न युङ्क्थ हि तावपि ? ॥१२॥

अथ सङ्ग्रहे च पुनर्व्यवहारे यदि इमौ अर्पितानर्पितौ युङ्क्थ, तर्हि आद्यन्तनयस्तोके तावपि[द्रव्यपर्यायौ]किं न युङ्क्थ इति ?। यदि एवं कथयथ अर्पितानर्पितसिद्धेरित्यादिसूत्रेषु अर्पिता विशेषाः,अनर्पिताः सामान्या । तत्र अर्पिता व्यवहाराऽऽदिविशेषनयेषु अन्तर्भवन्ति, अनर्पिताः सङ्ग्रहेऽन्तर्भवन्ति, तदा आद्येषु प्रथमेषु, अन्त्येषु पाश्चात्येषु नयस्तोकेषु इमौ द्रव्यपर्यायौ कथं न युञ्जीत सप्तनयसंबन्धसिद्धेरिति विचारणीयम् ?। सिद्धान्ते श्रीजिनवाणी सप्तनयाऽवतारिका एवाऽस्ति, न न्यूनाधिका । यतः—"से किं तं नए ?। सत्त मूलनया पण्णत्ता । तं जहा—णेगमे १, संगहे २, ववहारे ३, उज्जुसुए ४, सद्दे ५, समभिरूढे ६, एवंभूए ७ ।" इत्यादिसूत्रपाठोऽपि ज्ञेयोऽतस्तत्सूत्रमार्गं त्यक्त्वा नया नव त्यधिकयोजना न साधीयसी । अथ अन्तर्भूतानां पृथक्करणमपि पिष्टपेषणमेवेति ॥१२॥ द्रव्या० ८ अध्या० ।

(३१) व्यवहारनयात्साङ्ख्यम्—

अशुद्धाद् व्यवहाराख्या—त्ततोऽभूत्साङ्ख्यदर्शनम् ।
चेतनाऽचेतनद्रव्या—ऽनन्तपर्यायदर्शकम् ॥ १११ ॥

(अशुद्धादिति) व्यवहाराऽऽख्याद् व्यवहारनामधेयादशुद्धात्ततो द्रव्यार्थिकनयात् साङ्ख्यदर्शनमभूत् । कीदृशं तत् ?, चेतनाचेतनद्रव्यं चानन्तपर्यायाश्चाविर्भावतिरोभावाऽऽत्मकास्तेषां दर्शकं प्रतिपादकमिति । (१११) नयो० । अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयमतावलम्बी एकान्तनित्यचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसाङ्ख्यदर्शनाश्रितोऽत एव तन्मतानुसारिणः साङ्ख्याः । सम्म० १ काण्ड ।

(३२) अथ वेदान्तिसाङ्ख्यदर्शनयोः शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकप्रकृतिकत्वं यदुक्तं, तत्राऽविशेषं दृष्ट्वा भेदबीजाभावमाशङ्कते—

यद्यप्येतन्मतेऽप्यात्मा, निर्लेपो निर्गुणो विभुः ।
अध्यासाद् व्यवहारश्च, ब्रह्मवादेऽपि संमतः ॥ ११२ ॥

(यद्यपीत्यादि) यद्यपि एतन्मतेऽपि साङ्ख्यमते निर्लेपः कर्तृत्वाऽऽदिलेपरहितो निर्गुणो गुणस्पर्शशून्यो व्यापकश्चेति शुद्धाऽऽत्माऽभ्युपगमेनोभयत्र शुद्धितौल्यम् ।

भोक्तृत्वस्योपचरितस्याऽऽत्मन्यभ्युपगमेन साङ्ख्यदर्शने वेदान्तदर्शनापेक्षयाऽशुद्धत्वम्, यतोऽध्यासाद् व्यवहारो ब्रह्मवादेऽपि संमतः, ब्रह्मवादिनोऽपि हि बुद्धिगुणान् ज्ञानाऽऽदीनात्मनि कल्पितानेवाऽभ्युपयन्ति, न पारमार्थिकानिति नायमपि प्रकार अनयोः शुद्ध इति विशेषः ॥ ११२ ॥

प्रत्युताऽऽत्मनि कर्तृत्वं, साङ्ख्यानां प्रातिभासिकम् ।
वेदान्तिनां त्वनिर्वाच्यं,मतं तद् व्यावहारिकम् ॥११३॥

(प्रत्युतेति) प्रत्युत वैपरीत्येन साङ्ख्यानां मते कर्तृत्वम्, उपलक्षणाद्भोक्तृत्वाऽऽदि च, प्रातिभासिकमन्यस्थमेवान्यत्राऽऽरोपितम् । वेदान्तिनां तु मतेऽन्तःकरणधर्माणां कर्तृत्वाऽऽदीनां कर्तव्यम्, तच्च परमार्थतोऽसदपि व्यवहारतः सदिति स्थूलव्यवहाराऽनुरोधाद्वेदान्तदर्शन एवाशुद्धत्वं स्यात्, अविद्ययाऽप्यन्यधर्ममात्मन्यस्पर्शयत्युपचारेण च व्यवहारबल कुण्ठगतिनिश्चयबल चोत्तेजति साङ्ख्यदर्शन एव शुद्धत्वं स्यादिति भावः ॥ ११३ ॥

किञ्च-सत्कार्यवादित्वादपि साङ्ख्यस्य न व्यवहाराऽनुरोधित्वम्, व्यवहारनयो हि कारणव्यापारानन्तरमेव कार्योत्पत्तिं पश्यन् सत्कार्यपक्षमेवाऽऽश्रयते, न च क्षणिकासत्कार्यानभ्युपगममात्रेणास्य व्यवहारपक्षपातित्वम्, तदनभ्युपगमेऽप्युत्पत्त्यनभ्युपगमेन व्यवहारबहिर्भावादित्यभिप्रायस्पष्टीकरणपूर्वं निगमयन्नाह—

अनुत्पन्नत्वपक्षश्च, निर्युक्तौ नैगमे श्रुतः ।
नेति वेदान्तिसाङ्ख्योक्त्योः, संग्रहव्यवहारता ॥११४॥

अनुत्पन्नपक्षश्च निर्युक्तौ नमस्कारनिर्युक्तौ नैगमे नैगमनये श्रुतः " उप्पन्नाणुप्पन्नो, इत्थ णया णेगमस्सऽणुप्पन्नो । सेसाणं उप्पन्नो, जइ कत्तो तिविहसामित्ता ? ॥ ४८०६ ॥ " इति (आवश्यकनिर्युक्ति-) वचनात् । तथा चानुत्पत्तिवादी साङ्ख्यो नैगमनयमेवोपजीवी, व्यावहारिकोत्पत्तिवादी वेदान्ती च व्यवहारनयमिति भावः । इति हेतोर्वेदान्तिसाङ्ख्योक्त्योस्तद्दर्शनयोः संग्रहव्यवहारता संग्रहव्यवहाराऽऽश्रयशुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकप्रकृतिकता न भवति । तथा च समतौ तयोक्तेः का गतिरिति भाव. ? ॥ ११४ ॥

समाधत्ते तथापीतिवृत्तेन-

तथाऽप्युपनिषद् दृष्टि-सृष्टिवादाऽऽत्मिका परा ।
तस्यां स्वप्नोपमे विश्वे, व्यवहारलवोऽपि न ॥ ११५ ॥

तथाऽपि उपनिषद्वेदान्तदर्शनप्रवृत्तिः दृष्टिसृष्टिवादाऽऽत्मिका परा उत्कृष्टा मूलाभियुक्ता, अभ्युपगतत्वात्, तस्यां चाज्ञातसत्त्वाबाधेन स्वप्नोपमे विश्वे जगति सति व्यवहारस्य लवोऽपि लेशोऽपि नाऽस्ति, तन्मते आमदृव्यवहारस्य स्वप्नव्यवहारतुल्यत्वात् । तथा च मौलस्य वेदान्तदर्शनस्य व्यवहारापेतत्वे न व्यवहारप्रकृतिता, किं त्वेकाऽऽत्मसंग्रहप्रवणतया संग्रहप्रकृतिकैवाऽऽकाशोदकपातकल्पमूलदर्शनप्रवृत्तावेव चेयं नयप्रकृतिविभक्तेति नार्वाचीनवेदान्तिनां मिथो विरुद्धकल्पनाकोटिक्लेशपराहतानां व्यवहाराभ्याससमर्थनेनाऽपि प्रतिभुतत्वाद्दतिरिति हृदयम् ॥ ११५ ॥

साङ्ख्यशास्त्रे च नानाऽऽत्म-व्यवस्था व्यवहारकृत् ।
इत्येतावत्पुरस्कृत्य, विवेकः संमतावयम् ॥ ११६ ॥

(साङ्ख्येति) साङ्ख्यशास्त्रे च नानाऽऽत्मनां व्यवस्था प्रतिनियतजन्ममरणाऽऽदि व्यवहारकृद्भवति इत्येतावत्पुरस्कृत्य तात्पर्यविषयीकृत्याऽयं विवेकः सम्मतौ । यदुत-व्यवहारप्रकृतिकं साङ्ख्यदर्शनं,संग्रहप्रकृतिकं च वेदान्तदर्शनमिति वेदान्तप्रकृतिभूतसंग्रहनयेनैव तथाविषयीकृतस्याऽऽत्मनो भेदकरणेन संग्रहविषयभेदकत्वलक्षणसमन्वयाद् व्यवहारप्रकृतिकत्वं साङ्ख्यदर्शनस्य विवक्षितमिति तात्पर्यम् । तेन सत्कार्याऽऽद्यंशे व्यवहारप्रकृतित्वाऽभावेऽपि न क्षतिः, आत्मन एव सकलशास्त्रप्रयोजनभागित्वेन मुख्यत्वात्, मुख्योद्देशेनैव च नयानां प्रकृतिविकृतिचिन्ताया युक्तत्वादिति भावः ॥ ११६ ॥ नयो० ।

अत्र च नैगमसंग्रहव्यवहारलक्षणास्त्रयो नयाः शुद्ध्यशुद्धिभ्यां द्रव्यास्तिकमतमाश्रिताः, ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतास्तु शुद्धितारतम्यतः पर्यायनयभेदाः । तथाहि-संग्रहमत तावत्प्रदर्शितमेव । येषां तु मते न नैगमनयस्य सद्भावस्तस्य स्वरूपमेव वर्णितम्, राश्यन्तरोपलब्धं नित्यत्वमनित्यत्वं च नयतीति निगमव्यवस्थाभ्युपगमपरो नैगमनयः । निगमो हि नित्याऽनित्यसदसत्कृतकाकृतकस्वरूपेषु भावेष्वपास्तसाकार्यस्वभाव सर्वथैव धर्मधर्मिभेदेन संपद्यत इति । स पुनर्नैगमोऽनेकधा व्यवस्थितः, प्रतिपत्तुरभिप्रायवशाश्रयव्यवस्थानात् । प्रतिपत्तारश्च नानाभिप्रायाः । यतः केचिदाहुः-" पुरुष एवेद सर्वमित्यादि " यदाश्रित्योक्तम्-" ऊर्ध्वमूलमधः शाख-मश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥" पुरुषोऽप्येकत्वनानात्मभेदात्कैश्चिदभ्युपगतो द्वेधा,नानात्वेऽपि तस्य कर्तृत्वाऽकर्तृत्वभेदोऽपरैराश्रित. । कर्तृत्वेऽपि सर्वगतेरभेद.,असर्वगतत्वेऽपि शरीरव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां भेदः, व्यापिमूर्तेतरविकल्पाद्भेद एव । अपरैस्तु प्रधानकारणिक जगदभ्युपगतं,तत्रापि सेश्वरनिरीश्वरभेदाद्भेदोऽभ्युपगतः, अन्यैस्तु परमाणुप्रभवत्वमभ्युपगतं जगतः, तत्रापि सेश्वरनिरीश्वरभेदाद्भेदोऽभ्युपगतः,सेश्वरपक्षेऽपि स्वकृतकर्मसापेक्षानपेक्षत्वाभ्यां तदवस्थ एव भेदाभ्युपगम । कैश्चित्स्वभावकालयदृच्छाऽऽदिवादाः समाश्रिताः, तेष्वपि सापेक्षत्वानपेक्षत्वाभ्युपगमाद् भेदव्यवस्थाऽभ्युपगतैव। तथा कारणं नित्यं कार्यमनित्यमित्यपि द्वैत कैश्चिदभ्युपगतम्, तत्राऽपि कार्यं स्वरूपं नियमेन त्यजति, न वेत्ययमपि भेदाभ्युपगमः । एवं मूर्तैरेव मूर्तमारभ्यते, मूर्तैर्मूर्तं मूर्तैरमूर्तमित्याद्यनेकधा प्रतिपत्त्रभिप्रायतोऽनेकधा निगमनान्नैगमोऽनेकभेदः । व्यवहारनयस्त्वपास्तसमस्तभेदादेकमभ्युपगच्छतोऽध्यक्षीकृतभेदनियन्धनव्यवहाराविरोधप्रशक्तेः कारकज्ञापकभेदे परिकल्पनाऽनुरोधेन व्यवहारमारचयन् प्रवर्तते इति कारणस्याऽपि न सर्वदा नित्यत्व, कार्यस्याऽपि नैकान्ततः प्रक्षय इति । ततश्च न कदाचिदनीदृशं जगदिति प्रवृत्तोऽयं व्यवहारो न केनाऽपि प्रवर्त्यते, अन्यथा प्रवर्तकावस्थाप्रसक्ति., ततो व्यवहारमूलं जगत् । न च प्रमाणाविषयीकृतः पक्षोऽभ्युपगन्तु युक्त ,अदृष्टपरिकल्पनाप्रसक्तेः । दृष्टानुरोधेन ह्यदृष्टमपि वस्तु कल्पयितु युक्तम्, अन्यथा कल्पनासंभवादिति । संग्रहनैगमाभ्युपगतवस्तुविवेकाल्लोकप्रतीतपथाऽनुसारेण प्रतिपत्तिः,गौरवपरिहारेण प्रमाणप्रमेयप्रमितिप्रतिपादनं व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं परीक्षके. समाश्रितमिति व्यवहारनयाभिप्राय । तत. स्थितं नैगमसंग्रहव्यवहाराणां द्रव्यास्तिकनयप्रभेदत्वं, विषयभेदश्चैषां प्रविचारितः ।

तदुक्तम्-

" शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य, संग्रहस्तदशुद्धितः ।
नैगमव्यवहारौ स्तां, शेषाः पर्यायमाश्रिताः ॥ १ ॥
अन्यदेव हि सामान्य-मभिन्नज्ञानकारणम् ।
विशेषोऽप्यन्य एवेति, मन्यते नैगमो नयः ॥ २ ॥
सद्रूपताऽनतिक्रान्त-स्वस्वभावमिदं जगत् ।
सत्तारूपतया सर्वं, सगृह्णन् संग्रहो मतः ॥ ३ ॥
व्यवहारस्तु तामेव, प्रतिवस्तुव्यवस्थिताम् ।
तथैव दृश्यमानत्वाद्, व्यवहारयति देहिनः" ॥ ४ ॥ इति ।

पर्यायनयभेदा ऋजुसूत्राऽऽदयः ।

"तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्या-च्छुद्धपर्यायसंश्रिता ।
नश्वरस्यैव भावस्य, भावस्थितिवियोगतः" ॥ १ ॥ सम्म० १ काण्ड ।

(३३) यद्येवं संग्रहव्यवहारौ वेदान्तिसाङ्ख्यदर्शनप्रवर्तकौ, नैगमनयस्तर्हि कस्य दर्शनस्य प्रवर्तकः ?, इति जिज्ञासायामाह-

हेतुर्मतस्य कस्याऽपि, शुद्धाऽशुद्धो न नैगमः ।
अन्तर्भावो यतस्तस्य, सङ्ग्रहव्यवहारयोः ॥ ११७ ॥

(हेतुरिति) सामान्यविशेषाऽऽद्युभयग्राहित्वेन शुद्धाशुद्धो नैगमनयः कस्याऽपि मतस्य दर्शनस्य न हेतुर्न प्रकृतिः,यतः सामान्यग्रहाय प्रवृत्तस्य संग्रह एव, विशेषग्रहाय च प्रवृत्तस्य व्यवहार एवान्तर्भाव इति । तदुभयभिन्नं स्वात्मानमेवालभमानस्य न भिन्नदर्शनप्रकृतित्वमभिधातु युज्यत इति ॥ ११७ ॥

कुतस्तर्हि वैशेषिकदर्शनमुत्पन्नं, कथं वा तस्य न सम्यक्त्वम् ?, इत्याकाङ्क्षायामाह-

द्वाभ्यां नयाभ्यामुन्नीत-मपि शास्त्रं कणाऽशिना ।
अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वा-न्मिथ्यात्वं स्वमताग्रहात् ॥११८॥

(द्वाभ्यामिति) द्वाभ्यां सामान्यविशेषग्राहिभ्यां सग्रहव्यवहाराख्या नयाभ्यामुन्नीत पृथग् व्यवस्थापितमपि कणाऽशिना कणादमुनिना शास्त्रम्, अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वात्परस्परविविक्तद्रव्यपर्यायोभयावगाहित्वात् स्वमताग्रहात् स्वकल्पनाऽभिनिवेशान्मिथ्यात्वम् ॥ न हि नयद्वयावलम्बनमेव शास्त्रस्य सम्यक्त्वप्रयोजकं, किं तु यथास्थाने तद्विनियोगः । स च स्वप्रयुक्तनयद्वयेतरयावन्नयज्ञाना स्याद्वादलाञ्छितानां परस्परसाकाङ्क्षाणां तात्पर्यविषयतया सपद्यते, एकतरस्याऽप्यतात्पर्ये सिद्धान्तविराधनाया अपरिहारात् । तदाह-" जे वयणिज्जवियप्पा, सजुज्जतेसु होंति एएसु । सा ससमयपण्णवणा, सिद्धतविराहणा अण्णा " ॥१॥ इति । तदिह सामान्यविशेषयोः कुतस्तरामन्येषा नयानामिति स्फुटमेव मिथ्यात्वम्,अतिरिक्तसामान्यविशेषापेक्षा विना महासामान्यान्त्यविशेषयोरिव वस्तुमात्रस्य स्वत एव सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वमित्यर्थस्यैव यथावन्नयद्वयविनियोगरूपत्वात्,अन्यथाऽनवस्थानात् । तदिदमुक्तम्-"स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो, भावा न भावान्तरनेयरूपाः । पराऽऽत्मतत्त्वादतथाऽऽत्मतत्त्वाद्, द्वय वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥४॥" (स्या०) इति । एतेन नैयायिकदर्शनमपि व्याख्यातम्, पदार्थप्रमाणाऽऽदिभेदं विना प्रायस्तस्य वैशेषिकदर्शनसमानविषयत्वादिति दिग् ॥ ११८ ॥

ननु संग्रहव्यवहारयोरेव विषयविवेकेन नैगमस्यान्तर्भावे तस्य पार्थक्ये किं बीजम् ?। अदर्शनेऽपि किञ्चित्कल्पयिष्याम इति चेत्,तर्हि इष्टं स्वतन्त्रद्रव्यपर्यायोभयविषयत्वमेव तथाऽस्तु । तथा च तत एव कणादमतोत्पत्तिर्युक्तेति परीक्षापूर्वमाह-

स्वतन्त्रव्यक्तिसामान्य-ग्रहा येऽत्र तु नैगमे ।
औलूक्यसमयोत्पत्तिं, ग्रपद्ये तत एव हि ॥ ११९ ॥

(स्वतन्त्रेति) स्पष्टः । अत्र चार्थे प्रदर्शितन्यायेन द्रव्यपर्यायरूपमुभयमपि परस्परविविक्तमेकत्र विषय इत्यभिप्रायो नैगमोऽशुद्धद्रव्यास्तिकप्रकृतिरिति सम्मतिवृत्तिस्वरसोऽपीति ध्येयम् ॥ ११९ ॥

ऋजुसूत्राऽऽदितः सौत्रा-न्तिकवैभाषिकौ क्रमात् ।
अभूवन् सौगता योगा-चारमाध्यमिकाविति ॥१२०॥

(ऋजुसूत्राऽऽदित इति) ऋजुसूत्राऽऽदितः ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतेभ्यः क्रमात् सौत्रान्तिकवैभाषिकयोगाचारमाध्यमिका इति चत्वारः सौगता अभूवन्नुदपद्यन्ते ।

एतेषां स्वरूपमेतेन काव्येन ज्ञेयम्-

" अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणेष्यते,
प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः ।
योगाऽऽचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा,
मन्यन्ते बत मध्यमाः कृतधियः स्वच्छां परां संविदम्" ॥१॥ इति ।

एतद्विशेषाऽवगमपुष्पमदार्थिना तु मत्कृतवतादृय परिशीलनीयम् । अत्र वैभाषिकस्य शब्दनयपक्षपातित्वं, नित्यानित्यशब्दवाच्यपुद्गलाभ्युपगमात्, ज्ञानार्थलक्षणयौगपद्यरूपत्व जनपर्यायप्रधानत्वाच्चावगन्तव्यम् । योगाचारमाध्यमिकयोश्च शुद्धशुद्धतरत्वेन समभिरूढैवंभूतपक्षवर्तित्वमिति ॥ १२० ॥

नयसंयोगजः शब्दा-लङ्काराऽऽदेश्च विस्तरः ।
कियान् वाच्यो वचस्तुल्यसङ्ख्या ह्यभिहिता नयाः ॥१२१॥

(नयेति) शब्दालङ्काराऽऽदेर्व्याकरणसाहित्याऽऽदिशास्त्रस्य च विस्तरो नयसयोगजो नानानयमयः, आदित एव तत्प्रवृत्तौ नानानयविवक्षामुपजीवनात् । अन्यथा सार्वपार्षदत्वानुपपत्तेः । अत एव मीमांसका अपि द्रव्यपर्याययोः सार्वजनीनभेदाभेदाऽऽद्युपपत्तये व्यवहारनयमानन्त्यव्यभिचाराभ्यां बिभ्यतो व्यक्तिशक्तिमपहाय जातौ शक्तिमुत्पत्तये सग्रहनयं चाद्रियमाणाः स्वमतप्रवृत्तौ नयसंयोगमेवाऽऽद्रावपेक्षन्ते । यत्तु मीमांसकमतस्याशुद्धद्रव्यास्तिकव्यवहारनयप्रकृतित्वं सम्मतिवृत्तौ नामनिक्षेपावसरे व्यावर्णितं, "तच्छब्दार्थयोर्नित्यसबन्धमात्रवादापेक्षया, औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सबन्धः" इति, तत्सूत्रे औत्पत्तिक इत्यस्य विपरीतलक्षणया नित्य इति व्याख्यानात् पूर्वपूर्वसकेतापेक्षायामनवस्थानां नित्यपदसबन्धाभ्युपगम एव । प्रवृत्तिमूलव्यवहाराऽऽधानतयुक्तशास्त्रैदम्पर्यपर्यालोचनायां तु तस्य नयसयोगजत्वमेवमुक्तम् । अन्यथा-शब्दानुशासनेऽपि स्फोटविचारे शब्दब्रह्मसग्रहप्राधान्येन नयसयोगजत्व न स्यात्,न नयसयोगजत्वे शब्दाऽऽदीनां कथं न ससमयतुल्यत्वमिति चेत्,मूढनयानां तेषां यथावद्विभागाकरणात् । अत एव यथावन्नयविभागचिकीर्षया "सिद्धिः स्याद्वादात्" ॥१।१।२॥ इति (हैम०) सूत्रमुपन्यस्य श्रीहेमसूरयः स्वोपज्ञशब्दानुशासनस्य स्वसमयान्तर्भावेन दृढप्रामाण्यमाविष्कुः । सक्षेपमभिप्रेत्याह उक्तो विस्तरः कियान् वाच्यो, हि यत , वचस्तुल्यसख्या नया अभिहिताः॥१२१॥

स्याद्वादनिरपेक्षैश्च, तैस्तावन्तः परागमाः ।
ज्ञेयोपयुज्य तदियं, दर्शने नययोजना ॥ १२२ ॥

(स्याद्वादेति) तैर्नयैः स्याद्वादनिरपेक्षैः स्याद्वादैकवाक्यतारहितैस्तावन्तो वचस्तुल्यसंख्या एव परागमाः परसिद्धान्ता भवन्ति, अभिनिवेशान्वितनयत्वस्यैव परसमयलक्षणत्वात् । इदमुक्तं सम्मतितृतीयकाण्डे-" जावइया वयणपहा, तावइआ चेव हुंति णयवाया । जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया " ॥ ४७ ॥ एतावत्सु नयेष्विच्छाकल्पितसंयोगजभेदेऽपि समवायान्तराक्षेपकः सुलभ एव, इय दर्शने नययोजनोपयुज्य ज्ञेया, न त्वापातत एव; आपातज्ञानस्य स्वसमयपरसमयविपर्यासफलत्वात् । अत एव वस्तुस्थितिविचारे-"जे पज्जवेसु णिरदा, जीवा परसमयगतिविणिद्दिट्ठा । आयसहावम्मि ठिया, ते सगसमया मुणेयव्वा " ॥ १ ॥ इति दैगम्बर वचनं वक्तुः सम्यक् स्वसमयनिष्णाततामभिव्यञ्जयति । द्रव्यास्तिकाभिप्रायः स्वसमयः, पर्यायास्तिकाभिप्राय परसमय इत्यस्य स्याद्वादनिरपेक्षत्वान्नयवाक्यमेवैतदिति चेत्, तर्हि प्रवचनप्रक्रियाव्युत्पादने क इवास्योपयोगः ?, स्थूलसूक्ष्मनयार्थानां क्रमव्युत्पादनस्यैव शास्त्रार्थत्वादिति मुग्धबन्धनमात्रमेतत् । यदपि प्रावचनिकानां जिनभद्रसिद्धसेनप्रभृतीनां स्वस्वतात्पर्यविरुद्धविषये सूत्रे परतीर्थिकवक्तव्यताप्रतिबन्धप्रतिपादनं, तदप्यभिनिवेशेन चेत्तदा प्रावचनिकत्वक्षतिरिति । तत्र परतीर्थिकपद भिन्नपरम्परायाततात्पर्यानुसारिपदम्, अत एव नयाभिप्रायेण प्रवृत्तत्वादिति हेत्वभिधानोपपत्तिः । अत एव च नयाभिप्रायेणोभयसमाधानमस्माभिर्ज्ञानबिन्दौ विहितमिति । एवमन्यत्राऽपि दर्शनप्रयोजनाभ्यामुपयोगो विधेयः समयनिष्णातैः ॥१२२॥ नयो० ।

(३४) के पुनरेषु नयेष्वर्थप्रधानाः, के च शब्दनया इति दर्शयन्ति-

एतेषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयाः ॥४४॥
शेषास्तु त्रयः शब्दवाच्याऽर्थगोचरतया शब्दनयाः ॥४५॥

कः पुनरत्र बहुविषयः, को वाऽल्पविषयो नय इति विवेचयन्ति-

पूर्वः पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः, परः परस्तु परिमितविषयः ॥ ४६ ॥

तत्र नैगमसंग्रहयोस्तावन्न संग्रहो बहुविषयो नैगमात्परः, किं तर्हि नैगम एव संग्रहात्पूर्व इत्याहुः--

सन्मात्रगोचरात्संग्रहान्नैगमो भावाऽभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः ॥ ४७ ॥

भावाऽभावभूमिकत्वाद्भावाऽभावविषयत्वाद्, भूमविषयो बहुविषयः ॥ ४७ ॥

संग्रहाद् व्यवहारो बहुविषय इति विपर्ययमपास्यन्ति-

सद्विशेषप्रकाशकाद्व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद् बहुविषयः ॥ ४८ ॥

व्यवहारो हि कतिपयान् सत्प्रकारान् प्रकाशयतीत्यल्पविषयः, संग्रहस्तु सकलसत्प्रकाराणां समूहं ख्यापयतीति बहुविषयः ॥ ४८ ॥

व्यवहारात् ऋजुसूत्रो बहुविषय इति विपर्यासं निरस्यन्ति-

वर्त्तमानविषयादृजुसूत्राद्व्यवहारस्त्रिकालविषयाऽवलम्बित्वादनल्पार्थः ॥ ४९ ॥

वर्तमानक्षणमात्रस्थायिनमर्थमृजुसूत्रः सूत्रयतीत्यसावल्पविषयः, व्यवहारस्तु कालत्रितयवर्त्यर्थजातमवलम्बत इत्ययमनल्पार्थ इति ॥ ४९ ॥

ऋजुसूत्राच्छब्दो बहुविषय इत्याशङ्कामपसारयन्ति-

कालाऽऽदिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वान्महार्थः ॥ ५० ॥

शब्दनयो हि कालाऽऽदिभेदाद्भिन्नमर्थमुपदर्शयतीति स्तोकविषयः, ऋजुसूत्रस्तु कालाऽऽदिभेदतोऽप्यभिन्नमर्थं सूचयतीति बहुविषय इति ॥ ५० ॥

शब्दात्समभिरूढो महार्थ इत्यारेकां पराकुर्वन्ति-

प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययाऽनुयायित्वात् प्रभूतविषयः ॥ ५१ ॥

समभिरूढनयो हि पर्यायशब्दानां व्युत्पत्तिभेदेन भिन्नार्थतामर्थयत इति तनुगोचरोऽसौ, शब्दनयस्तु तेषां तद्भेदेनाऽप्येकार्थतां समर्थयत इति समधिकविषयः ॥ ५१ ॥

समभिरूढादेवम्भूतो भूमविषय इत्यप्याकूतं प्रतिक्षिपन्ति-

प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात्समभिरूढस्तदन्यथाऽर्थस्थापकत्वान्महागोचरः ॥ ५२ ॥

एवभूतनयो हि क्रियाभेदेन भिन्नमर्थं प्रतिजानीत इति तुच्छविषयोऽसौ, समभिरूढस्तु तद्भेदेनाऽप्यभिन्नं भावमभिप्रैतीति प्रभूतविषयः ॥ ५२ ॥

अथ यथा नयवाक्यं प्रवर्त्तते तथा प्रकाशयन्ति-

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्त्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुव्रजति ॥ ५३ ॥

नयवाक्यम्-प्राग्लक्षितविकलाऽऽदेशस्वरूपं, न केवलं सकलाऽऽदेशस्वभावं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दाऽर्थः । स्वविषये स्वाऽभिधेये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां परस्परविभिन्नार्थनययुग्मसमुत्थाविधाननिषेधाभ्यां कृत्वा सप्तभङ्गीमनुगच्छति, प्रमाणसप्तभङ्गीवदेतद्विचारः कर्त्तव्यः, नयसप्तभङ्गीष्वपि प्रतिभङ्गं स्यात्कारस्यैवकारस्य च प्रयोगसद्भावात् । तासां विकलाऽऽदेशत्वादेव सकलाऽऽदेशाऽऽत्मिकायाः प्रमाणसप्तभङ्ग्या विशेषव्यवस्थापनात् । विकलाऽऽदेशस्वभावा हि नयसप्तभङ्गी, वस्त्वंशमात्रप्ररूपकत्वात्; सकलाऽऽदेशस्वभावा तु प्रमाणसप्तभङ्गी सम्पूर्णवस्तुस्वरूपप्ररूपकत्वादिति ॥ ५३ ॥ रत्ना० ७ परि० ।

यावदेवभेदाभेदरूपं वस्तूपदर्श्य भेदस्य पर्यायार्थिकविषयस्य द्वैविध्यमाह--

सो पुण समासओ चिय, वंजणणियओ य अत्थणियओ य ।
अत्थगओ य अभिन्नो, भइयव्वो वंजणवियप्पो ॥ ३० ॥

स पुनर्विभागः समासतः सङ्क्षेपतो व्यञ्जननियतः शब्दनयनिबन्धनोऽर्थनियतश्चार्थनयनिबन्धनश्च, तत्राऽर्थगतस्तु विभागोऽभिन्नः संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रार्थप्रधाननयाविषयोऽर्थपर्यायोऽभिन्नोऽसद्द्रव्यातीतानागतव्यवच्छिन्नाभिन्नार्थपर्यायरूपत्वा--त्तद्विषया नया अप्यर्थगतो विभागोऽभिन्न इत्युच्यते ।

भाज्यो व्यञ्जनविकल्प इति विकल्पितः शब्दपर्यायो भिन्नोऽभिन्नश्चानेकाभिधान एकः, एकाभिधानश्चैक इति कृत्वा समानलिङ्गसंख्याकालाऽऽदिरनेकशब्दो घटः कुटः कुम्भ इत्यादिक एकार्थ इति शब्दनयः । समभिरूढस्तु-भिन्नाभिधेयौ घटकुटशब्दौ भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वाद्रूपरसाऽऽदिशब्दवदित्येकार्थ एकशब्द इति मन्यते । एवम्भूतस्तु चेष्टासमय एव घटो घटशब्दवाच्यः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ।

तदेवमभिन्नोऽर्थो वाच्योऽस्य त्वभिन्नार्थो घटशब्द इति मन्यते यत्तदन्यतो विभक्तेन स्वरूपेणैकमनेकं च वस्त्वेकं तदनन्तप्रमाणमित्याख्यातुमाह-

एगदवियम्मि जे अ-त्थपज्जवा वयणपज्जवा वा वि ।
तीयाऽणागयभूया, तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ ३१ ॥

एकस्मिन् जीवाऽऽदौ द्रव्येऽर्थपर्याया अर्थग्राहकाः सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्यास्तद्ग्राह्या वाऽर्थभेदा वचनपर्याया शब्दनयाः शब्दसमभिरूढैवम्भूतास्तत्परिच्छेद्या वस्त्वंशा वा, ते चातीताऽनागतवर्त्तमानरूपतया सर्वदा विवर्त्तन्ते, विवृत्ताः, विवर्त्तिष्यन्त इति, तेषामानन्त्याद्वस्त्वपि तावत्प्रमाणं भवति ॥ तथा हि-अनन्तकालेन सर्वेण वस्तुना सर्वावस्थानां परस्परानुगमेनासादितत्वाद्वस्त्वस्यातुल्यावस्थानां कथञ्चिदनन्यत्वाद् घटाऽऽदिवस्तु कुटपुरुषाऽऽदिरूपेणाऽपि कथञ्चिद्विवृत्तमिति सर्वं सर्वाऽऽत्मकं कथञ्चिदिति स्थितम् । दृश्यते चैकं पुद्गलद्रव्यमतीतानागतवर्त्तमानद्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषपरिणामाऽऽत्मकं युगपत्क्रमेणापि तत्तथाभूतमेव, एकान्तासत उत्पादायोगात्, सतश्च निरन्वयविनाशासम्भवादिति प्रतिपादितत्वात् ।

एवं तावद् बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधस्याऽपि वस्तुनोऽनेकान्ताऽऽत्मकत्वं प्रतिपाद्य तत्प्रतिपादनवाक्यनयानामपि तथाविधमेव स्वरूपं नान्यादृग्भूतमस्तीति प्रतिपादयन्नाह-

पुरिसम्मि पुरिससद्दो, जम्माऽऽई मरणकालपज्जंतो ।
तस्स उ बालाऽऽईया, पज्जवजोया बहुवियप्पा ॥ ३२ ॥

अथवा-अर्थव्यञ्जनपर्यायैः शक्तिव्यक्तिरूपैरनन्तैरनुगतोऽर्थः सविकल्पो, निर्विकल्पकश्च । प्रत्यक्षतोऽवगत इति इदानीं पुरुषदृष्टान्तद्वारेण व्यञ्जनपर्यायं तदविकल्पत्वनिबन्धनमर्थपर्यायं च । तत्र सविकल्पत्वनिमित्तमाह-"पुरिसम्मि" इत्यादिना सूत्रेण, अतीतानागतवर्तमानानन्तार्थव्यञ्जनपर्यायाऽऽत्मके पुरुषवस्तुनि पुरुष इति शब्दो यस्याऽसौ पुरुषशब्दस्तद्वाच्योऽर्थो जन्माऽऽदिर्मरणपर्यन्तोऽभिन्न इत्यर्थः, पुरुष इत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययव्यवहारप्रवृत्तेः । तस्यैव बालाऽऽदयः पर्याययोगाः परिणतिसम्बन्धा बहुविकल्पा अनेकभेदाः प्रतिक्षणसूक्ष्मपरिणामान्तर्भूता भवन्ति, तत्रैव तथा व्यतिरेकज्ञानोत्पत्तेः । एवं च स्यादेक इत्यविकल्पः, स्यादनेक इति सविकल्पः सिद्धः । अन्यथाऽभ्युपगमे तदभाव एवेति विपक्षे " अत्थि त्ति णिव्वियप्पं (३३) " इत्यनन्तरगाथया बाधां दर्शयिष्यति, द्वितीयपातनिकया न । गाथार्थस्तु-पुरुषवस्तुनि पुरुषध्वनिर्व्यञ्जनपर्यायः, शेषो बालाऽऽदिधर्मकलापोऽर्थपर्याय इति गाथासमुदायार्थः । ननु कोऽयं पुरुषशब्दः, कथं वा शब्दोऽर्थस्य पर्यायः, ततोऽत्यन्तभिन्नत्वाद् घटस्येव पटः ॥ (३२) सम्म० १ काण्ड ।

यश्च कथं शब्दो वस्त्वन्तरत्वात्पुरुषाऽऽदेर्वस्तुनो धर्मः ?, येनाऽसौ तस्य व्यञ्जनपर्यायो भवेदित्युक्तम् । तत्र नामनयाऽभिप्रायात् "नामनामवतोरभेदात्" पुरुषशब्द एव पुरुषार्थस्य व्यञ्जनपर्यायः । यद्वा-पुरुष इति शब्दो वाचको यस्याऽर्थगततद्वाच्यधर्मस्याऽसौ पुरुषशब्दः, स चाभिधेयपरिणामरूपो व्यञ्जनपर्यायः । कथं नाऽर्थधर्म्मः, स च व्यञ्जनपर्यायः पुरुषोत्पत्तेरारभ्याऽऽपुरुषविनाशाद्भवतीति जन्माऽऽदिर्मरणसमयपर्यन्त उक्तः, तस्य तु बालाऽऽदयः पर्याययोगा बहुविकल्पाः, तस्य पुरुषाभिधेयपरिणामवतो बालकुमाराऽऽदयस्तत्रोपलभ्यमाना अर्थपर्याया भवन्त्यनन्तरूपाः ।

एवं च पुरुषो व्यञ्जनपर्यायेणैको, बालाऽऽदिभिस्त्वर्थपर्यायैरनेको, यथा पुरुषस्तथा सर्वं वस्त्वेकमनेकं वा, सर्वस्य तथैवोपलब्धेः, अन्यथाऽभ्युपगमे एकान्तरूपमपि तन्न भवेदिति दर्शयन्नाह-

अत्थि त्ति णिव्वियप्पं, पुरिसं जो भणइ पुरिसकालम्मि ।
सो बालाऽऽइवियप्पं, न लहइ तुल्लं वयावेज्जा ॥ ३३ ॥

अस्तीत्येव निर्विकल्पं निष्क्रान्ताशेषभेदस्वरूपं पुरुषमेकरूपं पुरुषद्रव्यं यो ब्रवीति पुरुषकाले पुरुषोत्पत्तिक्षण एवाऽसौ बालाऽऽदिभेदं न लभते, बालाऽऽदिभेदरूपतया नाऽसौ स्वयमेव व्यवस्थितिं प्राप्नुयात्, नाऽपि तद्रूपतया अपरमसौ पश्येदेव वा भेदरूपमेव तत् पुरुषवस्तु प्रसज्येत, तुल्यं वा प्राप्नुयात्, तदप्यभेदरूपं बालाऽऽदितुल्यत्वमेव भावरूपतया प्राप्नुयाद्भेदाप्रतीतावभेदस्याप्यप्रतीतेरभाव इति भावः । यद्वा-अस्तीत्येव निर्विकल्पं-निष्क्रान्तो विकल्पो भेदो यस्मिन् पुरुषद्रव्ये तन्निर्विकल्पं भेदरूपं पुरुषं तत्स्वरूपलाभकाले भणत्यसौ बालाऽऽदिविकल्पं न लभेत तुल्यमिति द्रव्यतुल्यतामेवाऽसौ प्राप्नुयात्, अत्राऽपि पूर्ववत् तदग्रहे तदग्रहाद्भेदरूपताया अप्यभाव इति भावः । न चैवमेवास्तीति वक्तव्यम्, सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेरिति भेदाऽभेदरूपमेव वस्तु ।

अस्यैवोपसंहारार्थमाह-

वंजणपज्जायस्स उ, पुरिसो पुरिसो त्ति णिच्चमवियप्पो ।
बालाऽऽइवियप्पं पुण, पासइ से अत्थपज्जाओ ॥ ३४ ॥

शब्दपर्यायेणाविकल्पः पुरुषः, बालाऽऽदिना त्वर्थपर्यायेण सविकल्पः सिद्ध इति गाथातात्पर्यार्थः । व्यञ्जयति, व्यनक्ति वाऽर्थानिति व्यञ्जनं शब्दो, न पुनः शब्दनयः, तस्य ऋजुसूत्रार्थनयविषयत्वादिति केचित् । तस्य पर्याय आ जन्मनो मरणान्तं यावदभिन्नस्वरूपं पुरुषद्रव्यप्रतिपादकत्वं, तद्वशेन तत्प्रतिपाद्यं वस्तुस्वरूपमत्र ग्राह्यम्, उपचारात् । एवं च द्वितयमप्येतत्पुरुषः पुरुष इत्यभेदरूपतया न भिद्यते, व्यञ्जनपर्यायमतेन पुरुषवस्तु सदाऽविकल्पं, भेदं न प्रतिपद्यत इति यावत् । बालाऽऽदिविकल्पं बालाऽऽदिभेदं पुनस्तस्यैव पश्यत्यर्थपर्याय ऋजुसूत्राऽऽद्यर्थनयः । अत्रापि विषयिणा विषय ऋजुसूत्राऽऽद्यर्थनयविषयेऽभिन्ने पुरुषरूपे भेदे स्वरूपो निर्दिष्टः, उपचारात् । एवं चाभिन्नं पुरुषवस्तु भेदं प्रतिपद्यत इति यावत् । सम्म० १ काण्ड । स्या० ।

(३५) नयेषु मिथ्यात्वसम्यक्त्वे । अथ नयोत्पादितेष्वपरिमितेषु दर्शनेषु कस्मिन् मिथ्यात्वं, कस्मिंश्च सम्यक्त्वमिति जिज्ञासायामाह-

नास्ति नित्यो न नो कर्ता, न भोक्ताऽऽत्मा न निर्वृतिः ।
तदुपायश्च नेत्याहु-र्मिथ्यात्वस्थानकानि षट् ॥ १२३ ॥

(नास्तीत्यादि) नाऽस्त्यात्मेति चार्वाकमते, न नित्य इति क्षणिकवादिमते, न कर्ता न भोक्तेति साङ्ख्यमते । यद्वा-न कर्तेति साङ्ख्यमते, न भोक्तेत्युपचरितभोक्तृत्वस्यानभ्युपगमात् वेदान्तिमते, नास्ति निर्वृत्तिः सर्वदु खविमोक्षलक्षणेति नास्तिकप्रायाणां सर्वज्ञानभ्युपगन्तॄणां यज्वनां मते, अस्ति मुक्तिः परं तदुपायो नास्ति, सर्वभावाना नियतत्वेनाकस्मादेव भावादिति नियतिवादिमते । इत्येतानि षट् मिथ्यात्वस्थानकान्याहु. पूर्वसूरय. ॥ १२३ ॥

षमेतद्विपरीतानि, सम्यक्त्वस्थानकान्यपि ।
मार्गत्यागप्रवेशाभ्यां, फलतस्तत्त्वमिष्यते ॥ १२४ ॥

(षमेतदिति) एतेभ्यः प्रागुक्तेभ्यो विपरीतानि षट् सम्यक्त्वस्थानकान्यपि भवन्ति-अस्त्यात्मा नित्यः कर्ता साक्षाद्भोक्ता, अस्ति मुक्तिरस्ति च तत्कारणं रत्नत्रयसाम्राज्यमिति । तदिदमुक्तम्-" अत्थि जिओ तह णिच्चो, कत्ता भुत्ता स पुन्नपावाण । अत्थि धुवं णिव्वाणं, तस्सोवाओ अ छट्ठाणा ॥१॥ " इति चार्वाकाऽऽदिपक्षनिरासश्चातिभूयानिति लताऽऽदित एव तदवगमो विधेय । नयो० ।

नया. समुदिता सम्यक्त्विनः । आद्यस्तुतिकारोऽप्यवोचत-
" नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे,
रसोपविद्धा इव लोहधातव. ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो,
भवन्तमार्या प्रणता हितैषिण. ॥१॥" आ०म०१अ०१खण्ड।

अधुना परदर्शनानां परस्परविरुद्धाऽर्थसमर्थकतया मत्सरित्व प्रकाशयन् सर्वज्ञोपज्ञसिद्धान्तस्यान्योऽन्यानुगतसर्वनयमयतया मात्सर्याभावमाविर्भावयति-

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्,
यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयानशेषानविशेषमिच्छ-
न्न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥

प्रकर्षेणोद्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति प्रवादा' । यथा येन प्रकारेण, परे भवच्छासनादन्ये, प्रवादा. दर्शनानि मत्सरिण.-अतिशायने मत्वर्थीयविधानात् सातिशयाऽसहनताशालिन क्रोधकषायकलुषितान्त.करणा. सन्त. पक्षपातिन इतरपक्षतिरस्कारेण स्वकक्षीकृतपक्षव्यवस्थापनप्रवणा वर्तन्ते । कस्माद्धेतोर्मत्सरिण ?, इत्याह-अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात् । पच्यते व्यक्तीक्रियते साध्यधर्मवैशिष्ट्येन हेत्वादिभिरिति पक्ष -कक्षीकृतधर्मप्रतिष्ठापनाय साधनोपन्यास । तस्य प्रतिकूल: पक्ष. प्रतिपक्ष । पक्षस्य प्रतिपक्षो विरोधी पक्ष., तस्य भाव. पक्षप्रतिपक्षभाव. । अन्योऽन्य परस्पर य पक्षप्रतिपक्षभाव. पक्षप्रतिपक्षत्वमन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावस्तस्मात् । तथाहि-य एव मीमांसकानां नित्य. शब्द. इति पक्ष., स एव सौगताना प्रतिपक्ष., तन्मते शब्दस्याऽनित्यत्वात् । य एव सौगतानाम्-अनित्यः शब्द. इति पक्ष , स एव मीमांसकानां प्रतिपक्ष. । एवं सर्वप्रयोगेषु योज्यम् । तथा तेन प्रकारेण, ते तव, सम्यग् एति गच्छति शब्दोऽर्थमनेनेति " पुंनाम्नि घः " ॥ ५।३।१३० ॥ समय. सङ्केत । यद्वा-सम्यगवैपरीत्येनाऽऽयन्ते ज्ञायन्ते जीवाऽजीवाऽऽदयोऽर्था अनेनेति समय. सिद्धान्त । अथ वा-सम्यगयन्ते गच्छन्ति जीवाऽऽदय. पदार्थाः स्वस्मिन् रूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन्निति समय आगमः । न पक्षपाती नैकपक्षानुरागी । पक्षपातित्वस्य हि कारणं मत्सरित्वं परप्रवादेषूक्तम् । त्वत्समयस्य च मत्सरित्वाभावान्न पक्षपातित्वम् । पक्षपातित्वं हि मत्सरित्वेन व्याप्तम् । व्यापकं च निवर्तमान व्याप्यमपि निवर्त्तयतीति मत्सरित्वे निवर्त्तमाने पक्षपातित्वमपि निवर्तत इति भाव. । 'तव समय.' इति वाच्यवाचकभावलक्षणे सम्बन्धे षष्ठी । सूत्रापेक्षया गणधरकर्तृकत्वेऽपि समयस्याऽर्थापेक्षया भगवत्कर्तृकत्वाद्वाच्यवाचकभावो न विरुध्यते-"अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।" (११९६) इति (भाष्य) वचनात् । अथवा-उत्पादव्ययध्रौव्यप्रपञ्चः समय., तेषां च भगवता साक्षान्मातृकापदरूपतयाऽभिधानात् । तथा चार्षम्-" उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा " इत्यदोष. । मत्सरित्वाभावमेव विशेषणद्वारेण समर्थयति-" नयानशेषानविशेषमिच्छन् " इति । अशेषान् समस्तान्नयान् नैगमाऽऽदीन् अविशेष निर्विशेष यथा भवत्येवमिच्छन्नाकाङ्क्षन्, सर्वनयाऽऽत्मकत्वादनेकान्तवादस्य । यथा विशकलितानां मुक्तामणीनामेकसूत्रानुस्यूतानां हारव्यपदेश., एव पृथगभिसन्धीनां नयाना स्याद्वादलक्षणैकसूत्रप्रोतानां श्रुताऽऽख्यप्रमाणव्यपदेश इति । ननु प्रत्येक नयानां विरुद्धत्वे कथ समुदितानां निर्विरोधिता ? । उच्यते--यथा हि समीचीन मध्यस्थ न्यायनिर्णेतारमासाद्य परस्पर विवदमाना अपि वादिनो विवादाद्विरमन्ति, एवं नया अन्योऽन्य वैरायमाणा अपि सार्वज्ञशासनमुपेत्य स्याच्छब्दप्रयोगोपशमितविप्रतिपत्तय. सन्तः परस्परमत्यन्तसुहृद्भूततयाऽवतिष्ठन्ते । एव च सर्वनयाऽऽत्मकत्वे भगवत्समयस्य सर्वदर्शनमयत्वमविरुद्धमेव, नयरूपत्वाद्दर्शनानाम् । न च वाच्यम्, तर्हि भगवत्समयस्तेषु कथ नोपलभ्यत इति ?, समुद्रस्य सर्वसरिन्मयत्वेऽपि विभक्तासु तास्वनुपलम्भात् ।

तथा च वक्तृवचनयोरैक्यमध्यवस्य श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादा'-
" उदधाविव सर्वसिन्धवः,
समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टय ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते,
प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधि " ॥ १ ॥

अन्ये त्वेवं व्याचक्षते-यथा--' अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात्परे प्रवादा मत्सरिणस्तथा तव समय. सर्वनयान् मध्यस्थतयाऽङ्गीकुर्वाणो न मत्सरी । यत कथम्भूत. ?, पक्षपाती, पक्षमेकपक्षाभिनिवेशं पातयति तिरस्करोतीति पक्षपाती, रागस्य जीवनाश नष्टत्वात् ' । अत्र च व्याख्याने मत्सरीति विधेयपद, पूर्वस्मिंश्च पक्षपातीति विशेष । अत्र च क्लिष्टाक्लिष्टव्याख्यानविवेको विवेकिभि. स्वयं कार्य इति काव्यार्थ. ॥ ३० ॥ स्या० । अष्ट० । सम्म० । न कारणमेव कार्यं परिणामो वा, परिणामो न कार्यं नापि कारणम्, अपि तु द्रव्यमात्र तत्त्वमिति, तदेव वेति नियमेनैकान्ताभ्युपगमे सर्वं एवैते मिथ्यावादा., उक्तन्यायेन नियमेन मिथ्यात्वमित्यभिधानात् । कथञ्चिदभ्युपगमे सम्यग्वाद एवैते । इत्युक्तं भवति—यत उत्पादव्ययध्रौव्याऽऽत्मकत्वे वस्तुन. स्थिते, तद्वस्तु तत्तदपेक्षया कार्यमकार्यं च कारणमकारणं च कारणे कार्यं सदसच्च कारण कार्यकाले विनाशवदविनाशवच्च, तथैव प्रतीते', अन्यथा चाप्रतीतेः । अत एकान्तरूपस्य वस्तुनोऽभावात् सर्वेऽपि नयाः

स्वविषयपरिच्छेदसमर्था अपीतरनयविषयव्यवच्छेदेन स्वविषये वर्त्तमाना मिथ्यात्व प्रतिपद्यन्त इत्युपसंहरन्नाह-

णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वनया परवियालणे मोहा ।
ते पुण ण दिट्ठसमओ,विभइ य सच्चे व अलिए वा ॥२८॥

निजकवचनीये स्वांशे परिच्छेद्ये सत्याः सम्यग्ज्ञानरूपाः सर्व एव नयाः संग्रहाऽऽद्यः. परविचालने परविषयोत्खनने मोहा' मुह्यन्तीति मोहा मिथ्याप्रत्ययाः, परविषयस्याऽपि सत्त्वेनोन्मूलयितुमशक्यत्वात् तदभावे स्वविषयस्याऽप्यव्यवस्थितेस्ततश्च परविषयस्यासत्त्वे स्वविषयस्याप्यसत्त्वात् । तत्प्रत्ययस्य मिथ्यात्वमेव, तद्व्यतिरिक्तग्राह्यग्राहकप्रमाणस्य चाभावात्तानेव नयान् पुन शब्दस्यावधारणार्थत्वात्, नेति प्रतिषेधे, विभजनक्रियाया दृष्टः समयः सिद्धान्तवाच्यमनेकान्ताऽऽत्मक वस्तुतत्त्व येन पुसा स तथा सन् विभजते सत्येतरतया स्वेतरविषयमवधार्यमाणोऽपि तथा तत्रैव विभजते । अपि त्वितरनयविषयसव्यपेक्षमेव स्वनयाऽभिप्रेत विषय सत्यमेवावधारयतीति यावद् ग्राह्यसत्यासत्ये इत्येवमभिधानम् । तच्च दृष्टाऽनेकान्ततत्त्वस्य विभजनम्, स्यादस्त्येव द्रव्यार्थत इत्येवरूप ।

अतो नयप्रमाणाऽऽत्मकैकरूपताव्यवस्थितमात्मस्वरूपमनुगतव्यावृत्ताऽऽत्मकमुत्सर्गापवादरूपग्राह्यग्राहकाऽऽत्मकत्वाद् व्यवतिष्ठत इत्यर्थप्रदर्शनायाऽऽह-

दव्वट्ठियवत्तव्वं, सव्वं सव्वेण णिच्चमवियप्पं ।
आरद्धो अविभागो, पज्जववत्तव्वमग्गो य ॥२६॥

यत् किञ्चिद् द्रव्यार्थिकस्य सग्रहाऽऽदेः सदादिरूपेण व्यवस्थित वस्तु वक्तव्य परिच्छेद्य तत्सर्वं सर्वेण प्रकारेण नित्य सर्वकालमविकल्पं निर्भेदं,सर्वस्य सदविशेषाऽऽत्मकत्वात् । तच्च भेदेन संपृक्तमिति दर्शयितुमाह-आरब्धश्चाविभाग , स एवाविभाग' सत्तारूपो यो द्रव्याऽऽदिनाऽऽकारेण प्रस्तुत., चशब्दस्य प्रक्रान्ताविभागान्न कर्पणार्थत्वात्, पर्यायवक्तव्यमार्गश्च पर्यायार्थिकस्य यद्वक्तव्य विशेषस्तस्य मार्ग पन्था जातः पर्यायार्थिकपरिच्छेद्यस्वभावो विशेष सपन्न इति । सम्म० १ काण्ड ।

(३६) एव नयस्य लक्षणसंख्याविषयान् व्यवस्थाप्येदानीं फल स्फुटयन्ति-

प्रमाणवदस्य फलं व्यवस्थापनीयम् ॥ ५४ ॥

प्रमाणस्येव प्रमाणवत्, अस्येति नयस्य, यथा खल्वानन्तर्येण प्रमाणस्य सपूर्णवस्त्वज्ञाननिवृत्तिः फलमुक्तम्, तथा नयस्याऽपि वस्त्वेकदेशाज्ञाननिवृत्ति फलमानन्तर्येणावधार्यम् । यथा च पारम्पर्येण प्रमाणस्योपादानहानोपेक्षाबुद्धयः सपूर्णवस्तुविषया फलत्वेनाभिहिता , तथा नयस्याऽपि वस्त्वशविषया.,ता परम्पराफलत्वेनावधारणीया । तदेतद् द्विप्रकारमपि नयस्य फल, तत कथञ्चिद्भिन्नमभिन्न चाऽवगन्तव्यम् , नयफलत्वान्यथाऽनुपपत्ते । कथञ्चिद्भेदाभेदप्रतिष्ठा च नयफलयोः प्रागुक्तप्रमाणफलयोरिव कुशलैः कर्त्तव्या । रत्ना० ७ परि० ।

नन्वनेन समोहहेतुना नयविचारेण सूत्र एव किं प्रयोजनम् ?, इत्याह-

अत्थं जो न समिक्खइ,निक्खेवनयप्पमाणओ विहिणा ।
तस्साजुत्तं जुत्तं, जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ ॥ २२७३ ॥
परसमएगनयमयं, तप्पडिवक्खनयओ निवत्तेज्जा ।
समए व परिग्गहियं, परेण जं दोसबुद्धीए ॥२२७४॥

यो नामस्थापनाऽऽदिद्वारेण, तथा नैगमाऽऽदिनयैः, प्रत्यक्षाऽऽदिभिश्च प्रमाणैरर्थं सूक्ष्मेक्षिकया विचार्य न समीक्षते न परिभावयति, तस्याऽविचारितरमणीयतया अयुक्त युक्त प्रतिभाति, युक्तमपि वाऽन्यतयाऽयुक्तं प्रतिभाति, अतः कर्तव्यो नयविचारः ॥ २२७३ ॥ किञ्च-बौद्धाऽऽदिपरसमयरूपमनित्यत्वाऽऽदिप्रतिपादकस्य ऋजुसूत्राऽऽदिकनयस्य यन्मतं तन्नयविधिज्ञ साधु' (तप्पडिवक्खनयओ त्ति) तस्यानित्यत्वाऽऽदिप्रतिपादकनयस्य प्रतिपक्षभूतो नित्यत्वाऽऽदिप्रतिपादको यो द्रव्यास्तिकाऽऽदिनयस्तस्मात्ततो निवर्त्तयेन्निराकुर्यात् । अथवा-समये स्वसिद्धान्ते, जैनागमेऽपीत्यर्थः । यद्वज्ञानद्वेषाऽऽदिदोषकलुषितेन परेण दोषबुद्ध्या किमपि जीवाऽऽदिक वस्तु परिगृहीत भवति, तदपि नयविधिज्ञो निवर्त्तयेत्-नयोक्तिभिर्गुणरूपतया तत्स्थापयेदित्यर्थ । अस्मात्कर्त्तव्यो नयविचार इति गाथा (द्वया) र्थः ॥ २२७४ ॥

आह-किं सर्वत्र सर्वदा सर्वोऽपि कर्तव्यो नयविचारः ?, न, इत्याह-

एएहिं दिट्ठिवाए, परूवणा सुत्त-अत्थकहणा य ।
इह पुण अणब्भुवगमो,अहिगारो तीहिँ ओसन्नं ॥२२७५॥

एभिर्नैगमाऽऽदिभिर्नयैः सप्तभेदैर्दृष्टिवादे सर्ववस्तुप्ररूपणा सूत्राऽर्थकथना च, क्रियते इति शेष । इह पुन. कालिकश्रुतेऽनभ्युपगमो, नावश्य नयैर्व्याख्या कार्या । यदि च-श्रोत्रपेक्षया नयविचारः क्रियते, तदा त्रिभिराद्यैरुत्सन्न प्रायेणात्राधिकार इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २२७५ ॥

किमिति त्रिभिरेवाऽऽद्यनयैरिहाधिकारो, न शेषैः ?,इत्याह-

पायं संववहारो, ववहारं तेहिँ तिहिँ य जं लोए ।
तेण परिकम्मणत्थं, कालियसुत्ते तदहिगारो ॥२२७६॥

सुगमा । नवर शिष्यमतिपरिकर्मणार्थं तैः स्थूलसव्यवहारार्थप्रतिपादकैरेव नैगमसग्रहव्यवहारनयैरिहाधिकार इति गाथार्थः ॥ २२७६ ॥

आह-नन्विह पुनर्नाभ्युपगम इत्यभिधाय पुनस्त्रिनयानुज्ञा किमर्थम् ?, इत्याह-

नत्थि नएहिँ विहूणं, सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि ।
आसज्ज उ सोयारं, नए नयविसारओ बूया ॥२२७७॥

सूत्रमर्थो वा नास्ति जिनमते नयैर्विहीन किञ्चिदपि, तथाऽप्याचार्यशिष्याणां मतिमान्द्यापेक्षया सर्वनयविचारनिषेधः कृत. । विमलमतिं श्रोतार पुनरासाद्य नयविशारदः सूरिः समनुज्ञातमाद्यनयत्रय शेषान् वा नयान् ब्रूयादिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २२७७ ॥

अत्र भाष्यम्-

नासिज्ज वित्थरेण वि, नयमयपरिणामणासमत्थम्मि ।
तदसत्ते परिकम्मण-मेगनएणं पि वा कुज्जा ॥२२७८॥

सुगमा । नवर वाशब्दान्नयद्वयेन त्रयेण वा शिष्यमतिपरिक-

मेवां कुर्यात्, तथाविधमतिमान्द्ये तु नैकमपि नय भाषेत, इत्येतदपि द्रष्टव्यमिति ॥२२७८॥ तदेवमुक्तं नयद्वारम् । विशे० । अनु० ।

(३७) अथवा ज्ञानक्रियानयद्वये सप्तानामादीनां समवतारोऽतस्तत्स्वरूपमाह-

नाणाहीणं सव्वं, नाणनओ जणइ किं च किरियाए ।
किरियाए करणनओ, तदुभयगाहो य सम्मत्तं ॥३५९१॥

ज्ञानाधीनमेव सर्वमैहिकाऽऽमुष्मिकं सुखम्, किमत्र क्रियया कर्तव्यम् ? । युक्तिश्चेहानन्तरमेव वक्ष्यति । करणनयस्तु क्रियानयो वक्ष्यमाणयुक्तेरेव सर्वमैहिकाऽऽमुष्मिकं सुखं क्रियाया एवाऽऽधीनमिति भणति । उभयग्राहश्चेह सम्यक्त्वं स्थितपक्ष इति ॥ ३५९१ ॥ विशे० । आव० । सूत्र० । सम्म० । नि० चू० । अनु० । आचा० । आ० म० । विपा० । आ० चू० । (ज्ञानक्रियानयशब्दयोर्मतमनयोरवलोकनीयम् । 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३५८ पृष्ठे, 'अज्जरक्खिय' शब्दे २१४ पृष्ठे च नयानां पार्थक्यमार्यवैरेण कृतम्)

(३८) क्वैतेषां नयानां समवतारः, क्व वाऽनवतारः ?, इति संशयापनोदार्थमाह-

मूढनइयं सुयं का-लियं तु न नया समोयरंति इहं ।
अपुहत्ते समोयारो, नत्थि पुहत्ते समोयारो ॥२२७९॥

मूढा अविभागस्था नया यत्र तन्मूढनय, तदेव मूढनयिकम्, किं तत् ?, कालिकं श्रुतम्-काले प्रथमचरमपौरुषीलक्षणे कालग्रहणपूर्वकं पठ्यत इति कालिकं, तत्र न नयाः समवतरन्त्यत्र प्रतिपदं न भण्यन्त इत्यर्थः । क्व पुनस्तर्ह्यमीषां समवतार आसीत्, कदा चाऽयमनवतारस्तेषामभूत् ?, इत्याह-(अपुहत्ते इत्यादि) चरणकरणाऽनुयोगधर्मकथाऽनुयोगगणिताऽनुयोगद्रव्याऽनुयोगानामपृथग्भावोऽपृथक्त्वं प्रतिसूत्रमविभागेन वक्ष्यमाणेन विभागाभावेन प्रवर्तनं प्ररूपणमित्यर्थः । तस्मिन्नपृथक्त्वे नयानां विस्तरेणाऽऽसीत् समवतारः । चरणकरणाऽऽद्यनुयोगानां पुनर्वक्ष्यमाणलक्षणे पृथक्त्वे नाऽस्ति समवतारो नयानाम्, भवति वा कांचित्पुरुषापेक्षोऽसौ । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २२७९ ॥

भाष्यकारव्याख्या-

अविभागत्था मूढा, नय त्ति मूढनइयं सुयं तेण ।
न समोयरंति संता, पइप्पयं जं न भण्णंति ॥२२८०॥
अपुहत्तमेगभावो, सुत्ते सुत्ते सवित्थरं जत्थ ।
भण्णंतणुओगा चर-णधम्मसंखाण दव्वाणं ॥२२८१॥
तत्थेव नयाणं पि हु, पइवत्थुं वित्थरेण सव्वेसिं ।
देसिंति समोयारं, गुरवो भयणा पुहत्तम्मि ॥२२८२॥
एगो च्चिय देसिज्जइ, जत्थऽणुओगो न सेसया तिण्णि ।
संता वि तं पुहत्तं, तत्थ नया पुरिसमासज्ज ॥ २२८३ ॥

एतस्तोऽपि गतार्थाः, नवरं प्रथमगाथोत्तरार्द्धे यद्यसास्सन्तोऽपि प्रतिपदं न भण्यन्ते, अपृथक्त्वं किमुच्यते ?, इत्याह-एकभावः । एकभावमेव विवृणोति-(सुत्ते सुत्ते इत्यादि) यत्र सूत्रे सूत्रेऽनुयोगा व्याख्यानानि भण्यन्ते । केषाम् ? इत्याह-(चरणेत्यादि) संख्यानं गणितमुच्यते । ततश्चेदमत्र हृदयम्-यत्रैकैकस्मिन् सूत्रे चरणकरणाऽनुयोगः, धर्मकथानुयोगः, गणितानुयोगः, द्रव्यानुयोगश्च सविस्तरं व्याख्यायते, न तु वक्ष्यमाणेन पार्थक्येन तदपृथक्त्वमिति शेषः । पृथक्त्वं तु किमुच्यते ?, इत्याह-(एगो च्चिय इत्यादि) इदं च "कालियसुय च" (२२९४) इत्यादिवक्ष्यमाणगाथायां व्यक्तीभविष्यतीति + ॥ २२८० ॥ २२८१ ॥ २२८२ ॥ २२८३ ॥

आह-कियन्तं कालं यावत्पुनरिदं पृथक्त्वमासीत् ?, कुतो वा पुरुषविशेषात्कारणात् पृथक्त्वमभूदित्याह-

जावंति अज्जवइरा, अपुहत्तं कालियाऽणुओगस्स ।
तेणाऽऽरेण पुहत्तं, कालियसुय दिट्ठिवाए य ॥२२८४॥

यावदार्यवैरा गुरवो महामतयस्तावत्कालिकश्रुताऽनुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्, तदा व्याख्यातॄणां श्रोतॄणां च तीक्ष्णप्रज्ञत्वात् । कालिकग्रहणं च प्राधान्यख्यापनार्थम्, अन्यथोत्कालिकेऽपि सर्वत्र प्रतिसूत्रं चत्वारोऽप्यनुयोगास्तदानीमासन्नेवेति । तदारतस्त्वार्यरक्षितेभ्यः समारभ्य कालिकश्रुते दृष्टिवादे चाऽनुयोगानां पृथक्त्वमभूत् । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २२८४ ॥

भाष्यम्-

अपुहत्तमासि वइरा, जावं ति पुहत्तमारओऽभिहिए ।
के ते आसि कया वा, पसंगओ तेसिमुप्पत्ती ॥२२८५॥

आर्यवैराद् यावदपृथक्त्वमासीत्, तदारतस्तु पृथक्त्वमुक्तम्, एतस्मिंश्चाऽभिहिते क एते आर्यवैराः, कदा च ते आसन् ? इति विनेयपृच्छायां प्रसक्त आर्यवैराणामुत्पत्तिरुच्यत इति गाथार्थः ॥२२८५॥ विशे० । ('अज्जरक्खिय' शब्दे २१२ पृष्ठे सर्वं वृत्तम्)

नयविभागे विशेषतः कारणमाह-

सविसयमसद्दहंता, नयाण तम्मत्तयं च गिण्हंता ।
मण्णंता य विरोहं, अपरीणामाऽतिपरिणामा ॥२२९२॥
गच्छेज्ज मा हु मिच्छं, परिणामा य सुहुमाइबहुभेए ।
होज्जाऽसत्ते घेत्तुं, न कालिए तो नयविभागो ॥२२९३॥

(सविसयेत्यादि) इह शिष्यास्त्रिविधाः । तद्यथा-अपरिणामाः, अतिपरिणामाः, परिणामाश्चेति । तत्राऽविपुलमतयोऽगीतार्था अपरिणतजिनवचनरहस्या अपरिणामाः । अतिव्याप्त्याऽपवादरुचयोऽतिपरिणामाः । सम्यक्परिणतजिनवचनास्तु मध्यस्थवृत्तयः परिणामाः । तत्र ये अपरिणामास्ते नयानां यः स्वः स्व आत्मीय आत्मीयो विषयो "ज्ञानमेव श्रेयः क्रिया चाऽश्रेयः" इत्यादिकः, तमश्रद्दधानाः । ये त्वतिपरिणामास्तेऽपि यदैकैकेन नयेन क्रियाऽऽदिकं वस्तु प्रोक्तं तदेव तन्मात्रं प्रमाणतया गृह्णन्त एकान्तनित्याऽऽदिकवस्तुप्रतिपादकनयानां च परस्परविरोधं मन्वाना मिथ्यात्वमागच्छेयुः, येऽप्युक्तस्वरूपाः परिणामाः शिष्यास्ते यद्यपि मिथ्यात्वं न गच्छन्ति, तथाऽपि विस्तरेण नयैर्व्याख्यायमानैर्ये सूक्ष्माः सूक्ष्मतराश्च तद्भेदाः, तान् गृहीतुमशक्ता असमर्था भवेयुरिति मत्वा तत आर्यरक्षितसूरिभिः कालिक इत्युपलक्षणत्वात्सर्वस्मिन्नपि श्रुते नयविभागो विस्तरव्याख्यारूपो न कृत इति गाथा(द्वया)र्थः ॥२२९२॥ ॥२२९३॥ विशे० । आ० चू० । आ० क० । आ० म० । अभिप्रायविशेषे, च० प्र० १ पाहु० । आ० म० । न्याये, औ० । नीतौ च । विशे० ।

+ इयं च गाथा ग्रन्थतोऽवसेया, नेह गृहीता ।

(३९) तमेव नयमष्टप्रकारमाह—

आलोयणा य विणए,खेत्त दिसाऽभिग्गहे य काले य ।
रिक्खगुणसंपदा वि य,अभिवाहारे य अट्ठमए ॥३३७६॥

इहाऽभिमुख्येन गुरोरात्मदोषप्रकाशनमालोचना;विनयश्च बाह्य आसनदानाभ्युत्थानाऽऽदि , अन्तरङ्गस्तु बहुमानाऽऽदि ; तथा क्षेत्रमिक्षुक्षेत्राऽऽदि, तथा दिगभिग्रहश्च वक्ष्यमाणलक्षणः, कालश्च दिवसाऽऽदि , तथा ऋक्षसंपन्नक्षत्रसंपदिति, गुणाः प्रियधर्मत्वाऽऽदय , तत्संपत्प्राप्तिरिति; अभिव्याहरणमभिव्याहार कालिकाऽऽदिश्रुतविषय उद्देशसमुद्देशाऽऽदिरिति । अय चाऽष्टमो नय इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थ ॥३३९६॥ विशे० । आ० म० । औ० । (आलोचनाऽऽदिनयानां विवरण 'सामाइय' शब्दे दर्शयिष्यामि) द्यूतभेदे, कर्त्तरि अच् । नेतरि,न्याय्ये च । त्रि० । वाच० ।

णयकप्प–नयकल्प–पु० । नयतत्त्वसमाचारे, पं० चू० ।

... . ,णयकप्पमियाणि वोच्छामि ॥
सव्वेसिं पि णयाणं, आदेमणयतरं पि सट्ठाणे ।
एस णयंतरकप्पो, पुव्वगए विसालमादीसुं ॥
सव्वे वि णेगमाऽऽदी,आदिस्सति जो णयो स आदेसो ।
णयतो अण्णो वि णओ, णयंतरं होति णायव्वं ॥
सट्ठाणे सट्ठाणे, सव्वे बलिया हवंति मन्निमए ।
एसो णयकप्पो तू, पुव्वगतम्मी समक्खाओ ॥
उप्पयपुव्व विसालं, तमादि काउं तु सव्वपुव्वेसु ।
जाणतो तु णयविन्नाणो, पच्छं चोदेति अह सीसो ॥
कम्हा कालियसुत्ते, ण णया तु समोयरंति हु कहं वा ? ।
नयविगलें होति साहण–मोक्खस्स तु भण्णति सुणाहि ॥
णयवज्जिओ वि हु अल्ल,दुक्खक्खयकारओ जतिजणस्स ।
चरणकरणाणुओगो, तेण उ पढमं कयं दारं ॥
आयारपकप्पधरो, कप्पव्ववहारधारओ अज्जो ! ।
णयसुत्तवज्जिओ वि हु, गणपरियट्टी अणुण्णातो ॥
पच्छित्तकरणं अणुपा–लणा य भणिता उ कप्पववहारे ।
एतेण सत्थधारी, गणधारी जो चरणधारी ॥
अज्जो ! त्ती आमतण–णिद्देसे वा णयस्स सुत्ताइं ।
जाति तु दिट्ठिवाते, पच्छित्तं दिज्जते तह तु ॥
तेहिं विणा विजाणति, आयारपकप्पधारओ जम्हा ।
तम्हा तु अणुण्णातो, गणपरियट्टी तु सो णियमा ॥
करणाऽणुपालयालं, पज्जवकसिणं समासतो णाणं ।
करणाऽणुपालणजुतं, पज्जवकसिणं भवे तिविहं ॥
दु–चि–पण–छक्कणयं–तरेसु सोलस हवति ठाणाइं ।
करणच्चाणपसत्था, करणट्ठाणा उ अपसत्था ॥
एयाइं ठाणाइं, दोहि वि गाहाहिँ जाइँ भणिताइं ।
तेसि परूवणमिणमो, समासतो होति बोधव्वा ॥
करणं तु किया होती, पडिलेहणमादि सामयारी तु ।
तं पालेज्ज तु णाणे–ण तं च दुविहं मुणेयव्वं ॥ दारं ।
पज्जवकसिण समासो,पज्जवकसिणं तु चोद्दसं पुव्वा ।
सामासियं पकप्पो, होति समासो मुणेयव्वो ॥
पज्जवकसिणं तिविह, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
एमेव समासो वि हु,तेहिँ तु पालिज्जए चरणं ॥
तस्स णएहिं मग्गण, ते उ समासेण होंति दुविहा तु ।
दव्वट्ठपज्जवट्ठिय–णया उ अविसेसियविसिट्ठा ॥
सण्हादिसमुदिय तु, दव्वट्ठी दव्वमिच्छते णियमा ।
तं चेव पज्जवणओ, दव्वाइविसेसिय ऽच्छे ॥
अहवा वि तिण्हि वि णया, दव्वट्ठिय-पज्जवट्ठिय गुणट्ठी ।
पज्जायविसेस च्चिय, सुहुमतरागा गुणा होंति ॥
एगगुणकालगाऽऽदिसु, परिसखगुणट्ठितो तु णायव्वो ।
दव्वा उ गुणा णण्णे, गुणा विसेसा त्ति एगट्ठा ॥
आदिण्ह तिण्हि तु णया,एक्को वितिओ य होति उज्जुसुओ ।
सद्दादि तिण्हि चेक्को, तिण्हि णया होंति एवं वा ॥
अहवा णिग्गमसंगह–ववहारुज्जुसुए होंति चउरेते ।
सद्दणया तिण्हि एक्को, पच णया होंति एव तु ॥
अहवा वि होज्ज छक्कं, णेगमो संगाहिगो असंगाही ।
संगाहिगो संगह तु, ववहारपविट्ठऽसंगाही ॥
तम्हा तु संगहणओ, ववहारो चेव होति उज्जुसुओ ।
सद्दो य समभिरूढो, एवंभूतो य छ त्तु णया ॥
एतेहिं पुण सव्वे, वी दुग–तिग–पण–छक्क-मेलिया संता ।
सोलस णयंतराइं,समासओ होंति एयाइं ॥
जादि कुणति दवियकप्पं, एतेहिँ णयंतरेहिँ तु विसुद्धं ।
करणट्ठाणे पसत्था, ते खलु होंती मुणेयव्वा ॥
अकरते अपसत्था,कप्पे स णयंतरे समक्खाओ । पं०भा० ।

इयाणिं नयतरकप्पो-गाहा-(सव्वेसिं पि नयाण) आदेसनओ- जो जाणओ आइस्सइ । नयतर नाम–नयाओ नयस्स अंतर । एस णयतरकप्पो पुव्वगए भणिओ विसालाइसु, उप्पयपुव्वमेव विसाल । तत्थ किर सव्वाणि वि आकरिसिज्जति । आह–कालियसुत्ते कम्हा नया न समोयरति ? । उच्यते-(नयवज्जिओ वि हु अल्ल गाहा) सिद्धम्, नया इति कोऽर्थः ?, नयन्तीति नया । अथवा–नयः नीतिमार्गः, पन्था, दृष्टिग्राहक इत्यर्थः । ते च नैगमाऽऽद्याः जीवाऽऽदयः पदार्थाः विविधैः प्रकारैः नयन्ति उच्चादयति उपदर्शयन्तीत्यर्थः । तेषा च दृष्टिवादे समवतार । आह–अस्मिन् चरणकरणाऽनुयोगनयवादेऽप्यनभिज्ञाना कथ चरणविशुद्धिर्भवति ?। उच्यते–श्रूयताम् । (आयारपकप्पधरो गाहा) आचरणमाचार , क्रिया इत्यर्थः । स चाऽष्टप्रकारः–पञ्चसमितयः, गुप्तित्रयम् । एष चारित्राचार । आचारप्रकल्पधरो नाम–निशीथेषु सूत्रार्थधर इत्यर्थः । किं च–कल्पव्यवहारधरश्च । अज्जो ! त्ति आमन्त्रणे निर्देशो वा (नयसुत्तवज्जिओ त्ति) नयन्तीति नयाः,हु पादपूरणे । दुक्खक्खयकारओ जम्हा एएण गणपरियट्टी अणुण्णाओ । आह–कहमनुज्ञात ?। गाहा-(पच्छित्तकरण) जम्हा पायच्छित्तकरण अणुपालयति,तम्हा गणो

अणुपालिज्जइ, नं एकप्पयकप्पववहारेसु भणियं,एएण सत्थधारी जो सो गणपरियट्टी अणुएहाओ चरणजुत्तो जइ भवइ । गाहा-(करणाणुपालगाणं) त डुविह-पज्जवकसिणं, समासतश्च । पज्जवकसिण नाम-चोद्दसपुव्वाणि समासओ आयारपकप्पो, समास. सङ्क्षेप इत्यर्थः । यथा समुद्रभूतस्तडागः, चन्द्रमुखी देवदत्ता, सिंहो माणवकः; एकदेशेनाप्यौपम्य क्रियते । चतुर्दशपूर्वधरः, सर्वपर्यायेषु सूत्रार्थेषु ये चरणकरणाऽऽद्य पदार्थाः, तान् प्रज्ञापयितु समर्थः । आचारकल्पधरस्त्वेकदेशत.। दोएह वि चरणकरण अणुपालेउ समत्था । तेनैकदेशाऽभिज्ञत्व प्रतीत्य यथा समासतोऽप्यर्थधरा कल्पव्यवहाराऽऽदयो गणपरिपालनसमर्था भवन्ति। (पज्जवकसिण तिविह, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव) गाहा-(तिग-पणग) तिग ति दव्वट्टियपज्जवट्टियगुणट्टिया । अहवा-नेगमसगहववहारा एग चेव, उज्जुसुओ विइओ, तइओ सद्दो । अहवा पच-नेगमसगहववहारा, उज्जसुओ, सद्दो (छक्को त्ति) नेगमो डुविहो-संगहिओ, असगहिओ य । सगहिओ सगह पविट्ठो, असगहिओ ववहारे । एए छ भवति । एएसु नवतरेसु सोलस ठाणाइ भवति । कयराइ ताइ सोलस ?। उच्यते-छव्विहकप्पे सोलस सोलसविहो अजीवदवियकप्पो । आहाराइ जीवकप्प न सोहणे त्ति । एयाइ जइ करेतो करणठाणाइ पसत्थाइ, अकरेंतस्स ताणि चेव अप्पसत्थाणि । एस नयकप्पो । पं० चू० ।

णयगइ-नयगति-स्त्री० । नयानां सर्वेषां परस्परसापेक्षाणां प्रमाणावाधितवस्तुव्यवस्थापने,नैगमाऽऽदीनां नयानां स्वस्वमतपोषणे च । प्रज्ञा० १६ पद ।

णयचंदसूरि-नयचन्द्रसूरि-पु० । हम्मीरमहाकाव्यरम्भामञ्जर्याद्यनेकग्रन्थकर्तर्याचार्ये, जै० इ० ।

णयचक्क-नयचक्र-न० । दिगम्बरदेवसेनकृते नयप्रतिपादके शास्त्रे, स्व्या० ८ अध्या० । पूर्वविद्धिः सकलनयग्राहीणि सप्तनयशतान्युक्तानि, यत्प्रतिपादक सप्तशतार नयचक्राध्ययनमासीत्।उक्त च-"इक्केको य सयविहो,सत्त नयसया हवति एमेव। " (२२६४) इत्यादि । सप्तानां च नयशतानां संग्राहका. पुनरपि विध्यादयो द्वादश नयाः, यत्प्ररूपकमिदानीमपि द्वादशार नयचक्रमास्ति । अनु० ।

णयण-नयन-न० । नी-ल्युट् । प्रापणे,आ०म० १ अ० १ खण्ड । उत्त० । करणे ल्युट् । नीत्वा निवेशने,पं० स० ५ द्वार । विशे०। लोचने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । को०। "वाऽव्ययर्थवचनाऽऽद्याः" ॥ ८।१।३३ ॥ इति नयनशब्दस्य प्राकृते क्लीवत्वमपि-" नयना नयनाइ " प्रा० १ पाद ।

णयणकीया-नयनकीका-स्त्री० । नेत्रमध्यतारायाम्, रा० । ज्ञा० । औ० ।

णयणभूसणकर-नयनभूषणकर-त्रि० । ६ त० । नेत्राऽऽनन्दकरे, नयनयोर्हि आनन्द एव भूषणम् । कल्प० ३ क्षण ।

णयणमाला-नयनमाला-स्त्री० । श्रेणीभूतजननेत्रपङ्क्तौ, भ० ६ श० ३३ उ० ।

णयणविस-नयनविष-न० । दृष्टिविषे, रोषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । भ० ।

णयणामय-नयनामय-पु०। कामलाऽऽदौ नेत्ररोगे,व्य० ६ उ०।

णयणिउण-नयनिपुण-त्रि० । नैगमाऽऽदिषु नयेषु निपुणे, सम्म० । नयनिपुणतया नयवक्तव्यताऽवसरे सम्यक्प्रपञ्चवैविक्त्येन नयानभिधत्ते । सम्म० १ काण्ड ।

णयण्णु-नयज्ञ-त्रि० । सर्वनयरहस्यविज्ञे, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

णयप्पमाण-नयप्रमाण-न० । नया नैगमाऽऽदयः सप्त, द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकभेदात् । ज्ञाननयक्रियानयभेदाद् वा द्वौ तौ एतावेव वा प्रमाण वस्तुतत्त्वपरिच्छेदन नयप्रमाणम्। आपेक्षिकप्रमाकरणे, स० ५ अङ्क । (प्रस्थाऽऽदिदृष्टान्तैर्नयप्रमाण ' णय ' शब्दे १८७६ पृष्ठे उक्तम्)

णयप्पहाण-नयप्रधान-त्रि० । नैगमाऽऽदिभिः सप्तभिः प्रत्येक शतविधैर्नयैः शेषजनप्रधाने, यस्य वा नया. प्रधानास्तस्मिन्, रा० ।

णयररक्खणपुर-नगररक्षणपुर-न० । नासिक्यपुरस्थानभेदे, ती० २७ कल्प ।

णयरबलीवद्द-नगरबलीवर्द-पु० । वर्द्धितगवे, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

णयरी-नगरी-स्त्री० । राजधानीकल्पे नगरे,यथा-आमलकल्पा। (रा०) चम्पा । औ० । सू० प्र० ।

णयविजय-नयविजय-पु० । तपागच्छे श्रीविजयदेवसूरिवराणां शिष्ये यशोविजयोपाध्यायगुरौ, श्रीहीरविजयसूरिशिष्यकल्याणविजयशिष्यलाभविजयशिष्यजीतविजयसतीर्थ्ये स्वनामख्याते आचार्ये, द्वा० ।

" प्रकाशार्थे पृथ्व्यास्तरणिरुदयाद्रेरिह यथा,
यथा वा पाथोभृत्सकलजगदर्थे जलनिधे ।
तथा वाराणस्या. सविधमभजन् ये मम कृते,
सतीर्थ्यास्ते तेषां नयविजयविज्ञा विजयिनः " ॥ ५ ॥ (इति यशोविजयोक्ते.) द्वा० ३२ द्वा० । प्रति० । अष्ट० । नय० ।

णयविहि-नयविधि-पु० । नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतेषु नयभेदेषु, उत्त० २८ अ० ।

णयविहिण्णु-नयविधिज्ञ-त्रि० । नैगमाऽऽदीनां नयानां नीतीनां वा प्रकारज्ञे, आ० १ श्रु० १ अ० ।

णयसार-नयसार-पु० । प्रथमभवे पश्चिममहाविदेहे स्वनामख्याते वीरस्वामिजीवे, कल्प० २ क्षण । आ० क० ।

णयाभास-नयाऽऽभास-पु० । नयान्तरानिरपेक्षे नये दुर्नये,आ० म० १ अ० २ खण्ड । स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापिनि नये, स्या० ।

नयाऽऽभास दर्शयन्ति—

स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाऽऽभासः ॥ २ ॥

पुन शब्दो नयाद् व्यतिरेक द्योतयति । नयाऽऽभासो नयप्रतिबिम्बाऽऽत्मा दुर्नय इत्यर्थः । यथा तीर्थिकानां नित्याऽनित्याऽऽद्येकान्तप्रदर्शक सकल वाक्यमिति ॥ २ ॥ (रत्ना०)

अथ नैगमाऽऽभासमाहु –

धर्मद्वयाऽऽदीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाऽऽभासः ॥ ११ ॥

आदिशब्दाद् धर्मिद्वयधर्मधर्मिद्वययो परिग्रहः । ऐकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिरैकान्तिकभेदाऽभिप्रायो नैगमाऽऽभासो नैगमदुर्नय इत्यर्थ ॥ ११ ॥

अत्रोदाहरन्ति-

यथाऽऽत्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते इत्यादिः ॥ १२ ॥

आदिशब्दाद्वस्त्वाख्यपर्यायवद् द्रव्याऽऽख्ययोर्धर्मिणोः सुखजीवलक्षणयोर्धर्मधर्मिणोश्च सर्वथा पार्थक्येन कथन तदाभासत्वेन द्रष्टव्यम् । नैयायिकवैशेषिकदर्शन चैतदाभासतया ज्ञेयम् ॥ १२ ॥ (रत्ना०)

संग्रहाऽऽभासमाहु -

सत्ताऽद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणस्तदाभासः ॥ १७ ॥

अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानो हि परामर्शविशेषः संग्रहाख्या लभते, न चास्य तथेति तदाभास ॥ १७ ॥

उदाहरन्ति-

यथा सत्तैव तत्त्वं ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् ॥ १८ ॥

अद्वैतवादिदर्शनान्यखिलानि साङ्ख्यदर्शनं चैतदाभासत्वेन प्रत्येयम् । अद्वैतवादस्य सर्वस्याऽपि दृष्टेष्टाभ्यां विरुध्यमानत्वात् ॥ १८ ॥ (रत्ना०)

व्यवहाराऽऽभासं वर्णयन्ति-

यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः ॥ २५ ॥

य पुन परामर्शविशेष कल्पनाऽऽरोपितद्रव्यपर्यायप्रविवेक मन्यते, सोऽत्र व्यवहारदुर्नय प्रत्येय ॥ २५ ॥

उदाहरन्ति-

यथा चार्वाकदर्शनम् ॥ २६ ॥

चार्वाको हि प्रमाणप्रतिपन्न जीवद्रव्यपर्यायाऽऽदिप्रविभाग कल्पनाऽऽरोपितत्वेनापह्नुते, अविचारितरमणीय भूतचतुष्टयप्रविभागमात्र तु स्थूललोकव्यवहारानुयायितया समर्थयत इत्यस्य दर्शन व्यवहारनयाऽऽभासतयोपदर्शितम् ॥ २६ ॥ (रत्ना०)

ऋजुसूत्राऽऽभास ब्रुवते-

सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः ॥ ३० ॥

सर्वथा गुणप्रधानभावाभावप्रकारेण तदाभास ऋजुसूत्राऽऽभास. ॥ ३० ॥

उदाहरन्ति-

यथा तथागतमतम् ॥ ३१ ॥

तथागतो हि प्रतिक्षणविनश्वरान् पर्यायानेव पारमार्थिकतया समर्थयते, तदाधारभूत तु प्रत्यभिज्ञाऽऽदिप्रमाणप्रसिद्ध त्रिकालस्थायि द्रव्य तिरस्कुरुत इत्येतन्मत तदाभासतयोदाहृतम् ॥ ३१ ॥ (रत्ना०)

शब्दाऽऽभास ब्रुवते-

तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः ॥ ३४ ॥

तद्भेदेन कालाऽऽदिभेदेन तस्य ध्वनेस्तमेवार्थभेदमेव, तदाभास शब्दाभास. ॥ ३४ ॥

उदाहरन्ति-

यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवाऽर्थमभिदधति, भिन्नका ब्दत्वात्, तादृक्सिद्धान्यशब्दवदित्यादिः ॥ ३५ ॥

अनेन हि तथाविधपरामर्शोत्थेन वचनेन कालाऽऽदिभेदाद्भिन्नस्यैवाऽर्थस्याऽभिधायकत्व शब्दानां व्यञ्जितम् । एतच्च प्रमाणविरुद्धमिति तद्वचनस्य शब्दनयाऽऽभासत्वम् । आदिशब्देन करोति क्रियते कट इत्यादिशब्दनयाभासोदाहरण सूचितम् ॥ ३५ ॥ (रत्ना०)

समभिरूढनयाऽऽभासमाभाषन्ते-

पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः ॥ ३८ ॥

तदाभासः समभिरूढाऽऽभास. ॥ ३८ ॥

उदाहरन्ति-

यथेन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाऽभिधेया एव, भिन्नशब्दत्वात्, करिकुरङ्गतुरङ्गशब्दवदित्यादिः ॥ ३९ ॥ [रत्ना०]

एवंभूताऽऽभासमाचक्षते-

क्रियाऽनाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः ॥ ४२ ॥

क्रियाऽऽविष्ट वस्तु ध्वनीनामभिधेयः प्रतिजानानोऽपि यः परामर्शस्तदनाविष्ट तत्तेषां तथा प्रतीतिपन्नि न तूपेक्षते, स एवभूतनयाऽऽभास., प्रतीतिविघातानाऽपि२ ॥

उदाहरन्ति-

यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाऽऽख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्, पटवदित्यादिः ॥ ४३ ॥

अनेन हि वचसा क्रियाऽनाविष्टस्य घटाऽऽदेर्वस्तुनो घटाऽऽदिशब्दवाच्यतानिषेध क्रियते, स च प्रमाणबाधित इति तद्वचनमेवभूतनयाऽऽभासोदाहरणतयोक्तम् ॥४३॥ रत्ना० ७ परि० ॥

णर-नर-पुं० । नृणन्ति विवेकमासाद्य नयधर्मपरा भवन्तीति नरा. । कर्म० ४ कर्म० । "वाऽऽदौ" । ८ । १ । २२९ । असंयुक्तस्याऽऽदौ वर्तमानस्य नस्य ण । इति नस्य ण. । प्रा०१ पाद । मनुष्ये, आ०म०१अ०२ खण्ड । आचा० । औ० । प्रश्न० । कर्म० । रा० । नराश्चतुर्विधाः-सम्मूर्छिमा , कर्मभूमिका', अकर्मभूमिकाः, अन्तर्भूमिका. । आ० म०१ अ०१ खण्ड। सामान्यमनुष्ये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । रा० । प्राकृतपुरुषे, शास्त्रावबोधविकले, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । पुरुषे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । पुंसि, ध० १ अधि० । औ० ।

णरउसभ-नरर्षभ-पुं० । अङ्गीकृतकार्यभरनिर्वाहकत्वाद् वृषभोपमिते नरे, औ० ।

णरकंतप्पवाय-नरकान्तप्रपात-पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरतो रम्यकवर्षे नरकान्तानद्या ठा २ ठा० ३ उ० ।

णरकंता-नरकान्ता-स्त्री० । रम्यकवर्षे पूर्वोऽर्णवगामिन्यां महानद्याम्, जं० ४ वक्ष० । नरकान्ता महापुण्डरीकह्रदाद्दक्षिणतोरणेन विनिर्गत्य रम्यकवर्षे भजतीति हरिकान्तातुल्यवक्तव्या पूर्वसमुद्रमधिगता । स्था० २ ठा० ३ उ० । रा० । जं० । स० ।

णरकंताकूम-नरकान्ताकूट-न० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरेण रुक्मिवर्षधरपर्वतस्य चतुर्थे कूटे. स्था० ८ ठा० ।

णरकिंदग-नरकेन्द्रक-पु० । सीमान्तकाऽऽदिषु नरकवरेषु, स्था० ६ ठा० ।

णरग-नरक-पु० । नरान् कायन्ति शब्दयन्ति योग्यताया अनतिक्रमेणाऽऽकारयन्ति जन्तून् स्वस्वस्थाने इति नरका. । न० । आ० म० । 'कै' 'गै' 'रै' शब्दे इति धातो. नरान् शब्दयन्तीत्यर्थः । आव० १ अ० । पापकर्मिणां यातनास्थानेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । निरये, स्था० ४ ठा० १ उ० । रत्नप्रभाऽऽदिषु नारकोत्पत्तिस्थानेषु, उत्त० ३ अ० ।

(१) नरकपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

णिरए छक्कं दव्वं, णिरयाउ इहेव जे भवे असुभा ।
खेत्तं णिरओगासो, कालो णिरएसु चेव ठिई ॥ ६४ ॥
भावे उ णिरयजीवा, कम्मुदओ चेव णिरयपाओग्गो ।
सोऊण णिरयदुक्खं, तवचरणे होइ जइयव्वं ॥ ६५ ॥

" णिरए छक्क " इत्यादि गाथाद्वयम् । तत्र नरकशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेप. । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे । द्रव्यनरक आगमत', नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञाता, तत्र चाऽनुपयुक्तः । नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तः । इहैव मनुष्यभवे, तिर्यग्भवे, केचनाऽशुभकारित्वादशुभाः सत्त्वा. कालकसौकरिकाऽऽदय इति । यदि वा-यानि कानिचिदशुभानि स्थानानि चारकाऽऽदीनि, याश्च नरकप्रतिरूपा वे[द]ना, ता' सर्वा द्रव्यनरका इत्यभिधीयन्ते । यदि वा-कर्मद्रव्यनोकर्मद्रव्यभेदाद् द्रव्यनरको द्वेधा-तत्र नरकवेद्यानि यानि बद्धानि कर्माणि तानि चैकभविकस्य बद्धायुष्कस्याऽभिमुखनामगोत्रस्य चाऽऽश्रित्य द्रव्यनरको भवति । नोकर्मद्रव्यनरकस्त्विहैव येऽशुभा रूपरसगन्धवर्णशब्दस्पर्शा इति ॥ क्षेत्रनरकस्तु नरकावकाशकालमहाकालरौरवमहारौरवप्रतिष्ठानाऽभिधानाऽऽदिनरकाणां चतुरशीतिलक्षसंख्यानां विशिष्टो भूभाग ॥ कालनरकस्तु यत्र यावती स्थितिरिति ॥ भावनरकस्तु ये जीवा नरकाऽऽयुष्कमनुभवन्ति । तथा नरकप्रायोग्य. कर्मोदय इति । एतदुक्त भवति-नरकान्तर्वर्तिनो जीवास्तथा नरकाऽऽयुष्कोदयाऽऽपादिताऽसातावेदनीयाऽऽदिकर्मोदयाश्चैतद् द्वितयमपि भावनरक इत्यभिधीयते । तदेव श्रुत्वाऽवगम्य तीव्रमसह्यं नरकदु:ख क्रकचपाटनकुम्भीपाकाऽऽदिकं परमाऽधार्मिकाऽऽपादित परस्परोदीरणाकृतं स्वाभाविक च, तपश्चरणे संयमाऽनुष्ठाने नरकपातपरिपन्थिनि स्वर्गापवर्गगमनैकहेतोर्वाऽऽत्महितमिच्छता प्रयतितव्यम्-परित्यक्तान्यकर्तव्येन यत्नो विधेय इति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । नरकविभक्ति. समाप्ता ।

(२) नरकपृथिव्य. सप्त-

रयणप्पभा, सक्करप्पभा, वालुकप्पभा, पंकप्पभा, धूमप्पभा, तमप्पभा, तमतमप्पभा । प्रज्ञा० २ पाद ।

(३) साम्प्रतं पृथ्वीनामगोत्र वक्तव्यम्-

पढमा णं भंते ! पुढवी किंनामा ?, किंगोत्ता पण्णत्ता ?। गोयमा ! घम्मा नामेणं, रयणप्पभा गोत्तेणं । दोच्चा णं भंते ! पुढवी किंनामा किंगोत्ता पण्णत्ता ?। गोयमा ! वंसा नामेणं, सक्करप्पभा गोत्तेणं । एवं एतेणं अभिलावेणं सव्वासिं पुच्छा । नामाणि इमाणि-सेला तच्चा, अंजणा चउत्था. रिट्ठा पंचमा, मघा छट्ठा, माघवती सत्तमा । वालुयप्पभा० जाव तमतमप्पभा गोत्तेणं पण्णत्ता ।

तत्र नामगोत्रयोरय विशेष.-अनादिकालप्रसिद्धमन्वर्थरहितं नाम, सान्वर्थं नाम गोत्रमिति । तत्र नामगोत्रप्रतिपादनार्थमाह-(इमा ण भंते ! इत्यादि) इय भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी किंनामा किमनादिकालप्रसिद्धान्वर्थरहितनामा ?, किंगोत्रा किमन्वर्थयुक्तनामगोत्रा ? । भगवानाह-गौतम ! नाम्ना घर्मेति प्रज्ञप्ता, गोत्रेण रत्नप्रभा । तथा चात्रान्वर्थमुपदर्शयन्ति पूर्वसूरय.-रत्नानां प्रभा बाहुल्य यत्र सा रत्नप्रभा, रत्नबहुलेति भाव. । एव शेषसूत्राण्यपि प्रतिपृथिवीप्रश्ननिर्वचनरूपाणि भावनीयानि । नवर शर्कराप्रभाऽऽदीनामियमन्वर्थभावना-शर्कराणां प्रभा बाहुल्य यत्र सा शर्कराप्रभा । एव बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा इत्यपि भावनीयम् । तथा धूमस्येव प्रभा यस्या सा धूमप्रभा । तथा तमसः प्रभा बाहुल्य यत्र सा तम प्रभा, तमस्तमस. प्रकृष्टतमसः प्रभा बाहुल्य यत्र सा तमस्तम प्रभा ।

अत्र केषुचित् पुस्तकेषु संग्रहणी गाथे-

" घम्मा वसा सेला, अजण रिट्ठा मघा य माघवती ।
सत्तण्ह पुढवीण, एए नामा उ नायव्वा ॥ १ ॥
रयणा सक्कर-वालुय-पका धूमा तमा तमतमा य ।
सत्तण्ह पुढवीण, एए गोत्ता मुणेयव्वा " ॥ २ ॥

(४) अधुना प्रतिपृथिवीबाहल्यमभिधित्सुराह-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी केवतिया बाहल्लेणं पण्णत्ता ? । गोयमा ! इमा णं रयणप्पभा पुढवी असीउत्तरं जोयणसयसहस्स बाहल्लेणं पण्णत्ता ।

एवं एतेणं अभिलावेणं इमा गाथा अणुगंतव्वा-

" आसीतं वत्तीसं, अट्ठावीसं तहेव वीसं च ।
अट्ठारस सोलसगं, अट्ठुत्तरमेव हेट्ठिमया " ॥ १ ॥

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इय भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कियद् बाहल्येन प्रज्ञप्ता ? । अत्र गोत्रेण प्रश्नो नाम्नो गोत्र प्रधानम्, न च प्रश्नोपपन्नमिति न्यायप्रदर्शनार्थ. । उक्त च-"न हीना वाग् सदा सतामिति ।" भगवानाह-अशीत्युत्तरम्-अशीतियोजनसहस्राभ्यधिक योजनशतसहस्र बाहल्येन प्रज्ञप्ता । एव सर्वाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि ।

अत्र संग्रहणी गाथा-

" आसीयं बत्तीसं, अट्ठावीस तहेव वीसं च ।
अट्ठारस सोलसगं, अट्ठुत्तरमेव हेट्ठिमया ॥ १ ॥ "

(५) काण्डानि-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी कतिविधा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविधा पण्णत्ता । तं जहा-खरकंडे, पंकबहुले कंडे, आवबहुले कंडे ।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कतिविधा कतिप्रकारा-कतिविभागा प्रज्ञप्ता ? । भगवानाह-गौतम ! त्रिधा त्रिविभागा प्रज्ञप्ता । तद्यथा-(खरकंडमित्यादि) काण्डं नाम-विशिष्टो भूभाग:, खर कठिन पङ्कबहुलमब्बहुलं चान्वर्थतः प्रतिपत्तव्यम् । क्रमश्चैतेषामेवमेव । तद्यथा-प्रथमं खरकाण्डं, तदनन्तर पङ्कबहुलं, ततोऽब्बहुलमिति ।

(६) खरकाण्डवक्तव्यतामाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे कतिविधे पएणत्ते ?। गोयमा ! सोलसविधे पएणत्ते । तं जहा-रयणे, वइरे, वेरुलिए, लोहितक्खे, मसारगल्ले, हंसगब्भे, पुलए, सोगंधिए, जोतिरसे, अंजणे, अंजणपुलए, रयते, जातरूवे, अंके, फलिहे, रिट्ठे कंडे ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्या खरकाण्ड कतिविध प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह-गौतम ! षोडशविध षोडशविभाग प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-(रयणे इति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् रत्नकाण्डम्-तच्च प्रथमम्, द्वितीय वज्रकाण्डम्, तृतीयम्-वैडूर्यकाण्डम्, चतुर्थम्-लोहिताक्षकाण्डम् । पञ्चमम्-मसारगल्लकाण्डम्, षष्ठम्-हंसगर्भकाण्डम्, सप्तमम्-पुलककाण्डम्, अष्टमम्-सौगन्धिककाण्डम्, नवमम्-ज्योतीरसकाण्डम्, दशमम्-अञ्जनकाण्डम्, एकादशमम्-अञ्जनपुलाककाण्डम्, द्वादशम्-रजतकाण्डम्, त्रयोदशम्-जातरूपकाण्डम्,चतुर्दशम-अङ्ककाण्डम्, पञ्चदशम-स्फटिककाण्डम्, षोडशम-रिष्टकाण्डम् ॥ तत्र रत्नानि कर्केतनाऽऽदीनि तत्प्रधानं काण्ड रत्नकाण्डम्, वज्ररत्नप्रधान काण्ड वज्रकाण्डम् । एव शेषाण्यप्येकैक च काण्ड योजनसहस्रबाहुल्यम् ।

(७) रत्नकाण्डवक्तव्यतामाह--

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडे कतिविहे पएणत्ते ? । गोयमा ! एगागारे पएणत्ते । एवं० जाव रिट्ठे ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पंकबहुले कंडे कतिविहे पएणत्ते ? । गोयमा ! एगागारे पएणत्ते ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए आवबहुले कंडे कतिविहे पएणत्ते ? । गोयमा ! एगागारे पएणत्ते ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवी कतिविधा पएणत्ता ?। गोयमा ! एगागारा पएणत्ता । एवं० जाव अहे सत्तमाए ।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां रत्नकाण्ड कतिविध कतिप्रकार, कतिविभागमिति भाव: । प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह-एकाकार प्रज्ञप्तम् । एव शेषकाण्डविषयाण्यपि प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि क्रमेण भणनीयानि । एव पङ्कबहुलाऽब्बहुलविषयाण्यपि । जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

(८) संप्रति प्रतिपृथिवीनरकाऽऽवाससंख्याप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए केवतिया णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तीसं निरयावाससतसहस्सा पण्णत्ता । एवं एतेणं अभिलावेणं सव्वासिं पुच्छा ।

इमा गाथा अणुगंतव्वा-

" तीसा य पण्णवीसा, पण्णरस दसेव तिण्णि य हवंति ।
पंचूण सतसहस्सं, पंचेव अणुत्तरा णरगा ॥ १ ॥ "

०जाव अहे सत्तमाए पंच अणुत्तरा महतिमहालया महाणरगा पण्णत्ता । तं जहा-काले, महाकाले, रोरुए, महारोरुए, अपतिट्ठाणे ॥

(इमीसे ण भंते ! इत्यादि) सुगमम् । नवरमियमत्र संग्रहणी गाथा-" तीसा य पणवीसा, पएणरस दसेव सयसहस्साइं । तिएणेग पचूण, पचेव अणुत्तरा णिरया ॥ १ ॥ " अथ. सप्तम्या च पृथिव्यां कालाऽऽदयो महा नरका अप्रतिष्ठानाऽभिधानकस्य नरकस्य पूर्वाऽऽदिक्रमेण । उक्त च-" पुव्वेण होइ कालो, अवरेणा अप्पइट्ठ महकालो । रोरू दाहिणपासे, उत्तरपासे महारोरू ॥ १ ॥ " रत्नप्रभाऽऽदिषु च तम प्रभापर्यन्तासु षट्सु पृथिवीषु प्रत्येक नरकाऽऽवासा द्विविधा । तद्यथा-आवलिकाप्रविष्टा , प्रकीर्णकरूपाश्च ।

तत्र रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रयोदश प्रस्तटा । प्रस्तटा नाम॰ वेश्मभूमिकाकल्पा. । तत्र प्रथमे प्रस्तटे पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु प्रत्येकमेकोनपञ्चाशत् नरकाऽऽवासा', चतसृषु च विदिक्षु प्रत्येकमष्टचत्वारिंशत्, मध्ये च सीमान्तकाऽऽख्यो नरकेन्द्रक , सर्वसंख्यया प्रथमप्रस्तटे नरकाऽऽवासानामावलिकाप्रविष्टानामेकोननवत्यधिकानि त्रीणि शतानि ३८९, शेषेषु च द्वादशसु प्रस्तटेषु प्रत्येक यथोत्तर दिक्षु विदिक्षु च एकैकनरकाऽऽवासहानिभावात् अष्टकाष्टकहीना नरकाऽऽवासा द्रष्टव्या. । तत सर्वसंख्यया रत्नप्रभायां पृथिव्यामावलिकानरकाऽऽवासाश्चतुश्चत्वारिंशत् शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि ४४३३ । शेषास्तु एकोनत्रिंशल्लक्षाणि पञ्चनवतिसहस्राणि पञ्चशतानि सप्तषष्ट्यधिकानि २९९५५६७ प्रकीर्णका. । तथा चोक्तम्-" सत्तट्ठी पंच सया, पणनउइ सहस्स लक्ख गुणतीस । रयणाए सेढिगया, चोयालसया उ तेत्तीस ॥ १ ॥ " उभयमीलने त्रिंशल्लक्षा नरकाऽऽवासानाम् ३०००००० ।

शर्कराप्रभायामेकादश प्रस्तटा , नरकपटलानि अधोऽधो द्वन्द्वहीनानीति वचनात् । तत्र प्रथमे प्रस्तटे चतसृषु दिक्षु षट्त्रिंशत् आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासा ,विदिक्षु पञ्चत्रिंशत्, मध्ये चैको नरकेन्द्रक । सर्वसंख्यया द्वे शते पञ्चाशीत्यधिके २८५, शेषेषु दशसु प्रस्तटेषु प्रत्येक क्रमेणाधोऽधोऽष्टकाष्टकहानिः,प्रतिदिक् २ एकैकनरकाऽऽवासहाने',ततस्तत्र सर्वसंख्यया आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः षड्विंशतिशतानि पञ्चनवत्यधिकानि २६९५, शेषाश्चतुर्विंशतिलक्षा सप्तनवतिसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि २४९७३०५ पुष्पावकीर्णका । उक्त च-"सत्ताणउइ सहस्सा, चउवीसलक्ख तिसयपचविहं । बीयाए सेढिगया, छव्वीससया उ पणनउया " ॥१॥ उभयमीलने पञ्चविंशतिलक्षा नरकाऽऽवासानाम् २५००००० ।

वालुकाप्रभाया नव प्रस्तटाः । प्रथमे च प्रस्तटे एकैकस्यां दिशि आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः पञ्चविंशति २,विदिशि चतुर्विंशतिः, मध्ये चैको नरकेन्द्रक इति । सर्वसंख्यया सप्तनवतिशतम् । शेषेषु चाष्टसु प्रस्तटेषु प्रत्येक क्रमेणाऽधोऽधोऽष्टकहानिः । तत्र च कारणं प्रागेवोक्तम् । ततः सर्वसंख्यया तत्राऽऽवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाश्चतुर्दश शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि १४८५ । शेषास्तु पुष्पावकीर्णकाः चतुर्दशलक्षा अष्टानवतिसहस्राणि पञ्च शतानि पञ्चदशाऽधिकानि १४९८५१५ । उक्तं च-" पचसया पन्नरसा, अडनवइ सहस्स लक्ख चोद्दसया । तइयाए सेढिगया, पणसीया चोद्दससया उ ॥१॥ " उभयमीलने पञ्चदश लक्षा नरकाऽऽवासानाम् १५००००० ।

पङ्कप्रभायां सप्त प्रस्तटाः । प्रथमे च प्रस्तटे प्रत्येक दिशि षोडश आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासा ,विदिशि पञ्चदश,मध्ये चैको नरकेन्द्रक । सर्वसंख्यया पञ्चविंशं शतम् १२५ । शेषेषु षट्सु प्रस्तटेषु पूर्ववत् प्रत्येक क्रमेणाधोऽधोऽष्टकाष्टकहानिः, ततः सर्वसंख्यया तत्राऽऽवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः सप्त शतानि सप्तोत्तराणि ७०७ । शेषास्तु पुष्पाऽऽवकीर्णका नव लक्षा नवनवतिसहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्यधिके ९९९२९३ । उक्तं च-" ते णउया दोन्नि सया, नवनउयसहस्स नव य लक्खा य । पंकाए सेढिगया,सत्त सया होंतिसत्तहिया ॥१॥ " उभयमीलने नरकाऽऽवासाना दश लक्षा. १०००००० ।

धूमप्रभाया पञ्च प्रस्तटा ।प्रथमे च प्रस्तटे एकैकस्या दिशि नव नव आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासाः, विदिशि अष्टौ,मध्ये चैको नरकेन्द्रकः । इति सर्वसंख्यया एकोनसप्तति ६९ । शेषेषु च चतुर्षु प्रस्तटेषु पूर्ववत् प्रत्येक क्रमेणाधोऽधोऽष्टकहानि ,ततः सर्वसंख्यया तत्राऽऽवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासा द्वे शते पञ्चषष्ट्यधिके, शेषाः पुष्पाऽऽवकीर्णकाः द्वे लक्षे नवनवतिसहस्राणि सप्त शतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि २९९७३५ ।उक्तं च-" सत्त सया पणतीसा, नवनवइ सहस्स दो य लक्खा य । धूमाए सेढिगया, पणछा दो सया होंति ॥१॥ " सर्वसंख्यया तिस्रो लक्षा नरकाऽऽवासानाम् ।

तम प्रभाया त्रयः प्रस्तटा ।तत्र प्रथमे प्रस्तटे प्रत्येक दिशि चत्वार आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासा , विदिशि त्रय त्रय , मध्ये चैको नरकेन्द्रक इति । सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशत् २९,शेषयोस्तु प्रस्तटयोः प्रत्येक क्रमेणाऽधोऽधोऽष्टकहानि , ततः सर्वसंख्यया आवलिकाप्रविष्टा नरकाऽऽवासास्त्रिषष्टि । शेषास्तु नवनवतिसहस्राणि नव शतानि द्वात्रिंशत्यधिकानि पुष्पावकीर्णका ९९९३२ । उक्तं च-" नवनउइसयसहस्सा, नव चेव सया हवंति बत्तीसा । पुढवीए छट्ठीए, पइण्णगाणेस संखेवो ॥१॥ " उभयमीलने पञ्चोन नरकाऽऽवासानां लक्षम् । ९९९९५ ।

(९) सम्प्रति प्रतिपृथिवीघनोदध्यस्तित्वप्रतिपादनार्थमाह-

अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे घणोदधि त्ति वा घणवाते ति वा तणुवाते ति वा उवासंतरे ति वा ? । हंता अत्थि एवं० जाव अहे सत्तमा ।

(अत्थि णं भंते ! इत्यादि) अस्ति भदन्त ! अस्या प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाया रत्नप्रभाया पृथिव्या अधो घन स्त्यानीभूतोदक उदधिर्घनोदधिरिति वा, घन पिण्डीभूतो वातो घनवात इति वा, तनुवात इति वा, अवकाशान्तरमिति वा । अवकाशान्तरं नाम-शुद्धमाकाशम् ? । भगवानाह-हन्त अस्ति; एवं प्रतिपृथिवी तावद्वाच्य यावदध सप्तम्याः ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ता ? । गोयमा ! सोलस जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या सबन्धि यत् प्रथमं खर खराऽभिधान काण्डं तत् कियद् बाहल्येन प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह-गौतम ! षोडशयोजनसहस्राणि बाहल्येन प्रज्ञप्तम् ।

(१०) रत्नकाण्डम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! एक्कजोयणसहस्सबाहल्लेणं पण्णत्ते, एवं० जाव रिट्ठे ।

(इमीसे ण इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्न रत्नाऽभिधान काण्ड तत् कियत् बाहल्येन प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह-गौतम ! एक योजनसहस्रम् । शेषाण्यपि काण्डानि वक्तव्यानि, यावत् रिष्टं रिष्टाऽभिधान काण्डम् । एव पङ्कबहुलाब्बहुलकाण्डसूत्रे अपि व्याख्येये ।

(११) पङ्कबहुलम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पंकबहुले कंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! चतुरसीतिजोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

पङ्कबहुलं काण्डं चतुरशीतियोजनसहस्राणि बाहल्येन ।

(१२) अब्बहुल काण्डम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए अब्बहुले कंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! असीतिं जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

अशीतियोजनसहस्राणि सर्वसंख्यया रत्नप्रभायां बाहल्यमशीतिसहस्राधिकं लक्षम् ।

(१३) घनोदधिघनवातयोर्बाहल्यम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधि केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! वीसं जोअणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवाते केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ताइं । एवं तणुवाते वि , एवं उवासंतरे वि ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए घणोदधि केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! वीसं जोअणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ताइं ।

सक्करप्पभाए पुढवीए घणवाते केवइए पण्णत्ते ? । गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ताइं ।

एवं तणुवाए वि,उवासंतरे वि,जहा सक्करप्पभाए पुढवीए । एवं० जाव अहे सत्तमाए ।

तस्या अधो घनोदधिः विंशतियोजनसहस्राणि बाहल्येन, तस्या अधो घनवातोऽसङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि बाहल्येन, तस्या अप्यधोऽसंख्येयानि योजनसहस्राणि तनुवातो बाहल्येन, तस्या अप्यधोऽसङ्ख्येयानि योजनसहस्राणि बाहल्येनावकाशान्तरम् । एव शेषाणामपि पृथिवीनां घनोदध्यादयः प्रत्येक तावद्वक्तव्या यावदध सप्तम्या. ।

(१४) क्षेत्रच्छेदेन छिद्यमानाया· पृथिव्या·–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसतसहस्सबाहल्लाए खेत्तछिेत्तेणं छिज्जमाणाए अत्थि दव्वाइं वण्णतो–कालनीललोहितहालिद्दसुक्किलाइं,गंधतो–सुब्भिगंधाइं दुब्भिगंधाइं, रसतो–तित्तकडुयकसायअंबिलमहुराइं, फासओ–कक्खडमउयगरुलहुयसीतउसिणणिद्धलुक्खाइं, संठाणतो–परिमंडलवट्टतंसचउरंसआययसंठाणपरिणयाइं अन्नमन्नबद्धाइं अण्णमण्णपुट्ठाइं अण्णमन्नओगाढाइं अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धाइं अन्नमण्णघमत्ताए चिट्ठंति ?। हंता ! अत्थि ।

(इमीसे णं भते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यामशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रबाहल्यायां क्षेत्रच्छेदनबुद्ध्यामतरकाण्डविभागेन छिद्यमानायाम्, अस्तीति निपातोऽत्र बहुवचनार्थगर्भ.–सन्ति द्रव्याणि, वर्णतः–कालानि नीलानि लोहितानि हारिद्राणि, शुक्लानि, गन्धतः–सुरभिगन्धीनि, दुरभिगन्धीनि च, रसत·–तिक्तरसानि, कटुकानि, कषायाणि, अम्लानि, मधुराणि, स्पर्शत·–कर्कशानि, मृदूनि, गुरुकाणि, लघूनि, शीतानि, उष्णानि, स्निग्धानि, रूक्षाणि, संस्थानत.–परिमण्डलानि, वृत्तानि, त्र्यस्राणि, चतुरस्राणि, आयतानि । कथभूतान्येतानि सर्वाण्यपीत्यत आह–(अन्नमन्नपुट्ठाइं इत्यादि) अन्योऽन्य परस्पर स्पृष्टानि स्पर्शमात्रोपेतानि । तथा–अन्योऽन्य परस्परमवगाढानि यत्रैक द्रव्यमवगाढं तत्राऽन्यदपि देशतः, कश्चित्सर्वतोऽवगाढमित्यर्थ· । तथाऽन्योऽन्य परस्परं स्नेहेन प्रतिबद्धानि येनैकस्मिन् चाल्यमाने गृह्यमाणे वा अपरमपि चलनाऽऽदिधर्मोपेत भवति । (एवमन्नोऽन्नघडत्ताए चिट्ठति इति) अन्योऽन्यं परस्परं घटन्ते सम्बध्नन्तीति अन्योऽन्यघटा ,तद्भावोऽन्योऽन्यघटता, तया परस्पर सबद्धतया तिष्ठन्ति । भगवानाह–(हंता ! अत्थि) हन्तेति प्रत्यवधारणे, सन्त्येवेत्यर्थः ।

(१५) खरकाण्डस्य–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरस्स कंडस्स सोलसजोयणसहस्सबाहल्लस्स खेत्तछिेत्तेणं छिज्जंतं चेव० जाव हंता अत्थि, एवं० जाव रिट्ठस्स ॥

एवमस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डस्य षोडशयोजनसहस्रप्रमाणबाहल्यस्य, तदनन्तर रत्नकाण्डस्य योजनसहस्रबाहल्यस्य ततो वज्रकाण्डस्य० यावद्रिष्टकाण्डस्य ।

(१६) पङ्कबहुलस्य–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पंकबहुलस्स कंडस्स चउरासीतिं जोयणसहस्सबाहल्लस्स खेत्त त चेव । एवं आवबहुलस्स वि असीतिजोअणसहस्सबाहल्लस्स ॥

तदनन्तरमस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां पङ्कबहुलकाण्डस्य चतुरशीतियोजनसहस्रबाहल्यस्य तदनन्तरमब्बहुलकाण्डस्य अशीतियोजनसहस्रबाहल्यस्य ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदहिस्स वीसं जोयणस्स बाहल्लस्स खेत्तच्छेदे तहेव । एवं घणवातस्स असंखेज्जजोयणस्स बाहल्लस्स तं चेव ।

तदनन्तरमस्या एव रत्नप्रभाया घनोदधेर्योजनविंशतिसहस्रप्रमाणबाहल्यस्य, ततोऽसङ्ख्यातयोजनप्रमाणबाहल्यस्य घनवातस्य तत एतावत्प्रमाणबाहल्यस्य तनुवातस्य, ततोऽवकाशान्तरस्य तावत्प्रमाणस्य ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए बत्तीसुत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए खेत्तच्छेदेणं छिज्जमाणाए अत्थि दव्वाइं, वण्णतो०जाव घडत्ताए चिट्ठंति ?। हंता ! अत्थि । एवं घणोदहिस्स वीसं जोअणसहस्सबाहल्लस्स घणवातस्स असंखेज्जजोयणसहस्सबाहल्लस्स । एवं० जाव उवासंतरस्स जहा सक्करप्पभाए, एवं० जाव अहे सत्तमाए ।

ततः शर्कराप्रभायाः पृथिव्याः द्वात्रिंशत्सहस्रोत्तरयोजनसतसहस्रबाहल्यपरिमाणायाः तस्या एवाधस्ताद् यथोक्तबाहल्यानां घनवाततनुवाताऽवकाशान्तराणामेव यावदधः सप्तम्याः पृथिव्या अष्टसहस्राधिकयोजनशतसहस्रपरिमाणबाहल्यायास्तत. तस्या एवाऽध· सप्तमपृथिव्या अधस्तान्मध्ये घनोदधिघनवाततनुवातावकाशान्तराणां प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि यथोक्तद्रव्यविषयाणि भावनीयानि ।

(१७) सम्प्रति संस्थानप्रतिपादनार्थमाह–

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किंसंठिता पण्णत्ता ?। गोयमा ! झल्लरिसंठिया पण्णत्ता ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरे कंडे किंसंठिते पण्णत्ते ?। गोयमा ! झल्लरिसंठिते पण्णत्ते ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणे कंडे किंसंठिते पण्णत्ते ?। गोयमा ! झल्लरिसंठिते पण्णत्ते । एवं० जाव रिट्ठे । एवं पंकबहुले आवबहुले वि । घणोदधि वि, घणवाए वि, उवासंतरे वि, सव्वे झल्लरिसंठिया पण्णत्ता ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवी किंसंठिया पण्णत्ता ?। गोयमा ! झल्लरिसंठिया पण्णत्ता ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए घणोदधि किंसंठिए पण्णत्ते ?। गोयमा ! झल्लरिसंठिए पण्णत्ते । एवं० जाव उवासंतरे जहा सक्करप्पभाए वत्तव्वता, एवं० जाव अहे सत्तमाए वि ।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं प्रत्यक्षत उपलभ्यमाना, णमिति वाक्यालङ्कृतौ । रत्नप्रभा पृथिवी, किमिव संस्थिता प्रज्ञप्ता ?। भगवानाह–गौतम ! झल्लरीव संस्थिता प्रज्ञप्ता; विस्तीर्णवलयाऽऽकारत्वात् । एवमस्यामेव रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डं, तत्राऽपि रत्नकाण्डं, ततो वज्रकाण्डम्, ततो यावत्

रिष्टकाण्डम्,तदनन्तरं पङ्कबहुलं काण्डम्,ततो जलकाण्डम,तदनन्तरमस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या अधस्तात् क्रमेण घनोदधिघनवाततनुवातावकाशान्तराणि, एव यावदध· सप्तमी पृथिवी । तस्या अधस्तात् क्रमेण घनोदधिघनवाततनुवातावकाशान्तराणि झल्लरीसंस्थानानि वक्तव्यानि । ननु चैताः सप्तापि पृथिव्यः सर्वासु दिक्षु किमलोकस्पर्शिन्यः ?, उत नेति ब्रूम· । यद्येवं ततः ।

(१८) लोकान्तादबाधा—

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ केवतियं अवाधाए लोयंते पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुवालसहिं जोयणेहिं अवाधाए लोयंते पण्णत्ते । एवं दाहिणिल्लातो पच्चच्छिमिल्लातो उत्तरिल्लाओ ।

सक्करप्पभाए णं भंते! पुढवीए पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ केवतिअं अवाहाए लोयंते पण्णत्ते ?। गोयमा ! तिभागूणेहिं तेरसहिं जोयणेहिं अवाहाए लोयंते पण्णत्ते, एवं चउदिसिं ।

वालुयप्पभाए णं भंते ! पुढवीए पुरच्छिमिल्लाओ पुच्छा ?। गोयमा ! सतिभागेहिं तेरसेहिं अवाधाए लोयंते पण्णत्ते ।एवं चउद्दिसिं पि, एवं सव्वासिं चउसु विदिसासु पुच्छियव्वं ।

पंकप्पभाए चोद्दसहिं जोयणेहिं अवाहाए लोयंते पण्णत्ते।

धूमप्पभाए तिभागूणेहिं पण्णरसेहिं जोयणेहिं अवाहाए लोयंते पण्णत्ते । छट्ठी सतिभागेहिं पण्णरसेहिं जोयणेहिं अवाहाए लोयंते पण्णत्ते । सत्तमाए सोलसएहिं जोयणेहिं अवाधाए लोयंते पण्णत्ते, एवं० जाव उत्तरिल्लातो ॥

(इमीसे णं भंते! इत्यादि) अस्या भदन्त! रत्नप्रभाया· पृथिव्याः (पुरच्छिमिल्लाओ इति) पूर्वदिग्भाविनश्चरमान्तात् (केवइयाए इति) कियत्या अवाधया अपान्तरालरूपया लोकान्तोऽलोकावधिपरिच्छिन्न· प्रज्ञप्तः ?। भगवानाह–द्वादशयोजनानि, द्वादशयोजनप्रमाणो य इत्यर्थ· । अबाधया लोकान्त· प्रज्ञप्त· । किमुक्त भ· वति ?–रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पूर्वस्यां दिशि चरमपर्यन्तात् परतो लोकादर्वाग् अपान्तराल द्वादशयोजनानि,एवं दक्षिणस्यामपरस्यामुत्तरस्यां चापान्तरालं वक्तव्यम । दिग्ग्रहणं चोपलक्षणम, तेन सर्वास्वपि विदिक्ष्वपि यथोक्तमपान्तरालमवसातव्यम। शेषाणा तु पृथिवीनां सर्वासु दिक्षु च चरमपर्यन्ताद्लोक· क्रमेणाधोऽधस्त्रिभागोनेन योजनेनाधिकैर्द्वादशभिर्योजनैरवगन्तव्य । तद्यथा–शर्कराप्रभाया· पृथिव्या· सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च चरमपर्यन्तादलोकादर्वागपान्तराल त्रिभागोनानि त्रयोदश योजनानि । वालुकाप्रभाया· सत्रिभागानि त्रयोदश योजनानि । पङ्कप्रभाया· परिपूर्णानि चतुर्दश योजनानि, धूमप्रभायास्त्रिभागोनानि पञ्चदश योजनानि । अधः सप्तमपृथिव्याः परिपूर्णानि षोडश योजनानि । सूत्राक्षराणि पूर्ववद् योजनीयानि । जी· ३ प्रति० ।

(१९) रत्नप्रभादीनामधः–

अत्थि णं भंते! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे गेहाइ वा, गेहावणाइ वा ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए इमीसे अहे गामाइ वा० जाव सण्णिवेसाइ वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे उराला वलाहया संसेयंति संमुच्छंति वासं वासंति ?। हंता ! अत्थि, तिण्णि वि पकरेइ, देवो वि पकरेइ, असुरो वि, नागो वि । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बादरे थणियसद्दे ?। हंता अत्थि तिण्णि वि पकरेंति । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए वादरे अगणिकाए ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, णण्णत्थ विग्गहगइसमावण्णएणं । अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए चंदिम० जाव तारारूवा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते! इमीसे रयणप्पभाए चंदाभाइ वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। एवं दोच्चाए पुढवीए भाणियव्वं, एवं तच्चाए वि भाणियव्वं। णवरं देवो वि पकरेइ, असुरो वि पकरेइ, नो नाओ पकरेइ, चउत्थीए वि,नवरं देवो एक्को पकरेइ, नो असुरो, नो नाओ, एवं हेट्ठिल्लासु देवो एक्को पकरेइ ।

(वादरे अगणिकाए इत्यादि) ननु यथा बादराग्नेर्मनुष्यक्षेत्र एव तद्भावान्निषेध इहोच्यते, एव बादरपृथिवीकायस्याऽपि निषेधो वाच्यः स्यात, पृथिव्यादिष्वेव स्वस्थानेषु तस्य भावादिति । सत्यम । किं तु नेह यद्यत्र नास्ति तत्तत्र सर्वं निषिध्यते, मनुष्याऽऽदिवत, विचित्रत्वात् सूत्रगतेरतोऽसतोऽपीह पृथिवीकायस्य न निषेध उक्तः । अप्कायवायुवनस्पतीनां त्विह घनोदध्यादिभावेन भावान्निषेधाभावः सुगम एवेति। (नो नाओ त्ति) नागकुमारस्य तृतीयाया· पृथिव्या अधो गमनं नास्तीत्यत एवाऽनुमीयते । (नो असुरो नो नागो त्ति) इहाप्यत एव वचनाच्चतुर्थ्यादीनामधोऽसुरकुमारनागकुमारयोर्गमनं नाऽस्तीत्यनुमीयते । भ० ६ श० ८ उ० ।

(२०) अथाऽमूनि रत्नप्रभाऽऽदीनां द्वादशयोजनप्रमाणाऽऽदीनि अपान्तरालानि किमाकाशरूपाणि, उत घनोदध्यादिव्याप्तानि ?। उच्यते–घनोदध्यादिव्याप्तानि, तत्र कस्मिन्नपान्तराले कियान घनोदध्यादिरिति प्रतिपादनार्थमाह–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते कतिविधे पण्णत्ते ?। गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते। तं जहा–घणोदधिवलए, घणवायवलए, तणुवातवलए ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए दाहिणिल्ले चरिमंते कतिविधे पण्णत्ते ?। गोयमा ! तिविधे पण्णत्ते । तं जहा, एवं चेव० जाव उत्तरिल्ले, एवं सव्वासिं० जाव अहे सत्तमाए उत्तरिल्ले ।

(इमीसे ण भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या· पूर्वदिग्भावी चरमान्तोऽपान्तराललक्षण· कतिविध· कतिप्रकार , कतिविभाग इत्यर्थः । प्रज्ञप्त· ?। भगवानाह–गौतम ! त्रिविध· प्रज्ञप्त· । तद्यथा–घनोदधिवलयो वलयाऽऽकारघनोदधिरूप इत्यर्थः। एवं घनवातवलयस्तनुवातवलयश्च। इयमत्र भावना–सर्वासां पृथिवीनामधो यत प्राक् बाहुल्येन

घनोदध्यादीनां परिमाणमुक्तं, तन्मध्यभागे द्रष्टव्यम् । ते हि मध्यभागे यथोक्तप्रमाणबाहल्याः, ततः प्रदेशहान्या प्रदेशहान्या हीयमाना रत्नप्रभापृथिव्यादिपर्यन्तेषु तनुतरभूताः तनुतरीभूय स्वस्वपृथिवीवलयाकारेण वेष्टयित्वा स्थिताः । अत एवामूनि घनोदध्यादिवलयानि, येषां वलयानामुपरितनमध्यमप्रत्येकपृथिव्युपरितने परिमाणमाह, तिर्यग्बाहल्यं पुरस्ताद् वक्ष्यते । अस्यां तु त्रिभागमात्रमेवान्तरालं घनवातवलयानामिति तदुपरि च, एवमस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्याः शेषास्तु दिक्षु, एवं शेषाणामपि पृथिवीनां सर्वास्वपि दिक्षु प्रत्येकं विभागशः भावनीयम् ।

(२१) सम्प्रति घनोदधिवलयस्य तिर्यग्बाहल्यमानमाह–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! छज्जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु यत्सम्बन्धि घनोदधिवलयं कियद् बाहल्येन तिर्यग् बाहल्येन प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह–गौतम ! षड् योजनानि बाहल्येन प्रज्ञप्तम् ।

अत ऊर्ध्वं प्रतिपृथिवि योजनस्य त्रिभागो वक्तव्यः । तद्यथा–

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए घणोदधिवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! सतिभागाइं छज्जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते । वालुयप्पभाए पुच्छा ? । गोयमा ! तिभागूणाइं सत्त जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते । एवं एतेणं अभिलावेणं पंकप्पभाए सत्त जोयणाइं बाहल्लेणं, धूमप्पभाए सतिभागाइं सत्त जोयणाइं पण्णत्ते । तमप्पभाए तिभागूणाइं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते । अहेसत्तमाए अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

शर्कराप्रभायाः सत्रिभागानि, वालुकाप्रभायास्त्रिभागोनानि सप्त योजनानि, पङ्कप्रभायाः परिपूर्णानि सप्त योजनानि, धूमप्रभायाः सत्रिभागानि सप्त योजनानि, तमःप्रभायाः त्रिभागोनानि अष्टौ योजनानि, अधःसप्तमपृथिव्याः परिपूर्णानि अष्टौ योजनानि । सूत्रपाठगतिः तु सर्वत्र पूर्ववद् योजनीया ।

(२२) सम्प्रति घनवातवलयस्य तिर्यग् बाहल्यपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवातवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! अद्धपंचमाइं जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

सक्करप्पभाए पुच्छा ? । गोयमा ! कोसूणाइं पंच जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

एवं एएणं अभिलावेणं वालुयप्पभाए पंच जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

पंकप्पभाए सकोसाइं पंच जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

धूमप्पभाए अद्धछट्ठाइं जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

तमप्पभाए कोसूणाइं छ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

अहेसत्तमाए छ जोयणाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ॥

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या घनवातवलयः तिर्यग् बाहल्येन अर्धपञ्चमानि सार्धानि चत्वारि योजनानि प्रज्ञप्तः । अत ऊर्ध्वं तु प्रतिपृथिवि गव्यूतप्रक्षेपः । तथा चाऽऽह–द्वितीयस्याः पृथिव्याः क्रोशोनानि पञ्च योजनानि, तृतीयस्याः पृथिव्याः परिपूर्णानि पञ्च योजनानि, चतुर्थ्याः पृथिव्याः सक्रोशानि पञ्च योजनानि, पञ्चम्याः पृथिव्याः अर्धषष्ठानि सार्धानि पञ्च योजनानि, षष्ठ्याः पृथिव्याः क्रोशोनानि षट् योजनानि, सप्तम्याः पृथिव्याः परिपूर्णानि षट् योजनानि ।

(२३) सम्प्रति तनुवातवलयस्य तिर्यग् बाहल्यपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तणुवातवलए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! छक्कोसेणं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

एवं एतेणं अभिलावेणं सक्करप्पभाए सतिभागे छक्कोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

वालुयप्पभाए तिभागूणे सत्तकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

पंकप्पभाए पुढवीए सत्तकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

धूमप्पभाए सतिभागे सत्तकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

तमप्पभाए तिभागूणे अट्ठकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

अहेसत्तमाए पुढवीए अट्ठकोसे बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्यास्तनुवातवलयः तिर्यक् कियन्मात्रं बाहल्येन प्रज्ञप्तः ? । भगवानाह–षट् क्रोशान् बाहल्येन प्रज्ञप्तः । अत ऊर्ध्वं तु पृथिवीं पृथिवीं प्रति क्रोशस्य त्रिभागो वक्तव्यः । तथा चाऽऽह–द्वितीयस्याः पृथिव्याः सत्रिभागोनान् षट् क्रोशान् बाहल्येन प्रज्ञप्तः । तृतीयस्याः पृथिव्याः त्रिभागोनान् सप्त क्रोशान्, चतुर्थ्याः पृथिव्याः परिपूर्णान् सप्त क्रोशान्, पञ्चम्याः पृथिव्याः सत्रिभागान् सप्त क्रोशान्, षष्ठ्याः पृथिव्याः त्रिभागोनान् अष्टौ क्रोशान्, अधःसप्तम्याः पृथिव्याः परिपूर्णान् अष्टौ क्रोशान् ।

उक्तं च–

"छच्चेव अद्ध पंचम, जोयणमद्धं च होइ रयणाए ।
उदहीघणतणुवाया, अहक्कमेण विणिद्दिट्ठा ॥ १ ॥
तिभागो गाउय चेव, तिभागो गाउयस्स य ।
आइ धुवे पक्खेवो, अहे अट्ठो जाव सत्तमिया ॥ २ ॥"

एवं च त्रयाणामपि घनोदध्यादिविभागानाम् एकत्र मीलने प्रतिपृथिवि यथोक्तमपान्तरालमान भवति ।

(२४) सम्प्रति एतेष्वेव घनोदध्यादिवलयेषु क्षेत्रच्छेदेन कृष्णवर्णाऽऽद्युपेतद्रव्याऽस्तित्वप्रतिपादनार्थमाह–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलयस्स छज्जोयणबाहल्लस्स खेत्तच्छेएणं छिज्जमाणस्स अत्थि दव्वाइं वण्णओ काल० जाव हंता अत्थि ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए घणोदधिवलयस्स सतिभाग-

उज्जोयणवाहल्लस्स खेत्तच्छेएणं छिज्जमाणस्स० जाव हंता अत्थि, एवं० जाव अहे सत्तमाए जं जस्स बाहल्लं ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवायवलयस्स अद्धपंचमजोयणबाहल्लस्स खेत्तच्छेदेण छिज्ज० जाव हंता अत्थि एवं० जाव अहे सत्तमाए जं जस्स बाहल्लेणं, एवं तणुवातवलयस्स वि० जाव अहे सत्तमा जं जस्स बाहल्लं ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलए किंसंठिए पण्णत्ते ? । गोयमा ! वट्टवलयागारसंठाणसंठिते पण्णत्ते । जेणं इमं रयणप्पभं पुढविं सव्वतो समंता संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठति । एव० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए घणोदधिवलए, णवरं अप्पाणं पुढविं संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठति ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवातवलए किंसंठिते पण्णत्ते ? । गोयमा ! वट्टवलयागारे तहेव० जाव जेणं इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलय सव्वतो समंता संपरिक्खिवित्ता ण चिट्ठइ । एवं० जाव अहे सत्तमाए घणवातवलयं । इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तणुवातवलए किंसंठिते पण्णत्ते ? । गोयमा ! वट्टवलयागारसंठाणसंठिए० जाव जेणं इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवातवलयं सव्वतो समंता संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठंति । एवं० जाव अहे सत्तमाए तणुवातवलय ॥

(इमीसे ण भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या घनोदधिवलयः किमिव संस्थितः किंसंस्थितः प्रज्ञप्तः ? । भगवानाह-गौतम ! वृत्तः चक्रवालतया परिवर्त्तुलो वलयस्य मध्ये शुषिरवृत्तविशेषस्याऽऽकार आकृतिर्वलयाऽऽकार इव संस्थानं वलयाऽऽकारसंस्थानं,तेन संस्थितो वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थितः । कथमेव गम्यते ?-वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थित इति ?। तत आह-(जेणमित्यादि) येन कारणेन इमां रत्नप्रभां पृथिवीं सर्वतः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च संपरिक्षिप्य सामस्त्येन वेष्टयित्वा तिष्ठति वर्त्तते,तेन कारणेन वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थित प्रज्ञप्तः ।

एवं घनवातवलयसूत्रं, तनुवातवलयसूत्रं च परिभावनीयम् । नवरं घनवातवलयो घनोदधिवलयं संपरिक्षिप्येति वक्तव्यम् , तनुवातवलयो घनवातवलयं संपरिक्षिप्येति । एवं शेषास्वपि पृथिवीषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सूत्राणि भावनीयानि ।

(२५) आयामविष्कम्भौ पृथ्वीनाम्-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी केवतियं आयामविक्खंभेणं पण्णत्ता ? । गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ता । एवं० जाव अहे सत्तमा ॥

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कियता आयामविष्कम्भेण, समाहारो द्वन्द्वः । आयामविष्कम्भाभ्यां प्रज्ञप्ता । भगवानाह-असंख्येयानि योजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेन । किमुक्तं भवति ?-असंख्येयानि योजनसहस्राणि आयामतोऽसंख्येयानि योजनसहस्राणि विष्कम्भेन,आयामविष्कम्भयोस्तु परस्परमल्पबहुत्वचिन्तने तुल्यत्वम्, तथा असंख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण परिधिना प्रज्ञप्ता । एवमेकैका पृथिवी तावद्वक्तव्या यावदधः सप्तमी पृथिवी ।

(२६) अन्तर्बहिर्वा समाः पृथ्व्यः-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी अंते य मज्झे य सव्वत्थ समा बाहल्लेणं पण्णत्ता ? । हंता गोयमा ! इमा णं रयणप्पभा पुढवी अंते य मज्झे य सव्वत्थ समा बाहल्लेणं एवं० जाव अहे सत्तमा ॥

(इमा ण भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी अन्ते च मध्ये च सर्वत्र समा बाहल्येन पिण्डभावेन प्रज्ञप्ता ?। भगवानाह-(गौतम ! इत्यादि) सुगमम् । एवं क्रमेणैकैका पृथिवी तावद्वक्तव्या यावत्सप्तमी ।

(२७) पृथिवीषु जीवा सर्वत्र उपपन्नपूर्वा -

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए सव्वजीवा उववन्नपुव्वा सव्वजीवा उववन्ना ? । गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए सव्वजीवा उववण्णपुव्वा, नो चेव णं सव्वजीवा उववण्णा, एव० जाव अधे सत्तमाए पुढवीए ॥

(इमीसे ण भंते ! इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वजीवाः सामान्येन उपपन्नपूर्वाः कालक्रमेण तथा सर्वजीवा उपपन्ना उत्पन्ना युगपत् । भगवानाह-गौतम ! अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वजीवाः सांव्यवहारिकजीवराश्यन्तर्गताः प्रायो वृत्तिमाश्रित्य सामान्येन उपपन्नपूर्वा उत्पन्नपूर्वाः कालक्रमेण संसारस्याऽनादित्वात्, न पुनः सर्वजीवा उपपन्ना उत्पन्ना युगपत्,सकलजीवानामेककालं रत्नप्रभापृथिवीत्वेनोत्पादे सकलदेवनारकाऽऽदिभेदाभावप्रसक्तेः । न चैतदस्ति, तथा जगत्स्वाभाव्यात् । एवमेकैकस्याः पृथिव्यास्तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तम्याः ।

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा सव्वजीवेहिं विजढा ? । गोयमा ! इमा ण भंते ! रयणप्पभा पुढवी सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा, नो चेव णं सव्वजीवेहिं विजढा, एवं० जाव अहे सत्तमा ॥

(इमा ण इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी (सव्वजीवेहिं विजढपुव्वा इति) सर्वजीवैः कालक्रमेण परित्यक्तपूर्वा, तथा सर्वजीवैर्युगपद् विजढा परित्यक्ता । भगवानाह-गौतम ! इयं रत्नप्रभा पृथिवी प्रायो वृत्तिमाश्रित्य सर्वजीवैः सांव्यवहारिकैः कालक्रमेण परित्यक्तपूर्वा, न तु युगपत्, परित्यागस्यासम्भवात् तथानिमित्ताभावात्,एवं तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तमी पृथ्वी ।

(२८) पृथ्वीषु सर्वे जीवाः प्रविष्टपूर्वाः-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए सव्वपोग्गला पविट्ठपुव्वा, सव्वपोग्गला पविट्ठा ? । गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए सव्वपोग्गला पविट्ठपुव्वा, नो चेव

णं सव्वपोग्गला पविट्ठा, एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए ॥

(इमीसे णं इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वे पुद्गला लोकोदरविवरवर्तिनः कालक्रमेण प्रविष्टपूर्वाः, तद्भावेन परिणतपूर्वाः,तथा सर्वे पुद्गलाः प्रविष्टा एककालं तद्भावेन परिणताः ? । भगवानाह-गौतम ! अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां सर्वे पुद्गला लोकवर्तिनः प्रविष्टपूर्वाः-तद्भावेन परिणतपूर्वाः, संसारस्याऽनादित्वात्, न पुनरेककालं सर्वपुद्गलाः प्रविष्टाः-तद्भावेन परिणताः, सर्वपुद्गलानां तद्भावेन परिणतौ रत्नप्रभाव्यतिरेकेणाऽन्यत्र सर्वत्राऽपि पुद्गलाभावप्रसक्ते, न चैतदस्ति, तथाजगत्स्वाभाव्यात् । एवं सर्वासु पृथिवीषु क्रमेण वक्तव्यं, यावदधः सप्तम्यां पृथिव्यामिति ।

(२६) सर्वे पुद्गलाः त्यक्तपूर्वाः-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी सव्वपोग्गलेहिं विजढपुव्वा, सव्वपोग्गले विजढा ?। गोयमा ! इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी सव्वपोग्गलेहिं विजढपुव्वा, नो चेव णं सव्वपोग्गले विजढा, एवं० जाव अहे सत्तमा ॥

(इमा ण भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी सर्वपुद्गलैः कालक्रमेण (विजढपुव्वा इति) परित्यक्तपूर्वा, तथा सर्वपुद्गलैरेककालं परित्यक्ता ?। भगवानाह-गौतम ! इयं रत्नप्रभा पृथिवी सर्वपुद्गलैः कालक्रमेण परित्यक्तपूर्वा, संसारस्याऽनादित्वात्, न पुनः सर्वपुद्गलैरेककालं परित्यक्ता, सर्वपुद्गलैरेककालं परित्यागे तस्याः सर्वथा स्वरूपाभावप्रसक्तेः । न चैतदस्ति, तथा जगत्स्वाभाव्यतः शाश्वतत्वाच्च । एतच्चानन्तरमेव वक्ष्यति । एवमेकैका पृथिवी क्रमेण तावद्वाच्या, यावदधः सप्तमी पृथिवी ।

(३०) शाश्वती, अशाश्वती वा रत्नप्रभा ?-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासता, असासता ? । गोयमा ! सिय सासता, सिय असासता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सिय सासता, सिय असासता ? । गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासता, वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासता, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति-तं चेव० जाव सिय असासता, एवं० जाव अहे सत्तमा ।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी किं शाश्वती, अशाश्वती ?। भगवानाह -गौतम ! स्यात् कथञ्चित्, कस्याऽपि नयस्याऽभिप्रायेणेत्यर्थः । शाश्वती । स्यात् कथञ्चित् अशाश्वती। एतदेव सविशेषं जिज्ञासुः पृच्छति-(से केणट्ठेणमित्यादि) 'से' शब्दोऽथशब्दार्थः । स च प्रश्ने, केन अर्थेन कारणेन भदन्त ! एवमुच्यते-यथा स्यात् शाश्वती, स्यादशाश्वतीति ?। भगवानाह-गौतम ! (दव्वट्ठयाए इत्यादि) द्रव्यार्थतया शाश्वती,तत्र द्रव्यं सर्वत्राऽन्वयि सामान्यमुच्यते;द्रवति गच्छति तान् तान् पर्यायान् विशेषानिति वा द्रव्यमिति व्युत्पत्तेः, द्रव्यमेवाऽर्थः तात्त्विकपदार्थो यस्य, न तु पर्यायाः, स द्रव्यार्थो द्रव्यमात्रास्तित्वप्रतिपादको नयविशेषः, तद्भावो द्रव्यार्थता, तया द्रव्यमात्रास्तित्वप्रतिपादकतयाऽभिप्रायेणेति यावत् । शाश्वती द्रव्यार्थिकनयमतपर्यालोचनायामेवंविधस्य रत्नप्रभायाः पृथिव्या आकारस्य सदाभावाद् वर्णपर्यायैः कृष्णाऽऽदिभिः, गन्धपर्यायैः सुरभ्यादिभिः, रसपर्यायैस्तिक्ताऽऽदिभिः, स्पर्शपर्यायैः कठिनत्वाऽऽदिभिः, अशाश्वती अनित्या, तेषां वर्णाऽऽदीनां प्रतिक्षणं कियत्कालानन्तरं वाऽन्यथाऽन्यथाभवनात्, अतावयवस्थस्य चाऽनित्यत्वात् । न चैवमपि भिन्नाधिकरणे नित्यत्वाऽनित्यत्वे द्रव्यपर्याययोर्भेदाभेदोपगमात्, अन्यथोभयोरप्यसत्त्वाऽऽपत्तेः । तथाहि-शक्यते वक्तुं परपरिकल्पितं द्रव्यमसत्,पर्यायव्यतिरिक्तत्वात्, बालत्वाऽऽदिपर्यायशून्यबन्ध्यासुतवत्,तथा परपरिकल्पिता पर्याया असतः द्रव्यत्वव्यतिरिक्तत्वात्, बन्ध्यासुतगतबालत्वाऽऽदिपर्यायवत् । उक्तं च-"द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः । क्व कदा केन किंरूपा, दृष्टा मानेन केन वा ? ॥१॥" इति कृतं प्रसङ्गेन । विस्तरार्थिना धर्मसंग्रहणिटीका निरूपणीया । "(से एएणऽट्ठेणमित्यादि) उपसंहारमाह-' से 'शब्दोऽथशब्दार्थः । स चाऽत्र वाक्योपन्यासे, अथ एतेनाऽनन्तरोदितेन कारणेन गौतम ! एवमुच्यते-स्यात् शाश्वती, स्यादशाश्वती । एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तमी पृथिवी । इह यद् यावत्सम्भवाऽऽस्पदं तत् तावन्तं कालं शश्वद्भवति, तदा तदपि शाश्वतमुच्यते । यथा तन्त्रान्तरे-" आकप्पट्ठाई पुढवी सासया " इत्यादि । ततः संशये किमेषा रत्नप्रभा पृथिवी सकलकालावस्थानचिन्तया शाश्वती ? उताऽन्यथा ?। यथा तन्त्रान्तरीयैरुच्यते इति, ततस्तदपनोदार्थं पृच्छति ।

(३१) कालस्थितिः-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी कालतो केवचिरं होति ?। गोयमा ! ण कदा वि ण आसि, ण कदा वि णत्थि, ण कदा वि ण भविस्सति, भुविं य, भवति य, भविस्सति य, धुवा णियता सासता अक्खया अव्वया अवट्ठिता णिच्चा एवं० जाव अहे सत्तमा ।

(इमा णं भंते ! इत्यादि) इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी कालतः कियच्चिरं कियन्तं कालं यावद्भवति ?। भगवानाह-गौतम ! न कदाचिन्नासीत्, सदैवासीदिति भावः । अनादित्वात् । तथा न कदाचिन्न भवति, सर्वदैव वर्तमानकालचिन्तायां भवतीति भावः । अत्रापि स एव हेतुः, सदा भावादिति । तथा न कदाचिन्न भविष्यति, भविष्यच्चिन्तायां सर्वदैव भविष्यतीति भावः, अपर्यवसितत्वात् । तदेवं कालत्रयचिन्तायां नास्तित्वप्रतिषेधं विधाय सम्प्रत्यस्तित्वं प्रतिपादयति-(भुविं चेत्यादि) अभूत्, भवति, भविष्यति च । एवं त्रिकालभावित्वेन ध्रुवा, ध्रुवत्वादेव नियता नियतावस्थाना,धर्मास्तिकायाऽऽदिवत्,नियतत्वादेव च शाश्वती शश्वद्भावे प्रलयाभावात्, शाश्वतत्वादेव च सततं गङ्गासिन्धुप्रवाहप्रवृत्तावपि पौण्डरीकह्रद इवान्यतरपुद्गलविघटनेऽप्यन्यतरपुद्गलोपचयभावादक्षया,अक्षयत्वादेव चाव्यया मानुषोत्तराद् बहिः समुद्रवत्,अव्ययत्वादेवावस्थिता स्वप्रमाणावस्थिता सूर्यमण्डलाऽऽदिवत्, एवं सदाऽवस्थानेन चिन्त्यमाना नित्या जीवस्वरूपवत् । यद्वा ध्रुवाऽऽदयः शब्दा इन्द्रशक्राऽऽदिवत् पर्यायशब्दा नानादेशविनेयानुग्रहाय व्याख्याता इत्यदोषः । एवमेकैका पृथिवी क्रमेण तावद्वक्तव्या,

षदधः सप्तमी । (पृथिवीषु विभागतोऽन्तरवक्तव्यता ' अंतर ' शब्दे प्रथमभागे ७१ पृष्ठे गता)

(३२) पृथिव्यो बाहल्येन तुल्याः--

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी दोच्चं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला विसेसाहिया संखेज्जगुणा, वित्थारेणं किं तुल्ला विसेसहीणा संखेज्जगुणहीणा ?। गोयमा ! इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी दोच्चं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं णो तुल्ला, विसेसाहिता, नो संखेज्जगुणा, वित्थारेणं णो तुल्ला विसेसहीणा, णो संखेज्जगुणहीणा। दोच्चा णं भंते ! पुढवी तच्चं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला, एवं चेव भाणियव्वा। एवं तच्चा चउत्थी पंचमी छट्ठी। छट्ठी णं भंते ! पुढवी सत्तमिं पुढविं पणिहाय बाहल्लेणं किं तुल्ला विसेसाहिया संखेज्जगुणा, एवं चेव भाणियव्वं, सेवं भंते ! भंते ! त्ति।

(इमा ण भंते ! इत्यादि) इय भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी द्वितीयां शर्कराप्रभा प्रणिधायाऽऽश्रित्य बाहल्येन पिण्डभावेन किं तुल्या, विशेषाधिका, सङ्ख्येयगुणा ?, बाहल्यमाधिकृत्येदं प्रश्नत्रयम्। ननु एकाऽशीत्युत्तरयोजनलक्षमाना, अपरा द्वात्रिंशदुत्तरयोजनलक्षमाना इत्युक्तम्, तत्तदर्थावगमे सत्युक्तलक्षण प्रश्नत्रयमयुक्तम्, विशेषाधिकेति स्वयमेवाऽर्थपरिज्ञानात्। सत्यमेतत्। केवलमप्रश्नोऽय तदन्यमोहाऽपोहार्थः । एतदपि कथमवसीयते ? इति चेत्, स्वावबोधाय प्रश्नान्तरोपन्यासात्। तथा चाऽऽह-विस्तरेण विष्कम्भेन किं तुल्या, विशेषहीना, संख्येयगुणहीनेति ?। भगवानाह-गौतम ! इय रत्नप्रभा पृथिवी द्वितीयां पृथिवीं प्रणिधाय बाहल्येन न तुल्या, किं तु विशेषाधिका, नाऽपि संख्येयगुणा । कथमेतदेवमिति चेत् ?। उच्यते-इह रत्नप्रभा पृथिवी अशीत्युत्तरयोजनलक्षमाना, शर्कराप्रभा द्वात्रिंशदुत्तरयोजनलक्षमाना, तदत्रान्तरमष्टाचत्वारिंशद् योजनसहस्राणि, ततो विशेषाधिका घटते, न तुल्या, नाऽपि सङ्ख्येयगुणा; विस्तरेण न तुल्या, किं तु विशेषहीना, नाऽपि सङ्ख्येयगुणा, प्रदेशाऽऽदिवृद्ध्या प्रवर्द्धमाने तावति क्षेत्रे शर्कराप्रभाया एव वृद्धिसम्भवात्। एव सर्वत्र भावनीयम्। जी० ३ प्रति० १ उ०।

(३३) सम्प्रति कस्यां पृथिव्यां कस्मिन् प्रदेशे नरकाऽऽवासा इत्येतत् प्रतिपादनार्थं तावदिदमाह-

कइ णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ। तं जहा-रयणप्पभा० जाव अहे सत्तमा।

(कइ ण भंते ! इत्यादि) कति भदन्त ! पृथिव्यः प्रज्ञप्ता ?, इति विशेषाऽभिधानार्थमेतदभिहितम्। उक्तं च-"पुव्वभणियं ज भण्णइ तत्थ कारण अत्थि पडिसेहो, अणुण्णा, कारणविसेसोवलंभो वा "। भगवानाह-गौतम ! सप्त पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-रत्नप्रभा, यावत्तमस्तम प्रभा ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसतसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवतियं ओगाहित्ता, हेट्ठा केवतियं वज्जेत्ता, मज्झे केवतिए केवतिया निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ?। गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता हेट्ठा वि एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठुत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं रयणप्पभाए पुढवीए नेरतियाणं तीसं निरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खायं।

(इमीसे ण इत्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या उपरि कियत् किंप्रमाणमवगाह्य, उपरितनभागात् कियत् अतिक्रम्येत्यर्थः। अधस्तात् कियत् किंप्रमाणं वर्जयित्वा, मध्ये कियति किंप्रमाणे कियन्ति नरकाऽऽवासाः शतसहस्राणि प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! अस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्या अशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रबाहल्याया उपरि एक योजनसहस्रमवगाह्य, अधस्तादेक योजनसहस्र वर्जयित्वा, मध्ये मध्यभागे अष्टसप्तत्युत्तरे अष्टसप्ततिसहस्राधिके योजनशतसहस्रम्, अत्र एतस्मिन् रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकाणा योग्यानि त्रिंशन्नरकाऽऽवासशतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यात मया, शेषैश्च तीर्थकृद्भिः, अनेन सर्वतीर्थकृतामविसंवादिवचनता प्रवेदिता।

(३४) वर्णकः--

ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा० जाव असुभा णरएसु वेयणा, एवं एएणं अभिलावेणं उववज्जिऊण भाणियव्वं, ठाणपयाणुसारेणं जत्थ जं बाहल्लं जत्तिया वा णेरइयावाससयसहस्सा० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए, अहे सत्तमाए मज्झे केवतिए कति अणुत्तरा महतिमहालया महाणिरया पण्णत्ता ?; एवं पुच्छियव्वं वागरेयव्वं पि तहेव छट्ठी सत्तमासु काओअगणिवण्णाभा भाणियव्वा।

(ते णं णरगा इत्यादि) ते नरका अन्तर्मध्यभागे वृत्ता वृत्ताकारा बहिर्बहिर्भागे चतुरस्राः चतुरस्राऽऽकाराः, इद च पीठोपरिवर्तिन मध्यभागमधिकृत्य प्रोच्यते। सकलपीठाऽऽद्यपेक्षया तु आवलिकाप्रविष्टा वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रसंस्थानाः, पुष्पावकीर्णास्तु नानासंस्थानाः प्रतिपत्तव्याः । एतच्चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यति-[अहे खुरप्पसंठाणसंठिया इति] अधो भूमितले क्षुरप्रस्येव प्रहरणविशेषस्य यत् संस्थानमाकारविशेषः-तीक्ष्णताऽऽलक्षणः, तेन संस्थिताः क्षुरप्रसंस्थानसंस्थिताः । तथाहि-तेषु नरकाऽऽवासेषु भूमितले मसृणत्वाभावत. शर्करिले पादेषु न्यस्यमानेषु शर्करामात्रसंस्पर्शेऽपि क्षुरप्रेच पादाः कृत्यन्ते[कृत्यन्ते] [निच्चंधकारतमसा इति] नित्यान्धकारा उद्योताभावतो यत्तमस्तेन तमसा नित्यं सर्वकालमन्धकारो येषु नित्यान्धकाराः। तत्रापवरकाऽऽदिष्वपि नामान्धकारोऽस्ति, केवल बहि सूर्यप्रकाशे मन्द तमो भवति, नरकेषु तु तीर्थकरजन्मदीक्षाऽऽदिकालव्यतिरेकेणान्यदा सर्वकालमपि उद्द्योतलेशस्याऽप्यभावतो जात्यन्धस्येव मेघच्छन्नकालाऽर्द्धरात्र इवातीव बहलतरो भवति। तत उक्त-तमसा नित्यान्धकारा, तमश्च तत्र सदावस्थितम्, उद्द्योतकारिणामभावात्। तथाऽऽह-[ववगयगहचदसूरनक्खत्तजोइसपहा] व्यपगत. परिभ्रष्टो ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्ररूपाणाम्, उपलक्षणमेतत्-तारारूपाणां ज्योतिष्काणां पन्थाः मार्गो यत्र व्यपगतग्रहसूर्यनक्षत्रज्योतिष्कपथा। तथा-[मेयवसापूयरुहिरमंस-

चिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला इति] स्वभावत. सपत्नैर्मेदोवसापूतिरुधिरमांसैर्यश्चिक्खिल्ल कर्दमस्तेन लिप्तमुपदिग्धमनुलेपनेन सङ्कुलितस्य पुन पुनरुपलेपनेन तल भूमिका येषां ते मेदोवशापूतिरुधिरमांसचिक्खिल्लविलिप्तानुलेपनतलाः, अत एवाशुचयोऽपवित्रा., बीभत्सा दर्शनेष्वतिजुगुप्सोत्पत्ते', परमदुरभिगन्धा मृतगवादिकलेवरेभ्योऽप्यतीवानिष्टदुरभिगन्धा. (काओअगणिवण्णाभा इति) लोहे धम्यमाने याहक्कपोतो बहुकृष्णरूपोऽग्नेर्वर्णः। किमुक्तं भवति?-यादृशी बहुकृष्णवर्णरूपा अग्निज्वाला विनिर्गच्छतीति तादृशी आभा वर्णस्वरूप येषां ते कपोताग्निवर्णाभा , तथा कर्कशोऽतिदुस्सहोऽसिपत्रस्येव स्पर्शो येषां ते कर्कशस्पर्शा., अत एव-[दुरहियासा इति] दु खेनाध्यस्यन्ते दुरध्यासा., अशुभा दर्शनतो नरकास्तथा गन्धरसस्पर्शशब्दैरशुभा अतीवासातरूपा. नरकेषु वेदना., एव सर्वास्वपि पृथिवीष्वालापको वक्तव्य.। जी० ३ प्रति०। (' ठाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०० पृष्ठे दर्शित आलाप)(नरकाऽऽवासस्तथा उपर्यधश्चैकैक योजनसहस्रं मुक्त्वा यावत्प्रमाण नरकाऽऽवासयोग्य पृथिवीबाहल्य, तत्सर्वं संग्रहणीगाथाभि' ' ठाण ' शब्दे १७०२ पृष्ठे प्रतिपादितम)

(३५) सम्प्रति नरकाऽऽवाससंस्थानप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे ण भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरगा किंसंठिता पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविधा पण्णत्ता। तं जहा-आवलियपविट्ठा य, आवलियबाहिरा य। तत्थ णं जे ते आवलियपविट्ठा ते तिविहा पण्णत्ता। त जहा-वट्टा, तंसा, चउरसा। तत्थ णं जे ते आवलियबाहिरा, ते णाणासंठाणसंठिता पण्णत्ता। त जहा-अयकोट्ठसंठिया, पिट्ठपयणगसंठिया, कंदूसंठिया, लोहीसंठिया, कडाहसंठिया, थालीसंठिया, पिहडगसंठिया, किण्हगसंठिया, उडजसंठिया, मुरयसंठिया, मुइंगसंठिया, णंदिमुइंगसंठिया, आलिंगसंठिया, सुघोससंठिया, दद्दरसंठिया, पणवसंठिया, पडहसंठिया, भेरीसंठिया, झल्लरिसंठिया, कुत्थुंबकसंठिया, नालीसंठिया, एवं० जाव तमाए।

(इमीसे णं भंते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरका. किमिव संस्थिता. प्रज्ञप्ता ?। भगवानाह-गौतम ! नरका द्विविधा प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-आवलिकाप्रविष्टाश्च, आवलिकाबाह्याश्च । चशब्दावुभयेषामप्युभयतासूचकौ । आवलिकाप्रविष्टा नाम-अष्टासु दिक्षु समश्रेण्या व्यवस्थिता., आवलिकासु श्रेणिषु प्रविष्टा व्यवस्थिता आवलिकाप्रविष्टा., ते संस्थानमधिकृत्य त्रिविधा. प्रज्ञप्ता । तद्यथा-वृत्ता' त्र्यस्रा , चतुरस्राः। तत्र ये ते आवलिकाबाह्या., ते नानासंस्थानसंस्थिता. प्रज्ञप्ता । तद्यथा-अय.कोष्ठो लोहमयकोष्ठस्तद्वत् संस्थिता (पिट्ठपयणगसंठिया इति) यत्र सुरासंधानाय पिष्टं पच्यते तत् पिष्टपचनक, तद्वत् संस्थिता. ।

अत्र संग्रहणीगाथे-

"अयकोट्ठपिट्ठपयणग-कंडूलोहीकडाहसंठाणा ।
थालीपिहडगकिण्हग-उडए मुरए मुइंगेसु।
नंदिमुइंगे आलिं-गि सुघोसे दद्दरे य पणवे य ।
पडहगझल्लरिभेरी-कुत्थुंबगनालिसंठाणा " ॥

कण्डू पाकस्थान, लोहीकटाहौ प्रतीतौ, नद्रतसंस्थाना., स्थाली उषा, पिहडग यत्र प्रभूतजनयोग्य धान्यं पच्यते, उटजस्तापसाऽऽश्रमः, मुरजो मर्दलविशेष', नन्दीमृदङ्गो द्वादशविधतूर्यान्तर्गतो मृदङ्गः। स च द्विधा । तद्यथा-मुकुन्दो, मर्दलश्च । तत्रोपरि संकुचितोऽधो विस्तीर्णो मुकुन्द., उपर्यधश्च समो मर्दल' । आलिङ्गो मृन्मयो मुरजः, सुघोषो देवलोकप्रसिद्धो घण्टाविशेष., आतोद्यविशेषो वा, दर्दरो वाद्यविशेष., पणवो भाण्डानाम्, पटह. प्रतीत., भेरी ढक्का, झल्लरी चर्मावनद्धा विस्तीर्णवलयाऽऽकारा, कुस्तुम्बक. सम्प्रदायगम्य., नाली घटिका । एव शेषास्वपि पृथिवीषु तावद्वक्तव्यं यावत् षष्ठ्या। सूत्रपाठस्त्वेवम्-"सक्करप्पभाए ण भंते ! पुढवीए णरगा किंसंठिया पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-आवलियापविट्ठा य, आवलियाबाहिरा य। " इत्यादि ।

(३६) अथ. सप्तमीविषय सूत्र साक्षादुपदर्शयति-

अहे सत्तमाए णं भंते ! पुढवीए नरगा किंसंठिया पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-वट्टे य, तंसा य ।

(अहे सत्तमाए णं भंते ! इत्यादि) अध' सप्तम्यां भदन्त ! पृथिव्यां नरका. किमिव संस्थिताः ?। भगवानाह-गौतम! द्विविधा. प्रज्ञप्ता.। तद्यथा-(वट्टे य तंसा य इति) अधः सप्तम्यां हि पृथिव्यां नरका आवलिकाप्रविष्टा एव, नावलिकाबाह्याः, आवलिकाप्रविष्टा अपि पञ्च, नाधिका , तत्र मध्ये अप्रतिष्ठानाभिधाननरकेन्द्रको वृत्त., सर्वेषामपि नरकेन्द्रकाणां वृत्तत्वात्। शेषास्तु चत्वार. पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु ते त्र्यस्रत्र्यस्रा , तत उक्तं-वृत्ताश्च त्र्यस्राश्च ।

(३७) सम्प्रति नरकाऽऽवासानां बाहल्यप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरया केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिण्णि जोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ता। त जहा-हेट्ठिल्ले चरिमंते घणा सहस्सं, मज्झे सुसिरा सहस्सं, उप्पिं संकुइया सहस्सं, एवं० जाव अहे सत्तमाए ॥

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः कियद् बाहल्येन प्रहलस्य भावो बाहल्य-पिण्डभाव , उत्सेध इत्यर्थ । तेन प्रज्ञप्ता' ?। भगवानाह—गौतम! त्रीणि योजनसहस्राणि बाहल्येन प्रज्ञप्ता.। तद्यथा-अधस्तात् पादपीठे घना निचिता. सहस्र योजनसहस्र मध्ये पीठस्योपरि मध्यभागे शुषिरा' सहस्र योजनसहस्र (तत उप्पिं ति) उपरि संकुचिता' शिखरीकृत्य संकोचनमुपगता योजनसहस्र, तत एव सर्वसंख्यया नरकाऽऽवासाना त्रीणि योजनसहस्राणि बाहल्यतो भवन्ति, एवं पृथिव्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्य यावदध. सप्तम्याम् ।

तथा चोक्तमन्यत्रापि—

" हेट्ठा घणा सहस्स, उप्पिं सकोचतो सहस्सं तु ।
मज्झे सहस्स सुसिरा, तिन्नि सहस्सूसिया णरया ॥१॥ "

(३८) सम्प्रति नरकाऽऽवासानामायामविष्कम्भप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरगा केवतियं आयामविक्खंभेणं, केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविधा पण्णत्ता। त जहा-संखेज्जवित्थडा य, असंखेज्ज-

वित्थमा य। तत्थ णं जे ते संखेज्जवित्थमा ते णं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पन्नत्ता। तत्थ णं जे ते असंखेज्जवित्थमा ते णं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पन्नत्ता। एवं० जाव तमाए ॥

(इमीसे णं भंते! इत्यादि) अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः किंप्रमाणमायामविष्कम्भेन, समाहारो द्वन्द्वः, आयामविष्कम्भाभ्यामित्यर्थः। कियत् परिक्षेपेण परिरयेण प्रज्ञप्ताः?। भगवानाह-गौतम! द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-संख्येयविस्तृताश्च, असंख्येयविस्तृताश्च। सख्येय सख्येययोजनप्रमाण विस्तृतं विस्तारो येषां ते सख्येयविस्तृताः, एवमसख्येय विस्तृत येषां तेऽसख्येयविस्तृताः। चशब्दौ स्वगतानेकभेदप्रकाशनपरौ। तत्र ये ते सख्येयविस्तृतास्ते सख्येयानि योजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेण, सख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण। तत्र ये तेऽसख्येयविस्तृतास्ते असख्येयानि योजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेण, असख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः। एवं प्रतिपृथिवि तावद् वक्तव्य यावत् षष्ठी पृथ्वी। सूत्रपाठस्त्वेवम्-" सक्करप्पभाए णं पुढवीए नरगा केवइय आयामविक्खंभेणं, केवइय परिक्खेवेण पन्नत्ता ?। गोयमा! दुविहा पण्णत्ता। त जहा-सखेज्जवित्थडा य, असखेज्जवित्थडा य।" इत्यादि ॥

अहे सत्तमाए णं भंते! पुच्छा ?। गोयमा! दुविधा पन्नत्ता ?। तं जहा-संखेज्जवित्थमे य, असखेज्जवित्थमा य। तत्थ णं जे से संखेज्जवित्थडे, से णं एकं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं, तिन्नि जोयणसयसहस्साइं सोलस सहस्साइं दोन्नि य सत्तावीसे जोयणसए तिन्नि कोसे अट्ठावीसं धणुसयाइं तेरस य अंगुलाइं अर्द्धंगुलयं च किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पन्नत्ते। तत्थ णं जे ते असंखेज्जवित्थडा, ते णं असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाइं० जाव परिक्खेवेणं पण्णत्ता।

(अहे सत्तमाए णं भंते! इत्यादि) अध सप्तम्यां भदन्त! पृथिव्या नरका कियदायामविष्कम्भेण, कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम! द्विविधाः। तद्यथा-सङ्ख्येयविस्तृत एकः; स चाप्रतिष्ठानाऽभिधानो नरकेन्द्रकोऽवसातव्यः। असख्येयविस्तृताश्चत्वारः। तत्र योऽसौ सख्येयविस्तृतोऽप्रतिष्ठानाऽभिधानो नरकेन्द्रकः, स एक योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भेण, त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोमश सहस्राणि द्वे योजनशते सप्तविंशे सप्तविंशत्यधिके त्रयः क्रोशा अष्टाविंशं धनुश्शत त्रयोदश अङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुल च किञ्चिद्विशेषाधिक परिक्षेपेण प्रज्ञप्त। इद परिक्षेपपरिमाणं गणितभावनया जम्बूद्वीपपरिक्षेपपरिमाणवद्भावनीयम्। ये ते शेषाश्चत्वारोऽसख्येयविस्तृतास्तेऽसख्येयानि योजनशतसहस्राण्यायामविष्कम्भेण, असख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्ता।

(३९) सम्प्रति नरकाऽऽवासानां वर्णप्रतिपादनार्थमाह-

इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए नरया केरिसया वन्नेणं पण्णत्ता ?। गोयमा! काला, कालावभासा, गंभीरलोमहरिसा भीमा उत्तासणया परमकिण्हा वन्नेणं पन्नत्ता, एवं० जाव अहे सत्तमाए।

(इमीसे णं भंते! इत्यादि) अस्यां भदन्त! रत्नप्रभायां पृथिव्या नरकाः कीदृशाः वर्णेन प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम! कालाः, तत्र कोऽपि निष्प्रभतया मन्दकालोऽपि आशङ्क्येत, ततस्तदाशङ्काव्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह-कालाऽवभासाः काल. कृष्णोऽवभास प्रतिभाविनिर्गमो येभ्यस्ते कालावभासाः, कृष्णप्रभापटलोपचिता इति भावः। अत एव गम्भीररोमहर्षा -गम्भीरोऽतीवोत्कटो रोमहर्षो भयवशाद् येभ्यस्ते गम्भीररोमहर्षाः। किमुक्त भवति ?-एव नाम ते कृष्णाः कृष्णाऽवभासाः, यद्दर्शनमात्रेण नारकजन्तूनां भयसम्पादनेन रोमहर्षमुत्पादयन्तीति। अत एव भीमा भयानकाः, भीमत्वादेव उत्त्रास्यन्ते नारका जन्तव एभिरिति उत्त्रासनाः, उत्त्रासना एव उत्त्रासनकाः, वर्णेन वर्णमधिकृत्य परमकृष्णा प्रज्ञप्ताः; यत ऊर्द्धं न किमपि भयानक कृष्णमस्तीति भाव.। एव प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तम्याम्।

(४०) गन्धमधिकृत्याऽऽह-

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए णरगा केरिसया गंधेणं पन्नत्ता ?। गोयमा! से जहानामए अहिमडे ति वा, गोमडे ति वा, सुणगमडे ति वा, मज्जारमडे ति वा, मणुस्समडे ति वा, महिसमडे ति वा, मूसगमडे ति वा, आसमडे ति वा, हत्थिमडे ति वा, सीहमडे ति वा, वग्घमडे ति वा, विगमडे ति वा, दीवियमडे ति वा, मयकुहियचिरविनट्ठकुणिमवावण्णदुरभिगंधे असुइविलीणविगयबीभच्छदरिसणिज्जे किमिजालाउलसंसत्ते। भवे एयारूवे सिया ?। णो इणट्ठे समट्ठे गोयमा! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा एत्तो अणिट्ठतरका चेव अकंततरका चेव० जाव अमणामतरा चेव गंधेणं पन्नत्ता। एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए ॥

(इमीसे णं भंते! इत्यादि) प्रश्नसूत्र सुगमम्। भगवानाह-गौतम! तद्यथा नाम-अहिमृत इति वा, अहिमृतो नाम-मृताहिदेह, एवं सर्वत्र भावनीयम्। गोमृत इति वा, श्वमृत इति वा, मार्जारमृत इति वा, हस्तिमृत इति वा, सिंहमृत इति वा, व्याघ्रमृत इति वा, द्वीपकमृत इति वा, द्वीपकश्चित्रकः। सर्वत्र अहिश्चासौ मृतश्च अहिमृत इत्येव विशेषणसमास। इह मृतक सद्य सपन्न न विगन्धि भवति। तत आह-(मयकुहियचिरविणट्ठकुणिमवावन्नेत्यादि) मृत. सन् कुथितः पूतिभावमुपगतो मृतकुथितः, स चोच्छूनावस्थामात्रगतोऽपि भवति। न च स तथा विगन्धस्तत आह-चिरविनष्ट उच्छूनावस्थां प्राप्य स्फुटित इति भाव.। सोऽपि तथा दुरभिगन्ध, तथा न भवति, तत आह-(कुणिमवावण्णेति) व्यापन्न विशराभूत कुणिम मांस यस्य स तथा। ततो विशेषणसमास। दुरभिगन्ध इति। दुरभि सर्वेषामाभिमुख्येन दुष्टो गन्धो यस्याऽसौ दुरभिगन्ध.। अशुचिभिर्विलीनो मनस. कलिमलप

रिणामहेतु. (विगय इति) विप्रनए तदभिमुखतया प्राणिनां गतं गमन यस्मिन् स तथा, बीभत्सया निन्दयाऽदर्शनीयो बीभत्सादर्शनीय., ततो विशेषणसमासः, अशुचिर्विगत-बीभत्सादर्शनीय (किमिजालाउलससत्ते इति) ससक्तः सन् कृमिजालाकुलो जातः कृमिजालाकुलससक्तः, मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात् समासः, ससक्तशब्दस्य च परनिपातः । एतावदुक्ते गौतम ! आह-(भवे एयारूवे सिया इति) स्यात्कदेतद् यदुत भवेयुरेतद्रूपा यथोक्तविशेषणविशिष्टाऽहिमृताऽऽदिरूपगन्धेनाधिकृता नरका., सूत्रे च बहुवचनेऽपि एकवचन प्राकृतत्वात् । भगवानाह-गौतम ! नायमर्थ. समर्थ.-नायमर्थ उपपन्न , यतोऽस्या रत्नप्रभाया पृथिव्या नरका इतो यथोक्तविशेषणविशिष्टाऽहिमृतादनिष्टतरा एव, तत्र किञ्चिद्द्रव्यमपि कस्याऽप्यनिष्टतर भवति । तत आह-अकान्ततरा एव स्वरूपतोऽप्यकमनीयतरा एव, अभव्या एवेति भाव. । तत्राकान्तमपि कस्याऽपि प्रिय भवति, यथा गर्ताशूकरस्याशुचि , तत आह-अप्रियतरा एव,न कस्यापि प्रिया इति भाव. । अत एवामनोज्ञतरा एव गन्धमधिकृत्य प्रज्ञप्ता , तत्र मनोज्ञ मनोऽनुकूलमात्र यत् पुन स्वविषये मनोऽत्यन्तमासक्त करोति तद्, न मनोज्ञममनोज्ञम् । एकार्थिका वा एते सर्वे शब्दाः शक्रेन्द्रपुरन्दराऽऽदिवद् नानादेशजविनेयजनानुग्रहार्थमुपात्ता., एवं पृथिव्या तावद्वक्तव्य यावदध सप्तम्याम् ।

(४१) स्पर्शमधिकृत्याऽऽह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरया केरिसया फासेणं पण्णत्ता ? । गोयमा ! से जहानामए असिपत्तेइ वा खुरपत्तेइ वा कलंबचीरियापत्तेइ वा सत्तग्गेति वा कुंतग्गेति वा तोमरग्गेति वा नारायग्गेति वा सूलग्गेति वा लउलग्गेति वा भिंडिमालग्गेति वा सूचिकलाएति वा कविकच्छुत्ति वा विच्छुकंटेति वा इंगालेति वा जालाएति वा मुम्मुरएति वा अच्चि त्ति वा अलाएति वा सुद्धागणिएति वा । भवे एयारूवे सिया ? । णो इणट्ठे समट्ठे । गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा एत्तो अणिट्ठतरा चेव० जाव अमणामतरा चेव वा फासेणं पण्णत्ता । एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए ॥

(इमीसे णमित्यादि) प्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! तद्यथा नाम-असिपत्रमिति वा-असिः खड्ग, तस्य पत्रमसिपत्र,क्षुरपत्रमिति वा,कदम्बचिरिकापत्रमिति वा, कदम्बचिरिका तृणविशेष -स च दर्भादप्यतीव तुदक., शक्तिः प्रहरणविशेष.,तदग्रमिति वा, कुन्ताग्रमिति वा, तोमराग्रमिति वा, भिण्डिमाल. प्रहरणविशेष ,तदग्रमिति वा,सूचीकलाप इति वा, कपिकच्छूरिति वा, कपिकच्छूः कण्डूतिजनको वल्लीविशेषः, वृश्चिकदश इति वा, अङ्गार इति वा, अङ्गारो निर्धूमाग्नि., ज्वालेति वा, ज्वाला अनलसबद्धा (मुम्मुर इति वा) मुर्मुरः फुम्फुकाऽऽदौ मसृणोऽग्निः, अर्चिरिति वा, अर्चिरनलाविच्छिन्ना ज्वाला, अलातमुल्मुकम्, शुद्धाग्निरयःपिण्डानुगतोऽग्नि , विद्युदादिर्वा, इतिशब्द. सर्वत्रापि उपमाभूतवस्तुस्वरूपपरिसमाप्तिद्योतक., वाशब्द परस्परसमुच्चये । इह कस्याऽपि नरकस्य स्पर्श. शरीरावयवच्छेदकोऽपरस्य भेदकोऽन्यस्य व्यथाजनकोऽपरस्य दाहक इत्यादि । ततः साम्यप्रतिपत्त्यर्थमसिपत्राऽऽदीनां नानाविधानामुपमानानामुपादानम् (भवे एयारूवे सिया इत्यादि) प्राग्वत् ।

(४२) संप्रति नरकाऽऽवासाना महत्त्वमभिधित्सुराह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरगा किं महालया पण्णत्ता ? । गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतरए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्लापूत [तेल्लपूप] [तेल्लापूप] संठाणसंठिते वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिते वट्टे रहचक्कवालसंठाणसंठिते वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिते एक्कं जोयणसतसहस्सं आयामविक्खंभेणं० जाव किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं, देवे णं महिड्डिए० जाव महाणुभागे० जाव इणामेव त्ति कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं तिहिं अच्छराणिवाएहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए सिग्घाए जइणाए छेइयाए उद्धुयाए दिव्वाए देवगईए वीतीवयमाणे जहन्नेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा, उक्कोसेणं छम्मासे वीईवएज्जा, अत्थेगतिए णरगे वीईवएज्जा, अत्थेगतिए णो वीतीवएज्जा,महालया णं गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए णरगा पण्णत्ता । एवं० जाव अहे सत्तमाए अत्थेगतियं नरगं वीईवएज्जा, अत्थेगइयं नरगं नो वीईवएज्जा ।

(इमीसे ण इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरकाः किं महान्त किंप्रमाणा महान्त प्रज्ञप्ताः ? । पूर्वं त्वसख्येयविस्तृता इति कथित, तच्चासख्येयत्व नावगम्यते इति भूय. प्रश्न. । अत एवाऽत्र निर्वचन भगवानुपमयाऽभिधत्ते-गौतम ! अयमिति यत्र स्थिता वय, णमिति वाक्यालङ्कारे, अष्टयोजनोच्छ्रितया रत्नमय्या जम्ब्वा उपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीप , सर्वद्वीपसमुद्राणा धातकीखण्डलवणाऽऽदीना सर्वाभ्यन्तर आदिभूतः, सर्वक्षुल्लक. सर्वेभ्यो द्वीपसमुद्रेभ्य क्षुल्लको ह्रस्व सर्वक्षुल्लक. । तथाहि-सर्वे लवणाऽऽदय समुद्रा. सर्वे धातकीखण्डाऽऽदयो द्वीपा अस्माद् जम्बूद्वीपादारभ्य प्रवचनोक्तक्रमेण द्विगुणद्विगुणाऽऽयामविष्कम्भपरिधय., ततोऽय शेषसर्वद्वीपसमुद्रापेक्षया सर्वलघुरिति,तथा वृत्तो, यतस्तैलापूपसस्थानसस्थित., तैलेन पक्वोऽपूपस्तैलापूपः, तैलेन हि पक्वोऽपूप. प्रायः परिपूर्णवृत्तो भवति, न घृतेन पक्व इति तैलविशेषण,नस्येत्र सस्थान, तेन सस्थितस्तैलापूपसस्थानसस्थित , तथा वृत्तो,यत. पुष्करकर्णिकासस्थानसस्थितः,तथा वृत्तो,यतो रथचक्रवालसस्थानसस्थित., तथा वृत्तो, यतः परिपूर्णचन्द्रसस्थानसस्थितः, अनेकधोपमानोपमेयभावो नानादेशजविनेयप्रतिपत्त्यर्थ । एक योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भेण, त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे योजनशते सप्तविंशे त्रय क्रोशा अष्टाविंश धनु शत त्रयोदश अङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुल च किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्त. । परिक्षेपपरिमाणगणितभावना क्षेत्रसमासटीकातो, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीकातो वा ।

दितव्या । (देवे ब णमित्यादि) देवश्च, णमिति वाक्यालङ्कारे । महर्द्धिक. महती ऋद्धिर्विमानपरिवाराऽऽदिका यस्य स महर्द्धिकः, महती द्युति. शरीराभरणविषया यस्य स महाद्युतिकः, महद् बल शरीर प्राणा यस्य स महाबलः, महद् यश. ख्यातिर्यस्य स महायशाः, तथा (महेसक्खे इति) महेश इति महान् ईश्वर इत्याख्या यस्य स महेशाख्यः । अथवा-ईशनमीशो भावे घञ्प्रत्यय', ऐश्वर्यमित्यर्थः, 'ईश' ऐश्वर्ये इतिवचनात् । तत ईशमैश्वर्यमात्मन. ख्यातिः, अन्तर्भूतण्यर्थतया ख्यापयति प्रथयति, ईशाख्य. महाँश्चासावीशाऽऽख्यश्च महेशाख्यः । क्वचित् "महासोक्खे" इति पाठ. । तत्र महत् सौख्य यस्य प्रभूतसद्वेद्योदयवशात् स महासौख्य' । अन्ये पठन्ति-"महासक्खे इति" तत्राय शब्दसंस्कारो महाश्वाक्षः । इय चात्र पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शिता व्युत्पत्ति , आशुगमनादश्वो मनः, अक्षाणि इन्द्रियाणि स्वविषयव्यापकत्वात्, अश्वश्चाक्षाणि च अश्वाक्षाणि, महान्ति अश्वाक्षाणि यस्याऽसौ महाश्वाक्ष । तथा-(महाणुभागे इति) अनुभागो विशिष्टवैक्रियाधिकरणविषया अचिन्त्या शक्ति., "भागो चिंता सत्ती" इति वचनात् । महान् अनुभागो यस्य स महानुभागः । अमूनि महर्द्धिक इत्यादीनि विशेषणानि तत्सामर्थ्यातिशयप्रतिपादकानि । यावदिति चप्पुटिकात्रयकरणकालावधिप्रदर्शनपरम् । "इणामेव त्ति कट्टु" एवमेव मुधिकया, "एमेव मोरकल्ला (कुल्ला), मुहा य मुहिय त्ति नायव्वा ।" इति वचनात् । अवज्ञयेति भावः । उक्तं च मूलटीकायाम्-(इणामेवेति कट्टु) एवमेव मुधिकया अवज्ञयेति इतिकृत्वेति हस्तदर्शितचप्पुटिकात्रयकरणसूचकम्, केवलकल्प परिपूर्ण जम्बूद्वीप त्रिभिरप्सरोनिपातै. । अप्सरोनिपातो नाम-चप्पुटिका, तत्र तिसृभिश्चप्पुटिकाभिरिति द्रष्टव्यम् । चप्पुटिकाश्च कालोपलक्षणं, ततो यावता कालेन तिस्रश्चप्पुटिका. पूर्यन्ते, तावत्कालमध्ये इत्यर्थः । त्रि.सप्तकृत्व एकविंशतिवारान्, अनुपरिवर्त्य सामस्त्येन परिभ्रम्य, 'हव्व' शीघ्रमागच्छेत्, स इत्थम्भूतगमनशक्तियोग्यो देवस्तया देवजनप्रसिद्धया उत्कृष्टया प्रशस्तविहायोगतिनामोदयात् प्रशस्तया, शीघ्रसचरणात् त्वरितया, त्वरा सजाता अस्यामिति त्वरिता, तया त्वरितया, शीघ्रतरमेव तया प्रदेशान्तराक्रमणमिति, चपलेव चपला, तया, क्रोधाविष्टस्येव श्रमासवेदनात् चण्डेव चण्डा, तया, निरन्तर शीघ्रगुणयोगात् शीघ्रा, तया शीघ्रया, परमोत्कृष्टवेगपरिणामोपेता जवना, तया । अन्ये तु जैनया विपक्षजेतृत्वेनेति व्याचक्षते, छेकया निपुणया, वातोद्धूतस्य दिगन्तव्यापिनो रजस इव या गति' सा उद्धूता, तया । अन्ये त्वाहु'-उद्धूतया तदर्थातिशयेनेति, दिव्या दिवि देवलोके भवा दिव्या, तया, देवगत्या व्यतिव्रजन् जघन्यत एकाह वा एकमहर्यावत्, एव द्व्यह त्र्यहमुत्कर्षतः षण्मासान् यावत् व्यतिव्रजन्, तत्राऽस्त्येतद् यदुत एककान् कांश्चन नरकान् व्यतिव्रजेत् उल्लङ्घ्य परतो गच्छेत्, तथाऽस्त्येतत् यदुत-इत्थभूतयाऽपि गत्या षण्मासानपि यावद् निरन्तरं गच्छन् एककान् कांश्चन नरकान् न व्यतिव्रजेत् नोल्लङ्घ्य परतो गच्छेत्, अतिप्रभूतायामतया तेषामन्तस्य प्राप्तुमशक्यत्वात्, एतावन्तो महान्तो गौतम! अस्यां रत्नप्रभायां नरका. प्रज्ञप्ता. । एवमेकैकस्यां पृथिव्यां तावद्वक्तव्यं, यावदध' सप्तम्यां, नवरमध' सप्तम्यामेव वक्तव्यम-"अत्थेगइय णरग वीईवएज्जा, अत्थेगइए नरगे नो वीईवएज्जा ।" अप्रतिष्ठानाऽभिधस्यैकस्य नरकस्य लक्षयोजनाऽऽयामविष्कम्भतया अन्तस्य प्राप्तु शक्यत्वात्, शेषाणां च चतुर्णामपि प्रभूतासख्येययोजनकोटीकोटीप्रमाणत्वेनान्तस्य प्राप्तुमशक्यत्वात् ।

(४३) सप्रति किंमया नरकाः?, इति निरूपणार्थमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नरगा किंमया पण्णत्ता ? । गोयमा ! सव्ववइरामया पण्णत्ता । तत्थ णं णरएसु बहवे जीवा य पोग्गला य अवक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उववज्जंति, सासता णं ते नरगा दव्वट्ठयाए वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासता, एवं० जाव अहे सत्तमा ॥

(इमीसे ण भते ! इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां नरका' किम्मया. किंविकारा' प्रज्ञप्ता ? । भगवानाह-गौतम ! (सव्ववइरामया इति) सर्वाऽऽत्मना वज्रमया' प्रज्ञप्ता, वज्रशब्दस्य सूत्रे दीर्घता प्राकृतत्वात् । तत्र च येषु नरकेषु णमितिवाक्यालङ्कारे, बहवो जीवाश्च खरबादरपृथिवीकायिकरूपा', पुद्गलाश्च अपक्रामन्ति, च्यवन्ते, व्युत्क्रामन्ति, उत्पद्यन्ते । एतदेव शब्दद्वय यथाक्रम पर्यायद्वयेन व्याचष्टे-(चयति उववज्जति) च्यवन्ते, उत्पद्यन्ते । किमुक्त भवति ?-एके जीवा पुद्गलाश्च यथायोग गच्छन्ति, अपरे त्वागच्छन्ति । यस्तु प्रतिनियतसस्थानाऽऽदिरूप आकार. स तदवस्थ एवेति । अत एवाऽऽह-(सासता णमिति) पूर्ववत्, ते नरका द्रव्यार्थतया तथाविधप्रतिनियतसस्थानाऽऽदिरूपतया वर्णपर्यायै. गन्धपर्यायैः रसपर्यायैः स्पर्शपर्यायै. पुनरशाश्वता वर्णाऽऽदीनामन्यथाभवनात् । एव प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदध. सप्तमी पृथिवी । जी० ३ प्रति० ।

(४४) किंप्रतिष्ठिता नरका ?-

तिपइट्ठिया णरगा पण्णत्ता । तं जहा-पुढवीपइट्ठिया णरगा, आगासपइट्ठिया, आयपइट्ठिया । णेगमसंगहववहाराणं पुढविपइट्ठिया, उज्जुसुयस्स आगासपइट्ठिया, तिण्हं सद्दणयाणं आयपइट्ठिया ।

स्फुट केवलं नारका नरकाऽऽवासा आत्मप्रतिष्ठिता. स्वरूपप्रतिष्ठिता' । तत्प्रतिष्ठान नयैराह-(णेगमेत्यादि) नैकेन सामान्यविशेषग्राहकत्वात् तस्याऽनेकेन ज्ञानेन मिनोति परिच्छिनत्तीति नैगम । अथवा-निगमा निश्चितार्थबोधा., तेषु कुशलो भवो वा नैगम । अथवा-नैको गमोऽर्थमार्गो यस्य स प्राकृतत्वेन नैगम. ॥ १ ॥ संग्रहण भेदाना संगृह्णाति वा तान् सगृह्यन्ते वा ते येन स सग्रह, सामान्यमात्राभ्युपगमपर इति ॥ २ ॥ व्यवहरण व्यवह्रियते वा तेन विशेषेण वा सामान्येन व्यवह्रियते निराक्रियतेऽनेनेति लोकव्यवहारपरो व्यवहारो विशेषमात्राभ्युपगमपर. ॥३॥ एतेषां नयानां मतेनेति गम्यम् । ऋजु अवक्रमभिमुख श्रुतं श्रुतज्ञानं यस्येति ऋजुश्रुत., ऋजु वाऽतीतानागतवक्रपरित्यागाद् वर्तमान वस्तु सूत्रयति गमयतीति ऋजुसूत्र, स्वकीयं सांप्रत च वस्तु नान्यदित्यभ्युपगमपर । शब्द्यते अभिधीयते अभिधेयमनेनेति शब्दो वाचको ध्वनि, नयन्ति परिच्छिन्दन्ति अनेकधर्माऽऽत्मक सद् वस्तु सावधारणतयैकेन धर्मेणेति नया. शब्दप्रधाननया. । ते च त्रय.-शब्दसमभिरूढैवभूताऽऽख्या. । तत्र शपनमभिधान, शप्यते वा येन वस्तु स शब्द., तदभिधेयविमर्शनपरो नयोऽपि श-

न्द एवेति । स च भावनिक्षेपरूप वर्तमानमभिसन्धिद्व वाचक बहुपर्यायमपि च वस्तवस्त्युपगच्छतीति । वाचक वाचक प्रति वाच्यभेद समभिरोहत्याश्रयति य स समभिरूढ. । स ह्यनन्तरोक्तविशेषणस्याऽपि वस्तुन शक्रपुरन्दराऽऽदिवाचकभेदेन भेदमभ्युपगच्छति,घटपटाऽऽदिवदिति । यथा शब्दार्थो घटते चेष्टत इति घट इत्यादिलक्षण एवमिति तथाभूत सत्यो घटाऽऽदिरर्थो, नान्यथेत्येवमभ्युपगमपर एवभूतो नय । अय हि भावनिक्षेपाऽऽदिविशेषणोपेत व्युत्पत्त्यर्थाऽऽविष्टमेवार्थमिच्छति, जलाऽऽहरणाऽऽदिचेष्टावन्त घटमेवेति । तत्राऽऽद्यत्रयस्याऽशुद्धत्वात् प्रायो लोकव्यवहारपरत्वाच्च पृथिवीप्रतिष्ठितत्व नारकाणामिति तत्त्वम्, चतुर्थस्य शुद्धत्वात् आकाशस्य च गच्छतां तिष्ठतां वा सर्वभावानामैकान्तिकाऽऽधारत्वाद् ध्रुवोऽनैकान्तिकत्वाच्चाऽऽकाशप्रतिष्ठितत्वमिति, त्रयाणां तु शुद्धतरत्वात् सर्वभावाना स्वभावलक्षणाऽधिकरणस्याऽन्तरङ्गत्वादव्यभिचारित्वाच्च आत्मप्रतिष्ठितत्वमिति । न हि स्वस्वभावं विहाय परस्वभावाधिकरणा भावा कदाचनाऽपि भवन्तीति । यत आह भाष्यकार -" वत्थु वसइ सहावे, सत्ताओ चेयण व्व जीवम्मि । न विलक्खणत्तणाओ, भिन्ने ग्रायातवे चेव" ॥२२४२॥ (विशे०) इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० [उपपात 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ९१५ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्य.] [एव शरीरावहारणावगाहनेऽपि स्वस्थाने]

(४५) नरकदु.खवर्णनम्-

पुच्छिस्सहं केवलियं महेसिं,
कहंऽभितावा णरगा पुरत्था ।
अजाणओ मे मुणि ! बूहि जाणं,
कहिं नु बाला नरए उवेंति ? ॥१॥

जम्बूस्वामिना सुधर्मस्वामी पृष्ट । तद्यथा-भगवन् ! किंभूता नारका, कैर्वा कर्मभिरसुमता तेषूत्पाद:, कीदृश्यो वा तत्रत्या वेदना ?, इत्येव पृष्ट सुधर्मस्वाम्याह-यदेतद्भवताऽह पृष्टस्तदेतद् केवलिनमतीतानागतवर्तमानसूक्ष्मव्यवहितपदार्थवेदिन, महर्षिमुग्रतपश्चरणकारिणमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णु श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिन, पुरस्तात् पूर्वं पृष्टवानस्मि । यथा-कथ किंभूता अभितापान्विता नरका नरकावासा भवन्ति?, इत्येतदजानतो मे मम हे मुने ! जानन् पूर्वमेव केवलज्ञानेनावगच्छन्, ब्रूहि कथय । कथ नु केन प्रकारेण किमनुष्ठायिन ?। नुरिति वितर्के । बाला अज्ञा हिताहितप्राप्तिविवेकरहिता, तेषु नरकेषूप सामीप्येन तद्योग्यकर्मोपादानतया,यान्ति गच्छन्ति ।१।

(४६) किंभूताश्च तत्र गताना वेदना प्रादु.ष्यन्तीत्येतदाऽऽह-

एवं मए पुट्ठे महाणुभावे,
इण मोऽब्बवी कासवे आसुपन्ने ।
पवेदइस्सं दुहमट्ठदुग्गं,
आदीणिण दुक्कमिणं पुरत्था ॥ २ ॥

एवमनन्तरोक्त, मया विनेयेनोपगम्य पृष्टो महाँश्चतुस्त्रिंशदतिशयरूपोऽनुभावो माहात्म्य यस्य स तथा । प्रश्नोत्तरकाले चेद वक्ष्यमाणम, "मो" इति वाक्यालङ्कारे, केवलाऽऽलोकेन परिज्ञाय मत्प्रश्ननिर्वचनमब्रवीदुक्तवान् । कोऽसौ ?, काश्यपो वीरो वर्द्धमानस्वामी, आशुप्रज्ञ, सर्वत्र सदोपयोगात्, स चैव मया पृष्टो भगवानिदमाह-यथा यदेतद्भवता पृष्ट तदह प्रवेदयिष्यामि कथयिष्याम्यग्रतो दत्तावधान शृणुतेति । तदेवाऽऽह-दु:खमिति नरक दु:खहेतुत्वात् असदनुष्ठानम् । यदि वा नरकाऽऽवास एव दु खयतीति दु खम । अथवा-असातावेदनीयोदयात् तीव्रपीडाऽऽत्मक दु.खमित्येतच्चाऽर्थतः परमार्थतो विचार्यमाण दुर्गं गहनं विषम दुर्विज्ञेयम् असर्वज्ञेन, तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावादित्यभिप्रायः । यदि वा [दुहमट्ठदुग्ग ति] दु.खमेवार्थो यस्मिन् स दु खनिमित्तो वा दुष्प्रयोजनो वा दु खार्थो नरक, स च दुर्गो विषमो दुरुत्तरत्वात्, त प्रतिपादयिष्ये । पुनरपि तमेव विशिनष्टि-आ समन्ताद्दीनमादीन तद्विद्यते यस्मिन् स आदीनिकोऽत्यन्तदीनसत्त्वाऽऽश्रय. तद्,दुष्कृतमसदनुष्ठान पाप वा तत्फल वा, असातावेदनीयोदयरूप तद्विद्यते यस्मिन् स दुष्कृतिक, तं, पुरस्तादग्रतः प्रतिपादयिष्ये । पाठान्तर वा-(दुक्कडिण ति) दुष्कृत विद्यते येषां ते दुष्कृतिनो नारकास्तेषां सबन्धि चरित पुरस्तात् पूर्वस्मिन् जन्मनि नरकगतिगमनयोग्य यत्कृत प्रतिपादयिष्यत इति ।

यथाप्रतिज्ञातमेवाऽऽह-

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइँ कम्माइँ करंति रुद्दा ।
ते घोररूवे तमिसंधयारे, तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥३॥

ये केचन महारम्भपरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधपिशितभक्षणाऽऽदिके सावद्यानुष्ठाने प्रवृत्ता बाला अज्ञा रागद्वेषोत्कटास्तिर्यग्मनुष्या', इहाऽस्मिन् ससारेऽसयमजीवितार्थिन पापोपादानभूतानि कर्माण्यनुष्ठानानि रौद्रा. प्राणिना भयोत्पादकत्वेन भयानकहिंसाऽनृताऽऽदीनि कर्माणि कुर्वन्ति, त एवभूतास्तीव्रपापोदयवर्तिनो घोररूपेऽत्यन्तभयानके (तमिसधयारे ति) बहुलतमोऽन्धकारे यत्राऽऽत्माऽपि नोपलभ्यते-चक्षुषा केवलमवधिनाऽपि मन्द मन्दमुलूका इवाह्नि पश्यन्ति । तथा चाऽऽगम'-"कएहलेसे ण भते ! णेरइए कएहलेस्स णेरइय पाणयाए ओहिणा सव्वओ समता समभिलोएमाणे केवइय खेत्त जाणइ, केवइअ खेत्त पासइ ?। गोयमा ! नो बहुययरं खेत्त जाणइ, णो बहुययर खेत्त पासइ । इत्तरियमेव खेत्त जाणइ, इत्तरिअमेव खेत्त पासइ।" इत्यादि । तथा तीव्रो दु.सह खदिराङ्गारमहाराशितापादनन्तगुणोऽभिताप' सतापो यस्मिन् स तीव्राभितापस्तस्मिन् एवभूते नरके बहुवेदनेऽपरित्यक्तविषयाऽभिष्वङ्गा' स्वकृतकर्मगुरवः पतन्ति, तत्र च नानारूपा वेदना. समनुभवन्ति च ।

तथा चोक्तम्-

" अच्छिदियविसयसुहे, पमह अविज्जायसिदिसिहाणिवहे ।
ससारोदहिवलए-ऽसुहम्मि दुक्खाऽऽगरे निरए ॥ १ ॥
पूयकनीरयलगुह-कुहरुच्छलिए रुहिरगड्डसे ।
कक्खाडिकायियदुहा-विरिक्कविवसदेहड्डे ॥ २ ॥
जततरभिजतु-च्छलतसद्दभरियदिसिविवरे ।
मउजतुप्फिमियसमु-च्छलतसीसट्टिसघाए ॥ ३ ॥
सुक्कदकडाहु-कढतदुक्कयकयतकम्मते ।
मूलविभिन्नुक्खित्तु-द्धदेहणित्ततपब्भारे ॥ ४ ॥
धरुधयारदुग्ग-धधधणायारदूरकिलेसे ।
भिन्नकरचरणसकर-रुहिरवसादुग्गमप्पवहे ॥ ५ ॥

गिद्धमुहणिद्दयक्खिव-खवधणोम्मुद्दकधरकबधे ।
दढगहियतत्तसरा-सयमाविसमुक्खुड्डियजीहे ॥ ६ ॥
तिक्खकुसगाकड्डिय-कटयरुक्खग्गजज्जरसरीरे ।
निमिसतर पि दुल्लह-सुक्खेऽवक्खेवदुक्खम्मि ॥ ७ ॥
इय भीसणम्मि णिरए, पडंति जे विविहसत्तवहनिरया ।
सच्चब्भट्ठा य नरा, जयम्मि कयपावसघाया ॥८॥" इत्यादि ।

किञ्चान्यत्-

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य,
जे हिंसति आयसुहं पडुच्च ।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि ॥ ४ ॥

(तिव्व तसेत्यादि) तथा तीव्रमतिनिरनुकम्प रौद्रपरिणाम-तया हिंसायां प्रवृत्त.,त्रस्यन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियाऽऽदयः, तान्, तथा स्थावरांश्च पृथिवीकायाऽऽदीन्, य. कश्चिन्महामोहोदयवर्ती, हिनस्ति व्यापादयति, आत्मसुख प्रतीक्ष्य, स्वशरीरसुखकृते नानाविधैरुपायैः प्राणिनां लूषक उपमर्दकारी भवति, तथा अदत्तमपहर्तुं शीलमस्यासावदत्तहारी परद्रव्यापहारक', तथा न शिक्षते नाभ्यसति नादत्ते (सेयवियस्स त्ति) सेवनीयस्याऽऽत्महितैषिणा सदनुष्ठाने यस्य संयमस्य किञ्चिदिति । एतदुक्तं भवति-पापोदयाद् विरतिपरिणाम काकमांसाऽऽदेरपि मनागपि न विधत्ते इति ॥ ४ ॥

तथा-

पागब्भि पाणे बहुणं-तिवाती,
अनिव्वते घातमुवेति बाले ।
णिहो णिसं गच्छति अंतकाले,
अहो सिरं कट्टु उवेइ दुग्गं ॥ ५ ॥

प्रागल्भ्य धार्ष्ट्य तद्विद्यते यस्य स प्रागल्भी, बहूनां प्राणिनां प्राणानतीव पातयितु शीलमस्य स भवत्यतिपाती । एतदुक्त भवति-अतिपात्यपि प्राणिन. प्राणानतिधार्ष्ट्याद् वदति-यथा वेदाऽभिहिता हिंसा अहिंसैव भवति, तथा राज्ञामय धर्मो यदुत आखेटकेन विनोदक्रिया । यदि वा-"न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला" ॥१॥ इत्यादि । तदेव क्रूरसिंहकृष्णसर्पवत् प्रकृत्यैव प्राणातिपातानुष्ठायी,अनिर्वृत्त कदाचिदप्यनुपशान्त. क्रोधाग्निना दह्यमान. । यदि वा गुन्द्रकमत्स्याऽऽदिवधकजीविकाप्रसक्त सर्वदा परिणामपरिणतोऽनुपशान्तो, हन्यते प्राणिन. स्वकृतकर्मविपाकेन यस्मिन् स घातो नरकस्तमुप सामीप्येन एति याति,क ?,बालोऽज्ञो रागद्वेषोदयवर्ती, सोऽन्तकाले मरणकाले (निहो त्ति) न्यगधस्तात् (निस ति) अधोऽन्धकारं गच्छतीत्यर्थ., यथा तेन दुश्चरितेन अध शिर. कृत्वा दुर्गं विषम यातनास्थानमुपैति, अवाक्शिरा नरके पततीत्यर्थ. । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

(४७) दशविधवेदना -

नेरइया णं दसविहं वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति । तं जहा-सीयं, उसिणं, खुहं, पिवासं, कंडुं, परज्झं, भयं, सोगं, जर. वाहिं ॥

"नेरइया" इत्यादि कण्ठ्यम् । नवर वेदना पीडां, तत्र शीत-स्पर्शजनिता शीता,तां, सा च चतुर्थ्यादिनरकपृथिवीष्विति । एवमुष्णां प्रथमाऽऽदिषु, क्षुध बुभुक्षां,पिपासां तृष, कण्डू खर्जूम्, (परज्झ ति) परतन्त्रतां, भय भीतिं, शोक दैन्य, जरां वृद्धत्व, व्याधिं ज्वरकुष्ठाऽऽदिकमिति । स्था० १० ठा० ।

(४८) साम्प्रत पुनरपि नरकवर्तिनो नारका यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह-

हण छिंदह भिंदह णं दहेति,
सद्दे सुणित्ता परहम्मियाणं ।
ते नारगाओ भयभिन्नसन्ना,
कंखंति कं नाम दिसं वयामो ? ॥ ६ ॥

तिर्यङ्मनुष्यभवात् सत्त्वा नरकेषूत्पन्ना अन्तर्मुहूर्तेन निर्लूनाण्डजसन्निभानि शरीराण्युत्पादयन्ति पर्याप्तिभावमागताश्चातिभयानकान् शब्दान् परमाधार्मिकजनितान् शृण्वन्ति । तद्यथा-हत मुद्गराऽऽदिना,छिन्त खड्गाऽऽदिना, भिन्त शूलाऽऽदिना, दहत मुर्मुराऽदिना, णमिति वाक्यालङ्कारे । तदेवभूतान् कर्णासुखान् शब्दान् भैरवान् श्रुत्वा, ते तु नारका भयोद्भ्रान्तलोचना भयेन भीत्या भिन्ना नष्टा सञ्ज्ञाऽन्त करणवृत्तिर्येषां ते तथा, नष्टसञ्ज्ञाश्च कां दिश व्रजाम. ?, कुत्र गतानामस्माकमेवभूतस्याऽस्य महाघोरारवदारुणस्य दु खस्य त्राण स्यादित्येतत् काङ्क्षन्तीति ।

(४९) ते च भयोद्भ्रान्ता दिक्षु नष्टा यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह-

इंगालरासिं जलियं सजोतिं,
तेणोवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति,
अरहस्सरा तत्थ चिरद्वितीया ॥ ७ ॥

(इगालेत्यादि) अङ्गाररांशिं खदिराङ्गारपुञ्ज ज्वलित ज्वालाऽऽकुल, तथा सह ज्योतिषोद्द्योतेन वर्तत इति सज्योतिर्भूमिस्तेनोपमा यस्याः सा तदुपमा, तामङ्गारसन्निभा भूमिमाक्रमन्तस्ते नारका दन्दह्यमाना. करुणं दीनं स्तनन्त्याक्रन्दन्ति । तत्र बादराग्नेरभावात्, तदुपमा भूमिमित्युक्तम् । एतदपि दिग्दर्शनार्थमुक्तम्,अन्यथा नारकतापस्येहत्याग्निना नोपमा घटते । ते च नारका महानगरदाहाधिकेन तापेन दह्यमाना अरहस्सरा अप्रकटस्वरा महाशब्दा' सन्त', तत्र तस्मिन्नरकावासे, चिर प्रभूत काल स्थितिरवस्थानं येषा ते, तथा उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि तिष्ठन्तीति ।

जइ ते सुया वेयरणीऽभिदुग्गा,
णिसिओ जहा खुर इव तिक्खसोया ।
तरंति ते वेयरणीऽभिदुग्गां,
उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा ॥ ८ ॥

(जइ ते सुया इत्यादि) सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिन प्रतीदमाह-यथा भगवतेदमाख्यातम्-यदि ते त्वया श्रुता श्रवणपथमुपागता वैतरणी नाम क्षारोष्णरुधिराऽऽकारजलवाहिनी नदी आभिमुख्येन दुर्गाऽभिदुर्गा दु खोत्पादिका । तथा निशितो यथा क्षुरस्तीक्ष्णानि शरीरावयवानां कर्तकानि स्रोतांसि यस्याः सा तथा, ते च नारकास्तप्ताङ्गारसन्निभां भूमिं विहायोदकपिपासवोऽभितप्ता. सन्तस्तापापनोदायाभिपिपिक्षवो वा तां

उत्तानानवाङ्मुखान् वा कुर्वन्तः, णमिति वाक्यालङ्कारे । तान् स्फुरत इतश्चेतश्च विह्वलमात्मानं निक्षिपतः सजीवमत्स्यानिवाऽऽयसकवल्यामिति ॥ १५ ॥

णो चेव ते तत्थ मसीभवंति,
ण मिज्जती तिव्वऽभिवेयणाए ।
तमाणुभागं अणुवेदयंता,
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कमेणं ॥ १६ ॥

(णो चेवेत्यादि) ते च नारका एव बहुशः पच्यमाना अपि (नो) नैव तत्र नरके पाके वा नरकानुभवे वा सति मषीभवन्ति नैव भस्मसाद्भवन्ति । तथा तत्तीव्राभिवेदनया नापरमाग्निप्रक्षिप्तमत्स्याऽऽदिकमप्यस्ति, यन्मीयते उपमीयते; अनन्यसदृशीं तीव्रां वेदनां वाचामगोचरामनुभवन्तीत्यर्थः । यदि वा-तीव्राभिवेदनयाऽप्यननुभूतस्वकृतकर्मत्वान्न म्रियन्ते इति । प्रभूतमपि कालं यावत्तत्तादृशं शीतोष्णवेदनाजनितं, तथा दहनच्छेदनभेदनतक्षणत्रिशूलाऽऽरोपणकुम्भीपाकशाल्मल्यारोहणाऽऽदिकं परमाधार्मिकजनितं परस्परोदीरणनिष्पादितं चानुभागं कर्मणां विपाकमनुवेदयन्तः समनुवेदयन्तः समनुभवन्तास्तिष्ठन्ति । तथा स्वकृतेन हिंसाऽऽदिनाऽष्टादशपापस्थानरूपेण सततोदीर्णदुष्कृतेन दुःखिनो दुःखयन्ति पीडयन्ते; नाक्षिनिमेषमपि कालं दुःखेन मुच्यन्त इति ॥१६॥

किञ्चान्यत्-

तेहिं च ते लोलणसंपगाढे,
गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति ।
न तत्थ सायं लहतीऽभिदुग्गे,
अरहियाऽभितावा तह वी तविंति ॥ १७ ॥

तस्मिंश्च महायातनास्थाननरके, तमेव विशिनष्टि-नारकाणां लोलने सम्यक् प्रगाढो व्याप्तो भृतः स तथा तस्मिन् नरके, शीतार्ताः सन्तो गाढमत्यर्थं सुष्ठु तप्तमग्निं व्रजन्ति । तत्राऽप्यग्निस्थानेऽभिदुर्गे दह्यमानाः सातं सुखं मनागपि न लभन्ते, अरहितो निरन्तरोऽभितापो दाहो येषां ते अरहिताभितापास्तथाऽपि तान्नारकाँस्ते नरकपालास्तापयन्तीत्यर्थः, तप्ततैलाग्निना दहन्तीति ॥१७॥

अपि च-

से सुच्चई नगरवहे व सद्दे,
दुहोवणीयाणि पयाणि तत्थ ।
उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा,
पुणो पुणो ते सरहं दुहेंति ॥ १८ ॥

'से' शब्दोऽथशब्दार्थे । अथाऽनन्तरं तेषां नारकाणां नरकपालैः रौद्रैः कदर्थ्यमानानां भयानको हाहारवप्रचुर आक्रन्दनशब्दो नगरवध इव श्रूयते समाकर्ण्यते, दुःखेन पीडयोपनीतानि उच्चरितानि करुणाप्रधानानि यानि पदानि-हा मातस्तात ! कष्टम् अनाथोऽहं शरणाऽऽगतस्तव त्रायस्व मामित्येवमादीना पदानां तत्र नरके शब्दः श्रूयते, उदीर्णमुदयप्राप्तं कटुविपाकं कर्म येषां तथोदीर्णकर्माणो नरकपाला मिथ्यात्वहास्यरत्यादीनामुदये वर्तमानाः पुनः पुनर्बहुशस्ते (सरहं ति) सरभसं सोत्साहं नारकान् दुःखयन्त्यतस्तदसह्यं नानाविधैरुपायैर्दुःखमसातवेदनीयमुत्पादयन्तीति ॥१८॥

तथा-

पाणेहि णं पाव विओजयंति,
तं भे पवक्खामि जहातहेणं ।
दंमेहिँ तत्था सरयंति बाला,
सव्वेहिँ दंडेहिँ पुराकडेहिं ॥ १९ ॥

(पाणेहि णमित्यादि) णमिति वाक्यालङ्कारे । प्राणैः शरीरेन्द्रियाऽऽदिभिस्ते पापाः पापकर्माणो नरकपाला वियोजयन्ति शरीरावयवानां पाटनाऽऽदिभिः प्रकारैर्विकर्तनादवयवान् विश्लेषयन्ति । किमर्थमेवं कुर्वन्तीत्याह-तद् दुःखकारणं 'भे' युष्माकं प्रवक्ष्यामि याथातथ्येनावितथं प्रतिपादयामीति । दण्डयन्ति पीडामुत्पादयन्तीति दण्डा दुःखविशेषास्तैर्नारकाणामापादितैर्बाला निर्विवेका नरकपालाः पूर्वकृतं स्मारयन्ति । तद्यथा-तदा हृष्टस्त्वं खादसि समुत्कृत्य प्राणिनां मांसं, तथा पिबसि तद्रसं, मद्यं च, गच्छसि परदारान्, साम्प्रतं तद्विपाकापादितेन कर्मणाऽभितप्यमानः किमेवं रारटीषीत्येवं सर्वैः पुराकृतैर्दण्डैर्दुःखावशेषैः स्मारयन्तस्तादृग्भूतमेव दुःखविशेषमुत्पादयन्तो नरकपालाः पीडयन्तीति ॥१९॥

तथा-

ते हम्ममाणा णरगे पडंति,
पुन्ने दुरूवस्स महाऽभितावे ।
ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी,
तुदंति कम्मोवगया किमीहिं ॥ २० ॥

(ते हम्ममाणा इत्यादि) ते वराका नारका हन्यमानास्ताड्यमाना नरकपालेभ्यो नरकेऽन्यस्मिन् घोरतरे नरकैकदेशे पतन्ति गच्छन्ति । किंभूते नरके ?, पूर्णे भृते, दुष्टं रूपं यस्य तद् दुरूपं विष्ठाऽसृङ्मांसाऽऽदिकं मलं तस्य भृते, तथा महाभितापिते सन्तापोपेते, ते नारकाः स्वकर्मावबद्धास्तत्रैवंभूते नरके, दुरूपभक्षिणोऽशुच्यादिभक्षकाः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति । तथा कृमिभिः नरकपालाऽऽपादितैः परस्परकृतैश्च स्वकर्मोपगताः स्वकर्मढौकितास्तुद्यन्ते व्यथ्यन्ते इति । तथा चाऽऽगमः-" छट्ठी-सत्तमासु णं पुढवीसु नेरइया महंताइं लोहिकुंथुरूवाइं विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा २ अणुक्खायमाणा अणुक्खायमाणा चिट्ठंति " ॥२०॥

किञ्चान्यत्-

सया कसिणं पुण घम्मठाणं,
गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ।
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं,
वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ॥ २१ ॥

(सया कसिणमित्यादि) सदा सर्वकालं, कृत्स्नं सम्पूर्णं, पुनरेतत्र नरके घर्मप्रधानम् उष्णप्रधानं स्थितिः स्थानं नारकाणां भवति । तत्र हि प्रलयातिरिक्ताग्निवाताऽऽदीनामत्यन्तोष्णरूपत्वात् तच्च दृढैर्निधत्तनिकाचितावस्थैः कर्मभिर्नारकाणामुपनीतं ढौकितम् । पुनरपि विशिनष्टि-अतीव दुःखमसातावेदनीयं धर्मः स्वभावो यस्य तत्तथा, तस्मिंश्चैवंविधे स्थाने स्थितोऽसुमान् अन्दुषु निगमेषु देहं विहत्य प्रक्षिप्य च यथा

शिरश्च ' से ' तस्य नारकस्य वेधेन रन्ध्रोत्पादनेनाऽभितापयन्तीति ॥ २१ ॥

अपि च-

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं,
उट्ठे वि छिंदंति दुवे वि कन्ने ।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं *,
तिक्खाहि सूलाहिऽभितावयंति ॥ २२ ॥

(छिंदंति बालस्सेत्यादि) ते परमाधार्मिकाः पूर्वदुश्चरितानि स्मारयित्वा बालस्याज्ञस्य निर्विवेकस्य प्रायश सर्वदा वेदनासमुद्घातोपगतस्य क्षुरप्रेण नासिका छिन्दन्ति । तथोष्ठावपि, द्वावपि कर्णौ छिन्दन्ति, तथा मद्यमांसरसाभिलाषिणो मृषाभाषिणो जिह्वां वितस्तिमात्रामाक्षिप्य तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्त्यपनयन्ति ॥ २२ ॥

तथा-

ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व,
राइंदियं तत्थ थणंति बाला ।
गलंति ते सोणियपूयमंसं,
पज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥ २३ ॥

(ते तिप्पमाणेत्यादि) ते छिन्ननासिकौष्ठजिह्वा सन्तः शोणितं तिप्पमानाः क्षरन्तो यत्र यस्मिन् प्रदेशे रात्रिन्दिवं गमयन्ति, तत्र बाला अज्ञास्तालसम्पुटा इव पवनेरितशुष्कतालपत्रसञ्चया इव सदा स्तनन्ति दीर्घविस्वरमाक्रन्दन्तस्तिष्ठन्ति । तथा प्रद्योतिता वह्निना ज्वलिता, तथा क्षारेण प्रदिग्धाङ्गाः शोणितं पूयं मांसं च अहर्निशं गलन्तीति ॥ २३ ॥

किञ्च-

जइ ते सुता लोहितपूअपाई,
बालागणीतेअगुणा परेणं ।
कुंभी महंताऽहियपोरिसीया,
समूसिता लोहियपूयपुण्णा ॥ २४ ॥

(जइ ते सुता इत्यादि) पुनरपि सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य भगवद्वचनमाविष्करोति—यदि ते त्वया श्रुता आकर्णिता, लोहितं रुधिरं पूयं रुधिरमेव पक्वं, ते द्वे अपि पक्तुं शीलं यस्यां सा लोहितपूयपाचिनी कुम्भी । तामेव विशिनष्टि-बालोऽभिनवः प्रत्यग्रोऽग्निस्तेन तेजोऽभितापः स एव गुणो यस्याः सा बालाग्नितेजोगुणा, परेण प्रकर्षेण तप्तेत्यर्थः । पुनरपि तस्या एव विशेषणम्-महती बृहत्तरा (अहियपोरिसीय त्ति) पुरुषप्रमाणाधिका समुच्छ्रितोष्ट्रिकाऽऽकृतिरूर्ध्वं व्यवस्थिता, लोहितेन पूयेन च पूर्णा सैवम्भूता कुम्भी समन्ततोऽग्निना प्रज्वालिता अतीव बीभत्सदर्शनेति भावः ॥ २४ ॥

(५०) तासु च यत् क्रियते तद्दर्शयितुमाह—

पक्खिप्प तासुं पचयंति बाले,
अट्टस्सरे ते कलुणं रसंते ।
तण्हाइया ते तउयं च तत्तं,
पज्जिज्जमाणाऽऽट्टतरं रसंति ॥ २५ ॥

(पक्खिप्प इत्यादि) तासु प्रत्यग्निना दीप्तासु लोहितपूयशरीरावयवकिल्बिषपूर्णासु दुर्गन्धासु च बालानार्तस्वराणरहितानार्तस्वरान् करुणं दीनं रसतः प्रक्षिप्य प्रपचन्ति, ते च नारकास्तथा कदर्थ्यमाना विरसमाक्रन्दन्तः तृषार्त्ताः सलिलं प्रार्थयन्तो मद्यं ते अतीव प्रियमासीदित्येवं स्मारयित्वा तप्तं त्रपु पाय्यमाना आर्त्ततरं रसन्ति आरटन्तीति ॥ २५ ॥

उपसंहारमाह—

अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता,
भवाहमे पुव्वसते सहस्से ।
चिट्ठंति तत्था बहु कूरकम्मा,
जहा कडं कम्म तहा सि भारे ॥ २६ ॥

(अप्पेणेत्यादि) इहाऽस्मिन् मनुष्यभवे आत्मना परवञ्चनप्रवृत्तेन स्वत एव परमार्थत आत्मानं वञ्चयित्वा अल्पेन स्तोकेन परोपघातसुखेन आत्मानं वञ्चयित्वा बहुशो भवानां मध्ये अधमा भवाधमा मत्स्यबन्धकलुब्धकाऽऽदीनां भवास्तान् पूर्वजन्मसु शतसहस्रशः समनुभूय तेषु भवेषु विषयोन्मुखतया सुकृतपराङ्मुखत्वेन बाऽत्राप्य महाघोरमतिदारुणं नरकवासं तत्र तस्मिन् मनुष्याः क्रूरकर्माणः परस्परतो दुःखमुदीरयन्तः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति ।
अत्र कारणमाह-यथा पूर्वजन्मसु यादृग्भूतेन अध्यवसायेन जघन्यजघन्यतराऽऽदिना कृतानि कर्माणि,तथा तेनैव प्रकारेण (से) तस्य नारकजन्तोर्भारा वेदना प्रादुर्भवन्ति स्वतः, परतः, उभयतो वेति ।

तथाहि-मांसादाः स्वमांसान्येवाग्निना प्रताप्य भक्ष्यन्ते, तथा मांसरसपायिनो निजपूयरुधिराणि तप्तत्रपूणीव पाय्यन्ते, तथा मत्स्यघातकलुब्धकाऽऽदयस्तथैव छिद्यन्ते भिद्यन्ते यावन्मार्यन्ते, तथाऽनृतभाषिणां तत्स्मारयित्वा जिह्वाश्छेद्यन्ते, तथा पूर्वजन्मनि परकीयद्रव्यापहारिणामङ्गोपाङ्गान्यपह्रियन्ते, तथा पारदारिकाणां वृषणच्छेदः शाल्मलुपगूहनाऽऽदि च ते कार्यन्ते । एवं महापरिग्रहाऽऽरम्भिणां क्रोधमानमायालोभिनां च जन्मान्तरस्वकृतक्रोधाऽऽदिदुष्कृतस्मारणेन तादृग्विधमेव दुःखमुत्पाद्यत इति [illegible] तथाविधं कर्म तादृग्विधभूतं एव तेषां [illegible] भार इति ॥ २६ ॥

* वितस्तिवसतिभरतकातरमातुलिङ्गे ह. ॥ ८ । १ । २१४ ॥ इति तस्य ह. ।

विविध प्रकर्षेण हीना विप्रमुक्ता नरके वसन्ति, यदि वा बद्धं कलुष समर्जयन्ति, तैर्मातापुत्रकलत्राऽऽदिभि कान्तैश्च विषयैर्विप्रमुक्ता एकाकिनस्ते दुरभिगन्धेन कुथितकलेवरातिशायिनि नरके कृत्स्ने सपूर्णेऽत्यन्ताशुभस्पर्शे एकान्तोद्वेजनीये शुभकर्मापगता. (कुणिमे त्ति) मांसपेशीरुधिरपूयान्त्रफिफिसकश्मशाऽऽकुले सर्वामेध्याधमे बीभत्सदर्शने हाहाऽऽरवाऽऽक्रन्देन कष्ट मा तावदित्यादिशब्दावधीरितदिगन्तराले परमाधमे नरकाऽऽवासे आ समन्तादुत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्धस्यां वा नरकपृथिव्या यावदायुस्तावद्वसन्ति तिष्ठन्ति । (नैरयिकानामुद्वर्तना 'उव्वट्टणा' शब्दे १११ पृष्ठे द्वितीयभागे,उपपातश्च 'उववाय' शब्दे ८९५ पृष्ठे उक्त. । नैरयिकविषयाऽऽद्वत्यं तीर्थकृत्त्वाऽऽदिलाभ , अन्तक्रियाश्च 'अतकिरिया' शब्दे प्रथमभागे ४६ पृष्ठे द्रष्टव्या)

(५१) सप्रति नरकेषु पृथिव्यादिस्पर्शस्वरूपमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया केरिसयं पुढवीफासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ? ।

गोयमा ! अणिट्ठं० जाव अमणामं एवं० जाव अहे सत्तमाए ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया केरिसय आउफासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ? ।

गोयमा ! अणिट्ठं० जाव अमणामं, एवं० जाव अहे सत्तमाए, एवं० जाव वणस्सई फासं अहे सत्तमाए पुढवीए ।

(रयणप्पभेत्यादि) रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त ! कीदृशं पृथिवीस्पर्श प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति ?। भगवानाह-गौतम ! (अनिष्ठ अकत अप्पिय अमणुन्न अमणाम) अस्यार्थ. प्राग्वत् । एव प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्य यावत् तमस्तमायाम् । एवमप्तेजोवायुवनस्पतिस्पर्शसूत्राण्यपि भावनीयानि । नवर तेजःस्पर्श उष्णरूपतापरिणतनरककुड्यादिस्पर्श , परोदीरितवैक्रियरूपो वा वेदितव्य , न तु साक्षाद् बादराग्निकायस्पर्श , तत्राऽसम्भवात् ।

(५२) पृथ्वीना बाहल्याऽऽदि-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए दोच्चं पुढविं पणिहाय सव्वमहंतिया बाहल्लेणं, सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु ?। हंता गोयमा ! ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए दोच्चं पुढविं पणिहाय० जाव सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु ? । हंता गोयमा ! ।

दोच्चा णं भंते ! पुढवी तच्चं पुढविं पणिहाय सव्वमहंतिया बाहल्लेणं पुच्छा ? । हंता गोयमा ! ।

दोच्चा णं पुढवी० जाव खुड्डिया सव्वंतेसु, एवं एएणं अभिलावेणं० जाव छट्ठिया पुढवी अहे सत्तमिं पुढविं पणिहाय० जाव सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु ॥

(५३) महाकर्मतया वेदनाश्च-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए निरयपरिसामंतेसु जे पुढवीकाइया० जाव वणस्सइकाइया ते णं भंते ! जीवा महाकम्मतरा चेव, महाआसवतरा चेव, महावेयणतरा चेव ? । हंता गोयमा ! ।

इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए निरयपरिसामंतेसु तहेव० जाव महावेयणतरका चेव, एवं० जाव अहे सत्तमाए ॥

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता पुढवीकाइयत्ताए० जाव वणस्सइकाइयत्ताए णेरइयत्ताए उववन्नपुव्वा ? ।

हंता गोयमा ! असइं, अदुवा अणंतखुत्तो, एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए, णवरं जत्थ जत्तिया णरगा ।

(इमीसे ण इत्यादि) अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रिंशति नरकावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् नरकाऽऽवासे सर्वे प्राणा द्वीन्द्रियाऽऽदय. सर्वे भूता वनस्पतिकायिका , सर्वे सत्त्वा. पृथिव्यादय. सर्वे जीवा पञ्चेन्द्रियाऽऽदय. ।

उक्त च-

" प्राणा द्वित्रिचतु प्रोक्ता , भूतास्च तरव स्मृता ।
जीवा. पञ्चेन्द्रिया ज्ञेया , शेषा सत्त्वा उदीरिताः ॥ १ ॥ "

पृथिवीकायिकतया अप्कायिकतया वायुकायिकतया वनस्पतिकायिकतया नैरयिकतया उपपन्नपूर्वा । भगवानाह-(हंतेत्यादि) हन्तेतिप्रत्यवधारणे । गौतम ! असकृत अनेकवारम्, अथवा-अनन्तकृत्वोऽनन्तान् वारान् संसारस्यानादित्वात् । एव प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यम्, यावदध· सप्तमी पृथिवी । नवर यत्र यावन्तो नरकास्तत्र तावन्त उपयुज्य वक्तव्या. ।

क्वचिदिदमपि सूत्र दृश्यते-

" इमीसे ण भते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरयपरिसामतेसु ण जे बायरपुढविकाइया० जाव वणस्सइकाइया ते ण भते ! जीवा महाकम्मतरा चेव महाकिरियतरा चेव महावेयणतरा चेव ? । हता गोयमा ! ० जाव महावेयणतरा चेव, एव० जाव अहे सत्तमा । "

अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्या नरकपरिसमन्तेषु नरकाऽऽवासपर्यन्तवर्तिषु प्रदेशेषु बादरपृथिवीकायिका (० जाव वणस्सइकाइया इति) बादराप्कायिका बादरवायुकायिका बादरवनस्पतिकायिकास्ते भदन्त ! जीवा महाकर्मतरा एव महत् प्रभूतमसातवेदनीय कर्म येषां ते महाकर्माण., अतिशयेन महाकर्माणो महाकर्मतरा ,चेत्यवधारणे । महाकर्मतरा एव कुत इत्याह-(महाकिरियतरा एव) महती क्रिया प्राणातिपाताऽऽदिका आसीत्प्राग्जन्मनि, तद्भवे तु तदध्यवसायानिवृत्त्या येषां ते महाक्रिया', अतिशयेन महाक्रियतरा. " निमित्तकारणहेतुषु सर्वासा विभक्तीना प्रायो दर्शनम् " इति न्यायात् । हेतावत्र प्रथमा । ततोऽयमर्थ -यतो महाकर्मतरा एव । महाक्रियतरत्वमपि कुत इत्याह-महाश्रवतरा एव महान्त आश्रवा पापोपादानहेतव आरम्भाऽऽदयो येषामासीरन्, ते महाश्रवा अतिशयेन महाश्रवा महाश्रवतरा', चैवेति पूर्ववत्, तदेव यतो महाकर्मतरा एव, ततो महावेदनतरा एव, नरकेषु क्षेत्रस्वभावजाया अपि वेदनाया अनिष्ट सहत्वात् । भगवानाह-हन्त गौतम ! (ते ण

जीवा महाकम्मतरा चेवेत्यादि) प्राग्वत्। एव प्रतिपृथिवि तावद् वक्तव्य यावदध सप्तमी। जी० ।

(एकैकस्मिन् नरके सर्वे जीवा उपपन्नपूर्वा इति 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ६८० पृष्ठे चिन्तितम्)

(५४) सप्रत्युद्देशकार्थसग्रहणिगाथा प्राऽऽह-

पुढविं ओगाहित्ता, नरगा संठाणमेव बाहल्ले ।
विक्खंभपरिक्खेवो, वएणो गंधो य फासो य ॥ १ ॥
तासे महालयाए, उवमा देवेण होइ कायव्वा ।
जीवा य पोग्गलाऽव-क्कमंति तह सासया निरया ॥२॥
उववायपरीमाणं, अवहारुच्चत्तमेव संघयणं ।
संठाणवएणगधा, फासा ऊसासमाहारे ॥ ३ ॥
लेस्सा दिट्ठी णाणे, जोगुवओग तहा समुग्घाए ।
तत्तो खुहा पिवासा, विउव्वणा वेयणा य भए ॥४॥
उववाओ पुरिसाणं, ओवम्म वेयणाएँ दुविहाए ।
तिइ उव्वट्टए फासो, उववाओ सव्वजीवाणं ॥ ५ ॥

आसामक्षरमात्रगमनिका-[पुढवीओ इति] पृथिव्य अभिधेया. । तद्यथा-[कइ ण भते ! पुढवीओ पएणत्ताओ ?, इत्यादि] तदनन्तरम् [ओगाहित्ता नरगा इति] यस्यां पृथिव्यां यदवगाह्य यादृशाश्च नरका , तदभिधेयम् [इमीसे ण भते ! रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं केवइय ओगाहित्ता ? इत्यादि] ततो नरकाणा सस्थानम्, ततो बाहल्य, तदनन्तर विष्कम्भपरिक्षेपौ, ततो वर्ण, ततो गन्ध , तदनन्तर स्पर्श , ततस्तेपा नरकाणा महत्तायामुपमा देवेन भवति कर्तव्या,ततो जीवा पुद्गलाश्च तेपु नरकेपु व्युत्क्रामन्तीति,तथा शाश्वताश्च नरका इति वक्तव्य,तत उपपातो वक्तव्य । तद्यथा-[इमीसे ण भते ! रयणप्पभाए पुढवीए कतो उववज्जति ? इत्यादि] तत एकसमयेनोत्पद्यमानाना परिमाण, ततोऽपहार ,तत उच्चत्व,तदनन्तर सहनन,तत सस्थानं, ततो वर्ण , तदनन्तर गन्ध ,तत स्पर्श ,तत उच्छ्वासवक्तव्यता, तदनन्तरमाहार ,ततो लेश्या, ततो दृष्टि , तदनन्तर ज्ञान, ततो योग , तत उपयोग ,तदनन्तर समुद्घात ,तत क्षुत्पिपासे,ततो विकुर्वणा। तद्यथा-(रयणप्पभापुढविनेरइयाण भते ! किं एगत्त पभू विउव्वित्तए पहुत्त पभू विउव्वित्तए इत्यादि) ततो वेदना, ततो भय, तदनन्तर पुरुपाणां पञ्चानामध सप्तम्यामुपपात , तत औपम्य वेदनाया द्विविधाया, शीतवेदनाया उष्णवेदनायाश्चेत्यर्थ । ततस्तत्स्थितिर्वक्तव्या, तदनन्तरमुद्वर्तना, तत स्पर्श -पृथिव्यादिस्पर्शो वक्तव्य , तत सर्वजीवानामुपपात । तद्यथा-(इमीसे ण भते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगसि निरयावाससि सव्वे पाणा सव्वे भूया इत्यादि) । जी० ३ प्रति० २ उ० ।

(५५) पुद्गलपरिणाम.-

इमीसे णं भते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया केरिसयं पुग्गलपरिणामं पच्चणुभवमाणा विहरंति ? । गोयमा ! अणिट्ठ० जाव अमणामं, एव० जाव अहे सत्तमाए एवं णेयव्वं ।

(रयणप्पभेत्यादि) रत्नप्रभापृथिवीनैरयिका भदन्त ! कीदृशं पुद्गलपरिणाममाहाराऽऽदिपुद्गलविपाक प्रत्यनुभवन्त प्रत्येक वेदयमाना विहरन्ति ? । भगवानाह-गौतम ! अनिष्टमित्यादि प्राग्वत्, एव प्रतिपृथिवि तावद् वक्तव्य, यावदधः सप्तमी । एवं वेदनालेश्यानामगोत्रारतिभयशोकक्षुत्पिपासाव्याध्युच्छ्वासानुतापक्रोधमानमायालोभाऽऽहारमैथुनपरिग्रहस-- ज्ञासूत्राणि वक्तव्यानि ।

अत्र सग्रहणीगाथे-

पोग्गलपरिणामं वे-यणा य लेसा य णामगोए य ।
अरई भए य सोए, खुहा पिवासा य वाही य ॥ १ ॥
उस्सासे अणुतावे, कोहे माणे य माएँ लोभे य ।
चत्तारि य सन्नाओ, नेरइयाणं तु परिणामा ॥ २ ॥

(५६) सप्रति सप्तमनरकपृथिव्यां ये गच्छन्ति, तान् प्रतिपादयति-

एत्थ किर अतिवतंती, णरवसभा केसवा जलयरा य ।
मंमलिया रायाणो, जे य महारंभ कोडुंबी ॥ ३ ॥

(एत्थ किरेत्यादि) इह परिग्रहसञ्ज्ञापरिणामवक्तव्यतायां चरमसूत्र सप्तमनरकपृथिवीविपय, तदनन्तर च इय गाथा, तत " एत्थ " इत्यनन्तरमुक्ताध सप्तमी पृथिवी परामृश्यते । तत्र अध सप्तमनरकपृथिव्यां, किलेत्याप्तवादसूचने, आप्तवचनमेतदिति भाव. । अतिव्रजन्ति अतिशयेन बाहुल्येन गच्छन्ति, नरवृषभाः केशवा वासुदेवा जलचराश्च तन्दुलमत्स्यप्रभृतयो, माण्डलिका वसुप्रभृतय इव, राजानश्च-क्रवर्तिन सुभूमाऽऽदय एव, ये च महारम्भाः कुटुम्बिन. कालसौकरिकाऽऽदय इव ॥ ३ ॥

सप्रति नरकेपु प्रस्तावात् तिर्यगादिषु चोत्तरवैक्रियावस्थानकालमानमाह-

भिन्नमुहुत्तो नरए-सु तिरियमणुएसु होइ चत्तारि ।
देवेसु अद्धमासो, उक्कोसविउव्वणा भणिया॥ ४ ॥

(भिन्नमुहुत्तो निरएसु इत्यादि) भिन्नः खण्डो मुहूर्तो भिन्नमुहूर्त., अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थ. । नरकेपूत्कर्पतो विकुर्वणा स्थितिकाल , तिर्यङ्मनुष्येपु चत्वारि, अन्तर्मुहूर्तानि देवेष्वर्द्धमास , उत्कर्षतो विकुर्वणाऽवस्थानकालो भणित. तीर्थकरगणधरै. ॥४॥

सप्रति नरकेपु आहाराऽऽदिस्वरूपमाह-

जे पोग्गला अनिट्ठा, णियमा सो तेसिँ होइ आहारो ।
संठाणं पि य तेसिं, नियमा हुंमं तु णायव्वं ॥ ५ ॥

(जे पोग्गलेत्यादि) ये पुद्गला अनिष्टा. नियमात् स तेपां भवत्याहार , सस्थान तु सस्थान पुन हुण्डं हुण्डमपि जघन्यमतिनिकृष्ट वेदितव्यम् । एतच्च भवधारणीयशरीरमधिकृत्य वेदितव्यम्, उत्तरवैक्रियसस्थानस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । इय च प्रागुक्तार्थसग्रहगाथा, ततो न पुनरुक्तदोष ॥ ५ ॥

सप्रति विकुर्वणास्वरूपमाह-

असुभा विउव्वणा खलु, नेरइयाणं तु होइ सव्वेसिं ।
वेउव्वियं सरीरं, ऽसघयणं हुंमसंठाणं ॥ ६ ॥

सर्वेषा नैरयिकाणां विकुर्वणा खलु निश्चिनमशुभा भवति। यद्यपि शुभ विकुर्वणेय चिन्तयति, तथाऽपि तथाविधप्रतिकूलकर्मोदयतस्तेषामशुभैव विकुर्वणा भवति, तदपि च वैक्रियमुत्तरवैक्रिय शरीरमसहननम, अस्थ्यभावात्, उपलक्षणमेतत्, भवधारणीय च वैक्रियशरीर च सहननं, तथा हुण्डसंस्थान, तत उत्तरवैक्रिय शरीरं हुण्डसस्थाननाम्न एव भवप्रत्यय उदयभावात् ॥ ६ ॥

अस्साओ उववन्नो, अस्साओ चेव जहइ निरयभवं ।
सव्वपुढवीसु जीवा, सव्वेसु ठिईविसेसेसु ॥ ७ ॥

(अस्साओ उववन्नो इत्यादि) कश्चिद् जीवः सर्वास्वपि पृथिवीषु रत्नप्रभाऽऽदिषु तमस्तमापर्यन्तासु, सर्वेष्वपि च स्थितिविशेषेषु जघन्याऽऽदिरूपेषु असातोऽसातोदयकलित उपपन्न उत्पत्तिकालेऽपि प्राग्भवमरणकाले भूतमहादुःखानुवृत्तिभावात्, उत्पद्यनन्तरमपि असात एवासातोदयकलित एव, सकलमपि निरयभव (जहइ) त्यजति क्षपयति, न तु जातुचिदपि सुखलेशमप्यास्वादयति। आह-किं तत्र कदाचित् सातोदयोऽपि भवति येनैवमुच्यते ?। उच्यते-भवति ॥ ७ ॥

तथा चाऽऽह-

उववाएण व सातो, नेरइओ देवकम्मुणा वा वि ।
अज्झवसाणनिमित्तं, अहवा कम्माणुभावेण ॥ ८ ॥

(उववाएणेत्यादि) "उववाएण" इत्यत्र सप्तम्यर्थे तृतीया, उपपातकाले सात सातवेदनीयकर्मोदय कश्चिद्वेदयते, यः प्राग्भवे दाहच्छेदाऽऽदिव्यतिरेकेण मरणमुपगतोऽनतिसंक्लिष्टाध्यवसायी समुत्पद्यते, तदा न हि तस्य प्राग्भवानुबद्धमाधिरूप दुःख, नाऽपि क्षेत्रस्वभावजं, नाऽपि परमाधार्मिककृत, नाऽपि परस्परोदीरितम्। तत एवविधदुःखाभावादसौ सात वेदयते इत्युच्यते । (देवकम्मुणा वा वि इति) देवकर्मणा पूर्वसामन्तिकदेवप्रयुक्तया क्रियया। तथाहि-गच्छति पूर्वे सामन्तिको देवः, पूर्वपरिचितस्य नैरयिकस्य वेदनोपशमनार्थं, यथा बलदेवकृष्णवासुदेवस्य। स च वेदनोपशमो देवकृतो मनाक् कालमात्र एव भवति। तत ऊर्द्धं नियमात् क्षेत्रस्वभावजा, अन्या वा वेदना प्रवर्तते, तथास्वाभाव्यात्। (अज्झवसाणनिमित्तमिति) अध्यवसाननिमित्त सम्यक्त्वोत्पादकाले, तत ऊर्ध्वं वा कदाचित् तथाविधविशिष्टशुभाध्यवसायप्रत्ययं कश्चिन्नैरयिको बाह्यक्षेत्रस्वभावजवेदनासद्भावेऽपि सातोदयमेवानुभवति, सम्यक्त्वोत्पादकाले हि जात्यन्धस्य चक्षुर्लाभ इव महान् प्रमोद उपजायते, तदुत्तरकालमपि कदाचित् तीर्थकरगुणानुमोदनाऽऽद्यनुगता विशिष्टा भावनां भावयत., ततो बाह्यक्षेत्रस्वभावजवेदनासद्भावेऽप्यन्त सातोदयो विजृम्भमाणो न विरुध्यते। (अहवा कम्माऽणुभावेणमिति) अथवा कर्मानुभावेन बाह्यतीर्थकरजन्मदीक्षाज्ञानापवर्गकल्याणसभूतिलक्षणसङ्गनिमित्तमधिकृत्य तथाविधस्य सातवेदनीयस्य कर्मणोऽनुभावेन विपाकोदयेन कश्चिन् सात वेदयते। न चैतद् व्याख्यानमनार्यम्। यत उक्त वसुदेवचरिते-इह नैरयिका कुम्भ्यादिषु पच्यमाना कुन्ताऽऽदिभिर्भिद्यमाना वा भयोत्रस्तास्तथाविधप्रयत्नवशादूर्ध्वमुत्पतन्ते ॥ ८ ॥

तनस्तदुत्पातपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह-

नेरइयाणुप्पाओ, उक्कोसं पंचजोयणसयाइं ।
दुक्खेणऽभिदुयाणं, वेयणसतसंपगाढाणं ॥ ९ ॥

(नेरइयाणुप्पाओ इति) नैरयिकाणां दुःखेनाऽभिद्रुतानां सर्वाऽऽत्मना व्याप्तानां वेदनाशतसम्प्रगाढानां वेदनाशतानि अपरिमिता वेदनाः सम्प्रगाढानि अवगाढानि येषां ते वेदनाशतसम्प्रगाढाः। सुखाऽऽदिदर्शनाद् निष्ठान्तस्य परनिपात। तेषां, हेतुहेतुमद्भावश्चात्र-यतो वेदनाशतसम्प्रगाढा. ततो दुःखेनाऽभिद्रुता.। तेषा जघन्यत उत्पातो गव्यूतमात्रम, एतच्च सम्प्रदायादवसीयते, तथा च दृश्यते क्वचिदेवमपि पाठ.-" नेरइयाणुप्पाओ, गाउयउक्कोसपचजोयणसयाइ। " इति। उत्कर्षतः पञ्चयोजनशतानि दुःखेनाऽभिहतानामित्युक्तम् ॥ ९ ॥

ततो दुःखमेव निरूपयति-

अच्छिनिमीलणमेत्तं, नत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं ।
नरए नेरइयाणं, अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥ १० ॥
अतिसीयं अतिउण्हं, अइतण्हा अइखुहा अइभयं च ।
नरए नेरइयाणं, दुक्खसताइं अविस्साम ॥ ११ ॥

(अच्छिनिमीलणमेत्तमित्यादि) नरके नैरयिकाणामुष्णवेदनाया. शीतवेदनाया वा अहर्निशं पच्यमानाना नास्त्यक्षिनिमीलनमात्रमपि अक्षिनिकोचकालमात्रमपि अस्ति सुख, किं तु दुःखमेव केवल प्रतिबद्धमनुबद्ध, सदाऽनुगतमिति भाव ॥ १० ॥ ११ ॥

अथ यत्तेषां वैक्रियशरीर तत्तेषां मरणकाले कथ भवतीति निरूपणार्थमाह-

तेयाकम्मसरीरा, सुहुमसरीरा य जे अपज्जत्ता ।
जीवेण विप्पमुक्का, वच्चंति सहस्ससो भेदं ॥ १२ ॥

(तेयाकम्मेत्यादि) तैजसकार्मणशरीराणि यानि सूक्ष्मशरीराणि सूक्ष्मनामकर्मोदयवतां पर्याप्तानामपर्याप्तानां चौदारिकशरीराणि वैक्रियाऽऽहारकशरीराणि च तेषामपि प्रायो मांसचक्षुरग्राह्यतया सूक्ष्मत्वात्, तथा यानि अपर्याप्तानि अपर्याप्तशरीराणि, तानि जीवेन मुक्तमात्राणि सन्ति सहस्रसो भेद व्रजन्ति; विशकलितास्तत्परमाणुसङ्घाता भवन्तीत्यर्थ ॥१२॥

एतासामेव गाथाना सग्राहिकां गाथामाह-

एत्थ य भिन्नमुहुत्तो पुग्गल असुभा य होइ अस्साओ ।
उववाओ उप्पाओ, अत्थिसरीरा य नायव्वा ॥ १३ ॥

(एत्थ य भिन्नेत्यादि) प्रथमा गाथा (एत्थ) इतिपदोपलक्षिता। द्वितीया-(भिन्नमुहुत्तो इति) तृतीया-(पोग्गला इति) (जे पोग्गला अनिट्ठा इत्यादि) चतुर्थी-(असुभा इति)(असुभा विउव्वणा खलु इत्यादि)। एव शेषपदान्यपि भावनीयानि ॥ १३ ॥ जी० ३ प्रति० ३ उ० । (स्त्रीणा सप्तमनरकपृथिवीगमनविचार. ' इत्थिलिंगसिद्ध ' शब्दे द्वितीयभागे ५६१ पृष्ठे गत)

सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥ १२ ॥

' मे ' मया नरके स्थानानि श्रुतानि, या गतिर्नरकाऽऽदि अशीलाना गतिर्विद्यते। यत्र यस्यां गतौ क्रूरकर्मणा बालानां मूर्खाणाम् आत्महितविध्वसकाना प्रगाढा वेदनाऽस्ति ॥ १२ ॥ उत्त० ५ अ० ।

विषयसूची-

णरगगइ-नरकगति-स्त्री० । नृणन्ति विवेकमासाद्य नयधर्मपरा भवन्तीति नरा मनुष्या, तेषु विषये गतिर्नरकगति (कर्म०) नरानुपलक्षणत्वात्तिरश्चोऽपि प्रचुतपापकारिण कायन्तीवाऽऽह्वयन्तीवेति नरका नरकावासा, तत्रोत्पन्ना जन्तवोऽपि नरका, नरको वा विद्यते येषा ते " अभ्राऽऽदिभ्य " । ७ । २ । ४६ । [हैम०] इत्यप्रत्यये नरका, तेषु विषये गतिर्नरकगति । गतिभेदे, कर्म० ४ कर्म० । आव० ।

णरगतिङ्ग-नरकलिङ्ग-त्रि० । नरकगतिनिवारके, अष्ट० २० अष्ट० ।

णरगजायणा-नरकयातना-स्त्री० । नरकेषु दु खयोगे, नरकपीडायाम्, [उत्त०]

" प्रदीप्तोङ्गारकल्पेषु, वज्रकुण्डेष्वसन्धिषु ।
कूजन्त करुण केचिद् दह्यन्ते नरकाग्निना ॥ १ ॥
अग्निभीता प्रधावन्तो, गत्वा वैतरणीं नदीम् ।
शीततोयामिमां ज्ञात्वा, क्षाराम्भसि पतन्ति ते ॥ २ ॥
क्षारदग्धशरीराश्च, मृगवेगोत्थिता पुन. ।
असिपत्रवनं यान्ति, छायायां कृतबुद्धय. ॥ ३ ॥
शक्त्यसिप्रासकुन्तैश्च, खड्गतोमरपट्टिशै ।
छिद्यन्ते कृपणास्तत्र, पतद्भिर्वातकम्पितै ॥४॥ " उत्त० ३ अ० ।

णरगतिग-नरकत्रिक-न० । नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुःस्वरूपे नरकत्रये, कर्म० ३ कर्म० । पं० सं० ।

णरगपुढवी-नरकपृथिवी-स्त्री० । रत्नप्रभाऽऽद्यासु पृथिवीषु, उत्त० ३६ अ० । प्रव० ।

णरगपाल-नरकपाल-पुं० । पञ्चदशप्रकारे परमाधार्मिके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

णरगविभत्ति-नरकविभक्ति-स्त्री० । नरकाणा विभागो विभजन विभक्तिः । नरकप्रविभागे, तदर्थप्रतिपादके सूत्रकृतः प्रथमश्रुतस्कन्धस्य पञ्चमेऽध्ययने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आ० चू० । स० । " पुढवीफास अण्णा-णुवक्कम णिरयवालवहण च । तिसु वेदंति अताणा, अणुभाग

चेव सेलासु ॥६७॥" सूत्र०नि० १ श्रु०५ अ० १ उ० । (नरकविभक्तिवर्णक. 'णरग' शब्दे १६०४ पृष्ठे गत.)

णरगाउ-नरकायुष्-न० । नारकायुष्के, कर्म० १ कर्म० ।

णरगावास-नरकावास-पु० । नरकरूपे आवासे, स्था० ८ ठा० ।

णरगिंद-नरकेन्द्र-पुं० । वृहत्वात्प्रधानत्वाच्च तथाविधे नरके, चतुर्थ्यां नरकपृथ्व्यां सप्त नरकेन्द्रकाः । यथोक्तम्-" आरे मारे णारे, तच्छे य मए य बोधव्वे । कक्खोडक्खमे य खडखडे, इद्यनिरया चउत्थीए ॥१॥" स्था० ६ ठा० ।

णरणारीसंपरिवुड-नरनारीसंपरिवृत-त्रि० । नरैर्नारीभिश्च समन्तात् परिवृते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णरदत्ता-नरदत्ता-स्त्री० । श्रीमुनिसुव्रतस्य शासनदेव्याम्, प्रव० २७ द्वार । ती० ।

णरदुग-नरद्विक-न० । नरगतिनरानुपूर्वीलक्षणे, कर्म० ३ कर्म० ।

णरदेव-नरदेव-पु० । नराणां देवाः नरदेवाः । चक्रवर्तिषु, स्था० ५ ठा० १ उ० । " पोग्गलपरियट्टूण, ज नरदेवत्तर सुए भणियं । " (८०५) विशे० । स्वनामख्याते श्रीऋषभदेवपुत्रे, कल्प० ७ क्षण ।

णरजव-नरजव-पु० । ६ त० । मनुष्याणा जन्मसु, कर्म० ५ कर्म० ।

णररुहिर-नररुधिर-न० । मनुष्यरुधिरे, तद्धि लोहितवर्णोत्कृष्टमिति रक्तत्वेनोपमीयते । रा० ।

णरवइ-नरपति-पु० । राजनि, रा० । दश० । औ० । स्था० । आव० । विश्रुते राजानि, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । नरनायके, नरस्वामिनि, स० । औ० । ज्ञा० ।

णरवइदत्तपयार-नरपतिदत्तप्रचार-पु० । नृपानुज्ञातकामचारे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णरवइदिन्नपयार-नरपतिदत्तप्रचार-पु० । नृपानुज्ञातकामचारे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णरवरीसर-नरवरेश्वर-पु० । नराणां श्रेष्ठराजनि, " सगरत चइत्ता ण, भरह नरवरीसरो ।" उत्त० १८ अ० । उत्क्षिप्तकार्ये भारनिर्वाहकत्वात् । स० ।

णरवसह-नरवृषभ-पु० । नराणा मध्ये गुणै प्रधानत्वात् (प्रश्न० ४ आश्र० द्वार) धराभारधुरन्धरत्वाद वृषभकल्पे, कल्प० ३ क्षण ।

णरवाहण-नरवाहन-पु० । स्वनामख्याते भृगुकच्छनरेश्वरे, आव० १ अ० । ती० । आ० म० । आ० चू० । कुवेरे, वाच० । (स च महाधन शालिवाहनेन रुद्ध इति 'पालित्त' शब्दे वक्ष्यते)

णरवाहणा-नरवाहना-स्त्री० । कुवेरायां देव्याम्, ती० ८ कल्प ।

णरविग्गहगइ-नरविग्रहगति-स्त्री० । निरयविग्रहगतौ, स्था० १० ठा० ।

णरवेय-नरवेद-पु० । पुरुषस्य स्त्रिय प्रत्यभिलाषे, कर्म० ४ कर्म० ।

णरसंघाडग-नरसंघाटक-न० । नरयुग्मे, ज० १ वक्ष० ।

णरसीह-नरसिंह-पु० । शूरत्वात् (प्रश्न० ४ आश्र० द्वार) दुःसहपराक्रमत्वात् (कल्प० ३ क्षण) विक्रमयोगात् (स०) सिंहत्वोपमिते नरे, शरीरार्द्धेतो नरे शरीरार्द्धेतः सिंहे च । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । विशे० । मानतुङ्गसूर्यन्वयाये जाते स्वनामख्याते सूरौ, " श्रीदेवानन्दगुरु-र्विक्रमसूरिर्गुरुश्च नरसिंहः । बोधितसिंहकयक्ष " । ग० ४ अधि० ।

णरसुंदर-नरसुन्दर-पु० । ताम्रलिप्तीनगरीश्वरे स्वनामख्याते राजनि, (ध० र०)

तत्कथा पुनरेवम्-

" पयडियचउरया बहुविह-मत्ता वरकम्मगयविक्ति व्व ।
नवर घयविमुक्का, अत्थि पुरी तामलित्ति त्ति ॥ १ ॥
सम्मपरिणयजिणसमय-अमयरसहणियविसयविसपसरो ।
गिहिवासासिढिलचित्तो, राया नरसुंदरो तत्थ ॥ २ ॥
निरुवमलावणिमरूवा, बधुमई नाम आसि से भइणी ।
उज्जेणिसामिणा सा, अवंतिनाहेण परिणीया ॥ ३ ॥
सो तीए अणुरत्तो, आसत्तो मज्जपाणवसणम्मि ।
जूयम्मि अइपसत्तो, मत्तो वोलेइ बहुकाल ॥ ४ ॥
तम्मि निवम्मि पमत्ते, रज्जे रट्ठे विणीयमाणम्मि ।
रज्जपहाणनरेहिं, सचिवेहि य मंतिय सम्म ॥ ५ ॥
पुत्त ठवेमि रज्जे, मज्ज पाइत्तु निसि पसुत्तो सो ।
देवीइ सम नियमा-णुसेहिं उज्जाणिओ रन्ने ॥ ६ ॥
चेलचले य बद्धो, लेहोऽणागमणसूयगो तस्स ।
अह गोसे पडिबुद्धो, जा दिसिचक्क नियइ राया ॥ ७ ॥
हरिहरिणरुद्दसद्दू-लसकुल सव्वओ पि ता रन्न ।
त लेह च निरिक्खिय, सविसाओ भणइ इय दइय ॥ ८ ॥
ओ पिच्छ पिच्छ पावा-ण ताण सामतमतिपमुहाण ।
तह तह उवयरियाण, विपरियगुरुदाणमाणाण ॥ ९ ॥
निच्च गुरुगुरुतरबहु--पसायपावियपसिद्धिरिद्धीण ।
अवराहपए वि सया, सिणिद्धदिट्ठीइ दिट्ठाण ॥ १० ॥
अविभिन्नरहस्साण, ससइयत्थेसु पुच्छिणिज्जाण ।
नियकुलकमाणुरूव, चिट्ठियमेवविह सुयणु ! ॥ ११ ॥
इय विरस जपतो, अविज्जावियदुट्ठदिव्वपरिणामो ।
राया बधुमईए, सुजुत्तिजुत्त इम वुत्तो ॥ १२ ॥
किं चिंतिएण सामिय !, विहलीकयसयलपुरिसयारस्स ।
अघमतघडणरूइणो, दुव्वविहिणो विन्नसिएणिमिणा ? ॥ १३ ॥
लहु पहु ! चयसु विसाय, गच्छामो तामलित्तिनयरीए ।
नरसुंदरनरनाह, पिच्छामो तत्थ सप्पणय ॥ १४ ॥
रन्ना पमिवन्नमिण, गतु पयट्टाइं ताइं तो कमसो ।
पत्ताइं तामलित्ती, पुरी समीवत्थउज्जाणे ॥ १५ ॥
अह बधुमई जपइ, इहेव चिट्ठेसु सामि ! खणमेग ।
तुह आगमण गतू-ण भाउणो जाव साहेमि ॥ १६ ॥
कह कह वि होउ एव, ति जपिए नरवरेण अह पत्ता ।
निविडपमिबधबधुर-बधवगेहम्मि बधुमई ॥ १७ ॥
तत्थ य महतसाम-तविंदसेविज्जमाणपयजुयलो ।
पासट्ठियपणतरुणी-करचालियचामरुप्पीलो ॥ १८ ॥
जय जीव जीव इय से-वगेहिं वुच्चतओ य पइवयण ।
सिंघासणोवविट्ठो, दिट्ठो नरसुदरो तीए ॥ १९ ॥

तेण वि विम्हियमणसा, भगिणी अवितक्कियागया दट्ठुं ।
उचियपडिवत्तिपुव्वं, पुट्ठा सयलं पि वुत्तंतं ॥ २० ॥
तो तीइ वि सो कहिओ, उज्जाणे जाव चिट्ठइ निवु त्ति ।
सविवत्तीइ तओ सो, तयभिमुहं पट्ठिओ झ त्ति ॥ २१ ॥
सो पुण अवंतिणाहो, अइगाढछुहाइ पीडिओ तइया ।
धाउक्किभक्खणत्थं, थगम्मि अ चिट्ठमीकच्छे ॥ २२ ॥
अवदारेण चोरु व्व पविसमाणो स कत्थ य नरेण ।
मम्मणयसम्मि हओ, मुट्ठीए तह य लट्ठीए ॥ २३ ॥
निठुरपहारविहुरो, पलायमाणो तओ इमो तुरियं ।
धरणीवट्टे पडिओ, निविट्ठो कट्ठघडिउ व्व ॥ २४ ॥
इत्तो नरसुंदरनर-वरो वि नियविजयरहवरारूढो ।
भगिणीवइस्सऽभिमुहं, तम्मि पएसम्मि संपत्तो ॥ २५ ॥
नवरं तरलतुरंगम-निट्ठुरखुरखणियरेणुपूरेण ।
उच्छूरतिमिरक्कंत, व नहयलं तक्खणे जायं ॥ २६ ॥
तो दंसणविरहाओ, नरवररहतिक्खचक्कधाराए ।
तह निवडियस्स कंठे, दुट्ठा कओऽवंतिनाहस्स ॥ २७ ॥
अह पुव्वुत्तुज्जाणे, अवंतिनाहं नियो अपिच्छंतो ।
सभंतो भइणीए, वुत्तंतमिमं कहावेइ ॥ २८ ॥
हा दिव्व ! दिव्व ! किमिमं, ति सभमुब्भंतनयणतारच्छी ।
बहुमई बहुगिरं, निसामिउं आगया तत्थ ॥ २९ ॥
तो अवलोयंतीए, पणट्ठरयणं व निउणदिट्ठीए ।
कह कहमवि तमवत्थं, संपत्तो तीइ सो दिट्ठो ॥ ३० ॥
अह नाउ मय संपइ, गुरुमुग्गरचूरिय व्व सा सहसा ।
पडिया अतुच्छमुच्छा-निमीलियच्छी महीवीढे ॥ ३१ ॥
पासट्ठियपरियणविहि-यसिसिरउवयारलद्धचेयन्ना ।
परिमुक्कपिक्कमुक्कं, एवं विलवेइ दीणमणा ॥ ३२ ॥
हा हियय ! दइय ! पियवम ! गुणनिवहनिवास ! पणयकयतोस !।
केण पाविट्ठेण, पयमवत्थं तुमं नीओ ? ॥ ३३ ॥
हा नाह ! तायसु मह, विओगवज्जासणीइ भिज्जंतं ।
हियय हिययसुहावह !, कीस उविक्खेसि चिरकालं ? ॥३४॥
हयदिव्व ! किं न तुट्ठो, रज्जवहारेण देसचाएण ।
सुहिजणविओयणेण य, जमेयमवि ववसिओ पाव ! ॥ ३५ ॥
इच्चाइविलवमाणी, वारिज्जंती वि बंधवनिवेण ।
सा णियपइणा सद्धिं, पविसिया जालाउले जलणे ॥ ३६ ॥
अह निव्वेओवगओ, राया नरसुंदरो विचिंतेइ ।
अविचिंतणीयरूवा, अहो अणिच्चा जयस्स ठिई ॥३७॥
जत्थ सुही वि हु दुहिओ, निवो वि रोरो सुमित्तमवि सत्तू ।
संपत्ती वि विवत्ती, निमेसमित्तेण परिणमइ ॥ ३८ ॥
कइमहुणा भइणीए, चिरकालाओ समागमो जाओ ? ।
कहमिण्हिं पि विओगो, धिरत्थु संसारवासस्स ॥ ३९ ॥

अवि य-

जे खलु तिहुयणजणपलय-ताणकरणक्खमा जिणवरिंदा ।
सयय अणिच्चयाए, उररीकीरंति ते वि हहा ! ॥ ४० ॥
रणसवडमुहउब्भड-भिडंतरिउसुहडचक्कअक्कमणे ।
जे पहुणो ते वि खणे-ण चक्किणो जंति हा निहणं ॥ ४१ ॥
जे गुरुभुयबलववभ-हसगया दलियदक्खपमिवक्खा ।
ते वि हु हरिणो हरिणु व्व हरेइ हा हा कयंतहरी ॥ ४२॥
मन्ने करिकन्नसुरिं-दचावतडिचावलेन निम्मविय ।
इत्थ वत्थुसमत्थं, तेण खणदिट्ठनट्ठं ति ॥ ४३ ॥
एवंविहे य जं इह, खणमवि निवसंति मुणियपरमत्था ।
धीसत्ता सगिहेसु, अहह महाधिट्ठिमा तेसिं ॥ ४४ ॥
इय सो विरत्तचित्तो, संबद्धो वि हु घणाइसु कह पि ।
भावेण अपडिबद्धो, गेहम्मि गमेइ कइ वि दिणे ॥ ४५ ॥
कालेण नदणे र-ज्जभारधरणुद्धुरे ठविय रज्जं ।
सिरिसेणगुरुसमीवे, दिक्खं गिण्हइ महीनाहो ॥ ४६ ॥
वत्थाइसु गामाइसु, समयाइसु कोहमाणमाईसु ।
दव्वे खित्ते काले, भावे परिमुक्कपडिबंधो ॥ ४७ ॥
काऊण अणसणं सा-सणं मणे जिणवराण धारंतो ।
देहे वि अपडिबद्धो, मरिउं गेवे सुरो जाओ ॥ ४८ ॥
तत्तो य उत्तरुत्तर-सुरनरसिरिमणुहविउं कइ वि भवे ।
पव्वज्ज पालिऊणं, सो संपत्तो पयं परमं ॥ ४९ ॥
श्रुत्वैवं नरसुन्दरस्य चरितं, हेतोर्गरीयस्तरात्,
कस्मादप्यनलंभविष्णुमनसो, दीक्षा गृहीतुं द्रुतम् ।
सवद्धा अपि देहगेहविषय-द्रव्याऽऽदिषु द्रव्यतो,
भावेन प्रतिबन्धबुद्धिमसमा, मैतेषु भव्याः ! कुरु ॥ ५० ॥
ध० र० ७४ गाथा ॥

णराअ-नाराच-न० । "घाऽव्ययोत्खातादावदातः" । ८ । १ । ६७ । इत्यातोऽन्त्यम् । ('णाराय' प्रकरणे वक्ष्यमाणेऽर्थे) प्रा० १ पाद ।

णराहिव-नराधिप-पुं० । राजनि, उत्त० ६ अ० । "कुंथू नाम नराहिवो ।" उत्त० १ अ० ।

णरिंद-नरेन्द्र-पुं० । नराणामिन्द्रो नरेन्द्रः । दशा० १० अ० । "ह्रस्वः संयोगे दीर्घस्य" ॥ ८ ॥ १ । ८४ । इति ह्रस्वः । प्रा० १ पाद । परमैश्वर्ययोगात् (म० । औ०) समस्तभरताधिपे (प्रश्न० ४ आश्र० द्वार) राजनि, औ० । चक्रवर्त्यादौ, ध० २ अधि० । आ० म० । उत्त० । प्रजापतौ, व्य० २ उ० । वृ० ।

णरिंदप्पह-नरेन्द्रप्रभ-पुं० । हर्षपुरीयगच्छोद्भवे ताराचन्द्रसूरिशिष्ये, अनेन अलङ्कारमहोदधिः, काकुत्स्थकेलिश्चेति द्वौ ग्रन्थौ रचितौ । जै० इ० ।

णरिंदवसह-नरेन्द्रवृषभ-पुं० । राजमुख्ये, उत्त० १५ अ० । "एवं नरिंदवसहा, निक्खंता जिणसासणे ।" उत्त० ६ अ० ।

णरिंदसमणी-नरेन्द्रश्रमणी-स्त्री० । मासराजकुलपालितायां श्रमण्याम्, सा चाऽदत्ताऽऽदानेन संसारं पर्यटितेति ।

सा उण लहिऊणं अदत्तादाणगं मासरायकुलबालिया णरिंदसमणी गोयमा ! तेणं मायासल्लभावदोसेणं उववन्ना विज्जुकुमाराणं वाहणत्ताए नउलीरूवेणं किंकरी देवेसु तओ चूया समाणी पुणो पुणो उववज्जंती वावज्जंती आहिंडियमाणुसतिरियच्छेसु सयलदोहग्गस्स दुक्खदारिद्दपरिगया सव्वलोयपरिभूया सकम्मफलमणुभवमाणी गोयमा ! ०जाव ण कह वि कम्माणं खओवसमेणं बहुभवंतरेसु तं आयरिए य पाविऊण निरइयारसामण्णपरिवालणेण सव्वत्थामेसुं च सव्वए मायाइवणविप्पमुक्केणं तु उज्जमिऊणं निद्दड्ढावसेसीकयभवंकुरे तहा वि गोयमा ! जा सा सरागा चक्खुणाऽऽलोइया तक्कमदोसेणं माहणिच्छित्ताए परिनिव्वुमेणं से रायकुलबालियाणरिंदसमणीजीवे । महा० २ चू० ।

णरीसर-नरेश्वर-पुं० । नृपे, " इक्खागुरायवसहो,कुंथू नाम नरीसरो । " उत्त० १८ अ० ।

णरीसरत्तण-नरेश्वरत्व-न० । नृपत्वे, पञ्चा० ।

सामन्ने मणुयत्ते, धम्माओ णरीसरत्तणं णेयं ।
इय मुणिऊणं सुंदर !, जत्तो एयम्मि कायव्वो ॥१७॥

सामान्ये बहूनां प्राणिनां साधारणे, मनुजत्वे नरत्वे, धर्मात् कुशलकर्मणः नरेश्वरत्वं नृपत्वं भवतीति ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । इत्येतद् ज्ञात्वा अवगम्य, सुन्दर ! नरप्रधान ! यत्न उद्यम , अत्र धर्मे, कर्तव्यो विधेयो भवति । इति गाथार्थ ॥१७॥ पञ्चा० ६ विव० ।

णरोत्तम-नरोत्तम-पुं० । श्रीऋषभदेवस्य चतुश्चत्वारिंशे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण ।

णल-नल-पुं० । नस्य णः, रस्य तु "मो ल." । ८ । १ ।२०२। इति ल. । प्रा० १ पाद । तृणविशेषे, जी० ३ प्रति० २ उ० । प्रज्ञा० । आचा० । शुषिरशराऽऽकारे यवाऽऽदीनां कमठ्ठरे,स्था० ५ ठा० २ उ० । चन्द्रवंश्ये नृपभेदे,वानरभेदे,श्राद्धदेवे, पितृगणभेदे, दैत्यभेदे, पद्मे, न० । वाच० ।

णलकूवर-नलकूवर-पुं० । नल कूवरो गुणधरोऽस्य । कुबेरपुत्रे, वाच० । "अठ्ठपुत्ते पयाहिसि सिरीए नलकूवरसमाणे । " आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णलगिरि-नलगिरि-पुं० । प्रद्योतनृपतेर्हस्तिरत्ने, अनलागिरिरिति तन्नामान्तरम । आ० क० । आ० म० । आ० चू० । नि० चू० । आव० ।

णलत्थम्भ-नलस्तम्भ-पुं० । वृक्षविशेषे, आव० ३ अ० ।

णलदाम[ण्]-नलदामन्-न० । स्वनामख्याते कुविन्दे, स्था० ४ठा०३ उ० । दश० । व्य० । आ० म० । (अधर्मयुक्ते हेतौ नलदामकुविन्दोदाहरणम् ' अधम्मजुत्त ' शब्दे प्रथमभागे ५६७ पृष्ठे द्रष्टव्यम)

णलय-नलद-पुं० । देशी-उशीरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णलागणि-नलाग्नि-पुं० । नलदहनप्रवृत्तेऽग्नौ, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णलाड-ललाट-न० । " ललाटे लडोः " ॥ ८ । २ । १२३ ॥ इति ललाटशब्दे लडयोर्व्यत्यय । " णलाम । णमालं " प्रा० २ पाद ।

णलिअ-देशी-गृहे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णलिण-नलिन-न० । ईषद्रक्ते कमले, च० प्र० १ पाहु० १ पाहु० पाहु० । रा० । ईषद्रक्तपद्मे, रा० । जं० । आ० म० । प्रज्ञा० । ईषन्नीले पद्मे, जं० १ वक्ष० । जलजकुसुमविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । चतुरशीतिलक्षगुणिते नलिनाङ्गे, भ० ६ श० ७ उ० । जी० । ज्यो० । जं० । अनु० । स्था० । कच्छाऽऽदिषु द्वाविंशे विजयक्षेत्रयुगले, " दो णलिणा । " स्था० २ ठा० ३ उ० । स्वनामख्याते विमाने, स० १८ सम० । स्था० । रुचकपर्वतस्य दाक्षिणात्ये कूटे, द्वी० । स्था० । जम्ब्वा सुदर्शनायाः पूर्वस्यां दिशि पुष्करिण्याम्, जं० ४ वक्ष० । जी० ।

णलिणंग-नलिनाङ्ग-न० । चतुरशीतिलक्षगुणिते पद्मशतसहस्रे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । अनु० । जं० । स्था० ।

णलिणकूड-नलिनकूट-पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां शीताया महानद्या उत्तरकूले वक्षस्कारपर्वते, स्था० २ ठा० ३ उ० । " दो णलिणकूडा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे णलिणकूडे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते ? । गोयमा ! णीलवंतस्स दाहिणेणं सीआए उत्तरेणं मंगलावत्तस्स विजयस्स पच्चिछमेणं आवत्तस्स विजयस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं महाविदेहे वासे णलिणकूडे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते । उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणविच्छिण्णे सेसं जहा चित्तकूडस्स० जाव आसयंति । णलिणकूडे णं भंते ! कति कूडा पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि कूडा पण्णत्ता । तं जहा-सिद्धाययणकूडे, णलिणकूडे, आवत्तकूडे, मंगलावत्तकूडे,कूडा पचसइआ रायहाणीओ उत्तरेणं । जं०४वक्ष० ।

णलिणगुम्म-नलिनगुल्म-न० । श्रेणिकभार्याया नलिनगुल्माया अपत्ये, स च वीरजिनान्तिके प्रव्रजितस्त्रीणि वर्षाणि प्रव्रज्यापर्याय परिपाल्य सहस्रारे उपपन्न , ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यति, इति कल्पावतंसिकाया अष्टमेऽध्ययने सूचितम् । नि० १ श्रु० १ वर्ग ८ अ० । अर्हता महापद्मेन प्रव्राजिष्यमाणे स्वनामख्याते राजनि, स्था० ८ ठा० । अष्टमदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० १८ सम० । "णलिणगुम्मे विमाणे देवत्ताए उववण्णा । " आ० चू० १ अ० । उत्त० । नलिनीगुल्ममप्यत्र । विशे० । स्वनामख्याते अध्ययने च । " अवया पदोसकाले आयरिया णलिणगुम्म अज्झयण परियट्टति । " आव० ४ अ० ।

णलिणवण-नलिनवन-न० । पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्या नगर्या उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे स्वनामख्याते वने, ज्ञा० १ श्रु० १९ अ० । आ० म० । उत्त० । अनु० ।

णलिणावई-नलिनावती-स्त्री० । कच्छाऽऽदिषु चतुर्विंशे विजयक्षेत्रयुगले, स्था० २ ठा० ३ उ० । ज्ञा० ।

णलिणी-नलिनी-स्त्री० । पद्मिन्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रज्ञा० । आ० क० ।

णलिणीकुमार-नलिनीकुमार-पुं० । महापद्मतीर्थकृतः प्रथमपुत्रे, " जेठ णलिणकुमार, रज्जे ठाइत्तु त महापउमो । " ति० ।

णलिणोदग-नलिनोदक-न० । समुद्रभेदे, " गोतित्थेहि विरहिय, खेत्त नलिणोदगसमुद्दे । " द्वी० ।

णव-नव-त्रि० । सङ्ख्याविशेषे ६ विशिष्टे, नि० चू० १ उ० । "नव खोडा । " प्रतिलेखनायाम, नव खोटका , ते च त्रयस्त्रय प्रमार्जनानां त्रयेण त्रयेण अन्तरिता कार्या , इति पदद्वयेनाऽपि पञ्चमी अप्रमादप्रत्युपेक्षणोक्ता । स्था० ६ ठा० । ध० । नि० चू० । प्रत्यग्रे, दश० १ अ० । व० प्र० । सूत्र० । अपूर्वे, सू० १ उ० । अजीर्णे, जं० ३ वक्ष० । अभिनवे,आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । नवकर्मणामनादानम । नवान्युपचीयमानानि । आव० ४ अ० । " ते वरिसो होइ नवो ।" प्रव्रज्यापर्यायेण यस्य त्रीणि वर्षाणि नाधिकमित्येष त्रिवर्षो भवति नव । व्य० ३ उ० । " नवदुरियभासतपसवयारगमीरदरिसणिज्जा " इति । नवेन

प्रत्यग्रेण हरितेन नीलेन भासमानेन स्निग्धत्वाद्देदीप्यमानेन पत्रभारेण दलसञ्चयेन यो जातोऽन्धकारस्तेन गम्भीरा अलब्धमध्यभागा सन्तो दर्शनीयाः। जी० ३ प्रति० ४ उ०। "नवहेमचारुचित्तचवलकुडलविलिहिज्जमाणगमे।" नवमिव प्रत्यग्रमिव हेम यत्र ते नवहेमनी, नवहेमभ्यां चारु चित्राभ्यां चञ्चलाभ्यां कुण्डलाभ्यां विलिख्यमानौ गण्डौ यस्य स तथा। जी० ४ प्रति० २ उ०।

नम्-धा०। प्रह्वत्वे शब्दे, "रुदनमोर्वः" ॥ ८।४।२२६॥ इत्यनेन अन्त्यस्य नस्य वः। 'नवइ' नमति। प्रा० ४ पाद।

णवंगसुत्तपडिबोहिया-नवाङ्गसुप्तप्रतिबोधिता-स्त्री०। नवाङ्गानि श्रोत्र २ चक्षु २ घ्राण २ रसना त्वग्मनोलक्षणानि सुप्तानि सन्ति प्रतिबोधितानि यौवनेन यस्याः सा तथा। विपा० २ श्रु० १ अ०। नवयौवनायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०। विपा०। औ०। "नवंगसुत्तपडिबोहियाए।" द्वे अक्षिणी द्वौ कर्णौ द्वौ नासापुटौ जिह्वास्पर्शने नवमं मनः, एतानि नव अङ्गानि यावदद्यापि यौवनं न भवति तावत्सुप्तानि भवन्ति, न खलु तदानीमेतेषामतीवाराभिव्यङ्ग्यसुखं भवति, अतः सुप्तानीति व्यपदिश्यन्ते, यौवने तु प्रागल्भ्यरूपगुणेन प्रतिबुद्धानि जायन्ते। स्था० १० उ०।

णवकोडिपरिसुद्ध-नवकोटिपरिशुद्ध-त्रि०। ३ त०। नवभिर्विभागैर्निर्दोषे, "नवकोडीपरिसुद्धे, भिक्खे पण्णत्ते।" नवभिर्विभागैर्निर्दोषे, स्था० ९ ठा०।

णवक्ख-नव-त्रि०। "शीघ्राऽऽदीनां वहिल्लाऽऽदयः" ॥ ८।४।४२२॥ इत्यपभ्रंशे नवशब्दस्य णवक्खाऽऽदेशः। प्रत्यग्रे, प्रा० ४ पाद।

णवगणिवेस-नवकनिवेश-पु०। प्रथमावासे, नि० चू०।

जे भिक्खू नवआसु गामंसि वा णगरंसि वा [णगारंसि वा]० जाव सन्निवेसंसि वा अणुप्पविसित्ता असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥ नि० चू० ५ उ०।

(अत्र 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ९९१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

णवग्गह-नवग्रह-पु०। अभिनवग्रहणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

णवच्छिद्द-नवच्छिद्र-त्रि०। नवरन्ध्रोपेते, त०।

णवजोयणिय-नवयोजनिक-त्रि०। नवयोजनाऽऽयामे, "जंबूदीवे णं दीवे नवजोयणिया मच्छा।" स्था० ९ ठा०।

णवणवमिया-नवनवमिका-स्त्री०। नव नवमानि दिनानि यस्या सा नवनवमिका, नव नवमानि च भवन्ति नवसु नवकेष्विति तत्परिमाणेयमिति। एकाशीतिदिनैः समाप्येऽभिग्रहविशेषे, (स्था०)

णवणवमिया णं भिक्खुपडिमा एकासीएहिं राइंदिएहिं चउहि य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं अहासुत्ता० जाव आराहिया यावि भवइ ॥

(णवणवमिया णं) इत्यादि कण्ठ्यम्, नवरं नव नवमानि दिनानि यस्यां सा नवनवमिका, नव नवमानि च भवन्ति नवसु नवकेष्विति तत्परिमाणेयमिति, नव च नवकान्येकाशीतिरिति कृत्वा एकाशीत्या रात्रिन्दिवैरहोरात्रैर्भवति। तथा प्रथमनवके प्रतिदिनमेका दत्तिः पानकस्य भोजनस्य चेत्येवमेकोत्तरया वृद्ध्या नवमे नवके नव दत्तयः। ततश्च सर्वसङ्कलनया चतुर्भिश्च पञ्चोत्तरैर्भिक्षाशतैर्यथासूत्रं यथाकल्पं यथामार्गं यथातत्त्वं सम्यक्कायेन स्पृष्टा पालिता शोभिता तीरिता कीर्तिता आराधिता चाऽपि भवतीति। स्था० ९ ठा०। प्रव०। स०। औ०। अन्त०।

णवणवसंवेग-नवनवसंवेग-पु०। अपूर्वापूर्वे वैराग्ये, [वृ०]

अथ "नव नवो य संवेगो" इति व्याख्यानयन्नाह-

जह जह सुयमोगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं।
तह तह पल्हाइ मुणी, णवणवसंवेगसद्धाओ ॥

यथा यथा श्रुतमागमं पूर्वमवगाहते, कथम्भूतम्?-अतिशयरसप्रसरसंयुतम्। अतिशया अर्थविशेषास्तेषु यो रसः श्रोतॄणामाक्षेपकारी गुणविशेषः, तस्य यः प्रसरः अतिरेकः, तेन संयुतं युक्तम्। यद्वा-श्रवणं श्रुतं, तत्कथम्भूतम्?-अतिशयस्याऽर्थस्य रसः आस्वादनं तत्र यः प्रसरो गमनं तेन संयुतम्, अपूर्वं यथा यथाऽवगाहते तथा तथा मुनिः प्रह्लादते शुभभावसुखासिकया मोदते। कथम्भूतः? इत्याह-नवनवोऽपूर्वापूर्वो यः संवेगो वैराग्यं, तद्रूपा श्रद्धा मुक्तिमार्गाभिलाषलक्षणा यस्य स नवनवसंवेगश्रद्धाक इति। गतं नवनवसंवेगद्वारम्। वृ० १ उ०।

णवणवसंवेगो खलु, णाणावरणक्खओवसमभावो।
तत्ताहिगमो य तहा, जिणवयणायन्नणस्स गुणा ॥३॥

नवनवसंवेगः प्रत्यग्रः प्रत्यग्रः संवेग आर्द्रान्तःकरणता, मोक्षसुखाऽभिलाष इत्यन्ये। खलुशब्दः पूरणार्थः, संवेगस्य शेषगुणनिबन्धनत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थो वा। तथा ज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमभावः ज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमसत्ता संवेगादेव। तत्त्वाधिगमश्च तत्त्वाऽवबोधपरिच्छेदश्च तथा, जिनवचनाऽऽकर्णनस्य तीर्थकरभाषितश्रवणस्य एते गुणा इति ॥ ३ ॥ श्रा०।

णवणाम [ण्]-नवनामन्-न०। नवपदार्थनामनि, अनु०।

नवनामनिदर्शयन्नाह-

से किं तं णवणामे?। णवणामे णव कव्वरसा पण्णत्ता।
तं जहा-
वीरो सिंगारो अ-ब्भुओ य रोद्दो अ होइ बोद्धव्वो।
वीलणओ बीभच्छो, हासो कलुणो पसंतो अ ॥१॥

(से किं तं णवणामे इत्यादि) नवनामे नव काव्यरसाः प्रज्ञप्ताः। तत्र कवेरभिप्रायः काव्यं, रस्यन्तेऽन्तरात्मनाऽनुभूयन्त इति रसाः, तत्सहकारिकारणसन्निधानोद्भूताः चेतोविकारविशेषा इत्यर्थः। उक्तं च-"बाह्यार्थाऽऽलम्बनो वस्तुविकारो मानसो भवेत्। स भावः कथ्यते सद्भिः, तस्योत्कर्षो रसः स्मृतः ॥ १ ॥" काव्येषूपनिबद्धा रसाः काव्यरसाः, वीरशृङ्गाराऽऽदयः। तानेवाऽऽह-(वीरो सिंगारो) इत्यादि। गाथा सुगमा, नवरम् 'शूर वीर' विक्रान्तौ, इति वीरयति विक्रामय-

ति रागतपोवैरिनिग्रहेषु प्रेरयति प्राणिनमिति उत्तमप्रकृतिपुरुषचरित्रश्रवणाऽऽदिहेतुसमुद्भूतो दानाऽऽद्युत्साहप्रकर्षोऽऽत्मको वीरो रसः, इति सर्वत्र गम्यते ॥ १ ॥ शृङ्गं सर्वोत्तमत्वं परमप्रकर्षकोटिलक्षणमियर्ति गच्छतीति कमनीयकामिनीदर्शनाऽऽदिसंभवो रतिप्रकर्षोऽऽत्मकः शृङ्गारः सर्वरसप्रधान इत्यर्थः। अत एव " शृङ्गारहास्यकरुणा, रौद्रवीरभयानकाः। बीभत्साद्भुतशान्ताश्च, नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥१॥" इत्यादिष्वयं सर्वरसानामादावेव पठ्यते। अत्र तु त्यागतपोगुणो वीररसे वर्तते, त्यागतपसी च "त्यागो गुणो गुणशताद्धिको मतो मे।" "परं लोकातिगं धाम, तपः श्रुतमिति द्वयम्।" इत्यादिवचनात् समस्तगुणप्रधानं इत्यनया विवक्षया वीररसस्याऽऽदावुपन्यास इति श्रुतम् ॥ २ ॥ शल्यं त्यागतपःशौर्यैकमोऽऽदिवा सकलभुवनातिशायि किमप्यपूर्वं वस्त्वद्भुतमुच्यते, तद्दर्शनश्रवणाऽऽदिभ्यो जातो रसोऽप्युपचारात् विस्मयरूपोऽद्भुतः ॥३॥ रोदयत्यतिदारुणतया अश्रूणि मोचयति इति रौद्रः, रिपुजनमहदारण्यान्धकाराऽऽदिदर्शनाऽऽद्युद्भवो विकृताध्यवसायरूपो रसोऽपि रौद्रः ॥ ४ ॥ व्रीडयति लज्जामुत्पादयति लज्जनीयवस्तुदर्शनाऽऽदिप्रभवो मनोऽवलीकताऽऽदिस्वरूपो व्रीडनकः, अस्य स्थाने भयजनकसंग्रामाऽऽदिवस्तुदर्शनाऽऽदिप्रभवो भयानको रसः पठ्यतेऽन्यत्र, स चेह रौद्ररसान्तर्भावविवक्षणात् पृथग् नोक्तः ॥५॥ शुक्रशोणितोच्चारप्रश्रवणाऽऽद्यान्युद्वेजनीयं वस्तु बीभत्समुच्यते, तद्दर्शनश्रवणाऽऽदिप्रभवो जुगुप्साप्रकर्षस्वरूपो रसोऽपि बीभत्सः ॥ ६ ॥ विकृतासमवरूपवचनवेषालङ्काराऽऽदिहास्यार्हपदार्थप्रभवो मनःप्रकर्षाऽऽदिचेष्टाऽऽत्मकोऽपि रसो हास्यः ॥ ७ ॥ कुत्सितं रौत्यनेनेति निरुक्तवशात् करुणः, करुणाऽऽस्पदत्वात् करुणः प्रियविप्रयोगाऽऽदिषु स्वहेतुसमुत्थः शोकप्रकर्षस्वरूपः करुणो रसः इत्यर्थः ॥ ८ ॥ प्रशाम्यति क्रोधाऽऽदिजनितौत्सुक्यरहितो भवत्यनेनेति प्रशान्तः, परमगुरुवचःश्रवणाऽऽदिहेतुसमुल्लसितः उपशमप्रकर्षोऽऽत्मा प्रशान्तो रसः इत्यलं विस्तरेण ॥ ९ ॥ अनु०। (एषां नवनाम्ना नवकाव्यरसानां लक्षणानि स्वस्वशब्दे द्रष्टव्यानि)

णवणिहि-नवनिधि-पुं०। अजागृहतीर्थे पार्श्वनाथप्रतिमायाम्, ती० २ कल्प।

णवणीइया-नवनीतिका-स्त्री०। पुष्पप्रधाने वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। "णवणीइया गुम्मा।" जं० २ वक्ष०।

णवणीय-नवनीत-न०। म्रक्षणे, औ०। नि० चू०। आव०। स्था०। ज्ञा०। (मक्खन) (नेनू) (मसका) इतिख्याते, भ० २०। रा०। प्रश्न०। जं०। नि० चू०। भ०। कल्प०। पञ्चा०। जी०। आ० म०। "नवनीतं यथा दध्न-श्चन्दनं मलयादिव। ब्रह्माग्रमेव पुराणेभ्य-स्तथा प्रादुर्भनीषिणः ॥ १ ॥" उत्त० २५ अ०। नवनीतं हि महाविकृतितया निर्विकृतिकैरभक्ष्यम्। स्था० ६ ठा०। नवनीतमपि गोमहिष्यजाऽविसम्बन्धेन चतुर्धा, तदपि सूक्ष्मजन्तुराशिशवनिस्वार्यायामेव। यत -"अन्तर्मुहूर्तात्परतः, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः। यत्र मूर्च्छन्ति तन्नाद्यं, नवनीतं विवेकिभिः ॥ १॥" इति। ध० २ अधि०।

णवत्तयकुसंत-नवत्वक्कुशान्त-पुं०। नवा त्वक् येषां ते नवत्वचः कुशान्ता दर्भपर्यन्ता, नवत्वचश्च ते कुशान्ताश्च नवत्वक्कुशान्ताः। प्रत्यक्त्वग्दर्भपर्यन्ते, रा०। जी०।

णवधम्म [णु]-नवधर्मन्-त्रि०। अभिनवश्रावके, बृ० १ उ०।

णवपज्जवण-नवपायन-न०। नवं प्रत्ययं 'पज्जणं ति' प्रतापितस्याऽयोघनकुट्टनेन तीक्ष्णीकृतस्य पायनं जलनिघोलनं यस्य तन्नवपायनम्, सद्योऽग्निना तीक्ष्णीकृते जलक्षेपेण शीतीकृते, "णवपज्जणएण अभिपयएण पभिसाहरिया।" भ० १५ श० ७ उ०।

णवपुव्वि(ण्)-नवपूर्विन्-पुं०। परिपूर्णनवपूर्वधरे, इहासतां नवपूर्विणं परिपूर्णनवपूर्वधरा, किं तु नवमस्य पूर्वस्य यत्तृतीयमाचाराभिधानामकं वस्तु, तावन्मात्रधारिणोऽपि नवपूर्विणः। व्य० १ उ०।

णवबंभचेरगुत्त-नवब्रह्मचर्यगुप्तिगुप्त-त्रि०। नवब्रह्मचर्याणि गुप्तिशब्दलोपात् वसतिकथाद्याः नवब्रह्मचर्यगुप्तयस्ताभिर्गुप्तः सरक्षितो नवब्रह्मचर्यगुप्तिगुप्तः। पा०। नवभिर्मैथुनव्रतस्य रक्षाप्रकारैः सुमवृत्ते, पा०। नि० चू०।

णवम-नवम-त्रि०। नवमसंख्यापूरके, उत्त० १ अ०। स्था०।

णवमल्लइ-नवमल्लकिन्-पुं०। क्षत्रियविशेषजातीये, वीरस्वामिमोक्षगमनतिथिगतौ नवमल्लकिभिः पोषधोपवास कृत, तत्र नवमल्लकिजातीयाः काशिदेशस्य राजानः। कल्प० ६ क्षण।

णवमालिया-नवमालिका-स्त्री०। (नेवारी) पुष्पप्रधाने वनस्पतिभेदे, कल्प० ३ क्षण। आचा०।

णवमिया-नवमिका-स्त्री०। सुपुरुषस्य किम्पुरुषेन्द्रस्य द्वितीयायामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ०। भ०। ती०। (अस्याः पूर्वभवः 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे गतः) शक्रस्य देवेन्द्रस्य षष्ठ्यामग्रमहिष्याम्, (अस्याः पूर्वभवकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७३ पृष्ठे उक्ता) मन्दरस्य पश्चिमे रुचकवरपर्वतस्य रुचकोत्तमकूटे परिवसन्त्यां दिक्कुमार्याम्, स्था० ८ ठा०। आव०। आ० चू०। जं०। आ०म०।

णवमी-नवमी-स्त्री०। अष्टमीदशम्यन्तराले तिथौ, द० प०। विशे०। ज्यो०।

णवमीपक्ख-नवमीपक्ष-पुं०। नवम्यास्तिथेः पक्षो ग्रहो यस्य तिथिमेलपाताऽऽदिषु तथादर्शनात् तिथिपाते यत्कृत्यस्याष्टमे च क्रियमाणत्वात् स नवमीपक्षः। अष्टमे दिवसे, "चित्तबहुलस्स णवमीपक्खेणं।" जं० ३ वक्ष०।

णवय-नवत-पुं०। ऊर्णविशेषमये 'जीन' इति लोकप्रसिद्धेऽर्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आचा०।

णवयारचिंतणाइय-नमस्कारचिन्तनाऽऽदिक-त्रि०। परमेष्ठिपञ्चकनमस्कृतिध्यानप्रभृतिके, पञ्चा० १ विव०।

णवरं-नवरम्-अव्य०। केवलमित्यर्थे, पञ्चा० १८ विव०। ग०। प्रश्न०। विपा०। स्था०। "णवर केवले" ॥ ८। २। १८७ ॥ इति केवलेऽर्थे णवरमिति प्रयोगः। "णवर पि आश्चिर्याणित्वम ति।" प्रा० २ पाद। दे० ना०।

णवरि-नवरि-अव्य०। आनन्तर्ये, "आनन्तर्ये णवरि" ॥ ८।२। १८८ ॥ आनन्तर्ये णवरीति प्रयोक्तव्यमिति। तथा प्रयोगः-"ज-

वरि श्र से रहुवइणा । " केचित्तु केवलानन्तर्यार्थयोर्णवरणवरी-त्येकमेव सूत्रं कुर्वते, तन्मते तु उभावप्युभयार्थौ । प्रा० २ पाद । दे० ना० ।

णवरिश्र–देशी–सहसार्थे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णवलग–नवलक–पुं० । वस्त्रमये पद्दोरकजालकमये वा (नवली वसनी खरिया जाली जावी इति ख्याते) मुद्राकोशे, कोऽपि कस्याऽपि पार्श्वे सुवर्णपणजूतं नवलक क्रिसवान् । नं० ।

णवलया–देशी–नियमविशेषे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णवल्ल–नव–त्रि० । " ल्लो नवैकाद्वा " ॥ ८ । २ । १६५ ॥ इति स्वार्थे ल्ल० । नूतने, प्रा० २ पाद ।

णवविगइ–नवविकृति–स्त्री० । नवसु क्षीराऽऽदिविकृतिषु, "णव-विगईश्रो पन्नत्ताश्रो । त जहा-खीर, दहि, णवणीयं, सप्पि, तिल्लु गुलो, महुं, मज्ज, मस । " स्था० ६ ठा० । (एतासां विस्तरः ' विगइ ' शब्दे वक्ष्यते)

णवसुत्त–नवसूत्र–त्रि० । नव सूत्र वल्कलाऽऽदि यस्मिन् स तथा । नवसूत्ररचिते, ' श्रासदिय च नवसुत्त, पाउल्लाइ सकमट्ठाए । " (१५) सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

णवसोयपरिस्सवा–नवश्रोतःपरिस्रवा–स्त्री० । नवभिः श्रोतोभिः छिद्रैः परिस्रवति मलं क्षरति इति नवश्रोत परिस्रवा । छिद्र-नवकेन मल क्षरन्त्याम, स्था० ।

णवसोयपरिस्सवा बोंदी पन्नत्ता । तं जहा–दो सोया, दो णित्ता, दो घाणा, मुहं, पोसए, वाऊ ।

(णवेत्यादि) नवभि श्रोतोभि छिद्रैः परिस्रवति मलं क्षरतीति नवश्रोतःपरिस्रवा बोन्दी शरीरमौदारिकमेवैवविध, द्वे श्रोत्रे कर्णौ, नेत्रे नयने, घ्राणे नासिके, मुखमास्यम्, (पोसए त्ति) उपस्थम, पायुरपानमिति । स्था० ६ ठा० ।

णवा–नवा–स्त्री० । प्रत्यग्रयौवनायाम, अतिनवोढाया वा स्त्रियाम । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । व्रतपर्यायेण यावत्त्रिवर्षाया श्रमण्याम, व्य० ४ उ० ।

णवि–अव्य० । वैपरीत्ये, " णवि वैपरीत्ये " ॥ ८ । २ । १७८ ॥ णवीति वैपरीत्ये प्रयोक्तव्यमिति । " णवि हावणे । " प्रा० २ पाद । दे० ना० ।

णविश्र–नत–न० । " के " ॥ ८ । ३ । १५६ ॥ इत्यत इत्वम् । नमने, प्रा० ३ पाद ।

णविय–नव्य–त्रि० । अभिनवे, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० ।

णवोद्धरण–देशी उच्छिष्टे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णवोद्धुर–देशी–उच्छिष्टे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णव्व–नव्य–त्रि० । तत्कालमुत्पन्ने, ध० २ अधि० ।

णव्वाउत्त–देशी–ईश्वरे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णसंतिपरलोगवाइ[ण्]–नशान्तिपरलोकवादिन्–पुं० । न विद्यते शान्तिश्च मोक्षः परलोकश्च जन्मान्तरमित्येव यो वदति स तथा । अक्रियावादिभेदे, (स्था०) तथाहि–नास्त्यात्मा, प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणाविषयत्वात्, खरविषाणवत्, तदभावाच्च पुण्यपापलक्षणं कर्म तदभावाच्च परलोको, नाऽपि मोक्ष इति । यच्चैतच्चैतन्य तद् भूतधर्म इति । अस्याऽक्रियावादिता स्फुटैव । न चैतत्स्व मतं संगच्छते, प्रत्यक्षाऽऽद्यप्रवृत्त्या आत्माऽऽदीनां निराकर्तुमशक्यत्वात्, सत्यपि वस्तुप्रमाणप्रवृत्तिदर्शनादागमविशेषसिद्धत्वाच्च, भूतधर्मताऽपि न चैतन्यस्य, विवक्षितभूताभावेऽपि जाति-स्मरणाऽऽदिदर्शनादिति । स्था० ८ ठा० ।

णसण–न्यसन–न० । व्यवस्थापने, विशे० । न्यासे, आरोपणे, जी० १ प्रति० ।

णस्समाण–नश्यत्–त्रि० । " नशेर्णिरिणासणिवहावसेदप-सिसासेहावहराः " ॥ ८ । ४ । १७८ ॥ इति नशेर्णिर्यादादेशाभावे । प्रा० ४ पाद । " शकाऽऽदीनां द्वित्वम " ॥ ४ । ४ । २३० ॥ इति सद्वित्वम । सन्मार्गाद् व्यवमाने, उपा० ७ अ० ।

णह–नख–पुं० । सुरामभ्रभागे, भ० १२ श० ७ उ० । करजे, तं० । प्रश्न० । स० । प्रव० । पाणिपादजे, प्रव० ४० द्वार । गन्धद्रव्यभेदे च । स० प्र० ।

नभस्–न० । "स्नमदामशिरोनभः" ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इतिनभः पर्युदासान्नपुंसकत्वम । प्रा० १ पाद । आकाशे, दश० ७ अ० । कल्प० ।

णहच्छेज्ज–नखच्छेद्य–न० । नखच्छेदनविधिविशेषे कलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

णहच्छेदणय–नखच्छेदनक–न० । नखकर्तन्याम, आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ० ।

णहमुह–देशी–घूके, दे० ना० ४ वर्ग ।

णहयल–नभस्तल–न० । व्योम्नि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० । " ओविरएमि नहयले । " प्रा० २ पाद ।

णहरी–देशी–छुरिकायाम, दे० ना० ४ वर्ग ।

णहरणी–नखरदनी–स्त्री० । वेपवादिमय्यां नखशोधन्याम, पं० व० ३ द्वार ।

णहवाहण–नभोवाहन–पुं० । स्वनामख्याते भरुकच्छराजे पद्मावतीपतौ, यद्भार्यया पद्मावत्या. काव्यश्रवणेन पूर्वं मानिन. पश्चात्तिरस्कृतोऽपरिवारो वज्रभूतिराचार्यः । व्य० ३ उ० । आव० । विशे० ।

णहसिर–नखशिरस्–न० । नखाग्रे, भ० ५ श० ४ उ० ।

णहसिहा- नखशिखा–स्त्री० । नखाग्रभागे, कल्प० ८ क्षण । नि० चू० ।

णहसेण–नभःसेन–पुं० । उग्रसेनतनये कमलाया पत्यौ, विशे० ।

णहहरणी–नखहरणी–स्त्री० । नखकर्तन्याम, यया नखा उद्ध्रियन्ते । बृ० ३ उ० ।

णहि [ण्]–नखिन्–त्रि० । नखप्रधाने, अनु० ।

णहु–नहु–अव्य० । नैवेत्यर्थे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । आव० । व्य० ।

णाश्र–ज्ञात–त्रि० । " ज्ञो जाणमुणौ " ॥ ८ । ४ । ७ ॥ इति ज्ञाधातोर्जाणमुणाऽऽदेशाभावे ' णाश्र ' । अववुद्धे, प्रा० ४ पाद ।

णाश्रा–देशी–गर्विष्ठे, दे० ना० ४ वर्ग ।

णाइ–ज्ञाति–स्त्री० । पूर्वापरसंबद्धे स्वजने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । भ० । समानजातौ, नि० १ श्रु० १ वर्ग ५ अ० । कल्प० । औ० । विपा० । अष्ट० । सूत्र० । मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । उत्त० । ज्ञा० । ज्ञाने, सर्विदि, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

णाइं–अव्य० । नञर्थे, " मणाइं नञर्थे " ॥ ८ । २ । १९० ॥ इति नञर्थे ' णाइ ति ' प्रयोगः । " णाइं करेमि रोसं । " प्रा० २ पाद ।

णाइमट्टिअ–नातिमृत्तिक–त्रि० । नातिकर्दमे, भ० १५ श० ।

णाइय–नादित–त्रि० । ध्वनिमात्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विपा० । भ० । प्रतिशब्दे, कल्प० ५ क्षण । रा० । जं० । लपिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० ।

णाइल–नागिल–पुं० । आर्यवज्रसेनस्यान्तेवासिनि, यत आर्यनागिला शाखा निर्गता । कल्प० ८ क्षण । आ० चू० । नागिलकुलवशवर्तिना साधूनामाचारादारभ्य यावदनुत्तरोपपातिकदशास्तावदस्ति आचाम्लम् । व्य० १ उ० । दुष्पसहानगारसमये भविष्यति श्रावके, यदनुशिष्टो दुष्पसहोऽनगारः प्रव्रजिष्यति । ति० । महा० । " सढी य नाइलो नाम गाहवती सावगाण पच्छिमओ । " (३४) ति० । ती० । "पविरलगामे जणवए, पविरलमणुएसु नाम दोसेसु । नामेण नाइलो मा-म गणहरो होहिइ महप्पा ॥२०॥ " ति० । इति भाविष्यत्यनगारे सुमतिभ्रातरि, महा० ।

अत्थि इहेव भारहे वासे मगहा णाम जणवओ । तत्थ कुसत्थलं नाम पुर । तम्मि य उवलद्धपुन्नपावे सुमुणियजीवाऽऽदिपयत्थे सुमइ–णाइल–णामधिज्जे दुवे सहोयरे महिड्ढिए सड्ढगे अहेसि । अहन्नया अंतरायकम्मोदएणं वियलियं विहवं तेसिं, ण उण सत्त परक्कमं ति । एवं अचलियसत्तपरक्कमाणं तेसिं अच्चंतपरलोगभीरूणं विरयकूडकवडालीयाणं पभिवन्नजहोवइट्ठदाणाइचउक्खंधउवासगधम्माणं अपिसुणामच्छरीणं अमायावीणं किं बहुणा ? गोयमा ! ते उवासगे णं आवसहगुणरयणाण पजवा खंतीनिवासे सुयणमेत्तीणं, एवं तेसिं बहुवासरवन्नणिज्जगुणरयणाणं पि जाहे असुहकम्मोदएणं न बहुप्पए संपया ताहे ण पहुप्पंति अट्ठाहियामहिमादओ इट्ठदेवयाणं जहिच्छिए पूयासक्कारे साहम्मियसम्माणे बंधुजणसंववहारे य । अहन्नया अचलतेसु अतिहिसक्कारेसु अपूरिज्जमाणेसु पणइजणमणोरहेसु विहमंतेसु य सुहिसयणमित्तबंधवकलत्तपुत्तणत्तुयगणेसुं विसायमुवगएहिं गोयमा ! चिंतियं तेहिं सड्ढगेहिं । तं जहा–

"जा विहवो ता पुरिस–स्स होइ आणापडिच्छओ लोओ ।
गलिओदयं घणं वि–ज्जुला न दूरं परिच्चयइ " ॥१॥

एवं च चिंतिऊण परोप्परं भणिउमारद्धे ।

तत्थ पढमो–

"पुरिसेण माणधणव–ज्जिएण परिहीणभागधेज्जेणं ।
ते देसा गंतव्वा, जत्थ ण वासादि दीसंति" ॥१॥

तह बीओ–

"जस्स धणं तस्स जणो, जस्सऽत्थो तस्स बंधवा बहवे ।
धणरहिओ उ मणूसो, होइ समो दासपेसेहिं" ॥२॥

अह एवं परोप्परं संजोज्जेऊण गोयमा ! कयं देसपरिच्चायनिच्छयं तेहिं ति ।

जहा–

"वच्चामो देसंतरं, ति तत्थ णं कयाइ पुज्जंति ।
चिरचिंतिए मणोरहे, हवइ पव्वज्जाए सह संजोगो" ॥३॥

जइ दिव्वो बहु मन्नेज्जा जाव णं उज्झिऊणं कुसत्थलं, पडिवन्नं विदेसगमणं । अहन्नया अणुप्पेहेणं गच्छमाणेहिं दिट्ठं पंच साधुणो [छट्ठं समणो] वासगं ति । तओ भणिअं णाइलेण । जहा–भो भो सुमती भद्दमुह ! पेच्छ केरिसो साहुसत्थो ?, ता एएणं चेव साहुसत्थेणं गच्छामो, जइ पुणो वि तए गंतव्वं । तेण भणियं–एवं होउ त्ति । तओ सन्निमालिया तत्थ सत्थे जाव णं पयाणगमावहति, ताव णं भणिओ सुमती णाइलेणं । जहा–णं भद्दमुह ! मए हरिवंसतिलयमरगयछविणो सुगहियनामधेज्जवाविंसनमतित्थगरस्स णं अरिट्ठनेमिनाहस्स पायमूले सुहनिसन्नेणं एवमवधारियं आसी । जहा–जे एवंविहे अणगाररूवे भवंति, ते य कुसीले, ते दिट्ठीए वि निरिक्खिउं न कप्पति, ता एते साहुणो तारिसे, ण कप्पइ एतेसिं समं अम्हाण गमणं, संसग्गं वा । ता वयंतु एते. अम्हे अप्पसत्थेणं चेव वइस्सामो, न कीरइ तित्थयरवयणस्सातिक्कमो, जओ णं ससुरासुरस्सावि जगस्स अलंघणिज्जा तित्थयरवाणी, अन्नं च जाव एतेहिं संघं गच्छइ, ताव णं चिट्ठउ, ताव दरिसणआलावादीणि य मा भवंतु, ता किं तुम्हेहिं तित्थयरवाणि उल्लंघियत्ता णं गंतव्व । एव समणुभाणिऊण तं सुमतिं हत्थे गहाय निव्वमिओ नाइलो साहुसत्थाओ, निव्विट्ठो य चक्खुविसोहिए फासुगभूपएसे । तओ भणिय सुमइणा ।

जहा–

"गुरुणो मायापित्त–स्स जेट्ठभाया तहेव भइणीणं ।
जत्थुत्तरं न दिज्जइ, हा देव ! भणामि किं तत्थ ? ॥१॥
आएसमवी माणं, पमाणपुव्वं तह त्ति नायव्वं ।
मंगलममंगलं वा, तत्थ वियारो न कायव्वो ॥२॥
णवरं एत्थ य णं मे, दायव्वं अज्जमुत्तरमिमस्स ।
खरफरुसकक्कसानि–ट्ठदुट्ठनिट्ठुरसरेहिं तु ॥३॥

अहवा कह उच्छलउ, जीहा मे जिडजाउणो पुरओ ।
जस्सुच्छंगे वि णियं, मए सदेहं असुइविलित्तं ? ॥ ४ ॥
अहवा कीस ण लज्जइ, एस सयं चेव एव पजणंतो ।
जं तु कुसीले एते, दिट्ठीए वी ण दट्ठव्वे" ॥५॥ साहुणो त्ति । जाव न वयइ ताव ण इंगियागारकुसलेणं मुणियं नाइलेण-जहा णं अलीयकसाओ एस मणगं सुमती, ता किमहं पडिभणामि त्ति चिंतिउं समाढत्तो ।

जहा-

"कज्जेण विणा अकम्हे, एस पकुविओ हु ताव संचिट्ठे ।
संपइ अणुणिज्जंतो, ण जाणिमो किं च बहु मन्ने ? ॥१॥
ता किं अणुणेमि इमं, उयाहु चोलउ खणन्ह ताऽसं वा ।
जेणुवसमियकसाओ, पडिवज्जइ तं तहा सव्वं ॥२॥
अहवा पत्थावमिणं, एयस्स वि संसयं अवहरेमि ।
एस ण जाणइ भद्दं, जाव विसेसं ण परिकहियं" ॥३॥

इति चिंतिऊण भणिउमाढत्तो-

"णो देमि तुज्झ दोसं, ण यावि कालस्स देमि दोसमहं ।
जं पियबुद्धीएँ सहो-यरा वि भणिया पकुव्वंति ॥१॥
जीवाणं वि ण एत्थं, दोसं कम्मट्ठजालकासिणाणं ।
जं चउगइनिप्फाडिणं, हिओवएसं न बुज्झंति ॥२॥
घणरागदोसकुग्गा-हमोहमिच्छत्तखवलियमणा णं ।
भावियविसकालउमं, हिओवएसाइ मन्नंति" ॥३॥

एवमाइ सुणिऊण तओ भणिअं सुमइणा-जहा तुमं चेव सत्यवादी भणसु एयाए, णवरं ण जुत्तमेयं ज साहूणं अवण्णवायं भासिज्जइ, अन्नं तु किं न पेच्छसि तुमं एएसिं महाणुभागाणं चेट्ठिय- छट्ठऽट्ठमदसमदुवालसमासखमणाईहिं आहारग्गहणं, गिम्हे ता वणट्ठाणं वीरासणउक्कुडुयासणनाणाभिग्गहधारणेणं च कट्ठतवोऽणुचरणेणं च सुक्कं मंससोणियं ति, महाउवासगोऽसि तुमं, कहं महाभासासमिती विहिया तए, जेण एरिसगुणजुत्ताणं पि महाणुभागाणं साहूणं कुसील त्ति नाम संकप्पियं ति । तओ भणियं नाइलेणं जहा-मा वच्छ ! तुमं एतेणं परितोसमुवयासु जहा अहयं अतिचारेणं परिमुसिओ, अकामनिज्जराए वि किंचि कम्मक्खयं भवइ, किं पुण जं बालतवेणं, ता एते बालतवस्सिणो दट्ठव्वे, जओ ण किंचि उस्सुत्तं मग्गं आयारियं एएसिं पओसे, अन्नं च वच्छ ! सुमइ ! णत्थि ममं इमाणोवरि को वि सुहुमो वि मणसा वि पओसो, जेणाहमेएसिं दोसग्गहणं करेमि, किं तु मए भगवओ तित्थयरस्स सगासे एरिसमवधारिय जहा-कुसीले अदट्ठव्वे । ताहे भणिअं सुमइणा जहा-जारिसो तुमं निबुद्धीओ, तारिसो सो वि तित्थयरो, जेणं तुज्झमेयं वायरियं ति । तओ एवं भणमाणस्स सहत्थेणं झंपिअं मुहकुहरं सुमइस्स नाइलेणं, भणिओ य जहा-भद्दमुह ! मा जगेक्कगुरुणो तित्थयरस्सासायण कुणसु, मए पुण भणसु जहिच्छियं, नाहं ते किं वि पडिभणामि । तओ भणियं सुमइणा जहा-जइ एते वि साहुणो कुसीला, ता एत्थ जगे ण कोइ सुसीलो अत्थि । तओ भणिअ णाइलेण जहा-भद्दमुह सुमइ ! इत्थ जयाऽलंघणिज्जवक्कस्स भगवओ वयणमायरेयव्वं जं वच्छ ! कयाइ ण विमंवएज्जा णो णं बालतवस्सीणं चेट्ठियं, जओ ण जिणिंदवयणेणं नियमओ ताव कुसीले इमे दीसंति, पव्वज्जाए पुण गंधं पि ण दीसइ एएसिं, जेणं पिच्छ पिच्छ तावेयस्स साहुणो विपज्जयमुहणतगं दीसइ, ता एस ताव अहिगपरिग्गहदोसेणं कुसीलो, ण एयं साहूणं भगवया इट्ठं जमहियपरिग्गहाविधारणं कीरे, ता वच्छ ! हीणसत्ताणं एस वेसो मणसाऽज्झवसिअं जहा जइ ममेयं मुहणंतगं विप्पणस्सिसहिइ, ता कीयं कत्थ पावेज्जा ?, नो एवं चिंतेइ मूढो जहा अहिगाणुवओगोवहिधारणेणं मज्झं परिग्गहव्वयस्स भंगं होही । अहवा किं संजमेऽभिरओ एस मुहणतगाइसंजमोवओगधम्मोवगरणेणं विसीएज्जा नियमओ ण विहीए णवरमत्ताणपहीणसत्तोऽहमिइ पायमे उम्मग्गायरणं च पयसेइ, पवयणं च मइलेइ त्ति एसो उण पेच्छसि सामन्नतो एएण कल्लं तीए वि णीयं सेणाए इत्थीए अंगजट्ठिं निज्झाइऊण जभालोइयं पडिक्कंतं तं किं तए ण विन्नायं, एस उण पेच्छसि परूढविप्फोमगविम्हिया णाणा एते य संपयं चेव लोयच्छाए सहत्थेण अदिन्नं छारगहणं कयं, तए च दिट्ठमेय ति एसो उ ण पेच्छसि, परूढविप्पोमग पेच्छसि, संघाभियकल्लो पएणं अणुग्गए सूरिए उट्ठेह, वच्चामो उग्गयं सूरियं ति तहा विहसियमिणं एसो उण पेच्छमि एसिं जिट्ठसेहो एसो अज्ज रयणीए अणुवउत्तो पसुत्तो विज्जुकाए फुसिओ ण एतेण कप्पगहणं कयं, तहा पभाए हरियतणं वासाकप्प वलेण संघट्टियं, तहा वाहिरोदगस्स णं परिभोगं कयं, वीयकायस्सोयरेणं फरिसं कओ अविहीए, एस खारथमिल्लाओ महुरं थंमिल्लं संकमिओ, तहा पहपभिवन्नेणं साहुणा कम्पसुयाइ कम्मे इरियं पडिक्कमियव्वं, तहा चरेयव्वं, तहा चिट्ठेयव्वं, तहा आसेयव्वं, तहा सएयव्वं, जहा छक्कायमइगयाणं जीवाणं सुहुमबायरपज्जत्तापज्जत्तगमागमसव्वजीवपाणभूयसत्ताणं संघट्टणपरियावणाकिलामणोद्दवणं वा ण भवेज्जा । ता एतेसिं पव्वइयाण एयस्स एकमवि ण एत्थ दीसइ, ज पुण मुहणंतग पमिज्जेहमाणो अज्ज मए एस चोइओ-जहा एरिसं पडिलेहणं करेइ, जेण वाउकायस्स फट्ट:

फमस्स संघट्टेज्जा, सरियं च पमिलेहणाए संतियं कारणं ति जस्सेरिस, जइ णं एरिसं सोवओग बहुं काहिसि संजमं णं संदेहं जस्सेरिससमाउत्तत्तणं तुज्झं ति, एत्थ च तणाहिं वि णिवारिओ जहा णं मूगोवाईणं अम्हाण साहूहिं समं किंचि भणियव्व कप्पे ता किमेयं ते विसुमरिय, ता भद्दमुह ! एएणं सम संजमट्ठाणं नराण एगमवि णो परिक्खियं, ता किमेस साहू भवेज्जा जस्सेरिमं पमत्तत्तणं, णो एस साहू जस्सेरिसं णिद्धम्मसंपलत्तणं, भद्दमुह ! पेच्छ पेच्छ सूणो इव णित्ति सो छक्कायणिमद्दणा कह अभिरमे एसो। अहवा वरं सूणो, जस्स णं सुहममवि नियवयभंगं णो भवेज्जा, एसो उ णियमभंगं करेमाणो केणं उवमेज्जा, ता वच्छ ! सुमइ ! भद्दमुह ! ण एरिसकत्तव्वायरणाओ भवंति साहू, एतेहिं च कत्तव्वेहिं तित्थयरवयण सरेमाणो को एतेसिं वंदणगमवि करेज्जा, अन्नं च एएसिं संसग्गेणं कयाइ अम्हाणं पि चरणकरणेसु सिढिलत्तं भवेज्जा, जेण पुणो पुणो आहिंमिमो घोरभवपरंपरं। तओ भणिय सुमइणा, जहा ण एए कुसीला, जइ एए कुसीले तहा वि मए एएहिं समं पव्वज्जा कायव्वा, जं पुण तुमं कहेसि तमेव धम्मं, णवरं को अज्ज त अस्तुकर ममायरिउ सक्को ? ता मए एतेहिं समं गंतव्व जाव णो दूर वयाति से साहुणो त्ति। तओ भणियं णाइलेण–भद्दमुह सुमइ ! णो कल्लाणं एतेहिं समं गच्छमाणस्स तुज्झ ति, अहयं च तुज्झं हियवयण भणामि एव, तए जं चेव बहुगुण तमेवाणुमेवय, णाहं तए दुक्खेण धरेमि। अह अन्नया अणेगोवाएहिं पि णिवारिज्जंतो ण उ ठिओ सो मंदभग्गो सुमती, गोयमा ! पव्वइओ य। अह अन्नया वच्चंतेण म सपंचगेणं आगओ महारोरवो दुवालससंवच्छरिओ दुब्भिक्खो, तओ ते साहुणो तक्कालदोसेण अणालोइयपडिक्कंता मरिऊण उववन्ने भूयजक्खरक्खसपिसायादीणं वाणमतरदेवाण वाहणत्ताए, तओ चविऊणं मच्छजातीए कुणिमाहारकूरज्झवसायदोसओ सत्तमाए, तओ उव्वट्टिऊणं तइयाए चउवीसिगाए संमत्त पाविहिंति। तओ य समत्तलंभभवाओ तइए भवे चउरो सिज्झिहिंति, एगो ण सिज्झिहिइ जो, सो पंचमगो सव्वजेट्ठो, जओ णं से एगंतमिच्छद्दिट्ठी अभव्वो य । महा० ४ अ० । ग० ।

णाइवं–ज्ञातिवत्–त्रि० । ज्ञातिर्विद्यते यस्य स ज्ञातिवान् । स्वजनवति, " मित्तव णाइव होइ । " उत्त० ४ अ० ।

णाइविगट्ट–नातिविकृष्ट–त्रि०। अनत्यन्तदीर्घे, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

णाइमग–ज्ञातिमद्ग–पु० । मातापितृकलत्राऽऽदिसङ्गे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

णाइसीय–नातिशीत–त्रि० । न विद्यतेऽतिशयेन शीत यत्र स नातिशीतः । अतिशीताऽऽबाधारहिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

णाउल्ल–देशी–गोमति, दे० ना० ४ वर्ग ।

णाउं–ज्ञात्वा–अव्य० । विज्ञायेत्यर्थे, पञ्चा० ६ विव०। विनिश्चित्येत्यर्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णाऊण–ज्ञात्वा–अव्य० । विज्ञायेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

णाग–नाक–पु० । न० । स्वर्गे, ध० २ अधि० ।

नाग–पु० । भवनपतिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । प्रव० । जी० । औ० । अनु० । नागकुमारे, न० । भ० । ज्ञा० । स० । हस्तिनि, भ० १२ श० ७ उ० । नागवंशप्रसूते, औ० । ज्ञा० । उत्त० । आ० क० । प्रज्ञा० । सर्पे, औ० । भद्दिलपुरे नगरे सुलसया आभिकोत्तमाया पत्यौ, आ० म० १ अ० २ खण्ड । स्था० । अन्त० । कल्प० । आव० । आर्यरक्षस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, कल्प० ७ क्षण । द्रुमविशेषे, रा० । कल्प०। आचा० । ध्रुवकरणाना चतुष्पदाऽऽदीनामन्यतमे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ज० । विशे० । कल्प० । स्वनामख्याते द्वीपभेदे, समुद्रभेदे च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । नागकेशरे, नागदन्तके, मुस्तके, देहस्थे उद्गारकारके पवनभेदे, पर्वतभेदे, रङ्गे, सीसके च । वाच० ।

णागकुमार–नागकुमार–पु० । नागाश्च ते कुमाराश्च नागकुमाराः । प्रज्ञा० १ पद । द्वितीयभवनपतिषु, स्था० ३ ठा० ४ उ०। प्रज्ञा० । स्था० । स० । (नागकुमारवक्तव्यताऽन्यत्र)

णागकेउ–नागकेतु–पु० । चन्द्रकान्तानगरीराजविजयसेननृपसखश्रीकान्तव्यवहारिभार्यायाः श्रीसख्याः सुते, येन हि स्तनन्धयेनापि पर्युषणायामष्टमं तपश्चक्रे, (कल्प०) चन्द्रकान्ता नगरी, तत्र विजयसेनो नाम राजा, श्रीकान्ताख्यश्च व्यवहारी, तस्य श्रीसखी भार्या, तया च बहुप्रार्थित एकः सुतः प्रसूतः । स च बालक आसन्ने पर्युषणापर्वणि कुटुम्बकृताष्टमवार्तामाकर्ण्य जातजातिस्मृतिः स्तन्यपोऽप्यष्टमं कृतवान् । ततस्तं स्तन्यपानमकुर्वाणं पर्युषितमालतीकुसुममिव म्लानमालोक्य मातापितरावनेकान् उपायांश्चक्रतुः । क्रमाच्च मूर्छां प्राप्तं तं बालं मृतं ज्ञात्वा स्वजना भूमौ निक्षिपन्ति स्म । ततश्च विजयसेनो राजा तं पुत्रं तद्दुःखेन तत्पितरं च मृतं विज्ञाय तद्धनग्रहणाय सुभटान् प्रेषयामास। इतश्च अष्टमप्रभावात् प्रकम्पितासनो धरणेन्द्रः सकलं तत्स्वरूपं विज्ञाय भूमिष्ठं तं बालकममृतच्छटया आश्वास्य विप्ररूपं कृत्वा धनं गृह्णतस्तान् निवारयामास। तत् श्रुत्वा राजाऽपि त्वरितं तत्रागत्योवाच–भो भूदेव ! परम्पराऽऽगतमिदमस्माकमपुत्रधनग्रहणं कथं निवारयसि ?। धरणोऽब्रवीत्–राजन् ! जीवत्यस्य पुत्रः । कथं कुत्रास्तीति राजाऽऽदिभिरुक्तः भूमेस्तं जीवन्तं बालकं साक्षात्कृत्य निधानमिव दर्शयामास । ततः सर्वैरपि सविस्मयैः स्वामिन् ! कस्त्वं कोऽयमिति पृष्टे सोऽवदत्–अहं धरणेन्द्रो नागराजः कृताष्टमतपसोऽस्य महात्मनः साहाय्यार्थमागतोऽस्मि । राजाऽऽदिभिरुक्तम्–स्वामिन् ! जातमात्रेणानेन अष्टमतपः कथं कृतम् ?। धरणेन्द्र उवाच–राजन् ! अयं हि पूर्वभवे कश्चिद्वणिक्पुत्रो बाल्येऽपि मृतमातृक आसीत्, स च अपरमात्राऽत्यन्तं पीड्यमानो मित्राय स्वदुःखं कथयामास। सोऽपि त्वया पूर्वजन्मनि तपो न कृतं तेनैव पराभवं लभसे इत्युपदिष्टवान् । ततोऽसौ

यथाशक्ति तपोनिरत आगामिन्यां पर्युषणायामवश्यमष्टमं करिष्यामीति मनसि निश्चित्य तृणकुटीरे सुष्वाप । तदा च लब्धावसरया विमात्रा आसन्नप्रदीपनकाद्वह्निकणस्तत्र निक्षिप्त, तेन च कुटीरके ज्वलिते सोऽपि मृत , अष्टमध्यानाच्च अथ श्रीकान्तमहेभ्यनन्दनो जात । ततोऽनेन पूर्वभवचिन्तितमष्टम-तप साम्प्रतं कृतं, तदसौ महापुरुषो लघुकर्माऽस्मिन् भवे मुक्तिगामी यत्नात् पालनीय , भवतामपि महते उपकाराय भविष्यतीति उक्त्वा नागराज स्वहार तत्कण्ठे निक्षिप्य स्वस्थानं जगाम । तत स्वजनै श्रीकान्तस्य मृतकार्यं विधाय तस्य नागकेतुरिति नाम कृत, क्रमाच्च स बाल्येऽपि जितेन्द्रियः परमश्रावको बभूव । एकदा च विजयसेनराजेन कश्चिद् अचौरोऽपि चौरकलङ्केन हतो व्यन्तरो जात समस्तनगरवि-घाताय शिला रचितवान्, राजानं च पादप्रहारेण रुधिरं वमन्त सिंहाऽऽसनाद् भूमौ पातयामास । तदा स नागकेतु कथ-मिमं सङ्घप्रासादविध्वंसं जीवन् पश्यामीति बुद्ध्या प्रासादशि-खरमारुह्य शिलां पाणिना दध्रे । तत स व्यन्तरोऽपि तत्तप -शक्तिमसहमान शिला संहृत्य नागकेतु नतवान् । तद्वचनेन भूपालमपि निरुपद्रव कृतवान् । अन्यदा च नागकेतुर्जिनेन्द्रपू-जां कुर्वन् पुष्पमध्यस्थितसर्पेण दष्टोऽपि तथैवाऽध्यवसायेन भाव-नाऽऽरूढ केवलज्ञानमासादितवान्, तत शासनदेवताऽर्पितमु-निवेषश्चिरं विहरति स्म । कल्प० ६ क्षण ।

णागकेसर–नागकेशर–पुं० । स्वनामख्याते पुष्पप्रधाने वनस्पतौ, वाच० । आव० ।

णागगह-नागग्रह-पुं० । नागावेशोत्थे ज्वराऽऽदौ, जी०३ प्रति०।

णागघर–नागगृह–न० । उरगप्रतिमायुक्ते चैत्ये, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णागजण्ण नागयज्ञ-पुं०। नागपूजायाम्,नागोत्सवे;ज्ञा०१श्रु०८अ०।

णागजसा-नागयशस्-स्त्री० । पञ्चकपुत्र्या ब्रह्मदत्तचक्रिभार्या-याम्, उत्त० १३ अ० ।

णागज्जुण–नागार्जुन-पुं० । हिमवदाचार्याणां शिष्ये, (न०)

मिउमद्दवसंपण्णे, अणुपुव्विं वायगत्तणं पत्ते ।
ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए वंदे ॥ ४० ॥

(मिउ इत्यादि) मृदुमार्दवसंपन्नान् मृदु कोमल मनोज्ञं सकल-भव्यजनमन सन्तोषहेतुत्वाद् यन्मार्दवं चोपलक्षण, तेन क्षान्ति-मार्दवाऽऽर्जवसन्तोषसंपन्नानिति द्रष्टव्यम् । तथा आनुपूर्व्या वयः पर्यायपरिपाट्या वाचकत्व प्राप्तान्; इह च विशेषणमेतद्युगी-नसूरीणां सामाचारीप्रदर्शनपरमवसेयम् । (न०) तथा ओ-घश्रुतसमाचारकान् ओघश्रुतमुत्सर्गश्रुतमुच्यते, तत्समाच-रन्ति ये ते ओघश्रुतसमाचारका, तान् नागार्जुनवाचकान् वन्दे ॥ ४० ॥ न० ।

आचाराङ्गाऽऽदिषु नागार्जुनीयाना पाठभेदोऽस्ति, स च ना-गार्जुनोऽयमेवेति प्रतीयते । अन्योऽपि पादलिप्तसूरीणां शि-ष्य श्रावको महाप्रभावक सिद्धनागार्जुननामा आसीत् । त-त्कथा चैवम्-

" पुरमत्थि पायलिपुरं, गंधियहट्ट सुरहिगंधड्ढं ।
तत्थ मुरंडो निवई, ईसरसयसहस्सनमियकमो ॥ १ ॥
कयमयणदमो बहुसु-द्धआगमो समगु त्ति वरसूरी ।
दूरीकयपावभरो, विहरंतो तत्थ संपत्तो ॥ २ ॥
गुणवुड्ढिभावकलिओ, सक्किरियालंकिओ कहरसड्ढो ।
लक्खणगंपु व्व सम-त्थि तस्स एगो पवरसीसो ॥ ३ ॥
सो बालो वि अबाल-प्पइन्नागुणरयणरोहणसमाणो ।
माणिय चउत्थरसिय, कया वि इय कहइ गुरुपुरओ ॥ ४ ॥
अब तंबच्छीए, अपुप्फिय-पुप्फदंतपंतीए ।
नवसालिकंजियं नव-वहूइ कुडएण मे दिन्नं ॥ ५ ॥
तो गुरुणा संलत्तो, वच्छ ! पलित्तो सि पढसि ज एवं ।
सो भणइ मह विहिज्जउ, आयारेण पसाउ त्ति ॥ ६ ॥
तह विहिए गुरुणा तो, जणेण पालित्तओ त्ति सो वुत्तो ।
बहुसिद्धिजुओ बाई, ठविओ सूरीहिँ नियपए ॥ ७ ॥
काया वि वसहियाहिं, वक्खित्तो सो कहिं पि कज्जम्मि ।
जा चिट्ठइ ता तहियं, संपत्ता वाइणो के वि ॥ ८ ॥
पुच्छंति सूरिनिलए, कहइ इमो वक्कवयणहेण ।
कालविलंबकए सहु, वसहीइ सय पुणो पत्तो ॥ ९ ॥
हाउ कवाडे कयमे-ण सुयइ जा मुणिवरो तहिँ ताव ।
पत्ता वाई पुच्छं-ति कत्थ पालित्तओ सूरी ॥ १० ॥
अह पभणंति विणेया, सुह सुहेण सुयति किर गुरुणो ।
उवहासकए विहिओ, कुक्कुडसद्दो तओ तेहिं ॥ ११ ॥
गुरुणा वि विरालीए, सद्दो विहिओ कहंति तो एए ।
लीलाइ तए जिणिया, अम्हे सव्वे वि मुणिनाह ! ॥ १२ ॥
दिज्जउ दंसणमिहिं, तो सहु उट्ठेइ सो तए सहुयं ।
दट्ठु लज्जिणणत्थ, पवाइणो इय पयपंति ॥ १३ ॥
पालित्तय ! कहसु फुड, सयल महिमंडल भमंतेण ।
दिट्ठो कह वि सुओ वा, चंदणरससीयलो अग्गी ॥ १४ ॥
"श्रीकाल सूरिराजो नमिविनमिकुलोत्तसरलायमान-स्तच्छिष्यो वृद्धवादी द्विजकुलतिलक सिद्धसेनो बभूव । बिभ्राण कूटनिद्रां कपट इति जने विश्रुतो विश्वरूप , सजात संगमोऽथ तदनु च गणभृद् पादलिप्तस्ततोऽहम ॥१५॥"
इय जिणपवयणनहयल-ससिणो वरवाइणो महाकविणो ।
कहियनियपुव्वपुरिसे, भणिय पालित्तपहुणेय ॥ १६ ॥
अयसाभिघायदड्ढ-स्मियस्स पुरिसस्स सुद्धहियथस्स ।
होइ वहंतस्स पुणो, चंदणरससीयलो अग्गी ॥ १७ ॥
इय निज्जिणिया वाए, अपच्चवाए वि वाइणो गुरुणो ।
णवरसनरंगलोला, तरंगलोलाकहा य कया ॥ १८ ॥
समिया य सिरोवियणा, मुरुंडस्स मुरुंडराइणो तह य ।
विहिय त पडुस (पदमं) ज,अज्ज वि कइणो न पावंति ॥१९॥

तथाहि-

वीहरफणिंदनाले, महिहरकेसरदिसामुहदलिल्ले ।
उअ पिअइ कालभमरो, जणमयरंद पुहइपउमे ॥ २० ॥
जे सद्दलक्खणाले-ण सूरिणा गूढसुत्तमाईया ।
नाया बहुया भावा, वित्थरगथाउ ते नेया ॥ २१ ॥
अट्ठमिमाइपव्वसु, पालित्तो सेविऊण नियचलणे ।
रेवयविमलगिरीसु, वदइ देवे नहपहेण ॥ २२ ॥

पुनश्च—

इत्तो सुरट्ठविसए, अज्जुणरससिद्धिलद्धमाहप्पो ।
सव्वत्थ सद्दलक्खो, जोगी णागज्जुणो अत्थि ॥ २३ ॥
सो दट्ठु भणइ सूरिं, वियरसु नियपायलेवसिद्धिं मे ।
गिण्हेसु मज्झ कंचण-सिद्धिं तो भणइ मुणिपवरो ॥ २४ ॥
भो कंचणसिद्ध ! अकिं-चणस्स मह कचणस्स सिद्धीए ।
किं कज्जमवज्जाए, कंचणसिद्धा वि किं न संति ? ॥ २५ ॥

तुह पायलेवसिद्धिं, सावज्जं तेण न हु पयच्छेमि ।
ज सावज्जुवएसो, मुणीण नो कप्पए भद्द ! ॥ २६ ॥
तत्तो इमो विलक्खो, सुलक्खलक्खो लहुं पि सिक्खेइ ।
समणोवासगकिरियं, चिइवंदणवंदणाईय ॥ २७ ॥
तित्थागयाण सूरी-ण वंदणं देइ चरणकमलेसु ।
कुसलत्तणेण पुरओ, ठाउ सव्वेसि सड्ढाण ॥ २८ ॥
गुरुचरण तो काउ, नियमउलिं नमइ तयणु गंधेण ।
लक्खइ स लद्धलक्खो, सत्तुत्तरमोसहीण सय ॥ २९ ॥
तेण ओसहिनियरे-ण पायलेव सय कुणइ एसो ।
तव्वसओ गयणे कु-क्कुडु व्व उप्पडइ पडइ पुणो ॥ ३० ॥
पुणरागएण गुरुणा, दिट्ठो पुट्ठो य कहइ सो एव ।
पहु ! तुह पायपसायं, गंधेण मए इम नायं ॥ ३१ ॥
पहु ! पसिय कहसु सम्मं, जोग जेण हवेमि सुकयत्थो ।
गुरुउवएसेण विणा, जम्हा ण हवंति सिद्धीओ ॥ ३२ ॥
तो चिंतइ मुणिणाहो, सुलक्खलक्खणत्तण इमस्स अहो ! ।
ज हेलाए नाओ, धम्मो तह ओसहिगणो य ॥ ३३ ॥
अन्न पि इमो नाही, सुहेण इय चिंतिउ भणइ सूरी ।
जइ होसि मज्झ सीसो, कहेमि तो तुह अहं जोग ॥ ३४ ॥
सो आह नाह ! नाहं, सत्तो जइधम्मभारमुव्वाहिउ ।
किं तु पहु ! तुह समीवे, गिहत्थधम्म पवज्जिस्स ॥ ३५ ॥
एव करेसु इय भणि-य सूरिणा गाहिओ इमो सम्मं ।
सम्मत्तमूलममल, गिहिधम्म पभणिओ य इम ॥ ३६ ॥
सट्ठियतंदुलसलिले-ण कुणसु त पायलेवमेय ति ।
कुणइ तह च्चियमेसो, जाया नहगमणलद्धी से ॥ ३७ ॥
तीए पभावओ सो, वंदइ उज्जितमाइसु जिणिंदे ।
पालित्ता ण च पुर, सठावइ सूरिनामेण ॥ ३८ ॥
गिरिनारगिरिसमीवे, तुरगसुरगा दसारमंडवओ ।
चेइंपमुह विहिय, तेणं नेमिस्स भत्तीए ॥ ३९ ॥
एव गिहत्थधम्म, जिणसासणउन्नइं च काऊण ।
इह परलोए कल्लाण-भायण एस सजाओ ॥ ४० ॥
नागार्जुनस्येति फलं विशिष्ट, सलब्धलब्धस्य निशम्य सम्यक् ।
गुणेऽत्र निःशेषगुणप्रधाने, कृतप्रयत्ना भविका भवन्तु "॥ ४१ ॥
ध० र० । आ० क० । स्वनामख्याते काञ्च्यामिभ्यधनेश्वरे,
" काञ्च्यामिभ्यधनेश्वरेण महता, नागार्जुनेनाऽर्चितः ।
पायात्स्तम्भनके पुरे स भवतः, श्रीपार्श्वनाथो जिन. ॥ १ ॥ "
ती० ५ कल्प ।

णागणिय-नाग्न्य-न० । निर्ग्रन्थभावे संयमानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

णागदंत-नागदन्त-पुं० । गजदन्ते, तदाकारे गृहान्निर्गते नकुण्टके, अङ्कुटके, जी० ३ प्रति० । रा० । (वर्णकस्तु ' विजय ' शब्दे विजयद्वारस्य नैषेधिकीवक्तव्यताऽवसरे वर्णयिष्यते)

णागदत्त-नागदत्त-पुं० । स्वनामख्याते राजपुत्रे, स च पूर्वभवे क्षुल्लकसाधु. कोपेन मृतो ज्योतिष्केषूपपद्य ततश्च्युतो राजसुततयोत्पन्न. प्रव्रजित कोपरूप भावापाय परिहृत्य केवलीभूय सिद्ध । स्था० ३ ठा० ४ उ० । दश० । (' अपाय ' शब्दे प्रथमभागे ८०३ पृष्ठे अस्य सर्वो वृत्तान्त उदाहृतः) ऋषभपुत्राणामन्यतमे, कल्प० ७ क्षण । प्रतिष्ठानपुरवास्तव्यनागवसुश्रेष्ठिन. सुते, आ० क० । आव० । आ० चू० । (स च प्रव्रज्याऽयोग्योऽपि सन् निष्प्रतिकर्मतां गृहीत्वा पतित इति ' णिप्पडिकम्म (ए)' शब्दे उदाहरिष्यते) नागदेवताऽऽराधनालब्धे लक्ष्मीपुरवास्तव्यदत्तश्रेष्ठिपुत्रे, आ० क० । आव० । आ० चू० । आ० म० । (स च गन्धर्वकलानिपुणो गन्धर्वनागदत्त इति ख्यातः सर्पक्रीडापरः पूर्वभवमित्रदेवसर्पैश्चिक्रीडेति कषायप्रतिक्रमणे ' पडिक्कमण ' शब्दे उदाहरिष्यते) वश्रराजभार्यायाः सुभद्राया आत्मजस्य महाबलकुमारस्य पूर्वभवसत्कजीवे मणिनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते नरे, विपा० २ श्रु० ७ अ० ।

णागदार-नागद्वार-न० । ती० ६ कल्प । सिद्धायतनानां पश्चिमादिक्स्थे नागावासभूते द्वारे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णागधर-नागधर-पुं० । हस्तिधारकपुरुषे, औ० ।

णागपडिमा-नागप्रतिमा-स्त्री० । नागदैवतप्रतिमायाम्, "तेसि ण जिणपडिमाण पुरओ दो दो नागपडिमाओ पन्नत्ताओ" जी० ३ प्रति० ।

णागपरियावणिया-नागपरिज्ञा-स्त्री० । नागा नागकुमारास्तेषां परिज्ञा यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा नागपरिज्ञा । कालिकश्रुतभेदे, तस्याश्चेय चूर्णिकृता उपदर्शिता भावना-" जाहे तमज्झयण समणे णिग्गथे परियट्टइ ताहे अकयसकप्पस्स च्चिते नागकुमारा तत्थत्था चेव तं समण परियाणंति वंदति नमसंति बहुमाण च करेंति सिंगनादितकज्जेसु य वरदा भवति । " न० । पा० ।

णागपव्वय-नागपर्वत-पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमेन शीतोदाया महानद्या उत्तरेण वक्षस्कारपर्वते, स्था० ५ ठा० २ उ० । " दो णागपव्वया ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

णागपुप्फ-नागपुष्प-न० । नागकेशरकुसुमे, जं० ४ वक्ष० ।

णागपुर-नागपुर-न० । हस्तिनापुरे राजधानीलक्षणे कुरुजनपदप्रधाननगरे, स्था० १० ठा० । ज्ञा० ।

णागवल्ली-नागवल्ली-स्त्री० । ताम्बूलीलतायाम्, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

णागभद्द-नागभद्र-पुं० । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । नागद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । च० प्र० ।

णागभूय-नागभूत-न० । स्थविरादार्यरोहणान्निर्गतस्य उद्देहगणस्य प्रथमे कुले, कल्प० ८ क्षण ।

णागमह-नागमह-पुं० । नागदेवताके उत्सवे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

णागमहाभद्द-नागमहाभद्र-पुं० । नागाऽऽख्यद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । च० प्र० ।

णागमहावर-नागमहावर-पुं० । नागसमुद्राधिपतौ देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । च० प्र० ।

णागमित्त-नागमित्र-पुं० । आर्यमहागिरिशिष्याणामन्यतमे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णागर-नागर-पुं० । स्त्री० । नगरवासिनि, कल्प० ३ क्षण । आ० म० । प्रश्न० । देवरे, नागरङ्गे, जम्बरभेदे, वाच० ।

णागराइ-नागराज-पुं० । नागकुमारे, " वेलधरनागराईण " स० १७ सम० । स्था० । अष्ट० । अनन्ते, सर्पे, ऐरावते, गजे च । वाच० ।

णागरिय-नागरिक-त्रि० । नगरधर्मैरुपयुक्ते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

णागरुक्ख-नागवृक्ष-पुं० । स्वनामख्याते वृक्षभेदे, "णागरुक्खे झुयंगाणं ।" स्था० ८ ठा० । प्रज्ञा० । स० ।

णागलया-नागलता-स्त्री० । तिर्यक्शाखाप्रसराभावाद् लताकल्पेषु द्रुमविशेषेषु, ज० १ वक्ष० । रा० । जी० । प्रज्ञा० । यस्य तिर्यक् तथाविधा शाखा प्रशाखा वा न प्रसृता सा लतेत्यभिधीयते । रा० । जी० । औ० । प्रज्ञा० ।

णागलयामंडवग-नागलतामण्डपक-पुं० । नागलतामयमण्डपके, जी० ३ प्रति० ।

णागलोगेस-नागलोकेश-पुं० । उरगपतौ, अष्ट० २० अष्ट० ।

णागवर-नागवर-पुं० । प्रधानगजे, औ० । ज० । गजवरे, त० । हस्तिप्रधाने, भ० ६ श० ३३ उ० । नागसमुद्राधिपतौ देवे, सू० प्र० १६ पाहु० । चं० प्र० ।

णागवसु-नागवसु-पुं० । प्रतिष्ठानपुरे नागश्रियाः पत्यौ नागदत्तपितरि, आ० क० । आव० । आ० चू० ।

णागवाण-नागवाण-पुं० । दिव्यास्त्रभेदे, जी० ३ प्रति० ।

णागवीही-नागवीथी-स्त्री० । हयवीथ्यां, ऐरावणपथे, "भरणीस्वात्याग्नेय, नागाख्या वीथिरुत्तरे मार्गे ।" स्था० ६ ठा० ।

णागसाहस्सी-नागसाहस्री-स्त्री० । नागकुमारदेवसहस्रे, स० ७२ सम० । नागिलभार्यायां निर्नामिकाया मातरि, आ० क० । आ० चू० । आ० म० ।

णागसिरी-नागश्री-स्त्री० । प्रतिष्ठाननगरवास्तव्यनागवसुश्रेष्ठिभार्यायां, नागदत्तमातरि, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । चम्पानगरवास्तव्यसोमाह्विजस्य भार्यायाम्, यया धर्मरुचये विषयुक्ताम्र दत्त पश्चाद् भवेषु भ्रान्त्वा द्रौपदीजन्म लब्धम् । आ० क० । आ० चू० ।

णागसुदाढ-नागसुदाढ-पुं० । सुदाढनामके नागकुमारे, स च पूर्वभवे सिंहरूपिपुत्रेण विदारितो नागकुमारतयोपपन्नो वीरजिनाधिष्ठितां नाव बोलितुमारब्धः । आ० क० ।

णागसुहुम-नागसूक्ष्म-न० । स्वनामख्याते मिथ्यादृक्परिकल्पिते श्रुते, तच्चेदानीं नोपलभ्यते । अनु० ।

णागसेण-नागसेन-पुं० । उत्तरवाचालायां जाते स्वनामके गृहपतौ, स च उत्तरवाचालायां स्वामिन क्षीरेण प्रतिलम्भितवान् पञ्च दिव्यानि जातानि । कल्प० ६ क्षण । आ० क० । आ० म० । आ० चू० ।

णागहत्थि [ण्]-नागहस्तिन्-पुं० । आर्यनन्दिलक्षपणशिष्ये, (न०)

वड्ढउ वायगवंसो, जसवंसो अज्जनागहत्थीण ।
वागरणकरणभंगिय-कम्मप्पयडीपहाणाणं ॥ ३४ ॥

(वड्ढउ इत्यादि) विनेयान् वाचयन्तीति वाचकाः, तेषां वंश क्रमभाविपुरुषपूर्वप्रवाह, स वर्द्धतां वृद्धिमुपयातु, मा कदाचिदपि तस्य वृद्धिमुपगच्छतो विच्छेदो भूयादिति यावत् । वर्धतामित्यत्राऽऽशसायां पञ्चमी । कथभूतो वाचकवशः ?, इत्याह-यशोवशो मूर्तो यशसा वंश इव पर्वप्रवाह इव यशोवश, अनेनापयश:प्रधानपुरुषवंशव्यवच्छेदमाह । तथा अपयश:प्रधानानामपारससारसरित्पतिस्रोत:पतितानां परममुनिजनोपधृनलिङ्गविडम्बकानाम् मल सन्तानपरिवृद्धयेति । केषा सबन्धी वाचकवशः परिवर्द्धतामित्यादि । आर्यनागहस्तिनामार्यनन्दिलक्षपणशिष्याणाम् । कथभूतानामित्याह-व्याकरणकरणभङ्गीकर्मप्रकृतिप्रधानाना, तत्र व्याकरण सस्कृतशब्दव्याकरण, प्राकृतशब्दव्याकरण, प्रश्नव्याकरण च, करण पिण्डविशुद्ध्यादि । उक्त च "पिंडविसोही ४ समिई ५, भावण १२ पडिमा य १२ इंदियनिरोहो ५ । पडिलेहण २५ गुत्तीओ ३, अभिग्गहा ४ चेव करण तु" ॥१॥ भङ्गी भङ्गबहुल श्रुत, कर्मप्रकृति प्रतीता । एतेषु प्ररूपणामधिकृत्य प्रधानानाम् । न० । आ० चू० ।

णागिंद-नागेन्द्र-पुं० नागराजे नागकुमाराणामिन्द्रे, "असुरिंदसुरिंदणागिंदा ।" स० । स्वनामख्याते साधुकुले, "नागेन्द्रगच्छगोविन्द-वक्षोऽलङ्कारकौस्तुभा । ते विश्ववन्द्या नन्द्यासु-रुदयप्रभसूरय ॥ ६ ॥" स्या० । तदुत्पत्तिश्च महा दुर्भिक्षान्ते पोतद्वारा धान्यागमने जाते जिनदत्त श्रावको नागेन्द्रनामपुत्रसहितो वज्रसेनसूरीणामन्तिके दीक्षां जग्राह, ततो नागेन्द्रशाखा प्रवृत्तेति भाति । कल्प० ८ क्षण ।

णागिल-नागिल-पुं० । कुमारनन्दिनः स्त्रीलोलसुवर्णकारस्य मित्रे श्रमणोपासके, आ० म० १ अ० २ खण्ड । गच्छविशेषाश्रितेषु साधुषु, कल्प० ८ क्षण । यथा नागिला रजोहरणमूर्ध्वमुख कृत्वा कायोत्सर्गं कुर्वन्ति । व्य० १ उ० । धातकीखण्डपूर्वविदेहेषु नन्दिग्रामपतौ ललिताङ्गदेवदेव्या स्वयप्रभायाः पूर्वभवजीवनिर्नामिकायाः पितरि, आ० क० ।

णागी-नागी-स्त्री० । सर्पिण्याम, "मायामई अ णागी, णियमिकवरूवचणाकुसला ।" मायाऽऽत्मिका नागी निकृतिकपटवञ्चनाकुशला । आव० ४ अ० ।

णाडइज्ज-नाटकीय-न० । नाटकप्रतिबद्धपात्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विपा० ।

णाडइणी-नाटकिनी-स्त्री० । नर्तक्याम, बृ० ३ उ० । तत्प्रतिपादके श्रुते च । स्था० ६ ठा० । सथा० । ज० । अनु० । आ० म० । (अस्मिन्शब्दविधिविस्तृत नाटक 'नट्ट' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०८ पृष्ठ उक्तम)

णाडग-नाटक-न० । अभिनयविशेषे, बृ० ।

णट्टं होइ अगीय, गीयजुयं नाडयं तु णायव्वं ।

इहागीत गीतविरहित नाट्य भवति, यत्पुनर्गीतयुक्त तन्नाटक ज्ञातव्यम् । बृ० १ उ० ।

णाडीय-नाडीक-पुं० । नाडीवद्यस्य फलानि स नाडीक । वनस्पतिविशेषे, प्र० १० श० ७ उ० ।

णाण-ज्ञान-न० । ज्ञातिर्ज्ञानम, भावेऽनट्प्रत्यय । अथवा ज्ञायते वस्तु परिच्छिद्यतेऽनेनेति ज्ञानम, करणेऽनट् । नं० । पा० । अनु० । नि० चू० । प० स० । सम्म० । कर्म० । "ज्ञो जाणमुणौ" ॥ ८ । ४ । ७ ॥ इति जानातेर्जाणमुणाऽऽदेशस्य बाहुलकत्वान्न मुणाऽऽदेश । प्रा० ४ पाद । "म्नज्ञोर्णः" ॥ ८ । २ । ४२ ॥ इति ज्ञस्य णादेश । प्रा० २ पाद । उत्त० । विमर्शपूर्वके बोधे, उत्त० १ अ० । सविज्ञानमवगमो भावोऽभिप्राय इत्यनर्थान्तरम आ० म० १ अ० १ खण्ड । व्य० । यथास्थि-

तपदार्थपरिच्छेदने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। द्वा० । अष्ट०। स्था० । द्रव्यपर्यायविषये बोधे, स्था० ३ ठा० २ उ० । विशेषावबोधे, औ० । अष्ट० । स्वपरपरिच्छेदिनि जीवस्य परिणामे ज्ञानाऽऽवरणविगमव्यक्ते तत्त्वार्थपरिच्छेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । अष्ट० । स्था० । औ० । सत्त्वप्रधानायां बुद्धिवृत्तौ, द्वा० २३ द्वा० ।

(१) पर्यायार्थिकस्य विशेष एव वस्तु, स एव गृह्यते येन तज्ज्ञानमभिधीयते । " विसेसिय नाण । " सम्म० २ काण्ड । ज्ञातिर्ज्ञानमिति भावसाधनः, संविदित्यर्थः । ज्ञायते वाऽनेनास्माद्वेति ज्ञानं, तदावरणस्य क्षयः, क्षयोपशमो वा । ज्ञायते वाऽस्मिन्निति ज्ञानमात्मा, तदावरणक्षयक्षयोपशमपरिणामयुक्तो, जानातीति वा ज्ञानम् । स्था० ५ ठा० ३ उ० । "एगे णाणे।" नं० । आ० म० । ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनाऽस्मिन् अस्माद्वेति ज्ञानं ज्ञानदर्शनाऽऽवरणयोः क्षयः, क्षयोपशमो वा, ज्ञातिर्वा ज्ञानमावरणद्वयक्षयाऽऽद्याविर्भूत आत्मपर्यायविशेषः। सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि विशेषांशग्रहणप्रवणः सामान्यांशग्राहकश्च ज्ञानपञ्चकाज्ञानत्रयदर्शनचतुष्टयरूपं, तच्चानेकमप्यवबोधसामान्यात्, एकमुपयोगापेक्षया वा । तथाहि-लब्धितो बहूनां बोधविशेषाणामेकदा सम्भवेऽप्युपयोगत एक एव सम्भवत्येकोपयोगत्वाद् जीवानामिति । स्था० १ ठा० । उत्त० ।

(२) ज्ञानानि-

णाणं पंचविहं पण्णत्तं । तं जहा-आभिणिबोहियणाणं, सुयणाणं, ओहिणाणं, मणपज्जवणाणं, केवलणाणं ।

(णाणं पंचविहं पण्णत्तमित्यादि) ज्ञातिर्ज्ञानं, भावेऽनट्प्रत्ययः। अथवा-ज्ञायते वस्तु परिच्छिद्यतेऽनेनेति ज्ञानं, करणेऽनट् । शेषास्तु व्युत्पत्तयो मन्दमतीनां संमोहहेतुत्वान्नोपदिश्यन्ते । पञ्चेति संख्यावाचकं, विधानं विधा, "उपसर्गादातः" ॥ ५ । ३ । ११० ॥ इत्यङ्प्रत्ययः । पञ्च विधाः प्रकारा यस्य तत्पञ्चविधं पञ्चप्रकारं, प्रज्ञप्तं प्ररूपितं, तीर्थकरगणधरैरिति सामर्थ्यादवसीयते, अन्यस्य स्वयं प्ररूपकत्वेन प्ररूपणासम्भवात् । नं० । ज्ञानं तीर्थकरैरपि सकलकालावलम्बिसमस्तवस्तुस्तोमसाक्षात्कारिकेवलप्रज्ञया पञ्चविधमेव प्राप्तं, गणधरैरपि तीर्थकृद्भिरुपदिश्यमानं निजप्रज्ञया पञ्चविधमेव प्राप्तं, न तु वक्ष्यमाणनीत्या द्विभेदमेवेति । अथवा-प्राज्ञात्तीर्थकरादाप्तं प्राज्ञाप्तं, गणधरैरिति गम्यते । अथवा-प्राज्ञैर्गणधरैराप्तं तीर्थकरादित्यनुमीयते; तद्यथेत्युदाहरणोपदर्शनार्थं । आभिनिबोधिकज्ञानं, श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं, मनःपर्यायज्ञानं, केवलज्ञानं च । नं० । भ० । रा० । कर्म० । सूत्र० । ध० र० । विशे० । आ० म० । आतु० । प्रव० । दर्श० । अनु० ।

(३) ज्ञानभेदकारणानि-

ननु सकलमपीदं ज्ञानं ज्ञप्त्येकस्वभावं, ततो ज्ञप्त्येकस्वभावत्वाविशेषे किंकृत एष आभिनिबोधिकाऽऽदिभेदः? । ज्ञेयभेदकृत इति चेत् । तथाहि-वार्तमानिकं वस्त्वाभिनिबोधिकस्य ज्ञानस्य ज्ञेयं, त्रिकालसाधारणः समानः परिणामो ध्वनिगोचरः श्रुतज्ञानस्य, रूपिद्रव्याणि अवधिज्ञानस्य, मनोद्रव्याणि मनःपर्यायज्ञानस्य, समस्तपर्यायान्वितं सर्वं वस्तु केवलज्ञानस्य । तदेतदसमीचीनम् । एवं सति केवलज्ञानस्य भेदबाहुल्यप्रसक्तेः । तथाहि-ज्ञेयभेदाद् ज्ञानस्य भेदः । यानि च ज्ञेयानि प्रत्येकमाभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानानामिष्यन्ते तानि सर्वाण्यपि केवलज्ञानेऽपि विद्यन्ते, अन्यथा केवलज्ञानेन तेषामग्रहणप्रसङ्गादविषयत्वात्, तथा च सति केवलिनोऽप्यसर्वज्ञत्वप्रसङ्गः, आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानवस्तुगतविषयजातस्य तेनाग्रहणात् । न चैतदिष्टमिति । अथोच्येत-प्रतिपत्तिप्रकारभेदत आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानभेदः । तथाहि-न यादृशी प्रतिपत्तिराभिनिबोधिकस्य ज्ञानस्य तादृशी श्रुतज्ञानस्य, किन्त्वन्यादृशी । एवमवध्यादिज्ञानानामपि प्रतिपत्तव्यं, ततो भवत्येव प्रतिपत्तिभेदतो ज्ञानभेदः । तदप्ययुक्तम् । एवं सत्येकस्मिन् अपि ज्ञानेऽनेकभेदप्रसक्तेः । तथाहि-तत्तद्देशकालपुरुषस्वरूपभेदेन विविच्यमानमेकैकं ज्ञानं प्रतिपत्तिप्रकारानन्त्यं प्रतिपद्यते, तन्नैषोऽपि पक्षः श्रेयान् । स्यादेतत्, अस्त्यावारकं कर्म, तच्चानेकप्रकारं, ततस्तद्भेदात्तेनावार्यं ज्ञानमप्येकतां प्रतिपद्यते, ज्ञानावारकं च कर्म पञ्चधा, प्रज्ञापनाऽऽदौ तथाऽभिधानात् । ततो ज्ञानमपि पञ्चधा प्ररूप्यते, तदेतदतीव युक्त्यसङ्गतम् । यत आवार्यापेक्षमावारकमत आवार्यभेदादेव तद्भेदः, आवार्यं च ज्ञप्तिरूपापेक्षया सकलमप्येकरूपं, ततः कथमावारकस्य पञ्चरूपता, येन तद्भेदाद् ज्ञानस्यापि पञ्चविधो भेद उदीर्यते ? । अथ स्वभावत एवाऽऽभिनिबोधाऽऽदिको ज्ञानस्य भेदो, न च स्वभावः पर्यनुयोगमश्नुते, न खलु किमिह दहनो दहति, नाकाशमिति कोऽपि पर्यनुयोगमाचरति । अहो महती महीयसी भवतः शेमुषी । ननु यदि स्वभावत एवाऽभिनिबोधाऽऽदिको ज्ञानस्य भेदः, तर्हि भगवतः सर्वज्ञत्वहानिप्रसङ्गः । तथाहि-ज्ञानमात्मनो धर्मः, तस्य चाभिनिबोधाऽऽदिको भेदः स्वभावत एव व्यवस्थितः, ततः क्षीणाऽऽवरणस्यापि तद्भावप्रसङ्गः । सति च तद्भावेऽस्मादृशस्येव भगवतोऽप्यसर्वज्ञत्वमापद्यते, केवलज्ञानभावतः समस्तवस्तुपरिच्छेदाद् नासर्वज्ञत्वमिति चेत्, ननु यदा केवलोपयोगसम्भवः, तदा भवतु भगवतः सर्वज्ञत्वं, यदा त्वाभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानोपयोगसम्भवः, तदा देशतः परिच्छेदसम्भवादस्मादृशस्येव तस्यापि बलादसर्वज्ञत्वमापद्यते । न च वाच्यं तस्य तदुपयोग एव न भविष्यत्यात्मनः स्वभावत्वेन तस्याऽपि क्रमेणोपयोगस्य निवारयितुमशक्यत्वात्, केवलज्ञानानन्तरं केवलदर्शनोपयोगवत्, ततः केवलज्ञानोपयोगकाले सर्वज्ञत्वं, शेषज्ञानोपयोगकाले चासर्वज्ञत्वमापद्यते, तच्च विरुद्धमतोऽनिष्टमिति ।

आह च-

" नन्नेगसहावत्ते, आभिणिबोहाइ किं कओ भेओ ? ।
नेयविसेसाउ च्चिय, न सव्वविसय जओ चरिमं ॥ १ ॥
अह पडिवत्तिविसेसा, नेगम्मि अणेगभेयभावाओ ।
आवरणविभेओ वि हु, सब्भावभेयं विणा न भवे ॥ २ ॥
तम्मि य सइ सव्वेसिं, खीणावरणस्स पावई भावो ।
तद्धम्मत्ताउ च्चिय, जुत्तविरोहा स चाणिट्ठो ॥ ३ ॥
अरहा वि असव्वन्नू, आभिणिबोहाइभावओ णियमा ।
केवलभावाउ च्चिय, सव्वन्नू नणु विरुद्धमिणं" ॥ ४ ॥

तस्मादिदमेव युक्तियुक्तं पश्यामो-यदुतावग्रहज्ञानादारभ्य यावदुत्कर्षप्राप्तपरमावधिज्ञानं तावत्सकलमप्येकं, तच्चासकलसंज्ञितम्, अशेषवस्तुविषयत्वाभावात् । अपरं च केवलिनः, तच्च सकलसंज्ञितमिति द्वावेव भेदौ । उक्तं च-" तम्हा अवग्गहाओ, आरब्भ इहेगमेव नाणं ति । जुत्तं छउमत्थस्सा, सगलं इयरं च केवलिणो ॥ १ ॥ "

अत्र प्रतिविधीयते-तत्र यत्तावदुक्तं सकलमपीदं ज्ञानं ज्ञप्त्येकस्वभावं, ततो ज्ञप्त्येकस्वभावत्वाविशेषे किंकृत एष आभिनिबोधाऽऽदिको भेद इति ? । तत्र ज्ञप्त्येकस्व-

प्रावता किं सामान्यतो भवताऽभ्युपगम्यते, विशेषतो वा ?। तत्र न तावदाद्यः पक्षः क्षितिमाधत्ते, सिद्धसाध्यतया तस्य बाधकत्वायोगात् । बोधरूपतारूपसामान्यापेक्षया हि सकलमपि ज्ञानमस्माभिरेकमभ्युपगम्यत एव, ततः का नो हानिरिति ?। अथ द्वितीयः पक्षः, तदयुक्तम्, असिद्धत्वात्। न हि नामविशेषतोऽपि ज्ञानमेकमेवोपलभ्यते, प्रतिप्राणि स्वसंवेदनप्रत्यक्षेणोत्कर्षदर्शनात् । अथ यद्युत्कर्षापकर्षमात्रभेददर्शनाद् ज्ञानभेदस्तर्हि तावुत्कर्षापकर्षौ प्रतिप्राणि देशकालापेक्षया शतसहस्रशो भिद्येते, ततः कथं पञ्चरूपता ?। नैष दोषः। परिस्थूरनिमित्तभेदतः पञ्चधात्वस्य प्रतिपादनात् । तथाहि-सकलघातिक्षयो निमित्तं केवलज्ञानस्य, मनःपर्यायज्ञानस्य त्वामर्षौषध्यादिलब्ध्युपेतस्य प्रमादलेशेनाप्यकलङ्कितस्य विशिष्टो विशिष्टाध्यवसायानुगतोऽप्रमादः, " तं संजयस्स सव्व-प्पमायरहियस्स विविहरिद्धिमतो । " इतिवचनप्रामाण्यात् । अवधिज्ञानस्य पुनस्तथाविधानीन्द्रियरूपिद्रव्यसाक्षादवगमनिबन्धनं क्षयोपशमविशेषः, मतिश्रुतज्ञानयोस्तु लक्षणभेदाऽऽदिकं तथाऽग्रे वक्ष्यते ।

उक्तं च—

" नन्नेगमहावत्तं, ओहेण विसेसओ पुण असिद्धं ।
एगततस्सहाव-त्तणे उ कह हाणिवुड्ढीओ ? ॥ १ ॥
जं अविचलियसहावे, तत्ते एगं न तस्सहावत्तं ।
न य तं तहोवलद्धा, उक्करिसावगरिसविसेसा ॥ २ ॥
तम्हा परिथूराओ, निमित्तभेयाओ समयसिद्धाओ ।
उववत्तिसगओ वि य, आभिणिबोहाइओ भेओ ॥ ३ ॥
घाइक्खओ निमित्तं, केवलणाणस्स वण्णिओ समए ।
मणपज्जवणाणस्स उ, तहाविहो अप्पमाउ त्ति ॥ ४ ॥
ओहिं सोऽणस्स तहा, अणिंदिएसु पि जो खओवसमो ।
मइसुयनाणाण पुण, लक्खणभेदादिओ भेओ ॥ ५ ॥ "

यदप्युक्तं ज्ञेयभेदकृत इत्यादि, तदप्यनभ्युपगमतिरस्कृतत्वाद् दूरापास्तप्रसरम् । न हि वयं ज्ञेयभेदमात्रतो ज्ञानस्य भेदमिच्छामः, एकेनाप्यवग्रहाऽऽदिना बहुविधवस्तुग्रहणोपलम्भात् । यदपि च प्रत्यपादि- प्रतिपत्तिप्रकारभेदकृत इत्यादि, तदपि न नो बाधामाधातुमलम् । यतस्ते प्रतिपत्तिप्रकारा देशकालाऽऽदिभेदेनाऽऽनन्त्यमपि प्रतिपद्यमाना न परिस्थूरनिमित्तभेदेन व्यवस्थापितानाभिनिबोधिकाऽऽदीन् जातिभेदा नातिक्रामन्ति, तत्कथमेकस्मिन् एकभेदभावप्रसङ्गः । उक्तं च-" न य पमिवत्तिविसेसो, एगम्मि अणेगभेयभावो त्ति । जं ते तहा विसिट्ठे, न जाइभेए विलंघेइ ॥ १ ॥ " यदप्यवादीदावार्यापेक्षं ह्यावरकमित्यादि, तदपि न नो मनोबाधायै । यतः-परिस्थूरनिमित्तभेदमधिकृत्य व्यवस्थापितो ज्ञानस्य भेदः, ततस्तदपेक्षमावारकमपि तथा भिद्यमानं न युष्मादृशदुर्जनवचनीयतामास्कन्दति । एवमुक्ते जितो भूयः सावष्टम्भं परः प्रश्नयति-ननु परिस्थूरनिमित्तभेदव्यवस्थापिता अप्यमी आभिनिबोधिकाऽऽदयो भेदा ज्ञानस्याऽऽत्मभूताः, उताऽनात्मभूताः ?। किं चातः -उभयथाऽपि दोषः । तथाहि-यद्यात्मभूताः, ततः क्षीणाऽऽवरणेऽपि तद्भावप्रसङ्गः । तथा चासर्वज्ञत्वं प्रागुक्तनीत्या तस्याऽऽपद्यते । अथाऽनात्मभूताः, तर्हि न ते पारमार्थिकाः, ततः कथमावार्यापेक्षो वास्तव आवारकभेदः। तदपि न मनोरमम्, सम्यग् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह हि सकलघनपटलविनिर्मुक्तशारददिनमणिरिव समन्ततः समस्तवस्तुस्तोमप्रकाशनैकस्वभावो जीवः, तस्य च तथाभूतस्वभावः केवलज्ञानमिति व्यपदिश्यते । स च यद्यपि सर्वघातिना केवलज्ञानाऽऽवरणेन आव्रियते, तथाऽपि तस्यानन्ततमो भागो नित्योद्घाटित एव, " अक्खरस्सऽणंतो भागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुणो सो वि आवरिज्जा तेण जीवा अजीवत्तणं पावेज्जा । " इत्यादिवक्ष्यमाणवचनप्रामाण्यात् । ततस्तस्य केवलज्ञानाऽऽवरणाऽऽवृतस्य घनपटलाऽऽच्छादितस्येव सूर्यस्य यो मन्दः प्रकाशः सोऽपान्तरालावस्थितमतिज्ञानाऽऽद्यावरणक्षयोपशमभेदसंपादितं नानात्वं भजते । यथा घनपटलाऽऽवृतसूर्यस्य मन्दप्रकाशोऽपान्तरालावस्थितकटकुड्याऽऽद्यावरणविवरप्रदेशभेदतः, स च नानात्वं तत्क्षयोपशमानुरूपं तथा प्रतिपद्यमानं तत्क्षयोपशमानुसारेणाभिधानभेदमश्नुते । यथा-मतिज्ञानाऽऽद्यावरणक्षयोपशमजनितः स मन्दः प्रकाशो मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमजनितः श्रुतज्ञानमित्यादि, तत आत्मस्वभावभूता ज्ञानस्याऽभिनिबोधिकाऽऽदयो भेदाः, ते च प्रवचनोपदर्शितपरिस्थूरनिमित्तभेदतः पञ्चसंख्याः,ततस्तदपेक्षमावारकमपि पञ्चधोपवर्ण्यमानं न विरुध्यते । न चैवमात्मस्वभावभूतत्वे क्षीणाऽऽवरणस्याऽपि तद्भावप्रसङ्गः । यत एते मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिक्षयोपशमरूपोपाधिसंपादितसत्ताकाः, यथा-सूर्यस्य घनपटलाऽऽवृतस्य मन्दः प्रकाशभेदः कटकुड्याऽऽवरणविवरभेदोपाधिसंपादितः । ततः कथं ते तथारूपक्षयोपशमाभावे भवितुमर्हन्ति, न खलु सकलघनपटलकटकुड्याऽऽद्यावरणापगमे सूर्यस्य ते तथारूपा मन्दप्रकाशभेदा भवन्ति । उक्तं च-" कमविवरागयकिरणा, गेहंतरियस्स जह दिणेसस्स । ते कममेहावगमे, न होंति जह तह इमाइं पि " ॥ १ ॥ ततो यथा जन्माऽऽदयो भावा जीवस्य आत्मभूता अपि कर्मोपाधिसंपादितसत्ताकत्वात्तदभावे न सन्ति, तद्वदाभिनिबोधिकाऽऽदयोऽपि भेदा ज्ञानस्याऽऽत्मभूता अपि मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमसापेक्षत्वात् तदभावे केवलिनो न भवन्ति, ततो नासर्वज्ञत्वदोषः । उक्तं च-" जमिह छउमत्थधम्मा, जम्माईया न होंति सिद्धाणं । इय केवलीणमाभिणि-बोहियभावम्मि को दोसो ?॥ १ ॥ " इति । न० । आ० म० । आव० । सथा० । कर्म० । सम्म० । स्था० ।

(४) तदेव ज्ञानपञ्चकस्याप्यभिधानार्थे कथिते आह कश्चित्-नन्वादौ मतिश्रुतोपन्यासः किमर्थः ?, इति । अत्राऽऽचार्य आह-

जं सामि-काल-कारण-विसय-परोक्खत्तणेहिँ तुल्लाइँ ।
तब्भावे सेसाणि य, तेणाईए मइसुयाइं ॥८५॥

तेन कारणेनाऽऽदौ मतिश्रुते निर्दिष्टे। येन किम् ?,इत्याह-(जं सामीत्यादि)इति सटङ्कः। मतिशब्दोऽत्राभिनिबोधिकसमानार्थो द्रष्टव्य आभिनिबोधिकं चौत्पत्तिक्यादिमतिप्रधानत्वाद् मतिरित्यप्युच्यते। यद् यस्मात् कारणात् स्वामिकालकारणविषयपरोक्षत्वैस्तुल्ये समानस्वरूपे मतिश्रुते, तेनाऽऽदौ निर्दिष्टे इत्यर्थः। तत्र स्वामी तावदनयोरेक एव, " जत्थ मइनाणं तत्थ सुयनाणं " इत्याद्यागमवचनादिति । कालोऽपि द्विधा-नानाजीवापेक्षया, एकजीवापेक्षया च । स चायं द्विविधोऽप्यनयोस्तुल्य एव नानाजीवापेक्षया द्वयोरपि सर्वकालमनुच्छेदात्; एकजीवापेक्षया तूभयोरपि निरन्तरसातिरेकसागरोपमषट्षष्टिस्थितिकत्वेनाग्रेवाभिधास्यमानत्वादिति । कारणमपीन्द्रियमनोलक्षणं, स्वा-

वरणक्षयोपशमस्वरूप च द्वयोरपि समानम् । उभयस्यापि सर्वद्रव्याऽऽदिविषयत्वाद् विषयतुल्यता । परनिमित्तत्वाच्च परोक्षत्वसमता । ननु यद्येवमनयोः परस्पर तुल्यता, तर्ह्येकत्र द्वयोरप्युपन्यासोऽस्तु, आदावेव तु तदुपन्यास. कथम्?, इत्याह- (तद्भावे इत्यादि) तद्भावे मतिश्रुतज्ञानसद्भाव एव शेषाण्यवध्यादीनि ज्ञानान्यवाप्यन्ते; नाऽन्यथा, न हि स कश्चित् प्राणी भूतपूर्वः, अस्ति, भविष्यति वा, यो मति-श्रुतज्ञाने अनासाद्य प्रथममेवाऽवध्यादीनि शेषज्ञानानि प्राप्तवान्, प्राप्नोति, प्राप्स्यति वेति भावः । ततस्तदवाप्तौ शेषज्ञानावाप्तेश्चाऽऽदौ मतिश्रुतोपन्यासः । इति गाथाऽर्थ. ॥ ८५ ॥

भवतु तर्ह्यादौ मति-श्रुतोपादान, केवल पूर्वं मति', पश्चात्तु श्रुतमित्यत्र किं कारण, यावता विपर्ययोऽपि कस्मान्न भवति?, इत्याह-

मइपुव्वं जेण सुयं, तेणाईए मइ विसिट्ठो वा ।
मइभेओ चेव सुयं, तो मइसमणंतरं भणियं ॥ ८६ ॥

मतिः पूर्वं प्रथममस्येति मतिपूर्वं, येन कारणेन श्रुतज्ञान, तेन श्रुतस्याऽऽदौ मति. तीर्थकर-गणधरैरुक्तेति शेषः । न ह्यवग्रहाऽऽदिरूपे मतिज्ञाने पूर्वमप्रवृत्ते क्वापि श्रुतप्रवृत्तिरस्तीति भावः । (विसिट्ठो वा, मइभेओ चेव सुयं ति) यदि वा इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तद्वारेणोपजायमानं सर्वं मतिज्ञानमेव, केवल परोपदेशादागमवचनत्वाच्च भवन् विशिष्टः कश्चिन्मतिभेद एव श्रुत; नान्यत् । ततो मूलभूताया मतेरादौ विन्यास., तद्भेदरूप तु श्रुतज्ञानं तत्समनन्तर भणितमित्यदोषः । " मइपुव्व जेण सुयं " इत्यादिकश्चार्थः पुरतः प्रपञ्चेन भणिष्यते । इति गाथार्थः ॥ ८६ ॥

अथ मतिश्रुतानन्तरमवधेस्तत्समनन्तरं च मन'पर्यायज्ञानस्योपन्यासे कारणमाह-

कालविवज्जयसामि-त्तलाभसाहम्मओऽवही तत्तो ।
माणसमित्तो छउम-त्थविसयभावादिसामण्णा ॥ ८७ ॥

ततो मतिश्रुताभ्यामनन्तरमवधिर्निर्दिष्टः । कुत ?, इत्याह— कालविपर्ययस्वामित्वलाभसाधर्म्यात् । तत्र नानाजीवापेक्षया, एकजीवापेक्षया च मतिश्रुताभ्यां सहावधेः समानस्थितिकालत्वात् कालसाधर्म्यम् । यथा च मिथ्यात्वोदये मतिश्रुतज्ञाने अज्ञानरूप विपर्यय प्रतिपद्येते, तथाऽवधिरपि, इति विपर्ययसाधर्म्यम् । य एव च मति-श्रुतयोः स्वामी, स एवावधेरपीति स्वामिसाधर्म्यम् । लाभोऽपि कदाचित्कस्यचिदमीषा त्रयाणामपि ज्ञानानां युगपदेव भवतीति लाभसाधर्म्यम् । (माणसमित्तो इत्यादि) इतोऽवधेरनन्तरं मनोविषयत्वान्मनसि भव मानस मन पर्यायज्ञानं युक्तम् । कुतः?, इत्याह-छद्मस्थविषयभावाऽऽदिसामान्यात्, आदिशब्दात् प्रत्यक्षत्वाऽऽदिसामान्य गृह्यते, समानस्य भावः सामान्य, साम्यं, तस्मादित्यर्थ' । तत्र यथाऽवधिज्ञान छद्मस्थस्यैव भवति, तथा मन'पर्यायज्ञानमपीति छद्मस्थसाम्यम । उभयोरपि पुद्गलमात्रविषयत्वाद् विषयसाम्यम्, द्वयोरपि क्षायोपशमिकभाववृत्तित्वाद्भावसाम्यम्, द्वितयस्यापि साक्षाद्दर्शित्वात् प्रत्यक्षत्वसाम्यम् । एवमन्याऽपि प्रत्यासत्तिरभ्यूह्येति गाथाऽर्थ ॥ ८७ ॥

अथ केवलज्ञानस्य सर्वोपरि निर्देशे कारणमाह-

अंते केवलमुत्तम-जइसामित्तावसाणलाभाओ ।
इत्थं च मइसुयाइं, परोक्खमियरं च पच्चक्खं ॥ ८८ ॥

अन्ते सर्वज्ञानानामुपरि केवलज्ञानमभिहितम । कुत.?, इत्याह-भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य उत्तमत्वात्, सर्वोत्तम हि केवलज्ञानम, अतीतानागतवर्तमाननि.शेषज्ञेयस्वरूपाऽवभासित्वादिति । यथा च मनःपर्यायज्ञानस्य यतिरेव स्वामी, तथा केवलज्ञानस्यापि, ततो यतिस्वामित्वसाम्याद् मनःपर्यायज्ञानाऽनन्तर केवलज्ञानमभिहितम । तथा समस्ताऽपरज्ञानानामवसान एवाऽस्य लाभादवसान एव निर्देश इति । तदेवमुपन्यासक्रमे समर्थिते सत्याह कश्चित्-नन्वेतानि पञ्च ज्ञानानि किं परोक्षस्वरूपाणि, आहोस्वित् प्रत्यक्षाणि ? इति । अत्राऽऽह-(इत्थ चेत्यादि) एतेषु पञ्चसु ज्ञानेषु मध्ये मतिश्रुते परोक्षे, इतरत्त्ववध्यादिज्ञानत्रय प्रत्यक्षमिति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ विशे० ।

(५) तथा चाऽऽगमः-

दुविहे णाणे पण्णत्ते । तं जहा-पच्चक्खे चेव, परोक्खे चेव । पच्चक्खणाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-केवलणाणे चेव, णोकेवलणाणे चेव ।

ज्ञानं विशेषावबोध', अश्नाति भुङ्क्ते, अश्नुते वा व्याप्नोति ज्ञानेनार्थानित्यक्ष आत्मा, तं प्रति यद्वर्तते इन्द्रियमनोनिरपेक्षत्वेन तत्प्रत्यक्षमव्यवहितत्वेनार्थसाक्षात्करणादक्षमिति । आह च· " अक्खो जीवो अत्थ-व्वावणभोयणगुणन्निओ जेण । त पइ वट्टइ नाणं, ज पच्चक्ख तमिह तिविह" ॥ १ ॥ इति । परेभ्योऽक्षापेक्षया पुद्गलमयत्वेन द्रव्येन्द्रियमनोभ्योऽक्षस्य जीवस्य यत्तत्परोक्ष निरुक्तिवशादिति । आह च·"अक्खस्स पोग्गलकया, जं दव्विंदियमणापरा तेण । तेहिंतो ज णाण, परोक्खमिह तमणुमाण वा " ॥१॥ इति । अथवा-परैरक्ष सबन्धन जन्यजनकभावलक्षणमस्येति परोक्षम् । इन्द्रियमनोव्यवधानेनाऽऽत्मनोऽर्थप्रत्ययकर्मसाक्षात्कारीत्यर्थ । स्था० २ ठा० १ उ० । (प्रत्यक्षज्ञानभेदाः ' पच्चक्ख ' शब्दे वक्ष्यन्ते) प्रत्यक्ष द्विविध-केवलज्ञान, नो केवलज्ञान च । (केवलज्ञानभेदाः 'केवलणाण' शब्दे तृतीयभागे ६४७ पृष्ठे गता')

(६) केवलणाणे दुविहे पण्णत्ते । ओहिणाणे चेव, मणपज्जवणाणे चेव ॥ स्था० २ ठा० १ उ० । आ० म० । आव० । संथा० । कर्म० । सम्म० ।

(अवधिज्ञानभेद ' ओहि ' शब्दे तृतीयभागे १४० पृष्ठे गत)
(मन पर्यायज्ञानभेदा' ' मणपज्जवणाण ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

परोक्खणाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-आभिणिबोहियणाणे चेव, सुयणाणे चेव ।

(परोक्षज्ञानभेदा ' परोक्खणाण ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

(७) स्वाम्यादिभेदाद् मतिश्रुतभेद' । साम्प्रत " ज सामि-काल-कारण-विसय-परोक्खत्तणेहिँ तुल्लाइ । (८५) " इति यदुक्त प्राक्, तदुपजीव्य पर प्राऽऽह—

सामित्ताइविसेसा-भावाओ मइसुएगया नाम ।
लक्खणभेयादिकयं, नाणत्तं तयविसेसे वि ॥ ८९ ॥

परः प्राऽऽह-ननु पूर्वं मतिश्रुतयो' स्वामिकालाऽऽदिभि तुल्यत्वमभिदधानैर्भवद्भि' स्वहस्ताङ्गाराऽऽकर्षणमनुष्ठितम्, यत एव सति

स्वामित्वाऽऽदिभिर्विशेषाभावान्मतिश्रुतयोरेकतैव प्राप्ता, न भेदः स्यात्; तथा च न ज्ञानपञ्चकसिद्धिः, धर्मभेदे हि वस्तूनां भेदः स्यात्; तदभेदे तु घटतत्स्वरूपयोरिवाभेद एव श्रेयानिति भावः। अत्राऽऽचार्य प्रत्युत्तरमाह-(लक्खणभेयादि) तेषां स्वामित्वाऽऽदीनामविशेषस्तदविशेषस्तत्र सत्यपि मतिश्रुतयोर्नानात्वं भिन्नत्वमस्ति । किंकृतम् ?, इत्याह-लक्षणभेदाऽऽदिकृतम,आदिशब्दाद् वक्ष्यमाणकार्यकारणभावाऽऽदिपरिग्रहः। इदमुक्तं भवति-यद्यपि स्वामिकालाऽऽदिभिर्मतिश्रुतयोरेकत्वम्, तथाऽपि लक्षणकार्यकारणभावाऽऽदिभिर्नानात्वमस्त्येव, घटाऽऽकाशाऽऽदीनामपि हि सत्त्वप्रमेयत्वार्थक्रियाकारित्वाऽऽदिभिः साम्येऽपि लक्षणाऽऽदिभेदाद्भेद एव । यदि पुनर्बहुभिर्धर्मैर्भेदे सत्यपि कियद्धर्मसाम्यमात्रादेवार्थानामैकत्वं प्रेर्यते, तदा सर्वं विश्वमेकं स्यात्, किं हि नाम तद्वस्त्वस्ति यस्य वस्त्वन्तरैः सह कैश्चिद्धर्मैर्न साम्यमस्ति ? । तस्मात्स्वाम्यादिभिस्तुल्यत्वेऽपि लक्षणाऽऽदिभिर्मति-श्रुतयोर्भेदः। इति गाथार्थः ॥ ९६ ॥

तान्येव लक्षणाऽऽदीनि पुरतो विस्तराभिधेयात्संक्षिप्तैकगाथया दर्शयति-

लक्खणभेया हेऊ-फलभावओ भेयइंदियविभागा ।
वागऽक्खरमूएयर-भेया भेओ मइसुयाणं ॥९७॥

लक्षणभेदाद्भिन्नलक्षणत्वाद् मतिश्रुतयोर्भेदः । तथा-मतिज्ञानं हेतुः, श्रुतं तु तत्फलं तत्कार्यम्; इति हेतुफलभावात् तयोर्भेदः । तथा-(भेय त्ति) विभागशब्दोऽत्रापि योज्यते, ततश्च भेदानां विभागो विशेषो भिन्नत्वं भेदविभागः, तस्मादपि मतिश्रुतयोर्भेदः, अवग्रहाऽऽदिभेदादष्टाविंशत्यादिभेदं हि मतिज्ञानं वक्ष्यते " अक्खर सण्णी सम्मं " इत्यादिवक्ष्यमाणवचनाच्चतुर्दशाऽऽदिभेदं च श्रुतज्ञानमिति भेदविभागात्तयोर्भेद इति भावः । (इंदियविभाग त्ति) तत्वतः श्रोत्रविषयमेव श्रुतज्ञानम्, शेषेन्द्रियविषयमपि मतिज्ञानम्, इत्येवं वक्ष्यमाणादिन्द्रियविभागाच्च तयोर्भेदः । (वागेत्यादि) वल्कश्चाक्षरं च मूकं च वल्काऽऽदिप्रतिपक्षभूतानीतराणि च वल्काक्षरमूकेतराणि, तैर्योऽसौ भेदः, तस्मादपि मतिश्रुतयोर्भेद इत्यर्थः । तथाहि-" अन्ने मन्नंति मई, वग्गसमा सुवसरिसयं तु सुयं । (१५४) " इत्यादिना ग्रन्थेन कारणत्वाद् वल्कसदृशं मतिज्ञानं, शुम्बसदृशं तु श्रुतज्ञानम्, कार्यत्वादित्यत्रैव वक्ष्यते। तत्र वल्कः पलाशाऽऽदित्वग्रूपः, शुम्बं तु इतरशब्देनेहोपात्तं तज्जनिता दवरिकोच्यते । ततश्चायमभिप्रायः-यथा वल्कनाऽऽदिसंस्कृतो विशिष्टावस्थाऽऽपन्नः सन् वल्को दवरिकेत्युच्यते, तथा परोपदेशार्हद्वचनसंस्कृतं विशिष्टावस्थाप्राप्तं सद् मतिज्ञानं श्रुतमभिधीयते, इत्येवं वल्केतरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः । तथा-" अन्ने अणक्खरऽक्खर-विसेसओ मइसुयाइँ भिंदति। जं मइनाणमणक्खर-मक्खरमियरं च सुयनाणं" ॥ १६२ ॥ इत्यादिग्रन्थेन वक्ष्यमाणादक्षरेतरभेदात्तयोर्भेदः । तथा-" सपरप्पच्चायणओ, भेओ मूएयराण वाऽभिहिओ। जं तु सुयं मइनाणं, सपरप्पच्चायगं सुत्तं" ॥ १७१ ॥ इत्याद्यभिधास्यमानवचनान्मूकेतरभेदान्मतिश्रुतयोर्भेदः । इति गाथासंक्षेपार्थः। विस्तरार्थं तु भाष्यकारः स्वत एव वक्ष्यति। इयं च गाथा बहु-

स्वादर्शेषु न दृश्यते, केवलं क्वचिदादर्शेऽपि दृष्टा,अतीव सोपयोगा च, इत्यस्माभिः किञ्चिद् व्याख्यातेति ॥९७॥

तत्र " यथोद्देशं निर्देशः " इति कृत्वा लक्षणभेदं तावदाह-

जमभिनिबुज्झइ तमभिनि-बोहो जं सुणइ तं सुयं भणियं ।
सद्द सुणइ जइ तओ, नाणं तो नाऽऽयभावो त ॥९८॥

यज्ज्ञानं कर्तृ, वस्तु कर्मताऽऽपन्नमभिनिबुध्यते अवगच्छति,तज्ज्ञानमभिनिबोधः तदाभिनिबोधिकं तन्मतिज्ञानमिति यावत्। (जं सुणइ इत्यादि) यत्पुनर्जीवः शृणोति तच्छ्रुतम्, इत्येवं सूत्रोक्तलक्षणभेदान्मतिश्रुतयोर्भेदः । तथा च सूत्रम्-"जइ वि सामित्ताईहिं अविसेसो, तह वि पुणोऽत्थाऽऽयरिया णाणत्तं पण्णवयंति। तं जहा-अभिनिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहियं,सुणेइ त्ति सुयं। " इत्यादि। अत्राऽऽह प्रेरकः-यदि नाम यदात्मा शृणोति तत् श्रुतमिति श्रुतज्ञानस्य लक्षणमुच्यते, हन्त ! तर्हि शब्दमेव शृणोति जीव इति सकलजगत्प्रतीतमेव । ततः किं ब्रूयते ?, इत्याह-(जइ तओ इत्यादि) यदि च सकः स शब्दो ज्ञानं श्रुतरूपम, (तो त्ति) ततो नाऽऽत्मनो जीवस्य भावः परिणामः तच्छ्रुतं प्राप्नोति, शब्दस्य श्रुतत्वेनेष्टत्वात्, तस्य च पौद्गलिकत्वेन मूर्तत्वात्, आत्मनस्त्वमूर्तत्वाद्, मूर्तस्य चामूर्तपरिणामत्वायोगाद्, आत्मनः परिणामश्च श्रुतज्ञानमिष्यते तीर्थकराऽऽदिभिः,इति कथं न विरोधः ?,इति भावः । इति गाथार्थः ॥ ९८ ॥

अत्राऽऽचार्यः प्रत्युत्तरयति-

सुयकारणं जओ सो, सुयं च तक्कारणं ति तो तम्मि ।
कीरइ सुओवयारो, सुयं तु परमत्थओ जीवो ॥९९॥

यतो यस्मात् कारणात् स शब्दो वक्त्राऽभिधीयमानः श्रोतृगतस्य श्रुतज्ञानस्य कारणं निमित्तं भवति, श्रुतं च वक्तृगतश्रुतोपयोगरूपं व्याख्यानकरणाऽऽदौ तस्य वक्त्राऽभिधीयमानस्य शब्दस्य कारणं जायते, इयतः तस्मिन् श्रुतज्ञानस्य कारणभूते कार्यभूते वा शब्दे श्रुतोपचारः क्रियते। ततो न परमार्थतः शब्दः श्रुतं, किं तूपचारेण इत्यदोषः । परमार्थतस्तर्हि किं श्रुतम् ?, इत्याह-(सुयं स्वित्यादि) परमार्थतस्तु जीवः श्रुतं,ज्ञानज्ञानिनोरनन्यभूतत्वात् । तथा च पूर्वमभिहितम्-शृणोतीति श्रुतमात्मैवेति । तस्माच्छ्रूयत इति श्रुतमिति कर्मसाधनपक्षे द्रव्यश्रुतमेवाऽभिधीयते, शृणोतीति श्रुतमिति, कर्तृसाधनपक्षे तु भावश्रुतमात्मैव, इति न काचिदनात्मभावता श्रुतज्ञानस्य। इति गाथार्थः ॥ ९९ ॥

(८) अथ प्रकारान्तरेणाऽपि मतिश्रुतयोर्लक्षणभेदमाह-

इंदियमणोनिमित्तं, जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं ।
नियएत्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मई सेसं ॥ १०० ॥

इन्द्रियाणि च स्पर्शनाऽऽदीनि, मनश्च, इन्द्रियमनांसि, तानि निमित्तं यस्य तदिन्द्रियमनोनिमित्तम्,इन्द्रियमनोद्वारेण यद्विज्ञानमुपजायत इत्यर्थः । तत् किम् ?,इत्याह-तद्भावश्रुतं श्रुतज्ञानमित्यर्थः । इन्द्रियमनोनिमित्तं च मतिज्ञानमपि भवति, [illegible] व्यवच्छेदार्थमाह-श्रुतानुसारेणेति श्रूयत इति श्रुतम् । [illegible] तद्रूपं शब्द इत्यर्थः, स च सङ्केतविषयपरोपदेशरूपः श्रुत[illegible] त्मकश्चेह गृह्यते,तदनुसारेणैव यदुत्पद्यते तत् श्रुतज्ञानं, । इदमुक्तं भवति-सङ्केतकालप्रवृत्तं,श्रुतग्रन्थसंबन्धिनं वा घटा

शब्दमनुसृत्य वाच्यवाचकभावेन संयोज्य 'घटो घट' इत्याद्यन्तर्जल्पाकारमन्तःशब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियाऽऽदिनिमित्तं यज्ज्ञानमुदेति तच्छ्रुतज्ञानमिति । तच्च कथंभूतम् ?, इत्याह–'निजकाऽर्थोक्तिसमर्थमिति' निजकः स्वस्मिन् प्रतिभासमानो योऽसौ घटाऽऽदिरर्थः तस्योक्तिः परस्मै प्रतिपादनं तत्र समर्थं क्षमं निजकार्थोक्तिसमर्थम्। अयमिह भावार्थः-शब्दोल्लेखसहितं विज्ञानमुत्पन्नं स्वप्रतिभासमानार्थप्रतिपादकं शब्दं जनयति, तेन च परः प्रत्याय्यते, इत्येवं निजकार्थोक्तिसमर्थमिदं भवति, अभिलाप्यवस्तुविषयमिति यावत् । स्वरूपविशेषणं चैतत्, शब्दानुसारेणोत्पन्नज्ञानस्य निजकार्थोक्तिसामर्थ्याऽव्यभिचारादिति । (मइसेस त्ति) शेषमिन्द्रियमनोनिमित्तश्रुतानुसारेण यदवग्रहाऽऽदिज्ञानं तन्मतिज्ञानमित्यर्थः । अत्राऽऽह कश्चित्–ननु यदि शब्दोल्लेखसहितं श्रुतज्ञानमिष्यते, शेषं तु मतिज्ञानम्, तदा वक्ष्यमाणस्वरूपोऽवग्रह एव मतिज्ञानं स्यात्, न पुनरीहापायाऽऽदयः, तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वात्, मतिज्ञानभेदत्वेन चैते प्रसिद्धाः, तत् कथं श्रुतज्ञानलक्षणस्य नातिव्याप्तिदोषः ?, कथं च न मतिज्ञानस्याव्याप्तिप्रसङ्गः ? । अपरं च-अङ्गानङ्गप्रविष्टाऽऽदिषु "अक्खर सन्नी सम्मं, साईयं खलु सपज्जवसियं च ।" इत्यादिषु च श्रुतभेदेषु मतिज्ञानभेदस्वरूपाणामवग्रहेहाऽऽदीनां सद्भावात् सर्वस्याऽपि तस्य मतिज्ञानत्वप्रसङ्गात्, मतिज्ञानभेदानां चेहापायाऽऽदीनां साभिलापत्वेन श्रुतज्ञानत्वप्राप्तेरुभयलक्षणसंकीर्णतादोषश्च स्यात् । अत्रोच्यते–यत्तावदुक्तम्-अवग्रह एव मतिज्ञानं स्यात्, न त्वीहाऽऽदयः, तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वात् । तदयुक्तम्। यतो यद्यपि ईहाऽऽदयः साभिलापाः, तथाऽपि न तेषां श्रुतरूपता, श्रुतानुसारिण एव साभिलापज्ञानस्य श्रुतत्वात् । अथावग्रहाऽऽदयः श्रुतनिश्रिता एव सिद्धान्ते प्रोक्ताः, युक्तितोऽपि चेहाऽऽदिषु शब्दाभिलापः संकेतकालाऽऽकर्णितशब्दानुसरणमन्तरेण न संगच्छते, अतः कथं न तेषां श्रुतानुसारित्वम् ?। तदयुक्तम् । पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमतेरेवैते समुपजायन्त इति श्रुतनिश्रिता उच्यन्ते, न पुनर्व्यवहारकाले श्रुतानुसारित्वमेतेष्वस्ति । वक्ष्यते च–"पुव्वं सुयपरिकम्मिय-मइस्स जं संपयं सुयाऽईयं । तं सुयनिस्सियं" इत्यादि । यदपि युक्तितोऽपि चेत्याद्युक्तम्, तदपि न समीचीनम्, संकेतकालाऽऽकर्णितशब्दपरिकर्मितबुद्धीनां व्यवहारकाले तदनुस्मरणमन्तरेणाऽपि विकल्पपरम्परापूर्वकविविधवचनप्रवृत्तिदर्शनात्, न हि पूर्वप्रवृत्तसंकेताः, अधीतश्रुतग्रन्थाश्च व्यवहारकाले प्रतिविकल्पन्ते– एतच्छब्दवाच्यत्वेनैतत् पूर्वं मयाऽवगतमित्येवंरूपं संकेतम्, तथाऽमुकस्मिन् ग्रन्थे एतदित्थमभिहितमित्येवं श्रुतग्रन्थं चाऽनुसरन्तो दृश्यन्ते. अभ्यासपाटववशात् तदनुसरणमन्तरेणाऽप्यनवरतं विकल्पभाषणप्रवृत्तेः । यत्र तु श्रुतानुसारित्वं तत्र श्रुतरूपताऽस्माभिरपि न निषिध्यते । तस्मात् श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतत्वाभावादीहापायधारणानां सामस्त्येन मतिज्ञानत्वान्न मतिज्ञानलक्षणस्याव्याप्तिदोषः, श्रुतरूपतायाश्च श्रुतानुसारिष्वेव साऽभिलापज्ञानविशेषेषु भावाद् न श्रुतज्ञानलक्षणस्याऽतिव्याप्तिकृतो दोषः । अपरं च-अङ्गाऽनङ्गप्रविष्टाऽऽदिश्रुतभेदेषु 'मतिपूर्वमेव श्रुतम्' इति वक्ष्यमाणवचनात्प्रथमं शब्दाऽऽद्यवग्रहणकालेऽवग्रहाऽऽदयः समुपजायन्ते, एते चाश्रुतानुसारित्वान्मतिज्ञानम्, यस्तु तेष्वङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतभेदेषु श्रुताऽनुसारी ज्ञानविशेषः स श्रुतज्ञानम् । ततश्च-अङ्गानङ्गप्रविष्टाऽऽदिश्रुतभेदानां सामस्त्येन मतिज्ञानत्वाभावाद्, ईहाऽऽदिषु च मतिभेदेषु श्रुताऽनुसारित्वाभावेन श्रुतज्ञानत्वाऽसंभवाच्चोभयलक्षणसंकीर्णतादोषोऽप्यनुपपन्न इति सर्वं सुस्थम् । न चेह मतिश्रुतयोः परमाणुकरिणोरिवाऽऽत्यन्तिको भेदः समन्वेषणीयः, यतः प्रागिहैवोक्तम्-विशिष्टः कश्चिन्मतिविशेष एव श्रुतं, पुरस्तादपि च वक्ष्यते-वल्कसदृशं मतिज्ञानं तज्जनितदवरिकारूपं श्रुतज्ञानम्, न च वल्कशुम्बयोः परमाणुकुञ्जरवदात्यन्तिको भेदः, किं तु कारणकार्यभावकृत एव, स चेहाऽपि विद्यते, मतेः कारणत्वेन, श्रुतस्य तु कार्यत्वेनाभिधास्यमानत्वात् । न च कार्यकारणयोरैकान्तिको भेदः, कनककुण्डलाऽऽदिषु, मृत्पिण्डकुण्डाऽऽदिषु च तथाऽदर्शनात् । तस्मात्तदवग्रहापेक्षयाऽनभिलाप्यत्वाद्, ईहाऽऽद्यपेक्षया तु साभिलापत्वात् साभिलापानभिलापं मतिज्ञानम्, अश्रुतानुसारि च, संकेतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसंबन्धिनो वा शब्दस्य व्यवहारकाले अननुसरणात् । श्रुतज्ञानं तु साभिलापमेव, श्रुतानुसार्येव च, संकेतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसंबन्धिनो वा शब्दरूपस्य श्रुतस्य व्यवहारकालेऽवश्यमनुसरणादिति स्थितमिति गाथार्थः ॥ १०० ॥

अथ श्रुतज्ञानलक्षणस्याऽव्याप्तिदोषमुद्भावयन्नाह परः-

जइ सुयलक्खणमेयं, तो न तमेगिंदियाण संभवइ ।
दव्वसुयाणुभावम्मि वि, भावसुयं सुत्तजइणो व्व ॥१०१॥

यदि श्रुतज्ञानस्येदमनन्तरगाथोक्तं लक्षणमिष्यते- श्रुतानुसारि ज्ञानं यदि श्रुतमभ्युपगम्यत इत्यर्थः, तदा तदेकेन्द्रियाणां न संभवति न घटते, शब्दानुसारित्वस्य तेष्वसंभवात्; तदसंभवश्च मनःप्रभृतिसामग्र्यभावात् । इष्यते चाऽऽगमे-"एगिंदिया नियमं दुयन्नाणी । तं जहा-मइअन्नाणी य, सुयअन्नाणी य" इति वचनादेकेन्द्रियाणामपि श्रुतमात्रम्, इत्यव्यापकमेवैतद् लक्षणम् । अत्रोत्तरमाह–(दव्वसुयेत्यादि) द्रव्यश्रुतं शब्दस्तस्याभावेऽप्येकेन्द्रियाणां भावश्रुतमभ्युपगन्तव्यम्, सुप्तयतेरिव । इदमुक्तं भवति–यद्यप्येकेन्द्रियाणां कारणवैकल्याद् द्रव्यश्रुतं नास्ति, तथाऽपि स्वापाऽऽद्यवस्थायां साध्वादेरिवाशब्दकारणम्, अशब्दकार्यं च श्रुताऽऽवरणक्षयोपशममात्ररूपं भावश्रुतं केवलिदृष्टममीषां मन्तव्यम्, न हि स्वापाऽऽद्यवस्थायां साध्वादिः शब्दं न शृणोति, न विकल्पयतीत्येतावन्मात्रेण तस्य श्रुतज्ञानाभावो व्यवस्थाप्यते, किं तु स्वापाऽऽद्यवस्थोत्तरकालव्यक्तीभवद्भावश्रुतं दृष्ट्वा पयसि सर्पिरिव प्रागपि तस्य तदासीदिति व्यवह्रियते, एवमेकेन्द्रियाणामपि सामग्रीवैकल्याद् यद्यपि द्रव्यश्रुताभावः, तथाऽप्यावरणक्षयोपशमरूपं भावश्रुतमवसेयम्, परमयोगिभिर्दृष्टत्वाद् वल्ल्यादिष्वाहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाऽऽदेस्तल्लिङ्गस्य दर्शनाच्चेति । आह-ननु सुप्तयतिलक्षण दृष्टान्तेऽपि तावद्भावश्रुतं नावगच्छामः । तथाहि-श्रुतोपयोगपरिणत आत्मा शृणोतीति श्रुतं, श्रूयते तदिति वा श्रुतमित्यनयोर्मध्ये कया व्युत्पत्त्या सुप्तसाधोः श्रुतमभ्युपगम्यते?। तत्राऽऽद्यपक्षो न युक्तः, सुप्तस्य श्रुतोपयोगासंभवात् । द्वितीयोऽपि न संगतः, तत्र शब्दस्य वाच्यत्वात्, तस्यापि च स्वपतोऽसंभवादिति । सत्यम् । किं तु शृणोत्यनेन, अस्माद्, अस्मिन्वेति व्युत्पत्तिरिहाश्रीयते, एवं च श्रुतज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमो वाच्यः संपद्यते, स च सुप्तयते, एकेन्द्रियाणां चास्तीति न किञ्चित्परिहीयते । इति गाथार्थः ॥ १०१ ॥

अथ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्याऽऽपादनेनैकेन्द्रियाणां श्रुतसद्भावं विघटयन्नाह-

भावसुयं भासासो-यलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स ।
भासाऽभिमुहस्स जयं, सोऊण य जं हवेज्जाहि ॥१०२॥

भावश्रुतं युज्यत इति संबन्धः । कस्य युज्यते ?, इत्याह-भाषाश्रोत्रलब्धिमतः-भाषालब्धिमतः, श्रवणेन्द्रियलब्धिमतश्चेत्यर्थः । कथंभूतं यद्भावश्रुतम् ?, इत्याह-भाषाऽभिमुखस्य शब्दमभिधित्सोः 'प्रथममेव मध्ये एतत्प्रतिपादयामि' इत्युपयोगरूपं यद्भवेत्, श्रुत्वा वा परोदीरितां भाषां यद्भवेद् 'एतदनेन प्रतिपादितमिति ।' इह च यथासंख्यमवगन्तव्यम्-भाषालब्धिमतः प्रथमं भवेत्, श्रवणेन्द्रियलब्धिमतस्तु द्वितीयं भवेदिति । (न इयरस्स त्ति) इतरस्य तु भाषाश्रोत्रलब्धिरहितस्य भावश्रुतं न युज्यते । अयमभिप्रायः-यस्य सुप्तसाधोर्भाषाश्रोत्रलब्धिरस्ति, तस्योत्थितस्य परप्रतिपादनपरोदीरितशब्दश्रवणाऽऽदिलक्षणं भावश्रुतकार्यं दृश्यते, तद्दर्शनाच्च सुप्तावस्थायामपि तस्य लब्धिरूपतया तदाऽऽसीदित्यनुमीयते, यस्य त्वेकेन्द्रियस्य भाषाश्रोत्रलब्धिरहितत्वेन कदाचिदपि भावश्रुतकार्यं नोपलभ्यते, तस्य कथं तदस्तीति प्रतीयेत ?। इति गाथार्थः ॥ १०२ ॥

अत्रोत्तरमाह-

जह सुहुमं भाविंदिय-नाणं दव्विंदियावरोहे वि ।
तह दव्वसुयाभावे, भावसुयं पत्थिवाईणं ॥ १०३ ॥

इह केवलिनो विहाय शेषससारिजीवानां सर्वेषामप्यतिस्तोकबहुबहुतरबहुतमाऽऽदितारतम्यभावेन द्रव्येन्द्रियेष्वसत्स्वपि लब्धीन्द्रियपञ्चकाऽऽवरणक्षयोपशमः समस्त्येवेति परममुनिवचनम् । ततश्च यथा येन प्रकारेण पृथिव्यादीनामेकेन्द्रियाणां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनलक्षणानां प्रत्येकं निर्वृत्त्युपकरणरूपाणां द्रव्येन्द्रियाणां तत्प्रतिबन्धककर्माऽऽवृतत्वादवरोधेऽप्यभावेऽपि सूक्ष्ममव्यक्तं लब्ध्युपयोगरूपं श्रोत्राऽऽदि भावेन्द्रियज्ञानं भवति, लब्धीन्द्रियाऽऽवरणक्षयोपशमसंभूतार्णीयसी ज्ञानशक्तिर्भवतीत्यर्थः । तथा तेनैव प्रकारेण द्रव्यश्रुतस्य द्रव्येन्द्रियस्थानीयस्याभावेऽपि भावश्रुतं भावेन्द्रियज्ञानकल्पं पृथिव्यादीनां भवतीति प्रतिपत्तव्यमेव । इदमुक्तं भवति-एकेन्द्रियाणां तावच्छ्रोत्राऽऽदिद्रव्येन्द्रियाभावेऽपि भावेन्द्रियज्ञानं किञ्चिद् दृश्यत एव, वनस्पत्यादिषु स्पष्टतल्लिङ्गोपलम्भात् । तथाहि-कलकण्ठोद्गीर्णमधुरपञ्चमोद्गारश्रवणात्सद्यः कुसुमपल्लवाऽऽदिप्रसवो विरहकवृक्षाऽऽदिषु श्रवणेन्द्रियज्ञानस्य व्यक्तं लिङ्गमवलोक्यते । तिलकाऽऽदितरुषु पुनः कमनीयकामिनीकमलदलदीर्घशरदिन्दुधवललोचनकटाक्षविक्षेपात् कुसुमाऽऽद्याविर्भावश्चक्षुरिन्द्रियज्ञानस्य, चम्पकाऽऽदिविटपेषु तु विविधसुगन्धिगन्धवस्तुनिकुरम्बोन्मिश्रविमलशीतलसलिलसेकात्तत्प्रकटनं घ्राणेन्द्रियज्ञानस्य, बकुलाऽऽदिभूरुहेषु तु रम्भाऽतिशायिप्रवररूपवरतरुणभामिनीमुखप्रदत्तस्वच्छसुस्वादुसुरभिवारुणीगण्डूषाऽऽस्वादनात् तदाविष्करणं रसनेन्द्रियज्ञानस्य, कुरबकाऽऽदिविटपिष्वशोकाऽऽदिद्रुमेषु च घनपीनोन्नतकठिनकुचकुम्भविभ्रमापभ्राजितकुम्भानकुम्भरणन्मणिवलयक्वणत्कङ्कणाऽऽभरणभूषितभव्यभामिनीभुजलताऽवगूहनसुखाश्लिष्टपद्मरागचूर्णशोणतलतत्पादकमलपार्ष्णिप्रहाराच्च झगिति प्रसूनपल्लवाऽऽदिप्रभवः स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्य स्पष्टं लिङ्गमभिवीक्ष्यते । ततश्च यथैतेषु द्रव्येन्द्रियासत्त्वेऽप्येतद्भावेन्द्रियजन्यं ज्ञानं सकलजनप्रसिद्धमस्ति, तथा द्रव्यश्रुताभावे भावश्रुतमपि भविष्यति । दृश्यते हि जलाऽऽद्याहारोपजीवनाद्वनस्पत्यादीनामाहारसंज्ञा, संकोचनवल्ल्यादीनां तु हस्तस्पर्शाऽऽदिभीत्याऽवयवसंकोचनाऽऽदिभ्यो भयसंज्ञा, विरहकतिलकचम्पककेशराशोकाऽऽदीनां तु मैथुनसंज्ञा दर्शितैव, बिल्वपलाशाऽऽदीनां तु निधानीकृतद्रविणोपरि पादमोचनाऽऽदिभ्यः परिग्रहसंज्ञा । न चैताः संज्ञाः भावश्रुतमन्तरेणोपपद्यन्ते । तस्माद्भावेन्द्रियपञ्चकाऽऽवरणक्षयोपशमाद्भावेन्द्रियपञ्चकज्ञानवद्भावश्रुताऽऽवरणक्षयोपशमसद्भावाद् द्रव्यश्रुताभावेऽपि यच्च यावच्च भावश्रुतमस्त्येवैकेन्द्रियाणाम्, इत्यलं विस्तरेण । तर्हि-" जं विन्नाणं सुयानुसारेण " (१००) इति श्रुतज्ञानलक्षणं व्यभिचारि प्राप्नोति, श्रुतानुसारित्वमन्तरेणाप्येकेन्द्रियाणां भावश्रुताभ्युपगमादिति चेत् । नैवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, शब्दोल्लेखसहितं विशिष्टमेव भावश्रुतमाश्रित्य तल्लक्षणमुक्तम्, यत्त्वेकेन्द्रियाणामौघिकमविशिष्टभावश्रुतमात्रं तदावरणक्षयोपशमस्वरूपम्, तच्छ्रुतानुसारित्वमन्तरेणाऽपि यदि भवति, तथाऽपि न कश्चिद् व्यभिचारः । इति गाथार्थः ॥ १०३ ॥

पुनरप्याह परः-

एवं सव्वपसंगो, न तदावरणाणमक्खओवसमा ।
मइसुयनाणाऽऽवरण-क्खओवसमओ मइसुयाइं ॥१०४॥

यदि भाषाश्रोत्रलब्धिरहितानामपि काष्ठकल्पानां पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणां स्पष्टं किमप्यनुलक्ष्यमाणमपि केनाऽपि वागाडम्बरमात्रेण ज्ञानं व्यवस्थाप्यते, तर्हि सर्वेषामपि केवलज्ञानपर्यन्तानां पञ्चानामपि ज्ञानानां प्रसङ्गः सद्भावस्तेषां प्राप्नोतीत्यर्थः । पञ्चापि ज्ञानानि एकेन्द्रियाणां सन्ति, इत्येतदपि कस्मान्नोच्यते ?, स्पष्टानुपलम्भस्य विशेषाभावादिति भावः । अत्रोत्तरमाह-तदेतन्न । कुतः ?, इत्याह-तदावरणानामवधिमनःपर्यायकेवलज्ञानाऽऽवारककर्मणामक्षयोपशमादिति, अक्षयाच्चेति स्वयमपि द्रष्टव्यम् । इदमुक्तं भवति-केवलज्ञानं तावत् स्वावारककर्मणः क्षय एव जायते, अवधिमनःपर्यायज्ञाने तु तस्य क्षयोपशमे भवतः, एतच्चैकेन्द्रियाणां नास्ति, तत्कार्यादर्शनाद्, आगमेऽनुक्तत्वाच्च; इति न सर्वज्ञानप्रसङ्गः । मतिश्रुतेऽपि तर्हि मा भूताम्, इति चेत् । इत्यत्राऽऽह-(मईत्यादि) मतिश्रुतज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमस्त्वेकेन्द्रियाणामस्त्येव, तत्कार्यदर्शनात्, सिद्धान्तेऽभिहितत्वाच्च । ततश्च तत्क्षयोपशमसद्भावान्मतिश्रुते भवत एव तेषाम् । इति गाथार्थः ॥ १०४ ॥

तदेवं सप्रसङ्गः प्रदर्शितो लक्षणभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः, साम्प्रतं हेतुफलभावात् तमुपदर्शयन्नाह-

मइपुव्वं सुयमुत्तं, न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं ।
पुव्वं पूरणपालण-भावाओ जं मई तस्स ॥ १०५ ॥

"मइपुव्वगं सुत्तं" इति वचनादागमे मतिः पूर्वं यस्य तद् मतिपूर्वं श्रुतमुक्तम्, न पुनर्मतिः श्रुतपूर्विका, इत्यनयोरयं विशेषः । यदि ह्येकत्वं मतिश्रुतयोर्भवेत्, तदा एवंभूतो नियमेन पूर्वपश्चाद्भावो घटतत्स्वरूपयोरिव न स्याद्, अस्ति चाऽयम्, ततो भेद इति भावः । किमिति पुनर्मतिपूर्वमेव [illegible] ? इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् तस्य श्रुतस्य मतिः

ते । कुत ?, इत्याह-पूरणेत्यादि 'पॄ' धातुः पालनपूरणयोरर्थयोः पठ्यते, तस्य च पिपर्तीति पूर्वमिति निपात्यते । ततश्च श्रुतस्य पूरणात् पालनाच्च मतिर्यस्मात्पूर्वमेव युज्यते, तस्मान्मतिपूर्वमेव श्रुतमुक्तम्, पूर्वशब्दश्चायमिह कारणपर्यायो द्रष्टव्यः, कार्यात् पूर्वमेव कारणस्य भावात्, "सम्यग्ज्ञानपूर्विका पुरुषार्थसिद्धिः" इत्यादौ तथादर्शनाच्च । ततश्च मतिपूर्वं श्रुतमिति कोऽर्थः ?, श्रुतज्ञानं कार्यम्, मतिस्तु तत्कारणम्, कार्यकारणयोश्च मृत्पिण्डघटयोरिव कथञ्चिद् भेदः प्रतीत एवेति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ १०५ ॥

पूरणाऽऽदिधर्मानेव मतेर्भावयन्नाह-

पूरिज्जइ पाविज्जइ, दिज्जइ वा जं मईए नाऽमइणा ।
पालिज्जइ य मईए, गहियं इहरा पणस्सेज्जा ॥ १०६ ॥

अनुप्रेक्षाऽऽदिकाले अभ्यूह्य श्रुतपर्यायवर्द्धनेन मत्यैव श्रुतज्ञानं पूर्यते पोष्यते पुष्टिं नीयत इत्यर्थः, तथा मत्यैवाप्यते तत् प्राप्यते गृह्यते, तथा मत्यैव तदन्यस्मै दीयते व्याख्यायते, नामत्या न मतिमन्तरेणेत्यर्थः, प्राकृतत्वात्पुंल्लिङ्गनिर्देशः । तथा गृहीतं सदेतत्परावर्तनचिन्तनद्वारेण मत्यैव पाल्यते स्थिरीक्रियते, इतरथा मत्यभावे तद् गृहीतमपि प्रणश्येदेवेत्यर्थः । श्रुतज्ञानस्यैते पूरणाऽऽद्ययोऽर्था विशिष्टाभ्यूहधारणाऽऽदीनन्तरेण कर्तुं न शक्यन्ते, अभ्यूहाऽऽदयश्च मतिज्ञानमेव, इति सर्वथा श्रुतस्य मतिरेव कारणम्, श्रुतं तु कार्यम्, कार्यकारणभावश्च भेदे सत्येवोपपद्यते, अभेदे घटतत्स्वरूपयोरिव तदनुपपत्तेः । तस्मात् कारणकार्यरूपत्वाद् मतिश्रुतयोर्भेदः । इति गाथाऽर्थः ॥ १०६ ॥

अथ श्रुतस्य मतिपूर्वतां विघटयन्नाह-

णाणाणऽण्णाणाणि य, समकालाइं जओ मइसुयाइं ।
तो न सुयं मइपुव्वं, मइणाणे वा सुयन्नाणं ॥ १०७ ॥

इह मतिश्रुते वक्ष्यमाणयुक्त्या द्विविधे- सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानस्वरूपे, मिथ्यादृष्टेस्त्वज्ञानस्वभावे । तत्र ज्ञाने अज्ञाने चैते प्रत्येकं समकालमेव भवतः, तदावरणक्षयोपशमलाभस्यापगमे युगपदेव निर्देशात् । यतश्चैते ज्ञाने अज्ञाने च मतिश्रुते पृथक् समकाले भवतः, ततो न श्रुतं मतिपूर्वं युज्यते, न हि सममेवोत्पन्नयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव पूर्वपश्चाद्भावः सङ्गच्छते । अथोत्सूत्रोऽप्यसदाग्रहवशात्स न त्यज्यते, इत्याह-(मइनाणे वा इत्यादि) इदमुक्तं भवति-मतिज्ञाने समुत्पन्ने तत्समकालं च श्रुतज्ञानेऽनभ्युपगम्यमाने श्रुताऽज्ञानं जीवस्य प्रसज्यते, श्रुतज्ञानानुत्पादेऽप्यपि तदनिवृत्तेः, न च ज्ञानाऽज्ञानयोः समकालमवस्थितिरागमे कश्चिदप्यनुमन्यते, विरोधात्-ज्ञानस्य सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वात्, अज्ञानस्य तु मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वादिति गाथार्थः ॥ १०७ ॥

अत्र प्रतिविधानमाह-

इह लद्धिमइसुयाइं, समकालाइं न तूवओगो सिं ।
मइपुव्वं सुयमिह पुण, सुओवओगो मइप्पभवो ॥ १०८ ॥

ननु भवान्पर्यनुयुञ्जानोऽस्मत्परस्य, अभिप्रायापरिज्ञानात् । तथाहि-द्विविधे मतिश्रुते तदावरणक्षयोपशमरूपलब्धितः, उपयोगतश्च । तत्रेह लब्धितो ये मतिश्रुते ते एव समकालं भवतः, सम्यक्त्वप्राप्त्यादौ न युगपत्स्वभावेन, किं तु क्रमेणैवोपयोगस्वभावेन तथास्वाभाव्यात् क्रमेणैव प्रवर्तेते । अत्र तर्हि लब्धिमङ्गीकृत्य मतिपूर्वता श्रुतस्योक्ता भविष्यतीति चेत् । नैवम्, इत्याह-मतिपूर्वं श्रुतम्, इह तु श्रुतोपयोग एव मतिप्रभवोऽङ्गीक्रियते, न लब्धिरिति भावः । श्रुतोपयोगो हि विशिष्टमन्तर्जल्पाऽऽकारं श्रुतानुसारि ज्ञानमभिधीयते, तच्चावग्रहेहाऽऽदीनन्तरेणाऽऽकस्मिकं न भवति, अवग्रहाऽऽदयश्च मतिरेव, इति तत्पूर्वता श्रुतस्य न विरुध्यते । इति गाथार्थः ॥ १०८ ॥

तदेवं मतिपूर्वं श्रुतमिति समर्थितम्, परस्तु मतेरपि श्रुतपूर्वताऽऽपादनेनाऽविशेषमुद्भावयन्नाह-

सोऊण जा मई भे, सा सुयपुव्व त्ति तेण न विसेसो ।
सा दव्वसुयप्पभवा, भावसुयाओ मई नत्थि ॥ १०९ ॥

परस्माच्छब्दं श्रुत्वा तद्विषया (भे) भवतामपि या मतिरुत्पद्यते सा श्रुतपूर्वा श्रुतकारणैव, शब्दस्य श्रुतत्वेन प्रागुक्तत्वात्, तस्याश्च मतेः तत्प्रभवत्वेन भवतामपि सिद्धत्वात् । ततश्च (न विसेसो त्ति) अन्योऽन्यपूर्वभावितायां मतिश्रुतयोर्न विशेष इत्यर्थः । तथा च सति " न मई सुयपुव्विय त्ति " यदुक्तं प्राक्, तदयुक्तं प्राप्नोतीति भावः । अत्रोत्तरमाह-परस्माच्छब्दमाकर्ण्य या मतिरुत्पद्यते, सा हन्त ! शब्दस्य द्रव्यश्रुतमात्रत्वाद् द्रव्यश्रुतप्रभवा, न भावश्रुतकारणा, एतत्तु न केनाऽपि वार्यते, किं त्वेतदेव वयं ब्रूमो यदुत-भावश्रुताद् मतिर्नास्ति, भावश्रुतपूर्विका मतिर्न भवतीत्यर्थः, द्रव्यश्रुतप्रभवा तु भवतु, को दोषः ? । इति गाथाऽर्थः ॥ १०९ ॥

ननु भावश्रुतादूर्ध्वं मतिः किं सर्वथा न भवति ?, इत्याह-

कज्जतया न उ कमसो, कमेण को वा मइं निवारेइ ? ।
जं तत्थावत्थाणं, सुयस्स सुत्तोवओगाओ ॥ ११० ॥

भावश्रुताद् मतिः कार्यतयैव नास्तीत्यनन्तरोक्तगाथाऽन्वयेन संबन्धः (न उ कमसो त्ति) क्रमशस्तु मतिर्नास्तीत्येवं न, किं तर्हि ?, क्रमशः साऽस्ति, इत्येतत् सर्वोऽपि मन्यते, अन्यथा आमरणावधि श्रुतमात्रोपयोगप्रसङ्गात् । यदि क्रमशः साऽस्ति, तर्हि क्रमेण भवन्त्यास्तस्या भवन्तः किं कुर्वन्ति ?, इत्याह-(कमेणेत्यादि) वाशब्दः पातनार्थे, सा च कृतैव, क्रमेण भवन्तीं मतिं को निवारयति ?, मत्या श्रुतोपयोगो जन्यते, तदुपरमे तु निजकारणकलापात् सदैव प्रवृत्ता पुनरपि मतिरवतिष्ठते, पुनस्तथैव श्रुतम्, तथैव च मतिः, इत्येवं क्रमेण भवन्त्या मतेर्निषेधका वयं न भवाम इत्यर्थः । किमिति ?, इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् तत्र तस्यां मतौ अवस्थानं स्थितिर्भवति, श्रुतोपयोगात् च्युतस्य ततः क्रमेण मतिं न निषेधयामः । इदमुक्तं भवति-यथा सामान्यभूतेन सुवर्णेन स्वविशेषरूपाः कङ्कणाङ्गुलीयकाऽऽदयो जन्यन्ते, अतस्ते तत्कार्यव्यपदेशं लभन्त एव, सुवर्णं त्वतज्जन्यत्वात् तत्कार्यतया न व्यपदिश्यते, तस्य कारणान्तरेभ्यः सिद्धत्वात्, कङ्कणाऽऽदिविशेषोपरमे तु सुवर्णावस्थानं क्रमेण न निवार्यते, एवं मत्याऽपि सामान्यभूतया स्वविशेषरूपश्रुतोपयोगो जन्यते, अतस्तत्कार्यं स उच्यते, मतिस्त्वतज्जन्यत्वात्तत्कार्यतया न व्यपदिश्यते, तस्या हेत्वन्तरात् सदा सिद्धत्वात्, स्वविशेषभूतश्रुतोपयोगोपरमे तु क्रमाऽऽयातं मत्यवस्थानं न निवार्यते, आमरणान्तं केवलश्रुतोपयोगप्रसङ्गादिति गाथार्थः ॥ ११० ॥

तदेवं भावश्रुतं मतिपूर्वं व्यवस्थाप्य मतान्तरमुपदर्शयन्नाह-

दव्वसुयं मइपुव्वं, भासइ जं नाऽविचिंतियं केइ ।

भावसुयस्साभावो, पावइ तेसिं न य विसेसो ॥१११॥

(केइ त्ति) मतिपूर्वं श्रुतमित्यत्राऽऽगमवचने केचिदेवं व्याचक्षते। किम्?, इत्याह-द्रव्यश्रुतं शब्दरूपं मतिपूर्वकम्, न भावश्रुतम्। तत्र युक्तिमाह-(भासइ ज नाविचिंतिय त्ति) यद् यस्मात् कारणादविचिन्तितम् अविपर्यालोचितं न कोऽपि भाषते न शब्दमुदीरयति, यच्च विवक्षाज्ञानं तत् किल मतिरिति तेषामभिप्रायः, ततश्च मतिपूर्वं द्रव्यश्रुतं सिद्धं भवति। एतस्मिन् व्याख्याने दोषमाह-तेषामेवं व्याख्यातृणां भावश्रुतस्य सर्वथैवाभावः प्राप्नोति, यतो वक्तृगतं विवक्षोपयोगज्ञानं तैरेव मतित्वेन व्याख्यातम्, अन्यथा शब्दस्य मतिपूर्वकत्वाभावात्, श्रोतुरपि शब्दं श्रुत्वा प्रथमं यदवग्रहाऽऽदिज्ञानं तत्तावन्मतिरेव, ऊर्ध्वमपि च तस्या भावश्रुतं नाभ्युपगतमेव, मतिपूर्वं भावश्रुतमित्यस्मत्पक्षवर्तित्वप्रसङ्गात्। यच्छृण्वतोऽप्यमाणस्य चानुप्रेक्षाऽऽदिष्वन्तर्जल्पाकारूपितं ज्ञानं विपरिवर्तते तद्भावश्रुतं भविष्यतीति चेत्। तदयुक्तम्, यतस्तदपि यद्यवग्रहाऽऽद्यात्मकमतिपूर्वं तदा भावश्रुतं नेष्यत एव, अस्मत्पक्षाभ्युपगमप्राप्तेरेव। अथ मतिपूर्वं तन्नेष्यते, तथाऽपि तत्सविकल्पकत्वेन मतिरेव, शब्दविवक्षाज्ञानवत्; शब्दविवक्षाज्ञानेऽपि हि शब्दविकल्पोऽस्ति, तमन्तरेण शब्दाभिधानासम्भवात्। न चाऽसौ भावश्रुतत्वेनेष्टः; तस्माद् मतेरनन्तरं सर्वत्र शब्दमात्रस्यैवोत्थानम्, न भावश्रुतस्य; अस्मत्पक्षाङ्गीकरणप्रसङ्गात्; विकल्पज्ञानानि च विवक्षाज्ञानवन्मतित्वेनोक्तान्येव, इति सर्वत्र भावश्रुताभावः प्रसजति। भवतु स तर्हि, इति चेत्। इत्याह-(न य विसेसो त्ति) भावश्रुताभावे मतिश्रुतयोर्विशेषो भेदश्चिन्तयितव्यो न स्यात्, स हि द्वयोरेवोपपद्यते। यदा च मतिरेवाऽस्ति, न भावश्रुतम्, तदा तस्याः केन सह भेदचिन्ता युज्येत?, इति भावः। द्रव्यश्रुतरूपेण शब्देन सह मतेर्भेदचिन्ता भविष्यतीति चेत्। तदयुक्तम्। ज्ञानपञ्चकविचारस्य इहाधिकृतत्वात्, तदधिकारे च शब्देन सह भेदचिन्ताया अप्रस्तुतत्वात्। चिन्त्यतां वा 'मतिपूर्वं द्रव्यश्रुतम्' इत्येव मते शब्देनापि सह विशेषः, किं तु सोऽपि न घटते। इति गाथाऽर्थः ॥१११॥

कुतो न घटते?, इत्याह-

दव्वसुयं बुद्धीओ, सा वि तओ जमविसेसओ तम्हा।
भावसुयं मइपुव्वं, दव्वसुयं लक्खणं तस्स ॥११२॥

यदिति यस्मात् कारणाद् यथा द्रव्यश्रुतं शब्दो बुद्धेर्मतेः सकाशाद् भवतीति भवद्भिः प्रतिपाद्यते, तथा हन्त! साऽपि बुद्धिस्ततः शब्दात् श्रोतुर्भवत्येव। ततश्च "मइपुव्वं सुयमुत्तं, न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं।" (१०५) इति मतिश्रुतयोर्भेदप्रतिपादनार्थं योऽसौ विशेषोऽत्र प्रतिपादयितुं प्रस्तुतः, स द्वयोरप्यन्योन्यं पूर्वभावितायाः समानत्वान्न प्राप्नोति, इत्यनन्तरगाथापर्यन्तावयवेन सम्बन्धः। तस्मान्नैषा मतेऽविशेषतः कारणाद् यदस्माभिः प्राक् समर्थितम्-भावश्रुतं मतिपूर्वमिति, तदेव युक्तियुक्तम्। शब्दलक्षणं तु द्रव्यश्रुतं तस्य भावश्रुतस्य लक्ष्यते गम्यतेऽनेनेति लक्षणं लिङ्गमिति गाथाऽर्थः ॥११२॥

कुतस्तत्तस्य लक्षणम्?, इत्याह-

सुयविण्णाणप्पभवं, दव्वसुयमियं जओ विचिंतेउं।
पुव्वं पच्छा भासइ, लक्खिज्जइ तेण भावसुयं ॥११३॥

श्रुतविज्ञानप्रभवं सविकल्पकविवक्षाज्ञानकार्यं शब्दरूपं द्रव्यश्रुतमिदं यतः परैर्मतिपूर्वत्वेन इष्यते, कथं पुनस्तज्ज्ञानश्रुतप्रभवं विज्ञायते?, इत्याह-यतः सर्वोऽपि पूर्वं विचिन्त्य वक्तव्यमर्थं चित्ते विकल्प्य पश्चात् शब्दं भाषते, यच्च तच्चिन्ताज्ञानं तत् श्रुतानुसारित्वाद् भावश्रुतम्, इति भावश्रुतप्रभवता द्रव्यश्रुतस्य विज्ञायते; यच्च यस्मात् प्रभवति तत्तस्य कार्यम्, यतस्तेन कार्यभूतेन द्रव्यश्रुतेन स्वकारणभूतं भावश्रुतं लक्ष्यत इति तत् तस्य लक्षणमुक्तम्, अस्ति भावश्रुतमत्र, तत्कार्यस्य शब्दस्य श्रवणाद्, इत्येवं तेन भावश्रुतस्य लक्ष्यमाणत्वादिति। द्रव्यश्रुतस्य च भावश्रुतलक्षणता मतान्तरवादिनां विपर्यस्तत्वप्रतिपादनार्थमुपदर्शिता, भावश्रुतप्रभवस्याऽपि शब्दस्य तैर्मतिपूर्वत्वप्रतिपादनादिति गाथाऽर्थः ॥११३॥

अथ यथा मतिश्रुतयोः कार्यकारणभावाद् भेदः, तथा तयोः प्रत्येकं स्वस्थानेऽपि सम्यक्त्वमिथ्यात्वपरिग्रहाद् भेद एवेत्युपकृतो दर्शयितुं नन्द्यध्ययनाऽऽगमे मतिश्रुतयोः कार्यकारणभावेन भेदप्रतिपादनानन्तरमिदं सूत्रमस्ति।

तद्यथा-

" अविसेसिया मई-मइनाणं च, मइअन्नाणं च। विसेसिया मई-सम्मद्दिट्ठिस्स मई मइनाणं, मिच्छादिट्ठिस्स मई मइअन्नाणं। एवं अविसेसियं सुयं सुयनाणं, सुयअन्नाणं च; विसेसियं सुयं-सम्मद्दिट्ठिस्स सुयं सुयनाणं, मिच्छादिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं। "

सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिसम्बन्धतोऽविशेषितेन मतिशब्देन मतिज्ञानं, मत्यज्ञानं च द्वे अपि प्रतिपाद्येते, सम्यग्दृष्टित्वविशेषितेन तु मतिध्वनिना मतिज्ञानमेवोच्यते, मिथ्यादृष्टित्वविशेषितेन तु तेनैव मत्यज्ञानमेवाभिधीयते, एवं श्रुतेऽपि वाच्यमिति सूत्रभावार्थः।

तदेतदानुपूर्विकं सूत्रोक्तमनुवर्तमानो भाष्यकारोऽप्याह—

अविसेसिया मइ च्चिय, सम्मद्दिट्ठिस्स सा मइन्नाणं।
मइअन्नाणं मिच्छा-दिट्ठिस्स सुयं पि एमेव ॥११४॥

सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिभावेनाविशेषिता मतिर्मतिरेवोच्यते, न तु मतिज्ञानं मत्यज्ञानं चेति निर्धार्य व्यपदिश्यते, सामान्यरूपायां तस्यां ज्ञानाज्ञानविशेषयोर्द्वयोरप्यन्तर्भावात्। यदा तु सम्यग्दृष्टिरेव सम्बन्धिनी सा मतिर्विवक्ष्यते, तदा मतिज्ञानमिति निर्दिश्यते। यदा तु मिथ्यादृष्टिसम्बन्धिनी तदा मत्यज्ञानम्। एवं श्रुतमप्यविशेषितं श्रुतमेव, विशेषितं तु सम्यग्दृष्टेः श्रुतज्ञानम्, मिथ्यादृष्टेस्तु श्रुताज्ञानम्, सम्यग्दृष्टिसम्बन्धिनो बोधस्य सर्वस्यापि ज्ञानत्वात्, मिथ्यादृष्टिसत्कस्य त्वज्ञानत्वादिति गाथाऽर्थः ॥११४॥

ननु यथा मतिश्रुताभ्यां सम्यग्दृष्टिर्घटाऽऽदिकं जानीते, व्यवहरति च, तथा मिथ्यादृष्टिरपि, तत्किमिति तस्य सत्कं सर्वमप्यज्ञानमुच्यते?, इत्याशङ्क्याऽऽह-

सदसदविसेसणाओ, भवहेउजदिच्छिओवलंभाओ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥११५॥

सच्चासच्च सदसती, तयोरविशेषणमविशेषतः, तस्माद्धेतोः,

मिथ्यादृष्टेः सदपि व्यवहारमात्रेण ज्ञानमपि निश्चयतोऽज्ञानमुच्यते, सतो ह्यसत्त्वेन असद् विशिष्यते, असतोऽपि च सत्त्वेन सन्दिह्यते। मिथ्यादृष्टिश्च घटे सत्त्वप्रमेयत्वमूर्त्तत्वाऽऽदीन्, स्तम्भरम्भाऽम्भोरुहाऽऽदिव्यावृत्त्यादींश्च पटाऽऽदिधर्मान् सतोऽप्यसत्त्वेन प्रतिपद्यते, 'सर्वप्रकारैर्घट एवायम्' इत्यवधारणात्। अनेन ह्यवधारणेन सन्तोऽपि सत्त्वप्रमेयत्वाऽऽदय पटाऽऽदिधर्मा न सन्तीति प्रतिपद्यते, अन्यथा सत्त्वप्रमेयत्वाऽऽदिसामान्यधर्मद्वारेण घटे पटाऽऽदीनामपि सद्भावात् 'सर्वथा घट एवायम्' इत्यवधारणानुपपत्तेः, 'कथञ्चिद् घट एवाय' इत्यवधारणे त्वनेकान्तवादाभ्युपगमेन सम्यग्दृष्टित्व—प्रसङ्गात्, तथा पटपुटनटशकटाऽऽदिरूप घटेऽसदपि सत्त्वेनायमभ्युपगच्छति ' सर्वै. प्रकारैर्घटोऽस्त्येव ' इत्यवधारणात्, ' स्यादस्त्येव घट' ' इत्यवधारणे तु स्याद्वादाऽऽश्रयणात् सम्यग्दृष्टित्वप्राप्ते.। तस्मात्सदसतोर्विशेषाभावादुन्मत्तकस्येव मिथ्यादृष्टेर्बोधोऽज्ञानम् । तथा विपर्यस्तत्वादेव भवहेतुत्वात् तद्बोधोऽज्ञानम्। तथा पशुवधहेतुत्वात् तद्बोधोऽज्ञानम्। तथा पशुवधतिलाऽऽदिदहनजलाऽऽद्यवगाहनाऽऽदिषु ससारहेतुषु मोक्षहेतुत्वबुद्धे , दयाप्रशमब्रह्मचर्याऽकिञ्चन्यादिषु तु मोक्षकारणेषु भवहेतुत्वाध्यवसायतो यदृच्छोपलम्भात् तस्याऽज्ञानम् । तथा विरत्यभावेन ज्ञानफलाभावाद् मिथ्यादृष्टेरज्ञानमिति गाथाऽर्थ. ॥ ११५ ॥

तदेव सप्रसङ्ग प्रतिपादितो हेतुफलभावादपि मतिश्रुतयोर्भेद , साम्प्रत भेदभेदात्तयोस्तमभिधातुमाह-

भेयकयं च विसेसण-मट्ठावीसइविहंगभेयाइं ।
इंदियविभागओ वा,मइसुयभेओ जओऽभिहियं ॥११६॥

भेदाऽवग्रहाऽऽदय., अङ्गानङ्गप्रविष्टत्वाऽऽदयश्च, तत्कृत वा मतिश्रुतयोर्विशेषण भेद , यतोऽवग्रहाऽऽदिभेदादष्टाविंशत्यादिविध मतिज्ञान, ' वक्ष्यते ' इति शेष.। श्रुतज्ञान त्वङ्गानङ्गप्रविष्टत्वाऽऽदिभेदमभिधास्यते । अथवा-इन्द्रियविभागान्मतिश्रुतयोर्भेद., यतोऽन्यत्र पूर्वगतेऽभिहितमिति गाथाऽर्थ. ॥११६॥

किमभिहितम् ?, इत्याह-

सोइंदिओवलद्धी, होइ सुयं सेसयं तु मइनाणं ।
मोत्तूणं दव्वसुय, अक्खरलंभो य सेसेसु ॥ ११७ ॥

इन्द्रो जीव , तस्येदमिन्द्रियम्, श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम्, तच्च तदिन्द्रिय चेति श्रोत्रेन्द्रियम्, उपलम्भनमुपलब्धिर्ज्ञानम्, श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धि' श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरिति तृतीयासमास , श्रोत्रेन्द्रियस्य वा उपलब्धि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरिति षष्ठीसमास.; श्रोत्रेन्द्रियद्वारक ज्ञानमित्यर्थ । श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिर्यस्येति बहुव्रीहिणाऽन्यपदार्थे शब्दोऽप्यधिक्रियते। ततश्चाऽऽद्यसमासद्वये श्रोत्रेन्द्रियद्वारकमभिलापप्लावितोपलब्धिलक्षण भावश्रुतमुक्त द्रष्टव्यम्, बहुव्रीहिणा तु तस्या भावश्रुतोपलब्धावनुपयुक्तस्य वदतो द्रव्यश्रुतम्, तदुपयुक्तस्य तु वदत उभयश्रुतमभिहित वेदितव्यम्। इह च व्यवच्छेदफलत्वात् सर्वं वाक्य सावधारण भवति, इष्टश्चावधारणविधि. प्रवर्तते, तत. ' चैत्रो धनुर्धर एव ' इत्यादिष्विवेहायोगव्यवच्छेदेनावधारण द्रष्टव्यम्। तद्यथा-श्रुत श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव, न तु श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धि श्रुतमेवेति; श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिस्तु श्रुत मतिर्वा भवति, यथा धनुर्धरश्चैत्रोऽन्यो वेति, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धेरवग्रहेहाऽऽदिरूपाया मतित्वात्, श्रुतानुसारिण्यास्तु श्रुतत्वादिति । यदि पुनः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेवेत्यवधार्यते, तदा तदुपलब्धेर्मतित्वं सर्वथैव न स्यात्, इष्यते च कस्याश्चित् तदपीति भावः । यदि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुत, तर्हि शेष किं भवतु ?, इत्याह-(सेसय त्वित्यादि) श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धि विहाय ' शेषकं ' यच्चक्षुरादीन्द्रियचतुष्टयोपलब्धिरूप तन्मतिज्ञान, भवति इति वर्तते। तुशब्दः समुच्चये, स चैव समुच्चिनोति, न केवलं शेषेन्द्रियोपलब्धिर्मतिज्ञानं,किं तु श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिश्च काचिदवग्रहेहाऽऽदिमात्ररूपा मतिज्ञान भवति; तथा च सत्यनन्तरमवधारणव्याख्यानमुपपन्नं भवति । " सेसय तु मइनाणं " इति सामान्येनैवोक्ते शेषस्य सर्वस्याप्युत्सर्गेण मतित्वे प्राप्ते सत्यपवादमाह-(मोत्तूण दव्वसुय ति) पुस्तकाऽऽदिलिखितं यद् द्रव्यश्रुत तन्मुक्त्वा परित्यज्यैव शेष मतिज्ञानं द्रष्टव्यम्, पुस्तकाऽऽदिन्यस्तं हि भावश्रुतकारणत्वात् शब्दवत् द्रव्यश्रुतमेव, इति कथ मतिज्ञान स्याद् ?, इति भाव. । न केवल श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धि श्रुतम्, किं तु यश्च शेषेषु चतुर्षु चक्षुरादीन्द्रियेषु श्रुतानुसारिसाभिलापविज्ञानरूपोऽक्षरलाभः सोऽपि श्रुतम्, न त्वक्षरलाभमात्र, तस्येहापायाऽऽद्यात्मके मतिज्ञानेऽपि सद्भावादिति । आह-यदि चक्षुरादीन्द्रियाक्षरलाभोऽपि श्रुत, तर्हि यदाद्यगाथाऽवयवे ' श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव श्रुतम् ' इत्यवधारण कृतम्, तन्नोपपद्यते। शेषेन्द्रियोपलब्धेरपीदानीं श्रुतत्वेन समर्थितत्वात् । नैतदेवम्, शेषेन्द्रियाक्षरलाभस्याऽपि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरूपत्वात् । स हि श्रुतानुसारिसाभिलापज्ञानरूपोऽत्राधिक्रियते, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरपि चैवम्भूतैव श्रुतमुक्ता । ततश्च साभिलापविज्ञान शेषेन्द्रियद्वारेणाऽप्युत्पन्न योग्यतया श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव मन्तव्यम्, अभिलापस्य सर्वस्यापि श्रोत्रेन्द्रियग्रहणयोग्यत्वादिति । अत्राऽऽह-ननु " सोइन्दिओवलद्धी होइ सुय । " तथा-"अक्खरलभो य सेसेसु । " इत्युभयवचनात् श्रुतज्ञानस्य सर्वेन्द्रियनिमित्तता सिद्धा। तथा-" सेसय तु मइनाण " इति वचनात्, तुशब्दस्य समुच्चयार्थत्वात् मतिज्ञानस्यापि सर्वेन्द्रियकारणता प्रतिष्ठिता; भवद्भिस्तु इन्द्रियविभागाद् मतिश्रुतयोर्भेद. प्रतिपादयितुमारब्ध.; स चैव न सिद्ध्यति, द्वयोरपि सर्वेन्द्रियनिमित्ततायास्तुल्यत्वप्रतिपादनादिति। अत्रोच्यते-साधूक्त भवता, किं तु यद्यपि शेषेन्द्रियद्वाराऽऽयातत्वात्तदक्षरलाभ शेषेन्द्रियोपलब्धिरुच्यते, तथाऽप्यभिलापाऽऽत्मकत्वादसौ श्रोत्रेन्द्रियग्रहणयोग्य एव, ततश्च तत्वत श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेवाऽयम् । तथा च सति परमार्थत. सर्वं श्रोत्रविषयमेव श्रुतज्ञानम्, मतिज्ञान तु तद्विषय शेषेन्द्रियविषय च सिद्ध भवति, अत इत्थमिन्द्रियविभागान्मतिश्रुतयोर्भेदो न विहन्यते; इत्यल विस्तरेण । इति पूर्वगतगाथासक्षेपार्थः ॥ ११७ ॥

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुर्भाष्यकार एव परेण पूर्वपक्ष कारयितुमाह-

सोओवलद्धि जइ सुयं, न नाम सोउग्गहादओ बुद्धी।
अह बुद्धीओ न सुयं, अहोभयं संकरो नाम ॥११८॥

' श्रोत्रोपलब्धिरेव श्रुतम ' इत्यवधारणार्थमनवगच्छत. ' श्रुतमेव तदुपलब्धि ' इत्येव च तदर्थमवबुध्यमानस्य परस्य वचनमिदम्। तद्यथा-यदि श्रोत्रोपलब्धि. श्रुतमेव, तर्हि ' नाम '

इति चेन्मन्यसे, ततो ! श्रोत्रेन्द्रियव्यापारोपजाता अवग्रहेहा- ऽवायादयो बुद्धिमतिज्ञानं न प्राप्नुवन्ति, तद्व्यापारजत्वे- ऽपि श्रुतस्येवाभावप्रसङ्गात् । सा बुध्यते मतिज्ञानम्, किं नः श्रूयते ?, इति चेत्, नैवम् । तथा सति हस्त चक्षुरादीन्द्रियविज्ञानविशेषादिकमपि ज्ञाने । अथैतद्दोषभयाद् बुद्धिरूपतेऽप्युपगम्यते, तत- स्तर्हि न ते श्रुतम्, तथा च सति-" सोइंदियोवलद्धी, होइ सुयं " (११७) इत्ययुक्तं प्राप्नोति । यदोभयदोषपरिहारार्थम्, ' उभयं बुद्ध्या श्रुतं च मे इष्यते, तर्हि तत्र सावधारणा- वधारणविकल्पद्वयेऽपि संकर, अस्फुटा मतिश्रुतयोरापत्तिः, न पृथग्भावः । यत उक्तम्-' यदेव मतिः, तदेव च श्रुतम्, यदेव च श्रुतं तदेव मतिः, इत्येवमभेदोऽनयोः स्यात्, इति न्यायमेव स्थानम् । भेदोऽत्र तयोः प्रतिपादयितुं प्रस्तुतः, तदेतत् व्या- मिश्रलक्षणकथनस्य वैफल्यप्रसङ्गमिति प्रेरकगाथार्थः ॥ ११८ ॥

तदेतत्सर्वं केचित् यथा परिहरन्ति, तथा तावद्दर्शयन्नाह-

केई बेंतस्स सुयं, मई सुणओ सइ त्ति तं न जओ ।
जं सव्वो च्चिय मई, दव्वसुयं भासओ भेओ ? ॥ ११९ ॥

" सोइंदियोवलद्धी " (११७) इत्यत्र श्रोत्रेन्द्रियो- पलब्धिर्वक्तुः केवलवक्तृगतशब्दवशात् श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धि- रुच्यते, न चैतदयुक्तम्, स च वक्तुः शब्दं बुद्ध्वा श्रुतम् इति कृत्वा श्रुतम्, शृण्वतस्तु श्रोतुरवग्रहेहाद्यात्मकं ज्ञानं मतिरेव इत्यतः ततो मतिः । एवं च श्रुतज्ञानमपि सम्भवति, श्रोत्रगतावग्रहा- दीनां च मतिरूपत्वेन भवति । आचार्यः प्राऽऽह-तं न, सर्वं हि वक्तुर्विज्ञानं यत् श्रुतं, न भवति, कुतः ?, इत्याह- यतः सर्वमपि वक्तुरपि सर्वं वक्तुं सम्भवति, सर्वं च तस्य द्रव्यश्रुतम्, द्रव्यश्रुतमात्रेण च सर्वत्र बुद्ध्यवस्य सतस्तस्य श्रुतस्य को भेदः को विशेषः ?, येनासौ वक्तुः श्रुतम्, श्रोतुस्तु मतिः स्यात् । यद्यपि श्रुतं इति श्रुतम्, मन्यते इति मतिः । उच्यते-अत्रापि भाष्यमाणस्यैव विशेषः, शब्दस्तु न तत्र श्रूयते न तत्र मन्यते, इति न कश्चिद्भेद इष्यते । इति गाथा- र्थः ॥ ११९ ॥

दूषणान्तरमप्याह-

किं वा णाणेऽभिहिए, गहणं जं प य मइविसेसाणं ।
गहियं सो को भेओ, भणओ सुणओ य जो तस्स ? ॥ १२० ॥

यदि वा ज्ञाने ज्ञानविचारे प्रविष्टे किं पुद्गलमयानक्षरेण शब्देन गृहीतेन कार्यम्, अज्ञानत्वात् ? । अथ श्रोत्रेन्द्रि- योपलब्धिग्रहणेन शब्दविज्ञानं गृह्यते इति । अत्राऽऽह- (जइ घेत्यादि) यदि च श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धेः शब्दस्य कार- णत्वात् कार्ये तदुपचारात् उपचारतो वक्तृगतं श्रोतृगतं च शब्दविज्ञानं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिशब्दवाच्यत्वेन गृहीतम्, तच्च ब्रुवतः श्रुतम्, शृण्वतस्तु मतिरित्युच्यते । हन्त ! ततस्तर्हि तस्य विज्ञानस्य ब्रुवतः शृण्वतो वा यो भेदो विशेषः, स कः ?, इति कथ्यताम्, येन तदेकं श्रुतम्, श्रोतुरन्यत् मतिः स्यात् ?, इति नास्त्यसौ विशेषः, शब्दज्ञानत्वाविशेषादिति भावः । किं च-एवं सति श्रोतुरपि कदाचित् श्रवणानन्तरमेव ब्रुवत एव शब्दजनिता तन्मतिरव्यवहिता श्रुत प्रसजति, " बेंतस्स, सुयं " (११९) " सुणओ मई " (११९) इत्यभ्यु- पगमात्; ततश्च मत्येकत्व मतिश्रुतयोः, इति कोऽविशेषः कृतः स्यात् ? इति । किं च-यदि-ब्रुवतः सर्वदैव मति-

रित्यवमेकान्तः, तर्हि यदेतत् प्रागुक्तं सर्वज्ञोऽपि भाषमाणो- ऽपर्याप्तेष श्रुतभावानापाति, तदसत् प्राप्नोति, तीर्थकरादीनां सर्वेषामपि श्रोत्रेन्द्रियेण मतिज्ञानस्यैवोपपत्तेः । तच्च नैवम्, तस्मात् मतिश्रुतयोरिति गाथार्थः ॥ १२० ॥

तदेवम्-" बेंतस्स सुयं " (११९) इत्यादि दूषयित्वा प्रस्तुतप्रकरणोपसंहाराय जैन वचनेन द्विरूपमाह-

भणओ सुणओ य सुयं, तं जमिह सुयाणुसारि विन्नाणं ।
दोण्हं पि सुयाईयं, जं विन्नाणं तयं बुद्धी ॥ १२१ ॥

तस्मात् ब्रुवत श्रुतम्, शृण्वतस्तु मतिः, इत्येतन्न युक्तम्, उक्तदूषणात्, अनैकान्तिकत्वाच्च । किं तर्हि युक्तम् ?, इति चेत् । उच्यते-ब्रुवतः शृण्वतो वा यत्किमपि श्रुतानुसारि परोप- देशार्हद्वचनानुसारि विज्ञानम्, तदिह सर्वं श्रुतम्, यत्पुनर्द्वयोर- पि वक्तृश्रोत्रोः श्रुतातीत श्रुतानुसारत्वाभावेनावग्रहादिरूपं विज्ञानम्, तत्सर्वं बुद्धिर्मतिज्ञानमित्यर्थः । तदेवं द्वयोरपि वक्तृश्रोत्रोः प्रत्येकं मतिश्रुते यथोक्तस्वरूपे अभ्युपगन्तव्ये, न पुनरेकैकस्यैकैकमिति भावः । इति गाथार्थः ॥ १२१ ॥

तदेवमेवम्, किं तु-" सोइंदियोवलद्धी होइ सुयं, न नाम सो- उग्गहाइओ बुद्धी " (११७) इत्यादिना य परेण पू- र्वपक्षोऽभ्यधायि, तस्य तर्हि कः परिहारः ?, इत्या- शङ्क्य भाष्यकार एवेदानीं " सोइंदियोवलद्धी, होइ सुयं " (११७) इत्यादिमूलगाथायां विवृ- तवानाह—

सोइंदियोवलद्धी, चेव सुयं न उ तई सुयं चेव ।
सोइंदिओवलद्धी, वि काइ जम्हा मइनाणं ॥ १२२ ॥

इह श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेवेत्येवम् तृतीयापद्यतिनामान्तः, चतुर्थादि- कम्; भावश्रुतमासाद्येन भावश्रुतम्, चतुर्थादिना तु भावश्रुता- नुपयुक्तस्य वक्तुर्द्रव्यश्रुतम्, तदुपयुक्तस्य तु ब्रुवत उभय- श्रुतं गृहीतमिति प्राक् पूर्वं दर्शितं सर्वं द्रष्टव्यम् । अवधारण- विधिमपि प्रागुपदर्शितमाह-श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव श्रुतम्, इ- त्येवमवधारणीयम् । (न उ तइ त्ति) न पुनः सा श्रोत्रेन्द्रि- योपलब्धिः श्रुतमेवेति । कुतो नैवमवधार्यते ?, इत्याह-य- स्मात् श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरपि काचित् श्रुतानुसारिणी अवग्र- हेहाऽऽदिमात्ररूपा मतिज्ञानमेव, अत. ' श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धि श्रुतमेव ' इति नावधार्यत इति भावः । एवं च सति " न नाम सोउग्गहाइओ बुद्धी " (११७) इत्यादि परेण यत्प्रे- रितम्, तदपास्तं भवति, श्रोत्रावग्रहाऽऽदीनामपि बुद्धिरूपता- याः समर्थितत्वादिति गाथार्थः ॥ १२२ ॥

तदेवमवधारणविधिना श्रोत्रावग्रहाऽऽदीनां मतित्व स- मर्थितं, यदि वा " सेसयं तु मइनाणं " (११७) इत्यत्र योऽसौ तुशब्दः, ततोऽपि तेषां तत्स- मर्थयत इति दर्शयन्नाह-

तुसमुच्चयवयणाओ, व काइ सोइंदिओवलद्धी वि ।
मइरेवं सइ सोउ-ग्गहादओ हुंति मइजोग्गा ॥ १२३ ॥

" सेसयं तु मइनाणं " (११७) इत्यत्र योऽसौ तुशब्दः समुच्चयवचनः, ततश्च किमुक्तं भवति ?-शेषक मतिज्ञानम्, काचिदनपेक्षितपरोपदेशार्हद्वचना श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिश्च मति-

ज्ञानमित्येव वा श्रोत्रावग्रहाऽऽदयो भवन्ति मतिभेदाः । तथा च सति मतेरष्टाविंशतिभेदत्व न परिहीयते,ततश्च"न नाम सोउग्गहादयो बुद्धी " (११८) इत्यादि परप्रेर्यं प्रतिक्षिप्तमेवेति गाथार्थः ॥१२३॥

मूलगाथाया व्याख्यातशेषं व्याख्यानयन्नाह-

पत्ताइगयं सुयका-रणं ति सद्दो व्व तेण दव्वसुयं ।
भावसुयमक्खराणं, लाभो सेसं मइनाणं ॥१२४॥

मूलगाथायां ' श्रोत्रावग्रहाऽऽदयः, शेषक च मतिज्ञानम् ' इत्युक्ते शेषस्य सर्वस्यापि उत्सर्गतो मतित्वे प्राप्ते, अपवादः-" मोत्तूण दव्वसुयं ति " (११७) इत्युक्तम् । तत्र किं तद् द्रव्यश्रुत यदिह वर्ज्यते ?, इत्याह भाष्यकारः-पत्राऽऽदिगत पुस्तकपत्राऽऽदिलिखितम, तेन कारणेन द्रव्यश्रुतम्,येन किम् ?, इत्याह-श्रुतकारणमिति । किंवद् ?, इत्याह-शब्दवादिति यथा भावश्रुतकारणत्वात् शब्दो द्रव्यश्रुतम्, तथा-पुस्तकपत्राऽऽदिन्यस्तमपि तत्कारणत्वाद् द्रव्यश्रुतमित्यर्थः। तन्मुक्त्वा शेषचक्षुरादीन्द्रियोपलब्धिरूप मतिज्ञानम । (भावसुयमक्खराणमित्यादि) न केवल श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतम्, यच्च श्रुतानुसारित्वाद् भावश्रुत भावश्रुतरूप , शेषेषु चक्षुरादीन्द्रियेष्वक्षराणां लाभः परोपदेशार्हद्वचनानुसारिण्यक्षरोपलब्धिरित्यर्थः, सोऽपि श्रुतम्, इत्येव मूलगाथायां सबन्धः कार्य इति हृदयम, स च प्राग् वृत्तौ कृत एव । तस्माच्चाक्षरलाभाच्चक्षुरादीन्द्रियेषु यच्छेषमश्रुतानुसार्यवग्रहेहाऽऽद्युपलब्धिरूपम, तन्मतिज्ञानम्, इत्येवमिहाप्येतत् सबध्यते। इति गाथाऽर्थः ॥ १२४ ॥

अथ परः पूर्वापरविरोधमुद्भावयन्नाह-

जइ सुयमक्खरलाभो, न नाम सोओवलद्धिरेव सुयं ।
सोओवलद्धिरेव-क्खराइं सुइसंभवाओ त्ति ॥ १२५ ॥

इयमपि प्राग् मूलगाथावृत्तौ दर्शितार्थैव, तथाऽपि विस्मरणशीलानामनुग्रहार्थं किञ्चिद् व्याख्यायते-ननु यद्युक्तन्यायेन शेषेन्द्रियाक्षरलाभोऽपि श्रुतम्, तर्हि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव श्रुतम्, इति यदवधारण कृतम्, तदसङ्गतं प्राप्नोति, शेषेन्द्रियाक्षरलाभस्यापि श्रुतत्वात् । अत्रोत्तरमाह-" सोओवलद्धिरेवेत्यादि ।" यद्यसौ शेषेन्द्रियाक्षरलाभोऽपि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिर्न स्यात्, तदा स्यादेवावधारणमसङ्गतम्, तच्च नास्ति, यत. शेषेन्द्रियद्वाराऽऽयातज्ञानेऽपि प्रतिभासमानान्यक्षराणि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव । अहो ! महदाश्चर्यम, यतो यदि शेषेन्द्रियाक्षरलाभ., कथ श्रोत्रोपलब्धि. ?; सा चेत्, कथ शेषेन्द्रियाक्षरलाभः ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-(सुइसभवाओ त्ति) शेषेन्द्रियज्ञानप्रतिभासभाञ्ज्यक्षराणि श्रोत्रोपलब्धिरेव । कुत.?, इत्याह-तेषां श्रुते. श्रवणस्य सभवात् । इदमुक्तं भवति-अभिलापरूपाणि हि एतानि अक्षराणि, अभिलापश्च तस्मिन् वा विवक्षिते काले, अन्यदा वा; तत्र वा विवक्षिते पुरुषे, अन्यत्र वा श्रवणयोग्यत्वात् श्रोत्रेणोपलभ्यते। अतः श्रोत्रोपलम्भयोग्यत्वेन श्रुतिसभवात् सर्वोऽप्यभिलाप. श्रोत्रोपलब्धिरेव; इति न किञ्चिदवधारणं विरुध्यते । इति गाथाऽर्थ. ॥१२५॥

किं सर्वोऽपि शेषेन्द्रियाक्षरलाभ. श्रुतम्, आहोस्वित् कश्चिदेव ?, इत्याह-

सो वि हु सुयऽक्खराणं, जो लाभो तं सुयं मई सेसा ।
जइ वा अणक्खर च्चिय, सा सव्वा न प्पवत्तेज्जा ॥१२६॥

सोऽपि च शेषेन्द्रियाक्षरलाभः स एव श्रुतम्, यः किम् ?, इत्याह-य. श्रुताक्षराणां लाभः, न सर्वः, य. संकेतविषयशब्दानुसारी, सर्वज्ञवचनकारणो वा विशिष्ट श्रुताक्षरलाभ., स एव श्रुत त्र,न त्वश्रुतानुसारी; ईहाऽपायाऽऽदिषु परिस्फुरदक्षरलाभमात्रमित्यर्थः । (जइ व त्ति) यदि पुनरक्षरलाभस्य सर्वस्याऽपि श्रुतेन क्रोडीकरणादनक्षरैव मतिरभ्युपगम्येत, तदा सा यथाऽवग्रहेहाऽपायधारणरूपा सिद्धान्ते प्रोक्ता, तथा सर्वाऽपि न प्रवर्तेत, सर्वाऽपि मतित्व नानुभवेदित्यर्थ., किं त्वनक्षरत्वादवग्रहमात्रमेव मति. स्यात्, न त्वीहाऽऽदय', तेषामक्षरलाभाऽऽत्मकत्वात् । तस्मात् श्रुतानुसार्येवाक्षरलाभः श्रुतम्, शेषं तु मतिज्ञानमिति गाथाऽर्थ ॥ १२६ ॥

तदेवं व्याख्याता भाष्यकृताऽपि " सोइंदिओवलद्धी " (११७) इत्यादिगाथा, साम्प्रत त्वस्यां य श्रुतविषयः पर्यवसितोऽर्थः प्रोक्तो भवति, त सपिण्ड्योपदर्शयति-

दव्वसुयं भावसुयं, उभयं वा किं कहं व होज्ज त्ति ।
को वा भावसुयं सो, दव्वाइसुयं परिणमेज्जा ? ॥१२७॥

इह " सोइंदियोवलद्धी " (११७) इत्येतस्यां गाथायां " मोत्तूण दव्वसुय " (११७) इत्यनेन पुस्तकाऽऽदिन्यस्त द्रव्यश्रुतमुक्तम्,अक्षरलाभवचनात्तु भावश्रुतम,श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिवचनेन तु शब्दः, तद् विज्ञान चेत्युभयश्रुतमुक्तम । तत्रानन्तरवक्ष्यमाणपूर्वगतगाथायामेतच्चिन्त्यते-किं तद् द्रव्याऽऽदिश्रुतम ?, कथ वा तद्भवति ?, को वा कियान् वा इत्यर्थ , भावश्रुतस्यांशो भागो द्रव्यश्रुत द्रव्यश्रुतरूपतया, आदिशब्दादुभयश्रुतरूपतया वा परिणमेदिति गाथाऽर्थः ॥ १२७ ॥

का पुनरसौ पूर्वगतगाथा ?, इत्याह-

बुद्धिदिट्ठे अत्थे, जे भासइ तं सुयं मईसहियं ।
इयरत्थ वि होज्ज सुयं,उवलद्धिसमं जइ भणेज्जा ॥१२८॥

मतिश्रुतयोर्भेदोऽत्र विचार्यत्वेन प्रस्तुत', इत्यत. केचिदेनां गाथा तदनुयायित्वेन व्याख्यानयन्ति; भाष्यकारस्तु तेनापि प्रकारेण पश्चाद् व्याख्यास्यति, साम्प्रत प्रस्तावानुयायित्वेन तावद् व्याख्यायते-तत्र बुद्धि श्रुतरूपेह गृह्यते, तया दृष्टा गृहीताः पर्यालोचिता बुद्धिदृष्टा अभिलाप्या अर्था. पदार्था', ते च बहव' सन्ति, अतस्तन्मध्याद् वक्ता यान् भाषते वक्ति तद् श्रुतम । कथ यान् भाषते ?, इत्याह-मतिः श्रुतोपयोगरूपा तत्सहित यथा भवति । एव यान् भावान् भाषते तत् श्रुतमुभयरूपमित्यर्थ' । इदमुक्त भवति-श्रुताऽऽत्मकबुद्ध्युपलब्धानर्थान् सदुपयुक्तस्यैव वदतो द्रव्यश्रुतभावश्रुतरूपमुभयश्रुत भवति, तत् श्रुतमित्युक्तेऽपि सामर्थ्यादुभयश्रुत लभ्यते " जे भासइ " इत्यनेन शब्दरूपस्य द्रव्यश्रुतस्य सूचितत्वात् " बुद्धिदिट्ठे अत्थे " इत्यनेन " मइसहिय " इत्यनेन च भावश्रुतस्याभिधित्सितत्वादिति । तदेतावता " सोइंदिओवलद्धी " (११७) इत्यादिगाथोक्तस्य उभयश्रुतस्य स्वरूपमुक्तम; यान् पुन. प्रथम श्रुतबुद्ध्या दृष्टानपि पश्चादन्याभ्यासवशादेवानुपयुक्तो वक्ति, तद् द्रव्यश्रुतम, इत्येतावद्गाथायामनुक्तमपि सामर्थ्याद् गम्यते; तथा यान् श्रुतबुद्ध्या पश्यत्येव, न तु मनसि स्फुरतोऽपि भाषते तद्भावश्रुतम्, इतीदमपि स-

मेवावगन्तव्यम् । तदेवमुक्ता किं तद् द्रव्याऽऽदिश्रुतम् ?, कथं वा तद्भवति ?, इत्येतद् विनिश्चितम् । अथ-" को वा भावसुयं मो " (१२७) इत्यादि निरूप्यते-तत्र भावश्रुतमुक्तयश्रुताद् द्रव्यश्रुतान्तर्भावि गुणम्, परस्मात्तु शब्दश्रुत द्रव्यश्रुत भावरूपे भावो वर्तत इति भावनीयम्, भाव. कल्पनीयात्, भावश्रुतस्य परिणामत्वात् सर्वेषामपि भावश्रुतविषयश्रुता-मार्गाकरणसमनन्तरमेव भाव तत्र भवत इति भावः । ततश्च भावश्रुतस्यान्तरम् एव भावो द्रव्यश्रुतादेव उभयश्रुतादेव च परिणमन्तुम्, भवति । एतच्च सर्वमनन्तरमेव भा-ष्यकारः स्वयमेव निरूपयति, इत्यलं विस्तरेण ।

आह-ननु यदुक्तमभावो भावश्रुतम्, यदि च नुपयुक्तो वक्ता सह द्रव्यश्रुतमित्युक्तम्, तथाऽहं न मन्यते, केवलं श्रुतबुद्ध्या वदन्नेव, तथाऽपि द्रव्यश्रुतरूपता, उभयश्रुतरूपता वा किमिति नेष्यते ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-" इयराण वि " इत्याद्-भावेन । " जं सुणइ न य सुय " इत्युक्ते, तद्गतिर्वक्ति-वक्तव्यमावस्याऽभावादि भावश्रुतमेव इत्यत आह भवति । ततश्चाप्यपरं श्रुतबुद्धौ वक्तृश्रुतमितरत्वाऽपि भा-वश्रुते भवेत् श्रुत-द्रव्यश्रुतरूपता, उभयश्रुतरूपता वा भवे-दित्यर्थः । आह किं स्यात् ?, अत्राह-उपलब्धौ सत्यामुपलब्धिः, तावत् तत्समं च यदि भवेत्--तावद्वस्तुविषयत्वेनुपपन्ने तावत्सर्वमनुपलब्धं वा यदि भवेदित्यर्थः । एतच्च नास्ति, श्रुतबुद्ध्या उपलब्धाभावात्तात्पर्यात्, यथा-कश्चिदेव हि, स पुरुषः परिज्ञानवानिति । तस्माद्भावश्रुतव्याख्या श्रुतविषयस्य वस्तुनः उपलब्धाभावात् सर्वदाऽपि असमान-कालत्वमेव भाव भवति यतः, अत एवैतदनुपयुक्तस्य वक्तुः द्रव्यश्रुतरूपता, उभयश्रुतस्य तु यतः उभयश्रुतरूपता भवेत्, नैतच्च भावश्रुते, भावतत्त्वविषयत्वात् । इति पूर्वगत गाथार्थः ॥ १२० ॥

तदेव व्याख्यातास्मानिरियं गाथा,

सांप्रतं भाष्यकारः स्वव्याख्यामाह-

जे सुयबुद्धिदिट्ठे, सुयपयरहिओ पयासए भावे ।

तं उभयसुयं लब्भइ, दव्वसुयं जे अणुवउत्तो ॥ १२९ ॥

गतार्था । नवरं सूत्राणि किञ्चिद् व्याख्यायते-श्रुतबुद्ध्या पक्ता बुद्ध्या दृष्टा पदार्थास्तान् यं भावानभाषते " मइसहि-य" (१२८) इत्यस्य गाथार्थव्याख्यानमाह-श्रुताऽऽलम्बनमति-हित., श्रुतोपयुक्त इति यावत् । यान् भावान् प्रभाषते तद् द्रव्यभावरूपमुभयश्रुतं भवति । यदि पुनरनुपयुक्तो भाषते तद् द्रव्यश्रुतं, शब्दमात्रमेवेत्यर्थः । यदि तु श्रुतबुद्ध्या पर्यालोच-यत्येव केवलम्, न तु भाषते, तज्ज्ञानश्रुतमित्यर्थाद् गम्यते । इति गाथार्थः ॥ १२९ ॥

उत्तरार्द्धव्याख्यानमाह-

इयरम्म वि भावसुए, होज्ज नव तस्समं जइ भणिज्जा ।

न य तरइ तव्वियं सो, जमणेगगुणं तयं तत्तो ॥ १३० ॥

यज्ज्ञायते तज्ज्ञानश्रुतं, द्रव्यश्रुत वेत्युक्ते भावश्रुतमेवेतरत्र शब्दवाच्यं गम्यते । तत्रेतरत्राऽपि भावश्रुते भवेत तद् द्रव्यश्रुतमुभयश्रुतं वा, यदि तत्समुपलब्धिसमं भणेत्, तच्च नास्ति, यस्माच्छ्रुतज्ञानी स्वबुद्ध्या यावदुपलभते तावत्कु ' न तरति ' न शक्नोति । कुत. ?, इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् ततो भाषाविषयविज्ञानात् श्रुतात् तद्वाक्यमानमाश्रित्य भावश्रु-तमनेकगुणमत तद्गुणम्, अतो नोपलब्धिसमं भणतीति गाथार्थः ॥ १३० ॥

उपलब्धिसममित्येतस्य समासविधिमाह-

सह उवलद्धीए वा, उवलद्धिसमं तया व जं तुल्लं ।

जं तस्समकालं वा, न सव्वहा तरइ वोत्तुं जे ॥ १३१ ॥

यद् भाषणमुपलब्ध्या सह वर्तते तदुपलब्धिसमम्, प्रा-कृतशैलीनिपातनात् सहस्य समभावः, या या श्रुतोपल-ब्धिस्तया तया सह यज्ज्ञायते तदुपलब्धिसममित्यर्थः । (तया व जं तुल्लं ति) तया वोपलब्ध्या यत् तुल्यं समानं तदुपलब्धि-समम्-यावती काचित् श्रुतोपलब्धिस्तत्तुल्य तत्संख्य यज्ज्ञा-यत तदोपलब्धिसममित्यर्थः । (जं तस्समकालं वेति) तया उपलब्ध्या समकालं वा यज्ज्ञायते तदुपलब्धिसमम् । यथा म-ध्ये सूत्र येद्यत्स्वास्समकालमेवा-न्यस्मै तद्रूपप्रकाशनम्, एव-मन्यः सर्वामपि श्रुतोपलब्धिमनुभवतस्तत्समकालमेव यद् भाषणं तदा उपलब्धिसममिति भावः । किं बहुना ?, सर्वथा सर्वेष्वपि समासविभावार्थ तात्पर्यं । कः ?, इत्याह-श्रुतज्ञानी यावत श्रुतबुद्ध्या समुपलभते, तावत्सर्वं न तरति न शक्नोति वक्तुं (जे इति) पादपूरणार्थे । इति गाथार्थः ॥ १३१ ॥

(ग) अथ कथ पुनरन्ये एतां गाथा मतिश्रुतभेदार्थे व्या-ख्यानयन्ति ?, इत्याह-

केई बुद्धिद्दिट्ठे, मइसहिए भासओ सुयं तस्स ।

किं सद्दो मइसहियं, भावसुयं सव्वहा जुत्तं ॥ १३२ ॥

इह केचनाऽऽचार्याः मतिश्रुतयोर्भेदं प्रतिपादयिषवो "बुद्धि-द्दिट्ठे अत्थे, जे भासइ " (१२८) इत्यादि मूलगाथायां बुद्धिः श्रुतबुद्धिरिति न व्याख्यानयन्ति, किं तु ' बुद्धिर्मतिरिति ' व्याख्यायते । मतएव बुद्ध्या मत्या दृष्टेषु वस्तुपर्यायेषु मध्ये कांश्चि-त् तद्दृष्टानर्थान्मतिसहितान् भाषमाणस्य श्रुतं भवति । आह-ननु मतिज्ञान्येव मतिसहितो भवति, तत्कथमर्थानां मति-सहितत्व विशेषणम् ? । सत्यम्, किं तु मूलगाथायां " म-इसहिय" (१२८) इति वचनान्मत्युपयोगे वर्तमानोऽत्र वक्ता गृह्यते, अतस्तस्य मत्युपयोगसहितत्वादर्थानामप्युपचारस्त-त्सहितत्वमुच्यते । तस्मान्मतिज्ञानदृष्टानर्थान् तदुपयुक्त-स्यैव भाषमाणस्य श्रुतं भवतीति तात्पर्यम्; अनुपयुक्तस्य तु यदसौ द्रव्यश्रुतम्, पारिशेष्याद्भाषमाणस्य पदार्थपर्यालोचन-मात्ररूपं मतिज्ञानम्, इति मतिश्रुतयोर्भेदः । तदेव केचिन्मूल-गाथायाः पूर्वार्द्धे व्याख्याते सूरिर्दूषणमाह (तत्थ किंसद्दो इ-त्यादि) तत्र तैरेवं व्याख्याते भावश्रुतं सर्वथैवायुक्तं स्यात्, सर्वथा तदभाव प्राप्नोतीत्यर्थः । तथाहि-किं भाष्यमाण-शब्दो भावश्रुतम्, मतिर्वा, उभयं वा ?, इति त्रयी गतिः । अस्य च त्रितयस्य मध्ये नैकमपि भावश्रुतं युक्तमिति भावः । इति गाथार्थः ॥ १३२ ॥

कथम् ?, इत्याह-

सद्दो वा दव्वसुयं, मइराभिणिबोहियं न वा उभयं ।

जुत्तं उभयाभावे, भावसुयं कत्थ तं किं वा ? ॥ १३३ ॥

मत्युपयुक्तस्य शब्दमुदीरयतो यस्तावत् शब्दः स द्रव्यश्रुत-मेव, इति कथं भावश्रुतं स्यात् ?, मतिस्त्वाभिनिबोधिकज्ञान-म् । भवतु तर्हि मतिशब्दलक्षणमुभयं समुदितं भावश्रुतम्, इत्या-

ह-(न वा उभय, सुत्त ति) नैव यथोक्तमुभयं समुदितमपि भावश्रुत युक्तम्, प्रत्येकावस्थायां तद्भावाभावात्, न हि प्रत्येक सिकताकणेषु असत्तैलं समुदितावस्थायामपि भवतीति भावः । तदेवमुभयस्य स्वतन्त्रस्याऽस्वतन्त्रस्य वा भावश्रुतत्वेऽनाभावे सति तद् भावश्रुत क्व शब्दाऽऽदौ ?, किं वा तत् ?, न किञ्चिदिति भाव. । इति गाथाऽर्थ. ॥ १३३ ॥

अथ भाषापरिणतिकाले मते. किमप्याधिक्यमुपजायते, इति उभयस्य श्रुतत्व न विरुध्यते, इत्याह-

भासापरिणइकाले, मईएँ किमहियमहऽगहत्तं वा ।
भासासंकप्पविसे-समेत्तओ वा सुयमजुत्तं ॥ १३४ ॥

मतेरन्तर्विज्ञानविशेषस्य भाषापरिणतिकाले शब्दप्रारम्भवेलायां पूर्वावस्थातः किमधिक रूप सपद्यते ?, येनोभयावस्थायां सा ज्ञानान्तर स्यात्, श्रुतव्यपदेश. स्यादित्यर्थ. । (अहऽग्गहत्त वेति) अथवा-अन्यथात्व किं मतेर्भाषापरिणतिकाले निर्मूलत एव अन्यथाभावः क', येन श्रुतत्व स्यात् ?, न कश्चिदिति भाव. । भाषाऽऽरम्भ एवात्र विशेष ,इति चेत् ?, इत्याह-(भासेत्यादि) भाषाया. सकल्प प्रारम्भ , स एव विशेषमात्रम्, मात्रशब्दो मनागपि विकारभवननिषेधार्थ., तस्माद् भाषासकल्पविशेषमात्राद् मते. श्रुतत्वमयुक्तम् । एतदुक्त भवति-अन्तर्विज्ञानस्य स्वयमविशिष्टस्य बाह्यक्रियाऽऽरम्भादत्यन्तजातिभेदाभ्युपगमे धावनवल्गनकराऽऽस्फोटनाऽऽदिबाह्यक्रियाऽऽनन्त्यान्मतेरानन्त्यमेव स्यात्, स्वय चाऽनुपजातविशेषाणां ज्ञानाना शब्दपरिणतिसन्निधानमात्रत एव ज्ञानान्तरत्वेऽतिप्रसङ्ग. स्यात्, अवध्यादिष्वपि तथाप्राप्तेरिति गाथाऽर्थ. ॥ १३४ ॥

तदेव कैश्चिद्विहितं मूलगाथाया' पूर्वार्द्धव्याख्यान दूषितम्, अथोत्तरार्द्धव्याख्यानमुपदर्श्य दूषयितुमाह-

इयरत्थ वि मइनाणे, होज्ज सुयं ति किह तं सुयं होइ ? ।
किह व सुयं होइ मई, सलक्खणाऽऽवरणभेयाओ ॥ १३५ ॥

" बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे " (१२८) इत्यत्र बुद्धिर्यैर्मतिज्ञानं व्याख्यातम्, तन्मतेन " इयरत्थ वि होज्ज सुय, उवलद्धिसम जइ भणेज्जा । " (१२८) इत्युत्तरार्द्धगतस्य इतरत्रशब्दस्य मतिज्ञानमेव वाच्यम्, शब्दसहितमतेर्द्रव्यभावश्रुतत्वेनोक्तत्वात्, तदितरस्य मतिज्ञानस्यैव तत्र संभवात् । ततश्च तद्व्याख्यानमनूद्य दूषयति-इतरत्रापि मतिज्ञाने श्रुत भवेद् यद्युपलब्धिसम भाषेत, इति यत्तैरुच्यते, तदयुक्तम्, यतो हन्त ! यन्मतिज्ञानम्, तत्कथ श्रुत भवितुमर्हति ? । श्रुत चेत्, कथं वा तन्मतिर्भवेत् ? । कुतः पुनरित्थ न भवति ?, इत्याह-मतिश्रुतयोर्यत स्वकीय लक्षणम्, कर्म चाऽऽवारकम् , तयोर्भेदेनाऽऽगमे प्रतिपादनात् । यदि च यदेव मतिज्ञान तदेव श्रुतम्, यदेव च श्रुत तदेव मतिज्ञान स्यात्, तदा लक्षणाऽऽवरणभेदोऽपि तयोर्न स्यादिति गाथाऽर्थ ॥ १३५ ॥

तदेवम्-" बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे, जे भासइ " (१२८) इत्यादि मूलगाथा मतिश्रुतभेदप्रतिपादनपरतया व्याचिख्यासो. परस्य मतिर्भावश्रुत न युज्यत इति प्रतिपादितम् । यदि तु द्रव्यश्रुतं साऽभ्युपगम्यते तदा न दोष., इत्युपदर्शयन्नाह-

अहव मई दव्वसुय-त्तमेउ भावेण सा विरुज्झेज्जा ।
जो असुयक्खरलाभो, तं मइसहिओ पभासेज्जा ॥ १३६ ॥

अथवा मतिर्द्रव्यश्रुतत्वमेतु आगच्छतु, न तत्र वयं निषेद्धार., केवलमेतदेव निर्बन्धेनाभिदध्मो यदुत-भावेन भावश्रुतत्वेन सा मतिर्विरुध्येत दर्शितन्यायेन विरोधमनुभवेत् । इदमुक्त भवति-" केई बुद्धिद्दिट्ठे, मइसहिए भासओ सुय" (१३२) इत्यत्र गाथार्द्धे योऽसौ श्रुतशब्द. स यदि द्रव्यश्रुतवाचित्वेन व्याख्यायते तदा विरोधो न भवति । कथम् ?, इति चेत् । उच्यते-बुद्धिर्मतिस्तद्दृष्टान् मत्युपयोगसहितानर्थान् भाषमाणस्य सा मति शब्दलक्षणस्य द्रव्यश्रुतस्य कारणत्वाद् द्रव्यश्रुतम्, अभाषमाणस्य तु मतिज्ञानम्, इत्येव मतिद्रव्यश्रुतयोर्भेद. प्रोक्तो भवति, न तु मतिश्रुतज्ञानयो. केवल विरोधपरिहारमात्रमित्थमुपकल्पित भवति । अत्राऽऽह कश्चित्-ननु यदि मत्युपयोगे वर्तमानो भाषेत कश्चित् ,तदा द्रव्यश्रुतकारणत्वाद् मति. स्याद् द्रव्यश्रुतम् , एतच्च न भविष्यति, इत्याह-(जो असुयेत्यादि) योऽश्रुतानुसार्यक्षरलाभ , त मत्युपयोगे वर्तमानो भावेन वक्ता, नाऽत्र काचित् सन्देह , यस्तु श्रुतानुसार्यक्षरलाभस्त श्रुतोपयोगे एव वर्तमानो भाषेत, अतो न तच्छब्दस्य मति कारणम्, श्रुतपूर्वत्वात्तस्येति भाव' । इदमुक्त भवति-य परोपदेशार्हद्वचनलक्षण श्रुतमनुश्रित्याक्षरलाभोऽन्त. स्फुरति त श्रुतोपयोगे एव वर्तमानो भाषते, यस्त्वश्रुतानुसारी स्वमत्यैव पर्यालोचित ईहाऽपायेषु स्फुरत्यक्षरलाभ , त यदा मत्युपयोगसहित एव भाषते, तदा तस्य शब्दलक्षणस्य द्रव्यश्रुतस्य कारणत्वाद् भवत्येव मतिर्द्रव्यश्रुतम् । इति गाथाऽर्थ ॥ १३६ ॥

अथास्मिन्नेव मतेर्द्रव्यश्रुतत्वपक्षे " इयरत्थ वि होज्ज सुय" (१२८) इत्यादौ मूलगाथाया उत्तरार्द्धे योऽर्थ सपद्यते, तमाचार्य प्रदर्शयन्नाह-

इयरम्मि वि मइनाणे, होज्ज तय तस्समं जइ भणेज्जा ।
न य तरइ तत्तिय सो, जमणेगगुणं तयं तत्तो ॥ १३७ ॥

भाषमाणस्य मतिर्द्रव्यश्रुतमित्युक्तम् , अतोऽभाषमाणावस्थाभावि मतिज्ञानमितरत्र शब्दवाच्य भवति । ततश्चेतरत्राप्यभाषमाणावस्थाभाविनि मतिज्ञाने भवेत् तद् द्रव्यश्रुत यदि तत्सम मतिज्ञानोपलब्धिसम भणेत्, यावद् मतिज्ञानेनोपलभते तावत्सर्वं वदेदित्यर्थ , एतच्च नास्ति । कुत ?, इत्याह-(न य) नैव 'तरति' शक्नोति स यावन्मतिज्ञानेनोपलभते तावद् वक्तुम् । कुत ?, इत्याह-यद् यस्मात् ततो वक्तु शक्यात्तत्सर्वमपि मतिज्ञानोपलब्धमनेकगुणमनन्तगुणमिति गाथाऽर्थ. ॥ १३७ ॥

अत्र विनेय' प्राऽऽह-

कह मइसुओवलद्धा, तीरंति न भासिउं बहुत्ताओ ।
सव्वेण जीविएण वि, भासइ जमणंतभागं सो ॥ १३८ ॥

नन्वनन्तरगाथायां मत्युपलब्धा सर्वेऽपि वक्तु न शक्यन्त इत्युक्तम्, पूर्वं तु श्रुतोपलब्धा अपि सर्वेऽभिधातु न पार्यन्त इत्यभिहितम्, तदेतत्कथम्, यन्मतिश्रुतोपलब्धा भावा न तीर्यन्ते भाषितुम् ?। अत्राऽऽह-बहुत्वात्-प्राचुर्यात् । तत्रैतत् स्यात्-कुत पुनरेतावद्बहुत्व तेषा निश्चितम् ?, इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् सर्वेणाऽप्यायुषा सः मतिश्रुतज्ञानी समुपलब्धानामर्थानामनन्ततममेव भाग भाषत इत्यागमे निर्णीतम्, तस्माद् बहुत्वावगम' । इति गाथाऽर्थ ॥ १३८ ॥

अथ मत्याद्युपलब्धार्थानां सामस्त्येनाभिधानाशक्यत्वे पूर्वोक्तम्, अपरमपि च हेतु विषयविभागेनाभिधित्सुराह-

तीरंति न वोत्तुं जे, सुओवलद्धा बहुत्तभावाओ ।
सेसोवलद्धभावा, सा भव्वबहुत्तओऽभिहिया ॥१३९॥

सर्वेऽपि श्रुतोपलब्धा भावा न तीर्यन्ते न पार्यन्ते वक्तुम् । 'जे' इति पूर्ववदेव । कुतस्ते वक्तुं न पार्यन्ते ?, इत्याह-बहुत्वभावाद् बहुत्वसद्भावादेवेत्यवधारणीयम्, न तु तत्स्वाभाव्यादित्यभिप्राय. । (सेसोवलद्धभावा, सा भव्व त्ति) शेष श्रुताद्न्यत् प्रस्तुत मतिज्ञानम्, समानवक्तव्यताप्रस्तावलब्धानि मत्यवधिमन.पर्यायकेवलानि वा शेषाणि, तेन तैर्वा उपलब्धा ज्ञाताः शेषोपलब्धा , ते च ते भावाश्चेति समास , स्वाभाव्यादेव अनभिलाप्याऽऽत्मकत्वादेव न तीर्यन्ते भाषितुम् । आह-नन्वेते यथाऽनभिलाप्यत्वादभिधातु न शक्यन्ते, तथा बहुत्वादपि, तत् किमित्यनभिलाप्यस्वभावत्वमेवैकमत्र हेतुत्वेनोच्यते?; सत्यम्, किं त्वभिलाप्यत्वे सति बहुत्वाल्पत्वचिन्ता क्रियमाणा विभ्राजते, ये तु मूलत एवानभिलाप्यास्तेषु बहुत्वलक्षणो हेतुरुच्यमानोऽपि निष्फल एव, अनभिलाप्याऽऽत्मकत्वेनैवाभिधानाशक्यत्वस्य सिद्धत्वादिति । किं च-(बहुत्तओऽभिहिय त्ति) बहुत्वाच्छेषोपलब्धा भावा यथा वक्तु न शक्यन्ते, तथा " कइ मइसुओवलद्धा, तीरति न भासिउ बहुत्ताओ । " (१३८) इत्याद्यनन्तरगाथायामभिहिता एव, इति किं बहुत्वहेतूपन्यासेन ?, पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् । शेषज्ञानेषु मध्ये मतिरेव स तत्र प्रोक्त., अत्र त्ववध्यादीन्यपि गृहीतानि सन्ति, अतस्तदर्थमयमिहापि वक्तव्य इति चेत्, नैवम्, मतेरुपलक्षणत्वेनावध्यादिष्वप्यसौ तत्र द्रष्टव्य इत्यदोष. । यद्येवम्, तर्हि श्रुतस्यापि बहुत्वलक्षणो हेतु. प्रागुक्त एव, किमितीह पुनरप्युच्यते ?, इति चेत् । सत्यम्, किं तु श्रुतोपलब्धा बहुत्वात्, शेषोपलब्धास्तु तत्स्वाभाव्यान्न शक्यन्ते अभिधातुम्, इति विषयविभागदर्शनार्थं तस्येह पुनरुपन्यास. । अपरस्त्वाह-ननु मत्याद्युपलब्धानामपि केषाञ्चिदभिलाप्यत्वात् किमुच्यते?-(सेसोवलद्धभावा,सा भव्व त्ति) सत्यम्, किं तु तेषां श्रुतविषयत्वेनैवाभिधानाशक्यत्वस्योक्तत्वाददोष. । इति गाथाऽर्थ. ॥ १३९ ॥

विनेय. पृच्छति-

कत्तो पत्तियमेत्ता, भावसुयमईण पज्जया जेसिं ।
भासइ अणंतभागं, भणइ जम्हा सुएऽभिहिय ॥१४०॥

कुत. पुनरेतावन्तो भावश्रुतमत्यो. पर्याया उपलब्धार्थविषया विशेषाः, येषा सर्वेणापि जन्मनाऽनन्तभागमेव भाषत इति प्रागुक्तम् ? । अत्र गुरुराह-भण्यतेऽत्रोत्तरम्-यस्मात् सूत्रे आगमे वक्ष्यमाणमभिहितम्,तस्मात् तयोरेतावन्त. पर्याया. । इति गाथाऽर्थ ॥ १४० ॥

किं तत्सूत्रेऽभिहितम् ?, इत्याह-

पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुयनिबद्धो ॥ १४१ ॥

प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्त इति प्रज्ञापनीया वचनपर्यायत्वेन श्रुतज्ञानगोचरा इत्यर्थ । के ?, भावा ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकान्तर्निविष्टभूभवनविमानमहनक्षत्रतारकार्केन्द्वादयस्ते सर्वेऽपि मिलिताः । किम् ?, इत्याह-अनन्ततम एव भागे वर्तन्ते । केषाम्?, अत्राऽऽह-अनभिलाप्यानामर्थपर्यायत्वेनावचनगोचराऽऽपन्नानामित्यर्थ , अनभिलाप्यवस्तुराशेरभिलाप्यपदार्थसार्थः सर्वोऽप्यनन्ततम एव भागे वर्तत इत्यर्थ । प्रज्ञापनीयपदार्थानां पुनरनन्तभाग एव चतुर्दशपूर्वलक्षणे श्रुते निबद्धो भगवद्भिर्गणधरैः साक्षाद् ग्रथितः । इति गाथाऽर्थ ॥ १४१ ॥

कुत. पुनरेतद् विज्ञायते यदुत-प्रज्ञापनीयानामनन्तभाग एव श्रुतनिबद्ध. ?, इत्याह—

जं चोद्दसपुव्वधरा, छट्ठाणगया परोप्परं होंति ।
तेण उ अणंतभागो, पण्णवणिज्जाण जं सुत्तं ॥१४२॥

यद् यस्मात् कारणात् चतुर्दशपूर्वधराः षट्स्थानपतिताः परस्पर भवन्ति, हीनाधिक्येनेति शेष. । तथाहि-सकलाभिलाप्यवस्तुवेदितया य उत्कृष्ट चतुर्दशपूर्वधर, ततोऽन्यो हीनहीनतराऽऽदि, आगमे इत्थ प्रतिपादित । तद्यथा-" अणंतभागहीणे वा, असंखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जगुणहीणे वा, असंखेज्जगुणहीणे वा, अणंतगुणहीणे वा । " यस्तु सर्वस्तोकाऽभिलाप्यवस्तुज्ञायकतया सर्वजघन्य , ततोऽन्य उत्कृष्ट उत्कृष्टतराऽऽदिरप्येव प्रोक्त । तद्यथा-"अणंतभागब्भहिए वा, असंखेज्जभागब्भहिए वा, संखेज्जभागब्भहिए वा, संखेज्जगुणब्भहिए वा, असंखेज्जगुणब्भहिए वा, अणंतगुणब्भहिए वा । " तदेव यत. परस्पर षट्स्थानपतिताः चतुर्दशपूर्वविद., तस्मात् कारणाद् यत्सूत्र चतुर्दशपूर्वलक्षण तत् प्रज्ञापनीयाना भावानामनन्तभाग एवेति । यदि पुनर्यावन्तः प्रज्ञापनीया भावास्तावन्त. सर्वेऽपि सूत्रे निबद्धा भवेयुः, तदा तद्वेदिनां तुल्यतैव स्यात्, न षट्स्थानपतितत्वमिति भाव । इति गाथाऽर्थ. ॥ १४२ ॥

आह-ननु यदि सर्वेऽपि चतुर्दशपूर्वविद., तर्हि कथं तेषां परस्पर हीनाऽऽधिक्यम् ?, इत्याह-

अक्खरलंभेण समा, ऊणऽहिया होंति मइविसेसेहिं ।
ते वि अ मईविसेसे, सुयनाणऽब्भतरे जाण ॥ १४३ ॥

चतुर्दशपूर्वगतसूत्रलक्षणेनाक्षरलाभेन समास्तुल्या सर्वेऽपि चतुर्दशपूर्वविद, ऊनाधिकास्ते मतिविशेषैर्भवन्ति क्षयोपशमवैचित्र्याद् यथोक्ताक्षरलाभानुसारिभिरेव तैस्तैर्गम्यार्थविषयैर्विचित्रैर्बुद्धिविशेषैर्हीनाधिका भवन्तीत्यर्थ. । इह च मतिशब्दोपादानविभ्रमात् ते मतिविशेषा मा भूवन्नाभिनिबोधिकज्ञानविशेषा., इत्यत आह-' ते वि येत्यादि ' । इदमुक्त भवति-मतिशब्देनेह श्रुतमतिर्विवक्षिता, न त्वाभिनिबोधिकमति । ततश्च यैश्चतुर्दशपूर्वविदो हीनाधिकास्तानपि च मतिविशेषान् श्रुतज्ञानाभ्यन्तरे जानीहि श्रुतज्ञानान्तर्भाविन एव विद्धि, न त्वाभिनिबोधिकान्तर्वर्तिन इति भाव । यद्येवम् " ते वि य मईविसेसे, सुयनाण चेव जाणाहि । " इत्येवमेव प्रगुणे कस्मान्नोक्तम्, किमभ्यन्तरशब्दोपादानक्लेशेन ? । नैतदेवम्, अस्याऽपि न्यायस्य दृष्टत्वाद्, भद्राभ्यन्तराऽऽदिव्यपदेशवद् यथा हाङ्गमेवाङ्गाभ्यन्तरम, एवं श्रुतमेव श्रुताभ्यन्तरमित्युक्तं भवति । अथवा-छन्दोभङ्गभयादभ्यन्तरग्रहणं, यदि वा-" सुयनाण- " इत्यनेन चतुर्दशपूर्वलक्षण श्रुतमधिक्रियते,ततश्च तानपि गम्यान् मतिविशेषांश्चतुर्दशपूर्वाक्षरलाभरूपस्य श्रुतस्यैवाभ्यन्तरे जानीहि त्वम्, न व्यतिरिक्तानिति शिष्योपदेश, चतुर्दशभिरपि हि पूर्वै. काश्चित् साक्षात्, काश्चित्तु गम्यतया सर्वोऽप्यभिलाप्य

पदार्थोऽभिधीयत एव; ततश्च गम्या अपि मतिविशेषा-स्तदन्तर्भाविन एव, तदनुसारित्वादिति गाथाऽर्थः ॥१४३॥

चतुर्दशपूर्वलक्षणश्रुतानुसारित्वेन यदेतद् मतिविशेषाणां तदन्तर्भावित्वमुक्तम्, तदेव समर्थयन्नाह-

जे अक्खराणुसारे-ण मइविसेसा तयं सुयं सव्वं ।
जे उण सुयनिरवेक्खा, सुद्धं चिय तं मइनाणं ॥१४४॥

ये अक्षरानुसारेण श्रुतग्रन्थमनुसृत्य जायन्ते मतिविशेषाः तत्सर्वं श्रुतमेव, इत्यसकृदुक्तम्। ये तु यथोक्तश्रुतनिरपेक्षाः स्वयमेवोत्प्रेक्षितवस्तुतत्त्वा मतिविशेषाः समुत्पद्यन्ते तच्छुद्धं मतिज्ञानमेव, इत्येतदप्यनेकधा प्रागप्यभिहितम्। तस्माच्चतुर्दशपूर्वगताक्षरानुसारेण जायमानाः प्रस्तुतमतिविशेषाः सर्वे, श्रुतमेवेति गाथाऽर्थः ॥ १४४ ॥

(१०) तदेवं द्रव्यश्रुताऽऽदिश्रुतस्वरूपप्रतिपादनप्रकारेण "बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे जे भासइ" (१२८) इत्यादि मूलगाथां व्याख्याय "केई बुद्धिद्दिट्ठे, मइसहिए भासओ" (१३२) इत्यादिना दर्शितमपि विशेषदूषणाऽभिधित्सया पुनरपि मतान्तरमुपदर्शयन्नाह-

केइ अभासिज्जंता, सुयमणुसरओ वि जे मइविसेसा ।
मन्नंति ते मइ च्चिय, भावसुयाभावओ तन्नो ॥ १४५ ॥

केचिद् व्याख्यातारः (मन्नंति ते मइ च्चिय त्ति) तान् मतिविशेषान् श्रुतमनुसरतोऽपि मतिरेवेति मन्यन्ते । ये किम् ?, इत्याह-येऽभाष्यमाणाः, येषु शब्दप्रवृत्तिर्नास्तीत्यर्थः । श्रुतानुसारिणोऽपि मतिविशेषा ये प्रवृत्तिरहिताः केवल हृद्येव विपरिवर्तन्ते, ते मतिज्ञानमेवेति केचिद् मन्यन्त इति भावः । तदेतद् न । कुतः ?, इत्याह-भावश्रुताभावप्रसङ्गात्, तदभावश्च "किं सद्दो मइरुभय, भावसुय सव्वहा जुत्त । (१३२)" "सद्दो ता दव्वसुयं, मइराभिणिबोहियं न वा उभय ।" (१३२) इत्यादि पूर्वोक्तग्रन्थाद् भावनीयम् । इति गाथाऽर्थः ॥ १४५ ॥

किं च-

किह मइसुयनाणविऊ, छट्ठाणगया परोप्परं होज्जा ।
भासिज्जंतं मोत्तुं, जइ सव्वं सेसयं बुद्धी ॥ १४६ ॥

यदि भाष्यमाण मुक्त्वा शेषक सर्वमपि बुद्धिर्मतिज्ञानमित्यर्थः, तर्हि मतिश्रुतज्ञानाभ्यां विदन्तीति मतिश्रुतज्ञानवेदिनः परस्पर स्वस्थाने परस्थाने च कथ षट्स्थानपतिताः स्युः ?, न कथञ्चिदित्यर्थः । तथाहि-सर्वेणापि जन्मना मतिश्रुतोपलब्धानामर्थानामनन्तभाग एव भाष्यत इति प्रागिहैवोक्तम् । ततश्च मतिज्ञानी श्रुतज्ञानिनः सकाशात् सदैवानन्तगुणाधिकः, श्रुतज्ञानी त्वितरस्मान्नित्यमनन्तगुणहीन एव प्राप्नोति, इति न तावत्परस्थाने षट्स्थानपतितत्वम् । स्वस्थानेऽपि श्रुतज्ञानी अन्यस्मात् श्रुतज्ञानिनः सङ्ख्यातेनैव हीनोऽधिको वा स्यात्, न त्वसङ्ख्यातेन, अनन्तेन वा, भाषकचतुर्दशपूर्वविदां संख्येयवर्षाऽऽयुष्कत्वेन असङ्ख्येयस्यानन्तस्य वा भाषणस्यैवासम्भवादिति । अस्यैव च विशेषदूषणस्याभिधानार्थं पुनरत्रेद मतान्तरमुपन्यस्तम् । अन्यथा हि-"केई बुद्धिद्दिट्ठे, मइसहिए भासओ सुय (१३२)" इत्यादिना सर्वमिद प्रागभिहितमेवेति गाथाऽर्थः ॥ १४६ ॥

तदेवं "बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे" (१२८) इत्यादिपूर्वगतगाथाश्रुतस्वरूपाभिधायिना प्रकारेण व्याख्याता, मतिश्रुतयोश्च भेदस्य व्याख्येयत्वेन प्रस्तुतत्वात्तदभिधायकत्वेनाऽपि मतान्तरेण व्याख्याता, तच्च व्याख्यानमयुक्तत्वाद् दूषितम् । अथाऽऽत्माऽभिमतेन निरवद्यमतिश्रुतभेदप्रकारेणैता व्याख्यातुमाह-

सामन्ना वा बुद्धी, मइसुयनाणाइँ तीएँ जे दिट्ठा ।
भासइ संभवमित्तं, गहियं न उ भासणामित्तं ॥१४७॥
मइसहियं भावसुयं, तं नियमओ भासओ वि मइरन्ना ।
मइसहियं ति जमुत्तं, सुओवउत्तस्स भावसुयं ॥१४८॥

स्वविहितप्रथमव्याख्यानापेक्षया वाशब्दो यदि वेत्यर्थः, "बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे (१२८)" इत्यत्र येय बुद्धि, असौ सामान्या गृह्यते, सत किम् ?, इत्याह (मइसुयनाणाइ ति) मतिश्रुतज्ञाने द्वे अपि बुद्धिरित्यर्थः, तया बुद्धिश्रुतज्ञानाऽऽत्मिकया बुद्धया ये दृष्टा भावास्तेषु मध्ये यान् भाषते तद्भावश्रुतमित्युत्तरगाथाया सम्बन्धः । भाषत इत्यत्र च भाषणस्य सम्भवमात्र गृहीतम्, न तु भाषणमात्रम् । ततश्चेदमुक्त भवति-तत्रान्यत्र वा देशे, तदाऽन्यदा वा काले, स चान्यो वा पुरुषः, सति सामग्रीसमग्रे निश्चयेनैतान् भाषत एव, इत्येव यान् भावानन्तर्विकल्पे प्लवमानान् भाषणयोग्यतायां व्यवस्थापयति, तेऽभाष्यमाणा अपि भाषणयोग्या सन्तो भावश्रुत भवन्ति, न तु भाष्यमाणा एवेति भावः । एवं च सति मत्युपलब्धानामनभिलाप्यानामर्थाना भाषणायोग्यत्वाद्भावश्रुतत्वमपाकृत भवति । भाषणयोग्यानां त्वभाष्यमाणानामपि सर्वेषां विकल्पप्रतिभासिनामर्थानां भावश्रुतत्वमावेदित भवति ॥ १४७ ॥
अत एव पर्यवसितमर्थं द्वितीयगाथायामाह-नियत निश्चित तद्भावश्रुतमभाषमाणस्याऽपि भवति, योग्यतामात्रेणैव भाषणस्य गृहीतत्वादिति भावः । आह-ये सामान्यबुद्धिदृष्टा अर्था ये भाषणयोग्याः, यदि तेषां भावश्रुतत्वम्, तर्हि मतिज्ञानान्तर्वर्त्यपायविकल्पावभासिनामपि तत्प्रसङ्गः, न हि तेऽपि न भाषणयोग्याः, इत्याशङ्क्याऽऽह-"मतिसहितामिति ।" अस्य व्याख्यानमाह-(मइसहिय तीत्यादि) मतिसहितमिति यदुक्त तस्य कस्तात्पर्यार्थः ?, इत्याह-श्रुतोपयुक्तस्यैव भाषमाणस्य, अभाषमाणस्य वा भावश्रुत भवति, नान्यस्य । इदमुक्त भवति-मतिसहितमिति श्रुतमतिसहित यथा भवति, एव यान् भाषते त एव भावश्रुतम्, नान्ये, ततश्च श्रुतोपयुक्तस्यैव भाषणयोग्यानर्थान् विकल्पयतो भावश्रुत सिद्ध भवति । एव च सति श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतोपयुक्तत्वस्याऽसंभवाद् मतिविकल्पस्य भाषणयोग्यत्वे सत्यपि कुतो भावश्रुतत्वम् ?, इति । आह-ननु सामान्या बुद्धिरिह गृहीता, श्रुतोपयुक्तत्वे च गृह्यमाणे कथ मतिदृष्टत्वमर्थानां संभवति ?, श्रुतबुद्धिदृष्टत्वस्यैव तत्र सम्भवात् । नैतदेवम्, मतिपूर्वं हि श्रुतम्, ततो यत्र श्रुतबुद्धिदृष्टत्व तत्र मतिदृष्टत्वमस्त्येव, इति न काचित् क्षतिः, इत्यलमतिचर्चितेन । तदेव श्रुतज्ञानोपयुक्तः सामान्यबुद्धिदृष्टानर्थान् सम्भवतो यान् भाषते तद्भावश्रुतमिति स्थितम् । नन्वर्थानां कथ भावश्रुतत्वम् ?, ज्ञानस्यैव तत्सम्भवात् । सत्यम्, किं तु विषयविषयिणोरभेदोपचाराद् भावश्रुते प्रतिभासमाना अर्था अपि भावश्रुतम्, इत्यदोषः । (मइरन्न त्ति) यथोक्ताद्भावश्रुताद् अन्या व्यतिरिक्ता मतिर्द्रष्टव्या । इदमुक्त भवति-येऽनभिलाप्या अपि

न्तो यदाऽऽह- श्रुतानुसारिण्याभावेन श्रुतोपयुक्तेन विकल्प्यन्ते, ये चाऽर्थपर्यायेण वाचकध्वनेरभावाद् मूकत एवाभिलपितुमशक्या अनभिलाप्या, ते यस्यां विकृतौ प्रतिभासन्ते, सा मतिरित्यवगन्तव्या, न तु श्रुतम्, अभिलाप्यवस्तुविषयाया श्रुतानुसारित्वाभावात्, अनभिलाप्यवस्तुविषयायां तु भाषणायोग्यत्वादिति गाथाद्वयार्थः ॥ १४८ ॥

अथेहतोऽवधारणाविधिमुपदर्शयन्नाह—

जे भासइ चेव तयं, सुयं तु न तु भासओ सुयं चेव ।
केइ मइए वि दिट्ठा, जं दव्वसुयत्तमुवयंति ॥१४९॥

" बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे, जे भासइ " (१२८) इत्यत्र यान् कदाचित् स्वमतमात्रेण भाषते एव तत् श्रुतमित्येवमेवावधारणीयम्, न तु भाषमाणस्य श्रुतमेवेति याम् भाषते तत् श्रुतमेवेत्येव भावार्थेन इत्यर्थः । कुत ?, इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् केचिदभिलाप्या पदार्था मत्याऽपि दृष्टा अवग्रहेणावगृहीता, ईहया स्वीहिता, अपायाविकल्पेन तु निश्चिता इत्यर्थः, द्रव्यश्रुतत्वमुपयान्ति, शब्दलक्षणेन द्रव्यश्रुतेन भाष्यन्त इत्यर्थः । यदि च भाषमाणस्य श्रुतमेवेत्यवधार्येत, तदा एतान्यपि श्रुतानि स्यात्, न चैतदिष्यते, श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतोपयुक्तस्य तेष्वसम्भवात, तस्माद् यथोक्तमेवावधारणमिति गाथार्थः ॥ १४९ ॥

अथ यथोक्तस्यावधारणस्य मतिश्रुतभेदोपदर्शनपूर्वकमुपसंहरन्नाह-

एवं पणिपरिणामं, सुयनाणं उभयहा मइन्नाणं ।
जं भिन्नसहावाइं, ताइं तो भिन्नरूवाइं ॥ १५० ॥

एवं प्रागुक्तप्रकारेण केवलाऽभिलाप्यार्थविषयत्वात् सर्वमपि श्रुतज्ञानं ध्वनिपरिणाममेव, ध्वनेः शब्दस्य परिणमनं विपरिवर्तनं परिणामो यत्र तद् ध्वनिपरिणामं भवत्येव, श्रुतानुसारित्वेनोत्पन्नमेव ह्येतदिष्यते, श्रुतं च संकेतकालप्रवृत्तिविषयोपदेशरूपम्, श्रुतग्रन्थरूपं च द्विविधम्, शब्दोऽत्राधिकृतः, तदनुसारेण चोत्पन्ने ज्ञाने ध्वनिपरिणामो भवत्येवेति । मतिज्ञानं तूभयथाऽपि भवति-शब्दपरिणामम्, अशब्दपरिणामं च, अभिलाप्यानभिलाप्यपदार्थविषयं ह्येतत् । ततश्च श्रुतानपेक्षस्वमत्यैव विकल्प्यमानेष्वभिलाप्येषु ध्वनिपरिणामोऽस्मिन्नपि प्राप्यते । अनभिलाप्यविषयतायां तु नाऽसौ तत्र लभ्यते । अनभिलाप्यपदार्था हि स्वयमेव बुध्यमाना अपि वाचकध्वनेरभावाद्विकल्पयितुं, परस्मै प्रतिपादयितुं वा न शक्यन्ते, यथा नालिकेरद्वीपाऽऽयातस्य बहुधादय क्षीरेक्षुगुडशर्कराऽऽदिमाधुर्यतारतम्याऽऽदयो वा, इति कुतस्तद्विषयताया ध्वनिपरिणाम ?। अभिलाप्यपदार्थेभ्योऽनन्तगुणाश्चानभिलाप्याः सन्ति, ततोऽभिलाप्यानभिलाप्यवस्तुविषयत्वात् शब्दाशब्दपरिणामं मतिज्ञानमिति स्थितम् । अथोपसंहरति-(तो त्ति) तस्मात्ते मतिश्रुते स्वामिकालाऽऽदिभिरविशेषेऽपि भिन्नरूपे भेदवती मन्तव्ये । कुत ?, इत्याह-यद् यस्मात् कारणाद् द्वे अपि भिन्नस्वभावे, उक्तन्यायेनैकस्य ध्वनिपरिणामित्वात्, अपरस्य तूभयस्वभावत्वादिति गाथार्थः ॥ १५० ॥

तदेव मूलगाथायाम्-" बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे, जे भासइ तं सुयं मईसहियं । " (१२८) इत्येतत् पूर्वार्द्धम्-" सामन्ना वा बुद्धी " (१४७) इत्यादिना व्याख्यातम् । अथ-"इयरत्थ वि होज्ज सुयं, उवलद्धिसमं जइ भणेज्जा । " (१२८) इत्येतदुत्तरार्द्धं व्याचिख्यासुराह-

इयर त्ति मइन्नाणं, तओ वि जइ होइ सद्दपरिणामो ।
तो तम्मि वि किं न सुयं, भासइ जं नोवलद्धिसमं ? ।१५१।

" इयरत्थ वि होज्ज सुयं, " (१२८) इति मूलगाथोत्तरार्द्धे इतरशब्दस्य किं वाच्यम् ?, इत्याह-इतरदिति मतिज्ञानं नत्राऽभिसम्बध्यते, इत्याचार्येणोक्ते पर आऽऽह-(तओ वि जइ होइ सद्दपरिणामो । तो तम्मि वि किं न सुय ति) तत इति सप्तम्यास्तस्प्रत्ययः, ततश्च-" उभयहा मइन्नाणं " (१५०) इति वचनाद् यदि तस्मिन्नपि मतिज्ञाने शब्दपरिणामो भवति, ततस्तस्मिन्नपि किं न श्रुतं-तदपि भावश्रुतरूपतां किं न प्रतिपद्यते ? इत्यर्थः, शब्दपरिणामस्य श्रुतत्वेन उक्तत्वादिति भाव । अत्राऽऽचार्य उत्तरमाह—(भासइ जं नोवलद्धिसमं ति) यद् यस्मात् कारणादुपलब्धिसमं मतिज्ञानी न भाषते, ततो न मतिज्ञानस्य श्रुतरूपतेति गाथार्थः ॥ १५१ ॥

कथं पुनरुपलब्धिसममसौ न भणति ?, इत्याह-

अभिलप्पाऽणभिलप्पा, उवलद्धा तस्समं च नो भणइ ।
तो होउ उभयरूवं, उभयसहाव त्ति काऊणं ॥१५२॥

प्रागुक्तन्यायेन अभिलाप्यानभिलाप्या पदार्था मतिज्ञानोपलब्धाः, एवंभूतोपलब्ध्या च समं भणितुं न शक्नोत्येव, अनभिलाप्याना सर्वेषां वक्तुमशक्यत्वादिति भावः । अत्र पर आऽऽह—(तो होउ इत्यादि) ततस्तर्हि भवतु मतिज्ञानमुभयरूपं श्रुतमतिरूपम् । कुत ?, इत्याह—उभयस्वभावमिति कृत्वा, अभिलाप्यानभिलाप्यवस्तुविषयत्वेन द्विस्वभावत्वादित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-यदभिलाप्यपदार्थान् उपलभते भाषते च, तत् श्रुतज्ञानमस्तु, अनभिलाप्यपदार्थांस्तु भाषणायोग्यान् यदवगच्छति, तन्मतिज्ञानं भवति । इति गाथार्थः ॥ १५२ ॥

अत्रोत्तरमाह—

जं भासइ तं पि जओ, न सुयाऽऽदेसेण किं तु समईए ।
न सुओवलद्धितुल्लं, ति वा जओ नोवलद्धिसमं ॥१५३॥

यद्यपि किञ्चिदभिलाप्यवस्तूपलब्ध मतिज्ञानी भाषते तदपि यतो न श्रुताऽऽदेशेन, किं तु स्वमत्या, अतो न तत् श्रुतमिति । इदमुक्तं भवति-परोपदेशः, श्रुतग्रन्थश्च श्रुतमिहोच्यते, तदादेशेन तु तदनुसारेण विकल्प्य यदा भाषते, तदा श्रुतोपयुक्तस्य भाषणात् श्रुतमुपपद्यत एव; यत्र तु स्वमत्यैव पर्यालोच्य भाषते न तु श्रुतानुसारेण, तत्र श्रुतोपयुक्तत्वाभावान्मतिज्ञानमेव । तदेवम्-" भासइ जं नोवलद्धिसमं " (१५१) इत्यस्य गाथाऽवयवस्य " अभिलप्पाणभिलप्पा, उवलद्धा " (१५२) इत्यादिना व्याख्यानं कुर्वताऽऽचार्येण मतिज्ञानी मतिज्ञानोपलब्ध्या समं न भाषते, अतस्तत्रोपलब्धिसमं भाषणं न भवति, इत्यतो न मतिज्ञाने श्रुतरूपतेत्युक्तम्; श्रुतज्ञानी त्वभिलाप्यानुपलभते, तांश्च भाषतेऽतस्तत्रैवोपलब्धिसमत्वस्य सद्भावात् श्रुतरूपतेति भाव । साम्प्रतं तु मतिज्ञानी श्रुतोपलब्ध्या तुल्यं समं न भाषते, इत्येवमुपलब्धिसमत्वाभावमुपदर्शयन्नाह-(न सुओवलद्धीत्यादि) वाशब्दः प्रकारान्तरद्योतकः, ततश्च न श्रुतोपलब्ध्या तुल्यं मतिज्ञानी भाषत

इति वा,यतो यस्मात् कारणात् नोपलब्धिसम मतिज्ञानिनो भाषणम्, तस्मान्न तत्र श्रुतरूपता। इदमुक्तं भवति-श्रुतोपलब्धौ परोपदेशार्हद्वचनलक्षणश्रुतानुसारेणोपलब्धानर्थान् भाषते, मत्युपलब्धौ तु तदनुपलब्धानेव, इत्यतो न मतिज्ञानिनो भाषणं श्रुतोपलब्धिसमम्, ततश्च न तत्र श्रुतसम्भवः। इति गाथाऽर्थः ॥ १५३ ॥

तदेवम्-" सोइंदिओवलद्धी होइ सुयं " (११७) इत्यादिमूलगाथया तत्त्वतः श्रोत्रेन्द्रियविषयमेव श्रुतज्ञानम्, सर्वेन्द्रियविषयं च मतिज्ञानमित्येवं मतिश्रुतयोर्भेदः प्रतिपादितः, तत्प्रतिपादनक्रमे च " बुद्धिद्दिट्ठे अत्थे, जे भासइ " (१२८) इत्यादिगाथा समायाता, सा च द्रव्य-भावोभयश्रुतरूपाऽभिधायकत्वेन मतिश्रुतयोर्भेदाऽभिधानपरतया च व्याख्याता, तद्व्याख्याने चावसिते इन्द्रियविभागादपि मतिश्रुतयोर्भेदः ।

साम्प्रतं वल्कशुम्बोदाहरणात्तमभिधित्सुराह-

अन्ने मन्नंति मई, वग्गसमा सुंबसरिसयं सुत्तं ।
दिट्ठंतोऽयं जुत्तिं, जहोवणीओ न संसहइ ॥ १५४ ॥

अन्ये केचनाप्याचार्या मन्यन्ते। किम् ?, इत्याह-वल्कसमा वल्कसदृशी मतिः, ततः सैव यदा शब्दतया सन्दर्भिता भवति-तज्जनितो यदा शब्द उत्तिष्ठतीत्यर्थः, तदा तदुत्थशब्दसहिता श्रुतमुच्यते, तच्च शुम्बसदृशं वल्कजनितदवरिकातुल्यं श्रुतं भवति, एवं तदभ्युपगमः शोभन इति चेत्, नैवमित्याह-(दिट्ठंतोऽयमित्यादि) अयं वल्कशुम्बदृष्टान्तो यथा तैरुपनीत उक्तप्रकारेण प्रकृते योजितः, तथा युक्तिं न सहते-न क्षमते, अन्यथा त्वस्मदभिमतवक्ष्यमाणप्रकारेणोपनीयमान एषोऽपि युक्तिक्षमो भविष्यतीति भावः। इति गाथाऽर्थः ॥ १५४ ॥

कुतो न संसहते ?, इत्याह-

भावसुयाभावाओ, संकरओ निव्विसेसभावाओ ।
पुव्वुत्तलक्खणाओ, सलक्खणाऽऽवरणभेयाओ ॥ १५५ ॥

नैष दृष्टान्तो युक्तिं क्षमत इति सर्वत्र साध्यम्, मतेरनन्तरं शब्दमात्रस्यैव भावेन भावश्रुतस्याभावप्रसङ्गात्। अथ मतिसहितोऽयं शब्दो न केवल इति तत्र भावश्रुतत्वं भविष्यति। तदयुक्तम्। कुतः ?, इत्याह-सङ्करः साङ्कर्यम्, सङ्कीर्णत्वम्, मिश्रत्वमिति यावत्, मतिश्रुतयोस्तस्य प्राप्तेः। निर्विशेषभावाद् वा-यदेव मतिज्ञानम्, तदेव भावश्रुतमिति प्रतिपादनादेकमेव किञ्चित्स्यात्, नोभयमिति भावः। अस्तु विशेषाभाव इति चेत्, नैवम्। कुतः ?, इत्याह-स्वलक्षणाऽऽवरणभेदात्। कथम्भूताद् ?, इत्याह-पूर्वोक्तलक्षणात् "किह व सुय होइ मई, सलक्खणाऽऽवरणभेयाओ।" (१३५) इति पूर्वाभिहितगाथाऽवयवोक्तस्वरूपात्। इदमुक्तं भवति-अभिनिबुध्यत इत्याभिनिबोधिकम्, श्रूयत इति श्रुतम्, इत्यादिकं मतिश्रुतयोर्यत् स्वकीयं स्वकीयं लक्षणम्, आवारकं च कर्म,तयोर्भेदात् पूर्वाऽभिहितस्वरूपाद् मतिश्रुतयोर्निर्विशेषभावो न युज्यते। यदि हि तयोर्निर्विशेषता एकत्वं स्यात्, तदा लक्षणभेदः, आवरणभेदश्च पूर्वोक्तस्वरूपो न स्यादिति भावः। इति गाथाऽर्थः ॥ १५५ ॥

अथ द्रव्यभावश्रुतयोरनेन दृष्टान्तेन भेदः प्रतिपाद्यते, सोऽपि न युक्तः, इति दर्शयन्नाह-

कप्पेजेज्ज व सो भा-वदव्वसुत्तेसु तेसु वि न जुत्तो ।
मइसुयभेयावसरे, जम्हा किं सुयविसेसेणं ? ॥ १५६ ॥

यदि वा भावद्रव्यश्रुतयोः स-वल्कशुम्बोदाहरणाद् भेदः कल्पेत-भावश्रुतं हि कारणत्वात् किल वल्कसदृशम्, शब्दलक्षणं तु द्रव्यश्रुतं कार्यत्वात् शुम्बप्रतिमम्, इत्येवमनयोर्भेद इष्येतेति भावः। तयोरप्यसौ न युक्तः। कुतः ?, इत्याह-यस्मान्मतिश्रुतयोर्भेदाभिधानेऽवसरप्राप्ते (किं सुयविसेसेण ति) श्रुतयोर्द्रव्यभावश्रुतलक्षणयोर्विशेषो भेदः श्रुतविशेषस्तेनाऽभिहितेन किम् ?, असम्बद्धत्वान्न किञ्चिदित्यर्थः। इति गाथाऽर्थः ॥ १५६ ॥

अथान्यथा पराभिप्रायमाशङ्कमानः प्राऽऽह-

असुयऽक्खरपरिणामा, व जा मई वग्गकप्पणा तम्मि ।
दव्वसुयं सुंबसमं, किं पुण तेसिं विसेसेणं ? ॥ १५७ ॥

श्रुतानुसार्यक्षरपरिणामो यस्यां सा श्रुतानुसार्यक्षरपरिणामा, न तथा-श्रुतानुसारित्वरहितशब्दमात्रपरिणामान्विता या मतिरित्यर्थः। तस्यां वा वल्ककल्पना क्रियते, तज्जनितशब्दरूपं तु द्रव्यश्रुतं शुम्बसदृशम्, अतस्तयोः प्रस्तुतोदाहरणाद् भेदो युक्तियुक्तो भविष्यति। श्रुतानुसार्यक्षरपरिणामा मतिर्भावश्रुतमेव स्याद्,अतः पूर्वस्मान्न विशेष्येत; इत्यश्रुताक्षरपरिणामित्वं विशेषणम्। सा च पर्युदासाऽऽश्रयणादश्रुतानुसारिणा शब्देनैवान्विता गृह्यते, न तु शब्दपरिणामरहिताऽवग्रहरूपा, तस्याः शब्दजनकत्वाभावेनानन्तरं शुम्बसदृशद्रव्यश्रुताभावादिति। अत्रोत्तरमाह-(किं पुण तेसिं विसेसेणं ति) किं पुनस्तयोर्यथोक्तमतिद्रव्यश्रुतयोर्विशेषेण भेदेनोक्तेन? अप्रस्तुतत्वान्न किञ्चिदित्यर्थः। श्रुतज्ञानेनैव सहात्र मतेर्भेदो विचारयितुं प्रक्रान्तः, इत्यतः किं द्रव्यश्रुतेन सह तच्चिन्तया ?,इति भावः। इति गाथाऽर्थः ॥ १५७ ॥

एतदेव भावयन्नाह-

इहइं जेणाहिकओ, नाणविसेसो न दव्वभावाणं ।
न य दव्वभावमेत्ते, वि जुज्जए सोऽसमंजसओ ॥ १५८ ॥

इहास्मिन् प्रक्रमे येन कारणेन ज्ञानयोरेव मतिश्रुतलक्षणयोर्विशेषो भेदोऽधिकृतो न तु द्रव्यभावयोर्मतिज्ञानद्रव्यश्रुतलक्षणयोः, इत्यतः किं तद्भेदाभिधानेन ? इति। न च यथोक्तद्रव्यभावयोरप्यसौ युज्यते। कुतः ?, इत्याह-असमञ्जसतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैसदृश्यादिति गाथाऽर्थः ॥ १५८ ॥

तथाहि-

जह वग्गा सुंबत्तण-मुविंति सुंबं च तं तओऽणण्णं ।
न मई तहा धणित्तण-मुवेइ जं जीवभावो सा ॥ १५९ ॥

यथा वल्काः शुम्बत्वमुपयान्ति आत्माऽव्यतिरिक्तशुम्बपरिणामाऽऽपन्नाः शुम्बमित्युच्यन्ते, न तु शुम्बाद् व्यतिरिक्ताः, तदपि च शुम्बं तेभ्यो वल्केभ्योऽनन्यरूपमव्यतिरिक्तं, न तथा मतिर्ध्वनित्वमुपैति, यद् यस्माद् कारणाद् सा मतिराभिनिबोधिकज्ञानत्वेन जीवभावो जीवपरिणामः, शब्दस्तु मूर्तत्वान्न जीवभावः; इत्यतः कथममूर्तपरिणामा मतिर्मूर्तध्वनिपरिणाममुपगच्छेत् ?, अमूर्तस्य मूर्तपरिणामविरोधात्। तस्माद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यादिदमपि व्याख्यानमुपेक्षणीयमिति गाथाऽर्थः ॥ १५९ ॥

पुनः परवचनमाशङ्क्य तस्यैव शिक्षणार्थमाह-

अह भवयारो कीरइ, पभवइ अत्थंतरं पि जं जत्तो ।

तं तम्मयं ति भएणइ,तो मइपुव्वं जओ भणियं ॥१६०॥
भावसुयं तेण मई, वग्गसमा सुत्तसरिसयं तं च ।
जं चिंतिऊण य तया, तो सुयपरिवाडिमणुसरइ ॥१६१॥

अथोपचार. क्रियते-उपचारविधिराश्रीयते ततश्चार्थान्तरमपि यद् यस्मात् प्रभवति तत्तन्मयमिति भण्यते, यथा-' तदन्नमियन्तं विक्रियाविस्तरमुपगतम्,' 'तदेक वचनमेतावन्त विपाकमापन्नम्'इत्यादि; ततश्चातन्मयेऽपि ध्वनौ मतिगता ज्ञानमयतोपचर्यते । तथा च सति वल्कशुम्बसादृश्येन मतिश्रुतयोरय भेद सिद्धो भवति । एवमुक्ते आचार्य. सुहृद् भूत्वा पर शिक्षयति-(तो मइपुव्वं इत्यादि) हन्त ! यद्युपचारवादी भवान्, ततो मतिपूर्वं भावश्रुतं यस्मादागमे भणितम्, तेन कारणेन मतिर्वल्कसमा, तच्च भावश्रुत शुम्बसदृशम्, इत्येव दृष्टान्तोपनय कुरु, येनोपचारमन्तरेणाऽपि सर्वे सुस्थं भवति, यथा हि वल्का शुम्बकारणम्, तथा मतिरपि भावश्रुतस्य, यथा च शुम्ब वल्काना कार्यं तथा भावश्रुतमपि मते । कुत. ?, इत्याह-यद् यस्मात् कारणात् तया मत्या चिन्तयित्वा तत. श्रुतपरिपाटीमनुसरति-वाच्यवाचकभावेन परोपदेशश्रुतग्रन्थयोजना वस्तुनि करोति, तस्मान्मतिश्रुतयोर्वल्कशुम्बयोरिव कार्यकारणभावाद् भेदसिद्धि., इत्येव दृष्टान्तोपनयो युक्ति सहते,न तु परोक्तप्रकारेणेति गाथाऽर्थ ॥ १६० ॥ १६१ ॥

तदेव वल्कशुम्बोदाहरणादप्यभिहितो मतिश्रुतयोर्भेद ; साम्प्रत त्वक्षरानक्षरभेदात्तमभिधित्सु पराभिप्रायं तावदुपन्यस्यन्नाह-

अएणे अणक्खरऽक्खर-विसेसओ मइसुयाइँ भिंदंति ।
जं मइनाणमणक्खर-मक्खरमियरं च सुयनाणं ॥१६२॥

अन्ये केचनाऽपि सूरयोऽनक्षराक्षरविशेषतो मतिश्रुते भिन्दन्ति, यद् यस्मात् किल मतिज्ञानमनक्षरम्, श्रुतज्ञान त्वक्षरवद्भवति, इतरच्चानक्षरवदुच्छ्वसितादीत्यर्थ. । इति गाथाऽर्थ. ॥ १६२ ॥

अत्राऽऽचार्यो दूषणमाह-

जइ मइरणक्खर च्चिय,भविज्ज नेहाऽऽदओ निरभिलप्पे ।
थाणुपुरिसाइपज्जा-यविवेगो किह णु होज्जाहि ? ॥१६३॥

यदि हन्त ! मतिरनक्षरैव स्यात्—अक्षराभिलापरहितैव भवताऽभ्युपगम्यते, तर्हि निरभिलाप्ये प्रतिभासमानाऽभिलापे स्थाण्वादिके वस्तुनि ईहाऽऽदयो न प्रवर्तेरन् । तत किम् ?, इत्युच्यते-तस्यां मतावनक्षरत्वेन स्थाण्वादिविकल्पाभावात् ' स्थाणुरय पुरुषो वा ' इत्यादिपर्यायाणा वस्तुधर्माणा विवेको वितर्कोऽन्वयव्यतिरेकाऽऽदिना परिच्छेदो न स्यात् । तथाहि-यदनक्षर ज्ञान न तत्र स्थाणुपुरुषपर्यायाऽऽदिविवेक , यथाऽवग्रहे, तथा चेहाऽऽदय., तस्मात्तेष्वपि नासौ प्राप्नोतीति गाथाऽर्थ ॥ १६३ ॥

अथ विभ्रान्तस्य परस्योत्तरमाह-

सुयाणिस्सियवयणाओ,अह सो सुयओ मओ न बुद्धीओ ।
जइ सो सुयवावारो, तओ किमन्नं मइनाणं ? ॥ १६४॥

आगमे मतिज्ञानं द्विधा प्रोक्तम्-श्रुतनिश्रितमवग्रहेहाऽऽदिचतुष्कम्,अश्रुतनिश्रित चौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयम् । ततश्च सूरिरित्थ पराभिप्रायमाशङ्कते-अथैव परो ब्रूयात्-आगमे श्रुतनिश्रितत्वेनाऽपि मतिज्ञानस्य भणनात् श्रुतात् श्रुततोऽक्षराऽऽत्मकादसौ स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकः मतः, न बुद्धेर्न मतेः सकाशात्, तस्याः स्वयमनक्षररूपत्वात् । अत्रोत्तरमाह-(जइ सो इत्यादि) यदि हन्त ! स स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकः श्रुतव्यापारस्तर्ह्यवग्रह मुक्त्वा किमन्यद् मतिज्ञानम् ?, न किञ्चिदित्यर्थः । यदि स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकोऽक्षराऽऽत्मकत्वात् श्रुतव्यापार इष्यते, तदेहाऽपायाऽऽदयो मतिभेदा सर्वेऽप्यक्षराऽऽत्मकत्वात् श्रुतत्वमापन्ना , इत्यतोऽक्षराभिलापरहितमवग्रहं मुक्त्वाऽशेषस्येहाऽऽदिभेदभिन्नस्य सर्वस्याऽपि मतिज्ञानस्याभावप्रसङ्ग । इति गाथाऽर्थः ॥ १६४ ॥

अथाऽन्यथा परस्य वचनमाशङ्क्य दूषयितुमाह--

अह सुयओ वि विवेगं, कुणओ न तयं सुयं सुयं नत्थि ।
जो जो सुयवावारो, अन्नो वि तओ मई जम्हा ॥१६५॥

अथ श्रुतादपि स्थाणुपुरुषाऽऽदिविवेककुर्वत प्रमातुर्न तत् श्रुतम्, किं तु मत्यभावभीत्या मतित्वेनाभ्युपगम्यते, हन्त ! तर्ह्येकत्र सन्धित्सतोऽन्यत प्रच्यवते यत एव सति श्रुत क्वचिदपि नास्ति-श्रुताभावः प्राप्नोतीत्यर्थ । कुत ?, इत्याह--यो यश्चरणकरणाऽऽदिप्रतिपादनलक्षणोऽन्योऽपि श्रुतस्याऽऽचाराऽऽदेर्व्यापारः सकोऽसौ यस्मान्मतिज्ञानमेव, अक्षराऽऽत्मकत्वात्, स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकवदिति गाथाऽर्थ ॥ १६५ ॥

अथ स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेको मतिश्च श्रुत च भविष्यति; अतो नैकस्याप्यभावप्रसङ्ग इत्याह-

मइकाले वि जइ सुयं, तो जुगवं मइसुओवओगा ते ।
अह नेवं एगयरं, पवज्जओ जुज्जए न सुयं ॥ १६६ ॥

स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकलक्षणे मतिकालेऽपि यदि श्रुतव्यापार इष्यते, ततो युगपदेव मतिश्रुतोपयोगौ ते तव प्रसज्येते, न चैतत् युक्तम्, समकाल ज्ञानद्वयोपयोगस्य निषिद्धत्वात् । अथैतद्दोषभयाद् नैवमुपयोगद्वय युगपदभ्युपगम्यते, तर्ह्येकतरं प्रतिपद्यमानस्य स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेककाले मतिज्ञान, श्रुतज्ञानं वा इच्छतो भवत इत्यर्थ , किम् ?, इत्याह-(जुज्जए न सुय त्ति) श्रुतमिह प्रतिपत्तु न युज्यते, किं तु मतिज्ञानमेव । इदमुक्त भवति-" सावकाशानवकाशयोरनवकाशो विधिर्बलवान् " इति न्यायादन्यत्रानवकाश मतिज्ञानमेवैकं तयोरेकतर प्रतिपद्यमानस्येह प्रतिपत्तु युज्यते; न तु श्रुत, तस्याऽन्यत्र श्रुतानुसारिण्याचाराऽऽदिज्ञानविशेषे सावकाशत्वात् । एव च सति स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेको मतेरेव, न तु श्रुतात्, स चाऽक्षराभिलापसमनुगत एव, इति नैकान्तेन मतिज्ञानमनक्षरमिति भाव. । इति गाथाऽर्थ ॥ १६६ ॥

किं च—अक्षरानुगतत्वमात्रमुपलभ्य स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेको भवता श्रुतनिश्रित उक्त , एव चातिप्रसङ्गः प्राप्नोतीति दर्शयति-

जइ सुयनिस्सियमक्खर-मणुसरओ तेण मइचउक्कं पि ।
सुयनिस्सियमावन्नं, तुह तं पि जमक्खरप्पभवं ॥१६७॥

यदि स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकविधानेनाक्षरमनुसरत प्रमातुर्ज्ञान श्रुतनिश्रित भवता प्रोच्यते, तेन तर्ह्यौत्पत्तिक्यादिमतिचतुष्कमपि तव श्रुतनिश्रितमापन्नम्, यस्मात्तदप्यक्षरप्रभव वर्णाऽऽलिङ्गितमित्यर्थ । तदपि हि नेहाऽऽदिविरहेण जायते, ईहाऽऽदयश्च न वर्णाऽभिलापमन्तरेण सम्भवन्ति; तस्मान्मतिचतु-

कमपि त्वदभिप्रायेण श्रुतनिश्रितमायातम्, न चैतदस्ति,आगमे-ऽश्रुतनिश्रितत्वेन तस्याभिधानात् । तस्माद्देवानां प्रियेणाद्यापि श्रुतनिश्रितस्य स्वरूपमेव नावगम्यते, तत् किं वयं ब्रूमः ? । इति गाथाऽर्थः ॥ १६७ ॥

तदेव श्रुतनिश्रितवचनश्रवणमात्राद्विभ्रान्तस्तत्स्वरूपमजानानः परो युक्तिभिर्निराकृतोऽपि विलक्षीभूतः प्राऽऽह-

जइ तं सुएण न तओ,जाणइ सुयनिस्सियं कहं भणियं ? ।
जं सुयकओवयारं, पुव्विं इण्हिं तयणवेक्खं ॥ १६८ ॥

यदि त स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकसंघात श्रुतेन न जानाति सकोऽसौ ज्ञानी, तर्हि श्रुतनिश्रितमेवावग्रहाऽऽदिकं सूत्रे कथं केन प्रकारेण भणितम् ?-मतिः स्वयमनक्षरैव, यस्त्विहाक्षरोपलम्भः स यदि श्रुतनिश्रितो नेष्यते, तर्हि कथमन्यथाऽसौ घटिष्यते ?। इति विस्मयभयाऽऽपूरितहृदयस्य परस्याऽयं प्रश्न इति भावः । अत्रोच्यते-ननु भवानेव प्रष्टव्यो योऽसमीक्षितमित्थं प्रभाषते-योऽक्षरोपलम्भः स सर्वोऽपि श्रुतनिश्रय इति । अथ न ज्ञायते भवता, तर्हि वयमेव ब्रूमः, श्रूयताम् (ज सुय इत्यादि) श्रुत द्विविधम्-परोपदेश , आगमग्रन्थश्च । व्यवहारकालात् पूर्वं तेन श्रुतेन कृत उपकारः संस्काराऽऽधानरूपो यस्य तत् कृतश्रुतोपकारम्, यद् ज्ञानमिदानीं तु व्यवहारकाले तस्य पूर्वप्रवृत्तस्य संस्काराऽऽधायकश्रुतस्यानपेक्षमेव प्रवर्तते तत् श्रुतनिश्रितमुच्यते, न त्वक्षराभिलापयुक्तत्वमात्रेणेति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ १६८ ॥

एतदेव भावयन्नाह-

पुव्वं सुयपरिकम्मिय-मइस्स जं संपयं सुयाऽऽईयं ।
तं निस्सियमियरं पुण, अणिस्सिअं मइचउक्कं तं ॥ १६९ ॥

व्यवहारकालात् पूर्वं यथोक्तरूपेण श्रुतेन परिकर्मिता-आहितसंस्कारा मतिर्यस्य स तथा तस्य साध्वादेर्यत्साम्प्रतं व्यवहारकाले श्रुतातीत श्रुतनिरपेक्ष ज्ञानमुपजायते तच्छ्रुतनिश्रितमवग्रहाऽऽदिकं सिद्धान्ते प्रतिपादितम् । इतरत्पुनरश्रुतनिश्रितम्, तदौत्पत्तिक्यादिमतिचतुष्क द्रष्टव्यम्, श्रुतसंस्कारानपेक्षया सहजत्वात् तस्य । अत्राऽऽह-ननु "भरनित्थरणसमत्था, तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला । उभयलोगे फलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी ॥ १ ॥ " इत्यादिवचनात् तत्राऽपि मतिचतुष्के वैनयिकी मतिः श्रुतनिश्रिता समस्ति । सत्यम्, किं तु सकृत श्रुतनिश्रितत्वे सत्यपि बाहुल्यमङ्गीकृत्याश्रुतनिश्रित तदुच्यते इत्यदोषः * । तस्माद् यदुक्तम्-" ज मइनाणमणक्खर-मियरं सुयनाणमिति " (१६२) तदयुक्तम्, मतेरनक्षरत्वे स्थाणुपुरुषाऽऽदिपर्यायविवेकाभावप्रसङ्गात्, श्रुतनिश्रितत्वस्य चान्यथा समर्थितत्वादिति स्थितम् । इति गाथाऽर्थः ॥ १६९ ॥

* इममेवाऽभिप्रायं नन्द्यध्ययने अस्या एव गाथाया विवरणस्थले श्रीमन्मलयगिरिसूरिरप्याह । तथाहि-" नन्वश्रुतनिश्रिता बुद्धयो वक्तुमभिप्रेताः, ततो यद्यस्यास्त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वम्,ततोऽश्रुतनिश्रितत्वे नोपपद्यते, न हि श्रुताभ्यासमन्तरेण त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्व सम्भवति । अत्रोच्यते-इह प्रायो वृत्तिमाश्रित्याऽश्रुतनिश्रितत्वमुक्तम्, ततः स्वल्पश्रुतभावेऽपि न कश्चिद्दोष " इति ।

" इहातिगुरुकार्यं दुर्निर्वहत्वाद् भर इव भरस्तन्निस्तरणे समर्था भरनिस्तरणसमर्था , त्रयो वर्गास्त्रिवर्गा लोकरूढ्या धर्मार्थकामास्तदर्जनोपायप्रतिपादकं यत् सूत्र यश्च तदर्थस्तौ त्रिवर्गसूत्रार्थौ, तयोर्गृहीतं 'पेयालं' प्रमाण सारो वा यया सा तथाविधा ।" इति नन्दिटीकायां व्याख्यातोऽस्या अर्थः ।

यद्यनक्षरा मतिर्न भवति, तर्हि " लक्खणभेया हेऊ, फलभावओ (६७) " इत्यादिगाथायां प्रतिज्ञातोऽक्षरानक्षरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः कथं गमनीयः ?, इत्याह-

उभयं भावऽक्खरओ, अणक्खरं होज्ज वंजणऽक्खरओ ।
मइनाणं सुत्तं पुण, उभयं पि अणक्खरऽक्खरओ ॥ १७० ॥

इहाक्षरं तावद् द्विविधम्-द्रव्याक्षरम् ,भावाक्षरं च । तत्र द्रव्याक्षर पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताऽऽकाराऽऽदिरूपम्, ताल्वादिकारणजन्यः शब्दो वा; एतच्च व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनाक्षरमप्युच्यते । भावाक्षरं त्वन्तःस्फुरदकाराऽऽदिवर्णज्ञानरूपम् । एवं च सति (भावऽक्खरओ त्ति) भावाक्षरमाश्रित्य मतिज्ञानं भवेत् । कथंभूतम् ?, इत्याह-(उभय ति) उभयरूपम्-अक्षरवत्, अनक्षरं चेत्यर्थः, मतिज्ञानभेदे ह्यवग्रहे भावाक्षरं नास्तीति तदनक्षरमुच्यते, ईहाऽऽदिषु तु तद्भेदेषु तदस्तीति मतिज्ञानमक्षरवत् प्रतिपाद्यत इति भावः । (अणक्खर होज्ज वंजणऽक्खरओ त्ति) व्यञ्जनाक्षरं द्रव्याक्षरमित्यनर्थान्तरम्,तदाश्रित्य मतिज्ञानमनक्षरं भवेत्, न हि मतिज्ञाने पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताकाराऽऽदिकं शब्दो वा व्यञ्जनाक्षरं विद्यते,तस्य द्रव्यश्रुतत्वेन रूढत्वात्,द्रव्यमतित्वेनाप्रसिद्धत्वादिति । (सुत्त पुणेत्यादि) सूत्र श्रुतज्ञानम्, पुनरुभयमपि-द्रव्यश्रुतम्,भावश्रुतं च इत्यर्थः,प्रत्येकमनक्षरतः,अक्षरतश्च भवेत् । इदमुक्तं भवति-"ऊससियं नीससियं, निच्छूढं खासियं च छीयं च । निस्सिंघियमणुसारं, अणक्खरं छेलियाईयं" ॥१॥ इत्यादिवचनाद् द्रव्यश्रुतमनक्षरम्-पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षररूपम्, शब्दरूप च,तदेव साक्षरं भावश्रुतमपि श्रुतानुसार्यकाराऽऽदिवर्णविज्ञानाऽऽत्मकत्वात्साक्षरम्, पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताकाराऽऽद्यक्षररहितत्वात् शब्दाभावाच्च तदेवानक्षरम्, पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षरस्य शब्दस्य च द्रव्यश्रुतान्तःपातित्वेन भावश्रुतेऽसत्त्वात्; तदेवं मतेर्भावश्रुतस्य च साक्षरानक्षरकृतो नास्ति विशेषः; प्रत्येकं द्वयोरप्यक्षरानक्षररूपत्वेनोक्तत्वात्; केवलं सामान्येन 'श्रुतम्' इत्युक्ते तन्मध्ये द्रव्यश्रुतं लभ्यत इति कृत्वा तत्र द्रव्यश्रुतमाश्रित्य द्रव्याक्षरमस्ति, मतौ तु तन्नास्ति,तस्या द्रव्यमतित्वेनाऽऽरूढत्वादिति । एवमनयोर्द्रव्याक्षरापेक्षया साक्षरानक्षरत्वकृतो भेदः । इति गाथाऽर्थः ॥ १७० ॥

तदेवमक्षरेतरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदमभिधाय मूकेतरभेदात् तमभिधित्सुराह-

सपरप्पच्चायणओ,भेओ मूएयराण वाऽभिहिओ ।
जं मूयं मइनाणं, सपरप्पच्चायगं सुत्तं ॥ १७१ ॥

अन्यैस्तु कैश्चिदाचार्यैः स्वपरप्रत्यायनतो मतिश्रुतयोर्भेदोऽभिहितः । कयोरिव ?, इत्याह—मूकेतरयोरिव, यथा हि मूकः स्वमात्मानमेव प्रत्याययति प्रतीतिपथं नयति, न तु परम्, तत्प्रत्यायनहेतुवचनाभावात्; इतरस्त्वमूकः स्वं परं च प्रत्याययति, वचनसद्भावात् । तथा सति यथा मूकमुखरयोर्भेदः , एवं मतिश्रुतयोरपि, यद् यस्मात् परप्रत्यायनहेतुद्रव्याक्षराभावाद् मूकं मतिज्ञानम्, मुखरं तु श्रुतज्ञानम्,

कुत ?, स्वपरप्रत्यायकत्वाद्-द्रव्याक्षरसद्भावेन परप्रत्यायकत्वस्यापि तत्र लभ्यमानत्वादिति भाव'। इति गाथाऽर्थः ॥१७१॥

एतदाचार्यो मतिश्रुतयोस्तुल्यताऽऽपादनेन किञ्चिद् दूषयितुमाह-

सुयकारणं ति सद्दो, सुयमिह सो य परबोहणं कुणइ ।
मइहेयवो वि हि परं, बोहिंति कराइचेट्ठाओ ॥१७२॥

इह तावद्भवन्तं पृच्छाम.-हन्त ! शब्द. श्रुतमुच्यते, उपलक्षणत्वात्पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षरविन्यासश्च श्रुतमभिधीयते (सुयकारण ति) श्रुतकारणत्वात्-कारणे कार्योपचारादिति भावः। स च शब्द.,पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षरविन्यासश्च परबोधनं परप्रत्यायनं करोतीत्येव परत. श्रुतज्ञान परप्रत्यायकमुच्यते, न तु स्वत',इति तावद्भवतोऽभिप्राय । एतच्च मतिज्ञानेनाऽपि समानम्। कुत ?, इत्याह-हि यस्मान्मतिहेतवोऽपि मतिजनका अपि कराऽऽदिचेष्टाविशेषा. पर बोधयन्त्येव । तथाहि-अक्षराऽऽत्मकत्वात् किलशब्द.,पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षरविन्यासश्च श्रुतस्य कारण, करशीर्षाऽऽदिचेष्टास्त्वक्षररहितत्वात् किल मतिज्ञानस्य हेतवः· करवक्त्रसयोगे हि कृते भुजिक्रियाविषया किल मतिरुत्पद्यते, शीर्षे च धूनिते निवृत्तिप्रवृत्तिविषया सा समुपजायते, इत्येव मतिहेतव कराऽऽदिचेष्टाऽपि परप्रबोधिका एवेति गाथाऽर्थ. ॥ १७२ ॥

यदि मतिहेतवोऽपि परं प्रबोधयन्ति, तत. किम् ?, इत्याह-

न परप्पबोहयाइं, जं दो वि सरूवओ मइसुयाइं ।
तक्कारणाइँ दोण्ह वि,बोहिंति तओ न भेओ सिं ॥१७३॥

मतिहेतूनामपि परप्रबोधकत्वे सति न (भेओ सिं) अनयोर्मतिश्रुतयोर्न भेद'।कुतः?,इत्याह-(तउ त्ति) ततस्तस्मात् कारणात्। कस्मात् ?, इत्याह-यद् यस्माद् द्वे अप्येते मतिश्रुते स्वरूपतो विज्ञानाऽऽत्मना न परप्रबोधके, विज्ञानस्य मूकत्वेन परप्रबोधकत्वायोगात, अवध्यादिवदिति । अथ श्रुतस्य यत्कारण शब्दाऽऽदिक तत्परप्रबोधकम्, इत्येतावता मतिज्ञानाद् विशिष्यते श्रुतज्ञानम् । नन्वेतद् मतिज्ञानेऽपि समानम्, तत्कारणस्याऽपि करचेष्टाऽऽदे' परावबोधकत्वादिति । एतदेवाऽऽह-तानि च तानि पूर्वोक्तरूपाणि कारणानि च तत्कारणानि द्वयोरपि मतिश्रुतज्ञानयोर्यथासङ्ख्य शब्दाऽऽदीनि, करचेष्टाऽऽदीनि च पर बोधयन्त्येव, इति कोऽनयोर्विशेष ?, न कश्चिदित्यर्थ. । इति किमुच्यते-मूकेतरभेदाद् भेद ? । इति गाथार्थ. ॥ १७३ ॥

तदेव परोक्ते व्यभिचारिते ततो निरुत्तर विलक्षीभूतं
तूष्णींभावमापन्न परमवलोक्य सजातकारुण्य'
स्वयमेव सूरिरुत्तरमाह—

दव्वसुयमसाहारण-कारणओ परविबोहयं होज्जा ।
रूढ ति व दव्वसुयं, सुयं ति रूढा ण दव्वमई ॥१७४॥

द्रव्यश्रुत पुस्तकन्यस्ताक्षरशब्दरूप श्रुतज्ञानस्यैव कारणम्, न तु मते', इति श्रुतज्ञान प्रत्यसाधारणकारणत्वाद् द्रव्यश्रुत परप्रबोधक भवेत्, न तु कराऽऽदिचेष्टा', तासा मतिश्रुतोभयकारणत्वेन साधारणकारणत्वादिति भाव.। इदमुक्त भवति-पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताक्षररूप,शब्दाऽऽत्मक च द्रव्यश्रुतम्,श्रुतज्ञानस्य मतिपूर्वकत्वाद् यद्यप्यानन्तर्येणावग्रहेहाऽऽदीन् अनपेक्ष्य-ति, तथाऽप्यक्षररूपत्वाद् मुख्यतया श्रुतज्ञानस्यैव किलासाधारण कारणमुच्यते, कारणत्वेनोपचारत श्रुतज्ञानेऽन्तर्भवति, परप्रबोधकत्वेन च तत्सर्वस्यापि विदितमिति । एव कारणस्य परप्रबोधकत्वात् श्रुतज्ञान परप्रबोधक घटते, कराऽऽदिचेष्टास्तु मतिज्ञानस्यासाधारणकारण न भवन्ति, श्रुतज्ञानहेतुत्वादपि करवक्त्रसयोगाऽऽदिकाया हि करचेष्टाया दृष्ट । न केवल तद्विषयाऽवग्रहाऽऽदय उत्पद्यन्ते, किं तु-"भोक्तुमिच्छत्ययम्" इत्यादिश्रुतानुसारिविकल्पाऽऽत्मक श्रुतज्ञानमप्युपजायते इति । अतोऽसाधारणकारणत्वाभावात् कराऽऽदिचेष्टा. परमार्थतो मतिज्ञानस्य कारणमेव न सभवन्ति, ततश्च न तत्रान्तर्भवन्ति, तथा च सति न मतिज्ञान परप्रबोधकम् । अथवा-(दव्वसुयमसाहारणकारणओ त्ति) द्रव्यश्रुत पुस्तकाऽऽदिन्यस्ताऽऽचाराऽऽदिग्रन्थाक्षररूपम, गुरुजनोदीरितदेशनाशब्दस्वरूप च परप्रबोधक भवेत । कुत ?, इत्याह—असाधारणस्य मोक्ष प्रत्यनन्यसाधारणकारणस्य क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणस्य वस्तुकलापस्य कारणत्वाद् हेतुत्वात, ततश्च तद्द्वारेण श्रुतज्ञानमपि परप्रबोधक घटते, कराऽऽदिचेष्टास्तु यद्यपि मतिज्ञानस्य कारणम्, तथाऽपि यथोक्तो विशिष्ट. परप्रबोधस्तासु प्रायो न सभवति, अतो विशिष्टपरप्रबोधाभावाद् न ता परप्रबोधिका, तथा च सति न तद्द्वारेणापि मतिज्ञान परप्रबोधकम । इति सूत्रस्य सूचकत्वात सोपस्कार. पूर्वार्द्धस्यार्थोऽवसेय. । अथोत्तरार्द्धस्य व्याख्या प्रस्तूयते—(रूढ ति वेत्यादि) वेत्यथवा, भवतु मतिज्ञानस्य कारण कराऽऽदिचेष्टा,तथापि सा 'द्रव्यमति.' इत्येवमागमे क्वचिदपि न रूढा , द्रव्यश्रुतं पुन. पूर्वोक्तस्वरूप 'श्रुतम्' इत्येव सर्वत्र रूढम्। ततश्च यद्यपि कराऽऽदिचेष्टा मतिज्ञानस्य कारणम्, परप्रबोधिका च; तथापि द्रव्यमतित्वेनाऽऽरूढत्वात् कारणे कार्योपचारतो मतिरूपतया न व्यवह्रियते । अतो मतिज्ञानात् तस्याः पृथग्भूतत्वाद् न तद्द्वारेण तस्य परप्रबोधकत्वम्, द्रव्यश्रुत तु कारणे कार्योपचारत. श्रुतज्ञानत्वेन प्ररूप्यते, इति तद्द्वारेणास्य परप्रबोधकमुपपद्यते एव। इति युक्तो मूकेतरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः । ततश्च-" तक्कारणाइ दोण्ह, वि बोहिंति तओ न भेओ सिं। " (१७३) इत्येतदपास्त भवतीति गाथाऽर्थ ॥ १७४ ॥

(११) तदेव कराऽऽदिचेष्टाया मतिकारणत्वमभ्युपगम्योक्तम्,
साम्प्रत सा मते कारणमेव न भवति, किं तु
श्रुतस्येति दर्शयन्नाह-

सा वा सद्दत्थो च्चिय, तया वि जं तम्मि पच्चओ होइ ।
कत्ता वि हु तदभावे, तदभिप्पाओ कुणइ चिट्ठं ॥१७५॥

यदि वा सा कराऽऽदिचेष्टा करवक्त्रसयोगाऽऽदिलक्षणा । किम्?,इत्याह-शब्दार्थ एव शब्दो वक्तृसमुदीरितवचनरूप ,तस्यार्थः शब्दार्थ श्रोतृगतज्ञाने प्रतिभासमानतदभिधेयवस्तुरूप श्रुतज्ञानमिति तात्पर्यम । किमित्यसौ शब्दार्थ एव ?, इत्याह-यद् यस्मात्‌ःकारणात् तयाऽपि कर्त्रा विहितया तस्मिन् शब्दार्थे· भोजनेच्छाऽऽदिलक्षणे प्रतिपत्तु. प्रत्ययो भवति । तथा कर्ताऽपि तदभावे शब्दाभावे जिह्वारोगाऽऽदिसद्भावात् शब्दोदीरणसामर्थ्याभाव इत्यर्थ' । (तदभिप्पाउ त्ति) तस्मिन् शब्दार्थे भोजनेच्छाऽऽदिलक्षणे परस्मै प्रतिपादयितव्येऽभिप्रायो मनोविकल्पो यस्यासौ तदभिप्राय. करोति चेष्टा करवक्त्रसयोगाऽऽदि

लक्षणाम् । इदमुक्तं भवति-यद्यपि कराऽऽदिचेष्टाऽनन्तरभावेनाऽवग्रहाऽऽदीन् जनयति, तथाऽपि शब्दार्थ एव सा श्रुतज्ञानमेवेत्यर्थः; यस्मात् तयाऽपि विहितया तत्र शब्दार्थप्रत्ययो भवति, अत शब्दार्थप्रत्ययजनकत्वात् कारणे कार्योपचारात् शब्दार्थप्रत्यय एव सा, न पुनर्मतिः, तथा कर्ताऽपि 'भोक्तुमिच्छत्यसौ' इत्यादिप्रतिपत्ता जानात्वित्यभिप्रायवानेव भाषणशक्त्यभावे कराऽऽदिचेष्टां करोति। ततश्च कर्त्राऽपि शब्दार्थद्योतनाभिप्रायेण क्रियमाणत्वात् कराऽऽदिचेष्टा शब्दार्थ एव। ततश्च एषाऽपि श्रुतकारणत्वात् श्रुत एवान्तर्भवति, शब्दवत्, न मतौ, तथा च सत्येषा परमार्थतो मतेः कारणमेव न भवत्यत कारणद्वारेणाऽपि न परप्रत्यायकं मतिज्ञानम्, श्रुतं तु तद्द्वारेण परावबोधकम् । इति युक्तो मूकेतरभेदाद् मतिश्रुतयोर्भेदः ॥ १७५ ॥ विशे० । स्था० । आ० म० । कर्म० । नं० ।

(१२) श्रुतानन्तरमवधिज्ञानस्य विवेकः-

कालविपर्ययस्वामित्वलाभसाधर्म्याद् मतिश्रुतानन्तरमवधिज्ञानमुक्तम् । प्रवाहापेक्षया, अप्रतिपतितैकसत्त्वाऽऽधारापेक्षया वा यावान् मतिश्रुतयोः स्थितिकालः तावानेवावधिज्ञानस्याऽपि तथा यथैव मतिश्रुतज्ञाने मिथ्यादर्शनोदयतो विपर्ययरूपतामासादयत ,तथाऽवधिज्ञानमपि। तथाहि-मिथ्यादृष्टे सतस्तान्येव मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मत्यज्ञाने श्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानि भवन्ति। उक्तं च-"आद्यत्रयमज्ञानम-पि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम्।" इति। तथा य एव मतिश्रुतज्ञानयो स्वामी स एवावधिज्ञानस्याऽपि । तथा विभङ्गज्ञानिन त्रिदशाऽऽदेः सम्यग्दर्शनावाप्तौ युगपदेव मतिश्रुतावधिज्ञानानां लाभसंभवस्ततो लाभसाधर्म्यम् अवधिज्ञानानन्तरं च छद्मस्थविषयभावप्रत्यक्षत्वसाधर्म्याद् मनःपर्यायज्ञानमुक्तम् । तथाहि-यथाऽवधिज्ञानं छद्मस्थस्य भवति, तथा मनःपर्यवज्ञानमपीति छद्मस्थसाधर्म्यम् । तथा यथाऽवधिज्ञानं रूपिद्रव्यविषयं तथा मनःपर्यायज्ञानमपि, तस्य मनःपुद्गलाऽऽलम्बनत्वादिति विषयसाधर्म्यम्। तथा यथाऽवधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्त्तते, तथा मनःपर्यायज्ञानमपीति भावसाधर्म्यम् । यथा चाऽवधिज्ञानं प्रत्यक्षं तथा मनःपर्यायमपीति प्रत्यक्षत्वसाधर्म्यम् । उक्तं च-" कालविवज्जयसामि-त्तलाभसाहम्मओऽवही तत्तो । माणसमित्तो छउम-त्थविसयभावाई साहम्मा" ॥ ८७ ॥ (विशे०) तथा मनःपर्यायज्ञानानन्तरं केवलज्ञानस्योपन्यासः, सर्वोत्तमत्वात्, अप्रमत्तयतिस्वामिसाधर्म्यात् सर्वावसानलाभाच्च । तथाहि-सर्वाण्यपि मतिज्ञानाऽऽदीनि ज्ञानानि देशतः परिच्छेदकानि, केवलज्ञानं तु सकलवस्तुस्तोमपरिच्छेदकं सर्वोत्तमं, सर्वोत्तमत्वात् चान्ते सर्वशिरःशेखरकल्पे उपन्यस्तम् । तथा—यथा मनःपर्यायज्ञानमप्रमत्तयतेरेवोदयते, तथा केवलमप्यप्रमादभावमुपगतस्यैव यतेर्भवति, नान्यस्य, ततोऽप्रमत्तयतिसाधर्म्यम्। तथा यः सर्वाण्यपि ज्ञानानि समासादयितुं योग्यः स नियमात् सर्वज्ञानावसाने केवलज्ञानमवाप्नोति, तत सर्वान्ते केवलमुक्तम । उक्तं च-" अन्ते केवलमुत्त, जइ सामित्तावसाणलाभाओ । " इति । तथा यथा मनःपर्यायज्ञानं न विपर्ययमासादयति, तथा केवलज्ञानमपीति । विपर्ययाभावसाधर्म्याच्च मनःपर्यायज्ञानानन्तरं केवलज्ञानमुक्तमिति कृतं प्रसङ्गेन । नं० । "खइयं खओवसमियं, दुविहं नाणं मुणेयव्वं । खइयं केवलनाणं, खओवसमियाई सेसणाणाइं ॥१॥" प० भा० ।

(१३) ज्ञानं प्रत्यक्षं परोक्षं च । तथाहि-

तं समासओ दुविहं पण्णत्तं । तं जहा-पच्चक्खं च, परोक्खं च ।

तत्पञ्चप्रकारमपि ज्ञानं समासतः सङ्क्षेपेण द्विविधं द्विप्रकारं प्रज्ञप्तं, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । प्रत्यक्षं च, परोक्षं च । नं० । आ० म० । आ० चू० । स्था० । (प्रत्यक्षवक्तव्यता 'पच्चक्ख' शब्दे) (परोक्षभेदाः 'परोक्ख' शब्दे वक्ष्यन्ते) (अवध्यादिज्ञानानां व्याख्या स्वस्वस्थाने) (तृतीयभागे 'ओहि' शब्दे १५६ पृष्ठे ज्ञानदर्शनविभङ्गलक्षणमुक्तम्) ('आभिणिबोहियणाण' शब्दे द्वितीयभागे २५५ पृष्ठे सङ्ख्याऽऽदीनामपि ज्ञानपञ्चकमावेदितम्)

(१४) न ज्ञानमात्मव्यतिरेकेण गुणः-

ननु चैतन्यं ज्ञानमात्मनः क्षेत्रज्ञादन्यदत्यन्तव्यतिरिक्तम्, असमासकरणादत्यन्तमिति लभ्यते । अत्यन्तभेदे सति कथमात्मनः सम्बन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः ?, इति पराशङ्कापरिहारार्थमौपाधिकमिति विशेषणद्वारेण हेत्वभिधानम् । उपाधेरागतमौपाधिकम् । समवायसम्बन्धलक्षणेनोपाधिना आत्मनि समवेतमात्मनः स्वयं जडरूपत्वात् समवायसम्बन्धोपढौकितमिति यावत् । यद्यात्मनो ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वमिष्यते, तदा दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावाद् बुद्ध्यादीनां नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदावसरे आत्मनोऽप्युच्छेदः स्यात्। तदव्यतिरिक्तत्वात् । अतो भिन्नमेवाऽऽत्मनो ज्ञानं यौक्तिकमिति । (स्या०) अत्राह-ज्ञानमपि यद्येकान्तेनाऽऽत्मनः सकाशाद्भिन्नमिष्यते, तदा तेन चैत्रज्ञानेन मैत्रस्येव नैव विषयपरिच्छेदः स्यादात्मनः । अथ यत्रैवाऽऽत्मनि समवायसम्बन्धेन समवेतं ज्ञानं तत्रैव भावावभासं करोतीति चेत् । न। समवायस्यैकत्वाद् नित्यत्वाद् व्यापकत्वात् च सर्वत्र वृत्तेरविशेषात् समवायवदात्मनामपि व्यापकत्वादेकज्ञानेन सर्वेषां विषयावबोधप्रसङ्गः । यथा च घटे रूपाऽऽदयः समवायसम्बन्धेन समवेता ,तद्विनाशे च तदाश्रयस्य घटस्याऽपि विनाशः। एवं ज्ञानमप्यात्मनि समवेतं, तच्च क्षणिकं,ततस्तद्विनाशे आत्मनोऽपि विनाशाऽऽपत्तेरनित्यत्वाऽऽपत्तिः । अथाऽस्तु समवायेन ज्ञानाऽऽत्मनोः सम्बन्धः, किं तु स एव समवायः केन तयोः सम्बध्यते?,समवायान्तरेण चेदनवस्था,स्वेनैव चेत्,किं न ज्ञानाऽऽत्मनोरपि तथा। अथ यथा प्रदीपस्तत्स्वाभाव्यादात्मानं परं च प्रकाशयति, तथा समवायस्येदृगेव स्वभावो यदात्मानं, ज्ञानात्मानौ च सम्बन्धयतीति चेत्-ज्ञानात्मनोरपि किं न तथास्वभावता, येन स्वयमेवैतौ संबध्येते ?। किञ्च-प्रदीपदृष्टान्तोऽपि भवत्पक्षे न जाघटीति। यतः प्रदीपस्तावद् द्रव्यम्, प्रकाशश्च तस्य धर्मः ,धर्मधर्मिणोश्च त्वयाऽत्यन्तं भेदोऽभ्युपगम्यते; तत्कथं प्रदीपस्य प्रकाशाऽऽत्मकता ?। तदभावे च स्वपरप्रकाशकत्वभावताभणितिर्निर्मूलैव । यदि च प्रदीपात्प्रकाशस्यात्यन्तभेदेऽपि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशकत्वमिष्यते, तदा घटाऽऽदीनामपि तदनुषज्यते, भेदाविशेषात् । अपि च-तौ स्वपरसम्बन्धनस्वभावौ समवायाद्भिन्नौ स्याताम, अभिन्नौ वा ?। यदि-भिन्नौ, ततस्तस्यैतौ स्वभावाविति कथं सम्बन्धः ?। सम्बन्धनिबन्धनस्य समवायान्तरस्यानवस्थाभयादनभ्युपगमात् । अथाऽभिन्नौ, ततः समवायमात्रमेव, न तौ । तदव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवदिति । किञ्च-यथेह समवायिषु समवाय इति मतिः

समवाय विनाऽप्युपपन्ना, तथेहाऽऽत्मनि ज्ञानमित्ययमपि प्रत्ययस्त विनैव चेदुच्यते, तदा को दोषः ? । अथाऽऽत्मा कर्ता, ज्ञानं च करणम्,कर्तृकरणयोश्च वर्द्धकिवासीवद्भेद एव प्रतीतत ,तत्कथ ज्ञानाऽऽत्मनोरभेद ?,इति चेत् । न । दृष्टान्तस्य वैषम्यात् । वासी हि बाह्यं करणम्, ज्ञान चाभ्यन्तर,तत्कथमनयोः साधर्म्यम् ? । न चैव करणस्य द्वैविध्यमप्रसिद्धम् । यदाहुर्लाक्षणिका -" करण द्विविध ज्ञेय, बाह्यमाभ्यन्तर बुधै । यथा लुनाति दात्रेण, मेरु गच्छति चेतसा " ॥ १ ॥ यदि हि किञ्चित्करणमान्तरमेकान्तेन भिन्नमुपदर्श्यते,तत. स्याद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो. साधर्म्यम, न च तथाविधमस्ति । न च बाह्यकरणगतो धर्म. सर्वोऽप्यान्तरे योजयितु शक्यते । अन्यथा दीपेन चक्षुषा देवदत्त. पश्यतीत्यत्रापि दीपाऽऽदिवच्चक्षुषोऽप्येकान्तेन देवदत्तस्य भेद स्यात्; तथा च सति लोकप्रतीतिविरोध इति । अपि च-साध्यविकलोऽपि वासिवर्द्धकिदृष्टान्त । तथाहि-नाय वर्द्धकि. काष्ठमिदमनया वास्या घटयिष्यते इत्येव वासिग्रहणपरिणामेनापरिणत. सन् तामगृहीत्वा घटयति, किं तु तथापरिणतस्ता गृहीत्वा । तथापरिणामे च वासिरपि तस्य काष्ठस्य घटने व्याप्रियते,पुरुषोऽपि । इत्येव लक्षणैककार्यसाधकत्वाद् वासिवर्द्धकयोरभेदोऽप्युपपद्यते, तत्कथमनयोर्भेद एवेत्युच्यते ? । एवमात्माऽपि-'विवक्षितमर्थमनेन ज्ञानेन ज्ञास्यामि'इति ज्ञानग्रहणपरिणामवान् ज्ञान गृहीत्वाऽर्थं व्यवस्यति,ततश्च ज्ञानाऽऽत्मनोरुभयोरपि संवित्तिलक्षणैककार्यसाधकत्वादभेद एव । एव कर्तृकरणयोरभेदे सिद्धे संवित्तिलक्षण कार्यं किमात्मनि व्यवस्थितम, आहोस्विद् विषये इति वाच्यम् ?। आत्मनि चेत्-सिद्ध न. समीहितम् । विषये चेत्, कथमात्मनोऽनुभव प्रतीयते ?। अथ विषयस्थितसंवित्ते सकाशादात्मनोऽनुभवस्तर्हि किं न पुरुषान्तरस्यापि ?,तद्भेदाविशेषात् । अथ ज्ञानाऽऽत्मनोरभेदपक्षे कथ कर्तृकरणभाव इति चेत् ?,ननु यथा सर्प आत्मानमात्मना वेष्टयतीत्यत्राभेदे यथा कर्तृकरणभावस्तथाऽत्रापि । अथ परिकल्पितोऽय कर्तृकरणभाव इति चेद्वेष्टनाऽवस्थायां प्रागवस्थाविलक्षणगतिनिरोधलक्षणार्थक्रियादर्शनात् कथ परिकल्पितत्वम् ?। न हि परिकल्पनाशतैरपि शैलस्तम्भ आत्मानमात्मना वेष्टयतीति वक्तु शक्यम् । तस्मादभेदेऽपि कर्तृकरणभाव' सिद्ध एव । किञ्च-चैतन्यमिति शब्दस्य चिन्त्यतामन्वर्थ.-चेतनस्य भावश्चैतन्यम् । चेतनश्चात्मा त्वयाऽपि कीर्त्यते, तस्य भाव' स्वरूप चैतन्यम् । यच्च यस्य स्वरूप न तत्ततो भिन्न भवितुमर्हति, यथा वृक्षाद् वृक्षस्वरूपम् । अथास्ति चेतन आत्मा, पर चेतनासमवायसंबन्धाद्, न स्वत . तथा प्रतीतेरिति चेत् । तदयुक्तम् । यत' प्रतीतिश्चेत् प्रमाणीक्रियते, तर्हि निर्बाधमुपयोगाऽऽत्मक एवाऽऽत्मा प्रसिध्यति । न हि जातुचित् स्वयमचेतनोऽहं चेतनायोगात् चेतन. । अचेतने वा मयि चेतनाया. समवाय इति प्रतीतिरस्ति; ज्ञाताऽहमिति समानाधिकरणतया प्रतीते' । भेदे तथा प्रतीतिरिति चेत् । न । कथञ्चित्तादात्म्याभावे सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनात् । यष्टि' पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद् दृष्टा, न पुनस्तात्त्विकी । उपचारस्य तु बीज-पुरुषस्य यष्टिगतस्तब्धत्वाऽऽदिगुणैरभेद ,उपचारस्य मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । तथा चाऽऽत्मनि ज्ञाताऽहमिति प्रतीति' कथञ्चिच्चेतनाऽऽत्मतां गमयति,तामन्तरेण ज्ञाताऽहमिति प्रतीतेरनुपपद्यमानत्वाद्,घटाऽऽदिवत् । न हि घटाऽऽदिरचेतनाऽऽत्मको ज्ञाताऽहमिति प्रत्येति । चैतन्ययोगाभावादसौ न तथा प्रत्येतीति चेत् । न । अचेतनस्यापि चैतन्ययोगाच्चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेरनन्तरमेव निरस्तत्वात् , इत्यचेतनत्व सिद्धम्-आत्मनो जडस्याऽर्थपरिच्छेद पराकरोति, त पुनरिच्छता चैतन्यस्वरूपताऽस्य स्वीकरणीया । ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेद , अन्यथा धनवानिति प्रत्ययादपि धनधनवतोर्भेदाभावानुषङ्ग. । तदसत् । यतो ज्ञानवानहमिति नाऽऽत्मा भवन्मते प्रत्येति, जडत्वैकान्तरूपत्वात्,घटवत् । सर्वथा जडश्च स्यात्-आत्मा ज्ञानवानहमिति प्रत्ययश्च स्यादस्य विरोधाभावात्,इति मा निर्णैषी ; तस्य तथोत्पत्त्यसंभवात् । ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नागृहीते ज्ञानाऽऽख्ये विशेषणे विशेष्ये चाऽऽत्मनि जातूत्पद्यते, स्वमतविरोधात्; " नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धि " इति वचनात् । गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यत इति चेत्-कुतस्तद्ग्रहीति ?। न तावत् स्वत., संवेदनाऽनभ्युपगमात् । स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते, नाऽन्यथा, सन्तानान्तरवत् । परतश्चेत्तदपि ज्ञानान्तर विशेष्यं नागृहीते ज्ञानत्वविशेषणे गृहीतु शक्यम । गृहीते हि घटत्वे घटग्रहणमिति ज्ञानान्तरात्तद्ग्रहणेन भाव्यम, इत्यनवस्थानात् कुत' प्रकृतप्रत्यय ?। तदेव नाऽऽत्मनो जडस्वरूपता सगच्छते । तदसङ्गतौ च चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यदिति वाङ्मात्रम । स्या० । आचा० । विपा० । (' आता' शब्दे द्वितीयभागे २०० पृष्ठे ज्ञानज्ञानिनोरभेदविचारोऽदर्शि)

(१५) ज्ञानज्ञानिनोरन्यत्वे बन्धमोक्षपरामर्श.-

चेयणस्स उ जीवा, जीवस्स उ चेयणाउ अन्नत्ते ।
दवियं अलक्खणं खलु, हविज्ज न य बधमोक्खाओ ॥

चैतन्यस्य जीवाज्जीवस्य चेतनाया अन्यत्वे द्रव्य जीवद्रव्यमलक्षणं 'चेतनालक्षणो जीव.' इति लक्षणरहित भवेत्,चेतनाया घटाऽऽदिवद् जीवादप्येकान्तव्यतिरिक्तत्वाद्, लक्षणाभावे च लक्ष्यस्याप्यभाव इति, खरशृङ्गवत् । अत्यन्तासन् जीवो न बध्यते; बन्धस्य वस्तुधर्मत्वात् । नापि मुच्यते, बन्धाभावादिति बन्धमोक्षावपि न स्याताम् । अथ मन्येथा अचेतनोऽपि स बध्यते, मुच्यते चेति ।तदप्ययुक्तम् । अचेतनानामप्येव धर्मास्तिकायाऽऽदीना बन्धमोक्षप्रसक्ते । वृ० १ उ० । विशे० ।

(१६) बोधमात्र, साकारो वा बोध प्रमाणम्-

तथाहि-"बोध. प्रमाणम" इति वदन्तो वैभाषिका. पर्यनुयोज्या' । किं बोधमात्रस्य प्रामाण्यम, आहोस्विद् बोधविशेषस्य ?। यदि बोधमात्रस्य,तदा तल्लक्षणमयुक्तम,व्यवच्छेद्याभावात् । अबोधस्य व्यवच्छेद्यत्वेऽपि संशयविपर्ययाऽऽदीना बोधस्वभावत्वात् प्रमाणताप्रसक्ति. । न च संशयाऽऽदीनामपि प्रमाणता, लोकशास्त्रविरोधात् । लोकप्रसिद्ध च प्रमाण व्युत्पादयितुमारब्धम,तत्र चेन्द्रियाऽऽदेरपि प्रमाणताया प्रसिद्धे बोधस्य प्रामाण्येऽव्याप्तिश्च लक्षणदोषः । न चाबोधरूपस्येन्द्रियाऽऽदेर्लोकप्रमाणता न व्यपदिशति, प्रदीपेनोपलब्ध चक्षुषा दृष्ट धूमेनावगतमिति लौकिकव्यवहारदर्शनात् । न चौपचारिक प्रामाण्यम, प्रमितिक्रियाया साधकतमत्वेन मुख्यप्रामाण्योपपत्ते' । अत एव शास्त्रान्तरेष्वपि विशेष्योपलब्धिजनकस्य बोधाबोधरूपविशेषत्यागेन, सामान्यतो " विखित साक्षिणो भुक्ति., प्रमाण त्रिविध स्मृतम्" इत्युक्तिः । किं च-प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणशब्द. करणविशेषप्रतिपादक. । करणविशेषत्व चास्य विशेष्योपलब्धिजनकस्य बोधाबोधरूपविशेषत्यागेन सामान्यतो

निश्चितस्वरूपकार्यजनकत्वेन कार्यस्य चाव्यभिचाराऽऽदिस्वरूपत्वात् तज्जनकत्वेनापरेण साधकतमेन भाव्यम्,एकस्यैव स्वात्मनि करणक्रियाविरोधात्। ततो बोधाबोधरूपस्य प्रमितिजनकस्य प्रमाणतोपपत्तेर्बोधमात्रं प्रमाणमित्यत्राव्याप्तिलक्षणदोषः प्राप्नोतीति स्थितम् ।

अथ बोधविशेषः प्रमाणं,तदाऽत्रापि वक्तव्यम्-कः पुनरसौ बोधस्य विशेषः ?। यद्यव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टत्वं, तदा प्रमितिस्वभावस्य तस्य प्रमाणताप्रसक्तिः।न चाभ्युपगम्यत एवेति वाच्यम्, करणविशेषस्य प्रमाणव्यवस्थितेः। अत एव 'निराकारो बोधोऽर्थसहभाव्येकसामग्र्यधीनस्तत्रार्थे प्रमाणम्' इति वैभाषिकोक्तमसङ्गतम् । अपि च-कर्मण्यसौ प्रमाणमभ्युपेयते । यत उक्तम्-"सव्यापारमिवाऽऽभाति, व्यापारेण स्वकर्मणि ।" इति । कर्मता च बोधसहभाविनोऽर्थस्य तद्बोधापेक्षया न संभवति, तत्समानकालस्य तत्कृतविकार्यत्वात्। द्वयोः कर्मरूपत्वे च तत्र करणक्रिययोः कथं प्रतिनियमः ?। तदभावे चैकस्य सामग्र्यधीनतायामपि सर्वं सर्वस्य बोधो भवेत् । किञ्चैकसामग्र्यधीनत्वस्य द्वयोरप्यविशेषाद्यथा बोधोऽर्थस्य ग्राहकः, तथाऽर्थोऽपि बोधस्य किं न भवेत् ?। तन्न 'निराकारो बोधः प्रमाणं' सम्भवति।अथ स्यान्निराकारो बोधः, प्रमाणं माऽस्त्वसौ, प्रमितिक्रियायां साधकतमत्वात् प्रमाणम् । ननु च बोधस्य प्रमाणस्वरूपत्वादर्थाऽऽकाराऽऽत्मकत्वमयुक्तम्, प्रमेयरूपताऽऽपत्तेः। न च प्रमेयरूपमेव प्रमाणं भवितुमर्हति, प्रमाणस्य तद्ग्राहकत्वेन प्रतिभासनात्।न च तथात्वेन प्रतिभासमानमपि प्रमेयरूपं युक्तम्, प्रमाणप्रमेययोरन्तर्बहिर्व्यवस्थितत्वेनावभासनात् । भेदेन च प्रतिभासमानं नान्यथाऽधिगन्तुं युक्तम् । न हि प्रतिभासः साक्षात् कारणाऽऽकारत्वात् प्रत्यक्षरूपोऽर्थव्यवस्थापकः प्रमाणान्तरादनुग्रहं,बाधां वा प्रतिपद्यते। उक्तं च-"प्रमाणस्य प्रमाणेन, न बाधा नाप्यनुग्रहः। बाधायामप्रमाणत्वं-मानर्थक्यमनुग्रहे॥१॥" इति। सर्वदा बहिर्व्युच्छिन्नार्थावभासिनोऽध्यक्षस्याप्रमाणत्वे प्रमाणान्तराप्रवृत्तिरेव । न चाध्यक्षेण ज्ञानमेव बहिरर्थाकारं प्रतिपद्यते, न बाह्योऽर्थः, इति कथं निराकारता तस्येति वक्तव्यम् ?, ज्ञानरूपताया बोधस्याध्यक्षे प्रतिभासनात्, अर्थस्य च ज्ञानरूपतायाः प्रतिपत्तेः। न ह्यनहङ्काराऽऽस्पदत्वेनार्थस्य प्रतिभासे अहङ्काराऽऽस्पदबोधरूपस्यैव ज्ञानरूपता युक्ता । यदि त्वहङ्काराऽऽस्पदत्वेनार्थस्य प्रतिभासः स्यात्तदा रूपादभिन्नत्वात्तदात्मनोऽहं घट इति प्रतिभासः स्यात् । न चान्यथाभूता प्रतिपत्तिरन्यथाभूतमर्थं व्यवस्थापयितुं शक्ता, प्रतिपत्तिव्यतिरेकेणाप्यर्थव्यवस्थितिप्रसक्तिश्च,नीलप्रतिपत्तेरपि पीताऽऽदिव्यवस्थापनाप्रसङ्गात्। अथ साकारविज्ञानमाकारप्रतिनियमात् तत्प्रतिपत्त्यैवार्थस्तदाकारतां तज्जनकस्याऽर्थस्य व्यवस्थापयेदिति प्रतिकर्मव्यवस्था सिध्यति, निराकारं तु विज्ञानं बोधमात्रतया व्यवस्थितम्, सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वात्।नीलस्येदं संवेदनं न पीतस्येति प्रतिकर्मव्यवस्थानिबन्धनं न भवेदिति साकारं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्। असदेतत् । सर्वार्थान् प्रति बोधमात्रतया निराकारस्याविशिष्टत्वादिति हेतोर्निराकारत्वमपि चक्षुरादिवृत्त्या बोधस्य तत्रैव नियमितत्वात्।न च नियतत्वस्य सर्वार्थेषु नीलाऽऽदावेव तस्य प्रतीतिः, समानत्वेऽपि वा पुरोवर्तिन्येव नीलाऽऽदौ समानत्वस्य सम्भवात् न सर्वार्थसाधारणी प्रतिपत्तिः निराकारज्ञानवादिनो न काचित् क्षतिः, तथादृष्टत्वात्। न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम निराकारत्वे किमिति पुरोवर्तिन्येव नीलाऽऽदौ प्रवर्तते,विज्ञानं चक्षुरादिभिस्तत्रैव नियमितत्वादिति प्रतिपादितं प्राक्। कस्माच्चैः तत्र नियम्यत इति चेत् ?,अत्र वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यम्।न हि कारणानि कार्यजननप्रतिनियमे पर्यनुयोगमर्हन्ति, तत्र तस्य वैफल्यात् । साकारत्वेऽपि चाऽयं पर्यनुयोगः समानः । तथा हि-साकारमपि ज्ञानं किमिति नीलाऽऽदिकमेव पुरोवर्ति,सन्निहितमेव च व्यवस्थापयति, तेनैव तथा तस्य जननाऽऽदिवत् समानमेतन्निराकारत्वेऽपि। किञ्च-चक्षुरादिजन्यं तद्विज्ञानमिति चक्षुराद्याकारं न भवतीति पर्यनुयोगे भवताऽपि वस्तुस्वभावैरेवोत्तरं वाच्यमिति वक्तव्यम्, तदस्माभिरभिधीयमानं किमित्यसाङ्गत्यं भवतः प्रतिभाति ?। अपि च-साकारता विज्ञानस्य किं साकारेण प्रतीयते, आहोस्वित् निराकारेण ?। यदि साकारेण,तदा तत्राऽपि प्रतिपत्तावाकारान्तरपरिकल्पनमित्यनवस्थाप्रसक्तिः। निराकारेण चेत्,बाह्यार्थस्याऽपि तथाभूतेनैव प्रतिपत्तिप्रसक्तिः। न च बाह्ये प्रत्यासत्तिनियमाभावान्न तथाभूतेन प्रतिपत्तिरिति वाच्यम्,इतरत्रापि प्रत्यासत्तिनियमाभावस्य तुल्यत्वात्। शङ्खे पीताऽऽकारदर्शनाद्भ्रान्तेन प्रतिनियमाभाव इति चेत्,निराकारेऽपि तदभ्रान्तत्वादेव प्रतिनियमो भविष्यतीति किमाकारपरिकल्पनया ?। कथमाकारमन्तरेण प्रतिनियम इति न वाच्यम्, आकारेऽप्यस्य समानत्वात्। तथाहि-साकारवादिनोऽपि कथं प्रतिनियम इति प्रेरणायां प्रतिनियताऽऽकारपरिग्रह एव प्रतिनियम इति नोत्तरं युक्तम्, प्रतिनियताऽऽकारपरिग्रहस्यैव प्रतिनियमरूपतयोपन्यस्तस्याद्यापि विचार्यमाणत्वात् अथ चानुमानाद्बाह्योऽर्थः प्रतीयते, तर्हि प्रतिबन्धसिद्धिर्वक्तव्या । न च बाह्योऽर्थोऽध्यक्षतः कदाचनाऽपि सिद्धो, नापि तत्प्रतिबद्धो ज्ञानाऽऽकार इति न प्रतिबन्धसिद्धिः, तामन्तरेण न चानुमानप्रवृत्तिरिति कथं बाह्यार्थसिद्धिः ?, यथाऽर्थापत्त्या बाह्योऽर्थोऽधिगम्यते, तथाऽपत्त्याऽर्थस्वरूपप्रतिपत्तौ तस्याः प्रत्यक्षरूपताप्रसक्तेः। न च स्वरूपप्रतिपत्तिमन्तरेणाप्यनुमानवत्तस्याप्रामाण्यम्,अनुमानस्यावगतप्रतिबन्धलिङ्गप्रभवत्वेन प्रामाण्यात्, अत्र च तदभावात्। न चाऽत्यन्तपरोक्षस्यार्थस्य केनचिदाकारेण विषयीकरणमिति न तस्य प्रतिपत्तिविषयता, अनुमानविषयस्य तु पूर्वदृष्टत्वात् । इदं तदित्याकारेण प्रतिपत्तिविषयता संभवत्यपीति नार्थापत्त्याऽप्यर्थप्रतीतिः । अथ दूरस्थितवृक्षाऽऽदौ मृत्पिण्डाऽऽकारो यथा बाह्यवृक्षाऽऽद्यर्थव्यतिरेकेण न प्रतिभासविषयः,तद्वत्पुरोवर्तिनि स्तम्भाऽऽदौ तदाकारः सत्येव बाह्ये स्तम्भाऽऽद्यर्थे इति सिद्ध एव बाह्यार्थः । न च वृक्षाऽऽदावपि पिण्डाऽऽद्याकार एव वृक्षाऽऽदिः,तस्य स्वपरावभासस्यान्यथाप्रतीतेः। असदेतत्। यतः-स्वपराभ्यामसौ सन्निहितः प्रतीयमानः साकारेण वा ज्ञाने प्रतीयते ?, निराकारेण वा ?। यदि साकारेणेति पक्षः, तदाऽसावपि ज्ञानाऽऽकार एव, न बाह्योऽर्थ इति कश्चिदप्यर्थासिद्धेरसिद्धो दृष्टान्तः । तथा च-प्रतिबन्धाप्रसिद्धेन ज्ञानाऽऽकाराद् बाह्याऽर्थसिद्धिः। अथ निराकारेण तेनार्थः स्वपराभ्यां प्रतीयत इति प्रतिबन्धासिद्धिरभ्युपगम्यते पिण्डाऽऽद्याकारस्य बाह्यार्थेन सह (?)। नन्वेवं निराकारज्ञानं बाह्यार्थग्राहकं सिद्धमिति व्यर्थं ज्ञानाकारकल्पनम्। न च तत्राऽपि प्रतिभासमानो वृक्षो ज्ञानाकार एवेत्यपरमर्थं साधयति, तत्राप्यपरापरार्थकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् कुतोऽर्थसिद्धिः ?। ज्ञानाऽऽकाराऽऽदिभिरिति चेत्,ननु प्रतिबन्धाग्रहणे कथं तदा तत्सिद्धिः ?, इति पुनरपि तदेव वक्तव्यमित्यपर्यवसिता पर्यनुयोगानवस्था।

तस्माद् निराकारादेव ज्ञानाद् बाह्यार्थसिद्धिरभ्युपगन्तव्या । अथ निराकारं ज्ञानं नीलाऽऽद्यावर्थे सव्यापारं निर्व्यापारमिति कल्पनाद्वयम् । प्रथमकल्पनायामप्यव्यतिरिक्तव्यापारवत्, उत व्यतिरिक्तव्यापारवत् ? इति कल्पनाद्वयम् । आद्यविकल्पे ज्ञानरूपमेव व्यापारः कश्चित् । न च व्यापारतद्वतोरभेदो युक्तो, धर्मधर्मितया प्रतीते. । द्वितीयविकल्पेऽपि सम्बन्धासिद्धि:, ततस्तस्योपकाराभावात् । उपकारेऽपि तस्य तन्निर्वर्तितेऽपरो व्यापारः कल्पनीय इत्यनवस्था । व्यापारस्यापि चार्थग्रहणव्यापृतावपरो व्यापारः कश्चित् परिकल्पनीय इत्यत्राप्यनवस्था । निर्व्यापारस्यार्थव्यापृतावर्थस्यापि ज्ञानग्रहणे व्यापृतिप्रसक्तिरित्यर्थस्यापि ज्ञानं प्रति ग्राहकता स्यात् । न च निराकारो बोधो निर्व्यापारोऽपि बोधस्वरूपत्वादर्थग्राहकोऽर्थस्याप्यर्थरूपतया बोधं प्रति ग्राहकतो ग्राह्यरूपासंस्पर्शान्न बोधकस्य ग्राहकता (?) । न च ग्राह्यार्थरूपान्यथाऽनुपपत्त्या बोधस्याग्राहकताव्यवस्था, इतरेतराऽऽश्रयदोषप्रसक्ते । तथाहि-ग्राह्यरूपव्यवस्था ग्राहकरूपसंस्पर्शात्, ग्राहकरूपव्यवस्थाऽपि ग्राह्यरूपसंस्पर्शादिति कथं नेतरेतराश्रयदोष. ? । न च समानकालयोर्नीलबोधयोर्ग्राह्यग्राहकभावव्यवस्था, कर्मकर्तृरूपत्वासिद्धे । न हि समानकालतायां निर्वर्त्यविकार्यप्राप्यरूपकर्मतासंभव, समानकालस्य निर्वर्त्यविकार्यताऽयोगात् । प्राप्यरूपता च न तद्व्यतिरिक्ता सम्भवति, समानकालयोर्द्वयोरपि ग्राह्यग्राहकभावाविशेषात् । तत्र निराकारस्याप्यर्थव्यवस्थापकत्वं बोधस्येति विज्ञप्तिमात्रमेव नार्थव्यवस्थेति विज्ञानवादिनोक्तमेतत्, सप्रतिघरूपतयाऽध्यक्षतो बाह्यस्य सिद्धविज्ञप्तिमात्रत्वे तद्रूपताऽभावप्रसक्तिर्भवेत् । न चाध्यक्षत सप्रतिघबाह्यरूपतया प्रतीयमानस्य विज्ञप्तिरिति नामकरणे काचिन्न क्षति', नामकरणमात्रेण सप्रतिघत्वबाह्यरूपत्वाऽऽदेरर्थधर्मस्याव्यावृत्ते. । अत. सप्रतिघत्वाऽऽदिरूपो बाह्योऽर्थः, तद्विपरीतस्वभावान्तरो बोध इति कथं विज्ञप्तिमात्रम् ? । न च सप्रतिघाऽऽकारतया बोधप्रतिपत्तिः, तद्विषयतया तु तस्य प्रतिपत्तिरस्त्येव, नीलविषयो बोधो मयाऽनुभूयते इति निश्चयोत्पत्ते । न च प्रतिभासनिश्चयमन्तरेणापरस्य पदार्थस्वरूपव्यवस्थितौ निबन्धनमुत्पश्याम , ततो निराकारादेव बोधाद् बाह्यार्थसिद्धिरभ्युपेया । असदेतत् । यतो निराकारं ज्ञानमर्थव्यवस्थापकमिति किं प्रत्यक्षतोऽवगम्यते, आहोस्विदनुमानतः, उताऽर्थापत्तेरिति विकल्प. ? । तत्र न तावत् प्रत्यक्षतस्तत्प्रतिपत्तिः, प्रतिभासमानशरीरस्तम्भाऽऽदिव्यतिरिक्तस्यापरस्य ज्ञानस्यानुपलम्भेनासत्त्वात् । न च सुखाऽऽद्यान्तररूपेणाहङ्काराऽऽस्पदतया स्वसंवेदनाध्यक्षतो ज्ञानरूपं प्रतीयत एवेति कथं तस्यानुपलम्भ ?, यत. सुखाऽऽदयो मान्त.स्पृष्टशरीरा., नातिरिच्यमानतनव प्रतिभान्ति । अहमिति प्रत्ययोऽपि तथाभूतशरीराऽऽलम्बनतया संवेद्यत इति । न च व्यतिरिक्तो बोधाऽऽत्मा स्वप्नेऽप्यनुभवविषय इति न प्रत्यक्षतो ग्राह्यव्यतिरिक्तवद् ग्राहकस्वरूपमवभासते । अथाचूतशरीराऽऽलम्बनतया संवेद्यत इति न तत्प्रत्यक्षावसेयम्, नाऽप्यनुमानाधिगम्यम्, प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्य तत्र तस्याप्यप्रवृत्ते. । नाप्यर्थापत्तिस्तद्भावमवगमयति, तस्याः प्रामाण्यानुपपत्तेः । किञ्चानुसरणमात्रमर्थापत्ति , न चेद तदित्युत्प्रेक्षावदनुसरणमदृष्टेऽर्थमासादयति । न च ज्ञानस्वरूपं कदाचनापि दृष्टं, दृष्टे वा तत एव तत्सिद्धेः किमर्थापत्त्या ? । अथार्थस्य ज्ञानमिति निराकारस्य ज्ञानस्य प्रतीतेस्तत्सद्भावः । न चार्थग्राहकत्वेन सर्वदाऽर्थस्य ज्ञानमित्येवंप्रतीयमानस्याविसंवादिप्रत्ययविषयस्य तस्याभाव., संवेदनमात्रस्याप्यभावप्रसक्तेः । अतो निराकाराऽविसंवादिप्रत्ययविषया बुद्धिः सिद्धेति युक्तमुक्तम्-निराकारा नो बुद्धिरिति । असदेतत् । यतो निराकाराऽर्थबुद्धिर्मया प्रतीयत इत्यपरा बुद्धेस्तदर्थस्य च ग्राहिका बुद्धि प्रसज्येत । तथा च सत्याकारमन्तरेण केनाऽऽकारेण बुद्धिरर्थस्येति योग्या प्रतीयेत ? न हीद तदित्यनिरूपिताऽऽकारमाकारान्तरेण योजनामर्हति । न च तथाऽप्रतीयमाना बुद्धिरिति व्यपदेशमासादयति, शशशृङ्गाऽऽदेरपि बुद्धित्वप्रसक्ते. । अथाऽपि स्वात्मनाऽर्थबुद्धिरासीदिति नार्थाऽऽकारव्यतिरिक्ता सा प्रतिभाति, किं तु पृथगपोद्धारपरिकल्पनया प्रकाशरूपतया व्यवस्थापिता बुद्धिरिति व्यपदिश्यते । अयुक्तमेतत् । यतो नाव्यतिरेकेण प्रतीयमाना बुद्धिर्विकल्पेनापोद्धर्तुं शक्या; न च पृथक् प्रतीयते सेत्युक्तम् । अथ सुखस्तम्भाऽऽद्याकारतयाऽय तदन्तःस्पृष्टविरूपाऽऽदेकमेव ज्ञानं प्रतिभाति न पुनस्ततो व्यतिरिक्तमपरं ज्ञानम्, तथा सति संवेदनमात्रमेव प्रसक्तम् । एवं च चक्षुरादिना मया रूपं प्रतीयत इति सम्बन्धाभावात्कथं प्रतीति ?, अस्ति चेय प्रतीति' । तस्मादुपलब्धेऽत्र रूपाऽऽदिकेऽभिमुखीभूत चक्षुस्तत्प्रकाशत्वं विदधाति, स वै बुद्धिरुच्यते । न च नीलाऽऽद्याकारमविद्यमानमेव तत्र प्रकाशत्वमुत्पन्नमिति वक्तव्यम्, व्यज्यमाननीलाऽऽदिविषयचक्षुरादिव्यापाराऽऽदिव्यज्यमानस्य प्रकाशत्वस्यैव तत्रोत्पत्ते , नीलाऽऽदेस्तु पूर्वमेव भावात् । तथा च सत्यर्थस्य बुद्धिरिति व्यपदेशः सिद्ध एव । अत एवोक्तम्-बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरमिति । एतदप्यसत् । यतो न प्रकाशव्यतिरेकेण नीलाऽऽदिरुपलभ्यत इति कुत. पूर्वव्यवस्थिते एव नीलाऽऽदौ प्रकाशता चक्षुरादेरुदयतीति वक्तुं शक्यम् ?, न हि प्रकाशतारहित कदाचिदुपलब्ध नीलाऽऽदिकम्, उपलम्भे वा सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसक्ति' । अथ नीलस्य प्रकाश इति व्यतिरेक उपलभ्यत एव । न । शिलापुत्रकस्य शरीरं स्तम्भस्य स्वरूपमित्यत्रापि व्यतिरेकोपलब्धेर्व्यतिरेकः स्यात्, प्रकाशस्य प्रकाशतेति चाहष्टो भेदः प्रकाशतायाः स्यात् । अथात्रैकैव प्रकाशतोपलभ्यते नापरा इति न प्रकाशस्यापर. प्रकाश., व्यतिरेकोपलम्भस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात्, तर्हि नीलप्रकाशयोरपि न प्रत्यक्षप्रतीतो भेद इति, तत्राऽपि समानन्यायतो व्यतिरेकस्यासिद्धेः । नीलाऽऽद्याकारैव प्रकाशिता, सा च बुद्धिरिति सिद्धा साकारता ज्ञानस्य । अथ परोक्षा बुद्धिः निराकारा च तत' साकारस्य बोधस्य बुद्धिरिति विकल्पेऽप्यप्रतिभासनात्; अर्थापत्तेश्च प्रक्षय', प्रकाशमात्रेणार्थस्य सिद्धत्वाद् व्यर्थं तदपरबुद्धिपरिकल्पनम् । ततश्च यदुक्तम्-निराकारमेव ज्ञानमर्थोन्मुखमुपलभ्यमानं प्रतिनियमेन कथं सर्वसाधारणम् ?, इति सिद्ध' प्रतिकर्मप्रत्यय इति । तदप्ययुक्तम् । यतो न किञ्चिन्नीलाऽऽद्याकारप्रकाशिताव्यतिरेकेणोपलभ्यतेऽपरमिति कस्यार्थे प्रत्यासन्नता परै. परिकल्प्यते ? । प्रकाशता तु यदि निराकारा स्यात्, प्रतिकर्मव्यवस्था न भवेत् । न ह्यालोकमात्रेणाभिभिन्नघटाऽऽदिरूपेण तद्रूपप्रकाशनं युक्तं, कथं तर्हि चक्षुरादिना घटादिरुपलभ्यत इति व्यवस्था ? । बाह्यार्थवादिपरिकल्पिते परोक्षे रूपाऽऽदितदाकारा प्रकाशता चक्षुरादिना जन्यत इति तथा व्यपदेश सम्भवी; प्रकाशिता चापोद्धारपरिकल्पनयाऽनादिवासनानियमाद् भिन्ना व्यपदिश्यत इति न किञ्चिदयुक्तम् । यद्वा-पूर्वसमप्रीतचक्षुरादिरूपाऽऽद्याकारप्र-

काशतावुद्धिस्वभावोपजायत इत्येकसामग्र्यधीनया तया व्यपदेश । दृश्यते हि प्रदीपप्रकाशयोः समानकालयोः प्रदीपनघटप्रकाशन इत्येकसामग्र्यधीनया व्यपदेशः । न ह्येककालयोरपि प्रकाश्यप्रकाशकयोः कार्यकारणभावमुपपद्यते । ननु यदि साकार विज्ञानमभ्युपगम्यते, तदा चक्षुरादिकोऽर्थः प्रतिक्षिप्त एव, चक्षुराद्याकारस्य संवेदनमात्रस्यैवोपलम्भेन तदाकाराऽर्थव्यवस्था स्यात् । यतो न बाह्यार्थः, तदाकार च विज्ञानद्वयमुपलम्भविषय.,तत्त्वे चाज्ञानमेव, तत्रापि साकार तत्राप्यर्थस्य पुनरुपलब्ध्याऽभ्युपगमे ज्ञानाऽऽकारेऽनुभव इति न कदाचित्स्वरूपेणोपलब्धिर्भवेदिति नार्थव्यवस्था । असदेतत् । कार्यव्यतिरेकेण बाह्यार्थपरिकल्पनाऽर्थापत्त्या वा परेषामभिमतेति तदभ्युपगमादर्थस्यायमाकार प्रकाशकमनुप्रविष्ट इत्यभिधानार्थोक्तदोषानुपपत्तेः । अथवा-विज्ञानवादेऽर्थासिद्धिप्रेरण सिद्धसाधनदोषाऽऽग्रहमिति साकारमेव ज्ञान प्रमाणमभ्युपपन्नाः सौत्रान्तिकयोगाचारा. ।

अत्र प्रतिविधीयते—निराकारं विज्ञानमर्थग्राहकमिति न प्रत्यक्षत प्रतीयते, शरीरस्तम्भाऽऽदिव्यतिरेकेण उपलम्भस्यासत्त्वादिति । तस्यासत्त्वादित्यत्र हेतुरसिद्ध , अहङ्कारस्य सुखाऽऽदेर्ज्ञानविशेषस्यान्त स्वसंवेदनप्रत्यक्षानुभूयमानस्य सत्त्वात् । न च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धस्याप्यसत्त्वम्, स्तम्भाऽऽद्याकारस्यापि ज्ञानस्यासत्त्वप्रसक्ते. । न हि तथाप्रतिभासव्यतिरेकेणापरमत्रापि सत्त्वानबन्धनम् । न चाहमिति प्रत्ययोऽन्त.स्पृष्टशरीराऽऽद्यालम्बन , शरीरस्य सप्रतिघत्वेन, अपरप्रत्यक्षविषयत्वेन वाऽज्ञानरूपतया सुखग्रहप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः ज्ञानस्यैवाप्रतिघातसंवेद्यरूपस्यान्त सुखाऽऽकारस्य सुखग्रहप्रत्ययविषयत्वात्, अह कृशः स्थूल इत्यादिशरीराऽऽलम्बनत्वस्याहप्रत्ययस्यौपचारिकत्वादुपचारनिबन्धनत्वस्य च प्राक् प्रतिपादितत्वात् । तेन निराकारस्य ज्ञानस्य स्वप्नेऽप्यसंवेदनात्र प्रत्यक्षतो बाह्यव्यतिरिक्त ग्राहकस्वरूप प्रतिभातीति प्रत्युक्तम् , नीलमह वेद्मीति बाह्यनीलार्थग्राहकस्यान्तर्ग्राह्यव्यतिरिक्तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतो ज्ञानस्याहमहमिकया प्रतीते । न चान्त सुखाऽऽदयो बहिश्च नीलाऽऽदयः परिस्फुटवपुष. स्वय विदिता. प्रतिभान्ति, न पुनस्तद्व्यतिरिक्त निराकारज्ञानस्वरूपमर्थग्राहकमाभाति, सुखाऽऽदेरर्थग्राहकत्वायोगादिति वक्तव्यम् । यतो बाह्य प्रति सुखाऽऽदीनां नैवास्माभिरपि ग्राहकत्वमभ्युपगम्यते । न हि सुखाऽऽदयो भावनोपनेयजन्मानो बहिरर्थसंनिधिमन्तरेणाऽपि प्रादुर्भवन्त पदार्थव्यक्तीनां नियमेनोद्द्योतका ,स्ववपुःपर्यवसितस्वरूपत्वात् तेषां, चक्षुरादिप्रभवास्तु संविदो बहिरर्थमुद्भासयन्त्य स्पष्टावभासा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथगवसीयन्त इति पदार्थग्राहिण्यस्ता एवाभ्युपगमनीया । सुखाऽऽदिवेदिन तु हृदि परिवर्तमान बाह्याऽर्थसंविदपृथगेव, न तद् बाह्यार्थग्राहकतयाऽभ्युपगमविषय । तदेव ग्राह्यव्यतिरेकेण निराकारज्ञानस्य संवेदनाध्यक्षसिद्धत्वादनुमानमपि तत्सत्त्वप्रतिपादकत्वेन प्रवर्तत एव विप्रतिपत्तिसद्भावे । पञ्चार्थापत्त्यप्रामाण्याभ्याऽतस्तत्प्रतिपत्तिरिति । तत्सिद्धसाधनमेव । यदपि निराकारा मया बुद्धिः प्रतीयत इति बुद्धेरप्यपरा बुद्धिर्ग्राहिकेत्याद्युक्तम् । तदप्यसङ्गतमेव; यत. स्वपरार्थग्राहक बुद्धेः स्वरूपं, तेन च रूपेण स्वसंविदि प्रतिभासमाना कथ शशशृङ्गाऽऽदिवद्व्यवस्थितरूपा भवेत्? । यदपि तद्व्यतिरिक्ततया प्रतीयमाना न विकल्पेनाप्यपोक्तुं शक्या इति । तदप्यसङ्गतम् । ग्राह्यस्वरूपवत्तत्त्यतया स्वरूपेण तत्प्रतिभासनस्य प्रतिपादितत्वात् । यदपि प्रकाशतारहित नीलाऽऽदिक नोपलभ्यते, तथोपलम्भे सर्व सर्वदा भवेदिति तत्राऽपि यदि ज्ञान विना नीलाऽऽदिक नोपलभ्यते इत्युच्यते, तदा सिद्धसाध्यता, तदन्तरेण तदुपलम्भस्यानिष्टे । अथ नीलमेव प्रकाशरूपमिति प्रतिपाद्यते । तदयुक्तम् । नीलस्य जडतया प्रकाशरूपत्वानुपपत्तेः परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया जडाजडयोरेकत्वयोगात् । यदपि नीलस्य प्रकाश इति व्यतिरेक. शिलापुत्रस्य शरीरमित्यादावभेदेऽपि सम्भवीति । तदपि न सम्यक् । दृष्टान्ते हि प्रत्यक्षावगतो भेदप्रतिभास. स्यात् वाक्ये न तु दार्ष्टान्तिके प्रत्यक्षारूढे तदेव प्रतिभास. समस्ति । तथाहि-ग्राह्यरूपस्तम्भाऽऽद्यनन्यव्यावृत्तत्वेन ग्राह्यतयाऽध्यक्षे प्रतिभाति प्रकाशितु, स्तम्भाऽऽदिकर्माणि व्यावृत्तत्वेन ग्राहकतया प्रतिभाति । तेन स्तम्भतत्संवेदनयोर्भेदावभासोऽध्यक्षाऽऽरूढोऽवभाति । न केवल ग्राह्याऽऽकारोऽन्यव्यावृत्तत्वेन ग्राह्यतयाऽध्यक्षे प्रतिभाति प्रकाशितु,स्तम्भाऽऽदिकर्माणि व्यावृत्तेन ग्राहकतया प्रतीतेर्न स्तम्भ. प्रतिभाति, किं त्वाह्लादाऽऽदिस्वभावतयाऽहङ्काराऽऽस्पदश्च प्रतिभासनिश्चयाभ्यामवसीयते, तद्ग्राह्यस्तु तद्विपरीतत्वेन । न चाध्यक्षसिद्धभेदयोर्नीलतत्संवेदनयो कुतश्चित् प्रमाणाऽऽदिकताऽवसातु शक्येति न भेदप्रतिभासस्य बाधा । न च नीलाऽऽदिरेव ज्ञानरूपः, अह नीलाऽऽदिरित्यनवगमात् । तेन नीलाऽऽद्याकारैव प्रकाशिता, सा च बुद्धिरिति साकारता ज्ञानस्येति यदुक्त, तदपि निरस्त द्रष्टव्यम् । यदपि प्रकाशतामात्रेणार्थस्य सिद्धत्वाद् व्यर्थ तदपरबुद्धिपरिकल्पनम् , तदपि सिद्धमेव साधितम्; अर्थप्रकाशताया अर्थव्यतिरिक्ताया बुद्धित्वेन तदपरिकल्पनाया असिद्धत्वात् । यदपि नायमाकार नीलाऽऽद्याकारप्रकाशिताव्यतिरेकेणोपलभ्यत इति कस्यार्थे प्रत्यासन्नता परै. परिकल्प्यते, तदपि नीलाऽऽद्यर्थग्रहणपरिणते ज्ञानस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः सिद्धेरयुक्ततया स्थितम् । प्रकाशता तु यदि निराकारा भवेत्, प्रतिकर्मव्यवस्था न स्यादिति यदुक्त, तदप्यसङ्गतमेव । यत प्रकाशता किं नीलाऽऽकारा ?, आहोस्विद् ग्राह्याऽऽकाराऽभ्युपगम्यते ?। यदि प्रथमो विकल्पस्तदा वक्तव्यम्-किमेकदेशेन नीलाऽऽद्याकारा प्रकाशता ?, आहोस्वित् सर्वाऽऽत्मनेति ? । तत्र यद्येकदेशेन नीलाऽऽद्याकारा प्रकाशता, तदा स्वांशैकप्रकाशताप्रसक्तेरित्यनेकान्तसिद्धि. । अथ सर्वाऽऽत्मना, तदा प्रकाशताया जडरूपनीलाऽऽदिस्वभावत्वाद्विज्ञप्तिरूपताऽभावप्रसक्ति , जडस्य प्रकाशरूपताऽयोगादग्राह्याकारित्वमपीतरेतराश्रयत्वम् । न हि देवदत्तस्य प्रतिनियताऽऽकारतासिद्धौ यज्ञदत्तस्य तदाकारतासिद्धिर्दृष्टा । न च प्रकाशता साकारतासिद्धिमन्तरेणापि ग्राह्यस्य प्रतिनियतरूपसिद्धिर्निराकारा, ज्ञानस्य प्रतिकर्मव्यवस्थाहेतुत्वप्रसक्ते । न च यद् यदाकार नत्तस्य ग्राहकमिति व्याप्तिसिद्धि , अन्यथोत्तरनीलक्षणपूर्वनीलक्षणस्य ग्राहक स्यात् । न च तस्याज्ञानरूपत्वाद् नायं दोष., देवदत्तनीलज्ञानस्य यज्ञदत्तनीलज्ञानग्राहकताप्रसक्ते । न च तयो. कार्यकारणभावाभावान्नाय दोष ,सदृशसमनन्तरज्ञान प्रति उत्तरज्ञानक्षणस्य ग्राहकताप्रसक्ते । अथ तत्र तादृग्विषसारूप्याभावाद् नाय दोष. । ननु तथाविधं यदि कथंचित् सारूप्यमभिधीयते, तदाऽनेकान्तवादाऽऽपत्तिः । अथ सर्वात्मना सारूप्य, तदोत्तरक्षणस्यापि पूर्वक्षणरूपताप्रसक्तिरित्येकक्षण-

मात्र सर्व' सन्तानो भवेत् । न च पूर्वोत्तरक्षणयोः परपक्षे भिन्नमात्रेण वैकान्तत. सारूप्य सभवति, भेदपक्षे सामान्यवादप्रसक्ते', अभेदपक्षे तु तदभावप्रसक्ते । न च परपक्षे सारूप्यग्रहणोपाय' सम्भवतीत्युक्तम् । किञ्च-यदि नीलाऽऽकारं ज्ञानमनुभूयत इति बाह्योऽप्यर्थो नीलतया व्यवस्थाप्यते, तर्हि त्रैलोक्यगतनीलार्थव्यवस्थितिस्ततो भवेत्, सर्वनीलार्थसाधारणत्वात् तस्य । अथ नीलाऽऽकारताविशेषेऽपि कश्चित्प्रतिनियमहेतुस्तत्र विद्यते, यत पुरोवर्तिन एव नीलाऽऽदेस्ततो व्यवस्था, तर्हि नाकारत्वेऽपि ज्ञानस्य तत एव नियमहेतो' प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्व भविष्यतीति तत्साकारपरिकल्पन व्यर्थम् । यदपि चक्षुरादिना रूपमुपलभ्यत इति व्यपदेशनिबन्धन जन्यत्वं रूपाऽऽकारप्रकाशस्योक्तम्, तदपि स्वजाड्याऽऽविष्करणमात्रम् । यतो यया प्रत्यासत्त्या चक्षुरादिकं समानकालं भिन्नकाल वा भिन्नं रूपाऽऽद्याकार ज्ञानं भवति, तयैव निराकारमपि ज्ञान समानकाल भिन्नकाल वा स्वग्राह्य भिन्नमपि ग्रहीष्यति । न हि चक्षुरादेर्विभिन्नकार्योत्पादनवद् विभिन्नग्राह्यग्रहणे शक्तिप्रक्षय कश्चिद् ज्ञानस्य सभवी । अथ विभिन्नकार्योत्पादनमप्यसभवी नाऽभ्युपगम्यते, तर्हि 'प्रमाणमविसंवादि' इति प्रमाणलक्षणप्रणयनमनर्थक धर्मकीर्तेराप्यते, अविसंवादित्वस्याऽर्थक्रियाज्ञानजनकत्वलक्षणस्याऽभावात् । अथ व्यावहारिकमेतद् लक्षण न पारमार्थिकम्, किं तर्हि पारमार्थिकमिति वक्तव्यम् ?, " ", अज्ञातार्थप्रकाशो वेति चेत्, तत्रापि यद्यज्ञातस्याऽर्थस्य प्रकाश स्वसंविदितोऽर्थग्रहणपरिणाम आत्मसबन्धी, तदाऽऽस्मन्मताभ्युपगम इति न कश्चिद्दोष । अथ "स्वरूपस्य स्वतो गति "इति वचनादज्ञातार्थप्रकाश स्वरूपसंवेदनमात्र, तदाऽध्यक्षत्वाद्यदोष', स्वपरसंवेदकत्वेन ज्ञानस्य स्वसंवेदनाध्यक्षत. प्रतिपत्तेरिति प्रतिपादकत्वात्, प्रतिपादितत्वात्, प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च । एतेन एकसामग्र्यधीनतया चक्षुरादिना रूपमुपलभ्यत इति व्यपदेश इत्येतदपि निरस्तम् । भिन्नानामेकसामग्र्यधीनत्वलक्षणप्रतिबन्धाविरोधे ग्राह्यग्राहकलक्षणस्यापि तस्याविरोधात् । यथा चैकसामग्र्यधीनानां चक्षुरादीनां समानसमयेऽपि स्वरूपप्रतिनियम', तथा ग्राह्यग्राहकयोरपि समानकालत्वाविशेषेऽपि विज्ञान—ग्राहकमेव, अर्थस्तु ग्राह्य एवेति प्रतिनियमो भविष्यति । अथ एकसामग्र्यधीनत्व रूपप्रतिनियमश्चक्षुरादेर्नेष्यते, तर्हि प्रमाणाऽऽदिव्यवहारस्य सकलस्य विलोपात्साकारज्ञानाऽभ्युपगमोऽसङ्गत एव स्यात् । यदपि कार्यव्यतिरेकेण बाह्यार्थकल्पनाऽर्थापत्त्या च परेषामिति तदभ्युपगमेनोच्यते-अर्थस्याऽऽकार प्रकाशतामनुप्रविष्ट इत्युक्तम्, तदपि परदर्शनानभिज्ञता ख्यापयति । न हि जैनाना कार्यव्यतिरेकादर्थापत्त्या वाऽर्थपरिकल्पना, किं तु तद्ग्राहिप्रतिभासवशात् । साकारज्ञानवादिनस्तु-यदि ज्ञानाऽऽकारोऽर्थव्यतिरेकेण नोपपद्यत इत्यर्थव्यवस्थापक, तदा नियतार्थव्यवस्थापक स्यात् । जनकस्यैव व्यवस्थापक इति चेत् । न । चक्षुरादेरपि व्यवस्थापक. स्यात् । तज्जनकत्वेऽपि चक्षुरादेरनाकारत्वान्नेति चेत्, ननु चक्षुरादिजन्यत्वेऽपि किमिति तज्ज्ञान तदाकार न भवति चक्षुरादि वा साकारज्ञानजनकमिति वक्तव्यम् ?, स्वहेतुबलाऽऽयाततत्स्वभावत्वात् तयोरिति चेत् । ननु निराकारज्ञानपक्षेऽपि तत्स्वाभाव्याद् ज्ञानमेव चक्षुरादिव्यतिरेकेण स्वजनकार्थव्यवस्थापकमिति किन्नाभ्युपगम्यते ?, न्यायस्य समानत्वात् । किञ्च-ग्राहकस्यार्थजन्यत्वेन साकारता, सा च प्रतिभासगोचरा, एवं च ग्राहके आकारस्य जनकस्यैव प्रतिभासविषयत्वेऽन्यस्य तज्जनकस्य कल्पनाप्रसक्तिस्तत्राप्येवमित्यनवस्था भवेत् । तत्र साकारज्ञानानुभववशादर्थव्यवस्थाप्रकाशताऽनुप्रविष्टताऽर्थाऽऽकारस्यायुक्तैव, वस्त्वन्तरानुप्रवेशासंभवात् । संभवे वा प्रकाशताया अपि चैतन्यरूपताया पृथिव्याद्यनुप्रवेशात् परलोकाय दत्तो जलाञ्जलिर्भवेत् । यदप्यर्थवादिन एवाऽय दोषो, ज्ञानवादे तु सिद्धसाध्यतेति; तदपि न्यायबहिष्कृतम् । प्रमाणसिद्धस्याप्यर्थस्याभावो यदि न दोषाय भवेत्, ज्ञानाभावोऽपि न दोषाय स्यात् । न च शून्यताऽभ्युपगमात् तदभावोऽपि न दोषाऽऽवह इति वक्तव्यम्, तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावाद् न तेन साकारज्ञानप्रमाणवादोऽभ्युपगमार्ह, अनेकदोषदुष्टत्वादिति स्थितम् । सम्म० २ काण्ड ।

(१७) जैमिनीयाऽभिमतस्य तु ज्ञातृव्यापारस्य फलानुमेयस्य यथा प्रमाणता न सभवति, तथा स्वतः प्रामाण्य निराकुर्वद्भि प्रदर्शितमिति न पुन. प्रतन्यते । यदप्यनधिगतार्थाधिगन्तृत्व ज्ञातृव्यापारविशेषणत्वेन प्रतिपादितम्, तदप्यसङ्गतमेव । यत. प्रमाण वस्तुन्यधिगतेऽनधिगते वा व्यभिचाराऽऽदिविशिष्टां प्रमा जनयन्नोपालम्भविषयः । न चाऽधिगते वस्तुनि किञ्चित्तत्प्रमाणतामाप्नोतीति वक्तव्यम्, विशिष्टतां विदधानस्य प्रमाणताप्रतिपादनात् । न च पूर्वोऽसन्नेव प्रमाणेन जन्यते, प्रमित्यन्तरोत्पादकत्वेन प्रमाणत्वात् । न च प्रमित्यन्तरजनकत्वेऽधिगते विषये तस्याकिञ्चित्करत्वेनोपालम्भविषयताऽनुपपत्ति. । न च एकान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वे प्रामाण्य तस्यावसातु शक्यम्, तद् व्यर्थं तथाभावित्वलक्षण सवादादवसीयते, स च तदर्थोत्तरज्ञानवृत्ति. । न चानधिगतार्थाधिगन्तुरेव प्रामाण्ये सवादप्रत्ययस्य प्रामाण्यमुपपन्नम् । न च प्रमाणेन सवादप्रत्ययेन प्राक्तनस्य प्रामाण्य व्यवस्थापयितुं शक्यम्, अतिप्रसङ्गात् । अतो यथाऽधिगतार्थाधिगन्तुरर्थक्रियानिर्भासिन. सिद्ध ज्ञानस्य प्रामाण्य, तथा साधनाविर्भासिनोऽप्यभ्युपगन्तव्यम् । न च सामान्यविशेषतादात्म्यवादिन एकान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्व प्रमाणस्य सम्भवति, इदानीन्तनास्तित्वस्य पूर्वास्तित्वाभेदात्, तस्य च पूर्वमप्यधिगतत्वसभवात् कथञ्चिदनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभ्युपगमेऽस्मन्मतानुप्रवेशप्रसक्ति. । अथाप्रेक्षापूर्वकारितया प्रमाणस्याऽनुपालम्भविषयत्वेऽपि पुरुषस्य प्रेक्षापूर्वकारिणोऽधिगतविषयमपि प्रमाण पर्येषमाणस्योपालम्भविषयता । स हि पूर्वाधिगते वस्तुनि प्रेक्षापूर्वकारी किमित्यधिगमाय प्रमाणान्तरमन्वेषते ?, निष्पन्नप्रयोजनापेक्षया हेतुव्यापारत. प्रेक्षापूर्वकारिताहानिप्रसक्तेः । नैतदिदम् । यतो यदर्थं प्रमाणोत्पत्त्यतिशयजनकत्वेन सप्रयोजनत्वात् प्रमाणान्वेषणस्य न तदन्वेष्टु पुरुषस्योपालम्भार्हता । न च निश्चिते विषये न किञ्चिन्निश्चयान्तरेण प्रयोजनम्, यतस्तदर्थं प्रमाणान्वेषण न वैयर्थ्यमनुभवेत् । यतो भूय उपलभ्यमाने दृढतरा प्रतिपत्तिर्भवतीति सुखसाधन तथैव निश्चित्योपादत्ते, दु खसाधन च तथात्वेन सुनिश्चित परित्यजेत् । अन्यथा विपर्ययेणाप्युपादानत्यागौ भवेताम् । अत एवैकविषयाणामपि शब्दाऽनुमानाध्यक्षाणां प्रामाण्यमुपपन्नम्, प्रतिपत्तिविशेषस्य, प्रीत्यतिशयादेश्च सद्भावात् । न च प्रथमप्रत्ययेनैवाऽर्थक्रियासमर्थप्रदर्शने प्रवर्तित. पुरुष., प्रापितश्चार्थ इति तज्ज्ञापक-

प्रमाणान्वेषण वैयर्थ्यमनुभवेत्; भूयो भूय उपलभ्यमाने दृढतरा प्रतिपत्तिर्भवतीति सुखसाधन तथैव निश्चित्योपादद्यो, दुःखसाधन च तथात्वेन सुनिश्चित परित्यजेत्; अन्यथा विपर्ययेणाप्युपादानत्यागौ भवेताम् । अत एवैकविषयाणामपि पुरुषप्रवृत्ते प्रमाणाधीनत्वाभावाद् विशिष्टप्रमाया एव प्रमाणाधीनत्वात्,तां च जनयत उपेक्षणीयाऽऽदौ विषये प्रमाणस्याप्रवर्तकस्यापि प्रमाणत्वेन लोके प्रसिद्धत्वात्, प्रवृत्तेस्तु पुरुषेच्छानिबन्धनत्वात् तदभावेनोक्तफलजनकस्य प्रमाणत्वव्याघात. । न च पुरुषार्थसाधनप्रवर्तकत्वमेव तस्य प्रवर्तकत्व, तत्सद्भावेऽपि प्रवर्तितोऽहमत्र नानेति तद्ग्रहणे भावेच्छाप्रतिपत्त्यनुपपत्ते. । न च प्रवृत्त्यभावे तस्य प्रदर्शकत्वान्न तत्प्रदर्शकमिति लोकप्रतीति । तथानधिगतार्थाधिगन्तृत्वमपि ज्ञातृव्यापारविशेषणमुपपत्तिमत्। अतोऽनधिगतार्थाधिगन्तृज्ञातृव्यापारोऽर्थप्रकटताऽऽख्यफलानुमेयो जैमिनीयपरिकल्पितो न प्रमाणमिति स्थितम् ।

(१८) सौगतैस्तु 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्' इति वचनादविसंवादकत्व प्रमाणलक्षणमुक्तम्। अविसंवादकत्व च प्राप्तिनिमित्त प्रवृत्तिहेतुभूतार्थक्रियाप्रसाधकार्थप्रदर्शकत्वम । यतोऽर्थक्रियाऽर्थी पुरुषस्तन्निर्वर्तनक्षममर्थमवाप्तुकामः प्रमाणमप्रमाण वाऽन्वेषते। यदेव चार्थक्रियानिर्वर्तकवस्तुप्रदर्शक तदेव तेनान्विष्यते। प्रत्यक्षानुमाने एव च तथाभूतार्थप्रदर्शके,न ज्ञानान्तरमिति। ते च लक्षणार्हे,तयोश्च द्वयोरप्यविसंवादकत्वमस्ति लक्षणम्। प्रत्यक्षेण ह्यर्थक्रियासाधन दृष्टतयाऽवगत प्रदर्शितं भवति; अनुमानेन तु दृष्टलिङ्गाव्यभिचारतयाऽध्यवसितमित्यनयोः प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम्। न ह्यान्या प्रदर्शितेऽर्थे प्रवृत्तौ न प्राप्तिरिति नान्यत प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण प्रापकत्वम्, तच्च शक्तिरूपम्। उक्त च-'प्रापणशक्ति. प्रामाण्य, तदेव च प्रापकत्वम्'। अन्यथा ज्ञानान्तरस्वभावत्वेन व्यवस्थिताया' प्राप्तेः कथं प्रवर्तकज्ञानशक्तिस्वभावता । तत्र यद्यपि प्रत्यक्षं वस्तु क्षणग्राहि, तद्ग्राहकत्व च तस्य प्रदर्शकत्व, तथापि क्षणिकत्वेन तस्याप्राप्तेस्तत्सन्तान एव प्राप्यत इति सन्तानाध्यवसायोऽध्यक्षस्य प्रदर्शकव्यापारो द्रष्टव्य । अनुमानस्य तु वस्त्वग्राहकत्वात् तत्प्रापकत्व यद्यपि न सभवति, तथाऽपि स्वाकारस्य बाह्यवस्त्वध्यवसायेन पुरुषप्रवृत्तौ निमित्तभावोऽस्तीति तस्य तत्प्रापकमुच्यते । एतदुक्त भवति-प्रत्यक्षस्य हि क्षणो ग्राह्य., स च निवृत्तत्वान्न प्राप्तिविषय, सन्तानस्त्वध्यवसेय' प्रवृत्तिपूर्विकाया प्राप्तेर्विषय इति तद्विषय प्रदर्शितार्थप्रापकत्वमध्यक्षस्य प्रामाण्यम् । अनुमानेन त्वारोपितं वस्तु गृहीतं, स्वाकारो वा,तयोर्द्वयोरप्यवस्तुत्वान्न प्रवृत्तिविषयतेति न तद्विषय तस्य प्रापकत्वम्। अपि त्वारोपितबाह्यव्यापारभेदाध्यवसायेन वस्तुन्येव प्रवर्तकत्वप्रापकत्वेऽस्य द्रष्टव्ये। तेनानुमानस्य ग्राह्योऽनर्थ , प्राप्यस्तु बाह्य. स्वाकारो भेदेनाध्यवसित इति तद्विषयमस्यापि प्रदर्शितार्थप्रापकत्व प्रामाण्यमुक्तम्। तथा परमप्युक्तम्-'न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियाया विसंवाद्यते' इति । अत्र च प्रत्यक्षानुमानयोर्द्वयोरपि छेदसन्तानविषयोऽध्यवसायो द्रष्टव्य. । तथा प्रामाण्य वस्तुविषय द्वयोरिति चोक्तम्। अत्रापि सन्तानविषयित्वेन वस्तुविषयत्व द्वयोरित्युक्तम्। लौकिक चैतदविसंवादकत्व प्रामाण्यं, यतो लोके प्रतिज्ञातमर्थं प्रापयन् पुरुष संवादक. प्रमाणमुच्यते, तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम् । न च क्षणिकस्य ज्ञानस्याऽर्थप्राप्तिकाल यावदनवस्थिते कथ प्राप्यते ?, इत्याशङ्कनीयम्, प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण तस्यास्तत्रासंभवादित्युक्तत्वात् । न चान्यस्य ज्ञानान्तरस्य प्राप्तौ सन्निकृष्टत्वात् तदेव प्रापकमित्याशङ्कनीयम् । यतो यद्यप्यनेकस्माद् ज्ञानक्षणात् प्रवृत्तावर्थप्राप्ति, तथाऽपि पर्यालोच्यमानमर्थप्रदर्शकत्वमेव ज्ञानस्य प्रापकत्वम् , नान्यत् । तच्च प्रथमज्ञानक्षण एव संपन्नमिति नोत्तरोत्तरज्ञानक्षणानां तदुपयोगि, प्राप्यमाण च वस्तु नियतदेशकालाऽऽकार प्राप्यत इति तथाभूतवस्तुप्रदर्शकयोरेव प्रामाण्य, न ज्ञानान्तरस्य । तेन प्रदर्शितप्रापकत्वलक्षणे प्रामाण्ये पीतसंवादिग्राहिज्ञानानामपि प्रापकत्वात् प्रामाण्यप्रसक्तिर्न भवेत्; तर्हि तानि प्रदर्शितमर्थं प्रापयन्ति, यद्देशकालाऽऽकार वस्तु तैः प्रदर्शित न तत्तथा प्रापयति, यथा प्राप्यते न तैस्तथा प्रदर्शितम् । देशाऽऽदिभेदेन वस्तुभेदस्य निश्चितत्वान्न तेषां प्रदर्शितार्थप्रापकता । एवमपि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वे जलाऽऽदिप्रदर्शकस्य मरीच्यादिवस्त्वन्तरप्राप्तौ प्रदर्शितप्रापकत्वेन प्रामाण्यप्रसक्तेरिति न किञ्चिदप्रमाण भवेत् । प्रमाणद्वयातिरिक्त च ज्ञान नियतप्रदर्शितार्थप्रापकम् । तेन हि भावाभावसाधारणोऽनियतोऽर्थः प्रदर्शितः । स च तथाभूतोऽसत्त्वात् न प्राप्तु शक्य इति । न च तत्प्रदर्शितार्थप्रापकत्वेन प्रमाणम् । अनियतार्थप्रदर्शकत्वं च शब्दाऽऽदे. साक्षात्, पारम्पर्येण वा प्रतिपाद्यादर्थादनुत्पत्ते । तत् स्थित प्रापणशक्तिस्वभावमविसंवादकत्व प्रामाण्य द्वयोरेव। प्रापणशक्तिश्च प्रमाणस्यार्थाविनाभावनिमित्ता दर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन निश्चीयते । तथाहि-दर्शन यतोऽर्थादुत्पन्न तद्दर्शकमात्मान स्वानुरूपावसायोत्पादनाद् निश्चिततदर्थाविनाभावित्व प्रमाणशक्तिनिमित्त प्रामाण्य स्वतो निश्चिनोतीत्युच्यते, न पुनर्ज्ञानान्तर तन्निश्चायकमपेक्ष्यते । अर्थानुभूतान्वि ततोऽविसंवादकत्वमेव प्रमाणलक्षणमुक्तम् । एतदप्ययुक्तम् । यतो नार्थप्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्व, पुरुषेच्छाऽधीनप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् । सति वस्तुन्यर्थप्रापकत्व पुरुषेच्छाऽऽप्ते. । एतच्च प्राक् प्रतिपादितम । उपेक्षणीये च विषये पुरुषस्य तद्विषयार्थित्वाऽऽद्यभावे प्राप्तिपरित्यागयोरभावेऽपि तत्प्रदर्शकत्वलक्षणस्य प्रामाण्ये न कश्चिद् व्याघात उपलभ्यते । अथेष्टानिष्टसाधनार्थव्यतिरेकेणोपेक्षणीयस्याऽर्थान्तरस्याभावाद् न तत्प्रदर्शक किञ्चिद् ज्ञान समस्तीति कथं प्रापकत्वाभावेऽपि प्रदर्शकत्वस्य संभवेन दोषाऽऽपादन क्रियते। तथा च तृतीयविषयाभावमवगत्यैवोक्तम्-अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानायत्तत्वात् । तथा-हिताहितप्राप्तिपरिहारयोरिति च, तृतीयविषयाभावश्च सर्वस्य वस्तुनो राशिद्वयेन भावात् । तथाहि-तृतीय वस्तु नेष्टसाधनम्, उपेक्षणीयत्वात् । यच्च तत्साधन न भवति तस्याऽनिष्टसाधनराशावन्तर्भाव' । एतच्चाऽयुक्तम् । स्वसंविदितवस्त्वपह्नवस्य युक्तिशतेनापि कर्तुमशक्यत्वात्। तथाहि-यद्वा तद् वस्त्विष्टसाधन न भवति,तथाऽनिष्टसाधनमपि न भवति, इष्टानिष्टसाधनयोर्यत्नोपादेयत्वहेयत्वदर्शनात् । उपेक्षणीयस्य चायत्नसाध्योपादानत्यागविषयत्वात् कथमिष्टानिष्टसाधनयोरन्तर्भाव ?। तत्र प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्व, बौद्धाभ्युपगमे न प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं क्वचिदपि ज्ञाने संभवति। तद्धि संतानाऽऽश्रयेण सौगतैः परिकल्प्यते, न च संतानः संभवति । स हि स्वरूपेण वा वस्तु सन् भवेत्, सन्तानिरूपेण वा ?। न तावत्स्वरूपेण, सन्तानिव्यतिरेकेण तस्य वस्तुनोऽसतोऽनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा क्षणिकवादहानिप्रसक्ति., सामा-

न्यानभ्युपगमश्च निर्निबन्धनो भवेत् । इति न तस्य स्वरूपेण प्रवृत्त्यादिविषयता, सन्तानरूपेणाऽपि तस्य सत्त्वे सन्तानिन एव तथाभूतानव्यतिरिक्तः सन्तानः प्रवृत्त्यादिविषयः, सन्तानिनां चोत्पत्त्यनन्तरध्वंसित्वाद् न तद्विषयस्य विज्ञानस्य प्रदर्शितार्थप्रापकत्वम्, दृश्यप्राप्ययोः क्षणयोरत्यन्तभेदात् । यत्र हि देशकालभेदेन प्रतीयमानस्याऽपि वस्तुनो भेदोऽभ्युपगम्यते, तत्र स्वरूपेण भिन्नयोः पूर्वोत्तरक्षणयोः कथमभेदः ?, येन प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं साधननिर्भासिज्ञानस्य युक्तिसङ्गतं भवेत् । अथ संवृत्त्या सन्तानस्य स्वरूपासिद्धिः पूर्वोक्तसदूषणतया च प्रतिपादितम् । सांव्यवहारिकस्य च प्रमाणस्यैतल्लक्षणम्, न त्वेव लोकव्यवहारानुरोधेन यदि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं साधननिर्भासिज्ञानस्य युक्तिमद्भवेत् । अथ संवृत्त्या प्रमाणस्याऽभ्युपगम्यते, तदा नित्यानित्यवस्तुप्रदर्शकस्य तदभ्युपगम्यताम्, लोकव्यवहारस्य तत्रैवोपपत्तेः । न च तथाभूतसद्ग्राहकस्य युक्तिबाधितत्वाद् निर्विषयम्, सन्तानविषयस्यैव पूर्वोक्तन्यायेन युक्तिबाधितत्वोपपत्तेः । तन्नाध्यासितार्थप्रापकं प्रत्यक्षं पराभ्युपगमेन संभवति । तथाहि-यद्देशाध्यक्षेणोपलब्धं तदेव तेनाध्यवसितम् । न च सन्तानस्तेन पूर्वमुपलब्ध इति कथमसावध्यवसीयते ? । न हि क्षणमात्रभाविना सन्तानिनां दर्शनविषयत्वे तत्पृष्ठभाविनाऽध्यवसायेन दृष्टस्यैव विषयीकरणम् । न चाऽन्यथाभूतस्य वस्तुग्रहणेऽन्यथाभूताध्यवसायिनः प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यं युक्तम्, तथाऽभ्युपगमे शुक्तिकायां रजताध्यवसायिनोऽपि तत् स्यात् । अथाऽत्र प्रवृत्तौ रजतं न प्राप्यत इति न प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं, तर्हि सन्तानेऽध्यवसितेऽक्षणः प्राप्यत इति प्रकृतेऽपि न प्रदर्शितार्थप्रापकत्वम् । अथाऽत्र सन्तान एव प्राप्यते, तर्हि स एव वस्तु सन् भवेदिति न सामान्यधर्मः स्वरूपेण सन्तोऽभ्युपगन्तव्याः, अक्षणिकस्य च वस्तुनः सिद्धेः । यदुक्तं भवद्भिः-दर्शनेन क्षणिकाक्षणिकत्वसाधारणस्यार्थस्य विषयीकरणात् कुतश्चिद्भ्रमनिमित्तादक्षिकत्वारोपेऽपि न दर्शनमक्षणिकत्वे प्रमाणम्, किं तु प्रत्यक्षाप्रमाणम्, विपरीताध्यवसायाऽऽक्रान्तत्वात् । क्षणिकत्वेऽपि न तत् प्रमाणम्, अनुरूपाध्यवसायाजननात् । नीलरूपे तु तथाविधनिश्चयकरणात् प्रमाणमिति हि विरुध्यते । किञ्च-एवंवादिन एकस्यैव दर्शनस्य क्षणिकत्वाक्षणिकत्वयोरप्रामाण्यम्, नीलाऽऽदौ तु प्रामाण्यं प्रसक्तमित्यनेकान्तवादाभ्युपगमो बलादापतति । न क्षणग्रहणे तद्विपरीतसन्तानाध्यवसायोत्पत्तौ दर्शनस्य प्रामाण्यं युक्तम्, मरीचिकास्वलक्षणग्रहणे जलाध्यवसायिन इव । यतो यदेव सामान्यतो दृष्टं, तदेव प्राप्तमित्यध्यवसाये तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्यते । न च दृष्टस्य क्षणिकसन्तानिस्वरूपेण सन्तानस्य प्राप्तिरिति प्राक् प्रतिपादितम्, स्वरूपेण तु तस्यासत्त्वात् प्राप्त्यविषयतैवेति न धर्मोत्तरमतपर्यालोचनया किञ्चित् परमार्थतः प्रदर्शितार्थप्रापकं प्रमाणं सम्भवति; अतः संवादकत्वमपि तन्मतेन प्रमाणलक्षणमयुक्तम् ।

(१६) नैयायिकास्तु- "अव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणम्" इति प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रतिपन्ना, तज्जनकत्वमेव प्रामाण्यमिति च । अथ सामग्र्याः प्रमाणत्वे साधकतमत्वमनुपपन्नम् । सामग्री ह्यनेककारकस्वभावा, तत्र चानेकसमुदाये कस्य स्वरूपेणातिशयो वक्तुं शक्यते ? । तथाहि-सर्वस्मात् कारणकलापात् कार्यमुपजायमानमुपलभ्यते । तदन्यतमापायेऽप्यनुपजायमानं कस्य कार्योत्पादने साधकतमत्वमावेदयतु ? । न च समस्तसामग्र्याः साधकतमत्वम्, अपरस्यासाधकतमस्याभावे तदपेक्षया साधकतमत्वस्यानुपपत्तेः, असाधकतममपेक्ष्य साधकतमत्वव्यवस्थितेः । न चानेककारकजन्यत्वेऽपि कार्यस्य "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति" इति न्यायात् साधकतमत्वं विवक्षितमिति वक्तव्यम्, पुरुषेच्छानिबन्धनत्वेन वस्तुव्यवस्थितेरयोगात् । अथ कर्मकर्तृविलक्षणस्याऽव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टोपलब्धिजनकस्य प्रमाणत्वान्न यथोक्तदोषानुषङ्गः । असदेतत् । अनेकसन्निधानात् कार्यस्य स्वरूपालाभे एकस्य तदुत्पत्तौ वैलक्षण्याभावे साधकतमत्वानुपपत्तेः । तत्र कर्मकर्तृवैलक्षण्यमपि साधकतमत्वम् । अत्र चाऽनेकपक्षानुद्भाव्योद्द्योतकरोत्तराध्ययनकारप्रभृतिभिः साधकतमत्वं निरस्तम्, ते च पक्षा ग्रन्थगौरवभयाद् नेह प्रदर्श्यन्ते । सन्निपत्य जनकत्वे पूर्वोदितदोषाभाव । तथाहि-अनेकस्मिन् सन्निधौ कार्यनिष्पत्तेः साधकतमत्वानुपपत्तिः, तस्मिंस्तु सति यदा नियमेन कार्यमुपजायते तदा कथं न तस्य साधकतमत्वोपपत्तिः ? । असदेतत् । एवं प्रमाणत्वस्याव्यवस्थितिप्रसक्तेः । तथाहि-दीपाऽऽ‑ ... सामग्र्येकदेशस्य कस्याश्चिदवस्थाया प्रमा‑ ... ऽभिमतस्य सद्भावेऽपि प्रमेयाभावात् कार्यानिष्पत्तौ तत्सद्भावे तु तन्निष्पत्तौ तस्यापि प्रदीपवत्सन्निपत्यकारकत्वात् प्रमाणताप्रसक्तिर्भवेत् । तथा प्रमातुरपि मूर्छाऽऽद्यवस्थायाम्, अनवधाने वाऽन्यकारकसन्निधानेऽपि कार्यानुपपत्तौ तदवधानाऽऽदिसन्निधाने तज्जन्यकार्यनिष्पत्तेः । सन्निपत्य जनकत्वेन साधकतमत्वप्रसक्तिः । अत्र कारकसाकल्यस्य साधकतमत्वेनाऽभ्युपगमात् पूर्वोक्तदोषाभावं केचिन् मन्यन्ते । तथाहि-नैकस्य प्रदीपाऽऽदेः सामग्र्येकदेशस्य करणता, अपि तु कारकसाकल्यस्य, तदभावे कारकसाकल्याभिमतकार्यासत्त्वमिति प्रमातृप्रमेयसद्भावे कारकसाकल्यस्योत्पत्तौ प्रमितिलक्षणस्य कार्यस्य भाव एव । अथ मुख्यप्रमातृप्रमेयसद्भावेऽपि पूर्वोदितस्य नियमस्य तुल्यता, न कारकसाकल्यभावाभावनिमित्तत्वात् तन्मुख्या गौणभावस्य । तथाहि-कथञ्चित् कारकवैकल्ये तयोः सत्त्वेऽपि गौणता । तत्साकल्ये कुतश्चिन्निमित्तान्तराद् यथोक्तप्रमितिलक्षणकार्यनिष्पत्तावगौणता प्रमातृप्रमेययोः, तयोश्चानुपपत्तौ साकल्यस्यासत्त्वम्, अतः कारकसाकल्ये कार्यस्यावश्यम्भाव इति तस्यैव साधकतमत्वम् । अनेककारकसन्निधाने उपजायमानोऽतिशयः सन्निपत्य जननं साधकतमत्वं यद्युच्येत, तदा न कश्चिद् दोषः । तथाहि-सामग्र्येकदेशकारकसद्भावेऽपि प्रमितिकार्यस्याऽनुपपत्तेरेकदेशस्य न प्रमाणता, सामग्रीसद्भावे त्ववश्यतया विशिष्टप्रमितिस्वरूपोपपत्तेः । एकदेशापेक्षया तस्या एव सन्निपत्य जनकत्वमेव साधकतमता । न चाऽत्र किमपेक्षया तस्याः साधकतमत्वम् ? । अन्यस्मिन्नसाधकतमे साधके साधकतरे वा सति तदपेक्षया तस्याः साधकतमत्वमुपपत्तिमदिति प्रेरणीयम्; यतो न सामग्र्यन्तर्गतानामेकदेशानां जनकत्वव्याघातः, तेषामेव धर्ममात्रत्वात् सामग्र्यस्येति जनकैकदेशापेक्षया तत्सामग्र्यस्य साधकतमत्वात् प्रमाणत्वमुपपन्नमेव । एतेन यत्परैः प्रेरितं किल सामग्रीकारणं तच्च कर्तृकर्मापेक्षं, सामग्रीजनकत्वेन चेत्, तयोर्व्यापृतेरर्थान्तरभूतयोरभावात् किमपेक्ष्य साधकतमत्वमासाद्‑

येदिति ?। तदपि निरस्तम्। यतः कर्तृकर्मणोः सामग्रीजनकत्वेन स्थितयोः कथमसत्त्वम् ?, तत्सद्भावे च तदपेक्षया कथं न तस्याः करणता ?। अथापि स्यात् तस्यास्तज्जन्यत्वे करणत्वव्याघातः, अन्यत सिद्धस्य करणत्वसद्भावात्। असदेतत्। यतो दृश्यत एव प्रदीपाऽऽदेस्तज्जन्यत्वे करणत्वव्याघातेऽन्यस्यापि करणत्वसद्भाव इति न कश्चिद् व्याघातः । तज्जन्यत्वकरणत्वयोस्ततोऽव्यभिचाराऽऽदिभिर्विशेषणार्थोपलब्धिजनिका सामग्री बोधस्वभावा तदेकदेशभूतकारकजन्या प्रमाणविशेषिका अप्येतदेव प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रतिपादयन्ति । एतत्कार्यभूता वा यथोक्तविशेषके विशिष्टोपलब्धि प्रमाणसामान्यलक्षणम्, तया स्वकारणस्य प्रमाणाभासेभ्यो व्यवच्छिद्यमानत्वात् । इन्द्रियजत्वाऽऽदिविशेषणविशेषिता सैवोपलब्धिः प्रमाणस्य विशेषलक्षणमिति स्थितं सामग्रीप्रमाणमिति।

अत्र प्रतिविधीयते-यत्तावदुक्तं कारकसाकल्यकरणत्वेनाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषाभाव इति । अत्र वक्तव्यम्-किमिदं कारकसाकल्यम्-किं सकलान्येव कारकाणि, आहोस्वित्तद्धर्मः, उत तत्कार्यम्, किं वा पदार्थान्तरम् ?, इति पक्षाः । तत्र न तावत् सकलान्येव कारकाणि साकल्यं, कर्तृकर्मभावे तेषां करणत्वानुपपत्तेः, तत्सद्भावे वा नान्येषां कर्तृकर्मरूपता, तेषां करणत्वाभ्युपगमात् । न च कर्तृकर्मरूपाणामपि तेषां करणत्वम्, तेषां परस्परविरोधात् । तथाहि-ज्ञानचिकीर्षाऽऽधारता, स्वातन्त्र्यं वा कर्तृता, निर्वर्त्याऽऽदिधर्मयोगित्वात् कर्मत्वम्, प्रधानक्रियाऽनाधारत्वं करणत्वम्, एतानि परस्परविरुद्धानि कथमेकत्र सम्भवन्ति ?। अथापरापरनिमित्तभेदाऽऽदेः कर्तृकर्मकरणरूपताया अविरोधः । ननु तान्यपि निमित्तानि सकलकारकेभ्यो व्यतिरिक्तानि, उताव्यतिरिक्तानि ?, इति वाच्यम् । यदि-अव्यतिरिक्तानीति पक्षः, तदा तद्भेदे तेषामप्यभेदः, तेषां वा भेदे कारकस्याऽपि भेदः, अन्यथा व्यतिरेकासिद्धेः । अथ व्यतिरिक्तानि तदा सम्बन्धासिद्धिः । न च समवायलक्षणः सम्बन्धः, तस्य निषिद्धत्वात्, निषेत्स्यमानत्वाच्च । न चैकान्तभेदे विशेषणविशेष्यभावाऽऽदिकोऽपि सम्बन्धः कश्चित्सम्भवति, तत्रापि सम्बन्धान्तरकल्पनातोऽनवस्थाप्रसक्तेः । न च तस्य सम्बन्धरूपत्वात् सम्बन्धान्तरमन्तरेणाऽपि सम्बन्धत्वानवस्था, एकान्तभेदे सम्बन्धरूपताया एवायोगात्, कथञ्चिन्निमित्तानां कारकेभ्योऽभेदे अनेकान्तवादाऽऽपत्तिः, तन्न सकलकारकाणि साकल्यम्। अथ कारणधर्मः साकल्यम्-ननु सोऽपि यदि कारकाव्यतिरिक्तस्तदा धर्ममात्रं, कारकमात्रं वा ?। अथ व्यतिरिक्तस्तदा सकलकारकधर्मः साकल्यमिति सम्बन्धासिद्धिः। सम्बन्धेऽपि यदि सर्वकारकेषु युगपदसौ सम्बध्यते, तदा बहुत्वसङ्ख्यया तत्पृथक्त्वसंयोगविभागसामान्यानामन्यतमस्वरूपाऽऽपत्तिस्तस्येति तद्दूषणेन तस्य दूषितत्वान्न साधकतमत्वमुपपन्नमिमत्। अथ तत्कार्यं साकल्यम् । तदप्ययुक्तम् । नित्यानां साकल्यजननस्वभावत्वे सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसक्तेः । ततश्चैकप्रमाणोत्पत्तिसमये सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः। तज्जनकस्वभावस्य कारणेषु पूर्वोत्तरकालभाविनां सर्वप्रमाणानां तदा नित्याभिमतं जनकमात्माऽऽदिकं कारणमिति कथं न तदैव सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः ?। अथाऽऽत्माऽऽदिके सत्यपि तदा तानि न भवन्ति, न तर्हि तत् तत्कारणं, नापि तानि तत्कार्याणीति सकृदपि तानि ततो न भवेयुरिति सकलं जगत्प्रमाणविकल्पमापद्यते । न चाऽऽत्माऽऽदिके तत्करणसामर्थ्ये सत्यपि स्वयमेव यथाकालं तानि भवन्तीति वक्तव्यम्, तेषां तत्कार्यताभावप्रसक्तेः, तस्मिन् सत्यपि तदाऽभावात् स्वयमेवान्यदा च भावात् । न च स्वकालेऽपि कारणे सत्येव भवन्तीति तत्कार्यता, गगनाऽऽदिकार्यताप्रसक्तेः, गगनाऽऽदावपि सत्येव तेषां भावात् । न च गगनाऽऽदेरपि तत्प्रति कारणत्वस्येष्टेर्नाऽयं दोषः, प्रमितिलक्षणस्य तत्फलस्याऽपि व्योमाऽऽदिजन्यतयाऽऽत्मनाऽऽत्मविभागाभावप्रसक्तेः । अथ यत्र प्रमितिः समवेता, स एवाऽऽत्मा, न व्योमाऽऽदिरिति न तद्विभागाभावः । ननु समवेत इति कोऽर्थः ?, समवायेन सम्बद्ध इति चेत् । ननु तस्य नित्यसर्वगतैकत्वेन व्योमाऽऽदावपि प्रमितेः सम्बन्धान्न तत्परिहारेणाऽऽत्मनो विभागः । न च समवायविशेषे समवायेनो विशेषाभावाय दोषः, समवायस्याभावप्रसक्तेः । अथ यदा यत्र यथा यद् भवति तदा तत्र तथा तदात्माऽऽदिकं कर्तुं समर्थमिति नैकदा सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः । न । स्वभावभूतसामर्थ्यमन्तरेण कार्यस्य कालाऽऽदिभेदायोगात् । अन्यथा दृश्यपृथिव्यादिमहाभूतकार्यनानात्वस्य कारणं किमदृष्टपृथिवीपरमाण्वादिचतुर्विधमभ्युपेयते, एकमेवानन्तं नित्यं सर्वगं सर्वोत्पत्तिमतां समवायिकारणमभ्युपगतम् ?। अथ कारणजातभेदमन्तरेण न कार्यभेद उपपद्यते, तर्हि कारणशक्तिभेदमन्तरेणाऽपि न कार्यभेद उपपद्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम् । अथ यथा शक्त्यैकमनेका शक्तिर्विभक्ति, तत्राप्यनेकशक्तिपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसक्तेः । न च तदाऽनेकं कार्यं विधास्यतीति न शक्तिभेदपरिकल्पना । असदेतत् । यतो न जैनस्यायमभ्युपगमः-यदुत भिन्नाः शक्तीः कयाचित् प्रत्यासत्तिलक्षणया शक्त्या एकः कश्चिद्धारयतीति, किं तु यत्तदात्मकं तदपि तथाविधं न कस्याश्चित् शक्तेः, अपि तु स्वकारणवशात् । न चैकस्यानेकाऽऽत्मकत्वमदृष्टमेव परिकल्प्यते, अनेकरूपाऽऽद्यात्मकस्यैकस्य घटाऽऽदेः प्रमाणतः प्रतिपत्तेः । अन्यथा गुणगुणिभाव एव न भवेत्, समवायस्य तन्निमित्तस्याभावात् । सकलकारणानि साकल्यजननस्वभावानि, सकलकालभाविसाकल्यस्य तदैवोत्पत्तिप्रसक्तेः । न चातज्जननस्वभावानि नैकदाऽपि तदुत्पत्तिः, अतज्जननस्वभावात् सकृदपि तस्यानुपपत्तेः । न च सहकारिसव्यपेक्षाणि तानि तज्जनयन्ति, नित्यस्यानुपकार्यतया सहकार्यपेक्षायोगात्। न च सम्भूयैककार्यकारित्वं तेषां सहकारित्वम्, एकान्तनित्यवादे तस्यापि निषिद्धत्वात् । तत्र सकलकार्यकारणमपि साकल्यं सम्भवति । किञ्च-सकलानि कारणानि साकल्यं जनयन्ति, उतासकलानि ?। न तावदसकलानि, अतिप्रसङ्गात् । नापि सकलानि, साकल्यमन्तरेण सकलानीति व्यपदेशाभावात्। भावे वाऽकिञ्चित्करं साकल्यमिति तत्परिकल्पना व्यर्था । किञ्च-यया प्रत्यासत्त्या तानि साकल्यं जनयन्ति तयैव प्रमितिमप्युत्पादयिष्यन्तीति व्यर्था साकल्यपरिकल्पना । अथ साकल्यस्य साधकतमत्वात् तदभावेनाकरणिका प्रमित्युत्पत्तिः, तर्हि साकल्योत्पत्तावपि तेषां न परं साकल्यलक्षणं करणमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा-अकरणिका साकल्यस्यापि कथमुत्पत्तिः ?। अथ तदुत्पत्तावपि करणाभ्युपगमस्तर्हि तदुत्पत्तावप्यपरं करणमभ्युपगन्तव्यमित्यनवस्था । अथ करणोत्पत्तौ नापरं करणमभ्युपगम्यत इति नानवस्था, तर्हि उपलब्ध्युत्पत्तावपि न करणमभ्युपगन्तव्यमिति न साकल्यप्रमाणपरिकल्पना युक्तिसङ्गता । न च साकल्यस्याध्यक्षाऽऽदिप्रमाणसिद्धत्वादध्यक्षबाधितोऽयं विकल्पकलापः, आत्माऽन्तःकरणतत्संयोगाऽऽदेः करणसाकल्यातीन्द्रियत्वेनाध्यक्षाविषयत्वात्

तत्पूर्वकत्वेन पूर्ववदादेरनुमानस्याप्यभ्युपगमाच्च ततोऽपि साकल्यसिद्धिः । केवलं विशिष्टार्थोपलब्धिलक्षणमध्यक्षसिद्धं कार्यं करणमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्परिकल्पना, तच्च साकल्यमिति न कल्पयितुं शक्यमात्माऽऽदिकरणसद्भावे कार्यस्योपपत्तावपरपरिकल्पनेऽदृष्टपरिकल्पनाप्रसक्तिः, ततोऽपरापरदृष्टपरिकल्पनयाऽनवस्थाप्रसक्तेः । तच्च सकलकारणकार्यमपि साकल्यम् । अथ पदार्थान्तरं सकलकारणेभ्यः साकल्यं, तदा यत् किञ्चित् पदार्थान्तरं तत्साकल्यं प्रसज्येत, इति यस्य कस्यचित्पदार्थान्तरस्य सद्भावेऽर्थोपलब्धिर्भवेदिति सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञताप्रसक्तिः; तच्च कारकसाकल्यं प्रमाणम् । तेन प्रमातृप्रमेययोरभावः साकल्याभाव इत्यादि प्रतिक्षिप्तम्, तत्सद्भावेऽपि भवदभिप्रायेण साकल्यानुपपत्तेः । यदपि मुख्यगौणभावस्य कारकसाकल्याभावाभावनिमित्तत्वादित्यादि । तदपि व्योमकुसुमावतंसकभावकदेवदत्तसौभाग्यासौभाग्यप्रख्यं द्रष्टव्यम् । तेन सन्निपत्य जननं साधकतमत्वं यद् व्याख्यातम् । तदपि निरस्तम् । तस्याऽपि साकल्यार्थत्वात् । यदपि साकल्यं हि तेषामेव धर्ममात्रं नैकान्तेन वस्त्वन्तरमित्यभिधेयशून्यं वचः, वस्त्वन्तरपक्षे तु दोषाः प्रतिपादिता एव । यदपि प्रमातृप्रमेयजन्यत्वेऽपि सामग्र्या न करणत्वव्याहतिरिति । तदपि न सङ्गतम् । सामग्र्यास्तज्जन्यत्वेऽनवस्थाऽऽद्यनेकदोषाऽऽपत्तेः प्रतिपादनात् । यदप्यव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणमित्युक्तम् । तदप्यसङ्गतम् । अव्यभिचारादेरुपलब्धिविशेषणस्य भवदभिप्रायेणायोगात् । (यथा च तस्यायोगस्तथा प्रत्यक्षलक्षणे प्रदर्शयिष्याम *) सामग्री च तज्जनिका यथा न सम्भवति तथाऽभिहितमेव साकल्यं विचारयद्भिः । यच्चाबोधस्वभावस्यापि प्रदीपाऽऽदेः प्रमाणत्वं प्रतिपाद्यते । तदप्यसङ्गतम् । बोधस्वभावस्य तस्य प्रमितिक्रियायां साधकतमत्वायोगात् । यच्च लोकस्तेषां प्रामाण्यं दीपेन मया दृष्टं, चक्षुषाऽवगतं, धूमेन प्रतिपन्नमिति व्यवहरतीति तदुपचारतः, यथा ममाऽयं पुरुषश्चक्षुरिति, न तु मुख्यतः । मुख्यतस्तु बोधस्यैव प्रमितिं प्रति तादात्म्यादव्यवहितं साधकतमत्वम् । चक्षुरादेस्तु बोधव्यवधानाद् गौणम् । न च व्यपदेशमात्रपरतया न पारमार्थिकवस्तुव्यवस्था, उपचारतोऽपि नद्वलोदकं पादरोगः इत्यादिव्यपदेशप्रवृत्तेः । न च प्रमाणस्य प्रमितिरूपता विरुद्धा, स्वरूपे विरुद्धासिद्धिः । न च प्रमाणप्रमित्योरेकान्ततो भेद एवाभ्युपगम्यते, कथञ्चिद् बोधादर्थपरिच्छित्तिविशेषस्य भेदात् प्राक्तनपर्यायनिरोधेन कथञ्चिदवस्थितस्यैव बोधस्याऽर्थपरिच्छित्तिविशिष्टरूपतयोत्पत्तेः । अन्यथा कार्यकारणभावविरोधादित्यसकृत् प्रतिपादितत्वात् । एतेन " लिखितं साक्षिणो भुक्तिः, प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् " इति यत् शास्त्रान्तरेषु बोधाबोधरूपस्य प्रमाणत्वाऽभिधानं तदप्युपचारेण व्याख्येयमित्युक्तं भवति । अन्यथा प्रमाणाविरोधप्रदर्शितन्यायेन (?) । यदपि तत्कार्यचूला चोदितविशेषणोपलब्धिस्तस्य सामान्यलक्षणमित्युक्तम् । तदप्यसङ्गतम् । न हि यथोक्तविशेषणोपलब्धिः पराभ्युपगमे न सम्भवति, नाऽपि पराभ्युपगतप्रमाणकार्यतयाऽसौ सिद्धा, येन स्वकारणं प्रमाणाभासेभ्यो व्यवच्छिद्यात् । तन्नाक्षपादकणभुङ्मतानुसारिपरिकल्पितमपि प्रमाणसामान्यलक्षणमुपपत्तिक्षमम् । तस्मात् 'प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्' इत्येतदेव प्रमाणसामान्यलक्षणमनवद्यम् । ननु चात्रापि स्वग्रहणविधुरस्य ज्ञानस्य नैयायिकाऽऽदिभिरभ्युपगमाद् बौद्धैस्त्वर्थग्रहणविधुरस्येति स्वार्थनिर्णीतिस्वभावताऽसिद्धा । सम्म० २ काण्ड ।

" ज्ञानं स्वस्थं परस्थं वा, यथा ज्ञानेन गृह्यते ।
ज्ञाता स्वस्थः परस्थो वा, तथा ज्ञानेन गृह्यताम् " ॥१॥ द्रव्य० २ अ० ।

(२०) अनुव्यवसायप्रकाश्यं ज्ञानम्—

तथाहि नैयायिकाः प्रतिपादयन्ति-घटाऽऽदिज्ञानं स्वग्राह्यं न भवति, ज्ञानान्तरग्राह्यं वा, ज्ञेयत्वात्, घटाऽऽदिवत् । अत्र प्रयोगे हेतुः स्वरूपासिद्धः, आश्रयासिद्धश्च । धर्मिणो ज्ञानस्याऽप्रतिपत्तौ तदाश्रितज्ञेयत्वधर्माप्रतिपत्तेः । न चाऽऽश्रयासिद्धस्य परैर्धर्मिकत्वमभ्युपगम्यते । अन्यथा सामान्याऽऽदिनिषेधे सामान्यस्याऽसिद्धौ परं प्रत्याश्रयासिद्धो हेतुरिति दोषोद्भावनं युक्तियुक्तं भवेत् । घटाऽऽदिज्ञानस्य प्रमाणतः प्रसिद्धेर्नायं दोषः । ननु तत्प्रसिद्धिरध्यक्षतोऽनुमानतो वा ?, प्रमाणान्तरस्यात्रानधिकारात् । न तावदध्यक्षतः, तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वाभ्युपगमात् । न च ज्ञानस्य चक्षुरादीन्द्रियेण सन्निकर्षो, न च तद्व्यतिरिक्तमिन्द्रियान्तरमस्ति, अथ मनोलक्षणमन्तःकरणमस्ति, तस्य च ज्ञानेन संयुक्तसमवायः सन्निकर्ष इति तत्प्रभवमध्यक्षं तत्र प्रवर्तत इति । तथाहि-आत्मना मनः संयुक्तम्, आत्मनि च समवेतं ज्ञानमिति मनोज्ञानेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नतदेकार्थसमवेताध्यक्षग्राह्यत्वाद् घटाऽऽदिज्ञानस्य कथमाश्रयासिद्धत्वाऽऽदिर्हेतोर्दोषः ? । अयुक्तमेतद् यदीन्द्रियं मनः सिद्धं भवेत् । अथानुमानात्तत्सिद्धिः । तथाहि-घटाऽऽदिज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं, प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानत्वाच्चक्षुरादिप्रभवरूपाऽऽदिज्ञानवन्नास्य हेतोरप्रसिद्धविशेषणत्वम् । न हि घटाऽऽदिज्ञानस्याध्यक्षत्वं सिद्धम्, इतरेतराश्रयत्वात् । तथाहि-मनस इन्द्रियासिद्धावस्याध्यक्षत्वासिद्धिः, तत्सिद्धौ च सविशेषणहेतुसिद्धेर्मनस इन्द्रियसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् । न च घटज्ञानाद् भिन्नमपरं ज्ञानं तद्ग्राहकमनुभूयत इति विशेष्यासिद्धश्च हेतुः, सुखाऽऽदिसंवेदनेन व्यभिचारी च । तथाहि-तत्संवेदनमध्यक्षत्वे सति ज्ञानं च तज्जन्यमिति व्यभिचारः । अथास्यापि पक्षीकरणाददोषः । तथा सुखाऽऽदिसंवेदनमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजमध्यक्षज्ञानत्वाच्चक्षुरादिप्रभवरूपाऽऽदिवेदनवत्; सुखाऽऽदिर्वा भिन्नज्ञानवेद्यो, ज्ञेयत्वात्, घटवत् । नन्वेवं व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणे न कश्चिद् हेतुर्व्यभिचारी स्यात् । तथाहि-अनित्यः शब्दः, प्रमेयत्वाद्, घटवदित्यत्राप्यात्माऽऽदेर्व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणाद् न व्यभिचारः । शक्यं ह्यत्राऽपि वक्तुम्-अनित्य आत्माऽऽदिः, प्रमेयत्वाद्, घटवत् । न चाऽत्र प्रत्यक्षबाधः, अन्यत्राऽपि तस्य समानत्वात् । न हि सुखाऽऽद्यविदितस्वरूपं पूर्वं घटाऽऽदिवदुत्पन्नं पुनरिन्द्रियसम्बन्धोपजातज्ञानान्तराद्वेद्यत इति लोकप्रतीतिः, अपि तु प्रथममेव स्वप्रकाशरूपं तदुदयमासादयदुपलभ्यते आत्मनि त्रिविधम् इति चेत् । न । स्वरूपेण पदार्थस्य विरोधाभावात् । अन्यथा प्रदीपाऽऽदेरप्यपरप्रकाशविकलस्वरूपप्रकाशविरोधः स्यात् । तस्य तत्स्वरूपं कुतः सिद्धमिति चेत् ?, प्रदीपाऽऽदौ कुतस्तथा दर्शनमितरत्रापि समानम् । न चैकस्य स्वभावोऽपरत्राप्यभ्युपगमार्हः, अन्यथा स्वपरप्रकाशस्वभावो घटगतः प्रदीपेऽभ्युपगते तयोर्भवेत् । न च तदवगमात् पूर्वमप्रतीयमानमपि सुखाऽऽद्यभ्युपगन्तुं युक्तम्, श्रवणसमयात् प्राक् पश्चाच्च शब्दस्य सत्त्वाऽभ्युपगमप्रसङ्गतो नित्यत्वाऽऽपत्तेः । न

* प्रत्यक्षलक्षणे सम्मतौ द्रष्टव्यम् ।

ज्ञानाद्यार्थान्तभूता एव सुखाऽऽदयोऽनुग्रहाऽऽदिविधायिनो भवेयु, इतरथाऽयोगिनोऽपि ते तथा स्यु'। न च तेषां तत्रासमवायान्नाय दोष', समवायस्य निषिद्धत्वात्। सुखाऽऽदिग्रहणे मनस इन्द्रियसिद्धि। अत एव चाऽऽत्मा मनसा युज्यते,तत्र च समवेता· सुखाऽऽदय इत्यादिक्रिया अनुपपन्नैव। न च निरंशयोरात्ममनसोः संयोग· सभवी,एकदेशेन तत्सयोगे सांशत्वप्रसक्तेः,सर्वाऽऽत्मना संयोगे उभयोरेकत्वप्राप्ते·। यदि च यत्र मन सयुक्त तत्र समवेत ज्ञान समुत्पादयति, तदा सर्वाऽऽत्मना व्यापितया सामान्यदेशत्वेन मनस तै' सयुक्तत्वात् सर्वाऽऽत्मसमवेतसुखाऽऽदिषु द्विधैवैक ज्ञानमुत्पादयतीति प्रतिप्राणि भिन्न मन'परिकल्पनमनर्थमासज्येत। न च यस्य सबन्धि यन्मन ,तत्समवेतसुखाऽऽदिज्ञाने तदेव हेतुरिति नाय दोषः,प्रतिनियताऽऽत्मसबन्धित्वस्यैव तन्नासिद्धेः। न हि तत्कार्यत्वेन तत्सबन्धेन तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् तत्र चानाधेयाप्रहेयाऽतिशये तत्कार्यतायोगान्नापि तत्सयोगात् तस्याऽपि तत्रैकदेशेन सर्वाऽऽत्मना वा योगात्। योगेऽपि व्यापकत्वेन समानदेशिसर्वाऽऽत्मभिर्युगपत् सयोगेन प्रतिनियताऽऽत्मसंबन्धित्वानुपपत्ते। न च यददृष्टप्रेरित तत्प्रवर्तते तत्सबन्धीति वक्तव्यम्, अदृष्टस्याचेतनत्वेन प्रतिनियतविषयतया तत्प्रेरकत्वायोगात्। प्रेरकत्वे वा ईश्वरपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्ते·। न चेश्वरप्रेरितयैवासौ तत्प्रेरक इति न तत्परिकल्पनावैयर्थ्यम, अदृष्टप्रेरणामन्तरेण ईश्वरस्य साक्षान्मन प्रेरकत्वोपपत्तेरदृष्टपरिकल्पनावैयर्थ्यं पुनः प्रसज्यते। न च प्रतिनियतनिमितमदृष्टपरिकल्पना, तस्यापि स्वत· प्रतिनियतत्वासिद्धेः। येनाऽऽत्मना यददृष्ट निर्वर्तित तत्तस्य इति प्रतिनियमसिद्धिरिति चेत्, ननु किमिदमात्मनोऽदृष्टनिर्वर्तकत्वम् ?, तदाधारभाव इति चेत्, ननु समवायस्यैकत्वे आत्मनां च व्यापकत्वेन एकदेशत्वे प्रतिनियत एव आत्मा प्रतिनियतादृष्टाऽऽधार इत्येतदेव दुर्घटम्, समवायाविशेषेऽपि समवायिनोर्विशेषात प्रतिनियमे समवायप्रसक्तेरित्यात्मसुखाऽऽद्योस्तत्सवेदनस्य कथञ्चित तादात्म्यमभ्युपेयम। अन्यथा तदेकार्थसमवेतग्राह्यज्ञानत्वेन सुखाऽऽदयो न सिद्धिमासादयेयु। तत्रादृष्टमपि मनस· प्रतिनियमहेतु, न च येनाऽऽत्मना यन्मन· प्रेर्यते तत् तत्सबन्धीति प्रतिनियम', अदृष्टत्वादात्मनोऽप्यचेतनत्वेन तत्प्रत्ययप्रेरकत्वात्। चेतनत्वेऽपि नानुपलब्धस्य प्रेरणमिति न नियत मन' सिध्यतीति। एकस्मात् ततो युगपत् सर्वसुखाऽऽदिसवेदनप्रशक्ति·, इत्युक्तन्यायेन सुखाऽऽदिसवेदनस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वाभावाद् हेतुरनेन व्यभिचारी। किञ्च-स्वसविदितविज्ञानानभ्युपगमे सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानाऽऽलम्बनोऽनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलिवदित्यत्र पक्षीकृतैकदेशेन व्यभिचार ,तज्ज्ञानान्यत्वे सदसद्वर्गयोरनेकत्वाविशेषेऽप्येकज्ञानाऽऽलम्बनत्वाभावात्, एकशाखाप्रभवत्वानुमानवत्। अथ सर्वज्ञज्ञानस्वसविदितमिति नानेकत्वानुमानस्य व्यभिचार , तर्हि तज्ज्ञानवदन्यज्ञानस्यापि न स्वाऽऽत्मनि क्रियाविरोध इति सर्वज्ञान स्वसविदित ज्ञानत्वात् सर्वज्ञज्ञानवदिति तत् दृष्टान्तबलात् स्वसविदितसकलज्ञानसिद्धि। घटाऽऽदिज्ञान ज्ञानान्तरग्राह्य,ज्ञेयत्वाद्, घटवदित्यत्र च व्यभिचार·। सम्म०२काण्ड।

ननु "जुगव दो णत्थि उवओगा," इति वचनाद् भवतोऽपि युगपद् ज्ञानानुत्पत्ति· सिद्धैव। न। मानसविकल्पद्वययौगपद्यनिषेधपरत्वादस्य, नेन्द्रियमनोविज्ञानयोर्यौगपद्यनिषेध·। न च विवादाऽऽस्पदीभूतानि ज्ञानानि क्रमभावीनि ज्ञानत्वाद् मानसविकल्पद्वयवदित्यतोऽनुमानतद्विभ्रमसिद्धि·,अस्य प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वात्। न चैतदनुमानबाधितत्वाद् युगपत्प्रतिपत्त्यनुभवः प्रत्यक्षमेव न भवति, अश्रावणः शब्द', सत्त्वात्, घटवदित्यनुमानबाधितत्वात् श्रावणशब्दज्ञानस्याप्यप्रत्यक्षताप्रसक्तेः। न च सौगतमतमेतद् जैनमतमिति वक्तव्यम,-" सहभाविनो गुणा·, क्रमभाविन पर्यायाः " इति जैनैरभिधानात्।

तथा सहभावित्वं गुणाना प्रतिपादयता दृष्टान्तार्थमुक्तम्-

" सुखमाह्लादनाऽऽकारं, विज्ञानमयबोधनम्।
शक्ति· क्रियाऽनुमेया स्याद्, यून· कान्तासमागमे " ॥ १ ॥

तदेवं मनसोऽसिद्धेन घटाद् विज्ञान,तेन सन्निकृष्टमिति कुतस्तत्राऽध्यक्षज्ञानोत्पत्तिरिति यतस्ततस्तत् प्रतीयते ?। न चान्यत्तदुत्पत्तौ पराभ्युपगमे निमित्तमस्ति, सद्भावे चेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वाऽऽदिना तव ग्राहिणोऽध्यक्षता विरुध्यते। अथ ज्ञानान्तरेऽस्यानध्यक्षत्वेऽपि घटज्ञानग्राहकता भविष्यतीति न धर्म्यसिद्धेराश्रयासिद्धो हेतुर्भविष्यति, घटज्ञानस्य ततः सिद्धे। असदेतत्। स्वयमसिद्धेन ज्ञानेन गृहीतस्याप्यगृहीतरूपत्वात्। अन्यथा सर्वज्ञज्ञानगृहीतस्य रथ्यापुरुषज्ञानगृहीतत्व भवेदिति तस्याऽपि सर्वज्ञताप्रसक्ति·। न च स्वज्ञानगृहीतादगृहीतमिति नाय दोष, स्वसविदितज्ञानाभावे स्वज्ञानमित्यस्यैवासिद्धे·। स्वस्मिन् समवेतस्वज्ञानमभिधीयत इति नाय दोष इति चेत्। न। तस्याभावात्, भावेऽप्यविशिष्टत्वाच्च। न च स्वोत्पादित स्वमिति वक्तव्यम, तदुत्पादस्य परदर्शने तदाधेयत्वेन प्रसिद्धत्वात्। समवायाभावे च तस्याऽप्यसिद्धत्वाद् नित्यस्य चेश्वरज्ञानस्य तदसिद्धि·। न च स्वसविदितज्ञानवादेऽपि स्वसविदितत्वाविशेषाद्देवदत्तज्ञाम प्रसज्येत, यज्ञदत्तज्ञानस्य देवदत्तासविदितत्वात् स्वज्ञानस्य कथञ्चित् स्वात्मना तादात्म्यात् तस्यैव तद्रूपतया परिणतेरिति प्रसाधितत्वात्। ज्ञानान्तरेण तस्यासवेदनाद् नागृहीतत्वमिति चेत्। न। तस्याऽपि ज्ञानान्तरेण ग्रहणेऽनवस्थाप्रसक्तेः। अग्रहणेऽगृहीतवेदनेन गृहीतस्य द्वितीयज्ञानस्यागृहीतरूपत्वाद् न तेन प्रथमग्रहणमिति तदवस्था धर्मासिद्धि·। तेन घटाऽऽदिज्ञानस्य धर्मिणा द्वितीयेन तस्याऽपि तृतीयेन ग्रहणादर्थसिद्धेर्नापरज्ञानकल्पनमिति नानवस्थेति यदुक्तम। तदप्यसगतम। तृतीयाऽऽदेर्ज्ञानस्याग्रहणे प्रथमस्याप्यसिद्धे'। उक्तन्यायाद् यदि पुनस्तृतीयज्ञानेन स्वयमसिद्धेनापि द्वितीयं गृह्यते, द्वितीयेन तथाभूतेनैव प्रथम, तेनाऽपि तथाभूतेनैवार्थो ग्रहीष्यत इति द्वितीयज्ञानपरिकल्पनमपि व्यर्थमासज्येत। न च विदितोऽर्थ इति ज्ञानविशेषणस्यार्थस्य प्रतिपत्तेरगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिर्नोपजायत इति विशेषणग्राहिज्ञान द्वितीयं परिकल्प्यते। न च विशेषणस्याप्युपरि विशेषणविशिष्टता प्रतीयते, येन तृतीयाऽऽदिज्ञानपरिकल्पना युक्तिसङ्गता भवेदिति वक्तव्यम; विशेषणस्यैव तृतीयाऽऽदिज्ञानपरिकल्पनामन्तरेण ग्रहणासभवादित्युक्ते। स्वसविदितज्ञानाभ्युपगम एव ज्ञानविशेषणविशिष्टार्थप्रतिपत्तिः सम्भवति, अन्यथा तदयोगादनवस्थानिवृत्तेः। न च विषयान्तरसचारादनवस्थानिवृत्ति ,यतो धर्मिज्ञानविषयात् साधनाऽऽदिर्विषयान्तर, तत्र ज्ञानस्योत्पत्तिर्विषयान्तरसचारः। न चाप·

रापरज्ञानग्राहिज्ञानस्योत्पत्तावश्यंभाविबाह्यसाधनो विषयसन्निधानं, येन तत्र ज्ञानस्य सञ्चारो भवेत्, सन्निधानेऽप्यन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गस्यैव बलीयस्त्वादान्तरङ्गविषयपरिहारेण बाह्यविषयज्ञानोत्पत्तिर्भवेदिति कुतोऽनवस्थानिवृत्तिः ? । न चाऽदृष्टवशादनवस्थानिवृत्तिः, स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगमेनाप्यनवस्थानिवृत्तेः संभवात् । अन्यथा कार्येऽनुपपद्यमानेऽदृष्टपरिकल्पनाया उपपत्तेः, स्वसंवेदनेऽपि चाऽदृष्टस्य शक्तिप्रत्यक्षाभावात् । एतेन ईश्वराऽऽदेरनवस्थानिवृत्तिरिति प्रतिविहितम्, तस्याऽदृष्टकल्पनाया प्रतिविहितत्वात् चतुर्थज्ञानाऽऽदेरनुत्पत्तेरनवस्थानिवृत्तिः, धर्मिग्रहणस्यैवमभावाऽऽपत्तेः । किञ्च-शक्तिर्यद्यात्मनोऽव्यतिरिक्ता, तदा तत्क्षये आत्मनोऽपि क्षयाऽऽपत्तिः । व्यतिरिक्ता चेत्, तत एव ज्ञानोत्पत्तेरनर्थक आत्मा भवेत् । न च सा तस्येति नात्माऽऽनर्थक्यम्, समवायाभावे तस्याप्यसिद्धेः । किञ्च-यदि सिद्धिप्रक्षयादनवस्थानिवृत्तेर्बाह्यविषयमपि ज्ञानं न भवेत्, शक्तिप्रक्षयादेव । न च चतुर्थाऽऽदिज्ञानजननशक्तेरेव प्रक्षयः । न । बाह्यविषयज्ञानशक्तेर्युगपदनेकशक्त्यभावात् । भावे वा युगपदनेकज्ञानोत्पत्तिप्रसक्तिः, सहकार्यपेक्षाऽपि नित्यस्यासंभविनी, प्रतिपादितक्रमेण शक्तिभावे कुतः स इति वक्तव्यम् ? । आत्मन इति चेत् । न । अपरशक्तिवैकल्यात् । ततस्तदभावादपरशक्तिपरिकल्पने तदभावेऽप्यपरशक्तिपरिकल्पनमित्यनवस्था । तदेवं स्वसंविदितविज्ञानाभ्युपगमे कथञ्चिद् घटाऽऽदिज्ञानस्यासिद्धेराश्रयासिद्धो ज्ञेयत्वादिति हेतुः, स्वरूपासिद्धश्चेति व्यवस्थितमेतत्-स्वनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानमिति । सम्म० २ काण्ड ।

(युगपद् ज्ञानद्वयानुभवो ' दोकिरिय ' शब्दे निषेत्स्यते)

(२१) ज्ञानस्य स्वप्रकाशकत्वम्-

अस्त्येव प्रदीपाऽऽदिलक्षणो दृष्टान्तो ज्ञानस्य प्रकाशं प्रति सजातीयापरानपेक्षत्वे साध्ये । तथाहि-यथा प्रदीपाऽऽद्यालोको न स्वप्रतिपत्तावालोकान्तरमपेक्षते, तथा ज्ञानमपि स्वप्रतिपत्तौ न समानजातीयज्ञानापेक्षम् । एतावन्मात्रेणाऽऽलोकस्य दृष्टान्तत्वम्, न पुनस्तस्यापि ज्ञानत्वमासाद्यते । येनेन्द्रियाग्राह्यत्वाच्चक्षुष्मतामिवान्धानामपि तत्प्रतीतिप्रसङ्ग इति प्रेर्यते । न हि दृष्टान्ते साध्यधर्मिधर्माः सर्वेऽप्यासञ्जयितुं युक्ताः, अन्यथा घटेऽपि शब्दधर्माः शब्दत्वाऽऽदयः प्रसज्येरन्निति तस्याऽपि श्रोत्रग्राह्यत्वप्रसङ्गः । न च साधर्म्यदृष्टान्तमन्तरेण प्रमाणप्रतीतस्याप्यर्थस्याप्रसिद्धिरिति शक्यं वक्तुम् । अन्यथा जीवच्छरीरस्यापि सात्मकत्वे साध्ये तत्प्रतिबद्धदृष्टान्तस्याभावात् प्राणाऽऽदिमत्त्वाऽऽदेस्तत्सिद्धिर्न स्यात् । अथ साधर्म्यदृष्टान्ताभावेऽपि वैधर्म्यदृष्टान्तस्य घटाऽऽदेः सद्भावात् केवलव्यतिरेकिबलात्तत्र तत्सिद्धिः, तर्हि यत्र स्वप्रकाशकत्वं नास्ति तत्रार्थप्रकाशकत्वमपि नास्ति, यथा घटाऽऽदाविति व्यतिरेकदृष्टान्तसद्भावादर्थप्रकाशकत्वलक्षणाद्धेतोः स्वप्रकाशकत्वं विज्ञानस्य किमिति न सिद्धिमासादयति ? । यदुक्तम्-कस्यचिदर्थस्य काचित्सामग्री, तेन प्रकाशः प्रकाशान्तरनिरपेक्ष एव स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभाति । तदयुक्तमेव । यथा हि स्वसामग्रीत उपजायमाना प्रदीपाऽऽलोकाऽऽदयो न समानजातीयमालोकान्तरं स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभासमाना अपेक्षन्ते, तथा स्वसामग्रीत उपजायमानं विज्ञानं स्वार्थप्रकाशस्वभावं स्वप्रतिपत्तौ न ज्ञानान्तरमपेक्षते, प्रतिनियतत्वात् स्वकारणाऽऽयत्तजन्मनां भावशक्तीनाम् । यत्तु प्रदीपाऽऽलोकाऽऽदिकं सजातीयाऽऽलोकान्तरानिरपेक्षमपि स्वप्रतिपत्तौ ज्ञानमपेक्षते, तस्याज्ञानरूपत्वात्, ज्ञानस्य च तद्विपर्ययस्वभावत्वाद् युक्तियुक्तमिति नैकत्र दृष्टः स्वभावोऽन्यत्राऽऽसञ्जयितुं युक्त इति पूर्वपक्षवचो निःसारतया व्यवस्थितम् । अथाऽऽलोकस्य तदन्तरनिरपेक्षा प्रतिपत्तिरुपलब्धेति न तद्दृष्टान्तबलाद् ज्ञानस्यापि ज्ञानान्तरनिरपेक्षा प्रतिपत्तिः, अदृष्टत्वात्, स्वात्मनि क्रियाविरोधाच्च । नन्वेवमुपलभ्यमानेऽपि वस्तुनि यद्यदृष्टत्वं, विरोधश्चोच्येत तदा स्यात्मवद् घटाऽऽदेरपि बाह्यस्य न ग्राहकं ज्ञानम् । अदृष्टत्वात्, जडस्य प्रकाशायोगाच्चेत्यपि वदतः सौगतस्य न वक्त्रवक्रता समुपजायते । तथाहि-असावप्येवं वक्तुं समर्थः-जडं वस्तु न स्वतः प्रकाशते, विज्ञानवद्, जडत्वहानिप्रसङ्गात् । नाऽपि परतः प्रकाशमानम्, नीलसुखाऽऽदिव्यतिरिक्तस्य विज्ञानस्यासंवेदनेनासत्त्वात् । अथ नीलस्य प्रकाश इति प्रकाशमाननीलाऽऽदिव्यतिरिक्तस्तत्प्रकाशः । अन्यथा भेदेनास्याप्रतिपत्तौ संवेदनस्य तत्प्रतिभासो न स्यात् । ननु न नीलतद्वेदनयोः पृथगवभासः प्रत्यक्षसंभवी, प्रकाशविविक्तस्य नीलाऽऽदेरननुभवात् तद्विवेकेन च बोधस्याप्रतिभासनात् । न चाध्यक्षतो विवेकेनाप्रतीयमानयोर्नीलतत्संविदोर्भेदो युक्तः, विवेकादर्शनस्य भेदविपर्ययाऽऽश्रयत्वान्नीलतत्स्वरूपवत् । अथापि कल्पना नीलतत्संवेदनयोर्भेदमुल्लिखति-नीलस्यानुभव इति । नन्वभेदेऽपि भेदोल्लेखो दृष्टः, यथा शिलापुत्रकस्य वपुः, नीलस्य वा स्वरूपमिति । अथ तत्र प्रत्यक्षाऽऽरूढो भेदो बाधक इति न भेदोल्लेखः सत्यः, स तर्हि नीलसंविदोरपि प्रत्यक्षाऽऽरूढो भेदोऽस्तीति न भेदकल्पना सत्या । तदेवं नीलाऽऽदिकं सुखाऽऽदिकं वस्तु प्रकाशवपुः प्रतिभातीति स्थितम् । तद्व्यतिरिक्तस्य प्रकाशस्य प्रतिभासनेनाभावात् । भवतु वा व्यतिरिक्तो बोधः, तथाऽपि न तद्ग्राह्या नीलाऽऽदयो युक्ताः । तथाहि-तुल्यकालो वा बोधस्तेषां प्रकाशकः, भिन्नकालो वा ? । तुल्यकालोऽपि परोक्षः, स्वसंविदितो वा ? । न तावत्परोक्षः, यतोऽप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यतीत्यादिना स्वसंविदितत्वं ज्ञानस्य प्रसाधयन्त एतत्पक्षं निराकरिष्यामः * । नाऽपि ज्ञानान्तरवेद्यः, अनवस्थाऽऽदिदूषणस्यात्र पक्षे प्रदर्शयिष्यमाणत्वात् । स्वसंवेदनपक्षे तु यथाऽन्तर्नीलीनो बोधः स्वसंवेदितः प्रतिभाति; तथा तत्काले स्वप्रकाशवपुषो नीलाऽऽदयो बहिर्देशसंबन्धितया प्रतिभान्ति, इति समानकालयोर्नीलतत्संवेदनयोः स्वतन्त्रयोः प्रतिभासनात्सव्येतरगोविषाणयोरिव न वेद्यवेदकभावः । समानकालस्यापि बोधस्य नीलं प्रति ग्राहकत्वे नीलस्यापि सम्प्रति ग्राहकताप्रसङ्गः । समानकालप्रतिभासाविशेषेऽपि बुद्धिर्नीलाऽऽदीनां ग्रहणमुपरचयतीति ग्राहिका, नीलाऽऽदयस्तु ग्राह्याः । नैतदपि युक्तम् । यतो नीलबोधव्यतिरिक्ता न ग्रहणक्रिया प्रभाति । तथाहि-बोधः सुखाऽऽद्येकीभूतो हृदि, बहिः स्फुटमुद्भासमानतनुश्च नीलाऽऽदिराभाति, न त्वपरा ग्रहणक्रिया प्रतिभासविषया । तदनवभासे च न तया व्याप्यमानतया नीलाऽऽदेः कर्मता युक्ता । भवतु वा नीलबोधव्यतिरिक्ता क्रिया, तथाऽपि किं तस्या अपि स्वतः प्रतीतिः, यद्वा अन्यतः ? । तत्र यदि स्वतो ग्रहणक्रिया प्रतिभाति, तथा सति बोधो, नीलम्, ग्रहणक्रिया चेति त्रयं स्वरूपनिमग्नमेककालं प्रतिभातीति न कर्तृकर्मक्रियाव्यवस्थितिः । अथान्यतो ग्रहणक्रिया प्रतिभाति, न तु तत्राप्यपरा ग्रहणक्रियोपेया, अन्यथा तस्या ग्राह्यतासिद्धेः, पुनस्तत्राप्यपरा कर्मतानिबन्धनं क्रियोपेयेत्यन-

* निराकरणं ग्रन्थतोऽवसेयम् ।

वस्था । तत्र ग्रहणक्रियाऽपराऽस्ति, तत्स्वरूपानवभासनात् । ततश्चान्त संवेदनम्,बहिर्नीलाऽऽदिकं च स्वप्रकाशमेवेति स्वसंवित्तिमात्रवाद. साधीयान् यदि, तर्ह्यन्तर्निलीनो बोधो नीलाऽऽदेर्न बोधक , किं तु स्वप्रकाश एवाऽसौ । तथा सति नीलमहं वेद्मीति कर्मकर्तृभावाभिनिवेशी प्रत्ययो न भवेत्, विषयस्य कर्मकर्तृभावस्याभावात् । ननु विषयमन्तरेणापि प्रत्ययो दृष्ट एव, यथा शुक्तिकायां रजतावगम. । अथ बाधकोदयात् पुनर्भ्रान्तिरसौ;नीलाऽऽदौ तु कर्मताऽऽदेर्न बाधाऽस्तीति सत्यता । नन्वत्रापि बोधनीलाऽऽदे. स्वरूपासंसक्तस्य द्वयस्य स्वातन्त्र्योपलम्भोऽस्ति बाधक' कर्मकर्तृभावोल्लेखस्य । अथ किमस्या भ्रान्तेर्निबन्धनम् ?, न हि भ्रान्तिरपि निर्बीजा भवति । ननु पूर्वभ्रान्तिरेवोत्तरकर्मकर्तृभावावगतेर्निबन्धनम् । पूर्वभ्रान्तिकर्मताऽऽदेरप्यपरा पूर्वभ्रान्तिरित्यनादिभ्रान्तिपरम्पराकर्मताऽऽदिर्न तत्त्वम् । अथवा नीलमिति प्रतीतिस्तावन्मात्राध्यवसायिनी पृथग्, अहमित्यपि मतिरन्तरुल्लेखमुद्वहन्ती भिन्ना; वेद्मीत्यपि प्रतीतिरपरैव । ततश्च परस्परासंसक्तप्रतीतित्रितयं क्रमवत्प्रतिभाति, न कर्मकर्तृभाव , तुल्यकालयोस्तस्यायोगात् । भिन्नकालयोरप्यनवभासनाद् न कर्मताऽऽदिगतिं कथञ्चित् संभविनी । अथापि दर्शनात्प्राक् सन्नपि नीलाऽऽत्मा न भाति, तदुदये च भातीति कर्मता तस्य । नैतदपि साधीय. । यतः प्राग्भावोऽर्थस्य न सिद्ध. । दर्शनेन स्वकालावधेरर्थस्य ग्रहणात् । दर्शनकाले हि नीलमाभाति, न तु तत प्राक्, तत्कथं पूर्वभावोऽर्थस्य सिध्येत् ?, तस्य दर्शनस्य पूर्वकाले विरहात् । न च तत्काले दर्शनं प्रागर्थसन्निधिं व्यनक्ति, सर्वदा तत्प्रतिभासप्रसङ्गात् । अथान्येन दर्शनेन प्रागर्थ. प्रतीयते । ननु तद्दर्शनादपि प्राग् सद्भावोऽर्थस्यान्येनावसेय इत्यनवस्था । तस्मात्सर्वस्य नीलाऽऽदेर्दर्शनकाले प्रतिभासनाद् न तत्पूर्वं सत्ता सिद्ध्यति । अथापि पूर्वदृष्टं पश्यामीति व्यवसायात् प्रागर्थ. सिद्ध्यति, प्रागर्थसत्तां विना दृश्यमानस्य पूर्वदृष्टेन एकत्वगतेरयोगात् । केन पुनरैकत्वं तयोर्गम्यते ?-किमिदानीन्तनदर्शनेन, पूर्वदर्शनेन वा ? । न तावत्पूर्वदर्शनेन, तत्र तत्कालावधेरेवार्थस्य प्रतिभासनात् । न हि तेन स्वप्रतिभासिनोऽर्थस्य वर्तमानकालदर्शनव्याप्तिरवसीयते,तत्काले साम्प्रतिकदर्शनाऽऽदेरभावात् । न चासत्प्रतिभाति, दर्शनस्य वितथत्वप्रसङ्गात् । नापीदानीन्तनदर्शनेन पूर्वदर्शनाऽऽदिव्याप्तिर्नीलाऽऽदेरवसीयते,तद्दर्शनकाले पूर्वदृक्कालस्यास्तमयात् । न चास्तमितपूर्वदर्शनाऽऽदिसंस्पर्शमवतरति प्रत्यक्षम, वितथत्वप्रसङ्गादेव । तस्मादपास्ततत्पूर्वदृगादियोगं सर्वं वस्तु दृशा गृह्यते, पूर्वदृष्टता तु स्मृतिरुल्लिखति । तदपास्तम् । दृष्टतोल्लेखाभावात् । न च स एवायमिति प्रतीतिरेका । स इति स्मृतिरूपम,अयमिति तु दृशं स्वरूप; तत्परोक्षापरोक्षाऽऽकारत्वाद् नैकस्वभावौ प्रत्ययौ, तत्कुतस्तत्त्वसिद्धि ? । अथानुमानात्प्राग्भावोऽर्थस्य सिद्ध्यति, प्राक् सत्तां विना पश्चाद्दर्शनायोगादिति । तदप्यसत् । यत पश्चाद्दर्शनस्य प्राक् सत्तया संबन्धो न सिद्ध , प्राक् सत्ताया कथञ्चिदप्यसिद्धे । न चासिद्धया सत्तया व्याप्तं पश्चाद्दर्शनं सिद्ध्यति; येन ततस्तत्सिद्धि । अथ यदि प्रागर्थमन्तरेण दर्शनमुदयमासादयति, तथा सति नियामकाभावात्सर्वत्र सर्वदा सर्वाऽऽकारं तद्भवेत् । नायमपि दोष , नियतवासनाप्रबोधेन संवेदननियमात् । तथाहि-स्वप्नावस्थायां वासनाबलाद्दर्शनस्य देशकालाऽऽकारनियमो दृष्ट इति जाग्रद्दशायामपि तत एवासौ युक्तः । अर्थस्य तु न सत्ता सिद्धा । नापि तद्देशात् संवित्तिनियम इति तन्न ततः संविद्वैचित्र्यम । तस्मान्न कथञ्चिदपि नीलाऽऽदेः प्राक् सत्तासिद्धिः । अथ पूर्वसत्ताविरहे किं प्रमाणम् ? । नन्वनुपलब्धिरेव प्रमाणम् । यदि नील पूर्वकालसंबन्धिस्वरूपं स्यात्तेनैव रूपेणोपलभ्येत, न च तथा दर्शनकालभुव' सर्वदाऽप्रतिभासनात् । यद्धि येनैव रूपेण प्रतिभाति, तत्तेनैव रूपेणास्ति । यथा नील नीलरूपतयाऽवभासमानं तथैव सद् न पीताऽऽदिरूपतया । सर्वं चोपलभ्यमानं रूपं वर्तमानकालतयैव प्रतिभाति, न पूर्वाऽऽदितया, तन्न पूर्वं सत्ताऽर्थस्य । अथ नीलं, तद्दर्शनविरतावपि परदृशि प्रतिभातीति साधारणतया ग्राह्यम; विज्ञानं त्वसाधारणतया प्रकाशकम् । नैतदपि युक्तम् । यतो नीलस्य न साधारणतया सिद्ध. प्रतिभास , प्रत्यक्षेण स्वप्रतिभासितया एवावगतेः । न हि नीलं परदृशि प्रतिभातीत्यत्र प्रमाणमस्ति, परदृशोऽनधिगमे नीलाऽऽदेस्तद्वेद्यताऽनधिगतेः । अथानुमानेन नीलाऽऽदीनां साधारणता प्रतीयते । यथैव हि स्वसंताने नीलदर्शनात्तदादानार्था प्रवृत्तिस्तथाऽपरसन्तानेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात्, तद्विषयं दर्शनमनुमीयते । नैतदप्यस्ति । अनुमानेन स्वपरदर्शनभूतो नीलाऽऽदेरेकताऽसिद्धे ,तद्विसदृशव्यवहारदर्शनादुपजायमानं स्वदृष्टसदृशता परदृष्टस्य प्रतिपादयेत् । यथाऽपरधूमदर्शनात् पूर्वसदृशं दहनमधिगन्तुमीशो, न तु तमेव पूर्वदृष्टम, सामान्येनान्वयपरिच्छेदात् । नानुमानतोऽपि ग्राह्याऽऽकारस्यैकता । ननु भेदोऽप्यस्य न सिद्ध एव । प्रतिभासभेदे सति कथमसिद्ध ?, परप्रतिभासपरिहारेण स्वप्रतिभासात्, स्वप्रतिभासपरिहारेण च परप्रतिभासात्, विवेकस्वभावान् व्यतिरेचयति ?; अन्यथा तस्यायोगात् । तत स्वपरदृष्टस्य नीलाऽऽदे. प्रतिभासभेदाद् व्यवहारे तुल्येऽपि भेद एव । इतरथा रोमाञ्चनिकरसदृशकार्यदर्शनात् सुखाऽऽदेरपि स्वपरसन्तानभुवस्तत्त्वं भवेत् । अथापि सन्तानभेदात् सुखाऽऽदेर्भेद. । ननु सन्तानभेदोऽपि किमन्यभेदात् ?, तथा चेदनवस्था । अथ तस्य स्वरूपभेदाद्भेदः, सुखाऽऽदेरपि तर्हि स एवास्तु, अन्यथा भेदासिद्धे. । न ह्यन्यभेदादन्यद्भिन्नम, अतिप्रसङ्गात् । नीलाऽऽदेरपि स्वपरभासिन. प्रतिभासभेदोऽस्तीति नैकता । अथ देशैकत्वादेकत्वम । ननु देशस्यापि स्वपरदृष्टस्यानन्तरोक्तन्यायाद् नैकता युक्ता । तस्माद् ग्राहकाऽऽकारवत् प्रतिपुरुषमुद्भासमानं नीलाऽऽदिकमपि भिन्नमेव । तच्चैककालोपलम्भात् , ग्राहकवत् स्वप्रकाशम् । अथ ग्राहकाऽऽकारश्चिद्रूपत्वाद् वेदको,नीलाऽऽकारस्तु जडत्वाद् ग्राह्य । अत्रोच्यते-किमिदं बोधस्य चिद्रूपत्वम ? । यदि अपरोक्षं स्वरूप, नीलाऽऽदेरपि तर्हि तदस्तीति न जडता । अथ नीलाऽऽदेरपरोक्षस्वरूपमन्यस्माद्भवतीति ग्राह्यम । ननु बोधस्यापि स्वस्वरूपमिन्द्रियाऽऽदेर्भवतीति ग्राह्य स्यात । अथ यदीन्द्रियाऽऽदिकार्यं न तद्वेद्य,नीलाऽऽदिकमपि तर्हि नयनाऽऽदिकार्यमस्तु न तु ग्राह्यम । अथापि बोधो बोधस्वरूपतया नित्य , नीलाऽऽदिकस्तु प्रकाश्यरूपतया अनित्य इति ग्राह्य । तदप्यसत् । स्तम्भाऽऽदेर्नयनाऽऽदिवशादुदेति रूपमपरोक्षत्वम् । तदनित्यत्वं स्तम्भाऽऽदिर्भवतु, ग्राह्यस्तु कथम् ? । न हि यद् यस्मादुत्पद्यते तत्तस्य वेद्यम । अतिप्रसङ्गात् । तस्मादपरोक्षस्वरूपा स्तम्भाऽऽदय स्वप्रकाशा,, बोधस्तु नित्योऽनित्यो वा तत्काले केवल-

मुद्गाति,न तु वेदकः; द्वयोरपि परस्परं ग्राह्यग्राहकताऽऽपत्तेः। अथ नीलोन्मुखत्वाद् बोधो ग्राहक । किमिदं तदुन्मुखत्वं नाम बोधस्य ?। यदि नीलकाले सत्ता, सा नीलस्याऽपि तत्काले समस्तीति नीलमपि बोधस्य वेदकं स्यात् । अथान्यदुन्मुखत्वं तत्, तर्हि स्वरूपनिमग्न चकासत्तृतीयस्वरूपं भवेत । तथाहि-तस्य तदुन्मुखत्वं तद्व्यापारः। स च व्यापारो यदि नीले व्याप्रियते, तदा तत्राप्यपरो व्यापार इत्यनवस्था । अथ न व्याप्रियते, न तद्बलाद् बोधस्य ग्राहकत्वं, नीलाऽऽदेस्तु ग्राह्यत्वम । अथ व्यापारस्यापरव्यापारव्यतिरेकेणापि नील प्रति व्यापृतिरूपता, तस्य तद्रूपत्वात् । ननु नीलस्यापि स्व स्वरूप विद्यत इति बोध प्रति ग्रहणव्यापृतिः स्यात्। किञ्च-बोधेन यदि नील प्रति ग्रहणक्रिया जन्यते सा नीलाद्भिन्ना, अभिन्ना वा ?। भिन्ना चेत्, न तया तस्य ग्राह्यत्वम्, भिन्नत्वादेव । अथाभिन्ना, तर्हि नीलाऽऽदेर्ज्ञानरूपता, ज्ञानजन्यत्वादुत्तरज्ञानक्षणवत् । अथ ज्ञानस्य एवभूता शक्तिर्येन तस्य नील प्रति ग्राहकता, नीलाऽऽदेस्तु त प्रति ग्राह्यता। ननु बोधस्य ग्राहकत्वे, नीलाऽऽदेस्तु ग्राह्यत्वे सिद्धे शक्तिपरिकल्पना युक्ता, शक्तेः कार्यानुमेयत्वात् । तदसिद्धौ तु तत्परिकल्पनमयुक्तम्, इतरेतराऽऽश्रयप्रसङ्गात्। तथाहि-बोधस्य शक्तिविशेषसिद्धेर्नील प्रति ग्राहकत्वसिद्धि, तत्सिद्धेश्च तच्छक्तिसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराऽऽश्रयत्वम्, तन्न बोधस्य नील प्रति ग्राहकत्वसिद्धि । तस्माद् व्यतिरिक्तेऽपि बोधेऽभ्युपगते सहोपलम्भनियमात् स्वसंवेदनमेव युक्तम् । परमार्थतस्तु सुखाऽऽदयो नीलाऽऽदयश्चापरोक्षा इत्येतावदेव भाति। निराकारस्तु बोधः स्वप्नेऽपि नोपलभ्यत इति न तस्य सद्भाव इति कथं तस्यार्थग्राहकत्वम् ?। अत एव ते प्रमाणयन्ति-इह खलु यत् प्रतिभाति, तदेव सद् व्यवहृतिपथमवतरति, यथा हृदि प्रकाशमानवपु सुखं, न तत्काले पीडाऽनुभासमाना समस्ति, विज्ञप्तिरेव च नीलाऽऽदिरूपतया सकलतनुभृतामाभातीति स्वभावहेतु । तदेवमर्थग्राहकत्वस्याप्यसिद्धेः, जडस्य प्रकाशविरुद्धत्वाच्च नार्थग्राहकत्वमपि बौद्धदृष्ट्या युक्तम्। अथ बहिर्देशसंबद्धस्य जडस्यापि नीलाऽऽदेरनुभवाद् न नीलाऽऽदिप्रकाशस्य तद्ग्राहकत्वमसिद्धम्, नाप्यनुभूयमाने स्तम्भाऽऽदिके जडे प्रकाशविषयत्वविरोधोद्भावनं युक्तिसङ्गतम्। प्रत्यक्षसिद्धे स्वभावे च सति तद्विरुद्धस्वभावाऽऽवेदकस्यानुमानस्य प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तकालात्ययापदिष्टत्वदोषदुष्टहेतुप्रभवत्वेनानुमानाऽऽभासत्वात् । न च प्रत्यक्षसिद्धे स्वभावे विरोध. सिद्ध्यति, अन्यथा ज्ञानस्यापि ज्ञानत्वविरोधप्राप्ति । नन्वेव नीलाऽऽदिसंवेदनस्याऽपि हृदि स्वसंवेदनविषयतयाऽनुभवाद् न स्वसंवेदितत्वमसिद्धम, नापि स्वाऽऽत्मनि क्रियाविरोधोद्भावनं युक्तियुक्तम्, अनुभूयमाने विरोधासिद्धे । अस्वसंवेदनज्ञानसाधकत्वेनोपन्यस्यमानस्य च हेतोः प्रत्यक्षनिराकृतपक्षविषयत्वेन न साध्यसाधकत्वमित्यपि समानम्। किञ्च-स्वसंविदितज्ञानानभ्युपगमे प्रतीयतेऽयमर्थो बहिर्देशसंबन्धितयेत्यत्र प्रतीतेर्व्यवस्थापिकाया अप्रतीतत्वेनाव्यवस्थितौ व्यवस्थाप्यस्यार्थस्य न व्यवस्थिति स्यात्। न हि स्वयमव्यवस्थित खरविषाणाऽऽदि कस्यचिद् व्यवस्थापकमुपलब्धम्। अथ प्रतीतेरसंविदितत्वेऽपि एकार्थसमवेतानन्तरप्रतीतिव्यवस्थापितत्वेन नाव्यवस्थितत्वं, तर्हि तदेकार्थसमवेतानन्तरप्रतीतेरप्यपरतथाभूतप्रतीत्यवस्थापितत्वेनार्थव्यवस्थापनप्रतीतिव्यवस्थापकत्वमिति पुनरपि तथाभूताऽपरा प्रतीतिः प्रतीतिव्यवस्थापिकाऽभ्युपगन्तव्येत्यनवस्था । अथ प्रतीतिव्यवस्थापिका प्रतीतिः स्वसंविदितत्वेन स्वयमेव व्यवस्थितेति नाय दोषः, तर्ह्यर्थव्यवस्थापिकाऽपि प्रतीति. तथा किं नाभ्युपगम्यते ?, न्यायस्य समानत्वात् । अथ प्रतीतिरप्रतीताऽपि प्रतीत्यन्तरव्यवस्थापिका, तर्हि प्रथमप्रतीतिरप्यव्यवस्थिताऽप्यर्थव्यवस्थापिका भविष्यतीति 'नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः' इति वचः कथं न परिम्लायेत ?; प्रतीतोऽर्थ इति विशेष्यप्रतिपत्तौ प्रतीतिविशेषणानवगमेऽपि विशेष्यप्रतिपत्त्यभ्युपगमात् । अपि च—यदि तदेकार्थसमवेतज्ञानान्तरग्राह्य ज्ञानमर्थग्राहकमभ्युपगम्यते, तदा पूर्वपूर्वज्ञानोपलम्भनस्वभावानामुत्तरोत्तरज्ञानानामनवरतमुत्पत्तेर्विषयान्तरसंचारो ज्ञानानां न स्यात्; विषयान्तरसन्निधानेऽपि पूर्वज्ञानलक्षणस्य तदेकार्थसमवेतस्यान्तरङ्गत्वेनातिसंनिहिततरस्य विषयस्य सद्भावात्। यस्त्वाह-विषयोपलम्भनिमित्तमात्रप्रतिपत्तौ प्रतीतिविशेषणस्यार्थस्य सिद्धत्वाद् नानवस्था। तदेतदेव न संगच्छते । स्वसंवेदनज्ञानानभ्युपगमात् । एतच्च प्रतिपादितम्। अपि च-प्रमाणसंप्लवाऽऽदिना नैयायिकेन प्रत्यक्षशाब्दज्ञानयोरेकविषयत्वमभ्युपगतम्, तथा चाध्यक्षज्ञानवत् शाब्देऽपि तस्यैवान्यूनातिरिक्तस्य विषयस्याधिगमे न प्रतिपत्तिभेद इत्यध्यक्षवच्छाब्दमपि स्पष्टप्रतिभासं स्यात्। अथैकविषयत्वे सत्यपि इन्द्रियसंबन्धाभावात् शब्दविषये प्रतिपत्तिभेदः । नन्वक्षैरपि विषयस्वरूपमुद्भासनीयम् । तच्च यदि शाब्देनापि प्रदर्श्यते, तथा सतीन्द्रियसंबन्धाभावेऽपि किमिति न स्पष्टावभासः शाब्दस्य ?। न हि विषयभेदमन्तरेण ज्ञानावभासभेदो युक्तः । अन्यथा ज्ञानावभासभेदाद् विषयभेदव्यवस्था न स्यात्। नहि बहिरपि तदवभासभेदसंवेदनव्यतिरेकेणान्यद् भेदव्यवस्थानिबन्धनमुत्पश्यामः । अन्यच्च प्रत्यक्षेऽपि साक्षादिन्द्रियसंबन्धोऽस्तीति न स्वरूपेण ज्ञातु शक्यः। तस्यातीन्द्रियत्वात्, किं तु स्वरूपप्रतिभासात् कार्यात् । तथाविकल यदि शाब्देऽपि वस्तुस्वरूपं प्रतिभाति, तदा तत एवेन्द्रियसंबन्धस्तत्राऽपि किं नाभ्युपगम्यते ?। अथ तत्र स्पष्टप्रतिभासाभावाद् नासावनुमीयते । ननु तदभावस्तदक्षसंगतिविरहात्, तदभावश्च स्फुटप्रतिभासाभावादिति सोऽयमितरेतराऽऽश्रयदोष । तस्माद् विषयभेदनिबन्धन एव ज्ञानप्रतिभासभेदाध्यवसायोऽभ्युपगन्तव्य । स च एकविषयत्वे शाब्दाऽध्यक्षज्ञानयोर्न संगच्छते। अथ शब्दैर्वस्तुरूपावभासेऽपि न सकलतत्कृतविशेषावभास इत्यस्पष्टप्रतिभास तत् । नन्वेव प्रत्यक्षावभासिनो विशेषस्यार्थक्रियाक्रमस्य तत्राप्रतिभासनात् तदेव भिन्नविषयत्व शाब्दाध्यक्षयो प्रसक्तम्। अथोभयत्रापि व्यक्तिस्वरूपमेकमेव नीलाऽऽदित्व प्रतिभाति, विशदाविशदौ वाऽऽकारौ ज्ञानाऽऽत्मभूतौ। न चैवमक्षसंबद्धे विषये प्रतिभासमाने तत्कालः स्पष्टत्वावभासो ज्ञानावभास इति प्राप्तम, विशिष्टसामग्रीजन्यस्य ज्ञानस्य विशदत्वात्। तदवभासव्यतिरेकेण त्वक्षसंबद्धनीलप्रतिभासकालेऽन्यस्य भवदभ्युपगमेन वैशद्यप्रतिभासनिमित्तस्यासंभवात्। अथ भवतु विशदज्ञानप्रतिभासनिमित्त एव तत्र वैशद्यप्रतिभासव्यवहार.,तथाऽपि न स्वसंविदितज्ञानसिद्धि , तदेकार्थसमवेतज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽपि तद्व्यवहारस्य संभवात् । एककालावभासव्यवहारस्तु लघुवृत्तित्वाद् मनस क्रमानुपलक्षणनिमित्त, उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत् । नन्वेव सत्यहृदि-

पञ्चकस्यैकज्ञानावभासोऽपि क्रमावभासे सत्यपि तत एव क्रमप्रतिभासानुपलक्षणकृत इति सदसद्वर्ग सर्व. कस्यचिदेकज्ञानप्रत्यक्षः प्रमेयत्वात् पञ्चाङ्गुलिवदिति सर्वज्ञसाधकप्रयोगे दृष्टान्तस्य साध्यविकलताप्रसक्तिः । तथा समस्तसदसद्वर्गग्राहकेण सर्वविद्ज्ञानेन ज्ञानाऽऽत्मा गृह्यते, उत नेति ?। यदि न गृह्यते, तदा तस्य प्रमेयत्वे सति तेनैव प्रमेयत्वलक्षणो हेतुर्व्यभिचारी, अप्रमेयत्वे तस्य भागासिद्धो हेतुः । अथ सर्वज्ञज्ञानेन सर्वपदार्थग्राहिणा आत्माऽपि गृह्यत इति नानैकान्तिकः । नन्वेव सति यथा ईश्वरज्ञान ज्ञानत्वेऽप्यात्मानं स्वयं गृह्णाति, न च तत्र स्वात्मनि क्रियाविरोध., तथाऽस्मदादिज्ञानमप्येवं भविष्यतीति न कश्चिद् विरोधः । किञ्च-एवमभ्युपगमे ज्ञान ज्ञानान्तरग्राह्य प्रमेयत्वाद् घटवदित्यत्र प्रयोगे ईश्वरज्ञानस्य प्रमेयत्वे सत्यपि ज्ञानान्तरग्राह्यत्वाभावात् तेनैवानैकान्तिक. प्रमेयत्वादिति हेतु । तस्मात् ज्ञानस्य ज्ञानान्तरग्राह्यत्वेऽनेकदोषसम्भवात् स्वसंविदितं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् । ज्ञानस्वरूपश्चाऽऽत्मा । अन्यथा भिन्नज्ञानसद्भावादाकाशस्येव तस्य ज्ञातृत्वं न स्यात् । न चाऽऽकाशव्यतिरेकेण ज्ञानमात्मन्येव समवेतमिति तस्यैव ज्ञातृत्व नाऽऽकाशाऽऽदेरिति वक्तु युक्तम्, समवायस्य निषेत्स्यमानत्वात् । ज्ञानस्य च स्वसंविदितत्वे सिद्धे आत्मनोऽपि तदव्यतिरिक्तस्य तत्सिद्धमिति कथ न स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वमात्मन. ?, तत्र प्रथमपक्षस्य दुष्टत्वम् । द्वितीयपक्षेऽपि यदुक्तम्-न हि कश्चित्पदार्थं कर्तृरूप, करणरूपो वा स्वाऽऽत्मनि कर्मणीव सव्यापारो दृष्ट इति । तदप्यसङ्गतम् । भिन्नव्यापारव्यतिरेकेणापि आत्मनः कर्तुं, प्रमाणस्य च ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वप्रतिपादनात् । एकस्यैव च विज्ञाऽऽदिकरणमपेक्ष्याबाधाभेदेन यथा प्रमातृत्व, प्रमेयत्व च भवद्भिरविरुद्धत्वेनाभ्युपगम्यते, तथैकदाऽप्येकस्याऽऽत्मनोऽनेकधर्मसद्भावात् प्रमातृत्वप्रमाणत्वप्रमेयत्वान्यविरुद्धानि किं नाभ्युपगम्यन्ते ?; तत्तद्धर्मयोगात् तत्तत्स्वभावत्वस्य प्रमाणनिश्चितत्वेनाविरोधात् । यच्चोक्तम्-प्रमाणाविषयत्वेऽपरोक्षतेत्यस्य कोऽर्थं इत्यादि । तदप्यसारम् । ज्ञातृतया प्रमाणत्वेन च स्वरूपावभासनस्य प्रतिपादितत्वात् । न च घटाऽऽदे. स्वरूपस्य भिन्नज्ञानग्राह्यत्वात् प्रमातु., प्रमाणस्य च स्वरूप भिन्नज्ञानग्राह्यम् । तयोश्चिद्रूपत्वेन घटाऽऽदेस्तु तद्विपर्ययेण स्वरूपसिद्धत्वात् । न च प्रमाणप्रमातृस्वरूपग्राहकस्य प्रत्यक्षस्य तल्लक्षणेनासम्भव., तत्सग्राहकस्य लक्षणस्य प्रदर्शितत्वात् । यदपि घटमह चक्षुषा पश्यामीत्यनेनातिप्रसङ्गाऽऽपादन कृतम् । तदप्यसङ्गतम् । न हि चक्षुषो जडरूपस्यास्वसंविदितत्वे प्रमातृप्रमित्योरपि चिद्रूपयोरस्वसंविदितत्व युक्तम्, अन्यस्यज्ञात्वानुपपत्ते । यच्चोक्तम्-इन्द्रियव्यापारे सति शरीराद् व्यवच्छिन्नस्य विषयस्यैव केवलस्याऽवभासनमिति । तदत्यन्तमसङ्गतम् । विषयस्येव तदवभाससंवेदनस्यापि व्यवस्थापितत्वात्; तदभावे विषयावभास एव न स्यादित्यस्य चात. प्रमाववभास उपपन्न एव । सम्म० १ काण्ड । स्था० ।

(२२) साम्प्रत नित्यपरोक्षज्ञानवादिना मीमांसकभेदभट्टानाम्, एकाऽऽत्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादिना च यौगानां मत विकुट्टयन्नाह—

> स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः,
> प्रकाशते नार्थकथाऽन्यथा तु ।
> परे परेभ्यो भयतस्तथाऽपि,
> प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥१२॥

बोधो-ज्ञानं,स च स्वार्थावबोधक्षम एव प्रकाशते,स्वस्याऽऽत्मस्वरूपस्य,अर्थस्य च पदार्थस्य,योऽवबोध.-परिच्छेद ,तत्र क्षम एव समर्थ एव प्रतिभासते; इत्ययोगव्यवच्छेद.। प्रकाशत इति क्रियया ऽवबोधस्य प्रकाशरूपत्वसिद्धे —सर्वप्रकाशाना तु स्वार्थप्रकाशकत्वेन, बोधस्यापि तत्सिद्धिः । विपर्यये दूषणमाह-नार्थकथाऽन्यथा त्विति । अन्यथेति—अर्थप्रकाशनेऽविवादाद्, ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वानभ्युपगमेऽर्थकथैव न स्यात् । अर्थकथा पदार्थसम्बन्धिनी वार्ता,सदसद्रूपाऽऽत्मकं स्वरूपमिति यावत् । तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च, स चार्थकथया सह योजित एव । यदि हि ज्ञान स्वसंविदितं नेष्यते, तदा तेनाऽऽत्मज्ञानाय ज्ञानान्तरमपेक्षणीयम्, तेनाप्यपरमित्याद्यनवस्था; ततो ज्ञान-तावत्स्वावबोधव्यग्रतामग्नम्; अर्थस्तु—जडतया स्वरूपज्ञापनासमर्थ इति को नामार्थस्य कथामपि कथयेत् ?। तथाऽपि-एव ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे युक्त्या घटमानेऽपि,परे तीर्थान्तरीया.,ज्ञान-कर्मताऽऽपन्नम्,अनात्मनिष्ठ न विद्यते आत्मनः स्वस्य निष्ठा निश्चयो यस्य तदनात्मनिष्ठम्, अस्वसंविदितमित्यर्थः, प्रपेदिरे-प्रपन्ना. । कुत. ?, इत्याह-परेभ्यो भयतः; परे-पूर्वपक्षवादिन., तेभ्य. सकाशाद् ज्ञानस्य स्वसंविदितत्व नोपपद्यते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्युपालम्भसंभावनासम्भवद्भयं, तस्मात्.तदाश्रित्येत्यर्थ । इत्यक्षरगमनिका विधाय भावाऽर्थ. प्रपञ्च्यते-भट्टास्तावदिद वदन्ति-यद् ज्ञान स्वसंविदित न भवति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न हि सुशिक्षितोऽपि नटवटु स्वस्कन्धमधिरोढु पटु.,न च सुतीक्ष्णाऽप्यसिधारा स्वं छेत्तुमाहितव्यापारा; ततश्च परोक्षमेव ज्ञानमिति । तदेतन्न सम्यक् । यत -किमुत्पत्ति. स्वात्मनि विरुध्यते ज्ञप्तिर्वा ?। यदि उत्पत्ति., सा विरुध्यतां,न हि वयमपि ज्ञानमात्मानमुत्पादयतीति मन्यामहे । अथ ज्ञप्ति -नेयमात्मनि विरुद्धा; तदाऽऽत्मनैव ज्ञानस्य स्वहेतुभ्य उत्पादात् . प्रकाशाऽऽत्मनेव प्रदीपाऽऽलोकस्य । अथ प्रकाशाऽऽत्मैव प्रदीपाऽऽलोक उत्पन्न इति परप्रकाशकोऽस्तु.आत्मानमप्येतावन्मात्रेणैव प्रकाशयतीति कोऽयं न्यायः, इति चेत्, तत्किं तेन वराकेणाप्रकाशितेनैव स्थातव्यम्, आलोकान्तराद्वाऽस्य प्रकाशेन भवितव्यम् ?। प्रथमे प्रत्यक्षबाधो, द्वितीयेऽपि-सैवानवस्थाऽऽपत्तिश्च । अथ नासौ स्वमपेक्ष्य कर्मतया चकास्तीत्यस्वप्रकाशक स्वीक्रियते, आत्मान न प्रकाशयतीत्यर्थः; प्रकाशरूपतया तूत्पन्नत्वात् स्वय प्रकाशत एवेति चेच्चिर जीव; न हि वयमपि ज्ञान कर्मतयैव प्रतिभासमान स्वसंवेद्य ब्रूम, ज्ञान स्वय प्रतिभासत इत्यादावकर्मकस्य तस्य चकासनात् । यथा तु ज्ञान स्वं जानामीति कर्मतयाऽपि तद्भाति, तथा प्रदीप. स्व प्रकाशयतीत्ययमपि कर्मतया प्रथित एव । यस्तु स्वात्मनि क्रियाविरोधो दोष उद्भावित.-सोऽयुक्त; अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधासिद्धे ;' घटमह जानामि ' इत्यादौ कर्तृकर्मवद् ज्ञप्तेरप्यवभासमानत्वात् । स्या० १२ श्लोक । (अतीन्द्रियान् धर्मास्तिकायाऽऽदीन् छद्मस्थो न जानातीति ' छउमत्थ ' शब्दे तृतीयभागे १३३१ पृष्ठे उक्तम्)

(२३) अथ ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च निरूपयन्नाह-

जीवा णं भंते ! किं णाणी, किं अण्णाणी ?। गोयमा ! जीवा णाणी वि, अण्णाणी वि । जे णाणी, ते अत्थे-

गइया दुयणाणी, अत्थेगइया तिणाणी, अत्थेगइया चउणाणी, अत्थेगइया एगणाणी । जे दुयणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी य, सुयणाणी य । जे तिणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी । अहवा-आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, मणपज्जवणाणी । जे चउणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी । जे एगणाणी, ते नियमा केवलणाणी । जे अणाणी, ते अत्थेगइया दुअण्णाणी, अत्थेगइया तिअण्णाणी । जे दुअण्णाणी, ते मइअणाणी य, सुयअणाणी य । जे तिअण्णाणी, ते मइअणाणी, सुयअणाणी, विभंगणाणी ।

(२४) नैरयिकजीवानधिकृत्याऽऽह-

णेरइयाण भंते ! किं णाणी, अणाणी ? । गोयमा ! णाणी वि, अणाणी वि । जे णाणी, ते नियमा तिणाणी । त जहा- आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी । जे अण्णाणी, ते अत्थेगइया दुअण्णाणी, अत्थेगइया तिअणाणी, एवं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

इह च नारकाधिकारे-" जे नाणी, ते नियमा तिणाणी " इति । सम्यग्दृष्टिनारकाणां भवप्रत्ययमवधिज्ञानमस्तीति कृत्वा ते नियमात् त्रिज्ञानिन । " जे अण्णाणी ते अत्थेगइया दुअणाणी " इति । कथमुच्यते ? । असञ्ज्ञिन सन्तो ये नारकेषूत्पद्यन्ते, तेषामपर्याप्तकावस्थायां विभङ्गाभावादाद्यमेवाज्ञानद्वयमिति ते द्व्यज्ञानिन । ये तु मिथ्यादृष्टिसञ्ज्ञिभ्य उत्पद्यन्ते, तेषां भवप्रत्ययो विभङ्गो भवतीति तेऽज्ञानिन । एतदेव निगमयन्नाह—(एव तिण्णि अणाणाणि भयणाए त्ति)

असुरकुमाराणं भंते ! किं णाणी, अणाणी ? । जहेव णेरइया तहेव तिण्णि णाणाणि नियमा, तिण्णि अणाणि भयणाए, एवं० जाव थणियकुमारा ।

पुढविकाइयाणं भंते ! किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! नो णाणी, अणाणी । नियमा दुअणाणी-मतिअणाणी, सुयअणाणी य । एवं० जाव वणस्सइकाइया ।

(२५) द्वीन्द्रिया सिद्धपर्यन्ता.-

बेइंदियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी वि, अणाणी वि । जे णाणी, ते णियमा दुणाणी । त जहा-आभिणिबोहियणाणी य, सुयणाणी य । जे अण्णाणी, ते नियमा दुअण्णाणी । तं जहा-मइअण्णाणी य, सुयअण्णाणी य । एवं तेइंदियचउरिंदिया वि । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि । जे णाणी, ते अत्थेगइया दुणाणी, अत्थेगइया तिण्णाणी । एवं तिण्णि णाणाणि, तिण्णि अण्णाणाणि भयणाए । मणुस्सा जहा जीवा तहेव पंच णाणाइं, तिण्णि अणाणाणि भयणाए । वाणमंतरा जहा णेरइया, जोइसियवेमाणियाणं तिण्णि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं नियमा । सिद्धाणं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी, नो अणाणी, नियमा एगणाणी, केवलणाणी ।

(बेइंदियाणमित्यादि) द्वीन्द्रिया केचित् ज्ञानिनोऽपि सासादनसम्यग्दर्शनभावेनापर्याप्तकावस्थायां भवन्तीत्यत उच्यते- (नाणी वि, अण्णाणी वि त्ति) अनन्तरं जीवाऽऽदिषु पदेषु विंशतिपदेषु ज्ञान्यज्ञानिनश्चिन्तिताः ।

(२६) अथ तान्येव गतीन्द्रियकायाऽऽदिद्वारेषु चिन्तयन्नाह-

निरयगइयाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि, तिण्णि णाणाइं नियमा, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । तिरियगइयाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । दो णाणा, दो अण्णाणा नियमा । मणुस्सगइयाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अणाणी ? । तिण्णि णाणाइं भयणाए, दो अण्णाणाइं नियमा । देवगतिया जहा निरयगतिया । सिद्धगइया ण भंते ! ?; जहा सिद्धा ।

गत्यादिद्वाराणि चैतानि-

" गइ इंदिए य काए, सुहुमे पज्जत्तए भवत्थे य ।
भवसिद्धिए य सन्नी, लद्धी उवओगजोगे य ॥ १ ॥
लेस्सा कसाय वेए, आहारे नाणगोयरे काले ।
अतर अप्पाबहुय, च पज्जवा चेह दाराइं ॥ २ ॥ "

तत्र च निरये गतिर्गमन येषां ते निरयगतिका, तेषामिह च सम्यग्दृष्टयो, मिथ्यादृष्टयो वा ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वा ये पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्येभ्यो नरके उत्पत्तुकामा अन्तरगतौ वर्तन्ते, ते निरयगतिका विवक्षिता, एतत्प्रयोजनत्वाद् गतिग्रहणस्येति । (तिण्णि णाणाइं नियम त्ति) अवधेर्भवप्रत्ययत्वेनान्तरगतावपि भावात । (तिण्णि अणाणाइं भयणाए त्ति) असञ्ज्ञिनां नरके गच्छतां द्वे अज्ञाने, अपर्याप्तकत्वे विभङ्गस्याभावात् । सञ्ज्ञिनां तु मिथ्यादृष्टीनां त्रीणि अज्ञानानि, भवप्रत्ययविभङ्गस्य सद्भावात् । अतस्त्रीणि अज्ञानानि भजनयेत्युच्यत इति । (तिरियगइयाण त्ति) तिर्यक्षु गतिर्गमन येषां ते तिर्यग्गतिका, तेषां तदपान्तरालवर्तिनाम (दो णाण त्ति) सम्यग्दृष्टयो हि अवधिज्ञाने प्रतिपतित एव तिर्यक्षु गच्छन्ति, तेन तेषां द्वे एव ज्ञाने (दो अन्नाणेति) मिथ्यादृष्टयोऽपि विभङ्गज्ञाने प्रतिपतित एव तिर्यक्षु गच्छन्ति, तेन तेषां द्वे अज्ञाने इति । (मणुस्सगइयाणमित्यादि) (तिण्णि नाणाइं भयणाए त्ति) मनुष्यगतौ हि गच्छन्ति केचिज्ज्ञानिनोऽवधिना सहैव गच्छन्ति, तीर्थंकरवत् केचित्तु तद्विमुच्यन्ते. तेषां त्रीणि वा द्वे वा ज्ञाने स्यातामिति, ये पुनरज्ञानिनो मनुष्यगतावुत्पत्तुकामास्तेषां प्रतिपतित एव विभङ्गे तत्रोत्पत्तिः स्यादित्यत उक्तम् । (दो अन्नाणाइं नियम त्ति) (देवगइया जहा निरयगइय त्ति) देवगतौ ये ज्ञानिनो यातुकामास्तेषामवधिर्भवप्रत्ययो देवायुःप्रथमसमय एवोत्पद्यते. अतस्तेषां नारकाणामिवोच्यते—" तिण्णि नाणाइं नियम त्ति । ये अज्ञा

निनस्तेऽसंज्ञिभ्य उत्पद्यमाना द्व्यज्ञानिनोऽपर्याप्तकत्वे विभङ्गस्याभावात्, संज्ञिभ्य उत्पद्यमानास्तु त्र्यज्ञानिनो भवप्रत्ययविभङ्गस्य सद्भावात्, अतस्तेषां नारकाणामिवोच्यते- "तिण्णि अन्नाणाइं भयणाए त्ति" (सिद्धगइयाणं इत्यादि) यथा सिद्धा केवलज्ञानिन एव, एवं सिद्धिगतिका अपि वाच्या इति भाव.। यद्यपि च सिद्धानां सिद्धिगतिकानां चाप्तर्गत्यभावाद् न विशेषोऽस्ति, तथाऽपीह् गतिद्वारबलाऽऽयातत्वात् ते दर्शिताः, एवं द्वारान्तरेष्वपि परस्परान्तर्भावेऽपि तद्विशेषापेक्षयाऽपौनरुक्त्यं भावनीयमिति।

(२७) अथेन्द्रियद्वारे-

सइंदियाणं भंते! जीवा किं णाणी, अण्णाणी?। गोयमा! चत्तारि नाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। एगिंदिया णं भंते! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी?, जहा पुढविकाइया। बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं दो णाणा, दो अण्णाणा नियमा। पंचिंदिया जहा सइंदिया। अणिंदियाणं भंते! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी?, जहा सिद्धा॥

(सइंदियेत्यादि) सेन्द्रिया इन्द्रियोपयोगवन्त., ते च ज्ञानिनः, अज्ञानिनश्च। तत्र ज्ञानिना चत्वारि ज्ञानानि भजनया, स्याद् द्वे, स्यात् त्रीणि, स्यात् चत्वारि। केवलज्ञानं तु नास्ति, तेषामनीन्द्रियज्ञानत्वात्, तस्य द्व्यादिभावश्च ज्ञानाना लब्ध्यपेक्षया, उपयोगापेक्षया तु सर्वेषामेकदैकमेव ज्ञानम्। अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैव, स्याद् द्वे, स्यात् त्रीणीति। (जहा पुढविकाइय त्ति) एकेन्द्रिया मिथ्यादृष्टित्वादज्ञानिन., ते च द्व्यज्ञाना एवेत्यर्थ.। (बेइंदियेत्यादि) एषां द्वे ज्ञाने सासादनस्यैषूत्पद्यत इति कृत्वा सासादनश्चोत्कृष्टत षडावलिकामान, अतो द्वे ज्ञाने तेषु लभ्येते इति। (अणिंदिय त्ति) केवलिन.।

(२८) कायद्वारे-

सकाइयाणं भंते! जीवा किं णाणी, अण्णाणी?। गोयमा! पंच नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। पुढविकाइया० जाव वणस्सइकाइया, नो नाणी, अण्णाणी, नियमा दुअण्णाणी। तं जहा-मइअण्णाणी य, सुयअण्णाणी य। तसकाइया जहा सकाइया। अकाइयाणं भंते! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी?, जहा सिद्धा॥

(सकाइयाणमित्यादि) सह कायेनौदारिकाऽऽदिना शरीरेण पृथिव्यादिषट्कायान्यतरेण वा कायेन ये ते सकायास्त एव सकायिका., ते च केवलिनोऽपि स्युरिति सकायिकानां सम्यग्दृशा पञ्च ज्ञानानि, मिथ्यादृशा तु त्रीण्यज्ञानानि भजनया स्युरिति। (अकाइयाण त्ति) नास्ति काय उक्तलक्षणो येषा तेऽकाया, त एवाकायिका सिद्धा।

(२९) सूक्ष्मद्वारे-

सुहुमाणं भंते! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी?; जहा पुढविकाइया। बादराणं भंते! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी?, जहा सकाइया। नो सुहुमा नो बादरा णं भंते! जीवा?, जहा सिद्धा॥

(जहा पुढविकाइय त्ति) द्व्यज्ञानिनः सूक्ष्माः, मिथ्यादृष्टित्वादित्यर्थः। (जहा सकाइय त्ति) बादरा. केवलिनोऽपि भवन्तीति कृत्वा ते सकायिकवद्भजनया पञ्च ज्ञानिनस्त्र्यज्ञानिनश्च वाच्या इति।

(३०) पर्याप्तकद्वारे-

पज्जत्ताणं भंते! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी?। जहा सकाइया। पज्जत्ता णं भंते! नेरइया किं णाणी, किं अण्णाणी?। तिण्णि नाणा, तिण्णि य अण्णाणा नियमा जहा नेरइया, एवं० जाव थणियकुमारा। पुढविकाइया जहा एगिंदिया, एवं० जाव चउरिंदिया। पज्जत्ताणं भंते! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं णाणी, किं अण्णाणी?। तिण्णि णाणा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए, मणुस्सा जहा सकाइया वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा नेरइया। अपज्जत्ताणं भंते! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी?। तिण्णि णाणा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए। अपज्जत्ता णं भंते! नेरइया किं णाणी, किं अण्णाणी?। तिण्णि णाणा नियमा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए, एवं० जाव थणियकुमारा, पुढविकाइया० जाव वणस्सइकाइया, जहा एगिंदिया। बेइंदियाणं पुच्छा?। दो णाणा, दो अण्णाणा नियमा, एवं० जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अपज्जत्तगाणं भंते! मणुस्सा किं णाणी, किं अण्णाणी?। तिण्णि नाणाइं भयणाए, दो अण्णाणाइं नियमा। वाणमंतरा जहा नेरइया अपज्जत्तगा, जोइसियवेमाणियाणं तिण्णि नाणा, तिण्णि अण्णाणा नियमा। नो पज्जत्तगा, नो अपज्जत्तगा णं भंते! जीवा किं णाणी, किं अण्णाणी?, जहा सिद्धा॥

(जहा सकाइय त्ति) पर्याप्तका केवलिनोऽपि स्युरिति ते सकायिकवत्पूर्वोक्तप्रकारेण वाच्या. पर्याप्तकद्वार एव चतुर्विंशतिदण्डके पर्याप्तकनारकाणां (तिन्नि य अन्नाणा नियम त्ति) अपर्याप्तकानामेवासंज्ञिनारकाणा विभङ्गाभाव इति पर्याप्तकावस्थाया तेषामज्ञानत्रयमेवेति। (एवं० जाव चउरिंदिय त्ति) द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिया. पर्याप्तका, द्व्यज्ञानिन एवेत्यर्थ.। (पज्जत्ता ण भंते! पंचिंदियतिरिक्खेत्यादि) पर्याप्तकपञ्चेन्द्रियतिरश्चामवधिर्विभङ्गो वा केषाञ्चित् स्यात्, केषाञ्चित्पुनर्नेति त्रीणि ज्ञानानि, अज्ञानानि वा द्वे वा ज्ञाने अज्ञाने वा तेषां स्यातामिति। (बेइंदियाण दो णाणेत्यादि) अपर्याप्तकद्वीन्द्रियाऽऽदीना केषाञ्चित्सासादनसम्यग्दर्शनस्य सद्भावाद् द्वे ज्ञाने, केषाञ्चित् पुन तस्याभावाद् द्वे एवाज्ञाने, अपर्याप्तकमनुष्याणां पुन सम्यग्दृशामवधिभावे त्रीणि ज्ञानानि, यथा तीर्थकराणां, तदभावे तु द्वे ज्ञाने, मिथ्यादृशा तु द्वे एवाज्ञाने, विभङ्गस्यापर्याप्तकत्वे तेषामभावात्। अत एवोक्तम्-(तिण्णि नाणाइं भयणाए, दो अण्णाणाइं नियम त्ति) (वाणमंतरेत्यादि) व्यन्तरा अपर्याप्तका नारका इव त्रिज्ञाना द्व्यज्ञानास्त्र्यज्ञाना वा वाच्या। तेष्वसंज्ञिभ्य उत्पद्यमानानामपर्याप्तकाना विभङ्गाभावात्, शेषाणां चावधेर्विभङ्गस्य वा भावात्। (जोइसियेत्यादि) एतेषु हि संज्ञिभ्य एवोत्पद्यन्ते,

तेषां चापर्याप्तकत्वेऽपि भवप्रत्ययस्यावधेर्विभङ्गस्य चावश्य भावात् त्रीणि ज्ञानान्यज्ञानानि वा स्युरिति । (नोपज्जत्तगनोअपज्जत्तग त्ति) सिद्धाः ।

(३१) भवस्थद्वारे—

निरयभवत्थाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अणाणी ?, जहा निरयगइया । तिरियभवत्थाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ?। तिण्णि णाणा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए, मणुस्सभवत्था जहा सकाइया । देवभवत्थाणं भंते ! जहा निरयभवत्था, अभवत्था ?, जहा सिद्धा ॥

(निरयभवत्थाणमित्यादि) निरयभवे तिष्ठन्तीति निरयभवस्थाः प्राप्तोत्पत्तिस्थाना , ते च यथा निरयगतिकाः त्रिज्ञानाः, त्र्यज्ञानास्त्वज्ञानाश्चोक्ताः, तथा वाच्या इति ।

(३२) भव्यद्वारे-

भवसिद्धिया णं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ?, जहा सकाइया । अभवसिद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! नो णाणी, अण्णाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए, नो भवसिद्धिया, नो अभवसिद्धियाणं जीवा जहा सिद्धा ।

भवसिद्धिकाः केवलिनोऽपीति ते सकायिकवद् भजनया पञ्चज्ञाना , तथा यावत्सम्यक्त्वं न प्रतिपन्नास्तावद्भजनयैव त्र्यज्ञानाश्च वाच्या इति । अभवसिद्धिकानां त्वज्ञानत्रय भजनया स्यात् , सदा मिथ्यादृष्टित्वात् तेषाम् । अत उक्तम्-"नो णाणी, अण्णाणी " इत्यादीति ।

(३३) संज्ञिद्वारे-

सण्णीणं पुच्छा ? । जहा सइंदिया, असण्णी जहा बेइंदिया, नो सण्णी, नो असण्णी, जहा सिद्धा ।

ज्ञानानि चत्वारि भजनया, अज्ञानानि च त्रीणि तथैवेत्यर्थः । (असण्णी जहा बेइंदिय त्ति) अपर्याप्तकावस्थाया ज्ञानद्वयमपि सासादनतया स्यात्, पर्याप्तकावस्थाया त्वज्ञानद्वयमेवेत्यर्थः । भ० ८ श० २ उ० । (लब्धिभेदा 'लद्धि' शब्दे दर्शयिष्यन्ते)

(३४) लब्धिद्वारे-

णाणलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! णाणी , नो अण्णाणी , अत्थेगइया दुणाणी, एवं पंच णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अणाणी ? । गोयमा ! णो णाणी, अणाणी, अत्थेगइया दुअणाणी, तिण्णि अणाणाइं भयणाए । आभिणिबोहियणाणलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अणाणी ? । गोयमा ! णाणी, णो अणाणी, अत्थेगइया दुणाणी, चत्तारि णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! णाणी वि, अणाणी वि । जे णाणी, ते नियमा एगणाणी, केवलणाणी । जे अणाणी, ते अत्थेगइया दुअण्णाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । एवं सुयणाणलद्धिया वि । तस्स अलद्धिया वि जहा आभिणिबोहियणाणस्स लद्धिया । ओहिणाणलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी, अत्थेगइया तिण्णाणी, अत्थेगइया चउणाणी, जे तिणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी । जे चउणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी । तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी वि, अणाणी वि, ओहिणाणवज्जाइं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । मणपज्जवणाणलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी, अत्थेगइया तिण्णाणी, अत्थेगइया चउणाणी । जे तिणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, मणपज्जवणाणी । जे चउणाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी । तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि । मणपज्जवणाणवज्जाइं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । केवलणाणलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी नियमा एगणाणी, केवलणाणी । तस्स अलद्धियाण पुच्छा ? । गोयमा ! णाणी वि, अणाणी वि, केवलणाणवज्जाइं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । अण्णाणलद्धियाण भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! नो णाणी, अणाणी, तिण्णि अणाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाण भंते ! ?। गोयमा ! णाणी, नो अणाणी, पंच णाणाइं भयणाए , जहा अण्णाणस्स लद्धिया अलद्धिया भणिया, एवं मइअण्णाणस्स, सुयअण्णाणस्स य लद्धिया अलद्धिया य भाणियव्वा । विभंगणाणलद्धियाणं तिण्णि अण्णाणाइं नियमा । तस्स अलद्धियाणं पंच णाणाइं भयणाए, दो अण्णाणाइं नियमा । दंसणलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि, पंच णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! तस्स अलद्धिया नत्थि । सम्मदंसणलद्धियाणं पंच णाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । मिच्छादंसणलद्धियाणं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! नो णाणी, अन्नाणी, तिण्णि अणाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं भंते ! किं णाणी, अण्णाणी ?। गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि । पंच णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए । सम्मामिच्छादंसणलद्धिया अलद्धिया य जहा मिच्छादंसणलद्धिया अलद्धिया य तहेव भाणियव्वा ।

(तस्स अलद्धियाण त्ति) तस्य ज्ञानस्य अलब्धिका अलब्धिमन्तो, ज्ञानलब्धिरहिता इत्यर्थः। (आभिणिबोहियणाणेत्यादि) आभिनिबोधिकज्ञानलब्धिकानां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, केवलिनो नास्त्याभिनिबोधिकज्ञानमिति। मतिज्ञानस्यालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्ते केवलिनः, ते चैकज्ञानिन एव; ये त्वज्ञानिनस्तेऽज्ञानद्वयवन्तोऽज्ञानत्रयवन्तो वा; एवं श्रुतेऽपि। (ओहिणाणलद्धीत्यादि) अवधिज्ञानलब्धिकाः त्रिज्ञानाः, केवलमनःपर्यायसद्भावे चतुर्ज्ञाना वा; केवलाभावात्, अवधिज्ञानस्यालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्ते द्विज्ञाना मतिश्रुतभावात्, त्रिज्ञाना वा मतिश्रुतमनःपर्यायभावात्, एकज्ञाना वा केवलभावात्। ये त्वज्ञानिनस्ते द्वयज्ञाना मत्यज्ञानश्रुताज्ञानभावात्, त्र्यज्ञाना वा त्रयस्यापि भावात्। (मणपज्जवेत्यादि) मनःपर्यवज्ञानलब्धिकास्त्रिज्ञानाः, अवधिकेवलाभावात्, चतुर्ज्ञाना वा केवलस्यैवाभावात्। मनःपर्यवज्ञानस्यालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्ते द्विज्ञानाः, आद्यद्वयभावात्, त्रिज्ञाना वा आद्यत्रयभावात्, एकज्ञाना वा केवलस्यैव भावात्, ये त्वज्ञानिनः ते द्वयज्ञाना आद्याज्ञानद्वयभावात्, त्र्यज्ञाना वा अज्ञानत्रयस्यापि भावात्। (केवलनाणेत्यादि) केवलज्ञानलब्धिका एकज्ञानिनः, ते च केवलज्ञानिन एव, केवलज्ञानस्यालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्तेषामाद्यज्ञानद्वयं तत्त्रयं मतिश्रुतमनःपर्यायज्ञानानि वा केवलज्ञानवर्जानि चत्वारि वा ज्ञानानि भवन्ति। ये त्वज्ञानिनस्तेषामाद्यमज्ञानद्वयं, तत्त्रयं वा भवतीत्येवं भजनाऽवसेयेति। (अण्णाणलद्धियाणमित्यादि) अज्ञानलब्धिका अज्ञानिनस्तेषां च त्रीण्यज्ञानानि भजनया, द्वे अज्ञाने, त्रीणि वा अज्ञानानीत्यर्थः। अज्ञानालब्धिकास्तु ज्ञानिनस्तेषां च पञ्च ज्ञानानि भजनया पूर्वोपदर्शितया वाच्यानि। (जहा अण्णाणेत्यादि) अज्ञानलब्धिकानां त्रीणि अज्ञानानि भजनयोक्तानि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानलब्धिकानामपि तानि तथैव। तथा अज्ञानालब्धिकानां पञ्च ज्ञानानि भजनयोक्तानि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानलब्धिकानामपि पञ्च ज्ञानानि भजनयैव वाच्यानीति। (विभंगेत्यादि) विभङ्गज्ञानलब्धिकानां तु त्रीण्यज्ञानानि नियमात्, तदलब्धिकानां ज्ञानिनां पञ्च ज्ञानानि भजनया, अज्ञानिनां च द्वे अज्ञाने नियमादिति। (दंसणलद्धीत्यादि) दर्शनलब्धिकाः श्रद्धानमात्रलब्धिका इत्यर्थः, ते च सम्यक् श्रद्धानवन्तो ज्ञानिनः, तदितरे त्वज्ञानिनः, तत्र ज्ञानिनां पञ्च ज्ञानानि भजनया, अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैवेति। (तस्स अलद्धिया नत्थि त्ति) तस्य दर्शनस्य येषामलब्धिः, ते न सन्त्येव, सर्वजीवानां रुचिमात्रस्याऽस्त्यादिति। (सम्मदंसणलद्धियाण त्ति) सम्यग्दृष्टीनाम्। (तस्स अलद्धियाणमित्यादि) तस्यालब्धिकानां सम्यग्दर्शनस्यालब्धिमतां मिथ्यादृष्टीनां मिश्रदृष्टीनां च त्रीण्यज्ञानानि भजनया, यतो मिश्रदृष्टीनामप्यज्ञानमेव तात्त्विकसद्बोधाहेतुत्वाद् मिथ्यात्वेति। (मिच्छादंसणलद्धियाण त्ति) मिथ्यादृष्टीनाम्। (तस्स अलद्धियाणमित्यादि) तस्यालब्धिकानां मिथ्यादर्शनस्यालब्धिमतां सम्यग्दृष्टीनां मिश्रदृष्टीनां च क्रमेण पञ्च ज्ञानानि, त्रीण्यज्ञानानि च भजनयेति। भ० ८ श० २ उ०। (निर्ग्रन्थानां 'णिग्गंथ' शब्दे तथा संयतानां 'संजय' शब्दे वक्तव्यता)

चरित्तलद्धियाणं भंते! जीवा किं णाणी, अण्णाणी?। गोयमा! पंच नाणाइं भयणाए, तस्स अलद्धियाणं मणपज्जवणाणवज्जाइं चत्तारि नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। सामाइयचरित्तलद्धियाणं भंते! जीवा किं णाणी, अण्णाणी?। गोयमा! चत्तारि णाणाइं भयणाए, तस्स अलद्धियाणं पंच नाणाइं, तिण्णि य अण्णाणाइं भयणाए। एवं जहा सामाइयचरित्तलद्धिया अलद्धिया य भणिया एवं जाव अहक्खायचरित्तलद्धिया अलद्धिया य भाणियव्वा, नवरं अहक्खायचरित्तलद्धियाणं पंच नाणाइं भयणाए। चरित्ताचरित्तलद्धियाणं भंते! जीवा किं णाणी, अण्णाणी?। गोयमा! नाणी, नो अण्णाणी, अत्थेगइया दुनाणी, अत्थेगइया तिण्णाणी, जे दुनाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी य। जे तिण्णाणी, ते आभिणिबोहियणाणी य, सुयणाणी य, ओहिणाणी य। तस्स अलद्धियाणं पंच नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

(चरित्तलद्धियाणमित्यादि) चरित्रलब्धिका ज्ञानिन एव, तेषां च पञ्च ज्ञानानि भजनया, यतः केवल्यपि चारित्री, चरित्रलब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्तेषां मनःपर्यववर्जानि चत्वारि ज्ञानानि भजनया भवन्ति, कथमसंयतत्वे आद्यं ज्ञानद्वयं, तत्त्रयं वा; सिद्धत्वे च केवलज्ञानं, सिद्धानामपि चरित्रलब्धिशून्यत्वात्, यतस्ते नो चारित्रिणो नोऽचारित्रिण इति। ये त्वज्ञानिनस्तेषां त्रीण्यज्ञानानि भजनया। (सामाइयेत्यादि) सामायिकचारित्रलब्धिका ज्ञानिन एव, तेषां च केवलज्ञानवर्जानि चत्वारि ज्ञानानि भजनया, सामायिकचारित्रालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनः तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया छेदोपस्थापनीयाऽऽदिभावेन, सिद्धभावेन वा; ये त्वज्ञानिनः तेषां त्रीण्यज्ञानानि भजनया, एवं छेदोपस्थापनीयाऽऽदिष्वपि वाच्यम्। एतदेवाऽऽह-(एवमित्यादि) तत्र छेदोपस्थापनीयाऽऽदिचरित्रत्रयलब्धयो ज्ञानिन एव, तेषां चाऽऽद्यानि चत्वारि ज्ञानानि भजनया, तदलब्धयो यथाख्यातचारित्रलब्धयश्च ये ज्ञानिनः, तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, ये त्वज्ञानिनस्तेषामज्ञानत्रयं भजनयैव, यथाऽऽख्यातचरित्रलब्धिकानां तु विशेषोऽस्ति, अत उक्तं तद्दर्शनायाऽऽह-(नवरमहक्खायेत्यादि) सामायिकाऽऽदिचारित्रचतुष्टयलब्धिमतां छद्मस्थत्वेन चत्वार्येव ज्ञानानि भजनया, यथाख्यातचरित्रलब्धिमतां छद्मस्थेतरभावेन पञ्चापि भजनया भवन्तीति तेषां तथैव तानि उक्तानीति। "चरित्ताचरित्त" इत्यादौ (तस्स अलद्धिय त्ति) चरित्राचरित्रस्यालब्धिकाः श्रावकादन्ये ते च ये ज्ञानिनस्तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, ये त्वज्ञानिनस्तेषां त्रीण्यज्ञानानि भजनयैव।

दाणलद्धियाणं पंच णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं पुच्छा?। गोयमा! नाणी, नो अन्नाणी णियमा एगणाणी केवलणाणी। एवं जाव वीरियलद्धिया, अलद्धिया भाणियव्वा। बालवीरियलद्धियाणं तिण्णि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए। तस्स अलद्धियाणं पंच नाणाइं भयणाए। पंडियवीरियलद्धियाणं

पंच नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं मणपज्जवनाणवज्जाइं नाणाइं अण्णाणाइं तिन्नि य भयणाए । बालपंडियवीरियलद्धियाणं तिण्णि नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं पंच णाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

(दाणलद्धियाणमित्यादि) दानान्तरायक्षयक्षयोपशमाद्दाने दातव्ये लब्धिर्येषां ते दानलब्धय, ते च ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च । तत्र ये ज्ञानिनः तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, केवलज्ञानिनामपि दानलब्धियुक्तत्वात् । ये तु अज्ञानिन. तेषां त्रीणि अज्ञानानि भजनयैव, दानस्यालब्धिकास्तु सिद्धा., ते च दानान्तरायक्षयेऽपि दातव्याभावात् सम्प्रदानासत्त्वात् दानप्रयोजनाभावाच्च दानालब्धय उक्ताः, ते च नियमात् केवलज्ञानिन इति, लाभभोगोपभोगवीर्यलब्धिः सेतरा । अतिदिशन्नाह-(एवमित्यादि) इह चालब्धयः सिद्धानामेवोक्तन्यायादवसेयाः । ननु दानाऽद्यन्तरायक्षयात्केवलिनां दानाऽऽदय सर्वप्रकारेण कस्मान्न भवन्तीति ?, उच्यते-प्रयोजनाभावात्, कृतकृत्या हि ते भगवन्त इति । (बालवीरियलद्धियाणमित्यादि) बालवीर्यलब्धयोऽसंयता., तेषां च ज्ञानिनां त्रीणि ज्ञानानि, अज्ञानिनां च त्रीण्यज्ञानानि भजनया भवन्ति, तदलब्धिकास्तु संयताः, संयतासंयताश्च, ते च ज्ञानिन एव; तेषां च पञ्च ज्ञानानि भजनया । " पंडियवीरियं " इत्यादौ (तस्स अलद्धियाण त्ति) असंयतानां संयतासंयतानां सिद्धानां चेत्यर्थ ,तत्रासंयतानामाद्यज्ञानत्रयमज्ञानत्रय च भजनया, संयतासंयतानां तु ज्ञानत्रय भजनयैव भवति, सिद्धानां तु केवलज्ञानमेव, मनःपर्यायज्ञान तु पण्डितवीर्यलब्धिवतामेवेति, नान्येषाम् । अत उक्तम्-(मणपज्जवेत्यादि) सिद्धानां च पण्डितवीर्यालब्धिकत्व पण्डितवीर्यवाच्ये प्रत्युपेक्षणाऽऽद्यनुष्ठाने प्रवृत्त्यभावात् । " बालपंडिय " इत्यादौ (तस्स अलद्धियाण त्ति) अश्रावकाणामित्यर्थः ।

इंदियलद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । गोयमा ! चत्तारि नाणाइं, तिण्णि य अन्नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! नाणी नो अण्णाणी नियमा एगनाणी केवलणाणी । सोइंदियलद्धियाणं जहा इंदियलद्धिया, तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! नाणी वि, अण्णाणी वि । जे नाणी, ते अत्थेगइया दुनाणी, अत्थेगइया एगनाणी । जे दुनाणी,ते आभिणिबोहियनाणी, सुयणाणी । जे एगनाणी,ते केवलनाणी,जे अण्णाणी,ते नियमा दुअण्णाणी । तं जहा-मतिअण्णाणी,सुयअण्णाणी । चक्खिदियघाणिंदियलद्धियाणं अलद्धियाण य जहेव सोइंदियलद्धिया अलद्धिया । जिब्भिंदियलद्धियाणं चत्तारि नाणाइं, तिण्णि अन्नाणाइं भयणाए । तस्स अलद्धियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! नाणी वि, अन्नाणी वि । जे नाणी, ते नियमा एगनाणी केवलनाणी, जे अन्नाणी, ते णियमा दुअण्णाणी । तं जहा-मइअन्नाणी य, सुयअन्नाणी य । फासिंदियलद्धिया य, अलद्धिया य जहा इंदियलद्धिया अलद्धिया य ।

(इंदियलद्धियाणमित्यादि) इन्द्रियलब्धिका ये ज्ञानिनः, तेषां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, केवलं तु नास्ति, तेषां केवलिनामिन्द्रियोपयोगाभावात् । ये त्वज्ञानिन', तेषामज्ञानत्रयं भजनयैवेति । इन्द्रियालब्धिकाः पुनः केवलिन एवेत्येकमेव तेषां ज्ञानमिति । (सोइंदिय इत्यादि) श्रोत्रेन्द्रियलब्धय इन्द्रियलब्धिका इव वाच्याः, ते च ये ज्ञानिन., ते अकेवलित्वादाद्यज्ञानचतुष्टयवन्तो भजनया भवन्ति, अज्ञानिनस्तु भजनया त्र्यज्ञानाः, श्रोत्रेन्द्रियालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनः ते आद्यद्विज्ञानिन , ते च अपर्याप्तकाः सासादनसम्यग्दर्शनिनो विकलेन्द्रिया एकज्ञानिनो वा केवलज्ञानिन.,ते हि श्रोत्रेन्द्रियालब्धिका इन्द्रियोपयोगाभावात्, ये त्वज्ञानिनः ते पुनराद्याज्ञानद्वयवन्त इति । (चक्खिदिय इत्यादि) अयमर्थः-यथा श्रोत्रेन्द्रियलब्धिमतां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, त्रीणि चाज्ञानानि भजनयैव, तदलब्धिकानां च द्वे ज्ञाने, द्वे चाज्ञाने, एकं च ज्ञानमुक्तम् । एवं चक्षुरिन्द्रियलब्धिकानां घ्राणेन्द्रियलब्धिकानां तदलब्धिकानां च वाच्यम् , तत्र चक्षुरिन्द्रियलब्धिका घ्राणेन्द्रियलब्धिकाश्च ये पञ्चेन्द्रिया , तेषां केवलवर्जानि चत्वारि ज्ञानानि, त्रीणि चाज्ञानानि भजनया, ये तु विकलेन्द्रिया. चक्षुरिन्द्रियघ्राणेन्द्रियलब्धिकाः, तेषां सासादनसम्यग्दर्शनभावे आद्य ज्ञानद्वय, तदभावे त्वाद्यमेवाज्ञानद्वयम्, चक्षुरिन्द्रियघ्राणेन्द्रियालब्धिकास्तु यथायोग त्रिद्व्येकेन्द्रिया. केवलिनश्च, तत्र त्रिद्वीन्द्रियाऽऽदीनां सासादनभावे आद्यज्ञानद्वयसंभव', तदभावे त्वाद्याज्ञानद्वयसंभव., केवलिनां त्वेक केवलज्ञानमिति । " जिब्भिंदिय " इत्यादौ (तस्स अलद्धिय त्ति) जिह्वालब्धिवर्जिता., ते च केवलिन एकेन्द्रियाश्चेत्यत आह—(नाणी वीत्यादि) ये ज्ञानिनस्ते नियमात् केवलज्ञानिनः, येऽज्ञानिनस्ते नियमात् द्व्यज्ञानिन., एकेन्द्रियाणां सासादनभावतोऽपि सम्यग्दर्शनस्याभावात् , विभङ्गाभावाच्चेति । (फासिंदिय इत्यादि) स्पर्शनेन्द्रियलब्धिका केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्कवन्तो भजनया, तथैवाज्ञानत्रयवन्तो वा; स्पर्शनेन्द्रियालब्धिकास्तु केवलिन एव । इन्द्रियलब्ध्यलब्धिमन्तोऽप्येवंविधा एवेत्यत उक्तम्-(जहा इंदिय इत्यादि)

(३५) उपयोगद्वारे-

सागारोवउत्ताणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । पंच णाणाइं, तिन्नि अण्णाणाइं भयणाए । आभिणिबोहियणाणसागारोवउत्ताण भंते ! चत्तारि णाणाइं भयणाए । एवं सुयणाणसागारोवउत्ता वि । ओहिणाणसागारोवउत्ता जहा ओहिणाणलद्धिया । मणपज्जवणाणसागारोवउत्ता जहा मणपज्जवणाणलद्धिया । केवलणाणसागारोवउत्ता जहा केवलणाणलद्धिया । मइअण्णाणसागारोवउत्ताणं तिन्नि अण्णाणाइं भयणाए । एवं सुयअण्णाणसागारोवउत्ता वि । विभंगणाणसागारोवउत्ताणं तिन्नि अण्णाणाइं नियमा । अणागारोवउत्ताणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । पंच नाणाइं, तिन्नि अण्णाणाइं भयणाए । एवं चक्खुदंसणअचक्खुदंसणअणागारोवउत्ता वि, नवरं चत्तारि नाणाइं, तिन्नि अण्णाणाइं भयणाए । ओहिदंसणअणागारोवउत्ताणं पुच्छा ? ।

गोयमा ! नाणी वि, अन्नाणी वि, जे नाणी, ते अत्थेगइया तिनाणी, अत्थेगइया चउनाणी, जे तिनाणी, ते आभिणिबोहियणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी । जे चउनाणी, ते आभिणिबोहियणाणी० जाव मणपज्जवणाणी । जे अन्नाणी, ते नियमा तिअन्नाणी । तं जहा-मइअन्नाणी, सुयअन्नाणी, विभंगणाणी । केवलदंसणअणागारोवउत्ता जहा केवलणाणलद्धिया ॥

(सागारोवउत्ता इत्यादि) आकारो विशेषः, तेन सह यो बोधः स साकारो, विशेषग्राहको बोध इत्यर्थः । तस्मिन्नुपयुक्ताः तत्संवेदका ये ते साकारोपयुक्ताः, ते च ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च, तत्र ज्ञानिनां पञ्च ज्ञानानि भजनया, स्यात् द्वे, स्यात् त्रीणि, स्यात् चत्वारि, स्यादेकं, यच्च स्यात् द्वे इत्याद्युच्यते, तल्लब्धिमात्रमङ्गीकृत्य, उपयोगापेक्षया त्वेकैकमेव ज्ञानमज्ञानं चेति, अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैवेति । अथ साकारोपयोगभेदापेक्षमाह-(आभिणी त्यादि) (ओहिणाणसागारेत्यादि) अवधिज्ञानसाकारोपयुक्ता यथा अवधिज्ञानलब्धिकाः प्रागुक्ताः, स्यात् त्रिज्ञानिनो मतिश्रुतावधियोगात्, स्याच्चतुर्ज्ञानिनो मतिश्रुतावधिमनःपर्यवयोगात् तथा वाच्याः । (मणपज्जव इत्यादि) मनःपर्यवज्ञानसाकारोपयुक्ता यथा मनःपर्यवज्ञानलब्धिकाः प्रागुक्ताः, स्यात् त्रिज्ञानिनो मतिश्रुतमनःपर्यवयोगात्, स्याच्चतुर्ज्ञानिनः केवलवर्जज्ञानयोगात् तथा वाच्या इति । (अणागारोवउत्ताणमित्यादि) अविद्यमान आकारो यत्र तदनाकारं दर्शनं, तत्रोपयुक्ताः तत्संवेदका ये ते तथा, ते च ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च, तत्र ज्ञानिनां लब्ध्यपेक्षया पञ्च ज्ञानानि भजनया, अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैव । (एवमित्यादि) यथा अनाकारोपयुक्ता ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चोक्ताः, एवं चक्षुर्दर्शनाद्युपयुक्ता अपि (नवरं ति) विशेषः पुनरयम्-चक्षुर्दर्शनेतरोपयुक्ताः केवलिनो न भवन्तीति तेषां चत्वारि ज्ञानानि भजनयेति ।

(३६) योगद्वारे-

सजोगीणं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ? । जहा सकाइया । एवं मणजोगी, वयजोगी वि, कायजोगी वि, अजोगी जहा सिद्धा ।

(सजोगीणमित्यादि) (जहा सकाइय त्ति) प्रागुक्ते कायद्वारे यथा सकायिका भजनया पञ्च ज्ञानाः त्र्यज्ञानाश्चोक्ताः, तथा सयोगा अपि वाच्याः । एवं मनोयोगाऽऽदयोऽपि, केवलिनोऽपि, मनोयोगाऽऽदीनां भावात् । तथा मिथ्यादृशां मनोयोगाऽऽदिमतामज्ञानत्रयभावाच्च । (अजोगी जहा सिद्ध त्ति) अयोगिनः केवललक्षणैकज्ञानिन इत्यर्थः ।

(३७) लेश्याद्वारे-

सलेस्साणं भंते ! ?, जहा सकाइया । किण्हलेस्साणं भंते ! ?, जहा सकाइया सइंदिया । एवं० जाव पम्हलेस्सा, सुक्कलेस्सा, जहा सलेस्सा । अलेस्सा ?, जहा सिद्धा ।

(जहा सकाइय त्ति) सलेश्याः सकायिकवद्भजनया पञ्च ज्ञानाः, त्र्यज्ञानाश्च वाच्याः, केवलिनोऽपि शुक्ललेश्यासम्भवेन सलेश्यत्वात् । (कण्हलेस्सेत्यादौ) (जहा सइंदिय त्ति) कृष्णलेश्याश्चतुर्ज्ञानिनः त्र्यज्ञानिनश्च भजनयेत्यर्थः । (सुक्कलेस्सा जहा सलेस्स त्ति) पञ्च ज्ञानिनो भजनया त्र्यज्ञानिनश्चेत्यर्थः । (अलेस्सा जहा सिद्ध त्ति) एकज्ञानिन इत्यर्थः ।

(३८) कषायद्वारे—

सकसाइयाणं भंते ! जहा सइंदिया । एवं० जाव लोहकसाइयाणं । अकसाइयाणं भंते ! किं णाणी, अन्नाणी ?। पंच नाणाइं भयणाए ।

(सकसाइया जहा सइंदिय त्ति) भजनया, केवलवर्जचतुर्ज्ञानिनस्त्र्यज्ञानिनश्चेत्यर्थः । (अकसाइयाणमित्यादि) अकषायिणां पञ्च ज्ञानानि भजनया, कथमुच्यते ?-छद्मस्थो वीतरागः केवली चाकषायः, तत्र छद्मस्थवीतरागस्याऽऽद्यज्ञानचतुष्कं भजनया भवति, केवलिनस्तु पञ्चममिति ।

(३९) वेदद्वारे-

सवेदगाणं भंते ! जहा सइंदिया । एवं इत्थिवेदगा वि, एवं पुरिसवेदगा वि, नपुंसगवेदगा वि । एवं अवेदगा, जहा अकसाइया ।

(जहा सइंदिय त्ति) सवेदकाः सेन्द्रियवद्भजनया केवलिवर्जचतुर्ज्ञानिनः, त्र्यज्ञानिनश्च वाच्याः । (अवेदगा जहा अकसाइय त्ति) अवेदका अकषायिवद्भजनया पञ्चज्ञाना वाच्याः, यतोऽनिवृत्तिबादराऽऽदयोऽवेदका भवन्ति, तेषु च छद्मस्थानां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, केवलिनां तु पञ्चममिति ।

(४०) आहारकद्वारे-

आहारगाणं भंते ! जीवा ?; जहा सकसाइया, नवरं केवलनाणं पि । अणाहारगाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी ? । मणपज्जवनाणवज्जाइं नाणाइं अन्नाणाइं तिण्णि भयणाए ।

(आहारगेत्यादि) सकषाया भजनया चतुर्ज्ञानाः त्र्यज्ञानाश्चोक्ताः, आहारका अप्येवमेव, नवरमाहारकाणां केवलमप्यस्ति, केवलिन आहारकत्वादपीति । (अणाहारगाणमित्यादि) मनःपर्यवज्ञानमाहारकाणामेवाऽद्य पुनर्ज्ञानत्रयमज्ञानत्रयं च विग्रहे केवलं च केवलिनः समुद्घातशैलेशीसिद्धावस्थास्वनाहारकाणामपि स्यात् । अत उक्तम्-(मणपज्जवेत्यादि) भ० ८ श० २ उ० । प्रज्ञा० । अनु० । कर्म० । (गुणस्थानकमाश्रित्य ज्ञानविचारो 'गुणट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ६९७ पृष्ठे कृत) "णाणहा इगिएण तु, पेहिएण य कोसला । अकुसेण उ पचाला, नाणुत्त दक्खिणावहा ॥ १ ॥ " व्य० १० उ० । (आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानानां विषया 'आभिणिबोहियणाण' इत्यादिशब्दे द्रष्टव्या)(कायस्थितिः 'कायठिइ' शब्दे तृतीयभागे ४५८ पृष्ठे उक्ता) ('पज्जव' शब्दे आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानपर्यवा द्रष्टव्याः) (जीवाः प्रत्याख्यानं जानन्तीति ' पच्चक्खाण ' शब्दे वक्ष्यते)

(४१) तत्त्वसंवेदनं ज्ञानम्-

विषयप्रतिभासं चा-ऽऽत्मपरिणतिमत्तथा ।
तत्त्वसंवेदनं चैव, ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥ १ ॥

विषयः श्रोत्राऽऽदीन्द्रियज्ञानगोचरः शब्दाऽऽदिः, तस्यैव न पुनस्तत्प्रवृत्तौ तज्जन्यस्याऽऽत्मनोऽर्थानर्थसद्भावस्य, प्रतिभासः प्रति-

भासन परिच्छेदो यत्र तद् विषयप्रतिभासमैहिकाऽऽमुष्मिकेषु छाद्मस्थिकज्ञानविषयेषु अर्थेषु प्रवृत्त्यात्मनस्तात्त्विकार्थनिर्णयप्रतिभासशून्यमित्यर्थः । ज्ञानमाहुरिति सम्बन्धः, चशब्द उत्तरज्ञानविशेषापेक्षया समुच्चयार्थः । इदं च मिथ्यादृशां भवतीति । तथा आत्मनो जीवस्य परिणतिरनुष्ठानविशेषसम्पाद्यः परिणामविशेषः, सैव ज्ञेयतया यस्मिन्नस्ति ज्ञाने न पुनस्तदनुरूपप्रवृत्तिनिवृत्ती अपि तदात्मपरिणतिमत्। तथेति समुच्चये। इदं चाविरतसम्यग्दृष्टीनां भवति, तत्त्व परमार्थः, तत् सम्यग् विद्यते ज्ञायते येन तत्त्वसंवेदनं, हेयोपादेयार्थप्रवृत्तिनिवृत्तिसम्पादकमित्यर्थः । चशब्दः समुच्चये,एवकारोऽवधारणे। तस्यैव प्रयोगः-तत्त्वसंवेदनमेव च,नोक्तव्यतिरिक्तम्, इदं च विशुद्धचारित्रिणां स्यात्, ज्ञानं बोधम्, आहुर्ब्रुवते, महर्षयो महामुनयः, एते च त्रयोऽपि ज्ञानभेदा मत्यादिविशेषा एवेति ॥ १ ॥

आद्यस्वरूपमाह-

विषकण्टकरत्नाऽऽदौ, बालाऽऽदिप्रतिभासवत् ।
विषयप्रतिभासं स्यात्, तद्धेयत्वाऽऽद्यवेदकम् ॥२॥

विषं च शृङ्गिकाऽऽदिकम्, कण्टकाश्च बब्बूलाऽऽद्यवयवविशेषा इति हेयं वस्तु, रत्नानि च मरकताऽऽदीनि तानि चोपादेयं, विषकण्टकरत्नानि तानि आदिर्यस्य तत्तथा, तत्र विषकण्टकरत्नाऽऽदौ वस्तुनि, इहाऽऽदिशब्दाद् हेयोपादेयरूपवस्त्वन्तरपरिग्रहः, उपेक्षणीयपरिग्रहो वा । बालः शिशुरादिर्येषां ते बालाऽऽदयः, आदिशब्दादतिमुग्धपरिग्रहः । तेषां प्रतिभासो वस्तुबोधो बालाऽऽदिप्रतिभासः, स इव बालाऽऽदिप्रतिभासवत्, तत्तुल्यमित्यर्थः । विषयप्रतिभासमुक्तनिर्वचनं ज्ञानं, स्याद् भवेत् । कथं बालाऽऽदिप्रतिभासतुल्यत्वमस्येत्याह-तेषां ज्ञेयविषयाणां, हेयत्वाऽऽदि-हेयत्वमुपादेयत्वमुपेक्षणीयत्वं चेत्यर्थः । तस्याऽवेदकमनिश्चायकं तद्धेयत्वाऽऽद्यवेदकं यथा बालाऽऽदिप्रतिभासो विषाऽऽदिविषयस्य रूपाऽऽदिमात्रमेवाध्यवस्यति, न तु हेयत्वाऽऽदिकं तद्धर्मम्, एवं यद् ज्ञानं बहुश्रुतानामप्यभिन्नग्रन्थीनां मोहमलमलीमसमानसत्वेनातत्त्वाऽऽत्मनो हेयतायास्तत्त्वात्मन उपादेयतायाः विनिश्चायकं तत्त्वातत्त्वयोः समताऽवभासकं विपर्ययावभासकं वा तद्विषयप्रतिभासमिति भावना । उक्तं च-" विसयपडिहासमित्तं, बालस्सेवऽक्खलियवयणविसय त्ति । वयणाऽऽइएसु नाणं, सव्वत्थाऽनाणमो णेयं " ॥ १ ॥ (वयणाइएसु त्ति) सूत्रार्थाऽऽदिष्विति ।

इदमेव लिङ्गाऽऽदिभिर्निरूपयन्नाह-

निरपेक्षप्रवृत्त्यादि-लिङ्गमेतदुदाहृतम् ।
अज्ञानाऽऽवरणापायं, महापायनिबन्धनम् ॥ ३ ॥

निर्गता अपेक्षा ऐहिकाऽऽमुष्मिकापायशङ्का यस्याः सा तथा निरपेक्षा, प्रवृत्तिः प्रवर्तनमादिर्यस्य निवृत्त्यादेः सा निरपेक्षप्रवृत्त्यादि, निरपेक्षस्य वा निराशङ्कस्य प्रवृत्त्यादि निरपेक्षप्रवृत्त्यादि, तल्लिङ्गं चिह्नं यस्य तन्निरपेक्षप्रवृत्त्यादिलिङ्गम्, एतदनन्तरोदितं विषयप्रतिभासं ज्ञानम्, उदाहृतम् आप्तैरभिहितम्। अथ किंहेतुकमिदमित्यत आह-न ज्ञानमज्ञानं मिथ्यात्वोदय इति, तत् मतिश्रुते, अवधिश्च, तत्र दुरभिसन्धेयत्वात् । आह च
" सदसदविसेसणाओ, भवहेउ जहिच्छिओवलंभाओ ।
णाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ॥११५॥"

तथा-

" सदसदविसेसणाओ, भवहेउ जहिच्छिओवलंभाओ ।
णाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाणं ।५२१।" (विशे०)

तस्याज्ञानस्य मत्यज्ञानाऽऽदिलक्षणस्याऽऽवरणमावृत्तिकारणं कर्म अज्ञानाऽऽवरणं,तस्यापायोऽपगमः क्षयोपशमो यस्मिन् तदज्ञानाऽऽवरणापायं मत्यज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षयोपशमहेतुकमित्यर्थः । अथवा-अविद्यमानो ज्ञानाऽऽवरणापायो यत्र तत्तथा। तथ किंफलमिदमित्याह-महान्तश्च ते गुरुका अपायाश्च स्वपरगतैहिकाऽऽमुष्मिकप्रत्यपायास्तेषां निबन्धनं हेतुर्महापायनिबन्धनम् । इदं च भावतोऽज्ञानमेव, भवति चाज्ञानं महापायनिबन्धनम् । यत आह-"अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधाऽऽदिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः। अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनाऽऽवृतो लोकः ॥१॥"

अथ द्वितीयज्ञाननिरूपणायाऽऽह-

पाताऽऽदिपरतन्त्रस्य,तद्दोषाऽऽदावसंशयम् ।
अनर्थाऽऽद्याप्तियुक्तं चा-ऽऽत्मपरिणतिमन्मतम् ॥ ४ ॥

पातोऽध पतनम्,आदिर्यस्य ऊर्ध्वतिर्यगाकर्षणविपरीतशिक्षाऽश्वोद्वहनाऽऽदेः तत्पाताऽऽदि, तेन तस्य वा परतन्त्रः पराऽऽयत्तः, पाताऽऽदिपरतन्त्र इव पाताऽऽदिपरतन्त्रः,तस्य विषयकषायाऽऽदिवश्यीकृतस्य देहिन ,तस्मिन् पाताऽऽदौ यो दोषोऽङ्गभङ्गमरणाऽऽदिलक्षण स आदिर्यस्य स्तोककरमृदुस्पर्शाऽऽदिगुणस्य स तथा,तत्र दोषाऽऽदौ,दार्ष्टान्तिके तु कर्मबन्धदुर्गत्यादिदोषे गुणे च अभ्युदयाऽऽदौ ज्ञेयेऽसंशयम्,उपलक्षणमेतत्-अविद्यमानसन्देहविपर्ययं विलीनमोहग्रन्थित्वेन यथावन्निश्चयस्य स्वरूपमित्यर्थः । अनर्थोऽपायोऽङ्गभङ्गाऽऽदिरादिर्यस्य सुखस्पर्शाऽऽदेरर्थस्य तथा तस्याऽऽप्तिः प्राप्तिः तया युक्तम् अन्वितम् अनर्थाऽऽद्याप्तियुक्तम्। इह च यद्यपि पुरुषस्यैवानर्थाऽऽद्याप्तियोगस्तथाऽपि ज्ञानाद्व्यतिरिक्तत्वात् तस्याज्ञानमेवानर्थाऽऽद्याप्तियुक्तमुक्तम्, दार्ष्टान्तिके त्वनर्थाऽऽद्याप्तिः कर्मबन्धदुर्गतिगमनपरम्परायाताऽऽगमनरूपाऽवगन्तव्या, चशब्दो विशेषणान्तरसमुच्चयार्थः । तदेवंविधं ज्ञानमात्मपरिणतिमत् प्रतिपादितनिर्वचनं मतमभिमतमप्तानन्तरयविदुषामिति । इह च भवादृगाथे-
" भिन्ने उ तद नाणं, जइऽक्खवयणेसु तग्गय चेव ।
पडिबंधम्मि वि सम्मा-ऽऽइनायओ मग्गरूव तु ॥१॥"
भिन्ने तु, कस्मिन् ?, मोहग्रन्थावित्यर्थः । (तग्गय चेव त्ति) अक्षे अक्षगतमेव, वचने वचनगतमेव, प्रतिबन्धेऽपि सदनुष्ठानव्याघातेऽपीत्यर्थः ।
" अमिण समत्तविसी-इ दव्वओ संगए वि नियमेण ।
होइ फलम्म अमुहा-पुव्वपओगेणभावाओ ॥१॥ " इति ।

एतदेव लिङ्गाऽऽदिभिर्निरूपयन्नाह-

तथाविधप्रवृत्त्यादि-व्यङ्ग्यं सदनुबन्धि च ।

कफलप्रदायकत्व सदनुबन्धः, सोऽस्यास्तीति सदनुबन्धि, चशब्दो विशेषणसमुच्चये । किंहेतुकमिदमित्याह-ज्ञानाऽऽवरणं मत्याद्यावारकं कर्म, तस्य ह्रासः क्षयोपशमः, तस्माद्युत्तिष्ठत उत्पद्यते यत्तद् ज्ञानाऽऽवरणह्रासोत्थम । कथमिदं सदनुबन्धीत्यत आह-प्रायो बाहुल्येन वैराग्यकारण सद्भावनानिमित्त यतो भवतीति गम्यते । यदाह-" बालधूलीगृहक्रीडातुल्याऽस्यां भाति धीमताम् । तमोग्रन्थिविभेदेन, भवचेष्टाऽखिलैव हि ॥१॥ " प्रायोग्रहण च कषायोदयविशेषे सति तद्वैराग्यकारण न स्यादपि राज्याऽऽदिप्रसाधानप्रवृत्तनरताऽऽदेरिवेति प्रतिपादनार्थमिति ॥ ५ ॥

तृतीयप्रतिपादनायाऽऽह-

स्वस्थवृत्तेः प्रशान्तस्य, तद्धेयत्वाऽऽदिनिश्चयम् ।
तत्त्वसंवेदनं सम्यग्, यथाशक्ति फलप्रदम् ॥ ६ ॥

स्वस्था अनाकुला वृत्तिर्वचनकायव्यापाररूप वर्तनं यस्य स तथा तस्य स्वस्थवृत्ते । एतदेव कुत इत्याह- प्रशान्तस्य रागद्वेषाऽऽद्युपशमप्रकर्षवतः, तत्त्वसवेदन भवतीति क्रिया । किंभूतमिति ?, आह-तेषां ज्ञेयवस्तुतत्त्वानां हेयत्व त्यजनीयत्वम्, आदिशब्दादुपादेयत्वोपेक्षणीयत्वपरिग्रहः । तत्र निश्चयो निर्णयो यस्य तत्तद्धेयत्वाऽऽदिनिश्चयमिति यथा वा यदिति शेषः । ततश्च स्वस्थवृत्ते प्रशान्तस्य पुंसो यद् ज्ञान तत्तत्त्वसंवेदनमिति योग. । तत्त्वसवेदनमुक्तनिर्वचन सम्यक् समीचीनतया यथाशक्ति पुरुषस्य संहननाऽऽदिसामर्थ्यानुसारत. फलप्रद स्वप्रयोजनप्रसाधकम्, ज्ञानस्य चानन्तरफल विरतिः, परम्पराफलं त्वपवर्ग इति ॥ ६ ॥

एतस्य लिङ्गाऽऽदि प्रतिपादयन्नाह-

न्याय्याऽऽदौ शुद्धवृत्त्यादि-गम्यमेतत् प्रकीर्तितम् ।
सज्ज्ञानाऽऽवरणापायं, महोदयनिबन्धनम् ॥ ७ ॥

न्यायो नीतिः तस्मादनपेतो न्याय्यः-सम्यग्दर्शनाऽऽदित्रयरूपो मोक्षमार्गः, स आदिर्यस्य न्यायस्य मिथ्यादर्शनाऽऽदिरूपस्य भवमार्गस्य स न्याय्याऽऽदिः, तत्र शुद्धवृत्तिर्निरतिचारप्रवृत्ति, आदिर्यस्या निवृत्तेः सा तथा तया, गम्यमनुमेय शुद्धवृत्त्यादिगम्यम् । एतदनन्तरोदितस्वरूपं तत्त्वसवेदनज्ञान, प्रकीर्तितम् ज्ञानस्वरूपविद्भि सशब्दितम् । किंहेतुकमिति ?, आह सत् शोभन प्रकृष्ट यद् ज्ञानमाभिनिबोधिकाऽऽदि, तस्य यदावरण, तस्यापायोऽपगम क्षय. क्षयोपशमलक्षणो यस्मिन् तद् ज्ञानाऽऽवरणापायम् । अथवा-सन् विद्यमानो ज्ञानाऽऽवरणापायो यत्र तत्तया फलमस्य । आह-महोदयो महाभ्युदयो निर्वाण, तस्य निबन्धनमक्षेपेण कारण महोदयनिबन्धनमिति ॥ ७ ॥

उपसंहरन्नुपदेशमाह-

एतस्मिन् सततं यत्नः, कुग्रहत्यागतो भृशम् ।
मार्गश्रद्धाऽऽदिभावेन, कार्य आगमतत्परैः ॥ ८ ॥

एतस्मिन्ननन्तरोक्ते तत्त्वसंवेदनज्ञाने, सततमनवरत, यत्न आदर, कार्य इति सबन्ध । कुत ?, कुग्रहत्यागत. शास्त्रबाधिताभिनिवेशपरित्यागेन, भृशमत्यर्थं, केन करणभूतेन कार्यो यत्न इत्याह-मार्गो मोक्षमार्गं श्रद्धाऽऽदिर्मार्गश्रद्धाऽऽदिः तद्रूपो भाव आत्मपरिणामो मार्गश्रद्धाऽऽदिभाव तेन, तत्र श्रद्धा श्रद्धानम्, आदिशब्दाद् ज्ञानमासेवन चेति कार्यो विधेय । कैरिति ?, आह-आगमतत्परैराप्तप्रवचनप्रधानैरिति ॥ ८ ॥ इति । हा० ९ अष्ट० । द्वा० । अत उक्तम-" तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगण. । तमसः कुतोऽस्ति शक्तिः, दिनकरकिरणाग्रत स्थातुम ? ॥ १ ॥ " न० । आचा० । ध० ।

गुरुपारतंतनाणं, [सद्दहणं एयसंगयं चेव](७)

गुरुपारतन्त्र्य ज्ञानाधिकाऽऽचार्याऽऽयतत्त्वं यत्तद् ज्ञान बोधो विशिष्टज्ञानविकलानामपि गुरुपारतन्त्र्यस्य ज्ञानफलसाधकत्वात् । यदाह-

" यो निरनुबन्धदोषात, श्राद्धोऽनाभोगवान् वृजिनभीरुः ।
गुरुभक्तो ग्रहरहित ,सोऽपि ज्ञान्येव तत्फलतः ॥ १ ॥
चक्षुष्मानेकः स्या-दन्धोऽन्यस्तन्मनानुवृत्तिपरः ।
गन्तारौ गन्तव्यं,प्राप्नुत एतौ युगपदेव ॥२॥" पञ्चा०११ विव० ।
"णाणाहिओ वरचरण-हीणो वि हु पवयण पभासंतो ।
ण य दुक्कर करेंतो, सुट्ठु वि अप्पागमो पुरिसो ॥१॥"
तथा-"हीणस्स वि सुद्धपरू-वगस्स नाणाहियस्स कायव्व ।"

रूपा०१ अध्या० । स्था० । (प्रत्यक्षाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) आगमपूर्वके बोधे, द्वा०२३ द्वा० । "अन्नाण परियाणामि ।" (४२) अज्ञान सम्यग्ज्ञानादन्यद्, ज्ञान तु भगवद्वचनम । ध० ३ अधि० ।

अत्र यशोविजयोपाध्यायकृतमष्टकम-

मज्जत्यज्ञः किलाज्ञाने, विष्ठायामिव शूकरः ।
ज्ञानी निमज्जति ज्ञाने, मराल इव मानसे ॥ १ ॥
निर्वाणपदमप्येकं, भाव्यते यन्मुहुर्मुहुः ।
तदेव ज्ञानमुत्कृष्टं, निर्बन्धो नास्ति भूयसा ॥ २ ॥
स्वभावलाभसंस्कार-स्मरणं ज्ञानमिष्यते ।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्य-त्तथा चोक्तं महात्मना * ॥ ३ ॥
वादाँश्च प्रतिवादाँश्च, वदन्तोऽनिश्चिताँस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद्गतौ ॥ ४ ॥
स्वद्रव्यगुणपर्याय-चर्यावर्या पराऽन्यथा ।
इति दत्ताऽऽत्मसन्तुष्टि-र्मुष्टिज्ञानस्थितिर्मुनेः ॥ ५ ॥
अस्ति चेद् ग्रन्थिभिद् ज्ञानं, किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रणैः ।
प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते, तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत् ? ॥ ६ ॥
मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिद्, ज्ञानदम्भोलिशोभितः ।
निर्भयः शक्रवद् योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥ ७ ॥
पीयूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनौषधम् ।
अनन्यापेक्षमैश्वर्यं, ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥८॥ अष्ट०५अष्ट० ।

" जो विणओ तं नाणं, ज नाण सो अ वुच्चई विणओ ।
विणएण लहइ नाणं, नाणेण वि जाणई विणय" ॥६२॥ द०प० ।

(वचनानुष्ठान चारित्रवतो नियोगेनेत्युक्तम् ' अणुट्ठाण ' शब्दे प्रथमभागे ३७७ पृष्ठे)

(४३) तत्र ज्ञानयोजनामाह-

श्रुतमयमात्रापोहात, चिन्तामयभावनामये भवतः ।
ज्ञाने परे यथार्हं, गुरुभक्तिविधानसश्लिष्टे ॥ १२ ॥

श्रुतेन निर्वृत्त श्रुतमय, तदेव तन्मात्रमवधूनस्वरूपमन्यज्ञाना-

* हरिभद्राचार्येण । ' अकुथासजत नाण, सुयपाढउ व्व विष्णेय ' ।

यनिरपेक्षम्, तदपोहास्तिरासात्। अन्यज्ञानद्वयसापेक्षं तु श्रुतमयं न निरस्यत इति ज्ञेयम्। चिन्तामयभावनामये वक्ष्यमाणस्वरूपे नयप्रमाणसूक्ष्मयुक्तिचिन्तानिर्वृत्तं चिन्तामयं हेतुस्वरूपफलभेदेन कालत्रयविषयं भावनामयं, ते भवतो जायेते ज्ञाने परे प्रधाने यथाहेमौचित्येन गुरुभक्तिविधानं सद्भोमन लिङ्ग ययोः गुरुभक्तिविधानसलिङ्गे ॥ १२ ॥

ज्ञानत्रयं सफलं दृष्टान्तद्वारेण प्रतिपिपादयिषुराह–

उदकपयोऽमृतकल्पं, पुंसां सज्ज्ञानमेवमाख्यातम्।
विधियत्नवत्तु गुरुभि–र्विषयतृमपहारि नियमेन ॥१३॥

उदकपयोऽमृतकल्पमुदकरसाऽऽस्वादकल्पं पयोरसाऽऽस्वादकल्पम् अमृतरसाऽऽस्वादकल्पं,पुंसां विद्वत्पुरुषाणाम्,सज्ज्ञानं सम्यग् ज्ञानम्,एवमाख्यातं स्वरूपतो,विधियत्नवत्तु विधौ यत्नः स विद्यते यस्मिंस्तद्विधियत्नवदेव,न विधियत्नशून्यं,गुरुभिराचार्यैराख्यातं विषयतृडपहारि विषयतृषमपहरतु शीलमस्येति,नियमेन अवश्यतया,श्रुतज्ञानं स्वच्छस्वादुपथ्यसलिलाऽऽस्वादतुल्यं, चिन्ताज्ञानं तु क्षीररसाऽऽस्वादतुल्यं,भावनाज्ञानममृतरसाऽऽस्वादतुल्यमितित्युक्तं भवति, विषयतृडपहारीत्युक्तम् ॥ १३ ॥

यस्य तु विषयाभिलाषातिरेकः स ज्ञानत्रयवानेव, फलाभावाद् न भवतीत्ययोग्यत्वप्रतिपादनाय तस्येदमाह–

शृण्वन्नपि सिद्धान्तं, विषयपिपासाऽतिरेकतः पापः।
प्राप्नोति न संवेगं, तदाऽपि यः सोऽचिकित्स्य इति ॥१४॥

शृण्वन्नपि तीर्थकराभिहितमर्थतः सिद्धान्तं प्रतिष्ठितपदरूपं गणधराऽऽद्युपनिबद्धमागमं विषयपिपासाऽतिरेकतो रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाभिलाषातिरेकेण पापः संक्लिष्टाध्यवसायत्वाद् न प्राप्नोति संवेगं मोक्षाभिलाषं, तदाऽपि सिद्धान्तश्रवणकालेऽपि, आस्तां तावदन्यदा, य एवंविधः, सोऽचिकित्स्य इत्यचिकित्सनीयः, स वर्त्तते, शास्त्राविहितदोषचिकित्साया अनर्हत्वादिति ॥१४॥

इत्थं कर्मदोषवतः किं कर्त्तव्यम्?, इत्याह–

नैवंविधस्य शस्तं, मण्डल्युपवेशनप्रदानमपि।
कुर्वन्नेतद् गुरुरपि, तदधिकदोषोऽवगन्तव्यः ॥ १५ ॥

न प्रतिषेधे, एवंविधस्य, पुरुषस्य शस्तं प्रशस्तमनुज्ञातमित्यर्थः। मण्डल्युपवेशनप्रदानमपि अर्थमण्डल्या यदुपवेशनं श्रवणार्थं तत्प्रदानमपि कुर्वन् सम्पादयन्नेतत् पूर्वोक्तं गुरुरपि प्रस्तुतोऽर्थाभिधायी तदधिकदोषोऽयोग्यपुरुषाधिकदोषोऽवगन्तव्योऽवबोधव्यः, सिद्धान्तावज्ञाऽऽपादनादिति ॥ १५ ॥

पूर्वोक्तार्थं व्यतिरेकेणाऽऽह–

यः शृण्वन् संवेगं, गच्छति तस्याऽऽद्यमिह मतं ज्ञानम्।
गुरुभक्त्यादिविधानात्, कारणमेतद् द्वयस्येष्टम् ॥ १६ ॥

यः कश्चिद् योग्यः शृण्वन्, सिद्धान्तमिति सम्बध्यते। संवेगं गच्छति आस्कन्दति। तस्य योग्यस्याऽऽद्यमिह प्रथममिह मतं ज्ञानं श्रुतज्ञानम्। गुरुभक्त्यादिविधानाद् गुरुभक्तिविनयबहुमानाऽऽदिकरणात्, कारणमेतद् द्वयस्येष्टं चिन्तामयभावनामयज्ञानद्वयस्य हेतुरेतत् श्रुतज्ञानमिष्टम्। तस्माज्ज्ञानत्रयेऽपि रत्नत्रयकल्पे परमाऽऽदरो विधेय इति ॥ १६ ॥ षो० १० विव०।

('सुस्सूसा' शब्दे शुश्रूषाविवेचनम्)

(४४) इदानीं त्रयाणां श्रुताऽऽदिज्ञानानां किञ्चिद्विभागमुपदर्शयति–

ऊहाऽऽदिरहितमाद्यं, तद्युक्तं मध्यमं भवेद् ज्ञानम्।
चरमं हितकरणफलं, विपर्ययो मोहतोऽन्य इति ॥ ६ ॥

ऊहो वितर्कः,ऊहाऽपोहविज्ञानाऽऽदिरहितमाद्यं प्रथमं श्रुतमयं, तद्युक्तमूहाऽऽदियुक्तं मध्यमं चिन्तामयं भवेद् ज्ञानं द्वितीयं, चरमं भावनामयं तृतीयं हितकरणफलं हितकरणं फलमस्येति स्वहितनिर्वर्तनफलं, विपर्ययो विपर्यासो मिथ्याज्ञानं,मोहतो मोहान्मिथ्यात्वमोहनीयोदय द् ज्ञानत्रयादन्योऽबोध इति ॥ ६ ॥

(४५) श्रुतमयज्ञानस्य लक्षणमाह–

वाक्यार्थमात्रविषयं, कोष्ठकगतबीजसन्निभं ज्ञानम्।
श्रुतमयमिह विज्ञेयं, मिथ्याऽभिनिवेशरहितमलम् ॥७॥

सकलशास्त्रगतवचनाविरोधिनिर्णीतार्थवचनं वाक्यं, तस्यार्थमात्रं प्रमाणनयाधिगमरहितम्, तद्विषयं तद्गोचरम्–वाक्यार्थमात्रविषयं, न तु परम्पराविभिन्नविषयशास्त्रावयवभूतपदमात्रवाच्यार्थविषयम्। कोष्ठके लोहकोष्ठकाऽऽदौ गतं स्थितं यद् बीजं धान्यं तत्सन्निभमविनष्टत्वात्–कोष्ठकगतबीजसन्निभं, ज्ञानं श्रुतमयमिह प्रक्रमे, विज्ञेयं वेदितव्यम्, मिथ्याऽभिनिवेशोऽसदभिनिवेशः, तेन रहितं विप्रमुक्तम्, अत्यर्थम् ॥ ७ ॥

(४६) चिन्तामयज्ञानस्य लक्षणमाह–

यत्तु महावाक्यार्थज–मतिसूक्ष्मसुयुक्तिचिन्तयोपेतम्।
उदक इव तैलबिन्दु–र्विसर्पि चिन्तामयं तत्स्यात् ॥८॥

यत्तु यत्पुनर्महावाक्यार्थजमाक्षिप्तेनरसर्वधर्माऽऽत्मकत्ववस्तुप्रतिपादकानेकान्तवादविषयार्थजं यमतिसूक्ष्मा अतिशयसूक्ष्मबुद्धिगम्या शोभना अविसंवादिन्यो या युक्तयः सर्वप्रमाणनयगर्भाः, तच्चिन्तया तदालोचनयोपेतं युक्तम्। उदक इव सलिल इव तैलबिन्दुस्तैलावयवो विसर्पणशील विसर्पि विस्तारयुक्तम्, चिन्तया निर्वृत्तं चिन्तामयं, तज्ज्ञानं स्याद्भवेत् ॥ ८ ॥

(४७) भावनाज्ञानलक्षणमाह–

ऐदम्पर्यगतं यद्, विध्यादौ यत्नवत्तथैवोच्चैः।
एतत्तु भावनामय–मशुद्धसद्रत्नदीप्तिसमम् ॥९॥

ऐदम्पर्यं तात्पर्यं सर्वज्ञेयक्रियाविषये सर्वज्ञाज्ञैव प्रधानं कारणमित्येवंरूपं तद्गतं तद्विषयं यद् ज्ञानं विध्यादौ विधिद्रव्यदातृपात्राऽऽदौ,यत्नवत्परमाऽऽदरयुक्तं,तथैवोच्चैः ऐदम्पर्यवत्त्वापेक्षया यत्नवत्त्वस्य समुच्चयार्थं तथैवेत्यस्य ग्रहणम्। एतत्तु एतत्पुनर्भावनया निर्वृत्तं भावनामयं ज्ञानम्। अशुद्धस्य सद्रत्नस्य जात्यरत्नस्य स्वभावत एव क्षारमृत्पुटपाकाऽऽद्यभावेऽपि भास्वररूपस्य या दीप्तिस्तया सममशुद्धसद्रत्नदीप्तिसमम्। यथा हि जात्यरत्नस्य स्वभावत एवान्यरत्नेभ्योऽधिका दीप्तिर्भवति, एवमिदमपि भावनाज्ञानमशुद्धसद्रत्नकल्पस्य भव्यजीवस्य कर्ममलमलिनस्यापि शेषज्ञानेभ्योऽधिकप्रकाशकारि भवति। अनेन हि ज्ञानं ज्ञातं नाम क्रियाऽप्येतत्पूर्विकैव मोक्षायाऽऽक्षेपेण सम्पद्यत इति ॥ ९ ॥

साम्प्रतं त्रयाणां श्रुतचिन्ताभावनामयज्ञानानां विषयविभागार्थं फलाभिधानाय प्रक्रमते कारिकाद्वयेन–

आद्य इह मनाक् पुंसः, तद्रागात् दर्शनग्रहो भवति।

न भवत्यसौ द्वितीये, चिन्तायोगाद् कदाचिदपि ॥१०॥

आद्ये श्रुतज्ञाने, इह प्रवचने, मनागीषत्, पुंस पुरुषस्य, तद्रागात् श्रुतमयज्ञानानुरागात्, दर्शनग्रहो भवति, दर्शन मत श्रुतमिति एकोऽर्थः । तद्ग्रहः तदाग्रहो यथेदमस्मोक्तमिदमेव च प्रमाण नान्यदित्येवरूपो, न भवत्यसौ दर्शनग्रहो यथेदमस्मदीय दर्शन शोभनमन्यदीयमशोभनमित्येवरूपो, द्वितीये चिन्तायोगादतिसूक्ष्मसुयुक्तिचिन्तनसबन्धात् कदाचिदपि काले नयप्रमाणाधिगमसमन्वितो हि विद्वान् प्रेक्षावत्तया स्वपरतन्त्रोक्तं न्यायबलाऽऽयातमर्थं सर्वं प्रतिपद्यते, तेनास्य दर्शनग्रहो न भवति ॥ १० ॥

चारिचरकसञ्जीव-न्यचरकचारणविधानतश्चरमे ।

सर्वत्र हिता वृत्ति-र्गाम्भीर्याद् समरसापत्त्या ॥ ११ ॥

चारेश्चरको भक्षयिता सजीविन्या औषधेश्चरकोऽनुपभोक्ता, तस्य चारणमभ्यवहारण, तस्य विधानं सपादन, तस्माच्चारिचरकसञ्जीवन्यचरकचारणविधानतश्चरमे भावनामयज्ञाने सति सर्वत्र सर्वेषु जीवेषु हिता वृत्तिः हितहेतुप्रवृत्तिर्न कस्यचिदहिता । गाम्भीर्यादाशयविशेषात् समरसापत्त्या सर्वानुग्रहरूपया "कयाचित् स्त्रिया कस्यचित् पुरुषस्य वशीकरणार्थं परिव्राजिकोक्ता-यथेम मम वशवर्तिन वृषभ कुरु, तया च किल कुतश्चित् सामर्थ्यात् स वृषभः कृत , तं चारयन्ती पाययन्ती चास्ते । अन्यदा च वटवृक्षस्य अधस्तान्निषण्णे तस्मिन् पुरुषगवे, विद्याधरीयुग्ममाकाशमागमत, तत्रैकयोक्तम्-अय स्वाभाविको न गौ , द्वितीययोक्तम्-कथमय स्वाभाविको भवति ? । तत्राऽऽद्ययोक्तम्-अस्य वटस्याधस्तात् सजीवनी नामौषधिरस्ति । यदि ता चरति, तदाऽय स्वाभाविक पुरुषो जायते । तच्च विद्याधरीवचन तया स्त्रिया समाकर्णित, तया चौषधि विशेषतोऽजानानया सर्वामेव चारिं तत्प्रदेशवर्तिनीं सामान्येनैव चारित , यावत्सजीवनीमुपभुक्तवान् । तदुपभोगानन्तरमेवासौ पुरुषः सवृत्त. । " एवमिद लौकिकमाख्यानक श्रूयते । यथा तस्या. स्त्रिया तस्मिन् पुरुषगवे हिता प्रवृत्तिरेव भावनाज्ञानसमन्वितस्यापि सर्वत्र भव्यसमुदायेऽनुग्रहप्रवृत्तस्य हितैव प्रवृत्तिरिति ॥ ११ ॥

विपर्ययो मोहतोऽन्य इत्युक्तम, स पुनः क. ?, इत्याह-

गुर्वादिविनयरहित-स्य यस्तु मिथ्यात्वदोषतो वचनात् ।

दीप इव मणरूलगतो, बोधः स विपर्ययः पापः ॥ १२ ॥

गुर्वादिविनयरहितस्य गुरूपाध्यायाऽऽदिविनयविकलस्य यस्तु य पुनर्मिथ्यात्वदोषतो मिथ्यात्वदोषात् तत्त्वार्थश्रद्धानरूपाद् वचनादागमाद् दीप इव, मणरूलगतो मणरूलाऽऽकारो बोधोऽवगमस्तैमिरिकस्येव स तथविधो, बोधो वचनाद् भवन्नप्यध्यारोपदोषतो विपर्ययो मिथ्याप्रत्ययरूप पदमात्रवाच्यार्थविषय. पाप स्वरूपेण वर्तते ॥ १२ ॥

विपर्यय एव प्रस्तुते दृष्टान्तगर्भमुपनयमाह कारिकाद्वयेन-

दग्गमीखण्डनिवसनं, भस्माऽऽदिविभूषितं सतां शोच्यम् ।

पश्यत्यात्मानमलं, गृही नरेन्द्रादपि ह्यधिकम् ॥ १३ ॥

मोहविकारसमेतः, पश्यत्यात्मानमेवमकृतार्थम् ।

तदन्यत्ययलिङ्गरतं, कृतार्थमिति तद्ग्रहादेव ॥ १४ ॥

दग्गमीखण्ड प्रसिद्ध, निवसन परिधानमस्येति दग्गमीखण्डनिवसनः, त भस्माऽऽदिभिर्विभूषित विच्छुरित भस्माऽऽदिविभूषित सत्पुरुषाणां शोच्यं शोचनीय पश्यत्यवलोकयत्यात्मानमलमत्यर्थं, गृही गृहवान्, नरेन्द्रादपि ह्यधिक चक्रवर्तिनोऽप्यधिकं यथेति गम्यते ॥ १३ ॥ मोहविकारसमेतो मनोविभ्रमदोषसमन्वितः पश्यत्यात्मानमेवमकृतार्थं सन्त विपर्ययबोधवान् कृतार्थमिति पश्यति, तस्य कृतार्थस्य व्यत्ययेन यानि लिङ्गानि तेषु रतस्त तद्व्यत्ययलिङ्गरतम् । अनेनाकृतार्थत्वमेव वस्तुवृत्त्या दर्शयति । एवविधोऽपि कृतार्थमिति कुतो मन्यते ? । तद्ग्रहादेव, स चासौ ग्रहश्च, तस्मादेव विवक्षितग्रहाऽऽवेशादेव । एव ग्रहगृहीतेन विपर्ययवत उपनय कृतः ॥ १४ ॥

ज्ञानविपर्यययो. स्वाम्युपदर्शनार्थमिद कारिकाद्वयमाह-

सम्यग्दर्शनयोगाद्, ज्ञानं तद् ग्रन्थिभेदतः परमम् ।

सोऽपूर्वकरणतः स्याद्, ज्ञेय लोकोत्तर तत्त्व ॥ १५ ॥

सम्यग्दर्शनयोगात्तत्त्वार्थश्रद्धानसबन्धाद् ज्ञान सम्यग्ज्ञान, तत् सम्यग्दर्शन ग्रन्थिभेदतो ग्रन्थिभेदात्, परम प्रधान स्वरूपतो वर्तते, स ग्रन्थिभेदो नियमत एवापार्द्धपुद्गलपरावर्ताधिकससारच्छेदः, अपूर्वकरणतः स्यादपूर्वपरिणामाद् भवेद, ज्ञेय लोकोत्तर तत्त्व, तच्चापूर्वकरण लोकात् सर्वस्मादप्युत्तर प्रधान ज्ञेयम् । अपूर्वकरणमपूर्वपरिणाम शुभोऽनादावपि ससारे तेषु तेषु धर्मस्थानेषु सूत्राऽर्थग्रहणाऽऽदिषु वर्तमानस्याभ्यसजातपूर्व इति कृत्वा ॥ १५ ॥

लोकोत्तरस्य तस्माद्, महानुभावस्य शान्तचित्तस्य ।

औचित्यवतो ज्ञानं, शेषस्य विपर्ययो ज्ञेयः ॥ १६ ॥

लोकादुत्तर. प्रधानो ज्ञानवानिह गृह्यते, तस्य लोकोत्तरस्य तस्मादिति निगमने महानुभावस्याचिन्त्यशक्तेः शान्तचित्तस्योपशान्तमनस. । औचित्यवत औचित्ययुक्तस्य ज्ञानमनेन ज्ञानस्वामी निदर्शित. । शेषस्योक्तगुणविपरीतस्य विपर्ययो ज्ञेयो ज्ञानत्रयादन्य पदमात्रवाच्यार्थविषय पूर्वोक्त इति ॥ १६ ॥ षो० ११ विव० ।

(४७) ज्ञान किमिहभविक परभविकं वा-

इहभविए भंते ! णाणे, परभविए णाणे, तदुभयभविए णाणे ? । गोयमा ! इहभविए वि णाणे, परभविए वि णाणे, तदुभयभविए वि णाणे य ।

"इहभविए" इत्यादि व्यक्तम्, नवरम इह च भवे वर्तमानजन्मनि यद्वर्तते, न तु भवान्तरे तदैहभविकम्, काकुपाठाच्चेह प्रश्नताऽवसेया, तेन किमैहभविक ज्ञानमुत- (परभविए त्ति) परभवे वर्तमानानन्तरभाविन्यनुगामितया यद्वर्तते तत्पारभविकम, आहोस्वित-(तदुभयभविए त्ति) तदुभयरूपयोरिहपरलक्षणयोर्भवयोर्यदनुगामितया वर्तते तत्तदुभयभविकम्, इद चैव न पारभविकाद्भिद्यत इति । परतरभवेऽपि यदनुयाति तद् ग्राह्यम्, इहभवव्यतिरिक्तत्वेन परतरभवस्यापि परभवत्वाद्, हस्वतानिर्देशश्चेह सर्वत्र प्राकृतत्वादिति, प्रश्ननिर्वचनमपि सुगम, नवरम-(इहभविए वि त्ति) ऐहभविक यदिहाधीत, नानन्तरभवेऽनुयाति, पारभविक यदनन्तरभवेऽनुयाति, तदुभयभविकं तु यदिहाधीत परभवे परतरभवे चानुवर्तत इति । भ० १ श० १ उ० । शास्त्राभ्यासे, दर्श० ४ तत्त्व । ज्ञानमागमितमित्येकोऽर्थ. । व्य० १० उ० । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञेयप्र-

काशके दीपकल्पे भाचाराङ्गश्रुताऽऽदौ, द्वा० ३० भष्ट० । वृ० । " तम्हा धिइउछाणु-च्छाहकम्मवलविरियसिक्खियं नाणं । धारेयव्वं नियमा, न य अविणीएसु दायव्वं ॥ ५ ॥ " अत्र ज्ञान चन्द्रप्रज्ञप्तिलक्षणम् । चं० प्र० २० पाहु० ।

छउमत्थे णं भंते ! मणूसे परमाणुपोग्गलं किं जाणइ, पासइ, उदाहु न जाणइ, न पासइ ?। गोयमा ! अत्थेगइए जाणइ, ण पासइ, अत्थेगइए ण जाणइ, ण पासइ । छउमत्थे णं भंते ! दुपदेसियं खंधं किं जाणइ, पासइ ? । एवं चेव । एवं० जाव असंखेज्जपएसियं । छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से अणंतपएसियं खधं किं पुच्छा ?। गोयमा ! अत्थेगइए जाणइ, पासइ, अत्थेगइए जाणइ, ण पासइ, अत्थेगइए ण जाणइ,पासइ, अत्थेगइए ण जाणइ,ण पासइ । आहोहिएणं मणुस्से परमाणु० जहा छउमत्थे एवं आहोहिए वि०जाव अणंतपदेसियं। परमाहोहिए णं भंते ! मणूसे परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ, तं समयं पासइ, जं समयं पासइ, तं समयं जाणइ ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—परमाहोहिए णं मणूसे परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ, णो तं समयं पासइ, जं समयं पासइ, णो तं समयं जाणइ ?। गोयमा ! सागारे से णाणे भवइ, अणागारे से दंसणे भवइ,से तेणट्ठेणं० जाव णो तं समयं जाणइ, एवं० जाव अणंतपएसियं । केवली णं भंते ! मणूसे जहा परमाहोहिए तहा केवली वि० जाव अणंतपएसियं ।

(छउमत्थेत्यादि) इह छद्मस्थो निरतिशयो ग्राह्यः । (जाणइ, न पासइ त्ति) श्रुतोपयुक्तः श्रुतज्ञानी, श्रुते दर्शनाभावात्, तदन्यस्तु " न जाणइ न पासइ त्ति " अनन्तप्रदेशिकसूत्रे चत्वारो भङ्गा भवन्ति, जानाति स्पर्शनाऽऽदिना, पश्यति च चक्षुषेत्येकः । तथाऽन्यो जानाति स्पर्शनाऽऽदिना, न पश्यति च चक्षुषा, चक्षुषोऽभावादिति द्वितीयः । तथाऽन्यो न जानाति स्पर्शाद्यगोचरत्वात्, पश्यति चक्षुषेति तृतीयः । तथाऽन्यो न जानाति न पश्यति चाविषयत्वादिति चतुर्थः । प्रस्ताधिकाराच्छद्मस्थविशेषभूताधोऽवधिकपरमाधोऽवधिकसूत्रे परमावधिकश्चावश्यमन्तर्मुहूर्तेन केवली भवतीति केवलिसूत्रम्। तत्र च (सागारे से नाणे भवइ त्ति) साकारं विशेषग्रहणस्वरूपम् । ' से ' तस्य परमाधोऽवधिकस्य तत्, ज्ञानं भवति, तद्विपर्ययभूतं च दर्शनमतः परस्परविरुद्धयोरेकसमये नास्ति सम्भव इति । भ० १८ श० ८ उ० । व्रतभङ्गभेदादतीचाराणां सम्यगवबोधे, ध० ४ अधि० ।

सम्प्रति [व्रतकर्माणि] ज्ञानाऽऽख्यं द्वितीयभेदं व्याचिख्यासुर्गाथोत्तरार्द्धमाह-

भंगयभेयइयारे, वयाण सम्मं वियाणेइ ॥ ३५ ॥

व्रतानामणुव्रताऽऽदीनामिहैव गाथार्द्धे भेदातिचारप्रस्तावे वक्ष्यमाणस्वरूपाणां भङ्गकान् द्विविधत्रिविधेत्यादीननेकप्रकारान् (सम्मं ति) सम्यक् समयोक्तेन विधिना विजानात्यवबुध्यते (३५) ध० र० ३५ गाथा । (भङ्गसङ्ख्याप्रदर्शनमनुपयुक्तत्वान्नेह प्रतन्यते)

विषयसूची-

(३३) संज्ञिद्वारे तेषां निरूपणम् ।
(३४) लब्धिद्वारमधिकृत्य तत्परामर्शः ।
(३५) उपयोगद्वारमुपन्यस्य तदुपदर्शनम् ।
(३६) योगद्वारे सयोग्ययोगिनां तद्विमर्शः ।
(३७) लेश्याद्वारे तथैव सलेश्यालेश्यानाम् ।
(३८) कषायद्वारे सकायिकाकायिकानाम् ।
(३९) वेदद्वारे सवेदकावेदकानाम् ।
(४०) आहारकद्वारे आहारकानाहारकाणाम् ।
(४१) तत्त्वसंवेदन ज्ञानमिति चिन्तनम् ।
(४२) अज्ञानं सम्यग् ज्ञानादन्यद्, ज्ञान तु भगवद्वचनम् ।
(४३) तत्र ज्ञानयोजना ।
(४४) त्रयाणां श्रुताऽऽदिज्ञानानां स्वरूपविभागः ।
(४५) तत्र श्रुतमयज्ञानस्य लक्षणम् ।
(४६) चिन्तामयज्ञानस्य लक्षणम् ।
(४७) भावनाज्ञानलक्षणम् ।
(४८) इहभविकपरभाविकज्ञानविमर्शः ।
(४९) छद्मस्थजीवानधिकृत्य ज्ञानाऽऽदिपरामर्शः ।

णात-ज्ञात-न० । ज्ञायतेऽस्मिन् सति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातम् । दृष्टान्ते, स्था० ।

ज्ञायतेऽस्मिन् सति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति अधिकरणे क्तप्रत्ययोपादानाद् ज्ञात दृष्टान्त.—साधनसद्भावे साध्यस्याऽवश्यभाव, साध्याभावे वा साधनस्यावश्यमभाव इत्युपदर्शनलक्षण. । यदाह–"साध्येनानुगमो हेतो', साध्याभावे च नास्तिता । ख्याप्यते य. स दृष्टान्तः, स साधर्म्येतरो द्विधा ॥१॥" इति । तत्र साधर्म्ये दृष्टान्त –अग्निरत्र, धूमात्, यथा महानस इति । वैधर्म्यदृष्टान्तस्तु-अग्न्यभावे धूमो न भवति, यथा जलाऽऽशय इति । अथवा-आख्यानकरूप ज्ञात, तच्च चरितकल्पितभेदाद् द्विधा-तत्र चरित यथा-निदान दु खाय ब्रह्मदत्तस्येव । कल्पितं यथा-प्रमादवतामनित्य यौवनाऽऽदीनीति । निदर्शनीय यथा-पाण्डुपत्रेण किसलयानां देशितम् ।

तथाहि-

" जह तुब्भे तह अम्हे, तुब्भे वि य होइ हा ! जहा अम्हे ।
अप्पा हेइ पमत, पण्डुयपत्त किसलयाण ॥ १ ॥ " इति !

अथवा—उपमानमात्र ज्ञातम्-सुकुमार करः किसलयमिवेत्यादिवत् । अथवा- ज्ञातमुपपत्तिमात्र ज्ञानहेतुत्वात्, कस्मात् ?, यथा क्रीयन्ते, यस्मात् मुधा न लभ्यन्ते, इत्यादिवदित्येवमनेकधाऽपि साध्यप्रत्यायनरूप ज्ञातमुपाधिभेदात् चतुर्विध दर्शयति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । " चउव्विहे णाणे पण्णत्ते । त जहा-आहरणे,आहरणतद्देसे,आहारणतद्दोसे,उवण्णासोवणए ।" स्था० ४ ठा० ३ उ० । (आहरणाऽऽदीना व्याख्या स्वस्वस्थाने) मनुजक्षेत्रे व्यवस्थितानां मनोमात्रग्राहका ऋजुमतय इति कल्पसूत्रावचूर्ण्यादौ,तथा प्रज्ञापनावृत्तौ मन पर्यायज्ञानम्, इद चारूतृतीयद्वीपद्विसमुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगतद्रव्यावलम्बनमिति व्याख्यानानुसारेण वर्तमानानामेव संज्ञिना मनोगतपर्यायावभासो जायत इति । तथा च सति यदुक्त प्रज्ञापनाटीकायाम्- मन पर्यायज्ञानमपि पल्योपमासख्येयभागमतीत जानातीति कथ सगच्छते ?, इति प्रश्ने उत्तरम्-वर्तिपद मनुजक्षेत्राधिकक्षेत्रवर्तिसंज्ञिमनागतद्रव्यावबोधनिषेधपरं, न तु वर्तमानसंज्ञिमनोगतद्रव्यावबोधनियमपरम्, तेनावधिज्ञानिवन्मन पर्यायज्ञान्यपि यथोक्तातीतमनोगतभावान् जानातीति न कश्चिद् विरोध इति । १४८ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

णाणंतराय-ज्ञानान्तराय-पुं० । ६ त० । श्रुतस्य तद्ग्रहणाऽऽदौ विघ्ने, भ० ८ श० ६ उ० ।

णाणकप्प-ज्ञानकल्प-पु० । श्रुतज्ञानविषयके कल्पे, पं० भा० ।

एत्तो उ णाणकप्पं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ।
सुत्तुद्देसे वायरण-पमिच्छपुच्छपरियट्टअणुपेहा ॥
आयरियउवज्झाया, अह होति तु सुत्तकप्पविही ।
आयारमादि काउं, सुयं तु जा होति दिट्ठिवादो तु ॥
अंगाणंगपविट्ठं, कालियमुक्कालियं वा वि ।
तं पुण सव्वं पि भवे, संवादसमुट्टितं च णिज्जूढं ॥
पत्तेयबुद्धभासियं, अह व समत्ती य होज्जाहि ।
पं० भा० । पं० चू० ।

(श्रुतकल्पाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

णाणकसायकुसील-ज्ञानकषायकुशील-पु० । ज्ञानमाश्रित्य कषायकुशीले, भ० २५ श० ६ उ० ।

णाणकिरियाणय-ज्ञानक्रियानय-पु० । ज्ञानक्रियाद्वयं मोक्षहेतुरिति सिद्धान्तव्यवसिते नये, (रत्ना०) (' किरियाणय ' शब्दे तृतीयभागे ५५४ पृष्ठे क्रियाप्राधान्यमुक्तम्) ('णाणणय' शब्दे ज्ञानप्राधान्य वक्ष्यते)

अत्र समुच्चयवादी प्राह-ततः सम्यग्ज्ञान सम्यक् क्रियासध्रीचीनमेव फलसिद्धिनिबन्धनमित्यभ्युपगन्तव्यम्, न तु ज्ञानैकान्त कान्त । क्रियैकान्तोऽपि भ्रान्त एव । "यत. स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत् * । " इति तु न युक्तम् । यत. सम्यग्ज्ञानकारणैकान्तवादिनामयमुपालम्भो, न पुनरस्माक,सम्यग्ज्ञानक्रिययोरुभयोरपि परस्परापेक्षयोः कारणत्वस्वीकारात् । न च नितम्बिनीमोदकाऽऽदिगोचरायां प्रवृत्तौ तद्विज्ञान सर्वथा नास्त्येव, यत'-क्रियाया एव तत्कारणता कल्प्येत । तद्गोचरविज्ञानसनाथैव तत्र प्रवृत्ति. प्रीतिपरम्परोत्पादनप्रत्यला, अन्यथा-उन्मत्तमूर्च्छिताऽऽदेरपि प्रौढप्रेमपरायणप्रणयिनीनिविडाऽऽश्लेषक्रियाऽपि तदुत्पादाय किं न स्यात् ? । अथासौ क्रियैव तत्त्वतो न भवति, सैव हि क्रिया तात्त्विकी, या स्वकीयकार्याव्यभिचारिणी; हन्त ! तर्हि तदेव तात्त्विक ज्ञान यत् स्वकीयकार्याव्यभिचारीति कथ " स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञ " इत्युपालम्भ शोभेत ? । तत कार्यमजनयन्ती यथा निश्चयनयेन क्रिया क्रियोच्यते,तथा ज्ञानमपि,इति क्वचिद् व्यभिचाराभावाद् द्वयमेवैतत् फलोत्पत्तिकारणमनुगुणमिति । रत्ना० ७ परि० ।

अत्र यशोविजयोपाध्यायकृतो वेदान्तिभङ्ग्या समुच्चयवाद-

अत्र ज्ञानकर्मसमुच्चयवादे स्वपरसमयविचारः कश्चिद् लिख्यते-

क्रियानयः क्रियां ब्रूते, ज्ञानं ज्ञाननयः पुनः ।
मोक्षस्य कारण तत्र, न्यूयस्यो युक्तयो द्वयोः ॥ १९८ ॥

तत्र मुमुक्षुकर्मव्यापारतन्त्र तत्त्वज्ञानवृत्ति,न वा ?,इति विप्रतिपत्तिविधिकोटिरुदयनाचार्याणाम्, निषेधकोटिर्भास्करीयाणाम् ।

* "क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञान फलद मतम्" । इति पूर्वार्धम् ।

तत्र भास्करीयाणामयमाशयः -तीर्थविशेषस्नानमहादानयमनियमाऽऽदिकर्मणां निःश्रेयसकारणत्वं तावच्छब्दबलादेवावगम्यते। तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वं तु तेषां निःश्रेयसे जनयितव्ये न तावच्छब्द एव बोधयति, तत्र तस्यौदासीन्यात् । न च साक्षात् साधनताव्याप्ते साधनताप्रतीते परम्पराघटकव्यापारमाविपर्यीकृत्य न घटत इत्यपूर्ववाच्यता-न्यायेन शब्द एव वस्तुनः तत्त्वज्ञानव्यापारकतां बोधयितुं प्रगल्भते इति शङ्कापदं हरिनिधेय, सामान्यशब्दोऽन्यतमविशेषबाधे तं त्यजति, न तु विशेषान्तरमुपादित्सितमपि विशिष्य बोधयतीति स्वभावाद् दृष्टान्तस्यैवासप्रतिपत्ते । न च कर्मणामाशुतराविनाशित्वेन व्यापारोऽवश्यं स्वीकरणीय, तत्र दृष्टेन तत्त्वज्ञानेनैवोपपत्त्याऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वाद् साधनसहदृष्टानुपपत्तिरेव तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वे मानमिति वाच्यम्, तत्त्वज्ञानस्याऽपि व्यवहितत्वेन तत्राऽपि कर्मणोऽदृष्टद्वाराऽऽवश्यकत्वात्ति श्रेयसे द्वारद्वयकल्पने गौरवाद् निःश्रेयसे कर्मणामदृष्टद्वारा हेतुत्वे तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमपि यमनियमाऽऽद्यनुष्ठानं स्यादिति चेत्,स्यादेव, तदानीमपि मुमुक्षाया अधिकारस्याक्षते । न च तत्त्वज्ञानत्वेनैव मोक्षजनकत्वात् प्राथमिकतत्त्वज्ञानादेव मोक्षोत्पत्तौ क्व कर्मानुष्ठानमिति शङ्कनीयम् ? ।

" नित्यनैमित्तिकैरेव, कुर्वाणो दुरितक्षयम् ।
ज्ञानं च विमलीकुर्व-न्नभ्यासेन तु पाचयेत् ॥ १ ॥
अभ्यासात् पक्वविज्ञान , कैवल्य लभते नर " ।
इत्यादि पुराणेषु तदभ्यासश्रवणात् ।

श्रुतिरप्यत्र विपक्षबाधकतया प्रमाणमस्ति । तथाहि-"अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रता.।" अस्या अर्थः -अविद्या कर्म,तदुपासते-ज्ञानत्यागेन तत्राऽऽसक्ता भवन्ति ये तेऽन्धतमः प्रविशन्ति,संसारान्न मुच्यन्ते, तेन केवलकर्मोपासने न जन्माऽऽदिविच्छेद । ये च विद्याया रता.,विद्या तत्त्वज्ञान, तन्मात्राऽऽसक्ता , उ इत्यव्यय चकारार्थम् । ते भूयोऽतिशयेन अन्धन्तम. प्रविशन्ति,नित्याकरणे प्रत्यवायस्य बहुतरत्वात् । ननु " मोक्षाऽऽश्रमश्चतुर्थो वै,यो भिक्षो परिकीर्तित." इत्यागमाच्चतुर्थाऽऽश्रमिणामेव मोक्षेऽधिकार.। तत्र च "सन्यस्य सर्वकर्माणि" इति स्मृते. कर्ममात्रत्यागात् क्व समुच्चय , क्व वाऽकरणे प्रत्यवाय इति चेत् । न । यानि कर्माणि उपनीतमात्रकर्तव्यत्वेन विहितानि,तत्परित्यागस्याशास्त्रीयत्वात् सङ्कोचे मानाभावात्, निषिद्धानि काम्यानि च बन्धहेतुत्वात्तन्मूलानि च धनत्यागादेव त्यज्यन्त इत्येतावत एव संन्यासपदार्थत्वात् ।

तथा च गीतावचनम्-
" काम्यानां कर्मणा न्यास, सन्यास कवयो विदुः ।"
" नियतस्य तु सन्यास , कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागः, तामस परिकीर्तित ॥ " इति।

साक्षात्समुच्चयप्रतिपादिकाऽपि श्रुति —" अविद्यां च विद्यां च यस्तद्वेदोभय सह । अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।" अत्राविद्यां कर्म, विद्यां च तत्त्वज्ञान तुल्य चेह यो वेद प्राप्नोतीति पूर्वार्द्धार्थ । वेदेति प्रयोगाद् ' विद् ' लाभे इति धातोश्छान्दसत्वेन भास्करीयैर्दर्शितत्वात् । " तमेव विदित्वा ऽतिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय । " इति वाक्य त्वेवकारस्य विदित्वा इत्यनन्तरं योजनात् तत्त्वज्ञानस्याप्यपवर्गसामग्रीनिवेशनानियमपरं,

न तु वाक्यान्तरावधृतकारणताककर्मव्युदासपरम । समुच्चयेऽन्यान्यपि भूयांसि वचनानि सन्ति । तथा च गीतावचनम्- " स्वे स्वे कर्मण्यभिरत', संसिद्धिं लभते नर । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य, सिद्धिं विन्दति मानव. " ॥१॥ विष्णुपुराणेऽप्युक्तम्-" तस्मात् तत्प्राप्तये यत्न', कर्तव्य. पण्डितैर्नरै' । तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञान, कर्म चोक्त महामते ।" ॥ १ ॥ हारीत'-" उभाभ्यामपि पक्षाभ्यां, यथा खे पक्षिणा गति । तथैव ज्ञानकर्मभ्या, प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १ ॥ " श्रुतिश्च-" सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण च " इति । एतन्मूलकमेव परिज्ञानाद् भवे प्रसिद्धि. " न ह्येकपक्षो विहग. प्रयाति " इत्यादि । न च काम्यनिषिद्धनैमित्तिकाभ्या कर्मभ्या न समुच्चय , तयोस्त्यागात् , न नैमित्तिकनित्यैर्नैकैकशो व्यभिचारात् सकल्पेनासंभवात् । नाऽपि यत्याश्रमाविहितेन-" न्यायाऽऽगतधनस्तत्त्व-ज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रिय । श्राद्धकृत् सत्यवादी च, गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥ १ ॥" इत्यागमेन गृहस्थस्यापि मोक्षश्रवणाच्छ्रुत्युपपत्तिविरोधादेव न समुच्चय इति वाच्यम्; यत्राऽऽश्रमे यानि मोक्षहेतुतया विहितानि, तैरेव तदाश्रमे तत्त्वज्ञानस्य समुच्चयोपपत्ते' । न च कर्मणां परस्परव्यभिचारात्ति श्रेयसे च स्वर्गवद् वैचित्र्याभावाच्च तत् प्रति कारणत्वमिति वाच्यम्, स्वाभाविकविशेषाविरहेऽपि प्रतियोगिभेदेन विशेषस्य निःश्रेयसेऽप्यविरोधात् । तत्पुरुषीयमुमुक्षुविहितकर्मत्वेन तत्पुरुषीयविजातीयदुःखध्वंसे हेतुत्वसंभवात् , अवश्यं चाभावरूपे कार्ये प्रतियोगिभेदेन विशेषोऽभ्युपेयः, कथमन्यथा आश्रयनाशपाकयो रूपनाशकारणत्वमिति । न च ज्ञानस्य विहितत्वाददृष्टजनकत्वेनादृष्टस्यैव प्राधान्यम् , न च रागाऽऽद्यभावाद् योगिनोऽदृष्टोत्पत्त्यसंभव , मुक्तिविरोध्यपूर्वोत्पत्तावेव रागाऽऽदेः सहकारित्वात् नावनैव मोक्षफलकविध्यनुपपत्तिपरिहारादिति वाच्यम् , मुक्त्यादितत्त्वज्ञानसाध्यतया क्लृप्तेन मिथ्याज्ञानविध्वंसेन दृष्टेनैवोपपत्तावदृष्टकल्पनायोगात् । अन्यथा भेषजाऽऽदिष्वपि तत्कल्पनाऽऽपत्ते । एव च विहितत्वं तत्रैव व्यभिचारादिति द्रष्टव्यम । न चावघातवन्नियमादृष्टकल्पना, तत्र वैतुष्यस्याऽन्यथाऽपि संभवेन सा, अत्र तु मिथ्याज्ञानस्य निवृत्ते', अन्यथाऽसंभवा इति विशेषात् । नन्वत्रापि विरोधिगुणान्तरोत्पत्तेरपि मिथ्याज्ञानध्वस संभवति । न च मिथ्याज्ञानपद तद्वासनापर, तत्त्वज्ञानात् तद्ध्वंसस्यैवाङ्गीकारात्, तस्य चान्यथाऽसंभव एवेति वाच्यम, अचिकित्स्यरोगाऽऽदिना तस्याऽपि संभवात् । न चेतरवासनानाशेऽपि न तत संसारवासनाया अनाश इति वाच्यम्, सामान्यावच्छेदेन पाक्षिकप्राप्तेरेव नियममूलत्वात् । अन्यथाऽपूर्वाय व्रीहिविशेषे नखनिर्भेदाप्राप्ते', तत्राऽपि नियमादृष्टानुपपत्तिरिति चेत् । न । शक्यपरिवर्जनपाक्षिकप्राप्तेरेव नियममूलत्वात् । यथा व्रीहीनवहन्तीत्यत्र पक्षे प्राप्तस्य नखनिर्भेदाऽऽदे शक्येन परिवर्जनेनावघातो नियम्यते-अवहन्तव्या एव, न नखैर्निर्भेत्तव्या इति नैवमत्र तत्त्वज्ञानेनैव मिथ्याज्ञान निवर्तयेत्,न विरोधिगुणरागाऽऽदिना इति शक्य प्रतिज्ञातुम्, तस्यापुरुषतन्त्रत्वात् । अत एव प्रोक्षितव्रीह्यवघातत्वेनेव श्रवणजन्यतत्त्वज्ञानत्वेन नियमादृष्टहेतुत्वध्रौव्यमिति निरस्तम, प्रोक्षणाऽऽदे प्रधानाङ्गत्वेन प्रधानापूर्वफलकादृष्टजनकत्वात् । तत्र तथोक्तिसंभवेऽप्यत्र प्रधानस्यैव दृष्टफलत्वेन तथा वक्तुमशक्यत्वात् । किञ्च-अत्र विजातीय-

तत्त्वज्ञानत्वेनैव दृष्टद्वारा मुक्तिहेतुत्वादू न नियमादृष्टकल्पना। तत्र वैजात्येनैव हेतुत्वे तदवच्छिन्ने प्रोक्षणहेतुत्वोक्तौ कण्डने प्रोक्षणबाधाऽऽपत्तेः। न चावहन्तव्यप्रोक्षणत्वेनाप्यदृष्टहेतुत्वात् तत्राऽपि नियमादृष्टं कल्पनीयम्, दृष्टार्थस्यैव नियमादृष्टार्थस्य सिद्धान्तत्वादित्यन्यत्र विस्तरः।

उदयनानुसारिणस्तु-अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य ज्ञानार्थिनः तत्प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्तिद्वारा प्रायश्चित्तवत् आरादुपकारकं कर्म, सन्निपत्योपकारकं च तत्त्वज्ञानम्, उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य त्वन्तरलब्धदृष्टेः कारीरीसमासिवदारब्धाश्रिमपालन लोकसंग्रहार्थम्, यद्यपि लोकसंग्रहे न प्रयोजन, सुखदुःखाभावतत्साधनेतरत्वात्,तथाऽप्यकरणे लोकानामनित्यत्वेन यत् ज्ञान तत्परिहारार्थम्, तत्तद्दुःखयोगेन कर्मनाशार्थं वा तत्। इदमेव च द्वारिद्वारयो कर्मतत्त्वज्ञानयो. कारणत्व,तुल्यकक्षतया समुच्चयो नेष्ट इत्यनेन विवक्ष्यते। यद्यपि च तीर्थविशेषस्नानाऽऽदीनां तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वं न शाब्द, तथाऽपि तीर्थविशेषस्नानाऽऽदीनि तत्त्वज्ञानद्वारकाणि,मोक्षजनककर्मत्वादू, यमाऽऽदिवदित्यनुमानात्तथात्वसिद्धि। न च योगत्वमुपाधि, "कथयति भगवानिहान्तकाले, भवभयकातरतारक प्रबोधम्" इत्यादिपुराणात् "रुद्रस्तारक ब्रह्म व्याचष्टे" इति श्रुतेश्च काशीप्रयागाऽऽदे· तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वसिद्धौ तत्र साध्याव्यापकत्वादित्याहु.।

स्वतन्त्रास्तु-तत्त्वज्ञान प्रत्यङ्गत्वपक्षे कर्मणामपूर्वद्वारा जनकत्व, दुरितध्वसकल्पनातो लघुत्वात्। वस्तुत कर्मणा नि·श्रेयसहेतुत्वे तज्जन्यनि·श्रेयसजनकतया तत्त्वज्ञानस्य कर्मव्यापारत्व वाच्य,तदेव तु न युक्तम्। "न कर्मणा न प्रजया धनेन। नान्य· पन्था विद्यतेऽयनाय। नास्त्यकृत· कृतेन"। "कर्मणा बध्यते जन्तु-र्विद्यया च विमुच्यते। तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति, यतय· पारदर्शिन· ॥१॥" इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेन निषेधात्, कर्मजन्यत्वाभावाच्च। "तपसा कल्मष हित्वेति। अविद्यया च मृत्यु तीर्त्वा। ततस्तु त पश्यति निष्कल ध्यायमान·, कषायपाकि कर्मभ्य·" इत्यादिभिस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकदुरितनिवृत्त्यैवान्यथासिद्धे प्रदर्शनात्। न च "विविदिषन्ति यज्ञेन" "सर्वं कर्माखिल पार्थ !, ज्ञाने परिसमाप्यते" इत्यादिभि· कर्मजन्यताऽपि प्रतीयत इति वाच्यम्। सा हि नापूर्वद्वारा प्रतिबन्धकदुरितानुच्छेदेऽपूर्वसहस्रस्याप्यकिञ्चित्करत्वात्, तदुच्छेदेन तज्जनने तु प्रमाणान्तरावधृतकारणाभावेन प्रतिबन्धकाभावेनैवान्यथासिद्धे·। न चैव यागाऽऽदेरप्यपूर्वेणान्यथासिद्धि· स्यात्, तस्य यागकारणताग्रहोत्तरकल्प्यत्वेनोपजीव्यापरिपन्थित्वात्, इह तु प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रकारणताया· प्रागेवावधारणमिति शेषात्। अत एव मङ्गलकारीर्योः प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्तिमात्रफलकत्व, वृष्टिसमाप्ती तु स्वकारणादेवेति सिद्धान्त· *। किञ्च-कर्मकारणताग्रहानुपजीवनेन लौकिकान्वयव्यतिरेकावधृतमिथ्याज्ञाननिवर्तनभावसभावितस्य मोक्षसाधनत्वस्य "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्, तरति शोकमात्मवित्, ब्रह्मविदाप्नोति पर, ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति," इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेन तत्त्वज्ञानादिष्टतया ग्रहणात् तदेव मोक्षसाधनम्। कर्माणि तु तत्रैवान्यथासिद्धानीति युक्त, यथा च न तत्रापि व्यापार तथोक्तमेव। अत एवार्थावबोधपर्यन्तताऽध्ययनविधे·, न तु तेन क्रत्वाद्यनुष्ठानेन स्वर्गाऽऽदिफलकत्वमिति सम्प्रदायः। न च तत्त्वज्ञानस्य कर्मणा नि·श्रेयसप्रागभावव्याप्यप्रागभावप्रतियोगित्वरूपतदनुकूलताबोधने एव तात्पर्यात् श्रुत्यन्तरसिद्धेऽन्यथासिद्धत्वे तदन्यथासिद्धताया बोधयितुमशक्यत्वात्तावतैव श्रुतेः कर्मप्रवृत्तिपरतानिर्वाहादित्याहुः।

अत्र वय वदामः-मोक्षस्तावत् पुरुषार्थत्वादू दुःखसाधनकर्मध्वंस एव,न तु दु खध्वंसः,उत्पन्नानुत्पन्नविवेकिना तद्ध्वसस्याऽसाध्यत्वात्। तत्र च ज्ञानकर्मणोर्वैजात्येन मुमुक्षुविहितत्वादेव हेतुत्व तुल्यमेवेत्येकतरपक्षपातो न श्रेयान्। ज्ञाने केवलज्ञानत्वरूपस्य, कर्मणि च यथाख्यातचारित्रत्वरूपस्य वैजात्यस्य कल्पनाया· क्षायिकस्थले क्षायोपशमिकस्थले च तदनुकूलतामात्रस्य द्वयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वात्। एतेन कारणोच्छेदक्रमेण कार्योच्छेदादू मुक्तिरिति ज्ञानकर्मसहकारित्व मिथ्याज्ञानोन्मूलने कर्मविनाशकृतस्यैव तस्य दिग्मोहाऽऽदौ हेतुत्वावधारणाऽऽदि निरस्तम्, मिथ्याज्ञाननाशेऽपि विरोधिगुणमात्रस्य हेतुत्वात्, मिथ्याज्ञानप्रभावासहवृत्तिमिथ्याज्ञानध्वसे च हेतुताया लोकप्रमाणाविषयत्वेन ज्ञानकर्मणोर्द्वयोरेव कल्पनौचित्यात्। वस्तुत आर्थसमाजसिद्धत्वात् तद्रूपावच्छिन्नेऽपि न हेतुता, किं तु सामान्यावच्छिन्नध्वसनये कर्मत्वावच्छिन्नध्वसे, तत्सम यावत् कर्मक्षयसमनियतक्षायिकसुखत्वावच्छिन्ने वेति न कस्यापि न्यूनत्वम्, पराभिमतद्वारस्थान एव फलाभिषेकात्। एकपुरस्कारेणान्यनिराकरणवचन च तत्तदर्थवाद एवेति न कर्मकारणताबोधकवचनेऽनुकूलत्वमात्रमर्थः। कारणता शक्तपदस्यानुकूलत्वम्, लक्षणाया गौरवात्। अन्यथासिद्धिचतुष्टयराहित्यगर्भत्वेन तत्र लाघवमिति दृष्टदाने च विधिप्रत्ययमात्रार्थोऽपीष्टानुकूलत्वमात्रमेव स्यादिति यागाऽऽदेरप्यपूर्वेणान्यथासिद्धि· कर्मणाम्, न तत्त्वज्ञाने। न च तद्द्वारा मुक्तौ हेतुत्वमित्युक्तम्। तदपि न युक्तम्। प्रतिबन्धकत्वस्य विशिष्य विश्रामेण तदभावकार्यमात्रेऽनुगतहेतुताया अयोगात्, प्रतिबन्धकविशेषनिवृत्तिहेतुतायाश्च कर्मकारणताग्रहोत्तरकल्पनीयत्वेन तदन्यथासिद्ध्यनापादकत्वात्। किं च-प्रतिबन्धकनिवृत्त्याऽन्यथासिद्धत्वेन कर्मणोऽहेतुत्वोक्तौ तत्त्वज्ञानस्य सुतरा तथात्वं स्यात्। न हि उत्पन्नकेवलज्ञाना अपि भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयं प्रतिबन्धकमनिवर्तयित्वा सद्य एव मुक्तिमासादयन्तीति मुक्तिप्रतिबन्धककर्मनिवर्तकत्वेन तत्त्वज्ञानस्य कुतोऽनान्यथासिद्धि ?। अथ कर्मणो भोगनाश्यत्वेन ज्ञानस्य तदनाशकत्वादू नान्यथासिद्धि·. न हि भोगस्तत्त्वज्ञानव्यापार·,तथाऽश्रवणात्, तेन विनाऽपि कर्मण एव तदुपपत्तेश्च। न च वासुदेवाऽऽदीना कायव्यूहश्रवणात् तत्त्वज्ञानेन कायव्यूहमुत्पाद्य भोगद्वारा कर्मक्षयमित्यपि साम्प्रतम्,तप प्रभावादेव तत्त्वज्ञानस्योत्पादेऽपि कायव्यूहसभवादू भोगजननार्थं कर्मभिरवश्य तत्कार्यनिष्पादनमिति न तत्र तत्त्वज्ञानोपयोग·, यौगपद्य च कायाना तज्जनककर्मस्वभावात्तप·प्रभावाद्वेति। न च "तावदेवास्य चिर यावन्न विमोक्षोऽथ सपत्स्यते कैवल्येन" इति श्रुतौ तावदेवास्योत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य चिर विलम्बो यावन्नोत्पन्नकर्मणो विमोक्ष। 'अथ सपत्स्यते कैवल्येन' भोगेन क्षपयित्वेति शेष इति व्याख्यानादू भोगस्य तत्त्वज्ञानव्यापारत्व युक्तमेव। न च शेषदाने मानाभाव·, सत्यपि ज्ञाने कर्मावस्थाने फलसामान्यभोगस्यैव नाशकत्वेनाऽऽक्षेपादिति वाच्यम्, तत्त्वज्ञाने सति तत्त्वज्ञानदशायां न मोक्षः, किं तु तदपि प्रक्षण (?) इत्यर्थेनाप्युपपत्तेरिति चेत्। मैवम्। कर्मणो भोगनाश्यत्वेऽपि ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वम्, भोगस्य तत्त्वज्ञानाव्यापारत्वात्। न च तत्त्वज्ञा-

* नवीनानाम्।

न विनाऽपि भोगेन कर्मनाशे व्यभिचारः, कर्मप्रागभावासहवृत्तिकर्मनाशे युगपद्भोगे वाऽप्यव्यभिचाराभावादिति मणिकृतैवोक्तत्वात् ।

अस्मत्सिद्धान्तेऽपि नाशार्थिवृत्तौ नाश्यनिश्चयविषयैव केवलज्ञानस्य कर्महेतुत्वमनपायम् । तदुक्तं निर्युक्तौ समुद्घाताधिकारेण-" ऊणवेयणिज्ज अइबहुय आउय च थोवग बवंति जिणा समुग्घाय । " अत्र क्त्वाप्रत्ययबलादेव नियतवर्णोपर्यस्यार्थोऽानन्यसिद्धत्वस्य प्रतीते कारणत्वलाभे अन्यद्दत्वाभोगवीर्यस्यैव केवलिन. कर्मक्षयहेतुत्वादाभोगान्वितवीर्यत्वेनैव वीर्यान्विताऽऽभोगत्वेनापि हेतुत्वादुक्तार्थसिद्धिः । यत्पुन " दोषपत्तिर्मतिज्ञानात्, अकिञ्चिदपि केवलात् । तम·-प्रचयनि शेष-विशुद्धिफलमेव तत् " ॥ १ ॥ इत्यनेन केवलज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वमुच्यते, न दोषपक्तिरूपकार्यापेक्षया, न तु पक्वानां भवोपग्राहिणा क्षपणरूपकार्यमप्याश्रित्य, तत्तद्व्यापारस्य सदा जागरूकत्वात् । यदि च स्वरूपशुद्धिग्राहकनयेन १ केवलज्ञानस्य निर्व्यापारत्व स्वीक्रियते, तदा यथाख्यातचारित्राऽऽत्मकक्रियाया अपि तथात्वमेवाभ्युपगन्तु युक्तम्; समुद्घाताऽऽदिना कर्मक्षपणव्यापारस्य योगविशेषेणैव वक्तु शक्यत्वात् । मुक्तिघ्यहेतुविवेकेन फलशुद्धिग्राहकनयेन तत्र चारित्रहेतुत्वाभ्युपगम्यमानो ज्ञानहेतुतामपि न व्याहन्ति । २ । अनन्तकारणग्राहकनयेन तत्र चारित्रमेव हेतुरिति चेत् । न । उत्पत्त्यावनन्तरत्वस्य यथाऽऽख्यातचारित्रापेक्षया केवलज्ञान एव सम्भवाद्,व्यापारानन्तर्यस्य च कल्प्यमानस्योभयत्रापि विनिगमात् । ३ । एतेनाऽऽक्षेपककारणग्राहकनयेन-"जम्हा दसणनाणा" इत्यादिवचनाच्चारित्रमेव मुक्तिहेतुरित्यपि निरस्तम् । आक्षेपकत्व हि स्वेतरसकलकारणसमवधाननियतसमवधानकत्व, तच्च यथाख्यात इव केवलज्ञानेऽपीत्यविशेषात् क्षयोपशमदशायामप्यपुनर्बन्धकाऽऽदिचारित्रव्यावृत्तजातिविशेषवतश्चारित्रस्येव विषयप्रतिभासाऽऽत्मपरिणामज्ञानोर्ध्वभाविनस्तत्त्वज्ञानस्याऽऽक्षेपकत्वाविशेषात् । ४ । मुख्यैकशेषनयेन चारित्रमेवोत्कृष्यत इति चेत् । न । तत्र मुख्यत्वस्यैव विनिगन्तुमशक्यत्वात् । ५ । पुमर्थग्राहकनयेन क्रियायामेव मुख्यत्व विनिगम्यत इति चेत् । न । परमशास्त्रग्राहकनयेन ज्ञान एव तद्विनिगमनाया. सुवचत्वात् । ६ । "ज सम्म ति पासहा, त मोण ति पासहा " इत्यादिवचनात् कारकसम्यक्त्वशरीरनिर्वाहकत्वनयेन चारित्रमेवोत्कृष्यत इति चेत् । न । " ज अन्नाणी कम्म खवेइ " इत्यादिवचनात् । सम्यक्क्रियाशरीरनिर्वाहकत्वनयेन चारित्रमेवोत्कृष्यत इति चेत् । न । " ज अन्नाणी कम्म खवेइ " इत्यादिवचनात् सम्यक् क्रियाशरीरनिर्वाहकत्वनयेन ज्ञानेऽप्युत्कर्षस्य वक्तु शक्यत्वात् । ७ । एतेन ' णिच्छयणयस्स चरण-स्सुवघाएण नाणदसणवहो वि । " इत्यादिवचनात् ज्ञाननाशव्याप्यनाशप्रतियोगित्वग्राहकशुद्धनयेन ज्ञानातिशयस्याप्यदुर्वचत्वात् । ८ । व्यापारप्राधान्यग्राहकक्रियानयेन चारित्रोत्कर्ष इत्युक्तावपि दर्शनप्रधानग्राहकज्ञाननयेन ज्ञानोत्कर्षः सुवच एव । ९ । दृष्टान्तौ चात्र पङ्ग्वन्धौ । तयोरन्यतरस्याऽकिञ्चित्करत्वेन सयोगपक्ष एव श्रेयान् । न च कुर्वद्रूपत्वनये शैलेश्यन्त्यक्षणभावे चारित्रमुक्तम्, एव मुक्तिरूपफलोपधायकत्वेन विशिष्यत इत्यपि शङ्कनीयम्, कुर्वद्रूपक्षणस्य सहकारिसमवधाननियतत्वेन तत्कालीनज्ञानक्षणस्यापि मुक्तिहेतुत्वात् । पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्तिपक्षे बीजपाथःपवनाऽऽदीनामेकत्रोपादानत्वेन, अन्यत्र च निमित्तत्वेन हेतुत्वमिति चारित्रक्षणस्य मुक्तावुपादानत्वेन हेतुत्वाद्विशेष इत्यप्यसाम्प्रतम्, ज्ञानाऽऽदिसवलितमुक्तिक्षणे सवलितक्षणस्यैव हेतुत्वात् । तच्चाऽतद्व्यावृत्त्या, शक्तिविशेषाऽऽदिना वेत्यन्यदेतत् । कथ तर्हि "सद्दुज्जुसुयाण पुण, निव्वाण सजमो चेव । " इति निर्युक्तिवचन अज्ञानम्, तेषा कुर्वद्रूपक्षणावगाहित्वात्, तत्र चैकान्तस्यानुपदमेव निरस्तत्वादिति शङ्कनीयम्; एकैकस्य शतभेदत्वेनाक्षेपककारणत्वरूपस्थूलापेक्षयैत्र तदेकान्ताभिधानोपपत्ते । अत एव शैलेश्यन्त्यक्षणभाविधर्महेतुत्वमिति विशुद्धैवभूताऽभिप्रायेणैवास्माभिस्तत्र तत्र समर्थितम् । ये तु मिथ्यादृशो मिथ्याज्ञानोन्मूलनद्वारा तत्त्वज्ञानमेव मुक्तिहेतुरिति मन्यन्ते, ते मिथ्याज्ञानोन्मूलनेऽपि तत्तन्मन·प्रणिधानरूपाक्रियाया हेतुत्व कथ न पश्यन्ति ? । मिथ्याज्ञानवासनोन्मूलनवत्कर्मनिरपेक्ष तत्त्वज्ञान हेतुरिति चेत्तर्हि अदृष्टपरिकल्पनमेतत् । मिथ्याज्ञानिवासनायाः स्मृत्येकनाश्यत्वात् तत्त्वज्ञानस्य तन्नाशताया लोकेऽदृष्टत्वाद्, अदृष्टकल्पने चाऽऽगमानुसारेणाज्ञानवत्कर्मणोऽपि मलक्षयद्वारा मुक्तिहेतुत्वकल्पनमेव न्याय्य । तथा चाभ्यधात् सूरोऽपि वासिष्ठे- " तन्दुलस्य यथा चर्म, यथा ताम्रस्य कालिका । नश्यति क्रियया पुत्र !, पुरुषस्य तथा मलम्" ॥ १ ॥ इत्यादि । किं च-विहितत्वेन पुण्यपापक्षयान्यतरहेतुत्वव्याप्ते तत्त्वज्ञानस्य कर्मतुल्यत्वम् । न च किञ्चित् साद्यावेव व्यभिचारः, मुमुक्षुविहितत्वेन व्याप्तौ व्यभिचाराभावादिति पुष्टिशुद्ध्यनुबन्धद्वारा ज्ञानकर्मणोर्मुक्तौ तुल्यवदेव हेतुतया समुच्चयपक्ष एवानाविल इति सिद्धम् । (नयो०)

ज्ञानमेव शिवस्याध्वा, मिथ्यासंस्कारनाशनात् ।
क्रियामात्रं त्वभव्याना-मपि नो दुर्लभं भवेत् ॥ १३२ ॥
तन्दुलस्य यथा चर्म, यथा ताम्रस्य कालिका ।
नश्यति क्रियया पुत्र !, पुरुषस्य तथा मलम् ॥ १३३ ॥
वर्वरश्च * तपस्वी च, शूरश्चाप्यकृतव्रणः ।
मद्यपा स्त्री सती चेति, राजन् ! न श्रद्दधाम्यहम् ॥ १३४ ॥
ज्ञानवान् शीलहीनश्च, त्यागवान् धनसंग्रही ।
गुणवान् भाग्यहीनश्च, राजन् ! न श्रद्दधाम्यहम् ॥ १३५ ॥
इति युक्तिवशात् प्राहु-रुभयोस्तुल्यकक्षताम् ।
मन्त्रेऽप्याह्वानं देवाऽऽदेः, क्रियायुग् ज्ञानमिष्टकृत् ॥ १३६ ॥
ज्ञानं तुर्ये गुणस्थाने, क्षायोपशमिकं भवेत् ।
अपेक्षते फले षष्ठ-गुणस्थानजसंयमम् ॥ १३७ ॥
प्रायः संभवतः सर्व-गतिषु ज्ञानदर्शने ।
तत्प्रमादो न कर्तव्यो, ज्ञाने चारित्रवर्जिते ॥ १३८ ॥
क्षायिकं केवलज्ञान-मपि मुक्तिं ददाति न ।
तावन्नाविर्भवेद् याव-च्छैलेश्यां शुद्धसंयमः ॥ १३९ ॥
व्यवहारे तपोज्ञान-संयमा मुक्तिहेतवः ।
एकः शब्दर्जुसूत्रेषु, संयमो मोक्षकारणम् ॥ १४० ॥
संग्रहस्तु नयः प्राऽऽह, जीवो मुक्तः सदा शिवः ।

* वठरश्चेति पाठान्तरम् ।

अनवाप्तिभ्रमात् कणक-स्वर्णन्यायात् क्रिया पुनः॥१४१॥
अनन्तमर्जितं ज्ञानं, त्यक्ताश्चानन्तविभ्रमाः ।
न चित्रं कलयाऽप्यात्मा,हीनोऽन्यूनदधिकोऽपि वा ॥१४२॥
यावन्तोऽपि नयाः सर्वे, स्युर्भावे कृतविश्रमाः ।
चारित्रगुणलीनः स्या-दिति सर्वनयाऽऽश्रितः ॥१४३॥
सुनिपुणमतिगम्यं मन्दधीदुष्प्रवेशं,
प्रवचनवचनं न क्वाऽपि हीनं नयौघैः ।
गुरुचरणकृपातो योजयंस्तान् पदे यः,
परिणमयति शिष्यांस्तं वृणीते यशःश्रीः ॥ १४४ ॥
गच्छे श्रीविजयाऽऽदिदेवसुगुरोः स्वच्छे गुणानां गणैः,
प्रौढिं प्रौढिमधाम्नि जीतविजयप्राज्ञाः परामैयरुः ।
तत्सातीर्थ्यभृतां नयाऽऽदिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशुः,
तत्त्वं किञ्चिदिदं'यशोविजय'इत्याख्याभृदाख्यातवान् १४५
नयो० ।

नाणं किरियारहियं, किरियामित्तं च दो वि एगंता ।
असमत्था दाएउं, जम्ममरणदुक्ख मा भाइ ॥ ६८ ॥

ज्ञायते यथावद् जीवाजीवाऽऽदिनत्त्वमनेनेति ज्ञानम्,क्रियत इति क्रिया यथोक्तानुष्ठानम्, तया रहित, जन्ममरणदुःखेभ्यो मा भैषीरिति दर्शयितुम्,दातु वाऽसमर्थाम् । न हि ज्ञानमात्रेणैव पुरुषो भयेभ्यो मुच्यते, क्रियारहितत्वाद् , दृष्टप्रदीपनकप्रपलायमानपङ्गुवत् । क्रियामात्रं वा ज्ञानरहित न भयेभ्यो मा भैषीरिति दर्शयितु दातु वा समर्थम् । न हि क्रियामात्रात् पुरुषो भयेभ्यो मुच्यते, ज्ञानविकलत्वात्, प्रदीपनकभयप्रपलायमानान्धवत् । तथा चाऽऽगम.-" हयं नाण कियाहीण, हया अन्नाणओ किया । पासतो पगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ " ॥३६॥ (महा०) ('मोक्ख' शब्दे चैतद् विवेचयिष्यते) उभयसद्भावस्तु तेभ्यो मा भैषीरिति दर्शयितु समर्थ. । तथा हि-सम्यग्ज्ञानक्रियावान् भयेभ्यो मुच्यते, उभयसयोगत्वात्, प्रदीपनकभयान्धस्कन्धाऽऽरूढपङ्गुवत् । (सम्म० ३ काण्ड)

उक्त च-

संजोगसिद्धीएँ उ गोयमा ! फलं,
न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा,
ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥ ३७ ॥
नाणं पयासयं सोहउ, तवो संजमो य गुत्तिकरो ।
तिएहं पि समाजोगे, गोयम ! मोक्खो न अन्नहा ॥३८॥
महा० १ अ० ।

(सजोगसिद्धीएत्यादि) तस्माद् सम्यग्ज्ञानाऽऽदित्रितयनयसमूहान्मुक्ति , नयसमूहविषय च सम्यग्ज्ञान श्रद्धान च, तद्विषय सम्यग्दर्शन,तत्पूर्वं चाशेषपापक्रियानिवृत्तिलक्षण चारित्र, प्रधानोपसर्जनभावेन, मुख्यवृत्त्या वा तन्त्रितयदर्शकं च वाक्यमागमो, नान्य , एकान्तप्रतिपादकस्यासदर्थत्वेन विसंवादकतया तस्य प्राधान्यानुपपत्ते । जिनवचनस्य तु तद्विपर्ययेण दृष्टवादादृष्टार्थेऽपि प्रामाण्यसगते । सम्म० ३ काण्ड । महा० ।

(ज्ञान शील श्रुतं वा श्रेय इत्यन्ययूथिकैः सह ' अण्णउत्थिय ' शब्दे प्रथमभागे ४५८ पृष्ठे चिन्तितम्) आह च- ज्ञानक्रिययोः प्रत्येक मुक्तेरव्यापिका शक्तिरसती कथ समुदायेऽपि भवति ? । न हि यद्येषु प्रत्येकं नास्ति तत्तेषां समुदायेऽपि भवति, यथा प्रत्येकमभ्यसमुदितास्वपि सिकतासु तैल, प्रत्येकमसती ज्ञानक्रिययोर्मुक्तेरव्यापिका शक्तिः । तदुक्तम्- " पत्तेयमभावाओ, निव्वाण समुदियासु वि ण जुत्त । णाणकिरियासु वोत्तु, सिकयासमुदायतिल्लं व ॥ १ ॥ " उच्यतेस्यादेव यदि सर्वथा प्रत्येक तयोर्मुक्त्यनुपकारितोच्येत, यदा तु तयो प्रत्येक देशोपकारिका, समुदाये तु सम्पूर्णा हेतुतोच्यते, तदा न कश्चिद्दोष । आह च-" वीसु ण सव्वह किचय, सिकयातेल्ल व साहणाभावो । देसोवकारिया जा, सा समवायम्मि सपुण्णा ॥ १ ॥ " अन. स्थितमेतद् ज्ञानक्रिये समुदिते एव मुक्तिकारण, न तु प्रत्येकमिति तत्त्वम् ।

तथा च पूज्या.-

णाणाहीण सव्व, णाणणओ भणइ किं व किरियाए ? ।
किरियाए करणनओ,तदुभयगाहो य सम्मत्तो३५९१"(विशे०)
" क्वचित्सौत्र्या शैल्या, क्वचिदधिकृतप्राकृतभुवा,
क्वचिच्चार्थापत्त्या, क्वचिदपि समारोपविधिना ।
क्वचिच्चाध्याहाराद्, क्वचिदविकलप्राक्क्रमबला-
दियं व्याख्या ज्ञेया, क्वचिदपि तथाऽऽम्नायवशत. ॥ १ ॥"
उत्त० १ अ० । दर्श० । आ० क० । अष्ट० ।

आचार्य. प्राऽऽह-

सव्वेसिं पि नयाणं, बहुविहवत्तव्वयं निसामित्ता ।
तं सव्वनयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठितो साहू ॥

सर्वेषामपि मूलनयानाम्, अपिशब्दात्तद्भेदानामपि नयानां द्रव्यास्तिकायाऽऽदीनाम्-बहुविधवक्तव्यता सामान्यमेव, विशेषा एव,उभयमेव वा परस्परनिरपेक्षमित्यादिरूपाम्,अथवा-नामादिनयानां मध्ये को नय क साधुमिच्छतीत्यादिरूपा, निशम्य श्रुत्वा, तत्सर्वनयविशुद्ध सर्वनयसम्मत वचन,यच्चरणगुणस्थितः साधुर्यस्मात् सर्वेऽपि नया भावनिक्षेपमिच्छन्तीति । बृ० ६ उ० । तथा चाऽऽगम -"दोहिं ठाणेहिं सपन्ने अणगारे अणाइय अणवदग्ग दीहमद्ध वा चाउरतसंसारकनार वीईवएज्जा । त जहा-विज्जाए चेव, चरणे चेव।" स्था० २ ठा० । दश० । व्य० ।

णाणकुसील-ज्ञानकुशील-पुं० । गुरुकज्ञानाऽऽवरणोदयेनादुर्निश प्रधर्षयति कुत्सितशीले, महा० ३ अ० ।

णाणग-नाणक-न० । मुद्रायां, कार्षापणे, पणे च । आ०क० ।
" केनापि कस्यचित् प्राज्य-मूल्यनाणकसभृत' ।
न्यस्तो नवलकस्तेनो-पात्तास्ते बहुमूल्यका " ॥ १ ॥
आ० क० । स्वनामख्याते तीर्थभेदे, मोढेरे वायडे नाणके पल्ल्यां भेलुणमके श्रीमहावीर. । ती० ४३ कल्प ।
पन्यासजीतविजयगणिकृतप्रश्न -यथा प्रत्यह प्रह्लादनविहारे पञ्चशती वीसलप्रियाणा भोगः कथितोऽस्ति, तन्नाणक किं नामक कथ्यते ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-वीसलदेवाऽऽज्ञापातित नाणक वीसलप्रियनामक तत्कालीनं किञ्चिन्नाणकविशेष सभाव्यते, तदधुना प्रसिद्ध नास्ति, परं षट्त्रिंशन्मूढकरूप्यैर्वीसलप्रियनाणकमष्टशताविंशतिसहस्राधिकद्विषष्टिलक्षप्रमाण कथितमस्तीति ॥ ४०४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

णाणगुण-ज्ञानगुण-पुं० । जीवाऽऽश्रिते ज्ञाने तदविनाभाविनि पर्याये ज्ञानमाहात्म्ये, आव० ४ अ० ।

णाणच्चासायणा-ज्ञानात्याशातना-स्त्री० । ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा हीलनायाम, भ० ८ श० १० उ० ।

णाणजोग-ज्ञानयोग-पुं० । ज्ञानमेव योगः कौशलं ज्ञानमाप्त्युपायो वा । प्रज्ञाभोपाये निज्ञभेदे, पाच० । अष्ट० ।

णाणट्ठया-ज्ञानार्थता-स्त्री० । ज्ञानमेवार्थो यस्य स ज्ञानार्थस्तद्भावस्तत्ता । ज्ञानार्थत्वे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णाणड्ड-ज्ञानाढ्य-त्रि० । बह्वागमे, जीवा० १६ अधि० ।

णाणड्ढि-ज्ञानर्द्धि-स्त्री० । "पभू णं भंते ! चोद्दसपुव्वी ।" तथा-"जं अन्नाणी कम्मं" इत्यादिरूपायामृद्धौ, दश० ३ अ० ।

णाणणय-ज्ञाननय-पुं० । ज्ञानमेव प्रधानमैहिकाऽऽमुष्मिकफलप्राप्तिकारणं युक्तियुक्तत्वादिति सिद्धान्तप्रतिपादपरे नये, आव० ६ अ० । सम्म० ।

एतन्मतं यथा-

इह केचित् ज्ञानादेव मोक्षमभिदधत । तथाहि ते ब्रुवते-सम्यग्ज्ञानमेव फलसम्पादनप्रत्यलम्, न क्रिया, अन्यथा मिथ्याज्ञानादपि क्रियायाः फलोत्पादप्रसङ्गात् ।

यदुक्तम्-

"विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता ।
मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य,फलासंवाददर्शनात् ॥१२॥" (नयो०)

तथा-

"श्रियः प्रसूते विपदो रुणद्धि, यशांसि दुग्धे मलिनं प्रमार्ष्टि ।
संस्कारशौचेन परं पुनीते, शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः ॥१॥"
रत्ना० ७ परि० ।

इह कश्चिद् ज्ञानमेव प्रधानमपवर्गबीजमिच्छति,-
यतः किल पठ्यतेऽगमः-

"जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुआहिँ वासकोडीहिँ ।
तं नाणी तीहिँ गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ १ ॥"

तथा-

"सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि ।
जीवो तहा ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे ॥ २ ॥"

तथा-

"नाणं गिण्हइ नाणं, गुणेइ नाणेण कुणइ किच्चाइं ।
भवसंसारसमुद्द, नाणी नाणट्ठिओ तरइ ॥ ३ ॥"

तस्माद् ज्ञानमेव प्रधानमपवर्गप्राप्तिकारणमतो ज्ञानिन एव कृतिकर्म कार्यम् । अथाऽनन्तरगाथायामेव द्रव्यभावसमायोगे श्रमण उक्तः । तस्य च कृतिकर्म कार्यमित्युक्तम् ।
"चरणं च भावो वर्तते" इत्युक्ते सत्याह-

काम चरणं भावो, तं पुण नाणसहिओ समाणेइ * ।
न य नाणं तु न भावो, तेन य नाणिं पणिवयामो ॥७१॥

काममनुमतमिदं यदुत चरणं चारित्रं भावो भावशब्दो भावलिङ्गोपलक्षणार्थः । तत्पुनर्ज्ञानसहितो ज्ञानयुक्तः समापयति निष्ठां नयति, यत -इदमित्थमासेवनीयमिति ज्ञानादेवावगम्यते, तस्मात्तदेव प्रधानं, न च ज्ञानं तु न भावः, भाव एव भावलिङ्गं तत्कारणत्वात्, तेन कारणेन 'य' इति निपातः पूरणार्थः । ज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानी, तं ज्ञानिनं, प्रणमामः पूजयामः । इति गाथाऽर्थः ॥ ७१ ॥

यतश्च बाह्यकरणरहितस्याप्यज्ञानिनश्चरणभाव एवोक्तः-

तम्हा न बज्झकरणं, मज्झ पमाणं न यावि चारित्तं ।
नाणं मज्झ पमाणं, नाणे य ठियं जओ तित्थं ॥७२॥

तस्मात् बाह्यकरणं लिङ्गविशुद्ध्यादिकं मम प्रमाणं, न चापि चारित्रं प्रतमङ्गणं, तदज्ञानाभावे तस्याप्यभावात् । अतो ज्ञानं मम प्रमाणं, सति तस्मिंश्चारणस्याऽपि भावात्, ज्ञाने च स्थितं यतस्तीर्थं, तस्याऽऽगमरूपत्वात् । इति गाथाऽर्थः ॥७२॥

किञ्च दर्शनं ज्ञानविषयं, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति वचनात् । तच्च दर्शनं द्विधा-अधिगमजं, नैसर्गिकं च । इदमपि ज्ञानाऽऽयत्तोदयमेव वर्तते । तथा चाऽऽह-

नाणेण य सब्भावं, अहिगमसम्मं पि होइ जीवस्स ।
जाईसरणनिसग्गु-गया वि न निरागमा दिट्ठी ॥७३॥

ज्ञानेन च श्रुताख्येन च सद्भाव सतां भावः सद्भावः, तं, सतो जीवाऽऽदेः किमधिगमाद् जीवाऽऽदिपदार्थपरिच्छेदलक्षणात्, सम्यक्त्वं श्रद्धानलक्षणम्, अधिगमसम्यक्त्वम्, इदमधिगमसम्यक्त्वमपि, अपिशब्दात् चारित्रमपि, भवति जीवस्य आत्मन इत्यर्थः । नैसर्गिकमाश्रित्याऽऽह-जातिस्मरणात्सकाशान्निसर्गेण स्वभावेनोद्गता समुत्था जातिस्मरणनिसर्गोद्गता, असावपि न निरागमा आगमरहिता, दृष्टिः, दर्शनं दृष्टिरिति, यतः स्वयम्भूरमणमत्स्याऽऽदीनामपि जिनप्रतिमाऽऽकारमत्स्यदर्शनाद् जातिमनुस्मृत्य भूतार्थालोकनपराणामेव नैसर्गिकं सम्यक्त्वमुपजायते, भूतार्थालोकनं च ज्ञानं, तस्मादिदमपि ज्ञानाऽऽयत्तोदयमिति कृत्वा ज्ञानस्य प्राधान्याद् ज्ञानिन एव कृतिकर्म कार्यमिति स्थितमेव गाथाऽर्थः ॥ ७३ ॥

इत्थं ज्ञानवादिनोक्ते सत्याचार्य आह-

नाणं चिमए नियमं, न नाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ती ।
मग्गन्नू दिट्ठंतो, होइ सचिट्ठो अचिट्ठो अ ॥ ७४ ॥

ज्ञानं प्रकाशात्मकं स्वविषये नियतं स्वविषयं पुनरस्य प्रकाशनमेव, एवमेवमतो न ज्ञानमात्रेण कार्यनिष्पत्तिः, मात्रशब्दः क्रियाप्रतिषेधवाचकः । अत्रार्थे मार्गज्ञदृष्टान्तो भवति, सचेष्टः सव्यापारः, अचेष्टश्च अविद्यमानचेष्टश्च । एतदुक्तं भवति-यथा कश्चित् पाटलिपुत्राऽऽदिमार्गज्ञो जिगमिषुश्चेष्टदेशप्राप्तिलक्षणं कार्यं गमनचेष्टोद्यत एव साधयति, न चेष्टाविकलो भूयसाऽपि कालेन तत्परिज्ञानादेवैव ज्ञानी शिवमार्गमविपरीतमवगच्छन्नपि संयमक्रियोद्यत एव तत्प्राप्तिलक्षणं कार्यं साधयति, नानुद्यतो ज्ञानप्राधान्यादेव, तस्मादलं संयमरहितेन ज्ञानेन । इति गाथाद्वयार्थः ॥ ७४ ॥

प्रस्तुतार्थप्रतिपादकमेव दृष्टान्तान्तरमभिधित्सुराह-

आउज्जनट्टकुसला, वि नट्टिआ तं जणं न तोसेइ ।
जोगं अजुंजमाणी, निंदं खिसं च सा लहइ ॥ ७५ ॥

आतोद्यानि मृदङ्गाऽऽदीनि, नृत्तं करचरणनयनाऽऽदिविशिष्टपरिस्पन्दविशेषलक्षणम, आतोद्यैः करणभूतैः नृत्तमातोद्यनृत्तं, तस्मिन् कुशला निपुणा आतोद्यनृत्तकुशला, असावपि नर्तकी,

* 'समापेः समाणः' । ८ । ४ । १४२ । समाप्नोतेः समाण आदेशो वा । 'समाणइ । समावेइ' ।

अपिशब्दाद् रङ्गजनपरिवृताऽपि, त जन रङ्गजन न तोषयति न हर्ष नयतीत्यर्थः । किंभूता सती ?-योगमयुञ्जती कायाऽऽदिव्यापारमकुर्वती, ततश्च अपरितुष्टाद् रङ्गजनाद् न किञ्चिद् द्रव्यजात लभत इति गम्यते । अपि तु निन्दां च खिंसां च सा लभते रङ्गजनादिति । तत्समक्षमेव या हीलना सा निन्दा, परोक्ष तु खिंसेति गाथाऽर्थः ॥ ७५ ॥

इत्थ दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनां प्रदर्श-
यन्नाह-

इअ लिंगनाणसहिओ, काइअजोगं न जुंजई जो उ ।
न लहइ स मुक्खसुक्खं,लहइ अ निंदं सपक्खाओ ॥७६॥

'इय' एव लिङ्गज्ञानाभ्यां सहितो युक्तः लिङ्गज्ञानसहितः काययोग कायव्यापार न युङ्क्ते न प्रवर्तयति, यस्तु न लभते न प्राप्नोति, स इत्थंभूत , किम ?,मोक्षसौख्य सिद्धिसुखमित्यर्थः । लभते च निन्दां स्वपक्षात्, चशब्दात् शिवस्यैव । इह च नर्तकीतुल्यः साधु , आतोद्यतुल्य द्रव्यलिङ्गं, नृत्तज्ञानतुल्य ज्ञान, योगव्यापारतुल्य चरण, रङ्गपरितोषतुल्य. सत्पुरितोषः, दानलाभतुल्य सिद्धिसुखलाभ. । शेष सुगमम् । यत एवमतो ज्ञानचरणसहितस्यैव कृतिकर्म कार्यमिति गाथाभावार्थः ॥७६॥

चरणरहित ज्ञानमकिञ्चित्करम्, अस्यार्थस्य
साधका बहवो दृष्टान्ता सन्तीति प्रदर्श-
नाय पुनरपि दृष्टान्तमाह-

जाणंतो वि अ तरिउं, काइअजोगं न जुंजई नइए ।
सो वुज्झइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो ॥ ७७ ॥

जानन्नपि च तरीतु यः काययोग कायव्यापारं न युङ्क्ते नद्या स पुमान् उह्यते ह्रियते श्रोतसा पय.प्रवाहेन, एव ज्ञानी चरणहीन ससारनद्या प्रमोदश्रोतसोह्यत इत्युपनयः । तस्माच्चरणविकलस्य ज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वात् उभययुक्तस्यैव कृतिकर्म कार्यमिति गाथाऽभिप्राय ॥ ७७ ॥

एवमसहायज्ञानपक्षे निराकृते,ज्ञानचरणोभयपक्षे च समर्थिते सत्यपरस्त्वाह-

गुणअहिए वंदणयं, छउमत्थ गुणागुणे अजाणंतो ।
वंदिज्ज व गुणहीणं, गुणाहिअं वावि वंदावे ॥ ७८ ॥

इहोत्सर्गतो गुणाधिके साधौ वन्दन, कर्तव्यमिति वाक्यशेष.। अय चार्थ.-श्रमण वन्देतेत्यादिग्रन्थसिद्ध ,गुणहीने तु प्रतिषेध , पश्चाना कृतिकर्मेत्यादिग्रन्थात् । इद च गुणाधिकत्व गुणहीनत्वं च तत्त्वतो दुर्विज्ञेयमत. छद्मस्थस्तत्त्वतो गुणागुणानात्मान्तरवर्तिनोऽजानानोऽनवगच्छन् किं कुर्याद्, वन्देत वा गुणहीन किञ्चित् गुणाधिक वाऽपि वन्दापयेत्, उभयथाऽपि च दोष.- एकत्र गुणानुज्ञाप्रत्यय., अन्यत्र तु विनयत्यागप्रत्यय , तस्मात्तूष्णींभाव एव श्रेयान्,अल वन्दनेन । इति गाथाऽभिप्राय ॥७८॥

इत्थ चोदकेनोक्ते सति व्यवहारनयमतमधिकृत्य गुणाधिकत्वपरिज्ञानकारणानि प्रतिपादयन्नाहाऽऽचार्य.-

आलएणं विहारेण. ठाणचंकमणेण य ।
सक्कासुविहिओ नाउं, भासावेणइएण य ॥ ७९ ॥

आलयो वसति सुप्रमार्जिताऽऽदिलक्षणा । अथवा-स्त्रीपशुपण्डकविवर्जित इति । तेनाऽऽलयेन, नाऽगुणवत एव खल्वालयो भवति । विहारो मासकल्पाऽऽदि', तेन विहारेण, स्थानमूर्द्ध-स्थान, चङ्क्रमण गमन,स्थान च चङ्क्रमण चेत्येकवद्भाव. । ते न चाविरुद्धदेशकायोत्सर्गकरणेन युगमात्रावनिप्रलोकनपुरस्सराऽद्रुतगमनेन चेत्यर्थ । शक्य सुविहितो ज्ञातुम्, भाषा-वैनयिकेन च-विनय एव वैनयिकम, समालोच्य भाषणेन आचार्याऽऽदिविनयकरणेन चेति भावना। नैतान्येवंभूतानि प्रायशोऽसुविहितानां भवन्तीति गाथाऽर्थः ॥ ७६ ॥

इत्थमभिहिते सत्याह चोदक'-

आलएणं विहारेणं, ठाणचंकमणेण य ।
न सक्का सुविहिओ नाउं, भासावेणइएण य ॥ ८० ॥

आलयेन विहारेण स्थानचङ्क्रमणेन च न शक्य सुविहितो ज्ञातु, भाषावैनयिकेन चोदायिनृपमारकमायुरकोट्टइल्लाऽऽदिभिर्व्यभिचारात् । तथा च प्रनीतमिदम्-अयतता अपि हीनसत्त्वा. लब्ध्यादिनिमित्त यतवद्भवन्ते, यतता अपि च कारणतोऽयतवदिति गाथाऽर्थ. ॥ ८० ॥

किञ्च-

भरहो पसन्नचंदो, सन्भिंतरबाहिरं उदाहरणं ।
दोसुप्पत्तिगुणकरं, न तेसि बज्झं भवे करणं ॥ ८१ ॥

भरत प्रसन्नचन्द्र साभ्यान्तरबाह्यमुदाहरणम्-अभ्यन्तर भरत', यतस्तस्य बाह्यकरणरहितस्यापि विचूर्णितस्यैवाऽऽदर्शकगृहप्रविष्टस्य विशिष्टभावनापरस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् । बाह्यम-प्रसन्नचन्द्रः । ('पसन्नचंद' शब्दे प्रसन्नचन्द्रकथाविस्तर) यतस्तस्योत्कृष्टबाह्यकरणवतोऽप्यन्त.करणविकलस्याध सप्तमनरकप्रायोग्यकर्मबन्धो बभूव । तदेव दोषोत्पत्तिगुणकर न तयोर्भरतप्रसन्नचन्द्रयो । (बज्झ भवे करण ति) छान्दसत्वाद्भूत करण दोषोत्पत्तिकारक भरतस्य नाभूदशोभन, बाह्य करण गुणकारक प्रसन्नचन्द्रस्य नाभूच्छोभनमपीति । तस्मादान्तरमेव करण प्रधानम्, न च तदालयादिनाऽवगन्तु शक्यते, गुणाधिक च वन्दनमुक्तमिति कृत्वा मौन एव श्रेयानिति स्थितम् । इत्ययं गाथाऽभिप्राय. ॥ ८१ ॥

इत्थ तीर्थाङ्गभूतव्यवहारनयनिरपेक्ष चोदकमवगम्याऽन्येषां पारलौकिकापायप्रदर्शनायाऽऽहाऽऽचार्य —

पत्तेअबुद्धकरणे, चरणं नासति जिणवरिंदाणं ।
आहच्चभावकहणे, पंचहिँ ठाणेहिँ पासत्था ॥ ८२ ॥

प्रत्येकबुद्धाः पूर्वभवाभ्यस्तोभयकरणा भरताऽऽदय.,तेषां करणे, तस्मिन्नान्तर एव फलसाधके सति मन्दमतयश्चरण नाशयन्ति जिनवरेन्द्राणां सन्निधिभूतम्, आत्मन',अन्येषा च । पाठान्तर वा-"बोहिं नासेति जिणवरिंदाणं ।" कथम् ?, "आहच्चभावकहणे त्ति" कादाचित्कभावकथने बाह्यकरणरहितैरेव भरताऽऽदिभि. केवलमुत्पादितमित्यादिलक्षणे, कथ नाशयन्ति ?,पञ्चभि स्थानै. प्राणातिपाताऽऽदिभि पारम्पर्येण करणभूतै., पार्श्वस्था उक्तलक्षणा. । इति गाथाऽर्थ ॥ ८२ ॥

यतश्च-

उम्मग्गदेसणाए, चरणं नासति जिणवरिंदाणं ।
वावन्नदंसणा खलु, न हु लब्भा तारिसा दट्ठुं ॥८३॥

उन्मार्गदेशनयाऽनयाऽनन्तराभिहित चरण नाशयन्ति जिनवरेन्द्राणां सन्निधिभूतमात्मनोऽन्येषा वा; व्यापन्नदर्शना खलु विनष्ट-

सम्यग्दर्शना निश्चयत 'खलु' इत्यपि इत्यर्थो निपात । तस्य व्यवहित सबन्ध । तमुपरिष्टाद् दर्शयिष्याम । (न हु लन्ना तारिसा दट्ठु ति) नैव कल्पन्ने तादृशा दृष्टुमपि, किंपुनर्ज्ञानाऽऽदिना प्रतिसेवयितुमिति गाथार्थ ॥८३॥ आव० ३ अ०। नि०। ('दंसण'शब्दे दर्शनप्राधान्यविचार)

तत्र ज्ञाननयदर्शनम्–इह ज्ञानमेवैहिकाऽऽमुष्मिकफलप्राप्तिकारण प्रधानं, युक्तियुक्तत्वात्, तथा चाऽऽह नियुक्तिकार —

नायम्मि गिण्हियव्वे, अगिण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि ।
जइयव्वमेव इइ जो, उवएसो सो नओ नाम ॥३५९२॥

'नायम्मि' ज्ञाते सम्यक्परिच्छिन्ने ग्रहीतव्ये उपादेये (अगिण्हियव्वम्मि त्ति) अग्रहीतव्ये अनुपादेये, हेय इति भाव । चशब्द खलूभयोर्ग्रहीतव्याग्रहीतव्ययोर्ज्ञातव्यानुकर्षणार्थ , उपेक्षणीयवस्तुसमुच्चयार्थो वा । एवकारस्त्ववधारणार्थः । तस्य चैवं व्यवहित प्रयोगो द्रष्टव्य । ज्ञात एव ग्रहीतव्ये,तथाऽग्रहीतव्ये, उपेक्षणीये च ज्ञात एव नाज्ञाते अर्थे ऐहिकाऽऽमुष्मिके । तत्रैहिको ग्रहीतव्य स्रक्चन्दनाऽऽदिर्ति , अग्रहीतव्यो विषशस्त्रकण्टकाऽऽदि , उपेक्षणीयस्तृणाऽऽदि । आमुष्मिको ग्रहीतव्य. सम्यग्दर्शनाऽऽदि , अग्रहीतव्यो मिथ्यात्वाऽऽदि., उपेक्षणीयो विषयाऽऽदि ,तस्मिन्नर्थे यतितव्यमेव अनुस्वारलोपाद् यतितव्यमेव क्रमेण ऐहिकाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना सत्त्वेन प्रवृत्त्यादिलक्षणो यत्न कार्य इत्यर्थ । इत्थ चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्-सम्यगज्ञाते प्रवर्त्तमानस्य फलविसवाददर्शनात् ।

तथा चोक्तमन्यैरपि–

" विज्ञप्ति फलदा पुसां, न क्रिया फलदा मता ।
मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य,फलासवाददर्शनात्" ॥१२७॥(नयो०)

तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिनाऽपि ज्ञानादेव यतितव्यम् । (३५९२) आ० म० १ अ० २ खण्ड । इह ज्ञाननयो ज्ञानप्राधान्यख्यापनार्थं प्रतिपादयति–नन्वैहिकाऽऽमुष्मिकफलार्थिना तावत् सम्यग् विज्ञात एवार्थे प्रवर्त्तितव्यम्, अन्यथाप्रवृत्तौ फलविसवाददर्शनात्। तथा चान्यैरप्युक्तम्-" विज्ञप्ति फलदा पुसा, न क्रिया फलदा मता । मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलासवाददर्शनात् ॥ २२६ ॥ (नयो०) तथा चाऽऽगमेऽप्युक्तम्-" पढम नाण तओ दया " इत्यादि । " ज अन्नाणी कम्म खवेइ " इत्यादि । तथाऽपरमप्युक्तम्–

" पावाओ विणिवत्ती, पवत्तणा तह य कुसलपक्खम्मि ।
विणयस्स वि पडिवत्ती, तिन्नि वि नाणे समप्पति ॥ १ ॥"

इतश्च ज्ञानस्यैव प्राधान्यम्, यतस्तीर्थकरगणधरैरगीतार्थानां केवलाना विहारोऽपि निषिद्ध.। तथा च तद्वचनम्–

" गीयत्थो य विहारो, बीयो गीयत्थमीसिओ भणिओ ।
एत्तो तइयविहारो, नाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥ १ ॥ "

न यस्मादन्धेनान्ध. समाकृष्यमाण सम्यक् पन्थान प्रतिपद्यत इति भाव । एव तावत् क्षायोपशमिक ज्ञानमधिकृत्योक्तम्, क्षायिकमप्यङ्गीकृत्य विशिष्टफलसाधकत्व तस्यैव ज्ञेयम्, यस्मादर्हतोऽपि भवाम्भोधे. तटस्थस्य दीक्षाप्रतिपन्नस्योत्कृष्टतपश्चरणवतोऽपि न तावदपवर्गप्राप्ति. सजायते, यावदखिलजीवाऽऽदिवस्तुस्तोमसाक्षात्करणदक्ष केवलज्ञान नोत्पन्नम् । तस्माद् ज्ञानमेव पुरुषार्थसिद्धेर्निबन्धनम् । प्रयोगश्चात्र–यद् येन विना न भवति तत्तन्निबन्धनमेव, तथा बीजाऽऽद्यविनाभावी तन्निबन्धन एवाङ्कुर', ज्ञानाविनाभाविनी च सकलपुरुषार्थसिद्धिरिति । ततश्चाय नयश्चतुर्विधसामायिके सम्यक्त्वश्रुतसामायिके एवाभ्युपगच्छति, ज्ञानाऽऽत्मकत्वेन तयोरेव मुख्यमुक्तिकारणत्वात् । देशसर्वविरतिसामायिके तु नेच्छति, ज्ञानकार्यत्वेन गौणत्वात्तयोरिति । विशे० । वृ० । सूत्र० । अनु० । आचा० । नि० चू० । दश० । सम्म० ।

णाणणिण्हवया–ज्ञाननिह्नवता–स्त्री० । ६ त० । श्रुतस्य श्रुतगुरूणा वाऽपलपने, भ० ८ श० ६ उ० ।

णाणणिव्वत्ति–ज्ञाननिर्वृत्ति–स्त्री० । ज्ञानस्य आभिनिबोधिकादितया निष्पत्तौ, सा चाभिनिबोधिकाऽऽदिभेदेन पञ्चविधा । यस्य यावन्ति ज्ञानानि तस्य तावती । भ० १० श० ४ उ० ।

णाणतव–ज्ञानतपस्–न० । तीर्थंकृतां केवलोत्पत्त्यर्थं कृतेऽष्टमाऽऽदितपसि,यथा पार्श्वजिनर्षभस्वामिमल्लिनाथारिष्टनेमीनामष्टमेन वासुपूज्यस्य चतुर्थेन शेषाणामजितस्वाम्यादीनामूनविंशतिजिनानां षष्ठेन भक्तेन केवलज्ञानमुत्पेदे । प्रव० ४५ द्वार ।

णाणतह–ज्ञानतथ्य–न० । मत्यादिकेन ज्ञानपञ्चकेन यथास्वमवितथे विषयोपलम्भे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

णाणतिग–ज्ञानत्रिक–न० । मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानत्रये, कर्म० ४ कर्म० ।

णाणतिलगगणि–ज्ञानतिलकगणिन्–पुं० । पद्मराजगणिशिष्ये गौतमकुलकवृत्तिकारके, स च वैक्रमीये १६६० मिते वत्सरे वर्तमान आसीत् । जै० इ० ।

णाणत्त–नानात्व–न० । नानाभावो नानात्वम् । वर्णाऽऽदिकृते वैचित्र्ये, प्रज्ञा० १५ पद । भ० । नि० चू० । व्य० । स्था० ।

णाणत्ता–नानाता–स्त्री० । नानाभावो नानाता । विशेषे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

अथ 'नाणत्त त्ति' नानात्वलक्षण विवरीषुराह–

नाणत्त त्ति विसेसो, सो दव्वक्खेत्तकालभावेहिं ।
असमाणाणं णेओ, समाणसंखाणमविसेसो ॥२१६१॥
परमाणुदुयणुयाणं, जह नाणत्तं तहाऽवसेसाणं ।
असमाणाणं तह खे–त्तकालभावप्पभेयाणं ॥२१६२॥

नाना इत्येतस्य भावो नानाता–वस्तूनां परस्पर भिन्नता, विशेष इत्यर्थ । स च विशेषो द्रव्यक्षेत्रकालभावैरसमानानामसमानसख्याना ज्ञेयोऽवगन्तव्य , द्रव्याऽऽदिभि. समानसख्यानां पुनरविशेष इति ॥ २१६१ ॥ अत्रोदाहरणमाह–(परमाणवित्यादि) यथा द्रव्यसख्यया असमानाना परमाणूना द्व्यणुकस्कन्धाना च, तथाऽवशेषाणा द्व्यणुकाना त्र्यणुकानां च, तथा त्र्यणुकानां चतुरणुकाना च, तथा चतुरणुकाना पञ्चाणुकाना चेत्यादिद्रव्यसख्ययाऽसमानाना परस्पर नानात्व विशेषो ज्ञेय. । तथा तेनैव प्रकारेण क्षेत्रकालभावसख्ययाऽसमानाना क्षेत्रकालभावप्रभेदानामपि परस्परं नानात्व विशेषो मन्तव्य ; तद्यथा–एकप्रदेशावगाढाना द्व्यादिप्रदेशावगाढाना च, तथैकसमयस्थितिकानां द्व्यादिसमयस्थितिकाना च, तथा एकगुणकालकाऽऽदीना द्विगुणकालकाऽऽदीनां चेत्यादि । उपलक्षणं चेदम्.द्रव्यत. समानसख्यानामपि परमाण्वादीनां क्षेत्रकालभा-

वैर्नानात्वं द्रष्टव्यम । एवमेकाऽऽदिप्रदेशावगाढानां क्षेत्रावगाढप्रदेशैः समानसंख्यानामपि द्रव्यकालभावैर्नानात्वम् , एकसमयाऽऽदिस्थितीनां च स्थितिसमयैः समानसंख्यानामपि द्रव्यक्षेत्रभावैर्नानात्वम् ; एकगुणकालकाऽऽदीनां च वर्णगन्धाऽऽदिगुणैः समानसंख्यानामपि द्रव्यक्षेत्रकालैर्नानात्वमिति ॥२१६२॥ विशे० । आ० चू० ।

ज्ञानात्मन्-पुं० । ज्ञानविशेषत उपसर्जनीकृतदर्शनाऽऽदिरात्मा ज्ञानाऽऽत्मा । सम्यग्दृष्टेरात्मनि, भ० १२ श० १० उ० ।

णाणदंसण-ज्ञानदर्शन-न० । ज्ञानं च दर्शनं च, ज्ञानेन वा दर्शनं ज्ञानदर्शनम । ज्ञानदर्शनयुग्मे, " अत्थि णं मम अइसेसे णाणदंसणे समुप्पन्ने । " स्था० ७ ठा० ।

णाणदंसणलक्खणा-ज्ञानदर्शनलक्षणा-स्त्री० । ज्ञानं च दर्शनं च लक्षणं स्वरूपं यस्याः सा ज्ञानदर्शनलक्षणा । सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शनरूपायां मोक्षमार्गगतौ, " मोक्खमग्गगइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं । चउकारणसंजुत्तं, नाणदंसणलक्खणं " ॥ १ ॥ उत्त० २८ अ० ।

णाणदंसणसमग्ग-ज्ञानदर्शनसमग्र-त्रि० । ज्ञानदर्शनाभ्यां पूर्णे, " तत्तो णाणदंसणसमग्गे " उत्त० ८ अ० ।

णाणदव्व-ज्ञानद्रव्य-न० । ज्ञानद्रव्यं देवकार्ये उपयोगि,स्यान्न वा, यदि स्यात्तदा देवपूजायां,प्रासादाऽऽदौ वेति प्रश्ने,उत्तरम्-
" एकत्रैव स्थानके देवरिक्थं, क्षेत्रद्वय्यामेव तु ज्ञानरिक्थम् । सप्तक्षेत्र्यामेव तु स्थापनीयं,श्रीसिद्धान्तो जैन एव ब्रवीति ॥१॥ " एतत्काव्यमुपदेशसप्ततिकाग्रन्थेऽस्त्येतदनुसारेण ज्ञानद्रव्यं देवपूजायां प्रासादाऽऽदौ चोपयोगि भवतीति । ८४ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

णाणदाण-ज्ञानदान-न० । श्रुतज्ञाने, " अन्येभ्यो भव्यवर्गेभ्योऽध्यापनश्रावणाऽऽदिभिः । यद्दानमागमस्यैतज्ज्ञानदानमुदाहृतम् ॥ १ ॥ " ग० २ अधि० ।

णाणदिट्ठि-ज्ञानदृष्टि-स्त्री० । तत्त्वज्ञानरूपायां दृष्टौ, अष्ट० १ अष्ट० ।

णाणदीव-ज्ञानदीप-पुं० । अज्ञानध्वान्तनाशात् तत्त्वज्ञानप्रदीपे, द्वा० २५ द्वा० ।

णाणधण-ज्ञानधन-त्रि० । ज्ञानवित्ते विपश्चिति,आव० ४ अ० ।

णाणधम्म-ज्ञानधर्म-पुं० । वर्धमानसूरिवंशपरम्परायां साधुरत्नसूरे शिष्ये, " तच्छिष्या ज्ञानधर्माख्या, पाठकाः परमोत्तमाः । जैनाऽऽगमरहस्यार्थ-दायका गुणनायकाः ॥ १ ॥ " तच्छिष्याणां दीपचन्द्राणां शत्रुञ्जयाऽऽद्यनेकतीर्थेषु प्रतिष्ठाविधायिनां शिष्येण देवचन्द्रेण यशोविजयकृतज्ञानसाराष्टकस्य टीका विरचिता । अष्ट० ३२ अष्ट० ।

णाणपज्जव-ज्ञानपर्याय-पुं० । ज्ञानविशेषे बुद्धिकृतेऽविभागपलिच्छेदे, भ० २ श० १ उ० ।

णाणपडिणीयया-ज्ञानप्रत्यनीकता-स्त्री० । ज्ञानस्य श्रुताऽऽदेः तत्साधनस्य पुस्तकाऽऽदेः (कर्म० १ कर्म०) तदभेदाद् ज्ञानवतां वा सामान्येन प्रतिकूलतायाम्, भ० ८ श० ९ उ० ।

णाणपडिसेवणाकुसील-ज्ञानप्रतिसेवनाकुशील-पुं० । ज्ञानस्य प्रतिसेवनया कुशीलो ज्ञानप्रतिसेवनाकुशीलः । प्रतिसेवनाकुशीले, भ० २५ श० ६ उ० ।

णाणपरिणाम-ज्ञानपरिणाम-पुं० । ज्ञानलक्षणे जीवपरिणामे, प्रज्ञा० १३ पद ।

णाणपरीसह-ज्ञानपरीषह-पुं० । ज्ञानं मत्यादि तत्परीषहणं च ज्ञानपरीषहः । विशिष्टस्य ज्ञानस्य सद्भावे मदवर्जने अभावे, दैन्यवर्जने, ग्रन्थान्तरे त्वज्ञानपरीषह इति पठ्यते, तथैवास्माभिर्दर्शितम् । प्र० ८ श० ८ उ० ।

णाणपायच्छित्त-ज्ञानप्रायश्चित्त-न० । पापं छिनत्तीति । प्रायश्चित्तभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णाणपुरिस-ज्ञानपुरुष-पुं० । ज्ञानलक्षणभावप्रधाने पुरुषे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

णाणपेज्जदोस-नानाप्रेमद्वेष-न० । प्रेम च द्वेषश्च प्रेमद्वेषं,नानाप्रकारं प्रेमद्वेषं नानाप्रेमद्वेषम् । अविनयभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

णाणप्पओस-ज्ञानप्रद्वेष-पुं० । श्रुताऽऽदौ ज्ञाने,ज्ञानवत्सु वाऽप्रीतौ, भ० ८ श० ९ उ० ।

णाणप्पयार-नानाप्रकार-त्रि० । विचित्रे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आव० ।

णाणप्पवाय-ज्ञानप्रवाद-न० । यत्र ज्ञानं मत्यादिकं सरूपभेदाऽऽदिभिः प्रोच्यते तज्ज्ञानप्रवादम् । स० । स्था० । ज्ञानं ज्ञानाऽऽदिभेदभिन्नं पञ्चप्रकारं तत्सप्रपञ्चं वदति ज्ञानप्रवादम् । न० । ज्ञानस्य मतिज्ञानाऽऽदिपञ्चकस्य भेदप्ररूपणा यस्मात् तज्ज्ञानप्रवादम् । चतुर्दशानां पूर्वाणां पञ्चमे, न० । स्था० । तस्य पदपरिमाणमेका पदकोटी । नं० । " णाणप्पवायस्स णं पुव्वस्स बारस वत्थू पण्णत्ता " । स० ।

णाणफल-ज्ञानफल-त्रि० । ज्ञानं फलं येषां तानि ज्ञानफलानि । श्रुतज्ञानाऽऽराधनाऽऽदिषु कर्मसु, उत्त० २ अ० ।

णाणबल-ज्ञानबल-न० । ज्ञानबलमतीताऽऽदिवस्तुपरिच्छेदसामर्थ्यं, चारित्रसाधनतया मोक्षसाधनसामर्थ्यं वा तस्मिन् । स्था० १० ठा० ।

णाणबोहि-ज्ञानबोधिन्-पुं० । ज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमभूता ज्ञानप्राप्ति । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

णाणब्भट्ठ-ज्ञानभ्रष्ट-त्रि० । ५ त० । सदसद्विवेकभ्रष्टे,आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

णाणभाव-ज्ञानभाव-पुं० । अधिगमे उपयोगे, नि० चू० २० उ० ।

णाणभावणा-ज्ञानभावना-स्त्री० । ज्ञानस्य भावना ज्ञानभावना । एवम्भूत मौनीन्द्रं ज्ञानप्रवचनं यथाऽवस्थिताशेषपदार्थविर्भावकमित्येवंरूपायां भावनायाम् , आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० १ उ० ।

णाणमंजरी-ज्ञानमञ्जरी-स्त्री० । यशोविजयोपाध्यायकृतज्ञानसाराभिधाष्टकग्रन्थस्य देवचन्द्रगणिकृतायां टीकायाम्, सा बालदृष्टेति विद्वज्जनचेतश्चमत्कृतिं नादधाति । " स्याद्वादसु-

रहस्यानां, ज्ञानाद्यबन्धोदयेन च । देवचन्द्रेण बोधार्थं, सट्टीकेयं विनिर्मिता ” ॥ १ ॥ वैक्रमीये रसनिधिजलधिचन्द्र १७९६ मिते संवत्सरे । अष्ट० ३२ अष्ट० ।

णाणमंत-ज्ञानवत्-त्रि० । ज्ञानशालिनि, नि० चू० १ उ० ।

णाणमग्ग-ज्ञानमग्न-त्रि० । आत्मस्वरूपोपलब्धियुक्ते, अष्ट० २ अष्ट० ।

णाणमय-ज्ञानमद-पुं० । आत्मनो विज्ञत्वहेतुकेऽहङ्कारे, “ ज्ञानं मददर्पहरं, माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः ? । अगदो यस्य विषायति, तस्य चिकित्सा कथं क्रियते ? ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

ज्ञानमय-त्रि० । ज्ञानाऽऽत्मके, आव० ४ अ० ।

णाणमूढ-ज्ञानमूढ-पुं० । उदितज्ञानाऽऽवरणे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

णाणमोह-ज्ञानमोह-पुं० । ज्ञानविषयके मोहे, स्था० २ ठा० ४ उ० । (व्याख्याऽस्य ‘ मोह ’ शब्दे द्रष्टव्या)

णाणरासि-ज्ञानराशि-पुं० । सद्बोधनिकरे, षड्शा० १५ विव० ।

णाणवल-ज्ञानबल-न० । अतीताऽऽदिवस्तुपरिच्छेदसामर्थ्ये, स्था० १० ठा० ।

णाणवाइ [ण्]-ज्ञानवादिन्-त्रि० । यथाऽवस्थितवस्तुपरिज्ञानादेव मोक्ष इत्येवंवादिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

णाणवि-ज्ञानवित्-त्रि० । ज्ञानं यथाऽवस्थितपदार्थपरिच्छेदकं तद्वेत्तीति ज्ञानवित् । ज्ञानवेत्तरि, “ से आयवि णाणवि ” आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

णाणविणय-ज्ञानविनय-पुं० । ज्ञानमाभिनिबोधिकाऽऽदि पञ्चधा, तदेव विनयो, ज्ञानस्य वा विनयो भक्त्यादिकरणं ज्ञानविनयः । स्था० ७ ठा० । ज्ञानानां श्रद्धानभक्तिबहुमानतद्दृष्टार्थभावनाविधिग्रहणाभ्यासादिनाऽभ्यासे, भ० २५ श० ७ उ० । ज्ञानविनयः पञ्चधा, ज्ञानस्य पञ्चविधत्वात् । औ० ।

ज्ञानविनयमाह-

नाणं सिक्खइ नाणं, गुणेइ नाणेण कुणइ किच्चाइं ।
नाणी नवं न बंधइ, नाणविणीओ हवइ तम्हा ॥ ७३ ॥

ज्ञानं शिक्षयत्यपूर्वं ज्ञानमादत्ते, ज्ञानं गुणयति गृहीतं सत् प्रत्यावर्तयति, ज्ञानेन करोति कृत्यानि संयमकृत्यानि, एवं ज्ञानी नवं कर्म न बध्नाति, प्राक्तनं च विनयति यस्माद् ज्ञानविनीतो ज्ञानेनापनीतकर्मा भवति, तस्मादिति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ दश० ९ अ० १ उ० ।

णाणविणयपरिहीण-ज्ञानविनयपरिहीन-त्रि० । ज्ञानाऽऽचारपरिहीने, च० प्र० २० पाहु० ।

णाणविमलगणि-ज्ञानविमलगणिन्-पुं० । श्रीवल्लभमुनिगुरौ, अयं विक्रमसंवत् १६५४ मिते विद्यमान आसीत् । अनेन महेश्वरसूरिकृतशब्दप्रभेदग्रन्थस्योपरि टीका कृता । जै० इ० ।

णाणविराहणा-ज्ञानविराधना-स्त्री० । विराधना खण्डना, ज्ञानस्य विराधना ज्ञानविराधना, ज्ञाननिन्दया गुर्वादिनिह्नवेन च ज्ञानखण्डनायाम्, ध० ३ अधि० । निह्नवाऽऽदिरूपायां ज्ञानप्रत्यनीकतायाम्, स० १ सम० ।

णाणविसंवायणाजोग-ज्ञानविसंवादनायोग-पुं० । ज्ञानस्य ज्ञानिना वा व्यभिचारदर्शनाय व्यापारे, भ० ८ श० ९ उ० ।

णाणविसोहि-ज्ञानविशुद्धि-स्त्री० । ज्ञानाऽऽचारपरिपालनतो ज्ञानस्य विशुद्धौ, स्था० १० ठा० ।

णाणवुड्ढ-ज्ञानवृद्ध-पुं० । ज्ञानं हेयोपादेयवस्तुनिश्चयः, तेन वृद्धा महान्तः । ध० १ अधि० । श्रुतस्थविरेषु, द्वा० २४ अष्ट० ।

ज्ञानबुद्ध-पुं० । ज्ञानेन प्रतिबुद्धे, स्था० २ ठा० ४ उ० । (व्याख्याऽस्य ‘ बुद्ध ’ शब्दे द्रष्टव्या)

णाणसंका-ज्ञानशङ्का-स्त्री० । श्रुतज्ञानविषयकशङ्कायाम्, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

णाणसंपण्ण-ज्ञानसंपन्न-पुं० । श्रुतसंपन्ने, स च दोषविपाकं प्रायश्चित्तं चाऽवगच्छतीति आलोचनाऽर्हतयोक्तः । स्था० ८ ठा० ।

णाणसंपण्णया-ज्ञानसंपन्नता-स्त्री० । श्रुतज्ञानसहितत्वे, (उत्त०) ।

नाणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाभिगमं जणयइ, नाणसंपन्ने य णं जीवे चाउरंतसंसारकंतारे न विणस्सइ । “ जहा सूई ससुत्ता प-डिया वि न विणस्सई । तहा जीवो ससुत्तो संसारे वि न विणस्सइ ” ॥ १ ॥ नाणविणयतवचरित्तजोगं संपाउणइ, ससमयपरसमयविसारए संघायणिज्जे भवइ ॥ ५९ ॥

हे भदन्त ! ज्ञानसंपन्नतया ज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य संपन्नता श्रुतज्ञानसंपत्तिः, तया जीवः किं फलं जनयति ?। तदा गुरुराह-हे शिष्य ! श्रुतज्ञानसंपन्नतया जीवः सर्वभावाभिगमम्-सर्वे च ते भावाश्च सर्वभावाः जीवाजीवाऽऽदयः, तेषामभिगमः सर्वभावाऽभिगमः, तं सर्वभावाभिगमं जीवाजीवाऽऽदितत्त्वज्ञानं जनयति । तथा ज्ञानसंपन्नो जीवश्चतुरन्तसंसारकान्तारे चतुर्गतिलक्षणे संसारवने न विनश्यति मोक्षाद् विशेषेण दूरं नादृश्यो भवति । तथाहि-ससूत्रा सूची कचवराऽऽदिषु पतिता सती न नश्यति-अदृश्या न भवति, नाशं न प्राप्नोति । तथा जीवोऽपि ससूत्रः श्रुतज्ञानसहितः संसारे विनष्टो न भवतीति भावः । ततश्च श्रुतज्ञानविनयतपश्चारित्रयोगान् संप्राप्नोति । ज्ञानं च विनयश्च तपश्च चारित्रयोगाश्च ज्ञानविनयतपश्चारित्रयोगाः, तान् सम्यक् प्रकारेण प्राप्नोति, तत्र ज्ञानम्-अवध्यादि, विनयः प्रसिद्धः, तपो द्वादशविधम्, चारित्रव्यापारास्तान् सर्वान् लभते, पुनः श्रुतज्ञानी स्वसमयपरसमयसङ्घातनीयो भवति स्वमतपरमतयोः सङ्घातनीयो मीलनीयः स्यात् । एतावता स्वमतपरमताभिज्ञत्वेन प्रधानपुरुषत्वात् पण्डितेषु गणनीयो भवतीति भावः ॥ ५९ ॥ उत्त० २९ अ० ।

णाणसमाहि-ज्ञानसमाधि-पुं० । अपूर्वश्रुतावगाहनपूर्वकभावसमाधौ, “ जह जह सुयमवगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमउव्वं । तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाए ॥ १ ॥ ” सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णाणसागर-ज्ञानसागर-पुं० । तपागच्छीयसोमसूरीणां शिष्ये, ग० ४ अधि० । अनेनाऽऽवश्यकौघनिर्युक्तिचूर्णी, मुनिसुव्रतस्तवनं घनौघनवखण्डपार्श्वनाथस्तवनं चेत्यादयो ग्रन्था रचि-

ताः । अस्य विक्रमसम्वत् १४०५ मिते जन्म, १४१७ मिते दीक्षा, १४४१ मिते सूरिपद, १४६० मिते स्वर्गतिः । जै० इ० ।

णाणसार-ज्ञानसार-न० । यशोविजयोपाध्यायकृते पूर्णाष्टका-ऽऽदिकेऽष्टश्लोकाऽऽत्मकद्वात्रिंशदष्टकाविभूषिते ग्रन्थविशेषे, अष्ट० १ अष्ट० ।

णाणसिद्ध-ज्ञानसिद्ध-पुं० । भवस्थकेवलिनि, दश० ४ अ० ।

णाणा-नाना-अव्य० । न+नाञ् । विनार्थे, अनेकार्थे, उभयार्थे च । वाच० । " णाणादुमलयाऽऽइन्नं, णाणापक्खिणिसेविअं । णाणाकुसुमसंछन्नं, उज्जाणं णंदणोवमं ॥१॥ " नानाद्रुमलताकीर्णं विविधवृक्षवल्लीभिर्व्याप्तम् । उत्त० २० अ० । सूत्र० । रा० । स० ।

णाणाइगुणजुय-ज्ञानाऽऽदिगुणयुत-त्रि० । सम्यग्ज्ञानश्रद्धा-नगुरुभक्तिसत्त्वप्रभृतिगुणसपन्ने, पञ्चा० २ विव० ।

णाणाछंद-नानाछन्द-त्रि० । नाना भिन्नश्छन्दोऽभिप्रायो येषां ते तथा । भिन्नाभिप्रायेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णाणादिट्ठि-नानादृष्टि-त्रि० । नानारूपा दृष्टिर्दर्शनं येषां ते तथा । सूत्र० २ श्रु० १ अ० १ उ० । नानारूपा दृष्टिरन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा । सर्वज्ञप्रणीताऽऽगमानाश्रयणाभिवन्धनामावाद् भिन्नदर्शनेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णाणाणुवग्गह-ज्ञानाऽऽद्युपग्रह-पुं० । साधुगतज्ञानप्रभृतिगुणोपष्टम्भे, पञ्चा० १२ विव० ।

णाणापन्न-नानाप्रज्ञ-त्रि० । नानाप्रकारा विचित्रक्षयोपशमात् प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा, सा विचित्रा येषां ते तथा । नानामतिषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णाणापिंडरय-नानापिण्डरत-त्रि० । नाना अनेकप्रकारा-भिग्रहविशेषात् प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिण्ड आहारपिण्डः, नाना चासौ पिण्डश्च नानापिण्डः, अन्तप्रान्ताऽऽदि वा । तस्मिन् रता नानापिण्डरताः । नानापिण्डेऽनुद्वेगवन्तः, "णाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ।" दश० १ अ० ।

णाणाभिगम-ज्ञानाभिगम-पुं० । मत्यादिज्ञानेन बोधे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

णाणामणि-नानामणि-पुं० । नानाप्रकारेषु मणिषु, रा० ।

णाणामणिकणगरयणभूसणविराइयंगमंगाणं ।

नानाविधानि मणिकनकरत्नानि येषु भूषणेषु तानि, तैर्नानामणिकनकरत्नभूषणैर्विराजितान्यङ्गोपाङ्गानि यासां तास्तथा तासाम् ।

णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहणिउणोचियमिसमिसंतविरइयमहाभरणकडगतुडियवरभूसणुज्जलंतपीवरपलंबदाहिणभुयं पसारेति ।

नानाविधानि मणिकनकरत्नानि येषु तानि नानामणिकनकरत्नानि, मणयो नानाविधाश्चन्द्रकान्ताऽऽदयः, कनकानि नानावर्णतया, रत्नानि नानाविधानि कर्केतनाऽऽदीनि, तथा विमलानि निर्मलानि, तथा महान्तमुपभोक्तारमर्हन्तीति । यदि वा-महदुत्सवक्षणमर्हन्तीति महार्हाणि, तथा निपुणं निपुणबुद्धिगम्यं यथा भवति । रा० । भ० । जी० । " णाणामणितित्थसुबद्धाओ । " नानामणिभिर्नानाप्रकारैर्मणिभिस्तीर्थानि सुबद्धानि यासां ता नानामणितीर्थसुबद्धाः । रा० । जी० । " णाणामणिदामालंकिया ।" नानामणयो नानामणिमयानि दामानि मालास्तैरलङ्कृतानि नानामणिदामालङ्कृतानि । रा० । जी० । नानाजातीयेषु मणिषु, कल्प० २ क्षण ।

णाणामल्ल-नानामाल्य-न० । नानारूपे पुष्पे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । " नानामल्लपिणद्धा । " नानारूपाणि माल्यानि पुष्पाणि पिनद्धानि आविद्धानि यासां ता नानामाल्यपिनद्धाः । क्तान्तस्य परनिपातः, सुखाऽऽदिदर्शनात् । रा० ।

णाणामय-ज्ञानामृत-न० । ज्ञानमवबोधः, तदेवामृतम्, अविनाशिपदहेतुत्वात् । अष्ट० ७ अष्ट० । ज्ञानरूपे पीयूषे, " पीत्वा ज्ञानामृतं भुक्त्वा, क्रियासुरलताफलम् । साम्यताम्बूलमास्वाद्य, तृप्तिं याति परां मुनिः ॥१॥ " अष्ट० १० अष्ट० ।

णाणायार-ज्ञानाचार-पुं० । ज्ञानं श्रुतज्ञानं, तद्विषय आचारः । स० २३ सम० । श्रुतज्ञानविषये कालाध्ययनविनयाध्यापनाऽऽदिरूपे व्यवहारे, स० १ अङ्ग ।

साम्प्रतं ज्ञानाऽऽचारमाह-

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह य अनिण्हवणे ।
वंजणअत्थतदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो ॥ १९० ॥

(काल इति) यो यस्याङ्गप्रविष्टाऽऽदेः श्रुतस्य काल उक्तः, तस्य तस्मिन्नेव काले स्वाध्यायः कर्तव्यो, नान्यदा, तीर्थकरवचनात् । दृष्टं च कृष्यादेरपि कालग्रहणे फलं, विपर्यये च विपर्यय इति । अत्रोदाहरणम्-" एको साहू पादोसियं कालं घेत्तूण अइक्कंताए वि पढमपोरिसीए अणुवओगेण पढति कालियं सुत्तं । सम्मद्दिट्ठिदेवया चिंतेति-मा अण्णा पंतदेवया छलिज्जत्ति काउं तक्कं कुंभे घेत्तूण तक्कं तक्कं ति तस्स पुरओ अभिक्खणं २ गयागयाइं करेति । तेण य चिरस्स सज्झायस्स वाघातं करेइ त्ति । भणिया य अयाणिए ! को इमो तक्कस्स विक्कयणकालो ? , वेलं ता पलोवेह । तीए वि भणियस्स विक्कयणकालो ?, वेल ता पलोवेह । तीए वि भणियं-अहो को इमो कालियसुयस्स सज्झायकालो त्ति ? । तओ साहुणा णायं-जहा ण एसा पागइत्थि त्ति । उवउत्तो णाओ अड्ढरत्तं दिण्णं मिच्छादुक्कडं । देवयाए भणियं-मा एवं करेज्जासि, मा पंता छलेज्जा । तओ काले सज्झाइयव्वं, ण उ अकाले त्ति " । दश० । (एतच्च तृतीयभागे ४९६ पृष्ठे ' कालायार ' शब्दे द्रष्टव्यम्)

तथा श्रुतग्रहणं कुर्वता गुरोर्विनयः कार्यः, विनयोऽभ्युत्थानपादधावनाऽऽदिः, अविनयगृहीतं हि तदफलं भवति । दश० नि० ३ अ० । आचा० । (एवं विनयबहुमानोपधानानिह्नवाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वशब्दे द्रष्टव्या)

अत्रानाचरणे प्रायश्चित्तम्-

इदाणिं कालणायाराऽऽदिसु जेऽभिहिता पच्छित्ता,ते केइ मतविसेसिया जहा भवति न भवति य, तहा भण्णति-

सुत्तम्मि एते लहुगा, पच्छित्ता अत्थे गुरुगा केसिं वि ।
तं तु ण जुज्जति जम्हा,दोण्ह वि लहुआ अणज्झाए ॥२१॥

जे एते पच्छित्ता भणिता ते सुत्ते लहुगा, अत्थे गुरुगा, केसिं मत ण जुज्जतेणेव भण्णति । आयरिओ भणाति-तदिद केसिं मत ण जुज्जते,ण य घरूप,णोववत्ति पच्छिज्जति । सीसो भणाति-कम्हा ? । आयरिओ भणति-जम्हा दोण्ह वि लहुगा अणज्झाए

अकाले असज्झाइए वा सुत्तत्थाइ करेंताणं सामण्णेण बहुगा भणिता, तम्हा ण घडति ।

जे पुण केइ आयरि । लहुगुरुविसेसं इच्छंति, ते इमेण कारणेण भणंति-

अत्थधरो तु पमाणं, तित्थगरमुहुग्गतो तु सो जम्हा ।
पुव्वं च होति अत्थ , अत्थे गुरु जेसि तेसेवं ॥२२॥

सुत्तधरे णामेगे, णो अत्थधरे. एव चउभंगो कायव्वो । कालदायराणं भगाण सुत्तत्थप्पत्ते गाहियाण गुरुलाघवं चिंतिज्जति, कुलगणसंघसमितीसु सामायारीपरूवणेसु य सुत्तधरातो अत्थधरो पमाणं भवति । तदा गणाणुण्णाकाले गुरू ततियभंगिल्लाभाति बितियभंगे अत्थधरे गणाणुण्णं करेति. ण सुत्तधरे; एव अत्थधरो गुरुतरो, पमाणं च । किं च-तित्थगरमुहुग्गतो सो अत्थो जम्हा, सुत्तं पुण महत्तगणधरमुहुग्गतं-" अत्थं भासति अरहा गाहा, " तम्हा गुरुतरो अत्थो ।

किं च-

" पुव्वं च होति अत्थो, पच्छा सुत्तं भणंति भणियं च ।
अरहा अत्थं भासति, तमेव सुत्तीकरेंति गणधारी ।
अत्थेण विणा सुत्तं, अणिस्सियं केरिसं होति ? ॥१॥ "

(जेसि त्ति) जेसिं आयरिआण तेसिं इति । जगाकारट्ठाण तगारेण तिण्णिद्देसो कीरति । सगारा एगारो पिहो पिहो कज्जति-एव ततो भवति । एवसद्देण य एव कारणाणि घोसेंति भणंति य । अत्थे गुरूणि सुत्ते लहुगा पच्छित्ता । इति भणितो अट्ठविहो णाणायारो । नि० चू० १ उ० ।

णाणारंभ-नानाऽऽरम्भ-त्रि० । नानाप्रकार आरम्भो धर्मानुष्ठानं येषां ते नानाऽऽरम्भा । विभिन्नधर्मकेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । कृषिपाशुपाल्यविपणिशिल्पकर्मसेवाऽऽदिषु अन्यतराऽऽरम्भकर्तरि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णाणाराहण-ज्ञानाऽऽराधन-न० । आगमार्थानुपासने, पञ्चा० १७ विव० । " नाणाराहणा तिविहा पण्णत्ता । त जहा-उक्कोसा, मज्झिमा, जहण्णा । " स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णाणारिय-ज्ञानार्य-पु० । ज्ञानेन आर्यत्वहेतुना । आर्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आभिनिबोधिकाऽऽदिभेदात् पञ्चविधा ज्ञानार्याः । प्रज्ञा० १ पद ।

णाणारुइ-नानारुचि-त्रि० । नानारूपा रुचि चेतोऽभिप्रायो येषां ते तथा । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । विभिन्नाभिप्रायेषु, आहारविहारशयनाऽऽसनाऽऽच्छादनाऽऽभरणयानवाहनगीतवादित्राऽऽदिषु मध्येऽन्यस्यान्या रुचिर्भवति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णाणावरण-ज्ञानाऽऽवरण-न० । ६ त० । सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि विशेषग्रहणाऽऽत्मकस्य बोधस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवललक्षणस्य स्वप्रभावत आच्छादके अष्टाना कर्मणां प्रथमे, प्रव० २१६ द्वार । प० सं० । उत्त० । चू० । (ज्ञानाऽऽवरणकर्मणोऽविभागपरिच्छेदैरशो सर्वजीवानामनन्ततमो भागो नित्यापावृत इति ' अक्खर ' शब्दे प्रथमभागे १२६ पृष्ठे उक्तम) ज्ञानाऽऽवरण पञ्चधा-मतिज्ञानाऽऽवरण, श्रुतज्ञानाऽऽवरणम्, अवधिज्ञानाऽऽवरण, मनःपर्यायज्ञानाऽऽवरण, केवलज्ञानाऽऽवरण च । प्रव० २१६ द्वार । (तत्र पञ्चाना ज्ञानाना स्वरूप यथास्थानं द्रष्टव्यम)

इदानीमेतेषामावरणमाह-

एसिं जं आवरणं, पट्ट व्व चक्खुस्स व तयावरणं । [९]

एषां मतिज्ञानाऽऽदीनां पञ्चानां ज्ञानानां यदावरणमाच्छादकं, पट इव सूत्राऽऽदिनिष्पन्नशाटक इव, चक्षुषो लोचनस्य, तदेषां मतिज्ञानाऽऽदीनामावरण तदावरणमुच्यते । इदमत्र हृदयम्-यथा घनघनतरघनतमेन पटेनाऽऽवृतं सन्निर्मलमपि चक्षुर्मन्दमन्दतरमन्दतमदर्शनं भवति, तथा ज्ञानाऽऽवरणेन कर्मणा घनघनतरघनतमेनाऽऽवृतोऽयं जीव. शारदशशधरकरनिकरनिर्मलतरोऽपि मन्दमन्दतरमन्दतमज्ञानो भवति, तेन पटोपम ज्ञानाऽऽवरण कर्मोच्यते । तत्राऽऽवरणस्य सामान्यत एकरूपत्वेऽपि यत्पूर्वोक्तानेकभेदभिन्नस्य मतिज्ञानस्यानेकभेदमेवाऽऽवरणस्वभाव कर्म तन्मतिज्ञानाऽऽवरणमेकग्रहणेन गृह्यते चक्षुषः पटलमिव १ । तथा पूर्वाऽभिहितभेदसन्दोहस्य श्रुतज्ञानस्य यदावरणस्वभावं कर्म तत् श्रुतज्ञानाऽऽवरणम् २ । तथा प्राक् प्रपञ्चितभेदकदम्बकस्यावधिज्ञानस्य यदावरणस्वभावं कर्म तदवधिज्ञानाऽऽवरणम् ३ । तथा प्राङ्निर्णीतभेदद्वयस्य मनःपर्यवज्ञानस्य यदावरणस्वभाव कर्म तन्मनःपर्यायज्ञानाऽऽवरणम् ४ । तथा पूर्वप्ररूपितस्वरूपस्य केवलज्ञानस्य यदावरणस्वभावं कर्म तत्केवलज्ञानाऽऽवरणम् ५ ।

उक्तं च बृहत्कर्मविपाके-

" सरउग्गयससिनिम्मल-तरस्स जीवस्स छायणं जमिह ।
नाणावरणं कम्मं, पडोवमं होइ एवं तु ॥ १ ॥
जह निम्मला वि चक्खू, पडेण केणावि छाइया संती ।
मंद मंदतराग, पिच्छइ सा निम्मला जइ वि ॥ २ ॥
तह मइसुयनाणावर-णमवहिमणकेवलाण आवरणं ।
जीव निम्मलरूवं, आवरइ इमेहिँ भेएहिं " ॥ ३ ॥

तदेवमेतानि पञ्चाऽऽवरणान्युत्तरप्रकृतयः, तन्निष्पन्नं तु सामान्येन ज्ञानाऽऽवरणं मूलप्रकृतिः । यथाऽङ्गुलिपञ्चकनिष्पन्नो मुष्टिः, मूलत्वक्पत्रशाखाऽऽदिसमुदयनिष्पन्नो वा वृक्षः, घृतगुडकणिकाऽऽदिनिष्पन्नो वा मोदक इति, एवमुत्तरत्रापि भावनीयम् । व्याख्यातं पञ्चविध ज्ञानाऽऽवरण कर्म । कर्म० १ कर्म० ।

णाणआवरणं चेव, आहियं तु दुपंचहा ॥५९॥

ज्ञानाऽऽवरण द्विपञ्चधा दशप्रकारमाख्यातम् ।

तानेव दश भेदान् विवेक्तुमाह—

सोयावरणे चेव वि, णाणावरणं च होइ तस्सेव ।
एवं दुयभेएणं, णायव्वं जाव फासो त्ति ॥६०॥

श्रोत्राऽऽवरण, तथा तस्यैव श्रोत्रस्य ज्ञानाऽऽवरणमेव द्विकभेदेन तावद् ज्ञातव्य यावत् स्पर्शं । तद्यथा-चक्षुरिन्द्रियाऽऽवरण चक्षुरिन्द्रियज्ञानाऽऽवरणम, घ्राणेन्द्रियाऽऽवरण घ्राणेन्द्रियज्ञानाऽऽवरणम, रसनेन्द्रियाऽऽवरण रसनेन्द्रियज्ञानाऽऽवरणम्, स्पर्शेन्द्रियाऽऽवरण स्पर्शेन्द्रियज्ञानाऽऽवरणमिति । व्य० १० उ० । (सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे रागाऽऽदीनां ज्ञानाऽऽवरणत्वम् (ज्ञानाऽऽवरणीयस्योत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धोदयसत्तास्थानानां संवेधः " कम्म " शब्दे तृतीयभागे २९६ पृष्ठे गत.)

णाणावरणिज्ज-ज्ञानाऽऽवरणीय-न० । ज्ञानमावृणोतीति ज्ञानाऽऽवरणीयम् । ज्ञानाऽऽवरणकर्मणि, "सरउग्गयससिणिम्मलतरस्स जीवस्स छायण जमिह । नाणाऽऽवरण कम्म, पडोवम होइ एव तु ॥ १ ॥ " स्था० २ ठा० ४ उ० ।

णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते । त जहा-देसणाणाव-

रणिज्जे चेव, सव्वणाणावरणिज्जे चेव, दरिसणावरणि-
ज्जे कम्मे एवं चेव ।

देश ज्ञानस्याऽऽभिबोधिकाऽऽदिमावृणोतीति देशज्ञानाऽऽवरणीयम्, सर्वं ज्ञानं केवलाऽऽख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानाऽऽवरणीयम्, केवलज्ञानाऽऽवरणं हि आदित्यकल्पकेवलज्ञानरूपस्य जीवस्याऽऽच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमिति तत्सर्वं ज्ञानाऽऽवरणम्। मत्याद्यावरणं तु घनाऽऽच्छादिताऽऽदित्येषत्प्रभाकल्पस्य केवलज्ञानदेशस्य कटकुड्याऽऽदिरूपज्ञानाऽऽवरणतुल्यमिति देशाऽऽवरणमिति । पठ्यते च-"केवलणाणावरणं, दंसणछक्कं च मोहबारसगं । ता सव्वघाइसन्ना, भवंति मिच्छत्तवीसइमं"॥१॥ इति । (अनन्तानुबन्ध्याऽऽद्दीत्यर्थः) अथवा देशोपघाति सर्वोपघाति परूढुकापेक्षया देशसर्वाऽऽवरणत्वमस्य ।

यदाह-

"मइसुयनाणाऽऽवरणं, दंसणमोहं च तदुपघाईणि ।
तप्फड्डगाई दुविहा-ई देससव्वोपघाईणि ॥ १ ॥
सव्वेसु सव्वघाई-सु हएसु देसोवघाइयाण च ।
भोगेहिं मुच्चमाणो, समए समए अणंतेहिं ॥ २ ॥
पढमं लभइ णगारं, एक्केक्कं वन्नमेवमन्न ति ।
कमसो विसुज्झमाणो, लहइ समत्तं णमोक्कारं ॥ ३ ॥"

स्था० २ ठा० ४ उ० ।

णाणावरणिज्जवग्ग-ज्ञानाऽऽवरणीयवर्ग-पुं० । ज्ञानाऽऽवरणकर्मप्रकृतिसमुदाये, क० प्र० ।

णाणावरणिज्जकम्मसंघाय-ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मसङ्घात-पुं० । ज्ञानप्रकर्षनिवहे, "सुयदेवया भगवई, नाणावरणीयकम्मसंघायं । तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुयसागरे भत्ती ॥१॥" पा० ।

णाणावरणोदय-ज्ञानाऽऽवरणोदय-पुं० । तत्काले ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मविपाके, आव० ४ अ० ।

णाणाविह-नानाविध-त्रि० । विविधप्रकारे, त० । रा० । बहुप्रकारे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । स० । "णाणाविहरागवसणा ।" नानाविधो नानाप्रकारो रागो येषां तानि नानाविधरागाणि, तान्येव वसनानि वस्त्राणि सम्वृततया यासां ता नानाविधरागवसनाः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । आचा० । रा० । "णाणाविहपंचवण्णेहिं उवसोभिए ।" नानाविधा जातिभेदाद् नानाप्रकारा ये पञ्चवर्णा मण्यस्तैरुपशोभितः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रश्न० । "णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवगसोभिया ।" प्रत्यासन्नैर्नानाप्रकारैर्गुच्छैर्वृन्ताकीप्रभृतिभिर्गुल्मैर्नवमल्लिकाऽऽदिभिर्मण्डपैर्द्राक्षाऽऽदिमण्डपकैरुपशोभिना नानाविधगुच्छगुल्ममण्डपकशोभिना । जी० ३ प्रति० ४ उ० । "णाणाविहरागरजिनउच्छितज्झयविजयवेजयंतीपडागातिपडागमंडिनं करेंति ।" नानाविधा रागा येषु ते नानाविधरागाः, नानाविधरागैरुच्छ्रितैरूर्ध्वीकृतैर्ध्वजैः पताकाऽतिपताकाऽऽदिभिश्च मण्डिता कुर्वन्ति । जी० ३ प्रति० ४ उ० । "णाणामणिकणगरयणखइयउज्जलय लवहुलसमसुविभत्तनिचिनरमणिज्जकुट्टिमतला ।" नानामणिकनकरत्नानि खचितानि यत्र स नानामणिकनकरत्नखचितः, निष्ठान्तस्य परनिपातो भार्याऽऽदिदर्शनात्। तथोज्ज्वलो निर्मलो बहुसमोऽत्यन्तसमः सुविभक्तो निचितो नितरां रमणीयश्च भूमिभागो यस्यां सा । जी० ३ प्रति० रा० । "णाणाविहरागभूसियज्झयपडागमण्डियं ।" नानाविधै रागैर्भूषिता ये ध्वजाः सिंहाऽऽदिरूपोपलक्षिता बृहत्यः पताकाश्च लघ्व्यस्ताभिर्मण्डितं विभूषितम् । कल्प० ५ क्षण ।

णाणासील-नानाशील-त्रि० । नानाप्रकारं शीलमनुष्ठानं येषां ते तथा । अनेकाऽऽचारेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । परतीर्थिका नानाशीलाः, तत्र शीलं व्रतविशेषः, स च भिन्नस्तेषामनुजवसिद्ध एव । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णाणाहुइमंतपयाभिसित्त-नानाऽऽहुतिमन्त्रपदाभिषिक्त-त्रि० । आहुतयो घृतप्रक्षेपाऽऽदिलक्षणाः, मन्त्रपदान्यग्नये स्वाहा इत्येवमादीनि, तैरभिषिक्तम् । दीक्षासंस्कृते, दश० ६ अ० १ उ० ।

णाणि [ण्]-ज्ञानिन्-त्रि० । ज्ञानं सकलपदार्थाऽऽविर्भावकं विद्यते यस्यासौ ज्ञानी । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । विशिष्टविवेकवति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । नि० चू० । प्रश्न० । यथार्थतत्त्वस्वरूपावबोधिनि, अष्ट० ९ अष्ट० । परमार्थविदि, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । सूत्र० । जीवस्वरूपतद्बन्धकर्मवेदिनि, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । "णाणी तु सिंहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेण ।" सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । अनु० । उत्त० । "जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुआहिं वासकोडीहिं । तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमेत्तेणं ॥१॥" द० प० । सथा० । ('णाणणय' शब्दे १९६० पृष्ठे ज्ञानप्राधान्यमुक्तम्)

ज्ञानवदवज्ञा यथा-

पढइ नडो वेरग्गं, इच्चाइ निदंसिऊण केऽत्थ ।
नाणड्ढायमवन्नं, कुणंति नेयं वियाणंति ॥ ६१ ॥

पठति नटो वैराग्यमित्यादि निर्दिश्य कथयित्वा, आदिशब्दात्-"णिक्खिज्जिंदा य बहुजणो जेण तं तह सढो जावेण समोयरइ" इति द्वयम्, सुगमं च । केऽपि स्तोका अनाभोगत एव, अनेके च । पकारलोपः पूर्ववत् रूपमिदम् । ज्ञानाऽऽढ्यानां बह्वागमानामवज्ञामश्लाघाऽऽदिरूपां कुर्वन्ति विदधति । नेति निषेधे, इदं च वक्ष्यमाणं, विजानन्ति बुध्यन्ते । इति गाथार्थः ॥६१॥

तदेवाऽऽह-

नाणाहिओ वरतरं, हीणो वि हु पवयणं पभावितो ।
न य दुक्करं करितो, सुट्ठु वि अप्पागमो पुरिसो ॥६२॥

सुबोधार्था ।

तथा-

छट्ठऽट्ठमदसमदुवा-लसेहिं अबहुसुयस्स जा सोही ।
एत्तो बहुअरिया पुण, हविज्ज जिमियस्स नाणिस्स ॥६३॥

इयमपि सुगमा ।

ननु यद्येव तर्हि पूर्वोक्तस्य व्याहतिः, सत्यम्, तन्निन्दावाक्यमेवमसौ भण्यते । येन क्रियायामुद्यमं करोति न चासौ गुणविकलः, कथमन्यथा त्वयोक्तं मे "नाणाहियस्स नाणं पूइज्जइ" इत्यादि ।

अत्रैवार्थे जीवोपदेशमाह-

संसारसंभवाओ, दुहाओ जइ जीव ! तं सि निव्विन्नो ।
मा नाणीणमवन्नं, करेसु ता दीवतुल्लाणं ॥ ६४ ॥

संसारसंभवाद् भवोद्भूताद् दुःखादसाताद् यदि जीव ! त्वं भवान् असि भवसि निर्विण्ण श्रान्तो, मेति निषेधे, तर्हि दीपतुल्यानां दीपसदृशानां, ज्ञानिनां ज्ञानवताम्, अवर्णम-

श्लाघां कुरु। अयमभिप्रायः-ज्ञानवतामवज्ञाऽऽदिकरणाद् ज्ञानाऽऽवरणीय कर्म बध्यते। तथैव दर्शनाऽऽवरणीय, तेन च मोहनीय मोहनीयेन वा उदीर्णेनाऽष्टौ कर्माणि, ततश्च भवभ्रमणम, एतच्च श्रुतरूपभगवत्यादिषु सूत्रेषु प्रतीतमिति न वितन्यते। अत उक्तम्-ज्ञानाऽऽद्यवज्ञातो भवतु खमिति गाथार्थ । जीवा० १६ अधि०। ज्ञानिक्रियाकर्तरि, व्य० १ उ० । (जीवा ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च 'णाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६७२ पृष्ठे उक्ता) अवधिज्ञानिनो मन पर्यवज्ञानिनो वा कियन्तो भवान् कुर्वन्तीति प्रश्ने उत्तरम्-" आभिणिबोहियनाणिस्स ण भंते ! अतर कालओ केवच्चिर होइ ?। गोयमा ! जहन्नेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण अणतं काल० जाव अवड्ढपोग्गलपरियट्ट च पदेसूण, सुअनाणिओहिनाणिमणपज्जवनाणीण एव चेव, केवलनाणिस्स नत्थि अतर ।" इत्यादिभगवतीसूत्राष्टमशतकद्वितीयोद्देशके; एतदक्षरानुसारेणावधिज्ञानिन मन:पर्यवज्ञानिना वाऽनन्तभवान् कुर्वन्तीति ज्ञायत इति । ३८० प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

णाणिंद ज्ञानेन्द्र-पुं० । श्रुताऽऽद्यन्यतरज्ञानवशविवेचितवस्तुविशरे केवलिनि, स्था० २ ठा० ४ उ० । (व्याख्या ' इंद ' शब्दे द्वितीयभागे ५३४ पृष्ठे उक्ता)

णाणुप्पायमहिमा-स्त्री०-ज्ञानोत्पादमहिमन्-पुं० । तीर्थकृतां केवलज्ञानोत्पादे च कृतमहोत्सवे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

णाणोवओग-ज्ञानोपयोग-पुं० । ज्ञाने व्याप्रियमाणतायाम , प्रव० १० द्वार ।

णाणोवघाय-ज्ञानोपघात-पुं० । प्रमादत श्रुतज्ञानोपघाते,स्था० १० ठा० ।

णाणोवसंपया-ज्ञानोपसंपत्-स्त्री० । श्रुतज्ञानार्थमाचार्यान्तरोपसपत्तौ, ध० ३ अधि० । (' उवसपया ' शब्दे द्वितीयभागे ९८५ पृष्ठे तद्विधि)

णात-ज्ञात-न० । त्रि० । दृष्टान्ते, नि० चू० १० उ० । आहरणे, नि० चू० १५ उ० । अनु० । निदर्शने, पञ्चा० ४ विव० । ज्ञा० । उदाहरणे, ज्ञाताध्ययने, न० । सूत्र० । आगमिते, प्रश्न० ५ सम्व० द्वार । ज्ञानमागमितमित्येकार्थम् । व्य० ३ उ० । सम्यक्परिच्छिन्ने, त्रि० । आव० ६ अ० । आचा० । विदिते,सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । उदारक्षत्रिये, वृ० १ उ० । आचा० । उत्त० । प्रश्न० । इक्ष्वाकुवंशविशेषभूते, ज्ञा०१ श्रु० ८ अ० । श्रीऋषभदेवजातीये (कल्प० ५ क्षण) क्षत्रियविशेषे, पुं० । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्था० । आचा० । यद्वंशे श्रीवीरस्वामी जज्ञे । स्था० ६ ठा० । ज्ञातपुत्रे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । आ० चू० ।

णातकुमार-ज्ञातकुमार-पुं० । राज्यार्हे ज्ञातक्षत्रियकुमारे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णातकुलचंद-ज्ञातकुलचन्द्र-पुं० । ज्ञातकुले चन्द्र इव । महावीरस्वामिनि, कल्प० ५ क्षण । आचा० ।

णातखंड-ज्ञातखण्ड-न० । स्वनामख्याते वने, यत्र महावीरस्वामी प्रव्रजित । स्था० १० ठा० । आ० चू० ।

णातपुत्त-ज्ञातपुत्र-पुं० । ज्ञातः सिद्धार्थ तस्य पुत्र । कल्प० ५ क्षण । सिद्धार्थक्षत्रियपुत्रे श्रीमहावीरे, " णातपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणुत्तमे । " सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

णाति-ज्ञाति-स्त्री० । स्वजने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

णादिय-नादित-त्रि० । लपिते, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

णाध-नाथ-पुं० । " थो ध शौरसेन्याम । " । ८ । ४ । २६७ । इति प्राकृतसूत्रेण थस्य धकारः । प्रभौ, प्रा० ४ पाद ।

णाभि-नाभि-पुं० । शकटरथाङ्गे, दश० ७ अ० । जठरस्य मध्यावयवे, उत्त० २ अ० । अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे प्रथमकुलकरे श्रीऋषभदेवपितरि, आव० १ अ० । नि० । आचा० । ति० । आ० म० । प्रव० । जं० । स्था० ।

णाभिचक्क-नाभिचक्र-न० । शरीरमध्यवर्तिनि समस्ताङ्गसन्निवेशमूलभूते देहावयवे, द्वा० २६ द्वा० ।

णाभिप्पभव-नाभिप्रभव-त्रि० । नाभेरुत्पन्ने, त० ।

णाभिरसहरणी-नाभिरसहरणी-स्त्री० । नाभिनाले, त० ।

णाभेय-नाभेय-पुं० । चतु सहस्रनृपैः सह श्रीनाभेयजिनो दीक्षां जग्राह,तेषा दीक्षोच्चार केन कारित इति प्रश्ने, उत्तरम्-तत श्रीप्रथमजिनेन सह प्रभुवद् व्रत जगृहुरिति ऋषिचरित्राऽऽदौ । २५६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

णाम-नाम-पुं० । नमन नाम । परिणामे, भावे, (प्र०)

कइविहे णं भंते ! णामे पण्णत्ते ? । गोयमा ! छव्विहे णामे पण्णत्ते । तं जहा-उदइए० जाव सण्णिवाए । से किं तं उदइए णामे ? । उदइए णामे दुविहे पण्णत्ते । त जहा-उदइए य, उदयणिप्फण्णे य । एवं जहा सत्तरसमसए पढमे उद्देसए भावो तहेव इह वि । णवरं इमं णाणत्तं सेस तहेव० जाव सण्णिवाइए ॥

नमन नाम ,परिणामो,भाव इत्यनर्थान्तरम् । (णवर इम नाणत्त त्ति) सप्तदशशते भावमाश्रित्य इद सूत्रमधीतमिह तु नामशब्दमाश्रित्येत्येतावान् विशेष इत्यर्थ । भ० २५ श० ५ उ० ।

नामन्-अव्य० । अलङ्कृतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । वाक्यालङ्कारे, स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० । दश० । पादपूरणे, प्रा० ३ पाद । विपा० । नि० चू० । शिष्याऽऽमन्त्रणे, जं० १ वक्ष० । विशे० । जीवा० । कोमलाऽऽमन्त्रणे, वृ० ३ उ० । त० । विशे० । सम्भावनायाम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आचा० । स्था० । ज्ञा० । अनु० । विशे० । दशा० । भ० । प्रसिद्धौ,कल्प० १ क्षण । अभ्यनुज्ञायाम्, विशे० । नमति ज्ञानरूपाऽऽदिपर्यायभेदानुसारतो जीवपरमाण्वादिवस्तुप्रतिपादकतया प्रह्वीभवतीति नाम । तथा चाऽऽह-"ज वत्थुणोऽभिहाणं,पज्जवभेयाणुसारि य नाम । पइभेय ज नमए, पइभेय जाइ जं भणियं ॥१॥ " उत्त० १ अ० । विशे० । सूत्र० । यादृच्छिकाभिधाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

सामान्येन नाम्नस्तावल्लक्षणमाह-

पज्जायाणभिधेयं, ठियमण्णत्थे तयत्थनिरवेक्खं ।
जाइच्छियं च नामं, जावद्दव्वं च पाएण ॥ २५ ॥

यत् कस्मिंश्चिद् भूतकदारकाऽऽदौ इन्द्राऽऽद्यभिधान क्रियते, तन्नाम भण्यते । कथंभूत तत् ?, इत्याह-पर्यायाणां शक्रपुरन्दरपाकशासनशतमखहरिप्रभृतीनां समानार्थवाचकानां ध्वनीनामनभिधेयमवाच्यम्, नामवत पिण्डस्य सबन्धी धर्मोऽयं नाम्न्युपचरित , स हि नामवान् भूतकदारकाऽऽदिपिण्डः कि-

लौकेन सङ्केतितमात्रेणेन्द्राऽऽदिशब्देनैवाभिधीयते, न तु शेषैः शक्रपुरन्दरपाकशासनाऽऽदिशब्दैः, अतो नामयुक्तपिण्डगतधर्मो नाम्न्युपचरित· पर्यायानभिधेय इति । पुनरपि कथभूतं तन्नाम ?, इत्याह-(ठियमपणत्थे त्ति) विवक्षिताद् भृतकदारकाऽऽदिपिण्डादन्यश्चासावर्थश्चान्यार्थो देवाधिपाऽऽदिः, सद्भावतस्तत्र यत् स्थितम्, भृतकदारकाऽऽदौ तु सङ्केतमात्रतयैव वर्तते, अथवा-सद्भावतः स्थितमन्वर्थ-अनुगत· सबद्ध· परमैश्वर्याऽऽदिकोऽर्थो यत्र सोऽन्वर्थः-शचीपत्याऽऽदिः । सद्भावतस्तत्र स्थित भृतकदारकाऽऽदौ तर्हि कथ वर्तते ?, इत्याह-तदर्थनिरपेक्ष तस्येन्द्राऽऽदिनाम्नोऽर्थस्तदर्थ· परमैश्वर्याऽऽदिस्तस्य निरपेक्ष सङ्केतमात्रेणैव तदर्थशून्ये भृतकदारकाऽऽदौ वर्तते, इति पर्यायानभिधेयम, स्थितमन्यार्थे, अन्वर्थे वा; तदर्थनिरपेक्षं यत् क्वचिद् भृतकदारकाऽऽदौ इन्द्राऽऽद्यभिधानं क्रियते, तन्नाम, इतीह तात्पर्यार्थ· । प्रकारान्तरेणापि नाम्नः स्वरूपमाह-याहच्छिक चेति । इदमुक्त भवति-न केवलमनन्तरोक्तं, किं त्वन्यत्रावर्तमानमपि यदेवमेव यदृच्छया केनचिद् गोपालदारकाऽऽदेरभिधान क्रियते, तदपि नाम, यथा डित्थो, डवित्थ इत्यादि । इद चोभयरूपमपि कथभूतम् ?, इत्याह-यावद्द्रव्यं च प्रायेणेति-यावदेतद्वाच्य द्रव्यमवतिष्ठते तावदिद नामाप्यवतिष्ठत इति भाव· । किं सर्वमपि ?, न, इत्याह-प्रायेणेति, मेरुद्वीपसमुद्राऽऽदिक नाम प्रभूत यावद् द्रव्यभावि दृश्यते; किञ्चित्त्वन्यथाऽपि समीक्ष्यते, देवदत्ताऽऽदिनामवाच्यानां द्रव्याणां विद्यमानानामप्यपरापरनामपरावर्तस्य लोके दर्शनात् । सिद्धान्तेऽपि यदुक्तम्-"नाम आवकहिय ति" तत् प्रतिनियतजनपदाऽऽदिसञ्ज्ञामेवाङ्गीकृत्य, यथोत्तराः कुरव इत्यादि । तदेव प्रकारद्वयेन नाम्न· स्वरूपमत्रोक्तम, एतच्च तृतीयप्रकारस्योपलक्षणम्, पुस्तकपत्रचित्राऽऽदिलिखितस्य-वस्त्वभिधानभूतेन्द्राऽऽदिवर्णाऽऽवलीमात्रस्याप्यन्यत्र नामत्वेनोक्तत्वादिति । एतच्च सामान्येन नाम्नो लक्षणमुक्तम । विशे० । (किञ्चिन्नाम निरर्थकमपि भवतीति ' उस्सारकप्पिय ' शब्दे द्वितीयभागे ११७६ पृष्ठे गतम) सर्वस्यापि घटपटाऽऽदिवस्तुन आत्मीयेऽभिधाने, विशे० । व्य० । सञ्ज्ञायाम्, " यद् वस्तुनोऽभिधान, स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्ष· । पर्यायानभिधेयं, च नाम याहच्छिक च तथा ॥ १ ॥ " इति । स्था० ३ ठा० १ उ० । दश० । दशा० । आचा० । उत्त० । यत्तु " णाम आवकहियं " इति सूत्रे प्रोक्त, तत्प्रतिनियतजनपदसञ्ज्ञामाश्रित्यैवेति ध्येयम । ननु ' गङ्गायां घोष ' इत्यत्र गङ्गापदेन गङ्गातीरमभिधीयते । तत्र किं नामनिक्षेपस्य प्रवृत्ति, उत निक्षेपान्तरस्य ?। नाद्य· । जाह्नव्यादिपर्यायाऽभिधेयत्वेन तत्र नामनिक्षेपाप्रवृत्ते· । न द्वितीयः । प्रसिद्धनिक्षेपान्तराविषये तत्राप्रसिद्धनिक्षेपकल्पने तद्दियत्ताक्षतिप्रसङ्गादिति चेत् । " जत्थ य ज जाणिज्जा, णिक्खेव णिक्खिवे णिरवसेस । " इत्यनेन यथापरिज्ञान निक्षेपान्तरकल्पनाया अप्यनुमतत्वेन दोषाभावात् । अस्तु वा तत्राभिप्रायिकी स्थापनैव, भवतु वा वैज्ञानिको भावनिक्षेप·, एवं गङ्गापदेन तीरे गङ्गाभेदाभिव्यक्तिवृत्त्या गङ्गागतशैत्यपावनत्वाऽऽदिधर्मयोगस्याभिव्यञ्जयितुमशक्यत्वात्, तत्प्रपञ्चितमलङ्कारचूडामणिवृत्त्यावसरादिभि· । तत् किं शक्तिलक्षणाऽन्यतरवृत्तिनिरपेक्षशब्दसङ्केतविषयत्वमेव नामलक्षण स्थितमन्यार्थ इत्यत्र अनेकार्थवाच्यव्यावृत्तयेऽशक्यार्थ इति करणार्थाच्छब्दस्य पर्यायानभिधेयं चेत्यनेन लक्षणस्य च व्यावृत्तौ तात्पर्यात् । ओमिति चेत्, तर्हि रूपसत्यादिविषयेऽतिव्याप्ति·, तस्य द्रव्यनिक्षेपविषयत्वे च तत्रैव सेति चेत्, न, उक्तलक्षण एव भावनिक्षेपविषयाभेदव्यवहारोपयिकरूपराहित्यविशेषेण दाने दोषाभावात् । निरूढलक्षणायाः स्वीकारे तु लक्षणाया निरूढत्वाज्ञापकवचनमेव निक्षेपः । तद्विषयविशेषस्तु अन्यव्यावृत्त्यादिना यथाव्यवहार स्वीकार्यं इति नातिप्रसङ्ग इति दिक् । नयो० । पारिभाषिक्यां सञ्ज्ञायाम, विशे० । पितृपितामहाऽऽदेर्वाचकेऽभिधाने, अनु० ।

गौणाऽऽदि नाम चतुर्द्धा । तद्यथा-गौणं, समयज, तदुभयजम, अनुभयज च । तत्र गुणादागत गौणम् । अथ कोऽसौ गुण, कथ च तत आगतम् ?। उच्यते-इह शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्त योऽर्थो, यथा ज्वलनस्य दीपन'ज्वल' दीप्ताविति वचनात्, स गुण । गुणश्चेह परतन्त्रो विवक्षितो, न पारिभाषिको रूपाऽऽदि·, तेन यच्छब्दस्य वस्तुनि प्रवर्तमानस्य व्युत्पत्तिनिमित्त द्रव्य, गुण·, क्रिया वा, स गुण इत्यभिधीयते । तत्र द्रव्य व्युत्पत्तिनिमित्तम्-शृङ्गी, दन्ती, विषाणीत्यादौ । गुणो-जातरूप सुवर्ण, स्वादु रसाश्रिते इत्यादौ । क्रिया-तपन· श्रमणो दीप्रो हिंस्रो ज्वलन इत्यादौ । जातिश्च नाम्नो व्युत्पत्तिनिमित्त न भवति, किं तु प्रवृत्तिनिमित्त; यथा गोशब्दस्य गोजातिः । तथाहि-गोशब्दस्य गमनक्रिया व्युत्पत्तिनिमित्त, न गोत्वं, गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्ते केवलमेकार्थसमवायबलाद् गमनक्रियया खुरककुदलाङ्गूलसास्नाऽऽदिमत्त्व प्रवृत्तिनिमित्तमुपलक्ष्यते, इति गच्छत्यगच्छति वा गोपिण्डे गोशब्दस्य प्रवृत्ति· । एव सर्वेष्वपि जातिशब्देषु नामसु व्युत्पत्तिनिमित्तवत्सु भावनीयम् । ये तु जातिशब्दा व्युत्पत्तिरहिता यथाकथञ्चित् जातिमत्सु रूढिमुपागतास्तेषु व्युत्पत्तिनिमित्तमेव नास्तीति कुतस्तत्र जातेर्व्युत्पत्तिनिमित्तत्वप्रसङ्ग ?। तस्मात् जातिः परतन्त्राऽपि शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तमिति न सा गुणग्रहणेन गृह्यते । ये तु गोत्वविशिष्टो गोमानित्यादयो जातिव्युत्पत्तिनिमित्ता·, न ते नामरूपा इति न तैर्व्यभिचार, ततो गुणादागत गौण, व्युत्पत्तिनिमित्त द्रव्याऽऽदिरूप गुणमधिकृत्य यद्वस्तुनि प्रवृत्त नाम तद्गुणनामेति भावार्थः । एतदेव नाम लोके यथार्थमित्याख्यायते । तथा-समयज यदन्वर्थरहित समय एव प्रसिद्धम । यथा-ओदनस्य प्राभृतिका इति नाम । उभयज यद्गुणनिष्पन्न समयप्रसिद्ध च, यथा धर्मध्वजस्य रजोहरणमिति नाम । इद हि समयप्रसिद्धमन्वर्थयुक्त च । तथाहि-बाह्यम, आभ्यन्तर च रजो ह्रियत इत्यनेन रजोहरणम् । तत्र बाह्य रजोऽपहारित्वमस्य सुप्रतीतम । आन्तररजोऽपहरणसमर्थाश्च परमार्थत· सयमयोगाः, तेषां च कारणमिद धर्मलिङ्गमिति कारणे कार्योपचाराद् रजोहरणमित्युच्यते ।

उक्त च-

" हरइ रय जीवाण, बज्झं अब्भिंतरं च ज तेण ।
रयहरण ति पवुच्चइ, कारणकज्जोवयाराओ ॥ १ ॥
सजमजोगा इत्थ, रओहरा तेसि कारण जेण ।
रयहरण उवयारा, भन्नइ तेण रओकम्म ॥ २ ॥ "

अनुभयज यदन्वर्थरहितं, समयाप्रसिद्ध च । यथा कस्यापि पुस· शौर्यक्रौर्याऽऽदिगुणासभवेन उपचाराभावे सिंह इति नाम । यद्वा-देवा एन देयासुरिति व्युत्पत्तिनिमित्तासंभवे

देवदत्त इति नाम। एव पिण्ड इति वर्णाऽऽवलीरूपमपि नाम गौणाऽऽदिभेदाच्चतुर्द्धा । तत्र यदा बहूनां सजातीयानां विजातीयानां च कठिनद्रव्याणामेकत्र पिण्डने पिण्ड इति नाम प्रवर्तते, तद् गौणम्, व्युत्पत्तिनिमित्तस्य वाच्ये विद्यमानत्वात् । यदा तु समयपरिभाषया पानीयेऽपि पिण्ड इति नाम प्रयुज्यते तदा समयजम्, लोके हि कठिनद्रव्याणामेकत्र संश्लेषे पिण्ड इति प्रतीतं,न तु द्रवद्रव्यसघाते, ततश्च पिण्डनं पिण्ड इति व्युत्पत्त्यर्थाघटनात् । पिं० । नाम च यथार्थाऽऽदिभेदात्त्रिविधम् । तद्यथा-यथार्थम् , अयथार्थम्, अर्थशून्य च । तत्र यथार्थम्-प्रदीपाऽऽदि,अयथार्थम्-पलाशाऽऽदि,अर्थशून्यमडित्थाऽऽदि । स्था० १ ठा० । विशे० । नामस्थापनाद्रव्यमित्येव द्रव्यार्थिकस्य निक्षेप । सम्म० १ काण्ड ।

से किं तं णामे ? । णामे दसविहे पण्णत्ते । तं जहा-एगणामे, दुणामे, तिणामे, चउणामे, पंचणामे, छणामे, सत्तणामे, अट्ठणामे, नवणामे, दसणामे ।

(णामे इत्यादि) इह जीवगतज्ञानाऽऽदिपर्यायेऽजीवगतरूपाऽऽदिपर्यायानुसारेण प्रतिवस्तु भेद नमति तदभिधायकत्वेन प्रवर्तत इति नाम, वस्त्वभिधानमित्यर्थः । उक्त च-" जं वत्थुणोऽभिहाणं, पज्जयभेयाणुसारियं णाम । पइभेअ जं नमई, पइभेअ जाइयं भणिअ ॥१॥ " अनु० । (एकनामाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) विचित्रपर्यायैर्नमयति गत्यादिपर्यायानुभवन प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम । कर्म० ६ कर्म० । प० स० । स्था० । दशा० । प्रव० । गत्यादिहेतौ कर्मणो मूलप्रकृतिभेदे, कर्म० ।

णामकम्म [ण्]-नामकर्मन्-न० । क० स० । जीवानां विचित्रपरिणामकर्मणामहेतौ कर्मभेदे, कर्म० ।

तद् द्विविधम्-

णामकम्मे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सुभणामे चेव, असुभणामे चेव ।

विचित्रपर्यायैर्नमयति परिणमयति यज्जीव तन्नाम ।

एतत्स्वरूप च-

"जह चित्तयरो निउणो, अणेगरूवाइँ कुणइ रूवाइ ।
सोहणमसोहणाइ, चक्खुमचक्खेहिँ वन्नेहि ॥ १ ॥
तह नाम पि हु कम्म, अणेगरूवाइँ कुणइ जीवस्स ।
सोहणमसोहणाइ, इट्ठाणिट्ठाणि लोयस्स" ॥ २ ॥ इति ।

शुभ तीर्थकराऽऽदि, अशुभमनादेयत्वाऽऽदीति । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

नामकर्माभिधित्सुराह-

... ., . नामकम्म चित्तिसमं ।
बायालतिनवइविहं, तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥ २३ ॥

(नामकम्म चित्तिसमं इत्यादि) नामकर्म भवति चित्रिसमं, चित्र कर्म, तत् कर्तव्यतया विद्यते यस्य स चित्री चित्रकर , तेन सम सदृश चित्रिसमम् । यथा हि चित्री चित्र चित्रप्रकारं विविधवर्णकै• करोति, तथा नामकर्मापि जीवम्-नारकोऽयम्, तिर्यग्योनिकोऽयम् , एकेन्द्रियोऽयम् , द्वीन्द्रियोऽयमित्यादिव्यपदेशैरनेकधा करोतीति चित्रिसममिदमिति । एतच्चानेकभेदम् । कथमित्याह-(बायालतिनवइविह तिउत्तरसय[illegible]सत्तट्ठि त्ति) अत्र विधाशब्दस्य प्रत्येक योगाद् द्विचत्वारिंशद्विधम् । यद्वा वा-त्रिनवतिविधम् , यदि वा-त्र्युत्तरशतविधम् ,अथवा-सप्तषष्टिविधम् । चशब्दः समुच्चये व्यवहितसबन्धश्च, स च तथैव योजित• ॥ २३ ॥ कर्म० १ कर्म० ।

नामकम्मे बायालीसविहे पण्णत्ते । तं जहा-गइनामे, जाइनामे, सरीरनामे, सरीरंगनामे, सरीरबंधणनामे,सरीरसंघायणनामे, संघयणनामे, संठाणनामे, वन्ननामे, गंधनामे, रसनामे, फासनामे, अगुरुलहुयनामे, उवघायनामे, पराघायनामे, आणुपुव्वीनामे, उस्सासनामे, आयवनामे, उज्जोयनामे, विहगगइनामे, तसनामे, थावरनामे,सुहुमनामे, बायरनामे, पज्जत्तनामे, अपज्जत्तनामे, साहारणसरीरनामे, पत्तेयसरीरनामे,थिरनामे, अथिरनामे,सुभनामे, असुभनामे, सुभगनामे, दुब्भगनामे, सुस्सरनामे, दुस्सरनामे, आएज्जनामे, अणाएज्जनामे, जसोकित्तिनामे, अजसोकित्तिनामे, निम्माणनामे, तित्थगरनामे । स० ४२ सम० ।

अथ नामकर्मणो द्विचत्वारिंशतं भेदान् प्रचिकटयिषुराह-

गइजाइतणुउवंगा, बंधणसंघायणाणि संघयणा ।
संठाणवन्नगंधर-सफासअणुपुव्विविहगगई ॥ २४ ॥

इह नाम्नः प्रस्तावात् सर्वत्र गत्यादिषु नामेत्युपस्कार कार्य । तथाहि-गतिनाम, जातिनाम, तनुनाम, उपाङ्गनाम, बन्धननाम, सङ्घातननाम, संहनननाम, संस्थाननाम, वर्णनाम, गन्धनाम, रसनाम, स्पर्शनाम, आनुपूर्वीनाम, विहायोगतिनामेति । कर्म० १ कर्म० ।

उक्ता नामकर्मणो द्विचत्वारिंशद्भेदाः । अथ तस्यैव त्रिनवतिभेदान् प्ररूपयितुकामो गत्यादिपदाना पिण्डप्रकृतिसञ्ज्ञकानां मध्ये येन पदेन यावन्तो भेदाः पिण्डिता वर्तन्ते, तान् भेदान् तेषामाह-

गइयाईण उ कमसो,चउ पण पण ति पण पंच छ च्छक्कं ।
पण दुग पणऽट्ठ चउ दुग,इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥ २९ ॥

गत्यादीना पिण्डप्रकृतीना पूर्वप्रदर्शितस्वरूपाणा पुन क्रमशः क्रमेण, यथासङ्ख्यमिति यावत्, चतुरादयो भेदा भवन्तीति वाक्यार्थ• । तथाहि-गतिनाम चतुर्धा,जातिनाम पञ्चधा, तनुनाम पञ्चधा, उपाङ्गनाम त्रिधा, बन्धननाम पञ्चधा, सङ्घातननाम पञ्चधा, सहनननाम षोढा, सस्थाननाम षोढा, वर्णनाम पञ्चधा, गन्धनाम द्वेधा, रसनाम पञ्चधा, स्पर्शनाम अष्टधा, आनुपूर्वीनाम चतुर्द्धा, विहायोगतिनाम द्वेधा। एतेषां सर्वमीलने भेदाग्रमाह-(इय त्ति) इत्यमुना चतुरादिभेदमीलनप्रकारेणोत्तरभेदाना पञ्चषष्टिरिति ॥ २९ ॥

अडवीसजुया तिनवइ, संते वा पनरबंधणे तिसयं ।
बंधणसंघायगहो, तणूसु सामन्नवन्नचऊ ॥ ३० ॥

एषा पूर्वोक्ता पञ्चषष्टिरष्टाविंशतियुता प्रत्येकप्रकृत्यष्टाविंशत्या सह मीलने त्रिभिरधिका नवतिस्त्रिनवतिर्भवति । सा च कोपयुज्यत इत्याह-(संते त्ति) प्राकृतत्वात् सत्तायां सत्कर्म प्रतीत्य बोद्धव्येत्यर्थ । वाशब्दो विकल्पार्थो व्यवहितसबन्धश्च । स चैव योज्यते-पञ्चदशबन्धनैस्त्रिशत वा पञ्चदशसङ्ख्यैर्वक्ष्यमाणस्वरूपैर्बन्धनै• प्रदर्शितत्रिनवतिमध्ये प्रक्षिप्तैस्त्रिभिरधि-

क शत त्रिशत वा, सत्तायामधिक्रियत इति शेष.। अथ त्रिनवतिमध्ये पञ्चदशानां प्रकृतीना प्रक्षेपेऽष्टोत्तर शत भवनीति चेत् । उच्यते-या वक्ष्यमाणा पञ्चदश बन्धननामप्रकृतयस्तासु मध्यात्सामान्यत औदारिकाऽऽदिबन्धनपञ्चकस्य त्रिनवतिमध्ये पूर्वप्रक्षिप्तत्वाच्छेषाणां दशानां प्रक्षेपे त्रिशतमेव भवनीति न कश्चिद् विरोध । सूत्रे च-" पनरबधणे " इत्यत्र विभक्तिवचनव्यत्ययः प्राकृतत्वात् । इत्युक्ता नामकर्मण त्रिनवतिव्युत्तरशत च भेदानाम् । अथ सप्तषष्टिभेदानाह-(बधणसघायगहो तणूसु त्ति) बन्धनानि च पञ्चदश सङ्घाताश्च सघातनानि पञ्च बन्धनसघानास्तेषां ग्रहण ग्रहो बन्धनसघातग्रहः । तनुषु शरीरेषु तनुग्रहणेनैव बन्धनसघाता गृह्यन्ते, न पृथग् विवक्ष्यन्त इत्यर्थ.। तथा-(सामन्नवन्नचउ त्ति) सामान्य कृष्णनीलाऽऽद्यविशेषित वर्णेनोपलक्षित चतुष्क सामान्यवर्णचतुष्क, गृह्यन इति शेष । अयमत्राऽऽशय - इह सप्तषष्टिमध्ये औदारिकाऽऽदितनुपञ्चकमेव गृह्यते, न तद्बन्धनानि तत्सघातनानि च, यत औदारिकतन्वा स्वजातीयत्वादौदारिकतनुसदृशानि तद् बन्धनानि तत्सघाताश्च गृहीता.। एव वैक्रियाऽऽदितन्वाऽपि निजनिजबन्धनसंघाता गृहीता इति न पृथगेते पञ्चदश बन्धनानि पञ्च सघाता गण्यन्ते । तथा-वर्णगन्धरसस्पर्शाना यथासख्य पञ्चद्विपञ्चाष्टभेदैर्निष्पन्ना विंशतिमपनीय तेषामेव सामान्य वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षण चतुष्क गृह्यते, ततश्चानन्तरोदितत्र्युत्तरशताद्वर्णाऽऽदिषोडशकबन्धनपञ्चदशकसघातपञ्चकलक्षणाना षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामपसारणे सति सप्तषष्टिर्भवतीति ॥ ३० ॥

एतदेवाऽऽह-

इय सत्तट्ठी बंधो-दए य न य सम्ममीसया बंधे ।
बंधुदए सत्ताए, वीसदुवीसऽट्ठवन्नसयं ॥ ३१ ॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण सप्तषष्टिर्नामकर्मप्रकृतीनां भवति । सा च क्वोपयुज्यते ?, इत्याह-(बंधोदए य त्ति) बन्धश्च उदयश्च बन्धोदय, तस्मिन् बन्धोदये, बन्धे चोदये च सप्तषष्टिर्भवति, चशब्दादुदीरणायां च सप्तषष्टि.। अथ बन्धनसङ्घातनवर्णाऽऽदिविशेषाणा विवक्षावशादेव बन्धनाधिकार इत्युक्तम्, सम्प्रति ययो. प्रकृत्यो सर्वथैव बन्धो न भवति, ते आह-(न य सम्ममीसया बंधे त्ति) न च नैव सम्यक्त्वमिश्रके बन्धेऽधिक्रियेते । अयमभिप्राय'-सम्यक्त्वमिश्रयोर्बन्ध एव न भवति, किं तु मिथ्यात्वपुद्गलानामेव । जीव. सम्यक्त्वगुणेन मिथ्यात्वरूपतामपनीय केषाञ्चिदत्यन्तविशुद्धिमापादयति, अपरेषां त्वीषद् विशुद्धिं, केचित्पुनर्मिथ्यात्वरूपा एवावतिष्ठन्ते, तत्र येऽत्यन्तविशुद्धास्ते सम्यक्त्वव्यपदेशभाज, ईषद्विशुद्धा मिश्रव्यपदेशभाज, शेषा मिथ्यात्वमिति ।

उक्त च-

" सम्यक्त्वगुणेन ततो, विशोधयति कर्म तत्समिथ्यात्वम् ।
यद्वच्छगणप्रमुखैः, शोध्यन्ते कोद्रवा मदना ॥ १ ॥
यत्सर्वथाऽपि तत्र वि-शुद्ध तद्भवति कर्म सम्यक्त्वम् ।
मिश्र तु दरविशुद्ध, भवत्यशुद्ध तु मिथ्यात्वम् ॥ २ ॥ "

उदयोदीरणासत्तासु पुन सम्यक्त्वमिश्रके अप्यधिक्रियेते । एव च सति ज्ञानाऽऽवरणे पञ्च, दर्शनाऽऽवरणे नव, वेदनीये द्वे, मोहनीये सम्यक्त्वमिश्रवर्जा षड्विंशति, आयुषि चतस्र, नाम्नि भेदान्तरसद्भावेऽपि प्रदर्शितयुक्त्या सप्तषष्टि, गोत्रे द्वे, अन्तराये पञ्चेत्येतद् विंशत्युत्तर प्रकृतिशत बन्धेऽधिक्रियते । एतदेव सम्यक्त्वमिश्रसहित द्वाविंशत्युत्तरप्रकृतिशतमुदये, उदीरणायां च । सत्तायां पुन' शेषकर्मणा पञ्चपञ्चाशद् नाम्न. त्रिनवतिरित्यष्टाचत्वारिंश शतम् । यद्वा-शेषकर्मणां पञ्चपञ्चाशद् नाम्नत्र्युत्तरशतमित्यष्टापञ्चाशं शतमधिक्रियते, इत्येतदेव मनसिकृत्याऽऽह-(बंधुदए सत्ताए इत्यादि) इह शतशब्दस्य प्रत्येक योगाद् यथासंख्य बन्धे विंश शतम्, उदये उपलक्षणत्वादुदीरणायां च द्वाविंश शत, सत्तायामष्टपञ्चाश शतम्, उपलक्षणत्वादष्टाचत्वारिंश शतमिति भावना सुकरैव ॥ ३१ ॥ कर्म० १ कर्म० । उत्त० ।

इदानीं वर्णाऽऽदिचतुष्कोत्तरविंशतिभेदानां शुभाशुभत्वयोरभिधित्सया प्राऽऽह-

नीलकसिणं दुगंधं, तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं ।
सीयं च असुहनवग, इक्कारसगं सुभं सेसं ॥ ४१ ॥

नीलकृष्ण नीलकृष्णाऽऽख्ये कर्मणी अशुभे, दुर्गन्धनाम 'तिक्तकटुकमिति' तिक्तकटुके रसनाम्नी, गुरु खर रूक्ष शीत चेति चत्वारि स्पर्शनामानि । एतानि च सर्वाण्यपि समुदितानि किमुच्यते ?, इत्याह-' अशुभनवकम् ' नव प्रकृतयः परिमाणमस्य प्रकृतिवृन्दस्य तन्नवकम्, अशुभ च तन्नवक चाशुभनवकम् । ' एकादशकम् ' एकादशप्रकृतिसमूहरूपम्, यथा-रक्तपीतश्वेतवर्णा ,सुरभिगन्धो, मधुराऽम्लकषायरसा, लघुमृदुस्निग्धोष्णस्पर्शा इति शुभ शुभविपाकवेद्यत्वात् शुभस्वरूपम् । कीदृक् तदित्याह-' शेषम्, ' कुवर्णनवकादवशिष्ट, कोऽर्थ ?-कुवर्णनवकाच्छेषा एकादश वर्णाऽऽदिभेदा शुभवर्णैकादशकमुच्यत इति ॥४१॥ कर्म० १ कर्म० । ननु च शरीरपर्याप्त्यैव शरीर भविष्यति, किं प्रागभिहितेन शरीरनाम्ना ? । नैतदस्ति, साध्यभेदात् । तथाहि-शरीरनाम्नो जीवेन गृहीतानां पुद्गलानामौदारिकाऽऽदिशरीरत्वेन परिणति साध्या, शरीरपर्याप्ते पुनरारब्धशरीरस्य परिसमाप्तिरिति । अथ प्रागुक्तेनोच्छ्वासनाम्नैवोच्छ्वसनस्य सिद्धत्वादिहोच्छ्वासपर्याप्तिर्निर्विषयेति । नैवम्, सतीमप्युच्छ्वासनामोदयेन जनितामुच्छ्वसनलब्धिमात्मशक्तिविशेषरूपामुच्छ्वासपर्याप्तिमन्तरेण व्यापारयितु न शक्नुयात् । यथाहि-शरीरनामोदयेन गृहीता अप्यौदारिकाऽऽदिपुद्गला शक्तिविशेषरूपां शरीरपर्याप्तिं विना शरीररूपतया परिणमयितु न शक्यन्त इति शरीरनाम्नः पृथगिष्यते शरीरपर्याप्ति', एवमत्राप्युच्छ्वासनाम्नः पृथगुच्छ्वासपर्याप्तिरेष्टव्या, तुल्ययुक्तित्वादिति ॥ ४८ ॥ कर्म० १ कर्म० । स० । आ० । आचा० । प० स० । (यत्र गुणस्थानके यावत्य. प्रकृतयः सवेधमाश्रित्य भवन्ति, ताः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे ३१३ पृष्ठे दर्शिता')

णामकरण-नामकरण-न० । अभिधानमात्रकरणे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । "नाम्नाऽन्वर्थेन कीर्तिं' स्यात् ।' नाम्नाऽन्वर्थेन गुणनिष्पन्नेन कीर्ति. स्यात् तत्कीर्तनमात्रादेव शब्दार्थप्रतिपत्तेर्विदुषा प्राकृतजनस्य च मन प्रसादाद् यथा भद्रबाहुसुधर्मस्वामिप्रभृतीनाम् । द्वा० २८ द्वा० । न० ।

णामगुत्त-नामगोत्र-न० । नाम्ना गोत्रमिति प्रसिद्ध यत्कर्म गोत्राऽभिधान कर्मेत्यर्थ । कल्प० २ क्षण । अन्वर्थयुक्ते नाम्नि, इहान्वर्थयुक्त नाम सिद्धान्तपरिभाषया नामगोत्रमित्युच्यते । सू० प्र० १६ पाहु० । रा० ।

णामणय-नामनय-पुं० । नामरूपमेव सर्वं वस्त्वित्येवं सिद्धान्तं व्यवसिते नये, (नयो०)

नामनयमाह-"यतो नाम विना नास्ति, वस्तुनो ग्रहणं ततः । नामैव तद् यथा कुम्भो, मृदेवान्यो न वस्तुतः ॥१॥ " तथाहि-यत्प्रतीतावेव यस्य प्रतीतिः,तदेव तस्य स्वरूपम् । यथा मृत्प्रतीतावेव प्रतीयमानस्य घटस्य मृदेव रूपं, नामप्रतीतावेव प्रतीयते वस्तु । न च विनाऽपि नाम निर्विकल्पकविज्ञानेन वस्तुप्रतीतिरस्तीति हेतोरसिद्धता,असर्वसंविदां वाग्रूपत्वात् । तथा च भर्तृहरिः-" वाग्रूपता चेद् बोधस्य, व्युत्क्रामेतेह शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत, सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ १ ॥ यदि च नामरूपमेव वस्तु न स्यात्, ततश्च तदवगतावपि वस्तु संशयाऽऽदीनामन्यतममेव स्यात् । तथा च पूज्याः-" संसयविवज्जया वा-ऽणज्झवसाओऽहवा जदिच्छाए । होज्जऽत्थे पडिवत्ती, न वत्थुधम्मो जया णाम ॥ ६२ ॥ " (विशे०) उत्त० १ अ० ।

अस्मिंश्च नामाऽऽदिरूपचतुष्टये नामनयः प्रधानं नामैव मन्यते । तत्र ये सुगतमतानुसारिणो "न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति" इत्यादिवचनाद् नाम्नो वस्तुधर्मत्वमेव नेच्छन्ति, तान् प्रति नामनयः प्राऽऽह-

वत्थुसरूवं नामं, तप्पच्चयहेउओ सधम्म व्व ।
वत्थुं नाऽणभिहाणं, होज्जाऽभावो विवाऽवच्चो ॥६१॥

नामनयस्यायमभिप्रायः-वस्तुनः स्वरूपं नाम, तत्प्रत्ययहेतुत्वात्, स्वधर्मवत्, इह यद् यस्य प्रत्ययहेतुस्तत् तस्य धर्मः, यथा घटस्य स्वधर्मो रूपाऽऽदयः, यच्च यस्य धर्मो न भवति न तत् तस्य प्रत्ययहेतुः, यथा घटस्य धर्माः पटस्य, संपद्यते च घटाभिधानाद् घटे संप्रत्ययः, तस्मात् तत् तस्य धर्मः, सिद्धश्च हेतुरावयोः,घटशब्दात् पटाऽऽदिव्यवच्छेदेन घट इति प्रतिपत्त्यनुभूते । सर्वं च वस्तु नामरूपतां न व्यभिचरतीति दर्शयन्नाह-(वत्थुमित्यादि) यदि वस्तुनो नामरूपता न स्यात्, तदा तद् वस्त्वेव न भवेदिति संबन्धः । कुतः ?,इत्याह-अनभिधानादभिधानरहितत्वादित्यर्थः । अवाच्योऽभिधानरहितत्वेनाऽनभिधेयो योऽसावभावः खपुष्पाऽऽदिलक्षणस्तद्वदिति दृष्टान्तः । इह यदभिधानरहितं तद् वस्त्वेव न भवति,यथाऽभिधानरहितत्वेनाऽवाच्यः खपुष्पलक्षणोऽभावः, अभिधानरहितं च वस्त्वभ्युपगम्यते परैः, ततोऽवस्तुत्वमेवास्य भवेद्,अवस्तुत्वे च कुतस्तत्प्रत्ययहेतुत्वलक्षणस्य हेतोर्वृत्तिः, येनाऽनैकान्तिकता स्यात् ? । तत्र तद्वृत्तौ वा तस्यापि वस्तुत्वमेव भवेत्, स्वप्रत्ययजनकत्वात्, घटाऽऽदिवदिति । विपक्ष एव वृत्तेरभावाद् विरुद्धताऽप्यसंभविनीति । तस्माद् वस्तुधर्म एव नामेति स्थितम् । न च 'नद्यास्तीरे गुडशकटम्' इत्यादिशब्दात् प्रवृत्तस्य कदाचिद् वस्त्वप्राप्तेरवस्तुधर्मता तस्येत्याशङ्कनीयम्, प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणानामपि तत्प्रसङ्गात्-तेभ्योऽपि हि प्रवृत्तस्य कदाचिद् वस्त्वप्राप्तेः । अबाधितेभ्यस्तेभ्यः प्रवृत्तौ भवत्येवाऽर्थप्राप्तिरिति चेत्,तदेतदिहापि समानम्, सुविवेचिताद्आप्तप्रणीतशब्दाद् वस्तुप्राप्तेरप्यवश्यंभावित्वात्, इत्यादि बहुत्र वक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगहनताप्रसङ्गात्, अन्यत्रोक्तत्वाच्च । इति गाथाऽर्थः ॥ ६१ ॥

किं च-

संसयविवज्जया वाऽ-णज्झवसाओऽहवा जदिच्छाए ।
होज्जत्थे पडिवत्ती, न वत्थुधम्मो जया नामं ॥ ६२ ॥

यदा वस्तुधर्मो नाम नेष्यते, तदा वक्त्रा घटशब्दे समुच्चारिते श्रोतुः 'किमयमाह ?' इत्येव संशय एव स्यात्, न घटप्रतिपत्तिः । अथवा घटशब्दे प्रोक्ते पटप्रतिपत्तिलक्षणो विपर्ययः स्यात् । अथवा-'न जाने किमप्यनेनोक्तम्' इति विमूढ्यामोहेन वस्त्वप्रतिपत्तिरूपोऽनध्यवसायः स्यात् । यदि वा-यदृच्छयाऽर्थे प्रतिपत्तिर्भवेत्-कदाचिद् घटस्य, कदाचित् पटस्य, कदाचित्तु स्तम्भस्येत्यादि, न चैव भवति, तस्माद् वस्तुधर्म एव नाम । इति गाथाऽर्थः ॥ ६२ ॥

अपि च-

वत्थुस्स लक्खलक्खण-संववहाराऽविरोहसिद्धीओ ।
अभिहाणाऽहीणाओ, बुद्धी सद्दो य किरिया य ॥६३॥

वस्तुनो जीवाऽऽदेः, किम् ?, इत्याह-अभिधानाधीना नामायत्ता । का ?,इत्याह-लक्ष्यं च,लक्षणं च, संव्यवहारश्च लक्ष्यलक्षणसंव्यवहाराः,तेषामविरोधेनाऽविपर्ययेण सिद्धयः प्रतिष्ठाः । तत्र लक्ष्यं जीवत्वाऽऽदि, लक्षणमुपयोगः, संव्यवहारोऽध्येषणाप्रेषणाऽऽदि । तथा बुद्धिशब्दक्रियाश्च 'अभिधानाऽधीनाः' इत्यत्राऽपि संबध्यते । तत्र बुद्धिर्वस्तुनिश्चयरूपा,शब्दो घटाऽऽदिध्वनिरूपः, क्रिया चोत्क्षेपणाऽवक्षेपणाऽऽदिका । तस्मादभिधानात्मकं वस्तु सत्,तदाऽऽयत्ताऽऽत्मलाभत्वात् सर्वव्यवहारस्येति [illegible] गाथाऽर्थः ॥६३॥ विशे० ।

णामणिप्फण्ण-नामनिष्पन्न-पुं० । गौणाऽऽदिनामनिष्पन्ने, दश० नि० चू० १ उ० ।

णामणिमित्तत्त-नामनिमित्तत्व-न० । नामनिमित्तं नामहेतुकं तद्भावस्तत्त्वम् । नामप्रतिपाद्यगुणाऽऽत्मकत्वे, पो० १२ विव० ।

णामधेज्ज-नामधेय-न० । नामैव नामधेयम् । "नामरूपभागाद् धेयः " । ७ । २ । १५८ । इति (हैम०) स्वार्थे धेयप्रत्ययः । सू० प्र० १० पाहु० १३ पाहु० । प्रश्न० । स्था० । प्रशस्ते नामनि, स्था० ६ ठा० । दश० । नि० चू० । न० । ज्ञा० । पर्यायध्वनौ, अनु० ।

णामधेज्जवई-नामधेयवती-स्त्री० । प्रशस्तनामधेयवत्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णामपच्चयफड्डगपरूवणा-नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा-स्त्री० । नामप्रत्ययस्य बन्धननामनिमित्तस्य शरीरप्रदेशस्पर्धकस्य प्ररूपणायाम्, क० प्र० । इह नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणाया षडनुयोगद्वाराणि । तद्यथा-अविभागप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, वर्गणापुद्गलस्नेहाविभागसकलसमुदायप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा चेति । (२३ गा०) क० प्र० । (एतत्सर्वं 'बंध' शब्दे स्पष्टीभविष्यति)

णामपुरिस-नामपुरुष-पुं० । संज्ञामात्रेण पुरुषे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । पुरुषेतिनाम्नि, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

णामप्पमाण-नामप्रमाण-न० । अर्थाभिधायके शब्दे, (अनु०)

अथ नामप्रमाणम्-

से किं तं णामप्पमाणे ?। णामप्पमाणे जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदु-

नयाए वा पमाणे त्ति नाम कज्जइ, से तं णामप्पमाणे ।

अथ किं तन्नामप्रमाणम् ?-नामैव वस्तुपरिच्छेदहेतुत्वात्प्रमाणं नामप्रमाणम्, तेन हेतुभूतेन किं नाम भवतीति प्रश्नाभिप्रायः । एवमन्यत्रापि भावनीयम् । अत्रोत्तरमुच्यते-यस्य जीवस्य वाऽजीवस्य वा जीवानां वाऽजीवानां वा तदुभयस्य वा तदुभयानां वा यत्प्रमाणमिति नाम क्रियते तन्नामप्रमाणं न तत् स्थापनाद्रव्यभावहेतुकम्, अपि तु नाममात्रविरचनमेव तत्र हेतुरिति तात्पर्यम् । अनु० ।

णामभेय-नामभेद-पुं० । संज्ञाविशेषे, द्वा० १६ द्वा० ।

णाममुद्दा-नाममुद्रा-स्त्री० । नामाङ्कितायां मुद्रायाम्, उपा० १ अ० । " अभयस्स काहिय नाममुद्दा । " आव० ६ अ० ।

णामय-नामक-पुं० । विनयालङ्कृतो गुर्वादावादेशदानोद्यतेऽ-मुदा वाऽऽत्मानं नामयतीति नामकः । सदा गुर्वादौ प्रह्वे साधौ, सूत्र० १ श्रु० १६ उ० ।

णामवग्ग-नामवर्ग-पुं० । नामप्रकृतिसमुदाये, जी० ३ प्रति० । क० प्र० ।

णामवीर-नामवीर-पुं० । यस्य जीवस्याजीवस्य वाऽन्वर्थरहितं इति नाम क्रियते स नामवीरः । नामनामवतोरभेदाद् वस्तुतो वीरश्च नामवीरः । वीरभेदे, सू० प्र० २ पाहु० ।

णामसच्च-नामसत्य-न० । नामाभिधानं तत्सत्यं नामसत्यम् । नाम्नि सत्ये, यथा कुलमवर्धयन्नपि कुलवर्धन उच्यते; एवं धनवर्धन इति । स्था० १० ठा० । ध० । प्रज्ञा० ।

णामसम-नामसम-न० । नामाभिधानं, तेन समम् । ग० ४ अधि० । आ० म० । आ० चू० । स्वकीयेन नाम्ना समे, यथा स्वनाम शिक्षितं तथा तदप्यावश्यकम् । विशे० ।

णामसमरण-नामस्मरण-न० । चतुर्विंशतिस्तवाऽऽदिनामानुचिन्तने, नाम्नः स्मरणेन नामिस्मरणे तद्गुणसमापत्त्या फलम् । प्रति० ।

णामसव्व-नामसर्व-न० । नाम च तत्सर्वं च नामसर्वम् । सचेतनाऽऽदेर्वा वस्तुनो यस्य सर्वमिति नाम तन्नामसर्वम्, नाम्ना सर्वं, सर्वमिति वा नाम यस्येति विग्रहाद् नामशब्दस्य पूर्वनिपातः । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णामसुह-नामशुभ-न० । तीर्थकराऽऽदिसंबन्धिनि नामकर्मणि, दश० १ अ० ।

णामाणंतय-नामानन्तक-न० । अनन्तकमिति नामभूतायां वर्णानुपूर्व्याम्, यस्य वा सचेतनाऽऽदेर्वस्तुनोऽनन्तकमिति नाम तस्मिन्, स्था० १० ठा० ।

णामित्ता-नमयित्वा-स्त्री० । नतिं कारयित्वेत्यर्थे, " णामित्ता गहियाणि पच्छत्तगाणि । " नि० चू० १ उ० ।

णामिय-नामिक-न० । वाचके पदे, यथा ' अश्व ' इत्यादि । आ० म० १ अ० २ खण्ड । अनु० ।

णामिंद-नामेन्द्र-पुं० । यथार्थसंज्ञे इन्द्रे, अथवा-इन्द्रार्थशून्यत्वाद् नाममात्रे इन्द्रे, वृ० । " केवलसण्णा उ नामिंदा । " केवला एका संज्ञा तदर्थनिरपेक्षा, स नामेन्द्रः । वृ० १ उ० । स्था० । (विस्तरस्तु 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३२ पृष्ठे द्रष्टव्यः ।)

णामुदय-नामोदय-पुं० । कालोदाय्यादीनामन्ययूथिकानामन्यतमेऽन्ययूथिके, भ० ७ श० १० उ० ।

णामोक्कसिअ-देशी-कार्ये, दे० ना० ४ वर्ग ।

णाय-न्याय-पुं० । ' इण् ' गतौ निपूर्वः । नितरामीयते गम्यते मोक्षोऽनेनेति न्यायः । व्यवहाराध्ययने, व्य० १ उ० । प्रनोपदेशे, व्य० ३ उ० । अभीष्टार्थसिद्धेः सम्यगुपायत्वाद् न्यायः । अथवा-जीवकर्मसंबन्धापनयनाद् न्यायः । आवश्यके, यथा कारुणिकैर्दृष्टो न्यायो द्वयोरर्थिनोर्भूमिद्रव्याऽऽदिसंबन्धिविवादं चिरकालीनमप्यपनयति, एवं जीवकर्मणोरनादिकालीनमप्याश्रयाश्रयिभावसंबन्धमपनयतीत्यावश्यकमपि न्याय उच्यते । अनु० । विशे० । " अच्चेति लोगसंजोगं, एस णाए पवुच्चइ । " योऽयं लोकसंयोगातिक्रम एव न्यायः-एष सन्मार्गो मुमुक्षूणामयमाचारः प्रोच्यतेऽभिधीयते । अथवा-परमात्मानं मोक्षं नयतीति छान्दसत्वात् कर्तरि घञ् न्यायः । यो हि त्यक्तलोकसंयोग एष एव परात्मनो मोक्षस्य न्याय । आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । नीयते संवित्तिं प्राप्यते वस्त्वनेनेति न्यायः । प्रस्तुतार्थसाधके प्रमाणे, विशे० । द्विजक्षत्रियविट्शूद्राणां स्वकृत्यनुष्ठाने, आव० ६ अ० । उपपत्तौ, पञ्चा० ४ विव० । अविचलितरूपे मार्गे, षो० १६ विव० । प्रतिदेशे, प्रति० । न्यायनिर्णायके, औ० । ज्ञा० । न० । ' णात ' शब्दार्थे (दृष्टान्ते), नि० चू० १० उ० ।

णायकारि(ण्)-न्यायकारिन्-त्रि० । उपपत्तिकारिणि, " एवं आलोइय पडिक्कतस्स जो सामाइयं देति सो णायकारी । " आ० चू० १ अ० ।

णायकुमार-ज्ञातकुमार-पुं० । 'णातकुमार'शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

णायकुलचंद-ज्ञातकुलचन्द्र-पुं० । ' णातकुलचंद ' शब्दार्थे, कल्प० ५ क्षण ।

णायखंड-ज्ञातखण्ड-न० । 'णातखंड' शब्दार्थे, स्था० १० ठा० ।

णायग-ज्ञातक-पुं० । स्त्री० । पूर्वसंस्तुते, व्य० ७ उ० । माता-पित्रादौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । स्वजने, प्रज्ञायमाने, नि० चू० ८ उ० । सूत्र० ।

नायक-त्रि० । प्रभौ, यथा राष्ट्रस्य राष्ट्रमहत्तरकः । स० ३० समः । दशा० । नगरकटकाऽऽदिप्रधाने, औ० । अधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ० । प्रणेतरि, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । स्वामिनि, स० १ सम० । व्य० । कर्मणा नेतरि, भ० २० श० २ उ० । व्य० । चक्रवर्त्यादौ राजनि, औ० । प्रधाने, आव० ५ अ० । ज्ञा० । नयति वृद्धिं प्रापयति यः स नायकः । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । ज्ञानाऽऽदीनां प्रापके, व्य० ३ उ० । सूत्र० ।

णायज्जियधण-न्यायार्जितधन-न० । असिमषीकृषिवाणिज्याऽऽद्युचितकलया परवञ्चननिरपेक्षतयाऽर्जिते द्रव्ये, द्रव्या० ६अ० । न्यायार्जितं धनं गृहिधर्मः-

तत्र सामान्यतो गेहि-धर्मो न्यायार्जितं धनम् । (५)

(न्यायार्जितं धनमित्यादि) तत्र स्वामिद्रोहमित्रद्रोहविश्वसितवञ्चनचौर्यादिगर्ह्यार्थोपार्जनपरिहारेणार्थोपार्जनोपायभूतः स्वस्ववर्णानुरूपः सदाचारो न्यायः, तेनाऽर्जितं सपादितं

धनम्—अयमेव धर्मः । न्यायार्जितं हि धनमशङ्कनीयतया स्वशरीरेण तत्फलभोगाद् मित्रस्वजनाऽऽदौ सविभागकरणाच्चेह लोकहिताय। यदाह-"सर्वत्र शुचयो धीराः,स्वकर्मबलगर्विताः । स्वकर्मनिन्दिताऽऽत्मानः, पापाः सर्वत्र शङ्किताः ॥१॥" सत्पात्रेषु विनियोगाद् दीनाऽऽदौ कृपया वितरणाच्च परलोकहिताय। पठ्यते च धार्मिकस्य धनस्य शास्त्रान्तरे दानस्थानं यथा-" पात्रे दीनाऽऽदिवर्गे च, दानं विधिवदिष्यते । पोष्यवर्गाविरोधेन, न विरुद्धं स्वनश्च यत् ॥ १ ॥ " अन्यायोपात्तं तु लोकद्वयेऽप्यहितायैव-इहलोके विरुद्धकारित्वेन वधबन्धाऽऽदयो दोषाः, परलोके च नरकाऽऽदिगमनाऽऽदयः । यद्यपि कस्यचित् पापानुबन्धिपुण्यप्रभावादैहलौकिकी विपद् न दृश्यते, तथाप्यायत्यामवश्यंभाविन्येव । यतः-" पापेनैवार्थरागान्धः, फलमाप्नोति यत् क्वचित् । बडिशामिषवत्तत्तु-मविनाश्य न जीर्यति ॥१॥" इति न्याय एव परमार्थतोऽर्थोपार्जनोपायोपनिषत् । यदाह-" निपानमिव मण्डूकाः, सरः पूर्णमिवाण्डजाः । शुभकर्माणमायान्ति, विवशाः सर्वसंपदः ॥ १ ॥ " इति । ईदृशं धनं च गार्हस्थ्ये प्रधानकारणत्वेन धर्मतयाऽऽदौ निर्दिष्टम्, अन्यथा तदभावे निर्वाहविच्छेदेन गृहस्थस्य सर्वधर्मक्रियोपरमप्रसङ्गादधर्म एव स्यात् । पठ्यते च-"वित्तीवोच्छेयम्मी, गिहिणो सीयंति सव्वकिरियाओ । निरवेक्खस्स उ जुत्तो, संपुण्णो संजमो चेव ॥ १ ॥ " इति । ध० १ अधि० ।

णायज्जियवित्तेस-न्यायार्जितवित्तेश-पुं० । न्यायोपार्जितद्रव्यस्वामिनि, षो० ५ विव० ।

णायज्झयण-ज्ञाताध्ययन-न० । उत्क्षिप्ताऽऽद्युदाहरणप्रतिपादकेऽध्ययने,ज्ञा०। षष्ठस्याङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धे १६ ऊनविंशतिर्ज्ञाताध्ययनानि ।

छट्ठस्स अंगस्स दो सुयक्खंधा पण्णत्ता । तं जहा-णायाणि य, धम्मकहाओ य । पढमस्स णं भंते ! सुयक्खंधस्स समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं णायाणं कति अज्झयणा पण्णत्ता ?। एवं खलु जंबू ! ० जाव समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं णायाणं एगूणवीसं अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा-

" उक्खित्तणाए संघाडे, अंडे कुम्मे य सेलगे ॥
तुंबे य रोहिणी मल्ली, मायंदी चंदमा इय ॥१॥
दावद्दवे उदगणाए, मंडुक्के तेतली वि य ॥
नंदिफले अवरकंका, आइण्णे सुंसुमा इय ॥२॥
अवरे य पुण्डरीए, णायाए गूणवीसतिमे" ॥

(णायाणि त्ति) ज्ञातान्युदाहरणानीति प्रथमः श्रुतस्कन्धः। (धम्मकहाओ त्ति) धर्मप्रधानाः कथा धर्मकथा इति द्वितीयः। "उक्खित्त" इत्यादि श्लोकद्वयं सार्द्धम् । तत्र मेघकुमारजीवेन हस्तिभवे प्रवर्तमानेन यः पाद उत्क्षिप्तस्तेनोत्क्षिप्तेनोपलक्षितं मेघकुमारचरितमुत्क्षिप्तमेवोच्यते । उत्क्षिप्तमेव ज्ञातमुदाहरणं विवक्षितार्थसाधनमुत्क्षिप्तज्ञातम्। ज्ञातता चास्यैव भावनीया-दयाऽऽदिगुणवन्तः सहन्त एव देवदारुकष्टम्,उत्क्षिप्तैकपादो मेघकुमारजीवहस्तीवेति। एतदर्थाऽभिधायकं सूत्रमध्ययमानत्वादध्ययनमुक्तम्, एवं सर्वत्र १, तथा-सङ्घाटकः, श्रेष्ठिचौरयोरेकबन्धनबद्धत्वम्,इदमप्यभीष्टार्थज्ञापकत्वाद् ज्ञातम्।एवमौचित्येन सर्वत्र ज्ञातशब्दो योज्यः,यथायथं च ज्ञातत्वं प्रत्यध्ययनं तदर्थावगमादवसेयमिति २, तथा-अण्डकं मयूराण्डम् ३, कूर्मश्च कच्छपः ४, शैलको राजर्षिः ५, तुम्बं च अलाबु ६, रोहिणी श्रेष्ठिवधूः ७, मल्ली एकोनविंशतितमजिनस्थानोत्पन्ना तीर्थकरी ८, माकन्दी नाम वणिक्, तत्पुत्रौ माकन्दीशब्देनेह गृहीतौ ९, चन्द्रमा इति च १०, (दावद्दवे त्ति) समुद्रतटे वृक्षविशेषाः ११, उदकं नगरपरिखाजलं, तदेव ज्ञातमुदाहरणमुदकज्ञातम् १२, मण्डूकः नन्दमणिकारश्रेष्ठिजीवः १३, (तेतली वि य त्ति) तेतलीसुताऽभिधानोऽमात्य इति च १४, (नंदिफल त्ति) नन्दिवृक्षाभिधानतरुफलानि १५, अपरकङ्का धातकीखण्डभरतक्षेत्रराजधानी १६, (आइण्णे त्ति) आकीर्णा जात्याः समुद्रमध्यवर्तिनोऽश्वाः १७, (सुंसुमा इय त्ति) सुंसुमाऽभिधाना श्रेष्ठिदुहिता १८, अपरं च पुण्डरीकज्ञातमेकोनविंशतितममिति १९। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आव०। स०।

णायद-न्यायद-पुं० । न्यायदर्शिनि, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

णायपुत्त-ज्ञातपुत्र-पुं० । ज्ञातः सिद्धार्थः तस्य पुत्रः । कल्प० ५ क्षण। वीरवर्द्धमानस्वामिनि,सूत्र०१,श्रु० ६ अ०। आचा०। दश०।

णायपुत्तवओरय-ज्ञातपुत्रवचोरत-त्रि० । भगवद्वर्द्धमानस्वामिवचसि रते, दश० ६ अ० ।

णायपुत्तवयण-ज्ञातपुत्रवचन-न० । श्रीमन्महावीरवचने, १० अ० ।

णायपुत्तिय-ज्ञातपुत्रीय-न० । वीरस्वामिसबन्धिनि तीर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

णायविहि-ज्ञातविधि-पुं० । स्वजनभेदे, व्य० ।

निर्ग्रन्थोर्ज्ञातविधिसूत्रम्-

भिक्खू य इच्छेज्जा णायविहिं एत्तए,णो से कप्पति थेरे अणापुच्छित्ता;कप्पति से थेरे आपुच्छित्ता णायविहिं एत्तए, थेरा य से वियरेज्जा एवं से कप्पति णायविहिं एत्तए थेरा य णो से वियरेज्जा एवं से णो कप्पति णायविहिं एत्तए । जे तत्थ थेरेहिं अवितिण्णे णायविहिं एइ,से अंतरा छेदे वा परिहारे वा ॥ १ ॥

णो से कप्पति अप्पसुयस्स अप्पागमस्स एगाणियस्स णायविहिं एत्तए । २ । कप्पति से जे तत्थ बहुस्सुए बब्भागमे तस्सद्धिं णायविहिं एत्तए; तत्थ णं से पच्छागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे, कप्पति से चाउलोदणे पडिग्गहित्तए, णो से कप्पति भिलिंगसूवे पडिग्गाहित्तए ॥३॥ तत्थ से पच्छागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे पच्छाउत्ते चाउलोदणे, कप्पइ से भिक्खू भिलिंगसूवे पडिग्गहित्तए, नो से कप्पति चाउलोदणे पडिग्गाहित्तए, दो वि पुव्वाउत्ते कप्पति दोवि पडिग्गहित्तए ॥४॥ तत्थ से पच्छागमणेणं दो वि पच्छाउत्ते, णो से कप्पति दो

वि पडिग्गहित्तए ॥ ५ ॥ जे से तत्थ पच्छागमणेणं पच्छाउत्ते, से णो कप्पति पडिग्गहित्तए ॥ ६ ॥ जे से तत्थ पच्छागमणेणं पुव्वाउत्ते, से कप्पति ॥ ७ ॥

भिक्षुः, चशब्दाद् भिक्षुकी च, इच्छेत ज्ञातविधिं स्वजनभेदमागन्तुम् । 'से' तस्य न कल्पते स्थविरान् अनापृच्छ्य ज्ञातविधिमागन्तुम् । "कप्पति थेरे" इत्यादि प्राग्वत् । (नो से कप्पइ इत्यादि) न 'से' तस्य कल्पते अल्पश्रुतस्य अगीतार्थस्य अल्पागमस्य बहिःशास्त्रेष्वतिपरिचयभ्याऽविद्यमाननिजाऽऽगमस्यैकाकिनो ज्ञातविधिमागन्तुम् । कल्पते 'से' तस्य यस्तत्र गच्छेद् बहुश्रुतः सूत्रापेक्षया, बह्वागमोऽर्थापेक्षया, तेन सार्द्धं ज्ञातविधिमागन्तुम् । तत्र णमिति वाक्यालङ्कारे, तस्य ज्ञातविधिमागतस्य पश्चादागमनेन आगमनात् पश्चाद् यः पूर्वायुक्तः चाउलोदनः । पूर्वायुक्त इति केचिद् व्याचक्षते-आगमनात्पूर्वं चुल्ल्यामारब्धो रन्धनाय । अपरे व्याचक्षते-आगमनात्पूर्वं पाकाय समीहितम् । एतद् मतद्वयमप्यसङ्गतम्; आरब्धे, समीहिते च पुनः प्रक्षेपसम्भवात् । तस्मात् पूर्वायुक्त इति किमुक्तं भवति ?-आगमनात्पूर्वं गृहस्थैः स्वभावेन रध्यमानः स तन्दुलोदनो, भिलिङ्गसूपो नाम 'सस्नेहः सूपः,' स कल्पते प्रतिगृहीतुम् । योऽसौ तत्र पूर्वमागताः साधव इति हेतोः पश्चादायुक्तः प्रवृ[illegible] डुलोदनो, भिलिङ्गसूपो वा, नासौ कल्पते प्रतिगृहीतुम् [illegible] सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अत्र भाष्यकारो ज्ञातविधिपदं व्याख्यानयति-

अम्मापितिसंबंधो, पुव्व पच्छा व संथुया जे उ ।
एसो खलु णायविही-ऽणेगे भेया य एक्केके ॥ ३ ॥

मातृद्वारेण, पितृद्वारेण च यः सबन्ध एष ज्ञातविधिः । अथवा-ये पूर्वं संस्तुता मातापित्रादयः, ये च पश्चात् संस्तुताः श्वश्रूश्वशुराऽऽदयः । एष समस्तोऽपि ज्ञातविधिः, एकैकस्मिंश्च मातृद्वारे, पितृद्वारे वा, यदि वा-पूर्वसंस्तुते, पश्चात् संस्तुते वाऽनेके भेदाः । अनेन विधिशब्दो भेदवाची व्याख्यातः ॥३॥

अधुना निर्युक्तिविस्तरः-

णायविहिगमणें लहुगा, आणाऽऽदि विराहणंजमाऽऽयाए ।
संजमविराहणा खलु, उग्गमदोसा तहिं होज्जा ॥ ४ ॥

निष्कारणे विधिनाऽपि ज्ञातविधौ गमनं करोति तर्हि प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, तथा आज्ञाऽऽदयो दोषाः, तथा संयमे आत्मनि च विराधना । तत्र संयमविराधना, यतस्तत्र खलु निश्चितमुद्गमदोषा आधाकर्माऽऽदयो भवेयुः ॥४॥

कथमुद्गमदोषा भवेयुः ?, अत आह-

दुल्लभलाभा समणा, नीया नेहेण आहकम्मादी ।
चिरआगयस्स कुज्जा, उग्गमदोसं तु एगतरं ॥ ५ ॥

दुर्लभलाभाः खलु श्रमणाः, तथा महता स्नेहेनास्माकं वन्दापनाय नीता निर्गताः, ततश्चिरादागतस्याऽऽत्मस्वजनस्य तस्य प्राघूर्णकत्वकरणायोद्गमदोषमाधाकर्माऽऽदिकमेकतरं कुर्यात् ॥५॥

इति संजमम्मि एसा, विराहणा हो-इमा उ आयाए ।
छागलगसेणावतिकलु-णरयणयाले य एमादी ॥ ६ ॥

इति एवममुना प्रकारेण, एषा अनन्तरोदिता, संयमे विराधना भवति । आत्मविराधना पुनरियं वक्ष्यमाणा-छागदृष्टान्तेन सेनापतौ मृते समागते करुणारोदने, रत्नस्थाले रत्नभृते स्थाले ढौकिते, एवमादौ ॥६॥

तत्र यथा छागदृष्टान्तेनाभिसमीहिते सेनापतौ मृते तस्मिन् आगते आत्मविराधना भवति, तथा भावयति-

जह रण्णो सूयस्सा, मंसं मज्जारएण अक्खित्तं ।
सो अद्दण्णो मंसं, मग्गइ इणमो य तत्थाऽऽतो ॥ ७ ॥
कडुहंडपोट्टलीए, गलबद्धाए उ छगलओ तत्थ ।
सूयेण य सो वहितो, थक्के आत त्ति नाऊणं ॥ ८ ॥

यथा राज्ञः सूपस्य सूपकारस्य मांसं मार्जारेणाऽऽक्षिप्तं नीतं, ततः स सूपकारो भीतोऽदीनो जातो मांसं मृगयते, तस्मिंश्च मृगयमाणे तत्र महानसे अयमतर्कितः कटुभाण्डपोट्टलिकया गलबद्धया युक्तश्छाग आयातः सन् सूपेन सूपकारेण मारितः 'थक्के' प्रस्तावे 'आतः' इति ज्ञात्वा । एष दृष्टान्तः ॥७।८॥

साम्प्रतमुपनयमाह-

एवं अद्दण्णाइं, ताइं मग्गंति तं समंतेण ।
सो य तहिं संपत्तो, ववरोवितो संजमा तेहिं ॥ ९ ॥

एवं सूपकार इव तस्य साधोर्ये स्वजनाः, तेषां सेनापतिर्मृतः, ततस्तानि स्वजनरूपाणि मानुषाणि (अद्दण्णाइं इति) अशरणानि तं श्रमणीभूतं सेनापतिभ्रातरमात्मीयं समन्ततो मृगयन्ते, स च मृग्यमाणः तत्रैव संप्राप्तः, ततस्तं समुपस्थिताः स्वजनाः, वयं परिभूता भविष्यामो, न च त्वयि नाथे विद्यमाने परिभवोऽस्माकं युक्तः, तस्मात् कुरु प्रसादमित्येव तैरुपसर्ग्यमाणः संयमाद् व्यपरोपितः ॥ ९ ॥

सम्प्रति करणद्वारमाह-

सेणावती मतो तू, भाय पिया वा वि तस्स जो आसी ।
अण्णो य नत्थि अरिहो, नवरि इमो तत्थ संपत्तो ॥१०॥

सेनापतिर्मृतः, तस्य यो भ्राता पिता वा आसीत् सोऽपि तावद् मृतः, अन्यश्च तस्मिन् गृहे अर्हो योग्यः सेनापतित्वस्य, नास्ति, नवरमयमेव योग्यः, स च तत्र संप्राप्तः ॥ १० ॥

तो कलुणं कंदंता, बिंति अणाहा वयं विणा तुमए ।
मा य इमा सेणावति-लच्छी संकामओ अण्णं ॥ ११ ॥

ततस्तत्संप्राप्त्यनन्तरं ते स्वजनाः करुणं क्रन्दन्तो ब्रुवते-वयमनाथास्त्वया विना । इयं च प्रत्यक्षत उपलभ्यमाना सेनापतिलक्ष्मीरन्यं पुरुषान्तरं मा सङ्क्रामतु ॥ ११ ॥

तं च कुलस्स पमाणं, बलविरियं तुज्झऽधीणमेयं च ।
पच्छा वि पुणो धम्मं, काहिसि दाणिं पसीयाहि ॥१२॥

त्वं च कुलस्यास्य समस्तस्यापि कुलस्य प्रमाणम्, एतद् बलं हस्त्यादि, वीर्यमान्तरोत्साहः समस्तस्यापि कुलस्य, त्वदधीनं, पश्चादपि त्वं धर्मं करिष्यसि, सम्प्रति एतदेवार्थं यत् सेनापतिपदप्रतिपत्त्या प्रसीद ॥ १२ ॥

एवं कारुण्णेणं, इड्ढीए लोभितो तु सो तेहिं ।
ववरोविज्जइ ताहे, संजमजीयाउ सो तहिं ॥ १३ ॥

एवमुपदर्शितेन प्रकारेण कारुण्येन, ऋद्ध्या च तैः स्वजनैः स लोभितो लोभं ग्राहितः, ततो लोभग्रहणानन्तरं स तैः

संयमजीविताद् व्यपरोप्यते ॥ १३ ॥ तदेव करुणाद्वारं व्याख्यातम् ।

अथ रत्नस्थालद्वारमाह-

अविभत्तअविरेगेण, विणिग्गतो पच्छ इड्डिमं जातो ।

थालं वसूण पुण्णं, उवणेंती गेण्हिमेतं ति ॥ १४ ॥

कदाचित् स व्रती अविभक्तेन,दारिद्र्येणेत्यर्थः । रिक्थं च पूर्वपुरुषोपार्जितं विरेकं स्वजनैः तदा नेष्ट,ततोऽविरेकेण च रोषेण गृहान्निर्गत्य प्रव्रजितोऽभवत्, पश्चाच्च स स्वजनवर्गो भ्रात्रादिक ऋद्धिमान् जातः, ततो वसूनां रत्नानां पूर्णं भृतं स्थालं तस्याऽऽगतस्योपनयन्ति,यथा गृहाण रत्नस्थालमेतदिति॥१४॥

तस्स वि दट्टूण तयं, अह लोभकली ततो तु समुदिण्णो ।

ववरोवितो संजमतो, एए दोसा हवंति तहिं ॥ १५ ॥

तस्यापि साधोः ततः रत्नभृतं स्थालं दृष्ट्वा, अथानन्तरं ततो रत्नभृतस्थालदर्शनाद् लोभकलिः समुदीर्णः सम्यगुदयं प्राप्तः, ततस्तेन संयमाद् व्यपरोपितः । एते दोषास्तत्र ज्ञातविधिगमने भवन्ति ॥ १५ ॥

सम्प्रति "पमाई" इति व्याख्यानयन् प्रकारान्तरमाह-

अहवा न होज्ज एते, अएणे दोसा हवंति तत्थ इमे ।

जेहिं तु संजमातो, चालिज्जइ सुट्ठितो ठितओ ॥ १६ ॥

अथवा एतेऽनन्तरोदिता दोषा न भवेयुः, अन्ये इमे वक्ष्यमाणास्तत्र ज्ञातविधिगमने दोषा भवन्ति । यैः सुस्थितोऽपि स्थितकः सन् संयमाच्चाल्यते ॥१६॥

के ते दोषा इत्यतस्तत्स्वसूचकं द्वारगाथाद्वयमाह-

अक्कंदट्ठाणे ससु-रओव्वरए पेल्लणाए उवसग्गे ।

पंथे रोयणभतए, ओजावणे अम्ह कम्मकरा ॥ १७ ॥

ठाघातो अणुलोमे, अभिजोग विसे सयं च ससुरेणं ।

पंतवणबंधरुंभण, तं वा ते वाऽतिवाएंति ॥ १८ ॥

आक्रन्दस्थानद्वारं प्रथमम् । द्वितीयं श्वशुरेणापवरके क्षिप्त इति द्वारम् । तृतीयं प्रेरणाद्वारम् । चतुर्थमुपसर्गद्वारम् । पञ्चमं पथि रोदनभृतके भार्या इति द्वारम् । षष्ठमपभ्राजनाद्वारम्-यथाऽस्माकमेष कर्मकर आसीत् । सप्तमं छागघातद्वारम् । अष्टममनुलोमद्वारम् । नवममभियोगद्वारम् । दशमं विषद्वारम् । ततः स्वयं श्वशुरेण प्रान्तापणबन्धरोधनानि क्रियन्ते, ततः कोपात् तं श्वशुरः सोऽतिपातयेद् विनाशयेत्, ते वा श्वशुरप्रभृतयः तं साधुमतिपातयेयुः, इति एकादशं द्वारमिति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः ॥१७॥१८॥

साम्प्रतमेतदेव विवरीषुः प्रथमतः आक्रन्दस्थानद्वारमाह-

दीसंता * वि हु णीया, पव्वयहिययं पि संपकंपेंति ।

कलुणकिवणाणि किं पुण, कुणमाणा एगसेज्जाए ? ॥ १९ ॥

सेनापतौ मृते स तत्र ज्ञातविधौ गतः, तत्र दृश्यमाना अपि निजकाः पर्वतहृदयमपि पर्वतसदृशमानसमपि साधुं संयमात् सम्प्रकम्पयन्ति सम्यगन्तर्लीनीभूय प्रकर्षेण चालयन्ति, किं पुनरेकस्यां शय्यायां वसतौ करुणकृपणानि रोदनानि कुर्वाणाः ?, सुतरां संयमाद् भ्रंशयन्ति ॥१९॥

अक्कंदट्ठाणठितो, तेसिं सोचा उ णायगादीणं ।

पुव्वावरत्तरोयण, 'जाय अणाहा' वए को वि ॥ २० ॥

सोऽधिकृतः साधुर्यत्र ते ज्ञातकाः क्रन्दन्ति, तस्मिन्नाक्रन्दस्थाने स्थितः पूर्वरात्रे अपररात्रे च रोदनं तेषां ज्ञातकाऽऽदीनां करुणकृपणं यथा-'जाता वयमनाथाः ,भविष्यामः सर्वेषां परिभवाऽऽस्पदम्'इति श्रुत्वा कश्चिद् व्रजेत् प्रव्रज्या मुञ्चेदित्यर्थः ।२०। गतमाक्रन्दस्थानम् ।

अधुना " ससुरउव्वरए " इत्यादि द्वारमाह-

महिलाएँ समं छोढुं, ससुरेणं ढक्कितो उ उव्वरओ ।

नायविहिमागयं वा, पेल्ले उब्भामिगसगाए ॥ २१ ॥

तस्य साधोः श्वशुरकः, तं तत्र समागतं साधुं दृष्ट्वा निजदुहितरं सर्वालङ्कारभूषितां कारयेत्; कारयित्वा च वन्दापनाय, भिक्षार्थं वा तत्र समागतेन श्वशुरकेन महेलया भार्यया सममपवरके क्षिप्त्वा, अपवरको ढक्कितः-स्थगितद्वारः कृतः । तत्र च उपसर्ग्यमाणः कश्चिदुत्प्रव्रजेत् ।

प्रेरणाद्वारमाह-ज्ञातविधिमागतं च तं साधुं दृष्ट्वा स्वजनवर्गस्तस्य स्वकीयया उद्भ्रामिकया भार्यया प्रेरयेत् संयमाद् च्यावयेत् ॥२१॥ गतं प्रेरणाद्वारम् ।

साम्प्रतं चतुर्थमुपसर्गद्वारं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह-

मोहुब्भवकराइं, उवसग्गाइं करेइ से विरहे ।

भज्जा जेहिँ तरू विव, वाएणं भज्जते सज्जं ॥२२॥

भार्या 'से' तस्य स्वजनविधिगतस्य सा विरहे मोहोन्मादकरान् उपसर्गान् आलिङ्गनाऽऽदीन् करोति, यैस्तरुरिव वातेन भज्यते सद्यः ॥२२॥

सम्प्रति ' पंथरोयणभतए ' इति व्याख्यानमाह-

कइवेण सभावेण य, भतओ भोइ पहम्मि पंतावे ।

हिययं अमुंडिय मे, भयवं पतावए कुवितो ॥ २३ ॥

साधुर्ज्ञातविधिं गतस्तत्र च लज्जया भिक्षां न हिण्डते, तत उद्भ्रामकभिक्षाचर्यायां गतः,तेषां च ज्ञातकानां क्षेत्रं पथि,तत्र कैतवेन वा स्वभावेन वा तस्य भार्या भृतकेन समं क्षेत्रं गता,तत्र स भृतकः कैतवेन स्वभावेन वा कर्मणि भार्या (?) ॥ २३ ॥

कम्महतो पव्वइतो, भतओ एसऽम्ह आसि मा वंदा ।

उब्भामगए खुड्डे, छागायं तस्स सा देइ ॥ २४ ॥

कदाचित् स प्रव्रजितः कर्मकर आसीत्, ततस्तं बहुजनो दृष्ट्वा ब्रूयात्-एषोऽस्माकं भृतक आसीत्, कर्महतः कर्मभग्नः सन् प्रव्रजितः, तस्माद् मा वन्दिषत ।

छागघातद्वारमाह-उद्भ्रामकके उद्भ्रामकभिक्षाचर्यागतेऽधिकृते भृतकरूपे साधौ क्षुल्ले मूर्खे तस्य सा भृत्या छागघातं ददाति, कुपिता सती छागमपि तं घातयतीत्यर्थः ॥२४॥

अधुनाऽनुलोमोपसर्गमाह-

मा छिज्जउ कुलतंतू, धणगोत्तार तु जणय मेगसुयं ।

वत्थनमादीएहिं, अभिजोज्जेउं वसं णेति ॥ २५ ॥

तस्य ज्ञातविधिगतस्य साधोर्ज्ञातविधिरेव ब्रूयात्-मा छिद्यतां छेदं यायात्, कुलतन्तुः कुलसन्तानः, तस्मात् धनरक्षकमेकं सुतं प्रसादं कृत्वा जनय, पश्चात्पुनर्व्रतं गृह्णीथाः, एवमुक्तः सन् कश्चित् उत्प्रव्रजेत् ।

अधुना अभियोगद्वारमाह-वस्त्राऽऽदिकैः, आदिशब्दात् खादिमस्वादिमाऽऽदिविशेषपरिग्रहः । तैरभियोज्य वशीकृत्य स्वजनस्तमात्मवशं नयन्ति ॥२५॥

* " सीदता " इति पाठान्तरम् ।

विषद्वारमाह-

नेच्छंति देवरा मे, जीवंते इमम्मि इति विसं देज्जा ।

अण्णेण व दावेज्जा, ससुरो वा से करेइ इमं ॥ २६ ॥

तं ज्ञातविधिगतं साधुं दृष्ट्वा तद्भार्येदं विचिन्तयेत्-अस्मिन् जीवति मां देवरा भोग्यतया नेच्छन्ति,तस्मान्मारयामि केनाप्युपायेन चैनमिति विचिन्त्य स्वयं वा विषं दद्यात्, अन्येन वा दापयेत् । 'सयं च ससुरेण' इत्यादिद्वारमाह-'से' तस्य साधोः श्वशुरो वा स्वयमिदं कुर्यात् ॥ २६ ॥

किं तदित्याह-

पंतवणबंधरुंजण, तस्स वि णीयल्लगा उ खुब्भेज्जा ।

अहवा कमाइतो तु, सो वऽतिवाएज्ज एकतर ॥२७॥

श्वशुरस्तं दृष्ट्वा कुप्येत्, यथा-एतेन मम दुहिता जीवच्चत्वरी-कृता, ततः कोपात् तस्य साधोः प्रान्तापनं प्रहारदानं, बन्धनं वा निगमाऽऽदिभिः, रोधं वा गृहाद्नगराद्वा अनिर्गमनं कुर्यात्, कारयेत् वा । तस्यापि च साधोः, निजकाः आत्मीयाः, तमेनामवस्थां प्राप्तं दृष्ट्वा, ज्ञात्वा वा क्षुभ्येयुः, क्रोधाच्च श्वशुरेण समं युद्धं कुर्युः, तत्र परस्परमपद्रावणाऽऽदि भूयात् । अथवा स एव साधुः कषायितः कषायोदयं प्राप्तः सन् एकतरं श्वशुराऽऽद्यन्यतममतिपातयेत् ॥२७॥

अत्र प्रायश्चित्तविधिमाह-

एकम्मि दोसु तीसु व, मूलऽणवट्ठो तहेव पारंची ।

अह सो अतिवाएज्जइ, पावइ पारंचियं ठाणं ॥ २८ ॥

एकस्मिन्नतिपातिते मूलप्रायश्चित्तभाग् भवति, द्वयोरतिपातितयोरनवस्थाप्यः, त्रिषु अतिपातितेषु पाराञ्ची । अथ स एव अतिपात्यते साधुस्तर्हि स यदि कथमपि जीवति ततः पाराञ्चितं स्थानं प्राप्नोति ॥२८॥

अन्यान् दोषानाह-

अहवा वि धम्मसड्ढा, साहू तेसिं घरे न गेण्हंति ।

उग्गमदोसाऽऽदिभया, ताहे णीया भणंति इमं ॥ २९ ॥

अथ वेति प्रकारान्तरेण दोषकथनोद्द्योतने, साधवो धर्मश्रद्धा उद्गमदोषाऽऽदिभयात् तेषां गृहे न किमपि गृह्णन्ति, ततस्ते निजाः स्वजना इदं भणन्ति ॥२९॥

किं तदित्याह-

अम्हं अणिच्छमाणो, आगमणे लज्जणं कुणति एसो ।

ओहावण हिंडंते, अम्हो लोगो व णं भणति ॥३०॥

अस्माकं गृहे किमप्यनिच्छन् एष आगमने लज्जनमयशस्कारं करोति । यत -अस्मिन् प्रतिगृहमन्यत्र भिक्षां हिण्डमाने महती नूनमस्माकमपभ्राजना, लोको वाऽन्य इदं भणति ॥३०॥

किं तदित्याह-

णीयल्लस्स वि भत्तं, न तरइ दाउं ति तुज्झे किवणा चि ।

गेहे भुंजसु वुत्ते, भणाति नो कप्पियं भुंजे ॥ ३१ ॥

तं साधुं भिक्षामटन्तं दृष्ट्वा केचित् अन्ये स्वजनान् प्रति ब्रुयुः-यथा यूयं कृपणा निजकस्याप्येकस्य प्राघूर्णकाऽऽगतस्य भक्तं दातुं न शक्नुथ, ततस्ते एवमुक्ताः सन्तः साधुसमीपमागत्य ब्रुवते-यावन्ति दिनानि यूयमत्र तिष्ठथ, तावन्माऽन्यत्र भिक्षामटत,किं तु गृहे भुङ्ग्ध्वम्, अन्यत्र भिक्षाटने हि महत्यस्माकमपभ्राजना । स एवमुक्तः साधुर्भणति-युष्मद्गृहे न भुञ्जे, यतः अहं कल्पिकं भुञ्जे, युष्मद्गृहे च उद्गमाऽऽदिदोषाऽऽशङ्का ॥३१॥

एवमुक्ते ते स्वजना आऽऽहुः-

किं तं ति खीरमादी, ददामो दिण्णे य णातिभज्जाओ ।

बेंति सुते जायंते, पमिया णे करा बहू पुत्ता ! ॥३२॥

किं तत् कल्पिकं यत्त्वं भुङ्क्षे, ततः साधवो ब्रुवते-यानि युष्माकं यथाप्रवृत्तानि क्षीराऽऽदीनि क्षीरदधिघृतगुडाऽऽदीनि, ततस्ते आहुः-एतानि यथाप्रवृत्तानि दास्यामः । गाथायां "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" ॥ ३ । ३ । १३१ ॥ इति वचनात् ते दातुं प्रवृत्ताः, ततो दत्ते क्षीराऽऽदिके ज्ञातिभार्याः सुतान् क्षीराऽऽदीनि याचमानान् प्रति ब्रुवते-हे पुत्रा ! बहवोऽस्माकं कराः पतिताः ॥३२॥

तानेवाऽऽह-

दहियघयगुलतेल्लकरा, तक्करा चेव पामिया अम्हं ।

रायकरपेल्लियाणं, समणकरा दुक्करा वोढुं ॥ ३३ ॥

दधिकरघृतकरगुडकरतैलकराः, तथा तक्रकराश्च, अस्माकं पातिताः श्रमणैः । राजकरा अस्माकमपनन्, तैः सदैव प्रेरिता वयं वर्तामहे, परं राजकरप्रेरितानामस्माकमयं श्रमणकरो दुष्करो वोढुमिति, प्रभूतसर्वोपहरणात् ॥३३॥

एए अण्णे य तहिं, णायविहिगमणे होंति दोसाओ ।

तम्हा उ न गंतव्वं, कारणजाते भवे गमणं ॥ ३४ ॥

एते अनन्तरोदिताः, अन्ये चानुक्ताः,तत्र ज्ञातविधिगमने,दोषा भवन्ति,तस्माद् ज्ञातविधौ न गन्तव्यम् । एष उत्सर्गः । कारणे पुनर्ग्लानत्वाऽऽदिलक्षणे जाते पुनरपवादतो गमनं भवेत् ॥३४॥

तदेवाऽऽह-

गेलण्णकारणेणं, पाउग्गासति तहिं तु गंतव्वं ।

जे उ समत्थुवसग्गे, सहिउं ते जंति जयणाए ॥ ३५ ॥

ग्लानत्वकारणेन अन्यत्र प्रायोग्यस्य औषधाऽऽदेरसत्यभावे, उपलक्षणमेतद्-वैद्याभावे च तत्र गन्तव्यम् । तत्र वैद्यस्य, प्रायोग्यस्य औषधस्याऽऽसनाऽऽदेश्च प्राप्यमाणत्वात्, तत्र ये उपसर्गान् सोढुं समर्थाः, ते यतनया वक्ष्यमाणया यान्ति गच्छन्ति ॥३५॥

तामेव यतनामाह-

वहिएँ अणापुच्छाए, लहुगा लहुगो य दोचऽणापुच्छा ।

आयरियस्स वि लघुका, अपरिच्छियपेसवंतस्स ॥३६॥

अत्र इदं सूत्रं पतति-" नो से कप्पति थेरे अणापुच्छित्ता णायविहिं एत्तए " इत्यादि । तत्र यदि बहिः स्थविराणामनापृच्छया व्रजति, ततस्तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, स्थविरान् आपृच्छ्य तैर्विसर्जितो यदि द्वितीयस्थविरान् अस्थविरान् आपृच्छ्य व्रजति, ततो द्वितीयानापृच्छायां मासलघु, आचार्योऽपि यदि अपरीक्षितान् प्रेषयति, ततस्तस्यापरीक्षितान् प्रेषयतश्चत्वारो लघुकाः प्रायश्चित्तम् ॥३६॥

तम्हा परिच्छियव्वो, सज्झाए चेव भिक्खजाते य ।

थिरमथिरजाणणट्ठा, सो उवबाएहिमेहिं तु ॥ ३७ ॥

यत एवमपरीक्षितप्रेषणे प्रायश्चित्तं,तस्मात् स्थिराऽस्थिरज्ञानार्थं

स्वाध्याये भिक्षाभावे च परीक्षितव्यः स पश्चिर्वक्ष्यमाणे-रुपायैः ॥ ३७ ॥

तानेवाऽऽह-

चरणकरणस्स सारो, भिक्खायरिया तहेव सज्झाओ ।
एत्थ परितम्ममाणे, तं जाणसु मंदसंविग्गं ॥ ३८ ॥

चरणं व्रतश्रमणधर्माऽऽदि । उक्तं च-"वयसमणधम्म संजम-वेयावच्चं च बम्भगुत्तीओ । णाणाइतियं तवो-कोहनिग्गहा इइ चरणमेयं ॥ १ ॥" (सम्म०३ काण्ड) करणं पिण्डविशुद्ध्यादि । उक्तं च-"पिंडविसोही समिती,भावण पडिमा य इंदिय-निरोहो । पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु ॥१॥" (ग० १ अधि०) तस्य चरणकरणस्य सारो भिक्षाचर्या, स्वाध्यायश्च;ततोऽत्र भिक्षाचर्यायां, स्वाध्याये च परिताम्यति क्लेशं मन्यते, तं जानीत मन्दसंविग्नम् ॥३८॥

चरणकरणस्स सारो, भिक्खायरिआ तहेव सज्झाओ ।
एत्थ उ उज्जममाणे, तं जाणसु तिव्वसंविग्गं ॥३९॥

चरणकरणस्य सारो भिक्षाचर्या, तथैव स्वाध्याय , ततोऽत्र भिक्षाचर्याऽऽद्यासु यत्च्छति, तं जानीत तीव्रसंविग्नं, तदेव स्थिरास्थिरपरिज्ञानार्थं परीक्षा उक्ता ॥३९॥

सम्प्रति किमेष उपसर्ग सहिष्णु ,किं वा न ?, इति परीक्षार्थमाह-

कइवेण सहावेण य, अएणस्स व साहसं कहिज्जते ।
मायपितिभायभगिणी-भज्जापुत्ताऽऽदिएसुं तु ॥ ४० ॥

यथा स शृणोति तथा कैतवेन स्वभावेन वा अन्यस्य साधोः मातापितृभ्रातृभगिनीभार्यापुत्राऽऽदिषु विपये साध्वस कथ्यते ॥४०॥

केन प्रकारेण ?, इत्यत आह-

सिरकोट्टणकलुणाणि य, कुणमाणाइं तु पायवडियाइं ।
अमुएण न गणियाइं, जो जपति निप्पिपासो त्ति ॥४१॥

मातापित्रादीना शिरःकुट्टनकरुणरोदनभाषणानि क्रियमाणानि पादपतितानि चाऽमुकेन न गणितानि, एवं साध्वसे कथ्यमाने, यो जल्पति-अतीव खलु निप्पिपासो घोरहृदय , न युज्यते तादृशेन सह वक्तुमपीति ॥४१॥

सो नावतो पडिबद्धो, अपडीबद्धो वएज्ज जो एवं ।
सोइहिति केत्तियाऊ, नीया जे आसि संसारे ? ॥४२॥

स भावतः स्वज्ञातेषु प्रतिबद्धो ज्ञातव्यो, न शक्तः स सोढुमुपसर्गानिति । यस्तु तथा साध्वसे कथ्यमाने, एव ब्रूते-संसारे सर्वजीवाः सर्वेषां पुत्रत्वाऽऽदिकमुपगताः, ते आसीरन् संसारेऽनन्ता निजा ,तान् कियतः स शोचयिष्यति ?, किं वा मातापित्रादिभिः शोचितैर्ये निजान् संसाराद् न च संयमे पातयन्ति ? । स ज्ञातव्यो भावतः स्वजनेष्वप्रतिबद्धः समर्थः सोढुमुपसर्गानिति ॥४२॥

मुहरागमादिएहि य, तेसिं नाऊण रागवेरग्गं ।
नाऊण थिरं ताहे, ससहायं पेसवेंति ततो ॥ ४३ ॥

यस्य ज्ञातविधिर्निगमिष्यो शोभनो मुखरागः, स ज्ञायते स्वजनेषु भावतः प्रतिबद्ध , उपसर्गानसहिष्णुश्च, यस्य तु न तथाविधो मुखराग स्पष्टो लक्ष्यते स ज्ञेयो भावतः स्वजनेष्वप्रतिबद्ध , सहिष्णुश्च उपसर्गान् । एवं मुखरागाऽऽदिभिस्तेषां ज्ञातविधिं गन्तुमिच्छतां राग वैराग्य च, तथा स्थिरगुणलक्षणमस्थिरं च ज्ञात्वा, ततः स्थिरं भावतः स्वजनेष्वप्रतिबद्धं ससहायं सुरयः प्रेषयन्ति ॥४३॥

साम्प्रतमल्पश्रुताद्यपाऽऽगमपदव्याख्यानार्थमाह-

अबहुस्सुतो अगीतो, बाहिरसत्थेहिँ विरहितो इयरो ।
तव्विवरीए गच्छे, तारिसगसहायसहितो वा ॥ ४४ ॥

अबहुश्रुतो नामाल्पश्रुतः, स चागीतार्थ उच्यते, इतरोऽल्पागमो यो बाह्यशास्त्रैर्विरहित , एतादृशो न गच्छेत् स्वजनविधौ, किं तु तद्विपरीतो बहुश्रुतो बह्वागमश्च, यदि वा-स्वयमल्पश्रुतोऽल्पाऽऽगमो वा तादृशसहायकसहितः ॥४४॥

बहुश्रुतविशेषमाह-

धम्मकहीवादीहि य, तवस्सिगीएहिँ संपरिवुडो उ ।
नेमित्तिएहिँ य तहा, गच्छइ सो अप्पछट्ठो उ ॥४५॥

धर्मकथिभिर्वादिप्रभृतिभिः वादकुशलैः तपस्विभिः षष्ठाष्टमाऽऽदितपःकारिभिर्गीतार्थैः सूत्रार्थतदुभयनिष्णातैर्नैमित्तिकैश्च संपरिवृतो गच्छेत् । अथ धर्मकथ्यादयो बहवो न सन्ति,ततो जघन्यतोऽप्येकैकधर्मकथ्यादिसहाय आत्मषष्ठो व्रजेत् ॥४५॥

तत्र प्रवेशविधिमाह—

पत्ताण वेल्ल पविसण, अह पुण पत्ता पगे नविज्जाहि ।
तं बाहिर ठवेउं, वसहिं गेण्हति अन्नत्थ ॥ ४६ ॥

यदि वेलायां स्थानं प्राप्तास्तर्हि समकालमेव सर्वेषां प्रवेशनम् । अथ पुनः प्रगे प्रभाते एव प्राप्ता भवेयुस्तदा त स्वजनं बहिः स्थापयित्वा वसतिमन्यत्र गृह्णन्ति ॥४६॥

पडिपत्तीकुसलेहिं, सहितो ताहे तु वच्चए तहियं ।
वास पडिग्गहगमणं, नातिसिणेहाऽऽसणग्गहणं ॥४७॥

अन्यत्र वसतौ गृहीतायां प्रतिपत्तिकुशलैः सहितस्ततो बहिःस्थानात् तत्र वसतौ व्रजति, तत्र तावदावासो यावद्भिक्षावेला ,ततः पतद्ग्रहं गृहीत्वा गमनं विधेयम् । तत्र यदि प्राप्तायां भिक्षावेलायां पतद्ग्रहं गृहीत्वा व्रजन्ति, तदा तत्कालमेव गृह्णन्ति भक्ताऽऽदिकम्,अथ भिक्षावेलायामप्राप्तायां तत्र पतद्ग्रहं गृहीत्वा व्रजन्ति, निमन्त्रयन्ति च ते, तदा तत्क्षणमेव यद्भुञ्जते तद् गृह्णन्ति । अथ मुहूर्तानुगुण्येन कृतभिक्षाकाः तत्र गताः,तर्हि यत्र पतद्ग्रहं न नयन्ति, तत्र च गत्वा नातिस्नेहः स्वज्ञातकानां दर्शनीय , यदि पुनरतिस्नेहं दर्शयति, ततः-अनुरक्तोऽस्माकमिति ज्ञात्वा ते उपसर्गयेयुः । तथा तत्र गतेनाऽऽसनपरिग्रहः कर्तव्यः, न पुनरेवं चिन्तनीयम्-" आसंदीपलियंकेसु, मचमासालएसु वा । अणायरियमज्जाण, आसइत्तु सइत्तु वा " ॥१॥ ( ) आसनपरिग्रहाभावे हि अपभ्राजना भवति । तस्मादासने उपवेष्टव्यम् ॥४७॥

सयमेव उ धम्मकही, सासणपत्ते य निम्मुहे कुणति ।
अपडुप्पण्णे य तहिं, कहेइ तल्लद्धिओ अएणो ॥४८॥

यदि स स्वज्ञातिकसाधु धर्मकथायां कुशलप्रायः शासनप्रत्यनीकांश्च निरुत्तरान् कर्तुं समर्थ , ततः स्वयमेव तस्य धर्मकथाकथनीया भवति । अथ सोऽप्रत्युत्पन्नोऽनागमिकः प्रतिपत्यकुशलो वा तदा तस्मिन्नप्रत्युत्पन्नेऽन्यस्तल्लब्धिको धर्मकथालब्धिसंपन्नः प्रत्युत्तरदानलब्धिसंपन्नश्च कथयति ॥४८॥

मल्लिया य पीढमद्दा, पव्वज्जाए य थिरनिमित्तं तु ।

थावच्चापुत्तेण, आहरणं तत्थ कायव्वं ॥ ४९ ॥

"पीढमद्दा नाम मुखप्पियजंपगा, ते पव्वज्जाओभावणावयणाणि भणिज्जंति, ते य पमिवात्तकुसलेण कहएण मद्दिया मद्दिया भवति" इति चूर्णिः । स्थिरीकरणनिमित्तं तत्र धर्मकथायां स्थापत्यापुत्रेण ज्ञाताधर्मकथाप्रसिद्धेनाऽऽहरणं कर्त्तव्यम् ॥४९॥

कहिए व अकहिए वा, जाणणहेउ अइंति भत्तघरं ।
पुव्वाउत्त तहियं, पच्छाउत्त व जाणंति ॥ ५० ॥

धर्मे कथिते, अकथिते वा भिक्षाग्रहणवेलायामुद्गमाऽऽदिशुद्धिज्ञानार्थं भक्तगृहं महानसं प्रविशन्ति, प्रविश्य च यत्तत्र पूर्वायुक्तं पूर्वप्रवृत्तमुपस्क्रियमाणं, पश्चादायुक्तं यत्तेषु साधुष्वागतेषु तन्निमित्तमुपस्क्रियमाणं तत्परिभावयन्ति ॥५०॥

पूर्वायुक्तमित्यत्र व्याख्यानद्वयं परमतेन दर्शयति-

पुव्वाउत्ताऽऽरुहिते, केसिं वि समीहियं तु जं तत्थ ।
एए न होंति दोण्णि वि, पुव्वपवत्तं तु जं तत्थ ॥ ५१ ॥

केचिद् व्याचक्षते-पूर्वायुक्तं नाम चुल्ल्यां पाकार्थमारोपितम् । केचित्पुनरिदं व्याख्यानम्-यत्तत्र समीहितं पाकाय ढौकितम् । एतौ द्वावप्यादेशौ प्रमाणं न भवतः, तस्मादिदं व्याख्यानम्-यत्तत्र गृहस्थानां पूर्वप्रवृत्तमुपस्क्रियमाणं तत्पूर्वायुक्तमिति ॥५१॥

अथ कस्मादितरदादेशद्वयं न प्रमाणमत आह-

पुव्व:ऽऽरुहिते य समी-हिए य किं बुज्झइ न खलु अग्गं ? ।
तम्हा खलु ज उचियं, तं तु पमाणं न इतरं तु ॥ ५२ ॥

पूर्वं चुल्ल्यामारोपिते समीहिते वा किं न क्षिप्यते ?, इति भावः । तस्मात् खलु यदुचितं व्याख्यानं तत्प्रमाणं, नेतरत् परकीयमादेशद्वयम् ॥५२॥

बालगपुच्छाऽऽदीहिं, नाउं आयरमणायरेहिं च ।
जं जोग्गं तं गेण्हइ, दव्वपमाणं च जाणेज्जा ॥५३॥

बालकपृच्छाऽऽदिभिरादिशब्दाद् बालकोल्लापाऽऽदिभिश्च पिण्डनिर्युक्तिप्रसिद्धैः, तथा आदरानादराभ्यां च योग्यमयोग्यं विज्ञाय तत्र च यद् योग्यं श्रमणप्रायोग्यं प्रतिभाति तद् गृह्णाति वरवृषभः । द्रव्यप्रमाणं च जानीयात्-कियत् कुटुम्बमन्यद्वा ?, भोजनं कियद् वा रन्धमित्येवं यद् यावत् प्रायोग्यं प्रतिभासते, तावद् गृह्णीयात् ॥५३॥

सम्प्रत्येतदेव सविशेषतरमाह-

दव्वपमाणं गणणा, खारिय फोडिय तहेव अद्धा य ।
संविग्ग एगठाणे, अणेगसाहूसु पन्नरस ॥ ५४ ॥

द्रव्यप्रमाणं नाम द्रव्याणां गणना । यथा-एतावन्तोऽत्रौदनभेदाः, एतावन्ति च शाकविधानानि, इयन्तश्च खाद्यविशेषाः, एतावन्ति च द्राक्षापानकाऽऽदीनि, तथा क्षारितानि लवणखरण्टितानि शालनकानीत्यर्थः । स्फोटितं जीरकहिङ्गुधूपवासितम् । एतत्सर्वं ज्ञातव्यम् । तथा अद्धा कालो भिक्षाया ज्ञातव्यः, अन्यथाऽवष्वष्कणाऽऽदयो दोषाः स्युः । तथा संविग्ना एकस्याना एकसङ्घाटाऽऽत्मकाः प्रविशन्ति, ततः कल्पते, अनेकसाधुषु अनेकेषु साधुसङ्घाटेषु प्रविशत्सु न कल्पते, यतस्तत्र नियमादाधाकर्मसहिता औद्देशिकाऽऽदयः पञ्चदश दोषाः ॥ ५४ ॥

एतदेव विवरीषुः प्रथमतो द्रव्यप्रमाणमाह-

सत्तविहमोदणो खलु, साली वीही य कोद्दवे जवे य ।
गोहुमरालगआर-ण्णकूर खज्जा यऽणेगविहा ॥ ५५ ॥

सप्तविधो, प्रकारोऽलाक्षणिकः, ओदनः कूरः, तथा-शालिः कलमशाल्यादिकूरः, व्रीहिः सामान्यतन्दुलौदनः, कोद्रवकूरो, यवकूरः, गोधूमकूरो, रालककूरः, अकृष्टपच्याऽरण्यव्रीहिकूरश्च, खाद्यानि च अनेकविधानि ॥५५॥

सागविहाणा य तहा, खारियमादीणि वंजणाइं वा ।
खंमाऽऽदिपाणगाणि य, नाउं तेसिं तु परिमाणं ॥५६॥

शाकविधानानि प्राजमनकानि, क्षारिताऽऽदीनि, आदिशब्दात् स्फोटितपरिग्रहः, व्यञ्जनानि, तथा खण्डानि, पानकानि, आदिशब्दाद् द्राक्षाऽऽदिपरिग्रहः । तेषामोदनाऽऽदीनां परिमाणं ज्ञात्वा ॥ ५६ ॥

किमिति ?, आह-

परिमियभत्तपदाणे, दसुवक्खडियम्मि एगभत्तट्ठो ।
अपरिमिते आरेण वि, गेण्हइ एवं तु ज जोग्गं ॥५७॥

परिमितभक्तदाने परिमितानां भक्तकमेतिर्दानव्यमिति निश्चये यावद्दशानां योग्यमुपस्कृतं तावत्येकभक्तार्थो ग्राह्यः, एकयोग्यं तत्र भक्तं ग्राह्यमिति भावः । अपरिमिते अपरिमितभक्तकदाने दशानामारतोऽपि नवानामष्टानां वा योग्यं यदुपस्कृतम्, तत्रैव स्थानपरिमाणचिन्ताव्यतिरेकेण यद् योग्यं तद् यावत् पर्याप्तं गृह्णाति ॥५७॥

अद्धा य जाणियव्वा, इहरा ओसक्कणाऽऽदयो दोसा ।
संविग्गे संघाडो, एगो इयरेसु न विसंता ॥ ५८ ॥

अद्धा भिक्षावेला ज्ञातव्या, इतरथाऽवष्वष्कणाऽऽदयो दोषा भवेयुः । तथा 'संविग्गे' संविग्नानामेकः सङ्घाटो यत्र प्रविशति तत्र गन्तव्यम् । इतरेषु यत्र बहवः सङ्घाटकाः प्रविशन्ति, तत्र न गच्छन्ति ॥५८॥

तेहिं गिलाणगस्सा, अहागमाइं हवंति सव्वाइं ।
अब्भंगसिरावेहो, अपाणछेयावणेज्जाइ ॥ ५९ ॥

यदि स्वजनानां सम्बन्धी कोऽपि ग्लानो वर्तते, ततस्तस्य चिकित्सां वैद्यः करोति । यदि वा-वैद्यः साधुस्वजनानां, स्वजनोऽस्य कस्यापि ग्लानस्य क्रियां करोति, ततस्तत्र ग्लानो ज्ञातविधिं नीयते, यतस्तत्र ग्लानस्याभ्यङ्गः शिरावेधोऽपानमपानकर्म छेदेनापनीयानि छेदापनीयानि, एतानि सर्वाणि यथाकृतानि-पुरःकर्मपश्चात्कर्मरहितानि भवन्ति ॥५९॥

एतदेव स्पष्टं भावयति-

जइ नीयाण गिलाणो, नीओ विज्जो व कुणइ अन्नस्स ।
तत्थ हु न पच्छकम्मं, जायइ अब्भंगमाईसु ॥ ६० ॥

यदि निजकानां सम्बन्धी ग्लानो, वैद्यो वा निजकोऽन्यस्य कुरुते किचित्सां, तत्र 'हु' निश्चितं, न पश्चात्कर्माभ्यङ्गाऽऽदिषु जायते ।

कथं न जायते ?, इत्याह-

पुव्वं च मंगलट्ठा, उप्पेउं जइ करेइ गिहियाणं ।
सिरवेधवत्थिकम्मा-इएसु न ह पच्छकम्मोऽयं ॥ ६१ ॥

पूर्वं यदि मङ्गलार्थं साधौ 'उप्पेय' देशीपदमेतत् अभ्यङ्गं कृत्वा, पश्चाद् गृहिकाणां गृहस्थानां करोत्यभ्यङ्गम्, एतत् पश्चात्कर्म

न भवति । एवं शिरावेधवस्तिकर्माऽऽदिष्वपि पूर्वं साधौ कृत्वा पश्चाद् गृहस्थेषु क्रियमाणेषु न पश्चात्कर्म ॥६१॥

अत्तट्ठा उवणीया, ओसहमादी हवंति ते चेव ।
पत्थाऽऽहारो य तहिं, अहाकम्मो होइ साहुस्स ॥ ६२ ॥

आत्माऽर्थे यान्युपनीतानि औषधाऽऽदीनि गृहस्थे, तान्येव साधोरपि भवन्ति, पथ्याऽऽहारोऽपि च तत्र साधोर्यथाकृतो भवति, न तत्र पश्चात्कर्म ॥६२॥

अगिलाणे उ गिहिम्मी, पुव्वुत्ताए करेंति जयणाए ।
असइ य पुण अन्नंमे, नायविहिं नेंति अन्नतरं ॥ ६३ ॥

यदि निजकानां संबन्धी न कश्चिद् ग्लानो, नाऽपि निजको वैद्योऽन्यश्च चिकित्सां करोति, तदा गृहिणि गृहस्थे अग्लाने, अन्यत्र पूर्वोक्तया यतनया-पूर्वं कल्पाध्ययने ग्लानसूत्रे चिकित्सा यतना उक्ता, तया चिकित्सां कुर्वन्ति । तथाऽन्यत्रौषधीनां लाभो नास्ति । तत आह-अन्यत्र पुनरौषधीनामलाभे ज्ञातविधिमन्यतरं तं ग्लानं नयन्ति । तदेव ग्लानविधिरप्युक्तः ।६३।

सम्प्रति लाभचिन्तायामाभवनविधिमाह-

अहुणा तु लाभचिंता, तत्थ गयाण इमा हवइ तेसिं ।
जइ सव्वेगाऽऽयरिय-स्स होंति तो मग्गणा नऽत्थि ॥६४॥

अधुना तेषां तत्र गतानां ज्ञातविधिं गतानामिय लाभचिन्ता भवति । यदि ते धर्मकथ्यादय. सर्वेऽप्येकस्याऽऽचार्यस्य भवन्ति, तर्हि नाऽस्ति मार्गणा, सर्वमाचार्यस्याऽऽभवतीति भाव. ॥६४॥

संतासंती अहवा, अण्णगणा जे वितीयगा नीया ।
तत्थ इम मग्गणा ऊ, आभव्वे होइ नायव्वा ॥ ६५ ॥

सद्भावो नाम-सन्ति साधव , पर न धर्मकथाऽऽदिषु कुशला , असद्भावो-मूलत एव न सन्ति साधव । एव सद्भावेनास-द्भावेन वा येऽन्यगणसत्का द्वितीयका नीता, तेषामिय-माभाव्ये मार्गणा भवति ज्ञातव्या ॥६५॥

तामेवाऽऽह-

जं सो उवसामेती, तन्निस्साए य आगया जे तु ।
ते सव्वे आयरितो, लभते पव्वायगो तस्स ॥ ६६ ॥

स ज्ञातविधिमागत सन् यमुपशमयति प्रव्रज्यापरिणाम ग्राहयति, ये च तन्निश्रया तस्य ज्ञातविधिमागतस्य निश्रया-स्वजनोऽस्माकमिति बुद्ध्या तत्समीपमागता , तान् सर्वान्, यो ज्ञातविधिं रूपुमागत ,तस्य साधोर्य. प्रव्राजक आचार्य ,स लभते ।

जे पुण अह भावेणं, धम्मकही सुंदरो त्ति वा सोउं ।
आउ-वसामिय तेहिं, तेसिं चिय ते हवंती उ ॥ ६७ ॥

ये पुन. यदि वा ये-सुन्दरो धर्मकथी इति श्रोतुमागता सन्त , तैर्धर्मकथ्यादिभिरुपशामिताः प्रव्रज्यापरिणाम ग्राहिता , ते तेषामेव भवन्ति ॥ ६७ ॥

अण्णेहिँ कारणेहि य, गच्छंताणं तु जयण एसेव ।
ववहारो सेहस्स य, ताइं च इमाइँ कज्जाइं ॥ ६८ ॥

आस्ता स्वजनवन्दापनाय, ग्लानप्रयोजनेन वा ज्ञातविधिं ग. तानां यतना प्रागुक्ता भवति, अन्यैर्वा कारणैर्वक्ष्यमाणैर्ज्ञातविधिं गच्छतामेवैवाऽनन्तरोदिता यतना-एषैव शैक्षस्य विषये अनन्तरोदित आभवनव्यवहारः । तानि चान्यानि कार्याणि कारणानीमानि ॥६८॥

तान्येवाऽऽह-

तवसोसिय अप्पायण, ओमे य असंथरंत गच्छेज्जा ।
रमणिज्जं वा खेत्तं, तिकालजोग्गं तु गच्छस्स ॥ ६९ ॥

तपसा विकृष्टेन शोषितस्तप शोषित . स्वजनाश्च प्रचुरदाना., तत आप्यायननिमित्त सपरिवारो ज्ञातविधिं व्रजेत । अथवा-अवम दुर्भिक्ष ज्ञात, तत्रासंस्तरन्तो ज्ञातविधिं गच्छेयु , रम-णीय वा तत् क्षेत्र गच्छस्य त्रिकालयोग्य, ततो गच्छन्ति ॥६९॥

त्रिकालयोग्यतामेव भावयति-

वासे निव्विक्खिल्लं, सीयल दव पउरमेव गिम्हासु ।
सिसिरे य घणनिवाया, वसही तह घट्ठ मट्ठा य ॥ ७० ॥

वर्षे वर्षाकाले ' निर्विक्खिल्ल ' कर्दमाभाव , ग्रीष्मेषु ग्रीष्मकाले प्रचुर शीतल द्रव लभ्यते, शिशिरे शीतकाले घनमतिशयेन निर्वाता वसतिर्लभ्यते घृष्टा मृष्टा च ॥७०॥

छिण्णमंडवयं च तयं, सपक्खपरपक्खविरहितोमाणं ।
पत्तेय उग्गह त्ति य, काऊणं तत्थ गच्छेज्जा ॥७१॥

यदन्यत् क्षेत्र ग तच्छिन्नमडम्प, यत्र तु स्वजना सन्ति त-त्स्वपक्षपरपक्षकृतापमानविरहितम् । गाथायामपमानशब्दस्याऽन्यथानिपात प्राकृतत्वात् । प्रत्येक ग्लानबालाऽऽदीनामवग्रह उपष्टम्भश्च जायते, इति कृत्वा इति हेतो., तत्र ज्ञातविधौ गच्छेत् ।

उवदेसं काहामि य, धम्मं गाहिस्स पव्वयाविस्सं ।
सड्ढाणि व वुग्गाहे, भिक्खुगमादी ततो गच्छे ॥ ७२ ॥

धर्मोपदेशं वा स्वजनानां करिष्यामि । यदि वा-धर्मं श्रावकधर्मं ग्राहयिष्यामि । अथवा-ते निष्क्रामितुकामा वर्तन्ते, ततः प्रव्राजयिष्यामि, दानश्राद्धानि वा तानि कुलानि भिक्षुकाऽऽदि व्युद्ग्राहयेत्, तत एतै कारणैर्ज्ञातविधिं गच्छेत् । व्य० ६ उ० ।

णायव्व-ज्ञातव्य-त्रि० । स्वरूपतोऽवबोधव्ये, आव० ५ अ० । उत्त० । दर्श० ।

णायसंग-ज्ञातसङ्ग-पुं० । पुत्राऽऽदिसम्बन्धे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । " विबद्धो नायसंगेहिं । " ज्ञातसङ्गैर्विबद्धो मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदिमोहेन । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

णायसंड-ज्ञातखण्ड-न० । कुण्डपुराद् बहिरुद्याने, आ० म० १ अ० २ खण्ड । यत्र वीरस्वामी प्रव्रजित । आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० । आ० म० । कल्प० ।

णायागय-न्यायागत-त्रि० । द्विजक्षत्रियविट्शूद्राणां स्ववृत्यनुष्ठानलक्षणेन लोकव्यवहार्येण न्यायेन प्राप्ते, आव० ६ अ० ।

णायाधम्मकहा-ज्ञाताधर्मकथा-स्त्री० । ज्ञातानि उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा । अथवा-ज्ञातानि ज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कन्धे, धर्मकथा द्वितीये यासु ग्रन्थपद्धतिषु ता ज्ञाताधर्मकथा , पृषोदराऽऽदित्वात् पूर्वपदस्य दीर्घान्तता । षष्ठेऽङ्गे, (ज्ञा०)

तत्र जम्बूस्वामी सुधर्माण गणधरमेव पप्रच्छ-

तते णं से अज्जजंबूणामे जायसड्ढे जायसंसए जायकोऊहल्ले संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोऊहल्ले उप्पण्णसड्ढे उप्पण्णसंसए उप्पण्णकोऊहल्ले समुप्पण्णसड्ढे समुप्पण्णसंसए समुप्पण्णकोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेति, उट्ठाए उट्ठित्ता जेणामेव अज्जसुहम्मे

थेरे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अज्जसुहम्मे थेरे तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदति, नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता अज्जसुहम्मस्स थेरस्स नच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे पंजलिउडे विणएणं पज्जुवासमाणे एवं वयासी-जति णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं सयंसंबुद्धेण पुरिसुत्तमेणं पुरिससीहेणं पुरिसपुंडरीएणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहेणं लोगहिएणं लोगपईवेणं लोगपज्जोयगरेणं अभयदएणं चक्खुदएणं मग्गदएण सरणदएणं बोहिदएणं धम्मदयेणं धम्मदेसएणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं अप्पडिहयवरनाणदंसणधरेणं जिणेणं जावएणं बुद्धेणं बोधएणं मुत्तेणं मोयगेणं तिन्नेणं तारएण सिवमयलमरूवमणतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तयं सासयं ठाणमुवगएणं पंचमस्स अंगस्स विवाहपन्नत्तीए अयमट्ठे पन्नत्ते । छट्ठस्स णं अंगस्स भंते ! णायाधम्मकहाणं के अट्ठे पएणत्ते ? । जंबू ! ति अज्जसुहम्मे थेरे अज्जजंबूनामं अणगारं एवं वयासी-एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं छट्ठस्स अंगस्स दो सुयक्खंधा पण्णत्ता । तं जहा-नायाणि य, धम्मकहाओ य । ज्ञा० १ श्रु० ? अ० ।

('णायज्झयण' शब्देऽत्रैव भागे २००२ पृष्ठे 'धम्मकहा' शब्दे च श्रुतस्कन्धाऽध्ययनानि द्रष्टव्यानि)

विषय.-

से किं तं नायाधम्मकहाओ ?। नायाधम्मकहासु णं नायाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइया परलोइया इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ परियाया सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुले पच्चायाइओ पुण बोहिलाभो अंतकिरियाओ आघविज्जंति दस धम्मकहाणं वग्गा । तत्थ णं एगमेगाए धम्मकहाए पंच पंच अक्खाइयासयाइं, एगमेगाए अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयासयाइं, एगमेगाए उवक्खाइयाए पंच पंच अक्खाइयासयाइं, एवमेव सपुव्वावरेण अद्धुट्ठाओ कहाणगकोडीओ हवंति त्ति मक्खायं । नायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ संखेज्जाओ संगहणीओ संखेज्जाओ पडिवत्तीओ से णं अंगट्ठयाए छट्ठे अंगे दो सुयक्खंधा एगूणवीसं अज्झयणा एगूणवीसं उद्देसणकाला एगूणवीसं समुद्देसणकाला संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया एवं नाया एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, सेत्तं नायाधम्मकहाओ ॥ ६ ॥

"से किं तं" इत्यादि । अथ कास्ता ज्ञाताधर्मकथा ?, ज्ञातानि उदाहरणानि, तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा । अथवा-ज्ञातानि ज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कन्धे धर्मकथा, द्वितीये यासु ग्रन्थपद्धतिषु ता ज्ञाताधर्मकथा, पृषोदराऽऽदित्वात् पूर्वपदस्य दीर्घान्तता । सूरिराह-ज्ञाताधर्मकथासु, णमिति वाक्यालङ्कारे, ज्ञातानामुदाहरणभूतानां, नगराऽऽदीन्याख्यायन्ते । तथा-(दस धम्मकहाणं वग्गा इत्यादि) इह हि प्रथमश्रुतस्कन्धे एकोनविंशतिर्ज्ञाताध्ययनानि । ज्ञातानि उदाहरणानि तत्प्रधानान्यध्ययनानि । द्वितीयश्रुतस्कन्धे दश धर्मकथाः धर्मस्याहिंसाऽऽदिलक्षणस्य प्रतिपादिका कथा धर्मकथा । अथवा-धर्मादनपेता धर्म्याः, धर्म्याश्च ता कथाश्च धर्मकथाः । तत्र प्रथमे श्रुतस्कन्धे यान्येकोनविंशतिर्ज्ञाताध्ययनानि, तेषु आदिमानि दश ज्ञातानि ज्ञातान्येव, न तेष्वाख्यायिकाऽऽदिसम्भवः । शेषाणि पुनः नव ज्ञातानि, तेष्वेकैकस्मिन् चत्वारिंशानि पञ्च पञ्चाऽऽख्यायिकाशतानि भवन्ति । एकैकस्यां चाख्यायिकायां पञ्च पञ्चोपाख्यायिकाशतानि । एकैकस्यां चोपाख्यायिकायां पञ्च पञ्चाऽऽख्यायिकाशतानि । सर्वसंख्यया एकविंशं कोटिशतं लक्षाः पञ्चाशत् । तत एवं स्थिते प्रस्तुतसूत्रस्याऽवतारः । आह च टीकाकृत्-" इगवीसं कोडिसयं, लक्खा पन्नास चेव होइ बोधव्वा । एवं कए समाणे, अहिगयसुत्तस्स पत्थाओ ॥ १ ॥ " द्वितीयश्रुतस्कन्धे दश कथानां वर्गाः, वर्गः समूहो, दशधर्मकथासमुदाय इत्यर्थः । अत एव च दशाध्ययनानि एकस्यां धर्मकथायां, कथासमूहरूपायामध्ययनप्रमाणायां पञ्च पञ्चाऽऽख्यायिकाशतान्येकैकस्यां चाऽऽख्यायिकायां पञ्चपञ्चोपाख्यायिकाशतानि, एकैकस्यां चोपाख्यायिकायां पञ्चपञ्चाऽऽख्यायिकाशतानि, सर्वसंख्यया पञ्चविंशं कोटिशतम् । इह नव ज्ञाताध्ययनसम्बद्धाऽऽख्यायिकाऽऽदिसदृशा या आख्यायिकाऽऽदयः पञ्चाशल्लक्षाधिकैकविंशतिकोटिशतप्रमाणाः, ता अस्मात् पञ्चविंशतिकोटिप्रमाणाद्राशेः शोध्यन्ते, ततः शेषा अपुनरुक्ता अर्द्धचतुर्थाः कथानककोट्यो भवन्ति । तथा चाऽऽह-एवमेवोक्तप्रकारेणैव गुणने शोधने च कृते सपूर्वापरेण श्रुतस्कन्धा पूर्वापरश्रुतस्कन्धकथा समुदिता अपुनरुक्ता (अद्धुट्ठाओ त्ति) अर्द्धचतुर्थाः कथानककोट्यो भवन्तीत्याख्यातं तीर्थकरगणधरैः । आह च टीकाकृत्-

" पणवीसं कोडिसयं, एत्थ य समलक्खणा इमा जम्हा ।
नव नायासंबद्धा, अक्खाइयमाइया तेण ॥ १ ॥
ता सोहिज्जंति फुडं, इमाओ रासीओ वेगलाण तु ।
पुणरुत्तवज्जियाणं, पमाणमेयं विणिद्दिट्ठं ॥ २ ॥ "

तथा "नायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा" इत्यादि सर्वं प्राग्वद्भावनीयम्, यावन्निगमनं, नवरं संख्येयानि पदसहस्राणि, पदाग्रेण पदपरिमाणेन च तानि पञ्च लक्षाः षट्सप्ततिसहस्राः, पदमपि चात्रौपसर्गिकं नैपातिकं नामिकमाख्यातिकं मिश्रं चेति

वेदितव्यम् । तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्-"पयग्गेण ति-उवसग्गपय, निवायपय, नामियपय, अक्खाइयपद, मिस्सपय च । एए पए अहिकिच्च पचलक्खा छावत्तरिसहस्सा पयग्गेण भवति ।" अथवा-इह पद सूत्रालापकरूपमुपगृह्यते, तत तथारूपपदापेक्षया संख्येयानि पदसहस्राणि भवन्ति, न लक्षा । आह च चूर्णिकृत्-"अथवा सुत्तालावगपयग्गेण सखेज्जाइ पयसहस्साइ भवति त्ति ।" न० । स० । आव० । अनु० । सूत्र० । ग्रन्थान्ते टीकाकारोऽभयदेवसूरि-समाप्ता चेय ज्ञाताधर्मकथाप्रदेशटीकेति ।

"नम श्रीवर्द्धमानाय, श्रीपार्श्वप्रभवे नम ।
नम श्रीमत्सरस्वत्यै, सहायेभ्यो नमो नम ॥ १ ॥
इह हि गमनिकार्थं, यन्मयाऽभ्यूह्योक्तम्,
किमपि समयहीन, तद्विशोध्य सुधीभि ।
न हि भवति विधेया सर्वथाऽस्मिन्नुपेक्षा,
दयितजिनमताना तायिना चाङ्गवर्गे ॥ २ ॥
परेषा दुर्लक्षा भवति हि विवक्षा स्फुटमिद,
विशेषाद्वृद्धानामतुलवचनज्ञानमहसाम् ।
निराम्नायाधीभि पुनरतितरा मादृशजनै,
तत शास्त्रार्थे मे वचनमनघ दुर्लभमिह ॥ ३ ॥
तत सिद्धान्ततत्त्वज्ञै, स्वयमूह्य स यत्नत ।
न पुनरस्मदाख्यात, एव ग्राह्यो नियोगत ॥ ४ ॥
तथाऽपि माऽस्तु मे पाप, सङ्घभक्त्युपजीवनात् ।
वृद्धन्यायानुसारित्वात्, हितार्थं च प्रवृत्तित ॥ ५ ॥
तथाहि किमपि स्फुटीकृतमिह स्फुटेऽप्यर्थत,
सकष्टमतिदेशतो विविधवाचनातोऽपि यत् ।
समर्थपदसंश्रयाद्विगुणयुक्तकेभ्योऽपि यत्,
पराऽऽत्महितहेतवेऽनभिनिवेशिना चेतसा ॥ ६ ॥
यो जैनाभिमत प्रमाणमनघ व्युत्पादयामासिवान्,
प्रस्थानैर्विविधैर्निरस्य निखिल बौद्धाऽऽदिसबन्धि तत् ।
नानावृत्तिकथा कथापथमतिक्रान्त च चक्रे तपो,
नि सबन्धविहारमप्रतिहत शास्त्रानुसारात्तथा ॥ ७ ॥
तस्याऽऽचार्यजिनेश्वरस्य मदवद्वादिप्रतिस्पर्धिन,
तद्बन्धोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरेर्भुवि ।
छन्दोबन्धनिबद्धबन्धुरवच शब्दाऽऽदिसल्लक्ष्मण,
श्रीसविग्नविहारिण श्रुतनिधेश्चारित्रचूडामणे ॥ ८ ॥
शिष्येणाभयदेवाऽऽख्य-सूरिणा विवृति कृता ।
ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य, श्रुतभक्त्या समासत ॥ ९ ॥"
ज्ञा० २ श्रु० १० वर्ग १ अ० ।

णारइय-नारयिक-पुं० । नैरयिके नरकपृथिवीपूत्पन्ने, प्रा० २ पाद ।

णारग-नारक-पुं० । नरकेषु भवा नारका । नरको वा विद्यते येषा ते नारका । नरकपृथिवीपूपपन्नेषु जीवेषु, न० । आ०म० । प्रव० । कर्म० । आव० ।

नारकाऽस्तित्वसिद्धिः-

किं मएणे नेरइया, अत्थि नऽत्थि त्ति संसओ तुज्झं ।
वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी तेसिमो अत्थो ।१८८७।

किं नारका सन्ति, न वा ? इति त्व मन्यसे । अय च तव सशयो विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धन । तथाहि-"नारको वै एष जायते य शूद्रान्नमश्नाति" इत्यादि । एष ब्राह्मणो नारको जायते य शूद्रान्नमश्नातीत्यर्थ ; इत्यादीनि वाक्यानि नारकसत्ताप्रतिपादकानि, "न ह वै प्रेत्य नारका सन्ति" इत्यादीनि तु नारकाभावप्रतिपादकानि, तथैषा वेदपदानामर्थं, चशब्दाद्युक्तिहृदय च त्वं न जानासि, यत एतेषामय वक्ष्यमाणोऽर्थ इति ॥ १८८७ ॥

अत्र भाष्यम्-

तं मन्नसि पच्चक्खा, देवा चंदाऽऽदओ तहऽन्ने वि ।
विज्जामंतोवायण-फलाइसिद्धाएँ गम्मंति ।१८८८।
जे पुण सुइमेत्तफला, नेरइय त्ति किह ते गहेयव्वा ।
सक्खमणुमाणओ वा-ऽणुवलब्भा भिन्नजाईया ? ।१८८९।

हे आयुष्मन्नकम्पित ! त्वमेवं मन्यसे-देवास्तावच्चन्द्राऽऽदय प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धा एव, अ ये त्वप्रत्यक्षा अपि विद्यामन्त्रोपयाचितकाऽऽदिफलसिद्धयाऽनुमानतो गम्यन्ते; ये पुन "नारका" इत्यभिधानमात्ररूपा श्रुतिरेव फल येषा, न पुन तदभिधायकशब्दव्यतिरिक्तोऽर्थ, ते साक्षात्, अनुमानतो वाऽनुपलभ्यमानत्वेन तिर्यङ्नरामरेभ्य सर्वथा भिन्नजातीया कथ 'सन्ति' इति ग्रहीतव्या, खरविषाणवत् ?, इति ॥१८८८॥ १८८९॥

अथ भगवानुत्तरमाह-

मह पच्चक्खत्तणओ, जीवाई व्व णारए गिण्ह ।
किं जं सपच्चक्खं, तं पच्चक्खं नवरि इक्कं ? ॥१८९०॥
जं कासइ पच्चक्खं, पच्चक्खं तं पि घेप्पए लोए ।
जह सीहाऽऽइदारिसिणं, सिद्धं न य सव्वपच्चक्खं ।१८९१।

हे आयुष्मन् ! अकम्पित ! साक्षादनुपलभ्यमानत्वादित्यसिद्धो हेतु, यतोऽहं केवलप्रत्यक्षेण साक्षादेव पश्यामि नारकान्, ततो मत्प्रत्यक्षत्वात् 'सन्ति' इति गृहाण प्रतिपद्यस्व नारकान्, जीवाजीवाऽऽदिपदार्थवत् । अथैव मन्यसे-ममाप्रत्यक्षत्वात्कथमेतान् गृह्णामि ? । ननु दुरभिप्रायोऽयम्, यत किं यत् स्वस्याऽऽत्मन प्रत्यक्ष तदेवैक नवर प्रत्यक्षमुच्यते ?, इति काक्वा नेयम् । ननु यदपि कस्यचित् प्रत्ययितपुरुषस्यान्यस्य प्रत्यक्ष, तदपि प्रत्यक्षमिति गृह्यते व्यवह्रियते लोके । तथाहि-सिंहसरभहस्त्याऽऽदिदर्शन सिद्ध प्रसिद्ध लोके, न च सिंहाऽऽदय सर्वजनप्रत्यक्षा, देशकालग्रामनगरसरित्समुद्राऽऽदयश्च न सर्वेऽपि भवत प्रत्यक्षा, अथ चान्यस्यापि प्रत्यक्षास्ते प्रत्यक्षतयो व्यवह्रियमाणा दृश्यन्ते, अतो मत्प्रत्यक्षा नारका किमिति प्रत्यक्षतया न व्यवह्रियन्ते ?, इति ॥१८९०॥१८९१॥

अथाभिप्रायान्तरमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अहवा जमिंदियाणं, पच्चक्खं किं तदेव पच्चक्खं ?।
उवयारमेत्तओ त, पच्चक्खमणिंदिय तत्थं ॥१८९२॥

अथवा-किं यदिन्द्रियाणा प्रत्यक्ष तदेव प्रत्यक्षमिष्यते भवता, मदीय तु प्रत्यक्ष नाभ्युपगम्यते, अतीन्द्रियत्वात् ?। ननु महानय विपर्यास, यस्मादुपचारमात्रत एव तदिन्द्रियप्रत्यक्ष प्रत्यक्षतया व्यवह्रियते-यथाऽनुमाने बाह्यधूमाऽऽदिलिङ्गद्वारेण बाह्यमग्न्यादि वस्तु ज्ञायते, नैवमत्र, तत उपचारात् प्रत्यक्षमिव प्रत्यक्षमुच्यते । परमार्थतस्तु-इदमपि परोक्षमेव, यतोऽक्षो जीव, स चानुमानवदत्रापि वस्तु साक्षाद् न

स्विन्द्रियद्वारेणैव, ततोऽतीन्द्रियमेव तथ्यं प्रत्यक्षमवगन्तव्यम्, तत्र जीवेन साक्षादेव वस्तुन उपलम्भादिति ॥ १८९२ ॥ (विशे०)

अनुमानं त्विदम्-

पावफलस्स पगिट्ठ-स्स भोइणो कम्मओऽवसेस व्व ।
संति धुवं तेऽभिमया, नेरइया अह मई होज्जा ॥१८९९॥
अच्चत्थदुक्खिया जे, तिरियनरा नारग त्ति तेऽभिमया ।
तं न जओ सुरसोक्ख-प्पगरिससरिसं न तं दुक्खं ॥१९००॥

प्रकृष्टस्य पापफलस्य भोगिनः केचित् ध्रुवं सन्ति (कम्मओ त्ति) कर्मफलत्वात् तस्य इत्यर्थः । अवशेषवदिति-यथा जघन्यमध्यमपापफलभोगिनः शेषाः तिर्यङ्नरा विद्यन्त इत्यर्थः, इति दृष्टान्तः । (तेऽभिमया नेरइय त्ति) ये प्रकृष्टपापफलभोगिनः, ते नारका इति अभिमताः । अथ परस्यैवम्भूता मतिर्भवेत्, अत्यर्थं दुःखिता ये तिर्यङ्मनुष्याः, त एव प्रकृष्टपापफलभोगित्वान्नारकव्यपदेशभाजो भविष्यन्ति, किमदृष्टनारककल्पनया ?। इति नैतदेवम् । यतोऽतिदुःखितानामपि तिर्यङ्मनुष्याणां यद् दुःखं तदमरसौख्यप्रकर्षसदृशप्रकर्षवन्न भवति । इदमुक्तं भवति-येषामुत्कृष्टपापफलभोगः, तेषां समवन्ति सर्वैरपि प्रकारैर्दुःखेन भवितव्यम्, न चैवमतिदुःखितानामपि तिर्यगादीनां दृश्यते, आलोकतरुच्छायाशीतपवनसरित्सर कूपजलाऽऽदिसुखस्याऽतिदुःखितेष्वपि तेषु दर्शनात्-छेदनभेदनपाचनदहनस्तम्भनवज्रकण्टकशिलाऽऽस्फालनाऽऽदिभिश्च नरकप्रसिद्धैः प्रकारैर्दुःखस्यादर्शनात्, इत्यादिप्रागुक्तानुसारेण स्वयमेवाभ्यूह्य वाच्यमिति । आगमार्थश्चायमवगन्तव्य इति ।

" सततमनुबद्धमुक्तं, दुःखं नरकेषु तीव्रपरिणामम् ।
तिर्यक्ष्वुष्णभयक्षुत्-तृडादिदुःखं सुखं चाल्पम् ॥ १ ॥
सुखदुःखे मनुजानां, मनःशरीराऽऽश्रये बहुविकल्पे ।
सुखमेव तु देवाना-मल्पं दुःखं तु मनसि भवम् ॥ २ ॥ "
इति ॥ १८६६ ॥ १६०० ॥

प्रागनेकशोऽभिहितानुमानतोऽपि नारकान् साधयितुमाह-

सच्चं चेदमकंपिय !, मह वयणाओऽवसेसवयणं व ।
सव्वण्णुवयणओ वा, अणुमयसव्वण्णुवयणं व ॥१६०१॥

नारकाः सन्ति इति सत्यमकम्पित ! इदं, मद्वचनत्वात्, यथाऽवशेषं त्वत्संशयाऽऽदिविषयं मद्वचनम् । अथवा-सर्वज्ञवचनत्वाद् इत्येव हेतुर्वक्तव्यः, त्वदनुमतमनुजैमिन्यादिसर्वज्ञवचनवदिति ॥ १६०१ ॥

अपि च-

भयरागदोसमोहा-भावाओ सच्चमणइवाइं च *।
सव्वं चिय मे वयणं, जाणयमज्झत्थवयणं व ॥१६०२॥

प्रागनेकधा व्याख्यातेयम् ॥ १६०२ ॥

अकम्पिताऽभिप्रायमाशङ्क्याऽऽत्मनि सर्वज्ञताऽऽदिमाधनाय भगवानाह-

किह सव्वण्णु त्ति मई, पच्चक्खं सव्वसंसयच्छेया ।
भयरोगदोसरहिओ, तल्लिंगाभावओ सोम्म ! ॥१६०३॥

इयमपि व्याख्यातार्था । यदपि "न ह वै प्रेत्य नारकाः सन्ति" इत्यादौ नारकाभावः शङ्क्यते भवता, तदप्ययुक्तम्, यतोऽयमत्राभिप्रायो मन्तव्यः-न खलु प्रेत्य परलोके मेर्वादिवच्छाश्वताः केचनाप्यवस्थिता नारकाः सन्ति, किन्तु य इहोत्कृष्टं पापमर्जयति, स इतो गत्वा प्रेत्य नारको भवति, अतः केनापि तत्पापं न विधेयं, येन प्रेत्य नारकैर्भूयते । विशे० । आ० म० । सूत्रकृदङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धचतुर्थाध्ययनवृत्तौ-"छिन्नपादभुजस्कन्धाः, छिन्नकर्णौष्ठनासिकाः । छिन्नतालुशिरोमेढ्रा, भिन्नाक्षिहृदयोदराः " ॥१॥ इत्युक्तम्, तत्र नारकाणां नपुंसकत्वे छिन्नमेढ्रा इति कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-नारकाणां नपुंसकत्वेऽपि मेढ्रसत्ता न विरुध्यते, " महिलासहावो सरवण्णभेओ, मेढं महंत मउआ य वाणी ।" इत्यादिलक्षणस्य पुष्पमालाऽऽदावुक्तत्वादिति । २५६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । (' णरग ' शब्देऽत्रैव भागे १६१७ पृष्ठे सर्वा वक्तव्यतोक्ता)

णारगदुक्खोववण्णण-नारकदुःखोपवर्णन-न० । नारकाणामुपलक्षणत्वाद् तिर्यगादीनां चाऽशर्मोपवर्णने, (ध०)

तथा चोक्तं धर्मबिन्दौ—

" नारकदुःखोपवर्णनमिति । " नरके भवा नारकाः, तेषामुपलक्षणत्वात् तिर्यगादीनां च दुःखान्यशर्माणि, तेषामुपवर्णनं विधेयम् । यथा-

" तीक्ष्णैरसिभिर्दीप्तैः, कुन्तैर्विषमैः परश्वधैश्चक्रैः ।
परशुत्रिशूलतोमर-मुद्गरवासीमुसण्ढीभिः ॥ १ ॥
सम्भिन्नतालुशिरस-श्छिन्नभुजाश्छिन्नकर्णनासौष्ठाः ।
भिन्नहृदयोदरान्त्रा, भिन्नाक्षिपुटाः सुदुःखार्ताः ॥२॥
निपतन्त उत्पतन्तो, विचेष्टमाना महीतले दीनाः ।
नेक्षन्ते त्रातारं, नैरयिकाः कर्मपटलान्धाः ॥ ३ ॥
क्षुत्तृड्हिमात्युष्णभयार्दितानां,
पराभियोगव्यसनातुराणाम्,
अहो तिरश्चामतिदुःखितानां,
सुखानुषङ्गः किल वार्त्तमेतत् ॥ ४ ॥
मानुष्यकेऽपि दारि-द्र्यरोगदौर्भाग्यशोकमौर्ख्याणि ।
जातिकुलावयवाऽऽदि-न्यूनत्वं चाश्नुते प्राणी ॥ ५ ॥
देवेषु च्यवनवियोगदुःखितेषु,
क्रोधेर्ष्यामदमदनातितापितेषु ।
आर्या ! नस्तदिह विचार्य संगिरन्तां,
यत्सौख्यं किमपि निवेदनीयमस्ति ॥ ६ ॥ " इति । ध० १ अधि० ।

णारय-नारद-पुं० । समुद्रविजयनृपपालिते सौर्यपुरे यज्ञयशसः सुतस्य सोममित्राया जातस्य यज्ञदत्तस्य सोमयशोनामभार्याया जाते पुत्रे, आ० क० ।

तत्कथा—

"आसीद् यदा सौर्यपुरे, समुद्रविजयो नृपः ।
तदा यज्ञयशास्तत्र, तापसस्तस्य वल्लभा ॥ १ ॥
सोममित्रा सुतो यज्ञ-दत्तः सोमयशाः स्नुषा ।
तत्पुत्रो नारदस्तेषा-मुञ्छवृत्त्या च भोजनम् ॥ २ ॥
तदप्येकान्तरं ते चा-ऽशोकाधो नारदं सुतम् ।
मुक्त्वोञ्छन्ति दिवा यान्तो, जृम्भकास्तेन वर्त्मना ॥ ३ ॥
ते दृष्ट्वाऽवधिना ज्ञात्वा, स्वनिकायच्युतं ततः ।
स्तम्भन्ति स्म तरोश्छायां, मा भूत्तापोऽस्य दुःखकृत् ॥ ४ ॥
प्रत्यावृत्तैर्महातस्तै, शिक्षितो व्यक्तचेतनः ।
पूर्वप्रेम्णा ददे तस्य, विद्याः प्रज्ञप्तिकाऽऽदिकाः ॥ ५ ॥

* १५६८ गाथाऽर्थायमेव गता ।

याति व्योम्ना ततः कृत्वा, पादयोर्मणिपादुके ।
सुवर्णकुट्टिमकापाणि-रन्यदा द्वारकां गत " ॥ ६ ॥

आ० क० । औ० । ब्राह्मणपरिव्राजकभेदे, ती० २७ कल्प० । गन्धर्वानीकाधिपतौ गन्धर्वे, स्था० ७ ठा० । प्रश्न० । नारदाः सर्वेऽपि मोक्ष एव यान्ति, स्वर्गे वेति प्रश्ने, उत्तरम्-नारदा मोक्ष, स्वर्गे च यान्तीति ऋषिमण्डलवृत्तौ । किञ्च-ते पूर्वं मिथ्यात्विन पश्चात्सम्यक्त्वमस्तत्रैवोक्ता इति । अन्यच्च-भीम १ महाभीम २ रुद्र ३ महारुद्र ४ काल ५ महाकाल ६ चतुर्मुख ७ नवमुख ८ उन्मुख ९ एवंविधानि तेषां नामान्यपि सन्तीति । ७० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । नव नारदाः कस्मिन् घाऽऽरके सञ्जाताः?, इति साक्षर प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-नव नारदा वासुदेवसमानकालीनाः संभाव्यन्ते, तच्चचरित्राऽऽदिषु तद्वारके तेषां गमनाऽऽगमनाऽऽदिश्रवणादिति ॥ १०६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

णारयपुत्त-नारदपुत्र-पुं० । स्वनामके वीरजिनानगारे, भ० ५ श० ७ उ० । (स च 'णियंठीपुत्त' शब्दे पुद्गलविषय प्रश्न करिष्यति)

णाराचंद-नाराचन्द्र-पुं० । हर्षपुरीयगच्छोद्भवे मलधारिदेवप्रभसूरिशिष्ये, अनेन मुरारिकाविकृताऽनर्घराघवटीका, न्यायकन्दलीटीका, ज्योतिषसार०, प्राकृतदीपिका च इत्यादयो बहवो ग्रन्था रचिताः । जै० इ० ।

णाराय-नाराच-न० । यत्रास्थ्योरुभयतो मर्कटबन्ध एव केवल, न पुन कीलिका ऋषभसञ्ज्ञपट्टश्च तादृशे तृतीये संहनने, औ० १ प्रति० । त० । रा० । स्था० । चं० प्र० । कर्म० । सर्वलोहवाणे, पु० । जं० ३ वक्ष० । तं० । स० । स्था० ।

णारायण-नारायण-पुं० । दशरथपुत्रे रामभ्रातरि लक्ष्मणनामके अवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे अष्टमे वासुदेवे, प्रव० २१० द्वार । ति० । स० । आव० । वासुदेवमात्रे, उत्त० ९ अ० ।

णारिकंतप्पवायदह-नारिकान्ताप्रपातह्रद-पुं० । यत्र नारिकान्ता महानदी निपतति, यत्र नारिकान्ताद्वेवीद्वीपेन सञ्चनेन भूषितमध्यभाग. तस्मिन् रम्यकवर्षीये प्रपातह्रदे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णारिकंता-नारिकान्ता-स्त्री० । रम्यकवर्षे अपराणवगायां महानद्याम्, जं० ६ वक्ष० । स० । रा० । (नीलवद्वर्षधरपर्वते केशरिद्रहाद्दक्षिणतो निर्गत्य पश्चिमसमुद्रगा नारिकान्ता इति 'णीलवन' शब्दे व्याख्यास्यते)

णारिकंताकूड-नारिकान्ताकूट-न० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य उत्तरेण नीलवतः पर्वतस्य षष्ठे कूटे, स्था० ६ ठा० ।

णारी-नारी-स्त्री० । नरस्त्रियाम्, सू० ४ उ० ।

निरुक्ति-

पुरिसे कामरागपमिबद्धे णाणाविहेहिं उवायसयसहस्सेहिं वहबंधणमाणयंति पुरिसाणं नो अन्नो एरिसो अरी अस्थि त्ति नारीओ । तं जहा-नारीसमा न नराणं अरीओ नारीओ ॥

(पुरिसे इत्यादि यावत् नारीओ त्ति) 'नारीओ त्ति' व्याचष्टयति । कथम्?, ना-आ-अरि इति । नानाविधैरुपायशतसहस्रैः कामरागप्रतिबद्धे पुरुषे वधबन्धन प्रति, आ इति-'आणयति' प्रापयन्ति (अरीति) पुरुषाणां च नान्यसदृशोऽरि शत्रु, अस्तीति नार्यः । (तं जह त्ति) तत्पूर्वोक्त, यथेति दर्शयति-नारीसमा न नराणाम् अरय. सन्तीति नार्यः तथा "जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह सम्मता । एव लोगसि नारीओ, दुत्तरा अ मई मया ॥ १६ ॥ " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । उत्त० । (औपरिका ' इत्थी ' शब्दे द्वितीयभागे ६२ पृष्ठे दर्शिता)

णारोट-देशी विले, दे० ना० ४ वर्ग ।

णाल-नाल-न० । कन्दोपरिवर्त्यवयवे, ज० ४ वक्ष० । उत्पलाऽऽदिपुष्पाऽऽधारे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

णालंदइज्ज-नालन्दीय-न० । नालन्दायां भव नालन्दीयं, नालन्दासमीपोद्यानकथनेन वा निर्वृत्त नालन्दीयम् । सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य षष्ठेऽध्ययने, सूत्र० ।

साम्प्रत प्रत्ययार्थं दर्शयितुकाम आह-

नालंदाएँ समीवे, मणोरहे भासि-इंदभूइणा ।
अज्झयण उदगस्स उ, एयं नालंदइज्ज तु ॥ ४ ॥

(नालंदाए इत्यादि) नालन्दायाः समीपे मनोरथाऽऽख्ये उद्याने इन्द्रभूतिना गणधरेणोदकाऽऽख्यनिर्ग्रन्थपृष्टेन, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् तस्यैव, भाषितमिदमध्ययनम् । नालन्दायां भवं नालन्दीयम्, नालन्दासमीपोद्यानकथनेन वा निर्वृत्त नालन्दीयम् । यथा चेदमध्ययन नालन्दाया सवृत्त तथा-" पासावच्चिओ पु-च्छियाइयो अज्जगोयम ! उदगो । सावगपुच्छाधम्मं, सोउ कहियम्मि उवसंता ॥ ५ ॥ " सूत्र० २ श्रु० १७ अ० । स्था० । प्रश्न० ।

णालंदा-नालंदा-स्त्री० । प्रतिषेधवाचिनो नकारस्य, तदर्थस्यैवालशब्दस्य, ' डु दाञ् ' दाने इत्येतस्य धातोर्मीलनेन नालं ददातीति नालदा । इदमुक्त भवति-प्रतिषेधप्रतिषेधेन धात्वर्थस्यैव प्राकृतस्य गमनात् सदाऽर्थिभ्यो यथाभिलषितं ददातीति नालदा । राजगृहनगरबाहिरिकायाम् , (सूत्र०)

तदिह प्रतिषेधवाचिनाऽलशब्देनाऽधिकार इत्येतद् दर्शयितुमाह-

पडिसेहणणगारस्स, इत्थीसद्देण चेव अलसद्दो ।
रायगिहे नयरम्मी, नालंदा होइ बाहिरिया ॥ ३ ॥

(पडिसेहणेत्यादि) सत्यप्यलशब्दस्यार्थत्रये नकारस्य सान्निध्यात् प्रतिषेधविधानादप्येवेह गृह्यते, ततश्च निरुक्तविधानादयमर्थ.-नालं ददातीति नालदा बाहिरिका, या स्त्रियोद्देशकत्वेन च नालशब्दस्य स्त्रीलिङ्गता, सा च सर्वैर्वैहिकाऽऽमुष्मिकसुखहेतुत्वेन सुखप्रदा राजगृहनगरबाहिरिका धनकनकसमृद्धत्वेन सत्साध्वाश्रयत्वेन च सर्वकामप्रदेति । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । आ० म० । सा च बाहिरिका राजगृहनगराद्युत्तरस्यां दिशि, तत्र श्रीवीरस्वामी चतुर्दशवर्षारात्रान् कृतवान् । कल्प० ६ क्षण ।

" नालन्दाऽलंकृते यत्र, वर्षारात्राश्चतुर्दश ।
अवतस्थे प्रभुर्वीरः, तत्कथ नास्तु पावनम् ? ॥ २५ ॥

यस्यां नैकानि तीर्थानि, नालंदा नाम नगरीयम् ।
भव्यानां जनितानन्दा, नालन्दा नः पुनातु सा" ॥ २६ ॥
ती० ११ कल्प ।

णालबद्ध-नालबद्ध-पुं० । पितृमातृपुत्रप्रभृतिके वल्लीपद्धे, (बृ०) श्रुतोपसंपदि द्वाविंशतिनालबद्धानि लभ्यन्ते,यथा-माता, पिता,भ्राता,भगिनी,पुत्रो,दुहिता,मातुर्माता,मातुः पिता, मातुर्भ्राता, मातुर्भगिनी । एवं पितुर्माता,पिता,भ्राता,भगिनी, भ्रातृपुत्रो, दुहिता, भगिन्याः पुत्रपुत्रिकाः, पुत्रस्य पुत्र ,पुत्रपुत्रिकाः,दुहितुः पुत्रः, पुत्रिका चेति । बृ० ४ उ० । (श्रुतोपसंपद्वर्णने ' उवसंपया ' शब्दे द्वितीयभागे १०१४ पृष्ठे, तथा-' उग्गह ' शब्दे ७२० पृष्ठे च विस्तरो गत.)

णालंपिअ-देशी-आक्रन्दिते, दे० ना० ४ वर्ग ।

णालंबी-देशी-कुन्तले, दे० ना० ४ वर्ग ।

णालिएर-नारि [लि] केर-पुं० । नल-इण्-नालिः,केन वायुना असेन वा इलति चलति क' । रलयोरैक्यम् । वृक्षभेदे, वाच० । अयं चैकजीविको वृक्षभेद. । प्रज्ञा० १ पद । आर्द्रे नालिकेरे शुष्के वा कियन्तो जीवा सन्ति ?, तथा नालिकेरवीजके सख्याता ,असख्याता ,अनन्ता वा कियन्तो जीवा. सन्ति ?, बसतमत्र केचिदनन्तजीवाऽऽत्मक प्रतिपादयन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-बीजकसबद्धे नालिकेरे एक एव जीव इति । २६५ प्र० । सेन० २ उल्ला० । नालिकेर्यप्यत्र । स्त्री० । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । जं० । प्रज्ञा० । तत्फले, न० ।

णालिएरदीव-नारिकेलद्वीप-पुं० । नारिकेलवृक्षप्रधाने द्वीपे, यद्वास्तव्या मनुष्या असञ्ज्ञाप्राऽऽदिव्यवहार नावबुध्यन्ते। आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णालिएरमत्थय-नालिकेरमस्तक-न० । नालिकेरवृक्षस्तबके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

णालिया-नालिका-स्त्री० । घटिकायाम्, नि० चू० १ उ० । त० । लाम्राऽऽदिमयघटिकायाम्, अनु० । आव० । प्रज्ञा० ।
तथा हि कालो मीयते—

णालीएँ परूवणया, जह तीएँ गतो उ नज्जए कालो ।
तह पुव्वधरा भावं, जाणंति विसुज्झपज्जेण ॥

नालिका नाम घटिका,तस्याः पूर्वं प्ररूपणा कर्त्तव्या; यथा पादलिप्तकृतविवरणे कालज्ञाने । व्य० १ उ० ।

सम्प्रति मान घटिकाऽऽदीना वक्तव्यम्-तत्र प्रथमतो नालिकाया. सस्थानाऽऽदि विवक्षुराह—

तीसे पुण संठाणं, छिड्डं उदगं च वोच्छामि ।

तस्या. पुनर्नालिकाया सस्थानमाकृतिं, तथा छिद्र विवरम-धोभागे येनोदक नालिकामध्ये प्रविशति, उदक च यादृग् भूत छिद्रेण प्रविशति, नालिका तुल्यत्वा यथोक्तनालिका कालविशेषपरिमाणहेतुर्भवति तादृक् सूत्र वक्ष्यामि ।

तत्र प्रतिज्ञानमेव निर्वाहयितुकाम प्रथमत. सस्थानप्ररूपणा, छिद्रप्रमाणवक्तव्यतोपक्षेप च कुर्वन्नाह—

दालिमपुप्फाऽऽगारा, लोहमयी नालिगा उ कायव्वा ।
तीसे तलम्मि छिड्डं, छिद्दपमाणं कहिएँ मे सुणह ॥

नालिका घटिका लोहमयी कर्त्तव्या, सा च सस्थानमधिकृत्य दाडिमपुष्पाऽऽकारा कर्तव्या, दाडिमपुष्पस्येव आकार. सस्थान यस्या सा तथा । तस्याश्चैवभूताया नालिकाया मूले अधस्तात् छिद्रं कर्तव्यं, तस्य च छिद्रस्य प्रमाण पूर्वसूरिपरम्परागत कथयतो मे मम शृणुत ।

छिद्रप्रमाणमेव कथयति—

छण्णउयमूलवालेहिं, तिवस्सजायाएँ गयकुमारीए ।
उज्जुकयपिंडिएहि उ, कायव्वं नालियाछिड्डं ॥

त्रिवर्षजातायाः त्रीणि वर्षाणि जातायास्त्रिवर्षजाता, "कालो द्विगौ च मेयै."॥३।१।५७॥ इति तत्पुरुषसमास.। तस्या गजकुमार्या. षण्णवतिसंख्यैर्मूलवालै. पुच्छमूलवालै. ऋजूकृतपिण्डितैर्ऋजूकृत्यैकत्र मीलितैर्नालिकाया अधस्तात् तत्तले छिद्र कर्तव्यम् । किमुक्त भवति ?-ऊर्ध्वमृजूकृता गजकुमार्या षण्णवतिसख्या पुच्छमूलवाला एकत्र पिण्डिता यावत्प्रमाणे छिद्रे परिपूर्णे माति, न चापान्तराल सूक्ष्ममपि भवति, तावत्प्रमाण नालिकाया अधो मूले छिद्र कर्तव्यम् ।

प्रकारान्तरेण छिद्रप्रमाणमाह—

अहवा दुवस्सजाया-एँ गयकुमारीएँ पुच्छवालेहिं ।
बिहिँ बिहिँ गुणेहिँ तेहिँ उ, कायव्वं नालियाछिड्डं ॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतने, गजकुमार्या द्विवर्षजातायाः, तैः प्रागुक्तसख्याकै. षण्णवत्येत्यर्थ. । पुच्छवालै प्रत्येक द्वाभ्या द्वाभ्यां गुणैः गुण्यन्ते स्म, गुणा गुणिता इत्यर्थः; तैः । किमुक्त भवति ?-षण्णवतिसख्यैर्द्विगुणितैर्नालिकाया अधो मूले छिद्र कर्तव्यमिति भावार्थ' प्राग्वदवगन्तव्य. ।

प्रकारान्तरेण छिद्रप्रमाणमेवाऽऽह—

अहवा सुवण्णमासे-हिँ चउहिँ चउरंगुला कया सूई ।
नालियतलम्मि तीए, कायव्वं नालियाछिड्डं ॥

अथवेति पूर्ववत् । सुवर्णमाषैर्वक्ष्यमाणप्रमाणैश्चतुर्भिश्चतुःसख्यै. चतुरङ्गुलप्रमाणा या कृता सूची, तया सूच्या नालिकाया अधस्तात् तले नालिकाछिद्र नालिकारूपकालविशेषप्रमितये कर्तव्यम् । किमुक्त भवति ?-यावत्प्रमाणे छिद्रे यथोक्तप्रमाणा सूचि प्रविशति, न च मनागप्यपान्तराल भवति, तावत्प्रमाण छिद्र कर्तव्यमिति । ज्यो० २ पाहु० । आचा० । यष्टिविशेषे, चतुर्हस्तप्रमाणयष्टिविशेषरूपाया नालिकायाम्, अनु० । भ० । आत्मप्रमाणाच्चतुरङ्गुलाधिकायां यष्टौ, ओघ० । द्यूतविशेषे, भ० ६ श० ७ उ० । कलम्बुकावृक्षे, सू० प्र० ४ पाहु० ।

णालियाखेड-नालिकाखेल-न० । द्यूतविशेषे, मा भूदिष्टदायाद्विपरितपाशकनिपतनमिति नालिकया यत्र पाशका' पात्यते । जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । ओघ० ।

णाली-नाली-स्त्री० । " डो ल. " । ८ । १ । २०२ । इति डस्य ल. । प्रा० १ पाद । देहस्थायां शिरायाम्, गुच्छस्य काण्डे, नाले, व्रणभेदे, गण्डदूर्वायाम्, षष्टिपलाऽऽत्मके काले, तृणभेदे, वशनालया च । वाच० ।

नाली-स्त्री० । कालमापिकायां घटिकायाम्, जी० ३ प्रति० २ उ० । नि० चू० । आ० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

णावा-नौ-स्त्री० । " नाव्याव. " । ८ । १ । १६४ । इत्यौत आवाऽऽदेश' । प्रा० १ पाद । जलतरणसाधने तरणौ, वाच० । आचा० । बृ० । (नावारोहणप्रकारा. ' णाईत्तार ' शब्देऽत्रैव

भागे १७४६ पृष्ठे दर्शिता । विस्तरस्तु 'पमिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते)

णावापूरग-नौपूरक-पुं० । चुलुके, " तिहिं नावापूरएहिं आयामइ " 'नावापूरओ नाम पसती ।' सू० ।

णावासंतारिम-नौसंतार्य-न० । यत्र नावा तरति तादृशुदके, आचा० १ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० ।

णाविय-नापित-पुं० । नखशोधके वारिके, व्य० ६ उ० । कल्प० ।

नाविक-पुं० । नावा जीवति नाविकः । अनु० । नौवाहके, भ० ५ श० ४ उ० । कैवर्तके, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । " णदो णाम नाविओ गंगाए लोगं उत्तारेइ । " आ० म० १ अ० २ खण्ड । " णाविओ विव नाव ति ।" नाविक इव नाव द्रोणीम् । भ० ५ श० ४ उ० । आ० म० ।

णास-नाश-पुं० । अभावाऽऽपादने, आ० म० १ अ० १ खण्ड । उत्त० । ध्वंसे, विशे० । अभावे, (द्रव्या०)

अथ नाशस्वरूपमाह-

नाशोऽपि द्विविधो ज्ञेयो, रूपान्तरविगोचरः ।
अर्थान्तरगतिश्चैव, द्वितीयः परिकीर्तितः ॥ २५ ॥

नाशोऽपि द्विविधो ज्ञातव्यः, एकस्तत्र रूपान्तरविगोचरः रूपान्तरपरिणामः, द्वितीयस्तु अर्थान्तरगतिरर्थान्तरभावगमनं चेति । तदार्षमप्यदः-

" परिणामो ह्यर्थान्तर-गमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम् ।
न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥ १ ॥
सत्पर्यायेण विनाशः, प्रादुर्भावोऽसता च पर्ययतः ।
द्रव्याणां परिणामः, प्रोक्तः खलु पर्ययनयस्य ॥ २ ॥ "

एतद्वचनं सम्मतिप्रज्ञापनावृत्तिविषयि-कथञ्चित् सद् रूपान्तरं प्राप्नोति, सर्वथा न विनश्यति यत्तद् द्रव्यार्थिकनयस्य परिणामत्वं कथितम् । पूर्वसत्पर्यायेण विनश्यति, उत्तरासत्पर्यायेणोत्पद्यते यत्तत्पर्यायार्थिकनयस्य परिणामत्वं कथितम् । एतदभिप्रायं विचारयतामेको रूपान्तरपरिणामविनाशः, एकश्चार्थान्तरगमनविनाशः, इत्थं विनाशस्यापि भेदद्वयं सपन्नम् ॥२५॥

पुनराह-

तत्रान्धतमसस्तेजो-रूपान्तरस्य संक्रमः ।
अणोरण्वन्तरापातो, ह्यर्थान्तरगमश्च सः ॥ २६ ॥

(तत्र इति) तत्र नाशे अन्धतमसोऽन्धकारस्य तेजोरूपान्तरस्य संक्रम उद्योततावस्थितद्रव्यस्य रूपान्तरपरिणामरूपनाशो ज्ञेयः, च पुनरणोः परमाणोरण्वन्तरापातोऽणोरण्वन्तरसंक्रमो द्विप्रदेशाऽऽदिभावमनुभवन् पूर्वपरमाणुत्वं विगतमित्यनेनाऽर्थान्तरगमः स्कन्धपर्याय उत्पन्नः, तेन कृत्वाऽर्थान्तरगतिरूपनाशस्य स्थितिर्भवति । निष्कर्षस्त्वयम्-यत्रान्धकारस्तत्रापि तदाकारपरमाणुप्रचयो निरन्धनम् समस्ति, तत्रैव पुनरुद्योतपरमाणुप्रचयसंचारनिरस्तान्धकारपरमाणुत्वतत्स्थानतत्स्थपरमाणुसंक्रमिततेजःपरमाणुत्वलक्षणो रूपान्तरसंक्रमो जातः, यथा वा-अवयवानां परमाणूनामवयविस्कन्धत्वसंक्रमेणार्थान्तरत्वोद्भावनयाऽर्थान्तरगतिलक्षणो नाशः समुत्पन्न इति ॥२६॥

पुनराह-

रूपान्तराणुसंबन्धात्, स्कन्धत्वं यद्यणोरपि ।
तत्संयोगविभागाभ्या-मपि भेदप्रबन्धता ॥ २७ ॥

यद्यपि अणो रूपान्तरपरमाणुसंबन्धात् स्कन्धत्वमणुसंबद्धस्कन्धताऽस्ति, तद्धि तथाऽपि संयोगविभागाभ्यां कृत्वा द्रव्योत्पादनाशाभ्यां द्विप्रकाराभ्यामेव भेदप्रबन्धता द्रव्यविनाशेऽपि यमेव ज्ञेयम्, एतदुपलक्षणं ज्ञेयम्, यतो द्रव्योत्पादविभागेन यथा पर्यायोत्पादविभागः, तथा द्रव्यनाशविभागेनैव पर्यायनाशविभागो भवेदिति, ततः समुदायविभागः, तथाऽर्थान्तरगमनं चेति द्वयमेव व्यवह्रियते । तत्र प्रथमः-तन्तुपर्यन्तपटनाशः, द्वितीयः घटोत्पत्तिपर्यन्तमृत्पिण्डाऽऽदिनाशश्च ज्ञेयः । उक्तं च सम्मतितृतीयकाण्डे " विगमस्स वि एस विही, समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो । समुदयविभागमित्तं, अत्थंतरभावगमणं च ॥ ३४ ॥ " इत्यादिगाथया ज्ञेयम् ॥२७॥ द्रव्या० ९ अध्या० ।

न्यास-पुं० । निक्षेपे, विशे० । उत्त० । अनु० । स्था० । नामस्थापनाद्रव्यभावैर्वस्तुनो निक्षेपो न्यासः । स० ।

णासण-नाशन-न० । पलायने, गणादपक्रमणे, राजाऽऽदिभयेनाऽपसर्पणे, ध० ३ अधि० । नृपदावाऽऽदिभयेन चैत्यस्य गर्भगृहाऽऽदिष्वपसर्पणे, प्रव० ३८ द्वार । कर्मप्रकृतेः स्तिबुकसंक्रमणे प्रकृत्यन्तरगमने, आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

न्यासन-न० । व्यवस्थापने, अनु० ।

णासणिएहव-न्यासनिह्नव-पुं० । न्यस्यते रक्षणायान्यस्मै समर्प्यते इति न्यासः सुवर्णाऽऽदिः, तस्य निह्नवोऽपलापः । न्यासापहारे, ध० २ अधि० ।

णासव-नाशि-धा० । नश्-णिच् । अभावाऽऽपादने, "नशेर्विउड-नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः " । ८ । ४ । ३१ । इति ण्यन्तस्य नशेर्नासवाऽऽदेशः । 'णासवइ' नाशयति । प्रा० ४ पाद ।

णासा-नासा-स्त्री० । घोणायाम्, तं० । पञ्चा० । प्रज्ञा० । औ० । आ० म० । गन्धग्राहके द्रव्ये, वाच० ।

णासाणिस्सासज्झोज्झ-नासानिश्वासवाह्य-त्रि० । अतिलघुत्वाद् नासानिश्वासवातवाह्ये, भ० ६ श० ३३ उ० । जी० ।

णासाभेय-नासाभेद-पुं० । नासिकाविवरकरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णासावहार-न्यासापहार-पुं० । न्यासस्य धनधान्याऽऽदिस्थापनिकाया अपहरणमपलापो न्यासापहारः । ध० २ अधि० । स्थूलमृषावादविरते प्रथमेऽतिचारे, स्वामिमित्रविश्वस्तदेवगुरुवृद्धबालधनोदन्यासापहाराऽऽदीनि तु तद्धत्याप्रायाणि महापातकानि सर्वथा विशिष्य वर्जनीयानि । ध० २ अधि० । उत्त० ।

णासि [ण्]-नाशिन्-त्रि० । विनश्वरशीले, स्था० ।

णासिक्कपुर-नासिक्यपुर-न० । पञ्चवटीविभूषितोत्तरकूलाया गोदावर्या दक्षिणकूलस्थे स्वनामख्याते नगरे, आ० क० । आ० म० । आ० चू० । न० ।

" चंदप्पहजिणचंदं, वंदिअ जिअनत्तसय भणिस्सामि ।
नासिअकलिमलनिवहं, नासिक्कपुरस्स कप्पमहं ॥ १ ॥"

"नासिक्कपुरतित्थस्स उप्पत्तिं बंभणाइपरतित्थिया एवं वण्णंति-पुव्विं किर नारयरिसिणा पयया भयवं कमलाऽऽसणो पुट्ठो-

पुष्ठभूमिट्ठाणं कत्थ त्ति ?। कमढाऽऽसरोण भणिअ जत्थेव इमं मज्झ पउम पडिहइ, त चेव पवित्त भूमिट्ठाणं ति । अण्णया विरंचिणा तं पउमं मुक्क, पडिअं मरहट्ठजणवयभूमीए अरुणगंगाहिं नईहिं भूसियाए णाणाविहवणस्सइमणहराए देवभूमिप्पायाए। तत्थ पउमाऽऽसणेण पउमपुर ति नगरं निवेसिय । तत्थ कयजुगे जण्णे आढत्तो पिआमहेण ,मिलिआ सुरा सव्वे, असुरा य इक्कारिज्जता वि नाऽऽगया सुरभएणं । ते भणंति-जइ नयव चंदप्पहसामी अंतरे आगच्छइ, ता अम्हे वीसत्था आगच्छामो, तओ चमक्किअचित्तो चउव्वयणो जत्थ सामी विहरइ तत्थ गतूण पणमिऊण जोडियकरसंपुडो विण्णवेइ—जयवं ! तत्थाऽऽगच्छह, जहा मज्झ कज्ज सिज्झइ । सामिणा भणियमह पडिरूवेणावि तं सिज्झिस्सइ । तओ बंभणा चंदकतिमणिमय बिंब सोहम्मिंदाओ घित्तूण तत्थाऽऽणीय। आगया दाणवा,पारद्धो जण्णमहो अ। तत्थ कारिओ चंदप्पहविहारो पआवइणा, सुरदुवारे य सिरिसुदरो ठाविओ नयररक्खणपुरे। एव तान्न पढमजुगे पउमपुर ति तित्थ पसिद्ध। तेयाजुगे य दासरही रामो सीयालक्खणसजुओ पिउआणाए वणवासं गओ,गोयमगगातीरे पचवडीआसमे चिर वण्णाहारेणं ठिओ । इत्थंतरे रावणभइणी सुप्पणहा तत्थ पत्ता, राम दट्ठूण अज्झोववण्णा पत्थती रामेण पडिसिद्धा लक्खणमुवट्ठिया। तेण तीए नासिया छिण्णा, तत्थ नासिक्कपुर जाय । कमेण सीया रावणेण हरिआ, राहवेण जुद्धे वावाइओ रावणो, विभीसणस्स दिण्णं लकारज्जं, तओ नयरिं पइवलतेण रामेण चंदप्पहसामिणो भवण उद्धरिअ, पसगमुद्धारो। एव णासिक्कपुरे संजाए कालतरे पुण्णभूमिं नाउ आगओ मिहिलाहिंतो तत्थ जणयराओ, तेण य तत्थ दस जण्णा कारिया, जण्णट्ठाणं ति तण्णयरं रूढं ।" (ती०) (नासिक्यपुरस्य जनस्थानमिति नामान्तरं यथा ज्ञातमिति देवजानीवृत्ते ' जणट्ठाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३८७ पृष्ठे द्रष्टव्यम् । तथा 'कुतीविहार' इत्यपि नाम, तद्वक्तव्यता ' कुतीविहार ' शब्दे तृतीयभाग ५७० पृष्ठे गता) इओ अ दीवायणरिसिणा बारवईए दड्ढाए उवक्खीणप्पाए जायववसे वज्जकुमारो नाम जायवखत्तिओ आसि ।तस्स गब्भवई भज्जा, सा बारवईए डज्झमाणीए बहुजत्तिपुव्वं दीवायणरिसिणा मुक्कावित्ता चंदप्पहसामिणं चेव सरणमागया, पुण्णे समए पुत्तवई पुत्त तत्थेव पसूआ,दढप्पहारि त्ति से नाम कयं,सो अ अइक्कतबालभावो सपत्तजुव्वणो जाओ महारहो, इक्केणावि सुभडलक्खेण सम जुद्ध काउ समत्थो। अण्णया तत्थ चोरेहिं गावीओ हरियाओ । ताओ सव्वाओ वि इक्केण दढप्पहारिणा चोरे निगिण्हिऊण वालियाओ। तओ त अइपयडपरिक्कम पासिऊण बभणाइनरलोएणं तस्स तलारचय (?) दिण्ण, निग्गाहिया तेण चोरवरमाइणो, जाओ सो कमेण महाराया । तत्थेव नयरे जायववसस्स भग्ग मूल उव्वरिय ति सबहुमाण चंदप्पहसामिणो तेण भवणमुद्धरिअ । एव तइअजुगे उद्धारो काराविओ । पुव्वि किर कल्लाणकडए नयरे परमड्डी नाम राया रज्ज करेइ। तेण जिणभत्तेण तत्थ पासाए चंदकंतमणिबिंब सोऊण चिंतिअं-अइमेयं बिंब नियनयरे आणिऊण देवयावसरे पूइस्सामि त्ति । तओ कहंचि तव्वइयरं नाउ नासिक्कनयरलोएण तंबमयसंपुडमज्झे तं बिंबं निक्खिविय तदुवरि लेवो दिण्णो, जाया लेवमई पडिमा। तओ रण्णा जिणमंदिरमागएण तं बिंबं न दिट्ठ। पुच्छिओ लोओ। तेण अइक्किए विसण्णे रण्णा चिंतिय-कहं एग चेव लेवपडिम भिंदित्ता मूलबिंबं कड्ढेमि त्ति, तओ नरिंदेण तस्स उद्धार काउं चउवीस गामा देवस्स दिण्णा। ज तेसु दविणमुप्पज्जइ,······(?)। तओ किंचिए व कालतरगए आसण्णवत्तिनयरदेवाहिट्ठियमहादुग्गवप्पगिरिट्ठिओ वाइओ नाम महल्लयखत्तियजाई धरडो आसि, तेण पासाओ पाडिओ, तं सोऊण पल्लीवालवंसावयंससाहुईसरपुत्तमाणिक्कपुत्तेण कुड्डिमरोवररायहसेण साहकुमारसीहेण परमसावएण पासाओ पुण णवो कारिओ । सफलीकय नायागयं नियवित्त, उत्तारिओ अप्पा भवसमुद्दाओ । एवमणेगुद्धारं नासिक्कमहातित्थं अज्ज वि जत्तामहूसवकरणेण आराहिंति चाउद्दिसाओ आगतूण संघा, पभाविंति कलिकालदप्पनिण्णासण भयवओ सासण ति "।

" नासिक्कपुरस्स इमं, कप्पं पोराणपरमतित्थस्स ।
वायंतपढताणं, सपज्जइ वछिया रिद्धी ॥१॥
किंचि परसमइयमुहा, ससमयपारविउमुहाउ तह सोउं ।
सिरिजिणपहसूरीहिं, लिहिओ नासिक्कपुरकप्पो ॥ २ ॥"
इतिश्रीनासिक्यपुरकल्पः । ती० २७ कल्प ।

णासियासिंघाणग–नासिकासिङ्घाणक–न० । घ्राणजमलविशेषे, त० ।

णाह–नाथ–पुं० । " खघथधभां० " । ८ । १ । १८७ । इति थस्य हः । प्रा० १ पाद । प्रभौ, स० १ सम० । योगक्षेमकृति,न० । ज्ञा० । स्वामिनि, स्था० ।

णाहड–नाथ–पु० । मरुदेशे सत्यपुर (साचोर) नगरे श्रीवीरजिनबिम्बकारके गृहपतौ, ती० १६ कल्प ।

णाहल–लाहल–न० । " लाहललाङ्गललाङ्गूले वाऽऽदेर्णः " । ८ । १ २५६ । इत्यादेर्लस्य वा ण । प्रा०१ पाद । म्लेच्छविशेषे, प्रा० ढुं० १ पाद ।

णाहवाइय–नाथवादिक–पुं० । पार्श्वस्थे, पार्श्वस्था नाथवादिकमण्डलचारिणः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

णाहसुतेय–नाथसुतेजस्–पु० । अतीतायामुत्सर्पिण्यां भारतातीतजिने, प्रव० ७ द्वार ।

णाहि–नहि–अव्य० । " किलाऽथवा-दिवा-सहनहेः किराहवइ दिवे सहु नाहिं " । ८ । ४ । ४१६ । इति अपभ्रंशे नहेर्नाहिमादेशः । निश्चिते निषेधे, "पेक्खु गहीरिम सायरओ एक्क वि कणिय नाहिं ओहट्टइ । " प्रा० ४ पाद ।

णाहिय–नास्तिक–पु० । लौकायतिके, स्था० । " धर्म्यंशे नास्तिको ह्येको, बार्हस्पत्यः प्रकीर्तितः । धर्मांशे नास्तिका ज्ञेयाः सर्वेऽपि परतीर्थिकाः ॥ १२५ ॥" नयो० ।

णाहियवाइ (ण्)–नास्तिकवादिन्–पु० । नास्तिचार्वाके जीवनास्तित्वप्रतिपादके, दश० १ अ० ।

णाहियवाय–नास्तिकवाद–पुं० । चार्वाकमताभ्युपगमे, (ग०) धूर्ताऽऽख्यानाऽऽदिवदसबद्धजल्पने, ग० २ अधि० ।

णाहिविच्छअ–देशी–जघने, दे० ना० ४ वर्ग ।

णि–नि–अव्य० । नह-ङिः। नितरामर्थे, विपा० १ श्रु० ९ अ० ।

उत्त० । नैयत्ये, अनु० । निश्चये, आधिक्ये च । उत्त० १ अ० । सूत्र० । आ० चू० । निवेशे, भृशार्थे, नित्यार्थे, संशये, कौशले, क्षेपे, उपरमे, सामीप्ये, आदरे, दाने, मोक्षे, अन्तर्भावे, बन्धने, राशौ, अधोभागे, विन्यासे च । वाच० ।

णिअकल–देशी–वर्तुले, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णिअच्छ–दृश्–धा० । प्रेक्षणे, "दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छा-वयज्झ-वज्ज-सव्ववदेक्खौअक्खावक्खावअक्खपुलोएपुलए-- निआवआससपासा." । ८ । ४ । १८१ । इति सूत्रेण 'निअच्छ' आदेशः । 'निअच्छइ' । पश्यति । प्रा० ४ पाद । दे० ना० ।

णिअमी–देशी–दम्भे, दे० ना० ४ वर्ग २६ गाथा ।

णिअत्थ–परिहिते, दे० ना० ४ वर्ग ३३ गाथा ।

णिअय–देशी–रते, शयनीये, शाश्वते, घटे च । दे० ना० ४ वर्ग ४७ गाथा ।

णिअरिअ–देशी–निकरेण स्थिते, दे० ना० ४ वर्ग ३८ गाथा ।

णिअलं–देशी–नूपरे, दे० ना० ४ वर्ग २८ गाथा ।

णिअंधण–देशी–वस्त्रे, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा ।

णिअंसण–देशी–वस्त्रे, दे० ना० ४ वर्ग ३८ गाथा ।

णिआणिआ–देशी–कुतृणोद्धरणे, दे० ना० ४ वर्ग ३५ गाथा ।

णिआर–देशी–रिपुगृहे, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिइय–नित्य–त्रि० । सदकारणवति, न० । अप्रच्युतानुत्पन्न-स्थिरैकस्वभावे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । परिणामानित्य-तायामपि द्रव्यार्थतया नियते, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

णिइयपिंम–नित्यपिण्ड–पुं० । निमन्त्रितपिण्डे, प० चू० ।

णिउअ–निवृत–त्रि० । "उदृत्वादौ" । ८ । १ । १३१ । इति ऋत उत्वम् । नितरां वृते, प्रा० १ पाद ।

णिउक्क–देशी–तूष्णीके, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिउक्कण–देशी–वायसे, मूके च । दे० ना० ४ वर्ग ५१ गाथा ।

णिउज्जम–निरुद्यम–पुं० । कार्यमात्रोद्यमरहिते, "णिउज्जमा वणगा समणगा पव्वयंति ।" सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णिउज्जमाण–नियोजयत्–त्रि० । व्यापारयति, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णिउड्ड–मस्ज्–धा० । ब्रुडने, "मस्जेराउड्ड णिउड्डबुड्ड-खुप्पाः" । ८ । ४ । १०१ । इति मज्जतेः णिउड्डाऽऽदेशः । णिउड्डइ । मज्जति । प्रा० ४ पाद ।

णिउण–निगुण–त्रि० । नियतगुणे, निश्चितगुणे च । विशे० । सुनिश्चिते, पञ्चा० ४ विव० ।

निपुण–त्रि० । कुशले, इति वृद्धोक्तिः । सूक्ष्मदर्शिनि, उपा० ७ अ० । औ० । आव० । आचा० । सूक्ष्मे, औ० । सूक्ष्मज्ञाने, स्था० ६ ठा० । उपायाऽऽरम्भके, अनु० । नि० चू० । "सुण ताव सूरपन्नत्ति-सिवपणण वित्थरेण ज णिउण ।" निपुणं निपुणमतिगम्यम् । ज्यो० २ पाहु० । रा० । ज्ञा० । "सव्वं च णगरं किच्चा, तवसवरमग्गलं । खंतिं णिउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥ २० ॥" निपुणमिव निपुणम् । उत्त० ९ अ० । उपायविचक्षणे, कल्प० ३ क्षण । संयमानुष्ठानकुशले, दश० २ चू० । सङ्गतोपचारकुशले, औ० । "न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ॥ ५ ॥" उत्त० ३२ अ० । अवगततत्त्वे, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । "निउणगंधव्वगीयरइया ।" निपुणगन्धर्वगीतरतिका -निपुणाः परमकौशलोपेता ये गन्धर्वजातीया देवास्तेषां गीते तत्र रतिर्येषां ते तथा । जी० ३ प्रति० ४ उ० । "निउणगंधव्वसमयकुसलेहिं ।" निपुणं यथा भवति एवं गन्धर्वसमये नाट्यसमये ये कुशलाः । जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

णिउणकुसल–निपुणकुशल–पुं० । निपुणानां मध्ये अतिशयेन कुशले, रा० ।

णिउणणयजुय–निपुणनययुत–त्रि० । सूक्ष्मनीतिसङ्गते, पञ्चा० २ विव० ।

णिउणदिट्ठि–निपुणदृष्टि–स्त्री० । सूक्ष्मबुद्धौ, प० व० ४ द्वार । पञ्चा० ।

णिउणधी–निपुणधी–त्रि० । ६ बहु० । कुशलबुद्धौ, षो० ६ विव० ।

णिउणबुद्धि–निपुणबुद्धि–स्त्री० । सूक्ष्मधियाम्, पञ्चा० ११ विव० ।

णिउणसिप्पोवगय–निपुणशिल्पोपगत–त्रि० । निपुणं यथा भवति एवं शिल्पं क्रियाकौशलमुपगतः । रा० । निपुणानि सूक्ष्माणि यानि शिल्पानि अङ्गमर्दनाऽऽदीनि तान्युपगतोऽधिगतः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । सूक्ष्मशिल्पसमन्विते, उत्त० ५ अ० ।

णिउणिय–नैपुणिक–पुं० । निपुणं सूक्ष्मं ज्ञानं, तेन चरन्तीति नैपुणिकाः । निपुणा एव वा नैपुणिकाः । निपुणज्ञानेषु निपुणेषु, (स्था०)

नव णिउणिया वत्थू पण्णत्ता । तं जहा–"संखाणे निमित्ते काइए, पोराणे पारिहत्थिए । परिपंडिए य वाई य भूइकम्मे तिगिच्छिए" ॥ १ ॥

निपुणं सूक्ष्मं ज्ञानं, तेन चरन्तीति नैपुणिकाः, निपुणा एव वा नैपुणिकाः । (वत्थु त्ति) आचार्याऽऽदिपुरुषवस्तूनि, पुरुषा इत्यर्थः । (सखाणे सिलोगो) सङ्ख्यानं गणितं, तद्योगात् पुरुषोऽपि तथा, सङ्ख्याने वा विषये निपुण इति । एवमन्यत्रापि, नवरं निमित्तं चूडामणिप्रभृति, कायिकं शारीरिकम्, इडापिङ्गलाऽऽदिप्राणतत्त्वमित्यर्थः । पुराणो वृद्धः, स च चिरजीवित्वाद् दृष्टबहुविधव्यतिकरत्वान्नैपुणिकं इति, पुराणं वा शास्त्रविशेषः, तज्ज्ञो निपुणप्रायो भवति ॥ ४ ॥ (पारिहत्थिए त्ति) प्रकृत्यैव दक्षः सर्वप्रयोजनानामकालहीनतया कर्तेति च ॥ ५ ॥ तथा परः प्रकृष्टः पण्डितः प्रपण्डितः, वरपण्डितो बहुशास्त्रज्ञः, परो वा मित्राऽऽदि. पण्डितो यस्य स तथा, सोऽपि निपुणसंसर्गान्निपुणो भवति, वैद्यकृष्णकवदिति । वादी वादलब्धिसम्पन्नो, य परेण न जीयते, मन्त्रवादी धातुवादी वेति । ज्वराऽऽदिरक्षानिमित्तं भूतिदानं भूतिकर्म, तत्र निपुणः । तथा चिकित्सने निपुणः, अथवाऽनुप्रवादाभिधानस्य नवमपूर्वस्य नैपुणिकानि वस्तूनि अध्ययनविशेषा एवेति । स्था० ६ ठा० ।

णिउणोचिय–निपुणोचित–त्रि० । निपुणेन शिल्पिना परिकर्मिते, भ० १ श० ३३ उ० ।

णिउत–नियुत–त्रि० । नितरां सङ्गते, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

णिउत्त-नियुक्त-त्रि० । व्यापारिते,पञ्चा० ८ विव० । आ० म० । उत्त० । उचितव्यापारे,नियोगेनार्पिते,अनु० ।

णिउर-निकुर पु० । वृक्षविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । नूपुर-न० । " इदेतौ नूपुरे वा " ॥ ८ । १ । १२३ ॥ इति ऊत इत्वम् । स्त्रीणां पादाऽऽभरणे, प्रा० १ पाद ।

णिउरंब-निकुरम्ब-न० । समूहे, औ० । जी० । रा० । ज० । ज्ञा० । "रम्मे महामेहनिउरबभूए।" महामेघवृन्दकल्प इत्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णिएल्लग-निजकीय-त्रि० । आत्मीये, " ताहे जा इच्छति सव्वे णिएल्लगा । " आ० म० १ अ० १ खण्ड । °

णिओग-नियोग-पु० । निश्चतो निश्चितो हितो वाऽनुकूलः सूत्रस्याभिधेयेन सह यो योगः सम्बन्ध स नियोग । अनुयोगशब्दस्यार्थे, विशे० ।

अधुना नियोगमाह--

अहिगो जोगो निओगो, जहाऽऽदाहो भवे निदाहो त्ति ।
अत्थनिउत्तं सुत्तं, पसुवइ चरणं जओ मुक्खो ॥

निराधिक्ये, अधिको योगो नियोगो, यथाऽतिदाघो निदाघ', कस्य केन सहाऽऽधिक्यमिति चेत् ?,उच्यते-सूत्रस्यार्थेन । आधिक्येन योगस्य किं फलमिति चेत् ?, अत आह--अर्थेन समधिक्येन नियुक्त सूत्र, चरण चारित्र प्रसूते, यत. ससाराद् मोक्षः ॥

अत्रैव प्रसवने दृष्टान्तमाह--

वच्छनियोगे खीरं, अत्थनियोगेण चरणमेवं तु ।
पत्तग दंमियमुभयं, दमीसरिसो तहिं अत्थो ॥

यथा गौर्वत्सेन नियुक्ता सती क्षीर प्रसूते, एवमर्थेन सम नियुक्त सूत्रं चरण प्रसूते । यदि पुनरेक केवल सूत्र स्यात्त्वार्थस्नेन सगृहीतो भवेत्, ततश्चरणप्रसवस्याभावः; यथा वत्सनियोगाभावे गोक्षीरप्रसवस्याभाव , अर्थोऽपि केवल' सूत्रविहीनो न कार्यसाधको, यथा केवलो वत्स. । अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह-(पत्तगदंमियउभय ति) पत्रक-लेख ,दण्डिका लेखस्योपरि मुद्रानियोगः, उभय-पत्रक, दण्डिका च । इयमत्र भावना- " तिन्नि पुरिसा रायाणमोलग्गति, राया तुट्ठो कस्सिइ नगरे पसाओ कओ। तत्थ एगेण पुरिसेण जे तम्मि नयरे रायपुरिसा, तेसिं जोग पत्तयमाणीय । बिइएण दंमिया चेव केवला । तइएणोभय । तत्थ जेण मुद्दारहित पत्तयमाणीय, सो रायपुरिसेहिं भणिओ-नत्थि पत्तगस्सोपरि मुद्दाविणिओग त्ति न मन्नं सो । बिइओ भाणिओ-अत्थि इय मुद्दा, परं को रण्णा पसाओ कओ, को वा न कओ त्ति ?, न जाणामो त्ति, तम्हा न देमो त्ति । तइएणोभय दरिसिय ति सव्व जहिच्छिय लद्ध । " एष दृष्टान्त. । अयमर्थोपनयः-पत्रकसदृश सूत्र, दण्डिकासदृशोऽर्थ., यथा पत्रक केवल, दण्डिका वा न कार्यस्य प्रसाधिका, उभयं तु साधकम्, एव सूत्रमर्थश्च पृथक् न चरणप्रसाधक., उभय तु प्रसाधकम् । बृ० १ उ० । आ० चू० । व्यापारे,व्य २ उ० । पञ्चा० । अवश्यतायाम्, प० व० ४ द्वार । पञ्चा० । नियमे,प० व० ४ द्वार । द्वा० । पञ्चा० । निश्चिता आज्ञाऽऽदिना कृतव्यापारा यस्य स नियोग. । राजनि, जीत० । ग्रामे, क्षेत्रे च । बृ० १ उ० ।

णिओगपुर-नियोगपुर-न० । नियोगो राजा, तस्य पुरम् । राजधान्याम्, देशे, जनपदे, राज्ये, राष्ट्रे च । जीत० ।

णिओजिय-नियोजित-त्रि० । व्यापारिते. " सोऊण जिणागमण, निउत्तअणिओजियाइएसु वा । " आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिंत-नयत्-त्रि० । निर्गच्छति, नि० चू० १ उ० । आ० म० ।

णिंदंत-निन्दत्-त्रि० । जुगुप्समाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अन्त० ।

णिंदण-निन्दन-न० । मनसा कुत्सने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० । आत्मनैव दोषपरिकुत्सने, भ० १७ श० ३ उ० । पश्चात्तापे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णिंदणा-निन्दना-स्त्री० । निन्द्-ल्युट्, प्राकृते स्वार्थे तत । आत्मनैवाऽऽत्मदोषपरिभावने, उत्त० २ अ० । आत्मसाक्षिकमात्मनो निन्दायाम, उत्त० ।

तत्फलम्-

निंदणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । निंदणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ, पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ, करणगुणसेढिं पडिवन्ने य अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ॥ ६ ॥

हे भदन्त ! निन्दनया जीव. किं जनयति ?। गुरुराह हे शिष्य ! आत्मन. पापस्य निन्दनेन पश्चात्ताप जनयति—हा ! मया दुष्कृत कृतमित्यादि बुद्धिमुत्पादयति । पश्चात्तापेन विरज्यमानो वैराग्य प्राप्नुवन् सन्, करणगुणश्रेणिमपूर्वकरणेन पूर्वं कदापि अप्राप्तेन विशदमन परिणामविशेषगुणश्रेणिं क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते अङ्गीकुरुते, करणगुणश्रेणिं प्रतिपन्नोऽपूर्वगुणश्रेणि. सन् अनगारः साधुर्मोहनीय कर्म दर्शनमोहनीयाऽऽदिकं कर्मोद्घातयते अतिशयेन क्षपयति ॥ ६ ॥ उत्त० २९ अ० ।

णिंदा-निन्दा-स्त्री० । ' णिदि ' कुत्सायाम्, अस्य " गुरोश्च हल " ॥ ३ । ३ । १०३ ॥ इत्यप्रत्यय. । मिथ्यादुष्कृते, आव० ४ अ० । स्वप्रत्यक्षमेव जुगुप्सायाम, पा० । सूत्र० । प्रति० । उत्त० । आ० म० । आव० । "णिंदामि गरिहामि।" निन्दागर्हाऽभिधेयस्यापि जुगुप्सार्थस्य विशेषतो भेदोऽस्ति । तथाहि- स्वप्रत्यक्षाऽऽत्मसाक्षिकी जुगुप्सा, सा समये सिद्धान्ते निन्दामीत्यनेन गम्यते । या तु गुरुप्रत्यक्षा गुरुसाक्षिकी जुगुप्सा, सा गर्हामीत्यनेन शब्देन गम्यते । विशे० ।

सा च नामाऽऽदिभेदत. षोढा भवति । तथा चाऽऽह-

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो खलु णिंदाए, निक्खेवो छव्विही होइ ॥ ६ ॥

तत्र नामस्थापने सुगमे, द्रव्यनिन्दा-तापसाऽऽदीनामनुपयुक्तस्य वा सम्यग्दृष्टेर्वा उपयुक्तस्य वा निह्नवस्याशोभनद्रव्यस्य वेति । क्षेत्रनिन्दा-यत्र व्याख्यायते या क्रियते वा समकस्य वेति । कालनिन्दा-यस्मिन्निन्दा व्याख्यायते वा दुर्भिक्षाऽऽदेर्वा कालस्य । भावनिन्दा-प्रशस्ताप्रशस्तेन द्विभेदा,प्रशस्ता सयमाऽऽद्याचरणविषया,अप्रशस्ता पुनरसयमाऽऽद्याचरणविषयेति । "हा दुट्ठु कय हा दुट्ठु कारिय दुट्ठु अणुमय ह त्ति । अतो बाहिर डज्झइ,सुसिरो व्व दुमो वणदवेण ॥१॥" अथवौघत एवोपयुक्तसम्यग्दृष्टेरिति ।

आव० ४ अ० । (निन्दाया चित्रकरसुतोदाहरण 'गागइ' शब्देऽत्रैव भागे १७७५ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

णिंदाचाग-निन्दात्याग-पुं० । परिवादापनोदे; द्वा० १२ द्वा० ।

णिंदित्ता-निन्दित्वा-अव्य० । जुगुप्सित्वेत्यर्थे, " णिंदित्ता गरहित्ता पमिक्कमित्ता अहारिह उत्तरगुण पायच्छित्त । " आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० ।

णिंदिया-निन्दिता-स्त्री० । एकदा विजातीयतृणाऽऽद्यपनयनेन शोधितायां कृषौ, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णिंब-निम्ब-पुं० । 'नीबमा' इति ख्याते वृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । तत्फले, न० । उज्जयिन्याममर्षिद्विजपुत्रे मालुकाऽऽत्मजे, स च पित्रा सह प्रव्रजितो दुर्विनीतत्वेन साधुभिस्तिरस्कृत इति विनयोपगते उदाहरणम् । आ० क० । आव० ।

णिंबम्र-निम्बक-पुं० । अभिप्रायवशाद् निम्बक इति नामाभिधेये, अनु० ।

णिंबोलिया-निम्बगुलिका-स्त्री० । निम्बफले, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णिकरण-निकरण-न० । निश्चयेन नितरां नियतं वा क्रियन्ते नानाडु खावस्था जन्तवो येन तन्निकरणम् । निकारे, शारीरमानसदुःखोत्पादने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

णिकाइय-निकाचित-त्रि० । निर्युक्तिसग्रहणीहेतूदाहरणाऽऽदिभिरनेकधा व्यवस्थापिते, न० । नितरां काचन बन्धन निकाचितम् । कर्मण सर्वकरणानामयोग्यत्वेनावस्थापने, पूर्वबद्धस्य तप्तमिलितसकुटितलोहशलाकासबन्धसमाने करणे, स्था० । "चउव्विहे निकाइए पण्णत्ते । त जहा-पगइनिकाइए, ठिइनिकाइए, अणुभागनिकाइए, पएसनिकाइए । " स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णिकाइंसु-निकाचितवत्-त्रि० । नितरा बद्धवति, भ० १ श० १ उ० । नियमितवति, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

णिकाम-निकाम-न० । अत्यर्थे, निश्चये, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णिकामकामीण-निकामकामीन-न० । निकाममत्यर्थं प्रार्थयते य स निकामकामीन । आहारोपकरणाऽऽदिकस्यार्थस्य प्रार्थके, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णिकामचारि [ण्]-निकामचारिन्-त्रि० । निकाममत्यर्थं चरति तच्छीलश्च निकामचारी । आधाकर्माऽऽदीनां तन्निमित्तनिमन्त्रणाऽऽदीनां वा ग्रहणशीले, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णिकाय-निकाय-पुं० । निसर्गत काय औदारिकाऽऽदिर्यस्माद् यस्मिन् वा सति स निकायः । मोक्षे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । समूहे, ओघ० । आ० चू० । गणकायनिकायस्कन्धवर्गराश्यादीनि च स्कन्धैकार्थिकानि । विशे० ।

साम्प्रत निकायपद व्याचिख्यासुराह निर्युक्तिकृत-

णामं ठवण सरीरे, गई निकायऽत्थिकाय दविए य ।
माउग पज्जव संगह-भारे तह भावकाए य ॥२०७॥

नामस्थापने क्षुण्णे । शरीरकाय शरीरमेव तत्प्रायोग्याऽणुसघाताऽऽत्मकत्वात् । गतिकायो यो भवान्तरगतौ; स च तैजसकार्मणलक्षण. । निकायकाय. षड्जीवनिकाय. । अस्तिकायो धर्मास्तिकायाऽऽदिः । द्रव्यकायश्च त्र्यादिघटाऽऽदिसमुदायः । मातृकाकायस्त्र्यादीनि मातृकाऽक्षराणि । पर्यायकायो द्विधा जीवाऽजीवभेदेन-जीवपर्यायकायो ज्ञानाऽऽदिसमुदाय., अजीवपर्यायकायो रूपाऽऽदिसमुदाय. । सग्रहकायः सग्रहैकशब्दवाच्यः, त्रिकटुकाऽऽदिवत् । भारकाय. कापोती । वृद्धास्तु व्याचक्षते-

एको काओ दुहा जाओ, एगो चिट्ठइ एगो मारिओ ।
जीवंतो मएण मारिओ, तल्लव माणव केण हेउणा ? ॥२०८॥

तदाहरणम्-" एगो काहरो तलाए दो घडा पाणियस्स भरेऊण कावोडीए वहति, सो एगो आउक्कायकाओ दोसु घडेसु दुहा कओ । तओ सो काहरो गच्छतो पक्खलिओ, एगो घडो भग्गो । तम्मि जो आउक्काओ सो मओ । इयरम्मि जीवति; तस्स अभावे सो वि भग्गो । ताहे सो तेण पुव्वमएण मारिओ त्ति भण्णति । अहवा-एगो घमो आउक्कायभरिओ; ताहे तमाउक्काय दुहा काऊण अद्धो ताविओ, सो मओ । अताविओ जीवति । ताहे सो वि तत्थेव पक्खित्तो । तेण मएण जीवतो मारिओ त्ति । एस भारकाओ गओ । " भावकायश्चौदारिकाऽऽदिसमुदाय' । इह च निकाय' काय इत्यनर्थान्तरमिति कृत्वा कायनिक्षेप इत्यदुष्ट एवेति गाथाऽर्थ. ॥ २८८ ॥

इत्थं पुण अहिगारो, निकायकाएण होइ सुत्तम्मि ।
उच्चरियअत्थसरिसा-ण कित्तणं सेसगाणं पि ॥२०९॥

अत्र पुन. सूत्रे इति प्रयोग., सूत्र इत्यधिकृताध्ययने । किमित्याह-अधिकारो निकायकायेन भवति । अधिकार. प्रयोजनम्, शेषाणामुपन्यासवैयर्थ्यमाशङ्क्याऽऽह-उच्चरितार्थसदृशानामुच्चरितो निकाय., तदर्थतुल्यानां, कीर्तन सशब्दनम् , शेषाणामपि नामाऽऽदिकायानां व्युत्पत्तिहेतुत्वात् प्रदेशान्तरोपयोगित्वाच्चेति गाथाऽर्थ ॥ २८६ ॥ दश० ४ अ० ।

कायमणिओ वि वुच्चइ, बद्धमवि निकायमाहंसु ।

बद्धमपि किञ्चिल्लेखाऽऽदिनिकायम्, (आहसु त्ति) निकाचितमाख्यातवन्त. । आव० ५ अ० । षड्जीवनिकायवत्निकाय. । आवश्यके, अनु० । (असुराऽऽदिनिकायेन्द्राणां, सौधर्माऽऽदिदेवलोकेन्द्राणां च नामानि ' इद ' शब्दे द्वितीयभागे ५३५ पृष्ठे द्रष्टव्यानि)

निकाच-पुं० । निकाचनं निकाचः । बन्धने, निमन्त्रणे, स० १२ सम० ।

निकाच्य-अव्य० । व्यवस्थाप्येत्यर्थे, "णिकाय समय पत्तेयं पत्तेय पुच्छिस्सामो । " आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

णिकायकाय-निकायकाय-पुं० । षड्जीवनिकाये, दश० ४ अ० ।

निकायकाय प्रतिपाद्यते-

णिययमहिगो व काओ, जीवनिकाओ निकायकाओ उ ॥७॥

नित्य' कायो निकायः, नित्यताऽस्य त्रिष्वपि कालेषु भावात् । अधिको वा कायो निकाय.; यथाऽधिको दाहो निदाह इति । आधिक्य चास्य धर्माधर्मास्तिकायापेक्षया सभेदापेक्षया वा । तथाहि-एकाऽऽदयो यावदसख्येया पृथिवीकायिकास्तावत्कायः स एव सजातीयान्यप्रदेशापेक्षया निकाय इति, एवमन्येष्वपि विभावनीयमित्येव जीवनिकाय सामान्येन निकायकायो भण्यते । अथवा-

जीवनिकायः पृथिव्यादिभेदभिन्नः षड्विधोऽपि निकायो भण्यते, तत्समुदाय एव च निकायकाय इति । आव० ४ अ० ।

णिकायणा-निकाचना-स्त्री० । 'कच' बन्धने । नितरां कच्यते स्वयमेव बन्धमायाति कर्म जीवस्य तथाविधसंक्लिष्टाध्यवसायपरिणतस्य, तत्प्रयुङ्क्ते जीव एव,तथानुकूल्येन प्रवनात्,ततः 'प्रयोक्तृव्यापारे णिच्' (श्रीम०श्रा०*६४) ततो निकाच्यते अवश्यवेद्यतया निबध्यते यया कर्म सा निकाचना । जीववीर्यविशेषपरिणतिरूपे समस्तकरणाऽयोग्यत्वेन व्यवस्थापने,क०प्र०। सूत्र०।

सम्प्रति निधत्तिनिकाचनाकरणे प्रतिपिपाद-
यिषुराह-

देसोवसमणतुल्ला, होइ निहत्ती निकाइया नवरं ।
संकमणं पि निहत्ती-एँ नत्थि सेसाण वियरस्स ॥१॥

(देसोवसमण त्ति) निधत्तिनिकाचना च देशोपशमनातुल्या । इदमुक्तं भवति-ये देशोपशमनाया भेदाः, ये च स्वामिनः, ते अन्यूनातिरिक्ता निधत्तिनिकाचनयोरपि वेदितव्याः । नवरम् अयमत्र निधत्तिनिकाचनयोरिति सक्रमणमपि परप्रकृतिसंक्रमणमपि, अपिशब्दादुदीरणाऽऽदीन्यपि निधत्तौ गत्यानभवन्ति, अपवर्तनाऽपवर्तने पुनर्भवत एव, इतरस्यां निकाचनायां शेषे अपि उद्वर्तनापवर्तने अपि न भवतः । सकलकरणायोग्य निकाचितमित्यर्थः ॥७२॥

इह यत्र गुणश्रेणिस्तत्र प्रायो देशोपशमनानिधत्तिनिकाचनायथाप्रवृत्तसंक्रमा अपि संभवन्ति, ततस्तत्रा-
ऽल्पबहुत्वमाह-

गुणिसेढिपएसग्गं, थोवं पत्तेगसो असंखगुणं ।
उवसामणाइ तीसु वि, संकमणेऽहप्पवत्ते य ॥ २ ॥

(गुणसेढि त्ति) गुणश्रेणिप्रदेशाग्रं स्तोकम् । ततः प्रत्येकशः प्रत्येकं प्रत्येकमुपशमनाऽऽदिषु त्रिषु यथाप्रवृत्ते च संक्रमणे असंख्येयगुणं वक्तव्यम् । इयमत्र भावना-यस्य तस्य वा कर्मणो गुणश्रेणिप्रदेशाग्रं सर्वस्तोकम्, ततो देशोपशमनायाममसंख्येयगुणम् । ततो निधत्तमसंख्येयगुणम् । ततोऽपि निकाचितमसंख्येयगुणम् । ततोऽपि यथाप्रवृत्तसंक्रमेण संक्रान्तमसंख्येयगुणम् ।२। क०प्र० ७+८प्रक०। पञ्चसं०। स्था०। "इत्थेव महव्वयउच्चारण णिकायणा ।" निकाचनेव निकाचना, स्वमतप्रतिपत्तिदृढतरनिबन्ध इत्यर्थः । शुभकर्मणां वा निकाचनाहेतुत्वान्निकाचनेयमुच्यते, न च सरागसंयमिनामयमर्थो घटत इति । पा० । ध०। दापने, "निकायण त्ति वा दावण त्ति वा एगट्ठा ।" नि०चू०५ उ० । " जं मासातिआरोवणाए विहीणधियाए वा जहा महाए आरोवणाए आरोवयति, तं णिकाइतं भण्णति ।" नि० चू० २० उ० ।

णिकायपडिवण्ण-निकायप्रतिपन्न-त्रि० । निर्गतः काय औदारिकाऽऽदिर्यस्माद् यस्मिन् वा सति स निकायो मोक्षः, तं प्रतिपन्नो निकायप्रतिपन्नः । सम्यग्दर्शनाऽऽदेः स्वशक्त्यनुष्ठानाद् मोक्षं प्रतिपन्ने, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

*श्रीमत्प्रणीत रुचिरतरमस्यैव शब्दानुशासन सवृत्तिकं,तत्र नामाऽऽख्यातकृदाख्य यथार्थाख्य प्रकरणत्रय क्रमेण नवदशषट्पादप्रमाणम्, ततश्चात्र श्रीमलयगिरिपूज्यपादकृतप्रकरणपादमूत्रसंख्यासूचन क्रमेणावसेयमध्यवसितवाङ्मयसारैः ।

णिकिंचण-निष्किञ्चन-त्रि० । निर्गतं किञ्चन हिरण्याऽऽदि येभ्यस्ते निष्किञ्चनाः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिकूड-निष्कूट-त्रि० । अभावे, आव० ५ अ० ।

णिकेअ-निकेत-पुं० । निवासे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । गृहे, उत्त० २ उ० ।

णिक्क-देशी-सर्वथा विगतमले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

निष्क-पुं० । न०। निश्चयेन कायति कै-क । शास्त्रीयषोडशमाषकपरिमितसुवर्णनामष्टाधिकशते, व्यवहारिकरूपके दीनारे, (टाका) । चतुःसुवर्णपरिमिते पलपरिमाणे मानभेदे, योमगदृम्मे (कादन) परिमाणे, वक्षोभूषणे, हेमपात्रे, च । वाच० ।

णिक्कअ-निष्क्रय-पुं० । न विद्यते क्रयो यस्य सः । "कगटडतदपशषसःक्र्पामूर्ध्वं लुक्" । ८ । २ । ७७ । इति षलुक् । "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" । ८ । २ । ७६ । इति रलुक्, अनादौ द्वित्वम् । "कगचजतदपयवां प्रायो लुक्" । ८ । १ । १७७ । इति यलुक् । प्रा० २ पाद । "क्कस्क्रयोर्नाम्नि" । ८ । २ । ४ । इति सूत्रेण, नाम्नि ति तत्र विशेषणात् । क्रयरहिते,प्रा० २ पाद ।

णिक्कंकड-निष्कङ्कट-त्रि० । निष्कञ्चुके,निरावरणे,निरुपघाते,स०।

णिक्कंकडच्छाय-निष्कङ्कटच्छाय-त्रि० । निष्कङ्कटा निष्कवचा निरावरणा निरुपघातेति भावः । छाया दीप्तिर्यस्य तन्निष्कङ्कटच्छायम् । रा० । जं० । औ० । निरावरणदीप्तौ, औ० । स० । प्रज्ञा० । रा० । स्था० । जी० । ज० ।

णिक्कंखिय-निष्काङ्क्षित-न० । काङ्क्षितं देशसर्वकाङ्क्षाऽऽत्मकं,तस्याभावो निष्काङ्क्षितम् । अन्यान्यदर्शनानभिलाषे, उत्त० २८ अ० । प्रव० । निर्गता काङ्क्षाऽन्यान्यदर्शनग्रहणरूपा यस्माऽसौ निष्काङ्क्षितः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । देशसर्वकाङ्क्षारहिते, ध० १ अधि० । ग० । व्य० । रा० । औ० । दर्शनान्तराऽऽकाङ्क्षारहिते, दशा० १० अ० ।

णिक्कंत-निष्क्रान्त-त्रि० । प्रव्रज्यां गृहीतवति, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

णिक्कंतार-निष्कान्तार-न० । कान्तारमरण्यं, निर्गतं कान्ताराद् निष्कान्तारं । कान्ताराग्निष्क्रान्ते, " कंताराओ णिक्कंतारं करेज्जा ।" निष्कान्तारं निष्क्रामितारं वा । स्था०३ ठा० १ उ० ।

णिक्कंप-निष्कम्प-पुं० । दृढे, द्वा०६ द्वा०। स्थिरचित्तवृत्तौ, बृ० ।

अथ निष्कम्पताद्वारमाह-

णाणाऽऽणत्तीएँ पुणो, दंसणतवनियमसंजमे ठिच्चा ।
विहरइ विसुज्झमाणो, जावज्जीवं पि णिक्कंपो ॥

ज्ञानस्य या आज्ञप्तिरादेशः-"जाएँ सद्धाएँ निक्खंतो, तामेव अणुपालए ।" इत्यादिकं, तया दर्शनप्रधाने तपोनियमरूपे संयमे स्थित्वा कर्ममलेन विशुद्ध्यमानः सन् यावज्जीवमपि निष्कम्पः स्थिरचित्तवृत्तिर्विहरति संयमाध्वनि गच्छतीति । बृ० १ उ० ।

णिक्कज्ज-देशी-अनवस्थिते, दे० ना० ४ वर्ग ३३ गाथा ।

णिक्कट्ठ-निकृष्ट-त्रि० । निष्कर्षिते, तपसा कृशदेहे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णिक्कुट्ठ-त्रि० । तपसा कृषीकृते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णिक्कम-देशी-कठिने, दे० ना० ४ वर्ग २९ गाथा ।

णिक्कमण-निष्क्रमण-न० । प्रव्रज्यायाम्, आचा० १ श्रु० ९ अ० ६ उ० । वृ० । निर् + क्रम-ल्युट् । बहिर्गमने, चतुर्थे मासि शिशोः कर्त्तव्ये संस्कारभेदे च । "चतुर्थे मासि कर्त्तव्य, शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।" इति मनु० । वाच० ।

णिक्कम्म-निष्कर्मन्-पुं० । निष्क्रान्तः कर्मणो निष्कर्मा । मोक्षे, सम्वरे, ग्राचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

णिक्कम्मदंसि [ण्]-निष्कर्मदर्शिन्-त्रि० । निष्कर्मा मोक्ष, सम्वरो वा, तं द्रष्टुं शीलमस्येति निष्कर्मदर्शी । मोक्षसम्वरतत्त्वदर्शिनि, " णिक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं कम्माणि सफलाणि दट्ठु ।" आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । निष्कर्माणमात्मानं पश्यतीति तच्छीलश्च निष्कर्मदर्शी । कर्मबन्धनविप्रमुक्ते, " पलिच्छियाण णिक्कम्मदंसी ।" निष्कर्मत्वादपगताऽऽवरणः सर्वज्ञानी सर्वदर्शी च भवति । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

णिक्कल-निष्कल-त्रि० । त्रासाऽऽदिदोषरहिते, भ० १५ श० ।

णिक्करुण-निष्करुण-त्रि० । निर्गता करुणा दया यस्मादसौ निष्करुणः । स्नेहविरहिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिक्कवय-निष्कवच-त्रि० । निरावरणे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णिक्कमण-निष्क्रमन-न० । निर्गमने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

णिक्कसाय-निष्कषाय-त्रि० । कषायरहिते, आतु० । आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति त्रयोदशे तीर्थङ्करे, ती० २० कल्प । स० । प्रव० ।

णिक्कसिज्जंत-निष्कास्यमान-त्रि० । निर्वास्यमाने, निःसार्यमाणे, उत्त० १ अ० ।

णिक्काम निष्काम-त्रि० । शुभरसगन्धाऽऽद्युपभोगरहिते, वृ० १ उ० ।

णिक्कारण-निष्कारण-न० । ग्लानाऽऽदिकारणाभावे, आव० ६ अ० । व्य० ।

णिक्कामिय-निष्कामित-त्रि० । विनिर्गते, औ० ।

णिक्किंचण-निष्किञ्चन-त्रि० । 'णिक्किंचण' शब्दार्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिक्किय-निष्क्रिय-त्रि० । सर्वव्यापित्वेनावकाशाभावाद् गमनागमनाऽऽदिक्रियावर्जिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । पो० ।

आत्मा निष्क्रिय इति साङ्ख्या -

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया ? ।
तमाओ ते तमो जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ॥ १४ ॥

ये एते अकारकवादिन आत्मनोऽमूर्तत्वमित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यो निष्क्रियत्वमेवाभ्युपपन्ना, तेषां य एष लोको जरामरणशोकाऽऽक्रन्दनहर्षाऽऽदिलक्षणो नरकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिरूप, सोऽयमेवंभूतो निष्क्रिये सत्यात्मन्यप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे कुतः कस्माद्धेतोः स्यात् ?, न कथञ्चित्कुतश्चित्स्यादित्यर्थः । ततश्च दृष्टेष्टबाधारूपात्तमसोऽज्ञानरूपात्ते तमोऽन्तरं निकृष्टं यातनास्थानं यान्ति । किमिति ?, यतो मन्दा जडा प्राण्युपकारका, आरम्भनिश्रिताश्च ते इति ।१४।

अधुना निर्युक्तिकारोऽकारकवादिमतनिराकरणार्थमाह-

को वेएई अकयं, कयनासो पंचहा गई नऽत्थि ।
देवमणुस्सगयागइ,जाईसरणाऽऽइया च ण हि ॥ ३४॥ नि० ।

(को वेएईत्यादि) आत्मनोऽकर्तृत्वात्कृतं नास्ति, ततश्चाकृतं को वेदयते ? । तथा निष्क्रियत्वे वेदनक्रियाऽपि न घटां प्राञ्चति । अथाऽकृतमप्यनुभूयेत, तथा सत्यकृताऽऽगमकृतनाशाऽऽपत्तिः स्यात् । ततश्च एककृतपातकेन सर्वप्राणिगणो दुःखितः स्यात्, पुण्येन च सुखी स्यादिति । न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । तथा व्यापित्वान्निष्क्रियत्वाच्चाऽऽत्मनः पञ्चधा पञ्चप्रकारा-नारकतिर्यङ्मनुष्यामरमोक्षलक्षणा गतिर्न भवेत् । ततश्च भवतां साङ्ख्यानां काषायचीवरधारणशिरस्तुण्डमुण्डनदण्डधारणभिक्षाभोजित्वपञ्चरात्रोपदेशानुसारयमनियमाऽऽद्यनुष्ठानम्, तथा-" पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः । जटी मुण्डी शिखी वाऽपि, मुच्यते नात्र संशयः ॥ १ ॥ " इत्यादि सर्वमपार्थकमाप्नोति । तथा-देवमनुष्याऽऽदिषु गत्यागती न स्याताम्, सर्वव्यापित्वादात्मनः । तथा नित्यत्वाच्च विस्मरणाभावाद् जातिस्मरणाऽऽदिका च क्रिया नोपपद्यते, तथाऽऽदिग्रहणात् प्रकृतिः करोति, पुरुष उपभुङ्क्ते इति भुजिक्रिया या समाश्रिता, साऽपि न प्राप्नोति । तस्या अपि क्रियात्वादिति । अथ मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोग इति चेत्, एतदपि निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, वाङ्मात्रत्वात्, प्रतिबिम्बोदयस्यापि च क्रियाविशेषत्वादेव । तथा नित्ये चाविकारिण्यात्मनि प्रतिबिम्बोदयस्याऽभावाद्यत्किञ्चिदेतदिति ॥ ३४ ॥

ननु च भुजिक्रियामात्रेण, प्रतिबिम्बोदयमात्रेण च यद्यप्यात्मा सक्रियः, तथापि न तावन्मात्रेणाऽस्माभिः सक्रियत्वमिष्यते, किं तर्हि समस्तक्रियावत्त्वे सतीत्येतदाशङ्क्य निर्युक्तिकृदाह-

ण हु अफलथोवऽणिच्छित-ऽकालफलत्तणमिहं अदुमहेऊ ।
णादुक्खथोवदुक्ख-त्तणेण ऽणावित्तणे हेऊ ॥३५॥ नि० ।

(ण हु अफलेत्यादि) न हु नैवाऽफलत्वं द्रुमाभावे साध्ये हेतुर्भवति । न हि यदैव फलवांस्तदैव द्रुमोऽन्यदा त्वद्रुम इति भावः । एवमात्मनोऽपि भुजाऽऽद्यवस्थायां यद्यपि कथञ्चिन्निष्क्रियत्वं,तथाऽपि नैतावता त्वसौ निष्क्रिय इति व्यपदेशमर्हति । तथा स्तोकफलत्वमपि न वृक्षाभावसाधनायालम्, स्वल्पफलोऽपि हि पनसाऽऽदिर्वृक्षस्य व्यपदेशभाग्भवति । एवमात्माऽपि स्वल्पक्रियोऽपि क्रियावानेव । कदाचिदेवं मतिर्भवतो भवेत्-स्तोकक्रियो निष्क्रिय एव । यथैककार्षापणधनो न धनित्वमास्कन्दत्येवमात्माऽपि स्वल्पक्रियत्वादक्रिय इत्येतदप्युपचार । यतोऽयं दृष्टान्त प्रतिनियतपुरुषापेक्षया चोपगम्यते, समस्तपुरुषाऽपेक्षया वा ? । तत्र यद्याद्य पक्ष, तदा सिद्धसाध्यता । यत -सहस्राऽऽदिधनवदपेक्षया निर्धन एवासौ । अथ समस्तपुरुषापेक्षया । तदसाधु । यतोऽन्यान् जरच्चीवरधारिणोऽपेक्ष्य कार्षापणधनोऽपि धनवानेव । तथाऽऽत्मापि यदि विशिष्टसामर्थ्योपेतपुरुषक्रियाऽपेक्षया निष्क्रियोऽभ्युपगम्यते, न क्वाचित्क्षतिः । सामान्यापेक्षया तु क्रियावानेवेत्यसमतिप्रसङ्गेन । एवमनिश्चिताकालफलत्वाऽऽद्यहेतुद्वयमपि न वृक्षाभावसाधकमित्यादि योज्यम् । एवमदुःखत्वस्तोकदुःखत्वरूपावपि हेतू

न गोत्वाज्ञात्वं साधयतः । उक्तन्यायेनैव दार्ष्टान्तिकयोजना कार्येति ॥ ३५ ॥ सूत्र० नि० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

णिक्किव–निष्कृप–त्रि० । कृपारहिते, गतघृणे, प० व० ४ द्वार । नि० चू० ।

निष्कृपमाह–

चंकमणाऽऽईसत्तो, सुनिक्किवो थावराऽऽइसत्तेसु ।
काउं च नाणुतप्पइ, एरिसओ निक्किवो होइ ॥

स्थावराऽऽदिसत्त्वेषु चङ्क्रमणं गमनम, आदिशब्दात् स्थानशयनाऽऽसनाऽऽदिक सक्तः क्वचित्कार्यान्तरे व्यासक्तः सन् सुनिष्कृप. सुष्ठु गतघृणो, नि.शूकः करोतीति शेषः,कृत्वा च तेषु चङ्क्रमणाऽऽदिक नानुतप्यते,केनचिन्नोदितः सन् पश्चात्तापपुरस्सरमिथ्यादुष्कृत न ददातीत्यर्थः । ईदृशो निष्कृपो भवति । इदं निष्कृपस्य लक्षणमिति भावः । बृ० १ उ० । " णिक्किव ! अकयण्णुय ! " निष्कृप ! मम दुःखिताया अप्रतीकारात्, अकृतज्ञ ! मदीयोपकारस्यानपेक्षणात् । ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

णिक्कीलिय–निष्क्रीडित–न० । गमने, प्रव० २७१ द्वार । औ० । अन्त० ।

णिक्कुड–निष्कुट–पुं० । तापनायाम्, अनु० । आ० म० ।

णिक्कोरण–निष्कोलन–न० । दु.सहस्य वस्तुनोऽपनयने, नि० चू० ।

जे भिक्खू पादं णिक्कोरेइ, कोरावेइ, कोरियमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥४६॥

मुहस्स अवणयण णिक्कोरण, त झुसिर त्ति काऊण चउलहुं ।

गाहा–

कयमुहे अकयमुहे वा, दुविहा णिक्कोरणाऽनुपायम्मि ।
मुहकारणे य एव, चउरा भंगा मुणेयव्वा ॥ १८८ ॥

पुव्वद्ध कंठं । भायणस्स मुहकारणे, णिक्कोरणे य चउभंगा ।

गाहा–

मुहकोरण समणट्ठा, वितिए मुह ततिएँ कोरणं समणे ।
दो गुरु ततिए सुत्तं, दोहि गुरु तवेण कालेणं ॥१८९॥

तत्थ भायणस्स मुह समणट्ठा कय,समणट्ठाए णिक्कोरियं । वितियभगे समणट्ठाए मुह कय, आयट्ठाए णिक्कोरित । ततियभगे आयट्ठाए मुह कयं, समणट्ठाए णिक्कोरितं । चरिमे उभयं त पि आयट्ठाए । एत्थ आदिमेसु दोसु भगेसु चउगुरुगा-पढमबितियभंगेसु चउगुरुगा । ततियभंगेसु सुत्तनिवातो, चउलहुमित्यर्थः । पढमभंगे दोहि वि तवकालेहिं विसिट्ठो, वितियभगे तवगुरू, ततियभगे कालगुरू, चउत्थभगे बीयरहिए वि झुसिर ति काऊण चउलहुं भवति ।

गाहा–

एतेसामण्णतरं, पायं जो तिविहकरणजोगेणं ।
णिक्कोरेती भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥१९०॥

आणादी दोसा; कुंथुमाऽऽदिविराहणे संजमविराहणा; सत्थमादिणा लग्गिते आयविराहणा । तत्थ परितावणाऽऽदिणिप्फण्ण । जम्हा एवमाई दोसा, तम्हा जहाकड मग्गियव्व, तस्स अभावे अप्पपरिकम्म ।

एत्थ इमो अववातो । गाहा–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
सेहे चरित्तसावय-भए व जयणाएँ णिक्कोरे ॥ १९१ ॥

जत्थ अहाकडं लब्भति, तत्थ असिवाऽऽदिकारणेहिं आगच्छंतो अप्पबहु परिकम्म जयणाए णिक्कोरेइ ।

गाहा–

जति नाम पुव्वसुद्धे, कोरिज्जंतम्मि वितिएँ ततिए वा ।
ति पंच सत्त वीया, होज्जा सुद्धं तहा वि गता ॥१९२॥

पुव्व गहणकाले सुद्धे पच्छा कोरिज्जते (वितिए त्ति) अप्पपरिकम्मे (ततिए त्ति) बहुपरिकम्मे, जति तिण्णि पंच वा सत्त वा वितिया होज्जा तहा वि सुद्ध । नि० चू० १४ उ० । यत्पुनः पात्रस्य मुखकरणानन्तर तदभ्यन्तरवर्तिनो गिरस्योत्कीरण तन्निष्कोर (ल) णमभिधीयते । बृ० १ उ० ।

णिक्ख–निष्क–न० । " ष्कस्कयोर्नाम्नि " ॥ ८ । २ । ४ ॥ इति ष्कभागस्य ख. । सुवर्णे, प्रा० २ पाद ।

णिक्खंत–निष्क्रान्त–त्रि० । ससाराद् गृहाद्वा नि.सृते, उत्त० १८ अ० । प्रव्रजिते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । अनु० । प्रव्रज्याप्रतिपत्त्या गृहवासान्निर्गते, हा० २७ अष्ट० ।

णिक्खत्त–निःक्षत्र–त्रि० । क्षत्रियजातिविहीने, परशुरामेण त्रिःसप्तकृत्वो निःक्षत्रिया पृथिवी कृता । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

णिक्खम–निष्क्रम–न० । निष्क्रमणं निष्क्रमः । प्रव्रज्यायाम्,इह च क्लीबत्वं,नपुंसकता च प्राकृतत्वात् । निष्क्रमणमेव प्रवलानां सुखम् । सुखभेदे, स्था० १० ठा० । भ० । द्रव्यभावगृहात्प्रव्रज्याग्रहणे, दश० १० अ० ।

णिक्खमण–निष्क्रमण–न० । सूर्याचन्द्रमसोः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद् बहिर्गमने, सू० प्र० १३ पाहु० । द्रव्यभावसङ्गाद् निष्क्रान्तिरूपप्रव्रज्यायाम् , प० व० १ द्वार । अन्त० । बृ० । अगारवासान्निर्गमे, पञ्चा० ६ विव० । बहिर्गमने, नि० चू० १ उ० । उद्वर्तने, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

णिक्खमणचरियाणिबद्ध–निष्क्रमणचरितानिबद्ध–न० । भगवतो महावीरस्वामिनोऽन्येषां च प्रव्रज्यामहोत्सवचरितनिबद्धे नाट्यविधौ, रा० ।

णिक्खमणपवेस–निष्क्रमणप्रवेश–पुं० । निर्गमनागमनयोः, नि० चू० ।

जे भिक्खू तं पडुच्च णिक्खमइ वा, पविसइ वा, णिक्खमंतं वा पविसंतं वा साइज्जइ ॥१४॥

(पडुच्च त्ति) आहे सो गिहत्थो काइयादि णिग्गच्छति, ताहे संजतो चिंतेति-एस काइय गतो, अहमवि एयणिस्साए काइय गच्छामि, उट्ठवेहि वा एहिं वच्चामो ।

गाहा–

संवासे जे दोसा, णिक्खमणे पवेसणम्मि ते चेव ।
णातव्वा तु मतिमता, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥११५॥

जे सवासे अधिकरणाऽऽदी दोसा भवति, ते णिग्गच्छते वि ।

इमे अधिकतरा । गाहा–

गिहिसहितो ती संका, आरक्खिगमादिगेण्हणाऽऽदीया ।
उभयाचरणे दवाऽसति,अवण्ण अपमज्जणाऽऽदीया ॥११६॥

गिहत्थसहितो त्ति काउं चोरपारदारिओ त्ति काउं जाहे संका भवति,ताहे दमपासियाऽऽदीहिं गेण्हणाऽऽदी दोसा। काइयसण्णा उभय ते वोसिरंतो दवावि। असतीए उड्डाहो। लोगो अवसं भासति, पादपमिलाऽऽदी ण पमज्जति सजमविराहणा। नि० चू० ८ उ०। कल्पसूत्रे सामाचार्यामेकपञ्चाशत्तमसूत्रे-" निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा " इति पदद्वयमाधिकमिव दृश्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्-"भत्तपाणपडिआइक्खित्तए" इति वचनात् कश्चित्सामान्यतो विहितानशनः,कश्चिच्च कृतपादपोपगमनो भिक्षुर्विहर्तुं प्रवर्तितुमिच्छेदित्यर्थः सगच्छते, तदनुसारेण सामान्येन कृतानशनस्य " निक्खमित्तए वा " इत्यादिविशेषणानि यथासंभव सगच्छन्त एव, न तु कृतपादपोपगमनस्येति न काऽप्यधिकतेति। २२ प्र०। सेन० २ उल्ला०। (स्थविरकल्पिका जिनकल्पिका वा कदा निष्क्रामन्ति, कदा वा प्रविशन्तीति 'थविरकप्प' शब्दे वक्ष्यते) (राज्याभिषेके निष्क्रमणप्रवेशविषयः ' रायाभिसेय ' शब्दे द्रष्टव्यः)

णिक्खमणाभिसेय-निष्क्रमणाभिषेक-पुं०। निष्क्रमणाभिषेकसामग्र्याम, भ० ९ श० ३३ उ०।

णिक्खममाण-निष्क्रामत्-त्रि०। निर्गच्छति, आचा० १ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०।

णिक्खमित्तए-निष्क्रमितुम्-अव्य०। प्रव्रजितुमित्यर्थे, कल्प० ९ क्षण। ह० प०।

णिक्खम्म-निष्क्रम्य-अव्य०। गेहादभि'सृत्य प्रव्रजितो भूत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। स्वदर्शनविहितां प्रव्रज्यां गृहीत्वेत्यर्थे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

णिक्खय-देशी-निहते, दे० ना० ४ वर्ग ३२ गाथा।

णिक्खसरिअ-देशी-मुषिते, दे० ना० ४ वर्ग ४१ गाथा।

णिक्खित्त-निक्षिप्त-त्रि०। स्वस्थानन्यस्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। विमुक्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। सुप्तोत्थिते, दे० ना० ४ वर्ग। व्यवस्थापिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ०। परित्यक्ते,व्य० २ उ०। "णिक्खित्तं णाम-गरहिगावद्धं स्थापयति।" नि० चू० १ उ०। सचित्तस्योपरि स्थापिते, तच्च एषणादोषदुष्टत्वान्न ग्राह्यम्। प्रव० ६७ द्वार। जीत०।

अथ निक्षिप्तद्वारमाह-

सच्चित्तमीसएसुं, दुविहं काएसु होइ निक्खित्तं *।
एक्केक्कं तं दुविहं, अणंतर परंपरं चेव ॥५७३॥

इह कल्पनीय निक्षिप्त द्विधा-सचित्तेषु, मिश्रेषु च। एकैकमपि द्विधा। तद्यथा-अनन्तरं, परम्परं च। तत्रानन्तरमव्यवधानेन, परम्पर व्यवधानेन। यथा सचित्तपृथिवीकायस्योपरि स्थापनिका, तस्या उपरि देयं वस्त्विति। इह परिहार्यापरिहार्यविभाग विना सामान्यतो निक्षिप्त सचित्ताचित्तमिश्ररूपभेदात् त्रिधा। तत्र च त्रयश्चतुर्भङ्गाः। तद्यथा-सचित्ते सचित्तम् १, मिश्रे सचित्तम् २, सचित्ते मिश्रम् ३, मिश्रे मिश्रमित्येका चतुर्भङ्गी। तथा-सचित्ते सचित्तम्१, अचित्ते सचित्तम्२, सचित्ते अचित्तम् ३, अचित्ते अचित्तमपि द्वितीया चतुर्भङ्गी। तथा-मिश्रे मिश्रम् १, अचित्ते मिश्रम् २, मिश्रे अचित्तम् ३, अचित्ते अचित्तमिति तृतीया चतुर्भङ्गी।

सम्प्रत्यस्यैवानन्तरपरम्परविभागमाह-

पुढवीआउकाए-तेउवाउवणस्सइतसाणं।
एक्केक्को दुगभेओ-ऽणंतरपरऽगणिम्मि सत्तविहो ॥५७३॥

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायानां सचित्तानां प्रत्येक सचित्तपृथिव्यादिषु निक्षेप. सम्भवति, तत्र पृथिवीकायस्य निक्षेपः षोढा। तद्यथा-पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेप इत्येको भेदः, पृथिवीकायस्याप्काये इति द्वितीय., पृथिवीकायस्य तेजस्काये इति तृतीयः, वायुकाये इति चतुर्थः,वनस्पतिकाये इति पञ्चम., त्रसकाये इति षष्ठ.। एवमप्कायाऽऽदीनामपि निक्षेप प्रत्येक षोढा भावनीय.। सर्वसङ्ख्यया षट्त्रिंशत् भङ्गाः। एकैकोऽपि च भेदो द्विधा। तद्यथा-अनन्तरेण, परम्परया च। अनन्तरपरम्परव्याख्यान च प्रागेव कृतम्। केवलमग्निकाये पृथिव्यादीनां निक्षेप. सप्तधा। एतच्च स्वयमेव वक्ष्यति।

संप्रति पृथिवीकाये निक्षेपस्य यदुक्त प्रत्येकं षोढात्व, तत्सूत्रकृत् साक्षाद्दर्शयति-

सच्चित्तपुढविकाए, सच्चित्तो चेव पुढवि निक्खित्तो।
आऊतेउवणस्सइ-समीरणतसेसु एमेव ॥५७४॥

सचित्तपृथिवीकाये सचित्तपृथिवीकायो निक्षिप्तः। एव च पृथिवीकाये इव अप्तेजोवनस्पतिसमीरणत्रसेषु सचित्त एव पृथिवीकायो निक्षिप्त इति पृथिवीकायनिक्षेपः षोढा।

एवं शेषकायेष्वतिदेशमाह-

एमेव सेसयाण वि, निक्खेवो होइ जीवकाएसु।
एक्केक्को सट्ठाणे, परट्ठाणे पंच पंचेव ॥५७५॥

एवमेव पृथिवीकायस्येव,शेषाणामप्कायाऽऽदीनां, निक्षेपो भवति,जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु। तत्र एकैको भङ्ग. स्वस्थाने, शेषाः पञ्च पञ्च परस्थाने। तथाहि-पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेप. स्वस्थाने, अप्कायाऽऽदिषु शेषेषु पञ्चसु परस्थाने। एवमप्कायाऽऽदीनामपि भावनीयम्। ततः स्वस्थाने एकैको भङ्ग., परस्थाने पञ्च पञ्च। तदेव प्रथमचतुर्भङ्गिकायाः सचित्ते सचित्तमित्येवरूपे प्रथमे भङ्गे षट्त्रिंशद् भेदाः।

सम्प्रति प्रथमचतुर्भङ्ग्या एव शेषं भङ्गत्रयं, द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्यौ चाऽतिदेशत. प्रतिपादयति-

एमेव मीसएसु वि, मीसाण सचेयणेसु निक्खेवो।
मीसाणं मीसेसु य, दोण्हं पि य होइ चित्तेसु ॥५७६॥

एवमेव सचित्तेषु इव मिश्रेष्वपि मिश्रपृथिव्यादिनिक्षेप. षट्त्रिंशद्भेदोऽवगन्तव्य.। एतेन प्रथमचतुर्भङ्गो व्याख्यात.। एवमेव मिश्राणां पृथिव्यादीनां मिश्रेषु पृथिव्यादिषु निक्षेप. षट्त्रिंशद् भेदः। अनेन प्रथमचतुर्भङ्ग्याश्चतुर्थो भङ्गो व्याख्यात.। सर्वसङ्ख्यया प्रथमचतुर्भङ्ग्या चतुश्चत्वारिंश भङ्गशतम्। एवमेव द्वयोरपि सचित्तमिश्रयोरचित्तेषु निक्षिप्यमाणयोर्ये द्वे चतुर्भङ्ग्यौ प्रागुक्ते, तत्रापि प्रत्येक चतुश्चत्वारिंशं भङ्गशतं भवति। सर्वसङ्ख्यया भङ्गानां शतानि चत्वारि द्वात्रिंशदधिकानि भवन्ति। उक्ता निक्षेपस्य भेदा.।

सम्प्रत्यस्यैव निक्षेपस्य पूर्वोक्तं चतुर्भङ्गीत्रयमधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह-

जत्थ उ सच्चित्तमीसे, चउब्भंगो तत्थ चउसु वि अगेज्झं।

* पुस्तकान्तरे-"सच्चित्तमीसएहिं दुविह काएहिं" इतिपाठः।

तं तु अणंतर इयरं, परित्तऽणंतं च वणकाए ॥५७७॥

यत्र निक्षेपे सचित्तमिश्रे आद्या चतुर्भङ्गी भवति, प्रथमा चतुर्भङ्गी भवतीत्यर्थः । तत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु, अपिशब्दाद् द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योरपि, आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु वर्त्तमानमनन्तर, परम्परा च । वनस्पतिविषये परीतकमनन्त वा तत्सर्वमग्राह्यम्, सामर्थ्यत्वात् । द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योश्चतुर्थे चतुर्थभङ्गे वर्तमान ग्राह्यम, तत्र दोषाभावात् ।

सम्प्रति सचित्ताऽऽदिभिर्भिन्निरपि मतान्तरेण तामेव चतुर्भङ्गीं कल्प्याकल्प्यविधिं प्रदर्शयति–

अहव ण सचित्तमीसे, उ एगओ एगओ य अच्चित्तो ।
एत्थं चउक्कभंगो, तत्थाऽऽइतिए कहा नऽत्थि ॥५७८॥

अथवेति प्रकारान्तरताद्योतक., णमिति वाक्यालङ्कारे * । इह चतुर्भङ्गी प्रतिपक्षपदोपन्यासे भवति । तत्रैकस्मिन् पक्षे सचित्तमिश्रे एक', एकश्च अचित्त.; तत् प्रागुक्तक्रमेण चतुर्भङ्गी भवति । तद्यथा–सचित्तमिश्रे सचित्तमिश्रम, सचित्तमिश्रे अचित्तम, अचित्ते सचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति । अत्राऽपि प्रागिवैकैकस्मिन भङ्गे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदात् षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद् भेदाः । सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशं भङ्गशतम् । तत्राऽऽदित्रिके आदिमे भङ्गत्रये, कथा नास्ति ग्रहणे वार्त्ता न विद्यते । सामर्थ्याच्चतुर्भङ्गी कल्पते । तदेव 'पुढवी' इत्यादिमूलगाथाया· पूर्वार्द्धं व्याख्यातम ।

सम्प्रति "एकेक्के दुहाणतर" इत्यवयव व्याचिख्यासुर्द्वितीयचतुर्भङ्ग्या· सत्कस्य तृतीयस्य भङ्गस्य सामान्यतोऽशुद्धस्य विषये विशेष विभणिषुरनन्तर, परम्परया वा मार्गणा करोति–

जं पुण अचित्तदव्वं, निक्खिप्पइ चेयणेसु दव्वेसु ।
तहिँ मग्गणा उ इणमो, अणंतर परंपरं होइ ॥५७९॥

यत्किमपि अचित्त द्रव्यमोदनाऽऽदि चेतनेषु सचित्तेषु, मिश्रेषु वा निक्षिप्यते, तत्रेयमनन्तर, परम्परया वा मार्गणा परिभावन भवति ।

ओगाहिमादणंतरं, परंपरं पिढरगाइ पुढवीए ।
नवणीयाइ अणतरं, परंपर नावमाईसु ॥५८०॥

अवगाहिमाऽऽदि पक्वान्नमण्डकप्रभृति, पृथिव्यामनन्तरनिक्षिप्तम्; पृथिव्या एवोपरि स्थिते पिठरकाऽऽदौ यन्निक्षिप्तमवगाहिमाऽऽदि, तत्परम्परानिक्षेप उक्त' । सम्प्रत्यप्कायमाश्रित्याऽऽह–(नवणीए इत्यादि) नवनीताऽऽदिप्रक्षणस्थानीभूतघृताऽऽदिसचित्ताऽऽदिरूपे उदके निक्षिप्तमनन्तरनिक्षिप्त, तदेव नवनीताऽऽदि, अवगाहिमाऽऽदि वा, जलमध्यस्थितेषु नावादिषु स्थित परम्परनिक्षिप्तम् ।

सम्प्रति तेजस्कायमधिकृत्यानन्तरपरम्परे व्याख्यानयन् "अगणिम्मि सत्तविहो " इत्यप्यवयव व्याख्यानयति–

विज्झायमुम्मुरिंगा–लमेव अप्पत्त पत्त समजाले ।
वोकंते सत्त दुगं, जंतोऽलित्ते य जयणाए ॥५८१॥

इह सप्तधाऽग्नि । तद्यथा–विध्यातो,मुर्मुरोऽङ्गार,अप्राप्त ,प्राप्त , समज्वालो, व्युत्क्रान्तश्च । तत्र य' स्पष्टतया प्रथम नोपलभ्यते, पश्चादिन्धनप्रक्षेपे वर्द्धनमपि गच्छति, स व्युत्क्रान्त । एवं सप्त भेदास्तेजस्कायस्य । तत्र एकैकस्मिन् भेदे भेदद्विकम् । तद्यथा-अनन्तरनिक्षिप्तम्,परम्परानिक्षिप्त च । तत्र यद् विध्याताऽऽदिरूपे वह्नौ मण्डकाऽऽदि प्रक्षिप्यते, तद् अनन्तरनिक्षिप्तम् । यत्पुनरग्नेरुपरि स्थापिते पिठरकाऽऽदौ क्षिप्त तत्परम्परानिक्षिप्तम् । तत्र सप्तानां भेदानां मध्ये यमेव तमेव वाऽधिकृत्य यन्त्रेषु रसपाकस्थाने कटाहाऽऽदौ भवलिप्ते मृत्तिकावराविदिते यतनया परिशाटिपरिहारेण ग्रहणमिक्षुरसस्य कल्पते ।

सम्प्रत्येनामेव गाथां व्याख्यानयन् प्रथमतो विध्याताऽऽदीना स्वरूप गाथाद्वयेनाऽऽह–

विज्झाओ त्ति न दीसइ, अग्गी दीसेइ इंधणे छूढे ।
आपिंगलमगणिकणा, मुम्मुरे निज्जाअइंगाले ॥५८२॥
अप्पत्ता उ चउत्थे, जाला पिढरं तु पंचमे पत्ता ।
छट्टे पुण कन्नसमा, जाला समइच्छिया चरिमे ॥५८३॥

सुगमम, नवरम (अप्पत्ता उ चउत्थे जाला इति) चतुर्थे अप्राप्ताऽऽख्यो भेद· पिठरमप्राप्ता ज्वाला द्रष्टव्या पञ्चममेवमन्याप्यक्षरगमनिका कार्या ।

सम्प्रति " जंतोऽलित्ते य जयणाए " इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह–

पासोलित्त कडाहे, परिसाडी नऽत्थि तं पि य विसालं ।
सो वि य अचिरच्छूढो, उच्छुरसो नाइउसिणो य ॥५८४॥

इह यदीति सर्वत्राऽध्याह्रियते, यद् यदि कटाह पिठरविशेषः, पिठर पार्श्वेषु मृत्तिकयाऽवलिप्तो भवति, दीयमाने चेक्षुरसे यदि परिशाटिर्नोपजायते, तदपि च कटाहरूप भाजन यदि विशाल विशालमुख भवति, सोऽपि चेक्षुरसोऽचिरक्षिप्त इति कृत्वा यदि नात्युष्णो भवति तदा स दीयमान इक्षुरसः कल्पते । इह यदि दीयमानस्येक्षुरसस्य कथमपि बिन्दुर्बहि पतति, तर्हि स लेप एव वर्त्तते, न तु चुल्लीमध्यस्थित तेजस्कायमध्यपतित., पार्श्वेऽवलिप्त इति कटाहस्य विशेषणमुक्तम् । तथा विशालमुखावाकृष्यमाण उदञ्चन· पिठरस्य कर्णे न लगति, ततो न पिठरस्य भङ्ग इति न तेजस्कायविराधनेति विशालग्रहणम् । अनत्युष्णग्रहणे तु कारण स्वयमेव वक्ष्यति ।

सम्प्रत्युदकमधिकृत्य विशेषमाह–

उसिणोदगं पि घेप्पइ, गुलरसपरिणामियं न अच्चुसिणं ।
जं तु अघट्टियकन्नं, घट्टियपमणम्मि मा अग्गी ॥५८५॥

उष्णोदकमपि गुलरसपरिणामितमनत्युष्ण गृह्यते । किमुक्त भवति ?–यत्र कटाहे गुड पूर्वं क्वथितो भवति, तस्मिन् निक्षिप्त जलमीषत्तप्तमपि कटाहसत्कगुडरसमिश्रणात् सत्वरमचित्तीभवति, ततस्तदनन्तरमपि कल्पते । अत्राऽपि पार्श्वावलिप्तकटाहस्थितमपरिशाटितमिति विशेषणद्वयमनुपात्तमपि द्रष्टव्यम् । तथा यत् अघट्टितकर्णम्, न यस्मिन् दीयमाने पिठरस्य कर्णावुदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा घट्येते, तद्दीयमान कल्पते इत्याह–(घट्टियपमणम्मि मा अग्गी) उदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा पिठरस्य कर्णयोर्घट्यमानयोर्लेपस्योदकस्य वा पतनेन माऽग्निर्विराध्येतेतिकृत्वा । एतेन च वक्ष्यमाणो षोडशभङ्गानामाद्यो भङ्गो दर्शित ।

सम्प्रति तानेव षोडश भङ्गान् दर्शयति–

पासोलित्त कडाहे, नच्चुसिणो अपरिसाडघट्टंते ।

---

* 'अहवण त्ति' अखण्डमव्ययपदमथवेत्यस्यार्थे । वृ० १ उ० ।

सोलस भंगविगप्पा, पढमेऽणुन्ना न सेसेसु ॥५७६॥

पार्श्वावलिप्त' कटाहः १, अनत्युष्णो दीयमान इक्षुरसाऽऽदिः २, अपरिशाटिः परिशाटयभाव ३, (अघट्टते इति) चदञ्चनेन पिठरकर्णाघट्टने ४, इत्येतानि चत्वारि पदान्यधिकृत्य षोमश भङ्गा भवन्ति।

भङ्गानां च नयनार्थमिय गाथा-

एगसमदुग अब्भासे-माणं जंगाण तेसिमह रयणा ।
एगंतरियं लहु गुरु, लहुगुरु दुगुणा य वामेसु ॥५८७॥

अस्या व्याख्या-इह यावतां पदानां भङ्गा अमुनेष्यन्ते, तावन्तो द्विका ऊर्द्धाध क्रमेण स्थाप्यन्ते- २/२ तत प्रथमो द्विको द्वितीयेन द्विकेन गुण्यते,जाताश्चत्वार, २/२ तैस्तृतीयो द्विको गुण्यते, जाता अष्टौ, तैरपि चतुर्थो द्विको गुण्यते,जाता षोमश। एतावन्तश्चतुर्णां पदानां भङ्गा भवन्ति।

तेषां च पुनर्भङ्गानामेषा रचना-प्रथमपङ्क्तावेकान्तरितं लघुगुरु प्रथम लघु, ततो गुरु, पुनर्लघु, पुनर्गुरु । एवं यावत् षोमशो भङ्ग । तत भङ्गापकापेक्षया वामेषु वामपार्श्वेषु द्विगुणा द्विगुणा लघुगुरव । तद्यथा—द्वितीयपङ्क्तौ प्रथम द्वौ लघू, ततो द्वौ गुरू, ततो भूयोऽपि द्वौ लघू, एव यावत् षोमशो भङ्ग । तृतीयपङ्क्तौ प्रथमं चत्वारो लघव', ततश्चत्वारो गुरव., ततश्चत्वारो लघव , पुनश्चत्वारो गुरव । चतुर्थपङ्क्त्यां प्रथममष्टौ लघव., ततोऽष्टौ गुरव. ।

स्थापना-अत्र ऋजवोऽशा शुद्धा', वक्राश्चाशुद्धा' । इह षोमशाना भङ्गानामाद्ये भङ्गेऽनुज्ञा, न शेषेषु पञ्चदशसु भङ्गेषु ।

सम्प्रत्युष्णग्रहणे दोषानाह--

दुविह विराहण उसिणे, छड्डणे हाणी य भाणभेओ य ।

उष्णेऽत्युष्णे इक्षुरसाऽऽदौ दीयमाने द्विधा विराधना-आत्मविराधना, परविराधना च । तथाहि-यस्मिन् भाजने तत्-अत्युष्ण गृह्णाति, तेन तप्तं सद् भाजन हस्तेन साधुर्गृह्णन् दह्यते, इत्यात्मविराधना । येनापि स्थालेन दात्री ददाति, तेनाप्यत्युष्णेन सा दह्यत इति । तथा-(छड्डणे हाणी य त्ति) अत्युष्णमिक्षुरसाऽऽदि कष्टेन दात्री दातु शक्नोति, कष्टेन च दाने कथमपि साधुमत्कभाजनाद्बहिरुज्झने हानिर्दीयमानस्येक्षुरसाऽऽदे', तथा-(भाणभेओ य इति) तस्य भाजनस्य साधुना वा नयनायोत्पाटितस्य पतद्ग्रहणाऽऽदेर्दात्र्या वा दानायोत्पाटितस्योदञ्चनस्य गाढरहितस्य अत्युष्णतया झगिति भूमौ मोचने भङ्ग. स्यात् । तथा च षड्जीवनिकायविराधनेति ।

सम्प्रति वायुकायमधिकृत्यानन्तरपरम्परे दर्शयति-

वाउक्खित्ताऽणंतर-परम्परा पप्पमिय वत्थी ॥५८८॥

वातोत्क्षिप्ताः समीरणोत्पाटिता पर्पटिका. शालिपर्पटिका अनन्तरनिक्षिप्त, परम्परनिक्षिप्त वस्तीति । विभक्तिलोपाद् वस्तौ । उपलक्षणमेतत्-समीरणाऽऽपूरितवस्तिदृतिप्रभृतिव्यवस्थित मण्डकाऽऽदि ।

सम्प्रति वनस्पतिवंशविषय द्विविधमपि निक्षिप्तमाह-

हरियाइ अणंतरिया, परंपरं पिढरमाइसु वणम्मि ।
पूपाइ पीढे ऽणंतर, भरए कुडवाइसू इयरा ॥५८९॥

वने वनस्पतिविषये अनन्तरनिक्षिप्तं हरिताऽऽदिषु सचित्तव्रीहिकाप्रभृतिषु अनन्तरिना निक्षिप्ता ,अपूपाऽऽदय इति शेष.। हरिताऽऽदीनामेवोपरि स्थितेषु पिठराऽऽदिषु निक्षिप्ता अपूपाऽऽदय परम्परनिक्षिप्तम् । तथा बलीवर्दाऽऽदीनां पृष्ठे अनन्तरनिक्षिप्ता अपूपाऽऽदय., तत्रानन्तरनिक्षिप्तम् । बलीवर्दाऽऽदिपृष्ठ एव भरके कुतुपाऽऽदिषु वा भाजनेषु निक्षिप्ता मोदकाऽऽदय परम्परनिक्षिप्तम । इह सर्वत्रानन्तरनिक्षिप्त न ग्राह्यम्, सचित्तसघट्टनाऽऽदिदोषसम्भवात् । परम्परनिक्षिप्त तु सचित्तसघट्टनाऽऽदिपरिहारेण यतनया ग्राह्यमिति सम्प्रदाय. । पिं० । आचा० । पञ्चा० । नि० चू० ।

निक्षिप्त न ग्राह्यम्-

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
उदगम्मि हुज्ज निक्खित्तं, उत्तिंगपणगेसु वा ॥ ५९ ॥

अशनं पानक वाऽपि खाद्य स्वाद्य, तथा उदके भवेन्निक्षिप्तमुत्तिङ्गपनकेषु वा कीटिकानगरोल्लीषु वेत्यर्थ । " उदयनिक्खित्त दुविह-अणतर, परपर च । अणतर-णवणीतपोग्गलियमादी । परपर-जलघडोवरि भायणत्थ दधिमादी" । एव "उत्तिंगपणएसु " भावनीयमिति सूत्रार्थ ॥ ५९ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६० ॥

तद्भवेद् भक्तपान तु सयतानामकल्पिक, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत-न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थ ॥ ६० ॥

तथा—

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
तेउम्मि हुज्ज निक्खित्तं, तं च संघट्टिया दए ॥ ६१ ॥

अशन पानक वाऽपि खाद्य स्वाद्य,तथा तेजसि भवेद् निक्षिप्त तेजसीत्यग्नौ, तेजस्काय इत्यर्थ । तच्च सघट्य यावद्भिक्षां ददामि तावत्तापातिशयेन मा भूदुद्वर्तिष्यत इत्याघट्य दद्यादिति सूत्रार्थ. ॥ ६१ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६२ ॥

तद्भवेद् भक्तपान तु सयतानामकल्पिकम्,अतो ददतीं प्रत्याचक्षीत-न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थ' ॥ ६२ ॥

एवं उस्सिक्किया ओसक्किया उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया उस्सिंचिया निस्सिंचिया ओवत्तिया ओयारिया दए ॥ ६३ ॥

यावद्भिक्षां ददामि तावद् मा भूद् विध्यास्यतीत्युत्सिच्य दद्यात् । (एव ओसक्किया) अवसर्प्य, अतिदाहभयादुल्मुकान्युत्सार्येत्यर्थ. । (एव उज्जालिया पज्जालिया) उज्ज्वाल्यार्द्धविध्यात सकृदिन्धनप्रक्षेपेण, प्रज्वाल्य पुन. पुनः । एव (निव्वाविया) निर्वाप्य, दाहभयादेवेति भाव.। एव (उस्सिंचिया निस्सिंचिया) उत्सिच्यातिभृताद्दुज्झनभयेन, ततो वा दानार्थं तीमनाऽऽदीनि निषिच्य तद्भाजनाद्धित द्रव्यमन्यत्र भाजने तेन दद्यात् । उद्वर्तनभयेन वा तद्धितमुदकेन निषिच्य । एव (ओवत्तिया ओयारिआ) अपवर्त्य तेनैवाग्निनिक्षिप्तेन भाजनेना-

न्येन वा दद्यात्। तथा अवतार्य दाहभयाद्दानार्थं वा दद्यात्। अत्र तदन्यत्र साधुनिमित्तयोगे न कल्पते ॥ ६३ ॥

तं नवे जत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६४ ॥

" त भवे त्ति " सूत्रं पूर्ववत्। गोचराधिकार एव गोचरप्रविष्टस्य ॥ ६४ ॥ दश० ५ अ० १ उ० ।

से जिक्खू वा भिक्खुणी वा०जाव समाणे से जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा अणंतरहियाए पुढवीए० जाव संताणए ओहट्टु २ णिक्खित्ते सिया, असंजए भिक्खुपडियाए उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा सकसाएण वा मत्तेण वा सीतोदएण वा संभोएत्ता आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं पाणगजायं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा जिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिएहिं सहिएहिं सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयात्-तत्पानकं सचित्तेष्वव्यवहितेषु पृथिवीकायाऽऽदिषु तथा मर्कटाऽऽदिसन्तानके वाऽन्यतो भाजनादुद्धृत्योद्धृत्य निक्षिप्तं व्यवस्थापितं स्यात्। यदि वा स एवासयतो गृहस्थो भिक्षुप्रतिज्ञया भिक्षुमुद्दिश्य उदकार्द्रेण गलद्बिन्दुना सस्निग्धेन गलदुदकविन्दुना सकषायेण सचित्तपृथिव्याद्यवयवगुण्ठितेन मात्रेण भाजनेन शीतोदकेन वा (सम्भोएत्ता) मिश्रयित्वा, आहृत्य दद्यात्। तथाप्रकारं पानकजातमप्रासुकमनेषणीयमिति मत्वा न परिगृह्णीयात्। एतत्तस्य भिक्षोर्भिक्षुण्या वा सामग्र्यम्-समग्रो भिक्षुभाव इति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ।

जे जिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अणंतरं वा पुढवीकायपतिट्ठियं दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहतं वा साइज्जइ ॥२५१॥ जे जिक्खू असणं वा० ४ आउकायपइट्ठियं दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ २५२ ॥ जे जिक्खू असणं वा० ४ तेउकायपइट्ठियं दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ २५३ ॥ जे जिक्खू असणं वा० ४ वणप्फतिकायपइट्ठियं दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ २५४ ॥

गाहा-

सचित्तमीसएसुं, काएसु य होति डुविह निक्खित्तं ।
अणंतर परंपरं वि य, विभासियव्वं जहा सुत्ते ॥ ५० ॥

जे पुढवातीकाया, ते दुविहा-सचित्ता,मीसा वा। सचित्तेसु अणंतरणिक्खित्तं, परंपरणिक्खित्तं वा। मीसेसु वि अणंतरणिक्खित्तं, परंपरणिक्खित्तं वा। पिंडणिज्जुत्तिगाहासुत्ते जहा, तहा सवित्थरं भाणियव्वं। आयारवितियसुयक्खंधे वा जहा सचित्तपिंडेसणासुत्ते, तहा भाणियव्वं।

गाहा-

सुत्तणिवातो अचि-त्तऽणंतरे तं तु गेण्हती जो उ ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ५१ ॥

परित्तसचित्तेसु अणंतरणिक्खित्ते चउलहुं। एत्थ सुत्तं णिवयति। सचित्तपरंपरे मासलहुं। मीसे अणंतरे मासलहुं। परंपरे पणगं। अणंतरा ते चेव गुरुगा पच्छित्ता।

चोदगाऽऽह-

तत्थ जवे णणु एवं, उक्खित्तं तम्मि तेसि आसासो।
संजतणिमित्त घट्टण, थेरुवमाएणं तन्तुत्तं ॥ ५२ ॥

पुढवादिकायाण उवरिं ट्ठियं जं पि उक्खित्तं, तेण तेहिं आसासो जवति। आचार्याऽऽह-तम्मि उक्खित्तते जा सघट्टणा,सा संजयणिमित्तं। ताण य अप्पसंघयणाण सघट्टणाए महती वेदणा भवति। एत्थ थेरुवमा।

गाहा-

जरजज्जरो उ थेरो, तरुणेणं जमलपाणिपुरुहंतो ।
जारिसवेदण देहे,एगिंदियघट्टिते तह उ ॥ ५३ ॥

जहा जराजुण्णदेहो थेरो बलवता तरुणेण जमलपाणिणा सुट्ठु आहतो जारिसं वेयणं वेयति, ततो अधिकतरं एगिंदिया संघट्टिता वेयणं अणुहवंति, तम्हा ण जुत्तं जं तुमं भणासि।

इमं त्रितियपदं। गाहा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलसे ।
अध्दाणरोहगे वा, जयणा गहणं तु गीयत्थे ॥५४॥

पूर्ववत्।

गीयत्थो इमाए जयणाए गहणं करेति। गाहा-

पुव्वं मीसे परंपर, मीसेऽणंतर सचित्तपरंपरए ।
तत्तो साचत्तऽणंतरे, एमेव अणंतकाए वि ॥ ५५ ॥

पुव्वं मीसे परंपरठितो गेण्हति,ततो मीसे अणंतरो,ततो सचित्ते परंपरे,ततो सचित्ते अणंतरे। एवं अणंतकाए वि। एस परित्ताणंतेसु कमो दरिसिओ।

गहणे पुण इमा जयणा-

पुव्विं परित्ते मीसपरंपराठितो गेण्हति, ततो मीसं अणंतरपरंपरं, ततो सचित्तपरित्तपरंपरं, ततो अणंतमीसं अणंतरं, ततो अणंतसचित्तपरंपरं, ततो परित्तसचित्तअणंतरं, ततो अणंतसचित्तअणंतरं आहारे भणियं।

गाहा-

आहारे जो उ गमो, णियमा उवहिम्मि होति सो चेव।
णायव्वा तु मतिमता, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥५६॥

कंठा ॥ ५६॥ नि० चू० १७ उ० । पावकभाजनादनुद्धृते, औ० ।

णिक्खित्तउक्खित्तचरय-निक्षिप्तोत्क्षिप्तचरक-पुं० । निक्षिप्तं भोजनपाठ्यामुत्क्षिप्तं च स्वार्थं, तत एव निक्षिप्तोत्क्षिप्तं, चरत्यभिग्रहवशेन इति निक्षिप्तोत्क्षिप्तचरकः। अभिग्रहविशेषेण तथाविधभिक्षाचरके, औ० । स्था० ।

णिक्खित्तचरय-निक्षिप्तचरक-पुं० । निक्षिप्तं पाकभाजनादनुद्धृतं तदर्थमभिग्रहतश्चरति तद्गवेषणाय गच्छतीति निक्षिप्तचरकः। अभिग्रहविशेषात् तथाभिक्षाचरणशीले, औ० ।

णिक्खित्तदंम-निक्षिप्तदण्ड-त्रि० । निश्चयेन क्षिप्तः परित्यक्तः कायमनोवाङ्मयः प्राण्युपघातकारी दण्डो यैस्ते तथा।

आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । निक्षिप्ता' संयमिता मनोवाक्कायरूपा प्राण्युपमर्दकारिणो दण्डा यैस्ते तथा । त्रिविधेन करणेन परित्यक्तदण्डेषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

णिक्खित्तपुव्व–निक्षिप्तपूर्व–त्रि० । पूर्वमेवाऽऽत्मार्थं निष्पादिते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

णिक्खित्तजर–निक्षिप्तजर–त्रि० । न्यस्तकुटुम्बाऽऽदिकार्यजरे, पञ्चा० १० विव० ।

णिक्खित्तसत्थमुसल–निक्षिप्तशस्त्रमुशल–त्रि० । त्यक्तखड्गाऽऽदिशस्त्रमुशले, ज० ७ श० १ उ० ।

णिक्खिप्पमाण–निक्षिप्यमाण–त्रि० । स्वस्थाने न्यस्यमाने, " अग्गपिंड उक्खिप्पमाणं, अग्गपिंम णिक्खिप्पमाणं । " आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० ५ उ० ।

णिक्खिविअव्व–निक्षेप्तव्य–त्रि० । मोक्तव्ये, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

णिक्खिविउं–निक्षिप्य–अव्य० । निक्षेप कारयित्वेत्यर्थे, व्य० १ उ० ।

णिक्खुत्त–देशी–अकम्पे, दे० ना० ४ वर्ग २८ गाथा ।

णिक्खुरिअ–देशी–अदृढे, दे० ना० ४ वर्ग ४० गाथा ।

णिक्खेव–निक्षेप–पु० । निक्षेपणं निक्षेपः । शास्त्राऽऽदेर्नामस्थापनाऽऽदिभेदेन न्यासन व्यवस्थापने निक्षेपः । निक्षिप्यते नामाऽऽदिभेदैर्व्यवस्थाप्यते अनेनास्मिन्नस्मादिति वा निक्षेपः । अनु० । पिं० । यथाभूतार्थनिरपेक्षमभिधानमात्रे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । स्था० । यथासम्भवमावश्यकाऽऽदेर्नामाऽऽदिभेदप्ररूपणे, अनु० । उपक्रमाऽऽनीतव्याचिख्यासितशास्त्रनामाऽऽदिन्यसने, ज० १ वक्ष० ।

अथ निक्षेपस्य निरुक्तिमाह–

निक्खिप्पइ तेण तहिं, तओ व निक्खेवणं व निक्खेवो ।
नियओ व निच्छिओ वा, खेवो नासो त्ति जं भणियं ॥९१२॥

निक्षिप्यते शास्त्रमध्ययनोद्देशाऽऽदिकं च नामस्थापनाद्रव्याऽऽदिभेदैर्न्यस्यते व्यवस्थाप्यते अनेन, अस्मिन्, अस्माद्वेति निक्षेपः, गुरुवाग्योगाऽऽदिविवक्षा तथैव । अथवा–निक्षेपणं शास्त्राऽऽदेर्नामस्थापनाऽऽदिभेदैर्न्यसनं व्यवस्थापनमिति निक्षेपः । निशब्दक्षेपशब्दयोरर्थमाह–नियतो निश्चितो वा क्षेपः–शास्त्राऽऽदेर्नामाऽऽदिन्यासः इति निक्षेप इति यदुक्तम्, भवत्यय परमार्थ इत्यर्थः ॥ ९१२ ॥ विशे० । आ० म० । उत्त० ।

तत्र जघन्यतोऽप्यसौ चतुर्विधो दर्शनीय इति–नियमार्थमाह–

जत्थ य जं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं ।
जत्थ वि अ न जाणेज्जा, चउक्कगं निक्खिवे तत्थ ॥

यत्र जीवाऽऽदिवस्तुनि यं जानीयान्निक्षेपं न्यासं, यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तत्र वस्तुनि तं निक्षेपं निक्षिपेद् निरूपयेन्निरवशेषं समग्रम् । यत्राऽपि च न जानीयान्निरवशेषं निक्षेपभेदजालं, तत्रापि नामस्थापनाद्रव्यभावलक्षणं चतुष्कं निक्षिपेत् । इदमुक्तं भवति–यत्र तावन्नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभवभावाऽऽदिलक्षणा भेदा ज्ञायन्ते, तत्र तैः सर्वैरपि वस्तु निक्षिप्यते, यत्र तु सर्वे भेदा न ज्ञायन्ते, तत्राऽपि नामाऽऽदिचतुष्टयेन वस्तु चिन्तनीयमेव, सर्वव्यापकत्वात् तस्य । न हि किमपि तद्वस्त्वस्ति यन्नामाऽऽदिचतुष्टयं व्यभिचरतीति गाथार्थः । अनु० । आव० । बृ० । आ० चू० । स० । आचा० । विशे० । नं० । आ० म० ।

निक्षेप ओघनिष्पन्नाऽऽदिः–

से किं तं णिक्खेवे ? । णिक्खेवे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा–ओहनिप्फण्णे, नामनिप्फण्णे, सुत्तालावगनिप्फण्णे ॥

(से किं त णिक्खेवे इत्यादि) निक्षेपः पूर्वोक्तशब्दार्थस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा–ओघनिष्पन्न इत्यादि, तत्रौघः सामान्यमध्ययनाऽऽदिकं श्रुताभिधानं, तेन निष्पन्न ओघनिष्पन्नः, नामश्रुतस्य सामायिकाऽऽदिविशेषनाम, तेन निष्पन्नो नामनिष्पन्नः । सूत्राऽऽलापकाः –" करेमि भंते ! सामाइयं " इत्यादिकाः, तैर्निष्पन्नः सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नः ।

एतदेव भेदत्रयं विवरीषुराह–

से किं तं ओहनिप्फण्णे ? । ओहनिप्फण्णे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा–अज्झयणे, अक्खीणे, आए, खवणा ॥ अनु० ।

(एषां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

नामनिष्पन्नः–

से किं तं नामनिप्फण्णे ? । नामनिप्फण्णे सामाइए समासओ चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा–णामसामाइए, ठवणासामाइए, दव्वसामाइए, भावसामाइए । अनु० ।

नामनिष्पन्ननिक्षेपस्तु गुणनिष्पन्ननामकस्यैवेति । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नः –

से किं तं सुत्तालावगनिप्फण्णे ? । इआणिं सुत्तालावगनिप्फण्णं निक्खेवं इच्छावेइ, से अ पत्तलक्खणो वि ण णिक्खिप्पइ । कम्हा ?, लाघवत्थं । अत्थि तइए अणुओगदारे अणुगमे त्ति, तत्थ णिक्खित्ते इहं णिक्खित्ते भवइ, इह वा णिक्खित्ते तत्थ णिक्खित्ते भवइ, तम्हा इहं न निक्खिप्पइ, तहिं चेव निक्खिप्पइ, भेत्तं निक्खेवं । अनु० ।

(से किं त सुत्तालावग इत्यादि) अथ कोऽयं सूत्रालापकनिष्पन्नो निक्षेपः–" करेमि भंते ! सामाइयं । " इदानीं सूत्राऽऽलापकानां स्थापनाऽऽदिभेदभिन्नो यो न्यासः, स सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नो, निक्षेप इति शेषः । अनु० । स्था० । आचा० । आव० । आ० म० । विशे० । नि० चू० । सूत्र० । बृ० । आ० चू० । व्य० । (कस्य नयस्य मते को निक्षेप इति निक्षेपनययोजना 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८०६ पृष्ठे उक्ता) (नामाऽऽदिनिक्षेपस्य नयविचारः ' णमोक्कार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८२४ पृष्ठे गतः) (स्थापनानिक्षेपाऽनुपगन्तॄणां लुम्पकानां मतं ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२०६ पृष्ठे खण्डितम्) अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् । व्य० १ उ० । विन्यासे, विशे० । प्रश्न० । आ० म० । गणनिक्षेपणे, व्य० ४ उ० । मोक्षे, प० व० ४ द्वार । मोचने, ओघ० । परित्यागे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

णिक्खेवग–निक्षेपक–पु० । भावे णकप्रत्ययः निक्षेपणे (धनिक्षेपकः ' वत्थ ' शब्दे वक्ष्यते)

णिक्खेवण-निक्षेपण-न० । निक्षेपे, स्थापने, प्रव० ६ द्वार ।
पृथिव्यादौ निक्षिपति-

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पुढ-
वीए णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ ॥३६॥

जे भिक्खू असणं वा० ४ संथारए णिक्खिवइ,णिक्खि-
वंतं वा साइज्जइ ॥३७॥

गाहा-

पुढवीतणवत्थादिसु, संथारे तह य होइ वेहासे ।
जे भिक्खू णिक्खिवती, सो पावति आणमादीणि ॥६६७॥

पुढविग्गहणतो ओवट्टगादिभेदा दट्ठव्वा । दब्भाऽऽदितणसंथारए वा,वत्थसंथारए वा,कवल्लाऽऽदिफलसंथारे वा,वेहासे वा दोरगेण उल्लुवेइ, एवमादिएगाराण अण्णयरेण जो णिक्खिवइ, तस्स चउलहु, आणादिया य दोसा, संजमाऽऽयविराहणा ॥

तं तत्थ संजमे। गाहा-

तक्केंत परंपरओ, पलोट्ट छिण्णे व भेद कायवहो ।
अहिमूसलालविच्छुय-संचयदोसा पसंगो वा ॥६६८॥

सुण्णे भत्तपाणे चउरिंदिया घरकोइला तक्केंति, तं पि मज्जारी, एवं तक्केंतपरंपरो हुज्जा वाताऽऽदिवसेण वा पलोट्टेति छक्कायविराहणा, आयपरिहाणी, वेहासट्ठित मूसगादिछिण्णे भायणभेदो,छक्कायवहो,आयपरिहाणी य । एसा संजमविराहणा। इमा आयविराहणा-अहिस्स, मूसगादिस्स वा सिंघमाणस्स लाला पमेज्जा,णीसमंतो वा विसं वा मुंचेज्ज,विच्छुगाइ वा पमेज्ज,जे वा सणिहिसंचए दोसा,तत्थ वि णिक्खित्ते ते चेव दोसा, पसंगओ सणिहिं पट्ठवेज्जा । किं च-जो भत्तपाणं णिक्खिवइ ।

गाहा-

सो समणसुविहियाणं, कप्पातो अवगितो त्ति णायव्वा ।
दसरायम्मि य पुण्णे,जो उवहिं सो उवहतो होति ॥६६९॥

समणकप्पो तम्मि अवगिओ अपगत.,समणकप्पातो वा अवगओ,एवं णिक्खिवंतस्स दस राते गते जम्मि पाते तं भत्तादि णिक्खिवइ, तं उवहतं होइ, जो य उवहिं णिक्खित्तो अत्थइ, दुसराइ अपडिलेहिओ, सो वि उवहतो भवति ।

गाहा-

उव्वत्थपीढफलगं-तुसंगतं ठवितभत्तपाणं तु ।
सुविहितकप्पा चवितं, सेयत्थि विवज्जए साहू ॥६७०॥

संथारगाऽऽदियाए बंधे जो पक्खस्स ण मुंचइ सो उव्वद्धो,णिक्खित्तभत्तपाणो य जो सो सुविहितकप्पातो अवगतो,जो सेयत्थी साधू, तेण वज्जेयव्वो, ण तेण सह संभोगो कायव्वो।

इमो अववाओ । गाहा-

बितियपदं गेलण्णे, रोहग अद्धाण उत्तिमट्ठे वा ।
एतेहिँ कारणेहिं, जयणाए णिक्खिवे भिक्खू ॥६७१॥

गिलाणकज्जवावडो णिक्खिवति, रोहगे वा संकमवसहीए वेहासे करेति, अद्धाणे वा सागारिए भुंजमाणो उत्तिमट्ठ पवण्णस्स वा करणिज्जं करेंतो णिक्खिवति ।

एवमादिकारणेहिं णिक्खिवंतो इमाए जयणाए णिक्खिवति । गाहा-

दूरगमणे णिसिं वा, वेहासेणं इहरहा तु संथारे ।
भूमीए ठवेज्ज व णं, घणबंध अभिक्ख उवओगो ॥६७२॥

दूरं गंतुकामो णिसिं वा ज परिवासिज्जति, तं वेहासे दोरगेण णिक्खिववति (इहरहेति) आसण्णे गंतुकामो आसण्णे वा किंचि छोयमाटी काउकामो तत्थ संथारे भूमीए वा ठवेइ । वकारो विगप्पे, णकारो पादपूरणे, तं पि ठवेंतो घण चीरेण बंधइ, पिपीलिगभया लगणादीहिं वा लिंपइ, अभिक्खणं च उवओग करेति ।

जे भिक्खू असणं वा०४ उवहासे णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ ॥ नि० चू० १६ उ० ।

(उपहासेऽशनाऽऽदिनिक्षेपे प्रायश्चित्त 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४७७ पृष्ठे गतम्)

णिक्खेवणा-निक्षेपणा-स्त्री० । दलिकनिक्षेपे, क० प्र० ४-५ प्रक० । ('उव्वट्टणा' शब्दे द्वि० भा० ११९० पृष्ठे 'अववट्टणा' शब्दे प्र० भा० ७५५ पृष्ठे च व्याख्यातेयम्)

णिक्खेवणाहिगरण-निक्षेपणाधिकरण-न० । प्रतिलेखनाप्रमार्जनाऽऽद्यकरणेनोत्पन्नेऽधिकरणे, नि० चू० ४ उ० ।

णिक्खेवणिज्जुत्तिअणुगम-निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम-पुं० । निक्षेपो नामस्थापनाऽऽदिभेदभिन्न , तद्विषया या निर्युक्ति निक्षेपनिर्युक्तिः, तस्या वाऽनुगमो निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम. । निर्युक्त्यनुगमभेदे, (अनु०)

से किं तं णिक्खेवणिज्जुत्तिअणुगमे ?। णिक्खेवणिज्जुत्तिअणुगमे अणुगए । सेत्तं णिक्खेवणिज्जुत्तिअणुगमे ।

अत्रैव प्रागावश्यकसामायिकाऽऽदिपदानां नामस्थापनाऽऽदिनिक्षेपद्वारेण यद् व्याख्यान कृत, तेन निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगत. प्रोक्तो द्रष्टव्य. । अनु० ।

णिक्खेवय-निक्षेपक-पुं० । निक्षेपण निक्षेपक. । " नाम्नि पुंसि च " ॥ ५ । ३ । १२१ ॥ इति । (हैम०) भावे णकप्रत्यय । प्रथम स्वार्थं निक्षिप्य पश्चात् साधूनामनुज्ञाने, बृ० १ उ० । निगमने, यथा-" एवं खलु जंबू ! समणेणं० जाव उवासगदसाण पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि ।" उपा० १ अ० ।

णिक्खोभ-निक्षोभ-त्रि० । निष्प्रकम्पे, दर्श० ४ तत्त्व । वादिना क्षोभयितुमशक्ये, स० २ अङ्ग ।

णिखव्व-निखर्व-न० । शतगुणिते खर्वे, कल्प० ७ क्षण ।

णिखिल-निखिल-न० । समग्रे, अनु० ।

णिगच्छमाण-निर्गच्छत्-त्रि० । बहिर्गच्छति, नि० चू० १ उ० ।

णिगज्झिय-निगृह्य-अव्य० । निग्रह कारयित्वेत्यर्थे, " पाव णिगिज्झिय पच्चोमेमाणे । " स्था० ७ ठा० ।

णिगढ-देशी-घर्मे, दे० ना० ४ वर्ग २३ गाथा ।

णिगम-निगम-पुं० । प्रभूततरवणिग्वर्णवासे, आचा० १ श्रु० ८ अ०६ उ० । स्था० । अनु० । उत्त० । सूत्र० । प्रश्न० । ज्य० । प्रज्ञा० । वणिग्जनप्रधाने स्थाने, भ० १ श० १ उ० । जी० । प्रश्न० । वणिग्जनाधिष्ठिते सन्निवेशे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । प्रज्ञा० । पौरवणिग्विशेषे, बृ० ३ उ० । वाणिजकसमूहे, स०

३० समा० । आचा० । दश० । दशा० । वणिजि, भ० ७ श० ६ उ० । " णिगमो णेगमवग्गो वसइ जहिं । " निगम नाम यत्र नैगमा वाणिजकविशेषा , तेषां वर्गः समूहो वसति । अत एव निगमे भवा नैगमा इति व्यपदिश्यन्ते । बृ० १ उ० । आव० । स्था० । कारणिके, भ० ७ श० ६ उ० । नि०चू० । सामान्यविशेषाऽऽत्मकस्य वस्तुनो नैकेन प्रकारेणावगमः परिच्छेदो निगमः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । आ०म० । निश्चितार्थबोधे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । "लोगत्थनिवोहा वा णिगमा" (२१८७) लोकार्थनिबोधा - अर्था जीवाऽऽदय ,तेषु नितरामनेकप्रकारा बोधा लोकस्यार्थनिबोधा लोकार्थनिबोधा । विशे० । विचित्रेष्वभिप्रदविशेषेषु, रा० ।

णिगमण–निगमन–न० । निश्चितं गमनं निगमनम् । निश्चितेऽवसाये, नयानुमानस्य दशमोऽवयवः । दश०१ अ० । आ०म० । निगमनं लक्षयन्ति–

साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम् ॥५१॥

साध्यधर्मिण्युपसंहरणमिति योगः ।

यथा तस्मादग्निरत्र ॥५३॥ । रत्ना० ३ परि० ।

निगमनाऽऽभासमुदाहरन्ति–

तस्मिन्नेव प्रयोगे तस्मात्कृतकः शब्द इति तस्मात्परिणामी कुम्भ इति च ॥ ८२ ॥

अत्रापि साधनधर्मं साध्यधर्मिणि, साध्यधर्मं वा दृष्टान्तधर्मिण्युपसंहरतो निगमनाऽऽभासः । एवं पक्षशुद्ध्याद्यवयवपञ्चकस्य भ्रान्त्या वैपरीत्यप्रयोगे तदाभासपञ्चकमपि तर्कणीयम् ॥८२॥ रत्ना० ६ परि० । विशे० ।

णिगर–निकर–पुं० । राशिमात्रे, विपा० १ श्रु० ६ अ० । ज्ञा० । वृन्दे, दलनिकरो दलवृन्दम् । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । हिरण्यस्वर्णाऽऽदिनिकरवन्निकरः । भावस्कन्धे, अनु० ।

णिगलिय–निगरित–त्रि० । जं० २ वक्ष० । सर्वथा शोधिते सारीकृते, तं० ।

णिगाम–निकाम–न० । अत्यर्थे, स्था० ५ ठा० २ उ० । आव० ।

णिगामपडिसेविणी–निकामप्रतिसेविनी–स्त्री० । निकाममत्यर्थं बीजपातं यावत् पुरुषं प्रतिसेवते इत्येवं शीला निकामप्रतिसेविनी । बीजपातं यावन्मैथुनकर्मकारिकायाम्, सा च पुरुषसंयुक्ताऽपि गर्भं नो धरते । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णिगामसज्जा–निकामशय्या–स्त्री० । शयनं शय्या, निकामं शय्या निकामशय्या । प्रतिदिवसं प्रकामशय्यायाम्, ध०३अधि०। आव० ।

णिगामजोयण–निकामजोजन–न० । " बत्तीसाइपरेण, पगाम निच्च तमेव उ निगाम । " प्रमाणातीतमाहारं प्रतिदिवसमश्नतो भोजने, पिं० ।

णिगामसाइ [ण्]–निकामशायिन्–पुं० । सूत्रार्थवेलामप्युल्लङ्घ्य शयाने, " . . . णिगामसाइस्स । उच्छोलणापहोअस्स दुल्लहा सुगइ तारिसगस्स" ॥ २६ ॥ दश० ४ अ० ।

णिगास–निकर्ष–पुं० । सन्निकर्षे, पुलाकाऽऽदिना परस्परेण संयोजने, भ० २५ श० ७ उ० ।

णिगिज्झ–निगृह्य–अव्य० । स्थित्वेत्यर्थे, कल्प० ६क्षण । व्य० । स्था० ।

णिगुंज–निकुञ्ज–पुं० । नि शेषेण कौ जायते जन–ड–पृ० । लताऽऽदिपिहितस्थाने, वाच० । ओघ० । " एगम्मि वणनिगुंजे ठविऊण पंथे आगतो । " आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिगूढ–निगूढ–त्रि० । गुप्ते, मौनिनि च । व्य० ७ उ० । कल्प० ।

णिगूढजाणु–निगूढजानु–त्रि० । गुप्तजानौ, कल्प० २ क्षण ।

णिगूहिय–निगूहित–त्रि० । गोपिते, आ०म० २ अ० । आचा० ।

णिगोय–निगोद–पुं० । अनन्तकायिके, प्रव० २५५ द्वार । सूक्ष्मबादरा निगोदाः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च एकस्मिन्निगोदेऽनन्ता जीवा ,अत्र निगोदः कः ?, जीवाश्च के?, इति प्रश्ने,उत्तरम्–निगोदशब्देनैकं शरीरं वनस्पतिरूपं साधारणमनन्तजीवजनितमुच्यते, तत्र चानन्ता जीवास्तिष्ठन्ति, अत एव अनन्तकायिका जीवाः साधारणा उच्यन्ते । ६ प्र० । ह्री० ३ प्रका० ।

सम्प्रति यथैकस्मिन् निगोदशरीरे अनन्ता जीवाः परिणताः प्रतीतिपथमवतरन्ति, तथा प्रतिपादयन्नाह–

जह अयगोलो धंतो, जाओ तत्ततवणिज्जसंकासो ।
सव्वो अगणिपरिणओ, णिओयजीवे तहा जाण ॥१९॥
एगस्स दोण्ह तिण्ह व, संखेज्जाण व पासिउं सक्का ।
दीसंति सरीराइं, णिओयजीवाणऽणंताणं ॥२०॥

"जह अयगोलो" इत्यादि । यथाऽयोगोलो ध्मातः सन् स तप्ततपनीयसङ्काशः सर्वोऽग्निपरिणतो भवति, तथा निगोदजीवान् जानीहि । निगोदरूपेऽप्येकैकस्मिन् शरीरे तच्छरीराऽऽत्मकतया अनन्तान् जीवान् जानीहि ॥१९॥ एवं च सति (एगस्सेत्यादि) एकस्य द्वयोस्त्रयाणां यावत्सङ्ख्येयानां, वाशब्दादसङ्ख्येयानां वा निगोदजीवानां शरीराणि द्रष्टुं न शक्यानि । कुत ?, इति चेदुच्यते–अभावात् । न ह्येकाऽऽदिजीवगृहीतानि अनन्तवनस्पतिशरीराणि सन्ति, अनन्तजीवपिण्डाऽऽत्मकत्वात्तेषाम्, कथं तर्ह्युपलभ्यानीत्यत आह–(दीसंतीत्यादि) दृश्यन्ते शरीराणि निगोदजीवानां बादरनिगोदजीवानां अनन्तानाम् । ननु सूक्ष्मनिगोदजीवानां तेषां शरीराणामनन्तजीवसङ्घाताऽऽत्मकत्वेऽप्यनुपलब्धस्वभावत्वात्, तथा सूक्ष्मपरिणामपरिणतत्वात्; अथ कथमेतदवसीयते ?–निगोदरूपं शरीरं नियमादनन्तजीवपरिणामाविर्भावितं भवतीति? । उच्यते, जिनवचनात् । तच्चेदम्–"गोला य असंखेज्जा, होंति निगोया असंखया गोले । एक्केक्को य निगोओ, अणंतजीवो मुणेयव्वो ॥ १ ॥ " प्रज्ञा० १ पद ।

निगोदभेदान् पृच्छति–

कतिविहे णं भंते ! णिओया पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–णिओया य, णिओदजीवा य । निओया णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–सुहुमणिओया य, बादरनिओया य । सुहुमनिओया णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । बायरनिओया वि दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । निओदजीवा णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–सुहुमनिओदजीवा य, बायरनिओदजीवा य । सुहुमनिगोदजीवा दुविहा पण्णत्ता । तं

जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । बायरनिगोदजीवा दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य ।

"णिओया णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-सूक्ष्मनिगोदाश्च,बादरनिगोदाश्च । तत्र सूक्ष्मनिगोदा. सर्वलोकाऽऽपन्ना ,बादरनिगोदा' मूलकन्दाऽऽदयः । (सुहुमनिओया णमित्यादि) सूक्ष्मनिगोदा भदन्त ! कतिविधा. प्रज्ञप्ताः ? । भगवानाह गौतम ! द्विविधा. प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-पर्याप्तका , अपर्याप्तकाश्च । एवं बादरनिगोदविषयमपि सूत्रं वक्तव्यम् ।

सम्प्रति सामान्यतो निगोदसंख्यां जिज्ञासिषुः पृच्छति-

निओदा णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ?। गोयमा ! नो संखेज्जा,असंखेज्जा,नो अणंता । एवं पज्जत्तगा वि,अपज्जत्तगा वि । सुहुमनिओदा णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा, असंखेज्जा,अणंता ?। गोयमा ! नो संखेज्जा,असंखेज्जा,नो अणंता । एवं पज्जत्तगा वि,अपज्जत्तगा वि, एवं बायरा वि पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि, नो संखेज्जा, असंखेज्जा, नो अणंता । निओयजीवा णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ?। गोयमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता । एवं पज्जत्ता वि, अपज्जत्ता वि । एवं सुहुमनिओयजीवा वि पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि । बादरनिओयजीवा वि पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि ।

"निओया णं" इत्यादि । निगोदा जीवाऽऽश्रयविशेषा' । भदन्त ! द्रव्यार्थतया द्रव्यरूपतया किं सङ्ख्येया असङ्ख्येया अनन्ता' ?। भगवानाह-गौतम ! नो सङ्ख्येया ,अङ्गुलासङ्ख्येयभागावगाहनानां तेषां सर्वलोकाऽऽपन्नत्वात्,किं त्वसङ्ख्येया.,असङ्ख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । नाप्यनन्ता , तथा केवलवेदसाऽनुपलम्भात् । एवमपर्याप्तसामान्यनिगोदसूत्र पर्याप्तसामान्यनिगोदसूत्र भावनीयम् । यथा च सामान्यनिगोदविषयसूत्रत्रयमुक्तमेव सूक्ष्मनिगोदविषयमपि सूत्रत्रय बादरनिगोदविषयमपि सूत्रत्रय पृथक् वक्तव्यम् । भावना च पूर्वानुसारेण स्वय विधेया । तदेव द्रव्यार्थताविषयाणि नव सूत्राण्युक्तानि ।

संप्रति प्रदेशार्थताविषयाणि नव सूत्राणि विवक्षु' प्रथमत सामान्यतो निगोदविषय सूत्रमाह-

निओदा णं भंते ! पदेसट्ठयाए किं संखेज्जा पुच्छा ? । गोयमा ! णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता । एवं पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि । एवं सुहुमनिओया वि पज्जत्तगा वि, अपज्जत्तगा वि, पएसट्ठयाए सव्वे अणंता । एवं बायरनिओया वि पज्जत्तया वि, अपज्जत्तया वि, पएसट्ठयाए सव्वे अणंता । एवं निओदजीवा वि सत्तविहा पएसट्ठयाए सव्वे अणंता ।

" निओदा णं भंते ! पएसट्ठयाए" इत्यादि । निगोदा उक्तस्वरूपा., णमिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! प्रदेशार्थतया प्रदेशरूपतया चिन्त्यमाना किं सङ्ख्येया असङ्ख्येया अनन्ता वा ?। भगवानाह--गौतम ! नो सङ्ख्येया नो असङ्ख्येया, किन्तु अनन्ताः, एकैकस्मिन् निगोदे प्रदेशानामनन्तत्वात् । एवं शेषाण्यष्टौ सूत्राणि पूर्वक्रमेण भावनीयानि ।

सम्प्रत्येतेषामेव सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनिगोदानां द्रव्यार्थप्रदेशार्थोभयार्थतया परस्परमल्पबहुत्वमाह-

एतेसि णं भंते ! निओयाणं सुहुमाणं बायराणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे० २ जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बायरनिओया पज्जत्तगा दव्वट्ठयाए, बादरनिगोदा अपज्जत्तगा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा,सुहुमनिओया अपज्जत्तगा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा,सुहुमनिओदा पज्जत्तगा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा । एवं पदेसट्ठयाए वि । दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवा बादरनिओया पज्जत्तया दव्वट्ठयाए० जाव सुहुमनिओदा पज्जत्तया दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओएहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बादरनिगोदा पज्जत्ता पएसट्ठयाए अणंतगुणा, बायरणिओदा अपज्जत्तगा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा०जाव सुहुमनिओया पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा । एवं निओयजीवा वि, णवरिं संकमए० जाव सुहुमनिओयजीवेहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बायरनिओया जीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सेसं तहेव० जाव सुहुमनिओयजीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा ।

"एतेसि णं भंते ! निगोदा णं" इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोका बादरनिगोदा मूलकन्दाऽऽदिगताः पर्याप्तका द्रव्यार्थतया, प्रतिनियतक्षेत्रवर्तित्वात्, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणा , एकैकपर्याप्तनिगोदनिश्रया असङ्ख्येयानामपर्याप्तानां बादरनिगोदानां बादरनिगोदनिश्रया असङ्ख्येयानामपर्याप्तानां बादरनिगोदाना-मुत्पादात्,तेभ्य. सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्तका द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, सकललोकाऽऽपन्नतया क्षेत्रस्य सङ्ख्येयगुणत्वात्, तेभ्य सूक्ष्मनिगोदा. पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणा , सूक्ष्मेष्वोघतोऽपर्याप्तेभ्य पर्याप्तानां सङ्ख्येयगुणत्वात् । (पएसट्ठयाए इति) अत ऊर्ध्वं प्रदेशार्थतया चिन्ता क्रियते, तामेव करोति-सर्वस्तोकाः बादरनिगोदा. पर्याप्ता' प्रदेशार्थतया, द्रव्याणां स्तोकत्वात् । तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता' प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणा , द्रव्याणामसङ्ख्येयगुणत्वात् । एव तेभ्य' सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता. प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणा., तेभ्य सूक्ष्मनिगोदा पर्याप्ता प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणाः । (दव्वट्ठपएसट्ठयाए इति) अधुना द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया चिन्ता क्रियते-सर्वस्तोका बादरनिगोदा. पर्याप्ताः द्रव्यार्थतया, बादरनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणा , तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणा , तेभ्य सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणा । अत्र सर्वत्राऽपि युक्तिः प्राक्तन्येव । तेभ्यो बादरा निगोदा. पर्याप्ता' प्रदेशार्थतया अनन्तगुणा., एकैकनिगोदस्यानन्ताणुकानन्तस्कन्धनिष्पन्नत्वात् । तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता प्रदेशार्थतया अस-

ख्येयगुणाः, द्रव्याणामसङ्ख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणाः । युक्तिः प्रागुक्तैव । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः, द्रव्याणां सङ्ख्येयगुणत्वात् । तदेवमुक्ता निगोदाः । अधुना निगोदजीवानाधिकृत्य भेदप्रश्नमाह- * "निगोयजीवा णं भंते !" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! निगोदजीवा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-सूक्ष्मनिगोदा बादरनिगोदजीवाश्च । चशब्दौ निगोदजीवतया तुल्यतासूचकौ । एवमन्यत्रापि यथायोगं भावनीयौ । "सुहुमनिगोयजीवा णं भंते !" इत्यादि पर्याप्तापर्याप्तविषय सूत्रत्रितयं पाठसिद्धम् । सम्प्रति द्रव्यार्थतया सङ्ख्यां विपृच्छिषुराह- " सुहुमनिगोयजीवा णं भंते ! दव्वट्टयाए " इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! नो सङ्ख्येया नाप्यसङ्ख्येयाः, किं त्वनन्ताः ; प्रतिनिगोदमनन्तानां निगोदजीवद्रव्याणां भावात् । एवमपर्याप्तसूत्रं वक्तव्यम् । तदेवं सामान्यतो निगोदद्रव्यविषयं सूत्रकमुक्तम् । एवं सूक्ष्मनिगोदजीवविषयं सूत्रत्रिकं, बादरनिगोदजीवविषयं सूत्रत्रिकं वक्तव्यम् । सर्वसङ्ख्यया नव सूत्राणि । एवमेव प्रदेशार्थताविषयाण्यपि नव सूत्राणि, नानात्वाभावात् । भावना सर्वत्रापि सुप्रतीता । ये किल द्रव्यार्थतयाऽनन्तास्ते प्रदेशार्थतया सुतरामनन्ताः, प्रतिद्रव्यमसंख्यातानां प्रदेशानां भावात् । सर्वसङ्ख्यया चामून्यष्टादश सूत्राणि । साम्प्रतमेतेषामेव सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनिगोदजीवानां द्रव्यार्थप्रदेशार्थोभयार्थतया परस्परमल्पबहुत्वमाह-" एएसि णं " इत्यादि । सर्वस्तोका बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, निगोदानां स्तोकत्वात्, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, निगोदानामसङ्ख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्तका द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणाः । कारणं पूर्ववदूह्यम् । प्रदेशार्थतया सर्वस्तोका बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ताः, प्रदेशार्थतया द्रव्याणां स्तोकत्वात्, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, द्रव्याणामसङ्ख्येयगुणत्वात् । एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया, द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया सर्वस्तोका, बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, प्रतिबादरनिगोदपर्याप्तजीवमसङ्ख्येयानां प्रदेशानां भावात्, तेभ्यः सूक्ष्मबादरनिगोदजीवाश्च पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, बादरनिगोदापर्याप्तेभ्यो बादरनिगोदपर्याप्तानामसङ्ख्यातगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्तकाः प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणाः । भावना प्रागिव ।

सम्प्रति सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तनिगोदजीवानां द्रव्यार्थप्रदेशार्थोभयार्थतया परस्परमल्पबहुत्वमाह-

एतेसि णं भंते ! सुहुमाण निगोदाणं बायराणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं निओयजीवाणं सुहुमाणं बायराण पज्जत्तगाण अपज्जत्तगाण दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे २० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बायरनिओया पज्जत्ता दव्वट्ठयाए, बायरनिओदा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिगोदा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओदा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओएहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बायरनिओदजीवा पज्जत्ता अणंतगुणा, बायरनिओदजीवा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओयजीवा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओयजीवा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, पएसट्ठयाए सव्वत्थोवा, बायरनिओदजीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए, बायरनिओदजीवा अपज्जत्ता पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओयजीवा अपज्जत्ता पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सुहुमनिओदजीवा पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओदजीवेहिंतो पज्जत्तएहिंतो बायरनिओया पज्जत्ता पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, बायरनिओया अपज्जत्ता पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा० जाव सुहुमनिओया पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा, बायरनिओया पज्जत्ता दव्वट्ठयाए, बायरनिओदा अपज्जत्ता दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा० जाव निगोदा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओएहिंतो पज्जत्तएहिंतो बायरनिओदजीवा पज्जत्ता दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, सेसा तहेव० जाव सुहुमनिओदजीवा पज्जत्तगा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, सुहुमनिओयजीवेहिंतो पज्जत्तएहिंतो दव्वट्ठयाए बायरनिओयजीवा पज्जत्ता, पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सेसं तहेव० जाव सुहुमनिओया पज्जत्ता पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा ।

'एएसि णं' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोका बादरनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतयाऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणाः । अत्र सर्वत्रापि युक्तिः प्रागुक्तैव । सूक्ष्मनिगोदेभ्यो द्रव्यार्थतया बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तानां जीवानां भावात्, तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः, द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, निगोदानामसङ्ख्यातगुणत्वात् । एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणाः, प्रदेशार्थतया सर्वस्तोकाः, बादरनिगोदजीवाः पर्याप्तकाः प्रदेशार्थतया, निगोदानां स्तोकत्वात् । तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, निगोदानामसङ्ख्येयगुणत्वात् । एवं तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ताः प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगु-

* 'एवं निओयजीवा वि' इत्यारभ्य 'पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा' इति यावत् मूले संक्षिप्तमुक्तमिति विभावनीयं सुधीभिः ।

णा, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा पर्याप्ता प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणा, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवेभ्यः पर्याप्तेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्ताः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणाः, एकैकस्य निगोदस्य अनन्ताणुकानन्तस्कन्धनिष्पाऽऽपन्नत्वात्। तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणा, एकैकबादरपर्याप्तनिगोदनिश्रया सङ्ख्यातीतानां बादरापर्याप्तनिगोदानामुत्पादात्। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता प्रदेशार्थतया असङ्ख्यातगुणा, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणा, द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया सर्वस्तोका, बादरनिगोदा पर्याप्ता द्रव्यार्थतया, तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणाः, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणा, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणा। । अत्र युक्तिर्निगोदानां द्रव्यार्थतया चिन्तायामिव । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदेभ्यः पर्याप्तेभ्यो बादरनिगोदजीवाः पर्याप्ता द्रव्यार्थतया अनन्तगुणा, प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्। तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणा, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ता द्रव्यार्थतया असङ्ख्येयगुणा, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा पर्याप्ता द्रव्यार्थतया सङ्ख्येयगुणा। । अत्र युक्तिर्निगोदजीवानां द्रव्यार्थतया चिन्तायामिव । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवेभ्यः पर्याप्तेभ्यो द्रव्यार्थतया चिन्तितेभ्यो बादरनिगोदजीवा पर्याप्ता प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणा, प्रतिबादरनिगोदपर्याप्तजीवमसङ्ख्येयानां लोकाऽऽकाशप्रमाणानां प्रदेशानां भावात्। तेभ्यो बादरनिगोदजीवा अपर्याप्ता प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणा, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा अपर्याप्ता प्रदेशार्थतयाऽसङ्ख्येयगुणा, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवा पर्याप्ता प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणा। युक्तिरत्र निगोदजीवानां प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणचिन्तायामिव। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवेभ्यः पर्याप्तेभ्यः प्रदेशार्थतया चिन्तितेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्ता प्रदेशार्थतया अनन्तगुणा। एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तानामणूनां सद्भावात्। तेभ्यो बादरनिगोदा अपर्याप्ता प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणा, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयगुणा, तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदजीवाः पर्याप्ता प्रदेशार्थतया सङ्ख्येयगुणा। । अत्र युक्तिर्निगोदानां प्रदेशार्थतया चिन्तायामिव । जी० ६ प्रति० ।

सांव्यवहारिका के प्रतिपाद्यन्ते, किं निगोदावस्थात उद्वृत्ताः, उत सूक्ष्मनिगोदेभ्य उद्वृत्ता, उत सूक्ष्ममात्रोद्वृत्ता ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रज्ञापनावृत्तौ निगोदादुद्वृत्ता इति सामान्य वचो न विशेषबाधां कर्तुं समर्थं स्यात्। सूक्ष्ममात्राणां निगोद इति सञ्ज्ञा नाऽस्ति, निगोद इति नाम वनस्पतौ रूढम्, तथा सूत्रेऽपि तथैव दृश्यते-सूक्ष्मनिगोदेभ्य उद्वृत्ता, अत एव सांव्यवहारिका इति। श्रुतिपरम्परयाऽपि बहुश्रुतानामय प्रघोष। यत -"सर्वे जीवा व्यवहार्य-व्यवहारितया द्विधा। निगोदा व्यवहार्यास्ते, चान्येऽपि व्यवहारिण"॥१॥ इति योगशास्त्रवृत्तौ इति। १३७ प्र०। सेन० १ उल्ला०। अनादिनिगोदमध्ये यथा भव्यस्य ज्ञानदर्शनचारित्राणां सत्ता, तथा अभव्यस्य भवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-अभव्यस्य ज्ञानाऽऽदिसत्ता भवति, परमभव्यतया सामग्रीसद्भावेन प्रकटीभवति, भव्यस्य तु तद्योगेऽस्या प्रकटीस्यान्निति। १२८ प्र०। सेन० २ उल्ला०। आवलिकायु प्रमाण सूक्ष्मबादरनिगोदयोरुभयो", किं वाऽऽयुस्यैवेति प्रश्ने, उत्तरम्-सूक्ष्मनिगोदस्य क्षुल्लकभवग्रहणरूपमेवान्तर्मुहूर्त्तमायुर्भवति। बादरनिगोदस्य तु क्षुल्लकभवग्रहणरूपं किञ्चिन्न्यूनमन्तर्मुहूर्त्तरूपं भवति, सामान्येन तूभयोरप्यन्तर्मुहूर्त्तमुच्यत इति १५५ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। सूक्ष्मनिगोदान्निर्गतो जीव पुनः सूक्ष्मनिगोदमध्ये याति, न येति प्रश्ने, उत्तरम् सूक्ष्मनिगोदान्निर्गतो जीव पुनरपि सूक्ष्मनिगोदे यातीति। २७३ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

णिगोदजीव-निगोदजीव-पुं० । साधारणनामकर्मोदयवर्तिनि जीवे, भ० २५ श० ६ उ० । नारकजीवेभ्यो निगोदजीवानां दुःखमधिकं, निगोदजीवेभ्यो वा नारकजीवानाम् ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-निश्चयतो नारकजीवेभ्यो निगोदजीवानां जन्ममरणाऽऽद्येकशरीरानन्तजीवावस्थानाऽऽदिरूप महद् दुःखं, परं तन्मत्तमूर्च्छिताऽऽदीनामिव नातिदुःखदम्। व्यवहारतस्तु निगोदजीवेभ्यो नारकजीवानां परमाधार्मिककृतवेदनाऽऽदिरूपं दुःखं प्रति किं साम्यं, हीनाधिकत्वं वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम् तेषां व्यवहारेण समानं दुःखमवगम्यते, निश्चयस्तु केवलिगम्य इति । ३४३ । ३४४ । प्र० । अनादिनिगोदजीवा किं जनितबहुकर्मवशेन तत्र तिष्ठन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रवाहापेक्षया अनादिकर्मसंबन्धेन तत्र तिष्ठन्तीति। ३४५ प्र०। केचन निगोदजीवा लघुकर्मीभूय व्यवहारराशौ समायान्ति, तेषां तत्र लघुकर्मीभवने किं कारणमिति प्रश्ने, उत्तरम्-भवितव्यतापरिपाकाऽऽदिकं तेषां लघुकर्मीभवने कारणमिति ३४६ प्र०। सेन० ३ उल्ला० । मांसमध्ये निगोदजीवा उत्पद्यमाना कथिताः सन्ति । तथाहि-" आमासु अ पक्कासु अ, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु । उप्पज्जंति अणंता, तव्वण्णा तत्थ जन्तूओ "॥ १ ॥ एतद्गाथाया योगशास्त्रवृतीयप्रकाशमध्ये कथितमस्ति, यन्निगोदशब्देन शरीरं कथ्यतेऽतो मांसमध्ये शरीरिणोऽनन्ता जीवा उत्पद्यन्ते, तच्छरीराणि कानि ?, मांसमेव शरीरतया परिणमति, तद्रूपाणि किं वाऽसङ्ख्यातानि शरीराणि उत्पद्यन्ते तानि, तेषामप्यनन्तशरीरिणामाबाधोत्पद्यते ?, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-मांसमध्ये रसजद्वीन्द्रियजीवा अनेके उत्पद्यमाना सम्भाव्यन्ते, तथा "आमासु अ पक्कासु अ," एतद्गाथाया ये निगोदजीवा उत्पद्यमानाः कथिता सन्ति, तत्र निगोदशब्देन सूक्ष्मजीवा एव अर्थं परम्परया कथ्यमानोऽस्ति, परं साधारणवनस्पतिवदनन्तजीवाऽऽश्रय एकशरीरनिगोद एवंविधोऽर्थं कथ्यमानो नास्ति। यच्च प्रतिक्रमणसूत्रवृत्तौ मांसमध्ये तद्वर्णा अनेके जीवा उत्पद्यमाना कथिताः सन्ति, परमनन्ता असङ्ख्याता न कथिता सन्ति, तस्मादनन्ता असङ्ख्याता यत्र कथिता सन्ति, पर तत्रानन्ताऽसङ्ख्यातशब्देन बहव इत्यर्थो ज्ञेय, एव परम्पराऽस्ति। तानि च जीवशरीराणि मांसपुद्गलतयाऽन्यपुद्गलतया च मिश्रितानि उत्पद्यमानानि सम्भाव्यन्ते, तथा तक्राऽऽरनालाऽऽदिषु द्वीन्द्रियजीवा उत्पद्यमाना कथिता सन्ति, तद्वत्तेषामपि मांसजीवानामाबाधोत्पद्यते इति सम्भाव्यते, परमेकशरीरस्थानन्तजीवत्वमुच्यते इति ज्ञात नास्तीति ॥ ४४ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

णिग्गंथ-निर्ग्रन्थ-पुं०। निर्गता ग्रन्था द्रव्यत सुवर्णाऽऽदिरूपाद् भावतो मिथ्यात्वाऽऽदिलक्षणादिति निर्ग्रन्थ । व्य० ३ उ० । स्था० । सूत्र० । निर्गतो बाह्याभ्यन्तरो ग्रन्थो यस्मात्स निर्ग्रन्थ। सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । बाह्याभ्यन्तरग्रन्थिरहिते, दश० ६ अ० । जैनसाधौ, दश० २ अ० । स० । स्था० । (व्याख्या

'दिसा' शब्दे द्रष्टव्या) " णिग्गया जिणसासणभवा । " निर्ग्रन्थास्ते भण्यन्ते, ये जिनशासनभवा' प्रतिपन्नपारमेश्वरप्रवचनमुनय । प्रव० ९४ द्वार । पञ्चविधा. श्रमणा , तत्र निर्ग्रन्था जैनसाधव । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । सूत्र० । स्था० । आ० क० । ज्ञा० । प्रश्न० । आ० चू० । न० ।

(१) निर्ग्रन्थशब्दव्याख्या—

सहिरन्नगा सगंथा, अहिरन्नसुवण्णगा समणा ।

सहिरण्यक सग्रन्थ उच्यते । अत्र हिरण्यग्रहणं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहोपलक्षण,ततो य. सपरिग्रह स सग्रन्थ । श्रमणा पुनरहिरण्यसुवर्णका अतो निर्ग्रन्था । हिरण्य रूप्य,सुवर्णं कनकम् । वृ० १ उ० । (ग्रन्थनिक्षेपो 'गंथ' शब्दे तृ० भा० ७९३ पृष्ठे उक्त)

प्रस्तुतयोजनामाह—

सावज्जेण विमुक्का, अब्भिंतरबाहिरेण गंथेण ।
निग्गहपरमा य वि हु, तेणेवं हुंति निग्गंथा ॥

सावद्य सपाप कर्मोपादाननिबन्धनत्वाद्यो ग्रन्थ ,तेन साभ्यन्तरबाह्येन ये मुक्तास्ते निर्ग्रन्था उच्यन्ते । येऽपि चान्तर ग्रन्थेन न सर्वथा मुक्तास्तेऽपि, ये न विद्वास क्रोधाऽऽदिदोषवेदिन , तथा निग्रहपरमा , तन्निर्जयप्रधाना , तेनैव कारणेन ते निर्ग्रन्था भवन्ति ।

(२)अथाऽऽन्तर ग्रन्थमधिकृत्य ये मुक्ता ,ये चामुक्ता.,तदेतद्विभिधित्सुराह—

केई सव्वविमुक्का, कोहाईएहिँ केइ भइयव्वा ।
सेढिदुगं विराहित्ता, जाणसु जो निग्गओ जत्तो ॥

क्रोधाऽऽदिभिरन्तरग्रन्थै केचित्सर्वविमुक्ता सर्वैरपि विप्रमुक्ता ,केचित्पुनर्भक्तव्या विकल्पनीयाः-कैश्चिद् मुक्ता',कैश्चिदपि न मुक्ता इत्यभिप्राय । अत्र शिष्य प्राऽऽह-कथ नु नामेद ज्ञास्यते ?-अमी सर्वथा मुक्ता , अमी च न मुक्ता इत्युच्यते-श्रेणिद्विकमुपशमश्रेणिक्षपकश्रेणिलक्षण, विरचय्य यथोक्तपरिपाट्या स्थापयित्वा,ततो जानीहि यो यत क्रोधाऽऽदेर्निर्गत.,अनिर्गतो वेति। वृ० १ उ० । भ० । उत्त० । सूत्र० । (श्रेणिद्वयप्ररूपणा ' खवगसेढि ' शब्दे तृ० भा० ७२७ पृष्ठे,'उवसमसेढि ' शब्दे द्वि० भा० १०४३ पृष्ठे च द्रष्टव्या)

(३) एना क्षपकश्रेणिमध्यामीनेन येन यदनन्तानुबन्ध्यादिक क्षपित, स तेन मुक्त इत्यवसातव्यम् । येऽपि श्रेणिद्वयमथाऽपि न प्रतिपद्यन्ते, किन्तु सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकानामन्यनमस्मिन् सयमे वर्तन्ते, तेऽपि सकलनचतुष्टयवर्जैर्द्वादशभि कषायैर्मुक्ता इत्यवगन्तव्यम् । यत उक्तम्-"बारसविहे कसाए, खविए उवसामिए य जोगेहिं । लब्भइ चरित्तलंभो, तस्स विसेसा इमे पंच ॥ १ ॥"

तनश्च—

जे वि अ न सव्वगंथे—हिं निग्गया होंति केइ निग्गंथा।
ते वि य निग्गहपरमा, हवंति तेसिं खउज्जुत्ता ॥

ये पि च सरागसयमवर्तिन सर्वेभ्य आभ्यन्तरग्रन्थेभ्यो न निर्गता , तेऽपि तेषां सज्वलनकषायाऽऽदीना क्षयोद्युक्ता उदयनिरोधोदयप्राप्तविफलीकरणाभ्या क्षयकरणायोद्यता सन्तो निग्रहपरमा अन्तरग्रन्थनिग्रहप्रधाना भवन्तीत्यतो निर्ग्रन्था उच्यन्ते ।

अपि च—

कलुसफलेन न जुज्जइ, किं चित्तं तत्थ जं विगयरागो ।
संते वि जे कसाए, निगिण्हई सो वि तत्तुल्लो ॥

कलुषयन्ति सहजनिर्मल कर्मरजसा मलिनयन्तीति " अच् " ॥ ५ । १ । ४९ ॥ इति अच्प्रत्यये कलुषा कषाया , तेषा यत्फल पुरुषभाषणनयनमुखविकारै रौद्रध्यानानुबन्धाऽऽदिक तेन सह यत्र युज्यते न सबन्धमुपयाति, विगतरागो विशेषेणापुनर्भावेन गतो रागो यस्मात्स विगतराग , क्षीणमोह इत्यर्थ । तत्र किं चित्र किमाश्चर्यं ?, कषायलक्षणकारणाभावान्न किञ्चिदित्यर्थ । यस्तु सतोऽपि विद्यमानानपि कषायान्निगृह्णाति, उदीयमानानेव प्रथमतो निरुणद्धि, कथञ्चिदुदयप्राप्तान् वा विफलीकरोति, सोऽपि तत्तुल्यो वीतराग इव निष्कषायो मन्तव्य , सतामपि कषायाणामसत्कल्पनाकरणात्, अत. सरागसयतोऽपि निर्ग्रन्थोऽभिधीयते ।

अथ पर प्रश्नयति—

जइ अब्भिंतरमुक्का, बाहिरगंथेण मुक्कया किह णु ? ।
गिण्हंता उवगरणं, जम्हा अममत्तया तेसु ॥

यद्यनन्तरोक्तप्रकारेणाऽभ्यन्तरग्रन्थमुक्ता ,ततो वस्त्रपात्राऽऽदिकमुपकरण गृह्णन्, तत. कथ,नुरिति वितर्के । बाह्यग्रन्थेन मुक्ता उच्येरन्?,वस्त्राऽऽदेरपि ग्रन्थरूपत्वादित्यभिप्राय । सूरिराह-यस्मात्तेषु वस्त्रपात्राऽऽदिषु न विद्यते ममत्व मूर्च्छा येषा ते अममत्वका । " शेषाद्वा " ॥ ७ । ३ । १७५ ॥ इति कच्प्रत्यय. । मूर्च्छारहिता । तेन बाह्यग्रन्थमुक्ता अप्यभिधीयन्ते । इयमत्र भावना-मूर्च्छा परिग्रहो गीयते तनूपकरणाविधारणमात्रम्,"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" इति वचनात् । अत. सयमोपष्टम्भाऽऽदिनिमित्तमुपकरण धारयन्नपि विशुद्धचेतोवृत्तिरपरिग्रह एव ज्ञातव्य । तदुक्त परमगुरुभि -"अज्झत्थविसोहीए, उवगरण बाहिरं परिहरंतो । अपरिग्गहो त्ति भणिओ, जिणेहिँ तेलुक्कदंसीहिं " ॥१॥ वृ० १ उ० । भ० । उत्त० । सूत्र० ।

(४) अथ निर्ग्रन्थनिक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्—

णिक्खेवो णियंठम्मी, चउविहो दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगमओ आगमओ,णो आगमओ य सो तिविहो ।२२। नि० ।

निक्षेपो न्यास. (नियठम्मि त्ति) निर्ग्रन्थे निर्ग्रन्थविषये चतुर्विध , नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदात् । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे । द्विविधो भवति द्रव्ये-आगमतो, नो आगमतश्च । तत्राऽऽगमत प्राग्वत् , नो आगमतश्च स इति निर्ग्रन्थस्त्रिभेद इति गाथाऽर्थ । उत्त० (पाई० टीका) ६ अ० । त्रैविध्यमेवाऽऽह—

जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य णिण्हवाईसु ।
भावम्मि णियंठो खलु, पंचविहो होइ णायव्वो ॥२३॥ नि० ।

द्रव्यतो एक , अन्यो न द्रव्यतो भावत , अपरो द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि । तत्र द्रव्यतो निर्ग्रन्थ स उच्यते, यो लिङ्गसहितो द्रव्यलिङ्गयुक्तो नि शङ्क सशयवस्यते, उत्पव्रजतीत्यर्थ । यस्तु प्रव्रज्यायामभिमुखो न तावदद्याऽपि प्रव्रजति, कारणेन वा य साधु परलिङ्गे वर्तते,स द्वितीयो द्वितीयभङ्गवर्ती । यस्तु उदयसहितो द्रव्यभावलिङ्गयुक्त स तृतीय. । उभयथा निर्ग्रन्थ इति भाव । वृ० ३ उ० ।

(जाणगसरीरभविए त्ति) ज्ञशरीरनिर्ग्रन्थो, भव्यशरीरनिर्ग्रन्थश्च । पश्चात्कृतपुरस्कृतनिर्ग्रन्थपर्यायितयाऽत्र घृतकुम्भ इत्यादिन्यायतः प्राग्वद्भावनीयः । तद्व्यतिरिक्तश्च निह्नवाऽऽदिषु । आदिशब्दात्पार्श्वस्थाऽऽदिपरिग्रहः । भावनिर्ग्रन्थोऽप्यागमतो, नो आगमतश्च, तत्राऽऽगमतस्तथैव । नो आगमतस्तु स्नत एवाऽऽह नियुक्तिकृत्-भावे निर्ग्रन्थः, खलुर्वाक्यालङ्कारे, पञ्चविधः पञ्चभेदो भवति ज्ञातव्य इति गाथाऽर्थः । उत्त० (पाईटीका) ६ अ० ।

(५) पञ्चविधनिर्ग्रन्थस्वरूप चेदम्-

कइ णं भंते ! णियंठा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंच णियंठा पएणत्ता । तं जहा-पुलाए, बउसे, कुसीले, णियंठे, सिणाए ।

(णियठ त्ति) निर्गताः सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थादिति निर्ग्रन्थाः साधवः, एतेषां च प्रतिपन्नसर्वविरतीनामपि विचित्रचारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमाऽऽदिकृतो भेदोऽवसेयः । तत्र-(पुलाए त्ति) पुलाको निःसारो धान्यकणः, पुलाकवत्पुलाकः संयमसारापेक्षया, स च संयमवानपि मनाक् तमसारं कुर्वन् पुलाक इत्युच्यते । (बउसे त्ति) बकुशं शबलं, कर्बुरमित्यनर्थान्तरम्, ततश्च बकुशसंयमयोगाद्बकुशः । (कुसीले त्ति) कुत्सितं शीलं चरणमस्येति कुशीलः । (नियंठे त्ति) निर्गतो ग्रन्थान्मोहनीयकर्माऽऽख्यादिति निर्ग्रन्थः । (सिणाए त्ति) स्नात इव स्नातो घातिकर्ममलक्षपणमयपटलक्षालनादिति । भ० २५ श० ६ उ० ।

तओ णियंठा णोसण्णोवउत्ता पएणत्ता । जहा-पुलाए, णियंठे, सिणाए । तओ णियंठा सण्ण-णोसण्णोवउत्ता पएणत्ता । तं जहा-बउसे, पडिसेवणाकुसीले, कसायकुसीले ।

(तओ इत्यादि) निर्गता ग्रन्थात् सबाह्याभ्यन्तरादिति निर्ग्रन्थाः संयताः, नो 'नैव, सञ्ज्ञायामाहाराऽऽद्यभिलाषरूपायां, पूर्वानुभूतस्मरणानागतचिन्ताद्वारेणोपयुक्ता ये ते नोसंज्ञोपयुक्ताः, तत्र पुलाको लब्ध्युपजीवनाऽऽदिना संयमासारताकारको वक्ष्यमाणलक्षणः, निर्ग्रन्थ उपशान्तमोहः, क्षीणमोहो वेति । स्नातको घातिकर्ममलक्षालनावाप्तशुद्धज्ञानस्वरूपः । तथा त्रय एव संज्ञोपयुक्ता, नोसंज्ञोपयुक्ताश्चेति सकीर्णस्वरूपा, तथा स्वरूपत्वात् । तथा चाऽऽह-(सण्ण नोसण्णोवउत्त त्ति) सञ्ज्ञा चाहाराऽऽदिविषया, नोसंज्ञा च तदभावलक्षणा । सञ्ज्ञानोसंज्ञे, तयोरुपयुक्ता इति विग्रहः । पूर्वत्वता प्राकृतत्वादिति । तत्र बकुशः शरीरोपकरणविभूषाऽऽदिना सवलचारित्रपटः, प्रतिसेवनया मूलगुणाऽऽदिविषयया कुत्सितं शीलं यस्य स तथा । एवं कषायकुशील इति । स्था० ३ ठा० २ उ० । ध०र० । ध० । पं० भा० । पं० चू० । दर्श० । (पुलाकाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

(६) एते पुलाकाऽऽदयः पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा एभिः संयमाऽऽदिभिरनुगमविकल्पैः साध्या भवन्ति-

पण्णवण वेय रागे, कप्प चरित्त पडिसेवणा णाणे ।
तित्थे लिंग सरीरे, खित्ते काले गति संजम णिकासे ॥१॥
जोगुवओग कसाए, लेसा परिणाम बंध वेदे य ।
कम्मोदीरण उवसं-पजहण्ण सण्णा य आहारे ॥ २ ॥
भव आगरिसे कालं-तरे य समुघाय खेत्त फुसणा य ।
भावे परिणामे खलु, अप्पाबहुयं णियंठाणं ॥ ३ ॥
भ० २५ श० ६ उ० ।

(७) तत्र वेदद्वारे-

पुलाए णं भंते! किं सवेयए होज्जा, अवेदए होज्जा ?। गोयमा! सवेयए होज्जा, णो अवेदए होज्जा । जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा, पुरिसवेदए होज्जा, पुरिसणपुंसगवेयए होज्जा ? । गोयमा ! णो इत्थीवेयए होज्जा, पुरिसवेयए होज्जा, पुरिसणपुंसगवेयए होज्जा । बउसे णं भंते ! किं सवेयए होज्जा, अवेदए होज्जा ?। गोयमा! सवेदए होज्जा, णो अवेदए होज्जा । जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेयए होज्जा, पुरिसवेयए होज्जा, पुरिसणपुंसगवेयए होज्जा ?। गोयमा ! इत्थीवेयए होज्जा, पुरिसवेयए होज्जा, पुरिसणपुंसगवेयए होज्जा । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं भंते ! किं सवेयए पुच्छा ?। गोयमा ! सवेयए वा होज्जा, अवेदए वा होज्जा । जइ अवेदए होज्जा किं उवसंतवेदए होज्जा, खीणवेदए होज्जा ? । गोयमा ! उवसंतवेदए वा होज्जा, खीणवेदए वा होज्जा । जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा पुच्छा ?। गोयमा! तिसु वि जहा बउसे । णियंठे णं भंते ! किं सवेदए पुच्छा?। गोयमा ! णो सवेदए होज्जा, अवेदए होज्जा । जइ अवेदए होज्जा किं उवसंतवेदए होज्जा, खीणवेदए वा होज्जा पुच्छा?। गोयमा ! उवसंतवेदए वा होज्जा, खीणवेदए वा होज्जा । सिणाए णं भंते! किं सवेयए होज्जा?। जहा णियंठे तहा सिणाए वि, णवरं णो उवसंतवेदए होज्जा, खीणवेदए होज्जा ।

पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीलानामुपशमक्षपकश्रेण्योरभावात्। (नो इत्थीवेयए त्ति) स्त्रिया पुलाकलब्धेरभावात् । (पुरिसनपुंसगवेयए त्ति) पुरुष सन् यो नपुंसकवेदको वर्द्धितकत्वाऽऽदिभावात् । (वेदए वा होज्जा, खीणवेदए वा होज्ज त्ति) सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत्कषायकुशीलो भवति, स च प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणेषु सवेदः, अनिवृत्तिबादरे तूपशान्तेषु क्षीणेषु वा वेदेष्ववेदः स्यात्, सूक्ष्मसम्पराये चेति । (नियंठे णमित्यादि) (उवसंतवेयए वा होज्जा, खीणवेयए वा होज्ज त्ति) श्रेणिद्वये निर्ग्रन्थत्वभावादिति । (सिणाए णमित्यादि) (णो उवसंतवेदए होज्जा, खीणवेदए होज्ज त्ति) क्षपकश्रेण्यामेव स्नातकत्वभावादिति ।

(८) रागद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सरागे होज्जा, वीयरागे होज्जा?। गोयमा ! सरागे होज्जा, णो वीयरागे होज्जा, एवं० जाव

कसायकुसीले। णियंठे णं भंते! किं सरागे होज्जा पुच्छा ?। गोयमा ! णो सरागे होज्जा, वीयरागे होज्जा । जइ वीयरागे होज्जा किं उवसंतकसायवीयरागे होज्जा, खीणकसायवीयरागे होज्जा ?। गोयमा ! उवसंतकसायवीयरागे होज्जा, खीणकसायवीयरागे होज्जा । सिणाते एवं चेव, णवरं णो उवसंतकसायवीयरागे होज्जा, खीणकसायवीयरागे होज्जा ।
(पुलाए ण भंते ! किं सरागे त्ति) सराग. सकषाय.।

(८) कप्पद्दारे-

पुलाए णं भंते ! किं ठियकप्पे होज्जा, अट्ठियकप्पे होज्जा ?। गोयमा ! ठियकप्पे वा होज्जा, अट्ठियकप्पे वा होज्जा । एवं० जाव सिणाए। पुलाए णं भंते ! किं जिणकप्पे होज्जा, थेरकप्पे होज्जा, कप्पातीते होज्जा ? । गोयमा ! णो जिणकप्पे होज्जा, थेरकप्पे होज्जा, णो कप्पातीते होज्जा । बउसे णं भंते पुच्छा ? । गोयमा ! जिणकप्पे वा होज्जा, थेरकप्पे वा होज्जा, णो कप्पातीते होज्जा। एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं पुच्छा ? । गोयमा ! जिणकप्पे वा होज्जा, थेरकप्पे वा होज्जा, कप्पातीते वा होज्जा । णियंठे णं पुच्छा ? । गोयमा ! णो जिणकप्पे होज्जा, णो थेरकप्पे होज्जा, कप्पातीते होज्जा । एवं सिणाए वि ॥ ४ ॥

(किं ठियकप्पे इत्यादि) आचेलक्याऽऽदिषु दशसु पदेषु प्रथमपश्चिमतीर्थकरसाधवः स्थिता एवाऽवश्यं तत्पालनादिति । तेषां स्थितकल्पः, तत्र वा पुलाको भवेत्। मध्यमतीर्थकरसाधवस्तु तेषु स्थिताश्चास्थिताश्च स्थितास्थिताश्चेत्यस्थितकल्पः, तेषां तत्र वा पुलाको भवेत्। एवं सर्वेऽपि। अथवा-कल्पो जिनकल्पः, स्थविरकल्पश्चेतद् द्विविधः । तमाश्रित्याऽऽह -(पुलाए णं भंते ! किं जिणकप्पे इत्यादि)(कप्पातीते त्ति) जिनकल्पस्थविरकल्पाभ्यामन्यत्र । (कसायकुसीले णमित्यादि) (कप्पातीते वा होज्ज त्ति) कल्पातीते वा कषायकुशीलो भवेत्, कल्पातीतस्य छद्मस्थतीर्थकरस्य सकषायत्वादिति । (नियंठे णमित्यादि) (कप्पातीते होज्ज त्ति) निर्ग्रन्थः कल्पातीत एव भवेत्, यतस्तस्य जिनकल्पस्थविरकल्पधर्मा न सन्तीति ।

(९) चरित्तद्दारे-

पुलाए णं भंते ! किं सामाइयसंजमे होज्जा, छेओवट्ठावणियसंजमे होज्जा, परिहारविसुद्धियसंजमे होज्जा, सुहुमसंपरायसंजमे होज्जा, अहक्खायसंजमे होज्जा ?। गोयमा ! सामाइयसंजमे होज्जा, छेओवट्ठावणियसंजमे होज्जा, णो परिहारविसुद्धियसंजमे होज्जा, णो सुहुमसंपरायसंजमे होज्जा, णो अहक्खायसंजमे होज्जा। एवं बउसे वि। एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं पुच्छा ?। गोयमा ! सामाइयसंजमे वा होज्जा० जाव सुहुमसंपरायसंजमे वा होज्जा, णो अहक्खायसंजमे होज्जा । णियंठे णं पुच्छा ?। गोयमा ! णो सामाइयसंजमे वा होज्जा० जाव णो सुहुमसंपरायसंजमे वा होज्जा, अहक्खायसंजमे वा होज्जा। एवं सिणाते वि ॥५॥

चरित्रद्वारं व्यक्तमेव।

(१०) पडिसेवणाद्दारे-

पुलाए णं भंते ! किं पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा ? । गोयमा ! पडिसेवए होज्जा, णो अपडिसेवए होज्जा । जइ पडिसेवए होज्जा, किं मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा ?। गोयमा ! मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा, मूलगुणपडिसेवमाणे पंचण्हं आसवाणं अण्णयरं पडिसेवेज्जा, उत्तरगुणपडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अण्णयरं पडिसेवेज्जा । बउसे णं पुच्छा ?। गोयमा ! पडिसेवए होज्जा, णो अपडिसेवए होज्जा । जइ पडिसेवए होज्जा किं मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा ?। गोयमा ! णो मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा । उत्तरगुणपडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अण्णयरं पडिसेवेज्जा । पडिसेवणाकुसीले जहा पुलाए। कसायकुसीले पुच्छा ?। गोयमा ! णो पडिसेवए होज्जा । एवं णियंठे वि । एवं सिणाते वि ॥ ६ ॥

(पडिसेवए त्ति) संयमप्रतिकूलार्थस्य संज्वलनकषायोदयात्सेवकः प्रतिसेवकः, संयमविराधक इत्यर्थः । (मूलगुणपडिसेवए त्ति) मूलगुणाः प्राणातिपातविरमणाऽऽदयः, तेषां प्रातिकूल्येन सेवकः मूलगुणप्रतिसेवकः । एवमुत्तरगुणप्रतिसेवकोऽपि, नवरमुत्तरगुणाः दशविधप्रत्याख्यानरूपाः । (दसविहस्स पच्चक्खाणस्स त्ति) तत्र दशविधं प्रत्याख्यानम्, 'अणागतमइक्कंत कोडीसहियं' इत्यादिप्राग्व्याख्यातस्वरूपम् । अथवा-"नवकारपोरिसीए" इत्याद्यावश्यकप्रसिद्धम् । (अण्णयर पडिसेवेज्ज त्ति) एकतरं प्रत्याख्यानं विराधयेदुपलक्षणत्वाच्चास्य पिण्डविशुद्ध्यादिविराधकत्वमपि सम्भाव्यत इति ।

(११) ज्ञानद्वारे—

पुलाए णं भंते ! कइसु णाणेसु होज्जा?। गोयमा ! दोसु वा तिसु वा होज्जा, दोसु होज्जमाणे दोसु आभिणिबोहियणाणसुअणाणेसु होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु आभिणिबोहियणाणसुअणाणओहिणाणेसु होज्जा । एवं बउसे वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं पुच्छा ?। गोयमा! दोसु वा तिसु वा चउसु वा होज्जा । दोसु होज्जमाणे दोसु आभिणिबोहियणाणसुअणाणेसु होज्जा । तिसु होज्जमाणे तिसु आभिणिबोहियणाणसुअणाणओहिणाणेसु होज्जा, अहवा तिसु आभिणिबोहियणाणसुअणाणमणपज्जवणाणेसु होज्जा, चउसु होज्जमाणे चउसु आभिणिबोहियणाणसुअणाणओहिणाणमणपज्जवणाणेसु होज्जा । एवं णियं-

ते वि । सिणाते णं पुच्छा ? । गोयमा ! एगम्मि केवल-णाणेसु होज्जा । पुलाए णं भंते ! केवइयं सुयं अहि-ज्जेज्जा ? । गोयमा ! जहण्णेण णवस्स पुव्वस्स ततियं आ-यारवत्थुं, उक्कोसेणं णवपुव्वाइं अहिज्जेज्जा । बउसे णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठ पवयणमायाओ, उक्कोसेणं दस पुव्वाइं अहिज्जेज्जा । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले ण पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठ पवयण-मायाओ, उक्कोसेण चउद्दस पुव्वाइं अहिज्जेज्जा । एवं णियंठे वि । सिणाते णं पुच्छा ? । गोयमा ! सुयवतिरित्ते होज्जा ॥ ७ ॥

आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानप्रस्तावाद् ज्ञानविशेषभूतं श्रुतं वि-शेषेण चिन्तयन्नाह-(पुलाए णं भंते ! केवइयं सुयमित्यादि) (जहण्णेणं अट्ठ पवयणमायाओ त्ति) अष्टप्रवचनमातृपालनरूप-त्वाच्चारित्रस्य, तद्वतोऽष्टप्रवचनमातृपरिज्ञानेनाऽवश्यं भाव्यं, ज्ञानपूर्वकत्वाच्चारित्रस्य, तत्परिज्ञानं च श्रुतात्तदतोऽष्टप्रवचन-मातृप्रतिपादनपरं श्रुतं बकुशस्य जघन्यतोऽपि भवतीति । तच्च "अट्ठण्हं पवयणमाईणं" इत्यस्य यद्विवरणसूत्रं तत्सम्भा-व्यते । यत्पुनरुत्तराध्ययनेषु प्रवचनमातृप्रतिपादननामकमध्ययनं, तद् गुरुत्वाद्विशिष्टतरश्रुतत्वाच्च न जघन्यतः सम्भवतीति बाहुल्याऽऽश्रयं चेदं श्रुतप्रमाणं, तेन न माषतुषाऽऽदिना व्यभि-चार इति ।

(१२) तीर्थद्वारे—

पुलाए णं भंते ! किं तित्थे होज्जा, अतित्थे होज्जा ? । गोयमा ! तित्थे होज्जा, णो अतित्थे होज्जा । एवं बउसे वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले पुच्छा ? । गोयमा ! तित्थे वा होज्जा, अतित्थे वा होज्जा । जइ तित्थे होज्जा किं तित्थयरे होज्जा, पत्तेयबुद्धे होज्जा ? । गोयमा ! तित्थयरे वा होज्जा, पत्तेयबुद्धे वा होज्जा । एवं णियंठे वि । एवं सिणाते ॥ ८ ॥

(कसायकुसीलेत्यादि)- कषायकुशीलश्छद्मस्थावस्थायां तीर्थकरोऽपि स्यादतस्तदपेक्षया तीर्थव्यवच्छेदे च तदन्योऽ-प्यसौ स्यादिति, तदन्यापेक्षया च "अतित्थे वा होज्ज त्ति" इ-त्युच्यते । अत एवाऽऽह-" जइ तित्थे होज्जा, किं तित्थगरे होज्जा " इत्यादि ।

(१३) लिङ्गद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सलिंगे होज्जा, अण्णलिंगे हो-ज्जा, गिहिलिंगे होज्जा ? । गोयमा ! दव्वलिंगं प-डुच्च सलिंगे वा होज्जा, अण्णलिंगे वा होज्जा । भा-वलिंगं पडुच्च णियमं सलिंगे होज्जा, एवं० जाव सि-णाए । ॥ ९ ॥

लिङ्गं द्विधा, द्रव्यभावभेदात् । तत्र भावलिङ्गं ज्ञानाऽऽदि, तच्च स्व-लिङ्गमेव, ज्ञानाऽऽदिभावस्यार्हतामेव भावात् । द्रव्यलिङ्गं तु द्वे-धा, स्वलिङ्गपरलिङ्गभेदात् । तत्र स्वलिङ्गं रजोहरणाऽऽदि । पर-लिङ्गं च द्विधा-कुतीर्थिकलिङ्गं, गृहस्थलिङ्गं चेत्यत आह-(पु-लाए णं भंते ! किं सलिंगे इत्यादि) त्रिविधलिङ्गेऽपि भवेद् द्रव्यलिङ्गानपेक्षत्वाच्चरणपरिणामस्येति ।

(१४) शरीरद्वारे-

पुलाए णं भंते ! कइसु सरीरेसु होज्जा ? । गोयमा ! तिसु ओरालियतेयाकम्मएसु होज्जा । बउसे णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! तिसु वा चउसु वा होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु ओरालियतेयाकम्मएसु होज्जा । चउसु होज्जमाणे चउसु ओरालियवेउव्वियतेयाकम्मएसु होज्जा । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले पुच्छा ? । गोयमा ! तिसु वा चउसु वा पंचसु वा होज्जा । तिसु होज्जमाणे तिसु ओरालियतेयाकम्मएसु होज्जा, चउसु होज्जमाणे चउसु ओरालियवेउव्वियतेयाकम्मएसु होज्जा । पंचसु हो-ज्जमाणे पंचसु ओरालियवेउव्वियआहारगतेयाकम्मएसु होज्जा । णियंठो, सिणाओ य जहा पुलाओ ॥ १० ॥

शरीरद्वारं व्यक्तम् ।

(१५) क्षेत्रद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं कम्मभूमीसु होज्जा ? । गोयमा ! जम्म-णसंतिभावं पडुच्च कम्मभूमीए होज्जा, णो अकम्मभूमीए होज्जा ? । बउसे णं पुच्छा ? । गोयमा ! जम्मणसंतिभावं पडुच्च कम्मभूमीए होज्जा, णो अकम्मभूमीए होज्जा । साहरणं पडुच्च कम्मभूमीए होज्जा, अकम्मभूमीए वा होज्जा । एवं ०जाव सिणाए ॥ ११ ॥

(पुलाए णं भंते ! किं कम्मभूमीए इत्यादि)(जम्मणसंतिभावं प-डुच्च त्ति) जन्म उत्पादः, सद्भावश्च विवक्षितक्षेत्रादन्यत्र, तत्र वा जातस्य, तत्र चरणभावे नास्तित्वम्, एतयोश्च समाहारद्वन्द्वोऽतस्त-त्प्रतीत्य पुलाकः कर्मभूमौ भवेत्, तत्र जायते, विहरति च तत्रै-वेत्यर्थः । अकर्मभूमौ पुनरसौ न जायते, तज्जातस्य चारित्रा-भावात् । न च तत्र वर्त्तते, पुलाकलब्धौ वर्त्तमानस्य देवाऽऽदिभि-संहर्तुमशक्यत्वात् । बकुशसूत्रे-(नो अकम्मभूमीए होज्ज त्ति) अकर्मभूमौ बकुशो न जन्मतो भवति, स्वकृतविहारतश्च, पर-कृतविहारतस्तु कर्मभूम्यामकर्मभूम्यां च सम्भवतीत्येतदे-वाऽऽह-(साहरणं पडुच्चेत्यादि) इह च संहरणं क्षेत्रान्त-रात्क्षेत्रान्तरे देवाऽऽदिभिर्नयनम् ।

(१६) कालद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं ओसप्पिणीकाले होज्जा, उस्सप्पिणी-काले होज्जा, णो ओसप्पिणी णो उस्सप्पिणीकाले होज्जा ? । गोयमा ! ओसप्पिणीकाले वा होज्जा, उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा, णो ओसप्पिणी णो उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा । जइ ओसप्पिणीकाले होज्जा किं सुसमसुसमाकाले होज्जा १, सुसमाकाले होज्जा २, सुसमदुसमाकाले होज्जा ३, दुसमसुसमाकाले होज्जा ४, दुस्समाकाले होज्जा ५. दुस्समदुस्समाकाले होज्जा ६ ? । गोयमा ! जम्मणं पडुच्च णो सुसमसुसमाकाले होज्जा ?, णो

सुसमाकाले होज्जा २, सुसमदुस्समाकाले वा होज्जा ३, दुस्समसुसमाकाले वा होज्जा ४, णो दुस्समाकाले होज्जा ५, णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा ६ । संतिभावं पडुच्च णो सुसमसुसमाए होज्जा १, णो सुसमाए होज्जा २, सुसमदुस्समाए होज्जा ३, दुस्समसुसमाए होज्जा ४, दुस्समाए होज्जा ५, णो दुस्समदुस्समाए होज्जा ६ । जदि उस्सप्पिणीकाले होज्जा किं दुस्समदुस्समाकाले होज्जा १, दुस्समाकाले होज्जा २, दुस्समसुसमाकाले होज्जा ३, सुसमदुस्समाकाले होज्जा ४, सुसमाकाले होज्जा ५, सुसमसुसमाकाले होज्जा ६ ? । गोयमा ! जम्मणं पडुच्च णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा १, दुस्समाकाले होज्जा २, दुस्समसुसमाकाले वा होज्जा ३, सुसमदुस्समाकाले वा होज्जा ४, णो सुसमाकाले वा होज्जा ५, णो सुसमसुसमाकाले वा होज्जा ६ । संतिभावं पडुच्च णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा १, णो दुस्समाकाले होज्जा २, दुस्समसुसमाकाले होज्जा ३, सुसमदुस्समाकाले वा होज्जा ४, णो सुसमाकाले होज्जा ५, णो सुसमसुसमाकाले होज्जा ६ । जइ णो ओसप्पिणी णो उस्सप्पिणी काले होज्जा किं सुसमसुसमापलिभागे होज्जा १, सुसमापलिभागे होज्जा २, सुसमदुस्समापलिभागे होज्जा ३, दुस्समसुसमापलिभागे होज्जा ४ ? । गोयमा ! जम्मणं संतिभावं पडुच्च णो सुसमसुसमापलिभागे होज्जा १, णो सुसमापलिभागे होज्जा २, णो सुसमदुस्समापलिभागे होज्जा ३, दुस्समसुसमापलिभागे होज्जा ४ । बउसे णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! ओसप्पिणीकाले वा होज्जा, उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा, णो ओसप्पिणीकाले वा होज्जा, णो उस्सप्पिणीकाले वा होज्जा । जइ ओसप्पिणीकाले होज्जा किं सुसमसुसमाकाले वा होज्जा पुच्छा ?। गोयमा ! जम्मणं संतिभावं पडुच्च णो सुसमसुसमाकाले होज्जा १, णो सुसमाकाले होज्जा २, सुसमदुस्समाकाले होज्जा ३, दुस्समसुसमाकाले वा होज्जा ४, दुस्समाकाले वा होज्जा ५, णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा ६ । साहरणं पडुच्च अण्णयरे समाकाले जदि ओसप्पिणीकाले होज्जा किं दुस्समदुस्समाकाले होज्जा ?। गोयमा ! जम्मणं पडुच्च णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा, जहेव पुलाए । संतिभावं पडुच्च णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा । एवं संतिभावेण वि जहा पुलाए०जाव णो सुसमसुसमाकाले होज्जा । साहरणं पडुच्च अण्णयरे समाकाले होज्जा, जहा णो ओसप्पिणी णो उस्सप्पिणीकाले होज्जा पुच्छा ?। गोयमा ! जम्मणं संतिभावं पडुच्च णो सुसमसुसमापलिभागे होज्जा । जहेव पुलाए०जाव दुस्समसुसमापलिभागे होज्जा । साहरणं पडुच्च अण्णयरे पलिभागे होज्जा, जइ बउसे, एवं पडिसेवणाकुसीले वि । एवं कसायकुसीले वि । णियंठो, सिणाओ य जहा पुलाए; णवरं एएसिं अब्भहियं साहरणं भाणियव्वं; सेसं तं चेव ॥ १२ ॥

त्रिविध कालोऽवसर्पिण्यादि । तत्राऽऽद्यद्वय भरतैरावतयोः, तृतीयस्तु महाविदेहहैमवताऽऽदिषु । (सुसमदुस्समाकाले वा होज्ज त्ति) आदिदेवकाले इत्यर्थः । (दुस्समसुसमाकाले वेति) चतुर्थे अरके इत्यर्थः । उक्तात्समाद्ययाऽन्यत्राऽसौ जायते । (संतिभाव पडुच्चेत्यादि) अवसर्पिण्या सद्भाव प्रतीत्य तृतीयचतुर्थपञ्चमाऽऽरकेषु भवेत् । तत्र चतुर्थारके जात. सन्पञ्चमेऽपि वर्त्तते, तृतीयचतुर्थारकसद्भावस्तु तज्जन्मपूर्वक इति । (जइ उस्सप्पिणीत्यादि) उत्सर्पिण्यां द्वितीयतृतीयचतुर्थेष्वरकेषु जन्मतो भवति, तत्र द्वितीयस्याऽन्ते जायते, तृतीये तु चरण प्रतिपद्यते, तृतीयचतुर्थयोस्तु जायते, चरण च प्रतिपद्यत इति । सद्भाव पुन प्रतीत्य तृतीयचतुर्थयोरेव तस्य सत्ता, तयोरेव चरणप्रतिपत्तेरिति । (जइ णो ओसप्पिणीत्यादि) (सुसमसुसमापलिभागे त्ति)सुषमसुषमाया प्रतिभाग सादृश्य यत्र काले स तथा । स च देवकुरूत्तरकुरुषु । एव सुषमाप्रतिभागो हरिवर्षरम्यकवर्षेषु, सुषमदुष्षमाप्रतिभागो हैमवतैरण्यवतेषु, दुष्षमसुषमाप्रतिभागो महाविदेहेषु । (णियंठो, सिणाओ य जहा पुलाए त्ति) एतौ पुलाकवद्वक्तव्यौ । विशेष पुनराह- (नवरं एएसिं अब्भहियं साहरणं भाणियव्वं त्ति) पुलाकस्य हि पूर्वोक्तयुक्त्या संहरण नास्त्येतयोश्च तत्सम्भवतीति कृत्वा तद्वाच्य, संहरणद्वारेण च यत्तयोः सर्वकालेषु सम्भवोऽसौ पूर्वसंहृतयोर्निर्ग्रन्थस्नातकत्वप्राप्तौ द्रष्टव्य, यतो नापगतवेदानां संहरणमस्तीति । यदाह-" समणीमवगयवेयं, परिहारपुलायमप्पमत्तं च । चोद्दसपुव्विं आहा-रगं च न य को इ संहरइ ॥ १ ॥ " त्ति ।

(१७) गतिद्वारे सौधर्माऽऽदिका देवगतिरिन्द्राऽऽदयस्तद्भेदास्तदायुश्च पुलाकाऽऽदीनां निरूप्यते-

पुलाए ण भंते ! कालगए समाणे कं गतिं गच्छइ ? । गोयमा ! देवगतिं गच्छइ । देवगतिं गच्छमाणे किं भवणवासीसु उववज्जेज्जा, वाणमंतरेसु उववज्जेज्जा, जोइसियवेमाणिएसु उववज्जेज्जा ?। गोयमा ! णो भवणवासीणोवाणमंतरणोजोइसियवेमाणिएसु उववज्जेज्जा । वेमाणिएसु उववज्जमाणे जहन्नेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं सहस्सारे कप्पे उववज्जेज्जा । बउसे णं एवं चेव, णवरं उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे । पडिसेवणाकुसीले जहा बउसे । कसायकुसीले जहा पुलाए, णवरं उक्कोसेणं अणुत्तरविमाणेसु य । णियंठे णं भंते! एवं चेव, जाव०वेमाणिएसु उववज्जमाणे अजहण्णमणुक्कोसं अणुत्तरविमाणेसु उववज्जेज्जा । सिणाए णं भंते ! कालगए समाणे कं गतिं गच्छति ?। गोयमा ! सिद्धगतिं गच्छति । पुलाए णं भंते !

देवेसु उववज्जमाणे किं इंदत्ताए उववज्जेज्जा, तायत्तीसगत्ताए उववज्जेज्जा, लोगपालत्ताए उववज्जेज्जा, अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा ?। गोयमा ! अविराहणं पडुच्च इंदत्ताए उववज्जेज्जा,सामाणियत्ताए उववज्जेज्जा, तायत्तीसगत्ताए उववज्जेज्जा, लोगपालत्ताए उववज्जेज्जा, णो अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा । विराहणं पडुच्च अण्णयरेसु उववज्जेज्जा । एवं बउसे वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले पुच्छा ?। गोयमा! अविराहणं पडुच्च इंदत्ताए वा उववज्जेज्जा० जाव अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा । विराहणं पडुच्च अण्णयरेसु उववज्जेज्जा । णियंठे पुच्छा ?। गोयमा! अविराहणं पडुच्च णो इंदत्ताए उववज्जेज्जा० जाव णो लोगपालत्ताए उववज्जेज्जा, अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा । विराहणं पडुच्च अण्णयरेसु उववज्जेज्जा । पुलागस्स णं भंते ! देवलोगेसु उववज्जमाणस्स केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमपुहत्तं, उक्कोसेण अट्ठारससागरोवमाइं । बउसस्स णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमपुहत्तं , उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं । एवं पडिसेवणाकुसीलस्स वि । कसायकुसीलस्स पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमपुहत्तं, उक्कोसेण तेत्तीसं सागरोवमाइं । णियंठस्स पुच्छा ? । गोयमा ! अजहण्णमणुक्कोसं तेत्तीसं सागरोवमाइं ॥ १३ ॥

तत्र च-(अविराहणं पडुच्च त्ति) अविराधना ज्ञानाऽऽदीनाम् । अथवा लब्धेरनुपजीवनादनस्ता प्रतीत्य अविराधकाः सन्त इत्यर्थः । (अण्णयरेसु उववज्जेज्ज त्ति) भवनपत्यादीनामन्यतरेषु देवेषूत्पद्यन्ते, विराधितसंयमानां भवनपत्याद्युत्पादस्योक्तत्वात् । यच्च प्रागुक्तम्-" वेमाणिएसु उववज्जेज्ज त्ति " तत्संयमाऽविराधकत्वमाश्रित्यावसेयम् ।

(१८) संयमद्वारे संयमस्थानानि,तेषां चाल्पत्वाऽऽदि चिन्त्यते-

पुलागस्स णं भंते! केवइया संजमट्ठाणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! असंखेज्जा संजमट्ठाणा पण्णत्ता । एवं० जाव कसायकुसीलस्स । णियंठस्स णं भंते ! केवइया संजमट्ठाणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! एगे अजहण्णमणुक्कोसए संजमट्ठाणे पण्णत्ते । एवं सिणायस्स वि । एएसि णं भंते ! पुलागबउसपडिसेवणाकसायकुसीले णं णियंठसिणायाणं संजमट्ठाणाणं कयरे कयरे० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवे णियंठस्स सिणायस्स एगे अजहण्णमणुक्कोसए संजमट्ठाणे । पुलागस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा । बउसस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा । पडिसेवणाकुसीलस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा । कसायकुसीलस्स संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा ॥ १४ ॥

तत्र-(पुलागस्सेत्यादि) संयमस्थानानि, तत्र स्थानानि शुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षकृता भेदाः संयमस्थानानि,तानि च प्रत्येक सर्वाऽऽकाशप्रदेशाग्रगुणितसर्वाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणपर्यवोपेतानि भवन्ति, तानि च पुलाकस्यासङ्ख्येयानि भवन्ति, विचित्रत्वाच्चारित्रमोहनीयक्षयोपशमस्य । एवं यावत्कषायकुशीलस्य । (एगे अजहण्णमणुक्कोसए संजमट्ठाणे त्ति) निर्ग्रन्थस्यैकं संयमस्थानं भवति,कषायाणामुपशमस्य क्षयस्य चाविचित्रत्वेन शुद्धेरेकविधत्वादेकत्वादेव च तदजघन्योत्कृष्टं, बहुष्वेव जघन्योत्कृष्टभावसद्भावादिति । अथ पुलाकाऽऽदीनां परस्परतः संयमस्थानाल्पबहुत्वमाह-(एएसि णमित्यादि) सर्वेभ्यः स्तोकं सर्वस्तोकं निर्ग्रन्थस्य स्नातकस्य च संयमस्थानं, कुतो यस्मादेकं किंभूतं तदित्याह-(अजहण्णेत्यादि) एतच्चैव शुद्धेरेकविधत्वात्, पुलाकाऽऽदीनां तूक्तक्रमेणासङ्ख्येयगुणानि तानि क्षयोपशमवैचित्र्यादिति ।

(१६) अथ निकर्षद्वारम्-तत्र निकर्षः सन्निकर्षः पुलाकाऽऽदीनां परस्परेण संयोजनं, तस्य च प्रस्तावनार्थमाह-

पुलागस्स णं भंते! केवइया चरित्तपज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता चरित्तपज्जवा पण्णत्ता । एवं० जाव सिणायस्स । पुलाए णं भंते ! पुलागस्स सट्ठाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे, तुल्ले,अब्भहिए ?। गोयमा ! सिय हीणे, सिय तुल्ले, सिय अब्भहिए । जइ हीणे अणंतभागहीणे वा,असंखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जगुणहीणे वा, असंखेज्जगुणहीणे वा, अणंतगुणहीणे वा । अह अब्भहिए अणंतभागमब्भहिए वा, असंखेज्जभागमब्भहिए वा, संखेज्जभागमब्भहिए वा, संखेज्जगुणमब्भहिए वा,असंखेज्जगुणमब्भहिए वा,अणंतगुणमब्भहिए वा । पुलाए णं भंते ! बउसस्स परट्ठाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे, तुल्ले, अब्भहिए ?। गोयमा ! हीणे, णो तुल्ले, णो अब्भहिए अणंतगुणे । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीलेण समं छट्ठाणवडिए जहेव सट्ठाणे । णियंठस्स जहा बउसस्स । एवं सिणायस्स वि । बउसे णं भंते ! पुलागस्स परट्ठाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे, तुल्ले, अब्भहिए ?। गोयमा ! णो हीणे, णो तुल्ले, अब्भहिए, अणंतगुणमब्भहिए । बउसे णं भंते ! बउसस्स सट्ठाणस्स सण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं पुच्छा ?। गोयमा ! सिय हीणे, सिय तुल्ले, सिय अब्भहिए । जइ हीणे छट्ठाणवडिए । बउसे णं भंते ! पडिसेवणाकुसीलस्स परट्ठाणसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे छट्ठाणवडिए ?। एवं कसायकुसीलस्स वि ?। बउसे णं भंते ! णियंठस्स परट्ठाणसण्णिगासे णं चरित्तपुच्छा ? । गोयमा ! हीणे, णो तुल्ले, णो अब्भहिए अणंतगुणहीणे । एवं सिणायस्स वि । पडिसेवणाकुसीलस्स एवं चेव । सबउसस्स वत्तव्वया जाणियव्वा । कसायकुसीलस्स सण्णिगासेणं एस चेव बउसवत्तव्वया, णवरं पुलाएण वि समं छट्ठाणवडिए । णियंठे णं भंते ! पुलागस्स परट्ठा-

णसण्णिगासेणं चरित्तपज्जवेहिं पुच्छा ? । गोयमा ! णो हीणे, णो तुल्ले, अब्भहिए, अणंतगुणमब्भहिए। एवं० जाव कसायकुसीलस्स । णियंठे णं भंते ! णियंठस्स सण्णिगासेणं पुच्छा ?। गोयमा! णो हीणे, तुल्ले, णो अब्भहिए । एवं सिणायस्स वि । सिणाए णं भंते ! पुलागस्स परट्ठाणसण्णिगासेणं, एवं जहा णियंठस्स वत्तव्वया, तहा सिणायस्स वि भाणियव्वा० जाव सिणाए णं भंते! सिणायस्स सट्ठाणसण्णिगासेणं पुच्छा ?। गोयमा ! णो हीणे, तुल्ले, णो अब्भहिए ॥

(पुलागस्सेत्यादि) (चरित्तपज्जव त्ति) चरित्रस्य सर्वविरतिरूपपरिणामस्य,पर्यवा भेदाश्चरित्रपर्यवा ,ते च बुद्धिकृता अविभागपलिच्छेदा ,विषयकृता वा। (सट्ठाणसण्णिगासेण ति) स्वमात्मीय सजातीय स्थान पर्यवाणामाश्रय स्वस्थान पुलाकाऽऽदे. पुलाकाऽऽदिरेव, तस्य सन्निकर्ष सयोजन स्वस्थानसन्निकर्ष, तेन। (किं हीणे त्ति) विशुद्धसयमस्थानसम्बन्धित्वेन विशुद्धतरपर्यवापेक्षया अविशुद्धतरसयमस्थानसम्बन्धित्वेनाविशुद्धतरा. पर्यवा हीना ,तद्योगात्साधुरपि हीन । (तुल्ले त्ति) तुल्यशुद्धिकपर्यवयोगात्तुल्य. । (अब्भहिए त्ति) विशुद्धतरपर्यवयोगादभ्यधिक । (सिय हीणे त्ति) अशुद्धसयमस्थानवर्त्तित्वात् । (सिय तुल्ले त्ति) एकसयमस्थानवर्त्तित्वात् । (सिय अब्भहिए त्ति) विशुद्धतरसयमस्थानवर्त्तित्वात् । (अणतभागहीणे त्ति) किलासद्भावस्थापनया पुलाकस्योत्कृष्टसयमस्थानपर्यवाग्र दश सहस्राणि १०००। तस्य सर्वजीवानन्तकेन शतपरिमाणतया कल्पितेन भागे हृते लब्धे शतम् १००। द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्र नव सहस्राणि नवशताधिकानि ९९००। पूर्वभागलब्ध शत, तत्र प्रक्षिप्त जातानि दश सहस्राणि, ततोऽसौ सर्वजीवानन्तकभागहारलब्धेन शतेन हीन इत्यनन्तभागहीन । (असखेज्जभागहीणे व त्ति) पूर्वोक्तकल्पितपर्यायराशेर्दशसहस्रस्य (१००००) लोकाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणेनासङ्ख्येयकेन कल्पनया पञ्चाशत्प्रमाणेन भागे हृते लब्धा द्विशती; द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्र नव सहस्राण्यष्टौ च शतानि ९८०० । पूर्वभागलब्धा च द्विशती, तत्र प्रक्षिप्ता जातानि दश सहस्राणि, ततोऽसौ लोकाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणाऽसख्येयकभागहारलब्धेन शतद्वयेन हीन इत्यसङ्ख्येयभागहीन । (सखेज्जभागहीणे व त्ति) पूर्वोक्तकल्पितपर्यायराशेर्दशसहस्रस्य (१००००) उत्कृष्टसङ्ख्येयकेन कल्पनया दशकपरिमाणेन भागे हृते लब्ध सहस्रम् । द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्र नव सहस्राणि ९००० । पूर्वभागलब्ध च सहस्र तत्र प्रक्षिप्त, जातानि दश सहस्राणि, ततोऽसावुत्कृष्टसङ्ख्येयकभागहारलब्धेन सहस्रेण हीन इति सङ्ख्येयभागहीन । (सखेज्जगुणहीणे व त्ति) किलैकस्य पुलाकस्य चरणपर्यवाग्र कल्पनया सहस्रदशक, द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्र च सहस्र, तत्रश्चोत्कृष्टसङ्ख्येयकेन कल्पनया दशकपरिमाणेन गुणकारेण हीनोऽनभ्यस्त इति सख्येयगुणहीन । (असखेज्जगुणहीणे व त्ति) किलैकस्य पुलाकस्य चरणपर्यवाग्र कल्पनया सहस्रदशक, द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्र च द्विशती, ततश्च लोकाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणेनासख्येयकेन कल्पनया पञ्चाशत्प्रमाणेन गुणकारेण गुणितो द्विशतिको राशिर्जायते दशसहस्राणि, स च तेन लोकाऽऽकाशपरिमाणासख्येयकेन कल्पनया पञ्चाशत्प्रमाणेन गुणकारेण हीन इति असख्येयगुणहीन. । (अणतगुणहीणे व त्ति) किलैकस्य पुलाकस्य चरणपर्यवाग्र कल्पनया सहस्रदशक, द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्र च शतम् । ततश्च सर्वजीवानन्तकेन कल्पनया शतपरिमाणेन गुणकारेण गुणित शतिको राशिर्जायते दशसहस्राणि, स च तेन सर्वजीवानन्तकेन कल्पनया शतपरिमाणेन गुणकारेण हीन इत्यनन्तगुणहीन. । एवमभ्यधिकषट्स्थानकशब्दार्थोऽप्येभिरेव भागापहारगुणकारैर्व्याख्येय । तथाहि-एकस्य पुलाकस्य कल्पनया दश सहस्राणि चरणपर्यवमान, तदन्यस्य नवशताधिकानि नव सहस्राणि, ततो द्वितीयापेक्षया प्रथमोऽनन्तभागाभ्यधिक । तथा यस्य नवसहस्राण्यष्टौ च शतानि पर्यवाग्र, तस्मात्प्रथमोऽसख्येयभागाधिक , तथा यस्य नव सहस्राणि चरणपर्यवाग्र,तस्मात्प्रथम सख्येयभागाधिक ,तथा यस्य चरणपर्यवाग्र सहस्रमान, तदपेक्षया प्रथम सख्येयगुणाधिक , तथा यस्य चरणपर्यवाग्र द्विशती, तदपेक्षयाऽऽद्योऽसख्येयगुणाधिक , तथा यस्य चरणपर्यवाग्र शतमान, तदपेक्षयाऽऽद्योऽनन्तगुणाधिक इति । (पुलाए ण भते ! बउसस्सेत्यादि) (परट्ठाणसन्निगासेण ति) विजातीययोगमाश्रित्येत्यर्थ । विजातीयश्च पुलाकस्य बकुशाऽऽदि , तत्र पुलाको बकुशाद् हीन , तथाविधविशुद्ध्यभावात् । (कसायकुसीलेण सम छट्ठाणवडिए जहेव सट्ठाणे त्ति) पुलाकः पुलाकापेक्षया यथाऽभिहित , तथा कषायकुशीलापेक्षयाऽपि वाच्य इत्यर्थ । तत्र पुलाक कषायकुशीलाद्धीनो वा स्यादविशुद्धसयमस्थानवृत्तित्वात्, तुल्यो वा स्यात्समानसयमस्थानवृत्तित्वात्, अधिको वा स्याच्छुद्धतरसयमस्थानवृत्तित्वात्। यत पुलाकस्य,कषायकुशीलस्य च सर्वजघन्यानि सयमस्थानान्यध ,ततस्तौ युगपदसख्येयानि तानि गच्छत ,तुल्याध्यवसानत्वात्,तत पुलाको व्यवच्छिद्यते,हीनपरिणामत्वात्, व्यवच्छिन्ने च पुलाके कषायकुशील एकक एवासख्येयानि सयमस्थानानि गच्छति, शुभतरपरिणामत्वात्, तत कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसख्येयानि सयमस्थानानि गच्छन्ति, ततश्च बकुशो व्यवच्छिद्यते, प्रतिसेवनाकुशीलकषायकुशीलावसख्येयानि सयमस्थानानि गच्छत , ततश्च प्रतिसेवनाकुशीलो व्यवच्छिद्यते, कषायकुशीलस्त्वसख्येयानि सयमस्थानानि गच्छति, तत सोऽपि व्यवच्छिद्यते, ततो निर्ग्रन्थस्नातकावेक सयमस्थान प्राप्नुत इति । (णियठस्स जहा बउसस्स त्ति) पुलाको निर्ग्रन्थादनन्तगुणहीन इत्यर्थ ,चिन्तित पुलाकोऽन्येषै सहाथ बकुशश्चिन्त्यते-(बउसे णमित्यादि) बकुश पुलाकादनन्तगुणाभ्यधिक एव,विशुद्धतरपरिणामत्वात्, बकुशाद् हीनाऽऽदिर्विचित्रपरिणामत्वात् प्रतिसेवनाकषायकुशीलाभ्यामपि हीनाऽऽदिरेव,निर्ग्रन्थस्नातकाभ्या तु हीन एवेति। (बउसस्स वत्तव्वया भाणियव्व त्ति) प्रतिसेवनाकुशीलस्तथा वाच्यो, यथा बकुश इत्यर्थ । कषायकुशीलोऽपि बकुशवद्वाच्य , केवल पुलाकाद्बकुशोऽभ्यधिक एवोक्त , सकषायस्तु षट्स्थानपतितो वाच्यो हीनाऽऽदिरित्यर्थ , तत्परिणामस्य पुलाकापेक्षया हीनसमाधिकत्वसभावत्वादिति

(२०) अथ पर्यवाधिकारात्तेषामेव जघन्याऽऽदिभेदाना पुलाकाऽऽदिसबन्धिनामल्पत्वाऽऽदि निरूपयन्नाह-

एएसि णं भंते ! पुलागस्स बउसपडिसेवणाकुसीलक-

सायकुसीलणियंठसिणाताणं जहएणुक्कोसगाणं चरित्तपज्जवाणं कयरे कयरे० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! पुलागस्स कसायकुसीलस्स एएसि णं जहएणगा चरित्तपज्जवा दोएह वि तुल्ला सव्वत्थोवा पुलागस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा । वउसस्स, पमिसेवणाकुसीलस्स य । एएसि णं जहएणगा चरित्तपज्जवा दोएह वि तुल्ला अणंतगुणा । वउसस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा । पडिसेवणाकुसीलस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा, कसायकुसीलस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा; णियंठस्स, सिणायस्स य एएसि णं अजहएणमणुक्कोसगा चरित्तपज्जवा दोएह वि तुल्ला अणंतगुणा ॥ १५ ॥

(२१) योगद्वारे—

पुलाए णं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ?। गोयमा ! सजोगी होज्जा, णो अजोगी होज्जा । जइ सजोगी होज्जा किं मणजोगी होज्जा, वइजोगी होज्जा, कायजोगी होज्जा ?। गोयमा ! मणजोगी वा होज्जा, वइजोगी वा होज्जा, कायजोगी वा होज्जा । एवं०जाव णियंठे । सिणाए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सजोगी वा होज्जा, अजोगी वा होज्जा । जइ सजोगी होज्जा किं मणजोगी होज्जा ?; सेसं जहा पुलागस्स ॥ १६ ॥

इहायोगी शैलेशीकरणे ।

(२२) उपयोगद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा, अणागारोवउत्ते होज्जा ?। गोयमा ! सागारोवउत्ते होज्जा, अणागारोवउत्ते होज्जा । एवं जाव० सिणाए ॥ १७ ॥

टीका सुगमत्वान्न लिखिता ।

(२३) कषायद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सकसायी होज्जा, अकसायी होज्जा ?। गोयमा ! सकसायी होज्जा, णो अकसायी होज्जा । जइ सकसायी होज्जा से णं भंते ! कइसु कसाएसु होज्जा ? । गोयमा ! चउसु कोहमाणमायालोभेसु होज्जा । एवं वउसे वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले णं पुच्छा ?। गोयमा ! सकसायी होज्जा, णो अकसायी होज्जा । जइ सकसायी होज्जा से णं भंते ! कइसु कसाएसु होज्जा ? । गोयमा ! चउसु वा तिसु वा दोसु वा एगम्मि वा होज्जा । चउसु होज्जमाणे चउसु संजलणकोहमाणमायालोभेसु होज्जा । तिसु होज्जमाणे तिसु संजलणमाणमायालोभेसु होज्जा । दोसु होज्जमाणे दोसु संजलणमायालोभेसु होज्जा । एगम्मि होज्जमाणे एगम्मि संजलणलोभेसु होज्जा । णियंठे णं पुच्छा ? । गोयमा ! णो सकसायी होज्जा, अकसायी होज्जा । जइ अकसायी होज्जा किं उवसंतकसायी होज्जा, खीणकसायी होज्जा ? । गोयमा ! उवसंतकसायी वा होज्जा, खीणकसायी वा होज्जा । सिणाए एवं चेव, णवरं णो उवसंतकसायी होज्जा, खीणकसायी होज्जा ॥ १८ ॥

(सकसायी होज्ज त्ति) पुलाकस्य कषायाणां क्षयस्योपशमस्य वा भावात् । (तिसु होज्जमाणे इत्यादि) उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा सज्वलने क्रोधे उपशान्ते क्षीणे वा, शेषेषु त्रिषु, एवं माने विगते द्वयोर्मायायां तु विगतायां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके एकत्र लोभे भवेदिति ।

(२४) लेश्याद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सलेस्से होज्जा, अलेस्से होज्जा ?। गोयमा ! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा । जइ सलेस्से होज्जा, से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ?। गोयमा ! तिसु वि सुद्धलेस्सासु होज्जा । तं जहा-तेउलेस्साए, पम्हलेस्साए, सुक्कलेस्साए । एवं वउसस्स वि । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले पुच्छा ? । गोयमा ! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा । जइ सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ?। गोयमा ! छल्लेस्सासु होज्जा । तं जहा-कएहलेस्साए० जाव सुक्कलेस्साए । णियंठे णं पुच्छा ?। गोयमा ! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा । जइ सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? । गोयमा ! एगाए सुक्कलेस्साए होज्जा । सिणाए पुच्छा ?। गोयमा ! सलेस्से वा होज्जा, अलेस्से वा होज्जा । जइ सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ?। गोयमा ! एगाए परमसुक्कलेस्साए होज्जा ॥ १९ ॥

(तिसु वि सुद्धलेस्सासु त्ति) भावलेश्यापेक्षया प्रशस्तासु तिसृषु पुलाकाऽऽद्यस्त्रयो भवन्ति । कषायकुशीलस्तु षट्स्वपि सकषायमेवाऽऽश्रित्य "पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए लेस्साए" इत्येतदुक्तमिति सम्भाव्यते । (एगाए परमसुक्कलेस्साए त्ति) शुक्लध्यानतृतीयभेदावसरे या लेश्या, सा परमशुक्ला, अन्यदा तु शुक्लैव, साऽपीतरजीवशुक्ललेश्याऽपेक्षया स्नातकस्य परमशुक्लेति ।

(२५) परिणामद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा, किं हीयमाणपरिणामे होज्जा, अवट्ठियपरिणामे होज्जा ?। गोयमा ! वड्ढमाणपरिणामे वा होज्जा, हीयमाणपरिणामे वा होज्जा, अवट्ठियपरिणामे वा होज्जा । एवं० जाव कसायकुसीले । णियंठे णं पुच्छा ?। गोयमा ! वड्ढमाणपरिणामे होज्जा, णो हीयमाणपरिणामे होज्जा, अवट्ठियपरिणामे होज्जा । एवं सिणाए वि ॥

(वड्ढमाणपरिणामेत्यादि) तत्र वर्द्धमानः शुद्धेरुत्कर्षं गच्छन्, हीयमानस्त्वपकर्षं गच्छन्, अवस्थितस्तु स्थिर इति । तत्र निर्ग्र-

न्यो हीयमानपरिणामो न भवति, तस्य परिणामहानौ कषायकुशीलव्यपदेशात्। स्नातकस्तु हानिकारणाभावान्न हीयमानपरिणामः स्यादिति।

(२६) परिणामाधिकारादेवेदमाह-

पुलाए णं भंते! केवइयं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा?। गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं। केवइयं कालं हीयमाणपरिणामे होज्जा?। गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं। केवइयं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा?। गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं सत्त समया। एवं० जाव कसायकुसीले वि। णियंठे णं भंते! केवइयं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा?। गोयमा! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेण अंतो मुहुत्तं। केवइयं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा?। गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं। सिणाए णं भंते! केवइयं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा?। गोयमा! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतो मुहुत्तं। केवइयं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा?। गोयमा! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणाई पुव्वकोडी ॥ २० ॥

(पुलाए णमित्यादि) तत्र पुलाको वर्द्धमानपरिणामकाले कषायविशेषेण बाधिते तस्मिंस्तस्यैकाऽऽदिक समयमनुभवतीत्यत उच्यते—जघन्येनैकं समयमिति। (उक्कोसेण अंतो मुहुत्त ति) एतत्स्वभावत्वाद्वर्द्धमानपरिणामस्येति। एवं बकुशप्रतिसेवनाकुशीलकषायकुशीलेष्वपि, नवरं बकुशाऽऽदीनां जघन्यत एकसमयता मरणादपीष्टा, न पुनः पुलाकस्य, पुलाकस्य पुलाकत्वे मरणाभावात्। स हि मरणकाले कषायकुशीलत्वाऽऽदिना परिणमति, यच्च प्राक् पुलाकस्य कालगमनं, तद् भूतभावापेक्षयेति। निर्ग्रन्थो जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्त्तं वर्द्धमानपरिणामः स्यात्, केवलज्ञानोत्पत्तौ परिणामान्तरभावात्, अवस्थितपरिणामः पुनः निर्ग्रन्थस्य जघन्यत एकं समयं मरणात्स्यादिति। (सिणाए णं भंते! इत्यादि) स्नातको जघन्येतराभ्यामन्तर्मुहूर्तं वर्द्धमानपरिणामः, शैलेश्यां तस्यास्तत्प्रमाणत्वात्। अवस्थितपरिणामकालेऽपि जघन्यतस्तस्यान्तर्मुहूर्त्तम्। कथम्?। उच्यते-यः केवलज्ञानोत्पादानन्तरमन्तर्मुहूर्तमवस्थितपरिणामो भूत्वा शैलेशीं प्रपद्यते तदपेक्षयेति। (उक्कोसेण देसूणाइं पुव्वकोडी ति) पूर्वकोट्यायुषः पुरुषस्य जन्मतो जघन्येन नवसु वर्षेष्वतिगतेषु केवलज्ञानमुत्पद्यते, ततोऽसौ तदूनां पूर्वकोटीमवस्थितपरिणामः शैलेशीं यावद्विहरति, शैलेश्यां च वर्द्धमानपरिणामः स्यादित्येवं देशोनामिति ॥

(२७) बन्धद्वारे-

पुलाए णं भंते! कइ कम्मपगडीओ बंधइ?। गोयमा! आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधइ। बउसे पुच्छा?। गोयमा! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा सत्त बंधमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधइ, अट्ठ बंधमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ। एवं पडिसेवणाकुसीले वि। कसायकुसीले णं पुच्छा?। गोयमा! सत्तविहबंधए वा, अट्ठविहबंधए वा, छव्विहबंधए वा, सत्त बंधमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधइ, अट्ठ बंधमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ। छ बंधमाणे आउयमोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मपगडीओ बंधइ। णियंठे णं पुच्छा?। गोयमा! एगं वेयणिज्जं कम्मं बंधइ। सिणाए णं पुच्छा?। गोयमा! एगविहबंधए वा, अबंधए वा। एगं बंधमाणे एगं वेयणिज्जं कम्मं बंधइ ॥ २१ ॥

(आउयवज्जाओ त्ति) पुलाकस्याऽऽयुर्बन्धो नास्ति, तद्बन्धाध्यवसायस्थानानां तस्याभावादिति। (बउसे इत्यादि) त्रिभागाऽऽद्यवशेषाऽऽयुषो हि जीवा आयुर्बध्नन्तीति। त्रिभागद्वयाऽऽदौ तन्न बध्नन्तीति कृत्वा बकुशाऽऽदयः सप्तानामष्टानां वा कर्मणां बन्धका भवन्तीति। (छव्बंधमाणे इत्यादि) कषायकुशीलो हि सूक्ष्मसंपरायत्वे आयुर्न बध्नाति, अप्रमत्तान्तत्वात् तद्बन्धस्य, मोहनीयं च बादरकषायोदयाभावान्न बध्नातीति शेषाः षडेवेति। (एगं वेयणिज्जं ति) निर्ग्रन्थो वेदनीयमेव बध्नाति, बन्धहेतुषु योगानामेव सद्भावात्। (अबंधए व त्ति) अयोगी बन्धहेतूनां सर्वेषामभावादबन्धक एवेति ॥

(२८) वेदनद्वारे—

पुलाए णं भंते! कइ कम्मपगडीओ वेदेइ?। गोयमा! णियमं अट्ठ कम्मपगडीओ वेदेइ, एवं० जाव कसायकुसीले। णियंठे णं पुच्छा?। गोयमा! मोहणिज्जवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ। सिणाए णं पुच्छा?। गोयमा! वेयणिज्ज-आउयणामगोत्ताओ चत्तारि कम्मपगडीओ वेदेइ ॥ २२ ॥

(मोहणिज्जवज्जाओ त्ति) निर्ग्रन्थो हि मोहनीयं न वेदयति, तस्योपशान्तत्वात् क्षीणत्वाद् वा। स्नातकस्य तु घातिकर्मणां क्षीणत्वाद्वेदनीयाऽऽदीनामेव वेदनमत उच्यते-(वेयणिज्जेत्यादि)

(२९) उदीरणाद्वारे-

पुलाए णं भंते! कइ कम्मपगडीओ उदीरेइ?। गोयमा! आउयवेयणिज्जवज्जाओ छ कम्मपगडीओ उदीरेइ। बउसे णं पुच्छा?। गोयमा! सत्तविहउदीरए वा, अट्ठविहउदीरए वा, छव्विहउदीरए वा, सत्तविहउदीरेमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ उदीरेइ, अट्ठविहउदीरेमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ उदीरेइ, छव्विहउदीरेमाणे आउयवेयणिज्जवज्जाओ छ कम्मपगडीओ उदीरेइ। पडिसेवणाकुसीले एवं चेव। कसायकुसीले पुच्छा?। गोयमा! सत्तविहउदीरए वा, अट्ठविहउदीरए वा, छव्विहउदीरए वा, पंचविहउदीरए वा, सत्तविहउदीरेमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ उदीरेइ, अट्ठ उदीरेमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगडीओ उदीरेइ, छ उदीरेमाणे आउयवेयणिज्जवज्जाओ छ कम्मपगडीओ उदीरेइ। पंच उदीरेमाणे आउयवेयणिज्जमोहणिज्जवज्जाओ पंच कम्मपगडीओ उदीरेति। णियंठे

णं पुच्छा?। गोयमा ! पचविहउदीरए वा,छुविहउदीरए वा, पंच उदीरेमाणे आउयवेयणिज्जमोहणिज्जवज्जाओ पंच कम्मपगमीओ उदीरेइ,दो उदीरेमाणे णामं च गोयं च उदीरेइ। सिणाए णं पुच्छा?। गोयमा! दुविह उदीरए वा, अणुदीरए वा, दो उदीरेमाणे णामं च गोयं च उदीरेति ।२३।

(आउयवेयणिज्जवज्जाओ त्ति) अयमर्थ - पुलाक आयुर्वेदनीयप्रकृतीर्नोदीरयति, तथाविधाध्यवसायस्थानाभावात्, किं तु पूर्वं ते उदीर्य पुलाकतां गच्छति, एवमुत्तरत्रापि यो या प्रकृतीर्नोदीरयति स ता. पूर्वमुदीर्य बकुशाऽऽदितां प्राप्नोति, स्नातक. सयोग्यवस्थायां तु नामगोत्रयोरेवोदीरक., आयुर्वेदनीये तु पूर्वोदीर्णे एव, अयोग्यवस्थायां त्वनुदीरक एवेति ।

(३०) 'उवसपज्जहण्ण त्ति' द्वारे-

पुलाए णं भंते!पुलायत्तं जहमाणे किं जहति, किं उवसंपज्जइ ?। गोयमा ! पुलायत्तं जहाति, कसायकुसीलं वा असंजमं वा उवसंपज्जइ । बउसे णं भंते ! बउसत्तं जहमाणे किं जहति, किं उवसंपज्जइ । गोयमा ! बउसत्तं जहाति, पडिसेवणाकुसील वा कसायकुसीलं वा असंजमं वा संजमासंजमं वा उवसंपज्जइ । पडिसेवणाकुसीले णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! पडिसेवणाकुसीलत्तं जहति, बउसं वा कसायकुसीलं वा असंजमं वा संजमासंजमं वा उवसंपज्जइ। कसायकुसीले पुच्छा ?। गोयमा ! कसायकुसीलत्तं जहाति, पुलायं वा बउसं वा पडिसेवणाकुसीलं वा णियंठं वा असंजमं वा सजमासजमं वा उवसंपज्जइ । णियंठे णं पुच्छा ?। गोयमा ! णियंठत्त जहाति,कसायकुसीलं वा सिणात वा असजमं वा उवसंपज्जइ । सिणाए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सिणायत्त जहाति, सिद्धगतिं उवसंपज्जइ ॥ २४ ॥

उपसम्पदुपसम्पत्ति प्राप्ति। (जहण्ण त्ति) हानं त्याग ,उपसपच्च हान च उपसपद्धान,किं,पुलाकत्वाऽऽदि त्यक्त्वा, किं,कषायत्वाऽऽदिकमुपसम्पद्यते इत्यर्थ । तत्र (पुलाए णमित्यादि) पुलाक पुलाकत्व त्यक्त्वा सयत कषायकुशील एव भवति, तत्सदृशसयमस्थानतस्तद्भावात् । एव यस्य यत्सदृशानि सयमस्थानानि सन्ति, स तद्भावमुपसम्पद्यते, मुक्त्वा कषायकुशीलाऽऽदीन्। कषायकुशीलो हि विद्यमानस्वसदृशसयमस्थानकान्पुलाकाऽऽदिभावानुपसम्पद्यते, अविद्यमानसमानसयमस्थानकं च निर्ग्रन्थभावम, निर्ग्रन्थस्तु कषायित्व वा स्नातकत्वं वा याति, स्नातकस्तु सिद्ध्यत्येवेति। निर्ग्रन्थसूत्रे-"कसायकुसील वा,सिणाय वा।" इह भावप्रत्ययलोपात्कषायकुशीलत्वमित्यादि दृश्यम्। एव पूर्वसूत्रेष्वपि। तत्रोपशमनिर्ग्रन्थ श्रेणीत प्रच्यवमान. सकषायो भवति, श्रेणीमस्तके तु मृतोऽसौ देवत्वेनोत्पन्नोऽसयतो भवति नोसयतासयतो,देवत्वे तदभावात् । यद्यपि च श्रेणिपतितोऽसौ सयतासयतोऽपि भवति, तथाऽपि नासाविहोक , अनन्तरतया तदभावादिति ।

(३१) सञ्ज्ञाद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं सण्णोवउत्ते होज्जा, णो सण्णोवउत्ते होज्जा ?। गोयमा ! णो सण्णोवउत्ते होज्जा । बउसे णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! सण्णोवउत्ते होज्जा, णो सण्णोवउत्ते होज्जा । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । एवं कसायकुसीले वि। णियंठे,सिणाए य जहा पुलाए ॥२५॥

(सण्णोवउत्ते त्ति) इह सञ्ज्ञा आहाराऽऽदिसञ्ज्ञा,तत्रोपयुक्तः कथञ्चिदाहाराऽऽद्यभिष्वङ्गवान् सञ्ज्ञोपयुक्त., नो सञ्ज्ञोपयुक्तस्तु आहाराऽऽद्युपभोगेऽपि तत्रानभिषक्त , तत्र पुलाकनिर्ग्रन्थस्नातका नो सञ्ज्ञोपयुक्ता भवन्त्याहाराऽऽदिष्वनभिष्वङ्गात्। ननु निर्ग्रन्थस्नातकावेवं युक्तौ, वीतरागत्वात, न तु पुलाक.,सरागत्वात, नैव, न हि सरागत्वे निरभिष्वङ्गता सर्वथा नास्तीति वक्तु शक्यते, बकुशाऽऽदीनां सरागत्वेऽपि नि सङ्गताया अप्रतिपादितत्वात्। चूर्णिकारस्त्वाह -"नो सण्णा नाणसण्ण त्ति।" तत्र च पुलाकनिर्ग्रन्थस्नातका नोसञ्ज्ञोपयुक्ता ज्ञानप्रधानोपभोगवन्तो न पुनराहाराऽऽदिसञ्ज्ञोपयुक्ता.। बकुशाऽऽदयस्तूभयथाऽपि तथाविधसयमस्थानस्वभावादिति।

(३२) आहारकद्वारे-

पुलाए णं भंते ! किं आहारए होज्जा, अणाहारए होज्जा ?। गोयमा ! आहारए होज्जा, णो अणाहारए होज्जा। एवं० जाव णियंठे। सिणाए णं पुच्छा ?। गोयमा ! आहारए वा होज्जा, अणाहारए वा होज्जा ॥ २६ ॥

(आहारए होज्ज त्ति) पुलाकाऽऽदिनिर्ग्रन्थान्तस्य विग्रहगत्यादीनामनाहारकत्वकारणानामभावादाहारकत्वमेव। (सिणाए इत्यादि) स्नातक. केवलिसमुद्घाते तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेष्वयोग्यवस्थायां चानाहारक. स्याद, ततोऽन्यत्र पुनराहारक इति।

(३३) भवद्वारे-

पुलाए णं भंते ! कइ भवग्गहणाइं होज्जा ?। गोयमा ! जहण्णेण एक्कं भवग्गहणं. उक्कोसेणं तिण्णि । बउसे णं पुच्छा ?। गोयमा! जहण्णेणं एक्कं, उक्कोसेणं अट्ठ। एवं पडिसेवणाकुसीले वि । एवं कसायकुसीले वि। णियंठे जहा पुलाए । सिणाए णं पुच्छा ?। गोयमा ! एक्कं ॥ २७ ॥

(पुलाए णमित्यादि) पुलाको जघन्यत एकस्मिन् भवग्रहणे भूत्वा कषायकुशीलत्वाऽऽदिक सयतत्वानन्तरमेकशोऽनेकशो वा तत्रैव भवे भवान्तरे वाऽवाप्य सिद्ध्यति, उत्कृष्टतस्तु देवाऽऽदिभवान्तरितान् त्रीन् भवान् पुलाकत्वमवाप्नोति। (बउसेत्यादि) इह कश्चिदेकत्र भवे बकुशत्वमवाप्य कषायकुशीलत्वाऽऽदि च सिद्ध्यति,कश्चित्त्वनेकत्रैव बकुशत्वमवाप्य भवान्तरेषु तदभ्यान्येव सिद्ध्यतीत्यत उच्यते-(जहण्णेण एक्क भवग्गहण उक्कोसेण अट्ठ त्ति) किलाऽष्टौ भवग्रहणान्युत्कर्षतया चरणमात्रमवाप्यते, तत्र कश्चित् तान्यष्टौ बकुशतया पर्यन्तमभवे सकषायत्वाऽऽदियुक्तया, कश्चित्तु प्रतिभव प्रतिसेवनाकुशीलत्वाऽऽदियुक्तया पूरयतीत्यत उच्यते-(उक्कोसेण अट्ठ त्ति)

(३४) अथाऽऽकर्षद्वारम्-

पुलागस्स णं भंते! एगभवग्गहणिया केवइया आगरिसा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं एक्को,उक्कोसेणं तिण्णि । बउसस्स णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं एक्को, उक्कोसे-

णं सयग्गसो। एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीले एवं चेव । णियंठस्स णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं एक्को, उक्कोसेणं दोण्णि । सिणातस्स णं पुच्छा ?। गोयमा ! एक्को०। पुलागस्स णं भंते ! णाणाभवग्गहणिया आगरिसा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेण दोण्णि, उक्कोसेणं सत्त। बउसस्स णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेण दोण्णि,उक्कोसेणं सहस्सग्गसो। एवं० जाव कसायकुसीलस्स । णियंठस्स णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं दोण्णि, उक्कोसेणं पच। सिणातस्स णं पुच्छा ?। णो एक्को वि ॥ २८ ॥

तत्राऽऽकर्षणमाकर्षः, चारित्रस्य प्राप्तिरिति। (एगभवग्गहणिय त्ति) एकभवग्रहणे ये भवन्ति। (सयग्गसो त्ति) शतपरिमाणेनेत्यर्थः। शतपृथक्त्वमिति भावना। उक्तं च-"तिण्ह सहस्सपुहत्त, सयपुहत्त च होइ ए त्ति।" (उक्कोसेण दोण्णि त्ति) एकत्र भवे वारद्वयमुपशमश्रेणिकरणादुपशमनिर्ग्रन्थत्वस्य द्वावाकर्षाविति । (पुलागस्सेत्यादि) (णाणाभवग्गहणिय त्ति) नानाप्रकारेषु भवग्रहणेषु ये भवन्तीत्यर्थः । (जहण्णेण दोण्णि त्ति) एक आकर्ष एकत्र भवे, द्वितीयोऽन्यत्रेत्येवमनेकत्र भवे आकर्षौ स्याताम्। (उक्कोसेणं सत्त त्ति) पुलाकत्वमुत्कर्षतस्त्रिषु भवेषु स्यात्, एकत्र च तदुत्कर्षतो वारत्रयं भवन्ति। ततश्च प्रथमभवे एक आकर्षोऽन्यत्र च भवद्वये त्रयस्त्रय इत्यादिभिर्विकल्पैः सप्त ते भवन्तीति। (बउसस्सेत्यादि) (उक्कोसेण सहस्सग्गसो त्ति) बकुशस्याष्टौ भवग्रहणान्युत्कर्षत उक्तानि,एकत्र च भवग्रहणे उत्कर्षत आकर्षशतपृथक्त्वमुक्तम्, तत्र च यदाऽष्टास्वपि भवग्रहणेषूत्कर्षतो नव प्रत्येकमाकर्षशतानि भवन्ति, तदा नवानां शतानामष्टाभिर्गुणनात्सप्त सहस्राणि शतद्वयाधिकानि भवन्तीति । (नियठस्सेत्यादि) (उक्कोसेण पच त्ति) निर्ग्रन्थस्योत्कर्षतस्त्रीणि भवग्रहणान्युक्तानि, एकत्र च भवे द्वावाकर्षावित्येवमेकत्र द्वावन्यत्र च द्वावपरत्र चैक क्षपकनिर्ग्रन्थत्वाकर्षं कृत्वा सिद्ध्यतीति कृत्वोच्यते पञ्चेति ।

(३५) कालद्वारे-

पुलाए णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतो मुहुत्त । बउसे णं पुच्छा?। गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं,उक्कोसेणं देसूणाइं पुव्वकोडी। एवं पडिसेवणाकुसीले वि। कसायकुसीले वि एवं चेव । णियंठे णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं एक समयं,उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं । सिणाए णं पुच्छा?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं,उक्कोसेण देसूणाइं पुव्वकोडी । पुलागस्स णं भंते ! कालओ केव चिरं होइ?। गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं,उक्कोसेणं अंतो मुहुत्तं । बउसा णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! सव्वद्धं, एवं० जाव कसायकुसीला । णियंठा जहा पुलागा । सिणाता जहा बउसा ॥ २९ ॥

(पुलाए णमित्यादि) (जहण्णेण अंतो मुहुत्तं ति) पुलाकत्वं प्रतिपन्नोऽन्तर्मुहूर्त्तापरिपूर्तौ पुलाको न म्रियते, नाऽपि प्रतिपततीति कृत्वा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमित्युच्यते, उत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमेतत्प्रमाणत्वादेतत्स्वभावस्येति । (बउसेत्यादि) (जहण्णेणमेक्क समय ति) बकुशस्य चरणप्रतिपत्त्यनन्तरसमय एव मरणसंभवादिति । (उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडि त्ति) पूर्वकोट्यायुषोऽष्टवर्षान्ते चरणप्रतिपत्ताविति । (नियठे णमित्यादि) (जहण्णेण एक्क समय ति) उपशान्तमोहस्य प्रथमसमयसमनन्तरमेव मरणसम्भवात । (उक्कोसेण अंतो मुहुत्त ति) निर्ग्रन्थाद्धाया एतत्प्रमाणत्वादिति ।(सिणायेत्यादि) (जहण्णेण अंतो मुहुत्त ति) आयुष्कान्तिमान्तर्मुहूर्त्ते केवलोत्पत्तावन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यत स्नातककाल स्यादिति । पुलाकाऽऽदीनामेकत्वेन कालमानमुक्तम्। अथ पृथक्त्वेनाऽऽह-(पुलागस्स णमित्यादि) जघन्येनैक समयमिति। कथम् ?। एकस्य पुलाकस्य योऽन्तर्मुहूर्त्तकालस्यान्त्यसमयेऽन्यपुलाकत्व प्रतिपन्न इत्येव जघन्यत्वविवक्षायां द्वयो पुलाकयोरेकत्र समये सद्भावो, द्वित्वे च जघन्य पृथक्त्व भवतीति। (उक्कोसेण अंतो मुहुत्त ति)यद्यपि पुलाका उत्कर्षत एकदा सहस्रपृथक्त्वपरिमाणा प्राप्यन्ते,तथाऽप्यन्तर्मुहूर्त्तत्वात्तदद्धाया बहुत्वेऽपि तेषामन्तर्मुहूर्त्तमेव तत्कालः, केवलं बहूनां स्थितौ यदन्तर्मुहूर्तं तदेकपुलाकस्थित्यन्तर्मुहूर्त्तान्महत्तरमित्यवसेयम्। बकुशाऽऽदीनां तु स्थितिकालः सर्वाद्धा,प्रत्येक तेषां बहुस्थितिकत्वादिति । (नियठा जहा पुलाग त्ति)। तच्चैवम्-जघन्यत एक समयम्, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति ।

(३६) अन्तरद्वारे-

पुलागस्स णं भंते ! केवइयं कालं अंतरं होइ ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंत कालं । अणंताओ ओसप्पिणीउस्सप्पिणीओ कालओ खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं, एवं० जाव णियंठस्स । सिणायस्स णं पुच्छा?। णत्थि अंतरं । पुलागा णं भंते ! केवइयं कालं अंतरं होइ ?। गोयमा ! जहण्णेण एकं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वासाइं। बउसाणं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! णत्थि अंतरं, एवं० जाव कसायकुसीलाणं। णियंठाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा। सिणायाणं जहा बउसाणं ॥ ३० ॥

(पुलागस्स णमित्यादि) तत्र पुलाकः पुलाको भूत्वा कियता कालेन पुलाकत्वमापद्यते ?। उच्यते-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा पुनः पुलाक एव भवति, उत्कर्षतः पुनरनन्तेन कालेन पुलाकत्वमाप्नोति । कालानन्त्यमेव कालतो नियमयन्नाह-(अणंताओ इत्यादि) इदमेव क्षेत्रतोऽपि नियमयन्नाह-(खेत्तओ इति) स चानन्त कालः क्षेत्रतो मीयमानः किंमानः?, इत्याह-(अवड्ढमित्यादि) तत्र पुद्गलपरावर्त्त एवं श्रूयते- किल केनाऽपि प्राणिना प्रतिप्रदेशं म्रियमाणेन मरणैर्यावता कालेन लोकः समस्तोऽपि व्याप्यते, तावता क्षेत्रतः पुद्गलपरावर्त्तो भवति । स च परिपूर्णोऽपि स्यादत आह-अपार्द्धमपगतार्द्धम्,अर्द्धमात्रमित्यर्थः। अपार्द्धोऽप्यर्द्धतः पूर्णः स्यादत आह-(देसूण ति) देशेन भागेन न्यूनमिति । (सिणायस्स नत्थि अतर त्ति) प्रतिपाताभावात्। एकत्वापेक्षया पुलाकत्वाऽऽदीनामन्तरमुक्तम्। अथ पृथक्त्वापेक्षया तदेवाऽऽह-(पुलाया णमित्यादि) व्यक्तम् ।

(३७) समुद्घातद्वारे-

पुलागस्स णं भंते ! कइ समुग्घाया पण्णत्ता ?। गोयमा ! ति-

छि समुग्घाया पन्नत्ता । तं जहा—वेयणासमुग्घाए, कसायसमुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाए । वउसस्स णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! पंच समुग्घाया पन्नत्ता । तं जहा—वेयणासमुग्घाए, ०जाव तेयासमुग्घाए । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीलस्स पुच्छा ?। गोयमा ! छ समुग्घाया पन्नत्ता । तं जहा—वेयणासमुग्घाए, ० जाव आहारगसमुग्घाए । णियंठस्स णं पुच्छा ?। गोयमा ! णत्थि एक्को वि । सिणायस्स णं पुच्छा ?। गोयमा ! एगे केवलिसमुग्घाए पन्नत्ते ॥ ३१ ॥

(कसायसमुग्घाए इत्यादि) चारित्रवतां सञ्ज्वलनकषायोदयसम्भवेन कषायसमुद्घातो भवतीति । (मारणंतियसमुग्घाए त्ति) इह च पुलाकस्य मरणाभावेऽपि मारणान्तिकसमुद्घातो न विरुद्ध ,समुद्घातान्निवृत्तस्य कषायकुशीलत्वाऽऽदिपरिणामे सति मरणाभावात् । (नियंठस्स त्ति) (नऽत्थि एक्को वि त्ति) तथास्वभावत्वादिति ।

(३०) अथ क्षेत्रद्वारम्-

पुलाए णं भंते ! लोगस्स किं संखेज्जइभागे होज्जा, असंखेज्जइभागे होज्जा, संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, सव्वलोए होज्जा ?। गोयमा ! णो संखेज्जइभागे होज्जा, असंखेज्जइभागे होज्जा, णो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, णो सव्वलोए होज्जा । एवं० जाव णियंठे । सिणाए णं पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जइभागे होज्जा, असंखेज्जइभागे होज्जा, णो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, सव्वलोए वा होज्जा ॥ ३२ ॥

तत्र क्षेत्रमवगाहनाक्षेत्र, तत्र (असंखेज्जइभागे होज्ज त्ति) पुलाकशरीरस्य लोकासङ्ख्येयभागमात्रावगाहित्वात् । (सिणाए णमित्यादि) (असंखेज्जइभागे होज्ज त्ति) शरीरस्थो दण्डकपाटकरणकाले च लोकासङ्ख्येयभागवृत्ति , केवलिशरीराऽऽदीनां तावन्मात्रत्वात् । (असंखेज्जेसु भागेसु त्ति) मथिकरणकाले बहोर्लोकस्य व्याप्तत्वेन स्तोकस्य चाऽव्याप्ततयोक्तत्वाल्लोकस्यासङ्ख्येयेषु भागेषु स्नातको वर्तते, लोकापूरणे च सर्वलोके वर्तेत इति ॥ ३२ ॥

(३९) स्पर्शनाद्वारे-

पुलाए णं भंते ! सव्वलोगस्स किं संखेज्जइभागं फुसइ, असंखेज्जइभागं फुसइ, एवं जहा ओगाहणा भणिया,तहा फुसणा वि भाणियव्वा० जाव सिणाए ॥ ३३ ॥

स्पर्शना क्षेत्रवन्नवरं क्षेत्रमवगाढमात्र, स्पर्शना त्ववगाढस्य तत्पार्श्ववर्तिनश्चेति विशेषः ॥ ३३ ॥

(४०) भावद्वारे-

पुलाए णं भंते ! कयरम्मि भावे होज्जा ?। गोयमा ! खओवसमिए भावे होज्जा, एवं० जाव कसायकुसीले । णियंठे पुच्छा ?। गोयमा ! उवसमिए वा, खइए वा भावे होज्जा । सिणाए पुच्छा ?। गोयमा ! खइए भावे होज्जा ॥ ३४ ॥

भावद्वारं व्यक्तमेव ।

(४१) परिमाणद्वारे-

पुलाया णं भंते ! एगसमएणं केवइया होज्जा ?। गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं सयपुहुत्तं । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सहस्सपुहुत्तं । वउसा णं भंते ! एगसमएणं पुच्छा ?। गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा,उक्कोसेणं सयपुहुत्तं। पुव्वपडिवण्णए पडुच्च जहन्नेणं कोडिसयपुहुत्तं, उक्कोसेण वि कोडिसयपुहुत्तं । एवं पडिसेवणाकुसीले वि । कसायकुसीला णं पुच्छा ?। गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेण कोडिसहस्सपुहुत्तं । पुव्वपडिवन्नए पडुच्च जहण्णेणं कोडिसहस्सपुहुत्तं, उक्कोसेण वि कोडिसहस्सपुहुत्तं । णियंठा णं पुच्छा ?। गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं बावट्ठं सतं, अट्ठसयं खवगाणं चउप्पण्णं उवसमगाणं । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं सतपुहुत्तं । सिणाता णं पुच्छा ?। गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि । जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं अट्ठसयं । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च जहन्नेणं कोडिपुहुत्तं, उक्कोसेण वि कोडिपुहुत्तं ॥ ३५ ॥

(पुलाया णमित्यादि) ननु सर्वसंयतानां कोटिसहस्रपृथक्त्वं श्रूयते । इह तु केवलानामेव कषायकुशीलानां तदुक्तं, ततः पुलाकाऽऽदिमानानि ततोऽतिरिच्यन्त इति कथं न विरोधः ?। उच्यते—कषायकुशीलानां यत्कोटिसहस्रपृथक्त्वं,तद् द्वित्र्याऽऽदिकोटिसहस्ररूपं कल्पयित्वा पुलाकबकुशाऽऽदिसङ्ख्या तत्र प्रवेश्यते, ततः समस्तसंयतमानं यदुक्तं, तन्नातिरिच्यत इति ।

(४२) अल्पबहुत्वद्वारे-

एएसि णं भंते ! पुलागवउसपडिसेवणाकुसीलकसायकुसीलणियंठसिणाताणं कयरे कयरे० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा णियंठा, पुलागा संखेज्जगुणा, सिणाया संखेज्जगुणा, वउसा संखेज्जगुणा, पडिसेवणाकुसीला संखेज्जगुणा,कसायकुसीला संखेज्जगुणा ॥ ३६ ॥

(सव्वत्थोवा णियंठ त्ति) तेषामुत्कर्षतोऽपि शतपृथक्त्वप्रमाणत्वात् । (पुलागा संखेज्जगुण त्ति) तेषामुत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्वमानत्वात् । (सिणाया संखेज्जगुण त्ति) तेषामुत्कर्षतः कोटिपृथक्त्वमानत्वात् । (वउसा संखेज्जगुण त्ति) तेषामुत्कर्षतः कोटिशतपृथक्त्वमानत्वात् । (पडिसेवणाकुसीला संखेज्जगु-

ण त्ति) कथमेतत्?,तेषामप्युत्कर्षत' कोटिशतपृथक्त्वमानतयोक्तत्वात्,सत्यम्,किन्तु बकुशानां यत्कोटिशतपृथक्त्वं तद् द्वित्राऽऽदिकोटिशतमान,प्रतिसेविनां तु कोटिशतपृथक्त्वं चतु'षट्कोटिशतमानमिति न विरोधः । कषायिणां तु सङ्ख्यातगुणत्व व्यक्तमेव, उत्कर्षत कोटिसहस्रपृथक्त्वमानतया तेषामुक्तत्वादिति । भ० २५ श० ६ उ० । उत्त० । ['अणगारधम्म' शब्दे प्र० भा० २७१ पृष्ठे, 'समणधम्म' शब्दे च क्षान्त्यादिर्निर्ग्रन्थधर्मो द्रष्टव्य•]

(४३) चत्तारि णिग्गंथा पण्णत्ता । तं जहा–रायणिए समणे णिग्गंथे महाकम्मे महाकिरिए अणायावी असमिए धम्मस्स अणाराहए भवइ १ , रायणिए समणे णिग्गंथे अप्पकम्मे अप्पकिरिए आयावी समिए धम्मस्स आराहए भवइ २ , ओमरायणिए समणे णिग्गंथे महाकम्मे महाकिरिए अणायावी असमिए धम्मस्स अणाराहए भवइ ३ , ओमरायणिए समणे णिग्गंथे अप्पकम्मे अप्पकिरिए आयावी समिए धम्मस्स आराहए भवइ ४ ।

निर्गता बाह्याभ्यन्तरग्रन्थाद् निर्ग्रन्था• साधव ,रत्नानि भावतो ज्ञानाऽऽदीनि,तैर्व्यवहरतीति रात्निक ,पर्यायज्येष्ठ इत्यर्थ ,श्रमणो निर्ग्रन्थो, महान्ति गुरूणि स्थित्यादिभिस्तथाविधप्रमाणाऽऽद्यभिव्यङ्ग्यानि कर्माणि यस्य स महाकर्मा । महती क्रिया कायिक्यादिका कर्मबन्धहेतुर्यस्य स महाक्रिय , न आतापयति आतापना शीताऽऽदिसहनरूपां करोतीत्यनातापी, मन्दश्रद्धत्वादिति । अत एवासमित समितिभि । स चैवभूतो धर्मस्यानाराधको भवतीत्येक । अन्यस्तु पर्यायज्येष्ठ एवाल्पकर्मा लघुकर्माऽल्पक्रिय इति द्वितीय । अन्यस्तु अवमो लघु पर्यायेण रात्निकोऽवमरात्निक । स्था० ४ ठा० ३ उ० । निर्गतो मोहनीयकर्मलक्षणाद् ग्रन्थादिति निर्ग्रन्थ• । निर्ग्रन्थभेदे, भ० २५ श० ६ उ० । प्रव० ।

(४४) स च पञ्चविधः प्रथमसमयाऽऽदि –

णियंठे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा–पढमसमयणियंठे, अपढमसमयणियंठे, चरिमसमयणियंठे, अचरिमसमयणियंठे, अहासुहुमणियंठे णामं पंचमे ।

निर्गतो ग्रन्थान्मोहनीयाऽऽख्यान्निर्ग्रन्थ क्षीणकषाय उपशान्तमोहो वा, क्षालितसकलघातिकर्ममलपटलत्वात् । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

(४५) तओ ठाणा णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अहियाए असुहाए अक्खमाए अणिस्सेयसाए अणाणुगामियत्ताए भवइ । तं जहा–कूअणया, कक्करणया, अवज्झाणया । तओ ठाणा णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा हियाए सुहाए खमाए णिस्सेयसाए, अणुगामियत्ताए भवइ । तं जहा–अकूयणया, अकक्करणया, अणवज्झाणया ।

"तओ" इत्यादि स्पष्टम् । किन्तु अहिताय अपथ्याय, असुखाय दु खाय, अक्षमाय अयुक्तत्वाय, अनि•श्रेयसाय अमोक्षाय, अनानुगामिकत्वाय न शुभानुबन्धायेति । कूजनता आर्तस्वरकरणम्, कर्करणता शय्योपध्यादिदोषोद्भावनगर्भप्रलपनम् । अपध्यानता आर्तरौद्रध्यायित्वमिति । उक्तविपर्ययसूत्रं व्यक्तमेव । स्था० ३ ठा० ३ उ० । (निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनामेकत्र सवसन 'सवास' शब्दे निषेत्स्यते)

निर्ग्रन्थशब्दस्थविषयसूची–

(२४) लेश्याद्वारे पुलाकाऽऽदीनां सलेश्यालेश्यत्व निरूप्य, कृष्णशुक्लाऽऽदिलेश्यानिरूपणम् ।
(२५) परिणामद्वारे पुलाकाऽऽदीनां वर्द्धमानहीयमानाव-स्थितपरिणामत्वप्रदर्शनम् ।
(२६) परिणामाधिकारादेव जघन्योत्कर्षाऽऽदिभेदेन काल-निरूपणम् ।
(२७) बन्धद्वारे पुलाकाऽऽदीनां कर्मप्रकृतिबन्धविचार· ।
(२८) वेदनद्वारे तेषामेव कर्मप्रकृतिवेदविमर्शः ।
(२९) उदीरणाद्वारे तेषामेव कर्मप्रकृत्युदीरणाऽध्यवसाय· ।
(३०) उपसम्पद्धानद्वारे पुलाकाऽऽदीना पुलाकत्वाऽऽदित्या-गोपादाननिरूपणम् ।
(३१) संज्ञाद्वारे पुलाकाऽऽदीनां संज्ञोपयुक्तनोसंज्ञोपयुक्तत्व-विचारणम् ।
(३२) आहारकद्वारे पुलाकाऽऽदीनामाहारकानाहारकत्व-प्ररूपणम् ।
(३३) भवद्वारे पुलाकाऽऽदीनां भवग्रहणनिरूपणम् ।
(३४) आकर्षद्वारे जघन्योत्कर्षभेदेनाऽऽकर्षविमर्श· ।
(३५) कालद्वारे पुलाकाऽऽदयः कियच्चिर भवन्तीति प्रति-पादनम् ।
(३६) अन्तरद्वारे जघन्योत्कर्षत तेषामेवान्तरनिरूपणम् ।
(३७) समुद्घातद्वारे तेषां समुद्घातविचारः ।
(३८) क्षेत्रद्वारे सख्येयासख्येयसर्वलोकाऽऽदिभवनभावना ।
(३९) स्पर्शनाद्वारे सख्येयासख्येयभागेन स्पर्शनप्रतिपाद-नम ।
(४०) भावद्वारे पुलाकाऽऽदीनां क्षायोपशमिकाऽऽदिभाव-विचार· ।
(४१) परिमाणद्वारे तेषामेव परिमाणनिर्देश· ।
(४२) अल्पबहुत्वद्वारे पुलाकाऽऽदीनामल्पबहुत्वनिदर्शनम ।
(४३) निर्ग्रन्थाना प्रकारान्तरेण चातुर्विध्यम ।
(४४) प्रथमाप्रथमचरमाचरमसमयथासूक्ष्मनिर्ग्रन्थाऽऽदि-भेदेन पञ्चविधत्वम् ।
(४५) कूजनताकर्करणताऽपध्यानताऽऽदिभेदेन निर्ग्रन्थानां, निर्ग्रन्थीनामसुखत्वाऽऽदि प्ररूप्य, तद्वैपरीत्येन सु-खत्वाऽऽदिनिरूपणम ।

नैर्ग्रन्थ्य–न० । निर्ग्रन्थानामिद नैर्ग्रन्थ्यम । विशे० । आव० । आर्हते प्रवचने, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । आ० म० ।

णिग्गंथधम्म–निर्ग्रन्थधर्म–पु० । निर्गतो बाह्याभ्यन्तररूपो ग्र-न्थोऽस्यास्तीति निर्ग्रन्थ , स चाऽसौ धर्मश्च निर्ग्रन्थधर्म· । श्रुतचारित्राऽऽख्ये क्षान्त्यादिके वा सर्वज्ञोक्ते धर्म, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

णिग्गंथपावयण–नैर्ग्रन्थ्यप्रावचन–न० । निर्ग्रन्थाना साधूनामिदं नैर्ग्रन्थ्य, प्रावचनमिति प्रकर्षेणाभिविधिनोच्यन्ते जीवाऽऽदयो यस्मिन्निति प्रावचनम । जैनाऽऽगमे, "इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे अट्ठे, सेसमणट्ठे ।" आव० ४ अ० । स्था० । आ० चू० ।

णिग्गंथी–निर्ग्रन्थी–स्त्री० । निर्ग्रन्थ साधु , तेषामिय निर्ग्रन्थी । साध्व्याम्, स्था० २ ठा० १ उ० ।

सा चतुर्विधा–

चत्तारि णिग्गंथीओ पण्णत्ताओ । तं जहा–रायणिया स-मणी णिग्गंथी० जाव आराहिया भवइ ४ ।

निर्ग्रन्थसूत्रवत् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । (निर्ग्रन्थ्या अधिकारा य थास्थानमुक्ताः,वक्ष्यन्ते च । यथा 'गहण' शब्दे तृतीयभागे ८५९ पृष्ठे पतन्त्या· प्रस्खलन्त्या ग्रहणमुक्तम)

नवरमिह–

छहिं ठाणेहिं णिग्गंथे णिग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ । तं जहा–खित्तचित्तं, दित्तचित्तं, जक्खाइट्ठं, उम्मायपत्तं, उवसग्गपत्तं, साहिगरणं । ६ ठा० ७ उ० । (क्षिप्तचित्ताऽऽदीनां प्ररूपणा 'खित्तचित्त' आदिशब्देषु द्रष्टव्या)

चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथे णिग्गंथिं आलवमाणे वा संलव माणे वा णाइक्कमइ । तं जहा–पंथं पुच्छमाणे, पंथं देसमाणे, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दलयमाणे वा, द· वावेमाणे वा ।

"चउहिं" इत्यादि स्फुट,किंतु आलपन्नीषत्प्रथमतया वा जल्पन्, संलपन् मिथो भाषणेन,नातिक्रामति न लङ्घयति निर्ग्रन्थाचारम्· "एगो एगत्थिए सद्धिं,नेव चिट्ठे न संलवे।" विशेषतः साध्व्या इत्येवं रूप, मार्गप्रश्नाऽऽदीना पुष्टाऽऽलम्बनत्वादिति । तत्र मार्ग पृच्छन् प्रश्नीयसाधर्मिकगृहस्थपुरुषाऽऽदीनामभावे–हे आर्ये ! कोऽस्माकमितो गच्छतां मार्ग ?,इत्यादिना क्रमेण,मार्गं वा तस्या देशयन्–धर्मशीले ! अयं मार्गस्ते इत्यादिना क्रमेण, अशनाऽऽदि च ददद्–धर्मशीले ! गृहाणेदमशनाऽऽदीत्येव, तथाऽशनाऽऽदि दापय न्–आर्ये ! दापयाम्येतत् तुभ्यम्,आगच्छेह गृहाऽऽदावित्यादिवि धिनेति । स्था०४ ठा०२ उ० । (निर्ग्रन्थैर्निर्ग्रन्थिकाभिश्च सह कायो· त्सर्गो न कार्य , इति ' ठाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६६५ पृष्ठे उक्तम्)

सचेला निर्ग्रन्थी, अचेलश्च निर्ग्रन्थ· सह संवसत·–

पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे अचेलए सचेलियाहिं णिग्गंथीहिं सद्धिं संवसमाणे णाइक्कमइ । तं जहा–खित्त-चित्ते समणे णिग्गंथे णिग्गंथेहिं अविज्जमाणेहिं अचेल-ओ सचेलियाहिं णिग्गंथीहिं सद्धिं संवसमाणे णाइक्कमइ । एवमेएणं गमएणं दित्तचित्ते, जक्खाइट्ठे, उम्मायपत्ते, णि· ग्गंथीपव्वाविए समणे णिग्गंथेहिं अविज्जमाणेहिं अ-चेलए सचेलियाहिं णिग्गंथीहिं सद्धिं संवसमाणे णा-इक्कमइ ॥

अचेल क्षिप्तचित्तत्वाऽऽदिना क्षिप्तचित्त शोकेन,तत्प्रतिजागर· काः साधवो न विद्यन्ते, ततो निर्ग्रन्थिका पुत्राऽऽदिकमिव त संगोपायन्तीति न ततोऽप्यसावाज्ञामतिक्रामति । दृप्तचित्तो हर्षातिरेकात्, यक्षाऽऽविष्टो देवाधिष्ठित , उन्मादप्राप्तो वाताऽऽ दिक्षोभात् । निर्ग्रन्थिकया कारणवशात् पुत्राऽऽदि प्र-व्राजित , स च बालत्वादचेलो महानपि वा तथाविधवृत्त-त्वाऽऽदिनेति । स्था० ५ ठा० २ उ० । (अथ निर्ग्रन्थीनां मासकल्पविहारवक्तव्यताया सर्वा वक्तव्यता)

से गामंसि वा० जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंतगिम्हासु दो मासा वत्थए ॥ ७ ॥

अस्यापि व्याख्या प्राग्वत्, नवरमबाहिरिके क्षेत्रे कल्पते निर्ग्रन्थीनां हेमन्तग्रीष्मेषु द्वौ मासौ वस्तुमिति ।

अथ भाष्यविस्तर –

एसेव कमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।
जं इत्थं णाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥१२०७॥

एष एव निर्ग्रन्थसूत्रोक्तः " पव्वज्जा सिक्खापय, " इत्यादिक क्रमो नियमान्निर्ग्रन्थीनामपि ज्ञातव्यो भवति । यत्पुनरत्र विहारद्वारे नानात्व, तदह वक्ष्ये समासेन ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

निग्गथीणं गणहर-परूवणा खेत्तमग्गणा चेव ।
वसही वियार गव–स्स आणणा वारए चेव ॥१२०८॥
भत्तट्ठणए य विही, पढिणीए भिक्खनिग्गमे चेव ।
निग्गथाण मासो, कम्हा तासिं दुवे मासा? ॥१२०९॥

निर्ग्रन्थीनां यो गणधरो गच्छप्रवर्त्तापक, तस्य प्ररूपणा कर्त्तव्या । तत. क्षेत्रस्य सयतीप्रायोग्यस्य मार्गणा प्रत्युपेक्षणा वक्तव्या । ततस्तासा योग्या वसतिर्विचारभूमिश्च, सयतीगणधरस्यानयना, ततो वारको लघुघटस्वरूप, तदनन्तर भक्तार्थन समुद्देशनम, तस्य विधिर्व्यवस्था, तत. प्रत्यनीककृतोपद्रवतो यथा निवारण, ततो भिक्षाया निर्गम ,ततो निर्ग्रन्थानां कस्मादेको मास ?, तासां च कस्माद् द्वौ मासौ ? । एतानि द्वाराणि वक्तव्यानीति द्वारगाथाद्वयसमुदायार्थ । (अत्र गणधरलक्षण 'गणहर' शब्दे तृतीयभागे ८२० पृष्ठे समुक्तम्)

अथ क्षेत्रमार्गणाद्वारमाह–

खित्तस्स उ पमिलेहा, कायव्वा होइ आणुपुव्वीए ।
किं वच्चई गणहरो, जो चरई सो तणं वहइ ॥१२१२॥

क्षेत्रस्य सयतीप्रायोग्यस्य, आनुपूर्व्या " थुभमगलसमामतण " इत्यादिना पूर्वोक्तक्रमेण,प्रत्युपेक्षणा गणधरेण कर्त्तव्या । अथ किं केन हेतुना गणधर. स्वयमेव क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय व्रजति ? । उच्यते–यो बलीवर्दाऽऽदिश्चारिं चरति, स एव तृणभार वहति, यो निर्ग्रन्थीगणस्याधिपत्यमनुभवति, स एव सर्वमपि तच्चिन्ताभरमुद्वहति ।

आह–सयत्य. किमर्थं न गच्छन्ति ?, इत्युच्यते–

संजइगमणे गुरुगा, आणादी सउणिपेसिपेल्लणया ।
लोभे तुच्छा आमिया-वणा य एमाइणो (भवे)दोसा॥१२१३।

यदि सयत्य. क्षेत्र प्रत्युपेक्षितु गच्छन्ति. तत आचार्यस्य चतुर्गुरुव ,आज्ञाऽऽदयश्च दोषा. । यथा शकुनिका पक्षिणी श्येनस्य गम्या भवति (पेसि त्ति) यथा वा मांसपेशिका, आम्रपेशिका वा सर्वस्याऽप्यभिलषणीया, तथा एता अपि । अत एव (पेल्लणय त्ति) विषयार्थिना प्रेर्यन्ते । तथा तुच्छास्ता , ततो येन तेनाप्याहाराऽऽदिलोभेनोपप्रलोभ्य ' आसियावण ' अपहरण तासा क्रियते, एवमादयो दोषा भवन्ति ।

इदमेव भावयति–

तुच्छेण वि लोभिज्जइ, भरुयच्छाऽऽहरणनिगमिसड्ढेण ।
णंतनिमंतणवहणे, चेइयरूढाण अक्खिवणं ॥१२१४॥

तुच्छेनाल्पाऽऽहारवस्त्रादिना स्त्री लोभ्यते, अत्र च भृगुकच्छ प्रासेन निकृतिश्राद्धेनोदाहरणम । कथमित्याह–"णत त्ति"वस्त्राणि, तैर्निमन्त्रणां कृत्वा, वहने प्रवहणे चैत्यवन्दनार्थमारूढाना सयतीनामाक्षेपणमपहरण कृतमिति । " जहा भरुअच्छे आगतुगवाणियओ,स च निच्चयसड्ढे सजईओ रूववईओ दट्ठूण कवमसड्ढत्तण पमिवण्णो । ताओ सस्स वीसभियाओ । गमणकाले पवत्तिणिं विन्नवेइ–वहणट्ठाणमगलट्ठा पमिलेहण करेमि, नो सजईओ पठवेह, अम्हे वि अणुग्गहिया होज्जामो । तओ पट्ठविया । तत्थ गया कवमसड्ढेण भणति–पढम वहणे चेइयाइ वदह, तो पढिलेहण करेमि त्ति । ताओ जाणति–अहो ! विवेको । तओ चेइयवदणत्थमारूढाण पयट्टिय वहण० जाव आसियावियाओ "।

एएहि कारणेहिं, न कप्पई संजईण पमिलेहा ।
गंतव्व गणहरेणं, विहिणा जो वण्णिओ पुव्विं ।१२१५।

एतै कारणै सयतीना क्षेत्रप्रत्युपेक्षा कर्त्तुं न कल्पते, केवल पुनस्तर्हि प्रत्युपेक्षणायां गन्तव्यमित्याह–गन्तव्य गणधरेण विधिना, क पुनर्विधिरित्याह–य पूर्वमत्रैव मासकल्प. प्रकृते स्थविरकल्पिकविहारद्वारे वर्णित. ।

आह–कीदृश क्षेत्र प्रत्युपेक्षणीयम ?, उच्यते––

जत्थाहिवई सूरो, समणाणं सो य जाणइ विसेसं ।
एतारिसम्मि खेत्ते, समणाणं होइ पमिलेहा ॥१२१६॥
जहियं दुस्सीलजणो, तक्करसावयभयं च जहिं नत्थि ।
निप्पच्चवायखेत्ते, अज्जाणं होइ पमिलेहा ॥१२१७॥

यत्र ग्रामाऽऽद्यावधिपतिर्भागिकाऽऽदिक शूर चौरवराटाऽऽदिभिरनभिभवनीय इत्यर्थ. । स च श्रमणानां साधूना विशेष जानाति–यथेदृशममीषां दर्शने व्रतम्, ईदृशश्च समाचार., एतादृशे क्षेत्रे साध्वीयोग्ये श्रमणाना प्रत्युपेक्षणा भवति । तथा यत्र दु:शीलजनस्तस्करश्वापदभय वा यत्र नास्ति, ईदृशे निष्प्रत्यपाये क्षेत्रे आर्यिकाणां प्रायोग्ये प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या भवति ।

अथ वसतिद्वारमाह––

गुत्ता गुत्तदुवारा, कुलपुत्ते सत्तमत गंभीरे ।
भीयपरिस मद्दविए, ओभासण चिंतणा दाणे* ॥१२१८॥

गुप्ता वृत्या, कुड्येन वा परिक्षिप्ता, गुप्तद्वारा कपाटद्वयोपेतद्वारा, यस्या च शय्यातर. कुलपुत्रक. । कथंभूत ?–सत्त्ववान् न केनापि क्षोभ्यते, महदपि च प्रयोजन कर्त्तुमध्यवस्यति । गम्भीरो नाम–सयतीना परुषाऽऽद्याचरणं दृष्ट्वाऽपि विपरिणाम न याति । तथा भीता चकिता पर्षत् यस्य स भीतपर्षत्, आज्ञैकसारतया यस्य भृकुटीमात्रमपि दृष्ट्वा परिवार. सर्वोऽपि भयेन कम्पमानस्तिष्ठति, न च क्वचिदन्याये प्रवृत्तिं करोति । मार्दवमस्तब्धता, तद्विद्यते यस्य स मार्दविकः, एवविधो यदि कुलपुत्रको भवति । तत [ओभासण त्ति] सयतीनामुपाश्रयस्यावभाषण कर्त्तव्यम । अवभाषिते च यद्यसावुपाश्रयमनुजानीते, ततो भण्यते [चिंतण त्ति] यथा स्वकीयाया दुहितु., स्नुषाया वा चिन्तां करोषि, तथा यद्येनासामपि प्रत्यनीकाऽऽद्युपसर्गरक्षणे चिन्तां कर्त्तुमुत्सहसे, ततोऽत्र स्थापयाम । स प्राऽऽह–बाढ करोमि चिन्ता, पर कथ पुन. सरक्षणीया ? । ततो-

* पुस्तकान्तरे–'अकिलभासणवारगमकलपडिणीयवारणया' इति पाठ. ।

ऽभिधानव्यम्-यथा किङ्काङ्किणी स्वहस्तेन परहस्तेन वा उपद्रूयमाणे रक्ष्येते, तथैता अपि यथात्ममानुषैः, परमानुषैर्वा उपद्रूयमाणा रक्षसि,नत एता रक्षिता भवन्तीति। यश्चैवं प्रतिपाद्योपाश्रयस्य दानं करोति, तत. स्थापनीया. ।

अथाप्रतिपद्यमाने स्थापयन्ति, ततश्चत्वारो गुरुकाः। अन्याऽऽचार्याभिप्रायेणामुमेवार्थमाह-

घणकुड्डा सकवामा, सागारियमाउभगिणिपेरंता ।
निप्पच्चवाय जोग्गा, वित्थिन्नपुरोहडा वसही ॥१२१९॥

घनकुड्या पक्वेष्टकाऽऽदिमयभित्तिका, सकपाटा कपाटोपेतद्वारा, सागारिकसत्कानां मातृभगिनीनां गृहाणि पर्यन्ते पार्श्वतो यस्याः सा सागारिकमातृभगिनीगृहपर्यन्ता। गाथायामनुक्तोऽपि गृहशब्दो द्रष्टव्यः। निष्प्रत्यपाया दुर्जनप्रवेशाऽऽदिप्रत्यपायरहिता, विस्तीर्णे 'पुरोहम' गृहपश्चाद्भागो यस्यां सा विस्तीर्णपुरोहडा, एवंविधा वसतिः संयतीनां योग्या ।

नासन्न-नातिदूरे, विहवापरिणयवयाण पडिवेसे ।
मज्झत्थऽवियाराणं, अकुऊहलभावियाणं च ॥१२२०॥

विधवाश्च ता परिणतवयसश्च थविरस्त्रिय, तासां, तथा मध्यस्थानां कन्दर्पाऽऽदिभावविकलानामविकाराणां गीताऽऽदिविकाररहितानाम्,अकुतूहलानाम्-संयत्यो भोजनाऽऽदिक्रियां कथं कुर्वन्तीति कौतुकवर्जितानां,भावितानां साध्वीसामाचारीवासितानां सम्बन्धि यत्प्रातिवेश्म प्रत्यासन्नगृहं, तत्र नातिदूरे संयतिप्रतिश्रयो ग्राह्यः ।

अथान्याऽऽचार्यप्रतिपाद्यशय्यातरस्वरूपमाह-

भोइयमहत्तराऽऽदी, बहुसयणो पिल्लओ कुलीणो य ।
परिणतवओ अभीरू,अणभिग्गहिओ अकुतूहली१२२१।
कुलपुत्त सत्तमंतो, भीयपरिस भद्दओ परिणओ अ ।
धम्मट्ठी य विणीतो,अज्जासेज्जायरो भणिओ॥१२२२॥

यो भोगिकमहत्तराऽऽदिर्दीर्घस्वजनो बहुपाक्षिक', तथा प्रेरक' षण्डाऽऽदीनां स्वगृहे प्रविशन्तीनां निवारकः, कुलीन ,परिणतवयाश्च प्रतीत , अभीरुरल्पत्वे महत्यपि कार्ये न बिभेतीति, कथमेतत् कर्तव्यमिति ?। अनभिगृहीत आभिग्रहिकमिथ्यात्वरहितः, अकुतूहली संयतीनां भोजनाऽऽदिदर्शने कौतुकवर्जित. । यस्तु कुलपुत्रक , सत्त्ववान् न केनाप्यभिभवनीयः, भीतपर्षत् प्राग्वत् , भद्रक. शासने बहुमानवान्, परिणतो वयसा मत्या वा, धर्मार्थी धर्मश्रद्धालुः, विनीतो विनयवान्। एष आर्याणां शय्यातरो भणितस्तीर्थकरैः। गत वसतिद्वारम। बृ० १ उ०। ('वसहि' शब्दे विशेषविधि)

अथ विचारद्वारमाह-

अणावायमसंलोगा, अणावाया चेव होइ संलोगा ।
आवायमसंलोगा, आवाया चेव संलोगा ॥१२२३॥

अनापाता असंलोका. १, अनापाताश्चैव संलोका. २, आपाता असंलोका. ३, आपाता. संलोकाश्चेति ४। चतस्रो विचारभूमय ।

एतासु संयतीना विधिमाह-

बीयारे बहि गुरुगा, अंतो वि य तइयवज्जिते चेव ।
तइए वि जत्थ पुरिसा,उवेंति वेसित्थियाओ य॥१२२४॥

यदि 'पुरोहडे' विद्यमाने संयत्यो ग्रामाद् बहिर्विचारभुव गच्छन्ति, ततश्चतुर्ष्वपि स्थण्डिलेषु प्रत्येक चतुर्गुरुकाः, अन्तरेऽपि च ग्रामाद्यन्तरे पुरोहडाऽऽदौ आपातासंलोकलक्षण तृतीयस्थण्डिलं वर्जयित्वा शेषेषु त्रिषु स्थण्डिलेषु गच्छन्तीना त एव चत्वारो गुरुका' । तृतीयेऽपि स्थण्डिले यत्र पुरुषा वेश्यास्त्रियश्चोपयन्ति आपतन्ति, तत्र चत्वारो गुरुकाः । यत्र तु कुलजानां स्त्रीणामापातो भवति तत्र गन्तव्यम् ।

किं पुन. कारण प्रथमाऽऽदीनि स्थण्डिलानि तासां नानुज्ञायन्ते ?। उच्यते-

जत्तो दुस्सीला खलु, वेसित्थिनपुंसहेट्ठतेरिच्छा ।
सा उ दिसा पडिकुट्ठा,पढमा बिइया चउत्थी य ॥१२२५॥

(जत्तो त्ति) यस्यां दिशि दुःशीलाः परदारानिगामिनः पुरुषाः,तथा वेश्याः स्त्रियो, नपुंसकाश्च (हेट्ठ त्ति) अधो नापिताः, तिर्यञ्चश्च वानराऽऽदय आपतन्ति, सा तु सा पुनर्दिग्, प्रथमा द्वितीया चतुर्थी च प्रतिषिद्धा, प्रथमाऽऽदीनि स्थण्डिलानीत्यर्थः ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां व्याचष्टे-

चारभडघोडमेंठा, सोलगतरुणा य जे य दुस्सीला।
उब्भामित्थी-वेसी-अपुमेसु उवेंति उ तदट्ठा।।१२२६॥

चारभटा राजपुरुषा ,घोटाश्चेटा ,मिण्ठा' गजपरिवर्त्तका ,सोलास्तुरगचिन्तानियुक्ताः। एवमादयो ये तरुणाः सन्तो दुःशीला , ते प्रथमद्वितीययोः स्थण्डिलयोरनापातत्वादेकान्तमिति कृत्वा उद्भ्रामकस्त्रीषु वा वेश्यासु वा (अपुमेसु त्ति) नपुंसकेषु वा पूर्वप्रान्तेषु, तदर्थं तेषामुद्भ्रामकस्त्रीप्रभृतीना प्रतिसेवनार्थमायान्तीति ।

चतुर्थे तु स्थण्डिले संलोकत्वादेते दुःशीलाऽऽदय. संयतीवर्गान् पश्येयु , संयतीवर्गेण वा ते दृश्येरन्नित्यतस्तदपि निषिध्यते-

हिट्ठ उवासणहेउं, णेगाऽऽगमणम्मि गहण उड्डाहो ।
वानरमयूरहंसा, छाला सुणगादितेरिच्छा ॥१२२७॥

अधस्तादुपासनमध्ये क्षोचकर्म, तद्धेतोरधो नापिते पूर्वप्रान्ते लब्धनेकेषां मनुष्याणां मध्ये क्षोचकमेकारापकर्मणामागमने सति यद्युदीर्णमोहास्ते संयतीं गृह्णन्ति, ततो ग्रहणे उड्डाहो भवति, तथा वानरमयूरहंसा , छगला', शुनकाऽऽदयश्च तिर्यञ्चस्तत्राऽऽयाताः संयतीमुपसर्गयेयु'।

यत एवं तत किमित्यत आह-

जइ अंतो वाघाओ, बहिया तासिं तइय अणुन्नाया ।
सेसा अणणुन्नाया, अज्जाण वियारभूमीओ ॥ १२२८॥

यद्यन्तरे ग्रामाभ्यन्तरे व्याघातः पुरोहडाऽऽदेरभाव', ततो बहिस्तासां तृतीया विचारभूमिरापातासंलोकरूपाऽनुज्ञाता,तत्रापि स्त्रीणामेवाऽऽपातो ग्राह्यो, न पुरुषाणा,शेषा विचारभूमयोऽनापातासंलोकाऽऽद्या आर्यिकाणां नानुज्ञाता'। गत विचारद्वारम्। बृ० १ उ०। ('वसहि' शब्दे रात्रौ मात्रकयतना)

अथ संयतीगच्छस्याऽऽनयनमिति द्वारमाह-

पडिलेहियं च खेत्तं, संजइवग्गस्स आणणा होइ ।

निक्कारणम्मि मग्गओ, कारणे समगं च पुरतो वा ॥१२२९॥

एवं वसतिविचारभूम्यादिविधिना प्रत्युपेक्षिते च संयतीप्रायोग्ये क्षेत्रे,ततः संयतीवर्गस्याऽऽनयनं तत्र क्षेत्रे भवति । कथम् ?, इत्याह-निष्कारणे निर्भये, निराबाधे वा सति साधवः पुरतः स्थिता, संयत्यस्तु मार्गतः पृष्ठतः स्थिता गच्छन्ति, कारणे तु समकं वा साधूनां पार्श्वतः, पुरतो वा साधूनामग्रतः स्थिताः संयत्यो गच्छन्ति ।

निप्पच्चवायसंबं-धिभाविए गणहरऽप्पबिइ तइए ।

नेणादिभए सत्थे-ण सद्धि कयकरणसहिते वा ॥१२३०॥

निष्प्रत्यपाये संयतीनां ये सम्बन्धिनः स्वज्ञातीयाः, भाविताश्च सम्यक्परिणतजिनवचना निर्विकाराः संयताः,तैः सह गणधर आत्मद्वितीयः, आत्मतृतीयो वा संयतीर्विवक्षितं क्षेत्रं नयति । अथ स्तेनाऽऽदिभयं वर्त्तते, ततः सार्थेन सार्द्धं नयति, यो वा संयतः कृतकरणः इषुशास्त्रेण सहितः संयतीर्नयति । स च गणधरास्तस्य पुरतः स्थितो गच्छति, संयत्यस्तु मार्गतः स्थिताः ।

अथ मतान्तरमुपन्यस्य दूषयन्नाह-

उभयट्ठाइनिविट्ठं, मा पेल्ले वतिणि तेण पुरतो गे ।

तं तु न जुज्जइ अविणय,विरुद्ध उभयं च जयणाए ॥१२३१॥

एके सूरयो ब्रुवते उभयं कायिकीसंज्ञे,तदर्थम् आदिशब्दादुपरासिन्क्वा कस्मिंश्चित्प्रयोजने निविष्टमुपविष्टं सन्तं संयतं,प्रतिनी मा प्रेरयन्तु,इत्यनेन हेतुना संयत्यः पुरतो गच्छन्ति । अत्राऽऽचार्य आह-तदुक्तं, न युज्यते,कुत ?, इत्याह-पुरतो गच्छन्तीनां तासामविनयः साधुषु सञ्जायते,लोकविरुद्धं चैव परिस्फुटं भवति-अहो ! महेलाप्रधानमामां दर्शनं,यत एवमतो मार्गतः स्थिता एव ता गच्छन्ति, उभयं च कायिकीसंज्ञारूपं यतनया कुर्यात् । का पुनर्यतना ?,इति चेदुच्यते-यत्रैकः कायिकीं संज्ञां वा व्युत्सृजति, तत्र सर्वेऽपि तिष्ठन्ति, तथास्थितांश्च तान् दृष्ट्वा संयत्योऽपि नाग्रतः समागच्छेयुः, ता अपि पृष्ठत एव शरीरचिन्तां कुर्वन्तीति । गतं गच्छस्याऽऽनयनमिति द्वारम् ।

अथ वारकद्वारमाह-

जहियं च अगारिजणो, चोक्खच्चूतो सुइसमायारो ।

कुमसुहदद्दरएणं, वारगनिक्खेवणा भणिया ॥१२३२॥

यस्मिंश्च ग्रामाऽऽदावगारीजनोऽविरतिकालोकः,चोक्षभूतः शुचिसमाचारश्च वर्त्तते, तत्र वारकग्रहणं निर्ग्रन्थीभिः कर्त्तव्यम् । अथ न कुर्वन्ति, ततश्चत्वारो गुरवः । यच्च प्रवचनोड्डाहाऽऽदिकं, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । यत एवमतः कुटमुखे घटकण्ठके श्लक्ष्णचीवरदर्दरकेण पिहितस्य वारकस्य निक्षेपणा भणिता भवति ।

थीपडिबद्धे उवस्सए, उस्सग्गपदेण संवसंतीओ ।

वच्चंति काइभूमिं, मत्तगहत्थाण आयमणं ॥१२३३॥

उत्सर्गपदेन संयतीभिः स्त्रीप्रतिबद्धे उपाश्रये वस्तव्यमिति कृत्वा तत्र संवसन्त्यो यदा कायिकीं भूमिं व्रजन्ति, तदा मात्रकहस्ता वारकं हस्ते गृहीत्वा व्रजन्ति, तासामगारीणां प्रत्ययो जायते-एताः कायिकीं कृत्वा पश्चादाचमनं करिष्यन्ति, अहो ! शुचिसमाचारा इति । तत्र च गतास्तासां दर्शनीभूता आचमनं कुर्वन्ति ।

स च वारको अन्तर्लिप्तः कर्त्तव्यः, कुतः ?, इत्यत आह-

दुक्खं विसुयावेउं, पणगस्स य संभवो अलित्तम्मि ।

संदंते तमपाणा, आवज्जणतक्कणाऽऽईया ॥१२३४॥

वारकोऽलिप्तः सन्, किम् ?, (विसुयावेउं ति) शोषयितुं दुःखं दुष्करो भवति,अलिप्ते च पानकभावितत्वात् पनकस्य संभवः सम्मूर्छनं भवति, अलिप्तश्च वारकः पानके प्रक्षिप्ते सति स्यन्दते परिगलति, स्यन्दने च त्रसप्राणिनः कीटिकामक्षिकाऽऽदयः समागच्छेयुः । (आवज्जण त्ति) यदनन्तकायनिकायविकलेन्द्रियेषु संघट्टनाऽऽदिकमापद्यते, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । (तक्कणाई य त्ति) ततो वारकात् पानकेन परिगलति मक्षिका पतन्ति,तासां ग्रसनार्थं गृहकोकिला धावति, तस्या अपि ग्रसनार्थं मार्जारीत्येवं तर्कणम्, तदाद्यो दोषा भवेयुः ।

यत्र पुनः कायिकीभूमौ सागारिकं भवति, तत्रेयं यतना-

सागारिए परंमुह-दगसद्दसंफुसतिओ णेत्त ।

पुलएज्ज* मा य तरुणी,तो अच्छद्दवं तु जा दिवसो ॥१२३५॥

सागारिके सति पराङ्मुखीभूय कायिकीं कृत्वा नेत्र संगमसंस्पृशन्त्यो दकशब्दं पानकप्रक्षालनानुमापकं कुर्वते, तथा तरुण्य स्त्रियः किमत्राऽस्ति पानकं, न वेति जिज्ञासया मा प्रलोकन्तामिति हेतोस्तस्मिन्वारके तावदच्छमकलुषं द्रवं पानकं प्रक्षिप्य तिष्ठति, यावद्दिवसः,ततः सन्ध्यासमये तत्पानकं पिबन्ति । गतं वारकद्वारम् ।

अथ भक्तार्थनाविधिद्वारमाह-

मंडलिठाणस्सऽसती, बहुा व तरुणीसु अहिपततीसु ।

पत्तेयकमढभुंजण-मंडलिथेरी उ परिवेसे ॥१२३६॥

यद्यसागारिकं,ततो मण्डल्यां समुद्दिशन्ति,अथ मण्डलीभूमिः सागारिकबहुला, ततो मण्डलिस्थानस्यासति, बहुला प्रणयेन तरुणीष्वभिपतन्तीषु तत्रौर्णिकमल्पमध प्रस्तीर्य तस्योपरि सौत्रिकं तत्राप्यलाबुपात्रकाणि स्थापयित्वा प्रत्येकं कमठकेषु भुञ्जते, प्रवर्त्तिनी च पूर्वाभिमुखा धुरि निविशते, ततः एका मण्डलिस्थविरा यमलजननी सहोदरा सर्वासामपि परिवेषयेत्, आत्मनोऽपि योग्यमात्मीये कमठके प्रक्षिपेत् ।

ओगाहिमाइविगई, समत्ताएँ करेइ जचिया समणी ।

तासिं पच्चयहेतुं, अणहिक्खछा अकलहो अ ॥१२३७॥

अवगाहिमं पक्वान्नम्, आदिशब्दाद् घृताऽऽदिकाश्च विकृतीः, यावत्यः श्रमण्य,तावतः समभागान्, मण्डलिस्थविरा करोति । किमर्थम् ?,तासां श्रमणीनां प्रत्ययार्थम्,तथा-[अणहिक्खछ त्ति] अनभिकाङ्क्षादनार्थं,सर्वासमप्यविषमसमुद्देशनार्थम्, अकलहश्चैवं भवति, असखडं न भवतीत्यर्थः ।

ताश्च समुद्देष्टुमुपविशन्त्य इत्थं ब्रुते-

निव्वीइए विइयाई, विगईओ लवणा वए विइया ।

अएण गिलाइयविलिया, अज्ज अहं देह अन्नासिं ॥१२३८॥

एका द्व्यादिसंख्याविकृतयो मुत्कलाः,शेषाणां प्रत्याख्यानम्,अपरा भणति-अद्य मामेतावन्तो लम्बना कवलाः, इत ऊर्ध्वं नियमः । अन्याऽभिधत्ते-अद्याहमग्लाना, ग्लानपर्युषितमत्र मया भोक्तव्यमित्येवं प्रतिपन्नाभिग्रहा । तदपरा ब्रूते-अद्याहमाचाम्लिका, कृता चाम्लप्रत्याख्याना,अत इदं विकृत्यादिकमन्यासां प्रय-

* "दृशो नियच्छ०" ॥८।४।१८१॥ इत्यादिना 'पुलए' आदेशः ॥

च्छत,एवं समुद्दिश्य पानकेनाऽऽचमन कुर्वन्ति,प्रवर्त्तिन्याः कमवक क्षुल्लका निर्लेपयन्ति, ततः सर्वास्वपि समुद्दिष्टासु मण्डलीषु स्थविरा समुद्दिशति ।

एवंविध दृष्ट्वा किं भवति ?, इत्याह-

दट्ठूण निहुयवासं, सोयपयत्तं अलुद्धमत्तं च ।
इंदियदमं च तासिं, विणयं च जणो इमं भणइ ॥१२३९॥

तासां संयतीनां निभृतवास विकथाऽऽदिविरहेण निर्व्यापारतयेवाऽवस्थान, शौचप्रयत्न वारकग्रहणाऽऽदिरूपम्, अलुब्धवस्त्र च विकृत्यादिप्रत्याख्यानाभिधातम् , इन्द्रियदमं च श्रोत्राऽऽदीन्द्रियनिग्रहण, विनय प्रवर्त्तिन्यादिषु अभ्युत्थानाऽऽदिरूप, दृष्ट्वा जनो लोक इद ब्रवीति-

सच्चं तवो य सीलं, अणहिक्खाओ अ एगमेगस्स ।
जइ बंभं जइ सोयं, एयासु परं ण अन्नासु ॥१२४०॥
बाहिरमलपरिलुद्धा, सीलसुगंधा तवोगुणविसुद्धा ।
धन्नाण कुलुप्पन्ना, एआ अ वि होज्ज अम्हं पि ॥१२४१॥

सत्य वाक्कर्मणोरविसंवादिता,तपोऽनशनाऽऽदि,शील सुस्वभावता,अनधिकत्वादश्नाविषमभोजनम्,एकैकस्या' परस्परममृषाम्, तथा यदि ब्रह्मचर्यं यदि शौच शुचिसमाचारता। एतानि सत्याऽऽदीनि,यदि परमेतासु संयतीषु दृश्यन्ते,नान्यासु शाक्याऽऽदिपाखण्डिनीषु,नतो यद्यप्येता बाह्यमलेन परिक्लिष्टा.,तथापि शीलेन सुगन्ध्या ,तपोगुणैरनशनाऽऽदिभि.,यद्वा-तपसा प्रतीतेन, गुणैश्चोपशमाऽऽदिभिर्विशुद्धा ,धन्यानां कुलोत्पन्ना ,एता येषां कुले समुत्पन्नास्तेऽपि धन्या इति भावः । अपि संभावनायां संभाव्यते । किमर्थ ?, यदस्माकमपि भगिनी, दुहिता च एतादृशस्वकुलोज्ज्वालनकारिण्यो भवेयु ।

एवं तत्थ वसंती-णुवसंतो सो य सिं अगारिजणो ।
गिण्हंति य संमत्तं, मिच्छत्तपरंमुहो जाओ ॥१२४२॥

एव तत्र वसन्तीना तासामगारीजन उपशान्त. प्रतिबुद्ध., ततो मिथ्यात्वपराङ्मुखो जात. सन् सम्यक्त्व गृह्णाति, चशब्दाद्देशविरतिं वा, कश्चित्तद्गुणग्रामरञ्जितमनाः सर्वविरतिमपि प्रतिपद्यते । गत भिक्षार्थंनाविधिद्वारम् ।

अथ प्रत्यनीकद्वारमाह-

तरुणीण अभिद्दवणे, संवरितो संजतो निवारेइ ।
तह वि य अठायमाणे, सागारिओ तस्सुवालभइ ॥१२४३॥

तरुणीनां संयतीनामभिद्रवणे प्रत्यनीकेन विधीयमाने सति संवृत. संयतिवेषाऽऽच्छादित. संयतो निवारयति,तथाऽपि चातिष्ठति तस्मिन् सागारिक शय्यातर., तत्रोपसर्गे, तमुपालभते ।

एतामेव निर्युक्तिगाथां भावयति-

गणिणीणऽकहणे गुरुगा, सा वि य न कहेइ जइ गुरूणं तु ।
सिट्ठम्मि य ते गंतु, अणुसट्ठी मित्तमाईहिं ॥१२४४॥

कश्चित्तरुणो विषयलोलुपतया संयतीनामुपद्रव कुर्यात्, ततस्तत्क्षणादेव ताभि प्रवर्तिन्याः कथनीयम्, यदि न कथयन्ति, ततश्चत्वारो गुरवः । सा च प्रवर्तिनी यदि गुरूणां न कथयति, तदा चतुर्गुरव ,आज्ञाऽऽदयश्च दोषा , तस्मात्कथयितव्यम्, ततः शिष्टे कथिते ते आचार्यास्तस्याविरतिकस्य पार्श्वे गत्वा साध्वीशीलभङ्गस्य दारुणविपाकतासूचिकामनुशिष्टिं ददति । यद्युपरमते ततः सुन्दरम् । अथ नोपरमते, ततो यानि तस्य मित्राणि, आदिशब्दाद्वा भ्रात्रादयः स्वजनास्तेषां निवेद्यम, तैः प्रज्ञापिते यदि स्थितः, ततो लष्टम् ।

तह वि य अठायमाणे, वसभा भेसिंति तह वि य अठंते ।
अमुगत्थ घरे पज्जह, तत्थ य वसभा वतिणिवेसा ॥१२४५॥

तथाऽप्यतिष्ठति तस्मिन् प्रत्यनीके, वृषभा गच्छस्य शुभाशुभकार्यचिन्तानियुक्ताः, तं प्रत्यनीक भापयन्ति, तथाऽप्यतिष्ठति यस्तरुण' कृतकरण. स संयतीनेपथ्य कृत्वा तस्य संकेत प्रयच्छति, यथा-अमुकत्र गृहे समागच्छत, ततो वृषभा व्रतिनीवेष परिधाय तेन साधुना सह तत्र गत्वा प्रत्यनीकस्य शिक्षां कुर्वन्ति, तथाऽप्यनुपशान्ते तस्मिन् सागारिकस्य निवेद्यते, तेनोपलब्धे यदि स्थित., तत. सुन्दरम् ।

अथ नास्ति तदानीं सन्निहितः-

सागारिए असंते, किच्चकरे भोइयस्स व कहिंति ।
असइत्थ ठाणे णिंती, खेत्तस्सऽसती सति णिवे वा १२४६

सागारिके असंनिहिते कृत्यकरस्य ग्रामचिन्तानियुक्तस्य भोगिकस्य ग्रामस्वामिन. कथयति, तेन शासितोऽपि यदि नोपरमते,तत. संयतीरन्यत्र स्थाने क्षेत्रे नयन्ति । अथ नास्ति संयतीप्रायोग्यमपरं, स्वय वा संयता ग्लानाऽऽदिकार्यव्यापृता न शक्नुवन्ति क्षेत्रान्तर गन्तु,ततो नृपस्य दण्डिकस्य निवेद्यते, स प्रत्यनीकमुपद्रवन्त निवारयति । गत प्रत्यनीकद्वारम् । वृ० १ उ० । नि० चू० । ("गोयरचरिया" शब्दे तृ० भा० ९७६ पृष्ठे भिक्षाविधिरुक्त.)

अथ निर्ग्रन्थीनां मास'। कस्मात्तासां द्वौ मासाविति द्वारं व्याख्यायते-शिष्य. पृच्छति-किं निर्ग्रन्थीनामभ्यधिकानि महाव्रतानि, येन तासां द्वौ मासौ,निर्ग्रन्थानामेक मासमेकत्र वस्तुमनुज्ञायते ?। सूरिराह-

जइ वि य महव्वयाइं, निग्गंथीणं न होंति अहियाइं ।
तह वि य निच्चविहारे,हवंति दोसा इमे तासिं॥१२६४॥

यद्यपि च निर्ग्रन्थीना महाव्रतानि नाधिकानि भवन्ति,तथाऽपि नित्यविहारे मासे मासे क्षेत्रान्तर संक्रमणे, इमे दोषास्तासां भवन्ति ।

मंसाइपेसिसरिसा, वसही खेत्तं च दुल्लभं जोग्गं ।
एएण कारणेणं, दो दो मासा अवरिसासु ॥१२६५॥

मांसाऽऽदिपेशीसदृशा. संयत्य',सर्वस्याप्यभिलषणीयत्वात्, तथा तासा योग्या वसतिर्दुर्लभा, क्षेत्र च तत्प्रायोग्योपेत दुर्लभ, ततो यथोक्तगुणविकलायां वसतौ दोषदुष्टे वा क्षेत्रे स्थाप्यमानानां बहव. प्रवचनविराधनाऽऽदयो दोषा उपढौकन्ते। एतेन कारणेन तासामवर्षासु वर्षावास विमुच्य द्वौ द्वौ मासावेकत्र वस्तुमनुज्ञायते ।

अथ द्वयोरुपरि वसन्तीनां दोषान्, द्वितीयपदं चोपदर्शयति-

दुण्हं उवरि वसंती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य ।
बिइयपयं च गिलाणे, वसती भिक्खं च जयणाए ।१२६६।

द्वयोर्मासयोरुपरि वसन्ति, तत प्रायश्चित्त, दोषाश्च भवन्ति, द्वितीयपदं च ग्लाने च सति वसति, भैक्ष च यतनया ग्रहीतव्यम् । भावार्थो निर्ग्रन्थानामिव द्रष्टव्य. ।

मासावासमूत्रम्-

से गामंसि वा० जाव रायहाणिंसि वा परिक्खेवंसि वा बाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंतगिम्हासु चत्तारि मासा वत्थए, अंतो दो मासे, बाहिं दो मासे, अंतो वसमाणीणं अंतो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणीणं बाहिं भिक्खायरिया ॥ ९ ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । नवरं सबाहिरिके क्षेत्रे अन्तर्द्वौ मासौ, बहिर्द्वौ मासावित्येव चतुरो मासान् निर्ग्रन्थीनां वस्तु कल्पत इति ।

अथ भाष्यम्-

एसेव कमो नियमा, सपरिक्खेवे सबाहिरीयम्मि ।
नवर पुण नाणत्तं, अंतो बाहिं चउम्मासा ॥१२६७॥

एष एव पूर्वसूत्रोक्त क्रमो नियमात् सपरिक्षेपे सबाहिरिके क्षेत्रे वसन्तीनां संयतीनां द्रष्टव्य, नवर पुनर्नानात्व विशेषोऽयम्-अन्तरभ्यन्तरे, बहिर्बाहिरिकायामेवमुभयोश्चत्वारो मासा. पूरणीया ।

चउण्ह उवरि वसंती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य ।
नाणत्त असईए तु, अंतो वसही बहिं चरइ ॥१२६८॥

चतुर्णां मासानामुपरि यदि सबाहिरिके क्षेत्रे संयती वसन्ति, तदा तदेव प्रायश्चित्त, त एव दोषा, द्वितीयमपि तदेव मन्तव्यम्, नानात्व विशेष, पुनर्बाहिरिकाया वसते., शय्यान्तरस्य वा यथोक्तगुणस्यासत्यभावे, अन्त प्राकाराभ्यन्तरे, (वसहि त्ति) वसतौ पूर्वस्यामेव स्थिता, बहिर्बाहिरिकायां चरति भिक्षाचर्यामटन्ति ।

जोग्गवसहीए असई, तत्थेव ठिया चरंति बाहिं तु ।
पुव्वगहिए विगिंचिय, तत्तो चिय मत्तगादी वि ॥१२६९॥

बहि संयतीयोग्याया वसतेरभावे, तत्रैवाभ्यन्तरोपाश्रये स्थिता सत्यो बहिश्चरन्ति, पूर्वगृहीत शौचरूक्षणमगलाऽऽदि परित्यज्य तत एव बाहिरिकाया मात्रकाऽऽदीनप्यानेतव्यानि, न केवल भिक्षेत्यादिशब्दार्थ ।

श्रुतसहननाऽऽदिविषया सामाचारी, क्षेत्रकालाऽऽदिविषया वा स्थिति स्थविरकल्पिकानामिव द्रष्टव्या । तदेवमुक्त आर्यिकाणामपि मासकल्पविधि । बृ० १ उ० । (निर्ग्रन्थीनां दूरत परिहरणीयत्व 'वसह' शब्दे वक्ष्यते)

णिग्गम-निर्गम-पु० । निर्गमनं निर्गम, कुत. सामायिक निर्गतमित्येवमादिरूपे निर्गमने, विशे० । अनु० । आ० म० ।

निर्गमस्य षड्विधो निक्षेप -

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो उ निग्गमस्स य, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥१५३३॥

नामस्थापनानिर्गमौ नामाऽऽवश्यकाऽऽद्युक्तानुसारेण भावनीयौ । द्रव्याद् द्रव्यस्य वा निर्गम., क्षेत्रात्क्षेत्रस्य वा, कालात्कालस्य वा, भावाद्भावस्य वा निर्गम इत्यादि वाच्यम् । इति निर्युक्तिगाथासक्षेपार्थ ॥ १५३३ ॥

विस्तरार्थं तु भाष्यकारः प्राऽऽह-

दव्वाओ दव्वस्स व, विणिग्गमो दव्वनिग्गमो सो य ।
तिविहो सच्चित्ताई, तिविहाओ संभवो नेओ ॥ १५३४ ॥

द्रव्याद् द्रव्यस्य वा निर्गमो द्रव्यनिर्गम.। स च सचित्ताऽऽदिद्रव्यसबन्धित्वात् सचित्ताऽऽदिस्त्रिविध । तस्य च त्रिविधस्य सचित्ताऽऽदेस्त्रिविधादेव सचित्ताऽऽदेर्द्रव्यात्सभव उत्पादो ज्ञेय इति ॥ १५३४ ॥

तथाहि-

पभवो सचित्ताओ, भूमेरंकुरपयंगवप्फाई ।
किमिगब्भसोणियाई, मीसाओ थीसरीराओ ॥१५३५॥
किमिघुणघुणचुण्णाई, दारूओ जं व निग्गयं जत्तो ।
दव्वं विगप्पवसओ, जह सब्भावोवयारेहिं ॥ १५३६ ॥

सचित्ताद् भूमिद्रव्यात्सचित्तद्रव्यस्याङ्कुरस्य प्रभवो निर्गमो ज्ञातव्य, मिश्रस्य तु पतङ्गद्रव्यस्य, तस्य हि पक्षाऽऽदिप्रदेश अचित्ता, शेष तु सचित्तमिति मिश्रता । अचित्तस्य तु वाष्पद्रव्यस्य । तदेव सचित्तात्सचित्ताऽऽदेस्त्रिविधस्य निर्गम इत्युक्तम् । अथ मिश्रात्स्त्रीशरीरद्रव्यात्सचित्तद्रव्यस्य कृमेर्निर्गमो वेदितव्य., मिश्रस्य तु गर्भद्रव्यस्य मिश्ररूपस्य, तद्गतकेशाऽऽदीनामचित्तत्वात, शेषस्य तु सचित्तत्वान्मिश्रता, अचित्तस्य तु शोणितद्रव्यस्य । मिश्रात्सचित्ताऽऽदेर्निर्गम इत्यपि भावितम् । अचित्तद्रव्याद्दारुण काष्ठात्सचित्तस्य कृमिद्रव्यस्य निर्गम, मिश्रस्य तु घुणस्य, पतङ्गवदस्यापि मिश्रत्वात, अचित्तस्य तु घुणचूर्णस्य घुणाऽऽकृष्टश्लक्ष्णतदवयवनिवहस्येत्यर्थ । अचित्तात्सचित्ताऽऽदे निर्गम इत्यपि गतम् । तथा-'ज व' इत्यादि । यद्वा द्रव्य यस्माद् द्रव्याद्विकल्पवशतो मानसकल्पनासमारोपात्तथा सद्भावेन सद्भूतप्रकारेण, उपचारेण वा निर्गतम्, सोऽपि द्रव्यान्निर्गमो द्रव्यनिर्गम उच्यते । तत्र यथा सद्भावेन विकल्पवशाद्यथा दुग्धाऽऽदिद्रव्यात घृताऽऽदिद्रव्यस्य निर्गम । अत्र हि भूमे "समुद्रजवटकन्यायेन" दुग्धात् घृताऽऽदिनिर्गमो न दृश्यत इति 'विकल्पवशत ' इत्युच्यते, दुग्धस्य च दधिघृताऽऽदिभावेन परिणामिकारणता समीक्ष्यते, इत्येतावता यथा सद्भावेनेत्यभिधीयते । उपचारेण तु रूपकाऽऽदेर्द्रव्याद्भोजनाऽऽदेर्निर्गम इत्यादि सर्वं यथासभवमन्यदपि स्वबुद्ध्याऽभ्यूह्य वक्तव्यमिति ॥ १५३५ ॥ १५३६ ॥

क्षेत्रनिर्गममाह-

खित्तस्स विनिग्गमणं, मरूवओ नऽत्थि तं जमकिरियं ।
खेत्ताओ खेत्तम्मि वि, हविज्ज दव्वाइनिग्गमणं ॥१५३७॥
उवयारओ खेत्तस्स य, विनिग्गमो लोगनिक्खुडाण व ।
लद्धं विनिग्गयं ति य, जह खेत्त राउला उ त्ति ॥१५३८॥

यथा द्रव्यस्यापि क्वचित्कल्पनया निर्गम उच्यते, न तु स्वरूपत, एव क्षेत्रस्याऽपि स्वरूपेण कुतोऽपि निर्गमो नास्ति, तस्याऽक्रियत्वेन तदयोगात् । क्षेत्रात्पुन निर्गमोऽस्ति, यथा आयु क्षयाऽऽदिसमये ऊर्ध्वाधोलोकाऽऽदिक्षेत्राद्देवनारकद्रव्याऽऽदेर्निर्गम. । क्षेत्रेऽपि धान्याऽऽदेर्निर्गमो द्रष्टव्य., न तु क्षेत्रस्य

स्वरूपेण निर्गमः । किं सर्वथा नास्ति ?, इत्याह-उपचारतः कल्पनामात्रेण, क्षेत्रस्यापि निर्गमः समस्त्येव, यथा लोके क्षेत्रात्सिक्कुटा निर्गता इति; तेषां स्वरूपेणाऽवस्थितानां निर्गमक्रियाभावेऽपि निर्गता इव निर्गता इति निर्गमोपचारः । तथा इत्थं विनिर्गतं क्षेत्रं राजकुलात्, निर्गतं नरताऽऽदिक्षेत्रं दुःषमाऽऽदिकालाद् दुर्भिक्षाऽशिवाऽऽदेर्वेत्यादीनि ॥ १५३७ ॥ १५३८ ॥

कालनिर्गममाह-

कालो वि दव्वधम्मो, निक्किरिओ तस्स निग्गमो पज्जवो ।
तत्तो च्चिय दव्वाओ, पज्जवउ काले व जं जम्मि ॥१५३९॥
ववयारओ व सरओ, विणिग्गओ णिग्गओ य तत्तोऽहं ।
अहवा दुक्कालाओ, नरो व वालाइकालाओ ॥१५४०॥

कालोऽपि वर्त्तनारूपो द्रव्यधर्म एव । स च स्वरूपेण निष्क्रियः, द्रव्यद्वारेणैव तत्क्रियाप्रवृत्तेः । तस्य च तत एव स्वाश्रयभूताद् द्रव्यान्निर्गमः प्रभवः उत्पत्तिः । यथा-हरिताऽऽदिकः यस्मिन् वर्षाऽऽदिके काले प्रभवत्युत्पद्यते स कालनिर्गम इति । अथवा-उपचारतोऽपि कालनिर्गमो, यथा-शरत्समयोऽसौ निर्गत आविर्भूतः, ततो वा शरत्कालाद्, दुष्कालाद्वा निर्गतो निस्तीर्णोऽहं बालाऽऽद्यवस्थातो वा नरो निर्गत इत्यायुपचारतः कालनिर्गम इति ॥ १५३९ ॥ १५४० ॥

अथ भावनिर्गममाह—

भावो वि दव्वधम्मो, तत्तो च्चिय तस्स निग्गमो पभवो ।
दव्वस्स व भावाओ, विणिग्गमो भावओऽवगमो ॥१५४१॥
रूवाइपोग्गलाओ, कसायनाणाइओ य जीवाओ ।
निंति पभवंति ते वा, तेहिंतो तव्विओगम्मि ॥१५४२॥

भावोऽपि कालवद् द्रव्यधर्म एव । तस्य च ततो द्रव्याद् यो निर्गमः प्रभवः स भावनिर्गमः, द्रव्यस्य वा भावान्निर्गमो भावनिर्गमः । कः ?, इत्याह-भावतो भावमाश्रित्य यो द्रव्यस्यापगमो विनाशः । इदमुक्तं भवति-यदा द्रव्यं पूर्वपर्यायेण विनश्यति, अपूर्वपर्यायेण तूत्पद्यते, तदा पूर्वपर्यायात्प्राक्तनभावाद् द्रव्यस्य निर्गतत्वाद्भावान्निर्गमो भावनिर्गम इत्युच्यते । तथा रूपाऽऽदयो भावा पुद्गलद्रव्यात्, कषायज्ञानाऽऽदयश्च जीवान्निर्गच्छन्ति प्रभवन्तीति भावाना निर्गमो भावनिर्गम उच्यते । (ते वा तेहिंतो त्ति) अथवा ते पुद्गलजीवाऽऽदय पदार्थास्तेभ्यो रूपाऽऽदिभ्यः कषायाऽऽदिभ्यश्च भावेभ्यस्तद्वियोगे प्राक्तनभावविनाशे निर्गच्छन्तीति भावेभ्यो निर्गमो भावनिर्गम इत्युच्यत इति । तदेव विनेयमतिव्युत्पादनार्थमभिहितः षड्विधो निर्गमः ॥ १५४१ ॥ १५४२ ॥

इदानीं प्रकृते यावता प्रयोजनं तदुपदर्शयितुं प्रशस्तभावनिर्गमस्वरूपं तावद्दर्शयन्नाह-

तत्थ पसत्थं मिच्छ-त्तऽणाणाविरइभावनिग्गमणं ।
जीवस्स संभवंति य, जं सम्मत्ताइओ तत्तो ॥१५४३॥

तत्रानन्तरोक्ते भावनिर्गमे प्रशस्तं शुभं निर्गमनम् । किम् ?, इत्याह-मिथ्यात्वाऽज्ञानाविरतिलक्षणादप्रशस्तभावात् यन्निर्गमनं निःसरणं जीवस्य । किमिति ?, इत्याह-यद्यस्मात्तस्यैव ततो मिथ्यात्वाऽऽद्यप्रशस्तभावनिर्गमाज्जीवस्य मुक्तिपदप्राप्तिहेतवः सम्यक्त्वाऽऽदयो गुणा इति ॥ १५४३ ॥

भवत्येवं, प्रस्तुते केन प्रयोजनम् ?, इत्याह-

एत्थ उ पसत्थभाव-प्पभूइमेत्तं विसेसओऽहिगयं ।
अपसत्थावगमो वि य, सेसा वि तदंगभावाओ ॥१५४४॥

इह च प्रक्रमे सामायिकाध्ययनं प्रस्तुतम् । तच्च क्षायोपशमिके भावे वर्त्तते । अत इह तस्यैव प्रशस्तक्षायोपशमिकभावस्य या प्रसूतिर्महावीरात् तन्निर्गमरूपा, तयेव विशेषतोऽधिकृताधिकारः । तथाऽप्रशस्तमिथ्यात्वाऽऽदिविपर्यौदयिकभावस्य योऽपगमो विनाशस्तेनापि चाधिकारः, तदपगमाभावे प्रशस्तभावप्रसूतेरयोगादिति । शेषास्तु निर्गमभेदास्तदङ्गभावेन प्रशस्तभावनिर्गमकारणतयाऽऽनन्तर्येण पारम्पर्येण वा कोऽपि कथञ्चिद् व्याप्रियत इतीह निर्दिष्टा इति ॥ १५४४ ॥

तदङ्गत्वमेव द्रव्याऽऽदीनां दर्शयति-

वीरो दव्वं खेत्तं, महसेणवणं पमाणकालो य ।
भावो य भावपुरिसो, समासओ निग्गमंगाइं ॥१५४५॥

यतो द्रव्यात्सामायिकं निर्गतं, तद् द्रव्यमत्र श्रीमन्महावीरो मन्तव्यः, यस्मिंश्च क्षेत्रे तन्निर्गतं, तदिह महसेनवनमवगन्तव्यम् । कालस्तु प्रथमपौरुषीलक्षणः प्रमाणकालः । भावस्तु भावपुरुषो वक्ष्यमाणलक्षणः । एतानि समासतः संक्षेपेण सामायिकस्य निर्गमाङ्गानीति ॥ १५४५ ॥

एतदेव दर्शयति-

सामइयं वीराओ, महसेणवणे पमाणकाले य ।
भावपुरिसा हि भावो, विणिग्गओ वक्खमाणोऽयं ॥१५४६॥

गतार्था, नवरं श्रीमन्महावीरजीवलक्षणाद्भावपुरुषादयं वक्ष्यमाणविस्तरस्वरूपः सामायिकलक्षणो भावो विनिर्गतः, इह च क्षायोपशमिके भावे वर्त्तमानत्वात् " सामायिकलक्षणो भावः " इत्युक्तम् ॥ १५४६ ॥

अथ महावीरलक्षणस्य द्रव्यस्य निर्गमं तावदभिधित्सुराह-

इच्चेवमाइ सव्वं, दव्वाहीणं जओ जिणस्सेव ।
तो निग्गमणं वोत्तुं, वोच्छं सामाइयस्स तओ ॥१५४७॥

इत्येवमादिकं क्षेत्रकालनिर्गमनाऽऽदिकं सामायिकाध्ययनाऽऽवश्यकश्रुतस्कन्धाऽऽचाराऽऽदिकं वा सर्वमपि यतो यस्माद् द्रव्यस्य महावीरलक्षणस्याधीनम्, ततस्तस्यैव महावीरजिनस्य निर्गमनमुक्त्वा, ततः सामायिकस्य निर्गमनं वक्ष्य इति ॥१५४७॥

ननु महावीरजिनस्याऽपि निर्गमनं कथं वक्तव्यम् ?, इत्याह-

मिच्छत्ताइतमाओ, स निग्गओ जह य केवलं पत्तो ।
जह य पसूयं तत्तो, सामइयं तं पवक्खामि ॥१५४८॥

तमिति तदेतत्सर्वं प्रवक्ष्यामीति गाथार्थः ॥१५४८॥ विशे० ।
अत्र वक्ष्यमाणो भावः सामायिकलक्षणः, एतच्च सर्वं भगवन्महावीरलक्षणद्रव्याधीनमतस्तस्यैव प्रथमतो मिथ्यात्वाऽऽदिभ्यो निर्गममभिधित्सुराह-

पंथं किर देसित्ता, साहूणं अडविविप्पणट्ठाणं ।
संमत्तपढमलंभो, बोधव्वो वद्धमाणस्स ॥१५४९॥

पन्थानं, किलेत्याप्तवादे, देशयित्वा कथयित्वा, साधुभ्यः, सूत्रे षष्ठी प्राकृतत्वात् । (अमवि त्ति)प्राकृतत्वादेवात्र सप्तम्या लोपः । अटव्या पथो विप्रनष्टेभ्यः परिभ्रष्टेभ्यः, पुनस्तेभ्य एव दे-

ज्ञानां श्रुत्वा सम्यक्त्वं प्राप्त एव सम्यक्त्वप्रथमलाभो बोद्धव्यो वर्द्धमानस्येति गाथाऽक्षरार्थः ॥१४९॥

भावार्थः कथानकादवसेय । तच्चेदम्-" अवरविदेहे एगम्मि गामे वत्थाहिओ,सो य रायाऽऽएसेण सगडाणि गहाय दारुनिमित्तं महाडविं पयिट्ठो । इतो य साहुणो मग्गं पवन्ना सत्थेण सम वच्चति, सत्थे आवासिए भिक्खं पविट्ठा, सत्थो गतो, ते मग्गतो पहाविया अयाणता छुहा, मूढदिसा पथ अयाणता तेण अरुविपयेण मज्झण्हदिवसकाले तण्हाए छुहाए य अपरद्धा त देस गया,जत्थ सो सगडसनिवेसो। सो य वत्थाहिओ ते पासित्ता महत संवेगमावन्नो भणइ-अहो ! इमे साहुणो अदेसिया तवस्सिणो अरुविमणुप्पविट्ठा । तेसिं सो परमभत्तीए विउल असणं पाण दाऊण आह-एह भगवं !, जेण पथे समवतारेमि; पुरतो संपत्थितो, ताहे ते वि साहुणो तस्सेव मग्गेण अणुगच्छति, ततो गुरू तस्स धम्म कहेडमारद्धो, सो तस्सुवगतो, ततो पथं समोयारित्ता नियत्तो। ते पत्ता सदेसं । सो पुण अविरयसम्मद्दिट्ठी काल काऊण सोहम्मे कप्पे पलिओवमट्ठिइओ देवो जातो । "

एतदेवोपप्रदर्शयन् गाथाद्वयमन्तर्भाष्यकृदाह—

अवरविदेहे गाम-स्स चिंतगो रायदारुवणगमणं ।
साहू भिक्खनिमित्तं, सत्था हीणे तहिं पासे ॥१५०॥
दाणऽन्न पंथनयणं, अणुकंप गुरूण कहण सम्मत्तं ।
सोहम्मे उववन्नो, पलियाउ सुरो महिड्ढीओ ॥१५१॥

अपरविदेहे ग्रामस्य चिन्तक , (रायदारुवणगमणमिति) अत्र निमित्तशब्दलोपो द्रष्टव्य.-राजदारुनिमित्त तस्य वनगमनं, स साधून् भिक्षानिमित्त सार्थाद् भ्रष्टान् तत्र दृष्टवान्, ततोऽनुकम्पया परमभक्त्या दानमन्नपानस्य, नयन प्रापण पथि, तदनन्तर गुरोः कथन, तत. सम्यक्त्वप्राप्ति , तत्प्रभावान्मृत्वाऽसौ सौधर्मलोके उत्पन्न पल्योपमायु. सुरो महर्द्धिक इति ।

लद्धूण य सम्मत्तं, अणुकंपाए सो सुविहियाणं ति ।
भासुरवरबोंदिधरो, देवो वेमाणिओ जातो ॥१५२॥

स ग्रामचिन्तक सुविहितानामनुकम्पया परमभक्त्या तेभ्यः सम्यक्त्व लब्ध्वा भासुरा दीप्तिमती वरां प्रधाना बोन्दिं तनुं धारयतीति भास्वरवरबोन्दिधरः, देवो वैमानिको जात. । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥१५२॥

चइऊण देवलोगा, इह चेव य भारहम्मि वासम्मि ।
इक्खागुकुले जातो, उसभसुयसुतो मरीइ त्ति ॥१५३॥

ततो देवलोकात् स्वायुःक्षये च्युत्वा इहैव भारते वर्षे इक्ष्वाकुकुले जात उत्पन्न ऋषभसुतसुतो मरीचि.,ऋषभपौत्र इत्यर्थ.।

यतश्चैवमत -

इक्खागुकुले जातो, इक्खागुकुलस्स होइ उप्पत्ती ।
कुलगरवंसेऽतीए, भरहस्स सुओ मरीइ त्ति ॥१५४॥

इक्ष्वाकूणां कुलमिक्ष्वाकुकुल, तस्मिन् जात उत्पन्नो, भरतस्य सुतो मरीचिरिति योग. । तत्र सामान्येन ऋषभपौत्रत्वाभिधाने सतीद विशेषाभिधानमदुष्टमेव, सामान्याभिधाने सति सर्वत्राऽपि विशेषाभिधानस्य दर्शनात् । स च इक्ष्वाकुकुले जात', कुलकरा (वक्ष्यमाणलक्षणा)तेषां वंश प्रवाह',तस्मिन्नतिक्रान्ते, यतश्चैवमत इक्ष्वाकुकुलस्य भवति उत्पत्तिर्वाच्येति शेषः । ॥१५४॥ आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० चू० (कुलकरवक्तव्यता ' कुलगर ' शब्दे तृतीयभागे ५६२ पृष्ठे समुक्ता)

णिग्गमग-निर्गमक-पु० । प्रस्थाने, सू० १ उ० ।

णिग्गमण-निर्गमन-न० । अपक्रमणे, निस्सरणे, पलायने, व्य० १ उ० । निस्सरणमार्गे, ज्ञा० २ श्रु० १ अ० । (गच्छान्निर्गत्यो-पसम्पद्विधि. 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे १००५ पृष्ठे उक्तः)

णिग्गय-निर्गत-त्रि० । नि.सृत, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उत्त० । न० । नि० । अभिनिष्क्रान्ते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । रहिते, सूत्र० । पञ्चा० । अविद्यमाने, स्था० १ ठा० । प्रतिपातिते, स० ६ अङ्ग । " उड्ढमुहे निग्गयजीहनेत्ते । " निर्गतजिह्वनेत्रान् । उत्त० ११ अ० " णिग्गयग्गदंता । " निर्गता अग्रदन्ता यस्य स निर्गताग्रदन्तः । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्थानान्तरप्राप्त्या निश्चितेऽनिश्चिते गमने, भ० १४ श० १ उ० ।

णिग्गह-निग्रह-पु० । अनाचारप्रवृत्तेर्निषेधने, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । ज्ञा० । अन्यायकारिणां दण्डे, आव०६ अ० । ग० । भ० । रोधे, भ० ७ श० ६ उ० । इन्द्रियनोइन्द्रियनियन्त्रणे, उत्त० १७ अ० । आ० चू० ।

णिग्गहजुत्त-निग्रहयुक्त-त्रि० । इन्द्रियकषायाणां निग्रहसमर्थे, बृ० ४ उ० ।

णिग्गहट्ठाण-निग्रहस्थान-न० । वादकाले वादी प्रतिवादी वा येन निगृह्यते तन्निग्रहस्थानम् । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । वादिवञ्चनार्थके प्रतिज्ञाहान्यादौ न्यायपरिभाषिते पदार्थे, स्था० १ ठा० ।

णिग्गहदोस-निग्रहदोष-पु० । निग्रहस्थलाऽऽदिना पराजयस्थानरूप दोषभेदे, स्था १० ठा० ।

णिग्गहप्पहाण-निग्रहप्रधान-न० । अनाचारप्रवृत्तिनिषेधप्रधाने, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । औ० ।

णिग्गहसमत्थ-निग्रहसमर्थ-पु० । जितेन्द्रिये, तरुणाऽऽदीनां वा स्वयनीकपसर्गयतां खरण्टाऽऽदिना शिक्षाकारणदक्षे,बृ० १ उ० ।

णिग्गहिय-निगृहीत-त्रि० । वादे पराजिते, "सो वादी णिग्गहितो, पच्छा सावगेहिं गोट्ठामाहिलो धरितो । " आ०म०२अ० ।

णिग्गा-देशी-हरिद्रायाम्, दे०ना० ४ वर्ग २५ गाथा ।

णिग्गाहि-[ण]-निग्राहिण्-निगृह्णाति मनोजवेन वशीकरोतीति निग्राही । निग्रहणशीले उत्त० ४ अ० ।

णिग्गिण-देशी -निर्गते, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णिग्गुण-निर्गुण-त्रि० । निर्गतगुणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । उत्तरगुणापेक्षया निर्मर्यादे,स्था०३ ठा०२ उ० । भ० । उत्तरगुणविकले, ज० २ वक्ष० । स्था० । गुणव्रतरहिते,ज्ञा० १ श्रु० १८अ० । तीक्ष्णाऽऽदिगुणाभावात् (दशा० ६ अ०) क्षान्त्यादिगुणाभावाद् गुणविकले, रा० । भ० ।

णिग्गुणबंभ-निर्गुणब्रह्मन्-न० । योगाऽऽदिरहिते आत्मनि,सत्त्वरजस्तमोरूपगुणरहिते ब्रह्मणि, अष्ट० ८ अष्ट० ।

णिग्गूढ–निर्गूढ–त्रि०। स्थिरतया स्थापिते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०।

णिग्गोह–न्यग्रोध–पुं०। वटवृक्षे, अनु०। स्था०। स०। जी०।

णिग्गोहपरिमंडल–न्यग्रोधपरिमण्डल–न०। न्यग्रोधवत्परिमण्डलं यस्य तन्न्यग्रोधपरिमण्डलम्। कर्म० ६ कर्म०। प्रज्ञा०। जी०। नाभेरुपरि न्यग्रोधवन्मण्डले, आद्यसस्थानयुक्तत्वेन विशिष्टाऽऽकारे द्वितीयसंस्थाने, अनु०। यथा न्यग्रोध उपरिसंपूर्णावयवोऽधस्तनभागे पुनर्न तथा, तथेदमपि नाभेरुपरि विस्तरबहुलं शरीरलक्षणोक्तप्रमाणभागमधस्तु हीनाधिकप्रमाणमिति। स्था० ६ ठा०। प० स०। कर्म०।

णिग्गोहपरिमंडलणाम–न्यग्रोधपरिमण्डलनामन्–न०। न्यग्रोधपरिमण्डलनिबन्धने नामकर्मभेदे, कर्म० १ कर्म०।

णिग्घट्ट–देशी–कुशले, दे० ना० ४ वर्ग ४ गाथा।

णिग्घाय–निर्घात–पुं०। वैक्रियाशनिप्रपाते, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। विद्युत्प्रपाते, जी० १ प्रति० ४ उ०। साभ्रे निरभ्रे वा गगने व्यन्तरकृते महागर्जितध्वनौ, स्था० १० ठा०। आव०। नि० चू०। निर्जरणे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

णिग्घायण–निर्घातन–न०। निराधिक्येन घातो निर्घातः। निर्जरणे, आ० चू० ५ अ०।

णिग्घायणट्ठ–निर्घातनार्थ–पुं०। निर्घातननिमित्ते, "पावाण कम्माण णिग्घायणट्ठाए।" आव० ५ अ०। निर्घातनमुच्छेदः, स एवार्थः प्रयोजन तस्मै। ध० २ अधि०।

णिग्घिण–निर्घृण–त्रि०। न विद्यते घृणा पापजुगुप्सालक्षणा यत्र स निर्घृणः। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। न विद्यते घृणा पापजुगुप्सा यस्य स। प्रव० २७४ द्वार। प्रश्न०। निर्दये, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। आव०। "गो दीर्घो वा" ॥८। ३। ३८॥ इति सबुद्धौ वा दीर्घः। 'रे रे णिग्घिणया!'। प्रा० ३ पाद।

णिग्घिणता–निर्घृणता–स्त्री०। निर्दयतायाम्, पञ्चा० १० विव०।

णिग्घिणमइ–निर्घृणमति–त्रि०। परस्य दुःख्यादविरते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

णिग्घेउं–निगृहीतुम्–अव्य०। निरुध्येत्यर्थे, "पुव्वपयत्तेण सक्कितो णिग्घेउ।" नि० चू० १ उ०।

णिग्घोर–देशी–निर्दये, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा।

णिग्घोस–निर्घोष–पुं०। नितरा घोषो निर्घोषः। त०। आव०। महाप्रयत्नोत्पादिते शब्दे, भ० ६ श० ३३ उ०। महाशब्दे, कल्प० ५ क्षण। रा०। आ० म०। विपा०। महाध्वनौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। जी०। आचा०। ज्ञा०। रा०।

णिघंटु–निघण्टु–पुं०। नामसङ्ग्रहे, कल्प० ३ क्षण। कोशे, औ०। नामकोशे, "णिघटुछट्ठाण सगोवगाण चउण्ह वेयाण।" नि० १ श्रु० १ वर्ग ५ अ०। कल्प०।

णिघस–निकष–पुं०। कषपट्टगतायां कषितसुवर्णरेखायाम्, अनु०। नि० चू०। आ० म०। भ०। च० प्र०। प्रश्न०। कषपट्टके, सर्वेषामभिधानानामागमो निकषः हेमरजतकल्पजीवाऽऽदिपदार्थपरिज्ञानहेतुत्वात् कषपट्टक। अनु०।

णिचय–निचय–पुं०। द्रव्योपचये तन्निमित्ताऽऽपादितकर्मनिचये, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। आचा०। रा०। औ०। शूकराऽऽदिसंघाते, पिं०। सञ्चये, ओघ०।

णिच्चिक्खिल्ल–निश्चिक्खिल–पुं०। कर्दमाभावे, व्य० ६ उ०।

णिचिय–निचित–त्रि०। निबिडे, अनु०। प्रश्न०। रा०। स्था०। औ०। भ०। निबिडतरत्वमापन्ने, आ० म० १ अ० १ खण्ड।

णिच्च–नित्य–त्रि०। शाश्वते, उत्त० १८ अ०। आव०। सघा०। सर्वदाऽवस्थायिनि, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। उत्पत्तिविनाशरहिते, प्रव० १ द्वार। अविनाशधर्मिणि, स्था०। ध०। अविचलितस्वभावे, दश० १ अ०। अव्यवच्छिन्नरूपे, विशे०। अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ०। स्था०। दश०। अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थनित्यत्वेन व्यवस्थापिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। ध्रुवे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। औ०। सर्वकाले, रा०। कल्प०। जी०। व्य०। प्रश्न०। सर्वदेत्यर्थे, स्था०। ज०। प्रश्न०। रा०। स्था०। सूत्र०। उत्त०। "रागदोसे य जे पावे, पावकम्मपवत्तणे। जे भिक्खू रुभई णिच्च, से न अत्थइ मण्डले॥१॥" उत्त० ३१ अ०। "णिच्च नीयकम्मोवजीविणो।" नित्यं सदा नीचान्यधमजनोचितानि कर्माण्युपजीवन्ति तैर्वृत्तिं कुर्वन्ति ये ते तथा। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

णिच्चउग्गाह–निश्चयोद्ग्राह–पुं०। निश्चयनयोपन्यासे, "तेनाऽऽद्यौ निश्चयोद्ग्राहो, नग्नानामपहस्तितः। रसायनीकृतविषप्रायोऽसौ न जगद्धित" ॥७८॥ निश्चयनयोद्ग्राहो निश्चयनयोपन्यास। नयो०।

णिच्चंधकारतमस–नित्यान्धकारतमस–न०। नित्यमेवान्धकारतमस येषु ते तथा। मेघावच्छिन्नाम्बरतलकृष्णपक्षरजनीवत् तमोबहुलेषु नरकेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

निच्चंपरदार–नित्यंपरदार–पुं०। प्रतिक्रमणसूत्रमध्ये श्राविकाः "निच्चपरदारगमणविरईओ।" इत्यादिपाठ कथयन्त्युत "निच्च कापुरिसगमणविरईओ।" इत्यादि चेति प्रश्ने, उत्तरम्–प्रतिक्रमणसूत्रपाठस्तु श्राद्धश्राविकाणां सदृश एव ज्ञायते, येनैतद्वृत्तौ स्त्रिय प्रति परपुरुषवर्जनमुपलक्षणाद् दृष्टव्यमिति व्याख्यातमस्तीति। ३५ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

णिच्चच्छणिय–नित्यक्षणिक–त्रि०। नित्य सर्वदा क्षणा उत्सवा यत्राऽसौ नित्यक्षणिकः। सार्वदिकोत्सवयुक्ते, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ०।

णिच्चतच्चित्त–नित्यतच्चित्त–त्रि०। सदैव तत्परे, पञ्चा० १७ विव०।

णिच्चदुक्खिय–नित्यदुःखित–त्रि०। सदा दुःखाऽऽकुले, त०।

णिच्चदोस–नित्यदोष–पुं०। अविनाशिदोषे, स्था०। तथा नित्यो यो दोषोऽभव्यानां मिथ्यात्वाऽऽदिरनाद्यपर्यवसितत्वात्, स दोष सामान्यापेक्षया विशेष। अथवा–सर्वथा नित्ये वस्तुनि अभ्युपगते यो दोषो बालकुमाराऽऽद्यवस्थाभावाऽऽपत्तिलक्षण, स दोष सामान्यापेक्षया दोषविशेष इति। स्था० १० ठा०।

णिच्चपिंड–नित्यपिण्ड–पुं०। निमन्त्रितस्य नित्य गृह्णतो ग्राह्ये पिण्डे, प्रव० २ द्वार।

णिच्चभत्त–नित्यभक्त–न०। अनवरतभोजने, पञ्चा० ६ विव०।

णिच्चभत्तिय–नित्यभक्तिक–पुं०। नित्यमेकाशनिनि साधौ, कल्प० ९ क्षण।

णिच्चभाव-नित्यजाव-पु० । सर्वदा सद्भावे, पञ्चा० ६ विव० ।

णिच्चर-कथ-धा० । दुःखकथने, " दुःखेर्णिच्चरः "॥ ८ । ४ ।३॥ इति दुःखविषयस्य कथेर्णिच्चर इत्यादेशः । ' णिच्चरइ ' दुःखं कथयतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

णिच्चल-मुच्-धा० । दुःखमोचने, " दुःखेर्णिच्चलः " ॥ ८ । ४ । ३ ॥ इति दुःखविषयस्य मुचेर्णिच्चलादेशः । ' णिच्चलइ ' । दुःखं मुञ्चतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

निश्चल-त्रि० । " हृस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले " ॥ ८ । २ । २१ ॥ इति श्चभागस्य च्छो न, अनिश्चलेतिपर्युदासात् । प्रा० २ पाद । अचले, उत्त० ५ अ० । " तत्र णिच्चलणिप्पंदा, भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाया । " प्रा० २ पाद । गमागमाऽऽदिरहिते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । रा० ।

णिच्चलपय-निश्चलपद-न० । मोक्षे, पं० व० ४ द्वार । रा० ।

णिच्चवाय-नित्यवाद-पु० । नित्यैकान्तवादे, स्या० ।

णिच्चसंदण-नित्यस्यन्दन-त्रि० । नित्यस्रवणशीले सततवाहिनि, कल्प० ६ क्षण ।

णिच्चसति-नित्यस्मृति-स्त्री० । सार्वदिकस्मरणे, पञ्चा० १ विव० । प्रा० ।

णिच्चसहाय-नित्यसहाय-पु० । अवस्थितसहाये, व्य० ६ उ० ।

णिच्चसुह-नित्यसुख-त्रि० । सदा सौख्ये, आव० ६ अ० ।

णिच्चाणिच्च-नित्यानित्य-त्रि० । स्थितिभवनभङ्गरूपापेक्षया नित्ये, भवनभङ्गरूपापेक्षयाऽनित्ये, स्था० १ ठा० । सर्वस्यैव वस्तुन उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तता । इत्यत्र प्रमाणम्-

" असतो नत्थि पसूई, होज्ज व जइ होउ खरविसाणस्स ।
न य सव्वहा विणासो, सव्वुच्छेयप्पसंगाओ ॥ १६६८ ॥
तोऽवत्थियस्स केणइ, विलओ धम्मेण भवणमन्नेण ।
सव्वुच्छेओ न मओ, संववहारोवरोहाओ " ॥ १६६९ ॥

अन्यत्र विवृतम् । विशे० । (सादिश्रुतप्रकरणेऽप्येतत्)

णिच्चालोग-नित्यालोक-पु० । चतुःषष्टितमे महाग्रहे, " दो णिच्चालोया । " स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० । सू० प्र० । च० प्र० । नित्यमालोक उद्द्योतो यत्रेति । सर्वकालमुद्द्योतमाने, कल्प० ३ क्षण ।

णिचिंद-निश्चिन्त-त्रि० । "अधः क्वचित्" ॥ ८ । ४ । २६१ ॥ इति शौरसेन्यां तस्य दः । चिन्ताविकले, प्रा० ४ पाद ।

णिच्चुज्जोय-नित्योद्द्योत-पु० । पञ्चषष्टितमे महाग्रहे, " दो णिच्चुज्जोया । " स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० । च० प्र० । सू० प्र० ।

णिच्चुव्विग्ग-नित्योद्विग्न-त्रि० । सदाऽप्रशान्ते, दश० ५ अ० २ उ० । सदोदासीने, अष्ट० २२ अष्ट० ।

णिच्चेट्ठ-निश्चेष्ट-त्रि० । व्यापाररहिते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

णिच्चेयणय-निश्चेतनक-त्रि० । चैतन्यवर्जिते शरीरे, त० ।

णिच्चोउआ-नित्यर्तुका-स्त्री० । नित्य सदा, न त्र्यहमेव ऋतू रक्तप्रवृत्तिलक्षणो यस्याः सा नित्यर्तुका । सदा रजस्वलायाम् , सा च गर्भं न धरते । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णिच्चोयग-नित्योदक-त्रि० । प्रचुरजले, कल्प० ६ क्षण ।

णिच्छइय-नैश्चयिक-पु० । निश्चये भवो नैश्चयिको नयः । निश्चयनये, विशे० । न० ।

णिच्छक्क-देशी-त्रि० । निर्लज्जे, बृ० १ उ० । धृष्टे, व्य० ५ उ० । अनवसरज्ञे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

णिच्छय-निश्चय-पु० । निराधिक्ये चयनं चयः पिण्डीभवनमधिकश्चयो निश्चयः । अनु० । निरधिकश्चयो निश्चयः । सामान्ये, आ० चू० १ अ० । परमार्थे, पं० व० ३ द्वार । पञ्चा० । आ० म० । आव० । सूत्र० । औ० । अवश्यङ्करणाभ्युपगमे नयविनिर्णये, भ० २ श० ५ उ० । आ० म० । सूत्र० । ज्ञा० । नियमे, अव्यभिचारे, निश्चयपरिच्छेदे, सम्म० ३ काण्ड । इत्थमेवेदं विधेयमित्येवरूपनिर्णये, भ० १५ श० २ उ० ।

णिच्छयकहा-निश्चयकथा-स्त्री० । अपवादे, "अपवादो णिच्छयकहा भण्णति । " ऋजुसूत्राऽऽदिभिः शुद्धनयैः क्रियमाणायां कथायाम्, नि० चू० ५ उ० ।

णिच्छयगोयर-निश्चयगोचर-पु० । निश्चयविषये, द्रव्या० ८ अध्या० ।

णिच्छयणय-निश्चयनय-पु० । तत्त्वनयमते परिणामवादे, पञ्चा० १३ विव० । द्रव्यास्तिकनये, सम्म० ३ काण्ड । ऋजुसूत्राऽऽद्यास्तु चत्वारो निश्चयनयाः । बृ० ४ उ० । (निश्चयनयस्वरूपं ' णय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८५२ पृष्ठे प्रतिपादितम्)

निश्चयव्यवहारयोः पार्थक्यम्—

निश्चयाद् व्यवहारेण, कोपचारविशेषता ? ।
मुख्यवृत्तिर्यदैकस्य, तदाऽन्यस्योपचारता ॥ २२ ॥

(निश्चयेति) निश्चयाद् निश्चयनयाद् व्यवहारेण सहोपचारविशेषता काऽस्ति ? । व्यवहारविषये उपचारोऽस्ति, निश्चये चोपचारो नास्त्येतावद्विशेषता । यदैकनयस्य मुख्यवृत्तिर्गृह्यते,तदा परनयस्योपचारवृत्तरायाति । रत्नाकरवाक्ये स्याद्वादरत्नाकरे च प्रसिद्धमस्ति-' स्वस्वार्थसत्यत्वस्याभिमानोऽखिलनयानामप्योऽन्य वर्तते, फलात् सत्यत्व तु सम्यग्दर्शनयोग एवास्ति ।" एवं च प्रकृतमर्थं व्याख्यायते-निश्चयनयाद् व्यवहारनयेन सहोपचारविशेषता काऽस्ति ? । या उपचारविशेषता वर्तते, तां दर्शयति-यदैकस्य कस्यचिन्नयस्य मुख्यता मुख्यभावो वर्तते, तदाऽन्यस्याऽन्यनयस्य उपचारता गौणत्वं भवतीति ज्ञेयम् । यथाहि-निश्चयेन आत्मेति शब्द एतस्य निश्चयार्थस्तु-"असंख्यातप्रदेशी निरञ्जनोऽनन्तज्ञानाऽऽदिगुणोपेतो नित्यो विभुः कर्मदंषिरसङ्गतः सिद्ध इव देहे उपलभ्यते।" तदाऽस्य व्यवहारेणौपाधिकस्य जडशरीराऽऽदेः सङ्गतस्यौदयिकाऽऽदिभावोपगतनरनैरयिकाऽऽदिभावस्पर्शतोऽपि गौणत्वं भासते । अथ च 'अतति सातत्येन गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्यात्मा । ' संसारस्थो देहाऽऽदिसंगतो जन्ममरणजरायौवनाऽऽदिक्लेशमनुभवमानः प्रत्यक्षप्रमाणेन व्यवहाराऽऽदेशाद् देवो मनुष्यो नारकस्तिर्यक् च कथ्यते, तत्र सिद्धत्वस्य गौणत्वम् ॥ २२ ॥

अथ पुनस्तदेव प्रतिपादयति-

तेनेदं भाष्यसंदिष्टं, ग्रहीतव्यं विनिश्चयम् ।
तत्त्वार्थं निश्चयो वक्ति, व्यवहारो जनोदितम् ॥ २३ ॥

(तेनेति) तेन कारणेनेह विनिश्चय निश्चयव्यवहारयोर्लक्षणं, भाष्यसहित विशेषाऽऽवश्यकनिरूपित,मद्दीतव्यमवधारणीयम् । अथ निश्चयव्यवहारयोर्लक्षणमाह-निश्चयो निश्चयनयः, तत्त्वार्थं युक्तिसिद्धमर्थं, वक्ति कथयति । पुनर्व्यवहारो व्यवहारनयो, जनोदित लोकाभिमतग्राहित्व वक्ति। यतो लोकाभिमतमेव व्यवहारः,तस्य ग्राहक प्रमाण न भवति, प्रमाण तु तत्त्वार्थग्राहकमेवास्ति । तथापि प्रमाणस्य सकलतत्त्वार्थग्राही निश्चयनयः, एकदेशतत्त्वार्थग्राही व्यवहारश्चाय विवेकः । निश्चयनयस्य विषयत्वम्, अथ च व्यवहारनयस्य विषयत्वमनुभवसिद्ध भिन्नमेवाऽऽस्ते। यथा सविकल्पकज्ञान नष्टप्रकारताऽऽदिकमन्यवादिनो भिन्नमेवाऽऽमनन्तीति हृदये विमर्शनीयम् ॥ २३ ॥

अथोपचारं निर्दिशति-

बाह्यस्याऽभ्यन्तरत्वं यद्, बहुव्यक्तेरभेदता ।
यच्च द्रव्यस्य नैर्मल्य-मिति निश्चयगोचराः ॥२४॥

(बाह्येति) यद् बाह्यस्य बाह्यार्थस्याऽभ्यन्तरत्वमन्तरङ्गत्व वर्तते, तदपि गोचरम्,निश्चयविषयमित्यर्थ । यथा "समाधिर्नन्दन धैर्यो, दम्भोलि. समता सभा । ज्ञान महाविमान च,वासवश्रीरियं पुन. ॥ १ ॥" इत्यादिपुण्डरीकाध्ययनाऽऽद्यर्थोऽप्येव भावनीयः । अथ पुनर्बहुव्यक्तेरनेकविशेषस्याभेदता भेदराहित्य, तदपि निश्चयविषयम् । यथा-"एगे आया"इत्यादि सूत्रम,तथा वेदान्तदर्शनमपि शुद्धसग्रहनयाऽऽदेशरूप. शुद्धनिश्चयनयार्थ. सम्मतिग्रन्थे कथित.। (स चास्मिन्नेव भागे १८९१ पृष्ठे दर्शित) तथा पुनर्द्रव्यस्य पदार्थस्य यन्नैर्मल्य तदपि निश्चयविषयम, नैर्मल्य तु विमलपरिणति बाह्यनिरपेक्षपरिणाम , सोऽपि निश्चयनयाऽर्थो बोद्धव्य । यथा-" आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे । " एवमेते अभ्यन्तरत्वाऽऽदयो निश्चयगोचरा एव । यथा यया रीत्या लोकातिक्रान्तोऽर्थोऽत्र"), तथा तया रीत्या निश्चयनयस्य भेदा भवन्ति। तस्माच्च लोकोत्तरार्थभावना समाधानीनि ज्ञेयम ॥ २४ ॥ द्रव्या० ८ अध्या० ।

णिच्छर-निर्झर-पु० । " चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ " ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति चतुर्थस्य झस्य छ. । गिरिपतत्प्रस्रवणे, प्रा० ४ पाद ।

णिच्छल्ल-छिद्-धा० । छेदने, " छिदेर्दुहाव-णिच्छल्ल-णिज्झोड-णिव्वर-णिल्लूर-लूरा. " ॥ ८ ।४। १२४ ॥ इति णिच्छल्लाऽऽदेश । णिच्छल्लइ, छिंदइ, छिनत्ति । प्रा० ४ पाद ।

णिच्छल्लिय-निश्छल्लिक-त्रि० । छल्लीरहिते, बृ० १ उ० ।

णिच्छाय-निश्छाय-त्रि० । गतश्रीके, ज्ञा० २ श्रु० २ अ० । विशोभे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णिच्छिड्ड-निश्छिद्र-त्रि० । स्थगितरन्ध्रे,दर्श० ४ तत्त्व । प्र० ।

णिच्छिण्ण-निश्छिन्न-त्रि०। रूपाऽऽदिव्यावृत्ते पृथक्कृते,विशे०।

णिच्छिय-निश्चित-त्रि० । अवश्य भाविनि, स० ६ अङ्ग । निश्चयवति, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० । असंशये,स० ११ अङ्ग ।

णिच्छुभण-निच्छुभण-न० । निष्काशने, व्य० ७ उ० । " असंखमिणिच्छुभणे।" नि० चू० १ उ० ।

णिच्छूम-देशी-निर्दये, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा ।

णिच्छूढ-निष्ठ्यूत-न० । निष्ठीवने, विशे० । आ०म०। "केनाप्फुण्णाऽऽदय. " ॥ ८ । ४ । २५८ ॥ इति उद्धृतशब्दस्य णिच्छूढाऽऽदेश' प्रा० ४ पाद । उद्वृत्ते, मुक्तोज्झने च । वाच० । " सो परिव्वायगो हीलिज्जंतो णिच्छूढो। " आ०म० १ अ० २ खण्ड ।

णिच्छूहणा-निष्कोजणा-स्त्री० । निःसरास्माद् गेहादिति प्रत्संसने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णिच्छेय-निश्चेय-त्रि० । निश्चीयत इति निश्चेयः । अवश्यकरणीये, रा० ।

णिच्छोडइत्ता-निश्छोट्य-अव्य०। प्राप्तमर्थं त्याजयित्वेत्यर्थे,भ० १५ श० । पुरुषान्तरसम्बन्धिहस्ताऽऽद्यवयवतो वियोजयित्वेत्यर्थे, भ० १५ श० । सम्बन्धान्तरसंबद्धहस्ताऽऽदौ गृहीत्वा बलात् क्षिपत्वेत्यर्थे, स्था० ५ ठा० १ उ० । उपा० ।

णिच्छोडणा-निश्छोटना-स्त्री० । त्यजास्मदीयवस्त्राऽऽदीत्यादिरूपे भर्त्सने, भ० १५ श० । ज्ञा० ।

णिच्छोलण-निश्छोटन-न० । त्वगपनयने, " अगाराणं णिच्छोलेइ, णिच्छोलंतं वा साइज्जइ।" 'णिच्छोलेति' त्वचमपनयति, महामणि प्रकाशयति इत्यर्थः । नि० चू० १ उ० ।

णिजुद्ध--नियुद्ध-न० । सर्वसन्धिविक्षोभणपूर्वके युद्धे, नि० चू० १२ उ० । औ० । ज्ञा० ।

णिज्ज-देशी-सुप्ते, दे० ना० ४ वर्ग २५ गाथा ।

णिज्जप्पपाणभोयण-निर्याप्यपानभोजन-न० । क० स० । निर्यापनाकारकेषु दुर्बलेषु पानभोजनेषु, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार।

णिज्जरट्ठया-निर्जरार्थता-स्त्री० । ममाऽप्येतान् वाचयतः कर्मनिर्जरा विपुला भविष्यतीति प्रयोजने, " णिज्जरट्ठयाए णिज्जरट्ठयाए पज्जवजाएणं।" आ० म० १ अ०१ खण्ड । स्था० ।

णिज्जरट्ठि[ण्]-निर्जरार्थिन्-त्रि० । कर्मक्षयकामे, प्रति० ।

णिज्जरण- निर्जरण-न० । यतनोपयोगिज्ञानदर्शनविशुद्धमते, औ० । दाने च, " णिज्जरणं भवत्थाए । " व्य० ७ उ० ।

णिज्जरमाण-निर्जरयत्-त्रि० । निर्जरां कुर्वाणे, भ० १७ श०१ उ० ।

णिज्जरा-निर्जरा-स्त्री० । निर्जरणं निर्जरा। कर्मक्षये, भाव० २ अ० । पञ्चा० । स्था० । दर्श० । ओघ० । आचा० । कर्मणां जीवप्रदेशेभ्य. परिशटने, स्था० १० ठा० । कार्त्स्न्येनानुसमय विशेषकर्मविपाकहान्या परिशटने, स्था० ४ ठा० ४ उ० । नाशे, कर्मपुद्गलशाटने, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । भाव० । स्था० । विशरणे आ० । कर्मणोऽकर्मताभवने, स्था० २ ठा० ४ उ० । विशरणे परिशटने, स्था० १ ठा० । अपचये, कर्म० ।

एगा णिज्जरा ।

निर्जरण निर्जरा, विशरणं परिशटनमित्यर्थः । सा चाष्टविधनिर्जरा कर्मापेक्षयाऽष्टविधाऽपि, द्वादशविधतपोजनितत्वेन च द्वादशविधाऽपि, अकामक्षुत्पिपासाशीताऽऽतपदंशमशकसहनब्रह्मचर्यधारणाऽऽद्यनेकविधकारणजनितत्वेनाऽनेकविधाऽपि,द्रव्यतो भावतो वा द्विविधाऽपि वा,निर्जरा सामान्यादेशाऽऽदेशादेकैवेति । ननु निर्जरामोक्षयो कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते-देशतः कर्मक्षयो निर्जरा, सर्वतस्तु मोक्ष इति । स्था० १ ठा० । अनु० । स० ।

अधुना यद्गुणवशाज्जीवानां यावती निर्जरा, तामाह-

एयगुणा पुण कमसो, असंखगुणणिज्जरा जीवा। [८३]

एते प्रागुपदर्शिताः सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरत्यादयो गुणा धर्मा येषा ते एतद्गुणाः, जीवा इत्युत्तरेण सबन्धः। कथम्?, इत्याह-पुनरिति पुन-शब्दो गुणश्रेणिस्वरूपापेक्षया व्यतिरेकार्थः। क्रमशो यथोत्तरं क्रमेण, असंख्यातगुणिता निर्जरा कर्मपुद्गलपरिशाटरूपा येषा तेऽसख्यातगुणनिर्जराः, जीवाः सत्त्वाः, भवन्तीति शेष। तत्र सम्यक्त्वगुणा जीवा स्तोकपुद्गलनिर्जरका., ततो देशविरता असख्येयगुणनिर्जरा, ततः सर्वविरता असख्येयगुणनिर्जरा', ततोऽनन्तानुबन्धिविसयोजका असख्येयगुणनिर्जरा', ततो दर्शनक्षपका असख्येयगुणनिर्जराः,ततो मोहशमका असख्येयगुणनिर्जराः, तत उपशान्तमोहा असख्येयगुणनिर्जरा, तत. क्षपका असख्येयगुणनिर्जरा., तत. क्षीणमोहा असख्येयगुणनिर्जरा., तत. सयोगिकेवलिनोऽसख्येयगुणनिर्जरा, ततोऽप्ययोगिकेवलिनोऽसख्येयगुणनिर्जरा. (८३) कर्म० ५ कर्म०। स्था०। (देशेन सर्वेण चाऽऽत्मा निर्जरयतीति 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १६६ पृष्ठे उक्तम्) (भक्तप्रत्याख्यानेन निर्जरा भवतीति 'भत्तपच्चक्खाण' शब्दे वक्ष्यते) "जीवा ण चर्वाहि ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ णिज्जरेंसु, णिज्जरिंति,णिज्जरिस्सति।" कर्मणोऽकर्मकत्वभवनामिति। इह च देशनिर्जरैव ग्राह्या, सर्वनिर्जरायाश्चतुर्विंशतिदण्डके असम्भवात्, क्रोधाऽऽदीना च तदकारणत्वात्, क्रोधाऽऽदित्रयस्यैव तत्कारणत्वादिति। स्था० ४ ठा० १ उ०।

ज्ञानी शीघ्रं कर्म क्षपयति। तत्र निर्जराद्वारमाह-

> जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाइँ वासकोडीहिं।
> तं नाणी तिहिँ गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥

यदज्ञानी जीवो नैरयिकाऽऽदिभवेषु वर्तमानो बह्वीभिर्वर्षकोटीभि. कर्म क्षपयति, तत्कर्म ज्ञानी त्रिषु मनोवाक्कायेषु गुप्त, समुच्छ्वासमात्रेणापि कालेन क्षपयति। वृ० १ उ०। कर्मनिर्जराहेतौ बुभुक्षाऽऽदिसहने, स्था० ४ ठा० ४ उ०। (वैयावृत्त्य महानिर्जराहेतुरित्यतिशयाना प्रसङ्गे 'अइसेस' शब्दे प्र० भा० ३० पृष्ठे आवेदितम्)

यो महावेदन स महानिर्जर'-

जीवा णं भंते! किं महावेयणा महानिज्जरा, महावेयणा अप्पनिज्जरा, अप्पवेयणा महानिज्जरा, अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा ?। गोयमा! अत्थेगइया जीवा महावेयणा महानिज्जरा, अत्थेगइया जीवा महावेयणा अप्पनिज्जरा, अत्थेगइया जीवा अप्पवेयणा महानिज्जरा, अत्थेगइया जीवा अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा। से केणट्ठेण ?। गोयमा! पडिमापडिवन्नए अणगारे महावेयणे महानिज्जरे, छट्ठसत्तमासु पुढवीसु नेरइया महावेयणा अप्पनिज्जरा, सेलेसिपडिवन्नए अणगारे अप्पवेयणे महानिज्जरे, अणुत्तरोववाइया देवा अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा। भ०६ श०१ उ०।

से णूणं भंते! जे महावेयणे से महाणिज्जरे, जे महाणिज्जरे से महावेयणे, महावेयणस्स य अप्पवेयणस्स य से सेए जे पसत्थनिज्जराए ?। हंता गोयमा! जे महावेयणे० एवं चेव। छट्ठसत्तमासु णं भंते! पुढवीसु नेरइया महावेयणा ?। हंता! महावेयणा। ते णं भंते! समणेहिंतो निग्गंथेहिंतो महानिज्जरतरागा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। से केणं अट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-जे महावेयणे० जाव पसत्थनिज्जराए ?। गोयमा! से जहानामए दुवे वत्था सिया-एगे वत्थे कद्दमरागरत्ते, एगे वत्थे खंजणरागरत्ते, एएसि णं गोयमा! दोण्हं वत्थाणं कयरे वत्थे दुधोयतराए चेव, दुवामतराए चेव, दुपरिकम्मतराए चेव; कयरे वा वत्थे सुधोयतराए चेव, सुवामतराए चेव, सुपरिकम्मतराए चेव, जे वा से वत्थे कद्दमरागरत्ते, जे वा से वत्थे खंजणरागरत्ते ?। भगवं! तत्थ णं जे से कद्दमरागरत्ते से णं वत्थे दुधोयतराए चेव, दुवामतराए चेव, दुपरिकम्मतराए चेव ?। एवामेव गोयमा! नेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकयाइं चिक्कणीकयाइं सिढिलीकयाइं खिलीकयाइं भवंति, संपगाढं पि य णं ते वेयणं वेयमाणा णो महानिज्जरा नो महापज्जवसाणा भवंति, से जहा वा केइ पुरिसे अहिगरणिं आउडेमाणे महया महया सद्देणं महया महया घोसेणं महया महया परंपराघाएणं णो संचाएइ, तीसे अहिगरणीए अहावायरे पोग्गले परिसाडित्तए एवामेव गोयमा! नेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकयाइं० जाव नो महापज्जवसाणाइं भवंति। भगवं! तत्थ जे से वत्थे खंजणरागरत्ते से णं वत्थे सुधोयतराए चेव, सुवामतराए चेव, सुपरिकम्मतराए चेव ?। एवामेव गोयमा! समणाणं निग्गंथाणं अहाबायराइं कम्माइं सिढिलीकयाइं निट्ठियाइं कडाइं विपरिणामियाइं खिप्पामेव विद्धत्थाइं भवंति, जावइयं तावइयं पि य णं ते वेयणं वेयमाणा महानिज्जरा महापज्जवसाणा भवंति, से जहानामए केइ पुरिसे सुक्कं तणहत्थयं जायतेयंसि पक्खिवेज्जा, से नूणं गोयमा! से सुक्के तणहत्थए जायतेयंसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव मसमसाविज्जइ ?। हंता! मसमसाविज्जइ, एवामेव गोयमा! समणाणं निग्गंथाणं अहाबायराइं कम्माइं० जाव महापज्जवसाणाइं भवंति। से जहानामए केइ पुरिसे तत्तंसि अयकवल्लंसि उदगबिंदु० जाव हंता! विद्धंसमागच्छइ, एवामेव गोयमा! समणाणं निग्गंथाणं० जाव महापज्जवसाणा भवंति, से तेणट्ठेणं जे महावेयणे से महानिज्जरे ०जाव निज्जराए।

(से णूणं भंते! जे महावेयणे इत्यादि) महावेदन उपसर्गाऽऽदिसमुद्भूतविशिष्टपीड', महानिर्जरो विशिष्टकर्मक्षप, अन. योश्चान्योन्याऽविनाभूतत्वाविर्भावनाय-"जे महानिज्जरे इत्यादि" प्रत्यावर्त्तनमित्येक प्रश्न। तथा-महावेदनस्य चाल्पवेदनस्य च

मध्ये स श्रेयान् य. प्रशस्ततिर्जराक' कल्याणानुबन्धनिर्जर इ-
ति,एष च द्वितीयः प्रश्नः।प्रश्नता च काकुपाठाऽवगम्या। इन्तेत्या-
द्युत्तरम्। इह च प्रथमप्रश्नस्योत्तरे महोपसर्गकाले भगवान्म-
हावीरो ज्ञातः, द्वितीयस्याऽपि स एवोपसर्गानुपसर्गावस्थाया-
मिति। यो महावेदन' स महानिर्जर इति यदुक्तं, तत्र व्यभि-
चारं शङ्कमान आह-(छट्ठीत्यादि) (दुधोयतराए त्ति) दुष्क-
रतरधावनप्रक्रियम्, (दुवामतराए त्ति) दुर्वाम्यतरक दुस्त्या-
ज्यतरकलङ्कम्, (दुप्परिकम्मतराए त्ति) कष्टकर्त्तव्यतेजो-
जननभङ्गकरणाऽऽदिप्रक्रियम्। अनेन च विशेषणत्रयेणाऽपि दु-
र्विशोध्यमित्युक्तम्। (गाढीकयाइं ति) आत्मप्रदेशैः सह गाढ-
बद्धानि,सूत्रसूत्रगाढबद्धसूचीकलापवत्। (चिक्कणीकयाइं ति)
सूक्ष्मकर्मस्कन्धानां सरसतया परस्पर गाढसम्बन्धकरणतो
दुर्भेदीकृतानि, तथाविधमृत्पिण्डवत्। (सिढिलीकयाइं ति)
श्लथीकृतानि निधत्तानि, सूत्रबद्धाग्नितप्तलोहशलाकाकलाप-
वत्। खिलीभूतानि अनुभूतिव्यतिरिक्तोपायान्तरेण क्षपयि-
तुमशक्यानि, निकाचितानीत्यर्थः। विशेषणचतुष्टयेनाप्येतेन दु-
र्विशोध्यानि भवन्तीत्युक्त भवति। एव च एवमेवेत्याद्युपनय-
वाक्य सुघटन स्यात्। यतश्च तानि दुर्विशोध्यानि स्युस्ततः
(सपगाढमित्यादि) (नो महापज्जवसाणा भवति त्ति) अनेन
महानिर्जराया अभावस्य निर्वाणाभावलक्षण फलमुक्तमिति
नाप्रस्तुतत्वमस्याऽऽशङ्कनीयमिति। तदेव यो महावेदन स म-
हानिर्जर इति विशिष्टजीवापेक्षमवगन्तव्यम्, न पुनर्नारकाऽऽदि-
क्लिष्टकर्मजीवापेक्षम्। यदपि यो महानिर्जर स महावेदन इ-
त्युक्त, तदपि प्रायिकम्। यतो भवत्ययोगी महानिर्जरो, महावेद-
नस्तु भजनयेति। (अहिगरणि त्ति) अधिकरणी, यत्र लोह-
कारा अयोघनेन लोहानि कुट्टयन्ति। (आउट्टेमाणे त्ति) आ-
कुट्टयन् (सद्देण ति) अयोघनघातप्रभवेन ध्वनिना,पुरुषहुङ्कृ-
तिरूपेण वा। (घोसेण ति) तस्यैवानुनादेन। (परंपराघाएण
ति) परम्परा निरन्तरता, तत्प्रधानो घातस्तामन, परम्पराघा-
त, तेन उपर्युपरि घातेनेत्यर्थ। (अहाबायरे त्ति) स्थूलप्र-
कारात्। एवामेवेत्याद्युपनये-"गाढीकयाइ" इत्यादिविशेषण-
चतुष्केण दुष्परिशाटनीयानि भवन्तीत्युक्त भवति। (सुधो-
यतराए इत्यादि) अनेन सुविशोध्य भवतीत्युक्त स्यात्। (अ-
हाबायराइ ति) स्थूलतरस्कन्धान्यसाराणीत्यर्थ। (सिढिली-
कयाइ ति) श्लथीकृतानि, मन्दविपाकीकृतानि। (निट्ठियाइ
कडाइ ति) नि सत्ताकानि विहितानि। (विपरिणामियाइ ति)
विपरिणाम नीतानि स्थितिघातरसघाताऽऽदिभि', तानि च
क्षिप्रमेव विध्वस्तानि भवन्ति, एभिश्च विशेषणै सुविशोध्यानि
भवन्तीत्युक्त स्यात्। ततश्च(जावश्यमित्यादि)। भ०६श०१उ०।

या वेदना सा निर्जरा-

से णूणं भंते! जा वेयणा सा निज्जरा, जा निज्जरा सा वेय-
णा?। णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेण भंते! एवं वुच्चइ-जा
वेयणा न सा निज्जरा, जा निज्जरा न सा वेयणा?। गो-
यमा! कम्मवेयणा, णो कम्मनिज्जरा, से तेणट्ठेण गोय-
मा!० जाव न सा वेयणा। नेरइया णं भंते! जा वेयणा सा
निज्जरा, जा निज्जरा सा वेयणा?। णो इणट्ठे समट्ठे। से
केणट्ठेणं एवं वुच्चइ-नेरइयाणं जा वेयणा न सा निज्जरा,
जा निज्जरा न सा वेयणा?। गोयमा! नेरइयाणं कम्मवे-
यणा णो कम्मनिज्जरा, से तेणट्ठेणं गोयमा!० जाव न सा
वेयणा, एवं० जाव वेमाणियाणं। से नूणं भंते! जं वेदेंसु तं
निज्जरिंसु, जं निज्जरिंसु तं वेदेंसु?। णो इणट्ठे समट्ठे। से
केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-जं वेदेंसु नो तं निज्जरिंसु, जं
निज्जरिंसु नो तं वेदेंसु?। गोयमा! कम्म वेदेंसु, नो कम्म
निज्जरिंसु, से तेणट्ठेणं गोयमा!० जाव नो तं वेदेंसु। नेरइया
णं भंते! जं वेदेंसु, तं निज्जरिंसु, एवं नेरइया वि। एवं०
जाव वेमाणिया। से नूणं भंते! जं वेदेंति त निज्जरंति, जं
निज्जरंति तं वेदेंति?। णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं एवं
वुच्चइ० जाव नो त वेदेंति?। गोयमा! कम्म वेदेंति, नो कम्म
निज्जरंति, से तेणऽट्ठेणं गोयमा!० जाव नो तं वेदेंति। एवं
नेरइया वि० जाव वेमाणिया। से नूणं भंते! जं वेदिस्संति,
तं निज्जरिस्संति, जं निज्जरिस्संति तं वेदिस्संति?। णो
इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं० जाव णो तं वेदिस्संति?। गोय-
मा! कम्म वेदिस्संति, नो कम्मं निज्जरिस्संति। से तेण-
ट्ठेणं० जाव नो तं निज्जरिस्संति। एवं नेरइया वि०
जाव वेमाणिया। से नूणं भंते! जे वेदणासमए
से निज्जरासमए, जे निज्जरासमए से वेदणासमए?।
णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-
जे वेदणासमए न से निज्जरासमए, जे निज्जरासमए न
से वेदणासमए?। गोयमा! जं समयं वेदेंति नो तं समयं
निज्जरंति,जं समयं निज्जरंति नो तं समयं वेदेंति;अण्णम्मि
समए वेदेंति अण्णम्मि समए निज्जरंति,अण्णे से वेदणासमए
अण्णे से निज्जरासमए,से तेणऽट्ठेणं० जाव न से वेदणास-
मए। नेरइया णं भंते! जे वेदणासमए से निज्जरासमए,
जे निज्जरासमए से वेदणासमए?। णो इणट्ठे समट्ठे।
से केणऽट्ठेणं भंते! एव वुच्चइ-नेरइयाणं जे वेदणासमए
न से निज्जरासमए, जे निज्जरासमए न से वेदणासमए?।
गोयमा! नेरइया णं जं समयं वेदेंति नो तं समयं निज्जर-
ंति,जं समय निज्जरंति नो तं समय वेदेंति,अण्णम्मि समए
वेदेंति अण्णम्मि समए निज्जरंति, अण्णे से वेदणासमए
अण्णे से निज्जरासमए,से तेणट्ठेणं० जाव न से वेदणासमए।
एवं० जाव वेमाणियाणं।

(कम्मवेयण त्ति) उदय प्राप्त कर्म्म वेदना, धर्मधर्मिणोरभेद-
विवक्षणात्। (नो कम्म निज्जर त्ति)। कर्माभावो निर्जरा, त-
स्या एवस्वरूपत्वादिति। (नो कम्म निज्जरिंसु त्ति) वेदितस्य
कर्म्म नो कर्म्म तन्निर्जरितवन्त, कर्मभूतस्य कर्मणो निर्ज-
रणासम्भवादिति। भ० ७ श० ३ उ०। (कियता तपसा कि-
यती निर्जरा भवतीति 'अन्नइलाय' शब्दे प्रथमभागे ४४४ पृ-
ष्ठे द्रष्टव्यम्) (परिणामानुसारेण निर्जरेति 'अइसेस' शब्दे प्र०
भागे २५ पृष्ठे गतम्) (सम्यक्त्व विना निर्जरा नास्तीति व-
क्ष्यते 'सम्मत्त' शब्दे) "गणधारणमगिलाए, कुणमाणे णिज्ज-

रेति कम्माइ । अन्ने य णिज्जराचे,नम्हा तू णिउजरा होति ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे अनुज्ञारूपेऽर्थे पं०भा० । क्रियावादिनामक्रियावादिना च मिथ्यादृशा सकामनिर्जरा भवति,न वा?,यदि सकामनिर्जरा,तर्हि ग्रन्थान्तराणि प्रसाधानीति प्रश्ने, उत्तरम्-क्रियावादिनामक्रियावादिनां च केषाञ्चित्सकामनिर्जराऽपि प्रवर्तीत्यवसीयते, यतोऽकामनिर्जरामुत्कर्षतो व्यन्तरेष्वेव । बालतपस्विनां चरकाऽऽदीनां तु ब्रह्मलोक यावदुपपात प्रथमोपाङ्गाऽऽदावुक्तोऽस्तीति, तदनुसारेण पूर्वोक्तानां सकामनिर्जरेति तत्त्वम् । २४८ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

णिज्जरापेहि [ण्]-निर्जराऽपेक्षिन्-त्रि० । निर्जरण निर्जरा कर्मणामात्यन्तिक क्षय ,तामपेक्षते-कथ ममाऽसौ स्यादित्यभिलपतीति निर्जराऽपेक्षी । उत्त० २ अ० । कर्मक्षयमभीप्सौ, उत्त० २ अ० ।

निर्जराप्रेक्षिन्-त्रि० । निर्जरां प्रेक्षितु शीलमस्येति निर्जराप्रेक्षी । निर्जरातत्त्वज्ञे, " मज्झत्थो णिज्जरापेही, समाहिमणुपालए । " आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

णिज्जरापोग्गल-निर्जरापुद्गल-पु० । निर्जीर्णकर्मदलिके, भ० १८ श० ३ उ० ।

णिज्जराभावणा-निर्जराभावना-स्त्री० । निर्जरातत्त्वपर्यालोचने, (प्रव०) अथ निर्जराभावना-

" ससारहेतुभूतायाः, य क्षय कर्मसततेः ।
निर्जरा सा पुनर्द्वेधा, सकामाकामभेदत ॥ १ ॥
श्रमणेषु सकामा स्या-दकामा शेषजन्तुषु ।
पाक' स्वत उपायाच्च, कर्मणां स्यात् यदाम्रवत् ॥ २ ॥
कर्मणा न क्षयो भूया-दित्याशयवता सताम् ।
वितन्वता तपस्यादि, सकामा शमिना मता ॥ ३ ॥
एकेन्द्रियाऽऽदिजन्तूनां, सज्ञानरहिताऽऽत्मनाम् ।
शीतोष्णवृष्टिदहन-च्छेदभेदाऽऽदिभि' सदा ॥ ४ ॥
कष्ट वेदयमानाना, य शाट कर्मणां भवेत् ।
अकामनिर्जरामेना-मामनन्ति मनीषिण ॥ ५ ॥
तप'प्रभृतिभिर्वृद्धिं, व्रजन्ती निर्जरा यत. ।
ममत्व कर्म ससार, हन्यात्ता भावयेत्तत. ॥ ६ ॥ "
प्रव० ६७ द्वार ।

णिज्जराहेउ-निर्जराहेतु-पुं० । क० म० । कर्मक्षयकारणे, ध० स० । कर्मक्षयजनके, पञ्चा० १२ विव० ।

णिज्जरिज्जमाण-निर्जीयमान-त्रि० । नितरामपुनर्भावेन क्षीयमाणे कर्मपुद्गले, भ० १ श० २ उ० । स्था० ।

णिज्जरिय-निर्जरित-त्रि० । सर्वथा क्षय नीते, त० । " णिज्जरियजरामरण, वन्दित्ता जिणवर महावीर । " वन्दित्वा कायवाग्मनोभि स्तुतिं विधाय जिना रागद्वेषाऽऽदिजयनशीला सामान्यकेवलिन , तेषु तेभ्यो वा वर. प्रधानातिशयापेक्षया श्रेष्ठो जिनवरस्तम् । त० ।

णिज्जवग-निर्यापक-पुं० । निर्यापयति तथा करोति यथा गुर्वपि प्रायश्चित्त शिष्यो निर्वाहयतीति निर्यापक । स्था० ८ ठा० । प्राकृतत्वाद्रूपनिष्पत्ति । ध० २ अधि० । पञ्चा० । असमर्थस्य प्रायश्चित्तिन. प्रायश्चित्तस्य खण्डश करणेन निर्वाहके, भ० २५ श० ७ उ० । स हि तथा प्रायश्चित्त दत्त यथा परो निर्वोढुमल भवतीति । स्था० १० ठा० । नेदानीं निर्यापका सन्तीति । न० । व्य० १ उ० ।

यदप्युक्त निर्यापका व्यवच्छिन्ना इति, तदपि न तथा, कथमिति चेदत आह-निर्यापकं निर्याप्यमाणा । इह द्विविधा निर्यापकास्तथा-आत्मन., परस्य वा । उभयानप्याह-

पादोवगमे इंगिणि, दुविहा खलु होंति आयनिज्जवगा ।
निज्जवगा य परेण उ, भत्तपरिन्नाएँ बोधव्वा ॥

आत्मनिर्यापकाः खलु द्विविधा भवन्ति । तद्यथा-पादपोपगमे, इङ्गिनीमरणे च । परेण पुनर्निर्यापका भक्तपरिज्ञायां बोद्धव्या । व्य० १० उ० । निर्निश्चित यापयति प्रायश्चित्तविधिषु याप्यमालोचक करोति निर्वाहयतीति यावदिति निर्याप , अच् प्रत्यय. । अपराधकारी यथोक्त प्रायश्चित्त कर्तुमसमर्थो यथा यथा निर्वाहयति तथा तथा तदुचितप्रायश्चित्तप्रदानत प्रायश्चित्त कारयति स निर्यापक इति भाव । व्य० १ उ० ।

णिज्जवणा-निर्यापणा-स्त्री० । निराधिक्येन यान्ति प्राणिनः प्राणास्तेषा निर्यनं निर्गच्छना प्रयोजक निर्यापणा । अष्टाविंशगौणहिंसायाम्, प्रश्न०१ आश्र०द्वार । प्रश्नार्थव्याख्यानस्य निगमने, आ०म०१ अ०२ खण्ड । आ०चू० । " ' ' णिज्जवणा, पच्चन्नासो णिगमण ति ।" (२९३२) निर्यापना तु दापनादर्शिनस्यैवार्थस्य प्रत्याभ्यास प्रत्युच्चारण निगमनम् । विशे० । (' णमोक्कार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८३४ पृष्ठे व्याख्यातम्) मीमासितनया निर्दोषत्वेन निश्चयने, व्य० १ उ० । नि० चू० ।

णिज्जाअ-देशी-उपकारे, दे० ना० ४ वर्ग ३४ गाथा ।

णिज्जाण-निर्याण-न० । यान्ति तदिति यानम्, "कृत्यल्युटो बहुलम्" ॥३।३।११३॥ इति (पाणिनि) वचनात्कर्मणि ल्युट् । निरुपम यान निर्याणम् । ईषत्प्राग्भाराऽऽख्ये मोक्षपदे, आव० ४ अ० । ज्ञा० । भावे ल्युट् । ससारात्पलायने, आ० चू० ४ अ० । अनावृत्तिगमने, औ० । आचा० । स्था० । मरणकाले शरीरान्निर्गम, स्था० ३ ठा० ४ उ० । नगरान्निर्गमे, स्था०३ठा०४उ० । पुरस्य निर्गमनमार्गे, सू० प्र० ४ पाहु० । च० प्र० । "रायादियाण णिग्गमट्ठाण णिज्जाणिया,णगरगमे वा ज पिय त णिज्जाणं" । नि०चू०८उ० ।

णिज्जाणकहा-निर्याणकथा-स्त्री० । राजकथाभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० । (व्याख्या 'रायकहा' शब्दे द्रष्टव्या)

णिज्जाणमग्ग-निर्याणमार्ग-पु० । निर्याणस्य मोक्षपदस्य मार्गो निर्याणमार्ग । विशिष्टनिर्याणप्राप्तिकारणे, " इणमेव णिग्गंथ पावयण णिज्जाणमग्ग णिव्वाणमग्ग । " आव० ४ अ० । भ० । ज्ञा० । सिद्धिक्षेत्रगमनोपाये, भ० १ श० ३३ उ० । निर्याणस्य मरणकाले शरीरिण. शरीरान्निर्गमस्य मार्गो निर्याणमार्ग. । पादाऽऽदिके, स्था० ।

पंचविहे जीवस्स णिज्जाणमग्गे पण्णत्ते । तं जहा-पाएहिं, ऊरूहिं, उरेणं, सिरेणं, सव्वंगेहिं । पाएहिं णिज्जाणमाणे निरयगामी भवइ, ऊरूहिं णिज्जाणमाणे तिरियगामी भवइ, उरेणं णिज्जाणमाणे मणुयगामी भवइ, सिरेणं णिज्जाणमाणे देवगामी भवइ सव्वंगेहिं णिज्जाणमाणे सिद्धिगतिपज्ज

व्यर्कं, किन्तु निर्याण मरणकाले शरीरिणः शरीरान्निर्गमः, तस्य मार्गो निर्याणमार्गः पादाऽऽदिकः, तत्र-(पाएहिं) पादाभ्यां मार्गभूताभ्यां कारणताऽऽपन्नाभ्यां जीवः शरीरान्निर्यातीति शेषः। एवमूरुभ्यामित्यादावपि । अथ क्रमेणास्य निर्याणमार्गस्य फलमाह-पादाभ्यां शरीरान्निर्यान् जीवो (निरयगामित्ति) प्राकृतत्वादनुस्वार इति, निरयगामी भवति । एवमन्यत्रापि। सर्वाणि च तान्यङ्गानि च सर्वाङ्गानि, तैर्निर्यान् सिद्धिगतिः पर्यवसानं ससरणपर्यन्तो यस्य स सिद्धिगतिपर्यवसानः प्रज्ञप्त इति। स्था० ५ ठा० ३ उ० । देवानामुत्तरणमार्गस्तु सौधर्मेशानाऽऽदीनां कल्पानां मध्यतः, तत्र सौधर्मेन्द्र स्वकीयात्पालकाद् विमानादुत्तरन्नुत्तरेणोत्तरति, ईशानेन्द्रस्तु स्वविमानात्पुष्पकादुत्तरन् दक्षिणेनोत्तरति। भ० १६ श० २ उ० ।

णिज्जाणियलेण-नैर्याणिकलयन-न० । नगरनिर्गमग्रहे, भ० १३ श० ६ उ० ।

णिज्जाणिया-निर्याणिकी-स्त्री० । निर्याणक्रीडायाम्, नि० चू० ८ उ० ।

णिज्जामग-निर्यामक-पु० । प्रापके, विशे० । कर्णधारे, औ० समुद्रे प्रवहणनेतरि, व्य० ३ उ० । आ० म० । आव० । विशे० । आ० क० । रा० ।

सम्प्रति प्रपञ्चेनार्हतां गुणानुपदर्शयन्नाह-

अमवीएँ देसयत्त, तहेव निज्जामगा समुद्दम्मि ।
छक्कायरक्खणट्ठा, महगोवा तेण वुच्चंति ॥ ९०५९ ॥

आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । आचा० ।('णमोक्कार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८३६ पृष्ठे व्याख्या समुक्ता) उत्तमार्थाऽऽराधकस्य गुणोत्कीर्तनेनोपबृंहके, दर्श० ४ तत्त्व ।

पावेंति जहा पारं, सम्मं निज्जामगा समुद्दस्स ।
भवजलहिस्स जिणिंदा, तहेव जम्हा अतो अरिहा ॥

प्रापयन्ति नयन्ति यथा येन प्रकारेण पारं पर्यन्त, सम्यक् शोभनेन विधिना, निर्यामकाः प्रतीताः समुद्रस्य, तथव भवजलधेरेवसमुद्रस्य, पार जिनेन्द्राः प्रापयन्ति, यस्मादेवमतस्तस्मादर्हा नमस्कारस्य । एष सङ्क्षेपार्थः। पुनरेवम्-" एत्थ णिज्जामगा दुविहा । त जहा-दव्वणिज्जामगा, भावणिज्जामगा य । " (आ० म०)

तत्र यथा जलधौ कालिकावातरहिते अनुकूले गर्जभवाते निपुणनिर्यामकसहिता निश्चिता पोता ईप्सित पत्तन प्राप्नुवन्ति,एवम्-

मिच्छत्तकालियावा-यविरहिएँ सम्मत्तगज्जभवाए * ।
एगसमएण पत्ता, सिद्धिवसहिपट्टणं पोया ॥

मिथ्यात्वमेव कालिकावातो मिथ्यात्वकालिकावात , तेन रहिते भवाम्भोधौ, तथा सम्यक्त्वमेव गर्जभ प्रवातो यत्र स तथा तस्मिन्, एकसमयेन प्राप्ता सिद्धिवसतिपत्तन पोता जीवबोधिस्था , अर्हन्निर्यामकोपकारात् ।

ततो यथा सायान्त्रिक सार्थं प्रसिद्धनिर्यामक चिरगतमपि यात्रासिद्ध्यर्थं पूजयन्ति, एव ग्रन्थकारोऽपि सिद्धिपत्तन प्रस्थितोऽभीष्टयात्रासिद्धये निर्यामकरत्नेभ्यस्तीर्थकृद्भ्यः स्तवचिकीर्षयेदमाह-

निज्जामगरयणाणं, अमूढनाणमइकण्णधाराणं ।
वंदामि विणयपणतो, तिविहेण तिदंमविरयाणं ॥

निर्यामकरत्नेभ्योऽर्हद्भ्यः, अमूढज्ञाना यथावस्थितज्ञानाः, मननं मतिः संवित्, सैव कर्णधारो येषां ते तथाविधाः, तेभ्यो वन्दे विनयप्रणतस्त्रिविधेन त्रिदण्डविरतेभ्यः-" शपाऽऽदिर्मिबहुलम् ॥ (१) " इति चतुर्थी । आ० म० १ अ० २ खण्ड।

* प्रतिकूलवायु कालिकावातः। अपरोत्तरस्या शुद्धविदिग्वातो गर्जभवात ।

णिज्जाय-निर्यात-त्रि० । निश्चयेनापगते, आव० ६ अ० ।

णिज्जायकारण-निर्यातकारण-त्रि० । निश्चयेन यातमपगत कारण प्रयोजन यस्मिन्नसौ निर्यातकारणः। अपगतप्रयोजने, आव० ६ अ० । ज्ञा० ।

णिज्जायमाण-निर्यत्-त्रि० । निर्याणकारके, " पाएहिं णिज्जायमाणे निरयगामी भवइ । " स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

णिज्जायरूवरयय-निर्यातरूपरजत-त्रि० । निर्गतसुवर्णरूप्ये, द्वा० २६ द्वा० । " णिज्जायरूवरयए गिहिजोगपरिवज्जए जे से भिक्खू । " दश० ६ अ० ।

णिज्जास-निर्यास-पु० । स्नेहे,सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । रसे,सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

णिज्जिण्ण-निर्जीर्ण-त्रि० । क्षीणे, भ० १ श० १ उ० । क्षीणरसीकृते, भ० १२ श० ४ उ० ।

णिज्जियसत्तु-निर्जितशत्रु-त्रि० । पराजितशत्रौ, रा० । सूत्र० ।

णिज्जियसत्तुसेण-निर्जितशत्रुसेन-त्रि० । स्ववशीकृतविपक्षनृपतिसैन्ये, चू० १ उ० ।

णिज्जीव-निर्जीव-न० । निर्जीवकरणे, हेमाऽऽदिधातुमारणे,रसेन्द्रस्य मूर्च्छाप्रापणे च । एतच्च एकसप्ततितमा कला । जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । औ० । स० ।

णिज्जुत्त-निर्युक्त-त्रि० खचिते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। औ०। निश्चयेनाऽऽधिक्येन साधु वा आदौ वा युक्ता सम्बद्धा निर्युक्ताः।निर्युक्तिव्यवस्थापितेषु, आ० म० १ अ० १ खण्ड । निश्चयेन प्ररूपिते, आ० म २ अ० ।

णिज्जुत्ति-निर्युक्ति-स्त्री० । निर्युक्तानामेव सूत्रेऽर्थानां युक्तिः परिपाट्या योजनम्, निर्युक्तयुक्तिरितिवाच्ये युक्तशब्दलोपान्निर्युक्ति । दश०१ अ० । स० । ओघ० । निश्चयेनार्थप्रतिपादिका युक्तिर्निर्युक्ति । आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ० सूत्र० । भद्रबाहुस्वामिकृते व्याख्यानग्रन्थे, विशे० । व्याख्योपायभूते सत्पदप्ररूपणताऽऽदौ, अनु० ।

साम्प्रत निर्युक्तिस्वरूपाभिधानार्थमाह-

निज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ निज्जुत्ती ।
तह वि य इच्छावेइ, विभासिउं सुत्तपरिवामी ॥१०८५॥

यद्यस्मात्सूत्रे निश्चयेनाऽऽधिक्येन साधु वा आदौ वा युक्ता सम्बद्धा निर्युक्ता एव सन्तस्ते श्रुताभिधेया जीवाजीवाऽऽदयोऽर्था अनया प्रस्तुतनिर्युक्त्या बद्धा व्यवस्थापिताः व्याख्याता इति यावत् । तेनेय भवति निर्युक्ति । निर्युक्तानां सूत्रे प्रथममेव सम्बद्धाना सतामर्थाना व्याख्यारूपा युक्तियोजन निर्युक्तयुक्तिरिति

प्राप्ते शाकपार्थिवाऽऽदिदर्शनाद् युक्तलक्षणस्य पदस्य लोपान्नि-र्युक्तिरिति भवति । ननु यदि प्रथममेव सूत्रेऽर्थाः सबद्धा एव सन्ति, तर्हि किमिति ते निर्युक्तया व्याख्यायन्ते, संबद्धानां स्वयमेव विनेयवर्गेणावबुध्यमानत्वात् ? । तत आह-(तह वि येत्यादि) यद्यपि सूत्रे सवद्धा एवार्थाः सन्ति, तथाऽपि तान् सूत्रे निर्युक्तानपि अर्थान्, विभाषितु व्याख्यातु, सूत्रपरिपाटी सूत्रपद्धति, एषयतीव एषयति प्रयोजयति । इयमत्र भावना-अप्रतिबुध्यमाने श्रोतरि गुरु तदनुग्रहार्थं सूत्रपरिपाट्येव विभाषितुमेषयति-"इच्छत इच्छत मां प्रतिपादयितुम्" इतीत्थं प्रयोजयतीवेति । क्वचित् सूत्रपरिपाटीमिति पाठ । तत्रैव व्याख्या-शिष्य एव सूत्रपरिपाटीमनवबुध्यमानो गुरुमिच्छायां प्रवर्त्तयति-" इच्छत इच्छन मम विभाषितु व्याख्यातु सूत्रपरिपाटीम " इति । व्याख्या च निर्युक्तिरत. पुनर्योजनरूपा निर्युक्तिरित्थमदोषायेति । आ० म० १ अ० १ खराड ।

विस्तरतो व्याख्यातु भाष्यकारः प्राऽऽह—

जं निच्छयाऽऽइजुत्ता, सुत्ते अत्था इमीएँ वक्खाया ।
तेणेयं णिज्जुत्ती, णिज्जुत्तत्थाऽभिहाणाओ ॥१०८६॥

यद्यस्मात्सूत्रे निश्चयेनाऽऽदिशब्दादाधिक्येन, आदौ साधु वा युक्ता सबद्धा निर्युक्ता एव सन्तोऽर्था अनया निर्युक्त्या व्याख्याता, तेन तस्मात्कारणादियं निर्युक्तार्थाऽभिधानान्निर्युक्तानां युक्तिर्युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिर्भवति ॥ १०८६ ॥

अथ प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

सुत्ते निज्जुत्ताणं, निज्जुत्तीए पुणो किमत्थाणं ।
निज्जुत्ते वि न सव्वे, कोइ अवक्खाणिए मुणइ ॥१०८७॥

ननु सूत्र एव निर्युक्ताना निबद्धाना सतामर्थाना तद्व्याख्यानार्थं क्रियमाणया निर्युक्त्या किं पुन कार्यम् ?, न किञ्चिदित्यर्थ । ये हि सूत्रे एव विद्यमानार्था सन्ति, तान्स्वत एव विनेयवर्गो ज्ञास्यति, अतस्तद्विभाषणप्रवृत्ता वृथैव निर्युक्तिरिति भाव । अत्रोत्तरम्-(निज्जुत्ते वीत्यादि) सूत्रे निर्युक्तानपि सत सर्वानप्यर्थान् कोऽपि तथाविधप्रज्ञापाटवरहित शिष्यो निर्युक्त्याऽव्याख्यातान्न मुणति नाऽवबुध्यत इति ॥ १०८७ ॥

तत किम् ?, इत्याह-

तो सुयपरिवाडि च्चिय, इच्छावेइ तमणिच्छमाणं पि ।
निज्जुत्ते वि तदत्थे, वोत्तुं तदणुग्गहट्ठाए ॥ १०८८ ॥

तत श्रुतपरिपाट्येव सूत्रपद्धतिरेव विभाषितुमनिच्छन्तमपि त निर्युक्तिकर्त्तारमाचार्य तस्य सूत्रस्यार्थास्तदर्थान् सूत्रे निर्युक्तानप्यनवबुद्ध्यमाने श्रोतरि तदनुग्रहार्थं तान् वक्तुमेषयतीव एषयति प्रयोजयति, अतस्तानाचार्यो निर्युक्त्या विभाषते, इति तस्या साफल्यमिति ॥ १०८८ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह-

फलयालिहियं पि मंखो, पढइ पभासइ तहा कराऽऽईहिं ।
दाएइ य पइवत्थुं, सुहबोहत्थं तह इहं पि ॥१०८९॥

यथा मङ्ख फलके नानाप्रकार लिखितमपि वस्तु प्रथम पठति, अर्थतश्च प्रभाषते-व्याचष्टे, शलाकाऽङ्गुल्यादिना च पालगोपालाङ्गनाऽऽदिसुखप्रबोधनार्थं प्रतिवस्त्वपरजन्माऽऽचीर्णकर्मविपाकाऽऽदिक दर्शयति । यथा-अन्यजन्म यनया मर्त्ता सादिकया पञ्चिनहतेनाहता इत्यो मातङ्गकुलजन्माऽऽदिको विपाक, अनया च नर्त्तमेन प्राघूर्णके समायाते सुग्रनाटको दत्त आसी-

द्, अनया तु सत्यपि विभवे भिक्षाचरेष्वागच्छत्सु सदैव नास्ति नास्तीत्यावेद्योद्घुष्ट, तेनेदृश ईदृशश्च दु खविपाको जात इत्यादि । तथाऽत्रापि श्रोतृवैचित्र्यं पश्यन् सर्वानुग्रहप्रवणबुद्धिराचार्य. सूत्रे निर्युक्तानप्यर्थान्निर्युक्त्या विभाषते इति ॥ १०८९ ॥

अथवा-निर्युक्तिगाथोत्तरार्द्धमन्यथा व्याख्यायते ।

कथम् ?, इत्याह-

अहवा सुयपरिवाडी, सुअओवएसोऽयमेव जदवस्सं ।
सोयव्वं निस्संकिय-सुयविणयत्थं सुबोहं पि ॥१०९०॥

अथवा-श्रुतपरिपाटी श्रुतस्य विधि श्रुतस्योपदेशोऽयमेव यदवश्य सुबोधमपि श्रुत नि शङ्कितत्वहेतोर्विनयोपचारार्थं च मुमुक्षुभिः श्रोतव्यम् । अत्र एवंभूता सूत्रपरिपाटी यद्यपि सूत्रे निर्युक्ता एवार्था सन्ति, तथाऽपि विभाषितु व्याख्यानयितुमेषयति प्रयोजयतीत्येषोऽत्र भावार्थ. स्वयमेवावगन्तव्य इति ॥ १०९० ॥

"सूत्रपरिपाटीम्" इति पाठान्तर क्वचित् । तत्राऽऽह-

इच्छइ विभासिउं मे, सुयपरिवाडिं न सुट्ठु बुज्झामि ।
नातिमई वा सीसो, गुरुमिच्छावेइ वोत्तु जे ॥१०९१॥

'वा' इत्यथवा, नातिशयेन मतिर्यस्यासौ नातिमतिर्मन्दमति शिष्यो गुरुमाचार्यम् (इच्छावेइ त्ति) एषयति प्रयोजयति वक्तुम्, 'जे' इत्यलङ्कारार्थ. । कथ वक्तुमेषयति ?, इत्याह-(इच्छह विभासिउ मे त्ति) इच्छत इच्छत विभाषितु मम श्रुतपरिपाटीं सूत्रपद्धतिं, नाहमेनां सुष्ठु बुद्धे-प्रथममेव निर्युक्तत्वेन सतोऽप्येतदभिधेयानर्थान्मन्दमतित्वाद् भवद्भिरव्याख्यातान्नाह सम्यगवगच्छामीत्यर्थ । अथ वा-प्रक्रमादेवेह निर्युक्ति प्रयोक्त्री विवक्ष्यते, ततश्चेत्थमक्षरयोजना--यद्यपि सूत्रे निर्युक्तत्वेन सन्त एवार्थास्तथाऽपि तानप्रतिबुद्ध्यमान श्रोता यदैव वक्ति-नातिमतिर्मन्दमतिरह सदर्थामपि सूत्रपरिपाटीं सुष्ठु न बुध्ये सम्यग् नावगच्छामि, अत इच्छतेच्छत प्रभो ! एना मम विभाषितुमिति । तदित्थ वदति तस्मिन् श्रोतरि निर्युक्तिरेव गुरुं सूत्रपरिपाटीं वक्तुमेषयति प्रयोजयति-इच्छेच्छतास्मै महानुभावायैता विभाषितुम् । ततो निर्युक्तिद्वारेणैव तस्य शिष्यस्य गुरुस्तां विभाषत इति । 'तहेव निज्जुत्ता ते अत्था' इत्यादिप्राक्तननिर्युक्तिगाथा व्याख्याता ॥ १०९१ ॥ विशे० । न० । आव० । औ० । आचा० ।

णिज्जुत्तिअणुगम-निर्युक्त्यनुगम-पु० । निर्युक्तिर्नामस्थापनाऽऽदिप्रकारैः सूत्रविभजनेत्यर्थं, तद्रूपोऽनुगमस्तस्या वाऽनुगमो व्याख्यान निर्युक्त्यनुगम. । अनुगमभेदे, (अनु०)

स च त्रिविध -

से किं तं णिज्जुत्तिअणुगमे ?। णिज्जुत्तिअणुगमे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-निक्खेवनिज्जुत्तिअणुगमे, उवग्घायनिज्जुत्तिअणुगमे, सुत्तफासियनिज्जुत्तिअणुगमे ।

निक्षेपो नामस्थापनाऽऽदिभेदभिन्न, तस्य तद्विषया वा निर्युक्ति पूर्वोक्तस्वरूपा निक्षेपनिर्युक्ति, तस्या वाऽनुगमो निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम । तथा उपोद्घातेन व्याख्येयस्य सूत्रस्य व्याख्या विधिसमीपीकरणमुपोद्घातनिर्युक्ति, तद्रूपस्तस्या वा अनुगम उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम । तथा सूत्र स्पृशतीति

सूत्रस्पर्शिका, सा चासौ निर्युक्तिः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः । सूत्रनिक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतो वक्ष्यते च । इदमुक्तं भवति-अत्रैव प्रागावश्यकसामायिकाऽऽदिपदानां नामस्थापनाऽऽदिनिक्षेपद्वारेण यद्व्याख्यानं कृतं, तेन निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतः प्रोक्तो द्रष्टव्यः । अनु० । उत्त० । आ० म० । सघा० । विशे० ।

एतदेव निर्युक्तित्रैविध्यं भाष्यकारोऽप्याह-

निज्जुत्ती तिविगप्पा, नासो-वग्घायसुत्तवक्खाणं ।
णिक्खेवस्साणुगया, उद्देसाऽऽईहुवग्घाओ ॥९७२॥

निर्युक्तिस्त्रिविकल्पा त्रिभेदा । कथम् ?, इत्याह-(नासोवग्घायसुत्तवक्खाण त्ति) न्यासो नामाऽऽदिनिक्षेपः, उपोद्घातः शास्त्रोत्पत्तिः, सूत्रं प्रतीतम्, तेषां व्याख्यानम्-निक्षेपनिर्युक्तिः, उपोद्घातनिर्युक्तिः, सूत्रस्पर्शिका निर्युक्तिश्चेत्यर्थः । तत्र निक्षेपनिर्युक्तिरनुगता अनुक्रान्ता-पूर्वमेवोक्तेति यावदिति, अत्रैव प्रागावश्यकसामायिकाऽऽदिपदानां नामस्थापनाऽऽदिनिक्षेपद्वारेण यद् व्याख्यानं कृतं, तेन निक्षेपनिर्युक्तिरनुगता प्रोक्ता, द्रष्टव्येत्यर्थः । उपोद्घातनिर्युक्तिस्तूद्देशनिर्देशाऽऽदिभिर्द्वारैरवगन्तव्येति ॥९७२॥

तान्येवोद्देशाऽऽदीनि द्वाराण्याह-

उद्देसे निद्देसे, य निग्गमे खेत्त काल पुरिसे य ।
कारण पच्चय लक्खण, नए समोयारणाऽणुमए ॥९७३॥
किं कइविह कस्स कहिं, केसु कहं केच्चिरं हवइ कालं ।
कइ संतरमविरहियं, भवाऽऽगरिसफोसणनिरुत्ती ॥९७४॥

इदं गाथाद्वयमपि पुरस्ताद्विस्तरेण व्याख्यास्यते ॥ ९७३ ॥ ॥ ९७४ ॥ विशे० ।

श्रुतज्ञाने सर्वा निर्युक्तीः संगृह्याऽऽह-

ते वंदिऊण सिरसा, अत्थपुहुत्तस्स तेहिँ कहियस्स ।
सुयनाणस्स भगवओ, णिज्जुत्तिं कित्तयिस्सामि ॥१०९॥

तान् अनन्तरोक्तान् तीर्थकराऽऽदीन्, शिरसा, उपलक्षणत्वाद् मनःकायाभ्यां च, वन्दित्वा, किम् ?, निर्युक्तिं कीर्तयिष्यामि, कस्य ?, अर्थपृथक्त्वस्य, अर्थात्कथञ्चिद्भिन्नत्वात् सूत्रं पृथक् उच्यते, प्राकृतत्वाच्च पृथगेव पृथक्त्वम्, अर्थस्तु सूत्राभिधेयः प्रतीत एव, अर्थश्च पृथक्त्वं चार्थपृथक्त्वम्, समाहारो द्वन्द्वः, तस्य, श्रुतज्ञानविशेषणमेतत्, सूत्रार्थोभयरूपस्येत्यर्थः । तैस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिः, कथितस्य प्रतिपादितस्य, कस्य ?, इत्याह-श्रुतज्ञानस्य भगवतः, स्वरूपाऽभिधानमेतत् । सूत्रार्थयोः परस्परं नियोजनं सम्बन्धनं निर्युक्तिः, ताम्, कीर्तयिष्यामि प्रतिपादयिष्यामि ।

ननु किमशेषश्रुतज्ञानस्य ?, न, किन्तु श्रुतविशेषाणामावश्यकाऽऽदीनाम् । अत आह-

आवस्सयस्स दसका-लियस्स तह उत्तरज्झमायारे ।
सूयगडे निज्जुत्तिं, वोच्छामि तहा दसाणं च ॥१०७४॥
कप्पस्स य णिज्जुत्तिं, ववहारस्स य परमनिउणस्स ।
सूरियपण्णत्तीए, वोच्छं इसिभासियाणं च ॥१०७५॥
एएसिं निज्जुत्तिं, वोच्छामि अहं जिणोवएसेणं ।
आहरणहेउकारण-पयनिवहमिणं समासेणं ॥१०७६॥

आवश्यकस्य, दशवैकालिकस्य, तथा-भामा सत्यभामेत्यादाविव पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्-" उत्तरज्झ " इति । उत्तराध्ययनग्रहणम् । ततोऽयमर्थः -उत्तराध्ययनाऽऽचारयोः । तथा-सूत्रकृते-सूत्रकृताङ्गविषयां निर्युक्तिं वक्ष्ये । तथा-दशानां च दशाश्रुतस्कन्धस्य । तथा-कल्पस्य । तथा-व्यवहारस्य च परमनिपुणस्य । अत्र परमग्रहणं मोक्षाङ्गत्वात्, निपुणग्रहणं त्वव्यसकत्वात् । न खल्वयं व्यवहारो मन्वादिप्रणीतव्यवहार इव व्यसकः, "सच्चपइण्णा खु ववहारा । " इति वचनात् । तथा सूर्यप्रज्ञप्तेर्वक्ष्ये । तथा-ऋषिभाषितानां च देवेन्द्रस्तवाऽऽदीनाम् । अनेकशः क्रियाऽभिधानं शास्त्रान्तरविषयत्वात् समासव्यासरूपत्वाच्च शास्त्राऽऽरम्भस्येत्यदुष्टम् । एतेषां श्रुतविशेषाणां, निर्युक्तिं वक्ष्याम्यहं जिनोपदेशेन, न तु स्वमनीषिकया । कथंभूताम् ?, इत्याह-आहरणहेतुकारणपदनिवहाम्, इमामन्तस्तत्त्वनिष्पन्नां, समासेन सङ्क्षेपेण । तत्र साध्यस्यान्वयव्यतिरेकप्रदर्शनमाहरणम्, दृष्टान्त इति भावः । साध्ये सत्येव भवति, साध्याभावे च न भवत्येव साध्यधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणो हेतुः । हेतुमुल्लङ्घ्य प्रथमं दृष्टान्ताभिधानं न्यायप्रदर्शनार्थम्, क्वचिद्धेतुमनभिधाय दृष्टान्त एवोच्यते । यथा-गतिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भको धर्मास्तिकायो, मत्स्याऽऽदीनां सलिलमिव । तथा क्वचिद्धेतुरेव केवलोऽभिधीयते, न दृष्टान्तः, यथा-मदीयोऽयमश्वो, विशिष्टचिह्नोपलब्ध्यन्यथाऽनुपपत्तेः । तथा च निर्युक्तिकारेणाप्यधायि-"जिणवयणं सिद्धं चिय, भण्णइ कत्थइ उदाहरणं । आसज्ज उ सोयारं, हेऊ वि कहाचि भण्णेज्जा ॥१॥" इति । कारणमुपपत्तिमात्रम्, यथा निरुपमसुखः सिद्धः, ज्ञानानाबाधकप्रकर्षात् । नात्राविद्वदङ्गनाऽऽदिलोके प्रतीतः साध्यसाधनधर्मानुगतो दृष्टान्तोऽस्ति । आहरणं च हेतुश्च कारणं च आहरणहेतुकारणानि, तेषां पदान्याहरणहेतुकारणपदानि, तेषां निवहः सङ्घातो यस्यां निर्युक्तौ सा तथाविधा, ताम् ॥१०७४॥१०७५॥१०७६॥ आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिज्जुत्तिगार-निर्युक्तिकार-पुं० । चतुर्दशपूर्वधरे श्रीभद्रबाहौ, तेन हि सर्वा निर्युक्तयः कृताः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । निर्युक्तिकारिणः पूर्वधरा भवन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-निर्युक्तिकारिणश्चतुर्दशपूर्वविदो भवन्तीति ज्ञायत इति । ११५ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

णिज्जूढ-निर्यूढ-त्रि० । निष्काशिते, व्य० २ उ० । " णिज्जूढपदुट्ठा सा भणेइ । " सा निर्यूढा निष्काशिता सती साधूनामुपरि प्रद्वेषं यायात् । बृ० ३ उ० । पूर्वगतादुद्धृत्य विरचिते, दश० १ अ० । प० व० " सत्तेकगाइँ सत्त वि, णिज्जूढाइँ महापरिण्णाओ । " आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । उज्झितप्राये, बृ० १ उ० ।

णिज्जूह-निर्यूह-पुं० । गवाक्षे, व्य० १ उ० । नीव्रे, दे० ना० ४ वर्ग २८ गाथा ।

णिज्जूहग-निर्यूहक-त्रि० । पूर्वगतोद्धृतार्थविरचनाकर्तरि, दश० १ अ० । द्वारोपरितनपूर्वविनिर्गतदारुणि, न० । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिज्जूहगय-निर्यूहगत-त्रि० । गवाक्षगते, व्य० १ उ० ।

णिज्जूहणा-निर्यूहणा-स्त्री० । निष्काशनायां, कर्मशत्रूणामात्मनगरान्निर्वासनायाम्, " महव्वयउच्चारणं णिज्जूहणा । " पा० । गच्छात् सङ्घाद् वा निष्काशनायाम्, व्य० १ उ० ।

तिलतुसतिभागमित्तो, वि जस्स असुभो न विज्जए भावो ।
निज्जूहणाऽरिहो सो, सेसे णिज्जूहणा नऽत्थि ॥ व्य० १ उ० ।

यस्य गच्छान्निर्यूढस्य तिलतुषविभागमात्रोऽपि निर्यूढोऽहमित्यशुभो भावो न विद्यते, स निर्यूहणाया अर्हो योग्य'। शेषस्य एतद्गुणविकलस्य निर्यूहणा,नास्ति न कर्त्तव्येत्यर्थः। बृ०१ उ०।

णिज्जूहित्तए-निर्यूहितुम्-अव्य०। अपाकर्तुमित्यर्थे, व्य०। अधुना-"णिज्जूहित्तए" इति व्याचिख्यासुराह-निर्यूहणा नाम वैयावृत्त्यस्याकरण,यदि वा वसतौ दोषाभावे यत्स्थान न ददाति एषा निर्यूहणा। वैयावृत्त्याकरणाऽऽदिना यत्तस्य तपोऽकरण सा निर्यूहणेति भाव'। व्य० २ उ०। (ग्लानपाराञ्चिताऽऽदीनां निर्यूहणा स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) परित्यागे, स्था० ४ ठा० २ उ०।

णिज्जूहियव्व-निर्यूहितव्य-त्रि०। ताम्बूलिकपत्रदृष्टान्तेन सग्धाद् बहि' कर्तव्ये, कल्प० ६ क्षण।

णिज्जोअ-देशी-प्रकरे, दे० ना० ४ वर्ग ३३ गाथा।

णिज्जोग-निर्योग-पु०। परिकरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। यथा पात्रनिर्योग। बृ० ३ उ०।

णिज्जोमी-देशी-रश्मौ, दे० ना० ४ वर्ग ३१ गाथा।

णिज्झर-क्षि-धा०। क्षये, " क्षेर्णिज्झरो वा ॥ ८ । ४ । २० ॥ इति क्षयतेर्णिज्झराऽऽदेशो वा। ' णिज्झरइ, ' पक्षे-' झिज्जइ। ' प्रा० ४ पाद।

निर्झर-पु०। न०। रलोप। " द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्व' " ॥ ८ । २ । ९० ॥ इति झकारोपरि जकार। प्रा० २ पाद। उदकस्य स्रवणे, भ० ५ श० ७ उ०। स्यन्दने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्रोताऽऽदिविवरेषु, अनु०। जीर्णे, दे०ना० ४ वर्ग २६ गाथा।

णिज्झाअ-देशी-निर्दये, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा।

णिज्झाएत्ता-निध्याय-अव्य०। निपूर्वो ध्या दर्शनार्थः। नि-निर् वा ध्यात्वा। " ध्यागोर्झागौ " ॥ ८।४।६॥ इति ध्या इत्यस्य झा ऽऽदेश। दृष्ट्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद। प्रलोक्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। निश्चयेन ध्यात्वा चिन्तयित्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०।

निध्यातृ-त्रि०। दर्शनानन्तरमतिशयेन चिन्तयति, त्रि०। स्था० ९ ठा०।

णिज्झाएमाण-निध्यायत्-त्रि०। पश्यति, प्रेक्षमाणे, "आलोएमाणे णिज्झाएमाणे।" आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ०।

णिज्झोम-छिद्-धा०। फलाऽऽदीनां शुकाऽऽदेरिव विश्लेषणे, "णिज्झोमइ।" पक्षे-छिन्दइ, छिनत्ति। प्रा० ४ पाद।

णिज्झोसइत्ता-निर्झोषयितृ-त्रि०। पूर्वोपचितकर्मणां क्षपके, आचा०। "णिज्झोसइत्ता का अरती,के आणंदे?।"पूर्वोपचितकर्मणां निर्झोषयिता क्षपक ,क्षपयिष्यति वा,तृजन्तमेतल्लुडन्त वा। कर्मक्षपणायोद्यतस्य च धर्मध्यायिन. शुक्लध्यायिनो वा महायोगीश्वरस्य निरस्तसंसारसुखस्य सविकल्पाऽऽभासस्य यत्स्यात्तद्दर्शयति-"का अरई के आणंदे?।" इष्टाप्राप्तिविनाशोत्थो मानसो विकारो रति, अभिलषितार्थावाप्तावानन्द'। योगिचित्तस्य तु धर्मशुक्लध्यानावेशावष्टब्ध स्येयान्तरावकाशस्यारत्यानन्दयोरुपादानकारणाभावादनुत्थानमेवेत्यतोऽपदिश्यते-केयमरतिर्नाम?,को वाऽऽनन्द इति?, नास्त्येवेतरजनलुभोऽय विकल्प इति। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

णिट्टंक-देशी-टङ्कच्छिन्ने,विषमे च। दे० ना० ४ वर्ग ५० गाथा।

णिट्टंकिय-निष्टङ्कित-त्रि०। निर्धारिते,प्रश्न० ३२ अष्ट०।सा०।

निष्टङ्कित प्रायश्चित्तम्-

तत्थ णं जेसु ठाणेसु जत्थ जत्थ जावइयं पच्छित्तं तमेव निट्टंकियं भण्णइ। से भयवं! केणमट्ठेणं भण्णइ-जहा णं तमेव निट्टंकियं भवइ?। गोयमा! अणंतराणंतरकमेणं इमे पच्छित्तसुत्ता-अणेगे भव्वसत्ता चउगइसंसारचारगाओ बद्धपुट्ठणिकाइयदुब्भिमोक्खघोर[पारद्ध]पावकम्मनिगमाइ सचुण्णिऊण अचिरा विमुच्चिहिंति, इह अहिगारो विहाणं च गोयमा! विहग इयापरिवुड्ढो वज्जेत्ता नाणदंसणचरित्ताणासगा घोरपरीसहोवसग्गाइं च जिणंतो उग्गाभिग्गहपडिमाए रागदोसेहिं दूरतो विमुक्को रोद्दऽट्टज्झाणविवज्जिओ य विगहासु य असतो जो चंदणेण बाहुं आलिंपइ वासिणावज्झो तत्थतथो संथुणइ, जो य निंदइ, समभावो होज्ज दुण्हं पि, एव अणिगूहियबलविरियपुरिसक्कारपरक्कमे समतणमणिलेट्ठुकंचणो वेक्को परिच्चत्तकलत्तणाओ पच्छित्तसुय अणेगसुयं अणेगगुणगणाइक्कस्स दढव्वयच (प) रित्तस्स एगंतेणं जोगस्सेव विवज्जिवए पएसे चउकन्नं पन्नवेयव्वं,णो छकन्नं पन्नवेयव्वं,तहा य जस्स जावइएण पायच्छित्तेणं परमविसोही भवेज्जा,तं तस्स णं अणुयत्तणाविरहिएणं धम्मेक्करसिएहिं वयणेहिं जहट्ठियं अणूणाहियं,तावइयं चेव पायच्छित्तं पयच्छेज्जा,एएणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ-जहा णं गोयमा! तमेव निट्टंकियं पायच्छित्तं भन्नइ। महा० ७ अ०।

णिट्ठवणिया-निष्ठापनिका-स्त्री०। परिसमाप्तिकारिकायाम्, यथा पक्षस्य पञ्चदशी, अमावस्या च। ज्यो० ४ पाहु०।

णिट्ठवय-निष्ठापक-पु०। समाप्तिकारके दिवसे, आव० ६ अ०।

णिट्ठविंसु-निष्ठापितवत्-त्रि०। निष्ठां नीतवति, भ०२१ श०१उ०।

णिट्ठविय-निष्ठापित-त्रि०। समाप्तिमिते, प० व० २ द्वार।

णिट्ठवियअट्ठमयट्ठाण-निष्ठापिताष्टमदस्थान-त्रि०। निष्ठापितानि क्षय नीतानि अष्टौ मदस्थानानि मानभेदा.-जातिकुलरूपबललाभश्रुततपोविभवमदाख्या येनासौ निष्ठापिताष्टमदस्थान। क्षीणमदे, ग० १ अधि०।

णिट्ठा-निष्ठा-स्त्री०। पर्यवसाने, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। समापने, आव० ४ अ०। सारे सद्भावे, आ० चू० १ अ०। " एवाणि दव्वाणि णिट्ठं पत्ताणि कम्मसिद्धो। " आ० चू० १ अ०।

णिट्ठाण-निष्ठान-न०। निष्पत्तौ,नि० चू०१ उ०। निष्ठीयतेऽत्र। स्था-ल्युट्। तक्राऽऽद्यन्नोपसेचने दध्यादौ व्यञ्जने, सर्वगुणोपेते, दश० ' अ०। वाच०।

णिट्ठाणकहा-निष्ठानकथा-स्त्री०। विकथाभेदे,स्था० ४ ठा०२ उ०। (व्याख्या 'भत्तकहा' शब्दे वक्ष्यते)

णिट्ठाभासि [ण्]-निष्ठाभाषिन्-त्रि०। सावधारणभाषिणि, आचा० १ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ०। निशम्य भाषिणि, आचा० २श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ०।

णिट्ठिक-नैष्ठिक-त्रि० । सर्वधर्मप्रकर्षपर्यन्तवर्तिनि, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार ।

णिट्ठिय-निष्ठित-त्रि० । निष्ठां गते कृतस्वकार्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । मोक्षे, परिसमाप्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । व्य० । नि:सत्ताके, भ० ६ श० १ उ० । क्षय गते, ध० ३ अधि० । कालगते, सू० २ उ० । आ० म० । सिद्धे अशनाऽऽदौ, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ए उ० ।

निष्ठितशब्दार्थमाह-

असणाऽऽईण चउण्ह वि,आमं जं साहुगहणपाउग्गं ।
तं निट्ठियं वियाणसु, ... ॥

अशनाऽऽदीनां चतुर्णामपि मध्ये यदाममपरिणत सत् साधुग्रहणप्रायोग्य कृत, प्रासुकीकृतमित्यर्थ , त निष्ठित विजानीत । पिं० ।

णिट्ठियट्ठ-निष्ठितार्थ-त्रि० । विषयसुखनिष्पिपासे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । निष्ठित समापितोऽर्थ: प्रयोजन यस्य स निष्ठितार्थ । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । कृतकृत्ये, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । प्रज्ञा० । आ० म० ।

णिट्ठियट्ठि [ण्]-निष्ठितार्थिन्-त्रि० । निष्ठितो मोक्षस्तेनार्थी मुमुक्षौ, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

णिट्ठुअ-क्षर्-धा० । सञ्चाले, "क्षरे: खिरज्झरपज्झरपच्चडणिच्चलणिट्टुआ: " ॥ ८ । ४ । १७३ ॥ इति क्षरेर्णिट्टुआऽऽदेश: । 'णिट्टुअइ,' क्षरति । प्रा० ४ पाद ।

णिट्ठुर-निष्ठुर-त्रि० । नि-स्था-उरच् । "क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स≍क≍पामूर्ध्वं लुक् " ॥ ८ । २ । ७७ ॥ इति षलुक् । प्रा० २ पाद । मार्दवाननुगते, ग० १ अधि० । प्रस्तरे, ग० २ अधि० । यथा हेक्काप्रधाना भाषा निष्ठुरा, अशक्यप्रतीकारतया दुर्भेद्या भाषा निष्ठुरा । रा० । आचा० ।

णिट्ठुल-निष्ठुर-त्रि० । " हरिद्राऽऽदौ ल: " ॥ ८ । १ । २५४ ॥ इति रस्य ल: । अमृदुनि, प्रा० १ पाद ।

णिट्ठुवण-निष्ठीवन-न० । नासिकामुखेन परित्यागे, दर्श० १ तत्त्व । कासितश्लेष्माऽऽदिप्रक्षेपणे, दशा० २ अ० । " निट्ठुवणाइ त्ति " निष्ठीवनाऽऽदौ इह साधवो द्विधा-गच्छगता, गच्छनिर्गताश्च । तत्र ये गच्छनिर्गतास्ते नियमादनिष्ठीवका:, औपग्रहिकमल्लकाऽऽद्युपकरणासम्भवात् । गच्छगता अपि ये विधिना निष्ठीव्यन्ति ते अनिष्ठीवका एव, न प्रायश्चित्तविषया: । अविधिना खेलमल्लके निष्ठीवने दण्डक इव सप्तभङ्गा , दण्डक इवैव चाऽऽद्येषु प्रत्येक लघुमास: उत्तरेषु त्रिषु प्रत्येक रात्रिंदिवपञ्चकम्, सप्तमभङ्गवर्तिनस्त्वनिष्ठीवका एव, विधिना निष्ठीवनात् । उपरितनेष्वपि च त्रिषु भङ्गेषु यदि भूमौ निष्ठीव्यति, तदा मासलघु । यत्र निष्ठीवने प्राणिना परितापनाऽऽद्युपजायते तन्निष्पन्न च तस्य प्रायश्चित्तम् । आदिशब्दात्कण्डूयनपरिग्रह । कण्डूयनेऽपि हि दण्डक इव सप्तभङ्गकम्, तथैव च प्रायश्चित्तविधि । व्य० १ उ० । निष्ठीवनकर्तरि, स्था० ५ ठा० १ उ० । विशे० ।

णिट्ठुहिअ-देशी-थूत्कृते, दे० ना० ४ वर्ग ४१ गाथा ।

णिट्ठूह-देशी-स्तब्धे, दे० ना० ४ वर्ग ३३ गाथा ।

णिम-देशी- पिशाचे, दे० ना० ४ वर्ग २५ गाथा ।

णिडाल-ललाट-न० । " पक्काङ्गारललाटे वा " ॥ ८ । १ । ४७ ॥ इत्यादेरत इत्व वा । "ललाटे च" ॥ ८ । १ । २५७ ॥ इत्यादेर्लस्य ण । 'णिडाल' । प्रा० १ पाद । भाले,त० । उत्त० । मलीके, जी० ३ प्रति० ४ उ० । जं० ।

णिणाय-निनाद-पुं० । नितरां नादो महान् घोष: । जी०, ३ प्रति० ४ उ० । महति घोषे, कल्प० ५ क्षण । ज्ञा० । निर्घोषे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । प्रतिध्वनौ, ज० ३ वक्ष० । प्रश्न० ।

णिण्ण-निम्न-त्रि० । " म्नज्ञोर्ण: " ॥ ८ । २ । ४२ ॥ इति म्नभागस्य ण: । नीचे,प्रा० २ पाद । "णिण्णेसु य आससा पया ।" नीचभूमिभागे, उत्त० १२ अ० । शुष्कसर प्रभृतौ,प्र० १५ श० ।

णिण्णक्खु-त्रि० । निस्सारयतीत्यर्थे, "बहिहा वा णिण्णक्खु ।" आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

णिण्णगा-निम्नगा-स्त्री० । नद्याम्, नीचैर्गामिनि, त्रि० । प्रज्ञा० १ पाद ।

णिण्णय-निर्णय-पुं० । निश्चये, आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रमाज्ञाने, विशे० ।

णिण्णार-निर्नगर-त्रि० । नगरनिष्क्रान्ते, " अप्पेगइए णिण्णारे करेहिंति । " भ० १५ श० ।

णिण्णामिया-निर्नामिका-स्त्री० । ईशानकल्पोपपन्नस्य ललिताङ्गनाम्न ऋषभदेवाऽष्टमभवजीवस्वयप्रभानाम्न्यां देव्याम्, कल्प० ७ क्षण । आ०म० । आ० चू० । तत्कथा ऋषभस्वामिन: श्रेयांसेन ' उसभ ' शब्दे द्वितीयभागे भवाष्टककथनावसरे ११३३ पृष्ठे गता)

णिण्णिमेस-निर्निमेष-त्रि० । अचेष्टे, म्रियमाणे, तद्वत्प्रवचनकार्यानुपयोगिनि, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

णिण्णेह-निस्नेह-त्रि० । स्नेहरहिते, "जइ ससिणेही तो मुअइ, अह जीवइ णिण्णेह । " प्रा० ४ पाद ।

णिण्हइया-नैह्नविकी-स्त्री० । ब्राह्मलिपिभेदे,प्रज्ञा० १ पद । स० ।

णिण्हग-निह्नव-पुं० । निह्नुवतेऽपलपन्ति अन्यथा प्ररूपयन्तीति निह्नवा: । स्था० ७ ठा० । आ० म० । मिथ्यात्वाभिनिवेशाज्जिनोक्तार्थस्यापलापकेषु जमाल्यादिषु, विशे० । त्यक्तसम्यग्दर्शनेषु, व्य० १ उ० ।

ते च सप्त-

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवयणनिण्हगा पण्णत्ता । तं जहा-बहुरया, जीवपएसिया, अव्वत्तिया, सामुच्छेइया, दोकिरिया, तेरासिया, अबद्धिया ।

" समणेत्यादि " कण्ठ्यम्, नवर प्रवचनमागम निह्नुवतेऽपलपन्त्यन्यथा प्ररूपयन्तीति प्रवचननिह्नवा: प्रज्ञप्ता जिनैस्तत्र । (बहुरय त्ति) एकेन समयेन क्रियाऽध्यासितरूपेण वस्तुनोऽनुत्पत्ते: प्रभूतसमयैश्चोत्पत्तेर्बहुषु समयेषु रता: सक्ता बहुरता , दीर्घकालद्रव्यप्रसूतिप्ररूपिण इत्यर्थ: १ । तथा जीव प्रदेश एव येषा ते जीवप्रदेशास्त एव जीवप्रादेशिका । अथवा-जीवप्रदेशो जीवाभ्युपगमतो विद्यते येषा ते, तथा, चरमप्रदेशजीवप्ररूपिण इति हृदयम् २ । तथा अव्य-

कर्मस्फुट वस्तु अभ्युपगमतो विद्यते येषां ते अव्यक्तिकाः, संयताऽऽद्यवगमे सन्दिग्धबुद्धय इति भावना ३ । तथा-समुच्छेद प्रसूत्यनन्तर सामस्त्येन प्रकर्षेण च च्छेद· समुच्छेदो विनाश ,समुच्छेद ध्रुवन इति सामुच्छेदिकाः, क्षणक्षयिकभावप्ररूपका इत्यर्थ ४ । तथा द्वे क्रिये समुदिते द्विक्रिय, तद्धीयते तद्वेदिनो वा द्वैक्रिया , कालाभेदेन क्रियाद्वयानुभवप्ररूपिण इत्यर्थ ५ । तथा--जीवाजीवनोजीवभेदात् त्रयो राशय· समाहृता त्रिराशि, तत्प्रयोजन येषां ते त्रैराशिका ,राशित्रयाऽऽख्यापका इत्यर्थ· ६ । तथा-स्पृष्ट जीवेन कर्म न स्कन्धबन्धबद्धमबद्ध, तदेषामस्तीत्यबद्धिका , स्पृष्टकर्मविपाकप्ररूपका इति हृदयम् ७ । स्था० ७ ठा० । विशे० ।

निह्नवकारिणां नामान्याह–

एएसि णं सत्तण्हं पवयणणिन्हगाणं सत्त धम्मायरिया होत्था–जमाली, तिस्सगुत्ते, आसाढे, आसमित्ते, गंगे, छलुए, गोट्ठामाहिले । स्था० ७ ठा० । नि० चू० । विशे० ।
(एषां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

अथ येभ्यो ये निह्नवा समुत्पन्नास्तदेतदाह–

बहुरय जमालिपभवा, जीवपएसा य तीसगुत्ताओ ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ, सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥२३०१॥
गंगाओ दोकिरिया, छलुगा तेरासियाण उप्पत्ती ।
थेरा य गोट्ठमाहिल, पुट्ठमबद्धं परूवेंति ॥ २३०२ ॥

बहुरता जमालिप्रभवा , जमालेराचार्यात्प्रभव उत्पत्तिर्येषां ते जमालिप्रभवा १ । जीवप्रदेशा पुनस्तिष्यगुप्तादुत्पन्ना· २ । अव्यक्ता आषाढात् ३ । सामुच्छेदा अश्वमित्रादिति ४ । गङ्गाद् द्वैक्रिया ५ । षडुलूकात् त्रैराशिकानामुत्पत्ति· ६ । स्थविराश्च गोष्ठामाहिला स्पृष्टमबद्ध प्ररूपयन्ति ७। 'कर्म' इति गम्यते । "परूविंसु वा"इति पाठान्तर वा । ततो गोष्ठामाहिलादबद्धिका जाता इति सामर्थ्याद्गम्यत इति ॥ २३०१ ॥ २३०२ ॥

येषु स्थानेष्वेते समुत्पन्नास्तानि क्रमेणाऽऽह–

एएसि णं सत्तण्ह पवयणनिण्हगाणं सत्त उप्पत्तिनगरे होत्था । स्था० ७ ठा० । आ० क० ।

तद् यथा–

सावत्थी उसभपुरं, सेयविआ मिहिल उल्लुगातीरं ।
पुरमंतरंजि दसउर, रहवीरपुरं च नयराइं ॥ २३०३ ॥

श्रावस्ती, ऋषभपुरं, श्वेतविका, मिथिला, उल्लुकातीर, पुरमन्तरञ्जिका, दशपुर, रथवीरपुर चेति । एतान्यष्टौ नगराणि निह्नवाना यथायोगमुत्पत्तिस्थानानि बोद्धव्यानि । अष्टम नगर द्रव्यलिङ्गमात्रेणापि भिन्नानां सर्वापलापिनां महामिथ्यादृशा वक्ष्यमाणानां बोटिकनिह्नवानां लाघवार्थमुत्पत्तिस्थानमुक्तमिति ॥ २३०३ ॥

अथ भगवत समुत्पन्नकेवलज्ञानस्य परिनिर्वृतस्य च क· कियता कालेन निह्नव· समुत्पन्न· ?, इत्येतत्प्रतिपादयन्नाह–

चोद्दस सोलस वासा, चोद्दा वीसुत्तरा य दोन्नि सया ।
अट्ठावीसा य दुवे, पंचेव सया य चोयाला ॥२३०४॥
पचसया चुलसीओ, छच्चेव सया नवुत्तरा होंति ।

नाणुप्पत्तीएँ दुवे, उप्पन्ना निव्वुए सेसा ॥ २३०५ ॥

चतुर्दश वर्षाणि । तथा-षोडश वर्षाणि । तथा-(चोद्दा वीसुत्तरा य दोन्नि सय त्ति) चतुर्दशाधिके द्वे शते, विंशत्युत्तरे च द्वे शते, वर्षाणामिति गम्यते । तथा-अष्टाविंशत्यधिके च द्वे शते, तथा पञ्चैव शतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि, पञ्च शतानि चतुरशीत्यधिकानि, षट् चैव शतानि नवोत्तराणि भवन्ति । एतावता व्यवधानकालेन ज्ञानोत्पत्तेरारभ्याऽऽद्यौ द्वौ निह्नवौ समुत्पन्नौ । शेषास्तु षट् भवन्ति । श्रीमन्महावीरे निर्वृते निर्वाणकालादारभ्य उक्तशेषेण यथोक्तेन व्यवधानकालेनोत्पन्ना· । इदमुक्त भवति-श्रीमन्महावीरस्य केवलोत्पत्तेश्चतुर्दशभिर्वर्षैरतिक्रान्तैर्बहुरता समुत्पन्नाः । षोडशभिर्वर्षैर्व्यतिक्रान्तैः जीवप्रदेशा· समुत्पन्ना । भगवत एव निर्वाणकालाच्छेषेण चतुर्दशाधिकवर्षशतद्वयाऽऽदिना कालेनातिक्रान्तेन शेषा अव्यक्ताऽऽदयो निह्नवा· समुत्पन्ना इति ॥ २३०४ ॥ २३०५ ॥ विशे० । आ० क० । आ० चू० । आ० म० । (एषां प्रत्येक विस्तृतव्याख्या स्वस्वस्थाने)
(बोटिकस्य च सूत्रानुक्तस्याष्टमनिह्नवस्य व्याख्या ' बोडिय ' शब्दे वक्ष्यते)

सम्प्रति निह्नववक्तव्यतां निगमयन्नाह–

एवं एए कहिया, ओसप्पिणिए उ णिएहगा सत्त ।
वीरवरस्स पवयणे, सेसाणं पवयणे नऽत्थि ॥२६१०॥

एवमुक्तेन प्रकारेणैतेऽनन्तरोदिता कथिता· प्रतिपादिता अस्यामवसर्पिण्या निह्नवाः सप्त । अष्टमस्तु बोटिक , तुशब्द· समुच्चये । वीरवरस्य भगवत· प्रवचने तीर्थे । शेषाणां तु तीर्थकृतां प्रवचने (नऽत्थि त्ति) प्राकृतत्वाद् नासन् निह्नवा· ।

तत्र–

मोत्तूणमेसिमेक्कं, सेसाणं जावजीविया दिट्ठी ॥
एक्केक्कस्स य एत्तो, दो दो दोसा मुणेयव्वा ॥२६११॥

मुक्त्वा,एषामेक गोष्ठामाहिल निह्नवाधम,शेषाणां जमालिप्रभृतीनां प्रत्याख्यानमङ्गीकृत्य यावज्जीविका दृष्टिरासीत् । न ते प्रत्याख्यान गोष्ठामाहिल इवापरिमाणमब्रुवन्निति भावना । आह-प्रकरणादेवेदमवसीयते किमर्थमस्योपन्यास· ? । उच्यते-प्रतिदिवसोपयोगिन प्रत्याख्यानस्यातीवोपयोगित्वान्मा कश्चित्तथैव प्रतिपद्येत, ततो ज्ञाप्यते-निह्नवानामपि प्रत्याख्यानविषये इयमेव दृष्टिरिति । (एत्तो त्ति) प्राकृतत्वादमीषां मध्ये एकैकस्य निह्नवस्य द्वौ द्वौ दोषौ ज्ञातव्यौ, मुक्त्वैकमिति वर्तते । तथाहि-बहुरता जीवप्रदेशिकान् प्रत्यूचुर्भवन्तो द्वाभ्यां कारणाभ्या मिथ्यादृष्टयः । तत्रैकमिद यद्वदथ-एकप्रदेशो जीव इति, द्वितीय क्रियमाण कृतमिति । जीवप्रदेशिका अपि बहुरतान् प्रत्यपादिपुर्यूयमपि कारणद्वयेन मिथ्यादृष्टयः । एक तावदिद यद्वदथ- क्रियमाणमकृत जीवप्रदेश न जीव इति प्रतिपद्यध्वे । एव शेषाणामपि परस्पर भावनीयम् । गोष्ठामाहिलमधिकृत्य पुनरेकैकस्य त्रयो दोषा । तथाहि-बहुरतान् प्रति गोष्ठामाहिलोऽब्रवीत्-कारणत्रयाद्भवन्तो मिथ्यादृष्टय । तत्रैकमिद यत्कृत कृतमिति ब्रूथ, द्वितीय प्रतिप्रदेशबद्ध कर्म, तृतीय यावज्जीव प्रत्याख्यानमिति । बहुरता अपि त प्रत्यवोचन्-भवानपि कारणत्रयाद् मिथ्यादृष्टि । एक तावदिद यत् क्रियमाण कृतमिति वदति, द्वितीय स्पृष्टमबद्ध कर्म, तृतीयमपरिमाण प्रत्याख्यानमिति । एव सर्वान् प्रति योजनीयम् । अन्ये त्वाहु·-एकै-

कस्य द्वौ द्वौ दोषौ एवं वेदितव्यौ-एकं तावत्स्वयं विप्रतिपन्नाः, द्वितीय परानपि व्युद्ग्राहयन्तीति ।

मन्वेता दृष्टयः संसाराय, आहोस्विदपवर्गाय ?, इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह-

सत्तेया दिट्ठीओ, जाइजरामरणगब्भवसहीणं ।
मूलं संसारस्स उ, हवंति-णिग्गंथरूवेणं ॥२६१६॥

सप्ताप्येता दृष्टयो,वोटिकास्तु मिथ्यादृष्टय एवेति न तद्विचारः । जातिजरामरणगर्भवसतीनामिति । जातिग्रहणे नारकाऽऽदिप्रसूतिग्रहे चरितार्थमिति गर्भवसतिग्रहणमदुष्टम् । मूलकारणं,भवन्तीति योगः । मा भूत्सद्भाविनीनां जातिजरामरणगर्भवसतीनां मूलमिति प्रत्ययः, तत आह-(संसारस्स उ इति) संसरणं संसारस्तिर्यङ्नरनारकामरभवानुभूतिरूपः प्रदीर्घः,तस्यैव,तु शब्दस्यावधारणत्वात् । केन रूपेणेत्याह-निर्ग्रन्थरूपेण ।

अथैते निह्नवाः किं साधवः,उत तीर्थान्तरीयाः, आहोस्विद् मिथ्यादृष्टयः ? । उच्यते-न साधवः, यतः साधूनामेकस्याप्यर्थाय यत्कृतमशनाऽऽदि तच्छेषाणां न कल्पते, नैव निह्नवानाम् । तथा चाऽऽह-

पवयणनीहूयाणं, जं तेसिं कारियं जहिं जत्थ ।
भज्जं परिहरणाए, मूले तह उत्तरगुणे य ॥ २६१७ ॥

(नीहूय त्ति) देशीवचनमकिञ्चित्करार्थे । ततः प्रवचने पारमेश्वरे यथोक्तक्रियाकलापं प्रत्यकिञ्चित्कराणाम् । अथवा-(नीहूय त्ति) आर्षत्वाद् निह्नुत, तत्र प्रवचननिह्नुतमपलपितं यैस्ते प्रवचननिह्नुताः । सुखाऽऽदिदर्शनाद् निष्ठान्तस्य पाक्षिकः परनिपातः । तेषाम्, यदशनाऽऽदि, तेषामुपभोगाय कारितं यद् यस्मिन् काले यत्र क्षेत्रे, तद्भाज्यं विकल्पनीयम् । परिहरणे कदाचित्परिह्रियते,कदाचिन्नेति । यदि लोको न जानाति-यथैते साधुभ्यो भिन्नास्तदा परिह्रियते, अथ जानाति, तदा न परिहारः । अथवा-परिहरणा नाम परिभोग' । तथा चोक्तम्-" परिहरणा उवभोगो परिभोगो । " ततः कदाचित्परिभुज्यते, कदाचिन्नेति निह्नवत्वपरिज्ञाने युज्यते, शेषकाले नेति । कथम्भूतं तत् अशनाऽऽदि तन्निमित्तं कारितमित्यत आह-मूले मूलगुणविषयम्,आधाकर्माऽऽदि,तथोत्तरगुणे उत्तरगुणविषयं च,क्रीतकृताऽऽदि,ततो नैते साधवो,नापि गृहस्था , नाप्यन्यतीर्थ्याः, यतस्तदर्थाय कृतमेकान्तेन कल्प्यमेव भवति । अत्र तु भजना ततो व्यक्ता एवेति ।

आह-यद्बोटिकानां कारितं, तत्र का वार्ता ?, उच्यते-

मिच्छादिट्ठीयाणं, जं तेसिं कारियं जहिं जत्थ ।
सव्वं पि तयं सुद्धं, मूले तह उत्तरगुणे य ॥ २६१८ ॥

तेषां मिथ्यादृष्टीनां वोटिकानामुपभोगाय यत्कारितमशनाऽऽदि गृहस्थैः कारितं मूले मूलगुणविषयमुत्तरगुणे उत्तरगुणविषयं, तत्सर्वमपि शुद्धं कल्पनीयमिति भावः ॥ २६१८ ॥ आ० म० १ अ० २ खण्ड । (निह्नवाः परलोकस्याऽऽराधकाः , अनाराधका वा ?, इति ' आराहग ' शब्दे द्वितीयभागे ३७२ पृष्ठे गतम्) आचार्यापलापिनि, बृ० १ उ० ।

निह्नवद्वारं विवृणोति-

सुत्तत्थतदुभयाइं, जो घेत्तु निण्हवे तमायरियं ।
लहुया गुरुया अत्थे, गेरुयनायं अबोही य ॥

य. सूत्रार्थतदुभयानि कस्यचित्पार्श्वे गृहीत्वा तमाचार्यं निह्नुते अपलपति-अपरं कमपि विख्यातमाचार्यमुद्दिशति । अथवा ब्रूयात्-मया स्वयमेवाभ्यूह्य श्रुतं निर्णीतं, केवलं तेषांचनाऽऽचार्यैः मम दिग्मात्रमेव दत्तमिति । अत्र च यदि सूत्राऽऽचार्यं निह्नुते, तदा चत्वारो लघुकाः, अर्थे अर्थदायकमाचार्यं निह्नुवानस्य चत्वारो गुरुकाः , तदुभयाऽऽचार्यमपलपतस्तदुभय प्रायश्चित्तमिति । अत्र च गेरुकः परिव्राजकः, तस्य ज्ञातं दृष्टान्तः । (बृ०) (स च ' अणिएहवण ' शब्दे प्रथमभागे ३३४ पृष्ठे द्रष्टव्य) "अयमत्थोवणओ-जहा सो एहाविय विज्जायरियं निण्हवेंतो ओहावण पत्तो, एव अन्ने वि अप्पगासं पि वायणायरियं निण्हवेंता इह लोए चेव बहूण समणसावगाईण हीलणिज्जा भवति, देवयाहि य उम्भिज्जति त्ति ।" (अबोही य त्ति) परलोके अबोधिफलं कर्म गुरुनिह्नवकोऽर्जयति, एवंविधस्य (श्रुतं) न दातव्यम् ।

यत आह-

उवहयमइविणाणे, न कहेयव्वं सुयं व अत्थो वा ।
न मणी य सयसहस्सो, आविसइ कोत्थु भासस्स ॥

मतिः स्वस्वाभाविकी, विज्ञानं च गुरूपदेशजं, मतिविज्ञाने, ते उपहते दूषिते यस्य स उपहतमतिविज्ञानो गुरुनिह्नुत । कथमिति चेदुच्यते-इह तावद् गृहस्था अपि मिथ्यादृष्टयस्तत्त्वातत्त्वव्यतिकराविवेकविकला:, ऐहिकफलार्थमर्थशास्त्र धनुर्वेदाऽऽदि यस्य सकाशे शिक्षितवन्तस्तं यावज्जीव गुरुं प्रतिपद्यमानाः सर्वस्यापि लोकस्य पुरतः श्लाघन्ते, न पुनः कदाऽपि कस्यापि पुरतो निह्नुवते । स पुनः सर्वज्ञशासनप्रतिपन्नोऽप्यचिन्त्यचिन्तामणिकल्पश्रुतदायकानपि परमगुरून् निह्नुते इत्यतोऽसौ तेभ्योऽप्यधमत्वादुपहतमतिविज्ञानोऽभिधीयते । एवंविधे शिष्ये न कथयितव्यम्,श्रुतं वा सूत्रम्,अर्थो वा तदभिधेयः । अमुमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया द्रढयति-(न मणी इत्यादि) (कोत्थु त्ति) आर्षत्वात् कौस्तुभो नाम मणिः शतसहस्रो लक्षमूल्यो भासस्य शकुन्ताऽऽख्यस्य पक्षिणो गलके नाऽऽविशति, अयोग्यत्वात् । एवमस्यापि गुरुनिह्नोतुरत्यन्तापात्रभूतस्य श्रुतेरत्र प्रदानमनुचितमिति न विधेयम् । बृ० १ उ० । कर्म० । नि० चू० । अपलापे, आव० ४ अ० । सूत्र० ।

णिएहव-निह्नु-धा० । अपलपने, " ह्नवर्णस्याव " ॥ ८ । ४ । २३६ ॥ इत्युवर्णस्याऽवादेशः । ' णिएहवइ,' निह्नुते । प्रा० ४ पाद । अपलपति, बृ० १ उ० ।

निह्नव-पु० । 'णिएहग' शब्दार्थे, स्था० ७ ठा० ।

णिएहवण-निह्नवन-पु० । अपलपने, प्रव० ६ द्वार (आचार्यापलपनेन का गतिरिति 'अणिएहवण' शब्दे प्रथमभागे ३३४ पृष्ठे उक्तम्) (आचार्यापलपने प्रायश्चित्तं ' णिएहग ' शब्देऽनुपदमेव गतम्) अपहृतधनाऽऽदिपरधनापहाराऽऽदिक यैरपहुते न प्रकाशयति ते निह्नवाः । अपहारगोपनच्छद्मप्रयोगेषु, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

णितंब-नितम्ब-पु० । पर्वताऽऽदे कटके, स्त्रीकटे पश्चाद् भागे च । " णीलवतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणिल्ले णितंबे । " अ० ४ वक्ष० ।

णितिओमाण-नित्यावमान-न० । नित्यमवमान प्रवेश स्वपक्षपरपक्षयोर्येषु तानि तथा । सर्वदा भिक्षूणा गोचराय कृतप्रवेशेषु कुलेषु,आचा०। नित्यलाभात् तेषु स्वपक्ष. संयतवर्ग ,परपक्षोऽपरभिक्षाचरवर्ग. सर्वो भिक्षार्थं प्रविशेत् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

णितिय-नित्य-न० । ध्रुवे, सतते, नि० चू० ।

जे भिक्खू णितियं वंदइ, वंदंत वा साइज्जइ ॥४७॥
जे भिक्खू णितियं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ ॥४८॥

'जे णितिय' द्वे सूत्रे, णिच्चमवठाणातो णितियो ।

गाहा-

जं पुव्वं णितियं खलु,चउव्विह वण्णियं तु वितियम्मि ।
तं आलंबणरहितो, सेवंतो होति णितिओ उ ॥९२॥

द्व्यक्षेत्तकालभावा एतं चउव्विह इहेव अज्झयणे वितिउद्देसे वण्णिय, त णिक्कारणे सेवतो णितिओ भवति । नि० चू० १३ उ० ।

णितियपिंड-नित्यपिण्ड-पु० । मया एतावद्दातव्य, भवता तु नित्यमेव ग्राह्यमित्येव नियमग्राह्ये पिण्डे, स्था० १० ठा० ।

नित्यपिण्ड न गृह्णीयात्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तुकामे से जाइ पुण कुलाइं जाणेज्जा-इमेसु खलु कुलेसु णितिए पिंडे दिज्जति, णितिए अग्गपिंडे दिज्जति, णितिए भाए दिज्जइ, णितिए अवड्ढभाए दिज्जइ, तहप्पगाराइं कुलाइं णितियाइं णितिओमाणाइ णो भत्ताए वा पाणाए पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा । एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं, जं सव्वट्ठेहिं समिते सहिते सयाजुए त्ति बेमि ।

स भिक्षुर्यावद् गृहपतिकुल प्रवेष्टुकाम । स तच्छब्दार्थे,स च वाक्यार्थोपन्यासार्थ. । यानि पुनरेवम्भूतानि कुलानि जानीयात् । तद्यथा-इमेषु कुलेषु, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । नित्य प्रतिदिन पिण्ड पोषो दीयते, तथाऽग्रपिण्ड शाल्योदनाऽऽदे प्रथममुद्धृत्य भिक्षार्थं व्यवस्थाप्यते, सोऽग्रपिण्ड , नित्य भागोऽर्द्धपोषो दीयते । तथा-नित्यमपार्धभाग पोषचतुर्थभाग. । तथाप्रकाराणि कुलानि, नित्यानि नित्यदानयुक्तानि, नित्यदानादेव (णितिओमाणाइ ति) नित्य (ओमाण त्ति) प्रवेश स्वपक्षपरपक्षयोर्येषु तानि तथा । इदमुक्तम्भवति-नित्यलाभात्तेषु स्वपक्ष संयतवर्ग , परपक्षोऽपरभिक्षाचरवर्ग , सर्वो भिक्षार्थं प्रविशेत् , तानि च बहुभ्यो दातव्यमिति तथाभूतमेव पाक कुर्युः, तत्र च षट्कायवध. । अल्पे च पाके तदन्तराय. कृत स्यात् । इत्यतस्तानि नो भक्तार्थं पानार्थं वा प्रविशेन्निष्क्रामेद्वेति । सर्वोपसंहारार्थमाह-(एयमित्यादि) एतदिति यदादेशादभ्योक्त, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः । एतत्तस्य भिक्षो सामग्र्य समग्रता, यदुद्गमोत्पादनग्रहणैषणासंयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमकारणै सुपरिशुद्धस्य पिण्डस्योपादान क्रियते, तद् ज्ञानाऽऽचारसामग्र्य, दर्शनचारित्रतपोवीर्याऽऽचारसपन्नता चेति । अथ वैतत्सामग्र्य सूत्रेणैव दर्शयति-यत्सर्वार्थैः सरसविरसाऽऽदिभिराहारगतै . यदि वा-रूपरसगन्धस्पर्शगतै ,समित

संयत इत्यर्थ । पञ्चभिर्वा समितः, शुभेतरेषु रागद्वेषरहित इति यावत । एवम्भूतश्च सह हितेन वर्तत इति सहित । सहितो वा ज्ञानदर्शनचारित्रैरेवम्भूतश्च सदा युतस्तेन संयमयुक्तो भवेदित्युपदेश । ब्रवीमीति । जम्बूनामान सुधर्मस्वामीदमाह-भगवतः सकाशात् श्रुत्वाऽह ब्रवीमि, न तु स्वेच्छयेति । शेष पूर्ववदिति । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । (अत्र वक्तव्यम् ' अग्गपिंड ' शब्दे प्रथमभागे १६५ पृष्ठे उक्तम्)

नित्यपिण्डो न भोक्तव्य.—

जे भिक्खू णितियं पिण्ड भुंजइ,भुंजंतं वा साइज्जइ ।३२।
जे भिक्खू णितियं अवड्ढं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ।३३।
जे भिक्खू णितियं भागं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥३४॥
जे भिक्खू णितियं उवड्ढभागं भुंजइ,भुंजंतं वा साइज्जइ ३५।

पिंडो भत्तठो, अवड्ढो तदद्धो, तस्स अद्ध भागो त्रिभाग, त्रिभागद्ध उवड्ढभागो ।

गाहा—

एमेव गमो नियमा, णितिए पिंडम्मि होतऽवड्ढे य ।
भागे य तस्सुवड्ढे, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥२२२॥

जो गमो णितिए अग्गपिंडे भणितो, सो चेव गमो पिंडादिएसु चउसु वि सुत्तेसु उस्सग्गाववाएण भाणियव्वो ।

सूत्रार्थप्रतिपादनार्थं पिण्डगाहा-

पिंडो खलु भत्तट्ठा, अवड्ढपिंडो उ तस्स जं अद्धं ।
तस्सऽद्ध भागमादी, तस्सद्धमुवड्ढभागो उ ॥ २२३ ॥

गतार्थैव । नि० चू० २ उ० ।

णितियवास-नित्यवास-पु० । नित्यमवस्थानाद् नित्य. । नित्यवासिनि, ऋतुबद्धवर्षासु प्रमाणाधिकवासे, नि० चू० ।

जे भिक्खू णितियं वासं वसइ, वसंतं वा साइज्जइ ।३६।

उडुबद्धवासासु अतिरित्तं वसत. णितियवासो भवति ।

इदानीं निर्युक्तिमाह-

दव्वे खेत्ते काले, भावे णितियं चउव्विहं होति ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ २२४ ॥

द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु णितिय चउव्विह, एतेसिं जं नानात्व विशेष, तमानुपूर्व्या वक्ष्ये ।

संयोगचतुष्कभङ्गप्रदर्शनार्थमाह-

दव्वेण य खेत्तेण य, णितियाणितिए चउक्कभयणा उ ।
एमेव कालभावे, दुगस्स व दुए समोतारो ॥ २२५ ॥

दव्वतो णितिए, खेत्ततो णितिए, एव चउभगो कायव्वो । तत्थ पढमभगभावणा संथारगाइदव्वाणि कालदुगातीताणि, तम्मि चेव खेत्ते परिभुंजतो णितिओ भवति । पढमभगो संथारगादिदव्वा कालदुगातीता अण्णम्मि खेत्ते उ परिभुंजति । बितियभगो तम्मि चेव खेत्ते अण्णे संथारगादि गेण्हति । ततियभगो नितिय एतुच्च । चउत्थभगो सुण्णो । एव कालभावेसु वि चउभगो कायव्वो । कालओ वि णितिए,भावओ वि णितिए । तत्थ पढमभगो कालदुगातीत च वसति सड्ढादिसु भावपडिबद्धो पढमभगो, कालदुतातीत वसति, ण सड्ढातिसु

रागपडिबद्धो बितियभंगो। कालदुगमिमातस्स वि न सङ्घातिसु भावपडिबद्धो ततियभंगो, चतुर्थः शून्यः, (दुवस्स व दुवे समोतारो त्ति) कालभावदुगस्स दव्वखेत्तदुए समोतारः।

गाहा-

कालो दव्वोतरती, जस्स व दव्वस्स सो तु पज्जाओ।
भावो खेत्ते जम्हा, वासादी सुभमभत्थ ॥ २२६ ॥

कालो दव्वे समोतरति, जम्हा सो दव्वपज्जातो, एत्थ दव्वकालेसु चउभंगो भावेयव्वो। भावो खेत्ते समोतरति, जम्हा एगाइसु भावपडिबधो भवति। एत्थ वि खेत्ते भावेसु चउभंगो भावेयव्वो। खेत्तकालचउभंगे इमा भावणा-तम्मि य खेत्ते मासातीत वसति पढमभंगो, चरिमं उडुबद्धित जत्थ मासकप्पट्ठिया तत्थेव वासतियाण बितियभंगो, अन्यकालप्राप्तेरिति। अण्ण भाग पडिवसभ वा सकमतस्स स चेव, भिक्खायरियाए ततियभंगो, चतुर्थः शून्यः।

जो दव्वणितिओ सो इमे पडुच्च। गाहा-

परिसाडिमपरिसाडी, संथाराऽऽहारदुविहमुवधिम्मि।
डगलगसरक्खमल्लग-मत्तगमादीसु दव्वम्मि ॥ २२७ ॥

संथारो दुविहो-परिसाडी, अपरिसाडी य। आहारे तेसु चेव कुलेसु गेण्हति। दुविहो उवही-आहितो, उवग्गहितो य। पासवणखेलसघातिणिमित्तया। गाहा-

कालदुगातीताइं, संथारादीणि सेवमाणा उ।
एसो उ दव्वणितिओ, पुव्वे अंतो बहिं णितो ॥२२८॥

एते संथारगादि दव्वे कालदुगातीतं अपरिहरतो णितिओ भवति, स बाहिरियासि वा खेत्त भतो मासकप्पे पुव्वे ते चेव संथारगादी बहिं णितो दव्वणितिओ भण्णति।

इदाणिं खेत्तणितिओ-

ओवासे संथारे, विहारउच्चारउवधिफलगामे।
णगरादिदेसरज्जे, वसमाणे खित्ततो णितिए ॥२२९॥

संथारगोवासे, अहवा संथारो पृथक् परिगृह्यते, विहारो सज्झायभूमी, उच्चारो सण्णाभूमी, कुलगामादि ण मुंचति, पुनः पुनस्तेष्वेव विहरति। एस खेत्तणितिओ।

इदाणिं कालणितिओ-

चाउम्मासा उवरिं, एगट्ठाणे वसंति जे भिक्खू।
वुड्ढिनिमित्ते असती, वसमाणे कालतो णितिए ॥२३०॥

उडुवासकालातीतं वसतो कालणितिओ, वुड्ढिणिमित्त वसतो बहुकालेण वि णितिओ ण भवति। वुड्ढकार्यपरिसमाप्तौ अपरिहरन् नितिओ भवति।

इदाणिं भावणितिओ-

ओवासे संथारे, भत्ते पाणे परिग्गहे सड्ढे।
सेहेसु संथयेसु य, पडिबद्धे भावतो णितिए ॥२३१॥

जे सेहा ण तावत्प्रव्रजति, पूर्वापरेण संथवेण सपुत्ताओ वासादिसु सव्वेसु राग करेंतो भावपडिबद्धो भवति।

गाहा-

वसही ण एरिसा खलु, होहिति अण्णत्थ णेव संथारो।
णेत्थं भत्तमणुण्णम-सड्ढा सेहादि वा णत्थि ॥ २३२ ॥

अण्णत्थ एरिसा वसही णत्थि त्ति रागं करेंति, एवं संथारगभत्तपाणसड्ढसेहाऽऽदिसु वि।

इदाणिं दव्वखेत्तकालभावेसु पच्छित्तं भण्णति-

उक्कोसोवधिफलए, देसे रज्जे य वुड्ढवासे य।
लहुगा भावे गुरुगा, सेसे पणगं च लहुगो तु ॥ २३३ ॥

दव्वं पडुच्च उक्कोसोवहिए फलए य चउलहुआ। खेत्तं पडुच्च देसे रज्जेसु चउलहुआ। कालं पडुच्च वासातीते वुड्ढवासातीते य चउलहुया। रागेण भावे सव्वत्थ चउगुरुगा। संथारगवज्जेसु तणेसु डगलपत्थारपल्लएसु य पणगं। सेसे दव्वादिएसु प्रायशो मासलहुयं।

गाहा-

सुत्तणिवातो णितिए, चतुव्विधे मासियं जहिं लहुगं।
उच्चारितसरिसाइं, सेसाइँ विगोवणट्ठाए ॥ २३४ ॥

चउव्विहे दव्वादि णीयते, जत्थ मासलहुं तत्थ सुत्तणिवातो, सेसा पच्छित्ता शिष्यस्य विगोवणट्ठा भणिता, कारणओ पुण दव्वादिचउव्विहं पि णितियं वसेज्ज।

ते इमे कारणा दुविहा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व आगाढे।
गेलण्ण उत्तिमट्ठे, चरित्ते सज्झाइए असती ॥ २३५ ॥

बहिं असिवं वट्टति अतो कालदुगातीतं पि एगखेत्ते वसेज्ज। बहिं ओमरायदुट्ठबोहियभए वा आगाढे वसेज्ज, आगाढे वा गेलण्णे वसेज्ज, उत्तिमट्ठ परियरगा वा वसेज्जा, बहिया चरगादिसु चरित्तदोसा अतो वसेज्जा, बहिं वा सज्झाओ ण सुज्झति, अतो सज्झायणिमित्त वसेज्ज। असती वा बहिं मासकप्पजोग्गाण, तत्थेव वसेज्ज।

चोदगाऽऽह-एगखेत्ते कालदुगातीत वसमाणा कह सुद्धचरणा?। आचार्याऽऽह-

एगक्खेत्तणिवासा, कालातिक्कंतचारिणो जंति।
सुद्धचरणणाणा खलु, विसुद्धमालंवणं जेणं ॥२३६॥

एगखेत्ते कालदुगातिक्कंतं पि वसमाणा, तहा वि णिरतियारा, जतो विसुद्धालंवणावलंबी, ज्ञानाऽऽवरणाऽऽद्य चाऽऽलंवण।

किं च-

आणाएँ अमुक्कधुरा, गुणवुड्ढी जेण णिज्जरा तेणं।
मुक्कधुरस्स ण मुणिणो, सोधी संविज्जति चरित्ते ॥२३७॥

आण त्ति तित्थकरवयणं, जहा तित्थकरवयणातो णितियं ण वसति, तहा तित्थकरवयणाओ चेव कारणा णितियं वसति, स एव आणाए-संजमे अमुक्कधुरो चेव, अमुक्कधुरस्स णियमा णाणाऽऽदिगुणपरिवुड्ढी, जेण य तस्स गुणपरिवुड्ढी तेण णिज्जरा विउला भवति, जो पुण तप्पडिपक्खे वट्टति, तस्स सोही चरित्तस्स ण विज्जति।

इदाणिं गतोऽप्यर्थः स्फुटतरः क्रियते-

गुणपरिवुड्ढिणिमित्तं, कालातीते ण होंति दोसा तु।
जत्थ तु पहितो णाणी, उविज्ज तहियं न विहरेज्जा ॥२३८॥

कालाओ दुगातिक्कांतं ज्ञानादिगुणपरिवुड्ढिणिमित्त वसतो न दोष। जत्थ पुण बहिं विहरतो णाणादीण हाणी हवेज्ज, ण तत्थ विहरेज्ज इत्यर्थः। नि० चू० २ उ०।

नित्यवासफलम्-ननु किमित्येवमुपदिश्यते?-यावता मासकल्पेन विहरतामवश्यंभाव्येव जीवोपमर्दः, सूत्रार्थोभयहानिरपि जायते, मार्गगमनश्रमसंभवादपरिचितजनाद्नुपयोगिभक्तपानाऽऽद्यसम्प्राप्तेर्वा वातपित्ताऽऽदिक्षोभादात्मविराधनासंभवाच्च प्रत्यक्षदोष एव दृश्यत इति। प्रयोगश्चात्र-अयुक्तमिदं मासाऽऽदिविहारेण ग्रामानुग्रामभ्रमणमिति पक्षः। संयमाऽऽत्मविराधनाहेतुत्वादिति हेतुः। तथाविधकष्टसाध्यसावद्यानुष्ठानादिति दृष्टान्तः। यद्यत्संयमाऽऽत्मविराधनाहेतुभूतमनुष्ठानं तत्तत्संयमवतामनारम्भणीयमेव, यथा कृष्यादिसावद्यानुष्ठानम्, तथाभूतं चेदं मासकल्पाऽऽदिना ग्रामानुग्रामभ्रमणमित्युपनयः। अतो न युक्तमिदमिति निगमनम्। न चास्य हेतोरसिद्धत्वाऽऽदिदोषोद्भावनाऽपि कर्तुं शक्यते, पूर्वमेव सूत्रार्थोभयसंयमाऽऽत्मविराधनायाः सप्रपञ्चं प्रतिपादितत्वात्। अन्यच्चैकत्र निवासे गुण एव दृश्यते-यतो मार्गगमनाभावात्समस्तजीवोपमर्दाभावे संयमवृद्धिरुपजायते। व्यायामाभावात्प्रासुकैषणीयोचितभक्तपानलाभसंभवाच्च वातपित्ताऽऽदेः क्षोभाभावादात्मविराधनाऽपि न भवति। तथाऽऽचार्यनिवासयुक्ताऽऽश्रविकलपठनकारणकलापसंभवात् सूत्रार्थोभयवृद्ध्या शिष्याः दीप्ता भवन्ति। उक्तं च-"आरोग्यबुद्धिविनयोद्यमशास्त्ररागाः, पञ्चाऽऽन्तरा जगति पाठगुणा भवन्ति। आचार्यपुस्तकनिवाससहायवस्त्राः, बाह्यास्तु पञ्च पठनं परिवर्द्धयन्ति ॥ १ ॥" अन्यच्चागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः। यत-"पञ्चसमिया तिगुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे। वाससयं पि वसंता, मुणिणो आराहगा भणिया ॥ १ ॥" इत्याद्यनेकगुणकलापोपेतत्वाद् नित्यवासस्य, युक्तमेव तत्करणमिति मन्तव्यम्। एवं व्यवस्थितेऽपि यदन्यथापरिकल्पनं, तत्कदाग्रहग्रहगृहीतवचनमित्यपकर्णनीयमिति स्थितम्।

अत्रोच्यते-यत्तावत्प्रतिपादितम्-'मासाऽऽदिविहारे' इत्यादिना पृथिव्यादिमर्दाऽऽदिना संयमाऽऽदेर्विराधनेति दूषणकदम्बकम्। तद् नित्यवासेऽपि समानमेव। यतो विहारपरिहारेण सर्वदैकत्र निवासवतां प्रासुकैषणीयवसतिलाभाभावाद् गृहस्था इवाऽऽश्रयाभावेषु मुक्तसमस्तजीवोपमर्दाऽऽदयः स्वयमेवकरणकारणानुमोदनाऽऽदौ प्रवर्त्तन्ते। ततश्चैवमाया अपि जीवनिकायानामाकुट्यापि विराधनोत्पद्यते। ततश्च प्राणातिपात (विरमण) महाव्रतभङ्गनिरर्थकताया अपि शिरस्तुण्डमुण्डनाऽऽदेर्वैयर्थ्यं स्यात्। अन्यथैकत्र निवासे प्रतिदिनमाहाराऽऽदिदानवन्दनाऽऽदिप्रतिपत्त्योपगृहीतानां साधूनामनादिभवाभ्याससञ्चारितो प्रतिबन्धाऽऽदयः संभवन्ति। उक्तं च-"पडिबंधो लहुयत्तं, न जणुवयारो न देसविन्नाणं। नाऽऽणाराहणमेए, दोसा अविहारपक्खम्मि" ॥ १ ॥ ततश्च प्रतिबन्धात्संबन्धः, संबन्धाच्चित्तविप्लुतिः, चित्तविप्लुतेरकार्यप्रवृत्तिरिति। एवं चाऽतिस्फुटतरा संयमविराधना-यदा च चित्तविप्लुत्या प्रेरितः स्त्रीसेवाऽऽदौ प्रवर्तते, तदा न केवलं प्रथमव्रतभङ्गः, अपि तु पञ्चानामपीति। तथाहि-रमणीरमणमनाः सङ्केतस्थाने व्रजन्नागच्छन् वा क्व यास्यसि, कुतो वा प्रत्यावृत्तः?, इति केनचित्प्रेरितोऽलीकशठोत्तरदानाय वक्ति-उदरबाधा मेऽस्ति, ततः शरीरचिन्तायै गमिष्यामि, तां वा कृत्वा समागत, इति वदतो मृषावादः। स्वाम्यादिभिरननुज्ञानमतो निषेवतोऽदत्ताऽऽदानम्। तत्सेवनात् तु प्राणातिपातमैथुनपरिग्रह (विरमण) व्रतभङ्गोऽपि स्त्रीपरिग्रहकरणाद्भवति। अन्यच्च-सूत्रार्थोभयहानिरपि तद्वशगस्य। तथा-समस्तानां कषायाणां वृद्धिरुपजायतेऽनुरागवशगस्य, तदसम्प्राप्तौ ज्वराऽऽद्युन्मादसंभवादात्मविराधना। प्रवचनोपघातश्च-यथैते श्वेतभिक्षवो वदन्ति-चेलाञ्चलमपि प्रमादाद्यासंबन्धिनमस्माभिः परित्यज्यते, व्यापारः पुनरेतेषामीदृशः। प्रयोगश्चात्र-भवभ्रमणभीरूणां गृहीतव्रतयतीनां समस्तानर्थनिबन्धनो नित्यवास इति अयुक्त एवेति पक्षः। समस्तप्रमादनिबन्धनत्वादिति हेतुः। गृहवासवदिति दृष्टान्तः। यद्यत्प्रमादनिबन्धनं तत् तद् पुनर्यतीनामयोग्यम्, यथा-गृहवासनिषेवनम्, प्रमादनिबन्धनश्चायमित्युपनयः। ततोऽयुक्तोऽयमिति निगमनम्। न चास्य हेतोरसिद्धताऽऽदिदोषोद्भावना विभावयितुं शक्यते, पूर्वोक्तयुक्तेरतिप्रतीतत्वात्। यथोक्तम्-आगमोऽप्येवमेवेत्यादि, तस्यायुक्ततरत्वमत्वाद् वक्तुर्महानिर्धर्मता चाऽऽवेदिता भवति।

यतस्तत्राय प्रक्रमः-

"जो होज्ज उ असमत्थो, रोगेण व पेल्लिओ झुसियदेहो।
सव्वमवि जहा भणियं, कयाइ न तरेज्ज काउं जे" ॥ १ ॥

अस्या भावार्थः-यः स्यादसमर्थो विकृष्टतपश्चरणाऽऽदिना, रोगेण च, राजभयाऽऽदिना प्रेरितः स्वाभाविकशक्तेश्च्यावितः, तथा झुषितदेहो जराऽतिव्याप्तत्वादशक्तिनिविष्टः। किं बहुनोक्तेनैवमादिकारणैः सर्वमपि यथाभणितं यथाऽऽगमे प्रतिपादितं क्रियाऽनुष्ठानं, कदाचनाऽपि यदि कथञ्चिद्, विधातुं, (न तरेज्ज त्ति) न शक्नुयाद्वेति। 'जे' इति पादपूरणे निपात इति गाथाऽर्थः।

तदा किं प्रासाऽऽलम्बन इव समस्तमपि त्यजेद्वेत्याह-

"सो वि य नियपरक्कम-ववसायधिइबलं अगूहंतो।
मोत्तूण कूडचरियं, जयई जइ तो अवस्स जई" ॥ १ ॥

अस्या व्याख्या-सोऽपि च पूर्वोक्तकारणैः सकलशक्तिरहितोऽपि निजपराक्रमव्यवसायधृतिबलमगोपयन् कूटचरितं मुक्त्वा, यतते यदि शक्तिपराक्रमोचितं विधत्ते; तदा यतिरेवाऽसौ, सुसाधुरेवेति, न पुनरन्योऽसाधुरित्यर्थः। ततः इत्थंभूतस्यापि युक्तसंयमानुष्ठानस्याराधकत्वमेवेति काक्वाऽऽवेदितम्, समर्थस्य पुनः का वार्ता?, इति गाथाऽर्थः।

अतो हेतोर्नित्यवासमपि समस्तानर्थबीजभूतं विदधाना यदीत्थंभूता भवन्ति, तदैवाऽऽराधना, नान्यथेत्यावेदयन्निदं गाथात्रयमाह-

"निम्मम निरहंकारा, उज्जुत्ता नाणदंसणचरित्तम्मि।
एगक्खेत्ते वि ठिया, खवेंति पोराणयं कम्मं ॥ १ ॥
जियकोहमाणमाया, जियलोहपरीसहा य जे धीरा।
बूढावासे वि ठिया, खवेंति पोराणयं कम्मं ॥ २ ॥
पञ्चसमिया तिगुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे।
वाससयं पि वसंता, मुणिणो आराहगा भणिया" ॥ ३ ॥

सुगमं चेदम्, नवरमस्य विवरणं विदधताऽभिहितम्-किमिदमैकार्थिकगाथात्रयम्?। उच्यते-अत्यादरख्यापनपरम्। आदरश्चात्र सकलशक्तिरहितत्वाद् जङ्घाबलहीनतया चाऽऽगमनिषिद्धमपि नित्यवासं कुर्वन् यदि यथाशक्त्योद्वहति-निर्ममत्वाऽऽदिविशेषणयुक्तो भवति, तदैवाऽऽराधको, नान्यथेत्यावेदितमिति।

आगमनिषेधश्चैव सूत्रादेवावसीयते-

"साहेउ अट्ठमासे, वासासु सुभूमिओ निवा जंति।
परचक्करुद्धे वि पुरे, हावंती मासकप्पं तु ॥ १ ॥
कालाइदोसओ जइ, तदुच्चओ एस कीरई नियमा।
सव्वेण तह वि कीरइ, संथारग[illegible] याईहिं" ॥ २ ॥

वृद्धावासे पि, न यथाकथञ्चिदेव, कुशलं काशावलम्बनतोऽप्यवसेयः।

यत आगमवचनमेव व्यवस्थितम्-

" खेत्तेण अद्धजोयण, कालेण जाव भिक्खवेल त्ति ।
खेत्तेण य कालेण य, जाणसु सपरक्कम थेर ॥१॥ "

अस्या अय भावार्थः-यदि जङ्घाबलहीनताऽऽदिकारणैः प्रनासोत्थितः प्रस्तुतभिक्षाचरवेलायामर्द्धयोजन गन्तु शक्नोति, तदा सपराक्रमत्वाद्विहारमेव कार्यते, न नित्यवासम् ।

यत आह-

" खेत्तेण अद्धगाउय, कालेणं जाव भिक्खवेल त्ति ।
खेत्तेण य कालेण य, जाणसु अपरक्कम थेर ॥१॥ "

एवं पुनश्चङ्क्रमणरहितत्वान्नित्यवास यतनया कार्यते ।

सा चेय लेशत -

"मासे मासे वसही, तणडगलाई य अन्न गेण्हंति ।
भिक्खायरियवियारा, जहिं ठिया तत्थ नऽन्नासु ॥१॥ "

अस्या इयमक्षरगमनिका-वातोद्रेकोपद्रुतोऽपि मूर्च्छाऽऽदिरोगाऽऽघ्राततनुर्जङ्घाबलहीनतया ज्ञानाऽऽदिग्रहणकारणेन वा नित्यवासं कुर्वाणो मासे मासे अन्यां वसतिं, तृणडगलाऽऽदीनि चान्यानि गृह्णाति,भिक्षा च नान्यविभागे, विचारश्च बहिर्भूमिर्यत्र विभागे स्थितास्तत्रैव, नान्यत्रेति गाथार्थ ।

वसत्यादिविभागासम्प्राप्तौ किं कर्त्तव्यमित्याह-

"अट्ठाए जाव एक्कं, करेंति भाग असथरग्गाम ।
अट्ठाए च्चिय वसहिं, विभजती जाव मूलवसहीए" ॥१॥

अस्या अय भावार्थ -(अट्ठाए त्ति) यदि तृणडगलाऽऽदिविभागेन स्थातु शक्नोति, तदेकमेव ग्राममष्टसप्तषडाऽऽदिहीयमानभागैः प्रकुर्वन् यावत्सकलमपि ग्राममेकेनैव विभागेन विधाय वसतिं चान्यान्यां गृह्णाति, तदभावे एकस्यामपि स्थित स्तारक यतीना विधत्ते, मा चित्तशुद्धेरभावे पापबन्ध. स्यादिति । ततस्तच्छुद्धिनिमित्तमागममर्यादापरिपालनार्थं स्थानयात युक्त्या तिष्ठति, तत आराधको भवतीति गाथाऽर्थ ।

यत्पुनः पूर्वमेवंविध प्रतिपादितम्-मासकल्पाऽऽदेना विहरत. सयमाऽऽत्मविराधना,सूत्रार्थोभयहानिरपीति । तदज्ञानविजृम्भितम् । न हि विदितपरमार्था संविग्ना मोक्षसुखाभिलाषिण एवंविधपरमपुरुषाऽऽसेवित सकलशास्त्रप्रतिपादित परमनिर्जराकारणमेकान्तत. प्रभावनाकारण समस्तभव्यप्राणिप्राणक्रममुदितोदितमासकल्पविहारमतिदुष्करमवीरपुरुषाणामेवविधाऽऽशङ्कनजाल्पपरिकल्पनया दूषयन्ति । तथाहि-यत्तावत्प्रतिपादितम् अवश्य मार्गे गताना पृथिवीकायाऽऽदीना विराधना सयमविराधना, सा न सम्भवति । यत ईर्यासमितिसमिता साधवो भवन्ति । यत उक्तम्-"जुगमेत्ततरदिट्ठी, पय पय चक्खुणा विसोहतो । अव्वक्खित्ताऽऽउत्तो,इरियासमिओ मुणी होइ ॥१॥ " अथ मार्गे क्वापि सचेतनाया मिश्राया भुव सम्भव , क्वापि च हरिताया सम्भवो भविष्यति, ततोऽवश्यभाविनी विराधनेति । न । तत्रावश्यगाविगमनसम्भवे शास्त्रेऽप्यनुज्ञानात्, केवलमत्र प्रायश्चित्तशुद्धेश्च निर्दोष एवेति । यच्चेर्यायुक्तस्यापि चङ्क्रमणक्रिया विराधनाऽवश्यभाविनीति भवता सम्भावितम् । तत्राऽपि न दोषलेशोऽप्यस्ति ।

यत -

" उच्चालियम्मि पाए, इरियासमियस्स सकमट्ठाए ।
आवज्जेज्ज कुलिंगी, मरेज्ज त जोगमासज्ज ॥१॥
न हु तस्स तन्निमित्त, बन्धो सुहुमो वि देसिओ समए ।
अणवज्जो उवओगे-ण सव्वभावेण सो जम्हा ॥२॥ "

इत्यतस्तेषा भगवतां परमसयमिनां धीरपुरुषचरितानुगामिनां परीषहोपसर्गदृढोरस्थलानां मासकल्पविहारिणां नास्त्येव सयमबाधागन्धोऽपि । यच्च-परिश्रमेत्यादिनाऽऽत्मविराधनेत्युक्तम् । तदपि मुग्धधीबन्धनं व्यतिरिच्यान्यद् न साधयति । यतः प्रायः प्राणिनां रोगशोकभयभोगाऽऽदयः पूर्वोपात्तकर्मवशत. सम्भवन्ति,न यथाकथञ्चित्, तत्पुनर्नित्यवासेऽपि समानम् । यदि पुनरेतदुच्यते-विशेषतो बाह्यकारणकलापमासाद्य तदुदयमासादयति, तदा तस्याङ्गीकृतत्वादवश्यवेद्यत्वादात्मविराधनाऽपि न भवति । यतोऽवश्यवेद्यकर्मणा केनाऽपि त्राण कर्तुं न शक्यते,भवश्यवेद्यत्वादेव । यच्चोक्तम्-अपरापरग्रामनगराऽऽदिगमने अपरिचितजनसकाशादुचितभक्तपानादेरसम्भवे वातपित्ताऽऽदिक्षोभ स्यादिति । तदपि बालप्रलापकल्पम् । यतो व्रतग्रहणकाले तदङ्गीकृतमेव लाभालाभाऽऽदिकम् । यतः सर्वदैव साधूनामयमाशयविशेष -"लाभालाभे सुखे दु खे, जीविते मरणे तथा । स्तुतौ निन्दाविधाने च, साधव. समचेतस. " ॥ १ ॥ अन्यच्चाऽपूर्वापूर्वग्रामनगराऽऽदौ विहार विदधता शिष्योपधिश्रावकप्रतिबोधाऽऽहाराऽऽदेर्विशेषतो लाभ. सम्भवति,विशेषदेशनाश्रवणाद्विशेषतो भावसम्भवादिति । तथाहि-लोकेऽप्येवमेव दृश्यते-देशान्तराऽऽयातप्राघूर्णकस्य सविशेषस्नानविलेपनचीरप्रदानपर्युपासितवचनश्रवणाऽऽदेस्तथैव दर्शनादिति,नित्यवासिनां पुन सर्वाऽभाव एव,असकृदायातप्राघूर्णकस्येव । उक्त च-" अतिपरिचयादवज्ञा, भवति विशिष्टेऽपि वस्तुनि प्राय. । लोक. प्रयागवासी, कूपे स्नान सदा चरति " ॥ १ ॥ आगमेऽप्यभाणि-" पडिबन्धो लहुयत्त," इत्यादि । यदपि प्रतिपादितम्-सूत्रार्थोभयहानि. स्यादिति । तदपि मिथ्यात्वतिमिरावगुण्ठितचेतसो वञ्चना । यतो न हि विहारवतां संयमस्वाध्यायाऽऽद्यनुष्ठान व्यतिरिच्यान्यत् कर्त्तव्यमस्ति । य पुनर्विहारे वस्तुपरिकर्म्मणादौ तद्व्याघात उद्भावित , सोऽङ्गीकृत एव, यत. सूत्रार्थोभयाभ्यासोऽपि सयमाऽऽद्यनुष्ठाननिमित्तमेव विधीयते,न जनरञ्जनार्थम् । यत एतदुच्यते-"निच्चम्मि य सज्झाओ ।"अन्यच्च "पैशाचिकमाख्यान, श्रुत्वा गोपायन च कुलवध्वा । सयमयोगैरात्मा, निरन्तर व्यापृत. कार्य.॥१॥" इति । यदपि मुग्धबुद्धिबन्धनार्थं किञ्चित्प्रयोगश्चेति जल्पितम् । तदपि न विदुषा मनागप्यसुखमुत्पादयति । साक्षाद्धेतोरसिद्धताऽऽख्याऽऽलिङ्गितत्वान्नोत्सहते मासकल्पाऽऽद्युचितविहारनिषेधव्यापारान्तर प्रति,अनेकोपपत्तिभिर्मासकल्पविहारस्य सयम प्रति अवगणनया समर्थितत्वादिति । अत. स्थितमिदम्-मोक्षार्थं गृहीतदीक्षेण सयमार्थिना मासकल्पाऽऽदिना विहर्त्तव्यमिति । अस्यार्थस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामुपदेशमालाविधायकेन भगवता धर्मदासगणिनाऽपि तथैव समर्थितत्वात् ।

तथा च तत्सूत्रम्-

" कारणनीयावासे, सुट्ठुतर उज्जमेण जइयव्व ।
जह ते सगमथेरा, सपाडिहेरा तया आसि " ॥१॥

अस्यायमक्षरार्थं -कारणे हीनजङ्घाबलत्वलक्षणे, नित्यवासः कारणनित्यवास', कारणनित्यवासे सुष्ठुतरमतिशयेन यतितव्यमुद्यमेनाप्रमादेनेत्यर्थ । यथा-ते भगवन्त आगमप्रसिद्धाः संगमस्थविरसूरय सप्रातिहार्या अप्रमत्ताऽऽदिगुणगणाऽऽवर्जितहृदयतया देवैरपि स्तूयन्ते, तदा, यदाऽसौ भगवान् वृद्धवासमगमत्, आसीद् भूयादिति गाथाऽर्थ । दर्श० ४ तत्त्व ।

जाहे वि अ परितंता, गामाऽऽगरनगरपट्टणमभंता ।
तो केइ निअयवासी, संगमथेर ववइसंति ॥ ११ ॥

यदाऽपि च परिश्रान्ताः, सर्वथा श्रान्ता इत्यर्थः । किं कुर्वन्तः सन्तः ?, ग्रामाऽऽकरपत्तनाऽऽघटन्त सन्तः । ग्रामाऽऽदीनां स्वरूप प्रसिद्धमेव । तत केचन नष्टनाशका नित्यवासिन, न तु सर्व एव । किम् ?, सगमस्थविरमाचार्यं, व्यपदिशन्त्यालम्बनतयेति गाथाऽर्थः ॥ ११ ॥

कथम् ?-

संगमथेरायरिओ, सुट्ठु तवस्सी तहेव गीअत्थो ।
पेहित्ता गुणदोसं, नितियावासं पवन्नो उ ॥ १२ ॥

इय चान्यकर्तृकी गाथा सोपयोगा च निगदसिद्धा । क पुनः सगमस्थविर ?, इत्यत्र कथानकम्-"कोल्लइरपुरे नगरे सगमथेरा दुब्भिक्खत्तेण साहूहिं विसज्जिया । ते त नगर नवहा काऊण जंघाबलपरिहीणा विहरति । नगरदेवया किर तेसिं उवरि पसन्ना । तेसिं सीसो दत्तो नाम आहिंडिउ चिरेण कालेण वद्दतवाहओ आगओ । सो तेसिं पडिस्सए न पविसति नियवासि त्ति काउ । भिक्खावेलाए उग्गाहिय हिंडता सकिलस्सति, कुटोऽय सक्कुड्डाणि न दाएति । एगत्थ सेट्ठिकुले रेवईए गहीओ दारओ । छम्मासा रोवतस्स आयरिएहिं चप्पुडिया कया । मा रोव । वाणमतरीए मुक्को । तेहिं तुट्ठेहिं पभिलाभिया जहिच्छिएण । सो विसज्जिओ । आयरिया सुन्न हिंडिऊण भत पत गाहायागया समुद्दिहा । आवस्सयआलोचणाए आयरिया भणति-आलोएहि । सो भणति-तुज्झेहिं सम हिंडिओ त्ति । ते भणति-धातिपिंडो ते भुत्तो त्ति । भणति-मम अतिसुहुमाणि पाससि त्ति पइट्ठो । देवयाए अट्टरत्ते वास, अधकार च विउव्विय । एस हीलेइ त्ति । आयरिएहिं भणिओ-एहि । सो भणइ-अधयारो त्ति । आयरिएहिं अगुली दाइया पज्जलिया आउट्टो आलोए त्ति । आयरिया वि नवभागे परिकहिंति । एवमए पुट्ठाऽऽलवणो ण होइ, सव्वेसिं मदधम्माणमालवण ति" ॥ १२ ॥

आह च-

ओमे सीमपवासं, अप्पमिवयं अजंगमत्तं च ।
न गणेंति एगखित्ते, गणेंति वासं निअयवासी ॥ १३ ॥

'ओमे' दुर्भिक्षे, शिष्यप्रवास शिष्यगमन, तथा तस्यैवाप्रतिबन्धमनजिष्वङ्गमजङ्गमत्व च वृद्धत्व, चशब्दात्तत्रैव क्षेत्रविभागभजन च । इदमालम्बनजाल न गणयन्ति नापेक्षन्ते, नाऽऽलोचयन्तीत्यर्थ । किं तु एकक्षेत्रे गणयन्ति वास, नित्यवासिनो मन्दधिय । इति गाथाऽर्थ ॥१३॥ आव० ३ अ०। ध०र०।

णितियावाइ(ण्)-नित्यावादिन्-त्रि०। नित्यो मोक्षो यत्र गतानां पुनरागमनाऽऽदि नास्ति । नित्यतयाऽवस्थितिर्यत्रास्ति तन्निषेधप्ररूपके, दशा० ६ अ० । " णितिया सव्वभावा सयुल्लीण । " स्था० ६ अ० ।

णित्त-नेत्र-न० । नयने, लोचने, स्था० १० ठा० ।

णित्तल्ल-निस्तल्ल-त्रि० । अनिवृत्ते, " तेण णित्तल मणिरयण अस्सादेंति । " भ० १५ श० ।

णित्तिरमिअ-देशी-त्रुटिते, दे० ना० ४ वर्ग ४१ गाथा ।

णित्तिरडी-देशी-निरन्तर, दे० ना० ४ वर्ग ४० गाथा ।

णित्तुप-निस्तुप-त्रि० । अचोप्पडे, अवघारिते, बृ० १ उ० ।

णित्तुस-निस्तुष-त्रि० । तुषरहिते, तद्वद्विशुद्धे च । प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

णित्तेय-निस्तेजस्-त्रि० । गतकान्तौ, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । निर्वीर्ये, भ० ९ श० ३३ उ० ।

णित्थरण-निस्तरण-न० । पारप्रापणे, ज० ३ वक्ष० । " णित्थरणसमत्था । " आ० म० १ अ० २ खण्ड । ज० ।

णित्थरिज्जंत-निस्तीर्यमाण-त्रि० । पर्यन्ते प्राप्यमाणे, सथा० ।

णित्थाण-निस्थान-त्रि० । स्थानभ्रष्टे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । स्थानवर्जिते, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

णित्थारग-निस्तारक-त्रि० । पारगे, "णित्थारगपारगा होह ।" इति वन्दक प्रति गुरुवचनम् । निस्तारकाः ससारसमुद्रात, प्राणिना प्रतिज्ञाया वा पारगा । ससारसमुद्रतीरगामिनो भवत यूयमित्याशीर्वचनम् । पा० । ध० ।

णित्थारणा-निस्तारणा-स्त्री० । पारप्रापणायाम, जं०३ वक्ष० । ('परिहार' शब्दे सयमे सीदतां सयताना निस्तारणा वक्ष्यते)

णिदंसण-निदर्शन-न० । कथञ्चिद् गृह्णन अभ्युपगच्छत परानुकम्पया निश्चयेन पुन पुनर्दर्शने, स्था० १० ठा० । अनु० । ग० । उत्त० ।

णिदंसिय-निदर्शित-त्रि० । नितरामनुज्ञाते, षो० ६ विव० । कथञ्चिद् गृह्णन परयाऽनुकम्पया निश्चयेन पुन पुनर्दर्शिते, ग० २ अधि० । अनु० ।

णिदरिसण-निदर्शन-न० । निश्चयेन दर्श्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिक पदार्थ इति निदर्शनम् । दृष्टान्ते, दश० १ अ० ।

णिदा-निदा-स्त्री० । निदान निदा । प्राणिहिंसा नरकाऽऽदिदुःखहेतुरिति जानतोऽपि, यद् वा साधूनामाधाकर्म न कल्पते इति परिज्ञानवतोऽपि जीवानां प्राणव्यपरोपणे, पिं० । नियतं दान शुद्धिर्जीवस्य 'दैप्' शोधने इति वचनाद्, निदा । ज्ञाने, आभोगे, तद्युक्ता वेदनाऽपि निदा । आभोगवत्या वेदनायाम, भ० १९ श० ५ उ० ।

णिदाह-निदाघ-नितरां दह्यतेऽत्र । नि-दह-घञ् । न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । उष्णे, घर्मे, घर्मकाले च । वाच० । लोकोत्तररीत्या श्रावणाऽऽदिगणनया एकादशे लौकिकरीत्या ज्येष्ठाऽऽख्ये मासे, आव० ५ अ० ।

निदाह-पुं० । अधिको दाहो निदाह । असाधारणदाहे, आव० ५ अ० ।

णिद्दज्झाण-निद्राध्यान-न० । निद्रापरतन्त्रस्य ध्यान निद्राध्यानम् । स्त्यानर्द्धिनिद्रया महिषमांसभक्ति-मोदकाभिलाषिहस्तिदन्तोत्पाटकारि-प्राक्कुम्भकारत्वाभ्यस्तमृत्पिण्डत्रोटनवत् सा धुमस्तकत्रोटि-वटशाखाभेदि-साधूनामिव दुर्ध्याने, आतु० ।

णिद्दक्खय-निद्राक्षय-पु० । स्वापप्रमोक्षे, निद्राक्षयेण सुप्तोऽपि बुध्यते । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णिद्दड्ढ-निर्दग्ध-पु० । सीमन्तकप्रज्ञानरकेन्द्रकात्पूर्वस्यामावलिकायामेकविंशेऽपक्रान्तनरके, स्था० ५ ठा० २ उ० । 'माया' शब्दे उदाहरिष्यमाणाया रत्नायाम्, स्त्री० । महा० २ चू० ।

णिद्दड्ढमज्झ-निर्दग्धमध्य-पु० । सीमन्तकमध्यादुत्तरस्यामावलिकायामेकविंशेऽपक्रान्तमहानरके, स्था० ६ ठा० ।

णिद्दड्ढावत्त–निर्दग्धाऽऽवर्त्त–पुं० । सीमन्तकाऽऽवर्तात् पश्चिमायामेकविंशोऽपक्रान्तमहानरके, स्था० ६ ठा० ।

णिद्दड्ढोसिद्ध–निर्दग्धावशिष्ट–पुं० । सीमन्तकावशिष्टाद्दक्षिणस्यामावलिकायामेकविंशेऽपक्रान्तमहानरके, स्था० ६ ठा० ।

णिद्दय–निर्दय–त्रि० । निष्करुणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । निष्कृपे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । निर्घृणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिद्दर–निर्दर–पुं० । कन्दरायाम्, हैमेऽभिधानचिन्तामणौ ।

णिद्दलण–निर्दलन–न० । मर्दने, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

णिद्दह–विगल–धा० । वि-गल । " विगले: थिप्प-णिट्टुहौ " ॥८ । ४ । १७५॥ इति विगलतेर्णिद्दुहाऽऽदेशः । 'णिद्दहइ' । पक्षे-'विगलइ' । विगलति । प्रा० ४ पाद ।

णिद्दा–निद्रा–स्त्री० । 'द्रा' कुत्सायां गतौ । नियत द्राति कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यमनयेति निद्रा । " षिद्भिदादिभ्योऽङ् " ॥३।३।१०४॥ इति अङ्प्रत्ययः । स्वापावस्थाविशेषे, कर्म० ६ कर्म० । प्रव० । पा० । प० स० । उत्त० । स्था० ।

सुहपडिबोहा णिद्दा, ‥ ‥ ‥ ‥ ‥ ‥ [११]

सुखेनाकृच्छ्रेण नखच्छोटिकामात्रेणाऽपि प्रतिबोधो जागरणं स्वप्तुर्यस्यां स्वापावस्थायां सा सुखप्रतिबोधा निद्रा,तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि कारणे कार्योपचारान्निद्रेत्युच्यते । कर्म० १ कर्म० । अनु० । प्रज्ञा० । निद्रा पञ्चविधा–निद्रा १,निद्रानिद्रा २, प्रचला ३,प्रचलाप्रचला ४,स्त्यानर्द्धिश्च ५ इति । बृ० ४ उ० । स० । (आसां पृथक् पृथक् व्याख्या तत्तच्छब्दे)

णिद्दाऽऽदिवज्जणं पडिसिद्धकाले आयरमाणस्स पच्छित्तं भणति-

दिवसे णिसि पढमे चरिमे, चउक्क आसेवणे लहूमासो ।
आणऽणवत्थुड्डाहो, विराधणा णिद्दवुड्ढी य ॥ १३४ ॥

दिवसतो चउसु वि जामेसु, णिसा रात्री, ताए पढमजामे, चरिमे वा जामे, चउक्कं णाम–णिद्दा, णिद्दाणिद्दा, पयला, पयलापयला । आसेवणं णाम–एतासु वट्टति । तत्थ से पत्तेगं चउसु वि मासलहु । णिद्दाए दोहि वि लहु, अतिणिद्दाए कालगुरु । पयलाए तवगुरु । अतिपयलाए दोहिं वि गुरु । सुत्तताण य इमे दोसा–भगवता पडिसिद्धेसु जओ आणाभंगो कओ भवति, आणाभंगेण य चरणभंगो । जतो भणियं–"आणाए च्चिय चरणं,तब्भंगे जाण किं न भग्गं तु ?।" अणवत्थदोसो य–एगो पडिसिद्धकालेसु सुवतो, अण्णो वि त दट्ठु सुवति, "एगेण कयमकज्जं,करेति तप्पच्चया अण्णो ।" उड्डाहो य भवति–दिवसे सुवंतो य दिट्ठो असज्जणेहिं चिंतयति–जाहे एस णिक्खित्तसज्झायज्झाणजोगो सुवति, ताहे णिच्छिज्जति–रातो रतिकिलंतो, एवं उड्डाहो भवति । अहवा भणंति–ण कम्मं, ण धम्मो, अहो सुहवइत्त । विराहणा–सुत्तो आलीवणगे डज्झेज्जा । णिद्दवुड्ढी य । यत उक्तम्–"पञ्च वर्द्धन्ति कौन्तेय !,सेव्यमानानि नित्यशः । आलस्यं मैथुनं निद्रा,क्षुधा क्रोधश्च पञ्चमः ॥१॥" नि० चू० १ उ० । बृ० । (उदकतीरे निद्रापञ्चककरणनिषेधो 'दगतीर ' शब्दे वक्ष्यते)

छद्मस्थो निद्राति, प्रचलायतीत्याह-

छउमत्थे णं भंते ! मणूसे निद्दाएज्ज वा,पयलाएज्ज वा ? हंता ! निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा, जहा हसेज्जा तहा, णवरं दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं निद्दाएइ वा, पयलाएइ वा, से णं केवलिस्स नत्थि, अण्णं तं चेव ॥

"छउमत्थे" इत्यादि । (णिद्दाएज्ज व त्ति) निद्रां सुखप्रतिबोधलक्षणां, कुर्यात् निद्रायेत् । (पयलाएज्ज व त्ति) प्रचलां ऊर्ध्वस्थितनिद्राकरणलक्षणां,कुर्यात् प्रचलायेत् । भ० ५ श० ४ उ० ।

नितरां द्रान्ति गच्छन्ति कुत्सितामवस्थामिहामुत्र चानयेति निद्रा । तद्वशात् प्रदीपनकाऽऽदिषु विनाशमिहैवानुभवन्ति । धर्मकार्येष्वपि शून्यमानसत्वान्न प्रवर्तन्ते इति । अक्षिसङ्कोचनरूपायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सुप्ततायाम्, उत्त० ४ अ० । आ० म० । " जागरिता धम्मीणं, अधम्मियाणं च सुत्तिया सेया । वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥२०६॥ " (इति ' जागरिया ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४४८ पृष्ठे, 'जयंती' शब्दे च १४०६ पृष्ठे चिन्तितम्)

णिद्दाण–निद्राण–त्रि० । सुप्तप्रमत्ते, प्रति० ।

णिद्दाणिद्दा–निद्रानिद्रा–स्त्री० । निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा । मयूरव्यंसकाऽऽदित्वान्मध्यमपदलोपी समासः । कर्म० १ कर्म० । शाकपार्थिवाऽऽदित्वान्मध्यमपदलोपी वा समासः । स्था० ६ ठा० । दुष्प्रबोधायां स्वापावस्थायाम्,कर्म० ।

निद्रानिद्रास्वरूपमाह–

‥‥‥‥ , णिद्दाणिद्दा य दुक्खपडिबोहा । [११]

दुःखेन कष्टेन बहुभिर्घोलनाप्रकारैरत्यर्थमस्फुटतरीभूतत्वेन चैतन्यस्य प्रतिबोधो यस्यां सा दुःखप्रतिबोधा । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । तस्या हि चैतन्यस्यात्यन्तमस्फुटतरीभूतत्वाद् बहुभिर्घोलनाप्रकारैः प्रबोधो भवत्यतः सुखप्रबोधनिद्रातोऽस्या अतिशायिनीत्वं, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा । प्रव० २१६ द्वार । कर्म० । प० स० । उत्त० । नि० चू० । स्था० । प्रज्ञा० । प्रव० । स० ।

णिद्दापमाय–निद्राप्रमाद–पुं० । क० स० । प्रमादकारणीभूतनिद्रायाम्. "निद्राशीलो न श्रुतं नाऽपि वित्तं, लब्धुं शक्तो हीयते चैव तावत् । ज्ञानद्रव्याज्जावतो दुःखभागी, लोकेऽत्रैते स्यादतो निद्रयाऽऽलम् ॥१॥" इति । स्था० ६ ठा० ।

णिद्दामत्त–निद्रामत्त–त्रि० । निद्राऽभिभूते, आव० ५ अ० ।

णिद्दायण–निद्रायण–न० । निद्रायणस्य स्वापावस्थायाम्,बृ० ३ उ० ।

णिद्दारिय–निर्दारित–त्रि० । विस्फारिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । निष्कासिते, " निद्दालियग्गजीहे । " उपा० २ अ० ।

णिद्दिट्ठ–निर्दिष्ट–त्रि० । कथिते, विशे० । त० । प्रतिपादिते, दर्श० ३ तत्त्व । आव० । दर्शिते, पञ्चा० ३ विव० ।

णिद्दुक्खिया–निर्दुःखिका–स्त्री० । दुःखरहितायाम्, त० ।

णिद्देस–निर्देश–पुं० । निर्देशन निर्देशः । विशेषाभिधाने, यथा आवश्यके सामायिकमिति । अनु० । आ० म० । "सामाइय ति निद्देसो त्ति । " (तत्स्वरूपम् ' उद्देश ' शब्दे द्वितीयभागे ७७६ पृष्ठे उक्तम्) (निर्देशनिक्षेपोऽपि तत्रैवोक्तः)

यकाभ्यां चोद्देशनिर्देशाभ्यामिहाधिकारस्तदाह–

ओहेओ खइओ त्ति य, नाणं चरणं ति नामनिद्देसो ।

एत्थ विसेसाहिगमो, समासउद्देसनिद्देसो ॥ १५०२ ॥
अज्झयणं उद्देसो, तं चिय सामाइयं ति निद्देसो ।
बुद्धीऍ जहासंभव-माजोज्जं सेसएसुं पि ॥ १५०३ ॥

औदयिको भाव, क्षायिको भाव इत्यादि । अथवा- ज्ञान, दर्शन, चारित्रमित्यादिको ज्ञानाऽऽदीनां क्षायिकक्षायोपशमिकभाववृत्तित्वाद्भावनिर्देश । इह च प्रत्येकमष्टविधे उद्देशे निर्देशे च समासोद्देशः, समासनिर्देशश्च विशेषेणाधिकृत । तथाहि-प्रस्तुतेऽध्ययनम, इत्येष समासोद्देश, सामायिकमिति च विशेषाभिधानरूपत्वात्समासनिर्देश । एवं स्वबुद्ध्या यथासम्भव शेषेष्वपि श्रुतस्कन्धचतुर्विंशतिस्तवाऽऽद्यध्ययनेष्वायोज्यम्, यथा श्रुतस्कन्ध इति समासोद्देश, आवश्यकमिति समासनिर्देश इत्यादि ॥ १५०२ ॥ १५०३ ॥

उत्तरगाथासम्बन्धनार्थमाह--

सामाइयं नपुंसय-मस्स पुमं थी नपुंसगं वा वि ।
निद्दिट्ठा तत्थिच्छइ, कं निद्देसं नओ को णु ? ॥१५०४॥

इह सामायिकमिति नपुंसकतया रूढम । अस्य च त्रिविधो निर्देष्टा उच्चारयिता, स्त्रीपुम्नपुंसकभेदात् । तत्रेह नयैर्विचार्यते-को नय. क निर्देशमिच्छति ?-किं निर्देश्यवशाद, निर्देशकवशाद्वा ?, इति विनेय. पृच्छतीति गाथाऽर्थ ॥१५०४॥

अस्मिंश्च प्रश्ने सत्याह-

दुविहं पि नेगमनओ, निद्दिट्ठं संगहो य ववहारो ।
निद्देसयमुज्जुसुओ, उभयसरिच्छं च सद्दस्स ॥१५०५॥

नैके गमा वस्तुधर्मपरिच्छेदा यस्याऽसौ ककारवर्णनाशान्नैगम, अनेकप्रकारवस्त्वभ्युपगमपर इत्यर्थः । नैगमश्चासौ नयश्च नैगमनय । स द्विविधमपि निर्देश्यवशान्निर्देशकवशाच्च निर्देशमिच्छति, इति शेष, लोकव्यवहारपरत्वात, अनेकगमरूपत्वाच्चास्य नयस्य । लोके च निर्देश्यवशात, निर्देशकवशाच्च निर्देशप्रवृत्तिर्दृश्यते । तत्र निर्देश्यवशाद् यथा-'वासवदत्ता, तरङ्गवती, प्रियदर्शनाकथा' इत्यादि । निर्देष्टृवशात्तु मनुना प्रणीतो ग्रन्थो मनु', अक्षपादेनोक्तोऽक्षपाद इत्यादि । लोकोत्तरे तु निर्देश्यवशाद षट्जीवनिकायप्रतिपादकमध्ययन षट्जीवनिका, माश्वाचारप्रतिपादको ग्रन्थ आचार इत्यादि । तथा-निर्देशकवशान्निर्देशो यथा-कपिलेन प्रणीत कापिलीयमध्ययनं, हरिकेशिना प्रणीत हरिकेशीय, केशिगौतमाभ्यामभिहित केशिगौतमीयं, नन्दिसंहिता, जिनप्रवचनमित्यादि । एव सावद्यविरमणरूप सामायिक रूढितो नपुंसकमिति कृत्वा निर्देश्यवशान्नैगमो नपुंसकनिर्देशमेवास्य मन्यते । यथा-सामायिक नपुंसकमिति । तथा सामायिकं निर्देष्टृ स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गत्वात्तद्वशात्सामायिकस्य त्रिलिङ्गताऽप्येतन्मतेन भवति । यथा-सामायिक स्त्री, सामायिक पुरुष, सामायिक नपुंसकमिति । यथा वा देवदत्ताऽऽदिना घटाऽऽदिशब्दे समुच्चारिते स घटाऽऽदिशब्द उच्चारयितृदेवदत्ताऽऽदिपरिणामत्वाद्देवदत्ताऽऽदिशब्दत्वेन व्यपदिश्यते; तथा-तदभिधेयपृथुबुध्नोदराऽऽद्याकारघटाऽऽदिपदार्थपरिणामत्वाद् घटाऽऽदिशब्दत्वेनापि लोके निर्दिश्यते । एव स्वाभिधेयसावद्यविरमणपर्यायत्वात्सामायिकस्य नैगमो नपुंसकनिर्देशं मन्यते । अभिधायकस्त्रीपुरुषाऽऽदिपरिणामत्वात्तु त्रिलिङ्गत्रयनिर्देशमप्यसावभ्युपगच्छति, यथा-'सामायिक स्त्री' इत्यादि । आह-'दुवि-

हं पि नेगमणओ' एतावन्मात्रोक्तौ निर्देश्यवशाद्, निर्देशकवशाच्च द्विविधं निर्देशमिच्छतीति कुतो लभ्यते ?, इति । अत्रोच्यते-" निद्दिट्ठ संगहो य ववहारो " इतिवचनात् । अत्र ह्ययमर्थः-निर्दिष्टमभिधेय वस्त्वङ्गीकृत्य संग्रहव्यवहारौ निर्देशमिच्छत., निर्देश्यपर्यायत्वाद् वचनस्य, इत्यादियुक्तिश्च भाष्ये वक्ष्यते । तदिद निर्दिष्ट वस्त्वभिप्रेत्येतिवचनात्प्रागपि " दुविहं पि " इत्यत्र निर्दिष्टनिर्देशकवशान्निर्देश इति गम्यते । (निद्देसयमुज्जुसुओ त्ति) निर्दिशतीति निर्देशको वक्ता, तमङ्गीकृत्य ऋजुसूत्रो निर्देशमिच्छति । यथा-'सामायिक स्त्री' इत्यादि । वक्तृपर्यायत्वाद्वचनस्येत्यादि युक्तिरत्रापि भाष्येऽभिधास्यते । (उभयसरिच्छं च सद्दस्स त्ति) उभयमिह निर्देश्य निर्देशकं च वस्तु तस्योभयस्य सदृशं समानलिङ्गमेवाऽऽश्रित्य शब्दनयस्य निर्देशप्रवृत्तिरिति गम्यते । यदि हि निर्देश्य नपुंसकं, तदा निर्देष्टाऽपि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणो नपुंसकमेव, वक्तुर्वाच्योपयोगानन्यत्वेन तद्रूपत्वात् । उपयोगप्रधाना हि शब्दनया., ततो यो यत्रोपयुक्त. स तद्रूप एव, यथाऽग्न्युपयुक्तोऽग्नि, तथा च सति स्त्रीपुरुषावपि यदा रूढितो नपुंसके सामायिके उपयुक्तौ भवत, तदा निर्देश्यनपुंसकोपयुक्तत्वान्नपुंसकमेव, तदुपयोगानन्यत्वेन तद्रूपत्वादिति । स्त्रीपुरुषौ वा नपुंसक भूत इत्यस्य त्वर्थस्य शब्दनयमतेनासम्भव एवेति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थ. ॥ १५०५ ॥

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुर्भाष्यकारः प्राऽऽह-

जं संववहारपरो-ऽणेगगमो णेगमो तओ दुविहं ।
इच्छइ सववहारो, दुविहो जं दीसए पायं ॥ १५०६ ॥

यद्यस्माल्लोकव्यवहारपरोऽनेकगमश्च नैगमनय, ततस्तस्मान्निर्देश्यवशान्निर्देशकवशाच्च द्विविधमपि निर्देशमिच्छति । लोकव्यवहारश्च प्रायो द्विधा दृश्यते ॥ १५०६ ॥

कथम ?, इत्याह-

छज्जीवणियाऽऽयारो, निद्दिट्ठवसेण तह सुयं चऽत्थं ।
तं चेव य जिणवयणं, सव्वं निद्देसयवसेणं ॥ १५०७ ॥
जह वा निद्दिट्ठवसा, वासवदत्तातरंगवइयाइं ।
तह निद्देसगवसओ, लोए मणुरक्खवाउ त्ति ॥ १५०८ ॥

लोको द्विधा-अर्हद्दर्शनानुगतो लोकोत्तररूपः, तद्व्यतिरिक्तश्च । तत्र लोकोत्तरे निर्दिष्टार्थवशान्निर्देशो यथा-षट्जीवनिका नामाध्ययनम, आचार, आवश्यकमित्यादि । (तह सुय चऽत्थ, त चेव येत्यादि) तथा अत्रैव लोकोत्तरे तदन्यच्च श्रुतं निर्देशकवशात्सर्वमपि जिनप्रवचनमुच्यते । तथा-अन्यत्किमपि श्रुत निर्देशकवशादेवोच्यते । तथा-भद्रबाहुनिर्मित्तं, नन्दसंहिता, कापिलीयमित्यादि । यथा वा-इतरलोके निर्दिष्टवशाद्वासवदत्ता, तरङ्गवतीत्यादिनिर्देश., निर्देशकवशात्तु मनु., अक्षपाद इत्यादि ॥ १५०७ ॥ १५०८ ॥

तथा किम ?, इत्याशङ्क्य प्रकृते योजयन्नाह-

तह निद्दिट्ठवसाओ, नपुंसगं नेगमस्स सामइयं ।
थीपुंनपुंसगं वा, तं चिय निद्देसयवसाओ ॥ १५०९ ॥

यथा षट्जीवनिका, आचार इत्यादौ निर्दिष्टार्थवशान्निर्देश, तथाऽत्रापि सावद्यविरमणलक्षणनिर्दिष्टनपुंसकार्थवशात्सामायिकम्, इति नपुंसकनिर्देश., यथा वा मनु, अक्षपाद इ-

स्यादौ निर्देशकवशान्निर्देश, तथाऽत्रापि योषित्पुरुषनपुंसकलक्षणत्रिविधनिर्देशकवशात् तदेव सामायिकं स्त्रीपुंनपुंसकं भवति। स्त्र्यादित्रिविधनिर्देशकवशाद् नन्दसंहितामनुकापिशीयाऽऽदिवत् त्रिष्वपि लिङ्गेषु सामायिकस्य निर्देशप्रवृत्तिः, यथा-'सामायिकं स्त्री' इत्यादि ॥ १५०९ ॥

अथ प्रकारान्तरेणाऽपि लोकव्यवहारोपदर्शनेन प्रकृतं समर्थयन्नाह-

जह वा घडाभिहाणं, घडसद्दो देवदत्तसद्दो त्ति।
उभयमविरुद्धमेवं, सामइयं नेगमनयस्स ॥ १५१० ॥

इयं च गाथा- यथा वा देवदत्ताऽऽदिना घटाऽऽदिशब्दे समुच्चारिते इत्यादिना व्याख्यातैवेति ॥ १५१० ॥

"निद्दिट्ठ संगहो य ववहारो" (१५०५) इत्येतद्व्याख्यातुमाह-

अत्थाउ च्चिय वयणं, लहइ सरूवं जओ पईवो व्व।
तो संगहववहारा, भणंति निद्दिट्ठवसगं तं ॥ १५११ ॥

यतो यस्मादर्थादेव वाच्याद् घटाऽऽदेः सकाशाद्वाचकं वचनं स्वरूपमात्मलाभं लभते, नान्यथा, यथा प्रदीपः। प्रदीपो हि प्रकाश्यमेवार्थं प्रकाशयन् प्रदीपो भण्यते, यदि तु प्रकाश्यं वस्तु न स्यात्, तदा किमपेक्षोऽसौ प्रदीपः स्यात् ?। तस्माद्यथा प्रकाश्यादेवार्थात्प्रदीप आत्मलाभं लभते, तथा वाच्यादेवार्थाद् वचनमात्मस्वरूपमाप्नोति। ततस्तस्मात्संग्रहव्यवहारनयौ निर्दिश्यते इति निर्दिष्टं वाच्यं वस्तु तद्वशगं तदधीनमेव तद्वचनं भणतो ब्रूतः। वाच्यं चेह सामायिकशब्दस्य सावद्यविरतिरूपः, तदभिधेयोऽर्थः। स च रूढितो नपुंसकतया प्रसिद्ध इति। अतः सामायिकस्य नपुंसकलिङ्गतामेव संग्रहव्यवहारावभ्युपगच्छतः। अथवा सामायिकवतां सत्त्वानां स्त्रीपुंनपुंसकत्वात् तत्परिणामानन्यत्वेन च सामायिकार्थस्य स्त्र्यादिरूपत्वाद्वाच्यवशेन त्रिलिङ्गताऽपि सामायिकस्य संग्रहव्यवहारनयमतेन द्रष्टव्येति ॥ १५११ ॥

प्रकारान्तरेणाऽपि निर्दिष्टवशान्निर्देशं समर्थयन्नाह-

अहवा निद्दिट्ठत्थ-स्स पज्जओ चेव तं सधम्म व्व।
तप्पच्चयकारणओ, घडस्स रूवाइ धम्म व्व ॥ १५१२ ॥

अथवा तद्वचनं निर्दिष्टार्थस्य वाच्यवस्तुनः पर्याय एव, प्रत्ययकारणत्वात्-वाच्यार्थप्रतीतिहेतुत्वात्, यथा तस्यैव निर्देश्यस्य घटाऽऽदेरन्ये संस्थानाऽऽदयो धर्माः। इह यद्यस्य प्रत्ययकारणं तत्तस्य स्वपर्यायः, यथा घटस्य रूपाऽऽदयः, वचनं च वाच्यार्थस्य प्रत्ययकारणम्, अतस्तत्पर्यायः, पर्यायश्च पर्यायिणोऽनन्य एवेति युक्तो निर्देश्यवशान्निर्देश इति ॥ १५१२ ॥

स्यादेतदसिद्धोऽयं हेतुः, एतत्प्रत्ययकारणत्वाद्वचनस्य, इत्येतन्निराकरणार्थमाह-

वयणं विन्नाणफलं, जइ तं भणिए वि नत्थि किं तेणं ?।
अन्नत्थ पच्चए वा, सव्वत्थ वि पच्चओ पत्तो ॥१५१३॥
अभिधेयसंकरो वा, वत्तरि पच्चओऽणभिहिए वि।
तम्हा निद्दिट्ठवसा, नपुंसगं बेंति सामइयं ॥ १५१४ ॥

अर्थविज्ञानफलं हि वचनं, यदि भणितेऽप्युदीरितेऽपि वचने (नेति) तदर्थविज्ञानं, नास्ति न भवति, तर्हि कण्ठौष्ठशोषमात्रविधायिना किं तेनोक्तेन, निष्फलत्वात् ?। स्यादेतद्वाच्यादर्थादन्यत्र वक्तृलक्षणेऽर्थे विज्ञानं जनयिष्यति वचनम्, ततश्च विज्ञानफलं च तद्भविष्यति, वाच्येऽर्थे विज्ञानं च न जनयिष्यति, तथा च सति वाच्यार्थपर्यायो वचनं न भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह-(सव्वत्थेत्यादि) यदि हि वाच्यमर्थं विहाय वक्तृलक्षणेऽर्थान्तरे प्रत्ययं वचनं जनयति, तर्ह्यविशेषेणैव सर्वत्राऽर्थे प्रत्ययः प्राप्तः, न वा क्वचिदप्यर्थेऽसौ भवेत्, अविशेषादिति-अतत्पर्यायत्वेऽपि तत्प्रत्ययहेतुत्वे सर्वत्राऽसौ भवेत्, न वा क्वचिद्भवेदिति भावः। स्यादेतद्वचनाद्वक्तरि प्रत्ययो भवत्येव, यथाऽनेनेदमभिहितमिति, तत्किमुच्यते-"जइ तं भणिए वि नत्थि किं तेण ?" इति। इत्याशङ्क्याऽऽह-"अभिधेयसंकरो वेत्यादि।" अथ वा वाच्यादर्थादन्यत्र प्रत्ययेऽभ्युपगम्यमाने सर्वत्राऽपि प्रत्ययो न भवेदित्येको दोष उक्तः। अथ दोषान्तरमभिधित्सुराह-(अभिधेयसंकरो वेत्यादि) यदि हि वक्तर्यनभिहितेऽपि वचनात्तत्र प्रत्ययोऽभ्युपगम्यते, हन्त ! तर्हि वक्तृवदनभिहितानि शरीरगृहेङ्गिताऽऽदीनि बहूनि वस्तूनि सन्ति, ततो वक्तृवत्तेषामपि श्रोतुः प्रत्यये सत्यभिधेयानां सर्वेषाम्, अभिधेयेन वा घटाऽऽदिना सह वक्त्रादीनामन्येषां सङ्करः, एकस्यां श्रोतृप्रतीतौ साङ्कर्यं युगपत्तदाकारसंक्रमणं प्राप्नोति, न चैतदस्ति, एकस्माद्वचनादेकस्यैव प्रतिनियतस्य घटाऽऽद्याकारस्य संवेदनादिति। तस्मादभिधेयपर्याय एव वचनम्, तत्प्रत्ययकारणत्वात्। अतो निर्दिष्टमिह सामायिकशब्दस्यार्थरूपं सामायिकं रूढितो नपुंसकम्, तद्वशात्सामायिकशब्दं संग्रहव्यवहारयोर्नपुंसकलिङ्गं वृत्ति। अथवा-सामायिकवतः स्त्रीपुंनपुंसकत्वात्, तत्परिणामानन्यत्वाच्च सामायिकार्थस्य त्रिलिङ्गतामपि संग्रहव्यवहारावभ्युपगच्छतः। ततो निर्दिष्टस्य सामायिकार्थस्य त्रिलिङ्गत्वान्निर्देश्यवशादपि संग्रहव्यवहारमतेन सामायिकस्य त्रिलिङ्गताऽपि भवति; यथा-'सामायिकं स्त्री' इत्यादि। एतच्च स्वयमेव द्रष्टव्यम् ॥ १५१३ ॥ १५१४ ॥

'निद्देसगमुज्जुसुओ' (१५०५) इति व्याचिख्यासुराह-

उज्जुसुओ निद्देसग-वसेण सामाइयं विणिद्दिसइ।
वयणं वत्तुरहीणं, तप्पज्जाओ य तं जम्हा ॥ १५१५ ॥

ऋजुसूत्रनयो निर्देशकवशेनाभिधातृपारतन्त्र्येण सामायिकं निर्दिशति, यदेव निर्देशकस्य लिङ्गं, तदेव सामायिकस्यासौ मन्यते, यथा-'सामायिकं स्त्री' इत्यादि, वचनस्य वक्त्रधीनत्वात्, तत्पर्यायत्वाच्च, विज्ञानवदिति।

अथ वचनस्य वक्त्रधीनत्वे युक्तिमाह-

करणत्तणओ मण इव, सपज्जयाओ घडाऽऽइरूवमिव।
साहीणत्तणओ वि य, सधणं व वओ वयंतस्स ॥१५१६॥

वदत एव सम्बन्धि वचः, इति पर्यन्ते प्रतिज्ञा। अत्र सदृष्टान्तं हेतुनाह-करणत्वात्, मनोवत्, तथा-स्वपर्यायत्वात्, घटाऽऽदे रूपाऽऽदिवत्; तथा-स्वाधीनत्वात्, स्वधनवदिति ॥१५१६॥

युक्त्यन्तरमाह-

तह सुत्तदुरुत्ताओ, तस्सेवाणुग्गहोवघायाओ।
तस्स तयमिदियं पि व, इहरा अकयाऽऽगमो होज्जा ॥१५१७॥

तस्यैव वक्तुस्तद्वच इति पक्षः, वचनस्य सूक्तदुरुक्तत्वाभ्यां वक्तुरेवानुग्रहोपघातदर्शनात्। इह यस्य यन्निमित्तावनु-

ग्रहोपघातौ तस्य तदात्मीयम् यथा देवदत्ताऽऽदेरिन्द्रियम्, इ-ष्येते वचनसूक्तत्वदुरुक्तत्वाभ्यां वक्तुरनुग्रहोपघातौ, तस्मात्त-त्तस्याऽऽत्मीयम । विपर्यये बाधकमाह-इतरथा अन्यथा वच-नस्य वक्तुरसंबन्धित्वे तस्याऽनुग्रहोपघातयोरकृताभ्यागम एव स्यादिति ॥ १५१७ ॥

अत्र पर प्राऽऽह-

निद्दिट्ठस्स वि कस्सवि, णणूवघायाइओ तयं जुत्तं ।
ते तस्स सकारणओ, इहरा थाणुस्स वि हवेज्जा ॥१५१८॥

ननु न केवल निर्देशकस्य, किं तु निर्दिष्टस्याप्यभिधेयस्यापि कस्यचित् तस्कराऽऽदेर्वचनादुपघाताऽऽदयो दृश्यन्ते, यथा-'वध्यता, हन्यतां चाय तस्कर', 'मुच्यतां चायमित्याद्युक्ते तस्य विषादाऽऽद्युत्पत्तेरुपघाताऽऽदयोऽध्यक्षत एवोपलभ्यन्ते। अतस्त-द्दर्शनान्निर्दिष्टस्याऽपि संबन्धि तद्वचनं वक्तुं युज्यते। अत्रोत्तर-माह-(ते इत्यादि) ये इष्टाऽनिष्टवचनश्रवणात्तस्कराऽऽदे निर्दिष्ट-स्यानुग्रहाऽऽदयो दृश्यन्ते, ते तस्य स्वकीयश्रवणेन्द्रियमन पुण्य-पापाऽऽदिकात्कारणादेव मन्तव्या; न त्विष्टानिष्टवचनोक्तिमा-त्रात्, अन्यथा श्रोत्राऽऽदिकरणविकलानां स्थाण्वादीनामपि त-दुक्तिमात्रात्ते भवेयुरिति ॥ १५१८ ॥

वक्तृधर्मत्वमेव वचनस्य हेत्वन्तरोक्तेः समर्थयन्नाह-

सरनामोदयजणियं, वयणं देहो व्व वत्तुपज्जाओ ।
तं नाभिधेयधम्मो, जुत्तमजावाभिहाणाओ ॥१५१९॥

'वक्तृपर्यायो वचनम्' इति प्रतिज्ञा, स्वररूपनामकर्मोदय-जन्यत्वात्, इह यन्नामकर्मोदयजन्य तत्तस्यैव वक्तुर्देवदत्ता-ऽऽदे पर्याय', यथा तस्यैव देह', नामकर्मोदयजन्य च व-चन, तस्मात्तस्यैव वक्तु पर्याय । तत्तस्मान्न वचनमभिधे-यधर्मो युक्तम, किं त्वभिधातुरेव । उपचयमाह-अभाव-स्यापि वचनेनाभिधानात् । इदमुक्त भवति-अभावोऽपि हि वचनेनाभिधीयते, न च वचन तद्धर्मं इति वक्तु शक्यते, अभावस्यासत्त्वात्, यदि च वचन तद्धर्मं स्यात्, तदा सोऽपि भाव स्याद्, वचनाऽऽश्रयत्वात्, देवदत्ताऽऽदिवदिति ॥१५१९॥

यस्यापि च घटाऽऽदिशब्दाभिधेयस्य घटाऽऽदेर्भावस्य वचन, तत्प्रत्ययकारणत्वाद्धर्मत्वेनाभ्युपगम्यते, तत्रापि पृच्छ्यते । किम् ?, इत्याह-

जावम्मि वि संबद्धं, तमसंबद्धं व तं पगासेज्जा ।
जइ संबद्धं तिहुयण-वावि त्ति तयं पगासेउ ॥१५२०॥

भावेऽपि घटाऽऽदिके वचनाभिधेये पृच्छामो भवन्तम्-तद्वचन तत्र भावे किं संबद्ध सत्त भाव प्रकाशयति, आहोस्विदसंबद्ध-म् ?, इति । यदि संबद्ध, तर्हि "चउहिं समएहिं लोगो, भा-साए निरंतर तु होइ फुमो।" (३७६) इत्यादिवचनात् त्रिभुव-नव्यापित्वात्सकल समस्तमपि पदार्थजात प्रकाशयतु, संबद्ध-त्वाविशेषादिति ॥ १५२० ॥

अथासंबद्ध प्रकाशयति, तत्राऽऽह-

निव्विन्नाणत्तणओ, नासंबद्धं तय पईवो व्व ।
भासयइ असंबद्धं, अह तो सव्वं पगासेउ ॥१५२१॥

नासंबद्ध त पदार्थान् प्रभासयति । कुत ?, इत्याह-निर्विज्ञा-नत्वात्, विज्ञानाद्न्यत्वे सत्यसंबद्धत्वादिति भाव । अत्र च हेतु । प्रदीपवदिति दृष्टान्त । विज्ञानमसंबद्धमपि वस्तु प्रकाशयति, न च वचन विज्ञानरूपम्, अतो नासंबद्धमर्थं प्र-काशयति, प्रदीपवद् । अथासंबद्धमपि तद्वस्तु प्रकाशयति, तर्हि सर्वमपि प्रकाशयतु, असंबद्धत्वाविशेषात् । तस्माद्बा-ह्यप्रत्ययकारणत्वेन तद्धर्मो वचनमिति ॥ १५२१ ॥

आह-ननूक्तं वचनमर्थादात्मलाभं लभते, प्रदीपवद्, अतः कथमिदं वक्तुरेवेष्यते ?, इत्याह-

जइ वि वयणिज्ज वत्ता, बज्झऽब्भंतरनिमित्तमाभट्ठं ।
वत्ता तह वि पहाणो, निमित्तमब्भंतरं जं सो ॥१५२२॥

इह यद्यपि वचनीय वक्ता च यथासंख्य बाह्यमभ्यन्तरं च वचनस्य सामान्य निमित्त कारणम, तथाऽपि वक्ता प्रधान । कुत ?, इत्याह-यद्यस्मादन्तरङ्ग प्रत्यासन्न निमित्तमसौ । तस्मा-द्वचनस्य वक्त्रधीनत्वात्, यदेव वक्तुर्लिङ्ग तदेव सामायिकस्य ऋजुसूत्रनयमतेन लिङ्गमिति स्थितम् ॥ १५२२ ॥

"उभयसरिच्छ च सद्दस्स।" (१५०५) इत्येतद्व्याचि-ख्यासुराह-

सद्दो समाणलिंगं, निद्देसं जणइ विसरिसमवत्थुं ।
उवउत्तो निद्दिट्ठा, निद्दिस्साओ जओऽणण्णो ॥१५२३॥

शब्दप्रधानो नय शब्दो निर्देश वचनमिच्छति । किंविशिष्टम्?, इत्याह-समानलिङ्ग निर्देश्यनिर्देशकयोस्तुल्यमेव लिङ्गमभ्यागि-च्छतीत्यर्थ । विसदृश त्वसमानलिङ्ग निर्देशमघटमानकत्वा-दवस्तुत्वेनैव मन्यते । कुत ?, इत्याह-उपयुक्त निर्देश्येऽर्थे-ऽर्पितान्त करणो निर्देष्टा यद् यस्मान्निर्देश्यादनन्योऽभिन्न । इदमुक्त भवति-वक्तुः स्त्रीलिङ्गवतोऽपि पुमांसमभिदधत पुंनि-र्देश एव, स्त्रिय प्रतिपादयत स्त्रीनिर्देश एव, नपुंसक निर्दिशतो नपुंसकनिर्देश एव, वाच्ये उपयुक्तस्य वक्तुर्वाच्यत्वादभिन्नत्वा-दिति ॥ १५२३ ॥

तथा चाऽऽह-

थीं निद्दिसइ जइ पुम, थी चेव तओ जओ तदुवउत्तो ।
थीविण्णाणाणन्नो, निद्दिट्ठसमाणलिंगो त्ति ॥१५२४॥

इत्यादे समानलिङ्ग स्त्र्यादिक निर्दिशत स्त्र्यादिनिर्देश इति तावत्किल प्रतीतमेव। यद्यपि च पुमान् कर्ता स्त्रिय कर्मताऽऽपन्नां निर्दिशति। यथा-वासवदत्ते ! इदमित्थं विधेहीति, तदपि नको-ऽसौ निर्देष्टा पुरुष स्त्र्येव भवति। कुत ?, इत्याह-यतो यस्मा-त्तदुपयुक्त स्त्र्युपयुक्त स्त्रीविज्ञानाद्वासवदत्ताऽध्यवसायादन-न्योऽभिन्न सन्निर्दिष्टया स्त्रिया समानलिङ्ग पुरुषो भवति। ततश्च यदा पुरुषो नपुंसकमभिधत्ते, तदाऽपि निर्दिष्टसमानलि-ङ्गत्वान्नपुंसकमेवाऽसौ । एव स्त्रियां नपुंसके च निर्देष्टरि निर्दि-ष्टसमानलिङ्गता योजनीयेति ॥ १५२४ ॥

ननु कथ स्त्रीविज्ञानादनन्य स पुरुषोऽपि स्त्र्येव भवति, न पुरुषोऽपि स्यात् ?, इत्याह-

जइ स पुमं तो नत्थी, अह थी न पुमं न वा तदुवउत्तो ।
जो थीविण्णाणमओ, नो थी सो सव्वहा नत्थि ॥१५२५॥

यदि स निर्देष्टा पुंमान्, ततो न स्त्री-न तद्धर्मा स्त्र्युपयोगवा-नित्यर्थ । अथासौ स्त्र्युपयोगोपयुक्तत्वात् स्त्रीत्वमनुगच्छते, त-र्हि न पुमान्-न पुंस्त्वेनाध्यवसेय, किं तु स्त्र्युपयोगोपयुक्त स्त्र्येवासौ स तस्य इदम् । अथ नैव, यदि तदा स तद्धर्मा-उ-

दुपयुक्तः स्त्र्युपयुक्तः,तदुपयुक्तस्य सर्वथैव पुंस्त्वविरोधात् । किं बहुना ?, यः स्त्रीविज्ञानमयः स्त्र्युपयोगोपयुक्तोऽपि न स्त्री, किं तु पुमान्नपुंसकं वा, स एवम्भूतः पदार्थः सर्वथा नास्ति-असत्त्वेन, खरविषाणवदिति ॥ १५२५ ॥

अथानुपयुक्तः स्त्रियं भाषमाणोऽपि पुरुषो भविष्यति, इत्याशङ्क्याऽऽह-

भासइ वाऽणुवउत्तो, जइ अमाणी तओ न तव्वयणं ।
निद्देसो जेण मयं, निच्छियदेसो त्ति निद्देसो ॥१५२६॥

यदि वा उच्यते भवता-अनुपयुक्तोऽसौ पुरुषः स्त्रियं भाषते-ऽतो न स्त्रीरूपतां प्रतिपद्यते । तदयुक्तम्, यत एवं सति तकोऽसावनुपयुक्तभाषकोऽज्ञानी, उपयोगशून्यत्वात्, घटाऽऽदिवत्, ततश्च न तद्वचनं निर्देशः,उपयोगपूर्वकत्वाभावात्,उन्मत्ताऽऽदिवचनवत् । कुतः ?, इत्याह-येनैतन्मतं सम्मतं विपश्चिताम् । किम् ?, इत्याह-उपयोगपूर्वकतया निश्चितस्य देशनं ज्ञापनं देशो निर्देशः । अथवा-निश्चितो देशो भाषणं यत्रासौ निर्देशो भण्यते । न च निरुपयोगभाषकस्यैव सम्भवतीति ॥१५२६॥

एतदेव भावयति-

सो जइ नाणुवउत्तो-ऽणुवउत्तो वा न नाम निद्देसो ।
निद्देसोऽणुवउत्तो, य वेइ मद्दो न तं वत्थुं ॥१५२७॥

हन्त ! स यदि निश्चितदेशो निर्देशोऽभ्युपगम्यते,तर्हि नष्टान् देवदत्ताऽऽदिर्नाऽनुपयुक्तो युज्यते । अथानुपयुक्तोऽसौ,तर्हि न तस्य निर्देशः, निश्चितज्ञानपूर्वकत्वात्तस्य । किं बहुना?,निर्देशः, अनुपयुक्तश्च तद्वानित्येवंभूतं यन्मतं तच्छब्दनयोऽवस्त्वेव ब्रूते,विरुद्धत्वात्,अचेतन आत्मा,अश्रावणः शब्दः,इत्यादिवदिति ॥१५२७॥

अथोपसंहरन्नाह-

तम्हा जं जं निद्दि-स्सइ तदुवउत्तो स तम्मओ होइ ।
वत्ता वयणिज्जाओ,अणन्नो त्ति समाणलिंगो सो ।१५२८।

तस्मादेतच्छब्दनयमतस्य तात्पर्यं, यः पुरुषाऽऽदिर्वक्ता यं यं स्त्र्यादिकमर्थं तदुपयुक्तः स्त्र्याद्युपयुक्तो निर्दिशति वक्ति, स तन्मयो वाच्यार्थाऽऽत्मको भवति । कुतः ?, इत्याह-वक्ता वाच्योपयुक्तो वचनीयादनन्य एव भवतीति कृत्वा । ततो वक्तृवचनीयसमानलिङ्गोऽयमस्य निर्देश इति स्थितम् ॥१५२८॥

प्रकृतमुपदर्शयन्नाह-

सामाइओवउत्तो, जीवो सामाइयं सयं चेव ।
निद्दिसइ जओ सव्वो, समाणलिंगो स तेणेव ॥१५२९॥

इह प्रस्तुते सामायिके निर्देश्य उपयुक्तो निर्देष्टा जीवः सामायिकमेव, भवतीति शेषः । ततश्चाऽसौ सामायिकं निर्देशन् स्वकमेवाऽऽत्मानमेव निर्दिशति । कुतः ?, इत्याह-यतो यस्मात्स्त्रीपुंनपुंसकरूपः सर्वोऽप्यसौ निर्देष्टा तदुपयुक्तत्वात् तेनैव निर्देश्येन सामायिकेन समानलिङ्गो भवति, सामायिकार्थस्य रूढितो नपुंसकत्वात्, स्त्रियाः, पुंसो,नपुंसकस्य वा सामायिकमभिदधानस्य नपुंसकलिङ्गनिर्देश एव भवतीति । आह-यदि पुनर्भावस्य द्वैविध्यान्निर्देश्यनिर्देशकोभयवशतोऽपि निर्देशः स्यात् तर्हि को दोषः ? । तथाहि-द्विविधो भावोऽर्थस्य विज्ञानं, परिणतिश्च, भावाभिधायिनश्च शब्दनयाः । तत्र यदा पुमानुपयुक्तः सामायिकं नपुंसकमाह, तदा वक्तुर्नपुंसकविज्ञानानन्यत्वान्नपुंसकनिर्देशोऽस्तु, निर्देष्टुश्च मुखरोमाऽऽदिरूपपुरुषपरिणतिमयत्वात् पुंनिर्देशोऽपि भवत्विति । अत्रोच्यते-भावस्य द्वैविध्ये सत्यपि वस्तुनो विज्ञानमेवेहोपयोगरूपमधिक्रियते, न पुनस्तत्परिणतिः, विज्ञानरूपस्यैवेह निर्देशस्याभिप्रेतत्वात् । आह-ननु शब्दोऽपि पुद्गलद्रव्यरूपो, निर्दिश्यत इति कृत्वा निर्देश एवोच्यते, तत्किमिति तदुपयोगरूप एव निर्देशोऽधिक्रियते । नैतदेवं, शब्दस्य द्रव्यमात्रत्वात्, ज्ञानलक्षणभावग्राहिणश्च शब्दनयाः । अत एव पुरुषपरिणतेः सत्यपि भावत्वे न तस्या इह ग्रहणम्, किं तु विज्ञानरूप एवात्र निर्देशो गृह्यते । तत्रैतत्स्यात्, शब्दप्रधान एव हि शब्दनयः, तत्कथमिह शब्दरूपो निर्देशो नेष्यते ? । तदयुक्तम्, भावार्थापरिज्ञानात् । शब्दनयो हि शब्दादेवार्थज्ञानमभ्युपगच्छति, तज्ज्ञानभावित्वात्तस्य । एवं च सति शब्दस्य ज्ञानकारणत्वात्, कारणस्य च द्रव्यत्वात्, द्रव्यस्य च भावशून्यत्वात्, शब्दनयस्य च भावग्राहित्वाद् न शब्दमात्रप्रधानता युक्तेति । अपरस्त्वाह-ननु यद्युपयुक्तो वक्ता यमर्थमाह, तद्वशान्निर्देश इष्यते, ततो निर्देश्यवशान्निर्देश इति प्राप्तम्, एवं च सति संग्रहव्यवहारयोः शब्दनयस्य च को विशेषः ? । अत्रोच्यते-संग्रहव्यवहारयोरुपयुक्तस्यानुपयुक्तस्य वा वक्तुरात्मनिरपेक्षोऽभिधेयमात्रवशाच्छब्दमात्रमेव निर्देशः, इह तु बाह्यवस्तुप्रत्ययमात्रमुररीकृत्य य उपयोगस्तस्मादनन्यत्वादभिधातुर्जीवस्योपयोगरूपं स्वरूपमेव निर्देशोऽङ्गीक्रियते । आह-यद्येवम्, ऋजुसूत्रादस्य को विशेषः, तस्याऽपि हि निर्देशकवशाद् निर्देशः, स एवेहाप्यापन्नः ? । अत्राप्युच्यते-ऋजुसूत्राभिप्रायेणाऽनुपयुक्तस्याऽपि वक्तुः शब्दमात्रं निर्देशः, अत्र तु वाच्योपयोग एव निर्देश इति विशेषः, इत्यलं प्रसङ्गेनेति ॥ १५२९ ॥

तदेवं नयमतान्यभिधाय सम्यग्मिथ्याविभागमाह-

इह सव्वनयमयाइं, परित्तविसयाइँ समुदियाइं तु ।
जइ णं बज्झऽब्भंतर-निद्देसनिमित्तसंगाही ॥ १५३० ॥

इत्येवमुक्तप्रकारेण सर्वाण्यपि नैगमाऽऽदिनयमतानि परीत्तविषयाण्यन्योन्यनिरपेक्षतया एकैकांशग्राहीणि, अतो मिथ्यारूपत्वात् तान्यप्रमाणमिति भावः । समुदितानि पुनस्तान्येवाऽन्योन्यसापेक्षतया सम्पूर्णवस्तुग्राहित्वाज्जैनं मतं भवति । कथम्भूतं जैनं मतम् ?, इत्याह-(बज्झेत्यादि) बाह्याऽऽभ्यन्तराणि निर्देशस्य वचनस्य शब्दस्य निमित्तानि सङ्ग्रहीतुमभ्युपगन्तुं शीलं यस्य तद् बाह्याऽऽभ्यन्तरनिर्देशनिमित्तसंग्राहि । तत्र बाह्यान्यभिधेयघटपटशकटाऽऽदीनि, आभ्यन्तराणि तु स्वरनामकर्मोदयताल्वादिकरणप्रयत्नादीनि निर्देशस्य निमित्तानि द्रष्टव्यानि । समस्ततत्सामग्रीजन्यनिर्देशाभ्युपगमपरत्वेन सम्यग्रूपत्वाज्जैनं मतं प्रमाणमितीह भावार्थः । आह-बाह्यो घटाऽऽदिरर्थः शब्दस्य कथं निमित्तम्, सम्बन्धाभावात् ? । तदयुक्तम्, शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वात् । यद्यर्थस्य शब्दो वाचकः, तर्ह्यगृहीतसङ्केतस्यापि देवदत्ताऽऽदेरसावर्थं प्रतिपादयेदिति चेत् । नैवम्, कर्मक्षयोपशमसव्यपेक्षस्यैव तस्य तत्प्रतिपादकत्वात्, क्षयोपशमस्य च सङ्केताऽऽदिसापेक्षत्वात् । न हि प्रदीपः प्रकाशक इत्येतावन्मात्रेणैवान्धाऽऽदीनामप्यर्थं प्रकाशयति । ननु यदि क्षयोपशमापेक्षः शब्दोऽर्थं प्रकाशयति, तर्हि सङ्केतकरणेऽपि तदप्रकाशनप्रसङ्गः, न चैतदस्ति, गृहीतसङ्केतानामविगानेनार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्, ततः किमन्तर्गडुकल्पक्षयोपशमकल्पनेन ?, तदयुक्तम्,तथाहि-केषा-

ड्डिचक्रमनीनां शास्त्रव्याख्यानाऽऽदौ विषमपदवाक्येषु वि-शिष्टक्षयोपशमाभावात्सङ्केतोऽपि कर्तुं न शक्यते, अन्ये तु तत्करणेऽपि नार्थं प्रतिपद्यन्ते । यद्यपि केषाञ्चिद्पूर्वम्लेच्छ-भाषाऽऽदिश्रवणेऽकृतसङ्केतानामपि झगित्येव कथमप्यर्थप्रति-पत्तिर्दृश्यते, तथापि क्षयोपशमस्यैवातिपटुत्वं हेतु । तस्मा-त्कर्मक्षयोपशमाऽऽदिसामग्रीसव्यपेक्षः शब्दो वाचक', अर्थस्तु वाच्य , इति शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकभावलक्षण: सम्बन्ध इति । तदेव व्याख्याता " दुविह पि नेगमनम्रो । " (१५०५) इत्या-दि गाथा, तद्व्याख्याने च व्याख्यातमुपोद्घातनिर्युक्तिद्वारगा-थाद्वयस्य द्वितीय द्वारम् ॥ १५३० ॥ विशे० । आ० म० । निर्देशन निर्देश । कर्माऽऽदिकारकशक्तिभिरनधिकृतस्य लि-ङ्गार्थमात्रस्य प्रतिपादने, "निद्देसे पढमा होइ ।" निर्देशे प्रथमा विभक्तिर्भवति । यथा-स वा अय वाऽऽस्ते, अह वा आसे । स्था० ८ ठा० । अनु० । अभिप्रेते कार्ये नियतार्थे, उत्तरे, न० ३ श्रु० १ उ० । निर्देशो हि प्रथमत' कायप्रयोगेण भाषाद्रव्या-एयादाय पश्चाद्वाक्पर्याप्तिकरणप्रयोगतो विधीयते । ज्यो० १ पाहु० । हेतुदृष्टान्तोपदर्शनेन स्पष्टतरीकरणे, न० । उत्सर्गोप-वादाभ्यां प्रतिपादने, उत्त० १ अ० ।

णिद्देसदोस-निर्देशदोष-पु० । उचितनिर्देशाकरणरूपे सूत्रदोषे, अनु० । स च यत्र निर्दिष्टपदानामेकवाक्यता न क्रियते, यथेह देवदत्त स्थाल्यामोदन पचतीत्यभिधातव्ये पचतीति शब्दं नाभिधत्ते । अनु० । विशे० । निर्देशदोषो नाम यत्र वस्तुपर्याय-वाचिन पदार्थस्यार्थान्तरपरिकल्पनाऽऽश्रयणम् । यथा-द्रव्यप-र्यायवाचिना सत्ताऽऽदीना द्रव्यादर्थान्तरपरिकल्पनमुलूकस्य । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिद्देसवत्ति [ण्] -निर्देशवर्तिन्-त्रि० । आज्ञावर्तिनि, " णिद्दे-सवत्ती पुण जे गुरुण । " दश० ९ अ० २ उ० ।

णिद्दोत्थ-निर्दोस्थ्य-न० । निर्भये, व्य० ४ उ० । स्वास्थ्ये, व्य० ७ उ० ।

णिद्दोस-निर्दोष-त्रि० । निरवद्ये,पञ्चा० ७ विव० ।"अलियमुव-घायजणिय । " इत्यादिद्वात्रिंशत्सूत्रदोषरहिते, स्था० ७ ठा० । आ० म० । अनु० । हिंसाऽऽदिदोषरहिते, अनु० । समस्तोत्का-नुक्तदोषविप्रमुक्ते, विशे० । दोषस्याभावे, व्य० १ उ० । अप्राय-श्चित्ते, नि० चू० १ उ० । (व्याख्या ' सुत्त ' शब्दे वक्ष्यते)

णिद्ध-स्निग्ध-पु० । सयोगे सति सयोगिना बन्धकारणे रस-भेदे, " एगे णिद्धे । " स्था० १ ठा० । पुद्गलद्रव्याणा मिथः सयुज्यमानानां बन्धनिबन्धने तैलाऽऽदिस्थिते रसे, अनु० । कर्म० । आचा० । सस्नेहे, त्रि० । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । आव० । स० । " डाय ओसढ रसिय मणुण्णं णिद्ध लुक्ख । " आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० । रात्रिभोजनाव्यङ्गसूत्र-योर्यद् गृहाऽऽदिक तैलवर्जितमव्य भवति तदेव स्निग्धमु-च्यते । बृ० ५ उ० । अरूक्षे, कल्प० २ क्षण । जीत० । औ० । प्रज्ञा० । ज० । कान्ते,प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । त० । औ० । "णिद्धतेया ।" स्निग्ध मनोहर तेजो यासा ता स्निग्धतेजस. । जी०३ प्रति०४ उ० । "णिद्धपाणिलेहा ।" वनखण्डाऽपेक्षया स्नि-ग्धा पाणौ रेखा यासां ता.। जी० ३ प्रति० ४ उ० । प्रश्न० । जी० ।

णिद्धग्ग-देशी-अविभिन्नगृहे, दे० ना० ४ वर्ग ३८ गाथा ।

णिद्धंत-निर्ध्मात-त्रि० । नितरामग्निसंयोगेन यद् ध्मात विशो-धितम् । जी० ३ प्रति० ४ उ० । औ० । दग्धमले, औ० । त० । प्रश्न० ।

णिद्धंधस-निर्धन्धस-पुं० । प्रवचनोपघातनिरपेक्षे, आव० ३ अ० । निर्दये, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा ।

णिद्धच्छवि-स्निग्धच्छवि-स्त्री० । स्निग्धा च कान्तिमती उ-विस्त्वक् । कान्तत्वचि, " सुवण्णवण्णे सुकुमारया य, णिद्धच्छ-वी । " बृ० ३ उ० ।

णिद्धण-निर्धन-त्रि० । "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥८।२।७९॥ इति रलोप । " द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः "॥८।२।९०॥ इति दकारा-ऽऽगम । प्रा०२ पाद । गोमहिष्यादिरहिते,विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

णिद्धणय-निर्धान्यक-त्रि० । धान्यकणविवर्जिते, त० ।

णिद्धफासणाम[ण्]-स्निग्धस्पर्शनामन्-न० । स्पर्शनामभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं घृताऽऽदिवत् स्निग्ध भवति तत् । कर्म० १ कर्म० ।

णिद्धमण-निर्धमन-न० । खाले, जलनिर्गममार्गे, स्था० ५ ठा० १ उ० । 'खाल' इति देशप्रसिद्धम् । त० । "कुणालाए णिद्धमण-मूले वसही वरिसायाले देववाणुकपेण न वरिसइ ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । ऋद्धिरससातगौरवैर्युक्तत्वेन मृत्वा यक्षत्वमुपागते आर्यमङ्गवाचार्ये, आव०४ अ० । गृहजलप्रवाहे, दे० ना० ४ वर्ग ३९ गाथा (आर्यमङ्गुकथा ' अज्जमगु ' श-ब्दे प्रथमभागे २११ पृष्ठे गता)

णिद्धमाअ-देशी-अविभिन्नगृहे, दे०ना० ४ वर्ग ३८ गाथा ।

णिद्धम्म-निर्धर्म-त्रि० । निर्गतो धर्मात् श्रुतचारित्रलक्षणादिति निर्धर्मः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । धर्मादपक्रान्ते, प्रश्न० १ आ-श्र० द्वार । अविभिन्नगृहे, दे० ना० ४ वर्ग ३८ गाथा ।

निर्धर्मन्-त्रि० । निर्गतो धर्मो यस्य । असयतीभूते, व्य० १० उ० । पार्श्वस्थाऽऽदिषु, नि० चू० १ उ० । एकमुखयायिनि, दे० ना० ४ वर्ग ३५ गाथा ।

णिद्धाडण-निर्धाटन-न० । निष्कासने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिद्धारण-निर्धारण-न० । निर् धृ-णिच-ल्युट् । जातिगुण-क्रियासज्ञाभि समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणे, यथा " नराणा क्षत्रिय. शूर ।"इत्यादौ नररूपसमुदायात् क्षत्रियजातेरेकदेशस्य शूरत्वेन पृथक्करणम् । वाच० । आचा० ।

णिद्धुणे-निर्धूय-अव्य० । प्रस्फोट्येत्यर्थे, " अणिस्सिए स-णिद्धुणे धुत्तमले । " दश० ७ अ० ।

णिद्धूम-निर्धूम-त्रि० । धूमरहिते, "णिद्धूमग च गाम, महिलाथू-भ च सुण्णय दट्ठु । " निर्धूम ग्राम दृष्ट्वा अतीव भिक्षाप्रस्ताव इति ज्ञायते । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिद्धूमग-निर्धूमक-पु० । अपलक्षणभेदे, यत्प्रभावतो राज्यमनु-शासति रन्धनीयमेव न भवति । व्य० ३ उ० ।

णिद्धूय-निर्धूत-त्रि० । अपनीते, रा० ।

णिद्धूयजरढपंडुपत्त–निर्द्धूतजरठपाण्डुपत्र–त्रि० । निर्द्धूतानि अपनीतानि जरठानि पाण्डुपत्राणि येभ्यस्ते निर्द्धूतजरठपाण्डुपत्राः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । अपगतपुराणपाण्डुपत्रेषु, औ० । " णिद्धूयजरढपंडुपत्ता । " निर्द्धूतान्यपनीतानि जरठानि पाण्डुपत्राणि येभ्यस्ते निर्द्धूतजरठपाण्डुपत्राः । किमुक्तं भवति ?–यानि वृक्षस्थानि जरठानि पाण्डुपत्राणि वातेन निर्धूय निर्धूय भूमौ पतितानि भूमेरपि च प्रायो निर्धूय निर्धूयान्यत्रापसारितानीति । रा० । जी० ।

णिद्धोभास–स्निग्धावभास–त्रि० । स्निग्धत्वेनावभासमाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० ।

णिद्धोय–निर्द्धौत–त्रि० । नितरामपुनर्भावेन धौते, " वंदिय णिद्धोयसव्वकम्ममलं । " (१) नितरामपुनर्भावेन धौतः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपःसलिलप्रभावेणापगमितः सर्व एव कर्माष्टप्रकारं जीवमालिन्यहेतुत्वाद् मल इव मलो येन स निर्द्धौतसर्वकर्ममलः । कर्म० १ कर्म० ।

णिधत्त–निधत्त–न० । निधानं निहितं वा निधत्तम्, भावे कर्मणि वा क्तप्रत्यये निपातनादुद्वर्त्तनापवर्त्तनवर्जितानां शेषकरणानामयोग्यत्वेन कर्मणोऽवस्थाने, पूर्वबद्धस्य कर्मणस्तप्तसमीलितलोहशलाकासम्बन्धसमाने करणे, " चउव्विहे णिधत्ते पण्णत्ते । तं जहा–पगइणिधत्ते, ठिइणिधत्ते, अणुभागणिधत्ते, पएसणिधत्ते । " स्था० ४ ठा० २ उ० । विशिष्टानां परस्परतः पुद्गलानां निचयं कृत्वा धारणं रूढिशब्दत्वेन निधत्तमुच्यते । भ० १ श० १ उ० । क० प्र० । प० सं० ।

णिधत्ति–निधत्ति–पु० । निधीयते उद्वर्त्तनाऽपवर्त्तनावर्जशेषकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते यया सा निधत्तिः । पृषोदराऽऽदित्वाच्छब्दरूपनिष्पत्तिः । प० सं० ५ द्वार । निधत्ताऽऽख्यकरणे, नि० चू० १३ उ० । (विस्तरेण ' णिकायणा ' शब्दे २०२० पृष्ठे प्रसङ्गान्निधत्तिरुक्ता)

णिधूय–निर्धूय–अव्य० । अपनीयेत्यर्थे, " णिधूय कम्मं ण पवत्तुवेइ । " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

णिन्दित्तए–निन्दितुम्–अव्य० । निन्दितुमतिचारान् स्वसमक्षं जुगुप्सितुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

णिन्दू–निन्दू–स्त्री० । मृतप्रजाया स्त्रियाम्, निन्दूः महेला यद् यदपत्यं प्रसूयते तत्तन्म्रियते, एवं य आचार्यो यं यं प्रव्राजयति स स म्रियते अपगच्छति वा, ततः स निन्दूरिव निन्दूः । व्य० ३ उ० ।

णिपडिसामि [ण्]–निष्परिशाटिन्–त्रि० । परिशाटिरहिते, "णिप्पडिमङ्गिमभुञ्जतगायकयचूमिकम्मता । " बृ० २ उ० ।

णिपतंत–निपतत्–त्रि० । नीचैः पतति, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिपरिग्गहरुइ–निष्परिग्रहरुचि–पु० । निर्गता परिग्रहरुचिर्यस्य सः । परिग्रहविरते, प्रश्न० ५ सव० द्वार ।

णिपातिणी–निपातिनी–स्त्री० । अभिमुखपातिन्याम्, " सिलाहिं हम्मंति णिपातिणीहिं । " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

णिपीय–निपीत–त्रि० । नितरामास्वादिते, स्या० ।

विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्व–सुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् । [२५]

हे विपश्चितां नाथ ! संख्यावतां मुख्य ! इयमनन्तरोक्ता, निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परा, तवेति प्रकरणात् सामर्थ्याद्वा गम्यते । तत्त्वं यथाऽवस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदः, तदेव जरामरणापहारित्वाद्विबुधोपभोग्यत्वात् मिथ्यात्वविषोर्मिनिराकरिष्णुत्वादान्तराऽऽह्लादकारित्वाच्च सुधा पीयूषं तत्त्वसुधा । नितरामनन्यसामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वसुधा, तस्या उद्गता प्रादुर्भूता तत्कारणिका उद्गारपरम्परा, उद्गारश्रेणिरिवेत्यर्थः । यथाहि–कश्चिदाकण्ठं पीयूषरसमापीय तदनुविधायिनीमुद्गारपरम्परां मुञ्चति, तथा भगवानपि जरामरणापहारितत्त्वामृतं स्वैरमास्वाद्य तद्रसानुविधायिनीं प्रस्तुतानेकान्तवादभेदचतुष्टयीलक्षणामुद्गारपरम्परां देशनां मुखेनोद्गीर्णवानित्याशयः । अथवा–यैरेकान्तवादिभिः मिथ्यात्वगरलभोजनमातृप्ति भक्षितं, तेषां तत्तद्वचनरूपा उद्गारप्रकाराः प्राक् प्रदर्शिताः । यैस्तु पचेलिमप्राचीनपुण्यप्राग्भारानुगृहीतैर्जगद्गुरुवदनेन्दुनिस्यन्दि तत्त्वामृतं मनोहत्य पीतं तेषां विपश्चितां यथार्थवादविदुषां हे नाथ ! इयं पूर्वदलदर्शितोल्लेखशेखरा उद्गारपरम्परेति व्याख्येयम् । स्या० २५ श्लोक ।

निपीय–अव्य० । नितरामास्वाद्येत्यर्थः, वाच० ।

णिप्पएस–निष्प्रदेश–पु० । परमाणौ, विशे० ।

णिप्पंक–निष्पङ्क–त्रि० । आर्द्रमलरहिते, औ० । कर्दमविशेषरहिते, कलङ्कविकले च । स० । प्रश्न० । आ० म० । जी० । स्था० । रा० । ज० । "णिरया णिम्मला णिप्पंका ।" प्रज्ञा० २ पद ।

णिप्पंद–निष्पन्द–त्रि० । किञ्चिच्चलनेनापि रहिते, उपा० ७ अ० ।

णिप्पकंप–निष्प्रकम्प–त्रि० । स्वरूपतोऽपीषद् व्यभिचारलक्षणकम्पाभावात् (स० २ अङ्ग) अतीव निश्चले, आव० ४ अ० ।

णिप्पच्चक्खाणपोसहोववास–निष्प्रत्याख्यानपौषधोपवास–त्रि० । प्रत्याख्यानपरिणामपर्वदिवसोपवासपरिणामाभावात् (रा०) अविद्यमानपौरुष्यादिप्रत्याख्याने, असत्पर्वदिनोपवासे, दशा० ६ अ० । असत्पौरुष्यादिनियमे, अविद्यमानाष्टम्यादिपर्वोपवासे, भ० ७ श० ६ उ० । स्था० ।

णिप्पच्चवाय–निष्प्रत्यवाय–त्रि० । प्रत्यवाय (मार्गोपद्रव)रहिते, " अणक्कतेण णिप्पच्चवाएण गतव्वं । " नि० चू० १ उ० ।

णिप्पट्ठ–देशी–अधिके, दे० ना० ४ वर्ग ३१ गाथा ।

णिप्पट्ठपसिणवागरण–निःस्पृष्टप्रश्नव्याकरण–त्रि० । निर्गतानि स्पृष्टानि प्रश्नव्याकरणानि यस्य स तथा । निरुत्तरीकृते, भ० १५ श० ।

निःस्पृष्टप्रश्नव्याकरण–त्रि० । निरस्तानि स्पष्टानि व्यक्तानि (वागरणानि) प्रश्नव्याकरणानि यस्य स निःस्पष्टप्रश्नव्याकरणः । निरुत्तरीकृते, " अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य वागरणेहि य कारणेहि य णिप्पट्ठपसिणवागरणं करेइ । " भ० १५ श० ।

णिप्पडिकम्मया–निष्प्रतिकर्मता–स्त्री० । शरीरस्य प्रतिकर्माऽकरणे, आ० क० ।

निष्प्रतिकर्मद्वारे वैधर्म्योदाहरणगाथामाह–

पइठाणे नागवसू, नागसिरी नागदत्त पव्वज्जा ।
एगविहारुट्ठाणे, देवय साहू अ विज्झगिरं ॥ १ ॥

अथ कथातो ज्ञेय -

"आसीत्प्रतिष्ठानपुरे, श्रेष्ठी नागवसु पुरा ।
नागश्री श्रेष्ठिनी तस्य, नागदत्तस्तु तत्सुत ॥ १ ॥
निर्विण्णकामभोग· सन्, प्रतमादत्त सोऽन्यदा ।
जिनकल्पिकसत्कार, दृष्ट्वाऽवादीद् गुरूनिदम् ॥ २ ॥
जिनकल्प करिष्येऽह-मप्याचार्यैर्निवारित ।
स्वय स्वीकृत्य तं चक्रे प्रतिमां व्यन्तरौकसि ॥ ३ ॥
सम्यग्दृशा देवतया, मा विनश्यत्वसाविति ।
स्त्रीरूपेणोपहाराऽऽद्य, गृहीत्वाऽऽगत्य तत्र सा ॥ ४ ॥
अर्चित्वा व्यन्तर स्माऽऽह, गृहाण क्षपकोद्गनम् ।
भक्ष्यभोज्य गृहीत्वा तत्, स्वादित्वा प्रतिमा स्थित· ॥ ५ ॥
अतीसारोऽस्य संजातो, देवताऽऽख्यद् गुरोरिदम् ।
साधून् प्रेष्याऽऽनयत्त स, देवताऽकथयत्पुन ॥ ६ ॥
दद्या बिल्वगिर दत्तं, स्वस्थोऽभूच्छिक्षितस्तत· ।
पुनरेतन्न कर्तव्य, गता निष्प्रतिकर्मता " ॥ ७ ॥ आ० क० । स० । आचा० ।

णिप्पडियार–निष्प्रतीकार–त्रि० । अचिकित्स्ये, प्रश्न०४ सम्ब० द्वार ।

णिप्पडिवक्ख–निष्प्रतिपक्ष–त्रि० । बाधकरहिते, स्या० ।

णिप्पण्ण–निष्पन्न–त्रि० । सिद्धे, पञ्चा० ८ विव० ।

णिप्पण्णजोग–निष्पन्नयोग–पु० । योगिविशेषे, षो० ।

तच्चिह्न चेदम्-

" दोषव्यपाय परमा च तृप्ति-
रौचित्ययोग समता च गुर्वी ।
वैराऽऽदिनाशोऽथ ऋतम्भरा धी-
र्निष्पन्नयोगस्य तु चिह्नमेतत् ॥ १ ॥ " षो० १३ विव० ।

णिप्पण्णमेइणीय–निष्पन्नमेदनीक–पु० । निष्पन्ना, कोऽर्थ ?-निष्पन्नसर्वशस्या मेदिनी यत्र स तथा । शस्यनिष्पत्तिकाले, "णिप्पन्नमेइणीयसि कालंसि य मुइयपक्कीलियसु जणवएसु ।" कल्प० ४ क्षण ।

णिप्पत्त–निष्पत्र–त्रि० । स्वभावत पत्ररहिते, व्य० १ उ० ।

णिप्पत्ति–निष्पत्ति–स्त्री० । निष्पादने, व्य० १ उ० । सिद्धौ, स्था० ६ ठा० । विशे० । गच्छवासे गुणोऽयमपि-"णिप्पत्तिसतताओ ।" निष्पत्ति सद्गुणत्वेन शिष्यससिद्धि फलसन्तानसाधनसमर्थधान्यनिष्पत्तितुल्य ,तत सन्तान· शिष्यप्रशिष्याऽऽदिवश· ससारगर्तगताङ्गिवर्गस्य निर्गमनसोपानपरम्पराऽऽरूप· । पञ्चा०१८ विव० ।

णिप्पन्न–निष्प्रभ–पु० । प्रभारहिते, "देवे चइस्सामीति जाणइ विमाणाभरणाइ णिप्पभाइ पासित्ता ।" विमानाऽऽभरणाना निष्प्रभत्वमौत्पातिक तच्चक्षुर्विभ्रमरूप वा । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

णिप्परिग्गह–निष्परिग्रह–त्रि० । बाह्याऽऽभ्यन्तरपरिग्रहरहिते, उत्त० १४ अ० । क्वचिदविद्यमानस्वीकारे, उत्त० १४ अ० ।

णिप्पलाय–निष्पुलाक–पु० । भरते वर्षे भविष्यति चतुर्दशे तीर्थकरे, स० । ती० ।

णिप्पाण–निष्प्राण–त्रि० । उच्छ्वासाऽऽदिरहिते,ज्ञा०१ श्रु०२अ० ।

णिप्पाव–निष्पाव–पु० । वल्लाऽऽख्ये धान्यभेदे, " णिप्पावाई धन्ना, गधे वाइगपलकुलत्थुणाऽऽई ।" इति धान्येषु निष्पाव· पुलाकधान्यम् । वृ० ५ उ० । आ० चू० । स्था० । भ० । दश० ।

आचा० । सविभागकाकण्या त्रिभागोनगुञ्जाद्वयेन वा निवृत्ते प्रतिमाने, अनु० ।

निष्पाप–त्रि० । पापरहिते, वाच० ।

णिप्पिवास–निष्पिपास–त्रि० । पिपासायास्तृष्णाया निर्गतो निष्पिपास· । निस्पृहे, उत्त० १६ अ० । निराकाङ्क्षे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । निःस्नेहे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिप्पिह–निःस्पृह–त्रि० । इच्छारहिते,प्रा० २ पाद । समस्तपरभावाऽभिलाषरहिते, अष्ट० ११ अष्ट० ।

णिप्पीलण–निष्पीडन–न० । निश्चयेन पीडने, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

णिप्पुंसण–निष्पुंसन–न० । " क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ऽकऽपामूर्ध्वे लुक् " ॥ ८ । २ । ७७ ॥ इति षलुक् । "अनादौ शेषाऽऽदेशयो द्वित्वम्" ॥८ । २ । ८९ ॥ नो ण । स्फेटने, प्रा० २ पाद ।

णिप्पुरिसणाडग–निष्पुरुषनाटक–न० । निर्गता रहिता· पुरुषा यस्मिन्नाटके तन्निष्पुरुषनाटकम् । केवलस्त्रीपात्रमये नाटके, सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

णिप्पुलाय–निष्पुलाक–पुं० । आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भरते वर्षे भविष्यति बलदवजीवे चतुर्दशे तीर्थकरे, ती० २० कल्प । प्रव० । स० । ति० ।

णिप्फंद–निष्पन्द–त्रि० । अ० स० । " ष्प-स्पयो· फ· " ॥ ८।२। ५३ ॥ इति ष्पस्य फ· । प्रा० २ पाद । हस्ताऽऽद्यवयवचलनरहिते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । अन्त० । " उअ णिच्चलणिप्फंदा, भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ ।" प्रा० २ पाद ।

णिप्फण्ण–निष्पन्न–त्रि० । परिनिष्ठिते, विशे० । " भयवया कहित णिप्फन्नो । " आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिप्फरिस–देशी-निर्दये,दे० ना ४ वर्ग ३७ गाथा ।

णिप्फाइऊण–निष्पाद्य–अव्य० । निर्माप्येत्यर्थे, पञ्चा० ७ विव० ।

णिप्फाइय–निष्पादित–त्रि० । योग्यतामापादिते,आचा० १ श्रु० ७ अ० १ उ० । " ताहे तम्मि दिवसे समयसहस्सेण तक्क णिप्फादित चिंतेइ ।" आ० म० २ अ० ।

णिप्फायण–निष्पादन–न० । करणे, आसेवने, आव० ४ अ० ।

णिप्फाव–निष्पाव–पु० । "ष्पस्पयो· फ " ॥ ८ । २ । ५३ ॥ इति ष्पभागस्य फ । प्रा०२ पाद । वल्लनामके धान्यभेदे, ज०२ वक्ष० ।

णिप्फेडिय–निष्फेटित–त्रि० । निष्काशिते, आ० म० १ अ० २ खण्ड । नि सारिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अपहृते, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णिप्फेस–निष्पेष–पु० । " ष्पस्पयो फ " ॥ ८ । २ । ५३ ॥ इति ष्पस्य फ । "द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्व·" ॥ ८ । २ । ९० ॥ इति फस्योपरि प । प्रा० २ पाद । सघर्षे, वाच० । शब्दनिर्गमे, दे० ना० ४ वर्ग २६ गाथा ।

णिबंध–निबन्ध–पु० । नि -बन्ध-घञ् । कालविशेषे देयत्वेन प्रतिश्रुते वस्तुनि, " निबन्धो द्रव्यमेव " इति स्मृति· । " अस्मापि-

घरे य पुत्तनेहेण अणुजाणाति, नेच्छइ निबधे वि कए, कह सुचिररक्खिय वय भजामि ? । " आव० ४ अ० ।

णिबंधण-निबन्धन-न० । निबध्यतेऽनेनात्र वा ल्युट् । हेतौ, वाच० । विशे० । आलम्बने, विशे० । वीणायास्तन्त्रीनिबन्धनोर्ध्वभागे च । भावे ल्युट् । बन्धने, वाच० ।

णिबंधणवियोग-निबन्धनवियोग-पुं० । निमित्तविरहे, द्वा० २५ द्वा० ।

णिबद्ध-निबद्ध-त्रि० । निर्ग्रथिते, स० १ अङ्ग ।

णिबोलिज्जमाण-निवोड्यमान-त्रि० । निमज्जमाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिब्बल-निर्बल-त्रि० । निर्गत बलं सामर्थ्यं यस्येति निर्बलम् । निःसारे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

णिब्बलासय-निर्बलाशक-पुं० । निर्बल निस्सारमन्नप्रान्ताऽऽदिकं यद् द्रव्य, तदशकस्तद्भोजी । अभिग्रहविशेषेण वल्लचणकाऽऽदिमात्रभोजिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

णिब्बलिय-निर्वलित-त्रि० । शुद्धाशुद्धस्वरूपे, विशे० ।

णिब्भंजण-निर्भञ्जन-न० । पक्कान्नोत्तीर्णदग्धघृते, ध० २ अधि० । प्रश्न० ।

णिब्भग्ग-देशी-उद्याने, दे० ना० ४ वर्ग ३४ गाथा ।

णिब्भच्छण-निर्भर्त्सन-न० । मरे दुष्टकर्मकारिन्नपसर दृष्टिमार्गादित्यादिरूपे (प्रश्न० २ आश्र० द्वार) आक्रोशविशेषे कटुकवचने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अङ्गुल्यादिना तर्जने, नि० चू० १ उ० ।

णिब्भच्छणा-निर्भर्त्सना-स्त्री० । न त्वया मम प्रयोजनमित्यादिपरुषवचने, भ० १५ श० ।

णिब्भय-निर्भय-त्रि० । इहलोकाऽऽदिसप्तभयविप्रमुक्ते, आव० ४ अ० । प्रश्न० । गतभीके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आ० म० । अविद्यमानराजाऽऽदिभये, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार । भयरहिते, यत्र भय न विद्यते । "णिब्भय जत्थ चोरभय नत्थि" । नि० चू० १ उ० ।

णिब्भयणा-निर्भजना-स्त्री० । निश्चिता भजना निर्भजना । निश्चिते भागे, औ० । "द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः" ॥ ८ । २ । ९० ॥ इति भकारोपरि बः । प्रा० २ पाद ।

णिब्भर-निर्भर-न० । नि शेषेण भरो भारोऽत्र । अतिमात्रे तद्युक्ते, त्रि० । वाच० । "मेघो य णिब्भर वरिसइ ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिब्भिज्जमाण-निर्भिद्यमान-त्रि० । नितरामतिशयेन भिद्यमाने, जी० ३ प्रति० ४ उ० । ज० । प्राबल्याभावेनाधो विदार्यमाणे, " अह भते ! कोट्ठपुडाण वा० जाव केतइपुडाण वा अणुवायसि उब्भिज्जमाणाण णिब्भिज्जमाणाण वा । " भ० १८ श० २ उ० ज० ।

णिभ-निभ-त्रि० । सदृशे, ज० ३ वक्ष० । उत्त० । औ० ।

णिभंग-निभङ्ग-पुं० । गात्राणां भञ्जने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिभमेत्त-निभमात्र-न० । उदाहरणमात्रे, नि० चू० ७ उ० ।

णिभाल-निभाल-धा० । दर्शने, चुरा० । " खधावारनिवेसे णिभालेहि ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । आचा० ।

णिभेल्लण-देशी-न० । गृहे, " सोमलच्छीनिभेल्लण ।" कल्प० ३ क्षण ।

णिम-न्यस्-धा० । नि-अस् । स्थापने, " न्यसो णिमणुमौ " ॥ ८।४।१९९ ॥ इति न्यस्यतेर्णिमाऽऽदेशः । ' णिमइ । ' न्यस्यति । प्रा० ४ पाद ।

णिमंतणा-निमन्त्रणा-स्त्री० । विषयोपभोग प्रति प्रार्थने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । भोगोपभोग प्रति अभ्युपगमकरणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । अनु० । आचा० । औ० । अगृहीतेनाशनाऽऽदिनाऽहं भवदर्थमशनाऽऽद्यानयामीत्येव भूताया (ध० २ अधि०) भक्तिः प्रार्थनायाम, पञ्चा० १२ विव० । स्था० । जीत० । नि० चू० । ध० । भ० ।

अथ निमन्त्रणायाः सामाचार्याः स्वरूपम्-

सज्झायाउव्वाओ, गुरुकिच्चे सेसगे असंतम्मि ।
तं पुच्छिऊण कज्जे, सेसाण णिमंतणं कुज्जा ॥ ३८ ॥

(सज्झायाउव्वाओ त्ति) स्वाध्यायध्यानाऽऽदिकरणपरिश्रान्तः सन् गुरुकृत्ये ग्लानाऽऽधिककार्ये विश्रामणावस्त्रपरिकर्माऽऽदौ, शेषके कृतावशेषे, असत्यविद्यमाने, किम् ?, अत आह-त गुरुम्, पृष्ट्वा यदुताऽहं साधुनिमित्त भक्ताऽऽद्यानयामीत्यापृच्छ्य, कार्ये भक्तपानकाऽऽदिप्रयोजने, तद्विषयमित्यर्थः । शेषाणां गुरुव्यतिरिक्तानाम् निमन्त्रणमामन्त्रण भवदर्थं भक्ताऽऽद्यानयामीत्येवलक्षणम्, कुर्याद्विदध्यादिति गाथाऽर्थः ॥ ३८ ॥

किमित्येव सदा व्यापृतेनैवाऽऽसितव्यमित्यत आह-

दुलहं खलु मणुयत्तं, जिणवयण वीरियं च धम्मम्मि ।
एयं लद्धूण सया, अपमाओ होइ कायव्वो ॥ ३९ ॥

दुर्लभ खलु दुष्प्रापमेव, मनुजत्व मानुषत्वम् । तथा-जिनवचनमर्हन्मत, वीर्यं चोत्साहश्च, धर्मे चारित्रधर्मविषये, चशब्दः पदत्रयेऽपि दुर्लभत्वसम्बन्धनार्थः । किं चातः, एतन्मनुजत्वाऽऽदित्रयम, लब्ध्वा प्राप्य, सदा सर्वदा, अप्रमादो धर्मकार्येष्वनालस्यम, भवति स्यात्, कर्तव्यो विधेयः । इत्यत स्वाध्यायाऽऽदिखिन्नेन निमन्त्रणा कार्येति गाथाऽर्थः ॥ ३९ ॥

दुग्गतरयणायररय-णगहणतुल्ल जईण किच्चं ति ।
आयतिफलमद्धुवसा-हणं च णिउणं मुणेयव्वं ॥४०॥

दुर्गतस्य दरिद्रस्य रत्नाकरे विविधमाणिक्योत्पादस्थाने प्राप्तस्य यद्रत्नग्रहण माणिक्योपादान, तेन तुल्य सदृशमविलम्बोपरमाभावसाधर्म्यात्सदुर्गतरत्नाकररत्नग्रहणतुल्यम् । किं तदित्याह-यतीनां साधूनाम्, कृत्य कर्तव्य स्वाध्यायवैयावृत्याऽऽदि । यथा हि दुर्गतस्य रत्नाकरे गतस्य रत्नग्रहणे इच्छाया अविच्छेदो भवति, एव साधोश्चरणमधिगतस्य वैयावृत्याऽऽदिषु साधुकृत्येष्वनवच्छिन्ना वाञ्छा स्यादिति दुर्गतरत्नाकररत्नग्रहणतुल्ययतिकृत्यमित्युक्तम् । इतिशब्दप्रयोग दर्शयिष्याम । तथा आयतावागामिकाले, परभवे इत्यर्थः । फल साध्यमस्येत्यायतिफलम् । पाठान्तरेण-आयतफल मोक्षफलम् । तथा अध्रुवाणि नश्वराणि साधनानि मानुष्यक्षेत्रजात्यादीनि यस्य तदध्रुवसाधनम् । चशब्द समुच्चयार्थः । इत्येतन्निपुण सम्यक् ' मुणेयव्वं ति ' ज्ञातव्यम् । ज्ञात च तदेव स्याद्यदा सतत तत्राऽप्रमादो विधीयते । इति गाथाऽर्थः ॥४०॥

गुरुमापृच्छय साधुनिमन्त्रणा कार्येत्युक्तम्, अथ तमनापृ-
च्छयैव प्रत्याख्यानाऽऽदिकारणात् साधवो
निमन्त्रितास्तदा को विधिः ?, इत्याह-

इयरेसिं परिविक्खे, गुरुपुच्छाए णिओगकरणं ति ।
एवमिणं परिसुद्धं, गेयावधे तु भकए वि ॥ ४१ ॥

इतरेषामपि गुरुभ्योऽन्येषां साधूनामपि, आस्तिां तावद्गुरुरिति वचनस्ते निमन्त्रणे, गुरुपृच्छया रत्नाधिकप्रश्नस्य, नियोगकरणमवश्य-तया विधानम्, गुरुरिति होय । इदमुक्तं भवति-यद्यपि दोष-साधुविषया निमन्त्रणोपपन्ना, तथाऽपि न तद्वचनादेव प्रवर्ति-तव्यम्, अपि तु गुरुपृच्छयैव विधेयेति । इतिशब्दो वाक्यार्थ-समाप्तौ । कस्मादेवमित्याह-एवमुक्तन्यायेन गुरुप्रश्नपूर्वकत्वतो-ऽत एव साधुनिमन्त्रणं, परिशुद्धमेव निर्दोषमेव, भवतीति ग-म्यम् । "सो विइना य" इत्यादिपूर्वोक्तप्रमाणात् । ननु यदि पृष्टो गुरुर्निषेधयेत्तदा न लभेत तदा प्रत्याख्यानादिना नि-मन्त्रणस्य निष्फलत्वात् कथं परिशुद्धताऽस्येत्याह-गेयावृत्ये प्रत्याख्यानाऽऽदिदाने, तुशब्द एवकारार्थो योजित एव । अकृतेऽप्य-विहितेऽपि, आस्तां विहिते । आत्मनस्तत्र कृतत्वात्, गुर्वाज्ञाक-रणस्यैव च महाफलत्वात्, गुरोरपि पुष्टाऽऽलम्बनतस्तन्निषेध-नात्र यथाकर्तव्यम् । इदम् " वेयावच्चे तु " इति पठ्यते । तत्र वैयावृत्य एव तस्मिन् कर्तव्यमिति प्रक्रमः, अकृतेऽपि वैयावृत्ये । इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ पञ्चा० १२ विव० ।

णिमंतेमाण-निमन्त्रयत्-त्रि० । निमन्त्रणं कुर्वाणे, " तओ पच्छा तस्स गिहे णिमंतेमाणस्स अणिमंतेमाणस्स । " आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

णिमम्-देशी-नगरे, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा ।

णिमग्ग-निमग्न-त्रि० । अधोजलगमनानि कुर्वाणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । पङ्काऽऽदावमग्ने, औ० । आ० म० ।

णिमग्गजला-निमग्नजला-स्त्री० । निमज्जत्यस्मिन् तृणाऽऽदि-कमपि यदनुजानामिति निमग्नम्, बहुलवचनादधिकरणे क्त-प्रत्ययः । निमग्नं जलं यस्यां सा तथा । तमिस्रगुहाया मध्ये वहन्त्यां नद्याम्, जं० ३ वक्ष० । आ० चू० ।

णिमज्जग-निमज्जक-पुं० । वानप्रस्थभेदेषु, ये स्नानार्थं निमग्ना एव क्षणं तिष्ठन्ति । नि० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ० । औ० । भ० ।

णिमज्जण-निमज्जन-न० । जलप्रवेशे, ग० २ अधि० । वृ० ।

णिमिअ-स्थापित-त्रि० । " क्लेनाप्फुण्णाऽऽदयः " ॥ ८ । ४ । २५८ ॥ इति स्थापितस्य णिमिअआदेशः । न्यस्ते, प्रा० ४ पाद ।

णिमित्त-निमित्त-न० । हेतौ, कारणे, विशे० । सहकारिकार-णे, निमित्तकारणे च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अष्ट० । उपा-दानकारणे, विशे० । आ० म० । व्य० । द्वे शब्दस्य निमित्ते । तद्यथा-व्युत्पत्तिनिमित्तं, प्रवृत्तिनिमित्तं च । यथा गोशब्द-स्य । तथाहि-गोशब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं गमनक्रिया, गच्छ-तीति गौरिति व्युत्पादनात् । तेन च गमनेनैकार्थसमवायतया यदुपलक्षितं सास्नाऽऽदिमत्त्वं, तत्प्रवृत्तिनिमित्तं, तेन गच्छति, अगच्छति वा गोपिण्डे गोशब्दः प्रवर्तते, उभय्यामप्यवस्थायां प्रवृत्तिनिमित्तभावात् । अश्वाऽऽदौ तु न प्रवर्तते, यथोक्त-रूपस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य तत्राभावात् । व्य० १ उ० । प्रयोजने, फले, सम्म० १ अधि० १ प्रस्ता० । अतीतानागतवर्तमानवस्तुप-रिज्ञानहेतौ ज्ञानविशेषे, प्रव० ७३ द्वार ।

निमित्तमाह-

तिविहं होइ निमित्तं, तीयपडुप्पन्नऽणागयं चेव ।
तेण न विणा उ नेयं, नज्जइ तेणं निमित्तं तु ॥

त्रिविधं भवति निमित्तम् । तद्यथा-अतीतं, प्रत्युत्पन्नम्, अनागतं च । कालत्रयवर्तिलाभालाभाऽऽदिपरिज्ञानहेतुश्चूडा-मणिप्रभृतिकं, शास्त्रविशेष इत्यर्थः । कुत ?, इत्याह-तेन वि-वक्षितशास्त्रविशेषेण, विना ज्ञेयं लाभालाभाऽऽदिकं, न ज्ञायते इति लाभाऽऽदिज्ञाननिमित्तत्वान्निमित्तमुच्यते । एतानि कौ-तुकाऽऽदीनि च आजीवति स तद्भावजीवको मन्तव्य इति । बृ० १ उ० । आ० म० । आव० । ग० । ध० च० । ध० । दर्श० ।

जे भिक्खू तीतं निमित्तं करेइ, करतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥
जे भिक्खू पडुप्पण्णं निमित्तं वागरेइ, वागरेंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥
जे भिक्खू अणागयं निमित्तं करेइ, करतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

जे भिक्खू पडुप्पण्णं णिमित्तं वागरेति-मागमस्स काले ला-भादि वागरेति ।

छव्विहं णिमित्तं इमं—

लाभालाभं सुहदुक्खं जीवितमरणऽतीतवज्जाइं ।
गिहिअण्णतित्थियाण व, जे भिक्खू वागरिज्जा णं ॥ ७२ ॥

लाभालाभं सुहं दुक्खं जीवितं मरणं । एतानि छ अतीतका-लवज्जाणि वागरेति, वट्टमाणे एस्से चेत्यर्थः । गिहीणं, अण्णति-त्थियाण वा जो वागरेज्ज भिक्खू, सो आणादी दोसा पावेज्ज ।

इणमेव वट्टमाणप्रदर्शनार्थं गाहा-

पट्ठविओ मे अमुओ, लब्भति ण लब्भति व तस्सिमा वेला ।
सीममा दुक्खी हं, सुही ति अमुग्गं व ते दुक्खं ॥ ७३ ॥

अमुगो मया अमुगस्समीव पेसितो लाभणिमित्तं, सो तत्थ तं ल-भेज्ज वा, णो लभेज्जा ? । अथवा इमा तस्स आगमणवेला, सो लद्ध-लाभो अलद्धलाभो वा आगच्छति, ण वा ? । सीम सद्धा वा कोइ पुच्छेज्ज-किमहं सुही, दुक्खी वा ? । अहवा-वट्टमाणकाले चेव वागरेति-इमं ते सारीरं दुक्खं, माणसं वा वट्टति ।

गाहा-

जीवति मओ त्ति वा सं-कितम्मि एगतरगस्स णिद्देसे ।
एवं होहिति तुज्झ, तस्स व लाभाऽऽदओ एस्सो ॥ ७४ ॥

कोइ विदेसत्थो ण णज्जति-जीवति, मतो वा ?, एरिसे संकि-ते पुच्छितो एगतराणिद्देसं करेज्ज, एवं वट्टमाणे, एस्से वा जस्स पुच्छिज्जति सो पच्चक्खो, परोक्खो वा । पच्चक्खो भण्ण-ति-तुज्झ एस्सकाले एवं होहिति-लाभो, अलाभो वा, सुहं, दुक्खं वा, जीवियं, मरणं वा । परोक्खे-तस्स एस्से काले इमो लाभो, अलाभो वा, सुहं, दुक्खं, जीवितं, मरणं वा भविस्सइ ।

जीवइ त्ति भणिते गाहा-

आणंद अपमिहय, संखडिकरणं च उभयथा होति ।
खिन्नादिमरणकोट्टण, अधिकरणमणागए वा वि ॥ ७५ ॥

आणंद अपमिहय करेति, वर्द्धमानकं इत्यर्थः । मतो त्ति भणिते संखडिकरणं करेज्ज । एवं उभयहा अविधे अधिकरणदोसो भवति । अहवा-मतो त्ति भणिते खिन्नचित्तो भवे, मरति

वा, उरसिरकुट्टणादि वा करेज्ज,मिनकिण्णकरणेसु वा अधिकरण भवे। अहवा-अणागते णिमित्ते वागरिते एते खिन्नचित्ताऽऽदिया दोसा भवति।

जं च णिमित्तबलेण कज्जसंधणं करेज्ज-

उच्छाहो विसीदंते. अगंतुकामस्स हाति गमणं तु ।
अहिकरणथिरीकरणं, कयविक्कयसांणियत्ती य ॥ ७६ ॥

अणागतणिमित्तवागरणेण कज्जे विसीदतस्स उच्छाहो कतो भवति, लाभत्थिणो परदेसा अगतुकामस्स अवस्सं ते लाभो भविस्सति त्ति गमण करेति। किसिमादिअधिकरणेसु विसीदतस्स अवस्स वुट्ठी भविस्सति त्ति वागरिए अधिकरणे स्थैर्यं भवति। अहवा-परदेस गतुकामस्स इहेव लाभो भविस्सति त्ति थिरीकरण भवति, इम किणाहि, इतो कम्मारभातो साणियत्ता इमम्मि कम्मारजे पयट्टसु,एव ते लाभो भविस्सति, एव अधिकरणदोसा।

एवमाएसदोसा-

आएसविसंवादे, पओसनिच्छुभणमादि वोच्छेओ ।
अहिकरणं अन्नेण व, उड्डाह अवण्णवादो य ॥७७॥

आएसे य विसवदति पदोस गच्छेज्ज, वसही वा णिच्छुभेज्ज, आहारादिवसहीण वा वोच्छेद करेज्ज, अन्नेण वा निमित्तिएण सद्धिं अधिकरण भवे, अन्नेण वा निमित्तिएण सवादिते साधूण अवण्णवादो भवति, उड्डाहो य भवेज्ज।

गाहा-

नियमा तिकालविसए,नेमित्ते छव्विहे भवे दोसो ।
सयमेव वट्टमाणे, उभए वा तत्थिमं णातं ॥८०॥

णियमा अवस्सदोसो भवति तिकालविसए-अतीते, वट्टमाणे,एस्से य। छव्विहे लाभादिए सयमेव वर्त्तमानकाले आदेसे दोसो भवति, उभयमिति-अप्पणो, परस्स वा। तत्थिमं णातं दृष्टान्त इत्यर्थः।

गाहा-

आकंपिया निमित्ते-ण भोइणी भोतिए चिरगतम्मि ।
पुव्वभणितं कहेती, आगतो रुट्ठो य वलवाए ॥८९॥

एगो णिमित्तिओ,तेण भोतिणी गामसामिणी आकंपिता-आविसवातिणिमित्तेण आउट्टिता। अण्णया सा भोतिणी भोतिय चिरगत पुच्छति-कया सो भोतिओ आगच्छति?। तेन कहिय-अमुगदिणे अमुगवेलाए आगच्छति। सो य आगतो। ताहे तस्स णेमित्तियपुव्वभणित इत्थमादिपरियणो सव्व कहेति। तम्मि कहिते सोऽतीसाभुभावेण रुट्ठो वलवाए सपुच्छति।

गाह-

दाराऽऽभोगण एगा-गिआगमो परियणस्स पव्वोणी * ।
पुच्छा य खमणकहणं,सादीयंकार सुविणादी ॥९०॥
कोहो वलवा गब्भं, च पुच्छितो भणति पचपुंडाऽऽसो ।
फालण दिट्ठे जति णे-व तो तुहं अवितहं कति वा? ॥९१॥

सती असती वा मे दारा,तस्स आभोगणट्ठा एगागी आगतो पेच्छति-सव्वपरियणो पव्वोणीए णिग्गतो। अमगतिया पव्वोणी। तेण पुच्छिय-कह ते णाय?। तेहिं कहियं-एरिसो तारिसो खमगो णेमित्तिओ,तेण कहित। सो त बोहिरस्स णिमित्त पुच्छति। तेण वि से सुविणादि सादीयकारं णिमित्त अवितह कहियं। सो भोतिओ कुवितो पुच्छति-एस वलवा गब्भिणी, एतीए किं भविस्सति?। तेण भणिय-पचपुमो आसो भविस्सति। तेण तक्खणा चेव फालविया दट्ठो। ताहे भोतिओ भणति-जइ एव ण होज्जा, तो तुह पेट्ट फालिय होंत। एव अवितहणेमित्तिया कति भविस्सति?। जम्हा एते दोसा तम्हा ण वागरेज्ज।

गाहा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जयणाए वागरे भिक्खू ॥९२॥
एतेहिऽसंथरंतो, पणगादीकम्मइच्छितो संतो ।
एस्सेव पडुपण्णं, च भणति भद्देसु उवउत्ते ॥९३॥

एतेहिं कारणेहिं असंथरतो पणगपरिहाणीए जाहे आहाकम्म अइक्कतो, ताहे पुव्व अतीतं णिमित्त वागरेति भद्दगेसु अतीव उवउत्तो, पच्छा आगमिस्स पडुप्पण्ण। नि० चू० १० उ०। अतीतानागतवर्त्तमानानामतीन्द्रियभावानामधिगमे निमित्त हेतुर्यद्वस्तुजात तन्निमित्त, तदभिधायकशास्त्राण्यपि निमित्तानीत्युच्यन्ते इति। भौमाऽऽदिलक्षणशास्त्रेषु,स्था०। "अट्ठविहे महानिमित्ते पण्णत्ते। त जहा-भोमे, उप्पाए, सुविणए अतलिक्खे, अगे, सरे, लक्खणे, वजणे।" स्था० ८ ठा०। आव०। प्रव०। वृ०। (भौमाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) (विस्तरार्थिना तु अङ्गविद्या नाम ग्रन्थो वीक्षणीयः। प्ररूपित चैतद् 'अगविज्जा' शब्दे प्र० भागे ३६ पृष्ठे) वाक्प्रशस्तशकुनाऽऽदिकेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। चूमामणिप्रभृतौ निमित्तकृपुरुषे, स्था० ६ ठा०। दश०। आचा०। औ०।

णिमित्तकारण-निमित्तकारण-न०। पटस्य निमित्त तन्तव एव कारण निमित्तकारणम्, तद्व्यतिरेकेण पटानुत्पत्तेः। तथा च तन्तुभिर्विना न भवति यत, तथा तद्गततानाऽऽदिचेष्टाव्यतिरेकेणापि न भवति, तस्याश्च चेष्टाया वेमाऽऽदि कारणम्। अन्यद्रव्यकारणभेदे, आ० म० १ अ० २ खण्ड। आ० चू०।

णिमित्तणिप्पण्ण-निमित्तनिष्पन्न-त्रि०। चिह्ननिष्पन्ने करणनिष्पन्ने, "चिंधणिप्पन्न ति, करणणिप्पन्नं ति, णिमित्तणिप्पन्न ति वा एगट्ठं।" आ० चू० १ अ०।

णिमित्तपिंम-निमित्तपिण्ड-पु०। निमित्तमङ्गुष्ठप्रश्नाऽऽदि, तद्वाप्तो निमित्तपिण्ड.। आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०९ उ०। अतीतानागतवर्त्तमानकालेषु लाभाऽऽदिकथन भिक्षार्थं कुर्वता उत्पादनादोषसपर्केण गृहीतपिण्डे, ध० ३ अधि०। जीत०।

अथ तद्भोजननिषेध'-

जे भिक्खू णिमित्तपिंमं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥६१॥

तीतमणागतवट्टमाणत्थाणोपलद्धिकारण णिमित्त भण्णति जो तं पउजित्ता असणाऽऽदिमुप्पादेति, सो णिमित्तेहिं पिंडो भण्णति, आणादिया य दोसा, चउलहु च से पच्छित्त।

भिक्खू णिमित्तपिंमं, कहेज्ज सज्जं तु अहव सातिज्जे।

* 'पव्वोणी' शब्दो देशीवचन. संमुखार्थ.।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १४२ ॥

नियमा तिकालविसए, णेमित्ते छव्विहे भवे दोसो ।

सयमेव वट्टमाणे, उत्तए वा तत्थिमं णातं ॥ १४३ ॥

कंठा । तिविधो कालो-अतीतो, वट्टमाणो, आगमिस्सो । एकेकं छव्विहं णिमित्तं पउंजति । तत्थ इमे छब्भेदा-लाभं, अलाभं, सुहं, दुहं, जीवियं, मरणं । एगम्मि पउत्ते णियमा संजमाय-परोभया दोसा भवति । एत्थ तीतं अप्पदोसतरं, ततो आग-मिस्सं बहुदोसतरं, ततो पडुप्पण्णं बहुदोसतरं ।

तत्थ पडुप्पण्णे इमं उदाहरणं-

आकंपिया णिमित्ते-ण भोइणा भोइए चिरगयम्मि ।

पुव्वभणितं कहेंती, आगतो रुट्टो य वलवाए ॥१४४॥

इमा भद्दबाहुकया गाहा ।

एतीए इमाओ दो वक्खाणगाहाओ-

दाराऽऽभोयण एगा-गिआगमो परियणस्स पच्चोणी ।

पुच्छा य खमणकहणं,सावीयंकार सुविणादी ॥१४५॥

कोहा वलवा गब्भं, च पुच्छितो भणति पंचपुंडाऽऽसो ।

फालाण दिट्ठे जति णे-व तो तुहं अवितहं कति वा ?॥१४६॥

एगम्मि गामे ओसण्णो णेमित्ती अत्थति, तत्थ जो गाम-भोतिओ सो पवासितो, तस्स य जा भोइणी, सा तं णेमित्तिय णिमित्तं पुच्छति । साहे तेण सा अवितहणिमित्तेण आकंपिया । अण्णदा सा न पुच्छति । तेण कहियं-कल्लं समुणएसाए एति । सो वि भोइओ चिंतेइ- सव्व इहेव अट्ठं एगागी जामि दारा-भोगेण त्ति गवेसामि-किं वभिचारं वभिचरति, ण वा ? । तस्सागमणवेलाए य सव्वो परियणो पच्चोणीए णिग्गतो । अग्गगतिए एति, सो य दिट्ठो, सागते कए पुच्छइ-कह मे णातं ? । तेण भणियं-खमणो णेमित्ती,तेण कहियं । आगओ घरं कलुसितमणसा एस वभिचारि त्ति कुवुत्तरे णेमित्ती सद्दा-वितो,कहेति णिमित्तं,तेण जं किंचि पुव्वभणियं,भुत्तं वा, आणु-भूतं वा सुविणादिगतं तं सव्वं सअंकारेहिं कहितं । एयं कहिते वि कोवं ण मुचति । ततो रुट्ठो पुच्छति-एतीए वडवाए किं गब्भे त्ति । णेमित्तिणा उवओगेण भणियं-किसोरो पंच-पुंडो । ततो रुट्ठो कालं ण पडिच्छति त्ति भणाति-फाडेह उदरं । से फालिय दिट्ठो । ततो भणाति-जति एयं णिमित्तं एवं ण भवति, तो तुज्झ पोट्टं फालिय होतं । एरिसा अवितहणि-मित्ती केत्तिया भविस्सति ? । जतो वभिचरति णिमित्ता,ग्गउम-स्थपओगा य वितहा भवति, अधिकरणादओ य दोसा आयपरोभयसमुत्था, सकाऽऽदिया य इत्थीसु दोसा, अतो ण णिमित्तं वागरेयव्वं ।

अववादेण वागरेयव्वं । गाहा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।

अद्धाण रोहए वा, जयणाए वागरे भिक्खू ॥१४७॥

असिवादिकारणेहिं सुट्टुज्जयतो तीताइणिमित्तं वागरेति, आहे पणगपरिहाणीए चउलहु पत्तो । नि० चू० १३ उ० ।

णिमित्तवाएसि(ण्)-निमित्तादेशिन्-पुं० । निमित्तमतीताऽऽदि-भेदभिन्नमादिशति य. स तथा । नैमित्तिकसाधौ,पं०व० ४द्वार ।

निमित्ताऽऽदेशिनमाह-

तिविहं निमित्तं एक्के-क छव्विहं जं तु वन्नियं पुव्विं ।

अभिमाणाभिनिवेसा, वागरियं आसुरं कुणइ ॥

त्रिविधमतीताऽऽदिकालत्रयविषयं यत्पूर्वमिहैवाऽऽभियोगिकभा-वनायां वर्णितं, तदेकैकं षड्विधं लाभालाभसुखदुःखजीवित-मरणविषयभेदात्षट्प्रकारम् । आह-आभियोगिकभावनानिबन्ध-नतया पूर्वमिदमुक्तम्, अत. कथमिदमिहाभिधीयत इत्या-ह-अभिमानाभिनिवेशादहङ्कारतीव्रतया व्याकृतं प्रकटितमेतन्-निमित्तमासुरीं भावनां करोति, अन्यथा त्वाभियोगिकी मतिः । बृ० १ उ० ।

णिमित्तलक्खण-निमित्तलक्षण-न० । विज्ञानहेतौ निमित्त-शास्त्रे, विशे० ।

अथ निमित्तलक्षणं विवृण्वन्नाह-

लक्खिज्जई सुहासुह-मणेण तो लक्खणं निमित्तं ति ।

भोमाइ तदट्ठविहं,तिकालविसयं जिणाभिहियं ॥२१६३॥

लक्ष्यते विज्ञायते यस्माच्छुभाशुभमनेन ततो निमित्तमपि लक्षणम् । तच्चाष्टविधमष्टप्रकारम् । उक्तं च-" भोमसुमि-णऽतलिक्खं, दिव्वं अंगसरलक्खण तह य । वंजणमट्ठविहं खलु, निमित्तमेवं मुणेयव्वं ॥ १ ॥ " इति । भौमाऽऽदिस्व-रूपं च ग्रन्थान्तरादवसेयम् । इदं चाष्टविधमपि निमित्तं प्रत्येकमतीतानागतवर्तमानरूपकालत्रयविषयं जिनैरभिहित-मिति ॥ २१६३ ॥ विशे० । आ० चू० ।

णिमित्तसंजोग-निमित्तसंयोग-पुं० । कारणसाहित्ये, " शुभो निमित्तसंयोगः, पक्षकोदयतो मतः । " (१८) शुभः प्रशस्तो नि-मित्तसंयोगः सद्योगाऽऽदिसम्बन्धः,सद्योगाऽऽदीनामेव निःश्रे-यससाधननिमित्तत्वात् । (१८) । द्वा० २१ द्वा० ।

णिमित्तसुद्धि-निमित्तशुद्धि-स्त्री० । शुभहेतुवस्तुशुद्धौ, यथा-आवश्यकग्रहणे तत्कालोच्छ्वसितशङ्खपणवाऽऽदिनिनादश्रवणपू-र्णकलशभृङ्गारछत्रध्वजचामराऽऽद्यवलोकनशुभगन्धाऽऽघ्राणाऽऽ-दिरूपभावा । ध० २ अधि० ।

णिमित्ताजीविया-निमित्ताजीविका-स्त्री० । त्रैकालिकलाभा-लाभाऽऽदिविषयनिमित्तोपात्ताऽऽहाराऽऽद्युपजीवने, आ० ४ ठा० ४ उ० ।

णिमिल्लण-निमीलन-न० । नि-मील-ल्युट् । "आदेर्मीले" ॥८। ४ । २३२ ॥ इति अन्त्यस्य द्वित्वं वा, द्वित्वे ह्रस्वो वा । अक्षि-सङ्कोचे, प्रा० ४ पाद ।

णिमीलण-निमीलन-न० । 'णिमिल्लण' शब्दार्थे,प्रा० ४ पाद ।

णिमेण-देशी-स्थाने, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा ।

णिमेल-देशी-दन्तमांसे, दे० ना० ४ वर्ग ३० गाथा ।

णिमेल्ला-देशी-धनपाले, दे० ना० ४ वर्ग ३० गाथा ।

णिमेस-निमेष-पुं० । अक्षिनिमीलने, भ० १४ श० १ उ० । आ० म० । स्वाभाविकचक्षुर्निमीलनकाले, वाच० ।

णिम्मद्दग-निर्मर्दक-पुं० । चौरविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिम्मद्दिय-निर्मर्दित-त्रि० । दलिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिम्मम–निर्मम–त्रि०। निर्गतं ममत्वं बाह्याऽऽभ्यन्तरेषु वस्तुषु यस्मादसौ निर्ममः। सूत्र०१ श्रु०१० अ०। ममत्वरहिते, तथा०। आव०। पं०भा०। प्रज्ञा०। आ० म०। वस्त्रपात्राऽऽदिषु ममत्वरहिते, उत्त० १९ अ०। अस्यां भारतभूमौ उत्सर्पिण्यां भविष्यति सुलसाजीवे पञ्चदशे तीर्थकरे, प्रव० ४६ द्वार। ती०। ति०। स०।

णिम्ममभाव–निर्ममभाव–पुं०। आकालं सकलपरिग्रहोपादानशून्यचिदानन्दैकमूर्तिकशुद्धाऽऽत्मस्वभावानुभवजनिते निर्ममत्वे, द्वा० २७ द्वा०।

णिम्मल–निर्मल–त्रि०। स्वाभाविकाऽऽगन्तुकमलरहिते, जी० ३ प्रति० ४ उ०। त०। प्रज्ञा०। आ० म०। जं०। रा०। विमले, औ०। प्रश्न०। कठिनमलरहिते, भ० २ श० ५ उ०। स०। औ०। विशुद्धे, आ० १ श्रु० १ अ०। स्वच्छे, कल्प० ३ क्षण। भ०। घट्टितीघट्टिते, "मट्ठा घट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका" प्रज्ञा० २ पद। पूर्वबद्धकर्मविनिर्मुक्ते द्रव्यमलवर्जिते सिद्धे, औ०। ब्रह्मलोके षष्ठो विमानप्रस्तटानां चतुर्थे, स्था० ६ ठा०। निर्गतो मलो यस्मात्। ५ ब० व्री०। कतके, तस्य हि सबन्धाद् जलमलनाशकत्व प्रसिद्धम्। वाच०।

णिम्मलजलपुण्ण–निर्मलजलपूर्ण–त्रि०। निर्मलेन जलेन भृते, कल्प० ३ क्षण।

णिम्मलफलिह–निर्मलस्फटिक–पुं०। विमले स्फटिकमणौ, "निर्मलस्फटिकस्येव, निर्मल रूपमात्मनः। अध्यस्तोपाधिसबन्धो, जडस्तत्र विमुह्यति" ॥ ६ ॥ अष्ट० ४ अष्ट०।

णिम्मलबोहवंत–निर्मलबोधवत्–त्रि०। विमलबोधसंपन्ने, षो० ३ विव०। निर्मलबोधस्तु–" निर्मलबोधोऽप्येवं, शुश्रूषाभावसभवो ज्ञेयः। शमगर्भशास्त्रयोगात्, श्रुतचिन्ताभावनासारः ॥ " षो० ४ विव०।

णिम्मल्ल–निर्माल्य–न०। देवोच्छिष्टे देवार्चाद्रव्ये, वाच०। त.थोऽऽदिगतसप्रभावप्रतिमाशेषे, पिं०।

भोगविणट्ठं दव्वं, णिम्मल्लं विंति गीयत्था।

यज्जिनबिम्बाऽऽरोपितं सद्विच्छायीभूत विगन्धिसजात दृश्यमान च निःश्रीकतया न भव्यजनमनःप्रमोदहेतुः, तन्निर्माल्य ब्रुवन्ति बहुश्रुता.। सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

नैर्मल्य–न०। निर्मलपरिणतौ, द्रव्या० ८ अध्या०।

णिम्मव–निर्मा–धा०। निर् + मा। विरचने, निष्पादने, "निर्मेर्निम्माण-निम्मवौ" । ८।४।१९। इति निर्पूर्वस्य मिमीतेः णिम्माण-णिम्मवाऽऽदेशौ। णिम्माणेइ। णिम्मवइ। निर्मिमीते। प्रा० ४ पाद। कर्मणि यक्। निर्माप्यन्ते। परिसमाप्तिं नीयमाने, प० सू० १ सूत्र।

णिम्मवइत्ता–निर्मापयितृ–त्रि०। सफलतापर्यन्तकार्यनेतरि, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

णिम्मह–गम्–धा०। गतौ,"गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस-पच्चड्ड-पच्छन्द-णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ परिअल्ल-वोल-परिअल-णिरिणास-णिवहावसेहावहराः" ॥ ८।४।१६२॥ इति सूत्रेण गमेर्णिम्महाऽऽदेशः। "णिम्महइ" गच्छति। प्रा० ४ पाद।

णिम्महियरागरोस–निर्मथितरागरोष–त्रि०। निराकृतप्रीतिद्वेषे, जीवा० १ अधि०।

णिम्माण–निर्मा–धा०। विरचने, निष्पादने, प्रा० ४ पाद।

निर्माण–न०। उत्तरकरणे, विशे०।

णिम्माणणाम [ण्]–निर्माणनामन्–न०। सर्वजीवशरीरावयवनिष्पादके अङ्गोपाङ्गकर्मणि, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। कर्म०। प०स०। उत्त०। प्रव०।

अंगोवंगणियमणं, णिम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ॥ [४७]

निर्माण निर्माणनामाङ्गोपाङ्गनियमनम्, अङ्गप्रत्यङ्गाना प्रतिनियतप्रदेशव्यवस्थापनं, करोति विदधाति, अत सूत्रधारसम सूत्रभृत्कल्पम्। यदुदयाज्जन्तुशरीरेष्वङ्गोपाङ्गानां प्रतिनियतस्थानवृत्तिता भवति, तत्सूत्रधारकल्प निर्माणनामेत्यर्थः। तदभावे हि तद्भृतकलैरङ्गोपाङ्गनामाऽऽदिभिर्निर्वर्तितानामपि शिरउदराऽऽदीनां स्थानवृत्तेरनियमः स्यात्। (४७) कर्म० १ कर्म०।

णिम्माय–निर्मात–पुं०। निष्पन्ने, बृ० ६ उ०। परिनिष्ठामुपागते, व्य० १ उ०। पञ्चा०। विशिष्टाभ्यासवति, कल्प० ३ क्षण। सूत्रार्थतदुभयज्ञे, "आयरियाण सगासे, अणुयत्तेव तु णिम्माया।" व्य० ३ उ०।

णिम्माविंत्त–निर्मापयितव्य–त्रि०। कर्त्तव्ये, (सूत्र०) "पच महब्भूया अणिम्मिया अणिम्माविंत्ता अकडा णो कित्तिमा"। सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

णिम्मिय–निर्मित–त्रि०। निवेशिते, उपा० ७ अ०। ज्ञा०। न्यस्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। निष्पादिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। कृते, स्था० ८ ठा०। औ०।

णिम्मियवाइ [ण्]–निर्मितवादिन्–त्रि०। निर्मितमीश्वरब्रह्मपुरुषाऽऽदिना कृत लोकं वदतीति निर्मितवादी। ईश्वरकृतलोकवादिलक्षणे अक्रियावादिनि, (स्था०)

" आसीदिदं तमोभूत-मप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १ ॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टे स्थावरजङ्गमे।
नष्टामरनरे चैव, प्रणष्टोरगराक्षसे ॥ २ ॥
केवल गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते।
अचिन्त्याऽऽत्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥ ३ ॥
तत्र तस्य शयानस्य, नाभेः पद्मं विनिर्गतम्।
तरुणरविमण्डलनिभ, हृद्य काञ्चनकर्णिकम् ॥ ४ ॥
तस्मिन्पद्मे भगवान्, दण्डी यज्ञोपवीतसयुक्तः।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्न-स्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥ ५ ॥
अदितिः सुरसङ्घानां, दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम्।
विनता विहङ्गमानां, माता विश्वप्रकाराणाम् ॥ ६ ॥
कद्रूः सरीसृपाणां, सुलसा माता तु नागजातीनाम्।
सुरभिश्चतुष्पदाना-मिला पुनः सर्वजीवानाम् " ॥ ७ ॥ इति।

प्रमाणयति चासौ-बुद्धिमत्कारणकृत भुवन, संस्थानवत्त्वात्, घटवदित्यादि। अक्रियावादिता चास्य न कदाचिदनीदृशं जगदिति वचनादकृत्रिमभुवनस्याकृत्रिमताविषेधात्। न चेश्वराऽऽदिकर्तृकत्व जगतोऽस्ति, कुलालाऽऽदिकारकवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। कुलालाऽऽदिवदेश्वराऽऽदेर्बुद्धिमत्कारणस्यानीश्वरताप्रस-

ग्रात् । किञ्च-ईश्वरस्याशरीरतया कारणाभावात् क्रियास्वप्रवृत्ति स्यात् । सशरीरत्वे च तच्छरीरस्यापि कर्मान्तरेण भाव्यम्, एवं चानवस्थाप्रसङ्ग इति । स्था० ८ ठा० । ('इस्सर' शब्दे द्वितीयभागे ६३६ पृष्ठे चैतन्मत परीक्षितम्)

णिम्मिस्सवल्ली-निर्मिश्रवल्ली-स्त्री० । नासवल्लेऽनन्तरस्वजनवर्गे, षट् निर्मिश्राणि-

माया पिया य जाया, भगिणी पुत्तो तहेव धूया य ।
एसा अणंतरा खलु, णिम्मिस्सा होति वल्ली उ ॥

माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्रो, दुहिता च । एषा अनन्तरा भवति वल्ली । व्य० १० उ० ।

णिम्मूल-निर्मूल-त्रि० । उच्छिन्नमूले, " णिम्मूलुल्लुणकण्णोट्ठनासिका छिन्नहत्थपाया । " प्रश्न० १ आश्र० द्वार । " णिम्मूलितंतफुरफुरतविगलमम्महयाग्गयगाढदिण्णपहारमुच्छितरुण्णताविम्मलबिलावकलुणो । " निर्मूलितानि विकुक्षितो बाहिः कृतानि अन्त्राणि उदरमध्यावयवविशेषा येषा ते तथा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिम्मूलण-निर्मूलन-न० । कषे, स्था० २६ स्था० ।

णिम्मेअ-देशी-गते, दे० ना० ४ वर्ग ३४ गाथा ।

णिम्मेर-निर्मर्याद-त्रि० । परस्त्रीपरिहाराऽऽदिमर्यादाविलोपित्वात् (रा० । दशा०) लोककुलाऽऽद्यपेक्षया (स्था० ३ ठा० २ उ०) अविद्यमानकुलाऽऽदिमर्यादे, ज० २ वक्ष० । प्र० । प्रतिपन्नाऽपरिपालके, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

णिम्मोअ-निर्मोक-पु० । कञ्चुके, "कंचुक" इति ख्याते सर्पत्वचि, विशे० । " सेसस्स व निम्मोओ ।" प्रा० २ पाद ।

णिम्मोयणी-निर्मोचनी-स्त्री० । निर्मोके कञ्चुके, " जहा य भोई तणुयं भुयगो, णिम्मोयणिं हिच पलेइ मुत्तो (३४)" उत्त० १४ अ० ।

णिय-निज-त्रि० । आत्मीये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । कर्म० । अष्ट० ।

णियजाइअब्भदलिया-ऽणंतंसो ... " । [८१]

यका यका प्रकृतयो यस्या मूलप्रकृतौ पतिता विद्यन्ते तासां सैव मूलप्रकृतिर्निजजातिर्विज्ञेया । तया तया निजनिजमूलप्रकृतिरूपया निजजात्या यल्लब्धं प्राप्तं दलिकाग्रम् । (८१) कर्म० ५ कर्म० ।

णियइ-निकृति-स्त्री० । मायायाम्, तत्प्रच्छादनार्थे मृषावचने च । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । स० ।

नियति-स्त्री० । नियमनं नियतिः । यथाभवने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । अवश्यभाव्युदये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । सा च पदार्थानामवश्यतया यथाभवने प्रयोजककर्त्रीति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । आचा० ।

अथ नियतिवादिगोशालानां मतानीह दर्श्यन्ते-

आघायं पुण एगेसिं, उववण्णा पुढो जिया ।
वेदयंति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पंति ठाणओ ॥१॥

पुनःशब्दः पूर्वोऽऽभ्यो विशेषं दर्शयति-नियतिवादिनां पुनरेकेषामेतदाख्यातम् । अत्र चाविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका प्रभवन्तीति ख्यातेर्भावे निष्ठाप्रत्ययः, तद्योगे कर्त्तरि षष्ठी । तत्रायमर्थः-नैर्नियतवादिभिः पुनरिदमाख्यातम्, तेषामयमाशय इत्यर्थः । तद्यथा-उपपन्ना युक्त्या घटमानका इत्यनेन च पञ्चभूततज्जीवतच्छरीरवादिमतमपाकृतं भवति । युक्तिस्तु लेशतः प्रागदर्शितैव, प्रदर्शयिष्यते च । पृथक् पृथक् नारकाऽऽदिभवेषु शरीरेषु चेतयन्तेनाऽऽत्मानोऽन्वितास्तदिरासोऽत्रसेय । के पुनस्ते पृथगुपपन्नास्तदाह-जीवाः प्राणिनः सुखदुःखभोगिनः । अनेन च पञ्चस्कन्धातिरिक्तजीवाभावप्रतिपादकबौद्धमताऽपक्षेपः कृतो द्रष्टव्यः । तथा ते जीवाः पृथक् पृथक् प्रत्येकदेहे व्यवस्थिताः सुखं दुःखं च वेदयन्त्यनुभवन्ति । न वयं प्रतिप्राणिप्रतीतं सुखदुःखानुभवं निह्नुमहे । अनेन चाऽकर्तृवादिनो निरस्ता भवन्ति । अकर्तर्यविकारिण्यात्मनि सुखदुःखानुभवानुपपत्तेरिति भावः । तथैतदस्मानिर्नोऽपलप्यते । (अदुवेति) अथवा-ते प्राणिनः सुखं दुःखं चानुभवन्ति, विलुप्यन्ते उच्छिद्यन्ते, स्वायुषः प्रच्याव्यन्ते, स्थानात्स्थानान्तरं सङ्क्राम्यन्त इत्यर्थः । ततश्चौपपातिकत्वमप्यस्माभिस्तेषां न निषिध्यते । इति श्लोकार्थः ॥१॥

तदेवं पञ्चभूतास्तित्ववाऽऽदिवादिनिरासं कृत्वा यत्तैर्नियतिवादिभिराश्रीयते, तच्छ्लोकद्वयेन दर्शयितुमाह—

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नं कडं च णं ? ।
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥ २ ॥
सयं कडं न अण्णेहिं, वेदयंति पुढो जिया ।
संगइअं तं तहा तेसिं, इहमेगेसि आहियं ॥ ३ ॥

यत् तैः प्राणिभिरनुभूयते सुखं, दुःखं, स्थानविलोपनं वा, न तत्स्वयमात्मना पुरुषकारेण कृतं निष्पादितं दुःखमिति, कारणे कार्योपचारात् दुःखकारणमेवोक्तम् । अस्य चोपलक्षणत्वात् सुखाऽऽद्यपि ग्राह्यम् । ततश्चेदमुक्तं भवति-योऽयं सुखदुःखानुभवः स पुरुषकारकृतकारणजन्यो न भवतीति । तथा कुतोऽन्येन कालेश्वरस्वभावकर्माऽऽदिना च कृतं भवेत् ? । णमिति वाक्यालङ्कारे । तथाहि-यदि पुरुषकारकृतं सुखाऽऽद्यनुभूयेत ततः सेवकवणिक्कर्षकाऽऽदीनां समाने पुरुषकारे सति फलप्राप्तिवैसदृश्यं, फलप्राप्तिश्च न भवेत् । कस्यचित्तु सेवाऽऽदिव्यापाराभावेऽपि विशिष्टफलावाप्तिर्दृश्यत इत्यतो न पुरुषकारात्किञ्चिदासाद्यते, किं तर्हि नियतेरेवेत्येतच्च द्वितीयश्लोकान्तेऽभिधास्यते । नापि कालः कर्ता, तस्यैकरूपत्वाज्जगति फलवैचित्र्यानुपपत्तेः । कारणभेदे हि कार्यभेदो भवति, नाभेदे । तथा ह्ययमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा घटते, यदुत विरुद्धधर्माध्यासः, कारणभेदश्च । तथेश्वरकर्तृकेऽपि सुखदुःखे न भवतः । यतोऽसावीश्वरो मूर्तोऽमूर्तो वा ? । यदि मूर्तस्ततः प्राकृतपुरुषस्येव सर्वकर्तृत्वाभावः । अथाऽमूर्तस्तथासत्याकाशस्येव सुतरां निष्क्रियत्वम् । अपि च-यद्यसौ रागाऽऽदिमांस्ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकाद्विश्वस्याकर्तैव । अथाऽसौ विगतरागः, ततस्तत्कृतं सुभगदुर्भगेश्वरदरिद्राऽऽदिजगद्वैचित्र्यं न घटां प्राञ्चति, ततो नेश्वरः कर्तेति । तथा-स्वभावस्यापि सुखदुःखाऽऽदिकर्तृत्वानुपपत्तिः । यतोऽसौ स्वभावः पुरुषाद्भिन्नोऽभिन्नो वा ? । यदि भिन्नः ?, न पुरुषाऽऽश्रिते सुखदुःखे कर्तुमलं, तस्माद्भिन्नत्वादिति । नाप्यभिन्नोऽभेदे पुरुष एव स्यात्तस्य चाकर्तृत्वमुक्तमेव । नाऽपि कर्मणः सुखदुःखं प्रति कर्तृत्वं घटते । यतस्तत्कर्म पुरुषाद्भिन्नमभिन्नं वा भवेद् ? । अभिन्नं चेत्पुरुषमात्रताऽऽपत्तिः कर्म-

ण',तत्र चोक्तो दोषः । अथ भिन्न तत्किम्-सचेतनम्, अचेतनं वा ? । यदि सचेतनम्,एकस्मिन् काये चैतन्यद्वयाऽऽपत्तिः । अथाऽचेतनम्, तथा सति कुतस्तस्य पाषाणखण्डस्येवास्वतन्त्रस्य सुखदुःखोत्पादनं प्रति कर्तृत्वम् ?, इत्येतच्चोत्तरत्र न्यासेन प्रतिपादयिष्ये, इत्यलं प्रसङ्गेन । तदेव सुखं सैद्धिकं सिद्ध्यपवर्गलक्षणायां भव, यदि वा दुःखम्-असातोदयलक्षणमसैद्धिकं सांसारिकम् । यदि वोभयमप्येतत्सुखदुःखं वा स्रक्चन्दनाऽङ्गनाऽऽद्युपभोगक्रियासिद्धौ भव, तथा कशाताडनाङ्कनाऽऽदि सिद्धौ भवं सैद्धिकम् । तथाऽसैद्धिकं सुखमान्तरमानन्दरूपमाकस्मिकमनवधारितबाह्यनिमित्तम् । एवं दुःखमपि ज्वरशिरोऽर्तिशूलाऽऽदिरूपमङ्गोत्थमसैद्धिकम् । तदेतदुभयमपि, न स्वयं पुरुषकारेण कृतं, नाप्यन्येन केनचित् कालाऽऽदिना कृतं, वेदयन्त्यनुभवन्ति, पृथक् जीवाः प्राणिन इति । कथं तर्हि तत्तेषामभूदिति नियतिवादी स्वाभिप्रायमाविष्करोति (सगइअं ति) सम्यक् स्वपरिणामेन गतिर्यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानुभवनं, सा सङ्गतिर्नियतिः,तस्या भवं साङ्गतिकम् । यतश्चैवं न पुरुषकाराऽऽदिकृतं सुखदुःखाऽऽद्यतस्तत्तेषां प्राणिनां नियतिकृतं साङ्गतिकमित्युच्यते । इहास्मिन् सुखदुःखानुभववादे, एकेषां वादिनामाख्यातम्, तेषामयमभ्युपगमः ।

तथा चोक्तम्-

"प्राप्तव्यो नियतिबलाऽऽश्रयेण योऽर्थः,
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ १ ॥" सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

ये नियतिवादिनस्ते ह्येवमाहुः-नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति, यद्वशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते, नान्यथा । तथाहि-यद्यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते । अन्यथा कार्यभावव्यवस्था, प्रतिनियतरूपव्यवस्था च न भवेत्, नियामकाभावात् । तत एवं कार्यनैयत्यतः प्रतीयमानामेनां नियतिं को नाम प्रमाणपथकुशलो बाधितुं क्रमते ?, मा प्रापदन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसङ्गः ।

तथा चोक्तम्-

"नियतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवन्ति यत् ।
ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुबोधतः ॥ १ ॥
यद्यदैव यतो यावत्, तत्तदैव ततस्तथा ।
नियतं जायते न्यायात्, क एनां बाधितुं क्षमः ? ॥ २ ॥" नं० ।

एवं श्लोकद्वयेन नियतिवादिमतमुपन्यस्यास्योत्तरदानायाऽऽह-

एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडियमाणिणो ।
नियया नियर्यं संतं, अयाणंता अबुद्धिया ॥ ४ ॥

एवमित्यनन्तरोक्तस्योपप्रदर्शने,एतानि पूर्वोक्तानि नियतिवादाऽऽश्रितानि वचनानि । जल्पन्तोऽभिदधतो, बाला अज्ञाः सदसद्विवेकविकला अपि सन्तः, पण्डितमानिन आत्मानं पण्डितं मन्तुं शीलं येषां ते तथा । किमिति त एवमुच्यन्ते ?, इत्येतदाह-यत (नियया नियर्य संतमिति) सुखाऽऽदिकं किञ्चिन्नियतिकृतमवश्यंभाव्युदयप्रापितं, तथाऽनियतमात्मपुरुषकारेश्वराऽऽदिप्रापितं सद्,नियतिकृतमेवैकान्तेनाऽऽश्रयन्त्यतोऽजानाना सुखदुःखाऽऽदिकारणम्,अबुद्धिका बुद्धिरहिता भवन्तीति । तथाहि-आर्हतानां किञ्चित्सुखदुःखानि नियतित एव भवन्ति, तत्कारणस्य कर्मणः कस्मिंश्चिदवसरेऽवश्यंभाव्युदयसद्भावान्नियतिकृतमित्युच्यते । तथा किञ्चिदनियतिकृतं च पुरुषकालेश्वरस्वभावकर्माऽऽदिकृतं, तत्र कथञ्चित्सुखदुःखाऽऽदेः पुरुषकारसाध्यत्वमप्याश्रीयते । यतः क्रियातः फलं भवति, क्रिया च पुरुषकाराऽऽयत्ता प्रवर्तते । तथा चोक्तम्-"न दैवमिति सञ्चिन्त्य, त्यजेदुद्यममात्मनः । अनुद्यमेन कस्तैलं, तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ? ॥ १ ॥" यत्तु समाने पुरुषव्यापारे फलवैचित्र्यं दूषणत्वेनोपन्यस्तं, तददूषणमेव । यतस्तत्रापि पुरुषकारवैचित्र्यमपि फलवैचित्र्ये कारणं भवति । समाने वा पुरुषकारे यः फलाभावः कस्यचिद्भवति, सोऽदृष्टकृतः । तदपि चास्माभिः कारणत्वेनाऽऽश्रितमेव । (सूत्र०) (कालकर्तृत्वविचारः 'काल' शब्दे तृतीयभागे ४६१ पृष्ठे गतः) तथेश्वरोऽपि कर्ता । आत्मैव हि तत्र तत्रोत्पत्तिद्वारेण सकलजगद्व्यापनादीश्वरः । तस्य सुखदुःखोत्पत्तिकर्तृत्वं सर्ववादिनामविगानेन सिद्धमेव । यच्चात्र मूर्तामूर्ताऽऽदिदूषणमुपन्यस्तं, तदेवंभूतेश्वरसमाश्रयणे दूरोच्छेदितमेवेति । स्वभावस्याऽपि कथञ्चित्कर्तृत्वमेव । तथाहि-आत्मन उपयोगलक्षणत्वमसंख्येयप्रदेशत्वम् । पुद्गलानां च मूर्तत्वं धर्माधर्मास्तिकाययोर्गतिस्थित्युपष्टम्भकारित्वममूर्तत्वं चेत्येवमादिस्वभावाऽऽपादितम् । यदपि चाऽऽत्मव्यतिरेकाऽव्यतिरेकरूपं दूषणमुपन्यस्तं, तददूषणमेव । यतः-स्वभाव आत्मनोऽव्यतिरिक्तः । आत्मनोऽपि च कर्तृत्वमभ्युपगतमेव, तदपि स्वभावाऽऽपादितमेवेति । तथा कर्माऽपि कर्तृ भवत्येव । तद्धि जीवप्रदेशैः सहान्योन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थितं कथञ्चिदात्मनोऽभिन्नं, तद्वशाच्चाऽऽत्मा नरकतिर्यङ्मनुष्यामरभवेषु पर्यटन् सुखदुःखाऽऽदिकमनुभवतीति । तदेवं नियत्यनियत्योः कर्तृत्वे युक्त्युपपन्ने सति नियतेरेव कर्तृत्वमभ्युपगच्छन्तो निर्युक्तिका भवन्तीत्यवसेयम् ॥ ४ ॥

तदेवं युक्त्या नियतिवादं दूषयित्वा तद्वादिनामपायदर्शनायाऽऽह-

एवमेगे उ पासत्या, ते भुज्जो विप्पगब्भिआ ।
एवं उवट्ठिआ संता, ण ते दुक्खविमोक्खया ॥ ५ ॥

(एवमेगे उ इत्यादि) एवमिति पूर्वाभ्युपगमसूचकम्, सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि नियतानियते सत्येके नियतमेवाऽवश्यंभाव्येव कालेश्वराऽऽदिनिराकरणेन निर्हेतुकतया नियतिवादमाश्रिताः । तुरवधारणे । त एव नान्ये । किंविशिष्टाः पुनस्ते ?,इति दर्शयति-युक्तिकदम्बकाद् बहिस्तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः, परलोकक्रियापार्श्वस्था वा । नियतिपक्षसमाश्रयणात्परलोकक्रियावैयर्थ्यम् । यदि वा-पाश इव पाशः, कर्मबन्धनम् । तच्चेह युक्तिविकलनियतिवादप्ररूपणम्, तत्र स्थिताः पाशस्थाः । अन्येऽप्येकान्तवादिनः कालेश्वराऽऽदिकारणिकाः पार्श्वस्थाः, पाशस्था वा द्रष्टव्या इत्यादि । ते पुनर्नियतिवादमाश्रित्यापि, भूयो विविधं विशेषेण वा प्रगल्भिता धार्ष्ट्योपगताः परलोकसाधिकासु क्रियासु प्रवर्त्तन्ते । धार्ष्ट्याऽऽश्रयणं तु तेषां नियतिवादाऽऽश्रयणे सत्येव । पुनरपि तत्प्रतिपन्थिनीषु क्रियासु प्रवर्त्तनादिति । ते पुनरेवमप्युपस्थिताः परलोकसाधकासु क्रियासु प्रवृत्ता अपि सन्तो नाऽऽत्मनः दुःखविमोचकाः, असम्यक्प्रवृत्तत्वान्नात्मानं दुःखाद्विमोचयन्ति । गता नियतिवादिनः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । आचा० । अकस्मा-

द्भवतीत्यनुपायत्वादिमत चात्यन्तोपयुक्तत्वात् किञ्चिद्विचार्यते॰॰ अकस्मादिति किं किंशब्दस्य हेतुपरतया हेत्वभावभवनपरम् उत-"अमानोना॰ प्रतिषेधे" इति स्मरणान्निषेधार्थकस्य किंशब्दस्य क्रियामयन्धमभवाद् भवनाभावपरम् ?। किं वा-किंशब्दस्य स्वभिन्नपरतया, अलीकाभिन्नपरतया वा स्वहेतुकत्वपरम्,अलीकहेतुकत्वपरं वा ?। अथवा-अकस्मादिति स्वभावादित्यर्थे रूढतया स्वभावादेव कादाचित्कमित्यर्थक ?। एतेषु पञ्चसु नैकोऽपि प्रकारो युक्त, नियतावधिकार्यदर्शनात्। अनियतावधित्वे, निरवधित्वे वा कादाचित्कत्वस्वभावव्याकोपात्। तत्स्वाभाव्ये च सहेतुकत्वस्याऽऽवश्यकत्वात्। तदुक्तमुदयनेन-"हेतुभूतिनिषेधो न, स्वानुपाऽऽख्यविधिर्न च। स्वभाववर्णना नैव-मवधेर्नियतत्वत ॥५॥" इति। अथाऽऽकाशत्वाऽऽदीनां कादाचित्कत्ववत् कादाचित्कत्वमपि न सहेतुकत्वसाधकमिति चेत्। न। आकाशत्वाऽऽदीनां सर्वत्र सत्त्वे आकाशाऽऽदिस्वभावत्वाभावप्रसङ्गात्। तत्स्वभावत्वं च धर्मिग्राहकमानसिद्धमिति हेतुं विनाऽपि देशनियमस्तेषामिति। अथैवं कादाचित्कत्वमपि घटाऽऽदिस्वभावत्वादेव हेतुं विनाऽपि गमनाऽऽदिव्यावृत्तमस्त्विति चेत्। न। कादाचित्कत्वस्यावधिनियतत्वात्। नन्ववधयो, न त्वपेक्ष्यन्त इति चेत्। न। नियतपश्चाद्भावित्वस्यैवापेक्षार्थत्वात्। अन्यथा गर्दभाद् धूम इत्यपि प्रतीयेत, तन्नियतत्वेऽपि तद्गतोपकाराजनकस्य कथं तद्धेतुत्वमिति चेत् ?। उपकारो हि कार्यमिति तद्गतकार्यहेतुत्वस्य तद्धेतुत्वेऽनन्तरत्वात्। अन्यथोपकारहेतुत्वाद्योपकारेऽप्युपकारान्तरस्वीकारेऽनवस्थाऽऽपत्तेः, तर्हि घटादिति नियतत्वं कपालाऽऽदावेव,न तन्त्वादाविति। कुत इति चेत् ?, स्वभावादिति गृहाण। अथ तथापि ग्राहकाभावात्तदसिद्धि, न च धूमाऽऽदौ वह्न्यादेरन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वज्ञानसचिवं वह्न्यादिप्रत्यक्षमेव हेतुहेतुमद्भावग्राहकं, धूममात्रेऽन्वयव्यतिरेकज्ञानासम्भवात्। यत्किञ्चिद् धूमे रासभाऽऽदेरपि तथा ज्ञानात् रासभाऽऽदेर्व्यभिचारज्ञानाच्च तद्ग्रह इति चेत्। न। वह्न्यादेरपि व्यभिचारशङ्कासाम्राज्यादिति। धूमाऽऽर्थिनो वह्न्यादौ प्रवृत्तिश्च संभावनयैवोपपद्यत इति परमतमिति चेत्। न। सामान्यव्यभिचारानुगतागुरु(ग्रह) विशेषान्तरानुपस्थितिदशायां यत्किञ्चिद्धूमवह्न्योस्तद्ग्रहसामग्र्या एव वह्निधूममात्रे तद्ग्राहकत्वात् सति लाघवज्ञाने व्यभिचारशङ्काया अप्रतिबन्धकत्वात्। रासभाऽऽदौ तु व्यभिचारनिर्णय एव। असति तन्निर्णये तत्र धूमहेतुत्वग्रहेऽपि भ्रमत्वमेव, बाधाभावात्। "अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वं हि हेतुत्वम्।" तथा च-वह्न्यादेरवधिभूतस्य धूमाऽऽदिनियतपूर्ववर्तित्वादनन्यथासिद्धत्वाच्च तद् दुर्निवारम्। यागाऽऽदृष्टाऽऽदौ स्वर्गाऽऽदिनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताग्रहश्चावच्छेदकाविनिर्मोकेण शब्दानुमानाऽऽदिनैव तत्प्रामाण्यस्यापि तत्र व्यवस्थापितत्वात्। तृणाऽरणिमण्यादीनां वह्निकारणताग्रहेऽप्ययमेव रीति, तृणत्वेन व्यभिचारज्ञानस्य तेनैव रूपेण कारणताग्रहविरोधित्वात्, अवच्छेदकौदासीन्येन तृणत्वसमानाधिकरणकारणताग्रहे विरोधाभावात्। अवच्छेदकरूपानुपस्थितौ कथमवच्छेद्यकारणताग्रह ?, कारणतायाः ससम्बन्धिकपदार्थत्वेन तत्प्रत्यक्षे सम्बन्धिज्ञानस्य कारणत्वादिति चेत्। न। 'अयं घट' इति समवायप्रत्यक्षे व्यभिचारात्। अथ येन समवायत्वाऽऽदिना रूपेण ससम्बन्धिकता, तेन रूपेण तत्प्रत्यक्षे तस्य हेतुत्वान्न व्यभिचार इति चेत्। न। तथाऽपि ससम्बन्धिकताऽवच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेन हेतुत्वमित्यत्र सम्बन्धिमात्रवृत्तित्वस्यैवावच्छेदकपदार्थत्वात्। प्रकृते चेयं वह्निव्यक्तिस्तृणजन्येति कारणताप्रत्यक्षस्यापि तृणकार्यताऽऽश्रयमात्रवृत्त्येतद्वह्नित्वप्रकारकज्ञानसाध्यत्वसम्भवात्। यद्वा-इयं वह्निस्तृणजन्येति प्रत्यक्षस्य एतद्वह्नित्वावच्छिन्नकार्यताऽवगाहित्वे व्यवच्छेदकत्वांशे भ्रमत्वेऽपि कार्यतांशे प्रमात्वान्न कोऽपि दोषः। (१२४) नयो॰। सम्म॰।

णियइकड-नियतिकृत-त्रि॰। अवश्यमभ्युदयप्रापिते, सूत्र॰ १ श्रु॰ १ अ॰ २ उ॰।

णियइकम्म-निकृतिकर्मन्-न॰। निकृतेर्मायायाः कर्म्म निकृतिकर्म। एकोनत्रिंशे गौणचौर्ये, प्रश्न॰३ आश्र॰ द्वार।

णियइपण्णाण-निकृतिप्रज्ञान-त्रि॰। निकृतिर्माया, तद्विषये प्रज्ञानं यस्य स तथा। ग्लान॰ प्रतिचरणीयो मा भवत्विति ग्लानवेषमहं करोमीत्येवमादिविकल्पवति, स॰। "सढे नियइपण्णाणे, कलुसाउलचेयसा। अप्पणो य अबोहीए, महामोहं पकुव्वइ॥१॥" स॰ ३० सम॰।

णियइपव्वय-नियतिपर्वत-पु॰। नियत्या नैयत्येन पर्वता नियतिपर्वताः। नियतपर्वतेषु, यत्र वाणमन्तरा देवा देव्यश्च भवधारणीयत्वेन वैक्रियशरीरेण प्राय सदा रममाणा अवतिष्ठन्त इति। जी॰ ३ प्रति॰ ४ उ॰। रा॰।

णियइवाइ[ण्]-नियतिवादिन्-पु॰। सर्वभावानां नियतिकृतत्ववादिनि, न॰। ('णियइ' शब्दे चैषां मतमनुपदमुपपादितम्)

णियंटिय-नियन्त्रित-त्रि॰। नितरां यन्त्रितं नियन्त्रितमिति। नियते प्रतिज्ञातदिनाऽऽदौ ग्लानत्वाऽऽद्यन्तरायभावेऽपि नियमात्कर्तव्ये प्रत्याख्यानभेदे, न॰। एतच्च प्रथमसंहनिनामेवेत्यन्यथापि च। स्था॰ १० ठा॰।

मासे मासे अ तवो, अमुगो अमुगदिवसम्मि एवइओ।
हट्ठेण गिलाणेण व, कायव्वो जाव उस्सासो ॥१०॥

मासे मासे च तप, अमुकोऽमुकदिवसे, एतावत्षष्ठाऽऽदि, हृष्टेन नीरोगेण, ग्लानेन वा अनीरोगेण, कर्तव्य, यावदुच्छ्वासो यावदायुरिति गाथासमासार्थः॥१०॥

एअं पच्चक्खाणं, णियंटिअं धीरपुरिसपन्नत्तं।
जं गिण्हंतऽणगारा, अणिस्सिअप्पा अपडिबद्धा ॥११॥

एतत्प्रत्याख्यानमुक्तस्वरूप, नियन्त्रितं धीरपुरुषप्रज्ञप्तं तीर्थकरगणधरप्ररूपितं, यद् गृह्णन्ति प्रतिपद्यन्तेऽनगाराः साधवः, अनिःसृताऽऽत्मानोऽनिदाना अप्रतिबद्धाः क्षेत्राऽऽदिष्विति गाथासमासार्थः ॥ ११ ॥ आव॰ ६ अ॰।

हट्ठेण गिलाणेण व, अमुगतवोऽमुगदिणम्मि नियमेण।
कायव्वो त्ति णिअंटिअं, पच्चक्खाणं जिणा बिंति ॥९५॥

हृष्टेन नीरोगेण,ग्लानेन वा सरोगेण, अमुकं तपः षष्ठाष्टमाऽऽदि, अमुकस्मिन् दिने, नियमेन निश्चयेन, मयेति शेष। (कायव्वो त्ति) कर्त्तव्य, प्राकृतत्वात् पुंसा निर्देशः, नियन्त्रितमिदं प्रत्याख्यानं, जिना ब्रुवते। इदं च प्रत्याख्यानं न सर्वकालं क्रियते, किं तर्हि, नियतकालमेव।

तथा चाऽऽह-

चउदसपुव्विसु जिणक-प्पिएसु पढमम्मि चेव संघयणे।

एअं वोच्छिन्नं चिअ, थेरा वि तया करेसी य ॥९६॥

चतुर्दशपूर्विषु चतुर्दशपूर्वधरेषु जिनकल्पिकेषु, प्रथम एव संहनने वज्रऋषभनाराचाभिधेये,एतन्नियन्त्रितप्रत्याख्यान, व्यवच्छिन्नमेव। अत्राऽऽह-ननु तस्मिन्नपि काले चतुर्दशपूर्वधराऽऽदय एव कृतवन्त , स्थविरैस्तु न कृतमेवेदमित्याह-(थेरा वि तया करेसी य) स्थविरा अपि तदा पूर्वधराऽऽदिकाले,अकार्षु', चशब्दादन्येऽप्यस्थविरा. प्रथमसहनिन इति । प्रव० ४ द्वार। भ० । आ० चू० । आव० ।

णियंठ-निर्ग्रन्थ-पुं०। निर्गता ग्रन्थात्सबाह्याभ्यन्तरादिति निर्ग्रन्थाः । साधुषु, ते पञ्चधा-पुलाक., बकुश , कुशील., निर्ग्रन्थः, स्नातकश्चेति । तत्र निर्ग्रन्थः निर्गतो मोहनीयकर्मलक्षणाद् ग्रन्थादिति निर्ग्रन्थः । ध० ३ अधि० । भ०।(सर्वेऽप्येते 'णिग्गथ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०३४ पृष्ठे प्रतिपादिता')

णियंठे पंचविहे पाणत्ते । तं जहा-पढमसमयणियंठे, अपढमसमयणियंठे, चरिमसमयणियंठे, अचरिमसमयणियंठे, अहासुहुमनियंठे णामं पंचमे ॥

" णियठे " इत्यादि सुगमम् । नवरम् अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणाया निर्ग्रन्थाद्धायाः प्रथमे समये वर्त्तमान एक., शेषेषु द्वितीयः, अन्तिमे तृतीय', शेषेषु चतुर्थ., सर्वेषु पञ्चम इति विवक्षया भेद एषामिति । स्था० ५ ठा० ३ उ० । दरिद्रे, उत्त० १२ अ० ।

णियंठिपुत्त-निर्ग्रन्थिपुत्र-पुं० । पेढालविद्याधरेण सुज्येष्ठाभिधानायां साध्व्यामुत्पादिते सत्यकौ, स्था० १० ठा० ।

तद्वृत्तं चेत्थम्-

" सत्यकि· खेचरः कोऽसौ, तदुत्पत्तिर्निगद्यते ॥ (३०)
चेटकस्यैव सुज्येष्ठा, सुताऽऽसीत्प्राव्रजत्र सा ।
उपाश्रयाद्वणे नित्य, कायोत्सर्गं ददाति च ॥ ३१ ॥
इत परिव्राट् पेढालो, विद्यासिद्धो नभश्चर ।
तनय ब्रह्मचारिण्या , विद्यां दातु निरीक्षते ॥ ३२ ॥
कायोत्सर्गस्थितां दृष्ट्वा, सुज्येष्ठां ब्रह्मचारिणीम् ।
कृत्वा स धूम्या व्यामोहं, वीर्यं तस्यां न्यवेशयत् ॥ ३३ ॥
जाते गर्भेऽतिशयिभिः, ख्यातमस्या न विक्रिया ।
अवर्धत श्राद्धगृहे, तत्सूनुर्वन्दितु प्रभुम् ॥ ३४ ॥
ययतीभिः सम यात., कालसदीपकस्तदा ।
अप्राक्षीन्मे कुतो भीति., स्वाम्याख्यत्सत्यकेरित. ॥ ३५ ॥
तत्पार्श्वेऽथ स गत्वोचे, त्वं रे ! मा मारयिष्यसि ? ।
इत्युदित्वा हठादात्म-पादयोस्तमपातयत ॥ ३६ ॥
वयस्थोऽथ परिव्राजा, हृत्वा विद्याः स शिक्षित. ।
रोहिणीं साधयन् पञ्च, भवान् स मारितस्तया ॥ ३७ ॥
षष्ठे षण्मासशेषाऽऽयु', सिद्धयन्तीं तां स नेष्टवान् ।
सप्तमे च भवे तां स, साधनायोपचक्रमे ॥ ३८ ॥
शव चितास्थ प्रज्वाल्य, तस्योपर्यार्द्रचर्म च ।
विस्तार्य वामाङ्गुष्ठेन, तत्र तज्ज्वलनावधि ॥ ३९ ॥
तस्य चक्रस्यमाणस्य, कालसंदीपकस्तदा ।
चिक्षेपाऽऽगत्य काष्ठानि, सप्तरात्रे गते तत ॥४०॥
देवता स्वयमेत्योचे, विघ्नमेतस्य मा कृथा ।
सिद्ध्याम्यस्याहमूचे त, कस्मिन्नङ्गे विशामि ते ?॥ ४१ ॥
तेनादर्श्यलकं, तत्राऽविशत्सत्राभवद्बिलम् ।
सा तुष्टा तदू व्याधात्रेत्रं, स त्रिनेत्रोऽथ विश्रुत. ॥ ४२ ॥
धर्षिताऽनेन साध्वीति, पेढालस्तेन मारितः ।
ततो रुद्राभिधः सोऽभू-त्काल सदीपकं ततः ॥ ४३ ॥
जिघांसौ तत्र सोऽनश्य-दूर्द्धाधः स तमन्वगात् ।
सोऽथो विकृत्य त्रिपुर, पाताले लावणेऽनशत् ॥ ४४ ॥
दग्ध्वा तन्मारयित्वा त, स विद्याचक्रवर्त्यभूत् ।
सर्वास्तीर्थकृतो नत्वा, त्रिसन्ध्यं नाट्यपूर्वकम् ॥ ४५ ॥
रमते सोऽथ शक्रस्त, महेश्वराभिध व्यधात् ।
स विप्रद्वेषतस्तेषां, विध्वसयति कन्यकाः ॥ ४६ ॥
अन्त.पुरीभिर्भूपानां, स्वर्स्त्रीभिरिव खेलति ।
तस्य शिष्यद्वय जज्ञे, नन्दी नन्दीश्वरस्तथा ॥ ४७ ॥
स पुष्पकविमानेन, नभसा सर्वतोऽभ्रमत् ।
अन्यदोज्जयिनीपुर्यां, चण्डप्रद्योतभूभुज' ॥ ४८ ॥
अन्तःपुर विदध्वसे, शिवा देवीं विनाऽखिलम् ।
सोऽथ दध्यौ विनाश्योऽय, क्रूरः खेचर. कथम् ? ॥ ४९ ॥
तत्रैवाऽऽसीदुमा नाम, गणिका रूपशालिनी ।
दृष्ट्वाऽऽयान्त महेशं सा, धूप त प्रत्युदक्षिपत् ॥ ५० ॥
सोऽन्यदाऽयातस्तत्र,तस्या हस्तेऽम्बुजद्वयम् ।
स्मेर च मुकुल वेश., स्मेरहस्तमवाहयत् (?) ॥ ५१ ॥
मुकुल साऽर्पयन्त्यूचे, योग्योऽसि त्वममूदृशः ।
न स्मेरकमलप्रायाः, मादृशाः पुनरीक्षसे ॥ ५२ ॥
तद्भक्तिरञ्जितस्तत्र,तया सार्द्धमुवास स ।
एकान्ते साऽन्यदाऽप्राक्षी-द्विद्या' स्युर्नान्तिके कदा ?॥ ५३ ॥
सोऽवदन्मैथुनाऽऽसक्ते, तया राज्ञो न्यवेद्यत ।
राज्ञोचेऽसौ तदा मार्य-स्त्व रक्ष्या प्रत्ययाय च ॥ ५४ ॥
पद्म तदुदरे दत्त्वा, खड्गेन च्छेदित भटैः।
मार्या त्वियमपीत्युक्त्वा, प्रच्छन्नाः स्थापिता भटा. ॥५५॥
मारितस्तैस्तदासक्त-स्तया सह स खेचरः ।
ततो नन्दीश्वरस्तासि-र्विद्याभि समधिष्ठितः ॥ ५६ ॥
शिलां व्योम्नि विकुर्वाणो, हीं हताश ! हनिष्यसे ।
समर्थाऽक्रमयद्भीतो, राजाऽऽरूपटशाटक. ॥ ५७ ॥
सोऽवदत्खेदिद युग्म-मेतद्रूप पुरे पुरे ।
विधाप्याऽऽयतनेऽर्चय्वे, ततो मुञ्चामि नान्यथा ॥ ५८ ॥
तत्प्रपेदे नरेन्द्रोऽथ, सर्वत्रापि व्यधापयत् ।
तत्प्रासादान्महोच्छ्राया-नेतस्योत्पत्तिरीदृशी" ॥५९॥आ०क०।

स चोत्सर्पिण्यां जगत्प्रदीपो नाम तीर्थकरो भविष्यति । प्रव० ३६ द्वार । वीरजिनाऽनगारभेदे, भ० ।

स च नारदपुत्रेण पृष्ट' पुद्गलान् व्याकरोदित्युच्यते-

तेणं कालेणं तेणं समएणं० जाव परिसा पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी णारयपुत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए०जाव विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स० जाव अंतेवासी नियंठिपुत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विहरइ। तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे जेणामेव नारयपुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता नारयपुत्त अणगार एव वयासी-सव्वे पोग्गला चि अज्जो ! किं सअड्ढा, समज्झा, सपएसा ?, उदाहु-अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा ?। अज्जो ! चि

नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वयासी–सव्वे पोग्गला मे अज्जो ! सअड्ढा, समज्झा, सपएसा; नो अणड्ढा,अमज्झा, अपएसा। तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी–जइ णं ते अज्जो ! सव्वे पोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा, नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा। किं दव्वादेसेणं अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा; नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा। खेत्तादेसेणं अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा० तहेव चेव; कालादेसेणं तं चेव, भावादेसेणं अज्जो ! तं चेव। तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वयासी–दव्वादेसेण वि मे अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा,समज्झा,सपएसा;नो अणड्ढा, अमज्झा, अपएसा। खेत्तादेसेण वि, कालादेसेण वि, भावादेसेण वि। तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी–जइ णं अज्जो ! दव्वादेसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा,सपएसा; नो अणड्ढा,अमज्झा, अपएसा। एवं ते परमाणुपोग्गले वि सअड्ढे,समज्झे,सपएसे; णो अणड्ढे,अमज्झे, अपएसे। जइ णं अज्जो ! खेत्तादेसेण वि सव्वपोग्गला सअड्ढा, समज्झा, सपएसा० जाव एवं ते एगपएसोगाढे वि पोग्गले सअड्ढे,समज्झे,सपएसे। जइ णं अज्जो! कालादेसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा,समज्झा,सपएसा। एवं ते एगसमयट्ठिइए वि पोग्गले सअड्ढे, समज्झे,सपएसे। तं चेव जइ णं अज्जो ! भावादेसेण सव्वपोग्गला सअड्ढे ३, एवं एगगुणकालए वि पोग्गले सअड्ढे ३ तं चेव, अह ते एवं न भवंति, तो जं वयसि दव्वादेसेण वि सव्वपोग्गला सअड्ढा,समज्झा,सपएसा; नो अणड्ढा,अमज्झा,अपएसा। एवं खेत्तादेसेण वि, कालादेसेण वि, भावादेसेण वि। तं णं मिच्छा। तए णं से नारयपुत्ते अणगारे णियंठिपुत्तं अणगारं एवं वयासी–नो खलु एयं देवाणुप्पिया! एयमट्ठं जाणामो, पासामो। जइ णं देवाणुप्पिया! नो गिलायंति परिकहित्तए, तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म जाणित्तए। तए णं से णियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी–दव्वादेसेण वि अज्जो! सव्वपोग्गला सपएसा वि, अपएसा वि अणंता; खेत्तादेसेण वि एवं चेव,कालादेसेण वि, भावादेसेण वि एवं चेव ॥

(दव्वादेसेण त्ति) द्रव्यप्रकारेण, द्रव्यत इत्यर्थः। परमाणुत्वाऽऽद्याश्रित्येति यावत्। (खेत्तादेसेण त्ति) एकप्रदेशावगाढत्वाऽऽदिनेत्यर्थः। (कालादेसेण त्ति) एकाऽऽदिसमयस्थितिकत्वेन। (भावादेसेण त्ति) एकगुणकालकत्वाऽऽदिना। (सव्वपोग्गला सपएसा वीत्यादि) इह च यद्यपि सार्द्धाऽऽदिपुद्गलविचारे प्रक्रान्ते सप्रदेशा अप्रदेशा एव ते प्ररूपिताः, तथैषां प्ररूपणे सार्द्धत्वाऽऽदि प्ररूपितमेव भवतीति कृत्वेत्यवसेयम्। तथाहि-सप्रदेशाः सार्द्धाः, समध्या वा। इतरे त्वनर्द्धाः, अमध्याश्चेति। (अणंत त्ति) तत्परिमाणज्ञापनपरं तत्स्वरूपाभिधानम्।

अथ द्रव्यतोऽप्रदेशस्य क्षेत्राऽऽद्याश्रित्याप्रदेशाऽऽदित्वं निरूपयन्नाह--

जे दव्वओ अपएसे से खेत्तओ नियमा अपएसे; कालओ सिय सपएसे, सिय अपएसे; भावओ सिय सपएसे, सिय अपएसे।

(जे दव्वओ अपएसे इत्यादि) यो द्रव्यतोऽप्रदेशः परमाणुः, स च क्षेत्रतो नियमादप्रदेशो,यस्मादसौ क्षेत्रस्यैकत्रैव प्रदेशेऽवगाहते, प्रदेशद्वयाऽऽद्यवगाहे तु तस्याप्रदेशत्वमेव न स्यात्। कालतस्तु यद्यसावेकसमयस्थितिकस्तदाऽप्रदेशोऽनेकसमयस्थितिकस्तु सप्रदेश इति। भावतः पुनर्यद्येकगुणकालकाऽऽदिस्तदाऽप्रदेशो, द्विगुणकालकाऽऽदिस्तु सप्रदेश इति निरूपितो द्रव्यतोऽप्रदेशः।

अथ क्षेत्रतोऽप्रदेशं निरूपयन्नाह–

जे खेत्तओ अपएसे–से दव्वओ सिय सपएसे, सिय अपएसे; कालओ भयणाए,भावओ भयणाए, जहा खेत्तओ एवं कालओ,भावओ। जे दव्वओ सपएसे–से खेत्तओ सिय सपएसे, सिय अपएसे। एवं कालओ, भावओ वि। जे खेत्तओ सपएसे–से दव्वओ नियमा सपएसे, कालओ भयणाए, भावओ भयणाए, जहा दव्वओ तहा कालओ, भावओ वि।

(जे खेत्तओ अपएसे इत्यादि) यः क्षेत्रतोऽप्रदेशः स द्रव्यतः स्यात्सप्रदेशः, द्व्यणुकाऽऽदेरप्येकप्रदेशावगाहित्वात्। स्यादप्रदेशः, परमाणोरप्येकप्रदेशावगाहित्वात्। (कालओ भयणाए त्ति) क्षेत्रतोऽप्रदेशो यः स कालतो भजनया अप्रदेशाऽऽदिर्वाच्यः। तथाहि–एकप्रदेशावगाढ एकसमयस्थितिकत्वादप्रदेशोऽपि स्यादनेकसमयस्थितिकत्वाच्च सप्रदेशोऽपि स्यादिति। (भावओ भयणाए त्ति) क्षेत्रतोऽप्रदेशो योऽसावेकगुणकालकाऽऽदित्वादप्रदेशोऽपि स्यादनेकगुणकालकाऽऽदित्वाच्च सप्रदेशोऽपि स्यादिति। अथ कालाप्रदेशं, भावाप्रदेशं च निरूपयन्नाह–(जहा खेत्तओ, एवं कालओ, भावओ त्ति) यथा क्षेत्रतोऽप्रदेश उक्तः, एवं कालतो भावतश्चासौ वाच्यः। तथाहि–(जे कालओ अपएसे, से दव्वओ सिय सपएसे, सिय अपएसे) एवं क्षेत्रतो, भावतश्च। तथा–(जे भावओ अपएसे से दव्वओ सिय सपएसे, सिय अपएसे) एवं क्षेत्रतः, कालतश्चेति। उक्तोऽप्रदेशः। अथ सप्रदेशमाह–(जे दव्वओ सपएसे इत्यादि) अयमर्थः यो द्रव्यतो द्व्यणुकाऽऽदित्वेन सप्रदेशः, स क्षेत्रतः स्यात्सप्रदेशो द्व्यादिप्रदेशावगाहित्वात्, स्यादप्रदेश एकप्रदेशावगाहित्वात्। एवं कालतो,भावतश्च। तथा–यः क्षेत्रतः सप्रदेशो द्व्यादिप्रदेशावगाहित्वात् स द्रव्यतः सप्रदेश एव, द्रव्यतोऽप्रदेशस्य द्विप्रदेशावगाहासम्भवात्। कालतो, भावतश्चासौ द्विधाऽपि स्यादिति। तथा यः कालतः सप्रदेशः, स द्रव्यतः, क्षेत्रतो, भावतश्च द्विधाऽपि स्यात्। तथा यो भावतः सप्रदेशः, स द्रव्यक्षेत्रकालैर्द्विधाऽपि स्यादिति सप्रदेशसूत्राणां भावार्थ इति।

अथैषामेव द्रव्याऽऽदित. सप्रदेशाप्रदेशानामल्पबहुत्वविभाग-
माह—

एएसि णं भंते ! पोग्गलाणं दव्वादेसेणं खेत्तादेसेणं कालादे-
सेणं भावादेसेण सपएसाणं अपएसाण य कयरे कयरे अप्पा
वा, बहुया वा, तुल्ला वा, विसेसाहिया वा ?। नारयपुत्ता ! सव्व-
त्थोवा पोग्गला भावादेसेणं अपएसा, कालादेसेणं अपएसा
असंखेज्जगुणा; दव्वादेसेणं अपएसा असंखेज्जगुणा; खेत्ता-
देसेणं अपएसा असंखेज्जगुणा, खेत्तादेसेणं चेव सपएसा
असंखेज्जगुणा; दव्वादेसेणं सपएसा विसेसाहिया; काला-
देसेणं सपएसा विसेसाहिया; भावादेसेणं सपएसा विसे-
साहिया। तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अण-
गारं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो
भुज्जो खामेइ, खामेइत्ता संजमेण० जाव विहरइ ॥

" एएसि णं" इत्यादि सूत्रसिद्ध, नवरम् अस्यैव सूत्रोक्ताल्प-
बहुत्वस्य भावनार्थं गाथाप्रपञ्चो वृद्धोक्तोऽभिधीयते-

" वोच्छं अप्पाबहुयं, दव्वे खेत्तऽद्धभावओ यावि ।
अपएससप्पएसा-ण पोग्गलाण समासेण ॥ १ ॥
दव्वेण परमाणू, खेत्तेणेगप्पएसमोगाढा ।
कालेणेगसमइया, अपएसा पोग्गला होंति ॥ २ ॥
भावेण अपएसा, एगगुणा जे हवंति वन्नाई ।
ते चिय थोवा ज गुण-बाहुल्लं पायसो दव्वे " ॥ ३ ॥
वर्णाऽऽदिभिरित्यर्थ ।

द्रव्ये प्रायेण द्व्यादिगुणा अनन्तगुणान्ता' कालकत्वाऽऽदयो
भवन्ति, एकगुणकालकाऽऽदयस्त्वल्पा इति भाव.।

"एत्तो कालाएसे-ण अप्पएसा भवे असंखगुणा ।
किं कारण पुण भवे, भण्णइ परिणामबाहुल्ला ? " ॥ ४ ॥

अयमर्थ.-यो हि यस्मिन् समये यद्वर्णगन्धरसस्पर्शसङ्ख्यातप्रे-
दसूक्ष्मत्वबादरत्वाऽऽदिपरिणामान्तरमापन्न., स तस्मिन् समये
तदपेक्षया कालतोऽप्रदेश उच्यते। तत्रैकसमयस्थितिरित्यन्ये,
परिणामाश्च बहव इति प्रतिपरिणाम कालाप्रदेशसम्भवाद्ब-
हुबहुत्वमिति ।

एतदेव भाव्यते-

" भावेण अपएसा, जे ते कालेण होंति दुविहा वि ।
दुगुणाऽऽइओ वि एव, भावेण जावऽणंतगुणा " ॥ ५ ॥

भावतो येऽप्रदेशा एकगुणकालकत्वाऽऽदयो भवन्ति,
ते कालतो द्विविधा अपि भवन्ति; सप्रदेशा, अप्रदेशा-
श्चेत्यर्थ.। तथा भावेन द्विगुणाऽऽदयोऽपि अनन्तगुणान्ता एव-
मिति द्विविधा भवन्ति ।

ततश्च-

" कालप्पएसयाणं, एव एक्केक्कओ भवइ रासी ।
एक्केक्कगुणट्ठाण-म्मि एगगुणकालयाईसु " ॥ ६ ॥

एकगुणकालकाऽऽदिषु गुणस्थानकेषु मध्ये एकैकस्मिन् गु-
णस्थानके कालाप्रदेशानामेकैको राशिर्भवति। ततश्चानन्तत्वाद्
गुणस्थानकराशीनामनन्ता एव कालाप्रदेशराशयो भवन्ति ।

अथ प्रेरक --

" आहाऽणंतगुणत्तण-मेव कालापएसयाणं ति ।
जमणंतगुणट्ठाणे-सु होंति रासी वि हु अणंता" ॥ ७ ॥

(एवमिति) यदि प्रतिगुणस्थानक कालाप्रदेशराशयोऽभि-
धीयन्त इति ।

अत्रोत्तरम्-

" भण्णति एगगुणाण वि, अणंतभागम्मि जं अणंतगुणा ।
तेणासंखगुण च्चिय, भवंति नाणंतगुणियत्तं " ॥ ८ ॥

अयमभिप्राय -यद्यप्यनन्तगुणकालत्वाऽऽदीनामनन्ता राशय-
स्तथाऽप्येकगुणकालत्वाऽऽदीनामनन्तभाग एव ते वर्तन्त इति,
न तद्द्वारेण कालाप्रदेशानामनन्तगुणत्वम्, अपि त्वसङ्ख्यातगु-
णत्वमेवेति ।

" एव ता भावम्मिण, पडुच्च कालापएसया सिद्धा ।
परमाणुपोग्गलाइसु, दव्वे वि हु एस चेव गमो " ॥ ९ ॥

एव तावदत्र वर्णाऽऽदिपरिणाममिममुक्तरूपमेकाऽऽद्यनन्तगुण-
स्थानवर्तिनमित्यर्थ.। प्रतीत्य कालाप्रदेशका. पुद्गला सिद्धा.
कालाप्रदेशभावाः पुद्गला. सिद्धाः प्रतिष्ठिता द्रव्येऽपि द्रव्यपरि-
णाममभ्युपगम्य परमाण्वादिष्वेक एव भावपरिणामोक्त
एव गम । व्याख्या-

" एमेव होइ खेत्ते, एगपएसाऽवगाहणाईसु ।
ठाणंतरसंकंतिं, पडुच्च कालेण मग्गणया " ॥ १० ॥

एवमेव द्रव्यपरिणामवद्भवति, क्षेत्रे क्षेत्रमधिकृत्य, एकप्रदेशा-
वगाढाऽऽदिषु पुद्गलभेदेषु स्थानान्तरगमन प्रतीत्य कालेन
कालाप्रदेशानां मार्गणा, यथा क्षेत्रत एवमवगाहनाऽऽदितोऽपी-
त्येतदुच्यते ।

"सङ्कोय विकोयं पि हु, पडुच्च ओगाहणाइ एमेव ।
तह सुहुमबायरथिरे-यरेयसद्दाइपरिणामं " ॥ ११ ॥

अवगाहनाया. सङ्कोच विकोच च प्रतीत्य कालाप्रदेशाः
स्यु । तथा सूक्ष्मबादरस्थिरास्थिरशब्दमन कर्माऽऽदिपरिणाम
च प्रतीत्येति ।

" एव जो सव्वो च्चिय, परिणामो पोग्गलाण इह समए ।
त त पडुच्च एसिं, कालेण अप्पएसत्तं " ॥ १२ ॥

(एसिं ति) पुद्गलानामित्यर्थ ।

"कालेण अप्पएसा, एवं भावा पएसपरिहीणो ।
होंति असंखेज्जगुणा, सिद्धा परिणामबाहुल्ला ॥ १३ ॥
एत्तो दव्वादेसे-ण अप्पएसा हवंति संखगुणा ।
के पुण ते परमाणू, कह ते बहुय त्ति त सुणसु ! ॥ १४ ॥
अणुसंखेज्जपएसिय, असंखऽणंतप्पएसिया चेव ।
चउरो च्चिय रासी पो-ग्गलाण लोए अणंताण ॥ १५ ॥
तत्थाऽणतेहिंतो, सुत्तेण तप्पएसिएहिंतो ।
जेण पएसट्ठाए, भणिया अणवो अणंतगुणा " ॥ १६ ॥

अनन्तेभ्योऽनन्तप्रदेशिकस्कन्धेभ्यः प्रदेशार्थतया परमाणवो-
ऽनन्तगुणा सूत्रे उक्ता । सूत्र चेदम्-" सव्वत्थोवा अणंतपए-
सिया खंधा दव्वट्ठयाए ते चेव, पएसट्ठयाए अणंतगुणा, पर-
माणुपोग्गला दव्वट्ठपएसट्ठयाए अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया
खंधा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्ज-
गुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते
चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुण त्ति ।"

" संखेज्जइमे भागे, संखेज्जपएसिया ण वट्टंति ।
नवरमसंखेज्जपए-सियाण भागे असंखइमे "॥ १७ ॥

सङ्ख्येयतमे भागे सङ्ख्यातप्रदेशिकानामसङ्ख्येयतमे भागे स-
ङ्ख्यातप्रदेशिकानामणवो वर्तन्ते, उक्तसूत्रप्रामाण्यादिति ।

" सव्वे वि य सखेज्जपए-सियाण तेसिं असंखभागत्ते ।
बाहुल्लं साहिज्जइ, फुडमवसेसाहिं रासीहिं " ॥ १८ ॥

सख्यातप्रदेशिकानन्तप्रदेशिकाऽभिधानाभ्यामिह च सख्यातप्रदेशिकराशे सख्यातभागवृत्तित्वात्तेषां स्वरूपतो बहुत्वमवगम्यते, अन्यथा तस्याप्यसख्येयभागेऽनन्तभागे वा तेऽन्तर्विष्यन्निति ।

"जेणेक्करासिणो च्चिय, असखभागे न सेसरासीण ।
तेणासखेज्जगुणा, अणवो कालापएसेहिं" ॥ १९ ॥

न शेषराश्योरित्यस्यायमर्थ -अनन्तप्रदेशिकराशेरनन्तगुणास्ते, सख्यातप्रदेशिकराशेस्तु सख्यातभागे सख्यातभागस्य च विवक्षया नात्यन्तमल्पताऽत कालत सप्रदेशेष्वप्रदेशेषु च वृत्तिमतामणूना बहुत्वात्कालाप्रदेशानां च सामायिकत्वेनात्यन्तमल्पत्वात्कालाप्रदेशेभ्योऽसख्यातगुणत्व द्रव्याप्रदेशानामिति ।

" एत्तो असखगुणिया, हवंति खेत्ता पएसया समए ।
ज ते ता सव्वे च्चिय, अपएसा खेत्तओ अणवो ॥ २० ॥
दुपएसियाइएसु वि, पएसपरिवड्ढिएसु ठाणेसु ।
लब्भइ एक्केक्को च्चिय, रासी खेत्ताऽपएसाण ॥ २१ ॥
एत्तो खेत्ताएसे-ण चेव सपएसया असखगुणा ।
एगपएसोगाढे, मोत्तु सेसावगाहणया ॥ २२ ॥
ते पुण दुपएसोगा-हणाइया सव्वपोग्गला सेसा ।
ते य असखेज्जगुणा, अवगाहणठाणबाहुल्ला ॥ २३ ॥
दव्वेण होंति एत्तो, सपएसा पोग्गला विसेसहिया ।
कालेण य भावेण य, एमेव भवे विसेसहिया ॥ २४ ॥
भावाईया वुड्ढी, असखगुणिया जमप्पएसाण ।
तो सप्पएसियाण, खेत्ताइविसेसपरिवुड्ढी " ॥ २५ ॥

एतद्भावना च वक्ष्यमाणस्थापनातोऽवसेया ।

"मीसाण संकमं पइ, सपएसा खेत्तओ असखगुणा ।
भणिया सट्ठाणे पुण, थोव च्चिय ते गहेयव्वा" ॥ २६ ॥

मिश्राणामित्यप्रदेशसप्रदेशाना मीलितानां सक्रम प्रति अप्रदेशेभ्य सप्रदेशेष्वल्पबहुत्वविचारसक्रमे क्षेत्रतः सप्रदेशाः असख्येयगुणा, क्षेत्रतोऽप्रदेशेभ्य. सकाशात् स्वस्थाने पुन. केवलसप्रदेशचिन्तायां स्तोका एव ते क्षेत्रत' सप्रदेशा इति ।

एतदेवोच्यते-

" खेत्तेण सप्पएसा, थोवा दव्वद्धभावओ अहिया ।
सपएसऽप्पाबहुय, सट्ठाणे अत्थओ एव " ॥ २७ ॥

अर्थत इति व्याख्यानापेक्षया ।

" पढम अपएसाण, बीय पुण होइ सप्पएसाण ।
तइय पुण मीसाण, अप्पबहू अत्थओ तिन्नि " ॥ २८ ॥

अर्थतो व्याख्यानद्वारेण त्रीण्यल्पबहुत्वानि भवन्ति । सूत्रे त्वेकमेव मिश्राल्पबहुत्वमुक्तमिति ।

" ठाणे ठाणे वड्ढइ, भावाईण जमप्पएसाणं ।
त चिय भावाईण, परिभस्सइ सप्पएसाण " ॥ २९ ॥

यथा किल कल्पनया लक्षं समस्तपुद्गला, तेषु भावकालद्रव्यक्षेत्रतोऽप्रदेशा क्रमेण एकद्विपञ्चदशसहस्रसङ्ख्या, सप्रदेशास्तु नवनवत्यष्टनवतिपञ्चनवतिनवतिसहस्रसङ्ख्या, ततश्च भावाप्रदेशेभ्य कालाप्रदेशेषु सहस्र वर्द्धते, तदेव भावसप्रदेशेभ्य. कालसप्रदेशेषु हीयत इत्येवमन्यत्रापीति ।

"अहवा खेत्ताईण, जमप्पएसाण हायए कमसो ।
त चिय खेत्ताईण, परिवड्ढइ सप्पएसाण ॥ ३० ॥
अवरोप्परप्पसिद्धा, वुड्ढी हाणी य होइ दोण्हं पि ।
अपएससप्पएसा-ण पोग्गलाण स लक्खणओ ॥ ३१ ॥
ते चेव य ते चउहिं वि, जमुवचरिज्जंति पोग्गला दुविहा ।
तेण उ वुड्ढी हाणी, तेसिं अन्नोन्नससिद्धा ॥ ३२ ॥ "

चतुर्भिरिति भावकालाऽऽदिभिरुपचर्यन्त इति विशेष्यन्ते ।

" एएसिं रासीण, निदरिसणम्मि ण भणामि पच्चक्ख ।
बुद्धीए सव्वपोग्गल, जाव ताव्वाण लक्खाओ" ॥ ३३ ॥

कल्पनया यावन्त सर्वपुद्गलास्तावन्तो लक्षा इति ।

" एक्क च दो य पच्च य, दस य सहस्साइं अप्पएसाणं ।
भावाईण कमसो, चउण्ह वि जहोवइट्ठाण ॥ ३४ ॥
णउई पचाणउई, अट्ठाणउई तहेव नवनउई ।
एवइयाइ सहस्सा-इँ सप्पएसाण विवरीय ॥ ३५ ॥
एएसिं जहसभव-मत्थोवणय करिज्ज रासीण ।
सब्भावओ य जाणे-ज्ज ते अणते जिणाभिहिए " ॥ ३६ ॥

भ० ५ श० ८ उ० ।

णियंठिया–नैर्ग्रन्थिकी–स्त्री० । निर्ग्रन्थो भगवाँस्तस्येय नैर्ग्रन्थिकी । तीर्थकरकृतायाम, "ज ठन्न तन्न वत्तव्व, एसा आणा नियंठिया । " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । द्वी० ।

णियंसण–निवसन–न० । परिधाने, औ० । उत्त० । जीवा० ।

णियंसणा–निदर्शना–स्त्री० । "अभवद्वस्तुसबन्ध उपमा परिकल्पिता,निदर्शना" इति मम्मटोक्ते,असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिलक्षणे वा अर्थालङ्कारभेदे, प्रति० ।

णियंसित्ता–न्युष्य–अव्य० । परिधायेत्यर्थे, " देवदूसजुगल नियसित्ता अगेहिं वरेहि य मल्लेहि य अच्चेइ । " जी०३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

णियग–निजक–पु० । स्वकीये पुत्राऽऽदौ, पञ्चा०१० विव० । नि० । स्वजने, नि० चू० २ उ० । आत्मीये बान्धवे, सुहृदि च । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

णियगपरिवाल–निजकपरिवार–पु० । आत्मीयपरिवारे, "णियगपरिवालेण सद्धिं सपरिवुडे ।" रा० । औ० ।

णियच्छइत्ता–नियम्य–अव्य० । अवश्यतया प्राप्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । निश्चयेनावतीर्य युक्त्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

णियजोगपवित्ति–निजयोगप्रवृत्ति–स्त्री० । आत्मीयमन प्रवृत्तौ, "अह्वे णियजोगपवित्तीओ य ।" निजयोगानामाचार्यसत्कमन प्रभृतीनां प्रवृत्ति प्रवर्त्तन निजयोगप्रवृत्ति' । पञ्चा० ४ विव० ।

णियट्टपगइअहिगार–निवृत्तप्रकृत्यधिकार–पु० । आधिधार्मिके बोधिसत्त्वे, ध० १ अधि० ।

णियट्टमाण–निवर्त्तमान–त्रि० । व्यावर्त्तमाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

णियट्टि–निवृत्ति–स्त्री० । 'वृतु' वर्तने इत्यस्य निपूर्वस्य क्तिनि निवर्त्तन निवृत्ति. । त्यागे, प्रतिक्रमणे, आव० ।

सा च षोढा । यत आह-

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।

एसो अ णियट्टीए, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥

तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यनिवृत्तिस्तापसाऽऽदीनां हलकृष्टाऽऽदिनिवृत्तिरित्याद्यखिलो भावार्थः स्वबुद्ध्या वक्तव्यो, यावत्प्रशस्तभावनिवृत्त्येहाधिकारः । आव० ४ अ० । भावनिवृत्तिः प्रतिक्रमणम् । आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

इदानीं निवृत्तौ दृष्टान्तः-

" एकत्र नगरे शाला-पतिः शालासु तस्य च ।
धूर्ता वसन्ति तेष्वेको, धूर्तो मधुरगीः सदा ॥१॥
कुविन्दस्य सुता तस्य, तेन सार्द्धमयुज्यत ।
तेनोचे साऽथ नश्यामो, यावद्वेत्ति न कश्चन ॥२॥
तयोचे मे वयस्याऽस्ति, राजपुत्री तया समम् ।
सङ्केतोऽस्ति यथा ह्याभ्यां, पतिरेकः करिष्यते ॥३॥
तामप्यानय तेनोचे, साऽथ तामप्यचालयत् ।
तदा प्रत्यूषे महति, गीतं केनचनाऽप्यदः ॥४॥"
"जइ फुल्ला कणिआरया, चूअय ! अहिमासयम्मि घुट्टम्मि ।
तुह न खम फुल्लेउ, जइ पच्चंता करिंति डमराइं * ॥१॥"
श्रुत्वैव राजकन्या सा, दध्यौ चूतमहातरुः ।
उपालब्धो वसन्तेन, कर्णिकारोऽधमस्तरुः ॥५॥
पुष्पितो यदि किं युक्तं, तवोत्तम ! ततस्तया ।
अधिमासघोषणा किं, न श्रुतेत्यस्य गीः शुभा ॥६॥
चेत्कुविन्दी करोत्येव, कर्त्तव्यं किं मयाऽपि तत् ?।
निवृत्ता सा मिषाद्रत्न-करण्डो मेऽस्ति विस्मृतः ॥७॥
राजसूः कोऽपि तत्राऽहि, गोत्रजैस्त्रासितो निजैः ।
मतस्तं शरणीचक्रे, प्रदत्ता तेन तस्य सा ॥८॥
तेन श्वशुरसाहाय्या-न्निर्जित्य निजगोत्रजान् ।
पुनर्लेभे निजं राज्यं, पट्टराज्ञी बभूव सा ॥९॥
निवृत्तिर्द्रव्यतोऽभाखि, भावे चोपनयः पुनः ।
कन्यास्थानीया मुनयो, विषया धूर्त्तसन्निभाः ॥१०॥
यो गीतिगानाऽऽचार्योप-देशाद्वेभ्यो निवर्त्तते ।
सुगतेर्भाजनं स स्याद्, दुर्गतेस्त्वपरः पुनः" ॥११॥
"द्वितीयोऽप्यत्र दृष्टान्तो, द्रव्यभावनिवर्तने ।
क्वचिद् गच्छे यदा साधुः, क्षमो ग्रहणधारणे ॥१॥
इत्याचार्याः पाठयन्ति, तदादरपरायणाः ।
सोऽन्यदोदितदुष्कर्मा, निर्गच्छामीति निःसृतः ॥२॥
तदा च तरुणाः शूराः, साभिमानमिदं जगुः ।
मङ्गलार्थं च तत्साधुः, सोपयोगः स शुश्रुवान्" ॥३॥
"तरिअव्वा य पइन्निआ, मरिअव्वं वा समरे समत्थएण ।
असरिसजणउल्लावा, न हु सहिअव्वा कुलपसूएण" ॥१॥
सूक्तं चैतत्केनाप्युक्तम्-
" लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्या-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाः ।
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति,
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम्" ॥१॥
गीत्यर्थकथायम्-
स्वामिसंमानिताः केऽपि, सुभटाः प्राप्तकीर्त्तयः ।
रणाद्भग्नाः प्रणश्यन्तो, निजपक्षयशोऽर्थिनः ॥२॥
ऊचिरे केनचिन्नैवं, नष्टाः शोभिष्यथ क्वचित् ।
ततः प्रतिनिवृत्तास्ते, परानीकमभञ्जयन् ॥३॥
प्रभुसंमानितास्तेऽथ, शोभन्ते स्म समन्ततः ।
एवं गीतार्थमाकर्ण्य, साधुरेवं व्यचिन्तयत् ॥४॥
रणस्थानीया प्रव्रज्या, भग्नोऽहं विदितोऽधुना ।
भ्रष्टोऽयमिति हीलिष्ये, जनैरसदृशैरपि ॥५॥
ततः प्रतिनिवृत्तोऽभूद्, दृढधर्मो विशेषतः ।
आलोचितप्रतिक्रान्तो, गुरोरिच्छामपूरयत्" ॥६॥

आ० क० आव० । आचा० । आ० चू० । समकालप्रतिपन्नानां जीवानामध्यवसायभेदे, स० १४ सम० । क्षीणमोहावस्थायाम्, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

णियट्टिबायर-निवृत्तिबादर-पुं० । निवृत्तिप्रधानो बादरो बादरसंपरायो निवृत्तिबादरः । स० १४ सम० । क्षपकश्रेण्यन्तर्गते क्षीणदर्शनसप्तके अपूर्वकरणाऽऽख्यसप्तमगुणस्थानवर्तिनि जीवग्रामे, आव० ४ अ० । " इदाणिं नियट्टी-जदा जीवो मोहणिज्जं कम्मं खवेति वा, उवसमेति वा, तदा अप्पमत्तसंजतस्स अणंतरपमत्ततरेसु अज्झवसाणठाणेसु वट्टमाणो दंसणमोहणिज्जे कम्मे खवेति, उवसामेति वा० जाव हासरतिअरतिसोगभयदुगुंछाण उदयवोच्छेदो न भवति, ताव सो भगवं अणगारो अंतोमुहुत्तकालं नियट्टि त्ति भवति॥" आ० चू० ४ अ० । कर्म० । (" अपुव्वकरण " शब्दे प्रथमभागे ६११ पृष्ठे विस्तर उक्तः)

णियडि-निकृति-स्त्री० । नितरां करणं निकृतिः । आदरकरणेन परवञ्चने, पूर्वकृतमायाप्रच्छादनार्थे मायान्तरकरणे, भ० १२ श० ५ उ० । प्रश्न० । आव० । स० । आकारवचनाऽऽच्छादने, व्य० ४ उ० । बकवृत्त्या कुक्कुचाऽऽदिकरणेन दम्भप्रधानवणिक्श्रोत्रियसाध्वाकारेण परवञ्चनार्थं गलकर्त्तकानामिवावस्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । दशा० । आ० म० । ज्ञा० । स्था० । त० । बकवृत्त्या कुक्कुचाऽऽदिकरणे, अधिकोपचारकरणेन परच्छलने, (इत्यन्ये) मायाप्रच्छादनार्थं मायान्तरकरणे, (इत्यप्यन्ये) ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । मायायाम्, आव० ५ अ० । सूत्र० । व्य० । दशा० ।

णियडिल्लया-निकृतिमत्ता-स्त्री० । निकृतिर्वञ्चनार्थं चेष्टा, मायाप्रच्छादनार्थं मायान्तरमित्येके । अत्यादरकरणेन परवञ्चनमित्यन्ये । तद्वत्ता । भ० ८ श० ९ उ० । निकृतिश्च वञ्चनार्थं काय-चेष्टाऽऽस्वन्यथाकरणलक्षणाऽभ्युपचारलक्षणा वा, तद्वत्ता । निकृतौ, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णियडिसार-निकृतिसार-त्रि० । मायाप्रधाने, प० व० ३ द्वार ।

णियण-निदान-न० । निर्दहने, " नियणाइलुणणमद्दण-वावारे बहुविहे क्रिया काउ । " वृ० १ उ० ।

णियणिय-निजनिज-त्रि० । स्वकीयस्वकीये, पञ्चा० २ विव० ।

णियणियकाल-निजनिजकाल-पुं० । आत्मीयाऽऽत्मीयकाले, प० व० १ द्वार ।

णियणियतित्थ-निजनिजतीर्थ-न० । स्वकीयस्वकीयप्रवचनावसरे, पञ्चा० ६ विव० ।

णियत-नियत-त्रि० । निश्चिते, विशे० । सूत्र० । उत्त० । प्रतिनियतस्वरूपे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । परिच्छिन्ने, आव० ४

* न क्षमं न युक्तं, प्रत्यन्ता नीचकाः, डमराणि विप्लवरूपाणि, शेषं स्पष्टम् ।

अ० । परिमिते, विशे० । शाश्वते, आव० ४ अ० । एकरूपत्वात् (स्था० ५ ठा० ३ उ०) शाश्वतत्वात् सर्वकालमवस्थिते, जं० ४ वक्ष० ।

णियत्त–निवृत्त–त्रि० । अपरते, " परिग्गहारम्भनियत्तदोसा । " उत्त० १४ अ० । " निवृत्ता जीवितास्तेऽत्र, सर्वेऽप्यन्ये पुनर्मृता । (५) " आ० क० ।

णियत्तण–निवर्तन–न० । भूमिपरिमाणविशेषे, उत्त० १ अ० । आगमने, आव० ४ अ० ।

णियत्तणसयय–निवर्तनशतक–न० । निवर्त्तनं भूमिपरिणामविशेषो देशविशेषप्रसिद्ध , ततो निवर्तनशत कर्षणीयत्वेन यस्याऽस्ति तन्निवर्त्तनशतकम् । निवर्त्तनशतकर्षके हले, " पचहिं हलसएहिं णियत्तणसयएण हलेण अवसेस खेत्तवत्थु पच्चक्खामि । " उपा० १ अ० ।

णियत्तणिय–निवर्तनिक–न० । निवर्त्तन क्षेत्रमानविशेष , तत्परिमाण निवर्तनिकम् । निवर्त्तनमात्रे, निजतनुप्रमाणे, (इत्यन्ये) " णियत्तणियमद्दस माखिहेचा सलेहणाभूसणाभूसियस्स । " भ० ३ श० १ उ० ।

णियत्तभाव–निवृत्तभाव–त्रि० । निवृत्तपरिणामे अनुष्ठानव्यवसाये, " सुहुमो वि कम्मबधो, न होइ उ नियत्तभावस्स । " व्य० ७ उ० ।

णियत्तमाण–निवर्तमान–त्रि० । प्रत्यावर्तने, " गुरुणा नियत्तमाणे ।' व्य० १ उ० ।

नियत्ति–निवृत्ति–स्त्री० । निवर्त्तने, " असजमे नियत्तिं च, सजमे य पवत्तण ।" उत्त० ३१ अ० ।

णियत्थ–निवसित–त्रि० । परिहिते, आ० म०१ अ० २ खण्ड ।

णियदोसपच्चणीय–निजदोषप्रत्यनीक–त्रि० । स्वकीयरागाऽऽदिदूषणप्रतिपक्षे, पञ्चा० १० विव० ।

णियद्दिय–न्यर्दित–त्रि० । नितरामर्दिते, अनुगते, " अट्ठनियट्टियचित्ता । " औ० । सू० प्र० ।

णियबुद्धि–निजबुद्धि–स्त्री० । स्वकीयधियाम्, पञ्चा० १० विव० ।

णियम–नियम–पु० । नियमन नियम । दर्श० ५ तत्त्व । अभिग्रहे, निरोधे, प० चू० । व्रते, सथा० । अभिग्रहविशेषे, सथा० । पञ्चा० । द्वा० । औ० । द्रव्यक्षेत्रकालभावेनाभिग्रहग्रहणे, उपा० ७ अ० । सथा० । महाव्रताऽऽदिरूपे, (सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०) विरमणे, सथा० । आ० म० । पिण्डविशुद्ध्यादिके उत्तरगुणे, प्रश्न० ४ सम्व० द्वार । स० । शौचाऽऽदिके योगिपरिभाषितेऽर्थे, द्वा० ।

> नियमाः शौचसन्तोषौ, स्वाध्यायतपसी अपि ।
> देवताप्रणिधान च, योगाऽऽचार्यैरुदाहृताः ॥ २ ॥

(नियमा इति) शौच शुचित्वम् । तद् द्विविधम्–बाह्यम्,आभ्यन्तर च । बाह्य-मृज्जलाऽऽदिभि कायप्रक्षालनम्,आभ्यन्तर-मैत्र्यादिभिश्चित्तमलप्रक्षालनम् । सन्तोष -सन्तुष्टि । स्वाध्याय -प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणा जप । तप -कृच्छ्रचान्द्रायणाऽऽदि । देवताप्रणिधानमीश्वरप्रणिधान, सर्वक्रियाणा फलनिरपेक्षतयेश्वरसमर्पणलक्षणम् । एते योगाऽऽचार्यैः. पतञ्जल्यादिभिर्नियमा उदाहृता. । यदुक्तम्—" शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । " इति । (२· ३२) द्वा० २१ द्वा० । इन्द्रियाऽऽदिदमने, नं० । " अक्रोधो गुरुशुश्रूषा, शौचमाहारलाघवम् । अप्रमादश्चेति ॥ " द्वा० ८ द्वा० । यदाहुर्भागवता·–" उपव्रतानि नियमा· ॥" द्वा० ८ द्वा० । निश्चये, अव्यभिचारे, विशे० । प्रव० । अवश्यभावनायाम्, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । पञ्चा० । ध० । अवश्यकर्त्तव्यताऽङ्गीकारे, पञ्चा० १ विव० । अवश्यकरणे, स० ६ अङ्ग० । नियोगे, पञ्चा० ७ विव० । नियम· पूर्वमीमांसोक्त·-पक्षत· प्राप्तस्य इतरपक्षव्युदासेन एकतरपक्षे व्यवस्थापनम्, यथा--'व्रीहीनवहन्ति ।' अत्र वितुषीकरणसाधनभूतस्य नखाऽऽदेरवहननस्य वा उभयो· प्राप्तौ अवघात एव प्रवृत्तिर्व्यवस्थाप्यते । व्रते,"नियमस्तु स यत् कर्म-नित्यमागन्तुसाधनम्" इत्युक्तेऽनित्ये आगन्तुकसाधने उपवासाऽऽदौ कर्मणि, शौचाऽऽदिषु च । वाच० । (विस्तरस्तु वाचस्पत्ये द्रष्टव्यः)

णियमओ–नियमतस्–अव्य० । नियोगेनेत्यर्थे, पञ्चा १० विव० ।

णियमण–नियमन–न० । सयमे, " उद्देसम्मि चउत्थे, समासयणेण नियमण भणिय । " (२) आचा० नि० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । कारणे, आचा० १ श्रु० २ चू० अ० । बन्धने, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । उपरमे, " अदत्तपरदारनियमणेहिं । " आतु० ।

णियमणिप्पकंप–नियमनिष्प्रकम्प–न० । नियमेनावश्यभावेन निष्प्रकम्पमविचल निरतिचार यत्तत्तथा । निरपवादे, मतान्तर सापवादमपि स्याद्, ब्रह्मचर्ये तु निरपवादमेव । " ण य किंचि अणुन्नाय ।" इत्युक्तेः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णियमप्पहाण–नियमप्रधान–त्रि० । विचित्रैरभिग्रहविशेषैरुत्तमे, ते वा नियमा उत्तमा यस्य तस्मिन्, रा० ।

णियमसाधग–नियमसाधक–त्रि० । नियमेन कार्यकारणाव्यभिचारिणि, प० सू० ४ सूत्र ।

णियमारक्खिय–नियमाराक्षिक–पु० । राज्ञ सर्वप्रकृतीर्यो नियमाद् रक्षति स नियमाराक्षिक· । श्रेष्ठिनि, नि० चू० ४ उ० ।

णियमिय–नियमित–त्रि० । अवधृते, विशे० ।

णियय–निजक–त्रि० । आत्मीये, आव० ३ अ० ।

नियत–त्रि० । शाश्वते, सूत्र० १ श्रु०८ अ० । "णियया सव्वभावा मणुस्सीण ।" नियता सर्वभावा यैर्यथा भवितव्य ते तथैव भवन्ति, न पुरुषकारवशादन्यथा कर्तुं शक्यन्ते इति । उपा० ६ अ० । "णियया ऽणियया भिक्खा-यरिआ पाणअलेवाउ ॥" भिक्षाचर्या नियता–कदाचिदाभिग्रहिकी, अनियता–कदाचिदनाभिग्रहिकी । " वृ० १ उ० ।

णिययचारि [ण्]–नियतचारिन्–त्रि० । अप्रतिबद्धविहारिणि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

णिययपरिणाम–निजकपरिणाम–पु० । स्वाभिप्राये, " णिययपरिणामा । " स्वाभिप्रायान् । जीवा० २८ अधि० ।

णिययपव्वय–नियतपर्वत–पु० । क० स० । सदा भोग्यत्वेनाव-

स्थितेषु पर्वतेषु, येषु देवा देव्यश्च प्रभवधारणीयेनैव वैक्रियशरीरेण प्रायः सदा रममाणा अवतिष्ठन्ते । रा० । जी० ।

णिययपिंम–नियतपिण्ड–पु० । मया एतावद्दातव्य, भवता तु नित्यमेव ग्राह्यमित्येव नियततया गृह्यमाणे पिण्डे, स्था० १० ठा० । (नियतपिण्डनिषेधः ' णितियपिंम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०६७ पृष्ठे द्रष्टव्य)

णिययवयणिज्ज–निजकवचनीय–त्रि० । स्वांशपरिच्छेद्ये, "णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वनया वियालणे मोहा ।" सम्म० १ काण्ड ।

णिययवास–नियतवास–पुं० । विहारकाले विहारमकृत्वा एकत्र वासे, "जाहे वि अपरितता, गामागरनगरपट्टणममता । तो केइ नियतवासी, मंगमथेर ववइसाति ॥ ११ ॥" आव० ३ अ० । (' णितियवास ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०६७ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता) " भवयमणियतविहार, णिययविहार ण ताव साहूण । कारणनीयावास, जो सेवे तस्स का वत्ता ? " ॥ १ ॥ महा० ४ अ० ।

णिययाणियय–नियताऽनियत–त्रि० । अवश्यमनवश्यभाविनि, "नियतानियय संतं, अयाणंता अबुद्धिआ । (४)" सुखाऽऽदिकं किञ्चिन्नियतिकृतमवश्यंभाव्युदयप्रापित, तथाऽनियतमात्मपुरुषकारेश्वराऽऽदिप्रापित सद् नियतकृतमेवैकान्तेनैवाऽऽश्रयन्त्यतोऽजानानाः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

णिययाभिप्पायउज्जयविहारि [ण्]–निजकाभिप्रायोद्यतविहारिन्–त्रि० । स्वमतसुविहिते, जी० १ प्रति० ।

णिययावास–नियतवास–पु० । ' णिययवास ' शब्दार्थे, आव० ३ अ० ।

णियल–निगम–न० । लोहमये "बेमी" इतिख्याते पादयोर्बन्धने, औ० । " नियलेहि य बद्धा पिहिया य । " प्रा० म० १ अ० २ खण्ड । सूत्र० ।

णियलिंगि [ण्]–निजलिङ्गिन्–पु० । स्वमततन्त्रेषिणि, जीवा ३५ अधि० ।

णियल्ल–निगम–पु० । अष्टाशीतिमहाग्रहाणं अय पञ्चाशत्तमे महाग्रहे, " दो नियल्ला । " स्था० २ ठा० ३ उ० । च० प्र० ।

निज–पु० । महाग्रहे, स्था० २ ठा० ३ उ० । च० प्र० ।

णियविहव–निजविभव–पु० । स्वकीयविभूतौ, पञ्चा० ६ विव० ।

णियसत्ति–निजशक्ति–स्त्री० । स्वसामर्थ्ये, द्वा० १५ द्वा० ।

णियसमय–निजसमय–पु० । स्वकीयावसरे, पञ्चा० ९ विव० ।

णियसिस्सखंधचडिय–निजशिष्यस्कन्धचटित–त्रि० । साध्वंशाऽऽरूढे, जीवा० २१ अधि० ।

णियाइय–निकाचित–त्रि० । नियमिते, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

णियाग–नियाग–पु० । नितरां यजन याग पूजा यस्मिन् सोऽय नियाग । मोक्षे, तत्रैव नितरां पूजा सम्भवात । उत्त० १ अ० । अष्ट० । संयमे च । कार्ये कारणोपचारात् । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० ।

नित्य–पु० । आमन्त्रितपिण्डे, " जे नियाग ममायंति, कीयमुद्देसियाहडं । वहते समणुजाणंति, इय वुत्त महेसिणा ॥४९॥ " दश० ६ अ० । " उद्देसिय कीयगड, नियाग अभिहडाणि य । " इति अनाचरितेषु परिगणनात् । तत्र नियागमित्यामन्त्रितस्य पिण्डग्रहण नित्य, न त्वनामन्त्रितस्य । दश० ३ अ० ।

णियागट्ठि [ण्]–नियागार्थिन्–त्रि० । नियागो मोक्षस्तद्धर्मो वा तदर्थिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । मोक्षार्थिनि, उत्त० ५ अ० । " एवमेगे णियागट्ठी, धम्ममाराहगा वय । " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

णियागपमिवस्र–नियागप्रतिपन्न–त्रि० । यजन यागो, नियतो निश्चितो वा यागो नियागो मोक्षमार्गः, सङ्गतार्थत्वाद्धेतो सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽत्मकतया गत सङ्गतमिति त नियाग सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मक मोक्षमार्गं प्रतिपन्नो नियागप्रतिपन्नः । मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदेरनुष्ठातरि, (आचा०) "णियागपडिवन्ने अमाय कुव्वमाणे वियाहिए ।" आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । सूत्र० ।

णियाण–निदान–न० । निश्चिन दान निदानम् । अप्रतिक्रान्तस्याऽवश्यमुदयापेक्षे तीव्रकर्मबन्धे, आ० चू० ४ अ० । नि० चू० ।

अत्थि अणिदाणओ ती–उब्भेओ तेण परिहर णिदाणे ।
ते पुण तुल्लातुल्ला, मोहणियाणा दुपक्खे वि ॥ ९२० ॥

णिदाण णाम–ज पमुब्भ मोहणिज्ज उदिज्जति । त जहा–इट्ठसद्दाऽऽदि । उक्त च–"दव्व खेत्त काल, भाव च भव तहा समासज्ज । तस्स समासुद्दिट्ठो, उदओ कम्मस्स पचविहो ॥१॥" (दुपक्खे वि त्ति) "इत्थीण पुरिसाण य तुल्ला ।" नि० चू० १५ उ० । दिव्यमानुषऋद्धिसदर्शनश्रवणाभ्या तदभिलाषाऽनुष्ठाने, आव० ४ अ० । स्वर्गमर्त्याऽऽदिऋद्धिप्रार्थने, आतु० । स्था० । भोगप्रार्थनायाम्, व्य० १ उ० । स्था० । निदायते लूयते ज्ञानाऽऽद्याराधनालताऽऽनन्दरसोपेतमोक्षफला येन परशुनेव देवेन्द्राऽऽदिगुणर्द्धिप्रार्थनाऽध्यवसानेन तन्निदानम् । स्था० १० ठा० ।

नव निदानानि–

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं णगरे होत्था । वण्णओ । गुणसिलए चेइए रायगिहे णगरे सेणिए णामं राया होत्था । रायवण्णओ । एवं जहा उववातिए० जाव चेल्लणाए सद्धिं विहराति ।

(तेण कालेणमित्यादि) व्याख्या प्राग्वत् । (सेणिए त्ति) श्रेणिको नाम राजा (होत्थ त्ति) अभवत्, आसीदित्यर्थ । (रायवण्णओ त्ति) राजवर्णक -"महयाहिमवतमहतमलयमदरमहिंदसारे, अच्चतविसुद्धरायकुलवसप्पसूए, निरतर रायलक्खणविराइयगमगे, बहुजणबहुमाणपूइए, सव्वगुणसमिद्धे०।" (औ०) इत्यादिको वाच्यः । तस्य देवी समस्तान्त पुरप्रधाना भार्या सकलगुणसमन्विता चेल्लणा नाम्नी । तस्या वर्णको यथा औपपातिकनाम्नि ग्रन्थेऽभिहितस्तथाऽत्राऽभिधातव्य । स चायम्–"सुकुमालपाणिपाया, अहीणपडिपुण्णपंचिदियसरीरा, लक्खणवजणगुणोववेया, माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वगसुदरगी०।"(औ०) इत्यादिको वाच्य । "जाव त्ति" यावत्करणात्–चेल्लणाए सद्धिं अणुरत्ते इट्ठे सद्दफरिसे रसरूपगंधे पचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणे विहरइ । " इतिपदकदम्बकपरिग्रह, विस्तरव्याख्यौपपातिकानुसारेण वाच्या, नेह विस्तरभिया प्रतन्यते ।

तए णं से सेणिए राया अण्णया कयाइ ण्हाए कयव–

लिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सिरसा कंठे मालाकडे आविद्धमणिसुवन्ने कप्पियहारऽद्धहारतिसरयपालंबपलंबमाणकडिसुत्तयसोभे पिणद्धगेवेज्जे अंगुलेज्जग० जाव कप्परुक्खए चेव अलंकियविभूसिए णरिंदे सकोरेंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं० जाव ससि व्व पियदंसणे नरवई, जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे निसीयति, निसीइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुज्झे देवाणुप्पिया ! जाइं इमाइं रायगिहस्स नगरस्स बहिया । तं जहा-आरामाणि य, उज्जाणाणि य, आएसणाणि य, आयतणाणि य, देवकुलाणि य, सभाओ य, पवाओ य, पणियसालाओ य, जाणसालाओ य, सुधाकम्मंताओ य, वाणिज्जकम्मंताओ य, कट्ठकम्मंताओ य । जे तत्थ वणमहत्तरगा चिट्ठंति, ते एवं वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! सेणिए राया भिंभिसारे आणवेइ-जया णं समणे भगवं महावीरे आदिगरे० जाव ··· पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे इहेव हव्वं विहरेज्जा, तया णं तुज्झे समणस्स भगवओ महावीरस्स अहापडिरूवं ओग्गहं जाणेह, अणुजाणेत्ता सेणियस्स रन्नो भिंभिसारस्स एयमट्ठं णिवेदेह ।

(तते णं से सेणिए इच्चादि) ततोऽनेकगणनायकदण्डनायकाऽऽदिकरणानन्तरं स पूर्वोक्तः श्रेणिको राजा, स यदाऽन्यस्मिन्समये, कदाचित् (ण्हाए इच्चादि) स्नानं कृतवान्, ततोऽनन्तरं कृतं बलिकर्म येन स्वगृहदेवतानां स तथा, कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नाऽऽदिविघातार्थमवश्यकरणीयत्वाद्येन स तथा । अन्ये त्वाहु-"पायच्छित्त त्ति" पादेन पादे वा छुप्तो चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादछुप्ताः, कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्ताः इति विग्रहः । तत्र कौतुकानि मषीतिलकाऽऽदीनि, मङ्गलानि तु दध्यक्षतदूर्वाङ्कुराऽऽदीनि । (सिरसा कंठे मालाकडे त्ति) शिरसा कण्ठे च माला कृता धृता येन स तथा । क्वचित्-"सिरसि ण्हाए कंठे मालाकडे" इति पाठः । तत्र शिरसि स्नातः । ननु पूर्वमपि "ण्हाए त्ति" उक्तं, तर्हि किमर्थं भूयोऽपि-"सिरसि ण्हाए त्ति ।" पुनरुक्तप्रसङ्गात् ? । उच्यते-स्नानं सामान्यतोऽपि कण्ठस्नानमुच्यते, अतः पुनरुपादानं, तस्मिन् दिने विशेषतः कृतम्-शिरसि स्नानं, द्वितीयं पदं सुबोधम् । (आविद्धमणिसुवन्ने त्ति) आविद्धं परिहितम् । (कप्पियेत्यादि) कल्पितानि रचितानि च हाराऽऽदीनि कटीसूत्रान्तानि यस्य । तानि च सुकृतशोभान्याभरणानि यस्य स तथा । पिनद्धग्रैवेयकः । यावत्करणात्-" अंगुलिज्जगललियकयाभरणे, नाणामणिकणगरयणविमलमहरिहनिउणोवियमिसिमिसंतविरइयसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठआविद्धवीरवलए किं बहुणा ।" इतिपदकदम्बकपरिग्रहः । (कप्परुक्खए चेव त्ति) कल्पवृक्ष इव । (अलंकियविभूसिए त्ति) अलङ्कृतो मुकुटाऽऽदिभिः (विभूसिए त्ति) वस्त्राऽऽदिभिरिति । नराणामिन्द्रो नरेन्द्रः (सकोरेंटेत्यादि) सकोरेण्टानि कोरेण्टाभिधानकुसुमस्तबकयन्ति माल्यदामानि पुष्पस्रजो यत्र तत्तथा, तथाविधेन छत्रेण ध्रियमाणेन, शिरसीत्यध्याहारः । यावत्करणात्-" सेयवरचामराहिं सउद्धुव्वमाणीहिं उद्धुव्वमाणीहिं मंगलजयसद्दकयालोए, अणेगगणनायगदंडनायगराईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियमंतिमहामंतिगणगदोवारियअमच्चचेडपीढमद्दनगरनिगमसेट्ठिसेणावइसत्थवाहदूयसंधिवालसद्धिं संपरिवुडे, धवलमहामेहनिग्गए इव गहगणदिप्पंतरिक्खतारागणाण मज्झे" (औ०) इति पदकदम्बकम् । शशीव प्रियदर्शनो नरपतिस्तत्रैव बाह्या उपस्थानशाला आस्थानमण्डपो, यत्रैव सिंहासनं, तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य सिंहासनवरे पूर्वाभिमुखः सन्निषीदति, निषद्य कौटुम्बिकपुरुषान् नृपाधिकारिणः पुरुषान् शब्दयति आमन्त्रयति, आमन्त्र्यैवमवादीत्-गच्छत । णमिति वाक्यालङ्कारे । यूयं देवानां प्रियाः सरलस्वभावाः !, यानि इमानि प्रत्यक्षं दृश्यमानानि, राजगृहस्य नगरस्य बहिर्वर्तन्ते इति शेषः । तद्यथा-(आरामाणीत्यादि) आरमन्ति येषु माधवीलतागृहाऽऽदिषु दम्पत्यादीनि ते आरामाः, प्राकृतत्वान्नपुंसकत्वम् । उद्यानानि पुष्पाऽऽदिमद्वृक्षसंकुलान्युत्सवाऽऽदौ बहुजनभोग्यानि, आवेशनानि यत्र लोका आविशन्ति तानि चाऽयस्काराऽऽकुम्भकाराऽऽदिस्थानानि, आयतनानि देवकुलपार्श्वापवरकाः, देवकुलानि प्रतीतानि, सभा-आस्थानमण्डपाः, प्रपा उदकदानस्थानानि, पण्यशालाः पण्यगृहाणि, पण्यानि वणि । यानशाला यत्र यानानि निष्पाद्यन्ते । सुधाकर्मान्तानि यत्र सुधापरिकर्म क्रियते । वाणिज्यकर्मान्तानि यत्र वाणिज्यार्थं बहवो मिलन्ति लोकाः । एवं काष्ठकर्मान्तानि यत्र काष्ठानि क्रयार्थं, अलाङ्छनानि वा यत्र सन्निहितानि तिष्ठन्ति । उपलक्षणत्वात्-दर्भप्रधानगृहान्तराणि दृष्टव्यानि । चशब्दः सर्वत्रापरापरभेदसूचकः । ये च वनमहत्तरका, वनमुपलक्षणमावेशनाऽऽदीनामाज्ञाता सत्यर्थे ज्ञाता अधिपतिर्येन प्रतिष्ठाप्य तिष्ठन्ति, तान् एवं वदत । किं तदित्याह-(एवं खलु इत्यादि) एवममुना प्रकारेण, खल्विति अवधारणे, भद्रो देवानां प्रियाः ! श्रेणिको राजा (भिंभसारे त्ति) भिम्भा भेरी, सैव सारः प्रधानो यस्यासौ भिम्भसारः । तद्व्याख्यानमेव कुमारभावे-" पलित्तगे घरे पविट्ठो सेणिएण य भिंभिय घेत्तूण णिग्गतो । अवसेसा कुमारा आभरणाणि । पिउणा पुच्छिया । सव्वेहिं कहियं-जेहिं जं णीयं । सेणिएण भणियं-मए भिंभणी णीया । सेणिओ पिउणा भणितो-तुज्झ किं एस सारो ? । तेण भणियं-आम ति । ततो से रण्णा भिंभसारो णाम कयं ।" शेषं ज्ञातचरमेव । (आणवेइ त्ति) आज्ञापयति । किं तदित्याह-(जया णमित्यादि) यदा, णमिति वाक्यालङ्कारे । श्रमणो भगवान्महावीर आदिकरः । यावत्करणात्-" तित्थगरे सयसंबुद्धे पुरिसुत्तमे पुरिससीहे०"(औ०) इत्यादिकः समस्तोऽपि औपपातिकप्रसिद्धो भगवद्वर्णको वाच्यः, न त्वतिगरीयानिति न लिख्यते, केवलमौपपातिकग्रन्थादवसेयः । संप्राप्तुकामो मोक्षं प्रति तदनुकूलव्यापारवान् । पुनः (पुव्वाणुपुव्विं त्ति) पूर्वानुपूर्व्या, नाऽनानुपूर्व्या चेत्यर्थः । (चरमाणे त्ति) चरन् सञ्चरन् । एतदेवाऽऽह-(गामाणुगामं दूइज्जमाणे त्ति) ग्रामश्च

प्रतीतोऽनुग्रामश्च विवक्षितग्रामानन्तरो ग्रामो ग्रामानुग्राम, तद्- द्रवन् गच्छन् एकस्माद् ग्रामादनन्तरं ग्राममनुल्लङ्घयन्नित्यर्थः । अनेनाप्रतिबद्धविहारमाह, तत्राप्यौत्सुक्यभावमिति । (सुहं सुहेणं विहरमाणे त्ति) अत एव सुखं सुखेन शरीरखेदाभावेन, संयमबाधाभावेन च विहरन् स्थानात् स्थानान्तरं गच्छन्, ग्रामाऽऽदिषु वा तिष्ठन्, संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् वासयन्, इहैव अत्रैव नगरे, उकारोऽलाक्षणिकः, विहरेदागच्छेत्, तदा यूयं श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य यथाप्रतिरूपं चिन्तनसाध्ववग्रहसदृशमवग्रहमनुजानीध्वम् अनुददध्वम् । अनुजानीय श्रेणिकस्य राज्ञो भिम्भासारस्य इदमर्थं निवेदयध्वम्।

तते णं ते कोडुंबियपुरिसा सेणिएणं रन्ना भिंभिसारेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ० जाव हियया कय० जाव एवं सामि! त्ति आणाए विणएणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता सेणियस्स अंतियाओ णिक्खमंति, णिक्खमित्ता रायगिहं णगरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छंति, णिग्गच्छित्ता जाइं इमाइं रायगिहस्स बहिया-आरामाणि य० जाव जे तत्थ महत्तरया अन्नया चिट्ठंति, ते एवं वदंति-० जाव सेणियस्स रण्णो एयमट्ठं पियं निवेदिज्जा, पियं भे भवतु। दोच्चं पि एवं वदित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूता तामेव दिसिं नगरस्स परिगता । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आदिकरे० जाव गामाणुगाम दूइज्जमाणे० जाव अप्पाणं भावेमाणे विहराति। तए णं रायगिहे णगरे सिंघाडगतियचउक्कचच्चर० जाव परिसा णिग्गया० जाव पज्जुवासेति। तते णं जेणेव महत्तरया तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदति, नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता णामं गोयं पुच्छंति, पुच्छित्ता णामगोत्ताए धारेति, णामगोत्ताए धारेतित्ता एगंततो मिलति, एगंततो मिलित्ता एगंतमवक्कमति, एगंतमवक्कमित्ता एवं वदासी-जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया भिंभसारे दंसणं कंखति, जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया दंसणं पत्थेति० जाव अभिलसति, जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया णामगोत्तस्स वि सवणताए हट्ठतुट्ठा० जाव भवति, से णं समणे भगवं महावीरे आदिकरे तित्थकरे० जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहराति। इहमागते इहसंपत्ते० जाव अप्पाणं भावेमाणे सम्मं विहरइ; तं गच्छह णं देवाणुप्पिया! सेणियस्स रन्नो एयमट्ठं निवेदेमो-पियं भे भवतु त्ति कट्टु एयमट्ठं अन्नमन्नस्स पडिसुणेंति, अन्नमन्नस्स पडिसुणेत्ता जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता रायगिहं नगरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सेणियस्स रन्नो गिहे, जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सेणियं रायं करयलपरिग्गहियं० जाव जएणं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावित्ता एवं वयासी-जस्स णं सामी! दंसणं कंखइ० जाव, से णं समणे भगवं महावीरे गुणसिलए चेइए० जाव विहरइ। तेणं देवाणुप्पियाणं पियं निवेदेमो-पियं भे भवतु । तेणं से सेणिए राया तेसिं पुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियए सीहासणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठित्ता जहा कोणिए० जाव वंदति, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता ते पुरिसे सक्कारेति, सम्माणेति, सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता विपुलं जीवियारिहं पीतिदाणं दलयति, पडिविसज्जेति, पडिविसज्जेत्ता णगरगुत्तिए सद्दावेति, णगरगुत्तिए सद्दावित्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! रायगिहं नगरं सब्भिंतरबाहिरियं आसियसम्मज्जितोवलित्तं० जाव पच्चप्पिणंति । तेणं से सेणिए राया बलवाउयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! हयगयरहजोहकलियं चाउरंगिणं सेणं सण्णाहेह० जाव से वि पच्चप्पिणंति। तते णं से सेणिए राया जाणसालियं सद्दावेति, जाणसालियं सद्दावेत्ता एवं वदासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि । तते णं ते जाणसालिए सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठ० जाव हियए जेणेव जाणसाला तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता जाणसालं अणुपविसति, जाणसालं अणुप्पविसित्ता जाणगं पच्चुवेक्खति, जाणगं संपमज्जति, जाणगं संपमज्जित्ता दूसं पवीणेति, दूसं पवीणेत्ता जेणेव वाहणसाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता वाहणसालं अणुप्पविसति, वाहणसालं अणुप्पविसित्ता वाहणाइं पच्चुवेक्खति, वाहणाइं संपमज्जेत्ता वाहणाइं अप्फालेति, वाहणाइं अप्फालित्ता वाहणाइं णीणेति, णीणेत्ता दूसं पवीणेति, दूसं पवीणेत्ता वाहणाइं सालंकरेति, वाहणाइं वरभंडमंडिताइं करेत्ता जाणगं जोएति, जाणगं जोएतित्ता वट्टुमं गाहेति, वट्टुमं गाहेत्ता पओयलट्ठिपओयधरसमं आरहयति, आरहयित्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता० जाव एवं वदासी-जुत्ते ते सामी! धम्मिए जाणप्पवरे आइट्ठा भद्दं तव आरुहाहि। तते णं से सेणिए राया भिंभसारे जाणसालियस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा० जाव मज्जणघरं अणुपविसति० जाव कप्परुक्खए चेव अलंकितचित्तविभूसिए णरिंदे० जाव मज्जणघराती पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव चिल्लणा देवी, तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता चेल्लणं देविं एवं वदासी-एवं खलु देवाणुप्पिए! समणे भगवं महावीरे आदिगरे तित्थगरे० जाव पुव्वाणुपुव्विं० जाव संजमेणं अप्पाणं भावे-

माणे विहरइ । तं महाफलं देवाणुप्पिए ! तहारूवाणं अरहंताणं०जाव तं गच्छामो देवाणुप्पिए ! समणे भगवं महावीरे वंदामो,णमंसामो,सक्कारेमो,सम्माणेमो, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो । एतेणं इह भवे य परभवे य हियत्ताए सुहाए खमाए निस्सेयसाए० जाव आणुगामियत्ताए भविस्सति । तते णं सा चिल्लणा देवी सेणियस्स रन्नो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा०जाव पडिसुणेति,पडिसुणेत्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता एहाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता किंते(?) वरपायपत्तणेउरमणिमेहलाहाररइयविहियकणगखुडुगएगावलिकंठमुरयतिसरयवलयहेमसुत्तकुंडलुज्जोइताणणा रयणभूसियंगी चीणंसुयवत्थपरिहिया दुगुल्लसुकुमालकंतरमणिज्जउत्तरिज्जा सव्वोउयसुरभिकुसुमसुंदरायितपलंबंतसोहंतकंतविकसंतचित्तमाला वरचंदणचच्चिता वराभरणभूसियंगी कालागरुधूवधूविता ससिरीसमाणवेसा बहूहिं खुज्जाहिं चिलातियाहिं० जाव महत्तरगवंदपरिक्खित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छति । तते णं से सेणिए राया चिल्लणाए देवीए सद्धिं धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहति, सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं उववाइयगमएणं०जाव पज्जुवासति । एवं चिल्लणा वि०जाव महत्तरगपरिक्खित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे,तेणेव उवागच्छति. तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदति,नमसति,सेणियराय पुरतो काउं ठिया चेव०जाव पज्जुवासति । तते णं समणे भगवं महावीरे सेणियस्स रन्नो भिंभिसारस्स चिल्लणाए देवीए सद्धिं तीसे महति महालयाए परिसाए वतिपरिसइदेवपरिसह अणेगसयाए०जाव धम्मो कहितो, परिसा पडिगता, सेणिए राया पडिगए । तत्थ णं अत्थेगतियाणं निग्गंथाण य निग्गंथीण य सेणियं रायं चिल्लणं देविं पासित्ता णं इमेयारूवे अज्झत्थिए०जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था-अहो णं सेणिए राया महिड्ढिए०जाव महासक्खे,जे णं ण्हाते कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिते चेल्लणाए देवीए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ । ण मे दिट्ठे देवा देवलोगंसि,सक्खं खलु अय देवो । जति इमस्स तवनियमबंभचेरफलविसेसे अत्थि, वयमवि आगमिस्साइं एताइं उरालाइं एतारूवाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरामो, से त साहू । अहो णं चिल्लणा देवी महिड्ढिया०जाव महेसक्खा, जा णं एहाया कयबलिकम्मा० जाव सव्वालंकारविभूसिया सेणिएण रन्ना सद्धिं उरालाइं० जाव माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहराति । ण मे दिट्ठाओ देवीओ देवलोगंसि, सक्खं खलु इयं देवी । जइ इमस्स सुचरियस्स तवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, वयमवि आगमिस्साइं इमाइं एयारूवाइं उरालाइं०जाव विहरामो, से तं साहुणी ॥

(तते णमित्यादि) व्यक्त, नवरम् एवमुक्ता. सन्तो (हट्ठतुट्ठा इत्यादि) हृष्टतुष्टा., अतीव तुष्टा इति भाव । अथवा-हृष्टा नाम विस्मयमापन्ना.-यथा अहो ! भगवद्वार्तानिवेदनार्थमस्माकमादिशतीति । तुष्टा' तोष कृतवन्तः-यथा भव्यमजूयद-स्मान् नगरवार्तां जिज्ञासु श्रेणिको राजा आदिशति । वाचस्करणात्-" चित्तमाणंदिया पीइमणा " इत्यादिपदकदम्बकपरिग्रहः । (अक्षरार्थमात्रबोधिका टीकेत्युपेक्षिता)

तत्र प्रथमम्-

अज्जो ! त्ति समणे भगवं महावीरे बहवे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वदासी-सेणियं रायं चेल्लणं देविं पासित्ता इमेयारूवे अज्झत्थिते०जाव समुप्पज्जित्था-अहो णं सेणिए राया महिड्ढिए०जाव से तं साहु । अहो णं चिल्लणा देवी महिड्ढिया सुंदरा०जाव से तं साहुणी । से णूणं अज्जो ! अत्थे समट्ठे? । हंता ! अत्थि । एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणामेव णिग्गंथे पावयणे०जाव अणुत्तरे पडिपुण्णे केवले संसुद्धे णेयाउए सल्लकत्तणे सिद्धिमग्गे निव्वाणमग्गे णिज्जाणमग्गे अवितहमविसंधिसव्वदुक्खप्पहीणमग्गे इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति,परिनिव्वायति,सव्वदुक्खाणमंतं करेंति । जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथे सिक्खाए उवट्ठिते विहरमाणे पुरा दिगिंछाए पुरा पिवासाए पुरा वातातवेहिं पुरा पुट्ठे विरूवेहिं परीसहोवसग्गेहिं उदिण्णकामजाते यावि विहरेज्जा,से य परक्कमेज्ज,से य परक्कममाणे पासेज्जा-जे इमे उग्गपुत्ता महामा[मा]उया,भोगपुत्ता महामाउया,तेसिं णं अण्णतरस्स अतिजायमाणस्स वा निज्जायमाणस्स वा छत्तओ तेसिं पुरतो महं दासीदासकिंकरकम्मकरपुरिसा पदातपरिक्खित्तं छत्तं भिंगार गहाय णिग्गच्छंति । तयाणंतरं च णं पुरतो महा आसा आसवरा, पिट्ठओ तेसिं णं णागा णागवरा,पिट्ठतो रया रथसंगिल्ली,से उद्धए सेयछत्ते अब्भुग्गतभिंगारे पग्गहियतालियंटे वीयमाणसेयचामरवालवीयणाए अभिक्खणं २ अभिजाति य णिज्जाति य सप्पभा सपुव्वावरहं ण्हाए कयबलिकम्मे० जाव सव्वालंकारभूसिए महति महालयाए कूडागारसालाए महति महालयंसि सीहासणंसि दुहओ विव्वोयणि दुहओ०जाव सव्वरातिएणं जोतिणीसि झायमाणेणं इत्थीगुम्मसंपरिवुडे महताऽऽहतनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगमद्दलपडुप्पवाइयरवेण उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति । तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स०जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेइ-भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो,किं आहरामो,किं उवणेमो,किं आचिट्ठामो,किं भे हिय-

एच्छितं, किं भे आसगस्स सदति, जं पासित्ता णिग्गंथे णिदाणं करेति–जइ इमस्स तवनियमबंभचेरवासस्स तं चेव० जाव साहू । एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथे णिदाणं किच्चा तस्स आणालोइय अपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अणुत्तरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । महिड्ढिएसु० जाव चिरट्ठितीए, से णं तथा देवेसु भवति महिड्ढिए० जाव चिरट्ठितीए, ततो देवलोगा आउक्खएणं ठितिक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, तेसि णं अण्णतरंसि कुलंसि पुमत्ताए पच्चायंति, से णं तत्थ दारए भवति, सुकुमालपाणिपाए० जाव सुरूवे । तते णं से दारए उम्मुक्कबालभावे विण्णयपरिणतमेत्ते त्ति जोव्वणगमणुप्पत्ते सयमेव पेत्तियं दायं पडिवज्जंति । तस्स णं अतिजायमाणस्स वा० जाव पुरतो महं दासी दास० जाव किं भे आसगस्स सदति । तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसस्स जातस्स तहारूवे समणे वा उभतो कालं केवलिपण्णत्त धम्ममाइक्खेज्जा ? । हंता ! आइक्खेज्जा । एवं संपडिसुणेज्जा ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से भगव ! महिच्छे महारम्भे महापरिग्गहे अहम्मिए० जाव आगमेसा णं दुल्लभबोहिए यावि भवति । ते एवं खलु समणाउसो ! तस्स निदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे, जं णो संचाएति केवलिपण्णत्त धम्मं पडिसुणित्तए ॥ १ ॥

क्वचिद् "महामाउया" इति पाठः, तत्र महती शीलरूपाऽऽदियुक्ता माता येषां ते महामातृका इति । एवं भोगपुत्राः, आदिदेवाऽवस्थापितगुरुवंशजपुत्राः । उपलक्षणं चैतत्-राजन्येक्ष्वाकुकौरवनागाऽऽदीनाम् । प्रकृतमाह-(तेसि णमित्यादि) तेषामुग्रपुत्राऽऽदीनामन्यतरस्य (अतिजायमाण त्ति) आगच्छतो बहिः प्रदेशात् स्वगृहं प्रति (निज्जायमाण त्ति) निर्गच्छतः स्वगृहाऽऽदेर्बहिः प्रदेशं प्रति । कथमित्याह-उभयतस्तेषाम् उग्रपुत्राऽऽदीनां (पुरतो महमित्यादि) पुरतोऽग्रतो महान्तो ये दास्यश्चेट्यो, दासाश्चेटकाः, किङ्कराः प्रतिकर्म प्रभोः पृच्छापूर्वकारिणः, कर्मकरास्तदन्यथाविधाः, ते च ते पुरुषाश्चेति समासः । पदातं पदातिसमूहः, तैः परिक्षिप्तः परिवृतो यस्तत्तथा । एवंविधं छत्रं, भृङ्गारं च (गहाय निग्गच्छति) इत्यनेनास्य प्रभुत्वमावेदितं भवति । (तया णमित्यादि) ततोऽनन्तरं पुरतोऽग्रतो महान्तो बृहत्तमा अश्वाः तुरङ्गाः, (आसवर त्ति) अश्ववरा अश्वानां मध्ये प्रधानाः, (नाग त्ति) नागा हस्तिनः, नागवरा नागानां प्रधानाः । एवं पृष्ठतो रथाः (रहसंगेल्लि त्ति) रथसमुदायः । (से णमित्यादि) सोऽनिर्दिष्टनामा । उद्धृतश्च तच्छत्रं । तथा (अब्भुग्गयभिंगारे त्ति) अभ्युन्नतोऽभिमुखमुद्गत उत्पाटितो भृङ्गारो यस्य स तथा । (पग्गहियतालियंटे त्ति) प्रगृहीतं तालवृन्तं यं प्रति स तथा । बीज्यमाना श्वेतचामरबालव्यजनिका यं प्रति स तथा । (अभिक्खणं २ ति) भूयो भूयः, एकवचनं निर्गमनसमयमङ्गीकृत्य तदेषामाह । कथम्भूतास्ते ?-(सप्पभा इति) सती शोभना प्रभा कान्तिर्येषां ते सत्प्रभाः । (सपुव्वावरण्हमित्यादि) सह पूर्वेण पूर्वाह्णकर्तव्येनापरेण वाऽपराह्णकर्तव्येन । यदि वा पूर्वं यत्क्रियते स्नानाऽऽदिकं, तथाऽपरं च यत्क्रियते विलेपनभोजनाऽऽदिकं, तेन सह वर्तत इति सपूर्वापरम् । इदमुक्तं भवति-यद्यदा प्रार्थ्यते, तत्तदा सम्पद्यते, इत्यभिलषितार्थप्राप्तमेव दर्शयितुमाह-(ण्हाते इत्यादि) व्यक्तार्थम् । कृतबलिकर्मा यावत्करणात् । (कंठे मालकडे त्ति) कण्ठे कृतमालम् । (कप्पिय त्ति) कल्पितश्चासौ माला प्रधानो मुकुलितः कमलसदृशो मुकुटश्च स तथा विद्यते यस्य स कल्पितमालामुकुलमुकुटः । (वग्घारितेत्यादि) प्रलम्बितश्रोणिसूत्रमल्लदामकलापश्च येन स तथा । अहतं मूषिकाऽऽद्यनुपहतं यद्वस्त्रं तत्परिहितं येन स तथा । (चंदणोक्खित्तगातसरीरे त्ति) चन्दनेन प्रलीप्तेन उत्कीर्णमिवोत्कीर्णं, गात्राणि शरीरं च यस्य स तथा, एवंविधम् । (महति महालयाए इत्यादि) महत्यामुच्चायां, महालयायां विस्तीर्णायां, कूटाकारशालायां, कूटस्येव या पर्वतशिखरस्येवाऽऽकारो यस्याः सा कूटाऽऽकारा, यस्या उपरि आच्छादनं शिखराऽऽकारं सा कूटाऽऽकारेति भावः । कूटाऽऽकारा चासौ शाला च कूटाऽऽकारशाला । यदि वा कूटाऽऽकारेण शिखराकृत्योपलक्षिता शाला कूटाऽऽकारशाला । उपलक्षणं चैतत्-प्रासादाऽऽदीनाम् । कूटाऽऽद्याकारशालाग्रहणं निर्जनत्वात्प्रधानभोगवृद्धिकारणत्वात् । (महति) महालये शयनीये (दुहतो) उभयतः, उभौ शिरोऽन्तपादान्तावाश्रित्य । (बिब्बोयणे त्ति) उपधानं यस्तया तस्मिन् । (दुहओ त्ति) उन्नतं, उन्नते मध्ये तल भिन्नत्वाद् गम्भीरं च महत्त्वोन्नतं गम्भीरं तत्र । (पण्णओ त्ति) वर्णकग्रहणात् "गंगापुलिणवालुयाअवदालसालिसए" इत्यादिपदकदम्बकपरिग्रहः । (सव्वराति त्ति) सर्वरात्रिकेण ज्योतिप्रदीपरूपेण ध्मायमानेन ज्वाल्यमानेन (इत्थीगुम्म त्ति) स्त्रीगुल्मेन युवतिजनेन सार्द्धमपरपरिवारेण सपरिवृतो वेष्टितः, तथा (महया हयेत्यादि) महता, रवेणेति योगः । (अहय इति) आख्यानकप्रतिबद्धानीति वृद्धाः । अथवा-अहतानि, आहतानि, अव्याकृतानीति भावः । नाट्यगीतवादितानि च, तन्त्री वीणा, तथा हस्ततालाः, तालाः कांसिकाः, त्रुटितानि शेषतूर्याणि, तथा घनो घनसदृशो ध्वनिः सामर्थ्यात् यो मृदङ्गो मर्दलः, पटुना दक्षपुरुषेण, प्रवादितः, तत एतेषां पदानां द्वन्द्वः । तेषां यो रवस्तेन, उदारान् प्रधानान् २ मानुष्यसंबन्धीन् । शेषव्याख्या प्राग्वत् । (तस्सेति) तस्य क्वचित्प्रयोजने समुत्पन्ने सत्येकमपि पुरुषमाज्ञापयतो, यावच्चत्वारः पञ्च वा पुरुषा अनुक्ता एव समुपतिष्ठन्ते । ते च किंकुर्वाणा ?, एतद्वक्ष्यमाणं जगुः । तद्यथा-भणाऽऽज्ञापय, हे स्वामिन् ! धन्या वयं येन भवताऽप्येवमादिश्यन्ते, किं कुर्मः इत्यादि (आहरामो त्ति) आनयाम, (किं उवणेमो त्ति) सदपि किमुपनयाम । किमातिष्ठामोऽस्माऽऽदिपचनक्रियारूपम् (किं भे) किं युष्माकं हृदयेप्सितं, तथा किं च (भे) युष्माकमास्यकस्य स्वदते स्वादु प्रतिभाति । यदि वा यदेव भवदीयस्याऽऽस्यस्य स्वदति तदेव वयं कुर्मः । प्रस्तुतमाह-यं पूर्वोक्तस्वरूपं पुरुषम् (पासित्ता) दृष्ट्वा निर्ग्रन्थो निदानं करोति । "जइ इमस्सेत्यादि" पूर्ववत् । (एवं खल्वित्यादि) एवमनन्तरोक्तप्रकारेण, हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! निर्ग्रन्थो निदानं कृत्वा (तस्स त्ति) तस्य निदानरूपस्थानस्य, अनालोच्य गुरूणामतिचारजातमनिवेद्य, एवमप्रतिक्रम्य पुनः करणेनाऽनभ्युत्थाय (अकरणयाए त्ति) क्रियते इति करणं, तस्य भावः करणता, तया, अनभ्युत्थाय । (अहारिहमिति) यथाऽर्हप्रायश्चित्तं पापनयनयोग्यं तपःकर्म निकाचिताऽऽदिकपापच्छेदकत्वात् पापच्छित्, प्रायश्चित्तविशोधकत्वाद्वा प्रायश्चित्तम् । अप्रतिपद्य प्रवेयकानां मध्ये अन्यतमेषु देवेषु देवतया उपपत्तारो भवन्ति । नवरं कथम्भूतेष्वित्याह-(महिड्ढिएसु) इत्यादि प्राग्वत् ।

चिरा प्रभूतकालभाविनी स्थितिर्येषां ते चिरस्थितिका, ततोऽनन्तर व्यवधानाभावेन (आउक्खएणमित्यादि) आयुःक्षयेण आयुर्दलिकनिर्जरणेन, स्थितिक्षयेण आयु कर्मणः स्थितिनिर्जरणेन भवक्षयेण देवभवनिबन्धनभूतकर्मणा गत्यादीनां निर्जरणेनेति । अनन्तर देवभवसंबन्धिना चय शरीरम (चइत्त त्ति) त्यक्त्वा (पुमत्ताए त्ति) पुरुषत्वेन, प्रत्यायान्ति । स तत्र दारको भवति, कुमारक इत्यर्थ । कथम्भूत इत्याह-(सुकुमालेत्यादि) सुकुमारौ पाणी पादौ च यस्याऽसौ सुकुमारपाणिपाद. । यावत्करणात्-" अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरे, लक्खणवंजणगुणोववेए " इत्यादिपदसमूहो द्रष्टव्यः । तत्र अहीनानि स्वरूपत पूर्णानि या सख्या, पुण्यानि वा पूतानि पञ्चेन्द्रियाणि यत्र तथा तदेवंविध शरीरं यस्य स तथा, तम् । (लक्खणवंजणगुणोववेया) लक्षणानि स्वस्तिकाऽऽदीनि, व्यञ्जनानि मषीतिलकाऽऽदीनि, तेषां यो गुण. प्रशस्तता, तेनोपपेतो युक्तो यः स तथा, तम् । (ससिसोम्माकार कत पियदसण) शशिवत् सौम्याऽऽकार कान्त कमनीयमत एव प्रिय द्रष्टृणां दर्शन रूप यस्य स, तम । (विनयपरिणयमेत्ते त्ति) विज्ञ एव विज्ञक, स चासौ परिणतमात्रश्च, कलादिष्विति गम्यते । विज्ञक परिणतमात्र. । (जोव्वण त्ति) यौवनमेव यौवनकमनुप्राप्त स्वयमेव पैतृक दायशब्देन धन प्रतिपद्यते, आत्मायत्त करोति । शेष व्यक्तम् । (धम्ममाइक्खेज्ज त्ति) धर्ममकथयत् । (एव सपडि त्ति) एव सप्रतिशृणुयात् ?। नायमर्थः समर्थ, अभविकोऽयोग्य. स तस्य धर्मस्य श्रवणतायै, एतन्निदानस्यैतदेव फल, यत्केवलिप्रज्ञप्त धर्म श्रोतु न समर्थो भवति, नवरम् (पावए फलविवागे त्ति) पापक फलविपाक । इति प्रथम निदानस्वरूपम ॥ १ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते । तं जहा-इणमेव निग्गंथे पावयणे० जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेति । जस्स ण धम्मस्स णिग्गंथीए सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणा पुरा दिगिंछाए उदिण्णकामजाया विहरेज्जा, सा य परक्कमेज्जा, सा य परक्कममाणी पासेज्जा-से जा इमा इत्थिया भवति एगा एगजाता एगाभरणादिपिहाणा तेल्लपेला इव सुसंगोपिता, चेलपेला इव सुसंपरिग्गहिया रयणकरंडगसमाणा । तेसि णं अतिजायमाणीए वा निज्जायमाणीए वा पुरतो महं दासी दासा चेव० जाव किं भे आसगस्स सदति, जं पासित्ता णं णिग्गथा णिदाणं करेंति-जति इमस्स सुसंपग्गहियस्स तवनियम० जाव भुंजमाणी विहरामि, तं साहुणी । एवं खलु समणाउसो ! णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयऽपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति । महिड्डिएसु० जाव सा णं तत्थ देवे भवति० जाव भुंजमाणे विहरति । सा णं ताओ देवलोगातो आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं अणंतर चयं चइत्ता जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, भोगपुत्ता महामाउया, एतेसि ण अण्णतरंसि दारियत्ताए पच्चायाति, सा णं तत्थ दारिया भवति । सुकुमाल०जाव सुरूवा । तते णं तं दारियं अम्मापियरो उम्मुक्कबालभावं विणयपरिणयमेत्तं जोव्वणगमणुपत्तं पडिरूवेणं सुक्केण पडिरूवस्स भत्तारस्स भारियत्ताए दलयंति, सा णं तस्स भारिया भवति, एगा एगजाता इट्ठा कंता०जाव रयणकरंडगसमाणा, तीसे०जाव अतिजायमाणीए वा पुरतो महं दासी दास०जाव किं भे आसगस्स सदति । तीसे णं तहप्पगाराए इत्थियाए तहारूवे समणे वा भत्ततो कालं केवलिपण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ? । हंता ! आइक्खेज्जा । ते णं भंते ! पडिसुणिज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणयाए, सा च भवति महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा० जाव दाहिणगामिणेरइए आगमिस्सए दुल्लभबोहिए यावि भवति । एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागं जं णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणेत्तए ॥ २ ॥

द्वितीये किमपि लिख्यते-" एगे " इत्यादि । एका स्वरूपतः, एकजाता सजातीयान्यसपत्नीवर्जिता । (एकाभरणा इति) एकाभरणानि एकजातीयहेमरूप्यरत्नाभरणानि, पिधानानि च वस्त्राणि यस्याः सा तथा । पुन. कथभूता?, इत्याह-(तेल्लपेला इव इत्यादि) तैलपेटा सौराष्ट्रप्रसिद्धो मृन्मयस्तैलस्य भाजनविशेष । स च भङ्गभयाल्लोटनभयाच्च सुष्ठु सगोप्यते । एव साऽपि । चेलपेटा इव सुसपरिगृहीता । चेलानि वस्त्राणि तेषां पेला पोट्टलिका इव सुसपरिगृहीता, सुरक्षिता इत्यर्थ । (रयणेत्यादि) रत्नकरण्डकसमाना बहुमूल्यतया यत्नेन रक्षिता । शेष कण्ठ्यम् । (दारियत्ताए त्ति) पुत्रीतया (पडिरूवेण सुक्केण) प्रतिरूपेण स्वरूपत उभयकुलोचितेन विवाहमासनदानरूपेण शुल्केन कन्यासदृशरूपेण, प्रतिरूपस्य वय-प्रभृतिगुणसमेतस्य भर्तुर्भार्या, तया ददति । एतस्य निदानस्यैतत्फल यत्केवलिभाषितधर्मश्रवण न प्राप्नोति ॥ २ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते । तं जहा-इणमेव निग्गंथे पावयणे०तहेव चेव । जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथे सिक्खाए उवट्ठिते विहरमाणे पुरा दिगिंछाए० जाव से य परक्कममाणे पासिज्जा, इमा इत्थिया भवति, एगा एग०जाव किं भे आसगस्स सदति, जं पासित्ता निग्गंथे णिदाण करेति-दुक्खं खलु पुमत्तणए, जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, भोगपुत्ता महामाउया । एतेसि ण अण्णतरेसु उच्चावएसु महासमरसंगामेसु उच्चावयाइं सत्थाइं उरसि चेव पडिसंवेदेति, तं दुक्खं खलु पुमत्तणए, इत्थित्तणयं साहु । जति इमस्स तवनियमबंभचेरवासस्स फलवित्तिविसेसे अत्थि, वयमवि आगमे, से णं०जाव से तं साधु । एव खलु समणाउसो ! निग्गंथे णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयअपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु०जाव से णं तत्थ देवे भवति, महिड्डिए०जाव विहरति, से णं ताओ देवलोगाओ आउक्ख-

एणं०जाव अष्णतरंसि कुलंसि दारियत्ताए पच्चायाति० जाव तेणं तं दारियं०जाव भारियत्ताए दलयंति,सा णं तस्स भारिया भवति,एगा एग०जाव तहेव सव्वं भाणियव्वं,तीसे णं अतिय जायमाणिए वा०जाव किं भे आसगस्स सदति?। तीसे णं तहप्पगाराए इत्थिगाए एतारूवे समणे वा माहणे वा० जाव पमिसुणिज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणताए,सा य भवति महिच्छा० जाव दाहिणगामिए णेरइए आगमे, सा ण दुल्लभबोहिए यावि भवति। त एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे भवति, जं णो संचाएति केवलिपष्णत्तं धम्मं पडिसुणेत्तए ॥ ३ ॥

तृतीये किमपि लिख्यते-(दुक्खं खलु इत्यादि) दुःखं कष्ट पुरुषत्वे। तदेवाऽऽह-(से त्ति) 'से' शब्दोऽथशब्द.। अथशब्दश्चेह वाक्योपक्षेपो भवति-(उग्गावएसु त्ति) उग्रा महत्प्रभुप्रारम्भिता., अवचास्तथाविधनीचपुरुषप्रारम्भितास्तेषु, समरसंग्रामादिहैकार्थौ, उच्चावचानि शस्त्राणि सशरतोमराऽऽदीनि। (उरसि त्ति) वक्षसि एव पतन्ति। उपलक्षण चैतत् शेषाङ्गानाम्। अतः स्त्रीत्व साधु सम्यग्(भवयो कष्ठ त्ति)उभयो' भावणार्थम्। अस्याऽपि निदानस्यैवविध फल,यन्न केवलिप्रणीत धर्मं श्रोतुमाप्नोति ॥ ३ ॥

एव खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते। तं जहा-इणमेव णिग्गंथे पावयणे,सेसं त चेव०जाव जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथी सिक्खाए उवट्ठिता विहरमाणी पुरा दिगिंछाए पुरा० जाव उदिण्णकामजाता यावि विहरेज्जा, सा य परक्कमेज्जा, सा य परक्कमेमाणी पासेज्जा-जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, भोगपुत्ता महामाउया० जाव किं भे आसगस्स सदति?, जं पासित्ता ण णिग्गंथी णिदाणं करेति-दुक्खं खलु पुमत्तणए से,जे इमे भवंति-उग्गपुत्ता,मम एएणं उच्चावएसु महासमरसंगामेसु उग्गं वहाय सत्थाइएासिं पमिवेदाति,न दुक्खं खलु पुमत्तणए, णं इत्थित्तणए०साहु। जइ इमस्स० जाव अत्थि वयमवि आगमिस्साणं इमेयारूवाइं उरालाइं इत्थिभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्सामि, से तं साधु। एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथा णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइत्ता० जाव अपमिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति। से णं देवलोयाओ आउक्खएणं अणतरं चयं चइत्ता से जे इमे भवंति उग्गपमुहा, तेसिं अण्णयरासि कुलंसि दारियत्ताए पच्चायाति। तए णं तेसिं अम्मापियरो तहेव०जाव किं भे आसगस्स सदइ ?। अह णं भंते ! तहप्पगाराए इत्थियाए तहारूवे समणे वा उभओ कालं केवलिपण्णत्तं धम्मं आइक्खेज्जा ?। हंता ! आइक्खेज्जा। से तं भंते ! पमिसुणिज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणयाए सा य भवइ महिच्छा० जाव दुल्लभबोहिए यावि भवति। एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमयारूवे पावए फलविवागे केवलिपण्णत्तं धम्मं पमिसुणेज्जा, एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव निग्गंथं० जाव अंतं करेइ। जस्स णं धम्मस्स निग्गंथं सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणं पुरा दिगिंछाए०जाव उदिण्णकामजाया यावि विहरेज्जा ०जाव सा य परक्कममाणी पासेज्जा, से जे इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया,तेसि णं अण्णयरस्स अतिमाणा वा० जाव किं च भे आसयस्स सदइ ?। जं पासित्ता णिग्गंथी णिदाणं करेइ-दुक्खं खलु इत्थित्तणए दुस्संचाराइं गामंतराइं० जाव सन्निवेसंतराइं,से जहाणामए अंबपेसिया ति वा,अंबाडगपेसिया ति वा,मंसपेसिया ति वा,माउलिंगपेसिया ति वा,उच्छुखंडिया ति वा,संबलियाफालिया ति वा बहुजणस्स आसादणिज्जा पत्थणिज्जा पच्छणिज्जा पीहणिज्जा अभिलसणिज्जा,एवामेव इत्थिया वि बहुजणस्स आसादणिज्जा०जाव अभिलसणिज्जा.तं दुक्खं खलु इत्थित्तणए,पुमत्तणए साधु। जइ इमस्स तवनियमस्स०जाव साहू। एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथी णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयमपमिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति, महिड्ढिए०जाव चइत्ता जे इमे उग्गपुत्ता तहेव दारए० जाव किं भे आसगस्स सदति ?। तस्स णं तहापगारस्स पुरिसजातस्स०जाव अभविए णं से तस्स धम्मस्स सवणताए, से य भवति महिच्छे० जाव दाहिणगामिए० जाव दुल्लभबोहिए यावि भवति, एवं खलु०जाव पमिसुणित्तए ॥ ४ ॥

चतुर्थे किमपि लिख्यते-(दुक्खं खलु इत्थित्तणए) दुःखं कष्ट स्त्रीत्वे। तदेवाऽऽह-(दुस्संचारा इति) दुःसंचारा ग्रामा, दुर्गमा इत्यर्थ। शब्दव्याख्या प्राग्वत्। (से जहाणामए) 'से' अथ यथानामम्। (मंसपेसिय त्ति) मांसपेशिका मांसखण्ड, आम्रपेशिका च दृष्टाऽपि सती सुखं करोति। एव मातुलिङ्गपेशिका। मातुलिङ्गो नाम बीजपूरक (उच्छुखंडिय त्ति) इक्षुखण्डिका इक्षुपर्वरूपा। (संबलियाफालिय त्ति) शाल्मली वृक्षविशेष ,तत्फालिका पलाशरूपा। (बहुजणस्सेत्यादि) बहुजनस्य बहुलोकस्य आस्वादनीया ईषत्स्वादनयोग्या भवति, प्रार्थनीया तथाभूतसहायजनेभ्य. सकाशाद्याचनीया। (अभिलसणिज्जा इति) अभिलषणीया आभिमुख्येन कमनीया। (एवामेव त्ति) एवामेवाऽकारोऽलाक्षणिक.। (अभविए त्ति) अभविकोऽयोग्यः स तस्य धर्मस्य श्रवणतया, स च भवति महेच्छ, एतस्य निदानस्यैतत्फलं यन्न केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शक्नोति श्रद्धातु, परं शृणोति इति विशेष.॥ ४ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते। त जहा-इणमेव निग्गंथं पावयणं०तहेव,जस्स णं धम्मस्स निग्गंथो वा निग्गंथीए वा सिक्खाए उवट्ठिए वि विहरमाणे पुरा दिगिंछा०जाव

उदिस्सकामभोगे विहरेज्जा, सिय परक्कमेज्जा, से य परक्कममाणे माणुस्सेहिं कामभोगेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा, माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा अणिया असासता सडणपडणविद्धंसण- धम्मा उच्चारपासवणखेलसंघाणगवतपित्तसुक्कसोणियसमु- ब्भवा दुरूवउस्सासनिस्सासदुरूवमुत्तपुरीसपुण्णा वंतासवा पित्तासवा खेलासवा पच्छा पुरं च णं अवस्सं विप्पजहणि- ज्जा, संति खलु अत्थ देवा देवलोगंसि ते णं तत्थ अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेंति, अप्पणा चेव अप्पाणं विउव्विता २ परियारेंति, जति इमस्स तव०जाव तं चेव सव्वं भाणियव्वं० जाव वयमवि आगमेस्साणं इमाइं एता- रूवाइं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरामो, से तं साहु। एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथा वा निग्गंथी वा निदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति, तं जहा महिड्ढिएसु० जाव से, ते णं अण्णं देवं अण्णं देविं तं चेव० जाव परियारेंति, से णं ताओ देवलोगाओ तं चेव पुमत्ताए०जाव किं ते आसगस्स सदति?। तस्स णं त- हप्पगारस्स पुरिसजातस्स इमेयारूवे समणे वा माहण वा० जाव पडिसुणिज्जा ?। हंता पडिसुणिज्जा। से ण सद्दहेज्जा, रोएज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। अभविए णं से तस्स धम्मस्स सद्दहणताए से य भवति महिच्छे० जाव दाहिणगामिणे- रइए आगमेस्साए दुल्लभबोहिए यावि भवति । एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फल- विवागे जं णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं सद्दहति वा ॥ ५ ॥

पञ्चममेव विवृणोति-(माणुस्सएहिं इत्यादि) मानुष्यकेषु काम- भोगेषु निर्वेदं वैराग्यं गच्छेत्। तदेवाऽऽह-(माणुस्सगा इति) इह कामभोगग्रहणे तदाधारभूतानि स्त्रीपुरुषशरीराण्यपि गृहीतानि। (अधुवा इत्यादि) अध्रुवाः चलाः, अनियता अनेकस्वरूपाः, अशा- श्वताः प्रतिक्षणं परिणामान्तरीयाः, शटनपतनविध्वंसधर्माणः, एतादृक्स्वभावाः, उच्चारप्रश्रवणश्लेष्मसिङ्घाणकाः, एतद्रूपा इ- त्यर्थः । वान्तपित्तकरणशीलाः, शुक्रशोणिताज्ज्या समुद्भव उत्प- त्तिर्येषां ते शुक्रशोणितसमुद्भवाः । (दुरूवउस्सासनिस्सासा) दुरूपेण पूतिकपुरुषेण पूर्णाः। इह दुरूपं विरूपम्, वान्तमाश्रवन्ति वान्ताश्रवाः, एवं पित्ताश्रवाः, पश्चात् मरणसमयानन्तरं, पूर्वं जराया आगमात् च, अवश्यमविनश्य नियतता, अवश्यं वा, वि- प्रजहात्, सन्ति विद्यन्ते च, खल्वित्यवधारणेऽत्र देवा देवलो- के (ते णं तत्थ अण्णेसिमित्यादि) तद्देवत्वोत्पन्ना निर्ग्रन्था तत्र देवलोके अन्येषां देवानां सम्बन्धिनीर्देवीः (अभिजुंजिय २) अभियुज्य२वशीकृत्य२आश्लिष्य वा, परिचारयन्ते परिभुञ्जते। (अप्पणा चेव अप्पाणं ति) आत्मनैव आत्मानं, स्त्रीपुरुषरूप- तया विकृत्येत्यर्थः । शेषं सुबोधार्थम् ॥ ५ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते। तं जहा—तं चेव से य परक्कममाणे माणुस्सएसु कामभोगेसु निव्वेदं गच्छे- ज्जा, माणुस्सगा खलु कामभोगा अणिया तहेव०जाव संति उड्ढं देवा तं च लोगंसि ते णं तत्थ अण्णदेवाणं अन्नदेविं अभिजुंजिय २ परियारेंति, अप्पणा वीयाए देवीए अभिजुं- जिय २ परियारेंति, अप्पणामेव अप्पणा विउव्विय परिया- रेंति । इमस्स तव०जाव तं चेव सव्वं० जाव से णं सद्दहि- ज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। अण्णरुई रुइमा- याए से य भवति से, जे इमे आरण्णिया आवसहिया गामं- तिया कण्हरहस्सिया णो बहुसंजता णो बहुपडिविरता स- व्वपाणभूतजीवसत्तेसु अप्पणा विरता अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडिवेदेंति—अहं ण हंतव्वो, अण्णे हंतव्वा, अहं न अ- ज्जावियव्वो, अन्ने अज्जावियव्वा, अहं ण परितावेयव्वो, अ- न्ने परितावेयव्वा, अहं ण परिघेतव्वो, अन्ने परिघेतव्वा, अहं ण अवद्दवेयव्वो, अण्णे अवद्दवेयव्वा, एवामेव इत्थिका- मेहिं च मुच्छिता गिद्धा गढिया अज्झोववण्णा जाव- वासाइं चउपंचछसत्तयाइं भोगभोगाइं भुंजित्ता तेहिं जिया कालमासे कालं किच्चा अण्णतराइं आसुराइं किव्विसि- याइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति, ते ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमुयत्ताए य पच्चायंति, तं एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स० जाव णो संचाएति केव- लिपण्णत्तं धम्मं सद्दहित्तए वा ॥६॥

(किं तु अण्णरुई त्ति) अन्यत्र जैनधर्मातिरिक्ते स्थाने रुचिर- भिलाषो यस्य। स चान्यरुचिः पररुचिः, रुचिमात्रया धर्मश्रद्धा- रूपया स च भवति, ये चामी वक्ष्यमाणा भवन्ति-(आरण्णिय त्ति) अरण्ये वसन्त्यारण्यकाः, तापसाः कन्दमूलफलाऽऽहाराः, तत्र केचन वृक्षमूले वसन्ति । तथा-(आवसहिय त्ति) आ- वसथिकाः, अवसथास्तापसाश्रयाः उटजाऽऽद्य, तत्र वसन्ती- ति आवसथिकाः। (गामंतिया इति) ग्रामाऽऽदिकमुपजीवन्तो ग्रामस्यान्ते समीपे वसन्तीति ग्रामान्तिकाः । तथा-(कण्हरह- स्सिया इति) क्वचित्कार्ये मण्डलप्रवेशाऽऽदिके रहस्यं येषां ते क्वाचिद्राहस्यिकास्ते एते न बहुसंयता न सर्वसावद्यानुष्ठाने भोगनिवृत्ताः । एतदुक्तं भवति-न बाहुल्येन त्रसेषु दण्डं समार- भन्ति? विदधाति, एकेन्द्रियोपजीविनस्त्वविगानेन तापसाऽऽदयो भवन्ति इति । तथा न बहुप्रतिविरता -न सर्वेष्वपि प्राणाति- पातविरमणाऽऽदिव्रतेषु वर्त्तन्ते, किं तु द्रव्यतः कतिपयव्रति- नो, न भावतो, मनागपि तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनस्याभावात् । सम्यक्त्वं विना न तदनुष्ठानमपि शोभनं, सम्यक्त्वमेव मूलं स- र्वस्याऽपि विरत्यादेरित्यभिप्रायः। इत्येतदेवाऽऽविर्भावयितुमाह- (सव्वपाणेत्यादि) ते ह्यारण्यकाऽऽदयः सर्वप्राणभूतसत्त्वे- भ्य आत्मना स्वतो विरताः, तदुपमर्दकाऽऽरम्भादविरता इत्यर्थः। तथा ते पाखण्डिकाः आत्मना स्वतो बहूनि सत्यामृषाभूतानि वाक्यान्येव वक्ष्यमाणानीत्यविशेषेण प्रयुञ्जन्तो 'विप्पडिवेदेंति' विप्रतिभुञ्जते इत्यर्थः । यदि वा-सत्यान्यपि तानि प्राण्युपम- र्दकत्वेन मृषाभूतानि सत्यामृषाण्येव ते प्रयुञ्जतीति दर्शयन्ति?। तद्यथा-"अहं ब्राह्मणत्वादप्रमाऽऽदिभिर्न हन्तव्यः, अन्ये तु शूद्र- त्वाद्धन्तव्याः "। तथाहि तद्वाक्यम्-"शूद्रं व्यापाद्य प्राणायाम

जपेत"। तथा-"क्षुद्रसत्त्वानामनस्थिकानां शकटभरमपि व्यापाद्य ब्राह्मणं भोजयेत्" इत्यादि। अपरं चाऽऽह-"वर्णोत्तमत्वाद् ब्राह्मणा नाऽऽज्ञापयितव्याः, अन्ये त्वाज्ञापयितव्याः। अहं न परितापयितव्यः, अन्ये तु परितापयितव्याः।" तथा "अहं वेतनाऽऽदिना कर्मकारणाय न ग्राह्यो ऽन्ये तु शूद्रा ग्राह्याः" इति। किं बहुनोक्तेन-"नाहमपद्रावयितव्यो जीवितव्यात्, अन्ये त्वपद्रावयितव्याः" इति। तदेवं तेषां परपीडोपदेशः। ततो न मूढतयाऽसबद्धप्रलापिनामशातावृनानामात्मम्भरीणां विषमदृष्टीनां प्राणातिपातविरतिरूपव्रतमस्ति। अस्य चोपलक्षणार्थत्वान्मृषावादादत्ताऽऽदानविरमणाभावोऽप्यायोज्यः। अधुना स्वनादिभवाभ्यासाद् दुस्त्यजत्वेन प्राधान्यात् सूत्रेणैव ब्रह्माधिकृत्याऽऽह-(एवामेवेत्यादि) एवमेव पूर्वोक्तेनैव कारणत्वेनातिमूढत्वाऽऽदिना परमार्थमजानानास्ते तीर्थिकाः स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः। यदि वा-स्त्रीषु कामेषु, चशब्दात्तेषु मूर्च्छिता गृद्धाः, ग्रथिता अभ्युपपन्नाः। अत्र चात्यादरख्यापनार्थं प्रभूतपर्यायग्रहणम्। एतच्च स्त्रीषु शब्दाऽऽदिषु प्रवर्त्तनं प्रायः प्राणिनां प्रधानं संसारकारणम्। तथा चोक्तम्-"मूलमेयमहम्मस्स" इत्यादि। इह च स्त्रीसङ्गाऽऽसक्तस्यावश्यभाविनी शब्दाऽऽदिविषयाऽऽसक्तिरिति, अतः स्त्रीकामग्रहणम्। तत्र चाऽऽसक्ता यावन्तं कालमासते, तत्सूत्रेणैव दर्शयति-यावद्वर्षाणि चतुःपञ्चषट्सप्तकानि। अयं च कालो गृहीतः। एतावत्कालोपादानं च प्रायिकम्, प्रायस्तीर्थिका अतिक्रान्तवयस एव प्रव्रजन्ति, तेषां चैतावानेव कालः सम्भाव्यते। यदि वा मध्यग्रहणात्तत ऊर्ध्वमधश्च गृह्यते। तद्दर्शयति-तस्मादपेतकालादल्पतरो भूयस्तरो वाऽपि कालो भवति। तत्र च ते त्यक्त्वाऽपि गृहवासं, भुक्त्वा भोगभोगानिति, स्त्रीभोगे सत्यवश्य शब्दाऽऽदयो भोगभोगास्तान् भुक्त्वा ते च भोगेभ्यो जिता इति, न च भोगेभ्यो विनिवृत्ताः, यतोऽसाध्यादृष्टनयनशानत्वात्सम्यग्विरतिपरिणामरहिताः, ते चैवम्भूतपरिणामाः स्वायुषः क्षये कालमासे कालं कृत्वाऽन्यतरेष्वासुरिकेषु किल्बिषिकेषु स्थानेषु उत्पादयितारो भवन्ति। ते ह्यज्ञानतपसा मृता अपि किल्बिषिकेषूत्पत्स्यन्ते, तस्मादपि स्थानादायुषः क्षयाद्विप्रमुच्यमानाश्च्युताः किल्बिषबहुलास्तत्कर्मशेषेणैलमूकाः एडमूकाः, तद्भावेनोत्पद्यन्ते किल्बिषस्थानाद् च्युताः सन्ननन्तरभवे वा मानुषत्वमवाप्य यथैकोऽव्यक्तभाग् भवत्येवमेषामव्यक्तवाक् समुत्पद्यत इति। तथा (तमुयत्ताए त्ति) तमस्त्वेनात्यन्तान्धतमस्त्वेन ज्ञानावृततया वा, तथैलमूकत्वेनाऽपि गतश्च इह प्रत्यागच्छन्तीति। शेषं प्रतीतम् ॥ ६ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते० जाव माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा तहेव संति उड्ढं देवा देवलोयंसि। अण्णं देवं अण्णं च देविं अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति, णो अप्पणा चेव अप्पाणं विउव्विय विउव्विय परियारेंति-जति इमस्स तवनियम० जाव तं चेव० जाव एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथे वा निग्गंथी वा णिदाणं किच्चा अणालोइय तं चेव० जाव विहरति, से णं भवं अण्णं भवं देवं अण्णं देविं णो अदेवेणं अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति, नो अप्पणा चेव अप्पाणं वेउव्विय वेउव्विय परियारेंति, स णं ताओ देवलोगातो आउक्खएणं तहेव वत्तव्वं, णवरं हंता सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा। से णं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। से णं दंसणसावए भवति, अभिगयजीवाजीवे अट्ठिमिंजापेमाणुरागरत्ते सेसे अणिट्ठे, से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणइ, बहूइं समणोवासगपरियागं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावफलविवाए, जं णो संचाएति सीलव्वतगुणपोसहोववासाइं पडिवज्जित्तए ॥ ७ ॥

सप्तमे किमपि लिख्यते-"णवरं" इति विशेषः। (हंता सद्दहेज्जा इति) श्रद्दधेत्, प्रतीयेत्प्रत्ययमिति विदध्यात्, रोचयेत् चेतसि सम्यक्तया जानीयात् (सीलव्वय त्ति) प्राग्वत्। प्रतिपद्येत अङ्गीकुर्यात् ?। गुरुराह-नायमर्थः समर्थो नायमर्थो युक्त्योपपन्नः, स हि दर्शनश्रावको भवति। दर्शनं नाम-सम्यक्त्वं, तदाश्रितत्वेत्यभिप्रायः। (अभिगयेत्यादि) अग्रे व्याख्यास्यते। एवंभूतः स बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासकपर्यायं पालयति, केवलेनाऽपि सम्यक्त्वेन श्रावको भवत्येव, क्रियायामपि तस्यैव प्रधानतरत्वात् ॥ ७ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, तं चेव सव्वं० जाव से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सगा कामभोगा अधुवा ० जाव विप्पजहाणिज्जा, दिव्वा वि खलु कामभोगा अधुवा अणितिया असासता चलाचलणधम्मा पुणरागमणिज्जा पच्छा पुव्वं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा, जति इमस्स तवनियमस्स० जाव आगमेस्साणं जइ इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया० जाव पुमत्ताए पच्चायंति। तत्थ णं समणोवासए भविस्सामि अहिगतजीवाजीवा० जाव फासुयएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे विहरिस्सामि, से तं साधु। एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथो वा निग्गंथी वा णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय० जाव देवलोएसु देवत्ताए उववज्जेज्जा० जाव किं भे आसगस्स सदति ?, तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजातस्स वि हंता सद्दहिज्जा, से णं सीलव्वय० जाव पोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा, से णं मुंडे भविता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। से णं समणोवासए भवति अहिगतजीवाजीवे० जाव पडिलाभेमाणे विहरति, से णं एतारूवेणं विहरमाणे बहूणि वासाणि समणोवासगपरियागं पाउणति, बहूइं समणोवासगपरियागं पाउणित्ता आबाहंसि उप्पण्णं वा हंता ! पच्चक्खाएइ, हंता ! बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदइ, छेदइत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। एवं खलु समणा-

उसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे एवं फलविवागे जं णो संचाएति सव्वतो सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ॥ ८ ॥

अष्टमे किमपि लिख्यते-(तत्थ ण) तत्र पुत्राऽऽदिषु अहं श्रमणोपासको भूयासं, विशिष्टोपदेशार्थं श्रमणानुपास्ते सेवते इति श्रमणोपासकः । स च श्रमणोपासकः । (अहिगतजीवाजीवे इत्यादि) अधिगतौ सम्यग्विज्ञातौ जीवाजीवौ येन स तथा । यावत्करणात्-" उवलद्धपुण्णपावे " इत्यादिपदकदम्बकसंग्रहः । उपलब्धे यथाऽवस्थितस्वरूपेण विज्ञाते पुण्यपापे येन स उपलब्धपुण्यपापः, आश्रवाणां प्राणातिपाताऽऽदीनां संवरस्य प्राणातिपाताऽऽदिप्रत्याख्यानरूपस्य निर्जरायाः कर्मणां देशतो निर्जरणस्य क्रियाणां कायिकयाऽऽदीनामधिकरणानां खड्गाऽऽदीनां बन्धस्य कर्मपुद्गलजीवप्रदेशान्योऽन्याऽऽगमरूपस्य मोक्षस्य सर्वाऽऽत्मना कर्मापगमरूपस्य कुशलः सम्यक्परिज्ञाता, आश्रवसंवरनिर्जराक्रियाऽधिकरणबन्धमोक्षकुशलः । एतेन चास्य ज्ञानसम्पदुक्ता । (असहेज्जे इति) अविद्यमानसहायः कुतीर्थिकप्रेरितसम्यक्त्वाविचलनं प्रति न परसाहाय्यमपेक्षते इति भावः । तथा चाऽऽह-(देवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिंनरकिंपुरिसगरुडगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जे) देवा वैमानिकाः असुरकुमारा नागकुमाराः राक्षसकिन्नरकिम्पुरुषा व्यन्तरभेदाः (गरुल त्ति) गरुडचिह्नाः सुवर्णकुमाराः गन्धर्वमहोरगाश्च व्यन्तराः, तैः (अणतिक्कमणिज्जे इति) अनतिक्रमणीयः अचालनीयः । एव चैतत् । यत -(निग्गंथे पावयणे निस्संकिए इत्यादि) निर्ग्रन्थे प्रावचने निःशङ्कः (निक्कंखिए त्ति) दर्शनान्तराकाङ्क्षारहितः । (निव्वितिगिच्छे) फलं प्रति निःशङ्कः । (लद्धट्ठे) अर्थश्रवणतः (गहियट्ठे) गृहीतार्थोऽवधारणतः (पुच्छियट्ठे) पृष्टार्थः, सांशयिकार्थप्रश्नकरणात् । (अहिगयट्ठे त्ति) अधिगतोऽर्थो येन स तथा । अभिगतार्थो वा, अर्थावधारणात् । (विणिच्छियट्ठे त्ति) विनिश्चितार्थः, एवं पर्याप्तोपलम्भात् । अत एव-(अट्ठिमिंजापेम्माणुरागरत्ते त्ति) अस्थीनि च कीकसानि । ' मिंजा च ' तन्मध्यवर्ती धातुविशेषः अस्थिमिञ्जास्ताः प्रेमानुरागेण सर्वज्ञप्रवचनप्रीतिलक्षणकुसुम्भाऽऽदिरागेण रक्ता इव रक्ता यः स तथा । केनोल्लेखेनेत्यत आह-(अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे त्ति) अयमिति प्राकृतत्वादिदम् । (आउसो त्ति) आयुष्मन्निति पुत्राऽऽदेरामन्त्रणम् । (सेसे त्ति) शेषं निर्ग्रन्थप्रवचनेनातिरिक्तं धनधान्यकलत्रपुत्रमित्रकुप्रवचनाऽऽदिकम्, अनर्थोऽनर्थकारणत्वात् इति । (ऊसियफलिहे त्ति) उच्छ्रितोच्छ्रितमुन्नतं स्फटिकमिव स्फटिकं चित्तं यस्यासौ उच्छ्रितस्फटिकः, मौनीन्द्रप्रवचनावाप्त्या परितुष्टमना इत्यर्थः । एषा वृद्धव्याख्या । अपरे त्वाहुः-उच्छ्रितोऽर्गलाऽस्थानादपनीय ऊर्ध्वीकृतो न तिरश्चीनः कपाटे पश्चाद्भागादपनीत इत्यर्थः । उत्सृतो वा अपगतः परिघोऽर्गला गृहद्वारे यस्य सः, व्युत्सृतपरिघो वा-औदार्यातिरेकतोऽतिशयदानदायित्वेनानुकम्पया भिक्षुकप्रवेशार्थमनर्गलितगृहद्वार इत्यर्थः । (अवंगयदुवारे) अप्रावृतद्वारः भिक्षुकप्रवेशार्थं कपाटानामपि पश्चात्करणात् । वृद्धानां तु भावनावाक्यमेव । सम्यग्दर्शनलाभे सति न कस्मादपि पाषण्डिकाद्बिभेति, शोभनमार्गपरिग्रहणे उद्घाटितशिरास्तिष्ठतीति भावः । (चियत्तंतेउरघरप्पवेसे इति) (चियत्तो त्ति) लोकानां प्रतीतः एवान्तःपुरे वा गृहे वा प्रवेशो यस्य स तथा, अतिधार्मिकतया सर्वत्राऽनाशङ्कनीय इत्यर्थः । (चियत्ते त्ति) नाप्रीतिकरोऽन्तःपुरगृहयोः प्रवेशः शिष्टजनप्रवेशनं यस्य स तथा, अनीर्ष्यालुताप्रतिपादनानन्तरं चेत्थं विशेषणमिति । अथ वा (चियत्तो त्ति) त्यक्तोऽन्तःपुरगृहयोः परकीययोर्यथाकथञ्चित्प्रवेशो येन स तथा । (चाउद्दसट्ठमिउद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णपोसहं सम्मं अणुपालेमाणे त्ति) चतुर्दशी पर्वविधिना प्रतीता, अष्टमी च, तथा अमावास्यासु मासार्द्धोक्तपर्वत्वेन प्रत्याख्यानासु, पौर्णमासीषु च पूर्णमासत्वेन पूर्णचन्द्रोदयत्वेन मासान्तपर्वसु प्रसिद्धासु, एवंभूतेषु धर्मदिवसेषु शुद्ध्यतिशयेन प्रतिपूर्णो यः पौषधो व्रताभिग्रहविशेषः, तं प्रति पूर्णमाहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापाररूपं पौषधमनुपालयन्, सम्पूर्णं श्रावकधर्ममनुचरति । तदनेन विशिष्टं देशचारित्रमावेदितं भवति । (समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं) अत्र वस्त्रं प्रतीतम्, पतद्ग्रहः पात्रं वा गृह्णातीति पतद्ग्रहः । लिहाऽऽदित्वादच् प्रत्ययः । पात्रं पादप्रोञ्छनकं रजोहरणम् । (ओसहभेसज्जेण त्ति) औषधमेकद्रव्याऽऽश्रयं तत्समुदायरूपम् । अथवौषधं त्रिफलाऽऽदि भेषजम् (पाडिहारिएण पीढफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणे त्ति) प्रतिहरः प्रत्यर्पणं प्रयोजनमस्येति प्रातिहारिकं, पीठमासनं, फलकमवष्टम्भनार्थं काष्ठविशेषः, शय्या वसतिः, शयनं च यत्र प्रसारितपादैः सुप्यते, संस्तारको लघुतरशयनमेव । (बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अहापरिग्गहिएहिं अप्पाणं भावेमाणे त्ति) शीलव्रतानि अणुव्रतानि, गुणा गुणव्रतानि, विरमणानि रागाऽऽदिविरतिप्रकाराः, प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहिताऽऽदीनि, पौषधोपवासो विशेषतोऽष्टम्यादिदिनेषूपवसनमाहाराऽऽदित्याग इत्यर्थः । (विहरिस्सामि त्ति) विचरिष्ये । क्वचिदेतानि पदानि अननुगमेनापि दृश्यन्ते । तान्यपि अनेन व्याख्याऽनुक्रमेण वाच्यानि । (से णं मुंडे इत्यादि) स मुण्डो मस्तकलोचनेन भूत्वा, (आगाराओ त्ति) अगारं गृहं तस्मादिदिनिर्वृत्तः, तस्मात् निष्क्रम्यतीति शेषः । अनगारिता साधुता प्रव्रजेत् प्रतिपद्येत, शेषं व्यक्तम् । (से णमित्यादि) स पूर्वोक्तनिदानकृता यथाशक्ति सदनुष्ठानं विधाय उत्पन्ने वा कारणे अनुत्पन्ने वा भक्तं प्रत्याख्यायानालोचितप्रतिक्रान्तः समाधिप्राप्तः सन् कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु लोकेषु उत्पद्यते इति । एतानि चाभिगतजीवाऽऽदिकानि पदानि हेतुमद्भावेन नेतव्यानि । तद्यथा-यस्मादभिगतजीवाजीवः, तस्मादुपलब्धपुण्यपापः, यस्मादुपलब्धपुण्यपापस्तस्मादुच्छ्रितमनाः, एवमुच्छ्रितमनाः सन् श्रावकधर्मं साधुधर्मं वा प्रकाशयन् विहरति । अष्टमीचतुर्दश्यादिषु पौषधोपवासाऽऽदिपारणकेषु साधून् प्रासुकेन प्रतिलाभयते । एतन्निदानस्यैतत्फलं, यज्जानन्नपि कटुकविपाकान् विषयान् विहाय न चारित्रं प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते० जाव से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सएहिं कामभोगेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा, माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा० जाव विप्पजहणिज्जा दिव्वा वि खलु कामभोगा अधुवा० जाव पुणरागमणिज्जा, जति इमस्स तवनियम० जाव वयमवि आगमेस्साणं जाइं इमाइं अंतकुलाणि वा, तुच्छकुलाणि वा, दरिद्दकु-

लाणि वा, किविणकुलाणि वा, भिक्खागकुलाणि वा, बंभकुलाणि वा । एएसि णं अण्णतरंसि कुलंसि पुमत्ताए पच्चाएंति, एएहिं मे आतापरियाएसु णीहम्मे भविस्सति, से तं साधु। एवं समणाओ खलु सो णिग्गंथे नियाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयअपडिक्कंते सव्वं तं चेव० जाव से णं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा, से णं तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झेज्ज० जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । से णं भवइ सेसे जे अणगारा भवंतो इरियासमिता० जाव बंभचारी, ते णं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता आबाहंसि उप्पणंसि वा० जाव भत्तं पच्चाइक्खित्ता० जाव कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंतीति । ते एवं समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे, जं णो संचाएति तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झेज्जा० जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा ॥ ए ॥

नवमे किमपि लिख्यते-(अतकुलाणि व त्ति) जघन्यकुलानि, अन्त्यवर्णत्वात् प्रान्तकुलानि तुच्छकुलानि स्वल्पकुटुम्बानि दरिद्रकुलानि सर्वथा निर्धनकुलानि कृपणकुलानि सत्यपि विभवेऽतीव नि स्स्वानि भिक्षणशीलानि भिक्षुककुलानि भिक्षामात्रोपजीवीनि,ब्राह्मणकुलानि प्रतीतानि।एतेषामन्यतरस्मिन् कुले पुंस्त्वेन प्रत्यागमिष्यामि,यत एतेभ्यः कुलेभ्यः ममाऽऽत्मपर्यायेषु नि सारितो भविष्यति, प्रव्रज्याभिप्राये संजाते न कोऽपि मा प्रतिबन्धको भविष्यतीति हृदयम । (से णं तेणेव त्ति) स तस्मिन् भवग्रहणे तत. प्रव्रज्याऽपि सिद्धयेत्। पदव्याख्या पूर्ववत् । " अणगारा " इत्यादि व्यक्तम् । यावत्करणात्-"भासासमिए एसणासमिए" इत्यादिपदानि द्रष्टव्यानि । (हुहुवेत्यादि) सुष्ठु हुत क्षिप्त घृताऽऽदि यत्राऽसौ सुहुतो घृताऽऽदितर्पित , स चासौ हुताशनश्च वह्निस्तद्वत्तेजसा ज्ञानरूपेण तपस्तेजसा वा ज्वलन् दीप्यमान । शेष सुबोधम । एतन्निदानस्यैतत्फल यन्न शक्नोति कर्मक्षय विधाय मोक्षगमन प्रतीतिरितितात्पर्यमिति नवमम ॥ ९ ॥

एव खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते। तं जहा-इणमेव निग्गंथे०जाव से परक्कमेज्जा,अणुदिण्णकामजाए सव्वकामविरते सव्वरागविरते सव्वसंगातीते सव्वसिणेहातिक्कंते सव्वचारित्तएणं परिवुडे तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेणं णाणेणं अणुत्तरेणं दसणेणं०जाव परिनिव्वाणमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जेज्जा । तते णं से भगवं अरहा भवति जिणे केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी सदेवमणुयासुराए०जाव बहूइं केवलपरियागं पाउणंति, बहूइं केवलपरियागं पाउणित्ता अप्पणो आउसेसं आभोएति, आभोएत्ता भत्तं पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेति, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता ततो पच्छा चरिमेहिं ऊसासनीसासेहिं सिज्झति०जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेति, तं एवं खलु समणाउसो ! तस्स अणिदाणस्स इमेयारूवे कल्लाणफलविवागे, जं तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झति० जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेति । तते णं ते बहवे णिग्गंथाओ निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समणं भगवं महावीरं वंदंति, नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता तस्स ठाणस्स आलोएंति, पडिक्कमंति० जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जंति ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं बहूणं देवाणं बहूणं देवीणं सदेवमणुयासुराए परिसाए मज्झगते एवं आइक्खति, एवं भासति, एवं परूवेति, आयातिट्ठाणे णाम अज्जो ! अज्झयणे सअट्ठं सहेउअं सकारणं सुत्तं च अत्थं च तदुभयं च भुज्जो उवदंसेति त्ति बेमि ॥ १० ॥

(अणुदिण्णकामजाते त्ति) अनुदीर्ण. कामजात कामगम (सव्वकामविरतेति) सर्वकामविरक्त. सर्वसङ्गातीत. सर्वस्नेहातिक्रान्त सर्वचारित्रेण सर्वधर्मानुष्ठायित्वेन परिवृत., तस्य भगवत (अणुत्तरेण णाणेण ति) ज्ञान मत्यादि, नद पेक्षया अनुत्तर प्रधान तेन। यावत्करणात्-"दसणेण चरित्तेण " इत्यादिपदानि द्रष्टव्यानि । (परिनिव्वाणमग्गेण ति) परिनिर्वाण कषायदाहोपशमनमार्गेण आत्मान भावयतो वास यतः, अनेनाऽऽत्मैव प्रधानमोक्षाङ्गमित्युक्तम्।(अणते इत्यादि) अनन्तमनन्तार्थविषयाद्वा अनन्तमन्तरहितमपर्यवसितत्वात् । अनुत्तर सर्वोत्तर सर्वोत्तमत्वात् । निर्व्याघात कटकुड्याद्यप्रतिहतत्वात् । निरावरण क्षायिकत्वात् । कृत्स्न सकलार्थग्राहकत्वात् । प्रतिपूर्ण सकलस्वांशसमन्वितत्वात् राकाचन्द्रवत् केवलमसहायम, अत एव वर प्रधान ज्ञान च दर्शन च ज्ञानदर्शनम्। तत. पूर्वपदाभ्या कर्मधारय । समुत्पद्यते सकलावरणक्षयादाविर्भवति । [तते णमित्यादि] तत स भगवानर्हन् जिन केवली च भवति सर्वज्ञ सर्वदर्शी च सर्वविशेषाणां सामान्यस्य च प्रथमद्वितीयाऽऽदिसमयेषु अवबोध । यावत्करणात्-"सव्वमान सदेवमनुजासुरा या जन्तुसन्तति । यावत्करणात्-"सव्वभावे जाणमाणे" इत्यादि द्रष्टव्यम। भावानिति पर्यायान् उत्पादस्थितिव्ययलक्षणान् जानाति यथावदवगच्छन् विहरत्यास्ते [अप्पणो आउसेस ति] आत्मानमायुशेष पश्यति । शेष सुबोधम्। अथोपसंहर्तुकामो भगवानिदमाह-[एव खल्वित्यादि] एव पूर्वोक्तप्रकारेण हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! तस्यानिदानस्यायमेतद्रूप. कल्याण शुभ फलविपाक वृत्तिविशेष । किं तदित्याह-तेनैव भवग्रहणेन सर्वदु खानामन्तं करोति। इति श्रुत्वा यत्कृतवन्तस्तदाह-[तते णमित्यादि] सुबोधम [तस्स त्ति] स्थानस्यानन्तरोक्तस्थानस्य निदानरूपस्याऽऽलोचयन्ति। स्वमनीषिकापरिहाराय भगवान् भद्रबाहुस्वामी प्राऽऽह-[तेणं कालेणमित्यादि] राजगृहे गुणशिलालये समवसरणावसरे श्रमणा

ऽऽदिसुरान्तपरिषन्मध्यवर्ती, एवमाख्यातीति यथोक्तं कथयति, एव भाषते वाग्योगेन, एव प्रज्ञापयति अनुपालितस्य फलं प्रदर्शयति, एवं प्ररूपयति । किं तदित्याह-(आयातिट्ठाणे त्ति) आयतिर्नाम उत्तरकालस्तस्य स्थानं पदमित्यभिधानम् । हे आर्याः ! अध्ययन [सअट्ठमित्यादि] व्याख्यातार्थम् । इति ब्रवीमीति पूर्ववत् । दशा० १० अ० । (अध्यात्मस्य केवलं वस्तुस्वभावपरस्य निदानमपि अनिदानमेवेति प्रथमभागे २३६ पृष्ठे ' अज्झप्प ' शब्दे उक्तम्)

भिज्जा णिदाणकरणे मोक्खमग्गस्स पारिमंथू, सव्वत्थ भगवया अणिदाणया पसत्था ।

'भिज्ज त्ति' लोभ', तेन यन्निदानकरणं चक्रवर्तीन्द्राऽऽदिऋद्धिप्रार्थनं, तन्मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदिरूपस्य परिमन्थुरार्तध्यानरूपत्वात् । भिक्षाग्रहणाद्यत्पुनरलोभस्य भवनिर्वेदमार्गानुसारिताऽऽदिप्रार्थनं, तन्न मोक्षमार्गस्य परिमन्थुरिति दर्शितमिति । स्था० ६ ठा० । ननु तीर्थकरत्वाऽऽदिप्रार्थनं न राज्याऽऽदिप्रार्थनवद् दुष्टम्; अतस्तद्विषयं निदानं मोक्षस्य परिमन्थुर्न भविष्यति ?। नैवम् । यत आह-(सव्वत्थेत्यादि) सर्वत्र तीर्थकरत्वचरमदेहत्वाऽऽदिविषयेऽपि, आस्तां राज्याऽऽदौ, अनिदानता अप्रार्थनमेव, भगवता समग्रैश्वर्याऽऽदिमता श्रीमन्महावीरस्वामिना (पसत्थ त्ति) प्रशंसिता श्लाघिता । एष सूत्रार्थः ।(वृ०)

अथ निदानकरणमाह-

अनियाणं निव्वाणं, काऊणमुवट्ठितो भवे लहुओ ।
पावति धुवमायातिं, तम्हा अणियाणता सेया ॥२५७॥

अनिदानं निदानमन्तरेण साध्यं निर्वाणं भगवद्भिः प्रज्ञप्तं,ततो यो निदानं करोति, तस्य तत्कृत्वा पुनर्निदानकरणेनोपस्थितस्य लघुको मासः प्रायश्चित्तम् । अपि च-यो निदानं करोति, स यद्यपि तेनैव भवग्रहणेन सिद्धिं गन्तुकाम , तथापि ध्रुवमवश्यमायातिं पुनरेवाऽऽगमनं प्राप्नोति, तस्मादनिदानता श्रेयसी ।

इदमेव व्याचष्टे-

इहपरलोगनिमित्तं, अवि तित्थकरत्तचरिमदेहत्तं ।
सव्वत्थेसु भगवया, अणिदाणत्त पसत्थं तु ॥२५८॥

इहलोकनिमित्तमिहैव मनुष्यलोके-अस्य तपसः प्रभावेण चक्रवर्त्यादिभोगानहं प्राप्नुयामिहैव भाववितपुलान् भोगानास्वादयेयमितिरूप, परलोकनिमित्त मनुष्यापेक्षया देवभवाऽऽदिकः परलोक , तत्र महर्द्धिक इन्द्रसामानिकाऽऽदिरहं भूयासमित्यादिरूप,सर्वमपि निदानं प्रतिषिद्धम । किं बहुना ?, तीर्थकरत्वेन आर्हन्त्येन युक्तं चरमदेहत्वं मे भवान्तरे भूयादित्येतदपि नाऽऽशंसनीयम् । कुत ?, इत्याह-सर्वार्थेष्वप्यैहिकाऽऽमुष्मिकेषु प्रयोजनेषु अभिष्वङ्गविषयेषु भगवता अनिदानत्वमेव प्रशस्तं श्लाघितम्, तुशब्द एवकारार्थः । स च यथास्थानं योजित । (वृ०)

आह-निदाने किमिति द्वितीयपदं नोक्तम् ?, उच्यते-नास्ति, कुतः ?, इति चेदत आह-

जा सालंवणसेवा, तं वीयपयं वयंति गीयत्था ।
आलंबणरहियं पुण, निसेवणं दप्पियं वेंति ॥२६६॥

या सालम्बनसेवा या ज्ञानाऽऽद्यालम्बनयुक्ता प्रतिसेवा, तां द्वितीयपदं गीतार्था वदन्ति, आलम्बनरहिता पुनर्निषेवणा प्रतिसेवा दर्पिका ब्रुवते-तच्चाऽऽलम्बनमनिदानकरणे किमपि तद्विद्यते-" सव्वत्थ अनियाणया भगवया पसत्था" इति वचनात् । अथ भोगार्थं विधीयमानं निदानं तीव्रविपाकं भवतीति कृत्वा मा क्रियतां, यत्पुनरमुना प्रणिधानेन निदानं करोति-माम ! मे राजाऽऽदिकुले उत्पन्नस्य भोगाभिष्वङ्गस्य प्रव्रज्या न भविष्यतीत्यतो दरिद्रकुलेऽहमुत्पद्येयम, तत्रोत्पन्नस्य भोगाभिष्वङ्गो न भविष्यति, एव निदानकरणेऽदोषः ?।

सूरिराह-

एवं सुनीहरो मे, होहिति अप्प त्ति तं परिहरंति ।
हंदि हु णेच्छंति भवं, भवत्रोच्छित्तिं विमग्गंता ॥२६७॥

एवमवधारणे, किमवधारयति-दरिद्रकुले उत्पन्नस्य मे ममाऽऽत्मा असंयमात् सुनिर्हरः सुनिर्गमो भविष्यति -सुखेनैव संयममङ्गीकरिष्यामीत्यर्थः । इतीदृशमपि यन्निदानं, तदपि साधवः परिहरन्ते । कुत ?, इत्याह-' हंदीति ' नोदकाऽऽमन्त्रणे, हुरिति यस्मादर्थे । हे सौम्य! यस्मान्निदानकरणेन भवानां परिवृद्धिर्भवति, सर्वोऽपि च प्रव्रज्याप्रयत्नोऽस्माकं भवव्यवच्छित्तिं कर्तुमिति विविधैः प्रकारैर्मार्गयन्तः साधवो भवं नेच्छन्ति ।

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति-

जो रयणमणग्घेयं, विक्किज्जऽप्पेण तत्थ किं साहू ?।
दुग्गयभवमिच्छंते, एसो चिय होति दिट्ठंतो ॥२६८॥

योऽनर्घ्यमिन्द्रनीलमरकताऽऽदिकं रत्नमल्पेन स्वल्पमूल्येन काचाऽऽदिना विक्रीणीयात्तत्र किं साधु किं नाम ? शोभनम् ?,न किञ्चिदित्यर्थः । दुर्गतभवं दरिद्रकुलोत्पत्तिमिच्छत एष एव दृष्टान्त उपनेतव्यो भवति । तथाहि-अनर्घ्यरत्नस्थानीयं चारित्रं, निरुपमानन्ताऽऽनन्दमयमोक्षफलसाधकत्वात्, काचशकलस्थानीयो दुर्गतभव ,तुच्छत्वात्,ततो यश्चारित्रविक्रयेण तत्प्रार्थनं करोति, स मन्दभाग्योऽनर्घ्यरत्नं विक्रीय काचशकलं गृह्णातीति मन्तव्यम् ।

अपि च-

संगं अणिच्छमाणो, इह परलोए य मुच्चति अवस्सं ।
एसेव तस्स संगो, आसंसति तुच्छयं जं तू ॥२६९॥

इहलोकविषयं परलोकविषयं च सङ्गं मुक्तिपदप्रतिपक्षभूतम् अभिष्वङ्गमनिच्छन्नवश्यं मुच्यते कर्मविमुक्तो भवति, कः पुनस्तस्य सङ्गः ?, इत्याह-एष एव तस्य सङ्गो यन्मोक्षाऽऽख्यविपुलफलदायिनः तपसः तुच्छकं फलमाशास्ते प्रार्थयति ।

तद्रूपोऽपि निदानस्यैव पर्यायकथनद्वारेण दोषमाह-

बंधो त्ति णियाणं ति य, आससजोगो य होंति एगट्ठा ।
ते पुण ण बोहिहेऊ, बंधावचया भवे बोही ॥२७०॥

बन्ध इति वा, निदानमिति वा, आशंसायोग इति वा एकार्थानि पदानि भवन्ति । ते पुनर्बन्धाऽऽदयो न बोधिहेतवो न ज्ञानाऽऽद्यवाप्तिकारणं भवन्ति, किं तु ये बन्धापचया , कारणे कार्योपचारात्कर्मबन्धस्यापचयहेतवोऽनिदानताऽऽदय , तेभ्यो बोधिर्भवति ।

आह-यदि नाम साधवो भवं नेच्छन्ति, ततः कथं देवलोकेषूत्पद्यन्ते इत्यर्थः ? । उच्यते-

नेच्छंति भवं समणा, सो पुण तेसिं भवे इमेहिं तु ।
पुव्वतवसंजमेहिं, कम्मं तं चावि संगेणं ॥२७१॥

श्रमणाः साधवो नेच्छन्त्येव भवं, परं स पुनर्भवो देवत्वरूपस्तेषाममीभिः कारणैर्भवेत् । तद्यथा-पूर्वं वीतरागापेक्षया प्राचीनावस्थाभावि यत्तपस्तेन सरागावस्थाभाविना तपसा साधवो देवलोकेषूत्पद्यन्ते इत्यर्थः । एवं पूर्वसंयमेन सरागेण सामायिकाऽऽदिचारित्रेण साधूनां देवत्वं भवति । कुत इत्याह-(कम्मि ति) पूर्वतपःसंयमावस्थायां हि देवगतिप्रभृतिकं कर्म बध्यते, ततो भवति देवेषूपपातः । एतदपि कर्म केन हेतुना बध्यते ?, इति चेदत आह-तदपि कर्म सङ्गेन सञ्ज्वलनक्रोधाऽऽदिरूपेण बध्यते । सू० ६ उ० ।

कित्तियवंदियमहिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्गबोहिलाहं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥

उत्तमं सर्वोत्कृष्टं, ददतु प्रयच्छन्तु । आह-किमिदं निदानम्, उत नेति ? । यदि निदानम्, अलमनेन, सूत्रप्रतिषिद्धत्वात् । न चेत्, सार्थकमनर्थकं वा ? । यद्याद्यः पक्षः, तेषां रागाऽऽदिमत्त्वप्रसङ्गः, प्रार्थनाप्रवीणे प्राणिनि तथाऽऽदानात् । अथ चरमः, तत आरोग्याऽऽदिदानाविकला एते इति जानानस्यापि प्रार्थनाया मृषावादप्रसङ्ग इति ? । अत्रोच्यते-न निदानमेतत्, तल्लक्षणायोगात्, द्वेषाभिष्वङ्गमोहगर्भं हि तत्, तथा तन्त्रप्रसिद्धत्वात् धर्माय हीनकुलाऽऽदिप्रार्थनं मोहः, अतद्धेतुकत्वात्, ऋद्ध्याभिष्वङ्गतो धर्मप्रार्थनाऽपि मोहः, अतद्धेतुकत्वादेव । तीर्थकरत्वेऽप्येतदेवमेव प्रतिषिद्धमिति । अत एवेच्छाविबाधकृदेतत्, तथेच्छाया एव तद्विघ्नभूतत्वात्, तत्प्रधानतयेतरत्रोपसर्जनबुद्धिभावात् अतत्त्वदर्शनमेतत्, महदपायसाधनम्, अविशेषज्ञता हि गर्हिता-पृथग्जनानामपि सिद्धमेतत्, योगिबुद्धिगम्योऽयं व्यवहारः, सार्थकानर्थकचिन्तायां भाज्यमेतत्, चतुर्थभाषारूपत्वात् । तदुक्तम्-

"भासा असच्चमोसा, णवरं भत्तीएँ भासिया एसा ।
ण हु खीणपेज्जदोसा, देंति समाहिं च बोहिं च ॥ १ ॥
तप्पत्थणाएँ तह विय, ण मुसावाओ वि एत्थ विण्णेओ ।
तप्पणिहाणाओ च्चिय, तग्गुणओ हवि फलभावा ॥ २ ॥
चिंतामणिरयणादिहिं, जहा उ भव्वा समीहियं वत्थुं ।
पावंति तह जिणेहिं, तेसिं रागाइभावे वि ॥ ३ ॥
वत्थुसहाओ एसो, अउव्वचिंतामणी महाभागो ।
थोऊण तित्थयरे, पाविज्जइ बोहिलाभो त्ति ॥ ४ ॥
भत्तीएँ जिणवराणं, खिज्जती पुव्वसंचिया कम्मा ।
गुणपगरिसबहुमाणो, कम्मवणदवाणलो जेण ॥ ५ ॥"

एतदुक्तं भवति-यद्यपि ते भगवन्तो वीतरागत्वादारोग्याऽऽदि न प्रयच्छन्ति, तथाऽप्येवंविधवाक्यप्रयोगतः प्रवचनाऽऽराधनतया सन्मार्गवर्तिनो महासत्त्वस्य तत्सत्तानिबन्धनमेव तदुपजायत इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ ल० ।

भत्तीएँ जिणवराणं, खिज्जंती पुव्वसंचिआ कम्मा ।
आरियणमुक्कारेणं, विज्जा मंता य सिज्झंति ॥५९॥

भक्त्याऽन्तःकरणाऽऽदिप्रणिधानलक्षणया, जिनवराणां तीर्थकराणां, सन्निधान्या हेतुभूतया, किम् ?, क्षीयन्ते क्षयं प्रतिपद्यन्ते, पूर्वसञ्चितानि अनेकभवोपात्तानि, कर्माणि ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनि, इत्थं स्वभावत्वादेव तद्भक्तेरिति । अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह । तथाहि-आचार्यनमस्कारेण विद्या, मन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति, तद्भक्तिमतः सत्त्वस्य शुभपरिणामत्वात् तत्सिद्धिप्रतिबन्धककर्मक्षयादिति भावना । अथ गाथाऽर्थः ॥ ५९ ॥

अतः साध्वी तद्भक्तिर्वस्तुतोऽभिलषितार्थप्रसाधकत्वादारोग्यबोधिलाभाऽऽदेरपि तन्निर्वर्त्यत्वात्तथा चाऽऽह-

भत्तीएँ जिणवराणं, परमाए खीणपेज्जदोसाणं ।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिमरणं च पावंति ॥ ६० ॥

भक्त्या जिनवराणां, किंविशिष्टया ?, परमया प्रधानया, भावभक्त्येत्यर्थः । क्षीणप्रेमद्वेषाणां जिनानां, किम् ?, आरोग्यबोधिलाभं समाधिमरणं च प्राप्नुवन्ति प्राणिन इति । इयमत्र भावना-जिनभक्त्या कर्मक्षयः, ततः सकलकल्याणावाप्तिरित्याह-समाधिमरणं च प्राप्नुवन्तीत्येतदारोग्यबोधिलाभस्य हेतुत्वेन द्रष्टव्यम्, समाधिमरणप्राप्तौ नियमत एव तत्प्राप्तेरिति गाथाऽर्थः ॥ ६० ॥

साम्प्रतं बोधिलाभप्राप्तावपि, जिनभक्तिमात्रादेव पुनर्बोधिलाभो भविष्यत्येव किमनेन वर्तमानकालदुष्करेणानुष्ठानेन ?, इत्येवंवादिनमनुष्ठानप्रमादिनं सत्त्वमधिकृत्यौपदेशिकमिदं गाथाद्वयमाह-

.. .. ।
.... ॥६१॥

लद्धिल्लिअं च बोहिं, अकरिंतोऽणागयं च पत्थंतो ।
अन्नंदाइं बोहिं, लब्भिहिसि कयरेण मुल्लेण ? ॥ ६२ ॥

(लद्धिल्लिय च त्ति) लब्धां च प्राप्तां च वर्तमानकालिकां बोधिं जिनधर्मप्राप्तिमकुर्वन्निति कर्मपराधीनतया सदनुष्ठानेन सफलामकुर्वन्, अनागतां चाऽऽगत्वामन्यां च प्रार्थयन् किं करिष्यसि ?, यथा-त्वं हे विह्वल ! जडप्रकृते ! इमं चान्यां च बोधिमधिकृत्य किं "चुक्किहिसि" इति देशीवचनतो भ्रश्यसि, न भविष्यसीत्यर्थः । तथा लब्धां च बोधिमकुर्वन्ननागतां च प्रार्थयन् (अन्नदाइ ति) निपातः, असूयायाम्, अन्ये तु व्याचक्षते-अन्यामिदानीं बोधिं, किं लप्स्यसे कतरेण मूल्येन ?। इयमत्र भावना-बोधिलाभे सति तपःसंयमानुष्ठानपरस्य प्रेत्य वासनावशात्तत्प्रवृत्तिरेव बोधिलाभोऽभिधीयते, तदनुष्ठानरहितस्य पुनर्वासनाऽभावात् कथं तत्प्रवृत्तिरिति बोधिलाभानुपपत्तिः ?। स्यादेतत्, एवं सत्याद्यस्य बोधिलाभस्यासम्भव एव उपन्यस्तवासनाऽभावात्, अनादिसंसारे राधावेधोपमानेनानाभोगत एव कथञ्चित्कर्मक्षयतस्तदवाप्तिरिति । एतदावेदितमेवोपोद्घात इत्यलं विस्तरेणेति गाथाद्वयार्थः ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

तस्मात्सति बोधिलाभे तपःसंयमानुष्ठानपरेण भवितव्यं, न यत्किञ्चिच्चैत्याद्यालम्बनं चेतस्याधाय प्रमादिना भवितव्यमिति, तपःसंयमोद्यमवतश्चैत्याऽऽदिषु कृत्याविराधकत्वात् । तथा चाऽऽह-

चेइयकुलगणसंघे, आयरियाणं च पवयणे सुए अ ।
सव्वेसु वि तेण कयं, तवसंजममुज्जमंतेणं ॥ ६३ ॥

चैत्यकुलगणसङ्घेषु, तथा आचार्याणां च, तथा प्रवचनश्रुतयोश्च, किम् ?, सर्वेष्वपि तेन कृतं, कृत्यमिति गम्यते । केन ?, तपःसंयमोद्यमवता साधुनेति । तत्र चैत्यान्यर्हत्प्रतिमालक्षणानि, कुलं विद्याधराऽऽदि, गणः कुलसमुदायः, सङ्घः समस्त एव साध्वादिसङ्घातः । आचार्याः प्रतीताः, चशब्दादुपाध्यायाऽऽदिपरिग्रहः । भेदाभिधानं च प्राधान्यख्यापनार्थम् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । प्रवचनं द्वादशाङ्गमपि सूत्रार्थतदुभयरूपं, श्रुतं सूत्रमेव । चशब्दः स्वगता-

ऽनेकजनेदृमदर्शनार्थं । एतेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु तेन कृतं कृत्यम्, य. तप-संयमोद्यमवान् वर्त्तते। इयमत्र भावना-अयं हि नियमाद् ज्ञानदर्शनसपन्नो भवरूपमेव च गुरुसाधर्मिकोऽपि चैत्याऽऽदिकृत्येषु सम्यक् प्रवर्त्तते। यथैहिकाऽऽमुष्मिकगुणवृद्धिर्भवति, विपरीतस्तु कृत्येऽपि प्रवर्त्तमानोऽप्यविवेकादकृत्यमेव संपादयत्यत्र बहु वक्तव्यमिति गाथार्थः ॥६३॥ आव० २ अ०। पं०सू० । (प्रणिधानलक्षण 'पणिहाण' शब्दे वक्ष्यते) ("जय वीयराय जगगुरु, होउ मम तुह पभावओ भयवं ॥ भवणिव्वेओ मग्गाणुसारिया इट्ठफलसिद्धी ॥३३॥" इति प्रणिधानसूत्र "चेइयवंदण" शब्दे तृतीयभागे १३२० पृष्ठे उक्तम्) ("एतो च्चिय ण णियाण, पणिहाण बोहिपत्थणासरिसं । सुहभावहेउभावा, णेय इहराऽपवित्ती उ" ॥ ३० ॥ इत्यपि तत्रैव १३२१ पृष्ठे व्याख्यातम्)

यदुक्तं प्रणिधानं निदानं न भवतीत्यस्यार्थस्य साधकं प्रमाणं दर्शयन्नाह-

मोक्खंगपत्थणा इय, ण णियाणं तदुचियस्स विण्णेयं ।
सुत्ताणुमइत्तो जह, बोहीए पत्थणा माणं ॥ ३६ ॥

मोक्षाङ्गानां निर्वृतिकारणानां प्रार्थना आशंसा । अथवा-मोक्षाङ्ग चासौ प्रार्थना चेति मोक्षाङ्गप्रार्थना। इति एवा " जय वीयराय (३३)" इत्याद्यनन्तरोक्तप्रकारा, अनेन च तीर्थकरत्वं मे भूयादित्यादिकाया रागाऽऽकुलमानसकृताया प्रार्थनाभूताया व्युदासः । 'न' नैव, निदानमार्त्तध्यानविशेषो भवतीति, विज्ञेयं ज्ञातव्यमिति प्रतिज्ञा । कुतः ?, इत्याह-तदुचितस्य प्रणिधानोचितस्य, प्रमत्तसंयतान्तस्य गुणस्थानिन इत्यर्थः । सूत्रानुमतित आगमानुज्ञातत्वात् । अप्रमत्तसंयताऽऽदेर्हि तत्सूत्रं नानुमन्यते, तस्यानभिष्वङ्गत्वाद्, तदन्यस्य त्वनुमन्यते, साऽभिष्वङ्गत्वाद्, विशिष्टप्रणिधानस्य निरभिष्वङ्गताहेतुत्वादिति । अनेन च हेतुरुक्तः । यथेति दृष्टान्तसूचनार्थः । बोधेर्बोधिलाभस्य, प्रार्थनाऽऽशंसेति, मानं प्रमाणम् । इदमनुमानलक्षणं प्रणिधानस्य निदानत्वाभावसाधकत्वमिति । प्रयोगश्चास्यैवम्-यत् सूत्रानुमतं मोक्षाङ्गप्रार्थनं, तन्निदानं न भवति, यथा बोधिप्रार्थनम्, सूत्रानुमतं चेदमधिकृतं मोक्षाङ्गप्रार्थनमिति गाथाऽर्थः ॥ ३६ ॥

नन्वमोक्षाङ्गाना प्रार्थनं निदानं, तीर्थकरत्वं तु मोक्षाङ्गम्, अतस्तस्यापि प्रार्थनाप्रतिषेधो यो दशाश्रुतस्कन्धेऽभिहितो नासौ युक्तः ?, इत्याशङ्कयाऽऽह-

एवं च दसाऽऽईसुं, तित्थयरम्मि वि णियाणपडिसेहो ।
जुत्तो भवपडिबद्धं, साभिस्संगं तयं जेण ॥ ३७ ॥

एवं चानेन च पूर्वोक्तेन प्रकारेण मोक्षाङ्गप्रार्थनाया एवानिदानताप्रतिपादनलक्षणेन, दशाऽऽदिषु दशाश्रुतस्कन्धप्रभृतिषु +, आदिशब्दाद् ध्यानशतकाऽऽदिपरिग्रहः *। तीर्थकरेऽपि भवभयभीतजननिर्वाणनगरगमनसार्थवाहकल्पे जिनेऽपि विषये, आस्तां संसाराऽऽवर्त्तपातनिमित्तनृपतित्वाऽऽदौ । निदानस्य "अमुतो धर्मात्तीर्थकरो भूयासम्" इत्येव प्रार्थनस्य प्रतिषेधो विधेयतया निषेधो निदानप्रतिषेधः । किमित्याह-युक्तः सङ्गतो वर्त्तते। केन कारणेनेत्याह-भवप्रतिबद्धं संसारानुबन्धम्, येन यस्मात्कारणात् । [तय ति] तकं तीर्थकरत्वप्रार्थनं भवप्रतिबद्धमेव । कुत ?, इत्याह-यतः साभिष्वङ्गं रागोपेतम् । यतस्तीर्थकरसत्कस्यामरवरनिर्मितसमवसरणकनककमलप्रमुखविभवस्य दर्शनात् श्रवणाद्वा सञ्जाततदभिलाषः कोऽपि विकल्पं करोति, यथाऽमुतोऽप्यहं तीर्थकरो भूयासमिति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

एतस्यैव साभिष्वङ्गताविपर्यये दोषाभावमाह-

जं पुण णिरभिस्संगं, धम्मा एसो अणेगसत्तहिओ ।
णिरुवमसुहसंजणओ, अपुव्वचिंतामणीकप्पो ॥ ३८ ॥
ता एयाणुट्ठाणं, हियमणुवहयं पहाणभावस्स ।
तम्मि पवित्तिसरूवं, अत्थापत्तीएँ तमदुट्ठं ॥ ३९ ॥ (युग्मम्)

[ज पुण त्ति] साभिष्वङ्गं तावत् दुष्टमेव, यत्पुनस्तीर्थकरत्वप्रार्थनं निरभिष्वङ्गं रागाभावेन विहितं, तत् अदुष्टमिति सम्बन्धः । निरभिष्वङ्गतामेव दर्शयन्नाऽऽह-धर्मात् कुशलानुष्ठानरूपादहिंसाऽऽदेः सकाशाद्धर्माय वा भव्यानाम्, एष तीर्थकरो भवतीति गम्यम् । किम्भूतः ?, अनेकसत्त्वहितः निखिलजगज्जन्तुजातपरमबान्धवः । कथम् ?, यतो निरुपमसुखसञ्जनकः अनुपमाऽऽनन्दसम्पादको, निर्वाणहेतुत्वात् । अत एवापूर्वचिन्तामणिकल्पः चिन्तातिक्रान्तसुखविधायित्वादिति । [ता इति] यस्मादनेकसत्त्वहितत्वाऽऽदिविशेषणस्तीर्थकरस्तस्माद्, एतस्य तीर्थकरस्यानुष्ठानं सद्धर्मदेशनाऽऽदिकमेतदनुष्ठानम् । किमित्याह-हितं पथ्यम्, इष्टार्थसाधकत्वात् । किम्भूतम् ?, अनुपहतमप्रतिघातम् । इह स्थाने इति शब्दो द्रष्टव्यः । ततश्च इति प्रधानभावस्य प्रशस्यभूतप्रवराध्यवसायस्य देहिनः, किम्भूतं तीर्थकरत्वप्रार्थनमित्याह-तस्मिन् धर्मदेशनाऽऽदिजिनानुष्ठाने, प्रवृत्तिस्वरूपं प्रवर्त्तनस्वभावम् । ननु तीर्थकरोऽहं भवेयमित्येतस्य प्रार्थनस्य तीर्थकरत्वप्राप्तिफलत्वात् कथमिदं धर्मदेशनाप्रवर्त्तनस्वभावम् ?, इत्यत आह-अर्थापत्त्या न्यायतः । यद्यपि तत्प्रार्थनं साक्षात्तीर्थकरत्वसूचकं, तथाऽप्यर्थापत्त्या धर्मदेशनाऽऽदावेव वर्त्तते, तीर्थकरत्वप्रार्थनाद्वारेण धर्मदेशनाऽऽदिजिनानुष्ठानस्यैव हिताऽऽदिविशेषणस्य प्रार्थितत्वादिति तीर्थकरत्वप्रार्थनमदुष्टं, न दूषणवदिति गाथाद्वयार्थः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ पञ्चा० ४ विव० ।

(" जाईपराइओ खलु, कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि ।
चुलणीएँ बंभदत्तो, उववन्नो नलिणगुम्माओ ॥१॥" (उत्त० १३ अ०) इति निदानकरणे ब्रह्मदत्तोदाहरणं 'बंभदत्त' शब्दे वक्ष्यते) (द्रौपद्याः पूर्वभवे निदानकरणं 'दुवई' शब्देऽग्रे वक्ष्यते) स्वर्गावाप्त्यादिलक्षणेऽर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । आकाङ्क्षायाम्, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । कारणे, वृ० १ उ० । विशे० । सूत्र० । उत्थानकारणे, वृ० १ उ० । उत्पादने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

णियाणंझाण-निदानध्यान-न० । प्राकृतत्वादनुस्वारः । नन्दिषेणगङ्गदत्तसम्भूतद्रौपद्यादीनामिव स्वर्गमर्त्याऽऽदिऋद्धिप्रार्थनध्याने, आतु० ।

णियाणकरण-निदानकरण-न० । चक्रवर्तीन्द्राऽऽदिप्रार्थने, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

णियाणकारि (ण्)-निदानकारिन्-त्रि० । निदानकरणशीले, "नियाणकारी सग तु कुरुते उड्ढदेहिय ।" स्था० ६ ठा० ।

णियाणमयग-निदानमृतक-पुं० । निदानं कृत्वा बालतपश्चरणाऽऽदिमत्त्वेन मृतेषु, औ० ।

णियाणमरण-निदानमरण-न० । मरणभेदे, स्था० ६ ठा० ।
(व्याख्याऽस्य ' मरण ' शब्दे वक्ष्यते)

+ २१०४पृष्ठेऽत्र स विषय उक्तः । *आवश्यकसूत्रस्य ध्यानशतकम् ।

णियाणसल्ल–निदानशल्य–न०। निदानं देवाऽऽदिऋद्धीनां द-र्शनश्रवणाभ्यामितो ब्रह्मचर्याऽऽदेरनुष्ठानान्ममैता भूयासुरित्य-ध्यवसाय, तदेव शल्यम्। स० ३ सम० । अधिकरणानु-मोदनान्निदानशल्यम्। शल्यभेदे, आव० ४ अ०। " दिव्वं वा माणुसं वा विभवं पासिऊण सोऊण वा निदाणस्स उप्पत्ती भवेज्जा, तेण किं भवति ?। उच्यते–" सणियाणस्स चरित्तं न वट्टति । कस्मात् ?, अधिकरणानुमोदनात्, तत्थोदाहरणं बम-दत्तो।" आ० चू० ४ अ०।

णियामित्ता–नियम्य–अव्य०। नियम्येत्यर्थे, (सूत्र०) "उव-सग्गा णियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वए।" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

णियावाइ(ण्)–नियतवादिन्–पुं०। नियतं नित्यं वस्तु वदति यः स तथा। एकान्तनित्यवादिन्यक्रियावादिनि,स्था०। नित्यो लोक', आविर्भावतिरोभावमात्रत्वात् उत्पादविनाशयो., तथाऽसतोऽ-नुत्पादाच्छशविषाणस्येव, सतश्चाविनाशात् घटवत्,न हि सर्व-था घटो विनष्ट.,कपालाऽऽद्यवस्थाभिः तस्य परिणतत्वात्,तासां चापारमार्थिकत्वाद्. मृत्सामान्यस्यैव पारमार्थिकत्वात्, तस्य चाविनष्टत्वादिति। अक्रियावादी चायम्,एकान्तनित्यस्य स्थिरै-करूपतया सकलक्रियाविलोपाभ्युपगमादिति ॥७॥ स्था०८ ठा०।

णियुद्ध–नियुद्ध–न०। मल्लयुद्धे, ज० २ वक्ष०।

णियोग–नियोग–पु०। नियतो निश्चितो वा योगः सम्बन्ध इति नियोग.। यथा घटशब्देन घटस्यैव प्रतिपादन,न पटाऽऽदेरिति। अनुयोगे, आ० म० १ अ० १ खण्ड। व्यापारे, उत्त० ३ अ०। सूत्र०। आ० म०। अवश्यतायाम्, पो० १ विव०। मोक्षमार्गे, सत्संयमे च। सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। (विशेष. 'णिओग' शब्दे-ऽस्मिन्नेव भागे २०१८ पृष्ठे गत)

णियोगपडिवन्न–नियोगप्रतिपन्न–त्रि०। नियोगो मोक्षमार्गं,स-त्संयमो वा,त सर्वाऽऽत्मना भावतः प्रतिपन्नो नियोगप्रतिपन्नः। मोक्षमार्गप्रतिपन्ने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०।

णियोचित–नियोजित–त्रि०। " चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥८।४।३२५॥ इति तृतीयस्याऽऽद्यम्। व्या-पारिते, प्रा० ४ पाद।

णियोजित–नियोजित–त्रि०। " नादियुज्योरन्येषाम् "॥८।४। ३२७॥ इति चूलिकापैशाचिकेऽन्येषामाचार्याणां मते तृतीयस्य प्रथमो न। व्यापारिते, प्रा० ४ पाद।

णिर–निर्–अव्य०। भृशार्थे, उत्त० १ अ०। निश्चये, आधिक्ये, उत्त० ६ अ०।

णिरइ–निर्ऋति–स्त्री०। राक्षसे, मूलाधिष्ठातृदेवतायाम्, " दो निरई।" स्था० २ ठा० ३ उ०। जं०।

णिरओवम–निरयोपम–त्रि०। नरकोपमे नरकतुल्ये, दश० १ चू०। प्रश्न०।

णिरंकुस–निरङ्कुश–त्रि०। गुर्वाज्ञाऽऽत्यतिचारिणि, ग० २ अधि०। बाधाशून्ये. अनिवार्ये च। वाच०।

णिरंगी–देशी–शिरोऽवगुण्ठने, दे० ना० ४ वर्ग ३१ गाथा।

णिरंजण–निरञ्जन–त्रि०। रञ्जन रागाऽऽद्युपरञ्जन, तेन शून्य-त्वात् (कल्प० ६ क्षण। ज्ञा०) रञ्जन रागाऽऽद्युपरञ्जनं, तस्मा-न्निर्गतः। स्था० १० ठा०। रागाऽऽदिमुक्ते, " संखो इव निरं-जणे।" स्था० १ ठा०।

णिरंतर–निरन्तर–त्रि०। निर्गतमन्तरात्, निर्गतमन्तरं वा यस्मा-त्। निबिडे, निरवधौ, निश्छिद्रे च। वाच०। सतते, नैरन्तर्ये, विशे०। रा०। अविश्रामे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। प्रज्ञा०। स्था०। " निरंतररायलक्खणविराइयगुवंगो।" नैरन्तर्येण राजलक्षणैश्चक्रस्वस्तिकाऽऽदिभिर्विराजितान्यङ्गानि शिरःप्रभृ-तीन्युपाङ्गानि चाङ्गुल्यादीनि यस्य स तथा। स्था०२ ठा०१ उ०।

णिरंतरिय–निरन्तरिक–त्रि०। निर्गताऽन्तरिका लघ्वन्तररूपा येषां ते निरन्तरिकाः। लघ्वन्तररहितेषु, रा०। " णिरंतरियघ-णकवाडा भित्ती।" रा०। निर्गताऽन्तरिका लघ्वन्तररूपा ययो-स्तौ निरन्तरिकौ, अत एव घनौ कपाटौ यस्य तन्निरन्तरिकघ-नकपाटम्। जी० ३ प्रति० ४ उ०। जं०।

णिरंबर–निरम्बर–पु०। निर्गतमम्बरं येभ्यस्ते निरम्बरा.। जि-नकल्पिकाऽऽदिषु, आ० म० १ अ० १ खण्ड।

णिरंस–निरंश–पु०। निरवयवे, विशे०।

णिरक्क–देशी–चोरे, स्थिते,पृष्ठे च। दे० ना० ४ वर्ग ५१ गाथा।

णिरग्गिसरण–निरग्निशरण–पुं०। निर्गतमग्नेः पावकाच्छरणं शीताऽऽदिपरित्राण यत्र। अथवा–निर्गते स्वीकाराभावादग्निग्र-हे वह्निभवने यस्यासौ निरग्निशरण.। पा०। अग्निशरणरहिते, " इमस्स धम्मस्स णिरग्गिसरणस्स सपक्खालियस्स।" ध० ३ अधि०।

णिरट्ठ–निरर्थ–त्रि०। निष्प्रयोजने, उत्त० १ अ०। " णिरट्ठसोवा परितावमेइ।" निरर्थ. शोको यस्याः सा निरर्थशोका। उत्त० २० अ०।

णिरट्ठग–निरर्थक–न०। अर्थ. प्रयोजनं, तदभावो निरर्थं, तदेव निरर्थकम्। प्रयोजनाऽभावे, " णिरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुओ।"(४२) उत्त० २ अ०।

णिरणुकंप–निरनुकम्प–त्रि०। दयांशवर्जिते, तं०। सूत्र०। नि-शूके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

निरनुकम्पमाह–

जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कढिणभावो ।
एसो उ णिरणुकंपो, अणु पच्छाभावजोएणं ॥

यस्तु पर कृपाऽऽस्पदं कुतश्चिद् भयात्कम्पमानमपि दृष्ट्वा कठि-नभाव सन् न कम्पते, एष निरनुकम्पः। कुतः ?, इत्याह–अनु-शब्देन पश्चाद्भाववाचकेन यो योग. सम्बन्धः,तेन। किमुक्तं भव-ति ?–अनु पश्चाद् दुःखितः सत्यकम्पनादनन्तर यत्कम्पन सा अनुकम्पा, निर्गता अनुकम्पा यस्मादिति निरनुकम्प उच्यते। बृ० १ उ०।

णिरणुतावि [ण्]–निरनुतापिन्–पुं०। अपश्चात्तापिनि, जी-त०। सेवितेऽप्यकृत्ये मनागपि न पश्चात्तापभाक्। प्रव० २७४ द्वार।

णिरणुबंधग–निरनुबन्धक–त्रि०। अनुबन्धरहिते, द्वा०२१ द्वा०।

णिरणुबंधदोस–निरनुबन्धदोष–पु०। क० स०। व्यवच्छिन्न-सन्ताने रागाऽऽदौ, षो० १२ विव०।

णिरति-निरति-स्त्री० । देवानन्दायाम, कल्प० ६ क्षण ।

णिरत्थ-निरस्त-त्रि० । निष्काशिते, स्था० ७ ठा० ।

णिरत्थग-निरर्थक-न० । सत्यार्थनिष्क्रान्ते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । वर्णक्रमसत्यार्थरहिते, उत्त० १८ अ० । निर्देशवति, आ० म०१ अ०२ खण्ड। यत्र वर्णानां क्रममात्र निर्देशमात्रमुपलभ्यते, न त्वर्थं । यथा-अआइई इत्यादि । विशे० । अनु० निष्प्रयोजने, द्वा० १६ द्वा० । यस्य वाऽवयवेष्वर्थो न विद्यते । यथा-डित्थः, कपित्थः, वाङ्गम. । वृ० १ उ० ।

णिरप्प-देशी-पृष्ठे, कर्प्रोष्टने च । दे० ना० ४ वर्ग ४६ गाथा ।

स्था-धा० । गतिनिवृत्तौ, " स्थष्ठा-थक्क-चिट्ठ-निरप्पा' " ॥८।४।१६॥ इति तिष्ठतेर्निरप्पाऽऽदेश. । 'निरप्पइ' । तिष्ठति । प्रा० ४ पाद ।

णिरभिग्गह-निरभिग्रह-त्रि० । निर्गता अभिग्रहा येभ्यस्ते निरभिग्रहाः । अभिग्रहरहितेषु केवलसम्यग्दर्शिषु, आव०६ अ० ।

णिरभिराम-निरभिराम-त्रि० । असमर्थीये, " पहसितपोहणकणिरभिरामे । " प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिरभिस्संग-निरभिष्वङ्ग-त्रि० । सङ्गरहितत्वे, पञ्चा० ६ विव० । सर्वाऽऽशंसाविप्रमुक्ते, पं०व०१ द्वार । मिथ्यादृष्टिव्यवहारेषु वाह्यद्रव्ये च निस्पृहे, पञ्चा० २ विव० ।

णिरय-निरय-पु० । निर्गतमविद्यमानमयमिष्टफल वेद्यं कर्म सातवेदनीयाऽऽदिरूप येभ्यस्ते निरया । कर्म० ५ कर्म० । स्था० । निर्गतमय शुभमस्मादिति निरय । स्था० ४ ठा० १ उ० । सीमन्तकाऽऽदिषु नरकेषु, कर्म०१ कर्म० । स्था० । प्रश्न० । आव० । (सर्वा वक्तव्यता 'णरग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १९०४ पृष्ठादारभ्य १९२५ पृष्ठपर्यन्त स्थिता) निर्गता अयाच्छुभादिति निरया । नारकेषु, स्था० १० ठा० । आचा० ।

निरत-त्रि० । सक्ते, दश० १० अ० । स० ।

णिरयगइ-निरयगति-स्त्री० । निरये नरके वा गतिर्निरयगति, निरयश्चासौ गतिश्चेति वा निरयगतिर्निरयप्रापिका वा गतिर्निरयगति । स्था० ५ ठा० ३ उ० । निर्गता अयाच्छुभादिति निरया नरका, ते गतिर्गम्यमानत्वाद्, निरयो नरकस्तद्गतिर्नामकर्मोदयसंपाद्यो नारकत्वलक्षण पर्यायविशेषो वेति निरयगति । गतिभेदे, स्था० १० ठा० ।

णिरयगोयर-निरयगोचर-पु० । अ० स० । नरकवर्तिनि जीवे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णिरयदंसि [न्]-निरयदर्शिन् निरय स्वरूपतो वेत्त्यनर्थपरित्यागरूपत्वाद् ज्ञानस्य,परिहरति च । समानमपि पश्यति, परिहरति च, निरयदर्शी । नरकनिदानवेत्तरि, " जे मारदंसी से णिरयदंसी, जे णिरयदंसी से तिरियदंसी । " आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

णिरयपत्थड-निरयप्रस्तट-पु० । नरकप्रस्तरे, प्रज्ञा०२ पद ।

णिरयपरिमामंत-निरयपरिमामन्त-पु० । नरकपारिपार्श्वे, भ० १३ श० ६ उ० । निरयवासानां पार्श्वे, भ० १३ श० ४ उ० ।

णिरयपाल-निरयपाल-पु० । नरकपालेषु परमाधार्मिकेषु, स्था० ४ ठा० १ उ० । (नरकपालकर्तव्य 'णरग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १९१२ पृष्ठे दर्शितम)

णिरयरोग-निरयरोग-पुं० । नरकरोगे, " पणकोडि अट्ठसट्ठी, लक्खा नवनवइसहस्सपचसया । चुलसीअहिया रोगा, छट्ठे तह सत्तमे नरए ॥१॥" इय गाथा क्वास्ति?,प्रथमाऽऽदिनरकेषु च कियन्तो रोगा भवन्तीति प्रश्ने,उत्तरम्-इय गाथैतत्पाठरूपा ग्रन्थे क्वाऽपि न स्मर्यते, एतद्गाथार्थरूपाऽनुवर्तते । यथा-" रोगाण कोडीओ,हवंति पचेव सक्ख अडसट्ठी । नवनवइसहस्साइं, पंचसया तह य चुलसीइ" ॥१॥ एते रोगा अप्रतिष्ठाने नरकावासे नित्याः,अन्यत्रापि च सभवन्ति यथायोगम् । ततश्च यस्मिन्नरकभये एतावन्तो रोगाः क्षयहेतवस्तस्मिन् धर्म एव सार इत्याद्यर्णाय' सर्वशक्त्येत्युपदेशरत्नाकरे पञ्चविंशत्यधिकैकशतपत्रमितपुस्तके एकाशीतितमपत्रे । २७ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

णिरयवास-निरयवास-पु० । नरकरूपे वासे, " णिरयवासगमणनिधणे । " निरयो नरक', स एव वासो निरयवासः,तत्र गमन तदेव निधन पर्यवसान यस्य स निरयवासगमननिधनस्तत्फल इत्यर्थ. । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

णिरयविग्गहगइ-निरयविग्रहगति-स्त्री० । निरयाणां नारकाणां विग्रहात् क्षेत्रविभागानतिक्रम्य गतिर्गमनं निरयविग्रहगति. । स्थितिनिवृत्तिलक्षणायामृजुवक्ररूपाया विहायोगतिकर्मापाद्यायां वा गतौ, स्था० १० ठा० ।

णिरयविभत्ति-निरयविभक्ति-स्त्री० । नरकप्रविभागे, तदर्थके सूत्रकृताध्ययने च, प्रश्न०२ आश्र० द्वार ।

णिरयवेयणिज्ज-निरयवेदनीय-न० । निरये वेद्यतेऽनुभूयते यन्निरययोग्य वा यद् वेदनीयमत्यन्ताशुभनामकर्माऽऽदि,असातवेदनीय वा । नरकगतिनामकर्मणि, "णरइए णिरयवेयणिज्जंसि कम्मंसि ।" स्था० ४ ठा० १ उ० ।

णिरयावलिया-निरयावलिका-स्त्री० । आवलिकाप्रविष्टनरकेषु, "णिरयावलियासु निरयपत्थडेसु ।" प्रज्ञा० २ पद । ब०व० । यत्राऽऽवलिकाप्रविष्टा इतरे च नरकाऽऽवासा प्रसङ्गतस्तद्गामिनश्च नरास्तिर्यञ्चो वा वर्ण्यन्ते, ता निरयावलिका', एकस्मिन्नपि ग्रन्थे वाच्ये बहुवचन शब्दशक्तिस्वाभाव्याद्, यथा पञ्चाला इत्यादि । न० । पा० । अन्तकृद्दशाङ्गाऽऽदीनां दृष्टिवादपर्यन्ताना पञ्चानामुपाङ्गानामुपाङ्गरूपे कल्पिकाऽऽदिपञ्चवर्गाऽऽत्मकश्रुतस्कन्धे,तत्र पञ्च वर्गा पञ्चानामुपाङ्गानि । तथाहि-अन्तकृद्दशाङ्गस्य कल्पिका १, अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गस्य कल्पावतंसिका २, प्रश्नव्याकरणस्य पुष्पिका ३, विपाकश्रुतस्य पुष्पचूलिका ४, दृष्टिवादस्य वृष्णिदशा ५ । जं० १ वक्ष० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था । रिद्धगुणसिलए चेइए । वण्णओ । असोगवरपायवे पुढविसिलापट्टए । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्जसुहम्मे नामं अणगारे जातिसंपन्ने जहा केसी०जाव पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जेणेव रायगिहे नगरे०जाव अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं०जाव विहरति । परिसा निग्गया । धम्मो कहिओ । परिसा पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स अंतेवासी जंबूणामं अणगारे समचउरंससंठाणसंठिए०जाव संखित्तविपुलतेयलेस्से अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स अदूरसामंते उड्ढं जाणू० जाव विहरति । तए णं से भगवं जंबू०

जाव सद्धे० जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी–उवंगाणं भंते ! समणेणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?। एवं खलु जंबू ! समणेणं जगवया० जाव संपत्तेणं एवं उवंगाणं पंच वग्गा पण्णत्ता । तं जहा–निरयावलियाओ, कप्पवडिंसियाओ, पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ, वण्हिदसाओ । जइ णं भंते ! समणेणं० जाव संपत्तेणं उवंगाणं पंच वग्गा पण्णत्ता । तं जहा–निरयावलियाओ० जाव वण्हिदसाओ । पढमस्स णं भंते ! वग्गस्स उवंगाणं निरयावलियाणं समणेणं भगवया० जाव संपत्तेणं कइ अज्झयणा पन्नत्ता ?। एवं खलु जंबू ! समणेणं० उवंगाणं पढमस्स वग्गस्स निरयावलियाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा–
"काले सुकाले महकाले, कण्हे सुकण्हे तह महाकण्हे । वीरकण्हे बोधव्वे, रामकण्हे तहेव अट्ठमए । पिउसेणकण्हे नवमे, दसमे महसेणकण्हे उ ॥"

भगवता उपाङ्गाना पञ्च वर्गाः प्रज्ञप्ता. । वर्गोऽध्ययनसमुदाय । तद्यथेत्यादिना पञ्च वर्गान् दर्शयति–(निरयावलियाओ कप्पवडिंसयाओ पुप्फियाओ पुप्फचूलियाओ वण्हिदसाओ त्ति) प्रथमवर्गो दशाऽध्ययनाऽऽत्मक. प्रज्ञप्त' । अध्ययनदशकमेवाऽऽह–"काले सुकाले" इत्यादीना मातृनामभिस्तदपत्याना पुत्राणां नामानि । यथा–काल्या अयमिति काल कुमारः । एव सुकाल्या., महाकाल्या , कृष्णाया , सुकृष्णायाः, महाकृष्णाया', वीरकृष्णायाः, रामकृष्णाया., पितृसेनकृष्णाया महासेनकृष्णाया अयमित्येव पुत्रनाम वाच्यम् । इह काल्या अपत्यमित्याद्यर्थे. प्रत्ययेनोत्पाद्यः काल्यादिशब्देभ्योऽपत्येऽर्थे एयत्प्रत्यय. । कालस्तु कालाऽऽदिनाम्ना सिद्धैरेव वाच्य. । काल' १, तदनु सुकाल २, महाकाल. ३, कृष्ण ४, सुकृष्ण ५, महाकृष्ण. ६, वीरकृष्ण. ७, रामकृष्ण. ८, पितृसेनकृष्णः ९, महासेनकृष्णः १० दशम' । इत्येव दशाध्ययनानि निरयावलिकानामके प्रथमे वर्गे इति । नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । (निरयावलिकाद्वितीयवर्गवक्तव्यता 'कप्पवडिंसया' शब्दे तृतीयभागे २३५ पृष्ठे गता)

तच्चस्स णं भंते ! वग्गस्स उवंगाणं पुप्फियाणं के अट्ठे पण्णत्ते ?। एवं खलु जंबू ! समणेणं० जाव संपत्तेणं पुप्फियाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा–"चंदे सूरे सुक्के, बहुपुत्तिय पुन्नभद्दे माणिभद्दे य । दत्ते सिवे बलिपाए, अणाढिए चेव बोधव्वा ॥१॥" नि०१ श्रु०३ वर्ग १ अ० ।

जइ णं भंते ! समणेणं जगवया उक्खेवओ० जाव दस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा–"सिरि हिरि धिति कित्ती, बुद्धी लच्छी य होइ बोधव्वा । इलदेवी सुरदेवी, रसदेवी गंधदेवी य ॥१॥"

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया० जाव संपत्तेणं उवंगाणं चउत्थस्स वग्गस्स पुप्फचूलाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता ।

पंचमस्स णं भंते ! वग्गस्स उवंगाणं वण्हिदसाणं समणेणं जगवया० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?। एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया० जाव दुवालस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा–"निसढे अणि दह वहे, पगती जुत्ति दसरहे दढरहे य । महाधणू सत्तधणू, दसधणू नाम सए ॥१॥" नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० ।

एवं खलु जंबू ! समणेणं जगवया महा०जाव निक्खेवओ । एवं सेसा वि एक्कारस अज्झयणा नेयव्वा, संगहणीअणुसारेण अहीणमइरित्तं एक्कारससु वि निरयावलियासुयक्खंधो सम्मत्तो, सम्मत्ताणि उवंगाणि, निरयावलियाउवंगे णं एगो सुयक्खंधो, पंच वग्गा पंचसु दिवसेसु उद्दिस्संति । तत्थ चउसु वग्गेसु दस दस उद्देसगा, पंचमगे बारस उद्देसगा निरयावलियासुयक्खंधो सम्मत्तो । नि०१ श्रु० ५ वर्ग १२ अ० ।

इह ग्रन्थे प्रथमवर्गो दशाऽध्ययनाऽऽत्मको निरयावलिकानामक । द्वितीयवर्गो दशाध्ययनात्मकः, तत्र च कल्पावतंसिका इत्याख्या अध्ययनानाम् । तृतीयवर्गोऽपि दशाध्ययनाऽऽत्मक', पुष्पिकाशब्दाभिधेयानि च तान्यध्ययनानि । तत्राऽऽद्ये चन्द्रज्योतिष्केन्द्रवक्तव्यता । द्वितीयाध्ययने सूर्यवक्तव्यता । तृतीये शुक्रमहाग्रहवक्तव्यता । चतुर्थाध्ययने बहुपुत्रिकादेवीवक्तव्यता । पञ्चमेऽध्ययने पूर्णभद्रदेववक्तव्यता । षष्ठे माणिभद्रदेववक्तव्यता । सप्तमे प्राग्भविकचन्द्नागतगड्डदत्तनामकदेवस्य द्विसागरोपमस्थितिकस्य वक्तव्यता । अष्टमाध्ययने शिवगृहपतिमिथिलावास्तव्यस्य देवत्वेनोत्पन्नस्य द्विसागरोपमस्थितिकस्य वक्तव्यता । नवमे च हस्तिनापुरवास्तव्यस्य द्विसागरोपमाऽऽयुष्कतयोत्पन्नस्य देवस्य ······' नामकस्य वक्तव्यता । दशमाऽध्ययने 'अणाढिय' गृहपतेः काकन्दीनगरीवास्तव्यस्य द्विसागरोपमाऽऽयुष्कतयोत्पन्नस्य देवस्य वक्तव्यता । इति तृतीयवर्गे अध्ययनानि । चतुर्थो वर्गोऽपि दशाध्ययनात्मक , श्री–ह्री–धृति–कीर्ति–बुद्धि–लक्ष्मी–इलादेवी–सुरादेवी–रसादेवी–गन्धदेवीतिवक्तव्यताप्रतिबद्धाध्ययनाऽऽत्मक । तत्र श्रीदेवी सौधर्मकल्पोत्पन्ना जगवतो–महावीरस्य नाट्यविधिदारकाविकुर्वणया प्रदर्श्य स्वस्थान जगाम, प्राग्भवे राजगृहे सुदर्शनगृहपतेः प्रियभार्याया अङ्गजा भूया नाऽन्यऽभवद, न केनापि परिणीता, पतितस्तनी जाता, वरकपरिवर्जिता वरयितृप्रत्वेदिता भग्नोऽपरिणीताऽभूत । सुगमं सर्वं यावच्चतुर्थवर्ग' समाप्त । पञ्चमे वर्गे वह्निदशाभिधानद्वादशाध्ययनानि प्रज्ञप्तानि–" निसढे " इत्यादीनि । प्रायः सर्वोऽपि सुगम. पञ्चमवर्ग. । नि० १ श्रु० ३ वर्ग ।

णिरयावास–निरयावास–पुं० । आवसन्ति येषु, ते आवासाः, निरयाश्च ते आवासाश्च निरयाऽऽवासाः । नरकाऽऽवासेषु रत्नप्रभाऽऽदिषु । भ० ।

नरकाऽऽवाससंख्या–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए कइ निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तीसं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । गाहा–* "तीसा य पण्णवीसा, पन्नरस दसेव

---

* प्रथमपृथ्व्या ३० लक्षनरकावासा. । द्वितीये २५ लक्षमिता । तृतीये १५ लक्षमिता । चतुर्थे १० लक्षमिताः । पञ्चमे ३ लक्षमिता । षष्ठके पञ्चोना एकलक्षमिताः । सप्तमे ५ पञ्च । इति गाथार्थ ॥१७२॥ सग्रहणी ।

य सयसहस्सा । तिण्णेगं पंचूणं, पंचेव अणुत्तरा णिरया ॥ १७२ ॥ " ज० १ श० ४ उ० ।

(इयं गाथा 'ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०२ पृष्ठे वर्णिता)

दोचाए णं पुढवीए पणवीसं णिरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता । स० २५ सम० ।

रयणप्पभाए णं पुढवीए तीसं णिरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता । स० ३० सम० ।

पढमपंचमछट्ठिसत्तमासु चउसु पुढवीसु चोत्तीसं णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० ३४ सम० ।

बितियचउत्थीसु दोसु पुढवीसु पणतीसं णिरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता । स० ३५ सम० ।

चउसु पुढवीसु एकचत्तालीसं णिरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता । तं जहा–रयणप्पभाए,पंकप्पभाए,तमाए,तमतमाए।

(चउसु इत्यादि) क्रमेण सूत्रोक्तासु चतसृषु प्रथमचतुर्थषष्ठसप्तमीषु पृथिवीषु त्रिंशतो दशानां च नरकलक्षणानां पञ्चोनस्य चैकस्य पञ्चानां च नरकाणां भावाद्यथोक्तसंख्या इते भवन्तीति । स० ४० सम० ।

पढमचउत्थपंचमासु पुढवीसु तेयालीसं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० ४३ सम० ।

पढमबिइयासु दोसु पुढवीसु पणपन्नं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० ५५ सम० ।

पढमदोच्चपंचमासु तिसु पुढवीसु अट्ठावन्नं निरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता । स० ५७ सम० ।

चउत्थवज्जासु छसु पुढवीसु चोवत्तरिं निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । स० ७४ सम० ।

चउरासी निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ॥

चतुरशीतिस्थानके किमपि विख्यते–चतुरशीतिर्नरकलक्षाण्यमुना विभागेन–"तीसा य पण्णवीसा,पण्णरस दसेव तिन्नि य हवंति । पंचूणसयसहस्सं, पंचेव अणुत्तरा णिरया ॥१॥" स० ८४ सम० ।

इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए केवइयं खेत्तं ओगाहेत्ता केवइया णिरयावासा पण्णत्ता ? । गोयमा ! इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठसत्तरिजोयणसयसहस्से, एत्थ णं रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयाणं तीसं णिरयावाससयसहस्सा भवंतीति मक्खाया, ते णं णिरयावासा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा० जाव असुभा णिरया । स० ।

णिरवकख–निरवकाङ्क्ष–त्रि० । वाञ्छारहिते, उत्त० ३० अ० ।

णिरवकंखि [ण्]–निरवकाङ्क्षिण्–त्रि० । परित्यक्तभोगे,ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

णिरवग्गह–निरवग्रह–पुं० । विशृङ्खले, को० ।

णिरवच्च–निरपत्य–त्रि० । अविद्यमानशिष्यसततौ, स० ७१ सम० । शिष्यसन्तानरहिते, कल्प० ८ क्षण । " " तित्थमुहम्मातो, निरवच्चा गणहरा सेसा । " आ० म० १ अ०२ खण्ड ।

णिरवज्ज–निरवद्य–त्रि० । असावद्ये, " से संजए समक्खाए, निरवज्जाहार जे विऊ । " दश० ५ अ० १ उ० ।

णिरवज्जवत्थुविसय–निरवद्यवस्तुविषय–त्रि० । निरवद्य सावद्यपरिहारेण यद्वस्तु धर्मगत तद्विषयो यस्य । असावद्यविषयके, पो० ३ विव० ।

णिरवयक्ख–निरपेक्ष–त्रि० । निर्गताऽपेक्षा परप्राणविषया, परलोकाऽऽदिविषया वा यस्मिन्नसौ निरपेक्ष ,निरवकाङ्क्षो वा। प्रश्न० १ आश्र० द्वार । परप्राणापेक्षावर्जिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

निरवकाङ्क्ष–त्रि० । आकाङ्क्षावर्जिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णिरवयव–निरवयव–त्रि० निरंशे, विशे० ।

णिरवराहि (ण्)–निरपराधिन्–त्रि० । अकृतापराधे, " निरवराही तो देवया । " आव० ६ अ० ।

णिरवलंब–निरवलम्ब–त्रि० । निरालम्बने,यत्र न पतद्भिः किञ्चिदवाप्यते । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिरवलाव–निरपलाप–त्रि० । अन्यस्मैऽकथके, " केरिसगस्स, मूले आलोयव्वं ?, निरवलावस्स, जो अन्नस्स न कहेति ! " आव० ४ अ० । निरपलाप स्यान्नान्यस्मै कथयेदित्यर्थः । स० ३२ सम० ।

> दंतपुरे दतवक्को, सच्चवई दोहले अणवरए ।
> धणमित्ते धणसिरीए, पउमसिरी चेव दढमित्ते ॥७०॥

"दतपुरे नगरे दतवक्को राया,सच्चवती देवी,तीसे दोहलो-कहं दतमए पासाए अभिरमेज्ज त्ति ?। रायाए पुच्छिय-दतनिमित्त । घोसाविय रन्ना-जहा दंतिय मोल्लं देमि,जो न देइ,तस्स राया विणास करेइ। तत्थेव नगरे धणमित्तो नाम वाणियओ । तस्स दो भारियाओ-धणसिरी महती, पउमसिरी डहरिया वि पियतरी य त्ति। अन्नया सवत्तीण भंडणे धणसिरी भणइ-किं तुमं एव गव्वियाऽऽ?, किं तुज्झ ममाओ अहियं?,जहा सच्चवतीए तहा ते किं पासाओ कीरेज्जा?। सा भणइ-जइ न कीरइ,तो अहं न जीवेमि त्ति कब्वरते बार बंधित्ता ठिया। वाणियओ आगओ पुच्छइ-कहिं पउमसिरी?। दासीहिं कहिअं। तत्थेव अतिगओ पसाएइ,तहा वि न पत्तीयति-जइ नत्थि न जीवामि। तस्स मित्तो दढमित्तो नाम, सो आगतो। तेण पुच्छिय सव्व कहेइ। भणइ-कीरउ,मा इमीए मरतीए तुम पि मरिज्जासि, तुम मरते अहं पि। रायाए य घोसाविय, तो पच्छन्न कायव्व,ताहे सो दढमित्तो पुलिंदगपाउग्गाणि-मणी य,अलत्तग,कंकण च गहाय अडविं गओ। दता लद्धा, पुंजो कओ, तेण पिंजगाण मज्झे बंधित्ता सगड भरेत्ता आणीया, नगर पवेसिज्जतेसु वसभेण तणपिंडगा कड्ढिया । ततो ख-

रु त्ति दत्तो पडिओ, नगरगुत्तिएहिं दिट्ठो,गहिओ, रायाए उव-णीओ, बज्झो भाणिज्जइ। धणमित्तो सोऊण आगओ। रायाए पायपडिओ विन्नवेइ-जहा एए मए आणाविया। सो पुच्छिओ भणइ-अहमेय न याणामि, को त्ति? एव ते अ परोप्परं भणंति। रायाए सवधसाविया पुच्छिया,अन्नओ दिन्नो,परिकहियं। पूइ-त्ता विसज्जिया। एवं णिरवलावेण होयव्व आयरिएण। बितिओ वि-प्पगेए एगस्स हत्थे भाणं वा किंचि दिण्ण, अंतरा पडियं। तत्थ भाणियव्व-मम दोसो,इयरेण वि मम त्ति।" आव०४ अ०।

णिरवसेस-निरवशेष-त्रि०। समग्रे, अनु०। आव०। समस्ते, भ० १४ श० ३ उ०। संपूर्णे, आ० म० १ अ० १ खण्ड। सर्व-स्मिन्, आ० म० १ अ० २ खण्ड। विशे०। पञ्चा०।

णिरवसेसपच्चक्खाण-निरवशेषप्रत्याख्यान-न०। सर्वाऽशन-पानत्यागाद् निरवशेषे प्रत्याख्याने, ध० २ अधि०।

इदानीं निरवशेषमाह-

सव्वं असणं सव्वं,च पाणगं खाइमं पि सव्वं पि।
वोसिरइ साइमं पि हु, सव्वं जं तं निरवसेसं ॥१०१॥

'अश' भोजने, अश्यत इत्यशनमोदनमण्डकमोदकखज्जकाऽऽ-दि। पीयत इति पान, कर्मणि ल्युट्। खर्जूरद्राक्षापानाऽऽदि। खादन खाद्यो, भावे घञ्। खादेन निर्वृत्तम्-"भावादिमन्" ॥६। ४।२१॥ इति इमनि खादिम नालिकेरफलाऽऽदि, गुडधानाऽऽदि-कं च। स्वदन स्वाद्, तेन निर्वृत्तं, तथैव इमनि स्वादिमम्। एलाफलकर्पूरलवङ्गपूगीफलहरीतकीनागराऽऽदि। ततश्च सर्वम-शनं, सर्वं पानकं, खादिमं च सर्वमपि व्युत्सृजति परित्यजति स्वादिममपि सर्वं यत्,निरवशेष तद्विज्ञेयमिति। प्रव० ४ द्वार। ध०। "वित्थरत्थो-जो पुण असणस्स सव्वरसविहस्स वो-सिरइ, पाणगस्स अणेगविहस्स खज्जूरपाणगादियस्स वा, इमं अणेगविहं-फलमाइ, साइमं अणेगविहं-मधुमादि, त सव्वं जो वोसिरइ। एत निरवसेस।" आव० ६ अ०।

णिरवसेससव्वय-निरवशेषसर्वक-न०। निरवशेषव्यक्तिसमा-श्रयेण सर्वं निरवशेषसर्वकम्। यथा अनिमिषाः सर्वे देवाः, न हि देवव्यक्तिरनिमिषत्वं काचिद् व्यभिचरतीत्यर्थः। स्था० ४ ठा० २ उ०।

णिरवाय-निरपाय-त्रि०। अपायेभ्यो निर्गते, षो० ८ विव०।

णिरवेक्ख-निरपेक्ष-त्रि०। पुत्रदारधनधान्यादिरण्याऽऽदिकमन-पेक्षमाणे, सूत्र० १ श्रु०९ अ०। अनपेक्षे,आव०४ अ०। अपेक्षा-रहिते, ध० ३ अधि०। मुक्तिनिस्पृहे, पञ्चा० ४ विव०। जी०। उत्त०। बालाऽऽदिषु चिन्तारहिते, व्य० ३ उ०। आचार्यस्य शिष्यैः, प्रतीच्छकैश्च सर्वं कर्त्तव्य, ये तु न कुर्वन्ति, ते निरपेक्षा इति। (एतच्च " अइसेस " शब्दे प्रथमभागे २७ पृष्ठे उक्तम्) द्विविधाः साधवः-सापेक्षाः, निरपेक्षाश्च। " णिरवेक्खा जि-णादया, ते सरीरगच्छादिणिरवेक्खत्तणओ णिरवेक्खा।" नि० चू० २० उ०। निरभिलाषे निरभिष्वङ्गे, " पक्खी पत्त समादाय, निरवेक्खो परिव्वए।" उत्त० ६ अ०।

णिरवेक्खजइधम्म-निरपेक्षयतिधर्म-पु०। गच्छनिर्गतसाधुध र्मे, (ध०)

साम्प्रतं निरपेक्षयतिधर्मप्रस्तावनाय तद्योग्यतामाह-

प्रमादपरिहाराय, महासामर्थ्यसंभवे।
कृतार्थानां निरपेक्ष-यतिधर्मोऽतिसुन्दरः ॥८३॥

महासामर्थ्यम्-आद्यसंहननत्रययुक्ततया, वज्रकुड्यसमानधृ-तितया च कायमनसोः शक्तिः, तस्य संभवे विद्यमानत्वे, प्र-मादपरिहाराय प्रागुक्तायष्टविधप्रमादत्यागाय, कृतार्थानां कृतकृ-त्यानामाचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविरगणावच्छेदकलक्षणपदप-ञ्चकयोग्यतया शिष्याणां निष्पादनेन निष्ठितार्थानामित्यर्थः।नि-रपेक्षयतिधर्मो गच्छनिर्गतयतिधर्मोऽतिसुन्दरोऽतिशयेन श्रे-यान्,प्रमादजयार्थं कृतकृत्यानामाचार्यादीनामयमतिश्रेष्ठ इत्य-र्थः। अत्रेदमवधेयम्-निरपेक्षा यतयो-जिनकल्पिकाः, शुद्धपा-रिहारिकाः, यथालन्दिकाश्च। धर्म० ४ अधि०। (जिनक-ल्पिकाऽऽदयः पृथक् पृथक् स्वस्वस्थाने द्रष्टव्याः)

णिरहंकार-निरहङ्कार-त्रि०। अहङ्काररहिते, उत्त० ११ अ०। रागद्वेषरहिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

णिरहिगरण-निराधिकरण-त्रि०। गुरुनराऽऽरम्भवर्जिते, पञ्चा० १९ विव०।

णिरहिगरणि [ण्]-निरधिकरणिन्-त्रि०। निर्गतमधिकर-णमस्मादिति निरधिकरणी। समासान्तविधिः (इन्)। अधिक-रणादूरवर्तिनि, भ० १६ श० १ उ०।

णिराअ-देशी-प्रकटे, ऋजौ,रिपौ च। दे०ना०४ वर्ग ५० गाथा।

णिराकिच्च-निराकृत्य-अव्य०। अपनीयेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। परित्यज्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। ", तते पाय णिराकिच्च, ते त्तुओ विप्पगब्भिए।" सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

णिरागस-निराकर्ष-पु०। आकृष्यत इति आकर्षो,न विद्यते आ-कर्षो यस्य स निराकर्षः। द्रविणरहिते, " किमे निरागसाण, गुत्तिकरो काहितो राया।" नि० चू० २ उ०।

णिरागारपच्चक्खाण-निराकारप्रत्याख्यान-पु०। निर्गत महत्त-राऽऽद्याकारान्निराकारम्,तच्च प्रत्याख्यान चेति। अनाकारप्रत्या-ख्याने, निराकारेऽप्यनाभोगसहसाकाररूपाऽऽकारद्वयस्याऽ-वश्यत्वान्महत्तराऽऽद्याकारवर्जनाऽऽश्रयणम्। ध०२ अधि०।

णिराणुकंप-निरनुकम्प-त्रि०। प्राकृतत्वाद् दीर्घः। अनुकम्पार-हिते, प्र० ध० ४ द्वार।

णिरातंक-निरातङ्क-त्रि०। नीरोगे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। औ०। रा०।

णिराद-देशी-नष्टे, दे० ना० ४ वर्ग ३० गाथा।

णिराबाह-निराबाध-त्रि०। सर्वशारीरकमानसिकबाधाविवर्जि-ते, दर्श०४ तत्त्व। अष्ट०। स्वाऽऽयत्ताऽऽनन्दरूपत्वात्। (स्था० १० ठा०) बाधारहिते, आव० ४ अ०।

णिराभिराम-निरभिराम-त्रि०। अभिरमणीये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

णिरामगंध-निरामगन्ध-त्रि०। निर्गतोऽपगत आमोऽविशोधि-कोट्याख्य, तथा गन्धो विशोधिकोटिरूपो यस्मात् स भवति निरामगन्धः। मूलोत्तरगुणभेदभिन्ना चारित्रक्रियां कृतवति, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। " से सव्वदंसी अभिभूय णाणी, णिराम-गंधे धिइमं ठितप्पा। (५)" सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। "णिरामगंधे सपरिव्वएज्जा।" आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

णिरामय-निरामय-त्रि० । नीरोगे,दश० ४ अ० । निर्मलपरमात्मानुभवे, अष्ट० १० अष्ट० । "अतीव निरामया नो अहो धात्तो निस्सरइ ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिरामिस-निरामिष-त्रि० । विषयाऽऽदिपदार्थे, उत्त० । "सामिसं कुललं दिस्स, बज्झमाणं णिरामिसं । आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामो णिरामिसा ॥ ४६ ॥" निष्क्रान्त आमिषाद् गृद्धिहेतोरभिलषितविषयान्निर्गत वा आमिषमस्येति । उत्त० पाई० १४ अ० ।

णिरायास-निरायास-त्रि० । अखेदकारणे, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

णिरारंभ-निरारम्भ-त्रि० । निर्गत आरम्भादसत्क्रियाप्रवर्त्तनलक्षणान्निरारम्भ । आरम्भरहिते, उत्त० २ अ० ।

णिरालंब-निरालम्ब-त्रि० । ज्ञानाऽऽद्यालम्बनरहिते,व्य०४उ० ।

णिरालंबण-निरालम्बन-त्रि० । ज्ञानाद्याऽऽलम्बनीयवस्तुवर्जिते, ज्ञा० १ श्रु०६ अ० । "गयणमिव णिरालंबणो ।" गगनमिव निरालम्बनो,न कुलग्रामाऽऽद्यवलम्बन इति भावः । स्था० ९ ठा० । ऐहिकाऽऽमुष्मिकाऽऽशंसारहिते, "इमम्मि लोए परते य दोसु वि न विज्जइ बंधणं जस्स किंचि वि, से हु निरालंबणे ।" आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

णिरालंबणया-निरालम्बनता-स्त्री० । निर्गत आलम्बनादाश्रयणीयाद् गच्छकुटुम्बकाऽऽदेरिति निरालम्बनस्तद्भावो निरालम्बनता । आश्रयानपेक्षत्वेऽविनयभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

णिरालोय-निरालोक-त्रि० । निर्गताऽऽलोके, "निरालोयाओ दिसाओ करेमाणे ।" नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

णिरावकंखि [ण्]-निरावकाङ्क्षिन्-त्रि० । निस्पृहे, "निक्खम्म गेहाउ णिरावकंखी, कायं विउस्सेज्ज नियाणछिन्ने ।" निरावकाङ्क्षी कायं शरीरं व्युत्सृज्य निष्प्रतिकर्मतया चिकित्साऽऽदिकमकुर्वन् छिन्ननिदानो भवेत् । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णिरावयक्ख-निरवकाङ्क्ष-त्रि० । निरपेक्षे, प्रश्न०३ आश्र० द्वार ।

णिरावरण-निरावरण-न० । क्षायिकत्वात् (औ० । प्र० । दशा०) समस्ताऽऽवरणरहिते, कल्प० १ क्षण ।

णिरास-निरास-त्रि० । परित्यागे, प्रतिक्षेपे, वधे, निष्कासने, वाच० । आ० म० ।

निराश-पुं० । क्षीणमनोरथे, बृ० ६ उ० । प्रश्न० ।

णिरासंस-निराशंस-त्रि० । इहपरलोकाऽऽशंसाविप्रमुक्ते,आव० ४ अ० । ऐहिकाऽऽमुष्मिकाऽऽशंसारहिते, आचा० २ श्रु० ४ चू० १ अ० ।

णिरासबहुल-निराशबहुल-त्रि० । आशाऽभावप्रचुरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिरासव-निराश्रव-त्रि० । कर्माऽऽदानरहिते, प्रश्न०३ सम्ब० द्वार ।

णिरिग्ग-देशी-अविशेषिते, दे० ना० ४ वर्ग २८ गाथा ।

णिरिंक-देशी-नते, दे० ना० ४ वर्ग ३० गाथा ।

णिरिंधणया-स्त्री० । निरिन्धन-न० । प्राकृते स्वार्थिकं स्त्रीत्वम् । धूमस्येव कर्मेन्धनविमोचने, भ० ७ श० १ उ० ।

णिरिक्खण-निरीक्षण-न० । आलोकने, सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता० । आव० ।

णिरिक्खणा-निरीक्षणा-स्त्री० । प्रत्युपेक्षणायाम्, ओघ० ।

णिरिक्खिय-निरीक्षित-त्रि० । आलोकिते, "उप्पलणाणदसणधरेहिं तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइएहिं ।" तत्र निरीक्षिता मनोरथपरम्परासम्पत्तिसभवनविस्मयसमुत्थसम्मदविकासिलोचनैरालोकिता । न० ।

णिरिग्घ-निली-नि - लीङ् । धा० । निलयने, "निलीङेर्णिलीअ-णिलुक्क-णिरिग्घ-लुक्क-लिक्क-ल्हिक्काः" ॥ ८ । ४ । ५५ ॥ इति निलीङो णिरिग्घाऽऽदेश. । 'णिरिग्घइ'। पक्षे-'निलिज्जइ'। निलीयते । प्रा०४ पाद ।

णिरिणास-गम्-धा० । गमने, "गमेरई अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस पच्चड्ड-पच्छंद-णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-वोल-परिअल-णिरिणास-णिवहावसेहावहराः" ॥ ८।४ । १६२ ॥ इति सूत्रेण गमेर्णिरिणासाऽऽदेशः । 'णिरिणासइ'। गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

नश्-धा० । अदर्शने, "नशेर्णिरिणास-णिवहावसेह-पडिसा-सेहावहराः" ॥८ ४ । १७८ ॥ इति नशेर्णिरिणासाऽऽदेश. । 'णिरिणासइ' । नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

पिष्-धा० । पेषणे, "पिषेर्णिवह-णिरिणास-णिरिणज्ज-रोञ्च-चड्डा" ॥ ८ । ४ । १८५ ॥ इति पिषेर्णिरिणासाऽऽदेश । 'णिरिणासइ' । पिनष्टि । प्रा० ४ पाद ।

णिरिणिज्ज-पिष्-धा० । पेषणे,"पिषेर्णिवह-णिरिणास-णिरिणिज्ज-रोञ्च-चड्डाः" ॥८ । ४ । १८५ ॥ इति पिष्धातोर्णिरिणिज्जाऽऽदेशः । 'णिरिणिज्जइ' । पिनष्टि । प्रा० ४ पाद ।

णिरुंभइत्ता-निरुध्य-अव्य० । सन्मार्गे व्यवस्थाप्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । दश० ।

णिरुंभण-निरोधन-न० । प्रक्षेपणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । प्रतिबन्धे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

णिरुच्चार-निरुच्चार-त्रि० । प्राकारस्योर्द्धलनप्रवेशनिर्गमवर्जिते, पुरीषविसर्गार्थं जनानां बहिर्निर्गमनरहिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । निरुद्धपुरीषोत्सर्गे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णिरुच्छाह-निरुत्साह-त्रि० । सत्त्वपरिवर्जित, ज० २ वक्ष० । निरुद्यमे, ग० १ अधि० ।

णिरुज-निरुज-न० । रुजानामभावो निरुजम् । रोगाणामभावे, पञ्चा० १९ विव० ।

णिरुजसिखतव-निरुजशिखतपस्-न० । रुजानां रोगाणामभावो निरुज, तदेव शिखेव शिखा प्रधान फलतया यत्राऽसौ निरुजशिख , स एव तपः । पञ्चा०१९ विव० । आरोग्यार्थे तपोभेदे, (प्रव०)

निरुजशिख तप' प्राऽऽह-

एवं निरुजसिखो वि हु, नवरं सो होइ सामले पक्खे ।

तम्मि य अहिओ कीरइ, गिलाणपडिजागरणनियमो।५५६।

रुजानां रोगाणामभावो निरुजं, तदेव प्रधानफलाविवक्षया शिखेव शिखा चूला यत्राऽसौ निरुजशिखः, तपोविशेष । सोऽप्येवमेव सर्वाङ्गसुन्दरतपोवदष्टनिरुपवासैराचाम्लपारणकैर्द्रष्टव्यः । नवरं केवलं स निरुजशिखस्तपोविशेषः, श्यामले कृष्णपक्षे भवति, अधिकश्च तत्र क्रियते ग्लानप्रतिजागरणनियमः, ग्लानो मया पथ्याऽऽदिदानतः प्रतिचरणीय इत्येवंरूपप्रतिज्ञाग्रहणमित्यर्थः । शेषं तु जिनपूजाऽऽदिकं तथैवेति । प्रव० २७१ द्वार ।

णिरुट्ठाइ (ण्)–निरुत्थायिन्–त्रि० । प्रयोजनेऽपि न पुनः पुनरुत्थानशीलः । उत्त० १ अ० । निमित्तं विनाऽनुत्थापके, उत्त० ३ अ० ।

णिरुत्त–निरुक्त–न० । अभिधानाक्षरानुसारतो निश्चितार्थस्य वचने भणने, अनु० । अनुयोगे सूत्रव्याख्यायाम्, (सू०)

सम्प्रति अनुयोगमधिकृत्य निरुक्तद्वारमाह–

निच्छियमुत्त णिरुत्तं, तं पुण सुत्ते य होइ अत्थे य ।
सुत्ते उवरिं वोच्छं, अत्थणिरुत्तं इमं तत्थ ॥

निश्चितमुक्त निरुक्तम् । तच्च द्विधा–सूत्रस्यार्थस्य च । तत्र सूत्रस्योपरि " नेरुत्तियाणि तस्स उ " इत्यादिना ग्रन्थेन वक्ष्ये । अर्थनिरुक्तं पुनरिदं वक्ष्यमाणम् ।

तदेव विवक्षुः प्रथमतस्तद्विषयान् दृष्टान्तान्
वक्तव्यान् सूचयति–

अणु बायरे य उंडिय, पमिसुया चेव अन्नपडले य ।
वत्तिए चउक्कभंगो, निरुत्तादी वत्तणी च जहा ॥

अनुयोगे अणुत्वे बादरत्वे च दृष्टान्तो वक्तव्यः, अनुयोगे उण्डिकापत्रकदृष्टान्तः, उण्डिका मुद्रा । भाषायां प्रतिश्रुतदृष्टान्त । विभाषायामभ्रपटलः । वार्त्तिके चत्वारो भङ्गा, तत्र मल्लदृष्टान्त । तथा–निरुक्ताऽऽदीनि । यथा वर्द्धमानस्वाम्याख्या, तथान् तथा किमृषभाऽऽद्योऽपि, उतान्यथा ? । उच्यते–तथेति, केवलज्ञानस्य तुल्यत्वात्, यथा वर्तनी मार्गः स सर्वजनपदेषु प्रमाणेन एकैव भवति । बृ० १ उ० । विशे० । पदभञ्जने, पदव्युत्पत्तिरूपे टीकाऽऽदौ, कल्प० ४ क्षण । शब्दनिरुक्तप्रतिपादके वेदाङ्गे, औ० । आ० म० । अनु० । आव० । सर्वज्ञैरुपादेयतया नितरामुक्ते, प्रश्न० ३ सम्व० द्वार । निश्चये, दे० ना० ४ वर्ग ३० गाथा ।

णिरुत्ति–निरुक्ति–स्त्री० । निश्चिता उक्तिर्निरुक्तिः । विशे० । आ० म० । निर्वचनं निरुक्तिः । क्रियाकारकभेदपर्यायैः शब्दार्थकथने, विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

णिरुत्तिय–नैरुक्तिक–न० । निरुक्ते भवं नैरुक्तम् । निरुक्तवशेनार्थप्रतिपादके नामनि, (अनु०) " से किं तं णिरुत्तिए ? । मह्यां शेते महिषः । भ्रमति चरतीति भ्रमरः । मुहुर्मुहुर्लसतीति मुसलम् । कपेरिव लम्बते कपित्थम् । चिच्च करोति खल्लं च भवति चिक्खल्लम् । ऊर्द्धकर्णः उलूकः । खस्य माला मेखला । सेत्तं णिरुत्तिए । " अनु० ।

णिरुद्ध–निरुद्ध–त्रि० । आच्छादिते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आवृते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । परिगलिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । विवक्षितदिग्गमननिवारिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जलचरजीवविशेषे, कल्प० ३ क्षण ।

णिरुद्धजोग–निरुद्धयोग–पुं० । चतुर्थे शुक्लध्यानभेदे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

णिरुद्धपण्ण–निरुद्धप्रज्ञ–त्रि० । निरुद्धाऽऽच्छादिता ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिना कर्मणा प्रज्ञा ज्ञानं यस्य सः । अज्ञानप्रकाशे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

णिरुद्धपरियाय–निरुद्धपर्याय–पुं० । निरुद्धो विनाशितः पर्यायो यस्य स निरुद्धपर्यायः । व्य० ३ उ० । पश्चात्कृतत्वेन पूर्वपर्यायनिरोधात् तद्दिवसिकपर्याये, (" निरुद्धपरियाए समणे णिग्गंथे कप्पइ तद्दिवसं आयरियउवज्झायत्ताए ।" इति सूत्रम् ' उद्देस ' शब्दे द्वितीयभागे ८०३ पृष्ठे व्याख्यातम्)

णिरुद्धबुद्धि–निरुद्धबुद्धि–त्रि० । निरुद्धा संशयकोटीकृता बुद्धिर्येषां ते निरुद्धबुद्धयः । संशयितेषु, बृ० ३ उ० ।

णिरुद्धवासपरियाय–निरुद्धवर्षपर्याय–पुं० । निरुद्धो विनाशितो वर्षपर्यायो यस्य स निरुद्धवर्षपर्यायः । अनेकवर्षपर्याये, व्य० ३ उ० । नि० चू० । ("तिण्णि य जस्स अपुण्णा, वासा पुण्णेहिँ वा तिहिँ तं तु । वासेहिँ निरुद्धेहिँ, लक्खणजुत्तं पससंति ॥१॥" इति 'उद्देस' शब्दे द्वितीयभागे ८०५ पृष्ठे व्याख्यातम्)

णिरुद्धाउय–निरुद्धायुष्क–त्रि० । परिगलिते आयुष्के, " इम णिरुद्धाउयं सपेहाए ।" आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

णिरुय–निरुज–न० । ' णिरुज ' शब्दार्थे, पञ्चा० १६ विव० ।

णिरुयसिखतव–निरुजशिखतपस्–न० । ' णिरुजसिखतव ' शब्दार्थे, पञ्चा० १९ विव० ।

णिरुल्ली–देशी–मकराऽऽकृतिग्राहे, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिरुवक्कम–निरुपक्रम–पुं० । निर्गत उपक्रमान्निरुपक्रमः । अपवर्तनाकरणान्निर्गते अनुभागे, भ० । तत्र मरणविषयाऽऽयुषि सत्तनिरपेक्षैरपि कर्मभिर्वा कर्षणमिव मरुषु जलगण्डूषग्रहणरूपैर्यत्पुद्गलोपादानं तदतिदृढमपवर्त्तयितुमशक्यतया निरुपक्रममुच्यते । उत्त० ५ अ० । उपक्रमणाभावे, भ० २० श० १० उ० ।

णिरुवक्कमभाव–निरुपक्रमभाव–पुं० । अनुपक्रमणीयत्वे कर्मणामवश्यवेद्यस्वभावत्वे, पञ्चा० ३ विव० ।

णिरुवक्कमाउ–निरुपक्रमायुष–त्रि० । अकालमरणरहिते, आ० । आ० म० । यदा ह्यसुमान् स्वायुषस्त्रिभागे त्रिभागे वा जघन्यत एकेन ह्यास्याम् चोत्कृष्टेन सप्तभिरष्टभिर्वा वर्षैरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेन कालेनाऽऽत्मप्रदेशरचनानामिकान्तर्वर्त्तिनं आयुष्ककर्मवर्गणापुद्गलान् प्रयत्नविशेषेण विधत्ते तदा निरुपक्रमाऽऽयुर्भवति । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । विपा० ।

णिरुवक्कय–देशी–अकृते, दे० ना० ४ वर्ग ४१ गाथा ।

णिरुवक्किट्ठ–निरुपक्लिष्ट–त्रि० । स्वगतशोकाऽऽद्युपक्लेशवियुक्ते, भ० २५ श० ७ उ० । " इणस्स वावगस्स णिरुवक्किट्ठस्स जंतुणो ।" अनु० ।

णिरुवक्केस–निरुपक्लेश–पुं० । शोकाऽऽदिबाधावर्जिते, स्था० ७ ठा० । "णिरुवक्केसे परिआए" 'निरुपक्लेशः पर्यायः' इति प्रभि-

देवोपक्लेशे रहित प्रमत्यापर्यायोऽसारम्भी कुचिन्तायार्जितः ऋषयनीयो निरुपाधिरेवं चिन्तनीयम्। दशा० १ चू०।

णिरुवगारि[ण्]-निरुपकारिन्-त्रि०। निरुपकर्तुं शीलमस्येति। निरुपकारकारके गुर्वादिकार्येष्वप्रवर्तके, सा० म० १ अ० १ सान्द्र।

णिरुवग्गहया-निरुपग्रहता-स्त्री०। गच्छादिरहितस्यपुद्गलस्य धर्मास्तिकायाद्यभावेन तद्वानिलगत्युपष्टम्भाभावे,स्था० ४ ठा० ३ उ०।

णिरुवचरिय-निरुपचरित-त्रि०। उपचारेणाऽऽसमनोऽसम्बन्धिनि, द्वा० १ श्रु० ५ अ०।

णिरुवट्ठाणि[ण्]-निरुपस्थानिन्-त्रि०। निर्गतमुपस्थानमुपमो यस्य स निरुपस्थानी। सर्वद्रव्यगतिमदाचाराऽनुष्ठानविकले, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०।

णिरुवद्दव-निरुपद्रव-त्रि०। अविद्यमानराजाऽऽदिकृतोपद्रवे, औ०। ज्ञा०। रा०। रोगाऽऽदिकृतरहिते,नं०। तत्कृतो नाम-भद्रियं, मलरोगाऽऽदिकं वा। तदभावाद्यो निरुपद्रवम्। उपद्रवाभावे, नं०। "णिरुवद्दवं च खेमं च होहिति।" बृ० ४ उ०। मारिकाऽऽद्युपद्रववर्जिते, बृ० १ उ०।

णिरुवम-निरुपम-त्रि०। स्वरूपोपमाऽभीने,दशा०४ अध्य०। उपमारहिते, जी० ३ प्रति० ४ उ०। न०। सम०। "णिरुवमविमियभमिरा।" निरुपम विविकत्वेन पर्युपासेन विविक्तकायमानमस्ति विषयेऽस्य येषा ते तथा। न०।

णिरुवमसुहसंगय-निरुपमसुखसङ्गत-त्रि०। निरुपमाऽऽक्षेपेनाविद्यमानाऽऽक्षेपेण सङ्गत इति समासः। अमयोगिकाऽऽनन्दयुक्ते, पं० व० १ द्वार।

णिरुवयरिय-निरुपचरित-त्रि०। 'णिरुवचरिय' शब्दार्थे, द्वा० १ श्रु० ५ अ०।

णिरुवलेव-निरुपलेप-त्रि०। द्रव्यतो निर्मलदेहत्वाद् भावतो बन्धहेत्वभावान्निर्गत उपलेपो यस्मादिति निरुपलेपः। स्था० ९ ठा०। द्रव्यतो निर्मलदेहे, भावतस्तु कर्मबन्धहेतुलक्षणोपलेपरहिते, औ०। कल्प०। ज्ञा०। प्रश्न०। स०। लेपरहिते, औ०। स्नेहवर्जिते, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार।

निरुपलेप दृष्टान्तैर्भावयति-

णिरुवलेवे-कंसपाई इव मुक्कतोए, संखो इव णिरंजणे, जीवे इव अप्पडिहयगई, गगणमिव णिरालंबणे, वाउ व्व अप्पडिबद्धे, सारयसलिलं व सुद्धहियए, पुक्खरपत्तं व णिरुवलेवे, कुम्मो इव गुत्तिंदिए, खग्गिविसाणं व एगजाए, विहग इव विप्पमुक्के, भारंडपक्खी इव अप्पमत्ते, कुंजरो इव सोंडीरे, वसभो इव जायथामे, सीहो इव दुद्धरिसे मंदरो इव अप्पकंपे, सागरो इव गम्भीरे, चंदो इव सोमलेसे, सूरो इव दित्ततेए, जच्चकणगं व जायरूवे, वसुंधरा इव सव्वफासविसहे, सुहुयहुयासण इव तेयसा जलंते। नत्थि णं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधे भवइ।

निरुपलेपो द्रव्यभावमलापगमेन, तत्र द्रव्यमलः शरीरसम्भवः, भावमलः कर्मजनितः। अथ निरुपलेपत्वं दृष्टान्तैर्दर्शयति-कांस्यपात्रीव मुक्तं तोयमिव स्नेहो येन स तथा, यथा कांस्यपात्रं तोयेन न लिप्यते, तथा भगवान् स्नेहेन न लिप्यते इत्यर्थः। तथा शङ्ख इव निरञ्जन, रञ्जन रागाऽऽद्युपरञ्जन तेन शून्यत्वात्। जीव इव अप्रतिहतगतिः, सर्वत्रास्खलितविहारित्वात्। गगनमिव निरालम्बन, कस्याप्याधारस्यानपेक्षणात्। वायुरिव अप्रतिबद्धः, एकस्मिन् स्थाने क्वाप्यवस्थानाभावात्। शारदसलिलमिव शुद्धहृदय, कालुष्यकलङ्कितत्वात्। पुष्करपत्र कमलपत्र, तद्वन्निरुपलेपः, यथा कमलपत्रे जललेपो न लगति, तथा भगवत कर्मलेपो न लगतीत्यर्थः। कूर्म इव गुप्तेन्द्रियः। खड्गिविषाणमिव एकजातः। यथा-खड्गिनः आटव्यविशेषस्य विषाण शृङ्गमेकं भवति, तथा भगवानपि, रागाऽऽदिना सहायेन च रहितत्वात्। विहग इव विप्रमुक्तः, मुक्तपरिकरत्वात् अनियतनिवासात्। भारण्डपक्षीव अप्रमत्तः, भारण्डपक्षिणोः किलैकं शरीरम्। यतः-"एकोदरा पृथग्ग्रीवा-स्त्र्यङ्घ्री मर्त्यभाषिणः। भारण्डपक्षिणस्तेषां, मृतिर्भिन्नफलेच्छया"॥ १॥ ते चात्यन्तम् अप्रमत्ता एव जीवन्तीति तदुपमा। कुञ्जर इव शौण्डीरः कर्मशत्रून् प्रति शूरः, वृषभ इव जातस्थामा जातपराक्रम, स्वीकृतमहाव्रतभारोद्वहनं प्रति समर्थत्वात्। सिंह इव दुर्धर्ष, परीषहाऽऽदिश्वापदैरजय्यत्वात्। मन्दर इव मेरुरिव अप्रकम्प, उपसर्गवातैरचलितत्वात्। सागर इव गम्भीर, हर्षविषादकारणसद्भावेऽपि अविकृतस्वभावत्वात्। चन्द्र इव सौम्यलेश्य, शान्तत्वात्। सूर्य इव दीप्ततेजा। द्रव्यतो देहकान्त्या, भावतो ज्ञानेन जात्यकनकमिव जात रूप स्वरूप यस्य स तथा। यथा किल कनक महाज्वलनेन दीप्त भवति, तथा भगवतोऽपि स्वरूप कर्ममलविगमेन अतिदीप्तमस्तीति भावः। वसुन्धरा इव पृथ्वीव सर्वस्पर्शसहः, यथा हि शीतोष्णाऽऽदि सर्वं पृथ्वी समतया सहते, तथा भगवानपि। सुष्ठु हुतो घृताऽऽदिभिः सिक्त एवंविधो यो हुताशनोऽग्निस्तद्वत्तेजसा ज्वलन्। नास्त्ययं पक्षः-यत्तस्य भगवतः कुत्रापि प्रतिबन्धो भवति, तस्य भगवतः कुत्रापि प्रतिबन्धो नास्तीति भाव। कल्प० ६ क्षण।

णिरुवसग्ग-निरुपसर्ग-पुं०। जन्माऽऽद्युपसर्गरहिते मोक्षे, प्रति०। आव०। आचा०। आ० चू०। राजगुणभेदे, यत सकलेऽपि देशे मारिडमराऽऽद्युपसर्गासम्भवः। ध० ३ उ०।

णिरुवसग्गवत्तिया-स्त्री०। निरुपसर्गप्रत्यय-पुं०। जन्माऽऽद्युपसर्गाभावेन निरुपसर्गो मोक्षस्तत्प्रत्ययः। "वत्तिया ति" आर्षत्वात्। मोक्षनिमित्ते, "अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं णिरुवसग्गवत्तियाए बोहिलाभवत्तियाए।" ध० २ अधि०। ल०।

णिरुवहय-निरुपहत-त्रि०। वाताऽऽद्यनुपहते,भ०७ श०१ उ०। ज्ञा०। उत्त०। विकारविरहिते,औ०। रा०। ज्वराऽऽदिदशाऽऽद्युपद्रवरहिते, जी० ३ प्रति० ४ उ०। रोगाऽऽदिभिरनुपहते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। "णिरुवहयउदत्तलट्ठपंचिंदियवट्ठ ति।" निरुपहतानि अविद्यमानवाताऽऽद्युपघातानि उदात्तानि उत्तमवर्णाऽऽदिगुणानि अत एव लष्टानि मनोहराणि पञ्चापीन्द्रियाणि पटूनि च स्वविषयग्रहणदक्षाणि यत्र तत्तथा। भ० ९ श० ३३ उ०।

णिरुवहि-निरुपधि-त्रि०। उपधिश्छद्म,मायेत्यनर्थान्तरम्। अयं

न्न क्रोधाऽऽद्युपलक्षण, ततश्च निर्गता उपधयादयः सर्वे एव कषाया येभ्यस्ते निरुपधय'। निष्कषायेषु, "हेउविभत्ती निरुवहि-ज्ञेयाण अवहेण य जियति ॥ १४४ ॥" दश० १ अ० ।

णिरुवार-ग्रह्-धा० । ग्रहणे, " ग्रहो वल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवा-रहि-पच्चुआः" ॥ ८ । ४ । २०६ ॥ इति ग्रहेर्निरुवाराऽऽदेशः। 'निरुवारइ "। गृह्णाति । प्रा० ४ पाद ।

णिरुस्साह-निरुत्साह-त्रि० । सदनुष्ठाननिरुद्यमे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

णिरूविअ-निरूपित-त्रि० । आलोच्य कथिते, " विद्धकइणिरूविअं। " वृद्धकविनिरूपितम् । प्रा० २ पाद।

णिरूविऊण-निरूप्य-अव्य०। आलोच्येत्यर्थे,पञ्चा० ८ विव०।

णिरूवियव्व-निरूपयितव्य-त्रि० । आलोचनीये, पञ्चा० ११ विव० ।

णिरूह-निरूह-पुं० । विरचने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

णिरेय-निरेजस्-त्रि० । निष्प्रकम्पे,भ० ५ श० ७ उ० ।कल्प० । निश्चले, नि०चू० २० उ० । सैजमां निरेजसा च पुद्गलानां कायस्थितिरुक्ता । भ० २५ श० ४ उ० ।

णिरेयण-निरेजन-त्रि० । निश्चले, औ० । प्रज्ञा० । निष्प्रकम्पे, आव० ५ अ० ।

णिरोदर-निरोदर-त्रि० । विकृतोदररहिते, जी० ३ प्रति० ४ उ० । तुच्छोदरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

णिरोह-निरोध-पुं० । निरोधन निरोध. । प्रलयकरणे, " छउमत्थाण झाण,जोगनिरोहो जिणाण च ।" आव० ४ अ० । आ० क० । अशेषकर्मक्षये, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । निश्चयेन धरणे, आव० ४ अ० ।

मुत्तणिरोहे चक्खुं, वच्चणिरोहेण जीवियं जहाति ।

उड्ढणिरोहे कोढ, गेलन्नं वा भवे तीसु ॥ ६६३ ॥

मूत्रनिरोधे विधीयमाने चक्षुरुपहन्यते । वर्चः पुरीष, तस्य निरोधेन जीवित परित्यजति, अचिरादेव मरण भवतीत्यर्थः । ऊर्द्ध वमनं, तस्य निरोधे कुष्ठं भवति, ग्लान्य वा सामान्यतो मान्द्य त्रिष्वपि मूत्रपुरीषवमनेषु निरुध्यमानेषु भवेत् । बृ० ३ उ० । प्रकाशप्रवृत्तिनियमरूपविघाते, स च निरोधोऽभ्यासाद् वैराग्याच्च भवति । तदुक्तम्-" अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोध ।" द्वा० २३ द्वा० ।

णिरोहपरिणाम-निरोधपरिणाम-पुं०। चित्तस्य तथाविधस्थैर्यविशेषे,द्वा०।व्युत्थाननिरोधसस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावाभ्यां निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणाम इति । द्वा० २३ द्वा० ।

णिलज्ज-निर्लज्ज-त्रि० । लज्जारहिते, " हु निलज्ज । समोसर ।" प्रा० २ पाद ।

णिलज्जिमा-पुं० । स्त्री० । -निर्लज्जिमन्-पुं०। निर्लज्जस्य भावो निर्लज्जिमा ।"वेमाऽञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्"॥८।१।३५॥ इति वा स्त्रिया प्रयोग । " एसा निलज्जिमा, एस निलज्जिमा " । लज्जाराहित्ये, प्रा० १ पाद ।

णिलय-निलय-पुं० । गृहे, उत्त० ३२ अ० । को० । त० ।

णिलयण-निलयन-न० । वसतौ, नयानां निलयनौपम्यम् । वि० शे० । (वसतिदृष्टान्त ' णय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८८० पृष्ठे प्ररूपित.)

णिलाम-ललाट-न० । भाले, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

णिलिंत-निलीयमान-त्रि० । नीडाऽऽश्रयति, रा० । निविशमाने, औ० ।

णिलिज्जमाण-निलीयमान-त्रि० । अपनयति, धान्यशुद्धिं कुर्वाणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सवाधन कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

णिलीअ-निली-धा० । निलयने, "निलीङो णिलीअ-णिलुक्क-णिरिग्घ-लुक्क-लिक्क-ल्हिक्का " ॥ ८ । ४ । ५५ ॥ इति निपूर्वस्य लीङो 'णिलीअ' आदेश । 'णिलीअइ'। निलीयते।प्रा०४ पाद।

णिलुक्क-देशी-विरते, "खिप्पामेव णिलुक्को ।" आ०म० १ अ० १ खण्ड । अन्तर्हिते,ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। निलुक्को निवृत्त.। आ०क०।

निली-नि-ली-धा० । निलयने, " निलीङो णिलीअणिलुक्क०-" ॥ ८ । ४ । ५५ ॥ इत्यादिसूत्रेण निलीङो णिलुक्काऽऽदेश । 'णिलुक्कइ' । निलीयते । प्रा० ४ पाद ।

तुड्-धा० । त्रोटने, "तुडेस्तोड-तुट्ट-खुट्ट-खुडोक्खुड-णिलुक्क-लुक्कोल्लूरा "॥८।४।११६॥ इति तुडेर्णिलुक्काऽऽदेश.। "णिलुक्कइ ।" तुडति । प्रा० ४ पाद ।

णिल्लंक-देशी-पतद्ग्रहे, दे० ना० ४ वर्ग ३१ गाथा ।

णिल्लंछण-निर्लाञ्छन-न०।नितरां लाञ्छनमङ्गावयवच्छेदः,गवादिकर्णकम्बलशृङ्गपुच्छच्छेदनासावेधाङ्कनखण्डनत्वग्दाहाऽऽदिपृष्ठ गालनाऽऽदिरूपे (ध० २ अधि०) छेदनव्यापारे, बलीवर्दतुरङ्गाऽऽदीनां वर्धितकरणे, ध० र० । प्रश्न० । आ० चू० । प्रव० । "नासावेधोऽङ्कन पुच्छ-च्छेदन पृष्ठगालनम् । गोकर्णकम्बलच्छेदो, निर्लाञ्छनमुदीरितम् ॥ १ ॥ " तत्राऽङ्कन गवाश्वाऽऽदीनां चिह्नकरण, मुष्कोऽण्डस्तस्य छेदन वर्द्धितकीकरण, अस्मिन् जीवबाधा व्यक्तैव । ध० २ अधि० ।

णिल्लंछणकम्म-निर्लाञ्छनकर्मन्-न०। निर्लाञ्छनमेव कर्म जीविका निर्लाञ्छनकर्म। गोमहिष्यादीनां नासावेधे,गवाश्वाऽऽदीनां वर्धितकरणे,प्रव०६ द्वार ।श्रा० । उपा० । पञ्चा० । आव० । एतच्च कर्मत उपभोगपरिभोगवर्तिना कर्माऽऽदानहतुरतीचार एवेति वर्ज्यम् । ध० २ अधि० ।

णिल्लुंछ-मुच्-धा० । " मुचेश्छड्डावहेड-मेल्लोस्सिक्क-रेअव-णिल्लुञ्छ-धसाडाः " ॥ ८ । ४ । ९१ ॥ इति मुचेर्णिल्लुञ्छाऽऽदेश.। 'णिल्लुञ्छइ' । मुञ्चति । प्रा० ४ पाद ।

णिल्लज्ज-निर्लज्ज-त्रि० । लज्जारहिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णिल्लस-उल्लस-उत्-लस-धा० । उल्लसने, लसिते, "उल्लसेरूसलोसुम्भ-णिल्लस-पुलआअ-गुञ्जोल्लारोआ." ॥८।४।२०२॥ इति उत्पूर्वस्य लसधातो णिल्लसाऽऽदेश. । प्रा० ४ पाद ।

णिल्लसिअ-देशी-निर्गते, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णिल्लालिय-निर्लालित-त्रि० । प्रसारिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । लपलपायमाने, विवृतमुखाद् नि सारिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । कल्प० २ क्षण ।

णिल्लूर-छिद्-धा० । द्वैधीकरणे, " छिदेर्दुहाव-णिच्छल्ल-णिज्झोड-णिव्वर-णिल्लूर-लूरा " ॥ ८ । ४ । १२४ ॥ इति छिदेर्णिल्लूराऽऽदेश । 'णिल्लूरइ' । छिनत्ति । प्रा० ४ पाद ।

णिल्लेव-निर्लेप-त्रि० । चेतनस्य सकलपरभावसंयोगाभावेन व्याप्यव्यापकग्राहककर्तृत्वभोक्तृत्वाऽऽदिशक्तीनां स्वभावावस्थाने, अष्ट० । चेतनस्य सकलपरभावसंयोगाभावेन व्याप्यव्यापकग्राहककर्तृत्वभोक्तृत्वाऽऽदिशक्तीनां स्वभावावस्थान निर्लेप । नामतो निर्लेप -अभिधाधाऽऽत्मकजीवाजीवानाम् । स्थापनानिर्लेप -निर्ग्रन्थाऽऽकाराऽऽदि । द्रव्यनिर्लेप - कांस्यपात्राऽऽदिस्तद्व्यतिरिक्त । शेषस्तु पूर्ववत् । भावनिर्लेप-जीवाजीवभेदात् । अजीवा धर्माधर्माऽऽकाशाऽऽदि । जीवस्तु समस्तविभावाभिष्वङ्गरहित मुक्ताऽऽत्मा । नयैस्तु द्रव्यपरिग्रहाऽऽदिष्वलिप्त । नैगमेन सग्रहेण जीवो जात्याऽलिप्त ,व्यवहारेणालिप्त द्रव्यतस्त्यागी । शब्दनयेन सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानपरिच्छिन्नपरभावपरित्यागी तन्निमित्तभूतात् धनस्वजनोपकरणात् लेपनासक्त । समभिरूढेनाऽरिहन्ताऽऽदिप्रशस्तनिमित्तैर्बहुतरैः परिणामैरलिप्तत्वात् क्षीणमोहो जिन. केवली चालिप्त । एवम्भूतेन सिद्ध ,सर्वपर्यायैरलिप्तत्वात् । वाचनान्तरे तु-नैगमालिप्त , अशुत्यागी नैगमाऽऽकाररूपेण सग्रहेण सम्यग्दर्शनी सत्तया आत्मानं सर्वथा विभक्तत्वात् । व्यवहारेण तत्त्वरूपाऽपास्तरागाऽऽदिलेपत्यागात् । ऋजुसूत्रस्तु सन्निमित्ताऽऽदिष्वरक्तत्वेनाघलम्बनात् । शब्दत अभिसन्धिजवीर्यबुद्धिपूर्वकोपयोगस्य रागाऽऽदिषु अपरिणमनात् । समभिरूढन सर्वचेतनाया सर्ववीर्यस्य विभावाऽऽश्लेषरहितत्वात् । एवंभूतेन पूर्वोक्तचक्रभ्रमाऽऽदिमवोपग्राहिसर्वपुद्गलसङ्गरहितस्य सिद्धस्य निर्लेपत्वम् । पुनर्निक्षेपत्रये नयचतुष्टयम्, भावनिक्षेपे पर्यायालिप्तत्वेनाऽन्तिमनयत्रयम् । इति तत्त्वार्थवृत्त्याशय । अत्र भावसम्यक्त्वसाधकनिर्लेपाधिकार -

संसारे निवसन् स्वार्थ-सज्जः कज्जलवेश्मनि ।
लिप्यते निखिलो लोको, ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥१॥
नाऽहं पुद्गलभावानां, कर्त्ता कारयिता च न ।
नानुमन्ताऽपि चेत्यात्म-ज्ञानवान् लिप्यते कथम् ? ॥२॥
लिप्यते पुद्गलस्कन्धो, न लिप्ये पुद्गलैरहम् ।
चित्रव्योमाञ्जनेनेव, ध्यायन्निति न लिप्यते ॥३॥
लिप्तताज्ञानसंपात-प्रतिघाताय केवलम् ।
निर्लेपज्ञानमग्नस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ॥४॥
तपःश्रुताऽऽदिना मत्तः, क्रियावानपि लिप्यते ।
भावनाज्ञानसंपन्नो, निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥५॥
अलिप्तो निश्चयेनाऽऽत्मा, लिप्तश्च व्यवहारतः ।
शुद्ध्यत्यलिप्तया ज्ञानी, क्रियावान् लिप्तया दृशा ॥६॥
ज्ञानक्रियासमावेशः, सहैवोन्मीलने द्वयोः ।
भूमिकाभेदतस्त्वत्र, भवेदेकैकमुख्यता ॥ ७ ॥
सज्ज्ञानं यदनुष्ठानं, न लिप्तं दोषपङ्कतः ।
शुद्धबुद्धस्वभावाय, तस्मै भगवते नमः ॥८॥

अष्ट० ११ अष्ट० । विगतलेपे,भ०६ श०७ उ० । "लेपल्ले लोणे नीरए णिम्मले णिट्टिए णिल्लेवे सवहरे विसुद्धे भवइ ।" अत्यन्तसश्लेषात् तन्मयतागतबालाग्रापहारादपनीतमित्यादिगतधान्यलेपकोष्ठागारवद् निर्लेप । भ० ६ श० ७ उ० । अनु० । जी० । लेपरहिते पृथुकाऽऽदौ, आव० ४ अ० ।

णिल्लेवग-निर्लेपक-पुं० । रजके, व्य०१ उ० । "रायगिहे सेणिओ राया, तेण खोमजुयल णिल्लेवगस्स दिन्न ।" आ० चू०४ अ० ।

णिल्लेवण-निर्लेपन-न० । मलस्याभावे मलच्छोटने, व्य० १ उ० । नि० चू० । निर्लेपे, " उव्वत्तणणिल्लेवणपीहते ।" ओघ० । द्विविधानि शरीराणि-बद्धानि, मुक्तानि चेति । भ०७श० ४ उ० । (तेषा निर्लेपनमपि 'सरीर' शब्दे वक्ष्यते)

णिल्लेहण-निर्लेखन-न० । ईषच्छुष्कस्योद्वर्त्तने, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ० ।

णिल्लोह-निर्लोभ-त्रि० । विगतलोभे, उत्त० ८ अ० । प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोभचूडामणिना प्रव्राजिता । ती०३५कल्प ।

णिव-नृप-पु० । राजनि, नि० चू० २ उ० । " दशवेश्थासमो नृप ।" आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । दण्डिके, वृ० १ उ० ।

णिवइ-नृपति-पुं० । राजनि, व्य० १ उ० ।

णिवइता-निपतितृ-त्रि० । अवतरीतरि, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णिवइय-निपतित-त्रि० । उपरि पतिते तथा सत् यत् पीडयति तन्निपतितम् । त्वग्विषे दृष्टिविषे वा विषभेदे, न० । स्था० ४ ठा० ४ उ० । अधोलम्बमाने, "समुच्छिज्जइ वा, णिवइइ वा ।" आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

णिवउप्पय-निपातोत्पात-पु० । निपातपूर्वक उत्पातो यत्र स निपातोत्पात. । नाट्यभेदे, यत्र पूर्वं निपतन्ति, तत उत्पतन्ति । आ० म० १ अ० १ खण्ड । ज० ।

णिवकर-नृपकर-पुं० । राजहस्ते, पञ्चा० १८ विव० ।

णिवकरलुयाकिरियाजयणा-नृपकरलूताक्रियायतना-स्त्री० । नृपकरे राजहस्ते लूता वातिको रोगविशेषो नृपकरलूता,तस्या उपशमे क्रिया चिकित्सा मन्त्रापमार्जनाऽऽदिका, तस्यां या यतना प्रयत्नः, सा तथा । राजहस्तलूताचिकित्साप्रयत्ने, पञ्चा० १८ विव० ।

णिवट्टण-निवर्त्तन-न० । निवृत्तौ मार्गनिवर्त्तनस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

णिवडण-निपतन-न० । अधःपतने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णिवडिऊण-निपत्य-अव्य० । अध पतित्वेत्यर्थे, "णिवडिऊण लेणेसु पय पिय करेह मे भयव ! पसाय ।" दर्श० ३ तत्त्व ।

णिवडिय-निपतित-त्रि० । नीचै पतिते, "सव्वगेहिं णिवडिया ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिवण्ण-निपन्न-त्रि० । शयिते, आव० ४ अ० । सुप्ते, सथा० । त्वग्वर्तिते, वृ० १ उ० ।

निपन्न-पु० । " धम्म सुक्कं च दुवे, न वि झायइ न वि अ अट्टरुद्दाइ । एसो काउस्सग्गो, णिवण्णओ होइ नायव्वो ॥१॥ " इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव० ५ अ० ।

णिवण्णणिवण्ण-निपन्ननिपन्न-पु० । " अट्ट रुद्द च दुवे, झायइ झाणाइँ जो णिवण्णो उ । एसो काउस्सग्गो, णिवण्णणिवण्णगो नाम ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव० ५ अ० ।

णिवण्णुस्सिय-निपन्नोत्सित-पु० । " धम्म सुक्क च दुवे, झायइ झाणाइँ जो णिवण्णो उ । एसो काउस्सग्गो, होइ

णिवसुस्सिओ नाम ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव० ५ अ० ।

णिवत्तमाण–निवर्त्तमान–त्रि० । प्रत्यावर्त्तमाने, " गुरुणा णिव-त्तमाणे । " व्य० १ उ० ।

णिवत्ति–निवृत्ति–स्त्री० । बन्धने, स्था० ४ ठा० १ उ० । निष्प-त्तौ, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णिवपडिमा–नृपप्रतिमा–स्त्री० । राज्ञ आकारे, " सगामे णिव-पडिमं, देवी काऊण जुज्झति रणम्मि । " व्य० १ उ० ।

णिववंस–नृपवंश–पुं० । नरेशवंशे, जीवा० १२ अधि० ।

णिवविट्ठि–नृपविष्टि–स्त्री० । राजविष्टौ, व्य० २ उ० ।

णिवसण–निवसन–न० । परिधाने, ज्ञा० १ श्रु० ८ उ० । विशि-ष्टरचनारचिते परितः परिधाने, अनु० । "महिलिअ णिवसणे-णं ।" अनु० ।

णिवह–निवह–पुं० । सङ्घाते, विशे० । आ० म० ।

गम–धा० । गतौ, " गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसा-क्कुस–पच्चड्ड–पच्छन्द–णिम्मह–णी–णीण–णीलुक्क–पदअ–र-म्भ–परिअल्ल–वोल–परिअल–णिरिणास–णिवहावसेहावहरा." ॥ ८ । ४ । १६२ ॥ इति सूत्रेण गमधातोर्णिवहाऽऽदेशो वा । ' णिवहइ ' । पक्षे–' गच्छइ ' । गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

नश्–धा० । अदर्शने, "नशेर्णिरिणास–णिवहावसेह–पडिसा-सेहावहरा." ॥ ८ । ४ । १७८ ॥ इति सूत्रेण णिवहाऽऽदेशः । 'णिवहइ' । नश्यति । प्रा० ४ पाद । समृद्धौ, दे० ना० ४ वर्ग २६ गाथा ।

णिवाअ–देशी–स्वेदे, दे० ना० ४ वर्ग ३४ गाथा ।

णिवाइ[ण्]–निपातिन्–त्रि० । निपतितु शीलमस्येति निपातीति विगृह्य णिनि. । निपतनं वा निपातः, सोऽस्यास्तीति निपाती । भ्रष्टे, अधःपतिते, सयमादसयम प्राप्ते, " जे पुव्वुट्ठाई णो पच्छा णिवाई, जे पुव्वुट्ठाई पच्छा णिवाई, जे णो पुव्वुट्ठाई प-च्छा णिवाई । " आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

णिवाएइत्ता–निपात्य–अव्य० । लगयित्वेत्यर्थे, " जाणु धरणि-तलसि निहट्टु णिवाडेइत्ता । " जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

णिवाण–निपान–न० । जलपानस्थाने, बृ० ३ उ० ।

णिवाय–निपात–पुं० । निपतन निपातः । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । पतने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विनाशे, पिं० । निवेश-ने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । नितरां पातो निपात । सयोगे, " आयवस्स णिवाएणं । " उत्त० २ अ० । तत्तदर्थद्यो-तनाय तेषु तेषु निपततीति निपातः । प्रश्न० ५ सम्व० द्वार । " निपात एकाजनाङ् " ॥१।१।१४॥ "चादयोऽसत्वे ।१।४।५७॥ इति निपातेतिसंज्ञितेषु द्योतकत्वेनापरिमितार्थेषु चाऽऽदिषु, विशे० । ज्ञा० । आ० म० । मरणे, वाच० ।

निवात–त्रि० । वायुप्रवेशरहिते, भ० ७ श० ८ उ० । ज्ञा० । " तसिप्पेगे अणगारा, हिमवाए णिवायमेसति । " शीतार्दिता निवातमेषयन्ति–घट्टशालाऽऽदिवसतीर्वातायनाऽऽदिरहिता । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

णिवायगंभीर–निवातगम्भीर–त्रि० । निवातविशाले, यद् हि गृहाऽऽदिक वातरहितमपि महद् भवति तत्तथा । भ० ७ श० ८ उ० ।

णिवायण–निपातन–न० । गर्ताऽऽदिप्रक्षेपणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । सूत्र० । व्याकरणप्रसिद्धे आदेशाऽऽगमाऽऽद्ये समुदाया-ऽऽदेशे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिवायसरणप्पईव–निवातशरणप्रदीप–पुं० । निर्गतवातगृहै-कदेशस्थदीपे, " जं पुण सुनिप्पकंप, निवायसरणप्पईवमिव चित्तं । " आव० ४ अ० ।

णिवायसरणप्पईवज्झाण–निवातशरणप्रदीपध्यान–न० । वा-तवर्जितगृहदीपज्वलने, " णिवायसरणप्पईवज्झाणमिव णि-प्पकपे । " प्रश्न० ५ सम्व० द्वार ।

णिवारण–निवारण–न० । नितरां वारणं निवारणम् । प्रतिघा-ते, भ० ६ श० ३३ उ० । नितरां वार्यते निषिध्यतेऽनेन शीताऽऽ-तपाऽऽदीनीति निवारणम् । सौधाऽऽदिके तथाविधे गृहे, वस्त्राऽऽ-दौ च । उत्त०२ अ० । "न मे निवारण अत्थि, छवित्ता णं न विज्जई । अह तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिंतए ॥७॥" उत्त० २ अ० ।

णिवारय–निवारक–त्रि० । मैव कार्षीरित्येव निषेधके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । नि० ।

णिवारिय–निवारित–त्रि० । प्रतिषिद्धे, आव० ४ अ० ।

णिवास–निवास–पुं० । निवसने भूमिभागे, नि० १ श्रु० १ व-र्ग १ अ० ।

णिविट्ठ–निविष्ट–त्रि० । अध्युपपन्ने, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । सूत्र० । ज्ञा० । जीवप्रदेशेषु, भ० १३ श० ७ उ० । तीव्रानु-भावजनकतया स्थिते कर्मांशे, प्रश्न० ३ पद । भ० ।

निर्विष्ट–त्रि० । लब्धे, उपात्ते, "थोव बहु णिविट्ठम्मि" इत्यादौ नि-र्विष्टशब्दस्य लाभार्थस्य दर्शनात् । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णिविट्ठकप्पट्ठिइ–निर्विष्टकल्पस्थिति–स्त्री० । कल्पस्थितिभेदसा-धुसामाचारीभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ० । (व्याख्या 'कप्पठिइ ' शब्दे तृतीयभागे २३३ पृष्ठे दर्शिता)

णिविड–निविड–त्रि० । 'डो लः' ॥८।१।२०२॥ इत्यस्य कादा-चित्कत्वान्न डस्य लः । प्रा० १ पाद । सान्द्रे, वाच० ।

णिवित्ति–निवृत्ति–स्त्री० । आरम्भनिवर्त्तने, " न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । " नियमविहूणस्स, परदारगमस्स उ । अणियत्तस्स भवे बधो, णिवित्तीए महाफ-ला ॥ सुघेवाण (?) निवित्तिं जो, मणसा वि य विराहए । मो मओ डुग्गइं गच्छे, मेघमाला जहज्जिया ॥ " महा० ६ अ० ।

णिवित्तिपहाण–निवृत्तिप्रधान–त्रि० । आरम्भान्तरनिवर्त्तनसारे बहुतरसत्त्वघातनिवर्त्तनसारे, पञ्चा० ७ विव० ।

णिवुट्ठ–निवृष्ट–त्रि० । नितरां वृष्टे, " पवुट्ठे देवे त्ति वा निवुट्ठे देवे त्ति वा णो वए । " आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

णिवुट्टित्ता–निर्वेष्ट्य–अव्य० । ज्ञापयित्वेत्यर्थे, " दिवसखेत्तस्स णिवुट्टित्ता रत्तिखेत्तस्स अभिवुड्ढित्ता चारं चरति । " सू० प्र० १ पाहु० ।

णिवुड्डेमाण--निर्वेष्टयत्--त्रि० । हापयति, सू० प्र० । "विक्ख-मधुरिं णिवुड्डेमाणे अट्ठारसजोयणाइं परिरयवुड्ढिं णिवुड्ढिं णिवु-ड्डेमाणे ।" सू० प्र० २ पाहु० ।

णिवुड्ढि-निवृद्धि-स्त्री० । वातपित्ताऽऽदिभिः शरीरोपचयहानौ, स्था० । निर्शब्दस्याभावार्थत्वाद्, निरुदरा कन्येत्यादिवत् । "दोएह गब्भत्थाए निवुड्ढी पण्णत्ता । त जहा--मणुस्सााण चेव, पंचिंदि-यतिरिक्खजोणियाणं चेव ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । "तिहिं ठाणेहिं जीवाण णिवुड्ढी पराणत्ता । त जहा-उड्डाए, अहोए, तिरियाए ।" स्था० ३ ठा० २ उ० । वृद्धयभावे, सू० प्र० १२ पाहु० ।

णिवुत्त-निवृत्त-त्रि० । "निवृत्तवृन्दारके वा" ॥ ८ । १ । १३२ ॥ इति ऋत उत्वम् । प्रवृत्तिविमुखे, प्रा० १ पाद ।

णिवेएउं-निवेद्य-अव्य० । गुर्वादेराख्यायेत्यर्थे, पञ्चा० १५ विव० ।

णिवेयण--निवेदन-न० । गुरौ प्रत्यर्पणे, विशे० । यथा-"भवदी-योऽयं किङ्करः, यूयं मे नवीऽधिनिमभस्य नाथा." इत्येव समर्प-णम् । पञ्चा० १ विव० ।

णिवेयणापिंम-निवेदनापिण्ड-पुं० । यक्षाऽऽदिभ्यो निवेद्यमाने पिण्डे, नि० चू० ।

जे भिक्खू णिवेयणापिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ।१८७।

ओवाइय, अणोवाइय वा ज पुण्णभद्दमाणिभद्दसव्वाणजक्ख-महुमिमादियाण निवेदिज्जति, सो णिवेयणापिंडो । सो य दुविहो-साहुणिस्साकडो, अणिस्साकडो य । णिस्साकडं गेण्हतस्स चउगुरुग, अणिस्साकडे मासलहु, आणादिया य दोसा ।

गाहा-

सव्वाणमाइयाणं, दुविहो पिंडो निवेयणाओ य ।
णिस्साए अणिस्साए, णिस्साए आणमादीणि ॥२०६॥

सव्वाणादिया जे अरहतपक्खिया देवता, ताण जो पिंडो नि-वेदिज्जति, सो दुविहो-णिस्साकडमणिस्साकडो य । णिस्सा-कडं गेण्हते आणादिया ।

इमेण विधिणा णिस्साकड करेंति । गाहा-

वत्तं करेउ आहा, समणाणत्थं उवक्खडं जोत्तुं ।
सड्ढाकडं ठवेति य, णिस्सापिंडम्मि सुत्तं तु ॥२०७॥

दाणरुइसड्ढो वा णिवेयणववदेस कातु साधूण देति, आ-धाकम्म ठवित च । अहवा--जाव साहू अत्थति, ताव ओवा-तिय देमो, सुद साहू गिण्हति, पत्थ ओसक्कणमीसजायठवियग-दोसा । जया वा साहू मागमिस्सति, तदा दाहेमो । पत्थ ओस-क्कणमीसजातठवियदोसा सड्ढाकर साहु णिस्साए वा कम साहु णिस्सा वा ठवेति, पत्थ ठवियगदोसो केवलो । एस णिस्सा-कडो, पत्थ सुत्तणिवातो, इमो अणिस्सातो कडो साहू होउ वा, मा वा, देवता ते पुव्वपवत्त ठवेति, सा य ठवितो साहू य प-त्ताए सो कप्पति ।

णिस्साकडो वि कप्पति इमेहिं कारणेहिं-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जयणा गहणं तु गीयत्थे ॥२०८॥

पणगपरिहाणी ते गिण्हंति, जहा वा अगीतअपरिणामगा ण जाणति तहा गीयत्था गेण्हेति ।" नि० चू० ११ उ० ।

णिवेस-निवेश-पुं० । नि-आधिक्येन वेशो निवेशः । प्रवेशे, नि० चू० ४ उ० । स्थापने, स्था० ६ ठा० । यत्र प्रभूतानां भाण्डानां प्रवेशस्तादृशे स्थाने, बृ० । "णिवेसों सत्थाऽऽइजत्ता वा ।" निवेशो नाम-यत्र सार्थ आवासित., आदिग्रहणेन ग्रामो वा, अन्यत्र प्रस्थितः सन् यत्रान्तरा समधिवसति, यात्रायां वा-गतो लोको यत्र तिष्ठति । एष सर्वोऽपि निवेश उच्यते । बृ० १ उ० ।

णिवेसइत्ता-निवेश्य-अव्य० । अवधार्येत्यर्थे, "इत्थीण चित्त-सि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ।" उत्त० ३२ अ० ।

णिवेसण-निवेशन-न० । स्थाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । एकद्वारे पृथक्परिक्षिप्ते अनेकगृहे, आव० ४ अ० । यथा एक-निष्क्रमणप्रवेशानि द्व्यादीनि गृहाणि । बृ० १ उ० ।

णिवेसिय-निवेश्य-अव्य० । प्रवेश्येत्यर्थे, "अप्पणो अणुग्गाए णिवेसिय ण णीहरइ ।" नि० चू० ३ उ० ।

णिवेसियव्व-निवेष्टव्य-त्रि० । स्थापनीये, "परलोगे चित्त णि-वेसियव्व असासय जीविय ।" आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णिव्व-देशी-ककुदे, दे० ना० ४ वर्ग ४८ गाथा ।

णिव्वच्छण-देशी-अवतारणे, दे० ना० ४ वर्ग ४० गाथा ।

णिव्वट्ट-गाढ-त्रि० । अत्यर्थे, "शीघ्राऽऽदीनां बहिल्लाऽऽदयः" ॥८ । ४।४२२ ॥ इति गाढस्य णिव्वट्ट । "विहवे कस्स थिरत्तणउँ, जोव्वणि कस्स मरट्ट । सो लेखडउ पठाविअइ, जो लगइ णि-व्वट्ट ॥१॥" प्रा० ४ पाद ।

णिव्वट्टग-निर्वर्तक-त्रि० । कर्तरि, आव० ४ अ० । करणे, विशे० ।

णिव्वट्टित्ता-निर्वर्त्य-अव्य० । जीवप्रदेशेभ्यः शरीर पृथक्कृत्वे-त्यर्थे, स्था० २ ठा० ४ उ० । (देशेन सर्वेण वाऽऽत्मा शरीरं निर्वर्त्य निर्यातीति, 'आता' शब्दे द्वितीयभागे २०१ पृष्ठे उक्तम्)

णिव्वट्टिय-निर्वर्तित-त्रि० । कृते, स्था० १ ठा० । "असघडा ति वा, बहुणिव्वट्टियफला ति वा, वइरसजूया ति वा ।" आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० । प्रश्न० ।

णिव्वड-पृ-धा० । पृथग्भवने । "पृथक्स्पष्टे णिव्वड." ॥८।४।६२॥ इति पृथग्भूते स्पष्टे च कर्तरि छुवो णिव्वडमेत्यादेशः । "णिव्व-डइ" । पृथग्भवतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद । नग्ने, दे० ना० ४ वर्ग २८ गाथा ।

णिव्वण-निर्व्रण-त्रि० । विस्फोटकाऽऽदिकृतक्षतरहिते, जं० २ वक्ष । औ० । जी० ।

णिव्वत्त-निर्वृत्त-त्रि० । निर्वर्तिते, स्था० ६ ठा० । अतिक्रान्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णिव्वत्तणया-निर्वर्तनता-स्त्री० । निष्पत्तौ, "तओ निव्वत्तण-या तओ परियाइयत्ता ।" प्रज्ञा० ३४ पद ।

णिव्वत्तणा-निर्वर्तना-स्त्री० । इन्द्रियाणां निष्पादनायाम्, उ-त्त० ३ अ० ।

णिव्वत्तणाहिगरणिकिरिया-निर्वर्तनाधिकरणिक्रिया-स्त्री० । निर्वर्तनमसिशक्तितोमराऽऽदीमा निष्पादन, तदेवाधिकरणक्रिया। आधिकरणिक्याः क्रियाया भेदे,भ०३ श० ३ उ० । स्था० । निष्ठानयने, स्था० २ ठा० १ उ० ।

णिव्वत्ति-निर्वृत्ति-स्त्री० । वस्तुतः करणे, " अणोसमाहाण, जमिह करण न णिव्वत्ती । " विशे० । निर्वर्तनं निर्वृत्तिर्निष्पत्ति० । निष्पत्तौ, भ० ।

निर्वृत्तिभेदाः-

कइविहा णं भंते ! जीवणिव्वत्ती पण्णत्ता ? । गोयमा ! पंचविहा जीवणिव्वत्ती पण्णत्ता । त जहा-एगिंदियजीवणिव्वत्ती०जाव पंचिंदियजीवणिव्वत्ती । एगिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-पुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती० जाव वणस्सइकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती । पुढवीकाइयएगिंदियजीव णिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । त जहा-सुहुमपुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती य,बादरपुढवीकाइयएगिंदियजीवणिव्वत्ती य । एव एएणं अभिलावेणं भेदो-जहा वड्डगबंधे तेयगसरीरस्स० जाव सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीतवेमाणियदेवपंचिंदियजीवणिव्वत्ती णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव देवपंचिंदियजीवणिव्वत्ती य, अपज्जत्तगसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव देवपंचिंदियजीवणिव्वत्ती य । कइविहा णं भंते ! कम्मणिव्वत्ती पण्णत्ता ? । गोयमा ! अट्ठविहा कम्मणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-णाणावरणिज्जकम्मणिव्वत्ती० जाव अंतराइयकम्मणिव्वत्ती । णेरइया णं भंते ! कइविहा कम्मणिव्वत्ती पण्णत्ता ?। गोयमा ! अट्ठविहा कम्मणिव्वत्ती पण्णत्ता । त जहा-णाणावरणिज्जकम्मणिव्वत्ती०जाव अंतराइयकम्मणिव्वत्ती य । एवं० जाव वेमाणियाणं । कइविहा णं भंते ! सरीरणिव्वत्ती पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा सरीरणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-ओरालियसरीरणिव्वत्ती० जाव कम्मगसरीरणिव्वत्ती । णेरइया णं भंते ! एवं चेव । एवं०जाव वेमाणियाणं,णवरं णायव्वं जस्स जइ सरीराणि । कइविहा णं भंते ! सव्विंदियणिव्वत्ती पण्णत्ता ? । गोयमा ! पंचविहा सव्विंदियणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-सोइंदियणिव्वत्ती० जाव फासिंदियणिव्वत्ती । एवं णेरइया० जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! एगा फासिंदियणिव्वत्ती पण्णत्ता । एवं जस्स जइ इंदियाणि० जाव वेमाणियाणं । कइविहा णं भंते ! भासाणिव्वत्ती पण्णत्ता ? । गोयमा ! चउव्विहा भासाणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-सच्चभासाणिव्वत्ती, मोसभासाणिव्वत्ती, सच्चामोसभासाणिव्वत्ती, असच्चामोसभासाणिव्वत्ती । एवं एगिंदियवज्जं जस्स जा भासा०जाव वेमाणियाणं । कइविहा णं भंते ! मणणिव्वत्ती पण्णत्ता ?। गोयमा ! चउव्विहा मणणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-सच्चमणणिव्वत्ती० जाव असच्चामोसमणणिव्वत्ती । एवं एगिंदियवज्जं विगलिंदियवज्जं०जाव वेमाणियाण । कइविहा णं भंते ! कसायणिव्वत्ती पण्णत्ता ? । गोयमा ! चउव्विहा कसायणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-कोहकसायणिव्वत्ती०जाव लोभकसायणिव्वत्ती । एवं०जाव वेमाणियाणं । कइविहा णं भंते ! वण्णणिव्वत्ती पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा वण्णणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-कालवण्णणिव्वत्ती० जाव सुक्किल्लवण्णणिव्वत्ती । एवं णिरवसेसं० जाव वेमाणियाणं । एवं गंधणिव्वत्ती दुविहा० जाव वेमाणियाणं । रसणिव्वत्ती पंचविहा०जाव वेमाणियाणं । फासणिव्वत्ती अट्ठविहा०जाव वेमाणियाणं । कइविहा णं भंते ! संठाणणिव्वत्ती पण्णत्ता ?। गोयमा ! छव्विहा संठाणणिव्वत्ती पण्णत्ता ?। त जहा-समचउरससंठाणणिव्वत्ती० जाव हुंडसंठाणणिव्वत्ती । णेरइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! एगा हुंडसंठाणणिव्वत्ती पण्णत्ता । असुरकुमाराणं पुच्छा ?। गोयमा ! एगा समचउरससंठाणणिव्वत्ती एवं० जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! एगा मसूरचंदसंठाणणिव्वत्ती पण्णत्ता । एवं जस्स जं संठाणं०जाव वेमाणिया । कइविहा णं भंते ! सण्णाणिव्वत्ती पण्णत्ता ?। गोयमा ! चउव्विहा सण्णाणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-आहारसण्णाणिव्वत्ती० जाव परिग्गहसण्णाणिव्वत्ती । एवं० जाव वेमाणिया । कइविहा णं भंते ! लेस्साणिव्वत्ती पण्णत्ता ? । गोयमा ! छव्विहा लेस्साणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-कण्हलेस्साणिव्वत्ती०जाव सुक्कलेस्साणिव्वत्ती । एवं० जाव वेमाणिया जस्स जइ लेस्साओ तस्स तत्तिया भाणियव्वा । कइविहा ण भंते ! दिट्ठिणिव्वत्ती पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविहा दिट्ठिणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-सम्मदिट्ठिणिव्वत्ती, मिच्छादिट्ठिणिव्वत्ती, सम्मामिच्छादिट्ठिणिव्वत्ती । एवं० जाव वेमाणिया, जस्स जइविहा दिट्ठी । कइविहा ण भंते ! णाणणिव्वत्ती पण्णत्ता? । गोयमा ! पंचविहा णाणणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-आभिणिबोहियणाणणिव्वत्ती०जाव केवलणाणणिव्वत्ती । एवं एगिंदियवज्जं० जाव वेमाणिया जस्स जइ णाणा । कइविहा णं भंते ! अण्णाणणिव्वत्ती पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविहा अण्णाणणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-मइअण्णाणणिव्वत्ती, सुयअण्णाणणिव्वत्ती, विभंगणाणणिव्वत्ती । एवं

जस्स जइ॰ जाव वेमाणिया । कइविहा णं भंते ! जोगणिव्वत्ती पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा–मणजोगणिव्वत्ती,वइजोगणिव्वत्ती,कायजोगणिव्वत्ती। एवं ०जाव वेमाणिया जस्स जइविहो जोगो। कइविहा णं भंते! उवओगणिव्वत्ती पण्णत्ता ?। गोयमा! दुविहा उवओगणिव्वत्ती पण्णत्ता। तं जहा–सागारोवओगणिव्वत्ती,अणागारोवओगणिव्वत्ती । एवं॰ जाव वेमाणिया।

अत्र सग्रहणीगाथे वाचनान्तरे–

"जीवाणं णिव्वत्ती,कम्मप्पगडी(णिव्वत्ती)सरीरणिव्वत्ती।
सव्विंदियणिव्वत्ती, नामा य मणे कसाया य ॥ १ ॥
वर्णे गंध रसे फासे, संठाणविही य होइ बोधव्वो ।
लेस्सा दिट्ठी णाणे, उवओगे होइ जोगे य "॥ २ ॥

(कइविहेत्यादि) निर्वर्त्तनं निर्वृत्तिर्निष्पत्तिर्जीवस्यैकेन्द्रियाऽऽदितया निर्वृत्तिर्जीवनिर्वृत्ति । (जहा वण्णगबंधे तेयगसरीरस्स त्ति) यथा महद्बन्धाधिकारेऽष्टमशतकनवमोद्देशकाभिहिते तेजःशरीरस्य बन्ध उक्त,एवमिह निर्वृत्तिर्वाच्या, सा च तत एव द्रष्टव्येति । पूर्वं जीवापेक्षया निर्वृत्तिरुक्ता, अथ तत्कार्यतद्धर्मापेक्षया नामाह– (कइविहेत्यादि) (कसायणिव्वत्ति त्ति) कषायवेदनीयपुद्गलनिर्वर्तनम । (जस्स ज सठाण ति) तत्राप्कायिकाना स्तिबुकसस्थान, तेजसा सूचीकलापसस्थान, वायूना पताकासस्थान, वनस्पतीनां नानाऽऽकारसस्थान, विकलेन्द्रियाणा हुण्डम, पञ्चेन्द्रियतिरश्चा, मनुष्याणा च षड्व्यन्तराऽऽदीनां समचतुरस्रसस्थानम् । भ० १९ श० ८ उ० ।

णिव्वत्तिय–निर्वर्तित–त्रि॰ । बन्धयोग्यतया निष्पादिते, स्था० १० ठा० । सामान्येनोपार्जिते, स्था० २ ठा॰ ४ उ॰ ।

णिव्वपिअ–देशी–परिभुक्ते, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णिव्वय–निर्व्रत–त्रि॰ । अविरते, स्था० ३ ठा० १ उ॰ । प्राणातिपाताऽऽद्यनिवृत्ते, स्था० ३ ठा० २ उ० । अणुव्रतरहिते,ज्ञा० १ श्रु० ८ अ॰ ।

णिव्वयण–निर्वचन–न० । निरुक्तौ, विशे० । शब्दार्थकथने, आ० म॰ १ अ॰ २ खण्ड । व्याकरणे, स्था० १० ठा० ।

णिव्वलिअ–देशी–जलधौते, प्रविगणिते, विघटिते च । दे॰ ना॰ ४ वर्ग ५१ गाथा ।

णिव्वह–पिपृ–धा० । पेषणे, " पिषेर्णिव्वह–णिरिणास–णिरिणज्ज–रोञ्च–चड्डाः " ॥ ८ । ४ । १८५ ॥ इति पिषेर्णिव्वहाऽऽदेशः । 'णिव्वहइ ।' पिनष्टि । प्रा० ४ पाद । ' णिव्वहेपज्जा । ' निर्वहेत्, असारतामापादयेत् । सूत्र॰ १ श्रु० ९ अ॰ ।

णिव्वहण–देशी–विवाहे, दे॰ ना॰ ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णिव्वा–विश्रम–वि–श्रम । धा० । विरामे, श्रमान्ते, स्वास्थ्ये, " विश्रमेर्णिव्वा " ॥ ८ । ४ । १५९ ॥ इति विपूर्वस्य श्रमधातोर्णिव्वाऽऽदेश । ' णिव्वाइ ' । पक्षे–'वीसमइ' । विश्राम्यति । प्रा॰ ४ पाद ।

णिव्वाघाइम–निर्व्याघातिम–त्रि० । व्याहनन व्याघात, पर्वताऽऽदिस्खलनम्, तेन निर्वृत्त व्याघातिमम् । " भावादिमन् " ॥ ६ । ४ । २१ ॥ इति इमन्प्रत्ययः । निर्व्याघातिमं व्याघाताविर्गतम् । स्वाभाविके, च० प्र० १८ पाहु॰ १ पाहु० । सू० प्र० ।

णिव्वाघाय–निर्व्याघात–अव्य० । व्याघातस्याभावो निर्व्याघातम । व्याघाताभावे, प्रज्ञा० २ पद । " णिव्वाघाएण पन्नरसकम्मभूमीसु ।" प्रज्ञा० २ पद । धरणीधराऽऽदिभि प्रतिहतत्वात् (स्था० ६ ठा०) कटकुड्याऽऽद्यप्रतिहतत्वाद् व्याघातरहिते केवलज्ञाने, औ० । दशा० ।

णिव्वाण–निर्वाण–न० । निर्वृतौ, विशे० । उत्त० । पञ्चा॰ । आ० चू॰ । सूत्र० । आत्मस्वास्थ्ये, आ० चू० ४ अ० । आचा॰ । आव॰ । कर्मकृतविकाररहितत्वे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । सकलसतापरहितत्वे, औ० । सर्वद्वन्द्वोपरतिभावे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सकलकर्मविरहजे सुखे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सकलकर्मक्षयजे आत्यन्तिके सुखे, औ० । अशेषकर्मक्षयरूपे (सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा०) मोक्षे, ध० २ अधि० । प्रश्न० । आतु० । सूत्र० । परमपदे, षो १५ विव० । घातिकर्मचतुष्टयरूपेण कर्मक्षयेण केवलज्ञानावाप्तौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । मोक्षपदशेषे कर्मक्षयरूपे ईषत्प्राग्भाराऽऽख्ये भूभागोपर्यवस्थितक्षेत्रखण्डे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

मोक्षसिद्धि –

ते पव्वइए सोउं, पहासो आगच्छई जिणसयासं ।
वच्चामि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ १९७२ ॥

सुगमा ॥ १९७२ ॥

तत किमित्याह–

आभट्ठो य जिणेण, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं ॥१९७३॥

तथैव ॥ १९७३ ॥

आभाष्य तत किमुक्तोऽसावित्याह–

किं मन्ने णिव्वाणं, अत्थी नत्थि त्ति संसओ तुज्झ ?।
वेयपयाण य अत्थं, न याणसी तेसिमो अत्थो ॥१९७४॥

हे आयुष्मन् ! प्रभास! त्वमेव मन्यसे किं निर्वाणमस्ति, न वा?, इति । अय च सशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धन । तानि चामूनि वेदपदानि–" जरामर्यं वैतत्सर्वं यदग्निहोत्रम ।" तथा–' सैषा गुहा दुरवगाहा । ' तथा–"द्वे ब्रह्मणी परमपर च । " तत्र "पर सत्य ज्ञानमनन्तर ब्रह्मेति "एतेषा चायमर्थस्तव चेतसि वर्तते–यदेतदग्निहोत्र तज्जरामर्यमेव यावज्जीव कर्तव्यमिति । अग्निहोत्रक्रिया च भूतवधहेतुत्वाच्छबलरूपा । सा च स्वर्गफलेव स्यान्नापवर्गफला । 'यावज्जीवम्' इतिचोक्ते कालान्तर नास्ति, यत्रापवर्गहेतुभूतक्रियाऽन्तराऽऽरम्भ स्यात्तस्मात्साधनाभावान्मोक्षाभाव । ततश्चेत्यादिकानि किल मोक्षाभावप्रतिपादकानि । शेषाणि तु तदस्तित्वसूचकानि, यतो गुहाऽत्र मुक्तिरूपा, सा च ससाराभिनन्दिनां दुरवगाहा, दु प्रवेशात् । तथा–परं ब्रह्म सत्य मोक्ष, अनन्तर तु ब्रह्मज्ञानमिति। ततो मोक्षास्तित्व नास्तित्व च वेदपदप्रतिपादितमवगम्य तव सशय । तत्रैषां वेदपदानामर्थं त्व न जानासि, यतस्तेषामयमर्थो वक्ष्यमाणलक्षण इति ॥ १९७४ ॥

युक्तिमपि मोक्षाभावप्रतिपादने प्रभासाध्यवसितां दूषयितु भगवान् प्रकटयितुमाह–

मन्नसि किं दीवस्स व, नासो निव्वाणमस्स जीवस्स ?।

दुक्खक्खयाइरूवा, किं होज्ज व से सओऽवत्था ?।१९७५।

आयुष्मन्! प्रभास! त्वमेव मन्यसे–किं दीपस्येवास्य जीवस्य नाशो ध्वस एव निर्वाणम्?। यथाऽऽहुः सौगतविशेषा. केचित्। तद्यथा–

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्,
स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥ १ ॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्,
क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्"॥ २ ॥ इति।

किं वा यथा जैनाः प्राऽऽहुः तथा निर्वाणं भवेत्?। किं तदित्याह. सतो विद्यमानस्य जीवस्य विशिष्टा काचिदवस्था। कथंभूता?, रागद्वेषमदमोहजन्मजरारोगाऽऽदिदुःखक्षयरूपा। उक्तं च- "केवलसंविद्दर्शन-रूपाः सर्वार्तिदुःखपरिमुक्ता। मोदन्ते मुक्तिगता., जीवा क्षीणाऽऽन्तरारिगणा.॥१॥" इति॥१९७५॥

प्रकारान्तरेणापि संशयकारणमाह –

अहवाऽणाइत्तणओ, खस्स व किं कम्मजीवजोगस्स ?।
अविओगाओ न भवे, संसाराभाव एव त्ति ॥१९७६॥

अथवा त्वमेव मन्यसे–नूनं संसाराभाव एव न भवेत्। कुत. ?, अवियोगाद्वियोगायोगात्। कस्य ?, कर्मजीवयोः संयोगस्य। कुतः ?, अनादित्वात्, खस्येव। इह ययोरनादि. संयोगस्तयोर्वियोगो नास्ति, यथा जीवाऽऽकाशयोः। अनादिश्च जीवकर्मणो· संयोग.। ततो वियोगानुपपत्ति·। ततश्च न संसाराभावः। तथा च सति कुतो मोक्ष· ?, इति ॥ १९७६ ॥

अथ प्रत्यासत्तेरेवानन्तरोक्तस्यैव प्रतिविधानमाह–

मणिवज्ज मंमिओ इव, विओगमिह कम्मजीवजोगस्स।
तमणाइणो वि कंचण-धाऊण व णाणकिरियाहिं।१९७७।

(अणाइणो वि त्ति) अनादेरपि जीवकर्मसंयोगस्य (तमिति) त्वं प्रतिपद्यस्व वियोगं, बन्धमोक्षवादे मणिमकवत्। कयोरिव यो वियोग ?, काञ्चनधातुपाषाणयोरिव। किं निर्हेतुक एव जीवकर्मणोर्वियोग.?। न, इत्याह-ज्ञानक्रियाभ्याम्। इदमुक्तं भवति- नायमेकान्तो यदनादिसंयोगो न भिद्यते, यत काञ्चनधातुपाषाणयोरनादिरपि संयोगोऽग्न्यादिसंपर्केण विघटत एव, तद्वज्जीवकर्मसंयोगस्याऽपि सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां वियोगं मणिमकवत् त्वमपीह प्रतिपद्यस्वेति ॥ १९७७ ॥

अथ प्रकारान्तरेणाऽपि मोक्षाभावप्रतिपादकं प्रभासाभिप्रायं भगवान् प्रकटयितुमाह–

जं नारगाइभावो, संसारो नारगाइभिण्णो य।
को जीवो त मन्नसि, तन्नासे जीवनासो त्ति ॥१९७८॥

यद्यस्मान्नारकतिर्यग्नरामरभाव एव नारकाऽऽदित्वमेव संसार उच्यते, नान्य, नारकाऽऽदिपर्यायभिन्नश्च कोऽन्यो जीव· ?, न कोऽपीत्यर्थः। नारकाऽऽदिभावादन्यत्वेन कदाचिदपि जीवस्यानुपलम्भादिति भाव.। ततस्तन्नाशे नारकाऽऽदिभावरूपसंसारनाशे जीवस्य स्वस्वरूपनाशात्सर्वथा नाश एव भवति, ततः कस्याऽसौ मोक्षः ?। इति त्वं मन्यसे ?॥ १९७८ ॥

तदेतदयुक्तम्। कुतः ?, इत्याह–

न हि नारगाइपज्जा-यमेत्तनासम्मि सव्वहा नासो।
जीवद्दव्वस्स मओ, मुद्दानासे व हेमस्स ॥१९७९॥
कम्मकओ संसारो, तन्नासे तस्स जुज्जए नासो।
जीवत्तमकम्मकयं, तन्नासे तस्स को नासो ? ॥१९८०॥

नारकतिर्यगादिरूपेण यो भावः स जीवस्य पर्याय एव, न च पर्यायमात्रनाशे पर्यायिणो जीवद्रव्यस्यापि सर्वथा नाशो मत·, कथञ्चित्तु भवत्यपि। न हि मुद्राऽऽदिपर्यायमात्रनाशे हेम्न· सुवर्णस्य सर्वथा नाशो दृष्ट·। ततो नारकाऽऽदिसंसारपर्यायनिवृत्तौ मुक्तिपर्यायान्तरोत्पत्तिर्जीवस्य, मुद्रापर्यायनिवृत्तौ कर्णपूरपर्यायान्तरोत्पत्तिरिव सुवर्णस्य, न किञ्चिद्विरुध्यत इति। ननु यथा कर्मणो नाशे संसारो नश्यति, तथा तन्नाशे जीवत्वस्यापि नाशान्मोक्षाभावो भविष्यति?। एतदप्यसारम्। कुत.?, इत्याह–(कम्मकओ इत्यादि) कर्मकृतः कर्मजनित· संसार., ततस्तन्नाशे कर्मनाशे तस्य संसारस्य नाशो युज्यत एव, कारणाभावे कार्याभावस्य सुप्रतीतत्वात्। जीवत्वं पुनरनादिकालप्रवृत्तत्वात्कर्मकृतं न भवत्यतस्तन्नाशे कर्मनाशे तस्य जीवस्य को नाश.?, न कश्चित्। कारणव्यापकयोरेव कार्यव्याप्यनिवर्तकत्वात्, कर्म तु जीवस्य न कारणं, नापि व्यापकमिति भाव.। ॥ १९७९ ॥ १९८० ॥

इतश्च जीवो न विनश्यति; कुत· ?, इत्याह–

न विगारणुवलंभा-दागासं पि व विणासधम्मो सो।
इह नासिणो विगारो, दीसइ कुंभस्स वाऽवयवा ॥१९८१॥

न विनाशधर्मा जीव इति प्रतिज्ञा। विकारानुपलम्भादिति हेतु.। इह यो विनाशी तस्य विकारो दृश्यते। यथा मुद्गराऽऽदिध्वस्तस्य कुम्भस्य कपाललक्षणा अवयवा·; यस्त्वविनाशी न तस्य विकारदर्शनम्, यथा आकाशस्येति। ततो मुक्तस्य जीवस्य नित्यत्वान्नित्यो मोक्ष इति॥ १९८१ ॥

स्यान्मति, तर्हि प्रतिक्षणध्वंसी मोक्षो मा भूत्,–कालान्तरविनाशी तु भविष्यति, कृतकत्वात्, घटवत्। तदयुक्तम्, घटप्रध्वंसाभावेनानैकान्तिकत्वादिति दर्शयन्नाह–

कालंतरनासी वा, घमो व्व कयगाइओ मई होज्जा।
नो पद्धंसाभावो, भुवि तद्धम्मा वि जं निच्चो ॥१९८२॥

अत्र प्रेर्यं परिहारं चाऽऽह–

अणुदाहरणमभावो, खरसिंगं पि व मई न तं जम्हा।
कुंभविणासविसिट्ठो, भावो च्चिय पोग्गलमओ सो।१९८३।

यद्वा–कृतकत्व मोक्षस्याभ्युपगम्योक्तम्, इदानीं तदेव तस्य नास्तीति सोदाहरणमुपदर्शयन्नाह–

किं वेगंतेण कयं, पोग्गलमेत्तविलयम्मि जीवस्स।
किं निव्वत्तियमहियं, नभसो घडमेत्तविलयम्मि।१९८४।

अनुमानात्पुनरपि मुक्तस्य नित्यत्वं साधयति–

दव्वामुत्तत्तणओ, मुत्तो निच्चो नभं व दव्वतया।
नणु विभुयाइपसंगो, एवं सइ नाणुमाणाओ ॥१९८५॥

नित्यो मुक्ताऽऽत्मा, द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वात्, (दव्वतय त्ति)यथा द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वान्नित्य नभ । आह-नन्वनेन दृष्टान्तेन व्यापकत्वाऽऽद्यपि सिध्यति जीवस्य । तथाहि-विभुर्व्यापक सर्वगतो जीव, द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वात्, यथा नभ । तदेतन्न । कुत. ?, सर्वगतत्वबाधकानुमानसद्भावात्। तथाहि-त्वक्पर्यन्तदेहमात्रव्यापको जीव., तत्रैव तद्गुणोपलब्धेः, स्पर्शनवत्, इत्यनुमानाद् बाध्यते सर्वगतत्व जीवस्य । एव " न बध्यते, नापि मुच्यते जीव ,द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वात्, नभोवद्" इत्याद्यपि दूषण, "बध्यते पुण्यपापकर्मणा जीव., दानहिंसाऽऽदिक्रियाणां सफलत्वात्, कृष्यादिक्रियावत्, तथा विघटते सम्यगुपायात्कोऽपि जीवकर्मसंयोग', सयोगत्वात्, काञ्चनधातुपाषाणसंयोगवद्" इत्याद्यनुमानात्परिहर्तव्यमिति ॥ १९८५ ॥

अथवा-किमेकान्तेन बन्धाऽऽद्यदेर्मोक्षस्य नित्यत्वं साध्यते, सर्वस्याऽपि वस्तुन परमार्थतो नित्यानित्यरूपत्वात् ?,उत्कटानुत्कटपर्यायविशेषविवक्षामात्रेणैव हि 'केवलम' इत्यादिव्यपदेश इति दर्शयन्नाह-

को वा निच्चग्गाहो, सव्वं चिय विभवभंगठिइमइयं ।
पज्जायंतरमेत्त-प्पणादनिच्चाइववएसो ॥ १९८६ ॥

अथ कथञ्चिदनित्यत्वेऽपि मोक्षस्य न किञ्चिद् न. क्षूयत इति भाव । इह " कालतरनासी वा घडो व्व " इत्यादिगाथा प्रागपि षष्ठगणधरे बन्धमोक्षविचारे व्याख्याता एव । ततो यदिह न व्याख्यात, तत्ततो (ग्रन्थतो)-ऽवगन्तव्यमिति ॥ १९८६ ॥

अथ प्रथमपक्षे यदुक्तम्-' किं दीवस्स व नासो निव्वाण ' (१९७५) इत्यादि । तत्रोत्तरमाह-

न य सव्वहा विणासो-ऽणलस्स परिणामओ पयस्सेव ।
कुंभस्स कवालाण व, तहाविगारोवलंभाओ ॥१९८७॥

न प्रदीपानलस्य सर्वथा सर्वप्रकारैर्विनाश , परिणामत्वात्, पयसो दुग्धस्येव । अथवा-यथा मुद्गराऽऽद्याहतस्य कपालतया परिणतस्य घटस्य, यथा, वा चूर्णितानां कपालानाम् । कुतो न सर्वथा विनाश ?,इत्याह-तथा तेन रूपान्तरप्रकारेण विकारस्य प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणोपलम्भादिति ॥ १९८७ ॥

अथ प्रेर्ये, परिहार चाऽऽह-

जइ सव्वहा न नासो-ऽणलस्स किं दीसए न सो सक्खं ? ।
परिणासुहुमयाओ, जलयविगारंजणरउ व्व ॥१९८८॥

यदि सर्वथाऽनलस्य न नाशस्तर्हि विध्यातानन्तर किमित्यसौ साक्षान्न दृश्यते ? । अत्रोत्तरमाह-(परिणामेत्यादि) विध्याते प्रदीपेऽनन्तरमेव तामसपुद्गलरूपो विकार समुपलभ्यत एव, चिर चासौ पुरस्ताद्यन्नोपलभ्यते, तत्सूक्ष्मसूक्ष्मतरपरिणामभावात् । तथाहि-विशीर्यमाणस्य जलदस्यापि य. कृष्णाभ्रपुद्गलविकार स परिणामसौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते । तथाऽञ्जनस्यापि पवनेन ह्रियमाणस्य यत्सूक्ष्मरज उड्डीयते, तदपि परिणामसौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते, न पुनरसत्त्वादिति ॥ १९८८ ॥

चित्ररूपश्च पुद्गलपरिणाम इति दर्शयन्नाह-

होऊण इंदियंतर-गज्झा पुणरिंदियंतरग्गहणं ।
खंधा एंति न एंति य,पोग्गलपरिणामया चित्ता ॥१९८९॥

इह सुवर्णपत्रलवणसुरठीहरीतकीचित्रकगुमाऽऽदय स्कन्धा. पूर्वमिन्द्रियान्तरग्राह्याश्चक्षुरादीन्द्रियविषया भूत्वा पुनर्दन्यक्षेत्रकालाऽऽदिसामग्र्यन्तरं प्राप्य पुद्गलपरिणामवैचित्र्यादिन्द्रियान्तरग्रहण स्पर्शनरसनाऽऽदीन्द्रियग्राह्यतामायान्ति । तथाहि—सुवर्ण पत्रीकृत चक्षुर्ग्राह्य भूत्वा शोधनार्थमग्नौ प्रक्षिप्त भस्मना मिलित सत्स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यतामेति, पुन प्रयोगेण भस्मन पृथक् कृतं चक्षुर्विषयतामुपगच्छति । लवणसुरठीहरीतकीचित्रकगुमाऽऽदयोऽपि प्राक् चक्षुरिन्द्रियग्राह्या भूत्वा पश्चात्सूपाऽऽद्यन्ते वह्नौषधसमुदाये च क्वाथचूर्णावलेहाऽऽदिपरिणामान्तरमापन्ना. सन्तो रसनेन्द्रियसंवेद्या भवन्ति । कर्पूरकस्तूरिकाऽऽदीनामपि पुद्गलाश्चक्षुर्ग्राह्या अपि वायुना दूरमुपनीता घ्राणसंवेद्या भवन्ति । योजननवकात्तु परतो गतास्तथाविध कञ्चित्सूक्ष्मपरिणाममापन्ना नैकस्याऽपीन्द्रियस्य विषयतां प्रतिपद्यन्ते इति । अनया दिशाऽन्याऽपि पुद्गलपरिणामता चित्रा भावनीयेति ॥१९८९॥

अथास्यैव पुद्गलपरिणामवैचित्र्यस्य प्रस्तुते योजनार्थमाह-

एगेगेंदियगज्झा, जह वा दव्वादयो तहा गेया ।
होउं चक्खुग्गज्झा, घाणिंदियगज्झयामेंति ॥१९९०॥

वायुः स्पर्शनेन्द्रियस्यैव ग्राह्य , रसो रसनस्यैव, गन्धो घ्राणस्यैव, रूप चक्षुष एव, शब्दस्तु श्रोत्रस्यैव ग्राह्य । तदेव यथा वाय्वादयः पुद्गला एकैकस्य प्रतिनियतस्येन्द्रियस्य ग्राह्या भूत्वा पश्चात्परिणामान्तर किमप्यापन्ना इन्द्रियान्तरग्राह्या अपि भवन्तीति स्वयमेव गम्यते । तथा प्रस्तुता अपि प्रदीपगता आग्नेया पुद्गलाश्चक्षुर्ग्राह्या भूत्वा पश्चाद्विध्याते तस्मिन् प्रदीपे त एव तामसीभूता. सन्तो घ्राणेन्द्रियग्राह्यतामुपयान्ति,तत्किमुच्यते ?-"किं दीसए न सो सक्ख त्ति" (१९८८) । ननु घ्राणेन्द्रियेणोपलभ्यते एव विध्यातप्रदीपविकार इति ॥१९९०॥

यद्येव, ततः प्रस्तुते किमित्याह-

जह दीवो निव्वाणो, परिणामंतरमिओ तहा जीवो ।
भण्णइ परिनिव्वाणो, पत्तोऽणावाहपरिणाम ॥१९९१॥

यथाऽनन्तरोक्तस्वरूपपरिणामान्तरं प्राप्त' प्रदीपो ' निर्वाण ' इत्युच्यते,तथा जीवोऽपि कर्मविरहितकेवलामूर्तजीवस्वरूपमाबलक्षणमबाध परिणामान्तर प्राप्तो निर्वाणो निर्वृतिं प्राप्त उच्यते । तस्माद् दुःखाऽऽदिक्षयरूपा सतोऽवस्था निर्वाणमिति स्थितम् ॥ १९९१ ॥

तर्हि शब्दाऽऽदिविषयोपभोगाभावात्तस्य मुक्त एवायमिति चेत् । नैवम् । कुत. ?, इत्याह-

मुत्तस्स परं सोक्खं, णाणाणावाहओ जहा मुणिणो ।
तद्धम्मा पुण विरहा-दावरणाऽऽवाहहेऊणं ॥१९९२॥

मुक्तस्य जन्तो. परं प्रकृष्टमकृत्रिममनिथ्याभिमानज स्वाभाविक सुखमिति,प्रतिज्ञा । (णाणाणावाहउ त्ति) ज्ञानप्रकर्षे सति जन्मजराव्याधिमरणेष्टवियोगारतिशोकक्षुत्पिपासाशीतोष्णकामक्रोधमदशाठ्यतृष्णारागद्वेषचिन्तौत्सुक्याऽऽदिनि शेषाबाधविरहितत्वादिति हेतु । तथाविधप्रकृष्टमुनेरिव । यथोक्ताबाधारहितानि काष्ठादीन्यपि वर्तन्ते,परं तेषां ज्ञानाभावान्न सुखम्,अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं ज्ञानग्रहणम् । कथ पुनरसौ प्रकृष्टज्ञानवान्, आबाधारहितश्च ?, इत्याह-(तद्धम्मेत्यादि) तद्धर्मा प्रकृष्टज्ञानानाबाधवान् मुक्ताऽऽत्मा । कुत ?, विरहाद्-अभावात् । केषाम् ?, आवरणहेतूनामाबाधहेतूना च । एतदुक्तं भवति-क्षीणनिः-

शेषाऽऽवरणत्वात् प्रकृष्टज्ञानवानसौ, वेदनीयकर्माऽऽदीनां च सर्वेषामप्याबाधहेतूनां सर्वथाऽपगमात्सर्वाऽऽबाधरहितोऽय-मिति। प्रयोग.-स्वाभाविकेन स्वेन प्रकाशेन प्रकाशवान्मुक्ताऽऽत्मा, समस्तप्रकाशाऽऽवरणरहितत्वात्,तुहिनांशुवत्। तथा चाऽऽह- "स्थित शीतांशुवज्जीव , प्रकृत्या भावशुद्धया । चन्द्रिकावच्च विज्ञान, तदावरणमभ्रवत् " ॥१॥ इति। तथा-अनाबाधसुखी मुक्ताऽऽत्मा,समस्ताबाधहेतुरहितत्वात्,ज्वराऽऽद्यपगमे स्वच्छाऽऽतुरवत्। तथा चोक्तम्-"सव्याबाधाभावा-त्सर्वज्ञत्वाच्च भवति परमसुखी। व्याबाधाभावोऽत्र,स्वच्छस्य ज्ञस्य परमसुखम्" ॥१॥ इति ॥ १६६२ ॥

अपरस्त्वाह-

मुत्तो करणाभावा-दन्नाणी खं व णणु विरुद्धोऽयं।
जमजीवया वि पावइ,एत्तो च्चिय भणइ तन्नाम ॥१६६३॥

नन्वज्ञानी मुक्ताऽऽत्मा, करणाभावाद्, आकाशवत् । अत्राऽऽचार्य. प्राऽऽह--ननु धर्मिस्वरूपविपरीतसाधनाद्विरुद्धोऽय हेतुः । तथाहि-अनेनैतदपि सिध्यति-अजीवो मुक्ताऽऽत्मा, करणाभावात्, आकाशवत् । अत्र परः सोत्कर्षं भणति-(तन्नाम त्ति) नामेत्यभ्यनुज्ञायाम्-अस्त्वेतत्, न न. किमपि चूयते ?। न हि मुक्ताऽऽत्मनामजीवत्वेऽस्माक, किञ्चिन्नश्यति, येन हेतोर्विरुद्धता प्रेर्यमाणा शोभेत। अत्राऽऽह कश्चित्- ननु मुक्तस्याजीवत्वमार्हतानामप्यनिष्टमेव, ततश्चैतद् दूषणमाचार्येणाऽपि परिहर्त्तव्यमेव, यच्चाऽऽत्मनोऽपि दूषण समापतति तत्कथ परस्यैवैकस्योद्भाव्यते ?। सत्यमेतत् । किन्तु परशक्तिपरीक्षार्थं प्रेर्यमाचार्य. कृतवान् , कदाचित्क्षोभाद् विगलितप्रतिज्ञ. परोऽत्रापि प्रतिविधाने स्खलितस्तूष्णीं विदध्यात्। परमार्थतस्तु जीवस्याऽजीवत्व कदाचिदपि न भवत्येव ॥ १६६३ ॥

कुतः ?, इत्याह-

दव्वाऽमुत्तत्त सहा-वजाइओ तस्स दूरविवरीयं।
न हि जच्चंतरगमणं,जुत्त नभसो व्व जीवत्तं ॥१६६४॥

तस्य मुक्ताऽऽत्मनो हि यस्मात् कारणान्न युक्तमिति सम्बन्धः। किं तन्न युक्तम् ?, इत्याह-एकस्या जीवत्वलक्षणाया जातेर्यद्जीवत्वलक्षण जात्यन्तर तत्र गमन जात्यन्तरगमन, तन्न युक्तम्। कथम्भूत जात्यन्तरम् ?, इत्याह-दूरमत्यर्थं विपरीत दूरविपरीतम्। कस्या दूरविपरीतम्?,इत्याह--(सहावजाईओ त्ति) जीवत्वलक्षणाया. स्वाभाविकी स्वभावभूता जातिः स्वभावजाति , तस्या.। किंवत् या स्वभावजाति. ? , इत्याह-उपमानप्रधानत्वान्निर्देशस्य, द्रव्याऽमूर्त्तत्ववदिति द्रव्यत्ववदमूर्त्तत्ववच्चेत्यर्थ.। स्वभावजातेर्दूरविपरीत सत् कस्य यथा किं न युक्तम् ?, इत्याह-नभस इव जीवत्वम्। इदमत्र हृदयम्-द्रव्यत्वम्,अमूर्तत्व च जीवस्य तावत्स्वभावभूता जाति ,तस्याश्च यद् दूरविपरीत जात्यन्तरमद्रव्यत्वम्, अमूर्तत्व च, तत्र गमन तस्य कस्यामप्यवस्थायां न भवति। एव जीवत्वमपि जीवस्य स्वभावभूतैव जाति., ततस्तस्या अपि स्वभावजातेर्यद् दूरविपरीतमजीवत्वलक्षण जात्यन्तर तत्र गमन मुक्तावस्थायामपि तस्य न युज्यते। न ह्यजीवस्य सतो नभस कदाचिदपि जीवत्वाप्राप्तिर्भवति। तस्मान्मुक्तो जीवो यथाऽद्रव्यं मूर्त्तश्च न भवति, तद्विपक्षस्वभावत्वात्; एव जीवस्वाभाव्यादजीवोऽप्यसौ कदाचिदपि न भवति ; अन्यथा नभ.परमाणवादीनामपि स्वस्वभावत्य,गेन वैपरीत्यापत्त्याऽतिप्रसङ्गादिति।

अत्राऽऽह-यद्येवं,तर्हि यद्भवतैवोक्तम्-"अजीवो मुक्ताऽऽत्मा,करणाभावाद्, आकाशवद्" इति, तत्कथ नेतव्यम् ?। अत्रोच्यते-परस्य प्रसङ्गाऽऽपादनमेव तदस्माभिः कृतम्,तत्करणे च कारणमुक्तमेव, न पुनरनेन हेतुना मुक्तस्याजीवत्व सिद्ध्यति, प्रतिबन्धाभावात्। तथाहि-यदि करणैर्जीवत्वं कृत भवेत्, यथा वह्निना धूम , व्यापकानि वा जीवत्वस्य करणानि यदि भवेयु , यथा शिंशपाया वृक्षत्वम्, तदा करणनिवृत्तौ भवेज्जीवत्वनिवृत्तिः, यथाऽग्निवृक्षत्वनिवृत्तौ धूमशिंशपात्वयो., न चैतदस्ति। जीवत्वस्यानादिपारिणामिकभावरूपत्वेनाकृतकत्वात्। व्याप्यव्यापकभावोऽपीन्द्रियाणां शरीरेणैव सह युज्यते, उभयस्यापि पौद्गलिकत्वात्, न तु जीवत्वेन, जीवस्यामूर्त्तत्वेनात्यन्त तद्विलक्षणत्वात्। तस्मात्करणनिवृत्तावप्यनिवृत्तमेव मुक्तस्य जीवत्वमिति ॥ १६६४ ॥

आह-यद्येवम्, 'अज्ञानी मुक्ताऽऽत्मा,करणाभावाद्,आकाशवद्' इत्यत्र धर्मिस्वरूपविपरीतसाधनाद् या हेतोर्विरुद्धतोद्भाविता, सा न भवद्भिरपि परिहृता, अतस्तत्रान्यत्किमप्युत्तरमुच्यतामित्याशङ्क्याऽऽह-

मुत्ताऽऽइभावओ नो-वलद्धिमंतिंदियाइँ कुंभो व्व।
उवलंभद्दाराणि उ, ताइं जीवो तदुवलद्धा ॥१९९५॥
तदुवरमे वि सरणओ, तव्वावारे वि नोवलंभाओ।
इंदियभिन्नो आया, पंचगवक्खोवलद्धा वा ॥१९९६॥

अनयोर्व्याख्या पूर्ववत्, केवल प्रस्तुते भावार्थ उच्यते-यदीन्द्रियाण्युपलब्धिमन्ति भवेयुस्तदा तन्निवृत्तावप्युपलब्धिनिवृत्तिर्भवेत्,न चैतदस्ति, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जीवस्योपलब्धिमत्त्वनिश्चयादिति ॥ १६६५ ॥ १९९६ ॥

स्वभावभूत च ज्ञान जीवस्य, इति कथं करणनिवृत्तौ मुक्तस्य तन्निवर्तत इति दर्शयन्नाह-

नाणरहिओ न जीवो, सरूवओऽणु व्व मुत्तिभावेणं।
जं तेण विरुद्धमिदं,अत्थि य सो नाणरहिओ य ॥१६६७॥

यद्यस्माज्ज्ञानरहितो जीव कदाचिदपि न भवति, ज्ञानस्य तत्स्वरूपत्वात् , यथा मूर्तिभावेन रहितोऽणुर्न भवति, तेन तस्मात्कारणाद्विरुद्धमेतद् "अस्ति चासौ मुक्तो जीव.,अथ च स ज्ञानरहित." इति। न हि स्वरूपस्याभावे स्वरूपवतोऽवस्थान युज्यते,तद्व्यतिरिक्तस्य तस्यासत्त्वात्,तथा चानन्तरमेवोक्तम्-"न हि जच्चतरगमण, जुत्तं नभसो व्व जीवत्त।" (१६६४) इति ॥ १६६७ ॥

पराभिप्रायमाशङ्क्यैतदेव समर्थयन्नाह-

किह सो नाणसरूवो, णणु पच्चक्खाणुभूइओ नियए ?।
परदेहम्मि वि गज्झो, सपवित्तिनिवित्तिलिंगाओ ॥१६६८॥

ननु कथमसौ जीवो ज्ञानस्वरूप इति निश्चीयते ?। अत्रोत्तरमाह-नन्वित्यत्तमाया, ननु निजे देहे तावत्प्रत्यक्षानुभवादेव ज्ञानस्वरूपो जीव इति विज्ञायते, इन्द्रियव्यापारोपरमेऽपि तद्व्यापारोपलब्धार्थानुस्मरणात्, तद्व्यापारेऽपि चान्यमनस्कतायामनुपलम्भात्, अदृष्टश्रुतानामपि चार्थानां तथाविधक्षयोपशमपाटवात्कदाचिद् व्याख्यानावसरायां चेतसि स्फुरणात्। एतच्च स्वसंवेदनसिद्धमपि भवत प्रष्टव्यतां गतम्। तथा-

स जन्तुः परदेहेऽपि ज्ञानस्वरूपे एवेति ग्राह्य । कुत ?, तथाविधप्रवृत्तिनिवृत्तिलिङ्गादिति ॥ १९९८ ॥

अपि च मुक्तावज्ञानित्वाऽऽपादने महान् विपर्यास ; कुत ?, इत्याह-

सव्वाऽऽवरणावगमे, सो सुद्धयरो भवेज्ज सूरो व्व ।
तम्मयभावाभावा-दण्णाणित्तं न जुत्तं से ॥१९९९॥

सेन्द्रियो जन्तुर्देशतोऽप्यावरणक्षये तावत्तारतम्येन ज्ञानयुक्त एव भवति, यस्य त्वनीन्द्रियस्य सर्वमप्यावरण क्षीण, स नि शेषाऽऽवरणापगमे शुद्धतर एव भवति-सम्पूर्णज्ञानप्रकाशयुक्त एव भवतीत्यर्थ , यथा समस्ताभ्राऽऽवरणापगमे सम्पूर्णप्रकाशमय सूर्य , ततस्तन्मयभावस्य प्रकाशमयत्वस्य करणाभावेनाभावाद्धेतो 'से' तस्य मुक्तस्य यदज्ञानित्व प्रेर्यते भवता, तन्न युक्तम्, आवारकाभावे तस्यैव प्रकर्षवतो ज्ञानप्रकाशस्य सद्भावादिति ॥ १९९९ ॥

तदेव सति किमिह स्थितम् ?, इत्याह-

एवं पगासमइओ, जीवो छिद्दावभासयत्ताओ ।
किंचिम्मेत्तं भासइ, छिद्दाऽऽवरणप्पईवो व्व ॥२०००॥
सुबहुयतरं वियाणइ, मुत्तो सव्वप्पिहाणविगमाओ ।
अवणीयघरो व्व नरो, विगयाऽऽवरणप्पईवो व्व ॥२००१॥

तदेव सति सर्वदा प्रकाशमय प्रकाशस्वभाव एव जीव , केवल संसार्यवस्थाया छद्मस्थ किञ्चिन्मात्रमवभासयति, क्षीणाक्षीणाऽऽवरणच्छिद्रैरिन्द्रियच्छिद्रैश्चावभासनात्, सच्छिद्रकुटकुड्याऽऽद्यन्तरितप्रदीपवदिति । मुक्तस्तु मुक्तावस्थाया प्राप्तो जीव सुबहुतर विजानाति---यदस्ति तत्सर्वं प्रकाशयतीत्यर्थ , सर्वपिधानविगमात्--सर्वाऽऽवरणक्षयादित्यर्थ । अपनीतसमस्तगृह पुरुष इव, विगतसमस्तकुटकुड्याऽऽद्यावरणप्रदीप इव वेति । यो हि सच्छिद्राऽऽवरणान्तरित स्तोक प्रकाशयति, स नि शेषाऽऽवरणापगमे सुबह्वेव प्रकाशयति, न तु तस्य सर्वथा प्रकाशाभाव इति भाव । तस्मात् " मुत्तस्स पर सोक्खं, नाणाणाबाहओ " (१९९२) इत्यादि स्थितम् ॥ २००० ॥ २००१ ॥

अथाद्यापि मुक्तस्य सुखाभाव पश्यन् पर प्राऽऽह-

पुण्णापुण्णकयाइं, जं सुहदुक्खाइँ तेण तन्नासे ।
तन्नासाओ मुत्तो, निस्सुहदुक्खो जहाऽऽगासं ॥२००२॥
अहवा निस्सुहदुक्खो, नभ व देहिंदियाइभावाओ ।
आधारो देहो चिय, जं सुहदुक्खोवलद्धीणं ॥ २००३ ॥

पुण्यात्सुखमुपजायते, पापाच्च दु खमिति भवतामपि सम्मत, तेन तस्मात् तयोः पुण्यपापयो कारणभूतयोर्नाशे सुखदु खयो कार्यरूपयोर्नाशात्रि सुखदु ख एव मुक्ताऽऽत्मा प्राप्नोति, तत्कारणाभावात्, आकाशवदिति । अथवा नि सुखदु खोऽसौ, देहेन्द्रियाभावात्, नभोवत्, यद् यस्माद्देह एव, तथेन्द्रियाणि च सुख दु खोपलब्धीनामाधारो दृश्यते न पुनर्देहाभावे सुखदुःखे दृश्येते, नापीन्द्रियाभावे ज्ञान क्वाप्युपलभ्यते । नत सिद्धस्य कथ तदभावात्तानि भवेयुरिति ?, इति ॥ २००२ ॥ २००३ ॥

अत्रोत्तरमाह-

पुण्णफलं दुक्खं चिय, कम्मोदयओ फलं व पावस्स ।
नणु पावफले वि समं, पच्चक्खविरोहिया चेव ॥२००४॥

चक्रवर्तिपदलाभाऽऽदिक पुण्यफल निश्चयतो दु खमेव, कर्मोदयजन्यत्वात्, नरकत्वाऽऽदिपापफलवत् । पर प्राऽऽह-ननु पापफलेऽपि समानमिदम् । तथाहि-अत्रापि वक्तु शक्यत एतत्-उक्त पापफल दु खत्वेनाभिमत परमार्थत सुखमेव, कर्मोदयजन्यत्वात्, पुण्यफलवत्, एव च वदतां प्रत्यक्षविरोधिता, स्वसंवेद्यसुखदु खयोर्वैपरीत्येन सविषयभावादिति ॥ २००४ ॥

भगवानाह-

जत्तो च्चिय पच्चक्खं, सोम्म ! सुहं नत्थि दुक्खमेवेदं ।
तप्पडियारविभत्तं, तो पुण्णफल ति दुक्खं ति ॥२००५॥

सौम्य ! प्रभास ! यत एव-दु खे अनुभूयमाने कस्याप्यविपर्यस्तमते सुख प्रत्यक्ष नास्ति, सुखानुभवः स्वसंविदितो न विद्यते, अत एवास्माभिरुच्यते-दु खमेवेदम् इति, यत किमप्यत्र ससारचक्रे स्रक्चन्दनाङ्गनासंभोगाऽऽदिसमुत्थमपि विद्यते, तत्सर्वं दु खमेवेत्यर्थ । केवल तस्याङ्गनासंभोगाऽऽदिविषयौत्सुक्यजनितारतिरूपस्य दु खस्य प्रतीकारोऽङ्गनासंभोगाऽऽदिकस्तत्प्रतीकारस्तेन तत्प्रतीकारेण दु खमपि सद्विभक्त मूढैर्भेदेन व्यवस्थापित तत्प्रतीकाररूप कामिनीसंभोगाऽऽदिक पामाकण्डूयनाऽऽदिवत्सुखमध्यवसितम्, शूलाऽऽरोपणशूलशिरोबाधाऽऽदिव्याधिवन्धवधाऽऽदिजनित तु दु खमिति । रमणीसंभोगचक्रवर्तिपदलाभाऽऽदि सुख स्वसंविदित दु खमिति च दृष्टा प्रत्यक्षविरोध इति चेत् । तदयुक्तम् । मोहमूढप्रत्यक्षत्वात्तस्य, तल्लाभौत्सुक्यजनितारतिरूपदु खप्रतीकाररूपत्वाद् दु खेऽपि तत्र सुखाध्यवसाय , पामाकण्डूयनाऽपथ्याऽऽहारपरिभोगाऽऽदिवत् ।

तथा चोक्तम्-

" नग्न प्रेत इवाऽऽविष्ट , क्वणन्तीमुपगृह्य ताम् ।
गाढाऽऽयासितसर्वाङ्ग , स सुखी रमते किल ॥ १ ॥
औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा,
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय,
राज्य स्वहस्तधृतदण्डमिवाऽऽतपत्रम् ॥ २ ॥
भुक्ता श्रिय सकलकामदुघास्तत किं ?,
संप्रीणिता प्रणयिन स्वधनैस्तत किम् ? ।
दत्त पद शिरसि विद्विषता तत किं ?,
कल्प स्थित तनुभृता तनुभिस्तत किम् ? ॥३॥
इत्थ न किञ्चिदपि साधनसाध्यजात,
स्वप्नेन्द्रजालसदृश परमार्थशून्यम् ।
अत्यन्तनिर्वृतिकर यदपेतबाध,
तद् ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनाऽस्ति " ॥४॥ इत्यादिना । " पुण्णफल ति दुक्ख ति । " यत एवमुक्तप्रकारेण दु खेऽपि सुखाभिमान , तस्मात्पुण्यफलमपि सर्वं तत्त्वतो दु खमेवेति ॥२००५॥

एतदेव प्रपञ्चयति--

विसयसुहं दुक्खं चिय, दुक्खपडीयारओ तिगिच्छ व्व ।
तं सुहमुवयाराओ, नो उवयारो विणा तच्चं ॥२००६॥

विषयसुख तत्त्वतो दु खमेव, दु खप्रतीकाररूपत्वात्, कुष्ठगण्डार्शोरोगक्वाथपानच्छेदनदम्भनाऽऽदिचिकित्सावत् । यच्च लोके

तत्र सुखव्यपदेश प्रवर्त्तते, स उपचारात् । न चोपचारस्तथ्य पारमार्थिक विना क्वापि प्रवर्त्तते, माणवकाऽऽदौ सिंहाऽऽद्युपचारवदिति ॥२००६॥

ततः किमित्याह-

तम्हा जं मुत्तसुहं, तं तच्चं दुक्खसंखएऽवस्सं ।
मुणिणोऽणाबाहस्स व, णिप्पडियारप्पसूईओ ॥२००७॥

तस्माद्यन्मुक्तस्य सबन्धि तदेव सुख तथ्य निरुपचारितम् । कुत ?, स्वाभाविकत्वेन निष्प्रतीकाररूपस्य तस्य प्रसूतेरुत्पत्तेः । कथम् ?, अवश्यम् । क सति ?, दु खसक्षये । सांसारिक हि सर्वं पुण्यफलमपि दु खरूपतया समर्थित, ततः पापफलम्, इतरच्च सर्वं दु.खमेवेहास्ति, नान्यत्, तच्च मुक्तस्य क्षीणम्; अतस्तत्क्षये अवश्यंतया यत् तस्य निष्प्रतीकार स्वाभाविक निरुपम सुखमुत्पद्यते, तदेव तथ्यम् । कस्येव ?, विशिष्टज्ञानवतोऽनाबाधस्य मुनेरिव ।

उक्त च-

" निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम ।
विनिवृत्तपराशाना-मिहैव मोक्ष सुविहितानाम् "॥१॥ इति।२००७।

अथवा प्रकारान्तरेणापि मुक्तस्य तथ्यसुखमभवमाह-

जह वा नाणमओऽयं, जीवो नाणोवघाइ चावरणं ।
करणमणुग्गहकारिं, सव्वाऽऽवरणक्खए सुद्धी ।२००८।
तह सोक्खमओ जीवो, पावं तस्सोवघाइणं नेयं ।
पुण्णमणुग्गहकारिं, सोक्खं सव्वक्खए सयलं ॥२००९॥

यथा वाऽनन्तज्ञानमयोऽसौ स्वरूपेण जीवः । तदीयज्ञानस्य च मत्यावरणाऽऽदिकमावरणमुपघातक मन्तव्यम् । करणानि त्विन्द्रियाणि तज्ज्ञानस्य, सूर्याऽऽनपस्य तदावारकमेघपटलच्छिद्राणीवोपक. काणि । सर्वाऽऽवरणक्षये तु ज्ञानशुद्धिर्निर्मलता सर्वथाऽवभासकत्वलक्षणा भवति । प्रकृतयोजनामाह-तथा तेनैव प्रकारेण स्वरूपत. स्वाभाविकानन्तसौख्यमयो जीव , तस्य च सुखस्यैवोपघातकारक पापकर्म विज्ञेयम् । पुण्य त्वनुत्तरसुरपर्यन्तसुखफल तस्य स्वाभाविकसुखस्यानुग्रहकारकम । ततः सर्वाऽऽवरणापगमे प्रकृष्टज्ञानमिव समस्तपुण्यपापक्षये सकल परिपूर्णं निरुपचरित निरुपम स्वाभाविकमनन्त सुख भवति सिद्धस्येति ॥ २००८ ॥ २००९ ॥

अन्येन वा प्रकारेण मुक्तस्य तस्य सुखसम्भवमाह-

जइ वा कम्मक्खयओ, सो सिद्धत्ताइपरिणइं लभइ ।
तह संसाराईयं, पावइ तत्तो च्चिय सुहं ति ॥ २०१० ॥

यथा वा सकलकर्मक्षयादसौ मुक्ताऽऽत्मा सिद्धत्वाऽऽदिपरिणतिं लभते, तत एव सकलकर्मक्षयात् ससारातीत वैषयिकसुखाद्विलक्षणस्वरूप निरुपम तथ्य सुख प्राप्नोति । एतेन यदुक्तम्-" क्षीणपुण्यपापत्वेन कारणाभावान्नि सुखदु खो मुक्ताऽऽत्मा, व्योमवत्" इत्येतदपि प्रत्युक्त द्रष्टव्यम, 'कारणाभावात्' इत्यस्य हेतोरसिद्धत्वात्, सकलकर्मक्षयलक्षणकारणजन्यत्वेन सिद्धसुखस्य सकारणत्वादिति ॥ २०१० ॥

यदुक्तम्-" आधारो देहो च्चिय, ज सुहदुक्खोवलद्धीण " (२००३) इति; तत्राऽऽह-

सायाऽसायं दुक्खं, तव्विरहम्मि य सुहं जओ तेणं ।
देहिंदिएसु दुक्खं, सोक्खं देहिंदियाभावे ॥ २०११ ॥

ननु यत्पुण्यफल सातं सुखतया लोकव्यवहारतोऽरूढं, तत्सर्वं दु खमेवेत्यनन्तरमेव समर्थितम् । असातं तु पापफलत्वान्निर्विवाद दु.खमेव । एवं च सति सर्वं दुःखमेवास्ति ससारे, न सुखम । तच्च दु ख सिद्धस्य सर्वथा क्षीणम । अतस्तद्विरहे यद्यस्मात्सिद्धस्य स्वाभाविकं, निरुपमम, अनन्त च सुखमिति मुक्तिसिद्धमेव सुख, तेन तस्मात्कारणात् पारिशेष्यन्यायात् संसारिणामेव जीवानां देहेन्द्रियेष्वाधारभूतेषु यथोक्तलक्षणं दु खम्, सुख तु देहेन्द्रियाभाव एव, सिद्धस्य क्षीणनिःशेषसुखदु.खत्वेन तस्य तत्र मुक्तिसिद्धत्वादिति ॥ २०११ ॥

अथवा देहेन्द्रियाभावे सुखाभावलक्षणो दोषस्तस्य प्रवतु बः, किमित्याह-

जो वा देहिंदियजं, सुहमिच्छइ तं पडुच्च दोसोऽयं ।
संसाराईयमिदं, धम्मंतरमेव सिद्धिसुहं ॥ २०१२ ॥

यो वा कश्चित् ससाराभिनन्दी मोहमूढ. परमार्थादर्शी विषयामिषमात्रगृद्धो देहेन्द्रियजमेव सुख मन्यते, न तु सिद्धिसुख, तस्य नेम स्वप्नेऽप्यदर्शनात्, तस्य वादिन. ससारविपक्षे मोक्षे प्रमाणत. साधिते सति "नि.सुख, सिद्ध., देहेन्द्रियाभावात्" इत्ययं दोषो भवेत्, न त्वस्माक ससारातीत पुण्यपापफलसुखदु खाभ्यां सर्वथा विलक्षण धर्मान्तरभूतमेवानुपममक्षयं निरुपचरित सिद्धिसुखमिच्छतामिति ॥ २०१२ ॥

अत्र प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

कह नणु मेयं ति मई, नाणाणाबाहउ त्ति नणु भणियं ।
तदणिच्चं णाणं पि य, चेयणधम्मो त्ति रागो व्व ।२०१३।

अथैवंभूता मति. परस्य भवेत्-नन्विच्छन्ति भवन्तः सिद्धस्य यथोक्त सुख, किन्तु नेच्छामात्रतो वस्तुसिद्धिः, अपि तु प्रमाणत; ततो येन प्रमाणेन तत्सिद्ध्यति तद्वक्तव्यम । अनुमानेन तदनुमीयत इति चेत्, तर्हि केनानुमानेन तदनुमेयम्-अनुमीयत इत्यर्थः ?, इत्याह-" नाणाणाबाहउ त्ति नणु भणिय ति ।" ननु भणितमत्रार्थे प्रागनुमान सिद्धस्य प्रकृष्ट सुख, ज्ञानत्वे सत्यनाबाधत्वाद्, मुनिवदिति । पुनरपि पर. प्राऽऽह-यदेव तर्ह्यनित्य सुख ज्ञान च सिद्धस्य, चेतनधर्मत्वात्, रागवदिति ॥ २०१३ ॥

अथवा हेत्वन्तरमाह-

कयगाइभावओ वा, नाऽऽवरणाऽऽबाहकारणाभावा ।
उप्पायट्ठिइभंग-स्सहावओ वा न दोसोऽयं ॥२०१४॥

अथवाऽनित्ये सिद्धस्य सुखज्ञाने, तप प्रभृतिकष्टानुष्ठानिन क्रियमाणत्वात्, आदिशब्दादभूतप्रादुर्भावात्, घटवदिति । अत्रोत्तरमाह-" नावरणेत्यादि । " न सिद्धस्यानित्ये ज्ञानसुखे । कुतः ?, आवरण. चाऽऽबाधश्चाऽऽवरणाऽऽबाधौ, तयो' कारण हेतुस्तस्याभावात्, आकाशवदिति । इदमुक्तम्भवति-सिद्धस्य ज्ञान सुख च यद्यपगच्छेत् तदा स्यादनित्यम्, अपगमश्च ज्ञानस्याऽऽवरणोदयात्, सुखस्य त्वाबाधहेतुभूतादसातवेदनीयोदयाऽऽदि कारणाद्भवेत्, आवरणवेदनीयाऽऽदीनि च मिथ्यात्वाऽऽदिभिर्बन्धहेतुभिर्बध्यन्ते, ते च सिद्धस्य न विद्यन्ते, अतस्तदभावाद् नाऽऽवरणाऽऽबाधाकारणसद्भाव, तदभावाच्च न सिद्धस्य

ज्ञानसुखापगम, तदसत्त्वे च तयोः सदाऽवस्थितत्वात् कथमनित्यत्वम् ? । न च चेतनधर्माः सर्वेऽप्यनित्या भवन्ति, जीवगतद्रव्यत्वामूर्तत्वाऽऽदिभिर्व्यभिचारात्। 'ततश्च चेतनधर्मत्वात्' इत्यनैकान्तिको हेतु ; तथा -कृतकत्वाऽऽदिरप्यनैकान्तिकः, घटप्रध्वंसाभावेन व्यभिचारात् । अस्तिश्चायम, सिद्धस्य ज्ञानसुखयोः स्वाभाविकत्वेन कृतकत्वाऽयोगात् । आवरणाऽऽबाधकारणाभावेन च तत्तिरोभावमात्रमेव निवर्तते,न पुनस्ते क्रियेते, घटाऽऽदिवत्; नाप्यभूते प्रादुर्भवतः, विद्युदादिवत्, येन तयोरनित्यत्व स्यात् । न हि घनपटलापगमे चन्द्रज्योत्स्नायाः सूर्यप्रभाया वा तिरोभावमात्रनिवृत्तौ कृतकत्वम्, अभूतप्रादुर्भावो वा वक्तुं युज्यत इति।

अथ तेनाऽऽविर्भूतेन विशिष्टेन रूपेण कृतकत्वादनित्ये सिद्धस्य ज्ञानसुखे, प्रतिक्षण च पर्यायरूपतया ज्ञेयविनाशे ज्ञानस्य विनाशात्, सुखस्यापि प्रतिसमय परापररूपेण परिणामादेतयोरनित्यत्वमुच्यते, तर्हि सिद्धसाध्यतेति दर्शयति-" उप्पायट्ठि " इत्यादि । इत्थमात्माऽऽकाशघटाऽऽदिरूपस्य सर्वस्यापि वस्तुस्तोमस्य स्थित्युत्पादव्ययस्वाभाव्याभ्युपगमात्सिद्धसुखज्ञानयोरपि कथञ्चिदनित्यत्वात् नाय तदनित्यत्वाऽऽपादनलक्षणोऽस्माक दोष इति ॥ २०१४ ॥

तदेव जीवस्य सदवस्थालक्षणं निर्वाण, निवृत्तस्य च निरुपमसुखसद्भाव युक्तितः प्रसाध्य वेदोक्तद्वारेणापि तत्साधनार्थमाह-

न ह वै ससरीरस्स, प्पियऽप्पियावहातिरेवमादि व जं ।
तदमोक्खे नासम्मि व,सोक्खाभावम्मि व न जुत्तं ॥२०१५॥

" न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । " "अशरीर वा वसन्त प्रियाप्रिये न स्पृशत " इति च यद्वेदोक्त, तदप्यमोक्षे मोक्षाभावे-जीवकर्मणोर्वियोगेऽनभ्युपगम्यमाने इत्यर्थः। तथा-'मतिरपि न प्रज्ञायते' इति वचनाद् मुक्तावस्थायां सर्वथा नाशे वा जीवस्याऽभ्युपगम्यमाने, सत्त्वे वा मुक्ताऽऽत्मन सुखाभाव इष्यमाणे न युक्त प्राप्नोति-अभ्युपगमविरोधस्तत्रेत्यर्थः। अनेन हि वाक्येन किल यथोक्तो मोक्षः, मुक्तौ च निष्कर्मणो जीवस्य सत्त्व, निरुपमसुख च तस्य, एतानि त्रीण्यपि अभ्युपगम्यन्ते। एतच्च पुरस्ताद्व्यक्तीकरिष्यते। ततोऽस्य त्रितयस्य निषेध कुर्वतस्तत्राभ्युपगमविरोध इति भावः ॥२०१५॥

अत्राऽऽद्यन्तपक्षौ परिहृत्य मध्यगत जीवनाशपक्षमभ्युपेत्य तनमभ्युपगमविरोध परिहर्तुं तावत्पर. प्राऽऽह-

नट्ठो असरीरो चिय, सुहदुक्खाइं पियऽप्पिआइं च।
ताइँ न फुसंति नट्ठ,फुडमसरीरं ति को दोसो ?॥२०१६॥

" न ह वै " इत्यादिवेदवाक्यस्य किल परोऽमुमर्थं मन्यतेशरीर. सर्वनाशेन नष्ट. खरविषाणकल्प एवोच्यते, तमेवभूतमशरीर नष्ट प्रियाप्रिये सुखदुःखे यत्र स्पृशतः, तत्स्फुटमेव बुध्यत एवेदम्, नष्टस्य सुखदुःखस्पर्शायोगात्, अशरीरशब्देन च जीवनाशाभिधानात्। एवभूते चास्य वाक्यस्यार्थे सुगतोर्जीवस्य निर्वाणप्रदीपस्येव सर्वनाशमभ्युपगच्छता कोऽस्माकमभ्युपगमविरोधलक्षणो दोष ?, न कश्चिदपीति पराभिप्राय इति ॥ २०१६ ॥

अत्र प्रभासस्य भगवान् वेदार्थानुपपत्तिमवगम्य, एतेषां वेदपदानां यथाऽवस्थितमर्थं व्याचिख्यासुराह-

वेयपयाण य अत्थं, न सुट्ठु जाणसि इमाण तं सुणसु ।
असरीरव्ववएसो, अधणो व्व सओ निसेहाओ ॥२०१७॥
न निसेहओ य अन्नम्मि तव्विहे चेव पच्चओ जेण ।
तेणासरीरगहणे, जुत्तो जीवो न खरसिंगं ॥ २०१८ ॥

आयुष्मन् ! प्रभास ! न केवल युक्तिं, वेदपदानाममीषामर्थं च त्व सुष्ठु न जानासि, ततस्तं शृणु-" न ह वै " इत्यादिपूर्वार्द्धं सुगमत्वादत्र गाथाद्वये न व्याख्यातं, तदपि सुखप्रतिपत्त्यर्थं व्याख्यायते—' न ' इति निपातो निषेधार्थः । ' ह वै ' इत्येतदपि निपातद्वय हिशब्दार्थत्वाद्यस्मादर्थे । सह शरीरेण वर्तत इति सशरीरो जीवस्तस्य सशरीरस्येत्यत्र एवकारो द्रष्टव्य. । ततश्चायमर्थ -यस्मात् सशरीरस्य जीवस्य प्रियाप्रिययो सुखदुःखयोरपहतिर्विघातोऽन्तर नास्ति, न त्वशरीरस्य ; तस्मादशरीरं शरीररहित मुक्त्यवस्थायां वसन्तं लोकान्ताश्रित जीव प्रियाप्रिये सुखदुःखे न स्पृशतः । इदमुक्त भवति-यावदय जीव सशरीर', तावत् सुखेन दुःखेन वा अन्यतरेण कदाचिदपि न मुच्यते । अशरीरस्त्वसौ क्षीणवेदनीयत्वात् सुखदुःखाभ्यां कदाचिदपि न स्पृश्यत इति। एवभूते चास्य वाक्यस्यार्थे सति योऽयमशरीरव्यपदेशः, असौ सत एव विद्यमानस्यैव जीवस्य मुक्त्यवस्थाया विधीयते, न तु सर्वथा नष्टस्य। कुत ?, इत्याह-निषेधात्, इह यो यस्य निषेधः स तस्य सत एव विधीयते, न त्वसतः,यथाऽधन इति,अत्र सत एव देवदत्तस्य धननिषेधो विधीयते,न त्वसत खरविषाणस्य । आह-न विद्यते शरीर यस्येत्येव निषेधादन्यपदार्थे जीव एव कथ प्रतीयते ?, इत्याह-" न निसेहओ य " इत्यादि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः पर्युदासवृत्तिना नञा निषेधो नञ्निषेधस्तस्मान्नञ्निषेधात् कारणात् सशरीरादन्यस्मिंस्तद्विध एव शरीरसदृशे कस्मिंश्चिदन्यपदार्थे संप्रत्ययो विज्ञेय, यथा " न ब्राह्मणोऽब्राह्मण. " इत्युक्ते ब्राह्मणसदृश क्षत्रियाऽऽदिरेव गम्यते, न तु तुच्छरूपो भाव. । उक्त च-" नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे लोके तथाह्यर्थगतिः " इति । इह च शरीरसदृशोऽशरीरो जीव एव गम्यते, द्वयोरप्युपयोगरूपत्वेन सदृशत्वात् । न चेह शरीर सादृश्यबाधक, तस्य जीवेन सह क्षीरनीरन्यायतो लोलीभूतत्वेनैकत्वादिति । तदेव येन यस्मात् कारणात् नञ्निषेधादन्यस्मिंस्तद्विध एवान्यपदार्थे सम्प्रत्ययो भवति, तेन तस्मात्कारणात् ' अशरीर वा वसन्तम् ' इत्यत्राशरीरग्रहणे जीव एवाशरीरो युज्यते, न तु खरविषाणं तुच्छरूपोऽभाव इत्यर्थः । तदेवमशरीरमिति व्याख्यातम् । ॥ २०१७ ॥ २०१८ ॥

इदानीं " वा वसन्तम " इत्येतद्व्याचिख्यासुराह-

जं व वसंतं संतं, तमाह वासद्दओ सदेहं पि ।
न फुसेज्ज वीयरागं, जोगिणमिट्ठेयरविसेसा ॥ २०१९ ॥

यस्माच्चाशरीरं, कथभूतम् ?, वसन्त लोकाग्रे निवसन्त, तिष्ठन्तमिति यावत् । अनेन वसनविशेषणेन तमशरीरशब्दवाच्यमर्थं सन्त विद्यमानमाह, न त्वसद्भूत, वसनस्य सद्धर्मत्वात् । तस्मात्कथ जीवनाशरूपं निर्वाण स्यात् ?, न केवलमशरीर मुक्,

किं तु वाशब्दात् सदेहमपि सशरीरमपि वीतराग क्षीणोपशममोहयोगिन परमसमाधिमन्त भवस्थमपि न स्पृशेयु । के ?, इष्टेतरविशेषा., सुखदु खभेदा इत्यर्थः ॥ २०१६ ॥

प्रकारान्तरेणापि "वाव सन्तम्" इत्येतद्व्याचिख्यासुराह–

वाव त्ति वा निवाओ, वासद्दत्थो ञवंतमिद्द संतं ।
बुज्झाऽव त्ति व संतं,नाणाइविसिट्ठमहवाऽहु ॥२०२०॥

वा इत्यथवा–' वाव ' इत्यय शब्दो निपात , स च वाशब्दार्थः । ततश्चाशरीर सन्त प्रवन्त मुक्तौ विद्यमान जीव प्रियाप्रिये न स्पृशत , वाशब्दात् सशरीरमपि वीतराग न ते स्पृशत. । यदि वा वसन्तमित्यन्यथा व्याख्यायते–" बुज्झाऽव त्ति वेत्यादि " । ' वा ' इत्यथवाऽयमर्थ । " वाव सत ति । " रक्षणगतिप्रीत्यादिष्वेकोनविंशतावर्थेष्ववधातुः पठ्यते । गत्यर्थाश्च धातवो ज्ञानार्था अपि भवन्ति । ततश्चाह–विनेय ! त्वमेव बुध्यस्व । किं तदित्याह–अशरीर सन्त मुक्त्यवस्थायां विद्यमान जीवम्, अथवा ज्ञानाऽऽदिभिर्गुणैर्विशिष्ट सन्तमित्याद्-मूने, प्रियाप्रिये न स्पृशत. । वाशब्दात् सशरीरमपि वीतरागमिति तथैवेति ॥ २०२० ॥

आह–नन्वेवमक्षरकुट्या मयाऽपि स्वाभिप्रायसिद्धये व्याख्यानान्तर कर्त्तुं पार्यत एव, न हीय भवतैव केवलेन श्रेण्या प्रदत्ता, इत्यभिप्रायवत. परस्य मतमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

न वसंतं अवसंतं, ति वा मई नासरीरगहणाओ ।
फुसणाविसेसणं पि य, जओ मयं सतविसयं ति ।२०२१।

" अशरीर वाऽवसन्त " इत्यत्र लुप्तस्य अकारस्य दर्शनात् न वसन्तमवसन्त क्वाप्यतिष्ठन्तमिति व्याख्यानतो नास्ति मुक्त्यवस्थाया जीव , क्वाप्यवसनात्, असत्वादेव च नामु प्रियाप्रिये स्पृशत इति परस्य मतिर्भवेत् । तदेतन्न । कुत ?, इत्याह–अशरीरग्रहणात् । एतदुक्त भवति–न विद्यते शरीर यस्येत्यत्र पर्युदासनिषेधात् पूर्वोक्तयुक्त्या मुक्त्यवस्थायामशरीरो जीवो गम्यते, इत्यतोऽत्राऽकारप्रश्लेषव्याख्यान कर्त्तुं न पार्यते, अशरीरग्रहणान्मुक्तौ जीवसिद्धे । किञ्च–" प्रियाप्रिये न स्पृशत " इति यदशरीरस्य स्पर्शनाविशेषण, तदपि यस्मात् सद्विषयमेव मत, तस्मान्न मुक्तौ जीवस्याभाव । यदि ह्यशरीरशब्दस्य जीवाभावो वाच्य स्यात्तदा त प्रियाप्रिये न स्पृशत इति विशेषणमनर्थक स्यात् । न हि " वन्ध्यापुत्र प्रियाप्रिये न स्पृशतः " इति विशेष्यमाण विराजते । तस्मान्मुक्त्यवस्थो जीव एवाशरीरशब्दवाच्य , न पुनस्तदभाव । ततो नाकारप्रश्लेषव्याख्यान युज्यत इति । तदेवम् "अशरीर वा वसन्तम्" इत्यनेन जीवकार्मणशरीरवियोगलक्षणस्य मोक्षस्य मुक्तजीवसत्त्वस्य चाभिधानात्तन्निषेध कुर्वतस्तवाभ्युपगमविरोध एवेति ॥ २०२१ ॥

एवमपि मुक्तस्य सुखाभावलक्षण तृतीयपक्षमप्रतिविहितमेवोत्पश्यन् पर प्राऽऽह–

एवं पि होज्ज मुत्तो, निस्सुहदुक्खत्तणं तु तदवत्थं ।
त नो पियऽप्पियाइं, जम्हा पुण्णेयरकयाइं ॥२०२२॥
नाणाबाहत्तणओ, न फुसंति वीयरागदोसस्स ।
तस्स पियमप्पियं वा, मुत्तसुहं को पसंगोऽत्थ ?॥२०२३॥

एवमप्युक्तप्रकारेण मुक्तो जीवो भवेदित्यकामैरप्यभ्युपगतमस्माभि , तथा च सति जीवस्य कर्मवियोगलक्षणो मोक्ष , तत्र जीवसत्त्व च सिद्धम् । यत्तु नि.सुखदुःखत्वं सिद्धस्य मया प्रेरितं, तत् "प्रियाप्रिये अशरीर न स्पृशत. " इति वचनात् तदवस्थमेव । अत्रोत्तरमाह–तदेतन्न, यस्मात्पुण्यपापकर्मजनिते एव जीवानां प्रियाप्रिये सांसारिकसुखदु खे प्रवत , ते च त क्षीणनि शेषपुण्यपापकर्माण सकलससारार्णवपारप्राप्त मुक्ताऽऽत्मान न स्पृशत इत्युत्तरगाथाया सबन्ध. । न चैतावता तस्य नि सुखत्वमिति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । कुत ?, इत्याह–(नाणेत्यादि) ज्ञानत्वे सत्यनाबाधरूपत्वादित्यर्थ. । यत्र तद् मुक्तस्य सुख मुक्तसुख स्वाभाविक निष्प्रतीकार निरुपमं च । "मुत्तस्स पर सोक्ख,णाणाणाबाहओ जहा मुणिणो" (१९९२) इत्यादिना प्रागेव साधित, नत्तस्य वीतरागद्वेषस्य मुक्ताऽऽत्मनो न प्रिय न पुण्यजनितं सुख भण्यते, न चाप्रिय न पापजनित दु.ख भण्यत, किं त्वेताभ्यां सर्वथा विलक्षणम् , अकर्मजनितत्वेन स्वाभाविकत्वात्, निष्प्रतीकाररूपत्वात्, निरुपमत्वात् , अप्रतिपातित्वाच्चेति ।

अथ " को पसगोऽत्थ त्ति " "अशरीर प्रियाप्रिये न स्पृशत." इत्युक्ते कोऽत्र मुक्ताऽऽत्मनि मुक्तसुखाभावप्रसङ्ग ,न कश्चिदित्यर्थ. । पुण्यपापजनितप्रियाप्रिययोरभावे तस्य सुतरामेव भावात् । तस्मात् 'न ह वै सशरीरस्य' इत्यादिवेदपदैर्यथोक्तनीत्या जीवकार्मणशरीरविरहलक्षणो मोक्ष',मुक्तावस्थस्य च जीवस्य सत्त्वम्,तथा " अशरीर प्रियाप्रिये न स्पृशत. " इत्यतोऽपि वचनात् पुण्यपापक्षयसमुत्थं स्वाभाविकम्,अप्रतिपाति सुख चास्य इत्येतत् त्रितयं सिद्धम् । अत एतदनभ्युपगच्छतस्तवाभ्युपगमविरोध इति स्थितम् । यदपि–" जरामर्यं वैतत् सर्वं यदग्निहोत्रम् " इत्येतस्माद्वाक्यान्मोक्षहेतुक्रियाऽऽरम्भयोग्यकालाभावान्मोक्षाभाव शङ्कसे । तदप्ययुक्तम्,तदर्थापरिज्ञानात् । तस्य ह्ययमर्थ–यदेतदग्निहोत्र तद्यावज्जीव सर्वमपि काल कर्त्तव्य, वाशब्दात् मुमुक्षुभिर्मोक्षहेतुभूतमप्यनुष्ठान विधेयमिति । इत्येव वेदपदोक्तद्वारेण युक्तिभिश्च प्रसाधितो मोक्ष । छिन्नश्च प्रभासस्य तत्संशय. ॥२०२२॥२०२३॥

ततः किं कृतवानसावित्याह–

छिन्नम्मि संसयम्मी, जिणेण जरमरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइओ, तिहि ओसहखंडियसएहिं ।२०२४।

व्याख्या पूर्ववदिति ।२०२४। विशे० । सिद्धसुखे, कर्म० ५ कर्म० । (स्त्रीनिर्वाणचर्चा, प्रकीर्णकवार्ताश्च ' मोक्ख ' शब्दे समाहिष्यन्ते) विध्यापने, आव० ४ अ० । (तीर्थकृता निर्वाण ' तित्थयर ' शब्दे वक्ष्यते) निर्वाणप्रधानैककारणत्वान्निर्वाणम् । प्राणातिपातादिनिवृत्तौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । दु खकथने, दे० ना० ४ वर्ग ३३ गाथा ।

णिव्वाणंग–निर्वाणाङ्ग–न० । मुक्तिकारणे, पञ्चा० ११ विव० ।

णिव्वाणगमणकाल–निर्वाणगमनकाल–पु० । मोक्षगमनप्रत्यासन्नसमये. दर्श० ४ तत्त्व ।

णिव्वाणगमणपज्जवसाणफल–निर्वाणगमनपर्यवसानफल–त्रि० । निर्वाणगमन मुक्तिप्राप्ति पर्यवसाने आनुषङ्गिकसुरमनुजसुखानुभवपर्यन्ते फल यस्यासौ निर्वाणगमनपर्यवसानफल । पा० । निर्वाणगमन मोक्षगमनमेव पर्यवसान परमार्थरूप फल यस्य स तथा । मोक्षैकहेतौ, ध० । " असण्णिहिस-

बयस्स णिव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स इमस्स धम्मस्स।" ध० २ अधि०।

णिव्वाणणगर-निर्वाणनगर-न०। निर्वाणपुरे, द० प०। "ध- म्म जिणपसत्थं, सम्ममिणं सद्दहामि तिविहेण। तसथावरभू- अहियं, पंथं णिव्वाणनगरस्स॥ १॥" द० प०।

णिव्वाणपय-निर्वाणपद-न०। निष्कर्मताहेतुपदे. अष्ट०४अष्ट०।

णिव्वाणपसाहण-निर्वाणप्रसाधन-न०। मोक्षसाधने; प० व० ३ द्वार।

णिव्वाणपुर-निर्वाणपुर-न०। ईषत्प्राग्भाराऽऽख्ये सिद्धिपत्तने; आव० ४ अ०। दर्श०।

णिव्वाणभावि [ण्]-निर्वाणभाविन्-त्रि०। निर्वाणे भवि- ष्यतीति निर्वाणभावी। भव्ये, विशे०।

णिव्वाणभूय-निर्वाणभूत-त्रि०। असावद्यानुष्ठानभूते; सूत्र०। "णिव्वाणभूए य परिव्वएज्जा।" अस्यायमर्थः-यथा हि निर्वृतो निर्व्यापारत्वात् कस्यचिदुपघाते न वर्तते, एवं साधुरपि साव- द्यानुष्ठानरहितः परि समन्तात् व्रजेदिति। सूत्र०१श्रु० १०अ०।

णिव्वाणमग्ग-निर्वाणमार्ग-पुं०। निर्वृतिर्निर्वाणं, सकलकर्मक्ष- यजमात्यन्तिकं सुखमित्यर्थः। निर्वाणस्य मार्गो निर्वाणमार्गः। परमनिर्वृतिकारणे, आव० ४ अ०। ध०। आतु०। सिद्धिक्षेत्रा- वाप्तिपथे, उपा० २ अ०। सकलकर्मविरहजसुखोपाये, प्र० ८ श० ३३ उ०।

णिव्वाणमहावाम-निर्वाणमहावाट-पुं०। सिद्धिमहागोस्थान- विशेषे, उपा० ७ अ०।

णिव्वाणमहोयस-निर्वाणमहौजस-पुं०। ऐरवते वर्षे भविष्यति सप्तमे तीर्थकरे, ति०। प्रव०।

णिव्वाणवाइ[ण्]-निर्वाणवादिन्-पुं०। निर्वाणं सिद्धिक्षेत्राऽऽ- ख्यं कर्मच्युतिलक्षणं स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिहेतुतो वा वदितुं शीलं येषां ते तथा। निर्वाणपथदेशके; "पक्खीसु वा गरुले वे- णुदेवे,णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते।"(२१)। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

णिव्वाणवीय-निर्वाणबीज-न०। मोक्षसुखयोर्हेतौ सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

णिव्वाणसाहण-निर्वाणसाधन-न०। स्त्री०। परमपदप्रापके, सुखसाधने च। षो० १५ विव०। क्रिया ङीप्। "निर्वाणसा- धनीति च, फलदा तु यथार्थसञ्ज्ञाज्ञि।" (१०) निर्वाणं साधय तीति निर्वाणसाधनी। मनोयोगसारायाम्, षो० ८ विव०।

णिव्वाणसिला-निर्वाणशिला-स्त्री०। उज्जयन्तशैले नेमिनाथ- शिलायाम्, "कदप्पकप्परागा, कुणई विहुवणनेमिनाहस्स। णि- व्वाणसिला नामे-ण अत्थि भुवणम्मि विक्खाया॥१॥" ती० ३ कल्प।

णिव्वाणसुह-निर्वाणसुख-न०। निर्वाणमशेषकर्मक्षयस्तद- वाप्तौ वा विशिष्टकोशप्रदेशः। तेन तत्र वा सुखं निर्वाणसुखम्। मोक्षसुखे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

णिव्वाणसेट्ठ-निर्वाणश्रेष्ठ-त्रि०। मोक्षप्रधाने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

णिव्वाणाऽऽवेस-निर्वाणाऽऽवेश-पुं०। मोक्षाऽऽवेशे, "यत्प्र- कारा यावन्तः, संसाराऽऽवेशहेतवः। तावन्तस्तद्विपर्यासा, निर्वाणाऽऽवेशहेतवः॥१॥" सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

णिव्वाणि [ण्]-निर्वाणिन्-पुं०। अतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते भरतक्षेत्रजे द्वितीये तीर्थकरे, प्रव० ७ द्वार।

णिव्वाणी-निर्वाणी-स्त्री०। श्रीशान्तिनाथस्य शासनदेव्याम्, प्रव० २७ द्वार। सा च कनकरुचिः पद्मासना चतुर्भुजा पु- स्तकोत्पलयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, कमण्डलुकमलाङ्कितवामक- रद्वया च। प्रव० २७ द्वार।

णिव्वाव-निर्वाप-पुं०। शाकघृताऽऽदिपरिमाणे,नि० चू०१उ०।

णिव्वावकहा-निर्वापकथा-स्त्री०। एतावन्तस्तत्र पक्वान्नभेदाः, व्यञ्जनभेदा वेति भक्तकथायाम्, स्था० ४ ठा० २ उ०।

णिव्वावण-निर्वापण-न०। विध्यापने, दश० ४ अ०। अभा- वाऽऽपादने, दश० ८ अ०।

णिव्वावार-निर्व्यापार-त्रि०। व्यापाराग्निर्गतो निर्व्यापारः। निरारम्भे, उत्त० ६ अ०। परिहृतकृषिपशुपाल्याऽऽदिक्रिये, उत्त० ६ अ०।

णिव्वाविऊण-निर्वाप्य-अव्य०। विध्याप्येत्यर्थे, नि० चू० १ उ०।

णिव्वाविय-निर्वापित-त्रि०। शीतीकृते,आ० १ श्रु० १३ अ०।

निर्वाप्य-अव्य०। दाहप्रशमाद्विध्यातं विधायेत्यर्थे, "प- ज्जालिया णिव्वाविया।" दश० ५ अ० १ उ०।

णिव्वाह-निर्वाह-पुं०। व्यवस्थापने, आ० ११ द्वा०।

णिव्वाहण-निर्वाहन-न०। निःसारीकरणे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। पञ्चा०।

णिव्विइ-निर्वृति-स्त्री०। मथुरानाथस्य पर्वतकनृपस्य सुताया- म्, यया राधावेधकृत्कुमारो भर्तृत्वेन वृत इति। पञ्चा० १४ विव०।

णिव्विइय-निर्विकृतिक-न०। विकृतिप्रत्याख्याने, प्रव०।

निर्विगतिक-न०। मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विगतिहेतुत्वाद् वा विकृतयो विगतयो वा यत्र तन्निर्विकृतिकं, निर्विगतिकं वा। विकृतिप्रत्याख्याने, प्रव०। निर्विकृतिके अष्टौ नव वा आकारा भवन्ति। यथा-" णिव्विगइयं पच्चक्खाइ अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।" (प्रव०) आकारा पूर्ववद् व्याख्येया, नवरं (पडुच्चमक्खिएणं ति) प्रती- त्य सर्वथा रूक्षं मण्डकाऽऽदिकमपेक्ष्य म्रक्षितं स्नेहितमीषत्सौ- कुमार्योत्पादनाद् म्रक्षणकृतविशिष्टस्वादुताया अभावाद् म्रक्षि- तमिव यद्वर्तते तत्प्रतीत्य म्रक्षितं म्रक्षिताभास इत्यर्थः। इह चायं विधिः-यद्यङ्गुल्या घृताऽऽदि गृहीत्वा मण्डकाऽऽदि म्रक्षितं,तदा कल्पते निर्विकृतिकस्य,धारया तु न कल्पते,इति व्युत्सृजति वि कृतीः परिहरति। इह च यासु विकृतिषु उत्क्षिप्तविवेकः सम्भवति, तासु नवाऽऽकाराः, अन्यासु द्रवरूपासु अष्टौ। ननु निर्विकृतिके एवाऽऽकारा अभिहिताः,विकृतिपरिमाणप्रत्याख्याने तु कुत आ- कारा अवगम्यन्ते?। उच्यते-निर्विकृतिकग्रहणे सति विकृतिपरि-

माणप्रत्याख्यानस्यापि सग्रहो भवति, यतस्तत्रापि त एव तथैवाऽऽकारा भवन्ति। यथा एकाशनकस्य,पौरुष्या पूर्वार्द्धस्य च सूत्रे आकारा अभिदधिरे, परं ह्याशनकस्य, सार्द्धपौरुष्या अपार्द्धस्य च प्रत्याख्यानस्य त एव भवन्तीति प्रत्याख्यान सूत्रानभिहितमपि भवति,अप्रमादवृद्धेः सर्वत्र सम्भवादित्यदोष.।

ननु निर्विकृतिके, विकृतिपरिमाणे वा प्रत्याख्याने काष्टौ, क वा नव आकारा भवन्ति ?, इत्याह–

नवणीओगाहिमगे, अद्दवदहिपिसियघयगुडे चेव ।
नव आगारा एसिं, सेसदवाण च अट्टेव ॥ २०७ ॥

नवनीते म्रक्षणके, अवगाहिमके च पकान्ने, अद्रवदधिपिशितघृतगुडे चैव। अद्रवग्रहण सर्वत्र सम्बन्धनीयम् । नव च आकारा. (एसिं ति) अमीषां विकृतिविशेषाणा भवन्ति। शेषाणां तु द्रवरूपाणामष्टैवाऽऽकारा । अयमभिप्राय.–यत्रोत्क्षिप्तविवेकोऽद्रवरूपाणा नवनीतगुडाऽऽदीनां कर्तु शक्यते, तत्र नवाऽऽकारा., द्रवरूपाणा तु विकृतीनामुद्धर्तुमशक्यानामष्टावाकारा इति । प्रव० ४ द्वार। आव० नि० ।

आकारा –

पंचेव य खीराऽऽई, चत्तारि दहीणि सप्पि नवणीए।
चत्तारि अ तेल्लाइं, दो विअडे फाणिए दुन्नि ॥५८॥
महुपुग्गलाइँ तिन्नि उ, चलचलओगाहिमं तु जं पक्कं ।
एएसिं संसट्ठं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ५९॥

इद विकृतिस्वरूपप्रतिपादक गाथाद्वय गतार्थमेव । अधुना एतदाकारा व्याख्यायन्ते–तथा–" अणाभोगसहसाकारा तहेव, लवालेवो पुण जहाऽऽयबिलो तहेव दट्ठव्वो । गिहत्थसंसट्ठो बहु वत्तव्वो त्ति गाहाहिं भण्णइ।

ताओ पुण इमाओ—

खीरदहीविअडाणं, चत्तारि उ अंगुलाइँ संसट्ठं ।
फाणियतेल्लघयाणं, अंगुलमेगं तु संसट्ठं ॥६०॥
महुपुग्गलरसयाणं, अद्धगुलयं तु होइ संसट्ठं।
गुलपुग्गलनवणीयं, अद्दामलगं तु संसट्ठं ॥ ६१ ॥

गिहत्थसंसट्ठस्स इमो विही–खीरेण कुसणिओ कूरो जइ लब्भइ, तस्स जइ कुडगस्स ओयणाओ चत्तारि अंगुलाणि दुद्धं,ताहे निव्विगइयस्स कप्पइ,पंचम चाऽऽरद्ध विगती य,एव दधिस्स वि, वियडस्स वि, केसु वि विसएसु वियमेण मीसिज्जइ ओयणो, ओगाहिमओ वा फाणियगुलस्स तेल्लघयाण य। एएहिं कुसणिए जइ अंगुल उवरि अत्थइ,तो वट्टइ,परेण न वट्टइ। महुस्स,पोग्गलरसगस्स य अद्धंगुलेण संसट्ठं होइ, पिंडगुलस्स पुग्गलस्स नवणीयस्स अद्दामलगमेत्त संसट्ठं । जइ बहूणि एयप्पमाणाणि कप्पइ, एग पि बहु न कप्पइ। इति गाथाद्वयार्थ. ॥ ६१ ॥

उक्खित्तविवेगो जहा आयंबिले ज उद्धरिउ तीरइ, सेसेसु नत्थि, पडुच्च मक्खिय पुण–जइ अंगुलीए गहाय मक्खेइ तेल्लेण वा घएण वा, ताहे नि व्विगइयस्स कप्पइ, अह धाराए छुब्भइ, मणाग पि न कप्पइ

इयाणिं पारिट्ठावणियागारो–सो पुण एगासणएगट्ठाणाइसाधारणो त्ति कट्टु विसेसेण परूविज्जइ,इति तन्निरूपणार्थमाह–

आयंबिलमणायंबिले चउत्थाइ बालवुड्ढसह्। ।
असह् अणहिंडिअए, पाहुणगनिमंतणा वलिआ ॥६२॥

विहिगहिअं विहिभुत्तं, उव्वरिअं जं भवे असणमाई।
तं गुरु णाणुण्णायं, कप्पइ आयंबिलाईणं ॥ ६३ ॥
चउरो अ होंति भंगा, पढमे भंगम्मि होइ आवलिआ।
इत्तो अ तइअभंगे, आवलिआ होइ नायव्वा ॥ ६४ ॥

यद्वाऽत्रान्तरे प्रबुद्ध इव चोदकः पृच्छति–भदो ! तावद्भगवता "एगासणएगट्ठाणगआयबिलचउत्थछट्ठऽट्ठमाणिव्विइएसु पारिट्ठावणियागारो वण्णिओ,न पुण आणामि केरिसस्स साहुस्स पारिट्ठावणियं दायव्व,न दायव्व वा ?। आयरिओ भणइ–(आयंबिलमणायंबिले गाहा) पारिट्ठावणियाभुंजणे जोग्गा साहू दुविहा—आयंबिलगा, अणायंबिलगा य । आयंबिलगविरहिया—एगासणेगट्ठाणचउत्थछट्ठऽट्ठमानिव्विगइपज्जवसाणा दसमभत्तिगाईण मंडलिए उव्वरिए पारिट्ठावणिय न कप्पइ दाउ, तेसिं पेज्ज, उण्हयं वा दिज्जइ। अवि य–तेसिं देवया व होज्ज–एगो आयंबिलिओ,एगो चउत्थभत्तिओ होज्ज। कयरस्स दायव्व ?। चउत्थभत्तियस्स। सो दुविहो–बालो,वुड्ढो य। बालस्स य दायव्व। बालो दुविहो–सहू,असहू य। असहुस्स दायव्व। असहू दुविहो–हिंडियगो, अहिंडियगो य । हिंडियस्स दायव्व। हिंडियओ दुविहो–वत्थव्वगो,पाहुणगो य। पाहुणगस्स दायव्वं। एव ताव चउत्थभत्ते बालो असहू अहिंडिओ पाहुणगो पारिट्ठावणियं भुजाविज्जइ।१। तस्स असइ बालो असहू हिंडिओ वत्थव्वो।२।तस्स असति बालो असहू अहिंडिओ पाहुणगो।३। तस्स असति बालो असहू अहिंडिओ वत्थव्वो।४।एवमेतेण करणोवाएण चउहिं एएहिं सोलस आवलिया भंगा भासियव्वा। तत्थ पढमभगियस्स दायव्व;तस्सासति बितियस्स दायव्व,तस्सासइ तइयस्स। एवं जाव चरिमस्स दायव्व। पवरपारिट्ठावणियाए वा सव्वेसिं दायव्व। एव आयंबिलियस्स छट्ठभत्तियस्स सोलस भगा विभासा। एव आयंबिलियस्स अट्ठमभत्तियस्स सोलस भगा। एव आयंबिलियस्स निव्विगइयस्स सोलस भगा,नवर आयंबिलियस्स दायव्व। एव आयंबिलियस्स एकासणियस्स सोलस भगा। एव आयंबिलियस्स एगट्ठाणियस्स सोलस भगा। एवमेए आयंबिलिवक्खेवगसजोगेसु सव्वग्गेण उव्वउइं आवलिया भवति। आयंबिलिगवक्खेवगो गओ॥ एगो चउत्थभत्तिओ, एगो छट्ठभत्तिओ,एत्थ वि सोलस,नवर छट्ठभत्तियस्स दायव्व। एगो एव चउत्थभत्तियस्स अट्ठमभत्तिअस्स वि सोलस भगा। एगो एगासणिओ, एगो एगट्ठाणिओ, एगट्ठाणियस्स दायव्व, एत्थ वि सोलस । एगो एगासणिओ, एगो निव्विगइओ, एगासणियस्स दायव्व, एत्थ वि सोलस । एगो एगट्ठाणिओ,एगो निव्विगइओ, एगट्ठाणियस्स दायव्व, एत्थ वि सोलस जाय त्ति गाथार्थे ।६२। त पुण पारिट्ठावणिवं जहाविधीए गहिय विधिभुत्त सेस च तेसिं दिज्जइ । तत्र (विधिगहिय विधिभुत्त गाहा) विहिगहिय नाम–अलुद्धेण उग्गमिय पच्छा मरुलीए करूपयरग (च्छेद) सीहखइएण वा विहीए भुत्त, एवविध पारिट्ठावणिय। जाहे गुरू भणइ–अज्जो ! इम पारिट्ठावणिय इच्छाकारेण भुजाहि त्ति, ताहे से कप्पति वदण दाउ संदिसावेउ भोत्तव्व ति । एत्थ चउभगविभासा । ६३। (चउरो य होंति गाहा) विहिगहिय विहिभुत्त १, विहिगहिय अविहिभुत्त २,अविहिगहिय विहिभुत्त ३,अविहिगहिय अविहिभुत्त ४। तत्थ पढमभगो–भिक्ख साधू हिंडति, तेण य अलुद्धेण बाहिं संजोयणादोसेण विप्पजढेण आहारिय भत्तपाण, पच्छा मं-

इलीए पयरगच्छेरी तिसु विधीए समुद्दिट्ठ । एवविह पुव्ववन्नियाण आवलियाण कप्पइ समुद्दिसिओ । १ । इयाणिं वितियभगो तहेव-विहीए गहिय, भुत्त पुण कागासियालादिदोसदुट्ठ, एव अविहीए भुत्त । तत्थ जइ उव्वरेइ, न उज्झिज्जइ, न कप्पइ, छड्डिमाई दोसा हवति । परिस जो देइ, जो य भुजइ, दोण्ह वि विवेगो कीरइ, अपुण कारए वा उवट्ठियाण एवकल्लाणय दिज्जइ । २ । इयाणिं तइयभगो-तत्थ अविहिगहियं वीसु २ उक्कोसगादि दव्वाणि भाणियव्वाणि । कत्थ पुमगास्मिव पडिगहे वियारेइ-एय मे भोत्तव्व ति, मागतो पच्छा मडलीए, रायणिएण समरस काउ ममलीए विहीए समुद्दिट्ठ । एवविहे ज उव्वरिय, त पारिठावणियागार आवलियाण विहिभुत्त ति काउ कप्पइ । ३ । चउत्थभगे आवलियाण न कप्पइ भोत्तु, ते चेव पुव्ववन्निया दोसा । एवमेव भावपच्चक्खाण भणिय ति गाथाऽर्थः ॥ ६४ ॥ आव० ६ अ० ।

अथ यदुक्त "निव्विइए अट्ठ नव य आगारा (१०)"

इति, तद्विभागदर्शनायाऽऽह-

णवणीओगाहिमए, अद्दवदहिपिसियघयगुडे चेव ।
णव आगारा तेसिं, सेसदव्वाणं च अट्ठेव ॥ ११ ॥

नवनीतं च म्रक्षणम् । अवगाहेन स्नेहघोलनेन निर्वृत्तमवगाहिमम्, तदेवाऽवगाहिमक पक्वान्न तच्चेति नवनीताऽवगाहिमकम्, तत्र । तथाऽद्रव कठिन यद्दधिपिशितघृतगुड प्रतीतस्वरूप तत् तथा । समाहारद्वन्द्वगर्भकर्मधारयपदमिदम् । तथाऽद्रवदधिपिशितघृतगुडमेव । चैवशब्दौ समुच्चयावधारणार्थौ । दर्शित एव चाऽनयो प्रयोग । किमित्याह-नवाऽऽकारा भवन्ति । एतेषूत्क्षिप्तविवेकस्य सभवात् । तथाहि-भक्तस्योपरि नवनीत दधिपिशिताऽऽदीनि चाद्रव मुक्त, तदुत्क्षिप्यमाण कठिनत्वेन सर्वथा विवेचयितु शक्यमतस्तत्संसृष्टमपि भक्त भुञ्जानस्य " उक्खित्तविवेगेण " इत्येतदाकारबलाद् न भङ्गः । एव तावदाकारनवकसभव उक्तः । अथ तदष्टकसभवमाह-तेषा दध्यादीना विकृतिविशेषाणाम् । पूर्वमद्रवशब्देन विशेषितत्वादिह द्रवाणामिति विशेषण द्रष्टव्यम् । तथा शेषा प्रागुक्तनवनीताऽऽद्यतिरिक्ता विकृतिविशेषा, ते च ते द्रवाश्च श्लथा भोजने निक्षिप्ताः सन्त सर्वथा विवेक्तुमशक्या शेषद्रवा, तेषा शेषद्रवाणा मद्याऽऽदीनाम् । चशब्दः समुच्चये । सम्बन्धिनि प्रत्याख्यान इति गम्यते । किमित्याह-अष्टैव, न तु नव भवन्त्याकारा । इह च विकृत्यन्तरप्रत्याख्यानमपि निर्विकृतिकमुच्यते । तेन या मद्यदुग्धतैलाऽऽदीनां प्रत्याख्यान करोति, तस्योत्क्षिप्तविवेकोच्चारण नाऽर्थवत्, दध्यादिप्रत्याख्यातु पुनरर्थवत्, तद्विवेकस्य सभवादिति भावना । इद च वस्तुविचारमात्रमेव । यतो दुग्धाऽऽदिकमपि प्रत्याचक्षाणेनोत्क्षिप्तविवेक उच्चारणीय एव, भगवतीयोगवाहिना गृहस्थसंसृष्टाऽऽदिवदिति । अन्ये त्वाहु -वचनप्रामाण्यादुच्चारणीय एवेति । एते चैवम्-"निव्विगइय पच्चक्खाइ अन्नत्थऽणाभोगेण सहसागारेण लेवालेवेण गिहत्थसंसट्ठेण उक्खित्तविवेगेण पडुच्चमक्खिएण पारिट्ठावणियागारेण महत्तरागारेण सव्वसमाहिवत्तियागारेण वोसिरइ ।" व्यक्तम् । नवर गृहस्थसंसृष्टस्य निर्विकृतिक प्रति विशेषव्याख्यानमिदम्, गृहस्थेन स्वप्रयोजनाय दुग्धेन संसृष्ट ओदनो, दुग्धं यदि तमतिक्रम्योत्कर्षतश्चत्वार्यङ्गुलानि यावद् उपरि वर्तते, तदा तद् दुग्धमविकृतिः, पञ्चमाङ्गुलाऽऽरम्भे तु विकृतिरेव । अनेन न्यायेनान्या अपि ।

तत्रोक्तम्-

" खीरदहीवियडाण, चत्तारि उ अगुलाइँ संसट्ठं ।
फाणियतेल्लघयाण, अंगुलमेग तु ससट्ठ ॥ ६० ॥
महुपोग्गलरसयाण, अद्धगुलय तु होइ संसट्ठं ।
गुलपोग्गलणवणीय, अद्दामलय तु ससट्ठ ॥६१॥" (आव०नि०)

फाणिय काकव । पुद्गलरसको मांसरसः । पुद्गल मांसम् । आर्द्रामलक तु पीलुमयूर इति सम्प्रदाय इति ।

(पडुच्च मक्खिएण ति) प्रतीत्य सर्वथा रूक्षं मण्डकाऽऽदिकमपेक्ष्य म्रक्षित स्नेहितम्, ईषत्सौकुमार्योत्पादनात्, म्रक्षणकृतविशिष्टस्वादुताया अभावाच्च म्रक्षितमिव यद्वर्तते तत्प्रतीत्य म्रक्षित, म्रक्षिताभास इत्यर्थः । तस्मात्प्रतीत्य म्रक्षितादन्यत्र निर्विकृतिकम् । इह च पञ्चम्यर्थे तृतीयेति । इह चाय विधि - यद्यङ्गुल्या तैलाऽऽदि गृहीत्वा मण्डकाऽऽदि म्रक्षित, तदा कल्पते निर्विकृतिकस्य, धारया तु न कल्पते । व्युत्सृजति विकृतिं त्यजतीत्यर्थः । इह सूत्रे-" निव्विइए अट्ठ नव य आगारा " (१०) इत्येव निर्विकृतिकस्यैव प्रत्याख्यानतयाऽभिधानेऽपि विकृतिपरिमाणप्रत्याख्यानमपि न दुष्टम्, अप्रमादवृद्धिहेतुत्वात् । अत एव सूत्रे "चउव्विह पि आहार" इत्येव पाठेऽपि द्विविधाऽऽहारस्य त्रिविधाऽऽहारस्य च पौरुष्यादिप्रत्याख्यानमदुष्टमेवमेकाशनकस्य पौरुष्या पुरिमार्द्धस्यैव च सूत्रेऽभिधानेऽपि द्व्याशनकस्य सार्द्धपौरुष्या अपार्द्धस्य च प्रत्याख्यानमदुष्टमिति केचित्, अप्रमादवृद्धेर्द्व्याशनकाऽऽदिष्वपि सभवात् । आकारा अपि य एवैकाशनकाऽऽदिषु त एवेतरेष्वपि न्याय्याः, अशनाऽऽदिशब्दसाम्यात्, विकृतिपरिमाणद्विविधाऽऽद्याहारपौरुष्यादिप्रत्याख्यानेष्विवेति । न च वाच्यमभिग्रहप्रत्याख्यानानि द्व्याशनकाऽऽदीनि, ततस्तेषु चत्वार एवाऽऽकारा भविष्यन्ति, एकाशनाऽऽदिभिस्तुल्ययोगक्षेमत्वादितरेषामिति । अन्ये तु मन्यन्ते-एव हि प्रत्याख्यानमर्यादा न काचित्स्यात् । तत एकाशनकाऽऽदीन्येव प्रत्याख्यानानि । एकाशनकाशकस्तु सार्द्धपौरुषीं वा यावद् ग्रन्थिसहितमेव तदुपरि प्रत्याख्यानीति गाथाऽर्थः ॥११॥

अथाऽऽकारा किमर्थमिहाभिधीयन्ते ?, इत्यत्राऽऽह-

वयभंगो गुरुदोसो, थोवस्स वि पालणा गुणकरी उ ।
गुरुलाघव च णेयं, धम्मम्मि अओ उ आगारा ॥१२॥

व्रतभङ्गो नियमभङ्गः । किमित्याह-गुरुर्महान् दोषो दूषणमशुभकर्मबन्धाऽऽदिरूपो यस्मिन्नसौ गुरुदोष, भगवदाज्ञाविराधनात् । तथा स्तोकस्याप्यल्पस्याप्याकाराऽऽश्रयणतो व्रतस्यास्तां महत । पालनाऽऽराधना । गुणकरी तु कर्मनिर्जरालक्षणोपकारकारिण्येव, विशुद्धकुशलपरिणामरूपत्वात् । तथा गुरु च सार, लघु चासारं, तयोर्भावो गुरुलाघवम् । तच्च ज्ञेय ज्ञातव्यं भवति । क्वेत्याह-धर्मे चारित्रधर्मे । तथाहि-उपवासे कृतेऽपि सजातासमाधेरौषधाऽऽदिदानत समाधिसपादने निर्जरागुणो गुरुर्भवति, इतरथा पुनरल्प इति विमर्शनीयम् । एकान्ताग्रहस्य प्रभूतापकारकारित्वेनाऽशोभनत्वात्, यत एवमतोऽस्मात्कारणात् । तुशब्द पूरणार्थ । आकारा अपवादा प्रत्याख्याने क्रियन्ते इति । इदमुक्त भवति-कृतप्रत्याख्यानस्यापि गुरुलाघवचिन्तया समाध्याद्यर्थमाहारस्यावश्यं ग्रहणमुचितमतः कृताऽऽकारस्त्वेमाल्पमपि व्रत सम्यक् पालित भवति, अकृता-

कारतायां तु महदपि तद्भग्न भवति । पालनाभङ्गौ चार्थानर्थकरावित्याकारा. समाश्रयणीया भवन्तीति गाथाऽर्थः ॥ १२ ॥ उक्त आकारविधिः । पञ्चा० ५ विव० । ध० प्र० । प० व० ।

अथ येषु निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तं, तान्याह–

इत्तरठविए सुहुमे, ससणिद्ध सरक्खपक्खिए चेव ।
मीसपरंपरठविया–इ बीयाइएसु वाऽविगई ॥४३॥

इत्वरस्थापनायां सूक्ष्मप्राभृतिकायां सस्निग्धम्रक्षिते सरजस्कम्रक्षिते च मिश्रपरम्परस्थापिताऽऽदिषु,मिश्रा. सचित्ताचित्तरूपा. पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकानन्तवनस्पतित्रसा., तेषु परम्परं व्यवहित निक्षिप्तम् । आदिशब्दात्पिहितसंहृतगार्दितानि, तेषु (बीयाइएसु व त्ति) प्रत्येकबीजेष्वचित्तबीजेषु वाऽनन्तरपरम्परनिक्षिप्तपिहितसंहृतच्छर्दितेषु बीजान्मिश्र च अविकृतिपरित्यागप्रायश्चित्तमित्यर्थः । वाशब्दाच्च-

" छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा निक्खिविउ ते चेव ।
घट्टती गाहती, आरंभती इ सड्ढाण " ॥ १ ॥ इत्यपि ज्ञेयम् ।

अस्यार्थः—षट्कायव्यग्रहस्ता श्रमणार्थमुत्थाय षट्कायान् भुवि निक्षिप्य पुनस्तानेव घट्टयन्ती तत्सघट्ट कुर्वाणा गाहमाना विलोडनेन इतस्ततो विक्षेपणेन अगाढं गाढं चापरितापयन्ती आरभमाणा षट्कायोपद्रव कर्माऽऽरम्भं कुर्वती दात्री यदि ददाति, ततो ग्रहीतु. साधो. स्वस्थान प्रायश्चित्त भवति । अयमभिप्राय —जीतकल्पे यस्यापराधस्य यत्प्रायश्चित्तमुक्तमस्ति, तत्तस्य स्वस्थान, ततश्च दात्र्याः पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिसंघट्टाऽऽगाढपरितापोपद्रवान् कुर्वत्या., सकाशाद् ग्रहीतु निर्विकृतिपुरिमैकाशनाचामाम्लानि, अनन्तवनस्पतिविकलेन्द्रियसंघट्टाऽऽदीन् कुर्वत्या पार्श्वाद्दातुः पुरिमैकाशनाचामाम्लक्षपणानि, पञ्चेन्द्रियसघट्टाऽऽदीन् कुर्वत्या. प्रायश्चित्तग्राहकस्य एकाशनाचामाम्लक्षपणैककल्याणकानि प्रायश्चित्त भवतीत्यर्थ । उक्त षट्चत्वारिंशद्दोषप्रायश्चित्तम् । मूलकर्मप्रायश्चित्त त्वष्टमप्रायश्चित्तमध्ये भणिष्यते ॥ ४३ ॥

इहानन्तर सूत्रगाथायां निर्विकृतिप्रायश्चित्तमुक्त, ततस्तत्प्रस्तावादन्यदपि निर्विकृतिशोध्यमाह–

सहसाऽणाभोगेण व, जेसु पडिक्कमणमभिहियं तेसु ।
आभोगेण वि बहुसो, अइप्पमाणे य निव्विगई ॥ ४४ ॥

सहसाऽनाभोग प्रागुक्तस्वरूप ,सहसाऽनाभोगेन वा चासितचित्तेषु स्थानकेषु प्रतिक्रमणार्हं प्रायश्चित्तमभिहित,तेषु स्थानकेषु मध्ये आभोगेनापि,कोऽर्थः ?, जानन्नपि बहु स पुनर्यदासेवते,भतृप्यन् अतिमात्र वा नष्टेवाऽऽसेवते तत्र सर्वत्र निर्विकृतिक प्रायश्चित्तम् ॥४४॥ जीत०। निर्गतो घृताऽऽदिविकृतिभ्यो य स निर्विकृतिकः । स्था० ५ ठा० १ उ० । विनिर्गतविकृतिपरिभोगे, दश० । " अभिक्खणं निव्विगइ गया य । (७)" दश० २ चू० । निर्गतघृताऽऽदिविकृतिके, औ० । दधि गृहस्थैरोदनाऽऽदिना संसृष्ट तद्दिने प्रहरानन्तर निर्विकृतिक भवति, तथा दुग्धमपि राद्धकूरपृथुकाऽऽदिना संसृष्ट निर्विकृतिक भवति, न वा ?,इति प्रश्ने, उत्तरम्-कूरमिश्र दधि करम्बरूप ज्ञायते, तद् घटिकाद्वयादनु निर्विकृतिक भवति । यच्च दधि दुग्ध वा " दुद्ध दहि चउरंगुल " इत्यनुसारेण कूराऽऽदिमिश्र विधीयते,तद्भाष्यावचूरिवचनात्पर्युषित

सद् निर्विकृतिक भवतीति । प्र० ७७ । सेन० ३ उल्ला० । श्रावकस्य निर्विकृतिकप्रत्याख्याने यतिवद् निर्विकृतिक कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-यतिना श्रावकाणां च मुख्यवृत्त्या निर्विकृतिक न कल्पते, कारणे तु कल्पते, एवंविधान्यक्षराणि शास्त्रे सन्ति, तस्मात् श्राद्ध' कदाचिन्निर्विकृतिकप्रत्याख्यान करोति, तस्य न कल्पते, बहुतपसि तु कल्पते, कारणत्वात्, एकान्तेन निषेधो ज्ञातो नास्ति, यतिनां तु पर्वाऽऽदिषु पुन' पुनस्तत्प्रत्याख्यानकरणात्कल्पते इति । ४५२ प्र०। सेन०३ उल्ला०। बहुतरे दुग्धे दध्नि वा यद्याल्पतरान् तन्दुलान् प्रक्षिपति, तद् दुग्ध तद्दधि वा निर्विकृतिक भवति, न वेति प्रश्ने-उत्तरम्- "दहिखीरबहुअप्पतंडुल" इति भाष्यगाथावचनादल्पतन्दुलप्रक्षेपेऽपि तद् दुग्ध तद्दध्यपि निर्विकृतिक भवतीति ज्ञायते इति । ४५७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । श्राद्धानामाचाम्लमध्ये निर्विकृतिमध्ये च उष्णोदकं प्रासुक च वारि गृह्णाति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-उभयमपि गृह्णाति । ४७६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

णिव्विगप्प–निर्विकल्प–पुं० । नि.सन्दिग्धे, ग० २ अधि० । गतशङ्के, ग० २ अधि० । " अत्थि त्ति निव्विगप्पो। " दश० ४ अ० । निष्क्रान्ताशेषभेदस्वरूपे, सम्म० १ काण्ड ।

णिव्विगिच्छ–निर्विचिकित्स्य–न० । निर्गता विचिकित्सा निर्विचिकित्सा, तस्य भावो निर्विचिकित्स्यम् । फल प्रति सन्देहाकरणे, उत्त० २८ अ० ।

निर्विचिकित्स–त्रि० । विचिकित्सा मतिविभ्रमो, निर्गता विचिकित्सा यस्मादसौ निर्विचिकित्स' । साध्वेव जिनदर्शन, किंतु प्रवृत्तस्यापि सतो ममास्मात्फल भविष्यतीति वा, न वा, कृषीवलाऽऽदिक्रियासूभयथाऽप्युपलब्धेरिति कुविकल्परहिते,ध०। न ह्यविकल उपाय उपेयवस्तुपरिप्रापको न भवतीति सजातनिश्चये, ध० १ अधि० । ग० । प्रव० । व्य० । विचिकित्सारूपाऽतिचाररहितसम्यक्त्वे, दशा० ३ अ० । फल प्रति नि.शङ्के, दशा० १० अ० ।

णिव्विगिय–निर्विकृतिक–न० । ' णिव्विइय ' शब्दार्थे, प्रव० ४ द्वार ।

णिव्विग्घ–निर्विघ्न–अव्य० । विघ्नाभावे, " सीसपविसिनिमित्तं, निव्विग्घत्थ च । " अनु० ।

णिव्विट्ठ–निर्विष्ट–त्रि० । आसेवितविवक्षितचारित्रे अनुपारिहारिके, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अनु० । उचिते, दे० ना० ४ वर्ग ३५ गाथा ।

णिव्विट्ठकप्पट्ठिइ–निर्विष्टकल्पस्थिति–स्त्री० । निर्विष्टा-आसेवितविवक्षितचारित्राऽनुपारिहारिका इत्यर्थ । तत्कल्पस्थिति । तद्विषयस्थितिभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । निर्विष्टकायिके (तद्विषय-) यथा प्रतिदिनमायाममात्रतया भिक्षा तथैवेति । उक्त च- " कप्पट्ठिया वि पइदिण, करेंति एमेव चायामा । " स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णिव्विट्ठकाइय–निर्विष्टकायिक–पुं० । निर्विष्ट -आसेवित प्रस्तुततया विशेष , कायो येषा ते निर्विष्टकाया , त एव स्वार्थे कप्रत्ययोपादानान्निर्विष्टकायिका , तद्भेदादिदमपि (चारित्रमपि) निर्विष्टकायिकम् । अनु० । विशे० । बृ० । निर्विशमानकानुच-

रकेषु, भ० २५ श० ७ उ० । पं० सं० । आसेवितविवक्षितचारित्रकायिकेषु,तदन्वयव्यतिरेकाच्चारित्रभेदे च । कर्म० ४ कर्म० । ("परिहार" शब्दे चैषा व्याख्या वक्ष्यते)

णिव्विग्ग-निर्विग्न-त्रि० । खिन्ने, जीत० । "जो पत्थिय पि चित्ते,इच्छइ सो को न णिव्विग्गो ?।" आचा०१ श्रु०३ अ०३ उ०।

णिव्विग्गचार-निर्विग्नचार-त्रि० । चरणं चारोऽनुष्ठानं, निर्विग्नस्य चारो निर्विग्नचार, सोऽस्यास्तीति निर्विग्नचारी । खिन्ने, "से णिव्विग्गचारी अ रते पयासु ।" आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

णिव्विग्गवरा-निर्विग्नवरा-स्त्री० । निर्विग्ना वराः परिणेतारो यस्या सा निर्विग्नवरा । वरवर्जितायाम्, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग ।

णिव्विण्णाण-निर्विज्ञान-त्रि० । बलीवर्दवत् (आव० ५ अ०) विशिष्टज्ञानरहिते, त० ।

णिव्वित्ति-निर्वृत्ति-स्त्री० । कर्णशष्कुलिकाऽऽद्याकारे द्रव्येन्द्रियभेदे, विशे० । न० । निर्वृतिराभ्यन्तरबाह्यभेदात् द्विधैव । निर्वर्त्यत इति निर्वृतिः । केन निर्वर्त्यते ?, कर्मणा । तत्रोत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृतिः । तेष्वेवाऽऽत्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थानो निर्माणनाम्ना पुद्गलविपाकिना वर्द्धकिसंस्थानीयेन प्रारचित कर्णशष्कुल्यादिविशेषः,अङ्गोपाङ्गनाम्ना च निष्पादित इति बाह्यनिर्वृतिः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । स्था० ।

णिव्वित्तिलक्खण-निर्वृत्तिलक्षण-त्रि० । सर्वसावद्ययोगोपरमस्वभावे, पा० । इयत्ताऽवगमरूपे, अनु० ।

णिव्विदुगुंछ-निर्विजुगुप्स-त्रि० । जुगुप्सारहिते,विद्वज्जुगुप्सानामसम्यक्त्वातिचाररहिते, ध० १ अधि० ।

णिव्विण्ण-देशी-सुप्तोत्थिते, निराशे, उद्धटे, नृशंसे च । दे० ना० ४ वर्ग ४८ गाथा ।

णिव्विभाग-निर्विभाग-त्रि० । भागरहिते,भागाः परमाणवः । दर्श० ५ तत्त्व ।

णिव्वियार-निर्विकार-त्रि० । निर्गतो विकारः कामोन्मादलक्षणो यस्मादसौ निर्विकारः । विकाररहिते, "इमस्स धम्मस्स णिव्वियारस्स निव्वित्तिलक्खणस्स ।" पा० । इन्द्रियमनोविकाररहिते, ध० ३ अधि० । कोपाऽऽदिविकाररहिते, सथा० ।

णिव्वियारसमाहि-निर्विकारसमाधि-पुं० । आलम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्राऽवभासित्वेन भावनायाम्, समाधिभेदे, द्वा० २० द्वा० ।

णिव्विस-निर्विष-त्रि० । विषरहिते, "णिव्विस पकुर मस ।" औ० ।

णिव्विसंत-निर्विशत्-त्रि० । समस्त प्रवेशयति, अपरिभुज्यमाने, अनासेव्यमाने, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

णिव्विसमाणकप्प-निर्विशमानकल्प-पुं० । निर्विशमानकल्पस्थितौ, पं० भा० ।

इयाणिं णिव्विसमाणकप्पो-

. . . , अहुणा वोच्छामि णिव्विसमाणकप्पं ।

जह णिव्विसंति समणा, सम्मं तु गुरूवएसेणं ॥
णाणं च दंसणं वा, तहा चरित्तं समितिगुत्तीओ ।
एकासीतिपदेहिं, णिव्विस-णिव्वेसणाकप्पो ॥
छव्विहकप्पाऽऽदीया, बायालं ताओ पंचवीसाए ।
मेलीणा उ भवंती, एकासीती भवे भेदा ॥
णवरं छव्विहकप्पे, वीसतिकप्पे य णामठवणाओ ।
मोत्तुं सेसा सव्वे, एकासीती तु मेलीणा ॥
एवं सव्वेसिम्मी, णिव्विसमाणस्स णिव्विसणकप्पो ।
एतेसिं पुण कतरो, महिड्डिओ होइ सव्वेसिं ॥ पं० भा० ।

(णाण च दंसण च गाहा) णाणे त्ति दसणप्पभावणेसु य तव्वजुत्तयाए य पंचविहचरित्तजुत्तयाए य समिइगुत्तीहिं य उवउत्तयाए अणुपालेति पयासीइपएहिं । कयरे पुण एकासीइकप्पा ? । उच्यते-छव्विहकप्पस्स वीसइविहकप्पस्स य नामठवणाकप्पो अ वि नेऊण सेसा छव्विह-सत्तविह-दसविह-वीसविहा बायालीस त्ति एगठ मेलिया एकासीइकप्पा होंति । एए सम णिव्विसमाणस्स णिव्वेसकप्पो भवइ । एस णिव्विसमाणकप्पो । पं० चू० ।

णिव्विसमाण-निर्विशमान-पुं० । परिहारविशुद्धिकल्पं वहमानेषु, स्था० ६ ठा० । भ० ।

णिव्विसमाणकप्पट्ठिइ-निर्विशमानकल्पस्थिति-स्त्री० । निर्विशमाना ये परिहारविशुद्धितपोऽनुचरन्ति, पारिहारिका इत्यर्थः, तेषां कल्पे स्थितिः । परिहारकल्पस्थितौ, स्था० । यथा ग्रीष्मशीतवर्षाकालेषु क्रमेण तपो जघन्य चतुर्थषष्ठाष्टमाऽऽदि, मध्यमं षष्ठाऽऽदीनि, उत्कृष्टमष्टमाऽऽदीनीति, पारणे चायामम् । एवं पिण्डैषणासप्तके चाद्ययोरग्रह एवेति पञ्चसु पुनरेकया भक्तमेकया च पानकमित्येव द्वयोरभिग्रह इति ।

उक्तं च-

"इस अट दस उठ, अठेव य छट्ठ चउरो य ।
उक्कोसमज्झिमजह-न्नगा उ वासासिसिरगिम्हे ॥ १ ॥
पारणगे आयाम, पचसु गहो दोसुऽभिग्गहो भिक्खा ॥"

स्था० ३ ठा० ४ उ० । पञ्चा० ।

णिव्विसमाणय-निर्विशमानक-पुं० । विवक्षित (परिहार) तपोविशेषाऽऽसेवके, प्रव० ६६ द्वार । कर्म० । पं० सं० । माधौ, तदव्यतिरेकाच्चारित्रभेदे च । विशे० । अनु० । वृ० । (अत्र 'परिहार' शब्दो दृश्य)

णिव्विसय-निर्विषय-त्रि० । विषयाभिलापरहिते, उत्त० १४ अ० । शब्दाऽऽदिविषयरहिते, उत्त० पाई० १८ अ० । निर्गोचरे, अनर्थके, "बहुमेत्त णिव्विसय, दोसा य भुसति त्रिसेयं ।" पञ्चा० १२ विव० । देशान्निष्क्रान्ते, प्रश्न०३ आश्र०द्वार । "पुरदारे य णिव्विसए करेह ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिव्विसी-निर्विषी-स्त्री० । महौषधिभेदे, ती० ६ कल्प ।

णिव्विसेस-निर्विशेष-त्रि० । विशेषवर्जिते, त० । अपवादोत्सर्गज्येष्ठेतराऽऽदिविशेषरहिते, त० ।

णिव्वुअ-निर्वृत-त्रि० । नि-वृ-क्तः । "उदत्वादौ" ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इत्यादेर्ऋत उत्वम् । प्रा० १ पाद । कोपाऽऽद्यपगमने-

कारतायां तु महदपि तद्भग्नं भवति । पालनाभङ्गौ चार्थानर्थकरावित्याकाराः समाश्रयणीया भवन्तीति गाथाऽर्थः ॥ १२ ॥ उक्त आकारविधिः । पञ्चा० ५ विव० । स० प्र० । प० व० ।

अथ येषु निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तं, तान्याह-

इत्तरठविए सुहुमे, ससणिद्ध सरक्खमक्खिए चेव ।
मीसपरंपरठविया-इ बीयाइएसु वाऽविगई ॥४३॥

इत्वरस्थापनायां सूक्ष्मप्राभृतिकायां सस्निग्धम्रक्षिते सरजस्कम्रक्षिते च मिश्रपरम्परस्थापिताऽऽदिषु,मिश्राः सचित्ताचित्तरूपाः पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकानन्तवनस्पतित्रसाः, तेषु परम्परं व्यवहितं निक्षिप्तम् । आदिशब्दात्पिहितसंहृतगर्दितानि, तेषु (बीयाइएसु व त्ति) प्रत्येकबीजेष्वचित्तबीजेषु वाऽनन्तरपरम्परनिक्षिप्तपिहितसंहृतच्छर्दितेषु बीजान्मिश्र च अविकृतिपरित्यागप्रायश्चित्तमित्यर्थः । वाशब्दाच्च-

" छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चेव ।
घट्टती गाहती, आरभती इ सत्ताण " ॥ १ ॥ इत्यपि ज्ञेयम् ।

अस्यार्थः—षट्कायव्यग्रहस्ता श्रमणार्थमुत्थाय षट्कायान् भुवि निक्षिप्य पुनस्तानेव घट्टयन्ती तत्संघट्टं कुर्वाणा गाहमाना विलोडनेन इतस्ततो विक्षेपणेन अगाढं गाढं वापरितापयन्ती आरम्भमाणा षट्कायोपद्रवं कर्माऽऽरम्भं कुर्वती दात्री यदि ददाति, ततो ग्रहीतुः साधोः स्वस्थानं प्रायश्चित्तं भवति । अयमभिप्रायः—जीतकल्पे यस्यापराधस्य यत्प्रायश्चित्तमुक्तमस्ति, तत्तस्य स्वस्थानं, ततश्च दात्र्याः पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिसंघट्टाऽऽगाढपरितापोपद्रवान् कुर्वन्त्याः, सकाशाद् ग्रहीतुः निर्विकृतिपुरिमैकाशनाचामाम्लानि, अनन्तवनस्पतिविकलेन्द्रियसंघट्टाऽऽदीन् कुर्वत्याः पार्श्वाद्दातुः पुरिमैकाशनाचामाम्लक्षपणानि, पञ्चेन्द्रियसंघट्टाऽऽदीन् कुर्वत्याः प्रायश्चित्तग्राहकस्य एकाशनाचामाम्लक्षपणैककल्याणकानि प्रायश्चित्तं भवतीत्यर्थः । उक्तं षट्चत्वारिंशद्दोषप्रायश्चित्तम् । मूलकर्मप्रायश्चित्तं त्वष्टमप्रायश्चित्तमध्ये भणिष्यते ॥ ४३ ॥

इहानन्तरं सूत्रगाथायां निर्विकृतिप्रायश्चित्तमुक्तं, ततस्तत्प्रस्तावादन्यदपि निर्विकृतिशोध्यमाह-

सहसाऽणाभोगेण व, जेसु पमिकमणमभिहियं तेसु ।
आभोगेण वि बहुसो, अइप्पमाणे य निव्विगई ॥ ४४ ॥

सहसाऽनाभोगं प्रागुक्तस्वरूपं,सहसाऽनाभोगेन वा वासितचित्तेषु स्थानकेषु प्रतिक्रमणार्हं प्रायश्चित्तमभिहितं,तेषु स्थानकेषु मध्ये आभोगेनापि,कोऽर्थः ?, जानन्नपि बहु स पुनर्यदाऽऽसेवते,अतृप्यन् अतिमात्रं वा यदेवाऽऽसेवते तत्र सर्वत्र निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तम् ॥४४॥ जीत०। निर्गतो घृताऽऽदिविकृतिभ्यो यः स निर्विकृतिकः । स्था० ५ ठा० १ उ० । विनिर्गतविकृतिपरिभोगे, दश० । " अभिक्खणं निव्विगई गया य । (७)" दश० २ चू० । निर्गतघृताऽऽदिविकृतिके, औ० । दधि गृहस्थैरोदनाऽऽदिना संसृष्टं तद्दिने प्रहरानन्तरं निर्विकृतिकं भवति, तथा दुग्धमपि राद्धकूरपृथुकाऽऽदिना संसृष्टं निर्विकृतिकं भवति, न वा ?,इति प्रश्ने, उत्तरम्-कूरमिश्रं दधि करम्बरूपं ज्ञायते, तद् घटिकाद्वयादनु निर्विकृतिकं भवति । यच्च दधि दुग्धं वा " दुद्ध दहि चउरंगुल " इत्यनुसारेण कूराऽऽदिमिश्रं विधीयते,तद्भाष्यावचूरिवचनात्पर्युषितं सद् निर्विकृतिकं भवतीति । प्र० ७७ । सेन० ३ उल्ला० । श्रावकस्य निर्विकृतिकप्रत्याख्याने यतिवद् निर्विकृतिकं कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-यतीनां श्रावकाणां च मुख्यवृत्त्या निर्विकृतिकं न कल्पते, कारणे तु कल्पते, एवंविधान्यक्षराणि शास्त्रे सन्ति, तस्मात् श्राद्धः कदाचिन्निर्विकृतिकप्रत्याख्यानं करोति, तस्य न कल्पते, बहुतपसि तु कल्पते, कारणत्वात्, एकान्तेन निषेधो ज्ञातो नास्ति, यतीनां तु पर्वाऽऽदिषु पुनः पुनस्तत्प्रत्याख्यानकरणात्कल्पते इति । ४५२ प्र०। सेन०३ उल्ला०। बहुतरे दुग्धे दध्नि वा यत्राल्पतरान् तन्दुलान् प्रक्षिपति, तद् दुग्धं तद्दधि वा निर्विकृतिकं भवति, न वेति प्रश्ने-उत्तरम्-"दहिखीरबहुअप्पतंदुल" इति भाष्यगाथावचनादल्पतन्दुलप्रक्षेपेऽपि तद् दुग्धं तद्दध्यपि निर्विकृतिकं भवतीति ज्ञायते इति । ४५७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । आचामाम्लमध्ये निर्विकृतिमध्ये च उष्णोदकं प्रासुकं च वारि युज्यति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-उभयमपि युज्यति । ४७६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

णिव्विगप्प—निर्विकल्प—पुं० । निःसन्दिग्धे, ग० २ अधि० । गतशङ्के, ग० २ अधि० । " अत्थि त्ति निव्विगप्पो । " दश० ४ अ० । निष्क्रान्ताशेषभेदस्वरूपे, सम्म० १ काण्ड ।

णिव्वितिगिच्छ—निर्विचिकित्स्य—न० । निर्गता विचिकित्सा निर्विचिकित्सा, तस्य भावो निर्विचिकित्स्यम् । फलं प्रति सन्देहाकरणे, उत्त० २८ अ० ।

निर्विचिकित्स—त्रि० । विचिकित्सा मतिविभ्रमो, निर्गता विचिकित्सा यस्मादसौ निर्विचिकित्सः । साध्वेव जिनदर्शनं, किं तु प्रवृत्तस्यापि सतो ममास्मात्फलं भविष्यतीति वा, न वा, कृषीबलाऽऽदिक्रियासूभयथाऽप्युपलब्धेरिति कुविकल्परहिते,ध० । न ह्यविकल उपाय उपेयवस्तुपरिप्रापको न भवतीति संजातनिश्चये, ध० १ अधि० । ग० । प्रव० । व्य० । विचिकित्सारूपाऽतिचाररहितसम्यक्त्वे, दशा० ३ अ० । फलं प्रति निःशङ्के, दशा० १० अ० ।

णिव्विगिय—निर्विकृतिक—न० । ' णिव्विइय ' शब्दार्थे, प्रव० ४ द्वार ।

णिव्विग्घ—निर्विघ्न—अव्य० । विघ्नाभावे, " सीसपविसित्तिनिमित्तं, निव्विग्घत्थं च । " अनु० ।

णिव्विट्ठ—निर्विष्ट—त्रि० । आसेवितविवक्षितचारित्रे अनुपारिहारिके, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अनु० । उचिते, दे० ना० ४ वर्ग ३५ गाथा ।

णिव्विट्ठकप्पट्ठिइ—निर्विष्टकल्पस्थिति—स्त्री० । निर्विष्टा-आसेवितविवक्षितचारित्राऽनुपारिहारिका इत्यर्थः । तत्कल्पस्थितिः । निर्विष्टकायिके (तद्विषयस्थितिभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । निर्विष्टकायिके (तद्विषयके) यथा प्रतिदिनमायाममात्रतया भिक्षा तथैवेति । उक्तं च-" कप्पट्ठिया वि पइदिणं, करेंति एमेव चायामं । " स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णिव्विट्ठकाइय—निर्विष्टकायिक—पुं० । निर्विष्ट-आसेवितः प्रस्तुततया विशेषः, कायो येषां ते निर्विष्टकायाः, त एव स्वार्थे कप्रत्ययोपादानान्निर्विष्टकायिकाः, तद्भेदादिदमपि (चारित्रमपि) निर्विष्टकायिकम् । अनु० । विशे० । बृ० । निर्विशमानकानुच-

रकेषु, भ० २५ श० ७ उ०। प० सं०। आसेवितविवक्षितचारित्रकायिकेषु,तदन्वयव्यतिरेकाच्चारित्रभेदे च। कर्म० ४ कर्म०। ("परिहार" शब्दे चैषां व्याख्या वक्ष्यते)

णिव्विग्ग-निर्विग्न-त्रि०। खिन्ने, जीत०। "जो पविय पि चित्ते,इच्छइ सो को न णिव्विग्गो ?।" आचा०१ श्रु०३ अ०३ उ०।

णिव्विग्गचार-निर्विग्नचार-त्रि०। चरण चारोऽनुष्ठान, निर्विग्नस्य चारो निर्विग्नचार, सोऽस्यास्तीति निर्विग्नचारी। खिन्ने, "से णिव्विग्गचारी अ रते पयासु।" आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०।

णिव्विग्गवरा-निर्विग्नवरा-स्त्री०। निर्विग्ना वरा. परिणेतारो यस्या सा निर्विग्नवरा। वरवर्जितायाम्, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग।

णिव्विग्गाण-निर्विज्ञान-त्रि०। बलीवर्दवत् (आव० ५ अ०) विशिष्टज्ञानरहिते, त०।

णिव्वित्ति-निर्वृत्ति-स्त्री०। कर्णशष्कुलिकाऽऽद्याकारे द्रव्येन्द्रियभेदे, विशे०। न०। निर्वृत्तिराभ्यन्तरबाह्यभेदात् द्विधैव। निर्वर्त्यन इति निर्वृत्ति। केन निर्वर्त्यते ?, कर्मणा। तत्रोत्सेधाङ्गुलासङ्ख्येयभागप्रमाणानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्ति। तेष्वेवाऽऽत्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक्षु य. प्रतिनियतसंस्थानो निर्माणनाम्ना पुद्गलविपाकिना वर्द्धकिस्थानीयेन आरचित कर्णशष्कुल्यादिविशेष ,अङ्गोपाङ्गनाम्ना च निष्पादित इति बाह्यानिर्वृत्ति। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। स्था०।

णिव्वितिलक्खण-निर्वृतिलक्षण-त्रि०। सर्वसावद्ययोगोपरमस्वभावे, पा०। इयत्ताऽवगमरूपे, अनु०।

णिव्विदुगुंछ-निर्विजुगुप्स-त्रि०। जुगुप्सारहिते,विद्वज्जुगुप्सानामसम्यक्त्वातिचाररहिते, ध० १ अधि०।

णिव्विद्ध-देशी-सुप्तोत्थिते, निराशे, उद्भटे, नृशंसे च। दे० ना० ४ वर्ग ४७ गाथा।

णिव्विभाग-निर्विभाग-त्रि०। भागरहिते,भागाः परमाणव.। दर्श० ५ तत्त्व।

णिव्वियार-निर्विकार-त्रि०। निर्गतो विकार कामोन्मादलक्षणो यस्मादसौ निर्विकार.। विकाररहिते, "इमस्स धम्मस्स णिव्वियारस्स निव्वितिलक्खणस्स।" पा०। इन्द्रियमनोविकाररहिते, ध० ३ अधि०। कोपाऽऽदिविकाररहिते, सथा०।

णिव्वियारसमाहि-निर्विकारसमाधि-पु०। आलम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्राऽवभासित्वेन भावनायाम्, समाधिभेदे, द्वा० २० द्वा०।

णिव्विस-निर्विष-त्रि०। विषरहिते, "णिव्विस पकुर मस।" औ०।

णिव्विसंत-निर्विशत्-त्रि०। समस्त प्रवेशयति, अपरिहृज्यमाने, अनासेवमाने, स्था० ५ ठा० १ उ०।

णिव्विसमाणकप्प-निर्विशनकल्प-पु०। निर्विशमानकल्पस्थितौ, प० भा०।

इयाणिं णिव्विसमाणकप्पो-

"अहुणा वोच्छामि णिव्विसमाणकप्पं।
जह णिव्विसंति समणा, सम्मं तु गुरूवएसेणं ॥
णाणं च दंसणं वा, तहा चरित्तं समितिगुत्तीओ।
एक्कासीतिपदेहिं, णिव्विस-णिव्विसणाकप्पो ॥
छव्विहकप्पाऽऽदीया, बायालं ताओ पंचवीसाए।
मेलीणा उ भवंती, एक्कासीती भवे भेदा ॥
णवरं छव्विहकप्पे, वीसतिकप्पे य णामठवणाओ।
मोत्तुं सेसा सव्वे, एक्कासीती तु मेलीणा ॥
एवं सव्वेसिम्मी, णिव्विसमाणस्स णिव्विसणकप्पो।
एतेसिं पुण कतरो. महिड्ढिओ होइ सव्वेसिं ॥ पं० भा०।

(णाण च दंसणं च गाहा) णाणे त्ति दसणप्पभावणेसु य तवजुत्तयाए य पचविहचरित्तजुत्तयाए य समिइगुत्तीहिं य उवउत्तयाए अणुपालेंति पयासीइपएहिं। कयरे पुण एक्कासीइकप्पा ?। उच्यते-छव्विहकप्पस्स वीसइविहकप्पस्स य नामठवणाकप्पो अ वि नेऊण सेसा छव्विह-सत्तविह-दसविह-वीसविहा बायालीस त्ति एगठ मेलिया एक्कासीइकप्पा होंति। एए सम णिव्विसमाणस्स णिव्वेसकप्पो भवइ। एस णिव्विसणकप्पो। प० चू०।

णिव्विसमाण-निर्विशमान-पु०। परिहारविशुद्धिकल्प वहमानेषु, स्था० ६ ठा०। भ०।

णिव्विसमाणकप्पट्ठिइ-निर्विशमानकल्पस्थिति-स्त्री०। निर्विशमाना ये परिहारविशुद्धितपोऽनुचरन्ति, पारिहारिका इत्यर्थ, तेषां कल्पे स्थिति। परिहारकल्पस्थितौ, स्था०। यथा ग्रीष्मशीतवर्षाकालेषु क्रमेण तपो जघन्य चतुर्थषष्ठाष्टमाऽऽदि, मध्यम षष्ठाऽऽदीनि, उत्कृष्टमष्टमाऽऽदीनीति, पारणे चायामम्। एव पिण्डैषणासप्तके चाद्ययोरग्रह एवेति पञ्चसु पुनरेकया भक्तमेकया च पानकमित्येव द्वयोरभिग्रह इति।

उक्त च-

"दस अट दस छठ, अठेव य छट्ठ चउरो य।
उक्कोसमज्झिमजहन्नगा उ वासासिसिरगिम्हे ॥ १ ॥
पारणगे आयाम, पचसु गहो दोसुऽभिग्गहो भिक्खा ॥"

स्था० ३ ठा० ४ उ०। पञ्चा०।

णिव्विसमाणय-निर्विशमानक-पु०। विवक्षित (परिहार) तपोविशेषाऽऽसेवके, प्रव० ६६ द्वार। कर्म०। प० स०। माधौ, तद्व्यतिरेकाच्चारित्रभेदे च। विशे०। अनु०। वृ०। (अत्र 'परिहार' शब्दो वीक्ष्य)

णिव्विसय-निर्विषय-त्रि०। विषयाभिलापरहिते, उत्त० १४ अ०। शब्दाऽऽदिविषयरहिते, उत्त० पाई० १४ अ०। निर्गोचरे, अनर्थके, "धइमेत्त णिव्विसय, दोसा य भुसति विसेयं।" पञ्चा० १२ विव०। देशान्निष्क्रान्ते, प्रश्न०३ आश्र०द्वार। "पुत्तदारे य णिव्विसए करेइ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड।

णिव्विसी-निर्विषी-स्त्री०। महौषधिभेदे, ती० ६ कल्प।

णिव्विसेस-निर्विशेष-त्रि०। विशेषवर्जिते, त०। अपवादोत्सर्गज्येष्ठेतराऽऽदिविशेषरहिते, त०।

णिव्वुअ-निर्वृत-त्रि०। नि-वृ-क्त। "उदत्वादौ" ॥ ८। १। १३१ ॥ इत्यादेर्ऋत उत्वम्। प्रा० १ पाद। क्रोधाऽऽद्यपगमने-

न शीतीभूते, आचा० १ श्रु०७ अ० १ उ० । निर्वाणं गते, प्रव० ३३ द्वार । स्वस्थाऽऽत्मनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णिव्वुइ-निर्वृति-स्त्री० । "उदत्वादौ" ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इत्यादिषु शब्देष्वादेरुतः उत्वम् । प्रा० १ पाद । ज्ञा० । मनःस्वास्थ्ये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । समाधौ, न० । सुखे, आ० म० २ अ० । सामान्यसुखे, आव०४ अ० । महादुर्भिक्षे वज्रसेनेन प्रव्राजितस्य जिनदत्तश्राद्धस्य सह प्रव्रजिते पुत्रे, यतो निर्वृतिनाम्नी शाखा निर्गता । कल्प० ८ क्षण । निर्वृतिकुलीनशीलाङ्काऽऽचार्येण प्रथमद्वितीययोरङ्गयोष्टीका कृता । आचा० १ श्रु० ७ अ० ४ उ० । मथुरायां पर्वतकराजस्य सुतायाम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आव० ।

णिव्वुइकर-निर्वृतिकर-त्रि० । निर्वृतिर्निर्वाणं सकलकर्ममलापगमनेन स्वस्वरूपलाभनं परमस्वास्थ्यं,तद्धेतु सम्यग्दर्शनाऽऽद्यपि कारणे कार्योपचारान्निर्वृतिः । तत्करणशीलो निर्वृतिकरः । प्रज्ञा० १ पद । सर्वकर्मक्षयभावकरे, तं० । सुखोत्पादके, रा० ।

णिव्वुइपह-निर्वृतिपथ-पुं० । निर्वृतेर्मोक्षस्य पन्थाः । "ऋक्पूरब्धू पथामानक्षे" ॥ ५ । ४ । ७४ ॥ इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । मोक्षमार्गे, वाच० ।

णिव्वुइपहसासणयं, जयइ सया सव्वभावदेसणयं [२४]

निर्वृतेर्मोक्षस्य पन्थाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि । तथा चाऽऽह भगवानुमास्वातिवाचकः -"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।" इति निर्वृतिपथः । "ऋक्पू: पथ्यपोऽत्" ॥ ७ । ३ । ७६ ॥ (हैम०) इति समासान्तोऽत्प्रत्ययः । यद्यपि निर्वृतिपथशब्देन ज्ञानाऽऽदित्रयमभिधीयते, तथाऽपीह सम्यग्दर्शनचारित्रयोरेव परिग्रहः, ज्ञानस्योत्तरत्र विशेषेणाभिधानात् । निर्वृतिपथस्य शासनम्-शिष्यतेऽनेनेति शासनं प्रतिपादकं निर्वृतिपथशासनम् । ततः "कश्च" इति प्राकृतलक्षणात् स्वार्थे कः प्रत्ययः, निर्वृतिपथशासनकम् । नं० ।

णिव्वुइपुर-निर्वृतिपुर-न० । सिद्धिपुरे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिव्वुम-निर्वृत-त्रि० । शीतीभूते, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । निर्वाणमनुप्राप्ते, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । मुक्तिपदवीमधिरूढे, व्य० २ उ० । "निव्वुडे कालमाकंखी, एवं केवलिणो मयं ।" निर्वृतः कषायोपशमाच्छीतीभूतः कालं मृत्युकालं यावदभिकाङ्क्षेत् । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । निवारणे, भ० ५ श० ४ उ० ।

णिव्वुममाण-निवुमत्-त्रि० । जन्ममरणाऽऽदिजले नितरां निमज्जति, उपा० ७ अ० ।

णिव्वुड्ड-निर्वृत-त्रि० । निष्ठाङ्कते, "निव्वुड्डे वितिमिरे विसुद्धे त्ति ।" भ० ५ श० ४ उ० ।

णिव्वूद-देशी-गृहपश्चिमाङ्गणे, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिव्वूह-निर्व्यूह-पुं० । गृहैकदेशविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

णिव्वेढंत-निर्वेष्टयत्-त्रि० । निर्जरयति, विघटयति, "दव्वेण य भावेण य, निव्वेढंतो चउण्हमन्नयरं ।" विशे० । ह्रापयति, आ० म० १ अ० २ खण्ड । सुबद्धानि कुर्वति, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ० ।

णिव्वेद-देशी-नग्ने, दे० ना० ४ वर्ग २८ गाथा ।

णिव्वेय-निर्वेद-पुं० । विरागे, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । उत्त० । संसारवैराग्ये, बृ० ३ उ० । संसारादुद्विग्नतायाम्, उत्त० १८ अ० । नं० । दश० । संसाराद् विरक्ततायाम्, उत्त० २९ अ० ।

निर्वेदफलम्-

णिव्वेएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । णिव्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ, सव्वविसएसु विरज्जइ, सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभपरिग्गहपरिच्चायं करइ, आरंभपरिग्गहपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिंदइ, सिद्धिमग्गपडिवन्ने य भवइ ॥२॥

इतः प्रभृति सर्वत्र सुगमत्वात् प्रश्नव्याख्या । निर्वेदेन सामान्यतः संसारविषयेण कदाऽसौ त्याज्य इत्येवरूपेण दिव्यमानुषतैरश्चेषु, सूत्रत्वात् कप्रत्ययो, यथासंभवं देवाऽऽदिसंबन्धिषु कामभोगेषूक्तरूपेषु निर्वेदं हव्वमागच्छति, यथाऽलमेतैरनर्थहेतुभिरिति, यथा च सर्वविषयेषु विरज्यतेऽशेषशब्दाऽऽदिविषयं विरागमाप्नोति, विरज्यमानस्तेष्वारम्भः प्राण्युपमर्दको व्यापारस्तत्परित्यागं करोति,विषयार्थत्वात् सर्वारम्भाणाम्,तत्परित्यागं कुर्वन् संसारमार्गं मिथ्यात्वाविरत्यादिरूपं व्यवच्छिनत्ति,तत्त्यागवत एव तत्त्वत आरम्भपरित्यागसंभवात्, तद् व्यवस्थितौ च सुप्राप्य एव सिद्धिमार्गः सम्यग्दर्शनाऽऽदिरिति सिद्धिमार्गप्रतिपन्नश्च भवति ॥२॥ उत्त० पाई० २९ अ० ।

"णरगो तिरिक्खजोणी, कुमाणुसत्तं च णिव्वेओ ।" नरकस्तिर्यग्योनिः कुमानुषत्वं च निर्वेद इति । दश० ३ अ० । अनु० । अष्ट० । मोक्षाभिलाषे, प्रव० १४ द्वार । ध० । विषयेष्वनभिष्वङ्गे, ध० २ अधि० । जुगुप्सायाम्, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । सूत्र० ।

णिव्वेयण-निर्वेदन-न० । समर्पणे, द्वा० १२ द्वा० । दर्श० ।

णिव्वेयणी-निर्वेदनी-स्त्री० । निर्वेद्यते संसाराऽऽदेर्निर्विण्णः क्रियते श्रोताऽनयेति निर्वेदनी । स्था० ४ ठा० २ उ० । दश० ।

निर्वेदनीकथा चतुर्विधा--

णिव्वेयणीकहा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-इहलोगदुच्चिण्णा कम्मा इहलोगदुहफलविवागसंजुत्ता भवंति, इहलोगदुच्चिण्णा कम्मा परलोगदुहफलविवागसंजुत्ता भवंति । परलोगदुच्चिण्णा कम्मा इहलोगदुहफलविवागसंजुत्ता भवंति, परलोगदुच्चिण्णा कम्मा परलोगदुहफलविवागसंजुत्ता भवंति । इहलोगसुचिण्णा कम्मा इहलोगसुहफलविवागसंजुत्ता भवंति, इहलोगसुचिण्णा कम्मा परलोगसुहफलविवागसंजुत्ता भवंति । एवं चउभंगो ।

इह लोके दुश्चीर्णानि चौर्याऽऽदीनि कर्माणि क्रिया, इहलोके दुःखमेव कर्महेतुकजन्यत्वात् फलं दुःखफलं, तस्य विपाकोऽनुभावो दुःखफलविपाकः, तेन संयुक्तानि दुःखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति,चौराऽऽदीनामिवेत्येका । एवं नारकाणामिवेति द्वितीया । आगर्भाद् व्याधिदारिद्र्याभिभूतानामिवेति तृतीया । प्राक्कृताशुभकर्मोत्पन्ना नारकप्रायोग्यं बध्नन्ता काकगृध्राऽऽदी-

मामिव चतुर्थीति। "इहलोए सुचिन्न" इत्यादि चतुर्भङ्गी तीर्थकरदानदातृ १ सुसाधु २ तीर्थकर ३ देवभवस्थतीर्थकराऽऽदीनामिव भावनीयेति। स्था० ४ ठा० २ उ०।

निर्वेदनीमाह-

पावाणं कम्माणं, असुभविवागो कहिज्जए जत्थ।
इह य परत्थ य लोए,कहा उ णिव्वेयणी नाम।२०७।

पापानां कर्मणां चौर्याऽऽदिकृतानामशुभविपाकः दारुणपरिणामः कथ्यते यत्र यस्यां कथायामिह च परत्र च लोके-"इहलोके कृतानि कर्माणि इहलोक एवोदीर्यन्ते" इत्यनेन चतुर्भङ्गिकामाह। कथा तु निर्वेदनी नाम-निर्वेद्यते भवादनया श्रोतेति निर्वेदनी। एष गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवसेयः ॥२०७॥

तच्चेदम्-"इयाणि णिव्वेयणी। सा चउव्विहा। तं जहा-इहलोए दुचिण्णा कम्मा इहलोए चेव दुहविवागसंजुत्ता भवंति त्ति। कह ?, जहा चोराण पारदारियाण, एवमाइ। एसा पढमा णिव्वेयणी। इयाणिं बिइया-इहलोए दुच्चिण्णा कम्मा परलोए दुहविवागसंजुत्ता भवंति। कह ?, जहा नेरइयाण अन्नम्मि भवे कए कम्म णिरयभवे फलं देइ। एसा बिइया णिव्वेयणी गया। इयाणि तइया-परलोए दुच्चिण्णा कम्मा इहलोए दुहविवागसंजुत्ता भवंति। कह ?,जहा बालप्पभितिमेव अंतकुलेसु उप्पण्णा खयकोढाऽऽईहिं रोगेहिं दारिद्देण य अभिभूया दीसंति। एसा तइया णिव्वेयणी। इदाणिं चउत्था णिव्वेयणी-परलोए दुचिण्णा कम्मा परलोए चेव दुहविवागसंजुत्ता भवंति। कह ?, जहा पुव्विं दुच्चिण्णेहिं कम्मेहिं जीवा समासतुंडेहिं पक्खीहिं उववज्जंति। तओ ते नरयपाउग्गाणि कम्माणि असंपुण्णाणि ताणि ताए जातीए पूरिंति, पूरिऊण नरयभवे वेदंति। एसा चउत्था निव्वेयणी गया। एत्थ इहलोगो परलोगो वा पण्णवयं पडुच्च भवति, तत्थ पन्नवयस्स मणुस्सभवो इहलोगो, अवसेसाओ तिण्णि वि गईओ परलोगो त्ति गाथाभावार्थः।

इदानीमस्या एव रसमाह-

थोवं पि पमायकयं, कम्मं साहिज्जई जहिं नियमा।
पउरासुहपरिणामं, कहाइ णिव्वेयणीइ रसो ॥ २०८ ॥

स्तोकमपि प्रमादकृतमल्पमपि प्रमादजनितं कर्म वेदनीयाऽऽदि (साहिज्जइ त्ति) कथ्यते यत्र नियमान्नियमेन। किंविशिष्टमित्याह-प्रचुराशुभपरिणामं, बहुतीव्रफलमित्यर्थः। यथा यशोधराऽऽदीनामिति। कथाया निर्वेदन्या रस एष निष्यन्दः। इति गाथाऽर्थः ॥ २०८॥ दश० ३ अ०। ठा०। औ०।

णिव्वेरिसि-देशी-निर्दये, दे० ना० ४ वर्ग ३७ गाथा।

णिव्वेस-निर्वेश-पुं०। लाभे, स्था० ४ ठा० २ उ०।

णिव्वोढव्व-निर्वोढव्य-त्रि०। निर्वाह्ये, आव० ४ अ०।

णिव्वोदग-निव्रोदक-न०। गृहच्छानप्रान्तगलिते जले, गृहपटलान्तोत्तीर्णे जले, पिं०। आ० क०।

णिस-निश-पुं०। वृक्षविशेषे, उत्त० पाइ० १ अ०। नृशान् शसति हिनस्तीति नृशसः। ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

णिसंत-निशान्त-त्रि०। नितरां शान्तो निशान्तः। अत्यन्तं मन्दीभूते, आ० म० १ अ० १ खण्ड। श्रुते, अवगते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ०। निशमिते श्रुते, भ० ६ श० ३३ उ०। नि सञ्चरणेऽायाम्, सू० ३ उ०। रात्र्यवसाने दिवसे, दशा० ७ अ० १ उ०। ज्ञा०। अवधारिते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

णिसंस-नृशंस-त्रि०। क्रूरकर्माणि, सू० ३ उ०। शूकावर्जिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

णिसग्ग-निसर्ग-पुं०। निसर्जनं निसर्गः। निसृष्टौ, मोक्षे, विशे०। स्वभावे, उत्त० २८ अ०। स्था०। आव०। आ० चू०। आ० म०। प्रज्ञा०। ध०। सथा०। नि० चू०।

णिसग्गकिरिया-निसर्गक्रिया-स्त्री०। निसर्जनक्रियायाम्,आव०।

णिसग्गवलरागया-निसर्गबलरागता-स्त्री०। प्रकृत्या स्थिररागतायाम्, प० व० ३ द्वार।

णिसग्गचेयणाजुत-निसर्गचेतनायुक्त-त्रि०। निसर्गो सहजा या चेतना तया युक्तः। सहजचेतनायुक्ते, "निसर्गचेतनायुक्तो, जीवोऽरूपी ह्यवेदकः।" द्वात्रिं० १० अ०।

णिसग्गरुइ-निसर्गरुचि-पुं०। निसर्गः स्वभावः, तेन रुचिर्जिनप्रणीततत्त्वाभिलाषरूपा यस्य स निसर्गरुचिः। प्रज्ञा० १ पद। निसर्गो रुचिर्निसर्गतो वा रुचिरिति निसर्गरुचिः। स्वभावत एव तत्त्वश्रद्धाने, उ० २५ श० ७ उ०। सम्यक्त्वभेदे, स्था० १० ठा०। ध०। भूतार्थेन सह समतया जीवाजीवाऽऽदिनवपदार्थविषयिणी रुचिर्निसर्गरुचिः। भूतार्थेनेत्यस्य भूतार्थत्वेनेत्यर्थः, भावप्रधाननिर्देशात्; सद्भूतार्था अमी इत्येवरूपेणेति यावत्। वस्तुतो भूतार्थेनेत्यस्य शुद्धनयेनेत्यर्थः। ध० २ अधि०।

भूयत्थेणाहिगया, जीवाऽजीवा य पुण्णपावं च।
सहसंमइयाऽऽसवसं-वरो य वेएइ एस णिस्सग्गो ॥२॥
जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव।
एमेव णऽन्नह त्ति य, णिस्सग्गरुइ त्ति णायव्वो ॥३॥

'भूयत्थेण' इति भावप्रधानो निर्देशः। ततोऽयमर्थः-भूतार्थत्वेन समुद्भूता अमी पदार्था इत्येवरूपेण यस्याऽधिगता. परिज्ञाता जीवाऽजीवा पुण्यपापमाश्रवसंवरः, चशब्दाद् बन्धाऽऽदयश्च। कथमधिगता ?, इत्याह-(सहसम्मइया इति) आर्षत्वाद्विभक्तिलोपाच्च सह सम्मत्या सहाऽऽत्मना या सङ्गता मतिः सा सहसम्मतिः,तया। किमुक्तं भवति?-परोपदेशनिरपेक्षया जातिस्मरणप्रतिभाऽऽदिरूपया मत्या न केवलमधिगता, किं तु तान् जीवाऽऽदीन् पदार्थान् वेदयतेऽनुरोचयति च तत्त्वरूपतया आत्मसात्परिणामयति चेति भावः। एष निसर्गो निसर्गरुचिर्विज्ञेय इति शेषः ॥ २ ॥ अमुमेवार्थं स्पष्टतरमभिधित्सुराह-(जो जिणदिट्ठे भावे इत्यादि) यो जिनदृष्टान् भावान् द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदतो नामाऽऽदिभेदतो वा चतुर्विधान् स्वयमेवोपदेशनिरपेक्षं श्रद्दधाति। केनोल्लेखेन श्रद्दधाति ?, तत आह-एवमेव एतज्जीवाऽऽदि यथा जिनैर्दृष्टं, नान्यथेति। च. समुच्चये। एष निसर्गरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥ ३ ॥ प्रज्ञा० १ पद। आ० चू०। ध०। उत्त०। ग०। स्वभावत एव तत्त्वश्रद्धे, औ०।

णिसग्गसम्मत्त-निसर्गसम्यक्त्व-न० । निसर्गरुच्याख्ये सम्यक्त्वभेदे, आ० चू० । "णिसग्गो नाम सभावो, जधा सावगपुत्तनत्तुयाणं कुलपरंपरागत निसग्गत्त भवति; जहा वा सयम्भूरमणमत्थाणपडिमासण्ठिताणि साहुसावयाणि य पउमाणि मच्छरा वा दट्ठूण मा णं खओवसमेण निसग्गसम्मत्तं भवति । तम्मूल च देवलोगगमणं तेसिं भवति त्ति ।" आ० चू० १ अ० ।

णिसज्जा-निषद्या-स्त्री० । निषदनं निषद्या । आसने, प्रव० ६७ द्वार । स० । उपवेशने, व्य० ४ उ० । उपवेशनविशेषे, स्था० । सा च पञ्चधा-तत्र यस्यां सम पादौ पुतौ च स्पृशतः सा समपादपुता १ । यस्यां तु गोरिवोपवेशन सा गोनिषद्यिका २ । यत्र पुताभ्यामुपविष्टः सन् एक पादमुत्पाट्याऽऽस्ते सा हस्तिशुण्डिका ३ । पर्यङ्काऽर्धपर्यङ्का च प्रसिद्धा ४-५ । स्था० ५ ठा० १ उ० । "पलियंकानिसेज्जा य, सिणायं सो भयज्जण ।" निषद्या च गृहे एकानेकरूपा अनाचारः । दश० ६ अ० । निषीदन्त्यस्यामिति निषद्या । स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिते स्वाध्यायभूम्यादौ, उत्त० १ अ० ।

णिसट्ठ-निसृष्ट-त्रि० । परेणोत्सृष्टकलिते, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । दत्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० । ज्ञा० ।

णिसढ-निषध [ढ]-पु० । नितरां सहते स्कन्धे पृष्ठे वा समारोपित भारमिति निषध. । चं० प्र० ४ पाहु० । " निषधे धो ढ. " ॥ ८ । १ । १२६ ॥ इति निषधे धस्य ढ । प्रा० १ पाद । बलीवर्दे. सू० प्र० ४ पाहु० । बलदेवस्य रेवत्यामुत्पन्ने पुत्रे, नि० । जति णं भंते ! समणेणं० जाव दुवालस अज्झयणा पण्णत्ता । पढमस्स णं भंते ! उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएण वारवई नाम नगरी होत्था; दुवालसजोयणाऽऽयामा० जाव पच्चक्खं देवलोयभूया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । तीसे णं वारवईए नगरीए वहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं रेवईए णामं पव्वए होत्था, तुंगे गगणतलमणुल्लिहंतसिहरे नाणाविहरुक्खगुच्छगुम्मलतावल्लीपरिगताभिरामे हंससियमयूरकोंचसारसकागमयणसालाकोइलकुलोवाचिए तडकमगविवरओज्झरपव्वतसिहरे पउरे अच्छरगणदेवसंघविज्जाहरमिहुणसन्निविचे निच्चत्थणए दसारवरवीरे पुरिसतेल्लोक्कबलवग्गाणं सोमे सुभए पियदंसणे सुरूवे पासादीए० जाव पडिरूवे । तस्स णं रेवयगस्स पव्वयस्स अदूरसामंते एत्थ णं नंदणवणे नामं उज्जाणे होत्था । सव्वओ य पुप्फ० जाव दरिसणिज्जे । तत्थ णं नंदणवणे उज्जाणे सुरप्पियस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था. चिरातीए० जाव वहुजणे आगम्ममच्चेति सुरप्पिय जक्खायण । से ण सुरप्पिए जक्खायतणे एगेणं महता वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते जहा पुण्णभद्दे० जाव सिलापट्टए, तत्थ ण वारवईए नयरीए कण्हे नामं वासुदेवे राया होत्था० जाव पासमाणे विहराति । से णं तत्थ समुद्दविजयपामोक्खाणं दसण्हं दसाराणं, बलदेवपामोक्खाणं पंचण्हं महावीराणं, उग्गसेणपामोक्खाणं सोलसण्हं राईसरसहस्साणं पज्जुण्णपामोक्खाणं अद्धुट्ठाणं कुमारकोडीणं सव्वया सब्बाव दुद्दंतसाहस्सीणं वीरसेणपामोक्खाणं एक्कवीसाए वीरसाहस्सीणं, रुप्पिणिपामोक्खाणं सोलसण्हं देवीसहस्साणं, अणंगसेणापामोक्खाणं अणेगाणं गणियासहस्साणं अन्नेसिं च वहूणं राईसरसत्थवाहप्पभिईणं वेयड्ढगिरिसागरमेरागस्स दाहिणड्ढभरहस्स आहेवच्चं० जाव विहरति । तत्थ णं वारवईए बलदेवे नामं राया होत्था, महता० जाव रज्जं पासाएमाणे विहरति । तस्स णं बलदेवस्स रन्नो रेवई नामं देवी होत्था, सुकुमाला० जाव विहरति । ततो णं सा रेवती देवी अन्नदा कदाइं तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि० जाव सीहं सुमिणे पासत्ता एवं सुमिणदंसणपरिकहणं, कलाओ जहा महाबलस्स पन्नासओ दोतो पन्नासा रायवरकन्नगाणं एगदिवसेणं पाणिं नवरं निसढे नामं० जाव उप्पिं पासादं विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी आदिकरे दसधणूइं वण्णओ० जाव समोसरिते । परिसा निग्गया । तते णं से कण्हे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सभाए सुहम्माए सामुदाणियं भेरिं तालेहि । तते णं से कोडुंबियपुरिसे० जाव पडिसुणित्ता जेणेव सद्दं सुणेइ, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समुदाणिय भेरिं महता महता सद्देणं तालेंति । तते णं तीसे सामुदाणियाए भेरीए महता महता सद्देणं तालियाए समाणी समुद्दविजयपामुक्खा दस दसारा देवीओ भाणियव्वाओ० जाव अणंगसेणापामोक्खा अणेगा गणियासहस्सा, अन्ने य वहवे राईसर० जाव सत्थवाहप्पभिइओ ण्हाया० जाव पायच्छित्ता सव्वालंकारविभूसिया जहाविभवइड्ढिसक्कारसमुदएणं अप्पेगइया हयगया० जाव पुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करतल० कण्हं वासुदेवं विजएणं वद्धावेति । तते णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबिए एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अभिसेक्कं हत्थिकप्पे हयगयरह० जाव पच्चप्पिणंति । तते णं से कण्हे वासुदेवे मज्जणघरे० जाव दुरूढे अट्ठमंगलगा, जहा कूणिओ, सेयवरचामरेहिं उद्धुव्वमाणेहिं उद्धुव्वमाणेहिं समुद्दविजयपामुक्खेहिं दसहिं दसारेहिं० जाव सत्थवाहपभितीहिं सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढिए० जाव रवेणं वारवईणगरं मज्झं मज्झेणं, सेसं जहा कूणिओ० जाव पज्जुवासति । तते णं

तस्स निसढस्स कुमारस्स उप्पिं पासायवरंगयस्स तं महतो जणसद्दं च जहा जमाली०जाव धम्मं सोचा निसम्म वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी-सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं जहा चित्तो०जाव सावगधम्मं पडिवज्जति, पडिवज्जेत्ता पडिगते । तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमिस्स अंतेवासी वरदत्ते नामं अणगारे उराले० जाव विहरति । तेणं से वरदत्ते अणगारे निसढं कुमारं पासति,पासित्ता जातसड्ढे०जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी-अहं णं भंते ! निसढे कुमारे इट्ठे इट्ठरूवे कंते कंतरूवे, एवं पिए मणुन्नए मणामे मणामरूवे सोमे सोमरूवे पियदंसणे सुरूवे, निसढे णं भंते ! कुमारे अयमेयारूवे मणुयइड्ढि-किणा लद्धा किणा पत्ता पुच्छा ?;जहा सूरियाभस्स । एवं खलु वरदत्ता ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे रोहीडए नाम नगरे होत्या । रिध्दमेह-वन्ने उज्जाणे मणिदत्तस्स जक्खस्स जक्खायतणे । तत्थ णं रोहीडए नगरे महब्बले नामं राया,पउमावई देवी । अन्नदा कयाइं तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सीहे सुमिणे, एवं सुमिणं जाणियव्वं जहा महब्बलस्स, नवरं वीरंगतो नामं वत्तीसतो दोतो वत्तीसाए रायवरकन्नगाण पाणि० जाव ओगिज्झमाणे ओगिज्झमाणे पाउसवरिसारत्तसरयहेमंत-गिम्हवसंते छप्पि उउं जहा विभवे समाणे २ इट्ठे रिद्धे ०जाव विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं सिध्दत्थे नामं आयरिया जातिसंपन्ना, जहा केसी, नवरं बहुस्सुया बहुप-रिवारा जेणेव रोहीडए नगरे, जेणेव मेहवन्ने उज्जाणे, जेणेव मणिदत्तस्स जक्खस्स जक्खायतणे, तेणेव उवागतं अहापडिरूवं०जाव विहरति । परिसा निग्गया । तते णं तस्स वीरंगतस्स कुमारस्स उप्पिं पासायवरगयस्स त महता जणसद्दं च,जहा जमाली य,निग्गते धम्मं सोच्चा,नवरं देवाणुप्पिया ! अम्मापियरो आपुच्छामि, जहा जमाली तहेव निक्खंतो० जाव अणगारे जाए०जाव गुत्तबंभयारी । तते णं से वीरगते अणगारे सिध्दत्थाणं आयरियाणं अंतिए सामाइयमाइया-इ०जाव एकारस अंगाइं अहिज्जाति,अहिज्जित्ता बहूइं०जाव चउत्थ०जाव अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं पणयाली-सं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता दो मासियाए संलेह-णाए संलेहित्ता अत्ताणं झुसित्ता सवीसं भत्तसइं अ-णसणे छेदित्ता आलोइय समाहिपत्ते कालमासे कालं कि-च्चा बंभलोए कप्पे मणोरमविमाणे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाण दससागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं वीरंगयस्स देवस्स दस सागरोवमाइं ठिई पण्ण-त्ता । से णं वीरगते देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खए०

जाव अणंतरं चयं चइत्ता इहेव बारवईए नयरीए बलदेवस्स रण्णो रेवईए देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने । तते णं सा रेवती देवी तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सुमिणदंसणं० जाव उप्पिं पासायवरगते विहरति । तं एवं खलु वरदत्ता ! णि-सढेणं कुमारेणं अयमेयारूवे उराले मणुयइड्ढी लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया । पभू णं भंते ! निसढे कुमारे देवाणुप्पियाणं अंतिए०जाव पव्वइत्तए ?। हंता । पभू से एवं भंते ! वरदत्ते अणगारे०जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति । तते णं अरहा अरिट्ठनेमी अन्नदा कयाइं बारवतीओ नगरीओ० जाव बहिया जणवयविहारं निसढे कुमारे समणोवासए जाए अभिगतजीवाजीवे०जाव विहरति । तते ण से निसढे कु-मारे अन्नदा कयाइं जेणेव पोसहसाला, तेणेव उवाग-च्छइ, उवागच्छित्ता०जाव दब्भसंथारोवगते णं विहरति । तते णं तस्स निसढस्स कुमारस्स पुव्वरत्तावरत्तधम्मजाग-रियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए-धन्ना ण ते गा-मागरनगर०जाव संनिवेसा, जत्थ णं अरहा अरिट्ठनेमी विहरइ । धन्ना णं ते राईसर०जाव सत्यवाहप्पभितिओ,जे णं अरिट्ठनेमिं वंदंति, नमंसंति० जाव पज्जुवासंति । जति णं अरिहा अरिट्ठनेमी पुव्वाणुपुव्विं नंदणवणे विहरेज्जा, तेणं अरिहं अरिट्ठनेमी वंदिज्जा०जाव पज्जुवासिज्जा । तते णं अरिट्ठनेमी निसढस्स कुमारस्स १ अयमेयारूवे अज्झ-त्थिए० जाव वियाणित्ता अट्ठारसहिं समणसहस्सेहिं० जाव नंदणवणउज्जाणे, समोसरिता । परिसा निग्गया । तते णं निसढे कुमारे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठ० चाउग्घ-टेणं आसरहेणं गते, जहा जमाली० जाव अम्मापियरो आपुच्छित्ता पव्वइए अणगारे० जाव गुत्तबंभयारी । तते णं से निसढे अणगारे अरिहंतो अरिट्ठनेमिस्स तहा-रूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयं एकारस अंगाइं अहिज्जति, अहिज्जित्ता बहूइं चउत्थछट्ठ० जाव विचि-त्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं नव वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति, बायालीसाइं भत्ताइं अणसणं छेदेति, आलोइयपडिक्कंते समाहि-पत्ते आणुपुव्वीए कालगते । तते णं से वरदत्ते अणगारे नि-सढं अणगारं कालगते जाणित्ता जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी, तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता०जाव एव वयासी-एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी णिसढे णाम अणगारे पगतिभ-द्दगे०जाव विणीओ,से णं भंते ! निसढे अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववन्ने ? । तते णं से अ-रहा अरिट्ठनेमी वरदत्तं अणगारं एवं वयासी-एवं खलु वरदत्ता ! ममं अंतेवासी निसढे नामं अणगारे पगइभद्दगे०जा-

व विणीए मम तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जेत्ता बहुपडिपुण्णाइं नव वासाइ सामण्णपरियागं पाउणित्ता बायालीसं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिमसूरियगहगणनक्खत्ततारारूवाणं सोहम्मीसाणं०जाव अच्चुते तिण्णि य अट्ठारसुत्तरगेविज्जविमाणावाससते वीतीवइत्ता सव्वट्ठसिद्धिविमाणे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं देवाणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं निसढस्स देवस्स तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। से णं भंते! निसढे देवयाओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिति,कहिं उववज्जिहिति ?। वरदत्ता! इहेव जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे उन्नाए नगरे विसुद्धपिइवसे रायकुले पुत्तत्ताए पच्चायाहिति। तते णं से उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणमितजोव्वणगमणुप्पत्ते तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइहिति। से णं तत्थ अणगारे भविस्सति इरियासमिए०जाव बंभयारी। से णं तत्थ बहूहिं चउत्थछट्ठऽट्ठमदसमदुवालसेहिं मासऽद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइ वासाइं सामण्णपरियागं पाउणिस्सति पाउणित्ता, मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसिहिति झूसित्ता, सट्ठिभत्ताइं अणसणाए छेदेति। जस्सऽट्ठाए कीरति अणगारभावे मुंडभावे अण्हाणए० जाव अदंतधावणअत्थत्तए अणोवाहणाए फलसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासी परघरपवेसे लद्धावलद्धे उच्चावया य गामकंटकया अहियासिज्जति, तमट्ठं आराहिति, आराहित्ता चरमेहिं उस्सासेहिं णिस्सासेहिं सिज्झिहिति, बुज्झिहिति ०जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेति।

नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० । आ० म० । विशे० । प्रश्न० । वर्षधरपर्वतभेदे, स्था० ७ ठा० । स० । रा० ।

निषध पर्वत क्वास्तीति पृच्छति-

कहि णं भंते! जंबुद्दीवे दीवे णिसहे णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते ?। गोयमा! महाविदेहस्स वासस्स दक्खिणेणं हरिवासस्स उत्तरेणं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेण पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमे एत्थ णं जम्बुद्दीवे दीवे णिसहे णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे, दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरच्छिमिल्लाए० जाव पुट्ठे चत्तारि जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेण चत्तारि गाउअसयाइ उव्वेहेणं सोलस जोअणसहस्साइं अट्ठ य बायाले जोअणसए दोण्णि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स विक्खंभेणं तस्स बाहा पुरच्छिमपच्चच्छिमेण वीसं जोअणसहस्साइं एगं च पण्णट्ठं जोअणसयं दुण्णि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स अद्धभागं च आयामेणं तस्स जीवा उत्तरेण० जाव चउणवइं जोअणसहस्साइ एगं च छप्पण्णं जोअणसयं दुण्णि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स आयामेणं तस्स धणुं दाहिणेण एगं जोअणसहस्स चउवीसं च जोअणसहस्साइ तिण्णि अ छायाले जोअणसए णव य एगूणवीसइभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं रुअगसंठाणसंठिए सव्वतवणिज्जमए अच्छे उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहि अ वणसंडेहिं० जाव संपरिक्खित्ते णिसहस्स णं वासहरपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते०जाव आसयंति,सयंति॥

"कहि ण" इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम्। उत्तरसूत्रे महाविदेहस्य दक्षिणस्यां हरिवर्षस्योत्तरस्यां पौरस्त्यलवणोदस्य पश्चिमायां पश्चिमलवणोदस्य पश्चिमायां पश्चिमलवणसमुद्रस्य पूर्वस्यामत्रान्तरे जम्बूद्वीपे निषधो नाम वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः, प्राचीनप्रतीचीनेत्यादि प्राग्वत्। चत्वारि योजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन, चत्वारि गव्यूतशतान्युद्वेधेन, भूप्रवेशेन मेरुवर्जसमयक्षेत्रगिरीणां स्वोच्चत्वचतुर्थांशेनोद्वेधत्वात्, षोडशयोजनसहस्राणि द्विचत्वारिंशानि द्विचत्वारिंशदधिकानि अष्टौ च योजनशतानि द्वौ च एकोनविंशतिभागौ योजनस्य विष्कम्भेण महाहिमवतो द्विगुणविष्कम्भमानत्वात्। अथ बाहाऽऽदिसूत्रत्रयमाह—(तस्स बाहा इत्यादि) (तस्स जीवा इत्यादि) अत्र यावत्पदात्-" पाईणपडीणायया दुहओ लवणसमुद्दं पुट्ठा पुरच्छिमिल्लाए लवणसमुद्द० जाव पुट्ठा।" इति ग्राह्यम्। (तस्स धणुमित्यादि) एवं सूत्रानुसारेण व्याख्येयम्। अथ निषधमेव विशेषणैर्विशिनष्टि-(रुयग इत्यादि) अत्र यावत्पदात्-" सव्वओ समता " इति ग्राह्यम्, शेषं प्राग्वत्। अथास्य देवक्रीडायोग्यत्वं वर्णयन्नाह-(णिसह इत्यादि) अत्र यावत्पदात् आलिङ्गपुष्कराऽऽदिपदकदम्बकं बोध्यम्। जं० ४ वक्ष०। स०। (तन्मध्यवर्त्तितिगिच्छहूदात् शीतोदा नदी प्रव्यूढेति वक्तव्यता 'तिगिच्छदह' शब्दे वक्ष्यते) (निषधकूटाना 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६२२ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

से केणट्ठेण भंते! एवं वुच्चइ-णिसढे वासहरपव्वए, णिसढे वासहरपव्वए ?। गोयमा! णिसढे ण वासहरपव्वए बहवे कूडा णिसहसंठाणसंठिआ उसभसंठाणसंठिआ णिसढे अइच्छदेवे महिड्ढिए० जाव पलिओवमट्ठिइए परिवसइ। से तेणट्ठेण गोयमा! एवं वुच्चइ-णिसढे वासहरपव्वए, णिसढे वासहरपव्वए॥

(से केणट्ठेण) इत्यादि व्यक्तम्। नवरं निषधे वर्षधरपर्वते बहूनि कूटानि निषधसंस्थानसंस्थितानि। तत्र नितरां सहते स्कन्धे पृष्ठे वा समारोपितभारामिति निषधो वृषभः,पृषोदराऽऽदित्वादिष्टरूपसिद्धिः। तत्संस्थानसंस्थितानि। एतदेव पर्यायान्तरेणाऽऽह-वृषभसंस्थितानि,निषधश्चात्र देव आधिपत्यं परिपालयति, तेन निषधाऽऽकारकूटयोगान्निषधदेवयोगाद्वा निषध इति व्यवह्रियते इति। जं० ४ वक्ष०। स्था०। "दो णिसढा।" स्था० २ ठा० ३ उ०।

णिसढकूड–निषधकूट न० । निषधपर्वताधिष्ठातृदेवनिवासोपेते (स्था० ६ ठा०) निषधवर्षधरपर्वतस्य द्वितीये कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

णिसढद्दह–निषधह्रद–पुं० । मन्दरस्य दक्षिणेन देवकुरुषु महाह्रदे, स्था० । इह च देवकुरुषु निषधवर्षधरपर्वतादुत्तरेणाष्टौ योजनानां शतानि चतुस्त्रिंशदधिकानि योजनस्य चतुरश्च सप्तभागानतिक्रम्य शीतोदाया महानद्याः पूर्वापरकूलयोर्विचित्रकूटाभिधानौ योजनसहस्रोच्छ्रितौ मूले सहस्राऽऽयामविष्कम्भावुपरि पञ्चयोजनशताऽऽयामविष्कम्भौ प्रासादमणिमतौ स्वसमाननामदेवनिवासभूतौ पर्वतौ स्त, ततस्ताभ्यामुत्तरतोऽनन्तरोदितान्तर शीतोदामहानदीमध्यभागवर्ती दक्षिणोत्तरतो योजनसहस्रमायतः पूर्वापरत पञ्चयोजनशतानि विस्तीर्णवेदिकावनखण्डद्वयपरिक्षिप्तो दशयोजनावगाढो नानामणिमयेन दशयोजननालेनार्द्धयोजनबाहुल्येन योजनविष्कम्भेणार्द्धयोजनविस्तीर्णया क्रोशोच्छ्रितया कर्णिकया युक्तेन निषधाभिधानदेवनिवासभूतभवनभासितमध्येन तदर्द्धप्रमाणाष्टोत्तरशतसङ्ख्यपद्मैस्तदन्येषां च सामानिकाऽऽदिदेवनिवासभूतानां पद्मानामनेकलक्षैः समन्तात्परिवृतेन महापद्मेन विराजमानमध्यभागो निषधो महाह्रदः । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

एतदेव सूत्रकार आह–

कहि णं भंते ! देवकुराए कुराए णिसढद्दहे णामं दहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! तेसिं चित्तविचित्तकूडाणं पव्वयाणं उत्तरिल्लाओ चरिमंताओ अट्ठ चोत्तीसे जोअणसए चत्तारि अ सत्तभाए जोअणस्स अबाहाए सीओदाए महाणईए बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं णिसढद्दहे णामं दहे पण्णत्ते । एवं जा चेव नीलवंतउत्तरकुरुचंदेरावयमालवंताणं वत्तव्वया, सा चेव णिसढदेवकुरुसूरसुलसविज्जुप्पभाणं णेयव्वा, रायहाणीओ दक्खिणेणं ति ।

(कहि णं इत्यादि) एवमुक्ताऽऽलापकानुसारेण यैव नीलवदुत्तरकुरुचन्द्रैरावतमाल्यवतां पञ्चानां ह्रदानामुत्तरकुरुषु वक्तव्यता, सैव निषधदेवकुरुसूरसुलसविद्युत्प्रभनामकानां नेतव्या, एतद्‌द्वीयाधिपसुराणां राजधान्यो मेरुतो दक्षिण इति शेषः । जं० ४ वक्ष० ।

णिसण्ण–निषण्ण–त्रि० । स्थिते, उत्त० २० अ० । आव० । उपविष्टे, स्था० ५ ठा० २ उ० । ज्ञा० । उत्त० । आचा० । निविष्टे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । निमग्ने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

णिसण्णअ–निषण्णक–पुं० । " सवरआसवदारो, अव्वावाहे अकट्टए देसे । काऊण थिरं ठाणं, ठिओ णिसण्णो णिवण्णो वा ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव० ५ अ० ।

णिसण्णणिसण्ण–निषण्णनिषण्ण–त्रि० । ' अट्ट रुद्द च दुवे, झायइ झाणाइ जो णिसण्णो उ । एसो काउस्सग्गो, णिसण्णनिस्सण्णगो नाम ॥१॥ " इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव० ५ अ० ।

णिसण्णोस्सिय–निषण्णोत्सृत–पुं० । " धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइँ जो णिसण्णो अ । एसो काउस्सग्गो, णिसण्णुस्सिओ होइ नायव्वो ॥१॥ " इत्युक्तलक्षणे कायोत्सर्गभेदे, आव० ५ अ० ।

णिसमेंत–निशमयत्–त्रि० । आकर्णयति, आ०म० १ अ० १ खण्ड ।

णिसम्म–निशम्य–अव्य० । ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । अवगम्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । निशम्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । अवधार्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । हृदयेनाऽवधार्येत्यर्थे, कल्प० ३ क्षण । स्था० । त० । ज्ञा० । सूत्र० । आचा० ।

णिसम्मभासि [ण्]–निशम्यभाषिन्–त्रि० । अत्वरितभाषिणि, आचा० १ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० । पूर्वोत्तरेण पर्यालोच्य भाषके, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णिसह–निषध–त्रि० । 'णिसढ' शब्दार्थे, चं० प्र० ४ पाहु० ।

णिसहकूड–निषधकूट–न० । 'णिसढकूड' शब्दार्थे, स्था० ९ ठा० ।

णिसहद्दह–निषधह्रद–पुं० । ' णिसढद्दह ' शब्दार्थे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

णिसा–निशा–स्त्री० । नितरां श्यति व्यापारान् । शो–क० । रात्रौ, हरिद्रायाम्, मेषाऽऽदिराशिषु च । वाच० । बृ० ५ उ० ।

णिसाकप्प–निशाकल्प–पुं० । रात्रौ द्रवाभावेन मात्रके मोकं गृहीत्वाऽऽचमने, गीतार्थाऽऽचीर्णत्वादस्य कल्पत्वम् । बृ० ५ उ० । ('मोय' शब्दोऽत्र वीक्ष्यः)

णिसापामाण–निशापाषाण–न० । मुद्गाऽऽदिदलनशिलायाम्, उपा० २ अ० ।

णिसामिअ–देशी–श्रुते, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिसामित्ता–निशम्य–अव्य० । आकर्ण्येत्यर्थे, उत्त० २ अ० । निशम्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । आचा० । अवधार्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

णिसाय–देशी–सुप्तप्रसुप्ते, दे० ना० ४ वर्ग ३५ वर्ग ।

णिसालोढ–निशालोष्ट–न० । शिलापुत्रके, उपा० १ उ० ।

णिसिअर–निशाचर–पुं० । " इः स्वप्नादौ वा " ॥ ८ । १ । ७२ ॥ इत्यात इत्वम् । "निसिअरो, निसाअरो ।" प्रा० १ पाद । " स्वरस्योद्वृत्ते ॥ ८ । १ । ८ ॥ इति न सन्धिः । प्रा० १ पाद । रात्रिचरे, राक्षसे, वाच० ।

णिसिक्खिय–निषिच्य–अव्य० । अग्नाविन्धनाऽऽदिप्रक्षिप्येत्यर्थे आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ।

णिसिज्जा–निषद्या–स्त्री० । निषदनानि निषद्याः । उपवेशनप्रकारेषु, (स्था०)

पंच णिसिज्जाओ पण्णत्ताओ । तं जहा–उक्कुडुया, गोदोहिया, समपायपुया, पलियंका, अद्धपलियंका ।

निषदनानि निषद्या उपवेशनप्रकाराः, तत्राऽऽसनलग्नपुतः पादाभ्यामवस्थित उत्कुटुकस्तस्य या सा उत्कुटुका । तथा–गोदोहनं गोदोहिका तद्वद् या असौ गोदोहिका । तथा–समौ समतया भूलग्नौ पादौ च पुतौ च यस्यां सा समपादपुता । तथा–पर्यङ्का जिनप्रतिमा, तामिव या पद्मासनमिति रूढा । तथा अर्द्धपर्यङ्का ऊरावेकपादनिवेशनलक्षणेति । स्था० ५ ठा० १ उ० । "णिसिज्ज च गिहंतरे । निषद्या चाऽऽसनम् । सूत्र० १

श्रु० ९ अ० । आ० म० । "तिएहमन्नयरागस्स,निसिज्जा जस्स कप्पए । जराए अभिभूयस्स,वाहियस्स तवस्सिणो ॥१॥" दश० ६ अ० । जीत० । प्रणिपत्य पृच्छायाम्, गौतमस्वामिना निषद्यात्रयेण चतुर्दश पूर्वाणि गृहीतानि । विशे० । निषीदन्त्यस्यामिति निषद्या । पादप्रोञ्छनके, जीत० । ध० । रजोहरणोपकरणभेदे, सा च द्विधा-सौत्रिकी, और्णिकी चेति । बृ० ३ उ० ।

पायस्स पमोयारो, दुनिसिज्जतिपट्टपोत्तिरयहरणं ॥ [३०]

तथा रजोहरणस्य सत्के द्वे निषद्ये । तद् यथा-बाह्या,आभ्यन्तरा च । इह सम्प्रति दशिकाऽऽदिभिः सह या दशिमका क्रियते,सा सूत्रनीत्या केवलैव भवति,न (?) सदशिका । तस्या निषद्यात्रयम् । तत्र या दशिमकाया उपरि एकहस्तप्रमाणाऽऽयामा तिर्यग्वेष्टकत्रयपृथुत्वा कम्बलीखण्डरूपा सा आद्या निषद्या,(नि)तस्याग्रे दशिकाः सम्बध्यन्ते । तां च सदशिकामग्रे रजोहरणशब्देनाऽऽचार्यो ग्रहीष्यति, ततो नासाविह ग्राह्या । द्वितीया त्वेनामेव निषद्यां तिर्यग् बहुभिर्वेष्टकैरावेष्टयन्ती किञ्चिदधिकहस्तप्रमाणाऽऽयामा हस्तप्रमाणमात्रपृथुत्वा वस्त्रमयी निषद्या, सा आभ्यन्तरा निषद्योच्यते । तृतीया तु तस्या एवाऽऽभ्यन्तरनिषद्यायास्तिर्यग्वेष्टकान् कुर्वती चतुरङ्गुलाधिकैकहस्तमाना चतुरस्रा कम्बलमयी भवति । सा च उपवेशनोपकारित्वादधुना पादप्रोञ्छनकमिति रूढा, सा बाह्या निषद्येत्यभिधीयते । मिलितं च निषद्यात्रय दशिकासहितं रजोहरणमुच्यते । ततो रजोहरणस्य सत्के द्वे निषद्ये इति न विरुध्यते । पिं० । निषीदन्त्यस्यामिति निषद्या । उपाश्रये, पं० व० ४ द्वार ।

णिसिज्जापट्टग-निषद्यापट्टक-पुं० । रजोहरणनिषद्यायाम्, ओघ० ।

णिसिज्जापरिसह-निषद्यापरिषह-पुं० । निषद्या च उपाश्रय उच्यते, निषीदन्त्यस्यामिति निषद्येति व्युत्पत्तिबलात्, सैव परिषहः । श्मशानोद्यानसत्रागारगिरिगुहाऽऽदिषु स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितेषु अनभ्यस्तपूर्वेषु निवसतः सर्वत्र स्वेन्द्रियज्ञानप्रकाशपरीक्षिते प्रदेशे नियमानुष्ठानमधितिष्ठतः सिंहव्याघ्राऽऽदिविविधभाषणध्वनिश्रवणनोऽसञ्जातभयस्य चतुर्विधोपसर्गसहनेन मोक्षमार्गादप्रच्यवने, प० स० ४ द्वार ।

णिसिज्जारयण-निषद्यारचन-न० । उचितभूमावक्षगुरुनिषद्याकरणे, पं० व० ४ द्वार ।

णिसिट्ठ-निसृष्ट-त्रि० । निर्गते, रा० । प्रदत्ते, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० । बृ० । स्वामिनोत्सृष्टलिते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । निसृष्टो नाम यस्य शय्यातरेण प्रवेशोऽनुज्ञातः । बृ० ३ उ० ।

णिसित्त-देशी-सन्तुष्टे, दे० ना० ४ वर्ग ३० गाथा ।

णिसिद्ध-निषिद्ध-त्रि० । निवारिते, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिसिद्धजोग-निषिद्धयोग-त्रि० । निरुद्धसदूव्यापारे, पञ्चा० १२ विव० ।

णिसिद्धप्प [ण्]-निषिद्धाऽऽत्मन्-पुं० । निषिद्धो निवारितः सावद्ययोगेभ्य आत्मा स्वभावो येन स निषिद्धाऽऽत्मा । पञ्चा० १२ विव० । निषिद्धो मूलगुणोत्तरगुणातिचारेभ्य आत्मा येन स निषिद्धाऽऽत्मा । निरतिचारे सुसयते, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिसिय-निशित-त्रि० । तीक्ष्णे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ १ उ

णिसियर-निशाचर-पुं० । पिशाचाऽऽदौ व्यन्तरे, ओघ

णिसिरणा-निसर्जना-स्त्री० । दाने, आचा०२ श्रु०१ चू० १० उ० । निक्षेपणे, सूत्र०२ श्रु०२ अ० । स्था० । इयाणि णि दुविधा-लोइया,लोउत्तरिया य । तत्थ लोइया णिसिरणा धा-सहसा, पमाएण, अणाभोगेण य । पुव्वाऽऽचिठेण जोगेण सहसा णिसरति, पचविधपमायऽन्नतरेण पमत्तो णिस पगंतविस्सती अणाभोगो, तेण णिसिरति ।" नि० चू० १

णिसीइत्ता-निषद्य-अव्य० । उपविश्येत्यर्थे, स्था०३ ठा०

णिसीइयितृ-त्रि० । उपवेष्टरि, "सेहे रातिणियस्स स निसीइत्ता भवति ।" दशा० २ अ० ।

णिसीइयव्व-निषत्तव्य-त्रि० । सदृशकभूमिप्रमार्जनाऽऽयामेनोपवेष्टव्ये, भ० २ श० १ उ० ।

णिसीढ-निशीथ-न० । अप्रकाशे, नि० चू० ३ उ० ।

णिसीयंत-निषीदत्-त्रि० । उपविशति, भ० १३ श० ६ उ०

णिसीयण-निषीदन-न० । उपवेशने, स्था० ७ ठा० । नि० चू० । पिं० । औ० ।

णिसीयमाण-निषीदत्-त्रि० । उपविशति,सूत्र०१श्रु०१अ०२

णिसीरिज्जमाण-निसृज्यमान-त्रि० । क्षिप्यमाणे, भ० ८ ७ उ० ।

णिसीह-निशीथ-न० । "निशीथपृथिव्योर्वा" ॥ ८ । १ । २१६ ॥ ति यस्य ढो वा । प्रा० १ पाद । अप्रकाशे, नि० चू० ३ उ० मध्यमरात्रौ, तद्वद्रहोभूतं यदध्ययन तन्निशीथम् । आचारा पञ्चमचूडायाम्, पा० । न० ।

पच्छन्नं तु निसीहं, निसीहनामं जहऽज्झयणं ।

प्रच्छन्न तु निशीथनामकमध्ययनमिति । अथवा-निशीथं गुरुधेमुच्यते । यथा-अग्रायणीये वीर्यपूर्वे अस्ति नास्ति प्रवादे पाठः -" जत्थेगो दीवायणो भुजइ तत्थ दीवायणसयं भुजइ जत्थ दीवायणसयं भुजइ तत्थेगो दीवायणो भुजइ । तथा जत्थेगो दीवायणो हम्मइ तत्थ दीवायणसयं हम्मइ । जत्थ दीवायणसयं हम्मइ, तत्थेगो दीवायणो हम्मइ ।"

तथा चामुमेवार्थमभिधातुकाम आह-

अग्गेणीयम्मि जहा, दीवायण जत्थ एगो तत्थ सयं ।
जत्थ सयं तत्थेगो, हम्मइ वा भुंजई वा वि ॥

अक्षरगमनिका सुप्रतीता । इदमालापकद्वय सम्प्रदायप्रतीतार्थमिति गुप्तार्थत्वान्निशीथमिति । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । निशीथं च कुत सिद्धमित्यत आह-"निसिह नवमापुव्वा, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ । आयारनामधेज्जा, वीसइमा पाहुडा छेया ॥१॥ " व्य० १ उ० । प्रकल्पो निशीथ , स च प्रत्याख्यानपूर्वस्य यत्तृतीयं वस्तु तस्याऽपि यदाचाराऽऽख्यं विंशतितमं प्राभृतम् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

इयाणिं णिसीह त्ति दार-

णामं ठवणाणिसीहं, दव्वे खेत्ते य काले भावे य ।
एसो उ णिसीहस्सा, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥६७॥

कडा । णामठवणा गता । दव्वणिसीहं दुविध-आगमओ, णोआगमओ य । आगमओ जाणए अणुवउत्ते । णोआगमओ जाणगभव्वसरीरवइरित्ते ।

त चिमम्-

दव्वणिसीहं कतगा-दिएसु खेत्तं तु कएहतमुणिरया ।
कालम्मि होति रत्ती,भावणिसीहं तिमं चेव ॥ ६८॥

द्रवतीति द्रव्यम्, णिसीहमप्रकाशम् । कतको णाम-रुक्खो, तस्स फलं, तं कलुसोदए पक्खिप्पइ, तओ कलुसं हेट्ठा ठायति, तं दव्वणिसीहं, सच्छं उवरिं, तं अणिसीहं । गयं दव्वनिसीहं । खेत्तनिसीहं-खेत्तमागासं, तं पुरओ, (कएह इति) कएहराईओ, ता अणेण भगवईसुत्ताणुसारेण णेया-"कति णं भंते ! कएहराईओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! अट्ठ कएहराईओ पण्णत्ताओ । कहि णं भंते ! ताओ अट्ठ कएहराईओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! उप्पिं सणंकुमारमाहिंदाणं कप्पाणं, हेट्ठिं बंभलोगे कप्पे रिट्ठे विमाणपत्थडे, एत्थ णं अक्खाडगसमचउरससंठाणसंठियाओ अट्ठ कएहराईओ पण्णत्ताओ ॥" (तमु त्ति) तमुक्काओ, सो य दव्वओ आउक्काओ । सो अणेण भगवतीसुत्ताणुसारेण णेओ-"तमुक्काए णं भंते ! कहिं समुट्ठिए, कहिं णिट्ठिए ? । गोयमा ! जंबुद्दीवस्स दीवस्स बहिया तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीतीवइत्ता अरुणवरस्स दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ अरुणोदयं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता, उवरिल्लाओ उदगंताओ एगपदेसियाए सेढीए, एत्थ तमुक्काए समुट्ठिए सत्तरस एक्कवीसे जोयणसते उड्ढं उप्पतित्ता, ततो पच्छा तिरियं वित्थरमाणे २ सोहम्मीसाणसणकुमारमाहिंदे चत्तारि वि कप्पे आवरेत्ता णं चिट्ठति, उड्ढं पि णं० जाव बंभलोए कप्पे रिट्ठविमाणपत्थडे संपत्ते, एत्थ तमुक्काए णिट्ठिते । तमुक्काए णं भंते ! किंसंठिते पण्णत्ते ? । गोयमा ! अहे मल्लगसंठिते उप्पिं कुक्कुडपंजरसंठाणसंठिते ॥" (णिरया इति) णरगा, ते य सीमंतगादि । एए कएहतमुणिरया अप्पगासित्ता खेत्तणिसीहं भवति । खेत्तणिसीहं गतं । इदाणिं कालणिसीहं- कालणिसीहं रात्री । गतं कालणिसीहं । इदाणिं भावणिसीहं- भवणं भावं, णिसीहमप्पगासं, भाव एव णिसीहं भावणिसीहं । तं दुविहं-आगमओ, णोआगमओ य । आगमओ जाणए उवउत्ते, णोआगमओ इमं चेव पकप्पऽज्झयणं, जेण सुत्तत्थतदुभएहिं अप्पगासं, एवं अवधारणे इति । कोऽर्थः ?-निसीयसद्दप्रकटीकरणत्थं वा भणति-

जं होति अप्पगासं, तं तु णिसीहं ति लोगसंसिद्धं ।
जं अप्पगासधम्मं, अन्नं पि तयं निसीहं ति ॥ ६९ ॥

जमिति अणिद्दिट्ठं, होति भवति, अप्पगासमिति अन्धकारं, जंकारणिद्देसे तगारो होइ, सद्दस्स अवहारणत्थे तुगारो, अप्पगासवयणस्स णिएणयत्थे णिसीहं ति, लोगे विसिट्ठं णिसीहं अप्पगासं । जहा कोइ पवसिओ पओसे आगओ, परेण बितिए दिणे पुच्छिओ-कल्लं क वेलमागओ सि ? । भणति-णिसीहे त्ति, रात्रावित्यर्थः । न केवलं लोकसिद्धमप्पगासं णिसीहं जं अप्पगासधम्मं, अन्नं पि, तं णिसीहं । अक्खरत्थो कहो । उदाहरणं-जहा लोइया रहस्ससुत्ता, विज्जा, मंता, जोगा य अपरिणयाण ण पगासिज्जति । अहवा-दव्वखेत्तकालभावणिसीहा अएणहा वक्खाणिज्जति—दव्वणिसीहं जाणगभव्वसरीरातिरित्तं कतगफलं, जम्हा तेण कलुसुदयपक्खित्तेण मलो णिसीयति, उदगादपगच्छतीत्यर्थः । तम्हा तं चेव कतगफलं दव्वणिसीहं । खेत्तणिसीहं-बहि दीवसमुद्दादिया, लोगा य, जम्हा ते पप्प जीवपुग्गलाणं तमभावो भवगच्छति । कालणिसीहं-अहो, तं पप्प रातीतमस्स णिसीयणं भवति । भावणिसीहं-

अट्ठविहकम्मपंको, णिसीयते जेण तं णिसीहं ति ।
अहवऽण्णहा विसेसो, सुइं पि जं णेति अपेसिं ॥७०॥

अट्ठ त्ति संखा, विही भेओ, क्रियत इति कर्म, पंको-दव्वे, भावे य । दव्वे उदगचलणी, भावे णाणावरणातीणि पंको; सो भावपंको णिसीयते जेण । तस्स भावपंकस्स णिसीयणा तिविहा-खओ, उवसमो, खओवसमो य । (जेण त्ति) करणभूतेण, तं णिसीयं भवति, तं चिमं अज्झयणं । जम्हा जहुत्तं आयरमाणस्स अट्ठविहकम्मगंठी वियाराइति, तेणिमं णिसीहं । चोदग आह-जइ कम्मक्खवणस्स सामत्थाओ इमं पि णिसीधं, एवं सव्वऽज्झयणाणं णिसीहत्तं भवति त्ति ? । गुरू भणति-आम । किं पुण अविसेसा सव्वऽज्झयणा कम्मक्खवणसमत्था ? । इह अज्झयणे विसेसो । विसेसो णाम भेओ । को पुण विसेसो ? । इमो-(सुइं पि जं णेति अपेसिं) सुतिं सवणं सोइंदिओवलद्धी, जम्हा कारणा, ण इति पडिसेहे, एति आगच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः । (अपेसिं ति) अगीते अइपरिणामो, अतिपरिणामगाणं ति वक्कसेसं । किं पुण कारणं तेसिमं सुइं पि णागच्छति ? । सुण-इदमज्झयणं अववायबहुलं । ते य अगीयत्थादिदोसजुत्ता विणस्सेज्ज, तेण णागच्छति । अवि पदत्थसंभावणे । किं संभावयति ?-जति अगीयाणं, अपसाहुपरावत्तयताए वि सवणं पि ण भवति । कओ उद्देसवायणत्थसवणाणि एवं संभावयति ? । अहवऽणहागाहा समवतारिज्जति-अप्पगासणिसीहसद्दसामएणवक्खाणओ । सीसो पुच्छति-लोगुत्तरलोगणिसीहाणं को पडिविसेसो ? । उच्यते-"अट्ठविहकम्मपंको गाहा ।" अक्खरत्थो सो चेव । उवसंहारो इमो-जइ वि लोइगारएणमादीणि णिसीहाणि, तह वि कम्मक्खवणसमत्थाणि ण भवंतीति अविसेसे विसेसो भणितो । किं च-ताणि गिहत्थपासंडीण य सुतिमागच्छति । इमं पुण सुतिं पि जं ण एति अपेसिं, अपेसे गिहत्थऽण्णतित्थिया अ वि सपक्खा, गीयपासत्थाण वि । " नि० चू० १ उ० ।

णिसीह-पुं० । पुरुषसिंहे, पुरुषोत्तमे, पो० १६ विव० ।

णिसीहकप्प-निशीथकल्प-पुं० । निशीथाध्ययनमर्यादायाम्, (पं० भा०)

इयाणिं णिसीहकप्पो-

. .. . ' ,णिसीहकप्पं अतो वोच्छं ।
चउहा णिसीहकप्पो, सद्दहणाऽणुपालणा गहण सोही ।
सद्दहणा वि य दुविहा, ओहनिसीहे विभागे य ॥
ओहे ति हत्थकम्मं, कुणमाणो रागमूलिया दोसा ।
गिएहणमादिविभागे, अहवोघो होति उस्सग्गो ॥
अहवा होतु विभागो, सव्वं चेद न सद्दहंतस्स ।
सद्दहणाए कप्पो, होति अकप्पो पुण इमो हु ॥
मिच्छत्तसंथुदएणं, ओसन्नविहारताऽसद्दहणा ।

गणहरमेरं ओहं, ण सद्दहति जो णिसीहं तु ॥
ओसन्नाण विहारं, सद्दहती सुविहिताण गणमेरं ।
णो सद्दहती जो खलु, एस अकप्पो तु सद्दहणे ॥
जाणि भणिताणि सुत्ते, पुव्वावरवाहिताणि वीसाए ।
ताणि अणुपालयंतो, सन्नाण निसीहकप्पो तु ॥
सुत्तत्थतदुभयाणं, गहणं बहुमाणविणयमच्छेरं ।
चोद्दसपुव्विणिबद्धो, पकप्पगहियम्मि गणधारी ॥
तिविहो य पकप्पधरो, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
सुत्तधर होदु तइओ, वितिओ वा होति गणधारी ॥
तिणिपंचपणगछक्कं, अट्टग नवगं च जस्स उवल्लद्धं ।
ठवणाकरणं दाणं, च सो हु सोही वियाणाहि ॥
णाणादीणं तियगं, पणग ववहारो होति पंचविहो ।
वितियपणगं च पंच य, छक्क पुण होंति छक्काया ॥
आलोयणारिहगुणे, अट्ठ तु अहवा विसोहि अट्ठविहा ।
आलोयणगादीयं, मूलं त जाणती जो उ ॥
आलोयणमादीयं, अणवट्ठं तं तु णवविहं होति ।
पारंचितं तमहवा, दसविह होती च सद्देणं ॥
ठवणा रोयणकरणं, सफला मासा करेतु जो जाणे
सो होति दाणअरिहो, तव्विवरीओ अणरिहो तु ॥
किं पुण तं दायव्वं, पायच्छित्तं तु पुच्छए सीसो ।
भण्णति इमेण विहिणा, दायव्व तं तहा कमसो ॥
ओहेण तु सट्टाणं, सट्टाणविभागताएँ वित्थारो ।
पच्छित्तपुरिमहेतू, किं ति ण संती चरणमादी ?॥
ओहे सट्टाणं ति य, जइ चतुगुरु होति रायपिंमम्मि ।
सट्टाणविभागे पुण, ईसरमादी मुणेयव्वो ॥
जइ वा करकम्ममम्मि उ, ओहेणं होति मासगुरुयं तु ।
होति विभागपसंगो-ऽदिट्टादीओ मुणेयव्वो ॥
पुरिसज्जातं णातुं, व दिज्जए जं च जारिसं वत्थु ।
गुरुमादि वल्लियदोव्वल्ल-हट्ठगिलाणाऽऽदि ज जोग्गं ॥
होज्ज कारणणिक्का-रणे य जयणादिमेविओ जह तु ।
तो देति किं निमित्त, पच्छित्तं विज्जते सुणसु ॥
" पायच्छित्ते असंतम्मि, चरित्तं तु न चिट्ठइ ।
चरित्तम्मि असंतम्मि, तित्थे ण सचरित्तया ॥
तित्थम्मि य असंतम्मि, णिव्वाणं तु ण गच्छइ ।
णिव्वाणम्मि असंतम्मि, सव्वा दिक्खा णिरत्थिया ॥"
एवं णिसीहकप्पो, चउहा तू वण्णितो समासेणं। प० भा०।

(चउहा गाहा) "सो निसीहकप्पो चउव्विहो-सद्दहणया, आयरणया, गहणविसोही, सोहिकप्पो य। सद्दहणया दुविहा-ओहे, विभागे य। ओहे ति हत्थकम्म करेमाणस्स तक्खिप्फणो दोसो । विभागो गेण्हणादयो । अहवा-ओहो उस्सग्गो, विभागो अववादो । (मिच्छत्तस्सुदयण गाहा) जो पुण मिच्छत्तोदयण न सद्दहइ, ओसन्नविहारपसंग चेव करेइ, तस्स दोससंकमया भवइ। तेण बहुदोससंकमो गणधरधारधरोघो त्ति । गण धारयन्तीति गणधराः, धारा मेरा, मर्यादा इत्यर्थः । मेराए ओघं, तं गणधरमेरधरोघं, न सद्दहइ जो निसीहं तु अणुपालणाए (गाहा जाणि भणियाणि) जाणि भणिताणि वीसएहिं उद्देसएहिं निसीहस्स पुव्वावरवाहगाइ त्ति अववादेण उस्सग्गो वाहिओ, ताइं अणुपालेइ, ते अणुपालणा। (गाहा सुत्तत्थ) गहणविहिगहणे सुत्तत्थतदुभयाण बहुमाणविणएण चोद्दसपुव्वनिबद्ध अच्छेरं ति मण्णमाणेण सो गणपरियट्टी भवइ। (गाहा तिविहो य) सोहिकप्पो त्ति तिविहो पकप्पधरो सुत्तत्थतदुभयाइ, सो गणपरियट्टी, तदुभयधरणाए पुण अत्थधरो गणपरियट्टी, (तिण्णि) तिणि जो जाणइ नाणदंसणचरित्त, (पच इति) पच महव्वयाणि। अहवा-पंचिंदियाणि, पायच्छित्त० जाव पंचिंदियाण। अहवा-पणगं नाणदरिसणचरित्ततवसंजमाइ जो जाणइ सो परियट्टी। (छक्क त्ति) रायभोयणछट्ठाइ वयाइ (अट्ठग त्ति) आलोयणारिहाइ० जाव मूल अट्ठविह पायच्छित्तं। (नवग इति) अणवट्ठप्पनवमाइ। पयाइ ठाणाइ जस्सुवलद्धाणि सो जाणइ विसोही, पायच्छित्तकरणदाण च। (गाहा ओहेण तु) ओहो नाम-अविसेसिय, तेण ओहेण सपायच्छित्त पडिसेवणाठाणेहिं जहा रायपिंडे चउगुरुगा, एए सट्ठाणे त्ति विभाएण ईसरतलवराइ, अन्ने वि होंति दोसा आकिण्णगुम्माइ। पायच्छित्तकरण पुण पुरिसजाइ परिच्छिऊण, हेउ च समिक्खिऊण, किं निमित्त पडिसेविय ?, कारणे अकारणे त्ति जयणा वा समक्खिय। किं निमित्त पायच्छित्त दिज्जइ ?, पायच्छित्त सोहिकारणं । (गाहा पायच्छित्त) पायच्छित्ते य असते पडिसिद्धमेव । एस निसीहकप्पो" । प० चू० ।

इदाणिं आयरिओ सिस्स ण च इमं णिसीहऽज्झयण हिययम्मि थिरं भवउ त्ति णिकायणत्थ इम इम भणइ। गाहा-

चउहा णिसीहकप्पो, सद्दहणाऽऽयरणगहणसोही य ।
सद्दहण बहुविहा पुण, ओहणिसीहे विभागे य ॥३०१॥

अहवा ज एय पंचमचूलाए वुत्त सव्व तं एयं समासतो चउव्विहं । जतो भण्णति-(चउगाहा) ओहे, विभागे य ।
एक्केक्का अणेगविहा इमा । गाहा-

ओहणिसीहं पुण हो-ति पेढियासुत्तमो विभागो उ ।
उस्सग्गुववाओ ऊ, अववाओ होति उ विभागो ॥३०२॥

ओघ समासः, सामान्यमित्यनर्थान्तरम् । त च णिसीहपेढियाणामणिप्फणो णिक्खेवो, उग्गहणादित्यर्थः । विभजन विभाग , विस्तर इत्यर्थः । स वीसाए उद्देसएहिं जो सुत्तसगहो, सुत्तत्थो य। अहवा उस्सग्गो ओहो, तस्यापवाद विभाग ।

अहवा-

उस्सग्गो वा ओहो, आणादिसंगमो विभागो उ ।
वत्थुं पप्प तिभागो, अवसिट्ठाऽऽवज्जणा होति ॥३०३॥

सुत्ते सुत्ते ज उस्सग्गदरिसण त ओहो होउ, ज पुण सुत्ते सुत्ते अणेगेगवत्थुमिच्छत्तविराहणाविभागदरिसण, सो विभागो । अहवा-आयरियादिपुरिसवत्थुभेदेण ज भणिय सो विभागो, जो पुण अवसिट्ठ आवत्ती सो ओहो।

अहवा-

पमिसेहो वा ओहो, तक्करणाऽऽणाइ होइ वित्थारो ।
आयासंजमभइया, तस्स य भेदो बहुविकप्पा ॥ ३८४ ॥

ण कप्पइ त्ति काउं जं जं पडिसिद्धं सो सव्वो ओहो। तस्स पडिसिद्धस्स करणाणुण्णा जा आणादिणो य भेदा, एस सव्वो वित्थरो त्ति विभागो । स वित्थरो पुणो भाणियव्वो णिक्कारणअविधिपडिसेवणाणियमा आणाभंगो, अणवत्था य, मिच्छत्तं च । ण जहा वादी तहा कारि त्ति विराहणाए आयसंजमविराहणाओ भयणिज्जा कया वि भवंति, ण वा । जहा करकम्मकरणे आयविराहणा भवति, ण वा । संजमेण णियमा भवति । पमत्तस्स य पडमाणस्स य आयविराहणा । तस्सेव पाणाइवायसंपत्तीए णो संजमविराहणा । एवं (तम्मि त्ति) विराहणाए भेदा । एव बहुविगप्पा । अणेगप्पकारा उवउज्ज भाणियव्वा । एव विभागो।

गाहा-

अहवा सुत्तनिवाओ, ओहो अत्थाओ होंति वित्थारो ।
अविसेसो त्ति व ओहो, जो तु विसेसो स वित्थारो ।३८५।
जे भणिता उ पकप्पे, पुव्वावरवाहिता भवे सुत्ता ।
सो तह समायरंतो, सव्वो आयरणकप्पो उ ॥३८६॥

सुत्तमेवअत्थरहियं, जहा-पढमसुत्ते करकम्मकरणे मासगुरु। एस ओहो। सेसो अत्थो, जहा-पढमपोरिसीए करकम्मकरणे मूलं, बितिए छेदो, ततिए छगुरु, चउत्थीए चउगुरु, पञ्चमीए मासगुरु। एस विभागो । एव पढमसुत्ते । एव चेव सव्वसुत्तेसु । जो अणुवादी अत्थो सो सव्वो विभागो । अहवा-ज दव्वादिपुरिसाविसेसेण अविसेसिज्जति सो ओहो। दव्वादिपुरिसविसिट्ठं पुण सव्वं वित्थरे णेयव्वं । एत्त महाणसद्दतस्स महल्लणकप्पो । नि० चू० २० उ० ।

णिसीहकरण-निशीथकरण-न० । रहस्यसूत्रार्थे, निशी० ।

साम्प्रतमनिशीथनिशीथयोरेव स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह-

भूयाऽपरिणयविगए, च सद्दकरणं तहेवमनिसीहं ।
पच्छन्नं तु निसीहं, निसीहनामं जहऽज्झयणं ॥

भूतमुत्पन्नम्, अपरिणतं नित्यं, विगतं विनष्टम्, भूतापरिणतविगतम् । समाहारत्वादेकवचनम् । किमुक्तम्भवति ?-"उप्पज्जेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा" इत्यादि । किंविशिष्टमित्यादि । शब्दकरण शब्दः क्रियते यस्मिन् तत् शब्दकरणम् । आ० म० १ अ० २ खण्ड । ('करण' शब्दे तृतीयभागे ३६८ पृष्ठे व्याख्या)

णिसीहगंथ-निशीथग्रन्थ-पु० । प्रकल्पशास्त्रे, जी० १ प्रति० ।

णिसीहचुण्णि-निशीथचूर्णि-स्त्री० । निशीथाऽध्ययनव्याख्यायां चूर्णिग्रन्थे, नि० चू० । सा च चूर्णि जिनदासगणिमहत्तरेण कृता । विंशतितमोद्देशे " जे भिक्खू मासिय " इत्यादिसूत्राणां विशेषव्याख्या तु चन्द्रसूरिणा कृता । तथाहि-

" प्रणम्य वीरं सुरवन्दितक्रम,
विशुद्धशुक्ल्याऽखिलनष्टकल्मषम् ।
गुरूंस्तथा निर्मलबुद्धिकारिणो
विशुद्धतत्त्वान् जगते हितैषिणः ॥ १ ॥
"विंशोद्देशे श्रीनिशीथस्य चूर्णौ,
दुर्ग वाक्यं यत्पदं वा समस्ति ।
स्वस्मृत्यर्थं तस्य वक्ष्ये सुबोधां,
व्याख्यां काञ्चित्मद्गुरुभ्योऽवबुद्ध्य ॥२॥
आदौ मासिकपदमिदं, तत्प्रस्तावात्समागता मासाः ।
तानवधीकृत्याऽऽदौ, व्याख्या प्रारभ्यते चात्र ॥ ३ ॥ "
नि० चू० २० उ० ।

इदानीं चूर्णिकारो यदर्थं मया चूर्णिः कृता इत्येतदाविष्करोति-

" जो गाहासुत्तत्थो, चेवंविधपागओ फुडपदत्थो ।
रइओ परिभासाए, साहूण अणुग्गहऽट्ठाए ॥ १ ॥ "

"जो गाहा" इत्यादिगाथाशब्देन भाष्यं गाथानिबद्धत्वादभिधीयते, ततो गाथा च, सूत्रं च, तयोरर्थ इति विग्रहः । (पागओ त्ति) प्राकृतः, प्रकटो वा, पदार्थो वस्तुभावो यत्र स तथा, परिभाष्यतेऽर्थोऽनयेति परिभाषा चूर्णिरुच्यते ।

अधुना चूर्णिकारः स्वनामकथनार्थं गाथायुग्ममाह-

" ति चउ पण अट्ठमवग्गा, तिपणतितिगअक्खरा चेव ।
तेसिं पढमततिएहिं, तिदुसरजुएहिं णामं कयं जस्स ॥ १ ॥
गुरुदिण्णं च गणित्तं, महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं ।
तेण कएसा चुण्णी, विसेसनामा निसीहस्स ॥ २ ॥ "

" ति चउ " इत्यादि । वर्गा इह 'अ-क-च-ट-त-प-य-श-वर्गाः' इति वचनात् स्वराऽऽदयो हकारान्ता ग्राह्याः । तदिह प्रथमगाथया जिनदास इत्येवरूपं नामाभिहितम् । द्वितीयगाथया तदेव विशेषयितुमाह-" जिणदासगणिमहत्तर इति । तेन रचिता चूर्णिरियम् ।

" सम्यक्कृतशाऽऽम्नायभवा-द्बोक्तं यत्तदुत्सूत्रम् ।
मतिमान्द्यात् किञ्चि-त्तच्छोध्यं श्रुतधरैः कृपाकलितैः ॥१॥
श्रीशीलभद्रसूरीणां, शिष्यैः श्रीचन्द्रसूरिभिः ।
विंशकोद्देशके व्याख्या, दृब्धा स्वपरहेतवे ॥२॥
वेदाश्वरुद्रयुते ११७४, विक्रमसंवत्सरे तु मृगशीर्षे ।
माघसितद्वादश्यां, समर्थितेयं रवौ वारे ॥ ३ ॥ " नि० चू० २० उ० । ('चंदसूरि' शब्दोऽत्र वीक्ष्य)

णिसीहचूला-निशीथचूला-स्त्री० । आचाराङ्गस्य पञ्चमचूडारूपे निशीथाध्ययने, नि० चू० १ उ० ।

आचाराङ्गे विमुक्तिचूलाऽनन्तरं निशीथचूलिका । तत्सम्बन्धश्चायम्-

" नमिऊणऽरिहंताणं, सिद्धाण कम्मचक्कमुक्काण ।
सयणसिणेहविमुक्का-ण सव्वसाहूण भावेण ॥ १ ॥
सविसेसाऽऽयरजुत्तं, काउ पणामं च अत्थदायिस्स ।
पज्जुण्णखमासमण-स्स चरणकरणाणुपालस्स ॥ २ ॥
एव कयप्पणामो, पकप्पनामस्स विवरणं वत्ते ।
पुव्वाऽऽयरियकयं चिय, अहं पि तं चेव उ विसेसे ॥ ३ ॥
भणिया विमुत्तिचूला, अहुणाऽवसरो णिसीहचूलाए ।
को संबंधो तस्सा, भण्णइ इणमो णिसामेहि ॥ ४ ॥ "

णववंभचेरमइओ, अट्ठारसपदसहस्सिओ वेदो ।
हवइ य सपंचचूलो, बहु आयारो पयग्गेणं ॥ १ ॥

ब्रह्मचरणयोरुत्पत्तिनिमित्तं साधनार्थं वा शस्त्रपरिज्ञाऽऽदीनि उपधानश्रुतावसानानि नवाऽध्ययनान्यभिहितानि । जम्हा णव एताणि बंभचेराणि, तम्हा णवबंभचेरमइओ इमो त्ति, जहा-मिम्मओ घडो, ततुमओ पडो, एव णवबंभचेरम-

इओ आयारो। सो य अज्झयणसंखाणेण णवज्झयणो। पयपरिमाणेण अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ-अठ य दस य अट्ठारस, अट्ठारसे त्ति सखा, पज्जय इति पय, त च अत्थपरिच्छेयवायग पय भवति, सहस्स ति गणिताभिहाणेण चउत्थ ठाण भवति जहासख-एग,दह,सय,सहस्स ति। स एवाऽऽयारो अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ भवति। कहम?-विद ज्ञाने, अस्य धातो घञ्प्रत्ययान्तस्य वेद इति रूप भवति। अतस्त विदन्ति, तेन विदन्ति, तम्मि वा विदन्तीति वेदो भवति। सीसो भणति-किमेत्तियमायारो, उत अण्ण पि से अत्थि किंचि?। भतो भण्णति- "हवति य सपचचूलो" हवति भवति इति भणित होति, चशब्दो चूलाणुकरिसणे, सहेति युक्त., पच इति सखावायगो सद्दो, (चूला इति) चूल त्ति वा अग्ग ति वा सिहर ति वा एगट्ठ। सा य छव्विहा-जहा दसवेयालिए भणिया तहा भाणियव्वा। ताओ य पुण इमाओ पच चूलाओ-पिंडेसणादि जाव उग्गहपडिमा, ताव पढमा चूला। वितीया-सत्तिक्कगा। तइया-भावणा। चउत्था-विमोत्ती। पचमी-आयारपकप्पो। एताहिं पचचूलाहिं सहिओ आयारो बहू भवति, णवज्झयणेहिंतो बहुतरो भवति। (पयग्गेण ति) अट्ठारसपयगसहस्सेहिंतो पचचूलापएहिं सहितो पयग्गेण बहुतरो भवति त्ति। अहवा-णवज्झयणा पढमचूलासहिता बहु भवति, अट्ठारसपयसहस्सा पढमचूलापदेहिं सहिता बहुतरा य पयग्गेण भवति। एवं क्रमवृद्ध्या नेय, जाव पचमा चूला। अहवा-सपचचूलो सुत्तपयग्गेण मूलगथाओ बहु भवति, अत्थपयग्गेण बहुतरो भवति। अहवा-बहुबहुतरपदेहिं सेसपदा सूचिता भवति। ते य इमे-बहुतम-बहुतरतम-बहुबहुतरतम इति। अओ भणति-णवबम्भचेरमइओ आयारो अट्ठारसपयसहस्सिओ पढमचूलज्झयणसुत्तत्थपदेहिं जुत्तो बहु भवति। पढमचूलासहितो मूलगथो दुइयचूलज्झयणसुत्तत्थपदेहिं जुत्तो बहुतरो भवति। एव ततियचूलाए वि बहुतमो भवति। पढमचूलासहितो मूलग्गथो दुइयचूलज्झयणे सुत्तत्थपदेहिं जुत्तो बहुतमो भवति (?)। एव ततियचूलाए वि बहुतमो भवति। चउत्थीए वि बहुतरतमो भवति। पचमीए वि बहुबहुतरतमो भवति। (पयग्गेण ति) पदानामग्र पदाग्र, पदाग्रेणेति पदपरिमाणेनेत्यर्थ.। स एव पयग्गेण बहुबहुतरो भवति। एव सबधगाहासूत्रे व्याख्याते चोदग आह-नवबंभचेरमइए आयारे वक्खाते आयारग्गाणुजोगारभकाले सबधार्थमिदमेव गाथासूत्र प्रागुपदिष्ट, प्रथमचूलातश्च द्वितीयचूलाया अनेनैव गाथासूत्रेण सबन्ध उक्तो भवति। एव द्वितीयचूलातः तृतीयचूलाया., तथा तृतीयचूलात. चतुर्थचूडाया, चतुर्थचूलातश्च पञ्चमचूलाया. सबन्ध उक्त एव भवति। एवं सति प्रागुक्तस्य सबन्धगाहासूत्रस्येह पुनरुच्चारण किमर्थम?। आचार्य आह--पुव्वभणिय तु ज एत्थ भण्णति, तत्थ कारण अत्थि-पमिसेहअणुण्णाकारण, विसेसोवलभो वा। सीसो पुच्छति--कस्स पमिसेहो, कह वा अणुण्णा, किं वा कारण, को वा विसेसोवलभो?। आचार्य आह-तत्र प्रतिषेध चतुस्सूत्रात्मके आचारे यत्प्रतिषिद्ध त सेवतस्स पच्छित्त भवति त्ति काउ, किं सेवमाणस्स भण्णति ?। सूत्रम्-"जे भिक्खू हत्थकम्म करेति, करत वा सातिज्जति" एवमादीणि सुत्ताणि। एस पमिसेहो। अत्थेण कारण अप्प तमेव अणुजाणति, त जयणाए पडिसेवतो सुद्धो,अजयणाए स पायच्छित्ती। कारणमणुण्णा जुगव गता। अयसेसोवलभो इमो-आइल्लाओ चत्तारि चूलाओ कमेणेव अहिज्जति, पचमी चूला आयारपकप्पो त्ति वासपरियागस्स आरेण न दिज्जति त्ति, वासपरियागस्स वि अपरिणामगस्स अतिपरिणामगस्स वा न दिज्जति। आयारपकप्पो पुण परिणामगस्स दिज्जति। एतेण कारणेण सबधगाहा पुनरुच्चार्यते। अहवा बहु अतीतकालत्वात् प्रागुक्तसबन्धस्य विस्मृति स्यात्, अतस्तस्य प्रागुक्तसवन्धस्य स्मरणार्थं प्रागुक्तमपि सबन्धगाहासूत्रमिह पुनरुच्चार्यते। नि० चू०१उ०।

णिसीहज्झयण-निशीथाध्ययन-न०। आचाराङ्गस्य निशीथाख्यपञ्चमचूलिकायाम्,आचा० १ श्रु० १ अ०१ उ०। आ०चू०।

णिसीहपेढिया-निशीथपीठिका-स्त्री०। निशीथचूर्णिभूमिकायाम्, नि० चू०। सुत्तत्थो पेढियाए देओ, न वा?। कस्स देओ,कस्स वा ण देओ इति?। अहवा-कहितो सुत्तत्थो पेढियाए णिसीहियपेढियाए सुत्तत्थो व्याख्यातो। सोपुण णिसीहपेढिकाए सुत्तत्थो कस्स देओ, कस्स वा न देओ?, इति भण्णति।

जेसिं ताव ण देओ, ते ताव भणामि-

अवहुस्सुते वि पुरिसे, भिण्णरहस्से पईणविज्जत्ते।
णिस्साणपेहए वा-ऽसंविग्गे दुब्बलचरित्ते॥ ४६५॥

बहु सुय जस्स सो बहुस्सुतो। सो तिविहो-जहण्णो मज्झिमो,उक्कोसो। जहण्णो जेण पकप्पज्झयण अधीत। उक्कोसो चोद्दसपुव्वधरो। तम्मज्झे मज्झिमो। एत्थ जहण्णे वि ताव ण पमिसेहो। न बहुस्सुओ अबहुस्सुतो,येन प्रकल्पाध्ययनं नाधीतमित्यर्थ। तस्य निशीथपीठिका न देया। अहवा-अबहुस्सुतो येन हेट्ठिल्लसुत्त ण सुय,सो अबहुस्सुतो भणति। (पुरिसे त्ति)पुरिसो तिविहो-परिणामगो,अपरिणामगो,अइपरिणामगो य। एत्थ अपरिणामगअतिपरिणामगाण पमिसेहो। भिण्ण रहस्स जम्मि वि पुरिसे सो भिण्णरहस्सो,रहस्स ण धारयतीत्यर्थ.। इह रहस्स अववातो भण्णति। त जो अगीताण कहेति सो भिण्णरहस्सो। पइण्णविज्जत्तण वा करेति,जस्स वा तस्स वा कहयति। आदी अदिट्ठभावाण सावगाण जाव कहयति। णिस्साण णाम-आलबण, त पेहेति प्रार्थयति, अववातपेहि त्ति वुत्त भवति। त अववायपद णिक्कारणे वि सेवतीत्यर्थ.। ण सविग्गो असविग्गो,पासत्थादि त्ति वुत्त भवति। दुब्बलो चरित्ते दुब्बलचरित्तो, विणा कारणेण मूलुत्तरगुणपमिसेवण करोतीत्यर्थ.॥ ४६५॥ नि० चू० १ उ०।

णिसीहिया-निशीथिका-स्त्री०। अल्पतरकालिकायां वसतौ, भ० १४ श० १० उ०। आ० चू०। निशीथिकानिक्षेप.-तत्र नामनिष्पन्ननिक्षेपे निशीथिकेति नाम, अस्य च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावै षड्विधो निक्षेप.। नामस्थापने पूर्ववत्। द्रव्यनिशीथम्-आगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त यद् द्रव्य प्रच्छन्नम्। क्षेत्रनिशीथ तु-ब्रह्मलोकरिष्टविमानपार्श्ववर्तिन्य. कृष्णराजयो, यस्मिन् वा क्षेत्रे तद् व्याख्यायते। कालनिशीथ-कृष्णरजन्यो, यत्र वा काले निशीथ व्याख्यायत इति। भावनिशीथ-नो आगमत इदमेवाध्ययनम्, आगमैकदेशत्वात्। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेप। आचा०२ श्रु०२ चू०२ अ०।

अथाऽऽचाराङ्गस्य द्वितीयसप्तैकके निशीथिकागमनम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकखति णिसीहियं गमणाए, से जं पुण णिसीहियं जाणेज्जा-सअंडं

सपाणं० जाव मक्कडासंताणयं, तहप्पगारं णिसीहियं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो चेतिस्सामि ॥

साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यम् । तच्चेदम्-(से इत्यादि) स भावभिक्षुर्यदि बसतेरुपहताया अन्यत्र निशीथिकां स्वाध्यायभूमिं गन्तुमभिकाङ्क्षेत्, तां च यदि साण्डां यावत्ससन्ताना-नकां जानीयात्ततोऽप्रासुकत्वान्न परिगृह्णीयादिति । किं च-

निशीथिकाव्याख्यामधिकृत्याह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा णिसीहियं गमणाए, से जं पुण णिसीहियं जाणेज्जा-अप्पंडं अप्पपाणं जाव मक्कडासंताणयं तहप्पगारं णिसीहियं फासुयं एसणिज्जं लाभे संते चेतिस्सामि, एवं सेज्जागमेण णेयव्वं० जाव उदयपसूयाइं ति ॥

(से इत्यादि) स भिक्षुरल्पाण्डादिकां गृह्णीयादिति । एवमन्यान्यपि सूत्राणि शय्यावदुक्तानि यावदुदकप्रसूतानि कन्दाऽऽदीनि ज्ञात्वा न गृह्णीयादिति ।

तत्र गतानां विधिमधिकृत्याह-

से जत्थ दुवग्गा वा तिवग्गा वा चउवग्गा वा पंचवग्गा वा अभिसंधारेइ णिसीहियं गमणाए, ते णो अण्णमण्णस्स कायं आलिंगेज्जा वा, विलिंगेज्ज वा, चुंबेज्ज वा, दंतेहिं वा णहेहिं वा अच्छिंदेज्ज वा, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहिए समिए सदा जएज्जा, सेयमिणं मण्णेज्जा त्ति बेमि ॥

(से इत्यादि) ते तत्र स्वाध्याय निषीधिकाभूमौ द्विव्याद्याः साधवो गच्छेयुः, ते न अन्योऽन्यस्य कायं परस्परं संश्लिष्टं न कुर्युरित्यर्थः । नापि विविधमनेकप्रकारं यथा मोहोदयो भवति तथा क्लिष्टं कुर्युरिति । तथा कन्दर्पप्रधाना वक्त्रसंयोगाद्यभिः किया न कुर्युरित्येतत् तस्य भिक्षोः सामग्र्यं, यत्सर्वार्थैः सहितः समितः सदा यतेत समनुतिष्ठेत्, श्रेयः इदमात्मनो मन्येतेति, अद्य यावदनुष्ठानं सम्यगाराधितं भवतीत्येवं च ब्रवीमि इति पूर्ववत् । निशीथिकाऽध्ययनं द्वितीयम् । आचा० २ श्रु० २ चू० २ अ० ।

नैषेधिकी-स्त्री० 'षिध' गत्यामित्यस्य निपूर्वस्य घञि निषेधः । प्राणातिपाताऽऽदिनिवृत्तिः प्रयोजनमस्या नैषेधिकी । प्राणातिपातनिवृत्तायां सन्ध्याम्, ध० १ अधि० । आव० । उत्त० । निषेधो गमनाऽऽदिव्यापारपरिहार, स प्रयोजनमस्या, तमर्हतीति वा नैषेधिकी । सू० २ अ० । जीत० । निषीदनस्थाने, जी० ३ प्रति० ४ उ० । स्था० । निषेधः प्रमादेभ्य आत्मनो व्यावर्त्तनं, तत्र भवा नैषेधिकी । ग० २ अधि० । निषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी । व्यापारान्तरनिषेधरूपायां सामाचार्याम्, आश्रयं प्रविशतो (दशा० १० ठा०) यन्निषेधे निषिद्धोऽहं गमनाक्रिययेति भणनं, सू० १ श्रु० । ध० । स्था० । आ० म० । निषेधेनासमुत्पन्नप्रयोजनानिवारणेन निर्वृत्ता सप्रयोजना च या शय्याऽऽदिप्रवेशक्रिया सा नैषेधिकी । पञ्चा० १२ विव० । सामाचारीभेदे, पञ्चा० ।

साम्प्रतं नैषेधिकीमाह-

एवोग्गहप्पवेसे, णिसीहिया तह णिसिद्धजोगस्स ।
एयस्सेसो उचिओ, इयरस्स ण चेव नत्थि त्ति ॥२२॥

एवमुक्तेनाऽऽवश्यकीन्यायेन शय्याऽऽदिकावग्रहणेन, अवग्रहप्रवेशे शय्याऽऽदिप्रवेशे, नैषेधिकी सामाचारीविशेषो भवति । तथैवावग्रहप्रवेशे, विशेषणमाह-तस्मिन्नेव, एतदुक्तं भवति-निषिद्धयोगस्यैव । अथवा-तथाऽऽवश्यकीन्यायेन, निषिद्धयोगस्य निषिद्धाशुभव्यापारस्य । कस्मादित्याशङ्क्याह-एतस्य निषिद्धयोगस्य, एष नैषेधिकीप्रयोगः, नैषेधिकीशब्दोच्चारणं यत् उचितः सङ्गतः । विपर्ययमाह-इतरस्यानिषिद्धयोगस्य पुनः, नैव उचित एव इति प्रकृतम् । तुशब्दः पुनरर्थः । स च सम्बन्धित एव । कस्मादनुचित इत्याह-नास्त्येव निषेधो यस्य इति कृत्वा । इति गाथार्थः ॥२२॥

अथ कस्मादवग्रहप्रवेशे नैषेधिकी विधेयेत्याह-

गुरुदेवोग्गहभूमी-ए जत्तओ चेव होति परिभोगो ।
इट्ठफलसाहगो सइ, अणिट्ठफलसाहगो इहरा ॥२३॥

गुरुदेवावग्रहभूम्या आचार्यदेवादिदेशाऽवग्रहभुवः, यत्नेन एव आशातनापरिहारप्रयत्नेनैव, चैत्यगृहोऽवग्रहे । भवति वर्त्तते परिभोगः । स च किं भूतः ?, इत्याह-इष्टफलसाधको निर्जराद्युत्पादकः, कर्मक्षयहेतुरित्यर्थः । सदा सर्वदा । अन्यथोक्तमाह-अनिष्टफलसाधकः, कर्मबन्धहेतुरित्यर्थः । इतरथा अन्यथा, प्रयत्नाभावे । गुरुदेवावग्रहभूमेः परिभोग इति प्रकृतम् । तत्र गुर्ववग्रहस्तावत्क्षेत्रमभिहितम् । यथा-"आयप्पमाणमेत्तो, चउद्दिसिं होइ उग्गहो गुरुणो ।" इति । देवावग्रहस्तु न क्वापि नियतः, केवलं भवनमात्रं पुनः । यथा-"जघन्नो य जिणिंदे, उक्कोसम्महणंतिओ चेव । उस्सग्गमज्झिमाओ, उग्गहा नव मेव जिणाणं ॥१॥" इति गाथार्थः ॥२३॥

देवाऽऽद्यवग्रहभूमेरेव प्रयत्नपरिभोगस्य समर्थनमाह-

एत्तो चेयणाऽऽईसु, दसणमेत्ते गयाऽऽइओसरणं ।
सुव्वइ चेइयसिहरा-इएसु पुरसाणमाणं पि ॥२४॥

(एत्तो त्ति) एतो गुर्वाद्यवग्रहभूमेः प्रयत्नपरिभोग इष्टफलसाधको भवतीत्यस्मात्कारणात्, चैत्यसदनाऽऽदिषु जिनसमवसरणप्रभृतिषु जिनगृहेषु, तेषामित्यर्थः । बहुवचनादाशातनया । आदिशब्दात्समवसरणसम्बन्धिमहेन्द्रध्वजाऽऽदिपरिग्रहः । दर्शनमात्रे दर्शनमेव सति, गजाऽऽद्यवसरणं गजाऽऽश्वशिबिकाप्रभृतिभ्यो देवाद्यवग्रहगमनप्रयत्नेभ्योऽवतरणं प्रशस्तविशेषणानाम्, श्रूयते आकर्ण्यते प्रवचने तेषु तेष्वाख्यानकेषु, तथा चैत्यशिखराऽऽदिकेषु जिनभवनशिखरकलशध्वजप्रभृतिषु, दर्शनमात्रेष्वित्यर्थः । दर्शनमात्र इति वर्तते । मुखावलोकनमपि श्रमणोपासकविशेषाणामपि, समवसरणजिनभवनाऽऽदिषु प्रवेष्टुकामानामिति गम्यते । सुव्यक्तमधुना पुनर्गुर्वाद्यवग्रहप्रवेशे प्रयत्नो विधेय इत्यर्थसमुच्चयार्थोऽपिशब्दः । सुव्यक्तमाह-एतदेवानुक्तविधेरन्यथाभावसमर्थोपदर्शनार्थम् । इति गाथार्थः ॥२४॥

अथ यस्य नैषेधिकी भावतो भवति, तमभिधित्सुराह-

जो होइ निसिद्धऽप्पा, णिसीहिया तस्स भावतो होइ ।

अणिभिद्धस्स उ एसा, वइमेत्तं चेव दट्ठव्वा ॥ ९५ ॥

यः प्राणी, भवति स्यात्, निषिद्धो निवारितः सावद्ययोगेभ्य आत्मा स्वभावो येन स निषिद्धाऽऽत्मा । नैषेधिकी उक्तनिर्वचना, तस्य प्राणिनः, भावतः परमार्थतः, भवति स्यात् । अथोक्तविपर्ययमाह-अनिषिद्धस्य तु अनिवृत्तस्य पुनः, सावद्यादिति गम्यते । एषा नैषेधिकी, वाङ्मात्र वागेव केवला, निरर्थकेत्यर्थः । भवति स्यात्, द्रष्टव्याऽवसेया । इति गाथाऽर्थः । पञ्चा० १२ विव० ।

साम्प्रतं नैषेधिकीं प्रतिपादयन्नाह-

सेज्जं ठाणं च जहिं, चेएइ तहिं निसीहिया होइ ।
जम्हा तत्थ निसिद्धो, तेणं तु निसीहिया होइ ॥

शेरते अस्यामिति शय्या-शयनस्थानं, ता शय्यां शयनस्थानं चेति स्थानमूर्द्धस्थानं, कायोत्सर्ग इत्यर्थः । यत्र चेतयते 'चिती' संज्ञाने । अनुभवरूपतया विजानाति, वेदयत इत्यर्थः । अथवा-चेतयते करोति, धातूनामनेकार्थत्वात् । शयनक्रिया च कुर्वता निश्चयतः शय्या कृता भवति, ततश्च यत्र स्वपितीत्यर्थः । चशब्दो वीराऽऽसनाऽद्यनुक्तसमुच्चयार्थः । अथ वा तुशब्दार्थे द्रष्टव्यः, स च विशेषणार्थः । किं विशिनष्टीति चेत् ?, उच्यते-प्रतिक्रमणाऽऽद्यशेषकृतावश्यकः सन् अनुज्ञातो गुरुणा शय्या स्थानं च यत्र चेतयते, तत्र एवंविधस्थितिक्रियाविशिष्टे स्थाने नैषेधिकी भवति, नाऽन्यत्र । किमित्यत आह-यस्मात्तत्र निषिद्धोऽसौ, तेन कारणेन नैषेधिकी भवति, निषेधाऽऽत्मकत्वात्तस्या इति । पाठान्तरं वा-" सेज्जं ठाणं च जया, चेते तइया निसीहिया होइ । जम्हा तया निसीहा, निसेहमइया य सा जेण ॥१॥" इयमुक्तार्थत्वात्सुगमैव । अनेन ग्रन्थेन मूलगाथया आवश्यकीं निर्गच्छन् यां च आगच्छन् नैषेधिकीं करोति, व्यञ्जनमेतद् द्विधेत्येतत् स्थितिरूपनैषेधिकीप्रतिपादनं व्यञ्जनभेदनिबन्धनमधिकृत्य व्याख्यातम् ।

साम्प्रतममुमेवार्थमुपसंजिहीर्षुराह भाष्यकारः-

आवस्सियं च निंतो, जं च अयंतो निसीहियं कुणइ ।
सेज्जानिसीहियाए, निसीहियाअभिमुहो होइ ॥

आवश्यकीं निर्गच्छन् नैषेधिकीं करोति, तदेतद् व्याख्यातमिति शेषः । उपलक्षणमेतत् । ततः सह तृतीयपादेन व्यञ्जनमेतद् द्विधेत्यनेनेति द्रष्टव्यम् । साम्प्रतमर्थः पुनर्भवति, स एव गाथाऽवयवार्थः प्रतिपाद्यते । तत्र ह्यर्थमेक एवार्थो भवति । यस्मान्नैषेधिक्यपि नावश्यकर्त्तव्यव्यापारगोचरतामतीत्य वर्तते, ततः संयमयोगानुपालनायाशेषपरिज्ञानार्थं चेत्थमाह-(सेज्जानिसीहियाए, निसीहियाअभिमुहो होइ इति) शय्यैव नैषेधिकी शय्यानैषेधिकी, तस्याः शय्यानैषेधिक्याः विषयभूतायाम्, किं शरीरमपि नैषेधिकीत्युच्यते ?, इत्यत आह-शरीरनैषेधिक्याः करणभूतया आगमनं प्रत्यभिमुखः, ततः संवृतगात्रैः साधुभिर्भवितव्यमिति सङ्गां करोति, ततोऽवश्यकर्त्तव्यव्यापाररूपत्वाद् नैषेधिक्यप्यावश्यकीत्येक एवार्थः ।

एतदेव सुव्यक्तं भावयति—

जो होइ निसिद्धऽप्पा, निसीहिया तस्स भावतो होइ ।
अनिसिद्धस्स निसिहिया, केवलमेत्तं हवइ सद्दो ॥

यो भवति निषिद्धाऽऽत्मा-निषिद्धो मूलगुणोत्तरगुणातिचारेभ्य आत्मा येनेति समासः । नैषेधिकी । तस्य निषिद्धाऽऽत्मनो, भावतः परमार्थतो, भवति । न निषिद्धोऽनिषिद्ध उक्तेभ्य एवातिचारेभ्यः, तस्याऽनिषिद्धस्य अनुपयुक्ततया गच्छतो नैषेधिकीशब्दमात्रमेव केवलं भवति, न भावतः । आह-यदि नामैवं, तत एकार्थतायाः किमायातम् ?, उच्यते-निषिद्धाऽऽत्मनो नैषेधिकी भवतीत्युक्तम् ।

स च-

आवस्सयम्मि जुत्तो, नियमनिसिद्धो त्ति होइ नायव्वो ।
अहवा वि निसिद्धऽप्पा, नियमा आवस्सए जुत्तो ॥

आवश्यके मूलगुणोत्तरगुणानुष्ठानरूपे, युक्तः (नियमनिसिद्धो त्ति होइ नायव्वो इति) नियमेन निषिद्धो नियमनिषिद्ध इत्येवं भवति ज्ञातव्यः । आवश्यकेऽपि चाऽऽवश्यकयुक्तस्यैवेत्यत एकार्थता । अथवेति प्रकारान्तरदर्शनार्थः, अपिशब्दस्य व्यवहित सम्बन्धः । निषिद्धाऽऽत्माऽपि नियमादावश्यके युक्तो, यतोऽप्येकार्थतेति । पाठान्तरम्-"अहवा वि निसिद्धऽप्पा, सिद्धाण अतियं जाइ ।" इति । अस्यायमर्थः -तदेव तावत् क्रियाया अभेदेन एकार्थता उक्ता, इह तु कार्याभेदेनैकार्थतोच्यते । अथवेति प्रकारान्तरे, निषिद्धाऽऽत्माऽपि सिद्धानामन्तिकं समीपं याति गच्छति । अपिशब्दादावश्यकयुक्तोऽप्यतः कार्याभेदादेकार्थता । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ०चू० । उत्त० । निषेधेन स्वाध्यायव्यतिरिक्तशेषव्यापारप्रतिषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी । स्वाध्यायमात्रनिमित्ते स्थाने, व्य० १ उ० ।

तत्र का नैषेधिकी, का वाऽभिशय्या ?, इति व्याख्यानयति-

ठाणं निसीहिय त्ति य, एगट्ठं जत्थ ठाणमेवेगं ।
चिंतेति निसिहियं वा, सुत्तऽत्थनिसीहिया सा उ ॥
सज्झायं काऊणं, निसीहियातो निसिं चिय उवेंति ।
अभिवसिउं जत्थ निसिं, उवेंति पातो तई सेज्जा ॥

तिष्ठन्ति स्वाध्यायव्यापृता अस्मिन्निति स्थानम् । निषेधेन स्वाध्यायव्यतिरिक्तशेषव्यापारप्रतिषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी । ततः स्थानमिति वा नैषेधिकीति वा (एगट्ठमिति) एकार्थम्, द्वावप्येतौ तुल्यार्थाविति भावः । व्युत्पत्त्यर्थस्य द्वयोरप्यविशिष्टत्वात् । तत्र यत्र स्थानमेव स्वाध्यायनिमित्तमेकं, न तु ऊर्ध्वं स्थानं, त्वग्वर्त्तनस्थानं वा । चेतयन्ति निशि रात्रौ, दिवा वा, सा सूत्रार्थहेतुभूता नैषेधिकी । एतेनास्मिन् या नैषेधिक्युक्ता सा सूत्रार्थप्रायोग्या नैषेधिकी प्रतिपत्तव्या, न तु कालकरणप्रायोग्या नैषेधिकी प्रतिपत्तव्या । किमुक्तं भवति ?-यस्यां नैषेधिक्यां दिवा स्वाध्यायं कृत्वा दिवैव, यदि वा निशि च स्वाध्यायं कृत्वा निशयैव, निशायामवश्यं नैषेधिकीतो वसतिमुपयन्ति, सा नैषेधिकी, यस्यां पुनर्नैषेधिक्यां दिवा निशायां वा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुषित्वा प्रातर्वसतिमुपयन्ति (तई इति) तका अभिशय्या अभिनिषद्येति भावः । व्य० १ उ० । लोपरूवेनरा-या स्वाध्यायभूमौ, स० २२ सम० । ज्ञा० । स्था० । "सिज्जा निसीहियाए य, समावन्नो य गोयरे ।" शय्यायां वसतौ नैषेधिक्या स्वाध्यायभूमौ शय्यैव वाऽसमञ्जसनिषेधान्नैषेधिकी, तस्यां समापन्न । दश० ५ अ० २ उ० । स्वाध्यायकरणे, उत्त० २६ अ० । शवपरिष्ठापनभूमौ, अनु० । गृहाऽऽदिव्यापारपरिहारे, सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

णिसीहियापरिसह–नैषेधिकीपरिषह–पुं० । निषेधनं निषेधः पापकर्मणां गमनाऽऽदिक्रियायाश्च, स प्रयोजनमस्या नैषेधिकी, श्मशानाऽऽदिस्वाध्यायाऽऽदिभूमिर्निषद्येति यावत्। सैव च परिषहो नैषेधिकीपरिषहः । उत्त०२ अ०। नैषेधिकी स्वाध्यायभूमिः शून्यागाराऽऽदिरूपा,तत्परिषहणं च तत्रोपसर्गेष्वत्रासः । अ० ८ शु० ८ अ० । निषद्यापरिषहे, यथा–" श्मशानाऽऽदौ निषद्यायां, स्त्र्यादिकण्टकवर्जिते । उपसर्गाननिष्टेष्टान्, निरीहो निर्भयः सहेत् ॥१॥" ध०२ अधि० । "श्मशानाऽऽदिनिषद्यास्तु,स्त्र्यादिकण्टकवर्जिते । उपसर्गाननिष्टेष्टा-नैकोऽभीरस्पृहः क्षमेत ॥१॥" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

एतदेव सूत्रकार आह–

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥ २० ॥

(सुसाणे इति) शवानां शयनमस्मिन्निति श्मशानं, तस्मिन् पितृवने, श्वभ्यो हितमिति वाक्ये " उगवादिभ्यो यत् " ॥५। १।२ ॥ इत्यत्र " शुन सम्प्रसारणं दीर्घत्वम् ।" (वा०) इति वचनतो यति संप्रसारणे दीर्घत्वे च शून्यम्, तच्च तदगारं च शून्यागारं, तस्मिन् वा । वृश्च्यत इति वृक्षः, तस्य मूलमधोभूभागो वृक्षमूलं, तस्मिन् वा, एक एकरूपः, स एवैककः, एको वा प्रतिमाप्रतिपत्त्यादौ गच्छतीत्येकगः, एको वा कर्मसाहित्यविगमतो मोक्षं गच्छति तत्प्राप्तियोग्यानुष्ठानप्रवृत्तेर्यातीत्येकगः, अकुक्कुचोऽशिष्टचेष्टारहितो, निषीदेत् तिष्ठेत्, न च नैव, वित्रासयेत परम् अन्यम् । किमुक्तं भवति ?–"पडिमं पडिवज्जिया मसाणे, नो भायए भयभेरवाइ दिस्स । विविहगुणतवोरए य निच्चं, सरीरं नाभिकंखए स भिक्खू ॥ " इत्यागममनुसरन् श्मशानाऽऽदावप्येककोऽप्यनेकभयानकोपलम्भेऽपि न स्वयं संविभीयात्, न च विकृतस्वरमुखविकाराऽऽदिभिरन्येषां भयमुत्पादयेत् । यद्वा–(अकुक्कुए त्ति) अकुक्कुचः कुत्सितादिविराधनात्मकात्कर्मबन्धहेतुत्वेन कुत्सितहस्तपादाऽऽदिभिरस्पन्दमानो निषीदेत् । न च वित्रासयेत् विक्षोभयेत, परमुन्दुराऽऽदि । मा भूदसंयम इति सूत्रार्थः ॥ २० ॥

तत्र च तिष्ठतः कदाचिदुपसर्गोत्पत्तौ यत्कृत्यं तदाह–

तत्थ से अत्थमाणस्स, उवसग्गाऽभिधारए ।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥ २१ ॥

तत्रेति श्मशानाऽऽदौ ' से ' तस्य तिष्ठतः । तथा च–'अत्थमाणस्स त्ति' आसीनस्य, उप सामीप्येन सृज्यन्ते तिर्यग्मनुष्यामरैः कर्मवशगेनाऽऽत्मना वा क्रियन्त इत्युपसर्गाः, तेऽभिधारयेयुः, अन्तर्भावितवार्थत्वादभिधारयेयुरिव । कोऽर्थः ?–उत्कटतयाऽत्यन्तोत्सिक्तारिपुवदभिमुखीकुर्युरिव । यथैते सह्याश्च, तत्प्रगुणीभूयाऽभिमुखैः स्थेयमिति । यद्वा–सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम्, उपसर्गाः समन्वेयुस्ततस्तानभिधारयेत् । किमेते ममाचलितचेतसः कर्तुमलमिति चिन्तयेत् । पठ्यते च–"उवसग्गभय भवे ।" इति सुगमम् । शङ्काभीत इति । तत्कृतापकारशङ्कातो भीतस्त्रस्तो न गच्छेन्न यायादुत्थाय । कोऽर्थः ?–तत्स्थानमपहाय अन्यदपरम्, आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनं स्थानमिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ उत्त० पाई० ३ अ० ।

णिक्खंतो गयपुराओ, कुरुदत्तसुओ गओ य साएए ।
पडिमं ठियस्स कुडिया, अग्गी सीसम्मि जाले ति ॥४३॥ उत्त०नि०

निष्क्रान्तः प्रव्रजितो गजपुरात् कुरुदत्तसुतो, गतश्च साकेतम्, प्रतिमास्थितस्य (कुडिय त्ति) हृतगवेषकाः, अग्निं शिरसि ज्वालयन्तीति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः । उत्त० ३ अ० ।

अथ कुरुदत्त (सुत) साधुकथा–अत्र नैषेधिकीपरिषहः । कोऽर्थः ?, यथा ग्रामाऽऽदिषु अप्रतिबद्धेन चर्यापरिषहः सहनीयः, तथा शरीरेऽप्रतिबद्धेन नैषेधिकीपरिषहः सहनीयः । नैषेधिकी नाम शरीरमित्यर्थः । अथ कथा–हस्तिनागपुरे इभ्यपुत्रः कुरुदत्त (सुत) नामा प्रव्रजितः विहरन् क्रमात् साकेतपुराददूरप्रदेशे प्रतिमायां स्थितः । तत्र चरमपौरुष्यां गोधनापहारिणश्चौरा समायाताः, तत्पृष्ठे त्वरितं गताः, पश्चाद् गोस्वामिन समायाताः । तैश्चौरमार्गस्वरूपे पृष्टे स यतिः न किञ्चिद् ब्रूते । ततः संजातकोपैस्तैः शिरसि मृत्पालिं कृत्वाऽङ्गाराः क्षिप्ताः, स यतिर्मनागनपसृतः तां वेदनामधिसहमानः सिद्धिं गतः । उत्त० २ अ० ।

णिसीहियारय–निशीथिकारत–त्रि० । स्वाध्यायध्यायिनि, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ।

णिसीहियासत्तिक्कय–निशीथिकासप्तैकक–न० । आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य सप्तैककस्याष्टमाध्ययनस्य द्वितीये निशीथिकाप्रतिपादकेऽध्ययने, आचा० २ श्रु० २ चू० । स्था० ।

णिसुअ –देशी–श्रुते, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिसुंभ–निशुम्भ–पुं० । पञ्चमे प्रतिवासुदेवे, प्रव० २११ द्वार । ति० । आव० । पातिते, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णिसुंभण–निपातयत्–त्रि० । भूमौ पातयति, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

णिसुंभा–निशुम्भा–स्त्री० । बलेर्वैरोचनेन्द्रस्य पञ्चानामग्रमहिष्याम्, स्था०४ ठा०२ उ० । ज्ञा० । (अस्याः पूर्वोत्तरजन्मकथा 'अग्गमाहिसी ' शब्दे प्रथमभागे १७० पृष्ठे उक्ता)

णिसुढ–निपातित–त्रि० । " क्तेनाप्फुण्णाऽऽदयः " ॥ ८ । ४ । २५८ ॥ इति निपातितशब्दस्य णिसुढाऽऽदेशः । प्रा० ४ पाद ।

णिसुढ–नम्–धा० । नतौ, भाराऽऽक्रान्तेर्नमेर्णिसुढ इत्यादेशः । 'णिसुढइ' । भाराऽऽक्रान्तो नमतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

णिसुणिऊण–निश्रुत्य–अव्य० । श्रवण क्त्वत्यर्थे,जीवा० १ अधि० ।

णिसेज्जा–निषद्या–स्त्री० । स्त्रीवसतौ, स्त्रीभिः कृतायां मायायाम्, " तम्हा समणा ण समेति आयहियाए सण्णिसेज्जाए । " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । पण्यशालायाम्, हट्टे, कुरुभद्रायाम् । वाच० । ' णिसज्जा ' शब्दार्थे च । प्रव० ६७ द्वार ।

णिसेय–निषेक–पुं० । कर्मपुद्गलानां प्रतिसमयानुभावरचनायाम्, स्था०६ ठा० । आचा० । गर्भाधाने, "निषेकाऽऽदि श्मशानान्तम् ।" इति मनुः । वाच० ।

णिसेविय–निषेवित–त्रि० । आसेविते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आश्रिते, उत्त० २० अ० ।

णिसेह–निषेध–पुं० । 'षिध' गत्यामस्य निपूर्वस्य घञि निषेधनं निषेधः । आव० ३ अ० । निवारणायाम्, पञ्चा० ११ विव० ।

णिसेहण–निषेधन–न० । वारणे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णिसेहणा–निषेधना–स्त्री० । वारणायाम्, आव० १ अ० ।

णिसेहिया–नैषेधिकी–स्त्री० । निषिध्यन्ते निराक्रियन्तेऽस्यां कर्माणीति नैषेधिकी निर्वाणभूमिः । "कृत्यल्युटोऽन्यत्रापि" इत्यत्रापिग्रहणबलाद् ल्युट् । यद्वि वा निषेधे सकलकर्मनिराकरणलक्षणे भवा नैषेधिकी । मुक्तिगतौ, उत्त० १० अ० । शवपरिष्ठापनाभूमौ, ग० २ अधि० । निषीदनस्थाने, चारकूटसमीपे निःसम्बे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

णिस्फल–निष्फल–त्रि० । " सपोः सयोगे सोऽग्रीष्मे " ॥ ८ ॥ ४ ॥ २७६ । इति सकारसयोगे स एव । प्रा० ४ पाद । फलरहिते, प्रा० ४ पाद ।

णिस्संक–निःशङ्क–त्रि० । निर्दये, इहपरलोकाऽऽशङ्कारहिते, व्य० १० उ० । शङ्काया अभावो निःशङ्कम् । संशयाभावे, पञ्चा० ९ विव० । निर्गता शङ्का देशसर्वशङ्कारूपा यस्य स निःशङ्क. । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । आचा० । शङ्कारहिते, उत्त० १९ अ० । निर्भरे, दे० ना० ४ वर्ग ३२ गाथा ।

णिस्संकिय–निःशङ्कित–त्रि० । शङ्कनं शङ्कितं शङ्का, निर्गतं शङ्कितं यस्मादसौ निःशङ्कित. । देशसर्वशङ्कारहिते, व्य० १ उ० । दश० । ध० । ग० । नि० चू० । उत्त० । स्था० । निःसंशये, रा० । शङ्कनं शङ्कितं देशतः सर्वतश्च शङ्काऽऽत्मकम् । तदभावो निःशङ्कितम् । उत्त० २८ अ० । प्रव० । संशयाभावे निःसंदेहे, औ० ।

णिस्संग–निस्सङ्ग–त्रि० । बाह्याभ्यन्तरसङ्गरहिते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । उत्त० । पुत्रकलत्रमित्रधनधान्यहिरण्यसुवर्णाऽऽदिसकलसम्बन्धविकले, पा० । आव० ।

णिस्संचार–निस्संचार–त्रि० । द्वारापद्वारैर्जनप्रवेशनिर्गमवर्जिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

णिस्संत–निःशान्त–त्रि० । नितरामतिशयेन शान्त उपशमो बाऽन्त क्रोधपरिहारेण बहिश्च प्रशान्ताऽऽकारतया निःशान्तः । उत्त० १ अ० । अत्यन्तमन्दभूते, रा० ।

णिस्संधि–निस्सन्धि–त्रि० । निर्विवरे, " णिस्संधिवारविरहिया । " प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

णिस्संस–निःशंस–त्रि० । श्लाघारहिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णिस्संसय–निस्संशय–त्रि० । संदेहाभावे, "ततो णिज्जीव निस्संसय मुणिऊण । " आ० म० १ अ० १ खण्ड । सूत्र० ।

णिस्सङ्ग–निःसङ्ग–त्रि० । नष्टसङ्गे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

णिस्सयर–निःस्वकर–न० । स्वकर्मानादिसम्बन्धत्वात्तदपनयनसमर्थानि निःस्वकराणि । कर्मविश्लेषकेषु, आचा० २ श्रु० ४ चू० १ उ० ।

णिस्सरण–निःसरण–न० । पलायने, व्य० १ उ० । निर्गमे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णिस्सरणणंदि [ण्]–निःसरणनन्दिन्–त्रि० । निःसरणेन निर्गमेण नन्दति यो, नन्दिर्वा यस्य स निःसरणनन्दी । प्राघूर्णकशिष्याऽऽदीनामात्मनो वा गच्छाऽऽदेर्निर्गमेण प्रसन्ने पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णिस्सरिअ–देशी–स्रस्ते, दे० ना० ४ वर्ग ४० गाथा ।

णिस्सल्ल–निःशल्य–त्रि० । मिथ्यादर्शनाऽऽदिशल्यरहिते, स० ६ सम० । आ० म० । उत्त० ।

णिस्सह–निःसह–त्रि० । नितरामशक्ते, स० ६ अङ्ग० ।

णिस्सा–निश्रा–स्त्री० । रागे, व्य० १ उ० । पक्षपाते, व्य० ३ उ० । उपसपदि, व्य० ४ उ० । आश्रयणे, भ० ३ श० २ उ० ।

णिस्साठाण–निश्रास्थान–न० । अवलम्बनस्थाने, उपग्रहहेतौ, स्था० ।

धम्मं णं चरमाणस्स पंच णिस्साठाणा पण्णत्ता । तं जहा–छक्काया, गणो, राया, गाहावई, सरीरं ।

धर्मं श्रुतचारित्ररूपं, णमित्यलङ्कारे, चरतः सेवमानस्य, पञ्च निश्रास्थानान्यवलम्बनस्थानानि, उपग्रहहेतव इत्यर्थः । षट्कायाः पृथिव्यादयः, तेषां च संयमोपकारिता आगमप्रसिद्धा ।

तथाहि–पृथिवीकायमाश्रित्योक्तम्–

" ठाणनिसीयतुयट्टण–उच्चाराईण गहणनिक्खेवे ।
घट्टगडगलगलेवो, एमाइ पओयणं बहुहा ॥ १ ॥ "

अप्कायमाश्रित्य–

" परिसेयपियणहत्था–इधोयणे चीरधोयणे चेव ।
आयमणभाणधुवणे, एमाइ पओयण बहुहा ॥२॥ "

तेजस्कायम्प्रति–

" ओयणवंजणपाणग–आयामुसिणोदगं च कुम्मासा ।
डगलगसरक्खसूइय–पिप्पलमाई य उवभोगो ॥ ३ ॥ "

वायुकायमभि–

" दइएण वत्थिणा वा, पओयणं होज्ज वाउणा मुणिणो ।
गेलण्णम्मि वि होज्जा, सचित्तमीसे परिहरेज्जा ॥४॥"

वनस्पतिं प्रति–

" संथारपायदण्डग–खोमियकप्पायपीढफलगाई ।
ओसहभेसज्जाणि य, एमाइ पओअण तरुसु ॥ ५ ॥ "

त्रसकाये पञ्चेन्द्रियतिरश्च आश्रित्योक्तम्–

"चम्मऽट्ठिदंतनहरो–मसिंगअमिलाणछगणगोमुत्ते ।
खीरदहिमाइयाण, पंचिंदियतिरियपरिभोगे " ॥६॥

एवं विकलेन्द्रियमनुष्यदेवानामप्युपग्रहकारिता वाच्या ।
तथा गणो गच्छ, तस्य चोपग्राहिता–" एगस्स कओ धम्मो,"
इत्यादिगाथापूगादवसेया ।

तथा–

"गुरुपरिवारो गच्छो, तत्थ वसंताण निज्जरा विउला ।
विणयाउ तहा सारण–माईहिँ न दोसपडिवत्ती ॥ ७ ॥
अन्नन्नावेक्खाए, जागंति तहिँ पयट्टंतो ।
नियमेण गच्छवासी, असंगपयसाहगे नेओ ॥ ८ ॥ " इति ।

तथा राजा नरपति, तस्य धर्मसहायकत्व दुष्टेभ्य. साधुरक्षणात् ।

उक्तं च लौकिकैः–

क्षुद्रलोकाऽऽकुले लोके, धर्मं कुर्युः कथं हि ते ? ।
क्षान्ता दान्ता अहन्तार–श्चेद्राजा तान्न रक्षति ॥ १ ॥ "

तथा–

" अराजके हि लोकेऽस्मिन्, सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य, राजानमसृजत्प्रभु. ॥ २ ॥ ' इति ।

तथा गृहपतिः शय्यादाता, सोऽपि निश्रास्थानम्, स्थानदानेन संयमोपकारित्वात्।

यदुक्तम्-
"धृतिस्तेन दत्ता मतिस्तेन दत्ता,
गतिस्तेन दत्ता सुखं तेन दत्तम्।
गुणश्रीसमालिङ्गितेभ्यो वरेभ्यो,
मुनिभ्योमुदा येन दत्तो निवासः" ॥ १ ॥

तथा-
"जो देइ उवसयं जइ-वराण तवनियमजोगजुत्ताणं।
तेण दिण्णा वत्थ-ऽण्णपाणसयणासणविगप्पा" ॥१॥ इति।
तथा शरीरं कायः; अस्य च धर्मोपग्राहिता स्फुटैव।

यतोऽवाचि-
"शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः।
शरीरात् स्रवते धर्मः, पर्वतात्सलिलं यथा" ॥ १ ॥ इति।

भवति चात्राऽऽर्या-
"धर्मं चरतः साधो-र्लोके निश्रापदानि पञ्चैव।
राजा गृहपतिरपरः, षट्काया गणशरीरे च" ॥ १ ॥
इति। शेषं सुगमम्। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

णिस्साण-निश्राण-न०। आलम्बने, 'णिस्साणपेहिं त्ति अय- थातपेहिं ति वुत्तं भवति।" नि० चू० १ उ०। प्रश्न०।

णिस्साणपय-निश्राणपद-न०। निश्रायते मन्दश्रद्धाकैरासेव्य- ते इति निश्राणं,तच्च तत्पदं च निश्राणपदम्। अपवादे,बृ०१उ०।

णिस्सार-निःसार-त्रि०। सारवर्जिते प्रज्वालिप्रायगुणधान्ये, स० ६ अङ्क। सारो हि विषयगणस्यतत्प्राप्तौ तृप्तिस्तदभा- वात्रि सारम्। तथाविधसाररहिते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। जीर्णे, आचा० १ श्रु०४ अ०३ उ०। वेदवचनाऽऽदिवत्तथा- विधयुक्तिरहिते परिफल्गुश्रुते, अनु०। विशे०। यत्र सारोऽर्थो न विद्यते अस्थि चर्म शिरापृष्ठ वृष्ठ इति। बृ० १ उ०।

णिस्सारत्र-निस्सार[वत्]-त्रि०। निर्गत एकान्ततः सारआ- रित्राऽऽख्यो यस्य स निःसारः। यदि वा निर्गतस्य सारो निः- सारः,स विद्यते यस्याऽसौ निःसारवान्। साररहिते, "णिस्सा- रए होइ जहा पुलाए।" सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

णिस्सारिय-निःसारित-त्रि०। संयमाच्च्यावितेः, विषयोन्मु- खमामापादिते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

णिस्सावयण-निश्रावचन-न०। निश्रया वचनं निश्रावचनम्। आहरणतद्देशभेदे, स्था०। कमपि सुशिष्यमालम्ब्य यद- न्यप्रबोधार्थं वचनं निश्रावचनं, तदत्र विधेयतयोच्यते त- दाहरणं निश्रावचनम्-यथा असहनान् विनेयान् मार्दवसम्प- न्नमन्यमालम्ब्य किञ्चिद् ब्रूयात्,गौतममाश्रित्य भगवानिवेति। तथाहि-किल गौतमं तापसाऽऽदिप्रव्रजितानां केवलोत्पत्तावनु- त्पन्नकेवलत्वेनाधृतिमन्तं चिरसंसृष्टोऽसि गौतम!, चिरपरि- चितोऽसि गौतम!, मा त्वमधृतिं कार्षीरित्यादिना वचनसन्दो- हेनानुशासयता ऽन्येऽप्यनुशासिताः, तदनुशासनार्थं द्रुमपत्र- काध्ययनं च प्रणिन्ये इति। उक्तं च-"पुच्छाए कोणिओ ख- लु, निस्सावयणम्मि गोयमस्सामी।" स्था० ४ ठा० ३ उ०।

णिस्सिचमाण-निस्सिञ्चत्-त्रि०। दत्त्वोद्वरितं प्रक्षिपति,"उ- स्सिचमाणे वा निस्सिचमाणे वा आमज्जमाणे वा पमज्जमाणे वा।" आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० ६ उ०।

णिस्सिंचिय-निःषिच्य-अव्य०। तद्भाजनाद्रहितं द्रव्यमन्यत्र भाजने कृत्वेत्यर्थे, दशा० ५ अ० १ उ०।

णिस्सिय-निःश्रित-त्रि०। 'श्रिञ् सेवायाम्। आ०चू०४ अ०। निश्चयेन श्रितः सम्बद्धो निःश्रितः। अध्युपपन्ने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। सम्बद्धे, प्रवृत्ते, प्रतिबद्धे, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। प्रश्न०। लिङ्गप्रमिते, स्था० ६ ठा०। सम्म०। आश्रिते, स्था० १० ठा०। स०। सूत्र०। आसक्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। भावे क्त.। रागे, आहाराऽऽदिलिप्सायाम्, स्था० ८ ठा०। निश्रा राग ,निश्रा सजाताऽस्येति निश्रितः रक्ते, सर्वोऽऽशसायुक्ते, शिष्यत्वाऽऽदिप्रतिपन्ने, स्था० ५ ठा० २ उ०। निःसृत-त्रि०। निर्गते, स्था० ७ ठा०। आचा०। "तं चिय ससूवभ ज, अणिस्सियम्मि त्ति।" तमेव लिङ्गनिश्रया जानानो निःसृत मुणतीत्युच्यते। विशे०।

णिस्सील-निःशील-त्रि०। निर्गतशुभस्वभावे दुःशीले,स्था०३ ठा० १ उ०। सुस्वभाववर्जिते, स्था० ३ ठा० २ उ०। गताऽऽ- चारे, ज० २ वक्ष०। समाधानरहिते, भ० १२ श० ८ उ०। अ- पगतशुभस्वभावे,ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। महाव्रताणुव्रतविकले, भ० ७ श० ६ उ०। ब्रह्मचर्मपरिणामाभावात् (दशा० ५ अ०) गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। (निःशीलानां त्रैविध्यं 'लोग' शब्दे वक्ष्यते)

तओ ठाणा णिस्सीलस्स णिव्वयस्स णिग्गुणस्स णिम्मे- रस्स णिप्पच्चक्खाणपोसहोववासस्स गरहिया भवंति। तं जहा-अस्सिं लोए गरहिए भवइ, उववाए गरहिए भवइ, आयाइगरहिए भवइ। तओ ठाणा ससीलस्स सव्वयस्स सगुणस्स समेरस्स सपच्चक्खाणपोसहोववासस्स पसत्था भवंति। तं जहा-अस्सिं लोगे पसत्थे भवइ, उववाए पसत्थे भवइ, आयाए पसत्थे भवइ॥

(तओ ठाणा इत्यादि) त्रीणि स्थानानि निःशीलस्य सा- मान्येन शुभस्वभाववर्जितस्य, विशेषतः पुनर्निर्व्रतस्य प्राणा- तिपाताऽऽद्यनिर्वृत्तस्य निर्गुणस्योत्तरगुणापेक्षया, निर्मर्यादस्य लोककुलाऽऽद्यपेक्षया,निःप्रत्याख्यानपोषधोपवासस्य गर्हितानि जुगुप्सितानि भवन्ति। तद्यथा-(अस्सिं ति) विभक्ति- परिणामादयं लोकः। 'इह जन्म' गर्हितो भवति, पापप्रवृत्त्या विद्वज्जनजुगुप्सितत्वात्। तथा उपपातोऽकामनिर्जराऽऽदिजनितः किल्विषाऽऽदिदेवभवो नारकभवो वा, उपपातो देवनारकाणा- मिति वचनात्,स गर्हितो भवति,किल्विषाभियोग्याऽऽदिरूपतये- ति,आजातिस्तस्माद् च्युतस्योद्वृत्तस्य वा कुमानुषत्वतिर्यक्त्व- रूपा गर्हिता, कुमानुषाऽऽदित्वादेवेति। उक्तविपर्ययमाह-(तओ इत्यादि) निगदसिद्धम्। स्था० ३ ठा० २ उ०।

णिस्सेणि-निःश्रेणि-स्त्री०। अवतरणयाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। आचा०।

णिस्सेयस-निःश्रेयस-न०। निश्चितं श्रेयः प्रशस्यम्। स्था० ३ ठा० ४ उ०। कल्याणे, स्था० ६ ठा०। कर्म- क्षयहेतुत्वात् (आचा० १ श्रु० ८ अ० ४) धर्मप्राप्तौ, उत्त० ९ अ०। निश्चितकल्याणे मोक्षे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। स्था०।

आ० म० । ध० । स्था० । अभिलषितविषयावाप्त्याऽभ्युदये, उत्त० ८ अ० ।

णिस्सेयसिय-नैःश्रेयसिक-त्रि० । निःश्रेयस विपक्षमोक्षमिच्छतीति नैःश्रेयसिकः । भ० १५ श० । निःश्रेयसं मोक्षः,तत्र नियुक्त इव नैःश्रेयसिकः । मोक्षयोग्ये मोक्षार्थिनि, प्रति० । भ० ।

णिस्सेस-निःशेष-त्रि० । सम्पूर्णे, दश० ९ अ० २ उ० ।

णिस्सेसकम्ममुक्क-निःशेषकर्ममुक्त-त्रि० । क्षीणसकलकर्मणि, पञ्चा० २ विव० ।

णिह-निघ्न-त्रि० । सदर्पे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

निह-त्रि० । निहन्यते निहः। निपूर्वाद्धन्तेः कर्मणि ड । आचा० १ श्रु०२ अ०३ उ० । मायिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । क्रोधाऽऽदिभिः पीडिते सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । निहन्यते प्राणिनः कर्मवशगा यस्मिन् तन्निहम् । आघातस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

स्निह-त्रि० । स्निह्यते श्लिष्यते अष्टप्रकारेण कर्मणा इति स्निहः । रागवति, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । रागद्वेषयुक्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । ममत्वसहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ०२ उ० ।

णिहट्टु-निर्हृत्य-अव्य० । पृथक् कृत्वेत्यर्थे, " बहु आहट्टु मम पडिभाएत्ता णिहट्टु दलपज्जा । " आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १० उ० ।

निहत्य-अव्य० । स्थापयित्वेत्यर्थे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

णिहट्ठ-निघृष्ट-त्रि० । कृतनिघर्षे, " तद्दिअसणिहट्ठाणंग । " प्रा० २ पाद ।

णिहण-निधन-न० । विनाशे, सम्म० १ काण्ड । पर्यन्ते, ब० श्री० ४ लक्ष्य । " तत्थेव णिहणमुवगतो । " आ० म० १ अ० १ खण्ड । "णिहणाहि रागदोसमल्ले ।" कल्प०५ क्षण । कुले, दे० ना० ४ वर्ग २७ गाथा ।

णिहणिंसु-निहतवत्-निहतवति, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

णिहत्त-निधत्त-न० । निधानं निहितं वा निधत्तं, भावे कर्मणि क्तप्रत्यये निपातनात् । उद्वर्तनापवर्तनावर्जितशेषकरणानामयोग्यत्वेन कर्मणाऽवस्थापने, स्था० ४ ठा०२ उ० । भ० । निषिक्ते, निषेकश्च प्रतिसमयबहुहीनहीनतरस्य दलिकस्यानुभवनार्थं रचना (स० । स्था० । सूत्र०) निक्षिप्ते, प्रमाणे, निकाचिते, "मागहस्स ण जोयणस्स अट्ठधणुसहस्साइं निधत्ते पण्णत्ते।" स्था० ८ ठा० ।

णिहत्ति-निधत्ति-स्त्री० । उद्वर्तनापवर्तनावर्जशेषकरणाऽयोग्यत्वेन व्यवस्थापने, क० प्र० १ प्रक० ।

णिहम्म-निहम्म-धा० । गतौ, ' णिहम्मइ ' । ' णीहम्मइ । ' आहम्मइ ' । ' पहम्मइ । ' इत्येते तु हम्मगतावित्यस्यैव भविष्यन्ति । गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

णिहय-निहत-त्रि० । मारिते, " जक्खा हु वेयावडियं करेंति, तम्हा उ एए णिहया कुमारा ।" (३२) उत्त० १२ अ० । नि-श्चयेन हन्यते इति निहतः । प्रावादिभिरिन्द्रियकषायकर्मभिर्हन्यमाने, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

णिहयकंटय-निहतकण्टक-त्रि० । निहता मारणात्कण्टका दायादा यत्र राज्ये तत्तथा । मारितदायादे, स्था० ७ ठा० ।

णिहयरय-निहतरजस्-त्रि० । निहतं रजो भूय उत्थानासम्भवाद् यत्र तन्निहतरजः । शान्तरजसि, रा० । " अप्पेगतिया देवा णिहयरयं णट्ठरयं भट्ठरयं उवसंतरयं पसंतरयं करेंति ।" निहत रजो यस्यां सा निहतरजास्तां, तत्र निहतत्वं रजसः क्षणमात्रमुत्थानाभावेनाऽपि सम्भवति । जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

णिहयसत्तु-निहतशत्रु-त्रि० । निहता रणाङ्गणे पतिताः शत्रवो यत्र तन्निहतशत्रु । हतशत्रुके, " ओहयसत्तु णिहयसत्तु मलियसत्तु निज्जियसत्तु ।" रा० । स्था० । सूत्र० ।

णिहुव-कम्-धा० । इच्छायाम, " कमेर्णिहुवः " ॥ ८ । ४ । ४४ ॥ कमेः स्वार्थे एयन्तस्य णिहुवेत्यादेशः । ' णिहुवइ ' । ' कामेइ । ' प्रा० ४ पाद ।

णिहस-निकष-पुं० । " निकष-स्फटिक-चिकुरे हः " ॥ ८ । १ । १८६ ॥ इति कस्य हः । प्रा०१ पाद । "शषोः सः" ॥ ८।१।२६०॥ इति षस्य सः । प्रा० १ पाद । कषपट्टकरेखायाम्, प्रज्ञा० १७ पद २ उ० । वल्मीके, दे० ना० ४ वर्ग २५ गाथा ।

णिहा-निहा-स्त्री० । निहन्यन्ते प्राणिनः संसारे यया सा निहा । मायायाम, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

णिहाअ-देशी-स्वेदे,समूहे च । दे०ना० ४ वर्ग ४९ गाथा ।

णिहाण-निधान-न० । रत्नाऽऽदौ, स्था० ५ ठा० १ उ० । नि० चू०, अनु० । निक्षिप्ते, " दव्वे निहाणमाई । " दश० ८ अ० ।

णिहाय-निधाय-अव्य० । व्यवस्थाप्येत्यर्थे, सन्निधिं कृत्वेत्यर्थे,सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । परित्यज्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

णिहार-निहार-पुं० । निर्गमे प्रमाणे, स्था० ८ ठा० ।

णिहालेउं-निभाल्य-अव्य० । सम्यग्विलोक्येत्यर्थे, ग० २ अधि० । सम्यक्परीक्ष्येत्यर्थे, ग० १ अधि० ।

णिहि-स्त्री० । पुं० । निधि-पुं० । नितरां धीयते स्थाप्यते यस्मिन् स निधिः । प्राकृते "वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्" ॥ ८।१।३५॥ इति वा स्त्रीत्वम् । प्रा० १ पाद । विशिष्टरत्नसुवर्णाऽऽदिद्रव्यभाजने, स्था० ।

पंच णिही पण्णत्ता । तं जहा-पुत्तणिही, मित्तणिही, सिप्पणिही, धणणिही, धण्णणिही ।

तत्र निधिरिव निधिः, पुत्रश्चासौ निधिश्च पुत्रनिधिर्द्रव्योपार्जकत्वेन पित्रोर्निर्वाहहेतुत्वात्,अत एव स्वभावेन च तयोरानन्दसुखकरत्वाच्च । अत्रोक्तं परैः-" जन्मान्तरफलं पुण्यं, तपोदानसमुद्भवम् । सन्ततिः शुद्धवंश्या हि,परत्रेह च शर्मणे ॥१॥"इति । तथा मित्रं सुहृत्तच्च तन्निधिश्चेति मित्रनिधिरर्थकामसाधकत्वेनाऽऽनन्दहेतुत्वात् । तदुक्तम्-"कुतस्तस्यास्तु राज्यश्री ,कुतस्तस्य मृगेक्षणा । यस्य शूरं विनीतं च, नास्ति मित्रं विचक्षणम्"॥१॥ शिल्पं चित्राऽऽदिविज्ञानं, तदेव निधिः शिल्पनिधिः । एतच्च विद्योपलक्षणं,तेन विद्या निधिरिव पुरुषार्थसाधकत्वात्।

अत्रोक्तम्-" विद्यया राजपूज्य स्यात्, विद्यया कामिनीप्रियः। विद्या हि सर्वलोकस्य, वशीकरणकार्मणम् " ॥१॥ इति । तथा धननिधि. कोशः । धान्यनिधिः कोष्ठाऽऽगारमिति । अनन्तरं निधिरुक्त:, स च द्रव्यतः पुत्राऽऽदिः भावतस्तु कुशलानुष्ठानरूपं ब्रह्म । स्था० ५ ठा० ३ उ० । भाण्डागारे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

महापुरुषाणां चक्रवर्तिनां संबन्धि निधिप्रकरणमाह-

एगमेगे णं महानिही नवनवजोयणाइं विक्खंभेणं पन्नत्ते। एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स नव महानिहीओ पन्नत्ताओ । तं जहा-

नेसप्पे पंडुए पिं-गले य सव्वरयणे महापउमे ।
काले य महाकाले, माणवगमहानिही संखे ॥ १ ॥

"एगमेगे" इत्यादि सुगमम् । नवरं-

नेसप्पम्मि निवेसा, गामागरनगरपट्टणाणं च ।
दोणमुहमडंबाणं, खंधाराणं गिहाणं च ॥२॥

इह निधाननायकदेवयोरभेदविवक्षया नैसर्पो देव., तस्मिन्सति, तत इत्यर्थ. । निवेशाः स्थापनानि अभिनवग्रामाऽऽदीनामिति । अथवा-चक्रवर्तिराज्योपयोगिद्रव्याणि सर्वाण्यपि नवसु निधिष्ववतरन्ति, नवनिधानतया व्यवह्रियन्त इत्यर्थः। तत्र ग्रामाऽऽदीनामभिनवानां पुरातनानां च ये सन्निवेशा निवेशनानि, ते नैसर्पनिधौ वर्तन्ते, नैसर्पनिधितया व्यवह्रियन्त इति भाव. । तत्र ग्रामो जनपदप्रायलोकाधिष्ठित., आकरो यत्र सन्निवेशे लवणाऽऽद्युत्पद्यते, न करो यत्रास्ति तन्नकरम्, पत्तनं देशीस्थान,द्रोणमुखं जलपथस्थलपथयुक्तम्, मडम्बमविद्यमानप्रत्यासन्नावास, स्कन्धावारः कटकनिवेश., गृह भवनमिति ॥ २ ॥

गणियस्स य बीयाणं, माणुम्माणस्स जं पमाणं च ।
धन्नस्स य बीयाणं, उप्पत्ती पंडुए भणिया ॥३॥

गणितस्य दीनाराऽऽदिपूगफलाऽऽदिलक्षणस्य, चकारस्य व्यवहितसम्बन्धः; स च दर्शयिष्यते । तथा बीजानां तन्निबन्धनभूतानां, तथा मान सेतिकाऽऽदि, तद्विषय यत्तदपि मानमेव, धान्याऽऽदिमयमिति भावः । तथोन्मान तुलाकर्षाऽऽदि, तद्विषय यत्तदप्युन्मान, खण्डगुडाऽऽदि धरिममित्यर्थः । ततो द्वन्द्वसमाहार कार्य. । ततस्तस्य च किमित्याह-यत्प्रमाण, चकारो व्यवहितसम्बन्ध एव, तथैव दर्शयिष्यते । तत्पाण्डुके भणितमिति लिङ्गपरिणामेन सम्बन्धः । तथा धान्यस्य व्रीह्यादेर्बीजानां च तद्विशेषाणामुत्पत्तिश्च या सा पाण्डुके पाण्डुकनिधिविषया, तद्व्यापारोऽयमिति भावः। भणितोक्ता जिनाऽऽदिभिरिति ॥ ३ ॥

सव्वा आभरणविही, पुरिसाणं जा य होइ महिलाणं ।
आसाण य हत्थीण य,पिंगलयणिहिम्मि सा भणिया ॥४॥

कण्ठ्या ॥ ४ ॥

रयणाइँ सव्वरयणे,चउदस पवराइँ चक्कवट्टिस्स ।
उप्पज्जंति य एगिं-दियाइँ पंचिंदियाइं च ॥ ५ ॥

अक्षरघटनैवम्-रत्नान्येकेन्द्रियाणि चक्राऽऽदीनि सप्त, पञ्चेन्द्रियाणि, सेनापत्यादीनि सप्त, उत्पद्यन्ते भवन्ति, यानि चक्रवर्तिनस्तानि सर्वाणि सर्वरत्ने सर्वरत्ननामनि निधौ रूढ्यानीति भावः ॥ ५ ॥

वत्थाण य उप्पत्ती, निप्फत्ती चेव सव्वभत्तीणं ।
रंगाण य धोवाण य, सव्वा एसा महापउमे ॥ ६ ॥

वस्त्राणां वाससां योत्पत्तिः सामान्यतो, या च विशेषतो निष्पत्ति. सिद्धिः सर्वभक्तीनां सर्ववस्त्रप्रकाराणां, सर्वा वा भक्तयः प्रकारा येषां तानि तथा, तेषाम् । किंभूतानां वस्त्राणामित्याह-रङ्गाणां रङ्गवतां, रक्तानामित्यर्थः। धौतानां शुक्लस्वरूपाणां, सर्वैवैषा महापद्मे महापद्मनिधिविषया ॥ ६ ॥

काले कालण्णाणं, भव्वपुराणं च तीसु वासेसु ।
सिप्पसयं कम्माणि य, तिन्नि पयाए हियकराइं ॥ ७ ॥

काले कालनाम्नि निधौ, कालज्ञान कालस्य शुभाशुभरूपस्य ज्ञान वर्तते, ततो ज्ञायत इत्यर्थ. । किंभूतमित्याह-नवीनवस्तुविषय नव्य, पुरातनवस्तुविषय पुराण, चशब्दाद्वर्तमानवस्तुविषयं वर्तमान, (तीसु वासेसु त्ति) अनागतवर्षत्रयविषयमतीतवर्षत्रयविषय चेति । तथा-शिल्पशत कालनिधौ वर्तते, शिल्पशत च घट १ लोह २ चित्र ३ वस्त्र ४ नापित ५ शिल्पानां प्रत्येकं विंशतिभेदत्वादिति । तथा कर्माणि च कृषिवाणिज्याऽऽदीनि, कालनिधाविति प्रक्रमः । एतानि च त्रीणि कालज्ञानशिल्पकर्माणि, प्रजाया लोकस्य हितकराणि निर्वाहाभ्युदयहेतुत्वेनेति ॥ ७ ॥

लोहस्स य उप्पत्ती, होइ महाकाले आगराणं च ।
रुप्पस्स सुवण्णस्स य, मणिमुत्तसिलप्पवालाणं ॥ ८ ॥

लोहस्य चोत्पत्तिर्महाकाले निधौ भवति वर्तते, तथा आकराणां च लोहाऽऽदिसत्कानामुत्पत्तिराकरी करवलक्षणा, एवं रूप्याऽऽदीनामुत्पत्ति सम्बन्धनीया । केवल मणयश्चन्द्रकान्ताऽऽद्य , मुक्ता मुक्ताफलानि, शिला. स्फटिकाऽऽदिका., प्रवालानि विद्रुमाणीति ॥ ८ ॥

जोहाण य उप्पत्ती, आवरणाणं च पहरणाणं च ।
सव्वा य जुद्धणीई, माणवए दंडनीई य ॥ ९ ॥

योधानां शूरपुरुषाणां योत्पत्तिरावरणानां सन्नाहानां प्रहरणाना खड्गाऽऽदीनां, सा युद्धनीतिश्च व्यूहरचनाऽऽदिलक्षणा, माणवके निधौ निधिनायके वा भवति, तत. प्रवर्तत इति भाव । दण्डेनोपलक्षिता नीतिर्दण्डनीतिश्च सामाऽऽदिश्चतुर्विधा । अत एवोक्तमावश्यके-" सेसा उ दंडनीई, माणवगनिहीउ होइ भरहस्स । " ॥ ९ ॥

णट्टविहि णाडयविही, कव्वस्स चउव्विहस्स उप्पत्ती ।
संखे महानिहिम्मी, तुडियंगाणं च सव्वेसिं ॥ १० ॥

नाट्यं नृत्य, तद्विधिस्तत्करणप्रकारो, नाटक चरितानुसारिनाटकलक्षणोपेत, तद्विधिश्च, द्वयपदद्वये द्वन्द्व । तथा काव्यस्य चतुर्विधस्य धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थप्रतिबद्धग्रन्थस्य १, अथवा संस्कृतप्राकृतापभ्रंशसंकीर्णभाषानिबद्धस्य २, अथवा-समविषमार्द्धसमवृत्तबद्धतया गद्यतया चेति ३, अथवा-गद्यपद्यगेयचौर्णपदभेदबद्धस्येति ४। उत्पत्तिः प्रभवः शङ्खे महानिधौ भवति, तथा तूर्याङ्गाणां च मृदङ्गाऽऽदीनां सर्वेषामिति ॥ १० ॥

चक्कट्ठपइट्ठाणा, अट्ठुस्सेहा य नव य विक्खंभे ।
बारसदीहा मंजू-ससंठिया जाण्हवीइ मुहे ॥ ११ ॥

चक्रेष्वष्टसु प्रतिष्ठान प्रतिष्ठा अवस्थानं येषां ते तथा । अष्टौ योजनान्युत्सेध उच्छ्रायो येषां ते तथा । नव च, योजनानीति गम्यते । विष्कम्भे विस्तरे, निधय इति शेषः । द्वादश योजनानि दीर्घा, मञ्जूषा प्रतीता, तत्संस्थितास्तत्संस्थानाः, जाह्नव्या गङ्गाया मुखे भवन्तीति ॥ ११ ॥

वेरुलियमणिकवाडा, कणगमया विविहरयणपडिपुण्णा ।
ससिसूरचक्कलक्खण-अणुसमजुगबाहुवयणा य ॥ १२ ॥

वैडूर्यमणिमयानि कपाटानि येषां ते तथा, मयशब्दस्य वृत्त्या उत्कर्षतेति-कनकमयाः सौवर्णाः, विविधरत्नप्रतिपूर्णाः प्रतीताः, शशिसूरचक्राऽऽकाराणि लक्षणानि चिह्नानि येषां ते तथा, अनुसमा अविषमाः (जुग त्ति) यूपः, तदाकारा वृत्तस्वादीर्घत्वाच्च बाहवो द्वारशाखा वदनेषु मुखेषु येषां ते तथा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारये शशिसूरचक्रलक्षणानुसमयुगबाहुवदना इति । चः समुच्चये ॥ १२ ॥

पलिओवमट्ठिईया, णिहिसरिणामा य तेसु खलु देवा ।
जेसिं ते आवासा, अक्केया आहिवच्चं च ॥ १३ ॥

(निहिसरिनाम त्ति) निधिभिः सदृक् सदृश नाम येषां देवानां ते तथा, येषां देवाना ते निधय आवासा आश्रयाः, किंभूताः ?-अक्रेया अक्रयणीया सर्वदैव तत्सम्बन्धित्वात्, आधिपत्यं च स्वामिता च तेषु, येषां देवानाम, इति प्रक्रम ॥ १३ ॥

एए ते नवनिहिओ, पभूयधणरयणसंचयसमिद्धा ।
जे वसमुवगच्छंती, सव्वेसिं चक्कवट्टीणं ॥ १४ ॥

एए ते गाहा कण्ठ्या ॥ १४ ॥ स्था० ६ ठा० । प्रव० । स० । आ० म० । ति० । आ० चू० ।

लक्षाऽऽदिप्रमाणद्रव्यस्थापने, भ० ३ श० ७ उ० । निधिरिव निधिः । सम्यक्त्वे, यथा हि निरवधिनिधिव्यतिरेकेण महार्हमणिमौक्तिककनकाऽऽदि द्रव्य न प्राप्यते, तथा सम्यक्त्वमहानिधानानभिगतो चारित्रधर्मवित्तमपि निरुपमसुखसम्पादकं न प्राप्यते । प्रव० १४८ द्वार । ध० । विशे० । निधान निधिः । निक्षेपे, निधिर्निक्षेपो न्यासो विरचना प्रस्तारः स्थापनेति पर्यायाः । तथा च-लौकिके निधेहीद निहितमिदमित्यत्र निपूर्वस्य धातो निक्षेपार्थत्वप्रसिद्धे । अनु० ।

णिहित्त-निहित-त्रि० । नि धा-क्त । "सेवाऽऽदौ वा" ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति तद्वित्वं वा । पक्षे ततो लोपः । प्रा० २ पाद । निक्षिप्ते, पञ्चा० १० विव० ।

णिहिय-निहित-त्रि० । ' णिहित्त ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

णिही-स्त्री० । अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

णिहु-स्निहु-स्त्री० । औषधिभेदे, जी० १ प्रति० ।

णिहुअ-निभृत-त्रि० । " वृदत्वादौ " ॥ ८ । १ । १३१ ॥ ऋतु इत्यादिषु शब्देषु आदेरृतः उत्त्वम् । प्रा० १ पाद । तदर्थमनुद्धुके, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । निर्व्यापारे, बृ० ३ उ० । निश्चले, उत्त० १६ अ० । असम्भ्रान्ते, कायस्थितया उचितधर्मे, " तेसिं नो निहुओइतो, सव्वभूयसुहावहो ।" दश० ६ अ० । निर्व्यापारे, तूष्णीके, सुरते च । दे० ना० ४ वर्ग ५० गाथा ।

[णि]हुआ-देशी-स्त्री० । कामितावाम, दे० ना० ४ वर्ग २६ गाथा ।

णिहुइंदिय-निभृतेन्द्रिय-त्रि० । अनुद्धतेन्द्रिये, दश० १ अ० ।

णिहुण-देशी-व्यापारे, दे० ना० ४ वर्ग २६ गाथा ।

णिहूअ-देशी-न० । सुरते, दे० ना० ४ वर्ग २६ गाथा ।

णिहेलण-न० । निलय-पु० । " गोणाऽऽद्यः " ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति निलयस्थाने निहेलणाऽऽदेश. । आश्रये, गृहे, प्रा० २ पाद । गृहे, जघने च । दे० ना० ४ वर्ग ५१ गाथा ।

णिहोड-नि-वृ-पत्-णिच्-धा० । निवारणे, पातने च । " निवृपत्योर्णिहोमः ॥ ८ । ४ । २२ ॥ निवृग. पतेश्च ण्यन्तस्य णिहोडेत्यादेश । 'णिहोमइ ।' निवारेइ । निवारयति । पातयति वा । प्रा० ४ पाद । व्य० ।

णिहोमिय-निपातित-त्रि० । अध कृते, दर्श० ३ तत्त्व ।

णी-गम्-धा० । गतौ, " गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस-पच्चड्ड-पच्छन्द-णिम्मह-णी णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-वोल-परिअल-णिरिणास-णिवहावसेहावहरा " ॥ ८ । ४ । १६२ ॥ इति सूत्रेण गमधातोर्ण्यादेश. । 'णीइ' । गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

णीआरण-देशी-न० । बलिघटयाम्, दे० ना० ४ वर्ग ४३ गाथा ।

णीइ-नीति-स्त्री० । नये, स्था० ७ ठा० । अनु० । मर्यादायाम, प० चू० । नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थ आभिरिति नीतय । नैगमाऽऽदिनयेषु, स्था० २ ठा० २ उ० । कुलकराणां हक्काराऽऽदिषु दण्डनीतिषु, आ० म० १ अ० १ खण्ड । (ताश्च ' कुलगर ' शब्दे तृतीयभागे ५६३ पृष्ठे दर्शिताः) राजनीतौ, " तिविहा नीई पण्णत्ता । त जहा-सामे, दमे, भेए ।' तत्र सामनीते पञ्च, दण्डस्य त्रयो, भेदस्य, उपप्रदानस्य च पञ्च पञ्च कामन्दकाऽऽदिषु प्रसिद्धाः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विपा० । प्रयोगश्चासामेवम्-" उत्तम प्रणिपातेन, शूर भेदेन योजयेत् । नीचमल्पप्रदानेन, समं तुल्यपराक्रमे " ॥ १ ॥ स्था० ३ ठा० ३ उ० । सग्रामनिर्गमप्रवेशे, आ० क० ।

णीइकोविय-नीतिकोविद-पुं० । लोकनीतिचतुरे, उत्त० २१ अ० ।

णीछूट-निष्ठ्यूत-न० । निष्ठीवने, सं० ।

णीजूहग-निर्यूहक-न० । द्वारपार्श्वविनिर्गतदारुके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णीजूहयंतर-निर्यूहकान्तर-न० । निर्यूहकं द्वारपार्श्वविनिर्गतदारु, तयोरन्तरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णीड-नीड-न० । पक्षिणामावासस्थाने, प्रा० १ पाद ।

णीण-गम्-धा० । गतौ, "गमेरई०-" ॥ ८ । ४ । १६२ ॥ इत्यादिसूत्रेण गमधातोर्णीणाऽऽदेश । 'णीणइ' । गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

णीणिज्जमाण-गम्यमान-त्रि० । नीयमाने, " णीणिज्जमाण पेहाए ।" आचा० १ श्रु० २ चू० ४ अ० ।

णीणित-गमित-त्रि० । निर्व्यूढे धाडिते, नि० चू० १ उ० ।

णीणिया-नीनिका-स्त्री० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

णीतर-नीचतर-त्रि० । अतिशयेन नीचे, नि० चू० १ उ० ।

णीम-नीप-पुं० । " नीपाऽऽपीडे मो वा " ॥ ८ । १ । २३४ ॥ इत्यनेन पस्य मः । णीमो । णीवो । कदम्बे, प्रा० १ पाद ।

णीय-नीच-त्रि० । अत्यन्तावनतकन्धरे, उत्त० १ अ० । उच्चविपरीते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अपूज्ये, भ० ३ श० १ उ० । निम्ने, नि० चू० १ उ० । नीचे स्थाने, मालाऽऽदौ, उत्त० १ अ० । नित्य-त्रि० । सदाऽवस्थायिनि, स्था० १० ठा० ।

नीत-त्रि० । स्वस्थानं प्रापिते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । उत्त० । सूत्र० ।

णीयच्छंद-नीचच्छन्द-त्रि० । अनुन्नताभिप्राये, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

णीयजण-नीचजन-त्रि० । जात्यादिहीने जने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । " णीयजणणिसेविणो लोगगरहणिज्जा । " प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

णीयत्तण-नीचत्व-न० । गुणाधिकान् प्रति नीचभावे, दश० ९ अ० ३ उ० ।

णीयदुवार-नीचद्वार-त्रि० । नीचनिर्गमप्रवेशे, दश० ५ अ० १ उ० । निम्नमुखे गृहे, पञ्चा० १३ विव० ।

णीयल्लग-निजक-पुं० । स्वज्ञातीये, " णीयल्लगाण य भया हिरिवत्तियसजममाहिगारे । " व्य० ४ उ० । आत्मीये, व्य० २ उ० ।

णीयागोय-नीचैर्गोत्र-न० । सर्वजनविगीते गोत्रकर्मभेदे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । कर्म० । नीचैर्गोत्रमपूज्यत्वनिबन्धनमिति कर्मभेदे, स्था० १ ठा० । यदुदयान्महाधनोऽप्रतिरूपो बुद्ध्यादिसमन्वितोऽपि पुमान् विशिष्टकुलाभावात् लोकान्निन्दां प्राप्नोति । कर्म० १ कर्म० । नीचैर्गोत्रोद्भवे यणपिसदसम्भूते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

णीयावास-नित्यवास-पुं० । विहारकालेऽप्येकत्र वासे, आ० चू० ३ अ० ।

णीयावित्ति-नीचैर्वृत्ति-त्रि० । नीचैर्वृत्तिर्वर्त्तनं यस्य स तथा । अनुच्चवृत्तौ, व्य० १ उ० ।

णीयासण-नीचासन-न० । नीचमासनं नीचासनम् । गुरूणां नीचतरोपवासे, नि० चू० १ उ० ।

णीर-नीर-न० । पानीये, दर्श० १ तत्त्व ।

णीरंगी-देशी-शिरोऽवगुण्ठने, दे० ना० ४ वर्ग ३१ गाथा ।

णीरञ्ज-भञ्ज-धा० । आमर्दने, "भञ्जेर्वेमय-मुसुमूर-मूर-सूर-सूड-विर-पविरञ्ज-करञ्ज-नीरञ्जाः " ॥ ८ । ४ । १०६ ॥ इति भञ्जेर्णीरञ्जाऽऽदेशः । ' णीरञ्जइ ' । पक्षे भञ्जइ । भनक्ति । प्रा० ४ पाद ।

णीरय-नीरजस्-त्रि० । निर्गतं रजो यस्य । अनु० । आगन्तुकरजोरहितत्वात् (स० । औ०) सहजरजोरहितत्वात् (ज० १ वक्ष० । औ० । स्था०) स्वाभाविकरजोरहितत्वात् (प्रज्ञा० २ पद । जी०) निर्मले, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । भ० । बध्यमानकर्मबन्धनैस्त्यक्ते, बध्यमानकर्मरहिते, पा० । ध० । आ० म० ।

नीरद-पुं० । मेघे, वाच० ।

णीरव-आ-क्षिप-धा० । आ-क्षिप् । आक्षेपे, " आक्षिपेर्णीरवः " ॥ ८ । ४ । १४५ ॥ इत्याङ्पूर्वस्य क्षिपेर्णीरव । ' णीरवइ । ' ' अक्खिवइ । ' आक्षिपति । प्रा० ४ पाद ।

बुभुक्ष्-धा० । भोक्तुमिच्छायाम्, "बुभुक्षि वीज्योर्णीरव-वोज्जौ" ॥ ८ । ४ । ५ ॥ इति बुभुक्षतेर्णीरवाऽऽदेशः । ' णीरवइ । ' बुभुक्खइ । बुभुक्षते । प्रा० ४ पाद ।

णीरोग-नीरोग-त्रि० । आरोग्ये, स्था० १० ठा० । रोगवर्जिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । ग्लान्याभावे, बृ० ३ उ० । औ० ।

णीरोगय-नीरोगक-त्रि० । रोगवर्जिते, जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

णील-निर्-सृ-धा० । निर्गमने, " निस्सरेर्णीहर-नील-धाड-वरहाडाः " ॥ ८ । ४ । ७९ ॥ इति निस्सरतेर्णीलाऽऽदेशः । नीलइ । नीहरइ । निस्सरइ । निस्सरति । प्रा० ४ पाद ।

नील-त्रि० । ईषत्सुन्दररूपे, कृष्णे, वर्णविशेषे, स्था० १ ठा० । तदुक्ते, " एगे णीले । " नीलयादिवद् नीलवर्णपरिणते, प्रज्ञा० १ पद । " णीले णीलोभासे । " वनखण्डे, हरितत्वमतिक्रान्तानि कृष्णत्वमसम्प्राप्तानि पत्राणि नीलानि, तद्योगाद्वनखण्डा अपि नीलाः । रा० । मरकतमणौ, जी० ३ प्रति० ४ उ० । त० । ज० । ज्ञा० । पञ्चविंशतितमे महाग्रहे, कल्प० ६ क्षण । " दो णीला । " स्था० २ ठा० ३ उ० । सू० प्र० । च० प्र० । " एगे णीले । " स्था० १ ठा० । औ० ।

णीलकंठ-नीलकण्ठ-पुं० । शक्रस्य देवेन्द्रस्य महिषानीकाधिपतौ, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णीलकंठी-देशी-बाणवृक्षे, दे० ना० ४ वर्ग ४२ गाथा ।

णीलकणवीर-नीलकरवीर-पुं० । नीलवर्णपुष्पे करवीराऽऽख्ये वृक्षभेदे, रा० ।

णीलकूड-नीलकूट-न० । नीलवर्षधरपर्वतकूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णीलकेसी-नीलकेशी-स्त्री० । कृष्णकेश्यां तरुण्याम्, व्य० ४ उ० ।

णीलगुफा-नीलगुहा-स्त्री० । स्वनामख्याते उद्याने, यत्र मुनिसुव्रतनामा तीर्थकरो निष्क्रान्तः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

णीलगुलिया-नीलगुटिका-स्त्री० । नीलया गुटिका नीलगुटिका । गुटीरूपे नीलपदार्थे, "णीलगुलिया गवलप्पगासा । " जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

णीलणाम-नीलनामन्-न० । यदुदयाज्जन्तुशरीरं मरकताऽऽदिवन्नीलं भवति । तस्मिन् नामकर्मभेदे, कर्म० १ कर्म० ।

णीलपत्त-नीलपत्र-त्रि० । नीलवर्णपत्रोपेते, प्रज्ञा० १ पद ।

णीलपाणि-नीलपाणि-त्रि० । नील', काण्डकलाप इति गम्यते । पाणौ येषां ते नीलपाणयः । नीलवर्णकाण्डहस्ते, रा० ।

णीलप्पभ-नीलप्रभ-त्रि० । नीलवर्णे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

णीलफल-नीलफल-त्रि० । " शुष्कनीलफलस्वादु-नानापक्वान्नपेशलम् । शालिसूपघृतप्राज्य-प्रस्नेहव्यञ्जनाहृता " ॥ १ ॥ आ० क० । नीलं फलं यस्याः । जम्बूवृक्षे, वाच० ।

णीलबंधुजीव-नीलबन्धुजीव-त्रि० । नीलवर्णपुष्पे वृक्षविशेषे, रा० ।

णीलमट्टिया-नीलमृत्तिका-स्त्री० । नीलवर्णमृत्तिकायाम्, श्लक्ष्णपृथ्वीकायभेदे, आचा० ।

णीलरत्तपीअसुक्किल्ल-नीलरक्तपीतशुक्ल-त्रि० । नीलरक्तपीतशुक्लवर्णमनोहरे, कल्प० ३ क्षण ।

णीललेस्सा-नीललेश्या-स्त्री० । वर्णतो नीलाशोकगुलिकाचैडूर्येन्द्रनीलचाषपिच्छाऽऽदिसमवर्णैः, रसतो मरिचपिप्पलीनागराऽऽदिसमधिकतररसै, गन्धतो मृगतुरगशरीराऽऽदिसमाधिकतरगन्धैः, स्पर्शतो जिह्वाऽऽदिसमधिकतरकर्कशस्पर्शैः सकलप्रकृतिनिष्पन्दभूतैर्नीलद्रव्यैर्जनितात्मपरिणामो लेश्याऽऽत्मपरिणातिरिति । लेश्याभेदे, पा० । स्था० ।

णीलवंत-नीलवत्-पुं० । उत्तरकुरुषु स्वनामख्याते ह्रदे, तन्निवासिनि नागकुमारदेवे च । जं० ४ वक्ष० । जी० । ('उत्तरकुरा' शब्दे द्वितीयभागे ७६१ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता) मन्दरस्य पर्वतस्य भद्रशालवने द्वितीये दिग्हस्तिकूटे, जं० ।

एवं णीलवंतदिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपुरच्छिमेणं पुरच्छिमिल्लाए सीआए दक्खिणेणं, एअस्स वि नीलवंतो देवो रायहाणी दाहिणपुरच्छिमेणं ॥

(एवमिति) पद्मोत्तरन्यायेन नीलवन्नाम्ना दिग्हस्तिकूटः मन्दरस्य दक्षिणपूर्वस्याः पौरस्त्यायाः शीतोदाया दक्षिणस्याः ततोऽत्र प्राच्यजिनभवनाऽऽग्नेयप्रासादयोर्मध्ये ज्ञेयः । एतस्याऽपि नीलवान् देवः प्रभुः, तस्य राजधानी दक्षिणपूर्वस्यामिति । जं० ४ वक्ष० । द्वी० । स्था० । वर्षधरपर्वतभेदे, जं० ।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे णीलवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते ?। गोयमा ! महाविदेहस्स वासस्स उत्तरेणं रम्मगवासस्स दक्खिणेणं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे णीलवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे, णिसहवत्तव्वया णीलवंतस्स भाणिअव्वा, णवरं जीवा दाहिणेणं धणू उत्तरेणं, तत्थ केसरीदहो णाम दहो, एत्थ णं सीआ महाणई पवूढा समाणी उत्तरकुरं एज्जमाणी उत्तरकुरं एज्जमाणी जमगपव्वए णीलवंतउत्तरकुरुचंदेरावतमालवंतदहे अ दुहा विभयमाणी विभयमाणी चउरासीए सलिलासयसहस्सेहिं आपूरेमाणी आपूरेमाणी भद्दसालवणं एज्जमाणी भद्दसालवणं एज्जमाणी मंदरं पव्वयं दोहिं जोअणेहिं असंपत्ता पुरत्थाभिमुही परावत्ता समाणी अहे मालवंतवक्खारपव्वयं दालयित्ता मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं पुव्वविदेहं वासं दुविहा भयमाणी दुविहा भयमाणी एगमेगाओ चक्कवट्टिविजयाओ अट्ठावीसाए अट्ठावीसाए सलिलासहस्सेहिं आपूरेमाणी आपूरेमाणी पंचहिं सलिलासयसहस्सेहिं बत्तीसाए अ सलिलासहस्सेहिं समग्गा अ अहे विजयस्स दारस्स जगइं दालइत्ता पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं समप्पेइ, अवसिट्ठं तं चेव, एवं णारिकंता वि उत्तराभिमुही णेअव्वा । णवरमिमं णाणत्तं गंधावइवट्टवेअड्ढपव्वयं जोअणेणं असंपत्ता पच्चच्छाभिमुही आवत्ता समाणी अवसिट्ठं तं चेव, पवहे मुहे अ, जहा हरिकंता सलिला ।

क भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे नीलवन्नाम्ना वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः ?। उत्तरसूत्रं व्यक्तम् । नवरं रम्यकक्षेत्रं महाविदेहेभ्यः परं युग्मिमनुजाऽऽश्रयभूतमस्ति, तस्य दक्षिणतः, अत्र च निषधवन्धुरिति तत्साम्येन आयय दर्शयति-(णिसह इत्यादि) निषधवक्तव्यता नीलवतोऽपि भणितव्या, नवरमस्य जीवा परम आयामो दक्षिणतः उत्तरतः क्रमेण क्रमेण जगत्या वक्रत्वेन न्यूनान्तरत्वात् धनुः पृष्ठमुत्तरतः। अत्र केसरिद्रहो नाम ह्रदः । अस्माच्च शीता महानदी प्रव्यूढा सती उत्तरकुरून् इयती २ परिगच्छन्ती २ यमकपर्वतौ नीलवदुत्तरकुरुचन्द्रैरावतमाल्यवन्नामकान् पञ्चाऽपि ह्रदांश्च द्विधा विभजती २ चतुरशीत्या सलिलासहस्रैरापूर्यमाणा २ भद्रशालवनमियती २ आगच्छन्ती २ मन्दरं पर्वतं द्वाभ्यां योजनाभ्यामसंप्राप्ता पूर्वाभिमुखी परावृत्ता सती माल्यवद्वक्षस्कारपर्वतमधो विदार्य मेरोः मन्दरस्य पूर्वस्यां पूर्वमहाविदेहं वासं द्विधा विभजन्ती २ एकैकस्माच्चक्रवर्तिविजयादष्टाविंशत्या २ सलिलासहस्रैरापूर्यमाणा २ आत्मना सह पञ्चभिर्लक्षैर्द्वात्रिंशता च सलिलासहस्रैः समग्रा अधो विजयस्य द्वारस्य जगतीं विदार्य पूर्वस्यां लवणसमुद्रमुपैति। अवशिष्टं प्रवहव्यासाऽऽदिकं तदेवेति निषधनिर्गतशीतोदाप्रकरणोक्तमेव। अथ स्नातेनोत्तरप्रवृत्तां नारीकान्तामतिदिशति-(एवं णारिकंता इत्यादि) एवमुक्तन्यायेन नारीकान्ताऽपि उत्तराभिमुखी नेतव्या । कोऽर्थः ?। यथा नीलवति केसरिद्रहाद्दक्षिणाभिमुखी शीता निर्गता, तथा नारीकान्ता उत्तराभिमुखी निर्गता। नाहिं अस्या समुद्रप्रवेशोऽपि तद्वदेवेत्याशङ्क्यमानमाह-नवरमिदं नानात्वं गन्धापातिनं वृत्तवैताढ्यपर्वतं योजनेनाऽसंप्राप्ता पश्चिमाभिमुखी आवृत्ता सती इत्यादिकमवशिष्टं सर्वं तदेव, हरिकान्तासलिलावद्वाच्यम् । तद्यथा-" रम्मगवासं दुहा विभयमाणी २ छप्पन्नाए सलिलासहस्सेहिं समग्गा अहे जगइं दालइत्ता पच्चच्छिमेणं लवणसमुद्दं समप्पेइ त्ति ।" अत्र चाऽवशिष्टपदसंग्रहे प्रवहमुखव्यासाऽऽदिकं न लिखितं, समुद्रप्रवेशावधिकस्यैवाऽऽलापकस्य दर्शनात्, तेन तत् पृथगाह-प्रवहे च मुखे च यथा हरिकान्तासलिला । तथाहि-प्रवहे पञ्चविंशतियोजनानि विष्कम्भेण अर्द्धयोजनमुद्वेधेन, मुखे २५० योजनानि विष्कम्भेण ५ योजनान्युद्वेधेन, यच्चात्र हरिसलिलां विहाय प्रवहमुखयोर्हरिकान्ताऽतिदेश उक्तस्तद् हरिसलिलाप्रकरणेऽपि हरिकान्ताऽतिदेशस्योक्तत्वात् । जं० ।

अथास्य नामनिबन्धनं पृच्छन्नाह-

से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-णीलवंते वासहरपव्वए णीलवंते वासहरपव्वए ?। गोयमा ! णीले णीलोभासे णीलवंते अ इत्थ देवे महिड्ढिए० जाव परिवसइ, सव्ववेरुलिआमए णीलवंते० जाव णिच्चेति ।

" से केणऽट्ठेणं " इत्यादि प्रश्न प्राग्वत् । उत्तरसूत्रे चतुर्थो वर्षधरगिरिर्नीलो नीलवर्णत्वात् नीलावभासो नीलप्रकाशः भासश्च वस्त्वन्यदपि नीलवर्णमयं करोति, तेन नीलवर्णयोगान्नीलवान्, नीलवांश्च यत्र महर्द्धिको देवः पल्योपमस्थितिको यावत् परिवसति, तेन तद्योगाद्वा नीलवान्। अथवाऽसौ सर्ववैडूर्यरत्नमयः, तेन वैडूर्यरत्नपर्यायकनीलमणियोगान्नीलः, शेषं प्राग्वत् । जं० ४ वक्ष० । स्था० । स० । ('कूड' शब्दे तृतीयभागे ६२६ पृष्ठे कूटान्युक्तानि) । "दो णीलवंता" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णीलवंतकूड–नीलवत्कूट–न० । नीलवद्वर्षधरपर्वतस्य द्वितीये कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० । " दो णीलवंतकूडा । " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णीलवंतदह–नीलवद्ध्रद–पुं० । उत्तरकुरुषु विचित्रचित्रकूटपर्वतसमवक्तव्यताभ्यां यमकाभिधानाभ्यां स्वसमाननामदेवाऽऽश्रयाभ्यां पर्वताभ्यामनन्तरे महाह्रदे, स्था० ५ ठा० २ उ० । जं० ।(' उत्तरकुरा ' शब्दे द्वितीयभागे ७५६ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

णीलवंतदहकुमार–नीलवद्ध्रदकुमार–पुं० । नीलवद्ह्रदस्याधिपतिनागकुमारे देवे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

णीलवणि–नीलवणि–स्त्री० । प्रत्याख्यानभेदे, येन दीक्षाग्रहणार्थं नीलवणिप्रत्याख्यान कृत भवति, तस्य दीक्षाग्रहणानन्तरं कल्पते, न वा ?, इति प्रश्ने–उत्तरम्–यदि प्रत्याख्यानकरणवेलायामेव कथित भवति–यद्दीक्षाग्रहणाऽनन्तरं नीलवणि कल्पते, तदा कल्पते, नान्यथेति । ४५६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । नीलवणिप्रत्याख्यानिनां तद्दिननिष्पन्नकरीपाकप्रमुख कल्पते,न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–परम्परया तत्कल्पनप्रवृत्ति र्दृश्यत इति । ९३ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

णीला–नीला–स्त्री० । " अजातेः पुंसः " ॥ ८ । ३ । ३२ ॥ इति अजातिवाचिनो नीलशब्दस्य स्त्रियां ङीर्वा, नीली । नीला । प्रा० ३ पाद । नीललेश्यायाम्, स० । उत्त० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरेण रक्तायां महानद्यां सङ्गतायां महानद्याम्, स्था० १० ठा० ।

णीलाभास–नीलाभास–पुं० । षड्विंशतितमे महाग्रहे, " दो णीलाभासा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० । सू० प्र० । कल्प० ।

णीलासोग–नीलाशोक–पुं० । नीलश्चाऽसौ अशोकश्च नीलाशोक । नीलपुष्पाशोकवृक्षे, रा० । उत्त० । शुकपरिव्राजकजेतु सुदर्शनश्रेष्ठिन आवासनुद्याया सुगन्धिकापुर्या बहिरुद्याने, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

णीली–नीली–स्त्री० । गुलिकायाम, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । जी० । रा० । जं० । गुच्छवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आर्द्र खाल्वविशिष्टेऽर्थे, "तहेवोसहिओ पक्काओ, निलियाओ छवीइ य । " दश० ७ अ० ।

णीलीराग–नीलीराग–पुं० । नील्याः सम्बन्धी रागो यस्य स नीलीराग । नीलीरक्ते, " णोलीराग खलु, तुमहत्थी सरभासिया । ' व्य० ३ उ० ।

णीलुक–गम्–धा० । गतौ, " गमेरई–अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस–पच्चड्डु–पच्छन्द–णिम्मह–णी–णीण–णीलुक्क–पदअ–रम्भ परिअल्ल–वोल–परिअल–णिरिणास–णिवहावसेहावहरा " ॥ ८ । ४ । १६२ ॥ इति सूत्रेण गम्लृधातोर्णीलुक्काऽऽदेश० । 'णीलुक्कइ' । पक्षे ' गच्छइ ' । प्रा० ४ पाद ।

णीलुप्पल–नीलोत्पल–न० । " ह्रस्वः संयोगे दीर्घस्य " ॥ ८ । १ । ८४ ॥ इति ओकारस्योकार । प्रा० १ पाद । कुवलये, जं० १ वक्ष० । इन्दीवरे, सौगन्धिके, नीलवर्णे कुमुदे च । वाच० । " णीलुप्पलगवलगुलिय । ' उपा० २ अ० ।

णीलुप्पलकयापेल–नीलोत्पलकृताऽऽपीड–त्रि० । कीलोत्पलकृतशेखरे, उपा० ७ अ० ।

णीलुप्पलवण–नीलोत्पलवन–न० । इन्दीवरकानने, स० ।

णीलोभास–नीलावभास–त्रि० । मयूरगलवद्वभासमाने, औ० । रा० ।

णीव–नीप–पुं० । कदम्बे, औ० । वृक्षविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । आ० म० ।

णीवार–नीवार–पुं० । न० । शूकराऽऽदीनां पशूनां वध्यस्थानप्रवेशनभूते भक्ष्यविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । व्रीहिविशेषकणदाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

णीवि–नीवि–स्त्री० । मूलधने, षो० ६ विव० । कटिवस्त्रबन्धे, वाच० ।

णीस–निस्स्व–त्रि० । "लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घ " ॥ ८ । १ । ४३ ॥ इति दीर्घः । निर्धने, प्रा० १ पाद ।

णीसंद–निस्यन्द–पुं० । परिगालपरिस्रावे, " णवमपुव्वणीसदो । " पं० भा० । बिन्दौ, कर्म० १ कर्म० ।

णीसंपाय–देशी–परिश्रान्ते, दे० ना० ४ वर्ग ४२ गाथा ।

णीसट्ठ–निसृष्ट–त्रि० । विमुक्ते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । बहिर्निष्काश्य निवेदिते, यस्य याचकाऽऽदेरर्थाय निष्काशितस्तस्मै प्रदत्ते, वृ० २ उ० ।

णीसणिआ–देशी–निश्रेण्याम्, दे० ना० ४ वर्ग ४३ गाथा ।

णीसर–रम्–धा० । क्रीडायाम, " रमे सखुड्ड-खेड्डोब्भाव किलिकिञ्च-कोट्टुम-मोट्टाय-णीसर-वेल्लाः " ॥ ८ । ४ । १६८ ॥ इति सूत्रेण रमेर्णीसराऽऽदेश० । 'णीसरइ' । पक्षे -रमइ । रमते । प्रा० ४ पाद ।

निस्-सृ–धा० । निस्सरणे, 'णीसरइ' । निःसरति । प्रा० ४ पाद ।

णीसरण–निस्सरण–न० । फेडसने, व्य० ४ उ० ।

णीसल्ल–निःशल्य–त्रि० । मायादर्शननिदानशल्यरहिते, संथा० ।

णीसवग–निश्रावक–पुं० । कर्मनिर्जरके, आ० म० १ अ० १ खण्ड । विशे० ।

णीसवमाण–निश्रवयत्–त्रि० । कर्माणि निर्जरयति, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

णीससंत–निःश्वसत्–त्रि० । " निश्वसेर्झङ्खः " ॥ ८ । ४ । २०१ ॥ इति झङ्खाऽऽदेशाभावे शतरि रूपम् । प्रा० ४ पाद । निःश्वासान् मुञ्चति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । प्राकृते-शानजपि । " ऊससमाणे वा, णीससमाणे वा, कासमाणे वा, छीयमाणे वा ।" आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

णीससिउस्ससियसम–निःश्वसितोच्छ्वसितसम–न० । गानमनिक्रामतो गाने, स्था० ७ ठा० ।

णीससिय–निःश्वसित–न० । निःश्वसन निःश्वसितम् । नं० । अधःश्वसिते, आव० ५ अ० । विशे० । आ० म० । ल० । कामक्रीडाया. श्वाससमुद्भवे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । श्वासमोक्षे, ध० २ अधि० ।

णीसह–निस्सह–त्रि० । "लुप्तय-र-व-श ष-सां शषसां दीर्घः " ॥ ८ । १ । ४३ ॥ इति सलोपे दीर्घ । नितरां सहिष्णौ, प्रा० १ पाद ।

णीसा–निश्रा–स्त्री० । पीठफलकम् " दगवारएण पिहियं, णीसाए पीढएण वा । " दश० ५ अ० १ उ० ।

णीसार-नीशार-पुं०। नितरां शीर्य्यते हिमानिलावनानेन वा। नि-शृ-घञ् दीर्घः। हिमानिलनिवारणे प्रावरणे, काण्डपटे च। वाच०। मण्डपे, दे० ना० ४ वर्ग ४१ गाथा।

णीसास-निःश्वास-पुं०। निर्-श्वस्-घञ् रलुक्। "लुकि निरः" ॥ ८। १। ९३॥ इति रेफलोपे सति इत ईकारः।" णीसासो।" प्रा० १ पाद। अध श्वासे, आ० चू० ५ अ०। श्वासमोक्षणे, त०। (के जीवा: कियता कालेन निःश्वसन्तीति 'आण' शब्दे द्वितीयभागे १०५ पृष्ठे उक्तम्) सङ्ख्येयाऽऽवलिकापरिमिते प्राणाऽपरनामके कालविशेषे, कर्म० ४ कर्म०।

णीसासय-निःश्वासक-त्रि०। निःश्वसतीति निःश्वासकः। आनप्राणपर्याप्तिपरिनिष्पन्ने, आ० म० १ अ० २ खण्ड। विशे०।

णीसित्त-निष्षिक्त-त्रि०। "लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः" ॥ ८।१। ४३॥ इति षलोपे आदेः स्वरस्य दीर्घः। कृतनिषेके, प्रा० १ पाद।

णीसीसिअ-देशी-निर्वासिते, दे० ना० ४ वर्ग १४२ गाथा।

णीसेयस-निःश्रेयस-न०। निश्चितकल्याणे, जी० ३ प्रति० ४ उ०।

णीहट्टु-निर्हृत्य-अव्य०। निःसार्येत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० २ उ०।

णीहड-निर्हृत-त्रि०। निर्गते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०। निष्क्रान्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ०।

णीहडिया-निर्हृतिका-स्त्री०। अन्यत्र नीयमाने सागारिकद्रव्ये, वृ० २ उ०।

णीहम्म-नि-हम्म-धा०। गतौ, 'णीहम्मइ' 'गच्छइ' गच्छति। प्रा० ४ पाद।

णीहर-निर्-सृ-धा०। बहिर्गमने;" निःसरेर्णीहर-नील-धाड-वरहाडाः" ॥ ८।४।७९॥ इति निःसरतेर्णीहराऽऽदेशः। "णीहरइ"। पक्षे-'णीसरइ।' प्रा० ४ पाद।

निर्-हृ-धा०। पुरीषोत्सर्जने, 'णीहरइ' निर्हरति। पुरीषोत्सर्गं करोति। उपसर्गवशादयमर्थः। प्रा० ४ पाद।

णीहरण-निर्हरण-न०। निर्गमे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। अपनयने, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। परित्यागे, नि० चू० १ उ०। आचा०।

णीहरिअ-देशी-शब्दे, दे० ना० ४ वर्ग ४२ गाथा।

णीहरित्तए-निर्हर्तुम्-अव्य०। निष्काशयितुमित्यर्थे, भ० ५ श० ४ उ०। विशोधयितुमित्यर्थे, दशा० ७ अ०। विशे०।

णीहरिय-निर्हृत्य-अव्य०। निष्काश्येत्यर्थे, नि० चू० ९ उ०।

णीहार-निर्हार-पुं०। मूत्रपुरीषोत्सर्गे, स० ३४ सम०।

णीहारचारण-नीहारचारण-पुं०। नीहारमवष्टभ्याप्कायिकजीवपीडामजनयति गतिमसङ्गां कुर्वति चारणभेदे, प्रव० ६८ द्वार। ग०।

णीहारण-निर्हारण-न०। निस्सारणे, स्था० २ ठा० ४ उ०।

णीहारि-(ण्)-निर्हारिन्-त्रि०। व्यापिनि, "जोयणणीहारिणा सरेण।" योजननिर्हारिणा योजनव्यापिना शब्देन। आ० म० १ अ० २ खण्ड। योजनातिक्रामिणा शब्देन। स० ३४ सम०। प्रबले, आ० म० १ अ० २ खण्ड। घोषवति, घण्टाशब्दवच्छब्दभेदे, स्था० १० ठा०।

णीहारिम-निर्हारिम-न० निर्हारेण निर्वृत्तं यत्तन्निर्हारिमम्। प्रतिश्रये यो म्रियते तस्यैतत् कलेवरस्य निर्हरणात् निर्हारिमम्। पादोपगमनमरणभेदे, प्र० २ श० १ उ०। ('मरण' शब्दे व्याख्या वक्ष्यते) दूरं विनिर्गमनशीले, आ० म० १ अ० १ खण्ड। रा०। ज्ञा०।

णीहुय-निहुत-त्रि०। अपलपिते, देशी। अकिञ्चित्करे, "पवयणणीहुयाण।" आ० म० १ अ० २ खण्ड।

णु-नु-अव्य०। निश्चये, प्रति०। वितर्के, विशे०। सूत्र०। आ० चू०। विकल्पे, अनुनये, अतीते, प्रश्ने, हेतौ, अपमाने, अपदेशे, अनुतापे च। वाच०।

णुक्कार-नुक्कार-पुं०। नुगितिशब्दकरणे, "अप्पेगइया देवा णुक्कारं करेंति।" (णुक्कार ति) नुक्कारशब्दं कुर्वन्ति। रा०।

णुम-न्यस्-धा०। न्यासे, स्थापने, "न्यसो णिम-णुमौ" ॥ ८। ४। १९९॥ इति न्यस्यतेर्णुमाऽऽदेशः। 'णुमइ'। न्यस्यति। प्रा० ४ पाद।

छादि-धा०। छादने, "छदेर्णेर्णुम-नूम-सन्नुम-ढक्कौम्बाल-पव्वालाः" ॥ ८। ४। २१॥ इति छदेर्ण्यन्तस्य णुमाऽऽदेशः। 'णुमइ'। पक्षे-छायइ। प्रा० ४ पाद।

णुमज्जण-निमज्जन-न०। "ह्रिन्योरुत्" ॥ ८। १। ९४॥ इति इत उत्वम्। अधोमज्जने, प्रा० १ पाद।

णुमन्न-निमग्न-त्रि०। "ह्रिन्योरुत्" ॥ ८। १। ९४॥ इति इत उत्वम्। मज्जिते, प्रा० १ पाद।

निषण्ण-त्रि०। "उमो निषण्णे" ॥ ८। १। १७४॥ इति निषण्णशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सहोमादेशः। "णुमण्णो"। "णिसण्णो"। उपविष्टे, प्रा० १ पाद।

णुव्व-प्रकाश-धा०। प्रकाशने, "प्रकाशेर्णुव्वः" ॥ ८।४।४५॥ इति प्रकाशेर्ण्यन्तस्य णुव्वेत्यादेशः। 'णुव्वइ'। प्रकाशयति। प्रा० ४ पाद।

णूणं-नूनम्-अव्य०। निश्चिते, वृ० १ उ०। उत्त०। सूत्र०। भ०। ज्ञा०। ज्ञा०। उपमाने, अवधारणे, तर्के, प्रश्ने, हेतौ, प्र० २ श० ६ उ०।

णूम-छादि-धा०। छादने, "छदेर्णेर्णुम-नूम-सन्नुम-ढक्कौम्बाल-पव्वालाः" ॥ ८। ४। २१॥ इति छदेर्ण्यन्तस्य नूमादेशः। "णूमइ।" "छायइ।" छादयति। प्रा० ४ पाद। "मा हु णूमए तरुणी।" मा हु समाच्छादयेत्तरुणी। वृ० १ उ०।

न्नम-न०। अवतमसे, गाढतमसे, प्र० १ श० ८ उ०। प्रच्छन्ने गिरिगुहाऽऽदिके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। आचा०। प्रच्छादने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। गहने, मायायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। कर्मणि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०। सूत्र०। स०। परवञ्चनार्थं निम्नताया निम्नस्थानस्य च आश्रयणे, प्र० १२ श० ५ उ०। मिश्रे, नि० चू० ११ उ०।

णूमगिह-छन्नगृह-न०। वृक्षप्रधाने गृहे, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ०। भूमिगृहे, नि० चू० १२ उ०।

णूमा-देशी-शाखायाम्, दे० ना० ४ वर्ग ४३ गाथा।

णे-णे-अव्य० । 'णे' इति निपातः । पूरणे, जी० ३ अधि० ।

अस्मान्-द्वि० । "अम्हे-अम्हो-अम्ह-णे शसा" ॥८।३।१०८॥ इतिशसा सहितस्याऽस्मदो 'णे' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद । नि० चू० ।

मया-तृ० । " मि-मे-मम-ममए-ममाइ-मइ-मए-मयाइ-णे टा" ॥ ८ । ३ । १०९ ॥ इति सूत्रेण टाविशिष्टस्याऽस्मदो 'णे' इत्यादेश. । ' णे कम ' मया कृतम् । प्रा० ३ पाद ।

अस्माकम्-ष० । " णे-णो-मज्झ अम्ह अम्ह-अम्हे-अम्हो-अम्हाण-ममाण-महाण-मज्झाण आमा " ॥ ८ । ३ ।११४ ॥ इति सूत्रेण आमासहितस्याऽस्मदो 'णे' इत्यादेश. । प्रा० ३ पाद ।

णेउड्ड-देशी-सद्भावे, दे० ना० ४ वर्ग ४४ गाथा ।

णेउणिय-नैपुणिक-न० । ' णिउणिय ' शब्दार्थे, अनुप्रवादपूर्वगते स्वनामख्याते वस्तुनि, आ० म० १ अ०२ खण्ड । विशे० ।

णेउण्ण-नैपुण्य-न० । आलेख्याऽऽदिकलायाम्, दश० ९ अ० २ उ० । आव० ।

णेउर-नूपुर-न० । ऊकारस्यैकार । पादाऽऽभरणे, प्रश्न०४ आश्र० द्वार । " खुड्डियवरणेउरचलणमालिया ।" औ० । आ० म० । द्वीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

णेऊण-नीत्वा-अव्य० । " युवर्णस्य गुण. " ॥ ८ । ४। २३७॥ इति युवर्णस्य गुण । गमयित्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

णेग-नैक-त्रि० । न एक नैकम् । नाय नञ्, किं तु न इति । प्रभूते, आ० म० १ अ० २ खण्ड । बहुके, प्रश्न० ३ आश्र०द्वार । सूत्र० । विशे० ।

णेगम-नैगम-पु० । निगमा वणिज , तेषां स्थान नैगमम् । वणिजाऽऽवासे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० । वाणिजके, भ० १८ श० २ उ० । कल्प० । वृ० । सामान्यविशेषग्राहकत्वात्तस्यानेकेन ज्ञानेन मिनोति परिच्छिनत्तीति नैगम : । अथवा निगमा निश्चितार्थबोधा , तेषु कुशलो भवो वा नैगम । अथवा-नैको गमोऽर्थमार्गो यस्य स प्राकृतत्वेन नैगम' । निगमेषु वाऽर्थबोधेषु कुशलो भवो वा नैगम । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

नैकम-पु० । नैकैर्मानैर्महासत्तासामान्यविशेषज्ञानैर्मिमीते मिनोति वा नैकम. । अथवा नैके गमा' पन्थानो यस्य स नैकगम । (पृषोदरादित्वात् रूपसिद्धि') स्था० ७ ठा० । अनु० । भ्रष्ट० । ग० । नयभेदे, आ० म० ।

व्युत्पत्ति.-

णेगेहिं माणेहिं, मिणइ त्ती णेगमस्स णेरुत्ती ।
सेसाणं तु नयाणं, लक्खणमिणमो सुणह वोच्छं ॥

न एक नैकं, नायं नञ्, किं तु न इति । अनुस्वार इति न भवति (?।) प्रभूतानीत्यर्थ । ततो नैकैर्मानैर्महासामान्यावान्तरसामान्यविशेषाऽऽदिविषयै प्रमाणैर्मिमीते परिच्छिनत्ति वस्तुजातमिति नैगम । "पृषोदराऽऽदय " ॥ ३ । २ । १५५॥ इतीष्टरूपनिष्पत्ति । तथा चाऽऽह-इति इय, नैगमस्य निरुक्तिः निर्वचनम् । उपलक्षणमेतत् । तेनाऽन्यथाऽपि नैगमशब्दव्युत्पत्ति परिभावनीया । तद्यथा-निश्चितो गमो निगम. परस्परविविक्तसामान्याऽऽदिवस्तुग्रहणम्, स एव प्रज्ञाऽऽदेराकृतिगणतया स्वार्थिकात्प्रत्ययविधानान्नैगम. । यदि वा-निगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति निगमा., तेषु भवो योऽभिप्रायो नियतपरिच्छेदरूप स नैगमः । अथवा-नैके गमा यस्यासौ नैगमः । पृषोदराऽऽदित्वात् ककारस्य लोप । बहुविधवस्त्वभ्युपगमपर इत्यर्थः । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

नैगमनयशब्दार्थं तावदाह-

णेगाइं माणाइं, सामन्नोभयविसेसणाणाइं ।
जं तेहिं मिणइ तो णे-गमो णओ णेगमाणो त्ति ॥२१८६॥

न एक नैक, प्रभूतानीत्यर्थ., नैकानि, किं तु प्रभूतानि यानि मानानि सामान्योभयविशेषज्ञानानि । तत्र समानाना भावः सामान्य, सत्तालक्षणम्, उभय सामान्यविशेषोभयरूपमपान्तरालसामान्य वृक्षत्वगोत्वगजत्वाऽऽदिकम्, विशेषास्तु नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्यस्वरूपा व्यावृत्त्याकारबुद्धिहेतव., तेषां सामान्योभयविशेषाणां ग्राहकाणि ज्ञानानि सामान्योभयविशेषज्ञानानि, तैर्यस्मात् मिनोति, मिमीते वा, ततो नैगम । अन एव नैकमानो नैकपरिच्छेद., किं तु विचित्रपरिच्छेद इति ॥ २१८६ ॥

नैगमनयस्यैव व्युत्पत्त्यन्तरमाह-

लोगत्थनिबोहा वा, निगमा तेसु कुसलो भवो वाऽयं ।
अहवा जं नेगगमो-ऽणेगपहो णेगमो तेणं ॥ २१८७॥

' वा ' इत्यथवा, निगमा भण्यन्ते । के ? । लोकार्थनिबोधा.-अर्था जीवाऽऽदय., तेषु नितरामनेकप्रकारा बोधा निबोधा लोकस्यार्थनिबोधा लोकार्थनिबोधाः। तेष्वेवंविधेषु निगमेषु भव कुशलो वाऽयमिति नैगम' । अथवा-अन्यथा व्युत्पत्ति.-गम्यतेऽनेनेति गम' पन्था', नैके गमा' पन्थानो यस्याऽसौ, नैकगम', वक्ष्यमाणनीत्या बहुविधाभ्युपगमपरत्वाद् नैकमार्ग । निरुक्तविधिना च ककारलोपान्नैगम इति ॥ २१८७ ॥

कथम्भूत' पुनरय, कथ चानुगन्तव्य :?, इत्याह-

सो कमविसुद्धभेओ, लोगपसिद्धिवसओऽणुगंतव्वो ।
विहिणा निलयणपत्थय-गामोवम्माइँ संसिद्धो २१८८॥

स नैगमनय. क्रमेण परिपाट्या विशुद्धा विशेषवन्तो भेदा. प्रकारा यस्य स क्रमविशुद्धभेद. । तथाहि-आद्यभेदोऽस्य निर्विकल्पमहासत्ताऽऽख्यकेवलसामान्यवादित्वात्सर्वाविशुद्ध ; गोत्वाऽऽदिसामान्यविशेषवादी तु द्वितीयभेदो विशुद्धाविशुद्ध , विशेषवादी तु तृतीयभेदः सर्वविशुद्धः । विशे० । (दृष्टान्ता 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८३६ पृष्ठे द्रष्टव्या.)

णेगविह-नैकविध-त्रि० । नानाप्रकारे, नि० चू० १ उ० ।

णेचइय-नैचयिक-पु० । निचयेन सचयेनार्थाद् धान्यानां वे व्यवहरन्ति ते नैचयिका । धान्यव्यापारिषु, व्य० ४ उ० ।

णेच्छंत-अनिच्छत्-त्रि० । अनभिलषति, व्य० २ उ० ।

णेच्छिय-नेच्छित-त्रि० । न इच्छितं नेच्छितम् । इच्छाया अविषयीकृते, जी० ।

णेच्छियकामगामिणो ते मणुयगणा ।

नेच्छितकामगामिन -न इच्छितमिच्छाविषयीकृतं नेच्छितं, नायं नञ् किं तु नशब्द', इत्यत्राऽऽदेशाभाव । यथा-नैके द्वेषस्य पर्याया इत्यत्र नेच्छितमिच्छाया अविषयीकृतं कामं स्वेच्छया गच्छन्तीत्येवं शीला नेच्छितकामगामिन , ते मनुजाः । जी० ३ प्रति०४ उ० । ऊं० ।

णेट्टूर-नेट्टूर-पुं० । अनार्यदेशभेदे, तत्रत्यमनुष्ये च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । प्रज्ञा० ।

णेड्ड-नीड-न० । " नीडपीठे वा " ॥ ८ । १ । १०६ ॥ इतीत एत्व वा । 'नेड' । 'नीड' । पक्षिणामावासस्थाने, प्रा० १ पाद ।

णेमाली-देशी-शिरोभूषणभेदे, दे० ना० ४ वर्ग ४३ गाथा ।

णेड्ड-नीड-न० । " सेवाऽऽदौ वा " ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति डद्वित्वम् । प्रा० २ पाद । पक्षिणामावासस्थाने, प्रा० २ पाद । नीडे, दे० ना० ४ वर्ग ४४ गाथा ।

णेड्डरिया-देशी-भाद्रपदोज्ज्वलदशम्यां जाते कार्मिभिक्षु-त्सवविशेषे, दे० ना० ४ वर्ग ४५ गाथा ।

णेत्त-नेत्र-न० । नयन्त्यर्थदेशमर्थक्रियासमर्थमर्थमाविर्भावयन्ति इति नेत्राणि । चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । अक्षिणि, "वाऽक्ष्यर्थवचनाद्याः" ॥ ८ । १ । ३३ ॥ इति वा नपुंसकत्वम्, पक्षे स्त्री । प्रा० १ पाद । " दो णेत्ता " प्रज्ञा० १८ पद । "नट्टसुद्दे णिम्मयजीहणेत्ते ।" उत्त० १२ अ० । मन्थदण्डाऽऽकर्षणरज्जौ, उपा० २ अ० । वस्त्रभेदे, वृक्षमूले, रथे, जटायाम्, नाड्याम्, शलाकायाम्, प्रापयितरि, नयनसाधने, प्रवर्तके च । वाच० ।

णेत्तसूल-नेत्रशूल-न० । नेत्रपीडायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

णेम-नेम-पु० । भूमिभागादूर्ध्वं निष्क्रामति प्रदेशे, ज० १ वक्ष० । जी० । रा० । आ० म० । नेमशब्दो देश्यः । कार्ये, पिं० । अवधौ, काले, अर्द्धे, प्राकारे, कैतवे, गर्तनाट्ये, अन्यस्मिन्नित्यर्थे च । अर्द्धार्थेऽस्य सर्वनामता । वाच० ।

णेमि-नेमि-पु० । चक्रस्य बाह्यपरिधौ, जी० ३ प्रति० ४ उ० । सूत्र० । न० । " सुकयनेमिजतकम्माण । " भ० ९ श० ३३ उ० । चक्रधारायाम्, स्था० ३ ठा० ३ उ० । धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः । अस्यामवसर्पिण्यां जाते द्वाविंशे तीर्थकरे, कल्प० ७ क्षण । स० । आ० चू० । आव० । ध० । प्रव० । नेमिचरित्रे सर्वसाधूनां द्वादशाऽऽवर्त्तवन्दनं कृष्णो ददौ इत्युक्तमस्ति, न त्वष्टादशसहस्राणामिति तदुक्तिर्लौकिकी, शास्त्रीया वेति ?। यदि शास्त्रीया तदा कथं तदुपपत्तिः?, " पयडिमाण च तइय तु । " इतिवचनात्सर्वेषां च पदस्थत्वाभावात् । यदि सर्वेषां पदस्थत्वं तदा ते कस्मिन् पदे स्थिताः?, इति प्रश्ने, उत्तरम्— यथा नेमिचरित्रे तथाऽऽवश्यकवृत्त्यादावपि सर्वेषां साधूनां द्वादशाऽऽवर्त्तवन्दनकमुक्तमस्ति, सर्वशब्देन चाष्टादशसहस्रसंख्या समागतैवेति द्वारिका । किं च-सर्वेषामिति पदं विवक्षितसर्वपरं, तेन पदस्थानामेव वन्दनकप्रदानं सम्भाव्यते, पदस्थेष्वपि ये गुरुनिकटस्थास्ते कथं तद्दापयन्तीति विचारेण सर्वं समञ्जसमेवेति । २३१ प्र० । तथा श्रीकल्पसूत्रे श्रीनेमेश्चत्वारि शतसहस्राण्यार्या उक्ता सन्ति, नेमिचरित्रे त्वेवम्-" विना च कनकवतीं, रोहिणीं देवकीं तथा । पत्न्योऽपि प्राव्रजन् स्वामि-सन्निधौ सकला अपि ॥ १ ॥ " वसुदेवहिण्ड्यामपि द्वासप्ततिसहस्राण्यपि वसुदेवपत्न्यः श्रीनेमिपार्श्वे प्रव्रज्य मोक्षं गताः । अन्या अपि सहस्रशः कृष्णाऽऽदिपत्न्यः नेमिपार्श्वे प्रव्रजिताः सन्तीति कथं सङ्गच्छते?, तथा सर्वेषामपि तीर्थकृतां श्राद्धश्राद्धीसाधुसाध्वीसंख्या कल्पसूत्रोक्ताऽपि सन्देहमावहतीति प्रश्ने, उत्तरम्-तीर्थकृतां पार्श्वे ये सम्यक्त्वलाभपूर्वकं देशविरत्यादि प्रतिपन्नाः, त एव तीर्थकृत्परिवारमध्ये गणनीयाः, नान्ये इति न कोऽपि शङ्काऽवकाश इति । २३२ प्र० । अथ पन्यासहर्षचन्द्रगणिकृतप्रश्नास्तदुत्तराणि च यथा-श्रीजिनेन्द्राम्बा जिनेन्द्रप्रसवनानन्तरमपत्यं प्रसूते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-एकान्तो ज्ञातो नास्ति । नेमिनाथाऽऽदीनां रथनेमाऽऽदेर्लघुभ्रातृतया प्रतीतत्वादिति । ४१६ प्र० । नेमिनाथस्यैकादश गणधरा एकविंशतिस्थानके कथिताः, कल्पसूत्रे त्वष्टादश, तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्--तावत एवैकविंशतिस्थानके तथा सप्तविंशस्थानकप्रवचनसारोद्धाराऽऽवश्यकाऽऽदिग्रन्थेषु च कथिताः सन्ति । कल्पसूत्रे तु नेमिनाथस्याष्टादश गणधरा इत्यादि यदन्तरं पतति तन्मतान्तरं ज्ञेयमिति । ४४८ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । ('अरिट्ठनेमि' शब्दे प्रथमभागे ७६२ पृष्ठे कथोक्ता) ('रहणेमि' शब्दे विस्तृता कथा, राजीमतिरथनेमिसम्वादश्चाभिधास्यते)

णेमिचंद-नेमिचन्द्र-पुं० । वि० स० १२०० मिते विद्यमाने वैरस्वामिशिष्ये सागरेन्दुस्वामिगुरौ, अयमाचार्यः तर्कशास्त्रेऽतीव कुशल आसीत् । जै० इ० ।

णेमित्तकारण-नैमित्तकारण-न० । निमित्तस्येदं नैमित्तं, तदेव कारणं नैमित्तकारणम् । नैमित्तिककारणे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० ।

णेमित्तिय-नैमित्तिक-न० । निमित्तमतीताऽऽदिपरिज्ञानोपायशास्त्रम्, तदेव नैमित्तिकम् । कूटपर्वताऽऽदौ, पापश्रुते, स्था० ९ ठा० । निमित्तं त्रैकालिकं लाभालाभप्रतिपादकं शास्त्रं, तद् वेत्त्यधीते वा नैमित्तिकः । ध० ३ अधि० । अष्टाङ्गनिमित्तसम्पन्ने, नि० चू० १ उ० । प्रव० । दश० । आचा० ।

णेमिपडिरूवग-नेमिप्रतिरूपक-न० । नेमिश्चक्रधारा, तद्योगाच्चक्रमपि नेमिस्तत्प्रतिरूपकम् । वृत्ततया तत्सदृशम् । वृत्तस्थाने, भ० १४ श० ६ उ० ।

णेय-ज्ञेय-त्रि० । ज्ञायत इति ज्ञेयम् । ज्ञानविषये, नि० चू० १ उ० । ज्ञानक्रियाविषये परिच्छेद्ये, व्य० १ उ० । विशे० । ज्ञातव्ये, आव० ४ अ० । पञ्चा० ।

णेयव्व-नेतव्य-त्रि० । संवेदनविषयतां प्रापणीये, वृ० १ उ० ।

णेया-नेतृ-त्रि० । नयनशीलो नेता, नयतेस्ताच्छीलिकस्तृन् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । प्रणायके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । स० ।

णेयाउय-नैयायिक-पु० । न्यायेन चरति नैयायिकः । न्यायाऽबाधिते, आ० चू० ४ अ० । न्यायानुगते, औ० । न्यायनिष्ठे, उत्त० २ अ० । सूत्र० । न्यायमनतिक्रान्ते, दशा० ९ अ० । न्यायोपपन्ने, उत्त० ३ अ० । सूत्र० । गौतमशास्त्रज्ञे अक्षपादे, पु० । ते च प्रमाणप्रमेयाऽऽदीनां पदार्थानामन्वयव्यतिरेकपरिज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इति व्यवस्थिताः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । नयनशीलो नैयायिकः, न्याये वा भवो नैयायिकः । मोक्षगमके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । ध० । भ० । आव० । मोक्षनयनशीले, " णेयाउयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए । " नयनशीलो नेता, नयतेस्ताच्छीलिकस्तृन् । स चाऽत्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मको मोक्षमार्गः । श्रुतचारित्ररूपो वा धर्मो मोक्षनयनशीलवान् गृह्यते; मार्गं धर्मं वा मोक्षं प्रति नेतारं सुष्ठु तीर्थकराऽऽदिभिराख्यातं स्वाख्यातं तमुपादाय गृहीत्वा सम्यक् मोक्षाय चेष्टते ध्यानाध्ययनाऽऽदावुद्यमं विधत्ते । सूत्र० २ श्रु० ८ अ० ।

णेरइय--नैरयिक-पु० । निर्गतमविद्यमानमयमिष्टफल येभ्यस्ते निरया., तेषु भवा नैरयिका. । क्लिष्टसत्त्वविशेषेषु, स्या० । "तिविहा णेरइया पण्णत्ता । त जहा-कतिसंचया, अकतिसंचया, अवत्तव्वगसंचया, एवं एगिंदियवज्जा० जाव वेमाणिया।" (एवमिति) नारकवच्छेषाश्चतुर्विंशतिदण्डकोक्ता वाच्या', एकेन्द्रियवर्जाः, यतस्तेषु प्रतिसमयमसङ्ख्याता अनन्ता वा अकतिशब्दवाच्या एवोत्पद्यन्ते, न त्वेक., सङ्ख्याता वा इति ।

आह च-

"अणुसमयमसखिज्जा, सखिज्जाओ य तिरियमणुया य ।
एगिंदिएसु गच्छे, आरा ईसाणदेवा य ॥ १ ॥
एगो असखभागो, वट्टइ उव्वट्टणोववायम्मि ।
एगनिगोए णिच्च, एव सेसेसु वि स एव ।त्ति" ॥ २ ॥

स्था० ३ ठा० १ उ० । दशा० । नरकभवमनुप्राप्तेषु जन्तुषु,दशा० १ चू० । रत्नशर्कराऽऽदिमहातमःपृथ्वीपर्यन्तनरकाऽऽवासिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । प्रज्ञा० । जी० । सूत्र० । उत्त० । स्था० । (नैरयिकसिद्धयादिकोऽधिकार. 'णरग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६०४ पृष्ठे उक्त) ('अहुणोववण्णग' शब्दे प्रथमभागे ८८६ पृष्ठेऽत्रत्या सर्वा वक्तव्यता गता) (नैरयिकाणाम् अन्तर, कालस्थिति, ज्ञानं, दृष्टि, समुद्घातश्चेत्येवमादयोऽन्तराऽऽदिशब्देषु, जीवशब्दे च पुद्गलभेदादिश्लिष्टकर्मनिर्जरणाऽऽदि च सर्वं विलोक्यम)

नैरयिकानाह-

नेरइया सत्तविहा, पुढवीसू सत्तसू भवे ।
(पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे)
रयणाभ सक्कराभा, वालुयाभा य आहिया ॥ १५७ ॥
पकाभा धूमाभा, तमाभा तमतमा तहा ।
इति णेरइया एए, सत्तधा परिकित्तिया ॥ १५८ ॥
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे उ वियाहिया ।
एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥१५६॥
संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ १६० ॥
सागरोवममेगं तु, उक्कोसेणं वियाहिया ।
पढमाए जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥ १६१ ॥
तिन्नेव सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
दोचाए उ जहन्नेणं, एगयं सागरोवमं ॥ १६२ ॥
सत्तेव सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
तइयाए जहन्नेणं, तिन्नेव सागरोवमा ॥ १६३ ॥
दससागरोवमा ऊ, उक्कोसेणं वियाहिया ।
चउत्थीए जहन्नेणं, सत्तेव सागरोवमा ॥ १६४ ॥
सत्तरस सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
पंचमाए जहन्नेण, दसेव सागरोवमा ॥ १६५ ॥
बावीस सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
छट्ठीए य जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥ १६६ ॥
तेत्तीससागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
सत्तमाए जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥ १६७ ॥
जा चेव य आउठिई, णेरइयाणं वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई, जहण्णुक्कोसिया भवे ॥ १६८ ॥
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
विजढम्मि सए काए, णेरइयाणं तु अंतरं ॥ १६९ ॥
एतेसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणदेसओ वा वि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १७० ॥

चतुर्दशसूत्राणि-नैरयिका. सप्तविधा. सप्तप्रकारा , किमिति?, यतः, पृथिवीषु सप्तसु (भवे त्ति) भवेयु., ततस्तद्भेदाच्चेषां सप्तविधत्वमिति भाव । काः पुनस्ता. सप्तेत्याह-(रयणाभ त्ति) रत्नानां वैडूर्याऽऽदीनामाभा स्वरूपतः प्रतिभासनमस्यामिति रत्नाभा, इत्थ चैतत्तत्र रत्नकाण्डस्य भवनपतिभवनानां च विविधरत्नवतां सम्भवात । एवं सर्वत्र, नवर शर्करा श्लक्ष्णपाषाणशकलरूपा । तदाह-(धूमाभे त्ति) यद्यपि तत्र धूमासंभवस्तथापि तदाकारपरिणतानां पुद्गलाना सम्भवात्, तमोरूपत्वाच्च तम प्रभा, प्रकृष्टतरतमस्त्वाच्च तमस्तमा । इतीत्यमुना पृथिवीसप्तविधस्वलक्षणेन प्रकारेण नैरयिका एते सप्तधा परिकीर्तिता. । "लोगस्स" इत्यादि सूत्रद्वय क्षेत्रकालाभिधायि प्राग्वत्; सादिसपर्यवसितत्व द्विविधस्थित्यभिधानद्वारतो भावयितुमाह-(सागरोपममेग तु) उत्कृष्टेन व्याख्याता, प्रथमायां प्रक्रमान्नरकपृथिव्यां, जघन्येन दशवर्षसहस्राणि यस्यां सा दशवर्षसहस्रिका, प्रस्तावादायु'स्थितेर्नैरयिकाणामितीहोत्तरसूत्रेषु च द्रष्टव्यम् । त्रीण्येव (सागर त्ति) सागरोपमानि, तुः पूरणे, उत्कृष्टेन व्याख्याता । द्वितीयायाम्-(जहन्नेण ति) उत्तरत्र तुशब्दस्य पुन.शब्दार्थस्य भिन्नक्रमत्वेनेह सबन्धाज्जघन्येन पुनरेक सागरोपमम्। सप्तैव सागरोपमानि तूत्कृष्टेन व्याख्याता । तृतीयायां जघन्येन पुनस्त्रीण्येव सागरोपमाणि । दश सागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता । चतुर्थ्यां जघन्येन सप्तचतु.सागरोपमाणि,सप्तदशसागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता । पञ्चम्यां जघन्येन दश चैव तु सागरोपमानि, द्वाविंशतिसागरोपमानि तूत्कृष्टेन व्याख्याता । षष्ठ्यां जघन्येन सप्तदश सागरोपमानि, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता । सप्तम्यां नरकपृथिव्यां जघन्येन द्वाविंशतिसागरोपमाणि आयु स्थितिरुक्ता । कायस्थितिमाह-या चेति, चशब्दो वक्तव्यतान्तरोपन्यासे, एवेति भिन्नक्रम , च' पुनरर्थे., ततो यैव च पुनरायु'स्थितिर्नैरयिकाणां व्याख्याता (से त्ति) एवकारस्य गम्यमानत्वात्सैव तेषां कायस्थिति. जघन्योत्कृष्टा भवेदित्थ चैतत् उद्वृत्तानां पुनस्तत्रैवानुपपत्तेः। ते हि तत उद्वृत्य गर्भजपर्याप्तक. सङ्ख्येयवर्षायुष्ष्वेवोपजायते । यत उक्तम्-" णरगतो उव्वट्टा, गब्भे पज्जत्तसंखजीवीसु । णियमेण होइ वासो, लद्धीण उ सभवो बुच्छ" ॥१॥ अन्तराभिधानाभिधायि सूत्रद्वय प्राग्वत्, नवरमन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यमन्तर यदाऽन्यतरनरकादुद्वृत्त्य कश्चिज्जीवो गर्भजपर्याप्तकं मत्स्याऽऽदिषूत्पद्यते, तत्र चातिसक्लिष्टाध्यवसायोऽन्तर्मुहूर्त्तमायुः प्रतिपाल्य मृत्वाऽन्यतमनरक एवोपजायते, तदा लभ्यते इति भावनीयमिति चतुर्दशसूत्रार्थ । उत्त० पाई० ३६ अ० ।

(नैरयिकाणा स्थितिः 'ठिइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे१७१७पृष्ठे गता)

णेरइयत्ता-नैरयिकता-स्त्री० । नैरयिकत्वे नैरयिकभावे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

णेरइयावास-नैरयिकावास-पुं०। नैरयिकाणामावासभूमौ, जी० १ प्रति० । स्था० ।

णेरई-नैर्ऋती-स्त्री० । निर्ऋतिर्देवताऽस्या नैर्ऋती । भ० ७ श० १ उ० । स्था० । पूर्वस्याः पश्चिमायाश्चान्तरालविदिशि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० । स्था० ।

णेरप्प-नैरात्म्य-न० । आत्मराहित्ये, शौद्धोदनीयाः पुनरेव-माहुः-नैरात्म्यभावना । नं० ।

णेरुत्त-नैरुक्त-न० । अभिधानाक्षरानुसारतो निश्चितार्थस्य व-चनं भणनं निरुक्तं, तत्र भव नैरुक्तम् । निरुक्तवशेनाऽर्थाभिधा-यके नामनि, यथा मह्यां शेते महिष इत्यादि । अनु० । निरु-क्तशास्त्रविदि, पुं० । व्य० ७ उ० ।

णेल-नैल-न० । नीलीविकारे, भ० १ श० १ उ० । प्रज्ञा० ।

णेलच्छ-पण्डित-पुं० । " गोणाऽऽदय. " ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इ-ति पण्डितशब्दस्य णेलच्छाऽऽदेश.। प्रा० २ पाद । षण्ढे, दे० ना० ४ वर्ग ४४ गाथा ।

णेल्लिच्छी-देशी-कूपतुलायाम्, दे० ना० ४ वर्ग ४४ गाथा ।

णेवइय-नैतिकिक-त्रि० । नीतिकारिणि, व्य० १ उ० ।

णेवच्छण-देशी-अवतारणे, दे० ना० ४ वर्ग ४० गाथा ।

णेवत्थ-नेपथ्य-न० । वेषे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । आ० म० । औ० । रा० । स्त्रीपुरुषाणां वेषे, स्था० ४ ठा० २ उ० । प-रिधानाऽऽदिरचने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । केशचीवरसमारचने, दर्श० ४ तत्त्व । नि० । औ० । निर्मलवेषे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । स्था० ।

णेवाइय-नैपातिक-न० । निपतन्त्यर्हदादिपदानामादिपर्यन्तेषु इति निपात.। निपाते भव नैपातिकम् । " अध्यात्माऽऽदिभ्य इकण् " ॥६ । ३ । ७८॥ इति अध्यात्माऽऽदित्वादिकण् । यदि वा निपात एव नैपातिकम् । निपातसञ्ज्ञके पदे, विशे० । आ० म० ।

णेवाल-नेपाल-पुं० । देशभेदे, नेपालनामा ऋषभदेवपुत्र आ-सीत्तद्राज्यभूतो देशोऽपि नेपाल. । आव० ४ अ० । कल्प० । आ० चू० ।

णेवेज्जपूया-नैवेद्यपूजा-स्त्री०। घृतदधिदुग्धाऽऽदिनानाव्यञ्जन-रससमग्राऽऽहारस्य जिनानां पुर उपढौकने, " घयदहियनाणावजणरससमग्ग पयदिण जिणाण पुरओ ढाऊण भत्तीए स-सत्तीए भोयण कायव्व । " दर्श० १ तत्त्व । (अत्र दृष्टान्तो दर्श-नशुद्धिग्रन्थादवसेयः)

णेसज्ज-नैषद्य-पुं० । समपुततयोपविष्टे, प्रव० ६७ द्वार । निष-द्यावति, पञ्चा० १८ विव० ।

णेसज्जिय-नैषधिक-पुं० । निषद्यया चरके, निषद्योपविष्टे, बृ०।

निषद्या पञ्च भवन्ति-

पंचेव निसिज्जाओ, तासिँ विभासा उ कायव्वा ।

निषद्या. पञ्चैव भवन्ति, तासां विभाषा कर्त्तव्या । सा चेयम्-निषद्या नामोपवेशनविशेषा , ता. पञ्चविधा ।तद्यथा-समपाद-पुता, गोनिषद्यिका, हस्तिशुण्डिका, पर्यङ्का, अर्द्धपर्यङ्का चेति । तत्र यस्यां समौ पादौ पुतौ च स्पृशत सा समपादपुता, यस्यां तु गोरिवोपवेशन सा गोनिषद्यिका, यत्र तु ताभ्यामुपविश्यैक पा-दमुत्पाटयति सा हस्तिशुण्डिका । पर्यङ्का प्रतीता । अर्द्धपर्यङ्का च यस्यामेक जानुमुत्पाटयति, एवंविधनिषद्यया चरन्तीति नैष-धिका. । बृ० ५ उ० । सूत्र० । स्था० । आचा० ।

णेसत्थिया-नैसृष्टिकी-स्त्री० । निसर्जन निसृष्ट, क्षेपणमित्यर्थः। तत्र भवा नैसृष्टिकी, निसृजतः कर्मबन्धरूपायां निसर्गरूपायां वा क्रियायाम्, स्था० २ ठा० १ उ० । " णेसत्थिया किरिया दुविहा पण्णत्ता । त जहा-जीवणेसत्थिया चेव, अजीवणेसत्थिया चेव । " राजाऽऽदिसमादेशाद्यदुद-कस्य यन्त्राऽऽदिभिर्निसर्जन सा जीवनैसृष्टिकीति, यत्तु काण्डाऽऽदीनां धनुरादिभि सा अजीवनैसृष्टिकीति । अथ-वा-गुर्वादौ जीव शिष्य पुत्र वा निसृजतो ददत एका, अजीवं पुनरेषणीयभक्तपानाऽऽदिकं निसृजतो ददतोऽन्येति । स्था० २ ठा० १ उ० । आ० चू० ।

णेसत्थी-देशी-वणिक्सचिवे, दे० ना० ४ वर्ग ४४ गाथा ।

णेसप्प-नैसर्प-पुं० । निधानभेदे, तदभेदविवक्षया देवभेदे च । स्था० । "णेसप्पम्मि निवेसा, गामागरनगरपट्टणाण च । दोण-मुहमडंबाण, खंधाराणं गिहाण च ॥ १ ॥ " स्था० ९ ठा० । ('णिहि' शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे २१५१ पृष्ठे व्याख्यातम्)

णेसर-देशी-रवौ, दे० ना० ४ वर्ग ४४ गाथा ।

णेसाय-निषाद-पुं० । निषीदन्ति स्वरा यस्मात्स निषादः स्व-रविशेषे, " निषीदन्ति स्वरा यस्मा-न्निषादस्तेन हेतुना । सर्वा-श्चाभिभवत्येष , यदादित्योऽस्य दैवतम् ॥१॥ " स्था० ७ ठा० ।

णेह-स्नेह-पुं० । " क-ग-च-ज त-द-प-य-वां प्रायो लुक् " ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति सलुक् । प्रा० १ पाद । मोहोदयजे प्रीतिविशेषे पुत्राऽऽदिष्वत्यन्तानुरागे, आतु० । जीत० । तै-लाऽऽदिगतरसे, यद्वशाद् दाहानुकूल्यम । वाच० ।

णेहज्झाण-स्नेहध्यान-न०। स्नेहो मोहोदयज प्रीतिविशेष पु-त्राऽऽदिष्वत्यन्तानुराग.। मरुदेवीसुनन्दाहरणकमाताऽऽदीनामि-व दुर्ध्याने, आतु० ।

णेहपच्चय-स्नेहप्रत्यय-न० । स्नेहनिमित्ते क० प्र० १ प्रक० ।

णेहपच्चयफड्डग-स्नेहप्रत्ययस्पर्धक-न० । स्नेहप्रत्यय स्नेहनि-मित्तमेकैकस्नेहाविभागवृद्धानां पुद्गलवर्गणानां समुदायरूप स्प-र्धक स्नेहप्रत्ययस्पर्धकम । स्नेहनिमित्ते स्पर्धके, क० प्र० १ प्रक० ।

णेहफड्डगपरूवणा-स्नेहस्पर्धकप्ररूपणा-स्त्री० । प्रयोगेण गृ-हीताना पुद्गलानां स्नेहमधिकृत्य स्पर्धकप्ररूपणायाम, क० प्र० १ प्रक० ।

णेहालु-स्नेहवत्-त्रि० । " आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्त-मणा-मतोः " ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति मत्वर्थे आलुः । स्निग्धे, प्रा० २ पाद ।

णेहुत्तुप्पियगत्त-स्नेहोत्त्रेपितगात्र-त्रि० । स्नेहस्नेहितशरीरे, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

णो-नो-अव्य० । अवधारणे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । निषेधे, विशे० । सूत्र० । आ० म० । भ० । सर्वनिषेधे, नं० । देशनिषे-धे च । दशा० १ अ० । आचा० । विशे० । उत्त० । व्य० । " नो कप्पइ आमपलम्बे " इति सूत्रे नोकारशब्दस्यैव भावनां करोति-"नोकारो खलु देस, पडिसेहयई पकप्पिज्जा।" नोशब्दः

प्रायो देशप्रतिषेधे वर्त्तते । यथा नो घट इत्युक्ते घटैकदेशः कपालाऽऽदिका प्रतीयते, एवमत्रापि नोकारो देशं प्रतिषेधयति । बृ० १ उ० । कल्प० । "नो धम्मो धम्मगदेसो, तब्विवरीयं च अ इयं ।" नोकारो देशप्रतिषेधक ,तदन्यभावसूचको वा । यथा-नो घट इत्युक्ते घटैकदेशः कपालाऽऽदिकोऽवयवः, तद् विपरीतमन्यद् द्रव्य पटाऽऽदिकम् । बृ०१ उ० । सारधर्मे,कर्म०१ कर्म० ।

णोअक्खरसंबद्ध–नोअक्षरसंबद्ध–पुं० । अक्षरसम्बद्धादितरो नोअक्षरसम्बद्धः । अक्षरसबद्धभिन्ने, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णोअजीव–नोऽजीव–पुं० । अजीवाद्यपदिते, नयो० ।

जीवो वा जीवदेशो वा, प्रदेशो वाऽप्यजीवगः ।
अनयैव दिशा ज्ञेयो, नोअजीवपदादपि ॥ ४४ ॥

(जीवो वेति) अनयैवोक्तयैव दिशा नोअजीवपदादपि नोशब्दस्य सर्वनिषेधकत्वे जीवो जीवपदार्थो वा बोध्य , तस्य देशनिषेधकत्वे चाजीवदेशो वाऽजीवग अजीवाश्रित प्रदेशो वा । "अमावेना. प्रतिषेधे" इत्यनुशासनतौल्येऽपि ससर्गाभावोऽन्यो-न्याभावश्च नञोऽर्थ । नोशब्दस्य स्वभाव एकदेशो वा, तत्र चावयिताऽवच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वतदेकदेशत्वाऽऽदि व्युत्पत्तिवलसभ्यमिति सिद्धान्तपरिभाषेति निर्णयः ॥ ४४ ॥ नयो० ।

णोअमण–नोअमनस्–न० । अविवक्षितमन्यभिधाविशेषे मनोभावे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

णोअवयण–नोअवचन–न० । वचनमात्रे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

णोआउज्जसद्द–नोआतोद्यशब्द–पुं० । आतोद्यादितरो नोआतोद्यशब्दः । स्था० २ ठा० ३ उ० । " णोआउज्जसद्दे दुविहे पण्णत्ते । त जहा-भूसणसद्दे चेव,नो भूसणसद्दे चेव ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । (व्याख्यास्थाने व्याख्या)

णोआगम–नोआगम–पुं० । आगमस्याभावे, आगमस्यैकदेशे, आगमेन सह मिश्रणे च । नोशब्दस्य त्रिष्वप्यर्थेषु वर्त्तमानत्वात् । आ० म० १ अ० १ खण्ड । पदार्थाऽपरिज्ञाने,न० । ध० । अनु० ।

णोआगास–नोआकाश–न० । आकाशादन्यस्मिन् धर्मास्तिकायाऽऽदौ, स्था० २ ठा० १ उ० ।

णोइंदिय–नोइन्द्रिय–न० । मनसि, साहश्यार्थत्वान्नोशब्दस्यार्थपरिच्छेदकत्वेनेन्द्रियाणां सदृशमिति तत्सहचरमिति । स्था० ६ ठा० । भ० ।

णोइंदियत्थ–नोइन्द्रियार्थ–पुं० । नोइन्द्रियस्य विषये, स्था० । औदारिकाऽऽदिस्वार्थपरिच्छेदकत्वलक्षणधर्मद्वयोपेतमिन्द्रिय, तस्यौदारिकाऽऽदित्वधर्मलक्षणदेशनिषेधान्नोइन्द्रिय मन , साहश्यार्थत्वाद्वा नोशब्दस्यार्थपरिच्छेदकत्वेनेन्द्रियाणा सदृशमिति तत्सहचरमिति वा नोइन्द्रिय मनः, तस्यार्थो विषयो जीवाऽऽदिर्नोइन्द्रियार्थ इति । स्था० ६ ठा० ।

णोउस्सासग–नोउच्छ्वासक–पुं० । उच्छ्वासपर्याप्तिविकले, "णेरइया दुविहा पण्णत्ता । त जहा-उस्सासगा चेव, णो उस्सासगा चेव, जाव० वेमाणिया । " स्था० २ ठा० २ उ० ।

णोएगिंदिय–नोएकेन्द्रिय–पुं० । त्रसाऽऽदिषु, आव० ४ अ० ।

णोकम्म–नोकर्मन्–न० । मनोवचनकायाऽऽत्मकेषु कर्मसु, द्वया० १३ अध्या० । आ० चू० ।

णोकसाय–नोकषाय–पुं० । कषायैः सहचरा नोकषायाः । हास्याऽऽदिषु, ते च नव, हास्याऽऽदयः षट्, त्रयो वेदा । अत्र नोशब्दः साहचर्यवाची । एषां हि केवलाना न प्राधान्यमस्ति, किं तु कषायैरनन्तानुबन्ध्यादिभिः सहोदय यान्ति, तद्विपाकसदृशमेव विपाक दर्शयन्ति,वुधप्रहवदन्यससर्गमनुवर्तन्ते इति भाव.। कषायोद्दीपनाद् वा नोकषाया. । उक्तं च-" कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि । हास्याऽऽदिनवकस्योक्ता,नोकषायाकषायता" ॥ १ ॥ कर्म० १ कर्म० । प० स० । धा० ।

णोकसायमोहणिज्ज–नोकषायमोहनीय–न० । नोकषायरूपे मोहनीयकर्मणि, तच्च द्विविधम्-हास्याऽऽदिषट्क, वेदत्रिक च । कर्म० १ कर्म० ।

णोकसायवेयणिज्ज–नोकषायवेदनीय–न० । नोकषायतया वेद्यते यत्कर्म तन्नोकषायवेदनीयम् । वेदनीयकर्मभेदे,स्था० ।

नवविहे नोकसायवेयणिज्जे कम्मे पण्णत्ते । तं जहा-इत्थीवेए, पुरिसवेए, नपुंसगवेए, हासे, रइ, अरइ, भए, सोगे, दुगुंछा ।

नोशब्द. साहचर्यार्थं ,कषायै क्रोधाऽऽदिभिः सहचरा नोकषायाः,केवलाना नैषां प्राधान्यं, किं तु वैरनन्तानुबन्ध्यादिभिः सहोदयं यान्ति, तद्विपाकसदृशमेव विपाकमादर्शयन्तीति, वुधग्रहवदन्यसंसर्गमनुवर्तन्ते । एव च नोकषायतया वेद्यते यत्कर्म तन्नोकषायवेदनीयमिति । स्था० ९ ठा० ।

णोकेवलणाण–नोकेवलज्ञान–न० । " णोकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-ओहिणाणे चेव,मणपज्जवणाणे चेव ।" स्था० २ ठा० १ उ० ।

णोगार–नोकार–पुं० । निषेधार्थके नोइत्यक्षरे, विशे० ।

णोगुण–नोगुण–पुं० । गुणेभ्यो निष्पन्नं यत्र नो भवति तन्नोगुणम् । अयथार्थे, अनु० ।

से किं त नोगुणे ? । नोगुणे अकुंतो सकुंतो अमुग्गो समुग्गो अमुद्दो समुद्दो अलालं पलालं अउलिया सउलिया नोपलं असइ त्ति पलासो अमाइवाहए माइवाहए अवीअवावए वीअवावए नोइंदगोवइए इंदगोवे । सेत्तं नोगुणे ।

(से किं त नोगुणे इत्यादि) गुणनिष्पन्न यत्र नो भवति तन्नोगुणम्, अयथार्थमित्यर्थ । (अकुंते सकुंते इत्यादि) अविद्यमान' कुन्तोऽस्य प्रहरणविशेष एव(सकुत त्ति)पक्षी प्रोच्यत इत्ययथार्थता । एवमविद्यमानमुद्गोऽपि कर्पूराऽऽद्याधारविशेष. समुद्ग., अङ्गुल्याभरणविशेषमुद्रारहितोऽमुद्र. तथा समुद्रो जलराशि' (अलाल पलाल त्ति) इह प्रकृष्टा लाला यत्र तत्प्रलाल वस्तु, प्राकृते पलालमुच्यते । यत्र तु पलालाभावस्तत्क-थ तृणविशेषरूप पलालमुच्यत इति प्राकृतशैलीमङ्गीकृत्यात्राऽयथार्थता मन्तव्या । संस्कृते तु तृणविशेषरूप पलाल निर्यत्पात्रिकमेवोच्यते इति न यथार्थाऽयथार्थचिन्ता सभवति । (अउलिया सउलिय त्ति) अत्रापि कुलिकाभि. सह वर्तमानैव प्राकृते ' सउलिय त्ति ' भण्यते, या तु कुलिकारहितैव पक्षिणी सा कथ " सउलिय त्ति " ?, एवमिहापि प्राकृतशै-

णीमेवाङ्गीकृत्याऽयथार्थता । संस्कृते तु शकुनिकैव साऽभिधीयते इति कुतस्तच्चिन्तासंभव इति । एवमन्यथाऽप्यविरोधतः सुधिया भावना कार्या । पल मांसमनश्नन्नपि पलाश इत्यादि तु सुगमम् । नवरं मातृवाहकाऽऽदयो विकलेन्द्रियजीवविशेषाः। "सेत्त नोगुणे त्ति" निगमनम् । अनु० ।

णोजीव नोजीव-पुं० । जीवाजीवव्यतिरिक्ते पदार्थे,आ० चू० १ अ० । आ० म० । विशे० । स्था० । (जीवाजीवव्यतिरिक्त राश्यन्तरमस्तीति ' तेरासिय ' शब्दे वक्ष्यते)

नोजीव इति नोशब्दे-ऽजीवः सर्वनिषेधके ।
देशप्रदेशौ जीवस्य, तस्मिन् देशनिषेधके ॥ ४३ ॥

(नो इति) नोजीव इतिशब्दवाच्ये नोशब्दे सर्वनिषेधके विवक्षितेऽजीव एव । देशनिषेधके तु नोशब्दे आश्रीयमाणे देशनिषेधस्य देशाभ्यनुज्ञानान्तरीयकत्वाज्जीवस्य देशप्रदेशावेव नोजीवशब्दव्यपदेश्यावभ्युपगन्तव्यौ ॥ ४३ ॥ नयो० ।

णोणायार-नोज्ञानाचार-पुं० । ज्ञानाचाराभावे, " णोणायारे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा-दंसणायारे चेव, णोदंसणायारे चेव । " स्था २ ठा० ३ उ० । (स्वस्वशब्दे व्याख्या)

णोतस-नोत्रस-पुं० । त्रसा न भवन्तीति नोत्रसाः । आहाराऽऽदिषु, आव० ४ अ० ।

णोतहा-नोतथा-अव्य० । अन्यथाऽपीतिशब्दस्यार्थे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

णोदंसणायार-नोदर्शनाचार-पुं० । नोदर्शनाऽऽचारश्चारित्राऽऽदि. । "दुविहे णोदंसणायारे पन्नत्ते । तं जहा-चरित्तायारे चेव, नोचरित्तायारे चेव ।" स्था०२ ठा०३ उ० । (स्वस्वस्थाने व्याख्या)

णोदिय-नोदित-त्रि० । प्रेरिते, गमनाभिमुखीकृते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

णोपरमाणुपोग्गल-नोपरमाणुपुद्गल-पुं० । स्कन्धेषु, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णोबद्धपासपुट्ट-नोबद्धपार्श्वस्पृष्ट-पुं० । नोबद्धा किं तु पार्श्वस्पृष्टा इत्येकपदनिषेधे श्रोत्रेन्द्रियग्रहणगोचरा. । एकपदनिषेधे श्रोत्रेन्द्रियग्रहणगोचरेषु, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णोभासासद्द-नोभाषाशब्द-पुं० । अव्यक्तशब्दे, भाषाशब्दादितरो नोभाषाशब्दः । " णोभासासद्दे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा-आउज्जसद्दे चेव, णोआउज्जसद्दे चेव । " स्था० २ ठा० ३ उ० । (स्वस्वस्थाने व्याख्या)

णोभिउरधम्म-नोभिदुरधर्म-पुं० । स्वत एव नो भिद्यत इति नोभिदुरधर्मम् । सुदृढधर्मे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

णोभूसणसद्द-नोभूषणशब्द-पुं० । भूषणशब्दव्यतिरिक्ते, भूषण नूपुराऽऽदि । "नोभूसणसद्दे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-तालसद्दे चेव, लत्तियासद्दे चेव ।" स्था०२ ठा० ३ उ० । (स्वस्वस्थाने व्याख्या)

णोमाउयापय-नोमातृकापद-न० । मातृकापदव्यतिरिक्ते अपराधपदे, " नोमाउय पि दुविहं, पंच पदगा च बोधव्व । " दश० ७ अ० । (अपराधपदव्याख्यानम् ' अवराहपय ' शब्दे प्रथमभागे ७६८ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

णोमालिया-नवमालिका-स्त्री० । " ओत् पूतर-बदर-नवमालिका-नवफलिका-पूगफले " ॥८।१।१७०॥ इति उत ओत्वम् । प्रा० १ पाद । "नेवार" इतिख्याते सुगन्धपुष्पप्रधाने वृक्षभेदे, जं० १ वक्ष० । ज्ञा० । औ० ।

णोलऽआ-देशी-चञ्चौ, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णोलच्छा-देशी-चञ्चौ, दे० ना० ४ वर्ग ३६ गाथा ।

णोल्ल-क्षिप्-धा० । प्रक्षेपणे,"क्षिपेर्गलत्थाड्डक्ख-सोल्ल-पेल्लणोल्ल-छुह-हुल-परी-घत्ताः " ॥८।४।१४३॥ इति क्षिपेर्णोल्लाऽऽदेशः । 'णोल्लइ' । क्षिपति । प्रा० ४ पाद ।

णोल्लिय-नोदित-त्रि० । प्रेरिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

णोसुमण-नोसुमनस्-त्रि० । अपहृतमनःसङ्कल्पे, आव० ३ अ० ।

णोसुयकरण-नोश्रुतकरण-न० । 'करण' शब्दे व्याख्याते करणभेदे, विशे० । (श्रुतकरणव्याख्या ' करण ' शब्दे तृतीयभागे ३६८ पृष्ठे गता)

णोहलिया-नवफलिका-स्त्री० । " ओत् पूतर-बदर-नवमालिका-नवफलिका-पूगफले " ॥ ८ । १ । १७० ॥ इति वन ओत्वम् । प्रा० १ पाद । अचिरोत्पन्नफलिकायाम्, वाच० ।

ण्हं-णहं-अव्य० । नि० । पादपूरणे, चू० १ उ० । आ० म० । वाक्यालङ्कारे, कल्प० ६ क्षण ।

ण्हवण-स्नपन-न० । जलक्षालने, नि० चू० १ उ० । सौभाग्यपुत्राऽऽद्यर्थं वध्वादेर्मज्जने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

ण्हाअ-स्नात-त्रि० " सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः " ॥ ८ । २ । ७५ ॥ इति स्नभागस्य णकाराऽऽक्रान्तो हकारः । कृतस्नाने, प्रा० २ पाद । सामान्यत. कृतस्नाने, दशा १० अ० । " ण्हाया कयबलिकम्मा । " ज्ञा० १ श्रु०२ अ० ।

ण्हाण-स्नान-न० । देशतः सर्वतो वा शरीरस्य प्रक्षालने, व्य० १० उ० । वृत्त० । आ० म० ।

अथ श्रावकस्य स्नानविधि.-

सम्यक् स्नात्वोचिते काले. संस्नाप्य च जिनान् क्रमात् ।
पुष्पाऽऽहारस्तुतिभिश्च, पूजयेदिति तद्विधिः ॥६१॥

त्रसितकृपनककुन्थ्वाद्यसंसक्तायामशुषिराऽऽदिदोषाऽदूषितभूमौ परिमितवस्त्रपूतजलेन सपातिमसत्त्वरक्षणाऽऽदियतनारूप. । उक्त च दिनकृत्ये-" तसाऽऽइजीवरहिए, भूमिभागे विसुद्धए । फासुएण तु नीरेणं, इयरेण गलिएण उ ॥ १ ॥ " "काऊण विहिणा ण्हाण."इति । तत्र विधिना परिमितोदकसपातिमसत्त्वरक्षणाऽऽदियतनयेति तच्चूर्णिलेश. । पञ्चाशकेऽपि-" भूमीपेहणजलछा-णणाइ जयणा उ होइ ण्हाणाओ । एत्तो विसुद्धभावो, अणुहवसिद्धो च्चिय बुहाण ॥ १ ॥ " व्यवहारशास्त्रे तु-"नग्नार्त. प्रोषिताऽऽयात , सचेलो भुक्तभूषित. । नैव स्नायादनुव्रज्य, बन्धून् कृत्वा च मङ्गलम ॥ १ ॥" इत्यादि । स्नान च द्रव्यभावाभ्या द्विधा -तत्र द्रव्यस्नान जलेन शरीरक्षालनम । तच्च देशत. सर्वतो वा, तत्र देशतो मलोत्सर्गदन्तधावनजिह्वालेखनकरचरणमुखाऽऽदिक्षालनगण्डूषकरणाऽऽदि. सर्वतस्तु सर्वशरीरक्षालनमिति । तत्र च मलोत्सर्गो मौनेन निरवद्यादेस्थानाऽऽदिविधिनैवोचित । यत.-

" मूत्रोत्सर्गं मलोत्सर्गं, मैथुन स्नानभोजनम ।
सन्ध्यादिकर्म पूजां च, कुर्याज्जाप च मौनवान् ॥ १ ॥"

विवेकविलासेऽपि-

" मौनी वस्त्रेऽऽवृतः कुर्या-द्दिनस्नानाद्यपेऽपि च ।
वदन्मुखं शुभ्रसूर्ये, नार्थो वाम्यानन पुनः ॥ १ ॥ " इति ।

दन्तधावनमपि-

" अवक्राग्रन्थिमत्कूर्चं, सूक्ष्माग्रं च दशाङ्गुलम् ।
कनिष्ठाऽग्रसमस्थौल्यं, ज्ञातवृक्षं सुभूमिजम् ॥ १ ॥
कनिष्ठिकाऽनामिकयो-रन्तरे दन्तधावनम् ।
आदाय दक्षिणां दंष्ट्रां, वामां वा संस्पृशंस्तले ॥ २ ॥
तद्गतस्वान्तः स्वस्थो, दन्तमांसव्यथां त्यजन् ।
उत्तराभिमुखः प्राची-मुखो वा निश्चलाऽऽसनः ॥ ३ ॥ "
इत्यादिमीतिशास्त्रोक्तविधिना विधेयम् ।

गरुडपुराणेऽपि-

" स्नाने दन्तधावने, मुखशुद्धिर्विधीयते पुनः ।
कार्यो ज्ञातवृक्षाद्यैः-स्तिन्दुकैरन्तु सर्वदा ॥ १ ॥ "

इति विधिना कार्योऽन्यथा न कार्यः, प्राणातिपातमिरतत्वात् दन्तधावनाऽऽदिविनाऽपि शुद्धिरेव, अयमो महाफलाचारः, इदं च द्रव्यस्नानमपि प्रतिषिद्धमुत्तरकालाऽऽदिना भावशुद्धिहेतु । ध० ३ अधि० । (स्नानदोषे ' अणायारे ' शब्दे प्रथमभागे ३११ पृष्ठे ,३१४ पृष्ठे च शीतोदकाऽऽदीनि पादाऽऽदिप्रक्षालने दोषश्च वक्ष्यते)

ततो देशस्नानं सर्वस्नानं वा सेवमानः आचारगोचरात् परिभ्रष्टो भवति । स्नाने इमे दोषा-

छायाय णिगायणा,उप्पादियथो य गारव विभूसा ।
परिसहभीरुत्त पि य, अविस्सासो चेव ण्हाणम्मि ॥९६॥

षट्कायजो हुताशदोषो भवति, स्नाने गमिथ्यो भवति, पुन पुनः स्नानार्थं । अस्नानमनुष्ठाय निर्मलशरीरोऽहमिति गौरवं कुरुते, स्नानं एव विभूषाऽलङ्कार इत्यर्थं । अ- परीषहाऽसहिष्णुत्वाद्भीतिः, स नं शिवालीत्यर्थः । लोकस्याविश्वसनीयो भवति । एते स्नानदोषा उक्ताः । नि० चू० ७ उ० ।

स्नानाष्टकम्-पूजाऽऽदि स्नानपूर्वकाणीति स्नाननिरूपणायाऽऽह-

द्रव्यतो भावतश्चैव, द्विधा स्नानमुदाहृतम् ।
बाह्यमाध्यात्मिकं चेति, तदन्यैः परिकीर्त्यते ॥ १ ॥

द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्-उदकाऽऽदि, तस्माद् द्रव्यात् द्रव्यतो जलस्नानं करणभूतम् १, देहदेशलक्षणं वा शोधनीयम् २, मनोलक्षणं वाऽन्येव, द्रव्यमाश्रित्येत्यर्थे ३, अथवा-द्रव्यतोऽपरमार्थतो द्रव्यशब्दस्याप्राधान्यार्थत्वात् ४, अथवा-द्रव्यतो भावस्नानकारणत्वेन कारणार्थत्वाद् द्रव्यशब्दस्य ५। तथा-भवनं भावः-परिणामः, तस्माद्भावतः शुभध्यानलक्षणं करणभूतम् १, उपयोगभावाऽऽत्मकजीवलक्षणं वा शोधनीयम् २ , अथवा-औदयिकभावकारणभूतकर्ममललक्षणमपनेतव्यं, लक्षणं करणभूतभावमाश्रित्येत्यर्थं ३, भावतः परमार्थतो भवति ४ । चशब्दः समुच्चये । एवकारोऽवधारणे । एवं चाऽनयोः प्रयोगः -द्रव्यतो भावत एव । ततश्च द्रव्यभावभेदेनैव द्विधा द्विप्रकारं, नामाऽऽदिभेदेन तु चतुर्धाऽपि केवलमिह चतुःप्रकारस्य स्नानस्य नाश्रितम्, नामस्थापनयोः प्ररूपणामात्रोपयोगित्वात् । न हि स्नानस्य नामस्थापने जिननामस्थापने इव प्रमोदहेतुत्वेन पूजाऽङ्गोपकरणत्वेन च सोपयोगे इति । अथवा-एवकारो द्विधेत्यनेन सम्बध्यते, तथा द्रव्यतो भावतश्चेति । एवं द्विधैव स्नानमुदाहृतं, न तु सप्तधा ।

यथाऽऽहुरेके-

" सप्त स्नानानि प्रोक्तानि, स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
द्रव्यभावविशुद्ध्यर्थ-मृषीणां ब्रह्मचारिणाम् ॥ १ ॥
आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं, वायव्यं दिव्यमेव च ।
पार्थिवं मानसं चैव, स्नानं सप्तविधं स्मृतम् ॥ २ ॥
आग्नेयं भस्मना स्नान-मवगाह्य तु वारुणम् ।
आपोहिष्ठामयं ब्राह्मं, वायव्यं तु गवां रजः ॥ ३ ॥ (मन्त्रस्नानमित्यर्थः)
सूर्यदृष्टं तु यद् दृष्टं, तद्दिव्यमृषयो विदुः ।
पार्थिवं तु मृदा स्नानं, मनःशुद्धिस्तु मानसम् ॥ ४ ॥ "

इति सप्तविधस्नानकथनमनर्थकम्, यतो यद् बाह्यमलक्षालनप्रत्ययं तत्सर्वं द्रव्यस्नानमेव । यच्चाऽन्तरमलोन्मूलनाय तद्भावस्नानम् । यत्पुनरन्यथाविधं तत्स्नानमेव । न च गोरजसा मन्त्रेण वा मलापनयनमुपलभ्यते इति । अतः सुष्ठूच्यते द्विधैव । अथवा-द्रव्यतो द्विविधैव, भावतश्च द्विविधैव इत्येवं द्विधाशब्दप्रयोगः । द्वैविध्यं च प्रधानाऽप्रधानभेदात् । तच्च दर्शयिष्यत इति । द्रव्यतो भावतश्चैवमिति पाठान्तरे तु, एवकार उपप्रदर्शनार्थः । तेन एवमनेन प्रकारेण द्विधा स्नानं शुचीकरणमुदाहृतं तत्त्ववेदिभिरभिहितम् । अत्रार्थे परेषामप्यविप्रतिपत्तिमुपदर्शयन्नाह-बहिर्भवं बाह्यं शारीरम्, अध्यात्मे मनसि भवमाध्यात्मिकं, मानसमित्यर्थः । चशब्दः समुच्चयार्थः । इति रूपदर्शने । एवं चानयोः प्रयोगः -बाह्यमिति, आध्यात्मिकमिति च । तदनतिक्रमेण द्रव्यस्नानं भावस्नानं च, अन्यैरिति जैनव्यतिरिक्तलौकिकविशेषैः, परिकीर्त्यते सशब्द्यते इति ॥ १ ॥

तत्र द्रव्यस्नानप्रतिपादनायाऽऽह-

जलेन देहदेशस्य, क्षणं यच्छुद्धिकारणम् ।
प्रायोऽन्यानुपरोधेन, द्रव्यस्नानं तदुच्यते ॥ २ ॥

जलेनाम्भसा,न भस्माऽऽदिभिः,तैर्हि द्रव्यस्नानमपि न भवति, मलाऽपनयनासमर्थत्वात्तेषाम्, "गन्धलेपापहं शौचम्" इति स्नानलक्षणाच्च, देहदेशस्येति शरीरत्वग्लक्षणावयवस्य । इह च देहग्रहणेन सचेलस्नानेन देवार्चनं कार्यमिति मतमपाकृतम्, जलार्द्रवस्त्राणां स्नानतयाऽप्रतीतेः ।

देशस्येत्यनेन तु ये मन्यन्ते-

" एका लिङ्गे गुदे तिस्र-स्तथैकत्र करे दश ।
उभयोः सप्त विज्ञेया, मृदः शुद्धौ मनीषिभिः ॥ १ ॥
एतच्छौचं गृहस्थानां, द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।
त्रिगुणं वानप्रस्थानां, यतीनां च चतुर्गुणम् ॥ २ ॥ " इति ।

ते उपहसिता भवन्ति । न हि तैरेव शौचं प्रति प्रयत्नवद्भिरपि लिङ्गगुदाऽऽद्यन्तर्भागस्य शौचं कर्तुं शक्यं, किं तु त्वङ्मात्रस्यैव, न च कर्णनासाऽऽदीनामेव शौचं तैर्विधीयते, न चैताऽप्यशुचीनि न भवन्तीति, क्षणं मुहूर्तं यावन्न प्रभूतकालं, यदिति स्नानं, शुद्धिकारणं मलविलयहेतु, प्रायो बाहुल्येन, प्रायोग्रहणात्तथाविधरोगग्रस्तस्य क्षणमपि शुद्धिकारणं न भवतीति दर्शितम् । कुतः पुनः क्षणमेव शुद्धिकारणम् ?, इत्यत आह-अन्यस्य प्रक्षालितमलापेक्षयाऽपरस्य मलस्याऽनुपरोधोऽनिरोधोऽप्रतिषेधोऽन्यानुपरोधः, तेनान्यानुपरोधेन हेतुना, न हि स्नानं मलाऽऽश्रयस्वभावत्वाच्छरीरस्य मलान्तरमुपरोद्धुं शक्नोतीति तदित्थंविधं स्नानम्, किमित्यत आह-द्रव्याण्युक्तलक्षणानि नीराऽऽदीन्याश्रित्य स्नानं द्रव्यस्यैव वा स्नानं द्रव्यस्नानमुच्य-

तेऽभिधीयते, स्नानलक्षणाविद्धिः । अन्ये तु प्रायोऽन्यानुपरो-
धेनेत्येतदित्थं व्याचक्षते-प्रायो बाहुल्येनान्येषां जलस्वरूपा-
तिरिक्तानां प्राणिनामनुपरोधोऽव्यापादनं प्रायोऽन्यानुपरोधः,
तेनेति ॥ २ ॥

अथैतस्यैव कर्तृवशात् प्रधानाऽप्रधानतां दर्शयन्नाह-

कृत्वेदं यो विधानेन, देवताऽतिथिपूजनम् ।
करोति मलिनाऽऽरम्भी, तस्यैतदपि शोभनम् ॥ ३ ॥

कृत्वा विधाय, इदमनन्तरोदितं द्रव्यस्नानं, य इति तदधिकार-
वान् धार्मिकः, विधानेन धार्मिकजनोचितस्नानविधिना "भूमी-
पेहणजलछा-णणाइ जयणा उ होइ एहाणाओ ।" इत्येवंरूपेण,
सतः किमित्याह--देवताऽनन्तरविधेयोचितस्वरूपमर्हदादिलक्षणा,
अतति सततमप्रतिबद्धविहारितया गच्छतीत्यतिथिः, अविद्य-
माना वा तिथिः, उपलक्षणत्वादुत्सवाऽऽदयश्च यस्येत्यतिथिः--स-
न्मार्गनिरतो यतिः । उक्तं च-" तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता
येन महात्मना । अतिथिं तं विजानीया-च्छेषमभ्यागतं विदुः।"
॥१॥ इति। तयोः पूजनमुचितसत्कारकरणं देवताऽतिथिपूजनं,त-
त्करोति विधत्ते । द्वितीयव्याख्यानपक्षे तु-विधानेन देवताऽतिथिपू-
जनं करोतीत्येवं सम्बन्धः कार्यः। कोऽसावित्याह-मलिनोऽवद्य-
मलयुक्त आरम्भो व्यापारो मलिनाऽऽरम्भः, सोऽस्यास्तीति म-
लिनारम्भी,सावद्ययोगाऽऽदनिवृत्तो गृहस्थ इत्यर्थः।कुतीर्थिकशि-
क्षणाऽऽप्रायप्रवणं चेदं विशेषणं,तच्छिक्षणं चेदम्-हे कुतीर्थिकाः !
यदि यूयं मलिनाऽऽरम्भिणस्तदा युष्माकमिदं द्रव्यस्नानं कर्तुमु-
चितं, नान्यथा। यथा ह्यस्य विशुद्धभावहेतुत्वेन प्रशस्यता, स च
विशुद्धो भावो निर्मलाऽऽत्मनां सदैवास्तीति किमनेनेति ?। त-
स्येति देवताऽतिथिपूजनकर्तुर्मलिनाऽऽरम्भिणः, एतदपीति न के-
वलं वक्ष्यमाणस्वरूपं भावस्नानं शुभपरिणामरूपत्वाच्छोभनमेत-
दपि द्रव्यस्नानमपि शोभनं साधु; सत्यपि सावद्यत्वे प्रायो
मदद्र्पाऽऽदिहेतुत्वे च शुभभावहेतुत्वात् तस्येति विशे-
षणात्तदन्यस्य त्वशोभनमेव तदिति सिद्धं भावशुद्धिनिमि-
त्तत्वादिति ॥ ३ ॥

शोभनमिदमित्युक्तं तत्समर्थनार्थमाह-

भावशुद्धिनिमित्तत्वा-त्तथाऽनुभवसिद्धितः ।
कथञ्चिद्दोषभावेऽपि, तदन्यगुणभावतः ॥ ४ ॥

भावोऽध्यवसायः, तच्छुद्धिर्निर्मलता,तस्या निमित्तं कारणं,तस्य
भावो भावशुद्धिनिमित्तत्वं,तस्मादेतदपि शोभनमिति प्रकृतम् ।
न चास्य भावशुद्धिहेतुत्वमसिद्धमित्याह-तथा तेनैव प्रकारेण
भावशुद्धिनिमित्ततयैव योऽनुभवः संवेदनं तस्य या सिद्धिः
प्रतीतिः सा तथाऽनुभवसिद्धिः,तस्यास्तथाऽनुभवसिद्धितः ।
अथ द्रव्यस्नानं भावशुद्धिनिमित्तमपि सदकायिकायिकाऽऽ-
दिजीवहिंसादोषदूषितत्वादशोभनमेवेत्याशङ्क्याऽऽह--क-
थञ्चित् केनापि प्रकारेणाप्कायिकाऽऽदिविराधनालक्षणेन, दोष-
भावेऽपि हिंसालक्षणावद्यसद्भावेऽपि, न केवलं दोषाभावे
इत्यपिशब्दार्थः । तस्माद्धिंसाऽऽदिदोषाद्योऽन्यो गुणः स-
म्यग्दर्शनशुद्धिलक्षणः, स तदन्यगुणस्तस्य भावो लाभ-
स्तदन्यगुणभावः, तस्मात्तदन्यगुणभावतः । आह च-" पूयाए
कायवहो,पडिकुट्ठो सो उ किं तु जिणपूआ। सम्मत्तसुद्धिहेउ-
त्ति भावणीया उ णिरवज्जा " ॥ १ ॥ यत्स्नानं पूजार्थं तत्पूजा-
ऽङ्गत्वात्तद्व्यपदेशमर्हतीति । इह च हेतुप्रयोग एवम्-द्र-
व्यस्नानमपि शोभनं, भावशुद्धिनिमित्तत्वात्, यद्यद्भावशुद्धिनि-
मित्तं तत्तच्छोभनम्, यथा चैत्यवन्दनम्, भावशुद्धिनिमित्तं च
द्रव्यस्नानं, तस्माच्छोभनमिति । अथायमसिद्धो हेतुरित्यत्रो-
च्यते-यद्यथाऽनुभूयते तत्तथा प्रतिपत्तव्यम्, यथा विचित्रं
सुखाऽऽदिसंवेदनम्, अनुभूयते च भावशुद्धिनिमि-
त्ततया द्रव्यस्नानं, तस्माद्भावशुद्धिनिमित्तं तदिति ।
अथ कथञ्चित् सदोषत्वात्कथं शोभनत्वमस्य ?, इत्यत्रोच्यते-
यद्विशिष्टतरगुणान्तरोत्पत्तिहेतुस्तत्तद्दोषसद्भावेऽपि शोभनम्,
यथा श्रमपङ्काऽऽदिदोषोपेतमपि वृद्धिच्छेदाऽऽदिविशिष्टतर-
गुणहेतुकूपखननम्, विशिष्टसम्यग्दर्शनशुद्ध्यादिगुणहेतुश्च द्र-
व्यस्नानमिति ॥ ४ ॥

यदि भावशुद्धिनिमित्तत्वाच्छोभनं द्रव्यस्नानं, तर्हि करोति
मलिनाऽऽरम्भीति कस्मादभिहितम् ?,मलिनाऽऽरम्भिणोऽपि त-
स्यैव तस्य शोभनत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—

अधिकारिवशाच्छास्त्रे, धर्मसाधनसंस्थितिः ।
व्याधिप्रतिक्रिया तुल्या, विज्ञेया गुणदोषयोः ॥ ५ ॥

अधिकारोऽस्यास्तीत्यधिकारी योग्यानुष्ठाता,तस्य वशोऽपेक्षा-
धिकारी वशस्तस्मात्,न यथाकथञ्चिदित्यर्थः । शास्त्रे सुनिश्चि-
ताऽऽप्ताऽऽगमे, धर्मसाधनयोः प्रस्तुतयोर्द्रव्यस्नानभावस्नानल-
क्षणयोः, संस्थितिः सम्यग् व्यवस्था धर्मसाधनसंस्थितिः ।
किंरूपेयमित्याह-व्याधिप्रतिक्रिया तुल्या रोगचिकित्साव्य-
वस्था समाना, विज्ञेया सद्गुरूपदेशादर्थिभिरवसेया । कयो-
र्विषया ?, इत्याह-गुणदोषयोः, गुणदोषावाश्रित्येत्यर्थः ।
इयमत्र भावना-यथाऽऽतुरवशाद् व्याधिचिकित्सा गुणकरी,
दोषकरी च, तथा मलिनाऽऽरम्भीतरलक्षणानुष्ठातृवशाद्
द्रव्येतरस्नानरूपे धर्मसाधने गुणदोषकरे, द्रव्यस्नानं मलि-
नाऽऽरम्भिण एव गुणकरं, नेतरस्येति हृदयम् । यतो मलि-
नाऽऽरम्भी देवतोद्देशेन स्नानाऽऽदावधिकारी, न त्वितरः ।
केचित्पुनर्वदन्ति-मलिनाऽऽरम्भ्यपि नेहाधिकारी, यस्माद् व-
क्ष्यति अयमेव ग्रन्थकारः-" धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्या-
ऽनीहा गरीयसी । प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् "
॥ १ ॥ इति । अनेन धर्मार्थं सावद्यप्रवृत्तिर्निषिद्धा, तथा शु-
द्धाऽऽगमैर्यथालाभमिति वक्ष्यति,अनेन च पुष्पत्रोटनाभावो दे-
वसम्बन्ध्यारामाभावश्च दर्शित इति । न चायं सम्यगुल्लापः,
यतः स्नानं विधेयतया देवार्चनार्थमुपदिष्टमेव । यदाह "तत्थ
सुइणा दुहा वि हु, दव्वे एहाएण सुद्धवत्थेण ।" इति । अथ
प्रासङ्गिकः स्नानापेक्षोऽयमुपदेशो, न तु देवतोद्देशिकः । एत-
दपि न सङ्गतम् । एवं हि यदा कदाचित्स्नातो भवेत् तदा दे-
वार्चनं कुर्यादित्युपदिष्टं स्यात्, न नित्यकृत्यतया । नित्यकृत्यं
चैतत् । आह च-"वंदति चेइयाइं,तिकालं पूइऊण विहिणा उ।"
इति । यच्चोक्तम्-धर्मार्थमित्यादिना धर्मार्था सावद्यप्रवृत्तिर्निषि-
द्धा,तत् सत्यं,केवलं स निषेधः सर्वविरतापेक्षया,तदधिकारेऽस्य
श्लोकस्याधिकृतत्वात् । गृहस्थापेक्षया तु सावद्यप्रवृत्तिविशेषो-
ऽनुज्ञात एव । यदाह-"दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ।" इति । तथा वा-
णिज्याऽऽदिसावद्यप्रवृत्तिरपि काचित् कस्यचिन्न दुष्टा,विषयवि-
शेषप्रक्षयात्तद्रूपत्वेन पापक्षयगुणबीजलाभहेतुत्वात्,यथा सका-
शस्य, सकाशश्रावको हि प्रमादाद्भक्षितचैत्यद्रव्यो निबद्धलाभा-
न्तरायाऽऽदिक्लिष्टकर्मा चिरं पर्यटितदुरन्तसंसारकान्तारोऽनन्त-
कालाल्लब्धमनुष्यभवो दुर्गतनरशिरःशेखररूपः पारगतसमी-

पोपलब्धस्वकीयपूर्वभववृत्तान्तः पारगतोपदेशतो दुर्गतत्वनिबन्धनकर्मक्षपणाय,"यदहमुपार्जयिष्यामि द्रव्य तद् ग्रासाऽऽच्छादवर्ज जिनाऽऽयतनाऽऽदिषु नियोक्ष्ये," इत्यभिग्रहं गृहीतवान्, कालेन च निर्वाणमवाप्तवानिति। अथ युक्त सकाशस्यैतत्, तथैव तत्कर्मक्षयोपपत्ते , न पुनरन्यस्य। नैवम्। सर्वथैवाशुभस्वरूपव्यापारस्य विशिष्टनिर्जराकारणत्वायोगादिति। यत्तु-"शुद्धाऽऽगमैर्यथालाभम् " इत्यादि। तत्र स्वय पुष्पत्रोटननिषेधनपर, किं तु पूजाकालोपस्थिते मालिके दर्शनप्रभावनाहेतोर्वणिक्कला न प्रयोक्तव्येत्यस्यार्थस्य ख्यापनपरम्, इतरथा-" सुब्वइ दुग्गयनारी, जगगुरुणो सिंदुवारकुसुमेहिं। पूयापणिहाणेण, उववन्ना तियसलोगम्मि ॥ १ ॥ " (पञ्चा०) न हि तया यथालाभ, न्यायोपात्तविरोन वा तानि गृहीतानीति । तथा चैत्यसम्बन्धितया ग्रामाऽऽदीनां प्रतिपादनाद्ग्रामाऽऽद्यभावः प्रोक्त.।

यदाह--

" चोएइ चेइयाण, रूप्पसुवन्नाइ गामगावाइ ।
लग्गंतस्स हु मुणिणो, तिकरणसुद्धी कहं नु भवे ? ॥१॥
भन्नइ एत्थ विभासा, जा एयाइ सय त्रि मग्गेज्जा ।
न हु तस्स हुज्ज सुद्धी, अह कोइ हरेज्ज एयाइ ॥२॥
सव्वत्थामेण तहिं, सघेण होइ लागियव्व तु ।
सचरित्तीण एय, सव्वेसिं होइ कज्ज तु ॥३॥ "

तदेव मलिनाऽऽरम्भिणो धर्मार्थं स्नानाऽऽदिकमविरुद्धमिति स्थितम्। ननु यतिरत्र कस्मान्नाधिकारी, यत कर्मलक्षणो व्याधिरेको द्वयोरपि यतिगृहस्थयोरतस्तच्चिकित्साऽपि पूजाऽऽदिलक्षणा समैव भवति, ततो यद्येकस्याधिकार , कथ नापरस्य ?। अथ " स्नानमुद्वर्त्तनाऽभ्यङ्ग,नखकेशाऽऽदिसत्क्रियाम् । गन्धमाल्य च धूप च, त्यजन्ति ब्रह्मचारिणः " ॥ १ ॥ इति वचनाद् यतेः स्नाने,तत्पूर्वकत्वाद्देवार्चनस्य तस्मिंश्च,नाधिकार., नैवम्, भूषार्थस्यैव तस्य निषेधात्। अथ सावद्यनिवृत्तोऽसाविति तत्र नाधिकारी। ननु यदि यति. सावद्यान्निवृत्तस्तत को दोष ,यत्स्नानं कृत्वा देवताऽर्चन न करोति ?। यदि स्नानपूर्वकदेवताऽर्चने सावद्ययोग' स्यात, तदाऽसौ गृहस्थस्याऽपि तुल्य इति, तेनापि न कर्त्तव्य स्यात् । अथ गृहस्थ. कुटुम्बाऽऽद्यर्थेऽपि सावद्ये प्रवृत्त., तेन तत्रापि प्रवर्त्ततताम्, यतिस्तु तत्राप्रवृत्तत्वात्कथ स्नानाऽऽदौ प्रवर्तेत इति ?। ननु यद्यपि कुटुम्बाऽऽद्यर्थं गृही सावद्ये प्रवर्त्तते, तथाऽपि तेन धर्मार्थं तत्र न प्रवर्तितव्य स्यात्, यतो नैकं पापमाचरितमित्यन्यदप्याचरितव्य स्यात्। अथ कूपोदाहरणात् पूजाऽऽदिजनितमारम्भदोष विशोध्य गृही गुणान्तरमासादयतीति युक्त गृहिण स्नानपूजाऽऽदि। ननु यथा गृहिणा कूपोदाहरणात्स्नानाऽऽदि युक्तम, एव यतेरपि तद् युक्तमेव । एव च कथं स्नानाऽऽदौ यतिर्नाधिकारीति पूर्वपक्ष ?।

अत्रोच्यते-यतयो हि सर्वथा सावद्यव्यापारान्निवृत्ता , ततश्च कूपोदाहरणेनाऽपि तत्र प्रवर्तमानाना तेषामवद्यमेव चित्ते स्फुरति, न धर्म ,तत्र सदैव शुभध्यानाऽऽदिभि प्रवृत्तत्वात्। गृहस्थास्तु सावद्ये स्वतोऽवतः सततमेव प्रवृत्ता , न पुनर्जिनार्चनाऽऽदिद्वारेण स्वपरोपकाराऽऽत्मके धर्मे, तेन तेषा तत्र प्रवर्तमानानां स एव चित्ते लगति, न पुनरवद्यमिति कर्तृपरिणामवशादधिकारेतरौ मन्तव्याविति। स्नानाऽऽदौ गृहस्थ एवाधिकारी, न यतिरिति। आगमोऽप्येव व्यवस्थित ।

यदाह-

" छज्जीवकायसजमो, दव्वत्थए सो विरुज्झए कसिणो ।
तो कसिणो सजमविउ,पुप्फाईय न इच्छति ॥१॥
अकसिणपवत्तगाण, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।
ससारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठतो ॥२॥ "

तथा द्रव्यस्तवरूपत्वात् पूजायाः,तस्य च भावस्तवहेतुत्वात् प्रधानत्वाच्च यतीनां न द्रव्यस्तवेऽधिकार.। अत एव सामायिकस्थ. श्रावकोऽप्यनधिकारी, तस्याऽपि सावद्यनिवृत्ततया भावस्तवाऽऽरूढत्वेन श्रमणकल्पत्वात् । अत एव गृहिणोऽपि प्रकृत्या पृथिव्याद्युपमर्दनभीरोर्यतनावत. सावद्ये सङ्क्षेपरुचेर्यतिक्रियाऽनुरागिणो न धर्मार्थी सावद्याऽऽरम्भप्रवृत्तिर्युक्ता। यदाह-"असदारम्भपवत्तो,ज च गिही तेण तेसि विन्नेया। तन्निव्वित्तिफल च्चिय, एसा परिभावणीयमिण ॥ १ ॥ " न चायमनन्तरोदितोऽसदारम्भप्रवृत्तः,तत्कथ तस्य तन्निवृत्तिफलत्वेन स्नानाऽऽदौ सावद्याऽऽरम्भप्रवृत्तिर्युक्ता, अत. स्थितमिद न सर्व एव सर्वत्राधिकारी, किं तु य एवैत्राधिकारी, स एवान्यत्रानधिकारीति ॥ ५ ॥

अथ भावस्नानप्रतिपादनायाऽऽह-

ध्यानाम्भसा तु जीवस्य, सदा यच्छुद्धिकारणम् ।
मलं कर्म समाश्रित्य, भावस्नानं तदुच्यते ॥ ६ ॥

ध्यान शुभचित्तैकाग्रतालक्षण धर्माऽऽदि, तदेवाम्भो जल, तद् ध्यानाम्भस्तेन,तुशब्द. पुनरर्थ ,यत् स्नान,शुद्धिकारण निर्मलत्वहेतु, तद्भावस्नानमुच्यते इति सम्बन्ध.। प्रक्षालनीयप्रदर्शनायाऽऽह-मल मालिन्यनिबन्धन, कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिलक्षण, समाश्रित्याऽङ्गीकृत्य, भावान् ध्यानाऽऽदीनाश्रित्य भावतो वा परमार्थत स्नान भावस्नान,तदित्येवभूतमुच्यते तत्स्वरूपविद्भिरभिधीयत इति ॥ ६ ॥

अस्यैव कारकभेदेनोत्तमस्वरूपतामाह-

ऋषीणामुत्तम ह्येत-न्निर्दिष्टं परमर्षिभिः ।
हिंसादोषनिवृत्तानां, व्रतशीलविवर्द्धनम् ॥ ७ ॥

पश्यन्ति यथावद् वस्त्विति ऋषयो मुनयस्तेषा, हिशब्दोऽवधारणार्थ , तेन ऋषीणामेवोत्तम प्रधानमेतद्भावस्नान निर्दिष्ट प्रतिपादित,परमर्षिभिर्मुनिपुङ्गवै ,सर्वज्ञैरित्यर्थ । ऋषीणामुत्तममिति विशेषणसामर्थ्यादन्येषा त्वनुत्तममेव तदिति सिद्ध तेषाम,विशिष्टधर्मध्यानाभावादिति। अथवा-ऋषीणामुत्तममेतदेवेत्येवमवधारण दृश्यम्। ततश्चोत्तमत्वात्तदेव तेषा विधेयम्। ननु देवार्चनार्थं द्रव्यस्नानमपि, किंभूतानामृषीणामित्याह-हिंसा प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं,सैव दोषो दूषणं हिंसादोषः,ततो निवृत्ता उपरता ये ते तथा, तेषा हिंसादोषनिवृत्तानाम्, न तु ऋषय एवविधा एव भवन्तीति विशेषणमिदमनर्थकम्,नैवम, हेतुतया सोपन्यासात्। ततश्च ऋषीणामुत्तममिदं हिंसादोषनिवृत्तत्वादिति वाक्यार्थ स्यात्। किंभूतमिदमित्याह-व्रतानि महाव्रतानि,शील च समाधि , अथवा-व्रतानि मूलगुणा , शीलमुत्तरगुणा , तेषां विशेषेण वर्द्धन वृद्धिकारण व्रतशीलविवर्द्धन, भावस्नान हि धर्मशुक्लध्यानरूप, तच्चैतद्विवर्धन भवत्येवेति ॥७॥

उपसंहरन्नाह-

स्नात्वाऽनेन यथायोग, निःशेषमलवर्जितः ।
भूयो न लिप्यते तेन, स्नातकः परमार्थतः ॥ ८ ॥

स्नात्वा शौच विधाय, अनेन भावहेतुद्रव्यस्ना।

न च यथायोगं यथाऽऽवश्यकं द्रव्यस्नानेन मलिनाऽऽरम्भी, भाव-स्नानेन चेतरः सि शेषमलवर्जिता, पारम्पर्येण सातास्य सकल-कर्ममलमुक्तो भवतीति शेषः। बोधकरणं विना वचनकर्तृकत्वा-भावात् कायाऽऽरंभवो न स्यादिति, शेषः-कृत इति। एवंभूतश्च सन् भूयः पुनरपि, न लिप्यते सोपदिश्यते, तेन कर्ममलेन, एवं च स्नातकः स्नातः, परमार्थतो वस्तुतस्तथा भवति, स्नान परस्त्वा-तस्तु परमार्थस्नातो न भवति, विपरीतलक्षणयोगात्, पुनर्मलोपलेपनाच्चेति। ततो हे कुतीर्थिकाः! यदि यूयमप्येवं परमार्थतः पारमार्थिकस्नातका भवितुमिच्छथ, तदा भावस्नानेनैव स्नात, मा द्रव्यस्नानेन, मलिनाऽऽरम्भत्वादेव तस्यो-त्पादादिति हृदयम्। अथ चैवं व्याख्या-स्नातः ब्रह्मचर्यनाम-शोभनभावस्नानेन, यथायोगं यथायुक्ति, निःशेषमलवर्जितः सन् भूयो न लिप्यते, तेन, कोऽभिप्रायः? स्नातकः परमार्थतः पार-मार्थिकस्नातक इत्यर्थः। इह च कायायाचयो कर्मवन्धादि-नि ॥ ८ ॥ पञ्चा० ९ विव०। यथोक्त प्रतिनियतदिवसमाविकेषु मगधवासिनामावाः स्नाने पर्वविशेषे, सू० १ उ०।

ण्हाणमल्लिया-स्नानमल्लिका-स्त्री०। स्नानयोग्ये मल्लिकाविशेषे, औ० ३ प्रति०। अ०।

ण्हारु-स्नायु-न०। अस्थिबन्धनशिरायाम्, तं०। आचा०।

ण्हाविअ-नापित-पुं०। "नित्यमापिते सबई वा" ॥८।१।२३०॥ इति नस्य णः। 'ण्हाविओ,' 'नाविओ'। कुप्रावचीबिनि, प्रा० १ पाद।

ण्हाविअपसेवय-नापितप्रसेवक-पुं०। नखशोधकक्षुराद्युपकारणे, उत्त० २ अ०।

ण्हुसा-स्नुषा-स्त्री०। पुत्रवध्वाम्, "मायरपुरे महल्ला, गहुलाय समं सवासं बालका।" प्रा० म०१ अ० ७ अवर।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प—
श्रीमद्भट्टारक—जैनश्वेताम्बराऽऽचार्यश्रीश्री १००८ श्री
विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
ण (न) कारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

तकार

त-त-पुं० । ' तक ' हसने, सहने वा डप्रत्यय., डित्वाट्टिलोपः । चौरे, अमृते, पुच्छे, क्रोमे, म्लेच्छे, रत्ने, सृगालपुच्छे च । तरुणे, पुण्ये, स्त्री० । न० । वाच० । "तकारः पुंसि सत्नोगे, निभ्रवे विस्तरे समे । (४१) धातुवादे विधौ क्रोधे, ता कृपायां स्त्रियां मता ॥" भाधव०-एका० । " तः ब्रते निष्फले शान्ते, पौन:पुन्ये चये च तः । " इति विश्वदेव०-एका०। तच्छब्दनिर्देशो, नि०चू०। यथा-" से गामंसि वा " इत्यादि । नि० चू० २० उ० ।

तअएणवत्थुअ-तदन्यवस्तुक-पुं० । ' तयएणवत्थुअ ' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तआणिं-तदानीम्-अव्य० । तस्मिन् काले तदानीम् । "पानीया-ऽऽदिष्वित् ॥ ८ । १ । १०१ ॥ इति ईकारस्येत् । प्रा० १ पाद । तदेत्यर्थे, वाच० ।

तइय-तृतीय-त्रि० । त्रयाणां पूरण । त्रि-तीय.-संप्रसारणम् । वाच० । "पानीयाऽऽदिष्वित् " ॥८।१।१०१॥ इतीकारस्येकार० । प्रा० १ पाद । त्रयाणा पूरणे, येन त्रित्वसख्या पूर्यते तस्मिन् पदार्थे, वाच० । आ० म० । नि० चू० ।

तइयंग-तृतीयाङ्ग-न० । स्थानाङ्गे, प्रति० ।

तइया-तृतीया-स्त्री०। चन्द्रमण्डलस्य तृतीयकलाया सूर्यमण्डलप्रवेशनिर्गमान्यतररूपक्रियाऽऽत्मिकायां तिथौ, वाच०। रचनाभख्यातायां विभक्तौ, "विवक्षितक्रियासाधकतम करण, तस्मिन्स्तृतीया । अनु०। "तइया करणम्मि कया, भणियं च कय च तेण व मए वा।" तृतीया करणे कृ।। यथेत्याह-भणित वा कृत वा, केनेत्याह-तेन वा मया वेति । अत्र यद्यपि कर्तरि तृतीया प्रतीयते, तथाऽपि विवक्षाऽधीनत्वात् कारकप्रवृत्तेः, तेन मया वा कृत्वा भणित कृत वा,देवदत्तेनेति गम्यत इति । एव करणविवक्षाऽपि न दुःस्थेतीति लक्षयाम । तत्त्व तु बहुश्रुता विदन्तीति । अनु० ।

तइल्लपत्तिधारगणायग-तैलपात्रीधारकज्ञातग-त्रि० । तैलपात्रीधारकस्य तद्रूप वा यद् ज्ञातमुदाहरण तद्गत प्रासोऽपायावगमजनितप्रमत्तातिरेकसाधर्म्याद स तथा । तैलपात्रीधारकवदप्रमत्ते , पञ्चा० १४ विव० ।

तइस-तादृश-त्रि० । तस्येव दर्शनमस्य । वाच० । " अता डइसः " ॥ ८ । ४ । ४०३॥ इति अपभ्रंशे तादृशशब्दस्य दादेरवयवस्य डित्सहकः ' अइस ' इत्यादेश । प्रा० ४ पाद । तथाविधेऽर्थे, वाच० ।

तउ-त्रपु-न० । अग्निं दृष्ट्वा त्रपते लज्जते इव लज्जया द्रवीभवतीति वा । सीसके वङ्गे, वाच० । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । सू० । उत्त० । ततत्रपु पाय्यन्ते,पाय्यमाना आर्ततर रारटन्ति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । 'त्रपुक' शब्दोऽप्यत्र । प्रश्न ५ सम्ब० द्वार । सूत्र० । प्रज्ञा० । औ० ।

तउ-तव-पञ्च० । ष० । " ङसिङस्भ्यां तउ-तुज्झ-तुध्र " ॥ ८ ॥ ४।३७२॥ अपभ्रंशे युष्मदो ङसिङसो रूपे । प्रा० ४ पाद ।

तउआगर-त्रपुकाकर-पुं० । यत्र त्रपुक ध्मायते । त्रपुकध्मापनस्थाने, स्था० ८ ठा० । नि० चू० ।

तउस-त्रपुष-न० । त्रपते क्विप् । त्रप्-उष दाहे, क-क० । कर्कटीवृक्षे गौराऽऽदित्वात् ङीष् । ' खीरा ' इतिख्याते वृक्षे, वाच० । वल्लीविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । ध्य० । प्रज्ञा० । एतानि एनेकमेकजीवाधिष्ठानानि, पुष्पाण्यनेकजीवाऽऽत्मकानि । प्रज्ञा० १ पद ।

तउसमिंजिया-त्रपुषमिञ्जिका-स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति० ।

तए-ततस्-अव्य० । तस्मादित्यर्थे, उत्त० १ अ० ।

तओ-ततस्-अव्य० । शौरसेनीमागधीविषये एव दः, प्राकृते तु न दः । प्रा० १ पाद । तस्मादित्यर्थे, वाच० ।

तं-तत्-अव्य० । बहुलाधिकारादन्यस्यापि व्यञ्जनस्य मकारः । "मोऽनुस्वार." ॥ ८ । १ । २३ ॥ इति मकारस्यानुस्वार० । प्रा० १ पाद । "त वाक्योपन्यासे " ॥ ८ । २ । १७६ ॥ त इति वाक्योपन्यासे प्रयोक्तव्यम् । " त तिअसबन्दिमोक्ख । " प्रा० २ पाद । तस्मादित्यर्थे, भ० १५ श० । विपा० । तदितिनिर्देशे, आव०४ अ० । प्रक्रान्तपरामर्शिनि, त्रि० । आचा०१ श्रु० २ अ० ३ उ० । अनु० । " त जहा-सासमसाओ तिविहा पन्नत्ता । तं जहा० जाणिया, अजाणिया, दुव्विअद्धा जाणिया । " तद्यथेत्युदाहरणोपदर्शनार्थे, न० । आचा० । अनु० । स्था० । तद्यथेति वाक्योपन्यासार्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । आव० । सूत्र० ।

तंट-देशी-पृष्ठे, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा ।

तंम-देशी-कनिकाग्राहके, शिरोविहीने, स्वपाधिके च । दे० ना० ५ वर्ग १९ गाथा ।

तंमव-ताण्डव-न० । नृत्ये, जी० ३ प्रति० ४ उ० । " अप्पेगइया तण्डवेंति " । आ० म० १ अ० १ खण्ड । ताण्डवरूप नृत्यं कुर्वन्ति, रा० ।

तंदुल-तण्डुल-पुं० । तडि-कलच् । धान्याऽऽदिसारे, निस्तुषे धान्याऽऽदौ, तण्डुलीयशाके च । विडङ्गे, पुं० । स्त्री० । टाप् । वाच० । ध० । आ० म० । वृक्षविशेषे, ' टीवरू ' इति गुर्जरभाषा । स०। "आसी य पाणिघमी,तिमिमयतहुलपवालपुमभोई ।" तण्डुलशब्देन औषध्य उच्यन्ते । आव० १ अ० ।

तंत-तन्त्र-न० । आ० म० १ अ० १ खण्ड । शास्त्रे, पञ्चा० ६ विव० । आ०चू० । आ० म० । विद्यायाम्, स्था० ८ ठा० । सिद्धान्ते, पं०व०४ द्वार । पञ्चम्यां स्त्रीकलायाम, कल्प० ७ क्षण । "सुत्तं भणियं तत, भणिजए तम्मि व जमत्थो । " ' तनु ' विस्तारे तन्यते विस्तार्यते यद्यस्मादनेनास्मादस्मिन् वाऽर्थ इति तन्त्रम् । अथवा तन्यते विशिष्टरचनया तदेव विस्तार्यते इति तन्त्रं सूत्रमेवोच्यते । विशे० ।

तान्त–त्रि० । कायेन खेदवति, ज्ञा०१ श्रु०८ अ० । "सता तंता परितता ।" खेदवाचका एते । नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

तंतंतर–तन्त्रान्तर–न० । दर्शनान्तरे, पञ्चा० १० विव० ।

तंतजुत्ति–तन्त्रयुक्ति–स्त्री० । आगमाऽऽश्रितोपपत्तौ, पञ्चा० ४ विव० । शास्त्रीयोपयुक्तौ, पञ्चा० ६ विव० ।

तंतडी–देशी–करम्बे, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तंतय–तन्त्रज–त्रि० । तन्त्रं वेमाविलेखन्यञ्चनिकाऽऽदि, तस्माज्जातं तन्त्रजम् । वस्त्रे, कम्बले च । उत्त० २ अ० ।

तंतव–तन्तव–पुं० । चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

तंताणुसार–तन्त्रानुसार–पुं० । शास्त्रानुसारे, षो० १२ विव० ।

तंतिय–तान्त्रिक–त्रि० । तन्त्रीवादनं शिल्पमस्येति तान्त्रिकः । तन्त्रीवादनशिल्पोपजीविनि, अनु० ।

तंती–तन्त्री–स्त्री० । वीणायाम्, जी० ३ प्रति० ४ उ० । आ० म० । कल्प० । आचा० । औ० । रा० । ज० । सू० प्र० । 'तती' ताभ्यो जायन्ते । अनु० । वीणाविशेषे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । "ततीतलतालतुडिय ।" तन्त्री वीणा, तलतालो हस्ततालः, तालः कंसिका, त्रुटितानि वादित्राणि । जी०३ प्रति० ४ उ० । "ततीतलतालगीयवाइयरवेण ।" तन्त्री वीणा, तला हस्ततालाः, कांसिकास्तन्त्रताला वा हस्ततालाः, गीतवादिते प्रतीते, तेषां यो रवस्तथा तेन । भ० ६ श० ३३ उ० । गुरूत्याम, देहशिरायाम्, रज्ज्वाम्, नदीभेदे, युवतीभेदे च । वाच० ।

तंतीसम–तन्त्रीसम–त्रि० । वीणाऽऽदितन्त्रीशब्देन तुल्ये, स्था० ७ ठा० ।

तंतु–तन्तु–पुं० । तन्यते भवोऽनेनेति तन्तुः । भवतृष्णायाम्, उत्त० २३ अ० । तुरीवेमाऽऽदौ, भ० ६ श० ३ उ० ।

तंतुक्खोमी–देशी–वायकतन्त्रोपकरणे, दे०ना०५ वर्ग७ गाथा ।

तंतुगय–तन्तुगत–त्रि० । तन्तोस्तुरीवेमाऽऽदेरपनीतमात्रे, भ०६ श० ३ उ० ।

तंतुग्गय–तन्त्रोद्गत–त्रि० । तुरीवेमाऽऽदेरुत्तीर्णे, भ० ८ श० ३ उ० ।

तंतुय–तन्तुज–त्रि० । तन्तुभ्यो जातं तन्तुजम्, वस्त्रे, कम्बले च । उत्त० २ अ० ।

तंतुवम–तन्तुवट–पुं० । गन्धप्रधानवनस्पतिविशेषे, द० प्र० ।

तंतुवाय–तन्तुवाय–पुं० । कुविन्दे, प्रव० २ द्वार । आ० म० । कल्प० । प्रज्ञा० । अनु० ।

तंतुवायसाला–तन्तुवायशाला–स्त्री० । कुविन्दशालायाम्, भ० १५ श० ।

तंतोयार–तन्त्रावतार–पुं० । तन्त्रे आगमे अवतारः प्रवेशः । आगमप्रवेशे, ध० १ अधि० ।

तंदुगुज्जाण–तन्दुकोद्यान–न० । श्रावस्त्या नगर्या बहिरुद्याने, यत्र कोष्ठकं चैत्यम् । आ० चू० १ अ० ।

तंदुल–तन्दुल–पुं० । धान्ये, तन्दुलवाहान् लुनाति । तं० ।

तंदुलच्छिण्णग–तन्दुलच्छिन्नक–त्रि० । तन्दुलप्रमाणखण्डैः खण्डिते, औ० ।

तंदुलपिट्ठ–तन्दुलपिष्ट–न० । अमाशाक्षोपहततन्दुलकुक्कुसे, नि० चू० ४ उ० ।

तंदुलमच्छ–तन्दुलमत्स्य–पुं० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० प्रज्ञा० ।

तंदुलवेयालिय–तन्दुलवैचारिक–न० । तन्दुलानां वर्षशताऽऽयुष्कपुरुषप्रतिदिनभोग्यानां सङ्ख्याविचारेणोपलक्षितं तन्दुलवैचारिकम् । श्रीवीरहस्तदीक्षितमुनिविरचिते नन्दीसूत्रोक्तग्रन्थविशेषे, त० ।

निज्जरियजरामरणं, वंदित्ता जिणवरं महावीरं ।
वुच्छं पयण्णगमिणं, तंदुलवेयालियं नाम ॥१॥

ननु कियन्ति प्रकीर्णकानि, कथं तेषां चोत्पत्तिः ? उच्यते–"नंदी १, अणुओगदाराइं २, देविंदत्थओ ३, तंदुलवेयालियं ४, चंदाविज्झयं ५।" इत्यादीनि श्रीनन्दिसूत्रोक्तानि कालिकोत्कालिकभेदभिन्नानि चतुरशीतिसहस्रसङ्ख्यानि प्रकीर्णकान्यभवन् श्रीऋषभस्वामिनः । कथम् ? ऋषभस्य चतुरशीतिसहस्रप्रमाणाः श्रमणा आसीरन्, तैरेकैकस्य विरचितत्वात् १ । एवं सङ्ख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि आसीरन् जिनाऽऽदीनां मध्यमजिनानां यस्य यावन्ति भवन्ति तस्य तावन्ति प्रथमानुयोगतो वेदितव्यानि २ । चतुर्दशप्रकीर्णकसहस्राणि आसीरन् वर्द्धमानस्वामिनः ३ । इति तेषां मध्ये श्रीवर्द्धमानस्वामिस्वहस्तदीक्षितेनैकेन साधुना विरचितमिदं तन्दुलवैचारिकप्रकीर्णकं, तस्य व्याख्या क्रियते इति । (निज्जरिय त्ति) निर्जरितं सर्वथा क्षयं नीतं जरा च वृद्धत्वं, मरणं च पञ्चत्वं जरामरणम् । यद्वा–जरया वृद्धभावेन, जराया वृद्धभावे वा मरणं येन स निर्जरितजरामरणः, तं वन्दित्वा कायवाग्मनोभिः स्तुतिं विधाय जिनाः रागद्वेषाऽऽदिजयनशीलाः सामान्यकेवलिनस्तेषु तेभ्यो वा वरः प्रधानातिशयापेक्षया श्रेष्ठो जिनवरस्तं जिनवरम् । (म०) महाँश्चासौ वीरश्च कर्मविदारणसहिष्णुर्महावीरस्तम्, (वुच्छं त्ति) वक्ष्ये भणिष्यामि, प्रकीर्णकं श्रीवीरहस्तदीक्षितमुनिविरचितं नन्दीसूत्रोक्तं ग्रन्थविशेषमिदं प्रत्यक्षं तन्दुलानां वर्षशताऽऽयुष्कपुरुषप्रतिदिनभोग्यानां सङ्ख्याविचारेणोपलक्षितं तन्दुलवैचारिकं नामेति ॥ १ ॥ (त०)

अथात्रोक्तं निरूपयन्ति–

आहारो उस्सासो, संधिसिराओ य रोमकूवाइं ।
पित्तं रुहिरं सुक्कं, गणियं गणियप्पहाणेहिं ॥ १६ ॥

अत्र प्रकीर्णके जीवानां गर्भे आहारस्वरूपम्, गर्भे उच्छ्वासपरिमाणम्, शरीरे सन्धिस्वरूपम्, शरीरे शिराप्रमाणम्, वपुषि रोमकूपाणि, पित्तम्, रुधिरम्, शुक्रम् । चशब्दान्मुहूर्त्ताऽऽदिकम् । एतत्पूर्वोक्तं गणितं सङ्ख्याप्रमाणतो निरूपितं, कैः ?, गणितप्रधानैस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिः ॥१६॥ त० ।

तंदुलिज्ज–तन्दुलीय–शाकविशेषे, हे० । वाच० ।

तंदुलेज्जग–तण्डुलीयक–पुं० । हरितवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० ।

तन्दुलेयक–पुं० । हरितवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तंब–ताम्र–न० । तम–रक्त–द्दीर्घश्च । प्राकृते–" ह्रस्वः संयोगे " ॥ ८ । १ । ८४ ॥ इति सूत्रेणाऽऽदेर्ह्रस्वः । प्रा० १ पाद । " ह्रस्व

घोऽसमस्त-स्तम्बे " ॥ ८ । २ । ४५ ॥ अथासमस्तस्तम्बे इत्युक्तेस्तस्य थः ।" ताम्राऽऽम्रे म्ब " ॥ ८ । २ । ५६ ॥ इति संयुक्तस्य मयुक्तो बकारः । प्रा० २ पाद । धातुविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । उत्त० । सूत्र० । "तउपायाणि वा, तउपायाणि वा, सुवण्णपायाणि वा ।" ग० ३ अधि० । अरुणे, पुं० । औ० । तद्वति, त्रि० । वाच० । शुल्बे, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

तंबकिमी–देशी–इन्द्रगोपे, दे० ना० ५ वर्ग ६ गाथा ।

तंबकुसुम–देशी–कुरबके, दे० ना० ५ वर्ग ६ गाथा ।

तंबचूल–ताम्रचूड–पुं० । ताम्रा चूडा यस्य । कुक्कुटे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । " मोचेऽत्यगाद्यापयामो, रात्रेस्तावद्गत परम् । ताम्रचूडरुतात्सर्वा-श्चपाचिद्विषया यदि " ॥१८॥ सी० ७ कल्प ।

तंबटकरी–देशी–शेफालिकायाम, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तंबणह–ताम्रनख–त्रि० । ताम्रा इव रक्ता नखा कररुहा यासां तास्ताम्रनखाः । ताम्रसदृशशोणितनखवति, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

तंबणिद्धणह–ताम्रस्निग्धनख–त्रि० । ताम्रा अरुणा स्निग्धाः कान्तिमन्तो नखा येषां ते तथा । कान्तिमदरुणनखे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

तंबगत्ति–देशी–गोधूमेषु, कुङ्कुमच्छायायां च । दे० ना० ५ वर्ग ५ गाथा ।

तंबलित्त–ताम्रलिप्त–पुं० । देशभेदे, वाचिन्सिन्धुताम्रलिप्तकोङ्कणाऽऽदिके देशेऽधिका दंशमशका भवन्ति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

तंबा–देशी–गवि, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा ।

तंबागर–ताम्राकर–पुं० । ताम्रध्मापनस्थाने, यत्र ताम्रं ध्मायते । स्था० ८ ठा० । यत्र ताम्रमुत्पद्यते । ताम्रोत्पत्तिस्थान, नि० चू० ५ उ० ।

तंबाय–ताम्राक–पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र भद्रिकापुर्यां मासमेकं चारभगवति नन्दिषेणः पार्श्वापत्यीयो भट्टारकः स्वर्जगाम । आ० क० । आ० चू० ।

तंबिरा–देशी–गोधूमेषु, कुङ्कुमच्छायाया च । दे० ना० ५ वर्ग ५ गाथा ।

तंबूलीदल–ताम्बूलीदल–न० । नागवल्लिपत्रे, अनेकशकलीकृतकरमर्दितप्रहरमात्रधृतताम्बूलीदलं सचित्तमचित्तं वेति प्रश्ने, उत्तरम्–एतादृशपत्रस्याचित्तीभवने व्यवहारो नास्तीति । १९६ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

तंबेरी–देशी–शेफालिकायाम, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तंबोल–ताम्बूल–न० । " ओत् कूष्माण्डी–तूणीर–कूर्पर–स्थूल–ताम्बूल–गुडूची–मूल्ये " ॥ ८ । १ । १२४ ॥ इति ऊत ओत् । प्रा० १ पाद । नागवल्लीदले, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । पञ्चा० । पत्रपूगखदिरवटिकाकत्थकाऽऽदिस्वादिमे, ध० २ अधि० । प्रव० । अनु० ।

तंबोली–ताम्बूली–स्त्री० । नागवल्ल्याम, जी० ३ प्रति० ४ उ० । ज० । कन्प्रत्ययोऽत्र, लोमसिका त्रपुसिका ताम्बूलिका इत्येवमादिका वल्ल्य । व्य० ९ उ० ।

तंबोलीमंडवग–ताम्बूलीमण्डपक–पुं० । ताम्बूली नागवल्ली तन्मया मण्डपका । नागवल्लीमयमण्डपे, रा० । जी० ।

तंस–त्र्यस्र–त्रि० । " वगे तंसे । " तिस्रोऽस्रयो यस्मिन् तत् त्र्यस्रम् । स्था० १ ठा० । " वक्राऽऽदावन्तः " ॥८ । १ । २६॥ इत्यनुस्वारः । प्रा० १ पाद । " न दीर्घानुस्वारात् " ॥ ८ । २ । ९२ ॥ इत्यनुस्वारात्परस्य सस्य द्वित्वनिषेधः । प्रा० २ पाद । शृङ्गाटकफलवत् त्रिकोणे, अनु० । " रहस्से वट्टे तंसे चउरंसे । " अनु० ।

तकार–तकार–पुं० । 'त' इत्येवरूपे वर्णे, आव० ४ अ० ।

तक्क–तक्र–न० । दध्यवयवरूपे, बृ० १ उ० । " तक्ककुमेणाहरण ।" नि० चू० १ उ० ।

तत्क–त्रि० । ईदृशे, अनु० ।

तर्क–पुं० । तर्कणं तर्कः । स्था० १ ठा० । संशयादूर्ध्वं भवितव्यताप्रत्यये, सदर्थपर्यालोचनाऽऽत्मके भवितव्यमत्र स्थाणुना पुरुषेण वेत्येवरूपे ज्ञानविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । सम्भवत्पदार्थान्वितत्वाध्यवसायरूपे ऊहे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । विमर्शे, स्था० ६ ठा० । विचारे, दश० १ अ० । पर्यालोचने, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

तर्कमपि कारणगोचरस्वरूपैः प्ररूपयन्ति–

उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसंबन्धाऽऽद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहाऽपरनामा तर्कः ॥ ७ ॥

उपलम्भानुपलम्भाभ्यां प्रमाणमात्रेण ग्रहणाग्रहणाभ्यां सम्भव उत्पत्तिर्यस्येति कारणकीर्तनम् । त्रिकालीकलितयोः कालत्रयीवर्तिनोः साध्यसाधनयोर्गम्यगमकयोः सम्बन्धोऽविनाभावो व्याप्तिरित्यर्थः । स आदिर्यस्याशेषदेशकालवर्तिवाच्यवाचकसम्बन्धस्याऽऽलम्बनगोचरं यस्य तत्तथेति विषयाऽऽविष्करणम् । इदमस्मिन् सत्येव भवतीत्यादिशब्दादिदमस्मिन्नसति न भवत्येवेत्याकारं, साध्यसाधनसम्बन्धाऽऽलम्बनम्, एवंजातीयः शब्द एवंजातीयस्यार्थस्य वाचकः, सोऽपि तथाभूतस्तथाभूतस्य वाच्य इत्याकारं वाच्यवाचकभावाऽऽलम्बनं च संवेदनमिहोपादीयत इति स्वरूपप्रतिपादनम् । एवंभूत यद्वेदनं स तर्कः कीर्त्यते, ऊह इति च सञ्ज्ञान्तरं लभते । ये तु ताथागताः प्रामाण्यमूहस्य नोदाचक्रिरे । तेषामशेषशून्यत्वपातकाऽऽपत्तिः । आः किमिदमकाण्डकूष्माण्डाडम्बरोड्डामरमभिधीयते । कथं हि तर्कप्रामाण्यानुपगममात्रेणेदृशमसमञ्जसमापनीपद्येत ? । शृणु–आवयामि किल । तर्काप्रामाण्ये तावन्नानुमानस्य प्राणाः, प्रतिबन्धप्रतिपत्त्युपायापायात् । तदभावे न प्रत्यक्षस्याऽपि । प्रत्यक्षेण हि पदार्थान् प्रतिपद्य प्रमाता प्रवर्तमानः क्वचन संवादादिदं प्रमाणमिति, अन्यत्र तु विसंवादादिदमप्रमाणमिति व्यवस्थाग्रन्थिमाबध्नीयात् । न खलु तत्प्राप्तिमात्रेणैव प्रमाणाप्रमाणविवेकं कर्तुं शक्यं, तद्दशायामुभयोः सौसदृश्यात् । संवादविसंवादापेक्षायां च तन्निश्चये निश्चितं एवानुमानोपनिपातः । न चेत् प्रतिबन्धप्रतिपत्तौ तर्कस्वरूपोपायापाये । अनुमानाध्यक्षप्रमाणाभावे च प्रामाणिकमानिनस्ते कौतस्कुती प्रमेयव्यवस्थाऽपीत्यायाता त्वदीयहृदयस्येव सर्वस्य शून्यता । साऽपि वा न प्राप्नोति । प्रमाणमन्तरेण तस्या अपि प्रतिपत्तुमश–

क्यत्वादिति । अहो ! महति प्रकटकण्टकसङ्कटे प्रविष्टोऽयं तपस्वी किं नाम कुर्यात् ?। अथ-"धूमाधीर्वह्निविज्ञानं,धूमज्ञानमधीस्तयोः । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्या-मिति पञ्चभिरन्वयः." ॥ १ ॥ निर्णेष्यते । अनुपलम्भोऽपि प्रत्यक्षविशेष एवेति प्रत्यक्षमेव व्याप्तितात्पर्यपर्यालोचनचातुर्यवर्यम् , तत् किं तर्कोपक्रमेणेति चेत्, ननु प्रत्यक्षं तावन्नियतधूमाग्निगोचरतया प्राक् प्रावृतत् । तद्यदि व्याप्तिरपि तावन्मात्रैव स्यात्तदाऽनुमानमपि तत्रैव प्रवर्तेतेति कुतस्त्यं धूमान्महीधरकन्धराऽधिकरणाऽऽशुशुक्षणिलक्षणम् । तद्बलाद्भवान् विकल्पः सार्वत्रिकीं व्याप्तिं पर्याप्नोतीति निर्णेतुमिति चेत्; को नमित्र नामस्त तर्कविकल्पस्योपलम्भानुपलम्भसम्भवत्वेन स्वीकारात्, किन्तु व्याप्तिप्रतिपत्तावयमेव प्रमाणमङ्गीकरणीयः । अथ तथा प्रवर्तमानोऽयं प्राक् प्रवृत्तप्रत्यक्षव्यापारमेवाभिमुखयतीति तदेव तत्र प्रमाणमिति चेत्, तर्ह्यनुमानमपि लिङ्गग्राहिप्रत्यक्षस्यैव व्यापारमामुखयतीति तदेव वैश्वानरवेदने प्रमाणम्, नानुमानमिति किं न स्यात् ?। अथ कथमेव वक्तुं शक्यम् । लिङ्गप्रत्यक्षं हि लिङ्गगोचरमेव, अनुमानं तु साध्यगोचरमिति कथं तत्तद्व्यापारमामुखयेत्, तर्हि प्रत्यक्षं पुरोवर्तिस्वलक्षणेक्षणक्षणमेव । तर्कविकल्पस्तु साध्यसाधनसामान्यावमर्शमनीषीति कथं सोऽपि तद्व्यापारमुद्दीपयेत् । अथ सामान्यमप्रमाण्यमेव, अवस्तुत्वादिति कथं तत्र प्रवर्तमानस्तर्कः प्रमाणं स्यादिति चेत्, अनुमानमपि कथं स्यात् ?। तस्यापि सामान्यगोचरत्वाव्यभिचारात् । " अन्यत् सामान्यलक्षणं सोऽनुमानस्य विषयः " इति धर्मकीर्तिना कीर्तनात् । तत्त्वतोऽप्रमाणमेवैतद्, व्यवहारेणैवास्य प्रामाण्यात्.सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मिधर्मिन्यायेनेति वचनादिति चेत्, तर्कोऽपि तथाऽस्तु । अथ नायं तर्के व्यवहारेणापि प्रमाणम्, सर्वथा वस्तुसंस्पर्शपराङ्मुखत्वादिति चेत्, अनुमानमपि तथाऽस्तु । अवस्तुनिर्भासमपि परम्परया पदार्थे प्रतिबन्धात् प्रमाणमनुमानमिति चेत्, किं न तर्कोऽपि ?। अवस्तुत्वं च सामान्यस्याद्याऽपि केशरिकिशोरवक्त्रक्रोडदंष्ट्राऽङ्कुराऽऽकर्षायमाणमस्ति । सदृशपरिणामरूपस्यास्य प्रत्यक्षाऽऽदिपरिच्छेद्यत्वादिति तत्त्वत एवानुमानम्, तर्कश्च प्रमाणं प्रत्यक्षवदिति पाषाणरेखा ॥ ७ ॥

अत्रोदाहरन्ति-

यथा यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसत्यसौ न भवत्येव ॥ ८ ॥

अत्राऽऽद्यमुदाहरणमन्वयव्याप्तौ,द्वितीयं तु व्यतिरेकव्याप्ताविति ॥ ८ ॥ रत्ना० ३ परि० ।

तक्कणवित्ति-तर्कणवृत्ति-न० । नटनग्नाऽऽचार्याऽऽदीनां कृपणकुले, स्था० ८ ठा० ।

तक्कणा-देशी-इच्छायाम, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तक्कम्मसेवि (ण्)-तत्कर्मसेविन्-पुं० । मैथुनमासेव्य वीर्यनिसर्गे सति यः श्वान इव वेदोत्कटतया जिह्वालेहनाऽऽदिनिन्द्यकर्मणा सुखमात्मनो मन्यते स तथा । गलितश्वसदृशस्वलिङ्गलेहनकर्तरि, ध० ३ अधि० । बृ० । पं० भा० । पं० चू० ।

तक्कर-तस्कर-पुं० । तदेव चौर्यं कुर्वन्तीत्येवं शीलाः । कृ-अच् । नि० । औ० । परद्रव्यहरे,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आव० । ज्ञा० । रा० । नि० चू० । आ०चू० । दमनकवृक्षे,पृक्काशाके च । स्त्रियां ङीप् । वाच० ।

तक्करट्ठाण-तस्करस्थान-न० । शून्यदेवकुलाऽगाराऽऽदौ,ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

तक्करत्तण-तस्करत्व-न० । नवमे गौणेऽदत्ताऽऽदाने,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तक्करपओग-तस्करप्रयोग-पुं० । तस्कराश्चौराः,तेषां प्रयोगः सहरणक्रियायां प्रेरणमभ्यनुज्ञानं तस्करप्रयोगः ,तान् प्रयुङ्क्ते-हरत यूयमिति । स्थूलकादत्तादानविरते द्वितीयेऽतिचारे, आव० ६ अ० । पञ्चा० । आ० । ध० र० ।

तक्कलि- तर्कारी-स्त्री० । वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० । भ० । जयन्तीवृक्षे, वाच० ।

तक्कली-तर्कारी-स्त्री० । ' तक्कलि ' शब्दार्थे, प्रज्ञा० १ पद ।

तक्कलीमत्थय-तर्कारीमस्तक-न० । तर्कारीमध्यवर्तिनि गर्भे,आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

तक्कलीसीसय-तर्कारीशीर्षक-न० । तर्कारीस्तवके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

तक्का-तर्का-स्त्री० । स्वकीयविकल्पनायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । वितर्के, स्वमतिपर्यालोचने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । " एगा तक्का । " तर्को विमर्शः । अपायात्पूर्वो ईहाया उत्तरः प्रायः शिरःकण्डूयनाऽऽदयः पुरुषधर्मा इह घटन्त इति सम्प्रत्ययरूपाः, ईहैकत्वं तु प्रागिव । स्था० १ ठा० ।

तक्काभास-तर्काभास-पुं० । तर्कलक्षणरहिते तर्कवदाभासमाने, रत्ना० ।

तर्काऽऽभासमादर्शयन्ति-

असत्यामपि व्याप्तौ तदवभासस्तर्काभासः ॥ ३५ ॥

व्याप्तिरविनाभावः ॥ ३५ ॥

उदाहरन्ति-

स श्यामो मैत्रातनयत्वादित्यत्र यावान्मैत्रातनयः स श्याम इति यथा ॥ ३६ ॥

न हि मैत्रातनयत्वहेतोः श्यामत्वेन व्याप्तिरस्ति,शाकाऽऽद्याहारपरिणतिपूर्वकत्वात् श्यामतायाः । यो हि जनन्युपभुक्तशाकाऽऽद्याहारपरिणतिपूर्वकस्तनयः स एव श्याम इति सर्वाक्षेपेण य प्रत्ययः स तर्क इति ॥ ३६ ॥ रत्ना० ६ परि० ।

तक्कु-तर्कु-पु० । कृत्-उ- नि० । ' तेकू ' इतिख्याते यन्त्रे, वाच० । "कौसुम्भैस्तन्तुभिस्तर्कु-सपार्कैभिरथापरा । " आ० क० ।

तक्ख-तक्ष-धा० । तनूकरणे, भ्वादि० । पक्षे स्वादि०-पर०-सक०-सेट् । " तक्षेस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः " ॥ ८ । ४ । १९४॥ तक्षेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति । 'तच्छइ,' 'चच्छइ,' 'रम्पइ,' 'रम्फइ' । पक्षे-'तक्खइ' । प्रा० ४ पाद । भर्त्सने तु-सतक्षति । वाच० ।

तक्षन्-पु० । तक्ष-कनिन् । त्वष्टरि, विश्वकर्मणि च । वाच० ।

तक्खण-तत्क्षण-न० । तस्मिन्नेव क्षणे, " तक्खणओलुग्गदुब्बलसरीरलावन्नसुण्णनिच्छाय । " तत्क्षणमेव प्रव्रजामीतिवचनश्रवणक्षण एव अवरुग्ण ग्लानं दुर्बलं च शरीरं यस्याः सा तथा । लावण्येन शून्या लावण्यशून्या, निश्छाया निष्प्रभा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः । भ० ६ श० ३३ उ० ।

तक्खमाण-तक्षत्-त्रि० । तनूकुर्वाणे, अनु० ।

तक्खय-तक्षक-पुं० । तक्ष-ण्वुल् । कश्यपस्य सुते नागभेदे, वाच० । आव० । "विइयकंति पदंको, वाच० ।

तक्खसिला-तक्षशिला-स्त्री० । बहलीदेशे बाहुबलेर्नगर्याम्, आ० म० १ अ० १ खण्ड । कल्प० । आचा० । आ० चू० ।

तगर-तगर-पुं० । गृ-अच् तस्य क्रोडस्य गरः । 'टगर' इति ख्याते वृक्षे, वाच० । गन्धद्रव्यविशेषे, प्रश्न० ५ संव० द्वार । सूत्र० । ब० । रा० । जं० । जी० । "अगरतगरचोयाकुंकुमे-ण ।" अनु० ।

तगार-तकार-पुं० । तच्च वर्णस्वरूपानुकरणं 'त' इति । तत-कारप्रत्ययः । निर्देशे, नि० चू० १ उ० ।

तग्गुण-तद्गुण-पुं० । "रूमयस्य गुणस्य" ॥ ८ । १ । ११ ॥ इति दकारलोपः । मकारे तु पाक्षिकेऽनुनासिकेऽन्यस्यापि भवति । प्रा० १ पाद । अलङ्कारभेदे अ-र्थालङ्कारभेदे, वाच० ।

तग्ग-देशी सूत्रे, तन्तुके, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा ।

तग्गुण-पुं० । 'तगुण' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

तच्च-तथ्य-न० । तथा तत्र साधु यत् । वाच० । "हूस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले" ॥ ८ । २ । २१ ॥ तथ्ये थोऽपि भवति । इति थकारस्य चकारः । प्रा० २ पाद । चकारस्य द्वित्वम् । अवि-तथे, सत्ये, परमार्थे, उत्त० २८ अ० । जी० । आचा० । तथ्यमिति, त्रि० । वाच० ।

तच्चकम्मसंपउत्त-तथ्यकर्मसंप्रयुक्त-त्रि० । तथ्यानि सत्यफला-व्यभिचारितया कर्माणि क्रियाः स्वाध्यायादीनि तैः संप्रयुक्तः संप्रयुक्त एव तथा । कर्मणि सत्यफले, उत्त० ३ अ० ।

तच्चावाइ(ण्)-तथ्यवादिन्-पुं० । पौराणिकस्य राजस्य तत्त्वार्थकस्य धर्मपाठके, आ० क० । आ० चू० । आ० म० ।

तच्चावाय-तथ्यवाद-पुं० । तथ्यानि वस्तूनामिदम्पर्याणि तेषां वा-दस्तथ्यवादः । दृष्टिवादे, स्था० १० ठा० ।

तच्चवाद-पुं० । तत्त्वो वादस्तत्त्ववादः । दृष्टिवादे, स्था० १० ठा० ।

तच्चित्त-तच्चित्त-त्रि० । तस्मिन् भगवद्वचने चित्तं भावो मनो येषां ते तच्चित्ताः, सामान्योपयोगापेक्षया वा तच्चित्ताः । औ० । तत्रैव आवश्यके चित्तं सामान्योपयोगरूपं यस्येति तस्मिन् विवक्षिते ज्ञानमनोयुते, सामान्योपयुक्ते च । ग० २ अधि० । अनु० । विपा० ।

तच्छ-तक्ष-धा० । तनूकरणे, भ्वादि० पक्षे-स्वादि० पर०-स-क०-सेट् । "तक्षेस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः" ॥ ८।४।१९४॥ इति तच्छादेशः । 'तच्छइ' । प्रा० ४ पाद । "कर्पोति करकर्पदि, तच्छिज्जंति परोप्परं सुर्वादि ति ।" तक्षयन्ति सर्वशो देहावयवा-पनयनेन तनून् कारयन्ति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

तच्छण-तक्षण-न० । क्षुराऽऽदिना त्वचस्तनूकरणे, विपा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । वास्या काष्ठस्येव देहकर्तनरूपे शरीरद-ण्डे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । ज्ञा० ।

तच्छसिला-तक्षशिला-स्त्री० । बहलीदेशे बाहुबलेर्नगर्याम्, यत्र बाहुबलिविनिर्मितं धर्मचक्रम् । ती० ४३ कल्प । प्रति० ।

तच्छिड-देशी० करालें, दे० ना० ५ वर्ग ३ गाथा ।

तच्छिऊण-तक्षयित्वा-अव्य० । वास्यादिना तक्षणं कारयित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

तज्ज-तज्ज-त्रि० । तस्माज्जातं तज्जम् । तच्छब्दाभिधावित्वादुत्प-न्ने, पो० ७ विव० ।

तर्ज-धा० । भर्त्सने, भ्वादि०-पर०-सक० सेट् । तर्जति । अत-र्जीत् । चुरादि०-आत्म०-सक०-सेट् । तर्जयते । अततर्जत । वाच० ।

तज्जण-तर्जन-न० । शिरोऽङ्गुल्यादिस्फोरणतो ज्ञास्यसि रे जा-ल्म ! इत्यादिभणने, औ० । त० । प्रश्न० । ज्ञा० । आचा० ।

तज्जमाण-तर्जत्-त्रि० । अज्ञस्य रे य मम इद वचन दत्स्ये-त्येवं भीषयति, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

तज्जाइय-तज्जातिक-त्रि० । तस्माज्जातिः यस्य सः । त-ज्जाते सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

तज्जाईय-तज्जातीय-त्रि० । अभिन्नजातीये, आव० ४ अ० । आचा० ।

तज्जाय-तज्जात-त्रि० । तस्माद् विवक्षितात् सकाशाज्जातं त-ज्जातम् । तदुत्पन्ने, दशा० ३ अ० । स्था० ।

तज्जायदोसे मइभंगदोसे, पसत्थारदोसे परिहारदोसे ।
सलक्खणकारणहेउदोसे, संकामणं निग्गहवत्थुदोसे ॥१॥

" तज्जाय " इत्यादि वृत्तम् । एते हि गुरुशिष्ययोर्वादिप्र-तिवादिनोर्वा वादाश्रया इव लक्ष्यन्ते । तत्र तस्य गुर्वादे-र्जातं जातिः प्रकारो वा जन्मकर्माऽऽदिलक्षण तज्जातं, तदेव दूषणमिति कृत्वा दोषस्तज्जातदोषस्तथाविधकुलाऽऽदिना दूषणमित्यर्थः । अथवा-तस्मात्प्रतिवादिनः सकाशाज्जातः क्षो-भान्मुखस्तम्भाऽऽदिलक्षणो दोषस्तज्जातदोषः । (शेषोऽन्यत्र) दशविधदोषाणां मध्ये प्रथमे दोषभेदे, स्था० १० ठा० ।

तज्जायसंसट्ठचरग-तज्जातसंसृष्टचरक-त्रि० । तज्जातेन देयद्र-व्याविरोधिना यत्संसृष्टं हस्ताऽऽदि तेन दीयमानं यश्चरति तस्मिन्, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

तज्जाया-तज्जाता-स्त्री० । तुल्यजातीयक्रियमाणायां परिष्ठाप-नायाम्, आव० ४ अ० ।

तज्जिय-तर्जित-न० । एकोनविंशतितमे वन्दनदोषे, वृ० ।

एकोनविंशतिदोषमाह-

ण विकुप्पसि ण पसीयसि, कट्ठसिवो चेव तज्जियं एयं ।
सीसंगुलिमाईहिँ व, तज्जेति गुरुं पणिवयंते ॥

काष्ठघटितशिवदेवताविशेष इवाऽवन्द्यमानो न कुप्यसि, तथा-च वन्द्यमानोऽप्यविशेषज्ञतया न प्रसीदसीत्येवं तर्जयन् निर्भर्त्सयन् यत्र वन्दते तत्तर्जितम् । यदि च मेलापकमध्ये वन्दनकं मा दा-पयाँस्तत्पश्चादाचार्य ! परं ज्ञास्यते तवैकाकिन इत्यभिप्रायवान् यद्वा शीर्षेणाङ्गुल्या वा प्रदेशिनीलक्षणया गुरुं प्रक्षिपतन् वन्द-मानस्तर्जयति, तद्वा तर्जितम् । वृ० ३ उ० ।

तज्जीवतच्छरीर-तज्जीवतच्छरीर-न०। स चाऽसौ जीवश्च तज्जीवः कायाऽऽकारो भूतपरिणामस्तदेव शरीरम्। जीवशरीरयोरैक्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

तज्जीवतच्छरीरवाइ [ण्]-तज्जीवतच्छरीरवादिन्-त्रि०। नास्तिकविशेषे, सूत्र०।

साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिमतं पूर्वपक्षयन्नाह-

पत्तेअं कसिणे आया, जे बाला जे अ पंडिआ।
संति पिच्चा न ते संति, नऽत्थि सत्तोववाइया ॥ ११ ॥

तज्जीवतच्छरीरवादिनामयमभ्युपगमः-यथा पञ्चभ्यो भूतेभ्यः कायाऽऽकारपरिणतेभ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते, अभिव्यज्यते च, एकैकं शरीरं प्रति प्रत्येकमात्मानः कृत्स्नाः सर्वेऽप्यात्मान एवमवस्थिताः। ये बाला अज्ञाः, ये च पण्डिताः सदसद्विवेकज्ञाः, ते सर्वे पृथग् व्यवस्थिताः। न ह्येक एवाऽऽत्मा सर्वव्यापित्वेनाभ्युपगन्तव्यः बालपण्डितमनाऽऽद्यविभागप्रसङ्गात्। ननु प्रत्येकशरीराऽऽश्रयत्वेनाऽऽत्मबहुत्वमार्हतानामपीष्टमेवेत्याशङ्क्याऽऽह-सन्ति विद्यन्ते यावच्छरीरं विद्यन्ते, तदभावे तु न विद्यन्ते। तथाहि-कायाऽऽकारपरिणतेषु भूतेषु चैतन्याऽऽविर्भावो भवति, भूतसमुदायविघट्टने च चैतन्यापगमो, न पुनरन्यत्र गच्छच्चैतन्यमुपलभ्यते। तदेव दर्शयति-(पिच्चा न ते संतीति) प्रेत्य परलोके न ते आत्मानः सन्ति विद्यन्ते, परलोकानुयायी त्वात्मा शरीराद्भिन्नः स्वकर्मफलभोक्ता न कश्चिदात्माऽऽख्यः पदार्थोऽस्तीति भावः। किमित्येवमत आह-(नऽत्थि सत्तोववाइया) अस्तिशब्दस्तिङन्तप्रतिरूपको निपातो बहुवचने द्रष्टव्यः। तदयमर्थः-न सन्ति न विद्यन्ते, तदभावे तु न विद्यन्ते; सत्त्वाः प्राणिन उपपातेन निर्वृत्ता औपपातिका भवाद्भवान्तरगामिनो न भवन्तीति तात्पर्यार्थः। तथाहि तदागमः-"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यतीति, न प्रेत्य संज्ञा अस्तीति।" ननु प्रागुपन्यस्तभूतवादिनोऽस्य च तज्जीवतच्छरीरवादिनः को विशेषः?, इत्यत्रोच्यते-भूतवादिनो भूतान्येव कायाऽऽकारपरिणतानि धावनवल्गनाऽऽदिकां क्रियां कुर्वन्त्यस्य तु कायाऽऽकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्याऽऽख्य आत्मोत्पद्यतेऽभिव्यज्यते च, तेभ्यश्चाभिन्न इत्ययं विशेषः ॥ ११ ॥

एवं च धर्मिणोऽभावाद्धर्मस्याप्यभाव इति दर्शयितुमाह-

नऽत्थि पुण्णे व पावे वा, नऽत्थि लोए इतो परे।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥ १२ ॥

पुण्यमभ्युदयप्राप्तिलक्षणं, तद्विपरीतं पापम्, एतदुभयमपि न विद्यते, आत्मनो धर्मिणोऽभावात्। तदभावाच्च नास्तीतोऽस्माल्लोकात् परोऽन्यो लोको यत्र पुण्यपापानुभव इति। अत्रार्थे सूत्रकारः कारणमाह-शरीरस्य कायस्य विनाशेन भूतविघटनेन, देहिन आत्मनोऽप्यभावो भवति, यतो न पुनः शरीरे विनष्टे तस्मादात्मा परलोकं गत्वा पुण्यं पापं वाऽनुभवतीत्यतो धर्मिण आत्मनोऽभावात्तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरप्यभाव इति। अस्मिंश्चार्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्ति। तद्यथा-यथा जलबुद्बुदो जलातिरेकेण नाऽपरः कश्चिद्विद्यते, तथा भूतव्यतिरेकेण नाऽपरः कश्चिदात्मेति। तथा च यथा कदलीस्तम्भस्य बहिस्त्वगपनयने क्रियमाणे त्वङ्मात्रमिव सर्वं नाऽन्तः कश्चित्सारोऽस्त्येवं भूतसमुदाये विघटति सति तावन्मात्रं विहाय नान्तःसारभूतः कश्चिदात्माऽऽख्यः पदार्थ उपलभ्यते। यथा वा अलातं भ्राम्यमाणमतद्रूपमपि चक्रबुद्धिमुत्पादयति, एवं भूतसमुदायोऽपि विशिष्टक्रियोपेतो जीवभ्रान्तिमुत्पादयतीति। यथा च स्वप्ने बहिर्मुखाऽऽकारतया विज्ञानमनुभूयते, अन्तरेणैव बाह्यमर्थम्, एवमात्मानमन्तरेण तद्विज्ञानं भूतसमुदाये प्रादुर्भवतीति। तथा यथाऽऽदर्शे स्वच्छत्वात्प्रतिबिम्बितो बहिःस्थितोऽप्यर्थोऽन्तर्गतो लक्ष्यते, न चाऽसौ तथा। यथा च ग्रीष्मे भौमेनोष्मणा परिस्पन्दमाना मरीचयो जलाऽऽकारं विज्ञानमुत्पादयन्ति, एवमन्येऽपि गन्धर्वनगराऽऽदयः सत्त्वरूपेणाऽतथाभूता अपि तथा प्रतिभासन्ते, तथाऽऽत्माऽपि भूतसमुदायाऽऽकारपरिणतौ सत्यां पृथगसन्नेव तथा भ्रान्तिं समुत्पादयतीति। अमीषां च दृष्टान्तानां प्रतिपादकानि केचित्सूत्राणि व्याचक्षते। अस्माभिस्तु सूत्रादर्शे चिरन्तनटीकायां चादृष्टत्वान्नालिखितानीति ॥ ननु च यदि भूतव्यतिरिक्तः कश्चिदात्मा न विद्यते, तत्कृते च पुण्यापुण्ये न, तत्कथमेतद्वैचित्र्यं घटते? तद्यथा-कश्चिदीश्वरोऽपरो दरिद्रोऽन्यः सुभगोऽपरो दुर्भगः सुखी दुःखी सुरूपो मन्दरूपो व्याधितो नीरोगीत्येवंप्रकारा विचित्रता किंनिबन्धनेति? अत्रोच्यते, स्वभावात्। तथाहि-कश्चिच्छिलाशकले प्रतिमारूपं विद्यते, तच्च कुङ्कुमागरुचन्दनाऽऽदिविलेपनानुभोगमनुभवति, धूपाऽऽमोदं च, अन्यस्मिंस्तु पाषाणखण्डे पादक्षालनाऽऽदि क्रियते, न च तयोः पाषाणखण्डयोः शुभाशुभे स्तः, यदुदयात्स तादृगवस्थाविशेष इत्येवं स्वभावाज्जगद्वैचित्र्यम्। तथाचोक्तम्-"कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य विचित्रता। वर्णाश्च ताम्रचूडानां, स्वभावेन भवन्ति हि ॥ १ ॥" इति। तज्जीवतच्छरीरवादिमतं गतम् ॥ १२ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिनो मतं निराचिकीर्षुराह-

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया?।
तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ॥ १४ ॥

ये तावच्छरीराऽव्यतिरिक्ताऽऽत्मवादिन एव पूर्वोक्तयुक्त्या भूताव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तस्ते निराक्रियन्ते-तेषां लोकश्चतुर्गतिभवरूपः सुभगदुर्भगसुरूपकुरूपेश्वरदारिद्र्यादिगत्या जगद्वैचित्र्यरूपः कुतः स्यात्? आत्माऽनङ्गीकारे पुण्यपापाभावे कथं विश्ववैचित्र्यमित्यर्थः?। ते च नास्तिकास्तमसोऽज्ञानरूपात् तमो यान्ति ज्ञानाऽऽवरणाऽऽवृता पुनर्ज्ञानाऽऽवरणरूपं तमः प्रविशन्ति। अथवा-सद्विवेकप्रध्वंसित्वात्तमो दुःखं, तस्मात्तमो महादुःखं यान्ति, यतस्ते मन्दा जडाः परलोकनिरपेक्षत्वाच्चाऽऽरम्भनिःश्रिताः। (सूत्र० टी० १ श्रु० १ अ० १ उ०) तत्र यत्तैस्तावदुक्तम्। यथा-न शरीराद्भिन्नोऽस्त्यात्मेति। तदसङ्गतम्। यतस्तत्प्रसाधकं प्रमाणमस्ति। तच्चेदम्-विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरम्, आदिमत्प्रतिनियताऽऽकारत्वात्, इह यद्यदादिमत्प्रतिनियताऽऽकारं तत्तद् विद्यमानकर्तृकं दृष्टम्। यथा घटः, यच्चाविद्यमानकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताऽऽकारमपि न भवति, यथाऽऽकाशम्। आदिमत्प्रतिनियताऽऽकारस्य च सकर्तृकत्वेन व्याप्तेः व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्य विनिवृत्तिरिति सर्वत्र योजनीयम्। तथा विद्यमानाधिष्ठातृकाणीन्द्रियाणि, करणत्वात्, यद्यदिह करणं तत्तद् विद्यमानाधिष्ठातृकं दृष्टम्, यथा-दण्डाऽऽदिकमिति। अधिष्ठातारमन्तरेण करणत्वानुपपत्तेः, यथाऽऽकाशस्य। हृषीकाणां चाधिष्ठाताऽऽत्मा, स च तेभ्योऽन्य इति। तथा विद्यमानाधिष्ठातृकमिदमिन्द्रियविषय-

कदम्बकम्, आदानाऽऽदेयसद्भावात् । इह यत्र यत्राऽऽदानाऽऽदेयसद्भावस्तत्र तत्र विद्यमान आदाता ग्राहको दृष्टः । यथा सदंशकाऽयःपिण्डयोरन्तर्भिन्नोऽयस्कार इति । यश्चात्रेन्द्रियैः करणैर्विषयाणामादाता ग्राहकः, स तद्भिन्न आत्मेति । तथा विद्यमानभोक्तृकमिदं शरीरं, भोग्यत्वात्, ओदनाऽऽदिवत् । अत्र च कुलालाऽऽदीनां मूर्तत्वानित्यत्वसंहतत्वदर्शनादात्माऽपि तथैव स्यादिति धर्मविशेषविपरीतसाधनत्वेन विरुद्धा शङ्का न विधेया । संसारिण आत्मनः कर्मणा सहान्योन्यानुबन्धतः कथञ्चिन्मूर्तत्वाऽऽद्यभ्युपगमादिति । तथा यदुक्तम्-"नास्ति सत्त्व औपपातिकः" इति । तदप्ययुक्तम् । यतस्तदहर्जातबालकस्यायं स्तनाभिलाषः सोऽन्याभिलाषपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, कुमाराभिलाषवत् । तथा बालविज्ञानमन्यविज्ञानपूर्वकं, विज्ञानत्वात्, कुमारविज्ञानवत् । तथाहि-यदहर्जातबालकोऽपि यावत्स एवायं स्तन इत्येवं नावधारयति, तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने इत्यतोऽस्ति बालके विज्ञानलेशः, स चान्यविज्ञानपूर्वकः । तथाऽन्यद् विज्ञानं भवान्तरविज्ञानं, तस्मादस्ति सत्त्व औपपातिक इति । तथा यदभिहितम्-"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यतीति ।" तत्राप्ययमर्थः-विज्ञानघनो विज्ञानपिण्ड आत्मा भूतेभ्यः उत्थायेति प्राक्तनकर्मवशात्तथाविधकायाऽऽकारपरिणते भूतसमुदाये तद्द्वारेण स्वकर्मफलमनुभूय पुनस्तद्विनाशे आत्माऽपि तदनु तेनाऽऽकारेण विनश्यापरपर्यायान्तरेणोत्पद्यते, न पुनस्तैरेव सह विनश्यतीति । तथा यदुक्तम्-धर्मिणोऽभावात्कर्मणोः पुण्यपापयोरभाव इति । तदप्यसमीचीनम् । यतो धर्मी तावदनन्तरोक्तिकदम्बकेन साधितः, तत्सिद्धौ च तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरपि सिद्धिरवसेया, जगद्वैचित्र्यदर्शनाच्च । यत्तु स्वभावमाश्रित्योपलशकलं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तं, तदपि तद्भोक्तृकर्मवशादेव तथा तथा संवृत्त इति दुर्निवारः पुण्यापुण्यसद्भाव इति । येऽपि बहवः कदलीस्तम्भाऽऽदयो दृष्टान्ता आत्मनोऽभावसाधनायोपन्यस्ताः, तेऽप्यभिहितनीत्याऽऽत्मनो भूतव्यतिरिक्तस्य परलोकयायिनः सारभूतस्य साधितत्वात् केवलं भवतो वाचालतां प्रख्यापयन्ति । इत्यलमतिप्रसङ्गेन । शेषं सूत्रं विव्रियतेऽधुनेति-तदेवं तेषां भूतव्यतिरिक्ताऽऽत्मनिह्नववादिना योऽयं लोकश्चतुर्गतिकसंसारो भवाद् भवान्तरगतिलक्षणः प्राक् प्रसाधितः सुभगदुर्भगसुरूपमन्दरूपेश्वरदारिद्र्याऽऽदिगत्या जगद्वैचित्र्यलक्षणश्च, स एवंभूतो लोकस्तेषां कुतो भवेत् ?। कयोपपत्त्या घटेत ?; आत्मनोऽनभ्युपगमान्न किञ्चिदित्यर्थः । ते च नास्तिकाः परलोकयायिजीवाऽनभ्युपगमेन पुण्यपापयोश्चाभावमाश्रित्य यत्किञ्चनकारिणोऽज्ञानरूपात्तमसः सकाशादन्यत्तमो यान्ति-भूयोऽपि ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूपं महत्तरं तमः सञ्चिन्वन्तीत्युक्तं भवति । यदि वा तम इव तमो दुःखसमुद्घातेन सदसद्विवेकप्रध्वंसित्वाद् यातनास्थानम् तस्मादेवंभूतात्तमसः परतरं तमो यान्ति । सप्तमनरकपृथिव्यां रौरवमहारौरवकालमहाकालाप्रतिष्ठानाऽऽख्य नरकाऽऽवासं यान्तीत्यर्थः । किमिति ?। यतस्ते मन्दा जडा मूर्खाः सत्यपि युक्त्युपपन्ने आत्मन्यसदभिनिवेशात् तदभावमाश्रित्य प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरम्भे व्यापारे निश्चयेन नितरां चाश्रिताः सम्बद्धाः पुण्यपापयोरभाव इत्याश्रित्य परलोकनिरपेक्षयाऽऽरम्भनिश्रिता इति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

तं जहा-उड्ढं पादतला, अहे केसग्गमत्थया, तिरियं तयपरियंते जीवे, एस आयापज्जवे कसिणे, एस जीवे जीवति, एस मए णो जीवइ, सरीरे धरमाणे धरइ, विणट्ठम्मि य णो धरइ, एयं तं जीवियं भवति, आदहणाए परेहिं निज्जइ, अगणिज्झामिए सरीरे कवोतवन्नाणि अट्ठीणि भवंति, आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति, एवं असंते असंविज्जमाणे, जेसिं [तं असंते असंविज्जमाणे] तेसिं तं सुयक्खायं भवति । अन्नो भवति जीवो, अन्नं सरीरं, तम्हा ते एवं नो विप्पडिवेदेंति-अयमाउसो ! आया दीहे ति वा, हस्से ति वा, परिमंडले ति वा, वट्टे ति वा, तंसे ति वा, चउरंसे ति वा, आयते ति वा, छलंसिए ति वा, अट्ठंसे ति वा, किण्हे ति वा, णीले ति वा, लोहियहालिद्दसुक्किले ति वा, सुब्भिगंधे ति वा, दुब्भिगंधे ति वा, तित्ते ति वा, कडुए ति वा, कसाए ति वा, अंबिले ति वा, महुरे ति वा, कक्खडे ति वा, मउए ति वा, गुरुए ति वा, लहुए ति वा, सीए ति वा, उसिणे ति वा, निद्धे ति वा, लुक्खे ति वा, एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं सुयक्खायं भवति-अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं, तम्हा ते णो एवं उवलब्भंति ॥ १५ ॥

तद्यथा-ऊर्ध्वमुपरि पादतलात्, अधश्च केशाग्रमस्तकात्, तिर्यक् च त्वक्पर्यन्तो जीवः । एतदुक्तं भवति-यदेवैतच्छरीरं, स एव जीवो, नैतस्माच्छरीराद्व्यतिरिक्तोऽस्त्यात्मेत्यतस्तत्प्रमाण एव भवत्यसावित्येवं च कृत्वैष आत्मा योऽयं कायोऽयमेव च तस्याऽऽत्मनः पर्यवः, कृत्स्नः सम्पूर्णः पर्यायोऽवस्थाविशेषः, तस्मिंश्च कायात्मन्यवस्थिते तदव्यतिरेकात् जीवोऽप्यवस्थित एव भवति । एष च कायो यावन्तं कालं जीवेदविकृत आस्ते, तावन्तमेव कालं जीवोऽपि जीवतीत्युच्यते, तदव्यतिरेकात् । तथैव कायो यदा मृतो विकारभाग्भवति, तदा जीवोऽपि न जीवति, जीवशरीरयोरेकाऽऽत्मकत्वात् । यावदिदं शरीरं पञ्चभूताऽऽत्मकमव्यङ्गं धरति, तावदेव जीवोऽपीति । तस्मिंश्च विनष्टे सत्येकस्यापि भूतस्यान्यथाभावे विकारे सति जीवस्याऽपि तदात्मनो विनाशः, तदेवं यावदेतच्छरीरं वातपित्तश्लेष्माऽऽधारं पूर्वस्वभावादप्रच्युतं तावदेव तज्जीवस्य जीवितं भवति । तस्मिंश्च विनष्टे तदात्मा जीवोऽपि विनष्ट इति कृत्वा आ दहनायाऽऽसमन्ताद्दहनार्थं श्मशानाऽऽदौ नीयते, यतोऽसौ तस्मिंश्च शरीरेऽग्निध्मापिते कपोतवर्णान्यस्थीनि केवलमुपलभ्यन्ते, न तद्व्यतिरिक्तोऽपरः कश्चिद्विकारः समुपलभ्यते, यत आत्मास्तित्वाशङ्का स्यात् । ते च तद्बान्धवा जघन्यतोऽपि चत्वारः । आसन्दी मञ्चकः, स पञ्चमो येषां ते आसन्दीपञ्चमा पुरुषाः, ते कायमग्निना ध्मापयित्वा पुनः स्वग्रामं प्रत्यागच्छन्ति । यदि पुनस्तत्राऽऽत्मा निजशरीराद्भिन्नः स्यात्ततः शरीरान्निर्गच्छन् दृश्येत । न चोपलभ्यते, तस्माज्जीवस्तदेव शरीरमिति स्थितम् । तदेवमुक्तनीत्याऽसौ जीवोऽसन्नविद्यमानस्तत्र तिष्ठन् गच्छश्चासंवेद्यमानो येषामयं पक्षस्तेषां तत्स्वाख्यातं भवति, येषां पुनरन्यो जीवोऽन्यच्च शरीरमेवंभूतोऽप्रमाणकः पक्षाभ्युपगमस्तस्मात्ते स्वयमूढा मूढा माना एवमिति वक्ष्यमाणं तेनैव विप्रतिवेदयन्ति

यद्यथा-आयुष्मन् ! शरीराद् बहिरभ्युपगम्यमानः किंप्रमाणकः स्यादिति वाच्यम् । तत्र किं दीर्घः शरीरात्प्रांशुतर, उत ह्रस्वोऽ- ह्रुष्ठश्यामाकतण्डुलाऽऽदिपरिमाणो वा ?। तथा संस्थानानां परि- मण्डलाऽऽदीनां मध्ये किंसंस्थानः, तथा कृष्णाऽऽदीनां वर्णानां मध्ये कतमवर्णवर्ती, तथा किंगन्धः, षण्णां रसानां मध्ये कतमर- सवर्ती ?। तथाऽष्टानां स्पर्शानां मध्ये कतमो वा स्पर्शो वर्त्तते ?। तदेवं संस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शान्यरूपतया कथमप्यसावगृह्य- माणोऽसन्नसौ तथाऽपि केनाऽपि प्रकारेणासंवेद्यमानोऽपि वे- षा तत्त्वव्याख्यातं भवति । यथाऽन्यो जीवोऽन्यच्छरीरकमित्ययं प क्षस्तस्मात्पृथगविद्यमानत्वात्ते शरीरात्पृथगात्मवादिनो नैवं व- क्ष्यमाणमीत्याऽऽत्मानमुपलभन्ते ॥ १५ ॥

से जहाणामए केइ पुरिसे कोसीओ असिं अभिनिव्व- ट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! असी, अयं कोसी, एव- मेव णत्थि केइ पुरिसे अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो- अयमाउसो ! आया, इयं सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउ- सो ! मुंजे इयं इसियं, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो- अयमाउसो ! आया, इयं सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउ- सो ! मंसे, अयमट्ठी, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो- अयमाउसो ! आया, इयं सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे करयलाओ आमलकं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अ- यमाउसो ! करतले, अयं आमलए, एवमेव णत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया, इयं सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे दहिओ नवनीयं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा- अयमाउसो ! नवनीयं, अयं तु दही, एवमेव णत्थि केइ पुरि- से० जाव सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे तिलेहिंतो तिल्लं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! तेल्लं, अयं पिन्नाए, एवमेव० जाव सरीरं । से जहाणामए केइ पुरिसे इक्खुत्तो खोतरसं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा-अयमा- उसो ! खोतरसे, अयं खोए, एवमेव० जाव सरीरं । से जहा- णामए केइ पुरिसे अरणीतो अग्गिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उ- वदंसेज्जा-अयमाउसो ! अरणी, अयं अग्गी, एवमेव० जाव सरीरं । एवं असते असंविज्जमाणे जेसिं त सुयक्खायं भव- ति-तं जहा-अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं, तम्हा ते मिच्छा । १६।

तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः कोशात् परिवारादसिं खड्गमभिनिर्व- र्त्य समाकृष्यान्येषामुपदर्शयेत् । तद्यथा-अयमायुष्मन् ! असिः ख- ड्गोऽयं च कोशः परिवारः, एवमेव जीवशरीरयोरपि नास्त्युपदर्श- यिता । तद्यथा-अयं जीवः, इदं च शरीरमिति, न चास्त्येवमुपदर्श- यिता कश्चित्, कायाद्भिन्नो जीव इति । अस्मिंश्चार्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्तीत्यतो दर्शयितुमाह । तद्यथा वा-कश्चित्पुरुषो मुञ्जात् तृणविशेषात् (इसियं ति) तद्गर्भभूतां शलाकां पृथक् कृत्य दर्शयेत् । तथा मांसादस्थि, तथा करतलादामलकम्, तथा दध्नो नवनीतम्, तिलेभ्यस्तैलमिति, तथेक्षो रसं, तथाऽरणी- तोऽग्निमभिनिर्वर्त्य दर्शयेत् । एवमेव शरीराद् जीवमिति न चा- ऽस्त्येवमुपदर्शयिताऽतोऽसन्नात्मा, शरीरात्पृथगसंवेद्यमानत्वे- ति । प्रयोगश्चात्र-सुब्यक्तं सनाक् परलोकयायी नास्त्यात्मा, विद्य- मानेऽपि शरीरके पृथगनुपलब्धेः, घटाऽऽत्मवत्, व्यतिरे- केण च कोशखड्गवत् । तदेवं युक्तिभिः प्रतिपादितोऽप्यात्मा भवे- त्, येषां पृथगात्मादिना स्वदर्शनानुरागादेतत्त्वाख्यातं भवति । तद्यथा-अन्यो जीवः परलोकानुयायी अमूर्तोऽन्यच्च तद्व्यतिरि- क्तं मूर्तिमच्छरीरमेतच्च पृथङ् नोपलभ्यते । तस्मात्ते मिथ्या-वै. के- चिदुच्यते यथाऽस्त्यात्मा परलोकानुयायीति ॥ १६ ॥

से हता तं हणह, खणह, छणह, डहह, पयह, आलुंपह, विलुंपह, सहसक्कारेह, विपरामुसह, एतावं ताव जीवे, ण- त्थि परलोए वा, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति-तं जहा-किरियाइ वा अकिरियाइ वा सुकडेइ वा दुक्कडेइ वा कल्लाणेइ वा पावएइ वा साहुइ वा असाहुइ वा सिद्धाइ वा असि- द्धाइ वा निरएइ वा अनिरएइ वा, एवं ते विरूवरूवे- हिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए ॥ १७ ॥

एतदध्यवसायी च स लोकायतिकः स्वतः प्राणिनामेकेन्द्रि- याऽऽदीनां हन्ता व्यापादको भवति, प्राणातिपाते दोषाभा- वमभ्युपगम्याऽन्येषामपि प्राण्युपघातकारिणामुपदेशं ददाति । तद्यथा-प्राणिनः खड्गाऽऽदिना घातयेत्, पृथिव्यादिकं खनते- त्यादि सुगमम् । यावदेतावानेव शरीरमात्र एव जीवस्ततः परलोकिनोऽभावान्नास्ति परलोकोऽतस्तदभावाच्च यथेष्टमा- सत । तथा चोक्तम्-" पिब खाद च साधु शोभने !, यद- तीतं वरगात्रि ! तन्न ते । न हि भीरु ! गतं निवर्त्तते, समुदय- मात्रमिदं कलेवरम् " ॥१॥ तदेवं परलोकयायिनो जीवस्याऽ- भावान्न पुण्यपापे स्तः, नापि परलोक इत्येवं येषां पक्षस्ते लो- कायतिकास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो, नैवैतद्वक्ष्यमाणं प्रतिवेदयन्ति अभ्युपगच्छन्ति । तद्यथा-क्रियां वा सदनुष्ठानाऽऽत्मिकाम्, अ- क्रिया वा असदनुष्ठानरूपाम् । एवं नैव ते विप्रतिवेदयन्ति- यदि हि आत्मा तत्क्रियावान् कर्मणो भोक्ता स्यात्ततः पापभ- यात्सदनुष्ठानचिन्ता स्यात्, तदभावाच्च सत्क्रियादिचिन्ताऽपि दू- रोत्सारितैव । तथा सुकृतं दुष्कृतं वा कल्याणमिति पापमिति वा साधुकृतमसाधुकृतमित्यादिका चिन्तैव नास्ति । तथाहि- सुकृतानां कल्याणविपाकिनां साधुतयाऽवस्थानं, दुष्कृतानां च पापविपाकिनामसाधुत्वेनावस्थानमेतद्द्वयमपि सत्यात्मनि त- त्फलभुजि सम्भवति, तदभावाच्च कुतोऽनर्थकौ हिताहितप्राप्ति- परिहारौ स्याताम् ?। तथा सुकृतेन कल्याणेन साध्वनुष्ठानेनाशे- षकर्मक्षयरूपा सिद्धिः, तथा दुष्कृतेन पापानुबन्धिना असा- ध्वनुष्ठानेन नरको, नरके वा तिर्यङ्नरामरगतिलक्षणः स्यादित्ये- वमात्मिका चिन्तैव न भवेत्, तदाधारस्याऽऽत्मसद्भावस्यानभ्यु- पगमादिति भावः । पुनरपि लोकायतिकानुष्ठानदर्शनायाऽऽह- (एव ते इत्यादि) एवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण ते नास्तिका आ- त्माभावं प्रतिपाद्य विरूपं नानाप्रकारं रूपं स्वरूपं येषां ते, तथा कर्मसमारम्भाः सावद्यानुष्ठानरूपाः पश्वाघातमांसभक्षण- सुरापानानिर्लाञ्छनाऽऽदिका, तैरेवम्भूतैर्नानाविधैः कर्मसमारम्भैः कृष्यादिनानुष्ठानाऽऽदिभिर्विरूपकान् कामभोगान् समारभन्ते समाददति तदुपभोगार्थमिति ॥ १७ ॥

साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिमतमुपसंजिघृक्षुः प्रस्तावमारचयन्नाह-

एवं चेगे पागब्भिया णिक्खम्म मामगं धम्मं पन्नवेंति, तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोयमाणा साहु सुयक्खाए समणे ति वा माहणे ति वा कामं खलु आउसो ! तुमं पूययामि । तं जहा-असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा, तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए निकाइंसु ॥ १८ ॥

मूर्तिमतः शरीरादन्यदमूर्तं ज्ञानमात्रमप्यनुभूयते, तस्य चामूर्तमेव गुणिना भाव्यमतः शरीरात्पृथग्भूत आत्माऽमूर्तो ज्ञानवत्तदाधारभूतोऽस्तीति । न चात्माऽभ्युपगममन्तरेण तज्जीवतच्छरीरवादिनः किञ्चिद्विचार्यमाणं मरणमुपपद्यते । दृश्यन्ते च तथाभूत एव शरीरे म्रियमाणा मृताश्च । कुतः समागतोऽहं, कुत्र चेदं शरीरं परित्यज्य यास्यामि ?, तथेदं मे शरीरं पुराणकर्मत्यधमाधिकाः शरीरात्पृथग्भावेनाऽऽत्मनि सप्रत्यया अनुभूयन्ते । तदेवमपि स्वानुभवसिद्धेऽप्यात्मनि एके केचन नास्तिकाः पृथक् जीवास्तित्वमश्रद्दधानाः प्रागल्भिकाः प्रागल्भ्येन चरन्ति, धृष्टतामापन्ना अभिदधति । तद्यथा-अयमात्मा शरीरात्पृथग्भूतः स्यात्ततः संस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शान्यतमगुणोपेतः स्यात् । न च ते वराकाः स्वदर्शनानुरागान्धतमसाऽऽवृतदृष्टय एतद्विदन्ति । तथा-मूर्त्तस्यैव धर्मो, नामूर्तस्य, न हि ज्ञानस्य संस्थानाऽऽदयो गुणाः समाव्यन्ते । न च तत्तदभावेऽपि नास्तीत्येवमात्माऽपि संस्थानाऽऽदिगुणरहितोऽपि विद्यत इति । एवं युक्तियुक्तमप्यात्मानं धार्ष्ट्यान्नाभ्युपगच्छन्ति । तथा निष्क्रम्य च स्वदर्शनविहितां प्रव्रज्यां गृहीत्वा नाऽन्यो जीवः शरीराद्विद्यत इत्येष यो धर्मो मदीयोऽयमित्येवमभ्युपगम्य स्वतोऽपरेषां च न तथाभूतं धर्मं प्रतिपादयन्ति; यद्यपि लोकायतिकानां नास्ति दीक्षाऽऽदिकं, तथाऽप्यपरेण शाक्याऽऽदिना प्रव्रज्याविधानेन प्रव्रज्य पश्चाल्लोकायतिकमधीयानस्य तथाविधपरिणतेस्तदेवाभिरुचितमतो मामकोऽयं धर्मः स्वयमभ्युपगच्छन्त्यन्येषां च प्रज्ञापयन्ति । यदि वा-नीलपटाऽऽद्यभ्युपगन्तुः कश्चिदस्यैव प्रव्रज्याविशेष इत्यदोष इति । साम्प्रतं तत्प्रतिज्ञापितशिष्यव्यापारमाधिकृत्याऽऽह-(तं सद्दहमाणे इत्यादि) तं नास्तिकवादमुपन्यस्तं धर्मं विषयिणामनुकूलं श्रद्दधानाः स्वमतावतिशयेन रोचयन्तस्तथा प्रतिपादयन्तोऽवितथभावेन गृह्णन्तस्तथा तत्र रुचिं कुर्वन्तस्तथा साधु शोभनमेतद्यथा स्वाख्यातः यथाऽवस्थितो भवतो धर्मोऽन्यथा सति हिंसाऽऽदिष्वप्रवर्तमानाः परलोकभयात्सुखसाधनेषु मांसमद्याऽऽदिष्वप्रवृत्तिं कुर्वन्तो मनुष्यजन्मफलवर्जिता भवेयुः । ततः शोभनमकारि भवता हे श्रमण ! ब्राह्मण ! इति वा यदयं तज्जीवतच्छरीरधर्मोऽस्माकमावेदितः, काममिष्टं तदस्माकं धर्मकथनम् । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । हे आयुष्मन् ! त्वया वयमभ्युद्धृताः कार्पटिकैस्तीर्थिकैर्वञ्चिताः स्युरिति । तस्मादुपकारिणं त्वां भगवन्तं पूजयाम्यहमपि कञ्चिदायुष्मतो भगवतः प्रत्युपकारं करोमि । तदेव दर्शयति । तद्यथा-(असणेत्यादि) सुगमम् । यावत्पादपुञ्छनकमिति । तत्रैके पूर्वोक्तया पूजया पूजायां वा (समाउट्टिंसु त्ति) समावृत्ताः प्रह्वीभूतास्ते राजानः पूजां प्रति प्रवृत्तास्तदुपदेष्टारो वा पूजामभ्युपपन्नाः सन्तस्तं राजादिकं स्वदर्शनप्रतिपन्नमेके केचन स्वदर्शनस्थित्या हिताहितप्राप्तिपरिहारेषु निकाचितवन्तो नियमितवन्तः । तथाहि-भवतेदं तच्छरीरमित्यभ्युपगन्तव्यमन्यो जीवोऽन्यच्च शरीरमित्येतत्परित्याज्यम्, अनुष्ठानमपि एतदनुरूपमेतद्विधेयमित्येवं निकाचितवन्त इति ॥ १८ ॥

पुव्वमेव तेसिं णायं जवति-समणा जविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तजोइणो भिक्खुणो पावं कम्मं णो करिस्सामि समुट्ठिए ते अप्पणो अप्पामिविरया जवंति, सयमाइयंति, अन्ने वि आदियावेंति, अन्नं पि आयंतं तं समणुजाणंति, एवमेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसवसट्टा ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति, ते णो परं समुच्छेदेंति, णो अन्नाइं पाणाइं जूताइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेंति, पहीणा पुव्वसंजोगं आयरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामजोगेसु विसन्ना इति पढमे पुरिसजाए तज्जीवतच्छरीरए त्ति आहिए ॥ १९ ॥

तत्र ये भागवताऽऽदिकं लिङ्गमभ्युपगताः पश्चाल्लोकायतग्रन्थश्रवणेन लोकायताः संवृत्ताः, तेषामादौ प्रव्रज्याग्रहणकाल एवैतत्परिज्ञातं भवति । तद्यथा-परित्यक्तपुत्रकलत्रा श्रमणा यतयो भविष्यामः, अनगारा गृहरहिताः, तथा निष्किञ्चनाः किञ्चन द्रव्यं तद्रहिताः, तथाऽपशवो गोमहिष्यादिरहिताः, परदत्तभोजिनः स्वतः पचनपाचनाऽऽदिक्रियारहितत्वात्, भिक्षणशीला भिक्षवः, कियद्वक्ष्यते-अन्यदपि यत्किञ्चित्पापं सावद्यं कर्मानुष्ठानं तत्सर्वं न करिष्यामीत्येवं सम्यगुत्थानेनोत्थाय पूर्वं पश्चाल्लोकायतिकमुपगता आत्मनः स्वतः कर्मभ्योऽप्रतिविरता भवन्ति । विरत्यभावेऽपि यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयति । पूर्वं सावद्याऽऽरम्भान्निवृत्तिं विधाय नीलपटाऽऽदिकं च लिङ्गमास्थाय च स्वयमात्मना सावद्यमनुष्ठानमाददते स्वीकुर्वन्ति, अन्यानप्यादापयन्ति ग्राहयन्ति, अन्यमप्याददानं परिग्रहं स्वीकुर्वन्तं समनुजानन्ति । एवमेव पूर्वोक्तप्रकारेण स्त्रीप्रधानाः स्त्रियोपलक्षिता वा, काम्यन्त इति कामाः, भुज्यन्त इति भोगास्तेषां स्वातन्त्र्यस्तथाऽजितेन्द्रियाः सन्तः, तेषु कामभोगेषु मूर्छिता एकीभावतामापन्ना गृद्धाः काङ्क्षावन्तो ग्रथिता अवबद्धा अध्युपपन्ना आधिक्येन भोगेषु, लुब्धा रागद्वेषार्त्ता रागद्वेषवशगाः कामभोगान्धा वा, त एवं कामभोगेषु आश्रवबद्धाः सन्तो नात्मानं संसारात्कर्मपाशाद्वा समुच्छेदयन्ति मोचयन्ति, नाऽपि परं सदुपदेशदानतः कर्मपाशावपाशितं समुच्छेदयन्ति कर्मबन्धात् त्रोटयन्ति, नाप्यन्यान् दशविधप्राणधारिणः प्राणान् प्राणिनः, तथा चाऽभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च भूतानि, तथा वा आयुष्कधारणाज्जीवास्तान्, तथा सत्त्वांस्तथाविधवीर्यान्तरायक्षयोपशमाऽऽपादितवीर्यगुणोपेतास्तान् समुच्छेदयन्ति, असदभिप्रायप्रवृत्तत्वात् । ते चैवंविधास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो लोकायतिका अजितेन्द्रियतया कामभोगावसक्ताः पूर्वसंयोगात्पुत्रदाराऽऽदिकात्प्रहीणाः प्रभ्रष्टाः, आराद् याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गः सदनुष्ठानरूपः, तमसम्प्राप्ता इत्येवं पूर्वोक्तया नीत्या ऐहिकाऽऽमुष्मिकफलोपलक्ष्यसदनुष्ठानभ्रष्ट

अन्तराल एव भोगेषु त्वपयाप्तिष्ठन्ति । न विवक्षित पाण्डरी-कोत्क्षेपणोऽऽदिकं कार्य प्रसाधयन्तीति । अथ च प्रथमः पुरुष-स्तज्जीवतच्छरीरवादी परिसमाप्त इति ॥ १६ ॥ सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

तज्जेमाण-तर्जयत्-त्रि० । हास्यथ रे ! यन्ममेदं वचन दत्स्वेत्येव भीषयति, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

तटाग-तमाग-पुं० । तड-नि० । "चूलिकापैशाचिके तृतीयतु-र्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति चूलिकापैशाचिके भाषायां डकारस्य टकारः । औ० ।

तटाक-पुं० । तटमकति । 'अक' वक्रगतौ, अण्, तडागे, जला-शयभेदे, वाच० ।

तमाक-पुं० । ताड्यते आहन्यते तटोऽनेन । 'तड'-आकन् । नि० । जलाऽऽशयभेदे, तडागे च । वाच० ।

तट्टिया-तट्टिका-स्त्री० । योट्टिकानां धर्मोपकरणभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

तट्टी-देशी-वृतौ, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा ।

तट्ठ-तत्स्थ-त्रि० । तस्मिन् तिष्ठतीति तत्स्थः । तस्मिन् स्थिते, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

तट्ठ-न० । घट्टिते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

तट्ठा-त्वष्टृ-पुं० । चित्रानक्षत्राधिष्ठातरि देवे, अनु० । "दो तट्ठा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । ज० । पा० । त्वष्टुरपत्ये, वृत्रा-सुरे, पुं० । सञ्ज्ञानाम्न्या सूर्यपत्न्याम्, स्त्रीयां ङीप् । त्वष्टादे-वताऽधिष्ठातृचित्रानक्षत्रे, वाच० ।

तड-तट-त्रि० । तट-अच् । वाच० । कूले, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । नि० चू० । समीपवर्तिनोऽभ्युन्नतप्रदेशे, रा० । न-द्यास्तीरे च । अमरमते-स्त्रियां ङीप् । वाच० ।

तड-धा० । उच्छ्राये, भ्वादि० । वाच० ।

तड-धा० । आहतौ, वाच० ।

तन-धा० । विस्तृतौ, तना०-उभ०-सक०-सेट् । वाच० । "त-नेस्तम-तड्ड-तड्डव-विरल्लाः " ॥ ८ । ४ । १३७ ॥ इतितन-धानोस्तड इत्यादेशः । तडइ । पक्षे-तणइ । प्रा० ४ पाद ।

तडउडा-तडउडा-स्त्री० । आढक्याम्, अ० १ वक्ष० । आउलि-वृक्षे, दे० ना० ५ वर्ग ५ गाथा ।

तडउडाकुसुम-तडउडाकुसुम-न० । आवलीपुष्पे, जी० ३ प्र-ति० ४ उ० । रा० म० ।

तडतडा-स्फुट-न० । स्फुटने, " तडवडस्स भज्जति भज्जणे कलंबुवालगा पट्टे ।" (नमतामि त्ति) स्फुटतः । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

तडतडंत-तडतडत्-त्रि० । तडतडेत्येवंरूपं विदधाने, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

तडफडिअ-देशी-परितस्तलिते, दे० ना० ५ वर्ग ९ गाथा ।

तममट-देशी-कुलिते, दे० ना० ५ वर्ग ७ गाथा ।

तमागमह-तडागमख-पुं० । तडागयज्ञे, "अगडमहेसु वा तडा-गमहेसु वा दहमहेसु वा ।" आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

तमितमिय-तमित्तमित-स्त्री० । विस्तारितविद्युति, औ० ।

तमिय-तडित्-स्त्री० । नाडयत्यभ्रम् । खुरा०-तड-नि०-इस वाच० । विद्युति, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

तमी-तटी-स्त्री० । "मो ल" ॥ ८ । १ । २०२ ॥ इति क्वचि भवत्यपेक्षयैकेमस्य लो न भवति । प्रा० १ पाद । नद्यादीनां त-टे, नि० चू० १ उ० । विच्छिन्नतटच्छायाम, "आउसो रीयाती, मिसकमजवहिसंथारे ।" नि० चू० १ उ० ।

तण-तृण-न० । तरन्तीति तृणाति औणादिको नक्, ह्रस्वत्व च उत्त० २ अ० । "ऋतोऽत्" ॥ ८ । १ । १२६ ॥ इति आदेर्ऋ-कारस्याऽत्वम् । प्रा० १ पाद । कुशाऽऽदौ, आचा० १ श्रु० ७ अ० ३ उ० । सूत्र० । ज० । उत्त० ।

से किं तं तणा ? । तणा अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा-

" सेमिय गंतिय होत्तिय, दब्भकुसे पव्वए य पोमइल्ला

अज्जुण असाढए रो-हियंसि सुयवेएँ खीरजुसे ॥ १ ॥

एरंडे कुरुविंदे, करकएँ सुंठे तहा विमंगू य ।

महुरतण लुरय सिप्पिय, बोधव्वे सुंकलितणे य ॥ २ ॥"

जे यावण्णे तहप्पगारा । सेत्तं तणा । प्रज्ञा० १ पद ।

दर्भवीरणाऽऽदौ, दश० ८ अ० । भ० । आचा० । कुशवर्वकाऽऽदौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । कुशजम्बुकार्जुनाऽऽदौ, जी० १ प्रति० । दूर्वाऽऽदौ, प्रज्ञा० १ पद । दर्भकुशाऽऽदौ, भ० १५ श० । "कुस च जूय तणकट्ठमग्गिं ।" उत्त० १२ अ० । कुशदर्भवर्वकार्जुनसुर-भिकुरुविन्दाऽऽदौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । "तृण" प्रकर्षे, धा० । वाच० । उत्पले, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा ।

तन-धा० । विस्तृतौ, तना० । उपकारे, वाच० ।

तणग-तृणक-न० । तृणविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

तणगहण-तृणग्रहण-न० । तृणानां व्रीहिपलालाऽऽदीनां ग्रहणं तृणग्रहणम् । व्रीहिपलालाऽऽदेरादाने, प्रव० ६१ द्वार ।

तणग्ग-तृणाग्र-न० । तृणस्योपरितने पूजिते भागे, नि० चू० १ उ० ।

तणघर-तृणगृह-न० । दर्भाऽऽदितृणमये गृहे, व्य० ४ उ० ।

तणच्छाह-तृणच्छाया-स्त्री० । सकुच्छायायाम्, अनु० ।

तणट्ठाण-तृणस्थान-न० । दर्भाऽऽदितृणशालायाम्, यत्र दर्भा-ऽऽदीनि स्थाप्यन्ते । नि० चू० १ उ० ।

तणपणग-तृणपञ्चक-न० । तृणानि च पञ्चोपयोगीनि । ध० २ आध० ।

तणपणगं पुण भणियं, जिणेहिँ जियरागदोसमोहेहिँ ।

सालीवीहीकोदव-रालय-रन्नेतणाहिँ च ॥ ६८२ ॥

तृणपञ्चकं पुनर्भणितं जिनैर्जितरागद्वेषमोहैर्यथा शालिव्रीहि-ककोद्रवरालकसंबन्धीनि तृणानि पलालप्रायाणि अरण्ये अर-ण्यविषयाणि च । तत्र शालयः कलमशाल्यादिप्रभृतयः, व्रीहयः षष्टिकाऽऽदयः, कोद्रवो धान्यविशेष प्रतीत, रालकः कङ्गुविशे-षः, आरण्यतृणानि श्यामाकप्रमुखाणि ॥ ६८२ ॥ प्रव० ८२ द्वार । जीत० । दश० । पा० । आव० । नि० चू० । बृ० । (तृणपञ्चका-ऽऽदिषु दोषा, तथा प्रायश्चित्त च 'कुसिर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६७५ पृष्ठे गतम्)

तणफास-तृणस्पर्श-पुं० । तृणानां कुशाऽऽदीनां स्पर्शे । आ-चा० १ श्रु० ए अ० २ उ० । समदशतमे परीषहे, प्रश्न० ५ सब० द्वार । आचा० । उत्त० ।

तणफासपरीसह-तृणस्पर्शपरीषह-पुं० । तरन्तीति तृणानि वा औणादिको नक्प्रत्ययो: ह्रस्वत्व च । तेषां स्पर्शास्तृणस्पर्शः, स एव परीषहस्तृणस्पर्शपरीषहः । उत्त० २ अ० । अशुषिरतृणस्य दर्भाऽऽदेः परिभोगोऽनुज्ञातो हि गच्छनिर्गतानां, गच्छवासिना यतीनां च, तत्र येषां शयनमनुज्ञात ते तान् दर्भान् भूमावीष-दार्द्रताऽऽदियुक्तायामास्तीर्य सस्तारोत्तरपट्टको च दर्भाणामुपरि विधाय शेरते । चौरापहृतोपकरणो वाऽत्यन्तजीर्णत्वात् प्रतनु-संस्तारकपट्टो वा तदुपरि शेते, तत्र च शयानस्य यद्यपि क-ठिनतीक्ष्णाग्रभागैस्तृणैरत्यन्तपीडा समुपजायते, तथापि परुष-दर्भाऽऽदितृणस्पर्शं सम्यक् सहेतेति । प्रव० ८६ द्वार । आव० । कादाचित्कतृणग्रहणे तत्संस्पर्शजन्यदुःखाधिसहने, भ० ८ श० ८ उ० । प्रश्न० । तथा चोक्तम्-" अहतालपाशुचेलत्वे, कादा-चित्क तृणाऽऽदिषु । तत्संस्पर्शोद्भव दुःखं, सहेदिच्छेदू न ता-न्मृदून् ॥ १ ॥ " आ० म० १ अ० २ खण्ड । " अभुतालपाशुचे-लत्वे, सस्तृतेषु तृणाऽऽदिषु । सहेत दुःखं तत्स्पर्श-भवमि-च्छेन्न तान्मृदून् " ॥१॥ ध० ३ अधि० ।

एतदेव सूत्रकृदप्याह-

नचा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए ।
अदीणो थावए पन्नं, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥ ३२ ॥
तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खऽत्तगवेसए ।
एवं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे ॥ ३३ ॥
अचेलगस्स लूहस्स, संजयस्स तवस्सिणो ।
तणेसु सयमाणस्स, होज्जा गायविराहणा ॥ ३४ ॥

अचेलकस्य रूक्षस्य संयतस्य तपस्विन इति प्राग्वत् । तर-न्ति तृणानि दर्भाऽऽदीनि तेषु, शयानस्य, उपलक्षणत्वादासी-नस्य वा भवेत्, गात्रस्य शरीरस्य विराधना विदारणा गात्रवि-राधना, अचेलकत्वाऽऽदीनि तु तपस्विविशेषणानि, मा भूत्सचे-लस्य तृणस्पर्शोऽसत्त्वेनाऽरूक्षस्य, तत्सत्त्वेऽपि स्निग्धत्वेनास-यतस्य च शुषिरहरिततृणोपादानेन तथाविधगात्रविराधना वा असंभव इति ।

तत किमित्याह-

आयवस्स निवाएणं, तिउला हवइ वेयणा ।
एतं नच्चा न सेवंति, तंतुजं तणतज्जिया ॥ ३५ ॥

आतपस्य घर्मस्य नितरा पातो निपात , तेन (तिउल त्ति) सूत्रत्वात्तोदिका । यद्वा--त्रीन् प्रस्तावाद् मनोवाक्कायान् त्रिज्ञा-पिनत्याच्छुराऽऽदीना दलन्तीव स्वरूपचलनेन त्रिदुला । पाठान्तरतस्तु-अतुला विपुला वा, भवति वेदना । एव च किमित्याह--एतदनन्तरोक्त, पाठान्तरत एत, ज्ञात्वा न सेवन्ते न भजन्ते, आस्तरणायेति गम्यते । तन्तुभ्यो जात तन्तुजम्, पठ्यते च-(ततय ति) तत्र तन्त्र वेमविलेख्यन्यच्छनिकाऽऽदि, तस्माज्जात तन्त्रजम्, उभयत्र वस्त्र,कम्बलो वा, तृणैस्तर्जिता नि-र्भर्त्सितास्तृणतर्जिता । किमुक्त भवति ?-यद्यपि तृणैरत्यन्तविलि-खितशरीरस्य रविकिरणसपर्कसमुत्पन्नस्वेदवशात् क्षतक्षार-निक्षेपरूपेव पीडोपजायते, तथाऽपि-

" प्रदीप्ताङ्गारकल्पेषु, वज्रकुण्डेष्वसन्धिषु ।
कूजन्त करुण केचित्, दह्यन्ते नरकाग्निना ॥ १ ॥
अग्निभीता प्रधावन्तो, गत्वा वैतरणीं नदीम् ।
शीततोयामिमा ज्ञात्वा, क्षाराम्भसि पतन्ति ते ॥ २ ॥
क्षारदग्धशरीराश्च, मृगवेगोत्थिता पुन ।
असिपत्रवन यान्ति, छायायां कृतबुद्धय: ॥ ३ ॥
शक्त्यसिप्रासकुन्तैश्च, खड्गतोमरपट्टिशै ।
विध्यन्ते कृपणास्तत्र, पतद्भिर्वातकम्पितै ॥ ४ ॥ "

इत्यादिकां इतराश्च नरकेषु परवशेन मयाऽनुभूता वेदना ,त-त्कियन्मात्रम् ?, भूयांश्च लाभ स्ववशस्य सम्यक् सहन इति परिभावनातो न तत्परिजिहीर्षया वस्त्रकम्बलाऽऽदिकमुपाद-दते । जिनकल्पिकापेक्ष चैतत्, स्थविरकल्पिकाश्च सापेक्षसयम-त्वात् सेवन्तेऽपीति सूत्रार्थ । उत्त० २ अ० ।

अत्र सस्तारद्वारमनुसरन् " विउला भवति वेयणा " इति सूत्रसूचितमुदाहरणमाह-

सावत्थीएँ कुमारो, भद्दो सो चारिओ त्ति वेरज्जे ।
खारेण तच्छिअंगो,तणफासपरीसहं विसहे ।५२। उत्त०नि० ।

श्रावस्त्यां कुमारो भद्र , स चारिकश्चर इति वैराज्ये क्षारेण तक्षिताङ्ग तृणस्पर्शपरीषह (विसह त्त) विषहते, स्मेति शेष. । इति गाथार्थ ॥५२॥ भावार्थस्तु सम्प्रदायादवसेय । स चायम्-" सावत्थीए नयरीए जियसत्तुरन्नो पुत्तो भद्दो नाम, सो निव्विण्णकामभोगो तहारूवाण थेराणमंतिए पव्वतितो, कालेण एगल्लविहारपडिमं पडिवन्नो, सो विहरतो वइरज्जे चारिओ त्ति काऊण गहितो, सो य पनावेऊण खारेण तच्छिओ, सो दब्भेहिं वेढिऊण मुक्को, सो दब्भेहिं ओदियसमीतिएहिं दुक्खा तिज्जतो सम्म सहति । " एव शेषसाधुभिरपि सम्यक् सोढव्य-स्तृणस्पर्शपरीषह' । उत्त० २ अ० ।

तणफासपरीसहविजय-तृणस्पर्शपरीषहविजय-पुं० । तृणस्प-र्शपरीषहविजये, प० स० । स चैवम्-गच्छवासिनां गच्छनिर्ग-तानां वा शुषिरस्य दर्भाऽऽदेस्तृणस्य परिभोग समनुज्ञातो भगवता, तत्र येषां दर्भाऽऽदितृणानामुपरि शयनमनुज्ञात स्वगुरुभि , तेषां दर्भाऽऽदितृणानामुपरि सस्तारकोत्तरपट्टौ निधाय शेरते । अथवा-चौरापहृतोपकरणो यदि वाऽतिजी-र्णतया व्यपगतसस्तारकोत्तरपट्टो दर्भाऽऽदितृणान्यास्तीर्य शेते, तत्र यत्तृणस्पर्शसम्यगधिसहन स तृणस्पर्शपरीषहविजय । प० स० २ द्वार ।

तणभार-तृणभार-पुं० । तृणभारके, भ० ८ श० ए उ० । ब-ध्यमानतृणसमूहे, वाच० ।

तणमुद्दिआ-देशी-अङ्गुलीयके, दे० ना० ५ वर्ग ९ गाथा ।

तणय-तनय-पुं० । तनोति कुलम् । तन्-कयन् । पुत्रे,दुहितरि, चक्रकुल्यायाम्,लतायाम्,घृतकुमार्यां च । स्त्री०-टाप् । वाच० । आ० म० ।

तणरासी-देशी-प्रसारिते, दे० ना० ५ वर्ग ६ गाथा ।

तणवणस्सइ-तृणवनस्पति-पुं० । बादरवनस्पतिभेदे, भ० ७ श० ६ उ० ।

तणवणस्सइकाइय-तृणवनस्पतिकायिक-पुं० । तृणवद्वनस्प-तयस्तृणवनस्पतय । स्था० १० ठा० । बादरवनस्पतिकायि-कभेदे,भ० ७ श० ६ उ० ।

दसविहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता । तं जहा-मूले, कंदे, ०जाव पुप्फे, फले, बीए ॥

(दसेत्यादि) तृणवद्वनस्पतयस्तृणवनस्पतय., तृणसाधर्म्यं च बादरत्वेन, तेन सूक्ष्माणां न दशविधत्वमिति । मूलं जटाः कन्दः स्कन्धाऽधोवर्ती । यावत्करणात्-" खंधे " इत्यादीनि पञ्च द्रष्टव्यानि । तत्र स्कन्धः स्थुममिति यत्प्रतीत, त्वक् वल्कः, शाला शाखा, प्रवालमङ्कुर', पत्र पर्णं, पुष्प कुसुम, फल प्रतीत,बीज मिञ्जेति दशस्थानकाधिकार एव । स्था० १० ठा० ।

इदमपरमाह-

तिविहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता । तं जहा-संखेज्जजीविया, असंखेज्जजीविया, अणंतजीविया ॥

(तिविहेत्यादि) तृणवनस्पतयो, बादरा इत्यर्थ' । संख्यातजीविका सङ्ख्यातजीवा ,यथा नालिकाबद्धकुसुमानि, जात्यादीनीत्यर्थः। असङ्ख्यातजीविका -यथा निम्बाम्राऽऽदीना मूलकन्दस्कन्दत्वक्शाखाप्रवालाः, अनन्तजीविका पनकाऽऽदय इति । इह प्रज्ञापनासूत्राण्यपीत्थम्-

"जे केइ नालियाबद्धा,पुप्फा सखेज्जजीविया ।
णिहुया अणतजीवा, जे यावन्ने तहाविहा ॥ १ ॥
पउमुप्पलनलिणाणं, सुभगसोगंधियाण य ।
अरविंदकोंकणाण, सयवत्तसहस्सवत्ताण ॥ २ ॥
विंट बाहिरपत्ता, य कन्निया चेव एगजीवस्स ।
अब्भितरगा पत्ता, पत्तेय केसर मिंजा " ॥ ३ ॥

तथा-

"लिंब व जंबु कोस-धसालअंकोल्लपीलुसल्लूया ।
सल्लइमोयइमालुय-वउलपलासे करजे य " ॥ ४ ॥ इत्यादि ।

"एएसि ण मूला वि असंखिज्जजीविया,कंदा,वि,खंधा वि,तया वि,साला वि,पवाला वि, पत्ता पत्तेयजीविया, पुप्फा अणेगजीविया, फला एगट्ठिय त्ति ।" अनन्तरं वनस्पतय उक्ता., ते च जलाऽऽश्रया बहवो भवन्तीति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

वनस्पतिमेव प्ररूपयन्नाह-

चउव्विहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता । तं जहा-अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया ॥

(चउव्विहेत्यादि) वनस्पति प्रतीत , स एव काय. शरीर येषां ते वनस्पतिकाया ,त एव वनस्पतिकायिका', तृणप्रकारा वनस्पतिकायिकास्तृणवनस्पतिकायिका , बादरा इत्यर्थ । अग्र बीज येषा ते अग्रबीजा. कोरण्टकाऽऽदय, अग्रे वा बीज येषा ते अग्रबीजा व्रीह्यादयो, मूलमेव बीज येषा ते मूलबीजा उत्पलकन्दाऽऽदय, एव पर्वबीजा इक्ष्वादय', स्कन्धबीजाः शल्लक्यादयः, स्कन्ध' थुडमिति । एतानि च सूत्राणि नान्ययवच्छेदनपराणि, तेन बीजरुहसम्मूर्च्छनजाऽऽदीना नाभावो मन्तव्य , सूत्रान्तरविरोधादिति । अनन्तर वनस्पतिजीवानां चतु स्थानकमुक्तम् । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

पंचविहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता । तं जहा-अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया, बीयरुहा ।

(तणवणस्सइ त्ति) तृणवनस्पतयो बादरवनस्पतयोऽग्रबीजाऽऽदय क्रमेण कोरण्टका उत्पलकन्दा वशा शल्लक्यो जटा एवमादय. । व्याख्यात चैतत्प्रागेवेति । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

छव्विहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता । तं जहा-अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया, बीयरुहा, संमुच्छिमा ।

तृणवनस्पतिकायिका बादरा इत्यर्थः । मूलबीजा उत्पलकन्दाऽऽदय इत्यादि व्याख्यातमेव;नवरं सम्मूर्च्छिमा दग्धभूमौ बीजाभावेऽपि ये तृणाऽऽदय उत्पद्यन्ते, यथाऽधिकृताध्ययनावतार प्ररूपिता जीवा. । स्था० ६ ठा० ।

तणवरंमी-देशी-उडुपे, दे० ना० ५ वर्ग ७ गाथा ।

तणविंटय-तृणवृन्तक-पु० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

तणवेंटय-तृणवृन्तक-पु० । ' तणविंटय ' शब्दार्थे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

तणसूअ-तृणशूक-पु० । न० । तृणाग्रे, भ० ८ श० ६ उ० ।

तणसोल्लिया-तृणसोल्लिका-स्त्री० । मल्लिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । जं० ।

तणसोल्ली-देशी-मल्लिकायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ६ गाथा ।

तणहार-तृणहार-पु० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति० । उत्त० । प्रज्ञा० ।

तणु-तनु-स्त्री० । " स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे " ॥ ८ । ४ । ३२९ ॥ इति अपभ्रंशे स्वरस्य स्वर एव । प्रा० ४ पाद । देहे, आव० ४ अ० । कर्म० । प्रव० । त० । आ० म० । मूर्त्तौ, वाच० । सूक्ष्मे, त्रि० । कल्प० २ क्षण । प्रश्न० । तं० । औ० । स० । अल्पे,विरले, कृशे च । स्त्रिया वा ङीप् । तन्वी । तनु. । वाच० । लघुपरिमाणे, न० । जी० ३ प्रति० ।

तणुअ-तनुक-त्रि० । तनुरेव तनुकः । कृशे, आव० ५ अ० । स्वरूपेण कृशे, पञ्चा० १६ विव० । स्तोके, जीत० । सुजरे, भ० १५ श० । लघुसुजरे, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ० ।

तनुज-त्रि० । तनु. शरीर, तस्माज्जातस्तनुजः । उत्त० १४ अ० । शरीरादुत्पन्ने, उत्त० १४ अ० ।

तणुअंत-तन्वन्त्र-न० । सूक्ष्मान्त्रे, " तणुयते तेण पासवणे परिणमइ । " तेन प्रस्रवण मूत्रं परिणमति । त० ।

तणुअट्ठ-तन्वष्ट-न० । तनुशब्देनोपलक्षितमष्टकम्-" तणुवगागिइसघयणजाइगइखगइपुव्वी" इति गाथाऽवयवेन प्रतिपादिते अष्टके, कर्म० । " तणुअट्ठ०-" (१६) तनुशब्देनोपलक्षितमष्टकम् " तणुवगागिइ सघयण जाइ गइ खगइ पुव्वी " (३) इति गाथाऽवयवेन प्रतिपादित तन्वष्टकम् । तत्र तनवस्तैजसकार्मणयोरपरावर्तमानासु प्रतिपादितत्वात् शेषा औदारिकवैक्रियाऽऽहारकरूपास्तिस्रः । उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतय. षट्,संहननानि षट्, जातय पञ्च, चतस्रो गतय , खगतिद्वयम्, आनुपूर्वीचतुष्कमिति । तन्वष्टकशब्देन च त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयो गृह्यन्ते । (१६) कर्म० ५ कर्म० ।

तणुई-तन्वी-स्त्री० । ईषत्प्राग्भारायास्तृतीये नाम्नि,स्था०८ ठा० ।

तणुकायकिरिय-तनुकायक्रिय-त्रि० । तन्वी उच्छ्वासनिश्वासाऽऽदिलक्षणा कायक्रिया यस्य स तथा । सूक्ष्मोच्छ्वासनिश्वासाऽऽदिलक्षणव्यापारवति, आव० ४ अ० ।

तणुग-तनुक-न० । शरीरे, ज० ३ वक्ष० । सूक्ष्मे,ज० २ वक्ष० ।

तणुजोग-तनुयोग-पुं० । तनोति विस्तारयत्यात्मप्रदेशानस्यामिति तनुरौदारिकाऽऽदिशरीरं, तया सहकारिकरणभूतया योगस्तनुयोगः । तनुविषयो वा योगस्तनुयोगः । कर्म० ४ कर्म० । कायिके योगे, न मनोवाग्द्रव्याणामुपादानं करोति स कायिको योगः । "किं पुण तणुसरम्भे-ण जेण मुश्चइ स वाइओ जोगो । मणइ स माणसो त्तो, तणुजोगो चेव य विभत्तो ॥१॥" विशे० ।

तणुणमिय-तनुनमित-त्रि० । तनु कृशं नत नम्र तनुनतम् । ईषन्नम्रे, जं० २ वक्ष० ।

तणुणाम-तनुनाम-न० । तनोति जन्तुरात्मप्रदेशान् विस्तारयति यस्यां सा तनुः,तज्जनक कर्मापि तनुः,सैव नाम तनुनाम । शरीरनाम्नि, कर्म० १ कर्म० ।

तणुणिद्द-तनुनिद्र-त्रि० । तन्वी स्तोका निद्रा यस्येति । अल्पनिद्राशीले, सू० १ उ० ।

तणुतणुई-तनुतन्वी-स्त्री० । अतितनुत्वात्तनुतनुः । ईषत्प्राग्भारायामष्टम्यां पृथिव्याम्, स्था० ८ ठा० ।

तणुपज्ञग-तनुपञ्चक-न० । औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणलक्षणे, प्रव० ११९ द्वार ।

तणुवग्गणा-तनुवर्गणा-स्त्री० । तनूनामौदारिकाऽऽदिशरीराणां भेदाभेदपरिणामाभ्यां योग्यत्वाभिमुखास्तनुवर्गणाः । अथवा-वक्ष्यमाणमिश्रस्कन्धाचित्तस्कन्धद्वयस्य तनुर्देहः शरीरं मूर्त्तिरिति यावत्, तद्योग्यत्वाभिमुखा वर्गणा तनुवर्गणा । द्रव्यवर्गणाभेदे, आ०म०१ अ०१ खण्ड । (तद्वक्तव्यता 'वग्गणा' शब्दे)

तणुरुह-तनूरुह-पुं० । शरीरादुत्पन्ने पुत्रे, आ० क० । दुहितरि, स्त्री० । देहजातमात्रे, त्रि० । वाच० ।

तणुमाण-तनुमान-न० । शरीरप्रमाणे, प्रव० १ द्वार ।

पढमाए पुढवीए, नेरइयाणं तु होइ उच्चत्तं ।
सत्तधणु तिन्नि रयणी, छच्चेव य अंगुला पुन्ना ॥९१॥
सत्तमपुढवीए पुण, पंचेव धणुस्सयाइं तणुमाणं ।
मज्झिमपुढवीसु पुणो, अणेगहा मज्झिमं नेयं ॥९२॥

अवगाहते जीवोऽस्यामवगाहना,तनुः,शरीरमित्येकोऽर्थः । सा द्विधा-भवधारणीया, उत्तरवैक्रिया च । भवे नारकाऽऽद्यायुःसमाप्तिं यावदनवरतं धार्यतेऽसाविति भवधारणीया । स्वाभाविकशरीरग्रहणोत्तरकालं कार्यविशेषमाश्रित्य विविधा क्रियत इत्युत्तरवैक्रिया । एकैकाऽपि च द्विधा-जघन्या,उत्कृष्टा च । तत्र प्रथमं तावत् प्रतिपृथिव्युत्कृष्टा भवधारणीयाऽवगाहना प्रोच्यते प्रथमायां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नारकाणामुत्कर्षतो भवधारणीयावगाहनोच्चत्वं सप्तधनूंषि,तिस्रो रत्नयः,त्रयो हस्ता इत्यर्थः । षमेव चाङ्गुलानि पूर्णानि,उत्सेधाङ्गुलेन सपादैकत्रिंशद्धस्ता इति भावः । सप्तमपृथिव्यां पुनः पञ्चैव धनुःशतान्युत्कर्षतो नारकाणां तनुमानं शरीरोच्छ्रय ,मध्यमपृथिवीषु शर्कराप्रभाऽऽद्यासु तमःप्रभापर्यन्तासु पुनर्मध्यमं प्रथमसप्तमपृथिवीनारकतनुमानयोर्मध्यवर्ति अनेकधा पूर्वपूर्वपृथिवीषु उत्तरोत्तरपृथिवीषु द्विगुणं २ तनुमानमुत्कर्षतो ज्ञातव्यम् । तथाहि-रत्नप्रभानारकतनुमानात् द्विगुणं शर्कराप्रभायां पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादशाङ्गुलानि देहमानम् । एवं वालुकाप्रभायामेकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः । पङ्कप्रभायां द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ । धूमप्रभायां पञ्चविंशं धनुःशतम् । तमःप्रभायां सार्द्धे द्वे धनुःशते । तमस्तमःप्रभायां पञ्चैव धनुःशतानीति । प्रव० १७६ द्वार ।

तणुय-तनुक-त्रि० । अग्रभागे, श्लक्ष्णे (विशे०) प्रतरे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । सूक्ष्मे, वाच० ।

तनुज-पुं० । तनु शरीरं तस्माज्जातस्तनुजः । उत्त० १४ अ० । पुत्रे, दुहितरि, स्त्री० । देहजातमात्रे, त्रि० । वाच० ।

तणुयर-तनुतर-त्रि० । अतिशयेन तनुस्तनुतरः । अतिसूक्ष्मे, मक्षिकापत्राद्पि तनुतरः । आ०म० १ अ० २ खण्ड ।

तणुरागंत-तनुरागान्त-पुं० । सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकान्ते, क० प्र० १० प्रक० ।

तणुल्ल-तनुल-त्रि० । तनुं शरीरं सुखस्पर्शतया लाति अनुगृह्णातीति तनुलम् । तनुसुखाऽऽदौ, ज० २ वक्ष० ।

तणुवाय-तनुवात-पुं० । तनुश्चासौ वातश्च तनुवातः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । घनवातस्याधः स्थायिनि विरलपरिणामोपेते बादरवायुकायिकभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । पिं० । स्था० ।

तणुवायवलय-तनुवातवलय-न० । तनुवातः स एव वलयमिव वलयं कटकम् । स्था० ३ ठा० ४ उ० । बादरवायुकायिकभेदे,प्रज्ञा० १ पद ।

तणुवी-तन्वी-स्त्री० । तन-उ-स्त्रियां वा ङीप् । वाच० । "तन्वीतुल्येषु" ॥ ८ । २ । ११३ ॥ इति अन्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उकारः । प्रा० २ पाद । कृशायाम् , वाच० ।

तणुसरीर-तनुशरीर-न० । सूक्ष्मशरीरे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तणूय-तनूज-पुं० । पुत्रे, आ० क० । दुहितरि, स्त्री० । देहजातमात्रे, त्रि० । वाच० ।

तणेण-तणेण-अव्य० । "तादर्थ्ये केहिं तेहिं रेसि-रेसिं-तणेणाः" ॥ ८ । ४ । ४२५ ॥ इत्यपभ्रंशे तादर्थ्ये द्योत्ये 'तणेण' इति निपातः । प्रा० ४ पाद ।

तणेणी-देशी-तृणप्रकारे, दे० ना० ५ वर्ग ३ गाथा ।

तण्ण-तर्ण-पुं० । वत्से, जी० १ प्रति० ।

तार्णं-पुं० । तृणसंबन्धिनि, " किंची सकायसत्थं, किंची परकाय तदुभयं किंची । (२४) " किञ्चिच्छस्त्रं स्वकाय एव अग्निकाय एव अग्निकायस्य । तद्यथा-तार्णोऽग्निः पार्णाग्निशस्त्रम् । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

तण्णय-देशी-आर्द्रे, दे० ना० ५ वर्ग २ गाथा ।

तण्णिस्सिय-तन्निश्रित-त्रि० । तदाश्रिते,आचा०१ श्रु०१ चू०२ अ०१ उ० ।

तण्णिवेसण-तन्निवेशन-त्रि० । सदा तन्निवासिनि, " तप्परक्कारे तस्सण्णी तण्णिवेसणे।"तन्निवेशनः सदा गुरुकुलनिवासी । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

तण्हज्झाण-तृष्णाध्यान-न० । तृष्णा तृषापरीषहोदयस्तस्या ध्यानम् । तृषार्तस्य मार्गे गच्छतो जनकसाधुसहितस्य क्षुल्लकस्येव तृषाध्याने, आतु० ।

तण्हा-तृष्णा-स्त्री० । तर्षस्तृष्णा । अभिलाषे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । उत्त० । प्रश्न० । ध० । पुद्गलभोगपिपासायाम्, अष्ट० १ अष्ट० । औ० । आव० । उत्त० । सूत्र० । अनुचितवाञ्छायाम् प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । तृषापरीषहोदये, आतु० ।

तएहागेही–तृष्णागृद्धि–स्त्री० । तृष्णा च प्राप्तद्रव्यस्याव्यये-च्छागृद्धिश्चाप्राप्तस्य प्राप्तिवाञ्छा, तद्धेतुकं चादत्ताऽऽदानमिति तृष्णागृद्धिरुच्यते । गौणे अदत्ताऽऽदाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तएहातिअ–तृष्णार्दित–त्रि० । पिपासिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

तएहाऽभिहय–तृष्णाऽभिहत–त्रि०। तृषाऽभिहते, जी० ३ प्रति०।

तत–तत–न० । वीणाऽऽदिके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । प्रश्न० । जं०। जी०। आचा०। "तत वीणाऽऽदिकं ज्ञेय, विततं पटहाऽऽदिकम् । " ज० ५ वा० ४ उ० । मृदङ्गपटहाऽऽदिके, जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० । आ० म० । वीणापटहाऽऽदिजनिते शब्दे, घन. शुषिरश्चेति व्यपदिश्यते । " तते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-घणे चेव, सुसिरे चेव । " स्था० २ ठा० ३ उ० । आ० चू० ।

ततगइ–ततगति–स्त्री०। ततस्य ग्रामनगराऽऽदिकं गन्तुं प्रवृत्तत्वेन तथाप्राप्तत्वेन तदन्तरालपथे वर्त्तमानतया प्रसारितक्रमतया च विस्तार गतस्य, गतिस्ततगति । गतिप्रवादभूते, भ० ८ श० ७ उ०। तद्गति–स्त्री० । ततो वा अवधिभूतग्रामाऽऽदेर्नगराऽऽदौ गति । प्राकृतत्वेन 'ततगइ' । गतिप्रवादभेदे, भ० ८ श० ७ उ०। "से किं तं ततगति ?। ततगति जेणं जं गाम वा० जाव सन्निवेस वा संपट्ठिए असंपत्ते अंतरापहे य वट्टइ । से तं ततगति । " प्रज्ञा० १६ पद ।

ततगति–ततगति–स्त्री० । ' ततगइ ' शब्दार्थे, भ० ८ श० ७ उ०।

तत्त–तथ्य–न० । परमार्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । उत्त०। पं० व० । परमार्थजाते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । यथाऽवस्थितलोकस्वभावे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । यथाऽवस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदे, स्था० । परस्परनिरपेक्षसामान्यविशेषाऽऽत्मके (आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०) जीवाजीवपुण्यपापाऽऽस्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाऽऽत्मके, तथा धर्माधर्माऽऽकाशपुद्गलजीवकालाऽऽत्मके द्रव्ये, नित्यानित्यस्वभावे सामान्यविशेषाऽऽत्मकेऽनाद्यपर्यवसानचतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके च । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अमूनि नव तत्त्वानि-

जियअजियपुन्नपावा–ऽऽसवसंवरबंधमुक्खानिज्जरणा(१५)

जीवश्च, अजीवश्च पुण्यं च, पापं च, आश्रवश्च, संवरश्च, बन्धश्च, मोक्षश्च, निर्जरणं च निर्जरा, एतानि नव तत्त्वानि । (कर्म०)

जीवाजीवतत्त्वे-

" जीवाऽजीवा पुन्नं, पावाऽऽसवसंवरो य निज्जरणा ।
बंधो मुक्खो य तहा, नव तत्ता हुंति नायव्वा ॥ १ ॥
एगविहदुविहतिविहा, चउव्विहा पंचछव्विहा जीवा ।
चेयणतसइयरेहिं, वेयगईकरणकाएहिं ॥ २ ॥
एगिंदिय सुहुमियरा, बितिचउसन्नीअसन्निपंचिंदी ।
अपज्जत्ता पज्जत्ता, चउदसभेया अहव जीवा ॥ ३ ॥
पणथावर सुहुमियरा, परित्तवणसन्निअसन्निविगलतिगं ।
इय सोलस अपज्जत्ता, पज्जत्ता जीवबत्तीसा ॥ ४ ॥
धम्माधम्मागासा, य दव्वदेसप्पएसओ तिविहा ।
गइठाणऽवगाहगुणा, कालो य अरूविणो दसहा ॥ ५ ॥
खंधा देसपएसा, परमाणू पुग्गला चउह रूवी ।
जीवं विणा अचेयण, अकिरिया सव्वगय वोमं ॥ ६ ॥
कालो माणुसलोए, जियधम्माधम्म लोयपरिमाणा ।
सव्वे दव्व इट्ठा, कालविणा अत्थिकाया य ॥ ७ ॥
धम्माधम्मागासा, कालो परिणामिए इह भावे ।
उदयपरिणामिए पु-ग्गला उ सव्वेसु पुण जीवा ॥ ८ ॥ "

पुण्यतत्त्वम्-

" तिरिनरसुराउ उच्च, साय परघायआयवुज्जोय ।
जिणऊसासनिमाण, पणिंदियइरुसभचउरंस ॥ ९ ॥
तसदस चउवन्नाई, सुरमणुदुग पचतणु उवंगतिगं ।
अगुरुलहु पढमखगई, बायाल पुन्नपगईओ ॥ १० ॥ "

पापतत्त्वम्-

" नाणंतराय पण पण, नव बीए नियअसायमिच्छत्तं ।
थावरदस नरयतिगं, कसायपणवीस तिरियदुगं ॥ ११ ॥
चउजाई उवघायं, अपढमसंघयणखगइसंठाणा ।
वन्नाइअसुभचउरो, बासीई पावपगईओ ॥ १२ ॥ "

आश्रवतत्त्वम्-

" इंदिय कसाय अव्वय, किरिया पण चउर पंच पणवीसा ।
जोगतिग बायाला, आसवभेया इमा किरिया ॥ १३ ॥
काईय अहियरणीया, पाउसिया पारितावणी किरिया ।
पाणाइवायरंभिय, परिग्गहिया मायवत्ती य ॥ १४ ॥
मिच्छादंसणवित्ती, अपच्चक्खाण दिट्ठि पुट्ठी य ।
पाडुच्चिय सामंतो-वणीय नेसत्थि साहत्थी ॥ १५ ॥
आणवणि वियारणिया, अणभोगा अणवकंखपच्चइया ।
अन्ना पओग समुदा-ण पिज्जदोसेरियावहिया ॥ १६ ॥ "

संवरतत्त्वम्-

" भावण चरित्त परिसह, समिई जइधम्म गुत्ति बारस उ ।
पंच दुवीसा पण दस, तिय संवरभेयसगवन्ना " ॥ १७ ॥

निर्जराबन्धतत्त्वम्-

" बारसविह तवो नि-ज्जरा उ अहवा अकामसकामा ।
पयइ ठिई अणुभाग-प्पएसभेया चउहबंधो ॥ १८ ॥
संतपयपरूवणया, दव्वपमाण च खित्त फुसणा य ।
कालो अंतरभागा, भावऽप्पबहू नवह मुक्खो ॥ १९ ॥
जिण अजिण तित्थ नित्था, गिहिअन्नसलिंगत्थीनरनपुंसा ।
पत्तेयसयबुद्धा, बिबुद्धबोहिक्कणिक्का य ॥ २० ॥ "

इति मोक्षतत्त्वम् । इत्युक्त संक्षेपतो नव तत्त्वस्वरूपम् । कर्म० १ कर्म० । दर्श० । आ० । आचा० । (विशेषतो व्याख्यान स्वस्वशब्दे) (साङ्ख्यमते तु तत्त्वानि पञ्चविंशतिस्तानि " संख " शब्दे दर्शयिष्यन्ते)

नव सब्भावपयत्था पण्णत्ता । तं जहा–जीवा, अजीवा, पुण्णं, पावं, आसवो, संवरो, निज्जरा, बंधो, मुक्खो ।

(नव सब्भावेत्यादि) सद्भावेन परमार्थेन, अनुपचारेणेत्यर्थ. । पदार्था वस्तूनि सद्भावपदार्थाः। तद्यथा-जीवाः सुखदुःखज्ञानोपयोगलक्षणाः । अजीवास्तद्विपरीता., पुण्यं प्रकृतिरूपं कर्म, पापं तद्विपरीतं कर्मैव, आस्रूयते गृह्यतेऽनेनेत्यास्रव', शुभाशुभकर्माऽऽदानहेतुरिति भाव । संवर आस्रवनिरोधो गुप्त्यादिभि', निर्जरा विपाकात्तपसो वा कर्मणां देशत. क्षपणा, बन्ध आस्रवैरात्तस्य कर्मण आत्मना संयोगो मोक्षः, कृत्स्नकर्मक्षयादात्मन. स्वात्मन्यवस्थानमिति । ननु जीवाजीवव्यतिरिक्ताः पुण्याऽऽदयो न सन्ति, तथायुज्यमानत्वात् । तथाहि—पुण्यपापे कर्मणी, बन्धोऽपि तदात्मक एव, कर्म च पुद्गल-

परिणामः, पुद्गलाश्चाजीवा इति; आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनाऽऽदिरूपः परिणामो जीवस्य, स चाऽऽत्मानं, पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः?, संवरोऽप्याश्रवनिरोधलक्षणो देशसर्वभेद आत्मनः परिणामो निवृत्तिरूपः, निर्जरा तु कर्मपरिशाटो जीवः कर्मणा यत्पार्थक्यमापादयति स्वशक्त्या, मोक्षोऽप्यात्मा समस्तकर्मविरहित इति । तस्माज्जीवाजीवौ सद्भावपदार्थाविति वक्तव्यम् । अत एवोक्तमिहैव-"उद्दिँथ च ण लोए त सव्व दुप्पडियारा।त जहा-जीव चेव, अजीव चेव त्ति?।" अत्रोच्यते-सत्यमेतत्किन्तु यावेव जीवाजीवपदार्थौ सामान्येनोक्तौ, तावेवेह विशेषतो नवधोक्तौ, सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वाद् वस्तुनः, तथेह मोक्षमार्गे शिष्यः प्रवर्त्तनीयो, न सग्रहाभिधानमात्रमेव कर्त्तव्यम् । स च यदैवमाख्यायते-यदुताऽऽश्रवो, बन्धो वा, बन्धद्वाराऽऽयाते च पुण्यपापे मुख्यानि तत्त्वानि ससारकारणानि, संवरनिर्जरे च मोक्षस्य, तदा ससारकारणत्यागेनेतरत्र प्रवर्तते, नाऽन्यथेत्यतः षट्कोपन्यासः, मुख्यसाध्यख्यापनार्थं च मोक्षस्येति । स्था० ६ ठा० ।

तत्त–त्रि० । अनुष्ठिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । उष्णे, स्था० ८ ठा० । तं० । संतापे, औ० । संतप्ते, " तत्ततवणिज्जकणगवण्णा । " औ० ।

तत्तओ–तत्त्वतस्–अव्य० । परमार्थवृत्तौ, अने० १ अधि० ।

तत्तंत–तत्त्वान्त–न० । आत्माऽऽदितत्त्वप्रसिद्धिरूपे, द्वा० २३ द्वा० ।

तत्तगोयर–तत्त्वगोचर–त्रि० । तत्त्वविषये, द्वा० २१ द्वा० ।

तत्तचिंता–तत्त्वचिन्ता–स्त्री० । परमार्थचिन्तायाम्, पञ्चा० १ विव० ।

तत्तजला–तप्तजला–स्त्री० । जम्बूद्वीपे मेरोः पूर्वस्या दिशि शीताया महानद्या दक्षिणभागस्थिताया स्वनामख्यातायामन्तर्नद्याम्, स्था० २ ठा० ४ उ० । " दो तत्तजलाओ । " स्था० २ ठा० ३ उ० । ज० ।

तत्तजिण्णासा–तत्त्वजिज्ञासा–स्त्री० । ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा, तत्त्वविषया ज्ञानेच्छा तत्त्वजिज्ञासा । तत्त्वविषयकज्ञानेच्छायाम्, षो० १६ विव० ।

तत्तणाण–तत्त्वज्ञान–न० । ऊहाऽपोहविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चये, ध० १ अधि० ।

तत्तणिण्णिणीसु–तत्त्वनिर्णिनीषु–पु० । तत्त्वं प्रतिष्ठापयिषौ, स्वीकृतधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणाभ्यां शब्दाऽऽदेः कथञ्चिन्नित्यत्वाऽऽदिरूपं तत्त्वं प्रतिष्ठापयितुमिच्छौ तत्त्वनिर्णिनीषौ, रत्ना० ।

अथ तत्त्वनिर्णिनीषोः स्वरूपं निरूपयन्ति-

तथैव तत्त्वं प्रतितिष्ठापयिषुस्तत्त्वनिर्णिनीषुः ॥ ४ ॥

तथैव स्वीकृतधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणाभ्याम्, शब्दाऽऽदेः कथञ्चिद् नित्यत्वाऽऽदिरूपं तत्त्वम्, प्रतिष्ठापयितुमिच्छुस्तत्त्वनिर्णिनीषुरित्यर्थः ॥ ४ ॥

अस्यैवाङ्गत्वावैचित्र्यहेतवे भेदावुपदर्शयन्ति-

अयं च द्वेधा-स्वात्मनि परत्र चेति ॥ ५ ॥

(अयमिति) तत्त्वनिर्णिनीषुः, कश्चित्खलु संदेहाऽऽद्युपहतचेतोवृत्तिः स्वाऽऽत्मनि तत्त्वं निर्णेतुमिच्छति, अपरस्तु परानुग्रहैकरसिकतया परत्र तथा; इति द्वेधाऽसौ तत्त्वनिर्णिनीषुः । सर्वोऽपि च धात्वर्थं करोत्यर्थेन व्याप्त इति स्वाऽऽत्मनि परत्र च तत्त्वनिर्णयं चिकीर्षुरित्यर्थः । अथ परं प्रति तत्त्वनिर्णिनीषोरप्यस्य तन्निर्णयोपजनने जयघोषणामुद्घोषयन्त्येव सभ्या इति चेत्; ततः किम् ?। जिगीषुता स्यात् इति चेत्, कथं यो यदनिच्छुः स तदिच्छुः परोक्तिमात्राद् भवेत् ?। तत्किं नाऽसौ जयमश्नुते ?, वाढमश्नुते। न च तमिच्छति च, अश्नुते चेति किमपि कैतव तवेति चेत्, स्यादेव, यद्यनिष्टमपि न प्राप्येत । अवलोक्यन्ते चानिष्टान्यप्यनुकूलप्रतिकूलदैवोपकल्पितानि जनैरुपभुज्यमानानि शतशः फलानि । तदिदमिह रहस्यम्-परोपकारैकपरायणस्य कस्यचिद्धादिवृन्दारकस्य परत्र तत्त्वनिर्णिनीषोरानुषङ्गिकं फलं जयः, मुख्यं तु परतत्त्वावबोधनम् । जिगीषोस्तु विपर्यय इति ॥५॥

स्वाऽऽत्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुमुदाहरन्ति-

आद्यः शिष्याऽऽदिः ॥ ६ ॥

(आद्य इति) स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुरित्यर्थः । आदिग्रहणादिहोत्तरत्र च स ब्रह्मचारिसुहृदादिराश्रीयते ॥ ६ ॥

परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुमुदाहरन्ति-

द्वितीयो गुर्वाऽऽदिः ॥ ७ ॥

(द्वितीय इति) परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुः ॥ ७ ॥

द्वितीयस्य भेदावभिदधति-

अयं द्विविधः-क्षायोपशमिकज्ञानशाली, केवली च ॥८॥

(अयमिति) परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुर्गुर्वादिः, ज्ञानाऽऽवरणीयस्य कर्मणः क्षयोपशमेन निर्वृत्तं ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायरूपं व्यस्तं समस्तं वा यस्यास्ति स तावदेकः, द्वितीयस्तु तस्यैव क्षयेण यज्जनितं केवलज्ञानं तद्वान् । तदेवं चत्वारः प्रारम्भकाः-जिगीषुः, स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुः, परत्र तत्त्वनिर्णिनीषुश्च क्षायोपशमिकज्ञानशालिकेवलिनाविति । तत्त्वनिर्णिनीषोर्हि ये भेदप्रभेदाः प्रदर्शिताः, न ते जिगीषोः सर्वेऽपि सम्भवन्ति । तथाहि-न कश्चिद्विपश्चिदात्मानं जेतुमिच्छति । न च केवली परं पराजेतुमिच्छति, वीतरागत्वात् । गौडद्राविडाऽऽदिभेदस्तु नाङ्गनियमभेदोपयोगी; प्रसञ्जयति चानन्त्यम्, इति पारिशेष्यात् क्षायोपशमिकज्ञानशाली परत्र जिगीषुर्भवतीत्येकरूप एवाऽसौ न भेदप्रदर्शनमर्हति । यौ च परत्र तत्त्वनिर्णिनीषोर्भेदावुक्तौ, न तौ द्वावपि स्वाऽऽत्मनि तत्त्वनिर्णिनीषोः सम्भवतः, निर्णीतसमस्ततत्त्वज्ञानशालिनः केवलिनः स्वाऽऽत्मनि तत्त्वनिर्णयेच्छाऽनुपपत्तेः, इति पारिशेष्यात् क्षायोपशमिकज्ञानवानेव स्वाऽऽत्मनि तत्त्वनिर्णिनीषुर्भवतीत्यसावप्येकरूप एवेति । रत्ना० ८ परि० ।

तत्तण्णु–तत्त्वज्ञ–त्रि० । तत्त्वं सकलपर्यायोपेतसकलवस्तुस्वरूपं जानातीति तत्त्वज्ञः । वस्तुतत्त्ववेदिनि, पञ्चा० १ विव० । सर्वज्ञे, आव० १ अ० ।

तत्तण्णुपुट्ठि–तत्त्वज्ञपुष्टि–स्त्री० । तत्त्वस्याविसंवादस्थाने हितोपदेशे, षो० ७ विव० ।

तत्ततव–तप्ततपस्–त्रि० । तापितं तपः कर्म, आर्यसुधर्माणमुपक्रम्य " उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे। " तप्तं तापितं तपो येन स तप्ततपाः । तेन तत्तपस्तप्तं येन कर्माण्यपि सन्ताप्यन्ते, तेन च तपसा स्वात्मा तपोरूपः संतापितो, यतोऽन्यस्यास्पृश्यमिव जातम् । औप० । नि० । भ० । ज्ञा० । रा० । सू० प्र० । ग्र० ।

तत्ततवणिज्ज-तप्ततपनीय-न० । तप्तसुवर्णे, "तत्ततवणिज्जसकासो ।" प्रज्ञा० १ पद ।

तत्ततवोधण-तप्ततपोधन-त्रि० । तप्तमनुष्ठितं तप एव धनं यस्य स तप्ततपोधनः । पञ्चाग्न्यादितपोविशेषेण निष्टप्तदेहे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

तत्ततेल्ल-तप्ततैल-न० । तप्तं च तच्चैलं च । वष्णतैले, स० ११ अङ्ग ।

तत्तत्ति-तत्त्वाप्ति-स्त्री० । जीवाऽऽदीनां स्वरूपोपलम्भे, षो० (?) ।

तत्तत्थ-तत्त्वार्थ-पुं० । युक्तिसिद्धेऽर्थे, द्रव्या० ८ अध्या० ।

तत्तत्थसद्दहाण-तत्त्वार्थश्रद्धान-न० । तत्त्वार्थानां सर्वविदुपदिष्टतया पारमार्थिकानां जीवाऽऽदिपदार्थानां श्रद्धानमेवमेतदेवेति प्रत्ययः, तत्त्वेन वा भावतोऽर्थानां श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानम्। "तत्तत्थसद्दहाणं, सम्मत्तमसग्गहो ण एयम्मि" । पञ्चा० १ विव० । (एतद्बहुवक्तव्यता "सम्मत्त" शब्दे वक्ष्यते)

तत्तदंसण-तत्त्वदर्शन-न० । परमार्थावलोकने, द्वा० २५ द्वा० ।

तत्तदंसि (ण्)-तत्त्वदर्शिन्-त्रि० । मेधाविनि, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । तत्त्वावलोकनकर्तरि, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

तत्तदिट्ठि-तत्त्वदृष्टि-स्त्री० । तत्त्वं वस्तुरूपं जीवे जीवत्वमनन्तचैतन्यरूपम्, अजीवे अचैतन्यस्वरूपं, तत्र यथार्थावबोधयुक्तौ, अष्ट० ।

रूपे रूपवती दृष्टि-र्दृष्ट्वा रूपं विमुह्यति ।
मज्जत्यात्मनि नीरूपे, तत्त्वदृष्टिस्त्वरूपिणी ॥ १ ॥
भ्रमवाटी बहिर्दृष्टि-र्भ्रमच्छाया तदीक्षणम् ।
अभ्रान्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु, नास्यां शेते सुखाशया ॥ २ ॥
ग्रामाऽऽरामाऽऽदि मोहाय, यद् दृष्टं बाह्यया दृशा ।
तत्त्वदृष्ट्या तदेवान्त-र्नीतं वैराग्यसंपदे ॥ ३ ॥
बाह्यदृष्टेः सुधासार-घटिता भाति सुन्दरी ।
तत्त्वदृष्टेस्तु सा साक्षात्, विण्मूत्रपिठरोदरी ॥ ४ ॥
लावण्यलहरीपूर्णं, वपुः पश्यति बाह्यदृग् ।
तत्त्वदृष्टिः श्वकाकानां, भक्ष्यं कृमिकुलाऽऽकुलम् ॥ ५ ॥
गजाश्वैर्भूपभवनं, विस्मयाय बहिर्दृशः ।
तत्राश्वेभवनात् कोऽपि, भेदस्तत्त्वदृशस्तु न ॥ ६ ॥
भस्मना केशलोचेन, वपुर्धृतमलेन वा ।
महान्तं बाह्यदृग् वेत्ति, चित्साम्राज्येन तत्त्ववित् ॥ ७ ॥
न विकाराय विश्वस्यो-पकारायैव निर्मिताः ।
स्फुरत्कारुण्यपीयूष-वृष्टयस्तत्त्वदृष्टयः ॥ ८ ॥ अष्ट० १९ अष्ट० ।

तत्तदेट्ठा-तत्त्वदेष्टृ-पुं० । तत्त्वं सकलपर्यायोपेतसकलवस्तुस्वरूपं तद्दिशतीति तत्त्वदेष्टा । तत्त्वोपदेष्टरि, ध० १ अधि० ।

तत्तधम्मजोणी-तत्त्वधर्मयोनि-स्त्री० । धृत्यादिके, धृतिः श्रद्धा सुखाविविदिषा विज्ञप्तिरिति तत्त्वधर्मयोनयः । "धिइसद्धासुहविविदिसा-नेया ज पायसो उ जोणि त्ति ।" पञ्चा० ४ विव० ।

तत्तपवित्ति-तत्त्वप्रवृत्ति-स्त्री० । तत्त्वानुष्ठाने, षो० ।

कस्मात्पुनस्तत्राद्वेषः क्रियत इत्याह-

अद्वेषो जिज्ञासा, शुश्रूषा श्रवणबोधमीमांसाः ।
परिशुद्धा प्रतिपत्तिः, प्रवृत्तिरष्टाङ्गिकी तत्त्वे ॥ १४ ॥

अद्वेषोऽप्रीतिपरिहारः तत्त्वविषयस्तत्पूर्विका ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा तत्त्वविषया ज्ञानेच्छा तत्त्वजिज्ञासा तत्पूर्विका बोधाम्भःस्रोतःसिराकल्पा, श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा तत्त्वविषयैव । तत्त्वशुश्रूषानिबन्धनं श्रवणमाकर्णनं तत्त्वविषयमेव । बोधोऽवगमः परिच्छेदो विवक्षितार्थस्य श्रवणनिबन्धनस्तत्त्वविषय एव, मीमांसा सद्विचाररूपा बोधानन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव । श्रवणं च बोधश्च मीमांसा च श्रवणबोधमीमांसाः । परिशुद्धा सर्वतो भावविशुद्धा, प्रतिपत्तिर्मीमांसोत्तरकालभाविनी निश्चयाऽऽकारा परिच्छित्तिरिदमित्थमेवेति तत्त्वविषयैव । प्रवर्त्तनं प्रवृत्तिरनुष्ठानरूपा परिशुद्धप्रतिपत्त्यनन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव, प्रवृत्तिशब्दो द्विरावर्त्यते, तेनायमर्थो भवति-तत्त्वे प्रवृत्तिरष्टभिरङ्गैर्निर्वृत्ताऽष्टाङ्गिकी, एभिरद्वेषाऽऽदिभिरष्टभिरङ्गैस्तत्त्वप्रवृत्तिः संपद्यते, तेनाऽऽगमान्तरे मूलागमैकदेशभूते न द्वेषः कार्य इति ॥ १४ ॥ षो० १६ विव० ।

तत्तफासुअ-तप्तप्रासुक-त्रि० । तप्तं सत्प्रासुकं त्रिदण्डोद्वृत्तं तप्तप्रासुकम् । त्रिदण्डोद्वृत्ते तप्ते जलाऽऽदौ, "उसिणोदगतत्तफासुयं, पडिगाहिज्ज संजए ।" दश० ८ अ० ।

तत्तवि[द्]-तत्त्वविद्-त्रि० । तत्त्वं वेत्तीति तत्त्ववित् । जीवाजीवाऽऽदिवस्तुविज्ञातरि, ध० ३ अधि० । परमार्थविदि, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

तत्तवेइ[ण्]-तत्त्ववेदिन्-पुं० । तत्त्वज्ञानिनि, आचा० । सारो हि विषयगणस्य तत्प्राप्तौ तृप्तिः, तदभावाच्च सारः, तं दृष्ट्वा ज्ञानी तत्त्ववेदी न विषयाभिलाषं विदध्यात्, न केवलं मनुष्याणां, देवानामपि विषयसुखाऽऽस्पदमनित्यं जीवितमिति दर्शयति-" उववायं चवणं णच्चा ।" उपपातं जन्म, च्यवनं पातः, तच्च ज्ञात्वा न विषयसङ्गोन्मुखो भवेदिति । यतो निःसारो विषयग्रामः, समस्तः संसारो वा, सर्वाणि च स्थानान्यशाश्वतानि । सारासारवेत्तरि, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

तत्तबोहविहाइणी-तत्त्वबोधविधायिनी-स्त्री० । अभयदेवविरचिताया स्वनामख्यातायां सम्मतिटीकायाम्, " प्रद्युम्नसूरेः शिष्येण, तत्त्वबोधविधायिनी । एषा चाभयदेवेन, सम्मतेर्विवृतिः कृता " ॥ १ ॥ सम्म० ३ काण्ड ।

तत्तरसासाय-तत्त्वरसाऽऽस्वाद-पुं० । तत्त्वे परमार्थे रसः आसक्तिहेतुस्तस्याऽऽस्वादस्तत्त्वरसाऽऽस्वादः । परमार्थाऽऽसक्तिहेत्वास्वादे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

तत्तलोहपह-तप्तलोहपथ-पुं० । तप्ते लोहमयमार्गे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तत्तसंदिट्ठि-तत्त्वसंदृष्टि-स्त्री० । तत्त्वसद्दर्शने, षो० १५ विव० ।

तत्तसंवेयण-तत्त्वसंवेदन-न० । तत्त्वं परमार्थः, तत्सम्यक् प्रवृत्त्याद्युपहतत्वेन विद्यते यस्मिंस्तत् । ज्ञानभेदे, द्वा० ६ द्वा० । सम्यग्ज्ञाने, प० सू० ४ सूत्र० । हा० ।

तत्तसमजोइब्भूय-तप्तसमज्योतिर्भूत-त्रि० । तप्तेन तापेन समा तुल्या ज्योतिषा वह्निना भूता जाता या सा तप्तसमज्योतिर्भूता । तापसदृशवह्निजाते, भ० १० श० ५ उ० ।

तत्तसुइ–तत्त्वश्रुति–स्त्री० । तत्त्वश्रवणे, द्वा० ।

तत. किमित्याह—

पुण्यबीजं नयत्येवं, तत्त्वश्रुत्या सदाशयः ।
भवक्षाराम्भसस्त्यागाद्, वृद्धिं मधुरवारिणा ॥ २१ ॥

एव धर्मस्य प्राणेभ्योऽप्यधिकत्वप्रतिपत्त्या, तत्रोत्सर्गप्रवृत्त्या, तत्त्वश्रुत्या तथा तत्त्वश्रवणेन, मधुरवारिणा, सदाशय. शोभनपरिणाम, भवलक्षणस्य क्षाराम्भसस्त्यागात, पुण्यबीज वृद्धिं नयति । यथा हि मधुरोदकयोगतस्तन्माधुर्यानवगमेऽपि बीज प्ररोहमादत्ते, तथा तत्त्वश्रुतेरचिन्त्यसामर्थ्यात्तत्त्वविषयस्पष्टसंवित्त्वभावेऽपि अतत्त्वश्रवणत्यागेन तद्योगात् पुण्यवृद्धि स्यादेवेति भाव ॥ २१ ॥

तत्त्वश्रवणतस्तीव्रा, गुरुभक्तिः सुखाऽऽवहा ।
समापत्त्यादिभेदेन, तीर्थकृद्दर्शनं ततः ॥ २२ ॥

(तत्त्वेति) तत्त्वश्रवणत., तीव्रा उत्कटा, गुरौ तत्त्वश्रावयितरि, भक्तिराराध्यत्वेन प्रतिपत्ति., सुखावहोभयलोकसुखकरी, ततो गुरुभक्ते. समापत्त्यादिभेदेन तीर्थकृद्दर्शन भगवत्साक्षात्कारलक्षण भवति । तदुक्तम–"गुरुभक्तिप्रभावेण, तीर्थकृद्दर्शन मतम् । समापत्त्यादिभेदेन, निर्वाणैकनिबन्धनम " ॥ १ ॥ समापत्तिरत्र ध्यानजस्पर्शना भण्यते, आदिना तन्नामकर्मबन्धविपाकतद्भावापत्त्युपपत्तिपरिग्रह ॥ २२ ॥ द्वा० २२ द्वा० ।

तत्तसुस्सूसा–तत्त्वशुश्रूषा–स्त्री० । तत्त्वश्रवणेच्छायाम, द्वा० २२ द्वा० ।

तत्ताणिव्वुडभोइत्त–तप्तानिर्वृत्तभोजित्व–न० । तप्त च तदनिर्वृत्त चात्रिदण्डोद्वृत च उदकमिति विशेषणान्यथानुपपत्त्या गम्यते तद्भोजित्वमिति । असचित्तोदकभोजित्वे, ग० २ अधि० ।

तत्ताणुरूवत्त–तत्त्वानुरूपत्व–न० । पञ्चदशतमे सत्यवचनातिशेषसम्प्राप्ते, तत्त्वानुभोजित्व विवक्षितवस्तुस्वरूपानुसारिता । रा० ।

तत्तातत्तवइगरकराल–तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकराल–त्रि० । तत्त्वं चातत्त्व च तत्त्वातत्त्वे, तयोर्व्यतिकरो व्यतिकीर्णता मिश्रता स्वभावविनिमय तत्त्वातत्त्वव्यतिकर., तेन करालो भयङ्कर. । तत्त्वेऽतत्त्वाभिनिवेशोऽतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेश इत्येवरूपेण सञ्जायमानव्यतिकरेण भयङ्करे, स्या० ।

तत्ताब्भास–तत्त्वाभ्यास–पु० । परमार्थाभ्यासे, षो० १३ विव० ।

तत्ताभिणिवेस–तत्त्वाभिनिवेश–पु० । तत्त्वज्ञाने, षो० । " गुरुभक्ति परमाऽस्यां, विधौ प्रयत्नस्तथा धृति. करणे । तद्भन्थाऽऽप्तिश्रवण, तत्त्वाभिनिवेसपरमफलम् ॥ १ ॥ " षो० १० विव० । वस्तुस्वरूपनिर्णयातिशये, पञ्चा० ६ विव० ।

तत्तायगोलकप्प–तप्तायोगोलकल्प–त्रि० । तप्तलोहपिण्डसदृशे, "तत्तायगोलकप्पो, पमत्तजीवो निवारियप्पसरो । (२०१)" आ० ।

तत्तालोग–तत्त्वालोक–पु० । परमार्थप्रकाशे, द्वा० २४ द्वा० ।

तत्ति–तृप्ति–स्त्री० । घ्राणौ, स्था० १ ठा० । सन्तोषे, आतु० । बुभुक्षाऽऽद्युपशमलक्षणायाम्, विशे० ।

तप्ति–स्त्री० । सारायाम्, " गणतत्तिविप्पमुक्का । " गणस्य गच्छस्य या तप्ति सारा, तया विप्रमुक्ता. । व्य० १ उ० । चिन्तायाम् प्रति० ।

तत्तिय–तात्त्विक–पु० । न० । वास्तवे, द्वा० १६ द्वा० । आ० म० । " महाव्रतिसहस्रेषु, वरमेको हि तात्त्विक. । तात्त्विकस्य सम पात्र, न भूतो न भविष्यति ॥ १ ॥ " अतस्तात्त्विकाय पात्राऽऽदिक देयम् । ध० २ अधि० ।

तावत्–त्रि० । "जत्तिय गहिय तत्तिय ठियं, सेस नट्ठं, ततो गतो सिं घर । " आ० म० १ अ० २ खण्ड । ' तत्तिय ' तावन्मात्रमेव कार्यम् । व्यवहारे, नि० चू० ११ उ० ।

तत्तियजोग–तात्त्विकयोग–पु० । केनापि नयेन मोक्षयोजनफले, द्वा० ,१६ द्वा० ।

तत्तियधम्मात्ति–तात्त्विकधर्माप्ति–स्त्री० । तात्त्विकस्याभ्यासशुद्धस्य तत्त्वाभ्यासिकमात्रस्य धर्मस्याहिंसाऽऽदेराप्तिरुपलब्धि । अभ्यासशुद्धस्याहिंसाऽऽदेरुपलब्धौ, द्वा० १० द्वा० ।

तत्तिल्ल–तृप्तिमत्–त्रि० । तृप्तिर्विद्यते यस्य स तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । " आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा-मतो " ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति मतुप स्थाने इल्लाऽऽदेश. । प्रा० ढुण्ढि० २ पाद । तृप्ते, कल्प० ६ क्षण । तत्परे, दे० ना० ५ वर्ग ३ गाथा ।

तत्तिव्वऽज्झवसाण–तत्तीव्राध्यवसान–त्रि० । तस्मिन्नेवाऽऽवश्यके तीव्र प्रारम्भकालादारभ्य प्रतिक्षण प्रहर्षयायि प्रयत्नविशेषलक्षणमध्यवसान यस्य स तथा । तस्मिन्, ग० २ अधि० ।

तत्ती–देशी–तत्परतायाम्, आदेशे च । दे० ना० ५ वर्ग २० गाथा ।

तत्तीइग–तार्तीयिक–त्रि० । तृतीयमेव तार्तीयिकम् । स्वार्थे टीकण्प्रत्यय । ध० २ अधि० । त्रयाणां पूरणे, येन त्रित्वसङ्ख्या पूर्यते तस्मिन् पदार्थे, वाच० ।

तत्तु–तत्र–अव्य० । " यत्रतत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थत्तु " ॥ ८ । ४ । ४०४ ॥ इति तत्रशब्दस्य त्रिस्सङ्कोऽत्तु इत्यादेश. । प्रा० ४ पाद । तस्मिन्नित्यर्थे, वाच० ।

तत्तुमिल्ल–देशी–सुरते, दे० ना० ५ वर्ग ६ गाथा ।

तत्थ–तत्र–अव्य० । तस्मिन् कालाऽऽदौ, तत्र तस्मिन्नित्यर्थे, वाच० । स्था० । अनु० । प्रश्न० । वाक्योपन्यासार्थे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । निर्धारणार्थे च । दश० १ अ० । ' तर्हि ' शब्दार्थे च । प्रा० १ पाद ।

तथ्य–न० । तत्र साधु यत् । सत्ये, वाच० । विशे० । द्वा० । निरुपचरिते, मुख्ये च । विशे० ।

त्रस्त–त्रि० । परमाधार्मिकदेवपरम्परोदीरितदुःखसपातभयात् त्रासमुपपन्ने, जी० १ प्रति० । स्था० ।

त्रस्त–त्रि० । भीते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

तत्थावाइ(ण्)–तथ्यवादिन्–पु० । ' तच्चावाइ (ण्) ' शब्दार्थे, आ० क० ।

तत्थून–दृष्ट्वा–अव्य० । "ऋतोऽत् " ॥ ८ । १ । १२६ ॥ इति ऋतोऽत् । दस्य त । " क्त्वस्तुमत्तूण-तुआणाः " ॥ ८ । ४ । ३१२ ॥ इति क्त्वास्थाने तूनत्थूनत्त्याटेशौ । विलोक्येत्यर्थे, प्रा० ढु० ४ पाद ।

तद्–तद्–त्रि० । लोकत्रयव्यापिनि, किन्तत्वेन प्रायशो हलन्त्यत्वादेतादृशा प्राकृते न प्रयुज्यन्ते । ढं० ना० ।

तदक्ख–तदाख्य–त्रि० । तेन अर्थेन आख्या येषां ते तदाख्याः । अहिंसके, नि० चू० २० उ० ।

तदज्झवसाण–तदध्यवसान–त्रि० । तस्यामेवाध्यवसानं भोगक्रिया प्रयत्नविशेषरूपं यस्य स तस्मिन् । तदध्यवसिते, विपा० १ श्रु० २ अ० । अनु० ।

तदज्झवसिय–तदध्यवसित–त्रि० । तस्मिन्नेव विवक्षिते आवश्यके अध्यवसितं क्रियासंपादनविषयमस्येति तदध्यवसितः । तद्विषयकाध्यवसाययुक्ते, ग० २ अधि० । अनु० ।

तदट्ठ–तदर्थ–पुं० । तस्मै अर्थस्तदर्थः । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । तत्प्राप्तौ, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

तदट्ठोवउत्त–तदर्थोपयुक्त–त्रि० । तस्य (विवक्षितस्य) आवश्यकस्यार्थस्तदर्थं, तस्मिन्नुपयुक्तस्तदर्थोपयुक्तः। अनु०। तत्प्राप्तये उपयोगवति, विपा० १ श्रु० १ अ० । ग० । तदभिधेयोपयुक्ते, औ० ।

तदण्णवयण–तदन्यवचन–न० । वचनभेदे, स्था० । तस्माद्विवक्षितघटाऽऽदेरन्यः पटाऽऽदिः, तस्य वचनं तदन्यवचनं, घटापेक्षया पटवचनवत्, नोभयवचनमजल्पननिवृत्तिर्वचनमात्रं मिथ्याऽऽदिनादिति । अथवा–स शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तधर्मविशिष्टोऽर्थोऽनेनोच्यते इति तद्वचनं, यथार्थनामेत्यर्थः । ज्वलनतपनाऽऽदिवत् । तथा तस्माच्छब्दव्युत्पत्तिनिमित्तधर्मविशिष्टादन्यः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तधर्मविशिष्टोऽर्थ, उच्यतेऽनेनेति तदन्यवचनमयथार्थमित्यर्थः । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

तदप्पियकरण–तदर्पितकरण–त्रि० । तस्मिन् भगवत्यर्पितानि करणानीन्द्रियाणि शब्दरूपाऽऽदिषु श्रोत्रचक्षुरादीनि यैस्ते तदर्पितकरणाः । औ० । ग० । तस्मिन्नेवाऽऽवश्यके यथोचितव्यापारनियोगेनार्पितानि नियुक्तानि येन स तदर्पितकरणः । सम्यग्यथास्थानन्यस्तोपकरणे, ध० । तस्यामेवार्पितानि ढौकितानि करणानि इन्द्रियाणि येन स तथा तस्मिन् । ढौकितेन्द्रिये, ध० २ अधि० ।

तदाभास–तदाभास–पुं० । तत्सदृशे, पञ्चा० ४ विव० ।

तदाहार–तदाधार–त्रि० । ते पृथिव्यादय आधारो येषां ते तदाधाराः । तत्राऽऽश्रितेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तदाहार–पुं० । तानेव पृथिव्यादीन् आहारयन्तीति तदाहाराः । तद्भक्षके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तदुभयहिय–तदुभयहित–त्रि० । इहपरलोकहिते, पं० भा० ।

तदो–ततस्–अव्य० । तस्मादित्यर्थे, प्रा० १ पाद ।

तदो–ततस्–अव्य० । "त्तो दो तसो वा" ॥ ८ । २ । १६० ॥ इति तसः प्रत्ययस्य वा त्तो दो इत्यादेशौ । तस्मादित्यर्थे, प्रा० १ पाद ।

तद्दिअचय–देशी–नृत्ये, दे० ना० ५ वर्ग ८ गाथा ।

तद्दिअस–देशी–अनुदिवसे, दे० ना० ५ वर्ग ८ गाथा ।

तद्दिअसिअ–देशी–अनुदिवसे, दे० ना० ५ वर्ग ८ गाथा ।

तद्दिअह–देशी–अनुदिवसे, दे० ना० ५ वर्ग ८ गाथा ।

तद्देस–तद्देश–पुं० । तस्य देशस्तद्देशः । उदाहरणदेशे, दश० १ अ० ।

तद्दोस–तद्दोष–पुं० । तस्योदाहरणस्यैव दोषो यस्मिन् तद्दोषः । उदाहरणदोषे, दश० १ अ० ।

त्वग्दोष–त्रि० । कुष्ठिनि, औ० । श्वेतकुष्ठिनि, पिं० । स च त्वग्दोषो द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां भवति । तद्यथा–"मदंतमसदंते, असंदिणसित्तममलपसुत्तो । किमिपूय रसिगा वा, पस्सदति तत्थिमा अवणा " ॥१॥ व्य० ६ उ० । (इयं गाथा 'वगडा' शब्दे एगवगमावसरे व्याख्यास्यते)

तद्धिय–तद्धित–त्रि० । न० । तस्मै हितं तद्धितमित्यन्वर्थाभिधायका ये प्रत्ययास्ते तद्धिताः । यथा गोभ्यो हितो गव्यो देश इत्यादि । प्रश्न० २ सम्ब० द्वार । आ० चू० । तेभ्यो विग्रहस्थतत्तत्प्रकृतीनां स्वविशिष्टतया प्रयोगेभ्यो हितः । व्याकरणोक्ते प्रत्ययभेदे, वाच० ।

तद्धियए–तद्धितज–न० । तद्धिताज्जातं तद्धितजम् । इह तद्धितशब्देन तद्धितप्राप्तिहेतुभूतोऽर्थो गृह्यते, तत्रायम्, यत्रापि "तुन्नाए तंतुवाए ।" तद्धितप्रत्ययो न दृश्यते, तत्रापि तद्धेतुभूतार्थस्य विद्यमानत्वात्तद्धितजं सिद्धं भवति । अनु० । नामप्रमाणभेदे, अनु० ।

से किं तं तद्धियए ? । तद्धियए अट्ठविहे पण्णत्ते । तं जहा–
"कम्मे सिप्पे सिलोए, संजोगे समीवए अ संजूहे ।
इस्सरिए अवच्चेण य, तद्धितणामं तु अट्ठविहं " ॥१॥

(से किं तं तद्धियए इत्यादि) तद्धिताज्जातं तद्धितजम् । इह तद्धितशब्देन तद्धितप्राप्तिहेतुभूतोऽर्थो गृह्यते । तत्रायम्, यत्रापि "तुन्नाए ततुवाए" तद्धितप्रत्ययो न दृश्यते, तत्रापि तद्धेतुभूतार्थस्य विद्यमानत्वात्तद्धितजं सिद्धं भवति । "कम्मे गाहा" पाठसिद्धः, नवरं श्लोकः श्लाघा, संयूथो ग्रन्थरचना, एते च कर्मशिल्पाऽऽदयोऽर्थास्तद्धितप्रत्ययस्योत्पत्तौ निमित्तीभवन्तीत्येतद्देशात्तद्धितजं नामाष्टविधमुच्यत इति भाव. ।

से किं तं कम्मनामे ? । कम्मनामे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा–तणहारए, कट्ठहारए, पत्तहारए, दोसिए, सोत्तिए, कप्पासिए, भंडवेआलिए, कोलालिए । सेत्तं कम्मनामे ।

तत्र कर्मतद्धितजं (दोसिए, सोत्तिए इत्यादि) दूष्यं पण्यमस्येति दौष्यिकः । सूत्रं पण्यमस्येति सौत्रिकः । शेषं प्रतीतम् । नवरं भाण्डविचारः कर्मास्येति भाण्डवैचारिकः, कौलालानि मृद्भाण्डानि पण्यमस्येति कौलालिकः । अत्र क्वापि "तणहारिए" इत्यादिपाठो दृश्यते ॥ तत्र कश्चिदाह–नन्वत्र तद्धितप्रत्ययो न कश्चिदुपलभ्यते, तथा वक्ष्यमाणेष्वपि "तुन्नाए ततुवाए" इत्यादिषु नाय दृश्यते, तत्किमित्येवंभूतनाम्नामिहोपन्यासः ? । अत्रोच्यते–अस्मादेव सूत्रोपन्यासात् तृणानि हरति वहतीत्यादिकः कश्चिदप्राकृतव्याकरणदृष्टस्तद्धितोत्पत्तिहेतुभूतोऽर्थो दृष्टव्यः, ततो यद्यपि साक्षात् तद्धितप्रत्ययो नास्ति, तथाऽपि तदुत्पत्तिनिबन्धनभूतमर्थमाश्रित्येह तन्निर्देशो न विरुध्यते । यदि तद्धितोत्पत्तिहेतुरर्थोऽस्ति, तर्हि तद्धितोऽपि कस्मान्नोत्पद्यत इति चेत् ?, लोके इत्थमेव रूढत्वादिति ब्रूमः । अथवा–अस्मादेवाऽऽर्षमुनिप्रणीतसूत्रज्ञापकादेव जानीयास्तद्धितप्रत्ययं प्राकृते केचित्प्रतिपत्तव्या इति ।

अथ शिल्पतद्धितनामोच्यते–

से किं तं सिप्पणामे ? । सिप्पणामे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा–वत्थिए, तंतिए, तुण्णाए, तंतुवाए, पट्टकारे, उएट्टे, वरुडे, मुंजकारे, कट्ठकारे, छत्त–

कारे, बंभकारे, पोत्थकारे, चित्तकारे, दंतकारे, लेप्पकारे । सेत्तं सिप्पनामे ।

तन्त्री शिल्पमस्येति ताब्त्रिकः, तन्त्रीवादनं शिल्पमस्येति तान्त्रिकः। "तुन्नाए ततुवाए" इत्यादि प्रतीतम्। आक्षेपपरिहारौ तूक्तावेव। यदिह पूर्वं चक्रभिद् वाचनाविशेषे प्रतीत नाम इष्यते, तद्देशान्तररूढितोऽवसेयम्।

अथ श्लाघातद्धितनामोच्यते-

से किं तं सिलोअणामे ?। सिलोअणामे अणेगविहे पएणत्ते। तं जहा-समणे, माहणे, सव्वातिही। सेत्तं सिलोगणामे।

(समणे इत्यादि) श्रमणाऽऽदीनि नामानि श्लाघ्यार्थेषु साध्वादिषु रूढान्यनेऽस्मादेव सूत्रनिबन्धनात् श्लाघार्थास्तद्धिताः, तदुत्पत्तिहेतुभूतमर्थमात्र वाऽत्रापि प्रतिपत्तव्यम्।

संयोगतद्धितनाम-

से किं तं संजोगनामे ?। संजोगनामे अणेगविहे पएणत्ते। तं जहा-रएणो ससुरए, रएणो जमाउए, रएणो साले, रएणो दूते, रएणो भगिणीवई। सेत्तं संजोगनामे।

राज्ञः श्वशुर इत्यादि। अत्र संबन्धरूपः संयोगो गम्यते। अत्रापि चास्मादेव ज्ञापकात्तद्धितनामता, चित्रं च पूर्वगत शब्दप्राभृत अप्रत्यक्षं च, अतः कथमिह भावनास्वरूपमस्मादृशैः सम्यगवगम्यते।

समीपतद्धितनाम-

से किं तं समीवणामे ?। समीवणामे अणेगविहे पएणत्ते। तं जहा-गिरिसमीवे णगरं गिरिणगरं, विदिसिसमीवे णगरं विदिसिणगरं, वेन्नायसमीवे णगरं वेन्नायणगरं, णगरायसमीवे नगरं णगरायणगरं। सेत्तं समीवणामे।

गिरिसमीपे नगर गिरिनगरम्। अत्र "अदूरभवश्च" ॥ ४। २। ७०॥ (पाणि०) इति अण् न भवति, गिरिनगरमित्येव प्रतीतत्वात्, विदिशाया अदूरभव नगर वैदिशम्। अत्र तु "अदूरभवश्च" ॥ ४। २। ७०॥ इति (पाणि०) अण् भवत्येव, इत्थं रूढत्वादिति।

संयूथतद्धितनाम-

से किं तं संजूहनामे ?। संजूहनामे अणेगविहे पएणत्ते। तं जहा-तरंगवइकारे, मलयवइकारे, अत्ताणसट्ठिकारे, बिंदुकारे। सेत्तं संजूहनामे।

(तरंगवइकारे इत्यादि) तद्धितनामता चेहोत्तरत्र च पूर्ववज्ज्ञातव्या।

ऐश्वर्यतद्धितनाम-

से किं तं ईसरिअनामे ?। ईसरिअनामे अणेगविहे पएणत्ते। तं जहा-ईसरे, तलवरे, मडंबिए, कोडुंबिए, इब्भे, सेट्ठी, सत्थवाहे, सेणावई। सेत्तं ईसरिअनामे।

(राईसरे इत्यादि) इह राजाऽऽदिशब्दनिबन्धनमैश्वर्यमेव गन्तव्य, राजेश्वराऽऽदिशब्दार्थस्त्विहैव पूर्वं व्याख्यात एव।

अपत्यतद्धितनाम-

से किं तं अवच्चनामे ?। अवच्चनामे अणेगविहे पएणत्ते। तं जहा-अरिहंतमाया, चक्कवट्टिमाया, बलदेवमाया, वासुदेवमाया, रायमाया, मुणिमाया, वायगमाया। सेत्तं अवच्चनामे ॥

(तित्थयरमाया इत्यादि) तीर्थकरोऽपत्य यस्याः सा तीर्थकरमाता। एवमन्यत्रापि सुप्रसिद्धेनाऽप्रसिद्ध विशिष्यते। अतः तीर्थकराऽऽदिभिर्मातरो विशेषिताः। तद्धितनामत्वभावना तथैव। गत तद्धितनाम। अनु०।

तद्धियय-तद्धितज-न०। 'तद्धियए' इतिशब्दार्थे, अनु०।

तद्धून-दृष्ट्वा-अव्य०। "दृशस्तूनो ट्ठः" ॥ ८। ४। ३१३॥ इति ट्ठस्थाने डून इत्यादेशः। "ऋतोऽत्"॥८।१।१२६॥ ऋदतो ऽत्त्वः दस्य तः। प्रा० ४ पाद। विलोक्येत्यर्थे, वाच०।

तपागच्छ-तपागच्छ-पुं०। घोरतप कारित्वेन तपाविरुदप्राप्ताजगच्चन्द्रसूरेः प्रतिष्ठिते गच्छे, तपा इतिशब्दस्तत्तार्थको देशीप्रसिद्धः। यथा तत्काले विरुदतया प्राप्तस्तथैव सर्वैरेव विद्वद्भिर्व्यवह्रियते। केचित्तु 'तपोगच्छ' इति शुद्धसंस्कृतमपि व्यवहरन्ति। जै० इ०।

तपोरिह-तपोऽर्ह-न०। प्रायश्चित्तभेदे, जीत०।

साम्प्रत भावाऽऽदिविषय तपोऽर्हं प्रायश्चित्तमाह-

हट्ठगिलाणा जाव-म्मि दिज्ज हट्ठस्स न उ गिलाणस्स।
जावइय वा विसहइ, तं दिज्ज सहिज्ज वा कालं ॥६८॥

भावे भावत, कश्चिदालोचनाग्राही हृष्टो नीरोगः समर्थः। कश्चिद् ग्लानो रोगी शक्तिविकल इत्येतद्विचार्य (दिज्ज हट्ठस्स न उ गिलाणस्स) तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वात् हृष्टस्य जीतोक्तादधिकमपि दद्यात्, ग्लानस्य तु न दद्यात्, जीतोक्तादून वा दद्यात्। यावन्मात्र वा विषहते कर्तुं शक्नोति, तत्प्रायश्चित्त तावन्मात्र दद्यात्, काल वा सहेत-यावता प्रगुणो भवति तावत्प्रतीक्ष्य रोगनिवृत्तौ समर्थस्य दद्यादित्यर्थः। उक्तो भाव ॥ ६८॥

सप्रति सप्रपञ्च पुरुषद्वारमाह-

पुरिसा गीयाऽगीया, सहाऽसहा तह सढाऽसढा केइ।
परिणामाऽपरिणामा, अइपरिणामा इ वत्थूणं ॥६६॥

इहाऽऽलोचनाग्राहिणः पुरुषाः किंस्वरूपा ?, इति प्रथममेवाऽऽचार्यैर्विचार्योः, ततस्तदपेक्षया प्रायश्चित्त दातव्यम्, ते च बहुप्रकाराः। तद्यथा-गीतार्थी अधिगताऽऽचारप्रकल्पाऽऽदिनिशीथान्तश्रुताः। तद्विपरीते त्वगीता अगीतार्थाः। सहाः सर्वप्रकारैः समर्थाः, असहा असमर्थाः। तथा केचित्-शठा मायाविनः, अशठाः सरलाऽऽत्मानः, परिणामका अपरिणामका अतिपरिणामकाश्च वस्तुषूत्सर्गापवादरूपेषु विषये। एते च परिणामकाऽऽदयस्त्रयोऽपि पूर्वमहुरे"डेयाइमनइडयो" इति गाथाया विवरणे व्याख्याताः, अतो नात्र पुन प्रतन्यन्त इति ॥ ६६॥

तह धिइसंघयणोभय-संपन्ना तदुभएण हीणा य।
आयपरोभयनोभय-तरगा तह अएणतरगा य ॥७०॥

तथा धृतिसहननोभयसपन्नाः, तदुभयेन हीनाश्च। इह भङ्गचतुष्टय संभवति-तत्र धृत्या सपन्ना इत्येकः। सहननेन सपन्ना इति द्वितीयः। उभयेन धृतिसहननाऽऽख्येन सपन्ना इति तृतीयः। तदुभयेन हीनाश्चेति चतुर्थः। तथा-आत्मपरोभयानुभयतरका

इति। अत्रापि चतुर्भङ्गी-आत्मानुग्राहकं तपः, परोपष्टम्भकारं वैयावृत्त्यं, तयोर्द्वयोरपि समर्था, परं ये तप एव कुर्वन्ति, न वैयावृत्त्यं, ते-आत्मतरकाः, (स्वार्थेऽत्र कः प्रत्ययः) न परतरका इत्याद्यो भङ्गः। ये तु वैयावृत्त्यमेव कुर्वन्ति,न तपः,ते-अन्यतरकाः, नात्मतरका इति द्वितीयः। ये तूभयमपि कुर्वन्ति, ते तु उभयतरका इति तृतीयः। ये पुनरुभयं न कुर्वन्ति ते नोऽन्यतरका इति चतुर्थः। तथा (अन्नतरग त्ति) अन्यतरका -ये तपोवैयावृत्त्ययोरन्यतरदेकमेव कर्तुं शक्नुवन्ति, नोभयकरणक्षमा इत्यर्थः॥७०॥

कप्पट्ठियादओ वि य, चउरो जे चेयरा समक्खाया।
सावेक्खेयरभेया-दओ य जे ताण पुरिसाण॥७१॥

कल्पः सततासेवनीयः समाचारः।

स चायं दशधा-

"आचेलुक्कोद्देसिय-सिज्जायररायपिंडकिइकम्मे।
वयजेट्ठपडिक्कमणे, मासे पज्जोसवणकप्पो"॥६॥ (पञ्चा० १७ विव०)

अस्या व्याख्या-न विद्यते चेलं वस्त्रं यस्याऽसावचेलकः, तस्य भाव आचेलक्यं, सत्त्वेलत्वे चायमचेलकव्यपदेशः।

तथा चान्यत्रापि दृश्यते-

"जह जलमवगाहंतो, बहुचेलो वि सिरवेढियकडिल्लो।
भन्नइ नरो अचेलो, तह मुणओ संतचेला वि॥२६००॥
तह थोवजुन्नकुच्छिय-चेलेहि वि भन्नए अचेलु त्ति।
जह तुर सालिय! लहु दो, पोत्तिं नग्गिया मो त्ति"॥२६०१॥ (विशे०)

उद्देशेन साधुसङ्कल्पेन वृत्तमौद्देशिकम् आधाकर्म, शय्यया वसत्या तरति भवाम्भोधिमिति शय्यातरः, राजा नृपः, तयोः पिण्डो भक्ताऽऽदिरूपः-शय्यातरपिण्डो, राजपिण्डश्च। एषामौद्देशिकाऽऽदीनां त्रयाणामपि परिहारोऽवसेयः। कृतिकर्म ज्येष्ठानुक्रमेण वन्दनकदानम्, व्रतानि पञ्च महाव्रतानि, ज्येष्ठः-वर्षशतदीक्षिताया अपि साध्व्या अद्यतनदीक्षितोऽपि साधुर्गरीयान्। प्रतिक्रमणं प्रतीतम्, मासः मासकल्पः, परि सर्वथाऽवसानमेकत्र निवासो निरुक्तिवशात्पर्यूषणा, इति।

एतस्मिन् दशविधे कल्पे स्थिताः कल्पस्थिताः प्रथमचरमजिनसाधवः, ते आदावयवयुक्ता येषां ते कल्पस्थिताऽऽदयः। कल्पस्थिताऽऽदयः -'कल्पस्थितपरिणतकृतयोगितरमाणाख्याः।' तत्र कल्पस्थिताः कथिता एव, परिणताः परिणतं परिपाकमागतं जीवेन सह प्रासीकीभावं चारित्रं येषां ते, कृतयोगिनः चतुर्थषष्ठाष्टमाऽऽदिभिस्तपोभिः परिकर्मितशरीराः "तरमाण त्ति"। "शकेश्चय तर-तीर-पाराः"॥८।४।८६॥ इत्यनेन प्राकृतलक्षणसूत्रेण शक्धातोः तराऽऽदेशे कृते शक्नुवानाः, शक्तिसुलभां कुर्वाणा इत्यर्थः। ये एते चत्वारः सप्रतिपक्षाः समाख्याताः कथिताः कल्पस्थिताऽऽदिभ्य इतरे-अकल्पस्थितापरिणताकृतयोग्यतरमाणाऽऽख्याः, अकल्पस्थिता मध्यमद्वाविंशतिजिनसाधवो, महाविदेहजाश्च, एते हि दशविधस्थितकल्पमध्यात् शय्यातरपिण्डादानचतुर्यामपुरुषज्येष्ठत्वकृतिकर्मकरणाऽऽख्येषु चतुर्षु स्थिताः, शेषेषु षट्सु पुनरस्थिताः। ते ह्येतानि षट् स्थानानि गुणानुलोम्यमालोच्य कदाचित्कानिचित् कुर्वन्ति वा, न वेति। अपरिणताऽऽदयस्तु परिणताऽऽदिविपरीताः (सावेक्खेयरभेयादओ य जे इति)जे इति पादपूरणे। कल्पस्थिताः कल्पस्थिताऽऽदयोऽप्यावपि द्विविधाः-सापेक्षा गच्छवासिनो, निरपेक्षा जिनकल्पिकाऽऽदयः। (ताण पुरिसाण) इत्यग्रेतनगाथायां सम्बध्यते।

सा चेयं गाथा-

जो जइ सत्तो बहुतर-गुणो व तस्साहियं पि दिज्जाहि।
हीणस्स हीणतरगं, हासिज्ज व सव्वहीणस्स॥७२॥

तेषां पुरुषाणां कल्पस्थिताऽऽदीनां सापेक्षनिरपेक्षभेदानां प्रागगाथाद्वयोक्तगीतार्थाऽऽदीनां च मध्याद् यो यथा शक्तः तपः कर्तुं क्रमः, बहुतरगुणो वा धृतिसंहननसंपन्नः परिणतः कृतयोगी आत्मपरतरो वा भवेत्, तस्याधिकमपि जीतोक्तादतिरिक्तमपि दद्यात्। हीनस्य धृतिसंहननाऽऽदिरहितस्य हीनतरं जीतोक्तादल्पतरं दद्यात्, सर्वहीनस्य सामस्त्येनाक्षमस्य, सर्वमपि तपः क्षपणाद् ह्रासयेत्, न किमपि तस्य दद्यात्, मिथ्यादुष्कृतेनैव तस्य शुद्धिरादेश्येत्यर्थः।

पुनः पुरुषविशेषेणेवाऽऽह-

इत्थं पुण बहुतरगा, भिक्खु त्ति अकयकरणाऽणभिगया य।
जं-तेण जीयमट्ठम-भत्तं तं निव्विगाईयं॥७३॥

अत्र पुनर्बहुतरा बहुभेदाः, आचार्योपाध्यायकृतकरणगीतार्थस्थिराऽऽद्याः, भिक्षव साधव इति, अकृतकरणास्तपोभिरपरिकर्मितशरीराः, अनभिगताश्चाऽगीतार्थाः। चशब्दादस्थिराः। एतेषां च सर्वेषां यथाऽर्हं सूक्ष्मबादरातिचाराऽऽदिना यज्जीतं जीतदानं निर्विकृत्याद्यष्टमभक्तान्तं, ज्ञेयमिति शेषः। यद्वा-यन्त्रेणेदं ज्ञेयमित्यर्थः। इह चात्र गाथान्ते यन्त्रकस्य पञ्चम्या दीर्घपङ्क्त्या पश्चिमानुपूर्व्या तपो गृहीतम् एतदीयश्च तपोविशेषः सर्वोऽपि यन्त्रकेण स्पष्टीभवति। ततस्तस्यायं लेखनविधिः कथ्यते-इह दैर्घ्येण पङ्क्तिरचनायां त्रयोदश गृहाणि स्थाप्यन्ते। पृथुत्वेन चाद्यपङ्क्तौ पञ्चदश गृहाणि। द्वितीयतृतीयपङ्क्त्योश्चतुर्दश, चतुर्थपञ्चमपङ्क्त्योस्त्रयोदश,षष्ठसप्तमपङ्क्त्योर्द्वादश, अष्टमनवमपङ्क्त्योरेकादश। दशमैकादशपङ्क्त्योर्दश, द्वादशत्रयोदशपङ्क्त्योर्नव गृहाणीति। अत्र चाऽऽद्याया पृथुपङ्क्तेरुपरि निरपेक्षः स्थाप्यते,द्वितीयाया आचार्यः कृतकरणः, तृतीयाया आचार्योऽकृतकरणः, चतुर्थ्या उपाध्यायः कृतकरणः, पञ्चम्या उपाध्यायोऽकृतकरणः, षष्ठ्या गीतार्थः स्थिरः कृतकरणो भिक्षुः, सप्तम्या गीतार्थः स्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुः, अष्टम्या गीतार्थोऽस्थिरः कृतकरणो भिक्षुः, नवम्या गीतार्थोऽस्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुः, दशम्या अगीतार्थः स्थिरः कृतकरणः, एकादश्या अगीतार्थः स्थिरोऽकृतकरणः, द्वादश्या अगीतार्थोऽस्थिरः कृतकरणः, त्रयोदश्या उपरि अगीतार्थोऽस्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुरिति स्थापयित्वा पृथुत्वेन प्रथमायां पङ्क्तौ निरपेक्षस्याधो गृहद्वये शून्यं स्थाप्यम्, यतस्तयोः पाराञ्चिकानवस्थाप्येन भवतः। ते च जिनकल्पिकस्य न सम्भवतः, तस्य हि सत्त्वादेव निरपेक्षत्वात्। अथ तयोः शून्ययोरधस्त्रयोदशसु गृहेषु मूलच्छेदषड्गुरुषड्लघुचतुर्गुरुचतुर्लघुमासगुरुमासलघुभिन्नमासविंशतिकपञ्चदशकदशकपञ्चकानि स्थाप्यन्ते, द्वितीयायां पङ्क्तौ पाराञ्चिकाऽऽदीनि दशकान्तानि, तृतीयायामनवस्थाप्याऽऽदीनि पञ्चकान्तानि, चतुर्थ्यामनवस्थाप्याऽऽदीनि दशकान्तानि, अष्टम्यां छेदाऽऽदीनि दशकान्तानि, नवम्यां षड्गुर्वादीनि पञ्चकान्तानि, दशम्यां षड्गुर्वादीनि दशकान्तानि, एकादश्यां षड्लघ्वादीनि पञ्चकान्तानि, द्वादश्यां षड्लघ्वादीनि दशकान्तानि, त्रयोदश्यां चतुर्गुर्वादीनि पञ्चकान्तानि स्थाप्यन्ते।

॥ एतेन पुरुषविभागेन श्रुतव्यवहारतो जीतकल्पयन्त्रम् । "इत्थं पुण" (७३) गाथा ॥

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
	निरपेक्ष	आचार्यः कृतकरण.	आचार्योऽकृतकरण.	उपाध्याय. कृतकरणः	उपाध्यायोऽकृतकरण.	गीतार्थ. स्थिर कृतकरणो भिक्षु	गीतार्थ स्थिरोऽकृतकरणो भिक्षु	गीतार्थोऽस्थिर. कृतकरणो भिक्षु	गीतार्थोऽस्थिरोऽकृतकरणो भिक्षु	अगीतार्थ स्थिर' कृतकरणो भिक्षुः	अगीतार्थ स्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुः	अगीतार्थोऽस्थिर' कृतकरणो भिक्षु	अगीतार्थोऽस्थिरोऽकृतकरणो भिक्षुः
१	०	पाराञ्चिक	अनवस्थाप्य	अनवस्थाप्य	मूल	मूल	छेद	छेद	६	६	६	६	४
२	०	अनवस्थाप्य	मूल	मूल	छेद	छेद	६	६	६	६	४	४	४
३	मूल	मूल	छेद	छेद	६	६	६	६	४	४	४	४	*
४	छेद	छेद	६	६	६	६	४	४	४	४	*	*	*
५	६	६	६	६	४	४	४	४	*	*	*	*	२५
६	६	६	४	४	४	४	*	*	*	*	२५	२५	२०
७	४	४	४	४	*	*	*	*	२५	२५	२०	२०	१५
८	४	४	*	*	*	*	२५	२५	२०	२०	१५	१५	१०
९	*	*	*	*	२५	२५	२०	२०	१५	१५	१०	१०	५
१०	*	*	२५	२५	२०	२०	१५	१५	१०	१०	५		
११	२५	२५	२०	२०	१५	१५	१०	१०	५				
१२	२०	२०	१५	१५	१०	१०	५						
१३	१५	१५	१०	१०	५								
१४	१०	१०	५										
१५	५												

अत्रैवं भावना--यत्राऽपराधे कृतकरणाऽऽचार्यस्य पारा-ञ्चिके, तत्रैवापराधे अकृतकरणाऽऽचार्याऽऽदीनां तीर्यपङ्क्ति-क्रमेणानवस्थाप्याऽऽदीनि प्रायश्चित्तानि भवन्ति । तथा यत्रा-पराधे कृतकरणाऽऽचार्यस्याऽनवस्थाप्य,तत्रैवाऽपराधे शेषाणां तथैव क्रमेण प्रायश्चित्तानीत्येवं सर्वतीर्यपङ्क्तिषु भावना कार्या। उक्त सप्रपञ्च पुरुषद्वारम् ।

सम्प्रति सेवनामाह-

आउट्टियाइ दप्प--प्पमायकप्पेहिँ वा निसेविज्जा ।
दव्वं खित्तं कालं, भावं चाऽऽसेवए पुरिसो ॥७४॥

आकुट्टिकया- उपेत्य सावद्यकरणोत्साहाऽऽत्मिकया, दर्पप्रमाद-कल्पैर्वा,दर्पो धावनडेपनवल्गनाऽऽदिकः हास्यजनकवचनाऽऽदि-र्वा दर्परूपो वा प्रमादो रात्रौ चाप्रतिलेखनाप्रमार्जनाऽऽद्यनुपयुक्त-ता, कल्प करणे दर्शनाऽऽदिचतुर्विंशतिरूपे सति गीतार्थस्य कृ-तयोगिन उपयुक्तस्य यतनयाऽऽधाकर्माऽऽद्यानरूप ,तैरेतैश्चतुर्भिः प्रतिसेवनारूपैरासेवक पुरुषो निषेवेत प्रतिसेवेत, द्रव्यमाहारा-दिक किञ्चिद्गुरुमप्याददीत,क्षेत्र भिन्नमरुस्थाऽऽदिक स्तोकलो-काऽऽश्रय सार्द्धयोजनद्वय यावद्विद्यमानवनातिप्रदेश यत्र सम्पू-र्णा भिक्षा न लभ्यते,कालो दुर्भिक्षाऽऽदिर्यत्र सर्वथाऽशाऽऽदि न प्रा-प्यते, त प्रतिसेवेत ।अयमाशय'-साधुना महति क्षेत्रे काले च गत्वा श्रेयम्,आकुट्टिकाऽऽदिभिर्हि सर्वं भिन्नमरुस्थाऽऽदिक क्षेत्र दुष्काल च प्रतिसेवमान सयमाऽऽत्मविराधने प्राप्नुयात्। भाव च हृष्टग्ला नत्वाऽऽदिक प्रतिसेवेत, आकुट्टिकाऽऽदिभिरहिताश्चौषधाऽऽदिक भुक्त्वा ग्लानत्वाऽऽदिक भावमुत्पादयेदित्यर्थः। उक्ताः स्वरूपतः प्रतिसेवनाः ।

तासां प्रायश्चित्तमाह-

जं जीयदाणमुत्तं, एयं सव्वं पमायसहियस्स ।
इत्तु च्चिय ठाणंतर--मेग वड्डिज्ज दप्पवओ ॥ ७५ ॥

यज्जीतदान जीतव्यवहारे तपोदानमुक्तम्, एतत्सर्वं प्राय. प्र-मादसहितस्य, प्रमादप्रतिसेवना प्राग्गाथाविवरणव्याख्यातद्-व्याऽऽदिसेवना भणिता। इत एव प्रमादप्रतिसेवकप्रायश्चित्ता-देक स्थानान्तर वर्द्धयेद् दर्पवत । अयमर्थः--प्रमादप्रतिसेवनया भिन्नमासलघुमासगुरुमासचतुर्लघुचतुर्गुरुषड्लघुषड्गुरूणामा-पत्तौ निर्विकृतिकपुरिमार्द्धैकासनाऽऽचामाम्लचतुर्थषष्ठाऽऽष्टम तपो दीयते, दर्पप्रतिसेवाकारिणस्तु भिन्नमासाऽऽदीनामापत्तौ सत्यां स्थानान्तरवृद्धिः कार्या, निर्विकृतिकं मुक्त्वा पुरिमार्द्धा-ऽऽदीनि दशमान्तानि तपांसि देयानीति ॥

आउट्टियाइ ठाणं-तरं व सट्ठाणमेव वा दिज्जा ।
कप्पेण पडिक्कमणं, तदुभयमहवा विणिद्दिट्ठं ॥ ७६ ॥

आकुट्टिकाप्रतिसेवायां साधो' स्थानान्तर वा दद्यात्, दर्प-प्रतिसेवाकारिणः सकाशात् स्थानवृद्ध्यादिक तपःस्थान वित-रेत्, दर्पसेविनो हि भिन्नमासाऽऽद्यापत्तौ पुरिमार्द्धाऽऽदीनि द-शमान्तानि दीयन्ते। अस्य त्वेकासनाऽऽदीनि द्वादशान्तानि दे-यानि। स्वस्थानमेव वा दद्यात्। इहाऽऽपत्तिरूप प्रायश्चित्त स्वस्था-नमुच्यते,यथाऽऽकुट्टिकया पञ्चेन्द्रियवधे मूलम्,अन्यथापि चाऽऽ-कुट्टिकया यत्रापराधे यद्भिन्नमासाऽऽदिकमुक्त, तत्तत्र स्वस्थान, तदेवाऽऽकुट्टिकाप्रतिसेविनो दद्यादित्यर्थः ॥ कल्पेन कल्पप्रतिसेव-नया प्रतिसेवितो प्रतिक्रमण मिथ्यादुष्कृत प्रायश्चित्तम् । अ-थवा-तदुभय आलोचनामिथ्यादुष्कृतोभयरूप प्रायश्चित्त विनि-र्दिष्टम् ।

इद चोक्तस्वरूपं प्रायश्चित्तं परिणामानुरूपे-णैव दद्यादित्याह-

आलोयणकालम्मि वि, संकेसविसोहिभावओ नाउं ।
हीणं वा अहियं वा, तम्मेत्तं वा वि दिज्जाहि ॥७७॥

आलोचनाकालेऽपि कमप्यपराधविशेषं यः सर्वथा न प्रका-शयति कथयति, कथयन्नप्यर्द्धं कथित वा करोति,स सक्लिष्ट-परिणाम इति ज्ञात्वा तस्याधिकमपि दद्यात्, य. पुन सवेगमु-पगतो निन्दागर्हाऽऽदिभिर्विशुद्धपरिणाम., तस्य हीनमपि दद्यात्, य' पुनर्मध्यस्थपरिणामः, तस्य तन्मात्रमेव दद्यात् ।

उक्तमेवार्थं द्रढयन्नाह-

इय दव्वाई बहुए, गुरुसेवाए य बहुतरं दिज्जा ।
हीणतरे हीणतरं, हीणतरे वा वि झोसु त्ति ॥७८॥

इत्यमुना प्रकारेण द्रव्याऽऽदौ द्रव्यक्षेत्रकालभावाऽऽख्ये प्रतिसेविते बहुगुणिते प्रचुरदोषवत्त्वेन सर्वथा वा विपरीतलक्षणया वा बहुदोषे गुरुसेवाया गुरुतराया प्रतिसेवाया कृताया बहुतर प्रा-यश्चित्त दद्यात् । हीनतरेऽल्पदोषे द्रव्याऽऽदिके प्रतिसेविते हीनतरमल्पतर वा प्रायश्चित्त दद्यात् । ततोऽपि हीनतरे हीनतराद् हीनतर यावत् सर्वहीने स्वल्पदोषे द्रव्याऽऽदौ अ-त्यल्पीयस्था सेवायाम । (झोसु त्ति) क्षेपणात् ह्रास कार्यः, सर्वस्तोक तपो देयमित्यर्थः ।

कुत्रापि च सर्वथाऽपि ह्रासः क्रियते,इति प्रतिपाद-यन्नाह-

झोसिज्जइ सुबहुं पि हु, जीएणंऽन्नं तवारिहं वहओ ।
वेयावच्चगरस्स उ, दिज्जइ साणुग्गहतरं वा ॥ ७९ ॥

इह जीतेनाऽऽन्यक गुरुनिर्वितीर्णं षण्मासाऽऽदिक तपो वहतः पञ्चकेष्वपि दिवसेषु गतेष्वन्यच्चातुर्मासिक षाण्मासिक वा त-पोर्ह च समापन्न, ततस्तत् क्षिप्यते सुबहुकमपि ह्रास्यते, सर्वथाऽपि तत्तस्य न दीयते इत्यर्थः । वैयावृत्यकरस्य च सा-नुग्रहतर वा दीयते। कोऽर्थः -यावन्मात्र तपस्तप्यमान. स वैया-वृत्य कर्तुं शक्नोति, तस्य तावन्मात्रमेव तपो दीयते नाधिकम् । एष सप्रपञ्चस्तपोऽर्हप्रायश्चित्तविधि । जीत० ।

तप्प-तप्र-पु० । नदीप्रवाहेण प्लाव्यमाने दूरादानीयमाने काष्ठ-समुदाये आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रज्ञा० । उडुपके, भ० ११ श० १० उ० । विशे० । नं० । आ० चू० ।

तप्पक्खिय-तत्पाक्षिक-त्रि० । तेषां विवक्षितानां संविग्नानां पक्षस्तत्पक्षः, तत्र भवस्तत्पाक्षिकः । व्य० १ उ० । तस्य प्रयोजनेषु सहाये, भ० ३ श० ७ उ० ।

तप्पज्ज-तात्पर्य-न० । तत्परस्य भाव , ष्यञ् । वक्तुरिच्छायाम्, अभिप्राये, तत्परतायां च । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

तप्पडिवक्ख-तत्प्रतिपक्ष-पु० । तद्विरुद्धे,यथा- परिणतप्रतिपक्षा अपरिणताः । नि० चू० १ उ० ।

तप्पडिबद्ध-तत्प्रतिबद्ध--त्रि० । तद्भाविनि, पो० १ विव० ।

तप्पडिरूवगववहार--तत्प्रतिरूपकव्यवहार--पुं० । तेन प्रतिरूपक सदृश तत्प्रतिरूपक, तस्य विविधमवहरण व्यवहारः प्रक्षेप तत्प्रतिरूपकव्यवहारो यद्यत्र घटते व्रीह्यादिघृताऽऽदिषु पलञ्जीवशाऽऽदे प्रक्षेपे, तत्प्रतिरूपेण वशाऽऽदिना व्यवहरणे तत्प्रतिरूपकव्यवहार. । स्थूलादत्ताऽऽदानविरतेश्चतुर्थेऽतिचारे, श्रा० । पञ्चा० । ध० । आव० ।

तप्पढमया–तत्प्रथमता–स्त्री० । तेषां विवक्षितानाम् (भ० ९ श० ३३ उ०) अणुव्रताऽऽदीनां प्रथम तत्प्रथम, तद्भावस्तत्प्रथमता । तस्याम्, उत्त० १ अ० । प्रथमे कल्पे, कल्प० २ क्षण ।

तप्पण–तर्पण–न० । उपकरणे, स० ३० सम० । शक्तौ, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । स्नेहाऽऽदौ शरीरबृंहणे, विपा० १ श्रु० १ अ० । स्नेहद्रव्यविशेषैर्बृंहणे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

तप्पणालोमिय–तर्पणाऽऽलोमित–न० । सक्त्वालोमिते, जलाऽऽयालोमितसक्तौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तप्पमाण–तर्पमाण–त्रि० । क्षरति, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । स० ।

तप्पर–तत्पर–त्रि० । तद्रूपतया वर्तमानेऽन्यस्मिन्, यथा परमाणोरपर परमाणु । आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ० । आसक्ते, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

तप्पागारसंठिय–तप्राकारसंस्थित–त्रि० । अधोमुखसरावाऽऽकारसंस्थिते, भ० ११ श० १० उ० । आ० चू० ।

तप्पुरक्खार–तत्पुरस्कार–पुं० । तस्याऽऽचार्यस्य पुरस्करण पुरस्कार । सर्वकार्येष्वग्रत स्थापने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । तमाचार्यं सर्वकार्येषु पुरस्करोतीति तत्पुरस्कार । आचार्यानुमत्या क्रियाऽनुष्ठायिनि, त्रि० । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

तप्पुरिस–तत्पुरुष–पुं० । द्वितीयाऽऽदिविभक्त्यन्तपदानां स्वनामख्याते समासे, यथा तीर्थे काक इवाऽऽस्ते तीर्थकाक । "ध्वाङ्क्षेणाऽऽक्षेपे ॥२।१।४२॥ इति (पाणि०) सप्तमीतत्पुरुष । अनु० ।

से किं तं तप्पुरिसे ?। तप्पुरिसे अणेगविहे पएणत्ते । तं जहा–तित्थे कागो तित्थकागो, वणे हत्थी वणहत्थी, वणे वराहो वणवराहो, वणे महिसो वणमहिसो, वणे मयूरो वणमयूरो । सेत्तं तप्पुरिसे ॥

तीर्थे काक इवाऽऽस्ते तीर्थकाक । "ध्वाङ्क्षेणाऽऽक्षेपे" ॥ २ । १ । ४२ ॥ इति (पाणि०) सप्तमीतत्पुरुष । शेष स्पष्टम् । अनु० ।

तब्भत्तिय–तद्भक्तिक–त्रि० । तत्र भक्ति. सेवा बहुमानो वा येषा ते तद्भक्तिका । तत्सेवके, भ० ५ श० ७ उ० ।

तब्भवमरण-तद्भवमरण-न० । तस्मै भवाय मनुष्याऽऽदे सतो मनुष्याऽऽदावेव बद्धाऽऽयुषो यन्मरण तत तद्भवमरणम् । इद च नरतिरश्चामेव भवति । बालमरणभेदे, भ० २१ श० १ उ० । स० । स्था० । प्रव० ।

तत्स्वरूपम्-

मोत्तुं अकम्मभूमग–णरतिरिए सुरगणे य णेरइए ।
सेसाणं जीवाणं, तब्भवमरणं तु केसिं च ॥१५॥

(मोत्तु गाहा) मुक्त्वा अपहाय, कान् ?,(अकम्मभूमगणरतिरिए त्ति) सूत्रत्वादकर्मभूमिजाश्च ते देवकुरूत्तरकुर्वादिपूरपन्नतया नरतिर्यञ्चश्च अकर्मभूमिजनरतिर्यञ्च , तान्, तेषां हि तद्भवानन्तर देवेष्वेवोत्पाद , तथा सुरगणांश्च सुरनिकायान् । किमुक्त भवति?–चतुर्निकायवर्तिनोऽपि देवान्, निरयो नरक , तस्मिन् भवा नैरयिका । इहाऽपि चशब्दानुवृत्तेस्तांश्च, मुक्त्वेति सबन्ध । तेषा देवानां च तद्भवानन्तर तिर्यङ्मनुष्येष्वेवोत्पत्ते । शेषाणामेतदुद्धरितानां कर्मभूमिजनरतिरश्चां, जीवानां प्राणिनां तद्भवमरण, तेषामेव पुनस्तत्रोत्पत्तेस्तद्धि यस्मिन् भवे वर्तते जन्तुस्तद्भवयोग्यमेवाऽऽयुर्बद्ध्वा पुनस्तत्क्षयेण म्रियमाणस्य भवति, तुशब्दस्तेषामपि सङ्ख्येयवर्षाऽऽयुषामेवेति विशेषव्यापकः, असङ्ख्येयवर्षाऽऽयुषा हि युगलधार्मिकत्वादकर्मभूमिजानामिव देवेष्वेव उत्पाद , तेषामपि न सर्वेषां, किं तु केषांश्चित् तद्भवोत्पादानुरूपमेवाऽऽयु.कर्मोपचिन्वतामिति गाथार्थ ।

मोत्तूण ओहिमरण, आवी वीआइअं तु तं चेव ।
सेसा मरणा सव्वे, तब्भवमरणे य णायव्वे ॥ १६ ॥

अत्रान्तरे प्रत्यन्तरेषु (मोत्तूण ओहिमरण) इत्यादि गाथा दृश्यते, न चास्या भावार्थ सम्यगवबुध्यते, नापि चूर्णीकृताऽसौ व्याख्याता । उत्त० पाई० ५ अ० ।

तब्भारिय–तद्भार्य–त्रि० । तस्य सोमस्य भार्या इव भार्या अत्यन्तवश्यत्वात्पोषणीयत्वाच्चेति तद्भार्य. । दासे, भ० ३ श० ७ उ० ।

तब्भारिक्क–त्रि० । तद्भारो येषां वोढव्यतयाऽस्ति ते तद्भारिका । दासे, भ० ३ श० ७ उ० ।

तब्भावणाभाविय–तद्भावनाभावित–त्रि० । तस्याऽऽवश्यकस्य भावना अव्यवच्छिन्नपूर्वपूर्वतरसंस्कारस्य तदनुष्ठानरूपतया भावित । तद्भावभावेन परिणताऽऽवश्यकानुष्ठानपरिणामे, अनु० । विपा० । ग० ।

तब्भूम–तद्भौम–त्रि० । तस्यामेव भूमौ भवस्तद्भौम । तद्भूमिवास्तव्यलोकपरिचिते, बृ० १ उ० ।

तम–पुं०–तमस्–न० । तमयति खेदयति जनलोचनानीति तम. । औणाऽऽदिकोऽसुन् । उत्त० १ अ० । "स्तमदामशिरोऽनभ" ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इति प्राकृते पुंस्त्वम । प्रा० १ पाद । अन्धकारे, औ० । आचा० । कृष्णचतुर्दश्या, रजन्यां वा तेजोद्रव्याभावे, बृ० १ उ० । नि० चू० । मोहे, औ० । अज्ञाने, ध० २ अधि० । स्था० । मिथ्याज्ञाने, स्था० ४ ठा० २ उ० । बद्धस्पृष्टनिधत्ते ज्ञानाऽऽवरणीये निकाचिते, आव० ५ अ० । अप्कायपरिणामस्वरूपेऽन्धकारे, स्था० ४ ठा० २ उ० । तमिस्रे, स० । आत्मनो वैरपीडाऽऽदौ, प्रव० ७२ द्वार । द्रव्याभावरूपान्धकारे, षो० १५ विव० । सम्म० । शोके, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा ।

तमण–देशी–चुल्ली, दे० ना० ५ वर्ग २ गाथा ।

तमतम–तमस्तम–पुं० । तमस्तमा सप्तमनरकपृथ्वी, तस्यामुत्पन्ना नारका अपि तमस्तमा , उपचारात् । यद्वा–तमस्तमा विद्यते येषां ते तमस्तमा । "अभ्राऽऽदिभ्य." ॥ ७ । २ । ४६ ॥ इत्यप्रत्यय । सप्तमनरकपृथिवीनारकेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

तमतमग–तमस्तमाग–पुं० । सप्तमपृथ्वीनारके, " तमतमगो अइखिप्प, समत्त लभिय तम्मि बहुगद्ध । मणुयदुगस्सुक्कोस, सवज्जरिसभस्स बधत्ते ॥१६०॥" प० स० ५ द्वार । प्रश्न० ।

तमतमप्पभा–तमस्तमप्रभा–स्त्री० । तमस. प्रभा यस्याः सा । सप्तमनारकपृथिव्याम, अनु० । प्रज्ञा० ।

तमतमा-तमस्तमा-स्त्री० । अतिशयवत्तमस्तद्रूपरूप्ययोगात्तम- स्तमा । सप्तमनरकपृथिव्याम् , अनु० । स्था० ।

तमतिमिर-तमस्तिमिर-न० । अन्धकारे, रात्रौ यदा रजो धूमधू- मिका भवति तदा तमतिमिरं भण्यते । वृ० ४ उ० । विज्ञा- नमन्दताऽल्पत्वे, आ० चू० ५ अ० । नि० चू० ।

तमतिमिरपडल-तमस्तिमिरपटल-न० । तमो विज्ञानमन्दता,य- था पृथ्वीकायाऽऽदीनां तिमिरविज्ञानाल्पता, तथा शेषाणां तम- स्तिमिरनिमित्तभूतं पटलं तमस्तिमिरपटलम् । ज्ञानाऽऽवरणी- याऽऽदिकर्मसङ्घाते,आ० चू० । यद्वा-तमोऽपरिज्ञानं तस्य हेतुभूतं तिमिरपटलं तमस्तिमिरपटलम् । ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मबन्धे, आ० चू० । अथवा-तमोऽनवबोधः,स एव तिमिरं तमस्तिमिरं,तस्य कारणं पटलं तमस्तिमिरपटलम् । अथवा तमोऽपरिज्ञानहेतुः ,स एव बहलस्तिमिरं,तस्य पटलं वर्गः समूहः । अन्ये पुनर्भणन्ति- तमो बद्धं स्पृष्टं निधत्तं ज्ञानाऽऽवरणीयं निकाचितं तिमिरं,तस्य पटलं वृन्दं तमस्तिमिरपटलम् । ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मसंघाते,आ० चू० ५ अ० । यदा तस्यामेव रजन्यां रजःप्रभृतयो मेघदुर्दिनं च भवति, तदा तमस्तिमिरपटलमभिधीयते । यथा तत्रैवान्ध- कारे पुरुषः किञ्चिदपि न पश्यति । अन्धकारसमूहे, वृ० ४ उ० ।

तमतिमिरपडलभूय-तमस्तिमिरपटलभूत-त्रि० । दर्शनाऽऽवर- णीयोदयाद् किञ्चित्पश्यति, नि० चू० ।

तमतिमिरपडलभूओ, पावं चिंतेति दीहसंसारी ।
कण्हाए चउद्दसिए, रात्रो जासइ " ॥

दव्वाभावो य तमं भण्णति, तम्मि चेव रातो जदा रयधू- धूमिगा भवति तदा तमतिमिरं भण्णति, जदा पुण ता चेव रातीए रयादिया मेहदुद्दिणं च भवति, तदा तमतिमिरपडलं भण्णति, सुट्ठु अन्धकारं, णऽत्थ पुरिसो किंचि पासति, एवं उदएण तिव्वतरतिव्वतमेण पुरिसो तमतिमिरपडलभूतो भण्णति, भूतशब्द सादृश्योपमार्थे दृष्टव्य । अहवा-तम एव तिमिरमेव पडलं तमतिमिरपडलं, अन्धकारविशेष इ- त्यर्थः । एतेण उवमा कज्जति, तेण तमतिमिरपडलभूतो, इहापि भूतशब्द उपमार्थे । यथाऽन्धकारेण न किञ्चिदुपल- भ्यते, एवं तीव्रकषायोदयात्र चारित्रगुणः कश्चिदुपलभ्यते । अहवा वि उदयविकारेण य दव्वचक्खिन्दियस्सऽत करणं प- डलं भण्णति, तब्भावे य चक्खुदंसणावरणोदयओ व तिमि- रपडलेहिं पुरिसस्स तमो भवति, न किञ्चित्पश्यतीत्यर्थः । तेण उवमा जस्स कज्जति, सो तमतिमिरपडलभूतो, इहा- पि भूतशब्द उपमार्थे । नि० चू० १० उ० ।

तमतिमिरपडलविद्धंसण-तमस्तिमिरपटलविध्वंसन-त्रि० । तमोऽज्ञानं तदेव तिमिरं तमस्तिमिरम् । अथवा-तमो बद्धं स्पृष्टं निधत्तं ज्ञानाऽऽवरणीयं, निकाचितं तिमिरं, तस्य पटलं वृन्दं तमस्तिमिरपटलं, तद्विध्वंसयति विनाशयतीति तम- स्तिमिरपटलविध्वंसनः । अज्ञाननिराशकर्तरि, ल० । आव० । ध० ।

तमपज्जलण-तमःप्रज्वलन-त्रि० । तमोबलेनाऽज्ञानबलेनाऽन्ध- कारबलेन वा प्रज्वलति दर्पितो भवतीति तमःप्रज्वलनम् । अज्ञानबलेन अन्धकारबलेन वा दृप्ते; स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तमपडल-तमःपटल-न० । ज्ञानाऽऽवरणे, भ० ६ श० ४ उ० । अ- न्धकारसमूहे, जं० ४ अ० ।

तमपडलमोहजालपलिच्छण्ण-तमःपटलमोहजालप्रतिच्छन्न- त्रि० । तम पटलमिव तमःपटलं ज्ञानाऽऽवरणं,मोहो मोहनीयं,त- देव जालं मोहजालं, ताभ्यां प्रतिच्छन्ना आच्छादिता ये ते त- था । ज्ञानाऽऽवरणीयमोहनीयकर्मभ्यामाच्छादितेषु,भ० ६ श० ४ उ० ।

तमप्पभा-तमःप्रभा-स्त्री० । तमसः प्रभा बाहुल्यं यत्र सा तमः- प्रभा । प्रव० १७२ द्वार । तमोमय्या षष्ठ्यां नरकपृथिव्याम्,प्रज्ञा० १ पद । भ० । अनु० ।

तमप्पविट्ठ-तमःप्रविष्ट-त्रि० । तमः प्रविष्ट इव तमःप्रविष्ट । तमःकर्मप्रवेशकर्तरि, भ० ६ श० ४ उ० ।

तमबल-तमोबल-पुं० । तमोऽज्ञानं बलं सामर्थ्यं यस्य सः,तमो- ऽन्धकारं वा तदेव तत्र वा बलं यस्य स तथा । असदाचार- वति, अज्ञानिनि, रात्रिञ्चरे, चौराऽऽदौ पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तमबलपलज्जण-तमोबलप्ररञ्जन-पुं० । तमो मिथ्याज्ञानमन्ध- कारं वा तदेव बलं यत्र । अथवा तमस्युक्तरूपे बले च साम- र्थ्ये प्ररज्यते रतिं करोतीति तमोबलप्ररञ्जनः । तमोबलरक्ते पु- रुषजाते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तमोबलपलज्जन-पुं० । तमोबलेनान्धकारबलेन सञ्चरन् प्रज्व- लते इति तमोबलप्रलज्जनः । प्रकाशचारिणि पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तमरयविद्धंसणणाण-तमोरजोविध्वंसज्ञान-न० । तमोरजसी अज्ञानपातके विध्वंसयति नाशयतीति यत्तत्तमोरजोविध्वंसं, तच्च तद् ज्ञानं च तमोरजोविध्वंसज्ञानम् । अज्ञानपातकनाशके ज्ञाने, ल० ५ अङ्क ।

तमसई-तमस्वती-स्त्री० । तमोऽन्धकारमस्यास्तीति तमस्वती । स्था० ५ ठा० । बहलतमःपटलकलितायां रात्रौ, बृ० १ उ० ।

तमा-तमा-स्त्री० । तमोरूपद्रव्ययुक्तत्वात् तमा इति । अनु० । षष्ठ्यां नरकपृथिव्याम्, स्था० ७ ठा० । अन्धकारयुक्तत्वेन रात्रितुल्यत्वाद्धोदिशि, स्था० १० ठा० । प्रज्ञा० । " सोमा ई- साणा विजया,विमला य तमा य बोधव्वा ।" विशे० । आ०म० ।

तमाड-भ्रमि-धा० । भ्रम-णिच् । " भ्रमेस्तालिअण्टतमाडौ " ॥ ८ । ४ । ३० ॥ इति भ्रमयतेर्ण्यन्तस्य वा 'तमाड' इत्यादेशः । 'तमाडइ' । पक्षे-' भमाडइ ' । भ्रमयति, प्रा० ४ पाद ।

तमाल-तमाल-पुं० । असंख्येयजीवको वलयाऽऽकारवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रज्ञा० । भ० । औ० । रा० ।

तमाललया-तमाललता-स्त्री० । सुनालनन्दनामनगरवास्तव्य- स्य तालध्वजनाम्नो राज्ञो भार्यायाम् , दर्श० १ तत्त्व । पुष्कर- द्वीपार्धे द्वीपे मङ्गलावतीविजये भमरकेतुपितृसमरनन्दपालिता- यां पुरि, दर्श० ३ तत्त्व ।

तमिसंधयार-तमिस्रान्धकार-पुं० । न० । बहुलतमोऽन्धकारे, यत्राऽऽत्माऽपि नोपलभ्यते चक्षुषा केवलमवधिनाऽपि मन्दं मन्दं- मुलूका इवाहि पश्यन्ति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । पिं०

तमिस्स-तमिस्र-न०। अन्धकारे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

तमुक्काय-तमस्काय-पुं०। तमसोऽप्कायपरिणामस्य रूपस्यान्धकारस्य काये प्रचयरूपे तमस्काये। अप्कायपरिणामरूपतम प्रचये, प्रव० २५५ द्वार। स्था०। तमस्कायस्य स्वरूपम्-

जंबुद्दीवाउ असंखेज्ज इमा अरुणवरसमुद्दाओ ।
बायालीससहस्से, जगईउ जलं विलंघेउं ॥ ४१२ ॥
समसेणीए सत्तर, एकवीसाइं जोयणसयाइं ।
उड्ढं तमो तमस्सो, वलयागारो तमुक्काओ ॥ ४१३ ॥
तिरियं वित्थरमाणो, आवरयंतो सुरालयचउक्कं ।
पंचमकप्पेऽरिट्ठ-म्मि पत्थडे चउदिसिं मिलिओ ॥ ४१४॥

जम्बूद्वीपादसंख्येयतमो द्वीपोऽरुणवरनामा तत्परतोऽरुणवरसमुद्र ,तस्माद्विच्छि- न्नातिगत्य द्विचत्वारिंशत्सहस्राणि जग्गत्या उप० ८०, तथैवता समश्रेण्या वृत्तोत्पन्नानि सप्तदश शतानि एकवि- शत्यधिकान्युर्ध्वं, देवलोकान् गच्छतोऽनन्तरमहान्धकारा- त्मकत्वात् तमस्काय उच्छ्रितः । अथ तं -तमस्कायं द्वीपा- दिमिमितमेकप्रदेशिकत्वात् तिर्यग्प्रसरन् मध्ये तमसावरणात् परो- क्षमपि, पञ्चमकल्पे रिष्टपातलमिति प्रस्तटे सौधर्मेशानसन- त्कुमारमाहेन्द्रकल्पचतुष्टयमवोधयतस्ततस्तमस्कायेन(?)... सर्वेषु तमस्कायैरस्मिन् वासितानि देवनामधिष्ठानानि तथा नाना वर्त्मानि प्रविशति मध्यान्तरमुच्छ्रितस्तमस्कायः प्रसृत इति स्थितः । अयं निरुद्धः (?) तमस्कायः सुरालयचतुष्कं सौधर्मेशा- नसनत्कुमारमाहेन्द्राभिधानमावृत्य ब्रह्मलोके अनुक्रमे चतुर्दिक्षु तत्र गतो यावत् ब्रह्मलोकनामके पञ्चमे कल्पे तृतीये ऽरिष्टवि- मानप्रस्तटे चतसृष्वपि दिक्षु मिलित इति ।

अथ तमस्कायस्य संस्थानमाह-

हेट्ठा मल्लगमूल-ट्ठिट्ठिओ उवरिं पंजलोवमं जा ।
कुक्कुडपंजरगाऽऽगा-रसंठिओ सो तमुक्काओ ॥४१५॥

अधस्तादधोभागेन मल्लकमूलसंस्थितसंस्थितो-मल्लक शराव, त- स्य मूलं बुध्नस्तद्वत् स्थितः संस्थान तथा स्थितो व्यवस्थितः, शरावबुध्नाऽऽकार इति भाव । उपरितनाकाशात् कुक्कुटपञ्जरसं- स्थानसंस्थितः, स पूर्वोक्तस्वरूप तमस्कायो भवति,तमसां तमिस्रपुद्गलानां कायो राशिस्तमस्काय इति । स्थापना- [∷]

अथाऽस्य तमस्कायस्य विष्कम्भ परिधिं च प्राऽऽह-

दुविहो से विक्खंभो, संखेज्जो अत्थि तह असंखेज्जो ।
पढमंमि य विक्खंभे, संखेज्जा जोयणसहस्सा ॥ ४१६ ॥
परिहीए से असंखा, दीव विक्खंभपरिग्गहजोएहिं ।
बिइए असंखसहस्सा, नवरमिमं होइ वित्थारो ॥ ४१७ ॥

द्विविधो द्विप्रकार (से त्ति) तस्य तमस्कायस्य विष्कम्भो विस्तरो भवति-संख्येय., तथा असंख्येयश्च । तत्र प्रथमे वि- ष्कम्भे आदित आरभ्य ऊर्ध्वं संख्येययोजनानि यावत्संख्येययो- जनसहस्राः प्रमाणतो भवन्ति । परिधौ परिक्षेपे पुनस्तस्य यो- जनसहस्रा असंख्याताः, अधस्तमस्कायस्य संख्यातयोजनवि- स्तृतत्वेऽप्यसंख्यातद्वीपपरिक्षेपतो बृहत्तरत्वात्परिक्षेपस्यास- ङ्ख्यातयोजनसहस्रे प्रमाणत्वमविरुद्धम् । आन्तरबाह्यपरिक्षेप- विभागस्तु नोक्त,,उभयस्याप्यसंख्यातत्वया तुल्यत्वादिति । तथा द्वितीये विष्कम्भपरिधियोगात्त्वर्थ विष्कम्भेन परिधिना च प्र- त्येकमसंख्यातयोजनसहस्रा भवन्ति, नवरं केवलमिमसंख्या- तयोजनसहस्ररूप च प्रमाण विस्तारे भवति । घल्लकाऽऽकारादू- र्ध्वं यद्वर्ता तमस्कायक्रमेण विस्तरति, तदानीमिदं प्रमाणमव- सेयमिति भावः । अस्य च तमस्कायस्य महत्त्वमित्थमागम- विद्. प्रोद्भवन्ति-यथा यो देवो महर्द्धिको यथा गत्या तिसृ- भिश्चप्पुटिकाभिरेकविंशतिवारान् सकल जम्बूद्वीपमनुपरि- वृत्याऽऽगच्छेत्,स एव देव. तयैव गत्या षड्भिरपि मासैः संख्या- तयोजनविस्तारमेव तमस्कायं व्यतिव्रजेन्नेतरमिति । यदा च क- श्चिद्देव वर्द्देवा. सेवादेवात्कपरस्त्याद्याराऽऽदिभिरपराधमा- पन्ने, तदा बलवद्देवभयात्त्रस्तास्त देवानामपि भूरिभयाऽऽश्रि- त्तत्वकारेन गमनविध,तद्भेतौ तस्मिंस्तमस्काये निलीयत इति । प्रव०२५५ द्वार ।

किमियं भंते ! तमुक्काए त्ति पवुच्चइ-किं पुढवितमुक्काए त्ति पवुच्चइ, आउतमुक्काए त्ति पवुच्चइ ? । गोयमा ! नो पुढवितमुक्काए त्ति पवुच्चइ, आउतमुक्काए त्ति पवुच्चइ । से केणट्ठेणं ? । गोयमा ! पुढविकाए णं अत्थेगइए सुभेए संपकासेइ, अत्थेगइए देसं नो पकासेइ, से तेणट्ठेणं ॥

(किमियमित्यादि) (तमुक्काए त्ति) तमसां तमिस्रपुद्- गलानां कायो राशिस्तमस्काय । स च नियत एवेह स्क- न्धः कश्चिदभिधीयते , स च तादृश पृथ्वीरज स्कन्धो वा स्यादुदकरज स्कन्धो वा, न त्वन्य , तदन्यस्यातादृशत्वादि- ति । पृथिव्युदकविषयसन्देहादाह—(किं पुढवीत्यादि) व्य- क्तम् । (पुढविकाए णमित्यादि) पृथ्वीकायोऽस्त्येक कश्चि- च्छुभो भास्वरो; य किंविध इत्याह-देश विवक्षितक्षेत्र- स्य प्रकाशयति, भास्वरत्वाद् मण्यादिवत् तथाऽस्त्येक पृथि- वीकायो देश पृथिवीकायान्तर प्रकाश्यमपि न प्रकाशयति, अ- भास्वरत्वाद्न्धोपलवद्, नैव पुनरप्काय ,तस्य सर्वस्याप्यप्रका- शकत्वात्, ततश्च तमस्कायस्य सर्वथाप्रकाशकत्वादप्का- यपरिणामतैव । भ० ६ श० ५ उ० ।

अथ न्यायमार्गानुयायिन. संगिरन्ते-ननु पृथिव्यादीनां चतु- र्णां स्कन्धां पर्णवन्तु द्रव्यताम्, तिमिरच्छाययोस्तु द्रव्यतावा- चोयुक्तिर्युक्तिरिक्तैव, तासामनाव एव हि तमश्छाये गदतां स- च्छाये । तथाहि-शशधरदिनकरकरनिकरनिरन्तरप्रसरासमवे सर्वतोऽपि सति तम इति प्रतीयते, यदा तु प्रतिनियतप्रदेशे- नाऽऽतपत्राऽऽदिना प्रतिपक्षस्तेन पुञ्जो यत्र यत्र न प्रयुज्यते, तदा तत्र तत्र छायेति-प्रतीयते. प्रतिबन्धकाभावे तु स्वरूपेणाऽऽलोकः समालोक्यत इत्यालोकाभाव एव तमश्छाये । यदि च-तमो द्रव्य भवेत्, तदा रूपिद्रव्यसंस्पर्शाव्यभिचारात् स्पर्शवद्द्र- व्यस्य च महतः प्रतिघातहेतुत्वात्सरलतरतुङ्गतङ्गत्तरङ्गपरम्प- रोपेतपारावारान्तस्तार इव, प्रथमजलधरधाराधोरणीधौताञ्ज- नगिरिगरीय शृङ्गप्रतिघातिनीव, निर्यन्निर्झरझात्कारिवारिदुर्वा- रशीकराऽऽसारसिच्यमानाऽभिरामारामसहीरुहसमूहप्रतिच्छ- न्द इव च प्रवृत्ते तिमिरभरे सञ्चरत. पुस. प्रतिबन्ध स्या- त् । भूगोलकस्येव चाऽस्यावयवभूतानि खण्डावयविद्रव्या- णि प्रतीयेरन्, एव छायायामपि, इति कथ ते द्रव्ये भवेताम् ?।

अत्राभिदध्महे-तमसस्तावद्भावस्याभावतास्वीकृतिरानुभविकी, आनुमानिकी वा ? । न तावदानुभविकी, यतोऽभावानुभवो

भावान्तरोपलम्भे सत्येव सम्भवी, कुम्भाभावोपलम्भवत् । न च प्रचुरतरतिमिरनिकरपरिकरितापवरकोदरे स्फुरत्तलाऽऽदिमात्रस्याप्युपलम्भः सम्भवति, तत्कथं तदनुभूतिर्भवेत् ? । कथं वा प्रदीपाऽऽदिप्रभाप्राग्भारप्रोज्जृम्भणमन्तरेणास्योपलम्भः ?, कुम्भाऽऽद्यभावो हि तद्भाव एवानुभूयमानो दृष्टः, तत्कथमेष न्यायमुद्राऽतिक्रमो न कृतः स्यात् ? । अथ यो भावो यावता सामग्र्येण गृह्यते तदभावोऽपि तावतैव तेन तदिहाऽऽलोकस्य स्वातन्त्र्येणाऽऽलोकान्तरमन्तरेणैव ग्रहणमालोकिम्, इति तदभावस्याऽपि तर्कि न स्यात् ?, इति चेत् । अहो ! पीतविषस्याप्यमृतोद्गारः, एवं वदता त्वयैव तमसि द्रव्यताव्याहारात् । किमिदमीदृशमिन्द्रजालमिति चेत् ? । इदमीदृशमेवेन्द्रजालमालोक्यताम्—आलोकः किल चक्षुषा संयोगात् गृह्यते, यदि च तदभावस्याऽपि तत्सामग्र्येणैव ग्रहणं स्यात्, तदा तस्याऽपि ग्रहणे चक्षुःसंयोगसद्भावादायाता द्रव्यताऽऽपत्तिः, संयोगस्य गुणत्वेन तद्वृत्तित्वात् । अथासंयुक्तोऽप्ययं प्रेक्ष्यते, तदा कथं यो भावो यावतेत्याद्यं मृष्योद्यं न स्यात् ?, कथं वा चक्षुषः प्राप्यकारिताप्रवादः सुपपादः स्यात् ? । विशेषणविशेष्यभावसंबन्धबन्धुरस्यान्धकारस्य ग्रहणाद्ययमदोष इति चेत्, कतमस्यैव विशेषणम् ?। न शरीरस्य, तदन्यत्राऽपि प्रतिभासनात् । नाऽपि भूतलकलशकुम्भाऽऽदेः, तत एव । तर्हि भवतु नभस इति चेत् । तदशस्यम्; एतस्य तद्विशेषणविशेष्यीभावेन कदाचिदप्रतिभासनात् । तचैतद्भावतास्वाकृतिरानुभविकी भव्या ।

नाऽप्यानुमानिकी, यतः कतमोऽत्र हेतुराख्यायते संख्यावता ?- किं भाववैलक्षण्येन लक्ष्यमाणत्वं, भावविलक्षणसामग्रीसमुत्पाद्यत्वम्, असत्येवाऽऽलोके तत्प्रतिभासनम्, आलोकग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणत्वम्, तिमिरद्रव्योत्पादककारणाभावः, द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तकार्यत्वम्, आलोकविरोधित्वं, भावरूपताप्रसाधकप्रमाणाभावो वा ?, इत्यष्टपक्षी राक्षसीव त्वत्पक्षभक्ष्यभक्षणविचक्षणोपतिष्ठते । तत्र न तावदाद्यः पक्षः क्षेमङ्करः, 'कुम्भोऽयं स्तम्भोऽयम्' इति हि यथा कुम्भाऽऽदयो भावा विधिमुखेन प्रत्यक्षेण प्रेक्ष्यन्ते, तथेदं तम इति तमोऽपि, अभावरूपतायां तस्य प्रतिषेधमुखेन प्रत्ययः प्रादुः ष्यात् । यथा कुम्भोऽत्र नास्तीति । ननु नाशप्रध्वंसाऽऽदिप्रत्यया विधिमुखेनाऽपि प्रवर्तमाना दृश्यन्ते । नैवम्, नाशाऽऽदिशब्दानामेव भावप्रतिषेधाभिधायकत्वात्, अत एव हि कुम्भस्य प्रध्वंस इति सोपपदानामेषा प्रयोगोपपत्तिः । यदि तु तमःप्रभृतिशब्दा अपि तत्समानार्थतामाबिभ्रीरन्, तदानीं कुम्भस्याभाव इतिवदालोकस्य तम इत्यपि प्रोच्येत, न चैवं कश्चिदपि कश्चिदपि प्रवक्ति । अथाऽऽलोकाभावे सङ्केतितस्तमःशब्दो नाभावमात्रे, ततो न तथाव्यपदेश इति चेत् । नैवम्, यदि ह्यन्धकाररूपोऽभावोऽपि विधिमुखेन बोध्येत, तदानीं किमन्यदेतस्य भाववैलक्षण्येन लक्ष्यमाणत्वं स्यात् ?। यतो हेतुसिद्धिर्भवेत् ।

अथ भावविलक्षणसामग्रीसमुत्पाद्यत्वं हेतुः, तथाहि-समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणकलापव्यापाररूपाभावोत्पादिका सामग्री, नैव तमसीयं समगंस्त । तदशस्तम्, यतः किमिदं समवायिकारणनाम्ना त्वमाम्नासीः ?। यत्र कार्यं समवेतमुत्पद्यते तदिति चेत् । तदसम्यक्, समवायस्य निरन्तरबृहद्गोष्ठीषु गौरवार्हत्वात्, तत्प्रसाधकत्वाभिमतस्य 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिप्रत्ययस्याप्रसिद्धेः, 'पटे तन्तवः' इत्यादिरूपस्यास्याऽऽबालगोपालं प्रतीतत्वात्, सिद्धौ वा इह भूतले घटाभाव इत्यभावप्रत्ययेन व्यभिचारात् । संबन्धमात्रपूर्वताप्रसाधने सिद्धसाधनात्, अविष्वग्भावमात्रनिमित्ततया तदङ्गीकारात् । एकान्तैकस्वरूपत्वेन चाऽस्यैकवस्तुसमवायसम्भवे समस्तवस्तुसमवायस्य, विनश्यदेकवस्तुसमवायाभावे समस्तवस्तुसमवायाभावस्य वा प्रसङ्गात् । तत्तदवच्छेदकभेदात् तदुपपत्तौ तस्याऽपि कथञ्चिद्भेदाऽऽपत्तेः, अनेकपुरुषावच्छिन्नपर्वतादेरपि तावत्स्वभावभावेन कथञ्चिद्भेदात् । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपतया चाऽस्याऽऽकाशसामान्यादेरिवाऽन्यवस्तुसमाश्रितत्वमेव भवेत्, न तु कार्यवस्तुसमाश्रितत्वम् । तत्तत्सहकारिकारणकलापोपनिपातप्रभावात् कार्यसमवायस्वीकारोऽपि सन्निकारः, तत्स्वभावप्रभावप्रतिबद्धानां तेषामपि सदा सन्निधानप्रधानत्वात्, तथा चास्तमिता समवायिकारणकिंवदन्ती । तदसत्त्वे किमसमवायिकारणम् ?, समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वं हि तल्लक्षणम्, तदसत्त्वे कथमेतत् स्यात् ? । तथा च तदपेक्षभूतस्य निमित्तकारणस्याऽपि का व्यवस्था ? । सन्तु वा कारणान्यमूनि, तथाऽपि यथाकथञ्चिदालोककलापस्योत्पादः, तथा तमसोऽपि भविष्यति, किमदृष्टविविरचनाभिर्व्यर्थमायासितुं शक्यते ?। किमस्योत्पादकमिति चेत् । आलोकस्य किमिति वाच्यम् ? । तेजोऽणव इति चेत् । अस्याऽपि तमोऽणव एव सन्तु । सिद्धास्तावत् तैजसास्तेऽविवादेन वादिप्रतिवादिनोरिति चेत् । तामसा अपि तद्वदेव किं न सेत्स्यन्ति ?, इति त्यज्यतामाग्रहः ।

असत्येवाऽऽलोके तत्प्रतिभासनमप्यसम्यक्, न हि यस्मिन्नसत्येव यत् प्रतिभासते तत् तदभावमात्रमेव भवति, असत्येव व्यवधाने प्रतिभासमानैर्घटाऽऽदिभिर्व्यभिचारात् । कथं च नैवं प्रतिबन्धकेऽसत्येव समुत्पद्यमानस्य स्फोटस्याऽपि तदभावमात्रता स्यात् ?। अथ स्फोटो दाहकाऽऽत्मकतया स्पार्शनप्रत्यक्षेणाऽनुभूयते, अभावमात्रतायां हि तस्य नेयमौपपत्तिकी स्यात्, तर्हि तमोऽपि शैत्येन तेनैव प्रत्यक्षेण प्रेक्ष्यमाणं कथमभावस्वभावं भवेत् ? ॥

अथाऽऽलोकग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणत्वं हेतुः, तथा च शङ्करन्यायभूषणे-"यो हि भावो यावत्या सामग्र्या गृह्यते, तदभावोऽपि तावत्यैव, इत्यालोकग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणं तमस्तदभाव एवेति ।" तदपि न किञ्चित्, तमोग्रहणसामग्र्या गृह्यमाणस्याऽऽलोकस्यैव तदभावताप्रसक्त्याऽनैकान्तिकत्वात्, घटपटयोर्वा समानग्रहणसामग्रीकतया परस्पराभावत्वप्रसङ्गात् ॥

अथ तिमिरद्रव्योत्पादककारणाभावो हेतुः, तथा च श्रीधरः - तमःपरमाणवः स्पर्शवन्तः, तद्रहिता वा ? । न तावत् स्पर्शवन्तः, स्पर्शवतस्तत्कार्यद्रव्यस्य क्वचिदप्यनुपलम्भात् । अदृष्टव्यापाराभावात् स्पर्शवत्कार्यद्रव्याऽनारम्भका इति चेत् । रूपवन्तो वायुपरमाणवोऽदृष्टव्यापारवैगुण्याद् रूपवत् कार्यं नारभन्ते इति किं न कल्प्येत ?, किं वा न कल्पितमेकजातीयादेव परमाणोरदृष्टोपग्रहाच्चतुर्धा कार्याणि जायन्त इति ?। कार्यैकसमधिगम्याः परमाणवो यथा कार्यमुन्नीयन्ते, न तद्विलक्षणाः, प्रमाणाभावादिति चेत् । एवं तर्हि तामसाः परमाणवोऽप्यस्पर्शवन्तः कल्पनीयाः, तादृशाश्च कथं तमोद्रव्यमारभेरन् ? । अस्पर्शवत्त्वस्य कार्यद्रव्यानारम्भकत्वेनाऽव्यभिचारोपलम्भात् । कार्यदर्शनात् तदनुगुणं कारणं कल्प्यते, न तु कारणवैकल्येन दृष्टकार्यविपर्यासो युज्यत इति चेत् । न वयमन्धकारस्य प्रत्यर्थिनः, किन्त्वारम्भानुपपत्तेः, नीलिममात्रप्रतीतेश्च द्रव्यमिदं न

भवतीति ब्रूम इति । नैतदुपपत्तिपदवीं प्रतिपद्यते, यतः स्पर्शवन्त एव तामसाः परमाणवः प्रोच्यन्ते । यत्पुनस्तत्रोपादेशिस्पर्शवतस्तत्कार्यद्रव्यस्य क्वचिदप्यनुपलम्भादिति । तदसत्यम्, शीतस्पर्शवतस्तमोद्रव्यस्यैव तत्कार्यस्य दर्शनात् । तत्र स्पर्शसद्भावे किं प्रमाणम् ?, इति चेत् । तदभावे किं प्रमाणम् ?, इति वाच्यम्, न हि तत्प्रतिषेधकप्रमाणमन्तरेणाऽस्पर्शवत्त्वात् कार्यद्रव्यानारम्भकत्वस्त्वया प्रसाधयितुं शक्यते, अस्माकं तु तत्सद्भावे प्रमाणाभावेऽपि तावद् न काचित् क्षतिः । न च नास्त्येव तत्, प्रत्यक्षस्यैव सद्भावात् । तथाहि-दिवा दिवाकरकराक्रान्ततपप्रपातोपतप्तवपुषः पथिकास्तमिस्रासन्तमसशैत्यसम्पर्कात् प्रमोदन्ते; न च तापाभावमात्रसूत्रित एव तेषां प्रमोदः, प्रतीतिबाधात्, तन्मात्रनिमित्तो हि घटोऽत्र नास्तीतिवत् तापः सम्प्रति नास्तीति प्रतिषेधमुख एव प्रत्ययः प्रादुः स्यात्; न तु सम्प्रति शीतलीभूतं मे शरीरमिति विधिमुखः, तथात्वे हि तमोऽभावमात्रसूत्रित एवायमालोकप्रत्यय इत्यपि वावदूकस्य वदतो वदन न वक्रीभवेत् । अथान्धकारनिबन्धनत्वे शैत्यस्पर्शप्रत्ययस्य निबिडतरघटितकपाटसम्पुटे गवलकुवलयकलकण्ठीकण्ठकाण्डकृष्णान्धकारैकार्णवीभूते कारागारे क्षिप्तस्य पुंसः सुतरां तत्प्रत्ययो भवेत्, इति चेत् । तापाभावनिमित्ततायामपि सुतरां स किं तत्र न स्यात् ?, तत्रात्यन्तं तापाभावसम्भवात् । तस्माद् मन्दमन्दसमीरलहरिपरिचय एव जलस्पर्शस्येव तत्स्पर्शस्याऽप्यभिव्यक्तौ हेतुः, न चासौ तत्रास्तीति न तत्र तत्प्रतीतिः प्रादुर्भवति । अनुमानतोऽपि तत्र स्पर्शप्रतीतिः, तथाहि-तमः स्पर्शवद्, रूपवत्त्वात्, पृथ्वीवत् । न च रूपवत्त्वमसिद्धम्, अन्धकारः कृष्णोऽयमिति कृष्णाऽऽकारप्रतिभासात् । ननु यदि तिमिरं श्यामरूपपरिकलितकलेवरं स्यात् तदाऽवश्यं स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षेत, कुवलयकोकिलतमालाऽऽदिकृष्णवस्तूनामालोकापेक्षवीक्षणत्वादिति चेत् । तद् नाऽकलङ्कम्, उलूकाऽऽदीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात् । अथाऽस्मदादिप्रतिभासमपेक्ष्यैतदुच्यते । तदपि न पेशलम्, यतो यद्यपि कुवलयाऽऽदिकमालोकमन्तरेणाऽऽलोकयितुं न शक्यतेऽस्मदादिभिः, तथाऽपि तिमिरमालोकयिष्यते; विचित्रत्वाद् भावानाम्, इतरथा पीतावदाताऽऽदयोऽपि तपनीयमुक्ताफलप्रमुखा नालोकनिरपेक्षवीक्षणा इति प्रदीपचन्द्राऽऽदयोऽपि प्रकाशान्तरमपेक्षेरन् । इति सिद्धं तमो रूपवत् । तथा तमो रूपवत्, कार्ष्ण्यवत्त्वेन प्रतीयमानत्वात्, कुवलयवत् । इत्यतोऽपि तत्र रूपवत्त्वसिद्धिः, न खलु रूपं कुम्भाभावाऽऽदि कृष्णाऽऽद्याकारेण कदाचित् प्रतीयमानमालोकितम्, इति रूपवत्त्वसिद्धौ च सिद्धं स्पर्शवत्त्वम् । तथा च तामसपरमाणूनां कार्यद्रव्याऽऽरम्भप्रतिषेधोपन्यस्तमस्पर्शवत्त्वं स्वरूपासिद्धम्, परस्य तामसपरमाणूनामप्रसिद्धेराश्रयासिद्धं चेति स्थितम् ॥

रूपगुणकर्मातिरिक्तकार्यत्वमपि न हेतुः, द्रव्यातिरिक्तकार्यत्वस्य तस्मिन्नसिद्धत्वेनैकदेशासिद्धताऽऽपत्तेः । तत्प्रसिद्धिर्हि तस्याभावरूपतया, अन्यतो वा कुतोऽप्यभिधीयते ? । नाऽऽद्यः पक्षः, परस्पराऽऽश्रयप्रसङ्गात्-अभावरूपतासिद्धौ हि तस्य द्रव्यातिरिक्तकार्यत्वसिद्धिः, ततोऽपि सेति । अन्यहेतुनस्तत्सिद्धौ तु स एवास्तु, किमनेन सिद्धोपस्थायिना कृतकभाक्तिभृत्येनेवं कर्तव्यम् ? ॥

आलोकविरोधित्वमपि न साधीयः, न हि यो यद्विरोधी स तदभावस्वभाव एव, वारिवैश्वानरयोः परस्पराभावमात्रताऽऽपत्तेः । अथ सहानवस्थानलक्षणो विरोधस्तिमिरस्याऽभावस्वभावतासिद्धौ साधनत्वेनाऽभिप्रेतः, न वध्यघातकभावः, स च भावाभावयोरेव सम्भवी, न पुनर्द्वयोरपि भावयोः, तदिहाऽऽलोकानवकाशे सत्येव समुज्जृम्भमाणस्यान्धकारस्याऽभावरूपतैव श्रेयसी, कुम्भाभाववदिति चेत् । तदपविभ्रमम् । अत्राऽपि वध्यघातकभावस्यैव भावात्, घनतरतिमिरपूरिते पथि प्रसर्पता प्रदीपप्रभाप्राग्भारेण तिमिरनिकुरम्बाऽऽडम्बरविडम्बनात् ।

भावरूपताप्रसाधकप्रमाणाभावोऽप्यसिद्धः, तत्प्रसाधकानुमानसद्भावात् । तथाहि-भावरूपं तमः, घनतरनिकरलहरिप्रमुखशब्दैर्व्यपदिश्यमानत्वात्, आलोकवत् । न चाऽसिद्धिः साधनस्य ।

तथाहि-

" रहःसङ्केतस्थो घनतरतमःपुञ्जपिहिते,
वृथोन्मेषं चक्षुर्मुहुरुपदधानः पथि पथि ।
पटत्कारादल्पादपि निभृतसम्प्राप्तरमणी-
भ्रमभ्राम्यद्बाहुर्द्रुमदमिकयोत्ताम्यति युवा ॥ १ ॥
पर्यस्तो दिवसस्तटीमयमटत्यस्ताचलस्यांशुमान्,
सम्प्रत्यङ्कुरितान्धकारनिकरैर्लम्बालका द्यौरभूत् ।
पश्चान्तर्विश वेश्मनः प्रियसखि ! द्वारस्थलीतोरण-
स्तम्भाऽऽलम्बितबाहुवल्लि ! रुदती किं त्वं पथः पश्यसि ? ॥ २ ॥
तिमिरलहरीगुर्वीमुर्वीं करोतु विकस्वरां,
हरतु नितरां निद्रामुद्रां क्षणाद् गुणिनां गणात् ।
तदपि तरणे ! तेजःपुञ्जः प्रियो न ममैष ते,
किमपि तिरयन् ज्योतिश्चक्रं स्वजातिविराजितम् ॥ ३ ॥ "

औपचारिक एवाऽयं तत्र तद्व्यपदेश इति चेत् । नैवम्, एतदभावरूपताप्रसिद्धिं विना घनतराऽऽदिव्यपदेशस्य भावरूपमुख्यार्थबाधाविरहेण तस्यौपचारिकत्वायोगात्, तथात्वेऽपि वा तस्य तमसो भावरूपतैव प्रसिध्यति, न खलु कुम्भाऽऽद्यभावस्तथाप्रकारोपचारगोचरचारितामास्तिघ्नुते । तत्र सादृश्याऽऽद्युपचारकारणाभावात् । तथा-नाभावरूपं तमः, प्रागभावाऽऽद्यस्वभावत्वात्, व्योमवत् । न चाऽयमपि हेतुरसिद्धः । तथाहि-आलोकस्य प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावः, अत्यन्ताभावो वा तमो भवेत् ? । आद्ये-एकस्य, अनेकस्य वाऽयं तत्स्यात् ? । न तावदेकस्याऽऽलोकस्य प्रागभावस्तमः, प्रदीपाऽऽलोकेनेव प्रभाकराऽऽलोकेनाऽपि तस्य निवर्त्यमानत्वात्, यस्य हि यः प्रागभावः स तेनैव निवर्त्यते, यथा पटप्रागभावः पटेनैव । नाप्यनेकस्य, एकेन निवर्त्यमानत्वात्, पटप्रागभाववदेव । न च वाच्यं प्रत्यालोकं स्वस्वनिवर्तनीयस्य तमसो भेदात् प्रदीपाऽऽदिना निवर्तितेऽपि तमोविशेषे पूषाऽऽदिनिवर्तनीयं तमोऽन्तरं तदा तदभावान्न निवर्तते, इत्येकेन निवर्त्यमानत्वादिति हेतुरसिद्ध इति, प्रदीपाऽऽदिनिवर्तिततमसि प्रदेशे दिनकराऽऽदिनिवर्तनीयस्य तमोऽन्तरस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः, सम्प्रतिपन्नवत् । यदि चेद् प्रागभावस्वभावं स्यात्, तदा प्रदीपप्रभाप्रबन्धप्रध्वंसेऽस्योत्पत्तिर्न स्यात्, अनादित्वात् प्रागभावस्य । नाप्यालोकस्य प्रध्वंसाभावस्तमः, निवर्त्यमानत्वात्, तस्यैव प्रागभाववत् । नापीतरेतराभावः, तस्य प्रसृतेऽपि प्रचण्डे मार्तण्डीये तेजसि सद्भावेन तमिस्रायामिव वासरेऽपि तमःप्रतीतिप्रसङ्गात् । नाऽप्यालोकस्यात्यन्ताभावस्तमः,

तस्य स्वकारणकलापोपनिपातकाले समुत्पद्यमानत्वात् । इति पक्षाद्वकेनाऽप्यघटमानत्वात्कानुमानिकमपि तमसोऽभावरूपता- स्वीकृतिः॥ एतत्सकलमपि प्रायेण छायायामपि समानमिति यथा- सम्भव योज्यम्। विशेषतस्त्वेतद्द्रव्यताप्रसिद्धिः परिपाटिप्राप्तस्या- कारादस्माऽऽकराद्ववधारणीया। यत्पुनरवाचि-तमसि सञ्चरतः पुंसः प्रतिघन्ध स्यादित्यादि, तदखिलमालोकेऽपि समानमि- ति स एव प्रतिविधास्यतीति किमतिप्रयत्नेन तत्राऽस्माकम् ?। इति सिद्धे तमस्कायेऽद्रव्ये। (२१) रत्ना० २ परि।

अथ तमस्कायानां संस्थानम्-

तमुक्काए णं भंते ! कहिं समुट्ठिए,कहिं संनिट्ठिए ?। गोय- मा ! जंबुद्दीवस्स दीवस्स बहिया तिरियमसंखेज्जे दीवस- मुद्दे वीईवइत्ता अरुणवरस्स दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयं- ताओ अरुणोदयं समुद्दं बायालीसजोयणसहस्साणि ओ- गाहित्ता उवरिल्लाओ जलंताओ एगपएसियाए सेढीए,तत्थ णं तमुक्काए समुट्ठिए सत्तरस एक्कवीसे जोयणसए उड्ढं उप्पइत्ता तओ पच्छा तिरियं पवित्थरमाणे पवित्थरमाणे सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदे चत्तारि वि कप्पे आवरेत्ता णं उड्ढं पि य णं० जाव बंभलोए कप्पेऽरिट्ठविमाणपत्थडं संपत्ते, एत्थ णं तमुक्काए संनिट्ठिए ॥

(एगपएसियाए त्ति) एक एव, न द्व्यादयः औत्तराधर्य प्रति प्र- देशो यस्यां सा तथा, तया, समभित्तिनेत्यर्थः। न च वाच्यम- एकप्रदेशप्रमाणयेति असंख्यातप्रदेशावगाहस्वभावत्वेन जीवानां तस्यां जीवावगाहाभावप्रसङ्गात् तमस्कायस्य च स्तिबुकाऽऽ- काराप्कायिकजीवाऽऽत्मकत्वात् बाहल्यमानस्य च प्रतिपाद- यिष्यमाणत्वादिति। (एत्थ णं ति) प्रज्ञापकाऽऽलेख्यलिखितस्या- रुणोदसमुद्राऽऽदेरधिकरणतोपदर्शनार्थमुक्तवान् ॥

तमुक्काए णं भंते ! किं संठिए ?। गोयमा ! अहे मल्लग- मूलसंठिए, उप्पिं कुक्कुडगपंजरगसंठिए पण्णत्ते ॥

अथ अधस्तान्मल्लकमूलसंस्थितं शरावबुध्नसंस्थानं सम- जलान्तस्योपरि सप्तदशयोजनशतान्येकविंशत्यधिकानि यावद्- लयसंस्थानत्वात्।

अथ तमस्कायस्य नामान्याह-

तमुक्काए णं भंते ! केवइयं विक्खंभेणं केवइयं परि- क्खेवेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-संखे- ज्जवित्थडे य,असंखेज्जवित्थडे य। तत्थ णं जे से संखेज्जवि- त्थडे, से णं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं असं- खेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते । तत्थ णं जे से असंखेज्जवित्थडे, से णं असंखेज्जाइं जोयणसह- स्साइं विक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खे- वेणं पण्णत्ते ॥ तमुक्काए णं भंते ! के महालए पण्णत्ते ?। गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्व- ब्भंतराए० जाव परिक्खेवेणं पण्णत्ते, देवे णं महिड्ढिए० जाव महाणुभावे इणामेव २ त्ति कट्टु केवलकप्पं जम्बुद्दीवं दीवं ति- हिं अच्छरानिवाएहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं ह- व्वमागच्छेज्जा,से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए० जाव देवगईए वीईवयमाणे० जाव एकाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं छम्मासे वीईवएज्जा, अत्थेगइए तमुक्कायं वीईवएज्जा, अत्थेगइए तमुक्कायं नो वीईवएज्जा, ए महालए णं गोयमा ! तमुक्काए पण्णत्ते । अत्थि णं भंते ! तमुक्काए गेहाइ वा, गेहावणाइ वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं भंते ! तमुक्काए गामाइ वा० जाव संनि- वेसाइ वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे। अत्थि णं भंते ! तमुक्काए उराला बलाहया संसेयं ति वा,संमुच्छंति वा, संवासं ति वा। हंता अत्थि। तं भंते ! किं देवो पकरेइ,असुरो पकरेइ,ना- गो पकरेइ ?। गोयमा ! देवो वि पकरेइ,असुरो वि पकरेइ, नागो वि पकरेइ । अत्थि णं भंते ! तमुक्काए बादरे थ- णियसद्दे बादरविज्जुयाए ?। हंता अत्थि। तं भंते ! किं देवो पकरेइ० ?। तिण्णि वि पकरेइ। अत्थि णं भंते ! तमुक्काए बादरे पुढवीकाए बादरे अगणिकाए ?। णो इणट्ठे, णऽण्णत्थ विग्गहगइसमावन्नेणं। अत्थि णं भंते ! तमुक्काए चंदिमसूरिय- गहगणणक्खत्ततारारूवा ?। णो इणट्ठे समट्ठे,पलिपस्सओ पुण अत्थि। अत्थि णं भंते ! तमुक्काए चंदाभाइ वा, सू- राभाइ वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे, कादूसणिया पुण सा। तमु- क्काए णं भंते ! केरिसए वण्णेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! का- ले कालोभासे गंभीरलोमहरिसजणणे भीमे उत्तासणए परमकिण्हे वण्णेणं पण्णत्ते, देवे वि णं अत्थेगइए जेणं तप्पढमयाए पासित्ता णं खुभाएज्जा, अहे णं अभिसमा- गच्छेज्जा, तओ पच्छा सीहं सीहं तुरियं तुरियं खिप्पा- मेव वीईवएज्जा ॥

(केवइयं विक्खंभेणं ति) विस्तारेण । क्वचिद्- " आयामवि- क्खंभेणं " इति दृश्यते । तत्र चाऽऽयाम उच्चत्वमिति। (संखेज्ज- वित्थडे इत्यादि) संख्यातयोजनविस्तृत ,आदित आरभ्य ऊर्ध्वं संख्येययोजनानि यावत्, ततोऽसंख्यातयोजनविस्तृत उपरि तस्य विस्तारगामित्वेनोक्तत्वात् । (असंखेज्जाइं जोयणसह- स्साइं परिक्खेवेणं ति) संख्यातयोजनविस्तृतत्वेऽपि तम- स्कायस्यासंख्यातद्वीपपरिक्षेपतो बृहत्तरत्वात्परिक्षेपस्या- संख्यातयोजनसहस्रप्रमाणत्वम्, आन्तरबहिः परिक्षेपविभागस्तु नोक्तः, उभयस्याप्यसंख्याततया तुल्यत्वादिति । (देवे णमि- त्यादि) अथ किमैदम्पर्यमिदं देवस्य महर्द्धिकादिविशेषणाभि- त्याह-(०जाव इणामेवेत्यादि) इह यावच्छब्द ऐदम्पर्यार्थे ,यतो देवस्य महर्द्ध्यादिविशेषणानि गमनसामर्थ्यप्रकर्षप्रतिपादना- भिप्रायेणैव प्रतिपादितानि। (इणामेव २ त्ति कट्टु त्ति) इदं गमनमेवमतिशीघ्रत्वाऽऽवेदकचप्पुटिकारूपहस्तव्यापारोपदर्श- नपरम्, अनुस्वारश्रवणं च प्राकृतत्वाद्, द्विर्वचनं च शीघ्रत्वा- तिशयोपदर्शनपरं इति रूपप्रदर्शनार्थं। कृत्वा विधायेति । (के- वलकप्पं ति) केवलज्ञानकल्पं, परिपूर्णमित्यर्थः। वृद्धव्याख्या तु-केवलं संपूर्णः कल्पन इति कल्पः, स्वकार्यकरणसमर्थो वस्तुरूप इति यावत्। केवलश्चाऽसौ कल्पश्चेति केवलकल्प-

स्तम् । (तिहिं अच्छराणिवाएहिं ति) तिसृभिश्चप्पुटिकाभिरित्यर्थः । (तिसत्तक्खुत्तो त्ति) त्रिगुणा: सप्त त्रिसप्त, त्रिसप्तवारान् त्रिसप्तकृत्व , एकविंशतिवारानित्यर्थः । (हव्वं ति) शीघ्रम् (अत्थेगइयमित्यादि) संख्यातयोजनमानं व्यतिव्रजेत्, इतरं तु नेति । (उराला बलाहय त्ति) महान्तो मेघा: (संसेयंति त्ति) संस्वेदनं, सम्मूर्छनं, वर्षणं च (बायरविज्जुयाए त्ति) इह न बादरतेजस्कायिका मन्तव्या:, इहैव तेषां निषेत्स्यमानत्वात्, किं तु देवप्रभावजनिता भास्वराः पुद्गलास्त इति । (णऽण्णत्थ विग्गहगइसमावण्णएणं ति) न इति योऽयं निषेधो बादरपृथिवीतेजसो: सोऽन्यत्र विग्रहगतिसमापन्नात् विग्रहगत्यैव बादरे से भवतः पृथिवी हि बादरा रत्नप्रभाद्यास्वष्टासु पृथिवीषु गिरिविमानेषु च, तेजस्तु मनुजक्षेत्र एवेति, तृतीया चेह पञ्चम्यर्थे प्राकृतत्वादिति । (पभिपरखाओ पुण अत्थि त्ति) परिपार्श्वतः पुनः सन्ति तमस्कायस्य चन्द्रादय इत्यर्थः । (कायूत्ताणिया पुण सा इति) ननु तत्पार्श्वतश्चन्द्रादीनां सद्भावात्तत्प्रभापि तत्राऽस्ति ?, सत्यम्, केवलं कमाग्माग्न दूषयति तमस्कायपरिणामेन परिणमनात्कदूषणा, सैव कदूषणिका । दीर्घता च प्राकृतत्वात्, अत: सत्यप्यस्यावमतीति । (काले त्ति) कृष्ण: (कालोभासे त्ति) कालोऽपि कश्चित् कुतोऽपि कालो नावभासत इत्यत आह-कालावभास: कालदीप्तिः । (गम्भीरलोमहरिसजणणे त्ति) गम्भीरश्चासौ भीषणत्वाद्रोमहर्षजननश्चेति गम्भीररोमहर्षजनन । रोमहर्षजनकत्वे हेतुमाह-(भीमे त्ति)भीम: (उत्तासणए त्ति) उत्कम्पहेतु । निगमयन्नाह-(परमेत्यादि) यत एवमत एवाऽऽह-(देवे वि णमित्यादि) (तप्पढमयाए त्ति) दर्शनप्रथमतायाम् (खुभाएज्ज त्ति) क्षुभ्यतीयात् क्षुभ्येत, (अहे णमित्यादि) अथैनं तमस्कायमभिसमागच्छेत् प्रविशेत्तो भयात् (सीहं सीहं ति) कायगतेरतिवेगेन (तुरियं तुरियं ति) मनोगतेरतिवेगात् (किमुक्तं भवति ?-क्षिप्रमेव (वीईवएज्ज त्ति) व्यतिव्रजेदिति । भ० ६ श० ५ उ० ।

तमुक्कायस्स णं चत्तारि णामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-तमेइ वा, तमुक्काएइ वा, अंधकारेइ वा, महंधकारेइ वा । तमुक्कायस्स णं चत्तारि णामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-लोगंधयारेइ वा, लोगतमसेइ वा, देवंधयारेइ वा, देवतमसेइ वा । तमुक्कायस्स णं चत्तारि णामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-वायफलिहेइ वा, वायफलिहखोभेइ वा, देवारण्णेइ वा, देववूहेइ वा । तमुक्काए णं चत्तारि कप्पे आवरित्ता चिट्ठइ । तं जहा-सोहम्मीसाणं सणंकुमारमाहिंदं ।

(तमुक्कायेत्यादि) सूत्रत्रयं सुगमम् । नवरं तमसोऽप्कायपरिणामस्वरूपस्याऽन्धकारस्य काय: प्रचयस्तमस्कायो, योऽसंख्याततमस्यारुणवरानिधानद्वीपस्य बाह्यवेदिकान्तादरुणोदाख्यं समुद्रं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्योपरितनात् जलान्तादेकप्रादेशिकया श्रेण्या समुत्थित: सप्तदशैकविंशत्यधिकानि योजनशतानि ऊर्ध्वमुत्पत्य ततस्तिर्यक् विस्तृण्वन् सौधर्मादीन् चतुरो देवलोकानावृत्योर्ध्वमपि ब्रह्मलोकस्य रिष्टविमानप्रस्तटं संप्राप्त:, तस्य नामान्येव नामधेयानि तम इति तमोरूपत्वात्, इति रूपप्रदर्शने, वा विकल्पे, तमोमात्ररूपताऽभिधायकान्येतानि चत्वारि नामानि । तथा पराणि चत्वार्येवात्यन्तिकतमोरूपताऽभिधायकानीति लोके अयमेवान्धकारो नान्योऽस्तीत्यत इति लोकान्धकारः, देवानामप्यन्धकारोऽसौ, तच्छरीरप्रभाया अपि तत्राप्रभासनादिति देवान्धकारः । अत एव ते बलवतो भयेन तत्र नश्यन्तीति श्रुतिरिति । तथाऽन्यानि चत्वारि कार्याऽऽश्रयाणि-वातस्य परिहननात् परिघोऽर्गला, परिघ इव परिघो, वातस्य परिघो वातपरिघ:, तथा वातं परिघवत् क्षोभयति हतमार्गं करोतीति वातपरिक्षोभ:, वात एव वा परिघस्तं क्षोभयति यस्य तथा । पाठान्तरेण-वातपरिक्षोभ इति । क्वचिद्देवपरिघो देवपरिक्षोभ इति चाऽऽद्यपदद्वयस्थाने पठ्यते । देवानामरण्यमिव बलवद्भयेन नाशनस्थानत्वाद्य: स देवारण्यमिति । देवानां व्यूह: सागराऽऽदि: सांग्रामिकव्यूह इव दो दुरधिगमत्वात्स देवव्यूह इति । तमस्कायस्वरूपप्रतिपादनार्थेव (तमुक्काए णमित्यादि) सूत्रं गतार्थम् । किं तु सौधर्माऽऽदीनाऽऽवृणोत्यसौ, कुक्कुटपञ्जरसंस्थानसंस्थितस्य तस्य प्रतिपादनात् । उक्तं च-" तमुक्काए णं भंते ! किं संठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! अहे मल्लगमूलसंठिए, उप्पिं कुक्कुडपंजरसंठिए पण्णत्ते" इति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अथ पृथिव्यप्कायपर्यायतां पृथिव्यप्कायौ जीवपुद्गलरूपाविति तत्पर्यायता प्रश्नयन्नाह-

तमुक्कायस्स णं भंते ! कइ नामधेज्जा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तेरस नामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-तमेइ वा, तमुक्काएइ वा, अंधकारेइ वा, महंधकारेइ वा, लोगंधकारेइ वा, लोगतमिस्सेइ वा, देवंधकारेइ वा, देवतमिस्सेइ वा, देवारण्णेइ वा, देववूहेइ वा, देवफलिहेइ वा, देवपडिक्खोभेइ वा, अरुणोदएइ वा समुद्दे । तमुक्काए णं भंते ! किं पुढविपरिणामे, जीवपरिणामे, आउपरिणामे, पोग्गलपरिणामे ? । गोयमा ! नो पुढविपरिणामे, आउपरिणामे वि, जीवपरिणामे वि, पोग्गलपरिणामे वि । तमुक्काए णं भंते ! सव्वे पाणा भूया जीवा सत्ता पुढविकाइयत्ताए० जाव तसकाइयत्ताए उववण्णपुव्वा ? । हंता । गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो, णो चेव णं बादरपुढविकाइयत्ताए, बादरअगणिकाइयत्ताए ॥

(तमेइ वा इत्यादि) तम:, अन्धकाररूपत्वात् इति एतद्, वा विकल्पार्थ:, तमस्काय इति वा, अन्धकारराशिरूपत्वात्, अन्धकारमिति वा, तमोरूपत्वात्, महान्धकारमिति वा; महातमोरूपत्वात्, लोकान्धकारमिति वा, लोकमध्ये तथाविधस्यान्यस्यान्धकारस्याऽभावात्, एवं लोकतमिस्रमिति वा; देवान्धकारमिति वा, देवानामपि तत्रोद्योताभावेनान्धकाराऽऽत्मभावात् । एवं देवतमिस्रमिति वा; देवाऽरण्यमिति वा, बलवद्देवभयान्नश्यतां देवानां तथाविधारण्यमिव शरणभूतत्वात्, देवव्यूह इति वा, देवानां दुर्भेदत्वाद् व्यूह इव चक्राऽऽदिव्यूह इव देवव्यूह:, देवपरिघ इति वा, देवानां भयोत्पादकत्वेन गमनविघातहेतुत्वात्, देवप्रतिक्षोभ इति वा; तत्क्षोभहेतुत्वात्, अरुणोदक इति वा समुद्र: अरुणोदकसमुद्र:, जलविकारत्वादिति । पूर्वं पृथिव्यादेस्तमस्कायशब्दवाच्यता पृष्टा, अथ पृथिव्यप्कायपर्यायतां पृथिव्यप्कायौ जीवपुद्गलरूपाविति तत्पर्यायतां प्रश्नयन्नाह-(तमुक्काए णमिति) बादरवायुवनस्पतय त्रसाश्च तत्रोत्पद्यन्ते; अप्काये तदुत्पत्तिसम्भवाद्, न त्वितरेऽस्वस्थानत्वात् । अत उक्तम्-(णो चेव णं इत्यादि) भ० ६ श० ५ उ० ।

देवास्तमस्कायं कुर्वन्ति-

जाहे णं भंते ! ईसाणे देविंदे देवराया तमुक्कायं काउं कामे भवइ, से कहमिदाणिं पकरेति ? । गोयमा ! ताहे चेव णं ईसाणे देविंदे देवराया अब्भिंतरपरिसाए देवे सद्दावेइ, तए णं ते अब्भिंतरपरिसगा देवा सद्दाविया समाणा, एवं जहेव सकस्स० जाव तए णं ते आभिओगिया देवा सद्दाविया समाणा तमुक्काइए देवे सद्दावेंति । तए णं ते तमुक्कायिया देवा सद्दाविया समाणा तमुक्कायं पकरेंति, एवं खलु गोयमा ! ईसाणे देविंदे देवराया तमुक्कायं पकरेइ । अत्थि णं भंते ! असुरकुमारा देवा तमुक्कायं पकरेंति ? । हंता अत्थि । किंपत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा तमुक्कायं पकरेंति ? । गोयमा ! किड्डारतिपत्तियं वा पडिणीयविमोहणट्ठयाए गुत्तीसंरक्खणहेऊं वा अप्पणो वा सरीरपच्छायणट्ठयाए एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा तमुक्कायं पकरेंति. एवं० जाव वेमाणिया ।

(जाहे ण इत्यादि) (तमुकाए त्ति) तमस्कायकारिणः । (किड्डारतिपत्तियं ति) क्रिडारूपा रतिः । अथवा-क्रीडा च खेलन, रतिश्च निधुवन क्रीडारति', सैव,त एव वा प्रत्यय कारण यत्र तत्क्रीडारतिप्रत्ययम् । (गुत्तीसरक्खणहेऊ त्ति) गोपनीयद्रव्यसरक्षणहेतोर्वेति । भ० १४ श० २ उ० ।

तमुपत्त-तमस्त्व-न० । जात्यन्धतायाम्, अत्यन्ताज्ञानाऽऽवृततायाम, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

तमोकसिय-तमःकाषिक-त्रि० । तमसि काषितु शीलं येषां ते तमःकाषिणः,त एव तमःकाषिकाः । पराविज्ञाताः क्रिया कुर्वन्तु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

तम्ब-ताम्र-न० । ' तंब ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

तम्मण-तन्मनस्-त्रि० । तस्य देवदत्ताऽऽदेस्तस्मिन् घटाऽऽऽदौ मनस्तन्मन । मनोविशेषे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । तस्मिन्नेव मनोविशेषोपयोगरूप यस्य स तथा । तस्मिन् विशेषोपयुक्ते,अनु० । ग० । तद्विषयकद्रव्यमनोयुक्ते, विपा १ श्रु० २ अ० ।

तम्मय-तन्मय-त्रि० । तेषां विवक्षितानामनलानिलतृणवनस्पतिगणानां विकारास्तन्मयाः । तद्विकारेषु,प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तम्मयता -तन्मयता-स्त्री० । तत्परतायाम्, षो० १२ विव० ।

तम्मित्त-तन्मात्र-न०-त्रि० । तदेव तन्मात्रम । मयूरव्यसकाऽऽदित्वात् समास' । तदात्मके, सा मात्रा यस्मिन् । "तस्मिंस्तस्मिंश्च तन्मात्रा, तेन तन्मात्रता स्मृता । तन्मात्राण्यविशेषाणि, अविशेषास्ततो हि ते ॥ १ ॥ न शान्ता नापि घोरास्ते, न मूढाश्चाविशेषिणः । " इत्युक्तेषु साङ्ख्योक्तेषु पञ्चसु शब्दाऽऽदिकरणीभूतेषु भूतेषु, वाच० । पञ्च तन्मात्राणि । तद्यथा-गन्धरसरूपस्पर्शशब्दतन्मात्राऽऽख्यानि, तत्र गन्धतन्मात्रात् पृथिवी गन्धरसरूपस्पर्शवती, रसतन्मात्रादापो रसरूपस्पर्शवत्य., रूपतन्मात्रात्तेजो रूपस्पर्शवत् , स्पर्शतन्मात्राद्वायु. स्पर्शवान् । शब्दतन्मात्रादाकाशं गन्धरसरूपस्पर्शवर्जितमुत्पद्यत इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

तम्मियय-तन्मात्रज-न० । शब्दाऽऽदीनि यानि पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्मसंज्ञानि, तेभ्यो जातमुत्पन्नं तन्मात्रजम । अम्बराऽऽदिषु, स्था० २ ठा० १ उ० ।

तम्मुत्ति-तन्मुक्ति-स्त्री० । तेन विवक्षितेन सङ्गेन मुक्ता सर्वसङ्गेभ्यो विरतिर्मुक्तिस्तन्मुक्ति. । तदुक्तसर्वसङ्गेन विरतौ, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

तम्मेत्त-तन्मात्र-त्रि० । 'तम्मित्त' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

तम्मेयय-तन्मात्रज-न० । ' तम्मियय ' शब्दार्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

तम्मोत्ति-तन्मुक्ति-स्त्री० । 'तम्मुत्ति' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

तम्बिर-न० । देशी-ताम्रस्यार्थे, प्रा० २ पाद ।

तय-तत-न० । 'तत' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तयक्खाय-त्वक्खाद-पुं० । त्वचं बाह्यवल्कं खादतीति त्वक्खादः। त्वग्भक्षके घुणाऽऽदौ, स्था० ४ ठा०१ उ० । त्वक्कल्पाऽसारभोक्तरि, साधौ च । दश० १ अ० ।

तयन्नवत्थुक-तदन्यवस्तुक-पुं० । तस्मात्परोपन्यासाद्वस्तुनोऽन्यदुत्तरभूत वस्तु यस्मिन्नुपन्यासोपनये स तदन्यवस्तुक. । उपन्यासोपनयोदाहरणभेदे, (स्था०) तस्मात्परोपन्यस्ताद्वस्तुनोऽन्यदुत्तरभूतं वस्तु यस्मिन्नुपन्यासोपनये स तदन्यवस्तुकः। यथा जले पतितानि जलचरा इत्युक्ते, एतद्विघटनाय पतनादन्यदुत्तरमाह-यानि पुनः पातयित्वा खादति नयति वा तानि किं भवन्ति, न किञ्चिदित्यर्थ , अयमपि ज्ञापकतया ज्ञातमुक्त., अथवा यथारूढमेव ज्ञातमेव । तथाहि· न जलस्थलपतितानि पत्राणि जलचराऽऽदिसत्त्वा सम्भवन्ति,मनुष्याऽऽद्याश्रितानीव । अयमभिप्राय.-यथा जलाऽऽद्याश्रितत्वाज्जलचराऽऽदितया तानि सम्पद्यन्ते, तथा मनुष्याऽऽद्याश्रिततया मनुष्याऽऽदिभवयूकाऽऽदितयाऽपि सम्पद्यन्ताम्, आश्रितत्वस्याविशेषात्, न च तानि तथाऽभ्युपगम्यन्त इति जलाऽऽदिगतानामपि जलचरत्वाऽऽद्यसम्भव इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । कश्चिदाह-यस्य वादिनोऽन्यो जीवः, अन्यच्च शरीरमिति तस्यान्यशब्दस्याविशिष्टत्वात्तयोरपि तद्वाच्याविशिष्टत्वेनैकत्वप्रसक्त इति तस्य जीवशरीरापेक्षया तदन्यवस्तूपन्यासेन परिहारः कर्तव्य' । कथम् ?। नन्वेवं सति सर्वभावानां परमाणुद्व्यणुकघटपटाऽऽदीनामेकत्वप्रसङ्गः । अन्यः परमाणुरन्यो द्विप्रदेशिक इत्यादिना प्रकारेणाऽन्यशब्दस्याऽविशिष्टत्वात्तेषां तद्वाच्यत्वेनाविशिष्टत्वादिति । तस्मादन्यो जीवोऽन्यच्छरीरमित्येतदेव शोभनमित्येतद् द्रव्यानुयोगे, अनेन चैतयोरप्याक्षेपः,तत्र चरणकरणानुयोगेन मांसभक्षण इत्यादावेव कुग्राहे तदन्यवस्तूपन्यासेन परिहारः । कथम ?। " न हिंस्यात्सर्वाणि भूतानि " इत्येतदेवं विरुध्यत इति । लौकिक तु तस्मिन्नेवोदाहरणे तदन्यवस्तूपन्यासेन परिहारः। " जहा जाणि पुण पडिऊण पाडिऊण कोइ खाइ वा णेइ वा ताणि किं हवति त्ति । " दश० १ अ० ६ उ० ।

तयप्पमाणमित्त-त्वक्प्रमाणमात्र-न० । तिलतुषत्रिभागमात्रे, तच्चाशनस्य घटते । बृ० ६ उ० ।

तयप्पमाणमेत्त–त्वक्प्रमाणमात्र–न० । 'तयप्पमाणमित्तं' शब्दार्थे, बृ० ६ उ० ।

तया–त्वक्–स्त्री० । तृणवनस्पतिकायिकभेदे; स्था० ८ ठा० । वल्कले, जी० ३ प्रति०४ उ० । रा० । बाह्यवल्के, स्था० ४ ठा० १ उ० । "तणुओ तिक्खतुओ, असोणिओ केवल तयालग्गो ।" आव० ५ अ० । त्वगिवासार भोक्तव्यमित्यर्थसूत्रकत्वात् त्वगुच्यते, दशवैकालिकस्य द्रुमपुष्पिकाऽध्ययने, दश० । उक्तं च परममुनिभिः–"चत्तारि घुणा पत्तत्ता । तं जहा–तयक्खाए, छल्लिक्खाए, कट्ठक्खाए, सारक्खाए । एवमेव चत्तारि भिक्खुगा पएणत्ता । तं जहा–तयक्खाए० " इत्यादि । कल्पाऽसारनोकुकर्मभेदमङ्गीकृत्य वज्रसार तपो भवति । दश० १ अ० ।

तयाणंतर–तदनन्तर–न० । तस्मादव्यवहितोत्तरे, रा० ।

तयाणुग–तदनुग–त्रि० । तदनुगन्तरि, " विवरीयपन्नसंभूयं, अन्न उत्त तयाणुगे ।" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

तयासुह–त्वचासुख–पु० । सुखकारिणि, कल्प० ३ क्षण ।

तयामंत–त्वग्वत्–त्रि० । त्वग्विद्यते यस्याऽसौ । विशिष्टत्वक्शालिनि, रा० ।

तयाविस–त्वग्विष–पु० । त्वचि विषं यस्य स त्वग्विषः । प्राकृतत्वात् 'तयाविसो' । दर्वीकरसर्पभेदे, जी० १ प्रति० ।

तयाहार–त्वगाहार–पु० । त्वङ्मात्राऽऽहारकवनस्पतिविशेषे, औ० ।

तर–तर–पु० । तरतीति तरः । स्था० ५ ठा० १ उ० । "ऋवर्णस्यार " ॥ ८ । ४ । २३४ ॥ इति ऋकारान्तस्य ऋवर्णस्यार इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । ततरणकर्तरि, तरशब्दो महाद्योपप्रदर्शने, यथा कृष्णः कृष्णतर इत्यादि । नि० चू० १ उ० ।

शक्–धा० । 'शक सामर्थ्ये, "शकेश्चय-तर-तीर-पाराः" ॥८। ४।८६॥ इति शक्नोतेर्वा 'तर' इत्यादेशः । 'तरइ' । प्रा०४ पाद ।

तरस्–न० । वेगे, बले च । औ० ।

तरंग–तरङ्ग–पु० । तृ-अङ्ग-अच् । वायुना जलस्य सञ्चालनेन विवर्तनोर्ध्वाऽऽदिक्षेपणे, वाच० । कल्लोले; प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अष्ट० । कल्प० । वीचिषु, ज० २ वक्ष० । औ० । ह्रस्वकल्लोले, क० १ श्रु० ८ अ० । औ० ।

तरंगणंदण–तरङ्गनन्दन–पु० । स्वनामख्याते राज्ञि, यस्य गतितरङ्गनामा भार्या, रतितरङ्गिणीनामा दुहिता । दर्श० ३ तत्त्व ।

तरंगमालि [ण्]–तरङ्गमालिन्–पु० । समुद्रे, को० ।

तरंगवई–तरङ्गवती–स्त्री० । स्वनामख्यातायां नायिकायाम्, तरङ्गवतीवक्तव्यताप्रतिबद्धे कथाग्रन्थे, दश० ३ अ० । आ० म० ।

तरग–तरक–त्रि० । तरन्तीति तरन्ति एव तरका । पारगन्तृषु (स्था०)

चत्तारि तरगा पएणत्ता । तं जहा–समुद्दं तरामी एगे समुद्दं तरइ, समुद्दं तरामी एगे गोपयं तरइ, गोपयं तरामी एगे गोपयं तरइ, गोपयं तरामी एगे समुद्दं तरइ ४ । चत्तारि तरगा पएणत्ता । तं जहा–समुद्दं तरित्ता णाममेगे समुद्दे विसीयइ, समुद्दं तरित्ता णाममेगे गोपए विसीयइ, गोपयं तरित्ता एगे० ४ ॥

(चत्तारि तरगेत्यादि) व्यक्तम्, नवरं तरामीति स्वास्त एव तरका, समुद्रं समुद्रवत् दुस्तरं सर्वविरत्यादिकं कार्यं तरामि करोमीत्येवमभ्युपगम्य तत्र समर्थत्वादेकः समुद्रं तरति, तदेव समर्थयतीत्येकः । अन्यस्तु तदभ्युपगम्यासमर्थत्वाद्गोपदं तत्कल्पं देशविरत्यादिकमल्पतमं तरति, निर्वाहयतीति । अन्यस्तु गोपदप्रायमभ्युपगम्य वीर्यातिरेकात्समुद्रप्रायमपि साधयतीति । चतुर्थः प्रतीतः । समुद्रप्रायं कार्यं तरित्वा निर्वाह्य समुद्रप्राये प्रयोजनान्तरे विषीदति, न तं निर्वाहयति, विचित्रत्वात् क्षयोपशमस्येति । एवमन्ये त्रय इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तरच्छ–तरक्ष–पु० । व्याघ्रविशेषे, प्रति० । प्रश्न० । प्रज्ञा० । भ० । स्त्रियां तरच्छी । प्रज्ञा० ११ पद ।

तरण–तरण–न० । लङ्घने सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । निस्तारणे, नि० चू० १ उ० । पारगमने प्र० । नौ च । आ० चू० । तरणं चउव्विहं–णामादिणीहं । णामट्ठवणाओ गयाओ । दव्वतरणे तिण्णि तण्णिज्जति । तं जहा–दव्वतरणं, दव्वतरणं, दव्वतरियव्वं । तत्थ दव्वतरणो तुरिसाऽऽदी, दव्वतरणं उडुवादि, दव्वतरियव्वं णदीसमुद्दसराऽऽदि । एवं भावतरणे जिणवर भावतरओ जीवो, भावतरणं णाणाऽऽदि, भावतरियव्वं संसारो चउविहो । एवं स्तवनमपि तरति । आ० चू० १ अ० ।

तरमट्ट–देशी–प्रयुक्ताक्रे, दे० ना० ५ वर्ग ५ गाथा ।

तरतम–तरतम–त्रि० । न्यूनाधिक्यभावान्विते ऽर्थे, तारतम्येन वर्तमान इति शारीरकभाष्यम् । वाच० । " तरतमजोगजुत्तेहिं जालगवखेहिं भट्टसुमिय भक्कुपइसं पिच्छइ ।" कल्प० ३ क्षण ।

तरमल्लिहायण–तरमल्लिहायन–त्रि० । तरो वेगो, बलं वा । तथा 'मल-मल्ल' धारणे । ततश्च तरो मल्ली धारको वेगाऽऽदिधारको, हायन संवत्सरो वर्तते येषां ते तरमल्लिहायनाः । यौवनवत्सु, औ० । (?)

तरमाण–तरत्–त्रि० । समर्थे, नि० चू० १ उ० । जी० ।

तरलियमइ–तरलितमति–स्त्री० । विसस्थुलबुद्धौ, जी० १ प्रति० ।

तरस–देशी–मांसे, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तरिअव्व–तरितव्य–त्रि० । निवोढव्ये,–"तरिअव्व च पइण्णिआ, मरिअव्वं वा समरे समत्थेण ।" आव० ४ अ० । समुद्रे, दे० ना० ५ वर्ग ७ गाथा ।

तरित्तए–तरीतुम्–अव्य० । लङ्घयितुमित्यर्थे, प्रति०

तरिया–तरिका–स्त्री० । घृतदध्यादेर्विकृतेऽवयवे, " पक्कतयं घयकिट्टी, पक्कोसहि उवरि तरियसप्पि च ।" ध० २ अधि० ।

तरु तरु–पु० । तृ उ गुणः । वाच० । " क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् " ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इह स्वरात्संयुक्तस्यानादेरित्यतोऽनादेरित्यस्याधिकाराल्लुग् न । प्रा० १ पाद । वृक्षे दश० १ अ० ।

तरुण तरुण–त्रि० । जन्मपर्यायेण षोडशवर्षादारभ्य यावत्त्रिंशद्वर्षाणि तावत्तरुणः । व्य० ३ उ० । इत्युक्तलक्षणे प्रवर्द्धमानवयसि, भ० १४ श० १ उ० । सूत्र० । ग० । उत्त० । नूतने, कल्प० ३ क्षण । औ० । 'तरुणदिवायरकरोहिं ।' औ० । विशिष्टवर्णाऽऽदिगुणोपेतेऽभिनवे वस्तुनि, जी० ३ प्रति० २ उ० ।

तरुणग-तरुणक-त्रि० । स्तनन्धये; सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । अभिनवे, भ० १५ श० ।

तरुणदिवाकर-तरुणदिवाकर-पुं० । अभिनवोदिताऽऽदित्ये; आव० ४ अ० । अन्त० ।

तरुणधम्म-तरुणधर्म-त्रि० । अविपक्वपर्याये; नि० चू० १९ उ० । तारुण्ये वर्तमाने, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

तिण्हाऽऽरेण समाणं, होइ पकप्पम्मि तरुणधम्मा उ ।
पंचण्ह दसाकप्पे, जस्स व जो जत्तिओ कालो ॥

व्रतपर्यायमधिकृत्य तिसृणां समानां वर्षाणामारेणार्वाक् वर्तमान प्रकल्पे निशीथाऽध्ययने तरुणधर्मा अविपक्वपर्यायो भवति, पञ्चाना वर्षाणामर्वाक् वर्तमानस्तु (दसाकप्पे त्ति) उपलक्षणत्वाद्दशाकल्पव्यवहाराणां तरुणधर्मा ज्ञातव्यो,यस्य वा सूत्रकृताङ्गाऽऽदे श्रुतस्य, यो यावान् कालो व्यवहाराध्ययने दशमोद्देशके भणित , तस्य तावन्तं कालमसमापयन् तरुणधर्मा भवति । यथा-" कप्पइ चउवालपरियायसमणस्स निग्गंथस्स सूयगड नाम अग उद्दिसित्तए ।" इत्यादि । बृ० १ उ० ।

तरुणपरिकम्म-तरुणपरिकर्म-न० । रोगग्रस्तस्य सततस्तरुणस्य बलविवृद्धिकरणे; व्य० ४ उ० ।

तरुणप्पन्न-तरुणप्रज्ञ-पुं० । खरतरगच्छीये जिनकुशलसूरिशिष्ये; अनेन विक्रमसंवत् १४११ मिते श्रावकप्रतिक्रमणविवरण नाम ग्रन्थो रचित. । जै० इ० ।

तरुणिया-तरुणिका-स्त्री० । अपरिपक्वायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ।

तरुणीपमिकम्म-तरुणीप्रतिकर्म-न० । एतदेकत्रिंशत्तमकलाभेदे, युवतीनां वर्णाऽऽदिवृद्धरूपायां सद्गसत्क्रियायाम्, जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । औ० ।

तरुणीपरिकम्म-तरुणीपरिकर्म-' तरुणीपमिकम्म ' शब्दार्थे, जं० २ वक्ष० ।

तरुतिगिच्छा-तरुचिकित्सा-स्त्री० । वृक्षाणां रोगप्रतीकारलक्षणे एकोनपञ्चाशत्पुरुषकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

तरुपक्खंदोल्लय-तरुपक्षान्दोलक-त्रि० । तरुपक्षे तरुपार्श्वे आत्मानमान्दोलयन्ति ये ते तथा । तरुपक्षान्दोलनात्पातेन मृतेषु, औ० ।

तरुपमण-तरुपतन-न० । पिप्पलवटाऽऽदितरूनारुह्य उत्पत्य पतने, नि० चू० ११ उ० । प्र० ।

तरुपतणट्ठाण-तरुपतनस्थान-न० । यत्र मुमूर्षव एवानशनेन तरुवत्पतितास्तिष्ठन्ति, तरुभ्यो वा यत्र पतन्ति । तथाभूते स्थाने, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० ।

तल-तल-पुं० । हस्ततले, जं० १ वक्ष० । नि० चू० । आ० म० । औ० । पाणिपादानामधोभागे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । त० । हस्ते, स्था० ८ ठा० । च० प्र० । ज्ञा० । औ० । कनूप्रत्ययोऽप्यत्र । आ० म० १ अ० १ खण्ड । मध्यस्वरूपे, स्था० ८ ठा० । अधोभागे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रतिष्ठाने, " उम्मग्गनिमग्गउल्लइतल ।" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । हस्वताले, रा० । ज्ञा० । दशा० । अतिदीर्घे तालाभिधाने वृक्षे; ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । जी० । आ० म० । तालो वृक्षस्तत्र भव तालम् । तालवृक्षफले, व्य० १ उ० । प्रामेदो शय्याया च । दे० ना० ५ वर्ग १६ गाथा ।

तलअएट-भ्रम-धा० । " भ्रमेष्टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-भमाड-तलअण्ट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-पराः " ॥ ८ । ४ । १६१ ॥ इति भ्रमधातो 'तलअण्ट' इत्यादेश । 'तलअण्टइ' । प्रा० ४ पाद । चलने,दिवा०-पर०-सक०-सेट् । भ्राम्यति, अभ्रमीत् । वाच० ।

तलआगत्ती-देशी-कूपे, दे० ना० ५ वर्ग ८ गाथा ।

तलओमा-स्त्री० । गुच्छभेदे ' तेबेरा ' इति गुर्जरदेशे प्रसिद्धम् । प्रज्ञा० १ पद ।

तलजमलजुगलबाहु-तलयमलयुगलबाहु-त्रि० । तलौ तालवृक्षौ तयोर्यमल युगल श्रेणिकयुगल तलयमलयुगल, तद्वत् अतिसरलौ पीवरौ बाहू यस्य स । तालवृक्षसदृशातिसरलपीवरबाहौ, रा० । जी० । तलयमलयुगलपरिघनिभबाहु । तलौ तालवृक्षौ तयोर्यमलं समश्रेणिक यद्युगल द्वय परिघश्चार्गला, तन्निभौ तत्सदृशौ दीर्घसरलपीनत्वाऽऽदिना बाहू यस्य सः । भ० १४ श० १ उ० ।

तलण-तलन-न० । सुकुमारिकाऽऽदेरिव भ्राष्ट्रभर्जने,प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अग्नौ स्नेहेन भर्जने, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

तलताल-तलताल-पुं० । हस्तताले, कल्प० १ क्षण । सू० प्र० । च० प्र० । कल्प० । ज्ञा० । प्र० । हस्तकाशिकयो , कल्प० ४ क्षण । च० प्र० ।

तलपत्त-तालपत्र-न० । तालाभिधानवृक्षपर्णे,ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

तलप्फल-देशी-शाल्याम, दे० ना० ५ वर्ग ७ गाथा ।

तलभंगय-तलभङ्गक-पुं० । बाह्वाभरणविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । औ० ।

तलवत्त-देशी-कर्णाऽऽभरणविशेषे, वराहे च । दे० ना० ५ वर्ग २१ गाथा ।

तलवर-तलवर-त्रि० । परितुष्टनरपतिप्रदत्तपट्टबन्धविभूषिते राजस्थानीये,स्था० ९ ठा० । औ० । पञ्चा० । प्रज्ञा० । भ० । जी० । कल्प० । जं० । रा० । अन्त० । ज्ञा० । अनु० । बृ० ।

तलविंट-तालवृन्त-न० । " वाऽव्ययोत्खातादावदात. " ॥ ८ । १ । ६७ ॥ इत्याकारस्यात्वम । पक्षे-तालविण्टम् । प्रा० १ पाद । ताले करतले वृन्त बन्धनमस्य,तालस्येव वृन्तमस्य वा । व्यजने, वाच० ।

तलवेंट-तालवृन्त-न० । ' तलविंट ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

तलसारिअ-देशी-गालिते, दे० ना० ५ वर्ग ९ गाथा । नालिके, दे० ना० ५ वर्ग ६ गाथा ।

तलाअ-तडाग-पुं० । " डो लः " ॥ ८ । १ । २०२ ॥ इति डस्य लः । प्रा० १ पाद । पुरुषाऽऽदिकृते जलाऽऽश्रयविशेषे, प्रश्न० ४ संव० द्वार । प्रज्ञा० । औ० । अनु० । आ० म० । आचा० । आव० । रा० ।

तलाग-तमाग-पुं० । ' तलाअ ' शब्दार्थे, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

तलार-देशी-नगररक्षके, दे० ना० ५ वर्ग ३ गाथा ।

तलिण-तलिन-न० । प्रतले, औ० ।

तलिम-तल्प-न० । शयनीये, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । कुट्टिमे, शय्यायाम्, गृहोपरिभूम्याम्, वासभवने च । दे० ना० ५ वर्ग २० गाथा ।

तलिमा–तलिमा–स्त्री० । तूर्यवाद्यभेदे, न० । आ० म० ।

तलिय–तलित–त्रि० । स्नेहपक्के, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । नि० चू० ।

तलिया–तलिका–स्त्री० । उपानहि, बृ० ।

तलियाउ रत्तिगमणे, कप्पइ तेणे य सावए असहू ।
पुमगा विचवरीए, बद्धी पुण चिन्धसंघट्टा ॥

तलिकाः क्रमणिका, ताश्च रात्रौ गमने कण्टकरक्षणार्थं पादेषु बध्यन्ते, सार्थवशाद्वा पन्थानं मुक्त्वा तत्पथेन गच्छतां स्तेनभयेन, श्वापदभयेन च त्वरितं गम्यमाने दिवाऽपि बध्यन्ते, असहिष्णुः सुकुमारपादः, स कण्टकसंरक्षणार्थं क्रमणिकाः पादयोर्बध्नाति । ताश्च प्रथममेकतलिका, तदप्राप्तौ यावच्चतुस्तलिका अपि गृह्यन्ते । पुटकानि खल्लकानि, तानि शीतेन पादयोर्विचर्चिकासु विपादिकासु स्फुटतीषु बध्यन्ते । वध्री पुनस्तलिकाऽऽदीनां चिह्नानां त्रुटितानां सङ्घटनं तदर्थं गृह्यते। बृ० १ उ० । ध० । व्य० । नि० चू० । ओघ० ।

तलुण–तरुण–त्रि० । प्रत्यग्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । प्रवर्द्धमानवयसि. आ० म० १ अ० २ खण्ड । रा० ।

तल्ल–देशी-पल्वले, वप्राऽऽख्ये तृणे, शय्यायां च । दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।

तल्लअ–तल्लज–पु० । तृणविशेषे, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार।

तल्लक–पु० । सुराविशेषे, ज० २ वक्ष० ।

तल्लम–देशी-शय्याम, दे० ना० ५ वर्ग २ गाथा ।

तल्लिच्छ–देशी-तत्परे, दे० ना० ५ वर्ग ३ गाथा ।

तल्लेस–तल्लेश्य–त्रि० । तत्रैव लेश्या शुभपरिणामरूपा यस्य सः । ग० २ अधि० । अनु० । लेश्या हि कृष्णाऽऽदिद्रव्यसाचिव्यजनित आत्मपरिणामः । तद्विषयलेश्यायुक्ते,विपा० १ श्रु० २ अ० ।

तव–पुं० । तपस्–न० । "स्नमदामशिरोऽनभः" ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इति प्राकृते पुंस्त्वम् । प्रा० १ पाद । तप्यतेऽनेनेति तपः । तापयति अष्टप्रकारं कर्मेति तपः, तेरौणाऽऽदिकोऽसुप्रत्ययः। आ० म० १ अ० २ खण्ड । तापयति कर्म दहतीति तपः । पञ्चा० १६ विव० । स० । ताप्यन्ते रसाऽऽदिधातवः कर्माणि वा अनेनेति तपः । ध० ३ अधि० । आ० म० । रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राण्यनेन तप्यन्ते, कर्माणि वाऽशुभानीत्यतस्तपोनामनिरुक्तम् । स्था० ५ ठा० १ उ० । चतुर्थाऽऽदिषण्मासान्ते (स्था० ६ ठा०) अनशनाऽऽदौ, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । आव० । दश० । सूत्र० । नं० । रा० । संथा० । दश० । प्रव० । भद्रमहाभद्रप्रतिमासु, उत्त० ३० अ० ।

तवोनिक्षेपः–

निक्खेवो उ तवम्मी,चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमओ,नोआगमतो य सो तिविहो ॥४३॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य पचतवमाई ।
भावम्मि होइ दुविहो, बज्झो अब्भितरो चेव ॥४४॥
मग्गगईणं दुण्ह वि, पुव्वुद्दिट्ठो चउक्कनिक्खेवो ।
पगयं तु भावमग्गे, सिद्धिगईए उ नायव्वं ॥४५॥
दुविहतवो मग्गइ वा, निज्जइ वा जम्ह एत्थ अज्झयणे ।
तम्हा एयऽज्झयणं, तवमग्गगइ त्ति नायव्वं ॥४६॥

गाथाचतुष्टयं प्राग्वत्, नवरं (पंचतवमाइ त्ति) पञ्चतपः पञ्चाग्नितपो यत्र चतसृष्वपि दिक्षु चत्वारोऽग्नयः, पञ्चमश्च तपन । तल्लोके प्रसिद्धमादिशब्दाल्लोकप्रतीतमन्यदपि बृहत्तपःप्रभृति तपो गृह्यते, द्रव्यत्वं चास्याज्ञानमलमलिनत्वेन तथाविधशुद्ध्यनङ्गत्वात्, तथाभावे प्रक्रमात्तपो बाह्यमाभ्यन्तरं चाऽत्रैव वक्ष्यमाणस्वरूप, तथा (पुव्वुद्दिट्ठो त्ति) पूर्वत्र मोक्षमार्गगतिनामकेऽध्ययने उद्दिष्टः कथितः पूर्वोद्दिष्टः (भावमग्ग त्ति) शुद्धत्वयाद्भावमार्गेण मुक्तिपथेन तपोरूपेण ज्ञानदर्शनचारित्राविनाभावित्वाद्भावतपसः । उत्त० पाइ० ३० अ० ।

नामनिरुक्तिमाह–

जहा उ पावयं कम्मं, रागदोससमज्जियं ।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भिक्षुस्तपसा रागद्वेषसमार्जितं रागद्वेषाभ्यामुपार्जितं कर्म क्षपयति,तुशब्दः पादपूरणे । तं तपोमार्गम, एकाग्रमनाः सावधानचित्तः सन् त्वं शृणु–हे जम्बूस्वामिन् ! अहं वदामीति सम्बन्धः, अनाश्रवेण किल कर्मक्षयः क्रियते ॥१॥

पाणिवहमुसावाए–अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ ।
राईभोयणविरओ, जीवो होइ अणासओ ॥ २ ॥

हे शिष्य ! ईदृशो जीवो निराश्रवो भवति, कीदृशः?,प्राणिवधमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहाद्विरतो रहितः, पुना रात्रिभोजनविरतः, एतादृशोऽनाश्रवो भवति ॥ २ ॥

पुनरनाश्रवो यथा भवति तमाह–

पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ ।
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो ॥ ३ ॥

कीदृशो?,जीवः-पञ्चभिः समितिभिः समितः सहितः पञ्चसमितः, पुनस्तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तः,पुनरकषायः कषायरहितः पुनर्जितेन्द्रियः वशीकृतेन्द्रियः, पुनरगारवः ऋद्धिरससाताऽऽदिगर्वरहितः,पुनर्निःशल्यः मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यैस्त्रिभी रहितः एतादृशोऽनाश्रवो भवति ॥ ३ ॥

एवंविधोऽनाश्रवश्च यथा क्षपयति, तथा वदति–

एएसिं तु विवच्चासे, रागदोससमज्जियं ।
खवेइ जं जहा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥ ४ ॥

हे शिष्य ! यथा येन प्रकारेण भिक्षुः साधुरेतेषां पूर्वोक्तानां प्राणातिपादमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहरात्रिभोजनविरतिलक्षणानां व्रतानां तथा समितिगुप्त्याद्रिलक्षणानामनाश्रवकारणानां विपर्यासे वैपरीत्ये प्राणिवधमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहरात्रिभोजनसमित्यभावगुप्त्यभावसेवने सति रागद्वेषाभ्यां समर्जितं सञ्चितं पापकर्म क्षपयति, तं प्रकारमेकाग्रमनाः एकचित्तः सन् त्वं शृणु ॥ ४ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह–

जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥ ५ ॥

यथा महातडाकस्य महाजलाऽऽश्रयस्य जलाऽऽगमे पानीयाऽऽगमनमार्गे सन्निरुद्धे सम्यक्प्रकारेण संवृते सति (उस्सिं-

णाए त्ति) उत्सिञ्चनया ऊर्ध्वं अरघट्टाऽऽदिना कर्षणाऽऽकर्षणया, तपनेन रविकिरणाऽऽदिना संतापेन क्रमेण शोषणा जलस्य शोषणं भवेद्, नवीनजलाऽऽगमनमार्गो निरुध्यते, पूर्वस्थजलं च निष्काश्यते, जलहृदो रिक्तः स्यात्, इति भाव ॥५॥

अथ दार्ष्टान्तिकमाह-

एवं तु संजयस्साऽवि, पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥ ६ ॥

एवममुना प्रकारेण, पापकर्मनिराश्रवे सति पापकर्मणां प्राणिवधाऽऽश्रवाणां निरोधे सति, संयतस्यापि साधोरपि, तपसा द्वादशविधेन, भवकोटिसञ्चितं कर्म निर्जीर्यते, आधिक्येन क्षयं नीयते । अत्र कोटीग्रहणं बहुत्वोपलक्षणं, कोटीनियमस्य असम्भवात् ॥ ६ ॥ उत्त० ३० अ० ।

तप ६ आभ्यन्तरं, ६ बाह्यम्-" दुविहे तवे पण्णत्ते । तं जहा-बाहिरिए य, अब्भिंतरिए य । से किं तं बाहिरए तवे ? । बाहिरिए तवे छव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-' अणसण, ऊणोयरिया, भिक्खायरिया रसपरिच्चाओ । कायकिलेसो, पडिसंलीणया ।' भ० २५ श० ७ उ० । ध० । औ० । दशा० । स० । आ० म० । स्था० । पञ्चा० । आ० चू० । आचा० । न० । उत्त० । जीत० । (अनशनाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने "तेण तवेण तेएण एगाइन्न कूमाइए ।" तपोजन्य तेजस्तप एव, तेन तेजोलेश्यया । भ० १५ श० ।

दुःखहेतुत्वात्तपो न कार्यमिति केषाञ्चिन्मतनिरासः । वैराग्ययुक्तेन तपो विधेयमतो वैराग्याष्टकानन्तरं तपोऽष्टकमारभ्यते । तत्रापि परमतमाशङ्कमान आह-

दुःखाऽऽत्मकं तपः केचि-न्मन्यन्ते तन्न युक्तिमत् ।
कर्मोदयस्वरूपत्वा-द्बलीवर्दाऽऽदिदुःखवत् ॥ १ ॥

दुःखमसुखमात्मा स्वभावो यस्य तद् दुःखाऽऽत्मकं, किं तत् ?, तपोऽनशनाऽऽदिरूपमिति कृत्वा, केचिदनधिगतपारगताऽऽगमगर्भार्थाः, मन्यन्ते अभ्युपगच्छन्ति । तदिति तपो न नैव, युक्तिमद् उपपत्त्या सङ्गतं, मोक्षाङ्गं तप एव न सम्भवतीति यावत् । अथ दुःखाऽऽत्मकमपि सत्कस्मान्न मोक्षाङ्गमित्याह-कर्मोदयस्वरूपत्वादिति । कर्मोदयोऽसातवेदनीयाऽऽदिकर्मविपाकः स्वरूपं स्वभावो यस्य तत्तथा तद्भावस्तत्त्वं तस्मात् । तथाहि-जघन्यानशनाऽऽदिषु क्षुत्पिपासाऽऽदयः परिषहा, ते च वेदनीयकर्मोदयरूपाद्या आगमे श्रूयन्ते, इति वेदनीयकर्मोदयाऽऽत्मकमनशनाऽऽदिकर्मोदयस्वरूपत्वाच्च न मोक्षाङ्गं तत्किञ्चिदित्याह-बलीवर्दाऽऽदिदुःखवत्-गवादिगतासातमिव । प्रयोगश्चैवम् यत्कर्मोदयरूपं, न तन्मोक्षाङ्गं, यथा गवादिदुःखं, कर्मोदयस्वरूपं च तप, तस्मान्न मोक्षाङ्गमिति स्थितम् । अयं च श्लोकार्थ इमां पञ्चवस्तुकगाथामुपजीव्य मयाऽभिहितः-" एएण जंपि केइ बोऽणसणाई दुह त्ति मोक्खंग । कम्मविवागत्तणओ, भणति तयं पि पडिसिद्धं ॥ १ ॥ ' इति ।१।

अथ दुःखरूपस्यापि तपसो मुक्तिमत्त्वाभ्युपगमे पर एव प्रसङ्गमाह-

सर्व एव च दुःख्येवं, तपस्वी सम्प्रसज्यते ।
विशिष्टस्तद्विशेषेण, सुधनेन धनी यथा ॥ २ ॥

सर्व एव निरवशेष एव यः कश्चिद् दुःखी दुःखवान्, चशब्दो दूषणान्तरसमुच्चये, एवं दुःखाऽऽत्मकस्याऽपि तपसो युक्तिमत्त्वाभ्युपगमे सति, स तपस्वी तपोयुक्तः, सम्प्रसज्यते प्राप्नोति, अनशनाऽऽदिषु अन्यः ऽन्याध्यादिषु अन्य च दुःखत्वाविशेषात्, दुःखाऽऽत्मकस्य तपसोऽभ्युपगमे च दुःखैव तपस्त्वेनाभ्युपगमादिति भाव । तथा विशिष्टः प्रधानतरः तपस्वी प्रसज्यते इति प्रक्रमः । केनेत्याह-तद्विशेषेण हेतुना । क इव केनेत्याह-सुधनेन प्रचुरधनेन, धनी महाधनः, यथा येन प्रकारेणेति ॥ २ ॥

अथ सर्व एव दुःखी तपस्वी प्रसज्यतां, को दोषः ?, आह-

महातपस्विनश्चैवं, त्वन्नीत्या नारकाऽऽदयः ।
शमसौख्यप्रधानत्वाद्, योगिनस्त्वतपस्विनः ॥ ३ ॥

महातपस्विनो विशिष्टतपोधनाः, प्रसज्यन्ते इति गम्यते, चकारो दोषान्तरसमुच्चये, एवमुक्तप्रकारेण, त्वन्नीत्या त्वदभिप्रायेण, दुःखी तपस्वी अभ्युपगमलक्षणेनेति भावः । नारकाऽऽदयो नैरयिकाऽऽदय, तेषां महादुःखितत्वात्, आदिशब्दान्महावेदनाऽभिभूततिर्यगादेः परिग्रहः । शमः स एव सौख्यं शमसौख्यम् । यदाह-"तणसंथारनिसण्णो, वि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो । जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि ? ' ॥१॥ शमसौख्यं प्रधानं येषां ते, तेन वा प्रधाना ये ते तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तस्माच्छमसौख्यप्रधानत्वात्, दुःखितत्वाभावादित्यर्थः । योगिनः समाधिमन्तः, तुशब्दः पुनरर्थः अतपस्विनः अतपोधनाः दुःखाऽऽत्मकतपसोऽभावादिति भावना त्वन्नीत्या प्रसज्यन्त इति प्रकृतमेवेति ॥ ३ ॥

पर एव स्वपक्षं निगमयन्नाह-

युक्त्यागमबहिर्भूत-मतस्त्याज्यमिदं बुधैः ।
अशस्तध्यानजननात्, प्राय आत्माऽपकारकम् ॥ ४ ॥

युक्तिश्चोपपत्तिः, आगमश्चाऽऽप्तवचनं ताभ्यां बहिर्भूतं तदननुपाति तद्बाधितं युक्त्यागमबहिर्भूतं, तत्र युक्तिबहिर्भूतता प्राग्दर्शिता । आगमबहिर्भूतता चैवमवगन्तव्या-"भाविय जिणवयणाणं, ममत्तरहियाण नऽत्थि उ विसेसो, अप्पाणम्मि परम्मि य, तो वज्जे पीडमुभओ वि" ॥१॥ अनशनाऽऽदि तु स्वकायपीडा प्रतीतैवेति । अत इति, यस्मादनन्तरोदितदूषणोपेतमत एतस्माद्धेतोः त्याज्यं त्यागार्हमिदमनशनाऽऽदि दुःखाऽऽत्मकं तपः । कैरित्याह-बुधैर्युक्त्यागमहृदयज्ञैः, न तैलोकरूढ्या प्रवर्त्तितव्यं भवति बुधत्वाभावप्रसङ्गादिति हृदयम् । तथाऽऽत्माऽपकारकत्वादनर्थं नव्यं नाम, कुत ?, अशस्तध्यानजननात् अप्रशस्ताध्यवसायोत्पादकत्वात्, प्रायो बाहुल्येन, उत्पद्यते हि भोजनाऽऽद्यभावे अप्रशस्तं ध्यानम् । यदाह-"आहारवर्जिते देहे, धातुक्षोभः प्रजायते । तत्र चाऽधिकमन्त्योऽपि, चित्तभ्रंशं समश्नुते ॥ १ ॥ " इह च प्रायोग्रहणात् श्रीमन्महावीराऽऽदिभिर्व्यभिचारपरिहारो दर्शित इति, अतोऽपि त्याज्यमेवेदं बुधैरिति प्रक्रम इति पूर्वपक्षः ॥ ४ ॥

अत्र सूरिरुत्तरमाह-

मनइन्द्रिययोगाना-महानिश्चोदिता जिनैः ।
यतोऽत्र तत्कथं न्वस्य, युक्ता स्याद् दुःखरूपता ? ॥५॥

पूर्वपक्षवादिना यदुक्तम् दुःखाऽऽत्मकं तपो न युक्तिमत् कर्मोदयस्वरूपत्वात्, तत्र दुःखाऽऽत्मकमिति विशेषणं तपसो न सिद्धमिति तावद्दर्शयन्नाह कथम् ?, मनश्च चित्तमिन्द्रियाणि च करणानि, योगाश्च प्रत्युपेक्षणाऽऽदयः संयमव्यापारा मनइन्द्रिययोगाः, तेषामहानिरनाबाधना, चोदिता अभिहिता । अथवा-चशब्दः समुच्चये, तेनानुपहतता च, उदिता उक्ता, जिनैस्तीर्थकरैः, यतो यस्मात्कारणात्, अत्र तपसि । यदाह-

" सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति " ॥ १ ॥

तथा—

" ता जइ न देहपीला, न यावि चुयमससोणियत्त तु ।
जइ धम्मज्झाणवुड्ढी, तहा इम होइ कायव्व ॥ २ ॥ "

तदिति तस्मात्कारणात्,कथं केन प्रकारेण ?,न कथञ्चिदित्यर्थः । नु अपि वितर्के, अस्य तपसः ,युक्ता उपपन्ना, स्याद्भवेत, दुःख-रूपता असुखस्वभावता । तदेवं दुःखाऽऽत्मकत्वं तपसोऽसिद्धं, तदसिद्धावयुक्तमेतदप्यसिद्धमित्युक्तमिति ॥ ५ ॥

ननु देहपीडाकरत्वेनाऽनशनाऽऽदीनां दुःखरूपत्व-
मनुभूयमानमपि कथमसिद्धमिति व्यपदिश्य-
त इत्याह-

याऽपि चानशनाऽऽदिभ्यः, कायपीडा मनाक् क्वचित् ।
व्याधिक्रियासमा साऽपि, नेष्टसिद्ध्याऽत्र बाधिनी ॥६॥

(याऽपीति)अनशनाऽऽदिभ्य उक्तन्यायेन तावद् देहपीडा न भव-त्येव, याऽपि चानशनाऽऽदिभ्य उपवास.ऽऽदिभ्य , आदिशब्दा-दूनोदरताऽऽदे नकाशात् , कायपीडा शरीरबाधना, न तु मनःपीडा, मनाक् स्वल्पा, क्वचिद्देशे काले वा, न पुनः सर्वत्र सर्वदा सा समवति । उक्तन्यायप्रवृत्तस्य साऽपीति इह दृश्यते नासावपि न बाधनी, न वा बाधिका, न मनसो दुःखदा । किं-भित्यत आह-इष्टसिद्ध्या वाञ्छितार्थसाधनात्, अत्र प्रव-चने, किंविधाऽसावित्याह-व्याधिक्रियासमा रोगचिकित्सा-तुल्या । यथा हि रोगचिकित्साया मनाक् देहस्य पीडा सत्यपि न बाधिका, आरोग्यसिद्धेः , एवं तपस्यपि देहपीडाभावाऽऽ-रोग्यसिद्धेर्न भावतो बाधिकेति भावनेति ॥ ६ ॥

इष्टार्थसिद्धौ देहपीडाया अदुःखरूपतां दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह-

दृष्टा चेष्टार्थसंसिद्धौ, कायपीडा ह्यदुःखदा ।
रत्नाऽऽदिवणिगादीनां, तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥ ७ ॥

न केवलमस्माभिरेवेहोपन्यस्ता, दृष्टा च लोके अवलो-किता, इष्टार्थसिद्धावभिप्रेतप्रयोजनप्राप्तौ सत्यां, कायपीडा देहबाधा, हिशब्दः स्फुटार्थः , अदुःखदा न पीडाकारिणी, केषामित्याह-रत्नानि मरकताऽऽदीनि, आदिग्रहणात् वस्त्रसुव-र्णाऽऽदीनां तानि तथा तेषां, वणिजः वाणिजकाः रत्नाऽऽ-दिवणिजः,त आदिर्येषां कृषीवलाऽऽदीनां ते तथा तेषां, रत्नाऽऽ-दिवणिगादीनाम् । तत किमित्याह-तेषामिव वणिगादीनामिव तद्वत्, अत्रापि अनशनाऽऽदितपोविषयेऽपि,भाव्यतां निपुणधिया पर्यालोच्यताम् । तथाहि-रत्नसुवर्णवसनाऽऽदिवणिक्कृषीवला-ऽऽदीनां समीहितार्थसिद्धिबद्धनिश्चयानाम् अपारपारावारा-घनारकान्तारनिस्तरणधरणीकर्षणाऽऽदिविविधव्यापारपराय-णानां क्षुत्पिपासा-श्रमाऽऽदिजनितदेहपीडा न मनोविधुरताऽऽधा-यिनी,एवं साधूनामपारसंसारसागरमचिरादुत्तितीर्षूणामनश-नोनोदरताऽऽदितपोजनितदेहपीडा न मनोबाधाविधायिनीति ॥

इह पुनर्विशेषसम्प्रदाय केचिदेवमूचुः -

किल कोऽपि दरिद्रवणिजको दूरदेशान्तरं गत्वा कथं कथम-पि रत्नान्युपार्जितवान्, चिन्तितवांश्च-कथमहमेतानि महामूल्या-नि सर्वाऽऽशासम्पादकानि महारत्नानि चौरव्याकुलमरण्यं नि-स्तीर्य स्वनगरं गत्वोपभोगं नेष्यामि ?। ततस्तेनोत्पन्नबुद्धिना ता-न्येकत्र स्थाने निहितानि, काचाऽऽदिसकलानि च पोट्टलिकायां बद्धानि । सा च दण्डाग्रे निबद्धा । ततश्चोरपल्लिमध्येनाऽहो ! रत्नवणिजको गच्छतीत्येवं महता शब्देन व्याहरन्नरण्यमतिक्रा-मति स्म । ततो मार्गे पल्लीषु च ये जनाः,ते तं वीक्ष्य ससम्भ्र-

मागत्य निभालयन्ति स्म । अपश्यंश्च काचाऽऽदिशकलानि,अव-धीरितवन्तश्च ग्रहगृहीतोऽयमिति विभावयन्तः । ततः पुनरपि तथैव निवृत्त , तत्रापि ये पूर्वं न वीक्षित आसीत, ते तथैव वीक्षितवन्तोऽथावधीरितवन्तश्च । एवं पुनरपि मसावरण्यमध्ये-न गतवान् । ततस्तृतीयवेलायामतिपरिचितत्वादवधीरितस्त-स्करजनेन । ततोऽसौ निश्चितवान्-न मां कोऽपि अत्राऽरण्यमार्गे स्वग्रयिष्यति । इति निश्चित्य रत्नानि गृहीत्वा शीघ्रं तदुपयोगाय वाञ्छितपुरप्रापणायारण्यात्तन्निर्वाहणे चातीवोत्सुकत्वेनाऽनवरतं महाप्रयाणकैः क्षुत्पिपासाश्रमाऽऽदीन् भवतो भूयसोऽप्यगणय-न्नगन्तुं प्रवृत्त । बहुतरमार्गमतिलङ्घितः सन् पिपासाऽभिभूतो भावयामास-अहो ! अहमद्य जलं विना म्रिये,न च रत्नोपभो-गभाजनं भवामीत्येवं भावयता मरणभयभीतेन रत्नोपभो-गाऽऽकाङ्क्षिणा दृष्टं सरः पङ्कप्रायपानीयं पक्वमृगाऽऽदिकडेव-रपूयकृमिजालव्याकुलं विलीनमतिदुर्गन्धं विरसतुच्छजलम् । दृष्ट्वा च गन्धमजिघ्रता रसमनास्वादयता दुष्करकरणं कु-र्वता अक्षिणी निमील्याञ्जलिभिस्तत् पीतवान्, परं स्वा-स्थ्यं नागमत्, तदुपष्टम्भितश्च क्षीणपिपासादुःखोत्क्षेपणेष्टपुरं प्राप्त , रत्नोपयोगसुखं चेति । उपनयस्तु प्रागुक्त एवेति ॥ ७ ॥

तदेव दुःखाऽऽत्मकतां तपसो व्युदस्य कर्मोदय-
स्वरूपता व्युदस्यन्नाह-

विशिष्टज्ञानसंवेग-शमसारतयस्तपः ।
क्षायोपशमिकं ज्ञेय-मव्याबाधसुखाऽऽत्मकम् ॥ ८ ॥

विशिष्टं प्रधानं सम्यग्दर्शनविशेषितत्वात्-ज्ञान च बोधस-वेदनं,संवेगश्च समारम्भ,मुक्तिमार्गाभिलाषितत्वं वा,शमश्च कषा-येन्द्रियमनसां निरोध ,ज्ञानसंवेगशमा ,विशिष्टाश्च ते चेति कर्म-धारय । त एव सारोऽन्तर्गतो यस्य,ऊर्ध्वा सार यस्य तत्तथा । ज्ञानाऽऽ-दिसारमेव तपस्तपो भवति,नेतरत्स्वल्पफलत्वात् । यदाह-' सद्धि वासमहस्सा" गाहा । "बज्जीवकायवहगा" गाहा । अत इति । यस्माद्युक्तयुक्तो दुःखाऽऽत्मकमत एतस्माद्धेतोस्तपोऽनशना-दि । किंमित्याह-क्षयेण उदीर्णचारित्रमोहनीयकर्मणः अवेदनेन सह उपशमस्तस्यैव विपाकापेक्षया विष्कम्भितोदयस्य क्षयोपशमः, तत्र भवं क्षायोपशमिकम्, ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । न पुनः कर्मोदयस्व-रूपम् । तथा अविद्यमाना व्याबाधा अविरतिजनिता अनन्तराः पारम्पर्यकृता वा ऐहिक्य पारत्रिका वा यस्मिंस्तदव्याबाधं, तच्च तत्सुख च तदेवाऽऽत्मा स्वभावो यस्य तदव्याबाधसुखा-ऽऽत्मक प्रशमसुखाऽऽत्मकं सिद्धसुखानुकारीत्यर्थः । अनेन च श्लोकेन तपसोऽकर्मोदयस्वरूपत्वमसुखात्मकत्वं चाऽऽवेदितम् ।

उक्तं चैतदन्यत्रापि-

" ज च इमं न दुक्खं, कम्मविवागो वि सव्वहा नेव ।
खाओवसमिए भावे, एव त्ति जिणागमे भणियं ॥ १ ॥
खंताइसाहुधम्मे, तवगहणं सो खओवसमियम्मि ।
भावम्मि विणिद्दिट्ठो, दुक्खं चोयइ मे सव्व ॥ २ ॥ "

एतेन च तपसो दुःखरूपत्वकर्मोदयस्वरूपत्वपरिहारेण सर्वं एव हि दुःखमेवमित्यादिश्लोकद्वयाभिहितं तपोदूषणं सर्वं परिहृतम-वगन्तव्यम, दुःखस्वरूपत्वाऽऽश्रयत्वात्तस्येति । अन्ये त्विद-मष्टकमेव व्याचक्षते-दुःखाऽऽत्मकं, दुःखमेवेत्यर्थः । तपः केचिन्मन्यन्ते, तदेव दुःखाऽऽत्मकतपोमननं न युक्तिमत् । कुत इत्याह-कर्मोदयस्वरूपत्वाद् दुःखस्य । किंवदित्याह-बलीवर्दा-ऽऽदिदुःखवत्, तपसश्च क्षायोपशमिकत्वादिति । इहैव दूषणा-

न्तराभिधानायाऽऽह-सर्वं एव चेत्यादि श्लोकद्वयम। अथवा दुःखाऽऽत्मकं तप. केचिन्मन्यन्ते कर्मोदयस्वरूपत्वाद् बलीवर्दाऽऽदिंशब्देन विशेषितत्वाद् दृष्टान्तस्येति सद्धेतुरेवाय वृक्षोऽय, शाखाऽऽदिमत्वात, ग्रामवृत्तवदित्यादिवदिति । अत्राऽऽचार्य आह-तत्र युक्तिमदिति । कुत इत्याह--सर्वं एव चेत्यादि श्लोकद्वयम । इह चशब्दो यस्मादर्थे द्रष्टव्यः । आचार्य एवोभयत्र परस्योपदेशमाह-युक्त्यागमेत्यादि । इदमिति तपसो दुःखाऽऽत्मकत्वमनन, शेष तु श्लोकचतुष्टय पूर्ववदेव, नवर "मनइन्द्रिययोगानामहानिश्चोदिता जिनै," इत्यत्र चशब्दः पूर्वोक्तयुक्त्यपेक्षया युक्त्यन्तरसमुच्चयार्थो द्रष्टव्य इति ॥ ८ ॥ हा० ११ अष्ट० ।

तपश्चान्द्रायणं कृच्छ्रं, मृत्युघ्नं पापसूदनम् ।
आदिधार्मिकयोग्यं स्या-दपि लौकिकमुत्तमम् ॥१७॥

तप इति । लौकिकमपि लोकसिद्धमपि, अपिर्लोकोत्तर समुच्चिनोति, उत्तम स्वभूमिकोचितशुभाध्यवसायपोषकम । द्वा० १२ द्वा० । यो० विं० ।

ज्ञानसारीय तपोऽष्टकम-

ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः, कर्मणां तापनात्तपः ।
तदाभ्यन्तरमेवेष्टं,बाह्यं तदुपबृंहकम् ॥ १ ॥
आनुस्रोतसिकी वृत्ति-र्बालानां सुखशीलता ।
प्रातिस्रोतसिकी वृत्ति-र्ज्ञानिनां परमं तपः ॥ २ ॥
धनार्थिनां यथा नास्ति, शीततापाऽऽदि दुःसहम् ।
तथा भवविरक्तानां, तत्त्वज्ञानार्थिनामपि ॥ ३ ॥
सदुपायप्रवृत्ताना-मुपेयमधुरत्वतः ।
ज्ञानिनां नित्यमानन्द-वृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥ ४ ॥
इत्थं च दुःखरूपत्वा-त्तपो व्यर्थमितीच्छताम् ।
बौद्धानां निहता बुद्धि-र्बौद्धाऽऽनन्दाऽपरिक्षयात् ॥५॥
यत्र ब्रह्मजिनार्चा च, कषायाणां तथा हतिः ।
सानुबन्धा जिनाऽऽज्ञा च, तत्तपः शुद्धमिष्यते ॥ ६ ॥
तदेव हि तपः कार्य, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् ।
येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि वा ॥ ७ ॥
मूलोत्तरगुणश्रेणि-प्राज्यसाम्राज्यसिद्धये ।
बाह्यमाभ्यन्तर चेत्थं, तपः कुर्यान्महामुनिः ॥ ८ ॥ अष्ट० ३१ अष्ट० ।

('भिक्खाग' शब्दे तेषां चतुर्विध तपो वक्ष्यते) (कियताऽनशनेन कियती निर्जरा भवतीति ' अणाइलाय ' शब्दे प्रथमभागे ४४४ पृष्ठे द्रष्टव्या)

प्रकीर्णकतपांसि-

एसो बारसभेओ, सुत्तनिबद्धो तवो मुणेयव्वो ।
एयविसेसो उ ऽमो, पइण्णगोऽणेगभेउ त्ति ॥ ४ ॥

इह तप शब्दस्य प्राकृतत्वेन पुल्लिङ्गनिर्देश । एतदनन्तरोक्त द्वादशभेदमुभयेषा भेदाना मीलनत्वात। सूत्रनिबद्ध शासनोक्तम्, तपस्तपस्या (मुणेयव्वो त्ति) ज्ञातव्यम। एतद्विशेषस्तु अनन्तरोक्ततपोभेद एव (इमो त्ति) इद वक्ष्यमाण तपः प्रकीर्णकम्यक्तित' सूत्रनिबद्धम्, न भिक्षुप्रतिमाऽऽदिवत्सूत्रे निबद्धमित्यर्थ' । न चोत्सूत्रत्वमस्य, द्वादशभेदतपस्यन्तर्भावात । तत्राऽनेकभेदमनेकविधाऽऽलम्बनत्वात् । इतिशब्द समाप्तौ । इति गाथाऽर्थः ॥ ४ ॥

प्रकीर्णकमेव तपो दर्शयन्नाह--

तित्थयरणिग्गमाई, सव्वगुणपसाहणं तवो होइ ।
भव्वाण हिओ णियमा, विसेसओ पढमवाणीणं ॥५॥

तीर्थकरनिर्गमाऽऽदि येन तपसा तीर्थकरा निष्क्रान्ता., आदिशब्दात्तीर्थकरज्ञाननिर्वाणाऽऽदिग्रह.। किंभूतमिदमित्याह-सर्वगुणसाधक तीर्थकरनिर्गमनाऽऽद्यालम्बनस्य शुभभावप्रकर्षरूपत्वेन ऐहलौकिकाऽऽद्युपकारकारित्वात् । तपो भवतीति व्यक्तम्। अत एव भव्यानां हितं नियमादिति व्यक्तम् । विशेषत' पुन. प्रथमस्थानिनामव्युत्पन्नबुद्धीनां हितत्वादेव निरालम्बनतयाऽपि शुभभावप्रकर्षसम्भवात् सर्वमपि हितमेवेति गाथाऽर्थ. ॥ ५ ॥ पञ्चा० १६ विव० ।

चान्द्रायणाऽऽदितप'-

चंदायणाइ य तहा, अणुलोमविलोमओ तवो अवरो ।
भिक्खाकवलाण पुढो, विण्णेओ वुड्ढिहाणीहिं ॥ १८ ॥

चन्द्रायणमिव चन्द्रायण, तदादि च, आदिशब्दाद्भद्रामहाभद्रासर्वतोभद्रारत्नावलीकनकावल्येकावलीसिंहनिष्क्रीमितद्वयाऽऽचाम्लवर्द्धमानगुणरत्नसंवत्सरसप्तसप्तमिकाऽऽदिचतुष्टयकल्याणकाऽऽदितपसामागमप्रसिद्धाना ग्रह । तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थो गाथाऽऽदौ इहय । अनुलोमविलोमतो गतप्रत्यागत्या, तपोऽपरमन्यत् । कथम् ?, भिक्षाकवलानां प्रतीताना, पृथग्भेदेन, विज्ञेयो ज्ञेयो वृद्धिहानिभ्यामिति गाथाऽऽर्थ. ॥ १८ ॥ पञ्चा० १६ विव० ।

रोहिण्यादितप.-

अण्णो वि अत्थि चित्तो, तहा तहा देवयाणिओएण ।
मुद्धजणाण हिओ खलु, रोहिणिमाई मुणेयव्वो ॥२३॥

अन्यदपि, अस्ति विद्यते, चित्रम, तप इति गम्यते । तथा तथा तेन तेन प्रकारेण लोकरूढेन, देवतानियोगेन देवतोद्देशेन मुग्धजनानामव्युत्पन्नबुद्धिलोकाना, हित खलु पथ्यमेव, विषयाभ्यासरूपत्वात् । रोहिण्यादिदेवतोद्देशेन यत्तद्रोहिण्यादि । (मुणेयव्वो त्ति) ज्ञातव्यम्। पुंल्लिङ्गता च सर्वत्र प्राकृतत्वादिति गाथाऽर्थ' ॥ २३ ॥

देवता एव दर्शयन्नाह--

रोहिणि अंबा य तहा, मंदउण्णिया सव्वसंपयासोक्खा ।
सुयसंतिसुरा काली, सिद्धाईया तहा चेव ॥ २४ ॥

रोहिणी १ अम्बा २, तथा-मन्दपुण्यिका ३, (सव्वसपयासोक्ख त्ति) सर्वसपत ४, सर्वसौख्या चेत्यर्थ ५ । (सुयसंतिसुर त्ति) श्रुतदेवता ६, शान्तिदेवता चेत्यर्थ ७ । "सुयदेवयसंतिसुरा" इति वा पाठान्तरम् , व्यक्त च । काली ८, सिद्धायिका ९, इत्येता नव देवता । तथा चैवेति समुच्चयार्थ । "सव्वाण्या चेव" त्ति पाठान्तरमिति गाथाऽर्थ. ॥ २४ ॥

तत. किमित्याह-

एयाइदेवयाओ, पमुच्च अवऊसगा उ जे चित्ता ।

णाणादंसणसिद्धा, ते सव्वे चेव होइ तवो ॥ २५ ॥

एवमादिदेवता प्रतीत्यैतदाराधनायेत्यर्थः । (अवऊसग त्ति) अपवसनानि उपवसनानि वा । तु पूरणे । ये चित्रा नानादेशप्रसिद्धास्ते सर्वे एव भवन्ति तप इति स्फुटमिति । तत्र रोहिणीतपो रोहिणीनक्षत्रदिनोपवासः सप्तमासाधिकसप्तवर्षाणि यावत् । तत्र च वासुपूज्यजिनप्रतिमाप्रतिष्ठा पूजा च विधेयेति । तथा अम्बा (अम्बा) तपः पञ्चसु पञ्चमीष्वेकाशनाऽऽदि विधेयम् । नेमिनाथाम्बिकापूजा चेति । तथा श्रुतदेवतातप एकादशस्वेकादशीषूपवासो मौनेन श्रुतदेवतापूजा चेति । शेषाणि तु रूढितोऽवसेयानीति गाथार्थः ॥ २५ ॥

अथ कथं देवतोद्देशेन विधीयमानं यथोक्तं तपः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह-

जत्थ कसायणिरोहो, बंभं जिणपूयणं अणसणं च ।
सो सव्वो चेव तवो, विसेसओ मुद्धलोगम्मि ॥ २६ ॥

यत्र तपसि कषायनिरोधो ब्रह्म जिनपूजनमिति व्यक्तम् । अनशनं च भोजनत्यागः । (सो त्ति) तत्सर्वं भवति तपो विशेषतः मुग्धलोके । मुग्धलोको हि तथा प्रथमतया प्रवृत्तः सन्नभ्यासात् कर्मक्षयोद्देशेनाऽपि प्रवर्त्तते, न पुनरादित एव तदर्थं प्रवर्त्तितुं शक्नोति मुग्धत्वादेवेति । सद्धर्मस्तु मोक्षार्थमेव विहितमिदमिति गुरवो वा तत्कथयन्ति । यदाह-" मोक्षायैव तु घटते, विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुषः । " इति । मोक्षार्थघटना चाऽऽगमार्थविधिनैव । शास्त्रवचनान्तरव्याख्यानाङ्गोपाङ्गादिति गाथार्थः ॥ २६ ॥

न चेद् देवतोद्देशेन तपः सर्वथा निष्फलमैहिकफलमेव वा, चरणहेतुत्वादपीति चरणहेतुत्वमस्य दर्शयन्नाह-

एवं पडिवत्तीए, एत्तो मग्गाणुसारिभावाओ ।
चरणं विहियं बहवो, पत्ता जीवा महाभागा ॥ २७ ॥

एवमित्युक्तानां साधर्मिकदेवतानां कुशलानुष्ठानेषु निरुपसर्गत्वाऽऽदिहेतुना, प्रतिपत्त्या तपोरूपोपचारेण; तथा इत उक्तरूपात्कषायाऽऽदिनिरोधप्रधानात्तपसः । पाठान्तरेण-एवमुक्तकरणेन मार्गानुसारिभावात् सिद्धिपथानुकूलाध्यवसायाच्चरणं चारित्रम्, विहितमासेवितमिति, बहवः प्रभूताः, प्राप्ताः अधिगताः, जीवाः सत्त्वाः, महाभागा महानुभावा इति गाथार्थः ॥ २७ ॥

तथा-

सव्वंगसुंदरो तह, णिरुजसिहो परमभूसणो चेव ।
आयइजणगो सोहग्ग-कप्परुक्खो तहऽण्णो वि ॥ २८ ॥
पढिओ तवोविसेसो, अण्णेहिँ वि तेहि तेहिँ सत्थेहिं ।
मग्गपडिवत्तिहेउं, हंदि विणेयाणुगुण्णेणं ॥ २९ ॥

सर्वाङ्गानि सुन्दराणि यतस्तपोविशेषात्स सर्वाङ्गसुन्दरः । तथेति समुच्चये । रुजानां रोगाणामभावो निरुजं, तदेव शिखेव शिखा प्रधानं फलतया यत्राऽसौ निरुजशिखः । तथा परमाण्युत्तमानि भूषणान्याभरणानि यतोऽसौ परमभूषणः । चैवेति समुच्चये । तथा आयतौ आगामिकालेऽभीष्टफलं जनयति करोति योऽसावायतिजनकः । तथा-सौभाग्यस्य सुभगतायाः सम्पादने कल्पवृक्ष इव यः स सौभाग्यकल्पवृक्षः । तथेति समुच्चये । अन्योऽप्यपरोऽपि उक्ततपोविशेषात् ॥ २८ ॥ किमित्याह-पठितोऽधीतस्तपोविशेषस्तपोभेदः, अन्यैरपि ग्रन्थकारैः, तेषु तेषु शास्त्रेषु, नानाग्रन्थेष्वित्यर्थः । नन्वयं पठितोऽपि साभिष्वङ्गत्वान्न मुक्तिमार्ग इत्याशङ्क्याऽऽह-मार्गप्रतिपत्तिहेतुः शिवपथाऽऽश्रयणकारणम् । यश्च तत्प्रतिपत्तिहेतुः स मार्ग एवोपचारात्, कथमिदमिति चेदुच्यते-हन्दीत्युपप्रदर्शने । विनेयानुगुण्येन शिक्षणीयसत्त्वानुरूप्येण भवन्ति हि केचित्ते विनेया ये साभिष्वङ्गानुष्ठानप्रवृत्ताः सन्तो निरभिष्वङ्गमनुष्ठानं लभन्त इति गाथाद्वयार्थः ॥ २९ ॥ पञ्चा० १९ विव० ।

सर्वाण्येते तपोविशेषा आगमे नोपलभ्यन्त इत्याशङ्कां परिहरन्नाह-

चित्तं चित्तपयजुयं, जिणिंदवयणं असेससत्तहियं ।
परिसुद्धमेत्थ किं तं, जं जीवाणं हियं णऽत्थि ॥ ३९ ॥

चित्रमद्भुतमनेकातिशयाभिधानत्वादङ्गानङ्गाऽऽदिभेदत्वाद्वा चित्रमनेकविधम् । तथा चित्रपदयुतं नानाविधार्थप्रतिपादकाभिधानयुक्तम्, जिनेन्द्रवचनं जिनेश्वराऽऽगमः, अशेषसत्त्वहितं समस्तप्राण्युपकारकम्, भव्यानुसारेण मार्गप्रतिपत्त्युपायप्रतिपादनपरत्वात् । परिशुद्धं कषच्छेदतापविशुद्धं सुवर्णमिव निर्दोषम् । एवं चात्राऽस्मिन् जिनवचने किं तद्यज्जीवानां हितं नास्ति ?, सर्वमपि जीवानां हितमस्तीत्यत इदं तपः परिदृश्यमानाऽऽगमेऽनुपलभ्यमानमप्युपलब्धमिवावगन्तव्यम्, तथाविधजनहितत्वादिति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

तथा-

सव्वगुणपसाहणओ, णेओ तिहिँ अट्ठमेहिँ परिसुद्धो ।
दंसणणाणचरित्ता-ण एस रेसिम्मि सुपसत्थो ॥ ४० ॥

सर्वगुणप्रसाधनः सकलगुणाऽऽवह इति पर्यायस्तपोविशेषः । 'णो' निपातः पूरणार्थः । ज्ञेयोऽवसेयः, त्रिभिरष्टमैरुपवासत्रयलक्षणैः, परिशुद्धोऽनवद्यः, दर्शनज्ञानचारित्राणां प्रतीतानाम्, एषोऽयम् । (रेसिम्मि त्ति) निमित्तं, सुप्रशस्तोऽतिशयशुभः । तत्रैकमष्टमं दर्शनगुणशुद्धये, एवमपरद्वयं द्वयपरिशुद्धये इति गाथार्थः ॥ ४० ॥

अथ सर्वाङ्गसुन्दराऽऽदितपस्सु सनिदान एव प्राणी प्रवर्त्तते, ततो न न्याय्यान्येतानीत्याशङ्कापरिहारार्थमनिदानतामेषु प्रवृत्तस्य दर्शयन्नाह-

एएसु वट्टमाणो, भावपवित्तीएँ बीयभावाओ ।
सुद्धाऽऽसयजोगेणं, अणियाणो भवविरागाओ ॥ ४१ ॥

एतेष्वनन्तरोक्ततपस्सु प्रवर्त्तमानो व्याप्रियमाणो जीवः । " एतेसु बहुमाणा " इति पाठान्तरं, व्यक्तं च । कया ?, भावप्रवृत्त्या बहुमानसारक्रियया, अनिदान इति योगः । कुत इत्याह-बीजभावात् बोधिबीजाविकलस्य देहिनो बोधिबीजभवनेन । एतदेव कथमित्याह-शुद्धाऽऽशययोगेन शुभाध्यवसायसम्बन्धेन । शुभाध्यवसायाद्धि बोधिबीजं स्यात् । अनिदानो निदानरहितः स्यात् । तथा-भवविरागात्संसारनिर्वेदाद्यात्किल भवविरागाऽऽदिनिमित्तं तन्निदानं न भवति मोक्षादिप्रार्थनमिव, भवविरागाऽऽदिहेतवश्चोक्ततपांसि केषाञ्चिदतो निर्निदानानि इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

निर्निदानत्वादेवैतेषां निर्वाणाङ्गतामाचार्यान्तरमतेनाऽपि दर्शयन्नाह-

विसयसरूवऽणुबंधे-हि तह य सुद्धं जओ अणुट्ठाणं ।
णिव्वाणंग भणियं, अण्णेहि वि जोगमग्गम्मि ॥ ४२ ॥

एयं च विसयसुद्धं, एगतेणेव जं तओ जुत्तं ।
आरोग्गवोहिलाभा-इपत्थणाचित्ततुल्लं ति ॥ ४३ ॥

विषयो गोचर चक्रतपसामालम्बनीयस्तीर्थंकरनिर्गमाऽऽदि ,स्व-
ेमुक्ततपसामेव स्वभाव आहारत्यागब्रह्मचर्यजिनपूजासाधुदा-
ऽऽदिलक्षण.,अनुबन्धश्च तत्परिणामाव्यवच्छेदतः प्रकर्षयायि-
, अतस्तेषु विषयस्वरूपानुबन्धेषु । तथा चेति समुच्चये । शुद्ध
रवद्य, यतो यस्मात्कारणाद्, अनुष्ठानं क्रिया, निर्वाणाङ्ग मुक्ति-
रणम्, भणितमुक्तम्, अन्यैरपि तन्त्रान्तरीयै , किं पुनर्जि-
, योगमार्गेऽध्यात्मशास्त्रपथे । अतो विषयाऽऽदिशुद्धतयैते-
निर्वाणाङ्गत्वान्निर्निदानतेति हृदयमिति ॥ ४२ ॥ एतच्च
तत्पुनरनन्तरोक्तं तप', विषयशुद्ध निर्दोषगोचरं, सकलदो-
षोषिजिनपतिविषयत्वात् । एकान्तेनैव सर्वथैव, यद्यस्मात्ततः
साद्धेतोर्युक्तं सङ्गतम, प्रार्थनागर्भमपीदं तप । कुत ?, इत्याह-
रोग्यबोधिलाभाऽऽदीनाम-" आरोग्गबोहिलाभ, समाहिव-
रुत्तम दिंतु" इति । एवरूपा या प्रार्थना याञ्चा,तत्प्रधानं यच्चि-
मनस्तेन तुल्य समान यत्तदारोग्यबोधिलाभाऽऽदिप्रार्थनाचि-
तुल्यम, इति कृत्वा । इति गाथाद्वयार्थ. ॥ ४३ ॥

एवमनन्तरोक्त तपो निर्निदानमिति व्यवस्थापितमथोपदि-
शाह-

जम्हा एसो सुद्धो, अणियाणो होइ भावियमईणं ।
तम्हा करेह सम्मं, जह विरहो होइ कम्माणं ॥ ४४ ॥

यस्मात्कारणात्, (एसो त्ति) इदमनन्तरोक्त तपः, शुद्धं
िर्दोषम, भवति स्यात् । किंभूत सदित्याह-अनिद,न प्रा-
र्थयुक्त्या निदानवर्जितम । केषामिदमेवंविधमित्याह-भावि-
मतीनां सदागमवासितमानसानाम्, तस्मात्कारणात्, कुरुत
ेवत्त । एतदेवेति गम्यम, सम्यग् भावशुद्ध्या । एतदेव व्य-
ञ्जरमाह-यथा येन प्रकारेण, विरहो विनाशो. भवति जायते,
र्मणां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनाम । (४४) पञ्चा० १६ विव०। प्रव०।
सांवत्सरिकपाक्षिकाष्टमीज्ञानपञ्चमीरोहिणीतपांसि येन या-
ज्जीवमुच्चारितानि भवन्ति, स रोहिण्या अग्रतः पृष्ठतो वा
ागमने षष्ठकरणशक्त्यभावे किं करोतीति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र स-
ंथा षष्ठकरणशक्त्यभावे यत्तप प्रथममागच्छति तत्तप.
थमं करोति, स्थित तु पश्चात्कृत्वा प्रापयतीति । ३४ प्र०। ही० ४
प्रका० । रोहिणीदिनाऽऽराधकानां काचिद् मिथ्यामतिर्न वेति
श्ने,उत्तरम-रोहिणीदिनाऽऽराधकानां मिथ्यामतिर्ज्ञाता नास्ति।
६ प्र०। ही० १ प्रका० ।

तपस्तथा कर्त्तव्यं यथा शरीरबाधानिर्न स्यात्-

तवसो अ पिवासाई, संतो वि न दुक्खरूवगा णेआ ।
जं ते खयस्स हेऊ, निद्दिट्ठा कम्मवाहिस्स ॥ १० ॥

तपसश्च पिपासाऽऽदय' सन्तोऽपि भिक्षाऽटनाऽऽदौ न दुःखरू-
पा ज्ञेया । किमित्यत्राऽऽह-यद् यस्मात्ते पिपासाऽऽदय. क्षयस्य
हेतवो निर्दिष्टा भगवद्भिः कर्मव्याधेरिति गाथाऽर्थ. ॥ १० ॥

तथाहि-

वाहिस्स य खयहेऊ, सेविज्जंता कुणंति धिइमेव ।
कडुगाई वि जणस्सा, ईसिं दंसितगाऽऽरोग्गं ॥ ११ ॥

व्याधेरपि कुष्ठाऽऽदेः क्षयहेतव. सेव्यमाना. कुर्वन्ति धृतिमेव
कटुकाऽऽदयोऽपि जनस्य ईषद्दर्शयन्त आरोग्यम्, अनुभव-
सिद्धमेतदिति गाथाऽर्थः ॥ ११ ॥

किमेष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनय -

इअ एए चिअ मुणिणो, कुणंति धिइमेव सुद्धभावस्स ।
गुरुआणासंपाडण-चरणाइ सयं निदंसंता ॥ १२ ॥

(इय) एवमेवैव क्षुदादयो मुने. कुर्वन्ति धृतिमेव, न तु दुःख,
शुद्धभावस्य रागाऽऽदिविरहितस्य, किं दर्शयन्त. सन्त ?,
गुर्वाज्ञासंपादनचरणादि स्वयं निदर्शयन्त इति गाथार्थ. ॥ १२ ॥

ण य ते वि होंति पायं, अविअप्पं धम्मसाहणमइस्स ।
न य एगंतेणं चिय, ते कायव्वा जओ भणियं ॥ १३ ॥

न च तेऽपि भवन्ति प्राय क्षुदादय', अविकल्पं मातृस्थानविर-
हेण धर्मसाधनमते प्रव्रजितस्य धर्मप्रभावादेव, न चैकान्ते-
नैव ते क्षुदादय. कर्त्तव्या मोहोपशमाऽऽदिव्यतिरेकेण यतो भ-
णितमिति गाथाऽर्थ. ॥ १३ ॥

किं तदित्याह-

सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा ण हायंति ॥ १४ ॥

तद्धि तपः कर्त्तव्यमनशनाऽऽदि, येन मनोऽमङ्गलमसुन्दरं न
चिन्तयति,शुभाध्यवसायनिमित्तत्कर्मत्तयस्य । तथा येनेन्द्रिय-
हानि ,तदभावे प्रत्युपेक्षणाऽऽद्यभावात्, येन च योगाश्चक्रवाल-
सामाचार्यन्तर्गता. व्यापारा न हीयन्त इति गाथाऽर्थ ॥ १४ ॥

देहे वि अपडिवद्धो, जो सो गहणं करेइ अन्नस्स ।
विहिआणुट्ठाणमिणं, ति कह तओ पावविसओ त्ति ? ॥ १५ ॥

देहेऽप्यप्रतिबद्धो यः विवेकात्स ग्रहण करोत्यन्नस्यौदनाऽऽदे-
र्विहितानुष्ठानमिति, न तु लोभाद्,यतश्चैवमत. कथमसौ पाप-
विषय इति ?, नैव पापविषय , एतेन कथं न पापविषय इत्ये-
तदप्रयुक्तमिति गाथाऽर्थ. ॥ १५ ॥

किं च-

तत्थ वि अधम्मझाणं, न य आसंसा तओ अ सुहमेव ।
सव्वमियमणुट्ठाणं, सुहाऽऽवह होइ विन्नेअं ॥ १६ ॥

तत्रापि चान्नग्रहणाद्धर्मध्यान सूत्राऽऽज्ञासंपादनात. न चाशं-
सा, सर्वत्रैवाभिष्वङ्गनिवृत्ते । यतश्चैव ततश्च सुखमेव, तत्राऽपि
सर्वं यत्नयात्राऽऽदि (इय) एवमुक्तेन न्यायेन सूत्राऽऽज्ञास-
पादनाऽऽदिना अनुष्ठान साधुसंबन्धि सुखाऽऽवह, भवति
विज्ञेयमिति गाथाऽर्थ. ॥ १६ ॥ पं० व० १ द्वार । " जहेव
पायच्छित्ता ण पवितमति, तहा ससत्तीए तवो कम्मं णाणुट्ठेइ,
तओ चउगुण चउगुण पायच्छित्त । " महा० १ चू० ।

एवंस्तु तपो न करोति-

संते वलवीरियपुरिसयारपरक्कमे अट्ठमिचाउद्दसीनाणपंच-
मीपज्जोसवणचाउम्मासिए चउत्थऽट्ठमछट्ठे ण करेज्जा
खवणं कप्पं णायरइ चउत्थ कप्प परिचविज्जा दुवालसं ।
महा० १ चू० ।

" णो पूयण तवसा आवहेज्जा । " (२७) नापि तपसा पूजन-
सत्कारमावहेत्, न पूजनसत्कारनिमित्त तप कुर्यादित्यर्थ । य-
दि वा-पूजासत्कारनिमित्तत्वेन तथाविधार्थत्वेन वा महताऽपि
केनचित्तपो मुक्तिहेतुक न निःसार कुर्याद । तदुक्तम्-' परलो-

कायिकं धाम, तप श्रुतमिति द्वयम् । तदेवाग्निस्त्वनिलुप्त-सार तृणलवायते " ॥ १ ॥ (२७) सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

चतुर्विधमाजीविकानां तपः -

आजीवियाणं चउव्विहे तवे पण्णत्ते । तं जहा-उग्गतवे, घोरतवे, रसनिज्जूहणया, जिब्भिंदियपडिसंलीणया ।

(आजीवियाण इत्यादि) आजीविकानां गोशालकशिष्याणाम्, उग्र तपोऽष्टमाऽऽदि करणम् -"उरमिति" पाठ । तत्र उर शोभनम् । इहलोकाऽऽद्य शंसारहितत्वेनेति धीरमात्मेनिरपेक्ष (रसनिज्जूहणया) घृताऽऽदिरसपरित्याग जिह्वेन्द्रियप्रतिसंलीनता मनोज्ञामनोज्ञेष्वाहारेषु रागद्वेषपरिहार इति, आर्हतानां तु द्वादशधेति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

पर्युषणायामष्टमाऽऽदि तपोऽवश्यं कर्तव्यमिति । कल्प० १ क्षण । बाह्यतपसि, आ० क० । कथाऽन्यत्र) शारीराऽऽदि त्रिविधं तप । कैश्चित्तु शारीराऽऽदिभेदं त्रिविधमभ्युपयते । यदुक्तं गुरुगुणषट्त्रिंशिकावृत्तौ-कैश्चित्तपस्त्रिविधं शारीराऽऽदिभेदमभ्युपयते ।

यथा-

" देवातिथिगुरुप्राज्ञ-पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं तप उच्यते ॥ १ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते ॥ २ ॥
मन प्रसाद सौम्यत्वं, मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतद्, मानसं तप उच्यते ॥ ३ ॥
शारीराद्वाङ्मयं सारं, वाङ्मयान्मानसं शुभम् ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्ट-निर्जराकरणं तप ॥ ४ ॥"

सात्त्विक, राजस, तामसमिति वा त्रिविधं च ।

यथा-

" तपस्त्रिविधं ह्येत-मफलाऽऽकाङ्क्षिभिर्नरैः ।
श्रद्धया परया तप्तं, सात्त्विकं तप उच्यते ॥ १ ॥
सत्कारमानपूजाऽर्थं, तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं, राजसं चलमध्रुवम् ॥ २ ॥
मूढग्रहेण यदाऽऽत्म-पीडया क्रियते तप ।
परस्योत्सादनार्थं वा, तत्तामसमुदाहृतम् ॥३॥ (१०१ गाथा)

ग० २ अधि० । तप फलं व्यवदानम्-' तवे वोदाणफले । " स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

संयमवान् साधुस्तपो निरत स्यात्, अतस्तत्फलं प्रश्नपूर्वकमाह-

तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । तवेणं वोदाणं जणयइ ॥ २७ ॥

हे भगवन् ! तपसा कृत्वा जीव किं फलं जनयति ? । गुरुराह-हे शिष्य ! तपसा जीवो व्यवदानं जनयति, पूर्वबद्धकर्मापगमनेन विशेषेण शुद्धिं जनयति ॥ २७ ॥ उत्त० २९ अ० ।

से भयवं ! किं छट्ठऽट्ठमदसमदुवालसऽद्धमासमासेणं जाव णं छम्मासक्खवणाई णं अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुक्करे संजमजयणे विपुले सुमहंते वि उ कायकेसे कए णित्थगे हवेज्जा ? । गोयमा ! ण णित्थगे हवेज्जा । से भयवं ! केणं अट्ठेणं ? । गोयमा ! जओ णं खरुट्टमहिसगोणादओ वि संजमजयणाविरहे अकामनिज्जराए सोहम्मकप्पाइसु वयंति, तओ विभागक्खएणं चुए समाणे तिरियाऽऽदिसु संसारमणुसरेज्जा; तहा य दुगंधामिज्झाविलीणखारपित्तोज्झसिंभपडहच्छे वसजलुसपूयदुद्दिणचिलिच्चिलरुहिरचिविक्खल्ले दुद्दंसणिज्जबीभत्थतिमिसंधयारगंतुव्वियणिज्जगब्भपावासजम्मजरामरणाइ अणेगसारीरमाणसे सुघोरदारुणदुक्खाणमेव भायणं भवंति, ण उण संजमजयणाए विणा जम्मजरामरणाऽऽइएहिं घोरपयंडमहारुद्ददारुणदुक्खाणं णिट्ठवणमेगंतियमच्चंतियं भवेज्जा, एवेणं संजमजयणाविरहे सुमहंते वि उ कायकेसे पकम्मए गोयमा ! निरत्थगे भवेज्जा । महा० २ चू० ।

" इमेण वा सुचरियतवनियमबंभचेरवासेण " इत्याशंसारहितेन तप कर्तव्यमिति । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । यस्मिन् प्रतिसेविते निर्विकृताऽऽद्यपवर्गपर्यवसानं तपो दीयते तत्तपोऽर्हत्वात्तप इति । व्य० १ उ० । निर्विकृतिकाऽऽदिके तपसि, आ० । आश्विनचैत्राष्टाह्निकामध्ये कृततपस्यो दिनत्रयं, अथवा द्वादशदिनमानमुपधानालोचनायामालोचनायां वा न समायाततीति प्रश्ने, उत्तरम्-सप्तम्यादिदिनत्रयगणनायां नायातीति । १२३ प्र० । सेन० २ उल्ला० । यक्षोपवासरोहिण्युपवासादितपस्सु पर्वतिथ्यादिष्वपि कदाचिद्विस्मृत्या महाकारणाऽऽदिना वा पष्ठोपवासाऽऽदिदिने उपवासाभवने षष्ठोपवासाऽऽदि तपो मूलतो याति, किंवा यथोक्तपर्यन्तमासतपोऽनन्तरं तत्तप करणाऽऽदिना निष्ठां नीयत इति प्रश्ने, उत्तरम्-विस्मृत्यादिना तपोदिने ज्ञाते तपोपवासाभवने द्वितीयदिने दण्डनिमित्तं तत्तप कार्यम्, समाप्तौ च वर्द्धमानं विधेयमित्यक्षराणि श्राद्धविधौ सन्ति, महाकारणे तु तपोदिने तपःकरणं महत्तराऽऽगारेणान्तर्भवतीति । १६७ प्र० । सेन० २ उल्ला० । तपउपधानेषूह्यमानेषु विंशतिस्थानकाऽऽदि तप कर्तुं शुद्ध्यति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-तत्तप प्राय. कर्तुं न शुद्ध्यतीति, १८५ प्र० । सेन० २ उल्ला० । अथ पं० विद्याविजयगणिकृतप्रश्नास्तदुत्तरं च । यथा चैत्राऽऽश्विनाष्टाह्निकादिनेषु यत्तप कृतं स्यात्तत्तपो रोहिण्यालोचनाऽऽदिषु समेति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-सप्तम्यादिदिनत्रयकृतं तत्तप आलोचनायां न गण्यते, रोहिण्यादि तथाविधसबद्धतपसि तु गण्यते, न तु सर्वथेति । १०० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तपसा निकाचितकर्मणां क्षयो भवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-निकाचितानामपि कर्मणां तपसा क्षयो भवतीति श्रीउत्तराध्ययनसूत्रवृत्त्यादावुक्तमस्तीति । ४६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

तवअ-देशी-व्यापृते, दे० ना० ५ वर्ग २ गाथा ।

तवआयार-तपआचार-पुं० । आचारभेदे, तप आचारो द्वादशविध । उक्तं च-" बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे । अगिलाऍ अणाजीवी, नायव्वो सो तवाऽऽयारो ' ॥१॥ इति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

तवकरण-तपःकरण-न० । तपसोऽनशनाऽऽदिबाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नस्य करणं क्रियास्तप करणम् । अनशनाऽऽदेर्बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नस्य तपस कृतौ, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

तवगुण-तपोगुण-पुं० । अनशनाऽऽदौ, स्था० ६ ठा० ।

तवग्ग-तवर्ग-पुं० । तकाराऽऽदिवर्णपञ्चके, रा० ।

तवग्गपविभत्ति-तवर्गप्रविभक्ति-न० । तकारथकारदकारधकारनकारइत्येवरूपे प्रविभक्तिनामकेऽष्टादशे नाट्यविधौ, रा० ।

तवचरण-तपश्चरण-न० । तपोविधाने तपसि च कृते धृतिं करोति नार्तध्यानम् । अनु० । सयमानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ०

१ उ० । तपश्चरणे ब्रह्मचर्याऽऽदि, तत्फलमप्युपचारात्तपश्चरणम् । स्वर्गसभवे भोगजाते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

तवचरणचरियणिबद्ध-तपश्चरणचरितनिबद्ध-न० । दिव्ये नाट्यविधौ, रा० ।

तवचरणि[ण्]-तपश्चरणिन्-त्रि० । तपस्विनि, " नाणाईओ जीवइ, अइ सुहुमो अइ कमो मुणेयव्वो । साइज्जतो एग, वचइ एसो तवचरणी ॥ १ ॥ " स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

तवण-तपन-पु० । तपतीति तपन. । रवौ, अनु० । पिं० रुचकशिखरतले पूर्वस्या दक्षिणस्यां च दिशि तृतीये कूटे, द्वी० ।

तवणबंधु-तपनबन्धु-न० । पु० । बुद्धे, रत्ना० ६ परि० ।

तवणिज्ज-तपनीय-न० । आरक्तसुवर्णे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । त० । भ० । औ० । ज० । सुवर्णविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । त० । औ० । स० । रा० । ज० । सु० प्र० । ज्ञा० । " तवणिज्जवालुयापत्थडे । " तपनीयमय्य. बालुकाः सिकता ,तासा प्रस्तटः प्रस्तारो यस्मिँस्तत्तथा । जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० । "तवणिज्जलम्बूसगा । ' तपनीयस्तपनीयमयो 'लम्बूसगो' दाम्नामग्रिमभागे प्राङ्कणे लम्बमानो माकुनविशेषो गोलकाऽऽकृतिर्येषां तानि । जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० । "तवणिज्जाभरणभूसणविराइअगुयग । " कल्प० २ क्षण ।

तवणिज्जकूम-तपनीयकूट-पु० । जम्बूद्वीपे रुचकपर्वतस्य द्वितीयस्मिन् कूटे, स्था० ८ ठा० ।

तवणियमणाणरुक्ख-तपोनियमज्ञानवृक्ष-पु० । ज्ञानवृक्षे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । (अस्योदाहरणम् ' सुय ' शब्दे वक्ष्यते)

तवणी-देशी-भक्षणयोग्ये, दे० ना० ५ वर्ग १ गाथा ।

तवतेण-तपःस्तेन-पु० । क्षपकरूपकल्पे. कश्चित्केनाचित् पृष्टस्त्वमसौ क्षपक इति ?। तदा स पूजाऽऽद्यर्थमाह-अहम । अथवा वक्ति-साधव एव क्षपकाः । अथवा-तूष्णीमास्ते । दश० ५ अ० २ उ० ।

तवधण-तपोधन-त्रि० । तप एव धन यस्य स । तपोधनयति, उत्त० १८ अ० ।

तवप्पडिमा-तपःप्रतिमा-स्त्री० । तपसाऽऽत्मतुलनायाम, बृ० १ उ० । ('जिणकप्पिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४६६ पृष्ठे एतत्स्वरूपम्)

तवप्पहाण-तपःप्रधान-त्रि० । तपसा प्रधाने उत्तमे, शेषमुनिजनापेक्षया, तपो वा प्रधान यस्य तस्मिन, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० । रा० ।

तवबल-तपोबल-त्रि० । यदनेकभवार्जितमनेकदु खकारण निकाचितकर्मग्रन्थि क्षपयति तस्मिन्, स्था० १० ठा० ।

तववलिय-तपोवलिक-पु० । तपसा वलिकस्तपोवलिक । तपसा वलिष्ठे, महताऽपि तपसा यो न क्लाम्यति, यत्र तत्र वा स्वल्पे प्रयोजने तप. करिष्यामि इति विचिन्त्य प्रतिसेवते । यदि वा-षाण्मासिके तपसि दत्ते वदति-समर्थोऽहमन्यदपि तप कर्तुं तदपि मे देहीति । तस्मिन् तपोवलिके मूलपर्याये, व्य० १ उ० ।

तवभावणा-तपोभावना-स्त्री० । प्रशस्तभावनाभेदे, बृ० १ उ० ।

तवमय-तपोमद-पु० । तप.प्रधानो मदस्तपोमद । मदस्थानभेदे, स्था० १० ठा० । स० ।

तवय-तवक-न० । सुकुमारिकाऽऽदितलनभाजने, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

तवविणय-तपोविनय-पुं० । विनयभेदे, दश० ।

तपोविनयमाह-

अवणेइ तवेण तमं, उवणेइ अ सग्ग मोक्खमप्पाणं ।
तवविणयनिच्छियमई, तवोविणीओ हवइ तम्हा ॥८५॥

अपनयति तपसा तमोऽज्ञानम् , उपनयति च स्वर्गं मोक्षमात्मान जीवम, तपोविनयनिश्चितमतिर्यस्मादेवंविधस्तपोविनीतो भवति तस्मादिति गाथाऽर्थ ॥ ८५ ॥ दश० ६ अ० ।

तवसंजम-तपःसंयम-पु० । तापयतीति तपस्तत्प्रधान सयमस्तपःसयम । चारित्रसामायिके, विशे० । तप अनशनोदरताऽऽदि तत्प्रधान सयमस्तप सयमः । अनशनोदरताऽऽदिप्रधाने सयमे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

तवसंजमप्पहाण-तपःसंयमप्रधान-पु० । तप बाह्याभ्यन्तरं द्वादशप्रकार, तथा सयमः सप्तदशभेद. । पञ्चाऽऽश्रवविरमणाऽऽदिलक्षण ,ताभ्यां प्रधानास्तप.सयमप्रधाना । तप सयमाभ्यां प्रधाने, " तवसंजमप्पहाणा, गुणधारी जे वयंति सब्भावं । " सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

तवसंजममुज्जय-तपःसंयमोद्यत-पु० । तपोऽनशनाऽऽदि संयमस्सप्तविध , मकारोऽलाक्षणिक., ततस्तप सयमयोरुद्यतस्तपःसयमोद्यत । तप सयमाभ्यामुद्यते, दश० ३ तत्त्व ।

तवसंजमरय-तपःसंयमरत-पु० । भावसाधौ, औ० ।

तवसमाहि-तपःसमाधि-पु० । तपसि बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदभिन्ने यथाशक्ति निरन्तर प्रवृत्तिस्तपःसमाधिस्तस्मिन्, प्रव० १० द्वार । दश० ।

तप.समाधिमाह-

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ । तं जहा-नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नऽन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा चउत्थं पयं भवइ ।

भवइ अ इत्थ सिलोगो—

चतुर्विधं खलु तप समाधिर्भवति । तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थ । नेह लोकार्थमिहलोकनिमित्त लब्ध्यादिवाञ्छया तपोऽनशनाऽऽदिरूपमधितिष्ठेत् कुर्याद्धम्मिलवत् । तथा न परलोकार्थं जन्मान्तरभोगनिमित्त तपोऽधितिष्ठेद्ब्रह्मदत्तवत् । एव न कीर्तिवर्णशब्दश्लाघार्थमिति । सर्वदिग्व्यापी साधुवाद कीर्ति । एकदिग्व्यापी वर्णः । अर्द्धदिग्व्यापी शब्द । तत्स्थान एव श्लाघा, नैतदर्थं तपोऽधितिष्ठेत् । अपि तु नान्यत्र निर्जराऽर्थमिति न कर्मनिर्जरामेका विहाय तपोऽधितिष्ठेत् । अकामः सन् यथा कर्मनिर्जरैव फल भवति तथाऽधितिष्ठेदित्यर्थ । चतुर्थं पद भवति । भवति चात्र श्लोक इति पूर्ववत् ।

स चायम्-

विविहगुणतवोरए य निच्चं, भवइ निरासए निज्जरट्ठिए ।

तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए ॥४॥

विविधगुणतपोरतो हि नित्यमनशनाऽऽद्यपेक्षयाऽनेकगुणं य-त्तपस्तद्रत एव सदा भवति,निराशो निःप्रत्याशः इहलोकाऽऽ-दिषु निर्जरार्थिकः कर्मनिर्जरार्थी, स एवंभूतस्तपसा विशु-द्धेन धुनोत्यपनयति, पुराणपापं चिरन्तनं कर्म, युक्तः सन्ना-त्यर्थं युक्तः सदा तपःसमाधाविति सूत्रार्थः । दश० ६ अ० ४ उ० ।

तवसामायारि (ण्)-तपःसामाचारिन्-पुं० । पाक्षिकाऽऽदिषु तपःकर्म स्वयं करोति, परं च कारयति, भिक्षाचर्यां स्वयमनु-तिष्ठति, परं च तस्यां नियुङ्क्ते, इति तपःसामाचारी । तस्मिन्, प्रव० ६५ द्वार ।

तपःसामाचारीमाह-

पक्खिए पोसहिएसुं, कारेति तवं सयं करेति य वा ।
भिक्खायरियाए तहा, निज्जुंजति परं सयं वा वि ॥

पाक्षिके अर्द्धमासे सर्वाणि, पौषधिकेषु च अष्टम्यादिषु पर्वसु परं तपः कारयति, स्वयमपि च करोति, तथा भिक्षा-चर्यायां परं नियुङ्क्ते, प्रयोजनमपेक्ष्य स्वयमपि भिक्षाचर्यां गच्छति ।

सव्वम्मि बारसविहे, निज्जुंजइ परं सयं च उज्जुत्तो ।
गणसामायारीए, गणं विसीयंत चोएति ॥

सर्वस्मिन् द्वादशविधे तपसि यथायोगं परं नियुङ्क्ते,स्वयं सर्वे-त्र यथाशक्ति उद्युक्तः । व्य० १० उ० ।

तवसिद्ध-तपःसिद्ध-पुं० । तपसा सिद्धे सिद्धभेदे, (आ०म०)

संप्रति तपःसिद्धप्रतिपादनार्थमाह-

न किलिम्मइ जो तवसा, सो तवसिद्धो दढप्पहारि व्व ।
सो कम्मक्खयसिद्धो, जो सव्वक्खीणकम्मंसो ॥

न क्लाम्यति न क्लमं गच्छति यः सत्वस्तपसा बाह्याभ्यन्तरेण स एवंभूतस्तपःसिद्धः, अग्लानित्वाद् दृढप्रहारिवदिति गा-थाऽक्षरार्थः । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्-

" धिग्जातिरेको दुर्दान्तो, दुर्विनीतः पुरे क्वचित् ।
स्थानान्निःसारितो दुष्ट-श्चौरपल्लीं भ्रमन् ययौ ॥ १ ॥
चौरसेनापतिस्तं च, पुत्रबुद्ध्या प्रपन्नवान् ।
मृते तस्मिन् स एवाऽभूत्, चौरसेनापतिस्ततः ॥ २ ॥
दृढप्रहारी नाम्नाऽभूद्, दृढप्रहारकः स यत् ।
ससैन्यः सोऽन्यदाऽऽयासीद्, ग्राममेकं विमुषितुम् ॥ ३ ॥
तत्रैको निःस्वविप्रोऽभू-द्दिम्भरूपैः स मार्गितः ।
याचित्वाऽन्नदुग्धाऽऽदि, परमान्नमपाचयत् ॥ ४ ॥
स्वयं स्नानकृते सोऽगा-च्चौर एकस्तु तद्गृहे ।
प्रविष्टः पायसस्थालि-मपहृत्य जगाम सः ॥ ५ ॥
रुदन्ति डिम्भरूपाण्या-ख्यन् पितुः पायसं हृतम् ।
दधावे सोऽथ रोषेण, चौराणां निजिघृक्षया ॥ ६ ॥
अनेकाँस्तस्करांस्तत्र, परिघेण जघान सः ।
चौरसेनापतिर्ग्राम-मध्येऽश्रौषीत् तेन चिन्तितम् ॥ ७ ॥
हन्ति कोऽप्येष मच्चौरान्, खड्गमाकृष्य धावितः ।
तत्रागादन्तरे धेनु-स्तामहन्नथ तं द्विजम् ॥ ८ ॥
तद्ब्राह्मणी तमूचेऽथ, किं कृतं निष्कृप ! त्वया ? ।
साऽपि व्यापादिता तेन, तद्गर्भोऽपि द्विधा कृतः ॥ ९ ॥
प्रस्फुरन्तं तमालोक्य, करुणाऽस्याभवत्तदा ।
हा हा चक्रे मया पापं, का भविष्यति मे गतिः ? ॥ १० ॥
डिम्भरूपाण्यथोचुस्तं, पापास्मानपि मारय ।
पितरौ नाथतो यावत्, मृत्युर्दारिद्र्यतोऽपि नः ॥ ११ ॥
तदाकर्ण्य विशेषेण, स निर्वेदं परं गतः ।
इतः पापात्कथं मुक्तिः ?,स्यान्मे साधूनथैक्षत ॥ १२ ॥
तेनाऽऽस्ते धर्ममाचख्युः, सर्वपापापहारकम् ।
प्रतिबुद्धः परिव्रज्य, जगृहे क्षान्त्यभिग्रहम् ॥ १३ ॥
यावत्कर्म स्मरत्येन-द्यावत्कोऽयं मया न च ।
हील्यमानो हन्यमान-स्तत्रैव विजहार सः ॥ १४ ॥
तत्कृतानुपसर्गांश्चा-धिसेहे स्वकृतं स्मरन् ।
दृढप्रहारी भूत्वा स, कर्मशत्रूनपि प्रति ॥ १५ ॥
षड्भिर्मासैस्तपःशस्त्रै-स्तत्कर्माण्युन्मूल्य सर्वथा ।
उत्पाद्य केवलज्ञानं, तपःसिद्धो बभूव सः " ॥ १६ ॥ आ० क० ।

तवसूर-तपःशूर-पुं० । तपोधीरे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । " तव-सूरा अणगारा । " स्था० ।

तवसोसिय-तपःशोषित-त्रि० । तपसा शोषमुपगते,व्य० २ उ० ।

तवस्सि (ण्)-तपस्विन्-पुं० । त्रि० । तपोऽस्यास्तीति तपस्वी । तपः संयमतपस्तस्मिन् विद्यमाने, व्य० १ उ० । तपोऽस्यास्ती-ति तपस्वी, तपो विकृष्टाविकृष्टरूपं विद्यते येषां ते तपस्विनः । प्रव० ६६ द्वार । विकृष्टमष्टमप्रभृतिकं तपो विद्यते येषां ते तप-स्विनः। प्रव० १४८ द्वार । ध० । नि० चू० । विकृष्टाऽऽदितपश्चरण-कारिषु,प्रव० ४ द्वार । क्षपके,भ० ८ श० ८ उ० । वृ० । स्था० । मासक्षपकाऽऽदिषु, आ०क० । स्था० । चतुर्थकाऽऽदिकारिणि, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार । प्रशस्ततपोयुक्ते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । अनशनाऽऽदितपोविचित्रयुक्तेषु सामान्यसाधुषु, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । साध्वौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । उत्त० । क्षीणदेहे, वृ० १ उ० । अष्टमाऽऽदिक्षपके,भ० ७५ श० ७ उ० । निष्टप्तदेहे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । प्रशस्यतपोऽन्विते भिक्षौ, उत्त० २ अ० । जितेन्द्रिये, औ० । तपो बाह्याऽऽभ्यन्तरकर्मेन्धनदहनज्व-लनकल्पमनवरतशुभध्यानलक्षणमस्ति यस्य स तपस्वी । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

तवायार-तपआचार-पुं० । द्वादशविधतपोविशेषानुष्ठिते (स० १ अङ्ग) आचारभेदे, " बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतरबा-हिरे कुसलदिट्ठे । अगिलाए अणाजीवी, नायव्वो सो तवायारो ॥ १ ॥ " ध० २ अधि० । तपआचारस्तु द्वादशविध ,बाह्या-भ्यन्तरतपःषड्द्वयभेदात् । तत्र " अनशनमूनोदरता, वृत्तेः सं-क्षेपणं रसत्यागः । कायक्लेशः संलीनतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम् ॥ १ ॥ " ध० १ अधि० ।

इयाणिं तवायारो भण्णति-

दुविध तवपरूवणया, संठाणाऽऽदेसणा तमक्खेते ।
सव्वत्थ होति लहुगो,(सं)लीणविणयऽ(ए)ज्झाय मोत्तूणं ४१
बारसविधम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
अगिलाए अणाजीवी, णायव्वो सो तवायारो ॥ ४२ ॥

दुविहतवे त्ति-बाहिरो, अब्भिंतरो य । बाहिरो छव्विहो-अ-णसणं, ओमोयरिया, भिक्खायरिया, रसपरिच्चाओ,

कायकिलेसो, पमिसंलीणता य । अभिंतरगो उ छव्विहो-पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्चं सज्झाओ, विउस्सग्गो, झाणं चेति । दुविहा तवस्स य परूवणा कायव्वा । परूवणा णाम पण्णवणा । सा य जहा दुमपुप्फियज्झयणे, तहा दट्ठव्वा । इह तु पच्छित्तेणऽहिकारो, त भणति-सगं ठाणं सट्ठाणं, सट्ठाणस्स आरोवणा सट्ठाणारोवणा, तमिति तवो सव्वज्झति, मकारो पमिसेहे, करेति आचरंतेत्यर्थः । मकारेण य पमिसिद्धे, अणाचरणं अणाचार, तस्स य सट्ठाण, तं च इमं-"सव्वत्थ होइ लहुगो ।" सव्वत्थेति । सव्वेसु पदेसु अणसणाऽऽदिसु सतिपुरिसक्कारपरक्कमे विज्जमाणे तवमकरेंतस्स मासलहुं, अप्पसत्थ सक्कण मिति काउ उट्ठाण करेइ, सहीणविणयसज्झ यणया लिधि, मोत्तूण । पडिसंलीणया दुविहा-दव्वपमिसंलीणया, भावपमिसंलीणया य । इत्थिपसुपंडगपुमसंसत्ता होंति दव्वम्मि । भावपडिसंलीणता दुविहा-इंदियपडिसंलीणया, णो इंदियपडिसंलीणया । इंदियपडिसंलीणया पंचविहा-सोइंदियाऽऽदि । नोइंदियपमिसंलीणया चउव्विहा-कोहाऽऽदि । एतेसु पमिसंलीणेण जवियव्वं । जो ण भवति, तस्स पच्छित भण्णति । इत्थिसंसत्ताए चउगुरु, तिरिक्खिपुरिसेसु चरित्तविराहणाणिप्फण्णं चउगुरुगं । पुरिसेसु चउलहुगं । सोयचक्खुरसफासेसु रागे चउगुरुगं । एतेसु चेव दोसे चउलहुगं । घाणेंदियरागए गुरुगो, दोसेण लहुगो । कोहे माणे य लहु, मायाए मासगुरुगो, लोहे लहु । पमिसंलीणया गता । अथ विणओ भणति-आयरियस्स विणयं ण करेति चउगुरुगं, उवज्झायस्स लहु, भिक्खुस्स मासगुरु, खुड्डगस्स मासलहु । विणओ गओ । सज्झाओ भण्णति सुत्तपोरिसिं ण करेति मासलहु, अत्थपोरिसिं ण करेति मासगुरु । सीसो पुच्छति-तवस्स कह आयारो, कह वा अणायारो भवति ? । आयरिओ भणति-(बारसविहम्मि वि तवे गाहा) कुसलो दव्वे य, भावे य । दव्वे दव्वला, भावे कम्मखए वा । तेहिं भावकुसलेहिं दिट्ठे तवे अगिलाए त्ति अगिलायमाणो मनोवाक्कायैरहि भज्जरणमाणेत्यर्थः । अणाजीवि त्ति-ण आजीवी अणाजीवी, अणासंसीत्यर्थः । आसंसण इहपरलोगेसु । इहलोगे वर से सिलाघा भविस्सति । लोगो य आउट्टो वत्थपत्तअसणादि भेसज्ज दाहिति । परलोगे इन्दसामाणिगाऽऽदि, रायाऽऽदि वा भविस्सामि । सेसं कंठं । नि० चू० १ उ० ।

अथ तपआचारदर्शनायाऽऽह-

बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
अगिलाए अणाजीवी, णायव्वो सो तवायारो ॥२६॥

द्वादशविधेऽपि द्वादशभेदेऽप्यास्तां तदेकदेशे, तपसि तपस्याम्, कार्मणलक्षणाभ्यन्तरदेहस्यैव तापनात्प्रायः सम्यग्दृष्टिभिरेव वा तपस्तया प्रतीयमानत्वादाभ्यन्तरं प्रायश्चित्ताऽऽदि षोढा । तथा बाह्यदेहस्याऽपि तापनान्मिथ्यादृष्टिभिरपि वा तपस्तया प्रतीयमानत्वात् बाह्यमनशनाऽऽदि षोढैव । सहाभ्यन्तरेण बाह्य साभ्यन्तरबाह्य तत्र, कुशलदृष्टे निपुणोपलब्धे, सर्वज्ञप्रणीतत इत्यर्थः । अग्लान्या अखेदेन, अनाजीवी तस्यैव तपसोऽनुपजीवक सन्, यो जीव . प्रवर्तत इति शेषः । ज्ञातव्यो ज्ञेय, स जीव तपआचार, तपसि तपोरूपो वाऽऽचारो व्यवहारस्तपआचार, आचारतद्वतोरभेदादिति गाथार्थः ॥२६॥ पञ्चा० १५ विव० ।

तवारिह-तपोऽर्ह-न० । निर्विकृतिकाऽऽदितपःशोध्ये (स्था० १० ठा०) षष्ठे प्रायश्चित्तभेदे, स्था० ८ ठा० । प्रव० । अथ तपोऽर्हं प्रायश्चित्तविधय-तत्र तपोऽर्हं षट्कम्-तत्र रात्रिन्दिवपञ्चकादारभ्य रात्रिन्दिवपञ्चकाऽऽदि वृद्ध्या तावज्ज्ञेयं यावत् षण्मासाः, तत्र येषु स्थानेषु रात्रिन्दिवपञ्चकं तपः तान्युपदर्शयति-

दंमगगहणनिक्खेवे, आवसियाए निसीहियाए य ।
गुरुणं च अप्पणामे, रा चउराइंदिया हुंति ॥ १२६ ॥

दण्डक गृह्णन्न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयतीत्येको भङ्गः, न प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयतीति द्वितीयः, न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयतीति तृतीयः, प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयतीति चतुर्थः । तत्राऽऽद्येषु त्रिषु भङ्गकेषु पश्चादनुपूर्व्या यथोत्तरं तपःकालविशेषतो लघुमासं प्रत्येक प्रायश्चित्तम् । चतुर्थे चत्वारो भङ्गाः । तद्यथा-दुष्प्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति १, दुष्प्रत्युपेक्षते सुप्रमार्जयति २, सुप्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति ३, सुप्रत्युपेक्षते सुप्रमार्जयति ४ । अत्राद्येषु त्रिषु भङ्गकेषु पश्चादनुपूर्व्या यथोत्तरं तपःकालविशेषितानि पञ्चरात्रिन्दिवानि प्रायश्चित्तम्, चतुर्थे भङ्गे शुद्धो विधिना प्रवृत्तः इत्याऽऽद्यास्त्रयो भङ्गका मासलघुप्रायश्चित्तविषयाः प्रस्तावाद्युक्ताः, यतो वक्ष्यमाणेषु प्रायश्चित्तेषु द्रष्टव्याः । यथा दण्डकग्रहणेऽभिहितं तथा दण्डकनिक्षेपेऽपि वक्तव्यं, नवरं निक्षेपे अधस्ताद् भूमेरुपरि च दण्डकसंस्पर्शविषया भित्तिप्रदेशे प्रमार्जना कर्तव्या । तथा वसतेर्निर्गच्छन् यद्यावश्यकीं न करोति, वसतौ प्रविशन् नैषेधिकीम्, तत आवश्यकाकरणे नैषेधिक्या अकरणे च प्रत्येकं प्रायश्चित्तं रात्रिन्दिवपञ्चकं, तथा (गुरुणं च अप्पणामे इति) अत्र प्रणामग्रहणं हस्तोत्क्षेपाऽऽद्युपलक्षणं, ततोऽयमर्थः -अवश्यकरणीयप्रयोजनवशात् स्वोपाश्रयाद् बहिर्विनिर्गतो भूयः प्रतिश्रये प्रविशन् 'नमो खमासमणाणं' इति न ब्रूते प्रणामं वा न करोति, नापि हस्तस्यानाक्षेपत्वेऽपि हस्तोत्क्षेपम्, तदा प्रायश्चित्तं रात्रिन्दिवपञ्चकम् ॥ १२६ ॥

पेंटियगहणनिक्खेवे, निट्ठीवण आयवाउ छायं व ।
थंमिल्लकएइमोमे, गामो राइंदिया पंच ॥ १२७ ॥

संस्तारकवेण्टलिकाया ग्रहणे, निक्षेपे च प्रत्येकं दण्डक इव सप्तभङ्गक, तत्रापि दण्डक इवाऽऽद्येषु त्रिषु भङ्गकेषु पश्चादनुपूर्व्या यथोत्तरं तपःकालविशेषतः प्रत्येकं लघुमास, उत्तरेषु त्रिषु भङ्गकेषु प्रत्येकं रात्रिन्दिवपञ्चक, सप्तमे तु भङ्गे शुद्ध । (निट्ठीवणा इति) निष्ठीवनाऽऽदौ । इह साधवो द्विधा-गच्छगता, गच्छनिर्गताश्च । तत्र ये गच्छनिर्गतास्ते नियमादनिष्ठीवका, औपग्रहिकमल्लकाऽऽद्युपकरणासम्भवात् । गच्छगता अपि ये विधिना निष्ठीव्यन्ति, ते अनिष्ठीवका एव, न प्रायश्चित्तविषयाः । अविधिना खेलमल्लके निष्ठीवने दण्डक इव सप्तभङ्गाः, दण्डक इवैव चाऽऽद्येषु प्रत्येकं लघुमास, उत्तरेषु त्रिषु प्रत्येकं रात्रिन्दिवपञ्चक, सप्तमभङ्गवर्तिनस्त्वनिष्ठीवका एव, विधिना निष्ठीवनात् । उपरितनेष्वपि च त्रिषु भङ्गेषु यदि भूमौ निष्ठीव्यन्ति तदा मासलघु । यत्र निष्ठीवने प्राणिनां परितापनाऽऽद्युपजायते, तन्निष्पन्नं च तस्य प्रायश्चित्तम् । आदिशब्दात्कण्डूयनपरिग्रहः । कण्डूयनेऽपि हि दण्डक इव सप्तभङ्गक, तथैव च प्रायश्चित्तविधिः । तथा यत्राऽऽदिकमातपात् छाया, छायाया वा आतप संक्रामयत् न प्रत्युपेक्षते, न प्रमार्जयतीत्यादय पूर्ववत्सप्त भङ्गाः । पूर्ववदेव चाऽऽद्येषु षट्सु भङ्गकेषु प्रायश्चित-

विधि , सप्तमे तु भङ्गे गुरु । (थमिल्लेत्यादि) मार्गे व्रजन् अस्थण्डिलात् स्थण्डिले, स्थण्डिलात् अस्थण्डिले,तथा कृष्णभूमात् प्रदेशात् नीलभूमौ, नीलभूमेर्वा कृष्णभूमप्रदेशे। एव शेषवर्णेष्वपि प्रत्येकं योजनीयम् । अथ अध्वनो ग्रामे ग्रामप्रवेशे, ग्रामाद्वा अध्वनि सङ्क्रामन् पादौ न प्रत्युपेक्षते, न प्रमार्जयतीत्यादयो दशमक इव प्रत्येक सप्तभङ्गा , एतेषु भङ्गकेषु प्रायश्चित्तविधान, सप्तमभङ्गके तु गुरु ।

सम्प्रति लाघवमपेक्ष्यमाणस्त्रेदाईमपि प्रायश्चित्तमत्रैव विषये प्रतिपादयति-

एएसिं अण्णयरं, निरंतरं अतिचरेज्ज तिक्खुत्तो ।
निक्कारणमगिलाणो, पंच उ राइंदिया छेदो ॥ १२८ ॥

एतेषामनन्तरोदितानां रात्रिन्दिवपञ्चकप्रायश्चित्तविषयाणां स्थानानामन्यतरत् स्थानमग्लानो निष्कारण यो निरन्तरमतिचरेत् त्रि.कृत्वस्त्रीन् वारान् तदा तत्पर्यायस्य छेदः क्रियते, पञ्चरात्रिन्दिवानि । उपलक्षणमेतत्–येष्वनन्तरोदितेषु स्थानेषु मासलघुकानि प्रायश्चित्तान्युक्तानि, तेषामन्यतरत्स्थानमग्लानो निष्कारण यदि निरन्तर त्रीन् वारानतिचरति, तदा तत्पर्यायस्य छेदो मासिक इति द्रष्टव्यम् ।

सम्प्रति मासिकानि प्रायश्चित्तानि विभणिषुराह–

हरियाले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे य लोणे य ।
मीसगपुढविक्काए, जह उदउल्ले तहा मासो ॥ १२९ ॥

यथा उदकार्द्रे तथेति वचनादेवमत्र प्रतिपत्तव्यम्-यथा उदकार्द्रे उदकम्रक्षिते करे मात्रके वा भिक्षां गृह्णतः प्रायश्चित्तं लघुमास , तथा हरितालहिङ्गुलकमन शिला प्रतीता । अञ्जनं सौवीराञ्जनाऽऽदि, लवण समुद्राऽऽदि, एते सचित्तपृथिवीकायभेदा । उपलक्षणमेतत्-तेन शुद्धपृथिव्यूषगेरुकवर्णिकासेटिकासौराष्ट्रिकयादयोऽपि सचित्तपृथिवीकायभेदा प्रतिपत्तव्या । तथा मिश्रक सचित्ताऽचित्तरूप कर्दमाऽऽदिर्हरितालाऽऽदिर्वा पृथिवीकाय , एतेष्वपि । किमुक्त भवति ?-एतैरपि प्रत्येक म्रक्षिते करे मात्रके वा भिक्षामादददानस्य लघुर्मास । एतत्पुन सम्प्रदायादवसातव्यम्-सचित्तमिश्रपृथिवीरजोगुण्डिते सचित्तमिश्रोदकस्निग्धे वा करे मात्रके वा भिक्षामुपाददानस्य पञ्च रात्रिन्दिवानि । उक्त च-
" ससणिद्धे ससरक्खे पणगमिति ।" तथा वनस्पतिकायो द्विविध.-परीत्तोऽनन्तकायश्च । एकैकस्य त्रयो भेदा-पिष्ट, कुक्कुसा, उत्कुट्टितश्च । पिष्ट, कुक्कुसाश्च प्रतीता । उत्कुट्टितश्चिञ्चनकाऽऽदि । तत्र त्रिविधैरपि सचित्तमिश्रपरीत्तवनस्पतिकाये संसृष्टे करे मात्रके वा भिक्षा गृह्णतो वा लघुमास । अनन्तसचित्तमिश्रवनस्पतिकायैस्त्रिविधैरपि संसृष्टे गुरुमास , पुर कर्मणि पश्चात्कर्मणि च केचिदाहुर्लघुमास इति, परे चत्वारो लघव इति । उक्त च कल्पचूर्णौ-"पुरकम्मपच्छकम्मेहिं चउलहु।" इति ॥ १२९ ॥

सज्झायस्स अकरणे, काउस्सग्गे तहा अपमिलेहा ।
पोसहियतवे य तहा, अवंदणे चेइयाणं च ॥ १३० ॥

स्वाध्यायस्य वाचनाऽऽदेरकरणे, सामान्यतो मासनिष्पन्न प्रायश्चित्तमिति योग । अथैव भावना-सूत्रपौरुषीं न करोति मासलघु । द्वे सूत्रपौरुष्यावकुर्वतो द्वौ लघुमासौ । तिसृणा सूत्रपौरुषीणामकरणे त्रयो लघुमासा । चतसृणामपि सूत्रपौरुषीणामकरणे चतुर्मासलघु । (काउस्सग्गे इति) अकरणे इति अत्राप्यनुवर्त्तते, आवश्यक इतिवत् कायोत्सर्गस्य सूत्रे सप्तमी, षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् (?) । अकरणे सामान्यतो मासनिष्पन्न प्रायश्चित्तमिति सर्वत्रापि योजनीयम् । भावना त्वियमपीयम्-आवश्यके एक कायोत्सर्गं न करोति मासलघु । द्वौ न करोति द्विमासलघु । त्रीन् कायोत्सर्गान् न करोति त्रिमासलघु । सकलमेवाऽऽवश्यक न करोति, प्रावरणप्रावृतो वा वन्दनकानि आवश्यके न ददाति, दोषैरुपेतानि वा ददाति प्रायश्चित्त मासलघु । नवर यत्र माया तत्र मासगुरु । तथा-(अपमिलेहा इति) विभक्तेरत्र लोप प्राकृतत्वात् । अप्रत्युपेक्षाया , अकरणे सामर्थ्यादवसीयते । तत्रोपधिर्द्विधा-औघिक ,औपग्रहिकश्च । औघिकस्त्रिधा--जघन्यो, मध्यम , उत्कृष्टश्च । तत्र जघन्यश्चतुर्धा । तद्यथा-मुखपोतिका,पात्रकेसरिका,गोच्छक', पात्रस्थापन च । उक्त च-" मुहपोत्ती, पायकेसरिया, गोच्छगो, पायट्ठवण च । एस चउव्विहो जहन्नो" इति । मध्यम षड्विध , तद्यथा-पटलानि, रजस्त्राण, पात्रबन्ध, चोलपट्ट , मात्रक, रजोहरण च । आह च-" पटलाइँ रयत्ताणं, पत्ताबंधो य चोलपट्टो य । मत्तग रयहरण वि य, मज्झिमगो छव्विहो नेओ " ॥ १ ॥ उत्कृष्टश्चतुर्विधः, तद्यथा-पतद्ग्रहस्त्रय कल्पा । उक्त च-"·उक्कोसो चउव्विहो, पमिग्गहो तिन्नि पच्छागा " इति । आर्यिकाणामप्युपधिरौघिकस्त्रिविधः, तद्यथा-जघन्यो, मध्यम , उत्कृष्टश्च । तत्र जघन्यश्चतुर्विधो मुखपोतिकाऽऽदिरूप प्रागुक्त. । मध्यमस्त्रयोदशविध । तद्यथा-पात्रबन्ध १ रजोहरण २ पटलानि ३ रजस्त्राण ४ मात्रक ५ कमठक ६ अवग्रहानन्तक ७ पोट्ट ८ अर्द्धोरुक ९ चलनिका १० कञ्चुक ११ अवकक्षी १२ वैकक्षी १३ ।

उक्त च--

" पत्ताबंधाईया, चउरो ते चेव पुव्वनिद्दिट्ठा ।
मत्तो य कमढक वा, तह ओग्गहऽणतग चेव ॥ १ ॥
पट्टो अद्धोरु चिचय, चलणिय तह कंचुगे य ओगच्छी ।
वेगच्छी तेरसमा, अज्जाण होइ नायव्वा ॥ २ ॥ "

उत्कृष्टोऽष्टविध , तद्यथा-पतद्ग्रहस्त्रय कल्पा ,अभ्यन्तरनिवसनी, बहिर्निवसनी, सघाटी, स्कन्धकरणी च । " उक्कोसो अट्ठविहो, चउरो ते चेव पुव्वदिट्ठा जे साहूण, अन्ने य इमे चउरो-अब्भिंतरनियसणी,बाहिनियसणी,सघाडी,खधकरणी य "इति। औपग्राहिकोऽपि साधूनामार्यिकाणा च त्रिविध. । तद्यथा जघन्यो, मध्यम , उत्कृष्टश्च । तत्र पीठनिषद्या-दण्डकप्रमार्जनी-मगलकापिप्पलकसूचीनखच्छेदनिकाऽऽदिर्जघन्य., मध्यमो दण्डकपञ्चकोच्चारप्रस्रवणखेलमल्लकाऽऽदिरूप आर्यिकाणामधिको वारक , उत्कृष्टोऽक्षा. सस्तारक एकाङ्गिक इतरो वा, द्वितीयपदे पुस्तकपञ्चक, फलक च । " अक्खा सथारो वा, दुविहो एगगिओ व इयरो वा । बिइयपय पोत्थपणग,फलग तह होइ उक्कोसो ॥ १ ॥ " तत्रोत्कृष्टमुपधि यदि यथाकाल न प्रत्युपेक्षते चतुर्मासलघु, मध्यम यदि न प्रत्युपेक्षते तदा मासगुरु । जघन्य न प्रत्युपेक्षते पञ्चरात्रिन्दिवानि, दोषैः प्रत्युपेक्षते मासलघु । (पोसहियतवे य तहा इति) पोष दधातीति पोषधम्-अष्टमीपाक्षिकाऽऽदि । पोषधे भव पौषधिक, तच्च तत् तपश्च पौषधिकतप , तस्मिन्, क्रियमाणे इति सामर्थ्याद्गम्यते । सामान्यतो मासनिष्पन्न प्रायश्चित्तमिति योजना । तद्यथा-अष्टम्या चतुर्थं न करोति मासलघु, पाक्षिके चतुर्थं न करोति

मासगुरु, चतुर्मासिके अष्टमाकरणे चतुर्मासलघु सांवत्सरिके अष्टमं न करोति चतुर्मासगुरु । तथा एतेष्वेवाष्टमीपाक्षिकाऽऽदिषु चैत्यानां जिनबिम्बानां, चशब्दाद् ये अन्यस्यां वसतौ सुसाधवस्तेषामप्यवन्दने मासलघु । तथा ये चैत्यभवनस्थिता वैकालिकं काल प्रतिक्रम्य अकृते आवश्यके प्रभाते च कृते आवश्यके यदि चैत्यानि न वन्दन्ते, तेषामपि मासलघु । उक्तं चास्यैव व्यवहारस्य चूर्णौ-" एएसु चेव अट्ठमिमादीसु चेइयाइ साहुणो साहुणी वा जइ णाए वसहीए ठिया,ते न वंदंति मासलघु । जइ चेइयघरे ठिया वेयालिकं काल पडिक्कता अकए आवस्सए गोसे य कए आवस्सए चेइए न वंदंति मासलहु । " इति ।

'साम्प्रतमेनामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतो " सज्झायस्स अकरणे " इत्येतद् व्याख्यानयति-

सुत्तत्थपोरिसीणं, अकरणे मासो उ होइ गुरुलघुगो ।
चाउकालं पोरिसि-उज्झायण तस्स चउलहुगा ॥ १३१ ॥

सूत्रार्थपौरुष्योः-सूत्रपौरुष्याः, अर्थपौरुष्या इत्यर्थः । अकरणे यथाक्रमं गुरुमासो,लघुमासः । अर्थपौरुषी हि प्रज्ञाऽऽदिविशिष्टसामग्र्यपेक्षा सूत्रायत्ता च । सूत्रपौरुषी त्वजिनवर्ज्याश्रितेनाऽपि जडमतिनाऽपि च यथाशक्ति अवश्यं कर्त्तव्या । सूत्राभावे सर्वस्याप्यभावादतः सूत्रपौरुष्या अकरणे मासगुरु । अर्थपौरुष्या अकरणे मासलघु । द्वयोः सूत्रपौरुष्योरकरणे द्वौ लघुमासौ । तिसृणां पौरुषीणामकरणे त्रयो लघुमासा इति सामर्थ्यात्प्रतिपत्तव्यम् । (चाउक्कालमित्यादि) चतुःकालं दिवारात्रिगतप्रथमचरमप्रहररूपेषु चतुर्षु कालेषु सूत्रपौरुषीरवपातयतो भ्रंशयतोऽकुर्वत इत्यर्थः । चतुर्षु लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः ।

सम्प्रति ' काउस्सग्गे ' इति व्याख्यानयति-

जइ उस्सग्गे न कुणइ, तइमासा निसण्णए निवन्ने य ।
सव्वं चेवावस्सं, न कुणइ तहियं चउलहुं तिं ॥१३२॥

आवश्यके प्रभाते वैकालिके वा यावत कायोत्सर्गान्न करोति तावन्तो मासास्तस्य प्रायश्चित्तम् । एकं चेन्न करोति, एको लघुमासः । द्वौ न करोति द्वौ लघुमासौ । त्रीन्न करोति त्रयो लघुमासाः । तथा निषण्ण उपविष्टो, निपन्नः पतितः, सुप्त इत्यर्थः । चशब्दात् प्रावरणप्रावृतो वा यद्यावश्यकं करोति तदा सर्वत्र मासलघु । यदि पुनः सर्वमेवाऽऽवश्यकं न करोति तदा चतुर्लघु-चत्वारो लघुमासाः प्रायश्चित्तम् ।

अधुना " अपडिलेहाइ त्ति " व्याचष्टे-

चाउम्मासुक्कोसे, मासे मज्झे य पंच उ जहन्ने ।
उवहिस्स अपेहाए, एसा खलु होइ आरुवणा ॥१३३॥

उत्कृष्टे उत्कृष्टस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य उपधेरप्रेक्षायामप्रत्युपेक्षायां चत्वारो लघुमासाः । मध्ये मध्यमस्योपधेरप्रत्युपेक्षायां लघुमासः । जघन्ये जघन्यस्य पञ्चरात्रिन्दिवानि । एषा खलु भवति आरोपणा प्रायश्चित्तं प्रत्युपेक्षायामिति ।

सम्प्रति " पोसहियतवे य " इति व्याख्यानयति-

चउछट्ठऽट्ठमकरणे, अट्ठमिपक्खचउमासवरिसे य ।
लहु गुरु लहुगा गुरुगा, अवंदणे चेइ-साहूणं ॥१३४॥

अत्र यथासङ्ख्येन पदयोजना । सा चैवम्-अष्टम्यां चतुर्थस्याऽकरणे मासलघु । पक्षे पाक्षिके चतुर्थस्याऽकरणे मासगुरु । चतुर्मासे अष्टमस्याऽकरणे चत्वारो लघुमासाः । सांवत्सरिके षष्ठस्याऽकरणे चत्वारो गुरुमासाः । तथा एतेषु चाऽष्टम्यादिषु दिवसेषु चैत्यानाम्, अन्यवसतिगतस्तु साधूनां चाऽवन्दने प्रत्येकं मासलघु ।

सम्प्रति लाघवार्थमत्रैव भेदार्द्दं प्रायश्चित्तमाह-

एतेसु तिगाणेसु, भिक्खू जो वट्टए पमाएणं ।
सो मासियं ति लग्गइ, उग्घायं वा अणुग्घायं ॥१३५॥

एतेष्वनन्तरोदितेषु स्थानेषु (ति त्ति) त्रीन् वारान् यो भिक्षुः प्रमादेन वर्त्तते, प्रमादेनैषां स्थानानामन्यतरत् त्रीन् वारान् अतिचरति, स मासिकं सामान्यतो मासनिष्पन्नं छेदमुद्घातं लघु, अनुद्घातं गुरुकं लगति प्राप्नोति । यत्र यावन्तो मासा लघवो गुरवो वा तपःप्रायश्चित्तं, तत्र तावन्तो मासा लघवो गुरवो वा छेद इति यावत् ।

सम्प्रति शेषाणि यानि चातुर्मासिकानि षाण्मासिकानि वा प्रायश्चित्तानि, ये वा भणिता छेदा , यानि च मूलानवस्थितपाराञ्चितानि, तदेतत्सर्वमेकगाथया विवक्षुराह-

छक्काए चउसु लहुगा, परित्त लहुगा य गुरुग साहारे ।
संघट्टणपरितावण, लहुगुरुगऽतिवायणे मूलं ॥१३६॥

षट्कायाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायरूपाः । तेषां मध्ये चतुर्षु पृथिव्यप्तेजोवायुरूपेषु संघट्टनाऽऽदिभिर्लघुका प्रायश्चित्त, परीत्ते प्रत्येकवनस्पतिकायेऽपि च लघुकाः, साधारे अनन्तवनस्पतिकायिके संघट्टनाऽऽदिषु गुरुकाः । तथा द्वीन्द्रियाऽऽदीनां संघट्टने परितापने च यथायोगं लघुका गुरुकाश्च प्रायश्चित्तम् । अतिपातने विनाशे मूलम् । इयमत्र भावना-पृथिवीकायं संघट्टयति मासलघु, परितापयति मासगुरु, अपद्रावयति जीविताद् व्यपरोपयतीत्यर्थः, चतुर्लघु । एवमप्काये तेजस्काये वायुकाये प्रत्येकवनस्पतिकाये च द्रष्टव्यम् । उक्तं च-" छक्कायाऽऽदिम चउसु, तह य परित्तम्मि होति वणकाए । लहु गुरु मासो चउलहु, संघट्टणपरितावणुद्दवणे ॥१॥ " एतत्प्रायश्चित्तमेकैकस्मिन् दिवसे संघट्टनाऽऽदिकरणे, यदि पुनर्द्वौ द्वौ दिवसौ पृथिव्यादीन् संघट्टयति तदा मासगुरु, परितापयति चतुर्लघु, जीविताद् व्यपरोपयति चतुर्गुरुकं, त्रीन् दिवसान् निरन्तरं पृथिव्यादि संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, अपद्रावयति षण्लघु, निरन्तरं परितापने षण्लघु, अपद्रावणे षण्गुरु, पञ्चदिवसान्निरन्तरं पृथिव्यादीनां संघट्टने षण्लघु,परितापने षण्गुरु, अपद्रावणे मासिकछेद । षण्दिवसान्निरन्तरं संघट्टने षण्गुरु,परितापने मासिकच्छेदः, अपद्रावणे चतुर्मासिकच्छेदः । सप्तदिवसान्निरन्तरं पृथिव्यादीनां संघट्टने मासिकच्छेद । अपद्रावणे षाण्मासिक । अष्टौ दिवसान्निरन्तरं पृथिव्यादीनां संघट्टने चातुर्मासिकच्छेद । परितापने षाण्मासिकं । अपद्रावणे मूलम् । उक्तं च-" दोहिं दिवसेहिं मासगुरुए आढवेत्ता चउगुरुए ठाति० जाव अट्ठहिं संघट्टयति । " अनन्तवनस्पतिकायिकं संघट्टयति मासगुरु । परितापयति चतुर्गुरु । अपद्रावयति चतुर्गुरु । द्विदिवसाऽऽदिनिरन्तरसंघट्टनाऽऽदिषूत्तरोत्तरैकैकस्थाने वृद्धिः, ततः सप्तभिर्दिवसैर्मूलम् । द्वीन्द्रियं संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, अ-

पद्रावयति षमूलघु । अत्र आदिदिवसं निरन्तर सघट्टनाऽऽदिषु षड्भिर्दिवसैर्मूलम् । त्रीन्द्रिय सघट्टयति चतुर्गुरु, परितापयति षम्लघु, अपद्रावयति षमुगुरु । अत्र पञ्चभिर्दिवसैर्मूलम् । चतुरिन्द्रिय सघट्टयति षमूलघु, परितापयत षमुगुरु, अपद्रावयतो मासिकच्छेद' । अत्र चतुर्भिर्दिवसैर्मूलम् । चतुरिन्द्रिय सघट्टयति षमूलघु, परितापयत षमुगुरु, अपद्रावयतो मासिकच्छेद । अत्र चतुर्भिर्दिवसैर्मूलम् । पञ्चेन्द्रिय सघट्टयतः षमुगुरु, परितापयतश्छेद ,अपद्रावयतो मूलम् । अत्र द्वयोर्दिवसयोरनवस्थाप्य, त्रिषु दिवसेषु पाराञ्चितमिति । व्य० १ उ० ।

तपोऽर्हमभिधीयते-

निव्वीए पुरिमड्ढे-गभत्तमायंबिलं चउणागाढे ।
पुरिमाई खमणंतं, आगाढे एवमत्थे वि ॥ ५३ ॥

इह तपोऽर्हप्रायश्चित्ते ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याऽऽचारपञ्चकशतानिचारचक्रमालोच्यम्,तत्राऽऽद्यो ज्ञानाऽऽचारस्यातिचारे ज्ञानाचारातिचार ,सोऽष्टविध । तद्यथा-अकाले स्वाध्यायकरण कालातिचार १।श्रुतमधिजिज्ञासोर्जातिमदावलेपेन गुरुषु,विनयो वन्दनाऽऽदिरुपचार., तस्याप्रयोजन, हीन वा विनयातिचारः २ । श्रुते गुरौ वा बहुमानो हार्दं प्रतिबन्धविशेष ,तस्याऽकरण बहुमानातिचार ३।उपधानमाचामाम्लाऽऽदितपसा योगविधान,तस्याकरणमुपधानातिचार ४। यत्पार्श्वे श्रुतमधीत त निह्नुतेऽपलपति अन्य वा युगप्रधानमात्मनोऽध्यापक निर्दिशति, स्वय वाऽधीतमित्याचष्टे, एष निह्नवनामिधानातिचार ५ । व्यज्यते अर्थोऽनेनेति व्यञ्जनमागमसूत्र, तन्मात्राक्षरबिन्दुभिरूनमतिरिक्त वा करोति, सस्कृत वा विधत्ते, पर्यायैर्वा विदधाति । यथा-"धम्मो मगलमुक्किट्ठ " इत्यादिस्थाने-" पुन्नं कल्लाणमुक्कोस, दया सवरनिज्जरेति " व्यञ्जनातिचार ६ । आगमपदार्थस्यान्यथापरिकल्पनमर्थातिचार' । यथा आचारसूत्रेऽवन्त्यध्ययनमध्ये "आवती केआ लोगसि विप्परामुसतीति । " यावन्त. केचित् लोकेऽस्मिन् पापरिमलोके विपरामृशन्तीति प्रस्तुतेऽर्थेऽन्योऽर्थः परिकल्प्यते-"आवति होइ देसो, तत्थ च अरहट्टकूवजा केया । घडिमासपभिड्ढियाहिं, त लोगो विप्परामुसइ । " ७ । यत्र च सूत्रार्थौ द्वावपि विनश्येते, स तदुभयातिचारो यथा-

" धम्मो मगलमुक्किट्ठो, अहिंसा गिरिमत्थए ।
देवा वि न नमसति, जस्स धम्मे सया मती ॥१॥
आहागडेसु रधति, कट्ठेसु रहकारओ ।
रत्तो भत्तामिणो जत्थ, गद्दभो जत्थ दीसइ ॥ २ ॥ "

अय च महीयानतिचारो, यत सूत्रार्थोभयनाशे मोक्षाभाव , तदभावे दीक्षावैयर्थ्यमिति । एष चाष्टविधोऽपि ज्ञानाचारातिचारो द्विधा-ओघतो, विभागतश्च । तत्र विभागत उद्देशकाध्ययनश्रुतस्कन्धाङ्गेषु विषये प्रमादिन. प्रमादपरस्य कालातिक्रमणाऽऽदिष्वष्टसु ज्ञानाऽऽचारातिचारेषु जातेषु क्रमश क्रमेण तपो निर्विकृतिक,पुरिमार्द्धकभक्ते आचाम्ल च, अनागाढे दशवैकालिकाऽऽदिके श्रुते उद्देशकातिचारे,अकालपाठाऽऽदिके निर्विकृतिकम, अध्ययनातिचारे पुरिमार्द्धम, श्रुतस्कन्धातिचारे एकभक्तम,अङ्गातिचारे आचामाम्लमित्यर्थ । आगाढे तूत्तराध्ययनभगवत्यादिके श्रुते, एतेष्वतिचारस्थानेषु पुरिमार्द्धाऽऽदि क्षपणान्तमेव तपो भवति, एतद्विभागतः प्रायश्चित्तमुक्तम् । जीत० । (एतच्च ' अइयार ' शब्दे प्रथमभागे ८ पृष्ठेऽपि व्याख्यातम्)

छेयाऽमसद्दहओ, मिउणो परियायगव्वियस्सऽवि य ।
छेयाइयाए वि तवो, जीएण गणाहिवइणो य ॥ ५६ ॥

यश्छेद न श्रद्धाति, भणति च व्रतपर्याये दिनपञ्चकाऽऽदौ छिन्ने किं मदीय छिन्न, सम्पूर्णकर्णनासिकाऽऽद्यवयव एव तावदहमस्मि, तस्य च्छेदाऽऽद्यश्रद्धानपरस्य (मिउणो त्ति) यश्छिद्यमाने व्रतपर्याये न सतप्यते, यथा-कष्ट मम पर्यायश्छिन्न इति । यद्वा-अन्येषां लघूनामप्यहमतिलघीयान् जात इति तस्य मृदोः, यश्च पर्यायगर्वितो दीर्घपर्यायत्वात् छिन्नेऽपि पर्याये ह्यन्येभ्योऽभ्यधिकपर्याय एव; न न्यूने पर्याये, न च पर्यायच्छेदाद् बिभेति, तस्य पर्यायगर्वितस्य । अपि चेति समुच्चये । एतेषामुद्दिष्टानां छेदमापन्नानामपि, आदिशब्दान्मूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकान्यथोपपन्नानां, तथा गणाधिपतेराचार्यस्य, चशब्दात्कुलगणसघाधिपानां च, जीतेन जीतव्यवहारमतेन, तप एव दीयते । अत्राऽऽह-दीयतां नाम छेदाऽऽद्यश्रद्धालुप्रभृतीनां छेदाऽऽद्यापत्तावपि तप.,आचार्याऽऽदीनां तु कथमिति ? अत्रोच्यतेअनेकविधा. शिष्याः परिणामकापरिणामका ,अतिपरिणामकाः, शैक्षा उच्छृङ्खलाश्चेति । तत्रोत्सर्गे उत्सर्गापवादे चापवाद यथा भणित ये श्रद्धत्याचरन्ति च ते परिणामका., ये पुनरुत्सर्गमेव श्रद्धत्याचरन्ति, अपवाद तु न श्रद्दधति, नाचरन्ति वा, तेऽपरिणामका , ये चापवादमाचरन्ति नोत्सर्गं, तेऽतिपरिणामका., शैक्षा नवदीक्षिता , उच्छृङ्खला वल्गुप्रायाः,यथामपरिणामिकाऽऽदीनामिमे मा निन्दनीया लाघवभाजोऽभूवन्नित्याचार्याऽऽदीनामपि त एव दीयन्ते, न छेदाऽऽदय इति । जीत० ।('जीयववहार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५१३-पृष्ठे, ' तवारिह ' शब्दे २१८५ पृष्ठे चावशिष्ट द्रष्टव्यम्)

तविय–तप्त–त्रि० । " शैर्षेतप्तवज्रे वा " ॥ ८ । २ । १०५ ॥ इति तप्तस्य सयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकार । प्रा० २ पाद । तप्ते, स्था० ८ ठा० । " आइच्चतेयसा तविया खणलवदिवसाओ परिणमति ।" स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

तवोकम्म–तपःकर्म–न० । तस्यैवाऽष्टप्रकारस्य कर्मणो बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थस्याऽपि निर्जराहेतुभूतं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वादशप्रकार तप कर्मोच्यते । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । निर्विकृतिकाऽऽदिनि (स्था० २ ठा० १ उ० । स० । औ०) महालयाऽऽदिनि (अन्त० ८ वर्ग० ३ अ०) तपःक्रियायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तवोकम्मगंमिया–तपःकर्मगण्डिका–स्त्री० । तप.कर्मवक्तव्यतार्थाधिकारानुगताया ग्रन्थपद्धतौ, स० ।

तवोगुणपहाण–तपोगुणप्रधान–त्रि० । षष्ठाष्टमाऽऽदितपोधनवति, दशा० ४ अ० ।

तवोमग्गगइ–तपोमार्गगति–स्त्री० । उत्तराध्ययनानां त्रिंशत्तमेऽध्ययने, उत्त० २६ अ० । स० ।

दुविहतवोमग्गगई, वन्निज्जइ जम्ह एत्थ अज्झयणे ।
तम्हा एयऽज्झयणं, तवमग्गगइ त्ति नायव्वं ॥४६॥

द्विविध तपो बाह्यमाभ्यन्तर च, तदेव मार्गो भावमार्ग ,तत्फलभूता च गति सिद्धिगति' द्विविधतपोमार्गगतिर्भण्यते यस्माद्ध्ययने तस्मादेतदध्ययन तपोमार्गगतिरिति ज्ञातव्यम, अभिधानोपचारादिति भाव. । उत्त० पाई० ३० अ० ।

तवोमय–तपोमद–पुं० । अहमेव विकृष्टतपोविधायी नापि तपसा ग्लानिमुपगच्छामीत्येवंरूपे मदे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । "पन्नामय चेव तवोमय च, णिन्नामए गोयमय च भिक्खू ।" सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

तवोवहाण–तपउपधान–न० । विशिष्टतपोविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । तपःकर्मणि, "दाण तवोवहाणं, सरीरसक्कारमो जहासत्ति ।" पञ्चा० ९ विव० । अनियन्त्रिते तपसि, श्रुतोपचारतपसि च । स० ६ अङ्ग ।

तवोवहाणादिय–तपउपधानादिक–त्रि० । तपःकर्मशरीरसत्कारप्रभृतिकाऽऽदौ, "कयमत्थ पसंगेण, तवोवहाणादिया विणियसमए । अणुरूवं कायव्वा, जिणाण कल्लाणदियहेसु ।" ॥ २६ ॥ पञ्चा० ६ विव० ।

तवोसमायारिसमाहिसंवुड–तपःसामाचारिसमाधिसंवृत–पुं० । तपसोऽनशनाऽऽद्यात्मकस्य सामाचारी समाचरणम् । यद्वा-तपश्च सामाचारी च तत्कृतो वक्ष्यमाणस्वरूप. समाधिश्च चेतस. स्वास्थ्यं, तैः संवृतो निरुद्धाऽऽश्रव तप सामाचारिसमाधिसंवृत. । यद्वा-तप.सामाचारिसमाधिभि. संवृत संवरण यस्य स तथा । तपस· समाचरणेन समाधिना च निरुद्धाऽऽश्रवे, उत्त० १ उ० ।

तव्वइरित्तमिच्छादंसणवत्तिया–तद्व्यतिरिक्तमिथ्यादर्शनप्रत्यया–स्त्री० । तस्मात् ऊनातिरिक्तमिथ्यादर्शनाद्व्यतिरिक्त मिथ्यादर्शन नास्त्येवाऽऽत्मेत्यादिमतरूप प्रत्ययो यस्याः सा तथा, तस्याम्, स्था० २ ठा० १ उ० ।

तव्वत्थुय–तद्वस्तुक–पुं० । तदेव परोपन्यस्तसाधन वस्त्विति उत्तरभूत वस्तु यस्मिन् उपन्यासोपनये स तद्वस्तुक. । अथवा-तदेव परोपन्यस्तं वस्तु तद्वस्तु, तदेव तद्वस्तुकं, तद्युक्त उपन्यासोपनयोऽपि तद्वस्तुक. । उपन्यासभेदे, स्था० । यथा कश्चिदाह-समुद्रतटे महान् वृक्षोऽस्ति, तच्छाखा जलस्थलयोरुपरि स्थिता, तत्पत्राणि च यानि जले निपतन्ति तानि जलचरा जीवा भवन्ति; यानि च स्थले तानि स्थलचरा इति । अन्यस्तदुपन्यस्तमेव तरुपत्रपतनवस्तु गृहीत्वा तदुक्तं विघटयति-यदुत यानि पुनर्मध्ये, तेषां का वार्तेत्येतदुपपत्तिमात्रमुत्तरभूत तद्वस्तुक उपन्यासोपनयः, ज्ञातत्व चास्य ज्ञाननिमित्तत्वात् । अथवा-यथारूढमेव ज्ञातमेतत् । तथा ह्येवं प्रयोगोऽस्य-जलस्थलपतितपत्राणि न जलचराऽऽदिसत्त्वा. सम्भवन्ति, जलस्थलमध्यपतितपत्रवत् । तन्मध्यपतितपत्राणां हि जलस्थलपतितपत्रजलचरत्वाऽऽदिप्राप्तिवदुभयरूपप्रसङ्ग., न चोभयरूपाः सत्त्वा अभ्युपगता इति । अथवा-नित्यो जीवोऽमूर्तत्वादाकाशवदित्युक्ते आह-अनित्य एवास्तु मूर्तत्वात्कर्मवदिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तव्वत्थूवन्नास–तद्वस्तूपन्यास–पुं० । उपन्यासभेदे, दश० १ अ० ।

तव्वत्थुयम्मि पुरिसो, सव्वं जमिऊण साहइ अपुव्वं । (८४)

तद्वस्तुके, तद्वस्तूपन्यासे इत्यर्थ । पुरि शयनात् पुरुष. । सर्वं भ्रान्त्वा सर्वमाहिण्ड्य, किम् ?, कथयति, अपूर्वं, वर्तमाननिर्देश. पूर्ववदिति गाथादलार्थ. । भावार्थ कथानकादवसेय । तच्चेदम्-"एगम्मि देवकुले कप्पडिया मिलिता भणति-केण भे भमतेहिं किंचि अच्छेरियं दिट्ठ ? । तत्थ एगो कप्पडिगो भणइ-मए दिट्ठं ति । जइ पुण एत्थ समणोवासओ नऽत्थि, तो साहेमि । तओ सेसेहिं भणियं-णत्थिऽत्थ समणोवासओ । पच्छा सो भणति-मए हिमंतेण पुव्ववेतालीए समुद्दस्स तमे रुक्खो महतिमहतो दिट्ठो । तस्सेगा साहा समुद्दे पइट्ठिया, एगा य थले । तत्थ जाणि पत्ताणि जले पडंति, ताणि जलचराणि सत्ताणि हवंति, जाणि थले, ताणि थलचराणि हवंति । ते कप्पडिया भणति-अहो ! अच्छेरियं देवेण भट्टारएण णिम्मियं ति । तत्थेगो सावगो कप्पडिओ । सो भणति-जाणि अद्धमज्झे पडंति, ताणि किं हवंति ? । ताहे सो खुद्दो भणति-मया पुव्वं चेव भणित । जइ सावओ नऽत्थि तो कहेमि । एतेण तं चेव एमणवत्थुमहिकिच्चोदाहरियं ।" एव तावल्लौकिकमिदं चोक्तन्यायाल्लोकोत्तरस्यापि सूचकम् । तत्र चरणकरणानुयोगे य कश्चिद्विनेयः कञ्चनासद्ग्राह गृहीत्वा न सम्यग्वर्त्तते, स खलु तद्वस्तूपन्यासेनैव प्रज्ञापनीयः । यथा कश्चिदाह-"न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूताना, निवृत्तिस्तु महाफला ॥ १ ॥" इद च किलैवमेव प्रयुज्यते, प्रवृत्तिमन्तरेण निवृत्ते. फलाभावान्निर्विषयत्वेनासम्भवाच्च, तस्मात्फलनिबन्धननिवृत्तिनिमित्तत्वेन प्रवृत्तिरप्यदुष्टैवेति । अत्रोच्यते-इह निवृत्तेर्महाफलत्व किं दुष्टप्रवृत्तिपरिहाराऽऽत्मकत्वेन, आहोस्विददुष्टप्रवृत्तिपरिहाराऽऽत्मकत्वेनेति ? । यद्याद्य पक्ष-कथ प्रवृत्तेरदुष्टत्वम् ?, अथापरस्ततो निवृत्तेरप्यदुष्टत्वात्तन्निवृत्तेरपि प्रवृत्तिरूपाया महाफलत्वप्रसङ्ग , तथा च सति पूर्वापरविरोध इति भावना । द्रव्यानुयोगे तु य एवमाह- एकान्तनित्यो जीवः, अमूर्त्तत्वादाकाशवदिति । स खलु तदेवामूर्तत्वमाश्रित्य तस्योत्क्षेपणाऽऽद्यावनित्ये कर्मण्यपि तावद्वक्तव्यः । कर्मामूर्त्तमनित्य चेत्यय वृद्धदर्शनेनोदाहरणदोष एव, यथाऽन्येषां साधर्म्यसमा जातिरिति । दश० १ अ० ।

तव्वयण–तद्वचन–न० । तस्य विवक्षितार्थस्य घटाऽऽदेर्वचन भणन तद्वचन, घटार्थापेक्षया घटवचनवत् । वचनभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

तस–त्रस–पुं० । त्रसन्ति उष्णाऽऽद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाऽऽद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसा , अनया च व्युत्पत्त्या त्रसास्त्रसनामकर्मोदयवर्तिन एव परिगृह्यन्ते, न शेषाः । अथ च शेषैरपीह प्रयोजन, तत एव व्युत्पत्ति-त्रसन्ति अभिसन्धिपूर्वकमनभिसन्धिपूर्वकं वा ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु चलन्तीति त्रसा. । तेजोवायुषु, द्वीन्द्रियाऽऽदिषु च । जी० १ प्रति० । त्रसन्तीति त्रसाः । द्वीन्द्रियाऽऽदिषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । ज० । सू० प्र० । स्था० । प० सं० । आचा० । आव० । स० । द्वीन्द्रियाऽऽदिकृम्यादिषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्नेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । त्रसनामकर्मोदयतस्त्रस्यन्तीति त्रसा । द्वीन्द्रियाऽऽदिषु, स्था० २ ठा० १ उ० । सूत्र० । तेजोवायुद्वीन्द्रियाऽऽदिषु, नि० चू० १२ उ० । सूत्र० । द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियेषु, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । त्रस्यन्ति तापाऽऽद्युपतप्ताश्छायाऽऽदिक प्रत्यभिसर्पन्तीति त्रसाः । द्वीन्द्रियाऽऽदिषु, उत्त० ५ अ० । कुन्थ्वादिषु, पा० । दर्दुरप्रभृतिषु, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । त्रससम्भारकृतेन कर्मणा समुत्पन्ना सन्त. सामान्यसंज्ञया प्राणा अप्युच्यन्ते, तथा विशेषत 'त्रस' भयचलनयोरिति धात्वर्थानुगमाद्, भयचलनाभ्यामुपेतेषु, सूत्र० २ श्रु०

७ अ० । त्रस्यन्तीति त्रसा. तेजोवायुरूपा विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात्त्रिधा । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

तिविहा तसा पएणत्ता । तं जहा-तेउकाइया, वाउकाइया, उराला तसा पाणा ।

त्रस्यन्तीति त्रसा सचलनधर्माण, तत्र तेजोवायवो गतियोगात्त्रसा उदारा' स्थूलास्त्रसा इति त्रसनामकर्मोदयवर्तित्वात् प्राणा इति व्यक्तोच्छ्वासाऽऽदिप्राणयोगाद् द्वीन्द्रियाऽऽदयस्तेऽपि गतियोगात् त्रसा इति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

सम्प्रति औदारिकत्रसानाह-

से किं तं उराला तसा पाणा ? । उराला तसा पाणा चउव्विहा पन्नत्ता । तं जहा-बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया ।

(से किं तमित्यादि) अथ के ते औदारिकास्त्रसा ? । सूरिराह-औदारिकास्त्रसाश्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता । तथा द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रिया चतुरिन्द्रिया पञ्चेन्द्रिया । तत्र द्वे स्पर्शरसनरूपे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रिया. । त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रिया । चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रिया । पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रिया । जी० १ प्रति० ।

इदानीं त्रसाधिकारे एतदाह-

से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा । तं जहा-अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेइमा, संमुच्छिमा, उब्भिया, उववाइया ॥

(से जे पुण इमे इति) ' से ' शब्दोऽथशब्दार्थ । अथाऽभ्युपन्यासार्थ । " अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु " इति वचनात् । अथ ये पुनरमी बालाऽऽदीनामपि प्रसिद्धा, अनेके द्वीन्द्रियाऽऽदिभेदेन बहव एकैकस्यां जातौ त्रसा. प्राणिन -त्रस्यन्तीति त्रसा. प्राणा उच्छ्वासाऽऽदय एषां विद्यन्त इति । तद्यथा-(अंडया इत्यादि) एष खलु षष्ठो जीवनिकाय त्रसकाय प्रोच्यत इति योग. । तत्राण्डाज्जाता अण्डजा, पक्षिगृहकोकिलाऽऽदय । पोता एव जायन्त इति पोतजा । ' अन्येष्वपि दृश्यते " ॥ ३ । २ । १०१ । इति डप्रत्ययो जनेरिति वचनात्, ते च हस्तिवल्गुलीचर्मजलूकाप्रभृतय. । जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरायुजा । गोमहिष्यजाविकमनुष्याऽऽदय । अत्रापि पूर्ववड्डप्रत्यय । रसाज्जाता रसजा , तक्राऽऽरनालदधितीमनाऽऽदिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति । संस्वेदाज्जाता इति संस्वेदजा .मत्कुणयूकाशतपदिकाऽऽदय । सम्मूर्च्छनाज्जाता सम्मूर्च्छनजा, शलभपिपीलिकामक्षिकाशालूकाऽऽदय । उद्भेदाज्जन्म येषां ते उद्भेदा । अथवा-उद्भेदनमुद्भित, उद्भिज्जन्म येषां ते उद्भिज्जा, पतङ्गखञ्जरीटपारिप्लवाऽऽदय । उपपाताज्जाता उपपातजा । अथवा-उपपाते भवा औपपातिका , देवा नारकाश्च ।

एतेषामेव लक्षणमाह-

जेसिं केसिं चि पाणाणं अभिकंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइविण्णाया ॥

येषां केषाञ्चित्सामान्येनैव प्राणिनां जीवानामभिक्रान्त, भवतीति वाक्यशेष । अभिक्रमणमभिक्रान्त, भावे निष्ठाप्रत्यय । प्रज्ञापक प्रत्यभिमुख क्रमणमित्यर्थ । एव प्रतिक्रमणं प्रतिक्रान्त, प्रज्ञापकात्प्रतीप क्रमणमिति भाव. । सङ्कोचन सङ्कुचितं, गात्रसङ्कोचकरणम् । प्रसारण प्रसारित, गात्रविततकरणम् । रवण रुत, शब्दकरणम् । भ्रमण भ्रान्तम्, इतश्चेतश्च गमनम् । त्रसन त्रस्त, दु खादुद्वेजनम् । पलायन पलायित, कुतश्चिन्नाशनम् । तथा आगते कुतश्चित् क्वचित्, गतेश्च कुतश्चित्क्वचिदेव च, (विण्णाया इति) विज्ञातार । आह-अभिक्रान्तप्रतिक्रान्ताभ्यां नाऽऽगतिगत्यो कश्चिद्भेद इति किमर्थं भेदेनाभिधानम् ? । उच्यते-विज्ञातृविशेषख्यापनार्थम् । एतदुक्तं भवति-य एव विजानन्ति,यथा-वयमभिक्रमाम ,प्रतिक्रमामो वा,त एव त्रसा ; न तु वृत्ति प्रत्यभिक्रमणवन्तोऽपि वल्ल्यादय इति । आह-एवमपि द्वीन्द्रियाऽऽदीनामत्र सङ्ग्रहप्रसङ्ग , अभिक्रमणप्रतिक्रमणभावेऽप्येव विज्ञानाभावात् । नैतदेवम् । हेतुसंज्ञाया अवगमेबुद्धिपूर्वकमिव छायात उष्णमुष्णाच्च छायां प्रति तेषामभिक्रमणाऽऽदिदर्शनात् । न चैवं वल्ल्यादीनामभिक्रमणाद्योघसंज्ञाया. प्रवृत्तेरिति कृत प्रसङ्गेन ।

अधिकृतत्रसभेदानाह-

जे य कीडपयंगा, जा य कुंथुपिपीलिया, सव्वे बेइंदिया, सव्वे तेइंदिया, सव्वे चउरिंदिया, सव्वे पंचिंदिया, सव्वे तिरिक्खजोणिया, सव्वे नेरइया, सव्वे मणुया, सव्वे देवा, सव्वे पाणा परमहम्मिया ।

(जे य इत्यादि) ये च कीटपतङ्गा इत्यत्र कीटा कृमय ," एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम् " इति द्वीन्द्रिया. शङ्खाऽऽदयोऽपि गृह्यन्ते । पतङ्गा शलभा । अत्रापि पूर्ववच्चतुरिन्द्रिया भ्रमराऽऽदयोऽपि गृह्यन्त इति । तथा याश्च कुन्थुपिपीलिका इति, अनेन त्रीन्द्रिया सर्व एव गृह्यन्ते । अत एवाऽऽह-सर्वे द्वीन्द्रिया. कृम्यादय., सर्वे त्रीन्द्रिया कुन्थ्वादय , सर्वे चतुरिन्द्रिया. पतङ्गाऽऽदय । आह-ये च कीटपतङ्गा इत्यादावुद्देशव्यत्यय किमर्थम् ? । उच्यते-विचित्रा सूत्रगति ,अतन्त्र क्रम इति ज्ञापनार्थम् । सर्वे पञ्चेन्द्रिया सामान्यत । विशेषत. पुन सर्वे तिर्यग्योनयो गवादय , सर्वे नारका रत्नप्रभानारकाऽऽदिभेदभिन्ना , सर्वे मनुजा. कर्मभूमिजाऽऽदय., सर्वे देवा भवनवास्यादय । सर्वशब्दश्चात्र परिशेषभेदाना त्रसत्वख्यापनार्थ । सर्वे एवैते त्रसा , न त्वेकेन्द्रिया इव त्रसा , स्थावराश्च इति । उक्त च-" पृथिव्यम्बुवनस्पतय. स्थावरा ,तेजोवायुद्वीन्द्रियाऽऽदयश्च त्रसा । ' इति । सर्वे प्राणिन परमधर्माण इति । सर्वे एते प्राणिनो द्वीन्द्रियाऽऽदय पृथिव्यादयश्च परमधर्माण इति । अत्र परमं सुख तद्धर्माण -सुखधर्माण , सुखाभिलाषिण इत्यर्थ. । यतश्चैवमित्यतो दु खोत्पादपरिजिहीर्षया एतेषां षण्णां जीवनिकायाना नैव स्वय दण्डं समारभेतेति योग. ।

षष्ठ जीवनिकाय निगमयन्नाह-

एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाओ त्ति पवुच्चइ ।

एष खल्वनन्तरोदित कीटाऽऽदि षष्ठो जीवनिकाय , पृथिव्यादिपञ्चकापेक्षया षष्ठत्वमस्य । त्रसकाय इति प्रोच्यते-प्रकर्षेणोच्यते, सर्वैरेव तीर्थकरगणधरैरिति प्रयोगार्थ. । प्रयोगश्च-विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरम् , आदिमत्प्रतिनियताऽऽकारत्वात्,

ादवत् । आह-इह त्रसकायनिगमनमनभिधायास्थाने सर्वे ाणिन. परमधर्माण इत्यनन्तरसूत्रसम्बन्धिसूत्राभिधान किम- र्थम् ? । उच्यते-निगमनसूत्रव्यवधानवदर्थान्तरेण व्यवधानस्या- नार्थम् । तथाहि-त्रसकायनिगमनसूत्रावसानो जीवाभिगम, अत्रान्तरेऽजीवाभिगमाधिकारः, तदर्थमभिधाय चारित्रधर्मो ाक्तव्य । दश० ४ अ० ।

त्रस-धा० । गतौ, ग्रहे, निषेधे च । चुरा०-उभ०-सक०-सेट् । ासयति । त्रसयते । अतित्रसत् । वाच० । भये,ज्वादि० फणा०- ार०-अक०-सेट् । वाच० । "त्रसेर्डर-बोज्ज-वज्जा" ॥ ८ । ४ । १८ ॥ त्रसेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति । 'डरइ,' 'वोज्जइ,' ज्जइ' । पक्षे-'तसइ' । प्रा० ४ पाद ।

ाकाइअ-त्रसकायिक-पु० । त्रसनशीलास्त्रसाः, त्रसाः काया ारीराणि येषां ते त्रसकायाः, त्रसकाया एव त्रसकायिकाः । श० ४ अ० । जङ्गमप्राणिनि, स० ३ सम० ।

ाकाय-त्रसकाय-पु० । त्रसनामकर्मोदयात्त्रस्यन्तीति त्रसा, षां कायो राशिस्त्रसकाय. । स्था० २ ठा० १ उ० । त्रसन- शीलास्त्रसा, त्रसा. काया' शरीराणि येषां ते त्रसकाया' । ज- ङ्गमजीवभेदे, स० १० सम० । " तसकाए दुविहे पण्णत्ते । तं हा-भवसिद्धिए चेव, अभवसिद्धिए चेव । " स्था० २ ठा० १ ० । (व्याख्या स्वस्वस्थाने)

अथ त्रसकायोद्देशमाह-

तसकाए दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्तओ विहाणे, परिमाणुवभोगसत्थे य ॥ १५१ ॥

त्रसन्तीति त्रसा', तेषां काय, तस्मिन्, तान्येव द्वाराणि भव न्ति, यानि पृथिव्या प्रतिपादितानि । नानात्वं विधानपरिमा- णोपभोगशस्त्रद्वारेषु, चशब्दाल्लक्षणे च प्रतिपत्तव्यमिति ।

तत्र विधानद्वारमाह-

दुविहा खलु तसजीवा, लद्धितसा चेव गतितसा चेव ।
लद्धी य तेउवाऊ, तेणऽहिगारो इहं नत्थि ॥ १५२ ॥

(दुविहेत्यादि) द्विविधा द्विभेदा, खलुरवधारणे, त्रसत्वं ाति द्विभेदत्वमेव-त्रसनात् स्पन्दनात् त्रसा, जीवनात् प्राण- धारणाज्जीवा । त्रसा एव जीवास्त्रसजीवा -लब्धित्रसा, गतित्र- साश्च । लब्ध्या तेजोवायू त्रसौ, लब्धिमात्रत्वात्तेषाम् । लब्धित्र- साश्चयामिहाधिकारो नास्ति, तेजसोऽभिहितत्वाद्, वायोश्चाभि- धास्यमानत्वात्, अत सामर्थ्याद् गतित्रसा एवाधिक्रियन्ते ।

के पुनस्ते कियद्भेदा इत्याह-

नेरइयतिरियमणुया, सुरा गइतसा चउव्विहा एए ।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता, नेरइयाई उ नायव्वा ॥ १५३ ॥

(नेरइयेत्यादि) नारका -रत्नशर्कराऽऽदिमहातम.पृथ्वीपर्यन्त- नरकवासिन सप्तभेदा, तिर्यञ्चोऽपि-द्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रिया, म- नुष्या -सम्मूर्छनजा, गर्भव्युत्क्रान्तयश्च, सुरा.-भवनपतिव्यन्त- रज्योतिष्कवैमानिका, एते गतित्रसाश्चतुर्विधा, नामकर्मोदया- भिनिर्वृत्तगतिलाभात्तत्त्रसत्वम । एते च नारकाऽऽदय पर्या- प्ताऽपर्याप्तभेदेन द्विविधा भवन्ति, तत्र पर्याप्ति पूर्वोक्तैव षोढा, तेषां यथासमय निष्पन्ना. पर्याप्ता, तद्विपरीतास्त्वपर्याप्तका अन्तर्मुहूर्तकालमिति ।

इदानीमुत्तरभेदानाह-

तिविहा तिविहा जोणी, अंडा पोया जराउया चेव ।
बेइंदिय तेइंदिय, चउरो पंचिंदिया चेव ॥ १५४ ॥

(तिविहेत्यादि) अत्र हि शीतोष्णमिश्रभेदात्, तथा-सचित्ता- चित्तमिश्रभेदात्, तथा-संवृतविवृततदुभयभेदात्, तथा-स्त्री- पुन्नपुंसकभेदाच्चेत्यादीनि बहूनि योनीनां त्रिकाणि सम्भव- न्ति, तेषां सर्वेषां संग्रहार्थं त्रिविधा त्रिविधेति वाचा नि- र्देशः, तत्र नारकाणामाद्यासु तिसृषु भूमिषु शीतैव योनि, चतुर्थ्यामुपरितननरकेषु शीता, अधस्तननरकेषूष्णा, पञ्चमीषष्ठी- सप्तमीषूष्णैव, नेतरे, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणामशेषदेवा- नां च शीतोष्णा योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रियसम्मूर्च्छनज- तिर्यङ्मनुष्याणां त्रिविधाऽपि योनि -शीता, उष्णा, शीतोष्णा चेति । तथा-नारकदेवानामचित्ता, नेतरे, द्वीन्द्रियाऽऽदिसंमू- र्च्छनजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां सचित्ताचित्तमिश्रयोनिर्नेतरे ... . (?) । तथा-देवनारकाणां संवृता योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुरिन्द्रियसम्मूर्च्छनजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां विवृता योनिर्नेतरे, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणां संवृतविवृता यो- निर्नेतरे । तथा-नारका नपुंसकजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां विवृता योनिर्नेतरे । गर्भयोनय एव तिर्यञ्च त्रिविधा. स्त्रीपु- नपुंसकयोनय, मनुष्या अप्येवं त्रैविध्यभाज., देवा स्त्रीपु- योनय एव, तथा पर मनुष्ययोनेस्त्रैविध्यम । तद्यथा-कूर्मोन्नता । तस्यां चार्हत्चक्रवर्त्यादिसत्पुरुषाणामुत्पत्ति । तथा-शङ्खाऽऽव- र्ता । सा च स्त्रीरत्नस्यैव, तस्यां च प्राणिनां संभवो नास्तीति न निष्पत्ति । तथा-वंशीपत्रा । सा च प्राकृतजनस्येति । तथा पर त्रैविध्य निर्युक्तिकृद्दर्शयति । तद्यथा-अण्डजा., पोतजा, जरायु- जाश्चेति । तत्राण्डजा पक्ष्यादय., पोतजा. वल्गुलीगजक- लभाऽऽदय, जरायुजा गोमहिषीमनुष्याऽऽदय । तथा द्वित्रि- चतु पञ्चेन्द्रियभेदाच्च भिद्यन्ते । एवमेते त्रिविधास्त्रसा योन्या- दिभेदेन प्ररूपिता ।

एतद्योनिसंग्राहिण्यो गाथा -

" पुढविदगअगणिमारुय-पत्तेयनिओयजीवजोणीणं ।
सत्तग सत्तग सत्तग, सत्तग दस चोद्दस य लक्खा ॥ १ ॥
विगलिंदिएसु दो दो, चउरो चउरो य नारयसुरेसु ।
तिरिया सत्तऽट्ठनव य, पणवीसा एगिंदिया ॥ २ ॥
... होंति चउरो, चोद्दस मणुयाण लक्खाइं ॥ "

एवमेते चतुरशीतियोनिलक्षा भवन्ति ।

तथा कुलपरिमाणम्-

" कुलकोडिसयसहस्सा, बत्तीसऽट्ठट्ठ नव य पणवीसा ।
एगिंदिय बितिइंदिय, चउरिंदिय हरियकायाणं ।
अद्धत्तेरस बारस, दस नव चेव कोडिलक्खाइं ॥ १ ॥
जलयरपक्खिचउप्पय-उरभुयपरिसप्पजीवाण ।
पणवीस छव्वीसं, च सयसहस्साइँ नारयसुराणं ॥ २ ॥
बारस य सयसहस्सा, कुलकोडीणं मणुस्साणं ॥ ३ ॥
एगा कोडाकोडी, सत्ताणउइ च सयसहस्साइं ।
पन्नास च सहस्सा, कुलकोडीणं मुणेयव्वा ॥ ४ ॥

अङ्कत -१९७५०००००००००००० सकलकुलसंग्रहोऽयं बो- द्धव्यः । आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

से किं तं तसकाइया ?। तसकाइया चउव्विहा पत्ता । तं जहा-बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया । से किं तं बेइंदिया ?। बेइंदिया अणेगविहा पत्ता । एवं जहेव पत्तवणाए तहेव निरवसेसं भाणियव्वं० जाव सव्वट्ठसिद्धगा देवा । सेत्तं अणुत्तरोववाइया, सेत्तं पंचिंदिया, सेत्तं तसकाइया ॥ उक्ता प्ररूपणा । जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

तदनन्तरं लक्षणद्वारमाह-

दंसणनाणचरित्ते, चरियाचरिए य दाणलाभे य ।
उवभोगभोगवीरिए, इंदियविसए य लद्धीए ॥ ५५ ॥
उवओगजोग अज्झव-साणे वीसुं च लद्धिउदए य ।
अट्ठविहोदय लेसा, सण्णा उस्सासे कसाए य ॥ ५६ ॥

(दसणेत्यादि) दर्शनं सामान्योपलब्धिरूपं, चक्षुरचक्षुरवधिकेवलाऽऽख्यं. मत्यादीनि ज्ञानानि स्वपरपरिच्छेदिनो जीवस्य परिणामाः ज्ञानाऽऽवरणविगमभ्यवास्तवार्थपरिच्छेदः साकायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायययाख्यातानि, चारित्र चारित्राचारित्र देशविरतिस्थूलप्राणातिपाताऽऽदिनिवृत्तिलक्षणं श्रावकाणाम्, तथा दानलाभभोगोपभोगवीर्याः श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनाऽऽख्याः देशतश्च जीवद्रव्यव्यभिचारिणो लक्षणं भवन्ति । तथोपयोग साकारोऽनाकारश्चाऽऽष्टचतुर्भेद ,योगो मनोवाक्कायाऽऽख्यस्त्रिधा, अध्यवसायाश्चानेकविधाः सूक्ष्मा मन परिणामसमुत्था ,विष्वग् पृथग्लब्धीनामुदया प्रादुर्भावा क्षीरमध्वास्रवाऽऽदय ,ज्ञानाऽऽवरणाऽऽन्तरायायासनकर्मोदयकस्य स्वशक्तिपरिणाम उदय ,लेश्या कृष्णाऽऽदिभेदा अशुभा शुभाश्च कषाययोगपरिणामविशेषसमुत्था., संज्ञास्त्वाहारभयपरिग्रहमैथुनाऽऽख्या । अथवा-दशभेदा अनन्तरोक्ताश्चतस्र ,क्रोधाऽऽद्याश्चतस्र , तथौघसंज्ञा,लोकसंज्ञा च । उच्छ्वासनि श्वासौ प्राणापानौ, कषाया -कष ससार ,तस्याया क्रोधादयोऽनन्तानुबन्ध्यादिभेदात् षोडशविधा । एतानि गाथाद्वयोपन्यस्तानि द्वीन्द्रियाऽऽदीना लक्षणानि यथासम्भवमयगन्तव्यानीति, नैवंविधलक्षणकलापमुद्वयो घटाऽऽदिष्वस्ति, तस्मात्तत्राचैतन्यमध्यवस्यन्ति विद्वांस ।

अभिहितलक्षणकलापोपसंजिहीर्षया तथा परिमाणप्रतिपादनार्थं गाथामाह-

लक्खणमेयं चेव उ, पयरस्स असंखभागमेत्ता ते ।
निक्खमणे य पवेसो, एगा वीया वि एमेव ॥ ५७ ॥

(लक्खणमित्यादि) तुशब्द. पर्याप्तिवचन', द्वीन्द्रियाऽऽदिजीवाना लक्षणं लिङ्गमेतावदेव दर्शनाऽऽदिपरिपूर्णं,नान्यदधिकमस्तीति । परिमाणं पुन क्षेत्रतः सर्वतितलोकप्रतरासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणाश्चसकायपर्याप्तका. । एते च बादरतेजस्कायपर्याप्तकेभ्योऽसख्येयगुणा , त्रसकायपर्याप्तकेभ्यस्त्रसकायिकापर्याप्तका असख्येयगुणा , तथा कालत. प्रत्युत्पन्नत्रसकायिका. सागरोपमलक्षपृथक्त्वसमयराशिपरिमाणा जघन्यपदे, उत्कृष्टपदेऽपि सागरोपमलक्षपृथक्त्वपरिमाणा एवेति । तथा चागम.-" पडुप्पन्ना तसकाइया केवतिकालस्स निल्लेवा सिया ?। गोयमा ! जहन्नपए सागरोवमसयसहस्सपुहुत्तस्स, उक्कोसपदे वि सागरोवमसयसहस्सपुहुत्तस्स ।" उद्वर्तनोपपातौ गाथाशकलेनाभिधत्ते-निष्क्रमणमुद्वर्तन,प्रवेश उपपात., जघन्येनैको द्वौ त्रयो वा, उत्कृष्टतस्त्वेवमेवेति-प्रतरस्यासंख्येयभागप्रदेशपरिमाणा एवेत्यर्थ ।

साम्प्रतमविरहितप्रवेशनिर्गमाख्यं परिमाणविशेषमाह-

निक्खमपवेसकाले, समयाई एत्थ आवलियभागो ।
अंतोमुहुत्त विरहो, उदहिसहस्साइं जे होंति ॥ ५८ ॥

(निक्खमेत्यादि) जघन्येन अविरहिता. सन्तता त्रसेषु उत्पत्तिर्निष्क्रमो वा जीवानामेक समय द्विसमयेत्यादि,(?)उत्कृष्टेनावालिका असख्येयभागमात्र कालं, सततमेव निष्क्रमः प्रवेशो वा एकजीवाङ्गीकरणेनाविरहश्चिन्त्यते गाथापश्चिमार्द्धेन विरहः सातत्येनावस्थानम्, एकजीवो हि त्रसभावेन जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमासित्वा पुनः पृथिव्यादिष्वेकेन्द्रियेषूत्पद्यते, प्रकर्षेणाधिकं सागरोपमसहस्रद्वय त्रसभावेनावतिष्ठते सन्ततमिति । उक्त प्रमाणद्वारम ॥

साम्प्रतमुपभोगशस्त्रवेदनाद्वारत्रयप्रतिपादनायाऽऽह-

मंसाई परिभोगो, सत्थं सत्थाइयं अणेगविहं ।
सारीरमाणसावेय-णा य दुविहा बहुविहा य ॥ ५९ ॥

मांसचर्मकेशरोमनखपिच्छदन्तस्नाय्वस्थिविषाणाऽऽदिभिस्त्रसकायसम्भविभिरुपभोगो भवति, शस्त्रं पुनः शस्त्राऽऽदिकमिति खड्गतोमरक्षुरिकाऽऽदि तदादिर्यस्य ज्वलनाऽऽदेस्तच्छस्त्राऽऽदिकमनेकविधं स्वकायपरकायोभयद्रव्यभावभेदभिन्नमनेकप्रकारं त्रसकायस्येति । वेदना चात्र प्रसङ्गेनोच्यतेसा च शारीरसमुत्था, मन समुत्था च द्विविधा यथासम्भवम् । तत्राऽऽद्या-शल्यशलाकाऽऽदिभेदजनितेतराप्रियविप्रयोगाप्रियसंप्रयोगाऽऽदिकृता । बहुविधा च ज्वरातीसारकासश्वासभगन्दरशिरोरोगशूलगुदकीलकाऽऽदिसमुत्था चेति ।

पुनरप्युपभोगप्रपञ्चाभिधित्सयाऽऽह-

मंसस्स केइ अट्ठा, केई चम्मस्स केइ रोमाणं ।
पिच्छाणं पुच्छाणं, दंताणऽट्ठा वहिज्जंति ॥ ६० ॥
केई वहंति अट्ठा, केइ अणट्ठा पसंगदोसेणं ।
कम्मपसंगपसत्ता, बंधंति हणंति मारंति ॥ ६१ ॥

मांसार्थं मृगशूकराऽऽदयो वध्यन्ते,चर्मार्थं चित्रकाऽऽदय',रोमार्थं मूषिकाऽऽदय ,पिच्छार्थं मयूरगृद्धकपिञ्जलकाऽऽदय ,पुच्छार्थं चमर्यादयः,दन्तार्थं वारणवराहाऽऽदय । वध्यन्त इति सर्वत्र सम्बध्यते । तत्र केचन पूर्वोक्तप्रयोजनमुद्दिश्य हन्यन्ते,केचित्तु प्रयोजनमन्तरेणाऽपि क्रीडया हन्यन्ते । तथा परे प्रसङ्गदोषाद् मृगव्यध्याक्षिप्तपुलिन्दकाऽऽदिना तदन्तरालव्यवस्थितानेककपोतकपिञ्जलशुकसारिकाऽऽदयो हन्यन्ते । तथा कर्म कृष्याद्यनेकप्रकार,तस्य प्रसङ्गोऽनुष्ठानम्, तत्र प्रसक्तास्तन्निष्ठा सन्तस्त्रसकायिकान् बहून् घ्नन्ति,रज्ज्वादिना बध्नन्ति, कशलकुट्टाऽऽदिभिस्ताडयन्ति, मारयन्ति प्राणैर्वियोजयन्तीति ।

एवंविधानाऽऽदिद्वारकलापमुपसंहरन् सकलनिर्युक्त्यर्थोपसंहारायाऽऽह-

सेसाइं दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एव तसकायम्मी, निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥ ६२ ॥

(सेसा इत्यादि) लक्षणव्यतिरिक्तानि शेषाणि द्वाराणि, तान्येव यानि पृथ्वीस्वरूपसमधिगमे निरूपितानि, अत एवसशेषलक्ष-

राभिधानात्त्रसकाये निर्युक्तिः कीर्तितैषा सकला भवतीत्यवगन्तव्येति ।

साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलिताऽऽदिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्-

संतिमे तसा पाणा । तं जहा-अंडया, पोयया, जराउया, रसया,संसेयया, संमुच्छिमा, उब्भियया, उववाइया ।। ६३ ।।

सन्ति विद्यन्ते त्रस्यन्तीति त्रसाः प्राणिनो द्वीन्द्रियाऽऽदयः । ते च किंभेदाः किंप्रकाराश्चेति दर्शयति-तद्यथेति वाक्योपन्यासार्थः । यदि वा-तत्प्रकारोत्तमर्थतो यथा भगवताऽभिहितं तथाऽहं भणामीति । (आचा०) एवमेतस्मिन्नष्टविधे जन्मनि सर्वे त्रसजन्तवः संसारिणो निपतन्ति, नैतद् व्यतिरेकेणान्ये सन्ति । एते चाष्टविधयोनिभाजोऽपि सर्वलोकमतीता बालाङ्गनाऽऽदिजनप्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्याः, सन्ति ' चानेन शब्देन त्रैकालिकमस्तित्वं प्रतिपाद्यते त्रसानाम् ।

न कदाचिदेतैर्विरहितः संसारः संभवतीत्येतदपि दर्शयति-

एस संसारे त्ति पवुच्चइ, मंदस्स अवियाणओ निज्झाइत्ता, पडिलेहित्ता पत्तेयं परिनिव्वाणं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि ।। ५ ।।

एष अण्डजाऽऽदिप्राणिकलापः संसारः प्रोच्यते,नाऽतोऽन्यत्र त्रसानामुत्पत्तिप्रकारोऽस्तीत्युक्तं भवति । कस्य पुनरयमष्टविधभूतग्रामे उत्पत्तिर्भवतीत्याह-(मंदस्साविआणओ) मन्दो द्विधा द्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्यमन्दोऽतिस्थूलोऽतिकृशो वा,भावमन्दोऽप्यनुपचितबुद्धिः ,कुशास्त्रवासितबुद्धिर्वा । भयमपि सद्बुद्धेरभावाद् बाल एव । इह भावमन्देनाधिकारः मन्दस्येति बालस्याविशिष्टबुद्धेः ,अत एवाविजानतो हिताहितप्राप्तिपरिहारशून्यमनस इत्येषोऽनन्तरोक्तः संसारो भवतीति । यदेव तत् किमित्याह-(निज्झाइत्तेत्यादि) एवमिमं त्रसकायमार्गं बालाङ्गनाऽऽदिप्रसिद्धं निश्चयेन ध्यात्वा निर्ध्याय,चिन्तयित्वेत्यर्थः । क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियापेक्षया ब्रवीमीत्युत्तरक्रिया सर्वत्र योजनीयेति पूर्ववत् । मनसाऽऽलोच्य तत् प्रत्युपेक्षणं भवतीति दर्शयति-(पडिलेहित्त) प्रत्युपेक्ष्य दृष्ट्वा यथावदुपलभ्येत्यर्थः । किं तदिति दर्शयति-प्रत्येकमित्येकमेकं त्रसकायं प्रति परिनिर्वाणं सुखं, प्रत्येकसुखभाजः सर्वेऽपि प्राणिनो नान्यदीयमन्यः उपभुङ्क्ते सुखमित्यर्थः । एष च सर्वप्राणिधर्मः इति दर्शयति-सर्वेषां प्राणिनां द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां, तथा सर्वेषां भूतानां प्रत्येकसाधारणसूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकतरूणामिति, तथा सर्वेषां जीवानां गर्भव्युत्क्रान्तिकसंमूर्छनजौपपातिकपञ्चेन्द्रियाणां,तथा सर्वेषां सत्त्वानां पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणामिति । इह च प्राणाऽऽदिशब्दानां यद्यपि परमार्थेनोऽभेदः , तथापि व्यक्त्यायेन भेदो द्रष्टव्यः । उक्तं च-"प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ताः , भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया प्रोक्ताः ,शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ।" ।। १ ।। इति । यदि वा-शब्दव्युत्पत्तिद्वारेण समभिरूढनयमतेन भेदो द्रष्टव्यः । तथा-सततप्राणधारणात्प्राणाः , कालत्रयभावनाद् भूताः , त्रिकालजीवनात् जीवाः , सदाऽस्तित्वात्सत्त्वा इति । तदेव विचिन्त्य प्रत्युपेक्ष्य च यथा सर्वेषां जीवानां प्रत्येकं परिनिर्वाणं सुखं, तथा प्रत्येकमसातमपरिनिर्वाणं महाभयं दुःखमहं ब्रवीमि । तत्र दुःखयतीति दुःखम्, तद्विशेष्यते-किंविशिष्टमसातमसातवेद्यं कर्म, सविपाकजमित्यर्थः । तथा-अपरिनिर्वाणमिति-परिनिर्वाणं समन्तात् सुखं, न परिनिर्वाणमपरिनिर्वाणं, समन्तात् शरीरमनःपीडाकरमित्यर्थः । तथा-महाभयमिति-महच्च तद्भयं च महाभयं, नाऽतः परमन्यदस्तीति महाभयम् । तथाहि-सर्वेऽपि शारीरमानसाच्च दुःखादुद्विजन्ते प्राणिन इति । इतिशब्द एवमर्थे । एवमहं ब्रवीमि सम्यगुपलब्धतत्त्वो यत्प्रागुक्तमिति ।

एतच्च ब्रवीमीत्याह-

तसंति पाणा पदिसो दिसासु य, तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति संति पाणा पुढो सिया ।।

(त्रसंतीत्यादि) एवंविधेन चासाताऽऽदिविशेषणविशिष्टेन दुःखेनाभिभूतास्त्रस्यन्त्युद्विजन्ति, प्राणा इति प्राणिनः, कुतः पुनरुद्विजन्तीति दर्शयति-प्रगता दिक् प्रदिग्विदिश इत्यर्थः । ततः प्रदिशः सकाशादुद्विजन्ति । तथाहि-प्राच्यादिषु च दिक्षु व्यवस्थितास्त्रस्यन्ति, एताश्च प्रज्ञापकविधिभक्ता दिशोऽनुदिशश्च गृह्यन्ते, जीवव्यवस्थानश्रवणात् । ततश्चायमर्थः प्रतिपादितो भवति काश्चन, न काचिद्दिगनुदिग्वा, यस्यां न सन्ति त्रसाः , त्रस्यन्ति वा यस्यां स्थिताः, कोशिकारकीटवत् । कोशिकारकीटो हि दिग्भ्योऽनुदिग्भ्यश्च बिभ्यदात्मसंरक्षणार्थं वेष्टनं करोति शरीरस्येति । भावदिगपि न काचित्ताऽऽदृश्यस्ति, यस्यां वर्तमानो जन्तुर्न त्रस्येत्, शारीरमानसाभ्यां दुःखाभ्यां सर्वत्र नरकाऽऽदिषु जङ्घन्यन्ते प्राणिनोऽतस्त्रासपरिगतमनसः सर्वदाऽवगन्तव्याः । एवं सर्वत्र दिगनुदिक्षु च त्रसाः सन्तीति गृह्णीमः । दिग्विदिक्ष्ववस्थितास्त्रसास्त्रस्यन्तीत्युक्तम् । कुतः पुनस्त्रस्यन्ति?,यस्मात्तदारम्भवद्भिस्ते व्यापाद्यन्ते, किं पुनः कारणं ते तानारभन्त इत्याह-(तत्थ तत्थेत्यादि) तत्र तत्र तेषु तेषु कारणेषूत्पन्नेषु वक्ष्यमाणेष्वर्चाजिनशोणिताऽऽदिषु च पृथग्विभिन्नेषु प्रयोजनेषु, पश्येति । शिष्यचोदना किं तत्पश्येति दर्शयति-मांसभक्षणाऽऽदिगृद्धा आतुराः अस्वस्थमनसः परि समन्तात्तापयन्ति पीडयन्ति नानाविधवेदनोत्पादनेन प्राणिव्यापादनेन वा तदारम्भिणस्त्रसानिति,येन केनचिदारम्भेण प्राणिनां संतापनं भवतीति दर्शयन्नाह-(संतीत्यादि) सन्ति विद्यन्ते प्रायः सर्वत्रैव प्राणाः प्राणिनः पृथक् विभिन्ना द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाऽऽश्रिताः पृथिव्याद्याश्रिताः । एतच्च ज्ञात्वा निरवद्यानुष्ठायिना भवितव्यमित्यभिप्रायः ।

अन्ये पुनरन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयन्नाह-

लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणा अन्ने अणेगरूवे पाणे विहिंसति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया-इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव तसकायसत्थं समारभति, अन्नेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा तसकायसत्थं समार-

भमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए,ऽइहमेगेसिं णायं भवति–एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए ऽच्चत्थं गढिए लोए जम्मि णं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारभमाणे अण्णे अणेगरूवेण पाणे विहिंसति ।

पूर्ववद् व्याख्येय,यावत् "अन्ने अणेगरूवेण पाणे विहिंसइ त्ति।" यानि कानिचित्कारणान्युद्दिश्य च स बन्धः क्रियते, तानि दर्शयितुमाह–

से बेमि अप्पेगे अच्चाए हणंति,अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हिययाए,पित्ताए,वसाए,पिच्छाए,पुच्छाए,वालाए,सिंगाए, विसाणाए,दंताए,दाढाए,णहाए,ण्हारुणीए, अट्ठीए, अट्ठिमिंजाए;अट्ठाए,अणट्ठाए, अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसंति मे त्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसिस्संति मे त्ति वा वहंति, एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति ।

(से बेमीत्यादि) तदहं ब्रवीमि–यदर्थं प्राणिनस्तद्वारम्भप्रवृत्तौ व्यापाद्यन्त इति । अप्येकेऽर्चार्थं घ्नन्ति, अपिशब्दापेक्षया समुच्चयार्थः । एके केचन तदर्थिनश्चेनाऽसुरा ,अर्च्यन्तेऽसावाहार्यालङ्कारैरित्यर्चा देह , तदर्थं व्यापादयन्ति । तथाहि–लक्षणवत्पुरुषमक्षतमव्यङ्ग व्यापाद्य तच्छरीरेण विद्यामन्त्रसाधनानि कुर्वन्ति, उपयाचितं वा यच्छन्ति दुर्गोऽर्द्धीनामग्रन. । अथवा–विष येन भक्षितं, स दृष्टिन मारयित्वा तच्छरीरे प्रक्षिप्यते, पश्चात्किंचिद् जीवति । तथा अजिनार्थं चित्रकव्याघ्राऽऽदीन् व्यापादयन्ति ।एवं मांसशोणितहृदयपित्तवसापिच्छपुच्छवालशृङ्गविषाणदन्तदंष्ट्रानखस्नाय्वस्थ्यस्थिमिञ्जाऽऽदिष्वपि वाच्यम्,मांसार्थं शूकराऽऽदय.,त्रिशूलाऽऽद्यन्वेषणार्थं शोणितं गृह्णन्ति,हृदयानि साधका गृहीत्वाऽघ्नन्ति, पित्तार्थं मयूराऽऽदय , वसार्थं व्याघ्रमकरवराहाऽऽदय ,पिच्छार्थं मयूरगृध्राऽऽदयः,पुच्छार्थं रोझाऽऽदय.,वालार्थं चमर्यादय ,शृङ्गार्थं रुरुखड्ग्यादयः,तत्किल शृङ्ग पवित्रमिति याज्ञिका गृह्णन्ति,विषाणार्थं हस्त्यादयः,दन्तार्थं शृगालाऽऽदय ,निमिरापहत्वात्तद्दन्तानां,दंष्ट्रार्थं वराहाऽऽदयः,नखार्थं व्याघ्राऽऽदय ,स्नाय्वर्थं गोमहिष्यादय , अस्थ्यर्थं शङ्खशुक्त्यादयः, अस्थिमिञ्जार्थं महिषवराहाऽऽदय । एवमेके यथोपदिष्टप्रयोजनकलापापेक्षया घ्नन्ति ।अपरे तु कृकलासगृहकोकिलाऽऽदीन्विना प्रयोजनेन व्यापादयन्ति । अन्ये पुन.–(हिंसिंसु मे त्ति) हिंसितवानेषोऽस्मत्स्वजनान् सिंह. सर्पोऽवा,अतो घ्नन्ति, मम वा पीडां कृतवानित्यतो घ्नन्ति । तथा चान्ये वर्तमानकाल एव हिनस्ति अस्मान् सिंहोऽन्यो वेति घ्नन्ति । तथाऽन्ये–अस्मानयं हिंसिष्यतीत्यनागतमेव सर्पाऽऽदिकं व्यापादयन्ति ।

एवमनेकप्रयोजनोपन्यासेन हनन त्रसविषय प्रदर्श्य,उद्देशार्थमुपसंजिहीर्षुराह–

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति,तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं तसकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं तसकायसत्थं समारंभावेज्जा,णेवऽण्णे तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा,जस्सेते तसकायसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि ॥ ६ ॥

(एत्थ सत्थमित्यादि) प्राग्वद्व्याख्येयम् । यावत्स एव मुनिस्त्रसकायसमारम्भविरतत्वात् परिज्ञातकर्मत्वात् प्रत्याख्यातपापकर्मत्वादिति ब्रवीमि । भगवत. त्रिलोकबन्धो परमकेवलाऽऽलोकसाक्षात्कृतसकलभुवनप्रपञ्चस्योपदेशादिति । आचा॰ १ श्रु॰ १ अ॰ ६ उ॰ । (त्रसकायस्य प्रतिसेवना 'पडिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते)

तसचउक्क–त्रसचतुष्क–न॰ । त्रसप्रकृत्योपलक्षितं चतुष्कं त्रसचतुष्कम् । त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकमिति प्रकृत्योपलक्षिते चतुष्के, कर्म॰ १ कर्म॰ ।

तसण–त्रसन–न॰ । पलायने, सूत्र॰ १ श्रु॰ ७ अ॰ । स्पन्दने' आचा॰ १ श्रु॰ १ अ॰ ६ उ॰ ।

तसणवग–त्रसनवक–न॰ । त्रसप्रकृत्या उपलक्षितं नवकं त्रसनवकम् । त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वराऽऽदेयलक्षणे, कर्म॰ २ कर्म॰ ।

तसणाम[ण्]–त्रसनामन्–न॰ ।त्रसन्ति उष्णाऽऽद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते, गच्छन्ति च छायाऽऽद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसा , तत्पर्यायविपाकवेद्यं कर्म त्रसनाम ।त्रसगतिनिबन्धने नामकर्मणि, कर्म॰ १ कर्म॰ । पं॰ सं॰ । प्रव॰ । यदुदयाच्चलनं स्पन्दनं भवति । आ॰ । कर्म॰ ।

> बितिचउपणिंदियतसा, बायरओ बायरा जिया थूला ।
> नियनियपज्जत्तिजुया, पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥ ४८ ॥

त्रस्यन्ति उष्णाऽऽद्यभितप्ता. सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते, गच्छन्ति च छायाऽऽद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः, तत्पर्यायविपाकवेद्यं कर्मापि त्रसनाम । ततस्त्रसात् त्रसनामोदयाज्जीवा.–(बितिचउपणिंदिय त्ति) इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्वे इन्द्रिये स्पर्शनरसनलक्षणे येषां ते द्वीन्द्रियाः,शङ्खचन्दनककपर्दकजलूकाकृमिगण्डोलकपूतरकाऽऽदयो भवन्ति । त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणलक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रिया., यूकामत्कुणगर्दभेन्द्रगोपककुन्थुमत्कोटकाऽऽदयः । चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानीन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः,मक्षिकाभ्रमरमशकवृश्चिकाऽऽदय । पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणीन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रिया ,, मत्स्यमकरहरिहरिणलावसराजहंसनरसुरनारकाऽऽदयो भवन्तीति । यदुदयाज्जीवास्त्रसा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया भवन्ति तत्त्रसनामेत्यर्थः । (४८) कर्म॰ १ कर्म॰ ।

तसतिग–त्रसत्रिक–न॰ । त्रसबादरपर्याप्ताऽऽख्ये त्रिके, कर्म॰ २ कर्म॰ ।

तसदसग–त्रसदशक–न॰ । त्रसनामाऽऽदिनामकर्मोत्तरप्रकृतिदशके, (कर्म॰)

> तसबायरपज्जत्तं, पत्तेयथिरं सुभं च सुभगं च ।
> सुसराऽऽइज्जजसं तस–दसगं थावरदसं तु इमं ॥२६॥

नामशब्दस्येहापि सबन्धात्-त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, प्रत्येकनाम,स्थिरनाम,शुभनाम, सुभगनाम । चशब्दौ समुच्चये। सुस्वरनाम, आदेयनाम (जस ति) यश कीर्तिनाम इत्येवं त्रस-शब्देनोपलक्षितं प्रकृतिदशकम, त्रसदशकमुच्यत इति शेष. । कर्म० १ कर्म०।

तसरेणु-त्रसरेणु-पुं०। त्रस्यति पूर्वाऽऽदिवातप्रेरितो गच्छति यो-रेणुः स त्रसरेणुः । रेणुत्रि. परिमिते प्रमाणविशेषे, प्रव० २५४ द्वार। ज्यो० । भ० । जं० । स्था० । अनु० । कियद्भिः परमाणु-भिस्त्रसरेणुर्भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्-अनन्तसूक्ष्मपरमाणुभि-रेको व्यवहारपरमाणुर्जायते, अष्टव्यवहारपरमाणुभिरेका उत् श्लक्ष्णिका जायते, ताभिरष्टाभिरेका श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका जायते, ताभिरष्टाभिरेक ऊर्ध्वरेणुर्जायते, एभिरष्टभिरेकस्त्रसरेणुर्जायते, एतावता-कोऽर्थ. चतु सहस्रैः षण्णवत्यधिकैर्व्यवहारपरमाणु-भिरेकस्त्रसरेणुर्जायते इत्यर्थः। ४८२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

तसवाइया-त्रसपादिका-स्त्री०।त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति०।

तसवीसइ-त्रसविंशति-स्त्री० । त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविं-शतिः । त्रसदशकस्थावरदशकद्वये, कर्म० १ कर्म० ।

तसासि(ण्)-त्रसासिन्-त्रि०। पिपीलिकाऽऽदिसंहितोदनभक्षके, नि० चू० १ उ० ।

तसिअ-त्रस्त-त्रि० । त्रसनं त्रस्तम । दु.खोद्वेजने, दश० ४ अ० । परमाधार्मिकदेवपरस्परोदीरितदु खसपातभयात् त्रास-मुपपन्ने, जी० ३ प्रति० २ उ० । भ०। शुष्के, दे० ना० ५ वर्ग २ गाथा ।

तस्सण्णि[ण्]-तत्संज्ञिन्-त्रि०। तस्य सञ्ज्ञा तत्सञ्ज्ञा-तज्ज्ञानम्, तद्वान् तत्संज्ञी । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । विवक्षितज्ञा नोपयुक्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

तस्सेवि [ण्]-तत्सेविन्-पु०। ये दोषा आलोचयितव्यास्तत्सेवी यो गुरुस्तस्य पुरतो यदालोचनम । तत्सेविलक्षणे आलोचना-दोषे, स्था० १० ठा० ।

तह-तथा-अव्य० । तेन प्रकारेण तथा प्रकारे थाच् । वाच० । ' वाऽव्ययोत्खातादावदात· " ॥८।१।६७॥ इत्यत्व विकल्पेन । प्रा० १ पाद । वक्तपरामर्शे, कल्प० १ क्षण । पादपूरणे, नि० चू० १ उ० ।

तथ्य-न० । तथा तत्र साधु यत । सत्ये, वाच० । सदर्थाभि-धायित्वे, त्रि० । (सूत्र०)

णामतहं ठवणतहं, दव्वतहं चेव होइ भावतहं ।
दव्वतहं पुण जो ज-स्स सभावो होति दव्वस्स ॥२४॥

(णामतहमित्यादि) अस्याध्ययनस्य याथातथ्यमिति नाम। तच्च यथाशब्दस्य भावप्रत्ययान्तस्य भवति । तत्र यथाशब्दो-ल्लङ्घनेन तथाशब्दस्य निक्षेपं कर्तुं निर्युक्तिकारस्यायमभिप्राय - इह यथाशब्दोऽयमनुवादे वर्तते, तथाशब्दश्च विधेयार्थे । त-द्यथा-यथेद तथैवेद भवता विधेयमित्यनुवादविधेययोश्च वि-धेयांश एव प्रधानभावमनुभवतीति । यदि वा याथातथ्यमिति तथ्यमतस्तदेव निरूप्यत इति । तत्र यथाभावस्तथ्य यथाऽवस्थि-तवस्तुता । तन्नामाऽऽदिभिश्चतुर्धा । तत्र नामस्थापने सुगमे । द्रव्यतथ्य गाथापश्चार्धेन प्रतिपादयति-तत्र द्रव्यतथ्यं पुनर्यो यस्य सचित्ताऽऽदे. स्वभावो, द्रव्यप्राधान्याद्यस्य स्वरूपम । तद्यथा-उपयोगलक्षणो जीवः, कठिनलक्षणा पृथिवी, द्रवलक्ष-णा आप इत्यादि । मनुष्याऽऽदेर्वा यो यस्य मार्दवाऽऽदिस्वभाव., अचित्तद्रव्याणां च गोशीर्षचन्दनकम्बलरत्नाऽऽदीनां द्रव्याणां स्वभावः। तद्यथा-" उण्हे करेइ सीयं, सीए उण्हत्तण पुण भ-वेइ । कबलरयणाऽऽदीणं, एस सहावो मुणेयव्वो " ॥ १ ॥

भावतथ्यमधिकृत्याऽऽह-

भावतहं पुण नियमा, णायव्वं छव्विहम्मि भावम्मि ।
अहवा वि नाणदंसण-चरित्तविणएण अज्झप्पे ॥२५॥

(भावतहमित्यादि) भावतथ्य पुनर्नियमतोऽवश्यभावतया षड्विधे औदयिके भावे ज्ञातव्यम् । तत्र कर्मणामुदयेन निर्वृत्त औदयिक· कर्मोदयाऽऽपादितो गत्याद्यनुभवलक्षण., तथा कर्मो-पशमेन निर्वृत्त औपशमिकः कर्मानुदयलक्षण इत्यर्थ· । तथा क्षयाज्जात. क्षायिकोऽप्रतिपातिज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणः । तथा-क्षयादुपशमाच्च जात· क्षायोपशमिको देशोदयोपशमलक्षणः । परिणामेन निर्वृत्त. पारिणामिको जीवाजीवभव्यत्वाऽऽदिलक्षण·। पञ्चानामपि भावानां द्विकाऽऽदिसयोगान्निष्पन्न· सान्निपातिक इति । यदि वा-अध्यात्मन्यान्तर चतुर्धा भावतथ्यं द्रष्टव्यम । तद्यथा-ज्ञानदर्शनचारित्रविनयतथ्यामिति । तत्र ज्ञानतथ्य म-त्यादिकेन ज्ञानपञ्चकेन यथास्वमवितथो विषयोपलम्भः । दर्श-नतथ्य शङ्काऽऽद्यतिचाररहित जीवाऽऽदितत्त्वश्रद्धानम् । चारित्र-तथ्य तु तपसि द्वादशविधे संयमे सप्तदशविधे सम्यगनुष्ठानम् । विनयतथ्य, द्विचत्वारिंशद्भेदभिन्ने विनये ज्ञानदर्शनचारित्रतप उपचारिकरूपे यथायोगमनुष्ठान, ज्ञानाऽऽदीनां तु वितथाऽऽसे-वनेनाऽतथ्यमिति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

तहक्कार-तथाकार-पुं० । तथाशब्देन तथेत्येवभूत पदमभिधी-यते, ततश्चैतस्य कार· करणम । पञ्चा० १२ विव० । गुरोः पार्श्वे वाक्य श्रुत्वा गुरु प्रति इद कथन-यद्भवद्भिरुक्त तत्तथैव-तथाऽस्तु, इति करण तथाकार. । उत्त० २६ अ० । गुर्वादिषु ब्रुवाणेषु यथाऽऽदिशत यूय, तथैवेति भणनरूपे सामाचारीभेदे, बृ० १ उ० । तथाकरण तथाकार , स च सूत्रप्रश्नगोचरः । यथा भवद्भिरुक्त तथेदमित्येवस्वरूपे सामाचारीभेदे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । जीत० । उत्त० । स्था० ।

साम्प्रत तथाकारो यस्य दीयते, तत्प्रतिपादनार्थमाह-

कप्पाकप्पे परिणि-ट्ठियस्स ठाणेसु पंचसु ठियस्स ।
संजमतवड्ढगस्स उ, अविगप्पेणं तहक्कारो ॥ १४ ॥

कल्पो विधि·, आचार इत्यर्थ.। अकल्पश्च अविधि·। अथवा-कल्पो जिनकल्पस्थविरकल्पाऽऽदि ,अकल्पस्तु चरकाऽऽदिदीक्षा । अथवा-कल्प्य ग्राह्यम्, अकल्प्यमितरत । ततः समाहारद्वन्द्वा· त्कल्पाकल्प, कल्प्याकल्प्यं वा । तत्र परिनिष्ठितस्य ज्ञाननिष्ठां प्राप्तस्य, अनेन च ज्ञानसपदुक्ता । तथा तिष्ठन्ति मुमुक्षवो येषु तानि स्थानानि महाव्रतानि तेषु, पञ्चस्विति स्वरूपविशेषणम् । यतो न तान्येकादीनि भवन्ति, यत्राऽपि चत्वारि तान्युच्यन्ते तत्रापि वस्तुत. पञ्चैवेति । स्थितस्याऽऽश्रितस्य,अनेन च मूलगुण-संपदुक्ता । तथा-संयम· प्रत्युपेक्षोपेक्षाऽऽदि., तथा-तपश्चा·

नशनाऽऽदि,ताभ्यामाढ्य परिपूर्णः,स एव संयमतपआढ्यकः, तस्य,अनेन चोत्तरगुणसंपत्तिरुक्ता । तुशब्द एवकारार्थः। तस्य किमित्याह--अविकल्पेन निर्विकल्प तदीयवचनेऽवितथत्वाशङ्कामकुर्वाणेनेत्यर्थ. । तथाकारो-तथा यूयं वदथ, तथैवैतदित्यर्थसंसूचकस्तथेतिशब्दप्रयोग., कार्य इति गम्यमिति गाथाऽर्थ. ॥ १४ ॥

अथ तथाकारस्यैव विषयाभिधानायाऽऽह-

वायणपडिसुणणाए, उवएसे सुत्तअत्थकहणाए ।
अवितहमेयं ति तहा, अविगप्पेणं तहक्कारो ॥ १५ ॥

वाचनाया सूत्रदानस्य प्रतिश्रवणा श्रवण वाचनाप्रतिश्रवणा, तस्या, तथाकार प्रयोक्तव्य इति योग । इदमुक्त भवति-वाचनां प्रयच्छति सति गुरौ सूत्रग्राहिणा तथाकारः कार्यः । तथोपदेशे सामान्येन सामाचारीप्रतिबद्धे । तथा सूत्रार्थकथनाया, व्याख्यान इत्यर्थ. । अवितथं सत्यम्, एतद् यद्यूय ब्रूथेति स्थापनपर ,तथेति समुच्चयार्थः; सूत्रार्थकथनापदस्याऽऽदौ द्रष्टव्य । अविकल्पेन नि.सदेहेन सता तथाकारस्तथेतिशब्दप्रयोग. कार्यो भवतीति शेष इति गाथाऽर्थ. ॥ १५ ॥

य पुनरेवंविधो गुरुर्न भवति,तत्र को विधिरित्याह-

इयरम्मि विगप्पेणं, जं जुत्तिखमं तहिं ण सेसम्मि ।
संविग्गपक्खिए वा, गीए सव्वत्थ इयरे-णं ॥ १६ ॥

इतरस्मिन् कल्पाकल्पपरिनिष्ठिताऽऽदिविशेषणविशिष्टादन्यस्मिन् गुरौ प्रज्ञापयति सति विकल्पेन भजनया, तथाकार कार्य इति प्रक्रमः । तामेव भजनां दर्शयति-यद्वस्तु युक्तिक्षमम उपपत्तिसहं तेन प्रज्ञापितं, तस्मिन् वस्तुनि तथाकारो विधेय , न शेषे अयुक्तिक्षमे । इहैव प्रकारान्तरमाह-संविग्ना. संवेगवन्त. सुसाधव ,तेषां पाक्षिक पक्षग्राही संविग्नपाक्षिक. । " सुद्ध सुसाहुधम्मं, कहेइ निंदइ य नियमायार । सुतवस्सियाण पुरओ, हवइ य सव्वोमरायणिओ ॥ १ ॥" इत्यादिलक्षणलक्षित पार्श्वस्थाऽऽदिस्तस्मिन् । वाशब्द प्रकारान्तरद्योतनार्थ. । गीते-पदेऽपि पदसमुदायोपचाराद् गीतार्थे विषयभूते, तदन्यस्य त्वज्ञानत्वेन वचनवैतथ्यसंभवात् । सर्वत्र वस्तुनि युक्तिक्षमे तदक्षमे वा तेनोच्यमाने इतरेणोत्सर्गापेक्षयाऽन्येनापवादेनेत्यर्थः । अथवा-(इयरे) इतरस्मिन्नगीतार्थे, न नैव,तथाकार. कार्य इति प्रक्रम इति गाथाऽर्थ ॥१६॥

अथ कल्पाकल्पपरिनिष्ठिताऽऽदिगुणे गुरावक्षीणरागाऽऽदित्वेन संविग्नपाक्षिके चासक्रियत्वेन वितथोपदेशसंभवान्न तथाकार कार्य इत्येतद् दूषयन्नाह-

संविग्गोऽणुवएसं, ण देइ दुब्भासियं कडुविवागं ।
जाणंतो तम्मि तहा, अतहक्कारो उ मिच्छत्तं ॥ १७ ॥

संविग्नो भवभीरुर्गुरु, अनुपदेशम्, नञ. कुत्सार्थत्वेन कुत्सितोपदेशमागमबाधितार्थानुशासनम्,न ददाति परस्मै न करोति, तद्दाने संविग्नत्वहानिप्रसङ्गात्। किंभूत. सन्नित्याह-दुर्भाषितमनागमिकार्थोपदेश,कटुविपाक दारुणफलं दुरन्तससाराऽऽवह, मरीचिभवे महावीरस्येव जानन्नवबुध्यमान., को हि पश्यन्नेवात्मानं कूपे प्रक्षिपतीति, यस्मादेव ततस्तस्मिन् संविग्ने कल्पाकल्पपरिनिष्ठिताऽऽदिगुणे सद्गुरौ गीतार्थे,संविग्नपाक्षिके च प्रज्ञापयति सति,तथेति निर्विकल्पम्, अतथाकारस्तथाकारस्याप्रयोग । तुशब्द एवकारार्थः। तस्य चैवं प्रयोगः-मिथ्यात्वमेवासम्यग्दर्शनमेव, मिथ्यात्वहेतुकत्वात्तस्य, न हि मिथ्यात्वं विना निश्चिततत्त्वप्ररूपकत्वेऽपि प्रज्ञापके तथाकार न प्रयुङ्क्ते इति गाथाऽर्थः ॥ १७ ॥ पञ्चा० १२ विव० ।

तहच्च-तथार्च-त्रि०। अवस्थितचित्तवृत्तिके, "दुल्लहाओ तहच्चाओ,जे धम्मट्ठ वियागरे।" तथाभूता सम्यक्दर्शनप्राप्तियोग्यार्चा लेश्याऽन्त.परिणतिः कृतधर्माणामिति । यदि वा-अर्चा मनुष्यशरीर,तदप्यकृतधर्मबीजानामार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तिसकलेन्द्रियसामग्र्यादिरूप दुर्लभ भवति; जन्तूनां धर्मरूपमर्थं व्याकुर्वन्ति ये, धर्मप्रतिपत्तियोग्या इत्यर्थ. । तेषा तथाभूताऽर्चा सुदुर्लभा भवति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

तहणाण-तथाज्ञान-न० । यथा वस्तु तथा ज्ञानं यस्य तत्तथाज्ञानम । सम्यग्दृष्टिजीवद्रव्ये, तस्यैवावितथज्ञानत्वात् । यथैव यद् वस्तु तथैव ज्ञानमवबोधः प्रतीतिर्यस्मिंस्तत्तथाज्ञानम ।घटाऽऽदिद्रव्ये, स्था० १० ठा० । यथा प्रच्छनीयार्थे प्रष्टव्यस्य ज्ञानं तथैव पृच्छकस्यापि ज्ञान यत्र प्रश्ने स तथाज्ञान. । ज्ञानप्रश्ने, स च गौतमाऽऽदेर्यथा "केवइयकाले णं भंते ! चमरचंचारायहाणीविरहिया उववाएणमित्यादिरिति । " स्था० ९ ठा० ।

तहप्पओग-तथाप्रयोग-पुं० । तथाशब्दस्य प्रयोगे, " तह त्ति पओगो नाम ज-एवमेत अवितहमेत जाहे त तुज्झे वदह, इच्चेतस्स अत्थस्स सपच्चयत्थ सविसए तह त्ति सद्द पउजति ।" आ० चू० १ अ० ।

तहप्पगार-तथाप्रकार-पुं० । पूर्वोक्तप्रकारे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । नि० चू० । एवंप्रकारे, जी० १ प्रति० । प्र० । पूर्वोक्तस्वरूपे, कल्प० १ क्षण ।

तहय-तथाच-अव्य० । तथेति चिनोति च चिञ् चयने । पूर्वोक्तार्थदृढीकरणे, वाच० । समुच्चये, पञ्चा० २ विव० ।

तहरी-देशी-पङ्किलायां सुरायाम्, दे० ना० ५ वर्ग २ गाथा ।

तहल्लिया-देशी-गोवाटे, दे० ना० ५ वर्ग ८ गाथा ।

तहा-तथा-अव्य०। तेन प्रकारेण,प० व० ४ द्वार। कल्प०। विशे०। तथाप्रकारे, वाच०। साम्ये, अभ्युपगमे, पृष्टप्रतिवाक्ये, समुच्चये, निश्चये च । वाच० । न० । आनन्तर्ये, न० । आ० म० । अवधिज्ञानेन सहास्य छद्मस्थत्वाऽऽदिभि सारूप्यप्रदर्शने,आ० म० १ अ० १ खण्ड । समुच्चयनिर्देशावधारणसादृश्यप्रैषेषु, दश० १ अ० । वाक्योपक्षेपे, स च वाक्यस्याऽऽदौ दृश्य. । पञ्चा० ६ विव० । ग्रहणानन्तरे, विशे० । यथाशब्देनानूद्यमानस्य विधेयस्यार्थे, तद्यथा-यथेदं तथेदम् । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । पूर्वोक्तार्थे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । दृढाध्यवसानप्रकारसादृश्योपदर्शनार्थे, आव० ४ अ० । दर्श० ।

तहां-तस्मात्-" सर्वाऽऽदेर्ङसेर्हां " ॥ ८ ॥ ४ । ३५५ ॥ इति अपभ्रंशे सर्वाऽऽदेरकारान्तात्परस्य ङसेर्हां इत्यादेश. । प्रा० ४ पाद ।

तहाकप्प-तथाकल्प-त्रि० । तथाऽऽचारे, स्था० ३ ठा० ।

तहाकार-तथाकार-पुं० । तीर्थकरस्य केवलज्ञानं च मते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

तहागय–तथागत–पुं० । तथा तेन यथावस्थितपदार्थोपलम्भा-ऽऽत्मकेन प्रकारेण गत ज्ञानमेषामिति तथागता. । बृ० ३ उ० । तथाऽपुनरावृत्त्या गतास्तथागताः । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । अथवा-तथैवापुनरावृत्त्या गत गमनं येषां ते तथागताः । यदि वा-यथैव ज्ञेय तथैव गत ज्ञानं येषां ते तथागताः । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । अथवा-तथागतानि यथावस्थितानि तथैवावितथ जानन्ति, न विभङ्गज्ञानिन इव विपरीतं पश्यन्ति । तेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । देवत्वाऽऽदिप्रकारमापन्नेषु, भ० १७ श० २ उ० । यथोक्तानुष्ठायिषु (सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०) सिद्धेषु, सर्वज्ञेषु च । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

तहाजुत्त–तथायुक्त–त्रि० । सेवकगुणोपेततया उचिते, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

तहाभूय–तथाभूत–त्रि० । एवंप्रकारं प्राप्ते, " अह ण स होई उवलद्धो तो ससि तहाभूयंमि । " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

तहारूव–तथारूप–त्रि० । तथा तत्प्रकारं रूप सद्भावो नेपथ्याऽऽदिर्वा यस्य स तथारूप. । दानोचिते, स्था० ३ ठा० १ उ० । उचितस्वभावे, भ० २ श० ५ उ० । भक्तिदानोचितपात्रे, भ० ५ श० ५ उ० । अविज्ञातव्रतविशेषे, न० । भ० १५ श० ।

तहाविय–तथाविद्–पुं० । तथारूपमनुष्ठान विदन्तीति तथाविद. । इङ्गिताऽऽकारकुशले. निपुणे, तद्विदि सर्वज्ञे, पुं० । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

तहाविह–तथाविध–त्रि० । तत्प्रकारे, " तं तहाविह पेच्छइ । " आ० म० १ अ० २ खण्ड । नि० चू० ।

तहाहि–तथाहि–अव्य० । निपातसमुदाय. । ध० ३ अधि० । तथा च हि च द्वन्द्व । निदर्शने, प्रसिद्धमेवेत्यर्थे, वाच० । उक्तस्योपदर्शने, ध० ३ अधि० । अने० ।

तहिं–तत्र–अव्य० । " त्रपो हिंहत्था. " ॥ ८ । २ । १६१ ॥ इति त्रप्प्रत्ययस्यैते त्रय आदेशा. । प्रा० २ पाद । तस्मिन्नित्यर्थे, वाच० । जं० । प्रश्न० ।

तहिय–तथ्य–अव्य० । तथेति चिनोति-चिञ्चयने पूर्वोक्तार्थदृढीकरणे, वाच० । उक्तप्रकारमापन्ने, मात्रयाऽप्यन्यूनाधिके, उत्त० ६ अ० । प्रश्न० ।

तथ्य–त्रि० । परमार्थभूते सत्ये, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

तहोववत्ति–तथोपपत्ति–स्त्री० । तथैव साध्यसम्भवप्रकारेण हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्ति' । अर्थात् सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्ति । यथा कृशानुमानय पाकप्रदेश', सत्येव कृशानुमत्त्वे धूमवत्त्वस्योपपत्तेः । हेतुप्रयोगभेदे, रत्ना० ६ परि० ।

ता–तस्मात्–अव्य० । " तस्मात्ता " ॥ ८ । ४ । २७८ ॥ इति शौरसेन्यां तस्माच्छब्दस्य ता इत्यादेश' । प्रा० ४ पाद । पञ्चा० ।

तावत्–अव्य० । तत्परिमाणमस्य । नि० । " यावत्तावज्जीवितावर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे व. " ॥ ८ । १ । २७१ ॥ इति सस्वरस्य वकारस्य लोप । प्रा० १ पाद । प्रस्तुतार्थप्रदर्शके, आ० म० १ अ० २ खण्ड । सूत्र० । तच्छब्दस्य प्रथमैकवचनेऽपि स्त्रियां 'ता' इति । अस्यमामीत्युक्तेः " किं यत्तदोस्यमामि " ॥ ८ । ३ । ३३ ॥ इति ङीर्न भवति । प्रा० ३ पाद ।

ताअ–तात–पुं० । तन-क्त-दीर्घत्व च । वाच० । मागध्यां दत्वं, प्राकृते तकारलोप' । प्रा० १ पाद । जनके, उत्त० १४ अ० । पुत्रे सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । प्रश्न० । अनुकम्प्ये, पूज्ये च । त्रि० । वाच० ।

ताइ (ण्) तायि (यि) न्–त्रि० । 'तय' गतौ णिनिप्रत्यय. । मोक्षं प्रति गमनशीले, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । तायते रक्षति दुर्गतेरात्मानमेकेन्द्रियाऽऽदिप्राणिनो वाऽवश्यमिति तायी (?) । उत्त० ८ अ० । ताय. सुदृष्टमार्गोक्तिः, तद्वान् तायी । सुपरिज्ञातदेशतया विनेयपालयितरि, द्वा० २३ द्वा० । दश० । तयन ताय ,स विद्यते यस्यासौ तायी । तस्मिन्, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । आव० ।

त्रायिन्–त्रि० । मनोवाक्कायगुप्तित्रि' कृतकारितानुमतित्रिर्वाऽऽत्मानं त्रातुं शीलमस्येति त्रायी, जन्तूनां सदुपदेशदानतस्त्राणकरणशीले, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । आसन्नभव्याना त्राणकारणे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । आत्मन. परेषां च त्राणशीले, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । विशिष्टोपदेशदानादपरेषा त्राणभूते, (सूत्र० १ श्रु० १ अ०) ससारसागरात्प्राणिपुगपालके, (पञ्चा० १६ विव० ।) धर्मकार्याऽऽदिना ससारदुःखेभ्यस्त्राणकर्त्तरि, दश० २ अ० ।

ताठा–दंष्ट्रा–स्त्री० । ' चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ " ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इह कश्चिल्लाक्षणिकस्यापीत्युक्तेर्दाढा इत्यस्य स्थाने ताठा इत्यादेश । प्रा० ४ पाद । दन्तभेदे, दन्तपङ्क्तिद्वयप्रान्तस्थाया द्विगुणाकृतायां दन्तावली च । वाच० ।

तामण–ताडन–न० । उरःशिर कुट्टनकेशलुञ्चनाऽऽदिषु, भाव० ४ अ० । गुणने, स्था० १ ठा० ।

तादत्थ–तादर्थ्य–न० । तटस्थत्वे, पार्श्ववर्त्तित्वे, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

ताडिअ–ताडयित्वा–अव्य० । ताडनं कृत्वेत्यर्थे, उत्त० १९ अ० ।

ताडियय–देशी-रोदने, दे० ना० ४ वर्ग १० गाथा ।

ताडिज्जमाण–ताड्यमान–त्रि० । कुब्जाऽऽयमिघाताऽऽदिना ताडनां प्राप्यमाणे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

ताण–त्राण–त्रि० । शरणे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । सूत्र० । अष्ट० । विशे० । स्था० । अनर्थप्रतिघातहेतौ, कल्प० २ क्षण । अनर्थप्रतिहनने, अर्थसपादने च । न० । त० ।

> वित्त पसवो य णाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ ।
> एते मम तेसु वी अहं, नो ताणं सरणं न विज्जइ ॥ ९६ ॥

(वित्तमित्यादि) वित्त-धनधान्यहिरण्याऽऽद, पशव -करितुरगगोमहिष्यादय ,ज्ञातय -स्वजना मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदयः, तदेव वित्ताऽऽदिक बालोऽज्ञ शरण मन्यते । तदेव दर्शयति-ममैते वित्तपशुज्ञातय' परिभोगे उपयोक्ष्यन्ते । तेषु चार्जनपालनसरक्षणाऽऽदिना शेषोपद्रवनिराकरणेन परिहारेणाऽह भवामीत्येव बालो मन्यते । न पुनर्जानीते-यदर्थं धनमिच्छति तच्छरीरमशाश्वतमिति । अपि च-" रिद्धी सहावतरला, रोगजराभंगुरं हयसरीरं । " तथा-" मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च । प्रतिजन्मनि वर्तन्ते, कस्य माता पिताऽपि वा ? ॥ १ ॥ एतदेवाऽऽह-नो नैव, वित्ताऽऽदिक ससारे क-

थमपि भाण जवति, नरकाऽऽदौ पनतो नाऽपि रागाऽऽदिनो- पद्रुतस्य क्वचिच्छरण विद्यते इति ॥ १६ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

तान–पु० । ततायां तन्त्र्याम, "ताणा एगूणपणास ।" तत्र षड्- जाऽऽदय स्वराः प्रत्येक सप्तभिस्तानैर्गीयन्त इत्येवमेकोनपञ्चा- शत्ताना सप्ततन्त्रिकायां वीणायां भवन्ति । अनु० ।

ताद–तात–पुं० । 'ताअ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

तादत्तिय–तादात्विक–त्रि० । यः किमप्यसचिन्त्य उत्पन्नमर्थं व्येति स तादात्विक । अविचारेणार्थनाशके, ध० १ अधि० ।

तादत्थ–तादर्थ्य–न० । तदर्थभावे, आ० ।

ताम–तावत्–अव्य०। "यावत्तावतोर्वाऽऽदेः म उं महिं" ॥८।४।४०६॥ इत्येते त्रय आदेशाः । ताम ताउ-तामहिं । प्रा०४ पाद । साकल्ये, अवधौ, माने, अवधारणे, प्रशंसायाम्, पक्षान्तरे, वाक्यभूषणे, तदेत्यर्थे च । तत्परिमाणवति, त्रि० । स्त्रियां ङीप् । तावती । वाच० ।

तामर–देशी–रम्ये, दे० ना० ५ वर्ग १० गाथा ।

तामरस–तामरस–न० । पद्मे, प्रज्ञा० १ पद । स्था० । कल्प० । ताम्रे. स्वर्णे, धुस्तूरे, द्वादशाक्षरपादके छन्दोभेदे च । वाच० । मुहूर्ते, दे० ना० ५ वर्ग १० गाथा ।

तामलित्ति–ताम्रलिप्ति–स्त्री० । जम्बूद्वीपे भारतवर्षे स्वनामख्या तायां नगर्याम, यत्र मौर्यपुत्र ईशानदेवेन्द्रजीवो गृहपतिरासी- त् । भ० ३ श० १ उ० । वङ्गाना आर्यजनपदाना राजधान्याम, प्रज्ञा० १ पद । प्रव० । सूत्र० । आचा० ।

तामलित्तिया–ताम्रलिप्तिका–स्त्री० । स्थविरागोदासान्निर्गत स्य गोदासगणस्य प्रथमशाखायाम, कल्प० ८ क्षण ।

तामली–तामली–पु० । ताम्रलिप्तिनगरीवास्तव्ये ईशानदेवेन्द्र- जीवे मौर्यपुत्रे गृहपतौ, भ० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे तामलित्ती नामं नयरी होत्था । वण्णओ । तत्थ णं तामलित्तीए नयरीए तामली नामं मोरियपुत्ते गाहावई होत्था । अड्डे दित्ते०जाव वहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था । तए णं तस्स मोरियपुत्तस्स तामलिस्स गाहावइस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुटुंबजागरियं जागरमाणस्स इमे एयारूवे अज्झत्थिए०जाव समुप्पज्जे- अत्थि ता मे पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताण सुभाणं कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणफलवित्तिविसेसो,जेणाहं हिरण्णेण वड्ढामि, सुवण्णेण वड्ढामि, धणेणं वड्ढामि, धण्णेणं पुत्तेहिं च पसूहिं वड्ढामि, विउलधणकणगरयणमणि- मोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणसंतसारसावएज्जेणं अईव अईव अभिवड्ढामि, त किं णं अहं पुरा पोराणाणं सुचि- ण्णाणं० जाव कडाणं कम्माणं एगंतसो खयं उवेहमाणे विहरामि, त०जाव अहं हिरण्णेणं वड्ढामि० जाव अईव अईव अभिवड्ढामि० जाव च मे मित्तनाइनियगसंबंधि- परियणो आढाइ, परियाणाइ, सक्कारेइ, सम्माणेइ, कल्लाणं मंगलं देवयं विणएणं चेइयं पज्जुवासेइ, ताव ता मे सेयं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए०जाव जलंते सयमेव दारुमयं पडि- ग्गहं करेत्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडा- वेत्ता मित्तणाइनियगसयणसंबंधिपरियणं आमंतेत्ता तं मि- त्तणाइनियगसयणसंबंधिपरियणं विउलेणं असणपाण- खाइमसाइमेण वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेत्ता सम्मा- णेत्ता तस्सेव मित्तणाइनियगसंबंधिपरियणस्स पुरओ जेट्ठपुत्त कुडुंबे ठावित्ता तं मित्तनाइनियगसंबंधिपरियणं जेट्ठपुत्तं च आपुच्छित्ता सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय मुंडे भवित्ता पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइत्तए । पव्वइए वि य ण समाणे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हिस्सा- मि–कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं वाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभि- मुहस्स आयावणभूमीए आयावेमाणस्स विहरित्तए, छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि आयावणभूमीओ पच्चोरुभित्ता सय- मेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय तामलित्तीए नयरीए उच्च- नीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडेत्ता सुद्धोदणं पडिगहेत्ता त तिसत्तखुत्तो उदएणं पक्खालेत्ता तओ पच्छा आहारं आहारित्तए त्ति कट्टु एव संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं पाउप्पभायाए० जाव जलंते सयमेव दारुमयं पडिग्गहं कारेइ, कारेइत्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता तओ पच्छा एहीए कयवलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सु- द्धप्पावेसाइ मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए अप्पमहग्घाभर- णालंकियसरीरे भोयणवेलाए भोयणमंडवंसि सुहासण- वरगए, तए णं मित्तणाइनियगसयणसंबंधिपरियणेण सद्धिं त विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणे वीसा- एमाणे परिभाएमाणे परिभुंजेमाणे विहरइ । जेमिय भुत्तुत्तरागए वि य णं समाणे आयंते चोक्खे परमसुइभूए तं मित्त० जाव परियणं विउलेणं वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेइ,सक्कारेइत्ता तस्सेव मित्तणाइ०जाव परियणस्स पु- रओ जेट्ठपुत्त कुडुंबे ठावेइ,ठावेइत्ता तं मित्तणाइ०जाव प- रियणं जेट्ठपुत्तं च आपुच्छइ,आपुच्छइत्ता मुंडे भवित्ता पा- णामाए पव्वज्जाए पव्वइत्तए । पव्वइए वि य णं समाणे इम एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ–कप्पइ मे जावज्जी- वाए छट्ठं छट्ठेणं० जाव आहारित्तए त्ति कट्टु इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ, अभिगिण्हइत्ता जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं वाहाओ पगिज्झिय

पगिज्झिय सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विह-
रइ, छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि आयावणभूमीए पच्चोरु-
हइ, पच्चोरुहइत्ता सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय तामलि-
त्तीए नयरीए उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुयाणस्स भि-
क्खायरियाए अडइ, अडइत्ता सुद्धोयणं पडिग्गहेइ, पडिग्ग-
हेइत्ता तिसत्तखुत्तो उदएणं पक्खालेइ, पक्खालेइत्ता तओ प-
च्छा आहारं आहारेइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-पाणा-
माए पव्वज्जा ?। गोयमा ! पाणामाए णं पव्वज्जाए पव्व-
इए समाणे जं जत्थ पासइ, तं इंदं वा खंदं वा रुद्दं वा
सिवं वा वेसमणं वा अज्जं वा कोट्टकिरियं वा रायं वा
०जाव सत्थवाहं वा काकं वा साणं वा पाणं वा उच्चं
पासइ, उच्चं पणामं करेइ, नीयं पासइ, नीयं पणामं करेइ,
जं जहा पासइ, तस्स तहा पणामं करेइ, से तेणट्ठेणं०जाव
पव्वज्जा । तए णं से तामली मोरियपुत्ते तेणं उरालेणं वि-
पुलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं बालतवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे
०जाव धमणिसंतए जाए यावि होत्था । तए णं तस्स ता-
मलिस्स बालतवस्सिस्स अन्नया कयाइं पुव्वरत्तावरत्त-
कालसमयंसि अणिच्चजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे
अज्झत्थिए चिंतिए० जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं
इमेणं उरालेणं विपुलेणं० जाव उदत्तेणं उत्तमेणं महा-
णुभागेणं तवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे० जाव धमणिसंतए
जाए, तं अत्थि जा मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिस-
क्कारपरक्कमे ताव ता मे सेयं कल्लं० जाव जलते तामलि-
त्तीए नगरीए दिट्ठाभट्ठे य पासंडत्थे य गिहत्थे य पुव्व-
संगतिए य पच्छासंगतिए य परियायसंगतिए य आपु-
च्छित्ता तामलित्तीए नयरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छि-
त्ता पाओगकुंडियमादीयं उवगरणं दारुमयं च पडिग्ग-
हयं एगते एडेत्ता तामलित्तीए नगरीए उत्तरपुरच्छिमे
दिसीभाए नियत्तणियमंडलं आलिहित्ता संलेहणाझूस-
णाझूसियस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स
कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ,
संपेहेइत्ता कल्लं० जाव जलंते० जाव आपुच्छइ, आ-
पुच्छइत्ता तामली एगंते एडेइ० जाव भत्तपाणप-
डियाइक्खिए पाओवगमणं निवन्ने । तेणं कालेणं तेणं
समएणं बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया
यावि होत्था । तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया
बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बालतव-
स्सिं ओहिणा आहोयंति, आहोयंतित्ता अण्णमण्णं सद्दा-
वेंति, सद्दावेंतित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया !
बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया, अम्हे णं देवा-
णुप्पिया ! इंदाहीणा इंदाहिट्ठिया इंदाहीणकज्जा, अयं
च णं देवाणुप्पिया ! तामली बालतवस्सी तामलित्तीए
नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए नियत्तनियमं-
डलं आलिहित्ता संलेहणाझूसणाझूसिए भत्तपाणपडि-
याइक्खिए पाओवगमणं निवन्ने,तं सेयं खलु देवाणुप्पिया !
अम्हं तामलिं बालतवस्सिं बलिचंचाए रायहाणीए ठिइ-
प्पकप्पं पकरावेत्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एय-
मट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेंतित्ता बलिचंचाए रायहाणीए
मज्झं मज्झेणं निग्गच्छंति, जेणेव रुयइंदे उप्पायपव्वए,
तेणेव उवागच्छंति, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति
०जाव उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विकुव्वंति त्ति विकु-
व्वंतित्ता ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए
जयणाए छेयाए सीहाए सिग्घाए दिव्वाए उद्धुयाए
देवगईए तिरियं असंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं
मज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे
जेणेव तामलित्तीए णगरीए जेणेव तामली मोरियपुत्ते, तेणेव
उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता तामलिस्स बालतवस्सिस्स
उप्पिं सपक्खिं सपडिदिसिं ठिच्चा दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं दे-
वजुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं बत्तीसइविहं नट्टविहिं उ-
वदंसंति, उवदंसंतित्ता तामलिं बालतवस्सिं तिक्खुत्तो आ-
याहिणपयाहिणं करंति, वंदंति, नमंसंति, नमंसंतित्ता एवं
वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे बलिचंचारायहा-
णीवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य देवा-
णुप्पिया ! वंदामो, नमसामो० जाव पज्जुवासामो, अम्हा-
णं देवाणुप्पिया ! बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरो-
हिया, अम्हे य णं देवाणुप्पिया ! इंदाहीणा इंदाहिट्ठिया
इंदाहीणकज्जा, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! बलिचंचाराय-
हाणिं आढह, परियाणह, सुमरह, अट्ठं बंधेह, निदाणं
पकरेह, ठिइप्पकप्पं पकरेह । तए णं तुब्भे कालमासे
कालं किच्चा बलिचंचारायहाणीए उववज्जिस्सह, तए णं
तुब्भे अम्हं इंदा भविस्सह, तए णं तुब्भे अम्हेहिं स-
द्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरिस्सह । तए
णं से तामली बालतवस्सी तेहिं बलिचंचारायहाणिवत्थ-
व्वेहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य एवं वुत्ते
समाणे एयमट्ठं नो आढाइ, नो परियाणइ, तुसिणीए स-
चिट्ठइ । तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असु-
रकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं मोरियपुत्तं दोच्चं पि
तच्चं पि तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ , करेइत्ता०
जाव अम्हं च णं देवाणुप्पिया ! बलिचंचा रायहाणी
अणिंदा० जाव ठिइप्पकप्पं पकरेह०, जाव दोच्चं पि त-

णं पि एवं वुत्ते समाणे ०जाव तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिणा बालतवस्सिणा अणाढाइज्जमाणा अपरियाइज्जमाणा जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे कप्पे अणिंदे अपुरोहिए यावि होत्था । तए णं से तामली बालतवस्सी बहुपडिपुण्णाइं सट्ठिं वाससहस्साइं परियागं पाउणित्ता दो मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सवीसं भत्तसयं अणसणाए छेदित्ता कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे ईसाणवडिंसए विमाणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसतरियं अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्तीए ओगाहणाए ईसाणे देविंदे विरहियकालसमयसि ईसाणदेविंदत्ताए उववण्णे । तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया अहुणोववन्ने पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ । तं जहा–आहारपज्जत्तीए० जाव भासामणपज्जत्तीए । तए णं बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बालतवस्सिं कालगयं जाणित्ता ईसाणे य कप्पे देविंदत्ताए उववण्णं पासित्ता आसुरुत्ता कुविया चंडिक्किया मिसिमिसेमाणा बलिचंचाए रायहाणीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छंति, निग्गच्छंतित्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव जेणेव भारहे वासे जेणेव तामलित्ती नयरी जेणेव तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरए, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता वामे पाए सुंबेणं बंधंति, बंधंतित्ता तिक्खुत्तो मुहे उट्ठुहंति, उट्ठुहंतित्ता तामलित्तीए नयरीए सिंघाडगतियचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणा महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयासी–से केणं भो तामली बालतवस्सी सयंगहियलिंगे पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए, केस णं से ईसाणे कप्पे ईसाणे देविंदे देवराया त्ति कट्टु तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरयं हीलेंति, निंदंति, खिंसंति, गरहंति, अवमण्णंति, तज्जिंति, तालिंति, परिवहंति, पव्वहंति, आकड्ढविकड्ढिं करेंति, हीलेत्ता० जाव आकड्ढविकड्ढिं करेत्ता एगंते एडंति, एडंतित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । तए णं ते ईसाणकप्पवासी बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य बलिचंचारायहाणिवत्थव्वएहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरयं हीलिज्जमाणं निंदिज्जमाणं खिंसिज्जमाणं० जाव आकड्ढविकड्ढिं कीरमाणं पासंति, पासंतित्ता आसुरुत्ता० जाव मिसिमिसेमाणा जेणेव ईसाणे देविंदे देवराया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावेंतित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य देवाणुप्पिये कालगए जाणेत्ता ईसाणे य कप्पे इंदत्ताए उववण्णे पासेत्ता आसुरुत्ता० जाव एगंते एडंति, एडंतित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगए । तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया तेसिं ईसाणकप्पवासीणं बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे तत्थेव सयणिज्जवरगए तिवलियं भिउडिं णिडाले साहट्टु बलिचंचारायहाणिं अहे सपक्खिं सपडिदिसिं समभिलोएइ, तए णं सा बलिचंचा रायहाणी ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा अहे सपक्खिं सपडिदिसिं समभिलोइया समाणी तेणं दिव्वप्पभावेणं इंगालब्भूया मुम्मुरभूया छारियब्भूया तत्तकवेल्लयभूया तत्तासमजोइब्भूया जाया यावि होत्था । तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तं बलिचंचारायहाणिं इंगालब्भूयं ०जाव समजोइब्भूयं पासंति, पासंतित्ता भीया उत्तत्था तसिया उव्विग्गा संजायभया सव्वओ समंता आधावंति, परिधावंति, परिधावंतित्ता अण्णमण्णस्स कायं समतुरंगेमाणा चिट्ठंति । तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाणं देविंदं देवरायं परिकुवियं जाणित्ता ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं तेयलेस्सं असहमाणा सव्वे सपक्खिं सपडिदिसिं ठिच्चा करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावेंतित्ता एवं वयासी–अहो णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी० जाव अभिसमण्णागया, तं दिट्ठा णं देवाणुप्पियाणं दिव्वा देविड्ढी० जाव लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया खामेमो णं देवाणुप्पिया !, खमंतु मं देवाणुप्पिया !, खमंतुमरिहंतु णं देवाणुप्पिया !, नाइभुज्जो भुज्जो एवं करणयाए त्ति कट्टु एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामंति; तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया तेहिं बलिचंचारायहाणिवत्थव्वेहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामिए समाणे तं दिव्वं देविड्ढिं० जाव तेयलेस्सं पडिसाहरइ, तप्पभिइं च णं गोयमा ! ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाणं देविंदं देवरायं आढंति० जाव पज्जुवासंति; ईसाणस्स य देविंदस्स देवरण्णो आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठंति ।

एवं खलु गोयमा ! ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी० जाव अभिसमण्णागए। ईसाणस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! साइरेगाइं दोसागरोवमाणि ठिई पण्णत्ता। ईसाणे णं भंते ! देविंदे देवराया ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं० जाव कहिं गच्छहिंति कहिं उववज्जिहिंति ?। गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति० जाव अंतं काहिंति । भ० ३ श० १ उ० ।

तामस-तामस-पुं० । तमसि अन्धकारे अविद्यागुणे वा रतः भवः । सर्पे, उलूके, खले च । तमसा गुणभेदेन निर्वृत्तम्, अण्। सांख्ययोक्ते तमोजन्ये अहङ्काराऽऽदौ, त्रि० । तमस राहोरपत्यम्, अण् । राहुसुतेषु ज्योतिषोक्तेषु केतुषु, तमसा व्याप्ता, अण् । ङीप् । रात्रौ, जटामांस्यां, तमोऽधिकायां स्त्रियां च । वाच० । अज्ञानपरिणामे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

तामिस्स-तामिस्र-न० । तमिस्रमस्त्यस्मिन्, अण् । सांख्योक्ते ऽष्टादशविधे विपर्ययरूपाज्ञानभेदे, वाच० । स्था० । भोगेच्छाप्रतिघातजे क्रोधे, तमिस्रा चारिणि राक्षसे च । अन्धकारमये नरकभेदे, न० । वाच० ।

तामोतर-दामोदर-पुं० । "चूलिकापैशाचिके तृतीयचतुर्थयोराद्यद्वितीयौ" ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति चूलिकायां पैशाच्यां च दकारस्य तकारः । प्रा० ४ पाद । "तदोस्त" ॥ ८ । ४ । ३०७ ॥ इति पैशाच्या दस्य त. । प्रा० ४ पाद । विष्णौ, वाच० ।

ताय-तात-पुं० । पितरि, भ० ३३ श० ७ उ० ।

तायत्तीसग-त्रयस्त्रिंशत्-स्त्री० । ऽयधिकायां त्रिंशति, भ० ३ श० १ उ० । प्रज्ञा० ।

त्रायस्त्रिंश-पुं० । इन्द्राणां पूज्ये महत्तरकल्पे, उपा० २ अ० । स्था० । कल्प० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे णामं णयरे होत्था । वण्णओ-दूइपलासए चेइए सामी समोसढे० जाव परिसा पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे० जाव उड्ढंजाणू० जाव विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी सामहत्थी णामं अणगारे पगइभद्दए जहा रोहे० जाव उड्ढंजाणू० जाव विहरइ । तए णं से सामहत्थी अणगारे जायसड्ढे० जाव उट्ठाए उट्ठेइत्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भगवं गोयमं तिक्खुत्तो० जाव पज्जुवासेमाणे एवं वयासी-अत्थि णं भंते ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तायत्तीसगा देवा ? । एवं खलु सामहत्थी ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे कायंदी णामं णयरी होत्था । वण्णओ । तत्थ णं कायंदीए णयरीए तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा परिवसंति, अड्ढा० जाव अपरिभूया अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा, वण्णओ० जाव विहरंति । तए णं ते तायत्तीसं सहाया गाहावइसमणोवासगा पुव्विं उग्गा उग्गविहारी संविग्गा संविग्गविहारी भवित्ता तओ पच्छा पासत्था पासत्थविहारी ओसण्णा ओसण्णविहारी कुसीला कुसीलविहारी अहाच्छंदा अहाच्छंदविहारी बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसंति, झूसंतित्ता तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदेंतित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीसगा देवत्ताए उववण्णा । जप्पभिइं च णं भंते ! कायंदगा तायत्तीसं सहाया समणोवासगा चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीसगदेवत्ताए उववण्णा, तप्पभिइं च णं भंते ! एवं वुच्चइ-चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तायत्तीसगा देवा ? । तत्थ णं भगवं गोयमे सामहत्थिणा अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए वितिगिंछिए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता सामहत्थिणा अणगारेणं सद्धिं जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी-अत्थि णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीसगा देवा ?। हंता अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-एवं तं चेव सव्वं भाणियव्वं० जाव तप्पभिइं च णं एवं वुच्चइ-चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीसगा देवा ? । नो इणट्ठे समट्ठे । एवं खलु गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तायत्तीसगाणं देवाणं सासए नामधेज्जे पण्णत्ते; जं न कदाइ नासी, न कदाइ न भवइ० जाव णिच्चे अव्वोच्छित्तिनयट्ठयाए अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति । अत्थि णं भंते ! बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो तायत्तीसगा देवा ?। हंता अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-बलिस्स वइरोयणिंदस्स० जाव तायत्तीसगा देवा ? । एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे बिभेले णामं सन्निवेसे होत्था । वण्णओ । तत्थ णं बिभेले सन्निवेसे जहा चमरस्स० जाव उववण्णा । जप्पभिइं च णं भंते ! ते बिभेलगा तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा बलिस्स वइरोयणिंदस्स सेसं तं चेव० जाव णिच्चे अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जंति । अत्थि णं भंते ! धरणस्स नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो तायत्तीसगा देवा ?। हंता अत्थि । से केणट्ठेणं० जाव तायत्तीसगा देवा ?। गोय

मा ! धरणस्स नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो तायत्तीसगाणं देवाणं सासए नामधेज्जे पण्णत्ते । जं न कदाइ नासी० जाव अण्णे चयंति, अण्णे उववज्जति । एवं भूयाणंदस्स वि, एवं० जाव महाघोसस्स वि । अत्थि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो पुच्छा ? । हंता अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ! ०जाव तायत्तीसगा देवा ?। एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे बालाए णामं सन्निवेसे होत्था । वण्णओ । तत्थ णं बालाए सन्निवेसे तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा, जहा चमरस्स० जाव विहरंति । तए णं ते तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा पुव्विं पि पच्छा वि उग्गा उग्गविहारी संविग्गा संविग्गविहारी बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति, पाउणतित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदेतित्ता आलोइयपडिक्कता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा० जाव उववण्णा । जप्पभिइं च णं भंते ! ते बालाए तायत्तीसं सहाया गाहावई समणोवासगा, सेसं जहा चमरस्स ०जाव अण्णे उववज्जंति । अत्थि णं भंते ! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो एवं जहा सक्कस्स. णवरं चंपाए णयरीए० जाव उववण्णा । जप्पभिइं च णं भंते ! ते चंपिच्चा तायत्तीसं सहाया, सेसं त चेव ०जाव अण्णे उववज्जति । अत्थि णं भंते ! सणंकुमारस्स देविंदस्स देवरण्णो पुच्छा ? । हंता अत्थि । से केणट्ठेणं ? । जहा धरणस्स तहेव, एवं० जाव पाणयस्स, एवं अच्चुयस्स ०जाव अण्णे उववज्जंति ।

(तेणमित्यादि) (तायत्तीसग त्ति) त्रयस्त्रिंशा मन्त्रिकल्पाः । (तायत्तीस सहाया गाहावइ त्ति) त्रयस्त्रिंशत्परिमाणाः सहायाः परस्परेण साहाय्यकारिणो गृहपतयः कुटुम्बनायकाः (उग्ग त्ति) उग्रा उदात्ता भावत (उग्गविहारि त्ति) उदात्ताऽऽचाराः सदनुष्ठानत्वात् (संविग्ग त्ति) संविग्ना मोक्षं प्रति प्रचलिताः, संसारभीरवो वा (संविग्गविहारि त्ति) संविग्नविहारः संविग्नानुष्ठानमस्ति येषां ते तथा । (पासत्थ त्ति) ज्ञानाऽऽदिबहिर्वर्तिनः (पासत्थविहारि त्ति) आकालं पार्श्वस्थसमाचाराः । (ओसन्नि त्ति) अवसन्ना इव श्रान्ता इवावसन्नाः आलस्यादनुष्ठानासम्यक्करणात् (ओसन्नविहारि त्ति) आजन्मशिथिलाचारा इत्यर्थः । (कुसील त्ति) ज्ञानाऽऽद्याचारविराधनात् । (कुसीलविहारि त्ति) आजन्माऽपि ज्ञानाऽऽद्याचारविराधनात् । (अहाच्छंद त्ति) यथाकथञ्चिन्नाऽऽगमपरतन्त्रतया छन्दोऽभिप्रायो बोधः प्रवचनार्थेषु येषां ते यथाच्छन्दाः । ते चैकदाऽपि भवन्तीत्यत आह- (अहाच्छंदविहारि त्ति) आजन्मापि यथाच्छन्दा एवेति । (तप्पभिइं च णं ति) यत्प्रभृति त्रयस्त्रिंशत्सख्योपेतास्ते श्रावकास्तत्रोत्पन्नास्तत्प्रभृति च पूर्वमिति । भ० १० श० ४ उ० ।

ताय-तात-पुं० । 'ताअ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

तायय-तातक-पुं० । स्वार्थे कन् । पितरि, उत्त० २ अ० ।

तार-तार-पुं० । स्वार्थे णिच्-अच् । प्रेरणे णिच् । करणाऽऽदौ वा घञ् । वानरभेदे, शुद्धमुक्तायां प्रणवे, देवीप्रणवे, हीङ्कारणे, वाच० । द्वा० । गीयते मूर्धानमभिघ्नन् स्वर उच्चैस्तरो भवति-स्थानक च द्वितीय तृतीय वा समभिरोहति-इत्येवंरूपे शिरोजातध्वनौ, रा० । नक्षत्रे; नेत्रमध्यस्थकनीनिकायां च । न० । स्त्री० । रूप्ये, न० । अत्युच्चनादे, अत्युच्चे, निर्मले च । त्रि० । महाविद्याभेदे, बालिपत्न्यां, बृहस्पतिभार्यायां च । स्त्री० । वाच० ।

तारग-तारक-न० । तारयत्यगाधात् संसारपयोधेर्योगिनमित्यन्वर्थिकया संज्ञया तारकमुच्यते । विवेकजे ज्ञाने, द्वा० २६ द्वा० । कल्प० । रा० । स० । द्वितीये प्रतिवासुदेवे, पुं० । प्रव० २११ द्वार । ति० ।

तारगग्गह-तारकग्रह-पुं० । तारकाऽऽकारा ग्रहास्तारकग्रहाः । नवग्रहे, तत्र च चन्द्राऽऽदित्यराहूणा तारकाऽऽकारत्वादन्ये षट् तथोक्ताः । "छ तारग्गहा पण्णत्ता । त जहा-सुक्के,बुधे,बहस्सई, अंगारए, सणिच्चरे, केऊ ।" (सुक्के त्ति) शुक्र , (बहस्सइ त्ति) बृहस्पतिः । अङ्गारको मङ्गल, (सनिच्चरे त्ति) शनैश्चर इति । स्था० ६ ठा० ।

तारगा-तारका-स्त्री० । पुण्यभद्रस्य यक्षेन्द्रस्य यक्षराजस्य तुर्यायामग्रमहिष्याम्,स्था०४ ठा०१ उ० । (अस्याः पूर्वोत्तरभवकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्र०भा० १७१ पृष्ठे उक्ता) अष्टाशीतिग्रहाणां, सर्वतारकाणां च मण्डलानि कति सन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-यथा चन्द्रसूर्ययोर्मण्डलानां सख्याऽऽदिविचारः शास्त्रे उपलभ्यते, न तथा परग्रहाणां, तथा तारकाणां मण्डलान्यवस्थितान्येव भवन्ति, न तु चन्द्रसूर्यमण्डलवदनियतानीति । २२३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । ज्योतिषि नक्षत्रे, अणु० ३ वर्ग १ अ० । सूत्र० । अश्विन्यादिनक्षत्रेषु, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

तारग्ग-ताराग्र-न० । तारापरिमाणे, च० प्र० १ पाहु । सू० प्र० । प० स० । (तच्च ' णक्खत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७७१ पृष्ठे उक्तम्)

तारण-तारण-पुं० । तारयत्यनेन ल्युट् । मेलके, ६० वर्षमध्ये "शस्त्रं भवति सामान्य, तारणे सुरवन्दिते" इत्युक्ते वत्सरभेदे च । तारयितरि, त्रि० । वाच० । तीर्थभेदे, तारणे विश्वकोटिशिलायां श्रीअजित । ती० ४३ कल्प ।

तारत्तर-देशी-मुहूर्ते, दे० ना० ५ वर्ग १० गाथा ।

तारय-तारक-त्रि० । तारगशब्दार्थे, द्वा० २६ द्वा० ।

तारवई-तारवती-स्त्री० । समरपुरराजबन्धुमारस्य अङ्गारवतीभार्याया जाताया दुहितरि, आ० चू० ४ अ० ।

तारा-तारा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां सुग्रीवभार्यायाम्, तस्याश्च कृते संग्रामोऽभूत् । (प्रश्न०) तथाहि-किष्किन्धापुरे बालिसुग्रीवाभिधानावादित्यरथाभिधानस्य विद्याधरस्य सुतौ वानरविद्यावन्तौ विद्याधरौ बभूवतुः । तत्र-"अहिमाणेण य बाली, दाक्खिणियरस्स न नियं रज्जं । सिक्खो कयपव्वज्जो, सुग्गीवो कुणइ पुण रज्जं ॥ १ ॥" तस्य भार्या ताराऽभिधाना च । ततः कश्चित्खेचराधिपः साहसगत्यभिधानस्त-

तापरिभोगलालसः सुग्रीवरूपं विधायान्तःपुरं प्रविवेश । तथा च चिह्नैः प्रत्यभिज्ञाय निवेदितो जम्बुवदादिमन्त्रिमण्डलस्य । तच्च सुग्रीवद्वयमुपलभ्य किमिदमाश्चर्यमिति विस्मयं जगाम । ततश्च-"निसुम्भिया य दोन्नि वि, पुरओ ते मतिषगवयणेण । जुज्झति मच्छरेण य, वालिनो एस अलियसुग्गीवो ॥ १ ॥" ततश्चासौ सत्यसुग्रीवो हनुमदभिधानस्य महाविद्याधरराजस्य नत्वा निवेदयति स्म । स त्वागत्य तयोर्विशेषमजानन्नकृतोपकारः स्वपुरमगमत् । ततश्च लक्ष्मणविनाशितखरदूषणसंबन्धिनि पाताललङ्कापुरे राज्यावस्थं राममेवमालोक्य शरणं प्रपन्न । ततस्तेन सह गतः सलक्ष्मणो रामः किष्किन्धापुरे स्थितो बहिः । कृतश्च सुग्रीवेण बाहुशब्दः, तमुपश्रुत्य समागतोऽसावलीकसुग्रीवो रथाधिरूढो रणरसिकः सन् । तयोर्विशेषमजानन् तद्बलं च रामश्च स्थित उदासीन । कदर्थित सुग्रीव इतरेण । रामस्य गत्वा निवेदितं सुग्रीवेण-देव! तव पश्यतोऽप्यहं कदर्थितः । तेन रामेणोक्तम्-कृतचिह्नः पुनर्युद्धस्व । ततोऽसौ पुनर्युद्ध्यमानो रामेण शरप्रहारेण पञ्चत्वमापादितः । सुग्रीवश्च तारया सह भोगान् बुभुजे । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । दर्श० । ज्योतिष्कभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ० । स० । ज्योतिर्विमानरूपे, कृत्तिकाऽऽदिषु च नक्षत्रेषु, (ताराप्रमाणं 'णक्खत्त' शब्दे चाऽस्मिन्नेव भागे १७७१ पृष्ठे; 'चंद' शब्दे तृतीय भागे १०६४ पृष्ठे उक्तम्)

"छ प्पंच तिन्नि एग, चउ तिग रस वेय जुयल जुयलं च ।
इंदिय एग एग, विसयग्गि य समुद्द चारसग ॥ १ ॥
चउरो तिय तिय पच य, सत्त वे वे भवे तिया तिन्नि ।
रिक्खे तारपमाणं, जइ तिहितुल्लं हय कज्ज ॥ २ ॥" इति ।

इह चैकस्थानकानुरोधान्नक्षत्रत्रयस्य ताराप्रमाणमुक्तं, शेषनक्षत्राणां तु प्रायोऽप्रेतनाध्ययनेषु तद्वक्ष्यति, यस्तु क्वचिद्विसंवादस्ताराप्रमाणस्य तथाविधप्रयोजनेषु तिथिविशेषस्य नक्षत्रविशेषयुक्तस्याशुभत्वसूचनार्थत्वेनोक्तगाथयोर्मतान्तरकृतत्वान्न बाधक इति । स्था० ६ ठा० । "तारारूवे चलेज्जा ।" स्था० ३ ठा० १ उ० । अश्विन्यादिनक्षत्रेषु, (सूत्र०) नक्षत्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

तिहिँ ठाणेहिँ तारारूवे चलेज्जा-विकुव्वमाणे वा, परियारेमाणे वा, ठाणाओ वा ठाणं संकममाणे तारारूवे चलेज्जा ॥

(तिहिँ इत्यादि) (तारारूवे त्ति) तारकमात्रम्, (चलेज्जा) स्वस्थानं त्यजेत्, वैक्रियं कुर्वद्वा (परिचारेमाणे वा) मैथुनार्थं सरम्भयुक्तमित्यर्थः । स्थानकाद्विकस्मात् स्थानान्तरं संक्रामद् गच्छदित्यर्थः । यथा धातकीखण्डाऽऽदि मेरुं परिहरदित्यर्थः । अथवा क्वचिन्महर्द्धिके देवाऽऽदौ चमरवद्वैक्रियाऽऽदि कुर्वति सति तन्मार्गदानार्थं चलेदिति । उक्तञ्च-" तत्थ णं जे से वाघाइए अंतरे से जहन्नेण दोन्नि छावट्ठिजोयणसए, उक्कोसेणं वारसजोयणसहस्साइं ।" इति । तत्र व्याघातिकमन्तरं महर्द्धिकदेवस्य मार्गदानादिति । स्था० ३ ठा० १ उ० । परशुरामसारितस्य कार्त्तवीर्यस्य भार्यायामष्टमचक्रवर्तिनः सुभूमस्य मातरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । स० । आव० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरस्यामग्रमहिष्यां महानद्याम्, स्था० १० ठा० । योगदृष्टिभेदे, द्वा० ।

तारायां तु मनाक् स्पष्टं, दर्शनं नियमाः शुभाः ।
अनुद्वेगो हिताऽऽरम्भे, जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ॥ १ ॥

(तारायामिति) तारायां पुनर्दृष्टौ मनागीषत् स्पष्टं मित्रापेक्षया दर्शनं शुभाः प्रशस्ता नियमा वक्ष्यमाणा इच्छाऽऽदिरूपाः । तथा-हिताऽऽरम्भे पारलौकिकप्रशस्तानुष्ठानप्रवृत्तिलक्षणेऽनुद्वेगः । तथा-तत्त्वगोचरा तत्त्वविषया, जिज्ञासा ज्ञातुमिच्छा । अद्वेषत एव तत्प्रतिपत्त्यानुगुण्यात् ॥ १ ॥

नियमाः शौचसन्तोषौ, स्वाध्यायतपसी अपि ।
देवताप्रणिधानं च, योगाऽऽचार्यैरुदाहृताः ॥ २ ॥

(नियमा इति) शौचं शुचित्वं, तद् द्विविधम्-बाह्यम्, आभ्यन्तरं च । बाह्यं मृज्जलाऽऽदिभिः कायप्रक्षालनम्, आभ्यन्तरं मैत्र्याऽऽदिभिश्चित्तमलप्रक्षालनम् । सन्तोषः सन्तुष्टिः, स्वाध्यायः प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपः, तपः कृच्छ्रचान्द्रायणाऽऽदि, देवताप्रणिधानमीश्वरप्रणिधानम्-सर्वक्रियाणां फलनिरपेक्षतयेश्वरसमर्पणलक्षणम् । एते योगाऽऽचार्यैः पतञ्जल्यादिभिर्नियमा उदाहृताः । यदुक्तम्-" शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।" (२-३२) इति ॥ २ ॥

शौचभावनया स्वाङ्ग-जुगुप्साऽन्यैरसङ्गमः ।
सत्त्वशुद्धिः सौमनस्यै-काग्र्याऽक्षजययोग्यताः ॥ ३ ॥

(शौचेति) शौचस्य भावनया स्वाङ्गस्य स्वकायस्य कारणरूपपर्यालोचनद्वारेण जुगुप्सा घृणा भवति,"अशुचिरयं कायो नात्राऽऽग्रहः कर्तव्यः ।" इति । तथा चान्यैः कायवद्भिरसङ्गमस्तत्संपर्कपरिवर्जनमित्यर्थः । यः किल स्वयमेव कायं जुगुप्सते, तत्तदवद्यदर्शनात्, स कथं परकीयैस्तथाभूतैः कायैः संसर्गमनुभवति ?। तदुक्तम्-"शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।"(२-४०) इति । तथा सत्त्वस्य प्रकाशसुखाऽऽत्मकस्य, शुद्धी रजस्तमोभ्यामनभिभवः । सौमनस्य खेदाननुभवेन मानसी प्रीतिरैकाग्र्यं नियते विषये चेतसः स्थैर्यम्, अक्षाणामिन्द्रियाणां जयो विषयपराङ्मुखानां स्वात्मन्यवस्थानं, योग्यता चात्मदर्शने विवेकख्यातिरूपे समर्थत्वम् । एतावन्ति फलानि शौचभावनयैव भवन्ति । तदुक्तम्-" सुसत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयाऽऽत्मदर्शनयोग्यत्वानि चेति ।" (२-४१) ॥ ३ ॥

संतोषादुत्तमं सौख्यं, स्वाध्यायादिष्टदर्शनम् ।
तपसोऽङ्गाक्षयोः सिद्धिः, समाधिः प्रणिधानतः ॥ ४ ॥

(संतोषादिति) संतोषात् स्वभ्यस्ताद् योगिन उत्तममतिशयितं सौख्यं भवति, यस्य बाह्येन्द्रियप्रभवं सुखं शतांशेनापि न समम् । तदाह-" संतोषादनुत्तमः सुखलाभः ।" (२-४२) स्वाध्यायात् स्वभ्यस्तादिष्टदर्शनं जप्यमानमन्त्राभिप्रेतदेवतादर्शनं भवति । तदाह-"स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः "(२-४४) तपसः स्वभ्यस्तात् क्लेशाऽऽद्यशुचिक्षयद्वाराऽङ्गाक्षयोः कायेन्द्रिययोः सिद्धिः, यथेच्छमणुत्वमहत्त्वाऽऽदिप्राप्तिसूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टदर्शनसामर्थ्यलक्षणोत्कर्षः स्यात् । यथोक्तम्-" कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः ।" (२-४३)। प्रणिधानात् ईश्वरप्रणिधानात् समाधिः स्याद्, ईश्वरभक्त्या प्रसन्नो हीश्वरोऽन्तरायरूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिमुद्बोधयतीति । यथोक्तम्-"समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानादिति।"(२-४५) तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानां त्रयाणामपि च शोभनाध्यवसायलक्षणत्वेन क्लेशकार्यप्रतिबन्धद्वारा समाध्यनुकूलत्वमेव श्रूयते । यथोक्तम्-" तपः

स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग" (२-१) "समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्चेति।" (२-२) ॥ ४ ॥

विघ्नाय नियमानेता-न्नेवं योगोपकारिणः ।
अत्रैतेषु रतो दृष्टौ, जवेदिच्छाऽऽदिकेषु हि ॥ ५ ॥

(विघ्नायेति) एतान् शौचाऽऽदीन्नियमान् एव स्वाङ्गभूताऽऽदिसाधनत्वेन योगोपकारिणः समाधिनिमित्तान् विघ्नाय । अत्र तारायां दृष्टावेतेषु इच्छाऽऽदिकेषु हि नियमेषु रतो भवेत्, तथाज्ञानस्य तथाविधहेतुत्वात् । तदत्र काचित् प्रतिपत्तिः प्रदर्शिता ॥ ५ ॥

भवत्यस्यामविच्छिन्ना, प्रीतिर्योगकथासु च ।
यथाशक्त्युपचारश्च, बहुमानश्च योगिषु ॥ ६ ॥

(भवतीति) अस्यां दृष्टावविच्छिन्ना भावप्रतिबन्धसारतया विच्छेदरहिता, योगकथासु प्रीतिर्भवति, योगिषु भावयोगिषु, यथाशक्ति उपचारश्चोचितप्रतिपत्तिरूपो ग्रासाऽऽदिसम्पादनेन बहुमानश्चाभ्युत्थानगुणगानाऽऽदिना । एवं च शुद्धपक्षपातेषु वर्धमानात् योगवृद्धिलाभो नरशिरोमणितावच्छेदकवद्धानन्दफल इति ध्येयम् ॥ ६ ॥

भयं न जवजं तीव्रं, हीयते नोचिता क्रिया ।
न चानाभोगतोऽपि स्या-दत्यन्तानुचितक्रिया ॥ ७ ॥

(भयमिति) भवजं संसारोत्थं तीव्रं भयं न भवति, तथा-शुभाऽऽरम्भेषूचिता क्रिया क्वचिदपि कार्ये न हीयते, सर्वत्रैव प्रमादाऽऽदरात् । न चानाभोगतोऽप्यज्ञानादप्यत्यन्तानुचितक्रिया धार्मिकजननिन्द्याऽऽदिका स्यात् ॥ ७ ॥

स्वकृत्ये विकले त्रासो, जिज्ञासा सस्पृहाऽधिके ।
दुःखोच्छेदार्थिनां चित्रे, कथमार्थीः परिश्रमे ॥ ८ ॥

(स्वकृत्य इति) स्वकृत्ये स्वाचारे कायोत्सर्गकरणाऽऽदौ, विकले विधिहीने, त्रासः "हा ! विराधकोऽहम्" इत्याशयलक्षणः, अधिके स्वभूमिकापेक्षयोत्कृष्टे साध्वाचाराऽऽदिकृत्ये, जिज्ञासा-कथमेतदेव स्यात् ? इति सस्पृहाऽभिलाषसहिता । दुःखोच्छेदार्थिनां ममाराक्षसनाम्, चित्रे नानाविधे, परिश्रमे तत्तत्प्रसिद्धक्रियायोगे, कथमार्थीः कथमार्थबुद्धिः कथं नानाविधा मुमुक्षुप्रवृत्तिः साकल्येन ज्ञातुं शक्यत इति । तदाह-"दुःखरूपो भवः सर्व, उच्छेदोऽस्य कुतः कथम् ? । चित्रा सतां प्रवृत्तिश्च, साऽशेषा ज्ञायते कथम् ? ॥ १ ॥" ॥ ८ ॥

नास्माकं महती प्रज्ञा, सुमहान् शास्त्रविस्तरः ।
शिष्टाः प्रमाणमिह त-दित्यस्यां मन्यते सदा ॥ ९ ॥

(नेति) नास्माकं महती प्रज्ञाऽतिशयशालिनी बुद्धिः, स्वप्रज्ञाकल्पिते विसंवाददर्शनात् । तथा-सुमहानपारः शास्त्रस्य विस्तरः, तत्तस्मात् शिष्टाः साधुजनसम्मताः प्रमाणमिह प्रस्तुतव्यतिकरे, यत्तैराचरितं तदेव यथाशक्ति सामान्येन कर्तुं युज्यत इत्यर्थः । इत्येतदस्यां दृष्टौ, मन्यते सदा निरन्तरम् ॥ ९ ॥ द्वा० २२ द्वा० ।

ताराचंद-ताराचन्द्र-पुं० । श्रावस्तीराजराजकुमारे, ध० र० ।

तत्कथा चैवम्-

अत्थि पुरी सावत्थी, नेवऽत्थि इह पुरी सम सरिच्छा ।
जिणगिहठियधयवत्थ-च्छलेण च्चय कहइ जा निच्चं ॥ १ ॥
तत्थ य पणमिरनरवर-वररयणपहापहासियकमकमलो ।
आइवराहो नामे-ण पत्थिवो अत्थि सुपसिद्धो ॥ २ ॥
ताराचंदो तस्सा-सि नंदणो नंदणो गुणतरूण ।
वरलायलक्खणधरो, रूवेण विजियरइनाहो ॥ ३ ॥
सो बालकालओ वि हु, पयइआगहणयरपरिणामो ।
इयरवयणसवणाऽऽसत्तु, चिट्ठइ पडिबंधविमुक्को ॥ ४ ॥
न कुणइ जलाऽऽकेलिं, न य रमइ कं पि कंदभासाए ।
न हसइ न चेव विसयइ, न य धावइ पवरकारितुरगे ॥ ५ ॥
सह वत्थुकोहियाहि वि, मित्तेहि समं रमेइ न कया वि ।
महुसंकारविले-वणाऽऽइयवहारं णो कुणइ ॥ ६ ॥
इय मयविमणचित्तं, कया वि कुमरं नियवि नरनाहो ।
नम्मणवामोहकए, जुवरायपयं तयं ठवइ ॥ ७ ॥
नियपुत्तरज्जचिंता, चिंततीए सवत्तिजणणीए ।
दवावियं तस्स रहे, भत्तजुयं कम्मणं दिन्नं ॥ ८ ॥
तो तस्स जायमंगे, गिहुरमसार दुगुंछणिज्जं च ।
तयणु घणसोगभरिओ, कुमरो इय चिंतए चित्ते ॥ ९ ॥
रोगभरविहुरियाणं, सयणाण सयणपरिभवहयाणं ।
जुज्जइ मरणं देसं-तरे य गमणं सपुरिसाणं ॥ १० ॥
ता मह खणं पि न खमं, विणट्ठदेहस्स निवसिउं इत्थ ।
निच्चं दुज्जणकरम-गुलीहिं दंसिज्जमाणस्स ॥ ११ ॥
इय चिंतिऊण सणियं, अगणिउ परियणं स रयणीए ।
नीहरिऊ गेहाओ, पुव्वदिसाभिमुहमुहो चलिओ ॥ १२ ॥
सङ्क व्व मंदमंदं, सो गच्छंतो कमेण विमणमणो ।
सम्मेयगिरिसमीवे, पत्तो एगम्मि नयरम्मि ॥ १३ ॥
गयणऽग्गलग्गसिहर-नमियगयमारउद्धदिसिपसरं ।
तत्तो सम्मेयगिरिं, भणियं भणियं स आरूढो ॥ १४ ॥
विहियकरचरणसुद्धी, सरसाओ गहिय सरससरसिरुहे ।
अजियाऽऽइजिणिंदे पू-इऊण भत्तीइ इय थुणइ ॥ १५ ॥
जय अजियनाह ! असमसमणाह !,
जय संभव ! समियभवअग्गिदाह ! ।
अभिनंदण ! नंदियभवियनियर !,
मइ सुमइ सुमइजिणेस ! वियर ॥ १६ ॥
जय पउम ! पउमप्पह ! अगणकित्ति !,
जय देव ! सुपास ! पयासकित्ति ! ।
चंदप्पह ! चंदसुकंतदंत !,
देवाहिदेव ! जय पुप्फदंत ! ॥ १७ ॥
जय सीयल ! सीलियसुद्धचरण !,
सिज्जंस ! सुरासुरपणयचरण ! ।
जय विमल ! विहियभवकारिविद्दाण !,
जय देव ! अणंत ! अणंतनाण ! ॥ १८ ॥
जय धम्म ! पयासियसुद्धधम्म !,
सिरिसंति ! विहियजयसंतिकम्म ! ।
जय कुंथु ! पमहियमोहमल्ल !,
अरनाह ! पणासियसयलसल्ल ! ॥ १९ ॥
जय मल्लि ! मल्लियरागारिवार !,
मुणिसुव्वय ! सुव्वयधरणसार ! ।
जय जय नमि ! नमियसुरिंदवग्ग !,
सिरिपास ! पयासियमुक्खमग्ग ! ॥ २० ॥
इय थुणिय जिणेसर नमिरसुरेसर,
भत्तिब्भरनिब्भरमणेण ।
तुट्ठउ निवनंदणु बहुपुलइयतणु,

जा पिच्छइ दसदिसि खणिण ॥ २१ ॥
ता ससहरकरसुंदर-पसरंतमहंतकंतिदिप्पंतं ।
ईसिं ओणमियतणु, चरणभरेणं व अक्कंत ॥ २२ ॥
दिट्ठामुहइल्लबियसु-प्पन्नयकरनहमऊहरज्जूहिं ।
नरयाऽवडनिवडियजं-तुजायमागरिसियंत व ॥ २३ ॥
कणयाचलनिच्चलचल-णअंगुलीविमलपहनहमिसेण ।
फुडपयमत पि व ख-तिपमुहदसविहसमणधम्मं ॥ २४ ॥
गिरिकंदरगयमुस्स-ग्गसठियं सो निए वि मुणिमेगं ।
परमप्पमोयकलिओ, पत्तो मुणिवरसमीवम्मि ॥ २५ ॥
तो लद्धिनीरनिहिणो, जियसुरतरुकामधेणुमाहप्प ।
मुणिणो से पयजुयलं, सिरसा तुट्ठो परामुसइ ॥ २६ ॥
अह मुणिमाहप्पेण, तक्काल चिय पणट्ठ विव रोगो ।
ताराचंदो जाओ, अब्भहियसुरूवरूवधरो ॥ २७ ॥
त मुणिणो माहप्प, जा चिंतइ दट्ठु विम्हिओ कुमरो ।
ता विज्जाहरजुयलं, गयणतलाओ समोसरियं ॥ २८ ॥
हरिसवसवियसियऽच्छं, पणमिय चलणुप्पल च से मुणिणो ।
अगणियगुणगणममलं, थोउं निसन्नं महीपीढे ॥ २९ ॥
कुमरेण तओ भणियं, कत्तो तुम्हाण इह समागमणं ? ।
केण य कज्जेण तओ, वुत्त विज्जाहरेण इमं ॥ ३० ॥
वेयड्ढगिरिवराओ, मुणिमेयं नतु वयमिह पत्ता ।
कुमरेणुत्तं को ए-स मुणिवरो आह इय खयरो ॥ ३१ ॥
आसी इह वेयड्ढे, राया वरखयरविसरनमियकमो ।
घणवाहणु त्ति नामे-ण नामियासेसरिउचक्को ॥ ३२ ॥
अन्नदिणे जम्ममरण-रोगकारणयभीमभवभीओ ।
सो सुचिरप्पयट्टो मो-ह वल्लिमुल्लूरिय खणेण ॥ ३३ ॥
जरचीवरं व चइउ, रज्जं सज्जो गहेवि पव्वज्ज ।
अणवरय मासखमणे, करेइ सो एस मुणिवसहो ॥ ३४ ॥
इय पभणिय ते खयरा, मुणिं च नमिउं गया सठाणम्मि ।
हरिसियहियओ कुमरो, अत्तीए इय मुणिं थुणइ ॥ ३५ ॥
जय जय मुणिंद ! खयरिं-दविंदवंदियपयारविंदजुग ! ।
भवदुहदुमवणदहसंत-सत्तपीडसवरिससम ! ॥ ३६ ॥
निज्जियतिहुयणजणमयण-सुहडभडवायभजणपवीर ! ।
अइउग्गरोगगरल-प्पदप्पनिद्दवणवरगरुड ! ॥ ३७ ॥
एव थुणिय मुणिंद, जा किंचि वि विस्सविस्सए कुमरो ।
ता उस्सग्ग पारे-वि मुणिवरो गयणमुप्पइओ ॥ ३८ ॥
तो विम्हइओ कुमरो, नमिय जिणे गिरिवराउ ओयरिओ ।
गच्छतो य कमेण, रयणउरं नयरमणुपत्तो ॥ ३९ ॥
तत्थ य चिरकालपरूढ-गाढपणएण बालमित्तेण ।
कुरुचंदेण स दिट्ठो, झडि त्ति तह पच्चभिन्नाओ ॥ ४० ॥
आलिंगिऊण गाढं, ससभमं पुच्छिओ इमो तेण ।
अच्छरियमिणं कत्तो, वयस ! तुह इत्थ आगमणं ? ॥ ४१ ॥
कत्थ व इत्तियकाल, सावत्थीओ विणिक्खमित्ता ण ।
अत्थिओ सि कह य संपइ, पुणो नवगो तुमं जाओ ॥४२॥
ताराचंदेण तओ, सावत्थीनिग्गमाउ आरब्भ ।
तप्पुरओ परिकहिओ, सव्वो वि हु निययवुत्तंतो ॥ ४३ ॥
कुमरेण वि तो पुट्ठं, कहेसु कुरुचंद ! मित्त ! नियवत्तं ।
किं इत्थ तुहाऽऽगमणं, गमणं च पुणो कहिं होहि ! ॥ ४४ ॥
कह वा ताओ निवसइ, अवि कुसलं सयलरायचक्कस्स ।
सावत्थी सुत्था सा, सगामपुरजणवया भणिय ? ॥ ४५ ॥

कुरुचंदेण भणियं, रायाऽऽएसेण इत्थ रयणपुरे ।
अहमागओऽम्हि सपइ,सावत्थीए गमिस्सामि ॥ ४६ ॥
कुसलं च रायचक्क-स्स तह य नयरीइ जणवयजुयाए ।
तुह दुसहविरहदुहिय, इक्क मुत्तु नवरि निवइ ॥ ४७ ॥
जप्पभिइ तं न दिट्ठो, तप्पभिइ निवेण पेसिया पुरिसा ।
तुज्झ पउत्तिनिमित्त, सव्वत्थ न चेव त लद्धो ॥ ४८ ॥
तो रयणपुरागमणं, जायं मे बहुफलं महाभाग ! ।
ज लद्धो तुममिहिंह, पुण्णेहिं अतक्कियागमणो ॥ ४९ ॥
तो पसिय लहु नरवर--नंदण ! नियदंसणामयरसेण ।
निव्वावसु पिउहियय,दुस्सहविरहदवनवतवियं ॥ ५० ॥
इय सप्पणय मित्ते-ण पत्थिओ निवसुओ सम तेण ।
पिउकारियरइसोह, सावत्थिं नयरिमणुपत्तो ॥ ५१ ॥
पणओ य जणयचलणे, समयम्मि निवेण पुच्छिओ कुमरो ।
मूला आरब्भ निय, वुत्तंत जाव साहेइ ॥ ५२ ॥
ता विजयसेणसूरी, समोसढो तत्थ सूरिपरिवारो ।
तव्वंदणत्थमियाए, कुमारजुत्तो निवो पत्तो ॥ ५३ ॥
नमिय मुणिंद उचिय-ट्ठाणासीणे निवम्मि कहइ गुरू ।
मंथिज्जमाणजलनिहि-उद्दामसरेण धम्मकहं ॥ ५४ ॥
इह जरजमणसलिल, बहुमच्छरमच्छकच्छभाऽऽइन्नं ।
वम्महसिरकोववरूवा-हुयवहजालोलिदुप्पिच्छं ॥ ५५ ॥
माणगिरिदुग्गमतर, मायावल्लीवियाणअंगुविलं ।
अक्खोहलोहपाया-लपरिगयं मोहआवत्तं ॥ ५६ ॥
अन्नाणपवणपिल्लियस-जोगविओगरगिरतरंग ।
जइ भवजलनिहिमेयं, तरिउं इच्छेह भवियजणा ! ॥ ५७ ॥
ता सद्दलणदढगा-ढबंधणं सुद्धभावगुरुफलइ ।
उद्धुरसंवरसंरु-द्धसयलछिद्द अइअणघ ॥ ५८ ॥
वेरग्गमग्गलग्ग, दुत्तवतवपवणजणियगुरुवेगं ।
सन्नाणकन्नधारं, सरेह चारित्तवरपोयं ॥ ५९ ॥
इय सुणिय निवो निरव-ज्जचरणगहणुज्जुओ भणइ सूरिं ।
काऊण रज्जसुत्थं, पहु ! तुह पासे गहेमि वयं ॥ ६० ॥
मा पडिबंध खणमवि, काही नरनाह ! इय मुणिंदेण ।
वुत्तम्मि महीनाहो, पमुइयहियओ गओ सगिहं ॥ ६१ ॥
नीसेसमतिसाम-तमऊलं पुच्छिऊण सव्वमइं ।
ताराचंदकुमार, रज्जे अहिसिंचिही जाव ॥ ६२ ॥
तो विणओणयतणुणा, कयअंजलिणा पयंपियं तेण ।
वयगहणाणुन्नाए, ताय ! पसाय कुण ममावि ॥ ६३ ॥
ज ससारसमुद्दो, रुद्दो उद्दामदुक्खकल्लोलो ।
न विणा चरणतरंम, तीरइ तरिउं अइदुरंतो ॥ ६४ ॥
तो रन्ना पडिभणियं, जुत्तमिणं वच्छ ! नायतत्ताण ।
किं तु कमागयमेयं, रज्ज पालेसु कइ वि दिणे ॥ ६५ ॥
न य विक्कमसजुत्ते, पुत्ते पच्छा ठविसु रज्जभरं ।
कल्लाणवल्लिजलकु-ल्लतुल्लदिक्खं गहिज्ज तुमं ॥ ६६ ॥
इय भणिय पत्रा वि इमं, राया रज्जे ठविसु गिण्हेउ ।
सिरिविजयसेणपासे, दिक्खं वेमाणिएसु गओ ॥ ६७ ॥
अह ताराचंदनिवो, निव्व वयगहणसुद्धपरिणामो ।
पढममयमुत्तरुत्तर-मणोरहमए चिंतितो ॥ ६८ ॥
कारंतो जिणभवणे, सया वि जिणपवयण पभावंतो ।
अणुकंपादाणाऽऽऽब्भु, उदाविदाणेण वट्टंतो ॥ ६९ ॥
नियगिहसमीवकारिय-पोसहमालाइ पोसहजुत्तो ।
मच्चचरिएसु पवट्टं, अणुमोयंतोऽव धम्मिजण ॥ ७० ॥

बहुनयपमाणगमन-गमंगयं गुरुविचारभारसहं ।
निसुणतो पुव्वावर-अविरुद्धं सारसिद्धंत ॥ ७१ ॥
रज्जभरपभावाओ, रज्जमणाढं विमुसुमचयतो ।
अप्पजले मीणो इव, दुहेण गेहम्मि निवसंतो ॥ ७२ ॥
बाहिरविरत्तोइ विय, चिंतंतो रज्जरवायारं ।
कालेण मरिउ जाओ, अच्चुयकप्पे पवरदेवो ॥ ७३ ॥
तत्तो चविय विदेहे, निवपुत्तो होउ गहियसामन्न ।
सव्वत्थ वि होऊण, अरत्तदुट्ठो सिवं गमिही ॥ ७४ ॥
इति ज्ञात्वा ताराऽधिपतिरचिरोचिष्णुयशसो,
मुदा तारचन्द्रक्षितिपतिलकस्याऽस्य चरितम् ।
अरक्तद्विष्टान्तस्त्यजन्‌ भवदेहप्रणयितां,
स्फुटं धत्त स्वान्तं शिवसुखकरे गुरुचरणे ॥ ७५ ॥ ध० र० ७२ गाथा ।

तारापह–तारापथ–पु० । नभसि, अनु० ।

तारिम–तारिम–त्रि० । तरणयोग्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । दश० ।

तारिस–तादृश–त्रि० । " दृशेः क्विप्टक्सकः " ॥ ८ । १ । १४२ ॥ इति दृशेर्घातोः क्विनो रिरादेशः । प्रा० १ पाद । तथाविधेऽर्थे, वाच० । उत्त० । प्रश्न० । आ० म० । पाण्डवचरित्रे वोमेशमर्गे. ऽष्टादशश्लोके-"देवेभ्यस्तादृशा श्रिय । (१८)" इत्यत्र तादृशा इति शब्दे आप्‌प्रत्ययं कथमानीत ?,टक्प्रत्ययस्याऽऽगमने ई-प्प्रत्ययस्यैवोत्पत्त्यादिति प्रश्ने,उत्तरम्-टक्प्रत्ययान्तात्तादृशशब्दादीप्प्रत्ययस्तदानीमेऽपि नादृश इति किय तान्नागुर्णाचार्यमते नाऽप्प्रत्ययाऽऽगमने रूपसिद्धिरिति न कोऽपि दोषः।६४ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

तारुण्ण–तारुण्य–न० । यौवने, उत्त० ३२ अ० ।

ताल–ताल–पुं० । तलन ताल । नि० चू० १२ उ० । वृक्षविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अथ तालपदं विवृणोति–

नामं ठवणा दविए, तालो भावे य होइ नायव्वो ।
जो भविओ सो तालो, दव्वे मूलुत्तरगुणेसु ॥

नामताल , स्थापनाताल , द्रव्यताल , भावतालश्च भवति ज्ञातव्य । तत्र नामस्थापने सुगमे। द्रव्यताल पुनरयम्-(जो भविओ त्ति) य खलु भव्यो भावतालपर्याय , स च त्रिधा-एकभविको, बद्धाऽऽयुष्क , अभिमुखनामगोत्रश्च । तत्रैकभविको नाम-यो विवक्षितभवानन्तर तालत्वेनोत्पत्स्यते। बद्धाऽऽयुष्को-येन तालोत्पत्तिप्रायोग्यमायु कर्म बद्धम् । अभिमुखनामगोत्र पुन -विपाकोदयाभिमुखतालसबन्धिनामगोत्रकर्मा तालत्वेनोत्पत्स्यमाना विवक्षितजीवप्रदेश' । यद्वा-द्रव्यतालो द्विविध -मूलगुणनिर्वर्त्तित , उत्तरगुणनिर्वर्त्तितश्च । तत्र स्वायुषः परिक्षयात्परगतजीवो य स्कन्धाऽऽदिरूपस्ताल स मूलगुणनिर्वर्त्तित । यस्तु काष्ठचित्रकर्माऽऽदिष्वालिखित स उत्तरगुणनिर्वर्त्तित । एष द्रव्यताल ।

सम्प्रति भावतालमाह–

भावम्मि होंति जीवा, जे तस्स परिग्गहे समक्खाया ।
बीओ वि य आदेसो, जो तस्स वि जाणओ पुरिसो ॥

भावे भावविषयस्तालो ये जीवास्तस्य तालस्य परिग्रहे मूलकन्दाऽऽदिगतास्ते सर्वेऽपि समुदिता. सन्तो भावताल इति समाख्याता ,नोआगमत इति भाव । द्वितीयोऽप्यत्राऽऽदेशोऽस्ति यस्तस्य तालस्य विज्ञायकस्तदुपयुक्त पुरुषः सोऽपि भावताल उच्यते, आगमत इत्यर्थः । अत्र च नोआगमतो भावतालेनाधिकार., तस्य सबन्धि यत्फल तदिह तालशब्देन ग्रहीतव्यम् । बृ० १ उ० । स० । आ० म० । प्रज्ञा० । स्था० । भ० । औ० । प्रश्न० । ज्ञा० । वलयाऽऽदयवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० । कंसिकापरपर्याये वाद्यविशेषे, औ० । आचा० । आ० म० । जं० । ज्ञा० । स्था० । हस्ततले, दश० २ अ० । स्था० । कंसिकाऽऽदिशब्दविशेषे,स्था० ७ ठा० । वादित्रसमुदाये, नि०चू० १२ उ० । आजीवकोपासकभेदे,भ० ८ श० ५ उ० ।

तालउम–तालपुट–न० । तालमात्रव्यापत्तिकरे उपविषे, उत्त० १६ अ० । दश० । आ० म० ।

तालजंघ–तालजङ्घ–पु० । तालो वृक्षविशेष., स च दीर्घस्कन्धो भवति, ततस्तालवज्जङ्घे यस्य स तथा । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । हस्तिनागपत्तने राजनि,यो हि ब्राह्मणेषु विक्रान्त सन्‌ विननाश । ध० १ अधि० ।

तालज्झय–तालध्वज–पु० । तालनन्दनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते राजनि, तस्य तमालकला भार्याऽऽसीत् । दर्श० १ तत्त्व । शत्रुञ्जयपर्वते,ती० १ कल्प । तालो वृक्षविशेषो ध्वजा यस्य स० । बलदेवे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

तालण–ताडन–न० । चपेटाऽऽदिना निष्फोटने, उपा० ७ अ० । चपेटाऽऽदिदाने, औ० । कुट्टने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । भक्त० । औ० । आ० म० । पञ्चा० ।

तालपलंब–तालप्रलम्ब–पु० । आजीवकोपासकभेदे, भ० ८ श० ५ उ० ।

तालपिसाय–तालपिशाच–पु० । तालो वृक्षविशेषः, तदाकारो दीर्घत्वाऽऽदिसाधर्म्यात्पिशाचो राक्षस तालपिशाचः। दीर्घतरे पिशाचे, स्था० १० ठा० । भ० । आ० म० । दश० । ज्ञा० । आ० क० । पिशाचभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तालपुड–तालपुट–न० । ' तालउम ' शब्दार्थे, उत्त० १६ अ० ।

तालफली–देशी- दास्याम्, दे० ना० ५ वर्ग ११ गाथा ।

तालमत्थय- तालमस्तक–न० । तालमध्यवर्तिनि गर्भे,आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

तालमाण–तालमान -स्त्री० । तालमानपरिज्ञानाऽऽत्मके कलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

तालमूलय–तालमूलक–न०। तालमूलाऽऽकारे अधः पृथुनि उपरि च सूक्ष्मे शयने, कल्प० ६ क्षण।

तालविंट–तालवृन्त–न० । "वृन्ते ण्टः " ॥ ८ । २ । ३१ ॥ इति न्तस्य ण्टः । प्रा० २ पाद । व्यजने, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । अनु० । दश० । द्विपुटाऽऽदिव्यजने,प्रश्न० १ आश्र० द्वार । दश० । ज्ञा० । मयूरपिच्छकृतव्यजने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ।

तालसंवुड–तालसंपुट–पु० । पवनेरितशुष्कतालपत्रसंचये, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

तालसम-तालसम-न० । यत्परस्पराऽऽहतहस्ततालस्वरानुवृत्तिर्भवति तत्तालसमम् । स्वरभेदे, स्था० ७ ठा० ।

तालहल-देशी-शाल्याम्, दे० ना० ५ वर्ग ७ गाथा ।

ताला-तदा-अव्य० । "डर्मोहे-माला-इआ काले" ॥ ८ । ३ । ६५ ॥ इति नच्छन्दात्कालेऽभिधेये के. स्थाने आहे आला इति ङितौ, इआ इति च आदेशा वा भवन्ति । तस्मिन् काले, प्रा०३ पाद । लाजेषु, दे० ना० ५ वर्ग १० गाथा ।

तालायर-तालाचर-त्रि० । तालैर्वाद्यविशेषैश्चरन्तीति तालाचराः । (दीर्घत्व प्राकृतत्वात्) नि० चू० १५ उ० । तालाऽऽदानेन प्रेक्षाकारिणि, औ० । प्रश्न० । जं० । विपा० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । नटनर्तकाऽऽदिषु, बृ० ३ उ० ।

तालायरकम्म-तालाचरकर्म-न० । प्रेक्षकर्मविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

तालिअएट-भ्रमि-धा० । भ्रम्-णिच् । "भ्रमेस्तालिअएटतमाडौ" ॥ ८ । ४ । ३० ॥ इति भ्रमतेर्ण्यन्तस्य 'तालिअएट' इत्यादेशः । भ्रमतां प्रेरणे, प्रा० ४ पाद ।

तालवृन्त-पु० । व्यजने, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

तालित-ताड्यमान-त्रि० । चपेटाऽऽदिभिः पीड्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

तालिज्जंत-ताड्यमान-त्रि० । चपेटाऽऽदिभिः पीड्यमाने, आ० चू० १ उ० ।

तालिय-तालिक-पु० । तालेन करतलेन निर्वृत्तः-ठक् । चपेटे, वाच० ।

तामित-त्रि० । आहते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

ताली-ताली-स्त्री० । वाद्यभेदे, आ० चू० १ अ० । तालेन तन्निर्यासेन निर्वृत्ता-अण् । (ताडी) तालजातसुरायाम्, तल-एयन्तात् अच् । गौरा०-ङीष् । वृक्षभेदे, तालमूल्याम्, आढक्याम्, तालीशपत्राऽऽख्ये वृक्षे, तालकोद्घाटनयन्त्रे, कुञ्चिकायां च । ताम्रवल्ल्याम्, ज्यकरपादके छन्दोभेदे च । वाच० ।

तालु-तालु-न० । तरत्यनेन वर्णः । तृ-ञुण्, रस्य लः । जिह्वेन्द्रियाधिष्ठाने स्थानभेदे, वाच० । प्रज्ञा० । ज्ञा० ।

तालुग्घाडणी-तालोद्घाटनी-स्त्री० । तालोद्घाटनकारिकायां विद्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

तालुजिब्भ-तालुजिह्व-पु० । तालु एव जिह्वा यस्य । कुम्भीरे, तस्य जिह्वाशून्यत्वेऽपि तालुनैव रसाऽऽस्वादनात् । वाच० । प्रश्न० ।

तालूर-देशी-फेने, कपित्थतरौ, दे० ना० ५ वर्ग २१ गाथा ।

ताव-तावत्-अव्य० । तत्परिमाणमस्य । त्रि० । "अन्त्यव्यञ्जनस्य" ॥ ८ । १ । ११ ॥ इत्यन्त्यव्यञ्जनस्य तकारस्य लोपः । प्रा० १ पाद । प्रस्तुतार्थप्रदर्शके, आ० म० १ अ० ७ खण्ड । आ० चू० । सूत्र० । साकल्ये, अवधौ, माने, अवधारणे, प्रशंसायाम्, पक्षान्तरे, वाक्यभूषणे, तदेत्यर्थे च । "भवतोऽपि तावत् क्रथकैशिकानाम्" इति रघुः । तत्परिमाणवति, त्रि० । स्त्रियां ङीप् । तावती । वाच० ।

ताव-पु० । तप-घञ् । सन्तापे, वाच० । दुःखे, आव० ४ अ० । सूर्याणामेव तापः, चन्द्रस्य तु प्रभासः । "चत्तारि सूरिया तविंसु वा, तवंति वा, तविस्सति वा । चत्तारि चंदा पभासिंसु वा, पभासिंति वा, पभासिस्सति वा" इत्यत्रभासस्य पार्थक्ये नोक्तेः । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

तावइय-तावत्क-त्रि० । तत्परिमाणवति, भ०१८श०४उ० । आ०म० ।

तावंचण-तावत्क्षण-पु० । तावति काले, भ० १५ श० ।

तावक्खेत्त-तापक्षेत्र-न० । तपनं तापः सूर्यकिरणस्पर्शजनितः प्रकाशाऽऽत्मकः परितापः, तदुपलक्षितं क्षेत्रं तापक्षेत्रम् । घर्मोपलक्षिते क्षेत्रे, आ० म० १ अ०२ खण्ड । भग० ।

सम्प्रति तापक्षेत्रसंस्थितिमभिधातुकामः प्रथमतस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते तावक्खेत्तसंठिती आहिता ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमाओ सोलस पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ । तत्थ णं एगे एवमाहंसु-ता गेहसंठिया तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । १ । एवं जाव वालग्गपोत्तियासंठिया तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता । एगे पुण एवमाहंसु-जस्संठिते जंबुद्दीवे दीवे तस्संठिते तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । ९ । एगे पुण एवमाहंसु-ता जस्संठिए भारहे वासे तस्संठिता तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । १० । एवं उज्जाणसंठिया । ११ । निज्जाणसंठिता । १२ । एगतो णिसहसंठिता । १३ । दुहतो णिसहसंठिता । १४ । सेणगसंठिता, एगे एवमाहंसु । १५ । एगे पुण एवमाहंसु-ता सेणगपिट्ठसंठिता तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता, एगे एवमाहंसु । १६ । वयं पुण एवं वदामो-ता उद्धीमुहकलंबुआपुप्फसंठिता तावक्खेत्तसंठिती पण्णत्ता । अंतो संकुया बाहिं वित्थडा, अंतो वट्टा बाहिं पिहुला, अंतो अंकमुहसंठिता बाहिं सत्थियमुहसंठिता । उभतो पासेण तीसे दुवे बाहाओ अवट्ठिताओ भवंति । पणतालीसं पणतालीसं जोयणसहस्साइं आयामेणं । दुवे य णं तीसे बाहाओ अणवट्ठिताओ भवंति । तं जहा-सव्वब्भंतरिया चेव बाहा, सव्वबाहिरिया चेव बाहा । तत्थ को हेतू ति वदेज्जा ?। ता अय णं जंबुद्दीवे दीवे० जाव परिक्खेवेणं; ता जया णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति, तया णं उद्धीमुहकलंबुआपुप्फसंठिता तावक्खेत्तसंठिती आहिता ति वदेज्जा । अंतो संकुया बाहिं वित्थडा, अंतो वट्टा बाहिं पिधुला, अंतो अंकमुहसंठिता बाहिं सत्थियमुहसंठिया । दुहतो पासेणं तीसे तहेव० जाव सव्वबाहिरिया चेव बाहा । तीसे णं सव्वब्भंतरिया बाहा मंदरपव्वयंते णं णव जोयणसहस्साइं चत्तारि य छलसीते जोयणसता णव य दसभागे जोयणस्स परिक्खेवेणं आ-

हिता ति वदेज्जा । ता से ण परिक्खेवविसेसे कुतो आहिता ति वदेज्जा ?। ता जे णं मंदरस्स पव्वयस्स परिक्खेवे णं तं परिक्खेवं तिहिं गुणित्ता दसहिं छेत्ता दसहिं भागेहिं हीरमाणे, एस णं परिक्खेवविसेसे आहिता ति वदेज्जा । तीसे णं सव्वबाहिरिया बाहा लवणसमुद्दंतेणं चउणउतिं जोयणसहस्साइं अट्ठ य अट्ठसट्ठे जोयणसते चत्तारि य दसभागे जोयणस्स परिक्खेवेणं आहिता ति वदेज्जा । ता एस णं परिक्खेवविसेसे कुतो आहिता ति वदेज्जा ?। ता जे णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स परिक्खेवे, तं परिक्खेवं तिहिं गुणित्ता दसहिं छेत्ता दसहिं भागेहिं हीरमाणे, एस णं परिक्खेवविसेसे आहिता ति वदेज्जा । तीसे णं तावक्खेत्ते केतियं आयामेणं आहितेति वदेज्जा ?। ता अट्ठत्तरिं जोयणसहस्साइं तिण्णि य जोयणसए तेत्तीसे जोयणतिभागे च आयामेणं आहितेति वदेज्जा ।

(ता कह ते इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । कथं भगवन् ! त्वया तापक्षेत्रसंस्थितिराख्याता इति भगवान् वदेत् ?। एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावन्त्यः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः, तावतीरुपदर्शयति-(तत्थेत्यादि) तत्र तस्याः तापक्षेत्रसंस्थितेः विषये खल्विमाः षोडश प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-तत्र तेषां षोडशानां परतीर्थिकानां मध्ये एके एवमाहुः-(गेहसंठिय त्ति) गेहस्येव वास्तुविद्याप्रसिद्धगृहस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता । अत्रैवोपसंहारमाह-(एगे एवमाहंसु १। एवं जाव वालग्गपोतियासंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता इति) एवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण, चन्द्रसूर्यसंस्थितिगतेन प्रकारेणेत्यर्थः । गृहसंस्थितायाः ऊर्द्ध्वं तावद्वक्तव्यं यावद् वालाग्रपोतिकासंस्थिता प्रज्ञप्ता इति । तच्चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-गेहावणसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ।२। एगे पुण एवमाहंसु-पासायसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ।३। एगे पुण एवमाहंसु-गोपुरसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ।४। एगे पुण एवमाहंसु-पिच्छाघरसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ।५। एगे पुण एवमाहंसु-वलभीसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ।६। एगे पुण एवमाहंसु-हम्मियतलसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ।७। एगे पुण एवमाहंसु-वालग्गपोतियासंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ८। " अत्र सर्वेष्वपि पदेषु विग्रहभावना प्रागिव कर्त्तव्या । (एगे पुण इत्यादि) एके पुनरेवमाहुः-(जस्संठिए त्ति) यत्संस्थितं संस्थानं यस्य स यत्संस्थितो जम्बूद्वीपो द्वीपस्तत्संस्थिता तदेव जम्बूद्वीपगतसंस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता । अत्रोपसंहारः-(एगे एवमाहंसु ९) (एगे पुण एवमाहंसु) एके पुनरेवमाहुः-यत्संस्थितं भारतं वर्षं तत्संस्थिता तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता । अत्र विग्रहभावना प्रागिव वेदितव्या । अत्रोपसंहारः-(एगे एवमाहंसु १०) एवमुक्तेन प्रकारेण उद्यानसंस्थिता तापक्षेत्रसंस्थितिरपरेषामभिप्रायेण वक्तव्या । सा चैवम्-"एगे पुण एवमाहंसु- उज्जाणसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु ११।" अत्र उद्यानस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथेति विग्रहः ११ । (निज्जाणसंठिय त्ति) निर्याणं पुरस्य निर्गमनमार्गं तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । अपरेषामभिप्रायेण वक्तव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-निज्जाणसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु १२।" (एगतो निसहसंठिय त्ति) एकतो रथस्य एकस्मिन् पार्श्वे यो नितरां सहते स्कन्धे पृष्ठे वा समारोपितं भारमिति निषधो बलीवर्दः, तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा एकतो निषधसंस्थिता । अपरेषामभिप्रायेण वक्तव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-एगतो निसहसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु १३।" (दुहतो निसहसंठिय त्ति) अपरेषामभिप्रायेणोभयतो निषधसंस्थिता वक्तव्या, उभयतो रथस्योभयोः पार्श्वे यौ निषधौ बलीवर्दौ, तयोरिव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । सा चैव वक्तव्या-"एगे पुण एवमाहंसु-दुहओ निसहसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु १४।" (सेणगसंठिय त्ति) श्येनकस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, अपरेषामभिप्रायेणाभिधातव्या । सा चैवम्-" एगे पुण एवमाहंसु-सेणगसंठिया तावक्खेत्तसंठिई पन्नत्ता, एगे एवमाहंसु १५।" (एगे पुण इत्यादि) एके पुनरेवमाहुः-श्येनकपृष्ठस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता । अत्रोपसंहारमाह-(एगे एवमाहंसु १६) । तदेवमुक्ताः षोडशाऽपि प्रतिपत्तयः, एताश्च सर्वा अपि मिथ्यारूपाः, अत एता व्युदस्य भगवान् स्वमतं भिन्नमुपदर्शयति-(वय पुण इत्यादि) वयं पुनरुत्पन्नकेवलज्ञानाः केवलज्ञानेन यथाऽवस्थितं वस्तूपलभ्य, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामः । तमेव प्रकारमाह- (उद्धीमुहेत्यादि) ऊर्द्ध्वमुखकलम्बुकापुष्पसंस्थिता ऊर्द्ध्वमुखस्य कलम्बुकापुष्पस्येव नालिकापुष्पस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा, तापक्षेत्रसंस्थितिः प्रज्ञप्ता, मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः । सा कथंभूतेत्यत आह-अन्तर्मेरुदिशि संकुचा संकुचिता, बहिर्लवणसमुद्रदिशि विस्तृता । तथा-अन्तर्मेरुदिशि वृत्ता वृत्तार्द्धवलयाऽऽकारा, सर्वतो वृत्तमेरुगतान् त्रीन् द्वौ वा दशभागानभिव्याप्य तस्या व्यवस्थितत्वात्, बहिर्लवणदिशि पृथुला मुत्कलभावेन विस्तारमुपगता । एतदेव संस्थानकथनेन स्पष्टं स्पष्टयति-(अतो अंकमुहसंठिया बाहिं सत्थिमुहसंठिय त्ति) अन्तर्मेरुदिशि अङ्कः पद्मासनोपविष्टस्योत्सङ्गरूप आसनबन्धः, तस्य मुखमग्रभागोऽर्द्धवलयाऽऽकारस्तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । बहिर्लवणदिशि स्वस्तिकमुखसंस्थिता । स्वस्तिकः सुप्रतीतः, तस्य मुखमग्रभागः, तस्येवातिविस्तीर्णतया संस्थितं संस्थानं यस्याः सा तथा । (उभओ पासेण ति) उभयपार्श्वेन मेरुपर्वतस्योभयोः पार्श्वयोस्तस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेः सूर्यभेदेन द्विधा व्यवस्थितायाः प्रत्येकमेकैकभावेन ये द्वे बाहे, ते आयामेन जम्बूद्वीपगतमायाममाश्रित्यावस्थिते भवतः। सा चैकैका आयामतः किं प्रमाणा ?, इत्याह-पञ्चचत्वारिंशत् पञ्चचत्वारिंशत् योजनसहस्राणि ४५००० तस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेरेकैकस्या द्वे च बाहे अनवस्थिते भवतः । तद्यथा-सर्वाभ्यन्तरा, सर्वबाह्या च । तत्र या मेरुसमीपे विष्कम्भमधिकृत्य बाहा सा सर्वाभ्यन्तरा, या तु लवणदिशि जम्बूद्वीपपर्यन्ते विष्कम्भमधिकृत्य बाहा सा सर्वबाह्या । आयामश्च दक्षिणोत्तराऽऽयततया प्रतिपत्तव्यो, विष्कम्भः पूर्वापराऽऽयततया । एवमुक्ते सति भगवान् गौतमः

स्वशिष्याणां स्पष्टावबोधनार्थं भूयः पृच्छति-(तत्थेत्यादि) तत्र तस्यामेवंविधायामनन्तरोदितायां वस्तुव्यवस्थायां को हेतुः का उपपत्तिरिति भगवान् वदेत् ? । एवमुक्ते भगवानाह-(ता अय णमित्यादि) इह जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् परिपूर्णं स्वयं परिभावनीयम् । (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तदा "उद्धीमुहकलंबुयापुप्फ" इत्यादि प्राग्वद्व्याख्येयम् । यावत्सर्वाभ्यन्तरा बाहा, सर्वबाह्या च बाहा । (तीसे णमित्यादि) तस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरा बाहा मेरुपर्वतान्ते मेरुपर्वतसमीपे, सा च परिक्षेपेण मन्दरपरिक्षेपगततया नव योजनसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि षडशीतानि षडशीत्यधिकानि नव च दश भागा योजनस्य ९४८६$\frac{९}{१०}$, आख्याता मया इति वदेत् । एवमुक्ते भगवान् गौतमः प्रश्नयति-(ता से णमित्यादि) 'ता' इति प्राग्वत् । स तापक्षेत्रसंस्थितेः परिक्षेपविशेषो मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण विशेषः कुतः कस्मात्कारणादेवंप्रमाण आख्यातः, नोनोऽधिको वेति वदेत् ? । भगवानाह-(ता जे णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । यो,णमिति वाक्यालङ्कारे । मन्दरस्य मेरोः पर्वतस्य परिक्षेपपरिरयो गणितप्रसिद्धः, तं परिक्षेपं त्रिभिर्गुणयित्वा तदनन्तरं च दशभिश्छित्वा विभज्य । अथ कस्मादेवं क्रियते इति चेदुच्यते-इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्तमानः सूर्यो जम्बूद्वीपगतस्य चक्रवालस्य यत्र तत्र प्रदेशे तत्तच्चक्रवालक्षेत्रप्रमाणानुसारेण त्रीन् दशभागान् प्रकाशयति । एतच्च प्रागेवोक्तम् । सम्प्रति च मन्दरसमीपे तापक्षेत्रे चिन्ता क्रियमाणा वर्त्तते, ततो मन्दरपरिरयस्सुखावबोधार्थं प्रथमतस्त्रिभिर्गुण्यते, गुणयित्वा च दशभिर्विभज्यत इति, दशभिश्च भागैर्हियमाणे यथोक्तं मन्दरसमीपे तापक्षेत्रपरिमाणमागच्छति । तथाहि-मन्दरपर्वतस्य विष्कम्भो दशसहस्राणि १०००० । तेषां वर्गो दश कोट्यः १००००००००। तासां दशभिर्गुणने कोटिशतम्— १०००००००००। अस्य वर्गमूलानयने लब्धानि एकत्रिंशत्सहस्राणि षट्शतानि किञ्चिन्न्यूनत्रयोविंशत्यधिकानि, परं व्यवहारतः परिपूर्णानि विवक्ष्यन्ते ३१६२३ । एष राशिस्त्रिभिर्गुण्यते, जातानि चतुर्नवतिसहस्राणि अष्टौ शतानि एकोनसप्तत्यधिकानि ९४८६९ । एतेषां दशभिर्भागहारे लब्धानि नव योजनसहस्राणि चत्वारि शतानि षडशीत्यधिकानि नव च दश भागा योजनस्य; तत एष एतावाननन्तरोदितप्रमाणः परिक्षेपविशेषो मन्दरपरिरयपरिक्षेपविशेषस्तापक्षेत्रसंस्थितेराख्यात इति वदेत् स्वशिष्येभ्यः। अत्र चार्थोऽन्यत्राप्युक्तः-"मन्दरपरिरयरासी, तिगुणो दसभाइयम्मि जं लद्धं । तं होइ तावखेत्तं, अब्भिंतरमंडले रविणो ॥ १ ॥ " तदेवं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमाने सूर्ये मन्दरसमीपे तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरबाहाविष्कम्भपरिमाणमुक्तम् । इदानीं लवणसमुद्रदिशि जम्बूद्वीपपर्यन्ते या सर्वबाह्या बाहा, तस्या विष्कम्भपरिमाणमाह-(तीसे णमित्यादि) तस्यास्तापक्षेत्रसंस्थितेर्लवणसमुद्रान्ते लवणसमुद्रसमीपे सर्वबाह्या बाहा सा परिक्षेपेण जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपेण चतुर्नवतियोजनसहस्राणि अष्टौ च अष्टषष्ट्यधिकानि योजनशतानि चतुरश्च दशभागान् योजनस्य ९४८६८$\frac{४}{१०}$ यावदाख्याता इति वदेत् । अत्रैव स्पष्टावबोधनाय प्रश्नं करोति--(ता एस णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । स एतावान् परिक्षेपविशेषस्तापक्षेत्रसंस्थितेः कुतः कस्मात् कारणादाख्यातः, नोनोऽधिको वेति वदेत् ? भगवानाह-(ता जे णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । यो जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपपरिरयो गणितप्रसिद्धः, तं परिक्षेपं त्रिभिर्गुणयित्वा तदनन्तरं दशभिश्छित्वा दशभिर्विभज्य; अत्रार्थे कारणं प्रागुक्तमेवानुसरणीयम् । दशभिर्भागे ह्रियमाणे यथोक्तं जम्बूद्वीपपर्यन्ते तापक्षेत्रपरिमाणमागच्छति । तथाहि-जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपस्त्रीणि लक्षाणि, षोडश सहस्राणि, द्वे शते, सप्तविंशत्यधिके ३१६२२७, त्रीणि गव्यूतानि ३ अष्टाविंशं धनुःशतं १२८, त्रयोदश अङ्गुलानि १३ एकमर्द्धाङ्गुलम् १, एतावता च योजनमेकं किल किञ्चिन्न्यूनमिति व्यवहारं, तत् परिपूर्णं विवक्ष्यते, ततो द्वे शते अष्टाविंशत्यधिके वेदितव्ये ३१६२२८, एतत् त्रिभिर्गुण्यते,जातानि नव लक्षाणि, अष्टाचत्वारिंशत्सहस्राणि,षट् शतानि चतुरशीत्यधिकानि ९४८६८४ एतेषां दशभिर्भागो ह्रियते, लब्धं यथोक्तं जम्बूद्वीपपर्यन्ते सर्वबाह्याया बाहाया विष्कम्भपरिमाणम् । तत (एस णमित्यादि) एष एतावाननन्तरोदितप्रमाणः परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपविशेषस्तापक्षेत्रसंस्थितेराख्यात इति वदेत् । उक्तं चैतदन्यत्रापि-"जम्बूदीवपरिरए, तिगुणे दसभाइयम्मि जं लद्धं । तं होइ तावखित्तं, अब्भितरमंडले रविणो " ॥ १ ॥ तदेवं जम्बूद्वीपे तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरायाः सर्वबाह्यायाश्च बाहाया विष्कम्भपरिमाणमुक्तम् । सम्प्रति सामस्त्येनाऽऽयामतस्तापक्षेत्रपरिमाणं जिज्ञासुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह--(ता से णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । तापक्षेत्रमायामतः सामस्त्येन दक्षिणोत्तराऽऽयततया कियत्किंप्रमाणमाख्यातम्, इति वदेत् ? । भगवानाह-(ता अट्ठत्तरिमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्, अष्टसप्ततिर्योजनसहस्राणि त्रीणि योजनशतानि त्रयस्त्रिंशानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनत्रिभागं च यावत् आयामेन दक्षिणोत्तराऽऽयततया आख्यातमिति वदेत् । तथाहि-सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानस्य सूर्यस्य तापक्षेत्रं दक्षिणोत्तराऽऽयततया मेरोरारभ्य तावद्वर्त्तते यावल्लवणसमुद्रस्य षष्ठो भागः । उक्तं च-

" मेरुस्स मज्झभागा, जाव लवणसमुद्दस्स छब्भागो ।
तावाऽऽयामो एसो, सगडुद्धीसंठिओ नियमा ॥ १ ॥ "

अत्र-(एसो इत्यादि) एष तापो नियमात् शकटोर्ध्वसंस्थितम्, शेषं सुगमम् । तत्र मेरोरारभ्य जम्बूद्वीपपर्यन्ते यावत् पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि लवणस्य विस्तारो द्वे योजनलक्षे तयोः षष्ठो भागस्त्रयस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि योजनशतानि, त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनस्य च त्रिभागं, तत उभयमीलने यथोक्तमायामप्रमाणं भवति । इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानस्य सूर्यस्य लेश्या अभ्यन्तरं प्रविशन्ति, मेरुणा प्रतिस्खल्यते, यदि पुनर्न प्रतिस्खल्यते, ततो मेरोः सर्वमध्यभागगतं प्रदेशमवधीकृत्याऽऽयामतो जम्बूद्वीपस्य पञ्चाशतं योजनसहस्राणि प्रकाशयेत् । अत एवेत्थं जम्बूद्वीपस्य पञ्चाशतं योजनसहस्राणि प्रकाश्यानि सम्भाव्यन्ते, सर्वाभ्यन्तरेऽपि मण्डले वर्तमाने सूर्ये तापक्षेत्रस्याऽऽयामप्रमाणं ज्योतिष्करण्डकमूलटीकायां श्रीपादलिप्तसूरिभिः ऽष्टशीतियोजनसहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनस्य च त्रिभागं इत्युक्तम् । युक्तं चैतत्सम्भावनया तापक्षेत्राऽऽयामपरिमाणम्, अन्यथा जम्बूद्वीपमध्ये तापक्षेत्रस्य पञ्चचत्वारिंशत्सहस्रपरिमाणाभ्युपगमे यथा सूर्यो बहिर्निष्क्रामति तथा तत्प्रतिबद्धं तापक्षेत्रमपि, ततो यदा सूर्यः सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति, तदा सर्वथा मन्दरसमीपे प्रकाशो न प्राप्नोति । अथ च

तदाऽपि तत्र मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण विशेषपरिमाणमग्रे वक्ष्यते, तस्मात्पादलिप्तसूरिव्याख्यानमप्यभ्युपगन्तव्यमिति। तदेव सर्वाभ्यन्तरमण्डलमधिकृत्य तापक्षेत्रसंस्थितिरुक्ता । सू० प्र० ४ पाहु० । च० प्र० । (अत्र 'अधकार' शब्द० प्रथम भागे १०५ पृष्ठे वीक्ष्य)

जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया केवतिअं खेत्तं उड्ढं तवंति, केवतिअं खेत्तं अहे तवंति, केवतिअं खेत्तं तिरिअं तवंति ?। ता जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया एगं जोयणसतं उड्ढं तवंति, अट्ठारस जोयणसताइं अहे य तवंति, सीतालीसं जोयणसहस्साइं दुन्नि य जोयणसते तिसट्ठे एगवीसं च सट्ठिभागे जोयणस्स तिरियं तवंति ॥

(ता जंबुद्दीवे णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। जम्बूद्वीपे कियत्प्रमाणं क्षेत्रं सूर्यावूर्द्धं तापयतः प्रकाशयतः। कियत्क्षेत्रमधः, कियत्क्षेत्रं तिर्यग्, पूर्वभागे अपरभागे चेत्यर्थः । भगवानाह-(ता इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्। जम्बूद्वीपे द्वीपे सूर्यौ प्रत्येकं स्वविमानादूर्द्धमेकं योजनशतं तापयतः प्रकाशयतः । अधस्तापयतोऽष्टादशयोजनशतानि। एतच्चाधो लौकिकग्रामापेक्षया द्रष्टव्यम्। तथाहि-अधोलौकिकग्रामाः समतलभूभागावधीकृत्याधो योजनसहस्रेण व्यवस्थिताः,तत्राऽपि सूर्यप्रकाशः प्रसरति,ततः समतलभूभागस्याधो योजनसहस्रं, तदूर्द्ध्वं चाष्टौ योजनशतानीत्युभयमीलने अष्टादश योजनशतानि। तिर्यक् स्वविमानात्पूर्वभागे अपरभागे च प्रत्येकं तापयतः सप्तचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि, द्वे योजनशते, त्रिषष्टे त्रिषष्ट्यधिके, एकविंशतिं च षष्टिभागान् योजनस्य ४७२६३२१ । सू० प्र० ४ पाहु० ।

तावक्खेत्तदिसा-तापक्षेत्रदिशा-स्त्री० । तपनः तापः सूर्यकिरणस्पर्शजनितः प्रकाशाऽऽत्मकः परितापः,तदुपलक्षितं क्षेत्रं तापक्षेत्रं, तदेव दिक्। अथवा-तापयतीति तापः सविता, तदनुसारेण क्षेत्राऽऽत्मिका दिक् तापक्षेत्रदिक् । आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० । तापः सविता,तदुपलक्षिता दिक् तापक्षेत्रदिक्। पूर्वाभिधानायां दिशि, सा चाऽनियता। यत उक्तम्-" जेसिं जत्तो सूरो, उदेइ तेसिं तई हवइ पुव्वा । तावक्खेत्तदिसाओ, पयाहिण सेसयाओ सा " ॥१॥ इति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

तावण-तापन-न० । अग्निना हस्तपादाऽऽदीनामुष्णीकरणे, नि० चू० १ उ० ।

तावणिज्ज-तापनीय-त्रि० । तापसहे, भ० १५ श० ।

तावदिसा-तापदिशा-स्त्री० । तापयतीति तापः आदित्यः, तदाश्रिता दिक् तापदिक्। सूर्यतापितायां दिशि,मण्ड० ।आचा० ।

तावस-तापस-पु० । तापोऽस्यास्तीति तापसः । दश० २ अ० । तापप्रधानस्तापसः । दश० १० अ० । सतपस्के वनवासिनि पाखण्डिविशेषे, दर्श० १ तत्त्व । बृ० । पिं० । अनु० । आचा० । श्रमणभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । माठरगोत्रस्याऽऽर्यशाण्डिल्यश्रेणिकस्य शिष्ये, कल्प० ८ क्षण ।

तावसावसह-तापसावसथ-पु० । तापसमठे,भ० ११ श०९उ० ।

तावसुद्धि-तापशुद्धि-स्त्री० । विधिप्रतिषेधतद्विषयाणां जीवाऽऽदिपदार्थानां च स्याद्वादपरीक्षया याथात्म्येन समर्थने तापशुद्धिभेदे, ध० । "उभयनिबन्धनभाववादस्तापः" इति । उभयोः कषच्छेदयोरनन्तरमेवोक्तरूपयोर्निबन्धनं परिणामि । किमित्याह-तापोऽत्र श्रुतधर्मपरीक्षाऽधिकारे, इदमुक्तं भवति यत्र शास्त्रे द्रव्यरूपतयाऽप्रच्युतानुत्पन्न, पर्यायाऽऽत्मकतया च प्रतिक्षणमपरापरस्वभावाऽऽस्कन्देनाऽनित्यस्वभावो जीवाऽऽदिरवस्थाप्यते स्यात्तत्र तापशुद्धिः । यतः परिणामिन्येवाऽऽत्माऽऽदौ तथाविधाशुद्धपर्यायनिरोधेन ध्यानाध्ययनाऽऽद्यपरशुद्धपर्यायप्रादुर्भावादुक्तलक्षणः कषो, बाह्यचेष्टाशुद्धिलक्षणश्च छेद उपपद्यते, न पुनरन्यथेति । ध० १ अधि० ।

इहैव तापविधिमाह-

जीवाऽऽइभाववाओ, जो दिट्ठेट्ठाहिं णो खलु विरुद्धो ।
बंधाऽऽइसाहगो तह, एत्थ इमो होइ तावो त्ति ॥ ८० ॥

जीवाऽऽदिभाववादो जीवाजीवाऽऽदिपदार्थवादः,यः कश्चिद्, दृष्टेष्टाभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यां, न खलु विरुद्धः, अपि तु युक्त एव, बन्धाऽऽदिसाधकस्तथा निरुपचरितबन्धमोक्षव्यञ्जकः, अत्र श्रुतधर्मे एष भवति तापः इति गाथाऽर्थः ॥ ८० ॥

एएण जो विसुद्धो, सो खलु तावेण होइ सुद्धो त्ति ।
एएणं चासुद्धो, सेसेहिं वि तारिसो नेओ ॥ ८१ ॥

एतेन जीवाऽऽदिभाववादेन यो विशुद्धः स खलु तापेन भवति शुद्धः, स एव नान्य इति । एतेन चाशुद्धः सन् शेषयोरपि कषच्छेदयोस्तादृशो ज्ञेयः, न तत्त्वतः शुद्ध इति गाथाऽर्थः ॥ ८१ ॥

इहैवोदाहरणमाह-

संतासंते जीवे, णिच्चाणिच्चाइणेगधम्मे अ ।
जह सुहदुक्खाईया, जुज्जंति न अन्नहा नियमा ॥ ८२ ॥

सदसद्रूपे जीवे स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यानित्याऽऽद्यनेकधर्मिणि च द्रव्यपर्यायाभिधेयपरिणामाऽऽद्यपेक्षया यथा सुखबन्धाऽऽदयः सुखाऽऽदयोऽनुभूयमानरूपा बन्धाऽऽदयोऽभ्युपगता युज्यन्ते घटन्ते नान्यथाऽन्येन प्रकारेण नियमाद् युज्यन्त इति गाथाऽर्थः ॥ ८२ ॥

एतदेवाऽऽह-

संतस्स सरूवेणं, पररूवेणं तहा असंतस्स ।
हंदि विसिट्ठत्तणओ, होंति विसिट्ठा सुहाईआ ॥८३॥

सतो विद्यमानस्य स्वरूपेणाऽऽत्मनियतेन, पररूपेणान्यान्यसम्बन्धिना तथा असतः स्वरूपेणैवाविद्यमानस्य, न च स्वसत्त्वमेवान्यासत्त्वम्,अभिन्ननिमित्तत्वे सदसत्त्वयोर्विरोधात्। तथाहि-सत्त्वमेवासत्त्वमिति व्याहतम् । न च तत्त्रास्ति, स्वसत्त्वासत्त्ववदसत्त्वे तत्सत्त्वप्रसङ्गादिति पररूपासत्त्वधर्मकं स्वरूपसत्त्वं विशिष्टं भवति,अन्यथा वैशिष्ट्यायोगात्,तदा हन्दि विशिष्टत्वात्तदुक्तेन प्रकारेण भवन्ति विशिष्टाः स्वयं वेद्याः सुखाऽऽदयः, आदिशब्दाद् दुःखबन्धाऽऽदिपरिग्रह इति गाथाऽर्थः ॥ ८३ ॥

विक्षेपे बाधामाह-

इहरा सत्तामित्ता-इभावओ कह विसिट्ठया तेसिं ।
तयभावम्मि तयत्थे, हंत पयत्तो महामोहो ॥८४॥

इतरथा यथा स्वरूपेण सत्तथा पररूपेणाऽपि भावे,सत्तामात्राऽऽदिभावात्,आदिशब्दादसत्त्वमात्रग्रह इति । कथं विशिष्टता प्रत्यक्षवेद्यतया तेषां सुखाऽऽदीनां, तदभावे विशिष्टसुखाऽऽद्यभावे तदर्थो विशिष्टसुखाऽऽद्यर्थो, हन्त प्रयत्नः क्रियाविशेषो, महामोहोऽसंभवप्रवृत्त्येति गाथाऽर्थः ॥८४॥

निच्चो वेगसहावो,सहावभूयम्मि कह णु सो दुक्खे ।
तस्सुच्छेयनिमित्तं, असंभवाओ पयट्टिज्जा ॥८५॥

नित्योऽप्येकस्वभावः स्थिरतया,स्वभावभूते आत्मभूते,कथं न्वसौ नित्यः स न दुःखे । किमित्याह-तस्य दुःखस्योच्छेदनिमित्तं वि-नाशाय, असंभवाद्धेतोः प्रवर्तेत, कथं नैवेति गाथार्थः ॥८५॥

एगंतनिच्चओ वि अ, संभवसमणंतरं अभावाओ ।
परिणामहेउविरहा, असंभवाओ उ तस्स त्ति ॥८६॥

एकान्तनित्योऽपि च निरन्वयोऽनश्वरः सम्भवसमनन्तरमुत्प-त्त्यनन्तरमभावादविद्यमानत्वात्, परिणामिकहेतुविरहात्,तथा-भाविकारणाभावेनासम्भवाच्च कारणात्, तस्येत्येकान्तानित्यस्य स कथं प्रवर्तेत?, नैवेति गाथार्थः ॥८६॥

एतदेव समर्थयन्नाह-

ण विसिट्ठकज्जभावो, अणइअविसिट्ठकारणत्ताओ ।
एगंतऽभेयपक्खे, निअमा तह भेयपक्खे अ ॥ ८७ ॥

न विशिष्टकार्यभावो न घटाऽऽदिकार्योत्पादोऽन्यस्योऽनतीतवि-शिष्टकारणत्वात्, अनतिक्रान्तनियतकारणत्वादित्यर्थः । एका-न्ताऽभेदपक्षे, कार्यकारणयोर्नित्यत्वपक्ष इत्यर्थः । नियमादव-श्यमेव नेति, तथा भेदपक्षे च कार्यकारणयोरेकान्तानित्यत्व-पक्षे चेति गाथार्थः ॥ ८७ ॥

उभयत्र निदर्शनमाह-

पिंमो पडो व्व ण घमो, तप्फलभमणइअपिंमभावाओ ।
तयईअत्ते तस्स उ, तहभावा अन्नयाइत्तं ॥ ८८ ॥

पिण्डवत्पटवदिति च दृष्टान्तौ, न घटस्तत्फलं पिण्डफ-मेति प्रतिज्ञा, अनतीतपिण्डभावत्वादसमानत्वाद् भेदपक्षे पट-वत्, तदतीतत्वे घटस्य पिण्डातीततायां, तस्यैव तथाभावात् पिण्डस्यैव घटरूपेण भावात्, अन्वयाऽऽदित्वमन्वयव्यतिरे-कत्वं वस्तुन इति गाथार्थः ॥ ८८ ॥

अतः सदसन्नित्यानित्याऽऽदिरूपमेव वस्तु, तथा चाऽऽह-

एवंविहो उ अप्पा, मिच्छत्ताईहिँ बंधइ कम्मं ।
सम्मत्ताऽऽईएहि उ, मुच्चइ परिणामभावाओ ॥ ८९ ॥

एवंविध एव सन्नात्मा सदसन्नित्यानित्याऽऽदिरूपः मिथ्या-त्वाऽऽदिभिः करणभूतैर्बध्नाति कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदि, स-म्यक्त्वाऽऽदिभिस्तु करणभूतैर्मुच्यते । कुत इत्याह-परिणाम-भावात्परिणामत्वादिति गाथार्थः ॥ ८९ ॥

सकमुवभोगो चेवं, कहं चि एगाहिकरणभावाओ ।
इहरा कत्ता भोत्ता, उभयं वा पावइ सया वि ॥ ९० ॥

स्वकृतोपभोगोऽप्येव परिणामिन्यात्मनि कथञ्चिदेकाधिकरण-भावाच्चित्रस्वभावतया युज्यते । इतरथा नित्याऽऽद्येकस्वभा-वतायां कर्ता, भोक्ता, उभयं वा । वाशब्दादनुभयं वा, प्राप्नोति सदाऽपि, कर्ताऽऽद्येकस्वभावत्वादिति गाथार्थः ॥ ९० ॥

एतदेव भावयति-

वेएइ जुवाणकयं, वुड्ढो चोराइफलमिहं कोइ ।
ण य सो तओ ण अन्नो, पच्चक्खाईपसिद्धीओ ॥९१॥

वेदयतेऽनुभवति युवकृतं, तरुणकृतमित्यर्थः, वृद्धश्चौर्याऽऽदि-फलं बन्धनाऽऽदि, इह, कश्चित्,लोकसिद्धमेतत् । न चाऽसौ वृ-द्धस्ततो यूनो नान्यः, किं त्वन्यः, प्रत्यक्षाऽऽदिप्रसिद्धेः कार-णादिति गाथार्थः ॥ ९१ ॥

ण य णाऽणण्णो सोऽहं, किं पत्तो पावपरिणइवसेण ।
अणुहवसंधाणाओ, लोगाऽऽगमसिद्धिओ चेव ॥९२॥

न च नानन्यः किं त्वनन्योऽपि (?) कथमित्याह-सोऽहं किं प्राप्तो बन्धनाऽऽदि पापपरिणतिवशेन चौर्यप्रभवेण अनुभवसन्धाना-त्सोऽहमित्यनेन प्रकारेण, लोकाऽऽगमसिद्धितश्चैव-सोऽयमिति लोकसिद्धिः, तत्पापफलमित्यागमसिद्धिरिति गाथार्थः ॥९२॥

इय मणुआइभवकयं, वेअइ देवाइभवगओ अप्पा ।
तस्सेव तहाभावा, सव्वमिणं होइ उववण्णं ॥ ९३ ॥

एवं वृद्धवन्मनुष्याऽऽदिभवकृतं पुण्याऽऽदि वेदयते अनुभवति देवाऽऽदिभवगतः सन्नात्मा जीव इति,तस्यैव मनुष्याऽऽदेस्तथा-भावाद् देवाऽऽदित्वेन भावात्,सर्वमिदं निरुपचरितं स्वकृतभो-गाऽऽदि भवत्युपपन्नं, नान्यथेति गाथार्थः ॥ ९३ ॥

एगंतेण उ निच्चो-ऽणिच्चो वा कह णु वेअइ सकडं ।
एगसहावत्तणओ, तयणंतरनासओ चेव ॥ ९४ ॥

... ...
... ... ॥९४॥

जीवसरीराणं वि हु, भेआऽभेओ तहोवलंभाओ ।
मुत्तामुत्तत्तणओ, पिक्कम्मि पवेअणाओ अ ॥ ९५ ॥

जीवशरीरयोरपि भेदाभेदः, कथञ्चिद् भेदः,कथञ्चिदभेद इत्य-र्थः । तथोपलम्भात्कारणान्मूर्तामूर्तत्वात्तयोरन्यथायोगाभावात् स्पृष्टे शरीरे प्रवेदनाच्च,न चामूर्तस्यैव स्पर्श इति गाथार्थः ॥९५॥

उभयकओभयजोगा, तयभावाओ अ होइ नायव्वो ।
बंधाऽऽविसयभावा, इहरा तयसंभवाओ अ ॥ ९६ ॥

उभयकृतोभयभोगात्कारणात्, तदभावाच्च भोगाभावाच्च, भवति ज्ञातव्यः जीवशरीरयोर्भेदः, बन्धाऽऽदिविषयभावा-त्कारणादितरथैकान्तभेदाऽऽदौ तदसम्भवाच्च बन्धाऽऽद्यस-म्भवाच्चेति गाथार्थः ॥ ९६ ॥

एतदेव प्रकटयन्नाह-

एत्थ सरीरेण कमं, पाणवहासेवणाए जं कम्मं ।
तं खलु चित्तविवागं, वेएइ भवंतरे जीवो ॥ ९७ ॥

अत्र शरीरेण कृतं, कथमित्याह-प्राणवधाऽऽसेवनया हेतुभूत-या यत् कर्म तत् खलु चित्रविपाकं सद्वेदयते भवान्तरे-ऽन्यजन्मान्तरे जीव इति गाथार्थः ॥ ९७ ॥

न उ तं चेव सरीरं, णरगाऽऽइसु तस्स तह अभावाओ ।
भिन्नकयवेअणम्मी, अइप्पसंगो बला होइ ॥ ९८ ॥

न तु तदेव शरीरं येन कृतमिति । कुतः?, इत्याह-नरकाऽऽदिषु तस्य शरीरस्य तथाऽभावादिति । भिन्नकृतवेदनाऽभ्युपगम्यमा-नेऽतिप्रसङ्गोऽनवस्थारूपः बलाद्भवतीति गाथार्थः ॥ ९८ ॥

एवं जीवेण कमं, कूरमणपयट्टएण जं कम्मं ।
तं पइ रोद्दविवागं, वेएइ भवंतरसरीरं ॥ ९९ ॥

एवं जीवेन कृतं,तत्प्राधान्यं,क्रूरमनःप्रवृत्तेन यत्कर्म पापाऽऽदि तत्प्रति तन्निमित्तं रौद्रविपाकं तीव्रवेदनाकारित्वेन वेदयते भवान्तरशरीरं, तथाऽनुभवादिति गाथार्थः ॥ ९९ ॥

ण उ केवलओ जीवो, तेण विमुक्कस्स वेयणाऽभावा ।
ण य सो चेव तयं खलु, लोगाऽऽइविरोहभावाओ ॥१००॥

न तु केवलो जीवो वेदयते, तेन शरीरेण विमुक्तस्य सतः वेद-नाऽभावात्कारणात्, न च स एव जीवस्तच्छरीरमिति लोका-ऽऽदिविरोधभावात्,आदिशब्दात्समयग्रह इति गाथार्थः ॥१००॥

एवं चिअ देहवहे, उवयारे वा वि पुण्णपावाइं ।
इहरा घडाइभंगा-इनायओ नेव जुज्जंति ॥१०१॥
एवमेव जीवशरीरयोर्भेदाभेदे एव, देहवधात्सत्काराद् वा देहस्य पुण्यपापे भवतः,इतरथैकान्तभेदाद् घटाऽऽदिभङ्गाऽऽदिज्ञातत घटाऽऽदिविनाशकरणोदाहरणेन, नैव युज्येते पुण्यपापे इति गाथाऽर्थः ॥ १०१ ॥

अभ्युच्चयमाह-

तयभेअम्मि अ नियमा, तन्नासे तस्स पावई नासो ।
इय परलोआभावा, बधाईणं अभावो य ॥ १०२ ॥
तदभेदे च जीवशरीराभेदे च नियमात्तन्नाशे देहनाशे तस्य जीवस्य प्राप्नोति नाशः । (इय) एव परलोकाभावात्कारणात बन्धाऽऽदीनामपि प्रस्तुतानामभाव एवेति गाथाऽर्थः ॥ १०२ ॥

देहेणं देहम्मि अ, उववायाणुग्गहेहिँ बंधाई ।
ण पुण अमुत्तो मुत्त-स्स अप्पणो कुणइ किंची वि ॥१०३॥
किञ्चिदपि, मुक्तकदपत्वादिति गाथाऽर्थः ॥ १०३ ॥

अकरिंतो अ ण वज्झइ, अइप्पसंगा सदेव बंधाओ ।
तम्हा भेआभेए, जीवसरीराण बंधाई ॥ १०४ ॥
अकुर्वंश्च न बध्यते न्यायत इत्याह-अतिप्रसङ्गान्मुक्ते सदैव भावाद्बन्धस्य, अकर्तृत्वाविशेषाद्, यत एव तस्माद्भेदाभेदे जात्यन्तराऽऽत्मके जीवशरीरयोर्बन्धाऽऽदयो,नान्यथेति गाथाऽर्थः ॥१०४॥

तथा-

मोक्खो वि अ बद्धस्स य, तयभावे स कह कीस वा ण सया।
किं वा हेऊहिँ तहा, कहं च सो होइ पुरिसत्थो ॥१०५॥
मोक्षोऽपि च बद्धस्य सतो भवति, तदभावे बन्धाभावे स कथं मोक्षः,नैव,किमिति वा न सदाऽसौ, बन्धाभावाविशेषात, किं वा हेतुभिस्तथा यथाऽऽदिभिः, कथं च स भवति पुरुषार्थोऽयत्नसिद्धत्वादिति गाथाऽर्थः ॥ १०५ ॥

यत एवम्-

तम्हा बद्धस्स तओ, बधो वि अणाइमं पवाहेणं ।
इहरा तयभावम्मी, पुव्वं चिअ मोक्खसंसिद्धी ॥१०६॥
तस्माद् बद्धस्यैवासौ मोक्षो, बन्धोऽप्यनादिमान् प्रवाहेण सन्तत्या,इतरथैवमनङ्गीकरणेन,तदभावे बन्धाभावे सति,पूर्वमेवाऽऽदावेव मोक्षसिद्धिः, तद्रूपत्वात्तस्येति गाथाऽर्थः ॥ १०६ ॥

अत्राऽऽह-

अणुभूअवत्तमाणो, बंधो कयगो चि णाइम कह णु।
जह य अईओ कालो, तहाविहो तह पवाहेण ॥ १०७ ॥
अनुभूतवर्त्तमानो भावो बन्ध कृतक इति कृत्वा स एवभूतोऽनादिमान् कथं नु ?, प्रवाहतोऽपीति भाव । अत्रोत्तरम्-यथैवातीत कालस्तथाविध -अनुभूतवर्त्तमानभावोऽप्यनादिमान्, तथा प्रवाहेण बन्धोऽप्यनादिमानिति गाथाऽर्थ ॥ १०७ ॥

उपपत्तिमाह-

दीसइ कम्मावचओ, संभवई तेण तस्स विगमो वि।
कणगमलस्स व तेण उ, मुक्को मुक्को त्ति नायव्वो ॥१०८॥
दृश्यते कर्मापचय कार्यद्वारेण, सम्भवति तेन कारणेन तस्य कर्मणो विगमोऽपि, सर्वथा कनकमलस्येति निदर्शन, तेन कर्मणा मुक्तः सर्वथा मुक्तो ज्ञातव्य इति गाथाऽर्थ ॥ १०८ ॥

एमाइ भाववादो, जत्थ तओ होइ तावसुद्धो त्ति ।
एस उवाएओ खलु, बुद्धिमया धीरपुरिसेणं ॥१०९॥
एवमादि भाववादः पदार्थवादो यत्राऽऽगमेऽसौ भवति तापशुद्धः तृतीयस्थानसुन्दर इति,एष उपादेयः सदैव एव नान्यः, बुद्धिमता प्राज्ञेन धीरपुरुषेण स्थिरेणेति गाथाऽर्थः ॥१०९॥ पं० व० ४ द्वार ।

तावियां-तापिका-स्त्री० । कटाहिकायाम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

तास-त्रास-पुं० । उद्वेगे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० ।

तासन-त्रासन-त्रि० । क्षोभाऽऽदिलिङ्गकारकत्वात्त्रासनः। प्रश्न० १ आश्र० द्वार । त्रासजनके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । नि० चू० । आ० म० ।

तासी-त्रासी-त्रि० । स्वयं त्रस्तः परानपि त्रासयतीति त्रासी । त्रस्ते, अन्यत्रासकरे च । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

ताहं-ताहं-अव्य० । आमन्त्रणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

ताहे-तदा-अव्य० । तस्मिन् काले वाच० । तस्मिन् काले इत्यर्थे, वाच० । म० । प्रा० ।

ति-इति-अव्य० । पदात्परस्य इतिशब्दस्य ति इत्यादेशो भवति । उपमाभूतवस्तूनां परिसमाप्तौ, जी० ३ प्रति० ४ उ० । प्रश्न० । एवार्थे, उत्त० १ अ० ।

त्रि-सं० । त्रि० । डीँ-ङि । त्रित्वसंख्याविशिष्टे, स्त्रियां तिस्रादेशः। तिस्र इत्यादि । वाच० ।

तिअसीस-त्रिदशेश-पुं० । " लुक् " ॥ ८ । १ । १० ॥ इति स्वरस्य स्वरे परे बहुल लुक् । प्रा० १ पाद । देवराजे,वाच० ।

तिउट्टण-त्रित्रुटन-न० । त्रिभ्यो मनोवाक्कायेभ्योऽशुभेभ्यो मुक्तौ, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

तिउडय-त्रिपुटक-पुं० । मालवकप्रसिद्धे धान्यविशेषे, ध० २ अधि० । प्रव० ।

तिउल-त्रितुल-त्रि०। त्रीन् मनोवाक्कायाँस्तुलयत्यभिभवति या सा त्रितुला । मनोवाक्कायतोदके दुःखहेतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । न० । ज्ञा० । स्था० ।

तोदक-त्रि० । सूत्रत्वात्तोदकः । मनोवाक्कायतोदके दुःखहेतौ, उत्त० २ अ० ।

त्रिदल-त्रि० । त्रीन् प्रस्तावान्मनोवाक्कायान् विभावितप्यन्तत्वाच्छुराऽऽदीनां दलतीव स्वरूपचलनेन त्रिदल । मनोवाक्कायतोदके दुःखहेतौ, उत्त० २ अ० ।

तिऊम-त्रिकूट-पुं० । ' तिकूम ' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

तिओय-त्र्योजस्-न० । त्रिभिरादित एव कृतयुग्माद्योपरिवर्तिभिरोजो विषमराशिविशेषस्त्र्योज । भ० १८ श० ४ उ० । विषमराशिविशेषे, यो हि राशिश्चतुष्कापहारेणापह्रियमाणस्त्रिपर्यवसितो भवति स त्र्योज इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । भिन्नप्रदेशासु दिक्षु, स्त्री० । सर्वासां दिशां प्रत्येकं ये प्रदेशास्ते चतुष्केणापह्रियमाणास्त्रिकावशेषा भवन्तीति कृत्वा तत्प्रदेशाऽऽत्मिकाश्च दिश आगमसंज्ञया त्र्योज शब्देनाभिधीयन्ते । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

तिंतिण-तिन्तिण-पु० । तिन्तिणो नाम यः स्वल्पेऽपि केनचित्साधुनाऽपराद्धोऽनवरतं पुनस्त झणझास्ते स तिन्तिणः । तस्मिन्, व्य०१ उ०। प्रव० । कन्प्रत्ययोऽप्यत्र । अलाभे सति खेदात्किञ्चनाभिधायी, स च खेदप्रधानत्वात्तिन्तिणिको भवति । स्था० ६ ठा० । " तिंतिणिए एसणासमिइस्स परिमथू ।" तिन्तिणिको हि सुन्दरमाहाराऽऽदिकं गवेषयन्नेषणासमितेः परिमन्थुर्भवतीति । बृ० ६ उ० ।

व्यासार्थं प्रतिद्वारमभिधित्सुः प्रथमतस्तिन्तिणिकद्वारं व्याचष्टे-

इज्झंतं टिंबरुदा-रुयं व दिवसं पि जो तिमितिडेइ ।
अह दव्वतिंतिणो भा-वओ उ आहारउवहिसिज्जाए ॥

तिम्बुरुकदारुकं तिम्बुरुकवृक्षकाष्ठमग्नौ प्रक्षिप्तं, तद् दह्यमानं सद् यथा तटतटेति कुर्वदास्ते, एवं यो गुर्वादिभिः खरण्टितः सपूर्णमपि दिवसं " तिडितिडेइ त्ति " अनुकरणशब्दत्वात्तटतटायते, मम संमुखमिदमिदं च जल्पितमेभिरिति झणझास्ते इति भावः । अथैष द्रव्यतिन्तिणिकः । भावतस्तु तिन्तिणिकस्त्रिविधः । तद्यथा-आहारे, उपधौ, शय्यायां चेति । पुनरेकैको द्विविधः-अन्तःसंयोजनया, बहिःसंयोजनया च ।

तत्रोभयथाऽप्याहारतिन्तिणिकं तावदाह-

अंतो बहि संजोअणा, आहारे बाहि खीरदधिमाई ।
अंतो उ होति तिविहा, भायणे हत्थे मुहे चेव ॥

आहारविषया संयोजना द्विविधा-अन्तः, बहिश्च । तत्र बहिस्तावदुच्यते-कश्चित्साधुर्भिक्षामटन् क्षीरं वा दधि वा लब्ध्वा रसगृध्नुतया कलमशाल्यादिप्रभृतिकमोदनं क्विरगोचरचर्यकरणेनाप्युत्पाद्य यत्रैव क्षीराऽऽदिना सार्धमुपाश्रयाद् बहिः संयोजयति, आदिशब्दात् परमान्नाऽऽदिकं वा लब्ध्वा घृतखण्डाऽऽदिना बहिरेव स्थितः सन् यद् योजयति, एषा बाहिःसंयोजना । अन्तस्तु प्रतिश्रयाभ्यन्तरे पुनः संयोजना त्रिविधा भवति । तद्यथा-भाजने, हस्ते, मुखे चैव । तत्र भाजनविषया-यत्र भाजने कलमशाल्योदनस्तत्र दुग्धदध्यादि प्रक्षिपति । हस्तविषया-मण्डकपुपूलिकाऽऽदिना गुडशर्कराऽऽदि हस्तस्थितं वेष्टयित्वा मुखे प्रक्षिपति । मुखविषया-पूर्वं मण्डकाऽऽदि मुखे प्रक्षिप्य ततः शर्कराखण्डाऽऽदि प्रक्षिपति । एवंविधां द्विविधामप्याहारसंयोजनां लोभाभिभूततया कुर्वन् यदा यदा संयोजनीयवस्तुयोगं न लभते तदा तदा तिन्तिणिकत्वं करोतीत्याहारतिन्तिणिक उच्यते ।

अथोपधिशय्यातिन्तिणिकावतिदिशति-

एमेव उवहिसिज्जा, गुणोवगारी उ जस्स जं होइ ।
सो तेण जोजयंतो, तदभावे तिंतिणो होइ ॥

एवमेवोपधिशय्ययोरपि संयोजनायां भावना कार्या । सा चेयम्-उपधिसंयोजनाऽपि द्विविधा-बहिः, अन्तश्च । तत्र बहिःसंयोजना-शरद्दं कल्पं लब्ध्वा चोलपट्टकमप्युत्कृष्टमुत्पादयति; और्णिकं वा कल्पं सुन्दरं लब्ध्वा तदनुरूपमेव सौत्रिकमुत्पादयति; उत्पाद्य च तदुभयपरिभोगेण संयोजयति । अन्तःसंयोजना पुनः-विभूषार्थं श्वेतकम्बल्यां कृष्णदवरकसीवनिकां ददातीत्यादि । शय्या प्रतिश्रयः, तस्य संयोजनाऽपि द्विविधा-बहिः, अन्तश्च । तत्र बहिःसंयोजना-भक्तपाटमुपाश्रयं लब्ध्वा कपाटाभ्यां संयोजयति । अन्तःसंयोजना-शोभनार्थं प्रतिश्रयं गोमयमृदादिना लिम्पति, सेटिकया वा धवलयति । अथवा-शय्याशब्देन संस्तारक उच्यते; ततश्च सुन्दरतरं संस्तारकं लब्ध्वा यद्युत्तरपट्टमपि तदनुरूपमुत्पाद्य परिभुङ्क्ते; सा बहिःसंयोजना । यत्पुनः सुकुमारस्पर्शार्थं विभूषार्थं वा सुन्दरया त्वक्या संस्तारकमस्तृणाति सा अन्तःसंयोजना । तदेवं यदुपध्यादिकं यस्य साधोर्गुणोपकारि विभूषाऽऽदिगुणोपयोगि भवति, स तेन विवक्षितेन वस्तुना सार्द्धं तदेव वस्तु योजयन् मीलयन्, तदभावे विवक्षितवस्तुयोगाभावे तिन्तिणिको भवति-" हा ! नास्त्यमुकं वस्तु अत्र स्थण्डिलप्राये सन्निवेशे " इत्यादि जल्पतीत्यर्थः । बृ० १ उ० । नि०चू०। (अपवादे तिन्तिणिकत्व ' कप्प ' शब्दे तृतीयभागे २३० पृष्ठे गतम्)

तिंतिणी-तिन्तिणी-स्त्री० । यत्र तत्र वा स्तोकेऽपि कारणे करकरायण, व्य० १ उ० ।

तिंदुक-तिन्दुक-पु० । बहुबीजकफलप्रधाने वृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० । प्रव० । वाराणस्यां तिन्दुकवृक्षप्रधाने उद्याने, भा०म०१ अ०२ खण्ड । तत्र गण्डीतिन्दुकनामा यक्षो वसति । उत्त० १२ अ०। ती०। स्था० । श्रावस्त्यां नगरमण्डले पुरपरिसरे तिन्दुकवृक्षप्रधाने उद्याने, उत्त० २३ अ० । आ० क० । विशे० । चैत्यविशेषे, ति० । श्रावस्तीनगरीचैत्ये, स्था० ७ ठा० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

तिंदूस-तिन्दूस-पुं० । बहुबीजकफलप्रधाने वृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । स्वार्थे कन्प्रत्ययोऽप्यत्र । आ० क० ।

तिंदूसय-तिन्दूसक-पु० । कन्दुके, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । क्रीडाविशेषे, " सप्प व तरुवरम्मी, काउ तिंदूसए य मिंभ व ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

तिकंडग-त्रिकाण्डक-त्रि० । काण्डत्रययुक्ते, " सय सहस्साण उ जोयणाण, तिकंडगे पंडगवेजयंते ।" मेरुः-त्रीणि काण्डान्यस्येति त्रिकाण्डकः, तद्यथा-भौमं, जाम्बूनदं, वैडूर्यमिति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

तिकट्टु-त्रिकृत्वस्-अव्य० । त्रीन् कृत्वेत्यर्थे, भ० ९ श० १ उ० ।

तिकडुय-त्रिकटुक-न० । त्रयाणां कटूनां समाहारस्त्रिकटु, त्रिकटु एव त्रिकटुकम् । शुण्ठीमरिचपिप्पल्यात्मके कटुत्रयसमाहारे, उत्त० ३४ अ० । अनु० ।

तिकरणभावसुद्ध-त्रिकरणभावशुद्ध-त्रि० । त्रिविधेन त्रिप्रकारेण करणेन मनोवाक्कायलक्षणेन सुविशुद्धे, मनसाऽप्यसंयमाभिलाषाद् भावेन च परिणामेन विशुद्धः इहलोकाऽऽद्याशंसाविप्रमुक्तत्वात् त्रिकरणभावविशुद्धः । तस्मिन्, व्य० ३ उ० ।

तिकरणसुद्ध-त्रिकरणशुद्ध-न० । मनोवाक्कायलक्षणकरणत्रयस्य दायकसंबन्धिनो विशुद्धतायाम्, विपा० २ श्रु० १ अ० ।

तिकूड-त्रिकूट-पु० । त्रीणि कूटान्यस्य । लङ्कापुरसन्निहिते सुवेलाऽऽख्ये पर्वते, स्था०४ ठा० २ उ० । " दो तिकूडा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । ती० । जम्बूद्वीपे मेरुपर्वतस्य पूर्वस्मिन् भागे शीताया महानद्या दक्षिणस्यां दिशि आद्ये वक्षस्कारपर्वते, स्था० ।

तिकोडि-त्रिकोटि-स्त्री० । त्रिकोट्याम्, चन्द्रप्रज्ञप्तौ-"सिद्धे मोपवओ " इत्यादिसूत्रव्याख्याने त्रिकोटिपरिशुद्धत्वेन प्रख्याता

ये, तत्र कोटिशब्दस्य कोऽर्थः ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-सूत्रार्थतदुभयरूपा., कषच्छेदतापलक्षणपरीक्षात्रयरूपा वा तिस्र. कोट्यः सभाव्यन्ते । २६० प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

तिकोमिपरिसुद्ध–त्रिकोटिपरिशुद्ध–त्रि० । रागद्वेषमोहत्रयपरिशुद्धे, षो० ।

मध्यमबुद्धेस्त्वीर्या–समितिप्रभृति त्रिकोटिपरिशुद्धम् (७)

त्रिकोटिपरिशुद्धम्-रागद्वेषमोहत्रयपरिशुद्धम । अथवा-तिस्र. कोट्यो हनन-पचन-क्रयणरूपा. कृतकारितानुमतिभेदेन श्रूयन्ते, ताभि. परिशुद्धम् । अथवा-कषच्छेदतापकोटित्रयपरिशुद्धम् । षो० २ विव० ।

तिकोण–त्रिकोण–त्रि० । त्रय. कोणा यस्य । त्रिकोटियुक्ते पदार्थे, स्था० १ ठा० । ज्योतिषोक्ते लग्नात्पञ्चमनवमस्थाने, न० । "त्रिकोणगान् गुरु. पश्यन् ।" वाच० । शृङ्गाटके, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

तिक्ख–तीक्ष्ण–त्रि० । तिज्-क्स्न-दीर्घश्च । गुरुके, अतिपातिनि च । व्य० १ उ० । परुषे, भ० १६ श० ३ उ० । वेगवति, ज० २ वक्ष० । मरणे, युद्धे, विषे, लौहे शस्त्रे, शीघ्रे, सामुद्रलवणे, मुष्कके, चषके, उग्रे रसे च । न० । तद्वति, त्रि० । यवक्षारे, श्वेतकुशे, कुन्दुरुके, ज्योतिषोक्ते आर्द्राश्लेषाज्येष्ठामूलनक्षत्रे च । पु० । तीव्रे, आत्मत्यागिनि, निरालस्ये, मुमुक्षौ, योगिनि च । पु० । वाच० ।

तिक्खतुमा–तीक्ष्णतुण्डा–स्त्री० । घृतेल्लिकायाम्, कल्प० ६ क्षण ।

तिक्खालिअ–देशी-तीक्ष्णीकृते, दे० ना० ५ वर्ग १३ गाथा ।

तिक्खुत्त–त्रिःकृत्वस्–अव्य० । त्रीन् वारान् कृत्वेत्यर्थे, विपा० १ श्रु० १ अ० । दशा० । स्था० । नि० चू० । रा० । प्रति० । कल्प० । आ० म० । नि० । औ० ।

तिग–त्रिक–न० । रथ्यात्रयमीलकस्थाने, बृ० १ उ० । जी० । भ० । कल्प० । औ० । ज्ञा० । अनु० । आ० म० । पा० । सूत्र० ।

त्रिकनिक्षेपज्ञापनार्थमिदमाह–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य गणण भावे य ।
एसो उ खलु तिगस्स य, निक्खेवो होइ सत्तविहो ॥१०॥

नामत्रिकम, स्थापनात्रिकम, द्रव्यत्रिकम्, क्षेत्रत्रिकम्, कालत्रिकम्, गणनात्रिकम्, भावत्रिक चेति, एष खलु त्रिकस्य निक्षेप सप्तविधो भवति । नामस्थापनात्रिके गतार्थे ।

द्रव्यत्रिक ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्त ज्ञापयति–

दव्वे सच्चित्तादी, सच्चित्तं तत्थ होइ तिविहं तु ।
दुपद चतुप्पद अपदं, परूवणा तस्स कायव्वा ॥११॥

द्रव्यत्रिक सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा । तत्र सचित्तत्रिक भूयस्त्रिविध भवति । तद्यथा–द्विपदत्रिकम, चतुष्पदत्रिकम, अपदत्रिकम् । तस्य च सप्तभेदस्याऽपि प्ररूपणा कर्त्तव्या । सा च यथा सचित्तैकैकस्य कृता तथैवावगन्तव्यम् ।

परमाणुमादियं खलु, अच्चित्तं मीसगं च मालादी ।
तिपदेस तदोगाढं, तिण्णि वि लोगा उ खेत्तम्मि ॥१२॥

(परमाणु त्ति) आदिशब्दाद् द्विप्रदेशिकत्रय यावदनन्तप्रदेशिकत्रयम्, एतदचित्तत्रिक द्रष्टव्यम्, मिश्रत्रिक तु मालात्रय मन्तव्यम् । तत्र हि पुष्पाणि सचित्तानि, सूत्रमचित्तमिति कृत्वा । आदिग्रहणेन सालङ्कारपुरुषत्रयमित्यादि गृह्यते । क्षेत्रत्रयम्–त्रय आकाशप्रदेशा. (तदोगाढ ति) तेषु वा त्रिषु आकाशप्रदेशेषु अवगाढ द्रव्य क्षेत्रत्रयम्, त्रयो वा लोका अधोलोकतिर्यग्लोकोर्द्धलोकलक्षणा क्षेत्रत्रयमुच्यते ।

तिसमय तट्ठितिगं वा, कालतिगं तीयमातिणो चेव ।
भावे पसत्थमितरं, एक्केक्कं तत्थ तिविहं तु ॥१३॥

कालत्रय प्रत्यग्रसमय (?) (तट्ठितिग व त्ति) त्रिसमयस्थितिक वा द्रव्यं कालत्रयम । अथवा–अतीतानागतवर्त्तमानकाला एव कालत्रयम, भावत्रय प्रशस्तमप्रशस्त चेति द्विधा । पुनरेकैकं त्रिविधम्–तत्र ज्ञानम, दर्शनम, चारित्रं चेति प्रशस्तम । मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिश्चेत्यप्रशस्तम । अविरतिरपि हस्तकर्ममैथुनरात्रिभक्तप्रतिसेवाभेदादिह प्रस्तावे त्रिविधा । व्याख्यात त्रय इति पदम् । बृ० ४ उ० ।

तिगतिगभेद–त्रिकत्रिकभेद–त्रि० । त्रिक त्रिकं भेदानां यस्य स त्रिकत्रिकभेद । प्रत्येक त्रिविधे, दर्श० ५ तत्त्व ।

तिगरणसुद्ध–त्रिकरणशुद्ध–त्रि० । त्रीणि च तानि करणानि च मन प्रभृतीनि त्रिकरणानि, तै' शुद्धो निर्दोषस्त्रिकरणानि वा शुद्धानि सर्वदोषरहितानि यस्य स त्रिकरणशुद्ध । निरवद्ययोगप्रवृत्ते, अथवा ·करणकारणानुमतिरूपसावद्ययोगविरते, पा० ।

तिगारवगुरुया–त्रिगौरवगुरुता–स्त्री० । ऋद्धिरससातगौरवे, ध० ३ अधि० ।

तिगिच्छ–चिकित्स–पु० । किञ्जल्के, स्था० १० ठा० । वैद्ये, व्य० ५ उ० । दशमकल्पे देवाना विमानविशेषे, स० २० सम० ।

तिगिच्छग–चिकित्सक–त्रि० । रोगप्रतीकारकर्तरि, स्था० ।

अथाऽऽत्मचिकित्सकान् भेदतः सूत्रत्रयेणाऽऽह–

चत्तारि तिगिच्छगा पण्णत्ता । तं जहा–आयतिगिच्छिए णाममेगे, णो परतिगिच्छिए । परतिगिच्छिए णाममेगे णो आयतिगिच्छिए । एवं चउभंगो ४ ।

"चत्तारि" इत्यादि कण्ठ्यम । नवर व्रण देहे क्षत स्वय करोति रुधिराऽऽदिनिर्गलनार्थमिति व्रणकरो 'नो' नैव व्रण परिमृशतीत्येव शीलो व्रणपरिमर्शीत्येक., अन्यस्त्वन्यकृत व्रण परिमृशति न च तत्करोतीति । एव भावव्रणमतिचारलक्षण करोति, कायेन च तदेव परिमृशति पुन पुन सस्मरणेन स्पृशति । अन्यस्तु तत्परिमृशतीत्यभिलाषान्न च करोति कायत. संसारभयाऽऽदिभिरिति । व्रणं करोति, न च तत्पट्टबन्धाऽऽदिना संरक्षति । अन्यस्तु कृत सरक्षति, न च करोति । भावव्रणं त्वाश्रित्यातिचार करोति, न च तं सानुबन्ध भवन्त कुशीलाऽऽदिससर्गतन्निदानपरिहारतो रक्षति एकः, अन्यस्तु पूर्वकृतातिचार निदानपरिहारतो रक्षति, नव च न करोति । (नो) नैव व्रण सरोहयत्यौषधदानाऽऽदिनेति व्रणसरोही । भावव्रणापेक्षया तु नो व्रणसरोही प्रायश्चित्ताप्रतिपत्ते, व्रणसरोही पूर्वकृतातिचारप्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या नो व्रणकरोऽपूर्वातिचाराकारित्वादिति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तिगिच्छा–चिकित्सा–स्त्री० । चिकित्सन चिकित्सा । रोगप्रतीकारे, रोगप्रतीकारोपदेशे च । प्रव० । सा द्विविधा–सूक्ष्मा, बादरा च ।

तत्र सूक्ष्मा औषधविधिवैद्यज्ञापनेन । बादरा स्वयं चिकित्साकरणेन, अन्यस्मात्कारणेन च । तत्र कश्चिज्ज्वराऽऽदिरोगाऽऽक्रान्तो गृही भिक्षाऽऽद्यर्थं गृहे साधुं प्रविष्टं दृष्ट्वा पृच्छति-भगवन् ! एतस्य मदीयव्याधेर्जानीषे कमपि प्रतीकारमिति ? । स प्राऽऽह-भोः श्रावक ! यादृशस्तवाऽयं रोगस्तादृशो ममाऽप्येकदा सजात आसीत् । स चामुकेनौषधेन ममोपशम गत इति । एव चास्य गृहस्थस्य रोगिणो भैषज्यकरणाभिप्रायोत्पादनादौषधसूचन कृतम् । अथवा रोगिणा चिकित्सां पृष्टो वदति-" किमहं वैद्यो, येन रोगप्रतीकार जाने ? " इति । एव चोक्ते रोगिणोऽनभिज्ञस्य सतोऽस्मिन् विषये वैद्यं पृच्छेति सूचन कृतमिति सूक्ष्मचिकित्सा । यदा तु स्वय वैद्यीभूय साक्षादेव वमनविरेचनक्वाथाऽऽदिक करोति, कारयति वा अन्यस्मात्तदा बादरा चिकित्सेति । एवमुपकृतो हि प्रमुदितो गृही मम भिक्षां प्रकृष्टां दास्यतीति यतिरिमां द्विविधामपि कुरुते, न चैव तुच्छपिण्डकृते यतिनां कर्तुमुचितम्, अनेकदोषसंभवात् । तथाहि-चिकित्साकरणकाले कन्दफलमूलाऽऽदिजीववधेन क्वाथकथनाऽऽदिपापव्यापारकरणादसंयमो भवेत् । तथा-नीरुक्कृतो गृहस्थ. तप्तायोगोलकसमान. प्रगुणीकृतदुर्बलाङ्गव्याधवदनेकजीवघात कुर्यात् । तथा यदि दैवदुर्योगात्साधुना चिकित्स्यमानस्याऽपि रोगिणो व्याधेराधिक्यं जायते, तदा कुपितस्तत्पुत्राऽऽदिराकृष्य राजकुलाऽऽदौ ग्राहयेत । तथाऽऽहाराऽऽदिलुब्धा एते इत्थमित्थ च वैद्यकाऽऽदि कुर्वन्ति, इति प्रवचनमालिन्य स्यादिति ॥ ६ ॥ प्रव० ६७ द्वार । पिं० । पञ्चा० । विशे० । द्रव्यौषधाऽऽद्युपयोगत. पीमोपशमे, आचा० १ श्रु० ए अ० ४ उ० । ग० । चिकित्सया पिण्डोत्पादनम् । उत्पादनादोषभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । पञ्चा० ।

चउव्विहा तिगिच्छा पण्णत्ता । तं जहा-विज्जा, ओसहाइं, आउरे, परियारए ४ ।

"चउव्विहा" इत्यादि कण्ठ्यम । नवरं चिकित्सा रोगप्रतीकारस्तस्याश्चातुर्विध्यं कारणभेदादिति ।

एतत्सूत्रसम्वादकमुक्तमपरैरपि-

"भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता, रोगी पादचतुष्टयम ।
चिकित्सितस्य निर्दिष्टं, प्रत्येक तच्चतुर्गुणम् ॥ १ ॥
दक्षो विज्ञातशास्त्रार्थो, दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक् ।
बहुकल्प बहुगुण, सम्पन्न योग्यमौषधम ॥ २ ॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षो, बुद्धिमान् परिचारक. ।
आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो, ज्ञापकः सत्त्ववानपि " ॥३॥ इति ।
इयं द्रव्यरोगचिकित्सा ।

भावरोगचिकित्सा त्वेवम्-

" निव्विगइ निब्बलोमे, तव उव्वट्ठाणमेव उब्भामे ।
वेयावच्चाहिंमण-मंडलिकप्पट्ठियाऽऽहरण ॥ १ ॥ " इति ।

निर्बलं वल्लाऽऽदि, अवमसूनम, उद्भ्रामो भिक्षाभ्रमणम्, आहिण्डन देशेषु, मण्डली सूत्रार्थयो (कप्पट्ठिया) श्रेष्ठिवधूरिति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

जे भिक्खू तिगिच्छापिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥६४॥

रोगावणयण तिगिच्छा, त जोग करेति गिहिस्स । तस्स आणादिणो दोसा, चउलहु च पच्छित्त ।

जे भिक्खु तिगिच्छपिंडं, भुंजेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१७०॥
नि० चू० १३ उ० ।

चिकित्साद्वारमाह-

भणइ य नाहं विज्जो, अहवा वि कहेइ अप्पणो किरियं ।
अहवा वि वेज्जयाए, तिविह तिगिच्छा मुणेयव्वा ॥

इह चिकित्सा रोगप्रतीकारो, रोगप्रतीकारोपदेशो वा विवक्षिता । ततः साधूनधिकृत्य त्रिविधा त्रिप्रकारा चिकित्सा ज्ञातव्या । तद्यथा-केनापि रोगिणा रोगप्रतीकारे साधुः पृष्टः सन्नाह-किमह वैद्य ?, एतावता च किमुक्त भवति ?-वैद्यस्य समीपे गत्वा चिकित्सा प्रष्टव्या, इत्यबुधबोधनादेका चिकित्सा । अथवा रोगिणा पृष्ट सन्नेवमाह्-ममाप्येवविधो व्याधिरासीत्, स चामुकेन भेषजेनोपशान्तिमगमत्, एषा द्वितीया चिकित्सा । अथवा-वैद्यतया वैद्यीभूय साक्षात् चिकित्सां करोति, एषा तृतीया । इहाऽऽद्ये द्वे चिकित्से सूक्ष्मे, तृतीया तु बादरा ।

तत्राऽऽद्यां व्याचिख्यासुराह-

भिक्खाइगओ रोगी, किं विज्जोऽहं ति पुच्छिओ भणइ ।
अत्थावत्तीएँ कया, अबुहाण बोहणा एवं ॥

भिक्षाऽऽदौ भिक्षाऽऽदिनिमित्त गत. सन् (रोगी इति) अत्र तृतीयार्थे प्रथमा, रोगिणा पृष्ट सन्नाह--किमह वैद्यो येन कथयामि ?। एव चोक्ते सति अर्थापत्त्या सामर्थ्यात्, अबुधानां ' वैद्यस्य पार्श्वे गत्वा चिकित्सा कार्यते ' इत्यजानता, बोधना अनन्तरोक्तस्यार्थस्य ज्ञापना कृता भवति ।

द्वितीयां व्याख्यानयति-

एरिसयं चिय दुक्खं, भेसज्जेण अमुगेण पउणं मे ।
सहसुप्पन्नं व रुय, वारेमो अट्ठमाईहिं ॥

एतादृशमेव दु क्ख दु खकारणभूत गण्डाऽऽदि, अमुकेन भेषजेन प्रगुण नष्टवेदनमभूत् । तथा वय सहसोत्पन्नामकस्मादुत्पन्ना रुजमष्टमाऽऽदिभिर्वारयाम । "तद्योत्पन्न रोग, अष्टमेन निवारय" इत्यादिपरमगुरुवचनप्रामाण्यात् । तस्मात् भवताऽपि तथा कर्तव्यमिति भाव' ।

तृतीया चिकित्सां प्रपञ्चयितुमाह-

संसोधण संसमणं, नियाणपरिवज्जणं च जं तत्थ ।
आगंतु-धाउखोभे, य आमए कुणइ किरियं तु ॥

आगन्तुके धातुक्षोभे च सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा धातुक्षोभजे च आमये रोगे समुत्पन्ने सति तत्र यत्क्रिया करोति । तद्यथा सशोधन हरीतक्यादिदानेन, पित्ताऽऽद्युपशमन सशमन, तथा निदानपरिवर्जन रोगकारणपरिवर्जन च । एषा तृतीया चिकित्सा ।

अत्र दोषानाह-

असंजमजोगाणं, पसाधणं कायघाओ अयगोलो ।
दुब्बलवग्घाऽऽहरणं, अच्चुदए गेण्हणुड्डाहो ॥

असयमयोगाना सावद्यव्यापाराणा प्रसाधन सातत्येन प्रवर्तनमिद चिकित्साकरण, ततो गृहस्थस्तप्तायोगोलकसमानः, ततस्तेन नीरोगीभूतेन ये कायघाता यावज्जीव प्रवर्त्यन्ते, ते सर्वेऽपि साधुचिकित्साप्रवर्तिता इति । चिकित्साकरण सातत्ये नासयमयोगानां निबन्धनम । तथा चात्र दुर्बलव्याघ्रदृष्टा-

न्तः। यथा-अटव्याम धो भक्ष्यमप्राप्नुवन् दुर्बलो व्याघ्र केनाप्यान्यापनयनाय चिकित्स्यते, चिकित्सितः सन् प्रगुणीभूत. प्रथमतस्तस्यैव वैद्यस्य विघात करोति। तत शेषाणां बहूनां जीवानाम्। एवमेषोऽपि गृहस्थ' साधुना चिकित्स्यमान साधो. सयमप्राणान् हन्ति, शेषांश्च पृथिवीकायाऽऽदीनिति। यदि पुन कथमपि चिकित्स्यमानस्यापि तस्यातिशयेन रोगस्योदय प्रादुर्भावो भवति, ततोऽहमनेनातिशयेन रोगीकृत इति सजातकोपो राजकुलाऽऽदौ ग्राहयति; तथा च सति उड्डाह. प्रवचनस्य मालिन्यमिति। पिं०।

इम वितियपद-

असिवे ओमोयरिए. रायदुट्ठे नए व गेलण्णे ।
अध्दाणरोहए वा, जयणाए कारए भिक्खू ॥१७६॥
नि० चू० १३ उ० ।

जे भिक्खू आरोगियपडिकम्मं करेइ. करंतं वा साइज्जइ ।४०।

आरोग्गो णिरुवहयसरीरो, मा मे रोगो भविस्सति त्ति अणागय चेव रोगपरिकम्म करेति, तस्स चउलहु आणाऽऽदिया य दोसा ॥४०॥

जे भिक्खू आरोग्गे, कुज्जा हि अणागयं तु तेगिच्छं ।
सो भाणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ७६ ॥

गतार्था ।

इमेहिं कारणेहिं अववादेण कुज्जा-

विहरणवायणआवा-सगाण मा मे वयाण वा पीला ।
होज्जाहि अकीरंते, कप्पति हु अणागत काउ ॥ ७७ ॥

विहरण जाव मासकप्पो ण पूरति ताव करेमि, मा मासकप्पे पुण्णे विहरणस्स वाघातो भविस्सति, रोगे वा उत्पन्ने मा वायणाए वाघाओ भविस्सइ, विविधाण वा आवासगजोगाण रोगमुप्पण्णे कम असहमाणेहिं हरितादिच्छेदण अण्ण वा किं वि गिलणट्ठा पताइयार करेज्जा, तो अणागयं रोगपकम्म कज्जति ।

जतो भण्णति-

अमुओ असुगं कालं, कप्पति वाही ममं ति णं णातुं ।
तप्पसमणी उ किरिया, कप्पति इहरा बहू हाणी ॥७८॥

मम अप्पसरीरस्स असुगो वाही अमुगे काले अवस्समुप्पज्जति, तस्स रोगस्स अणागय चेव किरिया कज्जति, (इहर त्ति) उप्पण्णरोगे किरियाए कज्जमाणीए बहू दोसा, दोसबहुत्ताओ य सजमहाणी भवति।

अणागयं कज्जमाणे इमे गुणा--

अप्पपरअणायासो, न य कायवहो न यावि परिहाणी ।
न य चमढणा गिहीणं, णहछेज्ज-रिणेण दिट्ठंतो ॥७९॥

अणागते रोगपरिकम्मे कज्जमाणे अप्पणो परस्स य अणायासे भवति। कमेण फासुएण कज्जमाणे कायवधो ण भवति। ण य सुत्तत्थे आवस्सगाण परिहाणी भवति। अणागत जहालाभेण सणिय कज्जमाणे गिहीण चमढणा ण भवति। किं च-उविक्खितो वाही दुच्छेज्जो भवति। जहा रुक्खो अकुरावत्थाए णहच्छेज्जो भवति, विवड्ढितो पुण जायमूलो महाखधो कुहाडेण वि दुच्छेज्जो। रिण पि अप्पमत्तओ सुच्छेज्ज, ववड्ढिय दुगुणचउग्गुण दुच्छेज्ज। एव वाही वि अणागत सुच्छेज्जो पच्छा दुच्छेज्जो। जो सुत्तत्थेसु गहियत्थो, गहणसमत्थो य जो गच्छोवग्गहकारी, कुलगणसघकज्जेसु य पमाणं, तस्स एसा विधी।

जो पुण अण्णो पुरिसो तस्स इमा विधी—

जो पुण अपुव्वगहणे, उवग्गहे वा अपच्चलो एसिं ।
अमहू उत्तरकरणे, तस्स जहिच्छाण उ णियोगो ॥८०॥

अभिणवाण सुत्तत्थाण गहणे असमत्थो, साधुवग्गस्स वा वत्थपायभत्तपाणओसढभेसज्जादि, एतेहिं उवग्गह काउं असमत्थो। उत्तरकरणं-तवो, पायच्छित्त वा, तत्थ वि असहू। एरिसस्स पुरिसस्स इच्छाए णिओगो अवस्समणागयं कायव्वं ति। नि० चू १३ उ०।

नच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए ।
अदीणो थावए पन्नं, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥ ३२ ॥
तेगिच्छ नाभिनंदेज्जा, संचिक्खऽत्त—गवेसए ।
एयं खु तस्स सामण्ण, जं न कुज्जा न कारवे ॥ ३३ ॥

चिकित्सा रोगप्रतीकाररूपां नाभिनन्देन्नानुमन्येत, अनुमतिनिषेधाच्च दूरापास्ते करणकारणे, समीक्ष्य-स्वकर्मफलमेव तद्भुज्यत इति पर्यालोच्य। यद्वा-(संचिक्ख त्ति) "अचां संधिलोपौ बहुलम्" इत्येकारलोपे "संचिक्खे" समाधिना तिष्ठेत्, न कूजनकर्करायिनाऽऽदि कुर्यात्, आत्मान चरित्राऽऽत्मानं, गवेषयति मार्गयति-कथमय मम स्यादित्यात्मगवेषक'। किमित्येवमत आह-एतदनन्तरमभिधास्यमान, (खु त्ति) खलु, स च यस्मादर्थः, ततो यस्मादेतत्तस्य श्रमणस्य, श्रामण्य श्रमणभावो, यन्न कुर्यान्न कारयेत्। उपलक्षणत्वान्नानुमन्येत, प्रक्रमाच्चिकित्साम, जिनकल्पिकाऽऽद्यपेक्ष चैतत्। स्थविरकल्पिकापेक्षया तु 'जन्न कुज्जा' इत्यादौ सावद्यमिति गम्यते। अयमत्र भावः-यस्मात्करणाऽऽदिभि. सावद्यपरिहार एव श्रामण्यं, सावद्याच्च प्रायशश्चिकित्सा, ततस्तान् न अभिनन्देत्, एतदप्यौत्सर्गिकम्, अपवादतस्तु सावद्याऽऽप्येषामियमनुमतैव। यदुक्तम्-"काहं अछिंत्ति अदुवा अहीह, तवोविहाणेण व उज्जमिस्सं। गणं व णीती य विसारइस्स, सालबसेवी समुवेति मोक्ख ॥ १ ॥" इति सूत्रार्थ। उत्त० पाई० २ अ०। ('गिहितिगिच्छा' शब्दे तृ० भागे ८६७ पृष्ठे गृहिचिकित्सानिषेधो द्रष्टव्यः) चिकित्सा श्रीभगवत ऋषभस्योपदेशात्प्रवृत्ता। आ० म० १ अ० १ खण्ड।

तिगिच्छापिंड-चिकित्सापिण्ड-पु०। चिकित्सां वमनविरेचनवस्तिकर्माऽऽदि कारयतो वैद्यभेषजाऽऽदि सूचयतो वा पिण्डार्थं चिकित्सापिण्डः। चिकित्सया पिण्डोत्पादनम्। उत्पादनादोषभेदे, ध० ३ अधि०। आचा०।

तिगिच्छासंहिया-चिकित्सासंहिता-स्त्री०। चिकित्साशास्त्रे श्लोकस्थाननिदानशारीरचिकित्सितकल्पसंज्ञकायां मूलसंहितायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

तिगिच्छासत्थ-चिकित्साशास्त्र-न०। आयुर्वेदे, स्था० ८ ठा०।

तिगिंच्छि-पुष्परजस्-न०। "गोणाऽऽदयः" ॥ ८ । २ । १७४॥ इति पुष्परज शब्दस्य 'तिगिंच्छि' इति निपात.। प्रा० २ पाद। देशीशब्दो वा। पुष्परजसि, जं० ४ वक्ख०। ज्ञा०।

तिगिच्छिकूड–तिगिच्छिकूट–पुं० । चमरस्य उत्पातपर्वते, भ० २ श० ४ उ० । स्था० । (तद्वक्तव्यता 'चमर' शब्दे तृतीयभागे १११३ पृष्ठे उक्ता) "दो तिगिच्छिकूडा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

तिगिच्छिदह–तिगिच्छिह्रद–पुं० । तिगिच्छिः पौष्परजः, तत्प्रधानो ह्रदस्तिगिच्छिह्रदः । निषधवर्षधरपर्वतमध्ये ह्रदे, जम्बूमन्दरस्य दक्षिणे तृतीयह्रदे, जं० ।

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे तिगिच्छिदहे णामं दहे पण्णत्ते । पाईणपडीणायए, उदीणदाहिणविच्छिण्णे, चत्तारि जोअणसहस्साइं आयामेणं, दो जोअणसहस्साइं विक्खंभेणं, दस जोअणाइं उव्वेहेणं, अच्छे सण्हे रययमयकूले । तस्स णं तिगिच्छिदहस्स चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता । एवं०जाव आयामविक्खंभविहूणा जा चेव महापउमदहस्स वत्तव्वया,सा चेव तिगिच्छिदहस्स वि वत्तव्वा । तं चेव पउमदहप्पमाणं अट्ठो०जाव तिगिच्छिवण्णाइं धिइअइच्छुदेवी पलिओवमट्ठिईअ परिवसइ । से एएणट्ठेणं गोयमा ! तिगिच्छिदहे । तस्स णं तिगिच्छिदहस्स दक्खिणिल्लेणं तोरणेणं हरिमहाणई पवूढा समाणी सत्त जोअणसहस्साइं चत्तारि अ एक्कवीसे जोअणसए एगं च एगूणवीसइं भागं जोअणस्स दाहिणाभिमुही पव्वएणं गंता महया घडमुहपवित्तिएणं० जाव साइरेगं चउजोअणसइएणं पवाएणं पवडइ । एवं जा चेव हरिकंताए वत्तव्वया, सा चेव हरिए वि णेयव्वा । जिब्भियाए कुंडस्स दीवस्स भवणस्स तं चेव पमाणं, अट्ठो वि भाणिअव्वो,० जाव अहे जगइं दालइत्ता छप्पण्णाए सलिलासहस्सेहिं समग्गा पुरच्छिमं लवणसमुद्दं समप्पेइ, तं चेव पवहे अ मुहमूले अ पमाणं उव्वेहो अ जो हरिकंताए० जाव वणसंडसंपरिक्खित्ता ॥

(तस्स णमित्यादि) तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्रान्तरे महानेकः तिगिच्छिः पौष्परजः, तत्प्रधानो ह्रदस्तिगिच्छिह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः । प्राकृते पुष्परजःशब्दस्य 'तिगिच्छि' इति निपातः । देशीशब्दो वा । अन्यत्सर्वं प्रागनुसारेणेति । अथास्यातिप्रदेशसूत्रेण सोपानाऽऽदिवर्णनायाऽऽह–(तस्स णमित्यादि) तस्य तिगिच्छिह्रदस्य चतुर्दिक्षु चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि । एवमित्थं प्रकारेण ह्रदवर्णके क्रियमाणे यावच्छब्दोऽत्र कार्त्स्न्येवाच्यव्ययम्, तेन यावत्परिपूर्णैव महापद्मह्रदस्य वक्तव्यता आयामविष्कम्भविहीना, सैव तिगिच्छिह्रदस्य वक्तव्या । एतदेव व्यक्त्या आचष्टे–(तं चेव इत्यादि) तदेव महापद्मह्रदगतमेव पद्मानां धृतिदेवीकमलानां प्रमाणम्–एककोटीविंशतिलक्षपञ्चाशत्सहस्रैकशतविंशतिरूपम्,अन्यथाऽत्र पद्मानामायामविष्कम्भरूपप्रमाणस्य महापद्मह्रदगतपद्मेभ्यो द्विगुणत्वेन विरोधापातात्, ह्रदस्य च प्रमाणमुद्वेधरूपं बोध्यम्, आयामविष्कम्भयोः पृथगुक्तत्वादिति । अर्थस्तिगिच्छिह्रदस्य वाच्यः । स चैवम्–"से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–तिगिच्छिदहे तिगिच्छिदहे ? । " इत्यादिप्राक्सूत्रानुसारेण वाच्य, यावत्तिगिच्छिह्रदवर्णाभानि उत्पलाऽऽदीनि धृतिश्चात्राधिपत्यं परिपालयति । "से तेणट्ठेण" इत्यादि प्राग्वत् । जं० ४ वक्ष० ।

तिगिच्छिय–चिकित्सक–पुं० । 'कित' रोगापनयने, स्वार्थे सन्, ण्वुल् । रोगापनयनकर्तरि वैद्ये, वाच० । स्था० ९ ठा० ।

तिगिच्छी–देशी–कमलरजसि, दे० ना० ५ वर्ग १२ गाथा ।

तिगुण–त्रिगुण–न० । त्रयाणां गुणानां समाहारः । सांख्ययोक्ते प्रधाने; त्रिभिर्गुण्यते 'गुण' संख्याने; घञ् । त्रिभिर्गुणिते, त्रि० । वाच० । अनु० । जं० ।

तिगुणुक्कम–त्रिगुणोत्कम–त्रि० । त्रिगुणं त्रीन् वारान् यावदुत्प्राबल्येन कण्डनं उपटनं येषां ते त्रिगुणोत्कटकाः । त्रीन् वारान् कण्डिते, पिं० ।

तिगुत्त–त्रिगुप्त–त्रि० । निमून्निरट्टालकोच्छ्रूयकशतघ्नीसत्यानीयाऽऽदिभिर्मनोगुप्त्यादिगुप्तिभिर्गुप्तम् । मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात् समासः । उत्त० ६ अ० । मनोवाक्कायकर्मन्निर्गुप्ते, ध० २ अधि० । दश० । प० सू० । आव० । स० । गुप्ताऽऽत्मनि, स्था० ६ ठा० । तिस्रो गुप्तयो यत्र तत् त्रिगुप्तम्–मनसा सम्यक् प्रणिहितो,वाचाऽस्खलितान्यक्षराण्युच्चरन्, कायेनाऽऽवर्त्तानविराधयन् वन्दनकं करोति । प्रव० २ द्वार । दश० । मनोवाक्कायगुप्ते, अर्थात् अकुशलमनोवाक्कायप्रवृत्तिनिरोधिनि,एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायात् कुशलमनोवाक्कायोद्दीपके, आ० म० १ अ०२ खण्ड ।

तिगोण–त्रिकोण–त्रि० । त्रयः कोणा यस्य । त्रिकोटियुक्ते पदार्थे, वाच० । आ० म० ।

तिग्ग–तिग्म–न० । 'तिज्'-मग् । जस्य गः । तीक्ष्णे, तद्वति, त्रि० । वाच० । प० स० ।

तिग्घ–त्रिघ्न–न० । त्रिगुणिते, ध० २ अधि० ।

तिघरंतरिय–त्रिगृहान्तरिक–पुं० । त्रीणि गृहाणि अन्तरं भिक्षाग्रहणे येषां ते त्रिगृहान्तरिकाः । एकत्र गृहे भिक्षां गृहीत्वाऽन्याभिग्रहविशेषाद् गृहत्रयमतिक्रम्य पुनर्भिक्षां गृह्णन्ति, न निरन्तर, द्विगृहान्तरं वा । तेषु, औ० ।

तिचक्खु–त्रिचक्षुष्–पुं० । उत्पन्नज्ञानदर्शनधरे श्रमणे माहने, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

तिच्छडिय–त्रिच्छटित–त्रि० । त्रीन् वारान् छटिते,रा० । जी० ।

तिट्ठाणकरणसुद्ध–त्रिस्थानकरणशुद्ध–त्रि० । त्रीणि स्थानानि उरःप्रभृतीनि, तेषु करणेषु क्रियायां शुद्धं त्रिस्थानकरणशुद्धम् । तस्मिन्, तद्यथा–" उर शुद्धं, कण्ठशुद्धं, शिरोविशुद्धं च । तत्र यदि उरसि स्वरः स्वभूमिकानुसारेण विशालो भवति, तत उरोविशुद्धम् । स एव यदि कण्ठे वर्तितो भवति अस्फुटितश्च, ततः कण्ठविशुद्धम् । यदि पुनः शिरः प्राप्तः सन् सानुनासिको भवति, तत शिरोविशुद्धम् । यदि वा यत् उरःकण्ठशिरोभिः श्लेष्मणाऽव्याकुलितैर्विशुद्धैर्गीयते, तत उरःकण्ठशिरोविशुद्धत्वात् त्रिस्थानकरणविशुद्धम् । रा० । जं० । जी० ।

तिणइय–त्रिनयिक–न० । त्रिनयोपेते सूत्रे, यानि त्रैराशिकमतमवलम्ब्य द्रव्यास्तिकाऽऽदिनयत्रिकेण चिन्त्यन्ते । नं० ।

तिणय–त्रिनत–त्रि० । मध्यपार्श्वद्वयलक्षणस्थानत्रयेऽवनते, भ० ३ श० ६ उ० । जी० ।

तिणसूय-तृणशूक-पुं० । न० । तृणाग्रे, भ० १५ श० ।

तिणहत्थय-तृणहस्तक-न० । तृणपूलके, भ० ३ श० ३ उ० ।

तिणाम-त्रिनाम-न० । त्रिभेदे नाम्नि, तच्च-"से किं तं तिणामे ?। तिणामे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-दव्वणामे, गुणणामे, पज्जवणामे अ।" अनु० । "तं पुण णामं तिविहं. इत्थी पुरिसं णपुंसगं चेव।" अनु० । (एषां त्रयाणां प्ररूपणा 'लिंगतिय' शब्दे द्रष्टव्या)

तिणिस-तिनिश-पुं० । वृक्षविशेषे, दश० ६ अ० । जी० । नि० चू० । औ० । स्था० । ज्ञा० । मधुपटले, दे० ना० ५ वर्ग ११ गाथा ।

तिणु-तृण-न० । "स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे" ॥ ८।४।३२९ ॥ इति ऋकारस्थाने इकारोऽकारश्च भवति । तणु । तिणु । प्रा० १ पाद । नडाऽऽदौ,ग्रन्थे च । वाच० ।

तिण्ण-तीर्ण-त्रि० । अतिक्रान्ते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । पारं गते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । तीर्थकृत्सु, "तिण्णाणं तारयाणं ।" रा० । तीर्ण इव तीर्णं, संसारसागरमिति गम्यते । औ० । तीर्णवन्तीर्णं. विशुद्धसम्यग्दर्शनाऽऽदिनावाऽऽश्रयाणर्वमिति गम्यते । दश० १० अ० । विशे० । उत्त० । कल्प० । ज्ञा० । ज्ञानदर्शनचारित्रपोतेन भवार्णवं तीर्णवन्तस्तीर्णाः । ल० । सर्वभावज्ञास्तीर्णाः परमदुस्तरम् (आ० म०१ अ० १ खण्ड । स० । जी०) संसारसागर, भाविनि भूतवदुपचारात्तीर्णाः । आचा०१ श्रु० ७ अ० ६ उ० । सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रपोतेन भवार्णवं तीर्णवन्तस्तीर्णाः.,न चैषां तीर्णानां पारगतानामावर्त्तं संभवति, तदभावे मुक्त्यसिद्धेः, एवं च न मुक्तः पुनर्भवे भवतीति तीर्णत्वसिद्धिः । ध०२ अधि० । एते चाऽऽवर्त्तकालकारणवादिभिरनन्ताशिष्यैर्भावनोऽतीर्णाऽऽश्रय एवेष्यन्ते,'काल एव कृत्स्नं जगदावर्त्तयतीति' वचनात् । एतन्निराचायाऽऽह-"तीर्णेभ्य तारकेभ्य ।" ज्ञानदर्शनचारित्रपोतेन भवार्णवं तीर्णवन्तस्तीर्णाः. नैतेषां जीविताऽऽवर्त्तवद्भवावर्त्तं, निबन्धनाभावात्,न ह्यस्याऽऽयुष्कान्तरवद्भवाधिकारान्तर,तद्भावेऽत्यन्तमरणवद् मुक्त्यसिद्धेः,तदसिद्धौ च तद्भावेन भवनाभावः, हेत्वभावात्, न हि मृतस्तद्भावेन भवति, मरणभावविरोधात्, एतेन ऋत्वावर्त्तनिदर्शनं प्रत्युक्तं, न्यायानुपपत्तेः, तदावृत्तौ तदवस्थाभावेन परिणामान्तरायोगात्, अन्यथा तस्याऽऽवृत्तिरित्ययुक्तम्, तस्य तदवस्थानिबन्धनत्वात् । अन्यथा तद्धेतुकत्वोपपत्तेः, एवं न मुक्तः पुनर्भवे भवति, मुक्तत्वविरोधात्, सर्वथा भवाधिकारनिवृत्तिरेव मुक्तिरिति, तद्भावेन भावतस्तीर्णाऽऽदिसिद्धिः । (२८) ल० ।

तिण्णसंसार-तीर्णसंसार-त्रि० । लङ्घितभवोदधौ, पा० ।

तिण्हा-तृष्णा-स्त्री० । "सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः." ॥ ८। २ । ७५ ॥ इति णकाराऽऽक्रान्तो हकारः । प्रा० १ पाद । पिपासायाम्, स० ५२ सम० ।

तितिक्ख-तितिक्षु-त्रि० । तितिक्षते सहते इति तितिक्षुम् । परीषहाऽऽदीन्, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

तितिक्खण-तितिक्षण-न० । अधिसहने, स्था० ६ ठा० ।

तितिक्खमाण-तितिक्षमाण-त्रि० । अधिसहति, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

तितिक्खा-तितिक्षा-स्त्री० । सहने,सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । क्षमायाम्, उत्त० १ अ० । ज्ञा० । आचा० । क्षुदादिपरीषहोपनिपातसहिष्णुतायाम्, द्वा० २७ द्वा० । परीषहोपसर्गसहनरूपायां द्वा०तौ. सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । परीषहोपसर्गाऽऽदिदु खविशेषसहने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । परीषहभेदे, परीषहाऽऽदिजये तितिक्षा कार्या । आव० ४ अ० । क्षमा, तितिक्षा, क्रोधनिरोध इत्येकार्थाः । भा० चू० ४ अ० । उपा० । परीषहाऽऽदिजये, स० ३४ सम० ।

तितिक्षाद्वारमाह-

" इदपुरिमिंददत्ते, बावीससुआ सुरिंददत्ते अ ।
महुराए जिअसत्तू, सयवरो निव्वुइए उ ॥ १ ॥
अग्गिअए पव्वयए, बहली तह सागरे अ बोधव्वे ।
एगदिवसेण जाया, तत्थेव सुरिंददत्ते अ ' ॥ २ ॥
(कथा मनुष्यजन्मदृष्टान्तेषु द्रष्टव्या)

सुरेन्द्रदत्तकुमारस्य द्रव्यतितिक्षाभावे उपनयः-

" साधुकल्प कुमारोऽत्र, कषायाश्चाग्निकाऽऽदय. ।
द्वाविंशतिकुमारास्तु, सुदुर्दान्ता परीषहा ॥ १ ॥
रागद्वेषौ पदाती तौ, वेध्या राधाऽचितारका ।
विशिष्टाऽऽराधना ज्ञेया, सिद्धिर्निर्वृतिदारिका " ॥ २ ॥ आ० क० । आव० । भा० चू० । (' इददत्त ' शब्दे द्वितीयभागे ५३७ पृष्ठे वृत्तम्)

तित्त-तिक्त-पुं० । श्लेष्माऽऽदिदोषहन्तरि निम्बाऽऽद्याश्रिते रसविशेषे, तथा च भिषक्शास्त्रे-" श्लेष्माणमरुचिं पित्तं, तृषं कुष्ठं विषं ज्वरम् । हन्यात्तिक्तो रसो बुद्धेः,कर्ता मात्रोपसेवितः " ॥ १ ॥ अनु० । ज० । कर्म० । " एगे तित्ते । " स्था० १ ठा० । निम्बाऽऽदिवत्तिक्तरसोपेते, त्रि० । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । त० । ज्ञा० । उत्त० । प्रज्ञा० । भ० । वरुणद्रुमे कुटजे, पुं० । वाच० ।

तित्तग-तिक्तक-पुं० । तिक्त-संज्ञायां कन् । भूनिम्बे, (चिराता) चिरतिक्ते, कृष्णखदिरे,निम्बे,इङ्गुदीवृक्षे,तिक्तार्थे,वाच० । दश० । नि० चू० । पटोले, कटुतुम्ब्याम् , स्त्री० । टाप् । वाच० ।

तित्तणाम (ण्)-तिक्तनामन्-न० । रसनामभेदे, यदुदयाज्जीवशरीरं निम्बाऽऽदिवत्तिक्तं भवति । कर्म० १ कर्म० ।

तित्तरसणाम-तिक्तरसनाम-न० । रसनामभेदे, यदुदयवशाज्जन्तुशरीरेषु तिक्तो रसो भवति । यथा निम्बाऽऽदीनां तत्तिक्तरसनाम । प० स० ३ द्वार । कर्म० ।

तित्तऽलाउय-तिक्तालाबुक-स्त्री० । कटुकतुम्बके, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

तित्तविसारण-तिक्तविसारण-न० । उज्जयन्तपर्वताऽऽसन्ने स्थलविशेषे, "गिरिवरमासन्नठिअं, भणीय तित्तविसारणं नाम । सिलवट्टगाढपीठे, वे हक्खा तत्थ दस्साण ॥१॥" ती०३ कल्प ।

तित्ति--तृप्ति -स्त्री० । घ्राणौ, विशे० । प्रश्न० । अष्ट० ।

पीत्वा ज्ञानामृतं भुक्त्वा, क्रियासुरलताफलम् ।
साम्यताम्बूलमासाद्य, तृप्तिं याति परां मुनिः ॥१॥
स्वगुणैरेव तृप्तिश्चे-दाकालमविनश्वरी ।
ज्ञानिनो विषयैः किं तै-र्यैर्भवेत् तृप्तिरित्वरी ॥२॥
या शान्तैकरसाऽऽस्वादा-द्भवेत्तृप्तिरतीन्द्रिया ।

सा न जिह्वेन्द्रियद्वारा, षड्रसाऽऽस्वादनादपि ॥३॥
संसारे स्वप्नवन्मिथ्या, तृप्तिः स्यादाभिमानिकी ।
तथ्या तु भ्रान्तिशून्यस्य, साऽऽत्मवीर्यविपाककृत् ॥४॥
पुद्गलैः पुद्गलास्तृप्तिं, यान्त्यात्मा पुनरात्मना ।
परतृप्तिसमारोपो, ज्ञानिनस्तन्न युज्यते ॥५॥
मधुराऽऽज्यमहाशाका-ग्राह्येऽशाह्ये च गोरसात् ।
परब्रह्मणि तृप्तिर्या, जनास्तां जानतेऽपि न ॥६॥
विषयोर्मिविषोद्गारः, स्यादतृप्तस्य पुद्गलैः ।
ज्ञानतृप्तस्य तु ध्यान-सुधोद्गारपरम्परा ॥७॥
सुखिनो विषयाऽतृप्ताः, नेन्द्रोपेन्द्राऽऽदयोऽप्यहो ! ।
भिक्षुरेकः सुखी लोके, ज्ञानतृप्तो निरञ्जनः ॥८॥
अष्ट० १० अष्ट० ।

तित्तिअ-तावत्-अव्य० । तत्परिमाणमस्य । त्रि० । वाच० ।
" यत्तदेतदोतोरित्तिअ एतल्लुक् च " ॥ ८ । २ । १५६ ॥ इति
तच्छब्दात् परस्य यावादेरतो. परिमाणार्थस्य 'इत्तिअ' इ-
त्यादेशो भवति । प्रा० २ पाद । साकल्ये, अवधौ, तत्परिमा-
णवति, त्रि० ।

तित्तिकंखि (ण्)-तृप्तिकाङ्क्षिन्-त्रि० । तृप्तिवाञ्छके, अष्ट०
६ अष्ट० ।

तित्तिर-तित्तिरि-पुं० । " तित्तिरौ रः " ॥ ८ । १ । ९० ॥ इति
तित्तिरशब्दे रस्येतोऽद्भवति । प्रा० १ पाद । पक्षिविशेषे, सूत्र०
२ श्रु० २ अ० । प्रश्न० । उपा० । प्रज्ञा० ।

तित्तिरकरण-तित्तिरिकरण-न० । तित्तिरिमुद्दिश्य यत्र कि-
ञ्चित्क्रियते तथा यत्र स्थाप्यते एवंभूते स्थाने, आचा० ।

तित्तिरलक्खण-तित्तिरिलक्षण-न० । तित्तिरिस्वरूपप्रतिपाद-
के ग्रन्थविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

तित्ती-देशी-सारे, दे० ना० ५ वर्ग ११ गाथा ।

तित्थ-तीर्थ-न० । तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम् । द्रव्यतो नद्यादीनां
समोऽनपायश्च भूभागो, भावतोऽऽदिप्रवचन वा । भावतीर्थं तु
सङ्घः । स्था० १ ठा० । आ० म० । आ० ।

अथ तीर्थशब्दार्थमाह-

तित्थं ति पुव्वभणियं, संघो जो नाणचरणसंघाओ ।
इह पवयणं पि तित्थं, तत्तोऽणत्थंतरं जेण ॥ १३८० ॥

तीर्यतेऽनेनेति तीर्थं पूर्वमेवाप्युक्तम् । किमित्याह-सङ्घ ।
किंविशिष्टः ?, ज्ञानदर्शनचारित्रगुणसङ्घात । इह तु प्रवचनमपि
तीर्थमुच्यते यस्मात्, तत. सङ्घातात्तदपि श्रुतज्ञानरूपत्वादन-
र्थान्तरमेवेति ॥ १३८० ॥ विशे० ।

सम्प्रति तीर्थनिरूपणायाऽऽह-

नामं ठवणा-तित्थं, दव्वतित्थं चेव भावतित्थं च ।
एक्केकं पि य एत्तो-ऽणेगविहं होइ नायव्वं ॥

(नाम ति) नामतीर्थं, स्थापनातीर्थं, द्रव्यतीर्थं, भावतीर्थं
च । (एत्तो त्ति) नामाऽऽदिनिक्षेपमात्रकरणादनन्तरमेकैकं नाम-
तीर्थाऽऽदि अनेकविधं भवति ज्ञातव्यम् । तत्र नामतीर्थमनेक-
विधं, जीवाजीवविषयाऽऽदिभेदात् । स्थापनातीर्थं साकारा-
नाकारभेदात् । द्रव्यतीर्थमागमाऽऽदिभेदात् ।

तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरतीर्थप्रतिपादनार्थमाह-

दाहोवसमं तण्हा-वुच्छेयण मलपवाहणं चेव ।
तिहिँ अत्थेहिँ निजुत्तं, तम्हा तं दव्वतो तित्थं ॥

इह ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं आगमतो नोआगमतो वा
द्रव्यतीर्थं मागधवरदामाऽऽदि परिगृह्यते, बाह्यदाहाऽऽदेरेव तत
उपशमसद्भावात् । तथा चाऽऽह-दाहोपशममिति । दाहो बाह्यः
संतापः,तस्य उपशमो यस्मिन् तद् दाहोपशमम् । (तण्हावुच्छे-
यण त्ति) तृष. पिपासाया. छेदन, जलसंघातेन तदपनयात्,
तथा मलो बाह्योऽङ्गसमुत्थ., तस्य प्रवाहण-प्रवाह्यतेऽनेनेति
प्रवाहणं,जलेन तस्य प्रक्षालनत्वात् । एवं त्रिभिरर्थैः करणभूतै-
र्नियुक्तं निश्चयेन युक्तं प्ररूपितम् । यदि वा-प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे
तृतीया । त्रिष्वर्थेषु नियोजनं यस्माद् बाह्यदाहाऽऽदिविषयमेव
तस्मात् मागधाऽऽदि द्रव्यतस्तीर्थं, मोक्षसाधकत्वाभावात् ।

सम्प्रति भावतीर्थमधिकृत्याऽऽह-

कोहम्मि उ निग्गहिए, दाहस्सोवसमणं हवइ तत्थं ।
लोहम्मि उ निग्गहिते, तण्हाए छेयणं होइ ॥
अट्ठविहं कम्मरयं, बहुएहिँ भवेहिँ संचियं जम्हा ।
तवसंजमेण धुव्वइ, तम्हा तं भावतो तित्थं ॥

इह भावतीर्थमपि आगमनोआगमभेदतोऽनेकप्रकारं, तत्र नो
आगमतो भावतीर्थं क्रोधाऽऽदिनिग्रहसमर्थं प्रवचनमेव गृह्यते ।
तथा चाऽऽह-क्रोधे एव निगृहीते दाहस्य द्वेषानलजातस्या-
न्त प्रशमन भवति तत्त्व निरुपचरित,नान्यथा । तथा लोभ एव
निगृहीते (तण्हाए छेयण होति त्ति) तृषोऽभिष्वङ्गलक्षण-
स्य छेदन व्यपगमो भवति । तथाऽष्टविधमष्टप्रकार कर्मैव
जीवाना रञ्जनात् कर्मरजः, बहुभिर्भवै. सचित तपःसयमेन
धाव्यते शोध्यते यस्मात्तस्मात्तत्प्रवचन भावतीर्थम् ।

दंसणनाणचरित्त-म्मि निउत्तं जिणवरेहिँ सव्वेहिँ ।
एएण होइ तित्थं, एसो अण्णो वि पज्जाओ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रेषु नियुक्तं नियोजितं सर्वैः ऋषभाऽऽदि-
भि.,जिनवरैस्तीर्थकृद्भिर्यस्मादित्थभूतेषु त्रिष्वर्थेषु नियुक्त त-
स्मात्तत्प्रवचन भावतीर्थम् । अथवा-येन कारणेनेत्थभूतेषु त्रि-
ष्वर्थेषु नियुक्तमेतेन कारणेन प्रवचन भावतस्त्रिस्थम्,एष त्रिस्थ-
लक्षणस्तीर्थशब्दापेक्षयाऽन्य· पर्याय । आ० म० द्वि० २ अ० ।

अथ तीर्थशब्दार्थमाह-

तिज्जइ जं तेण तहिं, तओ व तित्थं तयं च दव्वम्मि ।
सरियाईणं भागो, निरवायो तम्मि य पसिद्धे ॥१०२६॥
तरिया तरणं तरिय-व्वं च सिद्धाणि तारओ पुरिसो ।
बाहोसुवाइ तरणं, तरणिज्जं निन्नयाईयं ॥ १०२७ ॥

यद् यस्मात्तीर्यते दुस्तर वस्तु तेन तस्मिंस्ततो वेत्यतस्तीर्थमुच्य-
ते । तच्च नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्विधम् । तत्र नामस्थापने
सुगमे । द्रव्ये द्रव्यभूतमप्रधानभूत सरितसमुद्राऽऽदीनां निरपा-
य. कोऽपि नियतो भाग प्रदेशस्तीर्थमुच्यते । तस्मिंश्च प्र-
सिद्धे सिद्धे सत्यस्याऽऽपेक्षिकशब्दस्यादेतानि नियमात्सिध्यन्ति ।

कानि ?, इत्याह-तरिता पुरुषः, तरणं बाहूडुपाऽऽदि, तरणीयं तु निम्नगाऽऽदिकमिति ॥ १०२७ ॥

कथं पुनरिदं द्रव्यतीर्थमित्याह-

देहाइतारयं जं, बज्झमलावणयणाइमत्तं च ।
णेगंताऽणच्चंतिय-फलं च तो दव्वतित्थं तं ॥ १०२८ ॥

यस्मादिदं देहाऽऽदिकमेव द्रव्यमात्रं तारयति-नद्यादिपरकूलमात्रं नयति, न पुनर्जीवं संसारसमुद्रस्य मोक्षलक्षणं परकूलं प्रापयति अतोऽप्रधानत्वाद् द्रव्यतीर्थम् । तथा बाह्यमेव मलाऽऽदिद्रव्यमात्रमपनयति, न त्वन्तरङ्गं प्राणातिपाताऽऽदिजन्यकर्ममलम् । तथा-अनैकान्तिकफलमेवेदं नद्यादितीर्थं, कदाचिदनन नद्यादेस्तरणात्, कदाचित्तु नैव मज्जनात् । तथाऽनात्यन्तिकफलं चेदम् । तथाहि-एकदाऽनेन तीर्णमपि नद्यादिकं पुनरपि च तीर्यत इत्यनात्यन्तिकफलत्वम् । आत्मना चाऽस्य नद्यादितीर्थस्य द्रव्यमात्रत्वेनाप्रधानत्वात् सर्वत्र द्रव्यतीर्थत्वं भावनीयमिति ॥ १०२८ ॥

इह केषाञ्चिन्मतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

इह ताणाऽऽइफलत्थं, ति ण्हाणपाणाऽवगाहणाऽऽईहिं ।
भवतारय त्ति केई, तं नो जीवोवघायाओ ॥ १०२९ ॥
सूणंगं पि व तमुदू-हलं व न य पुण्णकारणं ण्हाणं ।
ण य जइजोग्गं न म-मणं व कामंगभावाओ ॥१०३०॥

इह केचित्तीर्थिका मन्यन्ते-नद्यादेः सर्वमिदं द्रव्यतीर्थं किल स्नानपानावगाहनाऽऽदिभिर्विविधैस्तदा सेव्यमानं भवतारकं संसारमहामकराऽऽलयप्रापकं भवत्येव । कुतः ?, तारणाऽऽदिफलमिति कृत्वा-शरीरस्नानारण-मलक्षालन-तृड्व्यवच्छेद-दाहोपशमाऽऽदिफलत्वादित्यर्थः । अनेन चाध्यक्षसमीक्षितदेहतारणाऽऽदिफलेन परोक्षस्यापि संसारतारणफलस्यानुमीयमानत्वादिति भावः । तदेतन्नोपपद्यते, स्नानाऽऽदेर्जीवोपघातहेतुत्वात्, पशुगसिद्धेः शूलाऽऽदिवदिति । एतदुक्तं भवति-जीवोपघातहेतुत्वाद् दुर्गतिफला एव स्नानाऽऽदयः, कथं नु भवतारकास्ते भवेयुः, सूनाघट्टचुल्ल्यादीनामपि भवतारकत्वप्रसङ्गादिति ? । इतश्च-नद्यादि तीर्थं भवतारकं न भवति, सूनाङ्गत्वात्-सूनाप्रकारत्वात्, उदूखलाऽऽदिवदिति । न च पुण्यकारणं स्नानं, नापि यतिजनयोग्यं तत्, कामाङ्गत्वात्, मण्डनवत् अन्यथा ताम्बूलभक्षणपुष्पबन्धनदेहाऽऽदिधूपनाभ्यञ्जनाऽऽदयोऽपि च भुजङ्गाऽऽदीनां पुण्यहेतव स्युः । न च देहतारणाऽऽदिमात्रफलदर्शनेन विशिष्टं भवतारणाऽऽदिकं फलमुपपद्यते, नियामकाभावात्, प्रत्यक्षवीक्षितप्राण्युपमर्दबाधितत्वाच्च, इत्याद्यभ्यूह्य स्वधियाऽत्र दोषजालमभिधानीयमिति ॥ १०२९ ॥ १०३० ॥

अथ परो ब्रूयात्किमित्याह-

देहोवगारि वा ते-ण तित्थमिह दाहनासणाऽऽईहिं ।
महुमज्जमंसवेसाऽऽ-दओ वि तो तित्थमावन्नं ॥१०३१॥

यदि परो मन्येत—जाह्नवीजलाऽऽदिकं तीर्थमेव, दाहनाशपिपासोपशमाऽऽदिभिर्देहोपकारित्वात् । अत्रोच्यते-एवं सति ततो मधुमद्यमांसवेश्याऽऽदयोऽपि तीर्थमापद्यन्ते, तेषामपि देहोपकारित्वाविशेषादिति । उक्तं द्रव्यतीर्थम् ॥ १०३१ ॥

अथ भावतीर्थमाह-

भावे तित्थं संघो, सुयविहियं तारओ तहिं साहू ।
नाणाऽऽइतियं तरणं, तरियव्वं भवसमुद्दोऽयं ॥१०३२॥

भावे भावविषयं, श्रुतविहितं श्रुतप्रतिपादितं, संघस्तीर्थं, तथा च भगवत्यामुक्तम्-"तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थयरे तित्थं ? । गोयमा ! अरहा ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउवण्णो समणसंघो ।" इति । इह च तीर्थसिद्धौ तारकाऽऽदयो नियमादाक्षिप्यन्त एव । ततेह संघे तीर्थे तद्विशेषभूत एव तारकः साधुः, ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकं पुनस्तरणं, तरणीयं तु भवसमुद्रः । इह च तीर्थतारकाऽऽदीनां परस्परतोऽन्यता, अनन्यता च विवक्षावशतो बोद्धव्या । तत्र सम्यग्दर्शनाऽऽदिपरिणामाऽऽत्मकत्वात् संघः तीर्थं, तत्रावतीर्णानामवश्यं भवोदधितरणात् । तद्विशेषभूतत्वात् तदन्तर्गत एव साधुस्तारकः, सम्यग्दर्शनाऽऽद्यनुष्ठानात् साधकतमत्वेन तत्करणरूपतामापन्नं ज्ञानाऽऽदित्रयं तु तरणम् । तरणीयं त्वौदयिकाऽऽदिभावपरिणामाऽऽत्मकः संसारसमुद्र इति ॥ १०३२ ॥

कस्मात् पुनः संघो भावतीर्थमित्याह-

जं नाणदंसणचरि-त्तभावओ तव्विवक्खभावाओ ।
भवभावओ य तारे-इ तेण तं भावओ तित्थं ॥१०३३॥

यद् यस्मात्तारयति पारं प्रापयति तेन तत् संघलक्षणं भावतस्तीर्थमिति संबन्धः । कुतस्तारयतीत्याह-तद्विपक्षभावादिति-तेषां ज्ञानदर्शनचारित्राणां विपक्षो-अज्ञानमिथ्यात्वाऽविरमणानि तद्विपक्षः, तल्लक्षणो भावो जीवपरिणामः तद्विपक्षभावः, तस्मात्तारयति । कुतः ?, इत्याह—ज्ञानदर्शनचारित्रभावतः ज्ञानाऽऽद्यात्मकत्वादित्यर्थः । यो हि ज्ञानाऽऽद्यात्मको भवति सोऽज्ञानाऽऽदिभावात्परं तारयत्येवेति भावः । न केवलमज्ञानाऽऽदिभावात्तारयति । तथा भवभावतश्च तारयति, भवः संसारस्तत्र भवनं भावस्तस्मादित्यर्थः । यस्मात्स्वयं ज्ञानाऽऽदिभावाऽऽत्मकः, तथाऽज्ञानाऽऽदिभावाद्भवभावाच्च भव्यांस्तारयति, तस्मादसौ संघो भावतीर्थमितीह तात्पर्यम् ।

उक्तं च-

"रागाऽऽद्यम्भः प्रमादव्यसनशतचलद्दीर्घकल्लोलमालः,
क्रोधेर्ष्यावाडवाग्निर्मृतिजननमहानक्रचक्रौघरौद्रः ।
तृष्णापातालकुम्भो भवजलधिरयं तीर्यते येन तूर्णं,
तद् ज्ञानाऽऽदिस्वभावं कथितमिह सुरेन्द्रार्चितैर्भावतीर्थम् ॥१॥"
इति ॥ १०३३ ॥

उपपत्त्यन्तरमाह-

तह कोहलोहकम्मम-यदाहतण्हामलावणयणाइं ।
एगंतेणऽच्चंतं, च कुणइ सुद्धिं भवोघाओ ॥१०३४॥

तथा क्रोधश्च, लोभश्च, कर्म च, तन्मयास्तत्स्वरूपा यथासंख्यं ये दाहतृष्णामलाः । क्रोधो हि जीवानां मनःशरीरसंसारसंतापजनकत्वाद्दाहः, लोभस्तु विभवविषयपिपासाऽऽदिभावकत्वात् तृष्णा, कर्म पुनः पयनोद्भूतश्लक्ष्णरजोवत्सर्वतोऽवगुण्ठनेन मालिन्यहेतुत्वाद् मलः, अतस्तेषां क्रोधलोभकर्ममयानां दाहतृष्णामलानां यदेकान्तेनात्यन्तं चापनयनानि करोति, तथा कर्मकचवरमलिनाद्भवौघात् संसारापारनीरप्रवाहाद्यत् परकूलं नीत्वा शुद्धिं कर्ममलापनयनलक्षणां यतः करोति, तेन तत्संघलक्षणं भावतस्तीर्थमिति पूर्वसम्बन्धः । अपरमपि नद्यादितीर्थं तुच्छानैकान्तिकानात्यन्तिकदाहतृष्णामलाप-

मयनं त्रिस्थाति। पतत्तु संघतीर्थमनादिकालालीनत्वेनानन्तानां दाहतृष्णामलानामैकान्तिकमात्यन्तिकं चापनयनं करोति, अतः प्रधानत्वाद्भावतीर्थमुच्यते, नद्यादितीर्थं त्वप्रधानत्वाद् द्रव्यतीर्थमिति भावः ॥ १०३४ ॥

अथवा प्राकृते "तित्थ" इत्युक्ते त्रिस्थमित्येतदपि लभ्यते, इत्येतदाह-

दाहोवसमाऽऽइसु वा, जं तिसु थियमहव दंसणाऽऽईसु ।
तो तित्थं संघोच्चिय, उभयं व विसेसणविसेस्सं ॥१०३५॥

अथवा यद्यस्मात्क्रोधदाहोपशमतृष्णाव्च्छेदमलक्षालनरूपेषु, यदि वा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणेषु त्रिष्वर्थेषु स्थितं ततस्त्रिस्थ संघ एव, उभयं वा संघस्त्रिस्थितिलक्षणविशेषणविशेष्यरूप रूपं त्रिस्थम् । इदमुक्तं भवति-किं त्रिस्थ ?-संघ, कश्च संघः ?-त्रिस्थ, नान्य ,इत्येवं विशेषणविशेष्ययोरुभयं सङ्गलितं त्रिस्थमुच्यत इति ॥ १०३५ ॥

अथवा प्राकृते'तित्थं' इत्युक्ते ऽयर्थमित्यपि लभ्यते, इत्येतद्वर्शयन्नाह-

कोहग्गिदाहसमणा-दओ व ते चेव जस्स तिण्णऽत्था ।
होइ तियत्थ तित्थं, तमत्थसद्दो फलत्थोऽयं ॥ १०३६ ॥

क्रोधाग्निदाहोपशमलोभतृष्णाव्यवच्छेदकर्ममलक्षालनलक्षणास्त एवानन्तरोक्तास्त्रयोऽर्थाः फलरूपा यस्य तत्त्र्यर्थं, तच्च संघ एव, तदव्यतिरिक्त ज्ञानाऽऽदित्रय वा त्र्यर्थं प्राकृते तित्थमुच्यते । अर्थशब्दश्चायं फलार्थो मन्तव्य.। इदमुक्तं भवति-भगवान् संघः, तदव्यतिरिक्तज्ञानाऽऽदित्रयं वा महातरुरिव भव्यैर्निषेव्यमाणं क्रोधाग्निदाहशमनाऽऽदिकाल्लीनर्थान् फलत्यतस्त्र्यर्थमुच्यत इति ॥ १०३६ ॥

अथवा वस्तुपर्यायोऽत्रार्थशब्द इत्याह-

अहवा सम्मद्दंसण-नाणचरित्ताइ तिण्णि जस्सऽत्था ।
तं तित्थं पुव्वोइय-मिह अत्थो वत्थुपज्जाओ ॥१०३७॥

अथवा सम्यग्दर्शनाऽऽदयस्त्रयोऽर्थाः यस्य तत्त्र्यर्थम्,अर्थशब्दश्चात्र वस्तुपर्याय,त्रिवस्तुकमित्यर्थ.। तच्च संघ एव,तदव्यतिरिक्तत्वात्, त एव वा सम्यग्दर्शनाऽऽदयस्त्रयोऽर्थाः समाहृताः त्र्यर्थं, संघपापूर्वत्वात्, स्वार्थत्वाच्च द्विगोरिति ॥ १०३७ ॥

तदेवं संघो भावतस्तीर्थं, त्रिस्थं, त्र्यर्थं चेति प्रतिपाद्य साम्प्रतमिदमेव जैनं तीर्थमभिप्रेतार्थसाधकं, नान्यदिति प्रमाणतः प्रतिपादयन्नाह-

इह सम्मसद्धाणो-वलद्धिकिरियासभावओ जइणं ।
तित्थमभिप्पेयफलं, सम्मपरिच्छेयकिरिय व्व ॥ १०३८॥

इह जैनमेव तीर्थमभिप्रेतार्थसाधकमिति प्रतिज्ञा, सम्यक्श्रद्धानोपलब्धिक्रियास्वभावत्वात्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मकत्वादित्यर्थः । इह यत् सम्यक्श्रद्धानोपलब्धिक्रियाऽऽत्मकं तदिष्टार्थसाधकं दृष्टं, यथा सम्यग्परिच्छेदवती रोगापनयनक्रिया, यच्चेष्टार्थसाधकं न भवति, तत् सम्यक्श्रद्धानोपलब्धिक्रियाऽऽत्मकमपि न भवति, यथोन्मत्तप्रयुक्तक्रिया, तथा च शेषतीर्थानि । इदमुक्तं भवति-यथा कस्यचिन्निपुणवैद्यस्य सम्यग् रोगाऽऽदिस्वरूप विज्ञाय विशुद्धश्रद्धानवत् आतुरस्य सम्यगौषधप्रयोगाऽऽदिक्रियां कुर्वतोऽभिमेतार्थसिद्धिर्जायते, एवं जैनतीर्थोपवर्तीति ॥ १०३८ ॥

अन्यतीर्थान्यप्येवंविधानि भविष्यन्ति ?, नेत्याह-

नाभिप्पेयफलाइं, तयंगाविरयत्तओ कुतित्थाइं ।
वियलनयत्तणओ च्चिय, वियलाइं वियलकिरिय व्व ।१०३९॥

सुगताऽऽदिप्रणीतानि कुतीर्थानि नाभिप्रेतफलानि।कुत ?,इत्याह-(नयेत्यादि)तस्याभिप्रेतार्थस्याङ्गानि तदङ्गानि सम्यग्ज्ञानाऽऽदीनि कारणानि, तद्विकलत्वात्तदङ्गरहितत्वात्,नयविकलत्वाच्च विकलानि तानि। सर्वैरेव ह्येकैकांशग्राहिभिर्नयैर्मिलितैः सम्पूर्णमनन्तधर्माऽऽत्मकं वस्तु निश्चीयते; शेषतीर्थानि त्वेकद्वयादिनयमात्रमताश्रितत्वेन समग्रनयविकलान्यैवेति तानि नयविकलानि, ततो न सम्पूर्णाभिप्रेतफलस्य साधकानीत्यर्थं ; विकलक्रियावदिति, यथा भिषक्प्रतीचारकाऽऽतुरौषधाऽऽद्यन्यतराङ्गविकला क्रिया न सम्पूर्णाऽभिप्रेतफलसाधनी, तथा कुतीर्थान्यपीति । तदेवं यथोक्तप्रकारेण द्रव्यभावतीर्थप्ररूपणा कृता ॥ १०३९ ॥

अथ प्रकारान्तरेण तत्प्ररूपणां कर्तुमाह-

अहव सुहोतारुत्ता-रणाइ दव्वे चउव्विहं तित्थं ।
एवं चिय भावम्मि वि, तत्थाऽऽइमयं सरक्खाणं।१०४०।
तच्चणियाणं बीयं, विसयसुहकुमत्थभावणाधणियं ।
तइयं च बोडियाणं, चरिमं जइणं सिवफलं तु ॥१०४१॥

इह द्रव्यतीर्थे चत्वारो भङ्गाः । तद्यथा-सुखावतार सुखोत्तारम्, सुखावतार दुरुत्तारम्, दु.खावतारं सुखोत्तारम्, दु.खावतार दुरुत्तारम् ।४। एव भावतीर्थेऽपीय चतुर्भङ्गी द्रष्टव्या। इह च यत्र सुखेनैवावतरन्ति प्रविशन्ति प्राणिनस्तत्सुखावतारम्, सुखेनैव यत उत्तरन्ति -सुखेनैव यद् मुञ्चन्तीत्यर्थ., तत्सुखोत्तारम्; इत्याद्यभङ्गवर्तितीर्थभावार्थ । एवमन्यत्रापि । एतच्च सरजस्कानां शैवानां सम्बन्धि वेदितव्यम् । तथाहि-रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गमनोवाक्कायजयाऽऽदिलक्षणस्य तथाविधदुष्करकष्टानुष्ठानस्य तै. क्रियमाणस्यादर्शनात्, यथा कथञ्चित्स्वरूपतयाऽपि च तैर्व्रतपरिपालनस्याभिधानात्सुखेनैव प्राणिनस्तद्दीक्षां प्रतिपद्यन्ते, इति तत्तीर्थस्य सुखावतारता । तच्छास्त्रेषु च न तथाविधाऽऽवासकस्वभावा काचिन्निपुणा युक्तिरस्ति, यद्वासितान्तरात्मा पुमांस्तद्दीक्षां न परित्यजेत् । किं च-" शैवो द्वादश वर्षाणि, व्रतं कृत्वा ततः परम् । बद्धशकस्त्यजेद्वापि, याग कृत्वा व्रतेश्वरे ॥१॥" इत्यादिना दीक्षात्यागस्य तैर्निर्दोषतयाऽभ्यभिधानात्सुखेनैव तद्दीक्षां जन्तवः परित्यजन्ति, इति तत्तीर्थस्य सुखोत्तारतेति १। द्वितीयभङ्गवर्ति तीर्थं (तच्चणियाणं ति) सुगतानां संबन्धि मन्तव्यम्।

तथाहि-

" मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया,
भक्तं मध्ये पानकं चाऽपराह्णे ।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे,
मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥ १ ॥ "
" मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणाऽऽसणं ।
मणुण्णंसि अगारंसि, मणुण्णं झायए मुणी ॥ १ ॥ "

इत्यादिभिस्तैरभिधानतो विषयसुखासिक्तैस्तत्तीर्थस्य सुखावतारता। तथा-कुशास्त्रोक्तनिपुणयुक्तिभिस्तीव्रवासनोत्पादात्,ब्रतत्यागे च तैर्महत ससारदण्डाऽऽदे प्रतिपादनात्, तत्सम्बिपगृहीतमतस्य दुष्परित्याज्यत्वात्तत्तीर्थस्य दुरुत्तारता।इमां च युक्तिं भाष्यकारः स्वयमेव किञ्चिदाह-"विसयसुह" इत्यादि गतार्थेव २।

दुःखावतारं सुखोत्तारमिति तृतीय बोटिकानां दिगम्बराणा-म । तत्र नाम्न्यादेर्लज्जाऽऽदिहेतुत्वेन दुरध्यवसेयत्वात्तत्तीर्थस्य दुःखावतारता । अनेषणीयपरिभोगकषायबाहुल्याऽऽदेस्तद-भमञ्जसदर्शनात्, नाम्न्यादेश्चातिश्लाघनीयत्वेन तत्परान्नमानां तत्तीर्थस्य सुखोत्तारतेति ३ । दुःखावतार दुरुत्तारमिति चरम चतुर्थं मोक्षफलम् । जैनाना साधूना रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहो-पसर्गाऽऽदिजयस्य, तथाऽप्रमत्ततया समितिगुप्तिशिरोलुञ्चना-ऽऽदिकष्टाऽनुष्ठानस्य दर्शनात् तत्तीर्थस्य दुःखावतारता । सुश्लोकनिपुणयुक्तिभिस्तीव्रनरवासनोत्पादनात्, प्रतत्त्यागे चाति महत, संसाराऽऽदिवरस्याभिधानात्तत्तीर्थस्य दुरुत्तारता ।४। अन्ये तु सुखोत्तारतां दुरुत्तारतां च सर्वत्र मुक्तिप्राप्तिमाश्रित्य व्याचक्षते, तत्र सरजस्कानां स्वल्पेनैवेश्वरोक्तानुष्ठानेन किल मुक्तिप्राप्त्यभ्युपगमात्सुखोत्तार तीर्थं, सुखेनैवास्माद्भवार्णवमुत्त-रन्तीति व्युत्पत्ते । शाक्याना तु दुरवापविशिष्टध्यानमार्गाद् योगिज्ञानोत्पत्त्यादिक्रमेण मुक्तिप्राप्त्यभ्युपगमाद् दुःखोत्तारता । दुःखेनास्मात्ससारमुत्तरन्ति' इति कृत्वा । बोटिकानां तु भि-क्षाशुद्ध्यादीना गौणत्वेनाभ्युपगमान्नाम्न्यलक्षणनिर्ग्रन्थत्वमात्रा-देव मुक्त्यभ्युपगमात्सुखोत्तारता । साधूनां तु पूर्वोक्तकष्टानु-ष्ठानाद् मुक्त्याश्रयणाद् दुरुत्तारता । भवतारपक्षे तु सर्वत्र पूर्वोक्तैव भावना; इत्यल विस्तरेणेति ॥ १०४० ॥ १०४१ ॥

अत्र प्रेरक प्राऽऽह-

नणु जं सुहावयारं, सुक्खोत्तारं च तं दुरहिगम्मं ।
लोयम्मि पूइय जं, सुहावयारं सुहुत्तारं ॥ १०४२ ॥

ननु यद् दुःखावतार च दुरुत्तार च तीर्थं तद् दुरधिगम्यम्, एवभूतं च जैनतीर्थं भवद्भि प्रतिपादितम् । एतच्चायुक्तम्, एवं भूततीर्थस्य तरणक्रियाविघानित्वेनाभिप्रेतार्थप्रसाधकत्वात्, लोकप्रतीतिबाधितत्वाच्च । तथा चाऽऽह-लोके हि यत्सुखावतार सुखोत्तार च तीर्थं, तत्पूजित तदेवोपादेयम्, तरणक्रियाऽनुकूल्येनेष्टार्थप्रसाधकत्वात् । तस्मात् प्रथम एव भङ्ग श्रेयान्, इति प्रेरकाऽभिप्राय इति ॥ १०४२ ॥

अत्रोत्तरमाह-

एवं तु दव्वतित्थं, भावे दुक्ख हियं लभइ जीवो ।
मिच्छत्तऽणाणऽविरई-विसयसुहभावणाणुगओ ॥ १०४३ ॥
पडिवक्खो पुण कम्मा-णुभावओ भावओ परमसुक्खं ।
किह मोच्छिइ जाणतो, परमहियं दुल्लहं च पुणो ॥ १०४४ ॥

सत्यम्, द्रव्यतीर्थमेवमेवेष्यते यथैव त्व ब्रूषे, तस्य सुखप्राप्यत्वा-त्, सुखेनैव च मुच्यमानत्वादिति । भावतीर्थे तु नैवम्, तस्य मोक्षहेतुत्वेन जीवाना परमहितत्वात् । यच्च मोक्षहेतुत्वेन हित तद् दुःख लभते जीव-महता कष्टेन तज्जीव प्राप्नोतीत्यर्थः । कथभूतो यस्मादेष जीव ?, इत्याह-(मिच्छत्त इत्यादि) यस्मादनादिकालालीनमिथ्यात्वाज्ञानाविरतिविषयसुखभावनाऽनुगतो जीवः, तस्मादित्थभूतस्य जीवस्यानन्तससारदु खव्यवच्छेदहे-तुत्वाद्भि मीमनि श्रेयसावाप्तिनिबन्धनत्वाच्च परमहित भाव-तीर्थमतिदुरवापत्वात् पूर्वोक्तकष्टानुष्ठानयुक्तत्वाच्च दुःखावतारम्, तथा-दुरुत्तार च । कुत ?, इत्याह-(पडिवक्खो इत्यादि) शुभकर्मपरिणत्यनुभावत पुन कथमपि परमशुद्ध भावतीर्थं भावत परमार्थत प्रतिपन्नो जीव ' परमहित दुर्लभ च पुनरपि ' एतज्जानन्नपि कथ नु नाम तन्मोक्ष्यति ?-कथ तत उत्तरिष्यति ?, न कथञ्चिदित्यर्थः । अतो दुरुत्तारता तस्येति । किञ्च-सद्वैद्यप्रयुक्तकर्कशक्रियोदाहरणतश्च भावतीर्थस्य दुःखावतारोत्तारता भावनीया ॥ १०४३ ॥ १०४४ ॥

कथम् ?, इत्याह-

अइकक्खमं व किरियं, रोगी दुक्खं पवज्जए पढमं ।
पडिवक्खो रोगक्खय-मिच्छंतो मुंचए दुक्खं ॥ १०४५ ॥
इय कम्मवाहिगहिओ, संजमकिरियं पवज्जए दुक्खं ।
पडिवक्खो कम्मक्खय-मिच्छंतो मुंचए दुक्खं ॥ १०४६ ॥

गाथाद्वयमपि सुबोधम् ॥ १०४५ ॥ १०४६ ॥ विशे० । (जम्बूद्वीपतीर्थवक्तव्यता 'जंबूदीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३७४ पृष्ठे गता)

तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थगरे तित्थं ? । गोयमा ! अरहा ताव णियमा तित्थगरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णाइण्णे समण-संघे । तं जहा-समणा, समणीओ, सावया, साविआओ य ।

(तित्थ भंते ! इत्यादि) तीर्थं सङ्घरूपं भदन्त ! (तित्थ ति) तीर्थशब्दवाच्यम्, उत तीर्थकरस्तीर्थं तीर्थशब्दवाच्यम् ?, इति प्रश्नः । अत्रोत्तरम्-अर्हन् तीर्थकरस्तावत्तीर्थप्रवर्त्तयिता, न तु तीर्थम् । तीर्थं पुनः (चाउव्वण्णाइण्णे समणसघे त्ति) चत्वारो वर्णा यत्र स चतुर्वर्णः, स चासावाकीर्णश्च क्षमाऽऽदिगुणैर्व्याप्तश्चतुर्वर्णाऽऽकीर्णः । क्वचित्-" चउव्वण्णे समणसंघे " इति पठ्यते, तच्च व्यक्तमेवेति । भ० २० श० ८ उ० । ('आणा' शब्दे द्वितीयभागे ११६ पृष्ठे तीर्थविचारो द्रष्टव्य) " भूर्भुवःस्वस्त्रयीतीर्थं, यत्किञ्चिन्नाम विद्यते । तत्सर्वमेव दृष्टं स्यात्, पुण्डरीकेऽभिवन्दिते ॥ १ ॥ " ती० १ कल्प । तीर्यते ससारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थम् । रा० । पञ्चा० । ल० । आ०म० । स० । आ० चू० । ससारसागर तरन्ति येन तत्तीर्थम् । न० । " द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्व " ॥ ८ । २ । ९० ॥ इति द्वितीयस्योपरि प्रथम । प्रा० २ पाद । " ह्रस्व संयोगे " ॥ ८ । १ । ८४ ॥ इति दीर्घस्य ह्रस्वः । प्रा० १ पाद । प्रवचने, आ० म० १ अ०१ खण्ड । आ० चू० । ससारसागरतारणकारणत्वाज्ज्ञानाऽऽदौ, स०३० सम० । तडागाऽऽदाववतारमार्गे, स्था० १० ठा० । श्रीवीरतीर्थं कियत्काल यावद् भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्-"जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पिया ! ण केवतिअं तित्थं अणुसज्जिस्सइ ?। " इति भगवतीसूत्रस्थविंशतितमशतकाष्टमोद्देशकानुसारेणैकविंशतिसहस्रवर्षाणि यावत् श्रीवीरतीर्थं प्रवर्तिष्यते । किञ्च-"तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थयरे तित्थं ? । गोयमा ! अरहा ताव नियमा तित्थकरे, तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णे समणसंघे । त जहा-समणा, समणीओ, सावगा, साविआओ य । " इति भगवत्या "दुप्पसहंते चरण, भणिअं ज भगवया इह खेत्ते । आणाजुत्ताणमिणं, ण होइ अहुण त्ति वामोहो " ॥ १ ॥ इत्युपदेशपदवचनाद् दुःप्रसहान्त यावत्तावद् भविष्यतीति । १० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । अश्रुत्वाकेवलिनस्तीर्थे भवन्ति, तीर्थविच्छेदे वा भवन्ति ?, तथा पाक्षिकसूत्रवृत्त्यावतीर्थेऽन्तकृत्केवलिनो भूत्वा सिद्ध्यन्ति, भगवत्या च नवमशतके तदाश्रित्य "तप्पक्खियसावयस्स तप्पक्खियसावियाए वा" इत्यत्र धर्मोपदेशो न दत्त एक प्रश्नज्ञात-

मेक च मुक्तवेत्यभिप्रायेणाऽश्रुत्वाकेवलिनस्तीर्थे एव भवन्ति ?। अन्यच्चाश्रुत्वाकेवलिन पञ्चदशभेदभिन्नानां सिद्धानां मध्ये कस्मिन् भेदे समायान्ति ?, तेनैतद्विषये सर्वं सविस्तरं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-'अश्रुत्वाकेवलिन' श्रीभगवतीसूत्रवृत्त्यनुसारेण तीर्थे एव भवन्ति, नातीर्थे। पाक्षिकसूत्रवृत्तौ तु अतीर्थसिद्धाधिकारे एते उक्ता(न)सन्तीति;तथा तीर्थसिद्धाऽऽदिमध्ये यथासम्भवमवतरन्तीति। ३८२ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। तीर्थे यन्नालिकेराऽऽदि द्रव्यं मानितं,तदेव मुच्यतेऽन्यद्वेति प्रश्ने, उत्तरम्-श्रीशत्रुञ्जयाऽऽदितीर्थे मूलविधिना यदेव मानितमभूत्तदेव मुच्यते,कारणे तु यथाऽऽदेयं न भवति तथा कर्तव्यमिति। ४४२ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। जं०। (तीर्थस्य प्रभावकाः 'पभावग' शब्दे वक्ष्यन्ते)(ऊर्ध्वलोकाऽऽदिषु शाश्वताशाश्वततीर्थानि 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२४२ पृष्ठे उक्तानि) (भरतस्य राज्ञो वरदातीर्थगमनं 'भरह' शब्दे वक्ष्यते)

त्रिस्थ-न०। त्रिषु वा क्रोधाग्निदाहोपशमलोभतृष्णानिरासकर्ममलापनयनलक्षणेषु ज्ञानाऽऽदिलक्षणेषु वा अर्थेषु तिष्ठन्तीति त्रिस्थम्। संघे, प्राकृतत्वात् ' तित्थं ।' स्था० १ ठा०।

त्र्यर्थ-न०। त्रयो वा क्रोधाग्निदाहोपशमाऽऽदयोऽर्था फलानि यस्य तत्त्र्यर्थम्। अथवा-त्रयो ज्ञानाऽऽदयोऽर्था वस्तूनि यस्य तत्त्र्यर्थम्। संघे, स्था० १ ठा०।

तित्थअर-तीर्थकर-पुं०। ' तित्थयर ' शब्दार्थे, विशे०।

तित्थकर-तीर्थ (ङ्) कर-पुं०। तीर्थमुक्तलक्षणं तत् कुर्वन्त्यानुलोम्येन हेतुत्वेन तच्छीलतया वेति तीर्थकराः। अत्रानुस्वारः प्राकृतत्वात्। पा०। " तीर्थाच्चैवैके " इति वचनात् खप्रत्यये तीर्थशब्दाद् मुम्। न०। शास्तृषु, पा०। (तीर्थकरस्य सर्वा वक्तव्यता ' तित्थयर ' शब्दे २२४७ पृष्ठतो वक्ष्यते)

तित्थकरणाय-तीर्थकरज्ञात-न०। जिनोदाहरणे पञ्चा० ६ विव०।

तित्थगर-तीर्थकर-पुं०। ' तित्थयर' शब्दार्थे, विशे०।

तित्थजत्ता-तीर्थयात्रा-स्त्री०। तीर्थगमने, ध०।

अथ तीर्थयात्रास्वरूपम्-

तत्र तीर्थानि श्रीशत्रुञ्जयोज्जयन्ताऽऽदीनि। तथा-तीर्थकृज्जन्मदीक्षाज्ञाननिर्वाणविहारभूमयोऽपि प्रभूतभव्यस्य शुभभावसंपादकत्वेन भवाम्भोनिधितारणात्तीर्थान्युच्यन्ते। तेषु सद्दर्शनविशुद्ध्यर्थं विधिवज्जिनानुद्दिश्य महोत्सवः तीर्थयात्रा। तत्राऽयं विधिः-प्रथमं मुख्यवृत्त्या एकभक्तैकाऽऽहारपादचाराऽऽद्यभिग्रहान् प्रतिपद्यते, सत्यामपि वाहनसामर्थ्यां पादचारणाऽऽद्युचितमेव। यतः-"एकाहारी दर्शन-धारी यात्रासु भूशयनकारी। सच्चित्तपरिहारी, पदचारी ब्रह्मचारी च ॥ १ ॥" ततो राजानमनुज्ञापयति, प्रगुणीकरोति च यथाशक्ति युक्तिविशेषात् यात्रार्थं देवाऽऽलयान्, कारयति च विविधपटमण्डपप्रौढकटाहाऽऽदिजलकूपसरोवराऽऽदीन्, सज्जयति शकटाऽद्यनेकविधिवाहनानि, निमन्त्रयते च स बहुमानं श्रीगुरून् सङ्घ स्वजनवर्गं च,प्रवर्तयत्यमारिम्, करोति चैत्याऽऽदौ महापूजाऽऽदिमहोत्सवम्, ददाति दीनाऽऽदिभ्यो दानम्, प्रोत्साहयति निराधारेभ्यो विभवदानाऽऽदिदानविधिपोषणपूर्वकम्, आह्वयति कवचाऽऽद्युपस्कारार्पणाऽऽदिसमानपूर्वमनेकोद्भटभटान्, प्रगुणयति च गीतनृत्यवाद्याऽऽदि, ततः करोति शुभेऽह्नि प्रस्थानमङ्गलम्, तत्र सकलसमुदाय विशिष्टभोज्यताम्बूलाऽऽदिभिः परिभोज्य परिधाप्य च दुकूलाऽऽदिभिर्विधापयति सुप्रतिष्ठधर्मिष्ठपूज्यभाग्यवत्तरेभ्यः सङ्घाधिपत्यतिलकम्, विदधाति सङ्घपूजामहम्, मार्गे च सम्यक् सङ्घस्नात्रानां कुर्वन् प्रतिग्रामं प्रतिपुरं च चैत्येषु स्नात्रपूजाध्वजप्रदानचैत्यपरिपाट्याद्युत्सवोत्सव जीर्णोद्धाराऽऽदिचिन्तां च विदधन् तीर्थं प्राप्नोति। तद्दर्शने च रत्नमौक्तिकाऽऽदिवर्धापनलपनेप्सितमोदकाऽऽदिलम्भनिकाऽऽदि कुरुते। तीर्थे चाष्टप्रकाराऽऽदिमहापूजाविधिस्नात्रमालोद्घाटनघृतधाराप्रदाननवाङ्गजिनपूजनदुकूलाऽऽदिमयमहाध्वजप्रदानरात्रिजागरणगीतनृत्याऽऽद्युत्सवकरण-तीर्थोपवासषष्ठाऽऽदितपोविधानविविधफलभोज्याऽऽदिवस्तु-ढौकनपरिधापनिकामोचनविचित्रचन्द्रोदयबन्धनदीपतैलघृतधौतिकेसरचन्दनागुरुपुष्पचङ्गेरिकाऽऽदिसमस्तपूजोपकरणप्रदानवदेवकुलिकाऽऽदिविधापनसूत्रधाराऽऽदिसत्करणतीर्थोद्धारकनियारणतीर्थरक्षकसमाननतीर्थदायप्रवर्तनसाधर्मिकवात्सल्यगुरुसंघपरिधापनाऽऽदिभाक्ति-मार्गणदीनाऽऽद्युचितदानाऽऽदिसत्कृत्यानि कुरुते। एवं यात्रां कृत्वा प्रौढप्रवेशोत्सवैः स्वगृहमागतो देवाऽऽह्वानाऽऽदिमहं विधाय सर्वसंघलोकजनाऽऽदसत्कारपूर्वकं विसर्जयं वर्षाऽऽदि यावत्तीर्थोपवासाऽऽदिकरणाऽऽदना दिनमाराधयति। इति तीर्थयात्राविधिः। यात्रा च कल्याणकादिवसेषु विशेषलाभकरी। यतः पञ्चाशके नवमविवरणे-

" ता रहणिक्खमणाइ वि, एते उ दिणे पमुच्च कायव्वं ।
ज एसो च्चिय विसओ, पहाणमो तीए किरियाए ॥ १ ॥"

तथा-

" संवच्छरचाउम्मा-सिएसु अट्ठाहियासु अ तिहीसु ।
सव्वायरेण लग्गइ, जिणवरपूआतवगुणेसु " ॥ १ ॥

इत्यागमप्रामाण्यादेष्वपि दिवसेषु विशेषलाभकरी ज्ञेया। यात्रायाश्च दर्शनशुद्धिहेतुत्वात्प्रयत्न श्रेयानेव। यतः -

" दसणमिह मोक्खंग, परमं एयस्स अट्ठहाऽऽयारो ।
निस्संकादी भणिओ, पभावगं तो जिणिंदेहिं ॥ १ ॥
पवरा पभावणा इह, असेसभावम्मि तीए सब्भावा ।
जिणजत्ता य तयंग, ज पवरं तप्पयासोऽयं" ॥ २ ॥

ध० २ अधि०। (तीर्थयात्राया पापकर्मयोगो भवति न वेति विचारः ' आणा ' शब्दे द्वितीयभागे १२० पृष्ठे कृतः)

तित्थणिगार-तीर्थनिकार-पुं०। शासनसंकोचे, स्या०।

तथा चाद्दुराजीविकनयानुसारिणः -

" ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥१॥ " स्या०।

केषाञ्चिन्मतेऽयामपि कर्मक्षयानन्तरं मोक्षावाप्तौ तथाऽपि स्वतीर्थनिकारदर्शनतः पुनरपि संसाराऽभिगमनं भवतीदमाशङ्क्याऽऽह-

अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ ।

(अकुव्वओ इत्यादि) तस्य अशेषक्रियारहितस्य योगप्रत्ययाभावात्किमप्यकुर्वतोऽपि, नवं प्रत्यग्रं, कर्म ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिक, नास्ति न भवति,कारणाभावात्कार्याभाव इति कृत्वा,कर्माभावे च कुतः संसाराभिगमनम्,कर्मकार्यत्वात्संसारस्य,तस्य चोपरताशेषद्वन्द्वस्य स्वपरकल्पनाऽभावाद् रागद्वेष-

हितत्वया स्वदर्शननिकाराभिनिवेशोऽपि न भवत्येव । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

तित्थपवत्तण-तीर्थप्रवर्तन-न० । तीर्थप्रवर्तने, उत्सर्पिणीकाले चरमतीर्थकृतस्तीर्थं कियत्कालं प्रवर्तिष्यतीति प्रश्ने, उत्तरम्-पञ्चमाङ्गे विंशतितमशतकेऽष्टमोद्देशे श्रीऋषभजिनकेवलपर्यायं यावदुत्सर्पिणीकाले चरमतीर्थकृतस्तीर्थं प्रवर्तिष्यतीत्युक्तमस्तीति । ४० प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

तित्थपवत्तणचरियणिवद्ध-तीर्थप्रवर्तनचारित्रनिबद्ध-न० । नाट्यभेदे, रा० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य चरमपूर्वमनुष्यभव-चरमच्यवन-चरमगर्भसंहरण-चरमभरतक्षेत्रावसर्पिणी-तीर्थकरजन्माऽभिषेक-चरमबालभाव-चरमयौवन-चरमकामभोग-चरमनिष्क्रमण-चरमतपश्चरण-चरमज्ञानोत्पाद-चरमतीर्थप्रवर्तन-चरमपरिनिर्वाणनिबद्धं चरमचरमनिबद्धं नाम द्वात्रिंशत्तम नाट्यविधिमुपदर्शयति । रा० ।

तित्थपवित्तिहेउत्त-तीर्थप्रवृत्तिहेतुत्व-न० । तीर्थं चतुर्विधश्रमणसङ्घः प्रवचनं वा, तस्य प्रवृत्तिरविच्छेदेन स्थिति ,तस्या हेतुत्वं कारणत्वम् । तीर्थप्रवर्तकतायाम् ध० ३ अधि० ।

तित्थभेय-तीर्थभेद-त्रि० । तीर्थानि तीर्थजनदेवद्रोण्यादीनि भिनत्ति द्विधा करोति तद्द्रव्यमोषणाय तत्परिकरभेदनेनेति तीर्थभेदः । आ० १ श्रु० २ अ० । तीर्थमोषके तस्करे, तीर्थं (भेद) मोचके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तित्थमट्टिया-तीर्थमृत्तिका-स्त्री० । तीर्थमृत्तिकायाम्, रा० ।

तित्थयर-तीर्थकर-पु० । तीर्यते भवोदधिरनेन अस्मात् अस्मिन्निति वा तीर्थं वक्ष्यमाणस्वरूपम्, तत्करणशीलः " कृञो हेतुताच्छील्या०-" ॥ ३ । २ । २० ॥ इत्यादिना (पाणि०) टप्रत्यये तीर्थकर । अर्हति, विशे० ।

(१) तीर्थकरशब्दसिद्धिमाह-

अणुलोमहेउतच्छी-लया य जे भावतित्थमेयं तु ।
कुव्वंति पगासंति य, ते तित्थयरा हियत्थकरा ॥१०४७॥

हेतुताच्छील्यानुलोम्यतो ये भावतीर्थमेतत्कुर्वन्ति,गुणवः प्रकाशयन्ति च,ते तीर्थकराः। तत्र हेतौ-सकर्मतीर्थकरणहेतव "कृञो हेतुताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु" ॥ ३।२।२० ॥ इत्यादिना (पाणि०) टप्रत्ययविधानात्तीर्थकरा । यथा यशस्करी विद्येत्यादि । ताच्छील्ये-कृतार्था अपि तीर्थकरनामकर्मोदयतः समग्रप्राणिगणानुकम्पापरतया च सद्धर्मतीर्थदेशकत्वात्तीर्थकरा', भरताऽऽदिक्षेत्रे प्रथमनरनाथकुलकराऽऽदिवदिति । आनुलोम्ये-स्त्रीपुरुषबालवृद्धस्थविरकल्पिकजिनकल्पिकाऽऽदीनामनुरूपोत्सर्गापवाददेशनया अनुलोमसकर्मतीर्थकरणात् तीर्थकरा',यथा-वचनकर इत्यादि । एवभूतास्तीर्थकरा , अत एव सर्वासुमतां हितस्य मोक्षार्थस्य करणाद्धितार्थकरा' । (१०४७) विशे० । तीर्यते ससारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थम् द्वादशाङ्गं प्रवचनं, तदाधारः सघो वा, तत्करणशीलास्तीर्थकरा. । सू० २ उ० । तीर्थमुक्तलक्षण,तत्कुर्वन्त्यानुलोम्येन हेतुत्वेन तच्छीलतया चेति तीर्थकराः । आह च-"अणुलोमहेउतच्छी-लया य जे भावतित्थमेय तु । कुव्वंति पगासंति य, ते तित्थयरा हियत्थकरा"॥१०४७॥ (विशे०) इति । स्था०१ ठा० । तीर्यते ससारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थं, तच्च प्रवचनाऽऽधारः चतुर्विधः सङ्घ , प्रथमगणधरो वा, तत्करणशीलास्तीर्थकरा' । ध०२ अधि० । रा० । जी० । तीर्थमेव धर्म', तस्याऽऽदिकर्तारस्तीर्थकराः, अथवा-तीर्थानामादिकर्तारस्तीर्थकरा । तथा च प्रत्येकश' सुतीर्थानामादिकर्तारस्तीर्थकराः । आ० चू० ५ अ० । सङ्घकरणशीलत्वात् तु स्वावतारतुल्योत्तारकपरमतीर्थकरणशीलाः तीर्थकार । आ० म० १ अ०१ खण्ड ।

(२) तत्र च तीर्थकरणशीलास्तीर्थकरा अचिन्त्यप्रभावमहापुण्यसाङ्कितनामकर्मविपाकत , तस्याऽन्यथा वेदनायोगात्,तत्र येनेद जीवा जन्मजरामरणसलिल मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं महाभीषणकषायपाताल सुदुर्लङ्घ्यमोहाऽऽवर्तरौद्र विचित्रदुःखौघदुष्टश्वापद रागद्वेषपवनविक्षोभित सयोगवियोगवीचीयुक्त प्रबलमनोरथवेलाऽऽकुल सुदीर्घ ससारसागर तरन्ति तत्तीर्थमिति, एतच्च यथार्थस्थितसकलजीवाऽऽदिपदार्थप्ररूपकम्, अत्यन्तानवद्यान्याविज्ञातचरणकरणक्रियाधार त्रैलोक्यगतशुद्धधर्मसपद्युक्तमहासत्त्वाऽऽश्रयम्, अचिन्त्यशक्तिसमन्विताविसंवादिपरमबोहित्थकल्प प्रवचन, सङ्घो वा, निराधारस्य प्रवचनस्य असंभवात् । उक्त च-" तित्थ भंते ! तित्थं, तित्थगरे तित्थं ? गोयमा ! अरहा ताव नियमा तित्थकरे,तित्थं पुण चाउवण्णो समणसंघो ।" ततश्चैतदुक्तं भवति-घातिकर्मक्षये ज्ञानकैवल्ययोगात् तीर्थकरनामकर्मोदयतस्तत्स्वभावतया आदित्याऽऽदिप्रकाशनिदर्शनत' शास्त्रार्थप्रणयनाद्, मुक्तकैवल्ये तदसम्भवेनाऽऽगमानुपपत्ते ,भव्यजनधर्मप्रवर्तकत्वेन परम्परानुग्रहकरास्तीर्थकरा इति तीर्थकरत्वसिद्धि । (४) द० । तरन्ति येन ससारसागरमिति तीर्थं प्रवचन, तदव्यतिरेकाच्चेह सघस्तीर्थम्, तत्करणशीलत्वात्तीर्थकरा । भ० १ श० १ उ० । स० । न० । " क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥८ । १ । १७७॥ इति कलोप. । प्रा० १ पाद । " अवर्णो यश्रुति. " ॥ ८ । १ । १८० ॥ इत्यकारस्थाने यकार. । क्वचित्कस्य ग' । प्रा०१ पाद । द्वादशाङ्गप्रणायकेषु जिनेषु, प्रश्न० ४ संव० द्वार । तीर्थमेव धर्म', तस्याऽऽदिकर्तारस्तीर्थकरा , स्वतीर्थानामादिकर्तार. तीर्थकरा. । आ० चू० १ अ० । सत्त० । दर्श० । (तीर्थकृतामतिशया. 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे ३१ पृष्ठे द्रष्टव्या) (जिनानां परस्परं मोक्षान्मोक्षान्तराणि प्रथमभागे 'अतर' शब्दे ६६ पृष्ठे निरूपितानि)

(३) तीर्थकृतामचेलत्वे सयमविराधनाऽऽदयो दोषाः कथं न भवन्ति ?, इत्यत्राऽऽह-

निरुपमधिइसंघयणा, चउनाणाऽइसयसत्तसंपन्ना ।
अच्छिद्दपाणिपत्ता,जिणा जियपरीसहा सव्वे ॥२५८१॥
तम्हा जहुत्तदोसे, पावंति न वत्थपत्तरहिया वि ।
तदसाहणं ति तेसिं, तो तग्गहणं न कुव्वंति ॥२५८२॥
तह वि गहिएगवत्था, सवत्थतित्थोवएसणत्थं ति ।
अभिनिक्खमंति सव्वे, तम्मि चुएऽचेलया हुंति ।२५८३।

यस्माज्जिनास्तीर्थकराः सर्वेऽपि निरुपमधृतिसहननाश्छद्मस्थावस्थायां चतुर्ज्ञानाः,अतिशयसत्त्वसपन्नाः, तथा-अच्छिद्रः पाणिरेव पात्रं येषा ते अच्छिद्रपाणिपात्राः,जितसमस्तपरीषहाश्च । (तम्ह त्ति) तस्माद् वस्त्राभावे ये सयमविराधनाऽऽदयो दोषाः प्रोक्तास्तान् यथोक्तान् दोषान् ते वस्त्रपात्ररहिता अपि न प्राप्नुवन्ति, इत्यतस्तद्वस्त्राऽऽदिक न साधनम्-न साधकं सयमस्य तेषां तीर्थकराणाम् । (तो त्ति) तस्मादकिञ्चित्करत्वात् तस्याऽऽत्मगतस-

यमस्यानुपकारिणो वस्त्राऽऽदेर्ग्रहणं न कुर्वन्ति तीर्थकरा इति । ननु यदि ते वस्त्राऽऽदेर्ग्रहणं न कुर्वन्तीत्युच्यते, तर्हि "सव्वे वि एगदूसे-ण णिग्गया"(१०२२) इत्यादि विरुध्यते,इत्याशङ्क्याऽऽह-(तह वीत्यादि) यद्यपि तत्संयमस्यानुपकारि वस्त्रम्,तथाऽपि सवस्त्रमेव तीर्थं " सवस्त्रा एव साधवस्तीर्थे चिरं भविष्यन्ति " इत्यस्यार्थस्योपदेशन ज्ञापनं तदर्थं गृहीतैकवस्त्राः सर्वेऽपि तीर्थकृतोऽभिनिष्क्रामन्तीति । तस्मिंश्च वस्त्रे च्युते क्वापि पतिते अचेलका वस्त्ररहितास्ते भवन्ति, न पुनः सर्वदा । ततः "अचेलकाश्च जिनेन्द्रा " इत्यैकान्तिक यदुक्तम्, तदयुक्तोऽभिप्रायसूचकमेवेति भावः ॥ २५८१॥२५८२॥२५८३ ॥ विशे० । (एतदन्यत् ' अचेलग ' शब्दे प्रथमभागे १८८ पृष्ठे गतम्) (तीर्थकरविषयकमाश्चर्यम् ' अच्छेर ' शब्दे प्रथमभागे २०० पृष्ठ गतम्) (तीर्थकृतामनवस्थितसमाचारत्वम् 'अट्ठियकप्प' शब्दे प्रथमभागे २५५ पृष्ठे गतम्)

(४) अनुत्तरोपपातिकमुनयः-

बाविससहस्स नवसय, उसहस्स अणुत्तरोववाइमुणी ।
नेमिस्स सोल पास-स्स बार वीरस्स अट्ठसया ॥२६९॥
ते सेसाणमणाया, (२७०) ॥

ऋषभस्य जिनस्य द्वाविंशतिसहस्राणि, तदुपरि नवशतानि २२९०० । नेमिनाथस्य षोडशशतानि १६०० । पार्श्वजिनस्य द्वादशशतानि १२०० । ज्ञातनन्दनस्य वीरस्य अष्टौ शतानि ८०० ज्ञेयाः । निश्शेषजिनानां ते च सिद्धान्ताऽऽदिष्वनुक्तत्वादज्ञाताः ॥ सत्त० १२३ द्वार ।

(५) तीर्थपानामष्टादश दोषा इमे न भवन्ति-

पंचेव अंतराया, मिच्छत्तमनाणमविरई कामो ।
हासछग रागदोसा, निद्दाऽट्ठारस इमे दोसा ॥ २९२ ॥

पञ्चान्तरायाः-दान १ लाभ २ वीर्य ३ भोगो-ऽपभोगविषयाः ५; मिथ्यात्वम् ६ अज्ञानम् ७ अविरतिः ८ कामो भोगेच्छा ९; हास्यम् १० रतिः ११ अरतिः १२ शोकः १३ भय १४ जुगुप्सा १५; रागः १६ द्वेषः १७ निद्रा १८ चैते दोषाः ॥ सत्त०९५ द्वार ।

प्रकारान्तरेणाप्यष्टादश दोषानाह-

हिंसाऽऽइतिगं कीला, हासाऽऽइपंचगं च चउकसाया ।
मयमच्छरअन्नाणा, निद्दा पिम्मं इअ व दोसा ॥१६३॥

हिंसा १ मृषावादः २ अदत्तादान ३; क्रीडा ४, हास्यं ५ रतिः ६ अरतिः ७ शोकः ८ भयं ९; क्रोधः १० मान. ११ माया १२ लोभः १३; मदः १४ मत्सरः १५ अज्ञानम् १६, निद्रा १७ प्रेम १८ इति वा दोषाः, एभी रहितास्तीर्थकराः॥ सत्त०९६ द्वार ।

(६) अभिग्रहा -

तेसिं अभिग्गहा द-व्वमाइ वीरस्सिमे अहिया ॥ (१७०)
अचियत्तगिहाऽवसणं, निच्चं वोसट्टकाएँ मोणेणं ।
पाणीपत्तं गिहिऽवं-दणं अभिग्गहपणगमेयं ॥ १७१ ॥

तेषां चतुर्विंशतिजिनानां बहवोऽभिग्रहा द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदभिन्ना ज्ञेया । वीरजिनस्य इमे वक्ष्यमाणा अधिका भवन्ति । तानाह-अप्रीतिमद्गृहे मया वासो न कार्यः १, नित्य मया व्युत्सृष्टकायेन विहर्तव्यम् २, मौनेन स्थेयम् ३, करपात्रेण मया भोक्तव्यम् ४, गृहिवन्दनं गृहस्थविनयोऽभ्युत्थानाऽऽदिर्न कार्य. ५ । एते पञ्च वीरस्याधिका अभिग्रहाः ॥ सत्त० ७२ द्वार । आ० म० । कल्प० ।

(७) आदेशसंख्या-

अंगाइसू अबद्धा, नाणीहिँ पयासिया य जे ते य ।
आएसा वीरस्स य, पंचसयाऽणेगहऽन्नेसिं ॥ २७१ ॥
कुरुडकुरुडाण नरओ, वीरंगुट्ठेण चालिओ मेरू ।
तह मरुदेवी सिद्धा, अणंतं थावरा होउं ॥ २७२ ॥
वलयागारं मोत्तुं, सयंभुरमणम्मि सव्वआगारो ।
मीणपउमाण एवं, बहुहाऽऽएसा सुअअबद्धा ॥२७३॥

अङ्गोपाङ्गाऽऽदिसूत्रेष्वबद्धा न ग्रथिता ये भावाः पदार्थाः, ज्ञानिभिः प्रकाशिताश्च ते आदेशा उच्यन्ते, ते च श्रीवीरस्य पञ्चशतानि भवन्ति । अन्येषां जिनानां त्रयोविंशतिमितानामनेकधा । के ते आदेशा इत्याशङ्कायां कांश्चिदादेशान् दर्शयति । यथा-कुरुटाकुरुटयोर्नरकगतिः १ । तथा वीरेण अङ्गुष्ठेन मेरुपर्वतश्चालित. २ । तथा मरुदेवी ऋषभजननी अनादिवनस्पतिभ्य उद्धृत्य मोक्ष गता, सा हि अनन्तकायादागत्य प्रत्येकभवे कदलीवनस्पतित्वेन समुत्पद्य ततो मृत्वा मरुदेवी जाता । ततश्चान्तकृत्केवलीभूय सिद्धा ३ । तथा वलयाऽऽकार मुक्त्वा स्वयंभूरमणसमुद्रे मत्स्यानां कमलानां च सर्वेऽप्याकारा भवन्ति ४ । इत्याद्यादेशा सूत्रेऽबद्धाः । एवमन्येऽपि विज्ञेयाः ॥ सत्त० १२६ द्वार । आव० । आ० चू० । आ०म० ।

(८) षडावश्यकम्-

सामइयचउवीसत्थय-वंदणपडिक्कमणकाउसग्गा य ।
पच्चक्खाणं नाणियं, जिणेहिँ आवस्सयं छद्धा ॥२९२॥
तं दुण्ह सइ दुकालं, इयराणं कारणे इओ मुणिणो ।
पढमियरवीरतित्थे, रिउजड-रिउपन्न-वक्कजडा ॥२९३॥

सामायिकचतुर्विंशतिस्तववन्दनकप्रतिक्रमणकायोत्सर्गरूप षडावश्यक प्रथमान्तिमजिनयोस्तीर्थे सन्ध्यासमये प्रात समये च प्रतिदिन द्विवार भवति, ऋजुजडवक्रजडत्वान्मुनीनाम, इतरेषां द्वाविंशतिजिनां तीर्थे कारणे प्रतिक्रमण भवति, मुनीनामृजुप्राज्ञत्वात ॥ सत्त० १३७ द्वार । वृ० । कल्प० ।

(९) आहारः-

सव्वे सिसुणो अमय, उत्तरकुरुफले गिहे उसहो ।
सेसाउ ओयणाई, भुंजिंसु विसिट्ठमाहारं ॥ १३४ ॥

सर्वे जिना बाल्यावस्थायां वर्तमाना अमृतमङ्गुष्ठन्यस्त बुभुजिरे, ऋषभ उत्तरकुरूद्भवानि फलानि गृहवासे बुभुजे,त्रयोविंशतिजिना गृहवासे शाल्यादिमनोज्ञाऽऽहार बुभुजिरे, व्रतग्रहणे कृते सति सर्वे तीर्थपा उद्गमाऽऽदिदोषरहितमाहार कृतवन्तः ॥ सत्त० ७२ द्वार । आ० चू० । आव० । वृ० ।

(१०) जन्मावसरे इन्द्रकृत्यान्याह-

तत्र शक्रस्याऽऽसनचलना-

तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो आसणं चलइ । तए णं से सक्के०जाव आसणं चलिअं पासइ, पासइत्ता ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता भगवं तित्थयरं ओहिणा आभोएइ,आभोएइत्ता हट्ठतुट्ठचित्ते आणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहिअए धाराहयकयंबकुसुमचंचमाल इ-

ब छमसिअरोमकूवे विअसिअवरकमलनयणवयणे पचलिअवरकडगतुडिअकेऊरमउडकुंडलहारविराइयवच्छे पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे ससंभमं तुरिअं चवलं सुरिंदे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता पायपीढाओ पचोरुहइ, पचोरुहइत्ता वेरुलिअवरिट्ठरिट्ठअंजणनिउणोचिअमिसिमिसिंतमणिरयणमंडियाओ पाउयाओ ओमुअइ, ओमुअइत्ता एगसाडिअं उत्तरासंगं करेइ, करेइत्ता अंजलिमउलिअग्गहत्थे तित्थयराभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ, अणुगच्छित्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचेइत्ता दाहिणजाणुं धरणितलंसि साहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंमि निवेसइ, निवेसित्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमइत्ता कडगतुडिअथंभिआओ भुआओ साहरइ, साहरइत्ता करयलपरिग्गहिअं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं सयंसंबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीआणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगणाहाणं लोगहिआणं लोगपईवाणं लोगपज्जोअगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा अप्पडिहयवरणाणदंसणधराणं विअट्टछउमाणं जिणाणं जावयाणं तिण्णाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति सिद्धिगइणामधेयं ठाणं संपत्ताणं णमो जिणाणं जिअभयाणं णमोऽत्थु णं भगवओ तित्थगरस्स आइगरस्स० जाव संपाविउकामस्स वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगए, पासउ मे भयवं! तत्थगए इहगयं ति कट्टु वंदइ, वंदित्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे। तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अयमेयारूवे० जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था-उप्पण्णे खलु भो! जंबुद्दीवे दीवे भगवं तित्थयरे, तं जीयमेयं तीअपच्चुप्पण्णमणागयाणं सक्काणं देविंदाणं देवराईणं तित्थयराणं जम्मणमहिमं करेत्तए, तं गच्छामि णं अहं पि भगवओ तित्थगरस्स जम्मणमहिमं करेमि त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता हरिणेगमेसिं पायत्ताणीयाहिवइं देवं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ! सभाए सुहम्माए मेघोघरसिअगंभीरमहुरयरसद्दं जोअणपरिमंडलं सुघोसं सुसरं घंटं तिक्खुत्तो उल्लालेमाणा उल्लालेमाणा महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वयाहि-आणावेइ णं भो! सक्के देविंदे देवराया-" गच्छइ णं भो ! सक्के देविंदे देवराया जंबुद्दीवे दीवे भगवओ तित्थयरस्स जम्मणमहिमं करित्तए, तं तुब्भे वि णं देवाणुप्पिआ! सव्विड्ढीए सव्वजुईए सव्वबलेणं समुदएणं सव्वायरेणं सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्वणाडएहिं सव्वारोहेहिं सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारविभूसाए सव्वदिव्वतुडिअसद्दसण्णिणाएणं महया इड्ढीए० जाव रवेणं णिययपरिवारसंपरिवुडा सयाइं २ जाणविमाणवाहणाइं दुरूढा समाणा अकालपरिहीणं चेव सक्कस्स० जाव अंतिअं पाउब्भवह " ।

(११) आदेशानन्तर ' हरिनैगमेषी ' यत्करोति तदाह-

तए णं से हरिणेगमेसी देवे पायत्ताणीयाहिवई सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव एवं देवो! त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता सक्कस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव सभाए सुहम्माए मेघोघरसिअगंभीरमहुरयरसद्दा जोअणपरिमंडला सुघोसा घंटा, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं मेघोघरसिअगंभीरमहुरयरसद्दं जोअणपरिमंडलं सुघोसं घंटं तिक्खुत्तो उल्लालेइ ।

(१२) घण्टास्वरेण यदभूत्तदाह-

तए णं तीसे मेघोघरसिअगंभीरमहुरयरसद्दाए जोअणपरिमंडलाए सुघोसाए घंटाए तिक्खुत्तो उल्लालिआए समाणीए सोहम्मे कप्पे अण्णेहिं एगूणेहिं बत्तीसविमाणवाससयसहस्सेहिं अण्णाइं एगूणाइं बत्तीसं घंटासयसहस्साइं जमगसमगं कणकणारावं काउं पयत्ताइं पि हुत्था ।

उल्लालनानन्तर यदजायत तदाह-(तए णं तीसे मेघोघरसिअगंभीरमहुर इत्यादि) तत उल्लालनानन्तर तस्यां मेघोघरसितगम्भीरमधुरतरशब्दायां योजनपरिमण्डलायां सुघोषायां घण्टायां त्रि कृत्व उल्लालितायां सत्यां सौधर्मे कल्पे अन्येषु एकोनेषु द्वात्रिंशद्विमानरूपा ये आवासा देवावासस्थानानि तेषां शतसहस्रेषु । अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया । अन्यान्येकोनानि द्वात्रिंशद् घण्टाशतसहस्राणि (जमगसमग) युगपत् कणकणाराव कर्तुं प्रवृत्तान्यप्यभवन् । अत्रापिशब्दो भिन्नक्रमत्वात् घण्टाशतसहस्राण्यपि इत्येव योजनीयः ।

(१३) अथ घण्टानादतो यत् प्रवृत्तं तदाह-

तए णं सोहम्मे कप्पे पासायविमाणनिक्खुडाऽऽवडिअसद्दघंटापडिसुआसयसहस्ससंकुले जाए यावि होत्था ।।

(तए णमित्यादि) ततो घण्टानां कणकणारावप्रवृत्तेरनन्तरं सौधर्म कल्प' प्रासादानां विमानानां वा ये निष्कुटा गम्भीरप्रदेशा , तेषु ये आपतिता सम्प्राप्ताः शब्दाः शब्दवर्गणापुद्गलाः, तेभ्यः समुत्थितानि यानि घण्टाप्रतिश्रुतानां घण्टासंबन्धिप्रतिशब्दानां शतसहस्राणि तैः संकुलो जातश्चाप्यभूत् ।

किमुक्तं भवति?-घण्टायां महता प्रयत्नेन ताडितायां ये विनिर्गता: शब्दपुद्गला:, तत्प्रतिघातवशतः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च दिव्यानुभावतः समुच्छलितैः प्रतिशब्दैः सकलोऽपि सौधर्मः कल्पो बधिर उपजायत इति । एतेन द्वादशयोजनेभ्यः समागतशब्द: श्रोत्रग्राह्यो भवति, न परत:, ततः कथमेकत्र ताडितायां घण्टायां सर्वत्र तच्छब्दश्रुतिरुपजायत इति यदुच्यते, तदप्राकृतमेवावसेयम, सर्वत्र दिव्यानुभावतस्तथारूपशब्दोच्छलने यथोक्तदोषासंभवात् ।

(१४) देवाश्चिन्तयन्ति-एवं शब्दमये सौधर्मे कल्पे संजाते पदातिपतिर्यदकरोत्तदाह-

तए णं तेसिं सोहम्मकप्पवासीणं बहूणं देवाण य देवीण य एगंतरइपसत्तणिच्चपमत्तविसयसुहमुच्छियाणं सुस्सरघंटारसिअविउलबोलतुरिअचवलपडिबोहए कए समाणे घोसणकोऊहलदिन्नकण्णएगग्गचित्तउवउत्तमाणसाणं से पायत्ताणीआहिवई देवे तंसि घंटारवंसि निसंतपसंतंसि समाणंसि तत्थ तत्थ तहिं तहिं देसे महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वयासी-हन्त! सुणंतु णं भवंतो बहवो सोहम्मकप्पवासी वेमाणिआ देवा देवीओ अ सोहम्मकप्पवइणो इमो वयणं, हिअसुहत्थं आणवेइ णं भो! सक्के, तं चेव० जाव अंतिअं पाउब्भवह ॥

(तए णमित्यादि) ततः शब्दव्याप्त्यनन्तरं तेषां सौधर्मकल्पवासिनां बहूनां वैमानिकानां देवानां देवीनां च, एकान्ते रतौ रमणे प्रसक्ता आसक्ता , अत एव नित्यप्रमत्ता विषयसुखेषु मूर्छिता अध्युपपन्ना । ततः पदत्रयस्य पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः । तेषां,सुस्वरा या 'पङ्क्तिरथन्यायेन' सुघोषा घण्टा, तस्या रसित, तस्माद्विपुल: सकलसौधर्मदेवलोककुक्षिम्भरि —यो बोल: कोलाहल , तेन । अत्र तृतीयालोपः प्राकृतत्वात् । त्वरितं शीघ्रं चपले ससम्भ्रमे प्रतिबोधने कृते सति आगामिकालसंभाव्यमाने घोषणे कुतूहलेन-किमिदानीमुद्घोषणं भविष्यतीत्यात्मकेन, दत्तौ कर्णौ यैस्तैस्तथा । एकाग्रं घोषणश्रवणैकविषयं चित्तं येषां ते तथा । एकाग्रचित्तत्वेऽपि कदाचिन्नोपयोगः स्याच्छद्मस्थावस्थावशादत आह-उपयुक्तमानसाः शुश्रूषितवस्तुग्रहणपटुमनसः । ततो विशेषणसमासः । तेषाम्। स पदात्यनीकाधिपतिर्देवस्तस्मिन् घण्टारवे नितरां शान्तोऽत्यन्तं मन्दीभूत ,तत: प्रकर्षेण सर्वात्मना शान्तः प्रशान्त । ततश्छिन्नप्ररूढ इत्यादाविव विशेषणसमासः । तस्मिन् सति तत्र तत्र तस्मिन् २ देशे महता महता शब्देन तारस्वरेण उद्घोषयन् उद्घोषयन् एवमवादीत् । किमवादीदित्याह-(हंत ! सुणंतु णमित्यादि) हन्त! इति हर्षे, स च स्वस्वामिनाऽऽदिष्टत्वाद् जगद्गुरुजन्ममहकरणार्थकप्रस्थाने समारब्धाच्च शृण्वन्तु भवन्तो बहवः सौधर्मकल्पवासिनो वैमानिका देवा देव्यश्च सौधर्मकल्पपतेरिदं वचनं, हितं जन्मान्तरकल्याणाऽऽवहं, सुखं तद्भवसंबन्धि तदर्थमाज्ञापयति भो देवा ! शक्र , तदेव ज्ञेयं यत् प्राक्सूत्रे शक्रेण हरिनैगमेषिपुर उद्घोषयितव्यमादिष्टं, यावत् प्रादुर्भवत ।

(१५) अथ शक्राऽऽदेशानन्तरं यदेव जातं तदाह-

तए णं ते देवा य देवीओ य एअमट्ठं सोच्चा हट्ठतुट्ठ० जाव हिअया अप्पेगइआ वंदणवत्तिअं, एवं पूअणवत्तिअं, सक्कारवत्तिअं, सम्माणवत्तिअं, दंसणवत्तिअं, कोऊहलवत्तिअं, अप्पेगइया सक्कस्स वयणमणुवट्टमाणा, अप्पेगइआ अण्णमण्णं मित्तमणुवट्टमाणा अप्पेगइया जीअमेयं एवमादि त्ति कट्टु० जाव पाउब्भवंति ॥

(तए णमित्यादि) ततस्ते देवा देव्यश्च एतमनन्तरोदितमर्थं श्रुत्वा हृष्टतुष्टा यावद्धर्षवशविसर्पद्धृदयाः । अपि संभावनायाम, एकका:'केचन वन्दनमभिवादनं प्रशस्तकायवाङ्मनःप्रवृत्तिरूपं तत्प्रत्ययं तदस्माभिस्त्रिभुवनभट्टारकस्य कर्त्तव्यमित्यत्र निमित्तम । एवं पूजनप्रत्ययं-पूजनं गन्धमाल्याऽऽदिभि: समभ्यर्चनम। एवं सत्कारप्रत्ययं-सत्कारः स्तुत्यादिभिर्गुणोन्नतिकरणम । सन्मानो मानसप्रीतिविशेष:, तत्प्रत्ययं; दर्शनमदृष्टपूर्वस्य जिनस्य विलोकनं तत्प्रत्ययं,कुतूहलं तत्र यत्रैनास्मत्प्रभुणा किं कर्तव्यमित्यात्मकम्,तत्प्रत्ययम,अप्येकका: शक्रस्य वचनमनुवर्त्तमाना , न हि प्रभुवचनमुपेक्षणीयमिति भृत्यधर्ममनुश्रयन्त ।अप्येकका अन्यमन्यं मित्रमनुवर्त्तमाना ,मित्रगमनानुप्रवृत्ता इत्यर्थ: । अप्येकका जीतमेतद् यत् सम्यग्दृष्टिदेवैर्जिनजन्ममहे यतनीयम । एवमादीत्यादिकमागमननिमित्तमिति कृत्वा चित्तेऽवधार्य, यावच्छब्दात् "अकालपरिहीणं चेव सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो" इति ग्राह्यम् । अन्तिकं प्रादुर्भवन्ति ।

(१६) इन्द्रः पालकमादिशति-अथ शक्रस्येतिकर्तव्यमाह-

तए णं से सक्के देविंदे देवराया ते वेमाणिए देवे अ देवीओ अ अकालपरिहीणं चेव अंतिअं पाउब्भवमाणे पासइ, पासइत्ता हट्ठे पालयं णामं आभिओगिअं देवं सद्दावेइ,सद्दावेइत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अणेगखंभसयसंनिविट्ठं लीलट्ठिअसालभंजिआकलिअं ईहामिअउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं खंभुग्गयवइरवेइआपरिगयाभिरामं विज्जाहरजमलजुअलजंतजुत्तं पि व अच्चीसहस्समालिणीअं रूवगसहस्सकलिअं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोअणलेसं सुहफासं सस्सिरीअरूवं चलचलिअमहुरमणहरसरं सुहकंतं दरिसणिज्जं णिउणोचिअमिसिमिसिंतमणिरयणघंटिआजालपरिक्खित्तं जोयणसहस्सवित्थिण्णं पंचजोअणसयमुव्विद्धं सिग्घतुरिअजइणं णिव्वाहिं दिव्वं जाणविमाणं विउव्वाहि,विउव्वाहित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि।

(तए णं इत्यादि) ततः स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा तान् बहून् वैमानिकान् देवान् देव्यश्च (अकालपरिहीणं चेवेति)पूर्ववत्। अन्तिकं प्रादुर्भवत उपतिष्ठमानान् पश्यति । दृष्ट्वा च-" हट्ठ " इत्येकदेशेन सर्वोऽपि हर्षाऽऽलापको ग्राह्य:। पालकं नाम विमानविकुर्वणाधिकारिणमाभियोगिकं देवं शब्दयति, शब्दयित्वा च एवमवादीत्। यदवादीत्तदाह-(खिप्पामेव त्ति) इदं यानविमानवर्णकं प्राग्वत् । नवरं योजनशतसहस्रविस्तीर्णमित्यत्र प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नं योजनलक्षं ज्ञेयम । ननु वैक्रियप्रयोगजनितत्वेनोत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नत्वमस्यस्य कुतो नेति चेत्?," नगपुढविविमाणाइस्सु पमाणगुलेण तु " इति वचनादस्य प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नत्वं युक्तिमद् ' पुढविविमाणाइ ' इति वचनं

शाश्वतविमानापेक्षयेति वाच्यम् । अन्योत्सेधाङ्गुलप्रमाणनिष्पन्न चेद् जम्बूद्वीपान्न सुखप्रवेशनीयत्वेन तन्त्र्याश्वरविमानसको-चनस्य वैयर्थ्याऽऽपत्तेः । तथा श्रीस्थानाङ्गे चतुर्थाध्ययने "चत्तारि लोगे समा पण्णत्ता । तं जहा-अपइट्ठाणे णरए जम्बुद्दीवे दीवे पालए जाणविमाणे सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे ।" इत्यत्राऽपि पालकविमानस्य जम्बूद्वीपाऽऽदिभिः प्रमाणेन समत्वं प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नत्वेनैव सम्भवतीति दिक् । तथा -पञ्चशतयोजनोच्चं शीघ्रत्वरितजवनम्,अतिशयेन वेगवदित्यर्थः । निर्याहि प्रस्तुतकार्ये-निर्वहणशीलम् । पश्चात् पूर्वपदेन कर्मधारयः । एवंविध दिव्यं यानविमानं विकुर्वस्व, विकुर्व्य च एतामाज्ञप्तिं प्रत्यर्पय-कृतकृत्यो निवेदय इत्यर्थः ।

(१७) पालकस्तथैव करोति वर्णकयुक्तं विमानम्--

तदनु यदनुतिष्ठति स पालकस्तदाह-

तए णं से पालए देवे सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणित्ता तहेव करेइ । तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स तदिसिं तिसोवाणपडिरूवगा वण्णओ । तेसि णं पडिरूवगाणं पुरओ पत्तेअं पत्तेअं तोरणा वण्णओ० जाव पडिरूवा । तस्स णं जाणविमाणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे, से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा० जाव दीविअचम्मेइ वा अणेगसंकुकीलगसहस्सवितते आवडपच्चावडसेढी सुत्थिय-सोवत्थियवद्धमाणपूसमाणवमच्छंडमगरंडजारमारफुल्लावलिपउमपत्तसागरतरंगवसंतलयपउमलयभत्तिचित्तेहिं सच्छाएहिं सप्पभेहिं समरीईएहिं सउज्जोएहिं णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिए । तेसि णं मणीणं वण्णे गंधे फासे अ भाणिअव्वे, जहा रायप्पसेणइज्जे ॥

(तए णं से पालए देवे सक्केणमित्यादि) ततः स पालको देवः शक्रेण देवेन्द्रेण देवराज्ञा एवमुक्तः सन् हृष्टो यावद्वैक्रिय-समुद्घातेन समवहत्य तथैव करोति, विमानं रचयतीत्यर्थः । अथ विमानस्वरूपवर्णनायाऽऽह-(तस्स णमित्यादि) इति सूत्रद्वयी व्यक्ता । अथ तद्भूमिभागं वर्णयन्नाह-(तस्स णं इत्यादि) इदं प्राग्वद् ज्ञेयम्, नवरं मणीनां वर्णो गन्धः स्पर्शश्च भणितव्यो, यथा राजप्रश्नीये द्वितीयोपाङ्गे । अत्राऽपि जगतीपद्मवरवेदिकावर्णने मणिवर्णाऽऽदयो व्याख्याता , ततोऽपि वा बोधव्या ।

(१८) भूमिभागवर्णनम्-अथ प्रेक्षागृहमण्डपवर्णनायाऽऽह-

तस्स णं भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए पिच्छाघरमंडवे अणेगखंभसयसंणिविट्ठवण्णओ० जाव पडिरूवे, तस्स उल्लोए पउमलयाभत्तिचित्ते० जाव सव्वतवणिज्जमए० जाव पडिरूवे ।

(तस्स णमित्यादि) यावच्छब्दग्राह्य, व्याख्या च यमकराजधानीगतसुधर्मासभाऽधिकारतो ज्ञेया । उपरिभागवर्णनायाऽऽह-(तस्स उल्लोए इत्यादि) तस्योल्लोच उपरिभागः पद्मलताभक्तिचित्रः, यावत् सर्वात्मना तपनीयमयः, प्रथमयावच्छब्देन अशोकलताभक्तिचित्र इत्यादि परिग्रहः । द्वितीययावच्छब्दात् "दसएह" इत्यादिविशेषणग्रहः । अत्र राजप्रश्नीये सूर्याभयानविमानवर्णकेऽक्षपाटकसूत्रं दृश्यते, परं बहुष्वेतत्सूत्राऽऽदर्शेषु अदृष्टत्वान्न लिखितम् ।

(१९) अथात्र मण्डपमणिपीठिकावर्णनायाऽऽह-

तस्स णं मंडवस्स बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागंसि महं एगा मणिपीढिया अट्ठजोअणाइं आयामविक्खंभेणं, चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेणं, सव्वमणिमयी । वण्णओ । तीए उवरि महं एगे सिंहासणे । वण्णओ । तस्सुवरि महं एगे विजयदूसे सव्वरयणामए । वण्णओ । तस्स मज्झदेसभागे एगे वइरामए अंकुसे, एत्थ णं महं एगे कुंभिमुत्तादामे, से णं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमित्तेहिं चउहिं अद्धकुंभिक्केहिं मुत्तादामेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते । ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपयरगमंडिआ णाणामणिरयणविविहहारऽद्धहारउवसोभिआ समुदया ईसिं अण्णमण्णं संपत्ता पुव्वाएहिं वाएहिं मंदं मंदं एइज्जमाणा पइज्जमाणा० जाव निव्वुइकरेणं ते पएसे आपूरेमाणा आपूरेमाणा० जाव अईव उवसोभेमाणा अईव उवसोभेमाणा चिट्ठंति ।

(तस्स णमित्यादि) व्यक्तम् । (तीए उवरि इत्यादि) एतद्व्याख्या विजयद्वारस्थप्रकण्ठकप्रासादगतसिंहासनसूत्रवद्बोध्या । (तेणमित्यादि) इदं सूत्रं प्राक् पद्मवरवेदिकाजालवर्णके व्याख्यातमिति ततो बोध्यम् । अत्र प्रथमयावत्पदात्-" वेइज्जमाणा २ पलंबमाणा २ पज्झंझमाणा २ उरालेणं मणुण्णेणं मणहरेणं कण्णमणणि " इति संग्रहः । द्वितीययावत्पदात्-" सिरीए" इति ग्राह्यम् ।

(२०) समवसरणाऽऽस्थाननिवेशनप्रक्रियामाह--

तस्स णं सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं सक्कस्स चउरासीए सामाणिअसाहस्सीणं चउरासीइभद्दासणसाहस्सीओ, पुरच्छिमेणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं, एवं दाहिणपुरच्छिमेणं अब्भिंतरपरिसाए दुवालसण्हं देवसाहस्सीणं, दाहिणेणं मज्झिमाए परिसाए चउदसण्हं देवसाहस्सीणं, दाहिणपच्चच्छिमेणं बाहिरपरिसाए सोलसण्हं देवसाहस्सीणं, पच्चच्छिमेणं सत्तण्हं अणीआहिवईणं; तए णं तस्स सीहासणस्स चउदिसिं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, एवमाइ विभासिअव्वं, सूरिआभगमेणं० जाव पच्चप्पिणंति ॥

(तस्स णं इत्यादि) तस्य सिंहासनस्य पालकविमानमध्यभागवर्तिनोऽपरोत्तरस्यां वायव्यामुत्तरस्याम्,उत्तरपूर्वस्यामैशान्याम्, अत्रान्तरे शक्रस्य चतुरशीतेः सामानिकसहस्राणां चतुरशीतिभद्रासनसहस्राणि, उक्तदिक्त्रये चतुरशीतिभद्रासनसहस्राणीत्यर्थः । पूर्वस्यां दिश्यष्टानामग्रमहिषीणामष्टभद्रासनानि । एवं दक्षिणपूर्वस्यामग्निकोणेऽभ्यन्तरपर्षदः सम्बन्धिनां द्वादशानां देवसहस्राणां द्वादश भद्रासनसहस्राणि, दक्षिणस्यां मध्यमा-

ग्राः पर्षदश्चतुर्दशानां देवसहस्राणां चतुर्दश भद्रासनसहस्राणि, दक्षिणपश्चिमायां नैर्ऋतकोणे बाह्यपर्षद्. षोडशानां देवसहस्राणां षोडश भद्रासनसहस्राणि.पश्चिमायां सप्तानामनीकाधिपतीनां सप्त भद्रासनानीति। (तए णमित्यादि) ततः प्रथमवलयस्यापनानन्तर द्वितीये वलये तस्य सिंहासनस्य चतुर्दिशि चतसृणां चतुरशीतीनां चतुर्गुणीकृतचतुरशीतिसंख्याकानाम्,आत्मरक्षकदेवसहस्राणां षट्त्रिंशत्सहस्राधिकशतत्रयमितानामात्मरक्षकदेवानामित्यर्थः। तावन्ति भद्रासनानि विकुर्वितानीत्यर्थः। पद्मादिविभावितव्यमित्यादि वक्तव्य,सूर्याभगमेन यावदन्त्यपर्यंतिति । यावत्पदात् सङ्ग्राह्यम्-" तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते । से जहाणामए अइरुग्गयस्स वा हेमंतिअबालसूरअस्स वा खाइरइंगालाण वा रत्तिं पज्जलिआणं वा जवावणस्स वा केसुअवणस्स वा पारिजायवणस्स वा सव्वओ समंता संकुसुमिअस्स भवे एयारूवे सिआ ? । णो इणट्ठे समट्ठे।तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स इत्तो इट्ठतराए चेव० ४ वण्णे पण्णत्ते,गन्धो फासो अ, जहा मणीणं । तओ णं से पालए देवे तं दिव्वं जाणविमाणं विउव्वित्ता जेणेव सक्के देविंदे देवराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सक्कं देविंदं देवरायं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता तमाणत्तिअं । " इति ।

अत्र व्याख्यातस्य दिव्यस्य यानविमानस्यायमेतद्रूपो वर्णव्यासः प्रज्ञप्तः । स यथानामकोऽचिरोद्गतस्य तत्कालमुदितस्य हैमन्तिकस्य शिशिरकालसम्बन्धिनो बालसूर्यस्य खादिराङ्गाराणां वा (रत्तिमिति) सप्तम्यर्थे द्वितीया । रात्रौ प्रज्वालितानां जपावनस्य किंशुकवनस्य वा, पारिजाताः कल्पद्रुमाः,तेषां वनस्य वा सर्वतः समन्तात् सम्यक् कुसुमितस्य । अत्र शिष्यः पृच्छति-भवेदेतद्रूप.-स्यात् कथञ्चित् ?। सूरिराह-नायमर्थः समर्थः । तस्य दिव्यस्य यानविमानस्य इत इष्टतरक एव, किं तत इष्टतरक इत्यादि प्राग्वत् । गन्धः, स्पर्शश्च यथा प्राग् मणीनामुक्तस्तथेति ।

(२१) शक्रक्रिया-

तए णं से सक्के० जाव हिट्ठाहिअए दिव्वं जिणिंदाभिगमणजुग्गं सव्वालंकारभूसिअं उत्तरवेउव्विअं रूवं विउव्वइ, विउव्वइत्ता अट्ठहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं णट्टाणीएणं गंधव्वाणीएण य सद्धिं तं विमाणं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे अणुप्पयाहिणीकरेमाणे पुव्विल्लेणं तिसोवाणेणं दुरूहइ, दुरूहइत्ता० जाव सीहासणंसि पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे ॥

(तए णमित्यादि) ततः स शक्र इत्यादि व्यक्तं, दिव्यं प्रधानं, जिनेन्द्रस्य भगवतोऽभिगमनायाभिमुखगमनाय, योग्यमुचितं यादृशेन वपुषा सुरलसमुदायसर्वोभिशायिश्रीर्भवति, तादृशेनेत्यर्थः। सर्वालङ्कारभूषितम्-सर्वैः शिरःश्रवणाऽऽद्याभरणकारैर्विभूषितम्, उत्तरवैक्रियशरीरत्वात् । स्वाभाविकवैक्रियशरीरस्य तु आगमने निरलङ्कारतयैवोत्पादभवनात् । उत्तरभवधारणीयशरीरापेक्षया योत्तरकालभाविवैक्रियरूपं विकुर्वते, विकुर्व्य चाष्टाभिरग्रमहिषीभिः सपरिवाराभिः प्रत्येक प्रत्येकं षोडशदेवीसहस्रपरिवारपरिवृताभिर्नाट्यानीकेन गन्धर्वानीकेन च सार्द्धं तं विमानमनुप्रदक्षिणीकुर्वन् अनुप्रदक्षिणीकुर्वन् पूर्वदिक्केन त्रिसोपानेनाऽऽरोहति, आरुह्य च । यावच्छब्दात्-"जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता" इति ग्राह्यम् । सिंहासने पूर्वाभिमुखः सन्निषण्ण इति ।

(२२) अदाऽऽस्थान सामानिकाऽऽदिभिः यथा पूर्वते तथाऽऽह-

एवं चेव सामाणिया वि उत्तरेणं तिसोवाणेणं दुरूहित्ता पत्तेअं पत्तेअं पुव्वण्णत्थेसु भद्दासणेसु णिसीअंति, अवसेसा य देवा देवीओ अ दाहिणिल्लेणं तिसोवाणेणं दुरूहित्ता तहेव० जाव णिसीयंति ॥

" एवं चेव इत्यादि " व्यक्तम् । नवरम् अवशेषा आभ्यन्तरपर्षदादयः ।

(२३) प्रस्थापनाक्रमः-अथ प्रतिष्ठासोः शक्रस्य पुरः प्रस्थायिनां क्रममाह-

तए णं तस्स सक्कस्स तंसि दुरूढस्स इमे अट्ठ मंगलगा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ। तयणंतरं च णं पुण्णकलसभिंगारदिव्वा य छत्तपडागा सचामरा दंसणरइअआलोअदरिसणिज्जा वाउद्धूअविजयवेजयंती अ समूसिआ गगणतलमणुलिहंती पुरओ अहाणुपुव्वीए संपत्थिआ। तयणंतरं च णं छत्तभिंगारं, तयणंतरं च णं वइरामयवट्टलट्ठसंठिअसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपइट्ठिए विसिट्ठे अणेगवरपंचवण्णकुडभीसहस्सपरिमंडिआभिरामवाउद्धूअविजयवेजयंतीपडागाछत्ताइच्छत्तकलिए णं तुंगे गयणयलमणुलिहंतसिहरे जोअणसहस्समूसिए महइ महालए महिंदज्झए पुरओ अहाणुपुव्वीए संपत्थिए।तयणंतरं च णं सरूवनेवत्थपरिकथिअसुमज्जा सव्वालंकारविभूसिआ पंच अणीआ पंच अणीआहिवइणो० जाव संपट्ठिआ। तयणंतरं च णं बहवे आभिओगिआ देवा य देवीओ अ सएहिं सएहिं विउव्वेहिं० जाव णिओगेहिं सक्कं देविंदं देवरायं पुरओ अ मग्गओ अ पासओ अ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ।तयणंतरं च णं बहवे सोहम्मकप्पवासी देवा य देवीओ अ सव्विड्ढीए० जाव दुरूढा समाणा मग्गओ अ० जाव संपट्ठिआ । तए णं से सक्के ते पंचाणीअपरिक्खित्तेणं० जाव महिंदज्झएणं पुरओ पकड्ढिज्जमाणेणं चउरासीए सामाणिअ० जाव परिवुडे सव्विड्ढीए० जाव रवेणं सोहम्मकप्पस्स मज्झं मज्झेणं तं दिव्वं देविड्ढिं० जाव उवदंसेमाणे उवदंसेमाणे जेणेव सोहम्मकप्पस्स उत्तरिल्ले णिज्जाणमग्गे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जोअणसयसाहस्सीएहिं विग्गहेहिं उवयमाणे उवयमाणे ताए उक्किट्ठाए० जाव देवगईए वीईवयमाणे वीईवयमाणे तिरियमसंखिज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं जेणेव णंदीसरवरे दीवे जेणेव दाहिणपुरच्छिमिल्ले रइकरपव्वए तेणेव उवागच्छइ, एवं० जा चेव सूरिआभस्स वत्तव्वया, णवरं सक्काहिगारो वत्तव्वो,

०जाव तं दिव्वं देवड्ढिं ०जाव दिव्वं जाणविमाणं पडिसाहरेमाणे पडिसाहरेमाणे०जाव जेणेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणणगरे जेणेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणे, तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणं तेणं दिव्वेणं जाणविमाणेणं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे चउरंगुलमसंपत्तं धरणियले तं दिव्वं जाणविमाणं ठवेइ, ठवेइत्ता अट्ठहिं अग्गमहिसीहिं अणीएहिं गंधव्वाणीएण य नट्टाणीएण य सद्धिं ताओ दिव्वाओ जाणविमाणाओ पुरच्छिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएण पच्चोरुहइ । तए णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो चउरासीइं सामाणियसाहस्सीओ जाणविमाणाओ उत्तरिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहंति, अवसेसा देवा य देवीओ अ ताओ दिव्वाओ जाणविमाणाओ दाहिणिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहंति ॥

(तए णं तस्स इत्यादि) एतद्व्याख्या जगत्त्रयीगुरोऽयोध्याप्रवेशाधिकारतो ज्ञेया । (तयणमित्यादि) तदनन्तरं छत्रभृङ्गारम् । समाहारादेकवद्भावः छत्रं च "वेरुलिअभिसंततविमलदंडम्" इत्यादिवर्णकयुक्तं भरतस्यायोध्याप्रवेशाधिकारतो ज्ञेयम् । भृङ्गारश्च विशिष्टवर्णकविशेषोपेतः । पूर्णं च भृङ्गारस्य जलपूर्णत्वेन कथमात्, अथ च जलरिक्तत्वेन विरक्तिन इति न पौनरुक्त्यम् । तदनन्तरं वज्रमयो रत्नमयः । तथा वृत्तः वर्तुलः, लष्टः मनोज्ञः, संस्थितः सम्यक्स्थानमाकारो यस्य स तथा । तथा-सुश्लिष्टाऽऽगतावयवो, मसृण इत्यर्थः । परिघृष्टः खरशाणया पाषाणप्रतिमावत् । मृष्ट इव मृष्टः सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमेव, सुप्रतिष्ठितो, न तु तिर्यक्पतिततया वक्रः । तत एतेषां पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्मधारयः । अत एव शेषध्वजेभ्यो विशिष्टोऽतिशायी, तथाऽनेकानि वराणि पञ्चवर्णानि कुडभीनां लघुपताकानां सहस्राणि तैः परिमण्डितोऽलङ्कृतः, स चासावभिरामश्चेति । वातोद्धूतेत्यादिविशेषणद्वयं व्यक्तम् । तथा गगनतलमम्बरतलमनुल्लिखत् स्पृशत् शिखरमग्रभागो यस्य स तथा । योजनसहस्रमुत्सृतोऽत एवाह-(महइ महालए इति) अतिशयेन महान्, महेन्द्रध्वजः, पुरतो यथाऽनुपूर्व्या सम्प्रस्थित इति । (तयणमित्यादि) तदनन्तरं स्वरूपं स्वकर्मानुसारि नेपथ्यं वेषः परिकथितः परिगृहीतो यैस्तानि । तथा (सुसज्जानि) पूर्णसामग्रीकतया प्रगुणानि सर्वालङ्कारविभूषितानि पञ्चानीकानि, पञ्चानीकाधिपतयश्च पुरतो यथानुपूर्व्या सम्प्रस्थितानि (तयणतरं च णमित्यादि) तदनन्तरं बहवः आभियोगिका देवाश्च देव्यश्च स्वकैः २ विभवैर्यथास्वकर्मोपस्थितैर्विभवैः संपत्तिभिः, यावच्छब्दात्स्वकैः २ रूपैर्यथा स्वकर्मोपचितरुत्तरवैक्रियस्वरूपैः, स्वकैः स्वकैः नियोगैरुपकरणैः शक्रं देवेन्द्रं देवराजं पुरतश्च मार्गतश्च पृष्ठतः पार्श्वतश्च उभयोर्यथानुपूर्व्या यथावृद्धक्रमेण सम्प्रस्थिताः । (तयणतरं च णमित्यादि) तदनन्तरं बहवः सौधर्मकल्पवासिनो देवाश्च देव्यश्च सर्वर्द्ध्या, यावत्करणादिन्द्रस्य हरिनैगमेषिणा पुरः स्वाज्ञप्तिविषयकः प्राग्युक्त आलापको ग्राह्यः । तेन स्वानि २ यानविमानवाहनानि आरूढाः पुरतो मार्गतश्च । यावच्छब्दात् पुरतः पार्श्वतश्च शक्रस्य सम्प्रस्थिताः । अथ यथा शक्रः सौधर्मकल्पान्निर्याति, तथा चाऽऽह-(तए णमित्यादि) ततः स शक्रस्तेन प्रागुक्तस्वरूपेण पञ्चभिः सप्तभिश्चानीकैः परिक्षिप्तेन सर्वतः परिवृतेन, यावत्पूर्वोक्तः सर्वो महेन्द्रध्वजवर्णको ग्राह्यः । महेन्द्रध्वजेन पुरतः प्रकृष्यमाणेन निर्गम्यमाणेन चतुरशीत्या सामानिकसहस्रैः, यावत्करणात् "चउरासीहिं चउरासीहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं" इत्यादि ग्राह्यम् । परिवृतः सर्वर्द्ध्या, यावच्छब्देन । यावत्करणात्-"सव्वजुईए" इत्यादि प्रागुक्तं ग्राह्यम् । सौधर्मस्य कल्पस्य मध्यमध्येन तां दिव्यां देवर्द्धिं, यावच्छब्दात् "दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं" इति ग्रहः । सौधर्मकल्पवासिनां देवानामुपदर्शयन् २ यत्रैव सौधर्मस्य कल्पस्योत्तराहो निर्याणमार्गो निर्गमनमार्गस्तत्रैवोपागच्छति । यथा वरयिता नागराणां विवाहोत्सवस्फातिदर्शनार्थं राजपथे याति, न तु रथ्यादौ, तथाऽयमपि । एतेन समग्रदेवलोकाऽऽधारभूतपृथिवीप्रतिष्ठितविमाननिरुद्धमार्गत्वेनैतस्ततः सञ्चरणाभावेन मध्यमध्येनेति "उत्तरिल्ले णिज्जाणमग्गे" इत्युक्तमिति ये आहुः, ते आगमसामस्त्ययुक्तिमाद्गत्य च प्रष्टव्याः । उपागत्य च योजनशतसाहस्रिकैर्यावज्जनलक्षप्रमाणैर्विग्रहैः क्रमैरिव गन्तव्यक्षेत्रातिक्रमरूपैः । एतेन ध्यावरस्वरूपस्य विमानस्य पदन्यासरूपाः क्रमाः कथं भवेयुरिति शङ्का निरस्ता । अवपतन् अवपतन् तया चोत्कृष्टया । यावत्करणात् "तुरिआए" इत्यादिग्रहः । देवगत्या व्यतिव्रजन् २ तिर्यगसङ्ख्येयानां द्वीपसमुद्राणां मध्यमध्येन यत्रैव नन्दीश्वरवरद्वीपो यत्रैव तस्यैव पृथुत्वमध्यभागे दक्षिणपूर्वः आग्नेयकोणवर्ती रतिकरपर्वतस्तत्रैवोपागच्छति । इदं च स्थानाङ्गाऽऽद्याशयेनोक्तम् । अन्यथा प्रवचनसारोद्धाराऽऽदिषु पठ्यमानानां पूर्वाऽऽग्नेयाञ्जनगिरिविदिग्व्यवस्थितवापीद्वयद्वयान्तराले बहिःकोणयोः प्रत्यासत्तौ प्रत्येकं द्वयद्वयभावेन निर्दिष्टानामष्टानां रतिकरपर्वतानां मध्ये विनिर्गमनाविरहात् कतरो रतिकरपर्वतो दक्षिणपूर्वः स्यादिति । ननु सौधर्मादवतरतः शक्रस्य नन्दीश्वरद्वीपे एवाऽवतरणं युक्तिमत्, न पुनरसङ्ख्येयद्वीपसमुद्रातिक्रमेण तत्रागमनमित्युच्यते, निर्याणमार्गस्याऽसङ्ख्याततमस्य द्वीपस्य वा समुद्रस्य वा उपरिस्थितत्वेन सम्भाव्यमानत्वात्तथाऽवतरणम् । ततश्च नन्दीश्वराभिगमनेऽसङ्ख्यातद्वीपसमुद्रातिक्रमणं युक्तिमदेवेति । अथ दृष्टान्तसूत्रम् (एवं०जा चेव त्ति) एवमुक्तरीत्या सैव सूर्याभस्य वक्तव्यता, यथा सूर्याभः सौधर्मकल्पादवतीर्णस्तथाऽयमपीत्यर्थः । नवरमयं भेदः शक्राधिकारो वक्तव्यः, सौधर्मेन्द्रनाम्ना सर्वं वाच्यम् । (०जाव तं दिव्वं) इत्यादि प्रायो व्यक्तं, नवरमत्र प्रथमयावच्छब्दो दृष्टान्तविषयीकृतसूर्याभाऽधिकारस्यावधिसूचनार्थः । स चावधिर्विमानप्रतिसंहरणपर्यन्तो वाच्यः । द्वितीययावच्छब्दो-"दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं" इति पदद्वयग्राही । अस्य चायमर्थः-दिव्यां देवर्द्धिं परिवारसंपदं स्वविमानगर्भे सौधर्मकल्पवासिदेवविमानानां मेरौ प्रेषणात्, तथा दिव्यां देवद्युतिं हाराऽऽभरणाऽऽदिह्रासेन, तथा दिव्यं देवानुभावं देवगतिह्रस्वताऽऽपादनेन, तथा दिव्यं यानविमानं पालकनामकं जम्बूद्वीपपरिमाणन्यूनविस्ताराऽऽयामकरणेन, प्रतिसंहरन् प्रतिसंहरन् संक्षिपन् संक्षिपन्निति । तृतीययावच्छब्दात्-"जेणेव जम्बुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे" इति ग्राह्यः । ननु पूर्वं त्रिसोपानप्रतिरूपकेणोत्तारः शक्रस्योक्तोऽपराभ्यां केषा-

सुसारं इत्याह-" तए णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो " इत्यादि व्यक्तम् ।

(२४) अथ शक्रः किमकार्षीदित्याह-

तए णं से सक्के देविंदे देवराया चउरासीए सामाणिअसाहस्सीएहिं ०जाव सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए०जाव दुंदुभिणिग्घोसणाइयरवेणं जेणेव भगवं तित्थयरमाया य, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता आलोए चेव पणामं करेइ, करेइत्ता भगवं तित्थयरमायरं च आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता करयल० जाव एवं वयासी-णमोऽत्थु ते रयणकुच्छिधारिए !, एवं जहा दिसाकुमारीओ० जाव धणा सि पुण्णा सि तं कयत्था सि अहं देवाणुप्पिए ! सक्के णामं देविंदे देवराया भगवओ तित्थयरस्स जम्मणमहिमं करिस्सामि, तेण तुब्भेहिं ण भीइव्वं ति कट्टु ओसोवणिं दलयइ, दलइत्ता तित्थयरपडिरूवगं विउव्वइ, विउव्वइत्ता तित्थयरमाउआए पासे ठवेइ, ठवेइत्ता पंचसक्के विउव्वइ, विउव्वित्ता एगे सक्के भगवं तित्थयरं करयलपुडेणं गिण्हइ,एगे सक्के पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ,दुवे सक्का उभओ पासिं चमरुक्खेवं करेंति,एगे सक्के पुरओ वज्जपाणी पकड्ढइ।

" तए णं से सक्के देविंदे देवराया चउरासीए " इत्यादि कण्ठ्यम्। यावत्पदसंग्राह्यं तु पूर्वसूत्रानुसारेण बोध्यम । यदवादीत्तदाह-(णमोऽत्थु ते इत्यादि) नमोऽस्तु तुभ्यं रत्नकुक्षिधारिके!एवंप्रकारं सूत्रं,यथा दिक्कुमार्य आहुः,तथाऽवादीदित्यर्थः। यावच्छब्दादिदं ग्राह्यम्-" जगप्पईवदाईए चक्खुणो अमुत्तस्स सव्वजगजीववच्छलस्स हिअकरमग्गदेसियस्स वागिद्धिविभुप्पभुस्स जिणस्स णाणिस्स नायगस्स बुद्धस्स बोहगस्स सव्वलोगणाहस्स सव्वलोगमंगलस्स णिम्ममस्स पवरकुलसमुप्पभवस्स जाइखत्तिअस्स ज सि लोगुत्तमस्स जणणी ति । ' कियत्पर्यन्तमित्याह-धन्याऽसि पुण्याऽसि त्वं कृतार्थाऽसि, अहं देवानुप्रिये ! शक्रो नाम देवेन्द्रो देवराजा भगवतस्तीर्थकरस्य जन्ममहिमां करिष्यामि। तेन युष्माभिर्न भेतव्यमितिकृत्वा अवस्वापिनीं ददाति,सुते मेरुं नीते सुतविरहाऽऽर्त्ता मा दुःखभागभूदिति दिव्यनिद्रया निद्राणां करोतीत्यर्थः। दत्त्वा च तीर्थकरस्य मेरुनेतव्यत्वभगवत प्रतिरूपकं जिनसदृशं रूपं विकुर्वति, अस्मासु मेरुगतेषु जन्ममहव्यापृतिव्यग्रेषु आसन्नदुष्टदेवतया कुतूहलाऽऽदिना हृतनिद्रा सती मा इयं भ्रस्ता भवत्विति भयश्रम्यापाभिर्विशेषं रूपं विकुर्वतीत्यर्थः। विकुर्व्य च तीर्थकरमातुः पार्श्वे स्थापयति,स्थापयित्वा च पञ्च शक्रान् विकुर्वति, आत्मना पञ्चरूपो भवतीत्यर्थः। विकुर्व्य च तेषां पञ्चानां मध्ये एकः शक्रो भगवन्तं तीर्थकरं परमशुचिना सरसगोशीर्षचन्दनलिप्तेन, धूपवासितेनेति शेषः । करतलयोरूर्ध्वाधोव्यवस्थितयोः पुटं सपुटं, शुक्तिकासपुटमिवेत्यर्थः; तेन गृह्णाति । एकः शक्रः पृष्ठत आतपत्रं छत्रं धरति । द्वौ शक्राबुभयोः पार्श्वयोश्चमरोत्क्षेपं कुरुतः । एकः शक्रः पुरतो वज्रपाणिः सन् प्रकर्षति-निर्गमयति, आत्मानमिति शेषः। अग्रतः प्रवर्त्तत इत्यर्थः । अत्र च सत्यपि सामानिकाऽऽदिदेवपरिवारे यदिन्द्रस्य स्वयमेव पञ्चरूपविकुर्वणं, तत् त्रिजगद्गुरोः परिपूर्णसेवालिप्सुत्वेनेति ।

(२५) मेरुगमनम्-

अत्र यथा शक्रो विवक्षितस्थानमाप्नोति तथाऽऽह-

तए णं से सक्के देविंदे देवराया अण्णेहिं बहूहिं भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि अ सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए० जाव ताए उक्किट्ठाए० जाव वीईवयमाणे वीईवयमाणे जेणेव मंदरे पव्वए जेणेव पंडगवणे जेणेव अभिसेअसिला जेणेव अभिसेअसीहासणे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे ।

(तए णं से सक्के इत्यादि) ततः स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा अन्यैर्बहुभिर्भवनपतिवाणमन्तरज्योतिष्कवैमानिकैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतः सर्वर्द्ध्या; यावत्करणात्-" सव्वजुईए " इत्यादिपदसंग्रहः पूर्वोक्तो ज्ञेयः। तयोत्कृष्टया। यावत्करणात्-" तुरिआए " इत्यादिग्रहः। व्यतिव्रजन् व्यतिव्रजन् यत्रैव मन्दरपर्वतो यत्रैव च पण्डकवनं यत्रैव चाभिषेकशिला यत्रैव चाऽभिषेकसिंहासनं, तत्रैवोपागच्छति,उपागत्य च सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः (सन्निषण्ण इति) पालकविमानं च गृहीतस्वामिकस्य स्वस्वामिनः पादचारित्वेन तमनुव्रजतां देवानामप्यनुपयोगित्वादभिषेकशिलायां यावदनुव्रजदभूदिति सम्भाव्यते।

(२६) ईशानेन्द्रावसरः-

तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे देविंदे देवराया सूलपाणी वसभवाहणे सुरिंदे उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाणावाससयसहस्साहिवई अरयंबरवत्थधरे एवं जहा सक्के, इमं णाणत्तं-महाघोसा घंटा, लहुपरक्कमो पायत्ताणीयाहिवई, पुप्फओ विमाणकारी, दाहिणिल्ले णिज्जाणभूमी, उत्तरपुरच्छिमिल्लो रइकरपव्वओ, मंदरे समोसरिओ० जाव पज्जुवासइ ॥

(तेण कालेणमित्यादि) तस्मिन् काले सम्भवज्जिनजन्मके, तस्मिन् समये दिक्कुमारीकृत्यानन्तरीये, न तु शक्राऽऽगमनानन्तरीये, सर्वेषामिन्द्राणां जिनकल्याणकेषु युगपदेव समागमनाऽऽरम्भस्य जायमानत्वात् । यत्तु सूत्रे शक्राऽऽगमनानन्तरीयमीशानेन्द्राऽऽगमनमुक्तं, तत् क्रमेणैव सूत्रबन्धस्य सम्भवात् । ईशानो देवेन्द्रो देवराजा शूलपाणिर्वृषभवाहनः सुरेन्द्र उत्तरार्द्धलोकाधिपतिः, मेरोरुत्तरतोऽस्यैवाधिपत्यात् । अष्टाविंशतिविमानावासशतसहस्राधिपतिः, अरजांसि निर्मलानि अम्बराणि वस्त्राणि,स्वच्छतयाऽऽकाशकल्पानि वसनानि धरति य स तथा। एवं यथा शक्रः सौधर्मेन्द्रस्तथाऽयमपि । इदमत्र नानात्वं विशेषः-महाघोषा घण्टा, लघुपराक्रमनामा पदात्यनीकाधिपतिः, पुष्पकनामा विमानकारी, दक्षिणा निर्याणभूमिः, उत्तरपौरस्त्यो रतिकरपर्वतः, मन्दरे समवसृतः समागतः । यावत्पदात्-" भगवं तित्थयरं तित्थयरमायरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करित्ता वंदइ,णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे॥ " इति पर्युपास्ते ।

अथातिदेशेनावशिष्टानां सनत्कुमाराऽऽदीन्द्राणां वक्तव्यमाह-

एवं अवसिट्ठा वि इंदा जाणियव्वा० जाव अच्चुओ।

इमं णाणत्तं-

" चउरासीइ असीई, बावत्तरि सत्तरी अ सट्ठी अ।
पण्णा चत्तालीसा, तीसा वीसा दससहस्सा ॥१॥ "

एए सामाणिआणं।

"बत्तीसऽट्ठावीसा, बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा।
पण्णा चत्तालीसा, छच्च सहस्सा सहस्सारे ॥ १ ॥
आणयपाणयकप्पे, चत्तारि सयाऽऽरणऽच्चुए तिण्णि॥"

एए वेमाणियाणं।

इमे जाणविमाणकारी देवा। तं जहा-

"पालएं पुप्फे सोमण-से सिरिवच्छे अ णंदिआवत्ते।
कामगमे पीइगमे, मणोरमे विमले सव्वओभद्दे" ॥१॥

सोहम्मगाणं सणंकुमारगाणं बंभलोगाण महासुक्कयाणं पाणयगाणं इंदाणं सुघोसा घंटा, हरिणेगमेसी पायत्ताणी- आहिवई, उत्तरिल्ला णिज्जाणभूमी, दाहिणपुरच्छिमिल्ले रइ- करपव्वए; ईसाणगाणं माहिंदलंतगसहस्सारअच्चुअगाण य इंदाणं महाघोसा घंटा, लहुपरक्कमो पायत्ताणीआहिवई, दक्खिणिल्ले णिज्जाणमग्गे, उत्तरपुरच्छिमिल्ले रइकरपव्वए, परिसाओ णं जहा जीवाभिगमे आयरक्खा सामाणिअचउ- ग्गुणा सव्वेसिं जाणविमाणा सव्वेसिं जोयणसयस- हस्सवित्थिण्णा उच्चत्तेणं सविमाणप्पमाणमहिंदज्झया स- व्वेसिं जोअणसाहस्सिआ सक्कवज्जा मंदरं समोअरंति० जाव पज्जुवासंति।

(एव अवसिट्ठा वि इत्यादि) एवं सौधर्मेशानेन्द्ररीत्या अव- शिष्टा अपि इन्द्रा वैमानिकाना भणितव्याः, यावदच्युतेन्द्र ए- कादशद्वादशकल्पाधिपतिरिति। (विमानाऽऽदिसङ्ख्या सामा- निकाऽऽदिसङ्ख्या च तच्छन्दे)

(२७) चमराऽऽदीनामागमनम्-

तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरे असुरिंदे असुरराया च- मरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहास- णंसि चउसट्ठीए सामाणिअसाहस्सीहिं तायत्तीसाए ताय- त्तीसेहिं चउहिं लोगपालेहिं पंचहिं अग्गमहिसीहिं सपरि- वाराहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणी- आहिवईहिं चउहिं चउसट्ठीहिं आयरक्खसाहस्सीहिं अन्नेहि अ जहा सक्के, णवर इमं णाणत्तं-दुमो पायत्ताणीआहिवई, ओघस्सरा घंटा वि णं पण्णासं जोअणसहस्साइं महिंद- ज्झओ पंच जोअणसयाइं, विमाणकारी अभिओगिओ देवो, अवसिट्ठं त चेव० जाव मंदरे समोसरइ, पज्जुवासइ ॥

बली-

तेणं कालेणं तेणं समएणं बली असुरिंदे असुरराया एवमेव, णवरं सट्ठी सामाणिअसाहस्सीओ, चउगुणा आ- यरक्खा, महादुमो पायत्ताणीआहिवई, महाओहस्सरा घंटा, सेसं तं चेव परिसाओ जहा जीवाभिगमे।

धरणः—

तेणं कालेणं तेणं समएणं धरणे तहेव णाणत्तं, छ सामा- णिअसाहस्सीओ, छ अग्गमहिसीओ, चउगुणा आयर- क्खा, मेघस्सरा घंटा, भद्दसेणो पायत्ताणीआहिवई, विमाणं पणवीसं जोअणसहस्साहिं, महिंदज्झओ अड्ढाइज्जाइं जो- अणसयाइं।

भवनवासिनः—

एवमसुरिंदवज्जिआणं भवणवासिइंदाणं, णवरं असुराणं ओघस्सरा घंटा, णागाणं मेघस्सरा, सुवण्णाणं हंसस्सरा, विज्जूणं कोंचस्सरा, अग्गीणं मंजुस्सरा, दिसाणं मंजुघोसा, उदहीणं सुस्सरा, दीवाणं महुरस्सरा, वाऊणं णंदिस्सरा, थणियाणं णंदिघोसा, चउसट्ठी सट्ठी खलु छच्च सहस्साओ असुरवज्जाणं सामाणिआओ, एए चउगुणा आयरक्खाओ, दाहिणिल्लाणं पायत्ताणीआहिवई भद्दसेणो, उत्तरिल्लाणं दक्खो ॥

वाणमन्तरा —

वाणमंतरजोइसिआणं अज्झो! एवं चेव, णवरं चत्तारि अ सामाणिअसाहस्सीओ, चत्तारि अग्गमहिसीओ, सोलस आयरक्खसहस्सा विमाणा, जोअणसहस्सं महिंदज्झया, पणवीसं जोअणसयं घंटा, दाहिणाणं मंजुस्सरा, उत्तराणं मंजुघोसा, पायत्ताणीआहिवई विमाणकारी अ आभि- ओगा देवा।

ज्योतिष्काः—

जोइसिआणं सुस्सरा सुस्सरणिग्घोसाओ घंटाओ, मंदरे समोसरणं० जाव पज्जुवासंति।

घण्टासु चायं विशेष.-चन्द्राणां सुस्वरा, सूर्याणां सुस्वरनिर्- घोषा, सर्वेषां च मन्दरे समवसरण वाच्यम्, यावत् पर्युपासते। यावच्छब्दग्राह्य तु प्राग्दर्शितं ततो ज्ञेयम्। एतदुल्लेखस्त्वयम्- "तेण कालेण तेण समएण चंदा जोइसिंदा जोइसरायाणो पत्तेअ २ चउहिं सामाणिअसाहस्सीहिं चउहिं अग्गमहिसीहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीआहिवईहिं सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं एवं, जहा वाणमंतरा, एव सूरा वि।" नन्वत्रोल्लेखे चन्द्राः सूर्या इत्यत्र बहुव- चन किमर्थम?, प्रस्तुतकर्मणि एकस्यैव सूर्यस्य चन्द्रस्य चाधिकृतत्वात्; अन्यथेन्द्राणां चतुःषष्टिसङ्ख्याकत्वव्याघाता- च?। उच्यते-जिनकल्याणकाऽऽदिषु दश कल्पेन्द्रा विंशतिर्भवन- वासीन्द्रा द्वात्रिंशद् व्यन्तरेन्द्रा, एते व्यक्तितः, चन्द्रसूर्यौ तु जा- त्यपेक्षया; तेन चन्द्राः सूर्या असङ्ख्याता अपि समायान्ति, के नाम न कामयन्ते भुवनभट्टारकाणां दर्शनम। यदुक्त शान्तिचरित्रे श्रीमुनिदेवसूरिकृतश्रीशान्तिदेवजन्ममहवर्णने- " ज्योतिष्कनायकौ पुष्प-दन्तौ सङ्ख्यातिगावपि। हेमाद्रिमा- श्रियन्ते स्म, चतुःषष्टिः सुरेश्वराः " ॥ १ ॥

तए णं से अच्चुए देविंदे देवराया महं देवाहिवे आभिओगे देवे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! महत्थं महग्घं महारिहं विउलं तित्थयराभिसेअं उवट्ठवेह । तए णं ते हट्ठतुट्ठा० जाव पडिसुणित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति, अवक्कमंतित्ता वेउव्विअसमुग्घाएणं० जाव समोहणित्ता अट्ठसहस्सं सोवण्णिअकलसाणं, एवं रुप्पमयाणं मणिमयाणं सुवण्णरुप्पमयाणं सुवण्णमणिमयाणं रुप्पमणिमयाणं सुवण्णरुप्पमणिमयाणं अट्ठसहस्सं भोमिज्जाणं अट्ठसहस्सं चंदणकलसाणं, एवं भिंगाराणं आयंसाणं थालाणं पाईणं सुपइट्ठगाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं वायकरगाणं पुप्फचंगेरीणं, एवं जहा सूरिआभस्स सव्वचंगेरीओ सव्वपडलगाइं विसेसिअंतराइं भाणिअव्वाइं सीहासणछत्तचामरतेल्लसमुग्ग० जाव सरिसवसमुग्गतालिअंटा० जाव अट्ठसहस्सं कडुच्छुआणं विउव्वंति, विउव्वित्ता साहाविए विउव्विए अ कलसे० जाव कडुच्छुए अ गिण्हित्ता जेणेव खीरोदए समुद्दे तेणेव आगम्म खीरोदगं गिण्हंति, गिण्हंतित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं पउमाइं० जाव सहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हंति, एवं पुक्खरोदाओ० जाव भरहेरवयाणं मागहाईणं तित्थाणं उदगं मट्टिअं च गिण्हंति, गिण्हंतित्ता, एवं गंगाईणं महाणईणं० जाव चुल्लहिमवंताओ सव्वतुअरे सव्वपुप्फे सव्वगंधे सव्वमल्ले० जाव सव्वोसहीओ सिद्धत्थए हिं गिण्हंति, गिण्हंतित्ता पउमद्दहाओ दहोदगं उप्पलादीणि अ । एवं सव्वकुलपव्वएसु वट्टवेअड्ढेसु सव्वमहद्दहेसु सव्ववासेसु सव्वचक्कवट्टिविजएसु वक्खारपव्वएसु अंतरणईसु विजासिज्जा०जाव उत्तरकुरुसु० जाव सुदंसणभद्दसालवणे सव्वतुअरे० जाव सिद्धत्थए अ गिण्हंति । एवं णंदणवणाओ सव्वतुअरे० जाव सिद्धत्थए अ सरसं च गोसीसचंदणं दिव्वं च सुमणदामं गेण्हंति । एवं सोमणसपंडगवणाओ अ सव्वतुअरे० जाव सुमणदामं दद्दरमलयसुगंधिए गंधे अ गिण्हंति, गिण्हंतित्ता एगओ मिलंति, मिलंतित्ता जेणेव सामी तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता तं महत्थं० जाव तित्थयराभिसेअं उवट्ठवेंति ॥

यावल्लोमहस्तकपटलकानामिमानि च वस्तूनि सूर्याभाभिषेकोपयोगवस्तुभिः सङ्ख्ययैव तुल्यानि, न तु गुणेनेत्याह विशेषिततराणि । (जं०) ननु मेरुनोऽभिषेकाद्भूतवस्तुग्रहणाय चलन्तस्ते देवास्तद्ग्रहणोपयोगिवस्तुजातं कलशभृङ्गाराऽऽदिक गृह्णन्तु, परं तदनुपयोगिनां सूत्रोदितप्रविष्ट सिंहासनचामराऽऽदिक तैलसमुद्गकाऽऽदिकं च कथं गृह्णन्तीति चेत् ?। उच्यतेविकुर्वणासूत्रस्यातिदेशेन ग्रहणसूत्रस्यातिदिष्टत्वादेतत्सूत्रपाठस्यान्तर्गतत्वेऽपि ये ग्रहणोचितास्त एव गृहीता इति बोध्यम्, योग्यतावशादेवार्थप्रतिपत्तेः । यथा धूपकडुच्छुकानां तत्र ग्रहणं तत् कलशभृङ्गाराऽऽदिवद्धस्तधूपनार्थमिति । अन्यथा सूत्रे साक्षादुपदर्शितस्य धूपकडुच्छुकानां ग्रहणस्य नैरर्थक्याऽऽपत्तेः । अथ प्रस्तुत सूत्रं गृहीत्वा च यानि तत्र क्षीरोदे उत्पलानि पद्मानि, यावत्सहस्रपत्राणि निगृह्णन्ति । यावत्पदात् कुमुदाऽऽदिग्रहः । एवमनया रीत्या पुष्करोदात् तृतीयसमुद्रात् उदकाऽऽदिकं गृह्णन्ति यत्तु क्षीरादादिभिन्नैस्तैर्वारुणीवरमन्तरा मुक्तापुष्करोदे जलं गृहीतं, तद्वारुणीवरवारिणोऽग्राह्यत्वादिति सम्भाव्यमिति । यावच्छब्दात्-"समयक्खित्ते" इति ग्राह्यम् । तेन समयक्षेत्रे मनुष्यक्षेत्रे भरतैरावतयोः प्रस्तावात् पुष्करवरद्वीपार्द्धगतयोर्मागधाऽऽदीनां तीर्थानामुदकं मृत्तिकां च गृह्णन्ति । एवमिति समये क्षेत्रस्थपुष्करवरद्वीपार्द्धगतानां गङ्गाऽऽदीनां महानदीनाम् । आदिशब्दात्-सर्वमहानदीग्रहः । यावत्पदात् उदकपुलिनमृत्तिका च गृह्णन्ति । क्षुद्रहिमवत सर्वान् तुवरान्(?)कषायद्रव्याणि आमलकाऽऽदीनि, सर्वाणि जातिभेदेन पुष्पाणि, सर्वान् गन्धान् वासाऽऽदीन्, सर्वाणि माल्यानि ग्रथिताऽऽदिभेदभिन्नानि, सर्वा महौषधी राजहंसीप्रमुखा ,सिद्धार्थकांश्च सर्षपान् गृह्णन्ति, गृहीत्वा च पद्महृदाद् ह्रदोदकमुत्पलानि च गृह्णन्ति । एवं क्षुद्रहिमवन्न्यायेन सर्वेऽप्यवस्थाकारित्वेन कुलकरा पर्वता । मध्यपदलोपे कुलपर्वता हिमवदाऽऽदयः, तेषु वृत्तवैताढ्येषु, सर्वमहाहृदेषु पद्महृदाऽऽदिषु, सर्ववर्षेषु सर्वचक्रवर्तिविजयेषु कच्छाऽऽदिषु वक्षस्कारपर्वतेषु गजदन्ताऽऽकृतिषु माल्यवदादिषु सरलाऽऽकृतिषु च चित्रकूटाऽऽदिषु, तथाऽन्तरनदीषु ग्राहावत्याऽऽदिषु, विभाषेत वदेत्, पर्वतेषु तु तुवरादीनां, ह्रदेषूत्पलाऽऽदीनां कर्मक्षेत्रेषु मागधाऽऽदितीर्थोदकमृदां, नदीषूदकोभयतटमृदां ग्रहणं वक्तव्यमित्यर्थः । यावत्पदादेव कुरुपरिग्रहः । तेन कुरुद्वये चित्रविचित्रगिरियमकगिरिकाञ्चनगिरिह्रदशतकेषु यथासम्भव वस्तुजात गृह्णन्ति । यावत्पदात्-पुष्करवरद्वीपार्द्धस्य पूर्वार्द्धमेरौ भद्रशालवने नन्दने सौमनसवने पण्डकवने च सर्वतुवराऽऽदीन् गृह्णन्ति । तथा तस्यैवापरार्द्धे अनेनैव क्रमेण वस्तुजातं गृह्णन्ति । ततो धातकीखण्डपूर्वापरार्द्धयोर्भरताऽऽदिस्थानेषु वस्तुग्रहो वाच्य । ततो जम्बूद्वीपेऽपि तद्ग्रहस्तथैव वाच्यः । कियत्पर्यन्तमित्याह-सुदर्शनो जम्बूद्वीपगतो मेरुस्तस्य भद्रशालवने सर्वतुवरान्, यावत् सिद्धार्थकांश्च सरस च गोशीर्ष चन्दन दिव्यं च सुमनोदामग्रथितपुष्पाणि गृह्णन्ति । एव सौमनसवनात् । सूत्रपाठे पञ्चमीलोपः प्राकृतत्वात् । पण्डकवनाच्च सर्वतुवरान्, यावत् सुमनोदामदर्दरमलयसुगन्धिकान् गन्धान्, दर्दरमलयौ चन्दनोत्पत्तिस्थानिभूतौ, तेन तद्भूवं चन्दनमपि "तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश" इति न्यायेन दर्दरमलयशब्दाभ्यामभिधीयते । ततो दर्दरमलयनामके चन्दने तयोः सुगन्धः परमगन्धो येषु तान् दर्दरमलयसुगन्धिकान् गन्धान् वासान् गृह्णन्ति । गृहीत्वा च इतस्ततो विप्रकीर्णा आभियोग्यदेवा एकत्र मिलन्ति । मिलित्वा च यत्रैव स्वामी तत्रैवोपागच्छन्ति । उपागत्य च तं महार्घं, यावच्छब्दात्-महार्घं महार्हं विपुलमिति पदत्रयम । तीर्थकराभिषेकं तीर्थकराभिषेकयोग्यं क्षीरोदकाऽऽद्युपस्करमुपस्थापयन्ति उपनयन्ति, अच्युतेन्द्रस्य समीपस्थितिं कुर्वन्तीत्यर्थः ।

(२८) अच्युतेन्द्रो यदकरोत्तदाह-

तए णं से अच्चुए देविंदे देवराया दसहिं सामाणिअ-

साहस्सीहिं तायत्तीसाए तायत्तीसएहिं चउहिं लोगपालेहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीयाहिवई-हिं चत्तालीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे तेहिं साभाविएहिं विउव्विएहि अ वरकमलपइट्ठाणेहिं सुर-भिवरवारिपडिपुण्णेहिं चंदणकयचच्चाएहिं आविद्धकंठगु-णेहिं पउमुप्पलपिहाणेहिं करयलसुकुमारपरिग्गहिएहिं अ-ट्ठसहस्सेणं सोवण्णिआणं कलसाणं० जाव अट्ठसहस्सेणं भोमेज्जाणं० जाव सव्वोदएहिं सव्वमट्टिआहिं सव्वतुअरेहिं ०जाव सव्वोसहीहिं सिद्धत्थएहिं सव्विड्ढीए० जाव रवेणं महया महया तित्थयराभिसेएणं अभिसिंचति ।

यावच्छब्दात्-" सव्वज्जुईए " इत्यारभ्य " दुदुहिनिग्घोस-नाइअ " इत्यन्त ग्राह्यम् । महता महता तीर्थकराभिषेकेण, अत्र करणे तृतीया । कोऽर्थः ?-येनाभिषेकेण तीर्थकरा अभिषि-च्यन्ते, तेनेत्यर्थः । अत्राभिषेकशब्देनाभिषेकोपयोगिक्षीरोदादि-जलं ज्ञेयम्, अभिषिञ्चत्यभिषेकं करोतीत्यर्थः ।

(२७) इन्द्राऽऽदयो यत्कुर्वन्ति तदाह-

तए णं सामिस्स महया महया अभिसेअंसि वट्टमाणं-सि इंदाइआ देवा छत्तचामरकलसधूवकडुच्छुअपुप्फगंध० जाव हत्थगया हट्ठतुट्ठ० जाव वज्जसूलपाणी पुरओ चिट्ठंति पंजलिउडा । एवं विजयाणुसारेण० जाव अप्पे-गइआ देवा आसित्तसंमज्जिओवलित्तसित्तसुइसम्मट्ठर-त्थंतराऽऽवणवीहिअं करेंति० जाव गंधवट्टिभूअं । अप्पे-गइआ हिरण्णवासं वासंति । एवं सुवण्णरयणवइर-आभरणपत्तपुप्फफलबीअमल्लगंधवण्ण० जाव चुण्णवासं वासं-ति । अप्पेगइया हिरण्णविहिं भाइंति,एवं०जाव चुण्णविहिं भा-इंति । अप्पेगइआ चउव्विहं वज्जं वाएंति । तं जहा-ततं १, विततं २,घणं ३,झुसिरं ४। अप्पेगइआ चउव्विहं गेअं गायं-ति । त जहा-उक्खित्त १,पायत्तं २,मंदाइयं ३,रोइआवसाणं ४ । अप्पेगइआ चउव्विहं णट्टं णच्चंति । तं जहा-अंचिअं १, दुअं२,आरभडं ३,भसोलं ४। अप्पेगइआ चउव्विहं अभिण-य अभिणयंति । तं जहा-दिट्ठंतिअं१,पाडिस्सुइअं २,सामण्णो-वणिवाइअं ३,लोगमज्झावसाणिअं ४। अप्पेगइआ बत्तीसइ-विहं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति । अप्पेगइआ ओप्पायनिवायं, निवायओप्पायं,संकुचिअपसारिअं०जाव भंतसंभंतणाम दि-व्वं नट्टविहिं उवदंसंतीति । अप्पेगइआ तंडवेंति,अप्पेगइआ लासेंति,अप्पेगइआ पीणेंति । एवं बुक्कारेंति,अप्फोडेंति,वग्गं-ति,सीहणायं णयंति । अप्पेगइया सव्वाइं करेंति । अप्पेगइआ हयहेसिअं करेंति । एवं हत्थिगुलुगुलाइअं,रहघणघणाइअं । अप्पेगइया तिण्णि वि । अप्पेगइआ उच्छोलेंति, अप्पेगइया पच्छोलेंति,अप्पेगइया तिवइं छिंदंति,पायदद्दरयं करेंति,भूमिच-वेम दलयंति । अप्पेगइआ महया सद्देणं रवेंति;एवं संजोगा वि भासिअव्वा । अप्पेगइआ हक्कारेंति; एवं पुक्कारेंति,थक्कारें-ति, ओवयंति,उप्पयंति,परिवयंति, जलंति, तवंति, पयवंति, गज्जंति,विज्जुआयंति, वासेंति । अप्पेगइआ देवुक्कलिअं क-रेंति । एवं देवा कहकहगं करेंति । अप्पेगइआ दुहुदुहुगं क-रेंति । अप्पेगइआ विकिअभूयाइं रूवाइं विउव्वित्ता प-णच्चंति, एवमाइ विभासिज्जा, जह विजयस्स० जाव सव्वओ समंता आहावेंति, परिधावेंति ॥

अथाऽभिषेकनिगमनपूर्वकमाशीर्वादसूत्रमाह-

तए णं से अच्चुइंदे सपरिवारे सामिं महया अभिसेए-णं अभिसिंचइ, अभिसिंचइत्ता करयलपरिग्गहिअं० जाव मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइ-त्ता ताहिं इट्ठाहिं० जाव जयजयसद्दं पउंजति, पउंजित्ता ०जाव पम्हलसुकुमालाए सुरभीए गंधकासाइए गायाइं लू-हेइत्ता एवं० जाव कप्परुक्खगं पि व अलंकियविभूसिअं करेइ, करेइत्ता० जाव णट्टविहिं उवदंसेइ, उवदंसेइत्ता अच्छेहिं सण्हेहिं रययमएहिं अच्छरसतदुलेहिं भगव-ओ सामिस्स पुरओ अट्ठट्ठमंगलगे आलिहइ । तं जहा-

"दप्पण भद्दासणयं,वद्धमाण वरकलस मच्छ सिरिवच्छा ।
सोत्थिअ णंदावत्ता, लिहिआ अट्ठऽट्ठमंगलगा " ॥१॥

लिहिऊण करेइ उवयारं, किं ते पाडलमल्लिअचंपगअ-सोगपुन्नागचूअमंजरिणवमालिअवउलतिलयकणवीरकुंद-कुज्जगकोरंटपत्तदमणगवरसुरभिगंधगंधिअस्स कयग्गहगहि-अकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्कस्स दसद्धवण्णस्स कुसुमणिअरस्स, तत्थ चित्तं जाणुस्सेहप्पमाणमित्तं ओहनिकरं करेइ, करेइत्ता चंदप्पभरयणवइरवेरुलिअविमलदंडं कंचणमणिरयणभत्ति-चित्तं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवगंधुत्तमाणुविद्धं च धू-मवट्टिं विणिम्मुअंत वेरुलिअमयं कडुच्छुअं पग्गहित्तु प-यए णं धूवं दाऊण जिणवरिंदस्स सत्तऽट्ठपयाइं ओसरित्ता दसंगुलिअं अंजलिं करिअ मत्थयंसि पयओ अट्ठसयविसु-द्धगंथजुत्तेहिं महावित्तेहिं अपुणरुत्तेहिं अत्थजुत्तेहिं संथुण-इ, संथुणइत्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचेइत्ता० जाव करयल-परिग्गहिअं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-णमोऽत्थु ते सिद्ध ! बुद्ध ! णीरय ! समण ! समाहिअ ! समत्त ! समजोगि ! सल्लगत्तण ! णिब्भय ! णीरागदोस ! णिम्मम ! णिस्संग ! णीसल्ल ! माणमूरण ! गुणरयणसीलसागर ! अणंत ! अप्प-मेय ! भविअ ! धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी ! णमोऽत्थु ते अर-हओ त्ति कट्टु वंदइ, णमसइ, णमसइत्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे० जाव पज्जुवासइ ।

(तए णमित्यादि) ततः सोऽच्युतेन्द्रः सपरिवारः स्वामिनम-नन्तरोक्तस्वरूपेण महता महता अतिशयेन महता अभिषेकेण-

अभिषिञ्चति. नितमनसूक्तत्वात्र पौनरुक्त्यम् । अभिषिच्य च करतलपरिगृहीत, यावत्पदसमाह्य प्राग्वत् । मस्तके अञ्जलिं कृत्वा जयेन विजयेन प्रागुक्तस्वरूपेण वर्द्धयत्याशिष प्रयुङ्क्ते, वर्द्धयित्वा च ताभिरिष्टाभिर्गुणोपेताभिर्गीर्भिः श्रोतॄणां वहलभामिर्यावत्करणात्-"कताहिं पिआहिं मणुण्णाहिं वग्गूहिं" इति ग्राह्यम् । अत्र व्याख्या च प्राग्वत् । वाचिनजेयजयशब्दप्रयुङ्क्ते, सम्भ्रमे द्विर्वचनं जयशब्दस्य । अत्र जयेन विजयेन वर्द्धयित्वा पुनर्जयविजयशब्दप्रयोगो, मङ्गलवचने पुनरुक्तिर्न दोषायेत्यभिहित । अथाभिषेकोत्तरकालीन कर्तव्यमाह-(पउजिला इत्यादि) प्रयुज्य च । यावच्छब्दात्-" तप्पढमयाए " इति ग्राह्यम् । अत्र व्याख्या-तेष्वभिषेकोत्तरकालीनकर्तव्येषु प्रथमतया आघ्रात्वेन पक्ष्मलसुकुमारया सुरव्या गन्धकाषायिकया गन्धकाषायद्रव्यपरिकर्मितया,लघुशाटिकयेति गम्यम् । गात्राणि रूक्षयति, एवमुक्तप्रकारेण,यावत् कल्पवृक्षमिवालङ्कृत वस्त्रालङ्कारेण आभरणालङ्कारेण विभूषितं करोति । यावत्करणात्-"लूहित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपइ, अणुलिंपइत्ता नासानीसासवायवोज्झं चक्खुहरं वण्णफरिसजुत्तं हयलालापेलवाइरेगं धवलं कणगखचियंतकम्मं देवदूसजुअलं निअंसावेइ, निअंसावेइत्ता" इति ग्राह्यम् । अत्र व्याख्या प्राग्वत् । नवरं देवदूष्ययुगलं परिधानोत्तरीयरूपं निवासयति, परिधापयतीति कृत्वा च । यावत्करणात्-" सुमिणदाम पिनद्धावेइ " इति ग्राह्यम् । नाट्यविधिमुपदर्शयति । उपदर्श्य च अच्छैः श्लक्ष्णैः रजतमयैरच्छरसतण्डुलैः भगवतः स्वामिनः पुरतोऽष्टमङ्गलकान्यालिखति । तद्यथा-" दप्पणे " इति पद्य सुगमम् । मङ्गलोल्लेखनोत्तरकृत्यमाह-(लिहिऊण त्ति) अनन्तरोक्तान्यष्टमङ्गलानि लिखित्वा करोत्युपचारमित्याद्यारभ्य कडुच्छुकग्रहणपर्यन्तं सूत्रं चक्ररत्नपूजाधिकारलिखितव्याख्यातो व्याख्येयम् । तत. प्रयत. सन् यथा बालभट्टारकस्य धूपधूमाकुले अक्षिणी न भवतस्तथा प्रयत्नवान् धूप दत्वा जिनवरेन्द्राय । सूत्रे षष्ठी आर्षत्वात् । अङ्गपूजार्थं प्रत्यासन्नेन मया निरुद्धो भगवद्दर्शनमार्गोऽतोऽहं मा परेषां दर्शनामृतपानविघ्नकारी स्यामिति सप्ताष्टानि पदान्यपसृत्य दशाङ्गुलिकं मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वा प्रयतो यथास्थानमुदात्तादिस्वरोच्चारेषु प्रयत्नवानष्टशतैरष्टोत्तरशतप्रमाणैर्विशुद्धेन ग्रन्थेन पाठेन युक्तैर्महावृत्तैर्महाकाव्यैर्यथा महाचरित्रैरपुनरुक्तैरर्थयुक्तैश्चमत्कारिव्यङ्ग्ययुक्तैः संस्तौति । संस्तुत्य च वाम जानुम् अञ्चति उत्पाटयति, अञ्चित्वा च यावत्पदात्-" दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निवाडेइ " इति ग्राह्यम् । अत्र व्याख्या प्राग्वत् । करतलपरिगृहीत मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वा एव वक्ष्यमाणमवादीत् । यदवादीत्तदाह-(नमोऽत्थु ते सिद्ध! बुद्ध! इत्यादि) नमोऽस्तु ते तुभ्य हे सिद्ध ! एव बुद्धेत्यादिपदानि सम्बन्धनीयानि । तत्र हे बुद्ध ! ज्ञाततत्त्व ! हे नीरज: कर्मरजोरहित ! हे श्रमण ! तपस्विन् ! हे समाहित ! अनाकुलितचित्त ! हे समाप्त ! कृतकृत्यत्वात् । अथवा-सम्यक् प्रकारेणाऽऽप्त ! अविसंवादिवचनत्वात् । हे समयोगिन् ! कुशलमनोवाक्काययोगित्वात् । शल्यकर्तन ! निर्भय ! नीरागद्वेष ! निर्मम ! निस्सङ्ग ! निर्लेप ! निःशल्य ! (माणमूरण !) मानमर्दन ! गुणेषु रत्नमुत्कृष्टं यच्छील ब्रह्मचर्यं तस्य सागर ! अनन्तज्ञानाऽऽत्मकत्वात् । अप्रमेय ! प्राकृतज्ञानापरिच्छेद्य ! अशरीरजीवस्वरूपस्य छद्मस्थै परिच्छेत्तुमशक्यत्वात् इति । अथवाऽप्रमेय !, भगवद्गुणानामनन्तत्वेन संख्यातुमशक्यत्वात् । भव्य ! मुक्तिगमनयोग्य ! प्रत्यासन्नभवसिद्धिकत्वात् । धर्मेण धर्मरूपेण वरेण प्रधानेन भावचक्रेणाऽत् चातुरन्तेन चतुर्गत्यन्तकारिणा चक्रेण वर्त्तत इत्येवंशीलः,तस्य सम्बोधन हे धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्तिन् ! नमोऽस्तु तुभ्यम् अर्हते जगत्पूज्याय, इति कृत्वेति सम्मुख्य, वन्दते, नमस्यतीत्यादि सूत्र प्राग्वत् । अत्र विशेषवर्णकस्याऽऽदौ 'नमोऽत्थु ते' इत्युक्त्वा पुनरपि 'नमोऽत्थु ते' इत्युक्तं, तत्र पुनरुक्तये, प्रत्युत सामञ्जस्याय, यतो जगत्त्रयप्रतिस्रोतःप्रवाहिभिरो जगत्त्रयपतेरनन्तद्रसाधारणैकैकविशेषणविभावनात् समुद्भूतप्रणामपरिणामेन हरिणा प्रतिविशेषणं 'नमोऽस्तु ते' इति न प्रयुक्तमिति । इमानि च सर्वाणि विशेषणानि भव्यपदवर्जानि ' भाविनि भूतवदुपचारात् । ' अन्यथाऽभिषेकसमये जिनानामेतादृशविशेषणमयुक्तम्, प्रसंगत्वादिति ।

(३०) अथावशिष्टानामिन्द्राणां वक्तव्यं लाघवादाह-

एवं जहा अच्चुअस्स तहा० जाव ईसाणस्स भाणिअव्वं । एवं भवणवइवाणमंतरजोइसिआ य सूरपज्जवसाणा सएणं सएणं परिवारेणं पत्तेअं पत्तेअं अभिसिंचंति । तए णं ईसाणे देविंदे देवराया पंच ईसाणे विउव्वइ,विउव्वइत्ता एगे ईसाणे भगवं तित्थयरं करयलसंपुडेणं गिण्हइ,गिण्हइत्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे; एगे ईसाणे पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ; दुवे ईसाणा उभओ पासिं चामरुक्खेवं करेंति; एगे ईसाणे पुरओ सूलपाणी चिट्ठइ ।

(एवं जहा इत्यादि) एवमुक्तविधिना यथाऽच्युतेन्द्रस्याऽभिषेककृत्य तथा प्राणतेन्द्रस्य यावदीशानेन्द्रस्यापि भणितव्य,शक्राभिषेकस्य सर्वतश्चरमत्वात् । एव भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्काश्चेन्द्राः सूर्यपर्यवसाना' स्वकेन २ परिवारेण सह प्रत्येक प्रत्येकमभिषिञ्चन्ति । (तए णमित्यादि) ततस्त्रिषष्टीन्द्राभिषेकानन्तरमीशानो देवेन्द्रो देवराजा पञ्चेशानान् विकुर्वति,एक ईशान पञ्चधा भवति । एतदेव विभजति-तत्र एक ईशानो भगवन्त तीर्थकर करतलसम्पुटेन गृह्णाति, गृहीत्वा च सिंहासनवरगत' पूर्वाभिमुख. सन्निषण्ण' । एक ईशान पृष्ठत आतपत्र धरति । द्वावीशानावुभयो' पार्श्वयो' चमरोत्क्षेप कुरुत' । एक ईशान पुरत शूलपाणिस्तिष्ठत्यूर्द्धस्थो भवति ।

(३१) अथावशिष्टशक्रस्याभिषेकावसरः-

तए णं से सक्के देविंदे देवराया आभिओगे देवे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एसो वि तह चेव अभिसेआणत्तिं देइ, ते वि तह चेव उवणेंति । तए णं से सक्के देविंदे देवराया भगवओ तित्थयरस्स चउद्दिसिं चत्तारि धवलवसभे विउव्वइ, सेए संखदलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरययणिगरप्पगासे पासाइए दरसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे । तए णं तेसिं चउण्हं धवलवसभाणं अट्ठहिं सिंगेहिंतो अट्ठ तोयधाराओ णिग्गच्छंति । तए णं ताओ अट्ठ तोयधाराओ उद्धं वेहासं समुप्पयंति,समुप्पयंतित्ता एगओ मिलायंति, मिलायंतित्ता भगवओ तित्थयरस्स मुद्धाणंसि निवयंति । तए णं से सक्के

देविंदे देवराया चउरासीईए सामाणिअसाहस्सीहिं,०एअस्स वि तहेव अभिसेओ भाणिअव्वो० जाव 'णमोऽत्थु ते अरहो' त्ति कट्टु वंदइ, णमंसइ० जाव पज्जुवासइ ।

सम्प्रत्यन्यप्राणिः शक्रो यदकरोत्तदाह-(तए णमित्यादि) तत ईशानेन्द्रेण भगवतः करसम्पुटग्रहणानन्तरं स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा आभियोग्यान् देवान् शब्दयति, शब्दयित्वा च एषोऽपि तथैवाऽच्युतेन्द्रवदभिषेकविषयिकामाज्ञप्तिं ददाति, तेऽप्याभियोग्यास्तथैवाऽच्युतेन्द्राभियोग्यदेवा इवाभिषेकवस्तून्युपनयन्ति । अथ शक्रः किं किं चकारेत्याह-(तए णमित्यादि) ततोऽभिषेकसामग्र्युपनयनानन्तरं स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा भगवतस्तीर्थकरस्य चतुर्दिशि चतुरो धवलवृषभान् विकुर्वति । श्वेतान् । श्वेतत्वमेव द्रढयति-शङ्खस्य दल चूर्णं विमलनिर्मलोऽत्यन्तनिर्मलो यो दधिघनो दधिपिण्डो,बद्धदधीत्यर्थः । गोक्षीरफेनः प्रतीतः, रजतनिकरोऽपि । एतेषामिव प्रकाशो येषां ते तथा, तान् (पासाईए इत्यादि) प्राग्वत् । तदनन्तरं किमित्याह-(तए णमिति) ततस्तेषां चतुर्णां धवलवृषभानामष्टभ्यः शृङ्गेभ्योऽष्टौ तोयधारा निर्गच्छन्ति । ततस्ता अष्टौ तोयधारा ऊर्ध्वं विहायसि उत्पतन्ति ऊर्ध्वं चलन्ति, उत्पत्य च एकतो मिलन्ति, मिलित्वा च भगवतस्तीर्थकरस्य मूर्ध्नि निपतन्ति । अथ शक्रः किं कृतवानित्याह-(तए णमिति) ततः स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा चतुरशीत्या सामानिकसहस्रैर्यावत्सामानिकैर्यावत् संपरिवृतस्तैः स्वाभाविकवैकुर्विककलशैर्महता तीर्थकराभिषेकेणाभिषिञ्चति, इत्यादिसूत्रोक्ताभिषेकविधिः शक्रस्याऽच्युतेन्द्रवद्दृष्टव्य इति । लाघवमाह-एतस्याऽपि तथैवाभिषेको भणितव्य । कियदन्त इत्याह-यावन्नमोऽस्तु तेऽर्हते इति कृत्वा वन्दते, नमस्यति, नान्यथा यावत् पर्युपास्ते इति ।

(३२) अथ कृतकृत्यः शक्रो भगवतो जन्मपुरप्रापणायोपक्रमते-

तए णं से सक्के देविंदे देवराया पंच सक्के विउव्वइ, विउव्वइत्ता एगे सक्के भगवं तित्थयरं करयलपुडेणं गिण्हइ, एगे सक्के पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ, दुवे सक्का उभओ पासिं चामरुक्खेवं करेंति, एगे सक्के वज्जपाणी पुरओ पकड्डइ । तए णं से सक्के चउरासीईए सामाणिअसाहस्सीहिं० जाव अन्नेहि अ भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि अ सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए ०जाव णाइअरवेणं ताए उक्किट्ठाए ०जाव जेणेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणणयरे, जेणेव जम्मणभवणे, जेणेव तित्थयरमाया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भगवं तित्थयरं माउए पासे ठवेइ, ठवेइत्ता तित्थयरपडिरूवगं पडिसाहरइ, पडिसाहरइत्ता ओसोवणिं पडिसाहरइ, पडिसाहरइत्ता एगं महं खोमजुअलं कुंडलजुअलं च भगवओ तित्थयरस्स उस्सीसगमूले ठवेइ, ठवेइत्ता एगं महं सिरिदामगंडं तवणिज्जलंबूसगं सुवण्णपयरगमंडिअं णाणामणिरयणविविहहारद्धहारउवसोहिअसमुदयं भगवओ तित्थयरस्स उल्लोअंसि निक्खिवइ, तं णं भगवं तित्थयरं अणिमिसाए दिट्ठीए पेहमाणे पेहमाणे सुहं सुहेणं अभिरममाणे चिट्ठइ ।

(तए णमित्यादि) प्राग्वत् । अथ जन्मनगरप्रापणाय सूत्रम्-(तए णमिति) ततः स शक्रः पञ्चरूपविकुर्वणानन्तरं चतुरशीत्या सामानिकसहस्रैर्यावत् सपरिवृतः सर्वर्द्ध्या यावन्नादितरवेण तयोत्कृष्टया दिव्यया देवगत्या व्यतिव्रजन् व्यतिव्रजन् यत्रैव भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मनगरं, यत्रैव च जन्मभवन, यत्रैव तीर्थकरमाता, तत्रैवोपगच्छति । उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं मातुः पार्श्वे स्थापयति । स्थापयित्वा च तीर्थकरप्रतिबिम्बं प्रतिसंहरति । प्रतिसंहृत्य चावस्वापिनीं प्रतिसंहरति । प्रतिसंहृत्य चैकं महत् क्षौमयोर्दुकूलयोर्युगलं कुण्डलयुगलं भगवतस्तीर्थकरस्योच्छीर्षकमूले स्थापयति । स्थापयित्वा च एकं महान्तं श्रीदाम्नां शोभावद्विचित्ररत्नमालानां गण्ड गोल वृत्ताऽऽकारत्वात् । काण्डं च समूहः, श्रीदामगण्डं श्रीदामकाण्डं वा, भगवतस्ती [illegible] ये निक्षिपत्यवलम्बयतीति क्रियायोगः । तपनीयेत्यादि सूत्रं प्राग्वत् । नानामणिरत्नानां ये विविधहारार्द्धहारास्तैरुपशोभितः समुदायः परिकरो यस्य तत् तथा । अयमर्थः-श्रीमत्यो रत्नमालास्तथा प्रथयित्वा गोलाकारेण कृताः यथा चन्द्रगोपके मध्यकुम्बनकता प्रापिताः, हारार्द्धहाराश्च परिकरकुम्बनकताम् । उक्तस्वरूपकुम्बनकविधाने प्रयोजनमाह-(त णमिति प्राग्वत्) भगवांस्तीर्थकरो निर्निमेषया दृष्ट्याऽप्याद्रेण प्रेक्ष्यमाणः प्रेक्ष्यमाणः सुखं सुखेनाभिरममाणो रतिं कुर्वंस्तिष्ठति ।

(३३) अथ वैश्रवणद्वारा शक्रस्य कृत्यमाह-

तए णं से सक्के देविंदे देवराया वेसमणं देवं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! बत्तीसं हिरण्णकोडीओ बत्तीसं सुवण्णकोडीओ बत्तीसं रयणकोडीओ बत्तीसं णंदाइं बत्तीसं भद्दाइं सुभगे सुभगरूवजोव्वणलावण्णे अ भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणंसि साहराहि, साहराहित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि । तए णं से वेसमणे देवे सक्केणं० जाव विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता जंभए देवे सद्दावेइ,सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! बत्तीसं हिरण्णकोडीओ०जाव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणंसि साहरह, एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह । तए णं ते जंभगा देवा वेसमणेणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ० जाव खिप्पामेव बत्तीसं हिरण्णकोडीओ० जाव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणंसि साहरंति, साहरंतित्ता जेणेव वेसमणे देवे तेणेव०जाव पच्चप्पिणंति । तए णं से वेसमणे देवे जेणेव देविंदे देवराया० जाव पच्चप्पिणइ ॥

(तए णमित्यादि) ततः स शक्रो देवेन्द्रो देवराजा वैश्रवणमुत्तरदिक्पाल देवं शब्दयति, शब्दयित्वा वैश्रवणमवादीत्-क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाः! द्वात्रिंशतं हिरण्यकोटीः, द्वात्रिंशतं सुवर्णकोटीः,

द्वात्रिंशतं नन्दानि वृत्तलोहाऽऽसनानि, द्वात्रिंशतं भद्राणि भद्राऽऽसनानि, सुभगानि शोभनानि, सुभगयौवनलावण्यानि रूपकाणि यत्र तानि तथा। सूत्रे पदव्यत्यय आर्षत्वात्। चः समुच्चये। भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मभवने संहराऽऽनयेत्यर्थः। संहृत्य च एनामाज्ञप्तिं प्रत्यर्पय। ततः स वैश्रमणो देवः शक्रेण, यावत्—" देविंदेण देवरण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए एवं देवो! तह त्ति आणाए।" इति ग्राह्यम्। विनयेन वचनं प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य च जृम्भकान् तिर्यग्लोके घंताढ्यद्वितीयश्रेणिवासित्वेन तिर्यग्लोकगतनिधानाऽऽदिषेदिनः शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीत्। शेषमनुवादसूत्रत्वात् सुबोधम्।

(३४) अथास्मासु स्वस्थानं प्राप्तेषु निःसोदर्यमौर्ख्याधिके भगवति मा दुष्टं दुर्दर्षि निक्षिपन्त्वित्युद्घोषणा—

तए णं से सक्के देविंदे देवराया आभिओगे देवे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! भगवओ तित्थयरस्स जम्मणणयरंसि सिं[illegible] महापहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वदह—हंद! सुणंतु भवंतो बहवे भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिआ देवा य देवीओ अ, जे णं देवाणुप्पिया! तित्थयरस्स तित्थयरमाउए वा असुभं मणं पधारेइ, अज्जगमंजरिआ इव सयधा मुद्धाणं फुट्टउ त्ति कट्टु घोसणं घोसेह, घोसेइत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह। तए णं ते आभिओगा देवा० जाव एवं देवो! त्ति आणाए पडिसुणंति, पडिसुणतित्ता सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतिआओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमंतित्ता खिप्पामेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणणगरंसि सिंघाडग० जाव एवं वयासी—हंद! सुणंतु भवंतो बहवे भवणवइ० जाव जे णं देवाणुप्पिआ! तित्थयरस्स० जाव फुट्टिहि त्ति कट्टु घोसणगं घोसंति, घोसंतित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणंति ॥

तदुपायार्थमाह-(तए णमित्यादि) ततो वैश्रवणेनाऽऽज्ञाप्रत्यर्पणानन्तरं स शक्रः देवेन्द्रो देवराजा आभियोग्यान् देवान् शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीत्-क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाः! भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मनगरे शृङ्गाटक० यावन्महापथेषु महता महता शब्देन उद्घोषयन्त उद्घोषयन्त एवं वदत-'हंत' इति प्राग्वत्। शृण्वन्तु भवन्तो बहवो भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका देवाश्च देव्यश्च, योऽनिर्दिष्टनामा देवानां प्रिय! इति सम्बोधनं, भवतां मध्ये तीर्थकरस्य तीर्थकरमातुर्वोपर्यशुभं मनः प्रधारयति दुष्टं सङ्कल्पयति, तस्य आर्यकमञ्जरिकेव-आर्यको वनस्पतिविशेषो, यो लोके " आजउ " इति प्रसिद्धः, तस्य मञ्जरिका इव मूर्द्धा शतधा स्फुटत्विति कृत्वेत्युक्त्वा घोषणं घोषयत, घोषयित्वा चैतामाज्ञप्तिकां प्रत्यर्पयत इति ॥

(३५) अष्टाह्निका-

तए णं ते बहवे भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिया देवा भगवओ तित्थयरस्स जम्मणमहिमं करेंति, करेंतित्ता जेणेव णंदीसरवरदीवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता अट्ठाहियाओ महामहिमाओ करेंति, करेंतित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पडिगया ॥

अथ निगमनसूत्रमाह-(तए णमिति) ततस्ते बहवो भवनपत्यादयो देवा भगवतस्तीर्थकरस्य जन्ममहिमानं कुर्वन्ति, कृत्वा च सिद्धमर्माहितकार्ये मङ्गलार्थं यत्रैव नन्दीश्वरद्वीपस्तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्याष्टाह्निकामहामहिमा अष्टदिनानिर्वर्तनीयोत्सवविशेषान् कुर्वन्ति, बहुवचनं चात्र सौधर्मेन्द्राऽऽदिभिः प्रत्येकं क्रियमाणत्वात्। अथ यस्येन्द्रस्य यस्मिन् अञ्जनगिरौ येषु च दधिमुखगिरिषु तल्लोकपालानामष्टाह्निकाधिकारः स ऋषभदेवनिर्वाणाधिकारे उक्त इति नात्र लिख्यते। ज० ५ वक्ष०।

(३६) इन्द्रसंख्या-

भवणिंद वीस वंतर-पहु बत्तीसं च चंदसूरा दो।
कप्पसुरिंदा दस इय, हरिं चउसट्ठि त्ति जिणजम्मे ॥१०४॥

भवनपतीनां विंशतिरिन्द्राः २०। व्यन्तराणां प्रभव इन्द्रा द्वात्रिंशत् ३२। द्वौ चन्द्रसूर्यौ २। द्वादशकल्पानां देवलोकानां दश सुरेन्द्राः १०। इति इन्द्राः चतुष्षष्टिसंख्या संयुक्ता षष्ट्यिन्ति आगच्छन्ति जिनजन्मनि। इति गाथार्थः ॥ १०४ ॥ सत्त० ३५ द्वार। आ० चू०। ज०।

(३७) उपदेशः-

से बेमि जे य अतीता, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति-सव्वे पाणा० जाव सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासए समिच्च लोगं खेयन्नेहिं पवेइए, इति एवं से भिक्खू विरते पाणातिवायतो० जाव परिग्गहातो णो दंतपक्खालणेणं दंतं पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं, णो धूवणे, णो तं परिआविएज्जा ॥४७॥

सोऽहं ब्रवीम्येतत् स्वमनीषिकतया, किं तु सर्वतीर्थकराऽऽज्ञयेति दर्शयति-(जे अतीता इत्यादि) ये केचन तीर्थकृत ऋषभाऽऽद्योऽतीता, ये च विदेहेषु वर्त्तमानाः सीमन्धराऽऽदयो, ये चागामिन्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यन्ति पद्मनाभाऽऽदयोऽर्हन्तोऽमरासुरनरेश्वराणां पूजार्हा, भगवन्त ऐश्वर्याऽऽदिगुणकलापोपेता, सर्वेऽप्येवं ते व्यक्तवाचा आख्यान्ति प्रतिपादयन्ति। एवं सदेवमनुजायां पर्षदि भाषन्ते स्वत एव, न यथा बौद्धानां बोधिसत्त्वप्रभावात् कुड्यादिदेशनत इत्येव प्रकर्षेण ज्ञापयन्ति हेतूदाहरणाऽऽदिभिः, एवं प्ररूपयन्ति नामाऽऽदिभिः, यथा सर्वे प्राणा न हन्तव्या इत्यादि। एष धर्मः प्राणिरक्षणलक्षणः प्राग्व्यावर्णितस्वरूपो ध्रुवोऽवश्यम्भावी, नित्यः क्षान्त्यादिरूपेण शाश्वत इत्येवं चाभिसमेत्य, केवलज्ञानेनावलोक्य लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं, खेदज्ञैस्तीर्थकृद्भिः प्रवेदितः कथित इत्येवं सर्वं ज्ञात्वा स भिक्षुर्विदितवेद्यो विरतः प्राणातिपातात्, यावत्परिग्रहादिति। एतदेव दर्शयितुमाह-(णो दंत इत्यादि) इह पूर्वोक्तमहाव्रतपालनार्थमनेनोत्तरगुणाः प्रतिपाद्यन्ते। तत्रापरिग्रहो निष्किञ्चनः स साधुर्नो दन्तप्रक्षालनेन कदम्बाऽऽदिकाष्ठेन दन्तान् प्रक्षालयेत्, तथा नो अञ्जनं सौवीराऽऽदिकं विभूषार्थमक्ष्णो-

दद्यात्, तथा नो वमनविरेचनाऽऽदिकाः क्रियाः कुर्यात्, तथा नो शरीरस्य, स्त्रीयनखानां वा धूपनं कुर्यात्,नापि कासाऽऽद्यपनयनार्थं त धूमं योगवर्तिनिष्पादितमापिबेदिति । ४६ । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । आ० म० ।

धर्मोपायस्य देशका इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

धम्मोवाओ पवयण-महवा पुव्वाइं देसया तस्स ।
सव्वजिणाण गणहरा, चोद्दसपुव्वी उ जे जस्स ॥

धर्मोपायो नाम प्रवचनं, तदन्तरेण धर्मस्यासम्भवात् । अथवा-पूर्वाणि । तस्य धर्मोपायस्य देशकाः सर्वजिनानां गणधराः, तेषां मूलसूत्रकर्तृत्वात् । अथवा-ये यस्य तीर्थकृतश्चतुर्दशपूर्विणस्ते धर्मोपायदेशकाः, परिपूर्णश्रुततया तेषां यथाऽवस्थितवस्तुदेशकत्वात् ।

सामाइयाऽऽइया वा, वयजीवनिकायभावणा पढमं ।
एसो धम्मोवाओ, जिणेहिँ सव्वेहिँ उवइट्ठो ॥

वाशब्दः प्रकारान्तरताद्योतनार्थः । अथवा-या प्रथमं व्रतजीवनिकायभावना महाव्रतविषयपड्जीवनिकाययथावस्थितपरिज्ञानसम्यक्श्रद्धानसंरक्षणाध्यवसायरूपा भावना, सामायिकाऽऽदिका रागद्वेषपरिहारेण समभावाऽऽदिका,एष धर्मोपायः, तमन्तरेण सम्यक्चारित्ररूपधर्मासम्भवात् । इत्थम्भूतश्च धर्मोपायो जिनैः सर्वैरप्युपदिष्टः, ततो धर्मोपायस्य देशकास्त एव जिना इति । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

(३८) उपकरणसंख्या-

पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया ।
पडलाइँ रयत्ताणं, च गोच्छओ पायनिज्जोगो ॥१७८॥
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपुत्ती ।
बार जिणकप्पियाणं, थेराण समत्तकमिपट्टो ॥१७९॥

साध्वीनां पञ्चविंशत्युपकरणानि-

ओग्गहऽणंतगपट्टो, अद्धोरुय चलणिया य बोधव्वा ।
अब्भिंतरबाहिनिय-सणी अ तह कंचुए चेव ॥१८०॥
उक्कच्छिय वेकच्छिय-संघामी खंधकरणि उवगरणा ।
पुव्वित्ति तेर कमढग-सहिया अज्जाण पणवीसं ॥१८१॥

(गाथार्थः द्वि० भागे 'उवगरण' शब्दे १०६१ पृष्ठे प्ररूपितः) सप्त पात्रोपकरणानि, सप्त देहोपकरणानि, एतानि साधूनां स्थविरकल्पिकानाम् । द्वादश जिनकल्पिकाना, साध्वीनां पञ्चविंशत्युपकरणानि । सत्त० १२९ द्वार ।

(३९) उपसर्गः-

उवसग्गा पासस्स य, वीरस्स य न उण सेसाणं । (१६९)

उपसर्गा देवमनुजाऽऽदिकृता श्रीपार्श्वनाथस्य,वीरजिनस्य च संजाताः,न पुन शेषाणां द्वाविंशतिजिनानाम् । अय भावार्थः- श्रीऋषभवीरवर्जानां द्वाविंशतिजिनानां प्रमादो नाभूत, श्रीपार्श्ववीरवर्जाना द्वाविंशतिजिनानामुपसर्गा नाभूवन् । सत्त० ८६ द्वार । आ० चू० । कल्प० । आव० । सू०।

(४०) उत्सेधाङ्गुलेन,आत्माङ्गुलेन च देहमानं जिनाना कथ्यते-

पण धणुसय पन्नऽट्ठसु,दस पणसु पणऽट्ठसु य धणुहहाणी ।
नवकर सत्तुस्सेहो, आयंगुलि वीससय मव्वे ॥ १३१ ॥
चउ धणु वारस दुगं, उसहायंगुलपमाणअगुव्वयं ।
तेणुमहो विंससयं, बारंगुलहाणि जा सुविही ६ ॥१३२॥
वीसंसऽड्ढअंगुलहा-णि जावऽणंतो तयऽद्ध जा नेमी ।
सगवीसंसा पासे, वीरे गवीसं सपन्नासा ॥१३३॥

तत्रोत्सेधाङ्गुलेन ऋषभजिनः पञ्चशत (५००) धनुर्देहमानः १ । (पन्नऽट्ठसु त्ति) ततः पञ्चाशद्धनुर्हानिः क्रियते अष्टसु जिनेषु । यथा-अजितः सार्द्धचत्वारि धनुःशतानि (४५०) देहमानः २। सम्भवः चतुःशत (४००) धनुर्देहमानः ३। अभिनन्दनः(३५०) सार्द्धत्रिशच्छतधनुर्देहमान. ४ । सुमतिः (३००) त्रिशच्छतधनुर्देहमानः ५ । पद्मप्रभः (२५०) सार्द्धद्विशतधनुर्देहमानः ६ । सुपार्श्वः (२००) द्विशतधनुर्देहमानः ७ । चन्द्रप्रभः (१५०) सार्द्धशतधनुर्देहमान. ८ । सुविधि (१००) शतधनुर्देहमानः ९ । (दस पणसु ति) दशधनुर्हानि पञ्चसु जिनेषु क्रियते । यथा-शीतलः (९०) नवतिधनुर्देहमानः१० । श्रेयांसः (८०) अशीतिधनुर्देहमान ११ । वासुपूज्यः (७०) सप्ततिधनुर्देहमान. १२ । विमल (६०) षष्टिधनुर्देहमान १३ । अनन्तः (५०) पञ्चाशद्धनुर्देहमानः १४ । (पणऽट्ठसु य त्ति) अष्टसु जिनेषु पञ्चधनुर्हानिः क्रियते । यथा-धर्म (४५) पञ्चचत्वारिंशद्धनुर्देहमान १५ । शान्ति (४०) चत्वारिंशद्धनुर्देहमानः १६ । कुन्थुजिन (३५) पञ्चत्रिंशद्धनुर्देहमान १७ । अर (३०) त्रिंशद्धनुर्देहमानः १८ । मल्लि (२५) पञ्चविंशतिधनुर्देहमान १९ । मुनिसुव्रत (२०) विंशतिधनुर्देहमान २० । नमि (१५) पञ्चदशधनुर्देहमानः २१ । नेमि. (१०) दशधनुर्देहमान २२। (नवकर त्ति) नवकरदेहमानः पार्श्वजिन २३ । (सत्तुस्सेहो त्ति) सप्तोत्सेध सप्तहस्तोन्नतो वीर २४ । सत्त० ४६ द्वार । " पासे ण अरहा पुरिसादाणीयस्स वज्जरिसहसमचउरसंठाणसंठिए नवरयणिओ उड्ढं उच्चत्तेण होत्था । " स्था० ६ ठा० । (आयगुलवीस सय सव्वे त्ति) आत्माङ्गुलैः सर्वे जिनाश्चतुर्विंशतिरपि विंशत्यधिकशताङ्गुलप्रमाणदेहा ज्ञेयाः । इति गाथार्थः । सत्त० ५० द्वार । प्रमाणाङ्गुलैर्जिनानां देहमानमाह-तत्र उत्सेधाङ्गुलघटितानि चत्वारि धनूंषि, तथा एकधनुषो द्वादशांशाः क्रियन्ते, तादृशाः शाधिकमृषभदेवस्याऽऽत्माङ्गुलं तथा प्रमाणाङ्गुलमपि भवति । तेनाङ्गुलेन ऋषभो विंशत्यधिकं शतं भवति । एतावता ऋषभदेहमानम् (१२०) अङ्गुलम् १ । (बारंगुलहाणि जा सुविहि त्ति) ततो द्वादशाङ्गुलहानि क्रियते,यावत् सुविधिर्नवमजिनो भवति । यथा अजितस्याष्टोत्तरशतम् (१०८) अङ्गुल देहमानम् २ । सम्भवस्य (९६) षण्णवत्यङ्गुलानि ३ । अभिनन्दनस्य (८४) चतुरशीत्यङ्गुलम् ४ । सुमतेः (७२) द्विसप्ततिः ५ । पद्मप्रभस्य (६०) षष्टि ६ । अष्टचत्वारिंशत (४८) सुपार्श्वस्य ७ । चन्द्रप्रभस्य (३६) षट्त्रिंशत् ८ । सुविधे (२४) चतुर्विंशत्यङ्गुलम् ९ । (वीसंसऽड्ढअंगुलहा-णि जावऽणंतो त्ति) विंशत्यंशयुक्ताङ्गुलार्द्धिकहानिः क्रियते यावदनन्तः । शीतलजिनादारभ्यानन्त यावत् प्रमाणाङ्गुलस्यैकेन, तथैकस्य प्रमाणाङ्गुलस्य पञ्चाशद्भागा क्रियन्ते, तत्र तादृशैः विंशतिभागैश्च हानिः क्रियते,यथा-शीतलस्य २१ एकविंशतिरङ्गुलानि, तथा एकस्य प्रमाणाङ्गुलस्य पञ्चाशद्भागा क्रियन्ते, तादृशविंशतिहीने तादृशाः त्रिंशद्भागा देहमानम् १० । श्रेयांसस्य १९ एकोनविंशत्यङ्गुलानि दशांशा. पञ्चाशा. ५० देहमानम् ११ । वासुपूज्यस्याङ्गुला. १६ षोडश ४० अंशा पञ्चाशा ५० । १२ । विमलस्याङ्गुला. १४ चतुर्दश २० विंशत्यंश । १३ । अनन्तस्याङ्गुला १२ द्वादश

१४ । (तयऽद्ध जा नेमि त्ति) तदर्द्धहानिर्यावन्नेमिः । धर्मस्य १० दशाङ्गुलाः ४० चत्वारिंशत्यशाः १५ । शान्तेः ६ नवाङ्गुलाः ३० त्रिंशदंशाः १६ । कुन्थुनाथस्याङ्गुला ८ अष्टौ २० विंशदंशा. ५० पञ्चाशाः १७ । अरनाथस्य ७ सप्ताङ्गुलाः १० दशांशाः ५० पञ्चाशा. १८ । मल्लिनाथस्य षडङ्गुला. १९ । मुनिसुव्रतस्य ४ चत्वार्यङ्गुलाः ४० चत्वारिंशदशाः ५० पञ्चाशाः २० । नमेः ३ त्र्यङ्गुलाः ३० त्रिंशदशा. २१ । नेमेः २ द्व्यङ्गुल विंशदंशा. ५० पञ्चाशाः २२ । (सगवीसंसा पासे त्ति) पार्श्वस्य २७ सप्तविंशत्यशा. ५० पञ्चाशाः २३ । (विरेग वीस त्ति) वीरस्यैकविंशत्यंशा २४ । (सपन्नास त्ति) एकाङ्गुलस्य पञ्चाशदशाः क्रियन्ते तादृशा एकविंशत्यशाः श्रीवीरस्य देहमानम् । एष पञ्चाशशब्दः शीतलजिनादारभ्य वीरजिन यावद् ज्ञेयः । सत्त० ४१ द्वार ।

(४१) चतुर्विंशतिजिनानामवधिज्ञानिमुनिसंख्या--

अह ओहिनाणि नवई, चउनवई ठाणवइ अट्ठणवई ।
एयाइ सयाइ तओ, इगार दस नव अट्ठसहस्सा ॥२५५॥
चुलसी बिसयरि सट्ठी, चउपन्नऽमयाल तह य तेयाला ।
छत्तीसं तीससया, पणवी छव्वीस बात्तीसा ॥ २५६ ॥
अट्ठार सोल पनरस, चउरस तेरस सया अवधिनाणी ।
लक्खेक तिन्तिसहस्-स्स चतारि सयाइँ सव्वंके ॥२५७॥

ऋषभस्यावधिज्ञानिमुनयो नवतिशतानि १, एवं सर्वत्र क्रमेण जिनानामवधिज्ञानिमुनिसंख्या ज्ञेया । तथाहि-चतुर्नवतिशतानि २,षण्णवतिशतानि ३,अष्टनवतिशतानि ४। (तउ त्ति)एकादशसहस्राणि ५, दशसहस्राणि ६, नवसहस्राणि ७, अष्टौ सहस्राणि ८। (चुलसी त्ति)चतुरशीतिशतानि ९,द्विसप्ततिशतानि १०, षष्टिशतानि ११,चतु.पञ्चाशच्छतानि १२,अष्टचत्वारिंशच्छतानि १३ तथा च त्रिचत्वारिंशच्छतानि१४, षट्त्रिंशच्छतानि१५,त्रिंशच्छतानि १६; पञ्चविंशतिशतानि १७,षड्विंशतिशतानि १८, द्वाविंशतिशतानि १९। अष्टादशशतानि २०,षोडशशतानि २१,पञ्चदशशतानि २२, चतुर्दशशतानि २३,त्रयोदशशतानि २४। एते चतुर्विंशतिजिनानामवधिज्ञानिमुनयः । सर्वेषामङ्कानां परिगणनमीलने १३३४०० एकं लक्ष त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि चत्वारि शतानि भवन्ति। सत्त० ११८ द्वार ।

(४२) कल्पशोधिमाह-

पुरिमस्स दुव्विसुज्झो, चरमस्स य दुरणुपालणो कप्पो ।
मज्झिमगाण जिणाणं, सुविसुज्झो सुहणुपालणओ ॥२८१॥

प्रथमतीर्थकृद्यतीनां कल्प आचारो दुर्विशोध्य. दुर्बोध्यः, दुःखेन बोध्यते इति दुर्बोध्यः । चरमजिनस्य दुःखेन पाल्यते । मध्यमकानां जिनाना द्वाविंशतिजिनाना सुखेनावबोध्यः, सुखेन अनुपाल्यः । सत्त० १३७ द्वार आ० म० । कल्प० । स्था० ।

पंचहिं ठाणेहिं पुरिमपच्छिमगाणं जिणाणं दुग्गमं भवइ । तं जहा-दुआइक्खं,दुव्विभज्जं,दुप्पस्सं,दुतितिक्खं, दुरणुचरं । पंचहिं ठाणेहिं मज्झिमगाणं जिणाणं सुगमं भवइ । तं जहा-सुआइक्खं,सुविभज्जं, सुपस्सं, सुतितिक्खं, सुरणुचरं ।

सुगमश्चायं, नवर पञ्चसु स्थानकेषु आख्याताऽऽदिक्रियाविशेषरूपेषु पुरिमा भरतैरावतेषु चतुर्विंशतिरादिमाः, ते च पश्चिमकाश्चरमाः पुरिमपश्चिमका ,तेषां जिनानामर्हतां (दुग्गम त्ति) दुःखेन गम्यत इति दुर्गम, भावसाधनोऽयम, कृच्छ्रवृत्तिरित्यर्थः । तद्भवति, विनेयानामृजुजडत्वेन,वक्रजडत्वेन च । तानि चेमानि-तद्यथेत्यादि । इह व्याख्यान, विभजन, दर्शन, तितिक्षणमनुचरण चेत्येव पञ्चस्वेऽपि येषु स्थानेषु कृच्छ्रवृत्तिर्भवति, तानि तद्योगात् कृच्छ्रवृत्तीन्येवोच्यन्त इति कृच्छ्रवृत्तिद्योतकदुःशब्दविशेषितानि कर्मसाधनशब्दाभिधेयान्याख्यानाऽऽदीनि । विचित्रत्वात् शब्दप्रवृत्तेराह-(दुआइक्खमित्यादि) तत्र दुराख्येय कृच्छ्राख्येय वस्तुतत्त्वं विनेयाना महावचनाऽऽटोपप्रबोध्यत्वेन भगवनामायासोत्पत्तेरिति । एवमाख्याने कृच्छ्रवृत्तिरुक्ता । एव विभजनाऽऽदिष्वपि भावनीया । तथा-आख्यातेऽपि तत्र दुर्विभज कष्टविभजनीयम्, ऋजुजडत्वाऽऽदेरेव तद्भवतीति, दुःशक शिष्याणां वस्तुतत्त्वस्य विभागेनावस्थापनमित्यर्थः; दुर्विभावमित्यत्र पाठान्तरे-दुर्विभाव्य,दु शका विभावना कर्तुं तस्येत्यर्थः । तथा-(दुप्पस्स त्ति) दु खेन दृश्यत इति दुर्दर्शमुपपत्तिभिर्दुःशक शिष्याणा प्रतीतावारोपयितुं तत्त्वमिति भावः । (दुतितिक्ख त्ति) दुःखेन तितिक्ष्यत सह्यत इति दुस्तितिक्ष परीषहाऽऽदि दु शक परीषहाऽऽदिकमुत्पन्न तितिक्षयितु शिष्यं तत्प्रति क्षमां कारयितुमिति भाव इति । (दुरणुचर त्ति) दुःखेनानुचर्यतेऽनुष्ठीयत इति दुरनुचरमन्तर्भूतकारितार्थत्वेन दुःशकमनुष्ठापयितुमित्यर्थः । अथवा-तेषा तीर्थे दुराख्येय दुर्विभजमाचार्याऽऽदीनां वस्तुतत्त्वं स्वशिष्यान् प्रति आत्मनाऽपि दुर्दर्श दुस्तितिक्ष दुरनुचरमित्येवकारितार्थं विमुच्य व्याख्येयम्, तेषामपि ऋजुजडत्वाऽऽदित्वादिति । मध्यमानां तु सुगममकृच्छ्रवृत्ति, तद्विनेयानामृजुप्राज्ञत्वेनाल्पप्रयत्नेनैव बोधनीयत्वाद्विहितानुष्ठाने सुखप्रवर्तनीयत्वाच्चेति । शेष पूर्ववत्स्वरमकृच्छ्रार्थविशिष्टता आख्यानाऽऽदीनां वाच्या । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

(४३) कर्मव्यावर्णन, वेदन वा-

नो जइया तित्थयरो, सो तइया अप्पणम्मि तित्थम्मि ।
वन्नेइ तवोकम्मं,उवहाणसुयम्मि अज्झयणे ॥१॥ आचा०नि० ।

यो यदा तीर्थकृदुत्पद्यते स तदाऽऽत्मीये तीर्थे आचाराद्यप्रणयनावसानाध्ययने स्वतप कर्म व्यावर्णयति,इत्ययं स च तीर्थकृतां कल्प. । इह पुनरुपधानश्रुताख्यं चरममध्ययनमप्यत, अत उपधानश्रुतमित्युक्तमिति । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

उदाहु धीरे ते फासे पुट्ठोऽहियासए से पुव्वं पेयं पच्छा पेयं भिउरधम्मं विद्धंसणधम्मं अधुवं अणितिअं असासयं चयोवचइयं विपरिणामधम्मं पासह, एवंरूवं संधिं समुवेहमाणस्स एकायतणरयस्स इहविप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे विरतस्स त्ति बेमि ।

तीर्थकरैरप्येतद्बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थाऽऽयातं कर्मावश्यवेद्य, नान्यथा तन्मोक्षः, अतोऽन्येनाप्यसातावेदनीयोदये सनत्कुमारदृष्टान्तेन मयैवैतत्सोढव्यमित्याकलय्य नोद्विजितव्यम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

(४४) कुमारवासकालमान जिनानाम्-

वीसऽट्ठारस पनरस, सड्ढदुवालस दसेव सड्ढनगा ।
पण अड्ढाई लक्खा,पुव्वसहस्स पएण पणवीसं॥१३६॥
समलक्खा इगवीसं, ठार पनर सड्ढसत्त सड्ढदुगं ।

तो सहसा पणवीसा, पाउणचउवीस इगवीसं ॥१३७॥
वाससय मल्लिजिणे, पणसयरी पंचवीस तिन्नि सया ।
वामाई तीस तीसं, कुमरत्तं • • ॥१३८॥

लक्षशब्द पूर्वशब्दश्चाष्टमजिन यावत्प्रत्येकमभिसंबध्यते । विंशतिलक्षपूर्वाणि १ । अष्टादशलक्षपूर्वाणि २ । पञ्चदशलक्षपूर्वाणि ३ । सार्द्धद्वादशलक्षपूर्वाणि ४ । दशैव लक्षपूर्वाणि ५ । सार्द्धसप्तपूर्वलक्षाणि ६ । पञ्चलक्षपूर्वाणि ७ । सार्द्धद्विलक्षपूर्वाणि ८ । पञ्चाशत्सहस्रपूर्वाणि ९ । पञ्चविंशतिसहस्रपूर्वाणि १० । (समलक्खा इगवीसं ति) एकविंशतिलक्षवर्षाणि ११ । अष्टादशवर्षलक्षाणि १२ । पञ्चदशलक्षवर्षाणि १३ । सार्द्धसप्तवर्षलक्षाणि १४ । सार्द्धद्विवर्षलक्षाणि १५ । (तो त्ति)तत पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि १६ । पादोनचतुर्विंशतिवर्षसहस्राणि १७ । एकविंशतिवर्षसहस्राणि १८ । (वाससय त्ति) मल्लिजिने वर्षशतम् १९ । पञ्चसप्ततिवर्षशतानि २० । पञ्चविंशतिवर्षशतानि २१ । त्रीणि वर्षशतानि २२ । वर्षाणि त्रिंशत् २३ । पुनर्वर्षाणि त्रिंशत् २४ । एवं क्रमेण सर्वेषां जिनाना कुमारत्वे ज्ञेयम् । सत्त० ५४ द्वार । आ० म० । "पञ्च तित्थयरा कुमारवासमज्झे वसित्ता मुंडे० जाव पव्वइया । त जहा-वासुपुज्जे, मल्ली, अरिट्ठनेमी, पासे, वीरे ।" स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

केवलज्ञाननक्षत्राणि च्यवननक्षत्रवद् भावनीयानि, च्यवननक्षत्राण्यग्रे वक्ष्यन्ते । सत्त० ८८ द्वार ।

(४५) केवलोत्पत्तिस्थानानि-

वीरोसहनेमीणं, जंभियवहिपुरिमतालउज्जिंते ।
केवलणाणुप्पत्ती, सेसाणं जम्मठाणेसु ॥ १८९ ॥

वीरस्य जृम्भिकाग्रामाद् बहिः केवलोत्पत्तिः १ । ऋषभस्य पुरिमतालनगरे २ । नेमिजिनस्य उज्जयन्ते रैवतकाचले ३ । शेषाणां जिनानां जन्मस्थानेषु जन्मनगरीषु केवलज्ञानोत्पत्तिर्ज्ञाता । सत्त० ९० द्वार । आ० म० ।

(४६) केवलतपः-

अट्ठमभत्तम्मि कए, नाणमुसहमल्लिनेमिपासाणं ।
वसुपुज्जस्स चउत्थे, सेसाणं छट्ठभत्तंते ॥ १९० ॥

ऋषभ१मल्लि१९नेमि२२पार्श्व२३जिनाना अष्टमभक्ते तपसि कृते सति केवलज्ञानमुत्पन्नम् । वासुपूज्यस्य १२ चतुर्थतपसि । शेषाणामेकोनविंशतिजिनानां षष्ठभक्ततपसि केवलमुत्पन्नम् । सत्त० ९४ द्वार । आ० म० ।

(४७) केवलमासास्तिथयश्च-

फग्गुणिगारसि किण्हा, सुद्धा एगारसी य पोसस्स ।
कत्तियबहुला पंचमि, पोसस्स चउद्दसी धवला ॥१८०॥
चित्तेगारसिपुन्निम, तह फग्गुणकिण्हछट्ठि सत्त मिया ।
सुद्धा कत्तियतइया, पोसम्मि चउद्दसी बहुला ॥ १८१ ॥
माहेऽमावसि सियबिय, पोसे मासम्मि धवलछट्ठी य ॥
वेसाहसामचउदसि, पोसे पुन्निमनवमि सुद्धा ॥ १८२ ॥
सियचित्ततइय कत्तिय, वारसि एगारसी य मग्गसिरे ।
फग्गुणबारसि सामा, मग्गम्मि इगारसी अमला ॥१८३॥
आसोअमावसी चि-त्तबहुलचउत्थी विसाहसियदसमी ।
केवलमासा य इमे, भणिया पुव्व व उसुरासी ॥ १८४ ॥

श्रीऋषभाऽऽदीनां क्रमेण केवलज्ञानोत्पत्तिमासतिथयः । तथाहि-फाल्गुनमासस्य कृष्णैकादश्यां केवलज्ञानं ऋषभस्य जातम् । १ । पौषस्य शुक्लैकादश्यामजितस्य । २ । कार्तिकमासस्य कृष्णपञ्चम्यां स० ३ । पौषस्य शुक्लचतुर्दश्यामभिनन्दनस्य ४ । चैत्रशुक्लैकादश्यां सुम० ५ । चैत्रस्य पूर्णमास्यां पद्म० ६ । फाल्गुनकृष्णषष्ठ्यां सुपा० ७ । फाल्गुनकृष्णसप्तम्यां चन्द्र० ८ । कार्तिकमासस्य शुक्लतृतीयाया सुवि० ९ । पौषे कृष्णचतुर्दश्यां शीत० १० । माघे अमावास्यायां श्रेयां० ११ । माघश्वेतद्वितीयायां वासु० १२ । पौषे मासे धवलषष्ठ्यां विम० १३ । वैशाखस्य श्यामचतुर्दश्यामनन्त० १४ । पौषे पूर्णिमायां ध० १५ । पौषे शुक्लनवम्यां शान्ति० १६ । चैत्रस्य श्वेततृतीयाया कुन्थु० १७ । कार्तिकस्य श्वेतद्वादश्यामर० १८ । मार्गशीर्षे श्वेतैकादश्यां मल्लि० १९ । फाल्गुनस्य श्यामद्वादश्या मुनिसुव्र० २० । मार्गशीर्षविमलैकादश्यां नमि० २१ । आश्विनमासस्यामावास्याया नेमि० २२ । चैत्रमासस्य श्यामचतुर्थ्यां पार्श्व० २३ । वैशाखश्वेतदशम्यां वीर० २४ । एते चतुर्विंशतिजिनानां केवलमासाऽऽदयो भणिता । सत्त० ८७ द्वार । आ० म० । केवलनक्षत्रराशयः च्यवनकल्याणकवत् । सत्त० ८९ द्वार ।

(४८) केवलवृक्षाः-

णग्गोह सत्तवण्णो, साल पियालो पियंगु छत्ताहो ।
सिरिसो नागो मल्ली, पिलंखु-तिंदुयग-पाडलया ॥१८७॥
जंबू असत्थ दहिव-न नंदि तिलगा य अंबग असोगो ।
चंपग बउलो वेतस, धायइ सालो य णाणतरू ॥१८८॥

न्यग्रोधवृक्षस्याध ऋषभजिनस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् । १ । एवं प्रतिजिन प्रतिवृक्षं क्रमेण योजना वाच्या । सप्तपर्णः २ । (साल पिआलो पिअंगु छत्ताहो) शाल ३ । प्रियालः ४ । प्रियङ्गुः ५ । छत्राभवृक्षः ६ । (सिरिसो नागो मल्ली) शिरीषः ७ । नागनामा ८ । मल्लीवृक्ष ९ । (पिलंखु-तिंदुअग-पाडलया) पिलक्खुवृक्ष १० । तिन्दुक ११ । पाटलिका १२ । इति गाथार्थः । ॥ १८७ ॥ (जंबू असत्थ दहिवन्न) जम्बू १३ । अश्वत्थ १४ । दधिपर्ण १५ । (नंदी तिलगा य अंबग असोगो) नन्दिवृक्ष १६ । तिलकः १७ । आम्रक १८ । अशोकः १९ । (चंपग बउलो वेतस) चम्पकः २० । बकुलः २१ । वेतस २२ । (धायइ सालो अ णाणतरू) धातकीवृक्ष २३ । शालश्च २४ । एते चतुर्विंशतिर्ज्ञानतरवः । इति गाथार्थ ॥ १८८ ॥ सत्त० ९२ द्वार । सूत्र० । स० ।

केवलज्ञानवृक्षप्रमाणम्-

ते जिणतणुबारगुणा, चेइयतरुणो वि नवरि वीरस्स ।
चेइयतरुवरि सालो, एगारसधणुहपरिमाणो ॥ १८९ ॥

(ते जिणतणुबारगुणा) ते वृक्षा भगवत शरीराद् द्वादश गुणा भवन्ति । (चेइअतरुणो वि त्ति) चैत्यवृक्षा अपि एतावत्प्रमाणा भवन्ति । (नवरि वीरस्स । चेइअतरुवरि सालो त्ति) एतावान् विशेष:-यद्वीरस्य चैत्यवृक्षोपरि शालवृक्षो भवति, स कथम्भूत ?-(एगारसधणुहपरिमाणो त्ति) एकादशधनु:परिमाण । चैत्यतरूणां प्रमाणमत्र प्रसङ्गादुक्तमिति गाथाऽर्थः । १८९ । सत्त० ९३ द्वार ।

चैत्यतरूणां विशेषतः प्रमाणम्-

बत्तीसाइं धणुइं*, चेइयरुक्खो य वद्धमाणस्स ।
णिच्चोउगो असोगो, ओच्छण्णो सालरुक्खेणं ॥ ३६ ॥
तिन्नेव गाउआइं, चेइयरुक्खो जिणस्स उसभस्स ।
सेसाणं पुण रुक्खा, सरीरओ बारसगुणा उ ॥ ३७ ॥
सच्छत्ता सपडागा, सवेइया तोरणेहिं उववेया ।
सुरअसुरगरुलमहिया, चेइयरुक्खा जिणवराणं ॥ ३८ ॥

(निश्चोउगो त्ति) नित्य सर्वदा ऋतुरेव पुष्पाऽऽदिकालो यस्य स नित्यर्तुकः (असोगो त्ति) अशोकाभिधानो यः समवसरणभूमिमध्ये भवति । (ओच्छण्णो सालरुक्खेण त्ति) अवच्छन्नः शालवृक्षेणेति । अत एव वचनादशोकस्योपरि शालवृक्षोऽपि कश्चिद्दस्तीत्यवसीयत इति ॥ ३६ ॥ (तिन्नेव गाउयाइ गाहा) ऋषभस्वामिनो, द्वादशगुणा इत्यर्थः ॥३७॥ (सवेइय त्ति) वेदिकायुक्ताः । एते चाशोका. समवसरणसम्बन्धिनः सम्भाव्यन्त इति ॥ ३८ ॥ स० ।

(४६) अथ ज्ञानवनान्याह-

उसहस्स य सगडमुहे, उजुवालुयनइतडम्मि वीरस्स ।
सेसजिणाणं णाणं, उप्पन्नं पुण वयवणेसु ॥१८६॥

(उसहस्स य सगडमुहे त्ति) ऋषभस्य केवलज्ञानं शकटमुखोद्याने उत्पन्नम् १ । (उजुवालुअनइतडम्मि वीरस्स त्ति) ऋजुवालुकानदीतटे श्रीवीरस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् २ । (सेसजिणाणं नाण, उप्पन्न पुण वयवणेसु त्ति) पुन शब्दस्य निश्चयार्थत्वात् शेषजिनानां पुनर्व्रतवनेषु केवलज्ञानमुत्पन्नमिति ॥ १८६ ॥ सत्त० ६१ द्वार ।

(५०) केवलवेला-

नाणं उसहाईणं,पुव्वण्हे पच्छिमाएँ वीरस्स ॥ (१९१)

(पुव्वण्हे) ऋषभाऽऽदीना त्रयोविंशतिजिनानां केवलज्ञान पूर्वाह्णे प्रथमप्रहरे समुत्पन्नम् । (पच्छिमाएँ वीरस्स) पश्चिमप्रहरे वीरस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् । सत्त० ९५ द्वार ।

(५१) अथ जिनानां गृहस्थकाल-केवलिकालमानमाह-

जहजुग्गं कुमरनिवइ-चक्कीकालेहिँ होइ गिहिकालो ।
वयकालाओ केवलि-कालो छउमत्थकालूणो ॥२९८॥

यथायोग्यं कुमारकालनृपतिकालचक्रिकालैरेकीकृतैः गृहस्थकालो भवति । व्रतकालात् छद्मस्थकाल ऊन क्रियते, यावानवशिष्यते तावान् केवलिकालो भवति । इति गाथाऽर्थः ॥ २९८ ॥ सत्त० १४३ । १४४ द्वार ।

सम्प्रति केवलिपर्यायो वक्तव्यः, स च श्रामण्यपर्यायात् छद्मस्थपर्यायापगमे स्वयमेव ज्ञेय इति पूर्वोक्तमेव श्रामण्यपर्याय मारयति-

उसभस्स पुव्वलक्खं, पुव्वंगूणमजियस्स तं चेव ।
चउरंगूणं लक्खं, पुणो पुणो जाव सुविहि त्ति ॥

ऋषभस्य भगवतः श्रामण्यपर्यायमेकं पूर्वलक्षम् । अजिनस्वामिनस्तदेव एकं पूर्वलक्षमेकेन पूर्वाङ्गेन न्यूनम् । पूर्वाङ्ग नाम चतुरशीतिवर्षलक्षाणि । अत ऊर्द्ध चतुरङ्गोनं पूर्वलक्षं पुनः पुनस्तावद्वक्तव्यं यावत्सुविधिः । तद्यथा-सम्भवनाथस्य श्रामण्यपर्याय एकं पूर्वलक्षं चतुर्भिरङ्गैरूनम् । अभिनन्दनस्य एकं पूर्वलक्षमष्टभिः पूर्वाङ्गैरूनम् । सुमतिनाथस्य एकं पूर्वलक्षं द्वादशभिः पूर्वाङ्गैरूनम् । पद्मप्रभस्य एकं पूर्वलक्षं षोडशभिः पूर्वाङ्गैर्हीनम् । सुपार्श्वस्यैकं पूर्वलक्षं विंशत्या पूर्वाङ्गैर्हीनम् । चन्द्रप्रभस्यैकं पूर्वलक्षं चतुर्विंशत्या पूर्वाङ्गैर्हीनम् । सुविधिनाथस्यैकं पूर्वलक्षमष्टाविंशत्या पूर्वाङ्गैर्हीनम् ।

सेसाणं परियाओ, कुमारवासेण सहिओ भणितो ।
पत्तेयं पि य पुव्वं, सीसाणमणुग्गहट्ठाए ॥

शेषाणां शीतलस्वामिप्रभृतीनां पर्यायः पूर्वं कुमारवासेन सह भणितः, प्रत्येकमपि च, किमर्थमुभयथाऽपि भणित इति चेदत आह-शिष्याणामनुग्रहाय मन्दमतीनामपि शिष्याणां बुद्धौ सम्यक् प्रतिस्फुरतु । आ० म० १ अ० १ खण्ड । सत्त० ।

केवलिमानमाह-

वीससहस्सा उसहे, वीसं बावीस अहव अजियस्स ।
पनरस चउदस तेरस, बारस इक्कारस दसेव ॥ ३५३ ॥
अद्धऽट्ठम सत्तेव य, छ स्सहा छच्च पंच सहा य ।
पंचेव अद्धपंचम,चउ सहसा तिन्नि य सया य ॥३५४॥
बत्तीस सया अहवा, बावीससयाइँ हुंति कुंथुस्स ।
अट्ठावीसं बावी-स तह य अट्ठारस सयाइ ॥ ३५५ ॥
सोलस पन्नर दस सय, सत्तेव सया हवंति वीरस्स ।
एवं केवलिनाण, ·· · · ····· ···· ॥३५६॥

केवलिना विंशतिसहस्रा ऋषभे वृषभजिनस्य । विंशतिः सहस्रा अजितजिनस्य । अथवा मतान्तरेण द्वाविंशति· सहस्रा अजितनाथस्य । श्रीसम्भवस्य पञ्चदश सहस्रा । श्रीअभिनन्दनस्य चतुर्दश सहस्राः । श्रीसुमतेस्त्रयोदश सहस्राः । श्रीपद्मप्रभस्य द्वादश सहस्राः । श्रीसुपार्श्वस्य एकादश सहस्रा । श्रीचन्द्रप्रभस्य दशैव सहस्रा । श्रीसुविधिजिनस्य अर्द्धाष्टमा सहस्रा, सप्त सहस्रा पञ्चशताधिका इत्यर्थ· । श्रीशीतलजिनस्य सप्त सहस्रा । श्रीश्रेयांसस्य षट् सहस्रा सार्द्धा सपञ्चशता इत्यर्थ. । श्रीवासुपूज्यस्य षट् सहस्रा. । श्रीविमलजिनस्य पञ्च सहस्रा', सार्द्धाः सपञ्चशता इत्यर्थ । श्रीअनन्तजिनस्य पञ्चैव सहस्राः । श्रीधर्मजिनस्य अर्द्धपञ्चमाः सहस्रा', चत्वारः सहस्राः सपञ्चशता इत्यर्थ. । श्रीशान्तिनाथस्य चत्वार. सहस्रा' शतत्रयाधिकाः । श्रीकुन्थुजिनस्य द्वात्रिंशच्छतानि, सहस्रत्रय शतद्वयाधिकमित्यर्थः । अथवा मतान्तरेण द्वाविंशतिशतानि, सहस्रद्वय शतद्वयाधिकमित्यर्थः । श्रीअरजिनस्य अष्टाविंशतिशतानि, सहस्रद्वयं शताष्टकाधिकमित्यर्थ' । श्रीमल्लिजिनस्य द्वाविंशतिशतानि, सहस्रद्वय शतद्वयाधिकमित्यर्थ । श्रीमुनिसुव्रतस्य अष्टादश शतानि, सहस्रमेकमष्टशताधिकमित्यर्थः । श्रीनमिजिनस्य षोडश शतानि, सहस्रमेक षड्भिः शतैरधिकमित्यर्थ । श्रीनेमिजिनस्य पञ्चदश शतानि, सहस्रमेक पञ्चशताधिकमित्यर्थ. । श्रीपार्श्वजिनस्य दश शतानि, सहस्रमित्यर्थ । श्रीवीरजिनस्य च सप्तशतानि । एतत्पूर्वोक्तं यथाक्रम सर्वतीर्थकृतां केवलिमानम् । प्रव० २१ द्वार ।

सर्वेषामेव तीर्थकृतां सिद्धगतिः सर्वाङ्क एक लक्ष षट्सप्ततिसहस्राणि शतमेकम् ।१७६१००। आव० १ अ० ।

* मतान्तरेणैतत् समाख्येले ।

(५२) अधुना गणद्वारमाह-

चुलसीई पणणवई, बिउत्तरं सोलसुत्तर सयं च ।
सत्तऽहियं पणनउई, तेणउई अट्ठसीई य ॥
एक्कासीई छावत्तरी य छावट्ठि सत्तवन्ना य ।
पन्ना तेयालीसा, छत्तीसा चेव पणतीसा ॥
तेत्तीसऽट्ठावीसा, अट्ठारस चेव तह य सत्तरसा ।
एक्कारस दस नवग, गणाण माणं जिणिंदाणं ॥

भगवत आदितीर्थकरस्य चतुरशीतिर्गणाः । गणो नामेह एकवाचनाऽऽचारक्रियास्थानां समुदायो,न कुलसमुदाय इति पूर्वसूत्र. । अजितस्वामिन पञ्चनवतिर्गणा' । सम्भवनाथस्य द्व्युत्तर शतम् । अभिनन्दनस्य षोमशोत्तर शतम् । सुमतिनाथस्य परिपूर्ण शतम् । पद्मप्रभस्य सप्ताधिक शतम् । सुपार्श्वस्य पञ्चनवतिः । चन्द्रप्रभस्य त्रिनवति । सुविधिस्वामिनोऽष्टाशीति' । शीतलस्य एकाशीति । श्रेयांसस्य षट्सप्ततिः । वासुपूज्यस्य षट्षष्टि । विमलस्य सप्तपञ्चाशत् । अनन्तजिनस्य पञ्चाशत् । धर्मस्य त्रिचत्वारिंशत् । शान्तिनाथस्य षट्त्रिंशत् । कुन्थुनाथस्य पञ्चत्रिंशत् । अरजिनस्य त्रयस्त्रिंशत् । मल्लिस्वामिनोऽष्टाविंशति' । मुनिसुव्रतस्वामिनोऽष्टादश । नमिनाथस्य सप्तदश । अरिष्टनेमेरेकादश । पार्श्वनाथस्य दश । वर्द्धमानस्वामिनो नव । आ०म०१अ०१ खण्ड. "समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा होत्था । त जहा गोदासगणे, उत्तरवलियस्स य गणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उड्डवाइयगणे, विस्सवाइगणे, कामिड्डियगणे,माणवगणे, कोडियगणे । " (स्था० ९ ठा०) एतज्जिनेन्द्राणामृषभाऽऽदीनां जिनानां यथाक्रम गणाना मान परिमाणम् । आ० म० १ अ० १ खण्ड । सत्त० ।

(५३) सप्रति गणधरप्रतिपादनार्थमाह-

एक्कारस उ गणहरा, वीरजिणिंदस्स सेसयाणं तु ।
जावइया जस्स गणा, तावइया गणधरा तस्स ॥

गणधरा नाम मूलसूत्रकर्त्तार, ते च वीरजिनस्य एकादश, गणास्तु नव, द्वयोर्युगलयोरेकैकवाचनाऽऽचारक्रियास्यत्वात् । शेषाणा तु जिनवरेन्द्राणा यस्य यावन्तो गणास्तस्य तावन्तो गणधरा , प्रतिगणधर भिन्नभिन्नवाचनाऽऽचारक्रियास्थत्वात् । आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रव० । " पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अठ गणा अठ गणहरा होत्था । तं जहा-सुभे, अज्जघोसे, वसिट्ठे, बभयारी, सोमे, सिरिधरे, वीरिए, भद्दजसे । " यत्त्वावश्यके तूभयेऽपि दश श्रूयन्ते, " जावइया जस्स गणा, तावइया गणहरा तस्स " इति वचनात्, तद्द्विहास्पत्वाऽऽदिकारणमपेक्ष्य द्वयोरविवक्षणमिति सभाव्यते । स्था० ८ ठा० ।

(५४) अथ सर्वेषां जिनानां गर्भस्थितिमाह-

दु चउत्थ नवम बारस, तेरस पन्नरस सेस गब्भठिई ।
मासा अम नव तदुवरिं, उसहाइकमेणिमे दिवसा ॥७५॥
चउ पणवीसं छद्दिण, अमवीसं छच्च छच्चिगुणवीसं ।
सग छव्वीसं छ च्छ य, वीसिगवीसं उ छव्वीसं ॥७६॥
छ पण अठ सत्त अट्ठ य,अट्ठऽट्ठ छ सत्त हुंति गब्भदिणा(७७)
(दु चउत्थ नवम बारस तेरस पन्नरस सेस गम्भठिइ त्ति) द्वितीय२चतुर्थ४नवम९द्वादश१२त्रयोदश१३पञ्चदश१५शेषजिनेषु गर्भस्थितिः (मासा अम नव त्ति) द्वितीयाऽऽदिषु जिनेषु मासा अष्टौ । शेषजिनेषु नव मासा' । (तदुवरि त्ति) तेषां मासानामुपरि (उसहाइकमेणिमे दिवसा) ऋषभाऽऽदिषु क्रमेण इमे वक्ष्यमाणा दिवसा ज्ञेया. । इति गाथार्थः ॥७५॥ (चउ पणवीस छद्दिण) दिनानीति सर्वत्र गम्यम् । चत्वारि १ पञ्चविंशति. २ षट् ३ (अडवीसं छच्च छच्चिगुणवीसं) अष्टाविंशति ४ षट् च ५ षट् ६ एकोनविंशति. ७ (सग छव्वीस छ च्छ य) सप्त ८ षड्विंशतिः ९ षट् १० षट् च ११ (वीसिगवीस उ छव्वीस) विंशतिः १२ एकविंशतिः १३ षट् १४ षड्विंशतिः १५ । इति गाथार्थ ॥ ७६ ॥ (छ पण अम सत्त अठ य) षट् १६ पञ्च १७ अष्टौ १८ सप्त १९ अष्ट च २० (अठऽट्ठ छ सत्त हुति गब्भदिणा) अष्टौ २१ अष्ट २२ षट् २३ सप्त २४ भवन्ति गर्भदिनानि जिनाना गर्भस्थितयः । सत्त० २० द्वार ।

(५५) गृहवासे ज्ञानानि-

मइसुयओहितिनाणा, जाव गिहे पच्छिमभवाओ ।(७७१)

मतिश्रुतावधिज्ञानलक्षणानि त्रीणि ज्ञानानि सर्वेषां जिनानां भवन्ति, पश्चिमभवादारभ्य यावन्त काल गृहे गृहवासे तिष्ठन्ति । सत्त० ४५ द्वार ।

(५६) तीर्थकरगोत्राणि वशाश्च-

गोयमगुत्ता हरिवं-ससंभवा नेमिसुव्वया दो वि ।
कासवगुत्ता इक्खा-गुवंसजा सेस बावीसा ॥ १०६ ॥

श्रीनेमिमुनिसुव्रतौ द्वौ गौतमगोत्रौ हरिवशसभवौ च । शेषाः तीर्थपा' द्वाविंशति काश्यपगोत्रा इक्ष्वाकुवशजाश्च । सत्त० ३७ द्वार । कल्प० । आव० ।

(५७) चतुर्दशपूर्विणः-

चउदसपुव्वि-सहस्सा, चउरो अद्धऽट्ठमाणि य सयाणि ।
वीसऽहिय सत्ततीसा, इगवीससया य पन्नासा ॥ ३६२ ॥
पनरस चउवीससया, तेवीससयां य वीससय तीसा ।
दो सहस पनरस सया,सयचउदस तेरससयाइं ॥३६३॥
सय बारस इक्कारस, दस नव अट्ठेव छच्च सय सयरा ।
दसऽहिय छच्चेव सया,छच्च सया अट्ठसट्ठऽहिया॥३६४॥
सयपंच अद्धपंचम,चउरो अद्धऽहिय तिन्नि य सयाइं ॥
उसभाइजिणिंदाणं, चउदसपुव्वीण परिमाणं ॥३६५ ॥

तत्राऽऽदिजिनस्य चतुर्दशपूर्विणां चत्वारः सहस्रा., अर्धाष्टमानि च शतानि, पञ्चाशदधिकानि सप्तशतानीत्यर्थ । श्रीअजितजिनस्य विंशत्यधिकसप्तत्रिंशच्छतानि । श्रीसभवजिनस्य एकविंशतिशतानि पञ्चाशदधिकानि । श्रीअभिनन्दनस्य पञ्चदशशतानि । श्रीसुमतेश्चतुर्विंशतिशतानि । श्रीपद्मप्रभस्य त्रयोविंशतिशतानि । श्रीसुपार्श्वस्य विंशतिशतानि त्रिंशदधिकानि । श्रीचन्द्रप्रभस्य द्वौ सहस्रौ । श्रीसुविधे पञ्चदशशतानि । श्रीशीतलस्य शतानि चतुर्दश । श्रीश्रेयांसस्य त्रयोदशशतानि । श्रीवासुपूज्यस्य द्वादशशतानि । श्रीविमलजिनस्य एकादशशतानि । श्रीअनन्तजिनस्य दशशतानि । श्रीधर्मस्य नवशतानि । श्रीशान्तेरष्टैव शतानि । श्रीकु-

न्थोः षट्शतानि सप्तत्यधिकानि । श्रीअरजिनस्य दशाधिकानि षमेव शतानि । श्रीमल्लिजिनस्य षट्शतानि अष्टषष्ट्यधिकानि । श्रीमुनिसुव्रतस्य शतानि पञ्च । श्रीनमेश्चत्वारि शतानि पञ्चाशदधिकानि । श्रीनेमेश्चत्वारि शतानि । श्रीपार्श्वजिनस्य त्रीणि शतानि पञ्चाशदधिकानि । श्रीवीरजिनस्य च त्रीणि शतानि । इद पूर्वोक्तमृषभाऽऽदिजिनेन्द्राणा क्रमेण चतुर्दशपूर्विपरिमाणम् । प्रव० २३ द्वार । "समणस्स ण भगवओ महावीरस्स तिन्निसया चोद्दसपुव्वीण अजिणाण जिणसकासाण सव्वक्खरसन्निवाईण जिणो इव अवितह वागरमाणाण उक्कोसिया चउद्दसपुव्विसंपया होत्था ।" स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

(५८) श्रावकसख्या चतुर्विंशतितीर्थकराणाम्-

पढमस्स तिन्नि लक्खा, पंच सहस्सा दुलक्खजा संती ।
लक्खोवरि अट्ठनउई, तेणउई अट्ठसीई य ॥ ३६६ ॥
एगासी छावत्तरि, सत्तावन्ना य तह य पन्नासा ।
एगुणतीस नवासी, इगुणासी पन्नरसऽठेव ॥ ३६७ ॥
छ च्चिय सहस्स चउरो, सहस्स नउई सहस्स संतिस्स ।
तत्तो एगो लक्खो, उवरिं गुणसीय चुलसी य ॥३६८॥
तेयासी वावत्तरि, सत्तरि इगुणत्तरी य चउसट्ठी ।
एगुणसट्ठिसहस्सा, य सावगाण जिणवराणं ॥ ३६९ ॥

तत्र प्रथमजिनस्य श्रावकाणां तिस्रो लक्षाः पञ्चसहस्राऽधिका. । श्रीअजिताऽऽदिजिनाना, यावत् शान्तिजिनस्तावल्लक्षद्वय श्राद्धानां, द्विलक्षोपरि च यदधिक भवति तन्निवेद्यते । तत्र तृतीयगाथावर्त्ति 'सहस्स त्ति' पदस्य सर्वत्राभिसंबन्धात् अष्टनवति सहस्रा, कोऽर्थ.?-अजितजिनस्य लक्षद्वयमष्टनवतिसहस्राधिकमित्यर्थ' । श्रीसभवस्य लक्षद्वय त्रिनवतिसहस्राधिकमित्यर्थ । श्रीअभिनन्दनस्य लक्षद्वयमष्टाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीसुमते' लक्षद्वयमेकाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीपद्मप्रभस्य लक्षद्वय षट्सप्ततिसहस्राधिकमित्यर्थ । श्रीसुपार्श्वस्य लक्षद्वय सप्तपञ्चाशत्सहस्राधिकमित्यर्थ । चन्द्रप्रभस्य लक्षद्वय पञ्चाशत्सहस्राधिकमित्यर्थ । सुविधेर्लक्षद्वयमेकोनत्रिंशत्सहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीशीतलस्य लक्षद्वयं नवाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थ । श्रीश्रेयांसस्य लक्षद्वयमेकोनाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थ । श्रीवासुपूज्यस्य लक्षद्वयं पञ्चदशसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीविमलजिनस्य लक्षद्वयमष्टसहस्राधिकमित्यर्थ. । श्रीअनन्तजिनस्य लक्षद्वय षट्सहस्राधिकमित्यर्थ. । श्रीधर्मस्य लक्षद्वय चतुर्भिः सहस्रैरधिकमित्यर्थः । श्रीशान्ते' लक्षद्वय नवतिसहस्राधिकमित्यर्थ' । ततः श्रीशान्तिनाथादनन्तर कुन्थुप्रभृतितीर्थकृनां महावीरपर्यन्तानामेक लक्ष श्राद्धानां, लक्षोपरि, च यत्संख्यास्थान तदुच्यते, यथा—एकोनाशीति' श्रीकुन्थोः, लक्षमेकोनाशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीअरजिनस्य लक्षमेकं चतुरशीतिसहस्राधिकमित्यर्थः । श्रीमल्लेर्लक्षमेक त्र्यशीतिसहस्राधिकमित्यर्थ । श्रीमुनिसुव्रतस्य लक्षमेक द्विसप्ततिसहस्राधिकमित्यर्थ । नमेर्लक्षमेक सप्ततिसहस्राधिकमित्यर्थ । श्रीनेमेर्लक्षमेकोनसप्ततिसहस्राधिकमित्यर्थ । श्रीपार्श्वस्य लक्षमेकं चतु षष्टिसहस्राधिकमित्यर्थ । श्रीवीरजिनस्य च लक्षमेकोनषष्टिसहस्राधिकमित्यर्थ । इति जिनवरेन्द्रचतुर्विंशते सम्बन्धिनां श्रावकाणां मान क्रमेण ज्ञातव्यम् । प्रव० २४ द्वार ।

(५९) अथ चक्रित्वकालः-

तओ तित्थगरा चक्कवट्टी होत्था । तं जहा-संती, कुथू, अरो ।

अत्रोक्तम्-" संती कुथू अ अरो, अरिहंता चेव चक्कवट्टी य । अवसेसा तित्थयरा, मंडलिआ आसि रायाणो " ॥१॥ इति शान्तिकुन्थ्वरजिनानां चक्रित्व, शेषजिनाना नास्ति चक्रित्वम् । स्था० ३ ठा० ४ उ० । सत्त० ।

(६०) अथ चारित्रम्-

सामाइयचारित्त, छेओवट्ठावणं च परिहारं ।
तह सुहुमसंपरायं, अहखाइं पंच चरणाइं ॥ २८२ ॥
दुण्हं पण इअराण, तिन्नि उ सामाइयसुहुमऽहक्खाया ।
(२८३)

तत्र प्रथम सामायिकचारित्रम् १ । द्वितीयं छेदोपस्थापनीयम् २ । तृतीय परिहारविशुद्धिकम् ३ । चतुर्थं सूक्ष्मसपरायम् ४ । पञ्चम यथाख्यातम् ५ । एतानि पञ्च चारित्राणि भवन्तीति गाथार्थ.॥२८२॥ ऋषभवीरयोस्तीर्थे पञ्च चारित्राणि पूर्वोक्तानि भवन्ति । इतरेषां मध्यमद्वाविंशतिजिनानां त्रीणि चारित्राणि भवन्ति । तन्नामानि-सामायिक १ सूक्ष्मसपराय २ यथाख्यातानि ३ । सत्त० १३० द्वार ।

(६१) च्यवननक्षत्रमृषभाऽऽदीनाम्-

उत्तरसाढा रोहिणि, मियसीस पुणव्वसू मह्रा चित्ता ।
वइसाहऽणुराहा मू-ल पुव्व सवणो सयभिसा य ॥६५॥
उत्तरभद्दव रेवइ, पुस्स भरणि कत्तिया य रेवइ य ।
अस्सिणि सवणो अस्सिणि, चित्त विसाहुत्तरा रिक्खा ६६

ऋषभजिने उत्तराषाढा नक्षत्रम् १ । एव सर्वत्र जिननामानि क्रमेण योज्यानि । रोहिणी २ मृगशीर्षम् ३ पुनर्वसु ४ मघा ५ चित्रा ६ विशाखा ७ अनुराधा ८ मूलम् ९ पूर्वाषाढा १० श्रवण. ११ शतभिषक् १२ उत्तराभाद्रपद १३ रेवती १४ पुष्य' १५ भरणी १६ कृत्तिका १७ रेवती १८ अश्विनी १९ श्रवण' २० अश्विनी २१ चित्रा २२ विशाखा २३ उत्तराषाढा २४ एतानि नक्षत्राणि । सत्त० १५ द्वार ।

(६२) अथ च्यवनकल्याणकतिथयो मासाश्च-

बहुलाऽसाढचउत्थी, सुद्धा वइसाहतेरसी कमसो ।
फग्गुणअट्ठमि वइसा-हचउत्थि सावणियबीया य ॥७९॥
माहस्स कत्तिणछट्ठी, नह-ट्ठमि चित्तमासपचमिया ।
फग्गुणनवमी वइसा-हछट्टि तह जिट्ठछट्ठी य ॥ ८० ॥
जिट्ठम्मि सुद्धनवमी, तत्तो वइसाहबारसी सुद्धा ।
सावणकसिणा सत्तमि, विमाहम्मिय भद्दकिण्हा य ॥८१॥
सावणकसिणा नवमी, फग्गुणमियबीय फग्गुणचउत्थी ।
सावणअस्सिणि पुन्निम, कत्तियबहुला दुवालसिया ॥८२॥
असिया चित्तचउत्थी, असाढमियछट्ठि चवणमासाई ।
इत्थऽन्नत्थ वि पयर्ड, अभणियमहिगारओ नेयं ॥८३॥

उसभविस्सजिणाणं, पुव्वाणुपुव्वीएँ वट्टमाणाणं ।
पच्छाणुपुव्विआए, कल्लाणतिथी य अन्नत्थ ॥६४॥

ऋषभस्य च्यवनकल्याणके आषाढकृष्णचतुर्थी । १ । अजितजिनस्य वैशाखशुद्धत्रयोदशी २ । फाल्गुनशुद्धाष्टमी संभवस्य ३ । वैशाखचतुर्थी अभिनन्दनस्य ४ । श्रावणशुक्लद्वितीया सुम० ५ । माघस्य कृष्णषष्ठी पद्म० ६ । भाद्रपदकृष्णाष्टमी सुपा० ७ । चैत्रकृष्णपञ्चमी चन्द्र० ८ । फाल्गुनकृष्णा नवमी सुवि० ९ । वैशाखकृष्णषष्ठी शीत० १० । ज्येष्ठकृष्णषष्ठी श्रेयां० ११ । ज्येष्ठशुक्लनवमी वासु० १२ । वैशाखशुद्धद्वादशी विमल० १३ । श्रावणकृष्णसप्तमी अनन्त० १४ । वैशाखश्वेतसप्तमी धर्म० १५ । भाद्रपदकृष्णसप्तमी शान्ति० १६ । श्रावणकृष्णनवमी कुन्थु० १७ । फाल्गुनसितद्वितीयाऽरजि० १८ । फाल्गुनसितचतुर्थी मल्लि० १९ । श्रावणपूर्णिमा मुनिसु० २० । आश्विनपूर्णिमा नमि० २१ । कार्तिककृष्णद्वादशी नेमि० २२ । चैत्रकृष्णचतुर्थी पार्श्व० २३ । आषाढश्वेतषष्ठी वीरजिनस्य २४ । अत्रान्यत्रापि प्रकट साक्षादित्यर्थः । यदभणित तदधिकारतो ज्ञेयमिति । भूततीर्थपा केवलज्ञानिप्रभृतय , भविष्यजिना पद्मनाभाऽऽदय , तेषामन्योन्य कल्याणकतिथय' पूर्वानुपूर्व्या भवेयु. । यथा हि या. कल्याणकतिथय भूतकाले प्रथमजिनस्य केवलज्ञानिन., ता एव भविष्यजिनकाले पद्मनाभस्येति । प्रकारान्तरमाह–वर्तमानजिना ऋषभाऽऽदयस्तेषां भूतजिनापेक्षया भविष्यजिनापेक्षया च तिथय पश्चानुपूर्व्या भवेयुः । सत्त० १४ द्वार । आव० ।

(६३) ऋषभाऽऽदीनां क्रमतो च्युतिराशय'-

धणु वसह मिहुण मिहुणो, सीहो कन्ना तुला अली चेव ।
धणु धणु मयरो कुंभो, दुसु मीणो कक्कडो मेसो ॥ ६७ ॥
विस मीण मेस मयरो, मेसो कन्ना तुला य कन्ना य ।
इय चवणरिक्खरासी, जम्मे दिक्खाएँ नाणे वि ॥ ६८ ॥

धनु १। वृष २। मिथुनम् ३। मिथुनम् ४। सिंहः ५। कन्या ६। तुला ७। वृश्चिक ८। धनु ९। धनु १०। मकर ११। कुम्भ १२। मीन १३। मीन १४। कर्कट १५। मेष. १६। वृषः १७ मीन १८। मेष. १९। मकर २०। मेष. २१। कन्या २२। तुला २३। कन्या २४ ऋषभाऽऽदीना क्रमतश्च्युतिराशय. । जन्मकल्याणके, दीक्षाकल्याणके, केवलज्ञानकल्याणकेऽप्येत एव नक्षत्रराशयो भवन्ति । सत्त० १६ द्वार ।

(६४) च्यवनवेला-

चुइवेला निसिअद्धं, जिणाण एमेव एगसमयम्मि ।
चुइमासाइवियारो, भरहेरवएसु स चेव ॥ ६९ ॥

(चुइवेला निसिअद्ध जिणाण त्ति) च्यवनवेला अर्द्धरात्रो जिनानाम् । (एमेव एगसमयम्मि त्ति) एवमेव एकरीत्या एकस्मिन् समये (चुइमासाइविआरो त्ति) च्यवनमासाऽऽदिविचार (भरहेरवएसु स च्चेव त्ति) भरतैरवतेषु स एव, यत च्यवनमासाऽऽदि ऋषभाऽऽदीनामुक्त तदेव सर्वभरतैरवतेषु जिनाना समयोऽपि स एव भवति यथा भरतक्षेत्रे, तथैव तस्मिन् समये तस्मिन्नक्षत्रे तस्यां वेलायाम् ऐरवतक्षेत्रेऽपि सैव वेला भवति । इति गाथार्थ. ॥ ६६ ॥ इति सर्वेषा जिनाना च्यवनवेला । सत्त० १७ द्वार ।

(६५) छद्मस्थकालमान सर्वजिनानां कथ्यते-

वाससहस्सं बारस, चउदस अट्ठार वीसवरिसा य ।
मासा छच्च तिन्नि य, चउ तिग दुगमिक्कग दुगं च ॥१७३॥
तिय दुग इक्क सोलस, वासा तिन्नि य तहेव ऽहोरत्तं ।
मासिक्कारस नवगं, चउपन्नदिणाइँ चुलसीई ॥ १७४ ॥
पक्खऽहिय सड्ढबारस, वासा छउमत्थकालपरिमाणं ॥[१७५]

ऋषभस्य छद्मस्थकालमान वर्षसहस्रम् १ । एव क्रमेण द्वादश वर्षाणि २ । चतुर्दशवर्षाणि ३ । अष्टादशवर्षाणि ४ । विंशतिवर्षाणि ५ । षण्मासाः ६। (" चउप्पन्ने ण अरहा छम्मासा छउमत्थे होत्था । " स्था०) नवमासा. ७ । त्रयो मासाः ८। चत्वारो मासा' ९। त्रयो मासा. १० । द्वौ मासौ ११। एको मासः १२। द्वौ मासौ १३। त्रीणि वर्षाणि १४। द्वे वर्षे १५। एक वर्षम् १६। षोडश वर्षाणि १७। त्रीणि च वर्षाणि १८। एकमहोरात्रम् १९। एकादश मासा २०। नव मासाः २१। चतु पञ्चाशद्दिनानि २२। चतुरशीतिदिनानि २३। पक्षाधिकसार्द्धद्वादशवर्षाणि २४। इति क्रमात् छद्मस्थकालमान तीर्थपानाम । सत्त० ८४ द्वार । त्रीण्यहोरात्राणि १९। द्वादश वर्षाणि २४। इति मतभेदः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

(६६) छद्मस्थतपोमानम्-

उग्गं च तवोकम्मं, विसेसओ वद्धमाणस्स । [१७५]
चयदिणमेगं पुन्न, छमासियं बीययं पणदिणूणं ।
नव चउमासिय दु तिमा–सिया अड्ढाइज्जमासिया दुन्नि १७६
छ दुमासिय दु दिवड्ढय–मासिय बारस तहेगमासीया ।
बावत्तरऽद्धमासिय, पडिमा बारऽट्ठमेहिँ च ॥ १७७ ॥
दो चउ दस खमणेहिं, निरंतरं भद्दमाइपडिमतिगं ।
दुसयगुणतीस छट्ठा, पारणया तिसयगुणवन्ना ॥१७८॥

(उग्गं च तवोकम्मं ति) उग्र च तप कर्म सर्वेषां जिनवराणाम् (विसेसओ वद्धमाणस्स त्ति) विशेषतो वर्द्धमानस्य, वीरजिनस्य सर्वेभ्योऽपि जिनेभ्योऽधिकतरमुग्र तप', तेषां कर्माभावादिति भाव । श्रीवीरतपःप्रमाणमाह–(चयदिण ति) व्रतदिन, यस्मिन् दिने व्रत गृहीतं तद्दिनमुपोषितवानित्यर्थः । (एग पुन्न छमासिय ति) एक पूर्ण षाण्मासिक कृतम १ । (बीयय पणदिणूण ति) द्वितीयषाण्मासिक पञ्चदिनैरून विहितम् २ । (नव चउमासिय दु तिमासिय त्ति) स्वामिना नव चातुर्मासिकानि कृतानि, द्वे त्रैमासिके कृते, (अड्ढाइज्जमासिआ दुन्नि त्ति) द्वे सार्द्धद्विमासिके कृते ॥ १७६ ॥ (छ दुमासिय दुदिवड्ढय-मासिय त्ति) षट् द्विमासिकानि द्वे सार्द्धमासिके कृते । (बारस तहेगमासीया) तथैकमासिकानि मासक्षपणानि द्वादश । (बावत्तरऽद्धमासिय त्ति) द्विसप्ततिरर्द्धमासक्षपणानि । (पडिमा बारऽट्ठमेहिं च) प्रतिमा द्वादश विहिता अष्टमभक्तै', च पादपूरणे ॥ १७७ ॥ (दो चउ दस खमणेहिं) द्वाभ्यां चतुर्भिर्दशभिश्चोपवासै. (निरंतर भद्दमाइपडिमातिग) अन्तररहितं पारणकरहित भद्र१महाभद्र२सर्वतोभद्र३प्रतिमात्रिक कृतमिति । (दुसयगुणतीसछट्ठा) द्वे शते एकोनत्रिंशदधिके षष्ठभक्तानि विहितानि । (पारणया ति-

सयगुणवस्सा) 'पञ्चाधिकसार्द्धद्वादशवर्षैः' त्रीणि शतान्येकोनपञ्चाशत् ३४९ पारणकानि विहितानि । इति गाथाऽर्थः ॥१७८॥ सत्त० ६४ द्वार ।

(६७) तीर्थकरयक्षाः-

जक्खा गोमुह महज-क्ख तिमुह ईसर सतुंबुरू कुसुमो ।
मायंगो विजयाऽजिय, बंभो मणुओ सुरकुमारो ॥३७५॥
छम्मुह पायाल किन्नर, गरुडो गंधव्व तह य जक्खिंदो ।
कूबर वरुणो भिउडी, गोमेहो वामण मयंगो ॥३७६॥

यक्षा भक्तिरक्तास्तीर्थकृतामिमे-यथा प्रथमजिनस्य गोमुखो यक्षः सुवर्णवर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो वरदाक्षमालिकायुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, मातुलिङ्गपाशकान्वितवामपाणिद्वयश्च । अजितनाथस्य महायक्षाभिधो यक्षश्चतुर्मुखः श्यामवर्णः करीन्द्रवाहनोऽष्टपाणिर्वरदमुद्गराक्षसूत्रपाशकान्वितदक्षिणपाणिचतुष्टयो,बीजपूरकाभयाङ्कुशशक्तियुक्तवामपाणिचतुष्कश्च । श्रीसम्भवजिनस्य त्रिमुखो नाम यक्षस्त्रिवदनस्त्रिनेत्रः श्यामवर्णो मयूरवाहनः षड्भुजो नकुलगदाभययुक्तदक्षिणकरकमलत्रयो, मातुलिङ्गनागाक्षसूत्रवामपाणिपद्मत्रयश्च । श्रीअभिनन्दनस्य ईश्वरो यक्षः श्यामकान्तिर्गजवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरकमलद्वयो, नकुलाङ्कुशान्वितवामपाणिद्वयश्च । श्रीसुमतेस्तुम्बुरुर्यक्षः श्वेतवर्णो गरुडवाहनश्चतुर्भुजो वरदशक्तियुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, गदानागपाशयुक्तवामपाणिद्वयश्च । श्रीपद्मप्रभस्य कुसुमो यक्षो नीलवर्णः कुरङ्गवाहनश्चतुर्भुजः फलाभययुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च । सुपार्श्वस्य मातङ्गो यक्षो नीलवर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो बिल्वपाशयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलाङ्कुशयुक्तवामपाणिद्वयश्च । श्रीचन्द्रप्रभस्य विजयो यक्षो हरितवर्णस्त्रिलोचनो हंसवाहनो द्विभुजः कृतदक्षिणहस्तचक्रो, वामहस्तधृतमुद्गरश्च । श्रीसुविधिजिनस्याऽजितो यक्षः श्वेतवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलकुन्तकलितवामपाणिद्वयश्च । श्रीशीतलस्य ब्रह्मा यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः श्वेतवर्णः पद्मासनोऽष्टभुजो मातुलिङ्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो,नकुलगदाङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिचतुष्टयश्च । श्रीश्रेयांसस्य मनुजो यक्षो,मतान्तरेण ईश्वरो,धवलवर्णस्त्रिनेत्रो वृषभवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गगदायुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, नकुलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च । श्रीवासुपूज्यस्य सुरकुमारो यक्षः श्वेतवर्णो हंसवाहनश्चतुर्भुजो बीजपूरकबाणान्वितदक्षिणकरद्वयो, नकुलकधनुर्युक्तवामपाणिद्वयश्च । श्रीविमलस्य षण्मुखो यक्षः श्वेतवर्णः शिखिवाहनो द्वादशभुजः फलचक्रबाणखड्गपाशकाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिषट्को, नकुलचक्रधनुःफलकाङ्कुशाभययुक्तवामपाणिषट्कश्च । श्रीअनन्तस्य पातालो यक्षस्त्रिमुखो रक्तवर्णो मकरवाहनः षड्भुजः पद्मखड्गपाशयुक्तदक्षिणपाणित्रयो,नकुलफलकाक्षसूत्रयुक्तवामपाणित्रयश्च । श्रीधर्मस्य किन्नरो यक्षस्त्रिमुखो रक्तवर्णः कूर्मवाहनः षड्भुजो बीजपूरकगदाभययुक्तदक्षिणपाणित्रयो, नकुलपद्माक्षमालायुक्तवामपाणित्रयश्च । श्रीशान्तिनाथस्य गरुडो यक्षो वराहवाहनः क्रोडवदनः श्यामरुचिश्चतुर्भुजो बीजपूरकपद्मान्वितदक्षिणकरद्वयो, नकुलाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिद्वयश्च । श्रीकुन्थोर्गन्धर्वयक्षः श्यामवर्णो हंसवाहनश्चतुर्भुजो वरदपाशकान्वितदक्षिणपाणिद्वयो, मातुलिङ्गाङ्कुशाधिष्ठितवामकरद्वयश्च । श्रीअरजिनस्य यक्षेन्द्रो यक्षः षण्मुखस्त्रिनेत्रः श्यामवर्णः [शङ्ख]शिखिवाहनो द्वादशभुजो बीजपूरकबाणखड्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणकरषट्को, नकुलधनुःफलकशूलाङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिषट्कश्च । श्रीमल्लिजिनस्य कूबरो यक्षश्चतुर्मुख इन्द्रायुधवर्णो गजवाहनोऽष्टभुजो वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो, बीजपूरकशक्तिमुद्गराक्षसूत्रयुक्तवामपाणिचतुष्टयश्च । अन्ये कूबरस्थाने कुबेरमाहुः । श्रीमुनिसुव्रतस्य वरुणो यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सितवर्णो वृषवाहनो जटामुकुटभूषितोऽष्टभुजो बीजपूरकगदाबाणशक्तियुक्तदक्षिणकरकमलचतुष्को, नकुलपद्मधनुःपरशुयुतवामपाणिचतुष्टयश्च । श्रीनमिजिनस्य भृकुटिर्यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्रः सुवर्णवर्णो वृषभवाहनोऽष्टभुजो बीजपूरकशक्तिमुद्गराभययुक्तदक्षिणकरचतुष्टयो,नकुलपरशुवज्राक्षसूत्रयुक्तवामकरचतुष्टयश्च । श्रीनेमिजिनस्य गोमेधो यक्षस्त्रिमुखः श्यामकान्तिः पुरुषवाहनः षड्भुजो मातुलिङ्गपरशुचक्रान्वितदक्षिणकरत्रयो,नकुलशूलशक्तियुक्तवामपाणित्रयश्च । श्रीपार्श्वजिनस्य वामनो यक्षो,मतान्तरेण पार्श्वनामा, गजमुख उरगफणामण्डितशिराः श्यामवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो बीजपूरकोरगयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो,नकुलभुजगयुक्तवामपाणियुगश्च । श्रीवीरजिनस्य मतङ्गो यक्षः श्यामवर्णो गजवाहनो द्विभुजो नकुलयुतदक्षिणभुजो, वामकरधृतबीजपूरकश्च । प्रव० २६ द्वार ।

(६८) तीर्थकरदेव्यः-

देवीओ चक्केसरि, अजिआ दुरितारि कालि महकाली ।
अच्चुय संता जाला, सुतारयाऽसोय सिरिवच्छा ॥३७७॥
पवर विजयंऽकुसा प-न्नग त्ति निव्वाण अच्चुया धरणी ।
वइरुट्टऽच्छुत्त गंधा-रि अंब पउमावई सिद्धा ॥३७८॥

तत्राऽऽद्यजिनस्य चक्रेश्वरी देवी, मतान्तरेणाऽप्रतिचक्रा, सुवर्णवर्णा गरुडवाहनाऽष्टकरा वरदबाणचक्रपाशयुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टया, धनुर्वज्रचक्राङ्कुशयुक्तवामपाणिचतुष्टया चेति । श्रीअजितस्याजिता देवी गौरवर्णा लोहासनाधिरूढा चतुर्भुजा वरदपाशकाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया,बीजपूरकाङ्कुशालङ्कृतवामपाणिद्वया च । श्रीसम्भवस्य दुरितारिर्देवी गौरवर्णा मेषवाहना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रभूषितदक्षिणभुजद्वया, फलाभयान्वितवामकरद्वया च । श्रीअभिनन्दनस्य काली नाम देवी श्यामकान्तिः पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया,नागाङ्कुशालङ्कृतवामपाणिद्वया च । श्रीसुमतेर्महाकाली देवी सुवर्णवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया, मातुलिङ्गाङ्कुशयुक्तवामपाणिद्वया चेति । श्रीपद्मप्रभस्याऽच्युता,मतान्तरेण श्यामा,देवी श्यामवर्णा नरवाहना चतुर्भुजा वरदबाणान्वितदक्षिणकरद्वया,कार्मुकाभययुक्तवामपाणिद्वया च । श्रीसुपार्श्वस्य शान्ता देवी सुवर्णवर्णा गजवाहना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरद्वया, शूलाभययुक्तवामहस्तद्वया च । श्रीचन्द्रप्रभस्य ज्वाला,मतान्तरेण भृकुटिः,देवी पीतवर्णा वरालकाख्यजीवविशेषवाहना चतुर्भुजा खड्गभूषितदक्षिणकरद्वया, फलकपरशुयुतवामपाणिद्वया च । श्रीसुविधेः सुतारा देवी गौरवर्णा वृषभवाहना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणभुजद्वया, कलशाङ्कुशान्वितवामपाणिद्वया च । श्रीशीतलस्य अशोका देवी नीलवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशयुक्तदक्षिणपाणिद्वया,फलाङ्कुशयुक्तवामपाणिद्वया च । श्रीश्रेयांसस्य श्रीवत्सा देवी, मतान्तरेण मानवी, गौरवर्णा सिंहवाहना चतु-

भुजा वरदमुद्गरान्वितदक्षिणकरद्वया, कलशाङ्कुशयुक्तवामकरद्वया च । श्रीवासुपूज्यस्य प्रवरा देवी, मतान्तरेण चण्डा, श्यामवर्णा तुरगवाहना चतुर्भुजा वरदशक्तियुक्तदक्षिणकरयुगा, पुष्पगदायुतवामकरद्वया च । श्रीविमलस्य विजया, मतान्तरेण विदिता, देवी हरितालवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा बाणपाशयुक्तदक्षिणकरद्वया, धनुर्नागयुतवामपाणिद्वया च । श्रीअनन्तजिनस्य अङ्कुशा देवी गौरवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा खड्गपाशयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, फलकाङ्कुशयुक्तवामकरद्वया च । श्रीधर्मस्य पन्नगा देवी, मतान्तरेण कन्दर्पा, गौरवर्णा मत्स्यवाहना चतुर्भुजा उत्पलाङ्कुशयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, पद्माभययुक्तवामपाणिद्वया च । श्रीशान्तिनाथस्य निर्वाणा देवी कनकरुचिः पद्मासना चतुर्भुजा पुस्तकोत्पलयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, कमण्डलुकमलकलितवामकरद्वया च । श्रीकुन्थोरच्युता देवी, मतान्तरेण बलाभिधाना, कनकच्छविर्मयूरवाहना चतुर्भुजा बीजपूरकशूलान्वितदक्षिणपाणिद्वया, मुशुण्डिपद्मान्वितवामपाणिद्वया च । श्रीअरजिनस्य धारणी देवी नीलवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा मातुलिङ्गोत्पलयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, पद्माक्षसूत्रान्वितवामपाणिद्वया च । श्रीमल्लिजिनस्य वैरोट्या देवी कृष्णवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, बीजपूरकशक्तियुक्तवामपाणिद्वया चेति । श्रीमुनिसुव्रतस्य अच्छुप्ता देवी, मतान्तरेण नरदत्ता, कनकरुचिर्भद्रासनारूढा चतुर्भुजा वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणभुजद्वया, बीजपूरकशूलयुक्तवामकरद्वया च । श्रीनमिजिनस्य गन्धारी देवी श्वेतवर्णा हंसवाहना चतुर्भुजा वरदखड्गयुक्तदक्षिणकरद्वया, बीजपूरककुन्तकलितवामकरद्वया च । श्रीनेमिजिनस्य अम्बा देवी कान्तरुचिः सिंहवाहना चतुर्भुजा आम्रलुम्बिपाशयुतदक्षिणकरद्वया, चक्राङ्कुशाऽऽसक्तवामकरद्वया च । श्रीपार्श्वजिनस्य पद्मावती देवी कनकवर्णा कुर्कुटसर्पवाहना चतुर्भुजा पद्मपाशान्वितदक्षिणकरद्वया, फलाङ्कुशाधिष्ठितवामकरद्वया च । श्रीवीरजिनस्य सिद्धायिका देवी हरितवर्णा सिंहवाहना चतुर्भुजा पुस्तकाभययुक्तदक्षिणकरद्वया, बीजपूरकवीणाभिरामकरद्वया चेति । अत्र सूत्रकारेण यक्षाणां देवीनां च केवलानि नामान्येवाभिहितानि, न पुनर्नयनवदनवर्णाऽऽदिस्वरूपं निरूपितम्, अस्माभिस्तु शिष्यहिताय निर्वाणकलिकाऽऽदिशास्त्रानुसारेण किञ्चित्तदीयमुखवर्णप्रहरणाऽऽदिस्वरूपं निरूपितमिति । प्रव० २७ द्वार ।

(जन्मवेला २२ । जन्मनक्षत्राणि २३ । जन्मराशयः २४ इति द्वारत्रिकं च्यवनवत्)

(६९) तीर्थंकरजन्मनगर्यः—

. . . . , जम्मस्स इमा उ नयरीओ ।
इक्खागभूमिउज्झा, सावत्थी दो अउज्झ कोसंबी ।
वाणारसि चंदपुरी, कायंदी भद्दिलपुर च ॥ ९३ ॥
सीहपुर चंप कंपि—ल्लऽउज्झ रयणपुर ति-गयपुर मिहिला ।
रायगिह मिहिल सूरिय-पुर वाणारसि य कुंडपुरं ।९४।

इक्ष्वाकुभूमिः १। अयोध्या नगरी २। श्रावस्ती ३। द्वयोरयोध्या—अयोध्या नगरी ४। अयोध्या नगरी ५। कौशाम्बी ६। वाराणसी ७। चन्द्रपुरी ८। काकन्दी ९। भद्दिलपुरम् १० ॥ सिंहपुरम् ११ । चम्पा १२। काम्पिल्यपुरम् १३। अयोध्या १४। रत्नपुरम् १५। त्रिषु गजपुरम्—गजपुरम् १६ । गजपुरम् १७ । गजपुरम् १८ । मिथिला १९ । राजगृहम् २० । मिथिला २१ । सौर्यपुरम् २२ । वाराणसी २३। कुण्डपुरम् २४ जिनानां क्रमेण जन्मनगराणि । सत्त० २८ द्वार । आ० म० ।

(७०) अथ तीर्थंकरजन्मदेशाः कथ्यन्ते—

दुसु कोसला कुणाला, दुसु कोसल वच्छ कासि पुव्वो य ।
सुन्न मलय सुन्नऽङ्गा, पंचाला कोसला सुन्नं ॥ ९१ ॥
तिसु कुरु विदेहमगहा, विदेह कोसट्ट कासि तह पुव्वो ।
देसा इमे जिणाणं, जम्मस्स . . . . . . ॥ ९२ ॥

(दुसु कोसला कुणाल त्ति) द्वयोः जिनवरयोः कोशलादेशः १। २। कुणालदेशः ३ । (दुसु कोसल वच्छ कासि पुव्वो य त्ति) द्वयोः पुनः—कोशला ४।५। वत्सदेशः ६। काशीदेशः ७। पूर्वदेशश्च ८। (सुन्न मलय सुन्नऽग त्ति) पुरातनग्रन्थेष्वप्राप्यमाणत्वेनाप्रसिद्धत्वात् शून्यमित्यर्थः ९। मलयदेशः १०। शून्यं प्राग्वत् ११। अङ्गदेशः १२। (पचाला कोसला सुन्न ति) पञ्चालाः १३। कोशला १४। शून्य प्राग्वत् १५ । इति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ (तिसु कुरुविदेहमगह त्ति) त्रिषु कुरुदेशः १६।१७।१८। विदेहदेशः १९। मगधदेशः २०। (विदेह कोसट्ट कासि तह पुव्वो त्ति) विदेहदेशः २१। कुशा (व)र्तदेशः २२। काशीदेशः २३। तथा पूर्वदेशः २४ । (देसा इमे जिणाण ति) इमेऽनन्तरोक्ता देशाः क्रमेण चतुर्विंशतिजिनानाम् ॥ ९२ ॥ सत्त० २९ द्वार ।

(७१) तीर्थंकरजन्ममासाऽऽदि—

इत्तो उसहाऽऽइ जिणा—ण जम्ममासाइ वुच्छामि (७७)
चित्तबहुलऽट्ठमी सिय—माहऽट्ठमि मग्गचउदसी माहे ।
सियबिय वेसाहऽट्ठमि, कत्तियगे कसिणबारसिया ।७८।
जिट्ठसिय पोसकसिणा, य बारसी मग्गपंचमी चेव ।
कसिणा य माहफग्गुण—बारसि फग्गुण चउद्दसिया ।७९।
माहस्स सुद्धतइया, तह वइसाहम्मि तेरसी कसिणा ।
माहसियतइय जिट्ठे, कसिणा तेरसि विसाहचउदसिया।८०।
सियमग्गदसमि-गारसि, बहुलऽट्ठमि जिट्ठसावणे मासे ।
सावणसियपंचमि पो-सकसिणदसमि सिअचित्ततेरसिया॥

इतो गर्भस्थितिकथनानन्तरम्, ऋषभाऽऽदीनां जन्ममासाऽऽदि वक्ष्ये। तद्यथा-चैत्रबहुलाष्टमी ऋषभजिनस्य जन्म १। श्वेतमाघाष्टमी २। मार्गशीर्षसितचतुर्दशी ३। माघसितद्वितीया ४। वैशाखसिताष्टमी ५। कार्त्तिककृष्णद्वादशिका ६। ज्येष्ठस्य सितद्वादशी ७। पौषस्य कृष्णा द्वादशी ८। मार्गशीर्षकृष्णपञ्चमी ९। माघकृष्णा द्वादशी १०। फाल्गुनकृष्णा द्वादशी ११। फाल्गुनकृष्णचतुर्दशी १२। माघसिततृतीया १३। वैशाखकृष्णत्रयोदशी १४। माघसिततृतीया १५। ज्येष्ठकृष्णत्रयोदशी १६। वैशाखकृष्णचतुर्दशी १७। मार्गशीर्षसितदशमी १८। मार्गशीर्षैकादशी कृष्णा १९। ज्येष्ठमासबहुलाष्टमी २०। श्रावणबहुलाष्टमी २१। श्रावणश्वेतपञ्चमी २२। पौषकृष्णा दशमी २३। चैत्रश्वेतत्रयोदशी २४। इति क्रमेण जन्ममासपक्षतिथयः । सत्त० २८ द्वार।

(७२) अथ जन्मारकानाह—

सत्तिज्जकालरूवे, तइयऽरयंते उसहजम्मो ।(८३)

अजियस्स चउत्थारय-मज्झे पच्छद्धे संभवाऽऽईणं ।
तस्संऽते अराईणं, जिणाण जम्मो तहा मुक्खो ॥७३॥

(सखिज्जकालरूवे, तइयऽरयंते उसहजम्मो त्ति) सख्यातकालरूपे तृतीयारकपर्यन्ते ऋषभजिनजन्म, मोक्षश्च ज्ञेय इति गाथार्थः । (अजियस्स चउत्थारयमज्झे त्ति) अजितजिनस्य चतुर्थारकमध्ये जन्म,मोक्षश्चाभूत् । (पच्छद्धे संभवाऽऽईण त्ति) पश्चिमार्द्धे सम्भवाऽऽदीनां सप्तदशजिनपर्यन्तानां जन्म, मोक्षश्चाभूत् । (तस्सऽते अराईण) तस्य तुर्यारकस्यान्ते अराऽऽदिजिनानां वीरपर्यन्तानां सप्तजिनानां जन्म, मोक्षश्चाभूत् । (जिणाण जम्मो तहा मुक्खो) एवं सर्वजिनानां जन्म, मोक्षश्च । सत्त० २५ द्वार ।

अथ जन्मारकाणां शेषकालमाह-

जम्माउ इगुणनउई-पक्खनिजाउअमियमरयसेसं ।
पुरिमंतिमाण नेअं, तेणऽहियमिमं तु सेसाणं ॥७६॥
अजियस्स अयरकोमी, लक्खा पन्नास,वीस दस एगो ।
कोमिसहस दस एगो, कोमिसयं कोमि दस एगा ॥७७॥
बायालसहस्सूणं, इय नवगे अट्ठगे पुणो इत्तो ।
पणसट्ठिलक्खचुलसी-सहसऽहियं होइ वरिसाण ॥७८॥
अयरसयं उयाला, सोलसगतिन्नि पलियभागतिगं ।
पलियस्स एगपाओ, वरिसाणं कोमिसहसो य ॥७९॥
तिसु चुलसिसहस्सऽहिया, पणसट्ठिगारपंचलक्खा य ।
चुलसि सहस्सा तो स-ड्ढ दुसय पासस्स अरसेसं ॥८०॥

(जम्माउ इगुणनउई-पक्खनिजाउअमियमरयसेस त्ति) जन्मत एकोननवति (८९) पक्षानिजायुर्मितमरकशेषम (पुरिमंतिमाण नेअ त्ति) प्रथमान्तिमयोर्जिनयोर्ज्ञेयम् । अय भावः-एकोननवतिपक्षाः चतुरशीतिलक्षपूर्वाणि च श्रीऋषभदेवस्य तृतीयारकशेषं ज्ञेयम । कोऽर्थः ?-श्रीऋषभदेवस्य जन्मन तृतीयारकमध्ये एतावान् कालोऽवशिष्यत इति । तथा-एकोननवतिपक्षाः द्वासप्ततिवर्षाणि च श्रीवीरस्य जन्मतोऽरकस्य शेष ज्ञेयम । श्रीवीरस्य जन्मतः चतुर्थारकमध्ये एतावान् कालोऽवशिष्यत इत्यर्थः । (तेणऽहियमिम तु सेसाण त्ति) तोर्भिन्नक्रमत्वात् शेषाणां मध्यद्वाविंशतिजिनानां तु, तेन निजायुषा अधिकमिदं वक्ष्यमाणमरकशेषं ज्ञेयमिति गाथाऽर्थः ॥८६॥ (अजियस्स अयरकोमी लक्खा पन्नास त्ति)अजितस्य जन्मत द्वासप्ति (७२) लक्षपूर्वैरधिका "बायालसहस्सूण इय नवगे" इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् द्विचत्वारिंशच्छतवर्षसहस्रैरूनाश्च पञ्चाशल्लक्षा सागरकोट्यः चतुर्थारकशेष ज्ञेयम । एवं शीतलजिन यावद् निजायु प्रक्षेपपूर्वक द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्राऽपनयनपूर्वक च चतुर्थारकशेषं वाच्यम । २ (वीस दस एगो त्ति) विंशतिकोटिलक्षा ६० लक्षपूर्वाधिक० ३। दशकोटिलक्षा ५० लक्षपूर्वाधिक० ४। एककोटिलक्षा ४० लक्ष० ५ । (कोमिसहस दस इक्को त्ति) दशकोटिसहस्रा ३० लक्षपू० ६ । एककोटिसहस्र २० लक्षपू० ७। (कोडिसय कोमि दस एग त्ति) कोटीशत १० लक्ष० ८ । दशकोट्यः २ ल०९। एका कोटी १ लक्ष० १० । सागराणामिति सर्वत्र गम्यम् । इति गाथार्थ ॥ ८७ ॥ "बायालसहस्सूण, इय नवगे " इत्यनन्तरोक्ते नवके अजितजिनादारभ्य शीतलजिन यावद् द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रैरेतदरकशेषमूनं क्रियते । (अट्ठगे पुणो इत्तो त्ति) इतोऽनन्तरमष्टके पुन (पणसट्ठिलक्खचुलसीसहसऽहिय होइ वरिसाण ति) पञ्चषष्टिलक्षचतुरशीतिवर्षसहस्राधिक भवति, अग्रे वक्ष्यमाणमिति शेष इति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ (अयरसय ति) अतरशत सागरशतम । भावना चैवम्-श्रेयांसस्य जन्मत. निजायुरधिक पञ्चषष्टिलक्ष(६५)चतुरशीति(८४)सहस्रवर्षाऽधिक चैकं सागरशत चतुर्थारकशेष ज्ञेयम् । एवमग्रेऽजिन यावन्निजायुःप्रत्ययपूर्वक, पञ्चषष्टिलक्षचतुरशीतिसहस्रवर्षप्रक्षेपपूर्वकं च भावनीयम । (उयाल त्ति) पट्चत्वारिंशत् सागराणि ७२ लक्षा० १२। (सोलस सग तिन्नि पलियभागतिग ति) षोडशसागराणि ६० लक्षा० १३। सप्तसागराणि १० लक्षा० १४। त्रीणि सागराणि (?) लक्ष० १५ । पल्यत्रयभागत्रिक पादोनपल्यम् १ लक्ष० १६। (पलियस्स एगपाय त्ति) पल्यस्यैकपाद चतुर्थांश. निजायु (९५) सहस्राधिक० १७। (वरिसाण कोमिसहसो य त्ति) वर्षाणां कोटिसहस्र (८४) सहस्रश्चेति १८ गाथार्थः ॥७९॥ (तिसु चुलसिसहस्सऽहिय त्ति) त्रिषु जिनेष्वनन्तर भणिष्यमाणेषु चतुरशीतिसहस्राधिका (पणसट्ठिगारपचलक्खा य त्ति) लक्षशब्दस्य प्रत्येकं योगात् पञ्चषष्टिलक्षा श्रीमल्लिजिनस्य जन्मतः चतुरशीतिसहस्रवर्षाधिका ५५००० निजायुरधिकाश्च पञ्चषष्टिलक्षा ६५ वर्षाणि चतुर्थारकशेषमिति नमिजिन यावद्भावना कार्या १९ । एकादशलक्षा ३० सहस्र० २० । पञ्चलक्षाश्च १० सह० २१ । (चुलसिसहस्स त्ति) चतुरशीतिसहस्राणि वर्षाणि १ सह० २२ । (तो सड्ढ दुसय त्ति) ततः सार्द्धे द्वे शते (पासस्स अरसेस ति) श्रीपार्श्वनाथस्य अरकशेष ज्ञेय वर्षशताधिकम् २३। इति गाथाऽर्थः ॥८०॥ चतुर्विंशतिजिनानां जन्मारकाणां शेषकालः । सत्त० २६ द्वार ॥

(७३) अथ तीर्थप्रसिद्धजिनजीवानाह-

उसहे मरीइपमुहा १, सिरिवम्मनिवाइया सुपासजिणे ७ ।
हरिसेणविस्सभूई, सीयलतित्थम्मि १० जिणजीवा ॥३४॥
सेयंसे सिरिकेऊ, तिविट्ठुमरुभूइअमियतेयधणा ।
वसुपुज्जे ११ नंदणनं-दसंखसिद्धत्थसिरिवम्मा ॥३५॥
सुव्वते ऍरावणनारय-नामा२०नेमिम्मि कण्हपमुहा य २२।
पासे अवंमसच्चइ-आणंदा २३ वीरे सेणियाई य ॥३६॥
सेणिय सुपास पोट्टिल, उदाइ सखे दढाउ सयगे य ।
रेवइ सुलसा वीर-स्स वद्धतित्थयत्तणा नव उ ॥ ३७ ॥

(उसहे मरीइपमुहा) ऋषभे मरीचिप्रमुखाः १। (सिरिवम्मनिवाइआ सुपासजिणे) श्रीवर्म्मनृपाऽऽदिकाः सुपार्श्वजिने ७। (हरिसेणविस्सभूइ त्ति) श्रीशीतलनाथतीर्थे हरिषेणविश्वभूती जिनजीवौ ज्ञेयौ इति गाथार्थः ॥३४॥ (सेयसे सिरिकेऊ) श्रेयांसतीर्थे श्रीकेतुनामा (तिविट्ठमरुभूइअमियतेयधणा) त्रिविष्टमरुभूत्यमिततेजोधननामानः ११ (वसुपुज्जे नंदणनंदसंखसिद्धत्थसिरिवम्मा) वासुपूज्यजिनतीर्थे नन्दननन्दशङ्खसिद्धार्थश्रीवर्म्माभिधा १२ इति गाथार्थः ॥३५॥ (सुव्वते ऍरावणनारयनामा) मुनिसुव्रते ऐरावणनारदनामानौ २०। (नेमिम्मि कण्हपमुहा य) नेमितीर्थे कृष्णप्रमुखाश्च २२। (पासे अंबडसच्चइआणंदा) पार्श्वतीर्थे अम्बडसत्यक्यानन्दनामानः २३। (वीरे सेणिआई य)

श्रीवीरतीर्थे श्रेणिकाऽऽद्यो जिनजीवा ज्ञेया। इति गाथार्थः॥३६॥ (सेणियसुपासपोट्टिलउदाइमखे त्ति) श्रेणिकः १ सुपार्श्व २ पोट्टिल ३ उदायिनामा ४ सखनामा ५ । (दढाउ सयगे) दृढायु. ६ शतको च ७ (रेवइ सुलसा) रेवती ८ सुलसाभिख्यौ ९ (वीरस्स दइडतित्थयरणा नव उ) श्रीवीरस्य तीर्थे एते नव जीवा बद्धतीर्थकृन्नामकर्माणः इति गाथार्थः ॥३७॥ सत्त० १६६ द्वार।

(७४) भविष्यत्तीर्थकराः-

जंबुद्दीवे एं दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए चउव्वीसं तित्थगरा भविस्संति । तं जहा-

" महापउमे सुरदेवे, सुपासे य सयंपभे ।
सव्वाणुभूई अरहा, देवगुत्ते य होक्खइ ॥१॥
उदए पेढालपुत्ते य, पोट्टिले सतकित्तिए ।
मुणिसुव्वए य अरहा, सव्वभावविऊ जिणे ॥२॥
अममे णिक्कसाए य, निप्पुलाए य निम्ममे ।
चित्तउत्ते समाही य, आगमिस्सेण होक्खइ ॥ ३ ॥
संवरे अणियट्टी य, विजए विमले तहा ।
देवोववाए अरहा, अणंतविजए इय * ॥ ४ ॥
एए वुत्ता चउव्वीसं, भरहे वासम्मि केवली ।
आगमिस्सेण होक्खति, धम्मतित्थस्स देसगा"॥५॥ स०।

महाविदेहविजयेषु विहरत्सु केवलिजिनेषु तत्रस्थेष्वन्येषां जिनानां जन्माऽऽदि स्यात्, किं वा तन्मोक्षगमनानन्तरमिति प्रश्ने, उत्तरम्- महाविदेहविजयेषु विहरत्सु केवलिजिनेषु तत्रस्थेषु चाऽन्येषां जिनानां जन्माऽऽदि न स्यादिति । प्र०२। ही०२प्रका०।

(७५) अथ युगान्तकृद्भूमिकामाह-

साहूण सिद्धिगमणं, असंखअहचउतिसंखपुरिसं जा ।
संजायमुसहनेमी-पासंऽतिमसेसमुक्खाओ ॥३२३॥

(साहूण सिद्धिगमणं) साधूनां मुनीनां सिद्धिगमनं मोक्षगमनम्(असंखअडचउतिसंखपुरिसं जा, सजायं ति)असङ्ख्याष्टचतुस्त्रिसङ्ख्यपुरुषं यावत् संजातम् । कस्मादित्याह-(उसहनेमिपासतिमसेसमुक्खाओ)ऋषभनेमिपार्श्वान्तिमशेषाणां मोक्षात्। इयमत्र योजना-श्रीऋषभस्य मोक्षात् असङ्ख्यपुरुषान् यावत् साधूनां सिद्धिगमनं संजातम् १। श्रीनेमेरष्टौ पुरुषान् यावत् साधूनां सिद्धिगमनं संजातम् २।("अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स जाव अट्ठमाओ पुरिसजुगाओ जुगतगडभूमी दुवासपरियाए अंतमकासी ।" स्था० ८ ठा० । " उसभेणं अरहा कोसलिएणं इमीसे उस्सप्पिणीए नवहिं सागरोवमकोडाकोडीहिं वीइक्कताहिं तित्थे पवत्तिए।" स्था० ९ ठा०) श्रीपार्श्वस्य मोक्षात् चतुरः पुरुषान् यावत् साधूनां सिद्धिगमनं संजातम् ।३। शेषाणामजिताऽऽदीनां नमि (२१) पर्यन्तानां जिनानां मोक्षात् (त्रि) ? सङ्ख्यातपुरुषान् यावत्साधूनां सिद्धिगमनं संजातमिति गाथार्थः ॥ ७४॥ ३२३ ॥ सत्त० १५८ द्वार। " समणस्स णं भगवओ महावीरस्स जाव तच्चाओ पुरिसजुगाओ जुगतगडभूमी ।" स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

(७६) स्थितिकल्प -

दसहा ठुएहं नणिओ, चउहा अन्नेसि ठिइकप्पो(२०७)

*प्रवचनसारोद्धाराऽऽदौ पाठभेद उपलभ्यते,तन्मतान्तरेण।

दशधा दशप्रकारेण स्थितिकल्पः प्रथम१चरम२४जिनयोस्तीर्थे भणित । अन्येषां द्वाविंशतिजिनानां चतुःप्रकारो भणितः। सत्त० १३५ द्वार । (विशेषार्थिना ' कप्प ' शब्दस्तृतीयभागे २२५ पृष्ठे विलोकनीयः)

(७७) तत्त्वसंख्या-

जीवाऽऽई नव तत्ता,तिन्निऽहवा देव-गुरु-धम्मा(२०३)
सव्वेसिं जिय-अजिया, पुन्नं पावं च आसवो बंधो ।
संवर निज्जर मुक्खो, पत्तेयमणेगहा तत्ता ॥२८४ ॥

सर्वेषां जिनानां शासने जीवाऽऽदीनि नव तत्त्वानि । अथवा-त्रीणि तत्त्वानि देवगुरुधर्मरूपाणि भवन्ति। (२८३) सर्वेषां जिनानां तीर्थे जीवाऽजीवौ, पुण्य,पाप च, आश्रव , बन्धः, संवर , निर्जरा,मोक्षः । एतानि नव तत्त्वानि प्रत्येकमनेकधा भवन्ति ॥ सत्त० १३१ द्वार । आ० म० ।

(७८) अथ तीर्थप्रवृत्तिकालः प्रोच्यते-

इगतित्था जा तित्थं, बीयस्सुप्पज्जए य ता नेओ ।
पुव्विल्लतित्थकाओ, दुसमंत पुण चरिमतित्थं ॥२१०॥
केवलिकालेण जुओ, इगस्स बीयस्स तेण पुण हीणो ।
अंतरकालो नेओ,जिणाण तित्थस्स कालो वि॥२११॥
उसहस्स य तित्थाओ, तित्थं वीरस्स पुव्वलक्खऽहियं ।
अयरेगकोमिकोडी, बावीससहस्सवासूणा ॥ २१२ ॥

(इगतित्था जा तित्थ, बीयस्सुप्पज्जए अ ता नेओ। पुव्विल्लतित्थकाओ)एकस्य तीर्थकृतस्तीर्थात् यावद् द्वितीयतीर्थकृतस्तीर्थमुत्पद्यते तावत्काल पूर्वतीर्थकृतस्तीर्थकालो ज्ञेय । (दुसमंतं पुण चरिमतित्थ त्ति) दु षमान्त पुनश्चरमतीर्थम्-पञ्चमाऽऽरकपर्यन्तं यावत् श्रीवीरजिनस्य तीर्थमिति गाथाऽर्थः ॥ २१० ॥ (केवलिकालेण जुओ इगस्स त्ति) एकस्य विवक्षितजिनस्य केवलिकालेन युत (बीयस्स तेण पुण हीणो) द्वितीयस्य तदग्रेतनस्य जिनस्य पुनस्तेन केवलिकालेन हीनो रहित (अतरकालो त्ति) एतादृशोऽन्तरकाल एव (नेओ जिणाण तित्थस्स कालो वि त्ति) जिनानां तीर्थस्यापि कालो ज्ञेयः । तथाहि-श्रीऋषभाजितजिनयोरन्तरकालः पञ्चाशल्लक्षकोटिसागराणि । स च श्रीऋषभस्य केवलिकालेन वर्षसहस्रोनपूर्वलक्षमानेन युत. श्रीअजितस्य केवलिकालेन द्वादशवर्षोनपूर्वाङ्गोनैकपूर्वलक्षमानेन हीनश्च क्रियते । तथा च द्वादशवर्षोनपूर्वाङ्गोनैव पूर्वलक्षोनानि वर्षसहस्रोनैकपूर्वलक्षाधिकानि च पञ्चाशल्लक्षकोटिसागराणि जातानि । एतावता काल ५० लक्षकोटिसागर ८३९९९९८ वर्षाधिक श्रीऋषभस्य तीर्थे प्रवृत्तमित्यर्थ । एवं पार्श्वजिन यावद्भावना कार्या । इति गाथार्थ ॥ २११ ॥ (उसहस्स य तित्थाओ तित्थं वीरस्स त्ति) ऋषभस्य च तीर्थात् वीरस्य तीर्थं (पुव्वलक्खऽहिय ति) पूर्वलक्षाधिकमधिक (अयरेगकोमिकोडी) सागरैककोटाकोटी (बावीससहस्सवासूणा) द्वाविंशतिसहस्रवर्षोना भवति । तथाहि-ऋषभस्य केवलिपर्याय वर्षसहस्रोनमेक पूर्वलक्ष, ततो नवाशीतिपक्षेषु व्यतीतेषु तृतीयारक. परिसमाप्त । ततो द्विचत्वारिंशत्सहस्रवर्षोनैक. सागरकोटाकोटिप्रमाण चतुर्थारको व्यतीतः। तदनु च एकविंशतिसहस्रवर्षप्रमाण. पञ्चमारक । सर्वेषां पिण्डीकरणे च नवाशीतिपक्षत्रिकेन पूर्वलक्षणाधिका

द्वाविंशतिवर्षसहस्रैश्च न्यूना सागराणाम् एका कोटाकोटि-र्भवति। श्रीऋषभस्य तीर्थात् श्रीवीरस्य तीर्थम् एतावता कालेन परिसमाप्तमिति तात्पर्यमिति गाथाऽर्थः ॥ २१२ ॥ इति तीर्थप्रवृत्तिकाल । सत्त० १०१ द्वार ।

(७९) तीर्थकरकल्याणतपः-

" इअऽतीअवट्टमाणा-ऽणागयचउवीसजिणवरिंदाणं ।
ओसप्पिणिउस्सप्पिणि-भवा णु अणुलोमपडिलोमा ॥ १ ॥
सग्गाइअमहिवलया, पचसु भरहेसु एरवयपणगे ।
कल्लाणयमासतिहीं-उ मासया न य विदेहेसु ॥ २ ॥
इगभत्तिनिविअआमा-खमणमिगदुत्तिचउपचकल्लाणे ? ।
इअ सखेवतवेण, आराहइ पचकल्लाणे ॥ ३ ॥
वित्थरओ उववत्त, चुइजम्मेसु करिज्ज पत्तेअ ।
जिणवत्तेणं तवसा, दिक्खाइतिगसु आराहे ॥ ४ ॥
सुमइऽत्थ निच्चभत्ते-ण णिग्गओ वासुपुज्ज चउथेणं ।
पासो मल्ली वि अ अ-ट्ठमेण सेसा उ छट्ठेण ॥ ५ ॥
अट्ठमभत्तम्मी, नाणमुसभमल्लिनेमिपासाण ।
वसुपुज्जस्स चउत्थे-ण छट्ठभत्तेण सेसाण ॥ ६ ॥
चउदसमेण उसभो, वीरो छट्ठेण मासिए पत्ते ।
सिद्धवयम्मी सुमई-सुववासो निच्चभत्ते वि ? ॥ ७ ॥
काउ कल्लाणतव, उज्जमण जो करिज्ज विहिपुव्व ।
जिणपहुआराहणओ, परमपय पावए स कमा ॥ ८ ॥
चुइजम्मदिक्खकेवल-सिवाइँ कल्लाणयाइँ पचेव ।
सव्वजिणाण उ पुणो, वीरस्स सगब्भहरणाइं ॥ ९ ॥
इहखित्तभवजिणाण, जो आराहेइ पचकल्लाण ।
तेहसखित्तत्तिकालिअ-अरिहाण उवासिणा तेण ? ॥ १० ॥
पणकल्लाणयकप्प, भवीण पूरियमणिट्ठसकप्पं ।
जो पढइ सुणइ भव्वो, सयवरा तस्स सिद्धिसिरी" ॥११॥
ती० ५० कल्प । प्रव० ।

(८०) तीर्थकरणप्रयोजनम्-

ननु सर्वोऽपि प्रेक्षावान् फलार्थी प्रवर्तते, अन्यथा प्रेक्षावत्त्वातिप्रसङ्ग. । ततोऽसौ तीर्थं कुर्वन्नवश्य फलमपेक्षते । फल चापेक्षमाणोऽस्मादृश इव व्यक्तमवीतरागः । तदयुक्तम् । यत. तीर्थकरः स एव भवति, यस्तीर्थकरनामकर्मोदयसमन्वित , न हि सर्वेऽपि भगवन्तो वीतरागास्तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्तन्ते । तीर्थकरनामकर्मैव तीर्थप्रवर्तनफलम् । ततो भगवान् वीतरागोऽपि तीर्थकरनामकर्मोदयतः तीर्थप्रवर्तनस्वभावः सवितेव प्रकाशमुपकार्योपकारानपेक्ष तीर्थं प्रवर्तयतीति न कश्चिद्दोष. ।

उक्त च-

" तीर्थप्रवर्तनफलं, यत्प्रोक्त कर्म तीर्थकरनाम ।
तस्योदयात् कृतार्थोऽप्य-र्हंस्तीर्थं प्रवर्तयति ॥ १ ॥
तत्स्वाभाव्यादेव, प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम् ।
तीर्थप्रवर्तनाय, प्रवर्तते तीर्थकर एवम् ॥ २ ॥ "

ननु तीर्थप्रवर्तन नाम प्रवचनार्थप्रतिपादनं, प्रवचनार्थं चेद् भगवान् प्रतिपादयति, तर्हि नियमादसर्वज्ञ, सर्वस्यापि वक्तुरसर्वज्ञतयोपलम्भात् । तथा चात्र प्रयोग.-विवक्षितः पुरुष. सर्वज्ञो न भवति, वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवदिति । तदसत् । सन्दिग्धव्यतिरेकतया हेतोरनैकान्तिकत्वात् । तथाहि-वचन न सर्ववेदिना सह विरुध्यते, अतीन्द्रियेण सह विरोधानिश्चयात् । द्विविधो हि विरोध.-परस्परपरिहारलक्षण., सहानवस्थानलक्षणश्च । तत्र परस्परपरिहारलक्षण. तादात्म्यप्रतिषेधे, यथा घटपटयो । न खलु घट पटाऽऽत्मको भवति, नापि पटो घटाऽऽत्मको भवति । " न सत्ता सत्तान्तरमुपैति " इति वचनात् । ततो(ना)ऽनयोः परस्परपरिहारलक्षणो विरोधः। एव सर्वेषामपि वस्तूनां भावनीयम्, अन्यथा वस्तुसाङ्कर्यप्रसक्तेः। यस्तु सहानवस्थानलक्षणो विरोधः, स परस्परबाध्यबाधकभावसिद्धौ सिद्ध्यति, नान्यथा । यथा-वह्निशीतयोः । तथा हि-विवक्षिते प्रदेशे मन्दमन्दमभिज्वलनवति वह्नौ शीतस्यापि मन्दमन्दभाव. । यदा पुनरत्यर्थज्वालामालाविभ्रान्ति वह्निस्तदा सर्वथा शीतस्याभाव इति भवत्यनयोर्विरोध. ।

उक्त च-

" अविकलकारणमेकं, तदपरभावे यदाऽऽभवन्न भवेत् ।
भवति विरोध. स तयो., शीतहुताशाऽऽत्मनोर्दृष्ट ॥ १ ॥ "

न चैव वचनसवेदनयो. परस्पर बाध्यबाधकभावः, न हि सवेदने तारतम्येनोत्कर्षमासादयति वचस्विनाया. तारतम्येनापकर्ष उपलभ्यते, तत्कथमनयोः सहानवस्थानलक्षणो विरोध । अथ सर्ववेदी वक्ता नोपलब्ध इति विरोध उद्घुष्यते । तदयुक्तम् । अत्यन्तपरोक्षो हि भगवान्, ततः कथमनुपलम्भमात्रेण तस्याभावनिश्चय', अदृश्यविषयस्यानुपलम्भस्याभावनिश्चायकत्वायोगात् ।

आह च प्रज्ञाकरगुप्तः-

" बाध्यबाधकभावः कः, स्यातां तद्युक्तिसविदौ ? ।
तादृशाऽनुपलब्धेश्च-दुच्यतां सैव साधनम् ॥ १ ॥
अनिश्चयकर प्रोक्त-मीदृक्षानुपलम्भनम् ।
तत्रात्यन्तपरोक्षेषु, सदसत्ताविनिश्चयै' ॥ २ ॥ " न० ।

(८१) तीर्थोच्छेदकालः-

पुरिमंऽतिमअट्ठऽट्ठं-तरेसु तित्थस्स नत्थि वुच्छेओ ।
मज्झिल्लएसु सत्तसु, एत्तियकालं तु वुच्छेओ ॥४३२॥
चउभागो चउभागो, तिन्नि य चउभाग पलिय-चउभागो ।
तिन्नेव य चउभागा, चउत्थभागो य चउभागो ॥४३३॥

इह हि चतुर्विंशतेस्तीर्थकृतां त्रयोविंशतिरेवान्तराणि भवन्ति। यथा-चतसृणामङ्गुलीनां त्रीण्येवान्तराणि,तत्र पूर्वेषु श्रीऋषभाऽऽदिजिनाऽऽदीनां सुविधिपर्यन्तानां नवानां तीर्थकृतां सबन्धिषु अष्टसु, अन्तिमेषु च शान्तिनाथाऽऽदीनां महावीरान्तानां नवानां जिनानां सबन्धिषु अष्टस्वन्तरेषु तीर्थस्य चतुर्वर्णस्य श्रमणसङ्घस्य नास्ति व्यवच्छेदः । (मज्झिल्लएसु त्ति) मध्यवर्तिषु पुनः सुविधिप्रभृतीनां शान्तिनाथपर्यन्ताना तीर्थकृतामन्तरेषु सप्तसु एतावन्मात्र वक्ष्यमाण काल यावत्तीर्थस्य व्यवच्छेद. । तदेवाऽऽह-(चउभागेत्यादि) सुविधिशीतलयोरन्तरे पल्योपमस्य चतुर्भागीकृतस्य एकश्चतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेदोऽर्हद्धर्मवार्त्ताऽपि तत्र नष्टेत्यर्थ. । तथा-शीतलश्रेयांसयोरन्तरे पल्योपमस्य चतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेदः । तथा श्रेयांसवासुपूज्ययोरन्तरे पल्योपमसबन्धिनस्त्रयश्चतुर्भागास्तीर्थव्यवच्छेदः । तथा वासुपूज्यविमलजिनयोरन्तरे पल्योपमस्य चतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेद. । तथा विमलानन्तजिनयोरन्तरे पल्योपमसबन्धिनस्त्रयश्चतुर्भागास्तीर्थव्यवच्छेदः । तथाऽनन्तधर्मयोरन्तरे पल्योपमस्य चतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेदः । तथा धर्मशान्ति-

नाथयोरन्तरे पल्योपमचतुर्भागस्तीर्थव्यवच्छेदः। इति सर्वाग्रेण प्रागमीलने त्रीणि पल्योपमानि पल्यचतुर्भागहीनानि जातानि । प्रव० ३३ द्वार ।

एएसु णं भंते ! तेवीसाए जिणंतरेसु कस्स कहिं कालियसुयस्स वोच्छेदे पएणत्ते ? । गोयमा ! एएसु णं तेवीसाए जिणंतरेसु पुरिमपच्छिमएसु अट्ठसु अट्ठसु जिणंतरेसु एत्थ णं कालियसुयस्स अवोच्छेदे पएणत्ते । मज्झिमएसु सत्तसु जिणंतरेसु एत्थ णं कालियसुयस्स वोच्छेदे पएणत्ते । सव्वत्थ वि णं वोच्छिएणे दिट्ठिवाए ॥

कस्य जिनस्य सम्बन्धिनि कस्मिन् जिनान्तरे, कयोर्जिनयोरन्तरे, कालिकश्रुतस्यैकादशाङ्गीरूपस्य व्यवच्छेदः प्रज्ञप्तः ? इति प्रश्नः। उत्तरं तु-(एएसु णमित्यादि) इह च कालिकस्य व्यवच्छेदेऽपि पृष्टे यदपृष्टस्याव्यवच्छेदस्याभिधानं तदन्यप्रज्ञापने सति विवक्षितार्थबोधनं सुकरं भवतीति कृत्वा कृतमिति । (मज्झिमएसु सत्तसु त्ति) अनेन 'कस्स कहिं ' इत्यस्योत्तरमवसेयम्। तथाहि-सप्तस्वेषु मध्यमजिनान्तरेषु सुविधिजिननाथस्य सुविधिशीतलजिनयोरन्तरे व्यवच्छेदो बभूव, तद्व्यवच्छेदकालश्च पल्योपमचतुर्भागः । एवमन्येष्वपि जिना., एषु च जिनान्तरेषु व्यवच्छेदकालं सप्तस्वप्येवमपरेषुः-

" चउभागो चउभागो, तिन्नि य चउभाग पलियमेगं च ।
तिन्नेव य चउभागा, चउत्थभागो य चउभागो ॥ १ ॥ " इति ।

(सव्वत्थ वि णं ति) एतेषु प्रज्ञापकोपदर्श्यमानेषु जिनान्तरेषु कालिकश्रुतस्य व्यवच्छेदः प्रश्नः । दृष्टिवादापेक्षया त्वाह-(सव्वत्थ वि णं वोच्छिन्ने दिट्ठिवाए त्ति) सर्वत्रापि सर्वेष्वपि जिनान्तरेषु, न केवलं सप्तस्वेव क्वचित्, किंतु तमपि कालं व्यवच्छिन्नो दृष्टिवाद इति । भ० २० श० ८ उ० ।

(८२) अथ प्रसङ्गात् द्वादशचक्रिनामान्याह-

चक्की भरहो सगरो, मघव-सणंकुमार-संति-कुंथु-अरा ।
सुभूम-महपउम-हरिसे-ण-जयनिवा बंभदत्तो य ॥३४७॥

चक्री-भरत १, सगरनामा २ चक्रिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। मघवा ३, सनत्कुमार ४, शान्ति ५, कुन्थु ६, अरनामा ७, (सुभूममहपउमहरिसेण त्ति) सुभूमनामा ८, महापद्म ९, हरिषेण १० (जयनिवा बंभदत्तो य) जयनृप ११, ब्रह्मदत्तश्च १२ । इति गाथार्थः ॥ ३४७ ॥

अथ नववासुदेवनामान्याह-

तिएह तिविट्ठु दुविट्ठू, सयभू पुरिसुत्तमे पुरिससीहे ।
तह पुरिसपुंडरीए, दत्ते लक्खमण कएहे य ॥३४८॥

(विएहु तिविट्ठु दुविट्ठू सयभु पुरिसुत्तमे पुरिससीहे) विष्णु - त्रिपृष्ठ १, द्विपृष्ठ २, स्वयम्भू ३, पुरुषोत्तम ४, पुरुषसिंह ५, तथा पुरुषपुण्डरीक ६, दत्तनामा ७, लक्ष्मणनामा ८, कृष्णश्च ९ । इति गाथार्थः ॥३४८॥

अथ बलदेवनामान्याह-

हरिजिट्ठभायरो नव, बलदेवा अयल-विजय-भद्दा य ।
सुप्पहसुदंसणाऽऽणं-दनंदणा रामबलभद्दा ॥ ३४९ ॥

(हरिजिट्ठभायरो) विष्णूनां ज्येष्ठभ्रातरः (नव बलदेवा) नवसङ्ख्या बलदेवा भवन्ति । अचलनामा प्रथमः १, विजयनामा द्वितीयः २, भद्रनामा तृतीयः ३, चः पादपूरणे। (सुप्पहसुदंसणाऽऽणंदनंदण त्ति) सुप्रभनामा चतुर्थः ४, सुदर्शननामा पञ्चम ५, आनन्दनामा षष्ठः ६, नन्दननामा सप्तमः ७। (रामबलभद्द त्ति) रामनामाऽष्टमः ८, बलभद्रनामा नवमः ९ । इति गाथार्थः ॥ ३४९ ॥ पञ्च० ८ । प्रव० ।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषमानमाह-

चउपन्नुत्तमपुरिसा, इह एए होंति जीवपन्नासं ।
नवपडिविण्हूहिँ जुआ, तेसट्ठिसलागपुरिस भवे ॥३५०॥

(चउपन्नुत्तमपुरिसा, इह एए होंति जीवपन्नास त्ति) एते चतुर्विंशतिर्जिना २४, द्वादश चक्रिणः १२, नव वासुदेवा ९, नव बलदेवाश्चेति चतुःपञ्चाशत् ५४ उत्तमपुरुषा इह जगति भवेयुः । एते सर्वेऽप्युत्तमपुरुषाः संभूय पञ्चाशज्जीवाः । यतः-शान्तिकुन्थ्वराः जिनाश्चक्रिणोऽपि जाताः, तथा श्रीवीरजीवस्तु त्रिपृष्ठनामा वासुदेवोऽपि जात इति । (नव पडिविण्हूहिँ जुय त्ति) ते चतुःपञ्चाशदुत्तमपुरुषा नवप्रतिविष्णुभिर्युताः । (तेसट्ठिसलागपुरिस भवे) त्रिषष्टिः शलाकापुरुषा भवन्ति । शलाकापुरुषा इति कोऽर्थः ?-शलाका इव रेखा इव पुरुषाः शलाकापुरुषाः, न कोऽप्यपरपुरुष ईदृश एतत्पर्यन्तम् । इति गाथार्थः ॥ ३५० ॥

अथ प्रतिवासुदेवनामान्याह-

ते आसगीवे तारए, मेरए महुकेढवे निसुंभे य ।
बलि पहलाए तह रा-वणे य नवमे जरासंधो ॥३५१॥

अश्वग्रीव १, तारक २, मेरक ३, मधुकैटभ ४, निशुम्भक ५, (बलि पहलाए तह रा-वणे अ नवमे जरासंधो) बलि ६, प्रह्लाद ७, तथा रावणश्च ८, नवमो जरासन्ध ९ । इति गाथार्थः ॥ ३५१ ॥

अथ कस्य तीर्थे के चक्रिवासुदेवबलदेवा जातास्तानाह-

कालम्मि जे जस्स जिणस्स जाया,
ते तस्स तित्थम्मि, जिणंतरे जे ।
नेया उ तेऽतीअजिणस्स तित्थे,
निएहिँ नामेहिँ कमेण एवं ॥ ३५२ ॥

(कालम्मि जे जस्स जिणस्स जाया ते तस्स तित्थम्मि त्ति) यस्य जिनस्य काले जिनतीर्थे वर्तमाने ये जाताः ते चक्रिवासुदेवाऽऽद्यः तस्य तीर्थे कथ्यन्ते, (जिणंतरे जे, नेया उ तेऽतीअजिणस्स तित्थे) जिनान्तरे ये जातास्तेऽतीतजिनस्य तीर्थे ज्ञेयाः । (निएहिं नामेहिं कमेण एव) निजैर्नामभिः क्रमेण एवं वक्ष्यमाणरीत्या । इति गाथार्थः ॥ ३५२ ॥ इदमुपजातिच्छन्दः ।

दो तित्थेस सचक्कि, अट्ठ य जिणा, तो पंच केसीजुया,
दो चक्काहिव, तिन्नि चक्कि अ जिणा, तो केसि चक्की हरी ।
तित्थेसो इग, तो सचक्कि-अ जिणो केसी सचक्की जिणो,
चक्की, केसवसंजुओ जिणवरो, चक्की अ, तो दो जिणा ३५३

(दो तित्थेस सचक्कि अट्ठ य जिणा तो पंच केसीजुआ) द्वौ तीर्थेशौ सचक्रिणौ चक्रवर्त्तिसहितौ, ततोऽष्ट जिनाः, ततः पञ्च वासुदेवयुताः पञ्च जिनाः । (दो चक्काहिव तिन्नि चक्कि अ जिणा, तो केसि चक्की हरी) द्वौ ततश्चक्राधिपौ, ततस्त्रयः चक्रि-

णो जिनाश्च । ततो वासुदेवः, ततश्चक्री, ततो वासुदेवः । (तित्थेसो इगु तो सचक्किम जिणो केसि त्ति) तीर्थेश एक, ततः सचक्री जिन ,ततो वासुदेव , सचक्री जिन.। (चक्की, केसवसजुओ जिणवरो,चक्की अ,तो दो जिणा) चक्री, केशवसयुतो जिनवर., ततश्चक्री, ततो द्वौ जिनौ । इति गाथार्थः ॥ ३५२ ॥ सप्त० १७० द्वार ।

जिनचक्रवर्तिकेशवानां विवरणयन्त्रम्-

तीर्थंकर.	चक्रवर्ती	वासुदेवः
ऋषभस्वामी	भरतचक्रवर्ती	०
अजितस्वामी	सगरचक्रवर्ती	०
शंभवस्वामी	०	०
अभिनन्दनः	०	०
सुमतिनाथ.	०	०
पद्मप्रभः	०	०
सुपार्श्वनाथ.	०	०
चन्द्रप्रभ.	०	०
सुविधिनाथ.	०	०
शीतलनाथ.	०	०
श्रेयांसनाथ.	०	त्रिपृष्ठ
वासुपूज्यः	०	द्विपृष्ठ
विमलनाथः	०	स्वयम्भू
अनन्तनाथ	०	पुरुषोत्तमः
धर्म्मनाथ.	०	पुरुषसिंहः
०	मघवा चक्रवर्ती	०
०	सनत्कुमारश्चक्री	०
शान्तिनाथः	शान्तिरेव	०
कुन्थुनाथ.	कुन्थुरेव	०
अरनाथ.	अर एव	०
०	०	पुरुषपुण्डरीक.
०	सुभूमचक्री	०
०	०	दत्त
मल्लिनाथः	०	०
मुनिसुव्रतः	महापद्मचक्री	०
०	०	लक्ष्मण.
नमिनाथ.	हरिषेणचक्री	०
०	जयचक्री	०
नेमिनाथ.	०	कृष्ण
०	ब्रह्मदत्तचक्री	०
पार्श्वनाथ.	०	०
वर्द्धमान.	०	०

(८३) तीर्थकरनामान्याह-

जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चउवीसं तित्थगरा होत्था । तं जहा–उसभ अजिअ संभव अभिणंदण सुमइ पउमप्पभ सुपास चंदप्पभ सुविहि (पुप्फदंत *) सीयल सिज्जंस वासुपुज्ज विमल अणंत धम्म संति कुंथु अर मल्लि मुणिसुव्वय णमि णेमि पास वद्धमाणो य ॥ स० । (तीर्थकृतां मातृपितृविचारोऽग्रे करिष्यते)

(चक्रवर्तिनां सर्वा वक्तव्यता ' चक्कवट्टि ' शब्दे तृतीयभागे १०९९ पृष्ठतो द्रष्टव्या)

बलदेववासुदेवपितरः-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे नवबलदेवनववासुदेवपितरो होत्था । तं जहा–

" पयावई य बंभो, सोमो रुद्दो सिवो महिसरो य ।
अग्गिसीहो य दसरहो,नवमो भणिओ य वसुदेवो"।४९।

वासुदेवमातरः-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे णव वासुदेवमायरो होत्था । तं जहा–

" मियावई उमा चेव, पुहवी सीया य अंबिया ।
लच्छिमई सेसमई, केकई देवई तहा ॥ ५० ॥ "

बलदेवमातरः-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे णव बलदेवमायरो होत्था । तं जहा–

" भद्दा तह सुभद्दा य, सुप्पभा य सुदंसणा ।
विजया वेजयंती य, जयंती अपराजिया ॥ ५१ ॥
णवमीया रोहिणी य, बलदेवाण मायरो " ।

दशारमण्डलानि-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे णव दसारमंडला होत्था । तं जहा–उत्तमपुरिसा मज्झिमपुरिसा पहाणपुरिसा ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जसंसी छायंसी कंता सोमा सुभगा पियदंसणा सुरूवा सुहसीला सुहाभिगम्मसव्वजणणयणकंता ओहबला अतिबला महाबला अनिहता अपराइया सत्तुमद्दणा रिपुसहस्समाणमहणा साणुक्कोसा अमच्छरा अचवला अचंडा मियमंजुलपलावहसियगंभीरमधुरपडिपुण्णसच्चवयणा अब्भुवगयवच्छला सरण्णा लक्खणवंजणगुणोववेया माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगा ससिसोम्मागारकंतपियदंसणा अमरिसणा पयंडदंडप्पयारा गंभीरदरिसणिज्जा तालद्धओव्विद्धगरुलकेऊ महाधणुविकड्ढया महासत्तसागरा दुद्धरा धणुद्धरा धीरपुरिसा जुद्धकित्ति-

* " ऋषभो वृषभ., श्रेयान् श्रेयांस , स्यादनन्तजिदनन्तः ।
सुविधिस्तु पुष्पदन्त., मुनिसुव्रतसुव्रतौ तुल्यौ ॥ २९ ॥
अरिष्टनेमिस्तु नेमि., वीरश्चरमतीर्थकृत ।
महावीरो वर्द्धमानो, देवार्यो ज्ञातनन्दन ॥३०॥"
इत्यभिधानचिन्तामणौ पर्यायवाचका ।

पुरिसा विउलकुलसमुब्भवा महारयणविहामगा अब्भ-रहसामी सोमा रायकुलवंसतिलया अजिया अजियरहा हलमुसलकणकपाणी संखचक्कगयसत्तिनंदगधरा पवरुज्जल-सुकंतविमलगोत्थुभतिरीडधारी कुंमलउज्जोइयाणणा पुंम-रीयणयणा एकावलिकंठलगियवच्छा सिरिवच्छसुलंछणा वरजसा सव्वोउयसुरभिकुसुमरचितपलंवसोभंतकंतविकसं-तचित्तवरमालरइयवच्छा अट्ठसयविभत्तलक्खणपसत्थ-सुंदरविरइयगमेगा मत्तगयवरिंदललियविक्कमविलसियगई सारयनवत्थणियमहुरगंभीरकुंचनिग्घोसदुंदुभिस्सरा कडि-सुत्तगनीलपीयकोसेज्जवाससा पवरदित्ततेया नरसीहा न-रवई नरिंदा नरवसहा मरुयवसभकप्पा अब्भहियरायतेय-लच्छीपदिप्पमाणा नीलगपीयगवसणा दुवे दुवे रामकेसवा भायरो होत्था। तं जहा–तिविट्ठू य० जाव कण्हे। अयलो० जाव रामे य अपच्छिमे।

बलदेववासुदेवानां पूर्वभवनामानि–

एएसि णं णवण्हं बलदेववासुदेवाणं पुव्वभविया नव नामधेज्जा होत्था। तं जहा–

" विसभूई पव्वयए, धणदत्त समुद्ददत्त इसिवाले।
पियमित्त ललियमित्ते, पुणव्वसू गंगदत्ते य ॥ ५२ ॥
एयाइं नामाइं, पुव्वभवे आसि वासुदेवाणं।"
" एत्तो बलदेवाणं, जहक्कमं कित्तइस्सामि ॥ ५३ ॥
विसनंदी य सुबन्धू, सागरदत्ते असोग ललिए य।
वाराह धम्मसेणे, अपराइएँ रायललिए य ॥ ५४ ॥"

एतेषां पूर्वभवधर्माऽऽचार्याः–

एएसि णं नवण्हं बलदेववासुदेवाणं पुव्वभविया नव ध-म्मायरिया होत्था। तं जहा–

" संभूए य सुभद्दे, सुदंसणे सेय कण्हेँ गंगदत्ते अ।
सागर समुद्दनामे, दुमसेणे णवमिए होइ ॥ ५५ ॥
धम्माऽऽयरिया कित्ती–पुरिसाणं वासुदेवाण।
पुव्वभवे एआसि, जत्थ नियाणाइँ कासी य ॥५६॥"

एतेषां निदानभूमय –

एएसि णं नवण्ह वासुदेवाणं पुव्वभवे नव नियाणभूमी-ओ होत्था। त जहा–महुरा० जाव हत्थिणाउर च।

निदानकारणानि–

एतेसि णं नवण्हं वासुदेवाणं नव नियाणकारणा होत्था। तं जहा–गावी जूए० जाव माउआ।

एतेषां प्रतिशत्रव.–

एएसि णं नवण्हं वासुदेवाणं नव पडिसत्तू होत्था। तं जहा–आसग्गीवे० जाव जरासंधे०जाव सचक्केहिं।

के क यान्तीत्याह–

" एक्को य सत्तमीए, पच य छट्ठीएँ पंचमीएक्को।
एक्को य चउत्थीए, कण्हो पुण तच्चपुढवीए ॥ ५७ ॥
अणिदाणकमा रामा, सव्वे वि य केसवा नियाणकमा।
उड्ढगामी रामा, केसव सव्वे अहोगामी ॥ ५८ ॥
अट्ठंतकमा रामा, एगो पुण बंभलोयकप्पम्मि।
एक्को से गब्भवसही, सिज्झिस्सइ आगमिस्सेणं ॥५९॥"

(जबुद्दीवेत्यादि) दशाराणां वासुदेवाना मण्डलानि बलदेवचा-सुदेवद्वयरूपलक्षणा. समुदाया दशारमण्डलानि, अत एव "दुवे दुवे रामकेसव त्ति" वक्ष्यति। दशारमण्ड*व्यतिरिक्तत्वाच्च बलदेववासुदेवानां दशारमण्डलानीति पूर्वमुद्दिश्यापि दशार-मण्डलव्यक्तिभूतानां तेषां विशेषणार्थमाह–तचथेत्यादि। तद्यथेति बलदेववासुदेवस्वरूपोपन्यासाऽऽरम्भार्थ। केचित्तु दशारमण्डना इति। तत्र दशाराणां वासुदेवकुलीनप्रजानां मण्ड-ना. शोभाकारिणो दशारमण्डना.। उत्तमपुरुषा इति। तीर्थकरा-ऽऽदीनां चतु पञ्चाशत्, उत्तमपुरुषाणा मध्यवर्तित्वाद् मध्यमपु-रुषा, तीर्थकरचक्रिणां प्रतिवासुदेवानां च बलाऽऽद्यपेक्षया मध्य-वर्त्तित्वात्। प्रधानपुरुषास्तात्कालिकपुरुषाणा शौर्याऽऽदिभि प्र-धानत्वात्, ओजस्विनो मानसबलोपेतत्वात् तेजस्विनो दीप्तश-रीरत्वात्, वर्चस्विन शारीरबलोपेतत्वात्, यशस्विन पराक्रम प्राप्य प्रसिद्धिप्राप्तत्वात्। (छायसि त्ति) प्राकृतत्वात् छायावन्त' शोभायमानशरीरा', अत एव कान्ता कान्तियोगात्, सौम्या अरौद्राऽऽकारत्वात्, सुभगा जनवल्लभत्वात्, प्रियदर्शनाः चक्षु-ष्यरूपत्वात्, सुरूपा समचतुरस्रसंस्थानत्वात्, शुभ सुख वा सुखकरत्वात् शील स्वभावो येषां ते शुभशीला. सुखशीला वा, सुखेनाभिगम्यन्ते सेव्यन्ते ये शुभशीलत्वादेव ते सुखाभिगम्या, सर्वजननयनानां कान्ता अभिलाष्या ये ते तथा। तत. पदद्वयस्य कर्मधारय.। ओघबला प्रवाहबलाः, अव्यवच्छिन्नबलत्वात्। अतिबला', शेषपुरुषबलानामतिक्रमात्। महाबला' प्रशस्तबला, अनिहता निरुपक्रमाऽऽयुष्कत्वात्, युद्धे भूम्यामपातित्वात् अ-पराजिता, तैरेव शत्रूणा पराजितत्वात्। एतदेवाऽऽह–शत्रुमर्द-ना, तच्छरीरतत्सैन्यकदर्थनात्। रिपुसहस्रमानमथना., तदाश्रि-तकार्यविघटनात्। सानुक्रोशा, प्रणतेष्वद्रोहकत्वात्। अमत्सरा, परगुणलवस्याऽपि ग्राहकत्वात्। अचपला मनोवाक्कायस्थैर्यात्। अचण्डा निष्कारणप्रवृत्तकोपरहितत्वात्। मिते परिमिते मञ्जुलः कोमलः प्रलापश्चाऽऽलापो हसित च येषां ते मितमञ्जुलप्रलापह-सिताः, गम्भीरमदर्शितरोषतोषशोकाऽऽदिविकार मेघनादवच्च मधुर श्रवणसुखकर प्रतिपूर्णमर्थप्रतीतिजनक सत्यमवितथं वचन वाक्य येषां ते तथा। तत पदद्वयस्य कर्मधारय'। अ-भ्युपगतवत्सला, तत्समर्थनशीलत्वात्। शरण्याश्राणकरणे सा-धुत्वात्। लक्षणानि मानाऽऽदीनि, वज्रस्वस्तिकचक्राऽऽदीनि वा, व्य-ञ्जनानि तिलकमषाऽऽदीनि, तेषा गुणा महर्द्धिप्राप्त्यादय, तैर-पेता *शर्कराऽऽदिदर्शनादुपपेता युक्ता लक्षणव्यञ्जनगुणोपपेता। मानमुदकद्रोणपरिमाणशरीरता, कथम्?, उदकपूर्णायां द्रोण्यां निविष्टे पुरुषे यज्जल ततो निर्गच्छति तद्यदि द्रोणप्रमाण स्या-त्तदा स पुरुषो मानप्राप्त इत्यभिधीयते। उन्मानमर्द्धभारपरि-माणता, कथम्?, तुलाऽऽरोपितस्य पुरुषस्य यद्यर्द्धभारस्तौल्यं भवति तदाऽसावुन्मानप्राप्त उच्यते। प्रमाणमष्टोत्तरशतमङ्गु-लानामुच्छ्रय.। मानोन्मानप्रमाणै प्रतिपूर्णमन्यून, सुजातमागर्मा-धानात् पालनविधिना, सर्वाङ्गसुन्दर निखिलावयवप्रधानमङ्गं शरीर येषां ते तथा। शशिवत् सौम्याऽऽकारमथैष्मवीभत्स

* शर्कराऽऽदिगजस्थत्वात्।

वा कान्तं दीप्तं प्रियं जनानां प्रमोदोत्पादकं दर्शनं रूपं येषां ते तथा । (अमरिसण त्ति) अमसृणाः प्रयोजनेष्वनलसाः, अमर्षेण वा अपराधिष्वपि कृतक्षमाः । प्रकाएम उत्कटो दएमप्रकारः आज्ञाविशेषो वा येषां ते तथा । अथवा-प्रचएमो दु:साध्यसाधकत्वाद्दएडप्रचारः सैन्यविचरणं येषां ते तथा । गम्भीरा अलक्ष्यमाणान्तर्वृत्तित्वेन दृश्यन्ते ये ते गम्भीरदर्शनीयाः । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । प्रचएमदएमप्रचारेण ये गम्भीरा दृश्यन्ते । तथा तालो वृक्षविशेषो ध्वजा येषां ते तालध्वजा बलदेवाः । उद्धिद्ध उच्छ्रितो गरुडलाञ्छितः केतुर्ध्वजो येषां ते उद्विद्धगरुडकेतवो वासुदेवाः । तालध्वजाश्च उद्विद्धगरुडकेतवश्च तालध्वजोद्विद्धगरुडकेतवः । महाधनुर्विकर्षकाः, महाप्राणत्वाद् महासत्त्वलक्षणजलस्य सागरा इव सागरा आश्रयत्वान्महासत्त्वसागराः । दुर्द्धरा रणाङ्गणे-तेषां प्रहरतां केनाऽपि धन्विना धारयितुमशक्यत्वात् । धनुर्धराः कोदएडप्रहरणाः । धीरेष्वेवैते पुरुषाः पुरुषकारवन्तो, न कातरेष्विति धीरपुरुषाः । गुरुर्जनिता या कीर्तिस्तत्प्रधानाः पुरुषा गुरुकीर्तिपुरुषाः । विपुलकुलसमुद्भवा इति प्रतीतम् । महारत्नं वज्रं तस्य महाप्राणतया विघटका अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां चूर्णका महारत्नविघटकाः, वज्रं हि अधिकरण्यां धृत्वा अयोघनेनाऽऽस्फोट्यते, न च भिद्यते, तदेव भिन्दन्तीति दुर्भेदं तदिति । अथवा महनीया आरचना सागरशकटव्यूहाऽऽदिना प्रकारेण सिसग्रामयिषोर्महासैन्यस्य, तां रणरङ्गरसिकतया महाबलतया च विघटयन्ति वियोजयन्ति ये ते महारचनाविघटकाः । पाठान्तरेण तु-महारणविघटकाः । अर्द्धभरतस्वामिनः । सौम्या नीरुजः । राजकुलवंशतिलकाः । अजिताः । अजितरथाः । हलमुशलकणकपाणयः । तत्र हलमुशले प्रतीते, ते प्रहरणतया पाणौ हस्ते येषां ते बलदेवाः । येषां तु कणका बाणाः पाणौ ते शार्ङ्गधन्वानो वासुदेवाः । शङ्खश्च पाञ्चजन्याभिधानः, चक्रं तु सुदर्शननामकं, गदा च कौमोदकीसंज्ञा लकुटविशेषः, शक्तिश्च त्रिशूलविशेषः, नन्दकश्च नन्दकाभिधानः खड्गः, तान् धारयन्तीति शङ्खचक्रगदाशक्तिनन्दकधराः वासुदेवाः । प्रवरो वरप्रभावयोगात्, उज्ज्वलः शुक्लत्वात् स्वच्छतया वा, सुकान्तः कान्तियोगात् । पाठान्तरे-सुकृतः सुपरिकर्मितत्वात् । विमलो मलवर्जितत्वात्, (गोत्थुभ त्ति) कौस्तुभाभिधानो यो मणिविशेषस्तं, (तिरीम ति) किरीटं च मुकुटं धारयन्ति ये ते । तथा कुएमलोद्द्योतिताननाः । पुएमरीकवन्नयने येषां ते तथा । एकावली आभरणविशेषः, सा कएठे ग्रीवायां लगिता विलम्बिता सती वक्षसि उरसि वर्तते येषां ते एकावलीकएठलगितवक्षसः । श्रीवत्साभिधानं सुष्ठु लाञ्छनं महापुरुषत्वसूचकं वक्षसि येषां ते श्रीवत्सलाञ्छनाः । वरयशसः, सर्वत्र विख्यातत्वात् । सर्वर्तुकानि सर्वर्तुसम्भवानि सुरभीणि सुगन्धीनि यानि कुसुमानि तैः सुरचिता कृता या प्रलम्बा आप्रपदीना (सोभत त्ति) शोभमाना कान्ता कमनीया विकसन्ती फुल्लन्ती चित्रा पञ्चवर्णा वरा प्रधाना माला स्रक् रचिता निहिता, रतिदा वा सुखकारिका, वक्षसि येषां ते सर्वर्तुकसुरभिकुसुमरचितप्रलम्बशोभमानकान्तविकसच्चित्रवरमालारचितवक्षसः । तथा अष्टशतसङ्ख्यानि विभक्तानि विविक्तरूपाणि यानि लक्षणानि चक्राऽऽदीनि तैः प्रशस्तानि मङ्गल्यानि सुन्दराणि च मनोहराणि विरचितानि विहितानि (अगेमग त्ति) अङ्गोपाङ्गानि शिरोऽङ्गुल्यादीनि येषां तेऽष्टशतविभक्तलक्षणप्रशस्तसुन्दरविरचिताङ्गोपाङ्गाः । तथा मत्तगजवरेन्द्रस्य यो ललितो मनोहरो विक्रमः सञ्चरणं तद्वद्विलसिता सजातविलासा गतिर्गमनं येषां ते मत्तगजवरेन्द्रललितविक्रमविलसितगतयः । तथा शरदि भवः शारदः, स चासौ नवस्तनितं रसितं यस्मिन्निर्घोषे स नवस्तनितः, स चेति समासः । स चासौ मधुरो गम्भीरश्च यः क्रौञ्चनिर्घोषः पक्षिविशेषनिनादः, तद्वद् दुन्दुभिस्वरवच्च स्वरो नादो येषां ते शारदनवस्तनितमधुरगम्भीरक्रौञ्चनिर्घोषदुन्दुभिस्वराः । इह च शरत्काले हि क्रौञ्चा मायन्ति, मधुरध्वनयश्च भवन्तीति शारदग्रहणम् । तथा पीतपानीयेन शब्दप्रवृत्तौ तद्भ्रादमनोज्ञता तस्य स्यादिति नवस्तनितग्रहणम्, स्वरूपोपदर्शनार्थं मधुरगम्भीरग्रहणमिति । तथा कटीसूत्रमाभरणविशेषः, तत्प्रधानानि नीलानि बलदेवानां, पीतानि वासुदेवानां कौशेयकानि वस्त्रविशेषकृतानि वासांसि वसनानि येषां ते कटीसूत्रकनीलपीतकौशेयवाससः । प्रवरदीप्ततेजसो वरप्रभावतया वरदीप्ततया च । नरसिंहा विक्रमयोगात् । नरपतयः तन्नायकत्वात् । नरेन्द्राः परमैश्वर्ययोगात् । नरवृषभा उत्क्षिप्तकार्ये भारनिर्वाहकत्वात् । मरुद्वृषभकल्पाः देवराजोपमाः, अभ्यधिकं शेषराजेभ्यः राजतेजोलक्ष्म्या दीप्यमानाः । नीलकपीतकवसना इति पुनर्भणनं निगमनार्थम् । कथं ते नवेत्याह-(दुवे दुवे इत्यादि) एवं च नववासुदेवनवबलदेवा इति । (तिविट्ठु य त्ति) यावत्करणात्-

" विएहु तिविट्ठु दुविट्ठु य, सयम्भु पुरिसुत्तमे पुरिससीहे ।
तह पुरिसपुंडरीए, दत्ते नारायणे कएहे ॥ १ ॥
अयले विजए भद्दे, सुप्पभे य सुदंसणे ।
आनंदे णंदणे पउमे, रामे यावि अपच्छिमे " ॥ २ ॥ इति ।

(कित्तीपुरिसाण ति) कीर्त्तिप्रधानपुरुषाणामिति ।

" महुरा य कणगवत्थू, सावत्थी पोयणं च रायगिहं ।
कायंदी कोसंबी, मिहिलपुरी हत्थिणपुरं च ॥ १ ॥ "

तथा-

" गावि जुए संगामे, तह इत्थिपराहओ रंगे ।
भज्जाणुराग गोट्ठी, परइड्ढी माउयाई य " ॥ १ ॥ इति ।

तथा-

" अस्सग्गीवे तारए, मेरए महुकेढभे निसुंभे य ।
बलि पहलाए तह रावणे य नवमे जरासंधो ॥ १ ॥ "
" एए खलु पडिसत्तू, कित्तीपुरिसाण वासुदेवाणं ।
सव्वे वि चक्कजोही, सव्वे वि हया सचक्केहिं ॥ २ ॥
अणियाणकडा रामा, सव्वे वि य केसवा नियाणकडा ।
उड्ढगामी रामा, केसव सव्वे अहोगामी ॥ ३ ॥ " इति ।

(आगमिस्सेण ति) आगमिष्यता कालेन । "आगमिस्साणं ति" पाठान्तरम् । आगमिष्यतां भविष्यतां मध्ये सेत्स्यन्तीति । स० ।

(८४) तीर्थोत्पत्ति --

तेवीसाए पढमे, वीए वीरस्स पुण समोसरणे ।
संघो १ पढमगणहरो २, सुयं च ३ तित्थं समुप्पन्नं ॥२०६॥

त्रयोविंशतीजनानां प्रथमसमवसरणे तीर्थं समुत्पन्नम्, वीरस्य पुनर्द्वितीये समवसरणे तीर्थं समुत्पन्नम् । तीर्थं नाम प्रवचनं, तच्च निराधारं न भवति, तेन साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपश्चतुर्वर्णः सङ्घः । तथा प्रथमगणधर आद्यगणभृत्, श्रुतं द्वादशाङ्गीरूपम्, एतत्त्रयरूपं तीर्थं समुत्पन्नम् । सत्त० १०० द्वार । आ० म० ।

(८५) निर्गमनकाल प्रतिपादयन्नाह-

पासो अरिट्ठनेमी, सेज्जंसो सुमति मल्लिनाथो य ।
पुव्वण्हे निक्खंता, सेसा पुण पच्छिमण्हम्मि ॥२१०॥

पार्श्वनाथोऽरिष्टनेमि , श्रेयांस , सुमतिर्मल्लिनामा, एते पञ्च तीर्थकृत पूर्वाह्णे निष्क्रान्ताः शेषाः पुन श्रीऋषभस्वामिप्रभृतयः पश्चिमाह्णे निष्क्रान्ता. । आ० म० १ अ० १ खण्ड।

(८६) दर्शननामानि, तदुत्पत्तिं चाऽऽह-

जइणं सइवं संखं, वेअतिअनाहिआण वुद्धाणं ।
वइसेसिआण वि मयं, इमाई सग दरिसणाई कमा ॥३३६॥
तिन्नि उसहस्स तित्थे, जायाइं सीयलस्स ते दुन्नि ।
दरिसणमेगं पास-स्स सत्तमं वीरतित्थम्मि ॥ ३४० ॥

(जइण सइव मयं) जैन १ शैव २ साङ्ख्यम् ३ (वेअतिअनाहिआण वुद्धाण त्ति) वेदान्तिकाना मत ४ नास्तिकानां मत ५ बौद्धानां मतम् ६(वइसेसिआण वि मय) वैशेषिकानामपि मतम्७,(इमाई सग दरिसणाई कमा) इमानि सप्त दर्शनानि क्रमादनुक्रमेण भवन्तीति गाथाऽर्थ ॥३३६॥ (तिन्नि उसहस्स तित्थे जायाइ त्ति) पूर्वगाथान्त्यवर्तिकमशब्दस्येहसम्बन्धाद्वाद्यानि त्रीणि दर्शनानि ऋषभतीर्थे जातानि ३ । (सीयलस्स ते दुन्नि) शीतलस्य तीर्थे ते द्वे दर्शने, तदग्रे चतुर्थपञ्चमे जाते ५, (दरिसणमेगं पासस्स) एक तदग्रेतनं षष्ठं दर्शनं पार्श्वस्य तीर्थे ६. (सत्तम वीरतित्थम्मि) सप्तम दर्शन वीरतीर्थे सञ्जातमिति गाथाऽर्थ. ॥ ३४० ॥ सत्त० १६८ द्वार ।

दीक्षानक्षत्राणि च्यवनवत् । सत्त० ६० द्वार ।

(८७) व्रतपर्याय -

उसभस्स पुव्वलक्खं, पुव्वंगूणमजियस्स तं चेव ।
चउरंगूणं लक्खं, पुणो पुणो जाव सुविहि त्ति ॥
(अस्मिन्नेव शब्दे २२६४ पृष्ठे पूर्वं केवलिपर्याये व्याख्यातैषा)
पणवीसं तु सहस्सा, पुव्वाण सीयलस्स परियाओ ।
लक्खाइँ एक्कवीसं, सिज्जंसजिणस्स वासाणं ॥
चउपन्नं पन्नासं, तत्तो अद्धट्ठमाइँ लक्खाइं ।
अड्ढाइज्जाइँ ततो, वाससहस्साइँ पणवीसं ॥
तेवीसं च सहस्सा, सयाणि अद्धट्टमाणि य हवंति ।
इगवीसं च सहस्सा, वाससऊणा य पणपन्नं ॥
अद्धट्ठमा सहस्सा, अड्ढाइज्जाइँ सत्त य सयाइं ।
सयरी विचत्तवासा, दिक्खाकालो जिणिंदाणं ॥

पञ्चविंशति• पूर्वाणां सहस्राणि शीतलस्य पर्यायो व्रतपर्याय.। श्रेयांसजिनस्य वर्षाणां लक्षाण्येकविंशति. । वासुपूज्यस्य चतुष्पञ्चाशद्वर्षलक्षाणि । विमलनाथस्य पञ्चदशवर्षलक्षाणि । ततोऽनन्तरमनन्तजितोऽर्द्धाष्टमानि, सार्द्धानि सप्तवर्षलक्षाणि व्रतपर्याय । धर्मनाथस्यार्द्धतृतीयानि वर्षशतसहस्राणि । शान्तिनाथस्य पञ्चविंशतिर्वर्षसहस्राणि । कुन्थुनाथस्य त्रयोविंशतिर्वर्षसहस्राणि शतानि चार्द्धाष्टमानि । अरस्वामिन एकविंशतिर्वर्षसहस्राणि । मल्लिनाथस्य वर्षशतोनानि पञ्चपञ्चाशद्वर्षसहस्राणि । मुनिसुव्रतस्वामिनोऽर्द्धाष्टमानि वर्षसहस्राणि । नमिनाथस्यार्द्धतृतीयानि वर्षशतानि । अरिष्टनेमेः सप्त शतानि । पार्श्वनाथस्य सप्ततिर्वर्षाणाम् । वर्द्धमानस्वामिनो द्वाचत्वारिंशत् । एष यथाक्रम जिनेन्द्राणामृषभाऽऽदीनां दीक्षाकालो व्रतपर्याय• । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दीक्षातरुः-

• .... • ..., णिक्खंताऽसोगतरुतले सव्वे । (१५७)

सर्वे २४ जिना अशोकतरोरधो निष्क्रान्ताः। सत्त• ६७ द्वार।

(८८) सम्प्रति यो येन तपसा निष्क्रान्तस्तदभिधित्सुराह-

सुमइऽत्थ निच्चभत्ते-ण निग्गतो वासुपुज्ज(जिणो)चोत्थेण ।
पासो मल्ली वि य अ-ट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं ॥ ३८७ ॥

सुमतिरत्र-अस्यामवसर्पिण्यां चतुर्विंशतितीर्थकृत्सु मध्ये नित्यभक्तेनानवरतभक्तेन निष्क्रान्त । वासुपूज्यो जिनश्चतुर्थेन, एकेनोपवासेनेत्यर्थ• । पार्श्वनाथो मल्लिरपि चाष्टमेन त्रिभिरुपवासैः । शेषास्तु ऋषभस्वामिप्रभृतयः षष्ठेन द्वाभ्यामुपवासाभ्यां निष्क्रान्ता. । आ० म० १ अ० १ खण्ड । ती० । स० ।

(८६) दीक्षापरिवार.-

एगो भगवं वीरो, पासो मल्ली य तिहिँ तिहिँ सएहिं ।
भगवं पि वासुपुज्जो, छहिँ पुरिससएहिँ निक्खंतो॥३८५॥
उग्गाण भोगाणं, रायण्णाणं च खत्तियाणं च ।
चउहिँ सहस्सेहिँ उसहो, सेसा उ सहस्सपरिवारा॥३८६॥

तत्र एको भगवान् वीरो वर्द्धमानस्वामी प्रव्राजित•,न केनाऽपि सह तेन व्रत गृहीतमित्यर्थ• । पार्श्वनाथो, भगवांश्च मल्लिस्त्रिभिस्त्रिभि• शतै• सह व्रतमग्रहीत्। अत्र च मल्लिस्वामी स्त्रीणां पुरुषाणां च प्रत्येक त्रिभिस्त्रिभि• शतैः सह प्रव्रजितः, ततो मिलितानि षट् शतानि भवन्ति । यत्सूत्रे त्रिभिः शतैरित्युक्तं तत्र केवला स्त्रिय• पुरुषा वा गृहीता , द्वितीय• पुनः पक्षः सन्नपि न विवक्षित इति सम्प्रदाय.। स्थानाङ्गटीकायामप्युक्तम्–मल्लिजिन स्त्रीशतैरपि त्रिभिरिति । भगवानपि वासुपूज्यः षड्भि• पुरुषशतै सह निष्क्रान्त•, संसारकान्ताराद्विर्गत•, प्रव्रजित इति यावत् ॥ ३८५ ॥ ("वासुपुज्जे ण अरहा छहिँ पुरिससएहिँ मुंडे भवित्ता।" स्था० ६ ठा०) उग्राणामारक्षकस्थानीयानां,भोगानां गुरुस्थानीयानां,राजन्यानां मित्रस्थानीयानां, क्षत्रियाणां सामन्ताऽऽदीनां सर्वसङ्ख्यया चतुर्भि सहस्रै• सह ऋषभजिनः प्रथमो जिनो निष्क्रान्त•, व्रत जग्राहेत्यर्थ•। शेषास्तु वीरपार्श्वमल्लिवासुपूज्यनामेभ्यव्यतिरिक्ता जिना अजिताऽऽद्य एकोनविंशतिः, सहस्रपरिवारा पुरुषसहस्रसहिता• प्राव्राजिषुरिति ॥ ३८६ ॥ प्रव• ३१ द्वार । आ० म० । स० । सत्त० ।

(६०) दीक्षापुरम्–

उसभो अ विणीयाए, बारवईए अरिट्ठवरणेमी ।
अवसेसा तित्थयरा, निक्खंता जम्मभूमीसु ॥

ऋषभस्वामी भगवान् विनीतायां नगर्यां निष्क्रान्त•, द्वारवत्यामरिष्टनेमि , अवशेषा अजितस्वामिप्रभृतयस्तीर्थकरा निष्क्रान्ता जन्मभूमिषु, यत्र जातास्तत्र निष्क्रान्ता इति भावः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । स० । सत्त० ।

दीक्षासमये मन पर्यवज्ञानम्-

• .... , जायं च चउत्थ मणनाणं ॥ (१५८)

दीक्षायां गृहीतायां तस्मिन् समये सर्वेषां जिनानां चतुर्थं मनःपर्यवज्ञान जातम् । सत्त० ७१ द्वार ।

(९१) दीक्षामासादयः-

जम्मं व मासपक्खा, नवरं सुवयस्स सुद्धफग्गुणिओ ।
नमिवीराण वयम्मी, कसिणा आसाढमग्गसिरा ॥ २४६ ॥
अट्ठमि नवमी पुन्निम, दुदसि नवमि तेरसीतिगं छट्ठी ।
बारसि तेरसि पनरसि, चउत्थि चउदसि य तेरसिया ॥ २४७ ॥
चउदसि पंचमिगारसि, एगारसि बारसिय नवमि छट्ठी य ।
एगारसि दसमि तिही, वयम्मि उमरासि पुव्वं व ॥ २४८ ॥

व्रतमासाऽऽदिनक्षत्राणि राशयश्च कथ्यन्ते । (जम्मं व मासपक्ख त्ति) जन्मवद् मासपक्षाः-जन्मकल्याणके ये मासाः पक्षाश्च कथिताः, दीक्षाकल्याणकेऽपि त एव ज्ञेया इत्यर्थः । (नवरं ति) एतावान् विशेषो ज्ञेयः-(सुव्वयस्स सुद्धफग्गुणिओ त्ति) सुव्रतस्य मुनिसुव्रतस्य व्रते फाल्गुनिको मासः । (नमिवीराण वयम्मि त्ति) नमिजिनवीरजिनयोर्व्रते (कसिणा आसाढमग्गसिर त्ति) कृष्णावाषाढमार्गशीर्षौ, तत्र नमिजिनस्य व्रते कृष्ण आषाढमासः । श्रीवीरजिनस्य व्रते कृष्णो मार्गशीर्षमासः । इति गाथार्थः ॥ २४६ ॥ (अट्ठमि नवमी पुन्निम) अष्टमी, नवमी, पूर्णिमा (दुदसि नवमि तेरसी तिगं छट्ठी) द्वादशी, नवमी, त्रयोदशी त्रिकम्, षष्ठी (बारसि तेरसि पनरसि) द्वादशी १० त्रयोदशी ११ अमावास्या १२ (चउत्थि चउदसि अ तेरसिया) चतुर्थी १३ चतुर्दशी च १४ त्रयोदशिका १५ । इति गाथार्थः ॥ २४७ ॥ (चउदसि पंचमिगारसि) चतुर्दशी १६ पञ्चमी १७ एकादशी १८ (एगारसि बारसि नवमि छट्ठी) एकादशी १९ द्वादशी २० नवमी २१ षष्ठी च २२ (एगारसि दसमि तिही) एकादशी २३ दशमी २४ तिथिः । (वयम्मि उसुरासि पुव्वं व त्ति) व्रते नक्षत्रराशयः पूर्ववत् । "इय चवणरिक्खरासी, जम्मे दिक्खा वि णाणे वि" इति पूर्वमुक्तत्वात् ये च्यवनसमये नक्षत्रराशयो, व्रतेऽपि त एव ज्ञेयाः । इति गाथार्थः ॥ २४८ ॥ सत्त० ५९ द्वार ।
दीक्षाराशिश्च्यवनवत् । सत्त० ६१ द्वार ।

दीक्षालिङ्गम्-

न उ नाम अन्नलिंगे, न य गिहिलिंगे कुलिंगे वा ॥

सर्वे एव तीर्थकृतस्तीर्थकरलिङ्ग एव निष्क्रान्ताः, न तु नाम अन्यलिङ्गे, गृहिलिङ्गे, कुलिङ्गे वा । आ० म० १ अ० १ खण्ड । (अन्यलिङ्गाऽऽदयोऽन्यत्र)

दीक्षालोचमुष्टिः-

कयपंचमुट्ठिलोआ, उसहो चउमुट्ठिकयलोओ । (२५०)

कृतपञ्चमुष्टिलोचास्त्रयोविंशतिर्जिनाः, ऋषभः चतुर्मुष्टिकृतलोचो जातः । सत्त० ६६ द्वार ।

दीक्षावनानि-

उसभो सिद्धत्थवण-म्मि वासुपुज्जो विहारगिहगम्मि ।
धम्मो य वप्पगाए, नीलगुहाए मुणी नाम ॥
आसमपयम्मि पासो, वीरजिणिंदो य नायसंडम्मि ।
अवसेसा पव्वइया, सहसंबवणम्मि उज्जाणे ॥

ऋषभ ऋषभस्वामी सिद्धार्थवने उद्याने निष्क्रान्तः, वासुपूज्यो विहारगृहके विहारगृहकाभिधाने उद्याने, धर्मो धर्मस्वामी नगरात् वप्रगायां वप्रगाभिधाने उद्याने । तथा च वद्यति-" सेसाण केवलाइ, जेसुज्जाणेसु पव्वइया । " एवं नीलगुहायां नीलगुहाभिधाने उद्याने मुनिनामा मुनिसुव्रतनामा तीर्थकरो निष्क्रान्तः । तथा आश्रमपदे आश्रमपदाभिधाने उद्याने पार्श्वनाथो निष्क्रान्तः, वीरजिनेन्द्रो ज्ञातखण्डे ज्ञातखण्डाभिधाने उद्याने । अवशेषा अजितस्वामिप्रभृतयस्तीर्थकराः सहस्राम्रवणे निष्क्रान्ताः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

यस्मिन्वयसि निष्क्रान्तास्तदभिधित्सुराह-

वीरो अरिट्ठनेमी, पासो मल्ली य वासुपुज्जो अ ।
पढमवए पव्वइया, सेसा पुण मज्झिमवयम्मि ॥

वीरो महावीरः, अरिष्टनेमिः, पार्श्वनाथो, मल्लिर्वासुपूज्य इत्येते पञ्च तीर्थकृतः प्रथमवयसि कुमारत्वलक्षणे प्रव्रजिताः । शेषाः पुनः ऋषभस्वामिप्रभृतयो मध्यमे वयसि यौवनलक्षणे वर्तमानाः प्रव्रजिताः । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

(९२) दीक्षाशिविका-

एएसिं चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं सीयाओ होत्था । तं जहा-

"सीया सुदंसणा सु-प्पभा य सिद्धत्थ सुप्पसिद्धा य ।
विजया य वेजयंती, जयंति अपराजिया चेव ॥ १४ ॥
अरुणप्पभ चंदप्पभ, सूरप्पभ अग्गिसप्पभा चेव ।
विमला य पंचवण्णा, सागरदत्ता य णागदत्ता य ॥ १५ ॥
अभयकरा निव्वुइकरि, मणोरमा तह मणोहरा चेव ।
देवकुरु उत्तरकुरा, विसाल चंदप्पभाई य ॥ १६ ॥
एआओ सीआओ, सव्वेसिं चेव जिणवरिंदाणं ।
सव्वजगवच्छलाणं, सव्वोउयसुखयछायाए ॥ १७ ॥
पुव्विं ओक्खित्ता मणु-जेहिं सा हट्ठरोमकूवेहिं ।
पच्छा वहंति सीयं, असुरिंदसुरिंदनागिंदा ॥ १८ ॥
चलचवलकुंडलधरा, सच्छंदविउव्वियाभरणधारी ।
सुरअसुरवंदिआणं, वहंति सीअं जिणिंदाणं ॥ १९ ॥
पुरओ वहंति देवा, नागा पुण दाहिणम्मि पासम्मि ।
पच्चच्छिमेण असुरा, गरुला पुण उत्तरे पासे " ॥ २० ॥

(सव्वोउयसुखयछायाए त्ति) सर्वर्तुकया सर्वेषु शरदादिषु ऋतुषु सुखदया छायया प्रभया आतपाभावलक्षणया वा, युक्ता इति शेषः । तथा-(सा हट्ठरोमकूवेहिं ति) सा शिविका यस्यां जिनोऽध्यारूढः, हृष्टरोमकूपैरुद्धुषितरोमभिरित्यर्थः । तथा (चलचवलकुंडलधर त्ति) चलाश्च ते चपलकुण्डलधराश्चेति वाक्यम् । तथा स्वच्छन्देन स्वरुच्या विकुर्वितानि यान्याभरणानि मुकुटाऽऽदीनि तानि धारयन्ति ये ते तथा । असुरेन्द्राऽऽदय इति योगः । (गरुल त्ति) गरुडध्वजाः सुपर्णकुमारा इत्यर्थः । स० । सत्त० ।

(९३) अथ षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारीस्थानान्याह । दिक्कुमारिका नाम-दिक्कुमारभवनपतिविशेषजातिजा देव्यः-

मेरुअहउड्ढलोगा, चउदिसि रुयगाउ अट्ठ पत्तेअं ।
चउ विदिसिमज्झरुयगा, इन्ती छप्पन्न दिसिकुमरी ॥ १०१ ॥

(मेरुअहउड्ढलोय त्ति) मेरोरधोलोकात् १, ऊर्ध्वलोका

त्र २ । तत्र अधोलोके गजदन्तगिरिचतुष्टयस्याधस्तादष्टानां दिक्कुमारीणां भवनानि सन्ति । एतच्च सामान्यमात्रेणैव स्थानमुक्तम् । विशेषेण तु संप्रदायगम्यम् । तथा-ऊर्द्ध्वलोके मेरोरुपरि नन्दनवने अष्टौ कूटानि सन्ति । तेषामुपरि अष्टानां दिक्कुमारीणां भवनानि सन्ति । (चउदिसि रुयगाउ त्ति) चतुर्दिग्वर्तिरुचकात् रुचकाद्रेर्दिक्चतुष्टयादित्यर्थः । (अट्ठ पत्तेय ति) पत्तेभ्यः पदस्थानकेभ्यः प्रत्येकमष्टावष्टौ समागच्छन्ति । एवमष्टचत्वारिंशद् दिक्कुमार्यो जाताः । (चउ विदिसिमज्झरुयग त्ति) चतस्रो विदिग्रुचकात्, रुचकगिरिविदिग्भ्य इत्यर्थः । चतस्रो मध्यरुचकान्तात् रुचकद्वीपमध्यादित्यर्थः । (इती उप्पन्न दिसिकुमरी) आगच्छन्ति एव षट्पञ्चाशद् दिक्कुमार्यः । इति गाथार्थः ॥ १०१ ॥ सत्त० ३३ द्वार ।

अधोलोकवासिन्योऽष्टकुमार्य -

जया णं एक्कमेक्के चक्कवट्टिविजए भगवंतो तित्थयरा समुप्पज्जंति, तेणं कालेणं तेणं समएणं अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीओ महत्तरिआओ सएहिं सएहिं कूडेहिं सएहिं सएहिं भवणेहिं सएहिं सएहिं पासायवडेंसएहिं पत्तेअं पत्तेअं चउहिं सामाणिअसाहस्सीहिं चउहिं महत्तरिआहिं सपरिवाराहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीआहिवईहिं सोलसएहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अण्णेहि अ बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं देवीहि अ सद्धिं संपरिवुडाओ महयाहयणट्टगीअवाइअ० जाव भोगभोगाइं भुंजमाणीओ विहरंति । तं जहा-

"भोगंकरा १ भोगवई २, सुभोगा ३ भोगमालिनी ४ ।
तोयधारा५ विचित्ता य ६,पुप्फमाला७ अणिंदिया"।८१।

(तेण कालेणं इत्यादि) तस्मिन् काले संभवजिनजन्मके भरतैरावतेषु तृतीयचतुर्थारकलक्षणे, महाविदेहेषु चतुर्थारकप्रतिभागलक्षणे, तत्र सर्वदाऽपि तदाद्यसमयसदृशकालस्य विद्यमानत्वात् । तस्मिन् समये सर्वत्राप्यर्द्धरात्रलक्षणे, तीर्थकराणां हि मध्यरात्र एव जन्मसंभवात् । अधोलोकवास्तव्या , चतुर्णां गजदन्तानामधः समभूतलाद् नवशतयोजनरूपा तिर्यग्लोकव्यवस्था विमुच्य प्रतिगजदन्त द्विद्विभावेन तत्र भवनेषु वसनशीलाः । यत्तु गजदन्ताना षष्ठपञ्चमकूटेषु पूर्वं गजदन्तसूत्रे आसा वास प्ररूपित', तत्र क्रीडार्थमागमन हेतुरिति,आसामपि चतु'शतयोजनाऽऽदिपञ्चशतयोजनाऽऽदिपञ्चशतयोजनपर्यन्तोच्चत्वगजदन्तगिरिगत पञ्चशतिककूटगतप्रासादावतंसकवासित्वेन नन्दनवनकूटगतमेघङ्कराऽऽदिदिक्कुमारीणामिवोर्द्ध्वलोकवासित्वाऽऽपत्तिः । अथ प्रकृत प्रस्तुम - अष्टौ दिक्कुमार्यो दिक्कुमारा भवनपतिजातीया , महत्तरिका' स्ववर्गेषु प्रधानतरिका , स्वकेषु स्वकेषु कूटेषु गजदन्ताऽऽदिगिरिवर्तिषु,स्वकेषु स्वकेषु भवनेषु भवनपतिदेवाऽऽवासेषु,स्वकेषु स्वकेषु प्रासादावतंसकेषु स्वस्वकूटवर्त्तिक्रीडाऽऽवासेषु । सूत्रेषु च सप्तम्यर्थे तृतीया प्राकृतत्वात् । प्रत्येक प्रत्येकं चतुर्भि सामानिकाना दिक्कुमारिमत्तरद्युतिविभवाऽऽदिकदेवाना सहस्रै ,चतसृभिश्च महत्तरिकाभिर्दिक्कुमारिकातुल्यविभवाऽऽदिभिस्ताभिरनतिक्रमणीयवचनाभिश्च स्वस्वपरिवारसहिताभिः,सप्तभिरनीकैर्हस्त्यश्वरथपदातिमहिषगन्धर्वनाट्यरूपै', सप्तभिरनीकाधिपतिभि', षोडशभिरात्मरक्षकदेवसहस्रैरित्यादिक सर्वं विजयदेवाधिकार इव व्याख्येयम् । ननु कासाञ्चिद्दिक्कुमारीणां युक्त्या स्थानाङ्गे पल्योपमस्थितेर्भणनात् समानजातीयत्वेनासामपि तथाभूतायुष' सम्भाव्यमानत्वाद् भवनपतिजातीयत्व सिद्धम्, तेन भवनपतिजातीयानां वानमन्तरजातीयपरिकरः कथ सगच्छते ? । उच्यते-एतासां महर्द्धिकत्वेन ये आज्ञाकारिणो व्यन्तरास्ते ग्राह्या इति । अथवा-वानमन्तरशब्देनाऽत्र वनानामन्तरेषु चरन्तीति यौगिकार्थसंश्रयणाद् भवनपतयोऽपि वानमन्तरा इत्युच्यन्ते । उभयेषामपि प्रायो वनकूटाऽऽदिषु विहरणशीलत्वादिति सम्भाव्यते । तत्त्व तु बहुश्रुतगम्यमिति सर्वं सुस्थम् । अथैतासां नामान्याह-(त जहा इत्यादि) तद्यथा-"भोगंकरा" इत्यादि । रूपकमेतद कण्ठ्यम् ।

एतासामासनानि चलन्ति-

तए णं तासिं अहोलोगवत्थव्वाणं अट्ठण्हं दिसाकुमारीणं महत्तरिआणं पत्तेअं पत्तेअं आसणाइं चलंति । तए णं ताओ अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीओ महत्तरिआओ पत्तेअ पत्तेअ आसणाइं चलिआइं पासंति, पासित्ता ओहिं पउंजंति, पउंजित्ता भगवं तित्थयरं ओहिणा आभोएंति, आभोएत्ता अण्णमण्णं सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी-उप्पन्ने खलु भो ! जंबुद्दीवे भयवं तित्थयरे, तं जीयमेअं-तीअपच्चुप्पण्णमणागयाणं अहोलोगवत्थव्वाणं अट्ठण्हं दिसाकुमारीमहत्तरिआणं भगवओ तित्थयरस्स जम्मणमहिमं करित्तए, तं गच्छामो णं अम्हे वि भगवओ तित्थगरस्स जम्मणमहिमं करेमो त्ति कट्टु एवं वयंति, वइत्ता पत्तेअं पत्तेअं आभिओगिए देवे सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी ॥

अथैतास्वेव विहरन्तीषु सतीषु किं जातमित्याह-(तए णमित्यादि) ततस्तासामधोलोकवास्तव्यानामष्टाना दिक्कुमारीणा महत्तरिकाणा प्रत्येक प्रत्येकमासनानि चलन्तीति । अथैताः किं किमकार्षुरित्याह-(तए णमित्यादि) तत आसनप्रकम्पानन्तर ता अधोवास्तव्या अष्टौ दिक्कुमार्यो महत्तरिका प्रत्येकं प्रत्येकमासनानि चलितानि पश्यन्ति, दृष्ट्वा चाऽवधिं प्रयुञ्जन्ति, प्रयुज्य भगवन्त तीर्थकरमवधिना आभोगयन्ति, आभोग्य च अन्यमन्यं शब्दयन्ति, शब्दयित्वा च एवमवादिषुः । यदवादिषुस्तदाह-(उप्पन्ने इत्यादि) उत्पन्नः खलु भो ! जम्बूद्वीपे भगवांस्तीर्थङ्करः,तज्जीतमेतत्कल्प एषोऽतीतप्रत्युत्पन्नानागतानामधोलोकवास्तव्यानामष्टाना दिक्कुमारीमहत्तरिकाणां भगवतो जन्ममहिमां कर्तुं, तद्गच्छामो वयमपि भगवतो जन्ममहिमा कुर्म इति कृत्वा, धातूनामनेकार्थत्वाभिप्रेत्य मनसा एवमनन्तरोक्त वदन्ति, उदित्वा च प्रत्येकं प्रत्येकमाभियोगिकान् देवान् शब्दयन्ति, शब्दयित्वा चैवमवादिषुः ।

किमवादिषुरित्याह-

खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! अ ो ं स

लीलट्ठिअ० एवं विमाणवरणओ भाणिअव्वो० जाव जोअण-वित्थिरे दिव्वे जाणविमाणे विउव्वेह, विउव्वित्ता एअ-माणत्तिअं पच्चप्पिणह । तए णं ते आभिओगा देवा अणे-गखंभसय० जाव पच्चप्पिणंति ।

(खिप्पामेव इत्यादि) भो देवानुप्रियाः ! क्षिप्रमेवा-ऽनेकस्तम्भशतसन्निविष्टानि लीलास्थितशालभञ्जिकानी-त्येवमनेन क्रमेण विमानवर्णको भणितव्य. । स चायम्-"ईहामिगउसभतुरगणरमगरविहगवालकिंनररुरुसरभचमर-कुञ्जरवणलयपउमलयभत्तिचित्ते खंभुग्गयवरवइरवेइआपरि-गयाभिरामे विज्जाहरजमलजुअलजंतजुत्ते विव अच्चीसहस्स-मालिणीए रूवगसहस्सकलिए भिसमाणे भिब्भिसमाणे च-क्खुल्लोअणलेसे सुहफासे सस्सिरीअरूवे घंटावलिचलियमहुरम-णहरसरे सुभे कंते दरिसणिज्जे णिउणोचियमिसिमिसिंतम-णिरयणघंटिआजालपरिक्खित्ते । " कियत्पर्यन्तमित्याह-यावद्योजनविस्तीर्णानि दिव्यानि यानायेप्सस्थाने गमनाय वि-मानानि, अथवा यानरूपाणि वाहनरूपाणि विमानानि या-नविमानानि, विकुर्वत-वैक्रियशक्त्या सपादयत, विकुर्वित्वा एतामाज्ञप्तिं प्रत्यर्पयत । अथ यानवर्णकव्याख्या प्राग्वद् ज्ञेया, तोरणाऽऽदिवर्णकेषु एतद्विशेषणस्य व्याख्यातत्वात् । ततस्ते किं चक्रुरित्याह-(तए णमित्यादि) ततस्ते आभियोगिका देवा अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टानि यावदाज्ञां प्रत्यर्पयन्ति ॥

अथैता. किं कुर्वन्तीत्याह-

तए णं ताओ अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमा-रिमहत्तरिआओ पत्तेअं पत्तेअं चउहिं सामाणिअसा-हस्सीहिं चउहिं महत्तरिआहिं० जाव अण्णेहिं बहूहिं देवेहिं देवीहि अ सद्धिं संपरिवुडाओ ते दिव्वे जाणवि-माणे दुरूहंति, दुरूहित्ता सव्विड्ढीए सव्वजुईए घणमुइं-गपणवपवाइअरवेणं ताए उक्किट्ठाए० जाव देवगईए जेणेव भगवओ तित्थगरस्स जम्मणणगरे जेणेव तित्थयरस्स ज-म्मणभवणे,तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवओ ति-त्थयरस्स जम्मणभवणं तेहिं दिव्वेहिं जाणविमाणेहिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति, करित्ता उत्तरपुर-च्छिमे दिसीभाए ईसिं चउरंगुलमसंपत्ते धरणिअले ते दिव्वे जाणविमाणे ठविंति, ठवित्ता पत्तेअं पत्तेअं च-उहिं सामाणिअसाहस्सेहिं० जाव सद्धिं संपरिवुडाओ दिव्वेहिंतो जाणविमाणेहिंतो पच्चोरुहंति, पच्चोरु-हित्ता सव्विड्ढीए० जाव णाइएणं जेणेव भगवं ति-त्थयरे तित्थयरमाया य तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छं-तित्ता भगवं तित्थयरमायरं च तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेंति, करित्ता पत्तेअं पत्तेअं करयलपरिग्ग-हिअं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी ।

"तए णं ताओ" इत्यादि । ततस्ता अधोलोकवास्तव्या अष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिका , इह चतुर्दत्याद्येकदेशदर्शनेन संपूर्ण आ-लापको ग्राह्य.। स चायम्-"हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिआ पीअमणा प-रमसोमणस्सिआ हरिसवसविसप्पमाणहिअया विअसिअवर-कमलणयणवयणा पचलिअवरकडगतुडिअकेऊरमउडकुंडलहारविरा-यंतरइअवच्छा पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरा ससंभमं तुरिअं चवलं सीहासणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता " इति । प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्भिः सामानिकसहस्रैः चतसृभिश्च महत्तरिकाभिर्यावदन्यैर्बहुभिर्दे-वैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृता.,तानि दिव्यानि यानविमानान्या-रोहन्ति। आरोहेणोत्तरकाल येन प्रकारेण सूतिकागृहमुपति-ष्ठन्ते तथाऽऽह-(दुरूहित्ता इत्यादि) आरुह्य च सर्वर्द्ध्या सर्व-द्युत्या घनमृदङ्ग मेघवद्गम्भीरध्वानिक मृदङ्ग,पणवो मृतपटहः, उपलक्षणमेतत्तेनान्येषामपि तूर्याणां संग्रहः। एतेषां प्रवादिता-नां यो रवस्तेन तया उत्कृष्टया, यावत्करणात्—"तुरिआए चवलाए " इत्यादि पदसंग्रह. प्राग्वत् । देवगत्या यत्रैव भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मनगर यत्रैव च तीर्थकरस्य जन्मभवन तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवतस्तीर्थकरस्य जन्म-भवन तैर्दिव्यैर्यानविमानैस्त्रि कृत्व आदक्षिणप्रदक्षिणा कुर्वन्ति, त्रीन् वारान् प्रदक्षिणयन्तीत्यर्थ. । त्रि.प्रदक्षिणीकृत्य च उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे ईशानकोणे ईषच्चतुरङ्गुलमसम्प्राप्तानि धरणितले तानि दिव्यानि यानविमानानि स्थापयन्तीति । अथ यच्चक्रुस्तदाह- स्थापयित्वा च प्रत्येकं प्रत्येकम्, अष्टा-वपीत्यर्थ. । चतुर्भि. सामानिकसहस्रैर्यावत् सार्द्धं सप-रिवृता दिव्येभ्यो यानविमानेभ्यः प्रत्यवरोहन्ति, प्रत्यव-रुह्य च सर्वर्द्ध्या, यावच्छब्दात् सर्वद्युत्यादिपरिग्रह. । कि-यत्पर्यन्तमित्याह--" सव्वपणवभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरज-मुइंगदुंदुहिनिग्घोसनाइएण ति । " यत्रैव भगवांस्तीर्थकर-स्तीर्थकरमाता च तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं तीर्थकरमातरं च त्रिः प्रदक्षिणयन्ति, त्रि प्रदक्षिणी-कृत्य च प्रत्येकं प्रत्येकं करतलपरिगृहीतं शिरस्यावर्त्तं मस्तके अञ्जलिं कृत्वा, एव वक्ष्यमाणमवादिषु.।

तदाह-

णमोऽत्थु ते रयणकुच्छिधारिए ! जगप्पईवदीविए ! सव्वज-गमंगलस्स चक्खुणो अ मुत्तस्स सव्वजगजीववच्छलस्स हिअकारगमग्गदेसिअवागिद्धिविभुप्पभुस्स जिणस्स णा-णिस्स नायगस्स बुद्धस्स बोहगस्स सव्वलोगनाहस्स निम्म-मस्स पवरकुलसमुब्भवस्स जाईए खत्तिअस्स जं सि लोगु-त्तमस्स जणणी,धण्णा सि, तं कयत्था सि,अम्हे णं देवाणु-प्पिए ! अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरि-आओ भगवओ तित्थगरस्स जम्मणमहिमं करिस्सामो, तेणं तुब्भेहिं ण भइअव्वं ति कट्टु उत्तरपुरच्छिमं दि-सीभागं अवक्कमंति ।

(नमोऽत्थु ते इत्यादि) नमोऽस्तु ते तुभ्य, रत्न भगवल्लक्षण कुक्षौ धरतीति रत्नकुक्षिधारिके ! । अथवा-रत्नगर्भाभिधा-रकत्वेनाऽपरस्त्रीकुक्षिभ्योऽतिशायित्वेन रत्नरूपां कुक्षिं धर-तीति, शेष तथैव । तथा जगद्वर्त्तिजनाना सर्वभावाना प्रकाश-कत्वेन प्रदीप इव प्रदीपो भगवान्,तस्य दीपके!,सर्वजगन्मङ्ग-लभूतस्य चक्षुरिव चक्षु सकलजगद्भावदर्शकत्वेन तस्य, च समुच्चये । चक्षुश्च द्रव्यभावभेदाभ्यां द्विधा, तत्राऽऽद्य भाव-

चक्षुरसहकृतं नार्थप्रकाशकं, तेन भावचक्षुषा भगवानुपमीयते, तच्चामूर्त्तमिति । ततो विशेषमाह-मूर्त्तस्य मूर्त्तिमतः, चक्षुर्ग्राह्यस्येत्यर्थः । सर्वजगज्जीवाना वत्सलस्योपकारकस्य । उक्तार्थे विशेषणद्वारेण हेतुमाह-हितकारको मार्गो मुक्तिमार्ग' सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूप , तस्य देशिका उपदेशिका, दर्शिकेत्यर्थः । तथा विर्त्वी सर्वभाषाऽनुगमनेन परिणमनात् सर्वव्यापिनी, सकलश्रोतृजनहृदयमङ्गा-ततात्पर्यार्था, एवंविधा वाग्ऋद्धिर्वाक्सम्पत्, तस्याः प्रभु स्वामी, सातिशयवचनलब्धिक इत्यर्थः । तस्य । तथाऽत्र विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् । जिनस्य रागद्वेषजेतुः, ज्ञानिन. सातिशयज्ञानयुक्तस्य, नायकस्य धर्मवरचक्रवर्तिन ,बुद्धस्य विदिततत्त्वस्य, बोधकस्य परेषामावेदिततत्त्वस्य, सकललोकनाथस्य सर्वप्राणिवर्गस्य बोधिबीजाऽऽधानसंरक्षणाभ्यां योगक्षेमकारित्वात् । निर्ममस्य ममत्वरहितस्य, प्रवरकुलसमुद्भवस्य, जात्या क्षत्रियस्य, एवंविधविख्यातगुणस्य लोकोत्तमस्य, यस्यमासि जननी, तत्त्व धन्याऽसि पुण्यवत्यसि, कृतार्थाऽसि, वय हे देवानुप्रिये ! अधोलोकवास्तव्या अष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिका, भगवतो जन्ममहिमां करिष्याम , तेन युष्माभिर्न भेतव्यम्-असम्भाव्यमानपरजनाऽऽपातेऽस्मिन् रह'स्थाने इमा विसदृशजातीया किमिति शङ्काऽऽकुल चेतो न कार्यमित्यर्थ । (ति कट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागमित्यादि) इतिकृत्वा प्रस्तावादिदमुक्त्वा,ता एवोत्तरपौरस्त्य दिग्भागमपक्रामन्ति ।

अथैतासामितिकर्त्तव्यमाह-

अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएण समोहणंति, समोहणित्ता संखिज्जाइं जोअणाइं दंडं निसिरंति, निसिरित्ता तं जहा रयणाणं० जाव संवट्टगवाए विउव्विंति, विउव्वित्ता तेणं सिवेणं मउएणं अणुद्धूएणं भूमितलविमलकरणेणं मणहरेणं सव्वोउअसुरहिकुसुमगंधाणुवासिएणं पिंडिमनीहारिमगंधुद्धुरेणं तिरिअं पवाइएणं भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणस्स सव्वओ समंता जोअणपरिमंडलं,से जहाणामए कम्मयरदारए सिआ०जाव तहेव जं तत्थ तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा कयवरं वा असुइमचोक्खं पूइअं दुब्भिगंधं, तं सव्वं आहुणिअ आहुणिअ एगंते एडेंति, एडित्ता जेणेव भगवं तित्थयरे तित्थयरमाया य, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमायाए अ अदूरसामंते आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ।

अपक्रम्य च वैक्रियसमुद्घातेन समवघ्नन्ति, समवहत्य च सङ्ख्यातानि योजनानि दण्ड निसृजन्ति,निसृज्य च किं ता कुर्वन्ति?, तदेवाऽऽह-तद्यथा रत्नानाम् । यावत्पदात् "वइराण वेरुलिआण लोहिअक्खाण मसारगल्लाण हंसगब्भाण पुलयाण सोगंधिआण जोईरसाण अंजणाण पुलयाण रयणाण जायरूवाण अंकाण फलिहाण रिट्ठाण अहाबायरे पुग्गले परिसाडेइ,अहासुहुमे पुग्गले परिआएइ, दुच्च वि वेउव्वियसमुग्घाएण समोहणंति, समोहणित्ता ।" इति पदसङ्ग्रह. । एतत्सविस्तरव्याख्या पूर्वं भरताभियोगिकदेवाना वैक्रियकरणाधिकारे कृता, तेन ततो ग्राह्या । वाक्ययोजनार्थं तु किञ्चिल्लिख्यते-तेषां रत्नानां बादरान् पुद्गलान् परिशाट्य सूक्ष्मान् पुद्गलान् गृह्णन्ति, पुनर्वैक्रियसमुद्घातपूर्वक संवर्त्तकवातान् विकुर्वन्ति । बहुवचन चात्र चिकीर्षितकार्यस्य सम्यक्सिध्यर्थं पुन पुनर्वातविकुर्वणाज्ञापनार्थम् । विकुर्व्य च तेन तत्कालविकुर्वितेन, शिवेनोपद्रवरहितेन, मृदुकेन भूमिसर्पिणा मारुतेन अनुद्धूतेन अनूर्द्ध्वचारिणा, भूमितलविमलकरणेन मनोहरेण सर्वर्तुकानां षड्ऋतुसम्भवानां सुरभिकुसुमानां गन्धेनानुवासितेन, पिण्डिमः पिण्डितः सन् निर्हारी नातिदूर विनिर्गमनशीलो यो गन्धः,तेन उद्धुरेण,बलिष्ठेनेत्यर्थ । तिर्यक् प्रवातेन तिर्यक् वातुमारब्धेन, भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मभवनस्य सर्वतो दिक्षु समन्ताद्विदिक्षु योजनपरिमण्डलम्, "से जहाणामए कम्मयरदारए सिआ० जाव" इत्येतत्सूत्रैकदेशसूचितदृष्टान्तिकसूत्रान्तर्गतेन "तहेव" इति दार्ष्टान्तिकसूत्रबलादायातेन समार्जयतीतिपदेन सहान्वययोजना कार्या ।

तच्चेदं दृष्टान्तसूत्रम्-

" से जहाणामए कम्मयरदारए सिआ तरुणे बलवं जुगवं जुवाणे अप्पायंके थिरऽग्गहत्थो दढपाणिपाए पिट्ठंतरोरुपरिणए घणनिचिअवलिअवट्टखंधे चम्मेट्ठगदुहणमुट्ठिअसमाहयनिचिअगत्ते उरस्सबलसमण्णागए तलजमलजुअलपरिघबाहू लंघणपवणजइणपमद्दणसमत्थे छेए दक्खे पट्ठे कुसले मेहावी निउणसिप्पोवगए एगं महंत सलागहत्थगं वा दंडसंपुच्छणिं वा वेणुसिलागिगं वा गहाय रायंगणं वा रायंतेउरं वा देवकुलं वा सभं वा पवं वा आरामं वा उज्जाणं वा अतुरिअमचवलमसंभंतं निरंतरं सुनिउणं सव्वओ समंता संपमज्जिज्ज त्ति । "

स यथानामको यत्प्रकारनामक. कर्मकरदारक. स्याद् भवेत् । आसन्नमृत्युर्हि दारको न विशिष्टसामर्थ्यभाग् भवतीत्याह-तरुणः प्रवर्द्धमानवया. । स च बलहीनोऽपि स्यादित्यत आह-बलवान् । कालोपद्रवोऽपि विशिष्टसामर्थ्यविघ्नहेतुरित्यत आह— युगं सुषमदुःषमाऽऽदिकाल.,सोऽदुष्टो निरुपद्रवो विशिष्टबलहेतुर्यस्यास्त्यसौ युगवान् । एवंविधश्च को भवति?,युवा यौवनवयस्थः, ईदृशोऽपि ग्लान सन् निर्बलो भवत्यत.-अल्पातङ्कः, अल्पशब्दोऽत्राभाववचन., तेन निरातङ्क इत्यर्थः । तथा स्थिर. प्रस्तुतकार्यकरणेऽकम्पोऽग्रहस्तो हस्ताग्र यस्यासौ तथा । दृढ निबिडतरचयमापन्न पाणिपाद यस्य स तथा । पृष्ठ प्रतीतम्,अन्तरे पार्श्वरूपे, ऊरू सक्थिनी,एतानि परिणतानि परिनिष्ठिततां गतानि यस्य स तथा, सुखाऽऽदिदर्शनात् पाक्षिकः क्तान्तस्य परनिपात., अहीनाङ्ग इत्यर्थ । घननिचितौ निबिडतरचयमापन्नौ वलिताविव वलितौ, हृदयाभिमुखौ जातावित्यर्थः । वृत्तौ स्कन्धौ यस्य स तथा । तथा चर्मेष्टकेन चर्मपरिणद्धकुट्टनोपकरणविशेषेण द्रुघनेन घनेन,मुष्टिकया च मुष्ट्या समाहताः सन्तस्ताडिता. सन्तो ये निचिता निबिडीकृता. प्रवहणप्रेष्यमाणवत्सग्रन्थिकाऽऽदय , तद्वद् गात्र यस्य तथा । उरसि भवमुरस्यमीदृशेन बलेन समन्वागतः-अन्तरोत्साहवीर्ययुक्त' । तलौ तालवृक्षौ, तयोर्यमल समश्रेणिक यद्युगल द्वय, परिघश्चार्गला, तन्निभे तत्सदृशे दीर्घसरलपीनत्वाऽऽदिना बाहू यस्य स तथा । लङ्घने गर्ताऽऽदेरतिक्रमे, प्लवने मनाक् विक्रमवति गमने, जवनेऽतिशीघ्रगमने, प्रमर्दने कठिनस्याऽपि वस्तुनश्चूर्णने समर्थः । छेक' कलापण्डित.· दक्षः कार्याणामविलम्बितकारी, प्रष्ठो वाग्मी, कुशल सम्यक्क्रियापरिज्ञानवान्, मेधावी सकृच्छ्रुतदृष्टकर्मज्ञ , निपुणशिल्पोपगत -निपुण यथा भवत्येव शिल्पक्रियासु कौशलमुपगतः

प्रास·;एकं महान्तं शलाकहस्तकं सरित्पर्णाऽऽदिशलाकासमुदाय, सरित्पर्णाऽऽदिशलाकामयां सम्मार्जनीमित्यर्थः। वाशब्दो विकल्पार्थः। दण्डसपुंसनीं दण्डयुक्तां सम्मार्जनीं,वेणुशलाकिकां वंशशलाकानिर्वृत्तां समार्जनीं गृहीत्वा राजाऽङ्गण वा, राजाऽन्तःपुर वा, देवकुलं वा, सभां वा-पुरप्रधानानां सुख निवेशनहेतुमण्डपिकामित्यर्थ· । प्रपां वा पानीयशालाम, आराम वा दम्पत्योर्नगराऽऽसन्नरतिस्थानम्, उद्यान वा क्रीडार्थाऽऽगतजनानां प्रयोजनाभावेनोर्ध्वावलम्बितयानवाहनाऽऽधाश्रयभूत तरुखण्डम,अत्वरितमचपलमसम्भ्रान्तम्,त्वरायां चापल्ये सम्भ्रमे वा सम्यक्कचवराऽऽपगमासंभवात्। तत्र त्वरा मानसौत्सुक्यं, चापल्य कायौत्सुक्यम्, सम्भ्रमश्च गतिस्खलनमिति । निरन्तर, न तु अपान्तरालमोचनेन, सुनिपुणमल्पस्याप्यचोक्षस्यापसारणेन सेप्रमार्जयेदिति ।

अथोक्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकयोजनायाऽऽह-तथैवैता अपि योजनपरिमण्डलं योजनप्रमाण वृत्तक्षेत्र सप्रमार्जयन्तीति । यत्तत्र योजनपरिमण्डले, तृण वा पत्र वा काष्ठ वा कचवर वा अशुचि अपवित्रम्,अचोक्ष मलिनं,पूतिकं दुरभिगन्ध,तत्सर्वमाधूय आधूय संचाल्य सचाल्य,एकान्ते योजनपरिमण्डलादन्यत्र, एमयन्त्यपनयन्ति, अपनीय-अर्थात् संवर्त्तकवातोपशम विधाय च,यत्रैव भगवांस्तीर्थकरः, तीर्थकरमाता च तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवतस्तीर्थकरस्य तीर्थकरमातुश्च नातिदूरासन्ने आगायन्त्यः-आ ईषत् स्वरेण गायन्त्यः प्रारम्भकाले मन्दस्वरेण गायमानत्वात्, परिगायन्त्यो गीतप्रवृत्तिकालानन्तरं तारस्वरेण गायन्त्यस्तिष्ठन्ति ।

अथोर्ध्वलोकवासिनीनामवसरः-

तेणं कालेणं तेणं समएणं उड्ढलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ सएहिं सएहिं कूडेहिं सएहिं सएहिं भवणेहिं सएहिं सएहिं पासायवडेंसएहिं पत्तेअं पत्तेअं चउहिं सामाणिअसाहस्सीहिं एवं तं चेव पुव्ववण्णिअ० जाव विहरंति ।

" तेणे कालेण " इत्यादि व्यक्त, नवरम ऊर्द्धलोकवासित्वं चासां समभूतलाद पञ्चशतयोजनोच्चनन्दनवनगतपञ्चशतिकाऽष्टकूटवासित्वेन ज्ञेयम् । नन्वधोलोकवासिनीनां गजदन्तगिरिगतकूटाष्टके यथा क्रीडानिमित्तको वास , तथैतासामप्यत्र भविष्यतीति चेद्, नैवम, यथाऽधोलोकवासिनीनां गजदन्तगिरीणां गन्धभवनेषु वासः श्रूयते, तथैनासामश्रूयमाणत्वेन तत्र निरन्तर वासः, ततश्चोर्द्धलोकवासित्वम ॥

ताश्चेमा नामत· पद्यबन्धेनाऽऽह-

तं जहा-

" मेहंकरा मेहवई, सुमेहा मेहमालिणी ।
सुवच्छा वच्छमित्ता य· वारिसेणा वलाहगा" ॥ १ ॥

मेघङ्करा, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी,सुवत्सा,वत्समित्रा, चः समुच्चये । वारिषेणा, वलाहका ।

अथ तासां यद् वक्तव्य तदाह। आसनानि चलन्ति-

तए णं तासिं उड्ढलोगवत्थव्वाणं अट्ठण्हं दिसाकुमारीमहत्तरिआणं पत्तेअं पत्तेअं आसणाइं चलंति । एवं तं चेव पुव्ववण्णिअ भाणिअव्वं० जाव अम्हे णं देवाणुप्पिए ! उड्ढलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ भगवओ तित्थगरस्स जम्मणमहिमं करिस्सामो, तेणं तुब्भेहिं ण भाइअव्वं ति कट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति, अवक्कमित्ता० जाव अब्भवद्दलए विउव्वंति, विउव्वित्ता ०जाव तं निहयरयं णट्ठरयं भट्ठरयं पसंतरयं उवसंतरयं करेंति, करेत्ता खिप्पामेव पच्चुवसमंति,एवं पुप्फवद्दलंसि पुप्फवासं वासंति, वासित्ता० जाव कालागुरुपवर० जाव सुरवराभिगमणजोग्गं करेंति, करेत्ता जेणेव भयवं तित्थयरे,तित्थयरमाया य, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता जाव० आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ।

" तए ण तासिं उड्ढलोगवत्थव्वाण " इत्यादि व्यक्तम , नवरं तदेव पूर्ववर्णित भणितव्य, कियत्पर्यन्तमित्याह-(० जाव अम्हे णमित्यादि) अत्र यावच्छब्दोऽवधिवाचको, न तु संग्राहकः। (अवक्कमित्ता० जाव त्ति) अत्र यावत्पदात् " वेउव्विअसमुग्घाएण समोहणंति, समोहणित्ता० जाव दोच्च पि वेउव्वियसमुग्घाएण समोहणंति, समोहणित्ता । " इति बोध्यम्। अभ्रवार्दलकानि विकुर्वन्ति, अभ्रे आकाशे वाः पानीय तस्य दलकानि अभ्रवार्दलकानि,मेघानीत्यर्थ ।(विउव्वित्ता०जाव त्ति) अत्र यावत्करणादिद दृश्यम-

" से जहाणामए कम्मयरदारए० जाव सिप्पोवगए एगं महत दगवारग वा दगकुभयं वा दगथालग वा दगकलस वा दगभिंगार वा गहाय रायंगणं वा० जाव उज्जाण वा समंता आवरिसिज्जा, एवमेव ता अवि उड्ढलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ अब्भवद्दलए विउव्वित्ता खिप्पामेव पतणतणायंति, पतणतणाइत्ता खिप्पामेव पविज्जुआयंति, पविज्जुआइत्ता भगवओ तित्थगरस्स जम्मणभवणस्स सव्वओ समंता जोअणपरिमंडल णच्चोअग णाइमट्टिअ पविरलपफुसिअ रयरेणुविणासण दिव्वं सुरभिगंधोदयवासं वासंति।"

अत्र व्याख्या-स यथा कर्मदारक इत्यादि प्राग्वद् व्याख्येयम् . एकं महान्तं दकवारकं वा मृत्तिकामयजलभाजनविशेष, दककुम्भक वा जलघट, दकस्थालकं वा कांस्यादिमय जलपात्र, दककलश वा, दकभृङ्गारं वा गृहीत्वा राजाङ्गण वा यावदुद्यान वा आवर्षेत् समन्तात् सिञ्चेद । " एवमेव ता अवि उड्ढलोगवत्थव्वाओ " इत्यादि प्राग्वत् । क्षिप्रमेव (पतणतणायंति त्ति) अत्यन्तं गर्जन्तीत्यर्थः । गर्जित्वा च (पविज्जुआयंति त्ति) प्रकर्षेण विद्युत कुर्वन्ति; कृत्वा च भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मभवनस्य सर्वत· समन्ताद्योजनपरिमण्डल क्षेत्रं यावत्, अत्र नैरन्तर्ये द्वितीया, निरन्तरं योजनपरिमण्डले क्षेत्रे इत्यर्थः । नात्युदक नातिमृत्तिक यथा स्यात्तथा प्रकर्षेण यावन्तो रेणवः स्थगिता भवन्ति, तावन्मात्रेणोत्कर्षेणेति भाव· । उक्तप्रकारेण विरलानि घनेतराणि, घनभावेन कर्दमसम्भवात्, प्रस्पृष्टानि प्रकर्षवन्ति स्पर्शनानि, मन्दस्पर्शनसंभवे रेणुस्थगनासम्भवात् , यस्मिन् वर्षे तत्प्रविरलप्रस्पृष्टम,अत एव रजसां श्लक्ष्णरेणुपुञ्जानां च स्थूलतममेतत्पुञ्जाना विनाशन, दिव्यमतिमनोहर सुरभिगन्धोदकवर्षं वर्षन्ति, वर्षित्वा च। अथ प्रस्तुतसूत्रमनुश्रियते, तद् योजनपरिमण्डलक्षेत्रं, निहतरज ,कुर्वन्तीति योगः । निहत भूय उत्थानाभावेन मन्दीकृत रजो यत्र तत्तथा । तत्र निहतत्व रजसा क्षणमात्रमुत्थानाभावेनाऽपि सम्भवति तत आह-नष्टरज· नष्ट सर्वथा अदृश्यीभूत रजो यत्र तत्तथा। तथा भ्रष्ट वातोद्धततया

योजनमात्राद् दूरत. क्षिप्त रजो यत्र तत्तथा । अत एव प्रशान्तं सर्वथाऽसदिव रजो यत्र तत्तथा । अस्यैवाऽऽत्यन्तिकतः ख्यापनार्थमाह-उपशान्त रजो यत्र तत्तथा कुर्वन्ति,कृत्वा च क्षिप्रमेव प्रत्युपशाम्यन्ति,गन्धोदकवर्षणान्निवर्त्तन्त इत्यर्थ । अथासा तृतीयकर्त्तव्यकरणावसर -एव गन्धोदकवर्षणानुसारेण पुष्पवार्दलकेन पुष्पवर्षकवार्दलकेन, प्रकृतत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी। पुष्पवर्षं वर्षन्तीति ।

अत्रैवमित्यादिवाक्यसूचितमिद सूत्र ज्ञेयम—

"तच्च पि वेउव्वियसमुग्घाएण समोहणति,समोहणित्ता पुप्फवद्दलए विउव्वति, से जहाणामए मालागारदारए०जाव सिप्पोवगए एग मह पुप्फछज्जिअ वा पुप्फपडलग वा पुप्फचंगेरिअ वा गहाय रायगण वा० जाव समता कयग्गहगहिअकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्केण दसद्धवण्णेण कुसुमेण पुप्फपुंजोवयारकलिअ करेज्जा, एवमेव ता अवि उड्ढलोगवत्थव्वाओ०जाव पुप्फवद्दलए विउव्वित्ता खिप्पामेव पतणुतणायति०, जाव जोअणपरिमण्डल जलथलयभासुरप्पभूयस्स विंटट्ठाइस्स दसद्धवण्णस्स कुसुमस्स जाणुस्सेहपमाणमित्त वास वासति " ।३।

अत्र व्याख्या-तृतीयवार वैक्रियसमुद्घातेन समवघ्नन्ति । कोऽर्थ ?-सवर्तकवातविकुर्वणार्थं हि यद् वेलाद्वयमपि वैक्रियसमुद्घातेन समवहननं, तत्किलैकम्, एवमभ्रवार्दलकविकुर्वणार्थं द्वितीयम,इद तु पुष्पवार्दलकविकुर्वणार्थं तृतीयम्। समवहत्य च पुष्पवार्दलकानि विकुर्वन्ति, स यथानामको मालाकारपुत्रः, अस्यैव प्रस्तुतकार्ये व्युत्पन्नत्वात् । स्यात्तावन्निपुणशिल्पोपगत', एकां महतीं पुष्पछाद्यिकां वा, छाद्यते उपरि स्थग्यते इति छाद्येव छाद्यिका,पुष्पैर्भृता छाद्यिका पुष्पछाद्यिका तां, पुष्पपटलक वा पुष्पाऽऽधारभाजनविशेषः, पुष्पचङ्गेरिकां वा प्रतीताम्। यावत् समन्तात् रतकलहे या पराङ्मुखी, तस्या. सुमुखीकरणाय केशेषु ग्रहण कचग्रहण, तत्प्रकारेण गृहीत, तथा करतलाद्विप्रमुक्त सत् प्रभ्रष्ट करतलप्रभ्रष्टविप्रमुक्तं, प्राकृतत्वात् पदव्यत्यय', ततो विशेषणसमास । तेन कचग्रहगृहीतकरतलप्रभ्रष्टविप्रमुक्तेन दशार्द्धवर्णकेन पञ्चवर्णेन कुसुमेन, जात्यपेक्षया एकवचनम्, कुसुमजातेन, पुष्पपुञ्जोपचारो बलिप्रकार., तेन कलित कुर्यात्, एवमेता अपि ऊर्ध्वलोकवास्तव्या अष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिकाः " पुप्फवद्दलए विउव्वित्ता " इत्यादिक योजनपरिमण्डलान्त प्राग्वद् व्याख्येयम । वाक्ययोजना तु-योजनपरिमण्डल यावत् दशार्द्धवर्णस्य कुसुमस्य वर्षं वर्षन्तीति । कथंभूतस्य कुसुमस्य ?, जलजस्थलजभासुरप्रभूतस्य-जलज पद्माऽऽदि,स्थलज विचाकिलाऽऽदि,भास्वर दीप्यमानं प्रभूतमतिप्रचुरम्। ततः कर्मधारयः।भास्वर च तत् प्रभूत च भास्वरप्रभूतम्, जलजस्थलज च तद् भास्वरप्रभूत च तत् तथा। तथा वृन्तस्थायिन -वृन्तेनाधोभागवर्त्तिना तिष्ठतीत्येवशीलस्य,तथा वृन्तमधोभागे पत्राण्युपरीत्येव स्थानशीलस्येत्यर्थ.। कथम्भूत वर्षम्?,जान्ववधिक उच्चाधो जानूत्सेध ,तस्य प्रमाण द्वात्रिंशदङ्गुललक्षण, तेन सदृशी मात्रा यस्य स तथा त,द्वात्रिंशदङ्गुलानि चैवम्-चरणस्य चत्वारि, जङ्घायाश्चतुर्विंशति.,जानुतश्चत्वारीति । एवमेव सामुद्रिके चरणावसानस्य लक्षणत्वात् ।

वर्षित्वा च कियत्पर्यन्तोऽयमेवमित्यादिवाक्यसूचितसूत्रसग्रह इत्याह—यावत् " कालागुरुपवर त्ति । " अत्र यावच्छब्दोऽवधिवाची । (०जाव सुरवराभिगमणजोग्गं ति) अत्र यावत्करणात्—" कुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झतधूवमघमघतगंधुद्धुआभिराम सुगंधवरगंधिअ गंधवट्टिभूअं दिव्व ।" इतिपर्यन्तसूत्र ज्ञेयम । तत् कालागुरुप्रभृतिधूपधूपितम्; धूपालापकव्याख्या प्राग्वत् । अत एव सुरवराभिगमनयोग्यम्-सुरवर इन्द्रस्तस्याभिगमनायाऽवतरणाय योग्य, कुर्वन्ति,कृत्वा च यत्रैव भगवांस्तीर्थकरस्तीर्थकरमाता च, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च,यावच्छब्दात्-"भगवओ तित्थयरमायाए य अदूरसामते " इति ग्राह्यम्। आगायन्त्य. परिगायन्त्यस्तिष्ठन्तीति ।

अथ रुचकवासिनीदिक्कुमारीवक्तव्ये प्रथमं पूर्वरुचकस्थानामष्टाना वक्तव्यतामाह--

तेणं कालेणं तेणं समएणं पुरच्छिमरुअगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सएहिं सएहिं कूडेहिं तहेव० जाव विहरंति । तं जहा–

" णंदुत्तरा य णंदा, आणंदा णंदिवद्धणा ।
विजया य वेजयंती, जयंती अपराजिआ ॥ १ ॥"

सेसं तं चेव०जाव तुब्भेहिं ण भाइअव्वं ति कट्टु भगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमायाए अ पुरच्छिमेणं आयंसहत्थगयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ।

(तेण कालेणं तेण समएण इत्यादि) तस्मिन् काले तस्मिन् समये पौरस्त्यरुचकवास्तव्या. पूर्वदिग्भागवर्त्तिरुचककूटवासिन्योऽष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिकाः स्वकेषु स्वकेषु कूटेषु तथैव यावद्विहरन्ति। तद्यथा–नन्दोत्तरा, च. समुच्चये। नन्दा,आनन्दा, नन्दिवर्द्धना,विजया। चः पूर्ववत्। वैजयन्ती,जयन्ती,अपराजिता, इत्येता नामत' कथिता.। शेषमासनप्रकम्पावधिप्रयोगभगवद्दर्शनपरस्पराह्वानस्वस्वाभियोगिककृतयानविमानविकुर्वणाऽऽदिक तथैव, यावद्युष्माभिर्न भेतव्यमिति कृत्वा भगवतस्तीर्थकरस्य तीर्थकरमातुश्च पूर्वरुचकसमागतत्वात् पूर्वतो हस्तगत आदर्शो दर्पणो जिनजनन्योः शृङ्गाराऽऽदिविलोकनाऽऽद्युपयोगी यासां तास्तथा, विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्। आगायन्त्य परिगायन्त्यस्तिष्ठन्तीति ॥ अत्र रुचकाऽऽदिस्वरूपप्ररूपणेयम् एकादेशेन एकादशे,द्वितीयादेशेन त्रयोदशे, तृतीयादेशेन एकविंशे रुचकद्वीपे बहुमध्ये वलयाऽऽकारो रुचकशैलश्चतुरशीतियोजनसहस्राण्युच्च.,मूले १००२२,मध्ये ७०२३, शिखरे ४०२४ योजनानि विस्तीर्णः,तस्य शिरसि चतुर्थे सहस्रे पूर्वदिशि मध्ये सिद्धायतनकूट , उभयोः पार्श्वयोश्चत्वारि चत्वारि दिक्कुमारीणां कूटानि, नन्दोत्तराऽऽद्यास्तेषु वसन्तीति ।

अथ दक्षिणरुचकवासिनीना कर्त्तव्यम्–

तेणं कालेणं तेणं समएणं दाहिणरुअगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ तहेव०जाव विहरंति। तं जहा-

" समाहारा सुप्पइण्णा, सुप्पबुद्धा जसोहरा ।
लच्छीमई सेसवई, चित्तगुत्ता वसुंधरा ॥ १ ॥"

तहेव० जाव तुब्भाहिं न भाइअव्वं ति कट्टु भगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमाउए अ दाहिणेणं भिंगारहत्थगयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ॥

सम्प्रति दक्षिणरुचकवास्तव्या इति पूर्ववद्, रुचकशिरसि दक्षिणदिशि मध्ये सिद्धायतनकूटम,तदुभयतश्चत्वारि चत्वारि कूटानि, तत्र वासिन्य इत्यर्थः । अष्टौ दिक्कुमारीमहत्तरिकाः तथैव यावद्विहरन्ति । तद्यथा--समाहारा, सुप्रदत्ता, सुप्रबुद्धा,

यशोधरा, लक्ष्मीवती, शेषवती, चित्तगुप्ता, वसुन्धरा । तथैव यावत्तुष्माभिर्न भेतव्यमिति कृत्वा जिनजनन्योर्दक्षिणदिगागतत्वाद्दक्षिणदिग्भागे जिनजननीस्नपनोपयोगिजलपूर्णकलशहस्ता आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्तीति ॥

साम्प्रतं पश्चिमरुचकस्थानां वक्तव्यमाह-

तेणं कालेणं तेणं समएणं पच्चत्थिमरुअगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सएहिं सएहिं० जाव विहरंति । तं जहा-

"इलादेवी सुरादेवी, पुढवी पउमावई ।
एगणासा णवमिआ, भद्दा सीआ य अट्ठमी ॥१॥"

तहेव०जाव तुब्भाहिं ण भाइअव्वं ति कट्टु० जाव भगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमाउए अ पच्चत्थिमेणं तालिअंटहत्थगयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ।

"तेण कालेण" इत्यादि सर्वं तथैव,नवरं पश्चिमरुचकवास्तव्याः पश्चिमदिग्भागवर्त्तिरुचकवासिन्य इति । नामान्यासां पद्येनाऽऽह-इलादेवी,सुरादेवी,पृथिवी,पद्मावती,एकनासा, नवमिका, भद्रा, सीता । चः समुच्चये । अष्टमी चेति । कूटव्यवस्था तथैव, पश्चिमरुचकागतत्वाज्जिनजनन्योः पश्चिमदिग्भागे तालवृन्तं व्यजनं तद्धस्तगतास्तिष्ठन्तीति ।

उदीच्यां रुचकवासिनीनां कृत्यानि-

तेणं कालेणं तेणं समएणं उत्तरिल्लरुअगवत्थव्वाओ ०जाव विहरंति । तं जहा-

"अलंबुसा मिस्सकेसी, पुंडरीआ य वारुणी ।
हासा सव्वप्पभा चेव, सिरि हिरि चेव उत्तरओ" ॥१॥

तहेव० जाव तित्थयरस्स तित्थयरमाउए अ उत्तरेणं चामरहत्थगयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ।

उदीच्यामप्येवमेवेति । तत्सूत्रमाह-"तेणं कालेण" इत्यादि व्यक्तम् । नवरमुत्तररुचकवास्तव्या उत्तरदिग्भागवर्त्तिरुचकवासिन्य । नामान्यासां पद्येनाऽऽह-अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका, चः प्राग्वत् । वारुणी, हासा,सर्वप्रभा, चैवेति प्राग्वत् । श्रीः, ह्रीश्चोत्तरतः । कूटव्यवस्था तथैव, उत्तररुचकाऽऽगतत्वाज्जिनजनन्योरुत्तरदिग्भागे चामरहस्तगता आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्ति ।

अथ विदिग्रुचकवासिनीनामागमनाऽवसरः-

तेणं कालेणं तेणं समएणं विदिसिरुअगवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरिआओ० जाव विहरंति । तं जहा-"चित्ता य चित्तकणगा, सतेरा सोदामणी ।" तहेव ०जाव ण भाइअव्वं ति कट्टु भगवओ तित्थयरस्स तित्थयरमाउए अ चउसु विदिसासु दीविआहत्थगयाओ आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ।

'तेण कालेणं' इत्यादि व्यक्तम् । नवरं विदिग्रुचकवास्तव्यास्तस्यैव रुचकपर्वतस्य शिरसि चतुर्थे सहस्रे चतसृषु विदिक्षु एकैकं कूटं, तत्र वासिन्यश्चतस्रो विदिक्कुमार्यो यावद्विहरन्ति । इमाश्च स्थानाङ्गे विद्युत्कुमारीमहत्तरिका इत्युक्ता इति । एतासां चैशान्यादिक्रमेण नामान्येवम्-चित्रा,च समुच्चये । चित्रकनका,शतेरा,सौदामिनी । तथैव यावन्न भेतव्यमिति कृत्वा विदिगागतत्वात् भगवतस्तीर्थंकरस्य तीर्थंकरमातुश्च चतसृषु विदिक्षु दीपिकाहस्तगता आगायन्त्यः परिगायन्त्यस्तिष्ठन्तीति ।

अथ मध्यरुचकवासिन्य आगमयितव्याः-

तेणं कालेणं तेणं समएणं मज्झिमरुअगवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सएहिं सएहिं कूडेहिं तहेव० जाव विहरंति । तं जहा-"रूआ रूआसिआ, सुरूवा रूवगावई ।" तहेव०जाव तुब्भाहिं ण भाइअव्वं ति कट्टु भगवओ तित्थयरस्स चउरंगुलवज्जणाभिणालं कप्पंति, कप्पेत्ता विअरगं खणंति, खणित्ता विअरगे णाभिं णिहणंति, निहणित्ता रयणाण य वइराण य पूरेंति,पूरेत्ता हरिआलिआए पेढं बंधंति,बंधित्ता तिदिसिं तओ कयलीहरए विउव्वंति । तए णं तेसिं कयलीहरगाणं बहुमज्झदेसभाए तओ चउस्सालए विउव्वंति,तए णं तेसिं चउस्सालगाणं बहुमज्झदेसभाए तओ सीहासणे विउव्वंति; तेसि णं सीहासणाणं अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते, सव्वो वण्णगो भाणिअव्वो ॥

(तेण कालेण इत्यादि) तस्मिन् काले तस्मिन् समये मध्यरुचकवास्तव्या मध्यभागवर्तिरुचकवासिन्यः । कोऽर्थः ?-चतुर्विंशत्यधिकचतुःसहस्रप्रमाणे रुचकशिरोविस्तारे, द्वितीयसहस्रे चतुर्दिग्वर्तिषु चतुर्षु कूटेषु पूर्वाऽऽदिक्रमेण चतस्रस्ता वसन्तीत्यर्थः । श्रीअभयदेवसूरयस्तु पष्ठाङ्गवृत्तौ मल्ल्यध्ययने-"मज्झिमरुअगवत्थव्वा" इत्यत्र रुचकद्वीपस्याभ्यन्तरार्द्धवासिन्य इत्याहुः । अत्र तत्त्वं बहुश्रुतगम्यम् । चतस्रो दिक्कुमारिका यावद्विहरन्ति । तद्यथा-रूपा,रूपासिका,सुरूपा,रूपकावती । तथैव युष्माभिर्न भेतव्यमिति कृत्वा भगवतस्तीर्थंकरस्य चतुरङ्गुलवर्जनाभिनालं कल्पयन्ति, कल्पयित्वा च विदरकं गर्तां खनन्ति, खनित्वा च विदरके कल्पितां नाभिं निधानयन्ति, निधानयित्वा च रत्नैश्च वज्रैश्च, प्राकृतत्वाद्विभक्तिव्यत्ययः । पूरयन्ति, पूरयित्वा च हरितालिकाभिर्दूर्वाभिः पीठं बध्नन्ति । कोऽर्थः ? पीठं बद्ध्वा तदुपरि हरितालिकां वपन्तीत्यर्थः । विवरकवचनाऽऽदिकं च सर्वं भगवदवयवस्याऽऽशातनानिवृत्त्यर्थम् । पीठं बद्ध्वा च त्रिदिशि पश्चिमावर्जदिक्त्रये त्रीणि कदलीगृहाणि विकुर्वन्ति । ततस्तेषां कदलीगृहाणां बहुमध्यदेशभागे त्रीणि चतुःशालकानि भवनविशेषान् विकुर्वन्ति । ततस्तेषां चतुःशालकानां बहुमध्यदेशभागे त्रीणि सिंहासनानि विकुर्वन्ति, तेषां सिंहासनानामयमेतादृशो वर्णव्यासः प्रज्ञप्तः, सिंहासनानां सर्वो वर्णकः पूर्ववद् भणितव्यः ।

सम्प्रति सिंहासनविकुर्वणानन्तरीयकृत्यमाह-

तए णं ताओ रुअगमज्झवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीओ जेणेव भयवं तित्थयरे तित्थयरमाया य तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं तित्थयरं करयलसंपुडेणं तित्थयरमायरं च बाहाहिं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव दाहिणिल्ले कयलीहरए जेणेव चाउस्सालए जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं तित्थयरं तित्थयरमायरं च सीहासणे णिसीआवेंति, णि-

सीआवेत्ता सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भंगेंति, अब्भंगेत्ता सुरभिणा गंधुव्वट्टएणं उव्वट्टेंति, उव्वट्टित्ता भगवं तित्थयरं करयलसंपुडेणं, तित्थयरमायरं च बाहासु गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव पुरच्छिमिल्ले कयलीहरए जेणेव चाउस्सालए जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं तित्थयरं तित्थयरमायरं च सीहासणे णिसीआवेंति, णिसीआवेत्ता तिहिं उदएहिं मज्जावेंति । तं जहा-गंधोदएणं, पुप्फोदएणं, सुद्धोदएणं । मज्जावेत्ता सव्वालंकारविभूसिअं करेंति, करेत्ता भगवं तित्थयरं करयलपुडेणं, तित्थयरमायरं च बाहाहिं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव उत्तरिल्ले कयलीहरए जेणेव चउस्सालए जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं तित्थयरं तित्थयरमायरं च सीहासणे णिसीआवेंति, णिसीआवेत्ता आभिओगे देवे सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चुल्लहिमवंताओ वासहरपव्वयाओ गोसीसचंदणकट्ठाइं साहरह । तए णं ते आभिओगा देवा ताहिं रुअगमज्झवत्थव्वाहिं चउहिं दिसाकुमारीमहत्तरिआहिं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा० जाव विणएणं वयणं पडिच्छंति, पडिच्छित्ता खिप्पामेव चुल्लहिमवंताओ वासहरपव्वयाओ सरसाइं गोसीसचंदणकट्ठाइं साहरंति । तए णं ताओ मज्झिमरुअगवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सरगं करेंति, करेत्ता अरणिं घडेंति, अरणिं घडेत्ता सरएणं अरणिं महिंति, महित्ता अग्गिं पाडेंति, पाडित्ता अग्गिं संधुक्खेंति, संधुक्खेत्ता गोसीसचंदणकट्ठे पक्खिवंति, पक्खिवित्ता अग्गिं उज्जालिंति, उज्जालित्ता समिहाकट्ठाइं पक्खिवंति, पक्खिवित्ता अग्गिहोमं करेंति, करेत्ता भूतिकम्मं करेंति, करेत्ता रक्खापोट्टलिअं बंधंति, बंधेत्ता णाणामणिरयणभत्तिचित्ते दुवे पाहाणवट्टगोलगे गहाय भगवओ तित्थयरस्स कण्णमूले टिट्टिआवेंति, भवउ भयवं पव्वयाउए । तए णं ताओ रुअगमज्झवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरिआओ भयवं तित्थयरं करयलपुडेण तित्थयरमायरं च बाहाहिं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तित्थयरमायरं सयणिज्जंसि णिसीआवेंति, णिसीआवित्ता भयवं तित्थयरं माउए पासे ठवेंति, ठवित्ता अदूरसामंते आगायमाणीओ परिगायमाणीओ चिट्ठंति ॥

(तए णं ताओ रुअगमज्झवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीओ इत्यादि) ततस्ता रुचकमध्यवास्तव्याश्चतस्रो दिक्कुमारीमहत्तरिकाः, यत्रैव भगवांस्तीर्थकरस्तीर्थकरमाता च, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं करतलसंपुटेन, तीर्थकरमातरं च बाहुभिर्गृह्णन्ति, गृहीत्वा च यत्रैव दाक्षिणात्यं कदलीगृहं, यत्रैव च चतुःशालकं, यत्रैव सिंहासनं, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं तीर्थकरमातरं च सिंहासने निषादयन्ति-उपवेशयन्ति; निषाद्य च शतपाकैः सहस्रपाकैः शतकृत्वोऽपरापरौषधीरसेन, कार्षापणानां शतेन वा यत्पक्वं तच्छतपाकम्, एवं सहस्रपाकमपि । बहुवचनं तथाविधसुरभितैलसमुदायार्थम् । तैलैरभ्यङ्गयन्ति, तैलमभ्यञ्जयन्तीत्यर्थः । अभ्यङ्ग्य च सुरभिणा गन्धद्रव्याणामुत्पलादीनामुद्वर्तितचूर्णपिण्डेन गन्धयुक्तगोधूमचूर्णपिण्डेन वा उद्वर्तयन्ति, प्रक्षिप्ततैलापनयनं कुर्वन्ति, उद्वर्त्य च भगवन्तं तीर्थकरं करतलपुटेन तीर्थकरमातरं च बाहोर्गृह्णन्ति, गृहीत्वा च यत्रैव पौरस्त्यं कदलीगृहं, यत्रैव चतुःशालं, यत्रैव च सिंहासनं, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं तीर्थकरमातरं च सिंहासने निषादयन्ति, निषाद्य च त्रिभिरुदकैर्मज्जयन्ति स्नपयन्ति । तान्येव त्रीणि दर्शयति तद्यथेत्यादिना, गन्धोदकेन कुङ्कुमाऽऽदिमिश्रितेन, पुष्पोदकेन जात्यादिपुष्पमिश्रितेन, शुद्धोदकेन केवलोदकेन, मज्जयित्वा सर्वालङ्कारभूषितौ कुर्वन्ति, मातृपुत्राविति शेषः । कृत्वा च भगवन्तं तीर्थकरं करतलपुटेन तीर्थकरमातरं च बाहुभिर्गृह्णन्ति, गृहीत्वा च यत्रैवोत्तराहं कदलीगृहं, यत्रैव च चतुःशालकं, यत्रैव च सिंहासनं, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भगवन्तं तीर्थकरं तीर्थकरमातरं च सिंहासने निषादयन्ति, निषाद्य च आभियोगान् देवान् शब्दयन्ति, शब्दयित्वा च एवमवादिषुः-क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाः ! क्षुद्रहिमवतो वर्षधरपर्वताद् गोशीर्षचन्दनकाष्ठानि संहरत-समानयत । ततस्ते आभियोगा देवास्ताभी रुचकमध्यवास्तव्याभिश्चतसृभिर्दिक्कुमारीमहत्तरिकाभिरेवमनन्तरोक्तमुक्ता आज्ञप्ताः सन्तो हृष्टतुष्टा इत्यादि यावद्विनयेन वचनं प्रतीच्छन्ति-अङ्गीकुर्वन्ति, प्रतीष्य च क्षिप्रमेव क्षुद्रहिमवतो वर्षधरपर्वतात् सरसानि गोशीर्षचन्दनकाष्ठानि संहरन्ति । ततस्ता मध्यरुचकवास्तव्याश्चतस्रो दिक्कुमारीमहत्तरिकाः शरकं-शरप्रतिकृतितीक्ष्णमुखमग्न्युत्पादकं काष्ठविशेषं कुर्वन्ति, कृत्वा च तेनैव शरकेण सह अरणिं लोकप्रसिद्धं काष्ठविशेषं घटयन्ति-संयोजयन्ति, घटयित्वा च शरकेणाग्निं मथ्नन्ति, मथित्वा च अग्निं पातयन्ति, पातयित्वा च अग्निं सन्धुक्षन्ति-सन्दीपयन्ति, सन्धुक्ष्य च गोशीर्षचन्दनकाष्ठानि, प्रस्तावात् खण्डशः कृतानीति बोध्यम्, यादृशैश्चन्दनकाष्ठैरग्निरुद्दीपितः स्यात् तादृशानीति भावः । प्रक्षिपन्ति, प्रक्षिप्य च अग्निमुज्ज्वालयन्ति उद्दीपयन्ति, उज्ज्वाल्य च प्रदेशप्रमाणानि हवनोपयोगीनीन्धनानि समिधः, तद्रूपाणि काष्ठानि प्रक्षिपन्ति । पूर्वो हि काष्ठप्रक्षेपोऽग्न्युद्दीपनाय, अयं च रक्षाकरणायेति विशेषः । प्रक्षिप्य च अग्निहोमं कुर्वन्ति, कृत्वा च भूतेर्भस्मनः कर्म क्रिया, तां कुर्वन्ति, येन प्रयोगेणेन्धनानि भस्मरूपाणि भवन्ति तथा कुर्वन्तीत्यर्थः । कृत्वा च जिनजनन्योः शाकिन्यादिदुष्टदेवताभ्यो दृग्दोषाऽऽदिभ्यश्च रक्षाकरीं पोट्टलिकां बध्नन्ति, बद्ध्वा च नानामणिरत्नानां भक्तिरचनाद् यौ विचित्रौ द्वौ पाषाणवृत्तगोलकौ, पाषाणगोलकावित्यर्थः । गृहीत्वा भगवतस्तीर्थकरस्य कर्णमूले "टिट्टिआवेंति" इत्यनुकरणशब्दोऽयम् । तेन 'टिट्टिआवेंति' परस्परसंताडनेन टिट्टीतिशब्दोत्पादनपूर्वकं वादयन्तीत्यर्थः । अनेन हि बाललीलावशादन्यत्र व्यासक्तं भगवन्तं वक्ष्यमाणाऽऽशीर्वचनश्रवणे पटुं कुर्वन्तीति भावः । तथा कृत्वा च, भवतु भगवा-

न् पर्वताऽऽयुः, इत्याशीर्वचन दददतीति । तत उक्तसफल-कार्यकरणानन्तर ता रुचकमध्यवास्तव्याश्चतस्रो दिक्कुमारीमहत्तरिका भगवन्त तीर्थकरं करतलपुटेन तीर्थकरमातरं च बाहुभिर्गृह्णन्ति, गृहीत्वा च यत्रैव भगवतस्तीर्थकरस्य जन्मभवन, तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च तीर्थकरमातृशय्यायां निषादयन्ति, निषाद्य च भगवन्तं तीर्थकर मातु पार्श्वे स्थापयन्ति, स्थापयित्वा च नातिदूराऽऽसन्ने आगायन्त्य परिगायन्त्यस्तिष्ठन्ति। एतासां च मध्येऽष्टाधोलोकवासिन्यो गजदन्तगिरीणामधोभवनवासिन्य.। यच्चैतद्धिकारसूत्रे" सएहिं सएहिं कूडेहिं " इति पदम,तदपरसकलदिक्कुमार्यधिकारसूत्रपाठसरक्षणार्थम, साधारणसूत्रपाठे हि यथासम्भव विधिनिषेधौ समाश्रयणीयाविति ऊर्ध्वलोकवासिन्योऽष्टौ नन्दनवने योजनपञ्चशतिककूटवासिन्यः, अन्याश्च सर्वा अपि रुचकसत्ककूटेषु योजनसहस्रोच्चेषु मूले सहस्रयोजनविस्तारेषु शिरसि पञ्चशतविस्तारेषु वसन्ति। उक्त षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारीकृत्यमिति । ज० ५ वक्ष० ।

(६४) देवदूष्याणि-

सव्वे वि एगदूसे-ण णिग्गया जिणवरा चउव्वीसं ।

सर्वेऽपि भगवन्तोऽतीता अपि जिनवराः चतुर्विंशतिसख्याः, चतुर्विंशतिरित्यनेन सर्वास्वप्यवसर्पिणीपूत्सर्पिणीषु च प्रत्येक भरतक्षेत्रे चतुर्विंशतिरेव तीर्थकरा अभूवन्निति ख्यापितम्। एकदूष्येण-एकेन वस्त्रेण, निर्गता अभिनिष्क्रान्ता । तद्यदि भगवन्तोऽप्येकदूष्येण निर्गता इति सोपधयोऽभवन्, किं पुनस्तन्मतानुवर्त्तिन. शिष्या न सोपधय ? । तत्र य उपधिरासेवितो भवद्भि स साक्षाद्देवोक्तः। यः पुनर्विनेयेभ्यः स्थविरकल्पिकाऽऽदिभेदभिन्नेभ्योऽनुज्ञात., स खलु ग्रन्थान्तरादवसेय । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

देवदूष्यवस्त्रस्थितिमाह--

सक्को य लक्खमुल्लं, सुरदूसं ठवइ सव्वजिणखंधे ।

वीरस्स वरिसमहियं, सया वि सेसाण तस्स ठिई ।।१५८।।

शक्रश्च लक्षमूल्य देवदूष्य वस्त्र सर्वजिनस्कन्धे स्थापयति । तत्र श्रीवीरस्य साधिक वर्ष स्थितम् । उक्त च कल्पसूत्रे- "संवच्छरं साहिअं मासं जाव चीवरधारी होत्थ त्ति" मासेकेनाधिक वर्ष श्रीवीरेण वस्त्र धृतम्। शेषजिनानां त्रयोविंशतेरपि तीर्थकृतां, सदाऽपि यावज्जीवमपि, तस्य वस्त्रस्य, स्थितिरिति । सत्त० ७३ द्वार ।

(देहमानमुत्सेधाङ्गुलविचारे २२६१ पृष्ठे पूर्वमुक्तम्)

(६५)अथ प्रसङ्गत तीर्थकरप्रतिपादितत्वेन धर्मभेदानाह-

दाणं सीलं च तवो, भावो एव चउव्विहो धम्मो ।

सव्वजिणेहिं भणिओ, तहा दुहा सुयचरित्तेहिं ।।२९६।।

सुपात्रे दान देयम्, त्रिकरणशुद्ध्या शील पालनीयम, यथाशक्ति तपो विधिवद्विधेयम, साधुपुरुषेण शुभभावना भावनीया । एव चतुर्विधो धर्म (सव्वजिणेहिं भणिओ)सर्वजिनैश्चतुर्विंशतिजिनैर्भणित• कथितः। तथा द्विधा धर्म• श्रुतचारित्राभ्याम्,एक श्रुतधर्म , द्वितीयश्चारित्रधर्म• । इति गाथाऽर्थ. ॥ २९६ ॥ सत्त० ४१ द्वार।

अथ धर्मप्रसङ्गात् पुण्यमौचित्ये प्रवर्त्तेत इत्यौचित्याष्टकम्। पुण्यानुबन्धिपुण्य प्रधानफलतो दर्शयन्नाह-

अतः प्रकर्षसंप्राप्ता-द्विज्ञेयं फलमुत्तमम् ।

तीर्थकृत्त्वं सदौचित्य-प्रवृत्त्या मोक्षसाधकम् ॥१॥

अत अस्मात् पुण्यानुबन्धिपुण्यात् प्रकर्षसम्प्राप्तादतिप्रकृष्टतां गतादिहेव मानस्य फलं कार्यमुत्तम प्रधान तीर्थकृत्व तीर्थकरत्वम्। किंरूप तदित्याह-सदा सर्वकालमागर्भावस्थाया औचित्यप्रवृत्त्या यथार्हप्रवर्त्तनेन मोक्षसाधक निर्वाणप्रापकमिति ॥ १ ॥

औचित्यप्रवृत्तिमेवाऽऽसन्न माचार्योक्तां दर्शयितुमाह-

सदौचित्यप्रवृत्तिश्च, गर्भादारभ्य तस्य यत् ।

तत्राऽप्यभिग्रहो न्याय्यः, श्रूयते हि जगद्गुरोः ॥ २ ॥

सदा सर्वकालमौचित्यप्रवृत्ति भगवतस्तावत्, चशब्द पुनःशब्दार्थ•। गर्भादारभ्य गर्भावस्थामेवादीकृत्य,तस्यैति य. प्रकृष्टपुण्यानुबन्धिपुण्यफलभूतस्तस्य तीर्थकरस्य,भवतीति शेष । कुत एतदेव सिद्धमित्याह-यद्यस्मात्कारणात,तत्राऽऽप्यभिगर्भेऽस्यास्त्यप्रव्रज्याप्रतिपत्तौ, अभिग्रह प्रतिज्ञाविशेषो वक्ष्यमाणस्वरूपो, न्याय्यो न्यायादनपेत, श्रूयते आकर्ण्यते,हिशब्दो वाक्यालङ्कारे, जगद्गुरोस्त्रिलोकीगौरवार्हस्य महावीरस्येति भावना ॥ २ ॥

किमर्थमसावभिग्रह इत्याह-

पित्रुद्वेगनिरासाय, महता स्थितिसिद्धये ।

इष्टकार्यसमृद्धयर्थ-मेवंभूतो जिनाऽऽगमे ॥ ३ ॥

माता च पिता च पितरौ, तयोरुद्वेगश्चित्तसताप , तस्य निरासोऽभाव पित्रुद्वेगनिरास , तस्मै पित्रुद्वेगनिरासाय। यतन्ते च महान्तो भिक्ष्वस्याऽपि उद्वेगनिरासार्थम्, तेषा तथास्वभावत्वात्, विशेषत पुन पितरौ तिद् रात्रनीकारित्वात्तयोरिति । तथा महता महापुरुषाणां स्थितिसिद्धये व्यवस्थासाधनाय। अन्येऽपि महान्तो मातापितृद्वेगनिरासेन प्रवर्त्तन्तामित्येतदर्थमित्यर्थ , प्रधानमार्गानुसारित्वाज्जनस्येति । तथा इष्टकार्य वाञ्छितप्रयोजन मोक्षार्थिना मोक्षोपायभूता प्रव्रज्या,तस्य समृद्धिर्निष्पत्तिरिष्टकार्यसमृद्धि ,तस्यै।इष्टमिष्टकार्यसमृद्ध्यर्थमिद चाभिग्रह , कृत इति गम्यमानक्रियाविशेषणम्,मोक्षसिद्धिहेतोरित्यर्थ । सिद्ध्यति हि मोक्ष उचितप्रवृत्त्या,अनुचितप्रवृत्तिस्तु तद्विघ्न इति। एवम्भूतो वक्ष्यमाणस्वरूप ,अभिग्रह इति योग। जिनाऽऽगमे आप्तवचने,श्रूयते इति सबन्ध । उच्यते चाऽऽवश्यकनिर्युक्तौ-" अह सत्तममि मासे, गब्भत्थो चेवऽभिग्गह गहिओ। नाह समणो होह, अम्मापियरम्मि जीवते" ॥१॥ इति ॥ ३ ॥

अथवा यथाभूतोऽभिग्रह श्रूयते, तथाभूतमेवाऽऽह-

जीवतो गृहवासेऽस्मिन्, यावन्मे पितराविमौ।

तावदेवाधिवत्स्यामि, गृहानहमपीप्रतः॥ ४ ॥

किल भगवान् श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामी देवभवाच्च्युत्वा पूर्वभवोपात्तनीचैर्गोत्राभिधानकर्मशेषवशाद् ब्राह्मणकुण्डग्रामाभिधाननगरनिवासिऋषभदत्ताभिधानद्विजातिजायाया देवानन्दाभिधानाया कुक्षावुत्पन्न । अथ द्व्यशीतितमदिवसे सिंहासनचलनजनितावधिप्रयोगपुरन्दरप्रयुक्तहरिनैगमेषिनाम्ना देवेन क्षत्रियकुण्डाभिधाननगरनायकसिद्धार्थाभिधाननरपतिप्रधानपत्न्यास्त्रिशलाभिधानाया गर्भे सक्रमित ।ततो देवानन्दामुपलब्धचतुर्दशमहास्वप्नापहारा सम्भाविनगर्भसहार्ग हृतसर्वस्वमिवाऽतिशोकसागरनिमग्नामवधिनाऽवबुद्ध्याऽहो! अस्म-

न्निमित्तमेषाऽनाख्येयदुःखमवासवत्येवमेषाऽपि त्रिशला मद्ङ्गचलनचेष्टानिमित्तमसुखमथ मा प्रापदित्यालोच्य निश्चलोऽचलस्थे। ततोऽसौ निस्पन्दतां गर्भस्यावगम्य गलितो गर्भो ममेति भावनया गाढतरं दुःखसमुदयमगमत्। ततो भगवांस्तद्दुःखवितोदाय स्फुरति स्म। पर्यालोचयाञ्चकार च-यदुनाऽदृष्टेऽपि मयि मातापित्रोरहो! गाढः स्नेहः, दृष्टे पुनः परिचयादवगतगुणग्रामे गाढतरोऽसौ भावी, ततः प्रव्रजनतो वियुज्यमाने शोकातिशयान्महाननन्तस्तापो भविष्यति, ततोऽनयोर्जीवतोस्तत्सन्तापपरिहारार्थमप्रव्रजितेन मया भाव्यमिति सप्तममासाऽभिग्रहं जग्राहेति श्लोकसमुदायार्थः ॥

अक्षरार्थस्त्वयम्-जीवतः प्राणान् धारयतः, पितराविति योगः। गृहवासे गृहस्थतायामस्मिन्नधुनातने, न पुनर्देवाऽऽदिभवमस्मभवेऽपि, यावद् यत्परिमाणमिति पितृजीवनक्रियाविशेषणम्। मे मम सम्बन्धिनाविमौ प्रत्यक्षाऽऽसन्नौ त्रिशलासिद्धार्थलक्षणौ, न पुनर्ऋषभदत्तदेवानन्दास्वरूपौ। तावदेव तत्परिमाणमेव, न पुनरधिकं विरतार्यान्निष्क्रान्तावित्थमुक्तमवधारणम्, एतच्चाधिवस्स्यामीति क्रियाविशेषणम्। अधिवत्स्यामि अध्यासिष्ये, गृहान् गेहम् " गृहशब्दो हि पुंल्लिङ्गो बहुवचनान्तोऽप्यस्तीति।" अथवा-राजत्वाद् बहुगृहाधिपतित्वमनेन दर्शितम्। अहमपि न केवलं पितरौ गृहानधिवत्स्यत इत्यपिशब्दार्थः। इष्टमिच्छा, तदाश्रित्याऽधिष्ठितः, इच्छया स्वच्छन्दतया, न पुनः पारवश्येनेति भावः। ननु तावन्तं कालं चारित्रमोहनीयकर्मविशेषोदये सति तस्य गृहावस्थानम्, अन्यथा वा? तत्र यद्याद्यः पक्षः, तदा कर्मविशेषोदय एव तत्रावस्थानकारणं, नाभिग्रहग्रहणं, तत् किं तद्ग्रहणेन? अथवा-चारित्रमोहनीयविशेषोदयाभाव इति पक्षः। तदप्यसङ्गतम्। मोहकर्मविशेषोदयाभावे विरतेरेव भावेन गृहावस्थानासम्भवात् व्यर्थमेवाभिग्रहकरणम्? अत्रोच्यते-मोहनीयविशेषोदय एव तत्र तस्यावस्थानं, किं तु तत्कर्मणः सोपक्रमत्वेन पितृद्वेगनिरासाऽऽद्यवलम्बनाभिग्रहानङ्गीकरणे विरतेरेव भावाद् गृहावस्थानहेतुत्वमभिग्रहकरणमसङ्गतम्। उच्यते च सोपक्रमता कर्मणाम्। यदाह-" उदयक्खयखओवसमो-वसमा जं चेह कम्मुणो भणिया। दव्वं खित्तं कालं, भवं च भावं च तं पप्प ॥१॥" इति। इहोक्तविशेषणाभिग्रहलक्षणं भावमाश्रित्य चारित्रमोहोदयं, तदभावलक्षणं च भावमाश्रित्य तत्क्षयोपशम इति न व्यर्थमभिग्रहकरणमिति।

ननूक्ताभिग्रहकरणात् पितृद्वेगनिरासो महतां च स्थितिसिद्धिरिति सङ्गतम्, यत्पुनरिष्टकार्यसमृद्धिरिति, तदसाम्प्रतम्, गृहावस्थानस्य प्रव्रज्याविरोधित्वादित्यस्यामाशङ्कायामाह-

इमौ शुश्रूषमाणस्य, गृहानावसतो गुरू।
प्रव्रज्याऽप्यानुपूर्व्येण, न्याय्याऽन्ते मे भविष्यति ॥ ५॥

इमौ प्रत्यक्षाऽऽसन्नौ, गुरू इति सम्बन्धः। शुश्रूषमाणस्य परिचरतो, मे इति योगः। तथा-तच्छुश्रूषणार्थमेव गृहान् गेहमावसतोऽधितिष्ठतः सतः गुरू मातापितरौ, प्रव्रज्याऽपि चिकीर्षितानगारिताऽपि,आस्तां पितृद्वेगनिरासाऽऽदि, आनुपूर्व्येण परिपाट्या, न्याय्या न्यायोपपन्ना, युक्तेत्यर्थः। अन्ते गुरुशुश्रूषावसाने एव, मे मम, भविष्यति सपत्स्यते ॥ ५॥

कुत एतदेवमित्याह-

सर्वपापनिवृत्तिर्यत्, सर्वथैषा सतां मता।
गुरूद्वेगकृतोऽत्यन्तं, नेयं न्याय्योपपद्यते ॥ ६ ॥

सर्वपापनिवृत्तिरशेषसावद्यानुष्ठानव्युपरतिः, यद् यस्मात्सर्वथा सर्वैः प्रकारैर्निमित्तभावेनापीत्यर्थः, एषा प्रव्रज्या, सतां विदुषां, मता इष्टा, इह तस्मादिति शेषो दृश्यः। तस्माद्गुरूद्वेगकृतो मातापितृचित्तसन्तापकारिणः, अत्यन्तमतिशयेन,तत्सम्बोधनपूर्वकं शास्त्रोक्ततत्सम्बोधनोपायप्रयोगपूर्वकं वा प्रवृत्तस्य, न नैव, इयं प्रव्रज्या, न्याय्या युक्ता, उपपद्यते घटते, पितृसन्तापरक्षणोपायाप्रवृत्तत्वेन निमित्तभावेन तच्चित्तसन्तापलक्षणपापकारित्वात्तस्येति। परिहर्तव्यश्च तच्चित्तसन्तापः। यदाह-"अपमिवुज्झमाणे कहिं वि पमिबोहिज्जा अम्मापियरो।" प्रव्रज्याऽभिमुखीकुर्वीतेत्यर्थः। " अपडिवुज्झमाणेसु य कम्मपरिणईए विहेएज्जा जहासत्ति तदुवगरणं, तओ अणुन्नाए पमिवज्जिज्ज धम्मं।" अथ नानुजानीतस्तदा " अणुवहे चेव उवहिजुत्ते सिया।" अहमायुरहमित्यादिकां मायां कुर्यादित्यर्थः। एवमुपायप्रवृत्तमपि यदा न मुत्कलयतः,तदा तौ त्यजेत्। न च तौ त्यजतस्तच्चित्तसन्तापेऽपि तस्य दोषः, विशुद्धभावत्वात्। यदाह-" सव्वहा अपडिवुज्झमाणे चएज्जा अट्ठाणे गिलाणओसहत्थं चागनायेणं।" यथाऽध्वनि ग्लानीभूतयोः पित्रोरौषधार्थं गच्छतः तत्त्यागोऽत्यागः एव भावतः, एवं तयोः स्वस्यान्येषां चोपकाराय प्रव्रजतः इति ज्ञातभावना। अत एव-"सोयणमकंदणं विलवणं च न दुक्खिओ तओ कुणइ। सेवइ जं च अकज्जं, तेण विणा तस्स सो दोसो ॥१॥" इत्यादिकमाक्षिप्यैव परिहृतम्-" अब्भुवगमेण भणियं, न उ विहिचागो पितस्स हेउ त्ति। सोगाइम्मि वि तेसिं, मरणे व्व विसुद्धचित्तस्स ॥१॥" क्वचित् पठ्यते-" सर्वपापनिवृत्तिर्या।" इति। तत्र व्याख्येयम्-सर्वथा सर्वपापनिवृत्तिरेषा सतां मता, गुरूद्वेगकारिणश्चात्यन्तं नेयं सर्वपापनिवृत्तिर्न्याय्योपपद्यत इति।६।

कस्मादेवमित्याह-

प्रारम्भमङ्गलं ह्यस्याः, गुरुशुश्रूषणं परम्।
एतौ धर्मप्रवृत्तानां, नृणां पूजाऽऽस्पदं महत् ॥ ७ ॥

प्रारम्भमङ्गलमादिमङ्गलं, हिर्यस्मात्, अस्याः प्रव्रज्यायाः, गुरुशुश्रूषणं मातापितृपरिचरणं, परं प्रकृष्टं, भावमङ्गलमित्यर्थः। प्रारम्भमङ्गलत्वमस्य कुतः?, इत्याह -एतौ गुरू धर्मप्रवृत्तानां मोक्षहेतुसदनुष्ठानसमुपस्थितानां, नृणां पुंसां, नृग्रहणं च प्रधानतया तेषां, न तु तदन्यव्यवच्छेदार्थम्। पूजाऽऽस्पदमर्हणापदम्, महद् गुरुकम्। यदाह-" इह मातापितृपूजा, आमुष्मिकयोगकारणं ज्ञेया। तदनुज्ञया प्रवृत्तिः, प्रधानदीक्षाविधानार्थम् ॥ १ ॥"

पूजाऽऽस्पदत्वमेव समर्थयन्नाह-

स कृतज्ञः पुमान् लोके, स धर्मगुरुपूजकः।
स शुद्धधर्मभाक् चैव, य एतौ प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

स इति। य एतौ प्रतिपद्यते स एव कृतज्ञः पितृकृतोपकारज्ञाता, पुमान्नरः, लोके लौकिकमार्गे, तथा स एव धर्मगुरोर्दीक्षाचार्यस्य, पूजकः पूजयिता धर्मगुरुपूजकः, भविष्यतीति गम्यते। नान्यः। यदाह-"उपकारीति पूज्यः स्याद्, गुरू चाऽऽद्योपकारिणौ। तावप्यर्चयते यो न, स हि धर्मगुरुं कथम्?।१।" तथा स इति। स एव शुद्धधर्मभाक् निर्दोषकुशलधर्मभाजनं भवति। चशब्दः समुच्चये। एवशब्दोऽवधारणे। तस्य च दर्शितः प्रयोगः। यः पुमान् एतौ मातापितरौ प्रतिपद्यते सेवनतोऽङ्गीकरोति।

दुष्प्रतिकारित्वात्तयोः । आह च-" दुष्प्रतिकारौ माता-पितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन् । तत्र गुरुरिहामुत्र च, सुदुष्करतरप्रतीकारः ॥ १ ॥ " ॥ ८ ॥ द्वा० २५ अष्ट० ।

(९६) अथ जिननामसामान्यार्थों, विशेषार्थश्च कथ्यते-

वयधुरवहणा उसहो, उसहाऽऽइमसुविणलंछणाओ य ।
रागाइजिओ अजिओ, न जिया अक्खेसु पिउणंऽवा ॥९॥

(वयधुरवहणा उसहो) व्रतरूपा धुरा व्रतधुरा, तद्वहनाद् वृषभः बलीवर्दः, तर्हि ईदृशाः सर्वेजिना वर्त्तन्ते, भगवति वृषभे को विशेष ?, इत्याशङ्कायां विशेषार्थमाह-(उसहाइमसुविणलंछणाओ य त्ति) जनन्या मरुदेव्या स्वामिन्या चतुर्दशस्वप्नेषु प्रथमं वृषभदर्शनात्, च पुन , वृषभलाञ्छनाद्वा वृषभः १ । (रागाइजिओ अजिओ त्ति) रागाऽऽदिभिरजितो न पराजित इति अजितः २ । एवंविधाः सर्वेऽपि, अजितजिने को विशेष. ?। (न जिया अक्खेसु पिउणऽवा) भगवति गर्भस्थिते न जिता अक्षेषु पाशकक्रीडासु जिनजनकेन अम्बा जिनमाता । इति गाथार्थ ॥ ९ ॥

सुहअइसयसंभवओ, तइओ भुवि पउरसस्ससंभवओ ।
अभिनंदिज्जइ तुरिओ, हरीहिँ हरिणा सया गब्भे ॥१०॥

(सुहअइसयसंभवओ तइओ) शुभाऽतिशयसंभवतस्तृतीयः ३ । ईदृशा सर्वे, संभवे को विशेष. ?-(भुवि पउरसस्ससंभवओ) भुवि पृथिव्यां प्रचुरसस्यस्य बहुधान्यस्य संभवत. संभवजिन ३ । (अभिनंदिज्जइ तुरिओ हरीहिं ति) अभि सामस्त्येन नन्द्यते चतुष्षष्टिदेवेन्द्रैः स्तूयते इति तुर्योऽभिनन्दनः ४। एवंविधा सर्वे जिना , ततोऽस्य विशेषार्थमाह-(हरिणा सया गब्भे ति) देवेन्द्रेण सदा गर्भे गर्भस्थे सति, अभिनन्द्यते इति पूर्वोक्तमेवानुवर्त्तनीयमिति गाथाऽर्थ ॥ १० ॥

सयमवि सुहमइभावा, अंबाइ विवायभंगओ सुमई ।
अमलत्ता पउमपहो, पउमप्पहअंकसेज्जमोहलओ ॥११॥

(सयमवि सुहमइभावा) स्वयमपि शुभमतेर्भावात्सद्भावात् सुमतिः ५ (अंबाइ विवायभंगओ सुमइ त्ति) अम्बाया विवादभङ्गत सुमतिरभूदिति जिनस्य सुमतिरिति नाम । अत्रैक. सामान्यार्थे,सर्वजिनसाधारणत्वात्,द्वितीयो विशेषार्थश्चेति सर्वत्रापि ज्ञेयम् । ५ । (अमलत्ता पउमपहो त्ति) अमलत्वात् निर्मलत्वात् पद्मप्रभः ६ (पउमप्पहअंकसेज्जमोहलओ त्ति) पद्मस्येव प्रभा यस्यासौ पद्मप्रभः, रक्तवर्णत्वात्, पद्माङ्कत्वात्पद्मप्रभ , तथा स्वामिनि गर्भस्थे जनन्या पद्मशय्याया दोहद समुत्पन्न , देवतया पूरित , अत पद्मप्रभ ६ । इति गाथार्थ ॥ ११ ॥

सुहपासो य सुपासो, गब्भे माऊइ तणुसुपासत्ता ।
सियलेस्सो चंदपहो, ससिप्पहापाणमोहलओ ॥१२॥

(सुहपासो य सुपासो) शोभनानि पार्श्वाणि यस्यासौ सुपार्श्व. ७ । (गब्भे माऊइ तणुसुपासत्ता) स्वामिनि गर्भस्थे मातुस्तनु. सुपार्श्वा जाता, अतः सुपार्श्व ७ । (सियलेस्सो चंदपहो त्ति) सितलेश्य शुक्ललेश्यस्तेन चन्द्रप्रभ ८ । (ससिप्पहापाणमोहलओ त्ति) भगवन्मातु चन्द्रप्रभा शशिद्युतिस्तत्पानदोहदतो वा चन्द्रप्रभ ८ । इति गाथार्थ ॥ १२ ॥

सुहकिरियाए सुविही, सय पि जणणी वि गब्भकालम्मि ।
जयतावहरो सियलो, अंबाकरफाससमियपिउदाहो ।१३।

(सुहकिरियाए सुविही सय पि त्ति) स्वयमपि शुभक्रियाः करोति यस्मात् कारणात् सुविधिः ९ । (जणणी वि गब्भकालम्मि) जिनजनन्यपि गर्भकाले गर्भसमये सुविधि-सा सम्यगाचारे रता जाता अत सुविधिरिति जिनस्य नाम दत्तम् ९ । (जयतावहरो सिअलो त्ति) जगत्तापहर,अतः शीतल: १०। (अंबाकरफाससमिअपिउदाहो त्ति) अम्बायाः जनन्याः करस्पर्शात् समितः जनकदाहज्वरो येन स तथा इति शीतल. १० । इति गाथार्थ. ॥ १३ ॥

सेयकरो सिज्जंसो, जणणीए देविसिज्जअक्कमणा ।
सुरहरिवसुहिँ पुज्जो, पिउसमनामेण वसुपुज्जो ॥१४॥

(सेयकरो सिज्जंसो) श्रेयस्करः कल्याणकारी, तेन श्रेयांसः ११ । (जणणीए देविसिज्जअक्कमणा) भगवति गर्भस्थे जनन्या देव्यधिष्ठितशय्याया आक्रमणात् । श्रेयांसदेवताऽधिष्ठिता शय्या पूर्वमभूत् केनाप्याक्रमितुमशक्या, तया जिनजनन्या गर्भानुभावतः सा शय्याऽऽक्रान्ता, श्रेयश्च जातमिति श्रेयांस ११ । (सुरहरिवसुहिं पुज्जो) सुरैर्देवैर्हरिभिरिन्द्रैर्वसुभिर्देवविशेषैः पूज्यः, स एव वासुपूज्य. १२, (पिउसमनामेण वसुपुज्जो त्ति) पितृसमाननाम्ना वा वासुपूज्यः १२ । इति गाथार्थ. ॥ १४ ॥

विमलो दुहा गयमलो, गब्भे माया वि विमलबुद्धितणू ।
नाणाइअणंतत्ता-ऽणंतोऽणंतमणिदामसुविणाओ ॥१५॥

(विमलो दुहा गयमलो त्ति) विमलो द्विधा गतमलो बाह्यान्तरमलरहित., तेन विमल १३, (गब्भे माया वि विमलबुद्धितणु त्ति) स्वामिनि गर्भस्थिते माता जनन्यपि निर्मलबुद्धिशरीरा जाता इति हेतोर्विमलः १३ । (नाणाइअणतत्ताऽणतो त्ति) ज्ञानदर्शनचारित्राणामानन्त्यतः-अनन्त १४ (अणतमणिदामसुविणाओ त्ति) अनन्त महत्प्रमाण यन्मणिदाम तत्स्वप्नतो वा अनन्त. १४ । इति गाथार्थः ॥ १५ ॥

धम्ममहावा धम्मो, गब्भे माया वि धम्मिया अहियं ।
संतिकरणा उ संती, देसे असिवोवसमकरणा ॥१६॥

(धम्मसहावा धम्मो) धर्मस्वभावाद् धर्मजिन. । (गब्भे माया वि धम्मिया अहिय ति) भगवति गर्भस्थिते माताऽपि धार्मिकाऽधिक जाता इति हेतो धर्मजिन. १५ । (सन्तिकरणा उ सती) शान्तिकरणात् शान्ति १६ । (देसे असिवोवसमकरणा) तस्मिन् देशे अशिवस्योपद्रवस्योपशान्तिकरणाद्वा शान्ति १६ । इति गाथार्थ. ॥ १६ ॥

कुथु त्ति महीइ ठिओ, भूमिठिअरयणथूभसुविणाओ ।
वंसाइवुड्ढिकरणा, अरो महारयणअरसुविणा ॥१७॥

(कुथु त्ति महीइ ठिओ त्ति)कौ पृथिव्यां स्थितवानिति निरुक्तात् कुन्थु.। (भूमिठिअरयणथूभसुविणाओ) भूमिकास्थितरत्नस्तूपस्वप्नात् कुन्थु १७। (वसाइवुड्ढिकरणा अरो त्ति) वंशाऽऽदिवृद्धिकरणात् अरः १८ । (महारयणअरसुविणा) महारत्नाऽरकस्वप्नादरोऽरजिन. १८ । इति गाथार्थ ॥ १७ ॥

मोहाईमल्लजया, मल्ली वरमल्लसिज्जमोहलओ ।
मुणिसुव्वओ जहत्था-भिहो तहऽवा वि तारिसी गब्भे।१८।

(मोहाईमल्लजया मल्लि त्ति) मोहाऽऽदिमल्लजयाद् मल्लिः, अत्रार्षत्वादिकार १९। (वरमल्लसिज्जमोहलओ त्ति) वरमाल्यशय्यायाः

प्रधानपुष्पशय्याया दोहदाद् वा मल्लिः १९।(मुणिसुव्वओ अहत्था-ऽभिहो त्ति) मुनिसुव्रतः यथार्थाभिधो यथार्थनामा-मन्यते जगत्त्रिकालावस्थामिति मुनि ,सुष्ठु व्रतान्यस्येति सुव्रत ,ततो मुनिश्चासौ सुव्रतश्चेति,मुनिवत् सुव्रतो मुनिसुव्रत इति वा २० (तईऽया वि तारिसी गब्भे त्ति) तथाऽम्बाऽपि माताऽपि,भगवति गर्भस्थे सति मुनिवत् सुव्रता जातेति मुनिसुव्रतः २०। इति गाथार्थ.।१८।

रागाऽऽइनामणेणं, गब्भे पुरोहिनामणा उ नमी ।
दुरियतरुचक्कनेमी-ऽरिट्ठमाणिनेमिसुविणाओ ॥१९॥

(रागाऽऽइनामणेण) रागद्वेषाऽऽदिशत्रूणां नामनेन नम्रीभूतस्वकरणेन नमि ।(गब्भे पुरोहिनामणा उ नमि त्ति) गर्भे पुरोधिनामनान्नमि.। अयमर्थ -भगवति गर्भस्थे प्रत्यन्तनृपैरवरुद्धे नगरे भगवत्सुपुण्यशक्तिप्रेरितां प्राकारोपरि स्थितां भगवन्मातरमवलोक्य ते वैरिणो नृपाः प्रणता इति नमि २१। (दुरियतरुचक्कनेमि त्ति) दुरितानि पापानि तद्रूपास्तरवस्तद्विषये चक्रनेमिः चक्रधारा, अतो नेमिः। (ऽरिट्ठमाणिनेमिसुविणाओ त्ति) भगवन्मात्रा स्वप्नेऽरिष्टरत्नमयो नेमिर्दृष्टस्तेन "पदैकदेशे पदसमुदायात" अरिष्टनेमि २२। इति गाथार्थः ॥१९॥

भावाण पासणेणं, निसि जणणीसप्पपासणा पासो ।
नाणाइधणकुलाऽऽई-ण वड्ढणा वद्धमाणो णं ॥२०॥

(भावाण पासणेण) सकलससारवर्तिनां भावाना पदार्थानां दर्शनेनाऽवलोकनेन पार्श्व । (निसि जणणीसप्पपासणा पासो त्ति) निशि रात्रौ जनन्या शय्यासमीपे व्रजन् सर्पोऽवलोकित इति पार्श्व २३। (नाणाइधणकुलाईण वड्ढणा वद्धमाणो त्ति) ज्ञानदर्शनचारित्राणा वर्द्धनाद् धनकुलाऽऽदीना च वर्द्धनतो वर्द्धमान.। अत्र ज्ञानाऽऽदीना वर्द्धनाद वर्द्धमान इति सामान्यार्थ । कुलधनाऽऽदीनां वर्द्धनाद् वर्द्धमान इति विशेषार्थश्च २४। इति गाथार्थ.।२०।

अथ वीर इति नामापेक्षया सामान्यविशेषार्थमाह-

अहवा भावारिजया. वीरो दुट्ठसुरवामणीकरणा ।
सामन्नविसेसेहिं, कमेण नामत्थदारदुगं ॥२१॥

(अहवा भावारिजया वीरो त्ति) अथवा भावारीणामन्तरङ्गाऽऽरीणां जयाद् वीरः २४। (दुट्ठसुरवामनीकरण त्ति) आमलकीक्रीडायां दुष्टसुरवामनीकरणाद् वीरः २४। (सामन्नविसेसेहिं ति) सामान्यविशेषाभ्यां क्रमेणानुक्रमेण (नामत्थदारदुग) नामार्थेन नाम्नोऽर्थद्विकेन द्वारद्विक ज्ञेयमिति गाथार्थ.॥ २१ ॥ सप्त० ४०-४१ द्वार ।

☞ "एतस्यामवसर्पिण्या-मृषभोऽजितशम्भवौ ।
अभिनन्दनः सुमति-स्तत. पद्मप्रभाभिध ॥ २६ ॥
सुपार्श्वश्चन्द्रप्रभश्च, सुविधिश्चाऽथ शीतल ।
श्रेयासो वासुपूज्यश्च, विमलोऽनन्ततीर्थकृत ॥ २७ ॥
धर्म शान्ति कुन्थुररो, मल्लिश्च मुनिसुव्रत ।
नमिर्नेमि पार्श्वो वीर-श्चतुर्विंशतिरर्हताम " ॥ २८ ॥

एतस्यामिति वर्तमानायामवसर्पिण्यां दशसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणायां कालविशेषे, ऋषति गच्छति परमपदमिति " ऋषिवृषिलुसिभ्य कित् " ॥ (उणा० ३३१) इत्यभे ऋषभ । यद्वा-" ऊर्वोर्वृषभलाञ्छनमभूद्भगवतो जनन्या च चतुर्दशाना स्वप्नानामादावृषभो दृष्टस्तेन ऋषभ ॥१॥ परीषहाऽऽदिभिर्न जिन इति अजितः । यद्वा-गर्भस्थेऽस्मिन् द्यूते राज्ञा जननी न जितेत्यजित ॥ २ ॥ श सुख भवत्यस्मिन् स्तुते शम्भव । यद्वा--गर्भगतेऽप्यस्मिन्नभ्यधिकसस्यसम्भवात् सम्भवोऽपि ॥३॥ अभिनन्द्यते देवेन्द्राऽऽदिभिरित्यभिनन्दन'। नन्द्यादित्वादनट् । यद्वा-गर्भात्प्रभृत्येव अभीक्ष्ण शक्रेणाऽभिनन्दनादभिनन्दनः ॥ ४ ॥ शोभना मतिरस्य सुमति.। यद्वा-गर्भस्थे जनन्याः सुनिश्चिता मतिरभूदिति सुमतिः ॥ ५ ॥ निष्पङ्कतामङ्गीकृत्य पद्मस्येव प्रभाऽस्य पद्मप्रभ । यद्वा-पद्मशयनदोहदो मातुर्देवतया पूरित इति, पद्मवर्णश्च भगवानिति वा पद्मप्रभः ॥६॥ ॥ २६ ॥ शोभनौ पार्श्वावस्य सुपार्श्व. । यद्वा-गर्भस्थे भगवति जनन्यपि सुपार्श्वाऽभूदिति सुपार्श्व ॥ ७ ॥ चन्द्रस्येव प्रभा ज्योत्स्ना सौम्यलेश्याविशेषोऽस्य चन्द्रप्रभः । तथा गर्भस्थे देव्याः चन्द्रपानदोहदोऽभूदिति चन्द्रप्रभ ॥ ८ ॥ शोभनो विधिर्विधानमस्य सुविधि. । यद्वा-गर्भस्थे भगवति जनन्यप्येवमिति सुविधि ॥ ९ ॥ सकलसत्त्वसन्तापहरणात् शीतलः । तथा गर्भस्थे भगवति पितु. पूर्वोत्पन्नाऽचिकित्स्यपित्तदाहो जननीकरस्पर्शादुपशान्त इति शीतल. ॥ १० ॥ श्रेयांसावसावस्य श्रेयास., पृषोदराऽऽदित्वात् । यथा-गर्भस्थेऽस्मिन् केनाप्यनाक्रान्तपूर्वा देवताऽधिष्ठितशय्या जनन्याऽऽक्रान्तेति श्रेयो जातमिति श्रेयास. ॥ ११ ॥ वसुपूज्यनृपतेरय वासुपूज्य' । यद्वा--गर्भस्थेऽस्मिन् वसु हिरण्य, तेन वासवो राजकुलं पूजितवानिति । वसवो देवविशेषा., तेषां पूज्यो वा वसुपूज्यः, प्रज्ञाऽऽद्यणि वासुपूज्य ॥ १२ ॥ विगतो मलोऽस्य, विमलज्ञानाऽऽदियोगाद्वा विमल । यद्वा-गर्भस्थे मातुर्मतिस्तनुश्च विमला जातेति विमल ॥ १३ ॥ न विद्यते गुणानामन्तोऽस्यानन्त'; अनन्तजिदेकदेशो वा अनन्त., " भीमो भीमसेन. " इति न्यायात् । स चासौ तीर्थकृच्च अनन्ततीर्थकृत् ॥ १४ ॥२७॥ दुर्गतौ प्रपतन्त सत्त्वसङ्घात धारयतीति धर्म' । तथा गर्भस्थे जननी दानाऽऽदिधर्मपरा जातेति धर्म. ॥ १५ ॥ शान्तियोगात् तदात्मकत्वात् तत्कर्तृकत्वाच्चाऽय शान्ति. । तथा गर्भस्थे पूर्वोत्पन्नाऽशिवशान्तिरभूदिति शान्तिः ॥ १६ ॥ कु. पृथ्वी तस्यां स्थितवानिति कुन्थु , पृषोदराऽऽदित्वात् । तथा-गर्भस्थे भगवति जननी रत्नानां कुन्थुराशिं दृष्टवतीति कुन्थु. ॥ १७ ॥ " सर्वो नाम महासत्त्वः, कुले य उपजायते । तस्याऽभिवृद्धये वृद्धै-रसावर उदाहृत. ॥ १ ॥ " इति वचनादरः। तथा-गर्भस्थे भगवति जनन्या स्वप्ने सर्वरत्नमयोऽरो दृष्ट इत्यरः ॥ १८ ॥ परीषहाऽऽदिमल्लजयान्निरुक्तान्मल्लि.। तथा-गर्भस्थे भगवति मातु सुरभिकुसुममाल्यशयनीयदोहदो देवतया पूरित इति मल्लिः ॥ १९ ॥ मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनि , " मनेरुदेतौ चास्य वा " ॥ (उणा० ६१२) इति इप्रत्यये उपान्त्यस्योत्व, शोभनानि व्रतान्यस्य सुव्रत , मुनिश्चासौ सुव्रतश्च मुनिसुव्रत । तथा-गर्भस्थे जननी मुनिवत् सुव्रता जातेति मुनिसुव्रत' ॥ २० ॥ परीषहोपसर्गाऽऽदिनामनात् " नमेस्तु वा"॥ (उणा० ६१३) इति विकल्पेनोपान्त्यस्येकाराभावपक्षे नमि । यद्वा-गर्भस्थे भगवति परचक्रनृपैरपि प्रणतिः कृतेति नमि ॥ २१ ॥ धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः, नेमीतीकारान्तोऽपि दृश्यते । यथा-" वन्दे सुव्रतनेमिनौ । " इति ॥ २२ ॥ स्पृशति ज्ञानेन सर्वभावानिति पार्श्व । तथा-गर्भस्थे जनन्या निशि शयनीयस्थयाऽन्धकारे सर्पो दृष्ट इति गर्भानुभावोऽयमिति मत्वा पश्यतीति निरुक्तात् पार्श्व , पार्श्वोऽस्य वैयावृत्यकरो यक्ष , तस्य नाथ पार्श्वनाथ., "भीमो भीमसेन." इति न्यायाद् वा पार्श्व' ॥ २३ ॥ विशेषेण ईरयति प्रेरयति कर्माणीति वीर. ॥ २४ ॥ इत्यभिधानचिन्तामणौ श्रीहेमचन्द्रसूरय । ☞

निशिभक्तम्-

मूलगुणेसुं दुएहं, सेसाणुत्तरगुणेसु निसि भुत्तं (२८९)

द्वयोर्जिनयोः ऋषभ१वीरयोः २४ शासने, मूलगुणेषु निशि भोजनप्रत्याख्यानम, (सेसाणुत्तरगुणेसु निसि भुत्त) शेषाणां द्वाविंशतिमितानां जिनानामुत्तरगुणेषु निशि भोजनप्रत्याख्यानम् । सत्त० १३४ द्वार ।

प्रकीर्णकानि-

• • .. .. सव्वेसि पइन्नगा ससीसकया ।

नियनियसीसपमाणा, नेया • • .. (२७०)

सर्वेषां जिनाना प्रकीर्णकानि स्वशिष्यकृतानि प्रवन्ति निजनिजशिष्यप्रमाणानि, येषां जिनाना यावन्त• शिष्यास्तेषा तावत्प्रमाणानि प्रकीर्णकानि ग्रन्थविशेषा ज्ञेया । सत्त० १२४ द्वार ।

(७१) पञ्चकल्याणकम्-

पउमप्पभे णं अरहा पच चित्ते होत्था । तं जहा—चित्ताहिं चुए,चइत्ता गब्भं वक्ते,चित्ताहिं जाए, चित्ताहिं मुंडे नविता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, चित्ताहिं अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए निरावरणे कसिणे पमिपुन्ने केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने, चित्ताहिं परिनिव्वए ।। १ ।।

पुप्फदंते णं अरहा पंच मूले होत्था। मूलेणं चुए, चइत्ता गब्भं वक्ते एवं चेव।

एएणं अभिलावेणं इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ—

" पउमप्पभस्स चित्ता, मूले पुण होइ पुप्फदतस्स ।
पुव्वाऽसाढा सीयल–स्स उत्तरा विमलस्स जद्दवया।।१।।
रेवइ य अणंतजिणो, पूसो धम्मस्स संतिणो भरणी ।
कुंथुस्स कत्तियाओ, अरस्स तह रेवईओ य ।। २ ।।
मुणिसुव्वयस्स सवणो,आसिणि नमिणो य नेमिणो चित्ता।
पासस्स विसाहाओ, पंच य हत्थुत्तरे वीरो ।। ३ ।। "

समणे जगव महावीरे पच हत्थुत्तरे होत्था। त जहा—हत्थुत्तराहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्ते, हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरइ, हत्थुत्तराहिं जाए, हत्थुत्तराहिं मुंमे भवित्ता ०जाव पव्वइए, हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे ०जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने ।

पद्मप्रज ऋवनाऽऽदिपु पष्ठ ,पञ्चसु च्यवनाऽऽदिदिनेषु चित्रानक्षत्रविशेषो यस्य स पञ्चचित्र ,चित्रास्त्रिरिति रूढ्या बहुवचनम्। च्युतोऽवतीर्ण उपरिमोपरिमग्रैवेयकाद्वेकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकात्, च्युत्वा च (गब्भ ति) गर्भे कुक्षौ व्युत्क्रान्त उत्पन्न• कौशाम्ब्यां धराभिधानमहाराजभार्याया सुसीमानामिकाया माघमासबहुलपष्ठ्यां, जातो गर्भनिर्गमेन कार्त्तिकबहुलद्वादश्यां, तथा मुण्डो भूत्वा केशकपायाऽऽपनयन्, अगारान्निष्क्रम्यानगारिता श्रमणतां प्रव्रजितो गतोऽनगारतया च प्रव्रजित कार्त्तिकशुद्धत्रयोदश्या, तथाऽनन्त पर्यायानन्तत्वात्,अनुत्तर सर्वज्ञानोत्तमत्वात्, निर्व्याघातमप्रतिपातित्वात्, निरावरण सर्वथा स्वावरणक्षयात्,कटकुड्याऽऽद्यावरणाभावाद्वा, कृत्स्न सकलपदार्थविषयत्वात्, परिपूर्ण स्वावयवापेक्षयाऽखण्ड पौर्णमासीचन्द्रबिम्बवत् । किमित्याह-केवल ज्ञानान्तरासहायत्वात्, सशुद्धत्वाद्वा। अत एव वर प्रधान केवलवर, ज्ञान च विशेषावभास, दर्शन च सामान्यावभास ज्ञानदर्शन, तच्च तच्चेति केवलवरज्ञानदर्शन,समुत्पन्न जातम्, चैत्रशुक्लपञ्चदश्याम्।तथा परिनिर्वृतो निर्वाण गत , मार्गशीर्षबहुलैकादश्याम् ।आदेशान्तरेण फाल्गुनबहुलचतुर्थ्यामिति ॥ (एव चेव त्ति) पद्मप्रभसूत्रमिव पुष्पदन्तसूत्रमप्यच्यूनेनाऽयम्, एवमनन्तरोक्तस्वरूपेण। एतेनानन्तरत्वात्प्रत्यक्षेणाभिलापेन सूत्रपाठेनमा इनिस्त्र• सूत्रसग्रहणिगाथा अनुगन्तव्या अनुसर्त्तव्या शेषसूत्राभिलापनिष्पादनार्थम्। (पउमप्पभस्सेत्यादि) तत्र पद्मप्रभस्य चित्रानक्षत्र च्यवनाऽऽदिपु पञ्चसु स्थानकेपु भवतीत्यादिगाथाक्षरार्थो वक्तव्य , सूत्राभिलापस्त्वाद्यसूत्रद्वयस्य साक्षाद्दर्शित एव। इतरेषां त्वेवम्-"सीयले ण अरहा पच पुव्वासाढे होत्था। त जहा-पुव्वासाढाहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कते, पुव्वासाढाहिं जाए।" इत्यादि। एव सर्वाण्यपीति। व्याख्या त्वेवम्-पुष्पदन्तो नवमतीर्थकर आनतकल्पादेकोनविंशतिसागरोपमस्थितिकात्फाल्गुनबहुलनवम्या मूलनक्षत्रे च्युत , च्युत्वा काकन्दीनगर्यां सुग्रीवराजभार्यायाः रामाभिधानाया गर्भत्वेन व्युत्क्रान्तो मूलनक्षत्रे मार्गशीर्षबहुलपञ्चम्यां जात ,तथा मूल एव ज्येष्ठशुद्धप्रतिपदि, मतान्तरेण-मार्गशीर्षबहुलषष्ठ्या, निष्क्रान्त। तथा मूल एव कार्तिकशुद्धतृतीयायां केवलज्ञानमुत्पन्नम्। तथाऽश्वयुज• शुद्धनवम्याम, आदेशान्तरेण-वैशाखबहुलषष्ठ्या,निर्वृत इति। तथा शीतलो दशमाजिन• प्राणतकल्पाद्विंशतिसागरोपमस्थितिकाद्वैशाखबहुलषष्ठ्या पूर्वाषाढानक्षत्रे च्युत , च्युत्वा च भद्दिलपुरे दृढरथनृपतिभार्याया नन्दाया गर्भतया व्युत्क्रान्त , तथा पूर्वाषाढास्वेव माघबहुलद्वादश्या जात•, तथा पूर्वाषाढास्वेव माघबहुलद्वादश्या निष्क्रान्त , तथा पूर्वाषाढास्वेव पौषस्य शुक्ले, मतान्तरेण-बहुलपक्षे, चतुर्दश्या ज्ञानमुत्पन्नम, तथा तत्रैव नक्षत्रे श्रावणशुद्धपञ्चम्या, मतान्तरेण-श्रावणबहुलद्वितीयाया, निर्वृत इति। एव गाथात्रयोक्तानां शेषाणामपि सूत्राणा प्रथमानुयोगपदानुसारेणोपयुज्य व्याख्या कार्या। नवर चतुर्दशसूत्रेऽभिलापविशेषोऽस्तीति तद्दर्शनार्थमाह-(समणे इत्यादि) हस्तोपलक्षिता उत्तरा हस्तोत्तरा, हस्तो वोत्तरो यासां ता हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्य ,पञ्चसु च्यवनगर्भहरणाऽऽदिषु हस्तोत्तरा यस्य स तथा, गर्भात् गर्भस्थानात्। (गब्भं ति) गर्भे गर्भस्थानान्तरे संहृतो नीतो, निर्वृतस्तु स्वातिनक्षत्रे कार्तिकामावास्यायामिति। स्था० ५ ठा० १ उ०।

(७८) पर्यायान्तकृद्भूमि•-

तेसिं चिय नाणाओ, मुणीण गयकम्मयाण सिद्धिगमो ।
अंतमुहुत्ते दुतिचउ–वरिसेसुं इगदिणाईसु ।। २९४ ।।

तेषामृषभनेमिपार्श्वान्तिमशेषाणां केवलज्ञानाद् मुनीना गतकर्मकाणा सिद्धिगमो मोक्षगमन सजातम्। ऋषभजिनस्य केवलोत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तेन मोक्षमार्गश्चलित , प्रथमभगवति मरुदेवी स्वामिनी मोक्ष गता १। नेमिजिनस्य केवलज्ञानाद्वर्षद्वयादनन्तर मोक्षमार्गश्चलित २। पार्श्वजिनस्य केवलोत्पत्त्यनन्तर वर्षत्रयेण मोक्षमार्गश्चलित ३। वीरजिनस्य केवलज्ञानादनन्तर वर्षचतुष्टयादनन्तर मोक्षमार्गश्चलित• ४। ऋषभस्याति-

रिकजिनानां विंशतिपारगतानामेकदिनाऽऽदिपु मोक्षमार्गश्च-लित ५ । इति गाथार्थः ॥ ३२४ ॥ सत्त० १५९ द्वार ।

अथ प्रतिक्रमणसंख्या-

देसिय-राइय-पक्खिय-चउमासिय-वच्छरीयनामाओ ।
दुएहं पण पडिक्कमणा, मज्झिमगाण तु दो पढमा ।३८६।

दैवसिक-रात्रिक-पाक्षिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिकनामान (दुएहं पण पडिक्कमणा) द्वयोर्जिनयोः प्रथमचरमजिनयोः पञ्चाऽपि प्रतिक्रमणानि भवन्ति । (मज्झिमगाण तु दो पढम त्ति) मध्यवर्तिनां द्वाविंशतिजिनानां शासने द्वे प्रथमे प्रतिक्रमणे दैवसिकरात्रिकसंज्ञे भवत , नान्य इति गाथार्थः ।३८६। सत्त० १३३ द्वार ।

प्रथमगणधरनामानि-

एएसि चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं पढमसीसा होत्था । तं जहा-

" पढमेऽत्थ उसभसेणे, बीए पुण होइ सीहसेणे य ।
चारुरु वज्जणाभे, चमरे तह सुव्वए विदब्भे य ॥ ३९ ॥
दिग्णे वाराहे पुण, आणंदे गोथुभे सुहम्मे य ।
मंदरे जसे अरिट्ठे, चक्काउहसंबकुंभअभिणए य ॥४०॥
इंदकुंभे य सुंभे, वरदत्ते अज्जदिण्णे इंदभूई य ।
उदितोदितकुलवंसा, विसुद्धवंसा गुणेहिँ उववेया ।
तित्थप्पवत्तयाणं, पढमा सिस्सा जिणवराणं ॥४१॥ "

पुण्डरीको ऋषभसेनाऽपरनामा १, सिंहसेन २, चारुरु ३, वज्रनाभ ४, चमरगणिः ५, सुव्रत (मतान्तरेण प्रद्योतन) ६, विदर्भ ७,दत्त ८,वाराह ९,आनन्द (मतान्तरेण वज्रनन्द)१०, कौस्तुभ (कृतार्थ) ११,सुधर्म (सुधर्मा)१२,मन्दर १३,यशोधर १४,अरिष्ट १५,चक्रायुध १६,साम्ब १७,कुम्भ १८,अभिनव (भिषज)१९,इन्द्रकुम्भ (मल्ली)२०,शुम्भ २१,वरदत्त २२,आर्यदत्त २३,इन्द्रभूति २४।एतानि प्रथमगणधराणां नामानि *। स०।

प्रथमप्रवर्तिन्यः-

एएसि णं चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं पढमासिस्सणी होत्था । तं जहा-

" बम्भी फग्गू सामा, अजिया तह कासवी रई सोमा ।
सुमणा वारुणि सुलसा, धारणि धरणी धरा पउमा ।४२।
अज्जा सिवा सुई दा-मणी य रक्खी य बंधुवई ।
पुप्फवई अनिला ज-क्खदिन्न तह पुप्फचूला य ॥४३॥
चदणसहिआ पवत्तणि, चउवीसाएं जिणवरिंदाणं ॥ "

तत्र ब्राह्मी, फल्गु , श्यामा, अजिता, काश्यपी, रति , सोमा, सुमना, वारुणी, सुलसा (सुयशा) धारिणी, धरणी, धरा, पद्मा, इति प्रथमगाथया चतुर्दशप्रवर्तिनीनामानि । आर्या, शिवा, श्रुतिः (शुभा) दामिनी (अञ्जुका) रक्षी (भावितात्मा) बन्धुमतिनामा, पुष्पवती, अनिला (अमिला) यक्षदत्ता (यक्षिणी) तथा पुष्पचूला, च. समुच्चये, चन्दनासहितास्तु एता. प्रवर्तिन्यः । प्रव० ६ द्वार ।

प्रथमश्रावकाः-

सेयंस नंद सुज्जो, संखो उसहस्स नेमिमाईणं । (३१८)

श्रीऋषभस्य प्रथमः श्रावकः श्रेयांसनामा १ । नेमिजिनस्य नन्द २ । पार्श्वस्य सुघोत ३. शङ्खो वीरस्य ४ । शेषाणां विंशतिजिनानामप्रसिद्धाः, पुरातनग्रन्थेष्वनिबन्धनात् । सत्त० १०५ द्वार ।

प्रथमश्राविकाः-

साहि सुभद्दा महसु-व्वया सुनंदा य सुलसा य ॥(३१९)

ऋषभस्य सुनन्दा १ । नेमे महासुव्रता २ । पार्श्वस्य सुनन्दा ३। वीरस्य सुलसा ४। अन्येषामप्रसिद्धा , ग्रन्थेष्वनिबन्धनात् । स१०० १०६ द्वार ।

प्रत्येकबुद्धमुनिसंख्या-

नियनियसीसपमाणा, नेया पत्तेअबुद्धा वि । (३३०)

प्रत्येकबुद्धा अपि मुनयो निजनिजशिष्यप्रमाणा ज्ञेया । सत्त० १९५ द्वार । ('मुणि' 'साहु' शब्दे विशेष)
(प्रमाणाङ्गुलम्' 'अंगुल' शब्दे प्रथमभागे ४४ पृष्ठे निरूपितम्)

प्रमाद -

वीरुसहाण पमाओ, अंतमुहुत्त तहेवऽहोरत्तं । (१७५)

वीरस्यान्तर्मुहूर्तमात्र प्रमादो जात.। ऋषभस्याऽहोरात्र जात.। अन्येषां प्रमादो नास्ति । सत्त० ८५ द्वार ।

परीषहाः-

उदिता परीसहा सिं, पराइया ते य जिणवरिंदेहिं ।

उदिता परीषहा शीतोष्णाऽऽदय एषा भगवता तीर्थकृतां, एर ते परीषहाः सर्वैरपि जिनवरेन्द्रैः पराजिता. । गत परीषहद्वारम् । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

(९९) अथ जिनप्रातिहार्याण्याह-

कंकेल्लि कुसुमवुट्ठी, दिव्वज्झुणिचामरासणाइं च ।
भावलयभेरि (दुंदुहि) छत्तं,जिणाण इय पाडिहेराइं ।२०८।

(कंकेल्लिकुसुमवुट्ठि त्ति) जिनशरीराद् द्वादशगुण. कङ्केल्लिपादप',अशोकाऽपरपर्याय १। पञ्चवर्णकुसुमानां वृष्टि.२। (दिव्वज्झुणि चामरासणाइ च) दिव्यध्वनि'३,श्वेतचामराणि४, स्वर्णरत्नाऽऽदिमय सिंहासनम् ५। (भावलयभेरिदुंदुहि त्ति) भावलय मौलिपृष्ठे भामण्डलम् ६, भेरिर्दुन्दुभिनामा वाद्यविशेषः ७। (छत्त) छत्रमातपत्र जिनमस्तकोपरि ८। (जिणाण इय पाडिहेराइ) जिनानामेतानि प्रातिहार्याण्युक्तानीति गाथार्थः ॥२०८॥ सत्त० ६९ द्वार ।

(तीर्थकराणां पारणकालो, पारणद्रव्याणि च ' उसह ' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठे निरूपितानि)

(१००) पारणदायकाः-

एएसि णं चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं पढमभिक्खादायारो होत्था । त जहा-

* "सिरिविसहसेण पहुमी-हसेण चारुरु वज्जनाहऽक्खा ।
चमरो पज्जोयविय-भ्मदिन्नपहुणो वराहो य ॥३०६॥
पउनद कयत्थो वि य, सुहम्ममदरजसा अरिट्ठो य ।
चक्काउह सबो कु-भ भिसह मल्ली य सुभो य ॥३०७॥
वरदत्त अज्जदिन्ना, तहिंदभूई य गणहरा पढमा ।" प्रव० ८ द्वार ।
इति प्रवचनसारोद्धाराऽऽद्यौ नामभेदोऽपि ।

" सिज्जंस बंभदत्ते, सुरिंददत्ते य इंददत्ते य ।
पउमे य सोमदेवे, माहिंदे सोमदत्ते य ॥ २६ ॥
पुस्से पुणन्वसू पुण, णंद सुणंदे जए य विजए य ।
तत्तो य धम्मसीहे, सुमित्त तह वग्घसीहे अ ॥ २७ ॥
अपराजिएँ विस्ससेणे, वीसइमो होइ उसभसेणो य ।
दिण्णे वरदत्त धण्णे, बहुलो तह आणुपुन्वीए ॥ २८ ॥
एए वि सुद्धलेसा, जिणवरभत्तीइ पंजलिउमाओ ।
तं कालं तं समयं, पडिलाजेई जिणवरिंदे " ॥ २९ ॥

श्रेयांसः १,ब्रह्मदत्तः २,सुरेन्द्रदत्तः ३,इन्द्रदत्तः ४,पद्मः ५, सोमदेवः ६,माहेन्द्र. ७,सोमदत्त. ८,पुष्यः ९,पुनर्वसु १०,नन्द. ११, सुनन्दः १२,जय. १३,विजय १४,धर्मसिंह १५, सुमित्रः १६, व्याघ्रसिंह. १७, अपराजित. १८, विश्वसेनः १९,ऋषभसेनः २० (पाठान्तरे-ब्रह्मदत्तः २०) दिन्नः २१,वरदत्त. २२ (पाठान्तरे वरदिन्न. २२)धन्यः २३,बहुलब्राह्मणः २४। एते आनुपूर्व्या जिनाना प्रथमभिक्षादातारो ज्ञेया. । स० ।

पारणदायकगतिः-

अट्ठ य तब्भवसिद्धा, सेसा तम्मि उ भवे व तइए वा ।
सिज्झिस्संति सगासे, जिणाण पभिवन्नपव्वज्जा ॥१६७॥

अष्टौ प्रथमदातार. तस्मिन्नेव भवे मोक्षं गता., शेषाः षोडश-जिनप्रथमदातार. तस्मिन्नेव भवे तृतीये वा भवे जिनानां समीपे प्रतिपन्नप्रव्रज्याः सन्तः सेत्स्यन्ति मोक्षं यास्यन्तीति । सत्त० ७८ द्वार ।

पारणदायकदिव्यपञ्चकम्-

पण दिव्वा जलकुसुमा-ण वुट्ठि वसुहार चेलउक्खेवो ।
दुंदुहिफुणी सुराणं, अहो सुदाणं ति घोसणया ॥१६८॥

(विवरणं तु 'उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठे गतम्)

तत्र पारणदायकवसुधारावृष्टि.-

सव्वेसिं पि जिणाण, जहियं लद्धा उ पढमभिक्खा उ ।
तहियं वसुधाराओ, सरीरमेत्ता उ वुट्ठाओ ॥३२॥

सर्वेषामपि जिनानां यत्र प्रथमभिक्षा लब्धा,तत्र वसुधारा (सरीरमेत्ता उ त्ति) पुरुषमात्रा उच्चत्वेन देवैर्वृष्टा। स० । सत्त० ।

सड्ढदुवालसकोडी, सुवन्नवुट्ठीउ होइ उक्कोसा ।
लक्खा सड्ढदुवालस, जहन्निया होइ वसुहारा ॥१६९॥

सार्द्धद्वादशकोटिस्वर्णवृष्टिश्च भवति उत्कृष्टा, सार्द्धद्वादशलक्षाणि जघन्यका भवति वसुधारा ॥१६९॥ सत्त० ८० द्वार ।

जिनानां पारणकपुराण्याह-

हत्थिणपुरं अउज्झा, सावत्थी तह अउज्झ विजयपुरं ।
बंभत्थलं च पाडलि-संडं तह पउमसंमं च ॥ १६१ ॥
सेयपुरं रिट्ठपुरं, सिद्धत्थ महापुरं च धन्नकमं ।
तह वद्धमाण सोमण-स मंदिरं चेव चक्कपुरं ॥१६२॥
रायपुरं तह मिहिला, रायगिहं तह य होइ वीरपुरं ।
वारवई कोवकडं, कुल्लागं पारणपुराइं ॥१६३॥

हस्तिनापुरम् । पाठान्तरे-गजपुरम् १। अयोध्या २। श्रावस्ती ३ । अयोध्या ४। विजयपुरम् ५ । ब्रह्मस्थलम् ६। पाटलिखण्डम् ७ । तथा पद्मखण्डम नगरम् ८॥ श्वेतपुरम् ९। रिष्टपुरम् १०। सिद्धार्थपुरम् ११। महापुरम् १२। धान्यकटम् १३ । वर्द्धमानपुरम् १४। सौमनस्यम् १५। मन्दिरपुरम् १६। चक्रपुरम् १७॥ राजपुरम् १८। मिथिला १९। राजगृहम् २०। वीरपुरम् २१। द्वारवती २२। कोपकटं नगरम् २३। कुल्लागः सन्निवेश. २४। एतानि जिनानां पारणकपुराणीत्यर्थः । सत्त० ७९ द्वार ।

(१०१) तीर्थकरपितृनाम-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे णं ओसप्पिणीए चउवीसं तित्थगराणं पियरो होत्था । तं जहा-

" णाभी य जियसत्तू य, जियारी संवरे वि य ।
मेहे धरे पइट्ठे य, महसेणे य खत्तिए ॥ ५ ॥
सुग्गीवे दढरहे विण्हू, वसुपुज्जे य खत्तिए ।
कयवम्मा सीहसेणे, भाणू विस्ससेण य ॥ ६ ॥
सूरे सुदंसणे कुंभे, सुमित्ते विजए समुद्दविजए य ।
राया य आससेणे, सिद्धत्थे च्चिय खत्तिए ॥ ७ ॥
उदितोदितकुलवंसा, विसुद्धवंसा गुणेहिँ उववेया ।
तित्थप्पवत्तयाणं, एए पियरो जिणवराणं ॥ ८ ॥ "

नाभि १, जितशत्रु २, जितारिः ३, संवर. ४,मेघः ५,धरः ६, प्रतिष्ठः ७, महासेन. ८, सुग्रीव ९, दृढरथः १०, विष्णु ११, वसुपूज्यः १२, कृतवर्मा १३, सिंहसेन १४, भानु १५, विश्वसेनः १६, सूरः १७, सुदर्शनः १८, कुम्भः १९, सुमित्र २०, विजयः २१,समुद्रविजयः २२,अश्वसेनो राजा २३, सिद्धार्थ २४। एते क्रमेण चतुर्विंशतिरर्हतां पितरः क्षत्रिया राजानः । स० ।

तीर्थकरपितृणां गति.-

नागेसुं उसभपिआ, सेसाणं सत्त हुंति ईसाणे ।
अट्ठ य सणंकुमारे, माहिंदे अट्ठ बोधव्वा ॥३२८॥

नागेषु नागकुमारेषु भवनपतिद्वितीयनिकायवर्त्तिषु सुरेषु श्रीऋषभनाथपिता नाभिनामा, गत इति शेष. । तथा शेषाणामजितनाथप्रभृतीना चन्द्रप्रभान्ताना सप्तानां पितरो भवन्ति गता ईशाने द्वितीयदेवलोके । सैद्धान्तिकास्तु-श्रीअजितस्वामिपितुर्जितशत्रोर्मुक्तिगमनमाचक्षते, अनुयोगद्वाराऽऽदौ तथैव भणनात् । यदाह श्रीहेमसूरिः-

" राजा बाहुबलि. सूर्य-यशा सोमयशा अपि ।
अन्येऽप्यनेकशः केऽपि, शिव केऽपि दिव ययु. ॥ १ ॥
जितशत्रु. शिव प्राप, सुमित्रस्त्रिदिव गत. ॥ "

इति योगशास्त्रे, त्रिषष्टिचरितेऽपि च ।

तथा सुविधिप्रभृतीनामष्टौ च पितर. सनत्कुमारे तृतीयदेवलोके। तथा कुन्थुप्रमुखाणामष्टौ पितरो माहेन्द्रे चतुर्थदेवलोके गता बोद्धव्या. । प्रव० ११ द्वार ।

(१०२) पूर्वप्रवृत्तिकाल -

पुव्वपवित्ति जिणाण, असखकालो इहासि जा कुंथु ।
पासं जा संखिज्जो, वरिससहस्सं तु वीरस्स ॥ ३२७ ॥

ऋषभाऽऽदीनां पूर्वप्रवृत्तिकाल एवम्-ऋषभादारभ्य कुन्थुजिन यावत् असख्यातकालमासीत् पूर्वप्रवृत्ति. । अरजिनादारभ्य पार्श्वनाथपर्यन्त सख्यातकाल. पूर्वप्रवृत्ति । वीरस्य सहस्रवर्षपर्यन्त पूर्वप्रवृत्तिरासीत् । सत्त० १६२ द्वार ।

पूर्वविच्छेदकाल नम्-

एमेव छेयकालो, नवरं वीरस्स वीससयसहसा ।

पाससस नत्थि सो वा, सेससुयपवित्ति जा तित्थ ॥२२॥

एवमेव पूर्वरीत्या छेदकालोऽपि ज्ञेयः । श्रीऋषभस्यासंख्यातकाल यावत्पूर्वव्युच्छेदः । एव कुन्थुजिन यावद् ज्ञेयम् । ततोऽरजिनस्य सख्यातकाल यावत् पूर्वव्युच्छेद । एव पार्श्वनाथ यावद् ज्ञेयम् । नवर वीरस्य विंशतिवर्षसहस्राणि पूर्वविच्छेद । श्रीपार्श्वनाथस्य स पूर्वविच्छेदकालो वा नास्ति । अत्र विकल्प केषाञ्चिदाचार्याणां मतमाश्रित्यावसेय । शेषश्रुतप्रवृत्ति यावत्तीर्थम् । अयमर्थ -यावद् यस्य तीर्थङ्करस्य तीर्थे तावत्काल पूर्वव्यतिरिक्ता श्रुतप्रवृत्तिरिति गाथार्थ । सत्त० १६२ द्वार ।

(१०३) पूर्वभवनिरूपणम्-

(ऋषभस्याष्टौ पूर्वभवा' ' उसह ' शब्दे द्वितीयभागे ११३२ पृष्ठे कथिता)

चन्द्रप्रभस्य सप्त भवाः-

सिरिवम्मनिवो सोहं-म्मसुरवरो अजियसेणचक्की य ।
अच्चुयपहु पउमनिवो, य वेजयंते य चंदपहो ॥ २३ ॥

प्रथमे भवे श्रीवर्मनामा राजा १ । द्वितीयभवे सौधर्मदेवलोके देव. २ । तृतीयभवेऽजितसेननामा चक्रवर्ती ३ । तुर्यभवे अच्युतेन्द्र ४ । पञ्चमभवे पद्मनामा नृप' ५ । षष्ठभवे द्वितीयानुत्तरविमाने वैजयन्ते देवो जात. ६ । सप्तमभवे चन्द्रप्रभनाम्नाऽष्टमतीर्थप. ७ ।

शान्तिनाथस्य द्वादश भवा -

सिरिसेणो अभिनंदिय,जुयल सुरा अमियतेयसिरिविजया ।
पाणय वल हरि तो हरि, नरए खयरऽच्चुए दो वि ॥२४॥
वज्जाउह सहसाउह, पिउसुय गेविज्ज तइएँ नवमे वा ।
मेहरहदढरहा तो, सव्वट्ठे संति गणहारी ॥ २५ ॥

प्रथमभवे-श्रीषेणो राजाऽभूत, तस्याभिनन्दिता राज्ञी १ । (जुयल त्ति) द्वितीयभवे उत्तरकुरुक्षेत्रे द्वावपि युगलिनौ जातौ २ । (सुर त्ति) तृतीये सौधर्मकल्पे देव ३ । (अमियतेय सिरिविजय- त्ति) तुर्यभवे जिनजीवोऽमिततेजोनामा विद्याधरो जात , प्रियाजीव श्रीविजयो राजा जात ४ । (पाणय त्ति) पञ्चमे प्राणतनाम्नि दशमे देवलोके द्वावपि देवौ जातौ ५ । (बलहरि त्ति) षष्ठभवेऽस्मिन् जम्बूद्वीपपूर्वविदेहमध्यस्थे रमणीयाख्ये विजये सुभगायां नगर्यां जिनजीवो बलभद्रो जात । प्रियाजीवो वासुदेवो जातः ६ । (तो इति) तत हरिर्नरके गत । ततो नरकादुद्धृत्य (खयर- त्ति) खचरौ द्वावपि विद्याधरौ,सजम लात्वा सप्तमे भवे अच्युते गतौ ७ ॥२४॥ (वज्जाउह त्ति) ततोऽष्टमभवे जिनजीवो वज्रायुधराजा जात , स्त्रीजीव तस्य सहस्रायुधनामा पुत्रो जात' ८ । (गेविज्ज त्ति) ततो नवमे ग्रैवेयके द्वावपि देवौ जातौ । मतान्तरे- तृतीये ग्रैवेयके देवौ जातौ ९ । (मेहरह त्ति) दशमभवे ततश्च्युतौ तस्मिन् जम्बूद्वीपे प्राग्विदेहविभूषणे पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्या नगर्या जिनजीवो मेघरथः, प्रियाजीवो दृढरथ', एव द्वावपि भ्रातरौ जातौ १० । (सव्वट्ठे त्ति) एकादशभवे ततो द्वावपि भ्रातरौ सयम लात्वा सम्यक्सयम प्रपाल्य सर्वार्थसिद्धे विमाने देवौ सम्भूतौ ११ । (संतिगणहारि त्ति) द्वादशे भवे भगवान् शान्तिनाथ , पूर्वभवप्रियाजीवो सर्वार्थसिद्धविमानात् च्युत्वा भगवत पुत्रत्वेन जात , भगवत. चक्रवर्तित्वे सेनानीरभूत्, तत पश्चात् सजम लात्वाऽऽद्यगणधरो जात १२ ।

मुनिसुव्रतस्य नव भवाः-

सिवकेउ सुहम्मसुरे, कुबेरदत्त तियकप्पि वज्जकुंमल्लओ ।
बंभे सिरिवम्मनिवो, अवराई सुव्वओ नवमे ॥ २६ ॥

प्रथमभवे शिवकेतुनामा राजा १ । द्वितीयभवे सौधर्मे देव. २ । तृतीयभवे कुबेरदत्तनामा नृपः ३ । तुर्यभवे तृतीयकल्पे सनत्कुमारे देव. ४ । पञ्चमभवे वज्रकुण्डलनामा राजा ५ । षष्ठे भवे ब्रह्मनाम्नि पञ्चमदेवलोके देवो जातः ६ । सप्तमभवे श्रीवर्मराजा जात ७ । अष्टमेऽपराजितनाम्नि तुर्यानुत्तरे विमाने देवः ८ । नवमे भवे मुनिसुव्रतजिन' ९ ।

नेमिनाथस्य नव भवाः-

धणधणवइ सोहम्मे, चित्तगई खेयरो य रयणवई ।
माहिंदे अवराइय, पीइमई आरणे तत्तो ॥ २७ ॥
सुपइट्ठो संखो वा, जसमइ भज्जाऽवराइयविमाणे ।
नेमिजिणो राईमइ, नवमभवे दो वि सिद्धा य ॥ २८ ॥

प्रथमभवे-धननामा राजाऽभूत्, तस्य धनवती राज्ञी १ । द्वितीये भवे सौधर्मे कल्पे द्वावपि देवौ जातौ २ । तृतीयभवे चित्रगतिनामा विद्याधरो, राज्ञीजीवो रत्नवती प्रिया ३ । तुर्यभवे द्वावपि माहेन्द्रे देवलोक देवौ जातौ ४ । पञ्चमभवे अपराजितो राजा, प्रीतिमती राज्ञी ५ । षष्ठे भवे आरणदेवलोके द्वावपि देवौ जातौ ६ ॥ २७ ॥ सप्तमभवे सुप्रतिष्ठ , मतान्तरे-शङ्खनामा राजा बभूव, धनवतीजीवो यशोमती भार्या जाता ७ । अष्टमभवे अपराजितनाम्नि तुर्यानुत्तरविमाने देवौ जातौ ८ । नवमभवे भगवान् श्रीनेमिजिन , पत्नीजीवः राजीमती जाता ९ । तदनन्तर द्वावपि सिद्धौ मोक्ष गतौ ॥ २८ ॥

पार्श्वस्य दश भवा.-

कमढमरुभूइजाया, कुक्कुडअहि हत्थि नरएँ सहसारे ।
सप्प खयरिंद नारएँ, अच्चुयसुर सवर नरनाहो ॥२९॥
नारएँ गेविज्जसुरो, सीहो निवई य नरए पाणयगे ।
कंठो विप्पो पासो, संजाया दो वि दसमभवे ॥ ३० ॥

प्रथमे भवे-कमठमरुभूतिनामानौ भ्रातरौ जातौ,तत्र मरुभूतिनामा भगवज्जीव. १ । द्वितीयभवे कमठजीव कुर्कुटाहिर्जात., जिनजीवो हस्तिर्जात. २ । तृतीयभवे कमठो नरके गत ,जिनजीव. सहस्रारेऽष्टमदेवलोके गत ३ । चतुर्थभवे कमठजीव. सर्पो जातः, जिनजीवो विद्याधरेन्द्रोऽभूत् ४ । पञ्चमभवे कमठजीवो नैरयिको जात., जिनजीवोऽच्युते देवो जात. ५ । षष्ठभवे कमठजीव' शबर. भिल्लोऽजनि, जिनजीवो नरनाथो बभूव ६ ॥ २९ ॥ सप्तमभवे कमठजीवो नरके गत , जिनजीवो ग्रैवेयके सुरो जातः ७ । अष्टमभवे कमठजीव. सिंहो जात', पार्श्वजीवो नृपतिर्जात. ८ । नवमे भवे कमठजीवो नरके नारको जात ,पार्श्वजीव प्राणतनाम्नि दशमे देवलोके देवो जात ९ । दशमे भवे कमठजीव कण्ठनामा विप्रोऽभूत, मरुभूतिजीव पार्श्वनाथनामा त्रयोविंशतितमो जिनो जात १० । एवं सन्तौ द्वावपि दशमभवे ॥३०॥ सत्त० १ द्वार ।

(वीरस्य सप्तविंशतिभवा " वीर " शब्दे वक्ष्यन्ते)

सप्ततिशतस्थाने वीरस्याष्टाविंशतिभवा निरूपिता',तत्र देवानन्दोदराव २७ सप्तविंशति , त्रिशलोदरादष्टाविंशतितमः ।

शेषजिनानां भवा'-

सत्तएहमिमे भणिया, पयडभवा तेसि सेसयाणं च ।

तइयभवदीवपमुहं, नायव्वं वक्खमाणाओ ॥ ३४ ॥
सप्तजिनानामिमे भणिताः प्रकटभवा., तेभ्यः सप्तजिनेभ्य शेषाणामनुक्तभवानां सप्तदशजिनानां तृतीयभवद्वीपप्रभृति ज्ञेय वक्ष्यमाणाद् ग्रन्थात् । अथ भाव'-शेषजिनाना त्रयो भवा अधिकाराद् ज्ञेया' । तथा पूर्वभवद्वीपक्षेत्रविजयाऽऽदिकथनेन, पूर्वभवनामकथनेन च प्रथमभवो ज्ञेयः १, पूर्वभवदेवलोककथनेन च द्वितीयो भवो ज्ञेय. २, तृतीयस्तु जिनभवः ३, इति सर्वेषां जिनानां पूर्वभवा उक्ताः । सत्त० २ द्वार । (' मल्ली ' शब्दे मल्लिनाथस्य त्रयो भवा वक्ष्यन्ते)
(१०४) अथ पूर्वभवगुरव. सर्वेषां जिनानां प्रतिपाद्यन्ते--

वयसेणो अरिदमणो, संभंतो विमलवाहणो य तहा ।
सीमंधर पिहियासव, अरिदमण जुगधर गुरू य ॥ ४७ ॥
सव्वजगाणंदगुरू, संथाहो वज्जदत्त वयनाहो ।
तह सव्वगुत्तनामे, चित्तरहो विमलवाहणओ ॥ ४८ ॥
घणरह संवर तह सा-हुसंवरो तह य होइ वरधम्मो ।
तह य सुनंदो नंदो, अइजस दामोदरो य पुट्टिलओ ४६

वज्रसेनः १ । अरिदमन. २ । सम्भ्रान्त ३ । विमलवाहन.४ । सीमन्धरः ५ । पिहिताश्रवः ६ । अरिदमन. ७ । युगन्धरः ८ । सर्वजगदानन्द' ६ । सस्ताघ' १० । वज्रदत्त. ११ । वज्रनाभ. १२ । सर्वगुप्त. १३ । चित्ररथ १४ । विमलवाहनक. १५ । घनरथः १६ । सवरः १७ । साहुसवर १८ । तथा च भवति वरधर्मः १६ । सुनन्द. २० । नन्द २१ । अतियशाः २२ । दामोदर २३ । पोट्टिलकः २४ । सत्त० ६ द्वार ।

पूर्वभवायु -

धम्मस्स मज्झिमाऊ, सेसाणुक्कोसयं तमिमं । (५६)
तित्तीसं तित्तीसं, गुणतीसं दुसु तितीस इगतीसं ।
अमवीसं तित्तीसं, गुणवीसं वीस बावीसं ॥ ५७ ॥
वीसऽट्ठारस वीस, बत्तीस कमेण पचसु तितीसं ।
वीस तितीसं वीसं, वीसऽयरा पुव्वभवआऊ ॥ ५८ ॥

धर्मनाथस्य मध्यमाऽऽयुः । शेषजिनानामुत्कृष्टकमेव तदिद वक्ष्यमाणम् ॥ ५६ ॥ त्रयस्त्रिंशत्सागराणि १ । त्रयस्त्रिंशत्सागराणि २ । एकोनत्रिंशत् साग० ३ । द्वयो -त्रयस्त्रिंशत्साग०४ । त्रयस्त्रिंशत्साग०५। एकत्रिंशत्साग० ६। अष्टाविंशति.साग०७ । त्रयस्त्रिंशत्साग० ८। एकोनविंशति साग० ६ । विंशति साग० १० । द्वाविंशति साग० ११ ॥५७॥ विंशति साग० १२ । अष्टादश सागर० १३ । विंशति. साग० १४ । द्वात्रिंशत्साग० १५ , क्रमेण पञ्चसु-त्रयस्त्रिंशत् साग० १६ । त्रयस्त्रिंशत् साग० १७। त्रयस्त्रिंशत् साग० १८ । त्रयस्त्रिंशत् साग० १९ । त्रयस्त्रिंशत्साग० २० । विंशति साग० २१ । त्रयस्त्रिंशत् साग० २२। विंशति साग० २३ । विंशति सागराणि २४ । इति जिनानां पूर्वभवायु । सत्त० १३ द्वार ।

पूर्वभवक्षेत्राणि--

वारस पुव्वविदेहे, तिन्नि कमा भरह एरवएँ भरहे ।
पुव्वविदेहे तिन्नि य, मल्लिऽवरविदेहेँ पण भरहे ॥ ३६ ॥
मज्झिमसेरुनगाओ, धायइपुक्खलगयाइँ भरहाइं ।
खित्ताइँ पुव्वखंडे, खंडवियारो न जबुम्मि ॥ ३७ ॥

ऋषभनाऽऽद्याः द्वादश जिना पूर्वमहाविदेहे जाता. १२ त्रीणि क्रमात्-भरते १३, ऐरवते १४, पुन. भरते १५ ज्ञेया. । शान्ति १६,कुन्थु १७,अरः १८,एते त्रयोऽपि जिना पूर्वमहाविदेहे ज्ञेयाः । मल्लि' पश्चिममहाविदेहे १६ । मुनिसुव्रत २०, नमि. २१, नेमि २२, पार्श्व २३, वर्द्धमान. २४. एते पञ्चापि भरते ज्ञेयाः । मध्यममेरुः सुदर्शननामा,तस्मात् धातकीखण्डभरताऽऽदीनि पुष्करार्द्धभरताऽऽदीनि च क्षेत्राणि पूर्वखण्डे। अत्राय भावः-धातकीखण्ड', पुष्करार्द्धद्वीपश्च इषुकारगिरिभ्यां विभक्तौ स्त. तेनोभयोरपि द्वौ द्वौ खण्डौ भवत', एक पूर्वखण्डोऽपर. पश्चिमखण्डश्च। ततोऽत्र यानि तीर्थकृता पूर्वभवक्षेत्राणि भरताऽऽदीनि तानि सर्वाण्यपि पूर्वखण्डसम्बन्धीनि, न तु पश्चिमखण्डसम्बन्धीनीति । ननु तर्हि जम्बूद्वीपगतक्षेत्राणि किंखण्डसम्बन्धीनीत्याह-खण्डविचारो जम्बूद्वीपे नास्ति, तत्र कस्यापि भाजकस्याभावादिति । सत्त० ३ द्वार ।

पूर्वभवक्षेत्रदिशा-

विमलो धम्मो मुणिसु-व्वयाइ पण आसि मेरुदाहिणओ।
मेरुत्तरओऽणंतो, सीओयादाहिणे मल्ली ॥ ३८ ॥
सीयाए उत्तरओ, उसहसुमइसुविहिसंतिकुंथुजिणा ।
सेसा दस दाहिणओ, इय पुव्वभवम्मि खित्तदिसा ॥ ३९ ॥

विमल., धर्मश्चैतौ द्वौ, मुनिसुव्रत , नमि , नेमि., पार्श्व., वर्द्धमान., एव च पञ्च जिना ,एते सर्वे सप्त जिना मेरुतो दक्षिणत आसन्। अनन्तोऽनन्तजिज्जिन ८ मेरोरुत्तरत आसीत् । सीतोदानद्या दक्षिणपार्श्वे श्रीमल्लिजिन ९ । सीतानद्या उत्तरत' ऋषभ. १०, सुमतिः ११, सुविधि' १२, शान्ति १३, कुन्थु' १४, एते जिनाः समुत्पन्ना' पूर्वभवे । शेषा' स्थिता ये दश जिनास्ते दक्षिणस्यां दिशि जाता । इति सर्वेषां जिनानां पूर्वभवक्षेत्रदिशः । सत्त० ४ द्वार ।

पूर्वभवजिनहेतु.-

पढमचरिमेहिँ पुट्ठा, जिणहेऊ वीस ते य इमे ॥ (५०)

प्रथम -ऋषभ , चरमो-वीर , ताभ्यां स्पृष्टा जिनहेतवो विंशति , यैर्हेतुभि जिनो भवति । ते च इमे वक्ष्यमाणा भवेयु । सत्त० १० द्वार । आ० क० ।

तानेव हेतूनाह-

अरिहंतसिद्धपवयण-गुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छल्लया य एसिं, अभिक्खनाणोवओगे अ ॥ ३१२ ॥

अत्र तिस्रो गाथा तत्र प्रथमगाथायामष्टौ कारणान्युक्तानि,द्वितीयायां नव,तृतीयाया त्रीणि। तत्र प्रथमगाथाव्याख्या अशोकाऽऽद्यष्टमहाप्रातिहार्याऽऽदिरूपा पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तीर्थकरा ,अपगतसकलकर्मांशा परमसुखिन एकान्त कृतकृत्या सिद्धा., प्रवचन द्वादशाङ्ग, तदुपयोगानन्यत्वात् सघो वा प्रवचनम्, गृणन्ति यथावस्थितशास्त्रार्थमिति गुरवो धर्मोपदेशाऽऽदिदातार , स्थविरा जातिश्रुतपर्यायभेदभिन्ना । तत्र जातिस्थविरा -वर्षषष्टिप्रमाणा । श्रुतस्थविरा -समवायाङ्गधारिण.। पर्यायस्थविरा -विंशतिवर्षव्रतपर्याया । बहु प्रभूत श्रुत येषा ते बहुश्रुता , बहुश्रुतत्वमापेक्षिक प्रतिपत्तव्यम् । श्रुत च त्रिधा-सूत्रत , अर्थत , उभयतश्च । तत्र सूत्रधरेभ्योऽर्थधरा प्रधाना , तेभ्योऽप्युभयधरा प्रधाना इति। विचित्रमनशनाऽऽदिभेदभिन्न तपो विद्यते येषां ते तपस्विन सामान्यसाधव.। अर्हन्तश्च सिद्धाश्च प्रवचन च

गुरवश्च स्थविराश्च बहुश्रुताश्च तपस्विनश्च अर्हत्सिद्धप्रवचनगुरुस्थविरबहुश्रुततपस्विन । सूत्रे च "बहुस्सुए" इत्यत्र एकार प्राकृतत्वादव्ययलाक्षणिक । तेषु। (एसिं ति) प्राकृतत्वात्सप्तम्यर्थे षष्ठी । तत एतेषु सप्तसु स्थानेषु वत्सलभावो वत्सलता अनुराग. ७, यथाऽवस्थितगुणोत्कीर्तन तदनुरूपोपचारलक्षणार्त्तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणमिति शेष. । तथा-अभीक्ष्णमनवरत ज्ञानोपयोगो ज्ञाने व्यापियमाणता ८। इदमष्टम कारणम ॥ ३१२ ॥

दंसणविणए आव–स्सए अ सीलव्वए निरइयारो ।
खणलवतवचियाए, वेयावच्चे समाही य ॥ ३१३ ॥

द्वितीयगाथाव्याख्या-दर्शन सम्यक्त्वं, विनयो ज्ञानाऽऽदिविनय । स च प्रागुक्तो वक्ष्यमाणो वा, दर्शन च विनयश्च दर्शनविनयम्, समाहारद्वन्द्व , तस्मिन् । आवश्यकमवश्यकर्त्तव्य प्रतिक्रमणाऽऽदि, तस्मिन्। शीलानि च व्रतानि च शीलव्रतम्, अत्रापि समाहारद्वन्द्व । तस्मिन्। तत्र शीलान्युत्तरगुणाः, व्रतानि मूलगुणा. । एतेषु निरतिचारः सन्, तीर्थकरनामकर्म्म बध्नातीति क्रियायोग । एतावता पञ्च कारणान्युक्तानि। तथा-क्षणलवे तपसि त्यागे वैयावृत्ये च समाधिस्तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणम् । तत्र क्षणलवग्रहणमशेषकालविशेषोपलक्षणम्, क्षणलवाऽऽदिषु कालविशेषेषु निरन्तर सवेगभावनातो ध्यानाऽऽसेवनतश्च समाधि क्षणलवसमाधि. । तथा-तपसि बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदभिन्ने यथाशक्ति निरन्तर प्रवृत्तिस्तप.समाधि. । त्यागो द्विधा-द्रव्यत्याग , भावत्यागश्च । द्रव्यत्यागो नाम-आहारोपधिशय्याऽऽदीनामप्रायोग्याणा परित्याग , प्रायोग्याणा च यतिजनेभ्यो दानम् । भावत्याग -क्रोधाऽऽदीना विवेक, ज्ञानाऽऽदीना च यतिजनेभ्यो वितरणम् । एतस्मिन् द्विविधेऽपि त्यागे सूत्रानतिक्रमेण यथाशक्ति निरन्तर प्रवृत्तिस्त्यागसमाधि. । वैयावृत्य दशविधम् । तद्यथा-आचार्यवैयावृत्यम् १, उपाध्यायवैयावृत्यम् २, स्थविरवैयावृत्यम्३, तपस्विवैयावृत्यम् ४, ग्लानवैयावृत्यम्५, शैक्षकवैयावृत्यम् ६, साधर्मिकवैयावृत्यम् ७, कुलवैयावृत्यम् ८, गणवैयावृत्यम् ९, सङ्घवैयावृत्य चेति १० । एकैक त्रयोदशविधम् । तद्यथा-भक्तदानम् १, पानदानम् २, आसनप्रदानम् ३, उपकरणप्रत्युपेक्षा ४, पादप्रमार्जनम् ५, वस्त्रप्रदानम् ६, भेषजप्रदानम् ७, अध्वनि साहाय्यम् ८, दुष्टस्तेनाऽऽदिभ्यो रक्षणम् ९, वसतौ प्रविशतां दण्डकग्रहणम् १०, कायिकामात्रकसमर्पणम् ११, संज्ञामात्रकसमर्पणम् १२, श्लेष्ममात्रकसमर्पण चेति १३ । एतेषु वैयावृत्यभेदेषु यथाशक्ति निरन्तर प्रवृत्तिर्वैयावृत्यसमाधि. ।

अप्पुव्वनाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
एएहिँ कारणेहिं, तित्थयरत्त लहइ जीवो ॥ ३१४ ॥

तृतीयगाथाव्याख्या-अपूर्वस्या पूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तर ग्रहणमपूर्वज्ञानग्रहणमष्टादश तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणम । एकोनविंशतितम श्रुतभक्ति. श्रुतविषय बहुमानम । विंशतितम प्रवचने प्रभावना यथाशक्ति प्रवचनार्थोपदेशदानाऽऽदिरूपा । एभिरनन्तरोक्तै कारणैस्तीर्थकरत्व लभते जीव ।

एतानि च कानिचित् कारणानि सूत्रकार एव स्वय व्याचष्टे-

संघो पवयणमित्थं, गुरुणो धम्मोवएसयाईया ।
सुत्तत्थोभयधारी, बहुस्सुया हुंति विक्खाया ॥ ३१५ ॥
जाईसुयपरियाए, पडुच्च थेरो तिहा जहकमेणं ।
सट्ठीवरिसो समवा–यधारओ वीसवरिसो य ॥ ३१६ ॥
भत्ती पूआ वण्ण–प्पयडण वज्जणमवण्णवायस्स ।
आसायणपरिहारो, अरिहंताईण वच्छल्लं ॥ ३१७ ॥
नाणुवओगो भिक्खं, दंसणसुध्दी अ विणयसुध्दी अ ।
आवस्सयजोएसु, सीलवएसुं निरइयारो ॥ ३१८ ॥
संवेगभावणज्झा–ण सेवणं खणलवाइकालेसु ।
तवकरण जइजणसं–विभागकरसंजइसमाही ॥ ३१९ ॥
वेयावच्चं दसहा, गुरुमाईणं समाहिजणणं च ।
किरियादारेण तहा, अपुव्वनाणस्स गहणं तु ॥३२०॥
आगमबहुमाणो वि य, तित्थस्स पभावणं जहासत्ती ।
एएहिँ कारणेहिं, तित्थयरत्तं समज्जिणई ॥ ३२१ ॥

"संघो पवयण" इत्यादि गाथासप्तकं,व्याख्यातार्थं चैतत्;नवरं स्थविरबहुश्रुततयोर्गाथा ऽनुलोम्याद्व्यतिक्रमनिर्देशः । तथा-तृतीय (३१७) गाथाया भक्तिरान्तरो बहुमानविशेष , पूजा यथौचित्येन पुष्पफलाऽऽहारवस्त्राऽऽदिभिरुपचार ,वर्णस्य श्लाघायाः प्रकटन प्रकाशन, वर्जन परिहरणमवर्णवादस्य अश्लाघाया', आशातनाया वक्ष्यमाणाया. परिहारो वर्जनम् । एतदर्हदादीनां सप्तानां वात्सल्य वत्सलता । तथा षष्ठ (३२०) गाथायां वैयावृत्य भक्तदानाऽऽदिक्रियाद्वारेण गुर्वादीनां समाधिजननम् । तत्पुनर्दशधा पूर्वोक्तप्रकारेण । यद्वा-शीलव्रताभ्यामेकमेव कारण कृत्वा समाधिरिति भिन्नमेव तीर्थकरगोत्रबन्धस्थान विवक्ष्यते । ततो वैयावृत्य दशधा गुर्वादीनां, तथा तेषामेव क्रियाद्वारेण समाधिजनन कार्यकरणद्वारेण स्वस्थताऽऽपादनमिति । तथा-ऋषभनाथेन वर्द्धमानस्वामिना च पूर्वभवे एतान्यनन्तरोक्तानि सर्वाण्यपि स्थानान्यासेवितानि, मध्यमेषु पुनरजिनस्वामिप्रभृतिषु द्वाविंशतितीर्थकरेषु केनाप्येक, केनापि त्रीणि, यावत्केनाऽपि सर्वाण्यपि स्थानानि स्पृष्टानीति । एतच्च तीर्थकरनामकर्म मनुष्यगतावेव वर्तमान. पुरुष' स्त्री नपुंसको वा तीर्थकरभवात् पृष्ठतस्तृतीयभव प्राप्य बद्धुमारभते । आह-तीर्थकरनामकर्मणो जघन्यत उत्कर्षतश्च बन्धस्थितिरन्तःसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा,तत. कथमुक्त तीर्थकरभवात् प्राक् तृतीयभवे बध्यत इति ?। नैष दोष. । द्विविधो हि बन्धः-निकाचनारूप , अनिकाचनारूपश्च। तत्र अनिकाचनारूपस्तृतीयभवात् प्राक् सुतरामपि भवति, जघन्योऽप्यन्त.सागरोपमकोटाकोटीप्रमाणत्वात् । निकाचनारूपस्तु तीर्थकरभवात् प्राक् तृतीयभवे एव, "तं च कह वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाऽऽईहिं । बज्झइ त तु भयवओ, इय भवो सक्कत्ता ण" ॥१॥ इति वचनप्रामाण्यात् । तत्र निकाचितमवन्ध्यफलम्, इतरत्तु उभयथाऽपि, निकाचनारूपश्च बन्धस्तृतीयभवादारभ्य तावत्प्रवर्त्तते यावत्तीर्थकरभवे अपूर्वकरणस्य सख्येयभागा , तत ऊर्द्ध व्यवच्छेद , केवलज्ञानोत्पत्तौ च अष्टमहाप्रातिहार्याऽऽदिरूपे सुरेन्द्रकृते पूजोपचारे सति सदेवमनुजासुरायां परिषदि ग्लानिपरिहारेण धर्मदेशनया श्रुतचारित्ररूपधर्मप्ररूपणलक्षणया चतुस्त्रिंशता देहसौगन्ध्यादिभिरतिशयै , पञ्चत्रिंशता वुरुवचनातिशयैस्तद्वेद्यत इति । प्रव० १० द्वार ।

पूर्वभवद्वीपाः--

जंबूधायइपुक्खर-दीवा चउ चउ जिणाण पुव्वभवे ।
धायइ विमलाइ तिगे, जंबू संतिप्पमुहनवगे ॥ ३५ ॥

ऋषभाऽऽदिचतुर्णां जिनानां पूर्वभवे जम्बूद्वीप आसीत् । सुमत्यादीनां चतुर्णां जिनानां पूर्वभवे धातकीखण्ड आसीत् । सुविध्यादिचतुर्णां जिनानां पूर्वभवे पुष्करद्वीप आसीत् १२ । विमलाऽऽदीनां त्रयाणां जिनानां पूर्वभवे धातकीखण्डद्वीप आसीत् १५ । शान्त्यादिनवजिनाना पूर्वभवे जम्बूद्वीप असीत् २४ । इति पूर्वभवद्वीपाः । सत्त० २ द्वार ।

पूर्वभवनामानि--

एएसिं चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं पुव्वभवया णामधेया होत्था । तं जहा--

" पढमेऽत्थ वइरणाभे, विमले तह विमलवाहणे चेव ।
तत्तो य धम्मसीहे, सुमित्त तह धम्ममित्ते य ॥११॥
सुदरबाहू तह दी-हबाहु जुगबाहु लट्ठबाहू य ।
दिन्ने य इंददत्ते, सुंदर माहिंदए चेव ॥१२॥
सीहरहे मेहरहे, रुप्पी अ सुदंसणे य बोधव्वा ।
तत्तो य नंदणे खलु, सीहगिरी चेव वीस इमे ॥१३॥
अदीणसत्तु संखे, सुदंसणे नंदणे य बोधव्वे ।
इमिसे ओसप्पिणिए, तित्थकराण तु पुव्वभवा" ॥१४॥

जिनाना पूर्वभवनामानि क्रमेण यथा-वज्रनाभ. १ । विमल. २ । विमलवाहन' ३ । धर्मसिंह. ४ । सुमित्र ५ । धर्ममित्रः ६। सुन्दरबाहु ७ । दीर्घबाहुः ८ । युगबाहु ६ । लष्टबाहु १० । दिन्न ११ । इन्द्रदत्तः १२ । सुन्दर. १३ । माहेन्द्र १४ । सिंहरथ १५ । मेघरथः १६ । रूपी १७ । सुदर्शन १८ । नन्दन १६ । सिंहगिरि. २० । अदीनशत्रु' २१ । शङ्ख. २२ । सुदर्शनः २३ । नन्दन' २४ । पूर्वभवे जिनानामेनानि नामानि बभूवुरिति । स० । सत्त० ।

पाठान्तरे-वज्रनाभः १ । विमलवाहन २ । विपुलबल ३ । महाबल ४ । अतिबल ५ । अपराजित ६ । नन्दिषेण ७ । पद्म ८। महापद्म ६ । पुनरपि पद्म. १० । नलनीगुल्म. ११ । पद्मोत्तर. १२। पद्मासेनः १३ । पद्मरथ. १४ । अतिदृढरथ १५ । मेघरथ. १६ । सिंहावह. १७ । धनपति. १८ । वैश्रवण. १६ । श्रीवर्मा २० । सिद्धार्थ. २१ । सुप्रतिष्ठ. २२ । आनन्द. २३ । नन्दन २४ ।

पूर्वभवनगर्यः-

पुंडरिगिणी सुसीमा, सुभापुरी रयणसंचया नेया ।
चउगतिगम्मि महापुरि, रिट्ठा तह भद्दिलपुरं चा॥ ४२ ॥
पुंमरिगिणि खग्गिपुरी, तहा सुसीमा य वीयसोगा य ।
चंपा तह कोसंबी, रायगिहाऽउज्झ अहिछत्ता ॥४३॥

चतुष्कत्रिके एतानि नगरीनामानि ज्ञेयानि । तथा च-ऋषभ १, सुमति ५, सुविधि. ९, एते त्रयो जिना पुण्डरीकिण्या पूर्वभवे जाता । अजित २, पद्मप्रभ ६, शीतल. १०, एते त्रयो जिना सुसीमायां जाता' । सम्भव ३, सुपार्श्व ७, श्रेयांस. ११, एते त्रयो जिना शुभापुर्यां जाता । अभिनन्दन ४, चन्द्रप्रभ ८, वासुपूज्य. १२, एते जिनास्त्रयो रत्नसञ्चयायां जाता । विमल १३ महापुर्याम् । अनन्तजिनः १४ रिष्टनगर्याम । धर्म. १५ भद्दिलपुरे जातः । शान्तिः १६ पुण्डरीकिण्यां जातः । कुन्थुजिन' १७ खङ्गिपुर्याम । अरजिन १८ सुसीमायां पुर्याम् । मल्लिजिनः १९ वीतशोकायाम् । मुनिसुव्रतः २० चम्पायाम् । नमि २१ कौशाम्ब्याम । नेमिजिन. २२ राजगृहे । पार्श्वजिनः २३ अयोध्यायाम् । वीर' २४ अहिच्छत्रानगर्यां पूर्वभवे जातः । सत्त० ६ द्वार ।

पूर्वभवराज्यम्-

जंबुद्दीवे णं दीवे इमीसे ओसप्पिणीए तेवीसं तित्थंकरा पुव्वे मंमलिरायाणो होत्था । तं जहा-अजित संभव अभिणंदण०जाव पासो वद्धमाणो य । उसभे णं अरहा कोसलिए पुव्वभवे चक्कवट्टी होत्था । स० २३ सम० ।

पूर्वभवविजया -

पुक्खलवइ य वच्छा, रमणिज्जा मंगलावई कमसो ।
नेआ जिणचउगतिगे, जिणतियगे खित्तनामाओ ॥४०॥
पुक्खलवइ आवत्तो, वच्छा सलिलावई जिणचउके ।
मुणिसुव्वयाइपणगे, विजया खित्ताण नामेणं ॥ ४१ ॥

जिनानां चतुष्कत्रिके क्रमश एते विजया ज्ञेया । यथा पुष्कलावतीविजय'-प्रथमे, पञ्चमे, नवमे । वच्छाविजयो- द्वितीये, षष्ठे, दशमे । रमणीयाख्यविजय -तृतीये, सप्तमे, एकादशे । मङ्गलावतीविजय.-चतुर्थे, अष्टमे, द्वादशे । एव द्वादशजिनाना विजयाः कथिता । (जिणतियगे खित्तनामाओ त्ति) जिनत्रिके-विमल. १३ अनन्त' १४ धर्मश्चेति १५ त्रिके क्षेत्रनामतो विजया ज्ञेया. । तेषां विजयाभावात्तत्स्थाने भरतैरावतभरतरूपाणि पूर्वोक्तानि क्षेत्राण्येव ज्ञेयानीति भाव इति गाथार्थ ॥ ४० ॥ तत. शान्ति' कुन्थुररो मल्लिश्चेतिरूपे जिनचतुष्के क्रमेण पुष्कलावत्याद्या विजया. । यथा-पुष्कलावतीविजय षोडशजिने १६ । आवर्त्तविजय सप्तदशे जिने १७ । वच्छाविजयोऽष्टादशे जिने १८ । सलिलावतीविजय एकोनविंशतितमे जिने १६ । (मुणिसुव्वयाइपणगे त्ति) मुनिसुव्रताऽऽदिपञ्चके-मुनिसुव्रतो नमिर्नेमि पार्श्वो वीरश्चेतिरूपे (विजया खित्ताण नामेण ति) क्षेत्रनाम्ना विजया ज्ञेया । एतेषा पञ्चानामपि भरतक्षेत्रसम्भवेन विजयाभावात्तत्स्थाने क्षेत्राणामेव नामानि ज्ञेयानीति भाव. ॥ ४१ ॥ सत्त० ५ द्वार ।

ऋषभ १, सुमति ५, सुविधि. ६, एतेषां पूर्वभवे पुष्कलावतीविजय । अजित' २, पद्मप्रभ ६, शीतल. १०, एतेषां वच्छाविजय । सम्भव ३, सुपार्श्व ७, श्रेयांस ११, एतेषां रमणीयाख्यविजय. । अभिनन्दन ४, चन्द्रप्रभ ८, वासुपूज्य' १२, एतेषां पूर्वभवे मङ्गलावतीविजय' । विमलः १३, अनन्त १४, धर्म. १५, एतेषां क्षेत्रनामतो विजया ज्ञेया., तेषां विजयाभावात्, तत्स्थाने भरतैरावतरूपाणि पूर्वोक्तानि क्षेत्राण्येव ज्ञेयानि । शान्तिजिन १६ पुष्कलावतीविजये । आवर्तविजये कुन्थुजिन १७ । अरजिन १८ वच्छाविजये । मल्लिजिन' सलिलावतीविजये १६ । मुनिसुव्रत २०, नमिः २१, नेमि २२, पार्श्व २३, वीर २४, एतेषां क्षेत्रनाम्ना विजया ज्ञेया, भरतक्षेत्रे विजयाभावात् तत्स्थाने क्षेत्राणामेव नामानीति ।

पूर्वभवस्वर्गाः-

सव्वट्ठे तह विजयं, सत्तमगेविज्जयं दुसु जयंतं ।

नवमं छट्ठं गेवि-ज्जयं तत्रो वेजयंतं च ॥ ५४ ॥

आणय पाणय अच्चुय, पाणय सहसार पाणयं विजयं ।

तिसु सव्वट्ठ जयंतं, अवराइय पाणय चेव ॥ ५५ ॥

अवराइय पाणयगं, पाणयगमिमे य पुव्वभवसग्गा (५६)

सर्वार्थसिद्धनामक विमानमृषभजिने १ । एवं सर्वत्र जिननामपूर्वक योज्यम् । तथा विजय विमानम् २ । सप्तमग्रैवेयकम् ३ । द्वयो -जयन्तम् ४, जयन्तम् ५ । नवमग्रैवेयकम् ६ । षष्ठग्रैवेयकम् ७ । वैजयन्तम् । ८ ॥ ५४ ॥ आनत. ९ । प्राणत १० । अच्युत ११ । प्राणत १२ । सहस्रार १३ । पुन प्राणत १४ । विजयमनुत्तरविमानम् १५ । त्रिषु जिनेषु सर्वार्थसिद्धम् १६, सर्वार्थसिद्धम् १७, सर्वार्थसिद्धम १८ । जयन्त विमानम् १९ । अपराजितविमानम् २० । प्राणतदेवलोक २१ ॥५५॥ अपराजित विमानम् २२ । प्राणतनामा दशमदेवलोक. २३ । प्राणतक. २४ । एते जिनानां पूर्वभवस्वर्गा ज्ञेया ॥ सत्त० १२ द्वार ।

पूर्वभवसूत्राणि-

जंबुद्दीवे णं दीवे इमीसे णं ओसप्पिणीए तेवीसं तित्थगरा पुव्वभवे एक्कारसंगिणो होत्था । तं जहा-अजित संभव अभिणंदण सुमई० जाव पासो वद्धमाणो य । उसभे णं अरहा कोसलिए चोद्दसपुव्वी होत्था । स० २३ सम० ।

तत्र श्रुतलाभद्वारमाह-

पढमस्स बारसंगं, सेसाणिक्कारसंगसुयलंभो ॥

प्रथमस्य भगवत ऋषभस्वामिन पूर्वभवे श्रुतलाभ. परिपूर्ण द्वादशाङ्गम् । अवशेषाणामजितस्वामिप्रभृतीनामेकादशाङ्गानि । यस्य च यावान् पूर्वभवे श्रुतलाभ., तस्य तावान् तीर्थकरजन्मन्यपि अनुवर्त्तते । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

(१०५) फणकारणानि, फणानप्याह-

इग पण नव य सुपासे, पासे फण तिन्नि सग इगार कमा ।

फणिसिज्जासुविणाओ, फणिंदभत्तीएँ नऽन्नेसु ॥१२७॥

(इग पण नव य सुपासे त्ति) एक , पञ्च, नव च फणा सुपार्श्वे सप्तमजिने, (पासे फण तिन्नि सग इगार त्ति) पार्श्वनाथे फणात्रय ३, सप्त ७, एकादश च (कम त्ति) क्रमात् । (फणिसिज्जासुविणाउ त्ति) फणिशय्यास्वप्नात् श्रीसुपार्श्वे जिने फणा., यतो गर्भस्थे भगवति जननी एकफणे पञ्चफणे नवफणेऽपि च नागतल्पे स्वप्नमध्ये स्वा सुप्ता ददर्श ।

यत उक्त श्रीहेमाऽऽचार्यकृतसुपार्श्वचरित्रे-

" सुप्तामेकफणे पञ्च-फणे नवफणेऽपि च ।

नागतल्पे ददर्श स्वा, देवी गर्भे प्रवर्द्धिनि ॥ १ ॥

पृथ्व्या देव्या तदा स्वप्ने, दृष्ट तादृग् महोरगम् ।

शक्रोऽपि चक्रे भगव-न्मूर्द्धि छत्रमिवापरम् ॥ २ ॥

तदादि चासृत्समव-सरणेष्वपरेष्वपि ।

नाग एकफण पञ्च-फणो नवफणोऽथवा ॥ ३ ॥ " इत्यादि ।

(फणिंदभत्तीएँ इति) फणीन्द्रभक्त्या श्रीपार्श्वनाथे । यत फणीन्द्रो धरण. श्रीपार्श्वे पूर्वभवोपकारित्वादतीव भक्तिमानिति कारणात् फणा भवन्ति । (नऽन्नेसिं ति) अन्येषां द्वाविंशतिजिनानां न भवन्ति । इति गाथार्थ. ॥ १२७ ॥ सत्त० ४३ द्वार ।

फलदायका.-

आरुग्गं वोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं च मे दिंतु ।

किं णु हु णिदाणमेतं, ॥

णु इति वितर्के, किमिद निदाण कीरति ? । उच्यति-भासा एत्थ भवति । त जधा -(भासा असच्चमोसा गाधा) सा असच्चामोसा दुवालसविहा । तत्थ जा जायणी सा एसा साहुणो ससारविमोक्खत्थ भवति । "ण हु खीणपेज्जदोसा, देंति समाधिं च बोधिं वा । " आह -जदि न पसीदति, न वा देंति, तो किं नमस्कारो कीरति ? । उच्यते-जधा अग्गी न तूसति, न वा देति, तह वि जो सीतपरिगतो सो अतियति, सो अ सकज्ज निप्फाएति, एव ते वि खीणरागदोसमोहा न किंचि वि देंति, न वा तूसति, जो पुण पणमति, सो अत्थितमत्थ लभति । उक्त च- "चन्द्र दृष्ट्वा यथा तोय," इति श्लोक । अतियवज्जतीह ते वि आरोग्गादीया लाभा लब्भति, जम्हा एतेसिं एते गुणा, तेण परमा भत्ती कातव्वा ।" आ० चू० २ अ० । (वक्तृपृष्टकर्म ' लोगसार ' शब्दे वक्ष्यते)

(१०६) अथ बलवर्णनम्-

निवईहिँ बला बलिणो, कोमिसिलुक्खेवसत्तिणो हरिणो ।

तद्दुगुणबला चक्की, जिणा अपरिमियबला सव्वे ॥१२९॥

हरिसंसयछेयत्थ, वीरेण पयसियं बलं नियय ।

मेरुगिरिकंपणेणं, हेउअभावा न सेसेहिं ॥१३०॥

(निवईहिँ बला बलिणो त्ति) नृपतिभ्यो १ बला बलदेवा बलिनो बलिष्ठा २ । " निवईहिँ" इत्यत्र प्राकृतत्वात्पञ्चम्यर्थे तृतीया । (कोमिसिलुक्खेवसत्तिणो हरिणो त्ति) कोटिशिलोत्पाटनशक्तिमन्तो हरयो वासुदेवा. ३ । (तद्दुगुणबला चक्कि त्ति) तत्तस्माद्वासुदेवबलाद् द्विगुणबलाश्चक्रिण चक्रवर्त्तिन ४ । (जिणा अपरिमिअबला सव्वे त्ति) जिना. सर्वेऽपि अपरिमितबला , अनन्तबला इत्यर्थ । अत्र चक्र्यादीना बलप्रमाण प्रसङ्गात् कथितमिति गाथार्थ । १२९ । (हरिससयच्छेयत्थ ति) इन्द्रसशयच्छेदनार्थम् । (वीरेण पयडिअ बल नियय ति) श्रीवीरेण प्रकटित बल निजकम् । केन प्रकटितम् ?, मेरुपर्वतकम्पनेन । (हेउअभावा न सेसेहिं ति) हेत्वभावाद् न शेषै. शेषजिनै प्रकटित, यत किमपि बलप्रकटने हेतुर्नाभूत्, अतो न प्रकाशितमिति गाथार्थ ॥ १३० ॥ सत्त० ४८ द्वार ।

प्रथमान्तिमयोस्तीर्थकरयो शरीरमाने भिन्नत्व, बले च भिन्नत्व नास्ति, तत्कथम् ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रथमान्तिमजिनयो शरीरमानभेदेऽपि न बले भेद । " अपरिमियबला जिणवरिंदा " इत्यागमप्रामाण्यादविशेषेणाऽनन्तबलत्वमवसीयते । १ प्र० ही० २ प्रका० ।

(१०७) अथ जिनभक्तानां राज्ञा नामान्याह-

भरहसगरमियसेणा, य मित्तविरिओ य सच्चविरिओ य ।

तह अजियसेणराया, दाणविरिय मघवराया य ॥१३१॥

जुद्धविरिय सीमंधर, तिविट्ठविएहु छविट्ठ अ सयभू ।

पुरिसुत्तमविएहू पुरि-ससीह कोणालयनिवो य ॥२२१॥
निवइकुबेर सुभूमा-ऽजिय विजयमहो य चक्किहरिसेणो।
कएहो पसेण सेणिय,जिणाण जिणभत्तरायाणो ॥२२२॥
वित्तीइ सड्ढबारस, लक्खे पीईए दिंति कोडीओ ।
चक्की कणयं हरिणो, रययं निवई सहस्सलक्खे ॥२२३॥
भत्तिविहवाणुरूवं, अन्ने वि य दिंति इब्भमाईया ।
सोऊण जिणाऽऽगमणं, निउत्तमनिउत्तएसुं वा ॥२२४॥

(भरहसगरमियसेणा य) ऋषभशासने भक्तनृपो भरतः १। एव सर्वत्र जिननामपूर्वक भक्तनृपनामानि वाच्यानि । सगर २। मृगसेनश्च ३। (मित्तविरिओ य सच्चविरिओ य) मित्रवीर्यश्च ४। सत्यवीर्यश्च ५ । (तह अजियसेणराया) तथा-अजितसेनो राजा ६। (दाणविरिअ मघवराया य) दानवीर्य ७ । मघवराजा ८ चेति गाथार्थ॰ ॥ २२० ॥ (जुद्धविरिअ सीमधर त्ति) युद्धवीर्य ९। सीमन्धर॰ १० । (तिविठविएहु दुविट्ठु अ सयभू) त्रिपृष्ठविष्णु ११ । द्विपृष्ठश्च १२। स्वयभू वासुदेवः १३ । (पुरिसुत्तमविएहु पुरिससीह त्ति) पुरुषोत्तम॰ वासुदेव॰ १४ । पुरुषसिंह वासुदेवः १५। (कोणालयनिवो य) कोणालकनृपश्च १६। इति गाथार्थः ॥ २२१ ॥ (निवइकुवेरसुभूमा) कुवेरनामा नृपति १७ । सुभूमनामा १८ । (अजियविजयमहो य चक्किहरिसेणो) अजित १९। विजयमहश्च २० । चक्रिहरिषेण २१ । (कएहो पसेण सेणिय त्ति) कृष्णः २२। प्रसेनजित् २३ । श्रेणिक॰ २४। (जिणाण जिणभत्तरायाणो) जिनानामतिजिनभक्ता राजानो भवन्तीति गाथार्थ ॥ २२२॥ (वित्तीइ सड्ढबारस लक्खे पीईइ दिंति कोडीओ) सार्द्धद्वादशलक्षाणि वृत्त्या ददति, प्रीत्या सार्द्धद्वादशकोटीर्ददति। (चक्की कणय) चक्रिण एतावत्कनक ददति । (हरिणो रयय) वासुदेवा एतावत् रजत ददति । (निवई सहसलक्खे) नृपतय॰ सामान्यराजानः सहस्राणि लक्षाणि च क्रमेण वृत्त्या प्रीत्या च ददतीति गाथार्थे ॥ २२३ ॥ (भत्तिविहवाणुरूव) भक्तिविभवानुरूपम । (अन्ने वि अ दिंति इब्भमाईया) अन्येऽपि ददति इभ्यश्रेष्ठिसेनापत्यादय । (सोऊण जिणाऽऽगमण) श्रुत्वा जिनागमनं जिनानामागमन (निउत्तमणिउत्तएसु वा) मकारस्यालाक्षणिकत्वाद् नियुक्तपुरुषेषु वा, अनियुक्तपुरुषेषु वा। इति गाथार्थः ॥ २२४ ॥ सप्त० १०७ द्वार।

(१०८) मनःपर्यवज्ञानिन -

..... . ,मन्ने मणणाणि एगलक्खा य ।
पणयालीससहस्सा, पंचसया इगनवइअहिया ॥२५४॥

सर्वेषां तीर्थकृतामेकीकृता॰ सन्तः मन पर्यवज्ञानिन एकलक्षाश्च (पणयालीससहस्सा) पञ्चचत्वारिंशत्सहस्राणि (पञ्च सया इगनवइअहिया) एकनवत्यधिकपञ्चशतानि १४-५५९१, सर्वेषां जिनाना मन पर्यवज्ञानिसख्या । सप्त० १७ द्वार।

वारससहस्स तिएहं, सयमड्ढा सत्त पंच य दिवड्ढं ।
एगदस सड्ढ छस्सय, दस सहसा चउसया सड्ढा ।३५७।
दससहसा तिन्नि सया,नव दिवड्ढ सया य अट्ठसहसा य।
पंचसय सत्तसहसा, सुविहिजिणे सीयले चेव ॥३५८॥
छसहस्स दोएहमित्तो, पच सहस्सा य पंच य सयाइं ।
पंचसहस्सा चउरो,सहस्स सय पंच यऽब्भहिया ॥३५९॥
चउरो सहस्स तिन्नि य, तिन्नेव सया हवंति चालीसा ।
सहसद्दुगं पंचसया, इगवन्ना अरजिणिंदस्स ॥ ३६० ॥
सत्तरसयाइ पन्ना, पंच दस सया य वार सय सड्ढी ।
सहसो सय अद्धऽट्ठम, पंचेव सया उ वीरस्स ॥३६१॥

" वारससहस्स " इत्यादिगाथापञ्चकम् । त्रयाणामृषभाजितसंभवनाम्नां तीर्थकृतां द्वादश द्वादश मन॰पर्यवज्ञानिसहस्राणि, परमाऽऽदिजिनस्य सार्द्धसप्तशताधिकानि, अजितस्य पञ्चशताधिकानि, शभवजिनस्य सार्द्धशताधिकानि । तथा श्रीअभिनन्दनस्य मन पर्यवज्ञानिनामेकादश सहस्राणि सार्द्धषट्शताधिकानि । श्रीसुमतेर्दशसहस्राणि सार्द्धचतु शताधिकानि । श्रीपद्मप्रभस्य दशसहस्राणि शतत्रयाधिकानि । श्रीसुपार्श्वस्य नव सहस्राणि सार्द्धैकशताधिकानि । श्रीचन्द्रप्रभस्य अष्टौ सहस्राणि । श्रीसुविधिजिनस्य सप्तसहस्राणि पञ्चशताधिकानि । शीतलेऽप्येतावन्त एव। श्रेयांसजिनस्य,श्रीवासुपूज्यजिनस्य च षट् षट् सहस्राणि । (इत्तो त्ति) इतोऽनन्तर विमलजिनस्य पञ्च सहस्राणि पञ्चशताधिकानि ।॰अनन्तजिनस्य पञ्चसहस्राणि । श्रीधर्मस्य चत्वारि सहस्राणि पञ्चशताधिकानि । श्रीशान्तिजिनस्य चत्वारि सहस्राणि । श्रीकुन्थोस्त्रीणि सहस्राणि चत्वारिंशद्धिकशतत्रयाधिकानि । श्रीअरजिनस्य सहस्रद्विकमेकपञ्चाशदधिकपञ्चशताऽभ्यधिकम । श्रीमल्लेः सप्तदश॰ शतानि पञ्चाशदधिकानि । श्रीमुनिसुव्रतस्य पञ्चदशशतानि । श्रीनमिजिनस्य द्वादशशतानि षष्ट्याधिकानि । श्रीनेमेरेक सहस्रम् । श्रीपार्श्वजिनस्य शतान्यर्द्धाष्टमानि, सार्द्धानि सप्त शतानीत्यर्थ॰। श्रीवीरजिनस्य च पञ्चैव शतानीति । प्रव॰ २२ द्वार ।

(महाव्रतानि पञ्च प्रथमान्तिमतीर्थकृतो , चत्वारि मध्यमानां द्वाविंशतेरिति ' गोयमकेसिज्ज ' शब्दे तृतीयभागे ६६० पृष्ठे स्पष्टीकृतम्)

(१०९) तीर्थकरमातृनामानि--

जम्बुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए चउवीसं तित्थगराणं मायरो होत्था । तं जहा-
"मरुदेवि विजय सेणा, सिद्धत्था मंगला सुसीमा य ।
पुहवी लक्खण रामा, नंदा विएहू जया सामा ॥३२२॥
सुजसा सुव्वय अइरा, सिरिया देवी पभावई पउमा ।
वप्पा सिवा य वामा,तिसला देवी य जिणमाया।३२३" स०।

भगवत ऋषभस्वामिनो माता मरुदेवी । अजितस्वामिनो विजया । शभवनाथस्य सेना । अभिनन्दनस्य सिद्धार्था । सुमतिनाथस्य मङ्गला । पद्मप्रभस्य सुसीमा । सुपार्श्वस्य पृथिवी । चन्द्रप्रभस्य लक्ष्मणा । सुविधिस्वामिनो रामा । शीतलस्य नन्दा । श्रेयांसस्य विष्णु॰ । वासुपूज्यस्य जया । विमलस्य श्यामा । अनन्तजिनस्य सुयशा । धर्मनाथस्य सुव्रता । शान्तिनाथस्य अचिरा । कुन्थुनाथस्य श्री । अरस्वामिनो देवी । मल्लिजिनस्य प्रभावती । मुनिसुव्रतस्य पद्मा । नमिनाथस्य वप्रा । अरिष्टनेमे॰ शिवा । पार्श्वनाथस्य वामा । वर्द्धमानस्वामिनस्त्रिशला । प्रव॰ ११ द्वार ।

तीर्थकरमातृगतिः—

अट्ठण्हं जणणीओ, तित्थयराणं तु हुंति सिद्धाओ ।
अट्ठ य सणंकुमारे, माहिंदे अट्ठ बोधव्वा ॥ ३२७ ॥

अष्टानां तीर्थकृतामृषभाऽऽदीनां चन्द्रप्रभान्तानां जनन्यो मातरो भवन्ति सिद्धाः, तदनु सुविध्यादीनां शान्तिनाथपर्यन्तानामष्टौ जनन्यः सनत्कुमारे तृतीये देवलोके गता, तथा कुन्थुप्रभृतीनां श्रीमहावीरान्तानामष्टौ जनन्यो माहेन्द्रचतुर्थदेवलोके गता बोद्धव्या इति । प्रव० १२ द्वार ।

(११०) मोक्षाऽऽसनम्—

वीरोसहनेमीणं, पलियंकं सेसयाण उस्सग्गो ।
पलियंकासणमाणं, सदेहमाणा तिभागूणं ॥ ३१६ ॥

वीरः १,ऋषभ २,नेमि ३,एतेषा जिनाना पर्यङ्काऽऽसनम । शेषजिनानामुत्सर्गं आसनम्,मोक्षगमने इति शेष । पर्यङ्काऽऽसनमानं तु-स्वदेहमानात् तृतीयभागोनं यदा क्रियते, तदा पर्यङ्काऽऽसननान भवतीति । सत्त० १५१ द्वार ।

मोक्षस्थानानि—

अट्ठावयचंपुज्जय-पावासम्मेयसेलसिहरेसु ।
उसभ वसुपुज्ज नेमी, वीरो सेसा य सिद्धिगया ॥

अष्टापदचम्पोज्जयन्तपापासम्मेतशैलशिखरेषु यथाक्रममृषभो वासुपूज्योऽरिष्टनेमिर्वीरो भगवान्, शेषाश्च तीर्थकृतः सिद्धिं गताः । अष्टापदे ऋषभस्वामी सिद्धिमगमत् । चम्पाया वासुपूज्यः । उज्जयन्तेऽरिष्टनेमिः । भगवान्महावीरः पापायाम् । शेषा अजितस्वामिप्रभृतयः सम्मेतशैलशिखरे इति । आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रव० । पञ्चा० ।

(मोक्षतपः) अधुनाऽन्तक्रियाद्वारावसरः। सा चान्तक्रिया निर्वाणलक्षणा, सा कस्य केन तपसा क जाता किंयत्परिवृतस्य चेत्येतदभिधित्सुराह—

निव्वाणमंतकिरिया, सा चोद्दसमेण पढमनाहस्स ।
सेसाण मासिएणं, वीरजिणिंदस्स छट्ठेणं ॥

सा च निर्वाणलक्षणा अन्तक्रिया प्रथमनाथस्याऽऽदितीर्थकृतश्चतुर्दशकेन षड्भिरुपवासैरभूत् । शेषाणामजितस्वामिप्रभृतीनां पार्श्वनाथपर्यन्तानां द्वाविंशतेस्तीर्थकृतां मासिकेन तपसा, मासोपवासेनेत्यर्थः, अन्तक्रियाऽभवत् । भगवतो वीरजिनेन्द्रस्य पुन षष्ठेन-द्वाभ्यामुपवासाभ्याम । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

मोक्षनक्षत्राण्याह—

अभिई मिगसिर अद्दा, पुस्स पुणव्वसु य चित्त अणुराहा ।
जिट्ठा मूलं पुव्वा-साढा धणिट्ठुत्तराभद्दा ॥ ३११ ॥
रेवइ रेवइ पुस्सो, भरणी कत्तिय य रेवई भरणी ।
सवणऽस्सिणि चित्त विसा-ह साइ जिणमोक्खणक्खत्ता ३१२

-ऋषभस्यामिजिन्नक्षत्रे निर्वाणम् १ । एव सर्वत्र । मृगशिर. २ । आर्द्रा ३ । पुष्य. ४ । पुनर्वसु ५ । चित्रा ६ । अनुराधा ७ । ज्येष्ठा ८ । मूलम ९ । पूर्वाषाढा १० । धनिष्ठा ११ । उत्तराभाद्रपदा १२ ॥ ३११ ॥ रेवती १३ । रेवती १४ । पुष्यः १५ । भरणी १६ । कृत्तिका १७ । रेवती १८ । भरणी १९ । श्रवण २० । अश्विनी २१ । चित्रा २२ । विशाखा २३ । स्वाति २४ । एतानि जिनानां क्रमेण मोक्षनक्षत्राणि । सत्त० १४८ द्वार ।

मोक्षपरिवार.—

एगो भयवं वीरो, तेत्तीसाए सह निव्वुओ पासो ।
छत्तीसेहिं पचहिँ, सएहिँ नेमी उ सिद्धिगतो ॥
पंचहिँ समणसएहिं, मल्ली संती उ नवसएहिँ तु ।
अट्ठसएणं धम्मो,सएहिँ छहिँ वासुपुज्जजिणो ॥
सत्तसहस्साऽणंतइ-जिणस्स विमलस्स छस्सहस्साइं ।
पंचसयाइँ सुपासे, पउमाभे तिण्णि अट्ठ सया ॥
दसहिँ सहस्सेहुसभो, सेसा उ सहस्सपरिवुडा सिद्धा ।

वीरो भगवानेक एकाकी सन् निर्वृत. । त्रयस्त्रिंशता साधुभिः सह निर्वृतः पार्श्वनाथ । पञ्चभिः शतैः, षट्त्रिंशैः-षट्त्रिंशदधिकैः सह सिद्धिं गतो नेमिररिष्टनेमिः । पञ्चभिः श्रमणशतै सह परिनिर्वृतो मल्लिस्वामी । नवभिः शतै. परिवृतः शान्तिनाथ. । अष्टभि. शतैर्धर्म. । षड्भि. शतैर्वासुपूज्यजिनः सिद्धि गत । अनन्तजितो जिनस्य निर्वाण गच्छत सप्तसहस्राणि परिवारः । विमलनाथस्य षट् सहस्राणि । पञ्चशतानि सुपार्श्वनाथस्य । पद्मप्रभस्य त्रीणि अष्टोत्तराणि शतानि । दशभिः सहस्रैः परिवृत ऋषभस्वामी निर्वाणमगच्छत् । शेषास्त्वजितस्वामिप्रभृतय उक्तव्यतिरिक्ताः प्रत्येक सहस्रपरिवृता सिद्धाः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रव० ।

मोक्षपथः—

सुमुणिसुसावगरूवो, मुक्खपहो रयणतिगसरूवो वा ।
सव्वजिणेहिँ भणिओ, ... [३२५]

सुमुनय. सुश्रावकास्तद्रूपो मोक्षपथ., रत्नत्रयस्वरूपो वा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपो वा मोक्षपथः सर्वजिनै. कथितः । सत्त० १६० द्वार ।

अथ जिनानां मोक्षमासाऽऽदयः कथ्यन्ते—

माहस्स किण्हतेरसि, दोसुं सियचित्तपंचमी नेया ।
वइसाहसुद्धअट्ठमि, तह चित्ते सुद्धनवमी य ॥ ३०६ ॥
कसिणा मग्गइगारसि, फग्गुणभद्दवयसत्तमी किण्हा ।
भद्दवयसुद्धनवमी, वइसाहे बहुलबीया य ॥३०७॥
कसिणा सावणतइया, आसाढे तह य चउदसी सुद्धा ।
आसाढकसिणसत्तमि, सियपंचमि चित्तजिट्ठेसु ॥३०८॥
जिट्ठे कसिणा तेरसि, वइसाहे पमित्र मग्गसियदसमी ।
फग्गुणसुद्धदुवालसि, किण्हा नवमी य जिट्ठस्स ।३०९।
वइसाहअसियदसमी, आसढे सावणेऽट्ठमी सुद्धा ।
कत्तियऽमावसि सिवमा-समाइभणिया जिणिंदाणं३१०।

(माहस्स किण्हतेरसि) माघस्य कृष्णत्रयोदशी ऋषभस्य निर्वाणे १ । एव सर्वजिनानां नामपूर्वक मोक्षगमनमासाऽऽदि वाच्यम । (दोसु सियचित्तपचमी नेय त्ति) द्वयोरजितशम्भवजिनयो चैत्रस्य श्वेतपञ्चमी ज्ञेया २।३। (वइसाहसुद्धअट्ठमि) वैशाखमासस्य शुक्लाऽष्टमी ४ । (तह चित्ते सुद्धनवमी य) तथा चैत्रे शुक्लनवमी ५ चेति गाथार्थः ॥ ३०६ ॥ (कसिणा मग्गइगारसि) कृष्णा मार्गशीर्षमासस्यैकादशी ६ । (फग्गुणभ-

इवयसत्तमी किएहा) फाल्गुनमासस्य कृष्णा सप्तमी ७ । भाद्रपदमासस्य कृष्णा सप्तमी ८ (भद्दवयसुद्धनवमी) भाद्रपदशुद्धनवमी ९ । (वइसाहे बहुलबीया य) वैशाखे कृष्णद्वितीया १० चेति गाथार्थः ३०७ ॥ (कसिणा सावणतइया) कृष्णश्रावणस्य तृतीया ११ । (आसाढे तह य चउदसी सुद्धा) आषाढे तथा चतुर्दशी शुद्धा श्वेता १२ (आसाढकसिणसत्तमि) आषाढस्य कृष्णा सप्तमी १३ । (सियपंचमि चित्तजिट्ठेसु) श्वेतपञ्चमी चैत्रे १४ । जेष्ठेऽपि श्वेतपञ्चमी १५ । इति गाथार्थः । ॥ ३०८ ॥ (जिट्ठे कसिणा तेरसि) ज्येष्ठे कृष्णा त्रयोदशी १६। (वइसाहे पडिव मग्गसियदसमी) वैशाखे कृष्णा प्रतिपत् १७। मार्गशीर्षस्य श्वेतदशमी १८। (फग्गुणसुद्धबालासि) फाल्गुनशुद्धद्वादशी १९ । (किएहा नवमी य जिट्ठस्स) ज्येष्ठस्य कृष्णा नवमी २० चेति गाथार्थः ॥ ३०९ ॥ (वइसाहअसियदसमी) वैशाखस्य कृष्णदशमी २१। (आसाढे सावणेऽट्ठमी सुद्धा) आषाढे शुद्धाऽष्टमी २२। श्रावणेऽपि शुद्धाऽष्टमी २३। (कत्तियऽमावसि) कार्तिकस्याऽमावास्या श्रीवीरस्य निर्वाणे २४ । (सिवमासमा इत्रणिआ जिणिंदाण त्ति) एवं सर्वजिनेन्द्राणां मोक्षमासाऽऽदयो भणिता.। इति गाथार्थः ॥ ३१० ॥ सत्त० १४७ द्वार ।

मोक्षराशयः-

मयरो वसहो मिहुणो,दुसु कक्कड कन्न दुसु अली य धणू ।
धणु कुंभो तिसु मीणो, कक्कम मेसो वसह मीणो॥३१३॥
मेसो मयरो मेसो,तिसु तुल एए उ मुक्खरासीओ ।(३१४)

ऋषभजिनस्य मोक्षे मकरराशिः १। एवं सर्वजिनानां नामपूर्वं मोक्षराशयो वाच्याः । वृषः २ । मिथुनम् ३ । द्वयोः-कर्कटः ४, कर्कटः ५ । कन्या ६ । द्वयोः जिनवरयोः-अली च वृश्चिक ७, वृश्चिक ८ । धनु ९ । धनु १० । कुम्भ ११ । त्रिषु पुनर्जिनेषु-मीनः १२, मीन १३, मीन. १४ । कर्कट. १५ । मेष १६ । वृषभ १७ । मीन. १८ ॥ ३१३ ॥ मेष १९ । मकर २० । मेष. २१ । त्रिषु जिनेषु-तुला २२, तुला २३, तुला २४। एते तु जिनानां मोक्षराशयः । सत्त० १४८ द्वार ।

मोक्षविनयः-

.. , पंचविहो मोक्खविणओ वि ।
दंसणनाणचरित्ते, तवे य तह उवयारिया चेव ।
एसो हु मोक्खविणओ,दुहा व गिहिमुणिकिरियरूवो॥३२६

दर्शनम्, ज्ञानम्,चारित्राणि, तपः , उपकारिता च । एष पञ्चविधो मोक्षविनयः । द्विविधो वा मोक्षविनयः -गृहस्थक्रियारूपः, मुनिक्रियारूपश्च । सत्त० १६१ द्वार ।

मोक्षवेला-

अवरएहे सिद्धि गया, संभवपउमाभसुविहिवसुपुज्जा ।
सेसा उ महाईया, सेयंसंता उ पुव्वरहे ॥३२१॥
धम्मअरनमीवीरा-अवररत्ते पुव्वरत्तए सेसा (३२२)

अपराह्णे पश्चिमप्रहरे सिद्धिं गताः मोक्षं प्राप्ताः शंभवपद्मप्रभसुविधिवासुपूज्याः । शेषाः ऋषभादिश्रेयांसान्ता अष्टौ जिनाः पूर्वाह्णे सिद्धिं गताः । धर्मारनमिवीरा अपररात्रे मोक्षं गताः । शेषा अष्टौ जिनाः पूर्वरात्रे मोक्षं गताः । सत्त० १४५ द्वार ।

मोक्षारकशेषकालः-

.... ' ' ' ऽरसेसमवि तं तु नियनियाउ विणा । (३२३)

मोक्षारकशेषमपि पूर्ववत् जन्मारकशेषवत् । परन्तु निजनिजायुर्विना अरकशेषमानं भवति । तथाहि-ऋषभस्य जन्मारकशेषे चतुरशीतिलक्षपूर्वाणि नवाशीतिपक्षाधिकानि तन्निजायुर्वा निष्क्रियते, तदा नवाशीतिपक्षा अवशिष्यन्ते । तत एतावत् श्रीऋषभस्य मोक्षारकशेषं भवति । एवं सर्वत्र भावना कार्या । सत्त० १५७ द्वार ।

मोक्षारकाः-

पुव्वं व मोक्खअरया, ' ' ' ' ' ।(३२२)

मोक्षारकः पूर्ववत् । " अरका भणिज्जकालरूवे " इत्यादिना प्रोक्त इत्यर्थः । ऋषभस्य तृतीयारके मोक्षः, शेषाणां चतुर्थारके । सत्त० १५६ द्वार ।

मोक्षावगाहनामानम्-

सव्वेसि सिवोगाहण-तिभागऊणा नियासणपमाणा ॥
(३१७)

सर्वेषां शिवगतानामवगाहना शरीरमानं तृतीयभागोनं निजाऽऽसनप्रमाणात् भवति । सत्त १५२ द्वार ।

(वीराऽऽद्यासनानि 'आसण' शब्दे द्वितीयभागे ४७० पृष्ठे निरूपितानि) (अवगाहना ' ओगाहणा ' शब्दे तृतीयभागे ७६ पृष्ठे निरूपिता)

(१११) अथ राज्यकालमभिधित्सुराह-

तेसट्ठि पुव्वलक्खा, तिपन्न चउचत्त सड्ढ छत्तीसा ।
गुणतीस सड्ढ इगविस,चउदस सड्ढच्छ अड्ढऽद्धं॥१३९॥
अजिआओ जा सुविही, पुव्वंगा ताविमेऽहिया नेया ।
इग चउ अड बारस सो-ल वीस चउवीस अडवीसा॥१४०
तो सयलक्ख दु चत्तो, तो सुन्नं तीस पनर पंच तओ ।
सहस पणवीस तत्तो, पाउणचउवीस इगवीसं ॥ १४१ ॥
सुन्न पनर पण तत्तो, तिसुन्न रज्ज च चक्किकालो वि ।
(१४२)

(तेसट्ठि पुव्वलक्ख त्ति) पूर्वलक्षशब्दस्य दशसु योगात् त्रिषष्टिपूर्वलक्षाणि राज्यकाल ऋषभस्य १। एवं नामग्राहं सर्वत्र वाच्यम् । (तिपन्न चउ चत्त सड्ढ छत्तीसा) त्रिपञ्चाशल्लक्षपूर्वाणि " अजिआउ जा सुविहीत्यादिना" वक्ष्यमाणत्वात् पूर्वाङ्गेण एकेन सहितानि २। चतुश्चत्वारिंशत्पूर्वलक्षाणि चतुःपूर्वाङ्गसहितानि ३ । सार्द्धषट्त्रिंशत्पूर्वलक्षाणि अष्टपूर्वाङ्गाधिकानि ४ । (गुणतीससड्ढइगविस) एकोनत्रिंशत्पूर्वलक्षाणि द्वादशपूर्वाधिकानि ५ । सार्द्धैकविंशतिपूर्वलक्षाणि षोडशपूर्वाधिकानि ६। (चउदस सड्ढच्छ अड्ढऽद्ध) चतुर्दशपूर्वलक्षाणि विंशतिपूर्वाङ्गसहितानि ७ । सार्द्धषट्पूर्वलक्षाणि चतुर्विंशतिपूर्वाङ्गसहितानि ८। अर्द्धं पूर्वलक्षम् । कोऽर्थः ? पञ्चाशत्पूर्वसहस्राण्यष्टाविंशतिपूर्वाङ्गसहितानि ९। केवलमर्द्धपूर्वलक्षं पञ्चाशत्पूर्वसहस्राणीत्यर्थः १०। इति गाथार्थः ॥१३९॥ अथ पूर्वोक्तेषु पूर्वेषु पूर्वाङ्गप्रक्षेपमाह-(अजिआओ जा सुविही पुव्वगा ताविमेऽहिया नेय त्ति) अजितजिनादारभ्य यावत् सुविधिजिनो नवमजिनो भवति, तावदिमानि वक्ष्यमाणानि पूर्वाङ्गान्यधिकानि ज्ञेयानि । तानि दर्शयति-(इग चउ अड बारस सो-ल वीस चउवीस

अट्ठवीस त्ति) एकं १, चत्वारि २, अष्टौ ३, द्वादश ४, षोडश ५, विंशति ६, चतुर्विंशति ७, अष्टाविंशतिः ८। योजना तु प्रागेव दर्शितेति गाथार्थः ॥१४०॥ (तो सयसकम्म दुन्नय त्ति) ...... (?) तत्र शून्य राज्याभाव १२। लक्षशब्दोऽग्रेऽपि योज्यते। त्रिंशल्लक्षवर्षाणि १३। पञ्चाशद्वर्षलक्षाणि १४। ततः पञ्चलक्षवर्षाणि १५। (सहस्सगणवीस सत्तो त्ति) सहस्रशब्दस्य सम्बन्धिन याव-योगः कृत। पञ्चविंशतिवर्षसहस्राणि १६। (पाउणचउवीससहस्र वीस त्ति) पादोनचतुर्विंशतिवर्षसहस्राणि १७ एकविंशतिवर्षसहस्राणि १८। इति गाथार्थः ॥१४१॥ (सुन्न पनर पण तत्तो) शून्य राज्याभाव १९, पञ्चदशसहस्राणि वर्षाणाम् २०। पञ्चवर्षसहस्राणि २१। तत (तिसुन्न रज्ज च चक्किकालो वि) त्रिस्थानेषु शून्य राज्याभावः २२। २३। २४। राज्य च चक्रिणां काल जिनानाम। सत्त० ५५ द्वार।

(११७) अथ रुद्रनामान्याह–

भीमावलि जियसत्तू, रुद्दे विस्सानलो य सुपइट्ठो।
अयलो य पुंडरीओ, अजियधरो अजियनाभो य ॥११८॥
पेढालो सइ सच्चइ, एए रुद्दा इगारसंगधरा।
उसहाजिअ सुविहाई–अइजिण सिरिवीरतित्थभवा ॥११९॥

भीमावलिनामा रुद्रः १। जितशत्रुः २। रुद्र ३। विश्वानल ४। सुप्रतिष्ठ ५। अचलः ६। पुण्डरीक ७। अजितधर ८। अजितनाभ ९ ॥ ११८ ॥ पेढाल १०। सत्यकि ११। एते रुद्रा रुद्रनामकाः महापुरुषा एकादशाङ्गधरा एकादशाङ्गपाठकाः। (उसहाजिअ सुविहाइ–अइजिण सिरिवीरतित्थभव त्ति) ऋषभाजितयोः सुविध्यादिजिनानां श्रीवीरस्य च तीर्थे भवाः। एवमेकादशानामपि तीर्थकृतां तीर्थे एकादशापि रुद्रा। ते च ऋषभशासने भीमावलिनामा जात १। अजितशासने जितशत्रुनामा जात २। सुविधिशासने रुद्रनामा ३। शीतलशासने विश्वानलनामा ४। श्रेयांसशासने सुप्रतिष्ठनामा ५। वासुपूज्यशासने अचलनामा ६। विमलशासने पुण्डरीक ७। अनन्तशासने अजितधर ८। धर्मशासने अजितनाभ ९। श्रीशान्तिशासने पेढाल १०। वीरतीर्थे सत्यकि ११। एते एकादश रुद्रा जाता। सत्त० १६७ द्वार।

अथ जिनवराणां प्रसङ्गाद् गणधराऽऽदिमाण्डलिकान्तानां सुरासुराणां देवानां च रूपवर्णनमाह–

सव्वसुरा जइ रूवं, अंगुट्ठपमाणयं विउव्विज्जा।
जिणपायंगुट्ठं पइ, न सोहए तं जहिंगालो ॥ १२० ॥
गणहरआहारअणु–त्तरा य जाव वण चक्किवासुबला।
मंमलिया जा हीणा, छट्ठाणगया भवे सेसा ॥ १२१ ॥

(सव्वसुरा जइ रूव अंगुट्ठपमाणय विउव्विज्ज त्ति) सर्वे देवाः सम्भूय यद्येक रूपमङ्गुष्ठप्रमाणकमङ्गुष्ठमात्रं विकुर्वेयुः। (जिणपायगुट्ठ पइ त्ति) जिनपादाङ्गुष्ठं प्रति–जिनस्य पादौ जिनपादौ तयोरङ्गुष्ठः जिनपादाङ्गुष्ठ, त प्रति (न सोहए त जहिंगालो) न शोभते तद्रूपं, यथा अङ्गारो, भगवद्रूपाग्रे तदङ्गारसदृश दृश्यते। इति गाथार्थः ॥१२०॥ (गणहरआहारअणुत्तरा य त्ति) गणधराहारकानुत्तराश्च (जाव ण चक्किवासुबल त्ति) यावद् व्यन्तरचक्रिवासुदेवबलदेवाः (मंडलिया जा हीण त्ति) माण्डलिका यावत् क्रमेण रूपेण हीना भवन्ति। यथा जिनेभ्यो गणधरा रूपेण हीनाः १। ततश्चाऽऽहारक शरीरम् २। ततश्चानुत्तरवासिनः सुराः ३। ततो नवमाद्युत्क्रमेण ग्रैवेयकसुरा, ततो द्वादशाद्युत्क्रमेण कल्पवासिनः सुरा, ततो ज्योतिष्कदेवाः, ततो भवनपतिदेवाः, ततो व्यन्तरदेवा रूपेण हीनाः ४। तेभ्योऽपि चक्रिणो रूपेण हीनाः ५। ततो वासुदेवा रूपेण हीनाः ६। ततो बला बलभद्रा रूपेण हीनाः ७। ततो माण्डलिका रूपेण हीना ८। (छट्ठाणगया भवे सेसा) लोकाः षट्स्थानगता भवेयुः। इति गाथार्थः ॥१२१॥ सत्त ४७ द्वार।

(११३) साम्प्रत लाञ्छनान्याह–

वसह गय तुरय वानर कुंचो कमलं च सत्थिओ चंदो।
मयर सिरिवच्छ गंमय, महिस वराहो य सेणो य ॥३८१॥
वज्जं हरिणो छगलो, नंदावत्तो य कलस कुम्मो य।
नीलुप्पल संख फणी, सीहो अ जिणाण चिण्हाइं ॥३८२॥

वृषभ १। गज २। तुरग ३। वानर ४। क्रौञ्च ५। कमल च ६। स्वस्तिक ७। चन्द्रः ८। मकर ९। श्रीवत्स १०। गण्डक ११। महिषः १२। वराहश्च १३। श्येनश्च १४ ॥३८१॥ वज्रम् १५। हरिण १६। छगलक १७। नन्द्यावर्तश्च १८। कलशः १९। कूर्म २०। नीलोत्पलम् २१। शङ्ख २२। फणी २३। सिंहश्च २४। जिनानां नाभेयाऽऽदीनां चिह्नानि क्रमेण ज्ञातव्यानीति। प्रव० २६ द्वार।

लक्षणद्वारम्–

अट्ठुत्तरं सहस्सं, सव्वेसिं लक्खणाइं देहेसु। (१२३)

अष्टोत्तरसहस्र–अष्टाधिक सहस्रं १००८, सर्वेषां तीर्थपानां शरीरेषु लक्षणानि भवन्ति। सत्त० ४४ द्वार।

लोकान्तिकदेवैर्बोधनम्–

सव्वे वि सयंबुद्धा, लोगंतियबोहिया य जीयं ति।
(सव्वेसिं परिच्चाओ, संवच्छरियं महादाणं ॥)

सर्वं एव तीर्थकृतः स्वयंबुद्धा वर्तन्ते, तथापि लोकान्तिकदेवानामिय स्थिति यद्गुत स्वयंबुद्धानपि भगवतो बोधयन्ति, ततो जीतमिति कल्प इति कृत्वा लोकान्तिकदेवैर्बोधिता सन्तो निष्क्रामन्ति। आ० म० १ अ० १ खण्ड। आ० चू०।

अथ वस्त्रवर्णानाह–

पुरिमंतिमतित्थेसुं, ओहनिजुत्तीभणियपरिमाणं।
सियवत्थं इयराणं, वण्णपमाणेहिँ जहलद्धं ॥ २१७ ॥

(पुरिमंतिमतित्थेसु) प्रथमजिनतीर्थे अन्तिमजिनतीर्थे च (ओहनिजुत्तीभणियपरिमाणं) ओघनिर्युक्तिसूत्रोक्तपरिमाणम् (सियवत्थ त्ति) सित श्वेत वस्त्र ज्ञेयम्। (इयराण वण्णपमाणेहिँ जहलद्ध ति) इतरेषां द्वाविंशतिजिनानां वर्णप्रमाणे वस्त्रवर्णैर्यथालब्ध यथाप्राप्तम्, अनियतवर्णमनियतप्रमाण चेत्यर्थः ॥ २१७ ॥ सत्त० १४२ द्वार।

वर्णो जिनानाम्—

पउमाभवासुपुज्जा, रत्ता ससिपुप्फदंत ससिगोरा।
सुव्वयनेमी काला, पासो मल्ली पियंगाभा ॥ ३८३ ॥
वरतवियकणयगोरा, सोलस तित्थंकरा मुणेयव्वा।
एसो वण्णविभागो, चउवीसाए जिणिंदाणं ॥ ३८४ ॥

पद्मप्रभवासुपूज्यौ जपापुष्पवद्रक्तौ । शशिपुष्पदन्तौ-चन्द्रप्रभसुविधी शशिगौरौ चन्द्रवारुरुची । मुनिसुव्रतनेमिनौ इन्द्रनीलमणिवत्कालौ । पार्श्वमल्लिजिनौ प्रियङ्ग्वाभौ, प्रियङ्गु फलिनीतरुः,तदाभौ, नीलावित्यर्थः । वरमकृत्रिमं तापितं यत्कनकं तद्वद् गौराः शेषाः षोडश तीर्थङ्करा ज्ञातव्याः । एष वर्णविभागश्चतुर्विंशतेस्तीर्थकराणामिति । प्रव० ३० द्वार ।

दो तित्थयरा नीलुप्पलसमा वन्नेणं पण्णत्ता । तं जहा– मुणिसुव्वए चेव,अरिट्ठणेमी चेव । दो तित्थयरा पियंगुसमा वन्नेणं पण्णत्ता । तं जहा– मल्ली चेव, पासे चेव । दो तित्थयरा पउमगोरा वण्णेणं पण्णत्ता । तं जहा–पउमप्पहे चेव,वासुपुज्जे चेव । दो तित्थयरा चंदगोरा वण्णेणं पण्णत्ता । तं जहा–चंदप्पभे चेव, पुप्फदंते चेव ।

पद्म रक्तोत्पलं तद्वद्गौरौ, रक्तावित्यर्थः । तथा-चन्द्रगौरौ चन्द्रशुभ्रावित्यर्थः । शेषं सुगमम् । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

(११४) अथ तीर्थकृतां पञ्चत्रिंशद् वाग्गुणानाह–

वयणगुणा सग सद्दे, अत्थे अडतीस मिलिय पणतीसं ।
तेहिँ गुणेहिँ मणुण्णं, जिणाण वयणं कमेण इमं ॥२०२॥
वयणं सक्कयगंभी–रघोसउवयारुदत्तयाजुत्तं ।
पडिनायकरं दक्खि–न्नसहियमुवणीयरागं च ॥ २०३ ॥
सुमहत्थं अव्वाहय–मससयं तत्तनिट्ठियं सिट्ठं ।
पत्थावुचियं पडिहय–परुत्तरं हिययपीइकरं ॥ २०४ ॥
अणुण्णसाभिकंखं, अभिजाय अइसिणिद्धमहुरं च ।
ससलाहापरनिंदा–वज्जियमपइन्नपसरजुयं ॥ २०५ ॥
पयमक्खरपयवक्कं, सत्तपहाणं च कारगाइजुयं ।
ठवियविसेसमुयारं, अणेगजाईविचित्तं च ॥ २०६ ॥
परमम्मविब्भमाई–विलंबवुच्छेयखेयरहियं च ।
अदुयं धम्मत्थजुयं, सलाहणिज्जं च चित्तकरं ॥२०७॥

(वयणगुणा सग सद्दे) भगवद्वचनगुणा एते वक्ष्यमाणा भवन्ति-तत्र शब्दे गुणाः सप्त । (अत्थे अडवीस) अर्थेऽष्टाविंशतिः । (मिलिअ पणतीस) उभयेऽपि मिलिताः पञ्चत्रिंशत् वचनगुणा भवन्ति । (तेहिँ गुणेहिँ मणुण्णं) तैर्गुणैर्मनोज्ञम् (जिणाण वयण कमेण इमं)जिनानां वचनं क्रमेणेदं वक्ष्यमाणं ज्ञेयम् । कोऽर्थः ?- अत्र स्फुटं गुणा न वक्ष्यन्ते,किं तु तैर्विशिष्टं क्रमेण वचनं वक्ष्यतीति गाथार्थः ॥ २०२ ॥ (वयण सक्कयगंभीरघोसउवयारुदत्तयाजुत्त)भगवद्वचनं संस्कृताऽऽदिलक्षणयुक्तम् १,गम्भीरघोषयुक्तं गम्भीरशब्दोपेतं मेघस्येव २,उपचारयुक्तमग्राम्यमित्यर्थः ३। उदात्ततायुक्तमुच्चैर्वृत्तितायुक्तम् ४। (पडिनायकरं दक्खिन्नसहियं)प्रतिनादकरं प्रतिरवोपेतम् ५,दाक्षिण्यसहितम्,सरलत्वयुक्तं न तु किञ्चिदपि वक्रम् ६ । (उवणीअराग च) उपनीतरागं च मालवकैशिक्यादिग्रामरागयुक्तम् ७। एते सप्ताऽपि शब्दापेक्षया गुणाः । इति गाथार्थः ॥२०३॥ अथार्थविवक्षया कथ्यन्ते-(सुमहत्थ) सुष्ठु महार्थं बृहदभिधेयम् ८। (अव्वाहय) अव्याहतं पूर्वापरवाक्यार्थाविरुद्धम् ९, (असंसय) संशयरहितमसंदिग्धम् १०। (तत्तनिट्ठिअ) तत्त्वनिष्ठितं विवक्षितवस्तुस्वरूपानुसारि ११, (सिट्ठ) शिष्टमभिमतसिद्धान्तोक्तार्थं,वक्तुः शिष्टतासूचकं वा १२। (पत्थावुचिअ) प्रस्तावोचितं देशकालानुगुणम् १३।(पडिहयपरुत्तर)निराकृतान्योत्तरं परदूषणाविषयम् १४(हिअयपीइकर) हृदयप्रीतिकरमिति गाथार्थः १५ ॥२०४॥ (अन्नुन्नसाभिकंख) मिथः साभिकाङ्क्षमन्योन्यगृहीतं परस्परेण पदानां वाक्यानां वा सापेक्षतायुक्तम् १६। (अभिजायं) अभिजातं वक्तुः प्रतिपाद्यस्य वा भूमिकाऽनुसारि १७। (अइसिणिद्धमहुरं च)अतिस्निग्धमधुरं च,घृतगुडाऽऽदिवत् सुखकारि १८।(ससलाहापरनिंदावज्जिअ) स्वश्लाघापरनिन्दावर्जितमात्मोत्कर्षपरनिन्दाविप्रमुक्तम् १९। (अपइन्नपसरजुअ) अप्रकीर्णप्रसरयुक्तं सुसंबद्धं सत् प्रसरणयुक्तम् । असंबद्धाधिकारत्वातिविस्तरयोरभावयुक्तमिति गाथार्थः २० ॥ २०५ ॥ (पयडक्खरपयवक्क) प्रकटाक्षरपदवाक्यं वर्णाऽऽदीनां विच्छिन्नत्वयुक्तम् २१।(सत्तप्पहाण च)सत्त्वप्रधानं च साहसोपेतम्२२। (कारगाइजुअ)कारकाऽऽदियुतम्,कारकवचनलिङ्गाऽऽदियुतं तद्विपर्यासरहितम् २३। (ठविअविसेस) स्थापितविशेषमारोपितविशेषं वचनान्तरापेक्षयाऽऽहितविशेषम् २४। (उआर) उदारमभिधेयस्याऽर्थस्यातुच्छत्वयुतम् २५। (अणेगजाईविचित्त च) अनेकजातिविचित्रं जात्या वर्णनीयवस्तुस्वरूपवर्णनानि तत्संश्रयाद्विचित्रं२६,चः पुनरर्थे इति गाथार्थः ॥२०६॥ (परमम्मविब्भमाईविलंबवुच्छेअखेअरहिअ च)परमर्मरहितं परमर्मानुद्घटनस्वरूपम्२७। विभ्रमाऽऽदिरहितं विभ्रमो वक्तृमनसो भ्रान्तता,स आदिर्येषां विक्षेपाऽऽदीनां ते विभ्रमाऽऽदिमनोदोषास्तैर्विप्रमुक्तम् २८। विलम्बरहितम्२९। पदवाक्यवर्णाऽऽदीनां व्युच्छेदरहितं विवक्षितार्थसिद्धिं यावदव्यवच्छिन्नवचनप्रमेयम् ३०। खेदरहितं च अनायाससंभवम् ३१। (अदुअ) अद्रुतमत्यौत्सुक्यरहितम् ३२। (धम्मत्थजुअ) धर्मार्थयुतं धर्मार्थाभ्यामनपेतम् ३३ । (सलाहणिज्ज च) श्लाघनीयं च उक्तगुणयोगात् प्रशंसनीयम् ३४। (चित्तकर) चित्रकरम् उत्पादिताविच्छिन्नकौतूहलम् ३५। इति गाथार्थः ॥२०७॥ सत्त० ९८ द्वार ।

(जिनवाण्यतिशयाः 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे ३२ पृष्ठे दर्शिताः)

(११५) तीर्थकराणां वादिमुनिसंख्याप्रतिपादनार्थमाह–

सड्ढछसया दुवालस, सहस्स वारस य चउसयऽब्भहिया ।
वारेक्कारससहसा, दससहसा छसय पन्नासा ॥३४६॥
छन्नउई चुलसीई, बहत्तरी सट्ठि अद्धपन्ना य ।
पन्नासा य सयाणं, सीयाला अहव वायाला ॥ ३४७॥
बत्तीसा बत्तीसा, अट्ठावीसा सयाण चउवीसा ।
विसहस्सा सोलसया, चउदस वारस दस सयाइँ ।३४८।
अट्ठसया छच्च सया, चत्तारि सयाइँ हुंति वीरम्मि ।
वाइमुणीण पमाणं, चउवीसाए जिणवराणं ॥ ३४९ ॥

" सड्ढछसया " इत्यादिगाथाचतुष्टयम् । प्रथमजिनस्य वादियतीनां द्वादशसहस्राणि सार्द्धषट्शतानि, पञ्चाशदधिकैः षड्भिः शतैरधिकानीत्यर्थः। श्रीअजितजिनस्य द्वादशसहस्राणि चतुःशताधिकानि । श्रीशम्भवस्य द्वादशसहस्राणि। श्रीअभिनन्दनस्य एकादशसहस्राणि। श्रीसुमतिजिनस्य दशसहस्राणि पञ्चाशदधिकषट्शतान्यधिकानि "छन्नउई" इत्यादिगाथायामुत्तरार्द्धवर्त्ति शतानामिति पदं सर्वत्र संबध्यते।ततः श्रीपद्मप्रभस्य वादिनां षण्णवतिः शतानाम्, कोऽर्थः ?,नवसहस्राणि षट्शतैरधिकानीति।

श्रीसुपार्श्वजिनस्य चतुरशीति , चतुर्भिः शतैरधिका अष्टौ सहस्राणि। चन्द्रप्रभस्य षट्सप्तति· शतानाम्,षड्भि· शतैरधिकानि सप्त सहस्राणीत्यर्थः । श्रीसुविधिजिनस्य षष्टिः शतानां,षट्सहस्राणीत्यर्थ' । श्रीशीतलजिनस्य अष्टपञ्चाशच्छतानां, पञ्चसहस्राण्यष्टशताधिकानीत्यर्थः । श्रीश्रेयांसस्य पञ्चाशत् शतानां, पञ्च सहस्राणीत्यर्थ. । श्रीवासुपूज्यस्य सप्तचत्वारिंशच्छतानि, चत्वारि सहस्राणि सप्तशताधिकानीत्यर्थ. । (मदय चायाल त्ति) अथवा मतान्तरेण-श्रीवासुपूज्यस्य द्विचत्वारिंशच्छतानि, चत्वारि सहस्राणि शतद्वयाधिकानीत्यर्थ ' श्रीविमलजिनस्य द्वात्रिंशच्छतानि, त्रीणि सहस्राणि शतद्वयाधिकानीत्यर्थः । श्रीअनन्तजिनस्य द्वात्रिंशच्छतानि। श्रीधर्मजिनस्य अष्टाविंशति शतानां, सहस्रद्वयमष्टशताधिकमित्यर्थ । श्रीशान्तिनाथस्य शतानां चतुर्विंशति', द्वे सहस्रे शतचतुष्टयाधिके इत्यर्थ । श्रीकुन्थुजिनस्य द्वे सहस्रे। श्रीअरनाथस्य षोडश शतानि,षट्शताधिक सहस्रमित्यर्थं । श्रीमल्लिजिनस्य चतुर्दश शतानि, शतचतुष्टयाधिक सहस्रमित्यर्थ । श्रीमुनिसुव्रतस्य द्वादश शतानि, सहस्रमेकं शतद्वयाधिकमित्यर्थ.। श्रीनमिजिनस्य दश शतानि, सहस्रमित्यर्थं । श्रीनेमिजिनस्य अष्टौ शतानि। श्रीपार्श्वजिनस्य षट्शतानि। श्रीवीरजिनस्य चत्वारि शतानि भवन्ति । इति वादिमुनीनां वादसमरेषु सुरासुरैरप्यजेयानां प्रमाण चतुर्विंशतेर्जिनवराणामिति ॥ प्रव० १६ द्वार । स्था० ।

तीर्थकरविवाहविषय -

मल्लिं नेमिं मुत्तुं, सेसाणं विवाहो य भोगफला ।(१३५)

मल्लिजिनं नेमिजिनं च मुक्त्वा, शेषा द्वाविंशतिजिनानामुक्तव्यतिरिक्तानां विवाहश्च जातो भोगफलात्, भोगफलकर्मोदयादित्यर्थ. । सत्त० ५२ द्वार ।

तीर्थकृतां येषु ग्रामनगराऽऽदिषु विहार आसीत्तदेवाऽऽह-

मगहारायगिहाइसु, मुणश्रो खेत्तारिएसु विहरिंसु ।
उसभो य नेमि पासो, वीरो य अणारिएसुं पि ॥

मन्यन्ते स्म जगत· समस्तस्यापि त्रिकालावस्थामिति मुनयो भगवन्तस्तीर्थकृत ,ते सर्वेऽपि मगधाऽऽदिषु जनपदेषु राजगृहाऽऽदिषु नगरेषु,क्षेत्रार्येषु आर्यक्षेत्रेषु,विहृतवन्त·। इह आर्यक्षेत्रचिन्ताया शास्त्रान्तरेषु मगधाऽऽदयो जनपदा ,राजगृहाऽऽदीनि च नगराण्युक्तानीत्यत्रापि " मगहारायगिहाइसु " इत्युक्तम्, अन्यथा ऋषभस्वामिन आदितीर्थकरत्वात्तदनुरोधेन नगरचिन्तायां विनीताऽऽदिरित्युच्येतेति । ऋषभस्वामी, अरिष्टनेमि , पार्श्वनाथो, वीरश्च भगवानित्येते चत्वारस्तीर्थकृतोऽनार्येष्वपि क्षेत्रेषु विहृतवन्त । आ० म० १ अ० १ खण्ड।

(११६) वैक्रियकमुनयः-

वेउव्वियलद्धीणं, वीससहस्सा य सयछगऽब्भहिया ।
वीससहस्सा चउसय, इगुणवीससहस्स अट्ठसया ।३४२।
इगुणिससहस्स अट्ठा-र चउसया सोलसहस अट्ठ सया ।
सतिसय पनरस चउदस,तेरस बारस सहस दसये ।३४३।
इक्कारस दस नव अ-ट्ठ सत्त ठ सहस्स एगवन्न सया ।
सत्त सहस्स सतिसया,दुन्नि य सहसा नवसयाइं ।३४४।
दुन्नि सहस्सा पंच य, सहस्स पनरस सयाइ नेमिम्मि ।
इक्कारससय पासे, सयाइं सत्तेव वीरजिणे ॥ ३४५ ॥

" वेउव्वियलद्धीण " इत्यादिगाथाचतुष्टयम् । वैक्रियलब्धिमतां नानाविधवैक्रियरूपकरणशक्तानां मुनीनामादिजिनेन्द्रस्य विंशतिः सहस्राणि, षट्शताभ्यधिकानि । श्रीअजितजिनस्य विंशतिसहस्राणि सचतु'शतानि,शतचतुष्टयाधिकानि । श्रीशम्भवजिनस्यैकोनविंशतिः सहस्राणि शताष्टकाधिकानि। श्रीअभिनन्दनस्यैकोनविंशतिः सहस्राणि । श्रीसुमतिजिनस्य चतु.शताधिकानि अष्टादश सहस्राणि । श्रीपद्मप्रभस्य षोडश सहस्राणि अष्टोत्तरशताधिकानि। श्रीसुपार्श्वजिनस्य शतत्रयाधिकानि पञ्चदश सहस्राणि । श्रीचन्द्रप्रभस्य चतुर्दश सहस्राणि। श्रीसुविधेस्त्रयोदश सहस्राणि। श्रीशीतलस्य द्वादश सहस्राणि। श्रीश्रेयांसस्यैकादश सहस्राणि। श्रीवासुपूज्यस्य दश सहस्राणि। श्रीविमलस्य नव सहस्राणि। श्रीअनन्तजिनस्याष्टौ सहस्राणि। श्रीधर्मजिनस्य सप्त सहस्राणि। श्रीशान्तिनाथस्य षट् सहस्राणि। श्रीकुन्थुजिनस्यैकपञ्चाशत् शतानि, पञ्चसहस्राण्येकशताधिकानीत्यर्थ· । श्रीअरजिनस्य सप्त सहस्राणि त्रिभि· शतैरधिकानि। श्रीमल्लिजिनस्य द्वे सहस्रे नवशताधिके । श्रीमुनिसुव्रतस्य द्वे सहस्रे। श्रीनमिजिनस्य पञ्च सहस्राणि। श्रीनेमिजिनस्य पञ्चदश शतानि । श्रीपार्श्वजिनस्य एकादश शतानि । श्रीवीरजिनस्य शतानि सप्तैवेति ॥ प्रव० १८ द्वार ।

आर्यासंग्रहप्रमाणमृषभाऽऽदिजिनानाम्-

तिन्नेव य लक्खाइं, तिण्णि य तीसाई तिन्नि छत्तीसा ।
तीसा य छच्च पंच य, तीसा चउरो य वीसाइं ॥
चत्तारि य तीसाइं, तिण्णि असीया य तिण्णि मित्तो य ।
वीसुत्तर छलऽहियं, तिसहस्सऽहियं च लक्खं च ॥
लक्खं अट्ठ सयाणि य, बासट्ठिसहस्स चउसयसमग्गा ।
एगट्ठी छच्च सया, सट्ठिसहस्सा सया छच्च ॥
सट्ठि पणपन्न पन्ने-गचत्त चत्ता तहऽट्ठतीसं च ।
छत्तीसं च सहस्सा, अज्जाणं संगहो एसो ॥

भगवत आदितीर्थकरस्याऽऽर्यिकाणां त्रीणि लक्षाणि । अजितस्वामिनस्त्रीणि लक्षाणि, त्रिंशानि-त्रिंशत्सहस्राभ्यधिकानि । शम्भवनाथस्य त्रीणि लक्षाणि षट्त्रिंशत्सहस्राभ्यधिकानि । अभिनन्दनस्य षट् लक्षाणि, त्रिंशानि-त्रिंशत्सहस्राभ्यधिकानि। सुमतिनाथस्य पञ्च लक्षाणि त्रिंशत्सहस्राधिकानि । पद्मप्रभस्य चत्वारि लक्षाणि विंशतिसहस्राधिकानि। सुपार्श्वस्य चत्वारि लक्षाणि त्रिंशत्सहस्राण्यधिकानि । चन्द्रप्रभस्वामिनस्त्रीणि लक्षाण्यशीतिसहस्रोत्तराणि। सुविधिस्वामिनस्त्रीणि परिपूर्णानि लक्षाणि। (तिण्णि मित्तो य इति) त्रिलक्षमात्रमार्यासंग्रह इति गम्यते इत्यर्थ. । शीतलनाथस्य विंशत्युत्तर विंशतिसहस्राधिक लक्षम् । श्रेयांसस्य षट्सहस्राधिक लक्षम् । वासुपूज्यस्य त्रिसहस्राधिक लक्षम् । विमलनाथस्य परिपूर्णं लक्षम् । अनन्तजितो लक्षमेकमष्टौ च शतानि । धर्मनाथस्य द्वाषष्टिसहस्राणि चतु'शतसमग्राणि-चतु·शताभ्यधिकानि । शान्तिनाथस्य एकषष्टि' सहस्राणि षट्शतानि । कुन्थुनाथस्य षष्टि सहस्राणि षट्शतानि। अरनाथस्य षष्टि· सहस्राणि। मल्लिस्वामिन· पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि । मुनिसुव्रतस्वामिन पञ्चाशत्सहस्राणि । नमिनाथस्यैकचत्वारिंशत्सहस्राणि । अरिष्टनेमेश्चत्वारिंशत्सहस्राणि । पार्श्वनाथस्याऽष्टात्रिंशत्सहस्राणि ।

भगवतो वर्द्धमानस्वामिन. षट्त्रिंशत्सहस्राणि । एवमृषभाऽऽदीनां जिनानां यथाक्रममार्यिकासंग्रह. । आ० म० १ अ० १ खण्ड।

सर्वसयतीनां सख्या-

चोआलीसं लक्खा, बायालसहस्स चोसयसमग्गा ।
अज्जाछक्कं एसो, अज्जाणं संगहो कमसो ॥३४१॥

चतुश्चत्वारिंशल्लक्षाणि षट्चत्वारिंशत्सहस्रैश्चतु शताधिकै. समग्राणि पूर्णाणि आर्याषट्क च, एष आर्यिकाणा सग्रह इति । प्रव० १९ द्वार ।

अथ मुनिस्वरूपम्-

पढमियरवीरतित्थे, रिउजड-रिउपन्न-वक्कजमा (९९३)

प्रथमजिनतीर्थे मुनय. ऋजुजमा , इतरस्मिन् मध्यमजिनतीर्थे ऋजुप्राज्ञा', वीरतीर्थे मुनयो वक्रजमाः। सत्त० १३६ द्वार ।

सयतप्रमाणम्-

चुलसीइं च सहस्सा, एगं च दुवे य तिन्नि लक्खाइं ।
तिन्नि य वीसऽहियाइं, तीसऽहियाइं च तिन्नेव ॥
तिन्नि य अड्ढाइज्जा, दुवे य एगं च सयसहस्साइं ।
चुलसीइं च सहस्सा, बिसत्तरिं अट्ठसट्ठिं च ॥
छावट्ठिं चोवट्ठिं, बावट्ठिं सट्ठिमेव पन्नासा ।
चत्ता तीसा वीसा, अट्ठारस सोलस सहस्सा ॥
चोद्दस य सहस्साइं, जिणाण जइसीससंगहपमाणं ।

भगवत ऋषभस्वामिनश्चतुरशीतिसहस्राणि श्रमणानाम् । एक लक्षम्-अजितस्य । द्वे लक्षे शम्भवनाथस्य । त्रीणि लक्षाणि अभिनन्दनस्य । सुमते' त्रीणि लक्षाणि विंशतिसहस्राभ्यधिकानि । पद्मप्रभस्य त्रीणि लक्षाणि त्रिंशत्सहस्राधिकानि । सुपार्श्वस्य त्रीणि लक्षाणि । चन्द्रप्रभस्य अर्द्धतृतीयानि लक्षाणि । सुविधेर्द्वे लक्षे । शीतलस्य एक लक्षम् । श्रेयांसस्य चतुरशीति. श्रमणानां सहस्राणि । वासुपूज्यस्य द्वासप्ततिः सहस्राणि । विमलस्य अष्टषष्टि' सहस्राणि । अनन्तजिनस्य षट्षष्टि. सहस्राणि । धर्मनाथस्य चतु.षष्टि सहस्राणि । शान्तिनाथस्य द्वाषष्टि. सहस्राणि । कुन्थुनाथस्य षष्टि. सहस्राणि । अरनाथस्य पञ्चाशत्सहस्राणि । मल्लिनाथस्य चत्वारिंशत्सहस्राणि । मुनिसुव्रतस्वामिनस्त्रिंशत्सहस्राणि । नमिस्वामिनो विंशति. सहस्राणि । अरिष्टनेमेरष्टादश सहस्राणि । पार्श्वनाथस्य षोडश सहस्राणि । भगवतो महावीरस्य चतुर्दश सहस्राणि । एतद्यतिशिष्यसग्रहप्रमाण जिनानामृषभाऽऽदीनां यथाक्रममवसातव्यम् । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

एतेषां सर्वसङ्ख्यामीलनेन यद् भवति तदाह-

अट्ठावीसं लक्खा, अडयालीसं च तह सहस्साइं ।
सव्वेसिं पि जिणाणं, जईण माणं विणिद्दिट्ठं ॥३३६॥

(अट्ठावीसमित्यादि) अष्टाविंशतिर्लक्षाणि अष्टचत्वारिंशच्च तथा सहस्राणि सर्वेषामपि जिनाना सर्वसङ्ख्यया यतीनां मान परिमाणं विनिर्दिष्ट विनिश्चितमेतच्च ये श्रीजिनेन्द्रैर्निजकरकमलेन दीक्षितास्तेषामेवैकत्र पिण्डिततत्परिमाण,न पुनर्गणधराऽऽदिभिरपि ये दीक्षिता ,तेषामतिबहुत्वादिति । प्रव० १७ द्वार ।

तीर्थकृतां सयमनिरूपणम्-

सं-जमो य पढमंतिमाण दुविगप्पो ।
सेसाणं सामइओ, सत्तरभंगो य सव्वेसिं ॥

संयमोऽपि सामायिकाऽऽदिरूप प्रथमान्तिमजिनयोर्द्विविकल्पः । इत्वर सामायिक, छेदोपस्थापनीय चेत्यर्थः । शेषाणां मध्यमानां द्वाविंशतितीर्थकृतां यावत्कथिकमेवैक सामायिक, न शेष छेदोपस्थापनाऽऽदि, तथाकल्पत्वात् । सप्तदशाङ्गः सप्तदशभेद', च पुनरर्थे । सर्वेषां तीर्थकृतामभूत् । ते च सप्तदश भेदा अमी-" पञ्चास्रवाद्विरमण. पञ्चेन्द्रियनिग्रह: कषायजय' । दण्डत्रयविरतिश्चे-तिसयमः सप्तदशभेदः ॥ १ ॥ " आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

(११७) इदानीं परित्यागद्वारमाह-

संवच्छरेण होही, अभिनिक्खमणं तु जिणवरिंदाणं ।
तो अत्थसंपयाणं, पवत्तए पुव्वसूरम्मि ॥

संवत्सरेण जिनवरेन्द्राणामभिनिष्क्रमण भविष्यति, ततोऽर्थसंप्रदानमर्थस्य सम्यक् तीर्थप्रभावनाबुद्ध्या, अनुकम्पाबुद्ध्या च, न तु कीर्तिबुद्ध्या,प्रदान जनेभ्य प्रवर्तते पूर्वसूर्ये,पूर्वाह्न इत्यर्थः।

कियत्प्रतिदिवस दीयते ?, इत्याह—

एगा हिरण्णकोडी, अट्ठेव अणूणगा सयसहस्सा ।
सूरोदयमाईयं, दिज्जइ जा पायरासाओ ॥

एका हिरण्यस्य कोटी अष्टौ चाऽन्यूनानि परिपूर्णानि शतसहस्राणि लक्षाणि इति प्रतिदिवस दीयते । कथ दीयते ?, इत्याहसूर्योदय आदौ यस्य दानस्य तत्सूर्योदयाऽऽदि,क्रियाविशेषणमेतत् । सूर्योदयादारभ्य दीयते इति भाव'। कियन्त काल यावदित्याह-प्रातराशात्-प्रातः प्रभाते अशनमाश., प्रातराशः, तस्मात्तमभिव्याप्य, प्रातर्भोजनकाल यावदिति भाव. ।

यथा दीयते तथा प्रतिपादयन्नाह-

सिंघाडगतिगचउक्क-चच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु ।
दारेसु पुरवराणं, रत्थामुहमज्झयारेसु ॥

शृङ्गाटकं नाम-शृङ्गाटकाऽऽकृतिपथयुक्त त्रिकोण स्थानम्, त्रिक यत्र रथ्यात्रय मिलति, चतुष्कं चतुष्पथसमाहारः, चत्वरं बहुरथ्यापातस्थानम्, चतुर्मुखं यस्माच्चतसृष्वपि दिक्षु पन्थानो निस्सरन्ति, महापथो राजपथ , शेषः सामान्यः पन्थाः पथः, तत एतेषां द्वन्द्वः । तथा पुरवराणां द्वारेषु, प्रतोलीष्वित्यर्थः । तथा-रथ्यानां मुखानि-प्रवेशाः, मध्यकारा मध्य एव, काराशब्दस्य स्वार्थिकत्वात्, रथ्यामुखमध्यकाराः, तेषु ।

किमित्याह-

वरवरिया घोसिज्जइ, किमिच्छियं दिज्जए बहुविहीए ।
सुरअसुरदेवदाणव-नरिंदमहियाण निक्खमणे ॥

वर याचध्व वर याचध्वमित्येव घोषणा समयपरिभाषया वरवरिकोच्यते । सा वरवरिका पूर्वं शृङ्गाटकाऽऽदिषु घोष्यते । तत क किमिच्छति ?-यो यदिच्छति तस्य तद्दानं समयपरिभाषयैव किमिच्छिकमुच्यते, किमिच्छिक यथा भवति एव दीयते। कः?,इत्याह-सुरैर्वैमानिकज्योतिष्कैरसुरैर्भवनपतिव्यन्तरै ,देवदानवनरेन्द्रैरिति । इन्द्रग्रहणं प्रत्येकमभिसबध्यते-देवेन्द्रैः शक्राऽऽदिभि , दानवेन्द्रैश्चमरेन्द्राऽऽदिभि , नरेन्द्रैश्चक्रवर्तिप्रभृतिभिर्महितानां भगवतां तीर्थकृतां निष्क्रमणे इति ।

साम्प्रतमेकैकेन तीर्थकृता कियद्द्रव्यजात सवत्सरेण दत्तमित्येतत्प्रतिपादयन्नाह-

तिन्नेव य कोडिसया, अट्ठासीयं ति हुंति कोडीओ ।

असिइं च सयसहस्सा, एयं संवच्छरे दिन्नं ॥

त्रीण्येव कोटिशतानि, अष्टाशीतिश्च भवन्ति कोट्य, अशीतिश्च शतसहस्राणि ३८८८००००००, एतावत्प्रमाणमेकैकेन तीर्थकृता सवत्सरे दत्तम्। एतच्च प्रतिदिनदेय त्रिंशि- षष्ट्यधिकै र्वासरशतैर्गुणयित्वा परिभावनीयम्। आ०म० १ अ०१ खण्ड।

['दाण'-' महादाण ' शब्देऽस्य महादानत्व यद्यते, हारिभद्राष्टके, पञ्चाशकेचाऽस्य प्रयोजन फल च]

(११८) श्राविकामानमाह-

पढमस्स पंच लक्खा, चउपन्न सहस्स तयणु पण लक्खा ।
पणयालीस सहस्सा, छ लक्ख छत्तीस सहसा य ॥ ३७० ॥
सत्तावीस सहस्सा-ऽहिय लक्खा पंच पंच लक्खा य ।
सोलससहस्सअहिया, पण लक्खा पंच ल सहस्सा ॥ ३७१ ॥
उवरिं चउरो लक्खा, धम्मो जा उवरि सहस तेणउई ।
इगनवई इगहत्तरि, अडवन अडयाल छत्तीसा ॥ ३७२ ॥
चउवीसा चउदस ते-रसेव तत्तो तिलक्ख जा वीरो ।
तदुवरि तिनवइ इगासी, विसत्तरी सयरि पन्नासा ३७३ ॥
अमयाला बत्तीसा, इगुणचत्तऽट्ठारसेव य सहस्सा ।
सड्ढीण माणमेयं, चउवीसाए जिणवराण ॥ ३७४ ॥

तत्र प्रथमस्याऽऽदिजिनस्य श्राविकाणां पञ्च लक्षाणि चतु पञ्चाशत्सहस्राधिकानि । तदनु प्रथमतीर्थकरादनन्तरम्-अजितस्य श्राविकाणा पञ्च लक्षाणि पञ्च चत्वारिंशत्सहस्राधिकानि । श्रीशंभवस्य षट् लक्षाणि षट्त्रिंशत्सहस्राणि च । अभिनन्दनस्य सप्तविंशतिसहस्राधिकानि लक्षाणि पञ्च । सुमतिजिनस्य लक्षाणि पञ्च षोडशसहस्राधिकानि । श्रीपद्मप्रभस्य लक्षाणि पञ्च पञ्चसहस्राधिकानि । इत उपरि पद्मप्रभादारभ्य धर्मजिन यावत् श्राविकाणा चत्वारि लक्षाणि । प्रत्येकमुपरि च त्रिनवत्यादीनि सहस्राणि । कोऽर्थ ?-सुपार्श्वस्य श्राविकाणां लक्षचतुष्टय त्रिनवतिसहस्राधिकम्। चन्द्रप्रभस्य लक्षचतुष्टयमेकनवतिसहस्राधिकम्। सुविधेर्लक्षचतुष्टयमेकसप्ततिसहस्राधिकम्। शीतलस्य लक्षचतुष्टयमष्टपञ्चाशत्सहस्राधिकम्। श्रेयांसस्य लक्षचतुष्टयमष्टचत्वारिंशत्सहस्राधिकम्। वासुपूज्यस्य लक्षचतुष्टयं षट्त्रिंशत्सहस्राधिकम्। विमलस्य लक्षचतुष्टय चतुर्विंशतिसहस्राधिकम्। अनन्तस्य लक्षचतुष्टय चतुर्दशसहस्राधिकम्। धर्मस्य लक्षचतुष्टय त्रयोदशसहस्राधिकम्। तत श्रीशान्तिनाथादारभ्य प्रत्येक लक्षत्रय श्राविकाणां यावन्महावीरम्, तदुपरि च त्रिनवत्यादीनि सहस्राणि । तत्र श्रीशान्तेर्लक्षत्रय त्रिनवतिसहस्राधिकम्। कुन्थोर्लक्षत्रयमेकाशीतिसहस्राधिकम्। अरजिनस्य लक्षत्रय द्विसप्ततिसहस्राधिकम्। मल्लेर्लक्षत्रय सप्ततिसहस्राधिकम्। मुनिसुव्रतस्य लक्षत्रय पञ्चाशत्सहस्राधिकम्। श्रीनमेर्लक्षत्रयमष्टचत्वारिंशत्सहस्राधिकम्। श्रीनेमेर्लक्षत्रयं षट्त्रिंशत्सहस्राधिकम्। श्रीपार्श्वस्य लक्षत्रयमेकोनचत्वारिंशत्सहस्राधिकम् । वीरजिनस्य च लक्षत्रयमष्टादशसहस्रैराधिकम्। श्राविकाणां मानमेतत् चतुर्विंशतिजिनानाम्। प्रव० २५ द्वार ।

सर्वसंख्या-

इगकोडी पण्णलक्खा, अडतीससहस्स सड्ढीओ ॥ ३४६ ॥

सर्वेषां जिनानां पिण्डीकृता एका कोटिः, पञ्च लक्षाणि, अष्टत्रिंशत्सहस्राणि श्राविका १०५३८०००। सत्त० ११५ द्वार।

(११९) उत्कृष्टजघन्याभ्यां विचरतां तीर्थकृतां संख्यां, तथोत्कृष्टजन्याभ्यां तेषां जन्मसंख्या चाऽऽह-

सत्तरिसयमुक्कोसं, जहन्न वीसा य दस य विहरंति ।
जम्मं पइ उक्कोसं, वीस दस य हुंति उ जहन्ना ॥ ३२७ ॥

सप्तत्यधिक शतमुत्कृष्टत एककाल तीर्थकृतः समयक्षेत्रे विहरन्ति, पञ्चसु भरतेष्वेकैकस्य भावात्, ऐरवतेष्वपि पञ्चसु तावतां भावात्, पञ्चसु महाविदेहेषु प्रत्येक द्वात्रिंशता विजये कलितेषु तीर्थकृतां षष्ट्यधिकशतस्य सद्भावादेतत्संख्यायाः सम्भव इति । तथा-जघन्यतो विंशतिस्तीर्थकृत एककाल विहरमाणाः प्राप्यन्ते । तथाहि-जम्बूद्वीपस्य पूर्वविदेहे शीतामहानद्या द्विभागीकृते दक्षिणोत्तरदिग्भागेनैकैकस्य सद्भावाद् द्वौ, अपरविदेहे शीतोदाया महानद्या द्विभागीकृते तथैव द्वौ जिनेन्द्रौ, मिलिताश्चत्वार., एवमपरद्वीपद्वयसत्कभिमहाविदेहचतुष्टयेऽपि चत्वारश्चत्वार इति पञ्चचतुष्कका विंशतिः, भरतैरावतयोस्तु एकान्तसुषमाऽऽद्यभाव एव। अन्ये तु सूरयो दशैव जघन्यतो विहरन्तीति मन्यन्ते, पञ्चाना महाविदेहाना पूर्वापरविदेहयो प्रत्येकमेकैकस्य विहरत सद्भावेन दशानामेव तीर्थकृतां प्राप्यमाणत्वात्। तथा-जन्म प्रति जन्माऽऽश्रितोत्कृष्टत एककाल विहरमाणजिनविंशतिवद् विंशतिस्तीर्थकृतो भवन्ति । यतः सर्वेषामपि तीर्थकृतामर्द्धरात्रसमय एव जन्म, ततो महाविदेहेषु तीर्थकृज्जन्मसमये भरतैरावतक्षेत्रेषु दिवससद्भावेन तीर्थकृदुत्पत्त्यभावादेतावन्त एव प्राप्यन्ते। ननु महाविदेहवर्त्तिषु विजयेषु चतुर्भ्योऽधिकानामपि तीर्थकृतामुत्पत्तेः समवात कथमुत्कृष्टपदे विंशतिरेवेति ? । उच्यते-इह हि मेरौ पण्डकवने चूलिकायाश्चतसृषु पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु प्रत्येक चतुर्योजनप्रमाणबाहल्याः पञ्चयोजनशतप्रमाणाऽऽयामा मध्यभागेऽर्द्धतृतीययोजनशतप्रमाणविष्कम्भा अर्द्धचन्द्रसस्थानसंस्थिताः सर्वश्वेतसुवर्णमय्यश्चतस्रोऽभिषेकशिला., तत्र चूलिकायाः पूर्वदिग्भाविन्यां पाण्डुकम्बलशिलायां द्वे तीर्थकराभिषेकसिंहासने। तद्यथा-एकमुत्तरत, एक दक्षिणत। तत्र ये शीताया महानद्या उत्तरत कच्छाऽऽदिषु विजयेषु तीर्थकरा उपजायन्ते, ते औत्तराहे सिंहासने सुरेन्द्रैरभिषिच्यन्ते। ये पुन. शीताया महानद्या दक्षिणतो मङ्गलावतीप्रमुखेषु विजयेषूत्पद्यन्ते, ते दाक्षिणात्ये सिंहासनेऽभिषिच्यन्ते। तथा चूलिकाया. पश्चिमदिग्भाविन्यां रक्तकम्बलशिलायां द्वे सिंहासने। तद्यथा-एकमुत्तरत, एक दक्षिणत.। तत्र शीतोदाया महानद्या दाक्षिणत. पद्माऽऽदिषु विजयेषु तीर्थकरा उत्पद्यन्ते, ते दाक्षिणात्ये सिंहासनेऽभिषिच्यन्ते। ये तु शीतोदाया महानद्या उत्तरतो गन्धिलावतीप्रमुखेषु विजयेषु जायन्ते, ते उत्तराहे सिंहासने। तथा चूलिकाया दक्षिणदिग्भाविन्यामतिपाण्डुकम्बलशिलायां ये भरतक्षेत्रसमुद्भवास्तीर्थकरास्तेऽभिषिच्यन्ते। उत्तरदिग्भाविन्यां त्वतिरक्तकम्बलशिलायामैरवतक्षेत्रसमुद्भवास्तीर्थकरास्तेऽभिषिच्यन्ते। सिंहासनानि च सर्वरत्नमयानि सर्वाण्यपीत्येव पञ्चधनुःशताऽऽयामविष्कम्भान्यर्द्धतृतीयधनुःशतबाहल्यानीति । ततः समधिकाभिषेकसिंहासनाभावादेव विदेहेषु चतुर्भ्योऽधिकानां तीर्थकृतामेककालमुत्पत्त्यभाव इति॥ जघन्यतः पुनर्दशैव एककालमुत्पद्यन्ते, पञ्चसु भरतेषु पञ्चसु चैरवतेषु प्रत्येकमेकैकस्य सद्भावात्। भरतैरवतेषु हि जिनजन्मसमये महाविदेहेषु दिनसद्भावान्नाधिकानामुत्पत्तिरिति । प्रव० १३-१४ द्वार ।

(१२०) सर्वायुः-

चउरासीइ बिसत्तरि, सट्ठी पण्णासमेव लक्खाइं ।
चत्ता तीसा वीसा, दस दो एगं च पुव्वाणं ॥
चउरासीइं बाव-त्तरी य सट्ठी य होइ वासाणं ।
तीसा य दस य एगं, च एवमेए सयसहस्सा ॥
पंचाणउइसहस्सा, चउरासीई य पंचपण्णा य ।
तीसा य दस य एगं, सयं च बावत्तरी चेव ॥

भगवत आदितीर्थकरस्य सर्वायुश्चतुरशीतिपूर्वाणां लक्षाणि । अजितस्वामिनो द्वासप्तति पूर्वलक्षाणि । शम्भवनाथस्य षष्टि पूर्वलक्षाणि । अभिनन्दनस्य पञ्चाशत्पूर्वलक्षाणि । सुमतेश्चत्वारिंशत् । पद्मप्रभस्य त्रिंशत् । सुपार्श्वस्य विंशतिः । चन्द्रप्रभस्य दश पूर्वलक्षाणि । सुविधेर्द्वे पूर्वलक्षे । शीतलस्यैकं पूर्वलक्षम् ॥ श्रेयांसस्य चतुरशीतिवर्षशतसहस्राणि । वासुपूज्यस्य द्विसप्ततिवर्षलक्षाणि । विमलस्य षष्टिवर्षलक्षाणि । अनन्तजितस्त्रिंशद्वर्षलक्षाणि । धर्मस्य दशवर्षलक्षाणि । शान्तिनाथस्यैकं वर्षलक्षम् । कुन्थुनाथस्य पञ्चनवतिवर्षसहस्राणि । अरनाथस्य चतुरशीतिवर्षसहस्राणि । मल्लिस्वामिनः पञ्चपञ्चाशद्वर्षसहस्राणि । मुनिसुव्रतस्य त्रिंशद्वर्षसहस्राणि । नमिनाथस्य दशवर्षसहस्राणि । अरिष्टनेमेरेकं वर्षसहस्रम् । पार्श्वनाथस्यैकं वर्षशतम् । वर्द्धमानस्वामिनो द्वासप्ततिवर्षाणि । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

सामान्यमुनिसंख्या-

गणहरकेवलिमणओ-हिपुव्विवेउव्विवाइणं संखं ।
मुणिसंखाए सोहिय, नेया सामन्नमुणिसंखा ॥२६७॥

गणधराः १, केवलिनः २, मनःपर्यवज्ञानिनः ३, अवधिज्ञानिनः ४, पूर्वधराः ५, वैक्रियलब्धयो ६, वादिनश्च ७, एतेषां संख्यां (मुणिसंखाए सोहिय नेआ सामन्नमुणिसंखा) मुनिसंख्यायाः "चुलसिसहस्सतेलक्खा" इत्याद्युक्तायाः शोधयित्वा निष्कास्य सामान्यमुनिसंख्या ज्ञेया । कोऽर्थः ?-यस्य यावन्तो मुनयो भवन्ति, तेभ्यस्तद्गणधराऽऽदय पृथक् क्रियन्ते, यावन्तोऽवशिष्यन्ते, तावन्तस्तस्य सामान्यमुनयो भवन्तीति गाथार्थः ॥२६७॥

एगुणवीस य लक्खा, तह आसीई हवंति सहसाइं ।
इगवन्नाअहियाइं, सामन्नमुणीण सव्वग्गं ॥ २६८ ॥

एकोनविंशतिलक्षाणि (तह आसीई हवंति सहसाइ) तथा लक्षोपरि एकाशीतिसहस्राणि (इगवन्नाअहिआइ) एकपञ्चाशदधिकानि (सामन्नमुणीण सव्वग्ग) एतत् सामान्यमुनीनां सर्वाग्रं सर्वसंख्या ज्ञेया । अङ्कतो यथा-१९ ८६०५१ । इति गाथार्थः । २६८ ॥ सत्त० १२२ द्वार ।

परिमितद्दर्पणकृतप्रश्नो यथा-तीर्थकराणां चतुर्दशसहस्राऽऽदिका साधुसंख्योक्ता, चतुर्दशपूर्व्यादयः किं तत्संख्यामध्ये गण्यन्ते, यदि वा ते भिन्नाः ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-तीर्थकराणां चतुर्दशपूर्व्यादयश्चतुर्दशसहस्राऽऽदिपरिवारसंख्यामध्ये गण्यन्ते, न वेति प्रश्नमाश्रित्य-

" गणहरकेवलिमणओ-हिपुव्विवेउव्विवाइण संखं ।
मुणिसंखाए सोहिअ नेया सामन्नमुणिसंखा ॥ १ ॥
एगुणवीस य लक्खा, तह आसीई हवंति सहसाइं ।
इगवन्नाअहियाइ, सामन्नमुणीण सव्वग्ग " ॥ २ ॥

तथा-

" अट्ठावीसं लक्खा, अडयालीसं च तह सहस्साइं ।
सव्वेसिं पि जिणाणं, जईण माणं विणिद्दिट्ठं ॥ ३ ॥ "

इति वचनयोरनुसारेण यथोक्तसंख्यामध्ये गण्यन्ते चतुर्दशपूर्व्यादय इति सम्भाव्यते ।

तथा-

" पञ्चाशीतिसहस्राणि, लक्षं सार्द्धशतानि षट् ।
परिवारेऽभवन् सर्वे, मुनयस्त्रिजगद्गुरोः ॥ १ ॥ "

एतदनुसारेण च श्रीऋषभदेवस्य चतुरशीतिसहस्रसंख्यातो भिन्ना एव ते इति । यतः सामान्यसाधुविशेषसाधुसंख्यामीलनेन यथोक्तसंख्या संभावनया पूर्यमाणाऽस्तीति । तत्त्वं तु सर्वविद्वेद्यमिति ॥ ४ प्र० । ही० ४ प्रका० ।

सामायिकम्-

बावीसं तित्थयरा, सामाइयसंजमं उवइसंति ।
छेओवट्ठावणिअं, वयंति उसभो अ वीरो अ ॥ २० ॥

द्वाविंशतिस्तीर्थकरा मध्यमाः सामायिकसंयमम् (उवइसंति) उपदिशन्ति । यदैव सामायिकमुच्चार्यते तदैव व्रतेषु स्थाप्यते । छेदोपस्थापनिकं पुनर्वदतः-ऋषभश्च, वीरश्च । एतदुक्तं भवति-प्रथमतीर्थकरचरमतीर्थकरतीर्थे हि प्रव्रजितमात्रः सामायिकसंयतो भवति तावद्यावच्छस्त्रपरिज्ञाऽवगमः, एवं हि पूर्वमासीत् । अधुना तु षड्जीवनिकायावगमं यावत्, तया पुनः सूत्रतोऽर्थतश्चावगतया सम्यगपराधस्थानानि परिहरन्व्रतेषु स्थाप्यत इत्येव निरतिचारः, सातिचारः पुनर्मूलस्थानं प्राप्त उपस्थाप्यत इति ॥ २० ॥ आव० ४ अ० । (विशेषस्तु 'कप्प' शब्दे तृतीयभागे २३४ पृष्ठे गतः)

अथ सामायिकसंख्यामाह-

सव्वेहिँ चउसमइआ, सम्मसुयदेससव्वविरईहिं ।
भणिया सागरकोमा-कोमीसेसेसु कम्मेसु ॥ २७५ ॥

(भणिय त्ति) सर्वैर्जिनैः चत्वारि सामायिकानि भणितानि । ह्रस्वत्वपुस्त्वनिर्देशस्तु प्राकृतत्वात् । तानि काभिरित्याह-(सम्मसुयदेससव्वविरईहिं) सम्यक्त्वश्रुतदेशसर्वविरतिभिः-सम्यक्त्वसामायिकम्, श्रुतसामायिकम्, देशविरतिसामायिकम्, सर्वविरतिसामायिकं चेति । एतानि कदा भवन्तीत्याह-(सागरकोमाकोडीसेसेसु कम्मेसु) सागरकोटाकोटीशेषेषु कर्मसु, जीवानामित्याहार्यम् । ततश्चाय समुदायार्थः-जीवानामेककोटाकोटीस्थितिकेषु सप्तस्वपि कर्मसु, आयुर्वर्जेषु स्वभावत एककोटिकमध्यस्थितिकत्वात् चत्वारि सामायिकानि भवन्तीति सर्वैर्जिनैर्भणितमिति गाथार्थः ॥२७५॥ सत्त० १३२ द्वार । (अस्य स्वरूपं विशेषतः 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते)

(१२१) श्रावकव्रतसंख्या-

सम्माणं हिंसालिय-अदत्तमेहुणपरिग्गहाणिवित्ती ।
इय पण अणुव्वयाइं, साहूण महव्वया एए ॥ २७५ ॥
दिसिविरई भोगुवभो-गमाण तहऽणत्थदंडविरई य ।
समइय देसऽवगासिय,पोसह तिहिं संविभागवया ।२७६।

प्रथमं श्राद्धानां सम्यक्त्वपूर्वकं हिंसाऽलीकादत्तमैथुनपरिग्रहाणां निवृत्तिः प्रत्याख्यानम् ५ । (इय पण अणुव्वयाइ ति) एतानि पञ्चाणुव्रतानि, हिंसाऽऽदिभ्यो देशतो निवृत्तिरूपत्वात् । (साहूण महव्वया एए त्ति) एतान्येव पञ्चापि साधूनां महाव्-

तानि, हिंसाऽऽदिभ्यः सर्वतो निवृत्तिरूपत्वात् । इति गाथार्थः । ॥ २७५ ॥ अथ श्राद्धानां त्रीणि गुणव्रतान्याह—(दिसिविरई भोगुवभो–गमाण तहऽणत्थदंडविरई य त्ति) दिग्विरतिः६,भोगोपभोगमानं७,तथाऽनर्थदण्डविरतिश्चेति त्रीणि गुणव्रतानि। अथ चत्वारि शिक्षाव्रतान्याह-(समइय देसऽवगासिअ पोसह तिहिँ संविभागवया) सामायिकम् ९, देशावकाशिकम् १०, पौषधः ११, अतिथिसंविभागः १२। एतानि व्रतानि गृहमेधिनां ज्ञेयानीति गाथार्थः ॥ २७६ ॥ सत्त० १२७ द्वार।

साधुव्रतसंख्या—

साहुगिहीण वयाइं, कमेण पण बार पढमचरिमाणं ।
अन्नेसिं चउ बारस, चउत्थपंचमवएगत्ता ॥ २७४ ॥

श्रीऋषभतीर्थे, श्रीवीरस्य तीर्थे च साधूनां पञ्च महाव्रतानि, श्राद्धानां द्वादश व्रतानि (अन्नेसिं चउ बारस चउत्थपंचमवएगत्ता) अन्येषां द्वाविंशतिजिनानां तीर्थे चत्वारि व्रतानि साधूनां,श्राद्धानां द्वादश व्रतानि । कस्मात् ?, चतुर्थपञ्चमव्रतैकत्वात् चतुर्थपञ्चमव्रतयोरेकत्वादभेदात्,परिग्रहप्रत्याख्याने कृते स्त्रीप्रत्याख्यानं कृतमेव, स्त्रीणामपि परिग्रहरूपत्वात्, परिग्रहमन्तरेणाऽसम्भवाच्च ॥ इति गाथार्थः ॥२७४॥ सत्त० १२७ द्वार।

(१२२) अथ तीर्थकरमातुः चतुर्दश स्वप्नानाह-

गय वसह सीह अभिसे–य दाम ससि दिणयरं झयं कुंभं ।
पउमसर सागर विमा–ण भवण रयणुऽग्गि सुविणाइं॥७०॥

गजः १, वृषभः २, सिंहः ३, लक्ष्म्या अभिषेकः ४,(दाम ससि दिणयर झय कुंभ) पुष्पस्रक् ५, चन्द्रः ६, दिनं करोतीति दिनकरः सूर्यः ७, ध्वजः, ८ कुम्भः पूर्णकलशः ९, (पउमसरसागरविमाण) पद्मसरः १०, सागरः समुद्रः ११, विमानम् १२। (भवणरयणुऽग्गि सुविणाइं ति) भवनम् १२, रत्नोपचयः १३, निर्धूमाग्निश्चेति १४ स्वप्ना ज्ञेयाः। इति गाथार्थः ॥ ७० ॥

स्वप्नकारणान्याह-

नरयउवट्टाण इहं, भवणं सग्गच्चुयाण उ विमाणं ।
वीरुसहसेसजणणी, नियंसु ते हरिविसहगयाइँ ॥७१॥

नरकोद्वृत्तानां नरकादागतानां जिनानां जननी अत्र भवनं पश्यति,(सग्गच्चुआण उ विमाणं) स्वर्गाच्च्युतानां तु जननी स्वप्ने विमानं पश्यति । (वीरुसहसेसजणणी) जननीशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। वीरजननी १,ऋषभजननी २,शेषजिनानां च जनन्यः २२, (निअंसु ते हरिविसहगयाइ) ददृशुस्तान् स्वप्नान् सिंह१वृषभ२गजा२२दीन्-वीरजननी पूर्वं सिंहं ददर्श, ऋषभदेवस्य जननी पूर्वं वृषभं ददर्श, शेषजिनानां जनन्यः पूर्वं गजं ददृशुः । इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥

दुनरयकप्पगिविज्जा, हरी अ निरयविमाणएहिँ जिणा ।
पढमा चक्कि दुनरया, बला चउसुरेहिँ चक्किबला ॥७२॥

द्विनरकादागताः-द्वादशकल्पादागताः, ग्रैवेयकादागताश्च हरयो वासुदेवा भवन्तीति । (निरयविमाणएहिँ जिणा) प्रथमद्वितीयतृतीयनरकादागताश्च तीर्थङ्करा भवन्ति । प्रथमनरकादागताश्चक्रिणो भवन्ति । (दुनरया बला) द्विनरकादागताश्च बलदेवा भवन्ति । (चउसुरेहिँ चक्किबला) भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकासुरेभ्यः समागताश्चक्रिबलभद्रा भवन्तीति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

जिणचक्कीण य जणणी,नियंति चउदस गयाइँ वरसुविणे।
सगचउतिइगाइ हरी–बलपडिहरिमंडलियमाया ॥७३॥

(जिणचक्कीण य जणणि त्ति) जिनानां चक्रवर्तिनां च जनन्यः (नियति चउदसगयाइ वरसुविणे) पश्यन्ति चतुर्दश गजाऽऽदीन् प्रधानस्वप्नान् (सगचउतिइगाइ हरी बलपडिहरिमंडलिअमाया) मातृशब्दस्य प्रत्येकं योगात् सप्त हरिमातरः, चतुरो बलदेवमातरः, त्रीन् प्रतिवासुदेवमातरः, एकाऽऽदीन् माण्डलिकमातरः स्वप्नान् पश्यन्तीति गाथार्थः ॥७३॥ सत्त० १८ द्वार।

स्वप्नविचारकाः-

पढमस्स पिया इंदा, सेसाणं जयण–सुविणसत्थविऊ ।
अट्ठ वियारिंसु सुहे, सुविणे चउदस जणणिदिट्ठे ॥७४॥

प्रथमस्य ऋषभजिनस्य पिता, तथा इन्द्राः स्वप्नान् विचारयन्ति स्म। शेषजिनानां जनकाः,तथा स्वप्नशास्त्रविदो विप्राः, (अट्ठ वियारिंसु त्ति) प्राकृतत्वाद् विभक्तिलोपाद् अर्थेन विचारयन्ति स्म। कान् ?, (सुहे सुविणे त्ति) शुभान् स्वप्नान् चतुर्दशसंख्याकान् । पुनः कथंभूतान् ? (जणणिदिट्ठे त्ति) जननिदृष्टान् मातृभिर्विलोकितान्। सत्त०१६ द्वार । ('वीर' शब्दोऽत्र विलोकनीयः)

शेषश्रुतप्रवृत्तिकालः -

... ., सेससुअपवित्ति जा तित्थं ॥ ३९८ ॥

शेष इति पूर्वव्यतिरिक्त श्रुतप्रवृत्तिः यावत् यस्य तीर्थङ्करस्य तीर्थं तावत्कालं स्थास्यति। सत्त० १६२ द्वार ।

तीर्थकरजीवानां नरके परमाधार्मिककृता पीडा भवति,न वेति? प्रश्ने,उत्तरम्-अत्राप्येकान्तो ज्ञातो नास्ति। ६ प्र०। ही०३ प्रका०।

(१२३) जंबुद्दीवे णं दीवे उक्कोसपए चोत्तीसं तित्थयरा समुप्पज्जंति ।

(उक्कोसपए चोत्तीसं तित्थगरा समुप्पज्जंति त्ति) समुत्पद्यन्ते, सम्भवन्तीत्यर्थः, न त्वेकसमये जायन्ते, चतुर्णामेवैकदा जन्मसम्भवात् । तथाहि-मेरौ पूर्वापरशिलातलयोर्द्वे द्वे सिंहासने भवतोऽतो द्वावेव द्वावेवाभिषिच्येते,अतो द्वयोर्द्वयोरेव जन्मेति। दक्षिणोत्तरयोः क्षेत्रयोस्तदानीं दिवससद्भावान्न भरतैरावतयोर्जिनोत्पत्तिः, अर्द्धरात्र एव जिनोत्पत्तेरिति । स० ३४ सम०।

भरतक्षेत्रेऽतीतोत्सर्पिण्यां जिनेश्वराः -

केवलनाणी निव्वा–णि सागरो जिण महाजसो विमलो ।
सव्वाणुभूइ सिरिहर, दत्तो दामोयर सुतेओ ॥२९०॥
सामिजिणो य सिवासी,सुमई सिवगइ जिणो य अत्थाहो ।
नाह नमीसर अनिलो,जसोहरो जिण कयग्घो य ॥२९१॥
धम्मीसर सुद्धमई, सिवकर जिण संदणो य संपइ य ।
ऽतीउस्सप्पिणिभरहे, जिणेसरे नामओ वंदे ॥ २९२ ॥

केवलज्ञानी, निर्वाणी, सागरो जिनो, महायशाः, विमलो,नाथसुतेजाः। अन्ये सर्वानुभूतिमाहुः।श्रीधरो,दत्तः, दामोदर ,सुतेजा , इति प्रथमगाथाया दश।स्वामिजिनः,च. समुच्चये।शिवाशी। अन्ये मुनिसुव्रतमाहुः। सुमतिः १३, शिवगतिः १४, जिन. अस्ताघः १५, नाथ नमीश्वर , अनिलो, यशोधरो जिन , कृतार्घश्च । द्वितीयगाथायामस्या नव॥ धर्मीश्वर ।केचिज्जिनेश्वरमाहुः। शुद्धमतिः, शिवकरजिन , स्यन्दनश्च, सम्प्रतिजिनश्च । अतीतोत्सर्पिण्यां भारते जिनेश्वरानेतान्नामतो वन्देऽहमिति तृतीयगाथायां पञ्च जिनाः। प्रव० ७ द्वार।

ऐरवते तीर्थकराः-

जंबुद्दीवे दीवे एरवए वासे इमीसे ओसप्पिणीए चउव्वीसं तित्थगरा होत्था । तं जहा-

" चंदाणणं सुचंदं, अग्गीसेणं च नंदिसेणं च ।
इसिदिण्णं वयहारिं, वंदामो सामचंदं च ॥ ६० ॥
वंदामि जुत्तिसेणं, अजियसेणं तहेव सिवसेणं ।
बुद्धं च देवसम्मं, सययं निक्खित्तसत्थं च ॥ ६१ ॥
असंजलं जिणवसहं, वंदे य अणंतयं अमियणाणिं ।
उवसंतं च धुवरयं, वंदे खलु गुत्तिसेणं च ॥ ६२ ॥
अतिपासं च सुपासं, देवेसरवंदियं च मरुदेवं ।
निव्वाणगयं च धरं, खीणदुहं सामकोट्ठं च ॥ ६३ ॥
जियरागमग्गिसेणं, वंदे खीणरयमग्गिउत्तं च ।
वोक्कासियपिज्जदोसं, वारिसेणं गयं सिद्धं ॥ ६४ ॥ "

जम्बूद्वीपैरवते अस्यामवसर्पिण्यां चतुर्विंशतिस्तीर्थकरा अभूवन्, तांश्च स्तुतिद्वारेणाऽऽह । तद्यथा-(चंदाणण सुचदं, अग्गीसेण च नदिसेण च) क्वचिदात्मसेनोऽप्ययं दृश्यते । ऋषिदिन्नं, व्रतधारिणं च वन्दामहे श्यामचन्द्रं च ॥६०॥ वन्दे युक्तिसेनं, क्वचिदयं दीर्घबाहुर्दीर्घसेनो वोच्यते । अजितसेनं, क्वचिदयं शताऽऽयुरुच्यते । तथैव शिवसेनं, क्वचिदयं सत्यसेनोऽभिधीयते, सत्यकिश्चेति । बुद्धं चावगततत्त्वं च देवशर्माणं देवसेनापरनामकं, सततं सदा, वन्दे इति प्रकृतम् । निक्षिप्तशस्त्रं च,नामान्तरतः श्रेयांसम् ।६१। (असंजलं ति)असज्वलं जिनवृषभं, पाठान्तरेण-स्वयंजलं, वन्दे अनन्तजिनममितज्ञानिनं,सर्वज्ञमित्यर्थः । नामान्तरेणाऽयं सिंहसेन इति । उपशान्तं च उपशान्तसञ्ज्ञं,धूतरजसं वन्दे खलु गुप्तिसेनं च ॥६२॥ (अइपास त्ति)अतिपार्श्वं च सुपार्श्वं च देवेश्वरवन्दितं च मरुदेवं निर्वाणगतं च धरं धरसञ्ज्ञं,क्षीणदुःखं श्यामकोष्ठम् ।६३। (जिय त्ति) जितरागमग्निसेनेन, महासेनापरनामकं वन्दे क्षीणरजसमग्निपुत्रं च, व्यवकृष्टप्रेमद्वेषं च वारिषेणं, गतं सिद्धमिति । स्थानान्तरे किञ्चिदन्यथाऽप्यानुपूर्वी नाम्नामुपलभ्यते । स० ।

(भविष्यत्तीर्थकरा अस्मिन्नेव शब्दे २२७१ पृष्ठे व्याख्याताः)

अथ तेषां पूर्वभवानाह-

एएसि णं चउव्वीसाए तित्थगराणं पुव्वभविया चउव्वीसं नामधेज्जा भविस्संति । तं जहा-

" सेणिय सुपास उदए, पोट्टिल्ल अणगार तह दढाऊ य ।
कत्तिय संखेय तहा, नंद सुनंदे य सतए य ॥ १ ॥
बोधव्वा देवई य, सच्चइ तह वासुदेव बलदेवे ।
रोहिणि सुलसा चेव, तत्तो खलु रेवई चेव ॥ २ ॥
तत्तो हवइ सयाली, बोधव्वे खलु तहा भयाली य ।
दीवायणे य कण्हे, तत्तो खलु नारए चेव ॥ ३ ॥
अंबड दारुमडे वा, साई बुद्धे य होइ बोधव्वे ।
भावीतित्थगराणं, णामाइं पुव्वभवियाइं " ॥४॥

एतेषां यावत्सङ्ख्याकं यद्भविष्यति तदाह-

एएसि णं चउव्वीसाए तित्थगराणं पियरो मायरो भविस्संति । चउव्वीसं पढमसीसा भविस्संति । चउव्वीसं पढमसिस्सणीओ भविस्संति । चउव्वीसं पढमभिक्खादायगा भविस्संति । चउव्वीसं चेइयरुक्खा भविस्संति । स० ।

ऐरवतवर्षभाविनस्तीर्थकरा -

जंबुद्दीवे एरवए वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए चउव्वीसं तित्थगरा भविस्संति । तं जहा-

" सुमंगले अ सिद्धत्थे, णिव्वाणे य महाजसे ।
धम्मज्झए य अरहा, आगमिस्सेण होक्खइ ॥ १ ॥
सिरिचंदे पुप्फकेऊ, महाचंदे य केवली ।
सुयसागरे य अरहा, आगमिस्सेण होक्खइ ॥ २ ॥
सिद्धत्थे पुण्णघोसे य, महाघोसे य केवली ।
सच्चसेणे य अरहा, आगमिस्सेण होक्खइ ॥ ३ ॥
सूरसेणे य अरहा, महासेणे य केवली ।
सव्वाणंदे य अरहा, देवउत्ते य होक्खइ ॥ ४ ॥
सुपासे सुव्वए अरिहा, अरहे य सुकोसले ।
अरहा अणंतविजए, आगमिस्सेण होक्खइ ॥ ५ ॥
विमले उत्तरे अरहा, अरहा य महाबले ।
देवाणंदे य अरहा, आगमिस्सेण होक्खइ ॥ ६ ॥
एए वुत्ता चउव्वीसं, एरवयम्मि केवली ।
आगमिस्सेण होक्खंति, धम्मतित्थस्स देसगा" ॥७॥ स० ।

(तीर्थकृतां जन्मभूम्यादौ गमनफलं 'दंसणभावणा' शब्दे वक्ष्यते) (तीर्थकृतामाशातना 'आसायणा' शब्दे द्वितीयभागे ४८० पृष्ठे निरूपिता) (केवलज्ञानेन ज्ञात्वा स्वयमेव तीर्थं करोतीति ' उवहाणसुय ' शब्दे द्वितीयभागे १०५६ पृष्ठे उक्तम्)

(१२४) तीर्थकरा यद्यपि कृतकृत्याः, तथापि तपःकर्म, उपधानश्रुतमुपसर्गसहनं च कुर्वन्ति-

जो जइया तित्थयरो, सो तइया अप्पणम्मि तित्थम्मि ।
वण्णेइ तवोकम्मं, उवहाणसुयम्मि अज्झयणे ॥ ८३ ॥
सव्वेसिं तवोकम्मं, नीरुवसग्गं तु वण्णियं जिणाणं ।
नवरं तु वद्धमाण-स्स सोवसग्गं मुणेयव्वं ॥ ८४ ॥
तित्थगरो चउनाणी, सुरमहिओ सिज्झियव्वए धुवम्मि ।
अणिगूहियबलविरिओ, तवोविहाणम्मि उज्जमइ ॥८५॥
किं पुण अवसेसेहिं, दुक्खक्खयकारणेसु विहिएहिं ।
होइ परक्कमियव्वं, सपच्चवायम्मि माणुस्से ॥ ८६ ॥
आचा० नि० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

सर्वेषां तीर्थकृतां सदृशानि सूत्राणि-

अत्र शिष्यः प्राऽऽह-

निक्खेवा य निरुत्ता-णि जा य कहणा जवे पगासस्स ।
अह रिसभाईयाऽऽइं-सु किमेवं वद्धमाणे वि ? ॥२०५॥
ये निक्षेपाश्चतुष्कसप्तकाऽऽदयो,यानि च निरुक्तानि सूत्रार्थयो-

रनन्तरसुकानि,या च चतुर्भिरनुयोगद्वारैः प्रकाशस्यार्थस्य कथना, वशब्दादेकार्थिकानामपि या कथना। एतानि यथा ऋषभाऽऽदयस्त्रयोविंशतिस्तीर्थकरा आख्यातवन्त',तथा किमेव भगवान् वर्द्धमानस्वाम्यप्याख्याति,किं वाऽन्यथेति ?। उच्यते-तथैव। ननु ते उच्चतरा, भगवान् वर्द्धमानस्वामी पुन. सप्तरत्निप्रमाण ,तत. कथ तथैवाऽऽख्यानम् ?, अत आह-

धिइसंघयणे तुल्ला, केवलभावे य विसमदेहा वि ।
केवलनाणं तं चिय, पन्नवणिज्जा य चरमे वि ॥२०६॥

यथा विषमदेहा अपि तीर्थकृत. धृतिसहनने केवलभावे च तुल्या , तथा प्ररूपणायामपि तुल्या. । यतश्चरमेऽपि भगवति वर्द्धमानस्वामिनि तदेव केवलज्ञान, त एव च प्रज्ञापनीया भावा., ये ऋषभाऽऽदीनां, तत' कथ न तुल्या प्ररूपणा ?।

तत्र यो विशेषस्तमुपदर्शयति-

णायऽज्झयणाऽऽहरणा, इसिभासियमो पइन्नगसुया य ।
एए हुंति अणियया, निययं पुण सेससुप्पण्णं ॥२०७॥

ज्ञाताध्ययनेषु यान्याहरणानि दृष्टान्ता., ते हि केचित्त एव भवेयुर्ये ऋषभाऽऽदिभिरुपन्यस्ता , केचिदन्यथा, ये प्रत्युत्पन्ना इति। तथा यानि ऋषिभाषितानि, प्रकीर्णकश्रुतानि च,एतान्यनियतानि-कदाचिद् भवन्ति, कदाचिन्न भवन्ति। यानि च भवन्ति तान्यपि कदाचित्तथार्थयुक्तानि, कदाचिदन्यथाऽर्थोपेतानि। शेष पुनरुत्पन्न प्रायेण नियतम् ।

आह-क पुनरत्र दृष्टान्त., यथा वर्द्धमानस्वाम्यपि तथैवाऽऽख्यातीति ?। दृष्टान्तमाह-

जह सव्वजणवएसुं, एक्कं चिय सगडवत्तिणिपमाणं ।
विसमाणि य वत्थूणी, सगडाईणं तह णिरुत्ता ॥२०८॥

यथा शकटाऽऽदीनाम,आदिशब्दाद् गन्त्र्यादिपरिग्रह । यद्यपि विषमाणि वस्तूनि केषाञ्चिन्महान्ति,केषाञ्चित् क्षुल्लकानि,तथाऽपि सर्वेष्वपि जनपदेषु एकमेव तदा शकटवर्तिन्या. प्रमाण, सर्वत्राऽऽदीनां चतुर्हस्तप्रमाणत्वात्। तथा निरुक्तानि, उपलक्षणमेतत्, निक्षेपाऽऽदीनि च प्ररूपणामधिकृत्य तुल्यानि ।

आह-नन्वयस्य पूर्वरथाना, सम्प्रतिरथानां च विस्तरस्यास्ति विशेष एव, महाप्रमाणानां पूर्वमनुष्याणामल्पप्रमाणानामधुनातनमनुष्याणां विशेषो भवति।

तत आह-

जइ वि य वत्थू हीणा, पुव्विल्लरहेहिँ संपयरहाणं ।
तह वि जुगम्मि जुगम्मी, सहत्थचउहत्थगा अक्खा ॥२०९॥

यद्यपि पूर्वतनरथेभ्य' साम्प्रतरथाना वस्तूनि हीनानि, तथाऽपि युगे युगे सर्वत्राऽऽत्महस्तेन चतुर्हस्तका अक्षा , तत. सर्वेष्वपि जनपदेष्वेक शकटवर्तिन्याः प्रमाणम् । तथा यद्यपि पूर्वकाले महाप्रमाणा मनुष्या., सम्प्रतिकाले त्वल्पप्रमाणा., तथाऽपि सर्वेषां तदेव केवलज्ञान, तदेव संहनन, त एव च प्रज्ञापनीया भावा इति तुल्या प्ररूपणा।

ननु पञ्चधनु शतिकप्रभृतीना महान्तीन्द्रियाणि, तेन तेषा प्रभूततरक्षेत्रे विषयोपलम्भविशेषोऽपि स्याद ।

अत आह-

पुरिमेहिँ जइवि हीणा, इंदियमाणाउ संपयनराणं ।
तह वि य खित्तत्तएणं, खित्तविभागेण तुल्ला उ ॥२१०॥

पूर्वेभ्य. पूर्वकालभाविभ्यः पुरुषेभ्यो यद्यपि साम्प्रतनराणां सम्प्रतिमनुष्याणामिन्द्रियमानानि हीनानि,तथाप्यात्माङ्गुलमधिकृत्य क्षेत्रविभागे तेषा तुल्या उपलब्धिः। तथाहि-श्रोत्राऽऽदीन्द्रियप्रमाणश्रोत्राऽऽदीन्द्रियविषयप्रमाण चात्माङ्गुलत',तच्च यथा पूर्वमनुष्याणां द्वादशयोजनाऽऽदिक क्षेत्रप्रमाणम्,तथाऽधुनातनमनुष्याणामपि। तथा चोक्तम्-" सोइंदियस्स णं भंते ! केवइए विसए पण्णत्ते ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखिज्जइभागाओ,उक्कोसेण बारसेहिंतो जोयणेहिं। " इत्यादि । एव हीनाधिकशरीरप्रमाणत्वेऽपि केवलेनोपलम्भस्तुल्य एवेति न कश्चिद्दोष । अन्यच्च-शरीराऽऽश्रितानीन्द्रियाणि, तत. शरीरप्रमाणविषये, तदाश्रितानामिन्द्रियाणामपि प्रमाणविशेषभावात्तद्विषयक्षेत्रोपलम्भविशेषः। बृ० १ उ०।

(१२५) प्रकीर्णकवार्ताः-

तित्थयरे भगवते, अणुत्तरपरक्कमे अमियनाणी ।
तिन्ने सुगइगइगए, सिद्धिपहपदेसए वंदे ॥ १०७५ ॥

तीर्थकरान् भगवतोऽनुत्तरपराक्रमानमितज्ञानिनस्तीर्णान् सुगतिगतिगतान् सिद्धिपथप्रदेशकान् वन्दे। (आ० म०) ननु तीर्थकरानित्यनेनैव भगवत इति गत. तीर्थकृतामुक्तलक्षणभगाव्यभिचारात्, तत किमनेन विशेषणेन ?। तदयुक्तम्। अस्य नयमतान्तरापलम्पितपरिकल्पितरुद्राऽऽदितीर्थकरतिरस्कारपरत्वात्। तथाहि-न ते रुद्राऽऽदय स्वस्वदर्शनरूपतीर्थकारिणोऽपि तत्त्वतया भगवन्त , यथोक्तसमग्रैश्वर्याऽऽदिगुणकलापायोगादिति । (आ० म०) ननु येऽनुत्तरपराक्रमास्तेऽमितज्ञानिन एव, क्रोधाऽऽदिपरिक्षयोत्तरकालमवश्यममितज्ञानस्य भावात् । सत्यमेतत् । केवल ये क्लेशक्षयेऽप्यमितज्ञान नाभ्युपगच्छन्ति । तथा च तद्ग्रन्थ'-" सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु। कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं, तस्य न' कोपयुज्यते ?। १ ॥ " इत्यादि । तन्मतव्यवच्छेदफलमिदं विशेषणमित्यदोष । तद्व्यवच्छेदश्चैवम्-सर्वभावपरिज्ञानाभावे तत्त्वतएकस्याऽपि वस्तुन परिज्ञानायोगात्, सर्वस्याऽपि यथायोगमनुवृत्तव्यावृत्तधर्मतया सर्वैः सह सव्यपेक्षत्वात् । आह च-" एको भाव सर्वथा येन दृष्ट, सर्वे भावा' सर्वथा तेन दृष्टा । सर्वे भावा सर्वथा येन दृष्टा, एको भाव सर्वथा तेन दृष्ट ॥ १ ॥ " आचाराङ्गेऽप्युक्तम्-" जे एग जाणइ, से सव्व जाणइ। जे सव्व जाणइ, से एग जाणइ। " इति। अथवा-ये स्वसिद्धान्ते छद्मस्थवीतरागास्ते अनुत्तरपराक्रमा भवन्ति, कषायाऽऽदिशत्रुणामाक्रमणात्,न त्वमितज्ञानिन', केवलज्ञानाभावात्। ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमिद विशेषणमिति । (आ० म०) अनेन ये प्राप्ताऽणिमाऽऽद्यष्टविधैश्वर्यं स्वेच्छाविलसनशील पुरुष तीर्णं प्रतिपादयन्ति। तथा च तद्ग्रन्थ -"अणिमाऽऽद्यष्टविध प्रा-प्यैश्वर्यं कृतिनः सदा। मोदन्ते सर्वभावज्ञा-स्तीर्णाः परमदुस्तरम् ॥१॥ " इत्यादि । तद्व्यवच्छेदमाह। (आ० म०) सिद्धिपथप्रदेशकान्,अनेनानेकभव्यसत्त्वोपकारितीर्थकरनामकर्मविपाकोदयसमन्वित भगवता स्वरूपमाह। आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

प्रश्नोत्तराणि-

तीर्थकरा एकस्मिन् समये कति सिद्ध्यन्ति ?,इति प्रश्ने,उत्तरम्-एकस्मिन्समये उत्कर्षत. चत्वारस्तीर्थकरा. सिद्ध्यन्तीति सिद्धप्राभृतिकाऽऽदावुक्तमस्तीति । ८६ प्र० । सेन० १ उल्ला० । यथाऽत्र भरते श्रीवीरजन्मर्क्षे भस्मग्रहः, तथाऽन्यक्षेत्रे तीर्थकृतां जन्मर्क्षे

स आगतोऽस्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-दशस्वपि क्षेत्रेषु तीर्थकृतां च्यवनाऽऽदीनि कल्याणकान्येकस्मिन्नेव नक्षत्रे भवन्तीत्यागमोक्तत्वाद्धस्मग्रहाऽऽदिसङ्क्रमण सर्वं समानमेवेति । ९३ प्र० । सेन० २ उल्ला० । " वीरस्सायगुल दुगुण ति " कथ सर्वे जिनाः विंशत्यधिकशताङ्गुला· कथिता , प्रमाणाङ्गुलस्य पञ्चाशद्भागसत्कैकविंशतिभागदेहमान वीरस्य कथितमस्ति, तेन चोत्सेधाङ्गुलैकशताष्टषष्टिमान जायते, विंशतिशतद्विगुणीकरणे चत्वारिंशदधिकद्विशताङ्गुलानि स्युः, सार्द्धत्रयहस्तमाने तु पाश्चात्यमान विसवदतीति प्रश्ने, उत्तरम्-" वीरस्सायगुल डुगुण " इत्येतद्गाथावृत्तौ मतद्वयमस्ति,तत्रानुयोगद्वारचूर्ण्यभिप्रायेण श्रीवीर आत्माङ्गुलेन चतुरशीत्यङ्गुलप्रमाणश्चतुरशीतिद्विगुणीकरणेऽष्टषष्ट्यधिकशतमुत्सेधाङ्गुलानां भवतीति न किञ्चिदनुपपन्नम्, एतदाश्रित्य विस्तरस्तु सग्रहणीवृत्तावस्ति । ११५ प्र० । सेन० २ उल्ला० । तीर्थकृतां त्रयोदशाऽऽदिभवाः प्रथमसम्यक्त्वलाभापेक्षयाऽप्रतिपत्तिसम्यक्त्वलाभापेक्षया वा, प्रसिद्धमहद्भवापेक्षया वा,किं वा प्रकारान्तरेणेति प्रश्ने, उत्तरम्-आवश्यकाऽऽद्यभिप्रायेण श्रीऋषभाऽऽदितीर्थकृता त्रयोदशाऽऽदिभवा· प्रथमसम्यक्त्वलाभापेक्षया गण्यन्ते, न त्वन्यापेक्षयेति । १६५ प्र० । सेन० २ उल्ला० । सार्द्धद्वीपद्वये जघन्योत्कृष्टत एकस्मिन् समये तीर्थकृता कत्यभिषेका· ?,तथा तत्र कत्यरका भवन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-सार्द्धद्वीपद्वये जघन्यत एकसमये दश तीर्थकरा मेरुपञ्चके शक्रैरभिषिच्यन्ते, उत्कृष्टतस्तु विंशति , तथा तत्र जघन्यतश्चत्वारोऽरका·, उत्कृष्टतस्तु पञ्च भवन्तीति ज्ञायते । ६५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तीर्थकृज्जननी चतुर्दश स्वप्नान् स्फुटान्, चक्रवर्तिजननी त्वस्फुटान् इत्यक्षराणि सन्ति, प्रघोषो वेति प्रश्ने, उत्तरम्-चक्रवर्तिमाताऽस्फुटान् पश्यति । तदुक्तम्-" चतुर्दशाप्यमून् स्वप्नान्, साऽपश्यत् किञ्चिदस्फुटान् । सा प्रभोः प्रमदा सूते, नन्दन चक्रवर्तिनम् ॥ १ ॥" इति वासुपूज्यचरित्रे । १०४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । जनन्या द्विश्चतुर्दशस्वप्ना दृष्टाः, उत एकवारम् ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-शान्तिनाथजनन्या द्विश्चतुर्दश स्वप्ना दृष्टा । यदुक्त शत्रुञ्जयमाहात्म्येऽष्टमपर्वणि "द्वि स्वप्नदर्शनादर्हच्चक्रिजन्मसुनिश्चया । रत्नगर्भेव सा गर्भं, बभार शुभदोहदा ॥ ७६ ॥ " इति । एवमन्यत्रापीति । १०७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । भरतैरवततीर्थकृद्व्यतिरिक्तानां तीर्थकृतां कीदृग् वर्णविभाग· ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-पञ्चवर्णान्यतरवर्णरूपो वर्णविभागो ज्ञेयोऽत्रापि पूर्वोक्त एव हेतुरिति । ३५० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । बलदेवकर्णद्वैपायनशङ्खाऽऽद्याख्या आगमिष्यच्चतुर्विंशतौ तीर्थकृतो भविष्यन्ति, ते किं नवमराम १ कौन्तेय २ द्वारकादाहका· ३ श्रीवीरप्रथमश्रावका एव ?, अथवा किमन्ये वेति प्रश्ने, उत्तरम्-शङ्खः श्रीवीरप्रथमश्रावकादन्यस्तीर्थकृत् श्रीस्थानाङ्गवृत्तावुक्तोऽस्ति । द्वैपायनो द्वारिकादाहकोऽन्यो वेति निर्णय केवलिगम्य । कृष्णभ्राता बलदेव आवश्यकनिर्युक्त्यादावागमिष्यच्चतुर्विंशतिकायां कृष्णतीर्थे सेत्स्यत्युक्तोऽस्ति, तेन बलदेव· कश्चिन्नामान्तरेणावगन्तव्य । कर्णस्थाने तु शास्त्रे कृष्ण प्रोक्तोऽस्ति, सोऽपि नामान्तरेण बोध्योऽत एव शास्त्रान्तरै सह विसवाद सभाव्य प्रवचनसारोद्धारवृत्तिकारेणाऽपि द्विता एव भावितीर्थकृज्जीवा व्यक्ता विवृता· सन्ति, न शेषा इति । ३६० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । समवसरणस्थस्य तीर्थङ्करस्य श्राद्धा यतयश्च कथ वन्दन्ते ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-समवसरणस्थस्य तीर्थकृतः श्राद्धा यतयश्च वन्दित्वा यथास्थाने निषीदन्तीति हारिभद्रयां, पर तद्वन्दनरीतिः क्वापि लिखिता नास्ति, तस्मादाधुनिकवन्दनरीतिरेव सभाव्यत इति । ४३६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तीर्थकृतां जन्मभवनानन्तर देवा· कियत्प्रमाणां रत्नाऽऽदिवृष्टिं कुर्वन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-"उसभे ण अरहा कोसलिए० जाव चिट्ठइ, ततो वेसमणो सक्कवयणेणं बत्तीसं हिरण्णकोडीओ, बत्तीसं नदासणाइं, बत्तीस भद्दासणाइ भगवतो तित्थगरस्स जम्मणभवणम्मि साहरइ ।" इत्यावश्यकबृहद्वृत्ति ७६ पत्रे, एतदनुसारेण, तथा-

" कुण्डले क्षौमयुग्म चो-च्छीर्षे मुक्त्वा हरिर्व्यधात् ।
श्रीदामरत्नदामाढ्यमुल्लोचे स्वर्णकन्दुकम् ॥ ४२ ॥
द्वात्रिंशद्रुत्नरै रूप्य-कोटिवृष्टिं विरच्य सः ।
वाढमाघोषयामास-ति सुरैराभियोगिकै· ॥ ४३ ॥ "

इतिकल्पकिरणावल्यनुसारेण च, तीर्थकृतां जन्मभवनानन्तरं देवविहिता वृष्टि· द्वात्रिंशद्धिरण्यकोटिप्रमाणा भवतीति । ४४४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

' तित्थयर ' शब्दस्थविषयसूची—

(१) तीर्थकरशब्दसिद्धि· ।
(२) तीर्थकृता तीर्थकरणशीलत्वम् ।
(३) तीर्थकृतामचेलत्वेऽपि सयमविराधनाऽऽदयो दोषा न भवन्तीति निरूपणम् ।
(४) तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकमुनिसंख्या ।
(५) ये तीर्थकरेषु अष्टादश दोषा न भवन्ति तेषां प्ररूपणम् ।
(६) तीर्थकराणामभिग्रहा· ।
(७) अङ्गोपाङ्गाऽऽदिष्वबद्धा अपि ये आदेशपदाभिधेयाः पदार्था ज्ञानिभिः प्रकाशिताः तेषां सङ्ख्यानिरूपणा ।
(८) तीर्थकराणां तीर्थे षडावश्यकं यस्मिन् समये क्रियते तन्निरूपणम् ।
(९) तीर्थकरा यादृशमाहारं कुर्वन्ति तन्निरूपणम् ।
(१०) तीर्थकृज्जन्मावसरे शक्रस्याऽऽसनचलनानन्तरमवधिना तीर्थकरजन्मावबुध्य हरिनैगमेष्याज्ञाप्रतिपादनम् ।
(११) आदेशानन्तरं हरिनैगमेषी यत्कृतवान् तद्वर्णनम् ।
(१२) हरिनैगमेषिकृतघण्टानादेन यदभूत्तन्निरूपणम् ।
(१३) ततश्च घण्टानादतो यद् प्रवृत्त तत्प्रतिपादनम् ।
(१४) सौधर्मे कल्पे पदातिपनिकर्तव्यनिरूपणम् । (देवानां चिन्तनम्)
(१५) सौधर्मे शक्राऽऽदेशानन्तरं यज्जात तन्निरूपणम् ।
(१६) इन्द्रो यत् पालकमादिष्टवान् तदुक्तिवर्णनम् ।
(१७) तदनु यदनुतिष्ठति स्म पालकस्तन्निरूपणम् ।
(१८) तत्कृतप्रेक्षागृहमण्डपवर्णनम् ।
(१९) महारूपमणिपीठिकावर्णनम् ।
(२०) आस्थाननिवेशनप्रक्रियाप्रतिपादनम् ।
(२१) तदनन्तर शक्रक्रियाप्ररूपणम् ।
(२२) सामानिकाऽऽदिभिरास्थानस्य पूर्ते· प्ररूपणम् ।
(२३) प्रतिष्ठासोः शक्रस्य पुर·प्रस्थायिनां क्रमवर्णनम् ।
(२४) ततो यदकार्षीत् शक्रस्तन्निरूपणम् ।
(२५) मेरुगमनवर्णनम् ।

(२६) तत ईशानेन्द्राऽऽगमनावसरः ।
(२७) चमरबलिधरणभवनवासिवाणमन्तरज्योतिष्काऽऽदीनामागमननिरूपणम् ।
(२८) ततोऽच्युतेन्द्रो यदकार्षीत्तन्निरूपणम् ।
(२९) तत्रेन्द्राऽऽदयो यत्कुर्वन्ति तत्प्रतिपादनम्, ततस्तत्रैवाभिषेकनिगमनपूर्वकमाशीर्वादकरणम् ।
(३०) अवशिष्टानामिन्द्राणां वक्तव्यता ।
(३१) तत्रावशिष्टशक्रकृताभिषेकावसरः ।
(३२) तत कृतकृत्येन शक्रेण भगवतो जन्मपुरप्रापणम् ।
(३३) वैश्रवणद्वारा शक्रकृत्यप्ररूपणम् ।
(३४) अस्मासु स्वस्थान प्राप्तेषु भगवति मा दुष्टं केऽपि निक्षिपन्त्विति शक्राऽऽज्ञोद्घोषणा ।
(३५) अष्टाह्निकामहोत्सवः ।
(३६) भवनपत्यादीनामिन्द्रसंख्याप्रतिपादनम् ।
(३७) तीर्थकरकृतोपदेशं प्ररूप्य ये धर्मोपायस्य देशकास्तेषां प्ररूपणम् ।
(३८) तीर्थकरप्रसङ्गात् साधूना द्वादशोपकरणसंख्याया, साध्वीनां पञ्चविंशत्युपकरणसंख्यायाश्च व्यावर्णनम् ।
(३९) श्रीपार्श्ववीरतीर्थकरयोरुपसर्गप्ररूपणम् ।
(४०) उत्सेधाङ्गुलेनाऽऽत्माङ्गुलेन च जिनानां देहमानम् ।
(४१) चतुर्विंशतिजिनानामवधिज्ञानिमुनिसंख्यावर्णनम् ।
(४२) तीर्थकृतां कल्पशोधिः ।
(४३) तीर्थकृद्भिः कर्मव्यापर्णन, तैरपि कर्मवेदनं च ।
(४४) जिनाना कुमारवासकालमानम् ।
(४५) केवलोत्पत्तिस्थानानि ।
(४६) जिनानां केवलोत्पादकं तपः ।
(४७) तीर्थकृतां केवलोत्पत्तिमासतिथीनां प्ररूपणम् ।
(४८) यस्य वृक्षस्याधो यस्य तीर्थकृत. केवलज्ञानमुत्पन्न तन्निरूप्य केवलवृक्षप्रमाणनिरूपणम् । तत्राऽपि चैत्यतरूणां विशेषत प्रमाणकथनम् ।
(४९) यस्मिन् वने यस्य केवलज्ञानमुत्पन्नं तन्नामनिर्देशः ।
(५०) यस्यां वेलायां केवलज्ञानमुत्पन्न तन्निरूपणम् ।
(५१) जिनानां गृहस्थकाल-केवलिकालमान निरूप्य श्रामण्यपर्यायात् छद्मस्थपर्यायापगमे केवलिपर्यायः स्वयमेव ज्ञेय इति श्रामण्यपर्यायनिरूपणम् । तथा तीर्थकृतां केवलिमानविमर्शः ।
(५२) तीर्थकृद्गणसंख्याप्रतिपादनम् ।
(५३) तीर्थकृतां गणधराणां संख्याप्ररूपणम् ।
(५४) जिनाना गर्भस्थितिमानम् ।
(५५) गृहवासे यावन्ति ज्ञानानि तीर्थकृतां भवन्ति तान्निरूपणम् ।
(५६) तीर्थकरगोत्राणां, तीर्थकरवंशानां च वर्णनम् ।
(५७) तीर्थकृता चतुर्दशपूर्विणः ।
(५८) श्रावकसंख्या चतुर्विंशतितीर्थकृताम् ।
(५९) जिनानां चक्रित्वकालः ।
(६०) जिनाना सामायिकाऽऽदिचारित्रस्य प्रतिपादनम् ।
(६१) च्यवननक्षत्रमृषभाऽऽदिजिनानाम् ।
(६२) च्यवनकल्याणकतिथयश्च्यवनमासाश्च ।
(६३) ऋषभाऽऽदीनां क्रमतश्च्युतिराशय. ।
(६४) जिनाना च्यवनवेला ।
(६५) सर्वजिनानां छद्मस्थकालमानम् ।
(६६) तीर्थकृतां छद्मस्थतपोमानम् ।
(६७) तीर्थकरयक्षाणां नामानि ।
(६८) तीर्थकरदेवीनां नामानि ।
(६९) तीर्थकरजन्मनगर्यः ।
(७०) तीर्थकरजन्मदेशाः ।
(७१) तीर्थकरजन्ममासाऽऽदिप्ररूपणम् ।
(७२) तीर्थकरजन्मारकप्ररूपणानन्तर जन्मारकाणां शेषकालविचार ।
(७३) तीर्थप्रसिद्धजिनजीवप्रतिपादनम् ।
(७४) भविष्यत्तीर्थकरवर्णनम् ।
(७५) युगान्तकृद्भूमिप्ररूपणम् ।
(७६) तीर्थकृतां स्थितिकल्प ।
(७७) सर्वेषां जिनानां शासने तत्त्वसंख्या ।
(७८) तीर्थप्रवृत्तिकालप्रतिपादनम् ।
(७९) तीर्थकरकल्याणकतपोविधानम् ।
(८०) तीर्थकरणप्रयोजनवर्णनम् ।
(८१) तीर्थोच्छेदकालः ।
(८२) तीर्थकरप्रसङ्गात् द्वादशचक्रिनववासुदेवनवबलदेवनामानि, त्रिषष्टिशलाकापुरुषमानम्, प्रतिवासुदेवनामानि, यस्य तीर्थे ये चक्रिवासुदेवबलदेवा जातास्तेषां च निरूपणम् ।
(८३) वर्तमानकालीनचतुर्विंशतितीर्थकरनामानि, बलदेववासुदेवपितृमातृनामानि, दशारमण्डलानि, वासुदेवबलदेवाना पूर्वभवनामानि, तेषां पूर्वभवधर्माऽऽचार्यनामानि, तन्निदानभूमय, तन्निदानकारणानि, तेषा प्रतिशत्रुनामानि, तेषां मध्ये ये यत्र यान्ति तन्निरूपणम् ।
(८४) तीर्थोत्पत्तिप्ररूपणम् ।
(८५) तीर्थकराणां निर्गमनकालस्य प्रतिपादनम् ।
(८६) दर्शननामनिरूपणानन्तर यस्य तीर्थकरस्य समये यद् दर्शनमुत्पन्न तन्निरूपणम् ।
(८७) ऋषभाऽऽदितीर्थकृता व्रतपर्यायः, दीक्षातरूणां च नामप्रतिपादनम् ।
(८८) यस्तीर्थकरो येन तपसा निष्क्रान्तस्तदभिधानम् ।
(८९) यावत्परिवारेण भगवन्तो दीक्षामशिश्रियन्, तन्निरूपणम् ।
(९०) तीर्थकृतां दीक्षापुरम्, दीक्षासमये मन.पर्यवज्ञानोत्पत्तेः प्ररूपणम् ।
(९१) तीर्थकराणा दीक्षामासपक्षतिथिप्रतिपादनम्, दीक्षालिङ्गम्, दीक्षासमये लोचमुष्टि, दीक्षावनानि, यस्मिन् वयसि ते निष्क्रान्तास्तन्निरूपण च ।
(९२) दीक्षाशिबिकाऽऽदिप्रतिपादनम् ।
(९३) षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारीनामानि, तासां करणीयनिरूपण च ।
(९४) देवदूष्यप्ररूपणम्, देवदूष्यवस्त्रस्थितिमानाऽऽदिनिर्देश. ।
(९५) प्रसङ्गतस्तीर्थकरप्रतिपादितत्वेन धर्मभेदप्ररूपण, तथौचित्याष्टक च ।
(९६) चतुर्विंशतिजिननामसामान्यार्थस्तद् विशेषार्थश्च ।
(९७) तीर्थकृतां पञ्चकल्याणके नक्षत्रैक्यप्ररूपणम् ।

(९८) तीर्थकृतां केवलज्ञानानन्तर मुनीनां मोक्षगमनमानम्, प्रतिक्रमणसख्या, प्रथमगणधरनामानि, प्रथमप्रवर्तिन्यः, प्रथमश्रावका., प्रथमश्राविकाः, प्रत्येकबुद्धमुनिसख्या, तीर्थकृतां प्रमादविचारः, तीर्थकृतां परीषहसहनविमर्शश्च ।

(९९) जिनानामष्टमहाप्रातिहार्याणि ।

(१००) जिनानां प्रथमपारणदायकनामानि, तेषां गतिश्च, पारणदायकार्थे देवकृतदिव्यपञ्चकनामानि, तत्र वसुधारोप्रमाणप्ररूपणम्, जिनानां पारणकपुरनामानि ।

(१०१) तीर्थकराणां पितृनामानि, पितृणां गतिश्च ।

(१०२) पूर्वप्रवृत्तिकाल., पूर्वविच्छेदकालमान च ।

(१०३) सर्वतीर्थकराणा यावन्त. पूर्वभवास्तेषु तेषां नामानि ।

(१०४) तीर्थकृतां पूर्वभवगुरवः, तथा तेषां पूर्वभवायु, पूर्वभवक्षेत्राणि, पूर्वभवक्षेत्रदिशा, पूर्वभवजिनहेतवो विंशतिविधा, पूर्वभवद्वीपाः, पूर्वभवनामानि, पूर्वभवनगर्यः, पूर्वभवराज्यम, पूर्वभवविजया., पूर्वभवस्वर्गाः, पूर्वभवसूत्राणि, तत्र श्रुतलाभद्वारम् ।

(१०५) पार्श्वसुपार्श्वयो. फणकारणानि, तेषां फणसंख्या च, जिनानामारोग्याऽऽदिफलदायकत्वविचारः ।

(१०६) नृपतिबलदेववासुदेवचक्रितीर्थकृतां बलतारतम्यप्रतिपादनम ।

(१०७) जिनभक्तानां राज्ञां नामानि ।

(१०८) तीर्थकरमन पर्यवज्ञानिसख्याकथनम् ।

(१०९) तीर्थकरमातृनामानि, तासां गतिश्च ।

(११०) तीर्थकराणां मोक्षाऽऽसन, मोक्षस्थानानि, यावता तपसा तीर्थकृन्मोक्षसिद्धिस्तन्निरूपणम्, मोक्षनक्षत्राणि, मोक्षपरिवारः, मोक्षपथ., मोक्षमासपक्षतिथय., मोक्षराशय, मोक्षविनयः, मोक्षवेला, मोक्षारकशेषकाल, मोक्षारकप्रतिपादनम्, मोक्षगतानां शरीरमानम् ।

(१११) तीर्थकृतां राज्यकालमानम ।

(११२) तीर्थकृतां रुद्रतपःकारकमुनिसंख्या, तत्र प्रसङ्गात् गणधराऽऽदिमाएमालिकान्तानां, देवानां च रूपवर्णनम ।

(११३) तीर्थकृतां लाञ्छनानि, तेषां लक्षणद्वारम, तीर्थकृत्सु लोकान्तिकदेवैर्बोधनम, जिनवस्त्रवर्णानि, जिनानां च वर्णनिरूपणम् ।

(११४) तीर्थकृतां पञ्चत्रिंशद्वाग्गुणाः ।

(११५) तीर्थकराणां वादिमुनिसंख्या, तीर्थकृतां विवाहविषयश्च, येषु ग्रामनगरेषु तेषां विहार आसीत् तन्निरूपणम् ।

(११६) तीर्थकृतां वैक्रियकमुनय, तेषामेवाऽऽर्यिकासङ्ग्रहप्रमाणम, मुनिस्वरूपम्, सयतसयतीप्रमाणम, तीर्थकृतां सयमप्रतिपादनम ।

(११७) परित्यागद्वारे जिनेन्द्राणामभिनिष्क्रमणसमये दानविचार. ।

(११८) जिनश्राविकामानम् ।

(११९) उत्कृष्टजघन्याभ्या विचरतां तीर्थकृतां संख्या, तथोत्कृष्टजघन्याभ्यां तेषां जन्मसख्या च ।

(१२०) सर्वेषां तीर्थकृतां सर्वायु, तथा तेषां सामान्यमुनिसख्या, तीर्थकृत्सामायिकोपदेशविचारः, सामायिकसंख्या च ।

(१२१) श्रावकव्रतसख्या, साधुव्रतसख्या च ।

(१२२) तीर्थकरमातुश्चतुर्दश स्वप्नाः, स्वप्नकारणानि, स्वप्नविचारकाः, शेषश्रुतप्रवृत्तिकालः ।

(१२३) भरतक्षेत्रेऽतीतोत्सर्पिण्यां जिनेश्वरनामानि, ऐरवते तीर्थकराः, भविष्यत्तीर्थकराणां पूर्वभवनामानि, तेषां पितृमातृप्रथमशिष्यप्रथमशिष्याप्रथमभिक्षादायकसख्या, ऐरवतक्षेत्रभाविनस्तीर्थकरा. ।

(१२४) कृतकृत्या अपि तीर्थकरास्तप.कर्मोपधानश्रुतमुपसर्गसहनाऽऽदिक कुर्वन्तीति निरूप्य, सर्वेषां तीर्थकराणां सदृशानि सूत्राणीत्यत्र गुरुशिष्ययोः प्रश्नोत्तराणि ।

(१२५) प्रकीर्णकवार्ता. ।

तित्थयरगंमिया-तीर्थकरगण्डिका-स्त्री० । तीर्थकरैकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतायां वाक्यपद्धतौ, स० ।

तित्थयरणाणुप्पत्तितव-तीर्थकरज्ञानोत्पत्तितपस्-न० । स्वनामख्याते चित्रतपसि, पञ्चा० ।

तत्स्वरूपमाह-

तित्थंकरणाणुप्प-त्तिमाभिओ तहऽवरो तवो होइ ।
पुव्वोऽएण विहिणा, कायव्वो सो पुण इमो त्ति ॥१२॥

तीर्थकरज्ञानोत्पत्तिरिति सञ्ज्ञा सजाता यस्य तत्तीर्थकरज्ञानोत्पत्तिसञ्ज्ञितम्,पुंस्त्व तु सर्वत्र प्राकृतत्वात् । तथेति समुच्चये, अपरमन्यत्, तपो भवति स्यात् । पूर्वोदितेन विधिना ऋषभाऽऽदिक्रमेण गुर्वाज्ञया विशुद्धक्रियया, मतान्तरणे तन्मासादेनेत्येव लक्षणेन, (कायव्वो त्ति) कार्यम् (सो पुण त्ति) तत्पुन. प्रस्तुतनप., (इमो त्ति) इद वक्ष्यमाणम, इति. समासौ । इति गाथाऽर्थ ॥१२॥

तदेवाऽऽह-

अट्ठमभत्तंतम्मि य, पासोसहमल्लिऽरिट्ठनेमीणं ।
वसुपुज्जस्स चउत्थे-ण छट्ठभत्तेण सेसाणं ॥१३॥

(अस्यार्थोऽनुपदमेव 'तित्थयर' शब्दे २२६३ पृष्ठे केवलतपोनामकेऽधिकाराङ्के गत)

उसभाऽऽइयाणमेत्थं, जायाइं केवलाइँ णाणाइं ।
एयं कुणमाणो खलु, अचिरेणं केवलमुवेइ ॥१४॥

ऋषभाऽऽदिकानां जिनानाम्, अत्र तपसि कृते, जातान्युत्पन्नानि, केवलानि केवलसञ्ज्ञितानि, ज्ञानानि सवेदनानि । अत एतत् तीर्थङ्करज्ञानोत्पत्तिसञ्ज्ञित तपः, कुर्वाण, खल्वचिरेण केवल लभत इति व्यक्तम् । उपैतीति पाठान्तर चेति ॥१४॥ पञ्चा० १९ विव० ।

तित्थयरणाम-तीर्थकरनामन्-न० । नामकर्मभेदे, यदुदयवशादष्टमहाप्रातिहार्यप्रमुखाश्चतुस्त्रिंशदतिशया. प्रादुर्भवन्ति । कर्म० ६ कर्म० । श्रा० । प० सं० ।

तित्थेण तिहुयणस्स वि, पुज्जो से उदओ केवलिणो(४६)

तीर्थेन तीर्थकरनामकर्मवशात्, त्रिभुवनस्याऽपि देवमानवदानवलक्षणत्रिलोकस्याऽपि, पूज्योऽभ्यर्चनीयो भवति । 'से' तस्य तीर्थकरनामकर्मण उदयो विपाक. केवलिन उत्पन्नकेवलज्ञानस्यैव, यदुदयाज्जीव. सदेवमनुजासुरलोकपूज्यमुत्तमोत्तम तीर्थे

प्रवर्तयति । यदागमः-"तित्थ भंते ! तित्थं, तित्थयरे तित्थं ? । गोयमा ! अरिहा ताव नियमा तित्थकरे, तित्थे पुण चाउवण्णे समणसंघे पढमगणहरे वा ।" इति परममुनिप्रणीतधर्मतीर्थस्य प्रवर्त्तयितृपदमवाप्नोति,तत्तीर्थकरनाम इत्यर्थः।(४६) कर्म०१कर्म०।

ननु केवलज्ञानावाप्तौ कृतकृत्यो भवान् किमिति धर्मदेशनायां प्रवर्तत इत्याशङ्कायामाह-

वीतरागोऽपि सद्वेद्य-तीर्थकृन्नामकर्मणः ।
उदयेन तथा धर्म-देशनायां प्रवर्त्तते ॥ १ ॥

वीतरागोऽपि विगताभिष्वङ्गोऽपि, सरागः किल प्रवर्त्तेत इति शब्दार्थः । सद्वेद्यं च सातवेदनीयं, तीर्थकृन्नाम च सद्वेद्यतीर्थकृन्नाम्नी, ते एव कर्म सद्वेद्यतीर्थकृन्नामकर्म्म । अथवा-सता शोभनेन धर्मदेशनाऽऽदिना प्रकारेण यद्वेद्यते तत्सद्वेद्यं, तच्च तीर्थकृन्नामकर्म्म च, तस्य, उदयेन विपाकेन, तथा तेन प्रकारेण समवसरणाऽऽदिश्रीसमनुभवलक्षणेन, धर्मदेशनायां कुशलानुष्ठानप्रज्ञापनायां, प्रवर्त्तते व्याप्रियते इति ॥ १ ॥ हा० ३१ अष्ट० । सम्म० । जी० । ननु सूत्रकर्तुः परमाऽपवर्गप्राप्तिः, अपरं सत्त्वानुग्रह , तदर्थप्रतिपादकस्याऽर्हत' किं प्रयोजनमिति चेत् ? । उच्यते-न किञ्चित्,कृतकृत्यत्वाद्भगवत' । प्रयोजनमन्तरेणार्थप्रतिपादनप्रयासो निरर्थक इति चेत् ? । न । तस्य तीर्थकरनामकर्मविपाकोदयप्रभवत्वात् । उक्त च-" त च कह वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाए उ ।" इति । श्रोतॄणामनन्तर प्रयोजन विवक्षिताऽध्ययनार्थपरिज्ञान, परं निःश्रेयस पद, विवक्षिताध्ययनसम्यगर्थावगमत. सयम', संयमप्रवृत्त्या सकलकर्मक्षयोपपत्तेः । जी० १ प्रति० । "ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परम पदम् । गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भव तीर्थनिकारत." ॥१॥ (इत्यन्यदीयमतम्) स्था० १ ठा० । आ० म० । प० स० । उत्त० । (तीर्थकृन्नामबन्धहेतवः ' तित्थयर ' शब्दे २२६४ पृष्ठे निरूपिताः)

तित्थयरणामगोयकम्म-तीर्थकरनामगोत्रकर्म-न० । तीर्थकरत्वनिबन्धन नाम तीर्थकरनाम, तच्च गोत्रं च कर्मविशेष एवेत्येकपद्भावात् तीर्थकरनामगोत्रम् । अथवा-तीर्थकर इति नाम गोत्रमभिधान यस्य तत्तीर्थकरनामगोत्रम् । तीर्थकरनामाऽऽख्ये नामकर्मभेदे, स्था० ।

समणस्स भगवओ महावीरस्स तित्थंसि नवहिं जीवेहिं तित्थकरनामगोयकम्मे निव्वत्तिए । तं जहा-* सेणिएणं, सुपासेणं,उदाइणा,पुट्टिलेणं अणगारेणं, दढाउणा, संखेणं, सयएणं,सुलसाए साविआए,रेवईए । एस णं अज्जो कण्हे वासुदेवे रामे बलदेवे उदए पेढालपुत्ते पुट्टिले सयए गाहावई दारुए नियंठे सच्चई य णियंठीपुत्ते सावियबुद्धे अम्मडे परिव्वाए,अज्जा वि णं सुपासा पासावच्चेज्जा आगमेस्साए उस्सप्पिणीए चाउज्जाम धम्मं पन्नवित्ता सिज्झिहिंति० जाव अंतं काहिंति । स्था० ए ठा० ।

तित्थयरणिग्गमतव-तीर्थकरनिर्गमतपस्-न० । स्वनामख्याते चित्रतपसि, पञ्चा० ।

* श्रेणिको राजा १, सुपार्श्वो वर्द्धमानस्वामिपितृव्य. २, उदायी कूणिकपुत्र' श्रेणिकपौत्र. ३ ।

तत्र तीर्थकरनिर्गमतपः प्रतिपादयन्नाह-

तित्थयरणिग्गमो खलु, ते जेण तवेण णिग्गया सव्वे ।
ओसप्पिणीएँ सो पुण, इमीएँ एसो विणिद्दिट्ठो ॥ ६ ॥

तीर्थकरैर्निर्गमे गृहवासाद्यत्कृतं तपस्तत्तीर्थकरनिर्गम तप' । खलुरलङ्कारे । तच्च कीदृशमित्याह्-ते तीर्थकरा येन तपसा निर्गता गृहवासात्सर्वेऽवसर्पिण्याम् (सो पुण त्ति) तत्पुनस्तपोऽस्यां वर्त्तमानायाम (एसो त्ति) एतद् वक्ष्यमाणम । (विणिद्दिट्ठो त्ति) उक्तमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥

एतदेवाऽऽह-

सुमइ त्थ णिच्चभत्ते-ण णिग्गओ वासुपुज्जो (जिणो) चउत्थेणं ।
पासो मल्ली वि य अ-ट्ठमेण सेसा उ छट्ठेणं ॥ ७ ॥

सुमति' पञ्चमजिन. । " त्थ " इति पादपूरणे निपातः । नित्यभक्तेनानवरतभोजनेन, अविहितोपवास इत्यर्थः । निर्गतो गृहवासान्निष्क्रान्त' । तथा वासुपूज्यो द्वादशो जिनोऽर्हन् चतुर्थेनैकोपवासरूपेण । पार्श्वस्त्रयोविंशतितम , मल्लिरेकोनविंशतितमः, अष्टमेनोपवासत्रयरूपेण । शेषास्तु विंशति' पुनः षष्ठेनोपवासद्वयरूपेणेति गाथाऽर्थ' ॥ ७ ॥ (एतदेव ' तित्थयर ' शब्दे २२७७ पृष्ठे निष्क्रमणतप प्ररूपणावसरे व्याख्यातम्)

एतद्विधानविधिमाह-

उसभाइकमेणेसो, कायव्वो ओहओ सइ बलम्मि ।
गुरुआणापरिसुद्धो, विसुद्धकिरियाएँ धीरेहिं ॥ ८ ॥

ऋषभाऽऽदिक्रमेण नाभेयनिर्गमाऽऽद्यानुपूर्व्या, एष तीर्थकरनिर्गम', कर्त्तव्यो विधेय', ओघत. सामान्येनोत्सर्गेणेत्यर्थ. । सति विद्यमाने, बले शक्तौ, तथाविधबलाभावे पुनर्व्यतिक्रमणाकरणेऽपि न दोष इति भाव. । गुर्वाज्ञया परिशुद्धो निर्दोषस्तत्सपादनाद् गुर्वाज्ञापरिशुद्ध. । तथा-विशुद्धक्रिययाऽनवद्यानुष्ठानेन, धीरैः सात्त्विकैरिति गाथार्थ. ॥ ८ ॥

इहैव मतान्तरमाह-

अन्ने तम्मासदिणे-सु बेंति लिंगं इमस्स जावम्मि ।
तप्पारणसंपत्ती, तं पुण एयं इमेसिं तु ॥ ए ॥

अन्ये अपरे सूरय ,तेषामृषभाऽऽदिजिननिर्गमतपसां ये मासाः प्रतीता , दिनानि च तिथय , तानि तन्मासदिनानि, तेषु, न मासान्तरतिथ्यन्तरेषु, ब्रुवते तीर्थकरनिर्गमतप. । तथाहि-ऋषभस्वामिनो निष्क्रमणतपोऽङ्गीकृत्य चैत्रमासबहुलाष्टमीदिन एव षष्ठ कार्यं, वर्द्धमानस्वामिनश्च मार्गशीर्षबहुलदशमीदिन एवेति । एवमन्येषामपीति । तथा लिङ्गं लक्षणम्, अस्य ऋषभाऽऽदिनिर्गमतपस , भावे सत्सिद्धौ, तेषामृषभाऽऽदीनां यस्य यत्पारण भोजनमासीत्तस्य संपत्तिः प्राप्तिस्तत्पारणसंपत्तिः,तत्पुनः पारणकमेतद्वक्ष्यमाणमेषामृषभाऽऽदीनाम् । तुशब्द. पूरणे । इति गाथार्थ. ॥ ९ ॥ पञ्चा० १९ विव० । (' उसह ' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठे यावता कालेन भिक्षा लब्धा, यच्च पारणकमासीत् तन्निरूपितम्)

तित्थयरत्त-तीर्थकरत्व-न० । अर्हत्त्वे, यो० विं० । आ० म० । (तीर्थकरत्वहेतव ' तित्थयर ' शब्देऽनुपदमेव २२७४ पृष्ठे व्याख्याताः)

तित्थयरदाण-तीर्थकरदान-न० । तीर्थकृद्दीयमाने, वरघोषणायां सत्यां श्रावको,योषिच्च तद्दानं गृह्णीत०, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-तीर्थकृद्दानसमये ज्ञाताधर्मकथाऽऽदिषु सनाथानाथपथिककार्पटिकाऽऽदीनां याचकानां ग्रहणाधिकारो दृश्यते, न तु व्यवहारिणाम्, तेन श्रावकोऽपि कश्चिद्यदि याचकीभूय गृह्णाति तदा गृह्णातु,योषितस्तु प्रायस्तत्राधिकारो न दृश्यत इति ।३८९ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

तित्थयरभत्ति-तीर्थकरभक्ति-स्त्री० । परमगुरुविनये, पञ्चा० १ विव० ।

तित्थयरमाइतव-तीर्थकरमातृतपस्-न० । तीर्थकरमातृपूजायुक्त तपस्तीर्थकरमातृतप' । भाद्रपदे सप्तभिरेकाशनकैर्निष्पाद्ये चित्रतपोभेदे, पञ्चा० १६ विव० ।

तित्थयरमोक्खगमणतव-तीर्थकरमोक्षगमनतपस्-न० । स्वनामख्याते चित्रतपसि, पञ्चा० ।

तत्स्वरूपमाह-

तित्थयरमोक्खगमणं, अहावरो एत्थ होइ विन्नेओ ।
जेण परिनिव्वुया ते, महाणुभावा तओ य इमो ॥१५॥

तीर्थकरमोक्षगमन नाम, अथानन्तरम्, (अवरो त्ति) अपरम्, अत्र तपोऽधिकारे, भवति स्यात्, (विन्नेओ त्ति) विज्ञेयम् । येन तपसा, परिनिर्वृता निर्वाणं गता., ते तीर्थकरा , महानुभावा अचिन्त्यशक्तयः, (तओ य इमो त्ति) तच्च तीर्थकरनिर्वाणगमनाऽऽख्य तप , इद वक्ष्यमाणमिति गाथाऽर्थ. ॥१५॥

तदेवाऽऽह-

निव्वाणमंतकिरिया, सा चोद्दसमेण पढमनाहस्स ।
सेसाण मासिएणं, वीरजिणिंदस्स छट्ठेणं ॥ १६ ॥

निर्वाण निर्वृतिः, अन्तक्रियेति अन्तक्रियाशब्देनोच्यते,साऽन्तक्रिया (चोद्दसमेण त्ति) चतुर्दशभक्तेनोपवासषट्करूपेण, प्रथमनाथस्य ऋषभजिनस्य, शेषाणामजिताऽऽदीना मासिकेन मासोपवासरूपेण,वीरजिनेन्द्रस्य षष्ठेनेति व्यक्तमिति गाथाऽर्थ ॥१६॥ पञ्चा० १६ विव० । ('तित्थयर' शब्देऽपि २२७९ पृष्ठे गतेय गाथा) " समणस्स ण भगवओ महावीरस्स अट्ठसया अणुत्तरोववाइयाण गइकल्लाणाण० जाव आगमेसिभद्दाण उक्कोसिया अणुत्तरोववाइसपया होत्था।" स्था० ८ ठा०। (एते 'तित्थयर' शब्दे २२४८ पृष्ठे सर्वेषां तीर्थकृता न्यक्षेण प्रतिपादिता.)

तित्थयरसम-तीर्थकरसम-पुं०। सर्वाऽऽचार्यगुणयुक्ततया सुधर्माऽऽदिवत्तीर्थकरकल्पे, ग० ।

तित्थयरसमो सूरी, सम्मं जो जिणमयं पयासेइ ।
आणं अइक्कमंतो, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥२७॥

स सूरिस्तीर्थकरसमः सर्वाऽऽचार्यगुणयुक्ततया सुधर्माऽऽदिवत्तीर्थकरकल्पो विज्ञेय । न च वाच्य चतुस्त्रिंशदतिशयाऽऽदिगुणविराजमानस्य तीर्थकरस्योपमा सूरेस्तद्विकलस्याऽनुचिता । यथा तीर्थकरोऽर्थं भाषते,एवमाचार्योऽप्यर्थमेव भाषते। तथा यथा तीर्थकर उत्पन्नकेवलज्ञानो भिक्षार्थं न हिण्डते, एवमाचार्योऽपि भिक्षार्थं न हिण्डते, इत्याद्यनेकप्रकारैस्तीर्थकरानुकारित्वस्य सर्वातिशायित्वस्य परमोपकारित्वाऽऽदेश्च ख्यापनार्थम्,तस्य न्याय्यतरत्वात्। किं च-श्रीमहानिशीथपञ्चमाध्ययनेऽपि भावाऽऽचार्यस्य तीर्थकरसाम्यमुक्तम्। यथा-"से भयव ! किं तित्थयरसंतिअं आणं नाइक्कमिज्जा, उदाहु आयरियसंतिअं ? । गोयमा ! चउव्विहा आयरिया भवंति । त जहा-नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया । तत्थ णं जे भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा, तेसिं संतिअं आणं नाइक्कमेज्ज त्ति । " स कः य. सम्यक् यथास्थित, जिनमत जगत्प्रभुदर्शन नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवभूतरूपनयसप्तकाऽऽत्मक, प्रकाशयति भव्याना दर्शयतीत्यर्थ. । २७ । ग० १ अधि० ।

तित्थयरसिद्ध-तीर्थकरासिद्ध-पुं० । तीर्थकराः सन्तो ये सिद्धा ऋषभाऽऽदिवत्ते तीर्थकरसिद्धा. । सिद्धभेदेषु, पा० । ल० । न० आ० चू० ।

तित्थयराऽऽणा-तीर्थकराऽऽज्ञा-स्त्री० । जिनोपदेशे, पञ्चा० १६ विव० । "तित्थगराणा मूल,नियमा धम्मस्स तीए वाघाए । किं धम्मो किमहम्मो, मूढा नेउ वि पारिंति ॥१॥ " दर्श० १ तत्त्व ।

तित्थयराभिमुह-तीर्थकराभिमुख-त्रि० । तीर्थकरसम्मुखे, बृ० १ उ० ।

तित्थयरी-तीर्थकरी-स्त्री० । स्त्रीत्वविशिष्टे तीर्थकरे, यथा मुक्तौ मल्लिस्वामिनीप्रभृतिका तीर्थकरी, सामान्यसाध्व्यादिका वा वेदितव्या । यतः सिद्धप्राभृतटीकायामेवोक्तम्-"वुच्चीओ वि मल्लीपमुहाओ अन्नाओ य सामन्नसाहुणीपमुहाओ व हुति त्ति।" न० ।

तित्थराय-तीर्थराज-पुं० । शत्रुञ्जयपर्वते, ती० १ कल्प ।

तित्थसिद्ध-तीर्थसिद्ध-पुं० । तीर्यते संसारसागरोऽनेनेति तीर्थम्, यथाऽवस्थितसकलजीवाजीवाऽऽदिपदार्थसार्थप्ररूपक परमगुरुप्रणीत प्रवचन, तच्च निराधार न भवतीति सङ्घः, प्रथमगणधरो वा, तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धास्ते तीर्थसिद्धाः । प्रज्ञा० १ पद । नं० । ध० । आ० चू० । तीर्थे उक्तलक्षणे सति सिद्धा निर्वृता जम्बूस्वाम्यादिवदिति तीर्थसिद्धा । पा० । तीर्थे सति सिद्धा निर्वृता ऋषभसेनगणधराऽऽदिवदिति तीर्थसिद्धा. । सिद्धभेदेषु, स्था० १ ठा० ।

तित्थसेवण-तीर्थसेवन-न० । तीर्थम् उक्तलक्षण, तस्य सेवन तीर्थसेवनम् । द्रव्यभावतीर्थसेवायाम्, ध० । तीर्थकरनामकर्मनिबन्धनत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थम् । तथा-तीर्थं द्रव्यतो जिनदीक्षाज्ञाननिर्वाणस्थानम् । यदाह-" जम्म दिक्खा नाण, तित्थयराण महाणुभावाण । जत्थ य किर निव्वाण, आगाढ दसण होइ ॥ १ ॥ " इति । भावतस्तु ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽधार' श्रमणसघ', प्रथमगणधरो वा । यदाह-" तित्थ भंते ! तित्थ, तित्थयरे तित्थ ? । गोयमा ! अरिहा ताव नियमा तित्थयरे, तित्थे पुण चाउव्वण्णे समणसघे, पढमगणहरे वा । " इति । तस्य सेवनम् । ध० २ अधि० ।

तित्थाणुसज्जणा-तीर्थानुषञ्जना-स्त्री० । जिनशासनानुवर्त्तनायाम्, कल्प० ।

जप्पभिइं च णं से खुद्दाए भासरासी महग्गहे दोवाससहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकंते, तप्पभिइं च णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य नो उदिओदिए पूआसक्कारे पवत्तइ ॥ १३० ॥ जया णं से खुद्दाए भासरासी महग्गहे दोवाससहस्सट्ठिई० जाव जम्मनक्खत्ताओ विइक्कंते भविस्सइ, तया णं समणाण निग्गंथाणं निग्गंथीण य उदिओदिए पूआसक्कारे भविस्सइ ॥१३१॥

यतः प्रभृति स क्षुद्राऽऽत्मा भस्मराशिनामा ग्रहो द्विवर्षसहस्रस्थिति. श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य जन्मनक्षत्र सङ्क्रान्तः, तत प्रभृति श्रमणानां तपस्विनां,निर्ग्रन्थानां साधूना, निर्ग्रन्थीनां साध्वीना च उदितोदित उत्तरोत्तर वृद्धिमान् ईदृश यः पूजा वन्दनाऽऽदिसत्कारो वस्त्रदानाऽऽदिबहुमान.,स न प्रवर्त्तते। अत एव शक्रेण स्वामी विज्ञप्त -यत् क्षणमायुर्वर्द्धयत, येन भवत्सु जीवत्सु भवज्जन्मनक्षत्र सङ्क्रान्तो भस्मराशिग्रहो भवच्छासन पीडयितु न शक्ष्यति। तत. प्रभुणोक्तम्-न खलु शक्र ! कदाचिदपि इद भूतपूर्वं,प्रक्षीणमायुर्जिनेन्द्रैरपि न वर्द्धयितु शक्यते,ततोऽवश्यभाविनी तीर्थबाधा भविष्यत्येव, किं तु षडशीतिवर्षायुषि कल्किनि कुनृपतौ त्वया निगृहीते सति वर्षसहस्रद्वये पूर्णे मज्जन्मनक्षत्राद्भस्मग्रहे व्यतिक्रान्ते च त्वत्स्थापितकल्किपुत्रधर्मदत्तराज्यादारभ्य साधुसाध्वीनाम उदितोदित पूजासत्कारो भविष्यतीति॥१३०॥ सूत्रकारा अपि तदेवाऽऽहु -(जया णमित्यादि) यदा च क्षुद्रात्मा भस्मराशिर्महाग्रह द्विवर्षसहस्रस्थितिकः यावद् भगवज्जन्मनक्षत्राद् व्यतिक्रान्तो भविष्यति, तदा श्रमणानां निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च उदितोदितः पूजासत्कारो भविष्यति। कल्प० ६ क्षण।

से भयवं! केवइएणं कालेणं पहे कुगुरुभावी होंति ?। गोयमा! इओ य अद्धतेरसण्ह वाससयाणं साइरेगाणं समइक्कंताणं परओ भविंसु। से भयवं! केणं अट्ठेणं ?। गोयमा! तक्कालं इड्ढीरससायगारवसंगए ममीकारअहंकारऽग्गीए अंतो संपज्जलंतबोंदी अहमहं ति कयमाणसे अमुणियसमयसब्भावे गणी भविंसु,एएणं अट्ठेणं। से भयवं! किं सव्वे वि एवंविहे तक्कालगणी भविंसु?। गोयमा! एगंतेणं नो सव्वे,के य पुण दुरंतपंतलक्खणे अदट्ठव्वे णं एगाए जणणीए जमगसमगं पसूए निम्मेरे पावसीले दुज्जायजम्मे सुरोद्दपयंमाभिग्गहियदूरमहामिच्छदिट्ठी भविंसु। से भयवं! कहं ते समुवलक्खेज्जा ?। गोयमा! उस्सुत्तउम्मग्गपवत्तणुदिस्सए,अणुमईपच्चएण वा। महा०७अ०१ चू०।

उत्सर्पिण्यामन्तिमजिनस्य तीर्थानुषञ्जना-

उस्सप्पिणि अंतिमजिण-तित्थं सिरिरिसहनाणपज्जाया।
संखेज्जा जावइआ, ताव पमाणं धुवं भविही ॥४५२॥

इह श्रीऋषभस्वामिन केवलज्ञानपर्यायो वर्षसहस्रोन एकपूर्वलक्ष., तत एवस्वरूपा ज्ञानपर्याया' सख्येया यावन्तो भवन्ति तावत्प्रमाणमुत्सर्पिण्यामन्तिमजिनस्य चतुर्विंशतितमस्य भद्रकृन्नाम्नस्तीर्थकृतस्तीर्थं ध्रुव निश्चित भविष्यति। सख्येयपूर्वलक्षण तत्तीर्थमित्यर्थ.। प्रव० २६५ द्वार। दर्श०। ति०। (कदा कस्य श्रुतस्य व्यवच्छेद इति तु 'तित्थयर' शब्दे २२७२ पृष्ठे निरूपित.)

व्यवच्छेदाधिकारादेवेदमाह-

जंबुद्दीवे णं भंते! दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवइयं कालं पुव्वगए अणुसिज्जिस्सइ ?। गोयमा! जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए ममं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसिज्जिस्सइ। जहा णं भंते! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए देवाणुप्पियाणं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसिज्जिस्सइ, तहा णं भंते! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए अवसेसाणं तित्थगराणं केवइयं काल पुव्वगए अणुसिज्जित्था ?। गोयमा! अत्थेगइयाणं संखेज्जं कालं, अत्थेगइयाणं असंखेज्जं कालं। जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवइय कालं तित्थे अणुसिज्जिस्सइ ?। गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए ममं एगवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसिज्जिस्सइ। जहा णं भंते! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए देवाणुप्पियाणं एकवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसिज्जिस्सइ, तहा णं भंते! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमेस्साणं चरमतित्थगरस्स केवइयं कालं तित्थे अणुसिज्जिस्सइ ?। गोयमा! जावइएणं उसभस्स अरहओ कोसलियस्स जिणपरियाए तावइयाए संखेज्जाइं आगमेस्साणं चरमतित्थगरस्स तित्थे अणुसिज्जिस्सइ।

(जंबुद्दीवे णमित्यादि) (देवाणुप्पियाण ति) युष्माक संबन्धि (अत्थेगइयाण सखेज्ज काल ति) पश्चानुपूर्व्या पार्श्वनाथाऽऽदीनां सख्यात कालम्। (अत्थेगइयाण असखेज्ज काल ति) ऋषभाऽऽदीनाम् (आगमेस्साण ति) आगमिष्यतां भविष्यतां महापद्माऽऽदीना जिनानाम्। (कोसलियस्स त्ति) कोशलदेशे जातस्य। (जिणपरियाए त्ति) केवलिपर्याय', स च वर्षसहस्रन्यून पूर्वलक्षमिति। भ० २० श० ७ उ०।

अधुना ....."अणुसज्जणा य दस चोद्दस अट्ठ दुप्पसहे" (३३४) इत्यस्य व्याख्यानमाह-

दस ता अणुसज्जंती. जा चोद्दसपुव्वि-पढमसंघयणं।
तेण परेणऽट्ठविहं, जा तित्थं ताव बोधव्वं ॥ ३४१ ॥

यावत्प्रथमसहनन, चतुर्दशपूर्वी च, तावद्दश प्रायश्चित्तानि अनुषज्जन्ति स्म। एतौ च प्रथमसहननचतुर्दशपूर्विणौ समकं व्यवच्छिन्नौ, तयोश्च व्यवच्छिन्नयोरनवस्थाप्य, पाराञ्चित च व्यवच्छिन्नम। तत' परेणानवस्थाप्यपाराञ्चितव्यवच्छेदादर्वाक्, अष्टविध प्रायश्चित्त तावदनुषज्जते, अनुवर्त्तमानं वोद्धव्य, यावत्तीर्थव्यवच्छेदकाले चतु प्रसभो नाम सूरिर्भविष्यति, तस्मिन् कालगते तीर्थे, चारित्रं च व्यवच्छेदमयते।

यदप्युक्तं "देंता वि न दीसति" (३३०) इत्यादि। तत्राऽऽह-

दोसु उ वोच्छिन्नेसुं, अट्ठविहं देंतया करेंता य।
न वि केई दीसंती, वयमाणे भारिया चउरो ॥ ३४२ ॥

द्वयोरनवस्थाप्यपाराञ्चितयोः, अथवा-प्रथमसहननचतुर्दशपूर्विणो, व्यवच्छिन्नयोरष्टविधं प्रायश्चित्त ददत , कुर्वन्तो वा केचिन्न दृश्यन्ते, इति वदति परस्मिन्प्रायश्चित्त चत्वारो भारिता गुरुका मासा.।

दोसु वि वोच्छिन्नेसुं, अट्ठविहं देंतया करेंता य ।
पच्चक्खं दीसंती, जह्य तहा मे निसामेहि ॥ ३४३ ॥
द्वयोरन्तिमयोः प्रायश्चित्तयोः प्रथमसंहननचतुर्दशपूर्विणोर्वा व्यवच्छिन्नयोरष्टविधं प्रायश्चित्तं ददतः, कुर्वन्तश्च प्रत्यक्षं दृश्यन्ते यथा,तथा मम कथयतो निशमय ।
पंचेव निग्गंठा खलु, पुलागवकुसा कुसीलनिग्गंथा ।
तह य सिणाया तेसिं, पच्छित्तं जहक्कमं वोच्छं ॥३४४॥
पञ्चैव खलु निर्ग्रन्था भवन्ति ।तद्यथा-पुलाको, वकुशः,कुशीलः, निर्ग्रन्थः, स्नातकश्च । एतेषां च स्वरूपं व्याख्याप्रज्ञप्तेरवसेयम् । एतेषां प्रायश्चित्तं यथाक्रमं वक्ष्ये।
प्रतिज्ञां पूरयति-
आलोयणपडिकमणे, मीसविवेगे तवे विउस्सग्गे ।
एए छ पच्छित्ता, पुलागनियंठस्स बोधव्वा ॥३४५॥
आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक ,तपः, व्युत्सर्गः, एतानि षट् प्रायश्चित्तानि पुलाकनिर्ग्रन्थस्य शोधव्यानि ।
वउसपडिसेवगाणं, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि ।
थेराण भवे कप्पे, जिणकप्पे अट्ठहा होंति ॥३४६॥
वकुशप्रतिसेवकयोर्वकुशस्य, प्रतिसेवनाकुशीलस्य च सर्वाण्यपि दशाऽपि प्रायश्चित्तानि भवन्ति । तौ च वकुशकुशीलौ स्थविराणां कल्पे भवतः, जिनकल्पे, उपलक्षणमेतत्-यथालन्दकल्पे च, तयोः प्रायश्चित्तमष्टधा भवति, अनवस्थाप्यपाराञ्चितयोरभावात् ।
आलोयणा विवेगो य, नियंठस्स दुवे भवे ।
विवेगो य सिणायस्स, एमेया पडिवत्तिओ ॥३४७॥
आलोचनाप्रायश्चित्तविवेकप्रायश्चित्ते निर्ग्रन्थस्य भवतः, स्नातस्य केवल एको विवेकः । एवमेताः पुलाकाऽऽदिषु प्रतिपत्तयः ।
पंचेव संजया खलु, नायसुएण कहिया जिणवरेणं ।
तेसिं पायच्छित्तं, अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥३४८॥
ज्ञातसुतेन जिनवरेण वर्द्धमानस्वामिना पञ्चैव खलु संयताः कथिताः, तेषां यथाक्रमं प्रायश्चित्तं कीर्तयिष्यामि ।
तदेव कीर्तयति-
सामइयसंजयाणं, पायच्छित्तानि छेदमूलरहियऽट्ठा ।
थेराण जिणाण पुण, तवमंतं छव्विहं होइ ॥३४९॥
सामायिकसंयतानां स्थविराणां स्थविरकल्पिकानां छेदमूलरहितानि शेषाण्यष्टौ प्रायश्चित्तानि भवन्ति । जिनानां जिनकल्पिकानां पुनः सामायिकसंयतानां तपःपर्यन्तं षड्विधं प्रायश्चित्तं भवति ।
छेदोवट्ठावणिए, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि ।
थेराण जिणाणं पुण, मूलंतं अट्ठहा होइ ॥३५०॥
छेदोपस्थापनीये संयमे वर्त्तमानानां स्थविराणां सर्वाण्यपि प्रायश्चित्तानि भवन्ति, जिनकल्पिकानां पुनर्मूलपर्यन्तमष्टधा भवति ।
परिहारविसुद्धीए, मूलंता अट्ठ होंति पच्छित्ता ।
थेराण जिणाणं पुण, छव्विह छेयादिवज्जं च ॥३५१॥
परिहारविशुद्धिके संयमे वर्तमानानां स्थविराणां मूलान्तान्यष्टौ प्रायश्चित्तानि भवन्ति । जिनानां पुनश्छेदाऽऽदिवर्जं षड्विधम् ।
आलोयणा विवेगो य, तइयं तु न विज्जती ।
सुहुमे य संपराए य, अहक्खाए तहेव य ॥३५२॥
सूक्ष्मसम्पराये, यथाख्याते च संयमे वर्तमानानामालोचना, विवेक इत्येवरूपे द्वे प्रायश्चित्ते भवतः, तृतीयं तु न विद्यते ।
ततः प्रस्तुते किमायातमिति चेदत आह-
वउसपडिसेवया खलु, इत्तरि-छेया य संजया दोण्णि ।
जा तित्थऽणुसज्जंती, अत्थि हु तेणं तु पच्छित्तं ॥३५३॥
निर्ग्रन्थचिन्तायां वकुशः,प्रतिसेवकः प्रतिसेवनाकुशीलः,इत्येतौ द्वौ निर्ग्रन्थौ, संयतचिन्तायाम् इत्वरी-इत्वरसामायिकवान्, छेदश्छेदोपस्थाप्यश्चेति द्वौ संयतौ, यावत्तीर्थं तावदनुषज्जतोऽनुवर्त्तेते, तेन ज्ञायते अस्ति सम्प्रत्यपि प्रायश्चित्तम् । व्य० १० उ० । (विशेषविस्तरस्तु ' वोच्छेय ' शब्दे वक्ष्यते ।) (कल्किराज्ये तीर्थं नष्टप्रायमासीदिति ' कक्कि ' शब्दे तृतीयभागे १८१ पृष्ठे समुक्तम्)

तित्थाभिसेअ-तीर्थाभिषेक-पुं० । लौकिकतीर्थस्नाने, औ० ।

तित्थिय-तीर्थिक-त्रि० । अन्यमतीये सम्मतपापे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

तित्थुग्गालिय-तीर्थोद्गालिक-न०- । स्वनामख्याते प्रकीर्णके, तित्थु० ।

"जयइ ससिपायनिम्मल-तिहुअणविदिण्णपुण्णजसकुसुमो ।
उसभो केवलदंसण-दिवायरो दिट्ठिदट्ठव्वो ॥ १ ॥
बावीसइ च निज्जिय-परीसहकसायविग्घसंघाया ।
अजिआईया भविया-ऽरविंदरविणो जयंति जिणा ॥ २ ॥
जयइ सिद्धत्थनरिं-दविमलकुलविपुलनहलियमयंको ।
महिपालससिमहोरग-महिंदमहिओ महावीरो ॥ ३ ॥
नमिऊण समणसंघं, सुनायपरमत्थपायडं वियडं ।
वोच्छं निच्छयत्थं, तित्थुग्गालीएँ संखेवं ॥ ४ ॥
रायगिहे गुणसिलए, भणिया वीरेण गणहराण तु ।
पयसयसहस्समेयं, वित्थरओ लोगनाहेण ॥ ५ ॥
अइसखेवं मोत्तुं, मोत्तूण य वित्थरं अह भणिमो ।
अप्पक्खरं महत्थं, जह भणियं लोगनाहेण ॥ ६ ॥
कालो उ अणाईओ, पवाहरूवेण होइ नायव्वो ।
निहणाविहूणो सो च्चिय, वागरणगेहिँ निद्दिट्ठो ॥७॥" तित्थु० ।
"एसा य पयसहस्से-एं वन्निया समणगंधहत्थीण ।
पुट्ठेण य रायगिहे, तित्थुग्गाली उ वीरेण ॥ १२४५ ॥
सोउं तित्थुग्गालिं, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
पणमह सुगइगयाणं, सिद्धाण निट्ठियट्ठाणं ॥ १२४६ ॥
भद्दं सव्वजगुज्जो-यगस्स भद्दं जिणस्स वीरस्स ।
भद्दं सुरासुरनम-सियस्स भद्दं धुयरयस्स ॥ १२४७ ॥
गुणभवणगहण ! सुयरय-ण ! भरियदंसण ! विसुद्धरत्थागा ! ।
संघनगर ! भद्दं ते, अक्खलचरित्तपागारा ! ॥ १२४८ ॥
अ उचित सुयाओ, अहव गतीए जयोवदेसेण ।
तं च विहड नाउं, सोहेयव्वं सुयधरेहिं ॥ १२४९ ॥
मणपरमोहिपुलाए, आहारगखवगउवसमे कप्पे ।
संजमतियकेवलिसि-ज्झणा उ जंबुम्मि वोच्छिन्ना ॥१२५०॥
पुव्वाणं अणुओगो, संघयणं पढमं च संठाणं ।

सुहुममहापाणाणि य, वोच्छिन्ना थूलभद्दम्मि ॥ १२५१ ॥
दसपुव्वा वोच्छिन्ना, सपुन्ना सुरजवम्मि सपत्ते ।
वयरम्मि महाभागे, सघयण अद्धनाराय ॥ १२५२ ॥
वीसविणोहिं कप्पे, पच गहाणी उ कप्पठवणा य ।
नवसयतियणवएहिं, वोच्छिन्ना सघआणाए ॥ १२५३ ॥
तीर्थोद्गालिकसिद्धान्त' ।
तेतीस गाहाओ, दोन्नि सयाऊ सहस्समेग च ।
तित्थुग्गालियसखा, एसा भणिया उ अकेण" ॥१२५४॥ तित्थु०।

तित्थुएणतिकारग–तीर्थोन्नतिकारक–त्रि०। प्रवचनप्रभावनाकारिणि, पञ्चा० ८ विव० ।

तित्थुदय–तीर्थोदय–पु० । तीर्थकरनामोदये, यत. सयोग्यादौ तीर्थकरनामोदयो भवति । यदुक्तम्–"उदए जस्स सुरासुरनरवइनिवहेहिँ पूइओ होइ । त तित्थयर नामं, तस्स विवागो हु केवलिणो ॥ १ ॥ " तत पूर्वोक्तैकचत्वारिंशति तीर्थकरनाम क्षिप्यते, जाता द्विचत्वारिंशत्, सा च सयोगिनि भवतीति । (२१) कर्म० २ कर्म० ।

तित्थेस–तीर्थेश–पु० । तीर्थस्य प्रागुक्तस्य, तदाऽऽधेयस्याऽऽगमस्य वा, ई लक्ष्मीं महिमानं, श्यति तत्तदसद्भूतदूषणोद्घोषणै' स्वाभिप्रायेण तनूकरोति य स तीर्थेश । तीर्थान्तरीये बहिरङ्गापकारिणि, (रत्ना०) तीर्थस्य चतुर्वर्णस्य श्रीश्रमणसङ्घस्येशः स्वामी तीर्थेश । तीर्थकरे, रत्ना० १ परि० ।

तिदंड–त्रिदण्ड–न० । त्रयाणां दण्डानां समाहारस्त्रिदण्डम् । त्रयाणां दण्डानां समाहारे, औ० । भ० ।

तिदंडि–(ण्)–त्रिदण्डिन्–पु० । मनोवाक्कायदण्डत्रयपरिज्ञानार्थे दण्डत्रयधारके वेदान्तावलम्बिश्रमणभेदे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । सूत्र० । (नमस्कारफले त्रिदण्डयुदाहरण 'णमोक्कार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८४४ पृष्ठे गतम्)

तिदसावास–त्रिदशावास–पु० । देवलोके, प्रा० ढुंढि० ४ पाद ।

तिदिस–त्रिदिश्–न० । तिस्रो दिश समाहृतास्त्रिदिक् । दिक्त्रये, स्था० ।

तिध–तथा–अव्य० । "कथ-यथा-तथां थाऽऽदेरेमेमेहेधा डित." ॥ ८ । ४ । ४०१ ॥ इत्यपभ्रंशे थादेरवयवस्य डित्सञ्ज्ञक 'इध' इत्यादेश । प्रा० ४ पाद । साम्ये, अभ्युपगमे, पृष्टप्रतिवाक्ये, समुच्चये, निश्चये च । वाच० ।

तिपरिवत्त–त्रिपरिवर्त्त–त्रि० । त्रिभिर्वारैर्वेष्टनीये, बृ० ३ उ० ।

तिपह–त्रिपथ–न० । त्रयाणां पथा समाहारे, वाच० । अनु० ।

तिपायण–त्रिपातन–न० । "कायवयमणा तिन्नि उ, अहवा देहाउ इंदिया पाणा । सामित्त वायाणे, होयऽतिवाओ य करणेसु ॥ ७४ ॥ " इत्युक्तलक्षणे प्राणिविनाशे, पिं० । त्रीणि कायवाङ्मनांसि, यद्वा–त्रीणि देहाऽऽयुरिन्द्रियलक्षणानि । पातन चातिपातो, विनाश इत्यर्थ । अत्र च त्रिधा समासविवक्षा । तद्यथा–षष्ठीतत्पुरुष , पञ्चमीतत्पुरुष , तृतीयातत्पुरुषश्च । तत्र षष्ठीतत्पुरुषोऽयम्–त्रयाणां कायवाङ्मनसां पातन विनाशन त्रिपातनम् । एतच्च परिपूर्णगर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामवसेयम्, एकेन्द्रियाणां तु कायस्यैव केवलस्य, विकलेन्द्रियसम्मूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्याणां तु कायवचसोरेवेति । यद्वा–त्रयाणां देहाऽऽयुरिन्द्रियरूपाणां पातन विनाशन त्रिपातनम् । इद च सर्वेषामपि तिर्यग्मनुष्याणां परिपूर्णं घटते, केवलं यथा येषां सम्भवति तथा तेषां वक्तव्यम्, यथा एकेन्द्रियाणां देहस्यौदारिकस्य आयुषस्तिर्यगायूरूपस्येन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य, द्वीन्द्रियाणां देहस्यौदारिकरूपस्य आयुषस्तिर्यगायुष इन्द्रिययोश्च स्पर्शनरसनलक्षणयोरित्यादि । पञ्चमीतत्पुरुषस्त्वयम्–त्रिभ्य' कायवाङ्मनोभ्यो, देहाऽऽयुरिन्द्रियेभ्यो वा पातन च्यावनमिति त्रिपातनम् । अत्राऽपि त्रिभ्यः परिपूर्णेभ्य' कायवाङ्मनोभ्य. पातन गर्भजपञ्चेन्द्रियातिर्यग्मनुष्याणाम्, एकेन्द्रियाणां तु कायादेव केवलात्, विकलेन्द्रियसम्मूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्याणां तु कायवाग्भ्यामिति, देहाऽऽयुरिन्द्रियरूपेभ्यः पातन सर्वेषामपि परिपूर्णं सम्भवति । तथा तेषां प्रागिव वक्तव्यम् । तृतीयातत्पुरुषः पुनरयम्–त्रिभिः कायवाङ्मनोभिर्विनाशकेन स्वसम्बन्धिभि' पातनं विनाशन त्रिपातनम् ॥७४॥ ('आहाकम्म' शब्दे द्वि० भा० २२० पृष्ठेऽपि व्याख्यैषा) पिं० । प्रश्न० । सूत्र० ।

तिपुंज–त्रिपुञ्ज–न० । शुद्धाशुद्धमिश्रपुञ्जत्रये, विशे० । " आलंबणमलहंती, जह सट्ठाण न मुचए इलिआ । एव अकयतिपुंजी, मिच्छ चिअ उवसमी एइ ॥१॥ " ध० २ अधि० ।

तिपुक्खर–त्रिपुष्कर–न० । त्रीणि पुष्कराणि त्रिपुष्करम् । "सख्यापूर्वो द्विगु " ॥ २ । १ । ५२ । इति समास. । अनु० । " वारा. क्रूरास्तिथिर्भद्रा, नक्षत्र भद्रपादकम् । जातेऽत्र जारजो योगो, मरणेऽत्र त्रिपुष्करम् ॥१॥ " इति ज्योतिषोक्ते योगभेदे, पुं० । वाच० ।

तिपुड–त्रिपुट–पु० । त्रयः पुटा यस्य । खेसारीकलायभेदे, शरे, तालकयष्टौ, गोक्षुरे, हस्तभेदे च । सूक्ष्मैलायाम्, मल्लिकायाम्, त्रिवृद्दोषधौ, कर्णस्फोटायां, देवीभेदे च । स्त्री० । टाप् । वाच० । ज० ५ वक्ष० ।

तिपुर–त्रिपुर–पु० । त्रीणि स्वर्गाऽऽदिस्थानानि पुराण्यस्य । असुरभेदे, वाच० । त्रीणि पुराणि त्रिपुरम् । " सख्यापूर्वो द्विगु " ॥ २ । १ । ५२ ॥ इति समास. । अनु० । पुरत्रयमात्रे, न० । वाच० ।

तिप्प–तृप्त–त्रि० । "इत्कृपाऽऽदौ" ॥ ८ । १ । १२८ ॥ इति ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । अतिशयोपभोगेन निवृत्तेच्छे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

तृप्–धा० । स्वा०–आत्म० । क्षरणे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । "तिप्पामि वा पीमामि वा ।" (तिप्पामि त्ति) शरीरबल क्षरामि । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । " तिप्पति । " सुखाश्रयावयन्त्यात्मान, परॉश्च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

तिप्पणया–तेपनता–स्त्री० । तिपे क्षरणार्थत्वादश्रुमोचने, भ० २५ श० ७ उ० । स्था० । शोकातिरेकादेव अश्रुलालाऽऽदिक्षरणप्रापणायाम्, भ० ३ श० ३ उ० । आर्तध्यानलक्षणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । परिदेवने, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । त्रिभिर्योगैः परितापे, आ० चू० ४ अ० ।

त्रिपातनता–स्त्री० । त्रिभ्यो मनोवाक्कायेभ्य. पातन त्रिपातन, तद्भावस्त्रिपातनता । त्रिपातनभावे, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

तिभाग–त्रिभाग–पु० । तृतीयो भागस्त्रिभाग । मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात्समास । तृतीयेंऽशे, कर्म० २ कर्म० ।

तिमहुर–त्रिमधुर–न० । त्रीणि मधुराणि समाहृतानि त्रिमधुरम् । "सख्यापूर्वो द्विगुः" ॥ २ । १ । ५२ ॥ इति समासः । अनु० । घृतसितामाक्षिकरूपे मधुरत्रये, वाच० ।

तिमि-तिमि-पुं० । मत्स्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । कल्प० । " अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम, शतयोजनविस्तरः । तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति, तद्गिलोऽप्यस्ति राघव ॥१॥" सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । समुद्रे, वाच० । महामत्स्ये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तिमिंगिल-तिमिङ्गिल-पुं० । तिमिं मत्स्यं गिरति । 'गृ' निगरणे । खश्, मुम् च । "अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम, तथा चास्ति तिमिङ्गिलः ।" वाच० । मत्स्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । मीने, दे० ना० ५ वर्ग १३ गाथा । कल्प० । सूत्र० । जी० । महामत्स्यतमे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तिमिंगिलगिल-तिमिङ्गिलगिल-पुं० । महामत्स्ये, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

तिमिच्छाओ-देशी-कश्चिदित्यर्थे, पथिके च । दे० ना० ५ वर्ग १३ गाथा ।

तिमिण-देशी-आर्द्रदारुणि, दे० ना० ५ वर्ग ११ गाथा ।

तिमिर-तिमिर-न० । अन्धकारे, कल्प० ३ क्षण । " जदा कण्हचउद्दसीए रातीए रयरेणुधूमिगा भवन्ति, तदा तम्मि तिमिरं भवति । अहवा-पितुदृपण दव्वचक्खिदियस्सतरकरणं भवति ।" नि० चू० ४ उ० । निकाचिते कर्मणि, ध० २ अधि० । विज्ञानालपतायाम्, बहुलापरिज्ञाने, आ० चू० ५ अ० । पर्वतकवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तिमिरिच्छ-देशी-करञ्जद्रुमे, दे० ना० ५ वर्ग १३ गाथा ।

तिमिला-त्रिमिला-स्त्री० । तूर्यभेदे, औ० ।

तिमिसगुहा-तिमिस्रगुहा-स्त्री० । वैताढ्यगुहायाम्, यया स्वचक्रवर्ती चिलातक्षेत्रं याति । स्था० ९ ठा० । ताश्च भरतैरवतवर्षयोर्दीर्घवैताढ्ययोर्द्वे, कच्छादिद्वात्रिंशद्विजयेषु द्वात्रिंशदित्येवं चतुस्त्रिंशज्जम्बूद्वीपे । (स्था० ८ ठा०) एवं धातकीखण्डे, पुष्करार्द्धे च प्रत्येकमष्टषष्टिस्तासां प्रमाणम् । स्था० २ ठा० ३ उ० । तत्र कृतमालको देवः । स्था० ३ ठा० ३ उ० । स० । जं० । आ० क० । (तत्र भरतचक्रिगमनं 'भरह' शब्दे वक्ष्यते) "तिमिसगुहा अट्ठ जोयणाइं उड्डं उच्चत्तणेणं ।" स्था० ८ ठा० ।

तिमिसगुहाकूड-तिमिस्रगुहाकूट-पुं० । न० । तिमिस्रगुहाऽधिपतेर्देवस्य निवासभूतं कूटं तिमिस्रगुहाकूटम् । वैताढ्यपर्वतस्य तृतीये कूटे, जं० १ वक्ष० । स्था० ।

तिमुह-त्रिमुख-त्रि० । त्रिभिर्मुखैर्युक्ते, प्रव० २६ द्वार ।

तिम्म-तिग्म-न० । तिज्-मक्, जस्य ग । " ग्मो वा " ॥ ८ । २ । ६२ ॥ इति ग्मस्य विकल्पेन मकारः । प्रा० २ पाद । तीक्ष्णे, तद्वति, त्रि० । वाच० ।

तिय-त्रिक-न० । त्रिवलयाम्, रा० । आ० म० । त्रिपथयुक्ते स्थाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

त्रिज-त्रि० । त्रिभ्यो धातुमूलजीवलक्षणेभ्यो जातं त्रिजम् । सचेतनेषु वस्तुनि, विशे० ।

तियंकर-त्रिकङ्कर-पुं० । स्वनामख्याते क्षपके, पिं० । (तदुदाहरणं 'शुद्धपरिणाम' शब्दे वक्ष्यते)

तियणाण-त्र्यज्ञान-न० । त्रयाणामज्ञानानां समाहारस्त्र्यज्ञानम् । मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपे, कर्म० ४ कर्म० ।

तियस-त्रिदश-पुं० । तिस्रो दशा जन्मसत्ताविनाशाऽऽख्याः, न तु वृद्धिपरिणामक्षया मर्त्यानामिव दशा येषां ते त्रिदशाः । देवेषु, वाच० । आ० म० ।

तियसलोग-त्रिदशलोक-पुं० । स्वर्गे, वाच० । आ० म० ।

तियसिंदणमंसिय-त्रिदशेन्द्रनमस्यित-त्रि० । त्रिदशाः सुमनसस्तेषामिन्द्रास्त्रिदशेन्द्रास्तैर्नमस्यितः । देवेन्द्रनते, ग० १ अधि० ।

तिरयणमाला-त्रिरत्नमाला-स्त्री० । ज्ञानदर्शनचारित्ररूपरत्नत्रयमालायाम्, स्था० । " चारित्तसुद्धसाला, तिरयणमाला तुमे भव्वा ।" स्था० ।

तिरासि-त्रिराशि-न० । जीवाजीवनोजीवभेदात्त्रयो राशयः समाहृतास्त्रिराशि । राशित्रये, स्था० ७ ठा० ।

तिरिअजोणि-तिर्यग्योनि-पुं० । तिरश्चामुत्पत्तिस्थाने, प्रज्ञा० १ पद ।

तिरिअंच-तिर्यञ्च्-त्रि० । चतुर्थगतिके तिरश्चां वैक्रियशरीरकरणं मूलशरीरेण सह सम्बद्धमसम्बद्धं वा स्यादिति प्रश्ने, उत्तरम्-सम्बद्धमसम्बद्धं च भवतीति । ७३ प्र० । सेन० २ उल्ला० । युगलिकक्षेत्रतिर्यञ्चः कल्पवृक्षाऽऽहारं कुर्वन्त्यन्यद्वेति प्रश्ने, उत्तरम्-गोप्रभृतयः कल्पवृक्षाऽऽहारं कुर्वन्ति, तथाऽन्यद् धान्यतृणाऽऽदिकमपि कुर्वन्तीति संभाव्यत इति । ५६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

तिरिक्ख-तिर्यक्-त्रि० । 'अञ्चु' गतौ । तिरोऽञ्चतीति तिर्यङ्, तिरस्तिर्यादेशः । प्रज्ञा० १ पद । चतसृणां गतीनां चतुर्थगतिमापन्ने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तिरिक्खजोणिय-तिर्यग्योनिक-पुं० । तिर्यग्लोके योनय उत्पत्तिस्थानानि येषां ते तिर्यग्योनिकाः । जी० १ प्रति० । स्था० ।" तिरिक्खजोणिया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-इत्थी, पुरिसा, नपुंसगा ।" स्था० ३ ठा० १ उ० ।

तिर्यग्योनिज-पुं० । तिर्यग्लोके योनयस्तिर्यग्योनयः, तत्र जातास्तिर्यग्योनिजाः । जी० १ प्रति० । जीवभेदे, स्था० ८ ठा० । जी० । " तिविहा तिरिक्खजोणिया पण्णत्ता । तं जहा-इत्थी, पुरिसा, नपुंसगा ।" स्था० ३ ठा० १ उ० । तिर्यक्त्वकारणानि-" चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेंति । तं जहा-माइल्लयाए, नियडिल्लयाए, अलियवयणेणं, कूडतुलाकूडमाणेणं ।" स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तैर्यग्योनिक-त्रि० । तैरश्चे तिर्यग्योनिकृते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तिरिक्खपयइ(णु)-तिर्यक्प्रचयिन्-त्रि० । परस्परसमानाधिकरणत्वे सति परस्परसमानकालीने, यथा रूपरसाऽऽदय, अणुत्वस्थौल्याऽऽदयश्च । नयो० ।

तिरिक्खभूय-तिर्यग्भूत-त्रि० । पशुकल्पे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तिरिक्खसामण्ण-तिर्यक्सामान्य-न० । तिर्यगुल्लेखिनाऽनुवृत्ताकारप्रत्ययेन गृह्यमाणे, रत्ना० ।

न्तीति तिर्यञ्चः । व्युत्पत्तिनिमित्त चैतत्, प्रवृत्तिनिमित्त तिर्यग्गतिनाम । एते चैकेन्द्रियाऽऽदय', ततस्तिर्यक्षु विषये गतिस्तिर्यग्गति । कर्म० ४ कर्म० । तिर्यङ्नामकर्मोदयसपाद्ये तिर्यक्त्वलक्षणे पर्यायविशेषे, स्था० १० ठा० । तिर्यक्परिभ्रमणे, चं० प्र० ।
कथ सूर्यस्तिर्यक् परिभ्रमतीति तत्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते तिरियगती आहिया ति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमाओ अट्ठ पमिवत्तीओ पणत्ता । त जहा-तत्थेगे एवमाहंसु-ता पुरच्छिमिल्लातो लोयंताओ पातो मरीइसंघाए आगासमि उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरितं करेति, तिरितं करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंसि लोगंसि साय मरीइसंघाए आगासंसि विद्धंसति, एगे एवमाहंसु ॥ १ ॥

एगे पुण एवमाहंसु-ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए आगासातो उत्तिट्ठति, से णं इम लोगं तिरित करेति, करेतित्ता पच्चच्छिमिल्लंसि लोगतसि साय सूरिए आगाससि विद्धंसति, एगे एवमाहंसु ॥ २ ॥

एगे पुण एवमाहंसु-ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए सयावट्ठाई आगासातो उत्तिट्ठति, से णं इमं लोगं तिरित करेति, करेत्ता साय अहे आगासमणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता अहे पमिआगच्छइ, अहे पमिआगच्छित्ता पुणरवि अवरभुओ पुरच्छिमिल्लाओ लोयंताओ पातो सूरिए आगासाओ उत्तिट्ठति, एगे एवमाहंसु ॥ ३ ॥

एगे पुण एवमाहंसु-ता पुरच्छिमिल्लाओ लोगतातो पातो सूरिए पुढवियातो उत्तिट्ठति, से ण इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंमि लोगंसि सायं सूरिए पुढविकायंमि विद्धंसति, एगे एवमाहंसु ॥ ४ ॥

एगे पुण एवमाहंसु-ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए पुढवियातो उत्तिट्ठति, से ण इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंमि लोगसि सायं सूरिए पुढविकायं अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता पुढविअहे पमिआगच्छति, अहे आगच्छित्ता पुणरवि अवरभुओ पुरच्छिमिल्लातो लोयंतातो पातो सूरिए पुढवियातो उत्तिट्ठति, एगे एवमाहंसु ॥ ५ ॥

एगे पुण एवमाहंसु-ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए आउक्कायंमि उत्तिट्ठति, से ण इमं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंमि लोगंसि सायं सूरिए आउक्काए विद्धंसति, एगे एवमाहंसु ६ ।

एगे पुण एवमाहंसु-ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए आउकायसि उत्तिट्ठति, से ण इम लोगं तिरित करेति, करेत्ता पच्चच्छिमिल्लंसि सायं सूरिए आउक्कायं अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता अहे पडिआगच्छति, अहे पमिआगच्छित्ता पुणरवि अवरभुओ पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो पातो सूरिए आउकायंमि उत्तिट्ठति, एगे एवमाहंसु ७ ।

एगे पुण एवमाहंसु-ता पुरच्छिमिल्लातो लोगतातो बहूइं जोयणाइं, बहूइं जोयणसयाइं, बहूइं जोयणसहस्साइं दूरं उड्ढं उप्पतित्ता एत्थ णं पातो सूरिए आगासातो उत्तिट्ठति, से णं इमं दाहिणड्ढं लोगं तिरियं करेति, करेत्ता उत्तरड्ढं लोगं तमेव रातो, से णं इमं उत्तरड्ढं लोगं तिरितं करेति, करेत्ता दाहिणड्ढं लोगं तमेव रातो, से णं इमाइं दाहिणुत्तरलोगाइं तिरितं करेति, करेत्ता पुरच्छिमिल्लातो लोगंतातो बहूइं जोयणाइं तं चेव० जाव दूरं उड्ढं उप्पतित्ता, एत्थ णं पातो सूरिए आगासातो उत्तिट्ठति, एगे एवमाहंसु ८ ।

वयं पुण एवं वयामो-ता जंबुद्दीवस्स दीवस्स पाईणपमीणायताए उदीणदाहिणायताए जीवाए मंडलं चउव्वीसेणं सतेणं छेत्ता दाहिणपुरच्छिमंसि उत्तरपच्चच्छिमंसि य चउभागमंडलंमि इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जातो भूमिभागातो अट्ठ जोयणसताइं उड्ढं उप्पतित्ता एत्थ णं पातो दुवे सूरिया आगासातो उत्तिट्ठंति, ते णं इमाइं दाहिणुत्तराइं जंबुद्दीवभागाइं तिरितं करेंति, करेत्ता पुरच्छिमपच्चच्छिमाइं जंबुद्दीवभागाइं तामेव रातो, ते णं इमाइं पुरच्छिमपच्चच्छिमाइं जंबुद्दीवभागाइं तिरितं करेंति, करेत्ता दाहिणुत्तराइं जंबुद्दीवभागाइं तमेव रातो, ते णं इमाइं दाहिणुत्तराइं पुरच्छिमपच्चच्छिमाणि य जंबुद्दीवभागाइं तिरित करेंति, करेत्ता पुरच्छिमपच्चच्छिमाइं जंबुद्दीवस्स दीवस्स पाईणपमीणायता० जाव एत्थ णं पातो दुवे सूरिया आगासातो उत्तिट्ठंति ।

(ता कह ते तिरियगई इत्यादि) अस्त्यन्यदपि प्रभूत प्रष्टव्य, परमेतावदेव तावत् पृच्छामि-कथ 'ते' त्वया भगवन् ! सूर्यस्य तिर्यग्गतिस्तिर्यक्परिभ्रमणमाख्यातमिति वदेत् ?। एवमुक्तो भगवानेतद्विषये परतीर्थिकप्रतिपत्तिमिथ्याभावोपदर्शनाय प्रथमतस्ता एव प्रतिपत्तीरुपन्यस्यति (तत्थ खलु इत्यादि) तत्र तस्यां सूर्यस्य तिर्यग्गतौ तिर्यग्गतिविषये, खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपा अष्टौ प्रतिपत्तय' परतीर्थिकाभ्युपगमरूपा प्रज्ञप्ता । ता एव क्रमेणाऽऽह-(तत्थेगे इत्यादि) तत्र तेषां परतीर्थिकानामष्टानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहु । 'ता' इति पूर्ववत्, पौरस्त्याल्लोकान्तात्, ऊर्ध्वमिति गम्यते पूर्वस्यां दिशीति भावार्थ । प्रातः प्रभातसमये मरीचिसघात , विकाशसघात इत्यर्थ । आकाशे उत्तिष्ठति उत्पद्यते । एतेन एतदुक्त भवति-नैतद्विमानं, नाऽपि रथो, नापि देवतारूपः सूर्य , यथाऽपरे वदन्ति, किं तु किरणसघात एवैष वर्तुलगोलाऽऽकारो लोकस्वाभाव्यात्प्रतिदिवस पूर्वस्यां दिशि प्रातराकाशे समुत्पद्यते, यत' सर्वत्र प्रकाश प्रसरमधिरोहति । स इत्थम्भूतो मरीचिसघात', उपर्युद्यत सन्, णमिति वाक्यालङ्कारे । इम प्रत्यक्षत उपलभ्यमानं तिर्यग्लोक तिर्यक् करोति । किमुक्त भवति ?-तिर्यक्परिभ्रमन् इम तिर्यग्लोक प्रकाशयतीति, तिर्यक्कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते साय सान्ध्ये समये तथाजगत्स्वाभाव्यात्स मरीचिसघात आकाशे विध्वसते ध्वसमुपयाति । एव सकलकालमपि । अत्रैवोपसहार'-(एगे एवमाहंसु) १ । एके पुनरेवमाहु-पौरस्त्याल्लो-

कान्तादूर्द्धं,प्रात सूर्यो लोकप्रसिद्धोदेवतारूपो भास्करः,तथाजगत्स्वाभाव्यादाकाशे उत्तिष्ठति उत्पद्यते, स चोत्पन्न सन् इमं प्रत्यक्षत उपलभ्यमान मनुष्यलोक तिर्यक्करोति तिर्यक्परिभ्रमति, लोक प्रकाशयतीत्यर्थ । तिर्यक्कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते सायं सान्ध्ये समये आकाशे विध्वसते । अत्रोपसहारः-(एगे एवमाहसु) २ । एके पुनरेवमाहु -पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्धं, प्रातः सूर्यो देवतारूप सदाऽवस्थायी तथाविधपुराणशास्त्रप्रसिद्ध आकाशे उत्तिष्ठति उद्गच्छति,स चोद्गत' सन् इम प्रत्यक्षत उपलभ्यमान मनुष्यलोक तिर्यक्कृत्वा साय सान्ध्ये समये अध आकाशमनुप्रविशति, प्रविश्य च अधः प्रत्यागच्छति,अधोलोक प्रकाशयन् प्रतिनिवर्तते इत्यर्थ । तन्मतेन हि भूरिय गोलाऽऽकारा,लोकोऽपि च गोलाऽऽकारतया व्यवस्थित । इद च सम्प्रति तीर्थान्तरीयेषु विजृम्भते, ततस्तद्गतपुराणशास्त्रादेतत् सम्यगवसेयम् । अस्य च त्रयो भेदा । एके एवमाहु.-प्रातः सूर्य आकाशे उद्गच्छति । अपरे आहुः पर्वतशिरसि । अन्ये आहु'-समुद्रे इति । तत्र प्रथमानामिद मतमुपन्यस्तम् । अधः प्रत्यागत्य च पुनरप्यवरज्जुतोऽधो भुव ,पृथिव्या अधोभागेन विनिर्गत्येत्यर्थ' । पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्ध्वमाकाशे प्रात सूर्य उद्गच्छति । एव सर्वदाऽपि द्रष्टव्यम् । अत्रोपसहार -(एगे एवमाहसु) ३ । एके पुनरेवमाहु -पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्धं प्रात. सूर्यो देवरूप तथाविध' पुराणप्रसिद्ध. पृथिवीकायमध्ये उदयभूधरशिरसि उत्तिष्ठत्युद्गच्छति । स चोत्पन्न' सन्निमं मनुष्यलोक तिर्यक्करोति, प्रकाशयतीत्यर्थ । तिर्यक् कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते साय सान्ध्ये समये सूर्य पृथिवीकाये अस्तमयभूधरशिरसि (विद्धसति) विध्वसमुपयाति । एव प्रतिदिवस सकलकाल जगत. स्थिति परिभावनीया । अत्रोपसहार -(एगे एवमाहसु) ४ । एके पुनरेवमाहु -पौरस्त्यात् लोकान्तादूर्द्धं प्रात सूर्यो देवतारूप. सदाऽवस्थायी पृथिवीकाये उदयभूधरशिरसि उत्तिष्ठति उद्गच्छति, स चोद्गत सन् इम प्रत्यक्षत उपलभ्यमान मनुष्यलोक तिर्यग् करोति, तिर्यक्कृत्वा पश्चिमलोकान्ते साय सान्ध्ये समये पृथिवीकायमस्तमयभूधरमनुप्रविशति, प्रविश्य चाधः प्रत्यागच्छति, अधोभागवर्तिन लोक प्रकाशयन् प्रतिनिवर्तते । तत. पुनरप्यवरभुवोऽधो भुव , पृथिव्या अधोभागाद्विनिर्गत इत्यर्थ । पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्धं प्रात सूर्यः पृथिवीकाये उदयभूधरशिरसि उत्तिष्ठति-उद्गच्छति,भूतभूगोलवादिन पर पूर्वे आकाशे उत्तिष्ठतीति प्रतिपन्ना , एते तु पर्वतशिरसीति विशेष. । अत्रैवोपसहार -(एगे एवमाहसु) ५ । एके पुनरेवमाहु -पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्धं प्रात. सूर्योऽप्काये पूर्वसमुद्रे उत्तिष्ठति उत्पद्यते, स चोत्पन्न. सन्निम प्रत्यक्षत उपलभ्यमान लोक तिर्यक्करोति,तिर्यग् कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते साय सान्ध्ये समये सूर्योऽप्काये पश्चिमसमुद्रे विध्वसते, विध्वसमायाति । एव सर्वदाऽपि । अत्रोपसहार -(एगे एवमाहसु) ६ । एके पुनरेवमाहु.-पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्धं प्रातः सूर्य सदाऽवस्थायी पुराणशास्त्रप्रसिद्धोऽप्काये पूर्वसमुद्रे उत्तिष्ठति उद्गच्छति, स चोद्गतः सन्निम लोक तिर्यक् करोति, तिर्यक्परिभ्रमन्निम लोक प्रकाशयतीत्यर्थ । तिर्यक् कृत्वा पश्चिमे लोकान्ते साय सान्ध्ये समये सूर्योऽप्काय पश्चिमसमुद्रमनुप्रविशति, प्रविश्य चाधः प्रत्यागच्छति, अधोभागवर्तिन लोक प्रकाशयन् प्रतिनिवर्तते इति भावः । अध प्रत्यागत्य चावरभुवोऽध पृथिव्यधोभागाद्विनिर्गत्येत्यर्थः । पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्धं,प्रात सूर्योऽप्काये पूर्वसमुद्रे उत्तिष्ठति उद्गच्छति । एव सकलकालमपि । अत्रैवोपसहार -(एगे एवमाहसु) ७ । एके पुनरेवमाहु -पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध्वं प्रथमतो बहूनि योजनानि, तत क्रमेण बहूनि योजनशतानि, तदनन्तर क्रमेण बहूनि योजनसहस्राणि दूरमूर्द्धमुत्प्लुत्य बुद्ध्या गत्वा, अत्रास्मिन्नवकाशे प्रात. सूर्यो देवतारूप सदाऽवस्थायी उत्तिष्ठति उद्गच्छति,स चोद्गत' सन् इम दक्षिणार्द्धलोक दक्षिणदिग्भाविनमर्द्धलोक, दक्षिणलोकस्यार्द्धमित्यर्थः। तिर्यक् करोति,तिर्यक्परिभ्रमन्निम दक्षिणलोकार्द्ध प्रकाशयतीत्यर्थ । दक्षिण चार्द्धलोक तिर्यक् कुर्वन् तदेवोत्तरमर्द्धलोक रात्रौ करोति, तत. स सूर्य. क्रमेणेममर्द्धलोकम उत्तरमर्धलोक तिर्यक् करोति, तत्रापि तिर्यक्परिभ्रमन् उत्तरमर्द्धलोक प्रकाशयतीत्यर्थ' । उत्तर चार्द्धलोक तिर्यक्परिभ्रमणेन प्रकाशयन् तदेव दक्षिणमर्द्धलोक रात्रौ करोति, तत स सूर्य इमौ दक्षिणोत्तरार्द्धलोकौ तिर्यक् कृत्वा भूयोऽपि पौरस्त्याल्लोकान्तादूर्द्ध प्रथमतो बहूनि योजनानि गत्वा, तत क्रमेण बहूनि योजनशतानि, तदनन्तर बहूनि योजनसहस्राणि दूरमूर्द्धमुत्प्लुत्य बुद्ध्या गत्वाऽत्रास्मिन्नवकाशे प्रात सूर्य आकाशे उत्तिष्ठति उद्गच्छति । एव सकलकालम । अत्रोपसहारमाह-(एगे एवमाहसु) ८ । तदेव परप्रतिपत्तीरुपदर्श्य सम्प्रति स्वमतमुपदर्शयति-(वय पुण इत्यादि) वय पुनरुत्पन्नकेवलज्ञानाः केवलज्ञानेन यथावस्थित वस्तूपलभ्य एव वक्ष्यमाणप्रकारेण वदाम । तमेव प्रकारमाह-(ता इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्योपरि यद्वा तद्वा मण्डल चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्त्वा,चतुर्विंशत्यधिकशतसख्यान् मण्डलान् परिकल्प्येत्यर्थः । भूयश्च प्राचीनप्रतीचीनाऽऽयतया उदीच्यदक्षिणाऽऽयतया जीवया प्रत्यञ्चया,दवरिकया इत्यर्थ' । तत्-मण्डल चतुर्विंशतिभागैर्विभज्य दक्षिणपौरस्त्ये उत्तरपश्चिमे च चतुर्भागमण्डले चतुर्भागे एकत्रिंशद्भागप्रमाणे एतावति किल चतुरशीत्यधिकमपि मण्डलशत सूर्यस्योदये प्राप्यते इति । " चउव्वीसेण सएण छित्ता चउभागमडलसि " इत्युक्तम् । अस्या. प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाया रत्नप्रभाया पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्ध्वम्,अष्टौ योजनशतान्युत्प्लुत्य बुद्ध्या गत्वा,अत्रान्तरे प्रातर्द्वौ सूर्यौ उत्तिष्ठत उद्गच्छतः, दक्षिणपौरस्त्ये मण्डलचतुर्भागे भारत. सूर्य उद्गच्छति,अपरोत्तरस्मिन् मण्डलचतुर्भागे ऐरावत. सूर्य । तौ चैवमुद्गतौ भारतैरावतौ सूर्यौ यथाक्रममिमौ दक्षिणोत्तरौ जम्बूद्वीपभागौ तिर्यक् कुरुत । किमुक्त भवति ?-भारत सूर्यो दक्षिण पौरस्त्यमण्डलचतुर्भागे उद्गत सन् तिर्यक् परिभ्रमति,तिर्यक्परिभ्रमन् मेरोर्दक्षिणभाग प्रकाशयति । ऐरावत पुन सूर्योऽपरोत्तरदिग्विभागे उद्गच्छति,स चोद्गत सन् तिर्यक्परिभ्रमति, तिर्यक्परिभ्रमन् मेरोरुत्तरभाग प्रकाशयतीति । इत्थ च भारतैरावतौ सूर्यौ यदा मेरोर्दक्षिणोत्तरौ जम्बूद्वीपभागौ तिर्यक् कुरुतः, तदेव तौ पूर्वपश्चिमौ जम्बूद्वीपभागौ रात्रौ कुरुत । एकोऽपि सूर्यस्तदा पूर्वभाग पश्चिमभाग वा न प्रकाशयतीत्यर्थः । दक्षिणोत्तरौ च भागौ तिर्यक् कृत्वा ताविमौ पूर्वपश्चिमौ जम्बूद्वीपभागौ तिर्यक्कुरुत । इयमत्र भावना-ऐरावत. सूर्यो मेरोरुत्तरभागे तिर्यक्परिभ्रम्य तदनन्तर मेरोरेव पूर्वस्या दिशि तिर्यक्परिभ्रमति । भारतः सूर्यो मेरोर्दक्षिणतस्तिर्यक्परिभ्रम्य तदनन्तर मेरोरेव पश्चिमे भागे तिर्यक्परिभ्रमतीति । इत्थ च यदा ऐरावतभारतसूर्यौ यथाक्रम पूर्वपश्चिमभागौ तिर्यक् कुरुत ,तदेव दक्षिणोत्तरौ जम्बूद्वीपभागौ रात्रौ कुरुत । एकोऽपि सूर्यस्तदा दक्षिणभागमु-

चरभाग वा न प्रकाशयतीति । नत इत्थं यथाक्रममैरावतभारतसूर्यौ पूर्वपश्चिमभागौ तिर्यक् कृत्वा यो भारतः सूर्य, से उत्तरपश्चिमे मण्डलचतुर्भागे उदयमासादयति। यश्चैरावत, स दक्षिणपौरस्त्ये मण्डलचतुर्भागे इति । एतदेवोपदर्शयन्नुपसंहारमाह (ते णमित्यादि) भारतैरावतौ सूर्यौ प्रथमतो यथाक्रममिमौ दक्षिणोत्तरौ जम्बूद्वीपभागौ, ततो यथायोग पूर्वपश्चिमौ जम्बूद्वीपभागौ, भारत पश्चिम भाग, ऐरावतः पूर्वभागमित्यर्थः। तिर्यग् कृत्वा जम्बूद्वीपस्योपरि यद्वा तद्वा मण्डलं चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन छित्वा भूयश्च प्राचीनप्रतीचीनाऽऽयतया उदीच्यदक्षिणाऽऽयतया च जीवया प्रत्यञ्चया, दवरिकया इत्यर्थः। चतुर्भिर्विभज्य यथायोग दक्षिणपौरस्त्ये उत्तरपश्चिमे वा मण्डलचतुर्भागे अस्या रत्नप्रभाया. पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्ध्वम् अष्टौ योजनशतानि उत्प्लुत्यास्मिन्नवकाशे प्रातर्द्वौ सूर्यावाकाशे उत्तिष्ठत उद्गच्छत, य उत्तरभाग पूर्वस्मिन्नहोरात्रे प्रकाशितवान्, स दक्षिणपौरस्त्ये मण्डलचतुर्भागे उद्गच्छति । यस्तु दक्षिणभागं प्रकाशयति स्म,स उत्तरपश्चिमे मण्डले चतुर्भागे। एव सकलकाल जगत. स्थिति' परिभावनीया । च० प्र० २ पाहु० ।

तिरियतिग-तिर्यक्त्रिक-न० । तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीतिर्यगाऽऽयुर्लक्षणे, कर्म० २ कर्म० ।

तिरियदिसा-तिर्यग्दिशा-स्त्री०। पूर्वाऽऽदिकासु दिक्षु,आव० ६ अ० । एताश्चाष्टापि रुचकात्तिर्यक्प्रव्यूढत्वात्तिर्यग्दिश इति व्यवह्रियन्ते । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

तिरियदिसिप्पमाणाइक्कम-तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम-पुं० । तिर्यग्दिशि यावत्प्रमाण परिगृहीत तस्यातिलङ्घने, आव० ६ अ० । उपा० ।

तिरियदिसिव्वय-तिर्यग्दिग्व्रत-न०। तिर्यग्दिशः पूर्वाऽऽदिकास्तासा सबन्धि तासु वा व्रत तिर्यग्दिग्व्रतम्। एतावती दिक् पूर्वेणावगाहनीया, एतावती दक्षिणेनेत्यादि, न परत इत्येवभूते दिग्व्रते, आव० ६ अ० ।

तिरियदुग-तिर्यग्द्विक-न०। तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीद्विके,कर्म० ५ कर्म० ।

तिरियपव्वय-तिरश्चीनपर्वत-पुं० । तिरश्चीन पर्वत तिरश्चीनपर्वतम्। गच्छतो मार्गावरोधके पर्वते, भ० १४ श० ५ उ० ।

तिरियभित्ति-तिर्यग्भित्ति-स्त्री०। तिरश्चीनाया प्राकारवरण्डकाऽऽदिभित्तौ, भ० १४ श० ५ उ० । आचा० ।

तिरियलोग-तिर्यग्लोक-पुं० । सातिरेक. सप्तरज्जुप्रमाणोऽधोलोकोर्ध्वलोकयोर्मध्ये अष्टादशयोजनशतप्रमाणस्तिर्यग्भागाऽवस्थितत्वात्तिर्यग्लोक । स्था० ३ ठा० २ उ०। लोकभेदे, अनु०।

पुव्वाणुपुव्वी अहोलोए, तिरियलोए, उड्ढलोए ।

तयोश्चाधोलोकोर्ध्वलोकयोर्मध्ये अष्टादश योजनशतानि तिर्यग्लोक, समयपरिभाषया तिर्यङ् मध्ये व्यवस्थितो लोकस्तिर्यग्लोक । अथवा--तिर्यक्शब्दो मध्यमपर्याय, तत्र च क्षेत्रानुभावात्प्रायो मध्यमपरिणामवन्त्येव द्रव्याणि सम्भवन्त्यतस्तद्योगात्तिर्यङ् मध्यमो लोकस्तिर्यग्लोक । अथवा-स्वकीयोर्ध्वाधोभागात्तिर्यग्भाग एवातिविशालतयाऽत्र प्रधानम्, अतस्तेन व्यपदेश कृत, तिर्यग्भागप्रधानो लोकस्तिर्यग्लोक. ।

उक्त च-

" मज्झणुभावं खेत्तं, ज त तिरिय ति वयणपज्जवओ।
भण्णइ तिरिय विसाल, अतो व त तिरियलोगो त्ति ॥ १ ॥ "

(वयणपज्जवउ त्ति)मध्यानुभाववचनस्य तिर्यग्ध्वने' पर्यायतामाश्रित्येत्यर्थ' । अनु० । तिर्यग्लोकविभक्तिस्तु जम्बूद्वीपलवणसमुद्रधातकीखण्डकालोदसमुद्रेत्यादिद्विगुणद्विगुणवृद्ध्या द्वीपसागरस्वयम्भूरमणपर्यन्तस्वरूपनिरूपणम् । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आव० ।

तिरियलोगचूला-तिर्यग्लोकचूडा-स्त्री० । तिर्यग्लोकस्य चूडा तिर्यग्लोकचूडा, तिर्यग्लोकातिक्रान्तत्वात् । अथवा-तिर्यग्लोकप्रतिष्ठितस्य मेरोरुपरि चत्वारिंशद्योजना चूडा तिर्यग्लोकचूडा । तिर्यग्लोकोपरिभागे, नि० चू० १ उ० ।

तिरियवसइ-तिर्यग्वसति-स्त्री० । तिर्यग्योनौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तिरियवाय-तिर्यग्वात-पुं० । तिर्यग्गच्छन् यो वाति वातः स तिर्यग्वात. । तिर्यक्निमज्जति वायुभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तिरियविग्गहगइ-तिर्यग्विग्रहगति-स्त्री० । गतिभेदे, स्था० १० ठा० ।

तिरियसंसारविउस्सग्ग-तिर्यक्संसारव्युत्सर्ग-पुं० । संसारव्युत्सर्गभेदे, औ० ।

तिरियसत्त-तिर्यक्सत्त्व-न० । तिर्यग्योनिजन्तुषु,पञ्चा० २ विव०।

तिरिच्छ-तिरश्चीन-त्रि० । प्राकृतलक्षणेन निष्पन्ने 'तिरिच्छ' शब्दे "छस्य श्चोऽनादौ" ॥ ८ । ४ । २९ ॥ इति मागध्यामनादौ वर्तमानस्य छस्य तालव्यशकाराऽऽक्रान्तश्चकारो भवति । प्रा० ४ पाद । तिर्यगर्थे, वाच० ।

तिरीड-किरीट-पुं० । न० । शेखरभूषणमुकुटे,औ० । प्रज्ञा० ।मुकुटे, स० । शिरोवेष्टने, वाच० ।

तिरीट-पुं० । वृक्षविशेषे, बृ० २ उ० ।

तिरीडपट्टग-तिरीटपट्टक-न० । तिरीटो वृक्षविशेषस्तस्य यः पट्टो वल्कलक्षण,तन्निष्पन्न वा तिरीटपट्टकम्। बृ० २ उ० । वृक्षत्वङ्मये वस्त्रे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

तिरोभाव-तिरोभाव-पुं० । अन्तर्धाने, विशे० ।

तिरोवई-देशी-वृत्त्यन्तरिते, दे० ना० ५ वर्ग १३ गाथा ।

तिरोहिअ-तिरोहित-त्रि० । अन्तर्हिते, आच्छादिते, वाच० । आचा० ।

तिल-तिल-धा० । गतौ, भ्वादि०-पर०-सक०-सेट् । तेलति, अतेलीत् । वाच० ।

तिल-धा० । स्नेहे, तुदा०-पर०-अक०-सेट् । तिलति, अतेलीत् । वाच० ।

तिल-पुं० । स्वनामख्याते धान्यभेदे, " साली वीही गोहुम-जवा कलमसूरितिलमुग्गा । " प्रज्ञा० १ पद । आचा० । प्रव० । ज० । आ० क० । विपा० । स्था० । तत्फले च । न० । वाच० । वर्णेन तिलसदृशकाले, " जावियतिलकीडगा य त्ति । " यापिता. कालान्तर प्राप्ता ये तिला धान्यविशेषास्तद्वद् ये वर्णसाधर्म्यात्ते तथा । ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

पञ्चविंशे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० । कल्प० । "दो तिलया।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

तिलकुट्टी-तिलकुट्टी-स्त्री० । तैलविकृतौ विकृतिभेदे, प्रव० ४ द्वार । " तिलमल्ली तिलकुट्टी, दद्धतिल तहोसहुब्वरियं । लक्खाइदव्वपक्कं, तिल्लं तिलुम्मि पचेव ॥१॥ " ध० २ अधि० ।

तिलग-तिलक-पुं० । वृक्षविशेषे, भ० १ श० १ उ० । स० । औ० । कल्प० । रा० । जं० । यः स्त्रीकटाक्षनिरीक्षितो विकसति तत्पुष्पे, जं० ३ वक्ष० । विशेषकापरपर्याये ललाटाऽऽभरणविशेषे, औ० । जं० । ज्ञा० । सूत्र० । त० । पुण्ड्रे, स० ७ सम० । त० । ज्ञा० । सू० प्र० । च० प्र० । प्रथमवासुदेवस्य त्रिपृष्ठस्य प्रतिशत्रौ, स० ए सम० । ति० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । प्रज्ञा० १ पद । वसन्तपुरनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, यस्य सुदर्शना नाम भार्या । पिं० । (अस्य 'पव्वय' शब्दे कथा वक्ष्यते) देवपूजनावसरे तिलकं क्रियते,न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-देवपूजावेलायां तिलककरणनिषेधो ज्ञातो नास्त्यात्मीयगच्छे इति । ७६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

तिलगकरणी-तिलककरणी-स्त्री० । तिलकः क्रियते यया सा तिलककरणी । दन्तमय्यां सुवर्णाऽऽत्मिकायां वा शलाकायाम्, सूत्र० । यया गोरोचनाऽऽदियुक्तया तिलकः क्रियते । यदि वा गोरोचनया तिलकः क्रियते, सा च तिलककरणीत्युच्यते । गोरोचनायाम्, अथवा-तिलकाः क्रियन्ते पिष्यन्ते वा यत्र सा तिलककरणी । तिलकपेषणोपकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

तिलगरयण--तिलकरत्न-न० । पुष्पमूविशेषे,ज०१ वक्ष० । "तिलगरयणऽद्धचंदचित्ते।" तिलकरत्नानि पुष्पमूकविशेषास्तैरर्द्धचन्द्रैश्च चित्राणि नानारूपाणि तिलकार्द्धचन्द्रचित्राणि । जी० १ प्रति० ।

तिलगसूरि-तिलकसूरि-पुं० । वैक्रमीये सवत्सरे १३६० मिते विद्यमाने हर्षपुरीयगच्छीये राजशेखरसूरिशिष्ये, जै० इ० ।

तिलगायरिय-तिलकाचार्य-पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, येन भद्रबाहुविरचितस्य यतिजीतकल्पस्योपरि टीका कृता । जीत० । अयमाचार्यः शिवप्रभसूरिशिष्यः, तेन च वैक्रमीये सवत्सरे १२९६ मिते आवश्यकलघुवृत्तिर्नाम ग्रन्थो विरचितः; दशवैकालिकसूत्रटीका, प्रत्येकबुद्धचरित्र, प्रतिक्रमणसूत्रलघुवृत्तिश्चेत्यादयो ग्रन्था अप्यनेन कृता । जै० इ० ।

तिलचुन्न-तिलचूर्ण-न० । चूर्णिकाभेदे, "से किं तं चुण्णियामेदे ? चुण्णियाभेदे जं णं तिलचुण्णाण वा,मुग्गचुण्णाण वा।" प्रज्ञा० १ पद ।

तिलथंभ-तिलस्तम्ब-पुं० । तिलवृक्षगुल्मे, कुम्भग्रामे तिलस्तम्बं दृष्ट्वा गोशालकस्य वीरस्वामिनं प्रति तज्जीवपृच्छा । भ० १५ श० । आ० म० । (एतच्च ' गोसालग ' शब्दे तृतीयभागे १०१५ पृष्ठे उक्तम्)

तिलपिट्ठ-तिलपिष्ट-न० । कुट्टिततिलचये, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

तिलपीलग-तिलपीलक-त्रि० । तिलयन्त्रवाहनपरे, द्वा० ।

वादांश्च प्रतिवादांश्च, वदन्तो निश्चित तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद्गतौ ॥ ५ ॥

तिलपीलकवत् तिलपीडक इव निरुद्धाक्षिसञ्चारस्तिलयन्त्रवाहनपरो, यथा ह्ययं नित्यं भ्राम्यन्नपि निरुद्धाक्षितया न तत्परिमाणमवबुध्यते, एवमेतेऽपि वादिनः स्वपक्षाभिनिवेशान्धा विचित्रं वदन्तोऽपि नोच्यमानतत्त्वं प्रतिपद्यन्ते इति । द्वा० २३ द्वा० ।

तिलपुप्फवण्ण-तिलपुष्पवर्ण-पुं० । चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराऽऽरूपे ग्रहभेदे, सू० प्र० २० पाहु० । च० प्र० । द्वात्रिंशत्तमे महाग्रहे, " दो तिलपुप्फवण्णा । " स्था० १ ठा० । कल्प० ।

तिलभट्ट-तिलभट्ट-पुं० । अन्तर्दुष्टप्रणयकुथितहृदयाया उन्मत्तरामायाः पत्यौ, त० ।

तिलमल्ली-तिलमल्ली-स्त्री० । तैलविकृतौ विकृतिभेदे, प्रव० ४ द्वार । ध० ।

तिलयसीह-तिलकसिंह-पुं० । तालनन्दनामनगरवास्तव्यस्य तालध्वजनामराजस्य स्वनामख्याते युवराजे, दर्श० १ तत्त्व ।

तिलविगइ-तिलविकृति-स्त्री० । तैलविकारे, " तिलमल्ली १ तिलकुट्टी २, दद्धतिल ३, तहोसहुब्वरियं ४ । लक्खाइदव्वपक्कं, तेल्लं ५ तिलुम्मि पचेव ॥ १ ॥ " ध० २ अधि० ।

तिलसंगलिया-तिलसंगलिका-स्त्री० । तिलफलिकायाम्, भ० १५ उ० ।

तिलसक्कुलिया-तिलशष्कुलिका-स्त्री० । तिलप्रधानायां पिष्टमयपोट्टलिकायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । जी० ।

तिलागणि-तिलाग्नि-पुं० । तिलाः धान्यविशेषाः,तेषामवयवा अपि तिलाः,तेषामग्निस्तद्दहनप्रवृत्तो वह्निस्तिलाग्निः । तिलावयवदहनप्रवृत्ते वह्नौ, स्था० ८ ठा० ।

तिलिचिलिय-तिलिचिलिक-पुं० । जलचरजीवविशेषे, कल्प० ३ क्षण ।

तिलोग-त्रिलोक-पुं० । त्रयो लोकाः समाहृतास्त्रिलोकाः । समाहृतेषु त्रिषु लोकेषु, न० ।

तिलोगचूडामणि-त्रिलोकचूडामणि-पुं० । त्रिभुवनशिरोरत्नकल्पे, पञ्चा० ८ विव० ।

तिलोगदंसि (ण्)-त्रिलोकदर्शिन्-पुं० । त्रिलोकमूर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणं द्रष्टुं शीलं येषां ते त्रिलोकदर्शिनः । तीर्थकृत्सु सर्वज्ञेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

तिलोगपुज्ज-त्रिलोकपूज्य-पुं० । सुरनराऽऽदिलक्षणभुवनत्रितयपूजनीये, पञ्चा० ६ विव० ।

तिलोगमहिय-त्रिलोकमहित-पुं० । त्रिलोकमहिते तीर्थकृति, बृ० । त्रयो लोकाः समाहृताः , समवसरणे त्रयाणामपि सन्निपात् । तथाहि-समागच्छन्ति भगवता तीर्थकृता समवसरणे-ऽधोलोकवासिनो भवनपतयः , तिर्यग्लोकवासिनो वाणमन्तरतिर्यग्पञ्चेन्द्रियज्योतिष्काः , ऊर्द्धलोकवासिनः कल्पोपपन्नका देवाः ,त्रिलोकेन महिताः पूजिताः , त्रिभिर्वा लोकैर्महिता-स्त्रिलोकमहिताः । बृ० १ उ० ।

तिलोदग-तिलोदक-न० । निस्त्वचिततिलधावनजले, कल्प० ३ अधि० ए क्षण । तिलैः केनचित्प्रकारेण प्रासुकीकृते उदके, ग० २ अधि० । स्था० । आचा० ।

तिल्ल-तैल-न०। तिलस्य विकारः,अण्। "तिलाऽऽदिस्निग्धवस्तूनां, स्नेहस्तैलमुदाहृतम्।" इत्युक्ते तिलसर्षपातसीकुसुम्भानां स्निग्धवस्तूनां स्नेहरूपे विकारे, वाच०। प्रश्न०। तैलं चतुर्धा, तिलातसीकुसुम्भसर्षपभेदात्। स्था० ६ ठा०।

तिल्लग-तैलक-त्रि०। तैलविक्रयकारके, बृ० १ उ०। प्रव०।

तिल्लोदा-तैलोदा-स्त्री०। शशकाऽऽख्येन धूर्तेन परिकल्पिते बृहित्तिलसमुद्भूते नदीभेदे, नि० चू० १ उ०।

तिवँ-तथा-अव्य०। प्राकृते तथेत्यस्य तिमादेशे, "मोऽनुनासिको वो वा" ॥८।४।३९७॥ इत्यपभ्रंशेऽनादौ वर्त्तमानस्यासंयुक्तस्य मकारस्यानुनासिको वँकारः। प्रा० ४ पाद। तेन प्रकारेणेत्यर्थे, वाच०।

तिवई-त्रिपदी-स्त्री०। मल्लस्येव रङ्गभूम्यां गतिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। भूमौ पदत्रयन्यासे, औ०। मल्ल इव रङ्गभूमौ, त्रिपदीच्छेदं करोति। भ० ३ श० २ उ०। हस्तिनां पादबन्धनार्थे रज्जुभेदे, वाच०।

तिवग्ग-त्रिवर्ग-पुं०। त्रयो वर्गास्त्रिवर्गाः। धर्मार्थकामत्रये, लोकवेदसमयत्रये, सूत्रार्थतदुभयत्रये च। आ० चू० १ अ०। आ० म०। आचा०।

तिवग्गसाहण-त्रिवर्गसाधन-न०। त्रिवर्गस्य वक्ष्यमाणस्वरूपस्य, न त्वेकैकस्य, साधनं सेवनं त्रिवर्गसाधनम्। त्रिवर्गसेवने, ध०।

अन्योन्यानुपघातेन, त्रिवर्गस्यापि साधनम्। (२३)

त्रिवर्गो धर्मार्थकामाः, तत्र यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः, १ यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः २, यत आभिमानिकरसानुविद्धा सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः ३। ततोऽन्योन्यस्य परस्परस्याऽनुपघातेनाऽऽपीडनेन त्रिवर्गस्याऽपि उक्तस्वरूपस्य, न त्वेकैकस्येत्यपिशब्दार्थः; साधनं सेवनम्। त्रिवर्गसाधनविकलस्योभयभवप्रष्टत्वेन जीवननैरर्थक्यात्। यदाह- "यस्य त्रिवर्गशून्यानि, दिनान्यायान्ति यान्ति च। स लोहकारभस्त्रेव, श्वसन्नपि न जीवति" ॥१॥ तत्र धर्मार्थयोरुपघातेन तादात्विकविषयसुखलुब्धो वनगज इव को नाम न भवत्यास्पदमापदाम्?। न च तस्य धनं, धर्मः, शरीरं वा,यस्य कामेऽत्यन्तासक्तिः। धर्मकामातिक्रमाद्धनमुपार्जितं परेऽनुभवन्ति, स्वयं तु परं पापस्य भाजनं, सिंह इव सिन्धुरवधात्। अर्थकामातिक्रमेण च धर्मसेवा यतीनामेव धर्मो, न गृहस्थानाम्। न च धर्मबाधयाऽर्थकामौ सेवेत, बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्याऽऽयत्यां किमपि कल्याणम्। स खलु सुखी योऽमुत्र सुखाविरोधेनेहलोकसुखमनुभवति। तस्मात्कामबाधनेन कामार्थयोर्मितमता यतितव्यम्। एवमर्थबाधया धर्मकामौ सेवमानस्य ऋणाधिकत्वम्। कामबाधया धर्मार्थौ सेवमानस्य गार्हस्थ्याभावः स्यात्। एवं च तादात्विकमूलहरकदर्येषु धर्मार्थकामानामन्योऽन्यबाधा सुलभैव। तथाहि-यः किमप्यसंचित्योत्पन्नमर्थमपव्ययेति स तादात्विकः १, यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः २, यो भृत्याऽऽत्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति, न तु क्वचिदपि व्ययते स कदर्यः ३। तत्र तादात्विकमूलहरयोरर्थभ्रंशेन धर्मकामयोर्विनाशान्नास्ति कल्याणम्। कदर्यस्य त्वर्थसंग्रहो राजदायादतस्कराणां निधिः, न तु धर्मकामयोर्हेतुरिति। अनेन त्रिवर्गबाधा गृहस्थस्य कर्तुमनुचितेति प्रतिपादितम्। यदा तु दैववशाद्बाधा सम्भवति, तदोत्तरोत्तरबाधायां पूर्वस्य पूर्वस्य बाधा रक्षणीया। तथाहि-कामबाधायां धर्मार्थयोर्बाधा रक्षणीया, तयोः सतोः कामस्य सुकरोत्पादत्वात्। कामार्थयोस्तु बाधायां धर्मो रक्षणीयः, धर्ममूलत्वादर्थकामयोः। उक्तं च-" धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनाऽपि जीवतः। आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्यं, धर्मवित्ता हि साधवः" ॥ १ ॥ " ध० १ अधि०।

तिवणी-त्रिवनी-स्त्री०। औषधिविशेषे, नि० ६ कल्प।

तिवरिस-त्रिवर्ष-पुं०। स्त्री०। प्रव्रज्यापर्यायेण यस्य त्रीणि वर्षाणि नाधिकमित्येव त्रिवर्षो भवति। प्रव्रज्यापर्यायेण त्रिवर्षजाते यत्ये, व्य० ३ उ०।

तिवरिसपरियाय-त्रिवर्षपर्याय-पुं०। स्त्री०। त्रीणि वर्षाणि पर्यायः प्रव्रज्यापर्यायो यस्य स त्रिवर्षपर्यायः। प्रव्रज्यापर्यायेण त्रिवर्षजाते यत्ये, व्य० ३ उ०।

तिवलिय-त्रिवलिक-त्रि०। रेखात्रयोपेते,रा०। औ०। ज्ञा०। भ०।

तिवली-त्रिवली-स्त्री०। वलित्रये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। विपा०।

तिवलीविणीय-त्रिवलीविनीत-त्रि०। तिस्रो वलयो विनीता विशेषतः प्रापिता यत्र तत् त्रिवलीविनीतम्। वलित्रययुक्ते, जी० ३ प्रति० ४ उ०।

तिवस्सजाय-त्रिवर्षजात-त्रि०। त्रीणि वर्षाणि जातानि यस्य त्रिवर्षजाता। " कालो द्विगोर्मेये. " ॥ ३। १। ५७ ॥ इति तत्पुरुषः। ज्यो० २ पाहु०। जन्मतो वर्षत्रयाणि जातानि यस्य स त्रिवर्षजातः। जन्मतः प्रव्रज्यातो वा त्रिवर्षजाते, तं०।

तिवारखलणा-त्रिवारस्खलना-स्त्री०। त्रीन् वारान् यावत्-स्प्रतिहते, पञ्चा० १२ विव०।

तिविंदु-त्रिबिन्दु-न०। बिन्दुत्रयसमाहारे, अनु०।

तिविट्ठु-त्रिपृष्ठ-पुं०। प्राकृतत्वादार्षत्वाच्च 'तिविट्ठु' इति निर्देशः। प्रव० २ द्वार। वर्त्तमानप्रथमवासुदेवे, ति०। आ० म०। प्रश्न०। आ० क०। कल्प०। आव०। प्रव०। आ० चू०। " तिविट्ठे णं वासुदेवे असीइं धणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था।" " तिविट्ठे णं वासुदेवे असीइवाससयसहस्साइं महाराया होत्था।" स० ८० सम०। त्रिपृष्ठवासुदेवस्य चतुरशीतिवर्षलक्षाणि सर्वाऽऽयुरिति चत्वारि लक्षाणि कुमारत्वे, शेषं तु महाराज्ये इत्यादि। स० ८० सम०। " तिविट्ठे णं वासुदेवे चउरासीइं वाससयसहस्साइं परमाउयं पालइत्ता अप्पइट्ठाणे नरए नेरइयत्ताए उववन्ने।" (तिविट्ठु त्ति) प्रथमवासुदेवः श्रेयांसजिनकालभावीति, अप्रतिष्ठानो नरक. सप्तमपृथिव्यां पञ्चानां मध्यम इति। स० ८४ सम०।

पुत्तो पयावइस्सा, मिआवईकुच्छिसंभवो भयवं।
नामेण तिविट्ठु त्ति, आई आसी दसाराणं ॥ १ ॥

अत्र कथा-

" इहास्ति पोतनपुरं, नगरं जितसागरम्।
भूरिश्रीजिनसंशोभि, आवृताखिलजन्तुकम् ॥ १ ॥
राजा रिपुप्रतिशत्रु-र्यत्प्रतापमहाग्निना।
आलीढाः शत्रवः सर्वे, ज्वलच्चूर्णायुतां ययुः ॥ २ ॥

देव्यास्तस्य च भद्राया., बलदेव सुतोऽभवत् ।
चतुर्भि सूचित स्वप्नै-रचलोऽचलसौष्ठवः ॥ ३ ॥
मृगावती च पुत्र्यासीद्, रूपातिशयशालिनी ।
जगाम जनकं नन्तु, सोद्भिन्ननवयौवना ॥ ४ ॥
दृष्ट्वा तामनुरागेण, राजाङ्कपर्यङ्कगा स्वयात् ।
विवोढुं तामथोपाय, चिन्तयामास सद्धं च ॥ ५ ॥
पुरप्रधानानाहूया-ऽप्राक्षीदेतत्ततो नृपः ।
इह यज्जायते रत्नं, स्वामी तस्येति कथ्यताम् ? ॥ ६ ॥
अथोचुस्ते तथैवेति, त्रिरप्याहाय तद्वच ।
आनाययत्ततस्तत्रो-द्वोढुं राजा मृगावतीम् ॥ ७ ॥
धिगुक्ते ब्रीडया सर्वे, पुत्रीमपि मृगावतीम् ।
गान्धर्वेण विवाहेन, राजा स्वयमुपायत ॥ ८ ॥
भद्रा विरक्ता शोकेन-स्वपत्यमाजाचाचम्य नृपम् ।
सुतमादाय निर्गाय, प्रययौ दक्षिणापथम् ॥ ९ ॥
विदग्धवाग्मरस्तत्र, पुरीं माहेश्वरीं नवाम् ।
स्वधातव जननी तत्र, मातोपाय ययौ स्वयम् ॥ १० ॥
कर्मे च तस्मिन्तुर्ये-मींस नाम स्वतोऽभवत् ।
स्वप्रजाया पतित्वेन, प्रजापतिरितीरितम् ॥ ११ ॥
विश्वभूतिश्च्युत शुक्रा-न्मृगावत्या कुक्षोदरे ।
कथित मसाभिः स्वप्नै-र्विष्णुरिवयतीर्णवान् ॥ १२ ॥
पूर्णेऽवदद्व सुसज्जः, तनुभूरिस्मुरादिव ।
त्रिकरण्डक१(१) इत्याख्या, त्रिपृ(पृ)ष्ठ इति संज्ञितः ॥ १३ ॥
स्वर्णाशिबन्धुदत्ताङ्कः, निजस्य भ्रात्रा बलेन स ।
हिमवानिव सोऽभिवृ. क्रमाद्यौवनमासदत् ॥ १४ ॥
विद्याधरनिर्जितश्च, नव प्राग्भवस्य केसरी ।
अहो तुङ्गगिरेः श्रृङ्ग-पुरदेशाभिवृद्धक ॥ १५ ॥
प्रतिविष्णु पृच्छति स्मा-श्वग्रीवो मे कुतो मृति. ? ।
आचिरून्ति निमित्तज्ञ., सोऽप्याख्यावदिदं तदा ॥ १६ ॥
चण्डवेगाभिधं दूतं, यो दृश्य धर्षयिष्यति ।
पश्चिमतोरिसिहं च, देशेयव हनिष्यति ॥ १७ ॥
तत शङ्खपुरे शालो-नश्वग्रीवोऽवपावयत् ।
सारकेण महीपालान्, मत्राणार्थमथाऽऽदिशत् ॥ १८ ॥
श्रुत प्रजापते पुत्रौ, स शुश्राव महौजसौ ।
ततो-पर्याप्तदर्पेण, दूतं तस्मै प्रयुक्तवान् ॥ १९ ॥
तदा प्रजापतेरग्ने, सर्गातिरङ्गमागते ।
अकस्मादागतश्चण्ड-वेगस्त्वङ्गनहद ॥ २० ॥
अभ्युत्तस्थे भूभुजाऽसौ, तदीयस्वामिशङ्कया ।
मध्ये पृष्ट कुमाराभ्या-मयं कोऽयमाह स ॥ २१ ॥
अश्वग्रीवस्य दूतोऽय, राजराजस्य दुर्दम. ।
गच्छन्तम निषेद्धो ना-विति तावूचतुर्निजान् ॥ २२ ॥
प्रजापतिस्तमभ्येत्य-र्थ्यसृजत्कृतगौरवम् ।
व्यज्ञात्सिपितौ तौ च, कुमारावन्वधावताम् ॥ २३ ॥
तमर्द्धमार्गे प्राप्य स्व-हस्तयोश्चक्रतुः सुखम ।
काकवद् लगुडाऽऽपाते, तत्सहायाश्च नेशिरे ॥ २४ ॥ (?)
ज्ञात्वा प्रजापतिस्तच्च, दूतमानीय स गृहे ।
मत्कृतयोऽपि दुर्विनय, माऽऽख्य कौमारयोरिति ॥ २५ ॥
आमेत्युक्त्वा ययौ दूत, क्ष्मापते परमग्रतः ।
पलायय यानि कथित, सर्वं दूतस्य धर्षणम् ॥ २६ ॥
तद्भूतोऽपि तथैवाऽऽख्य-द्वर्णीकाम्मा कुपन्नृप. ।
अश्वग्रीवोऽनुशिष्या-य, दूत प्रैषीत्प्रजापते. ॥ २७ ॥

मन्मोचे रक्ष शालीस्य, सिंहाद्राजाऽऽज्ञयेव स ।
राजेत्याह सुतावेत-त्कृत दूतस्य धर्षणे ॥ २८ ॥
अपारकोऽपि यद्भू-त्वाद्य शालिरक्षणे ।
इत्युक्त्वा प्रस्थित भूप, प्रतिबोध्य गतौ सुतौ ॥ २९ ॥
कियत्काल कथ सिंह सन्धेऽरत्नन्तुपा इति ।
त्रिपृष्ठपृष्टेः शिष्टै., शालीनां परिचारकै ॥ ३० ॥
पारम्भेऽस्यैवैम. कृपाऽरक्षन् क्षितीश्वरा ।
कर्षणप्रद्रणधान-नागता चारकक्रमात् ॥ ३१ ॥
इत्याहवनीयाचिर कोऽत्र, त्रिपृष्ठ स्माऽऽह तान् प्रति ।
दर्शयतां मम सिंह. स, येनैकोऽपि निहन्मि तम् ॥ ३२ ॥
गुहाऽऽलयगुहायां ते-ऽदर्शित केशरी तत. ।
रथाऽऽरूढौ कुमारौ ता-वयामितामुभौ गुहाम् ॥ ३३ ॥
तां गुहामभितो लोका-श्चक्रु कलकलाऽऽरवम् ।
स च पञ्चानन पूर्वा-ङ्गमाताज्जृम्भायनाऽऽनन ॥ ३४ ॥
अहं रथी पतिरश्री, युक्तो नो नैव सगरः ।
रथादतोऽवततार, त्रिपृष्ठ. फलकासिभृत् ॥ ३५ ॥
फलकासी मम करे, एव इत्याननाऽऽयुध ।
तदप्यनुचित भाति, तत्तावपि मुमोच स ॥ ३६ ॥
दर्पी न प्रेक्ष्य सिंहोऽथ, वाचपोढको यदागमत् ।
यथाऽऽनतान्तमुखीभ्या-इत्युदीय तदैगयत ॥ ३७ ॥
विविध स्थैव महाकोपा-दुज्जानानो इति हरिः ।
दंष्ट्रा फाला करालो स, त्रिपृष्ठोपान्तमापतत् ॥ ३८ ॥
एकेनैव करेणोष्ठ-धरौ धृत्वा इति हरिः ।
पाटयामास त जीर्ण-पटाशुकमिव क्षणात् ॥ ३९ ॥
पुष्पाऽऽभरणवस्त्रैश्च, वृष्ट देवतया हरौ ।
शौर्येण विस्मितैर्लोकै-स्तुष्टुवे स स्फुरन्मुदे. ॥ ४० ॥
एकाकिना मारितोऽह-मिति सिंह. स्फुरत्रुषा ।
नीतमजीवत्सासूत-स्तमूचे मा स्म विषधा. ॥ ४१ ॥
वसुतिलकोऽप्यमित्रेन, मारितोऽस्मीति का व्यथा ? ।
प्रीतस्तद्वचसा मृत्वा, तुर्योर्व्या नारकोऽभवत् ॥ ४२ ॥
कुमारावाप्तताकृत्यौ, चलितौ नगर निजम ।
प्राप्येरूचे हयग्रीव, स्वैर तिष्ठ विवीर्यधास् ॥ ४३ ॥
तत् श्रुत्वा सोऽथ साशङ्क., प्रैषीद् दूत प्रजापते ।
सुतौ प्रेषय मत्पार्श्वे, कुर्वेऽमू यत्पृथग् नृपौ ॥ ४४ ॥
प्रजापतिर्बभाषेऽह-मेष्यामि न सुतौ तु मे ।
दूतोऽवादीद् न चेदेव, सज्जो युद्धाय तद्भव ॥ ४५ ॥
इत्युक्ते धर्षयित्वा त, कुमारौ दूतमूचतु. ।
यम शिक्षितनरे ! कुर्याः, दुर्दान्तोऽद्यापि ते प्रभु ॥ ४६ ॥
दूताऽऽख्यातो हयग्रीव., सर्वौघेणाऽचलद्युधि ।
त्रिपृष्ठ साचलश्चाद्री, रथावर्तेऽमिलत्स्वयम् ॥ ४७ ॥
उभयो सैन्ययोर्युद्धे, जायमानेऽतिनिष्ठुरे ।
दोलारूढेव तत्काल, जयश्रीर्न समाभवत् ॥ ४८ ॥
ऊचे त्रिपृष्ठोऽश्वग्रीव, वीक्ष्यानेकजनक्षयम् ।
युद्धमस्त्वावयोरेव, वराकै किं हतैर्जनै ? ॥ ४९ ॥
आङ्गाङ्घ्रियुद्धेऽश्वग्रीव, खिन्नश्चक्रं विमुक्तवान् ।
त्रिपृष्ठोरसि तुम्बेन, चक्र निपतति स्म तत् ॥ ५० ॥
त्रिपृष्ठस्तच्चिक्षुरस्तेनै-वाच्छिनत्तत्क्षणात्तयो ।
पुष्पवृष्टि कृता देवै-राद्यो विष्णुर्बलाविति ॥ ५१ ॥
तदैव प्रणतौ तौ च, समस्तैरपि राजभिः ।
भरतक्षेत्रयाम्यार्द्धं, चक्रतुर्लीलया वशे ॥ ५२ ॥

मौलौ छत्रमिवाधार्षीत्, शिलां कोटिशिलाभिधाम् ।
उत्पाट्य दोष्णैकेनाऽपि, लीलया विष्णुरादिमः ॥ ५३ ॥
सोऽथागात्पोतनपुरं, जगज्जित्वरविक्रमः ।
अभिषिक्तो नृपैर्देवै-रर्द्धचक्रिपदे ततः ॥ ५४ ॥
एकदा गायनाः केऽप्य-गायन्निशि हरेः पुरः ।
ताल्पिक स्माऽऽह मय्येते, विसर्ज्याः शयिते त्वया ॥ ५५ ॥
ओमित्यूचे विसृष्टास्ते-ऽनेन सुप्तेऽपि न प्रभौ ।
उत्थितः प्रभुरूचे तान्, श्रुत्वा तं किं न वारिताः ?॥ ५६ ॥
सोऽवदद्गीतलोभेन, तदाकर्ण्याऽकुपन्नृपः ।
तत्कर्णयोः प्रगेऽक्षेप्सी-त्तप्तं त्रपु मृतश्च सः ॥ ५७ ॥
वेद्यं न्यकाचयत्कर्मा-ऽसातं तेन हरिस्तदा ।
निस्त्रिंश क्रियया स्वात्म्याद्, दुष्कर्म प्राज्यमार्जयत् ॥ ५८ ॥
महापरिग्रहाऽऽरम्भ-हिंसाऽऽद्यैः कलुषाऽऽत्मकः ।
चतुरशीत्यब्दलक्षं, राज्यं कृत्वाऽऽद्यकेशवः ॥ ५९ ॥
मृत्वा सप्तमनरक--पृथ्व्यां नैरयिकोऽभवत् ।
अचलस्तद्वियोगाऽऽत्त व्रतो मृत्वा शिवं ययौ" ॥६०॥ आ० क० ।
भविष्यदष्टमवासुदेवे, ती० २० कल्प । स० ।

तिविमी–देशी-पुटिकायाम्, दे० ना० ५ वर्ग १२ गाथा ।

तिविह–त्रिविध-त्रि० । तिस्रो विधा यस्य स त्रिविधः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । त्रिप्रकारे, व्य० १ उ० । प्रश्न० । ध० । पा० । आव० । मनोवाक्कायलक्षणे, कृतकारितानुमतिलक्षणे च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । (" तिविहं तिविहेण पच्चक्खामि " इति 'सामाइय' शब्दे व्याख्यास्यते)

तिविहाऽऽहार–त्रिविधाऽऽहार–पुं० । आहारत्रये, त्रिविधाऽऽहारद्विविधाऽऽहारप्रत्याख्याने श्राद्धानां पानीयतुर्याऽऽहारौ किं भक्ष्यौ, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-श्राद्धानां त्रिविधाऽऽहारद्विविधाऽऽहारप्रत्याख्यानेऽपि पानीयतुर्याऽऽहारौ भक्ष्यौ ज्ञेयौ, परमयं विशेषः-येन प्रातस्त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानं कृतं स्यात्तस्यैकाशनाऽऽदिकरणसमये तुर्याऽऽहारं कल्पते, न तु स्थानानन्तरमिति; पानीयं तु उभयत्राप्यचित्तं कल्पते । द्विविधाऽऽहारप्रत्याख्याने तु द्वयोरपि भक्ष्यतया सम्बन्धोऽस्ति, संध्यायां तु त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्याने पानकाऽऽकारानुच्चारणात् सचित्तमपि पानीयं कल्पते, न तु तुर्याऽऽहारः । द्विविधाऽऽहारप्रत्याख्याने तूभावपि भक्षौ संभवत इति । ५१ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

तिव्व–तीव्र-न० । रौद्रे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । उत्कटे, आ० म० २ अ० । आव० । दुःसहे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । औ० । असह्ये, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । " कक्कसा, पगाढा, चंडा, दुहा, तिव्वा, दुरहियासत्ति " एकार्थाः । विपा० १ श्रु० १ अ० । गाढे, प्रश्न० ६ द्वार । तीव्रानुभवगन्धजनिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । नि० चू० । प्रबले, ज्ञा० २१ ज्ञा० । रौद्रे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । उत्कटे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । दुर्विषहे, दे० ना० ५ वर्ग ११ गाथा । प्रकृष्टे, स० ११ अङ्ग । निम्बाऽऽदिवत् तिक्ते, त्रि० । भ० ६ श० ३४ उ० । " तिव्वे रोगायंके पाउब्भूए । " सामान्यस्य झगिति मरणहेतौ, भ० १५ श० ।

तिव्वअणुराग–तीव्रानुराग–पुं० । अत्यन्ताध्यवसाये, ध० २ अधि० ।

तिव्वकसायपरिणइ–तीव्रकषायपरिणति–स्त्री० । उत्कृष्टानां दीर्घकालान्तरावस्थायिनां वा क्रोधाऽऽदिकषायाणां परिणामे, पं० चू० ।

तिव्वखिंसण–तीव्रखिंसन–न० । अत्यर्थनिन्दायाम्, औ० । प्रश्न० ।

तिव्वगिद्ध–तीव्रगृद्ध–त्रि० । अत्यर्थमनुपपन्ने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तिव्वगिलाण-तीव्रग्लान-त्रि० । आत्यन्तिकव्याधिमति, पञ्चा० ४ विव० ।

तिव्वचरित्तमोहणीय–तीव्रचारित्रमोहनीय–न० । कषायव्यतिरिक्ते नोकषायलक्षणे मोहनीये कर्मणि, भ० ८ श० ६ उ० ।

तिव्वतरग–तीव्रतरक–न० । अतिशयोत्कटे, पञ्चा० १५ विव० ।

तिव्वदंसणमोहणिज्ज–तीव्रदर्शनमोहनीय–न० । मिथ्यात्वतया दर्शनमोहनीये, भ० ८ श० ६ उ० ।

तिव्वपरिणाम–तीव्रपरिणाम–त्रि० । तीव्रो दुःसहः परिणामः परिणतिर्येषां ते तीव्रपरिणामाः । दुःसहपरिणतिकेषु, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

तिव्वपावाभिभूय-तीव्रपापाभिभूत–त्रि० । तीव्रेणातिदारुणेन पापेन मिथ्यात्वाऽऽदिनाऽभिभूतः परतन्त्रीकृतस्तीव्रपापाभिभूतः । अतिदारुणेन मिथ्यात्वाऽऽदिना परतन्त्रीकृते, यो० बिं० ।

तिव्वभाव–तीव्रभाव–पुं० । गाढसंश्लिष्टपरिणामे, पञ्चा० ३ विव० ।

तिव्वरागा–तीव्ररागा–स्त्री० । उत्कटविषयानुबन्धायां भाषायाम्, ध० ३ अधि० ।

तिव्ववेर–तीव्रवैर–त्रि० । अविच्छिन्नोत्कटवैरे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० ।

तिव्वसंकिलेस–तीव्रसंक्लेश–पुं० । उत्कृष्टदुष्टपरिणामे, उत्कृष्टदुरध्यवसाये, पञ्चा० १६ विव० ।

तिव्वसंवेग–तीव्रसंवेग–पुं० । भृशं दुःखव्रात्ताऽऽकुलभवभये, स० । 'तीव्रसंवेगसंजातश्रद्ध'-तीव्रसंवेगेन भृशं दुःखलक्षाऽऽकुलभवभयेन संजाता समुत्पन्ना श्रद्धा श्रद्धानं धर्माऽऽदिषु यस्य स तथा । त० ।

तिव्वसढ–तीव्रशठ–त्रि० । तीव्रैरुपसर्गैरभिद्रुते शठानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । आत्यन्तिकसदनुष्ठानकरणरुचौ, पञ्चा० ४ विव० ।

तिव्वाभिताव–तीव्राभिताप–त्रि० । दुःसहसन्तापवति, " तिव्वाभितावे नरए पडन्ते । " तीव्रो दुःसहः खादिराङ्गारमहाराशितापादनन्तगुणोऽभितापः संतापो यस्मिन् स तथा । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । तीव्रकर्मबन्धरूपे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

तिव्वाभिताबि (ण्) –तीव्राभितापिन्–त्रि० । तीव्रोऽसह्यो योऽभितापः क्रकचपाटनकुम्भीपाकतप्तत्रपुपानशाल्मल्यालिङ्गनाऽऽदिरूपः, स विद्यते यस्याऽसौ तीव्राभितापी । तीव्रवेदनाऽभिभूते, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

तिव्वाभिलास–तीव्राभिलाष–पुं० । अत्यन्ताध्यवसायित्वे, आव० ६ अ० । उपा० ।

एकत्रिंशद्दिनानि, एकविंशत्युत्तरशत चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानां दिनस्य *। न चैतद्द्वात्रिंशा जानते, केवलं चान्द्रो मासोऽस्ति, तदपेक्षया चिन्त्यमाने परिपूर्णत्रिंशत्तिथ्यात्मकत्वात् लोके व्यवहारपथं चरतीति ।

तिथिपरिमाणज्ञापनार्थमिदमुपक्रम्यते, तत्र तिथिस्वरूपज्ञानार्थं यत्रिभिस्ता अहोरात्राः, यत्रिभिस्ताश्च तिथयस्तदेतत्प्ररूपयति-

सूरस्स गमणमंमल-विभागनिप्फाइया अहोरत्ता ।
चंदस्स हाणिवुड्ढी-कएण निप्फज्जए उ तिही ॥

सूर्यस्याऽऽदित्यस्य गमनयोग्यानि यानि मण्डलानि तेषां प्रत्येक यो विभागो, विशिष्टः समभागतया भाग इत्यर्थः । तेन निष्पादिता अहोरात्राः । किमुक्त भवति ?-एकैकस्मिन् मण्डले यावता कालेन मण्डलार्द्धं गमनेन पूरयति तावत्कालप्रमाणो नाहोरात्रा ॥ चन्द्रस्य चन्द्रमण्डलस्य पुनः हानिवृद्धिकृतेन कालपरिमाणेन निष्पद्यते तिथिः । अत्रायं भावार्थः-चन्द्रमण्डलस्य कृष्णपक्षे यावता कालेनैकैकः षोडशभागो द्वाषष्टिभागचतुष्टयप्रमाणो हानिमुपपद्यते,यावता च कालेन शुक्लपक्षे एकः षोडशभागः प्रागुक्तप्रमाणः परिवर्द्धते, तावत्कालप्रमाणास्तिथयः । एतावांश्चाहोरात्राणां तिथीनां च परस्पर कालविशेषः-अहोरात्रो द्वाषष्टिभागपरिच्छिन्नो विधीयते । तस्य सत्का ये एकषष्टिभागाः, तावत्प्रमाणा तिथिः ।

इहेदमुक्तम्-चन्द्रस्य वृद्धिहानिकृतेन निष्पद्यते तिथिः । तत्र शिष्याणामुदपादि व्यामोहः-कथ चन्द्रस्य शाश्वतिकतयोपवर्ण्यमानस्य, वृद्धिहानी घटेते इति ?। ततः शिष्याणां व्यामोहमपनेतुकामो यथोक्तस्वरूपप्ररूपणार्थमाह-

चंदस्स नेव हाणी,न वि वुड्ढी वा अवट्ठिओ चंदो ।
सुक्किलभावस्स पुणो, दीसइ वुड्ढी य हाणी य ॥

चन्द्रस्य चन्द्रमण्डलस्य स्वरूपतो नैव हानिर्नाऽपि वृद्धिः, किं त्ववस्थित एव सदा चन्द्रः, चन्द्राऽऽदिविमानानां शाश्वतिकत्वात् । यद्येव कथ साक्षात् प्रत्यक्षत उपलभ्येते वृद्धिहानी ?। तत आह-(सुक्किलेत्यादि)शुक्लभावस्य शुक्लतायाः,दर्शनपथप्राप्तस्यैव कृता दृश्यते वृद्धिर्हानिर्वा,न तु स्वरूपतश्चन्द्रमण्डलम् ।

किमत्र कारणम् ?, अत आह-

किण्हं राहुविमाणं, हेट्ठा चउरंगुलं च चंदस्स ।
तेणोवट्टइ चंदो, परिवड्ढइ वा वि नायव्वो ॥

इह द्विविधो राहुः । तद्यथा-पर्वराहुः, ध्रुवराहुश्च । तत्र यः पर्वराहुस्तत्कृता चिन्ता क्षेत्रसमासटीकायां कृता । यस्तु ध्रुवराहुस्तस्य विमान कृष्णं, तच्च चन्द्रमण्डलस्याधस्तात् चतुरङ्गुलमसम्प्राप्त सत् चार चरति । तच्च कृष्णपक्षे आत्मीयेन पञ्चदशेन भागेन प्रतिदिवसमेकैक भाग द्वाषष्टिभागीकृतस्य चन्द्रमण्डलस्य सत्का ये चत्वारो भागास्तावत्प्रमाणमावृणोति । शुक्लपक्षे च प्रतिदिवसं तावन्तमेकैक भागमात्मीयेन पञ्चदशेन [पञ्चदशेन] भागेनापसरत् प्रकटीकरोति । तेन कारणेन चन्द्रः कृष्णपक्षे अपवर्द्धते हीयते, शुक्लपक्षे परिवर्द्धत इति ज्ञातव्यः । किमुक्तं भवति ?-तेन कारणेन चन्द्रमण्डलस्य वृद्धिहानी प्रतिभासेते, न तु ते तात्त्विक्यौ स्त इति ।

एतदेव स्पष्ट भावयति—

तं रययकुमुयसरिस-प्पहस्स चंदस्स राइसुभगस्स ।
लोए तिहि त्ति नियय, भण्णइ हाणीएँ वुड्ढीए ॥

यत एव चन्द्रमण्डलस्य राहुविमानकृताऽऽवरणानावरणजनिते वृद्धिहानी, तत् तस्मात् कारणात् चन्द्रस्य रजतकुमुदपुष्पतुल्यप्रभस्य रात्रिसुभगस्य रजन्यामतिमनोहारितया प्रतिभासनशीलस्य, हानौ वृद्धौ यथोदितस्वरूपायां, यथोदितभागप्रमाणायां च लोके तिथिरिति नियत निश्चितं भण्यते ।

सम्प्रति भागप्रमाणमेव निर्दिदिक्षुराह-

सोलसभागे काऊ-ण उडुवइं हायतेऽत्थ पन्नरसे ।
तत्तियमेत्ते भागे, पुणो वि परिवड्ढई जोण्हे ॥

उडुपतिं चन्द्रमण्डलमित्यर्थः, षोडशभागेन राहुदेवः कृत्वा बुद्ध्या परिकल्प्य, तथाभवस्वाभाव्यात् कृष्णपक्षे, अत्र एषु षोडशसु भागेषु मध्ये प्रतिदिवसमेकैकभागहानिकरणेन सकले कृष्णपक्षे पञ्चदश भागान् हापयति । ज्योत्स्न्ये ज्योत्स्नासमन्विते, शुक्लपक्षे इत्यर्थः, प्रतिदिवसमेकैकभागपरिवर्द्धनेन परिपूर्णपक्षे तावन्मात्रान्, पञ्चदशसङ्ख्यानित्यर्थः । भागान्, पुनरपि परिवर्द्धयति । इयमत्र भावना-इह चन्द्रविमान द्वाषष्टिसङ्ख्यैर्भागैः परिकल्प्यते,परिकल्प्य च तेषां भागानां पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते, हृते च भागे लब्धाश्चत्वारो द्वाषष्टिभागाः,शेषौ द्वौ भागौ तिष्ठतः, तौ च सदाऽनावृतौ । एषा किल चन्द्रमसः षोडशीकलाप्रसिद्धिः । तत्र कृष्णपक्षे प्रतिपदि ध्रुवराहुविमानं चन्द्रमण्डलस्याधो भागेन चतुरङ्गुलमसम्प्राप्तं सत् चार चरदात्मीयेन पञ्चदशेन भागेन द्वौ द्वाषष्टिभागौ सदाऽनावरणस्वभावौ मुक्त्वा शेषद्वाषष्टिसत्कभागाऽऽत्मकस्य चन्द्रमण्डलस्य सत्क चतुर्भागाऽऽत्मक पञ्चदशभागमावृणोति । द्वितीयायामात्मीयाभ्यां (?) पञ्चदशभागानावृणोति । ततः शुक्लपक्षे प्रतिपदि पञ्चदशभागान् अनावृतान् करोति, तदा च सर्वाऽऽत्मना परिपूर्ण चन्द्रमण्डल लोके प्रकट भवति । उक्तं च-"कइविहे णं भंते ! राहू पन्नत्ते ?। गोयमा ! दुविहे राहू पन्नत्ते । त जहा-धुवराहू य,पव्वराहू य । तत्थ ण जे से धुवराहू, से ण बहुलस्स पक्खस्स पाडिवए पन्नरसतिभागेण पन्नरसभाग चंदलेसमावरमाणे आवरमाणे चिट्ठइ । त जहा-पढमाए पढम भाग,बिइयाए बिइय भाग० जाव पन्नरसेसु पन्नरस भागं । चरमसमए चंदे रत्ते भवइ, अवसेसे समए चंदे रत्ते वा विरत्ते वा भवइ,त चेव सुक्कपक्खस्स उवदंसेमाणे उवदंसेमाणे चिट्ठइ । त जहा-पढमाए पढम भाग, बिइयाए बिइय भाग० जाव पन्नरसेसु पन्नरस भाग । " इति । (भ० १२ श० ६ उ०)

तत्र-

कालेण जेण हायइ, सोलसभागो य सा तिही होइ ।
तं चेव य वुड्ढीए, एवं तिहिणो समुप्पत्ती ॥

यावता कालेन कृष्णपक्षे षोडशो भागो द्वाषष्टिभाग. सचतुर्भागाऽऽत्मको हीयते हानिमुपगच्छति, स एतावान कालविशेषस्तिथिर्भवति । तथा चैव वृद्ध्याऽपि तिथिर्भवति । किमुक्त भवति ?-यावता कालेन शुक्लपक्षे षोडशभागं प्रागुक्तक्रमेण परिवर्द्धते,तावत्प्रमाणः कालविशेषस्तिथिरिति अहोरात्रस्य द्वाषष्टिभागाः, तावत्प्रमाणा तिथिरित्यर्थः । एवंविधैर्भगवद्भिस्तीर्थकरगणधरैः समुत्पत्तिराख्याता ।

कियत्सङ्ख्याकास्तास्तिथय इति तत्सङ्ख्यानिरूपणार्थमुपक्षिमाह-

भाइए परिहायइ, भागे वड्ढइ य आणुपुव्वीए ।

* प्रथमभागे 'अभिवड्ढिय' शब्द. ७२७ पृष्ठे द्रष्टव्यः ।

तावइया होंति तिही, तेसिं नामाणि वोच्छामि ॥

इह यावता कालेनैकश्चन्द्रमण्डलस्य षोडशो भागो द्वाषष्टिभागसत्कचतुर्भागाऽऽत्मकः परिहीयते,वर्द्धते वा, तावत्कालप्रमाणा एका तिथिरिति प्रागुपपादितम्। ततो यावतो भागान् चन्द्रमसो राहुविमानं कृष्णपक्षे हापयति, यावतश्च भागानानुपूर्व्या क्रमेण शुक्लपक्षे परिवर्द्धयति, तावत्प्रमाणाः शुक्लपक्षे कृष्णपक्षे च तिथयो भवन्ति। तत्र पञ्चदश भागान् कृष्णपक्षे हापयति, पञ्चदशैव भागान् शुक्लपक्षे परिवर्द्धयति; ततः पञ्चदश कृष्णपक्षे तिथयः, पञ्चदश शुक्लपक्षे च। सम्प्रति तासां तिथीनां नामानि वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

पाडिवग बिइय तइया, य चउत्थी पंचमी य छट्ठी य।
सत्तमि अट्ठमि नवमी, दसमी एगारसी चेव ॥
बारसि तेरसि चाउ-द्दसी य निट्ठवणिगा य पन्नरसी।
किण्हम्मि य जोण्हम्मि य, एसेव तिही मुणेयव्वा ॥

कृष्णपक्षे प्रथमा तिथिः प्रतिपत्,द्वितीया द्वितीया,एवं यावन्निष्ठापनिका परिसमाप्तिकारिका पञ्चदशी, अमावास्या इत्यर्थः। ज्योत्स्न्येऽपि,पक्षे इत्यर्थः। एष एवानन्तरोदितो नाम्ना विधिर्ज्ञातव्यः। तद् यथा-प्रथमा प्रतिपत्, द्वितीया द्वितीया, तृतीया तृतीया। एवं यावत् परिसमाप्तिकारिका पञ्चदशी, पौर्णमासी इत्यर्थः॥ इह विचित्रो विधिर्नाम्नामागमे मासाऽऽदीनां तिथिपर्यन्तानामुक्तः, ततस्तिथिनाम्नां प्रस्तावाद् मासोऽपि विनेयजनानुग्रहार्थमुपवर्ण्यते-इह च एकैकस्मिन् संवत्सरे द्वादश मासाः, तेषां च नामधेयानि द्विविधानि। तद्यथा-लौकिकानि, लोकोत्तराणि च। तत्र लौकिकान्यमूनि। तद्यथा-श्रावणः,भाद्रपदः, आश्वयुजः,कार्त्तिकः, मार्गशीर्षः,पौषः,माघः,फाल्गुनः,चैत्रः, वैशाखः, ज्येष्ठः, आषाढ इति। लोकोत्तराण्यमूनि। तद्यथा-प्रथमः श्रावणे अभिनन्दितः,द्वितीयः प्रतिष्ठितः प्रतिपन्नव्यः,तृतीयो विजयः, चतुर्थः प्रीतिवर्द्धनः, पञ्चमः श्रेयान्, षष्ठः शिवः, सप्तमः शिशिरः,अष्टमो हैमवान्,नवमो वसन्तमासः,दशमः कुसुमसंभवः,एकादशो निदाघः, द्वादशो वर्णविरोहः। तथा चोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ-"एगमेगस्स णं भंते! संवच्छरस्स कति मासा पन्नत्ता? । गोयमा! दुवालस मासा पन्नत्ता। तेसिं णं दुविहा नामधिज्जा पन्नत्ता। तं जहा-लोइया, लोउत्तरिया य। तत्थ लोइया नामा इमे। तं जहा-सावणे,भद्दवए०जाव आसाढे। लोगुत्तरिया नामा इमे। तं जहा-

"अभिणंदिते पइट्ठे य, विजए पीइवद्धणे।
सेयंसे य सिवे चेव, सिसिरे य सहेमवं ॥ १ ॥
नवमे वसंतमासे, दसमे कुसुमसंभवे।
एक्कारसे निदाहे य, वणविरोहे य बारसमे ॥२॥"(जं०७वक्ष०)

एकैकस्मिंश्च मासे द्वौ पक्षौ, तयोश्च नामधेये गुणनिष्पन्ने इमे। तद्यथा-बहुलः पक्षः, शुक्लपक्षश्च। तत्र योऽन्धकारबहुलः पक्षः स बहुलपक्षः। यस्तु ज्योत्स्नाधवलिततया शुक्लः पक्षः स शुक्लपक्षः। उक्तं च-"एगमेगस्स णं भंते! मासस्स कइ पक्खा पन्नत्ता? । गोयमा! दो पक्खा पन्नत्ता। तं जहा-बहुलपक्खे य, सुक्कपक्खे य।" (जं० ७ वक्ष०) एकैकस्मिंश्च पक्षे पञ्चदश दिवसाः। तद्यथा-प्रथमः पूर्वाङ्गः, द्वितीयः सिद्धमनोरमः, तृतीयो मनोहरः, चतुर्थो यशोभद्रः, पञ्चमो यशोधरः, षष्ठः सर्वकामसमृद्धः, सप्तम इन्द्रमूर्द्धाभिषिक्तः, अष्टमः सौमनसः,नवमो धनञ्जयः,दशमोऽर्थसिद्धः, एकादशोऽभिजातः,द्वादशोऽत्यशनः, त्रयोदशः शतञ्जयः, चतुर्दशोऽग्निवेश्म, पञ्चदश उपशमः। तथा चोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ -"एगमेगस्स णं भंते! पक्खस्स कइ दिवसा पन्नत्ता? । गोयमा! पन्नरस दिवसा पन्नत्ता। तं जहा-पडिवादिवसे, बिइयादिवसे० जाव पन्नरसीदिवसे। एएसि णं भंते! पन्नरसण्हं दिवसाणं कइ नामधिज्जा पन्नत्ता? । गोयमा! पन्नरस नामधेज्जा पन्नत्ता। तं जहा-

"पुव्वंगे १ सिद्धमणो-रमे अ २ तत्तो मणोहरे चेव ३।
जसभद्दे य ४ जसहरे ५, छट्ठे सव्वकामसमिद्धे य ६ ॥१॥
इंदमुद्धाभिसित्ते य ७, सोमणस ८ धणंजए य बोधव्वे ९।
अत्थसिद्धे १० अभिजाए ११, अच्चसणे १२ सयंजए चेव १३ ॥२॥
अग्गिवेसे १४ उवसमे १५, दिवसाणं नामधिज्जाइं ।"
(जं० ७ वक्ष०)

एकैकस्मिंश्च पक्षे पञ्चदश रात्रयः। तद्यथा-प्रतिपद्रात्रिः, द्वितीयारात्रिः, यावत्पञ्चदशीरात्रिः। तासां च रात्रीणां क्रमेणामूनि नामानि। तद्यथा-प्रथमा उत्तमा, द्वितीया सुनक्षत्रा, तृतीया एलापत्या, चतुर्थी यशोधरा, पञ्चमी सौमनसा, षष्ठी श्रीसम्भूता, सप्तमी विजया, अष्टमी वैजयन्ती, नवमी जयन्ती, दशमी अपराजिता, एकादशी इच्छा, द्वादशी समाहारा, त्रयोदशी तेजाः, चतुर्दशी अतितेजाः, पञ्चदशी देवानन्दा। तथा चोक्तम्-"एगमेगस्स णं भंते! पक्खस्स कइ राईओ पन्नत्ताओ? । गोयमा! पन्नरस राईओ पन्नत्ताओ। तं जहा-पडिवाराई, बीयाराई० जाव पन्नरसीराई। एएसि णं भंते! पन्नरसण्हं राईणं कइ नामधेज्जा पन्नत्ता? । गोयमा! पन्नरस नामधेज्जा पन्नत्ता। तं जहा-

"उत्तमा य सुनक्खत्ता, एलावच्चा जसोधरा।
सोमणसा चेव तहा, सिरिसंभूया य बोधव्वा ॥१॥
विजया य वेजयंती, जयंति अपराजिया य इच्छा य।
समाहारा चेव तहा, तेआ य तहाऽइतेया य ॥२॥
देवाणंदा राई, रयणीए नामधिज्जाइं।" (जं० ७ वक्ष०)

एकैकस्मिंश्च पक्षे पञ्चदश तिथयः। ताश्च द्विधा। तद्यथा-दिवसतिथयः,रात्रितिथयश्च। तत्र दिवसतिथीनाममूनि नामानि। तद्यथा-प्रथमा नन्दा,द्वितीया भद्रा,तृतीया जया,चतुर्थी तुच्छा, पञ्चमी पूर्णा। ततः पुनरपि-षष्ठी नन्दा, सप्तमी भद्रा, अष्टमी जया, नवमी तुच्छा, दशमी पूर्णा। ततः पुनरप्येकादशी नन्दा, द्वादशी भद्रा, त्रयोदशी जया, चतुर्दशी तुच्छा,पञ्चदशी पूर्णा। तथा चोक्तं चन्द्रप्रज्ञप्तौ-"ता कहं ते तिहीओ आहिया ति वएज्जा? । तत्थ खलु इमा दुविहा तिही पन्नत्ता। तं जहा-दिवसतिही, राइतिही य। ता कहं ते दिवसतिही आहिया ति वएज्जा? । ता एगमेगस्स पक्खस्स पन्नरस दिवसतिही पन्नत्ता। तं जहा-

"नंदे भद्दे जए तुच्छे, पुण्णे पक्खस्स पंचमी।
पुणरवि-
नंदे भद्दे जए तुच्छे, पुण्णे पक्खस्स दसमी ॥१॥
पुणरवि-
नंदे भद्दे जए तुच्छे, पुण्णे पक्खस्स पन्नरसी।
एवं तिगुणा तिगुणा, तिहीउ सव्वेसि दिवसाणं ॥ २ ॥"
(चं० प्र० १० पाहु०)

यास्तु रात्रितिथयस्तासामेतानि नामानि। तद्यथा-प्रथमा उग्रवती,द्वितीया भोगवती,तृतीया यशोमती,चतुर्थी सर्वसिद्धा, पञ्चमी शुभनामा। पुनरपि षष्ठी उग्रवती, सप्तमी भोगवती,

अष्टमी यशोमती, नवमी सर्वसिद्धा, दशमी शुभनामा। ततः पुनरप्येकादशी उग्रवती, द्वादशी भोगवती, त्रयोदशी यशोमती, चतुर्दशी सर्वसिद्धा, पञ्चदशी शुभनामेति । उक्तं च चन्द्रप्रज्ञप्तावेव-"ता कहं ते राइतिही आहिय त्ति वएज्जा? । ता एगमेगस्स णं पक्खस्स पन्नरस राइतिही पन्नत्ता। तं जहा-"उग्गवई भोगवई,जसोवई सव्वसिद्ध सुहनामा।" पुणरवि-"उग्गवई भोगवई,जसोवई सव्वसिद्ध सुहनामा । " पुणरवि-"उग्गवई भोगवई, जसोवई सव्वसिद्ध सुहनामा । एवं तिगुणा एया, तिहीउ सव्वासि राईणं ' ॥ १ ॥ इति । (चं० प्र० १०पाहु०) तदेवमुक्तानि तिथीनां नामानि, प्रसङ्गतो मासदिवसरात्रीणामपि।

सम्प्रति यावन्मुहूर्तप्रमाणा तिथिस्तावत्प्रमाणां तिथिं प्रतिपादयति-

एउणतीसं पुण्णा, उ मुहुत्ता सोमतो तिही होइ।
भागा वि य बत्तीसं, बासट्ठिकएण छेएणं ॥

सोमतश्चन्द्रमस उपजायते तिथिः,सा च तत उपजायमाना एकोनत्रिंशत्परिपूर्णमुहूर्ता, एकस्य मुहूर्तस्य द्वाषष्टिकृतेन छेदेन प्रविभक्तस्य सक्त्वा द्वात्रिंशद् भागाः। तथाहि-अहोरात्रस्य द्वाषष्टिभागीकृतस्य सत्का ये एकषष्टिभागाः, तावत्प्रमाणा तिथिरित्युक्तम् । तत्रैकषष्टिस्त्रिंशता गुण्यते, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि १८३०। एते च किल द्वाषष्टिभागीकृतसकलतिथिगतमुहूर्तसत्का अंशा , ततो मुहूर्त्तानयनार्थं तेषु द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, हृते च भागे लब्धा एकोनत्रिंशन्मुहूर्ताः, द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य । एतावन्मुहूर्त्तप्रमाणा तिथिः। एतावता हि कालेन चन्द्रमण्डलगतः पूर्वोदितप्रमाणः षोमशो भागो हानिं चोपगच्छति, वर्द्धते वा, तत एतावानेव तिथेः परिमाणकालः। (चं० प्र० १० पाहु०)

साम्प्रतमीप्सितदिने तिथिपरिमाणज्ञापनार्थं करणमाह-

तिहिरासिमेव बाव-ट्ठीजइयं सेसमेगसट्ठिगुणं ।
बावट्ठीए जइए, सेसे अंसा तिहिम्मि पत्ती ॥

ईप्सिततिथिराशिर्द्वाषष्ट्या भागे परिपूर्णैरहोरात्रा भवन्ति, तत परिपूर्णाहोरात्रपातनार्थं द्वाषष्ट्या विभाग क्रियते, विभागे च कृते यच्छेषमुपलभ्यते तदेकषष्टिगुणं क्रियते,एकैकस्यास्तिथेर्द्वाषष्टिभागीकृताहोरात्रसत्कैकषष्टिभागप्रमाणत्वात् । कृत्वा चैकषष्टिगुणं द्वाषष्ट्या विभज्यते, द्वाषष्ट्या भागे परिपूर्णस्याहोरात्रस्य पतनाद् द्वाषष्ट्या च भागे कृते ये अंशा राशेः पश्चादवतिष्ठन्ते, सा तिथिपरिसमाप्तिः, तावदंशप्रमाणे तस्मिन् दिने तिथिरित्यर्थः । यथा वा कोऽपि पृच्छति-द्वाषष्ट्या च भागे कृते ऽपि युगे प्रथमे चान्द्रे संवत्सरे आश्वयुजमासे शुक्लपक्षे पञ्चमी कियत्प्रमाणेति ? । तत्र किल तिथिः तावदंशप्रमाणा, तस्मिन् दिने तिथिरित्यर्थः । राशिरादित आरभ्य पञ्चमीपर्यवसानोऽशीतिसंख्या त्र्यशीतिर्ध्रियते, तस्या द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, स्थिता पश्चादेकविंशतिः, ते एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि द्वादशशतानि अष्टानवत्यधिकानि १२८१ तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, स्थिता पश्चात् चतुश्चत्वारिंशदंशा , आगतमेतावदेव षष्टिभागप्रमाणा तस्मिन् दिने पञ्चमी तिथिः । एवमन्यत्रापि भावनीयम्।(?) ज्यो० ४ पाहु० । चं० प्र० । सू० प्र० । व्य० । आ० म० । आ० चू० । (फाल्गुनो ये दिवसा वर्जनीयास्ते ' आलोयणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४२० पृष्ठे दर्शिता) दिवसेभ्यस्तिथयो बलिष्ठाः-" दिवसा उ तिही बलिओ, तिहिओ बलियं तु सुच्चई रिक्खं । " द० प० ।

अथ पञ्चदशतिथिफलमाह-

पडिवाए पडिवत्ती, नत्थि विवत्ती भणंति बीआए।
तइयाएँ अत्थसिद्धी, विजयग्गी पंचमी भणिया ॥ ४ ॥
जा एस सत्तमी सा, उ बहुगुणा इत्थ संसओ नत्थि ।
दसमीएँ पत्थियाणं, भवंति निक्कंटगा पंथा ॥ ५ ॥
आरुग्गमविग्घं खे-मयं च इक्कारसिं वियाणाहि ।
जे वि हु हुंति अमित्ता, ते तेरसिपट्ठिओ जिणइ ॥ ६ ॥
चाउद्दसिं पन्नरसिं, वज्जिज्जा अट्ठमिं च नवमिं च ।
छट्ठिं च चउत्थिं वा-रसिं च दुन्हं पि पक्खाणं ॥ ७ ॥
पढमी पंचमि दसमी-पन्नरसिक्कारसी वि य तहेव ।
एएसु य दिवसेसुं, सेहस्स निसेहणं कुज्जा ॥ ८ ॥
नंदा जहा विजया, तुच्छा पुन्ना य पंचमी होइ ।
मासेण य उच्चारे, इक्किक्का वत्तए नियए ॥ ९ ॥
नंदे जए य पुन्ने य, सेहनिक्खमणं करे ।
नंदे भद्दे सुभद्दाए, पुन्ने अणसणं करे ॥ १० ॥ द०प०।

धर्म्मकर्मादिषु तिथिरुदया तिथिरेव ग्राह्या-

तिथिश्च प्रातः प्रत्याख्यानवेलाया या स्यात्सा प्रमाणम्, सूर्योदयानुसारेणैव लोकेऽपि दिवसाऽऽदिव्यवहारात्। आहुरपि-
" चाउम्मासियवरिसे, पक्खियपञ्चऽट्ठमीसु नायव्वा ।
ताओ तिहिओ जासिं, उदेइ सूरो न अण्णाओ ॥ १ ॥
पूआ पच्चक्खाणं, पडिकमणं तह य निअमगहणं च ।
जीए उदेइ सूरो, तीएँ तिहीए उ कायव्वं ॥ २ ॥
उदयम्मि जा तिही सा, पमाणमिअराएँ कीरमाणीए।
आणाभंगऽणवत्था, मिच्छत्तविराहणं पावे " ॥ ३ ॥

पाराशरस्मृत्यादावपि-
" आदित्योदयवेलायां, या स्तोकाऽपि तिथिर्भवेत् ।
सा सम्पूर्णेति मन्तव्या, प्रभूता नोदयं विना " ॥ १ ॥

उमास्वातिवाचकप्रघोषश्चैवं श्रूयते-
" क्षये पूर्वा तिथिः कार्या, वृद्धौ कार्या तथोत्तरा ।
श्रीवीरमोक्षकल्याणं, कार्यं लोकानुगैरिह " ॥ १ ॥ इति ।

एवं पौषधाऽऽदिना पर्वदिवसा आराध्या इति पर्वकृत्यानि। ध० २ अधि० । द्वितीयाऽऽदिपञ्चपर्वी श्राद्धविध्यादिस्वीयग्रन्थातिरिक्तग्रन्थे क्वास्ति ?,-इति प्रश्ने, उत्तरम्-द्वितीयाऽऽदिपञ्चपर्वी उपादेयत्वं सविग्नगीतार्थाऽऽचीर्णतया सम्भाव्यते, अक्षराणि तु श्राद्धविधेरन्यत्र दृष्टानि न स्मरन्ति।१५प्र०।"मासम्मि पव्वछक्कं, तिन्नि अ पव्वाइं पक्खम्मि। " इतिगाथोक्ता चतुःपर्वी सर्वश्राद्धानां, किं वा लेपश्राद्धाधिकारवर्णिता ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-"मासम्मि पव्वछक्कं,तिन्नि य पव्वाइं पक्खम्मि।"इति गाथोक्तैव चतुःपर्वी सर्वश्राद्धानां सम्भाव्यते,न तु लेपश्राद्धाधिकारोक्ता।१६प्र०।ही०२प्रका०। यदा पञ्चमी तिथिस्त्रुटिता भवति तदा तत्तपः कस्यां तिथौ क्रियते?, पूर्णिमायां च त्रुटितायां कुत्र ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-यदाऽत्र पञ्चमी तिथिस्त्रुटिता भवति,तदा तत्तपः पूर्वस्यां तिथौ क्रियते, पूर्णिमायां च त्रुटितायां त्रयोदशीचतुर्दश्योः क्रियते, त्रयोदश्यां विस्मृतौ प्रतिपद्यपीति।४प्र०।ही०४प्रका०।मदा०

विदेहेषु कल्याणकतिथ्यादिकमिदमेव, अन्यद्वा?, इति प्रश्ने,उत्तरम्-महाविदेहेषु कल्याणकतिथ्यादिकमिदमेवेति न मन्तव्यं, यद्यन्नत्यतीर्थकृतां च्यवनाऽऽदिकल्याणक,तदा तत्र दिवसस्तावात् तत्प्रतिपादकान्यक्षराण्यपि नोपलभ्यन्ते।१७प्र०। ही० १ प्रका० । तिस्र एव पूर्णिमा पर्वत्वेन स्वीक्रियन्ते, सर्वा अपि वेत्यत्र प्रश्ने, उत्तरम्-" छन्न तिहीण मज्झम्मि, का तिही अज्ज वासरे ?। " इत्याद्यागमानुसारेणाऽविच्छिन्नवृद्धपरम्परया च सर्वा अपि पूर्णिमा पर्वत्वेन मान्या एवेति । २प्र०। ही०१ प्रका०। पूर्णिमाऽमावास्ययोर्वृद्धौ पूर्वमौदयिकी तिथिराराध्यत्वेन व्यवह्रियमाणाऽस्तीति केनचिदुक्तम्,श्रीतातपादाः पूर्वतनीमाराध्यत्वेन प्रसादयन्ति, तत्किमिति प्रश्ने,उत्तरम्-पूर्णिमाऽमावास्ययोर्वृद्धौ औदयिक्येव तिथिराराध्यत्वेन विज्ञेया । ५ प्र० । ही० ३ प्रका० । " छन्न तिहीण मज्झम्मि, का तिही अज्ज वासरे ? । " इत्याद्यागमवाक्यम्, तत्कुत्राऽऽगमेऽस्ति, स नामग्राहं प्रसाद्यः, यतोऽत्र स्तनिकाः राजसमक्षमेव वदन्ति, यज्जैनजीर्णग्रन्थमध्ये द्वितीयैकादशीप्रमुखातिथीनां चतुष्पर्वीनां मानमाराध्यत्वेन नास्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-"छन्न तिहीण मज्झम्मि, का तिही अज्ज वासरे?।" इत्यादि गाथा श्राद्धदिनकृत्यसूत्रेऽस्ति, तद्व्याख्यान च ७-१४-१५। एताः सितेतरभेदात् षट् तिथय इति । द्वितीयैकादशीप्रमुखतिथीनामक्षराणि तु श्राद्धविधेरन्यत्र न सन्ति, तथा ज्ञानपञ्चम्यक्षराणि महानिशीथे सन्तीति । १८० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । " बहुसु य तिहीसु य पव्वणीसु य।" मदनाऽऽदित्रयोदश्यादितिथिषु, ध०२अ०३३उ०।

तिहिवुड्डि-तिथिवृद्धि-स्त्री० । अष्टम्यादितिथिवृद्धौ अग्रेतन्या आराधनं क्रियते, यतस्तद्दिने प्रत्याख्यानवेलायां घटिकाद्विका सा भवति, तावत्या एवाऽऽराधनं भवति, तदुपरि नवम्यादीनां भवनात्, सपूर्णायास्तु विराधनं जातं,पूर्वदिने भवनात्।अथ यदि प्रत्याख्यानवेलायां विलोक्यते, तदा तु पूर्वदिने द्वितयमप्यस्ति, प्रत्याख्यानवेलायां समग्रदिनेऽपीति स्पष्टमाराधनं भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्-" क्षये पूर्वा तिथिः कार्या, वृद्धौ कार्या तथोत्तरा।" इति उमास्वातिवाचकवचनप्रामाण्याद् वृद्धौ सत्यां स्वल्पाऽप्यग्रेतना तिथिः प्रमाणमिति । १८५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

तिही-तिथी-स्त्री० । ' तिहि ' शब्दार्थे, च० प्र० १० पाहु० ।

तिहु-कुतस्-अव्य० । " कुतसः कउ कह तिहु " ॥ ८ । ४ । ४१६ ॥ इत्यपभ्रंशे कुतःशब्दस्य ' तिहु ' इत्यादेशः । कस्मादित्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

तिहुयण-त्रिभुवन-न० । अधस्तिर्यगूर्ध्वलोकभेदे, आव०४अ०।

तिहुयणतिलग-त्रिभुवनतिलक-पुं० । श्रीनासिक्यपुरे श्रीजीवितचन्द्रप्रभस्वामिप्रतिमायाम्, ती० ४३ कल्प ।

तिहुयणजाणु-त्रिभुवनजानु-पुं० । अहिच्छत्रापूजिताया स्वनामख्यातायां पार्श्वजिनप्रतिमायाम्, ती० ४३ कल्प ।

तीय-अतीत-त्रि० । अतिशयेन इतो गतोऽतीत ,पिधानवदकारलोपः । वर्तमानत्वमतिक्रान्ते,स्था०३ ठा०४ उ० । पो० । आव० ।

तीयवयण-अतीतवचन-न० । कृतवानित्येवरूपे षोडशवचनेषु द्वादशे वचने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

तीर-तीर-पुं० । पर्यन्ते, नि० चू० १ उ० । तटे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । पारे, स्था० ५ ठा० १ उ० । प्रवाहात्परकूले, विशे० । "दकतीरम्मि चिट्ठिज्जा ।" उदकतीरं उदकोपकण्ठम् । चू० १ अ० ।

शक्-धा० । सामर्थ्ये । स्वादि०-पर०-सक०-अनिट् । " शकेश्चय-तर-तीर-पाराः " ॥ ८ । ४ । ८६ ॥ इति शक्नोतेस्तीर इत्यादेशः । 'तीरइ ।' शक्नोति । प्रा० ४ पाद ।

तृ-धा० । तरणे, प्लवने, अभिभवे च । भ्वादि०-पर०-सक०-सेट् । " ईः कृत्तू आमीरः " ॥ ८ । ४ । २५० ॥ इति तृधातोरन्त्यस्य ईर इत्यादेशः । 'तीरइ' । तरति । प्रा० ४ पाद ।

तीरंगम-तीरङ्गम-त्रि० । तीरं गच्छन्तीति तीरङ्गमाः, अच्, मुमागमश्च । पारगामिनि, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

तीरट्ठ-तिरस्थ-त्रि० । सम्यक्त्वाऽऽदिप्राप्तेः संसारपरिमाणात् तटस्थे, दश० २ अ० ।

तीरट्ठि(ण्)-तिरार्थिन्-त्रि० । तीरं पारं भवार्णवस्यार्थयत इत्येवंशीलस्तीरार्थी, तीरस्थायी वा, तीरस्थितिरिति वा प्राकृतत्वात् ' तीरट्ठी ' इति । स्था ४ ठा० १ उ० । सूत्र० । भवार्णवतितीर्षौ, दश० १० अ० ।

तीरहुत्त-तीरभुक्त-पुं० । विदेहजनपदेषु, " इहेव भारहे वासे पुव्वद्देसे विदेहो नाम जणवओ, सपइकाले तिरहुत्तदेसो त्ति भएणति ।" ती० १ कल्प ।

तीरित्ता-तारयित्वा-अव्य० । यावज्जीवमाराध्येत्यर्थे, कल्प० ९ क्षण ।

तीरिय-तारित-त्रि० । पूर्णेऽपि प्रत्याख्यानकालावधौ किञ्चिदधिककालावस्थानेन तीरं नीते, प्रव० ५ द्वार । आचा० । " एसा भिक्खुपडिमा तीरिया भवइ । " पूर्णेऽपि तदवधौ स्तोककालावस्थानात्तीरिता भवति । दशा० १ तत्त्व । आ० चू० । समाप्ते, व्य० १ उ० ।

तीसइमुहुत्त-त्रिंशन्मुहूर्त-त्रि० । त्रिंशत मुहूर्ताश्चन्द्रभागो येषां तानि तथा । त्रिंशन्मुहूर्तानि यावच्चन्द्रेण सह युज्यमाननक्षत्रे, स्था० ६ ठा० ।

तीसगुत्त-तिष्यगुप्त-पुं० । राजगृहनगरवास्तव्यस्य वसुनामाऽऽचार्यस्य स्वनामख्याते शिष्ये, स च जीवप्रादेशिकानां निह्नवानां धर्माऽऽचार्यः । विशे० । आ० क० । उत्त० । स्था० । आ० म० । आ० चू० । (तद्वक्तव्यता लेशतो 'जीवपएसिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५४४ पृष्ठे उक्ता)

तीसभद्द-तिष्यभद्र-पुं० । माठरसगोत्रस्याऽऽर्यसंभूतविजयस्थविरस्य स्वनामख्याते शिष्ये, कल्प० ८ क्षण ।

तीसल्लनिस्सल्ल-त्रिशल्यनिःशल्य-त्रि० । मायानिदानमिथ्यादर्शनरूपशल्यत्रयरहिते, पा० ।

" " ..... " तीसल्लनिस्सल्लो (२३)

शल्यते बाध्यते प्राणी एभिरिति शल्यानि । द्रव्यतस्तोमराऽऽदीनि, भावतस्तु मायाऽऽदीनि । निर्गतानि शल्यानि यस्य स निःशल्यः । स चैकशल्यापेक्षयाऽपि स्यादित्याह-त्रीणि च तानि शल्यानि च त्रिशल्यानि, तेषु विषये निःशल्यः त्रिशल्यनिःशल्यः । तत्र मायाशल्यम्-माया निकृतिः, सैव शल्यं मायाशल्यम् । नितरां दायते लूयते मोक्षफलमनिन्द्यब्रह्मचर्याऽऽदिसाध्यकुशलकर्मकल्पतरुवनमनेन देवर्द्ध्यादिप्रार्थनपरिणामनिशितासिनेति निदानं, तदेव शल्यं निदानशल्यम् । मिथ्यादर्शनशल्यम्-मिथ्या विपरीतं, दर्शनं तत्त्वानवबोधलक्षणं मिथ्यादर्शनं, तदेव शल्यं मिथ्यादर्शनशल्यमिति । (२३) पा० ।

तीसा-त्रिंशत्-स्त्री० । " विंशत्यादेर्लुक् " ॥ ८ । १ । २८ ॥ इत्यनुस्वारस्य लुक् । प्रा० १ पाद । " ईर्जिह्वासिंहत्रिंशद्विंशतौ त्या " ॥ ८ । १ । ९२ ॥ इति इकारस्येकारः । त्रिरावृत्तदशसंख्यायाम्, प्रा० १ पाद ।

तीसिया-त्रिंशिका-स्त्री०। त्रिंशद्वर्षपर्यायायां स्त्रियाम्,व्य०७उ०।

तु-तु-अव्य० । समुच्चये, विशे० । नि० चू० । दर्श० । अवधारणे, विशे० । उत्त० । सूत्र० । दश० । प्रव० । आ० म० । नि० चू० । पञ्चा०। विशेषणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । आचा० । वितर्के, सूत्र० २ श्रु०४ अ० । आव० । पञ्चा०।पूरणे, स्था० ४ ठा०२ उ० । नि० चू० । पञ्चा० । पादपूरणे, पञ्चा०४ विव० । नि० चू० । पुनःशब्दार्थे, आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ० । दश०।पूर्वस्माद्विशेषदर्शने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । एवकारार्थे, सूत्र०१ श्रु० २ अ०२उ०।ग०।अने०। दर्श०। दश०। न०। आ० म० । स्था०। अप्यर्थे, दर्श०१ तत्त्व । यस्मादर्थे,नि०चू०१ उ०। चशब्दार्थे, सूत्र०१ श्रु०१ अ० १ उ०। शब्दार्थप्रदर्शने, नि० चू०१५उ० । भेदे, "तु स्याद्भेदेऽवधारणे" स्था० । आ० म० । भिन्नक्रमे, प्रव० ४ द्वार । अव्ययत्वेनाऽनेकार्थत्वाद् हेतौ, व्य० १ उ० । कारणापेक्षायाम्, नि० चू०१ उ०। तुशब्दो यच्छब्दार्थे द्रष्टव्य । "तेण तु चित्तमचित्ता" तेण ज त चित्तमाचित्तेत्यर्थः । नि० चू० १ उ० । विकल्पदर्शने, नि० चू० १ उ० । परिग्रहे, नि० चू० १ उ०। सादृश्ये, स्था० । अप्रतिषेधे, स्तोकप्रायश्चित्तप्रदानविशेषे, नि० चू० १ उ० । अनेकप्रकारविशेषणे, दश० ४ अ० । पर्यासिवचने, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

तुअर-तुवर-पु० । धान्यविशेषे, ज० १ वक्ष० । कषायरसे च । तद्वति, त्रि० । आढक्यां, सौराष्ट्रमृत्तिकायां च । स्त्री० । षित्वात् ङीष् । स्वार्थे कन् । तुवरिकाऽप्यत्रैव । वाच० ।

तुं-त्वाम्-त्रि०। " त-तु-तुम-तुव० ॥८।३।९२ ॥ इत्यादिनाऽमासहितस्य युष्मद 'तु' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तव-त्रि० । "तइ-तु-ते-तुम्ह०" ॥८।३।९९॥ इत्यादिना षष्ठ्येकवचनेन ङसा सहितस्य 'तु' इत्यादेश । प्रा० ३ पाद ।

त्वम्-त्रि०। " युष्मदस्त तु०-" ॥८।३।९०॥ इत्यादिना सिसहितस्य युष्मदः 'तु' इत्यादेश । प्रा० ३ पाद ।

तुंग-तुङ्ग-त्रि० । उच्चैस्त्वगुणयुक्ते, स० । ज० । औ० । जी० । कल्प० । सू० प्र० । उन्नते, औ० । अत्युच्चे, रा० ।

तुंगार-तुङ्गार-पु० । दक्षिणपूर्वस्या दिग्वाते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० चू० ।

तुंगिय-तुङ्गिक-पु० । वत्सदेशान्तर्गते स्वनामख्याते ग्रामे, आ० म०१अ०२खण्ड । आ० चू० । " जसभद्द तुंगिय चेव । " तुङ्गिकगणे तुङ्गिकापत्यगोत्रे, न० ।

तुंगिया-तुङ्गिका-स्त्री० । स्वनामख्यातायां नगर्याम्, भ०।

तुङ्गिकानगरीश्रावकसमुदायवान् दृष्टान्तश्चैवम्-

तीसे णं तुंगियाए नयरीए वहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे पुप्फवईए नामं चेइए होत्था । वण्णओ । तत्थ णं तुंगियाए नयरीए वहवे समणोवासया परिवसंति, अड्ढा दित्ता वित्थिण्णविपुलभवणसयणाऽऽसणजाणवाहणाऽऽइण्णा वहुधणवहुजायरूवरयया आओगपओगसंपउत्ता विच्छड्डियविउलभत्तपाणा वहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूया बहुजणस्स अपरिभूया अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरनिज्जरकिरियाहिगरणवंधप्पमोक्खकुसला असहेज्जदेवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगादीएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जा निग्गंथे पावयणे निस्संकिया निक्कंखिया निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा अभिगयट्ठा विणिच्छियट्ठा अट्ठिमिंजपेम्माणुरायरत्ता अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, ऊसियफलिहा अवंगुयदुवारा चियत्तंतेउरपरघरप्पवेसा वहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्ममणुपालेमाणा समणे णिग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपरिग्गहकंवलपायपुंछणेणं पीठफलगसेज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेणं पडिलाभेमाणा अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति । तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जाइसंपण्णा कुलसंपण्णा वलसंपण्णा रूवसंपण्णा विणयसंपण्णा णाणसंपण्णा दंसणसंपण्णा चरित्तसंपण्णा लज्जालाघवसंपण्णा ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जसंसी जियकोहा जियमाणा जियमाया जियलोभा जियनिद्दा जियइंदिया जियपरीसहा जीवियासामरणभयसोगविप्पमुक्का वहुस्सुया वहुपरिवारा पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडा अहाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुग्गामं दूइज्जमाणा सुह सुहेणं विहरमाणा जेणेव तुंगिया नयरी, जेणेव पुप्फवईए चेइए, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हेत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

(अड्ढ त्ति) आढ्या धनधान्याऽऽदिभिः परिपूर्णाः, (दित्त त्ति) दीप्ता प्रसिद्धा , दृप्ता वा दर्पिता. (वित्थिण्णविपुलभवणसयणाऽऽसणजाणवाहणाऽऽइण्णा) विस्तीर्णानि विस्तारवन्ति विपुलानि प्रचुराणि भवनानि गृहाणि शयनाऽऽसनयानवाहनैराकीर्णानि येषा ते तथा। अथवा विस्तीर्णानि विपुलानि भवनानि येषा, शयनाऽऽसनयानवाहनानि वाऽऽकीर्णानि गुणवन्ति येषां ते तथा । तत्र यान गन्त्र्यादि, वाहन त्वश्वाऽऽदि । (वहुधणवहुजायरूवरयया) बहु प्रभूत धन गणिमाऽऽदिक, तथा बह्वेव जातरूप सुवर्ण रजत च रूप्य येषा ते तथा । (आओगपओगसंपउत्ता)आयोगो द्विगुणाऽऽदिवृद्ध्याऽर्थप्रदान,प्रयोगश्च कलान्तर, तौ संप्रयुक्तौ व्यापारितौ यैस्ते तथा । (विच्छड्डियविउलभत्तपाणा) विच्छर्दित विविधमुज्झित, बहुलोकभोजनत उच्छिष्टावशेषसभवात्, विच्छर्दित वा विविधविच्छित्तिमद्, विपुल भक्त च पानक च येषां ते तथा । (बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूया) बहवो दासीदासा येषा, गोमहिषगवेलकाश्च प्रभूता येषा ते तथा । गवेलका उरभ्राः (बहुजणस्स अपरिभूया) बहोर्लोकस्यापरिभवनीया.;"आसव" इत्यादौ क्रियाः कायिक्यादिका अधि-

करण गन्त्रीयन्त्रकाऽऽदि । (कुसल त्ति) आश्रवाऽऽदीनां हेयोपादेयतास्वरूपवेदिन (असहेज्जेत्यादि) अविद्यमान साहाय्य परसाहायिकमत्यन्तसमर्थत्वाद्येषां तेऽसाहाय्याः, ते च ते देवाऽऽद्यश्चेति कर्मधारय । अथवा-व्यस्तमेवेद, तेन असाहाय्या आपद्यपि देवाऽऽदिसाहाय्यकानपेक्षा, स्वय कृत कर्म स्वयमेव भोक्तव्यमित्यदीनमनोवृत्तय इत्यर्थ.। अथवा--पाखण्डिभिः प्रारब्धा सम्यक्त्वविचलन प्रति न परसाहायकमपेक्षन्ते, स्वयमेव तत्प्रतिघातसमर्थत्वाज्जिनशासनात्यन्तभावितत्वाच्चेति, तत्र देवा वैमानिका (असुर त्ति)असुरकुमारा (नाग त्ति)नागकुमारा, उभयेऽप्यमी भवनपतिविशेषा (सुवण्ण त्ति) सद्वर्णा ज्योतिष्का , यक्षराक्षसकिन्नरकिंपुरुषा व्यन्तरविशेषा (गरुल त्ति) गरुडध्वजा. सुपर्णकुमारा भवनपतिविशेषा , गन्धर्वा महोरगाश्च व्यन्तरविशेषा । (अणतिक्कमणिज्ज त्ति) अनतिक्रमणीया अचालनीया. (लद्धट्ठ त्ति) अर्थश्रवणात् । (गहियट्ठ त्ति) अर्थावधारणात् । (पुच्छियट्ठ त्ति) सांशयिकार्थप्रश्नकरणात् । (अभिगयट्ठ त्ति) प्रश्नितार्थस्याभिगमनात् । (विणिच्छियट्ठ त्ति) ऐदम्पर्यार्थस्योपलम्भात् । अत एव (अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता) अस्थीनि च कीकसानि, मिञ्जा च तन्मध्यवर्त्ती धातुरस्थिमिञ्जास्ताः प्रेमानुरागेण सार्वज्ञप्रवचनप्रीतिरूपकुसुम्भाऽऽदिरागेण रक्ता इव रक्ता येषा ते तथा । अथवा-अस्थिमिञ्जासु जिनशासनगतप्रेमानुरागेण रक्ता ये ते तथा । केनोल्लेखेनेत्याह-(अयमाउसो ! इत्यादि) अयमिति प्राकृतत्वादिदम् ।(आउसो ! त्ति) आयुष्मन्निति पुत्राऽऽदेरामन्त्रणम्। (सेसे त्ति) शेषनिर्ग्रन्थप्रवचनव्यतिरिक्त धनधान्यपुत्रकलत्रमित्रकुप्रवचनाऽऽदिकमिति ।(ऊसियफलिह त्ति) उच्छ्रितमुन्नत स्फटिकमिव स्फटिक चित्त येषां ते उच्छ्रितस्फटिका., मौनीन्द्रप्रवचनावाप्त्या परितुष्टमानसा इत्यर्थ.। इति वृद्धव्याख्या । अन्ये त्वाहु.-उत्थितोऽर्गलास्थानादपनीयोर्द्ध्वीकृतोऽतिरश्चीन कपाटपश्चाद्भागादपनीत इत्यर्थः । परिघोऽर्गला येषा ते उच्छ्रितपरिघा.। अथवा--उच्छ्रितो गृहद्वारादपगत परिघो येषां ते उच्छ्रितपरिघा. । औदार्यातिशयाद् अतिशयदानदायित्वेन भिक्षुकाणा गृहप्रवेशार्थमनर्गलितगृहद्वारा इत्यर्थ ॥ (अवगुयदुवारे त्ति) अप्रावृतद्वारा., कपाटाऽऽदिभिरस्थगितगृहद्वारा इत्यर्थ । सद्दर्शनलाभेन न कुतोऽपि पाखण्डिकाद्बिभ्यति. शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटितशिरसस्तिष्ठन्तीति भाव.। इति वृद्धव्याख्या । अन्ये त्वाहु.--भिक्षुकप्रवेशार्थमौदार्यादस्थगितगृहद्वारा इत्यर्थ ॥ (चियत्ततेउरपरघरप्पवेसा) (चियत्तो त्ति) लोकानां प्रीतिकर एवान्त पुरे वा परगृहे वा प्रवेशो येषां ते तथा, अतिधार्मिकतया सर्वत्रानाशङ्कनीयास्त इत्यर्थ । अन्ये त्वाहु -(चियत्तो त्ति) नाऽप्रीतिकरोऽन्त पुरपरगृहयोः प्रवेश शिष्टजनप्रवेशन येषा ते तथा। अनीर्ष्यालुताप्रतिपादनपर चेत्थ विशेषणमिति । अथवा-(चियत्तो त्ति) त्यक्ताऽन्त पुरपरगृहयो परकीययोर्यथाकथञ्चित्प्रवेशो यैस्ते तथा । (बहूहिं इत्यादि) शीलव्रतान्यणुव्रतानि, गुणा गुणव्रतानि, विरमणानि औचित्येन रागाऽऽदिनिवृत्तय ,प्रत्याख्यानानि पौरुष्यादीनि,पौषध पर्वदिनानुष्ठान तत्रोपवासोऽवस्थान पौषधोपवास । एतेषां द्वन्द्वोऽतस्तैर्युक्ता इति गम्यम्। पौषधोपवास इत्युक्तम्, पौषध च यदा यथाविध च ते कुर्वन्तो विहरन्ति तद्दर्शयन्नाह-(चाउद्दसेत्यादि) इहोद्दिष्टा अमावस्या (पडिपुण्ण पोसह ति) आहाराऽऽदि भेदाच्चतुर्विधमपि सर्वतः । (वत्थपडिग्गहकंबलपायपुछणेण ति) । इह पतद्ग्रह. पात्र, पादप्रोञ्छनं, रजोहरण,पीठमासन,फलकमवष्टम्भनफलक, शय्या वसतिर्बृहत्संस्तारको वा, संस्तारको लघुतर । एषां समाहारद्वन्द्वोऽतस्तेन । (अहापरिग्गहिएहिं ति) यथाप्रतिपन्नैर्न पुनर्ह्रासं नीतैः (थेरे त्ति) श्रुतवृद्धा । (रूवसंपन्न त्ति) इह रूप सुविहितनेपथ्य, शरीरसुन्दरता वा, तेन सम्पन्ना युक्ता रूपसम्पन्ना. । (लज्जालाघवसंपन्न त्ति) लज्जा प्रसिद्धा, सयमो वा, लाघव द्रव्यतोऽल्पोपधित्व, भावतो गौरवत्यागः । (ओयंसी ति) ओजस्विनो मानसावष्टम्भयुक्ता । (तेयंसी ति) तेजस्विनः शरीरप्रभायुक्ता. । (वच्चंसी ति) वर्चस्विनो विशिष्टप्रभावोपेता , वच स्विनो वा विशिष्टवचनयुक्ताः । (जसंसी ति) ख्यातिमन्त । अनुस्वारश्चैतेषु प्राकृतत्वात् । (जीवियासामरणभयविप्पमुक्क त्ति) जीविताऽऽशया, मरणभयेन च विप्रमुक्ता ये ते तथा। इह (?) यावत्करणादिद दृश्यम्-" तवप्पहाणा गुणप्पहाणा। " गुणाश्च संयमगुणा , तप संयमग्रहण चेह तप संयमयोः प्रधानमोक्षाङ्गताऽभिधानार्थम् । तथा-" करणप्पहाणा चरणप्पहाणा" तत्र करण पिण्डविशुद्ध्यादि, चरण व्रतश्रमणधर्माऽऽदि । (निग्गहप्पहाणा) निग्रहोऽन्यायकारिणां दण्ड., (निच्छयप्पहाणा) निश्चयोऽवश्यङ्करणाभ्युपगम , तत्त्वनिर्णयो वा । (मद्दवप्पहाणा अज्जवप्पहाणा) ननु जितक्रोधाऽऽदित्वान्मार्दवाऽऽदिप्रधानत्वमवगम्यत एव तत्किं मार्दवेत्यादिना ?। उच्यते तत्रोदयविफलतोक्ता, मार्दवाऽऽदिप्रधानत्वे तूदयाभाव एवेति । (लाघवप्पहाणा) लाघव क्रियासु दक्षत्वम्। (खंतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा) (एवं विज्जामतवेयबंभनयनियमसच्चसोयप्पहाणा चारुप्पन्ना) सत्प्रज्ञा (सोही) शुद्धिहेतुत्वेन शोधयः, सुहृदो वा मित्राणि, जीवानामिति गम्यम्। (अणियाणा अप्पुस्सुया अबहिलेस्सा सुसामण्णरया अच्छिद्दपसिणवागरण त्ति) अच्छिद्राण्यविरलानि निर्दूषणानि वा प्रश्नव्याकरणानि येषां ते तथा। (कुत्तियावणभूय त्ति) कुत्रिक स्वर्गमर्त्यपातालक्षण भूमित्रय, तत्सम्भव वस्त्वपि कुत्रिक, तत्सम्पादक आपणो हट्टः कुत्रिकाऽऽपण, तद्भूता. समीहितार्थसम्पादनलब्धियुक्तत्वेन सकलगुणोपेतत्वेन वा तदुपमाः । (सद्धिं ति) सार्द्धं सहेत्यर्थ । सम्परिवृता. सम्यक् परिवारिताः, परिकरभावेन परिकरिता इत्यर्थ । पञ्चभिः श्रमणशतैरेव ।

तए णं तुंगियाए नयरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु ०जाव एगदिसाभिमुहा णिज्जायंति, तए णं ते समणोवासया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा हट्ठतुट्ठा ०जाव सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी--एवं खलु देवाणुप्पिया ! पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो जातिसंपण्णा ०जाव अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।

(सिंघाडग त्ति) शृङ्गाटकफलाऽऽकार स्थान, त्रिक रथ्यात्रयमीलनस्थानम् , चतुष्क रथ्याचतुष्कमीलनस्थानम, चत्वर बहुतररथ्यामीलनस्थानम्, महापथो राजमार्ग , पन्था रथ्यामात्रम । यावत्करणात्-" बहुजणसद्दोहिं वा " इत्यादिपूर्वव्याख्यातमत्र दृश्यम् ।

तं महाफलं खलु देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं थेराणं भगवंता-

णं नामगोयस्स वि सवणयाए, किमंग ! पुण अभिगमण-वंदणनमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणयाए ०जाव गहणयाए; त गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! थेरे जगवंते वंदामो, णमंसामो ०जाव पज्जुवासामो,एयएणं इहजवे परभवे ०जाव आणुगामियत्ताए भविस्सइ त्ति कट्टु अणमणस्स अंतिए एयमट्ठं पणिसुणेति, पमिसुणित्ता जेणेव सयाइं गेहाइं, तेणेव उवागच्छंति,उवागच्छइत्ता एहाया कयवलिकम्मा कयकोउयमंगलपायाच्छित्ता सुध्दप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवराइं परिहिया अप्पमहग्घाजरणालंकियसरीरा सएहिं सएहिं गेहेहिंतो पमिनिक्खमंति, पडिनिक्खमइत्ता एगयओ मेलायंति, पायविहारचारेणं तुंगियाए नयरीए मज्झं मज्झेणं निगच्छंति, निग्गच्छइत्ता जेणेव पुप्फवईए नामं चेइए होत्था, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता थेरे भगवंते पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति । तं जहा-सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए, अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, एगसाडिएणं उत्तरासंगकरणेणं चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं मणसा एगत्तीकरणेणं जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति०जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासंति । तए णं ते थेरा जगवंतो तेसिं समणोवासयाण तीसे य महइ महालियाए परिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेंति । जहा केसिसामिस्स० जाव समणोवासइत्ताए आणाए आराहए भवइ० जाव धम्मो कहिओ ॥

(पमिसुणेंति त्ति) अभ्युपगच्छन्ति ।(सयाइ ति) स्वकीयानि । (कयवलिकम्म त्ति) स्नानानन्तर कृत वलिकर्म यैः स्वगृहदेवताना ते तथा । (कयकोउयमंगलपायच्छित्त त्ति) कृतानि कौतुकमाङ्गल्यान्येव प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नाऽऽदिविघातार्थमवश्यकरणीयत्वाद्यैस्ते तथा । अन्ये त्वाहु -(पायच्छुत्त त्ति) पादेन पादे वा, चुक्षाश्चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादच्छुप्ता , कृतकौतुकमङ्गलाश्च ते पादच्छुप्ताश्चेति विग्रहः । तत्र कौतुकानि मषीतिलकाऽऽदीनि,मङ्गलानि तु सिद्धार्थकदध्यक्षतदूर्वाऽङ्कुराऽऽदीनि । (सुद्धप्पावेसाइ ति) शुद्धाऽऽत्मानो वेष्याणि वेषोचितानि । अथवा-शुद्धानि च तानि प्रावेश्यानि च राजाऽऽदिसभाप्रवेशोचितानि शुद्धप्रावेश्यानि । (वत्थाइ पवराइ परिहिय त्ति) क्वचित् दृश्यते । क्वचिच्च-(वत्थाइ पवरपरिहिय त्ति) तत्र प्रथमपाठो व्यक्त , द्वितीयस्तु प्रवर यथा भवतीत्येव परिहिता. प्रवरपरिहिता.। (पायविहारचारेण ति) पादविहारेण, न यानविहारेण,यश्चारो गमन स तथा तेन । (अभिगमेण ति) प्रतिपत्त्या अभिगच्छन्ति समीप गच्छन्ति । (सचित्ताणं ति) पुष्पताम्बूलाऽऽदीनाम् (विउसरणयाए त्ति) व्यवसर्जनया त्यागेन । (अचित्ताण ति) वस्त्रमुद्रिकानाम् (अविउसरणाए त्ति) अत्यागेन । (एगसामिएण ति) अनेकोत्तरीयशाटकाना निषेधार्थमुक्तम् । (उत्तरासगकरणेण ति) उत्तरासङ्ग उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेषः। चक्षुःस्पर्शे दृष्टिपाते। (एगत्तीकरणेण ति) अनेकत्वस्यानेकाऽऽलम्बनत्वस्यैकत्वकरणमेकालम्बनत्वकरणमेकाग्रीकरण, तेन । (तिविहाए पज्जुवासणाए त्ति) इह पर्युपासनात्रैविध्यं मनोवाक्कायभेदादिति । (महइमहालियाए त्ति) आलप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वाद् महति महत्याः । भ० २ श० ५ उ० ।

तुंगियायण-तुङ्गिकायन-पुं० । तुङ्गिगोत्रापत्ये ऋषौ, कल्प० ८ क्षण।

तुंगी-देशी-रात्रौ, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा।

तुंड-तुण्ड-न० । मुखे, विशे० । आ० क० । पुरोभागे, नि०चू०। " माय से भूमा सगडस्स तुमे ठिता " नि० चू० १ उ०। मास्ये, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा।

तुंमिक-तुण्मिक-पु० । वेत्राकूलग्रामान्तःस्थे स्वनामख्याते वणिजि. आ० क० । ('जत्तासिद्ध' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३९० पृष्ठे कथा)

तुंमीर-देशी-मधुरबिम्बे, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा।

तुंडूअ-देशी-जीर्णघटे, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा।

तुंतुक्खमिअ-देशी-त्वरायुक्ते, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा।

तुंद-देशी-उदरे, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा।

तुंदपरिमिय-तुन्दपरिमित-त्रि० । उदरभरणमात्रे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

तुंदिल्ल-तुन्दिल्ल-त्रि० । तुन्दमस्यास्तीति तुन्दिलः । यथेप्सित-भोजनेन वर्द्धितोदरे, उत्त० ७ अ० ।

तुंब-तुम्ब-न०। अलाबुनाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा०। नि०चू०। अष्टादशे ज्ञाताध्ययने, स० १८ सम०। आव०। शकटनाभ्याम्, " जेण कुडं आयत्त, त पुरिस आयरेण रक्खेज्जा। न हि तुबम्मि विणट्ठे, अरया साहारया होंति ॥ १ ॥ " आ० म०१अ०१ खण्ड। कप्रत्ययोऽपि । अनु० । उत्त० । स्था० ।

तुंबणाय-तुम्बज्ञात-न० । अलाबुदृष्टान्तप्रतिपादके षष्ठेऽध्ययने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आ० चू० । ('कम्म' शब्दे चैतत् तृतीयभागे ३२८ पृष्ठे उक्तम्)

तुंबर-तुम्बर-त्रि० । कषे आमे, " जह तरुणअम्बगरसो, तुंबरकविट्ठस्स वा वि जारिसओ । (१२) " उत्त ३४ अ० ।

तुंबरफल-तुम्बरफल-न० । हरीतकीप्रभृतिषु, बृ० १ उ० ।

तुंबवणग्गाम-तुम्बवनग्राम-पु० । स्वनामख्याते ग्रामे. यत्र सुनन्दाभिधाना साध्वाना भार्यां मुक्त्वा धनगिरिणा दीक्षा गृहीता । कल्प० १ क्षण। आ० चू० । आ० म० ।

तुंबवीण-तुम्बवीण-त्रि० । तुम्बयुक्ता वीणा येषां ते तुम्बवीणाः । तुम्बवीणावादकेषु, जीव० ३ प्रति० ४ उ० ।

तुंबवीणिय-तुम्बवीणिक-त्रि० । तुम्बयुक्ताया वीणाया वादके, रा० । आचा० । प्रश्न० । ज्ञा० । अनु० ।

तुंबसाग-तुम्बशाक-पु० । स्वनामख्याते शाकविशेषे, उत्त० २ अ० ।

तुंबा-तुम्बा-स्त्री० । चमरस्य बलस्य च लोकपालानामग्रमहिषीणां चाभ्यन्तरपरिषदि, स्था० ३ ठा० २ उ० । चन्द्रस्य सू-

र्येस्य च सामानिकाग्रमहिषीणां चाभ्यन्तरपरिषदि, स्था० ३ ठा० २ उ०।

तुंवाग-तुम्बाक-न०। त्वङ्मिञ्जाऽन्तर्वर्तिनि, आर्द्रायां तुलस्यां च। स्त्री०। दशा० ५ अ०। १ उ०।

तुंविणी-तुम्बिनी-स्त्री०। वल्लीविशेषे आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

तुंविल्ली-देशी-मधुपटले, उदूखले च। दे० ना० ५ वर्ग २३ गाथा।

तुंवी-देशी-अलाब्वाम्, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा।

तुंवुरु-तुम्बुरु-पुं०। श्रीसुमतेर्यक्षे, स च श्वेतवर्णो गरुडवाहनश्चतुर्भुजो वरदशक्तियुक्तदक्षिणपाणिद्वयो, गदानागपाशयुक्तवामपाणिद्वयश्च। प्रव० २६ द्वार। शक्रस्य देवेन्द्रस्य गन्धर्वानीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा०। तृतीये गन्धर्वे, प्रज्ञा० १ पद। वृक्षविशेषे, स० ७ सम०।

तुंवेअ-तुम्बेक-न०। ज्ञाताऽध्ययनभेदे आव० ४अ०।

तुच्छ-तुच्छ-त्रि०। असारे, आव० ६ अ०। पं० व०। अल्पे, भ० ६ श० ३३ उ०। प्रश्न०। उन्मत्ते, न तुच्छो भवेन्नोन्माद गच्छेत्। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। चतुर्थीनवमीचतुर्दशीरूपासु तिथिषु, च० प्र० १० पाहु०। द० प०। सू० प्र०। रिक्ते, स च द्रव्यतो निर्धनो जलाऽऽदिरहितो घटाऽऽदिर्वा, भावतो ज्ञानाऽऽदिरहितः। आचा०१ श्रु०२ अ०६ उ०। द्रमके, काष्ठहारकाऽऽदौ, अथवा-" ज्ञानैश्वर्यधनोपेतो, जात्यन्वयबलान्वितः। तेजस्वी मतिमान् ख्यातः, पूर्णस्तुच्छो विपर्ययात् ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे अपूर्णे, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०। अवशुष्के, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा।

तुच्छइअ-देशी-रञ्जिते, दे० ना० ५ वर्ग १५ गाथा।

तुच्छकहणा-तुच्छकथना-स्त्री०। अपरिणतदेशनायाम्, पं० व० ४ द्वार।

तुच्छकुल-तुच्छकुल-त्रि०। अल्पकुटुम्बे; कल्प० २ क्षण। चाण्डालाऽऽदीनां कुले, न०। स्था० ८ ठा०। आ० म०।

तुच्छग-तुच्छक-त्रि०। अगम्भीरे, पञ्चा० ७ विव०। आ० चू०। आ० म०। आचा०।

तुच्छत्त-तुच्छत्व-न०। निःसारतायाम्, भ० १८ श० ३ उ०।

तुच्छय-देशी-रञ्जिते, दे० ना० ५ वर्ग १५ गाथा।

तुच्छरूव-तुच्छरूप-त्रि०। तुच्छं हीनं रूपमाकारो यस्य स तुच्छरूपः। हीनाऽऽकारे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

तुच्छुत्ति-तुच्छोक्ति-स्त्री०। तुच्छबुद्धिप्रणीतवचने, द्वा० १४ अष्टा०।

तुच्छोभासि(ण्)-तुच्छावभासिन्-त्रि०। तुच्छो धनश्रुताऽऽदिरहितोऽत एव तद्विनियोजकत्वात् तुच्छावभासी। ऊणाम-पूर्णावभासिनि, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

तुच्छोसहिभक्खणया-तुच्छौषधिभक्षणता-स्त्री०। असाराणामौषधीनां भक्षणरूपे उपभोगपरिभोगविरतिव्रतस्यातिचारे, उपा०१अ०। उदाहरणम्-" एगो खेत्तरक्खगो, से गाओ खाइ, राया निग्गओ, खायंत पेच्छइ, ततो वारिए इतो खायइ, रन्ना कोवगेण पोट्ट फालिय, केत्तियाओ खाइयाओ होज्ज चिंतं, नवरि फेणं, अन्न न किंचि अत्थि। " आव० ६ अ०। ध० २०।

तुज्ज-तूर्य-न०। वाद्यभेदे, सू० प्र० १० पाहु०।

तुज्झ-तव-त्वद्-त्रि०। "ङसिङस्भ्यां तउ-तुज्झ-तुध्राः" ॥८।४।३७२॥ इति ङसिङस्भ्यां सह युष्मदस्तुज्झ इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद।

तुट्ट-त्रुट्-धा०। छेदने, दिवा०। तुदा०-पर०-सक०-सेट्। "शकाऽऽदीनां द्वित्वम्" ॥ ८।४।२३०॥ इति द्वित्वम्। प्रा० ४ पाद। त्रुट्यति व्यवच्छिद्यते जीवानां जीवितमिति शेषः। सूत्र०१ श्रु० २ अ० १ उ०। तुट्यति च्यवते। सूत्र० १ श्रु० २ अ०१ उ०। जीविताच्च्यवने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। त्रोटयेदपनयेद्वा आत्मनः पृथक्कुर्यात्परित्यजेद्वा। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

तुट्ठ-त्रि०। सतुष्टे, उत्त० १८ अ०। तोषं कृतवति, आ० म० १ अ० १ खण्ड। औ०। जी०। न०। रा०। आचा०। ज्ञा०। उत्त०। सन्तोषं प्राप्ते, कल्प० १ क्षण।

तुट्ठि-तुष्टि-स्त्री०। सतोषे, कल्प० १ क्षण। मनःप्रसत्तौ, कल्प०६ क्षण। नवधा तुष्टि-प्रकृत्युपादानकालभोगाऽऽख्याः, अम्भःसलिलौघवृष्ट्यपरपर्यायवाच्याश्चतस्र आध्यात्मिकाः, शब्दाऽऽदिविषयोपरतयश्चार्जनरक्षणक्षयभोगहिंसादोषदर्शनहेतुजन्मानः पञ्च बाह्यास्तुष्टयः, ताश्च पारसुपारपारापारानुत्तमाम्भउत्तमाम्भ शब्दव्यपदेश्या इति। स्या० १५ श्लो०। उत्सवे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०।

तुड-तुड्-धा०। भेदे, तुदा०-पर०-सक०-सेट्। " तुडेस्तोड-तुट्ट-खुट्ट-खुडोक्खुडोल्लुक्क-णिलुक्क-लुक्कोल्लूराः " ॥ ८।४।११६॥ इति 'तुड्'धातोरेतेनवाऽऽदेशाः। प्रा० ४ पाद।

तुडिय-त्रुटित-न०। तूर्ये, जं० ३ वक्ष०। औ०। स्था०। दिव्यतूर्ये, आ० म० १ अ० १ खण्ड। वेणुवीणामृदङ्गाऽऽदिषु आतोद्येषु, रा०। पटहाऽऽदौ, स्था० ८ ठा०। आतोद्ये, रा०। आ० म०। जी०। प्रज्ञा०। वादित्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कल्प०। ततविततघनशुषिरतालभिन्नवादित्रे, कल्प० १ क्षण। जं०। दशा०। भ०। औ०। रा०। चतुरशीत्या लक्षैर्गुणिते त्रुटिताङ्गे, कर्म० ४ कर्म०। जं०। कल्प०। स्था०। अनु०। ज्यो०। जी०। भ०। बाहुरक्षिकायाम्, स्त्री०। रा०। ज्ञा०। स्था०। आचा०। तं०। औ०। स०। उत्त०। प्रज्ञा०। जं०। भ०। चमरस्य सामानिकानामभ्यन्तरपरिषदि, स्था० ३ ठा०२उ०। "तुडिय धिंगल।" इति देशीभाषा। नि० चू० २ उ०।

तुडियंग-त्रुटिताङ्ग-न०। चतुरशीत्या लक्षगुणितपूर्वे, स्था० २ ठा० ४ उ०। "चउरासीइं पुव्वसयसहस्साइं से एगे तुडियंगे" अनु०। जं०। कर्म०। भ०। सुषमसुषमायां भरतैरवतयोरकर्मभूमिषु च प्राविनि कल्पवृक्षे, त०। आव०। जी०। ति०। स०। त्रुटितानि तूर्याणि तत्करणत्वात् त्रुटिताङ्गाः। तूर्यदायिनि, उक्तं च-" मत्तंगेसु य मज्जं, सुहपेज्ज भायणाणि भिंगेसु। तुडियंगेसु य संगत-तुडियाइं बहुप्पगाराइं ॥१॥ " स्था० १० ठा०।

तुण्णओ-देशी-मुख्याऽऽवद्यतूर्यविशेषे, दे० ना० ५ वर्ग १६ गाथा।

तुण्णग-तुन्नाक-त्रि०। सीवनकर्मकर्त्तरि, न०। आचा०। आ० चू०। प्रज्ञा०। अनु०। आ० म०।

तुएणाग–तुण्णाक–त्रि० । ' तुण्णग ' शब्दार्थे, न० ।

तुणिय–तुन्नित–त्रि० । तुन्नकारेण स्वकलाकौशलतः पूरितेच्छिद्रे, बृ० १ उ० ।

तुण्हिक्क–तूष्णीक–त्रि० । " सेवाऽऽदौ वा " ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति ककारस्य विकल्पेन द्वित्वम् । पक्षे–' तुण्हिअ ' । प्रा० २ पाद। मौनावलम्बिनि, आ० म० १ अ० १ खण्ड । नि० चू० । तूष्णींभाव भजमाने, नि० चू० । " जह णाविए गरूल कोती घेत्तूण नाम तुण्हिक्को । " नि० सू० १ उ० । मृदौ, निश्चले च । दे० ना० ५ वर्ग १५ गाथा ।

तुण्ही–देशी–सूकरे, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा ।

तुद–तोद–पुं० । प्रतोदाऽऽदिषु, " रहंसि जुत्तं सरयति बाल, आरुस्स विज्झंति तुदेण पिट्ठे । " कोपं कृत्वा प्रतोदाऽऽदिना पृष्ठदेशे त नारकं परवश नयन्ति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

तुप्प–तुप्र–पुं० । मृतककलेवरं वसाघृताऽऽदिभि परिणामिते, बृ० १ उ० । नि० चू० । कौतुके, विवाहे, सर्षपे, म्रक्षिते, स्निग्धे, कुतुपे च । दे० ना० ५ वर्ग २२ गाथा ।

तुप्पग्ग–तुप्राग्र–न० । म्रक्षिताग्रे, कल्प० २ क्षण ।

तुप्पोट्ट–तुप्रोष्ठ–त्रि० । तुप्रा म्रक्षिता मदनेन वा वेष्टिता. शीतरक्षाऽऽदिनिमित्तमोष्ठा येषां ते तुप्रोष्ठाः । म्रक्षितोष्ठेषु ग० २ अधि० । अनु० ।

तुबरी–तुबरी–स्त्री० । मालवकाऽऽदिप्रसिद्धे धान्यविशेषे, ध० २ अधि० ।

तुब्भ–त्वत्–त्रि० । " तुम्ह–तुज्झ०–" ॥ ८ । ३ । ९७ ॥ इत्यादिना ङसिना सह युष्मदस्तुब्भ इत्यादेश । प्रा० ३ पाद ।

तुब्भत्तो–त्वत्तः–त्रि० । " तइ–तुव–तुम–तुह–तुब्भा ङसौ ॥ ८ । ३ । ९६ ॥ इति ङसि परतो युष्मदस्तुब्भ इत्यादेशः । एवं 'तुम्हत्तो' इत्यपि । प्रा० ३ पाद ।

तुब्भाण–युष्माकम्–त्रि० । " तु–वो–भे–तुब्भ–तुब्भं–तुब्भाण०–" ॥ ८ । ३ । १०० ॥ इत्यादिना आमासहितस्य युष्मदस्तुब्भाण इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुब्भे–यूयम्–त्रि० । " भे–तुब्भे–तुज्झे०–" ॥ ८ । ३ । ९१ ॥ इत्यादिना जसा सहितस्य युष्मदस्तुब्भे इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुम–तव–त्रि० । " तइ–तु–ते–तुम्ह–तुह–तुह–तुव–तुम०–" ॥ ८ । ३ । ९९ ॥ इत्यादिना षष्ठ्येकवचनेन सहितस्य युष्मदस्तुम इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद । बहुवचनोच्चारणयोग्ये तिरस्कारप्रधानैकवचनान्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । " तुम ति वत्ता भणइ । " आव० १ अ० । स्था० ।

तुमइ–त्वया–त्रि० । " भे–दि–दे ते–तइ–तए तुम तुमइ०–" ॥ ८ । ३ । ९४ ॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्तुमइ इत्यादेश । प्रा० ३ पाद ।

तुमए–त्वया–त्रि० । " भे दि–दे ते–तइ तए तुम तुमइ तुमए०–" ॥ ८ । ३ । ९४ ॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्तुमए इत्यादेश. । एवं ' तुम ' इत्यपि । प्रा० ३ पाद ।

तुमत्तो–त्वत्तः–त्रि० । " तइ तुव तुम०–" ॥ ८ । ३ । ९६ ॥ इत्यादिना ङसि परतो युष्मदस्तुम इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुमाइ–त्वया–त्रि० । " भे दि–दे ते–तइ–तए तुम–तुमइ–तुमए तुमे–तुमाइ०–" ॥ ८ । ३ । ९४ ॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदः 'तुमाइ' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तव–त्रि० । " तइ–तु–ते–तुम्ह तुह–तुह–तुव तुम–तुमे तुमो–तुमाइ०–" ॥ ८ । ३ । ९९ ॥ इत्यादिना षष्ठ्येकवचनेन सह युष्मदस्तुमाइ इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुमाण–युष्माकम्–त्रि० । " तु वो–भे–तुब्भ–तुब्भं–तुब्भाण–तुवाण–तुमाण०–" ॥ ८ । ३ । १०० ॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदस्तुमाण इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुमातो–त्वत्तः–त्रि० । " अतो ङसेर्डातोडातू " ॥ ८ । ४ । ३२१ ॥ इति पैशाच्यामकारात्परस्य ङसेर्डितौ 'आतो–आतु' इत्यादेशौ । प्रा० ४ पाद ।

तुमे–त्वया–त्रि० । " भे–दि–दे–ते–तइ–तए–तुमं तुमइ–तुमए तुमे०" ॥ ८ । ३ । ९४ ॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्तुमे इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तव–त्रि० । " तइ–तु ते तुम्हं–तुह–तुहं तुव०–" ॥ ८ ॥ ३ । ९९ । इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मदस्तुमे इत्यादेश । प्रा० ३ पाद ।

तुम्हं–त्वया–त्रि० । " तइ–तु–ते–तुम्ह० ॥ ८ । ३ । ९९ ॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्तुम्हमित्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुम्हकेर–युष्मदीय–त्रि० । युष्माकमिदम् । वाच० । " इदमर्थस्य केरः " ॥ ८ । २ । १४७ ॥ इति इदमर्थस्य प्रत्ययस्य केर इत्यादेशः । प्रा० २ पाद । " युष्मद्यर्थपरे त " ॥ ८ । १ । २४६ ॥ इति युष्मच्छब्देऽर्थपरे यकारस्य तकारः । प्रा० १ पाद । युष्मत्सम्बन्धिनि, वाच० ।

तुम्हाण–युष्माकम्–त्रि० । " तु–वो–भे–तुब्भ–तुब्भं–तुब्भाण–तुवाण–तुमाण–तुहाण–तुम्हाण०–" ॥ ८ । ३ । १०० ॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदस्तुम्हाण इत्यादेशः । " क्त्वास्यादेर्णस्वोर्वा " ॥ ८ । १ । २७ ॥ इति पक्षेऽनुस्वारोऽपि । प्रा० ३ पाद ।

तुम्हारिस–त्वादृश–त्रि० । " युष्मद्यर्थपरे तः " ॥ ८ । १ । २४६ ॥ इति तकार. । " दृशः क्विप् टक्सकः " ॥ ८ । १ । १४२ ॥ इति क्विप् टक्सक् एतदन्तस्य दृशेर्धातोर्ऋतो रिरादेशः । त्वत्सदृशे, प्रा० १ पाद ।

तुम्हे यूयम्–त्रि० । " भे–तुब्भे–तुज्झे०–" ॥ ८ । ३ । ९१ ॥ इत्यादिना जसा सहितस्य युष्मदस्तुम्हे इत्यादेशे " ब्भो–म्ह–ज्झौ वा " ॥ ८ । ३ । १०४ ॥ इति वचनात् हकार । प्रा० ३ पाद ।

तुम्हेच्चय–यौष्माक–त्रि० । " युष्मदस्मदोऽञ एच्चय " ॥ ८ । २ । १४९ ॥ इति युष्मद. परस्येदमर्थस्याञ एच्चय इत्यादेशः । प्रा० २ पाद ।

तुयट्टण–त्वग्वर्तन–न० । शयने, नि० चू० १० उ० । त० । पिं० । ध० । दश० । उत्त० । स्था० । बृ० । संस्तारक प्रस्तीर्य शयने, बृ० ३ उ० । निषण्णाऽऽसीने, 'तुयट्टति' निषण्णा आसते । भ० १३ श० ६ उ० ।

तुयट्टिय–त्वग्वर्तित–त्रि० । वामपार्श्वेत परावृत्य दक्षिणपार्श्वेन, दक्षिणपार्श्वेन परावृत्य वामपार्श्वेन वा अवतिष्ठमाने, दश० ।

तुयट्टियव्व–त्वग्वर्तितव्य–न० । कर्त्तव्ये शयने, भ० २ श० १ उ० ।

तुयावइत्ता–तोदयित्वा–अव्य० । तोद कृत्वा 'व्ययामुत्पाद्य' या प्रव्रज्या दीयते मुनिचन्द्रपुत्रस्य सागरचन्द्रेणेव सा तथा । प्रव्रज्याभेदे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

तुज्झ–युष्माकम्–त्रि० । " तु-वो-भे-तुब्भ तुब्भ०-" ॥ ८ । ३ । १०० ॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदस्तुब्भ इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुब्भे–यूयम्–त्रि० । " भे-तुब्भे-तुज्झ तुम्ह० " ॥ ८ । ३ । ९१ ॥ इत्यादिना जसा सहितस्य युष्मदस्तुब्भे इत्यादेशः । प्रा०३ पाद ।

तुब्भेहिं–युष्माभिः–त्रि० । " भे तुब्भेहिं-उज्झेहिं-उम्हेहिं-तुय्हे-हिं०" ॥ ८ । ३ । ९५ ॥ इत्यादिना भिसा सहितस्य युष्मदस्तुब्भेहिं इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुरंत–त्वरमाण–त्रि० । " तुरोऽत्यादौ " ॥ ८ । ४ । १७२ ॥ इति अत्यादौ परतस्त्वरशब्दस्य तुर इत्यादेशः । सम्भाव्यति, प्रा० ४ पाद । शीघ्रे, तं० ।

तुरग–तुरग–पुं० । अश्वे, अनु० । कल्प० । औ० । प्रश्न० । रा० । तुरगा भाटव्या महाकाया पशव परसरेति पर्याया । प्र० ११ श० ११ उ० ।

तुरगमुह–तुरगमुख–पुं० । अनार्यदेशविशेषे, प्रव० २७ द्वार । " कैकयकिरीयहयमुह-खरमुह तह तुरगमेंढयमुहा य । " सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

तुरगमेंढग–तुरगमेढ्क–पुं० । धर्मसञ्ज्ञारहिते अनार्यदेशविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

तुरगारोहणसिक्खा–तुरगारोहणशिक्षा–स्त्री० । तुरगारोहणविषयकशिक्षाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

तुरतुंगव–तुरतुङ्गव–पु० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तुरय–तुरग–पु० । 'तुरग' शब्दार्थे, अनु० ।

तुरा–त्वरा–स्त्री० । वेगे, अभीष्टलाभार्थे विलम्बासहने च । वाच० । " अत्वरा सर्वकार्येषु, त्वरा कार्यविनाशिनी । त्वरमाणेन मूर्खेण, मयूरो वायसीकृतः ॥ १ ॥ " आ० चू० १ अ० ।

तुरिमिणी–तुरिमिणी–स्त्री० । भारतवर्षे स्वनामख्यातायां नगर्याम्, दर्श० ३ तत्त्व । " पुरी तुरिमिणी तत्र, जितशत्रुर्नराधिपः । मत्ताङ्गो द्विजो दत्त, कालिकाऽऽचार्यजामिजः ॥ १ ॥ " आ० क० । तुरिमिणीनगर्यामुपसर्गकारी तरुणजनो भूपात् हतमथितविप्रारब्धः । बृ० ४ उ० ।

तुरिय–त्वरित–न० । " तुरोऽत्यादौ " ॥ ८ । ४ । ७१ ॥ इति त्वरशब्दस्य 'तुर' इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । शीघ्रे, रा० । आ० म० । प्रश्न० । भ० । अनु० । ज्ञा० । त्वरा सञ्जाता अस्य । त्वरायुक्ते, भ० ३ श० २ उ० । ज्ञा० । रा० । जी० । औत्सुक्यवत्याम्, कल्प० २ क्षण । आकुले च । वाच० ।

तूर्य–त्रि० । भेरीमृदङ्गपटहकरतालताला ऽऽदिषु, उत्त० २२ अ० । द्वादशप्रकारस्तूर्यसङ्घातः । स चायम्–" भमामकुदम-इल-करबझल्लरिहुडुक्कसाहा । काहलतलिमा वसो, सखो यणवो य बारसमो ॥ १ ॥ " आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

तुरियगइ–त्वरितगति–स्त्री० । मानसौत्सुक्यप्रवर्तितवेगवद्गतौ, भ० ३ श० २ उ० । " तुरियगई खिप्पगई । " दिक्कुमारेन्द्रयोरमितगत्यमितवाहनयोः पौरस्त्ये लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

तुरियभासि (ण्)–त्वरितभाषिन्–त्रि० । अविवेकभाषिणि, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

तुरिया–त्रुटिता–स्त्री० । बाहुरक्षिकायाम्, औ० ।

तुरी–देशी–पीने, तूलिकानामुपकरणे, दे० ना० ५ वर्ग २२ गाथा ।

तुरुक्क–तुरुष्क–न० । सिह्लके, आ० १ श्रु० १ अ० । जी० । आ० म० । भ० ।

तुरुक्कधूव–तुरुष्कधूप–पु० । सेह्लकलक्षणे धूपे, उत्त० १ अ० ।

तुरुक्ख–तुरुष्क–न० । सिह्लकाभिधाने गन्धद्रव्ये, स०३४सम० । औ० । प्रज्ञा० । ज० । रा० ।

तुल–तुल–धा० । उन्माने । चुरा०-उभ० । पक्षे-भ्वादि०-पर०-सक०-सेट् । वाच० । " तुलेरोहाम. " ॥ ८ । ४ । २५ ॥ इति एयन्तस्य तुलेरोहाम इत्यादेश । 'ओहामइ' । पक्षे-'तुलइ । ' प्रा० ४ पाद ।

तुलग–देशी–काकतालीये, दे० ना० ५ वर्ग १५ गाथा ।

तुलणा–तुलना–स्त्री० । परिच्छेदे, " जहा इमेहिं दसहिं अगेहिं पमलेहिं सूरिओ उट्टेति, तहा त काल तुलेति । " नि० चू०२ उ०। पञ्च तुलना जिनकल्पे उक्ता., 'तवेण इत्यादि' । तुलना, भावना, परिकर्म चैकार्था । विशे० । व्य० । नि० चू० । प० चू० । ध० । स्था० । उत्त० । (द्रव्याऽऽदितुलनया तोलयित्वैव प्रव्राजनीय शिष्य इति ' पव्वाजणा ' शब्दे वक्ष्यते)

तुलसी–तुलसी–स्त्री० । पत्रिकाविशेषे, प्रव० ४ द्वार । " रूढी आढइ णीली, तुलसी तह माउलिंगा य । " प्रज्ञा० १ पद । स्था० । पञ्चा० । सरसललनायाम्, दे० ना० ५ वर्ग १४ गाथा । गुच्छविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

तुला–तुला–स्त्री० । औपम्ये, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । " पत तुलमन्नेसिं इह सतिगया दविया णावकखति । " का पुनरसौ तुला?, यथाऽऽत्मान सर्वथा सुखाभिलाषितया रक्षसि, तथा परमपि रक्ष, यथा पर तथाऽऽत्मानमिति । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । तोलनदण्डे, वाच० ।

सम्प्रति तुलामानमाह–

पणतीस लोहपलिया, वट्टा बावत्तरंऽगुला दीहा ।
पंचपल धरणगस्स य, समायकरणे तुला होइ ॥

सुगालितानां पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्यानां लोहपलानामत्यर्थं घनैः कुट्टनेन निर्मापिता, वृत्ता सुवृत्ता, विषमोन्नतत्वहीना इत्यर्थः । द्वासप्तत्यङ्गुला दीर्घा (पञ्चपल धरणगस्स य त्ति) ध्रियते येन तद् धरण, धरणमेव धरणक,येन धृत्वा तोल्यते तदित्यर्थः। तस्य प्रमाण पञ्च पलानि कर्त्तव्यानि । ततः समायकरणे धरणके तुलायां सयोजिते सति यत्र प्रदेशे तुला ध्रियमाणा समा भवति, नैकस्मिन्नपि पक्षे अग्रतः पृष्ठतो वा नता उन्नता वा भवति, तत्र प्रदेशे समायकरणे-समतासमागमपरिज्ञान-

निमित्तरेखाकरणे, तुला परिपूर्णा भवति । तस्यां चैवभूतायां तुलायां समकरणीरेखामपहाय शेषा रेखाः पञ्चविंशतिर्भवन्ति ।

तथा चाऽऽह-

सव्वग्गेण तुलाए, लेहाओ पंचवीसई होंति ।
चत्तारि य लेहाओ, जाओ नंदीपिणद्धाओ ॥

तुलायां तौल्यपरिमाणसूचिका सर्वाग्रेण सर्वसङ्ख्यया, रेखाः पञ्चविंशतिर्भवन्ति । तासां च पञ्चविंशतिसङ्ख्यानां रेखाणां मध्ये या रेखाः नन्दीपिनद्धा. फुल्लिकायुक्ता, ताश्चतस्रो वेदितव्या. ।

तत्र पञ्चविंशतिमेव रेखाः प्ररूपयति-

समकरणि अद्धकरिसा, तत्तो करिसुत्तरा य चत्तारि ।
तत्तो पलुत्तराओ, जाव य दसग त्ति लेहाओ ॥
बारसिया पन्नरसी, वीसग एत्तो दसुत्तरा अट्ठ ।
एवं सव्वसमासो, लेहाणं पन्नवीसं तु ॥

तुलायां प्रथमा रेखा तावत् समकरणी भवति, यत्र प्रदेशे धरणकसहिता तुला ध्रियमाणा समा भवति तत्र प्रदेशे समतापरिज्ञानार्थमेका रेखा भवतीत्यर्थः। सा पञ्चविंशतिसङ्ख्यागणनेन गण्यते, तस्याः समतापरिज्ञाननिमित्ततया तौल्यवस्तुपरिमाणेऽनुपयोगात् । ततः प्रथमा रेखा अर्द्धकर्षा अर्द्धकर्षरूपपरिमाणसूचिका भवति । ततः कर्षोत्तरा कर्षाऽऽद्यैकैककर्षवृद्धिसूचिकाश्चतस्रो रेखा भवन्ति । तद्यथा--द्वितीया कर्षरूपपरिमाणसूचिका, तृतीया द्विकर्षसूचिका. चतुर्थी त्रिकर्षसूचिका, पञ्चमी चतु कर्षसूचिका, पलसूचिकेत्यर्थ । (तत्तो इत्यादि) तत पञ्चमरेखात ऊर्द्ध रेखा. पलोत्तरा., एकैकपलवृद्धिसूचिकास्तावद्वसेया यावद्दशकमिति दशपलसूचिका रेखा । तद्यथा-षष्ठी रेखा द्विपलसूचिका, सप्तमी त्रिपलसूचिका, अष्टमी चतुःपलसूचिका, नवमी पञ्चपलसूचिका, एकादशी सप्तपलसूचिका, द्वादशी अष्टपलसूचिका, त्रयोदशी नवपलसूचिका, चतुर्दशी दशपलसूचिका । (बारसेत्यादि) ततः पञ्चदशी रेखा द्वादशपलसूचिका, षोडशी पञ्चदशपलसूचिका, सप्तदशी विंशतिपलसूचिका । (एत्तो दसुत्तरा अट्ठ त्ति) अत ऊर्द्धमष्टौ रेखा दशोत्तराः, दशकवृद्ध्या पलपरिमाणसूचिका । तद्यथा--अष्टादशी रेखा त्रिंशत्पलसूचिका, एकोनविंशतितमा चत्वारिंशत्पलसूचिका, विंशतितमा पञ्चाशत्पलसूचिका, एकविंशतितमा षष्टिपलसूचिका, द्वाविंशतितमा सप्ततिपलसूचिका, त्रयोविंशतितमा अशीतिपलसूचिका, चतुर्विंशतितमा नवतिपलसूचिका, पञ्चविंशतितमा पलशतसूचिका, शतिके काण्डे पञ्चविंशतितमा रेखा भवतीत्यर्थ । एवमुक्तेन प्रकारेण रेखाणा सर्वसमासः सर्वसङ्क्षेप , सर्वसङ्ख्येत्यर्थः । पञ्चविंशतिरिति ।

यदुक्तम्-पञ्चविंशतिरेखाणा मध्ये चतस्रो रेखा नन्दीपिनद्धिका इति, तदृश्याचिख्यासुराह-

पचमु य पन्नरसगे, तीसग पन्नासगे य लेहाओ ।
नंदीपिणद्धिकाओ, सेसाओ उज्जुलेहाओ ॥

पञ्चसु पञ्चदशसु त्रिंशति पञ्चाशति च या रेखास्ता नन्दीपिनद्धिका । किमुक्त भवति ?-पञ्चपलपरिमाणसूचिका, पञ्चदशपलपरिमाणसूचिका, त्रिंशत्पलपरिमाणसूचिका, पञ्चाशत्पलपरिमाणसूचिका, एताश्चतस्रो रेखाः फुल्लडिकायुक्ता , शेषा एकविंशतिसङ्ख्या ऋजवः । तदेवमुक्त तुलास्वरूपम् । ज्यो० १ पाहु० । गृहाणां दारुबन्धकाष्ठे, पलशते मापमे, मेषावधितः सप्तमं राशौ, वाच० ।

तुलासम-तुलासम--पुं० । अरक्तद्विष्टे, यथा तुला समस्थिता न चाग्रतो न वा पुरतो नमति, सा इवाऽयं रागद्वेषविमुक्तो मानापमानसुखदु.खाऽऽदिषु समः । बृ० ६ उ० । नि० चू० ।

तुलिय-तुलित-त्रि० । गुणिते, त० । उत्त० ।

तुलेऊण-तोलयित्वा-अव्य० । सम्यक् निश्चित्येत्यर्थे, बृ०१ उ०।

तुल्ल-तुल्य-न० । सदृशे, औ० । समाने, विशे० । एककाले, नं० । प्रज्ञा० ।

तुल्लचरित्त-तुल्यचारित्र-त्रि० । समानसामायिकाऽऽदिसंयमे, बृ० ६ उ० ।

तुल्लट्ठिय-तुल्यास्थित--त्रि० । परस्परापेक्षया समानाऽऽयुष्के, भ० ३४ श० १ उ० ।

तुल्लय-तुल्यक-त्रि० । तुल्यमेव तुल्यकम् । समे, भ० १० श० ७ उ० ।

अथ तुल्यताऽभिधानार्थमाह-

रायगिहे०जाव परिसा पडिगया, गोयमाऽऽदि ! समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी--चिरसंसिट्ठो सि मे गोयमा !, चिरसंथुतो सि मे गोयमा !, चिरपरिचितो सि मे गोयमा !, चिरजुसिओ सि मे गोयमा !, चिराणुगओ सि मे गोयमा !, चिराणुवत्ती सि मे गोयमा !, अणंतरं देवलोए, अणंतर माणुस्सए भवे, किं परं मरणा कायस्स भेदा इतो चुता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो । जहा णं भंते ! एयमट्ठं वयं जाणामो पासामो तहा ण अणुत्तरोववाइया देवा एयमट्ठं जाणंति पासंति ? । हंता ! गोयमा ! जहा णं वय एयमट्ठ जाणामो पासामो तहा णं अणुत्तरोववाइया देवा एयमट्ठ जाणंति पासंति । से केणट्ठेणं०जाव पासंति ? । गोयमा ! अणुत्तरोववाइया णं अणंता मणोदव्ववग्गणाओ लद्धाओ पत्ताओ अभिसमण्णागयाओ भवंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव पासति । कइविहे णं भंते ! तुल्लए पण्णत्ते ?। गोयमा ! छव्विहे तुल्लए पण्णत्ते । त जहा-दव्वतुल्लए, खेत्ततुल्लए, कालतुल्लए, भवतुल्लए, भावतुल्लए, संठाणतुल्लए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ--दव्वतुल्लए, दव्वतुल्लए ?। गोयमा ! परमाणुपोग्गले परमाणुपोग्गलस्स दव्वओ तुल्ले, परमाणुपोग्गले परमाणुपोग्गलवइरित्तस्स दव्वओ णो तुल्ले । दुपदेसिए खंधे दुपदेसियस्स खंधस्स दव्वओ तुल्ले, दुपदेसिए खंधे दुपदेसियवइरित्तस्स खंधस्स दव्वओ णो तुल्ले । एवं० जाव दसपएसिए । तुल्लसंखेज्जपएसिए खंधे संखेज्जपएसियस्स खंधस्स

दव्वओ तुल्ले । संखेज्जपएसिए खंधे संखेज्जपएसियवइरित्तस्स खंधस्स दव्वओ णो तुल्ले । एवं तुल्लअसंखेज्जपएसिए वि; एवं तुल्लअणंतपएसिए वि; से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं वुच्चइ-दव्वतुल्लए दव्वतुल्लए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-खेत्ततुल्लए खेत्ततुल्लए ?। गोयमा ! एगपएसोगाढे पोग्गले एगपएसोगाढस्स पोग्गलस्स खेत्तओ तुल्ले, एगपएसोगाढे पोग्गले एगपएसोगाढवइरित्तस्स पोग्गलस्स खेत्तओ णो तुल्ले । एवं०जाव दसपएसोगाढे; तुल्लसंखेज्जपएसोगाढे वि; एवं तुल्लअसंखेज्जपएसोगाढे वि; से तेणट्ठेणं०जाव खेत्ततुल्लए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-कालतुल्लए कालतुल्लए ?। गोयमा ! एगसमयट्ठिईए पोग्गले एगसमयस्स ठिइयस्स पोग्गलस्स कालओ तुल्ले, एगसमयट्ठिईए पोग्गले एगसमयट्ठिइयवइरित्तस्स कालओ णो तुल्ले । एवं०जाव दससमयट्ठिईए; तुल्लसंखेज्जसमयट्ठिईए एवं चेव; तुल्लअसंखेज्जसमयट्ठिईए वि एवं चेव, से तेणट्ठेणं०जाव कालतुल्लए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-भवतुल्ले भवतुल्ले ?। गोयमा ! णेरइए णेरइयस्स भवट्ठयाए तुल्ले, णेरइए णेरइयवइरित्तस्स भवट्ठयाए णो तुल्ले; तिरिक्खजोणिए एवं चेव; एवं मणुस्से वि; एवं देवे वि; से तेणट्ठेणं० जाव भवतुल्ले भवतुल्ले । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-भावतुल्ले भावतुल्ले ?। गोयमा ! एगगुणकालए पोग्गले एगगुणकालयस्स भावतुल्ले, एगगुणकालए पोग्गले एगगुणकालवइरित्तस्स पोग्गलस्स भावओ णो तुल्ले, एवं ०जाव दसगुणकालए तुल्लसंखेज्जगुणकालपोग्गले तुल्लअसंखेज्जगुणकालए वि, एवं तुल्लअणंतगुणकालए वि, जहा कालए एवं नीलए लोहियए हालिद्दए सुक्किल्लए; एवं सुब्भिगंधे, एवं दुब्भिगंधे, एवं तित्ते०जाव महुरे; एवं कक्खडे० जाव लुक्खे, उदइए भावे उदइयस्स भावस्स भावओ तुल्ले, उदइयभाववइरित्तस्स भावओ णो तुल्ले, एवं उवसमिए वि । खइए खओवसमिए पारिणामिए सन्निवाइए भावे सन्निवाइयस्स भावस्स, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-भावतुल्लए भावतुल्लए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-संठाणतुल्लए संठाणतुल्लए ? । गोयमा ! परिमंडलसंठाणे परिमंडलस्स संठाणस्स संठाणओ तुल्ले, परिमंडलसंठाणे परिमंडलस्स संठाणवइरित्तस्स संठाणस्स संठाणओ णो तुल्ले । एवं वट्टे तंसे चउरंसे आयए, समचउरंससंठाणे समचउरंसस्स संठाणस्स संठाणओ तुल्ले, समचउरंससंठाणे समचउरंसस्स संठाणवइरित्तस्स संठाणओ णो तुल्ले; एवं परिमंडले वि; एवं०जाव हुंडे । से तेणट्ठेणं० जाव संठाणतुल्लए संठाणतुल्लए ।

(रायगिहे इत्यादि) तत्र किल भगवान् श्रीमन्महावीरः केवलज्ञानाप्राप्त्या सखेदस्य गौतमस्वामिनः समाश्वासनायाऽऽत्मनस्तस्य च भाविनीं तुल्यतां प्रतिपादयितुमाह-(गोयमेत्यादि) (चिरसंसिट्ठो सि त्ति) चिरं बहुकालं यावत्, चिरे वाऽतीते प्रभूते काले संश्लिष्टः स्नेहात्सम्बद्धश्चिरसंश्लिष्टोऽसि भवसि, मे मया मम वा त्वं हे गौतम ! (चिरसंथुतो सि) चिरं बहुकालमतीतं यावत्संस्तुतः स्नेहात्प्रशंसितश्चिरसंस्तुतः । (एवं चिरपरिचिए त्ति) पुनः पुनर्दर्शनतः परिचितश्चिरपरिचितः । (चिरजुसिए त्ति) चिरसेवितश्चिरप्रीतो वा । 'जुषी' प्रीतिसेवनयोरिति वचनात् । (चिराणुगओ त्ति) चिरमनुगतो, ममानुगतिकारित्वात् । (चिराणुवत्ती सि त्ति) चिरमनुवृत्तिरनुकूलवर्तिता यस्यासौ चिरानुवृत्तिः । इदं च चिरसंश्लिष्टत्वाऽऽदिकं काऽऽसीदित्याह-(अणंतरं देवलोए त्ति) अनन्तरं निर्व्यवधानं यथा भवत्येवं देवलोके, अनन्तरे देवभवे इत्यर्थः । ततोऽपि अनन्तरं मनुष्यभवे, जात्यर्थत्वादेकवचनस्य देवभवेषु मनुष्यभवेषु चेति द्रष्टव्यम् । तत्र किल त्रिपृष्ठभवे भगवतो गौतमः सारथित्वेन चिरसंश्लिष्टत्वाऽऽदिधर्मयुक्त आसीत् । एवमन्येष्वपि भवेषु संभवतीति । एवं च मयि तव गाढत्वेन स्नेहस्य न केवलज्ञानमुत्पद्यते, भविष्यति च तवाऽपि स्नेहक्षये तदित्यधृतिं मा कृथा इति गम्यमिति । (किं परं मरणा त्ति) किं बहुना (परं ति) परतो मरणान्मृत्योः ?। किमुक्तं भवति ?-कायस्य भेदाद्धेतोः (इओ चुय त्ति) इतः प्रत्यक्षाद् मनुष्यभवाद् च्युतौ (दो वि त्ति) द्वावप्यावां तुल्यौ, भविष्याव इति योगः । तत्र तुल्यौ समानजीवद्रव्यौ, (एगट्ठ त्ति) एकार्थावेकप्रयोजनौ अनन्तसुखप्रयोजनत्वात् । एकस्थौ वा एकक्षेत्राऽऽश्रितौ सिद्धिक्षेत्रापेक्षयेति । (अविसेसमणाणत्त त्ति) अविशेषं निर्विशेषं यथा भवत्येवमनानात्वौ तुल्यज्ञानदर्शनाऽऽदिपर्यायाविति । इदं च किल भगवता गौतमेन चैत्यवन्दनायाष्टापदं गत्वा प्रत्यागच्छता पञ्चदश तापसशतानि प्रव्राजितानि समुत्पन्नकेवलानि च श्रीमन्महावीरसमवसरणमानीतानि तीर्थप्रणामकरणसमनन्तरं च केवलिपर्षदि समुपविष्टानि गौतमेन चाविदिततत्केवलोत्पादव्यतिकरेणाभिहितानि-यथा आगच्छत भोः साधवः ! भगवन्तं वन्दध्वमिति । जिननायकेन च गौतमोऽभिहितः-यथा गौतम ! मा केवलिनामाशातनां कार्षीः । ततो गौतमो मिथ्यादुष्कृतमदात् । तथा यानहं प्रव्राजयामि तेषां केवलमुत्पद्यते, न पुनर्मम, ततः किं तन्मे नोत्पत्स्यत एवेति विकल्पादधृतिं चकार । ततो जगद्गुरुणा गदितोऽसौ मन समाधानाय । यथा-गौतम ! चत्वारः कटा भवन्ति-सुम्बकटो, विदलकटः, चर्मकटः, कम्बलकटश्चेति । एवं शिष्या अपि गुरौ प्रतिबन्धसाधर्म्येण सुम्बकटसमाऽऽदयश्चत्वार एव भवन्ति । ('अज्जवइर' शब्दे प्रथमभागे २१६ पृष्ठे प्रसङ्गादुक्तैषा कथा) तत्र त्वं मयि कम्बलकटसमान इत्येतस्यार्थस्य समर्थनाय भगवता तदाऽभिहितमिति । एवं भाविन्यामात्मतुल्यतायां भगवताऽभिहितायामतिप्रियमश्रद्धेयमिति कृत्वा यद्यन्योऽप्येनमर्थं जानाति तदा साधु भवतीत्यनेनाभिप्रायेण गौतम एवाऽऽह-(जहा णं इत्यादि) (एयमट्ठं ति) एतमर्थमावयोर्भावितुल्यतालक्षणम् । (वयं जाणामो त्ति) यूयं च वयं चेत्येकशेषाद् वयम् । तत्र यूयं केवलज्ञानेन जानीथ, वयं तु भवदुपदेशात् । तथाऽनुत्तरोपपातिका अपि देवा एनमर्थं जानन्तीति प्रश्नः ?। अत्रोत्तरम्-(हंता ! गोयमा ! इत्यादि) (मणोदव्ववग्गणाओ लद्धाओ त्ति) मनोद्रव्यवर्गणा लब्धास्तद्विषयावधिज्ञानल-

भिधमात्रापेक्षया (पत्ताओ त्ति) प्राप्तास्तद्रूव्यपरिच्छेदतः । (अभिसमण्णागयाओ त्ति) अभिसमन्वागतास्तद्गुणपर्याय-परिच्छेदतः । अयमत्र गर्भार्थः-अनुत्तरोपपातिकदेवा वि-शिष्टावधिना मनोद्रव्यवर्गणा जानन्ति, पश्यन्ति च, तासां चावयोरयोग्यवस्थायामदर्शनेन निर्वाणगमनं निश्चिन्वन्ति । ततश्चाऽऽवयोर्जीवितुल्यतालक्षणमर्थं जानन्ति पश्यन्ति चेति व्यपदिश्यत इति । तुल्यताप्रक्रमादेवेदमाह-(कइविहेत्यादि) तुल्यं समं,तदेव तुल्यकम् । (दव्वतुल्लए त्ति) द्रव्यत एकाणुका-ऽऽद्यपेक्षया तुल्यक द्रव्यतुल्यकम् । अथवा-द्रव्य च तत्तुल्यक च द्रव्यान्तरेणेति द्रव्यतुल्यक,विशेषणव्यत्ययात् । (खेत्ततुल्लए त्ति) क्षेत्रत एकप्रदेशावगाढत्वाऽऽदिना तुल्यकं क्षेत्रतुल्यकम् । एव शेषाण्यपि,नवर भवो नारकाऽऽदि.,भावो वर्णाऽऽदि.,औदयि काऽऽदिर्वा,सस्थान परिमण्डलाऽऽदि । इह च तुल्यव्यतिरिक्त-मतुल्यं भवतीति तदपीह व्याख्यास्यते । (तुल्लसखेज्जपएसिए त्ति) तुल्याः समाना सख्येयाः प्रदेशा यत्र स तथा, तुल्यग्र-हणमिह सङ्ख्यातत्वस्य सख्यातभेदत्वात्र सङ्ख्यातमात्रेण तु-ल्यताऽस्य स्याद,अपि तु समानसंख्यत्वेनेत्यस्यार्थस्य प्रतिपाद-नार्थम् । एवमन्यत्रापीति । यच्चेह-अनन्तक्षेत्रप्रदेशावगाढत्वमन-न्तसमयस्थायित्वं च नोक्त, तदवगाढप्रदेशानां स्थितिसमयानां च पुद्गलानाश्रित्याऽनन्तानामभावादिति । (भवट्ठयाए त्ति) भव एवार्थो भवार्थ , तद्भावस्तत्ता, तया भवार्थतया । (उदइए भावे त्ति) उदय· कर्मणा विपाकः,स एवौदयिक क्रियामात्रम् । अथवा-उदयेन निष्पन्न औदयिको भावो नारकत्वाऽऽदिपर्यायवि-शेष·, औदयिकस्य भावस्य नारकत्वाऽऽदेर्भावतो भावसामान्य-माश्रित्य तुल्यः सम· । (एवं उवसमिए त्ति) औपशमिकोऽप्ये-वं वाच्य. । तथाहि-" उवसमिए भावे उवसमियस्स भावस्स भावओ तुल्ले, उवसमिए भावे उवसमियवइरित्तस्स भावस्स भा-वओ नो तुल्ले त्ति।" एव शेषेष्वपि वाच्यम् । तत्र उपशम उदीर्ण-स्य कर्मणः, क्षयोऽनुदीर्णस्य विष्कम्भितोदयत्व, स एव औप-शमिकः क्रियामात्रम् । उपशमेन वा निर्वृत्त औपशमिक. स-म्यग्दर्शनाऽऽदि· । (खइए त्ति) क्षयः कर्माभाव·,स एव क्षायिकः, क्षयेण वा निर्वृत्त. क्षायिकः केवलज्ञानाऽऽदि । (खओवसमिए त्ति) क्षयेणोदयप्राप्तकर्मणो विनाशेन सहोपशमो विष्क-म्भितोदयत्वं क्षयोपशमः, स एव क्षायोपशमिक· क्रियामात्रमे-व । क्षयोपशमेन वा निर्वृत्तः क्षायोपशमिको मतिज्ञानाऽऽदिः प-र्यायविशेष. । नन्वौपशमिकस्य क्षायोपशमिकस्य च क· प्रति-विशेष·, उभयत्रापि उदीर्णस्य क्षयस्यानुदीर्णस्य चोपशमत्वाभावा-त् ?, उच्यते-क्षायोपशमिके विपाकवेदनमेव नास्ति, प्रदेशवेदकं पुनरस्त्येव, औपशमिके तु प्रदेशवेदनमपि नाऽस्तीति । (परिणा-मिए त्ति) परिणमन परिणामः, स एव पारिणामिक । (स-न्निवाइए त्ति) सन्निपात औदयिकाऽऽदिभावानां द्व्यादिमं यो-ग ,तेन निर्वृत्त· सान्निपातिक. । (सठाणतुल्लए त्ति) सस्थान-माकृतिविशेष· । तच्च द्वेधा, जीवाजीवभेदात् । तत्र अजीवसस्थानं पञ्चधा । तत्र (परिमंडलसंठाणे त्ति) परिमण्डल सस्थान बहि-स्तात् वृत्ताऽऽकार मध्ये शुषिर यथा वलयस्य । तच्च द्वेधा, घनप्र-तरभेदात् । (वट्टे त्ति) वृत्त परिमण्डलमेवान्त·शुषिररहित यथा कुलालचक्रस्य । इदमपि द्वेधा, घनप्रतरभेदात् । पुनरेकैक द्विधा, समसङ्ख्यविषमसङ्ख्यप्रदेशभेदात् । एव त्र्यस्र,चतुरस्र च, नवर त्र्यस्र त्रिकोण शृङ्गाटकस्यैव, चतुरस्र तु चतुष्कोण, य-था कुम्भिकायाः, आयत दीर्घ यथा दण्डस्य । तच्च त्रेधा, श्रेण्या-यतप्रतराऽऽयतघनाऽऽयतभेदात् । पुनरेकैक द्विधा,समसङ्ख्यप्र-देशासमसङ्ख्यप्रदेशभेदात् । इदञ्च पञ्चविधमपि विस्रसाप्र-योगाभ्यां भवति । जीवसंस्थानं तु सस्थानाभिधाननामकर्मो-दयप्रकृत्युदयसम्पाद्यो जीवानामाकारः, तच्च षोढा । तत्राऽऽ-द्यम्-(समचउरंसे त्ति) तुल्याऽऽरोहपरिणाह सम्पूर्णाङ्गाव-यवस्वाङ्गुलाष्टशतोच्छ्रय समचतुरस्र, तुल्याऽऽरोहपरिणाहत्वेन समन्तात्पूर्णावयवत्वेन च चतुरस्रत्वात्तस्य चतुरस्रत्व सङ्गतमिति पर्यायः । (एव परिमंडले वि त्ति) यथा समचतुरस्रमुक्त तथा न्यग्रोधपरिमण्डलमपीत्यर्थ. । न्यग्रोधो वटवृक्षस्तद्वत्परिमण्डलं नाभीत उपरि चतुरस्रलक्षणयुक्तमधश्च तदनुरूप न भवति तस्मात्प्रमाणाद्धीनतरमिति । (एव०जाव हुंडे त्ति) इह यावत्क-रणात्-" साइखुज्जे वामणे त्ति" दृश्यम् । तत्र (साइ त्ति) सा-दीनोऽभितोऽधश्चतुरस्रलक्षणयुक्तमुपरि च तदनुरूप न भवति । (खुज्ज त्ति) कुब्जं ग्रीवाऽऽदौ हस्तपादयोश्चतुरस्रलक्षणयुक्त सङ्क्षिप्तविकृतमध्यम् । (वामणे त्ति) वामन लक्षणयुक्तमध्य ग्रीवाऽऽदौ हस्तपादयोरप्यादिलक्षणन्यूनम् । (हुंडे त्ति) हुण्डं प्राय सर्वावयवेषु आदिलक्षणविसवादोपेतमिति । भ० १४ श० ७ उ० ।

चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला पण्णत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, लोगागासे, एगजीवे ।

' चत्तारि ' इत्यादि कण्ठ्यम्, नवरं प्रदेशाग्रेण प्रदेशप्रमा-णेनेति तुल्या· समाना , सर्वेषामेषामसख्यातप्रदेशत्वात् । (लो-गागासे त्ति) आकाशस्यानन्तप्रदेशत्वेन धर्मास्तिकायाऽऽदि-भि सहातुल्यताप्रसक्तेर्लोकग्रहणम् । (एगजीवे त्ति) स-र्वजीवानामनन्तप्रदेशत्वाद् विवक्षिततुल्यताऽभावप्रसङ्गादे-कग्रहणमिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तुव-तव-त्रि० । "तइ-तु-ते-तुम्ह-तुह-तुहं-तुव०" ॥८।३।९९॥ इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मदस्तुव इत्यादेश· । प्रा०३ पाद ।

तुवं-त्वाम्-त्रि० । "त-तुं-तुम-तुवं०" ॥८।३।९२॥ इत्यादिना अमा सहितस्य युष्मदस्तुवं इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

तुवतो-त्वत्तः-त्रि० । "तइ-तुव०-" ॥ ८ । ३ । ९६ ॥ इत्यादिना ङसेः परतो युष्मदस्तुव इत्यादेश । प्रा० ३ पाद ।

तुवर-त्वर-धा० । वेगे, भ्वादि०-आत्म०-अक०-सेट् । " त्वर-स्तुवरजअडौ" ॥ ८ । ४ । १७० ॥ इति त्वरधातोः 'तुवर' इत्या-देशः । प्रा० ४ पाद । कुसुम्भोदकाऽऽदिके, बृ० ३ उ० । वृक्षवि-शेषे, औ० । नि० चू० । श्रीमल्लिजिनस्य यक्षे, स च चतुर्मुख इन्द्रायुधवर्णो गजवाहनोऽष्टभुजो वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षि-णपाणिचतुष्टयो,बीजपूरकशक्तिमुद्गराक्षसूत्रयुतवामपाणिचतुष्ट-यश्च । प्रव० २६ द्वार ।

तुवरपत्त-तुवरपत्र-न० । पलाशपत्राऽऽदिषु, नि० चू० १ उ० ।

तुवरफल-तुवरफल-न० । हरीतक्यादिषु, नि० चू० १ उ० ।

तुवाण-युष्माकम्-त्रि० । " तु-वो-भे-तुब्भ-तुब्भं-तुब्भाण-तुवाण०-" ॥ ८ । ३ । १०० ॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदः 'तुवाण' इत्यादेश । प्रा० ३ पाद ।

तुस-तुष-पु० । कोद्रवाऽऽदिषु, स्था० ८ ठा० । आचा० । धान्यत्वचि, वाच० ।

तुसमूह-तुषमूह-न० । बीजस्य तुषमूहकणिकायाम्, स्था० ८ ठा० ।

तुसागणि-तुषाग्नि-पुं० । तुषा: कोद्रवाऽऽदयस्तेषामग्निस्तद्दहनप्रवृत्तो वह्निस्तुषाग्नि: । कोद्रवाऽऽदिदहनप्रवृत्ते वह्नौ, स्था० ८ ठा० । जी० ।

तुसार-तुषार-पु० । हिमे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० ।

तुसिणीय-तूष्णीक-त्रि० । मौनिनि, उत्त० २ अ० । वचनरहिते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । वाचंयमे, उपेक्षके, स्था० ३ ठा० ३ उ० । तूष्णीं शीले, उत्त० १ अ० । आचा० ।

तुसिय-तुषित-पु० । वह्निकृष्णराजिमध्यवर्तिसुरजननामलोकान्तिकविमानदेवे, भ० ६ श० ५ उ० । स्था० । ज्ञा० । स० । असौ संज्ञाऽन्तरतो मारुतोऽप्यभिधीयते । प्रव० २६७ द्वार । आ० म० ।

तुसेअजंज-देशी-दारुणि, दे० ना० ५ वर्ग १६ गाथा ।

तुसोदग-तुषोदक-न० । व्रीह्यादिधावनजले, कल्प० ९ क्षण । ग० । स्था० ।

तुह-तव-त्रि० । "तइ-तु-ते-तुम्हं-तुह०-" ॥ ८ । ३ । ९९ ॥ इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मदस्तुह इत्यादेश: । प्रा० ३ पाद । त्वाम्-त्रि० । "तं-तुं-तुम-तुवं-तुह०-" ॥ ८ । ३ । ९२ ॥ इत्यादिना अमा सहितस्य युष्मदस्तुह इत्यादेश: । प्रा० ३ पाद ।

तुहं-तव-त्रि० । "तइ-तु-ते-तुम्ह-तुह-तुहं०-" ॥ ८ । ३ । ९९ ॥ इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मद: 'तुहं' इत्यादेश: । प्रा० ३ पाद ।

तुहग-तुहक-पु० । कन्दवनस्पतिविशेषे, उत्त० १ अ० ।

तुहतो-त्वत्त:-त्रि० । "तइ-तुव-तुम-तुह-तुब्भा ङसौ" ॥ ८ । ३ । ९६ ॥ इति पञ्चम्येकवचने परतो युष्मदस्तुह इत्यादेश: । ङसेस्तु 'तो' इत्यादेश: । प्रा० ३ पाद ।

तुहाण-युष्माकम्-त्रि० । "तु-वो-भे तुब्भ-तुब्भं-तुब्भाण-तुवाण-तुमाण-तुहाण०-" ॥ ८ । ३ । १०० ॥ इत्यादिना आमा सहितस्य युष्मदस्तुहाण इत्यादेश: । प्रा० ३ पाद ।

तुहार-युष्मदीय-त्रि० । " युष्मदादेरीयस्य डार " ॥ ८ । ४ । ४३४ ॥ इत्यपभ्रंशे युष्मदादिभ्य: परस्य ईयप्रत्ययस्य डार इत्यादेश: । प्रा० ४ पाद ।

तुहिणाचल-तुहिनाचल-पु० । हिमालयपर्वते, " बभार शिरसा स्वर्ग-वाहिनीं तुहिनाचल: ।" गा० क० ।

तूअ-देशी-इक्षुकर्मकरे, दे० ना० ५ वर्ग १६ गाथा ।

तूणइल्ल-तूणावत्-त्रि० । तूणाभिधानवाद्यवति, जी० ३ प्रति० ४ उ० । कल्प० । औ० । रा० । प्रश्न० । अनु० । ज्ञा० ।

तूणा-तूणा-स्त्री० । शराऽऽश्रये, ज० ३ वक्ष० । तूणाभिधानवाद्यविशेषे, औ० । रा० । अनु० । ज्ञा० ।

तूर-त्वर-धा० । वेगे, भ्वादि०-अक०-आत्म०-सेट् । " त्यादिशत्रोस्तूर: " ॥ ८ । ४ । १७१ ॥ इति त्वरधातोस्त्यादिशतृप्रत्यये परतस्तूर इत्यादेश: । 'तूरइ ।' त्वरते । प्रा० ४ पाद ।

तूर्य-न० । "ब्रह्मचर्य-तूर्य-सौन्दर्य-शौण्डीर्ये र्यो र:" ॥ ८ । २ । ६३ ॥ इति र्यस्य र: । प्रा० २ पाद । वादित्रभेदे, उत्त० २ अ० । ज्ञा० ।

तूरंत-त्वरमाण-त्रि० । प्राकृतत्वाच्च शतृप्रत्यय: । " त्यादिशत्रोस्तूर: " ॥ ८ । ४ । १७१ । इति त्वरधातो: शतृप्रत्यये परतस्तूर इत्यादेश: । सम्भ्राम्यति, प्रा० ४ पाद ।

तूरवइ-तूर्यपति-पु० । नटमहत्तरे, बृ० १ उ० ।

तूरसद्द-तूर्यशब्द-पु० । तूर्यशब्देनाभिधीयते संनिनादे, विशे० ।

तूल-तूल-न० । अर्कतूले, सू० प्र० २० पाहु० । आचा० । भ० । आ० म० । कल्प० ।

तूलकड-तूलकृत-त्रि० । अर्काऽऽदितूलनिष्पन्ने, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

तूलिणी-देशी-शाल्मल्याम्, दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।

तूलिया-तूलिका-स्त्री० । सस्कृततूलाऽऽदिभृते शयनोपकरणे, ग० ३ अधि० । वालमय्यां, चित्रलेखनकूर्चिकायां च । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

तूली-तूली-स्त्री० । मप्रतिलेख्यदूष्यविशेषे, जीत० । ज० । सस्कृततूलाऽऽदिभृते अर्कतूलाऽऽदिभृते वा शयनोपकरणे, बृ० ३ उ० ।

तूवर-तूवर-पु० । कषाये, रा० । काले अजातशृङ्गे गवि, अजातश्मश्रुके पुरुषे, कषायरसवति, त्रि० । आढक्या, सौराष्ट्रमृत्तिकायां च । स्त्री० । ङीप् । वाच० ।

तूस-तूष-धा० । तोषे, दिवा०-पर०-अक०-अनिट् । "रुषाऽऽदीनां दीर्घ: " ॥ ८ । ४ । २३६ ॥ इति दीर्घ: । 'तूसइ ।' तुष्यति । प्रा० ४ पाद ।

तूह-तीर्थ-न० । "ह्रु:खदक्षिणतीर्थे वा" ॥ ८ । २ । ७२ ॥ इति सयुक्तस्य तीर्थशब्दस्य थस्य ह: । प्रा० ४ पाद । " तीर्थे हे " ॥ ८ । १ । १०४ ॥ इति तीर्थशब्दे हे सति ईत ऊत्वम् । प्रा० ४ पाद । शास्त्रे, यज्ञे, क्षेत्रे, उपाये, स्त्रीरजसि, नद्यादेरवतरणे, घट्टाऽऽदौ, विद्याऽऽदिगुणयुतपात्रे, उपाध्याये, मन्त्रिणि, योनौ, दर्शने, ब्राह्मणे, आगमे, निदाने, अग्नौ, उपकूपजलाऽऽशये, दैहिके मानसिके भौमिके त्रिविधे पवित्रस्थाने, वाच० ।

तूहण-देशी-पुरुषे, दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।

तृणु-तनु-स्त्री० । " स्वराणां स्वरा: प्रायोऽपभ्रंशे " ॥ ८ । ४ । ३२९ ॥ इत्यपभ्रंशे स्वरस्थाने स्वर: । तणु । तिणु । तृणु । प्रा० ४ पाद । देहे, अल्पे, विरले, कृशे च । त्रि० । वाच० ।

ते-त्वया-त्रि० । " भे-दि-दे-ते०- " ॥ ८ । ३ । ९४ ॥ इत्यादिना टासहितस्य युष्मदस्ते इत्यादेश: । प्रा० ३ पाद ।

तव-त्रि० । "तइ-तु-ते०-" ॥ ८ । ३ । ९९ ॥ इत्यादिना ङसा सहितस्य युष्मदस्ते इत्यादेश: । प्रा० ३ पाद । दश० ।

तस्मिन्-पु० । प्राकृतशैलीवशात्तस्मिन्नित्यस्य स्थाने 'ते' इत्यादेश: । " ते णं कालेणं ते णं समए णं " । रा० । ज० । कल्प० । ('काल' शब्दे व्याख्यातम्) तच्छब्दस्य प्रथमाबहुवचने इति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तेअव-प्रदीप-धा० । प्रकर्षेण दीप्तौ, दिवा०-आत्म०-अक०-सेट् । " प्रदीपेस्तेअव-सन्दुम- सन्धुक्काब्भुत्ता: " ॥ ८ । ४ । १५२ ॥ इति प्रोपसर्गसहितस्य दीपधातो: 'तेअव' इत्यादेश: । 'तेअवइ' पक्षे- 'पलीवइ ।' प्रदीप्यते । प्रा० ४ पाद ।

तेत्रा—तेजस्—स्त्री० । त्रयोदश्याम्, जं० ७ वक्ष० ।

तेइंदिय—त्रीन्द्रिय-पुं० । त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः । कर्म० ४ कर्म० । जी० । यूकामत्कुणगर्दभेन्द्रगोपकुन्थुमत्कोटपिपीलिकोपदेहिकाकर्पासास्थिकत्रपुसबीजकतुम्बुरुकाऽऽदिषु, पं० सं० १ द्वार । उत्त० । आव० । आ० म० ।

सम्प्रति त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापनाऽर्थमाह—

से किं तं तेइंदियसंसारसमावन्नजीवपण्णवणा ?। तेइंदियसंसारसमावन्नजीवपण्णवणा अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा—उवाइया, रोहिणिया, कुंथू, पिपीलिया, उद्देसगा, उद्देहिया, उक्कलिया, उप्पाया, उप्पमा, तणहारा, कट्ठहारा, पत्तहारा, मालुंया, तणविंटिया, पत्तविंटिया, पुप्फविंटिया, फलविंटिया, बीयविंटिया, तेंबुरुमिंजिया, तउसमिंजिया, कप्पासट्ठिमिंजिया, हिल्लिया, झिल्लिया, झिंगिरा, भिंगिरिमा, बाहुया, लहुया, सुरगा, सोवत्थिया, सुयवेंटा, इंदकाइया, इंदगोवया, तुरतुवगा, कोत्थलवाहगा, जूया, हालाहला, पिसुया, सतवाइया, गोम्ही, कण्हसियालिया (हत्थिसोंडा), जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते संमुच्छिमणपुंसगा । ते समासओ दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । एएसि णं एवमाइयाणं तेइंदियाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं अट्ठ जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा हवंतीति मक्खायं । सेत्तं तेइंदियसंसारसमावन्नजीवपण्णवणा ॥

(से किं तमित्यादि) अथ का सा त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना ?। भगवानाह—त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना अनेकविधा प्रज्ञप्ता। तानेव तद्यथेत्यादिनोपदर्शयति। एते च औपचयिकप्रभृतयस्त्रीन्द्रिया देशविशेषतो लोकतश्चावगन्तव्याः । नवरं (गोम्ही कण्हसियालिया जे यावन्ने तहप्पगारा) येऽपि चान्ये तथाप्रकारास्ते सर्वे त्रीन्द्रिया ज्ञातव्या इति शेष। (ते सव्वे समुच्छिमनपुंसगा) इत्यादि पूर्ववत् । (एतेसि णमित्यादि) एतेषां त्रीन्द्रियाणामेवमादिकानामौपचयिकप्रभृतीनां पर्याप्ताऽपर्याप्तानां सर्वसङ्ख्यया अष्टौ जातिकुलकोटीनां योनिप्रमुखाणि योनिप्रवाहाणि शतसहस्राणि भवन्ति, अष्टौ कुलकोटिलक्षा भवन्तीति भाव । इत्याख्यातं तीर्थकृद्भिः । उपसंहारमाह—(सेत्तमित्यादि) तदेवमुक्ता त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना । प्रज्ञा० १ पद । जी० । स्था० ।

अथ त्रीन्द्रियानाह—

से किं तं तेइंदिया ?। तेइंदिया अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा—भेओ जहा पण्णवणाए । उवइया, रोहिणिया, हत्थिसोंडा, जे यावन्ने तहप्पगारा, ते समासतो दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—पज्जत्ता य, अपज्जत्ता य। तहेव जहा बेइंदियाणं, णवरं सरीरोगाहणा, उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं ठिती, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं एगूणपण्णराइंदियाण, सेसं तहेव दुगतिया दुआगतिआ परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता । सेत्तं तेइंदिया ।

(से किं तमित्यादि) अथ के ते त्रीन्द्रियाः ?। सूरिराह-त्रीन्द्रिया अनेकविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-(भेओ जहा पण्णवणाए) भेदो यथा प्रज्ञापनायां तथा वक्तव्यः । स चैवम्-"उवाइया, रोहिणिया, कुंथू, पिपीलिया, उद्देसगा, उद्देहिया, उक्कलिया, उप्पाया, उप्पमा, तणहारा, कट्ठहारा, पत्तहारा, मालुया, तणबेंटका, पत्तबेंटका, पुप्फबेंटया, फलबेंटया, बीयबेंटया, तंबुरुमिंजिया, तउसमिंजिया, कप्पासट्ठिमिंजिया, हिल्लिया, झिल्लिया, झिंगिरा, झिंगिरडा, बाहुया, लहुया, सुरगा, सोवत्थिया, सुयबेंटा, इंदकाइया, इंदगोवया, तुरतुगवा, कोत्थलवाहगा, जूया, हालाहला, पिसुया, सतवाइया, गोम्ही, हत्थिसोंडा । " इति । एते च केचिद्तिप्रतीताः, केचिद्देशविशेषतोऽवगन्तव्याः । नवरम्-(गोम्ही कण्हसियाली जे यावण्णे तहप्पगारा इति) येऽपि चान्ये तथाप्रकारा एवंप्रकारास्ते सर्वे त्रीन्द्रिया ज्ञातव्याः । (ते समासतो इत्यादि) समस्तमपि सूत्रं द्वीन्द्रियवत् परिभावनीयं, नवरमवगाहनाद्वारे उत्कर्षतो अवगाहना त्रीणि गव्यूतानि, इन्द्रियद्वारे त्रीणि इन्द्रियाणि, स्थितिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षत एकोनपञ्चाशद् रात्रिन्दिवानि । शेषं तथैव।उपसंहारमाह-(सेत्तं तेइंदिया) उक्तास्त्रीन्द्रियाः । जी० १ प्रति० ।

त्रीन्द्रियवक्तव्यतामाह-

तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १३७ ॥
कुंथू पिवीलिया दंसा, उक्कुद्देहिया तहा ।
तणहार कट्ठहारा य, मालुंगा पत्तहारगा ॥ १३८ ॥
कप्पासट्ठिमिंजा य, तिंदुगा तउसमिंजगा ।
सतावरी य गुम्मी य, बोधव्वा इंदकाइया ॥ १३९ ॥
इंदगोवगमाईयाऽणेगहा एवमाइआ ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥१४०॥
संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ १४१ ॥
एगूणवण्णऽहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया ।
तेइंदिअआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १४२ ॥
संखेज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णगं ।
तेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १४३ ॥
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
तेइंदियजीवाणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १४४ ॥
एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणदेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १४५ ॥

एतदपि पूर्ववन्नवरं त्रीन्द्रियोच्चारण विशेषः, तथा कुन्थवोऽनुद्धरिप्रभृतय, पिपीलिका कीटिका , गुम्मी शतपदी । एवमन्येऽपि यथासंप्रदायं वाच्याः । एकोनपञ्चाशदहोरात्राण्यायुःस्थितिरिति । उत्त० ३६ अ० । पिं० । ओ० । भ० । (त्रीन्द्रियाणां परिभोग 'परिभोग' शब्दे वक्ष्यते)

तेइच्छ—चैकित्स्य—न० । चिकित्साया भावश्चैकित्स्यम् । व्याधिप्रतिक्रियारूपे, दश० ३ अ० । आचा० ।

तेइच्छिय-चैकित्स्यिक-त्रि० । वैद्ये, वृ० १ उ० ।

तेउ-तेजस्-न० । उष्णोद्योतलक्षणे, सूत्र०२ श्रु०१ अ०। उष्ण-रूपे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । पक्तृगुणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोः पूर्वदिग्लोकपाले, पु० । स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

तेउकंत-तेजस्कान्त-पु० । अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोरुत्तरदिग्लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

तेउक्काइय-तेजस्कायिक-पुं० । तेजो वह्निः, तदेव कायः शरीरं येषां ते तेजस्कायाः, तेजस्काया एव स्वार्थिके कप्रत्ययविधानात्तेजस्कायिकाः । जी०१ प्रति०। प्रज्ञा०। एकेन्द्रियजीवभेदे, दश०।

अथ तेजसो जीवत्वसिद्धिमाह-

तेउ चित्तमंत-मक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥ ३ ॥

सात्मकोऽग्निः, आहारेण वृद्धिदर्शनात्, बालकवत् । दश० ४ अ० । तेजः सात्मकमाहारोपादानात् तद्वृद्धिविशेषोपलब्धेः, तद्विकारदर्शनाच्च, पुरुषवत् । आह च- " अपरप्पेरियतिरिया-नियमियदिग्गमणओ निलोगो व्व । अनलो आहाराओ, विद्धि-विगारोवलम्भाओ " ॥ १ ॥ इति । स्था० १ ठा० । सूत्र० । व्य० । विशे० ।

सम्प्रति तेजस्कायिकानाह-

से किं तं तेउक्काइया ? । तेउक्काइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सुहुमतेउक्काइया य, बादरतेउक्काइया य । से किं तं सुहुमतेउक्काइया ? । सुहुमतेउक्काइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । सेत्तं सुहुमतेउक्काइया । से किं तं बादरतेउक्काइया ? । बादरतेउक्काइया अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा-इंगाले, जाला, मुम्मुरे, अच्ची, अलाए, सुद्धागणी, उक्का, विज्जू, असणी, णिग्घाए, संघरिससमुट्ठिए, सूरकंतमणिणिस्सिए, जे यावण्णे तहप्पगारा, ते समासओ दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा, ते णं असंपत्ता । तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा एएसिं वण्णादेसेणं गंधादेसेणं रसादेसेणं फासादेसेणं सहस्सग्गसो विहाणाइं संखिज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं पज्जत्तगाणिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ णियमा असंखेज्जा । सेत्तं बादरतेउक्काइया, सेत्तं तेउक्काइया ।

(से किं तमित्यादि) सुगमं, नवरमङ्गारो विगतधूमः, ज्वाला आज्वल्यमानः, खादिराऽऽदिज्वालाऽनलसम्बद्धा दीपशिखेत्यन्ये । मुर्मुरः फुम्फुकाऽऽदौ भस्ममिश्रिताग्निकणरूपः, अर्चिरनलाप्रतिबद्धा ज्वाला, अलातमुल्मुकं, शुद्धाऽग्निरयःपिण्डाऽऽदौ, उल्का चुडुल्ली, विद्युत्प्रतीता, अशनिराकाशे पतदग्निमयः कणः, निर्घातो वैक्रियाशनिप्रपातः, संघर्षसमुत्थितोऽरण्याऽऽदिकाष्ठनिर्मथनसमुद्भूतः, सूर्यकान्तमणिनिःसृतः-सूर्यखरकिरणसम्पर्के सूर्यकान्तमणेर्यः समुपजायते, (जे यावण्णे तहप्पगारा इति) येऽपि चान्ये तथाप्रकारा एवंप्रकारास्तेजस्कायिकाः, तेऽपि बादरतेजस्कायिकतया वेदितव्याः, ते समासतो इत्यादि प्राग्वत् । नवरमत्रापि सङ्ख्येयानि योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणि सप्त वेदितव्यानि । प्रज्ञा० १ पद ।

अथ तेजस्कायिकप्रतिपादक उद्देशकः समारभ्यते । तस्य चोपक्रमाऽऽदीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि तावद्यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे तेजउद्देशक इति नाम, तत्र तेजसो निक्षेपाऽऽदीनि द्वाराणि वाच्यानि, अत्र च पृथिवीविकल्पतुल्यत्वात् केषाञ्चिदतिदेशो द्वाराणामपरेषां तद्विलक्षणत्वात् अपोद्धार इत्येतद् द्वयमुररीकृत्य निर्युक्तिकृद् गाथामाह-

तेउस्स वि दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्तं तु विहाणे, परिमाणुवभोगसत्थे य ॥११६॥

(तेउस्स वीत्यादि) तेजसोऽप्यग्नेरपि द्वाराणि निक्षेपाऽऽदीनि, यानि पृथिव्याः समधिगमेऽभिहितानि, तान्येव वाच्यानि । अपवादं दर्शयितुमाह-नानात्वं भेदो विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रेषु, तुरवधारणे । विधानाऽऽदिष्वेव च नानात्वं, नान्यत्रेति । चशब्दाल्लक्षणद्वारपरिग्रहः ॥ ११६ ॥

यथाप्रतिज्ञातनिर्वहणार्थमादिद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह-

दुविहा य तेउजीवा, सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि ।
सुहुमा य सव्वलोए, पचेव य बायरविहाणा ॥११७॥

(दुविहेत्यादि) स्पष्टा ॥ ११७ ॥

बादरपञ्चभेदप्रतिपादनायाऽऽह-

इंगाल अगणि अच्ची, जाला तह मुम्मुरे य बोधव्वे ।
बायरतेउविहाणा, पंचविहा वन्निया एए ॥११८॥

(इंगालेत्यादि) दग्धेन्धनो विगतधूमज्वालोऽङ्गारः-इन्धनस्थः प्लोषक्रियाविशिष्टरूपः, तथा विद्युदुल्काऽशनिसंघर्षसमुत्थितः सूर्यमणिसंसृताऽऽदिरूपश्चाग्निः, दाहाप्रतिबद्धो ज्वालाविशेषोऽर्चिः, ज्वाला छिन्नमूलाऽनलाङ्गारप्रतिबद्धा, प्रविरलाग्निकणानुविद्धं भस्म मुर्मुरः । एते बादरा अग्निभेदाः पञ्च भवन्तीति । एते च बादराग्नयः स्वस्थानाङ्गीकरणान्मनुष्यक्षेत्रेऽर्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेष्वव्याघातेन पञ्चदशसु कर्मभूमिषु व्याघाते सति पञ्चसु विदेहेषु, नान्यत्र, उपपाताङ्गीकरणेन लोकासङ्ख्येयभागवर्त्तिनः । तथा चाऽऽगमः-"उववाएण दोसु उड्ढकवाडेसु तिरियलोयतट्टे य ।" अस्यायमर्थः-अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रबाहल्ये पूर्वापरदक्षिणोत्तरस्वयम्भूरमणपर्यन्ताऽऽयते ऊर्द्धाधोलोकप्रमाणे कपाटे तयोः प्रविष्टा बादराग्निपृत्पद्यमानकास्तद्व्यपदेशं लभन्ते । तथा-(तिरियलोयतट्टे य त्ति) तिर्यग्लोकस्थालके च व्यवस्थितो बादराग्निपृत्पद्यमानो बादराग्निव्यपदेशभाग् भवति ॥ अन्ये तु व्याचक्षते-तयोस्तिष्ठन्तीति तत्स्थं, तिर्यग्लोकश्चासौ तत्स्थश्च तिर्यग्लोकतत्स्थस्तु । तत्र च स्थितः वक्ष्यमाणबादराग्निव्यपदेशमासादयति । अस्मिंश्च व्याख्याने कपाटान्तर्गत एव गृह्यते, स च द्वयोरूर्द्ध्वकपाटयोरित्यनेनैवोपात्त इति तद्व्याख्यानाभिप्रायं न विद्मः । कपाटस्थापना चेयम्-समुद्घातेन सर्वलोकवर्त्तिनः, ते च पृथिव्यादयो मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता बादराग्निपृत्पद्यमानास्तद्व्यपदेशभाजः सर्वलोकव्यापिनो भवन्ति । यत्र च बादराः पर्याप्तकास्तत्रैव बादरा अपर्याप्तकाः, तन्निश्रया तेषामुत्पद्यमानत्वात् । तदेवं सूक्ष्मा बादराश्च पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन प्रत्येकं द्विधा भवन्ति । एते च वर्णगन्ध-

रसस्पर्शाऽऽदेशैः सहस्राग्रशो भिद्यमानाः सङ्ख्येययोनिप्रमुखशतसहस्रभेदपरिमाणा भवन्ति। तत्रैषां संवृता योनिरुष्णा च सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा। सप्त चैषां योनिलक्षा भवन्ति॥ ११८॥

साम्प्रत चशब्दसमुच्चितं लक्षणद्वारमाह-

जह देहप्परिणामो, रत्तिं खज्जोयगस्स सा उवमा।
जरियस्स य जह उम्हा, तह उवमा तेउजीवाणं॥११९॥

(जहेत्यादि) यथेतिदृष्टान्तोपन्यासार्थः। देहपरिणाम प्रतिविशिष्टा शरीरशक्तिः, रात्राविति विशिष्टकालनिर्देशः। खद्योतक इति प्राणिविशेषपरिग्रहः। यथा तस्याऽसौ देहपरिणामो जीवप्रयोगनिर्वृत्तशक्तिराविर्भवति, एवमङ्गाराऽऽदीनामपि प्रतिविशिष्टा प्रकाशाऽऽदिशक्तिरनुमीयते जीवप्रयोगविशेषाऽऽविर्भावितेति। यथा वा-ज्वरोष्मा जीवप्रयोग नातिवर्त्तते, जीवाधिष्ठितशरीरकानुपात्येव भवति, एवैवोपमाऽऽग्नेयजन्तूनाम्, न च मृता ज्वरिणः क्वचिदुपलभ्यन्ते, एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामग्ने सचित्तता सुक्षुण्णग्रन्थोपपत्तिमुखेन प्रतिपादिता। सम्प्रति प्रयोगमारोप्यतेऽयमेवार्थः-जीवशरीराण्यङ्गाराऽऽदय, छेद्यत्वाऽऽदिहेतुगणान्वितत्वात्, सास्नाविषाणाऽऽदिसङ्घातवत्, तथा आत्मसयोगाऽऽविर्भूतोऽङ्गाराऽऽदीनां प्रकाशपरिणामः, शरीरस्थत्वात्, खद्योतकदेहपरिणामवत्, तथा-आत्मसप्रयोगपूर्वकोऽङ्गाराऽऽदीनामूष्मा, शरीरस्थत्वात्, ज्वरोष्मवत्। न चाऽऽदित्याऽऽदिभिरनेकान्तः। सर्वेषामात्मप्रयोगपूर्वक यत उष्णपरिणामभाक्त्व तस्मान्नानेकान्तः, तथा सचेतन तेजो, यथायोग्याऽऽहारोपादानेन वृद्धिविशेषतद्विकारवत्त्वात्, पुरुषवत्। एवमादिना लक्षणेनाऽऽग्नेया जन्तवोऽवसेयाः॥ ११९॥ इत्युक्त लक्षणद्वारम्।

अथ परिमाणद्वारमाह-

जे बायरपज्जत्ता, पलियस्स असंखभागमेत्ता उ।
सेसा तिन्नि वि रासी, वीसुं लोगा असंखेज्जा॥१२०॥

(जे बायरेत्यादि) ये बादरपर्याप्तानलजीवाः क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागमात्रवर्त्तिप्रदेशराशिपरिमाणा भवन्ति, ते पुनर्बादरपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्योऽसख्येयगुणहीनाः, शेषास्त्रयोऽपि राशयः पृथ्वीकायवद्भावनीयाः। किं तु बादरपृथिवीकायापर्याप्तकेभ्यो बादराऽऽग्नेयपर्याप्तका असख्येयगुणहीनाः सूक्ष्मपृथिवीकायापर्याप्तकेभ्य सूक्ष्माऽऽग्नेयापर्याप्तका विशेषहीनाः, सूक्ष्मपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माऽऽग्नेयपर्याप्तका विशेषहीना इति॥ १२०॥

साम्प्रतमुपभोगद्वारमाह-

दहणे पयावणपगा-सणे य सेए य भत्तकरणे य।
बायरतेउक्काए, उवभोगगुणा मणुस्साणं॥ १२१॥

(दहणेत्यादि) दहन-शरीराऽऽद्यवयवस्य वाताऽऽद्यपनयनार्थं, प्रकृष्ट तापन प्रतापन-शीतापनोदाय, प्रकाशकरणमुद्द्योतकरण-प्रदीपाऽऽदिना, भक्तकरणमोदनाऽऽदिरन्धनम्, स्वेदो-ज्वरविशूचिकाऽऽदीनाम। इत्येवमादिष्वनेकप्रयोजनेषूपस्थितेषु मनुष्याणां बादरतेजस्कायविषया उपभोगरूपा गुणा उपभोगगुणा भवन्तीति॥ १२१॥

तदेवमेवमादिभिः कारणैः समुपस्थितैः सततमारम्भप्रवृत्ता गृहिणो यत्याभासा वा सुखैषिणस्तेजस्कायजन्तून् हिंसन्तीति दर्शयितुमाह-

एएहिं कारणेहिं, हिंसंति उ तेउकाइए जीवे।
सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति॥ १२२॥

(एएहिं इत्यादि) एतैर्दहनाऽऽदिभिः कारणैस्तेजस्कायिकान् जीवान् हिंसन्तीति सघट्टनपरितापनाऽपद्रावणानि कुर्वन्ति, सातं सुखं तदात्मनोऽन्विष्यन्त. परस्य बादराग्निकायस्य, दुःखमुदीरयन्त्युत्पादयन्तीति॥ १२२॥

साम्प्रत शस्त्रद्वारम्, तच्च द्रव्यभावशस्त्रभेदात् द्विधा,
द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदात् द्विधैव,
तत्र समासतो द्रव्यशस्त्रप्रतिपादनायाऽऽह-

पुढवी आउक्काए, उल्ला य वणस्सई तसा पाणा।
बायरतेउक्काए, एयं तु समासओ सत्थं॥ १२३॥

पृथिवी धूलिः, अप्कायश्च आर्द्रश्च वनस्पतिः त्रसाश्च प्राणिनः, एतद् बादरतेजस्कायजन्तूनां समासतः सामान्येन शस्त्रमिति॥ १२३॥

विभागतो द्रव्यशस्त्रमाह-

किंची सकायसत्थं, किंची परकाएँ तदुभयं किंची।
एयं तु दव्वसत्थं, भावे य असंजमो सत्थं॥ १२४॥

(किंचीत्यादि) किञ्चिच्छस्त्रं स्वकाय एव अग्निकाय एवाग्निकायस्य। तद्यथा-तार्णोऽग्निः पारणाग्नेः शस्त्रमिति। किञ्चित् परकायशस्त्रमुदकाऽऽदि। उभयशस्त्र पुनस्तुषकरीषाऽऽदिव्यतिमिश्रोऽग्निरपराग्नेः। तुशब्दो भावशस्त्रापेक्षया विशेषणार्थः। एतत्तु पूर्वोक्त समासविभागरूपं पृथवीस्वकायाऽऽदिद्रव्यशस्त्रमिति। भावशस्त्रं दर्शयति-भावे शस्त्रमसंयमो दुःप्रणिहितमनोवाक्कायलक्षण इति॥ १२४॥

अथोपसंहारमाह-

सेसाइं दाराइं, ताइं जाइं हवंति पुढवीए।
एवं तेउद्देसे, निज्जुत्ती कित्तिया एसा॥॥ १२५॥

(सेसाणीत्यादि) उक्तशेषाणि द्वाराणि तान्येव, यानि पृथिव्युद्देशकेऽभिहितानि। एवमुक्तप्रकारेण, तेजस्कायाभिधानोद्देशके निर्युक्तिः कीर्तिता व्यावर्णिता भवतीति॥१२५॥

साम्प्रत सूत्रानुगमे स्खलिताऽऽदिगुणोपेत सूत्रमुच्चारणीयम्। तच्चेदम्-

से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा,णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा,जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ॥३१॥

(से बेमीत्यादि) अस्य च सम्बन्ध प्राग्वद्वाच्य इति। येन मया सामान्याऽऽत्मपदार्थपृथिव्यप्कायजीवप्रविभागव्यावर्णनमकारि स एवाहमव्यवच्छिन्नज्ञानप्रवाहस्तेजोजीवस्वरूपोपलम्भसमुपजनितजिनवचनसमदो ब्रवीमि। किं पुनस्तदिमि दर्शयति-(नेवेत्यादि) इह हि प्रकरणसम्बन्धाल्लोकशब्देनाग्निकायलोकोऽभिधित्सितः, अतस्तमग्निलोक जीवत्वेन नैव स्वयमात्मनाऽभ्याचक्षीत, नैवापह्नुवीतेत्यर्थः। एतदभ्याख्याने ह्यात्मनोऽपि ज्ञानाऽऽदिगुणकलापानुमितस्याभ्याख्यानमवाप्नोति। अथ च प्राक् साधितत्वादभ्याख्यान नैवाऽऽत्मनो न्याय्यम्, एव तेजस्कायस्यापि प्रसाधितत्वात् अभ्याख्यानं क्रियमाण न युक्तिपथम-

वतराति । एवं चास्य युक्त्यागमबलप्रसिद्धस्याभ्याख्याने क्रियमाणे सत्यात्मनोऽप्यद्दप्रत्ययसिद्धस्याभ्याख्यान प्रवतः प्राप्तम् । एवमस्त्विति चेत्, तन्नेति दर्शयति-(नेव अत्ताण अन्भाइक्खेज्जा) नैवाऽऽत्मान-शरीराधिष्ठातार ज्ञानगुण प्रत्यात्मसंवेद्य प्रत्याचक्षीत, तस्य शरीराधिष्ठातृत्वेनाऽऽहृतमिद शरीर केनचिदभिसन्धिमता,तथा त्यक्तमिदं शरीरं केनचिदभिसन्धिमतैवेत्येवमादिभिर्हेतुभिः प्रसाधितत्वात् । न च प्रसाधितप्रसाधन पिष्टपेषणवद् विद्वज्जनमनांसि रञ्जयति । एवञ्च सत्वात्मवत्प्रसाधितमग्निलोक य. प्रत्याचक्षीत सोऽतिसाहसिक आत्मानमभ्याख्याति निराकरोति,यश्चाऽऽत्माभ्याख्यानप्रवृत्त. स सर्वेषामग्निलोकमभ्याख्याति, सामान्यपूर्वकत्वाद्विशेषाणाम्, सति ह्यात्मसामान्ये पृथिव्याद्यात्मविशेषाः सिद्धन्ति, नान्यथा, सामान्यस्य विशेषव्यापकत्वात्; व्यापकविनिवृत्तौ च व्याप्यस्याप्यवश्यंभाविनी विनिवृत्तिरिति कृत्वा । एवमयमग्निलोक. सामान्याऽऽत्मवन्नाभ्याख्यातव्य इति प्रदर्शितम् ।

अधुनाऽग्निजीवप्रतिपत्तौ सत्यां तद्विषयसमारम्भकटुकफलपरिहारोपन्यासाय सूत्रमाह-

जे दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे ।

(जे दीहेत्यादि) य इति मुमुक्षुर्दीर्घलोको-वनस्पतिर्यस्मात्सौ कायस्थित्या परिमाणेन शरीरोच्चत्वेन च शेषकेन्द्रियेभ्यो दीर्घो वर्तते । तथाहि-कायस्थित्या तावत् "वणस्सइकाइए णं भंते ! वणस्सइकाए त्ति कालओ केवचिर होइ ? । गोयमा ! अणंतं काल अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ, खेत्तओ अणंता लोया असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागे ।" परिमाणतस्तु-"पडुप्पन्नवणस्सइकाइयाणं भंते ! केवतिकालस्स निल्लेवणा सिया ? । गोयमा ! पडुप्पन्नवणस्सइकाइयाण नत्थि निल्लेवणा ।" तथा शरीरोच्चत्वात् दीर्घो वनस्पति. । " वणस्सइकाइयाणं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! साइरेगं जोयणसहस्स सरीरोगाहणा ।" न तथाऽन्येषां एकेन्द्रियाणाम्,अतः स्थितमेतत्सर्वथा दीर्घलोको वनस्पतिरिति । अस्य च शस्त्रमग्निः, यस्मात्स हि प्रवृद्धज्वालाकलापाऽऽकुल सकलतरुगणप्रध्वसनाय प्रभवति, अतोऽसौ तदुत्सादकत्वाच्छस्त्रम् । ननु च सर्वलोकप्रसिद्धया कस्मादग्निरेव नोक्त ?, किं वा प्रयोजनमुररीकृत्योक्त दीर्घलोकशस्त्रमिति ? । अत्रोच्यते-प्रेक्षापूर्वकारितया, न निरभिप्रायमेतत्कृतमिति । यस्मादयमुत्पाद्यमानो ज्वाल्यमानो वा हव्यवाह समस्तभूतग्रामघाताय प्रवर्तते, वनस्पतिदाहप्रवृत्तस्तु बहुविधसत्त्वसहतिविनाशकारी विशेषत स्यात्, यतो वनस्पतौ कृमिपिपीलिकाभ्रमरकपोतश्वापदाऽऽदयः सम्भवन्ति, तथा पृथिव्यपि तरुकोटरव्यवस्थिता स्यात्, आपोऽप्यवश्यायरूपा., वायुरपीषच्चलस्वभावकोमलकिशलयानुसारी सभाव्यते । तदेवमग्निसमारम्भप्रवृत्त एतावतो जीवान्नाशयति, अस्यार्थस्य सूचनाय दीर्घलोकशस्त्रग्रहणमकरोत् सूत्रकार इति ।

तथा चोक्तम्-

" जायतेय न इच्छंति, पावग जलइत्तए ।
तिक्खमन्नयर सत्थ, सव्वओ वि दुरासयं ॥ ३३ ॥
पाईण पडिण वा वि, उड्ढं अणुदिसामवि ।
अहे दाहिणओ वा वि, दहे उत्तरओ वि य ॥ ३४ ॥
भूयाण-मेस-माघाओ, हव्ववाहो न ससओ ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारभे ॥ ३५ ॥" (दश० ६ अ०)

अथवा बादरतेजस्काया पर्याप्तकाः स्तोका', शेषाः पृथिव्यादयो जीवकाया बहवः, भवस्थितिरपि त्रीण्यहोरात्राणि स्वल्पा, इतरेषां पृथिव्यप्वायुवनस्पतीनां यथाक्रम द्वाविंशतिसप्तत्रिदशवर्षसहस्रपरिमाणा दीर्घा भवस्थिति इति । अतो दीर्घलोकः-पृथिव्यादि', तस्य शस्त्रमग्निकाय., तस्य क्षेत्रज्ञो निपुणोऽग्निकाय वर्णाऽऽदितो जानातीत्यर्थ' । खेदज्ञो वा,खेद -तद्व्यापारः सर्वसत्त्वानां दहनाऽऽत्मक. पाकाऽऽद्यनेकशक्तिकलापोपचितः प्रवरमणिरिव जाज्वल्यमानो लब्धाग्निव्यपदेशः यतीनामनारम्भणीय', तमेवंविध खेदमग्निव्यापार जानातीति खेदज्ञः, अतो य एव दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञ. स एवाशस्त्रस्य सप्तदशभेदस्य सयमस्य खेदज्ञ' । संयमो हि न कञ्चिज्जीव व्यापादयति, अतोऽशस्त्रम् । एवमनेन सयमेन सर्वसत्त्वाभयप्रदायिनाऽनुष्ठीयमानेनाग्निजीवविषयः समारम्भः शक्य परिहर्तुं पृथिव्यादिकायसमारम्भश्चेत्येवमसौ सयमे निपुणमतिर्भवति, ततश्च निपुणमतित्वाद्विदितपरमार्थोऽग्निसमारम्भाद् व्यावृत्य सयमानुष्ठाने प्रवर्तते ।

इदानीं गतप्रत्यागतलक्षणेनाविनाभावित्वप्रदर्शनार्थं विपर्ययेण सूत्रावयवपरामर्शं करोति-

जे असत्थस्स खेयण्णे, से दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे॥३२॥

(जे असत्थस्स इत्यादि) यश्चाशस्त्रे सयमे निपुण., स खलु दीर्घलोकशस्त्रस्याग्ने , क्षेत्रज्ञ. खेदज्ञो वा, सयमपूर्वक ह्यग्निविषयखेदज्ञत्वम् । अग्निविषयखेदज्ञतापूर्वकं च सयमानुष्ठानम्, अन्यथा तदसमव एवेत्येतद्गतप्रत्यागतफलमाविर्भावित भवति ।

कै' पुनरिदमेवमुपलब्धमित्यत आह-

वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं,

(वीरेहीत्यादि) अथवा सद्वक्तृप्रसिद्धौ सत्यां वाक्यप्रसिद्धिर्भवति, इत्यत उपदिश्यते-(वीरेहीत्यादि) घनघातिकर्मसंघातविदारणानन्तरप्राप्तातुलकेवलश्रिया विराजन्त इति वीरा.-तीर्थकरा , तैर्वीरैरर्थतो दृष्टमेतद्गणधरैश्च सूत्रतोऽग्निशस्त्र द्रव्यम्, अशस्त्र सयमस्वरूप चेति । किं पुनरनुष्ठायेद तैरुपलब्धमिति ? । अत्रोच्यते-(अभिभूयेति) अभिभवो नामाऽऽदिश्चतुर्धा, द्रव्याभिभवो रिपुसेनाऽऽदिपराजयः, आदित्यतेजसा वा चन्द्रग्रहनक्षत्राऽऽदितेजोऽभिभव., भावाभिभवस्तु—परीषहोपसर्गानीकज्ञानदर्शनाऽऽवरणमोहान्तरायकर्मनिर्दलन, परीषहोपसर्गाऽऽदिसेनाविजयाद्विमल चरण, चरणशुद्धेर्ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मक्षय', तत्क्षयाच्चिरावरणमप्रतिहतमशेषज्ञेयग्राहि, केवलज्ञानमुपजायते । इदमुक्तम्भवति-परीषहोपसर्गज्ञानदर्शनाऽऽवरणीयमोहान्तरायाण्यभिभूय केवलमुत्पाद्य तैरुपलब्धमिति ।

यथाभूतैस्तैरिदमुपलब्ध तद्दर्शयति-

संजएहिं सया जत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं ॥ ३३ ॥

सम्यग् यताः सयताः प्राणातिपाताऽऽदिभ्यस्तै , तथा सदा सर्वकाल चरणप्रतिपत्तौ मूलोत्तरगुणभेदायां निरतिचारत्वाद्यतवन्तस्तैः, तथा सदा सर्वकाल न विद्यते प्रमादो मद्यविषयकषायविकथानिद्राऽऽख्यो येषां ते प्रमत्ता , तैरेवंभूतैर्महावीरैः केवलज्ञानचक्षुषेद दीर्घलोकशस्त्रम्, अशस्त्र च सयमो दृष्ट-

मुपलब्धमिति । अत्र च यत्नग्रहणादीर्यासमित्यादयो गुणा गृह्यन्ते । अप्रमादग्रहणात्तु मद्यादिनिवृत्तिरिति । तदेवमेतत्प्रधानपुरुषप्रतिपादितमग्निशस्त्रमपायदर्शनादप्रमत्तैः साधुभिः परिहार्यमिति ॥

एवं प्रत्यक्षीकृतानेकदोषजालमप्यग्निशस्त्रमुपभोगलोभात्प्रमादवशगा ये न परिहरन्ति, तानुद्दिश्य विपाकदर्शनायाऽऽह-

जे पमत्ते गुणट्ठीए से हु दंडे त्ति पवुच्चइ ॥ ३४ ॥

यो हि प्रमत्तो भवति मद्यविषयाऽऽदिप्रमादैरसंयतो 'गुणार्थी' रन्धनपचनप्रकाशाऽऽतापनाऽऽद्यग्निगुणप्रयोजनवान् स दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायोऽग्निशस्त्रसमारम्भकतया प्राणिनां दण्डहेतुत्वाद्दण्डः, प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते, आयुर्घृताऽऽदिव्यपदेशवदिति ।

यतश्चैव ततः किं कर्त्तव्यमित्यत आह -

तं परिण्णाय मेहावी, इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं ॥ ३५ ॥

(तं परिण्णाय मेहावी) तमग्निकायसमारम्भं दण्डफलं परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञाप्रत्याख्यानपरिज्ञाभ्यां मेधावी मर्यादाव्यवस्थितो वक्ष्यमाणप्रकारेण व्यवच्छेदमात्मन्याचिनोतीति । तमेव प्रकारं दर्शयितुमाह-(इयाणीत्यादि) यमहमग्निसमारम्भं विषयप्रमादेनाऽऽकुलीकृतान्तःकरणः सन् पूर्वमकार्षं, तमिदानीं जिनवचनोपलब्धाग्निसमारम्भदण्डतत्त्वः नो करोमीति ॥

अन्ये त्वन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयितुमाह-

लज्जमाणा पुढो पास-अणगारा मो त्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा अगणिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहियाए से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ ३६ ॥

(लज्जमाणेत्यादि) यावत्-(अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ त्ति) अस्य ग्रन्थस्योक्तार्थस्याऽयमर्थो लेशतः प्रदर्श्यते-लज्जमानाः स्वाऽऽगमोक्तानुष्ठानं कुर्वाणाः, सावद्यानुष्ठानेन वा लज्जां कुर्वाणाः, पृथग्विभिन्नाः शाक्याऽऽदयः, पश्येति स्वयमानुष्ठाने स्थिरीकरणार्थं शिष्यस्य चोदना, अनगारा वयमित्येके प्रवदमानाः, किं तैर्विरूपमाचरितं येनैवं प्रदश्यन्त इति दर्शयति- यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैरग्निकर्मसमारम्भेण अग्निशस्त्रं समारभमाणः सन्नन्यानानेकरूपान् प्राणिनो विहिनस्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, यथाऽस्यैव परिफल्गुजीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं यत्करोति तद्दर्शयति-स परिवन्दनाऽऽद्यर्थी स्वत एवाग्निशस्त्रं समारभते, तथाऽन्यैश्चाग्निशस्त्रं समारम्भयति, तथाऽन्यांश्च अग्निशस्त्रं समारम्भमाणान् समनुजानीते । तच्चाग्नेः समारम्भणं 'से' तस्य सुखलिप्सोरमुत्रान्यत्र चाहिताय भवति । तथा-तदेव च तस्याबोधिलाभाय भवति । स इति यस्यैतदसदाचरणं प्रदर्शितं स तु शिष्यस्तदग्निसमारम्भणं पापायेत्येवं सम्बुध्यमान आदानीयं ग्राह्यं सम्यग्दर्शनाऽऽदि सम्यगुत्थायाऽस्युपगम्य श्रुत्वा भगवदन्तिकेऽनगाराणां वा इहैकेषां साधूनां ज्ञातं भवति । किं तद्दर्शयति ?-एषोऽग्निसमारम्भः ग्रन्थः कर्महेतुत्वात्, एष एव मोह एष एव मार एष एव नरकस्तद्धेतुत्वादिति भावः । इत्येवमर्थं च गृद्धो लोको यत्करोति तद्दर्शयति-यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैरग्निकर्म समारभते, तदारम्भेण चाग्निशस्त्रं समारभते, तच्चाऽऽरभमाणोऽन्याननेकरूपान् प्राणिनो विहिनस्तीति ॥

कथं पुनरग्निसमारम्भप्रवृत्ता नानाविधान् प्राणिनो विहिंसन्तीति दर्शयितुमाह—

से बेमि-संति पाणा पुढविणिस्सिया तणणिस्सिया पत्तणिस्सिया कट्ठणिस्सिया गोमयणिस्सिया कयवरणिस्सिया, संति संपातिमा पाणा आहच्च संपयंति, अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति ॥ ३७ ॥

(से बेमीत्यादि) तदहं ब्रवीमि यथा नानाविधजीवविहिंसनमग्निकायसमारम्भेण भवतीति । यथाप्रतिज्ञातार्थं दर्शयति-सन्ति विद्यन्ते प्राणा जन्तवः,पृथिवीकायनिश्रिता पृथिवीकायत्वेन परिणता इत्यर्थः । तदाश्रिता वा कृमिकुन्थुपिपीलिकागण्डूपदाहिमण्डूकवृश्चिककर्कटकाऽऽदयः । तथा-वृक्षगुल्मलतावितानाऽऽदयः । तथा-तृणपत्रनिश्रिताः पतङ्गेलिकाऽऽदयः । तथा-काष्ठनिश्रिता घुणोद्देहिकापिपीलिकाऽण्डाऽऽदयः । गोमयनिश्रिताः-कुन्थुपनकाऽऽदयः । कचवरः-पत्रतृणधूलिसमुदायः, तन्निश्रिताः कृमिकीटपतङ्गाऽऽदयः । तथा-सन्ति विद्यन्ते संपातिमसंपत्य-त्योत्प्लुत्य गन्तुमागन्तु वा शीलं येषां ते संपातिनः प्राणिनो-जीवा मक्षिकाभ्रमरपतङ्गमशकपक्षिवाताऽऽदयः, एते च संपातिनः आहत्योपेत्य स्वत एव । यदि वा अत्यर्थं कदाचिद्वा अग्निशिखायां संपतन्ति च । तदेव पृथिव्यादिनिश्रितानां जीवानां यद्भवति तद्दर्शयितुमाह-(अगणिं चेत्यादि) रन्धनपचनतापनाऽऽद्यग्निगुणार्थिभिरवश्यमग्निसमारम्भो विधेयः; तत्समारम्भे च पृथिव्यादिनिश्रितानां जीवानामेता वक्ष्यमाणा अवस्था भवन्ति,छान्दसत्वात् तृतीयाऽर्थे द्वितीया । ततश्चायमर्थः -अग्निना स्पृष्टाः छुप्ता एके केचन संघातमधिकं गात्रसंकोचनं मयूरपिच्छवदापद्यन्ते,चशब्दस्याऽधिकार्थत्वात्, खलुशब्दोऽवधारणे,अग्नेरेवायं प्रतापो नापरस्येति । यदि वा सप्तम्यर्थे द्वितीया । स्पृष्टशब्दश्च पतितवचनः । ततश्चायमर्थो भवति-अग्नावेव स्पृष्टाः पतिता एके शलभाऽऽदयः,संघातं समेकीभावेनाधिकं गात्रसंकोचनमापद्यन्ते प्राप्नुवन्ति, ये च तत्राग्नौ पतिताः संघातमापद्यन्ते ते प्राणिनः,तत्राग्नौ पर्यापद्यन्ते । पर्यापत्तिः समूर्च्छनम्, ऊष्माभिभूता मूर्च्छामापद्यन्ते इत्यर्थः । अथ किमर्थं सूत्रकृता विभक्तिपरिणामोऽकारीति ? उच्यते-मागधदेशीसमनुवृत्तेः, व्याख्याविकल्पप्रदर्शनार्थं वा । अध्याहाराऽऽदयोऽपि व्याख्याङ्गानीत्यनेन

शिष्यो ज्ञापितो भवति।अथ के पुनस्तेऽध्याहाराऽऽदय इति?,उच्यते-अध्याहारो, विपरिणामो, व्यवहितकल्पना, गुणकल्पना,लक्षणा,वाक्यभेदश्चेति। इह च द्वितीयाविभक्ते सप्तमीपरिणामः कृत इति। ये च तत्राग्नौ पर्यापद्यन्ते ते प्राणिनः कृमिपिपीलिकाभ्रमरनकुलाऽऽदय ,तत्राग्नावपद्रावन्ति प्राणान् मुञ्चन्तीत्यर्थः।तदेव मग्निसमारम्भे सति न केवलमग्निजन्तूनां विनाशः,किं त्वन्येषामपि पृथिवीतृणपत्रकाष्ठगोमयकचवराऽऽश्रितानां सम्पातिनां च व्यापत्तिरवश्यम्भाविनीति। अत एव च भगवत्यां भगवतोक्तम्-"दो पुरिसा सरिसवया अन्नमन्नेहिं सद्धिं अगणिकाय समारभंति,तत्थ ण एगे पुरिसे अगणिकायं समुज्जालेति, एगे विज्झवेति । तत्थ ण के पुरिसे महाकम्मयराए?, के पुरिसे अप्पकम्मयराए ?। गोयमा ! जे उज्जालेति से महाकम्मयराए, जे विज्झवेति से अप्पकम्मयराए ॥ "

तदेव प्रभूतसत्त्वोपमर्द्दनकरमग्न्यारम्भ विज्ञाय मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च तत्परिहार कार्य इति दर्शयितुमाह-

एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारंभे, नेवऽण्णेहिं अगणिसत्थं समारंभावेज्जा, अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे न समणुजाणेज्जा, जस्सेते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे ॥ ३८ ॥ त्ति बेमि ॥

(एत्थ सत्थेत्यादि) अत्राग्निकाये शस्त्रं स्वकायपरकायभेदभिन्नं समारभमाणस्य व्यापारयत इत्येते आरम्भाः पचनपाचनाऽऽदयो बन्धहेतुत्वेन परिज्ञाता भवन्ति । तथाऽत्रैवाग्निकाये शस्त्रमसमारभमाणस्यैते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति । यस्यैते अग्निकायसमारम्भा ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाता भवन्ति, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति, स एव मुनिः परमार्थतः परिज्ञातकर्म्मेति । ब्रवीमीति पूर्ववदिति। आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

सम्प्रति तेजस्कायपिण्डमाह-

तिविहो तेउकाओ, सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो ।
सच्चित्तो पुण दुविहो, निच्छय-ववहारओ चेव ॥४१॥

त्रिविधः तेजस्कायः । तद्यथा-सचित्तो, मिश्रोऽचित्तश्च । सचित्तः पुनर्द्विविधः-निश्चयत , व्यवहारतश्च ।

निश्चयव्यवहाराभ्यामेव सचित्तस्य द्वैविध्यमाह-

इट्टगपागाईणं, बहुमज्झे विज्जुमाइ निच्छयओ ।
इंगालाई इयरो, मुम्मुरमाई य मिस्सो उ ॥ ४२ ॥

इष्टकापाकः प्रतीतः। आदिशब्दात् कुम्भकारपाकेक्षुरसक्वथनचुल्ल्यादिपरिग्रहः। तेषां च बहुमध्यभागे विद्युदादिश्च विद्युदुल्काप्रमुखस्तेजस्कायो निश्चयत सचित्त ,शेषस्तु अङ्गाराऽऽदिक , अङ्गारो-ज्वालारहितोऽग्नि , आदिशब्दाद् ज्वालाऽऽदिपरिग्रहः। व्यवहारत सचित्त । सम्प्रति मिश्र तेजस्कायमाह-(मुम्मुरमाई य मिस्सो उ) मुर्मुर कारीषोऽग्नि , आदिशब्दादर्द्धविध्याताऽऽदिपरिग्रह । इत्यभूतो मिश्र इति ।

साम्प्रतमचित्त तेजस्कायपिण्डमाह-

ओयणवंजणपाणग-आयामुसिणोदग च कुम्मासा ।
भगलगसरक्खसूई, पिप्पलमाई उ उवओगो ॥ ४३ ॥

ओदन -शाल्याऽऽदिभक्त, व्यञ्जनं-पत्रशाकतीमनाऽऽदि । पानकं-काञ्जिकम् । तत्र ह्यवश्रावण प्रक्षिप्यते, ततस्तदपेक्षया काञ्जिकस्याग्निकायता । आयामम्-अवश्रावण,उष्णोदकम्-उद्वृत्तत्रिदण्डम् । एतेषा च पदानां समाहारद्वन्द्वः । चकारो मण्डकाऽऽदिसमुच्चयार्थः । कुल्माषाः पक्वा माषाः । एते च ओदनाऽऽदयोऽग्निनिष्पन्नत्वेनाग्निकार्यत्वादग्नयो व्यपदिश्यन्ते । भवति च तत्कार्यत्वात्तच्छब्देन व्यपदेशः । यथा-द्रम्मो भक्षितोऽनेनेत्यादौ ओदनाऽऽदयश्चाचित्ता., तत एतेषामचित्ताग्निकायत्वेनाभिधान न विरुध्यते । तथा भगलकाः-पक्वेष्टकाखण्डानि, सरजस्को-भस्म, सूची लोहमयी वस्त्रसीवनिका । अथवा (सरक्खसूइ त्ति) रक्षा भस्म, सह रक्षया वर्त्तते इति सरक्षा सूची । किमुक्त भवति ?- रक्षा च, सूची चेति । पिप्पलकः-किञ्चिद्वक्रः क्षुरविशेषः । आदिशब्दान्नखरदनिकाऽऽदिपरिग्रहः । एतानि च भगलकाऽऽदीनि पूर्वमग्निरूपतया परिणतान्यासीरन्, ततो भूतपूर्वगत्या सम्प्रत्यपि अग्निकायत्वेन व्यपदिश्यन्ते, अचित्तानि च । न चैतेषामचित्ताग्निकायत्वाभिधाने विरोधः ।" (?) संप्रत्यचित्ताग्निकायस्य प्रयोजनमाह (उवओगो त्ति) एतेषामोदनाऽऽदीना य उपयोगो भोजनाऽऽदावुपयुज्यमानता, तदचित्ताग्निकायेन साधूना प्रयोजनम्, द्रव्याऽऽदिभेदाच्चतुर्विधत्वमचित्ताग्निकायस्य प्रागिव यथायोग भावनीयम् । उक्तस्तेजस्कायपिण्डः । पिं० । ओघ० । आ०म० । कल्प० । बृ० । (प्रथम तेजस्कायोद्दीपनम् ऋषभदेवेन शिक्षितमिति 'उसह'शब्दे द्वितीयभागे ११२६ पृष्ठे उक्तम्) ('सदीववत्थ' प्रस्तावे साधूनामग्निसेवना प्रदर्शयिष्यते) (विकाले विहरतामग्निसेवना ' विहार ' शब्दे वक्ष्यते)

अथ तेजस्कायहिंसानिषेधमाह-

जायतेयं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए ।
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं ॥ ३३ ॥

जाततेजा अग्नि , त जाततेजस, नेच्छन्ति मन प्रभृतिभिरपि पापक पाप एव पापकस्त, प्रभूतसत्त्वापकारित्वेनाशुभमित्यर्थः । किं नेच्छन्तीत्याह-ज्वलयितुमुत्पादयितु, वृद्धिं वा नेतुम् । किंविशिष्टमित्याह-तीक्ष्ण च्छेदकरणाऽऽत्मकम्, अन्यतरत् शस्त्रं सर्वशस्त्रम् । एकधाराऽऽदिशस्त्रव्यवच्छेदेन सर्वतोधारशस्त्रकल्पमिति भावः । अत एव सर्वतोऽपि दुराश्रय सर्वतोधारत्वेनानाश्रयणीयमिति सूत्रार्थ ॥ ३३ ॥

एतदेव स्पष्टयन्नाह-

पाईणं पडिणं वा वि, उड्ढं अणुदिसामवि ।
अहे दाहिणओ वा वि, दहे उत्तरओ वि य ॥ ३४ ॥

अग्निरिति शेषः । प्राच्यां प्रतीच्यां वाऽपि, पूर्वायां पश्चिमायां चेत्यर्थः । ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि, सुपां सुपो भवन्तीति सप्तम्यर्थे षष्ठी । विदिक्ष्वपीत्यर्थः । अधो दक्षिणतश्चापि दहति दाह्य भस्मीकरोति, उत्तरतोऽपि च सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च दहतीति सूत्रार्थ ॥ ३४ ॥

यतश्चैवमत -

भूयाण-मेस-माघाओ, हव्ववाहो न संसओ ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किं चि नारभे ॥ ३५ ॥

भूतानां स्थावराऽऽदीनामेष आघातः, आघातहेतुत्वादाघात । हव्यवाहोऽग्निर्न संशय इत्येवमेवैतदाघात एवेति भावः । येनैव तेन तं हव्यवाह प्रदीपप्रतापनार्थमालोकशीतापनोदार्थं, सयताः साधवः किञ्चित्सङ्घट्टनाऽऽदिनाऽपि नारभन्ते, सयतत्वापगमनप्रसङ्गादिति सूत्रार्थ. ॥ ३५ ॥

यस्मादेवम्-

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तेउकायसमारंभं, जावजीवाई वज्जए ॥ ३६ ॥

व्याख्या पूर्ववत् ॥ ३६ ॥ दश० ६ अ० ।

अथ तेजस्कायविधिमाह-

इंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइयं ।
न उंजिज्जा ण घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥ ८ ॥

अङ्गार ज्वालारहितम, अग्निमय.पिण्मानुगतम्, अर्चिं. छिन्नज्वालम्, आलातमुल्मुक वा, सज्योति साग्निकमित्यर्थ । किमित्याह-नोत्सिञ्चेत न घट्टयेत्, तत्रोञ्जनमुत्सेचन प्रदीपाऽऽदे, घट्टन मिथश्चालन, तथा नैनमग्निं निर्वापयेत् अभावमापादयेन्मुनि. साधुरिति सूत्रार्थ. । दश० ८ अ० ।

अग्निकायस्य मध्येन नैरयिकाऽऽदयो व्यतिव्रजन्ति-

णेरइयाणं भंते ! अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा ? । गोयमा ! अत्थेगइए वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-अत्थेगइए वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा ? । गोयमा ! णेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-विग्गहगइसमावण्णगा य, अविग्गहगइसमावण्णगा य । तत्थ णं जे से विग्गहगइसमावण्णए णेरइए से णं अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा, से णं तत्थ झियाएज्जा ? । णो इणट्ठे समट्ठे । णो खलु तत्थ सत्थं कमइ । तत्थ णं जे से अविग्गहगइसमावण्णए णेरइए से णं अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं णो वीईवएज्जा, से तेणट्ठेणं णो वीईवएज्जा । असुरकुमारे णं भंते ! अगणिकायपुच्छा ? । गोयमा ! अत्थेगइए वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा । से केणट्ठेणं० जाव णो वीईवएज्जा ? । गोयमा ! असुरकुमारा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-विग्गहगइसमावण्णगा य, अविग्गहगइसमावण्णगा य । तत्थ णं जे से विग्गहगइसमावण्णए असुरकुमारे, से णं जहेव णेरइए० जाव कमइ, तत्थ णं जे से अविग्गहगइसमावण्णए असुरकुमारे, से णं अत्थेगइए अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा, जे णं वीईवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा ? । णो इणट्ठे समट्ठे । णो खलु तत्थ सत्थं कमइ । से तेणट्ठेणं एवं० जाव थणियकुमारा एगिंदिया जहा णेरइया । बेइंदिया णं भंते ! अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं जहा असुरकुमारे तहा बेइंदिए वि, णवरं जे णं वीईवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा ? । हंता ! झियाएज्जा । सेसं तं चेव० जाव चउरिंदिया । पंचिंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! अगणिकायपुच्छा ? । गोयमा ! अत्थेगइए वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! ? । गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-विग्गहगइसमावण्णगा य, अविग्गहगइसमावण्णगा य । विग्गहगइसमावण्णए जहेव णेरइए० जाव णो खलु तत्थ सत्थं कमइ, अविग्गहगइसमावण्णगा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-इड्ढिपत्ता य, अणिड्ढिपत्ता य । तत्थ णं जे से इड्ढिप्पत्ते पंचिंदियतिरिक्खजोणिए णं से णं अत्थेगइए अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा । जे णं वीईवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा ? । णो इणट्ठे समट्ठे । णो खलु तत्थ सत्थं कमइ । तत्थ णं जे से अणिड्ढिपत्ते पंचिंदियतिरिक्खजोणिए, से णं अत्थेगइए अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा, अत्थेगइए णो वीईवएज्जा, जे णं वीईवएज्जा से णं तत्थ झियाएज्जा ? । हंता ! झियाएज्जा । से तेणट्ठेण० जाव णो झियाएज्जा । एवं मणुस्से वि, वाणमंतरजोइसियवेमाणिए जहा असुरकुमारे ।

(नेरइयाणमित्यादि) इह च क्वचिदुद्देशकार्थसङ्ग्रहगाथा दृश्यते । सा चेयम्-" नेरइय अगणिमज्झे, दस ठाणा तिरियपोग्गले देवे । पव्वयभित्तीउल्लं-घणा य पल्लंघणा चेव ॥ १ ॥" इति । अर्थश्चास्या उद्देशकार्थावगमगम्य इति । (णो खलु तत्थ सत्थ कमइ त्ति) विग्रहगतिसमापन्नो हि कार्मणशरीरत्वेन सूक्ष्म', सूक्ष्मत्वाच्च तत्र शस्त्रमग्न्यादिक न क्रामति । (तत्थ ण जे से इत्यादि) अविग्रहगतिसमापन्न उत्पत्तिक्षेत्रोपपन्नोऽभिधीयते, न तु ऋजुगतिसमापन्न., तस्येह प्रकरणेऽनधिकृतत्वात् । स चाग्निकायस्य मध्येन व्यतिव्रजति, नारकक्षेत्रे बादराग्निकायस्याभावान्मनुष्यक्षेत्र एव तद्भावात् । पश्चोत्तराध्ययनाऽऽदिषु श्रूयते-"हुयासणे जलतम्मि, दड्ढपुव्वो अणेगसो । " इत्यादि । तदग्निसदृशद्रव्यान्तरापेक्षयाऽवसेयम् । सम्भवन्ति च तथाविधशक्तिमन्ति द्रव्याणि तेजोलेश्याद्रव्यवदिति । असुरकुमारसूत्रे विग्रहगतिको नारकवत्, अविग्रहगतिकस्तु कोऽप्यग्नेर्मध्येन व्यतिव्रजेत् यो मनुष्यलोकमागच्छति, यस्तु न तत्रागच्छत्यसौ न व्यतिव्रजेत्, व्यतिव्रजन्नपि च न ध्मायते वा, ध्मायतेऽतो न खलु तत्र शस्त्र क्रमते, सूक्ष्मत्वाद्वैक्रियशरीरस्य, शीघ्रत्वाच्च तद्गतेरिति । (एगिंदिया जहा नेरइय त्ति) कथम् ?, यतो विग्रहे तेऽप्यग्निमध्येन व्यतिव्रजन्ति, सूक्ष्मत्वान्न दह्यन्ते च, अविग्रहगतिसमापन्नकाश्च तेऽपि नाग्नेर्मध्येन व्यतिव्रजन्ति, स्थावरत्वात्, यच्च तेजोवायूना गतिप्रसतयाऽग्निमध्येन व्रतिव्रजनं दृश्यते, तदिह न विवक्षितमिति सम्भाव्यते, स्थावरत्वमात्रस्यैव विवक्षितत्वात् । स्थावरत्वे ह्यस्ति कथञ्चित्तेषां गत्यभावो, यदपेक्षया स्थावरास्ते व्यपदिश्यन्ते, अन्यथाऽधिकृतव्यपदेशस्य निर्निबन्धनता स्यात्तथा । यद्वा-वाय्वादेपारतन्त्र्येण पृथिव्यादीनामग्निमध्येन व्यतिव्रजन दृश्यते, तदपि न विवक्षितम्, स्वातन्त्र्यकृतस्यैव तस्य विवक्षणात् । चूर्णिकार पुनरेवमाह-"एगिंदियाण गई नत्थि त्ति ।"

ते न गच्छन्ति । "एगे वाउकायाइपरपेरणेसु गच्छति, विराहिज्जंति य " इति ॥ पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सूत्रे-(इड्ढिपत्ता य त्ति) वैक्रियलब्धिसम्पन्ना. (अत्थेगइए अगणिकायस्सेत्यादि) अस्त्येकक कश्चित्पञ्चेन्द्रियतिर्यग् यो मनुष्यलोकवर्ती स तत्राग्निकायसम्भवात्तन्मध्ये न व्यतिव्रजेत्। यस्तु मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्नासावग्नेर्मध्येन व्यतिव्रजेत्, अग्नेरेव तत्राभावात्, तदन्यो वा, तथाविधसामर्थ्यभावात्। (णो खलु तत्थ सत्थ कमइ त्ति) वैक्रियाऽऽदिलब्धिमति पञ्चेन्द्रियतिरश्चि नाग्न्यादिक शस्त्र क्रमत इति । भ० १४ श० ५ उ० । (अग्नेरुज्ज्वालक. प्रज्वालको वा महाकर्मेति कालोदायिप्रश्नेन " अण्णउत्थिय " शब्दे प्रथमभागे ४४७ पृष्ठे विचारितम्)

अथ अङ्गारकारिकासु तेजस्कायस्थिति.-

इंगालकारियाए णं भंते ! अगणिकाए केवइयं कालं संचिट्ठइ ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि राइंदियाई अन्ने वि त्थ वाउयाए वुक्कमइ, ण विणा वाउयाएणं अगणिकाए उज्जलइ। पुरिसे णं भंते ! अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संडासएणं उव्विहमाणे वा पविहमाणे वा कइकिरिए ? । गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संडासएणं उव्विहिंति वा, पविहिंति वा, तावं च णं से पुरिसे काइयाए० जाव पाणाइवायकिरिया पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिंतो अयणिव्वत्तिए अयकोट्ठे णिव्वत्तिए संमासए णिव्वत्तिए इंगाला णिव्वत्तिया इंगालकड्ढिणी णिव्वत्तिया भंग णिव्वत्तिया, ते वि णं जीवा काइयाए० जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा ॥

(इंगालकारियाए त्ति) अङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका अग्निशकटिका, तस्याम्, न केवलं तस्यामग्निकायो भवति (अन्ने वि त्थ त्ति) अन्योऽप्यत्र वायुकायो व्युत्क्रामति। यत्राग्निस्तत्र वायुरिति कृत्वा । कस्मादेवमित्याह-(ण विणेत्यादि) भ० १६ श० १ उ० । सूत्र० । नि० चू० । (तेजस्कायस्य आहारः ' आहार ' शब्दे द्वितीयभागे ४६६ पृष्ठे उक्तः) (तेजस्कायस्य प्रतिसेवना ' पडिसेवणा ' शब्दे वक्ष्यते) (ओदनाऽऽदय' किंशरीरा इति ' अगणिजीवसरीर ' शब्दे प्रथमभागे १५६ पृष्ठे उक्ता)

तेउपुट्ठ—तेजःस्पृष्ट—त्रि० । तेजसा अग्निना स्पृष्टो दह्यमान' । अग्निना दह्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

तेउप्पभ—तेजःप्रभ—पुं० । अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोः पश्चिमदिग्लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोरुत्तरदिग्लोकपाले, भ० ३ श० ८ उ० ।

तेउप्फास—तेजःस्पर्श—पुं० । उष्णस्पर्शे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । उष्णस्पर्शश्च आतापनाऽऽदिकाले । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

तेउलेस्सा—तेजोलेश्या—स्त्री० । तेजोऽग्निज्वाला, तद्वर्णानि यानि द्रव्याणि, लोहितानीत्यर्थ. । तत्साचिव्याज्जाता तेजोलेश्या । स्था० १ ठा० । विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवायां तेजोज्वालाया लेश्याया सुखासिकायाम्, विपा० १ श्रु० १ अ० । ठा०, ज० प्र० । अ० ।

निर्ग्रन्थानामेव लब्धिविशेषस्य कारणत्रयमाह-

तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे संखित्तविउलतेउलेस्से भवइ । तं जहा-आयावणयाए, खंतिखमाए, अपाणगेणं तवोकम्मेणं ।

(तिहिमित्यादि) संक्षिप्ता लघूकृता विपुलाऽपि विस्तीर्णाऽपि सती, अन्यथाऽऽदित्यबिम्बवद् दुर्दर्शा स्यादिति । तेजोलेश्या तपोविभूतिज तेजस्वित्व तैजसशरीरपरिणतिरूप महाज्वालाकल्प येन स संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्य , आतापनानां शीताऽऽदिभि. शरीरस्य सन्तापनानां भाव आतापनता, शीताऽऽतपाऽऽदेः सहनमित्यर्थ । तया, क्षान्त्या क्रोधनिग्रहेण क्षमा मर्षण, न त्वशक्ततयेति क्षान्तिक्षमा,तया, अपानकेन पारणककालादन्यत्र तप कर्मणा षष्ठाऽऽदिनेति । अभिधीयते च भगवत्याम्-"जे ण गोसाला एगाए सनहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएण छट्ठं छट्ठेण अणिक्खित्तेण तवोकम्मेण उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ, से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेउलेस्से भवइ । " इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

आत्मज्ञानमग्नस्य वाचंयमस्य तेजोलेश्या युज्यत इत्याह-

तेजोलेश्याविवृद्धिर्या, साधोः पर्यायवृद्धितः ।
भाषिता भगवत्यादौ, सेत्थंभूतस्य युज्यते ॥ ५ ॥

टीका सुगमा । अष्ट० २ अष्ट० ।

जे इमे अज्जत्ताए समणा णिग्गंथा विहरंति, एए णं कस्स तेउलेस्सं वीईवयइ ? । गोयमा ! मासपरियाए समणे णिग्गंथे वाणमंतराणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । दुमासपरियाए समणे णिग्गंथे असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । एवं एएणं अभिलावेणं तिमासपरियाए समणे णिग्गंथे असुरकुमाराणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । चउमासपरियाए समणे णिग्गंथे गहगणणक्खत्ततारारूवाणं जोइसियाणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । पंचमासपरियाए समणे णिग्गंथे चंदिमसूरियाणं जोइसियाणं जोइसरायाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । छम्मासपरियाए समणे णिग्गंथे सोहम्मीसाणाणं देवाणं । सत्तमासपरियाए सणंकुमारमाहिंदाणं देवाणं । अट्ठमासपरियाए समणे णिग्गंथे बंभलोगलंतगाण देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । णवमासपरियाए समणे णिग्गंथे महासुक्कसहस्साराणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । दसमासपरियाए समणे णिग्गंथे आणयपाणयआरणऽच्चुयाण देवाणं । एक्कारसमासपरियाए समणे णिग्गंथे गेवेज्जगदेवाणं । बारसमासपरियाए समणे णिग्गंथे अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं तेउलेस्सं वीईवयइ । तेण परं सुक्के सुक्काभिजाए भवित्ता, तओ पच्छा सिज्झइ० जाव अंतं करेइ ।

(जे इमे इत्यादि) य इमे प्रत्यक्षा (अज्जत्ताए त्ति) आर्यतया पापकर्मबहिर्भूततया, अद्यतया वा अधुनातनतया, वर्तमानकाले इत्यर्थ । (तेउलेस्स ति) तेजोलेश्या सुखासिकां,

तेजोलेश्या हि प्रशस्तलेश्योपलक्षणं, सा च सुखासिकाहेतु-रिति कारणे कार्योपचारात् तेजोलेश्याशब्देन सुखासिका विवक्षितेति । (वीईवयति) व्यतिव्रजन्ति व्यतिक्रामन्ति । (असुरिंदवज्जियाणं ति) चमरबलिवर्जितानाम्, (तेण परं ति) ततः संवत्सरात्परतः । (सुक्के त्ति) शुक्लो नामाऽभिन्नवृत्तोऽमत्सरी कृतज्ञः सदारम्भी हितानुबन्ध इति, निरतिचारचरण इत्यन्ये । (सुक्काभिजाय त्ति) शुक्लाभिजात्यः, परमशुक्ल इत्यर्थः । अत एवोक्तम्-"आकिञ्चन्यं मुख्यं, ब्रह्मापि परं सदागमविशुद्धम् । सर्वं शुक्लमिदं खलु, नियमात्संवत्सरादूर्ध्वम् ॥१॥" एतच्च श्रमणविशेषमेवाऽऽश्रित्योच्यते, न पुनः सर्व एवंविधो भवतीति । भ० १४ श० ९ उ० । अथ गोशालः प्रभुमागत्याप्राक्षीत्-तेजोलेश्या कथं भवति ? । स्वाम्याह-नैरन्तर्येण षष्ठपारणके मुष्टिमध्यगतकुल्माषपिपिण्डिकया एकेन च पानीयचुलुकेन यापयत षड्भिर्मासैर्भवति । आ०क० । वर्णतो-वह्निज्वालाशुकमुखकिंशुकतरुणार्कहिङ्गुलकाऽऽदिलोहितद्रव्यसमानवर्णैः, रसतः-परिणताऽऽम्रसुपक्वकपित्थाऽऽदिसमधिकरसैः, गन्धतः-विचिकिलपाटलाऽऽदिसमधिकगन्धैः, स्पर्शतः-शाल्मलीफलतूलाऽऽदिसमधिकस्पर्शैः तेजोवर्णद्रव्यैर्निष्पन्नत्वात्तैजसी सञ्ज्ञा । (५ गा०) तेजोवर्षद्रव्यैर्निष्पन्ने लेश्याभेदे, पा० । प० व० । उत्त० । स० । तेजोलेश्यायाः पुद्गलाः सचित्ताः, अचित्ता वेति प्रश्ने, उत्तरम्-लब्धिः पुद्गलरूपा न भवति, शक्तिरूपा भवति, परं तेजोलेश्यापुद्गला जीवेन मुक्ताजीवप्रदेशसहिता निष्कासिताः, तस्माजीवप्रयोगनिष्कासितत्वात्सचित्ता ज्ञायन्त इति । ७४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

तेउलेस्सालद्धि-तेजोलेश्यालब्धि-स्त्री० । क्रोधाऽऽधिक्यात्प्रतिपन्थिनं प्रति मुखेनानेकयोजनप्रमाणक्षेत्राऽऽश्रितवस्तुदहनदक्षतीव्रतरतेजोलेश्यानिसर्जनशक्तौ, प्रव० २७० द्वार ।

तेउसमुग्घाय-तैजससमुद्घात-पुं० । तेजसि विषये भवस्तैजसः, स चासौ समुद्घातश्च तैजससमुद्घातः । प्रव० २३१ द्वार । तेजोलेश्याविनिर्गमकालभाविनि तैजसनामकर्मपुद्गलपरिशातहेतौ समुद्घातविशेषे, प्रज्ञा० ३४ पद । तेजोलेश्याविनिर्गमकालभाविनि तैजसशरीरनामकर्माऽऽश्रये समुद्घातभेदे, प्रव० २३२ द्वार । तथाहि-तेजोनिसर्गलब्धिमान् क्रुद्धः साध्वादिः सप्ताष्टौ पदानि अवष्वष्क्य विष्कम्भबाहल्याभ्यां शरीरमानमायामतस्तु सङ्ख्येययोजनप्रमाणं जीवप्रदेशदण्डं शरीराद् बहिः प्रक्षिप्य क्रोधविषयीकृतं मनुष्याऽऽदि निर्दहति, तत्र च प्रभूतांस्तैजसशरीरनामकर्मपुद्गलान् शातयति । प्रव० २३१ द्वार । स्था० । आचा० । ('गोसाल' शब्दे तृतीयभागे १०१६ पृष्ठे वैश्यायनबालतपस्विना तेजोलेश्या गोशालकोपरि प्रयुक्ता, भगवता वीरेण वारितेति निदर्शितम्)

तेउसीह-तेजःसिंह-पुं० । अग्निकुमारेन्द्रयोरग्निसिंहाग्निमानवयोर्दक्षिणदिग्लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

तेउसोय-तेजःशौच-न० । तेजसा अग्निना तद्विकारेण वा भस्मना शौचं तेजःशौचम् । शौचभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

तेंबुरुअ-न० । देशी-तुम्बुरुणि, दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।

तेंदुसय-तेन्दुसक-पुं० । कन्दुके, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

तेंबुरु-तेम्बुरु-पुं० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

तेकल्ल-त्रैकाल्य-न० । त्रयश्च ते कालाः, तेषां भावस्त्रैकाल्यम् । अतीतानागतवर्त्तमानरूपे काले, दर्श० ५ तत्त्व ।

तेगारपव्वय-त्र्याकारपर्वत-पुं० । स्वनामख्याते पर्वते, यत्र सप्तफणी पार्श्वनाथः पूज्यते । ती० ४ कल्प ।

तेगिच्छ-चैकित्स्य-न० । चिकित्साकर्मणि, बृ० १ उ० । व्य० । कल्प० । "तिविहं तेगिच्छम्मि उ, उज्जुय वाउलणसाहणा चेव । पण्णवणमणिच्छंते, दिट्ठतो भंभिपोराहिं ॥ १ ॥" इति । व्य० १ उ० । नि० चू० । (आचार्याऽऽदीनां चिकित्सा 'पच्छित्त' शब्दे व्याख्यास्यते)

तेगिच्छायण-चैकित्सायन-त्रि० । चिकित्सगोत्रापत्ये, जं० ४ वक्ष० ।

तेगिच्छिद्दह-चैकित्स्यह्रद-पुं० । निषधपर्वतस्थे धृतिदेवताके स्वनामख्याते ह्रदे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

तेजलपुर-तेजलपुर-न० । सुराष्ट्रदेशस्थिते स्वनामख्याते पुरे, ती० । यत्र श्रीपार्श्वप्रतिमा पूज्यते । "तेजपालमतिणो गिरिनारतले निअनामकिअतेजलपुरस्स पुव्वदिसाए उग्गसेणगढं नाम दुग्गं जुगाइनाहप्पमुहजिणमंदिरराहिल्लं विज्जइ, तस्स य तिण्णि नाम विज्जाइं पसिद्धाइं । तं जहा- उग्गसेणगढं ति वा, खंगारगढं ति वा, जुण्णदुग्गं ति वा । गढस्स बाहिं दाहिणदिसाए चउरिअविहलट्ठुयउवरिआए सुवामयाइं ठाणाइं चिट्ठंति । " ती० ४ कल्प ।

तेजस्सिया-तेजस्विता-स्त्री० । प्रतिवादिकोभाऽऽपादिकायां शरीरस्य स्फूर्तिमत्या देदीप्यमानतायाम्, व्य० १ उ० ।

तेड्डु-पुं० । देशी शलभे, पिशाचे च । दे० ना० ५ वर्ग २३ गाथा ।

तेण-स्तेन-त्रि० । चौरे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । आचा० । सूत्र० । आव० । त० । ध० । दश० । व्य० । "तेणा दुविहा तिविहा वा ।" व्य० २ उ० । "णाणातिकारणेहिं गममाणे अतरा तेणा भवति ।" नि० चू० ५ उ० । बृ० । पं० भा० । पं० चू० । ग० ।

इयाणिं तेणो-

अक्कंतितो य तेणो, पागतितो गामदेसअद्धाणो ।
तक्करखणगतेणो, परूवणा होति कायव्वा ॥ ३६१ ॥

अम्हाणाए बला हरतो अक्कंतितो, राते हरतो पागतितो, अधवा-राउलवग्गस्स अक्कंतितो पागयजणस्स हरति । उपागतिउमागतो हरतो गामतेणो । सदेसे परदेसे व हरतो देसतेणो । गामदेसंतरेसु हरतो अतरतेणो । पथेसु हरतो अद्धाणतेणो । तद्देविक्क करोतीति तक्करो, नो अन्न किंचि किसिमादि करोतीति । खत्त खणतो खाणगतेणो ।

सो समासेण चउव्विहो तेणो-

दव्वे खेत्ते काले, भावे वा तेणगस्स निक्खेवो ।
एएसिं तु चउण्हं, पत्तेअपरूवणं वोच्छं ॥ ३६२ ॥

कण्ठा ।

इमो दव्वतेणो-

सचित्ते अचित्ते, य मीसए होंति दव्वतेणा उ ।
साहम्मिअण्णधम्मिय-गारत्थीहिं च नायव्वा ॥ ३६३ ॥

सचित्त-दुपदचउप्पदापद, अचित्त-हिरण्णाऽऽदि, मिस्स-सभंमचमत्तोवगरण, अस्साऽऽदि फलादि व देसो व सचित्ताचित्त, त पुण सचित्ताऽऽदि दव्व साहम्मियाण अण्णधम्मियाण गारत्थियाण वा अवहरतो दव्वतो तेणो । सो तिविहो-उक्कोसो, मज्झिमो, जहण्णो ।

इयाणिं खेत्तकालभावतेणो तिन्नि वि जुगवं भन्नति-

सगदेसपरविदेसग-अंतरतेणा य होंति खेत्तम्मि ।
राइं दिवा व काले, भावम्मि य नाणतेणा तु ॥ ३६४ ॥
हयगयराईलच्छी-माणिक्काइं तु तेणो उक्कोसो ।
गोमहिसखेत्तखणसा-रियाणि तेणो य मज्झिमओ ॥३६५॥
गंठीछेदगपाथिजण-दव्वहरो वा जहण्णतेणो उ ।
एक्केको वि य एत्तो, पडिगपडिच्छगतेणो उ ॥३६६॥

सदेसतो, परदेसतो, एतेसिमंतरे वा हरतो खेत्ततेणगो। रातो वा दिया वा हरतो कालतेणो। भावतेणो-णाणदंसणचरित्ते हरतो। हयगयरायिच्छिमाणिक्के हरतो उक्कोसो। गोमहिसखेत्तखणखारियाऽऽदि वा हरतो मज्झिमो। पहियजणमोसगो, गंठिभेदगो, छसणाऽऽदि वा हरतो जहन्नो। एक्केक्के चउप्पगारा इमे-तेणो, तेणतेणो, पडिच्छगो, पडिच्छगपडिच्छगो।

इमे उदाहरणा तिसु वि-

गोविंदज्जा णाणे, दंसणे सत्थट्ठ हेतुगट्ठा य ।
एवं वि गओ चरणा, उदायिवहगादिया चरणे ॥३६७॥
सचित्तं अचित्तं, च मीसगं तेणियं कुणति जो उ ।
समणाण व समणीण व, न कप्पती तारिसे दिक्खा ३६८

गोविंदो णाम भिक्खू, सो एगेणाऽऽयरिएण वादे जितो अट्ठारस वारा। ततो तेण चिंतिय-सिद्धतसरूवं जाव एतेसिं णो लब्भति, तावेते जेतुं न सक्किना। ताहे सो णाणदंसणचरणहरणट्ठा तस्सेवाऽऽयरियस्स अंते णिक्खंतस्स य सामाइयाऽऽदि पढतस्स लद्धं सम्मत्तं। ततो गुरुं वंदित्ता भणति-देहि मे वते। पुणु दत्ताणि ते णाणाणि। तेण सब्भावो कहितो। ताहे गुरुणा दत्ताणि से वयाणि। पच्छा तेण एगिंदियजीवसाहणा गोविंदणिज्जुत्ती कया। एस णाणतेणो। (एष चैवार्थो 'गोविंदणिज्जुत्ति' शब्दे तृतीयभागे १०१२ पृष्ठे प्रदर्शितः) एवं दंसणपभावगसत्थट्ठा, कक्कडगमादिहेतुगट्ठा वा जो णिक्खमति, सो दंसणतेणो। जो एवं करणट्ठा चरणं गेण्हति, भमिउ वा गतुकामो, जहा वा रण्णो वहणट्ठा उदायिमारगेण चरणं गहियं। आदिसद्दातो मधुरकोंमिस्सा, एते सव्वे चरित्ततेणा। एते दव्वाऽऽदितेणा समणसमणीण ण कप्पति पव्वावेउं।

पव्वाविते इमे दोसा-

वह बंधण उद्दवणं, व खिसणं आसियावणं चेव ।
णिव्विसयं व णरिंदो, करेज्ज संघं व से भट्ठो ॥ ३६९ ॥

तस्स च, पव्वायगाऽऽयरियस्स वा, सव्वस्स वा गच्छस्स लसकसाऽऽदिएहिं वह करेज्ज, बंधणं णियलाऽऽदिएहिं, उद्दवणं मारणं, खिंसा-धिरत्थु ते पव्वज्जाए त्ति। आसियावण-पव्वज्जातो, गामनगरातो वा धाडेज्ज। अहवा-णरिंदो रुट्ठो णिव्विसए करेज्ज, कुलगणसंघं वा णिव्विसयं करेज्ज। कुलगणसंघाण वा वहाऽऽदिए वीए पगारे करेज्ज।

किं चान्यत्-

अयसो य अकित्ती वा, उड्डाहं वा तहिं पवयणस्स ।
तेसिं पि होइ एवं, सव्वे एयारिसा समणा ॥ ३७० ॥

पूर्ववत्, णवरि तेणत्थे वत्तव्वा, तेण जो पव्वावेति, तस्स आणाऽऽदिया दोसा।

इम व से पच्छित्तं-

सग्गामे परगामे, सदेसे परदेसे अंतो बाहिं च ।
दिट्ठाऽदिट्ठा सोही, मासलहू अंते मूलाइं ॥ ३७१ ॥

सग्गामे, परग्गामे, सदेसे, परदेसे, एतेसिं अधो उक्कोसमज्झिमजहण्णा ठविज्जति। एतेसिं अहो अंतो बाहिं ठविज्जति। एतेसिं अहो दिट्ठाऽऽदि। एतस्सऽधो मूलं।

मूलं छेदो छग्गुरु, छल्लहु चत्तारि गुरुग लहुगा य ।
गुरुया लहुया मासो, रायविमुक्कस्स जा ताव ॥३७२॥

मूलाइ जाव मासलहु ताव ठविज्जति। इमा चारणा-सग्गामे उक्कोसं अंतो दिट्ठं जो अवहरति, तं जो पव्वावेति तस्स मूलं; अदिट्ठे छेदो; बाहिं दिट्ठे छेदो, अदिट्ठे छग्गुरु, मज्झिमे छेदो अंतो छल्लहुए ठायति, जहन्ने छग्गुरुया अंतो चउगुरुगे ठायति। एवं परग्गामे अदिट्ठकातिचारणाए छेदाढत्तं चउलहुए ठायति। सदेसे छग्गुरु, आढत्तं मासगुरुए ठायति। परदेसे छल्लहु, आढत्तं मासलहुए ठायति, अन्नधा वि चारिज्जते एतदेव भवति। जम्हा एते दोसा तम्हा ण पव्वावेयव्वा तेणा।

कारणतो पव्वावे-

मुक्को व मोइओ वा, अहवा वीसज्जितो नरिंदेणं ।
अद्धाणे परदेसे, दिक्खाए उत्तिमट्ठे वा ॥ ३७३ ॥

बंधणागारसोधणे मुक्को सयमणेण, अन्नेण वा दमेण मोइओ, रण्णा वा विसज्जितो। जहा पभवो। अहवा मेयज्जऋषिघातवत्। अद्धाणे परदेसे वा उत्तिमट्ठं वा पडिवज्जतो दिक्खिज्जति। तेण त्ति गतं। नि० चू० ११ उ०। वन्दनदोषविशेषे, प्रव०।

हाउं परस्स दिट्ठिं, वंदंते तेणियं हवइ एअं ।
तेणो वि य अप्पाणं, गूहइ ओभावणा मा मे ॥१६३॥

(हाउ परस्स त्ति) परस्याऽऽत्मव्यतिरिक्तस्य साधुश्रावकाऽऽदेर्दृष्टिं हित्वा वञ्चयित्वा वन्दमाने सति शिष्ये स्तैन्यवन्दनकं भवति। एतदेवोत्तरार्द्धेन स्पष्टतरं व्याचष्टे-स्तेन इव तस्कर इवान्यसाध्वाद्यन्तर्द्धानेनाऽऽत्मानं गूहयति स्थगयति। कस्मादित्याह-(ओभावणा मा मे त्ति) नन्वसावप्यतिविद्वान् किमन्येषां वन्दनकं प्रयच्छतीत्येवंभूताऽपभ्राजना मम मा भूदित्यर्थः। प्रव० २ द्वार। ध०। वृ०। आ० चू०। (साधर्मिकाणामन्यधार्मिकाणां च स्तैन्यं कुर्वन् अनवस्थाप्यो भवतीति 'अणवट्ठप्प' शब्दे प्रथमभागे २९३ पृष्ठे उक्तम्)

तेणउइ-त्रिनवति-स्त्री०। त्र्यधिकायां नवतिसंख्यायाम्, "तेणउइ गणा, तेणउइ गणधरा।" स० ९२ सम०।

तेणग-स्तेनक-त्रि०। चौरे, स्तेनकाश्चौरा विघ्नकरा भवन्ति। ग० २ अधि०।

तेणणाय-स्तेनज्ञात-न०। चौरोदाहरणे, पञ्चा० ६ विव०।

तेणप्पओग-स्तेनप्रयोग-पुं०। स्तेनानां प्रयोगोऽभ्यनुज्ञानम्-हरत यूयमिति हरणक्रियाया प्रेरणेति यावत्। अथवा-स्तेनोपकरणानि कुशिकाकर्त्तरिकाघर्घरिकाऽऽदीनि, तेषामर्पणं विक्रयणं वा स्तेनप्रयोगः। तस्करप्रयोगे स्थूलाऽदत्तादानविरते द्वितीयेऽतिचारे, ध०। अत्र च यद्यपि चौर्यं न करोमि न कारयामीत्येवंप्रतिपन्नव्रतस्य स्तेनप्रयोगे व्रतभङ्ग एव, तथापि किमधुना यूय

निर्व्यापारास्तिष्ठत?, यदि वो भक्ताऽऽदि नास्ति, तदाऽहं तद्ददामि, भवदानीतमोषस्य वा यदि विक्रायको न विद्यते, तदाऽहं विक्रेष्ये इत्येवंविधवचनैश्चौरान् व्यापारयतः स्वकल्पनया तद्व्यापारणं परिहरतो व्रतसापेक्षस्यासावतिचारः । इति द्वितीयोऽतिचारः । (४५ गा०) ध० २ अधि० ।

तेणाणुबंधि (ण्)-स्तेनानुबन्धिन्-पु० । 'रुद्दज्झाण' शब्देऽर्थोऽस्य द्रष्टव्यः । ध० २ अधि० ।

तेणाहड-स्तेनाऽऽहृत-पु० । चौराऽऽनीते स्थूलादत्ताऽऽदानविरते प्रथमेऽतिचारे, तत्सामर्थ्यमतिलोभात्काणक्रयेण गृह्णतोऽतिचरति तृतीयव्रतमित्यतिचारहेतुत्वात्स्तेनाऽऽहृतम् । अतिचारता चाऽस्य साक्षाच्चौर्यप्रवृत्तेः । उपा० १ अ० । सू० । पञ्चा० । आ० । स्तेनाश्चौरा, तैर्यद्धमानाऽऽनीत किञ्चित्कुङ्कुमाऽऽदि देशान्तरात्स्तेनाऽऽहृतम् । आव० ६ अ० ।

तेणिक्क-स्तैनिक्य-न० । स्तेये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तेणिक्कहरणबुद्धि-स्तैनिक्यहरणबुद्धि-त्रि० । स्तेयेन हरणे बुद्धिर्येषा ते तथा । स्तेयहरणमतियुक्तेषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

तेणिस-तैनिस-त्रि० । तिनसाभिधानवृक्षसबन्धिनि, स० ७ श० ६ उ० ।

तेण्ण-स्तैन्य-न० । चौर्ये, नि० चू० १ उ० ।

तेतल-तेतल-पुं० । धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य गन्धर्वानीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा० ।

तेतलि (ण्)-तेतलिन्-पुं० । तेतलिपुरराजस्य कनकरथस्यामात्यापितरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । दर्श० । मनुष्यजातिभेदे, जं० १ वक्ष० ।

तेतलिसुय-तेतलिसुत-पु० । तेतलिपुरराजस्य कनकरथस्यामात्ये, ज्ञा० ।

तत्कथा चैवम्-

तेणं कालेणं तेणं समएणं तेतलिपुरे नामं नगरे होत्था । तस्स णं तेतलिपुरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं पमयवणे णाम उज्जाणे होत्था । तत्थ णं तेतलिपुरे णयरे कणगरहे णामं राया होत्था । तस्स णं कणगरहस्स रण्णो पउमावती णामं देवी होत्था । तस्स णं कणगरहस्स रण्णो तेतलिपुत्ते णामं अमच्चे होत्था सामदामभेयदंडे । तत्थ णं तेतलिपुरे कलाए नामं मूसियारदारए होत्था, अड्ढे ०जाव अपरिभूए । तस्स णं भद्दा नामं भारिया होत्था । तस्स णं कलायस्स मूसियारदारगस्स धूया भद्दाए अत्तया पोट्टिला णामं दारिया होत्था, रूवेण य जोव्वणेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा । तए णं पोट्टिला दारिया अण्णया कयाइ ण्हाया सव्वालंकारविभूसिया चेडियाचक्कवालसद्धिं संपरिवुडा उप्पिं पासायवरगया आगासतलगंसि कणगमयेणं तिंदूसएणं कीलमाणी विहरति । इमं च णं तेतलिपुत्ते अमच्चे ण्हाए आसखंधवरगए महया भडचडगरहआसवाहणियाए णिज्जायमाणे कलायस्स मूसियारदारगस्स गिहस्स अदूरसामंतेणं वीतीवयति । तते णं से तेतलिपुत्ते मूसियारदारगस्स गिहस्स अदूरसामंतेणं वीतीवयमाणे वीतीवयमाणे पोट्टिलं दारियं उप्पिं आगासतलगंसि कणगमएणं तिंदूसएणं कीलमाणी पासति; पासित्ता पोट्टिलाए दारियाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य०जाव अज्झोववण्णे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी- एस णं देवाणुप्पिया ! कस्स दारिया, किंणामधेज्जा य ?। तए णं ते कोडुंबियपुरिसे तेतलिपुत्तं एवं वयासी-एस णं सामी ! कलायस्स मूसियारस्स धूया भद्दाए अत्तिया पोट्टिला णामं दारिया रूवेण य ०जाव सरीरा । तए णं से तेतलिपुत्ते आसवाहणियाओ पडिनियत्ते समाणे अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! कलायस्स मूसियारदारगस्स धूयं भद्दाए अत्तयं पोट्टिलं दारियं मम भारियत्ताए वरेह । तए णं ते अब्भिंतरट्ठाणिज्जा पुरिसा तेतलिणा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा करयल० तह त्ति जेणेव कलायस्स मूसियारस्स गिहे, तेणेव उवागया । तए णं से कलाए मूसियारए ते पुरिसे एज्जमाणे पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छति, अणुगच्छित्ता आसणेणं उवनिमंतेति । आसत्थे वीसत्थे सुहासणवरगए अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे एवं वयासी-संदिसह णं देवाणुप्पिया ! किमागमणप्पओयणं ?। तते णं ते अब्भिंतरट्ठाणिज्जा कलायं मूसियं एवं वयासी-अम्हे णं देवाणुप्पिया ! तव धूयं भद्दाए अत्तयं पोट्टिलं दारियं तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स भारियत्ताए वरेमो । तं जति णं जाणासि देवाणुप्पिया ! जुत्तं वा पत्तं वा सलाहणिज्जं वा सरिसो संजोगो वा, ता दिज्जउ णं पोट्टिला दारिया तेतलिपुत्तस्स, ता भण देवाणुप्पिया ! किं दलामो सुक्कं ?। तते णं कलाए मूसियारदारए ते अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे एवं वयासी-एस चेव देवाणुप्पिया ! मम सुक्के, जं णं तेतलिपुत्ते मम दारियानिमित्तेणं अणुग्गहं करिंति । ते अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे विउलेणं असणपाणखाइमसाइमपुप्फवत्थ० जाव मल्लालंकारेणं सक्कारेति, सम्माणेति, पडिविसज्जेति । तए णं कलायस्स मूसियारदारयस्स गिहातो पडिनिक्खमति, जेणेव तेतलिपुत्ते अमच्चे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेतलिपुत्तं अमच्चं एयमट्ठं निवेदेति । तए णं कलाए मूसियारए अण्णया कयाइं सोहणंसि तिहिकरणणक्खत्तमुहुत्तंसि पोट्टिलं दारियं ण्हायं सव्वालंकार-

विभूसियं सीय दुरूहइ, दुरूहित्ता मित्तणातिसर्द्धि संपरिवुमे साओ गिहाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता सव्वि- ड्ढीए० जाव रवेणं तेतलिपुरं णयरं मज्झमज्झेणं जेणेव तेत- लिस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोट्टिलं दारियं तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स सयमेव भारियत्ताए दलयति । तए णं तेतलिपुत्ते पोट्टिलं दारियं भारियत्ताए उवणीयं पासति, पासित्ता हट्टतुट्ठे पोट्टिलाए सर्द्धि पट्टयं दुरूहति, दुरूहि- त्ता सेयपीएहिं कलसेहिं अप्पाणं मज्जावेति, मज्जावे- त्ता अग्गिहोमं कारेति, पाणिग्गहणं करेति, पोट्टिलाए भारियाए सर्द्धि मित्तनाइ० जाव परियणं विउलेणं असण- पाणखाइमसाइमेणं पुप्फवत्थ० जाव पडिविसज्जति। तते णं से तेतलिपुत्ते पोट्टिलाए भारियाए अणुरत्ते अविरत्ते उरा- लाइं भोगभोगाइं ०जाव विहरति । तते णं से कणगरहे राया रज्जे य रट्ठे य बले य वाहणे य कोसे य कोट्ठागारे य अंतेउरे य मुच्छिए गिद्धिए अभिसमण्णागए जाए पुत्ते वियंगेति, अप्पे- गइयाणं हत्थंगुलियाइं छिंदति, अप्पेगइयाणं हत्थे अंगुट्ठए छिंदति, अप्पेगइयाणं पायंगुलियाओ छिंदति, एवं पायंगुट्ठए वि, एवं कण्णसक्कुलीए वि, एवं नासापुमाइं फालेति, एवं अं- गमंगाइं वियंगेति। तए णं तीसे पउमावतीए देवीए अण्णया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-एवं खलु कणगरहे राया रज्जे य ०जाव पुत्ते वियंगेति ०जाव अंगमंगाइं वियंगेति, तं जइ णं अहं दारयं पयायामि तं सेयं खलु ममं तं दारगं कणगरहस्स रहस्सियं चेव संरक्खमाणीए संगोवेमाणीए विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता तेतलिपुत्तं अमच्चं सद्दावेति, सद्दावित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! कणगरहे राया रज्जे य ०जाव वियंगेति, तं जइ णं अहं देवाणुप्पिया ! दारगं पयायामि, तए णं तुमं कणगरहस्स रहस्सियं चेव अणुपुव्वेणं संर- क्खमाणे संगोवेमाणे संवड्ढेहि । तते णं से दारए उम्मुक्कबा- लभावे ०जाव जोव्वणगमणुप्पत्ते तव मम भिक्खाभायणे भविस्सति । तते णं से तेतलिपुत्ते पउमावतीए देवीए एय- मट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता पडिगए। तए णं पउमावती देवी पोट्टिला य अमच्ची सममेव गब्भं परिवहंति, सममेव गब्भं परिवड्ढंति । तए णं सा पउमावती देवी नवण्हं मासाणं ०जाव पियदंसणं सुरूवं दारगं पयाया, जं रयणिं च णं पउमावती देवी दारगं पयाया तं चेव रयणिं पोट्टिला अमच्ची नवण्हं मासाणं वि- णिहायमावण्णिय दारियं पयाया । तए णं सा पउमावती देवी अम्मधाइं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! अम्मो ! तेतलिपुत्तं रहस्सियं चेव सद्दा- वेहि । तए णं सा अम्मधाती तह त्ति एयमट्ठं पडिसुणेति, अंतेउरस्स अवदारेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छित्ता जेणेव तेतलिस्स गिहे जेणेव तेतलिपुत्ते तेणेव उवागच्छति, उ- वागच्छित्ता करयल ०जाव एवं वयासी-एवं खलु भो दे- वाणुप्पिया ! पउमावई देवी सद्दावेति । तए णं तेतलिपुत्ते अम्मधाईए अंतिए एयमट्ठं सोचा हट्टतुट्ठे अम्मधाईए सर्द्धि साओ गिहाओ णिग्गच्छति, णिग्गच्छित्ता अंतेउरस्स अवदारेण रहस्सियं चेव अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता जेणेव पउमावई देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल० एवं वयासी-संदिसह णं देवाणुप्पिए ! जं मए कायव्वं? तए णं सा पउमावती देवी तेतलिपुत्तं अमच्चं एवं वयासी-एवं खलु कणगरहे राया ०जाव वियंगेति, अहं च णं देवाणुप्पिया ! दारगं पयाया, तुमं च णं देवाणुप्पिया! तं दारगं गेण्हाहि ०जाव तव मम समए भिक्खाभायणे भविस्सति त्ति कट्टु तेतलिपुत्तस्स हत्थे दलयति । तते णं तेतलिपुत्ते पउमावतीए देवीए हत्थाओ दारगं गेण्हति, उत्तरिज्जेणं पिहेइ, अंतेउरस्स रहस्सियं अवदारेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छित्ता जेणेव सए गिहे जेणेव पोट्टिला भारिया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता पोट्टिलं च एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! कणगरहे राया रज्जे य ०जाव वियंगेति, अयं च णं दारए कणगरहस्स पुत्ते पउमाव- ईए देवीए अत्तए, तं णं तुमं देवाणुप्पिए ! इमं दारगं कण- गरहस्स रहस्सियं चेव अणुपुव्वेणं संरक्खाहि य, संगोवा- हि य, संवड्ढेहि य, तए णं एस दारए उम्मुक्कबालभावे तव य मम य पउमावईए य आहारे भविस्सइ त्ति कट्टु पोट्टि- लाए पासे णिक्खिवति, णिक्खिवित्ता पोट्टिलाओ पासा- ओ तं विणिहायमावण्णियं दारियं गेण्हति, उत्तरिज्जेणं पिहेइ, पिहेइत्ता अंतेउरस्स अवदारेण अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता जेणेव पउमावती देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पउमावतीए देवीए पासे ठावेति ०जाव प- डिनिग्गते । तए णं तीसे पउमावतीए देवीए अंगप- डियारियाओ पउमावतिं देविं विणिहायमावण्णियं च दारियं पासंति, पासित्ता जेणेव कणगरहे राया कर- यल० एवं वयासी-एवं खलु सामी ! पउमावतीए मतल्लियं दारियं पयाया । तए णं कणगरहे राया तीसे मतल्लियाए दारियाए नीहरणं करेति, बहूई लोइयाइ मयकिच्चाइं क- रेति, करेइत्ता कालेणं विगयसोए जाए । तए णं से ते- तलिपुत्ते कल्लं कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं व-

थासी-खिप्पामेव चारगसालाए सोहणं करेह ०जाव ठिती वमिया, जम्हा णं अम्हे एस दारए कणगरहस्स रज्जे जाए, तं होऊण दारए णामेणं कणगज्झए० जाव अलं भोगसमत्थे जाए । तए णं सा पोट्टिला अम्मया कयाइं तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स अणिट्ठा अमणुण्णा अकंता अप्पिया जाया यावि होत्था । णेच्छइ णं तेतलिपुत्ते अमच्चे पोट्टिलाए नामगोत्तमवि सवणयाए, किं पुण दरिसणं वा परिभोगं वा । तए णं तीसे पोट्टिलाए अण्णया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स पुव्विं इट्ठा कंता मणुण्णा पिया आसि, इयाणिं अणिट्ठा अकंता अमणुण्णा अप्पिया जाया०जाव नेच्छइ तेतलिपुत्ते अमच्चे मम नामं०जाव परिभोगं वा ओहयमणसंकप्पा०जाव झियायइ । तते णं तेतलिपुत्ते अमच्चे पोट्टिलं ओहयमणसंकप्पं० जाव झियायमाणं पासति, पासइत्ता पोट्टिलं एवं वयासी-मा णं तुम देवाणुप्पिए ! ओहयमणसंकप्पे, तुमं मम महाणसंसि विउलं असण पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेहि, उवक्खडावेइत्ता बहूणं समणमाहणाण०जाव वणीवगाणं देयमाणी य दवावेमाणी य विहरइ । तए णं सा पोट्टिला तेतलिपुत्तेणं अमच्चेणं एव वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठा तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स एयमट्ठं सम्मं पडिसुणेति, पडिसुणेइत्ता कल्लाकल्लिं महाणसंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं०जाव दवावेमाणी विहराति । तेणं कालेणं तेणं समएणं सुव्वयाओ णामं अज्जियाओ इरियासमियाओ०जाव गुत्तबंभयारिणीओ बहुस्सुयाओ बहुपरिवाराओ पुव्वाणुपुव्विं जेणेव तेतलिपुरे णयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणीओ विहरंति । तए ण तासिं सुव्वयाणं अज्जाणं एगे संघाडए पढमाए पोरिसीए सज्झाइयं करेति० जाव अडमाणीओ तेतलिस्स गिहं अणुपविट्ठाओ । तए णं सा पोट्टिला ताओ अज्जाओ एज्जमाणीओ पासाति, पासइत्ता हट्ठतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठित्ता वंदइ, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता विउलेणं असण पाणं खाइमं साइमं पडिलाभेइ० पडिलाभित्ता एवं वयासी-एव खलु अहं अज्जाओ ! तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स पुव्विं इट्ठा कंता पिया मणुण्णा आसि, इयाणिं अणिट्ठा अकंता अप्पिया अमणुण्णा० जाव दंसणं वा परिभोगं वा । तं तुब्भे ण अज्जाओ ! बहुणायाओ बहुसिक्खियाओ बहुपढियाओ, तुब्भे बहूणि गामागर० जाव आहिंडेह, बहूण राईसर० जाव गेहाइं अणुप्पविस्सह, तं अत्थि याइं भे अज्जाओ ! केइ कहिं वि चुण्णजोए वा मंतजोए वा कम्मणजोए वा कम्मजोए वा हियउड्डावणे वा कायउड्डावणे वा आभिओगिए वा वसीकरणे वा कोउयकम्मे वा भूइकम्मे वा कंदे मूले छल्ली वल्ली मूलिया वा गुलिया वा ओसहे वा भेसज्जे वा उवलद्धपुव्वे. जेणाहं तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स पुणरावि इट्ठा कंता पिया मणुण्णा भवेज्जामि ? । तए णं ताओ अज्जाओ पोट्टिलाए एवं वुत्ताओ समाणीओ दो वि कण्णे ठायंति, पोट्टिलं एवं वयासी-अम्हे णं देवाणुप्पिए ! समणीओ निग्गंथीओ० जाव गुत्तबंभयारिणीओ, नो खलु कप्पति अम्हं देवाणुप्पिए ! एयप्पयारं कण्णे वि निसामेत्तए, किमंग ! पुण उवदिसित्तए वा, आयरित्तए वा । अम्हे णं तव देवाणुप्पिए ! विचित्तं केवलिपण्णत्तं धम्मं परिकहेज्जामो । तए ण सा पोट्टिला ताओ अज्जाओ एवं वयासी-इच्छामि णं अज्जाओ ! तुब्भं अंतिए केवलिपण्णत्तं धम्मं णिसामित्तए । तए णं ताओ अज्जाओ पोट्टिलाए विचित्तं धम्मं परिकहेंति । तए णं सा पोट्टिला धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा एवं वयासी-सद्दहामि णं अज्जाओ ! निग्गंथ पावयणं पत्तिए०जाव से जहेयं तुब्भे वदह, इच्छामि णं अहं तुब्भं अंतिए पंचाणुव्वइयं०जाव गिहिधम्मं पडिवज्जित्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तए णं सा पोट्टिला तासिं अज्जाणं अंतिए पंचाणुव्वयं० जाव गिहिधम्मं पडिवज्जति, ताओ अज्जाओ वंदइ, नमंसति, नमंसइत्ता पडिविसज्जेति । तए णं सा पोट्टिला समणोवासिया जाया० जाव पडिलाभेमाणा २ विहरइ । तए णं तीसे पोट्टिलाए अण्णया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं तेतलिपुत्तस्स पुव्विं इट्ठा कंता पिया मणुण्णा आसि, इयाणिं अणिट्ठा अकंता अप्पिया अमणुण्णा० जाव परिभोग वा । तं सेयं खलु ममं सुव्वयाणं अज्जाणं अंतिए पव्वइत्तए, एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता कल्लं पाओ जेणेव तेतलिपुत्ते अमच्चे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयलपरिग्गहियं एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए सुव्वयाणं अज्जाणं अंतिए धम्मे निसंते०जाव अब्भणुण्णाए पव्वइत्तए । तए णं तेतलिपुत्ते पोट्टिलं एवं वयासी-एवं खलु तुमं देवाणुप्पिए ! मुंडे भवित्ता पव्वइया समाणी कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववज्जिहिसि त्ति, तं जइ णं तुमं देवाणुप्पिए ! ममं ताओ देवलोगाओ आगम्म केवलिपण्णत्ते धम्मे बोहेहि, तो अहं विसज्जेमि, अह णं तुमं मम ण संबोहेसि, तो ण विसज्जेमि । तए णं सा पोट्टिला तेतलिपुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेति । तए णं तेतलिपुत्ते विउलं असणं पा-

णं खाइमं साइमं उवक्खमावेति मित्तनाइ० जाव आमंतेति, आमंतेत्ता ०जाव संमाणेति, पोट्टिलं एहायं०जाव पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूहइ, दुरूहइत्ता मित्तणाति० जाव परिवुमे सव्वड्ढीए०जाव रवेणं तेतलिपुरस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव सुव्वयाणं अज्जाणं उवस्सए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीयाओ पच्चोरुहति, पच्चोरुहइत्ता पोट्टिलं पुरओ कट्टु जेणेव सुव्वया अज्जा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता वंदाति, णमंसति, नमंसइत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम पोट्टिला भारिया इट्ठा पिया कंता मणुण्णा एस णं संसारभयउव्विग्गा० जाव पव्वइत्तए, पमिच्छतु णं देवाणुप्पिया ! सिस्सिणिभिक्खं दलयामि । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पमिबंधं करेह । तए णं सा पोट्टिला सुव्वयाहिं अज्जाहिं एवं वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठा उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए सयमेव आभरणमल्लालंकारं मुयइ, मुयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, करेइत्ता जेणेव सुव्वयाओ अज्जाओ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसइत्ता एव वयासी–आलित्तेणं एवं जहा देवाणंदा० जाव इक्कारस अंगाइं बहूणि वासाणि सामन्नपरियायं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झोसेत्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाइं आलोइय पमिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अणुत्तरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववण्णा ॥ तए णं से कणगरहे राया अण्णया कयाइं कालधम्मुणा संजुत्ते यावि होत्था ॥ तते णं ते ईसरपमिइओ० जाव णीहरणं करेति, करेतित्ता अण्णमण्णं एव वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! कणगरहे राया रज्जे य० जाव पुत्ते वियंगं वित्ता अम्हे णं देवाणुप्पिया ! रायाहीणा रायाहिट्ठिया रायाहीणकज्जा, अयं च णं तेतलिअमच्चे कणगरहस्स रण्णो सव्वट्ठाणेसु सव्वभूमियासु लद्धपच्चए दिण्णवियारे सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था, तं सेयं खलु अम्हं तेतलिपुत्तं अमच्चं कुमारं जाइत्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पमिसुणेति, पमिसुणेइत्ता जेणेव तेतलिपुत्ते अमच्चे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेतलिपुत्त अमच्चं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! कणगरहे राया रज्जे य रट्ठे य० जाव वियंगेति, अम्हे य णं देवाणुप्पिया ! रायाहीणा० जाव रायाहीणकज्जा, तुमं च णं देवाणुप्पिया ! कणगरहस्स रण्णो सव्वट्ठाणेसु० जाव रज्जधुराचिंतए । तं जइ णं देवाणुप्पिया ! अत्थि केइ कुमारे रायलक्खणसंपण्णे रायाभिसेयारिहे, तए णं तुमं दलाहि, जा णं अम्हे महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचामो । तए णं तेतलिपुत्ते अमच्चे तेसिं ईसरपभिए एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेइत्ता कणगज्झयं कुमारं एहायं सव्वालंकारविभूसियं० जाव सस्सिरीयं करेत्ता तेसिं ईसर० जाव उवणेति, उवणेइत्ता एवं वयासी–एस णं देवाणुप्पिया ! कणगरहस्स रण्णो पुत्ते पउमावईए देवीए अत्तए कणगज्झए णामं कुमारे अभिसेयारिहे रायलक्खणसंपण्णे मए कणगरहस्स रण्णो रहस्सियं संवड्ढिए, तं एयं तुब्भे महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचह, सव्वं च से उट्ठाणपारियावणियं परिकहेइ । तए णं ते ईसरकणगज्झयं कुमारं महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचाति । तए णं कणगज्झए कुमारे राया जाए महया हिमवंतजाए० जाव रज्जं पालेमाणे विहरइ । तए णं सा पउमावती देवी कणगज्झयं रायं सद्दावेति । सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एस णं पुत्ता ! तव रज्जे० जाव अंतेउरे य, तुमं च तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स पहावेणं, तेतलिपुत्तं अमच्च आढाहि, परियाणाहि, सक्कारेहि, सम्माणेहि० तं अब्भुट्ठेहि, पज्जुवासेहि य, वयंतं पडिसंसाहेहि, अद्धासणेणं उवनिमंतेहि, भोगं च से अणुवड्ढेहि । तए णं से कणगज्झए पउमावतीए देवीए तह त्ति पडिसुणइ० जाव भोगं च संवड्ढेइ । तए णं से पोट्टिले देवे तेतलिपुत्तं अमच्च अभिक्खणं अभिक्खणं केवलिपण्णत्तं धम्मं संबोहेति, नो चेव णं से तेतलिपुत्ते संबुज्झइ । तते णं तस्स पोट्टिलदेवस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए पत्थिए चिंतिए मणोगयसकप्पे समुप्पज्जित्था–एवं खलु कणगज्झए राया तेतलिपुत्तं आढाति० जाव भोगं च संवड्ढेति, तए णं से तेतलिपुत्ते अभिक्खणं अभिक्खणं संबोहेमाणे वि धम्मे णो संबुज्झति, तं सेय खलु मम कणगज्झयं रायं तेतलिपुत्ताओ विप्परिणामित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता कणगज्झयं तेतलिपुत्तातो विप्परिणामेति । तए णं तेतलिपुत्ते कल्लं एहाए० जाव पायच्छित्ते आसखंधवरगए बहूहिं पुरिसेहिं सद्धिं संपरिवुडे साओ गिहाओ णिग्गच्छति. णिग्गच्छित्ता जेणेव कणगज्झए राया तेणेव पहारेत्थगमणाए । तए णं तेतलिपुत्तं अमच्चं जहा बहवे राईसरतलवर० जाव पभिइओ पासंति, ते तहेव आढायंति, परियाणंति, अब्भुट्ठेंति, सक्कारेंति, सम्माणेंति, अंजलिपरिग्गहियं करेंति । इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं उरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धण्णाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरियाहिं वग्गूहिं आलवमाणा य संलवमाणा य पुरओ य पिट्ठओ य पासओ य मग्गओ य समणुगच्छति । तए णं से तेतलिपुत्ते जेणेव कणगज्झए राया तेणेव उवागच्छइ । तए णं से कणगज्झए राया तेतलिपुत्तं अमच्च एज्जमाणं पासति, पासेत्ता णो आढाति, णो परियाणइ, णो

यमाणे अपरियाणमाणे परंमुहे णं चिट्ठति। तते णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे कणगज्झयस्स रणो अंजलिं करेति। तते णं से कणगज्झए राया अणाढिज्जमाणो तुसिणीए परंमुहे संचिट्ठति। तए णं तेतलिपुत्ते अमच्चे कणगज्झयं विप्परिणयं जाणित्ता जीए० जाव संजायजए एवं वयासी-रुट्ठे णं मम कणगज्झए राया, हीणे णं मम कणगज्झए राया, अवज्झाए णं मम कणगज्झए राया, तं ण णज्जइ णं मम केणइ कुमारेणं मारेहेति त्ति कट्टु जीए तत्थे० जाव सणियं सणियं पच्चोसक्केइ, पच्चोसक्केइत्ता तमेव आसखंध दुरूहेति, दुरूहइत्ता तेतलिपुरं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव पहारेत्थगमणाए; तेतलिपुत्तं जे जहा ईसर०जाव पासंति ते तहा नो आढायंति,नो परियाणंति, नो अब्भुट्ठेंति,नो अंजलिं करिंति, इट्ठाहिं० जाव नो संलवंति, नो पुरओ य पिट्ठओ य पासओ य समणुगच्छंति। तते णं तेतलिपुत्ते अमच्चे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ। जा वि य से तत्थ बाहिरिया परिसा भवति। तं जहा-दासेइ वा,पेसेइ वा, भाइल्लएइ वा, सा वि य णं णो आढाइ० ३। जा वि य से अब्भिंतरिया परिसा भवति। त जहा-पियाइ वा, मायाइ वा,भज्जाइ वा, सुण्हाइ वा,सा वि य णं च नो आढाति० ३। तए ण से तेतलिपुत्ते जेणेव वासघरे जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता सयणिज्जंसि निसीयति, णिसीयइत्ता एवं वयासी-एवं खलु अहं सयाओ गिहाओ णिग्गच्छामि, त चेव०जाव अब्भिंतरिया परिसा नो आढाति, नो अब्भुट्ठेइ, त सेयं खलु मम अप्पाणं जीवियाओ ववरोवित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता तालउडं विसं आसगंसि पक्खिवति, से य विसे णो संकम्मति। तए णं से तेतलिपुत्ते नीलुप्पल०जाव असिं खंधंसि ओहरति,तत्थ वि य से धारा ओपल्ला। तए ण से तेतलिपुत्ते अमच्चे जेणेव असोगवणिया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता पासगं गीवाए बंधेति, बंधइत्ता रुक्ख दुरूहइ, दुरूहइत्ता पासे रुक्खे बंधइ, बधइत्ता अप्पाणं मुयति,तत्थ वि य से रज्जू छिण्णा। तए ण से तेतलिपुत्ते महइमहालियं सिलं गीवाए बधेति, बंधइत्ता अत्थाहमतारमपोरिसीयंसि उदगंसि अप्पाणं मुयति, तत्थ वि से थाहे जाते। तए णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे सुक्कंसि तणकूडंसि अगणिकायं पक्खिवति, पक्खिवइत्ता अप्पाणं मुयति, तत्थ वि य से अगणिकाये विज्झाए। तए णं तेतलिपुत्ते अमच्चे एवं वयासी-सद्धेयं खलु भो समणा वयंति, सद्धेयं खलु भो माहणा वयंति, सद्धेयं खलु समणा माहणा वयंति,अहं एगो असद्धेय वयामि,एवं खलु अहं सह पुत्तेहिं अपुत्ते, को मेदं सद्दहिस्सति?, सह मित्तेहिं अमित्ते, को मेदं सद्दहिस्सति?, एवं अत्थेणं दारेणं दासेहिं पेसेहिं परिजणेणं। एवं खलु [तेतलिपुत्ते णं अमच्चे] कणगज्झएणं रण्णा अवज्झाएणं समाणेणं तेतलिपुत्तेणं अमच्चेणं तालउडगे विसे आसगंसि पक्खित्ते, से वि य णं णो संकमइ, को मेदं सद्दहिस्सति?,तेतलिपुत्तेणं अमच्चेणं नीलुप्पल० जाव खंधंसि असिं ओहरिए, तत्थ वि य से धारा ओपल्ला, को मेदं सद्दहिस्सति?, तेतलिपुत्ते अमच्चे पासगं गीवाए बंधित्ता०जाव रज्जू छिण्णा, को मेदं सद्दहिस्सति?, तेतलिपुत्ते अमच्चे महालियं सिलं०जाव बंधेत्ता अत्थाह० जाव उदगंसि अप्पा मुक्के,तत्थ वि य णं थाहे जाते,को मेदं सद्दहिस्सति?, तेतलिपुत्ते अमच्चे सुक्कंसि तणकूडे० अग्गी विज्झाए, को मेदं सद्दहिस्सति?, ओहयमणसंकप्पे० जाव झियायइ। तए णं से पोट्टिले देवे पोट्टिलारूवं विउव्वति, विउव्वइत्ता तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स अदूरसामंते ठिच्चा एवं वयासी-हं भो तेतलिपुत्ता! पुरओ पवाए,पिट्ठओ हत्थिभयं, दुहओ अचक्खुफासे, मज्झे सराणि वरिसंति,गामे पलित्ते अरण्णे झियाइ, अरण्णे पलित्ते गामे झियाइ, आउसो! तेतलिपुत्ता! कओ वयामो?। तए णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे पोट्टिलं एवं वयासी-भीयस्स खलु भो पव्वज्जा सरणं, उक्कंठियस्स सदेसगमणं, छुहियस्स (छायस्स) अन्नं,तिसियस्स पाणं,आउरस्स भेसज्जं,माइयस्स (माइज्जस्स) रहस्सं, अभिजुत्तस्स पच्चयकरणं, अद्धाणं परिस्संतस्स (तस्स) वाहणगमणं, तरिउकामस्स पवहणकिच्चं, परं अभिउजिउकामस्स सहायकिच्चं। खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स एत्तो एगमवि ण भवति। तए णं से पोट्टिले देवे तेतलिपुत्तं अमच्चं एवं वयासी-सुट्ठु णं तुमे तेतलिपुत्ता! एयमट्ठं आयाणाहि त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयइ, वयइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तए णं तस्स तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स सुभेणं परिणामेणं जाईसरणे समुप्पण्णे। तए णं तस्स तेतलिपुत्तस्स अमच्चस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं इहेव जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे पुक्खलावईविजए पोंडरिगिणीए रायहाणीए महापउमे नाम राया होत्था। तए णं अहं थेराणं अंतिए मुंडे भवित्ता०जाव चउद्दस पुव्वाइं बहूणि वासाणि सामण्णपरियायं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए महासुक्के कप्पे देवत्ताए उववन्ने। तए णं अहं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं ठिइक्खएणं भवक्खएणं इहेव तेतलिपुरे णयरे तेतलिस्स अमच्चस्स भद्दाए भारियाए दारगत्ताए पयायाए; तं सेयं खलु मम पुव्वदिट्ठाइं पंच महव्वयाइं सयमेव उवसंपज्जित्ता

णं विहरित्तए एवं संपेहेति, संपेहित्ता सयमेव पंच महव्व- याइ आरुहति,आरुहइत्ता जेणेव पमयवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलापट्टयंसि सुहनिसण्ण- स्स अणुचिंतेमाणस्स पुव्वाहियाइं सामाइयाइं इक्कारस अंगाइं चोद्दस पुव्वाइं सयमेव अभिसमण्णागयाइं । तते णं तस्स तेतलिपुत्तस्स अणगारस्स सुभेणं परिणामेणं ०जाव तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं कम्मरयवि- करणकरं अपुव्वकरणं पविट्ठस्स अणते अणुत्तरे णिव्वा- घाए णिरावरणे कसिणे पमिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समु- प्पन्ने । तए णं तेतलिपुरे णगरे अहासन्निहिंहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं देवीहि य देवदुंदुभीओ समाहयाओ, दसद्धवण्णे कुसुमे निवाइए, दिव्वे गीयं, गंधव्वणिणादे कयाए यावि होत्था । तए णं से कणगज्झए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे स- माणे एवं वयासी–एव खलु तेतलिपुत्ते अमच्चे मए अवज्झाए० जाव मुंमे भवित्ता पव्वइए, तं गच्छामि णं तेतलिपुत्त अणगा- रं वंदामि, णमसामि, पज्जुवासामि, एयमट्ठं विणएण भुज्जो भुज्जो खामेमि एवं सपेहेइ, संपेहित्ता एहाए० जाव चाउरं- गिणीए सेणाए जेणेव पमयवणे उज्जाणे, जेणेव तेतलिपुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेतलिपुत्त अण- गारं वंदइ,णमंसइ,एयमट्ठ च विणएण भुज्जो भुज्जो खामेति, णच्चासण्णे ०जाव पज्जुवासेइ । तते णं से तेतलिपुत्ते अ- णगारे कणगज्झयस्स रण्णो तीसे य धम्मं परिकहेइ । तए णं से कणगज्झए राया तेतलिपुत्तस्स केवलिस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं सावग- धम्म पमिवज्जति, समणोवासए जाए अहिगयजीवा- जीवे । तए णं तेतलिपुत्ते केवली बहूणि वासाणि केव- लिपरियाग पाउणित्ता० जाव सिद्धे ।

अथ चतुर्दशज्ञातं विव्रियते-अस्य चायं पूर्वेण सहाभिसम्बन्ध । पूर्वस्मिन् सता गुणाना सामग्र्यभावे हानिरुक्ता, इह तु तथा- विधसामग्रीसद्भावे गुणसम्पदुपजायत इत्यभिधीयते, इत्येव स- म्बन्धमिद सर्वं सुगम, नवरम् (कलाए त्ति) कलादो नाम्ना, मूषि- कारदारक इति पितृव्यपदेशेनेति । (अब्भितरठाणिज्जे त्ति) आभ्यन्तरस्थानीयनाम्ना इत्यर्थ (?)। (वियंगेइ त्ति) व्यङ्गयति, विगतकर्णनासाहस्ताऽऽद्यङ्गान् करोतीत्यर्थ । अथवा-(वियगेइ त्ति) विकृन्तति, छिनत्तीत्यर्थ । (सरक्खमाणीए त्ति) सरक्षन्त्या आपदः, सगोपयन्त्या. प्रच्छादनत. (भिक्खाभायणे त्ति) भिक्षाभाजनमिव भिक्षाभाजन, तदस्माक भिक्षोरिव निर्वाह- कारणमित्यर्थ । "पढमाए पोरिसीए सज्झाइय" इत्यादौ यावत्करणादिदं द्रष्टव्यम्-" बीयाए पोरिसीए झाण झियायइ, तइयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसभंते मुहपोत्तिय पडि- लेहेइ, भायणवत्थाणि पडिलेहेइ, भायणाणि पमज्जइ, भाय- णाणि उग्गाहेइ, जेणेव सुव्वयाओ अज्जाओ, तेणेव उवागच्छइ, सुव्वयाओ अज्जाओ वदइ, नमसइ, वदित्ता नमसित्ता एव वयासी-इच्छामो ण तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए तेयलिपुरे नयरे उ- च्चनीयमज्झिमाइ कुलाइ घरसमुयाणस्स भिक्खायरियाए अ- डित्तए । अहासुह देवाणुप्पिया ' मा पमिबधं करेह । तए ण ता- ओ अज्जाओ सुव्वयाहिं अज्जाहिं अब्भणुन्नाओ समाणीओ सुव्वयाण अज्जाण अतिआओ उवस्सयाओ पडिणिक्खम- ति, पडिणिक्खमइत्ता अतुरिअमचवलमसंभताए गईए जुग- तरपलोयणाए दिट्ठीए पुरओ इरिअं सोहेमाणीओ तेयलिपुरे णयरे उच्चणीयमज्झिमाइ कुलाई घरसमुदाणस्स भिक्खाय- रियं अडमाणीओ । " इति । तत्र गृहेषु समुदान भिक्षा गृहस- मुदान, तस्मै गृहसमुदानाय, भिक्षाचर्यं भिक्षानिमित्तं विचर- णम्, अटन्त्य कुर्वाणा. । (अत्थि याइ भे त्ति) "याइ ति" देश- भाषाया, 'भे त्ति' भवतीनाम् । (चुण्णजोए त्ति) द्रव्यचूर्णानां योग, स्तम्भनाऽऽदिकर्मकारी (कम्मणजोए त्ति) कुष्ठाऽऽदिरोग- हेतु (कम्मजोए त्ति) काम्ययोगः कमनीयताहेतु, (हियउ- ड्डावणे त्ति) हृदयोड्डापन चित्ताऽऽकर्षणहेतु (कायउड्डावणे त्ति) कायाऽऽकर्षणहेतु । (आभिओगिए त्ति) पराभिभवनहेतुः (व- सीकरणे त्ति) वश्यताहेतु. (कोउयकम्मे त्ति) सौभाग्यनिमि- त्त स्नपनाऽऽदि (भूईकम्मे त्ति) मन्त्राभिसस्कृतभूतिदानम् । (रा- याहीणा इत्यादि) राजाधीना., राज्ञो दूरेऽपि वर्तमाना राजव- शवर्तिन इत्यर्थ । राजाधिष्ठिताः, तेन स्वयमध्यासिता राजा- धिष्ठिताः, राजाधीनानि राजाऽऽयत्तानि कार्याणि येषा ते वय राजाधीनकार्या. । (सव्व च से उट्ठाणपारियावणिय ति) सर्वं च 'से' तस्य उत्थान चोत्पत्ति., पारितापनिका च कालान्तरं यावत्स्थिरतरेत्युत्थानपारितापनक तत्परिकथयतीति । (वयत पाडिसंसाहेहि त्ति) विनयप्रस्तावाद् व्रजन्त प्रतिसंसाधयाऽनु- व्रज । अथवा वाचा त प्रतिसंश्लाघय-साधूक्त साध्वित्येव प्रशसां कुर्वित्यर्थ. । भोग वर्तनम् । "रुट्ठे णमित्यादौ" हीनोऽय मम प्री- त्येति गम्यते । अपध्यातो दुष्टचिन्तावान् । ममेति ममोपरि क- नकध्वज. । पाठान्तरेण-दुर्ध्यातोऽह दुष्टचिन्ताविषयीकृतोऽह कनकध्वजेन राज्ञा, तत तस्मान्न ज्ञायते केनाऽपि कुमारेण विरूपमारणप्रकारेण मारयिष्यतीति । (खधसि उवहरइ त्ति) स्कन्धे उपहरति विनिवेशयतीति । धारा (ओपल्ल त्ति) अवदी- र्णा, कुण्ठीभूतेत्यर्थ. । (अत्थाह ति) अस्त निरस्तमविद्यमान- मधस्तल प्रतिष्ठानं यस्य तदस्ताध., स्ताघो वा प्रतिष्ठान, तद- भावादस्ताघम । अतार यस्य तरणं नास्ति, पुरुषः परिमाणं यस्य तत्पौरुषेय,तन्निषेधादपौरुषेयम् । तत. पदत्रयस्य कर्मधा- रय । मकारौ च प्राकृतत्वात् । अतस्तत्र " सद्धेय " इत्यादि । श्रद्धेय श्रमणा वदन्ति आत्मपरलोकपुण्यपापाऽऽदिकमर्थजातम्, अतीन्द्रियस्याऽपि तस्य प्रमाणाबाधितत्वेन श्रद्धानगोचरा- त् । अह पुनरेकोऽश्रद्धेय वदामि-पुत्राऽऽदिपरिवारयुक्तस्यात्यर्थं राजसमतस्य च अपुत्राऽऽदित्वमराजसमतत्व च. विषखड्ग- पाशकजलाग्निभिरहिंस्यत्व चाऽऽत्मनः प्रतिपादयतो मम यु- क्तिबाधितत्वेन जनप्रतीतेरविषयत्वेनाश्रद्धेयत्वादिति । प्रस्तुत- सूत्रभावना-" तए णमित्यादि । " ह भो. ! इत्यामन्त्रणे । पुरतोऽग्रत प्रपातो गर्त., पृष्ठतो हस्तिभय (दुहओ त्ति) उभयत । अचक्षु स्पर्शोऽन्धकार, मध्ये मध्यभागे यत्र वय- मास्महे, तत्र शरा बाणा निपतन्ति, ततश्च सर्वतो भय वर्तते इत्यर्थ । तथा ग्राम प्रदीप्तोऽग्निना ज्वलति, अरण्यं च ध्मायतेऽनुपशान्तदाह वर्तते । अथवा-ध्यायतीव ध्यायति, अग्नेरविध्यानेन जागर्तीवेत्यर्थ. । अथवा-अरण्य प्रदीप्त, ग्रामो

ध्मायते न विध्यापयति, एवं सर्वस्यापि भयानकत्वात् स्थानान्तरस्य चाभावात्, आयुष्मंस्तेतलिपुत्र ! (कच त्ति) क्व व्रजामः ?, क्व भीतैर्गन्तव्यमस्माभिरिवान्येनापि भवतीति प्रश्नः । उत्तरं च-भीतस्य प्रव्रज्या शरणं, भवतीति गम्यते। अथ कथं भीतस्य प्रव्रज्या शरण भवति ?। अत्रोच्यते-यथोत्कण्ठिताऽऽदीनां स्वदेशगमनाऽऽदीनि। तत्र (बुहियस्सं त्ति) बुभुक्षितस्य। मायिनो वञ्चकस्य, रहस्य गुप्तत्व,शरणमिति सर्वत्र गमनीयम्। अभियुक्तस्य सम्पादितदूषणस्य,प्रत्ययकरण दूषणापोहेन प्रतीत्युत्पादनम्,अध्वानं मार्गं गच्छतः परिश्रान्तस्य गन्तुमशक्तस्य (वाहणगमण) शकटाऽऽद्यारोहण शरणमिति योज्यम्। तरीतुकामस्य नद्यादिकं प्लवन तरण कृत्यं कार्यं यस्य तत्प्लवनकृत्य तरकाण्डम्। परमभियोक्तुकामस्याभिभवितुकामस्य (सहायकम्मे त्ति) सहायकृत्य मित्राऽऽदिकृत्य (खतेत्यादि) क्षान्तस्य क्रोधनिग्रहेण,दान्तस्येन्द्रियनोइन्द्रियदमेन, जितेन्द्रियस्य विषयेषु रागाऽऽदिनिषेद्धुः, (एत्तो त्ति)एतेभ्योऽनन्तरोदितेभ्योऽग्रतः प्रपाताऽऽदिभ्यो भयेभ्यः एकमपि भय न भवति, प्रव्रजितस्य सामायिकपरिणत्या शरीराऽऽदिषु निरभिष्वङ्गत्वाद् मरणाऽऽदिभयाभावादिति। एव देवेनामात्यः स्ववाचा भीतस्य प्रव्रज्या श्रेयसीत्यभ्युपगम कारयित्वा एवमुक्तः-(सुट्ठु इत्यादि) अयमर्थो भीतस्य प्रव्रज्या शरणमिति यदि प्रतिज्ञायते, तदा सुष्ठु ते मत, भयाभिभूतस्त्वमिदानीमसीति एनमर्थमाजानीहि-अनुष्ठानद्वारेणावबुध्यस्व, प्रव्रज्यां विधेहीति यावत्। इह च यद्यपि सूत्रे उपनयो नोक्तस्तथाऽप्येव द्रष्टव्यः-" जाव न दुक्ख पत्ता, माणब्भंसं च पाणिणो पाय। ताव न धम्मं गेण्हइ-ति भावओ तेयलिसुउ व्व ॥ १ ॥" इति। ज्ञा० १ श्रु० १४ अ०। आ०म०। आ० क०। विशे० । तेतलिसुतप्रतिबद्धवक्तव्यताके चतुर्दशे ज्ञाताध्ययने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार। ज्ञा०। आ० चू०।

तेतिल्ल-तैतिल-पु०। गण्डकपशौ, वाच० । ज्योतिर्लोचनापरपर्याये बवाऽऽदितश्चतुर्थे करणे, ज० ७ वक्ष०।

तेतिलिपुर-तेतलिपुर-न०। स्वनामख्याते पुरे, यत्र कनकरथस्यामात्यस्तेतलिसुत आसीत्। ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०। आ० म०। दर्श०। आ० चू०।

तेतीस-त्रयस्त्रिंशत्-स्त्री०। " एत् त्रयोदशाऽऽदौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन " ॥ ८। १। १६५ ॥ इत्यादेः स्वरस्य सस्वरव्यञ्जने न सह एत्त्वाति । अधिकायां त्रिंशत्संख्यायाम्, प्रा० १ पाद।

तेत्तिअ-तावत्-त्रि०। " इदंकिमश्च डेत्तिअ-डेत्तिल-डेद्दहाः" ॥ ८। २। १५७॥ इति तच्छब्दात् 'डेत्तिअ' प्रत्ययः। तत्परिमाणवति, प्रा० २ पाद।

तेत्तिर-तित्तिर-पु०। लोमपक्षिभेदे, जी० १ प्रति०।

तेत्तुल्ल-तावत्-त्रि०। " अतो डेत्तुलः " ॥ ८। ४। ४३५ ॥ इत्यपभ्रंशे तच्छब्दात्परस्यातो प्रत्ययस्य 'डेत्तुल' इत्यादेशः। डित्वाट्टिलोप । प्रा० ४ पाद। तत्परिमाणवति, वाच०।

तेय-तेजस्-पु०। " स्नमदामशिरोऽनभः " ॥८।१।३२॥ इति सान्तत्वात्तेजःशब्दस्य पुंस्त्वम्। प्रा० १ पाद। आभितापे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। प्रभावे, अन्त० १ श्रु० ६ वर्ग ३ अ०। ... गच्छा० १ पाद। स्था०। कान्तौ, उपा० २ अ०। शरीरस्य कान्तौ, स्था० ८ ठा०। नि०। शरीरसंबन्धिनि रोचिषि, प्रभावे च। औ०। " अह तेओ पुण देहे अणोतप्पया चेव। " तेजः पुनर्देहे शरीरेऽनवत्रप्यता अलज्जनयिता दीप्तियुक्तत्वेनापरिभूतत्वम्। बृ० १ उ०। दीप्तौ, उपा० २ अ०। आचा० । तेजोलेश्यायाम्, स्था० १ ठा० । शरीरप्रभायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आहारपाककारणभूतेषु तेजोनिसर्गहेतुषु चोष्णपुद्गलेषु, कर्म० ५ कर्म०। रसाऽऽद्याहारपाकजनने तेजोनिसर्गलब्धिनिबन्धने च। अनु०। वृक्षभेदे, ति०। स्तेये, न०। चौर्ये, विशे०। पञ्चा०।

तेयंसी-तेजस्विन्-त्रि०। तेजः शरीरप्रभा, तद्वांस्तेजस्वी। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। शरीरप्रभायुक्ते, भ० २ श० ५ उ०। स०। नि०। आचा०। दीप्तिमति, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १उ०। बृ०।

तेयग-तैजस-न०। तेज पुद्गलानां विकारस्तैजसम्। " विकारे " ॥ ६। २। ३०। इत्यण्। ऊष्मलिङ्गे, भुक्ताऽऽहारपरिणमनकारणे शरीरभेदे, यद्वशाच्च विशिष्टतपःसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गमः। उक्त च-" सव्वस्स उम्हसिद्ध, रसाऽऽइआहारपाकजणग च। तेयगलद्धिनिमित्त, च तेयग होइ नायव्वं ॥ १ ॥ " जी० १ प्रति०। स्था०। प्रज्ञा०। (तैजसशरीरव्याख्या सर्वा ' सरीर ' शब्दे वक्ष्यते) वैश्वानरे, पुं०। स० ३० सम०।

तेयगणाम-तैजसनाम (न्)न०। तेजोनिबन्धन नाम तैजसनाम, तैजसशरीरनिबन्धने नामकर्मणि, यदुदयवशात्तैजसशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय तैजसशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया संबन्धयतीति। कर्म० १ कर्म०।

तेयगलद्धि-तैजसलब्धि-स्त्री०। क्रोधाऽऽधिक्यात्प्रतिपन्थिनं प्रति सुखेन विशिष्टतपोजन्यानेकयोजनप्रमाणक्षेत्राऽऽश्रितवस्तुदहनसामर्थ्यतो जाज्वल्यमानज्वालामोचनशक्तौ, भ०। सा तु, यो यमी नित्य षष्ठ तपः करोति पारणके कुल्माषमुष्टया जलचुलुकेन चाऽऽस्ते, तस्य षण्मासान्ते सिद्ध्यतीति। ग० ३ अधि०।

तेयगसमुग्घाय-तैजससमुद्घात-पुं०। तेजसि विषये भवस्तैजसः, स चासौ समुद्घातश्च तैजससमुद्घातः। तेजोलेश्याविनिर्गमकालभाविनि तैजसशरीरनामकर्माऽऽश्रये समुद्घातविशेषे, प० स० २ द्वार। प्रज्ञा०। स०। प्रव०। (किञ्चिद्वक्तव्यता ' तेउसमुग्घाय ' शब्देऽत्रैव भागे २३५० पृष्ठे गता) (अस्य सर्वा वक्तव्यता तु ' समुग्घाय ' शब्दे वक्ष्यते)

तेयजणण-तेजोजनन-न०। माहात्म्योत्पादने, बृ० ३ उ०।

तेयपाल-तेजःपाल-पुं०। पोरवाडकुलजाते अणहिल्लपाट्टणनगरराजस्य श्रीवीरधवलस्य मन्त्रिणि, ती०।

तेजःपालवस्तुपालकल्पः-

"श्रीवस्तुपालतेजः-पालौ मन्त्रीश्वरावुभावास्ताम्।
यौ भ्रातरौ प्रसिद्धौ, कीर्तनसंख्यां तयोर्ब्रूमः " ॥ १ ॥

पूर्वं गूर्जरधरित्रीमण्डनायां मण्डलीमहानगर्यां श्रीवस्तुपालतेजःपालाऽऽद्या वसन्ति स्म। अन्यदा श्रीमत्पत्तनवास्तव्यप्राग्वाटान्वयाक्कुरश्रीचण्डपालाऽऽत्मजठक्कुरश्रीचण्डप्रसादाङ्गजमन्त्रिश्रीसोमकुलावतंसठक्कुरश्रीआसराजनन्दनौ कुमारदेवीकुक्षिसरोवरराजहंसौ श्रीवस्तुपालतेजःपालौ श्रीशत्रुञ्जयगिरिनाराऽऽ-

द्वितीर्थयात्रायै प्रस्थितौ हडालाग्राम गत्वा यावत् स्वां विभूतिं चिन्तयतस्तावल्लक्षत्रयं सर्वस्व जातम्। ततः सुराष्ट्रस्यासौस्थ्य-माकलय्य लक्षमेकमवन्यां निधातु निशीथे महाश्वच्छतल खात खानयामासतु.।तयोः खानयतोः कस्यापि प्राक्तनः कनकपूर्ण.शौ-द्वकलशो निरगात्, तमादाय श्रीवस्तुपाल' तेज.पालजाया-मनुपमादेवीं मान्यतयाऽपृच्छत्-क्वैतन्निधीयत इति ? । तयोक्तम्-गिरिशिखर एवैतदुच्चैः स्थाप्यते, यथा प्रस्तुतनिधिवन्नान्य-साद्भवेत्। तच्छ्रुत्वा श्रीवस्तुपालस्तद् द्रव्यं श्रीशत्रुञ्जयोज्ज-यन्तादावव्ययत्। कृतयात्रो व्यावृत्तो धवलक्कपुरमगात्।अत्रा-न्तरे माहणदेवी नाम कान्यकुब्जेश्वरसुता जनका[कु]ञ्चलिका-पदे(?) गुर्जरधरित्रीमवाप्य तदाधिपत्य मुक्त्वा मृता सती तत्रैव देशाधिष्ठात्री देवता समजनि। सैकदा स्वप्ने वीरधवलनृपस्या-चीकथत्-यद्वस्तुपालतेज पालौ राज्यचिन्तकप्राग्रहरौ विधाय सुखेन राज्य शाधि। इत्थ कृते राज्यराष्ट्रवृद्धिस्तव भविश्रीत्यादिश्य स्व च प्रकाश्य तिरोदधे देवी। प्रातरुत्थाय नृपतिर्वस्तुपालतेज - पालावाहूय सत्कृत्य च ज्यायसः स्तम्भतीर्थधवलक्कयोराधिप-त्यमेवादात्।तेज पालस्य तु सर्वराज्यव्यापारमुद्रां ददौ। ततस्तौ षड्दर्शनदान नानाविधधर्मस्थानविधापनाऽऽदिभि' सुकृतशता-नि चिनुत स्म नित्यमनुसमयम्।तथाहि लक्षमेक सपाद जिनबि-म्बानां कारितम्, अष्टादश कोटय षण्णवतिर्लक्षा. श्रीशत्रुञ्जय-तीर्थे द्रविण व्ययितम्, द्वादश कोटयोऽशीतिर्लक्षा. श्रीउज्जयन्ते, द्वादश कोटयस्त्रिपञ्चाशद् लक्षा अर्बुदशिखरे, लूणिगवसत्या नव शतानि चतुरशीतिश्च पौषधशाला. कारिता, पञ्चशतानि दन्तमयसिंहासनानां, पञ्चशतानि पञ्चोत्तराणि समवसर-णाना जादरमयाना (?), ब्रह्मशाला. सप्त शतानि, सप्त शतानि सत्रागाराणाम् , सप्तशती तपस्विकापालिकमठानाम्, सर्वेषा भोजननिर्वापाऽऽदिदान कृत, त्रिशच्छतानि द्व्युत्तराणि माहेश्वराऽऽयतनानां,त्रयोदश शतानि चतुरुत्तराणि शिखरबद्ध-जैनप्रासादानां, त्रयोविंशतिशतानि जीर्णचैत्योद्धाराणाम्,अष्टा-दशकोटिसुवर्णव्ययेन सरस्वतीभाण्डागाराणां स्थानत्रये भरण कृत, पञ्चशती ब्राह्मणाना वेदपाठ करोति स्म, वर्षमध्ये सङ्घ-पूजात्रितय, पञ्चाशच्छती श्रमणानां गृहे नित्य विहरति स्म, तटिककार्पटिकानां सहस्र साधिक प्रत्यह भुङ्क्ते स, त्रयोदश ती-र्थयात्रा. सङ्घपतीभूय कृताः। तत्र प्रथमयात्राया चत्वारि सह-स्राणि च पञ्चशतानि शकटानां सशय्यापालकानां,सप्तशती सुखा-सिकानाम, अष्टादशशती वाहिनीनाम, एकान्नविंशतिः शतानि श्रीकारिणाम्, एकविंशतिः शतानि श्वेताम्बराणा, एकादश शता-नि दिगम्बराणां, चत्वारि शतानि सार्द्धानि जैनगायनानां, त्र-यस्त्रिशच्छती वन्दिजनानाम्। चतुरशीतिस्तडागाः सुबद्धाः, चतु शती चतुःषष्ट्यधिका वापीनां, पाषाणमयानि द्वा-त्रिंशद् दुर्गाणि, दन्तमयजैनरथानां चतुर्विंशति., विंश शत शा-कघटिनानां,सरस्वतीकण्ठाऽऽभरणाऽऽदीनि चतुर्विंशतिर्विरुदा-नि श्रीवस्तुपालस्य चतुःषष्टिर्मसीतय. कारिता. । दक्षिणस्यां श्रीपर्वत यावत्, पश्चिमायां प्रभास यावत्, उत्तरस्यां केदार या-वत्, पूर्वस्यां वाराणसीं यावत् तयो कीर्त्तनानि, सर्वाग्रेण त्रीणि कोटिशतानि चतुर्दश लक्षा अष्टादश सहस्राणि अष्टशतानि लोष्टिकात्रितयोनानि द्रव्यव्ययत त्रिषष्टिवारान् सङ्ग्रामे जैत्रपत्र गृहीतम। अष्टादश वर्षाणि तयोर्व्यापृति । एव तयो पुण्यकृ-त्यानि कुर्वतो' कियताऽपि कालेन श्रीवीरधवलनृप. कालधर्म-मवापत्। ततस्तत्पट्टे तदीयस्तनयः श्रीमान् वीसलदेवस्ताभ्यां मन्त्रिप्रवराभ्या राज्येऽभिषिक्तः। सोऽपि समर्थ. सन् क्रमेण दु-र्मदः सचिवान्तर विधाय मन्त्रितेज पालमपाचकार। तदेतदव-लोक्य पुरोधाः सोमेश्वरनामा महाकविर्नृपमुद्दिश्य साक्षेपं नव्य काव्यमपठत्। यथा-

"मांसोन्मांसलपाटलापरिमलव्यालोलरोलम्बिनः (?),
प्राप्य प्रौढिमिमां समीर! महतीं पश्य त्वया यत्कृताम्।
सूर्याचन्द्रमसौ निरस्ततमसौ दूर तिरस्कृत्य यत्,
पादस्पर्शसहं विहायसि रज' स्थाने तयोः स्थापितम्" ॥१॥

इत्यादि तयो. पुरुषरत्नयोर्वृत्तशेषमादित उत्पत्तिस्वरूप तु लोकप्रसिद्धित एवावगन्तव्यम्।

" गीताज्ञायनवर्येण, सूमाद्धिज्ञाय कीर्तिता।
कीर्तनानामिय सख्या, श्रीमतोर्मन्त्रिमुख्ययो ॥ १ ॥"

श्रीमहामात्यवस्तुपालतेज.पालकीर्त्तनसख्याकल्पः।

" यदध्यासितमर्हद्भि', तद्धि तीर्थं प्रचक्षते।
अर्हन्तश्च तयोश्चित्त-मध्यवात्सुरहर्निशम् ॥ १ ॥
तत्तीर्थरूपयोर्युक्त्या, पुरुषश्रेष्ठयोस्तयो.।
कीर्त्तनोत्कीर्त्तनेनापि, न्याय्या कल्पकृतिर्न किम् ? ॥ २ ॥
इत्यालोच्य हृदा कल्प-लेश मन्त्रीशयोस्तयोः।
एत विरचयाञ्चक्रु, श्रीजिनप्रभसूरयः ॥३॥" ती० ४१ कल्प।

तेयमंडल-तेजोमण्डल-न०। प्रभापटले, स० ६ सम०।

तेयमाहप्पकंतिजुत्त-तेजोमाहात्म्यकान्तियुक्त-त्रि०। तेजो दीप्तिर्माहात्म्य महानुभावता, कान्ति काम्यता, तैर्युक्ते, उपा० १ अ०।

तेयलिपुर-तेतलिपुर-'तेतलिपुर' शब्दार्थे, ज्ञा० १श्रु० १ अ०।

तेयलेस्सा-तेजोलेश्या-स्त्री०। विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्र-भवाया तेजोज्वालायाम्, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। (सा कथ भ-वतीति 'तेउलेस्सा' शब्देऽनुपदमेव २३४६ पृष्ठे द्रष्टव्या)

तेयवत-तेजस्विन्-त्रि०। प्रभावति, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार।

तेयवीरिय-तेजोवीर्य-पु०। भरतराजस्य पुत्रपरम्परायां भरता-त्पञ्चमे महाबलस्य पुत्रे, स्था० ८ ठा०।

तेया-तेजस्-स्त्री०। त्रयोदश्याम, ज्यो० ४ पाहु०। च० प्र०। लोकोत्तररीत्या त्रयोदश्यां रात्रौ, कल्प० ६ क्षण।

त्रेता--स्त्री०। सत्ययुगानन्तरवर्तिनि युगभेदे, वाच०। "तेयाजु-गे य दाभरही रामो सीयालक्खणसजुओ वि।" ती०२७ कल्प। दक्षिणाग्निगार्हपत्याऽऽहवनीयाऽऽत्मके समुदिते अग्नित्रये, द्यूतक्रीडासाधनस्याक्षस्य यस्मिन् पार्श्वे त्रयोऽङ्कास्तस्य पा-र्श्वस्य उत्तानतया पतने द्यूतविशेषे, वराटकाना मध्ये त्रयाणा-मुत्तानतया पतने च। 'त्रेताहृतसर्वस्वम्'। इति मृच्छकटिक-टीका। वाच०।

तेयाणुबंधि(ण्)-स्तेयानुबन्धिन्-न०। स्तेनस्य चौरस्य कर्म स्तेय, तीव्रक्रोधाऽऽद्याकुलतया तदनुबन्धवत्स्तेयानुबन्धिनि, भ० २५ श० ७ उ०। रौद्रध्यानभेदे, दर्श०। अतितीव्र-क्रोधलोभाऽऽकुलमानसस्य श्रमणान्धबधिराजङ्गमाऽऽदिष्वपि प्राणप्रहाणबुद्ध्याऽपि परद्रव्यापहरणेच्छा परलोकापाया भीरोः। अत एवाऽऽह-श्रीभगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण.-

" तह तिव्वकोहलोहा-उलस्स भूओवघायणमणज्जं । परदव्वहरणचित्तं, परलोगावायनिरवेक्खं" ॥ १ ॥ दर्श० ४ तत्त्व ।

तेयाली–तेयालिन्–पुं० । वृक्षभेदे, " ताले तमाले तक्कलितेयालीसालिसारकल्लाणे । " प्रज्ञा० १ पाद ।

तेरसी–त्रयोदशी–स्त्री० । चन्द्रस्य त्रयोदशकलाक्रियारूपे तिथौ, वाच० । त्रयोदश्यां यात्रा शुभकरी । तदुक्तम्-" जे वि हु हुंति अमित्ता, ते तेरसिपट्ठिओ जिणइ । " द० प० । ज्यो० ।

तेरह–त्रयोदश (न्)–पुं० । " एत्त्रयोदशाऽऽदौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन " ॥ ८ । १ । १६५ ॥ त्रयोदशादिष्वेवप्रकारेषु संख्याशब्देष्वादे' स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सहैकार. । प्रा० १ पाद । "सख्यागद्गदे र." ॥ ८ । १ । २१९ ॥ इति दस्य र. । प्रा० १ पाद । त्र्यधिकदशसख्याऽन्विते, वाच० ।

तेरासिय–त्रैराशिक–पुं० । जीवाजीवनोजीवभेदास्त्रयो राशय. समाहृतास्त्रिराशि, तत्प्रयोजन येषां ते त्रैराशिकाः । स्था० ७ ठा० । आ० म० । त्रीन् राशीन् जीवाजीवनोजीवरूपान् वदन्ति ये ते त्रैराशिकाः । औ० । जीवोऽजीवो जीवाजीवश्च, लोकोऽलोको लोकालोकश्च, सत् असत् सदसत् । नयचिन्तायामपि त्रिविधं नयमिच्छन्ति । तद्यथा-द्रव्यास्तिकम, पर्यायास्तिकम, उभयास्तिकं च । उक्त च-त्रिभी राशिभिश्चरन्तीति त्रैराशिकाः । न० । त्रिराशिभिर्दीव्यन्ति जिगीषन्तीति त्रैराशिका' । उत्त० ३ अ० । जीवाजीवनोजीवराशित्रयवादिरोहगुप्तमतानुसारिषु षष्ठेषु निह्नवेषु, आ० क० ।

अथ षष्ठवक्तव्यतामभिधित्सुराह-

पंच सया चोयाला, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स ।
पुरिमंतरंजियाए, तेरासियदिट्ठि उप्पन्ना ॥२४५१॥

पञ्चवर्षशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि तदा सिद्धिं गतस्य श्रीमन्महावीरस्य, अत्रान्तरे अन्तरञ्जिकायां पुर्यां त्रैराशिकदृष्टिरुत्पन्नेति ॥ २४५१ ॥

कथमुत्पन्ना ?, इत्याह-

पुरिमंतरंजि भुयगिह, बलसिरि सिरिगुत्त रोहगुत्ते य ।
परिवायपोट्टसाले, घोसण पमिसेहणा वाए ॥ २४५२ ॥

संग्रहगाथेयम् । अस्याश्च कथानकादर्थोऽवसेयः । तच्चेदम्-अन्तरञ्जिका नाम नगरी, तस्याश्च बहिर्भूतगृह नाम चैत्यम् । तत्र च श्रीगुप्तनामाऽऽचार्य' स्थित । तस्यां च नगर्यां बलश्रीर्नाम राजा । श्रीगुप्ताऽऽचार्याणां च रोहगुप्तो नाम शिष्योऽन्यत्र ग्रामे स्थित आसीत् । अतोऽसौ गुरुवन्दनार्थमन्तरञ्जिकायामागत । तत्र चैक परिव्राजको लोहपट्टकेनोदर बद्ध्वा जम्बूवृक्षशाखया च हस्ते गृहीतया नगर्यां भ्राम्यति । किमेतदिति च लोकेन पृष्टो वदति-मदीयोदरमतीव ज्ञानेन पूरितत्वात् स्फुटतीति लोहपट्टेन बद्धम् । जम्बूद्वीपमध्ये च मम प्रतिवादी नास्ति इत्यस्यार्थस्य सूचनार्थं जम्बूवृक्षशाखा हस्ते गृहीता । ततस्तेन परिव्राजकेन सर्वस्यामपि नगर्यां " शून्या सर्वेऽपि परप्रवादा , नास्ति कश्चिन्मम प्रतिवादी । " इत्युद्घोषणापूर्वक पटहको दापितः । लोहपट्टबद्धपोट्टजम्बूवृक्षशाखायोगाच्च तस्य लोके "पोट्टशाल" इति नाम जातम् । ततस्तत्पटहको नगरीं प्रविशता रोहगुप्तेन दृष्ट , उद्घोषणा च श्रुता । ततोऽहं तेन सार्द्धं वाद दास्यामीत्यभिधाय गुरूनपृष्ट्वाऽपि निषिद्धस्तेनाऽसौ पटहकः । गुरुसमीप चाऽऽगत्याऽऽलोचयता कथितोऽय व्यतिकरस्तेषाम् । आचार्यै. प्रोक्तम्-न युक्त त्वयाऽनुष्ठितम् , स हि परिव्राजको वादे निर्जितोऽपि विद्यास्वतिकुशलत्वात्ताभिरुपतिष्ठते, तस्य चैताः सप्त विद्या वाढं स्फुरन्ति ॥२४५२॥

का. पुनस्ता. ?, इत्याह-

विच्छु य सप्पे मूसग, मिगी वराही य काग पोयाई ।
एयाहिं विज्जाहिं, सो य परिव्वायगो कुसलो ॥२४५३॥

(विच्छु य त्ति) वृश्चिकप्रधाना विद्या गृह्यते । (सप्पे त्ति) सर्पप्रधाना विद्या (मूसग त्ति) मूषकप्रधाना । तथा-मृगी नाम विद्या मृगीरूपेणोपघातकारिणी । एव वराही च । (काग पोयाइ त्ति) काकविद्या, पोताकीविद्या च । पोताक्य' शकुनिकाः । एतासु विद्यासु, एताभिर्वा विद्याभि' स परिव्राजक' कुशल इति । ततो रोहगुप्तेनोक्तम्-यद्येव, तत्किमिदानीं नष्टु क्वापि शक्यते ?, निषिद्धस्तत्पटहक , यद्भवति तद्भवतु । तत सूरिभिः प्रोक्तम्-यद्येव, तर्हि पठितसिद्धा एवैता. सप्त तत्प्रतिपक्षविद्या गृहाण ॥२४५४॥

का' पुनस्ता ?, इत्याह-

मोरी नउलि बिराली, वग्घी सीही य उलुगि ओलावी ।
एयाओ विज्जाओ, गिण्ह परिव्वायमहणीओ ॥२४५५॥

वृश्चिकानां प्रतिपक्षभूता मयूरी विद्या, सर्पाणां तु प्रतिपक्षभूता नकुली । मूषकाणां बिडाली । एव व्याघ्री, सिंही, उलूकी । (ओलावि त्ति) पोताकीप्रतिपक्षभूता उलावकप्रधाना विद्येत्यर्थ. । एताः परिव्राजकमथनीर्विद्या गृहाण त्वम्, इति सूरिणा प्रोक्ते गृह्णाति रोहगुप्त. । तथा रजोहरण चाभिमन्त्र्य सूरिभिस्तस्य समर्पितम् । अभिहितश्च यथा-यद्यन्यदपि किञ्चित्तत्प्रणीतक्षुद्रविद्याकृतमुपसर्गजातमुपतिष्ठते तदा तन्निवारणार्थमेतन्मस्तकस्योपरि भ्रमणीयम् । ततश्चेन्द्राणामप्यजेयो भविष्यसि, किमुत मनुष्यमात्रस्य तस्येति ? । ततश्च गतो राजसभां रोहगुप्त. । प्रोक्त च तत्र तेन-किमेष द्रमक परिव्राजको जानाति ?, करोत्वयमेव यदृच्छया पूर्वपक्षम्, येनाह निराकरोमि । तत' परिव्राजकेन चिन्तितम्-निपुणाः खल्वमी भवन्ति, तदमीषामेव सम्मत पक्ष परिगृह्णामि, येन निराकर्तुं न शक्नोति । विचिन्त्य चेदमभ्यधायि-इह जीवाश्च जीवाश्चेति द्वावेव राशी, तथैवोपलभ्यमानत्वात्, शुभाशुभाऽऽदिराशिद्वयवत् इत्यादि । ततो रोहगुप्तेन तद्बुद्धिपरिभवनार्थं स्वसमतोऽप्यय पक्षो निराकृतः । कथम ?, इति चेत् ? । उच्यते-असिद्धोऽय हेतु , अन्यथोपलम्भात्, जीवा अजीवा नोजीवाश्चेति राशित्रयदर्शनात् । तत्र जीवा नरकतिर्यगादय , अजीवास्तु परमाणुघटाऽऽदय , नोजीवास्तु गृहकोकिलापुच्छाऽऽदय' । ततो जीवाऽजीवनोजीवरूपास्त्रयो राशय., तथैवोपलभ्यमानत्वाद्, अधममध्यमोत्तमाऽऽदिराशित्रयवद्, इत्यादियुक्तिभि निष्प्रश्नव्याकरण कृत्वा जित परिव्राजको रोहगुप्तेन । ततोऽसौ क्रुद्धो वृश्चिकविद्यया रोहगुप्तविनाशार्थं वृश्चिकान् मुञ्चति । ततो रोहगुप्तस्तत्प्रतिपक्षभूतमयूरीविद्यया मयूरान्मुञ्चति । तैश्च वृश्चिकेषु हतेषु परिव्राजक सर्पान्मुञ्चति । इतरः तत्प्रतिघातार्थं नकुलान्विसृजति । एव मूषिकाणां बिडालान्, मृगीणां व्याघ्रान्, शूकराणा सिंहान्, काकानामुलूकान्, पोताकी-

नासुलावकान् मुञ्चति । ततो गर्दभी मुक्ता, तां चाऽऽगच्छन्तीं दृष्ट्वा रोहगुप्तेन रजोहरण मस्तकस्योपरि भ्रमयित्वा तेनैव रजोहरणेन ताडिता सती परिव्राजकस्योपरि मूत्रपुरीषोत्सर्गं कृत्वा गताऽसौ । तत. सभापतिना, सभ्यै, समस्तलोकेन च निन्द्यमानो नगरान्निर्वासित' परिव्राजकः ॥ २४५४ ॥

इत पर यद्भूत्तद्भाष्यकारः प्राऽऽह-

जेऊण पोट्टसालं, छलूओ भणइ गुरुमूलमागंतुं ।
वायम्मि मए विजिओ, सुणह जहा सो महामज्झे ॥२४५५॥
रासिदुगगहियपक्खो, तइयं नोजीवरासिमादाय ।
गिहकोकिलाइपुच्छ-च्छेओदाहरणओऽभिहिए ॥२४५६॥
भणइ गुरू सुट्ठु कयं, किं पुण जेऊण कीस नाभिहियं ? ।
अयमवसिद्धंतो णे, तइओ नोजीवरासि त्ति ॥ २४५७ ॥
एवं गए वि गतुं, परिसामज्झम्मि भणसु नायं णे ।
सिद्धंतो किं तु मए, बुद्धिं परिभूय सो समिओ ॥ २४५८ ॥
बहुसो स भण्णमाणो, गुरुणा पडिभणइ किमवसिद्धंतो ? ।
जइ नाम जीवदेसो, नोजीवो हुज्ज को दोसो ? ॥ २४५९ ॥

पोट्टशाल परिव्राजकं जित्वा गुरुच्चरणमूलमागत्य रोहगुप्तोऽपरनाम्ना तु षडुलूको भणति-स परिव्राजकाधम समस्तनृपसभामध्ये यथा वादे मया विजितस्तथा शृणुत यूयम, कथयामीति । तदेवाऽऽह-राशिद्वयगृहीतपक्ष स परिव्राजको मया वादे विजित इति प्राक्तनेन सबन्ध । किं कृत्वा ?, इत्याह-तृतीय नोजीवराशिमादाय पक्षीकृत्य, कुतो दृष्टान्तादसौ पक्षीकृत्य ?, इत्याह-गृहकोकिलाऽऽदीना पुच्छमेव छिन्नत्वाच्छेद., तदुदाहरणतस्तद्दृष्टान्तादित्यर्थ. । एव रोहगुप्तेनाभिहिते गुरुर्भणति-सुष्ठु कृत त्वया यदसौ जित., किं तु तत्रोत्तिष्ठता त्वया किमेतन्नाभिहितम् ? । किम् ?, इत्याह- तृतीयो नोजीवराशिरित्यय (णे त्ति) नोऽस्माकमपसिद्धान्त, जीवाजीवलक्षणराशिद्वयस्यैवाऽस्मत्सिद्धान्तेऽभिहितत्वादिति । तस्मादेव गतेऽपि, एतावत्यपि गते इत्यर्थ, तत्र परिषन्मध्ये गत्वा भण प्रतिपादय, (नाय णे त्ति) नोऽस्माक नायं सिद्धान्त, किं तु स परिव्राजकस्तद्बुद्धिं परिभूय तिरस्कृत्य शमित उपशमं नीतो, दर्पं त्याजित इत्यर्थः । एवं बहुशोऽनेकधा गुरुणा भण्यमान स रोहगुप्त. प्रतिभणति प्रत्युत्तरयति-आचार्य ! किमयमपसिद्धान्त ?, यदि हि नोजीवलक्षणतृतीयराश्यभ्युपगमे कोऽपि दोष स्यात्तदा स्यादयमपसिद्धान्त न चैतदस्ति । कुतः ?, इत्याह-यदि नाम गृहकोकिलापुच्छाऽऽदिजीवदेशो नोजीवो भवेन्नोजीवत्वेनाऽभ्युपगम्येत, तर्हि को दोष स्यात् ?, न कमपि दोषमत्र पश्याम इत्यर्थ । तत किमित्यपसिद्धान्तत्वे दोषपरिहारार्थं पुनर्मां तत्र प्रेषयसीति भाव ।

कस्मान्न दोष ?, इत्याह-

जं देसनिसेहपरो, नोसद्दो जीवदव्वदेसो य ।
गिहकोइलाइपुच्छं, विलक्खणं तेण नोजीवो ॥२४६०॥

यद्यस्मान्नोजीव इत्यत्र नोशब्दो देशनिषेधपरो, न तु सर्वनिषेधपर, नोजीवो जीवैकदेशो, न तु सर्वस्यापि जीवस्याऽभाव इत्यर्थ । भवत्वेष देशनिषेधको नोशब्दः, पर गृहकोकिलाऽऽदिपुच्छ जीवदेशो न भविष्यतीत्याशङ्कयाऽऽह- जीवद्रव्यैकदेशश्च गृहकोकिलाऽऽदिपुच्छम्,आदिशब्दाच्छिन्नपुरुषाऽऽदिहस्ताऽऽदयः परिगृह्यन्ते । कथम्भूतं तद् गृहकोकिलाऽऽदिपुच्छम् ?, इत्याह-विलक्षणम्, जीवाऽजीवेभ्य इति गम्यते । तथाहि-न तावद् गृहकोकिलाऽऽदिपुच्छ जीवत्वेन व्यपदेष्टु शक्यते, तत्कायैकदेशत्वेन तद्विलक्षणत्वात् । नाप्यजीव इत्यभिधातु पार्यते, स्फुरणाऽऽदिभिस्तेभ्योऽपि विलक्षणत्वात् । येनैव, तेन कारणेन पारिशेष्यान्नोजीव एतदुच्यत इति ॥ २४६० ॥

सिद्धान्तेऽपि धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशवचनादुक्त एव नोजीव । कथम ?, इत्याह-

धम्माइदसविहाऽऽदे-सओ य देसो वि जं पिहुं वत्थु ।
अपिहुब्भूओ किं पुण, छिन्नं गिहकोलियापुच्छं ? ॥२४६१॥
इच्छइ जीवपएसं, नोजीव जं च समभिरूढो वि ।
तेणऽत्थि तओ समए, घडदेसो नोघडो जह वा ॥२४६२॥

चकारस्य भिन्नक्रमत्वाद्यद्यस्मात्कारणाद्देशोऽपीत्यपिशब्दस्यापि भिन्नक्रमत्वाद्धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशिन. (अपिहुब्भूओ त्ति) अपृथग्भूतोऽप्येकत्वमापन्नोऽपि देशः (पिहु वत्थु त्ति) सिद्धान्ते पृथग् वस्तु भणित इति शेष, पृथग्वस्तुत्वेन निर्दिष्ट इत्यर्थ । किं पुनर्यच्छिन्नमात्मन. पृथग्भूत कृत,तद् गृहकोकिलाऽऽदिपुच्छ पृथग् वस्तु न भविष्यति ?,भविष्यत्येवेति । तच्च जीवच्छिन्नत्वेन पृथग्भूतत्वात, स्फुरणाऽऽदिना चाजीवविलक्षणत्वात्सामर्थ्यान्नोजीव एवेति भाव' । कुत. पुनर्वचनाऽऽदेशात्सिद्धान्ते पृथग् वस्तु भणित ?, इत्याह-(धम्माइदसविहाऽऽदेसउ त्ति) धर्मास्तिकायाऽऽदीनाममूर्त्ताजीवाना दशविधाऽऽदेशतो दशविधत्वभणनात् । एतदुक्त भवति--अजीवप्ररूपणां कुर्वद्भिरुक्त परममुनिभि -"अजीवा दुविहा पण्णत्ता । त जहा रूविअजीवा य, अरूविअजीवा य । रूविअजीवा चउव्विहा पण्णत्ता । त जहा खंधा, देसा, पएसा, परमाणुपोग्गला । अरूविअजीवा दसविहा पन्नत्ता । त जहा-धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पएसे,एव अधम्मत्थिकाए वि, आगासत्थिकाए वि, अद्धासमए ।" तदेव धर्मास्तिकायाऽऽदीना दशविधत्वभणनेन तद्देशस्य पृथग्वस्तुत्वमुक्तमेव, अन्यथा दशविधत्वानुपपत्ते. । यदा च धर्मास्तिकायाऽऽदीनां देशस्तेभ्योऽपि पृथग्भूतोऽपि पृथग्वस्तूच्यते, तदा गृहकोकिलापुच्छाऽऽदिक छिन्नत्वेन जीवात पृथग्भूत सुतरां वस्तु भवति, तच्च जीवाजीवविलक्षणत्वान्नोजीव इत्युक्तमेवेति । अपि च-यद्यस्मात्कारणाज्जीवप्रदेशं नोजीव समभिरूढनयोऽपीच्छति, तेन तस्मात्तकोऽसौ नोजीव समये सिद्धान्तेऽप्यस्ति, न पुनर्मयैव केवलेनोच्यते, तथा चानुयोगद्वारेषु प्रमाणद्वारान्तर्गत नयप्रमाणं विचारयता प्रोक्तम-" समभिरूढो सद्दतय भणइ-जइ कम्मधारएण भणासि तो एव भणाहि-जीवे य से पएसे य, से पएसे नोजीवे ' इति । तदनेन प्रदेशलक्षणो जीवैकदेशो नोजीव उक्त', यथा घटैकदेशो नोघट इति । तस्मादस्ति नोजीवलक्षणस्तृतीयराशि, युक्त्याऽऽगमसिद्धत्वात्, जीवाजीवाऽऽदिवत्स्यादिति ॥ २४६१ ॥ २४६२ ॥

तदेवं षडुलूकेनोक्त आचार्य प्रतिविधानमाह-

जइ ते सुयं पमाणं, नो रासी तेसु तेहिं सुत्तेसु ।

दो जीवाजीवाणं, न सुए नोजीवरासि त्ति ॥२४६३॥

" धम्माइदसविहाऽऽदेसओ य " इत्याद्युपन्यासात्सूत्रप्रामाण्यवादी किल लक्ष्यते भवान्, तद्यदि सत्यमेव तव सूत्रं प्रमाणम्, ततस्तर्हि तेषु तेषु सूत्रेषु जीवाजीवरूपौ द्वावेव राशी प्रोक्तौ। तथा च स्थानाङ्गसूत्रम्-" दुवे रासी पण्णत्ता। तं जहा-जीवा चेव, अजीवा चेव।" तथाऽनुयोगद्वारसूत्रेऽप्युक्तम्-"कइविहा णं भंते! दव्वा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-जीवदव्वा य, अजीवदव्वा य।" तथोत्तराध्ययनसूत्रे चाभिहितम्-" जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।" इत्याद्यन्येष्वपि सूत्रेषु द्रष्टव्यम्-। नोजीवराशिस्तु तृतीयः श्रुते न क्वचिदप्यभिहितः, तत्कथं तत्स्वरूपप्ररूपणा न श्रुताऽऽशातनेति ? । न च धर्मास्तिकायाऽऽदीनां देशस्तेभ्यो भिन्नः कोऽप्यस्ति, विवक्षामात्रेणैव तस्य भिन्नवस्तुत्वकल्पनात् ॥२४६३॥

एवं पुच्छाऽऽदिकमपि गृहकोकिलाऽऽदिजीवेभ्योऽभिन्नमेव, तत्सबद्धत्वाद्, अतो जीव एव तत्, न तु नोजीव इति दर्शयन्नाह-

गिहकोलियाइपुच्छे, छिन्नम्मि तदंतरालसंबंधो।

मुत्तेऽभिहिओ सुहुमा-ऽमुत्तत्तणओ तदग्गहणं ॥२४६४॥

गृहकोकिलाऽऽदीनां पुच्छाऽऽदिकेऽवयवे छुरिकाऽऽदिना छिन्नेऽपि तयोर्गृहकोकिलापुच्छाऽऽदिवस्तुनोर्यदन्तरालं विचालं तत्र जीवप्रदेशानां सबन्धः संयोगस्तदन्तरालसबन्धः सूत्रेऽभिहित एव। तथा च भगवतीसूत्रम्-" अह भंते ! कुम्मा कुम्मावलिया, गोहा गोहावलिया, गोणे गोणावलिया, मणुस्से मणुस्सावलिया, महिसे महिसावलिया, एएसि णं दुहा वा, तिहा वा, असखेज्जहा वा छिन्नाणं जे अंतरा, ते वि णं तेहिं जीवपएसेहिं फुडा ? । हंता फुडा। पुरिसे णं भंते ! अंतरे हत्थेण वा, पाएण वा, अगुलियाए वा, कट्ठेण वा, किलिंचेण वा, आमुसमाणे वा, समुसमाणे वा, आलिहमाणे वा, विलिहमाणे वा, अन्नयरेण वा तिक्खेण सत्थजाएण आछिदमाणे वा, विछिंदमाणे वा, अगणिकाएणं समोडहमाणे तेसिं जीवपएसाणं किंचि आबाहं वा विबाहं वा उप्पाएइ, छविच्छेयं वा करेइ ? । नो इणट्ठे समट्ठे। नो खलु तत्थ सत्थं सकमइ।" इति। यदि नामैव सूत्रे जीवप्रदेशानां तदन्तरालसबन्धोऽभिहितः, तर्हि तदन्तराले ते जीवप्रदेशाः किमिति नोपलक्ष्यन्ते ?, इत्याह-(सुहुमेत्यादि) कार्मणशरीरस्य सूक्ष्मत्वात्, जीवप्रदेशानां चामूर्तत्वादन्तराले तेषां जीवप्रदेशानां सतामप्यग्रहणं तदग्रहणमिति ॥२४६४॥

ननु यथा देहे पुच्छाऽऽदौ च स्फुरणाऽऽदिभिर्लिङ्गैर्जीवप्रदेशा गृह्यन्ते, तथा सन्तोऽप्यन्तराले किमिति ते न गृह्यन्ते ?, इत्याह-

गज्झा मुत्तिगयाओ, नाऽऽगासे जह पईवरस्सीओ।

तह जीवलक्खणाइं, देहे न तदंतरालम्मि ॥२४६५॥

इह भूकुड्यवरण्डकान्धकाराऽऽदीनि वस्तून्येव मूर्त्तियोगान्मूर्त्तिरुच्यन्ते। ततश्च यथा मूर्त्तिगता यथोक्तवस्तुगता एवेत्यर्थः, प्रदीपरश्मयो ग्राह्या भवन्ति, न तु केवले आकाशे प्रसृताः, तथा तेनैव प्रकारेण जीवो लक्ष्यते यैस्तानि जीवलक्षणानि भाषणोच्छ्वासनिश्वासधावनवल्गनस्फुरणाऽऽदीनि देहे एव गृह्यन्ते; न तु तदन्तराले भवति ॥ २४६५ ॥

यतश्चैवं ततः किम् ?, इत्याह-

देहरहियं न गिण्हइ, निरतिसओ नातिसुहुमदेहं व।

न य से होइ विबाहा, जीवस्स भवंतराले व्व ॥२४६६॥

देहाभावे जीवलक्षणानामभावाद्देहरहितं मुक्ताऽऽत्मानं छिन्नपुच्छाऽऽद्यन्तरालवर्त्तिनं वा जीवं निरतिशयः केवलज्ञानाऽऽद्यतिशयरहितो जन्तुर्न गृह्णाति। तथा-अतिसूक्ष्मो देहो यस्य तमतिसूक्ष्मदेहं निगोदाऽऽदिजीवं कार्मणकाययोगिनं वा जन्तुं नाऽसौ गृह्णाति। न च 'से' तस्य जीवस्यान्तरालवर्त्तिषु प्रदेशेष्वनन्तरदर्शितसिद्धान्तसूत्रोक्तयुक्त्या कुन्तासिसेल्लाऽऽदिशस्त्रैराग्निजलाऽऽदिभिर्वा विबाधा पीडा काचिद्भवति, भवान्तराले कार्म्मणशरीरवर्त्तिजीवप्रदेशवदिति ॥२४६६॥

ननु गृहकोकिलाऽऽदिजीवस्य छिन्नत्वात्पुच्छाऽऽदिकं खण्डं नष्टं, ततश्च तत्तस्मात्पृथग्भूतत्वान्नोजीवः कस्मान्नोच्यते ?, यथा घटच्छिन्नत्वात्पृथग्भूतं रथ्यापतितं घटखण्डं घटैकदेशत्वान्नोघटः ?, तदयुक्तम्। कुतः ?, इत्याह-

दव्वामुत्तत्ताऽकय-भावादविकारदरिसणाओ य।

अविणासकारणाहि य, नभसो व्व न खंडसो नासो ॥२४६७॥

खण्डशो जीवस्य नाशो न भवतीति प्रतिज्ञा, अमूर्त्तद्रव्यत्वाद्, अकृतकभावात्-अकृतकत्वादित्यर्थः। तथा-घटाऽऽदेः कपालाऽऽदिवद्विकारदर्शनाभावाद्, अविनाशकारणत्वाच्च-विनाशकारणानामग्निशस्त्राऽऽदीनामभावादित्यर्थः, इत्येते हेतवः। सर्वेषु नभस इव इति दृष्टान्त इति ॥ २४६७ ॥

खण्डशो नाशे च जीवस्य दोषानाह-

नासे य सव्वनासो, जीवस्स नासो य जिणमयच्चाओ।

तत्तो य अणिम्मोक्खो, दिक्खावेफल्लदोसा य ॥२४६८॥

शस्त्रच्छेदाऽऽदिना जीवप्रदेशस्य नाशे चेष्यमाणे क्रमशः सर्वनाशोऽपि कदाचित्तस्य भवेत्। तथाहि-यत् खण्डशो नश्यति तस्य सर्वनाशो दृष्टः, यथा घटाऽऽदेः, तथा च त्वयेष्यते जीवः, ततः सर्वनाशस्तस्य प्राप्नोति। भवत्वेतदपि, किं नः सूयते ?, इति चेत्। तदयुक्तम्। कुतः ?, इत्याह-(नासो येत्यादि) स च जीवस्य सर्वनाशो न युक्तः, यस्माज्जिनमतत्यागहेतुत्वाज्जिनमतत्यागोऽसौ। जिनमते हि जीवस्य सतः सर्वथा विनाशोऽसतश्च सर्वथोत्पादः सर्वत्र निषिद्ध एव। यदाह-" जीवा णं भंते ! किं वड्ढति, हायंति, अवट्ठिया ?। गोयमा ! नो वड्ढति, नो हायंति, अवट्ठिया।" इत्यादि। अतो जीवस्य सर्वथा नाशेऽभ्युपगम्यमाने जिनमतत्याग एव स्यात्। तथा ततस्तत्सर्वनाशादनिर्मोक्षो मोक्षाभावः प्राप्नोति, मुमुक्षो सर्वथा नाशात्। मोक्षाभावे च दीक्षाऽऽदिकष्टानुष्ठानवैफल्यं, क्रमेण च सर्वेषामपि जीवानां सर्वनाशे संसारस्य शून्यताप्राप्तिः, कृतस्य च शुभाशुभकर्मणो जीवस्य सर्वनाश एवमेव नाशात्कृतनाशप्रसङ्ग इत्यादि वाच्यमिति न जीवस्य खण्डशो नाशः। गृहकोकिलाऽऽदीनां पुच्छाऽऽदिखण्डस्य पृथग्भूतत्वेन प्रत्यक्षत एव नाशो दृश्यत इति चेत्। तदयुक्तम्। औदारिकशरीरस्यैव हि तत्खण्डमध्यक्षतो वीक्ष्यते, न तु जीवस्य, तस्यामूर्त्तत्वेन केनाऽपि खण्डयितुमशक्यत्वादिति।

अथात्रैव पराभिप्रायमाशङ्क्य दूषयति-

अह खंभो इव संघा-यभेयधम्मा सतो वि सव्वेसिं।

अवरोप्परसंकरओ, सुहाऽऽइगुणसंकरो पत्तो ॥२४६९॥

अथ पुद्गलस्कन्ध इव सावयवत्वात्स जीवः सङ्घातभेदधर्मोऽभ्युपगम्यते, यथा क्वचिद्विवक्षितपुद्गलस्कन्धेऽन्यस्कन्धगत खण्ड समागत्य सहन्यते सबध्यते, तद्गत च खण्ड भित्त्वाऽन्यत्र गच्छति, एव जीवस्याप्यन्यजीवखण्ड सहन्यते, तद्गत तु भिद्यत इत्येव सङ्घातभेदधर्मो जीव इष्यत इति । अत खण्डशो नाशेऽपि सघातस्यापि सद्भावान्न तस्य सर्वनाश इति परस्याभिप्राय· । अत्र दूषणमाह-(तो वि सव्वेसिं इच्चा॑दि) एवमपि च सति सर्वेषामपि सर्वलोकवर्तिनां जीवानां परस्परसङ्करत· सुखाऽऽदिगुणसङ्कर· प्राप्त । इदमुक्तम्भवति-यदैक जीवसबन्धि शुभाशुभकर्मान्वित खण्डमन्यजीवस्य सबध्यते, अन्यसबन्धि तु खण्ड तस्य सबध्यते, तदा तत्सुखाऽऽदयोऽन्यस्य प्रसजन्ति, अन्यसुखाऽऽदयस्तु तस्य, इत्येव सर्वजीवानां परस्पर सुखाऽऽदिगुणसाङ्कर्य स्यात् । तथैकस्य कृतनाश·, अन्यस्याकृताभ्यागम इत्यादि वाच्यमिति ॥ २४६९ ॥

अन्यमपि पराभिप्रायमाशङ्क्य दूषणान्तरमाह-

अह अविमुक्को वि तओ, नोजीवो तो पइप्पएसं ते ।
जीवम्मि असंखेज्जा, नोजीवा नत्थि जीवो ते ॥२४७०॥

अथैतद्दोषभयान्न जीवस्य छेदोऽभ्युपगम्यते, किं त्वविमुक्तोऽप्यच्छिन्नोऽपि जीवसबद्धोऽपि तकोऽसौ जीवदेशो नोजीवस्त्वयेष्यते, यथा धर्मास्तिकायाऽऽद्येकदेशो नोधर्मास्तिकायाऽऽदि·, ततस्तर्हि प्रतिप्रदेश ते तव नोजीवसद्भावादेकैकस्मिन्नात्मन्यसख्येया नोजीवा प्राप्ता , ततस्ते तव नास्ति काऽपि जीवसभव , सर्वेषामपि जीवानां प्रत्येकमसख्येयनोजीवत्वप्राप्तेरिति ॥ २४७० ॥

दूषणान्तरमपि प्रसञ्जयन्नाह--

एवमजीवा वि पइ-प्पएसभेएण नोअजीव त्ति ।
नत्थि अजीवा केई, कयरे ते तिन्नि रासि त्ति ? ॥२४७१॥

एवमजीवा अपि धर्मास्तिकायाऽऽदयो द्व्यणुकस्कन्धाऽऽदयो घटाऽऽदयश्च प्रतिप्रदेशभेदतोऽजीवैकदेशत्वाद् नोऽजीवा , घटैकदेशनोघटवदिति, अतोऽजीवा· केचनाऽपि न सन्ति, परमाणूनामपि पुद्गलास्तिकायलक्षणाजीवैकदेशत्वेन नोऽजीवत्वात्सर्वत्र नोअजीवानामेवोपपद्यमानत्वात् । ततश्च कतरे ते त्रयो राशय - त्वया ये राजसभायां प्रतिष्ठिता , उक्तन्यायेन नोजीवनोअजीवलक्षणराशिद्वयस्यैव सद्भावात् , इति । तस्माद् बहुदोषप्रसङ्गान्न जीवच्छिद्यत इति स्थितम् ॥ २४७१ ॥

छिद्यता वाऽसौ तथापि न नोजीवसिद्धिरिति दर्शयन्नाह-

छिन्नो व होउ जीवो, कह सो तल्लक्खणो वि नोजीवो ? ।
अह एवमजीवस्स वि, देसो तो नोअजीवो त्ति ॥२४७२॥
एव पि रासओ ते, न तिन्नि चत्तारि संपसज्जंति ।
जीवा तहा अजीवा, नोजीवा नोअजीवा य ॥२४७३॥

पुच्छाऽऽद्यवयवच्छेदेन छिन्नोऽपि भवतु गृहकोकिलाऽऽदिर्जीव , केवल तस्य जीवस्य लक्षणानि स्फुरणाऽऽदीनि यस्याऽसौ तल्लक्षणोऽपि सन्नसौ पुच्छाऽऽदिदेश कथ केन हेतुना नोजीवो भण्यते ? । इदमुक्तं भवति-सम्पूर्णोऽपि गृहकोकिलाजीव स्फुरणाऽऽदिलक्षणैरेव जीवो भण्यते, स्फुरणाऽऽदीनि च लक्षणानि छिन्ने तदवयवेऽपि पुच्छाऽऽदिके दृश्यन्ते, अतस्तल्लक्षणयुक्तोऽप्यसौ किमिति जीवो न भण्यते, येन नोजीवकल्पनाऽत्र विधीयते ?, इति । (अह एवमिति) अथैव जीवलक्षणै· सङ्गिरपि पुच्छाऽऽदिकस्तदवयवो नोजीव एवेष्यते, न पुन· स्वाग्रह्स्त्यज्यत इत्यर्थ । अत्र सूरिराह· (तो त्ति) ततस्तर्हि अजीवस्यापि घटाऽऽदेर्देशो नोअजीव· प्राप्नोति, जीवैकदेशनोजीववदिति । अस्त्वेव, न किञ्चिद् मम विनश्यतीति चेत् । नैवम् । कुतः ?, इत्याह--(एव पीत्यादि) एवमप्यभ्युपगम्यमाने ये भवता त्रय एव राशय इष्यन्ते, ते न घटन्ते, किं तु चत्वारो राशय सप्रसजन्ति । तद्यथा· जीवा·, तथा अजीवाः, नोजीवा , नोअजीवाश्चेति ॥ २४७२ ॥ २४७३ ॥

अत्र य· परस्य परिहारस्तस्य स्वपक्षेऽपि समानतां दिदर्शयिषु सूरिराह-

अह ते अजीवदेसो, अजीवसामण्णजाइलिंगो त्ति ।
भिन्नो वि अजीवो च्चिय,न जीवदेसो वि किं जीवो?॥२४७४॥

अथ ते तवाऽजीवस्य जीवस्कन्धाऽऽदेर्देश एकदेशो भिन्नोऽपि स्कन्धात्पृथग्भूतोऽप्यजीव एव, न तु नो अजीव । कुत ?, इत्याह-अजीवेन सामान्ये जातिलिङ्गे यस्यासावजीवसामान्यजातिलिङ्ग इति कृत्वा । तत्राजीवत्व जाति·, पुल्लिङ्गलक्षण च।लिङ्गम् । एतच्च द्वयमप्यजीवतद्देशयो· सामान्यमेव, ततस्तद्देशोऽप्यजीव एव । हन्त ! यद्येव, तर्हि जीवदेशोऽपि किमिति जीवो नेष्यते, तस्याऽपि जीवेन समानजातिलिङ्गत्वादिति ॥ २४७४ ॥

गाथाचतुर्थपादोक्तमेवार्थं प्रमाणेन दृढयन्नाह-

छिन्नगिहकोलिया वि हु, जीवो तल्लक्खणेहिँ सयलो व्व ।
अह देसो त्ति न जीवो,अजीवदेसो त्ति नोऽजीवो?॥२४७५॥

छिन्नगृहकोकिलाऽपि-छिन्न पुच्छाऽऽदिको गृहकोकिलाऽऽदिजीवावयवोऽपीत्यर्थः। किम् ?, इत्याह-जीव , इति प्रतिज्ञा। हेतुमाह-(तल्लक्खणेहिं ति) तल्लक्षणैर्हेतुभूतै·-स्फुरणाऽऽदितल्लक्षणयुक्तत्वादित्यर्थ·। (सयलो व्व त्ति) यथा सकल परिपूर्णोऽछिन्नो गृहकोकिलाऽऽदिजीव इत्यर्थ·। एव दृष्टान्त । अथ गृहकोकिलाऽऽदेर्जीवस्य पुच्छाऽऽदिकस्तदवयवो देश एवेति कृत्वा न जीव इष्यते, सपूर्णस्यैव जीवत्वात्, यद्येवमजीवस्यापि घटाऽऽदेर्देशो 'नो' नैवाऽजीव प्राप्नोति, सम्पूर्णस्यैवाजीवत्वात् । ततोऽयमजीवदेशोऽपि नोअजीव एव स्यात्, न त्वजीव· । तथा च सति स एव राशिचतुष्टयप्रसङ्ग इति ॥२४७५॥

यदुक्तम्-" इच्छइ जीवपएस, नो जीव ज च समभिरूढो वि ।" (२४६२) इत्यादि । तत्राऽऽह-

नोजीव ति न जीवा-दण्णं देसमिह समभिरूढो वि ।
इच्छइ वेइ समास, जेण समाणाहिगरण सो ॥२४७६॥
जीवे य से पएसे, जीवपएसे एव नोजीवो ।
इच्छइ न य जीवदलं,तुमं व गिहकोलियापुच्छं॥२४७७॥
न य गामिजेयमिच्छइ, तुमं व नोजीवमिच्छमाणो वि ।
अन्नो वि नओ नेच्छइ, जीवाजीवाहिय किं पि ॥२४७८॥

इह-"जीवे य से पएसे य से सपएसे नोजीवे।" इत्यनुयोगद्वारेषु सूत्राऽऽलापके समभिरूढनयोऽपि नोजीवमिति नेच्छ·

तीति सम्बन्धः-नोजीवत्वेन नेच्छतीत्यर्थः । क कर्मतापन्नम् ? । देशम् । कथंभूतम् ? । जीवादनन्यं जीवाव्यतिरिक्तं देशं नोजीवं समभिरूढनयोऽपि नेच्छति-किं त्वव्यतिरिक्तमेव तं तस्मादिच्छतीत्यर्थः । कुत एतद्विज्ञायते ?, इत्याह-येन कारणेन देशदेशिनोः कर्मधारयलक्षणं समानाधिकरणमेव समासमसौ समभिरूढनयो ब्रवीत्यभ्युपगच्छति, न पुनर्नैगमाऽऽदिरिव तत्पुरुषमित्यर्थः । समानाधिकरणसमासश्च नीलोत्पलाऽऽदीनामिव विशेषणविशेष्याणामभेदे एव भवति । अतो ज्ञायते-जीवादनन्यरूपमेव देशं नोजीवमिच्छति समभिरूढ इति, एवं कथं तृतीयराशिः स्यात् ?, इति । तदेव समभिरूढाभिमतं समानाधिकरणसमासं दर्शयति-(जीवे य से इत्यादि) जीवश्चासौ प्रदेशश्च जीवप्रदेशः, स एव (नोजीवो त्ति) स एव जीवादव्यतिरिक्तो जीवप्रदेशो नोजीव इत्येवमिच्छति समभिरूढनयः, न पुनर्जीवदले जीवात्पृथग्भूतं तत्खण्डं नो जीवमिच्छत्यसौ, यथा गृहकोकिलाऽऽदीनां पुच्छाऽऽदिखण्डं नोजीवं त्वमिच्छसीति । अपि च-नोजीवमिच्छन्नपि समभिरूढनयो यथा त्वं तथा नोजीवराशेर्जीवाजीवराशिद्वयाद्भेदं नेच्छति, किं तु जीवाजीवलक्षणं राशिद्वयमेवेच्छति, नोजीवस्यात्रैवान्तर्भावात् । तथाऽन्योऽपि नैगमाऽऽदिर्नयो जीवाऽजीवेभ्योऽधिकं किमपि नोजीववस्तु नेच्छत्येव । ततस्त्वदीय एवायं नूतनः कश्चिन्मार्ग इति ।

तथाऽभ्युपगम्यापि सूरिराह-

इच्छउ व समभिरूढो, देसं नोजीवमेगनइयं तु ।
मिच्छत्तं सम्मत्तं, सव्वनयमयावरोहेणं ॥२४७९॥
तं जइ सव्वनयमयं, जिणमयमिच्छसि पवज्ज दो रासी ।
पयविप्पडिवत्तीए, वि मिच्छत्तं किं नु रासीसु ? ॥२४८०॥

इच्छतु वा समभिरूढनयस्त्वमिव जीवाद्भिन्नमपि तद्देशं नोजीवं, तथाऽप्येकनयस्येदं मतमैकनयिकं, मिथ्यात्वं चैतच्छाक्यमतवत्, इत्यतो न तत्प्रमाणीकर्त्तव्यम् । सम्यक्त्वं तु सर्वनयमतावरोधेन समस्तनयमतसंग्रहेणैव भवति । ततो यदि सर्वनयमयं जिनमतं प्रमाणमिच्छसि, तदा प्रतिपद्यस्व जीवाजीवलक्षणौ द्वावेव राशी । अन्यथा-" पयमक्खरं पि एक्कं, पि जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं । सेसं रोयंतो वि हु, मिच्छद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १ ॥" इत्यादिवचनात्पदविप्रतिपत्त्याऽपि मिथ्यात्वमापद्यते, किमुत सकलेषु राशिषु विप्रतिपत्त्या तत्र भविष्यति ?, इति ॥ २४८० ॥

तदेवं युक्तिभिर्गुरुणा सम्बोध्यमाने रोहगुप्तेऽग्रतः किं सञ्जातम् ?, इत्याह-

एवं पि भण्णमाणो, न पवज्जइ सो जओ तओ गुरुणा ।
चिंतियमयं पणट्ठो, नासिहिई मा बहुं लोगं ॥२४८१॥
तो णं रायसभाए, निगिण्हामि बहुलोगपच्चक्खं ।
बहुजणनाओऽवसिओ, होही अगेज्झपक्खो त्ति॥२४८२॥
तो बलसिरिनिवपुरओ, वायं नाओवणीयमग्गाणं ।
कुणमाणाणमईया, सीसाऽऽयरियाण छम्मासा ॥२४८३॥
एक्को वि नावसिज्जइ, जाहे तो भणइ नरवई नाऽहं ।
सत्तो सोउं सीयं-ति रज्जकज्जाणि मे भगवं ! ॥२४८४॥
गुरुणाऽभिहिओ भवओ, सुणावणत्थमियमेत्तियं जणियं ।
जइ सि न सत्तो सोउं, तो निगिण्हामि णं कल्लं ॥२४८५॥

प्रकटार्था एवैताः, नवरम्-(बहुजणनाओऽवसिओ त्ति) बहुजनस्य ज्ञातो विदितोऽवसितो मया जितः सन्नग्राह्यवचनः सर्वस्याऽपि भविष्यति । (तो बलसिरिनिवपुरओ त्ति) ततो बलश्रीनाम्नो राज्ञः पुरत इत्यर्थः । (नाओवणीयमग्गाण त्ति) नीयते संचिन्त्य प्राप्यते वस्त्वनेनेति न्यायः प्रस्तुतार्थसाधकं प्रमाणं, येनोपन्यस्तेन सतोपनीतो ढौकितः प्रसङ्गेनाऽऽगतः सकलस्याऽपि तर्कस्य मार्गो येषां ते तथा, तेषां न्यायोपनीतमार्गाणां रोहगुप्तश्रीगुप्तसूरीणामिति ।

ततो द्वितीयदिने किमभूदित्याह-

बीयदिणे बेइ गुरू, नरिंद ! जं मेइणीएँ सब्भूयं ।
तं कुत्तियावणे स-व्वमत्थि सव्वप्पतीयमियं ॥२४८६॥
तं कुत्तियावणसुरो, नोजीवं देइ जइ न सो नत्थि ।
अह भणइ नत्थि तो न-त्थि किं व हेउप्पबंधेणं ॥२४८७॥
तं मग्गिज्जउ मुल्ले-ण सव्ववत्थूणि किं त्थ कालेणं ।
इय होउ त्ति पवन्ने, नरिंदपइवाइपरिसाहिं ॥ २४८८ ॥
सिरिगुत्तेणं छलुगो, छम्मासा विकड्ढिऊण वाएँ जिओ ।
आहरणकुत्तियावण, चोयालसएण पुच्छाणं ॥२४८९॥

द्वितीयदिने ब्रवीति गुरुः श्रीगुप्तसूरिः-नरेन्द्र ! पृथ्वीपते ! इह मेदिन्यां पृथिव्यां यत्किमपि सद्भूतं विद्यमानं वस्तु तत्सर्वमपि कुत्रिकाऽऽपणेऽस्तीति सर्वजनस्य भवतां च प्रतीतमेवेदम् । तत्र कूनां स्वर्गपातालमर्त्यभूमीनां त्रिकं कुत्रिकम्; तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति कृत्वा, तत्स्थलोका अपि कुत्रिकमुच्यते, कुत्रिकमापणयति व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिकाऽऽपणः । अथवा-धातुजीवमूललक्षणेभ्यस्त्रिभ्यो जातं त्रिजं, सर्वमपि वस्त्वित्यर्थः । कौ पृथिव्यां त्रिजमापणयति व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिजाऽऽपणः, अस्मिंश्च कुत्रिकाऽऽपणे वणिजः कस्याऽपि मन्त्राऽऽराधितः सिद्धो व्यन्तरसुरः क्रायकजनसमीहितं सर्वमपि वस्तु कुतोऽप्यानीय संपादयति । तन्मूल्यद्रव्यं तु वणिगेव गृह्णाति । अन्ये तु वदन्ति-वणिग्रहिता सुराधिष्ठिता एव ते आपणा भवन्ति । ततो मूल्यद्रव्यमपि स एव व्यन्तरसुरः स्वीकरोति । एते च कुत्रिकाऽऽपणाः प्रतिनियतेष्वेवोज्जयिनीभृगुकच्छनगराऽऽदिस्थानेषु क्वापि कियन्तोऽप्यासन्नित्यागमेऽभिहितम् । ततस्तस्मात् कुत्रिकाऽऽपणसुरो यदि मूल्येन याचितः सन् नोजीवं जीवाजीवव्यतिरिक्तं वस्तुरूपं कमपि ददाति, तदाऽसौ न नास्ति, अपि तु निर्विवादमस्त्येव । अथायमेव वदति-नास्ति तद्व्यतिरिक्तः कोऽपि नोजीवः, तदा नास्त्येवाऽसौ, किं तन्नास्तित्वसाधनाय युष्मदाद्यप्रयोजनकालातिकारिणा क्लेशफलेन हेतुप्रबन्धोपन्यासेन ?, इति । तत्तस्माद् याच्यन्तां मूल्येन सर्ववस्तूनि कुत्रिकाऽऽपणसुरः, किमत्र कालेन कालविलम्बेन ?, इत्यर्थः । एवं गुरुभिरुक्ते सति श्रीनरेन्द्रेण, प्रतिवादिना रोहगुप्तेन, सभ्यपर्षदा च युक्तियुक्तत्वादेवं भवतु इति प्रतिपन्ने श्रीगुप्ताऽऽचार्येण षडुलूको रोहगुप्तः पूर्वं षण्मासान्विकृष्यातिवाह्य वादे जितो निगृहीतः । केन ?, इत्याह-कुत्रिकाऽऽपणे यानि वक्ष्यमाणभूजलज्वलनाऽऽद्याहरणानि उदाहरणानि तद्विषयपृच्छानां चतुश्चत्वारिंशेन शतेन, प्राकृतशैल्या छन्दोबन्धाऽऽनुलोम्याद्वार्यत्वादत्र व्यत्ययेन निर्देश इति ॥ २४८६ ॥ २४८७ ॥ २४८८ ॥ २४८९ ॥

कथ पुनरिद चतुश्चत्वारिंश शत पृच्छानां भवतीत्याह्-

भूजलजलणानिलनह-कालदिसाऽऽया मणो य दव्वाइं ।
जनंति नवेयाइ, सत्तरस गुणा इमे अन्ने ॥ २४९० ॥
रूवरस-गंधफासा, संखा परिमाणमहमह पुहुत्तं च ।
संजोगविभागपरा-परत्तवुद्धी सुहं दुक्ख ॥ २४९१ ॥
इच्छा दोसपयत्ता, एत्तो कम्म तय च पंचविह् ।
उक्खेवणऽवक्खेवण-पसारणाऽऽकुचण गमण ।२४९२।
सत्ता सामन्नं पि य, सामन्नविसेसया विसेसो य।
समवाओ य पयत्था, छ च्छत्तीसप्पभेया य ॥२४९३॥
पगईएँ अगारेण य, नोगारोभयनिसेहओ सव्वे ।
गुणिया ओयालसयं, पुच्छाणं पुच्छिओ देवो ॥२४९४॥

इह द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायलक्षणा षट् मूलपदा-
र्थास्तेन षडुलूकेन कल्पिता' । तत्र द्रव्य नवधा। कथम्?, इत्या-
ह-(भूजलेत्यादि) भूमि , जल, ज्वलन , अनिल ,नभ , काल ,
दिक्, आत्मा, मनश्चेत्येतानि नव द्रव्याणि भण्यन्ते । गुणाः
सप्तदश भवन्ति । तद्यथा-रूप, रस., गन्ध , स्पर्श , सख्या,
परिमाण, महत्त्व, पृथक्त्व, सयोग , विभाग , परापरत्वे,
बुद्धि , सुख, दु खम्, इच्छा, द्वेष , प्रयत्नश्चेति । इतः कर्म । त-
त्पुन. पञ्चविधम् । तद् यथा-उत्क्षेपणम, अवक्षेपणम, आकुञ्चन,
प्रसारण, गमनमिति । सामान्य त्रिविधम । तद्यथा-सत्ता,
सामान्य, सामान्यविशेषश्चेति । तत्र द्रव्यगुणकर्मलक्षणेषु त्रिषु
पदार्थेषु सद्बुद्धिहेतु सत्ता । सामान्य द्रव्यत्वगुणत्वाऽऽदि ।
सामान्यविशेषस्तु-पृथ्वीत्वजलत्वकृष्णत्वनीलत्वाऽऽद्यवान्तरसा-
मान्यरूप इति । अन्ये त्वित्थ सामान्यस्य त्रैविध्यमुपवर्णयन्ति-
अविकल्प महासामान्य, त्रिपदार्थहेतुसद्बुद्धिभूता सत्ता, सामा-
न्यविशेषो द्रव्यत्वाऽऽदि। महासामान्यसत्तयोर्विशेषणव्यत्यय
इत्यन्ये। द्रव्यगुणकर्मपदार्थत्रयसद्बुद्धिहेतु सामान्यम, अवि-
कल्पा सत्तेत्यर्थ । सामान्यविशेषस्तु द्रव्यत्वाऽऽदिरूप एव। इ-
त्यल प्रसङ्गेनेति । विशेषश्चान्त्य । समवायपदार्थश्चेति। तदेव-
मेते द्रव्याऽऽदय षट् पदार्था षट्त्रिंशत्प्रभेदा.-नवाना द्रव्याणा,
सप्तदशाना गुणाना, पञ्चानां कर्मणा, त्रयाणां सामान्याना,
विशेषसमवाययोश्च मीलने षट्त्रिंशद्विकल्पा भवन्तीत्यर्थ ।
एते च सर्वे प्रकृत्या, अकारेण नोकारेण, उभयनिषेधतश्चेत्येतै-
श्चतुर्भि प्रकारैर्गुणिता सन्तो यच्चतुश्चत्वारिंश शत पृच्छानां
भवति तत्पृष्ट कुत्रिकाऽऽपणदेव । इदमत्र हृदयम्-नञ्रहित शुद्ध
पदमिह प्रकृतिरुच्यते, तया शुद्धपदरूपया प्रकृत्या पृथिव्या-
दय पदार्था पृच्छ्यन्ते । तद्यथा-" पृथिवीं देहि " इत्यादि ।
तथा लुप्तस्य नञ स्थाने योऽकारस्तेन चाकारेण सयुक्तया प्रकृ-
त्या पृच्छा विधीयते। यथा-'अपृथिवीं देहि' इत्यादि। तथा नो-
कारेण सयुक्तया प्रकृत्या पृच्छा। यथा 'नोपृथ्वीं देहि' इत्यादि ।
तथा नोकाराकारलक्षण यदुभय तेन योऽसौ प्रकृत्या निषेध.
तस्माच्च पृष्ट सुर । यथा-"नोअपृथ्वीं देहि" इत्यादि । एव ज-
लाऽऽदिष्वपि प्रत्येकमेते प्रकृत्यकारनोकारोभयनिषेधलक्षणाश्च-
त्वार पृच्छाप्रकारा वक्तव्या इति । एतदभिप्रायवता प्रोक्तम्-
(सव्वेगुणिय त्ति) आह-ननु " पृथ्वीं देहि " इत्यादिका या-
चना एव कथ पृच्छा' प्रोच्यन्ते ?। सत्य, किं तु 'पृथ्वीं देहि' इ-
त्यादियाचनाद्वारेण पृथिव्याद्यस्तित्वमेवासौ देव पृच्छ्यते.

नोजीव याचितो यद्यसौ जीवाजीवव्यतिरिक्त तं दास्यति
तदाऽयमस्ति, नान्यथा इत्येवमेव प्रतिज्ञातत्वात् । ततो याचना
अप्यतास्तत्त्वत पृच्छा एवेत्यदोष ।

कथ पुनरेता कुत्रिकाऽऽपणसुरस्य पृच्छाः कृताः?, इत्याशङ्क्य
दिग्मात्रोपदर्शनार्थमाद्य पृथ्वीलक्षण भेदमधिकृत्याऽऽह—

पुढवि त्ति देइ लेट्टुं, देसो वि समाणजाइलिंगो त्ति ।
पुढवि त्ति सो अपुढविं, देहि त्ति य देइ तोयाऽऽइ ।२४९५।

पृथ्वीं याचित कुत्रिकाऽऽपणसुरो लेष्टु ददाति । आह-अप्रस्तुत-
मिदम्, अन्यस्मिन्याचिते अन्यस्य प्रदानात् । नैवम । कुत ?, इत्या-
ह-(देसो वीत्यादि) देशोऽपि लेष्टुलक्षण (पुढवि त्ति) पृथि-
व्येव मन्तव्या, पृथिवीत्वलक्षणाया जाते स्त्रीलिङ्गलक्षणस्य
लिङ्गस्य च समानत्वात् । इह यत्र पृथ्वीत्वजाति स्त्रीलिङ्ग च
वर्तते तत् पृथिवीति व्यवहर्त्तव्य, यथा· रत्नप्रभाऽऽदि, तथा च
लेष्टु , तस्मात्पृथ्वीति। अपृथिवीं देहीत्येवयाचितोऽसौ देवस्तो-
याऽऽदि प्रयच्छति ॥ २४९५ ॥

नोपृथ्वीं याचितस्तर्हि किं ददातीत्याह—

देसपडिसेहपक्खे, नोपुढविं देइ लेट्ठुदेसं सो ।
लेट्ठुदव्वावेक्खो, कीरइ देसोवयारो से ।२४९६।।
इहरा पुढवि च्चिय सो, लेट्ठु व्व समाणजाइलक्खणओ ।
लेट्ठुदलं ति व देसो, जइ तो लेट्ठू वि भूदेसो ॥ २४९७ ॥

नोशब्दस्य देशप्रतिषेधपक्षे नोपृथ्वीं याचितोऽनन्तरमेव
समस्तपृथ्वीत्वेनोपचरितस्य लेष्टोरेव देश तत्खण्डरूप ददा-
त्यसौ देव । आह-ननु देशनिषेधपक्षे नोपृथ्वी तद्देश एव
गृह्यते, यस्तु लेष्टुदेश. स पृथिवीदेशस्याऽपि देश एव, न तु
पृथ्वीदेश', तत्कथ नोपृथिवीं याचितस्त ददाति ?, इत्याह-
(लेट्ठुदव्वेत्यादि) लेष्टुद्रव्यापेक्ष 'से' तस्य लेष्टुदेशस्य
देशोपचारः क्रियते। इदमुक्त भवति-लेष्टौ तावदनन्तरोक्तयु-
क्त्या सम्पूर्णपृथ्वीद्रव्यत्वमारोपित, ततो लेष्टुलक्षणपृथ्वीद्रव्या-
पेक्षया तद्देशस्याऽपि पृथ्वीदेशत्वमुपचर्यते, इतरथा अन्यथा
पुन' परमार्थतो लेष्टुवत्समानजात्यादिलक्षणत्वादिति पूर्वोक्त-
हेतोः सोऽपि लेष्टुदेश पृथिव्येव मन्तव्या । अथ पराभिप्रायमा-
विष्कृत्य परिहारार्थमाह-(लेट्ठुदल ति व देसो जइ त्ति) यदि तु
भो पर ! त्व मन्यसे--योऽय लेष्टोर्देश स दल लेष्टोरेव
खण्डमात्र, तत समानजातिलक्षणत्वेऽपि नाऽसौ पृथ्वीति ।
अत्र परिहारमाह-(तो लेट्ठू वि भूदेसो त्ति) ततस्तर्हि
" पुढवि त्ति देइ लेट्ठु देसो वि " इत्यादौ य पूर्व लेष्टु.
पृथ्वीत्वेनोक्त सोऽपि ध्रुव पृथिव्या देश एव । ततस्त्वद-
भिप्रायेण सोऽपि पृथ्वीदलरूपत्वाद् न पृथ्वी, लेष्टुदेशवदि-
ति ॥ २४९६ ॥ २४९७ ॥

अस्त्वेवमिति चेत् , तदयुक्तम्। कुत ?, इत्याह--

देहि त्ति भुव तो जाणिए, सव्वाऽऽणेया न यावि सा सव्वा ।
सक्का सक्केण वि या-णेउ किमुयावसेसेणं ? ॥ २४९८ ॥

यदि लेष्टुर्न पृथ्वी, ततस्तर्हि भुव देहीत्युक्ते सर्वाऽपि सपूर्णा
साऽऽनेया प्रसज्यते, न च सा सर्वा
किमुतावशेषेण
मत्र तत्त्वम् ?

इत्य प्रेरके उपसन्ने दृष्टान्तोपन्यासद्वारेण सूरिः प्रस्तुतार्थनिर्णयमाह-

जह घडमाणय भणिए,न हि सव्वाऽऽणयणसंभवो किं तु।
देसाइविसिद्धं चिय, तमत्थवसओ समप्पेइ ॥ २४९९ ॥
पुढवि त्ति तहा भणिए, तदेगदेसे वि पगरणवसाओ।
लेट्ठुम्मि जायइ मई, जहा तहा लेट्ठुदेसे वि ॥ २५०० ॥

यथा सामान्येन घटमानय[पटमानय]इत्युक्तेऽपि न खलु सर्वस्याऽपि घटस्य सामान्यतयैवाऽऽनयनसम्भवोऽस्ति, किं तु सर्वस्याऽऽनेतुमशक्यत्वात्, प्रायः सर्वेण प्रयोजनाभावाच्च, अर्थवशात्सामर्थ्येन एव नियतदेशकालाऽऽद्यवच्छिन्नं विशिष्टमेव कश्चिद् घटमानीय समर्पयति, तथाऽत्रापि पृथ्वीं देहीति भणिते सर्वस्या आनेतुमशक्यत्वात्, प्रायस्तया प्रयोजनाभावाच्च,यथा तदेकदेशेऽपि पृथिव्येकांशेऽपि लेष्टौ देवस्य समर्पणमतिर्जायते। कुत ?, इत्याह-प्रकरणवशात्, 'अनेनाऽपि तदेकदेशेन लेष्टुना प्रस्तुतार्थः सेत्स्यति' इत्येव प्रस्तावदशादित्यर्थः। प्रकृतमाह-(तहा लेट्ठुदेसे वि त्ति) यथा पृथिवीं देहीत्युक्ते सति प्रतिपादितन्यायेन तदेकदेशेऽपि लेष्टौ समर्पणमतिर्जायते। तथा तेनैव प्रकारेण नोपृथ्वीं देहीत्युक्ते तत्खण्डरूपे तदेकदेशेऽपि समर्पणबुद्धिरुत्पद्यत इति ॥ २४९९ ॥ २५०० ॥

आह-नतु " इहरा पुढवि च्चिय सो, लेट्ठु व्व समाणजाइलक्खणओ। " (२४९७) इति वचनाल्लेष्टुकदेशः पूर्वं भवद्भिः पृथिवीत्वेनोक्त स कथमिदानीं नोपृथिवी स्याद् ?, इत्याशङ्कयाऽऽह-

लेट्ठुदव्वावेक्खाए, तह वी तद्देसभावओ तम्मि ।
उवयारो नो पुढवी, पुढवि च्चिय जाइलक्खणओ ॥ २५०१॥

यद्यपि लेष्टुकदेश पृथिव्येव, तथाऽपि (उवयारो त्ति) तस्मिन् लेष्टुकदेशे नोपृथिवीत्वस्योपचारः क्रियत इत्यर्थः। कया?, इत्याह-लेष्टुद्रव्यापेक्षया लेष्टौ प्रागुक्तन्यायेन यत्पृथिवीद्रव्यत्वमारोपितं, तदपेक्षयेत्यर्थः। कुत ?, इत्याह-तद्देशभावतो लेष्टुद्रव्यैकदेशत्वादित्यर्थः । प्रागुक्तन्यायेन तावल्लेष्टुरेवेह पृथ्वीद्रव्य, तदपेक्षया च तदेकदेशो नोपृथ्वीत्युपचर्यत इति भाव । परमार्थतस्त्वियं लेष्टुकदेशलक्षणा नोपृथिव्येव मन्तव्यम्, समानजातिलक्षणत्वादिति को वै न मन्यते, अस्माभिरेव प्रागुक्तत्वात्, इदानीमपि च समर्थमाणत्वादिति ? ॥ २५०१ ॥

नोअकारोभयनिषेधपक्षमधिकृत्याऽऽह-

पडिसेहदुग पगइ, गमेइ जं तेण नोअपुढवि त्ति।
भणिए पुढवि त्ति गई, देसनिसेहे वि तद्देसो॥ २५०२॥

" द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत " इति वचनाद् नोकाराकारलक्षण प्रतिषेधद्वयं यस्मात्प्रकृतिं गमयति-प्रकृतमेवार्थं प्रतिपादयतीत्यर्थः। तेन कारणेन ' नोअपृथ्वी ' इति भणिते नोशब्दस्य सर्वनिषेधपरत्वात् पृथिवीगतिर्भवति-पृथिव्या प्रतिपत्तिर्भवतीत्यर्थ । (देसनिसेहे वि तद्देसो त्ति) देशनिषेधवाचके तु नोशब्दे तस्या जलाऽऽदिरूपाया अपृथिव्या एवोत्तरपदे श्रूयमाणाया देशस्तद्देशो गम्यते, देशनिषेधके नोशब्दे नोअपृथ्वीति याचिते जलाऽऽदिरूपा पृथिव्येकदेश देवो ददातीत्यर्थः ॥ २५०२ ॥

अथ प्रस्तुतार्थतात्पर्यमाह-

उवयाराओ तिविह, धुवमधुवं नोधुवं च सो देइ ।
निच्छयओ धुवमधुवं, तइ सावयवाइं सव्वाइं ॥२५०३॥

स कुत्रिकाऽऽपणदेवो याचित सन् वस्तु ददाति। कतिविधम्?, किं वा तत् ?, इत्याह-त्रिविध त्रिप्रकार, चतुर्थस्य नोअधुवपक्षस्य प्रथमपक्ष एवान्तर्भावात्। तत्र ध्रुवं लेष्टुम्, अध्रुवं जलाऽऽदि, नोध्रुवं भूम्येकदेशं ददाति। कुत ?, इत्याह-उपचाराद्-व्यवहारनयमताऽऽश्रयणादित्यर्थ , स एव हि देशदेशिव्यवहार मन्यते, न तु निश्चय इति भाव । अत एवाऽऽह-(निच्छओ इत्यादि) निश्चयतस्तु ध्रुवमध्रुवं चेत्येवं द्विविधमेव वस्तु ददाति, तृतीयस्य नोध्रुवपक्षस्य देशदेशिव्यवहार एवोपपद्यमानत्वात्, तस्य च निश्चयनयेनानभ्युपगमादिति। तदेव "भूजलजलण" (२४९०) इत्यादौ पृथिव्याः प्रथम निर्दिष्टत्वात्तामधिकृत्योक्तम्। अथ शेषाणि जलाऽऽदिवस्तून्यधिकृत्याऽऽह-(तह सावयवाइं ति) न केवलमित्थं भुवं ददाति, तथा शेषाण्यपि जलाऽऽदिवस्तूनि "पगईए अगारेण" (२४९४) इत्यादिप्रकारेण विशेष्य याचित सन् व्यवहारनयमतेन यथोक्तविधिना त्रिप्रकाराणि ददाति। कुत ?, इति चेत्। उच्यते-यत सावयवानि सदेशान्येतानि सर्वाण्यपि जलाऽऽदिवस्तूनि, अतस्तृतीयोऽपि देशविषयो दानप्रकार एतेषु सम्भवतीति भाव। निश्चयनयमतेन तु देशदेशिव्यवहाराभावादेतान्यपि जलाऽऽदीनि द्विप्रकाराण्येव ददातीति। तदेवं सावयवे वस्तुनि प्रकारत्रयेण प्रकारद्वयेन च यथोक्तरीत्या दान सम्भवति ॥ २५०३ ॥

अथ निरवयवे वस्तुनि प्रकारद्वयेनैव दानसम्भव इति दर्शयन्नाह-

जीवमजीव दाउ, नोजीव जाइओ पुणरजीवं ।
देइ चरिमम्मि जीव, न तु नोजीवं सजीवदलं ॥२५०४॥

जीव देहीति याचितः सुरो जीव शुकसारिकाऽऽदिक दत्त्वा, 'अजीव देहि' इति याचितस्त्वजीवमुपलखण्डाऽऽदिक दत्त्वा कृतार्थो जायते, नोजीवं याचितः पुनरजीवमुपलखण्डाऽऽदिकमेव ददाति, नोशब्दस्य सर्वनिषेधपरत्वात्। चरमे तु नोअजीवलक्षणे विकल्पे जीवमेव शुकाऽऽदिक ददाति, द्वयोर्नञोः प्रकृतार्थगमकत्वात्, नोशब्दस्य च सर्वनिषेधकत्वादिति, न तु स कुत्रिकाऽऽपणदेवो जीव जीवदल जीवखण्डरूप क्वापि विकल्पे ददाति। इति जीवाजीवलक्षणौ द्वावेव राशी, न तु तृतीय, असत्त्वात्, खरविषाणवदिति ॥ २५०४ ॥

तत किमभूदित्याह-

तो निग्गहिओ छलुओ, गुरू वि सक्कारमुत्तमं पत्तो ।
धिद्धिक्कारोवहओ, छलुओ वि सभाहिँ निच्छूढो॥२५०५॥

ततो यदा कुत्रिकाऽऽपणसुरेण जीवव्यतिरिक्तो नोजीवो न दत्तः, असत्त्वात्, तदा निगृहीतो निर्जित षडुलूक । गुरुरपि श्रीगुप्ताऽऽचार्यो नरनाथाद् लोकाच्च सत्कारमुत्तम प्राप्त । षडुलूकोऽपि गुरुप्रत्यनीकत्वाज्जनप्रयुक्तधिक्कारोपहतो राजसभातो निष्काशित इति ॥ २५०५ ॥

तत किम् ?, इत्याह-

वाए पराजिओ सो, निव्विसओ कारिओ नरिंदेण ।

घोसावियं च नयरे, जयइ जिणो वद्धमाणो त्ति॥२५०६॥
तेणाभिनिवेसाओ, समयविगाप्पियपयत्थमादाय ।
वइसेसियं पणीयं, फाइकयमन्नमन्नेहिं ॥ २५०७ ॥

स रोहगुप्तो गुरुणा वादे पराजितः सन् नरपतिना निर्विषयः समाज्ञात, पटहकेन च वाद्यमानेन घोषापितं समस्तनगरे- "जयति जिन श्रीमान्वर्द्धमान." इति । रोहगुप्तस्य च वादे निर्जितस्याऽपि प्रत्यनीकतोद्वेजितेन गुरुणा खेलमल्लकः शिरसि स्फोटित' । ततो भस्मखरण्टितवपुषा तेनाभिनिवेशात्स्वमतिकल्पितान् द्रव्याऽऽदिपदार्थानाश्रित्य वैशेषिकमत प्रणीत, तच्चान्यान्यैस्तच्छिष्याऽऽदिभिरियन्त काल यावत्स्फातिमानीतमिति ॥ २५०६ ॥ २५०७ ॥

ननु रोहगुप्त इत्येवास्य नाम, तत्कथ षडुलूक इत्यसकृत्प्रागुक्तोऽसौ ?, इत्याह-

नामेण रोहगुत्तो, गुत्तेण य छप्पए स चोलूओ ।
दव्वाऽऽइछप्पयत्थो-वएसणाओ छलूओ त्ति ॥२५०८॥

नाम्नाऽसौ रोहगुप्तो गोत्रेण च पुनरुलूकगोत्रसम्भूतत्वादसावुलूक इत्याख्यते-द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायलक्षणषट्पदार्थप्ररूपणेन षट्पदार्थप्रधान उलूक षडुलूक इत्यय व्यपदिश्यते ॥ २५०८ ॥ विशे० । सूत्र० । कल्प० । स० । आ० म० । आ० चू० । नपुसके, पिं० ।

तेरिच्छिय-तैरश्चिक-तैर्यग्योन-त्रि० । तिर्यग्योनिभ्यो भवस्तैर्यग्योन । तिर्यग्योनिकृते, विशे० ।

तेल्ल-पुं०-तैल-न० । प्राकृतत्वात्पुस्त्वम् । तिलस्य विकार., अण् । "तैलाऽऽदौ वा" ॥ ८।२।९८ ॥ इत्यनादौ वर्त्तमानस्य व्यञ्जनस्य वा द्वित्वम् । प्रा०२ पाद । "तिलाऽऽदिस्निग्धवस्तूना, स्नेहस्तैलमुदाहृतम् । " इत्युक्ते तिलसर्षपातसीप्रभृतीना स्निग्धवस्तूनां स्नेहरूपे विकारे, वाच० । " चत्तारि होंति तेल्ला, तिलअयसिकुसुमसरिसवाण च। विगईओ सेसाइं, डोलाईण न विगईओ ॥१॥ " प० व० २ द्वार । स्था० । उत्तरत्र स्थितस्य चात्र सबन्धात् तैलानि चत्वारि भवन्ति । केषा सबन्धीनि ?। तत्राऽऽह- तिलातसीकुसुम्भसर्षपाणां, शेषाणा डोलाऽऽदीनां मधूकफलाऽऽदीनाम्, आदिशब्दान्नालिकेरपरण्डशिंशपाऽऽदीनां सबन्धीनि तैलानि न विकृतय. । प्रव० ४ द्वार । ध० । अनु० । सूत्र० । ज्ञा० । आ० चू० । नि० चू० । नि० । आव० ।

तेल्लकेला-तैलकेला-स्त्री० । सौराष्ट्रप्रसिद्धे मृन्मये तैलभाजनविशेषे, स च भङ्गभयात् सुष्ठु सगोप्यते । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । त० । नि० ।

तेलचम्म-तैलचर्म-न० । तैलाभ्यक्तस्य यत्र स्थितस्य सवाधना क्रियते तत्तैलचर्म । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । तैलाभ्यक्तस्य सवाधनाकरणसाधने चर्मणि, औ० ।

तेलुक्क-त्रैलोक्य-न० । त्रयो लोकास्त्रिलोकाः, त्रिलोका एव त्रैलोक्यम् । भेषजाऽऽदित्वात्स्वार्थे ष्यण् प्रत्यय. । न० । "एत एत्" ॥ ८ । १ । १४८ ॥ इत्यादौ वर्त्तमानस्यैकारस्य एत्वम् । प्रा० १ पाद । भुवनपतिव्यन्तरविद्याधरज्योतिष्कवैमानिकेषु, न० । स्वर्गमर्त्यपातालक्षणे तन्निवासिप्राणिगणे, ग० १ अधि० । भुवनत्रये, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । "तेलुक्कणमियकमजुयला ।" त्रैलोक्येन स्वर्गमर्त्यपातालक्षणेन, तन्निवासिप्राणिगणेनेत्यर्थः । नमित क्रमयुगल येषां ते त्रैलोक्यनामितक्रमयुगलाः । ग० १ अधि० । " तेलुक्करगमज्झे । " त्रैलोक्यमेव यो रङ्ग. । मल्लयुद्धमण्डपे, कल्प० ५ क्षण ।

तेलुक्कगुरु-त्रैलोक्यगुरु-पु० । त्रैलोक्यवासिसत्त्वेभ्यो गृणाति शास्त्रार्थमिति त्रैलोक्यगुरव , तद्गुणाधिकत्वान्माननीयत्वाद्वा । तीर्थकरेषु, प० सू० १ सूत्र ।

तेलुक्कदंसि(ण्)-त्रैलोक्यदर्शिन्-पु० । सर्वज्ञे, आ० ।

तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइय-त्रैलोक्यनिरीक्षितमहितपूजित-पु० । निरीक्षिताश्च महिताश्च पूजिताश्चेति निरीक्षितमहितपूजिता. । त्रैलोक्येन निरीक्षितमहितपूजिताश्च ये ते तथा । सर्वज्ञे, न० ।

तेलुक्कमत्थयत्थ-त्रैलोक्यमस्तकस्थ-पु० । त्रैलोक्यस्य मस्तकं सर्वोपरिवर्ती सिद्धिक्षेत्रविभागस्तस्मिंस्तिष्ठतीति त्रैलोक्यमस्तकस्थ । षो० १५ विव० । सकललोकचूडामणिभूते, प० व० ४ द्वार ।

तेलुक्कसुंदर-त्रैलोक्यसुन्दर-पुं० । त्रिषु लोकेषु प्रधाने, षो० १५ विव० । त्रैलोक्यसुन्दरतायाम्, त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्नपि जगति शेषवस्तुभ्यः सुन्दरता शोभनता ता तथोक्ताम् । षो०१५ विव० ।

तेलोक्कदेवमहिय-त्रैलोक्यदेवमहित-पु० । भुवनत्रयवासिभिः सुरासुरैरभ्यर्चितेषु, बृ० ३ उ० । त्रिभुवनवासिभिर्भवनपत्यादिभिर्देवैर्महितेषु, व्य० २ उ० ।

तेल्ल-तैल-पुं० । 'तेल' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

तेल्लकेला-तैलकेला-स्त्री० । ' तेलकेला ' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

तेल्लग-तैलक-पु० । सुराविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

तेल्लचम्म-तैलचर्म-न० । 'तेलचम्म' शब्दार्थे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ० ।

तेल्लपल्ल-तैलपल्य-न० । तैलपेढाऽऽख्ये सौराष्ट्रप्रसिद्धे मृन्मये तैलस्य भाजनविशेषे, स च भङ्गभयात्सुष्ठु सङ्गोप्यते । दशा० १० अध्या० ।

तेल्लपाइया-तैलपायिका-स्त्री० । जीवभेदे, "तेल्लपाइयातो तातो तिक्खेहिं तुडेहिं अतीव दसति ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

तेल्लपूय-तैलपूप-पु० । तैलप्रधाने पूपे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । जी० ।

तेल्लपूयसंठाणसंठिय-तैलपूपसंस्थानसंस्थित-पु० । तैलेन पक्वः पूपस्तैलपूपः । तैलेन हि पक्वोऽपूप प्राय. परिपूर्णवृत्तो भवति न घृतपक्व इति तैलविशेषसाम्यम्, तस्येव यत्सस्थान तेन सस्थितः । तस्मिन्, अत्र तैलाऽऽदित्वाल्लकारस्य द्वित्वम् । ज० १ वक्ष० । जी० ।

तेल्लसमुग्गय-तैलसमुद्गक-पु० । सुगन्धितैलाऽऽधारविशेषे, उक्तं च जीवाभिगममूलटीकायाम्-"तैलसमुद्गकः सुगन्धितैलाऽधारः ।" जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

तेल्लसुरभियाकरण-तैलसुरभिकाकरण-न० । स्त्रीणा षट्त्रिंशत्कायां कलायाम्, कल्प० ७ क्षण ।

तेल्लिय–तैलिक–त्रि० । तैलविक्रयकारिणि, व्य० ६ उ० । आव० ।

तेल्लोकविहियमहियपूइय–त्रैलोक्यविहितमहितपूजित–पुं० । त्रैलोक्येन त्रिलोकवासिना जनेन (विहिय त्ति) समग्रैश्वर्याऽद्यतिशयसंदोहदर्शनसमाकुलचेतसा हर्षभरनिर्भरेण प्रबलकुतूहलबलादनिमिषलोचनेनावलोकित॰ । (महिय त्ति) सेव्यतया वाञ्छित॰ पूजितश्च पुष्पाऽऽदिभिर्य॰ स तथा । तस्मिन्, उपा० ७ अ० ।

तेल्लोकसक्कय–त्रैलोक्यसत्कृत–पुं० । लोकत्रयपूजिते, पा० ।

तेवँ–तथा–अव्य० । प्राकृतलक्षणेन निष्पन्नस्य नेम इत्यस्य "मोऽनुनासिको वो वा" ॥ ८ । ४ । ३६७ ॥ इत्यपभ्रंशेऽनादौ वर्तमानस्यासंयुक्तस्य मकारस्यानुनासिको विकल्पेन वँकार॰ । कचिल्लाक्षणिकस्याऽपि । तेन प्रकारेणेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

तेवग्ग–त्रिवर्ग–पुं० । त्रयो वर्गास्त्रिवर्गा॰ । लोकरूढ्या धर्मार्थकामेषु, न० ।

तेवट्ठि–त्रिषष्टि–स्त्री० । त्र्यधिकायां षष्टिसंख्यायाम, " तेवट्ठीए राइदिएहिं । " स० ६३ सम० ।

तेवड–तावत्–त्रि० । " वा यत्तदेतोर्मैवड॰ " ॥ ८ । ४ । ४०७ ॥ इत्यपभ्रंशे तावतो वकारस्य मित्संज्ञक 'एवड' इत्यादेश॰ । प्रा० ४ पाद । तत्परिमाणवति, वाच० ।

तेवण्ण–त्रिचत्वारिंशत्–"गोणाऽऽदय॰" ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति निपातनात् त्रिचत्वारिंशदित्यस्य 'तेवण्ण' इत्यादेशः । त्र्यधिकायां चत्वारिंशत्संख्यायाम्, प्रा० २ पाद ।

तेवत्तरि–त्रिसप्तति–स्त्री० । त्र्यधिकाया सप्ततिसंख्यायाम् , स० ७२ सम० ।

तेवीस–त्रयोविंशति–स्त्री० । "एत्त्रयोदशाऽऽदौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन" ॥ ८ । १ । १६५ ॥ इत्यादे॰ स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एकार॰ । त्र्यधिकायां विंशतिसंख्यायाम्, प्रा० १ पाद ।

त्रयोविंश–त्रि० । त्र्यधिकविंशतिसंख्यापूरके, प्रा० १ पाद ।

तेवीसइम–त्रयोविंशतितम–त्रि० । त्र्यधिकविंशतिसंख्यापूरके , स्था० ६ ठा० ।

तेहिं–तेहिं–अव्य० । "तादर्थ्ये केहिं-तेहिं-रेसि-रेसिं-तणेणा" ॥ ८ । ४ । ४२५ ॥ इत्यपभ्रंशे तादर्थ्ये द्योत्ये 'तेहिं' इति निपात । प्रा० ४ पाद ।

तेहु–तादृश–त्रि० । " यादृक्-तादृक्-कीदृगीदृशां दादेर्मेहु॰ " ॥ ८ । ४ । ४०२ ॥ इत्यपभ्रंशे दादेरवयवस्य मित्संज्ञक 'एहु' इत्यादेशः । तथाविधेऽर्थे, प्रा० ४ पाद ।

तो–तस्मात्–पुं० । "तदो डो" ॥ ८ । ३ । ६७ ॥ इति तच्छब्दात्परस्य ङसेर्डो इत्यादेश । प्रा० ३ पाद । म० ।

तोअअ–देशी॰ चातके, दे० ना० ५ वर्ग १८ गाथा ।

तोकअ–देशी॰ अनिमित्ततत्परे, दे० ना० ५ वर्ग १८ गाथा ।

तोड–तुम–धा० । भेदे, तुरू-पर०-सक०-सेट् । "तुमेस्तोम॰" ॥ ८ । ४ । ११६ ॥ इत्यादिना 'तोड' इत्यादेशः । 'तोमइ' । तुडति । प्रा० ४ पाद । आचा० ।

तोमन–तोदन–न० । व्यथने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । असहने, दे० ना० ५ वर्ग १८ गाथा ।

तोमहिया–तोमहिका–स्त्री० । 'खरमुही' इत्याख्ये वाद्यविशेषे, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० ।

तोट्ट–तोट्ट–पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तोण–तूण–पुं० । " स्थूणा तूणे वा " ॥ ८ । १ । १२५ ॥ इति तूणस्योत ओत्वम । प्रा० १ पाद । शरभस्त्रायाम, श्रा० १ श्रु० १ अ० । शरधीत्यपरनामधेये बाणाऽऽश्रये, विपा० १ श्रु० ३ अ० । जी० । इषौ, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

तोणीर–तूणीर–पुं० । "ओत्कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल-ताम्बूल-गुडूची-मूल्ये" ॥ ८ । १ । १२४ ॥ इत्यूत ओत्वम । प्रा० १ पाद । इषुधौ, वाच० ।

तोण्ड–तुण्ड–न० । " ओत्संयोगे " ॥ ८ । १ । ११६ ॥ इति संयोगे परे आदेरुत ओत्वम । मुखे, प्रा० १ पाद ।

तोतमी–देशी–करम्बे, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तोतातिग–तौतातिक–पुं० । मीमांसकभेदे, नित्यमुत्कृष्ट च निरतिशय यत्सुखं तद्व्यक्तिर्मुक्तिरिति तौतातिका । द्वा० ३१ द्वा० ।

तोदग–तोदक–त्रि० । व्यथके, उत्त० २० अ० ।

तोमर–तोमर–पुं० । बाणविशेषे, ज० ३ वक्ष० । प्रश्न० । आचा० । " असिसत्तिकोंततोमर-सूलतिसूलेसु सूइवियगासु । " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । औ० ।

तोमरिअ–देशी–शस्त्रप्रमार्जके, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

तोमरी–देशी–वल्ल्याम्, दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।

तोय–तोय–न० । जले, व्य० २ उ० । आव० । व्यथायाम्, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तोयधारा–तोयधारा–स्त्री० । ऊर्ध्वलोकवास्तव्यायां पञ्चम्या दिक्कुमारिकायाम, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आव० । ति० । आ० चू० । ज० । "अष्टोर्ध्वलोकादेत्यैता॰, नत्वाऽर्हन्त समातृकम् । तत्र गन्धाम्बुपुष्पौघ-वर्षं हर्षाद्वितेनिरे ॥ १ ॥ " आ० क० ।

तोयपिट्ठ–तोयपृष्ठ–न० । जलोपरितनभागे, औ० ।

तोरण–तोरण–न० । द्वारावयवविशेषे, पञ्चा० २ विव० । स्था० । आचा० । रा० । प्रश्न० । जी० । प्रज्ञा० । औ० । स० । बहिर्द्वारे स्तम्भोपरिस्थे सिंहाऽऽकारे काष्ठे, द्वारबाह्यभागे च, कन्धरायाम्, न० । वाच० । स्था० ।

तोरणमादि–तोरणाऽऽदि–न० । इह मकार॰ प्राकृतत्वात् । द्वारावयवविशेषप्रभृतिषु, आदिशब्दात्पीठदेवच्छन्दकपुष्पकरिण्यादिपरिग्रहो भवति । पञ्चा० २ विव० ।

तोरामदा–त्वरामत्–न० । नेत्ररोगभेदे, "सन्नूकडक्खा तोरामदा महालसा वक्का विवक्का कुसीला अरूक्खिआ काणक्खिआ । " महा० ३ अ० ।

तोल्ल–तोल्ल–पुं० । न० । मगधदेशप्रसिद्धे पले, तं० । गुञ्जाऽशीतिपरिमाणे कर्षे, वाच० । स्वार्थे कन्, पवुन् वा । तोलकमप्यत्र । वाच० ।

तोल्लण–तोलन–न० । माने, आचा० १ श्रु० ४ चू० १ अ० । पुरुषे, दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।

तोवट्ट–देशी–कर्णाऽऽभरणभेदे, कमलकर्णिकायां च । दे० ना० ५ वर्ग २३ गाथा ।

तोस–तोष–पुं० । प्रमोदे, पञ्चा० २ विव० । धने, दे० ना० ५ वर्ग १७ गाथा ।

तोसग–तोषक–पुं० । स्वनामख्यातेऽवन्तिराजे, ति० ।

तोषक–त्रि० । परितोषकारके, वाच० ।

तोसलि (न्)–तोसलिन्–पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र गच्छन् वीरः सप्त वारान् रज्ज्वा बद्धः, ततस्तोसलिकक्षत्रियेण मोचितः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । तोसलिदेशस्थे स्वनामख्याते आचार्ये, आचा० । अत्र कथानकमिदम्–"तोसली नामाऽऽचार्योऽरण्यमहिषीभिः प्रारब्धः, तोसलिदेशे वा बह्व्यो महिष्यः सम्भवन्ति, ताभिश्च कदाचिदेकः साधुररण्यान्तर्वर्त्यारब्धः । स च ताभिः क्षुद्यमानोऽनिर्वाहमवगम्य चतुर्विधाऽऽहारं प्रत्याख्यातवानिति । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

तोसलिपुत्त–तोसलिपुत्र–पुं० । दशपुरनगरस्थे स्वनामख्याते आचार्ये, यत्र सोमदेवब्राह्मणस्य रुद्रसेनायां भार्यायामुत्पन्नश्चतुर्दशविद्यापारगो रक्षितो नाम पुत्रो बभूव । तेन च मातृप्रेरितेन तोसलिपुत्राऽऽचार्याणां समीपे दीक्षा प्रतिपन्ना । विशे० । आ० म० । आ० चू० । आ० क० ।

तोसलिय–तोसलिक–पुं० । तोसलिग्रामाधिपे क्षत्रिये, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० चू० ।

तोसिय–तोषित–त्रि० । सतोष प्रापिते, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य–श्री १००८ श्री–
विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
तकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

थकारः

थ–थ–पुं० । दन्तस्थानीय स्पर्शसंज्ञको वर्णे । एका० । पुम-
ड । भयत्राणके, व्याधिभेदे, भयचिह्ने, मङ्गले च । रक्षणे, मङ्ग
ले, भये च । न० । वाच० ।

" थ पुमानिन्दुकल्लोल-गिरामेष महीधरे (४४)
स्यादास्फालनशब्दे च, ज्वाले था तु स्त्रिया नदी ॥
थ नपुंसकलिङ्गे तु, भये त्र्यतिवारणे ॥ ४६ ॥
त्रिलिङ्गस्या तु थकारोऽसौ, सितासितपृथुध्वपि । " इति
माधव । एका० ।

"थो मिथ्यावाचके श्रान्ते, शोके थाऽरक्षवस्तुनि ।
निमग्ने चातिगम्भीरे, थ स्तोकार्थे नपुंसकम् ॥ ६४ ॥
मरुदेशप्रदेशेऽपि, थाऽऽत्रन्न स्थत्रयोपिति ।
देवकूटे कषाये स्त्री, दृढे परिवृढेऽपि था ॥ ६५ ॥
थु पुंसि पर्वते द्रोणे, व्रणे पुनर्निर्मले पुमान् ।
निष्ठीवने चले भूते, थीवन्तो माजने भुवि ॥ ६६ ॥ " इति
विश्वदेवशम्भुमुनि । एका० । वाक्यालङ्कारे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।
पादपूरणे च । अव्य० । पञ्चा० ११ विव० ।

थउड्ड–देशी-भल्लातके, दे० ना० ५ वर्ग २६ गाथा ।

थंडिल्ल–स्थण्डिल्ल–न० । परानुपरोधात्प्रासुके भूभागे, ग० २
अधि० । आव० ।

अथ स्थण्डिलवक्तव्यता–तत्र गमनविधिरुच्चारप्रश्रवणव्यु-
त्सर्जनं च । तत्र च स्थण्डिले वक्तव्ये येऽर्थाधिकारास्तानभि-
धित्सुर्द्वारगाथामाह–

भेया सोधि अवाया, वज्जणया खलु तहा अणुण्णा य ।
कारणविही य जयणा, थंडिल्ले होंति अहिगारा ॥ ४२१ ॥

प्रथमतो भेदा स्थण्डिलस्य वक्तव्या , तदनन्तरं स्थण्डिले
व्युत्सृजत शोधि प्रायश्चित्तम्, ततोऽपाया , तदनन्तरं व-
र्जनद्वारम्, ततः परमनुज्ञा, ततः कारणविधि , तदनन्तरं य
तना । एते वक्ष्यमाणा स्थण्डिले अधिकारा ।

तत्र प्रथमतो भेदद्वारप्रतिपादनार्थमाह–

अच्चित्तेण अचित्तं, मीसेण अचित्त छक्कमीसेणं ।
सच्चित्त छक्कएणं, अचित्त चउत्तग एक्केक्के ॥ ४२२ ॥

अचित्ते स्थण्डिले पन्थानमधिकृत्य त्रयो भेदा –अचित्त स्थ-
ण्डिलमचित्तेन पथा गम्यते १ । अचित्त मिश्रेण पथा २, केन मिश्रे-
ण?, इत्यत आह-षट्कायमिश्रेण २ । तथा-अचित्त सचित्तेन पथा
३ । स पन्था सचित्त कथम्?, इत्याह-षट्केन षड्भिर्जीवनिका-
ये. ३ । एवमचित्ते स्थण्डिले त्रयो भेदा । एवं मिश्रे ३ । सचित्ते
च ३ । एतेषामचित्तमिश्रसचित्तानामेकैकस्मिन् भङ्गे चतुर्भङ्गी ।

तामेवोपदर्शयति–

अणावायमसंलोए, अणावाए चेव होति संलोए ।
आवायमसंलोए, आवाए चेव संलोए ॥ ४२३ ॥

अनापातमसंलोकमिति प्रथमो भङ्ग । अनापातं संलोकव-
दिति द्वितीय । आपातवदसंलोकमिति तृतीय । आपातवत्
संलोकवदिति चतुर्थ । गाथायां मत्वर्थीयप्रत्ययस्य लोप
प्राकृतत्वात्, अन्त्राऽऽदिरयाद्वा अकारप्रत्यय. । अमीषां चतुर्णां
भङ्गानां प्रथमो भङ्गोऽनुज्ञात । शेषा प्रतिकुष्टा । निर्ग्रन्थीनां
तृतीयोऽनुज्ञात ।

चतुर्थ स्थण्डिल व्याख्यानयति–

तत्थाऽऽवायं दुविहं, सपक्ख-परपक्खओ उ णायव्वं ।
दुविह होइ सपक्खे, संजय तह संजईणं च ॥ ४२४ ॥
संविग्गमसंविग्गा, संविग्गमणुण्ण-एतरा चेव ।
असंविग्गा वि य दुविहा, तप्पक्खिय एयरा चेव ॥ ४२५ ॥

तत्राऽऽपातवत्संलोकवतोर्मध्ये आपातमापातवद् द्विविधं ज्ञात-
व्यम् । तद्यथा-स्वपक्षत , परपक्षतश्च ; स्वपक्षाऽऽपातवत्, प-
रपक्षाऽऽपातवच्चेत्यर्थ. । तत्र स्वपक्षे स्वपक्षविषये द्विविधमापा-
तवत् । तद्यथा-संयतानां, संयतीनां च–संयताऽऽपातवत्-संय-
त्यापातवच्चेति भाव. । संयता अपि द्विविधा -संविग्ना–उ-
द्यतविहारिण., असंविग्ना -शिथिला पार्श्वस्थाऽऽदय । स-
विग्ना अपि द्विविधा -मनोज्ञा सांभोगिका , इतरे अमनोज्ञा
असांभोगिकाः । असंविग्ना अपि द्विविधा -तत्पाक्षिकाः
संविग्नपाक्षिका , इतरे असंविग्नपाक्षिका । उक्तं स्वपक्षा-
ऽऽपातवत् ॥ ४२५ ॥

सम्प्रति परपक्षाऽऽपातवत्माऽऽह–

परपक्खे वि य दुविहं, माणुस तेरिच्छगं च नायव्वं ।
एक्केक्कं पि य तिविहं, पुरिसित्थिनपुंसगं चेव ॥ ४२६ ॥

परपक्षेऽपि-परपक्षविषयेऽप्यापातवद् द्विविधं ज्ञातव्यम्-मा-
नुष्य, तैरश्चं च-मनुष्याऽऽपातवत् तिर्यगापातवच्चेत्यर्थ । एकै-
कमपि मानुषं, तैरश्चं च त्रिविधम् । तद्यथा-पुरुषवत्, स्त्रीवत्,
नपुंसकवच्च ।

पुरिसाऽऽवात तिविहं, दंडिए कोडुंबिए य पागतिए ।
ते सोयऽसोयवाई, एमेव णपुंसइत्थीसु ॥ ४२७ ॥

पुरुषाऽऽपातवत् त्रिविधम् । तद्यथा-दण्डिके, कौटुम्बिके,
प्राकृते च–दण्डिकपुरुषाऽऽपातवत्, कौटुम्बिकपुरुषाऽऽपात-
वत्, प्राकृतपुरुषाऽऽपातवच्चेत्यर्थ दण्डिका -राजकुलानुग-
ता , कौटुम्बिका -शेषा महर्द्धिका , इतरे प्राकृता । ते च
त्रयोऽपि प्रत्येकं द्विधा-शौचवादिनः, अशौचवादिनश्च ।
एवमेव अनेनैव प्रकारेण नपुंसकस्त्रियोरपि वक्तव्यम् ।
किमुक्तं भवति?-नपुंसकाऽऽपातवच्च प्रत्येकं प्रथमतो दण्डिका-
ऽऽदिभेदतस्त्रिविधं, ततः शौचवाद्यशौचवादिभेदत पुनरेकैकं
द्विविधम् । उक्तं मनुष्याऽऽपातवत् ।

अधुना तिर्यगापातवदाह–

दित्तमदित्ता तिरिया, जहण्णमुक्कोसमज्झिमा तिविहा ।

एमोवित्थिनपुंसा, दुगुंछिअदुगुंछिया नवरं ॥४२८॥

तिर्यञ्चो द्विविधा -दप्ता., अदप्ताश्च । दप्ता दर्पवन्तः, अदप्ता शान्ता. । ते प्रत्येक त्रिविधा -जघन्या , उत्कृष्टा , मध्यमाश्च । जघन्या एमकाऽऽदय , मध्यमा महिषाऽऽदय , उत्कृष्टा हस्त्यादय. । एते किल पुरुषा उक्ता । एवमेव स्त्रीनपुंसका अपि वक्तव्या', नवर ते दप्ता , अदप्ताश्च प्रत्येक द्विविधा विज्ञेया. । तद्यथा-जुगुप्सिता , अजुगुप्सिताश्च । जुगुप्सिता गर्दभ्यादय. । इतरे अजुगुप्सिता । उक्तमापातवत् । सलोकवद् मनुष्येष्वेव द्रष्टव्यम्। ते च मनुष्यास्त्रिविधा । तद्यथा-पुरुषा , स्त्रियो,नपुंसकाश्च । एकैके प्रत्येक त्रिविधा.-प्राकृता ,कौटुम्बिका.,दण्डिकाश्च । पुनरेकैके द्विविधा.-शौचवादिन , अशौचवादिनश्च ।

उक्त च-

"आलोगो मणुएसुं, पुरिसित्थिनपुंसगाण बोधव्वो ।
पाययकुडुंबिदंडिय-असोय तह सोयवाईण" ॥ १ ॥

तत्रैव चाऽऽपातसलोकौ चरमभङ्गे. द्वितीये आपात', तृतीये सलोक । उक्ता भेदप्रभेदयुक्ता एते स्थण्डिलभेदा. । गत भेदद्वारम् ।

अधुना शोधिद्वारमाह-

मणुयतिरिएसु लहुगा, चउरो गुरुगा य दित्ततिरिएसु ।
तिरियनपुंसित्थीसु य, मणुसित्थिनपुंसगे गुरुगा ॥४२९॥

मनुष्याणां शौचवादिना पुरुषाणा, तिरश्चां च पुरुषाणामदप्तानामापाते [गाथायां सप्तमी षष्ठ्यर्थे] सञ्ज्ञा व्युत्सृजत. प्रायश्चित्त चत्वारो लघुका । (गुरुगा य दित्ततिरिएसु त्ति) दप्तानां तिरश्चामापाते चत्वारो गुरुका. । तथा-तिर्यग्नपुंसकस्त्रीषु तिर्यग्योनीनां नपुंसकस्त्रीणा दप्तानामापाते (मणुसित्थिनपुंसगे इति) मनुष्याणां स्त्रीनपुंसकाना शौचवादिनामापाते प्रत्येक प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुका ।

मणुयतिरियपुरिसेसुं, दोसु वि लहुगा तवेण कालेण ।
कालगुरू तवगुरुगा, दोहिँ गुरू अप्फुकंती वा ॥४३०॥

मनुष्याणामशौचवादिनां पुरुषाणा, तिरश्चा सदप्तानां पुरुषाणामापाते द्वयानामपि पृथक् पृथक् प्रायश्चित्त चत्वारो लघुका', तपसा कालेन च लघवः । मनुष्यस्त्रीनपुंसकानामशौचवादिनामापाते चत्वारो गुरुका. । द्वाभ्या गुरुका. । तद्यथा-कालगुरुका ,तपोगुरुका.। अर्द्धापक्रान्तिर्वा द्रष्टव्या । सा चैवम्-तिरश्चा दप्तानां पुरुषाणामापाते,न (?) मनुष्याणां गृहिणां पाषण्डिनां वा पुरुषाणामशौचवादिनामापाते चत्वारो लघुका', तिर्यक्स्त्रीनपुंसकानामदप्तानामजुगुप्सितानां वाऽऽपाते कालगुरुकाश्चत्वारो लघुका । तेषामेव तिर्यक्स्त्रीनपुंसकानां दप्तानां जुगुप्सितानां चाऽऽपाते चत्वारो गुरुलघुका., तपोगुरव. । मनुष्यस्त्रीनपुंसकानामशौचवादिनामपि त एव तपोगुरवः, चत्वारो लघुका' । इयमेकेषामाचार्याणां मतेनार्द्धापक्रान्तिरुपदर्शिता ।

सम्प्रति भाष्यकारोऽन्यथाऽर्द्धापक्रान्तिमाह-

पागएँ कोडुंबीए, दंडिएँ अस्सोयसोयवादीसु ।
चउगुरुगा जमलपया, अहवा चउ छच गुरु-लहुगा ॥४३१॥

प्राकृते, कौटुम्बिके, दण्डिनि च प्रत्येकमशौचवादिनि चार्द्धापक्रान्तिरवसेया। सा चैवम्-प्राकृतानामशौचवादिनां पुरुषाणामापाते चत्वारो लघुका, तपसा कालेन च लघव. । तेषामेव शौचवादिनां प्राकृतपुरुषाणामापाते त एव चत्वारो लघवः,कालगुरुकाः। कौटुम्बिकानामशौचवादिनां पुरुषाणामापाते कालगुरुका.,चत्वारो लघव । तेषामेव कौटुम्बिकपुरुषाणां शौचवादिनामापाते चत्वारो लघव', तपोगुरुकाः। दण्डिकपुरुषाणामशौचवादिनामापाते तपोगुरवश्चतुर्लघव. । तेषामेव शौचवादिनामापाते चतुर्लघवो, द्वाभ्यां गुरुकास्तपसा कालेन च।

उक्त च-

" पागइयसोयवादी-पुरिसाण लहुग दोहि वी लहुगा ।
ते चेव य कालगुरू, तेसिं चिय सोयवाईण ॥ १ ॥
ते च्चिय लहु कालगुरू, कोडुंबीण असोयवाईण ।
तेसिं चिय ते चेव उ, तवगुरुगा सोयवाईण ॥ २ ॥
दंमिएँ असोयमि च्चिय, सोयम्मि य दोहिँ गुरुग चउलहुगा ।
एस पुरिसाण भणिओ, इत्थिनपुंसाण वी एव ॥ ३ ॥ "

(चउगुरुगा जमलपया इति) यमलपदानि स्त्रीनपुंसकलक्षणानि चतुर्गुरुकानि वक्तव्यानि। तानि चैवम्-प्राकृतस्त्रीणामशौचवादिनीनामापाते चत्वारो गुरुका , द्वाभ्यां लघवः । तद्यथा-तपसा, कालेन च । तासामेव शौचवादिनीना चत्वारो गुरुका । कौटुम्बिकस्त्रीणामशौचवादिनीनामापाते कालगुरवश्चत्वारो गुरुका । तासामेव शौचवादिनीनामापाते तपोगुरुकाश्चत्वारो गुरव । एवमेव दण्डिकस्त्रीणामशौचवादिनीनामपि, शौचवादिनीनां च चत्वारो गुरुका ; द्वाभ्यां गुरव -तपसा, कालेन च । एवमेव नपुंसकानामप्यापाते वक्तव्यम् । अत्र च मतान्तरमाह-अथवा स्त्रीणामापाते चतुर्गुरुका , उक्तप्रकारेण तपसा कालेन च विशेषिता , नपुंसकानामापाते षम् लघवो यथोक्तक्रमेण तप.कालविशेषिता. ।

सम्प्रति तिर्यगापातमधिकृत्यार्द्धापक्रान्तिमाह-

तिरिएसु वि एवं चिअ, अदुगुंछदुगुंछदित्तऽदित्तेसु ।
अमणुन्नेयर लहुगो, संजतिवग्गम्मि चउगुरुगा ॥४३२॥

एवमेवाऽनेनैव प्रकारेण तिर्यग्जुगुप्सिताजुगुप्सितदप्तादप्तेष्वर्द्धापक्रान्तिरवसेया । तद्यथा-प्राकृतपुरुषगृहीतानामदप्ताना तिर्यक्पुरुषाणामापाते चत्वारो लघव , द्वाभ्यां लघुका , तपसा कालेन च । तेषामेव च दप्तानां त एव चत्वारो लघवः कालगुरुका । कौटुम्बिकपरिगृहीतानामपि तिर्यक्पुरुषाणामदप्तानामापाते च त एव कालगुरुकाश्चत्वारो लघव. । तेषामेव दप्ताना तपोगुरवश्चत्वारो लघुकाः । दण्डिकपरिगृहीतानां तिर्यक्पुरुषाणामदप्तानामापाते त एव चत्वारो लघव., तपोगुरुका । तेषामेव दप्तानामापाते चतुर्लघुका , द्वाभ्या गुरव -तपसा, कालेन च । तथा प्राकृतपरिगृहीताना स्त्रीणा नपुंसकानां च तिरश्चामजुगुप्सितानामापाते चत्वारो गुरुका , द्वाभ्यां लघवः-तपसा, कालेन च । तेषामेव जुगुप्सितानामापाते चत्वारो गुरुकाः कालगुरव । कौटुम्बिकपरिगृहीताना तिर्यक्स्त्रीनपुंसकानामापाते त एव कालगुरुकाश्चत्वारो गुरव । तेषामेव च जुगुप्सितानामापाते चत्वारो गुरुकास्तपोगुरवः । एवमेव दण्डिकपरिगृहीतानामपि तिर्यक्स्त्रीनपुंसकानामदप्तानामापाते द्रष्टव्या । दप्तानामापाते चत्वारो गुरुका , द्वाभ्या गुरवः-कालेन, तपसा च । उक्तास्तिर्यक्ष्वप्यर्द्धापक्रान्ति. । सम्प्रति स्वपक्षाऽऽपाते शोधिमाह-अमनोज्ञानामसांभोगिकानां साभोगिकानां संविग्नानामितरेषां वाऽसंविग्नानामापाते प्रायश्चित्तं लघुको मासः । संयतीवर्गे समापतति संयतीनामापाते चत्वारो गुरुका. ।

सम्प्रति प्रागुक्तमेवार्थमुपदिदर्शयिषुराह-

भद्दतिरियपासंडे-मणुयासोएहिँ दोहिँ लहुलहुगा ।
कालगुरू तवगुरुगा, दोहिँ गुरू अच्छुकंति दुगे ॥ ४३३ ॥

भद्रेष्वहस्तेषु तिर्यक्षु पुरुषेषु, मनुष्येषु गृहस्थेषु पाखण्डिषु चाशौचवादिषु आपतत्सु चत्वारो लघुका., द्वाभ्यां लघव. । मनुष्यस्त्रीनपुंसकाना शौचवादिनामापाते चत्वारो गुरुका., द्वाभ्या गुरव. । तद्यथा-तपोगुरुका , कालगुरुकाश्च । शेषेषु तु तिर्यङ्मनुष्यभेदेषु द्विके तप'कालवक्रमेणोऽर्द्धापक्रान्तिः, क्वचित्तपोगुरुका, क्वचित्कालगुरुकेत्येवरूपाऽवसातव्या । सा च प्राक् दर्शिता । गत शोधिद्वारम् ।

इदानीमपायद्वारमाह-

अमणुन्नेतरगमणे, वितहाऽऽयरणम्मि होइ अहिगरणं ।
पउरदवकरण दट्ठुं, कुसीले सेहाऽऽदिगमणं च ॥ ४३४ ॥

अमनोज्ञानामसांभोगिकानां संविग्नानामितरेषां चासंविग्नानामागमने आपाते सति वितथाऽऽचरणे दृश्यमाने भवति परस्परमधिकरणम् । इयमत्र भावना-आचार्याणां परस्परमन्यथा सामाचार्य., ततोऽसांभोगिकानां सामाचारी वितथाऽऽचरणदर्शने नैषा सामाचारीति परस्परमधिकरणं तु वर्त्तते । इतरे कुशीला. पार्श्वस्थाऽऽदय', ते प्रचुरेण वारिणा पुतप्रक्षालन कुर्वन्ति, ततस्तेषां कुशीलानां प्रचुरद्रवेण पुतनिर्लेपकरण दृष्ट्वा शैक्षकाणाम्, आदिशब्दात् शौचवादिना मन्दधर्मिणां च गमन तेषां समीपे भवति ।

निग्गंथाणं पढमं, सेसा खलु होंति तेसिँ पडिकुट्ठा ।
दव अप्प कलुस असती, अवण्ण पुरिसेसु पडिसेहो ॥ ४३५ ॥

यत एवमापाते दोषास्तस्मान्निर्ग्रन्थानां प्रथम स्थण्डिलमनापातमसंलोकमित्येवरूप, शेषाणि त्रीणि खलु तेषा निर्ग्रन्थानां प्रतिक्रुष्टानि प्रतिषिद्धानि । अथ परपक्षापाते, तत्रापि पुरुषाऽऽपात व्रजति तदा नियमतो द्रवमकलुष परिपूर्णं च नेतव्यम । अन्यथा द्रवे पानीये अल्पे कलुषे वा, यदि वा-असति-विना पानीयेन गतो भवेत्, ततस्ते दृष्ट्वाऽवर्णमश्लाघां कुर्युः , यथा-अशुचयोऽमी, न केवलमवर्णं कुर्यु' किं तु प्रतिषेधोऽपि तैः क्रियते, यथा-माऽकोऽप्यमीषामशुचीनां भक्त, पान वा दद्यात् । एष पुरुषेषु पुरुषाऽऽपाते दोष ।

सम्प्रति स्त्रीनपुंसकाऽऽपाते दोषानाह-

आय-पर-तदुभए वा, संकाईया हवंति दोसा उ ।
पंडित्थिसंगे गहिते, उड्डाहो पडिगमणमादी ॥ ४३६ ॥

स्त्रीणां नपुंसकानां वाऽऽपाते आत्मनि, परे, तदुभयस्मिन् शङ्काऽऽदयो दोषा भवन्ति । तत्राऽऽत्मनि साधु शङ्काविषय क्रियते, यथा-एष किमप्युद्भ्रामयति । परे स्त्री, नपुंसको वा शङ्क्यते-यथैते पापकर्माण एन साधु कामयन्त इति । तदुभयस्मिन्, यथा द्वावप्येतौ परस्परमत्र मैथुनार्थमागतौ । तदेवमुक्ताऽऽशङ्का । आदिशब्दादवर्णाऽऽदिदोषपरिग्रह । तथा-स्त्र्यापाते नपुंसकाऽऽपाते वा स साधुरात्मपरोभयसमुत्थेन दोषेण स्त्रिया पण्डकेन वा सार्द्धं सङ्गं मैथुनं कुर्यात् । तत्र केनचिद् रागेण दृष्ट्वा गृहीतः स्यात्, तत प्रवचनस्योड्डाह., तथा स उड्डाहित इति कृत्वा प्रतिगमनाऽऽदीनि कुर्यात् ।

अस्मिन्नेव चतुर्थे स्थण्डिले तिर्यगापाते दोषानाह-

आहणणादी दित्ते, गरहियतिरिएसु संकमादी य ।
एमेव य संलोए, तिरिए वज्जित्तु मणुएसुं ॥ ४३७ ॥

दृप्ते दृप्ततिर्यगापाते आहननाऽऽदयो दोषाः, आहनन शृङ्गाऽऽदिभिस्ताडनम्, आदिशब्दान्मूर्च्छागमनमारणाऽऽदिपरिग्रह । गर्हितेषु तिर्यक्षु गर्हिततिर्यक्स्त्रीनपुंसकाऽऽपाते शङ्का मैथुने, आदिशब्दात् प्रतिसेवितापीत्यादयो दोषा' । यथा-आपाते दोषा उक्ता', एवमेव संलोकेऽपि तिर्यग्योनिकान् वर्जयित्वा मनुष्येषु द्रष्टव्याः । किमुक्त भवति? एषां संलोके नास्ति कश्चिदनन्तरोदितो दोष', मनुष्याणां तु स्त्रीपुरुषनपुंसकानां संलोके ये आपाते दोषास्ते वेदितव्या. ।

यदि कदाचिदात्मपरोभयसमुत्था मैथुनदोषा न भवेयु , तथाऽप्यमी सम्भाव्यन्ते-

जत्थऽम्हे पासामो, जत्थ य आयरइ नातिवग्गो णे ।
परिभवकामेमाणो, संकेयगदित्तको वा वि ॥ ४३८ ॥

यत्र वयममुमागच्छन्त पश्यामो, यत्र वाऽस्माक ज्ञातिवर्गो निरन्तर सञ्चरति विचारार्थं गच्छति, तत्रास्माक परिभव कामयमानो, दत्तसङ्केतो वा समागच्छति ।

किं च-

कलुस दवे असतीए, पुरिसाऽऽलोए हवंति दोसा उ ।
पंडित्थीसु वि य तहा, खुब्भे वेउव्विए मुच्छा ॥ ४३९ ॥

द्रवे पानीये कलुषे, असति अविद्यमाने च पुरुषाऽऽलोके दोषा. प्रागुक्ता अवर्णाऽऽदयो भवन्ति । तथा-पण्डा नपुंसका., पण्डेषु स्त्रीषु च संलोकमानेषु क्षुब्धे, वैकुर्विके वा सागारिके दृष्टे मूर्च्छा भवेत् । इयमत्र भावना-नपुंसक. स्त्री वा सागारिक स्वभावत एवातिस्थूलं लम्ब च, यदि वा-कषायितम , अथवा-तद्दोषेण वैकुर्विक दृष्ट्वा तद्विषयाभिलाषमूर्च्छामापन्ना-स्त साधुमुपसर्गयेत्, तस्मात् त्रयाणामपि संलोको वर्जनीय. । गत चतुर्थं स्थण्डिलम् ।

इदानीं तृतीयमापातवदसंलोकमधिकृत्य दोषानाह-

आयसमुत्था तिरिए, पुरुसे दवकलुस असति उड्डाहो ।
आयोभय इत्थीसु अ, आगच्छंते य आसंका ॥ ४४० ॥

तिर्यगापाते आत्मसमुत्था दोषा । तद्यथा-स्त्रीणां नपुंसकानां चाऽऽपाते मैथुनाऽऽशङ्काऽऽदयो दोषा., दृप्तानां तिर्यक्पुरुषाणामापाते आत्मन उपघात. । तथा-पुरुषे मनुष्यपुरुषाऽऽपाते द्रवे कलुषे, असति वा प्रवचनस्योड्डाह' । तथा-स्त्रीषु, चशब्दान्नपुंसकेषु आगच्छत्सु च आत्मोभयविषया, आत्मोभयग्रहण परस्योपलक्षणम्, आत्मपरोभयविषया आशङ्का । सा च प्रागेव भाविता ।

आवायदोस तइए, बिइए संलोयतो भवे दोसा ।
ते दो वि नत्थि पढमे, तहि गमणं तत्थिमा मेरा ॥ ४४१ ॥

तृतीये स्थण्डिले आपातदोषा., द्वितीये च संलोकतो दोषा भवन्ति वेदितव्या । ते च द्वेऽपि-आपातदोषा , संलोकदोषाश्च प्रथमे स्थण्डिले न सन्ति, ततस्तत्र गमनं विधेयम् । तत्रेय मर्यादा ।

तामेवाऽऽह-

कालमकाले सन्ना, कालो तइयाएँ सेसगमकालो ।

पढमापोरिसि आपु-च्छपाणगमपुप्फि अन्नदिसिं ॥४४२॥

द्विविधा संज्ञा। तद्यथा-काले, अकाले च । तत्र कालस्तृतीयस्यां पौरुष्यां, शेषक सर्वमपि प्रातःप्रभृतिकमकालः। तत्र तावद् काले सज्ञाया विधिरुच्यते-कथ गन्तव्यम् ?, तत्र यदि प्रथमायां पौरुष्यां भवेत् तदा पात्रमुद्ग्राह्य पानकनिमित्त व्रजति, अथ नोद्ग्राहयति पात्र,ततो लोको जानीयात्; यथा-एष बहिर्गमननिमित्त पानीय गृह्णाति, ततश्चतुर्थं रसिक न दद्यात्। अपि चोद्ग्राहिते पात्रेऽयमाधिको गुण -कोऽपि श्राद्धो ग्रामान्तर, नगरान्तर वा गन्तुकाम प्रधावित , अद्भ्युत्पन्नाया सज्ञाया त प्रतिलाभयेत्, सोऽपि लाभयेत्,सोऽपि लाभो भवति, शङ्काऽपि च नोपजायते, यथा-एष वहिर्गमनाय पानकनिमित्त हिण्डते । स पुनः कीदृश पानीय गृह्णीयात्?,अत आह-अपुष्पितमच्छ सुगन्ध चतुर्थरसिक न भवति,तादृश तत उष्णोदकाऽऽदि गृह्णीयात्। (अन्नदिसिमिति) यस्यां दिशि सज्ञाभूमिस्तस्या पानकस्य न गन्तव्यम । यदि पुनस्तस्यां गच्छति, ततोऽतिरिक्त ग्रहीतव्य, यदि द्वौ जनौ तदा, यथा तृतीयस्याप्युद्धरति । किं बहुना ?, यावन्तो व्रजन्ति तावतां योग्यमतिरिक्त तथा गृह्णाति यथा एकस्योद्धरति। एव पानीय गृहीत्वा समागतो बहि प्रतिश्रयस्य पादौ प्रमार्ज्य दण्डक स्थापयित्वा ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य आलोच्य गुरो पानक दर्शयित्वा आपृच्छति, गुरुमापृच्छ्य संज्ञाभूमिं व्रजामीति गच्छति । तत्र जघन्योऽपि कश्चित् व्रजति, तर्हि यथा एकस्योद्धरति तावत्प्रमाणमात्रके पानक गृह्णाति, तच्चोद्ग्राहित पात्रमन्यस्य समर्प्य दण्डक प्रमार्ज्य आवश्यकीं कृत्वा व्रजति । यथोक्तविधेरकरणे सर्वत्र प्रायश्चित्त मासलघु ।

उक्तमेवार्थं स्पष्टतरमुपदर्शयति-

अतिरेगगहणमुग्गा-हियम्मि आलोय पुच्छियं गच्छे ।
एसा उ अकालम्मी, अहिंडिए हिंमिए काले ॥४४३॥

पात्रे उद्ग्राहिते एकजनातिरेकेण पानीयस्य ग्रहण कर्त्तव्य, कृत्वा च गुरो पुरत आलोच्य गुरुमापृच्छ्य सज्ञाभूमिं गच्छेत्। एषा अकाले सज्ञा उक्ता। सम्प्रति कालसज्ञा वक्तव्या । काले कालसज्ञा (अहिंमिते हिंडिते त्ति) इयमत्र भावना-तृतीयस्यां पौरुष्यां कालस्य प्रतिक्रमणे यावन्नाद्यापि भिक्षावेला भवति तावत् सज्ञाभूमिं व्रजति । अथाहिण्डिते समुद्दिष्टे भाजनेषु च प्रदत्तकल्पेषु यावन्नावगाहते चतुर्थपौरुषीकाल., तावद्गच्छति, अथोत्सूरे भिक्षावेला, चिर वा हिण्डित , ततोऽवगाढायामपि चरमपौरुष्यां गच्छति ।

तत्र को विधिरित्याह-

कप्पेतूण पाए, एक्केक्कस्स उ दुवे पडिग्गहगे ।
दाउ दो दो गच्छे, तिण्हट्ठ दव च घेत्तूणं ॥४४४॥

पात्राणि कल्पयित्वा विशोध्य त्रीन् कल्पान् पात्राणां निर्लेपनाय दत्त्वा एकैकस्याऽऽत्मीयाऽऽत्मीयसघाटकस्य द्वौ द्वौ पतद्ग्रहकौ दत्त्वा द्वौ द्वौ सज्ञाभूमिं गच्छयाताम् । कथमित्याह-त्रयाणामर्थाय द्रव गृहीत्वा, पानकं हि तावत्प्रमाण ग्रहीतव्य यावत्पश्चादेकस्योद्धरति। इयमत्र भावना-ये ये सघाटवन्तस्तेषां तेषामेको द्वौ पतद्ग्रहौ धारयति, द्वितीयश्चान्येन सम याति, तेषु चाऽऽगतेषु ये प्रागितरे स्थितास्ते व्रजन्ति, इतरे चाऽऽगता पात्राणि धारयन्ति,यावन्तश्च गच्छन्ति तावता योग्यमेकातिरिक्त पानक मात्रके गृह्णन्ति ।

कथ पुनस्ते गच्छन्तीत्यत आह-

अजुगलिया अतुरंता, विगहारहिया वयंति पढमं तु ।
निसिइत्तु डगलगहणं, आवडणं वच्चमासज्ज ॥ ४४५ ॥

अयुगलिता न समश्रेणिकयुगलरूपतया स्थिता., अत्वरिता , विकथारहिता स्त्रीभक्ताऽऽदिकथा अकुर्वाणाः प्रथममनापातासलोकलक्षण स्थण्डिल व्रजन्ति । तत्र निषद्य उपविश्य, नोर्द्ध्वस्थिता इत्यर्थ. । उर्द्ध्वस्थितानां सम्यक्प्रलेपणासम्भवात्। डगलग्रहण कुर्वन्ति-ये भूमावसबद्धा पुनर्निर्लेपनाय लेष्टुकास्ते डगलका., तानाददते। आदाय चैतेषां भूमावापातन कुर्वन्ति येन वृश्चिकाऽऽदिस्ततोऽपसरति। उक्त च-"ते डगले टिट्टियावेइ, ततो जो तत्थ विच्छुगादी, सो अवसरति । " इति । तेषां च डगलकानां प्रमाण वर्च पुरीषमासाद्य प्रतिपत्तव्य, यो भिन्नवर्चा स त्रीन् डगलकान् गृह्णाति , अन्यो द्वावेक वा ।

आलोएऊण दिसा, संडासगमेव संपमज्जित्ता ।
पेहियपमज्जिएसु य, जयणाए थंडिले णिसिरे ॥४४६॥

स्थण्डिल गत्वा तत्र दिशामापातसलोकवर्जनार्थमालोकनं कुर्यात्, दिश आलोक्य तदनन्तर समासक सप्रमार्ज्य प्रेक्षितेषु प्रमार्जितेषु च तत्र प्रदेशेषु स्थण्डिलेषु पुरीष निसृजेत् व्युत्सृजेत्। कथमित्याह-यतनया "दिसिपवणगामसूरिय ।" इत्यादिवक्ष्यमाणलक्षणया तत्पुनरनापातासलोक स्थाण्डिलमेभिर्वक्ष्यमाणैर्दशभि स्थाने विशुद्ध ज्ञातव्यम् ।

तान्येवाऽऽह-

अणावायमसलोए, परस्सऽणुवघातिए ।
समे अज्झुसिरे यावि-ऽचिरकालकयम्मि य ॥४४७॥
वित्थिण्णे दूरमोगाढे-ऽनासन्ने बिलवज्जिए ।
तसपाणबीयरहिए, उच्चाराऽऽदीणि वोसिरे ॥ ४४८॥

अनापातमसलोक,परस्यानुपघातिक, समम् अशुषिरम्,अचिरकालकृत, विस्तीर्णं, दूरमवगाढम्,अनासन्न, बिलवर्जितं, त्रसप्राणबीजरहित यत् स्थण्डिल तत्र उच्चाराऽऽदीनि उच्चारप्रस्रवणप्रभृतीनि व्युत्सृजेत् । एष एककः सयोगो दर्शितः ।

सम्प्रति द्विकाऽऽदिसयोगानुपदर्शयति-

इगदुगतिगचउपंचग-छगसत्तगअट्ठनवगदसगेहिं ।
संजोगा कायव्वा, भंगसहस्सं चउव्वीसं ॥ ४४९ ॥

अमीषामनन्तरोदितानां दशानां पादानामेकद्वित्रिचतु पञ्चषट्सप्ताष्टनवदशकैः सयोगा कर्त्तव्या , तेषु च भङ्गा सर्वसख्यया चतुर्विंशत्यधिक सहस्रम् । अथ कस्मिन् सयोगे कियन्तो भङ्गका ?। उच्यते-इह भङ्गानामानयनकरणमिदम्-दशाऽऽदयोऽङ्का एकैकेन हीनास्तावत् स्थाप्यन्ते यावत् पर्यन्ते एकः, ततस्ते यथाक्रममेभी राशिभिर्गुणयितव्या । तद्यथा-दशक एककेन, नवक पञ्चभि ,अष्टक पञ्चदशभि , सप्तकस्त्रिंशता, षट्को द्वाचत्वारिंशता, पञ्चकोऽपि द्वाचत्वारिंशता, चतुष्कस्त्रिंशता, त्रिकः पञ्चदशभि, द्विक पञ्चकेन, एकक एककेन । स्थापना-

१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१
१	५	१५	३०	४२	४२	३०	१५	५	१

अमीषा चामीभिर्गुणाकारैर्गुणने जाता एकक्काऽऽदिसयोगेष्विय भङ्गसंख्या । तद्यथा -एककसयोगे दश। द्विकसयोगे पञ्चचत्वारिंशत्। त्रिक-

सयोगे विंशत्युत्तर शतम्। चतुष्कसयोगे द्वे शते दशोत्तरे। पञ्चसयोगे द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके। षट्कसयोगे द्वे शते दशोत्तरे। सप्तकसयोगे विंश शतम् । अष्टकसयोगे पञ्चचत्वारिंशत् । नवकसयोगे दश । दशकसयोगे एक' । एक च वसत्यादिषु विविक्ते प्रदेशे स्थण्डिलमिति सर्वभङ्गसङ्ख्या एकत्र मीलयित्वा रूपाधिका क्रियते, ततश्चतुर्विंशं भङ्गसहस्रं भवति ।

"समन्नगणयणे करणं, दसगाऽऽति ओसरंति जावेक्को।
एए उ गुणेयव्वा, इमेहिँ रासीहिँ जहकमसो ॥ १ ॥
एक्कग पचग पन्नर, तीसा वायाल पंच जा ठाणा ।
परतो बायालीसा, पमिलोममवेहि जावेक्को ॥ २ ॥
एक्कगसजोगादी, गुणिया लद्धा हवंति एमेते ।
मिलिया रूवाहिकया, भंगसहस्सं चउव्वीसं ॥ ३ ॥"

सप्रत्येतानि दश शुद्धानि पदानि व्याख्यातव्यानि, यत्र यत्र दोषास्ते तत्र तत्र कथनीयाः, तत्राऽऽपातवत् सलोकवच्च पूर्वं व्याख्यातम् । इदानीं परस्यौपघातिकमाह-

आया पवयण संजम, तिविह उवघातियं मुणेयव्वं ।
आराम वच्च अगणी, घायाऽऽदसुई य अन्नत्थ ॥४५० ॥

इह पूर्वार्द्धपदाना पश्चार्द्धपदाना च यथाक्रम योजना । सा चैवम्-औपपातिकमुपघातप्रयोजनकं स्थण्डिल त्रिविध ज्ञातव्यम् । तद्यथा-आत्मोपघाति, प्रवचनोपघाति, सयमोपघाति च। तत्राऽऽत्मोपघाति आराम•,तत्र हि सञ्ज्ञा व्युत्सृजतो घाताऽऽदि पिट्टनाऽऽदि । प्रवचनोपघाति-वर्चो गृहं, तद्धि जुगुप्सितमशुच्यात्मकत्वात्, ततस्तत्र सञ्ज्ञाव्युत्सर्गे ईदृशा एते इति प्रवचनोपघात• । सयमोपघाति-अग्निरग्निस्थान, तत्र हि सञ्ज्ञाव्युत्सर्गे ते अग्न्यारम्भिणोऽन्यत्रास्थण्डिले अग्निस्थान कुर्वन्ति, त्यजन्ति वा ता सञ्ज्ञामस्थण्डिले ।

सप्रति विषमस्थण्डिले दोषानाह-

विसमपलोट्टणि आया, इयरस्स पलोट्टणम्मि छक्काया ।
झुसिरम्मि विच्छुगादी, उभयक्कमणे तसादीया ॥४५१ ॥

विषमे स्थण्डिले साधु प्रलोटेत्, पतेदिति भाव• । तत्र चाऽऽत्मा विराध्येत । इतरस्य पुरीषस्य, प्रस्रवणस्य च प्रलोटने षट् काया विराध्यन्ते । तथाहि-प्रतीतमेवैतत्-पुरीष, प्रस्रवण वा प्रलोटेन षट्कायान् विराधयति । एषा सयमविराधना । शुषिरे सञ्ज्ञाऽऽदि व्युत्सृजतो वृश्चिकाऽऽदिभिरात्मनो विराधना । आदिशब्देन सर्पाऽऽदिपरिग्रह• । उभय सञ्ज्ञाप्रस्रवण, तेनाऽऽक्रमणे त्रसाऽऽदय• त्रसस्थावरप्राणा विराध्यन्ते । एषा सयमविराधना।

अथ कीदृश चिरकालकृत स्थण्डिलमत आह--

जे जम्मि उउम्मि कया, पयावणादीहिँ थंमिल्ला ते उ ।
होंति इयरे चिरकया, वासावासे य वारसगं ॥ ४५२ ॥

यानि स्थण्डिलानि यस्मिन् ऋतौ प्रतापनाऽऽदिभि कृतानि तानि तस्मिन्नचिरकालकृतानि भवन्ति । यथा-हेमन्तकृतानि हेमन्त एवाचिरकालकृतानि । इतराणि तु ऋत्वन्तरव्यवहितानि चिरकालकृतानि, अस्थण्डिलानि तानीति भाव । यत्र पुनरेक वर्षारात्र सगोधने ग्रामे उषितस्तत्र द्वादशक द्वादश सवत्सराणि स्थण्डिल, परमस्थण्डिल भवति ।

सम्प्रति विस्तीर्णमाह--

हत्थाऽऽयामं चउरस, जहण्ण उक्कोस जोयण विछक्कं ।
चउरंगुलप्पमाणं, जहन्नयं दूरमोगाढं ॥ ४५३ ॥

जघन्य विस्तीर्णं चतुरस्र चतसृष्वपि दिक्षु हस्ताऽऽयामम्, उत्कृष्ट द्वादशयोजनानि, तच्च चक्रवर्तिस्कन्धावारनिवेशे प्रतिपत्तव्यम् । दूरावगाढमाह--यत्राधस्ताच्चतुरङ्गुलप्रमाणमचित्तम्-चत्वारि अङ्गुलान्यचित्ता भूमि', तज्जघन्य दूरमवगाढम्, अर्थात्पश्चादङ्गुलप्रभृतिकमचित्त यस्याधस्तात्तदुत्कृष्ट दूरमवगाढम्।

साम्प्रतमासन्नमाह-

दव्वाऽऽसन्नं भवणा-दियाण तहियं तु संजमाऽऽयाए ।
आयापवयणसंजम-दोसा पुण भावआसन्ने ॥४५४॥

आसन्न द्विविधम्-द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्याऽऽसन्न भवनाऽऽदीनां निकटम् । आदिग्रहणाद् देवकुलानां,ग्रामस्य,पथो,वृक्षस्य च परिग्रह । यस्य हि वृक्षस्य हस्तिपादप्रमाणस्कन्धः,तस्य समन्ततो हस्तो वर्जयितव्य । तत्र यदि द्रव्याऽऽसन्ने व्युत्सृजति, ततः सयमे, आत्मनि च विराधना । तत्र यद् गृहाऽऽदीनामासन्नं तत् स्थण्डिल परित्यज्यान्यत्र स्थण्डिल कुर्यु , अथ वा पानीयेन तत्प्रक्षालयेयु । ततः सयमविराधना । आत्मविराधना पिट्टनाऽऽदिभावात् । भावाऽऽसन्न नाम तावत्तिष्ठति, यावत्सञ्ज्ञा मनाग् नागच्छति, ततोऽनधिसह' स्थण्डिल गन्तुमशक्नुवन् अस्थण्डिले, भवनाऽऽदीनां वा प्रत्यासन्ने व्युत्सृजेत् । तत्र चाऽऽत्मविराधना, सयमविराधना च प्राग्वत् । अन्नास्थण्डिलमिति कृत्वा सागारिको वा तिष्ठतीति सञ्ज्ञां धारयति आत्मविराधना, मरणस्य ग्लानत्वस्य चावश्य भावात् । अनधिसहेन च सता तेन लोकपुरतोऽस्थाने सञ्ज्ञाव्युत्सर्गे पुनर्जङ्घाऽऽदिक्षेपने वा प्रवचनोपघात' ।

सबिले, त्रसप्राणबीजोपेते दोषानाह-

होंति बिले दो दोसा, तसेसु बीएसु वा वि ते चेव ।
सजोगतो य दोसा, मूलगमा होंति सविसेसा ॥ ४५५ ॥

बिले सञ्ज्ञां व्युत्सृजतो द्वौ दोषौ । तद्यथा-आत्मविराधना, सयमविराधना च । तत्र यदा बिले प्रविशन्त्या सञ्ज्ञया प्रस्रवणेन तद्गता जीवा बाध्यन्ते तदा सयमविराधना । सर्पाऽऽदिभक्षणे आत्मविराधना । त्रसेषु, बीजेषु च तावेव द्वौ दोषौ सयमाऽऽत्मविराधनालक्षणौ । तत्र त्रसेषु बीजेषु प्राणव्यपरोपणात्सयमविराधना सुप्रतीता । त्रसेष्वात्मविराधना, तेभ्य उपद्रवसभवात् । बीजेष्वात्मविराधना-बीजशूकाऽवयवानामतितीक्ष्णानां पदेषु लग्नत• पादप्रलोटनतः पतनतो वा । तदेवमेकैकस्मिन् वर्जनीये स्थण्डिले दोषा उक्ता । अस्माच्च मूलगमदेकैकसयोगरूपात् द्विकत्रिकाऽऽदिपदानां संयोगत' सविशेषा बहुबहुतरका भवन्ति ज्ञातव्या• । द्विकसयोगे द्विगुणास्त्रिकसयोगे त्रिगुणा यावद्दशसयोगे दशगुणा इति ।

सम्प्रति प्रागुक्तमपि प्रायश्चित्तमन्याऽऽचार्यपरिपाट्या, मनाक् विशेपप्रदर्शनार्थतया च पुनराह -

पंथम्मि य आलोए, झुसिरम्मि तसेसु चेव चउलहुगा ।
पुरिसावाए य तहा, तिरियावाए य ते चेव ॥ ४५६ ॥

पथ आसन्ने पुरुषाणामालोके, शुषिरे, त्रससकुले च सञ्ज्ञां व्युत्सृजत प्रायश्चित्त चत्वारो लघुका । तथा सर्वमनुष्यपुरुषाऽऽपाते, सर्वतिर्यक्पुरुषाऽऽपाते च प्रत्येक त एव चत्वारो लघव । सर्वग्रहण मनुष्येषु कौटुम्बिकाऽऽदिभेदपरिग्रहार्थम् ।

तिर्यक्सूत्रकृष्टाऽऽदिभेदसंग्रहार्थमाह-

इत्थिनपुंसाऽऽवाए, भावासन्ने बिले य चउगुरुगा ।
पणगं लहुयं गुरुगं, बीए सेसेसु मासलहुं ॥ ४५७ ॥

सर्वासां प्राकृताऽऽदिभेदभिन्नानां स्त्रीणामापाते च, तथा भावासन्ने बिलसहिते च स्थण्डिले व्युत्सृजतः प्रत्येकं चत्वारो गुरुका, प्रत्येकबीजसकुले स्थण्डिले लघूनि पञ्चरात्रिन्दिवानि, अनन्तबीजसकुले गुरुकानि, शेषेष्वष्टसु स्थण्डिलेषु मासलघु। यच्चान्यदा पर्यन्ते तदपि सर्वमाप्नोति । यत्रासामाचारीकरणं तत्रापि मासलघु ।

अपमज्जणा अपडिले-हणा य दुपमज्जणा दुपमिलेहा ।
तिऍ मासिय पणग लहू, कालतवे वा चरिमसुद्धो ॥४५८॥

संज्ञां व्युत्स्रष्टुकामो न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति मासलघु, कालगुरु, तपोलघु । न प्रमार्जयति प्रत्युपेक्षते मासलघु, द्वाभ्यां लघु । एव त्रिकेषु स्थानेषु मासिक लघु, कालेन तपसा चोक्तप्रकारेण विशेषितम् । अथ प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति, तत्र दुष्प्रत्युपेक्षिते दुष्प्रमार्जिते रात्रिन्दिवपञ्चक लघु, दुष्प्रत्युपेक्षिते प्रमार्जिते रात्रिन्दिवपञ्चक लघु, तपोलघु, कालगुरु । प्रत्युपेक्षिते दुष्प्रमार्जिते रात्रिन्दिवपञ्चक लघु, द्वाभ्यां लघुकम् । एव त्रिकेषु त्रिष्वपि स्थानेषु पञ्चक, कालेन तपसा चोक्तप्रकारेण विशेषित, चरमेषु प्रत्युपेक्षित सुप्रमार्जितमित्येवरूपे भङ्गे शुद्धो न प्रायश्चित्तभाक् ।

खुड्डो धावणेँ कुसिरे, तह खुत्तो अपमिलेहणा लहुगो ।
घरवाविवच्चगोवय-ठिअमल्लगछड्डणे लहुगा ॥ ४५९ ॥

इयमपि गाथाऽन्याऽऽचार्यपरिपाटिसूचिका, ततो न पुनरुक्तता, नापि विरोधो, मतान्तरत्वात् । क्षुल्लक स्तोक यदि धावन प्रक्षालनमित्यर्थ । तत्र तथा शुषिरे स्थण्डिले तथाकृत्वोऽप्रत्युपेक्षणायां प्रत्येक प्रायश्चित्त लघुको मास । तथा-गृहे यदि संज्ञा व्युत्सृजति वाप्या वर्चसि गृहे वर्चस उपरि वा गोष्पदे वा ऊर्द्ध्वस्थितो वा तथा मल्लके व्युत्सृज्य यदि परिष्ठापयति तदा सर्वेष्वेतेषु स्थानेषु प्रायश्चित्त प्रत्येक चत्वारो लघव । । गतमपायद्वारम् ।

इदानीं वर्जनाद्वारमाह-

दिसिपवणगामसूरिय-छायाएँ पमज्जिऊण तिक्खुत्तो ।
जस्सुग्गहो त्ति काऊ-ण वोसिरे आयमे वा वि ॥४६०॥

उत्तरदिक्, पूर्वदिक् च लोके पूज्या, ततस्तस्या पृष्ठप्रदाने लोकमध्ये अवर्णवादो भवति, वानमन्तर वा किञ्चित् मिथ्यादृष्टि कुप्येत । तथा च सति जीवितव्यस्य विनाश, तस्मात् दिवा रात्रौ च पृष्ठ पूर्वस्यास्, उत्तरस्यां तु दिवा । दक्षिणस्यां दिशि रात्रौ निशाचरा सचरन्ति । ततस्तस्या पृष्ठ रात्रौ वर्जयेत् । उक्त च- "उभे मूत्रपुरीषे तु, दिवा कुर्यादुदङ्मुख । रात्रौ दक्षिणतश्चैव, तथा चाऽऽयुर्न हीयते ॥ १ ॥ " तथा यत पवनस्तत पृष्ठ न कुर्यात, मा लोको ब्रूयात्-अर्घयन्त्येतद्देते इति, नासिकायां चार्शांसि मा भूवन् । तथा ग्रामस्य, सूर्यस्य च पृष्ठ न दातव्य, लोकेऽवर्णवादसम्भवात् । तथाहि-सूर्यस्य, ग्रामस्य वा पृष्ठदाने लोको ब्रूते- न किञ्चित् जानन्त्येते यल्लोकोद्द्योतकरस्यापि सूर्यस्य, यस्मिन् ग्रामे स्थीयते तस्याऽपि च पृष्ठ ददतीति । तथा समक्तग्रहणिश्छायाया व्युत्सृजेत्, येन द्वीन्द्रियविनाशो न भवति । तथा त्रि कृत्वस्त्रीन् वारान् प्रमार्ज्य । उपलक्षणमेतत्-प्रत्युपेक्ष्य च व्युत्सृजेत् । तत्राप्रत्युपेक्षणे अप्रमार्जने, दुष्प्रत्युपेक्षणे दुष्प्रमार्जने च प्रायश्चित्त प्रागुक्तम् । तथा यस्यावग्रह सोऽनुजानीयादिति अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत्, आचमेद्वा । एष गाथार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुराह-

उत्तर पुव्वा पुज्जा, जम्माए निसियरा अभिवमंति ।
घाणारसा य पवणे, सूरियगामे अवन्नो उ ॥ ४६१ ॥

उत्तरा, पूर्वा च लोके पूज्यते, ततो दिवा रात्रौ च पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा पृष्ठ न दद्यात, तथा न याम्या दक्षिणा, तस्यां रात्रौ निशाचरा देवा अभिपतन्ति समागच्छन्ति, ततस्तस्यां रात्रौ पृष्ठ न दद्यात, तथा यतः पवनस्तत. पृष्ठकरणे अशुभगन्धघ्राणिनोसिकाया चार्शांस्युपजायन्ते । तस्मात्पवनस्यापि पृष्ठ न कर्त्तव्यम् । सूर्यस्य, ग्रामस्य च पृष्ठकरणे अवर्णो लोकमध्ये यथाऽभिहित. प्राक्, ततस्तयोरपि न दातव्य पृष्ठमिति ।

" छायाए " इति व्याख्यानार्थमाह-

संसत्तग्गहणी पुण, छायाए निग्गयाइँ वोसिरई ।
छायासति उण्हम्मि वि, वोसिरिय मुहुत्तगं चिट्ठे ॥४६२॥

ससक्ता द्वीन्द्रियैर्ग्रहणि. पांयुर्यस्यासौ ससक्तग्रहणिः, स द्वीन्द्रियरक्षणार्थ छायायां वृक्षाऽऽदिनिर्गताया व्युत्सृजति । अथ छायाऽधाऽपि न निर्गच्छति, मध्याह्ने एव सञ्ज्ञा प्रवृत्ता, तत. छायाया 'असति' अभावे उष्णेऽपि स्वशरीरच्छायायां पुरीषस्य कृत्वा व्युत्सृजति, व्युत्सृज्य च मुहूर्त्तं तथैव तिष्ठति, येनैतावता कालेन स्वयोगत. परिणमन्ति, अन्यथोष्णेन महती परितापना स्यात् ।

अथ व्युत्सृजन् स्वोपकरणं कथं धरतीत्यत आह-

उवगरणं वामगऊ-रुगम्मि मत्तो य दाहिणे हत्थे ।
तत्थऽन्नत्थ व पुंछे, तिहिँ आयमणं अदूरम्मि ॥४६३॥

उपकरणं दण्डकं रजोहरण च वामे ऊरौ स्थापयति, मात्रकं दक्षिणहस्ते क्रियते, डगलकानि च वामहस्तेन धारणीयानि, ततः सञ्ज्ञा व्युत्सृज्य तत्रान्यत्र वा प्रदेशे डगलकै पुत पुंसयति रूक्षयति, पुसयित्वा त्रिभिर्नावापूरकैश्चुलुकैरित्यर्थः । आचमनं निर्लेपन करोति । तथा चोक्तम्-"तिहि नावाए पूरएहिं आयमइ, निल्लेवेति वा । नावा पूरओ नाम-पसती । " इति । तदपि चाऽऽचमनमदूरे करोति । यदि पुनर्दूरे आचमति तत उड्डाह, कश्चित् दृष्ट्वा चिन्तयेत्-अनिर्लेप्यपुतो गत एष इति ।

सप्रत्यालोके प्रायश्चित्तविधिमाह-

आलोगं पि य तिविहं, पुरिसित्थिनपुंसकं च बोधव्वं ।
लहुगा पुरिसाऽऽलोए, गुरुगा य नपुंसइत्थीसु ॥ ४६४ ॥
आवातं पि य दुविहं, माणुसतेरिच्छयं च नायव्वं ।
एक्केक्कं पि य तिविहं, पुरिसित्थिनपुंसगे चेव ॥ ४६५ ॥

आलोकमपि च त्रिविध त्रिप्रकारम् । तद्यथा-पुरुषाऽऽलोक, स्त्र्यालोक, नपुसकाऽऽलोकम् । गाथाया पदैकदेशे पदसमुदायोपलक्षणानि । तत्र पुरुषाऽऽलोके प्रायश्चित्त चत्वारो लघुका । स्त्र्यालोके नपुसकाऽऽलोके च चत्वारो गुरुका । तदेवमचित्त स्थण्डिलमचित्तेन यथा भणितम् । अथ सचित्तेन मिश्रेण वा यदा तद् गच्छति तदा तदेव प्रायश्चित्तम् ।

छक्काय-चउसु लहुगा, परित्ते लहुगा य गुरुग साहारे ।
संघट्टण परियावण, लहु गुरुग निवायणे मूलं ॥४६६॥

षट्कायाः-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसरूपाः, तेषां मध्ये चतुर्षु पृथिव्यप्तेजोवायुरूपेषु संघट्टनाऽऽदिषु लघुका प्रायश्चित्तम्। परित्तकवनस्पतिकायेऽपि च लघुकाः। साधारणे अनन्तवनस्पतिकायिके संघट्टनाऽऽदिषु गुरुकाः। तथा द्वीन्द्रियाऽऽदीनां संघट्टने परितापने च यथायोगं लघुका गुरुकाश्च प्रायश्चित्तम्। अपद्रावणे निपातने विनाशे मूलम्। इयं तत्र भावना-पृथिवीकायं संघट्टयति मासलघु, परितापयति, जीविताद् व्यपरोपयतीत्यर्थः, चतुर्लघु। एवमप्काये, तेजस्काये, वायुकाये, प्रत्येकवनस्पतिकाये च द्रष्टव्यम्। उक्तं च-" छक्कायाऽऽदिमचउसु, तह य परित्तम्मि होति वणकाए। लहु गुरु मासो चउलहु, घट्टणपरितावउद्दवणे ॥१॥" एतत् प्रायश्चित्तमेकैकस्मिन् दिवसे संघट्टनाऽऽदिकरणे, यदि पुनर्द्वौ दिवसौ पृथिव्यादि संघट्टयति तदा मासगुरु, परितापयति चतुर्लघु, जीविताच्च व्यपरोपयति चतुर्गुरु, त्रीन् दिवसान् निरन्तरं पृथिव्यादीन् संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, अपद्रावयति षड्लघु, निरन्तरं चतुर्लघु, निरन्तरं चतुरो दिवसान् संघट्टने चतुर्गुरु, परितापने षड्लघु, अपद्रावणे षड्गुरु, पञ्चदिवसान् निरन्तरं पृथिव्यादीनां संघट्टने षड्लघु, परितापने षड्गुरु, अपद्रावणे मासिकच्छेदः, षड् दिवसान् निरन्तरं संघट्टने षड्गुरु, परितापने मासिकच्छेदः, अपद्रावणे चतुर्मासच्छेदः, परितापने षण्मासिकः, अपद्रावणे मूलम्। उक्तं च-"दोहिँ दिवसेहिँ मासगुरुए आढवेत्ता चउगुरुए ठाति० जाव अट्ठहिँ संपयंति।" अनन्तवनस्पतिकं यदि संघट्टयति तदा मासगुरु, परितापयति चतुर्लघु, अपद्रावयति चतुर्गुरु, द्विदिवसाऽऽदि निरन्तरं संघट्टनाऽऽदिषूत्तरोत्तरैकैकस्थानवृद्धितः सप्तभिर्दिनैर्मूलं, द्वीन्द्रियं संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, जीविताद् व्यपरोपयति षड्लघु। अत्र द्व्यादिदिवसं निरन्तरं संघट्टनाऽऽदिषु षड्भिर्दिवसैर्मूलं, त्रीन्द्रियं संघट्टयतश्चतुर्गुरु, परितापयतः षड्लघु, जीविताद्व्यपरोपयतः षड्गुरु। अत्र पञ्चभिर्दिवसैर्मूलं, चतुरिन्द्रियं संघट्टयतः षड्लघु, परितापयतः षड्गुरु, जीविताद् व्यपरोपयतो मासिकश्छेदः। अत्र चतुर्भिर्दिवसैर्मूलं, पञ्चेन्द्रियं संघट्टयतः षड्गुरु, परितापयतश्छेदः, अपद्रावयतो मूलम्, अत्र द्वयोर्दिवसयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु दिवसेषु पाराञ्चितम्। गतं वर्जनाद्वारम्।

अधुनाऽनुज्ञाद्वारमाह-

पढमिल्लुगस्स असती, वाघातो वा इमेहिँ ठाणेहिं ।
पडिणीए तेणे वाले, खेत्तुदयनिविट्ठथीअपुमं ॥४६७॥

प्रथममेव 'पढमिल्लुक' प्राकृतत्वात् स्वार्थे इल्लुकप्रत्ययः। प्रथममनापातासंलोकलक्षणं स्थण्डिलं तद् नास्ति, ततस्तस्य प्रथमस्याभावे, अथवा सतोऽप्येभिः स्थानैर्व्याघातो भवेत्। तान्येव स्थानान्याह-" पडिणीए " इत्यादि। प्रत्यनीकस्तत्र तिष्ठति, स्तेना वा पथि द्विविधाः। तद् यथा-उपकरणस्तेनाः, शरीरस्तेना वा। व्याला वा तत्र सर्पाऽऽदयो विद्यन्ते, क्षेत्रं वा तत्र ज्ञातम्, उदकेन वा तत् सपरिक्षमास्तृतम्। ग्रामो व्रजिका स्कन्धावारो वा तत्र निविष्टः, स्त्री, नपुंसको वा तत्र मैथुनार्थं संयतानागच्छतः प्रतीक्षते।

पढमासति वाघाए, पुरिसाऽऽलोयम्मि होति जयणाए ।
मत्तगअपमज्जणमगल, कुरुकुअ तिविहे दुविहभेदो ॥४६८॥

एवं प्रथमस्य स्थण्डिलस्याभावे, व्याघाते वा द्वितीयं स्थण्डिलमनापातं सलोकवद् गन्तव्यम्। तत्र संयतानां सांभोगिकानां संविग्नानामालोके गन्तव्यं, तदभावे असांभोगिकानामपि। तत्रापरिणताः पूर्वमेव ग्राहयितव्याः। यथा-केषाञ्चिदाचार्याणां विसदृशमाचर्यम्, ततो यूयं मा तान् वितथसामाचारीकान् दृष्ट्वा प्रतिनोदयेत, तेऽपि यदि नोदयन्ति तर्हि उदासीनास्तिष्ठथ। एवमसंखडाऽऽदयो दोषाः परिहृता भवन्ति। असांभोगिकानामप्यापातस्यासंभवे यत्र पार्श्वस्थाऽऽदीनामालोकस्तत्र गच्छन्ति, तस्याप्यभावे यत्र पार्श्वस्थाऽऽदीनामापातस्तत्र व्रजन्ति। तत्र क्षुल्लकाऽऽदयोऽपरिणताः पूर्वं ग्राहयितव्याः-यथा एते निर्धर्माणो जिनाऽऽज्ञाप्रकोपिनो वितथमाचरन्ति, तस्मा यूयमेतेषां चेष्टितं चित्ते कुरुत, यथैतत् सुन्दरमिति। सयत्यापातवच्च सर्वप्रयत्नेन परिहरेत्। अन्यथा कृतसङ्केतका अत्र समागच्छन्तीतिशङ्काऽऽदयः, आत्मपरोभयसमुत्थाश्च दोषाः संभवन्ति। एषा स्वपक्षे यतना। संप्रति परपक्षेऽभिधीयते-तत्र चानापातवतोऽसंभवे (पुरिसालोयम्मि होति जयणाए इति) पुरुषाऽऽलोके पुरुषाऽऽलोकवति गन्तव्यं, तत्र यतनया भवति कर्तव्यमाचमनाऽऽदि। तामेव यतनामाह-(मत्तगअपमज्जणमगलकुरुकुअ त्ति) प्रत्येकं च प्रचुरद्रव, मगलकानां चाप्रमार्जनं, न तानि मगलकानि प्रमार्जन्ते, हीनानां दोषसंभवाद्, कुरुकुचाश्चाऽऽचमनानन्तरं कर्तव्याः*। (तिविहे दुविहभेओ इति) त्रिविधे प्रत्येकं द्विविधो भेदो द्रष्टव्यः। इयमत्र भावना-त्रिविधः परपक्षः। तद्यथा-पुरुषस्त्रीनपुंसकः। एकैकः पुनर्द्विविधः-शौचवादी, अशौचवादी च। अथवाऽन्यथा प्रत्येकं द्विभेदः-श्रावकोऽश्रावकश्च। अथवा-त्रिविधो भेदो नाम-स्थविरो, मध्यमः, तरुणश्च। यदि वा-प्राकृतः, कौटुम्बिको, दण्डिकश्च। एते च त्रयो भेदा यथा पुरुषस्य, तथा स्त्रीनपुंसकयोरपि द्रष्टव्याः। तेषु यतनया गन्तव्यम्।

कथमित्यत आह-

तेण परं पुरिसाणं, असोयवादीण वच्चे आवायं ।
इत्थिनपुंसाऽऽलोए, परंमुहो कुरुकुया सा य ॥४६९॥

ततः पुरुषाऽऽलोकवतः स्थण्डिलात्परतः, पुरुषाऽऽलोकवतः स्थण्डिलस्याऽसति पुरुषाणामशौचवादिनामापातमापातवत् स्थण्डिलं व्रजेत्, तत्र च यतना प्रागुक्ता द्रष्टव्या। तस्याऽप्यसंभवे शौचवादिनामप्यापातवद् गन्तव्यम्। तस्यासंभवे स्त्र्यालोके, नपुंसकाऽऽलोके वा गन्तव्यम्। इयमत्र भावना-प्रथमतोऽशौचवादिनीनां स्त्रीणामालोके गन्तव्यम्, तत्र गतः सन् तासां पराङ्मुख उपविशेत्, यतना च सा कुरुकुचाऽऽदिका कर्तव्या। तस्याऽप्यसंभवे शौचवादिनीनामप्यालोके गन्तव्यं, तदभावे नपुंसकानामशौचवादिनामालोके, तस्याऽसंभवे शौचवादिनामप्यालोके। यतना सर्वत्र सैव।

तेण परं आवायं, पुरिसेयरइत्थियाण तिरियाणं ।
तत्थ वि य परिहरेज्जा, दुगुंछिए दित्तऽदित्ते य ॥४७०॥

ततः परं शौचवादिनामपि नपुंसकानामालोकस्यासंभवे पुरुषेतरस्त्रीणां तिरश्चामापाते व्रजेत्, तत्रापि दृप्तानदृप्तांश्च जुगुप्सितान् परिहरेत्, अपरिहारे यतनां कुर्यात्। अयमत्र भावा-

* कुरुकुचा-बहुना जलेन पादप्रक्षालनाऽऽदि।

थैः-शौचवादिनां नपुंसकानामालोकासंभवे तिर्यक्पुरुषाणाम् जुगुप्सितानामापाते व्रजेत्। तत्रैव यतना-दण्डहस्ता वारंवारेण व्युत्सृजन्ति। उक्तं च-

" तेण परं पुरिसाणं, असोयवादीण वच्चे आवायं।
इत्थिनपुंसाण, आलोयपरम्मुहा कुरुया ॥ १ ॥
पच्छा तिरिपुरिसाण, अदुगुंछदुगुंछाण वच्चे आवाय ॥
दुट्ठेसु दंडहत्था, वार वारेण वोसिरण ॥ २ ॥ "

तस्याप्यभावे तिर्यक्स्त्रीणामजुगुप्सितानामापातं व्रजेत्, तदसंभवे जुगुप्सितानामप्यापातं, तदभावे तिर्यङ्नपुंसकानामजुगुप्सितानामापातं, तदभावे जुगुप्सितानामप्यापातम्, केवलं तत्र तथोपविशन्ति, यथा परस्परं सर्वे प्रेक्षन्ते।

तत्तो इत्थिनपुंसा, तिविहा तत्थ वि असोयवाईणं।
तहियं च सद्दकरणं, आउलगमणं कुरुकुया य ॥४७१॥

ततः स्त्रीनपुंसकानामापाते गन्तव्यं, ते च स्त्रीनपुंसकास्त्रिविधाः। तद्यथा-प्राकृताः, कौटुम्बिकाः, दाण्डिकाश्च। ते च प्रत्येकं द्विधा-शौचवादिनः, अशौचवादिनश्च। तत्र प्रथमतोऽशौचवादिनामापाते व्रजनीयम्, तत्र च शब्दकरणम्, आकुलगमनं, कुरुकुचा च कार्या। इयमत्र भावना-जुगुप्सितानामपि नपुंसकानामापातवतोऽसंभवे मनुष्यस्त्रीणामशौचवादिनीनामापाते गन्तव्यम्, केवलं स्थविरसहितैः प्रविशद्भिश्च परस्परं महान्तः शब्दा उच्चारणीयाः, येन तास्तान् श्रुत्वा निर्गच्छन्ति, आकुलीभूताश्च तत्र प्रविशन्ति, येन 'व्याकुला अमी' इति ता दृष्टिविक्षेपाऽऽदिकं न कुर्वन्ति, अगर्त्ताऽऽदिषु च स्थानेषु संज्ञां व्युत्सृजन्ति, यथा शेषोऽपि लोको दूरस्थः प्रेक्षते, तेऽपि च साधवस्तथा उपविशन्ति यथा परस्परं प्रेक्षन्ते, ततः एवमात्मपरोभयदोषा न संभवन्ति।

उक्तं च-

" तत्थ पुण थेरसहिया, आउलसद्दं करिंति पविसंता।
जह सद्देण ताओ, निंति ततो अगत्तमादीसु ॥
ठाणेसु वोसिरिंती, पेच्छंति य जह परोप्परं सव्वे।
आयपरोभयदोसा, ते एवं वज्जिया होंति " ॥ २ ॥

आचमनानन्तरं च कुरुकुचा कर्त्तव्या, चशब्दाद् मृत्तिकया हस्तपुतप्रक्षालनं, बहिर्मात्रकस्य कल्पः इति परिग्रहः। तदसंभवे शौचवादिनीनामपि मनुष्यस्त्रीणामापाते, तस्याभावे नपुंसकानामशौचवादिनामप्यापाते, तदसंभवे शौचवादिनामप्यापाते गन्तव्यम्। सर्वत्रापि यतनाऽनन्तरोक्तैव।

इत्थिनपुंसाऽऽवाते, जा उण जयणा उ मत्तगादीया।
पुरिसाऽऽवाए जयणा, सव्वे च उ मत्तगादीया ॥४७२॥

स्त्र्यापाते, नपुंसकाऽऽपाते च या पुनर्यतना मात्रकाऽऽदिका अनन्तरमुक्ता, सैव पुरुषाऽऽपातेऽपि प्राक् मात्राऽऽदिका यतना द्रष्टव्या। एवं तावदचित्तं स्थण्डिलं चतुःप्रकारमचित्तेन पथा गम्यमुक्तम्। तदभावे मिश्रेणाऽपि पथा तदपवादेन गच्छेत्, तदभावे सचित्तेनाऽपि। तत्राऽपि यतना सैव प्रागुक्ता। उक्तं च-" एवमचित्तेण पहेण, जयणा उ भणिया चउब्भंगे। मीससचित्तपहेसु य, एस च्चिय भंगजयणा उ " ॥ १ ॥ सम्प्रति मिश्रवक्तव्यं, यतोऽचित्तस्थण्डिलासंभवेऽपवादतो मिश्रमपि गम्यते, तदपि चानापातासंलोकाऽऽदिभेदतश्चतुःप्रकारम्, तस्यापि च त्रयः पन्थानः। तद्यथा-अचित्तः, मिश्रः, सचित्तश्च।

तानेवाऽऽह-

अच्चित्तेणं मीसं, मीसं मीसेण छक्कमीसेणं।
सच्चित्तछक्कएणं, मीसे चउभंगियपदेसे ॥ ४७३ ॥

मिश्रस्थण्डिलमचित्तेन पथा गम्यं, तदभावे मिश्रेणेत्यत आह-षट्कमिश्रेण षड्जीवनिकायमिश्रेण, तदभावे मिश्रे स्थण्डिले षट्कायसचित्तेन पथा गन्तव्यम्। उक्तं च-" पढममचित्तपहेण, मीसं मीसेण छक्कमीसेण। सच्चित्तछक्कएण, मीसं तु थंडिलं गच्छे ॥१॥" तच्च मिश्रं स्थण्डिलमध्वनि ग्रामाद् ग्रामं प्रति व्रजतो द्रष्टव्यम्। तत्र मात्रकैर्यतना कर्त्तव्या। अथ मात्रकाणि न विद्यन्ते व्युत्सृजतां परिष्ठापयतां च सागारिकसंपातः, तदा धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशानां निश्राकृत्य व्युत्स्रष्टव्यम्। उक्तं च-" जहिय पुण सागारिय-धम्माऽऽदिपएस नहियं निस्साए। वोसिरइ एय मीसं, भणियं समासेण थंडिल्लं ॥१॥ " उक्तं मिश्रं स्थण्डिलम्। तदभावेऽपवादतः सचित्तमपि गन्तव्यं, तदप्यनापातासंलोकाऽऽदिभेदतश्चतुःप्रकारं, तस्याऽपि च त्रयः पन्थानः। तद्यथा-अचित्तः, मिश्रः, सचित्तश्च।

तत्र येन क्रमेण गन्तव्यं, तं क्रममाह-

अच्चित्तेण सचित्तं, मीसेण सचित्त छक्कमीसेण।
सच्चित्तछक्कएणं, सचित्त चउभंगियपदेसे ॥ ४७४ ॥

सचित्तमपि स्थण्डिलं चतुर्भङ्गिकम्, तत्र प्रथमतोऽनापातासंलोकं गन्तव्यम्, तदभावे द्वितीयं, तदभावे तृतीयं, तदभावे चतुर्थमपि। तत्र यतना प्रागेवोक्ता। तच्च प्रथमतोऽचित्तेन पथा गन्तव्यं, तदभावे तत् सचित्तं मिश्रेण पथा गम्यम्। केन मिश्रेणेत्यत आह-षट्कमिश्रेण षड्जीवनिकायमिश्रेण, तस्याऽसंभवे सचित्तेन पथा सचित्तं गन्तव्यम्, केन?, सचित्तेन षट्केन षड्जीवनिकायैः। अत्रापि मात्रकैर्यतना कर्त्तव्या। मात्रकाणामभावे व्युत्सर्गे परिष्ठापने वा सागारिकसंभवे धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशानां निश्रा कर्त्तव्या। उक्तं च-" जं च्चिय मीसे जयणा, सेव सचित्ते वि होइ कायव्वा। मत्ताऽऽदिअपरिसेसा, जा धम्मादीपएसा उ ॥ १ ॥ "

तदेवमुक्तं स्थण्डिलमिदानीमेतस्य यः कल्पिकः, तमभिधित्सुराह-

पढियसुयगुणियमगुणिय-धारमधारं उवउत्तो परिहरति।
आलोणाऽऽयरियाऽऽदी, आयरिउ विसोहिकारो से ४७५

यस्मादजानतः प्रायश्चित्तं, तस्माद् येन सप्तसप्तकाऽऽदि सूत्रं पठितं पाठतः, श्रुतमर्थतः, तच्च गुणितमभ्यस्तं वाऽऽस्पदेऽगुणितं वा धारितं वाऽऽस्पदेऽनवधारितं वा, तथापि य उपयुक्तः सन् स्थण्डिलं परिहरति-उक्तप्रकारेणोपयुक्तः परिभोगयति, स विचारकल्पिकः। तथा तेन स्थण्डिलसूत्रेण पठितेन वाऽपठितेन वा अगुणितेन वा धारितेन वा अधारितेन वा उपयुक्तो वाऽनुपयुक्तो वा यां विराधनां करोति, तामाचार्याऽऽदेरालोचयति, तदभावेऽन्यस्याप्युपाध्यायाऽऽदेः, आलोचिते 'से' तस्य विशोधिकारः प्रायश्चित्तप्रदानेन शुद्धिकर्त्ता आचार्यः। किमुक्तं भवति?-यदा आचार्यः प्रायश्चित्तं ददाति, ततः स शुद्धिमाप्नोति। गतं विचारद्वारम्। बृ० १ उ०। प्रति०। पञ्चा०। आ०। ध०। नि०चू०। ('णिग्गंथी' शब्दे २०४८ पृष्ठे ऽत्रैव भागे तासां स्थण्डिलं प्रतिपादितम्)

स्थण्डिलगमनविधिः-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उच्चारपासवणकिरियाए उव्वाहिज्जमाणे सयस्स पायपुंछणस्स असतीए तओ पच्छा साहम्मियं जाएज्जा ॥

"से" इत्यादि । स भिक्षुः कदाचिदुच्चारप्रस्रवणकर्त्तव्यतयोत्प्राबल्येन बाध्यमानः स्वकीयपादपुञ्छनसमाध्यादावुच्चाराऽऽदिक कुर्यात्, स्वकीयस्याभावेऽन्यसाधर्म्मिक साधु याचेत, पूर्वं प्रत्युपेक्षित पादपुञ्छनक समाध्यादिकमिति । तदनेनैतत् प्रतिपादितं भवति-वेगधारणं न कर्तव्यमिति ।

अपि च-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंमिल्लं जाणेज्जा-सअंडं सपाणं० जाव मक्कडासंताणयंसि तहप्पगारंसि थंमिल्लंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुरुच्चारप्रस्रवणाऽऽशङ्कायां पूर्वमेव स्थण्डिलं गच्छेत्तस्मिंश्च साण्डाऽऽदिके अप्रासुकत्वादुच्चाराऽऽदि न कुर्यात् ।

किञ्च-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिल्लं जाणेज्जा-अप्पपाणं अप्पबीयं० जाव मक्कडासंताणयंसि तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । अल्पाण्डकाऽऽदिके प्रासुके कार्यमिति ।

औद्देशिकं स्थण्डिलम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंमिल्लं जाणेज्जा-अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स, अस्सिं पडियाए बहवे साहम्मिया समुद्दिस्स, अस्सिं पडियाए एगं साहम्मिणिं समुद्दिस्स, अस्सिं पडियाए बहवे साहम्मिणीओ समुद्दिस्स, अस्सिं पडियाए बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्स पाणाई ४ ०जाव उद्देसियं चेतेति, तहप्पगारं थंमिल्लं पुरिसंतरकडं वा ०जाव बहिया णीहडं वा अण्णयरंसि वा तप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुर्यत् पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात् । तद्यथा-एकं बहून् वा साधर्मिकान् समुद्दिश्य, तत्प्रतिज्ञया कदाचित् कश्चित् स्थण्डिलं कुर्यात् । तथा-श्रमणाऽऽदीन् प्रगणय्य वा कुर्यात्, तच्चैवंभूतं पुरुषान्तरस्वीकृतमस्वीकृतं वा मूलगुणदुष्टमुद्देशिक स्थण्डिलमाश्रित्योच्चाराऽऽदि न कुर्यादिति ।

किञ्च-अपुरुषान्तरकृते स्थण्डिले उच्चाराऽऽदि न कुर्यात्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंमिल्लं जाणेज्जा-बहवे समणमाहणकिवणवणीमगअतिही समुद्दिस्स पाणाई ४ ०जाव उद्देसियं चेतेति, तहप्पगारं थंमिल्लं अपुरिसंतरकडं ०जाव बहिया अणीहडं वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा-पुरिसंतरकडं ०जाव बहिया णीहडं वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंमिलंसि उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुर्यदवगच्छेत् स्थण्डिलमपुरुषान्तरस्वीकृते उच्चाराऽऽदि न कुर्यात्, पुरुषान्तरस्वीकृते कुर्यादिति ।

अपिच-क्रीतकृताऽऽदिस्थण्डिलम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंमिल्लं जाणेज्जा-अस्सिं पडियाए कयं वा कारियं वा पामिच्चियं वा छण्णं वा घट्ठं वा मट्ठं वा लित्तं वा समट्ठं वा संपधूवितं वा अण्णयरंसि तहप्पगारंसि थंमिल्लंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुः साधुमुद्दिश्य क्रीताऽऽद्युत्तरगुणाशुद्धे स्थण्डिले उच्चाराऽऽदि न कुर्यादिति ।

किञ्च-यत्र गृहपतिपुत्राऽऽदय आगच्छन्ति-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्ता वा कंदाणि वा मूलाणि वा० जाव हरियाणि वा अंतातो वा बाहिं णीहरिंति, बाहीओ वा अंतो साहरंति, अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुर्गृहपत्यादिना कन्दाऽऽदिके स्थण्डिलान्निष्कास्यमाने तत्र वा निक्षिप्यमाणे नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति ।

तथा-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंमिल्लं जाणेज्जा-खंधंसि वा पीढंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा अट्टंसि वा पासायंसि वा अण्णयरंसि वा थंमिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुः स्कन्धाऽऽदौ स्थण्डिले नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति ।

किञ्च-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंमिल्लं जाणेज्जा-अणंतरहियाए पुढवीए ससणिद्धाए पुढवीए ससरक्खाए पुढवीए मट्टियाए मक्कडाए चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुए चित्तमंताए कोलावासंसि वा दारुयंसि वा जीवपइट्ठियंसि वा०जाव मक्कडासंताणयंसि अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंमिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुर्यत्पुनरेवभूतं स्थण्डिलं जानीयात् । तद्यथा-अनन्तरितायां सचित्तायां पृथिव्यां तत्रोच्चाराऽऽदि न कुर्यात्, शेषं सुगमम् । नवरं (कोलावासंसि त्ति) घुणावासम् ।

अपिच-यत्र गृहकन्दाऽऽदीनि परिक्षाटयन्ति-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्ता वा कंदाणि वा० जाव बीयाणि वा परिसार्डेसु वा, परिसाडेंति वा, परिसाडिस्संति वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंमिल्लंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

" से " इत्यादि । स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूत स्थण्डिलं जानीयात् । तद्यथा-यत्र गृहपत्यादयः कन्दबीजाऽऽदिपरिक्षेपणाऽऽदिकाः क्रियाः कालत्रयवर्त्तिन्यः कुर्युः, तत्रैहिकाऽऽमुष्मिकापायभयादुच्चाराऽऽदि न कुर्यादिति ।

तथा यत्र गृहपतिपुत्रा: शाल्याऽऽदीनि वपन्ति-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंमिलं जाणेज्जा-इह खलु गाहावई वा गाहावतीपुत्ता वा सालीणि वा वीहीणि वा मुग्गाणि वा मासाणि वा तिलाणि वा कुलत्थाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा पइरिंसु वा, पइरिंति वा, पइरिस्संति वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंमिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । यत्र च गृहपत्यादयः शाल्याऽऽदीन्युप्तवन्तो, वपन्ति, वप्स्यन्ति वा तत्राप्युच्चाराऽऽदि न विदध्यादिति ।

किंच-यत्र कचवराऽऽदिपुञ्जा:-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंमिलं जाणेज्जा-आमोयाणि वा घसाणि वा भिलुहाणि वा विज्जुलाणि वा खाणुयाणि वा कमयाणि वा पगड्डाणि वा दरीणि वा पदुग्गाणि वा समाणि वा विसमाणि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूत स्थण्डिलं जानीयात् । तद्यथा आमोकानि कचवरपुञ्जाः, घसा बृहत्यो भूमिराजयः, भिलुहाणि श्लक्ष्णभूमिराजयः, विज्जुल पिच्छलं, स्थाणुः प्रतीतः, "कमयाणि" इक्षुपोतलिकाऽऽदिदण्डकाः, प्रगर्त्ता महागर्त्ता, दरी प्रतीता, प्रदुर्गाणि कुड्यप्राकाराऽऽदीनि । एतानि च समानि वा विषमाणि वा भवेयुः, तदेतेष्वात्मसंयमविराधनासम्भवान्नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति ।

किंच मानुषरन्धनाऽऽदिस्थण्डिलानि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-माणुसरंधणाणि वा महिसकरणाणि वा वसभकरणाणि वा अस्सकरणाणि वा कुक्कुडकरणाणि वा मक्कडकरणाणि वा लावयकरणाणि वा वट्टयकरणाणि वा तित्तिरकरणाणि वा कवोयकरणाणि वा कपिंजलकरणाणि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

" से " इत्यादि । स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात् । तद्यथा-मानुषरन्धनानि चुल्ल्यादीनि, तथा महिष्यादींनुद्दिश्य यत्र किञ्चित्क्रियते, तथा तत्र स्थाप्यन्ते, तत्र लोकविरुद्धप्रवचनोपघाताऽऽदिभयान्नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति ।

तथा-वैहानसस्थानाऽऽदि आरामाऽऽदि परिहरेत्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंमिलं जाणेज्जा-वेहाणसट्ठाणेसु वा गिद्धपिट्ठट्ठाणेसु वा तरुपतणट्ठाणेसु वा मेरुपवडणट्ठाणेसु वा विसभक्खणट्ठाणेसु वा अगणिकंमयट्ठाणेसु वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

' से" इत्यादि । स भिक्षुर्विहानसस्थानानि मानुषोल्लम्बनस्थानानि, गृध्रपृष्ठस्थानानि यत्र मुमूर्षवो गृध्राऽऽदिभक्षणार्थं रुधिराऽऽदिलिप्तदेहा निपत्याऽऽसते, तरुपतनस्थानानि यत्र मुमूर्षव एवानशनेन तरुवत्पतितास्तिष्ठन्ति, तरुभ्यो वा यत्र पतन्ति, एवं मेरुपतनस्थानान्यपि । मेरुश्चात्र पर्वतोऽभिधीयत इति । एवं विषभक्षणाग्निप्रवेशस्थानाऽऽदिषु नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति । अपि च-" से " इत्यादि । आरामदेवकुलाऽऽदौ नोच्चाराऽऽदि विदध्यादिति ।

तथा अट्टालकाऽऽदिषु-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंमिलं जाणेज्जा-अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अण्णयरंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ॥

" से " इत्यादि । प्राकारसम्बन्धिन्यट्टालकाऽऽदौ नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति ।

किञ्च-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-तियाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

त्रिकचत्वराऽऽदौ च नोच्चाराऽऽदि व्युत्सृजेदिति ।

किञ्च-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-इंगालडाहेसु वा खारडाहेसु वा मडयडाहेसु वा मडयथूभियासु वा मडयचेइएसु वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

'से' इत्यादि । स भिक्षुरङ्गारदाहस्थाने श्मशानाऽऽदौ नोच्चाराऽऽदि विदध्यादिति ।

अपिच-पद्याऽऽयतनेषु-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-णदियायतणेसु वा पंकायतणेसु वा उग्घायतणेसु वा सेयणवहंसि वा अण्णयरंसि तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

" से " इत्यादि । नद्यायतनानि यत्र तीर्थस्थानेषु लोकाः पुण्यार्थं स्नानाऽऽदि कुर्वन्ति । पङ्कायतनानि यत्र पङ्किलप्रदेशे लोका धर्मार्थं लोटनाऽऽदिक्रियां कुर्वन्ति, उद्घायतनानि यानि प्रवाहत एव पूज्यस्थानानि, तडागजलप्रवेशोऽथ मार्गो वा सेचनपथेऽवनिकाऽऽदौ नोच्चाराऽऽदि विधेयमिति ।

तथा मृन्मय्यादिषु-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंमिलं जाणेज्जा-णवियासु वा मट्टियखाणियासु णवियासु गोप्पलेहियासु गवायणीसु वा खाणीसु वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंमिलंसि णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

" से " इत्यादि । स भिक्षुरभिनवासु मृत्खनिषु, तथा नवासु गोप्रवेश्यासु गवादनीषु, सामान्येन वा गवादनीषु वा खनिषु नोच्चाराऽऽदि विदध्यादिति ।

किञ्च-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंमिलं जाणेज्जा-डागवच्चंसि वा सागवच्चंसि वा मूलगवच्चसि वा हत्थकरवच्चंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थंमिले णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

"से" इत्यादि । 'डागे त्ति' डागप्रधानं शाक पत्रप्रधान तु शाकमेव, तद्वति स्थाने मूलगाऽऽदिवति च नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति ।

तथा-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-असणवणंसि वा सणवणसि वा धायइवणंसि वा केयइवणंसि वा अंबवणंसि वा असोगवणंसि वा णागवणंसि वा पुन्नागवणसि वा चुन्नगवणंसि वा अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु वा पत्तोवएसु वा पुप्फोवएसु वा फलोवएसु वा वीओवएसु वा हरिओवएसु वा णो उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा ।

" से " इत्यादि । असनो वीयकः, तद्वनाऽऽदौ च नोच्चाराऽऽदि कुर्यादिति ।

तथा पत्रपुष्पफलाऽऽद्युपवेष्टिते कथं वोच्चाराऽऽदि
कुर्यादिति दर्शयति स्वपात्र गृहीत्वा यथा
कर्त्तव्यमुच्चारप्रस्रवणम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सयपाययं वा परपाययं वा गहाय से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, अणावायंसि असंलोइयसि अप्पपाणंसि० जाव मक्कडासंताणयंसि अहारामंसि वा उवसायंसि ततो संजयामेव उच्चारपासवणं वोसिरेज्जा, वोसिरित्ता से तमादाय एगंतमवक्कमेज्जा, अणावायंसि० जाव मक्कडासंताणयंसि अहारामसि वा झामथंडिलंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि अचित्तंसि ततो संजयामेव उच्चारपासवणं परिट्ठवेज्जा, इयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं० जाव जएज्जासि त्ति वेमि ।

" से " इत्यादि । स भिक्षु' स्वकीय परकीय वा पात्रक समाधिस्थान गृहीत्वा स्थण्डिलमनापातमसलोक गत्वोच्चार,प्रस्रवण वा कुर्यात्प्रतिष्ठापयेदिति । शेषमध्ययनसमाप्तिं यावत् पूर्ववदिति । आचा०२ श्रु०२ चू० ३ अ० । वृ० । (स्थविरकल्पिका स्थण्डिले गुदप्रमार्जन कुर्वन्ति,न तु जिनकल्पिका इति 'लेव' शब्दे वक्ष्यते) (सार्थेन सह गमने रात्रिविहारे सर्वथैव स्थण्डिलं न प्रार्थयन्ते, धर्माधर्माऽऽकाशास्तिकायप्रदेशेषु अपि व्युत्सृजन्ति 'विहार' शब्दे वक्ष्यन्ते) (निर्ग्रन्थाना निर्ग्रन्थीनां च मिथ उपाश्रयगमने स्थण्डिलदोषा 'वसहि' शब्दे वक्ष्यन्ते) (रात्रौ विचारभूमौ न गन्तव्यमिति 'विहार' शब्दे वक्ष्यते) (स्थण्डिलयतना नगरोपरोधे 'उवरोह' शब्दे द्वितीयभागे ६१०.पृष्ठे उक्ता) ('पज्जुसणा' शब्दे तात्कालिक्यो भूमयो ग्राह्याः) (स्थण्डिले उच्चारप्रस्रवणपरिष्ठापना 'परिट्ठवणा' शब्दे दर्शयिष्यते) (स्थण्डिलविषये शिष्यपरीक्षा 'आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४१० पृष्ठे गता) सङ्घं व्युत्सृज्याऽऽचार्येण वसती रक्षणीयेति 'वसहि' शब्दे एकाकिनां वसतिरक्षणप्रस्तावे वक्ष्यते)

गोचरचर्याविषयः-

गोअरग्गपविट्ठो य, वच्चं मुत्तं न धारए ।
ओगासं फासुअं नच्चा, अणुन्नविअ वोसिरे ॥ १९ ॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु वर्चो मूत्र वा न धारयेत्, अवकाश प्रासुक ज्ञात्वाऽनुज्ञाप्य व्युत्सृजेदिति । अस्य विषयो वृद्धसम्प्रदायादवसेयः । स चाऽयम्-पुव्वमेव साहुणा सन्नाकाइओवयोग काऊण गोयरे पविसिअव्वं । कहंचि ण कओ, कए वा पुणो होज्जा, ताहे वच्च मुत्त न धारेयव्व, जओ मुत्तनिरोहे चक्खुवघाओ भवति । वच्चनिरोहे जीविओवघाओ असोहणा अ आयविराहणा । जओ भणिअं-" सव्वत्थ संजममित्यादि " । अओ संघाडयस्स सयन्नाणाणि समप्पिअ पडिस्सए पाणय गहाय सन्नाभूमीए विहिणा वोसिरिज्जा । वित्थरओ जहा ओहणिज्जुत्तीए ॥ " इति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥ दश० ५ अ० ।

आचार्येणानेकवार स्थण्डिलभूमौ न गन्तव्यमिति 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे १५ पृष्ठे उक्तम्) (ग्लानार्थं गच्छतो मध्ये व्युत्सर्गो 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ६६६ पृष्ठे उक्तः)

श्रावकस्य मलोत्सर्गः-

तत्र च मलोत्सर्गो मौनेन निरवद्यार्हस्थानाऽऽदिविधिनैवोचित । यत -"मूत्रोत्सर्गं मलोत्सर्गं, मैथुन स्नानभोजनम् । सन्ध्याऽऽदिकर्म पूजा च, कुर्यात् पञ्च च मौनवान् ' ॥१॥ विवेकविलासेऽपि-" मौनी वस्त्राऽऽवृत. कुर्याद्, दिनसन्ध्याद्वयेऽपि च । उदङ्मुख. शकृन्मूत्रे, रात्रौ याम्याननः पुन. ॥ १ ॥ इति । ध० २ अधि० ।

अत्राऽऽह-

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता ण पुंछति, ण पुंछंतं वा साइज्जइ ॥ १४२ ॥

ण पुछति ण णिल्लेवेति ।

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवित्ता कट्ठेण वा कलिंचेण वा अंगुलियाए वा सिलागएण वा पुंछइ, पुंछंतं वा साइज्जइ ॥ १४३ ॥

कलिंचो-वसकप्परी अण्णतरकट्ठघमिया सलागा, तस्स मासलहुं ।

गाहा-

उच्चारमायरित्ता, जे भिक्खू ण पुंछती अहिट्ठाणं ।
पुंछिज्ज व अविहीए, सो पावति आणमादीणि ॥३०३॥

आयरित्ता वोसिरित्ता, अविधी कट्ठातिया विदियसुत्ते ।

गाहा-

पच्छालणं दवेणं, उत्तमउत्तेण भावणादोसा ।
संजम आयविराहण, अविधीए पुंछणे दोसा ॥ ३०४ ॥

अणमणसिते अतीव लच्छारियं, दवेण जुसेण थोवेणेति भणिय होति, तेण ण सुज्झति । असुके दिट्ठे उड्डाहो, सेहो वा विप्परिणमेज्ज । अह अजुसेण बहुणा दवेण धोवति तो प्ला-वणादिदोसा, पते अपुंछिज्जते दोसा । अविधीए पुंछिते इमं पच्छद्धं,अविधिपुंछिएहिं आयविराहणा । अह जीवकाओ त्ति संजमविराहणा य ।

इमा अविधी—

कट्ठेण कलिंचेण व, पत्तसलागाएँ अंगुलीए वा ।

एसा अविधी भणिता, डगलगमादी विधी चेव ॥३०५॥

पत्त पलासपत्ताऽऽदि,भगलेण वा, चीरेण वा,अंगुलिए वा एसा तिविधा विधी । डगला पुण दुविधा-सबद्धा भूमीए हुज्ज, अ-संबद्धा वा होज्ज । जे असबद्धा ते तिविधा-उक्कोसा ति-डबला लेट्टू मसिणा मज्झिमा, इट्टालं जहण्ण ।

जम्हा पते दोसा-

तम्हा पुंछाऽऽदाणं, काऊणं डगलगाण वड्ढेज्जा ।

तत्थाणोसहपाणे, असती व स ण कुज्ज आदाणं ॥३०६॥

आयाणं भगलगादीण कुमेज्ज उच्चार वोसिरिज्जा । वि तियपदं गाहा पच्छद्धं-तत्थाणं अतिसारो, ओसहपीतो वा ण गेण्हति, असती वा ण गेण्हति ।

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठविता णायमइ, णायमं-तं वा साइज्जइ ॥ १४४ ॥

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठविचा तत्थेव आयमति, आयमंतं वा साइज्जइ ॥ १४५ ॥

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठविचा अइदूरे आयमति, आयमंतं वा साइज्जइ ॥ १४६ ॥

तिण्णि सुत्ता-उच्चारे वोसिरिज्जमाणे अवस्स पासवणं भवति त्ति तेण गहित पासवण पुच्छाओ अणगारिए णायमति, जहा-उच्चारे तत्थेव त्ति, थमिले जत्थ सण्णा ओसरिया, अ-तिदूरे हत्थसयपमाणमेत्ते ।

गाहा-

उच्चारं वोसिरित्ता, जे भिक्खू णेव आयमेज्जा वि ।

दूरे अच्चासण्णे, सो पावति आणमादीणि ॥३०७॥

आयमण णिल्लेवण, आसण्णं तत्थेव थंडिले ।

अणायमते इमे दोसा—

अयसो पवयणहाणी, विप्परिणामे व सेहएँ दुगुंछा ।

दोसा अणायमंते, दूराऽऽसण्णाऽऽयमंते य ॥ ३०८ ॥

अयसो इमे असोइणो त्ति ण पते णिल्लेवेंति, ण पव्वयति, अ-ण्णे वि पव्वयते वारेति। पवयणहाणी-इसणे चरित्ते वा अब्भु-वगमे कालकामस्स विप्परिणामो भवति, सेहाण वा मा पतेहिं विट्टलेहिं सह सफास करेह, पसा कुच्छा । दूरे वि पते दोसा, आसण्णे वि पते चेव दोसा। कह?-सागारिओ पासति, सजओ आसण्णे वोसिरिउं दूरं गतो, सागारिओ वि जोविउं परामभो, ण णिल्लेवति लोगस्स कहेति। आसण्णे तत्थेव सजतो णिल्लेवेउं गतो, सागारिए आगतु पलोइय० जाव मुत्तिय पेक्खति, पत सकातिअ ण णिल्लेवित, पच्छा लोगस्स कहेति ।

गाहा--

तत्थाणोसहपाणे, दवे असतीए व णायमेज्जाहि ।

थंमिल्लस्स व असती, आसण्णे वा वि दूरे वा ।३०९।

अन्नस्स थमिलस्स असति तत्थेव निल्लेवेति, थमिलाओ वा दूर गतुं निल्लेवेति, सागारिओ पुणो वा लेवावेति ।

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठविचा परं तिण्हं णावा-पूराणं आयमइ, आयमंतं वा साइज्जइ ॥ १४७ ॥

णाव त्ति पसती, ताहिं तिहिं आयमियव्वं । अण्णे भणंति-अ-जली पढमणावापूरं तिहा करेति, अवयवे वि किंचित् वितियं णावापूरं तिहा करेत्ता सव्वावयव विसोहिति, ततिय णावा-पूरं तिहा करेत्ता तिण्णि कप्पे करेति सुद्ध, अतो पर जति तो मासलहु ।

गाहा-

उच्चारमायरित्ता, परेण तिण्हं तु णावपूराणं ।

जे भिक्खू आयामति, सो पावति आणमादीणि ॥३१०॥

इमे दोसा-

उच्छोलणुप्पिलावण-पउरं तसपाणतरुगणादीणं ।

कुरुकुयदोसा य पुणो, परेण तण्हाऽऽयमंतस्स ॥ ३११ ॥

उच्छोलणा पधोविस्स दुब्बला, सोवि तारिसयस्स उच्छोलणा दोसा भवति, पिपीलिगाऽऽदीण वा पासणाण उप्पिलावणा ह-वति, जिल्लगधे तसा पमति, तरुगणपत्ताणि वा पुप्फाणि वा फ-लाणि वा पमति, आतिग्गहणेण पुढविआउतेउवाऊण य, यत्राग्निस्तत्र वायुना भवितव्यमिति कृत्वा कुरुकुयकरणे य पा-उसत्तं भवति ।

कारणे अतिरित्ते ण आयमे-

वितियपद मसहरो-गअरिसा सागारसोयवादीसु ।

उत्थाणोसहपाणे, परेण तिण्हाऽऽयमेज्जासि ॥ ३१२ ॥

जेण वा णिल्लेव णिग्गध भवतीत्यर्थः । नि० चू० ४ उ० ।

यदुदयेनाऽऽत्मा सदसद्विवेकविकलत्वात् स्थण्डिलवद् भव-ति स स्थण्डिल । क्रोधे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

थंमिल्ल-देशी-मण्डले, दे० ना० ५ वर्ग २५ गाथा ।

थंब-देशी-विषमे, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा ।

थंभ-स्तम्भ-पु० । "थठावस्पन्दे" ॥ ८ । २ । ९ ॥ इति स्पन्दाभाववृत्तौ स्तम्भेस्तस्य थकारठकारौ ।'थम्भो' ठम्भो'। प्रा० २ पाद । उत्तमजातीयोऽहं कथमेतेषां भिक्षाचराणां हीनजा-तीयानां पार्श्वे गच्छामीत्यादिलक्षणे जात्याद्यभिमाने, आ० म० १ अ० २ खण्ड । उत्त० । आव० । दश० । अहङ्कारे, उत्त० ११ अ० । अवमाननायाम्, भ० १२ श० ५ उ० । गर्वे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । शैलदारुमयाऽऽदौ, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० । स्थाणौ, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

थंभण-स्तम्भन-न० । ऊर्द्धीकरणे, औ० ।

थंभणय-स्तम्भनक-न० । नवभयहराऽऽख्यपार्श्वनाथस्थाने पुर-भेदे, ती० ४३ कल्प ।

"थभणयकप्पमज्झे, ज सगहिय न वित्थरभएण ।
त सिरिजिणपहसुरी, सिलुछमिव किं पि जपेइ ॥ १ ॥"

वक्खारपव्वए रयणसीहराया, तस्स भोपालनामिअं धूअं रूवलावण्णसपन्नं दट्ठूण ताए सयाणुरायस्स तं सेवमाणस्स वासुगिणो दिट्ठो, पुत्तो नागऽज्जुणो नाम जाओ। सो अ जणएण पुत्तसिणेहमोहिअमणेण सव्वासिं महोसहीण फलाइं मूलाइं दलाइं कंदाइं च भुंजाविओ। तप्पभावेण सो महासिद्धीहिं अलंकिओ सिद्धपुरिस त्ति विक्खाओ पुहविं विअरंतो सालवाहणस्स रन्नो कलागुरू जाओ। सो अ गयणगामिणिविज्जाअज्झयणत्थं पालित्तयपुरं सिरिपालित्तायरिए सेवेइ। अन्नया भोअणावसरे पायप्पलेवबलेण गयणे उप्पइए पासइ, अट्ठावयाइ तित्थाणि नमंसिआ सट्ठाणमुवागयाण तेसिं पाए पक्खालिऊण सत्तुत्तरसयमहोसहीणं आसायणवन्नगंधाईहिं नामाइ निच्छइऊण गुरूवएसं विणा वि पायलेवं काउ कुक्कुडपोओ व्व उप्पयंतो अवडतडे निवडिओ। वणजज्जरिअंगो गुरूहिं पुट्ठो-किमेयं ति ?। तेण जहट्ठिए वुत्ते तस्स कोसल्लचमक्कारिचित्ता आयरिआ तस्स सिरे पउमहत्थं दाउं भणंति-सट्ठिअतंदुलोदगेण ताणि ओसहाणि वट्टित्ता पायपलेवं काउ गयणे चक्कमिस्ससि त्ति। तओ तं सिद्धिं पाविअ परितुट्ठो पुणो कया वि गुरुमुहाओ सुणेइ-जहा सिरिपासनाहपुरओ साहिज्जंतो सव्वइच्छीलक्खणोवलक्खिअजंतो अ महासईं वि लयाए अमद्दिज्जंतो रसो कोडिवेही हवइ। तं सोऊण सो पासनाहपडिमं अन्नेसिउमारद्धो॥ इओ अ बारवईसमुद्दविजयदसारेण सिरिनेमिनाहमुहाओ महाऽइसयं नाऊण रयणमई सिरिपासनाहपडिमा पासायम्मि ठवित्ता पूइआ। बारवईदाहाणंतरं समुद्देण पाविया सा पडिमा तहेव समुद्दमज्झे ठिआ। कालेण कंतीवासिणो धणवइनामस्स सजातिअस्स जाणवत्तं देवयाइसयाओ खलिअं जत्थ जिणबिंबं चिट्ठइ त्ति दिव्ववायाए निच्छिय नाविए तत्थ परिक्खिविअ सत्तहिं आमतंतूहिं सदाणिअ उद्धरिआ पडिमा, निअनयरीए नेऊण पासायम्मि ठाविआ चिंताइरित्तलाभपहिट्ठेण पूइज्जइ पइदिणं। तओ सव्वाइसाइं तं बिंबं नाऊण नागज्जुणो सिद्धरससिद्धिनिमित्तं अवहरिऊण सेढीनईए तडे ठाविंसु। तस्स पुरओ रससाहणत्थं सिरिसालवाहणरन्नो चंदलेहाभिहाणं महासईदेविं सिद्धवंतरसन्निज्झेण तत्थ आणाविअ पइनिसं रसमद्दणं कारेइ। एवं तत्थ पुणो भुज्जो गयागयाणं तीए बंधु त्ति पडिवन्नो। सा तेसिं ओसहाण मद्दणकारणं पुच्छेइ। सो अ कोडीरसवेहं वुत्तंत जहट्ठिअं कहेइ। अन्नया दुण्ह निअपुत्ताण तीए निवेइअ-जहा एअस्स रससिद्धी होहि त्ति। ते रसलुद्धा निअरज्जं मुत्तुं नागज्जुणपासमागया कमेणेण तं रसं गिण्हिउमणा पच्छन्नवेसा जत्थ नागज्जुणो भुंजइ तत्थ रससिद्धिवुत्तं पुच्छंति। सा य तज्जाणणत्थं तद्दंतु सलूणं रसवई साहेइ, छम्मासे अइक्कंते खारि त्ति दूमिया तेण रसवई, तओ इंगिएहिं रसं सिद्धं नाऊण पुत्ताण निवेइअं तीए। तेहिं च परंपराए नायं, जहा वासुगिणाए अस्स दब्भंकुराओ मच्चू कहिओ त्ति, तेण च सत्थेण नागज्जुणो निहओ। जत्थ य रसो थंभिओ तत्थ थंभणयं नाम नयरं संजायं। तओ कालंतरेण तं बिंबं वयणमित्तं विअ भूमिमंतरिअं संवुत्तं॥ इओ अ चंदकुले सिरिवद्धमाणसूरिसीसजिणेसरसूरीण सीसो सिरिअभयदेवसूरी गुज्जरत्ताए संभाणयट्ठाणे विहरिओ। तत्थ महावाहिवसेण अईसाररोगे जाए, पच्चाऽऽसन्ननगरगामेहिंतो पक्खियपडिक्कमणत्थमागंतुकामो विसेसेण आहूओ, मिच्छादुक्कडदाणत्थं सव्वो वि सावयसंघो। तेरसीअद्धरत्ते अ भणिअ-पहुणो सासणदेवयाए भयवं ! जग्गह सु। अह तओ मंदसरेणं वुत्तं पहुणा-के तुमे?। निद्दादेवीए भणिअं-एआओ नव सुत्तकुक्कुडीओ उम्मोहेसु। पहुणा भणिअं न सक्केमि। तीए भणिअं-कह न सक्केसि !, अज्ज वि वीरतित्थं वीर ! पभावेसि, नवंगवित्तीओ अ काहिसि। भयवया भणियं-अहमेवंविहसरीरे कोहामि। देवया वुत्तं-थंभणयपुरे सेढीनइउवकंठे खखरपलासमज्झे सयं सयंभूसिरिपासनाहो अत्थइ, तत्थ पुरे देवे वंदेह, जेण सुत्थसरीरा होह। तओ गोसे साहू अ सावयसंघेण वंदिआ पहुणा भणिय-थंभणए पासनाहं वंदिस्सामो। संघेण विनाय-नूणं कोइ उवएसो पहूणं, तो एवं आइसंति। तओ भणिअ-संघेण अम्हे वि वंदिस्सामो। तओ वाहणेण गच्छंतस्स पहुणो थणय सरीरं सुत्थं जायं। अओ धवलक्कयाओ परओ चरणचारेण विहरंता पत्ता थंभणपुरं गुरू, सावया सव्वत्थ पासनाहमवलोइंति। गुरुणा भणिआखखरपलासमज्झे पलोएह, तेहिं तहा कए दिट्ठं सिरिपासनाहपडिमामुहं। तत्थ य पइदिणं एगा धेणू आगम्म पडिमामत्थए खीरं झरइ तओ पहिट्ठेहिं, सावएहिं जहा दिट्ठं निवेइअं गुरुणो। अभयदेवसूरी वि तत्थ गंतुं मुहदंसणमेत्तेण थोउमाढत्तो-" जय तिहुयणवरकप्परुक्ख " इच्चाइतक्कालिअवत्तेहिं। तओ सोलससु वित्तेसु कएसु पच्चक्खी हूआ सव्वंगपडिमा। अओ चेव-"जय पच्चक्खजिणेसर त्ति" सत्तरसमे वित्ते पढिअं। तओ बत्तीसाए पुण्णाए अतिमवित्तदुगं अईव देवयाइट्ठिकरं ति नाऊण देवयाए विन्नत्तं न य बत्तीसाए वि वित्तेहिं सन्निज्झं करिस्सामि त्ति, अतिमवित्तदुगं उस्सारेह, मा अम्हं कलिजुगे आगमणं दुक्खाय होति। पहुणा तहा कयं। संघेण सह चिइवंदणा कया। तत्थ संघेण उत्तुंगं देवहरयं कारिअं। तओ उवसंतरोगेण पहुणा तोसिओ सिरिपाससामी, तं च महासिद्धं पसिद्धं। कालाइक्कमेण कया ठाणाईणं नवंगाणं वित्ती, आयारंगसूअगडंगाणं तु पुव्विं पि सीलंगाऽऽयरिएण कया आसि। तओ परं चिरं वीरतित्थं पभाविअं पहुण त्ति।" इति स्तम्भनकल्पशीलोञ्छः। ती० ५२ कल्प।

" दढवाहिविहुरिअंगा, अणसणगहणत्थमाहविअसंघा।
नवसुत्तकुक्कुडिविमो-क्खणाय भणिया निसि सुरीए ॥ १ ॥
दो वि अ हत्थअसत्थी, नवंगविवरणकहावमुक्करिया।
थंभणयपासवंदण, उवइट्ठाऽऽरोग्गविहुणो य ॥ २ ॥
थंभणयाओ वलिया, धवलक्कपुराउ पयचरणचारी।
थंभणपुरम्मि पत्ता, सेढीतडजरयसाभवणे ॥ ३ ॥
गोपयवरणुवलक्खिय-थुवि 'जय तिहुअण' थयरूपच्चक्खं।
पासे पूरिअयवणा, गोविअ सकल व वित्तदुगा ॥ ४ ॥
संघ कराविअ भवणे, गयरोगा ठविअ पासपहुपडिमा।
सिरिअभयदेवसूरी, वि जयतु नवंगवित्तिकरा ॥ ५ ॥
यन्मार्गेऽपि चतुःसहस्रशरदो देवाऽऽलये योऽर्चितः,
स्वामी वासववासुदेववरुणैः स्वर्वार्धिमध्ये ततः।
कान्त्यामिभ्यधनेश्वरेण महता नागार्जुनेनार्चितः,
पायात् स्तम्भनके पुरे स भगवतः श्रीपार्श्वनाथो जिनः ॥१॥"
ती० ६ कल्प।

थंभणयपुर-स्तम्भनक-न०। भगवत्पार्श्वनाथस्थाने पुरभेदे, ती० ६ कल्प।

थंभणया-स्तम्भनता-स्त्री०। श्रीवायां धमन्यादीनां स्थिती

थाऽऽत्मनोऽङ्गप्रदेशानामवरोधे, प्रज्ञा० १६ पद । आ० म० । सूत्र० ।

थंभणी-स्तम्भनी-स्त्री० । स्तम्भनकारिणि विद्याभेदे, सूत्र० २ श्रु०२ अ० । ज्ञा० ।

थंभिय-स्तम्भित-त्रि० । स्तब्धीकृते, स्था० ७ ठा० । "कडगतुडियथंभियभुया।" प्रज्ञा०२२ पद । औ०। स०। प्रज्ञा०। आ०म०।

थक्क-फक्क-धा० । गतौ, " फक्कस्थक्कः " ॥ ८ । ४ । ७ ॥ इति फक्कतेस्थक्काऽऽदेशः । प्रा० ४ पाद । अवसरे, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा । 'थक्कइ' फक्कति । " धातवोऽर्थान्तरेऽपि ॥ ८ । ४ । २५९ ॥ इति नीचां गतिं करोति विडम्बयति वा तदर्थे बोद्धव्यः । प्रा० ४ पाद ।

स्था-धा० । गतिनिवृत्तौ, " स्थष्ठा-थक्क-चिठ-निरप्पा." ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति तिष्ठतेस्थक्काऽऽदेशः । "थक्कइ"-तिष्ठति । प्रा० ४ पाद । प्रस्तावे, पु० । " थक्के आतो ति नाकण " व्य० ६ उ० । देशोऽवसर स्थक्कमिति पर्याया. । विशे० ।

थक्कारेंत-थक्कारयत्-त्रि० । 'थक्का' इत्येव महान्त शब्द कुर्वति, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

थगण-स्थगन-न० । पिधाने, स्था० ४ ठा० ४ उ० । संवरणे, आव० ६ अ० ।

थगिय-स्थगित-त्रि० । पिहिते, दश० ५ अ० १ उ० । संवृते, परिव्यक्ते, आ० म० १ अ० २ खण्ड। आव० ।

थगगया-देशी-चञ्चौ, दे० ना० ५ वर्ग २६ गाथा ।

थग्घ-पु० । देशी-गाधे, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा ।

थट्टी-देशी-पशौ, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा ।

थण-स्तन-पु० । वक्षोजे, पयोधरे, मांसगोले, ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग १ अ० । अनु० । कुचे, है० । आव० ।

थणगच्छीर-स्तनकक्षीर-न० । पयोधरदुग्धे, त० ।

थणण-स्तनन-न० । रारटने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० आक्रन्दने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आक्रोशे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । सशब्दनि श्वासे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

थणदोस-स्तनदोष-पु० । कायोत्सर्गदोषभेदे, " ओच्छाइऊण य थणे, चोलगपट्टेण ठाइ उस्सग्गं ।" अवच्छाद्य स्थगयित्वा स्तनौ चोलपट्टेन देशाऽऽदीनां रक्षणार्थम् । अथवा -अनाभोगदोषेण वा अज्ञानदोषेण करोत्युत्सर्गमिति स्तनदोष. ॥ प्रव० ५ द्वार ।

थणपीलण-स्थनपीडन-न० । पयोधरचम्पने, त० ।

थणहर-स्तनभर-पुं० । " ख-घ-थ-ध-भाम् " ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इति भस्य हः । वक्षोजगौरवे, प्रा० १ पाद ।

थणिय-स्तनित-न० । मेघगर्जिते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । अनु० । प्रव० । दीर्घविस्वराऽऽक्रन्दने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । रसिते, स० । भोगसमये दूरतरघनगर्जितानुकारिशब्दे, उत्त० १६ अ० । कृतमन्दध्वनौ, त्रि० । ज्ञा० १ श्रु०१अ० । स्तनितकुमारे भवनपतिभेदे, तं० ।

थणियकुमार--स्तनितकुमार-पु० । भूषणानियुक्तद्वयवररूपाचिह्नधरे दशमे भवनपतिनिकाये, प्रज्ञा० २ पद । स्था० । " बावत्तरिं थणियकुमारावाससयसहस्सा पण्णत्ता ।" भ० १६ श० १३ उ० ।

थणियसद्द-स्तनितशब्द-पु० । मेघगर्जिते, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

थत्तिअ-देशी-विश्रामे, दे० ना० ५ वर्ग २६ गाथा ।

थद्ध-स्तब्ध-त्रि० । मानवति, स० ३० सम० । अहङ्कारिणि, उत्त० १७ अ० । ग० । यत्किञ्चनकारिणि मानिनि, सूत्र० १श्रु०२ अ० । स्तब्धकृते द्वितीयदोषदुष्टे वन्दने, वृ० ३ उ० । आव० । प्रव० । स्तब्धस्तावत् द्रव्यतो, भावतश्च । भवत्यत्र चतुर्भङ्गिका । तद्यथा- द्रव्यतः स्तब्धो न भावतः, भावत स्तब्धो न द्रव्यतः । अपरो द्रव्यतो भावतश्च । अन्य' पुनर्न द्रव्यतो नाऽपि भावत इति । अत्र चरमो भङ्गः शुद्ध' । शेषभङ्गकेष्वपि भावतस्तब्धोऽशुद्ध एव । द्रव्यतस्तु भक्तो विकल्पित' उदरपृष्ठस्थूलविवादिवाधितोऽवनाम कर्तुमशक्त. कारणिक स्यादपि स्तब्धो न तु निष्कारणिक इति भावः । वृ० ३ उ० ।

थद्धभरदह-स्तब्धरह्रद-पु० । अयोध्यायां स्वर्गद्वारस्थाने ह्रदे, " गोमुहजक्खो जत्थ थब्भरदद्दो सरऊनईए सम मिलितो सग्गदुवार ति पसिद्धिमावन्नो । " ती० १२ कल्प ।

थमिय-देशी--विस्मृते, दे० ना० ५ वर्ग २५ गाथा ।

थय-स्तव-पु० । 'ष्टुञ्' स्तुतावित्यस्मादच् । आ० चू० ३ अ० । गुणकीर्तने, व्य० ।

अथ स्तुतिस्तवयोर्विशेषमभिधित्सुराह-

एगदुगे तिसलोका, थुतीसु अन्नेसि होइ जा सत्त ।
देविंदत्थयमादी, तेणं तु परं थया होइ ॥

एकश्लोका, द्विश्लोका त्रिश्लोका वा स्तुतिर्भवति । परतश्चतु.श्लोकाऽऽदिक. स्तव. । अन्येषामाचार्याणां मतेन एकश्लोकाऽऽदिक. यावत् सप्त स्तव , यथा देवे द्रस्तवाऽऽदय. । आदिशब्दात्कर्मस्तवाऽऽदिपरिग्रह । व्य० ७ उ० । " सया० । थओ चउव्विहो, णामठवणाओ गताओ " । आ० चू० १ अ० । आ० म० । सूत्र० । पञ्चा० ।

अधुना स्तवनिक्षेपप्रतिपादनार्थमाह-

नामं ठवणा दविए, भावे य थयस्स होइ निक्खेवो ।
दव्वथओ पुप्फादी, संतगुणुक्कित्तणा भावे ॥३॥

(नाम ति) नामस्तव', स्थापनास्तव , द्रव्यविषयो द्रव्यस्तव. । (भावे त्ति) भावविषयो भावस्तवः । इत्थं स्तवस्य निक्षेपो न्यासो भवति, चतुष्प्रकार इति शेषः । तत्र सुगमत्वान्नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यस्तवस्वरूपमाह-द्रव्यस्तवः पुष्पाऽऽदि, आदिशब्दाद् गन्धरूपाऽऽदिपरिग्रहः । कारणे कार्योपचाराच्चैवमाह-अन्यथा द्रव्यस्तव. पुष्पाऽऽदिभि' समभ्यर्चनमिति द्रष्टव्यम । तथा सद्गुणोत्कीर्तना भावे इति । सन्तश्च ते गुणाश्च सद्गुणा. । अनेन असत्सु गुणेषु कीर्त्तनानिषेधमाह, करणे मृषावाददोषसङ्गात् । सद्गुणानामुत्कीर्त्तनात् प्राबल्येन परया भक्त्या कीर्त्तना संस्तवना । यथा-
" प्रकाशितं तथैकेन, त्वया सम्यक् जगत्त्रयम् ।

समग्रैरपि नो नाथ !, परतीर्थाधिपैस्तथा ॥ १ ॥
विद्योतयति वा लोकं, यथैकोऽपि निशाकरः ।
समुद्गतसमग्रोऽपि, किं तथा तारकागणः ? " ॥ २ ॥
इत्यादि लक्षणा भावे इति व्यापरामर्शो भावस्तव इत्यर्थः । इति चालितप्रतिष्ठितोऽर्थः सम्यग् ज्ञानाच प्रभवतीति चालनां कदाचित् विनेयः करोति, कदाचित् स्वयमेव गुरुरपि । तथा चोक्तम्-" कत्थइ पुच्छइ सीसो, कहिं च पुट्ठा कहंति आयरिया । " इत्यादि ।

तत्र वित्तपरित्यागाऽऽदिना द्रव्यस्तव एव ज्यायानित्यल्पबुद्धीनामाशङ्कासंभवः, तदुदासार्थं तदनुवादपुरःसरमाह-

दव्वत्थओ य भाव-त्थओ य दव्वत्थओ बहुगुणे त्ति।
बुद्धि सिया अनिउण-मइवयणमिणं छज्जीवहिअं ॥४॥

द्रव्यस्तवो, भावस्तव इत्यनयोर्मध्ये द्रव्यस्तवो बहुगुणः । प्रभूततरगुण इत्येवबुद्धिः स्यादेव चेन्मन्यसे इति भावः । तथाहि-किलाऽस्मिन् क्रियमाणे वित्तपरित्यागात् शुभ एव व्यवसायः, तीर्थस्य चोन्नतिकरणं दृष्ट्वा च तं क्रियमाणमन्येऽपि प्रतिबुध्यन्ते इति स्वपरानुग्रह, सर्वमिदं सम्प्रति पक्षे चेतसि निधाय द्रव्यस्तवो बहुगुण इत्यस्यासारताख्यापनायाऽऽह-(अनिउणमइवयणमिति) अनिपुणमतेर्वचनमिदम्-यद् द्रव्यस्तवो बहुगुण इति । किमित्यत आह-षड्जीवहित षण्णां पृथिवीकायाऽऽदीनां जीवाहित जिनास्तीर्थकृतो ब्रुवते ।

किं षड्जीवहितमित्यत आह-

छज्जीवकायसंजमो, दव्वथए सो विरुज्झई कसिणो ।
तो कसिणसंजमविऊ, पुप्फाईयं न इच्छंति ॥५॥

षण्णां जीवनिकायानां पृथिव्यादिलक्षणानां संयमः सघट्टना परित्यागः षड्जीवकायसंयमः। एष हितम्। यदि वा मैव, ततः किमित्यत आह-द्रव्यस्तवे पुष्पाऽऽदिसमभ्यर्चनलक्षणे षड्जीवनिकायसंयमः कृत्स्नः सपूर्णो विरुध्यते, न सम्यक् संपद्यते, पुष्पाऽऽदिसलुवनसघट्टनाऽऽदिना कृत्स्नसंयमव्याघातभावात्, यतश्चैव (तो त्ति) तस्मात्कृत्स्नसंयमप्रधान विद्वांसस्ते तत्त्वत -साधव उच्यन्ते, कृत्स्नसंयमग्रहणमकृत्स्नसंयमविदुषां श्रावकाणां व्यपोहार्थम्-पुष्पाऽऽदिक द्रव्यस्तव नेच्छति न बहु मन्यन्ते।यच्चोक्तम्-द्रव्यस्तवे क्रियमाणे वित्तपरित्यागात् शुभ एवाध्यवसाय इत्यादि। तदपि यत्किञ्चित् व्यभिचारात्, कस्यचिदल्पसत्त्वस्य अविवेकिनो वा शुभाध्यवसायानुपपत्तेः। दृश्यते च कीर्त्यर्थमपि सत्त्वानां द्रव्यस्तवे प्रवृत्तिः। शुभाध्यवसायभावे तु-स एव भावस्तव । इतरस्तु तत्कारणत्वेनाप्रधानमिति । तथा भावस्तव एव सति तत्त्वतस्तीर्थस्योन्नतिकारण भावस्तववत-सम्यगमराऽऽदिभिरपि पूज्यत्वात्तमेव च दृष्ट्वा क्रियमाणमन्येऽपि सुतरां प्रतिबुध्यन्ते । शिष्टा इति स्वपरानुग्रहोऽपीहैवेति गाथाभावार्थ ।

आह-यद्येवं किमयं द्रव्यस्तव एकान्ततो हेय एव वर्त्तते, आहोस्विदुपादेयोऽपीति ?। उच्यते-साधूनां हेय एव, श्रावकाणामुपादेयोऽपि ।

तथा चाऽऽह भाष्यकार -

अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।
संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥ ६ ॥

अकृत्स्नं, संयममिति सामर्थ्याद्गम्यते, प्रवर्त्तयन्तीत्यकृत्स्नप्रवर्त्तकाः, तेषां विरताविरतानां श्रावकाणामेष द्रव्यस्तवः खलु युक्त एव । खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् । किंभूतोऽयमित्याह-संसारप्रतनुकरणः संसारक्षयकारक इति भावः । आह-यः प्रकृत्यैवासुन्दरः स कथं श्रावकाणामपि युक्तः ?। उच्यते-अत्र कूपदृष्टान्तः-" जहा नवनगराइसंनिवेसे कइ पभूयजलाभावतो तण्हाइपरिगया तदपनोदार्थं कूपं खणंति, तेसिं च जइ वि तण्हाऽऽइया वड्ढंति, मट्टियाकद्दमाईहि य मलिणिज्जति, तहा वि तदुब्भवेणं तेसिं तिण्हाइयसोयमलो पुव्वगो य फिट्टइ, सेसकाल च ते तदन्ने य लोगा सुहभायणा भवंति, एवं दव्वत्थए जइ वि असंजमो, तहा वि तत्तो चेव सा परिणामसुद्धी भवति । जा असंजमवज्जिय अन्नं च निरवसेसं खवेति-तहा ऽविरता विही एस दव्वत्थओ कायव्वो सुभाणुबंधी, पभूयनिज्जराफलो य त्ति" उक्तः स्तवः। आ० म० २ अ०। सूत्र० पञ्चा० (द्रव्यस्तवो व्यासेन ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे २४४५ पृष्ठे प्रत्यपादि)

कयमत्थ पसंगेणं, जहोचिआ चेव दव्वभावथया ।
अन्नोन्नसमणुविद्धा, नियमेणं होंति नायव्वा ॥१॥

कृतमत्र प्रसङ्गेन द्रव्यस्तवाऽऽदिविचारे एव यथोदितभावे च प्रधानगुणभावतः द्रव्यभावस्तववादिति अन्योऽन्यसमनुविद्धौ नियमेन भवतः ज्ञातव्यौ अन्यथा स्वरूपाभावः। इति गाथार्थः ।

अनयोर्वृद्धिमाह-

अप्पविरिअस्स पढमो, सहकारिविसेसभूअओ सेओ ।
इअरस्स बज्झचाया, इअरो चिअ एस परमत्थो ॥२॥

अल्पवीर्यस्य प्राणिनः प्रथमो द्रव्यस्तवः सहकारिविशेषभूतो वीर्यस्य श्रेयानिति । इतरस्य बहुवीर्यस्य साधोर्बाह्यत्यागादिति बाह्यद्रव्यस्तवत्यागेन इतर एव श्रेयान् भावस्तव इत्येष परमार्थोऽत्र द्रष्टव्यः । इति गाथार्थः ।

विपर्यये दोषमाह-

दव्वत्थयं पि काउं, ण तरइ जो अप्पवीरिअत्तेणं ।
परिसुद्धं भावथयं, काही सो संजवो एस ॥ ३ ॥

द्रव्यस्तवमपि कर्तुमौचित्येन न शक्नोति यः स सत्त्वोऽल्पवीर्यत्वेन हि नापरिशुद्धं भावस्तवं यथोक्तमित्यर्थः । करिष्यत्यसावसम्भव एषः, बलाभावात् । इति गाथार्थः ।

एतदेवाऽऽह-

जं सो उक्किट्ठयरं, अवेक्खई वीरिअं इहं णिअमा ।
ण हि पलसयं पि वोढुं, असमत्थो सव्व यं वहइ ॥४॥

यदसौ भावस्तव उत्कृष्टतरमपेक्षते वीर्यं शुभाऽऽत्मपरिणामरूपमिह नियमात् अतोऽल्पवीर्यः कथं करोत्येनमिति । न हि पलशतमपि वोढुमसमर्थः मन्दवीर्यः सत्त्वः सर्वं तं वहति पलशततुल्यो द्रव्यस्तवः, सर्वतस्तुल्यश्च भावस्तवः। इति गाथार्थः ।

एतदेव स्पष्टयति-

जो बज्झचाएणं, णो इत्तिरिअं पि णिग्गहं कुणइ ।
इह अप्पणो सयासे, सव्वचाएण कह कुज्जा ? ॥ ५॥

यो बाह्यत्यागेन बाह्यं वित्त मेत्वरमपि निग्रह करोति । बन्दनाऽऽदौ इहाऽऽत्मन कुरु सदाऽऽसौ यावज्जीवं सर्वत्यागेन बाह्याऽऽभ्यन्तरत्यागेन कथं कुर्यादात्मनो निग्रहम्। इति गाथार्थः।

अनयोरेव तु गुरुलाघवविधिमाह-

आरंभच्चाएणं, णाणाऽऽइगुणेसु वट्टमाणेसु ।
दव्वत्थयपहाणी वि हु, न होइ दोसाय परिसुद्धा ॥६॥

आरम्भत्यागेन हेतुना ज्ञानाऽऽदिगुणेषु वर्द्धमानेषु सत्सु द्रव्यस्तवहानिरपि कर्तुर्न भवति दोषाय परिशुद्धा सानुबन्धा । इति गाथाऽर्थः ॥ ६ ॥

इदैव तन्त्रयुक्तिमाह-

एत्तो चि य णिद्दिट्ठो, धम्मम्मि चउव्विहम्मि वि कमो अ।
इह दाणसीलतवभा-वणामए अन्नहाजोगा ॥ ७ ॥

अत एव द्रव्यस्तवाऽऽदिन्यायाद् निर्दिष्टो भगवद्भिर्धर्मे चतुर्विधेऽपि क्रमोऽयं वक्ष्यमाण, इह प्रवचने दानशीलतपोभावनामये धर्मेऽन्यथायोगादस्य धर्मस्येति गाथाऽर्थः ॥ ७ ॥

तदेवाऽऽह-

संतं बज्झमणिच्चं, ठाणे दाणं पि जो ण वित्थरेइ ।
इय खुद्दगो कहं सो, सीलं अइदुद्धरं धरइ ? ॥ ८ ॥

सद्विद्यमान, बाह्यमात्मनो भिन्नम, अनित्यमशाश्वत, स्थाने पात्राऽऽदौ, दान वित्तमाऽऽदि यो न वितरति न ददाति क्षौद्र्यात् (इय) एव क्षुद्रको वराक कथमसौ शील महापुरुषसेवितमतिदुर्द्धर धारयति ?, नैवेति गाथाऽर्थ. ॥ ८ ॥

असीलो अ ण जायइ, सुद्धस्स तवस्स इंदि विसओ वि ।
जहसत्तीए तवस्सी, भावइ कह भावणाजालं ? ॥ ९ ॥

'अशीलश्च न जायते' नियम एव शुद्धस्य तपसो मोक्षाङ्गभूतस्य, इन्द्रि विषयोऽपि यथाशक्त्या तपस्वी मोहपर तत्र भावयति कथं भावनाजालम् ?, तत्त्वतो नैव। इति गाथाऽर्थ. ॥ ९ ॥

एत्थं च दाणधम्मो, दव्वत्थयरूवमो गहेअव्वो ।
सेसा उ सुपरिसुद्धा, णेया भावत्थयसरूवा ॥ १० ॥

अत्र च प्रक्रमे दानधर्मो द्रव्यस्तवरूप एव ग्राह्योऽप्रधानत्वात्, शेषास्तु सुपरिशुद्धा शीलधर्माऽऽदयो ज्ञेया भावस्तवस्वरूपाः प्रधानत्वादिति गाथाऽर्थ· ॥ १० ॥

इहैवातिदेशमाह-

इय आगमजुत्तीहिं, तं तं सुत्तमहिगिच्च धीरेहिं ।
दव्वत्थयाऽऽदिरूवं, विवेइयव्वं सबुद्धीए ॥ ११ ॥

(इय) एवमागमयुक्तिभिस्तत्तत्सूत्रमधिकृत्य धीरैर्बुद्धिमद्भिर्द्रव्यस्तवाऽऽदिरूप विवेक्तव्य-सम्यगालोच्येति वक्तव्य स्वबुद्ध्या । इति गाथाऽर्थ ॥ ११ ॥

उपसंहरन्नाह-

एसेह थयपरिण्णा, समासओ वण्णिआ मए तुब्भं ।
वित्थरओ भावत्थो, इमीऍ सुत्ताउ णायव्वो ॥ १२ ॥

एषेह स्तवपरिज्ञा स्तवपद्धति' समासतो वर्णिता मया युष्माक विस्तरतो भावार्थोऽस्याः स्तवपरिज्ञाया सूत्राज्ज्ञातव्य । इति गाथाऽर्थः ॥१२॥ पं० व० ४ द्वार । प्रति० । दर्श० । ध० । परपाक्षिकसपादितस्तोत्राऽऽदिक मातङ्गतुरुष्कसपादितरसवतीवदनास्वादमेव, कश्चिद्विशेषो वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-परपाक्षिकसपादितस्तोत्राऽऽदीनां मातङ्गतुरुष्काऽऽदिसपादितरसवत्युपमाव

सतां वक्तुमेवानुचितमिति किं प्रतिवचनेन ?। १३ प्र०। ही० १ प्रका०। शक्रस्तवपाठे, उत्त० २९ अ०। श्रीआदिनाथवारके यं चतुर्विंशतिस्तव पठितवन्तः, तमेवार्थतः श्रीमहावीरवारकेऽपि, पर सूत्रपाठनियमो नास्तीति परम्पराऽस्तीति युक्तिरपि च तथैव दृश्यते । १७ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

थयण-स्तवन-न० । स्तुतौ, "थुइथयणवद्दणनमं-सणाणि एगट्ठियाणि एयाणि ।" आव० २ अ० ।

थयथुइमंगल-स्तवस्तुतिमङ्गल-न०। स्तव. शक्रस्तवपाठ', स्तुतिस्तूर्द्ध्वीभूय कथनम । स्तवाश्च स्तुतयश्च स्तवस्तुतयः, ता एव मङ्गल स्तवस्तुतिमङ्गलम । स्तवस्तुतिरूपे भावमङ्गले, उत्त० २९ अ० ।

स्तवफलप्रतिपादनम्-

थयथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । थयथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ । नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ ॥ १४ ॥

हे भदन्त ! स्तवः शक्रस्तवरूपः, स्तुतिर्वा उर्द्ध्वीभूय कथनरूपा । अथवा-एकाऽऽदिसप्तश्लोकान्ता यावदष्टोत्तरशतश्लोका वाच्या. । स्तुतिश्च स्तवश्च स्तुतिस्तवौ, तौ एव मङ्गल भावमङ्गलरूप स्तुतिस्तवमङ्गल, तेन स्तुतिस्तवमङ्गलेन जीव· किं जनयति ? । स्तवस्तुतिमङ्गलेनेति पाठस्तु आर्षत्वात् । गुरुः प्रश्नोत्तरमाह-हे शिष्य ! स्तवस्तुतिमङ्गलेन जीवो ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभ जनयति । तत्र ज्ञानं मतिश्रुताऽऽदि, दर्शन क्षायिकसम्यक्त्व, चारित्र विरतिरूप, तद्रूप एव बोधिलाभो जैनधर्मप्राप्तिर्ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभस्त जनयति, ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभसम्पन्नश्च जीव आराधनां ज्ञानाऽऽदीनामासेवनामाराधयति साधयति । कीदृशीमाराधनाम् ?-कल्पविमानोत्पत्तिकां, कल्पाश्च विमानानि च तेषु उत्पत्तिर्यस्या. सा कल्पविमानोत्पत्तिका, ताम् । पुन कीदृशीमाराधनाम् ?, अन्तक्रियाम्-अन्तस्य ससारस्य, कर्मणा वा अवसानस्य क्रिया अन्तक्रिया, तामेवभूतां ज्ञानाऽऽद्याराधना साधयति, कल्पाः सौधर्माऽऽदयो देवलोका·, विमानानि नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरविमानानि ज्ञानाऽऽद्याराधनया कश्चिद्भरताऽऽदिवत् दीर्घकालेन मुक्तिं प्राप्नोति । कश्चिद् गजसुकुमालवत् स्वल्पकालेनैव मुक्तिं प्राप्नोतीति भाव ॥ १४ ॥ उत्त० २९ अ० । (तद्वक्तव्यता 'गयसुकुमाल' शब्दे तृतीयभागे ८४३ पृष्ठे द्रष्टव्या)

थयपरिण्णा-स्तवपरिज्ञा-स्त्री०। "वण्णिज्जइ जीए इय, दुविहो वि गुणाऽऽइभावेण ।" वर्ण्यते यस्यां ग्रन्थपद्धतौ स्तव. द्विविधोऽपि द्रव्यभावरूपो गुणाऽऽदिभावेन गुणप्रधानरूपतया । प्राभृतविशेषे, पं० व० ४ द्वार । प्रति० । (सा च सूत्ररूपा इदानीमनतिप्रसिद्धा, गाथारूपपञ्चवस्तुकप्रकरणे प्रतिपादिता, अस्माभि. 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२२० पृष्ठे विन्यस्ता)

थयपाठ-स्तवपाठ-पुं० । शक्रस्तवाऽऽदिस्तवपठने, पञ्चा० ३ विव० ।

थयविहि-स्तवविधि-पुं० । स्तवः पूजा तस्य विधिर्विधान प्रकार. स्तवविधि. । स्तवपरिज्ञायाम्, " नामिऊण जिण वीर,

तिलोगपुज्जं समासओ वोच्छं । थयविहिमागमसुद्धं, सपरेसिमणुग्गहट्ठाए ॥ १ ॥ " पञ्चा० ६ विव० ।

थयसरण-स्तवस्मरण-न० । चतुर्विंशतिस्तवानुचिन्तने, पञ्चा० ८ विव० ।

थर-पुं० । देशी-दधिसरे, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा ।

थरहरिअ-न० । देशी-कम्पिते, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

थरू-पुं० । देशी-त्सरौ, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा ।

थल-स्थल-न० । अटव्याम्, दशा० ७ अ० । उच्चभूमिभागे, उत्त० २ अ० । भूमिप्रदेशविशेषे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । ध० । " थलेसु बीयाइ । " यदा प्रचुरा वर्षा भवति तदा स्थलेषु फलावाप्तिः । उत्त० १२ अ० । आकाशे, नि० चू० १ उ० । (स्थलव्याख्या ' णईसनार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७४०, पृष्ठे द्रष्टव्या)

थलअ-पुं० । देशी-मण्डपे, दे० ना० ५ वर्ग २५ गाथा ।

थलकुक्कुडियंम-स्थलकुक्कुटयण्ड-न० । इह कवलप्रक्षेपणाय मुखे विस्फारिते यदाकाश भवति तत्स्थल भण्यते, स्थलमेव कुक्कुट्यण्डक स्थलकुक्कुट्यण्डकम् । कवलप्रक्षेपार्थं विकाशिते मुखे, व्य० ७ उ० ।

थलकुक्कुडियंडप्पमाण-स्थलकुक्कुटयण्डप्रमाण-न० । मुखविवरप्रमाणे कवले, यावत्प्रमाणमात्रेण कवलेन मुखे प्रक्षिप्यमाणेन मुख न विकृत भवति । व्य० ७ उ० ।

थलचार-स्थलचार-पुं० । स्थले रथाऽऽदिना देशान्तरावाप्तौ, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

थलयपुप्फ-स्थलजपुष्प-न० । विचकिलकोरण्टकाऽऽदिके स्थल एव जायमाने कुसुमे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रज्ञा० ।

थलयर-स्थलचर-पुं० । स्थले चरतीति स्थलचरः । स्था० १० ठा० । स्थलजेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु, स्था० १० ठा० । स० ।

स्थलचरभेदा -

से किं तं थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? । थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया, परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया । से किं त चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? । चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संमुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया, गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया । जहेव जलयराणं तहेव चउक्कओ भेदो । सेत्तं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया । से किं त परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? । परिसप्पथलयरपंचिंदिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया, भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया । से किं तं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? । उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पण्णत्ता । जहेव जलयराणं तहेव चउक्कओ भेओ । एवं भुयगपरिसप्पाण वि भाणियव्वा । सेत्तं भुयगपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया । सेत्तं थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ।

अथ के ते पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका ? । पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-जलचराः, स्थलचराः, खचराश्च । अथ के ते जलचराः ? । जलचरा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-सम्मूर्च्छिमाश्च, गर्भव्युत्क्रान्तिकाश्च । अथ के ते संमूर्च्छिमाः ?; सम्मूर्च्छिमा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा पर्याप्तकाश्च, अपर्याप्तकाश्च । अथ के ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः ?। गर्भव्युत्क्रान्तिका द्विविधाः । तद्यथा पर्याप्तकाः, अपर्याप्तकाश्च । एवं चतुष्पदा उरःपरिसर्पा भुजपरिसर्पाः पक्षिणश्च प्रत्येकं चतुष्प्रकारा वक्तव्याः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । प्रज्ञा० ।

थली-स्थली-स्त्री० । देवद्रोण्याम्, नि० चू० १ उ० ।

थलीघोमय-स्थलीघोटक-पुं० । देवमङ्करापरपर्याये पक्षिविशेषे, व्य० ७ उ० ।

थव-स्तव-पुं० ' थय ' शब्दार्थे, आ० चू० ३ अ० ।

थवइय-स्तवकित-त्रि० । सजातपुष्पस्तवके, प्र० १ श० १ उ० । जी० । औ० । ज्ञा० । जं० । रा० ।

थवइल्ल-पुं० । देशी-प्रसारितोरुद्वयोपविष्टे, दे० ना० ५ वर्ग २६ गाथा ।

थवण-स्तवन-न० । ' थयण ' शब्दार्थे, आव० ३ अ० ।

थवथुइमंगल-स्तवस्तुतिमङ्गल-न० । ' थयथुइमंगल ' शब्दार्थे, उत्त० २९ अ० ।

थवपरिण्णा-स्तवपरिज्ञा-स्त्री० । ' थयपरिण्णा ' शब्दार्थे, पञ्चा० ६ विव०

थवपाठ-स्तवपाठ-पुं० । ' थयपाठ ' शब्दार्थे, पञ्चा० ३ विव० ।

थवय-स्तवक-पुं० । पुष्पगुच्छे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

थवविहि-स्तवविधि-पुं० । 'थयविहि' शब्दार्थे, पञ्चा० ६ विव० ।

थवसरण-स्तवस्मरण-न० । ' थयसरण ' शब्दार्थे, पञ्चा० ८ विव० ।

थविर-स्थविर-पुं० । प्रवर्तितव्यापारान् सयमयोगेषु सीदतः साधून् ज्ञानाऽऽदिषु ऐहिकाऽऽमुष्मिकापायदर्शनतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः । प्रव० २ द्वार । प्रति० । स्था० । ध० । उत्त० । आचा० । "स्थविरविचकिलायस्कारे" ॥ ८ । १ । १६६ ॥ इति ओदः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सहैत् 'थेरो' । आर्षे- 'थविरो' इत्यपि । प्रा० १ पाद । "अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम्" ॥ ८ । २ । ८९ ॥ इति थद्वित्वनिषेधः । प्रा० २ पाद । सीदतां स्थिरीकरणहेतौ, दश० ९ अ० १ उ० । ज्ञा० । व्य० । ध० ।

अधुना स्थविरस्वरूपमाह-

संविग्गो मद्दविओ, पियधम्मो णाणदंसणचरित्ते ।
जे अट्ठे परिहायइ, सारेंतो ते हवइ थेरो ॥

य. संविग्नो मोक्षाभिलाषी, मार्दवित सञ्जातमार्दविक' (?) प्रियधर्मा एकान्तवल्लभ, सयमानुष्ठाने यो ज्ञानदर्शनचारित्रेषु मध्ये यानर्थाननुपादेयानुष्ठानविशेषान् परिहापयति हानिं नयति

तान् तं स्मारयन् भवति स्थविरः, सीदमानान्साधून् ऐहिका-ऽऽमुष्मिकापायप्रदर्शनतो मोक्षमार्गे स्थिरीकरोतीति स्थविर इति व्युत्पत्तेः ।

तथा चाऽऽह-

थिरकरणा पुण थेरो, पवत्तिवावारिएसु अत्थेसु ।
जो जत्थ जई सीयइ, तं सव्वलो त पचोदेति ॥

प्रवृत्तिव्यापारितेष्वर्थेषु यो यत्र यति सीदति, सद् विद्यमान बल यस्य स सद्बल, तथाभूत स प्रचोदयति प्रकर्षेण शिक्षयति स स्थिरकरणात्स्थविर इति । उक्तः स्थविरस्य स्वरूपम् । व्य०१ उ०।

अथ स्थविरपदयोग्यगुणानाह-

तेन व्यापारितेष्वर्थे-ष्वनगारांश्च सीदतः ।
स्थिरीकरोति सच्छक्तिः, स्थविरो भवतीह सः ॥ ७३ ॥

तेन प्रवर्तकेन व्यापारितेषु नियोजितेष्वर्थेषु तप संयमाऽऽदि-कार्येषु सीदत प्रमादाऽऽदिनाऽप्रवर्तमानानगारान् साधून् य स्थिरीकरोति तत्तदुपायेन दृढीकरोति । कीदृश ?, सच्छक्ति - सत्सामर्थ्य , स साधुर्हि जिनमते स्थविरो भवति नान्य इति भाव ॥ ७३ ॥ ध० ३ अधि० । सप्ततिवर्षायां षष्टिवर्षाणां वोपरिवर्तिनि (ध० ३ अधि० । कल्प० । व्य०) श्रुतवृद्धे, भ० २ श० ५ उ० । ज्ञा० । चतुर्दशपूर्वविदि (आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०) भद्रबाहुस्वाम्यादौ, विशे० । आचार्याऽऽदिगुरौ, स० २ सम० । गच्छप्रतिबद्धे, स्था०३ ठा०४ उ० । गच्छ-महति, व्य० ३ उ० । प्रश्न० । जरसा जीर्णे, स्थविरभूमिप्राप्ते सू आर्थतदुभयोपेते, व्य० २ उ० । धर्मपरिणत्या निवृत्या समस्तसक्रियामतौ, जी० १ प्रति० । भ० । आ० क० । आ० म० । ध० । ज्ञा० (स्थविराणां जातिश्रुतपर्यायाः 'थविरभूमि' शब्दे वक्ष्यन्ते)

तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-जाइथेरे, सुयथेरे, परियायथेरे । सट्ठिवासजाए समणे निग्गंथे जाइथेरे,ठाणसमवायधरे णं निग्गंथे सुयथेरे, वीसवासपरियाए णं समणे निग्गंथे परियायथेरे ॥

" तओ थेरे " इत्यादि कण्ठ्यम् । नवरं स्थविरो वृद्धस्तस्य भूमय पदव्य स्थविरभूमय इति । जातिर्जन्म, श्रुतमागम, पर्यायः प्रव्रज्या, तै स्थविरा वृद्धा ये ते तथोक्ता इति । इह च भूमिकाभूमिवतोरभेदादेवमुपन्यासः, अन्यथा भूमिका उद्दिष्टा इति ता एव वाच्या स्युरिति । एतेषा त्रयाणा क्रमेणानुकम्पापूजनवन्दनानि विधेयानि । यत उक्त व्यवहारे-

" आहारे उवहिसेज्जा-संथारे खेत्तसकमे ।
किच्चदाणुवत्तीहिं, अणुकपइ थेरग ॥ १ ॥
उट्ठाणाऽऽसणदाणाइ, जोगाहारप्पसंसणा ।
नीयसेज्जाइणिद्देसे-वत्तिए पूयए सुयं ॥ २ ॥
उट्ठाण वदए चेव, गहण दंमगस्स य ।
अगुरुणो वि य णिद्देसे, तइयाए पवत्तए ॥ ३ ॥ " इति ।
स्थविरा इति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

दस थेरा पण्णत्ता । तं जहा-गामथेरा नगरथेरा रट्ठथेरा पसत्थारथेरा कुलथेरा गणथेरा संघथेरा जाइथेरा सुयथेरा परियायथेरा ॥

(दसेत्यादि) स्थापयन्ति दुर्व्यवस्थित जन सन्मार्गे स्थिरीकुर्वन्तीति स्थविरा', तत्र ये ग्रामनगरराष्ट्रेषु व्यवस्थाकारिणो बुद्धिमन्त आदेयाः प्रभविष्णवस्ते तत्तत्स्थविरा इति ३ । प्रशासति शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तारो धर्मोपदेशका', ते च ते स्थिरीकरणात्स्थविराश्चेति प्रशास्तृस्थविराः ४ । ये कुलस्य गणस्य सङ्घस्य च लौकिकस्य लोकोत्तरस्य च व्यवस्थाकारिणस्तद्भङ्कुश्च निग्राहकास्ते तथोच्यन्ते ७ । जातिस्थविरा' षष्टिवर्षप्रमाणजन्मपर्याया ८। श्रुतस्थविरा समवायाऽऽद्यङ्गधारिण ९ । पर्यायस्थविरा विंशतिवर्षप्रमाणप्रव्रज्यापर्यायवन्त इति १० । स्था० १० ठा० । तपस्तेज स्थविरेभ्य. क्षान्तिक्षमास्थविराः अनन्तगुणविशिष्टा इति गोशाले जगवदुक्ति. । भ० १५ श० । प० त्रा० । (स्थविरो गोचरचर्यायै उपकरणान्यपि नयेदिति ' उवहि ' शब्दे द्वितीयभागे १०७० पृष्ठे गतम्)

थविरकंचुइज्ज-स्थविरकञ्चुकीय-पुं० । अन्त'पुरप्रयोजननिवेदके प्रतीहारे, ज्ञ० ए श० ३३ उ० ।

थविरकप्प-स्थविरकल्प-पुं० । ६ त० । आचार्याऽऽदीनां गच्छप्रतिबद्धाना सामाचार्याम्, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

क पुनरसौ स्थविरकल्पक्रम ?, इत्याह-

पव्वज्जा सिक्खावय-मत्थग्गहणं च अनियओ वासो ।
निप्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिई चेव ॥ ७ ॥

इह स्थविराणामयं क्रम -यदुत प्रथम तावद्योग्याय विनीतशिष्याय विधिवद्दापिताऽऽलोचनाय प्रशस्तेषु द्रव्याऽऽदिषु स्वयं गुणसुस्थितेन गुरुणा विधिनैव प्रव्रज्या प्रदातव्या । ततः शिक्षापदमिति शिक्षाया. पद स्थान शिक्षापदम्, शिक्षैव वा पद स्थान शिक्षापदम्; विधिना प्रव्रजितस्य शिष्यस्य ततः शिक्षाऽधिकारो भवतीत्यर्थ । सा च शिक्षा द्विविधा-ग्रहणशिक्षा, आसेवनाशिक्षा च । तत्र द्वादश वर्षाणि यावत्सूत्र त्वयाऽध्येतव्यमित्युपदेशो ग्रहणशिक्षा । आसेवनाशिक्षा तु-प्रत्युपेक्षणाऽऽदिक्रियोपदेश । आह च-"सा पुण दुविहा सिक्खा, गहणे आसेवणे य णायव्वा । गहणे सुत्ताहिज्जण, आसेवणे पच्चुवेक्खाई ॥१॥ " अन्ये तु-शिक्षाशब्दाद् व्रतमिति पद पृथक् कृत्वा व्रतमिति कोऽर्थः?-शिक्षाऽनन्तर रात्रिभोजनविरमणषष्ठेषु पञ्चसु महाव्रतेषूपस्थाप्यते शिष्य , इत्येतदपि द्वितीय व्याख्यान कुर्वन्ति , एतच्च कल्पचूर्ण्यां चिरन्तनटीकायां च न दृष्टमित्यस्माभिरुपेक्षितम् । तत सूत्रेऽधीते यद्विनेय कार्यते, तदाह-(अत्थग्गहण च त्ति) द्वादश वर्षाण्यधीतसूत्र भणसावर्थग्रहण कार्यते, तस्य पूर्वाधीतसूत्रस्य द्वादश वर्षाणि यावदेषोऽर्थ आहात इत्यर्थः । यथाहि -हलारघट्टगन्त्र्यादिमुक्तो बुभुक्षितो वलीवर्दः प्रथम तावच्छोभनमशोभन वा तृणाऽऽदिकमास्वादमनवगच्छन्नपि सर्वमभ्यवहरति, पश्चाच्च रोमन्थावस्थाया तदास्वादमवगच्छति, एव विनेयोऽर्थमनवबुध्यमानोऽपि द्वादश वर्षाणि सर्वं सूत्रमधीते, अर्थानवगमाभावे च तत्तस्यानास्वाद भवति, अर्थग्रहणावस्थायां तु तदवगमात्सुस्वादमाप्यायक च जायते, अतोऽधीतसूत्रेण द्वादश वर्षाण्यवश्यमर्थ' श्रोतव्य. । यथा वा-कृषीवल शाल्यादिधान्य प्रथम वपति, ततः पालयति, लुनाति, मलति, पुनीते, गृहमानयति, पश्चात्तु निराकुलचित्तस्तदुपभोग करोति,तदभावे वपनाऽऽदिपरिश्रमस्य निष्फलत्वप्रसक्तात्, एव शिष्योऽपि सूत्रमधीत्य यदि तदर्थ नाभ्य-

गुयात्,तदा तदध्ययनप्रयासो विफल एव स्यात्; तस्मात्सूत्राध्ययनानन्तरमवश्यमेव द्वादश वर्षाणि तदर्थः श्रोतव्यः । तस्मादयत एव स्थविरकल्पक्रमो-यदुत प्रथम प्रव्रज्या,ततः सूत्राध्ययनं, ततोऽर्थग्रहणमिति । अतोऽनुयोगप्रदानकर्मण्येवाधिकार इत्येव प्रस्तुतमभिसबध्यते । सूत्राध्ययनानन्तरभावी हि तदर्थव्याख्यानरूप. स्थविरकल्पक्रमप्रष्ठोऽनुयोग एवाऽऽद्यस्य कस्य शास्त्रकृता वक्तुमारब्ध', अतः सूत्राध्ययनकालस्यातिक्रान्तत्वेनेह विवक्षितत्वादनुयोगस्यैवाऽभिधित्सितत्वात् तत्प्रधानकर्मण्येवाधिकार इति भाव. । एतावच्चास्यां गाथायां प्रकृतोपयोगि । यत् पुनरन्यद्व्याख्यास्यते-" अनियश्रो वासो । निप्फत्ती य विहारो " इत्यादि, तत्प्रासङ्गिकमित्यवगन्तव्यम् । तत्र (अनियश्रो वासो त्ति) ततोऽस्य गृहीतसूत्रार्थस्य शिष्यस्याऽनियतो वास क्रियते,ग्रामनगरसन्निवेशाऽऽदिष्वनियतनिवासेनैव गृहीतसूत्रार्थं शिष्यो यद्याचार्यपदयोग्य',तदा जघन्यतोऽपि सहायद्वय दत्त्वाऽऽत्मतृतीयो द्वादश वर्षाणि यावन्नानादेशदर्शन नियमेन कार्यत इत्यर्थ , आचार्यपदाऽनर्हस्य त्वनियमः। आचार्यपदार्होऽपि किमिति देशदर्शन कार्यत इति?, चेत्। उच्यते-स हि नानादेशेषु पर्यटस्तीर्थकराणां जन्माऽऽदिदिभूमीः पश्यति, ताश्च दृष्ट्वा अत्र जाताः, इह दीक्षां प्रतिपन्ना', अस्मिंश्च देशे निर्वृता भगवन्त ,इत्याद्यध्यवसायतो हर्षातिरेकात्तस्य सम्यक्त्वस्थैर्य भवति, अन्येषां च स पश्चाद तत्स्थिरतामुत्पादयति,श्रुताऽऽद्यतिशायिनश्चाऽऽचार्याऽऽदीन्नानास्थानेषु पश्यत. सूत्रार्थेषु सामाचार्यां चाऽस्य विशेषोपलम्भो भवति, नानादेशभाषासमाचारांश्चैव बुद्ध्यते, ततश्च तत्तद्देशजानामपि विनेयानां तत्तद्भाषया धर्म कथयति, तत. प्रतिबोध्य तान् प्रव्राजयति, पूर्वप्रव्रजितास्तु तदुपसपद प्रतिपद्यन्ते, निःशेषाऽस्मद्भाषासमाचारकुशलोऽयमिति शिष्याणा तदुपरि प्रीतियोगश्च जायते, इत्यादिगुणदर्शनादनियतवास । (निप्फत्ती य त्ति) एवं चाऽनियतवासेन द्वादश वर्षाणि पर्यटतस्तस्याऽऽचार्यपदार्हस्य शिष्यत्वेनाऽऽत्मनो निष्पत्तिर्भवति, अन्येषा च प्रभूतशिष्याणां तदन्तिके निष्पत्तिर्जायत इति । (विहारो त्ति) एव शिष्यत्वेन निष्पत्तौ, सूरिपदे च प्राप्ते, स्वपरोपकारकरणेन दीर्घे च पर्याये परिपालिते, अन्यस्मिंश्च योग्यशिष्ये आचार्यपदे व्यवस्थापिते ततोऽनन्तर विहरण विशेषेण भगवदभिहितमार्गे पराक्रमणं विहारो विशेषानुष्ठानरूपोऽनेन कर्त्तव्यः । स च द्विविधः-भक्तपरिज्ञेङ्गिनीपादपोपगमनलक्षणमभ्युद्यतमरण, जिनकल्पपरिहारविशुद्धिककल्पयथालन्दिककल्पप्रतिपत्तिर्वा । अस्मिंश्च द्विविधेऽपि विहारे सामाचारी ज्ञात्वाऽनुष्ठेया । सा चाऽऽद्ये मरणलक्षणे विहारे-

" निप्फाइया य सीसा, सउणी जह अंडय पयत्तेण ।
बारस संवच्छरियं, सो सलेहं अह करेइ ॥ १ ॥
चत्तारि विचित्ताइं, विगईनिज्जूहियाइँ चत्तारि ।
संवच्छरे उ दोन्नि उ, एगतरियं च आयामं ॥ २ ॥
नाइविगिट्ठो य तवो, छम्मासे परिमिअं च आयामं ।
अन्ने वि य छम्मासे, होइ विगिट्ठ तवोकम्मं ॥ ३ ॥
वास कोडीसहियं, आयाम कट्टु आणुपुव्वीए ।
गिरिकंदर तु गतुं, पायवगमणं अह करेइ ॥ ४ ॥ "

इत्यादिका ज्ञातव्या. । द्वितीये तु विहारे जिनकल्पाऽऽदिप्रतिपत्तौ सामाचारी निर्दिश्यते-तत्र जिनकल्पाऽऽदिप्रतिपित्सुना आदावेव पूर्वापररात्रकाले तावदिदं चिन्तनीयम्—विशुद्धचारित्राऽनुष्ठानेन कृतं मयाऽऽत्महितम्, शिष्याद्युपकारतः परहित च, निष्पन्नाश्चेदानीं मम गच्छपरिपालनक्षमाः शिष्याः, ततो विशेषेणैव साम्प्रतं ममाऽऽत्महितमनुष्ठातुमुचितमिति, विचिन्त्य चेद सति परिज्ञाने आत्मीयमायुःशेष स्वयमेव पर्यालोचयति, तदभावेऽन्यमतिशयिनमाचार्याऽऽदिक पृच्छति, तत्र स्तोके स्वायुषि भक्तपरिज्ञाऽऽदीनामन्यतरन्मरणं प्रतिपद्यते । अथ दीर्घमायु , केवल जङ्घाबलपरिक्षीण., तदा वृद्धवास स्वीकुरुते, पुष्टायां तु शक्तौ जिनकल्पाऽऽदिप्रतिपत्तिमुररीकरोति । तत्र जिनकल्प प्रतिपित्सुना प्रथममेव तावत्पञ्चभिस्तुलनाभिरात्मा तोलनीय. । तद्यथा-

" तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य ।
तुलणा पचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ " ॥ १ ॥

तुलना,भावना,परिकर्म चेत्येकार्थानि । तत्राऽऽचार्योपाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणावच्छेदकलक्षणा. प्रायः पञ्चैव जना प्रशस्ताभिरेताभि पञ्चभिर्भावनाभिर्जिनकल्प प्रतिपित्सवः प्रथममेवाऽऽत्मान भावयन्ति । अप्रशस्तास्तु कन्दर्पदेवकिल्बिषिकाऽऽभियोगिकासुरसमोहस्वरूपाः पञ्च भावना सर्वथा दूरतः परित्यजन्ति । तत्र तपसाऽऽत्मान भावयस्तथा बुभुक्षा पराजयते यथा देवाऽऽद्युपसर्गाऽऽदिनाऽनेषणाऽऽदिकरणतो यदि षण्मासान् यावदाहार न लभते,तथाऽपि न बाध्यते । सत्त्वभावनया तु भय पराजयते । तत्र भयजयार्थ रात्रौ सुप्तेषु शेषसाधुषूपाश्रय एव कायोत्सर्ग कुर्वत. प्रथमा सत्त्वभावना भवति । द्वितीयाऽऽदिकास्तूपाश्रयबाह्याऽऽदिप्रदेशेषु । आह च-"पढमा उवस्सयम्मी, बीया बाहिं तइयचउक्कम्मि । सुण्णहरम्मि चउत्थी, अह पचमिया मसाणम्मि ॥ १ ॥ " सूत्रभावनया तु स्वनामवत् सूत्र परिचितं तथा करोति यथा रात्रौ दिवा चोच्छ्वास-प्राण-स्तोक-लवमुहूर्त्ताऽऽदिक काल सूत्रपरावर्त्तनानुसारेणैव सर्वं सम्यगवबुध्यते, एकत्वभावनया चाऽऽत्मान भावयन् सङ्घाटकसाध्वादिना सह पूर्वप्रवृत्तानालापसूत्रार्थसुखदुःखाऽऽदिप्रश्नमिथ.कथाऽऽदिव्यतिकरान् सर्वानपि परिहरति, ततो बाह्यममत्वे मूलत एव व्यवच्छेदिते पश्चाद्देहोपध्यादिभ्योऽपि भिन्नमात्मान पश्यन् सर्वथा तेष्वपि निरभिष्वङ्गो भवति । (अत्रोदाहरणम्-' एगत्तभावणा ' शब्दे तृतीयभागे १२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) बलभावनाया यत्र द्विविधम्-शारीर, मानसधृतिबल च । तत्र शारीरमपि बल जिनकल्पार्हस्य शेषजनाऽतिशायिकमेष्टव्यम, तपःप्रभृतिभिस्त्वपकृष्यमाणस्य यद्यपि शारीर बल तथाविध न भवति,तथाऽपि धृतिबलेनाऽऽत्मा तथा भावयितव्यो यथा महद्भिरपि परीषहोपसर्गैर्न बाध्यते । एताभिः पञ्चभिर्भावनाभिर्भाविताऽऽत्मा जिनकल्पिकप्रतिरूपो गच्छेऽपि प्रतिवसन्नाहाराऽऽदिपरिकर्म प्रथममेव करोति, तत्राऽऽहारे तृतीयपौरुष्यामवगाढाया वल्लचणकाऽऽदिकमन्त प्रान्त रूक्ष च । " संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धड तह होइ अप्पलेवा य । उग्गहिआ पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया " ॥१॥ एतासा सप्ताना पिण्डैषणाना मध्ये आद्यद्वयवर्जं शेषपञ्चाना मध्यादन्यतरैषणाद्वयाभिग्रहेणाऽऽहारं गृह्णाति,एकया भक्तम्, अपरया त्वेषणया पानकमिति । एवमाद्याऽऽगमोक्तविधिना गच्छान्तर्गतः पूर्वमेवाऽऽत्मान परिकर्म्य ततो जिनकल्प प्रतिपित्सु. सङ्घ मीलयति, तदभावे स्वगण तावदवश्यमाह्वयते, ततस्तीर्थकरसमीपे, तदभावे गणधरसन्निधाने, तदसत्त्वे चतुर्दशपूर्वधरान्तिके, तदसम्भवे दशपूर्वधराऽभ्यर्णे, तदलाभे तु

वटाश्वत्थाऽशोकवृक्षाऽऽदीनामासत्तौ जिनकल्पमभ्युपगच्छति, निजपदव्यवस्थापितं सूरिम्, सबालवृद्धं गच्छं, विशेषतः पूर्वविरुद्धांश्च क्षमयति । तद्यथा-

"जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु भे वट्टियं मए पुव्विं ।
तं भे ! खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओ य ॥ १ ॥
आणंदमंसुपायं, कुणमाणा ते वि भूमिगयसीसा ।
खामंति तं जहरिहं, जहारिहं खामिया तेण ॥ २ ॥
खामेंतस्स गुणा खलु, निस्सल्लयविणयदीवणा मग्गे ।
लाघवियं एगत्तं, अप्पडिबंधो य जिणकप्पे ॥ ३ ॥"

निजपदस्थापितसूरिप्रभृतीनामनुशास्तिं प्रयच्छति । तद्यथा-

"पालिज्ज सगणमेयं, अप्पडिबद्धो य होज्ज सव्वत्थ ।
एसो हु परंपरओ, तुमं पि अंते कुणसु एवं ॥ १ ॥
पुव्वपवत्तं विणयं, मा हु पमाएहि विणयजोग्गेसु ।
जो जेण पगारेणं, उवजुज्जइ तं च जाणाहि ॥ २ ॥
ओमो समराइणिओ, अप्पतरसुओ य मा एएणं तुब्भे ।
परिभवह एस तुम्ह वि, विसेसओ संपयं पुज्जो ॥ ३ ॥"

इत्यादि शिक्षां दत्त्वा गच्छाद्विनिर्गते चक्षुर्गोचराऽतीते तस्मिन्नानन्दिताः साधवः प्रतिनिवर्तन्ते । उक्तं च-

"पक्खी व पत्तसहिओ, समभंडो वच्चए निरवइक्खो ।
धीरो घणवंदाओ, नीहरिओ विज्जुपुंजो व्व ॥ १ ॥
सीहम्मि व मंदरकं-दराउ गच्छा विणिग्गए तम्मि ।
चक्खुविसयमइगए, अ इंति आणंदिया साहू ॥ २ ॥
भासोएउ खेत्तं, निव्वाघाएण मासनिव्वाहिं ।
गंतूण तत्थ विहरे, साहू पडिवन्नजिणकप्पो ॥ ३ ॥"

एवं च प्रतिपन्नजिनकल्पो यत्र ग्रामे मासकल्पं, चतुर्मासकं वा करिष्यति, तत्र षड् भागान् कल्पयति । ततश्च यत्र भागे एकस्मिन् दिने गोचरचर्यायां हिण्डितस्तत्र पुनरपि सप्तम एव दिवसे पर्यटति, भिक्षाचर्यां ग्रामान्तरगमनं च तृतीयपौरुष्यामेव करोति, चतुर्थपौरुषी च यत्रावगाहते, तत्र नियमादवतिष्ठते । भक्तं पानकं च पूर्वोक्तैषणाद्वयाभिग्रहेणालेपकृदेव गृह्णाति । एषणाऽऽदिविषयं मुक्त्वा न केनाऽपि सार्द्धं जल्पति । एकस्यां च वसतौ यद्यप्युत्कृष्टतः सप्त जिनकल्पिकाः प्रतिवसन्ति, तथाऽपि परस्परं न भाषन्ते । उपसर्गपरीषहान् सर्वानपि सहत एव, रोगेषु चिकित्सां न कारयत्येव, तद्वेदनां तु सम्यगेव विषहते, आपातसंलोकाऽऽदिदोषरहित एव स्थण्डिले उच्चाराऽऽदीन् करोति, नाऽस्थण्डिले, "अममत्त अपरिकम्मा, णियमा जिणकप्पियाण वसहीओ । एमेव य थेराणं, मोत्तूण पमज्जणं एक्कं ॥ १ ॥" इति वचनात्परिकर्मरहितायां वसतौ तिष्ठति, यद्युपविशति तदा नियमादुत्कुटुक एव, न तु निषद्यायाम्, औपग्रहिकोपकरणस्यैवाभावादिति । मत्तकरिव्याघ्रसिंहाऽऽदिके च सम्मुखे समापतत्युन्मार्गगमनाऽऽदिना ईर्यासमितिं न भिनत्ति, इत्याद्यन्याऽपि जिनकल्पिकानां सामाचारी समयसमुद्रादवगन्तव्या । (ठिई चेव त्ति) तथा पूर्वोक्ते द्विविधेऽपि विहारे स्थितिः श्रुतसंहननाऽऽदिका ज्ञातव्या । तथाहि-जिनकल्पिकस्य तावज्जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारवस्तु, उत्कर्षतस्त्वसंपूर्णानि दशपूर्वाणि श्रुतं भवति । प्रथमसंहननो वज्रकुड्यसमानावष्टम्भश्चायं भवति । स्वरूपेण पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु, संहृतस्त्वकर्मभूमिष्वपि भवति । उत्सर्पिण्यां भवतस्तृतीयचतुर्थारकयोरेव, जन्ममात्रेण तु द्वितीयारकेऽपि, अवसर्पिण्यां तु जन्मना तृतीयचतुर्थारकयोरेव, भवतस्तु पञ्चमारकेऽपि, संहरणेन तु सर्वस्मिन्नपि काले प्राप्यते । प्रतिपद्यमानकः सामायिकच्छेदोपस्थापनीयचारित्रयोः, पूर्वप्रतिपन्नस्तु सूक्ष्मसंपरायथाख्यातचारित्रयोरप्युपशमश्रेण्यामवाप्यते । प्रतिपद्यमानानामुत्कृष्टतः शतपृथक्त्वम्, पूर्वप्रतिपन्नानां तु सहस्रपृथक्त्वं जिनकल्पिकानां लभ्यते । जिनकल्पिकः प्रायोऽपवादं नासेवते, जङ्घाबलपरिक्षीणस्त्वविहरमाणोऽप्याराधकः । आवश्यकीनैषेधिकीमिथ्यादुष्कृतगृहिविषयपृच्छोपसंपल्लक्षणाः पञ्च सामाचार्योऽस्य भवन्ति, न त्विच्छाऽऽदयः । अन्ये त्वाहुः-आवश्यकीनैषेधिकीगृहस्थोपसंपल्लक्षणास्तिस्र एव भवन्ति, आरामाऽऽदिनिवासिन ओघतः पृच्छाऽऽदीनामप्यसंभवादिति । लोचं चाऽसौ नित्यमेव करोति, इत्येवमाद्यपराऽपि स्थितिर्जिनकल्पिकानामागमादवसेया । परिहारविशुद्धिककल्पसामाचार्यादिवक्तव्यताऽत्रैव ग्रन्थे पुरस्ताद्वक्ष्यते ।

यथालन्दिकानां तु-"तवेण सत्तेण सुत्तेण" इत्यादिका भावनाऽऽदिवक्तव्यता यथा जिनकल्पिकानाम् । यस्तु विशेषः स लेशतः प्रोच्यते-तत्रोदकार्द्रः करो यावता शुष्यति, तत आरभ्योत्कृष्टतः पञ्चरात्रिन्दिवानि यावत्कालोऽत्र समयपरिभाषया लन्दमित्युच्यते । ततश्च पञ्चरात्रिन्दिवलक्षणस्योत्कृष्टस्य लन्दस्याऽनतिक्रमेण चरन्तीति यथालन्दिकाः । पञ्चको हि गणोऽमुकं कल्पं प्रतिपद्यते । ग्रामं च गृहपङ्क्तिरूपाभिः षड्भिर्वीथीभिर्जिनकल्पिकवत्परिकल्पयन्ति, किं त्वेकैकस्यां वीथ्यां पञ्च पञ्च दिनानि पर्यटन्तीत्युत्कृष्टलन्दचारिणो यथालन्दिका उच्यन्ते । एते च प्रतिपद्यमानका जघन्यतः पञ्चदश भवन्ति, उत्कृष्टतस्तु सहस्रपृथक्त्वम् । पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यतः कोटिपृथक्त्वम्, उत्कृष्टतोऽपि कोटिपृथक्त्वं भवन्ति । एते च यथालन्दिका द्विविधा भवन्ति-गच्छे प्रतिबद्धाः, अप्रतिबद्धाश्च । गच्छे च प्रतिबन्धोऽमीषां कारणतः, किञ्चिदश्रुतस्यार्थस्य श्रवणार्थमिति मन्तव्यमिति । पुनरेकैकशो द्विधा-जिनकल्पिकाः, स्थविरकल्पिकाश्च । ये जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते जिनकल्पिकाः, ये तु पुनरपि स्थविरकल्पं समाश्रयिष्यन्ते ते स्थविरकल्पिकाः । एतेषां च स्थविरकल्पिकजिनकल्पिकभेदभिन्नानां यथालन्दिकानां परस्परमयं विशेषः । यदाह-

"थेराण नाणत्तं, अतरंत अप्पिणंति गच्छस्स ।
गच्छे निरवज्जेणं, करेंति सव्वं पि पडिकम्मं ॥ १ ॥
एक्केक्कपडिग्गहगा, सप्पाउरणा हवंति थेरा उ ।
जेसिं उण जिणकप्पे, न य तेसिं वत्थपायाणि ॥ २ ॥
निप्पडिकम्मसरीरा, अवि अच्छिमलं पि नेव अवणिंति ।
विसहंति जिणा रोगं, कारेंति कयाइ न तिगिच्छं ॥ ३ ॥"

इत्यलं विस्तरेण । तदर्थिना तु कल्पग्रन्थोऽन्वेषणीय इति (७)। विशे० । (संक्षेपत एष स्थविरकल्पः) (विस्तरतस्तु 'अहालंद' शब्दे प्रथमभागे ८६६ पृष्ठे प्रतिपादितः) (शेषाणि तु सर्वाण्यपि जिनकल्पतुल्यवक्तव्यान्येवेत्युक्तं शुद्धपरिहारनानात्वम्)(विहारद्वारं 'विहार' शब्दे वक्ष्यते) (स्थापनाकल्पविधिः 'ठवणाकुल' शब्दे तृतीयभागे १६८६ पृष्ठे गतः)

यदि ज्ञानाऽऽदिपुष्टालम्बनं भवति तदा चिकित्साऽऽदिविधानान् न सहन्ते, इतरथा न सम्यगदीनमनसः सहन्ते इति-

दुविहं पि वेयणं ते, निक्कारणओ सहंति जइया वा ।

अममत्त अपरिकम्मा, वसही वि पमज्जणं मोत्तुं ॥ ७६३॥

द्विविधामप्याभ्युपगमिकीमौपक्रमिकीं च वेदनां निष्कारणतः सहन्ते, भाज्या वा असहिष्णुत्वाऽऽदिकारणवशतो न सहन्तेऽपीति भावः। तथा वसतिरपि तेषाममतत्वा ममेयमित्यभिष्वङ्गरहिता। "अपरिकम्मा" उपलेपनाऽऽदिपरिकर्मवर्जिता। किं सर्वथैव ?, नेत्याह-प्रमार्जनामेका मुक्त्वा, कारणे तु सममत्वा सपरिकर्माऽपि भवति, परिणतचारित्राणा शैक्षाऽऽदीनां ममेयमित्यभिष्वङ्गविधानात् सममत्वा सपरिकर्मा त्वपरिकर्माया वसतेरलाभे द्रष्टव्या।

अथ विशेषमाह-

तिगमाईया गच्छा, सहस्स-वत्तीसई उसभसेणे ।
थंडिल्ल पि य पढमं, वयंति सेसे वि आगाढे ॥ ७७४ ॥

त्रिकाऽऽदयस्त्रिचतुःप्रभृतिपुरुषपरिमाणा गच्छा भवेयुः। किमुक्तं भवति?-एकस्मिन् गच्छे जघन्यतस्त्रयो जना भवन्ति, गच्छस्य साधुसमुदायरूपत्वात्, तस्य च त्रयाणामधस्तादभावादिति। तत ऊर्ध्वं ये चतुः पञ्चप्रभृतिपुरुषसंख्याका गच्छास्ते मध्यमपरिमाणतः प्रतिपत्तव्यास्तावद्यावदुत्कृष्टं परिमाणं न प्राप्नोति। किं पुनस्तदिति चेत् ?, अत आह-(सहस्सवत्तीसई उसभसेणे त्ति) द्वात्रिंशत्सहस्राण्येकस्मिन् गच्छे उत्कृष्टं साधूनां परिमाणं, यथा श्रीऋषभस्वामिप्रथमगणधरस्य भगवत ऋषभसेनस्येति । तथा स्थण्डिलमपि प्रथमम्-अनापातमसंलोकमेतद्गच्छवासिनो व्रजन्ति । आगाढे तु भावासन्नताऽऽदौ कारणे शेषाण्यपि अनापातसंलोकप्रभृतीनि स्थण्डिलानि गच्छन्ति।

कियच्चिरमिति द्वारं विशेषयन्नाह-

केच्चिर कालं वसिहिह, ण ठंति निक्कारणम्मि इइ पुट्ठा ।
अन्नं वा मग्गंती, ठविंति साहारणमलंभे ॥ ७६५ ॥

कियच्चिरं कालं यूयमस्यां वसतौ वत्स्यथेति पृष्टाः सन्तो निष्कारणे न तिष्ठन्ति, किं तु क्षेत्रान्तरं गच्छन्ति। अथ बहिरशिवाऽऽदीनां कारणानि, ततस्तत्रैव क्षेत्रे अन्यां वसतिं मार्गयन्ति। अथ मृग्यमाणाऽप्यन्या न लभ्यते, ततः साधारणं वचनं स्थापयन्ति, यथा निर्व्याघाते तावद् वयं मासं यावद् तिष्ठामहे, व्याघाते तु हीनाधिकमलाघवार्थम्।

शेषद्वाराणि तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशन्नाह-

एमेव सेसएसु वि, केवइया वसिहिह त्ति जा णेयं ।
निक्कारणे पडिसेहो, कारणे जयणं तु कुव्वंति ॥७७६॥

एवमेव कियच्चिरद्वारवत्, शेषेष्वपि उच्चारप्रस्रवणाऽऽदिषु कियद्द्वारेषु, कियन्तो वत्स्यथेति द्वारं यावज्ज्ञेयम्। किमित्याह-एतेष्वपि निष्कारणे प्रतिषेधो, न वसन्तीति भावः। कारणे तु यतनां कुर्वन्ति। किमुक्तं भवति?-यदि तिष्ठतामुच्चारप्रस्रवणयोः परिष्ठापनमकाले फलिहकाभ्यन्तरतो नानुजानन्तीत्यतस्तत्र न तिष्ठन्ति। अथाशिवाऽऽदिभिः कारणैस्तिष्ठन्ति तत उच्चारप्रस्रवणे वा मात्रकेषु व्युत्सृज्य बहिः परिष्ठापयन्ति। एवमवकाशाऽऽदिष्वपि द्रष्टव्यं, नवरमवकाशे यत्र प्रदेशे उपवेशनभाजनधावनाऽऽदि नानुज्ञातं,तत्र नोपदिशन्ति। कमवकाऽऽदिषु च भाजनानि यावन्ति,तृणफलकान्यपि यानि नानुज्ञातानि, तानि न परिभुञ्जते। सरक्षता नाम-यत्र तिष्ठतामगारिणो भणन्ति गवाऽऽदिभिर्भज्यमानां वसतिमन्यद्वा समीपवर्ति गृहं सरक्षत,तत्राऽप्यशिवाऽऽदिभिः कारणैः तिष्ठन्तो भणन्ति-यदि वयं तदानीं द्रक्ष्यामस्ततो रक्षिष्याम इति। संस्थापनता नाम-वसतेः संस्कारकरणं, तस्यामपि नियुक्ता भणन्ति-वयमकुशला. संस्थापनाकर्मणि कर्तव्ये, सप्राभृतिकायामपि वसतौ कारणतः स्थिता देशतः सर्वतो वा क्रियमाणायां प्राभृतिकायां स्वकीयमुपकरणं प्रयत्नेन सरक्षन्ति, यावत्प्राभृतिका क्रियते तावदेकस्मिन् पार्श्वे तिष्ठन्ति, सदीपायां साग्निकायां वसतौ कारणे स्थिता आवश्यकं बहिः कुर्वन्ति। अवधानं नाम-यदि गृहस्थाः क्षेत्राऽऽदि गच्छन्तो भणन्ति-अस्माकमपि गृहेषूपयोगो दातव्यो, मा शुनस्तेनकाऽऽदयः प्रविश्योपद्रवं कार्षुरिति, तत्रापि कारणे स्थिताः स्वयमेवावधानं ददति, अनुपस्थापितशैक्षैर्वा दापयन्ति। यत्र च कति जना वत्स्यथेति पृष्टे सति कारणतस्तिष्ठद्भिः परिमाणनियमः कृतः-एतावद्भिः स्थातव्यं नाधिकैः, ततो यद्यन्ये प्राघूर्णकाः समागच्छन्ति तदा तेषामेव स्थापनाय भूयोऽप्यनुज्ञापनीयः सागारिकः, यद्यनुजानाति, ततः सुन्दरमेव, अथ नानुजानाति, ततोऽन्यस्यां वसतौ स्थापनीयास्ते प्राघूर्णका इति।

भिक्षाचर्याऽऽदीनामवशिष्यमाणद्वाराणां विशेषमाह-

निययाऽनियया भिक्खा-यरिया पाणऽप्पलेवऽलेवामं ।
अंबिलमणंबिलं वा, पडिमा सव्वा वि अविरुद्धा ।७७७।

भिक्षाचर्या नियता कदाचिदाभिग्रहिकी,अनियता कदाचिदनाभिग्रहिकी, पानमल्पं वा लेपकृतं च भवेदलेपकृद्वा, द्राक्षाचिञ्चापानकाऽऽदि तक्रतीमनाऽऽदिकं च लेपकृत सौवीराऽऽदिकं, वल्लचणकाऽऽदिकं चालेपकृतमाचाम्लमनाचाम्लं वा द्वयमपि कुर्वन्ति, प्रतिमाश्च मासिक्यादिका भद्राऽऽदिका वा सर्वा अप्यमीषामविरुद्धा इति। उक्तं सामाचारीद्वारम्।

अथ स्थितिद्वारमभिधित्सुर्द्वारगाथाद्वयमाह-

खेत्ते काले चरित्ते, तित्थे परियाए आगमे वेए ।
कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिगहा य ॥ ७६८ ॥
पव्वावण मुंडावण, मणसाऽऽवन्ने उ नत्थि पच्छित्तं ।
कारणे पडिकम्मम्मि य, भत्तं पंथो य भयणाए ॥७७७॥

क्षेत्रे काले चरित्रे तीर्थे पर्याये आगमे वेदे कल्पे लिङ्गे लेश्यायां ध्याने गणनायाम, एतेषु स्थितिर्वक्तव्या। अभिग्रहाश्चामीषामभिधातव्याः। एवं प्रव्राजना, मुण्डापना, मनसाऽऽपन्नेऽप्यपराधे नास्ति प्रायश्चित्तं, कारणे प्रतिकर्मणि च स्थितिः भक्तपन्थानश्च भजनया। इति गाथाद्वयसमुदायार्थः।

अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं विभणिषुराह-

पन्नरस कम्मभूमिसु, खेत्तऽद्धोसप्पिणी य तिसु होज्जा ।
तिसु दोसु य उस्सप्पे, चउरो पलिभाग साहरणा ॥८००॥

क्षेत्रद्वारे जन्मनः, सद्भावतश्च स्थविरकल्पिकाः पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु भरतैरावतविदेहपञ्चकलक्षणासु भवन्ति, संहरणतः पञ्चदशानां कर्मभूमीनां त्रिंशतामकर्मभूमीनामन्यतरस्यां भूमौ भवेयुः, अद्धा कालः, तमङ्गीकृत्यावसर्पिण्यां जन्मतः, सद्भावतश्च त्रिषु तृतीयपञ्चमारकेषु भवेयुः । (तिसु दोसु

य उस्सप्पे त्ति) उत्सर्पिण्यां जन्मतस्त्रिषु द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु आरकेषु, सद्भावतस्तु द्वयोस्तृतीयचतुर्थारकयोर्भवन्ति, नोअवसर्पिण्युत्सर्पिणीकाले जन्मत, सद्भावतश्च दुःषमसुषमाप्रतिभागे भवन्ति। संहरणतस्तु चत्वारोऽपि प्रतिभागा अमीषां विषयतया प्रतिपत्तव्या । तद्यथा-सुषमसुषमाप्रतिभाग, सुषमप्रतिभाग, सुषमदुःषमाप्रतिभाग, दुःषमसुषमाप्रतिभागश्चेति ।

पढमविइएसु पमिव-ज्जमाण इयरे उ सव्वचरणेसु ।
नियमा तित्थे जम्म-ऽट्ठ जहन्ने कोमि उक्कोसे ॥८०१॥
पव्वज्जाएँ मुहुत्तो, जहन्नमुक्कोसिया उ देसूणा ।
आगमकरणे भइया, ठियकप्पे अट्ठिए वा वि ॥८०२॥

प्रतिपद्यमानका अमी प्रथमे वा सामायिकाऽऽख्ये, द्वितीये वा छेदोपस्थापनीयाऽऽख्ये चारित्रे भवेयुः। इतरे नाम-पूर्वप्रतिपन्ना, ते सर्वेष्वपि चरणेषु भवन्ति, सामायिकाऽऽदिषु यथाख्यातपर्यन्तेष्विति भाव.। तथा नियमादमी तीर्थे भवन्ति, नातीर्थे। पर्यायो द्विधा-गृहपर्याय, प्रव्रज्यापर्यायश्च । तत्र गृहपर्यायो जघन्यतो जन्मत आरभ्याऽष्टौ वर्षाणि, उत्कर्षत. पूर्वकोटी। प्रव्रज्यापर्यायो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त, तदनन्तर मरणात्प्रतिपाताद्वा। उत्कर्षतस्तु देशोना पूर्वकोटी। आगमोऽपूर्वश्रुताध्ययनं, तस्य करणे भाज्या-अमी कुर्वन्ति वा, न वा तमिति भाव.। कल्पद्वारे-स्थितकल्पे वा अस्थितकल्पे वा भवेयु.। वेदद्वार सुज्ञानत्वान्नात्र्यकृता न भावितम्। इत्थं तु द्रष्टव्यम्-वेदः स्त्रीपुनपुसकभेदात् त्रिविधोऽप्यमीषां प्रतिपत्तिकाले भवेत्। किमुक्त भवति?-पूर्वप्रतिपन्नानां त्ववेदकत्वमपि भवतीति।

लइया उ दव्वलिंगे, पमिवत्ती सुद्धलेसधम्मेहिं ।
पुव्वपमिवन्नगा पुण, लेसाझाणे य अन्नयरे ॥८०३॥

प्रतिपद्यमानकाः, पूर्वप्रतिपन्नकाश्च द्रव्यलिङ्गे भक्ता विकल्पिता.-कश्चित्तन्न भवत्यपीति, भावलिङ्गे तु नियमात्सर्वदैव भवति। तथा प्रतिपत्ति शुद्धलेश्याधर्मध्यानयोर्भवेत्। किमुक्त भवति?-प्रथमतः प्रतिपद्यमानका शुद्धास्वेव तिसृषु लेश्यासु आज्ञाविचयाऽऽद्यौ च धर्मध्याने वर्त्तमानाः प्रतिपत्तव्या.। पूर्वप्रतिपन्नका' पुनः षण्णां लेश्यानामन्यतरस्यां लेश्यायामार्त्ताऽऽदीनां च ध्यानानामन्यतरस्मिन् ध्याने भवेयु.। बृ० १ उ०।

अथैताभिर्भावलेश्याभिरुपचितस्य कर्मण. कथमुदयो भवति ?, इत्याह-

जं चिज्जए उ कम्मं, जं लेसं परिणतस्स तस्सुदए ।
असुभो सुभो व गीतो, अपत्थपत्थन्नउदओ व्व ॥८०४॥

(ज लेस ति) सप्तम्यर्थे द्वितीया। ततोऽयमर्थ.-यस्यां कृष्णाऽऽदीनामन्यतरस्या लेश्यायां परिणतस्य जीवस्य यदशुभ शुभ वा कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदि चीयते। कर्मकर्त्तर्यय प्रयोगः, चय बन्धमुपगच्छतीत्यर्थ.। तस्यैवमशुभरूपतया, शुभरूपतया वा बद्धस्य कर्मण उदयाऽऽवलिकां प्राप्तस्याशुभ., शुभो वा तथाऽनुरूप एवोदयो गीत' सशब्दितस्तीर्थकरै । दृष्टान्तमाह-अपथ्यपथ्यान्नउदय इव । यथा अपथ्यान्न भुक्तवतो ज्वराऽऽदिरोगद्वारेणापथ्य एवोदयो भवति, पथ्यान्न तु भुक्तवतो मुखनासिकाऽऽदिद्वारेण पथ्य', एवं कर्मणोऽपि प्रशस्ताप्रशस्तलेश्यपरिणामबद्धस्य विपाक शुभाशुभो भवतीति ।

अथ गणनाद्वारमाह-

पडिवज्जमाणभइया, एको व सहस्ससो व उक्कोसो ।
कोमिसहस्सपुहत्तं, जहन्न उक्कोसपडिवन्ना ॥८१०॥

स्थविरकल्पस्य प्रतिपद्यमानका भाज्या विवक्षितकाले भवेयु, तत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतो यावत सहस्रपृथक्त्व, पूर्वप्रतिपन्ना. जघन्यतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्व, नवर जघन्यपदादुत्कृष्टपदे विशेषाधिकत्वम्। गत गणनाद्वारम्। बृ० १ उ०।

('अभिगह' शब्दे प्रथमभागे ७१३ पृष्ठेऽभिग्रहा उक्ता.) एते च द्रव्याऽऽदयश्चतुर्विधा अप्यभिग्रहास्तीर्थकरैरपि यथायोग माचीर्णत्वाद्, मोहमदापनयनप्रत्यलत्वाच्च गच्छवासिनां तथाविधसहिष्णुपुरुषविशेषापेक्षया महान्तः कर्मनिबन्धने प्रतिपत्तव्या इति ।

अथ प्रव्राजनामुण्डापनाद्वारे भावयति-

सच्चित्तदवियकप्पं, छव्विहमवि आयरंति थेरा उ ।
कारणओ असहू वा, उवएसं दिंति अन्नत्थ ॥८१७॥

प्रव्राजनामुण्डापनाभ्याम्, उपलक्षणत्वात् षड्विधोऽपि सचित्तद्रव्यकल्पो गृहीतः। तद्यथा-प्रव्राजना, मुण्डापना, शिक्षापना, उपस्थापना, सम्भुञ्जना, सवासना चेति। तमेवविध षड्विधमपि सचित्तद्रव्यकल्पमाचरन्ति स्थविरा गच्छवासिन।(कारणओ त्ति) तथाविधैरनाभाव्यताऽऽदिभिः कारणै, असहिष्णवो वा स्वय वस्त्रपात्राऽऽदिभिर्ज्ञानाऽऽदिभिश्च शिष्याणा सग्रहोपग्रहौ कर्तुमसमर्था उपदेशमन्यत्र गच्छान्तरे, ददति प्रयच्छन्ति-अमुकत्र गच्छे संविग्नगीतार्था आचार्या' सन्ति तेषां समीपे व्रजता दीक्षा प्रतिपत्तव्येति। अथ मनसाऽऽपन्ने नास्ति प्रायश्चित्तम्।

इद व्याख्यानयति-

जीवो पमायबहुलो, पमिवक्खे दुक्करं ठवेउं जे ।
कित्तियमेत्तं वोच्छिति, पच्छित्तं दुग्गतारिणी व ? ॥८१८॥

अय जीवः प्रमादबहुलोऽनादिभवाभ्यस्तप्रमादभावनाभावित., ततः प्रतिपक्षेऽप्रमादे स्थापयितु दुष्कर भवति, दु खेनाप्रमादभावनायां स्थाप्यते इत्यर्थ.। "जे" इति पादपूरणे। अतो दुर्गत स्त्राणिक इव अतिप्रभूत ऋण अतिचपलचित्तसम्भवापराधवशादय प्रमादबहुलो जीव उपदेशमापद्यमान कियन्मात्र प्रायश्चित्तं वक्ष्यति वोढु शक्नोतीति मनसाऽऽपन्नेऽप्यपराधे नास्ति तपःप्रायश्चित्त स्थविरकल्पिकानाम्, आलोचनाप्रतिक्रमणप्रायश्चित्त तु तत्रापि भवत इति मन्तव्यम्। अथ "कारणे पडिकम्मम्मि य ति (७६६)" पद व्याख्यायते-कारणमशिवावमौदर्याऽऽदि, तत्रोत्पन्ने द्वितीयपदमभ्यासेवन्ते। तथा निष्कारणे निष्प्रतिकर्मशरीरा., कारणे तु ग्लानमाचार्यवादिन धर्मकथिक च प्रतीत्य पादधावनमुखमार्जनशरीरसंवाधनाऽऽदिकरणात् सप्रतिकर्माण इति। "भत्तं पथो य भयणाए त्ति (७६६)" भक्त पन्थाश्च भजनया। किमुक्त भवति ?-उत्सर्गत. स्तावत्तृतीयपौरुष्यां भिक्षाटन विहारं कुर्वन्ति। अपवादतस्तु तदानीं भिक्षाया अलाभे काले वा पूर्यमाणे शेषास्वपि पौरुषीष्विति । गत स्थितिद्वारम्।

अथोपसहरन्नाह-

गच्छम्मि य एस विही, नायव्वो होइ आणुपुव्वीए ।
ज एत्थ णाणत्त, तमहं वोच्छं समासेण ॥८१९॥

गच्छे गच्छवासिनामेषोऽनन्तरोक्तो विधिर्ज्ञातव्य आनुपूर्व्या परिपाट्या, यदत्र नानात्वं विशेषस्तदह वक्ष्ये समासेन ।

एतदेव सविशेषमाह-

सामायारी पुणरवि, तेसिं इमा होइ गच्छवासीणं ।
पमिसेहो व जिणाणं, जं जुज्जइ वा तगं वोच्छं ॥८२०॥

सामाचारी पुनरपि तेषां गच्छवासिनां मासकल्पेन विहरतामेषा वक्ष्यमाणा भवति, जिनानां जिनकल्पिनामस्या एव सामाचार्याः प्रतिषेधो वा वक्तव्यः । यद्वा-प्रत्युपेक्षणाऽऽदिक तेषामपि युज्यते तत् किमपि वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

पमिलेहण निक्खमणे, पाहुमिया भिक्ख कप्पकरणे य ।
गच्छ सतिए अ कप्पे, अंविल भरिए अ ऊसित्ते ॥८२१॥
परिहरणा अणुजाणे, पर कम्मे खलु तहेव गेलन्ने ।
गच्छपमिवंधऽहालं-दि उवरि दोसा य अववादे॥८२२॥

प्रथमतः प्रत्युपेक्षणा वक्तव्या, ततो निष्क्रमणम्-कतिवारा उपाश्रयाद् निर्गन्तव्यमिति । प्राभृतिका सूक्ष्मवादरभेदाद् द्विविधा, भिक्षा गोचरचर्या, कल्पकरणं च भाजनस्य धावनविधिलक्षणमित्येतानि वक्तव्यानि । (गच्छ सइए त्ति) शतिकाः शतसङ्ख्यपुरुषपरिमाणा ये गच्छास्तेषु प्रभूतेन पालकेन प्रयोजनं भवेत् । तत्र (कप्पे अंबिल त्ति) कल्प्यं कल्पनीयम्, अम्लं च सौवीरं ग्रहीतव्यम, अनेन सवन्धेन सौवीरिणीसत्कमभिधानीयम् । (भरिए त्ति) तस्याः सौवीरिण्या. सप्तविधं भरणं वाच्यम । (ऊसित्त त्ति) उत्सेचनमुत्सिक्तं, सौवीरस्योत्सिञ्चनमित्यर्थ', तत्स्वरूप च निरूपणीयम । (परिहरण त्ति) नोदक. प्रश्नयिष्यति-यदि साम्प्रतं केष्वपि गच्छेष्वित्थमाधाकर्माऽऽदयो दोषा उद्भवन्ति, तत् पूर्वं सहस्रेषु गच्छेषु साधवः कथमाधाकर्माऽऽदीनां परिहरणं कृतवन्त इति ? । अत्राऽऽचार्यः प्रतिवदयति । अनुयानं रथयात्रा, उपलक्षणत्वात् स्नात्राऽऽदेरपि परिग्रहः । ततो यथा सप्रति रथयात्राऽऽदौ समवसरणे सहस्रसङ्ख्याका अपि साधवो मिलिताः सन्तआधाकर्माऽऽदिकं परिहरन्ति, तथा पूर्वमपि परिहृतवन्त इत्यनेन संवन्धेनानुयानविषयो विधिर्वक्तव्यः । तत. परकर्मस्वरूप निरूपयितव्यम्, खलुर्वाक्यालङ्कारे । तथैव ग्लानविधिः प्रतिपादनीय. । गच्छप्रतिबद्धानां यथालन्दिकानां सामाचारी दर्शनीया । तत उपरि मासकल्पादूर्द्धं तिष्ठतां स्थविरकल्पिकानां दोषा अभिधातव्याः । ततोऽपवादो द्वितीयपदमुपदर्शनीयमिति द्वारगाथाद्वयसमासार्थ' । बृ० १ उ० । (प्रत्युपेक्षणा ' पमिलेहणा ' शब्दे वक्ष्यते)

अथ निष्क्रमणद्वारमाह-

निरवेक्खो तइयाए, गच्छे निक्कारणम्मि तह चेव ।
बहुविक्खेव दसविहे, माविक्खे निग्गमो जइओ ॥ ८२३ ॥

निरपेक्षो जिनकल्पिक. प्रतिमाप्रतिपन्नकाऽऽदिर्गच्छसत्कापेक्षारहितः, स तृतीयस्यामेव पौरुष्यामुपाश्रयाद् निर्गच्छति, गच्छे गच्छवासिनोऽपि साधवो निष्कारणे तथैव निर्गच्छन्ति, तृतीयस्यां पौरुष्यामित्यर्थे । पर गच्छे यदाऽऽचार्योपाध्यायाऽऽदिविषयभेदाद् दशविधं वैयावृत्त्य, तेन यो बहुविधो व्याक्षेप', तेन सापेक्षे गच्छवासिनि निर्गमो भजनीय', कदाचित्तृतीयस्यां, कदाचित्प्रथमद्वितीयचतुर्थीषु वा पौरुषीष्विति ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयति—

गहिए भिक्खं भोत्तुं, सोहिय आवस्स आलयमुवेइ ।
जहिँ णिग्गतो तहिँ चिय, एमेव य खित्तसंकमणे ॥८२४॥

निरपेक्षो भगवान् तृतीयपौरुष्यामुपाश्रयान्निर्गत्य भिक्षामटित्वा गृहीते सति भैक्ष्ये अनापाते असंलोके च स्थाने भुक्त्वा आवश्यकं च सञ्ज्ञाकायिकीलक्षणं शोधयित्वा, यस्यामेव पौरुष्यां निर्गतस्तस्यामेव भूय आलयमुपाश्रयमुपैति, तृतीयस्यामित्यर्थः । एवमेव च क्षेत्रसङ्क्रमणेऽपि द्रष्टव्यम्, क्षेत्रात् क्षेत्रान्तरगमनमपि तृतीयस्यां करोतीति भावः । स्थविरकल्पिका अपि निष्कारणे तृतीयस्यामेव भिक्षामटित्वा प्रतिश्रयमनुद्दिश्य सञ्ज्ञाभूमिं गत्वा तस्यामेव प्रत्यागच्छन्ति, क्षेत्रसङ्क्रमणमप्येवमेव, कारणतस्तु न कोऽपि प्रतिनियम. ।

तथा चाह-

अतरंतबालवुड्ढे, तवस्सिआएसमाइकज्जेसु ।
बहुसो वि होज्ज विसणं, कुलाइकज्जेसु य विभासा ॥८२५॥
उच्चारविहारादी, संभमभयचेइवंदणाऽऽईया ।
आयपरोभयहेउं, विणिग्गमा वणिया गच्छे ॥ ८२६ ॥

अतरन्तो ग्लानस्तस्य, तथा बालवृद्धयो., तपस्विनः क्षपकस्य, आदेशस्य प्राघूर्णकस्य, आदिशब्दादाचार्योपाध्यायशैक्षकलब्धिमत्प्रभृतीनां यानि कार्याणि तत्प्रायोग्यभक्तपानौषधाऽऽदिग्रहणरूपाणि, तेषु बहुशोऽपि बहूनपि वारान् गृहपतिगृहेषु प्रवेशन गच्छसाधूनां भवति । तथा कुल नागेन्द्रचान्द्राऽऽदि, आदिशब्दाद् गण. कुलसमुदायो, गणसमुदायः सङ्घः, चतुर्वर्णरूपो वा, तत्कार्येषु च विभाषा कर्त्तव्या । सा चैषां कुले गणे सङ्घे वा आभाव्याऽनाभाव्यविषय. कोऽपि व्यवहारः समुपस्थितस्य यथावत्परिच्छेदनं कर्त्तव्यम्, प्रत्यनीको वा कोऽपि साधूनामुपस्थितस्तस्य शिक्षण विधेयम्, चैत्यद्रव्यं वा कश्चिन्निःशङ्कं मुष्णाति स शासितव्यो वर्त्तेत इत्यादि । तथा-उच्चारः पुरीष, तस्योपलक्षणत्वात्प्रस्रवणाऽऽदेर्व्युत्सर्जनार्थं बहिर्गन्तव्यम्, विहारो नाम· वसतावस्वाध्यायिके समुत्पन्ने सति स्वाध्यायनिमित्तमन्यत्र गमनम्, आदिग्रहणात् पूर्वगृहीतपीठफलकप्रत्यर्पणप्रभृतिपरिग्रह' । संभ्रमो नाम-उदकाऽग्निहस्त्याद्यागमनसमुत्थ आकस्मिकः सत्रासः । भयं तु सामान्येन समुत्थ दुष्टस्तेनाऽऽद्युपद्रवप्रभवम्, चैत्यानि जिनबिम्बानि, तेषां वन्दनम् । आदिशब्दादपूर्वबहुश्रुताऽऽचार्यवन्दनाऽऽदिपरिग्रहः । एवमादीनि यान्यात्मन परेषामुभयस्य वा हेतो. कार्याणि तन्निमित्त बहुशोऽपि प्रतिमाऽऽश्रयाद्विनिर्गमा वर्णिताः प्रतिपादिता इति । गत निष्क्रमणद्वारम् । (प्राभृतिका 'वसहि' शब्दे वक्ष्यते) (भिक्षा 'गोयरचरिया ' शब्दे तृतीयभागे ९६७ पृष्ठे द्रष्टव्या) (कल्पकरणं ' लेव '-शब्दे वक्ष्यते) (ग्लानाऽऽदिद्वाराणि-ग्लानाऽऽदिशब्देषु द्रष्टव्यानि)

एत्तो उ थेरकप्पं, समासओ मे निसामेहि ।
तिविहम्मि संजमम्मि उ, बोधव्वो होति थेरकप्पो तु ॥
सामाइयछेदपरिहा-रिए य तिविहम्मि एअम्मि ।
ठिऍ अट्ठिए व कप्पे, सामाइयसंजमो मुणेयव्वो ॥
छेदपरिहारिया पुण, णियमाओ हवंति ठितकप्पे ।
एतेसु थेरकप्पो, जह जिणकप्पीण अग्गहो दोसु ॥
गहणं चऽभिग्गहाणं, पंचाहि दोहिँ च ण तह इच ।

बाले वुड्ढे सेहे-ऽगीतत्थे णाणदंसणप्पेही ॥

दुब्बलसंघयणम्मि य, गच्छे य इहेसणा भणिता ।

जहसंभवं तु सेसा, खेत्ताऽऽदि विभासियव्व दारा तु ॥

उवरिं तु मासकप्पे, वित्थरिओ विभासते तेसिं। पं० भा०।

"इयाणिं थेरकप्पो तत्थ,गाहा (तिविहम्मि संजमम्मि) थेरकप्पो। सो तिविहो-सामाइओ,छेओवट्ठावणिओ,परिहारविसुद्धिओ त्ति। सामाइओ ठियकप्पे,अट्ठियकप्पे वा। छेओवट्ठावणिओ,परिहारविसुद्धिओ ठियकप्पे चेव। तत्थ सामाइयसंजमो-ठियकप्पे वा, अठियकप्पे वा। बिइओ नाम-छेओवट्ठावणिओ, सो ठियकप्पे नियमा। तइओ परिहारविसुद्धिओ,सो नियमा ठियकप्पे। परिहारविसुद्धिओ तप्पढमयाए जिणपायमूले पडिवज्जंति, जहा मासकप्पे, नवरि उक्कोसमेत्त, गणप्पमाणेण जहन्नेण तिन्नि गणा, उक्कोसेण सयग्गसो। पुरिसप्पमाणेण जहन्नेण सत्तावीसं, उक्कोसेण सयपुहुत्तं। एते उद्देसे तेसिं सुत्त विभासिज्जइ। ते दुविहा-जिणकप्पिया, थेरकप्पिया य। जिणकप्पिया आवकहिया, थेरकप्पिया अट्ठारसमासे परिहरिऊण कयाइ जिणकप्पं पडिवज्जंति, कयाइ तमेव कप्पं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति, अहवा पुणो वि तमेव गच्छं एंति। सेसं जहा मासकप्पे,पुव्वपडिवन्नए पडुच्च जइ अत्थि जहन्नेण सयपुहुत्तं, उक्कोसेण सहस्सग्गसो। अहालंदिया वि एमेव, नवरि दुविहा-गच्छपडिबद्धा य, गच्छनिग्गया य, जहा मासकप्पे। जे अपडिबद्धा ते दुविहा-जिणकप्पिया य, थेरकप्पिया य। जिणकप्पिया किंचि पडिकम्मं न करेंति। थेरकप्पिया गच्छमाणं ति नियमा पडिग्गहधारी। तत्थ वि गिलाणस्स पडिकम्मं थेरकप्पिया फासुएण पडोयारेण अहालंदियस्स करेंति। सेसं जहा मासकप्पे। नवरं गणप्पमाणेण जहन्नेण तओ गणा, उक्कोसेण सयग्गसो। एए पडिवज्जमाणए पुरिसप्पमाणे जहन्नेण पण्णरस, उक्कोसेण सयग्गसो। पुव्वपडिवन्नए पडुच्च जहन्नेण सयग्गसो, उक्कोसेण सहस्सपुहुत्तं। सेसा जहा जिणकप्पियाण विहिं, एत्थ थेरकप्पिया ते नेयव्वा जहा कप्पे, अज्जाण मासकप्पो व्व नेयव्वो, जहा कप्पो सिज्झइ।" जिनकल्पाऽऽद्या द्रव्यक्षेत्रकालभावाभिग्रहेषु अभिगृहीतैषणाया आहाराऽऽदि गृह्णन्ति, स्थविरकल्पिका किमर्थं प्रकीर्णैषणाया आहाराऽऽदि गृह्णन्ति, प्रकीर्णा अनभिगृहीतैषणा इत्यर्थः। आचार्य आह-"बालवुड्ढथेराण बाला वुड्ढा य कारणे पव्वाविया, ते जइ अभिग्गहिया एसणाए गेण्हंति। अभिग्गहिए एसणाए य च दवावेज्जा सरिसो लाभो, सेहाईण च अभावियाण दुब्बलसंघयणाण नाणदंसणाऽऽइसु य पडिबद्धाण दिवस हिंडंताण चेव लभिस्सति। पच्छा संघयणदुब्बलत्तणेण, अभावियत्तणेण य संजमं छड्डेंति, पासत्थाईहिं परतित्थिएहिं वा गमिस्सति, पच्छा तित्थवोच्छेओ भविस्सइ। गच्छो य महिड्ढिओ। स बालवुड्ढाओ लोयणयणायरभूआ, जिणकप्पियाओ ण च गच्छाओ चेव प्रसूति, प्रवृत्तिरित्यर्थः। जम्हा गच्छेऽपि किं एहाए विसुद्धाए हिंडमाणा उग्गमाइसुद्ध आहाराइ गेण्हंता, भुंजता य जहन्नेण अट्ठ पवयणमायाओ, उक्कोसेण चोद्दस पुव्वाणि अहिज्जंति, अन्नोन्निच्छियकरा य हुंति, ओहिमणपज्जवकेवलाणि च उप्पाएंति, सोहम्माइकप्पोववएसु जाव सव्वट्ठसिद्धे वि उववज्जंति। एएण कारणेण गच्छे पइण्णेसणा जहासमयं। थेरकप्पियाण खित्तकाला जहा मासकप्पे, पव्वावणाइ य जहा मासकप्पे।" प० चू०।

अहुणा उ थेरकप्पे, वोच्छामि विहिं समासेणं ॥

गहणे चउव्विहम्मि वि, तीए गहणं तु परमजत्तेणं ।

जं पाणबीयरहियं, हवेज्ज तरमाणए सोही ॥

गहणं चउव्विहं ती, वत्थं पातं च सेज्ज आहारो ।

एतेसिं असतीए, गहणं पढमं तु वीयस्स ॥

वितियं पात भणति, किं कारणं तस्स गहण पढमं तु ।

तेण विणा वोहिपमिया, गिहिभायणभोगे हाणी य ॥

अहवा चउव्विहं तु, असणादी तत्थ भोज्जगहणं तु ।

तत्थ तु वितियं पाणं, तस्स तु गहणं पढमताए ॥

असतीएँ फासुयस्सा, तस्सहिए कंदबीयसहिए वा ।

किं कारण तेण विणा, आसुं पाणक्खतो होज्जा ॥

तरमाणे गिण्हति सुद्धं अतरो पेल्लेज्ज तह संथारे ।

संथरतो गेण्हंतो, पावति सट्ठाणपच्छित्तं ॥

सत्त तुए दसए वा, अणेगठाणेण वा भवग्गहणं ।

एत्तो तिगातिरित्तं, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं ॥

जइयं ति कप्पति त्ती, तस्सऽसतीए असुद्धं पि ।

एसो तु थेरकप्पो, ... ॥ पं० भा०।

इयाणिं थेरकप्पो गाहा-(गहणे चउव्विहे त्ति) चउव्विहे वत्थ,पाय,आहारो,सेज्जा। चउण्ह वि असइ पढमया य घेप्पइ। किं कारणं?-तेण विणा पमिमाइहाणी चेव। अहवा-असणाइ पढम, तत्थ विइय पाणगहण परमपयत्तेण तरमाणो पढम संथरमाणो तसपाणबीयरहिया कंदमूलरहिए गेण्हइ,अतरतो पुण तसपाणसहिए वा,बीयकंदमूलसहिए वा गेण्हइ। किं कारण? तेण विणा आसु पाणक्खओ होज्जा। तरमाणो सुद्धं गेण्हेज्जा। अतरंतो पेल्लेज्जा। गाहा-(सत्त दुए त्ति) पिंडेसणपाणेसणाओ। (दसए त्ति) दस एसणादोसा। (अणेगठाणे त्ति) उग्गमाइ पन्नरस सोलस। एत्तो तिगादिरित्त नाम-उग्गमउप्पायणएसणासुद्ध। तव्विवरीय जं एतेहिं चेव उग्गमाईहिं असुद्धं, तं गेण्हेज्जा गच्छसारक्खणाहेउ गच्छवासीहिं। अत्थ नाम कारणे कप्पइ, इयरहा न कप्पइ। एस थेरकप्पो। प० चू०। (स्थविरकल्पिनामुपधिः 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०६१ पृष्ठे उक्तः) (स्थविरकल्पो जिनकल्पश्च द्वावप्येतौ महर्द्धिकाविति 'गच्छ' शब्दे तृतीयभागे ८०४ पृष्ठे उक्तम्)

थविरकप्पट्ठिइ-स्थविरकल्पस्थिति-स्त्री०। स्थविरा आचार्याऽऽदयो गच्छप्रतिबद्धास्तेषां कल्पस्थितिः स्थविरकल्पस्थितिः। बृ० ४ उ०। कल्पस्थितिभेदे, बृ० ५ उ०। स्था०। पं० चू०। पं० भा०।

सम्प्रति स्थविरकल्पस्थितिमाह-

संजमकरणुज्जोया, णिप्फातग णाणदंसणचरित्ते ।

दीहाउ वुड्ढवासे, वसहीदोसेहि य विमुक्का ॥ ४०७ ॥

संयमं पञ्चाऽऽश्रवविरमणाऽऽदिरूपं, पृथिव्यादिरक्षारूपो वा सप्तदशविधं, तं कुर्वन्ति यथा तत्पालयन्तीति संयमकरणाः। न-

चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था । त जहा-थेरे गोदासे, थेरे अग्गिदत्ते,थेरे जएदत्ते, थेरे सोमदत्ते कासवगोत्ते णं । थेरेहिंतो गोदासेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो इत्थ णं गोदासे गणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति । तं जहा-तामलित्तिआ, कोमिवरिसिया, पोंडवद्धणिया, दासीखव्वडिया । थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमे दुवालस थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था । तं जहा-

" नंदणभद्दे थेरे, उवणंदे तीसभद्दे जसभद्दे ।
थेरे अ सुमणभद्दे, मणिभद्दे पुन्नभद्दे य ॥ १ ॥
थेरे अ थूलभद्दे, उज्जुमई जंबुनामधिज्जे य ।
थेरे य दीहभद्दे, थेरे तह पंमुभद्दे य ॥ २ ॥"

थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगुत्तस्स इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिन्नायाओ होत्था । तं जहा-

"जक्खा य जक्खदिन्ना, भूया तह चेव भूयदिन्ना य।
सेणा वेणा रेणा, भइणीओ थूलभद्दस्स ॥ १ ॥"

थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा-थेरे अज्जमहागिरी एलावच्चसगोत्ते, थेरे अज्जसुहत्थी वासिट्ठसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जमहागिरिस्स एलावच्चसगोत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था । तं जहा-थेरे उत्तरे, थेरे बलिस्सहे, थेरे धणड्ढे, थेरे सिरिभद्दे, थेरे कोमिन्ने, थेरे नागे, थेरे नागमित्ते,थेरे छलुलूए रोहगुत्ते कोसियगुत्ते णं ॥ थेरेहिंतो णं छलुलूएहिंतो रोहगुत्तेहिंतो कोसियगुत्तेहिंतो तत्थ णं तेरासिया साहा णिग्गया। थेरेहिंतो णं उत्तरबलिस्सहेहिंतो तत्थ णं उत्तरबलिस्सहे नामं गणे णिग्गए। तस्स ण इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति। तं जहा-कोसंबिया, सोइत्तिया, कोमवाणी, चंदनागरी । थेरस्स णं अज्जसुहत्थिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स इमे दुवालस थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था । तं जहा-

" थेरे अ अज्जरोहणे, भद्दजसे मेहगणिअ कामिड्ढी ।
सुट्ठिय सुप्पडिबुद्धे, रक्खिय तह रोहगुत्ते य ॥ १ ॥
इसिगुत्ते सिरिगुत्ते, गणी य बंभे गणी य तह सोमे ।
दस दो अ गणहरा खलु, एए सीसा सुहत्थिस्स ॥२॥"

थेरेहिंतो णं अज्जरोहणेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो तत्थ णं उद्देहगणे णामं गणे निग्गए । तस्सिमाओ चत्तारि साहाओ निग्गयाओ, छच्च कुलाइ एवमाहिज्जंति । से किं तं साहाओ ? । साहाओ एवमाहिज्जंति । तं जहा- उदुंबरिज्जिया, मासपूरिया, मइपत्तिया, पुन्नपत्तिया। सेत्तं साहाओ । से किं तं कुलाइं ?। कुलाइं एवमाहिज्जंति। तं जहा-

" पढमं च नागभूयं, बीअं पुण सोमभूइअं होइ ।
अह उल्लगच्छ तइयं, चउत्थयं हत्थलिज्जं तु ॥ १ ॥
पंचमगं नंदिज्जं, छट्ठं पुण पारिहासयं होइ ।
उद्देहगणस्सेए, छच्च कुला हुंति नायव्वा ॥ २ ॥"

थेरेहिंतो णं सिरिगुत्तेहिंतो हारियसगोत्तेहिंतो इत्थ णं चारणगणे नामं गणे णिग्गए । तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, सत्त य कुलाइं एवमाहिज्जंति । से किं तं साहाओ ?। साहाओ एवमाहिज्जंति। तं जहा-हारिअमालागारी, संकासिआ, गवेधुआ, वज्जनागरी। सेत्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ?। कुलाइं एवमाहिज्जंति। तं जहा-

" पढमित्थ वत्थलिज्जं, बीयं पुण पीइधम्मिअं होइ ।
तइअं पुण हालिज्जं, चउत्थयं पूसमित्तिज्जं ॥ १ ॥
पंचमगं मालिज्जं, छट्ठं पुण अज्जवेमयं होइ।
सत्तमगं कण्हसहं, सत्त कुला चारणगणस्स ॥ २ ॥"

थेरेहिंतो णं भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उडुवाडिगणे नामं गणे णिग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, तिन्नि कुलाइं एवमाहिज्जंति । से किं त साहाओ ? । साहाओ एवमाहिज्जंति । तं जहा-चंपिज्जिया, भद्दिज्जिया, काकंदिआ, मेहलिज्जिया । सेत्तं साहाओ। से किं त कुलाइं ?। कुलाइं एवमाहिज्जंति। तंजहा-

" भद्दजसिअ तह भद्दगु-त्तिअं तइअं च होइ जसभद्दं ।
एयाइं उडुवाडिय-गणस्स तिन्नेव य कुलाइं ॥ १ ॥"

थेरेहिंतो णं कामिड्ढीहिंतो इत्थ णं वेसवाडियगणे णामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, चत्तारि कुलाइं एवमाहिज्जंति । से किं तं साहाओ ?। साहाओ एवमाहिज्जंति । तं जहा-सावत्थिया,रज्जपालिया,अंतरिज्जिया, खेमलिज्जिया। सेत्तं साहाओ । से किं तं कुलाइं ?। कुलाइं एवमाहिज्जंति । तं जहा-

" गणिअं मेहिय काम-ड्ढिअं च तह होइ इंदपुरगं च ।
एयाइं वेसवाडिय-गणस्स चत्तारि उ कुलाइं ॥ १ ॥ "

थेरेहिंतो णं इसिगुत्तेहिंतो काकंदिएहिंतो वासिट्ठसगोत्तेहिंतो एत्थ णं माणवगणे णामं गणे निग्गए । तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, तिन्नि य कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं त साहाओ?। साहाओ एवमाहिज्जंति। त जहा-कासविज्जिया,गोअमिज्जिया,वासिट्ठिआ, सोरट्ठिआ। सेत्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं?। कुलाइं एवमाहिज्जंति। तं जहा-

" इसिगुत्तिय5त्थ पढमं, बीयं इसिदत्तिअं मुणेअव्वं ।
तइयं च अभिजयंतं, तिन्नि कुला माणवगणस्स ॥ १॥ "

थेरेहिंतो णं सुट्ठियसुप्पडिबुद्धेहिंतो कोडियकाकंदएहिंतो वग्घावच्चसगोत्तेहिंतो इत्थ णं कोडियगणे णामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, चत्तारि कुलाइं च एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ ? । साहाओ एवमाहिज्जंति। तं जहा–"उच्चानागरि विज्जा–हरी य वइरी य मज्झिमिल्ला य। कोडियगणस्स एया, हवंति चत्तारि साहाओ ॥१॥" सेत्तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ?। कुलाइं एवमाहिज्जंति। तं जहा–"पढमित्थ बंभलिज्जं, बिइयं नामेण वत्थलिज्जं तु। तइयं पुण वाणिज्जं, चउत्थयं पण्हवाहणयं ॥१॥" थेराणं सुट्ठियसुप्पडिबुद्धाणं कोडियकाकंदगाणं वग्घावच्चसगोत्ताणं इमे पंच थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–थेरे अज्जइंददिन्ने पियगंथे, थेरे विज्जाहरगोवाले कासवगुत्ते णं, थेरे इसिदत्ते, थेरे अरिहदत्ते। थेरेहिंतो णं पियगंथेहिंतो एत्थ णं मज्झिमा साहा निग्गया, थेरेहिंतो णं विज्जाहरगोवालेहिंतो कासवगोत्तेहिंतो एत्थ णं विज्जाहरी साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जइंददिन्नस्स कासवगुत्तस्स अज्जदिन्ने थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जदिन्नस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–थेरे अज्जसंतिसेणिए माढरसगुत्ते, थेरे अज्जसीहगिरी जाईसरे कोसियगोत्ते। थेरेहिंतो णं अज्जसंतिसेणिएहिंतो माढरसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उच्चनागरी साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जसंतिसेणियस्स माढरसगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–थेरे अज्जसेणिए, थेरे अज्जतावसे, थेरे अज्जकुबेरे, थेरे अज्जइसिपालिए। थेरेहिंतो णं अज्जसेणिएहिंतो एत्थ णं अज्जसेणिया साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जतावसेहिंतो एत्थ णं अज्जतावसी साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जकुबेरेहिंतो णं इत्थ णं अज्जकुबेरा साहा निग्गया। थेरेहिंतो अज्जइसिपालिएहिंतो इत्थ णं अज्जइसिपालिया साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जसीहगिरिस्स जाईसरस्स कोसियगुत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–थेरे धणगिरी, थेरे अज्जवइरे, थेरे अज्जसमिए, थेरे अरिहदिन्ने। थेरेहिंतो णं अज्जसमिएहिंतो गोयमसगुत्तेहिंतो इत्थ णं बंभदीविया साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जवइरेहिंतो गोयमसगोत्तेहिंतो इत्थ णं अज्जवइरी साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोयमसगुत्तस्स इमे तिन्नि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तं जहा–थेरे अज्जवइरसेणे, थेरे अज्जपउमे, थेरे अज्जरहे। थेरेहिंतो णं अज्जवइरसेणेहिंतो इत्थ णं अज्जनाइली साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जपउमेहिंतो अज्जपउमा साहा निग्गया, थेरेहिंतो णं अज्जरहेहिंतो इत्थ णं अज्जजयंती साहा निग्गया। थेरस्स णं अज्जरहस्स वच्छसगुत्तस्स अज्जपूसगिरी थेरे अंतेवासी कोसियगुत्ते। थेरस्स णं अज्जपूसगिरिस्स कोसियगुत्तस्स अज्जफग्गुमित्ते थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जफग्गुमित्तस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जधणगिरी थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जधणगिरिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स अज्जसिवभूई थेरे अंतेवासी कुच्छसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जसिवभूइस्स कुच्छसगोत्तस्स अज्जभद्दे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते। थेरस्स णं अज्जभद्दस्स कासवगुत्तस्स अज्जनक्खत्ते थेरे अंतेवासी कासवगोत्ते। थेरस्स णं अज्जनक्खत्तस्स कासवगुत्तस्स अज्जरक्खे थेरे अंतेवासी कासवगोत्ते। थेरस्स णं अज्जरक्खस्स कासवगोत्तस्स अज्जनागे थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जनागस्स गोयमसगोत्तस्स अज्जजेहिले थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जजेहिलस्स वासिट्ठसगोत्तस्स अज्जविण्हू थेरे अंतेवासी माढरसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जविण्हुस्स माढरसगोत्तस्स अज्जकालए थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जकालियस्स गोयमसगोत्तस्स इमे दुवे थेरा अंतेवासी गोयमसगोत्ता–थेरे अज्जसंपलिए, थेरे अज्जभद्दे। एएसि णं दुण्हं थेराणं गोयमसगुत्ताणं अज्जवुड्ढे थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जवुड्ढस्स गोयमसगोत्तस्स अज्जसंघपालिए थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जसंघपालियस्स गोयमसगोत्तस्स अज्जहत्थी थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते। थेरस्स णं अज्जहत्थिस्स कासवगोत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी सुव्वयगोत्ते। थेरस्स णं अज्जधम्मस्स सुव्वयगोत्तस्स अज्जसीहे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते। थेरस्स णं अज्जसीहस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते। थेरस्स णं अज्जधम्मस्स कासवगोत्तस्स अज्जसंडिल्ले थेरे अंतेवासी।

"वंदामि फग्गुमित्तं, च गोयमं धणगिरिं च वासिट्ठं।
कुच्छं सिवभूइं पि य, कोसिय दुज्जंत कण्हे य ॥१॥
तं वंदिऊण सिरसा, भद्दं वंदामि कासवसगुत्तं।
नक्खं कासवगुत्तं, रक्खं पि य कासवं वंदे ॥२॥
वंदामि अज्जनागं, च गोयमं जेहिलं च वासिट्ठं।
विण्हुं माढरगुत्तं, कालगमवि गोयमं वंदे ॥३॥

गोयमगुत्तकुमारं, संपलियं तह य भद्दयं वंदे ।
थेरं च अज्जवुड्ढं, गोयमगुत्तं नमंसामि ॥ ४ ॥
तं वंदिऊण सिरसा, थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च संघवालिय-कासवगुत्तं पणिवयामि ॥ ५ ॥
वंदामि अज्जहत्थिं, च कासवं खंतिसागरं धीरं ।
गिम्हाण पढममासे, कालगयं चेव सुद्धस्स ॥ ६ ॥
वंदामि अज्जधम्मं, च सुव्वयं सीललद्धिसंपन्नं ।
जस्स (स) निक्खमणे देवो, छत्तं वरमुत्तमं वहइ ॥ ७ ॥
हत्थं कासवगुत्तं, धम्मं सिवसाहगं पणिवयामि ।
सीहं कासवगुत्तं, धम्मं पि अ कासवं वंदे ॥ ८ ॥
तं वंदिऊण सिरसा, थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च अज्जजंबुं, गोयमगुत्तं नमंसामि ॥ ९ ॥
मिउमद्दवसंपन्नं, उवउत्तं नाणदंसणचरित्ते ।
थेरं च नंदियं पि य, कासवगुत्तं पणिवयामि ॥ १० ॥
तत्तो अ थिरचरित्तं, उत्तमसम्मत्तसत्तसंजुत्तं ।
देवड्ढिगणिखमासमणं, माढरगुत्तं नमंसामि ॥ ११ ॥
तत्तो अणुओगधरं, धीरं मइसागरं महासत्तं ।
थिरगुत्तखमासमणं, वच्छसगुत्तं पणिवयामि ॥ १२ ॥
तत्तो अ नाणदंसण-चरित्ततवसुट्ठिअं गुणमहंतं ।
थेरं कुमारधम्मं, वंदामि गणिं गुणोवेयं ॥ १३ ॥
सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिं संपन्ने ।
देविड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥ १४ ॥
कल्प० ४ क्षण ।

थविरोवघाइय-स्थविरोपघातिक-पुं० । स्थविरा आचार्याऽऽदिगुरवस्तान् आचारदोषेण शीलदोषेणावज्ञाऽऽदिभिर्वोपहन्तीत्येवंशीलः, स एव वा स्थविरोपघातिकः । दशा० २ अ० । स्था० । पञ्चासमाधिस्थे, आ० क० ४ अ० । दशा० । आ० चू० ।

थव्वी-स्त्री० । देशी-प्रसेविकायाम् , दे० ना० ५ वर्ग २५ गाथा ।

थस-पुं० । देशी-विस्तीर्णार्थेषु, दे० ना० ५ वर्ग २५ गाथा ।

थहु-पुं० । देशी-निलये, दे० ना० ५ वर्ग २४ गाथा ।

थाइणी-स्थायिनी-स्त्री० । प्रतिवर्षविजननशीलायाम्, स्थायिन्यो नाम वडवास्ता उच्यन्ते वर्षे वर्षे विजायन्ते या. । बृ० ३ उ० ।

थाऊण-स्थित्वा-अव्य० । गतेर्निवृत्त्येत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

थाण-स्थान-न० । " स्थ ठा-थक्क-चिट्ठ-निरप्पाः " ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति स्थाधातोष्ठादेशो बाहुलकत्वान्न । प्रा० ४ पाद ।

थाणणिउत्त-स्थाननियुक्त-त्रि० । स्थाने पदे नियुक्ताः स्थाननियुक्ताः । प्रवर्तकस्थविरगणावच्छेदकाऽऽरव्येषु पदस्थगीतार्थेषु, बृ० १ उ० ।

थाणय-देशी-न० । आलवाले, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

थाणविसेस-स्थानविशेष-पुं० । आसनविशेषे, विशे० ।

थाणाणिउत्त-स्थानानियुक्त-त्रि० । सामान्यसाधुषु, बृ० १ उ० ।

थाणु-स्थाणु-पुं० । " स्थाणावहरे " ॥ ८ । २ । ७ ॥ इति हरेऽर्थे स्थस्य न खः । प्रा० २ पाद । हरे, शिवे, को० । स्तम्भे, स्था० ४ ठा० २ उ० । कीलके, विशे० ।

थाम-स्थामन्-न० । वीर्ये, सू० १ श्रु० । " जोगो वीरिय थाम " इत्येकार्थाः । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । नि० चू० । पं० व० । क्रियायाम्, (ग०) सामर्थ्ये, ग० १ अधि० । सूत्र० । प्राणे, शारीरबलयुक्ते, ओघ० । ज्ञा० । पिं० । स्था० । बलवति, त्रि० । नि० चू० ११ उ० । विस्तीर्णार्थेषु, दे० ना० ५ वर्ग २५ गाथा ।

थामवं-स्थामवत्-त्रि० । स्थाम बलं, तदस्य संयमविषयमस्तीति स्थामवान् । उत्त० २ अ० । शीताऽऽतपाऽऽदिसहन प्रति सामर्थ्यवति, उत्त० ४ अ० । मनोबलयुक्ते, (उत्त०) धैर्ययुक्ते, उत्त० २ अ० ।

थामावहारविजढ-स्थामापहारविमुक्त-त्रि० । अनिगूहितबलवीर्ये, बृ० १ उ० ।

थार-पुं० । देशी-घने, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

थाल-स्थाल-न० । भट्टे, भ० १५ श० । पाकपात्रे च । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । रा० । ज० ।

थालइ-स्थालकिन्-पुं० । गृहीतभाण्डे वानप्रस्थभेदे, नि० १ श्रु० १ वर्ग० ३ अ० । औ० । भ० ।

थालपाणय-स्थालपानक-न० । स्थालं भट्टं तत्पानकमिव दाहोपशमहेतुत्वात् स्थालपानकम । आजीविकानामकल्पनीये स्थासके, भ० १५ श० ।

थाली-स्थाली-स्त्री० । उखायाम्, जी० ३ प्रति० २ उ० । पिठर्याम, स्था० ३ ठा० १ उ० । सू० प्र० । आ० म० ।

थालीपाग-स्थालीपाक-त्रि० । स्थाल्यामुखायां पाको यस्य तत्स्थालीपाकम । स्थाल्यां पक्के, स्था० । "थालीपागसुद्धं मणुण्णं भोयण ।" स्थाली पिठरी, तस्यां पाको यस्य तत्तथा । अन्यत्र हि पक्कमपक्वं वा न तथाविधं स्यादितीदं विशेषणमिति । शुद्धं भक्तदोषवर्जितं, स्थालीपाकं च तच्छुद्धं स्थालीपाकेन वा शुद्धमिति विग्रहः । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

थावच्चा-स्थापत्या-स्त्री० । द्वारवतीवास्तव्यां स्वनामख्यातायां गृहपतिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

थावच्चापुत्त-स्थापत्यापुत्र-पुं० । स्थापत्याया गृहपतिकायाः सुते, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

तद्वक्तव्यता-

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं बारवई णामं नयरी होत्था; पाईणपडीणायामा उदीणदाहिणवित्थिण्णा नवजोयणवित्थिण्णा दुवालसजोयणाऽऽयामा धणवइमइणिम्माया चामीयरपवरपागारा णाणामणिपंचवण्णक(वि)सीसग-

सोहिया अलयापुरीसंकासा पमुइयपक्कीलिया पच्चक्खं देवलोगभूया । तीसे णं बारवईए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए रेवतगे णामं पव्वए होत्था ; तुंगे गगणतलमणुलिहंतसिहरे णाणाविहगुच्छगुम्मलयावल्लिपरिगते हंसमिगमयूरकोंचसारसचक्कवायमयणसारकोइलकुलोववेए अणेगतडकडगवियरउज्झरपवायपब्भारसिहरपउरे अच्छरगणदेवसंघचारणविज्जाहरमिहुणसंकिण्णे निच्चच्छणए दसारवरवीरपुरिसतेलोक्कबलवगाणं, सोमे सुभगे पियदंसणे सुरूवे पासादीए दरिसणीए अभिरूवे पडिरूवे । तस्स णं रेवयगस्स पव्वयस्स अदूरसामंते एत्थ णं नंदणवणे णामं उज्जाणे होत्था; सव्वओ य पुप्फफलसमिद्धे रम्मे णंदणवणप्पगासे पासादीए । तस्स णं उज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए सुरप्पिए णाम जक्खाययणे होत्था, दिव्वे वण्णओ । तत्थ णं बारवईए णगरीए कण्हे नामं वासुदेवे राया परिवसति । से णं तत्थ समुद्दविजयपामोक्खाणं दसण्हं दसाराणं बलदेवपामोक्खाणं पंचण्हं महावीराणं उग्गसेणपामोक्खाणं सोलसण्हं राईसहस्साणं पज्जुण्णपामोक्खाणं अद्धुट्ठाणं कुमारकोडीणं संबपामोक्खाणं सट्ठीणं दुद्दंतसाहस्सीणं वीरसेणपामोक्खाणं एकवीसाए वीरसहस्सीणं महासेणपामोक्खाणं छप्पण्णाए बलवगसाहस्सीणं रुप्पिणिपामोक्खाणं बत्तीसाए महिलासाहस्सीणं अणंगसेणपामोक्खाणं अणेगाणं गणियासाहस्सीणं अण्णेसिं च बहूणं राईसरतलवर ०जाव सत्थवाहप्पभिईणं वेयड्ढगिरिसागरपेरंतस्स दाहिणड्ढभरहस्स य बारवईए णगरीए आहेवच्च ०जाव पालेमाणे विहरति । तत्थ णं बारवतीए णयरीए थावच्चा णामं गाहावतिणी परिवसति । अड्ढा ०जाव अपरिभूया । तीसे णं थावच्चाए गाहावतिणीए पुत्ते 'थावच्चापुत्ते' णामं सत्थवाहदारए होत्था, सुकुमालपाणिपाए ०जाव सुरूवे । तए णं सा थावच्चा गाहावइणी तं दारगं साइरेगअट्ठवासजायं जाणित्ता सोहणंसि तिहिकरणणक्खत्तमुहुत्तंसि कलाऽऽयरियस्स उवणेति ०जाव भोगसमत्थं जाणेत्ता बत्तीसाए बालियाणं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हावेइ, बत्तीसाओ दाओ ०जाव बत्तीसाए इब्भकुलबालियाहिं सद्धिं विपुले सद्दफरिसरसरूवगंधे ०जाव भुंजमाणे विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं अरिहा अरिट्ठनेमी सो चेव वण्णओ—दसधणुस्सेहे नीलुप्पलगवलगुलियअयसीकुसुमप्पगासे अट्ठारसएहिं समणसाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे चत्तालीसं अज्जियासाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे ०जाव जेणेव बारवती णगरी जेणेव रेवयगे पव्वए जेणेव णंदणवणउज्जाणे जेणेव सुरप्पियस्स जक्खस्स जक्खायतणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति । परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ । तए णं से कण्हे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सहम्माए सभाए मेघोघरसियं गंभीरं महुरसद्दं कोमुईयं भेरिं तालेह । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा ०जाव मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—सामी ! तह त्ति ०जाव पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता कण्हस्स वासुदेवस्स अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमइत्ता जेणेव सुहम्मा सभा जेणेव भेरी तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता तं मेघोघरसियगंभीरं महुरसद्दं कोमुईयं भेरिं तालेंति । ततो णिद्धमहुरगंभीरपडिसुएणं पि व सारइएणं बलाहएणम अणुरसियं भेरीए । तए णं तीसे कोमुईयाए भेरीए तालियाए समाणीए बारवईए नयरीए नवजोयणवित्थिण्णाए दुवालसजोयणाऽऽयामाए संघाडगतिगचउक्कचच्चरकंदरदरीयविवरकुहरगिरिसिहरणगरगोपुरपासायदुवारभवणदेवउलपडिस्सुयासयसहस्ससंकुलं सद्दं करेमाणा बारवइं नयरिं सब्भिंतरबाहिरियं सव्वओ समंता से सद्दे विप्पसरित्था । तए णं तीसे बारवतीए नयरीए नवजोअणवित्थिण्णाए दुवालसजोअणाऽऽयामाए समुद्दविजयपामोक्खा दस दसारा ०जाव गणियासहस्साए कोमुईयाए भेरीए सद्दं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा ०जाव ण्हाया आविद्धवग्घारियमल्लदामकलावा अहयवत्थचंदणोक्किण्णगायसरीरा अप्पेगइया हयगयरहसीयासंदमाणी अप्पेगइया पायविहारचारेणं पुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता कण्हस्स वासुदेवस्स अंतियं पाउब्भवित्था । तए णं से कण्हे वासुदेवे समुद्दविजयपामोक्खे दस दसारे ०जाव अंतियं पाउब्भवमाणे पासित्ता हट्ठतुट्ठे ०जाव कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चाउरंगिणिं सेणं सज्जेह, विजयं च गंधहत्थिं च उवट्ठवेह । ते वि तहेव उवट्ठवेंति ०जाव पज्जुवासति । थावच्चापुत्ते वि णिग्गए, जहा मेहो तहेव धम्मं सोच्चा निसम्म जेणेव थावच्चा गाहावइणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पायग्गहणं करेति, जहा मेहस्स तहा चेव णिवेयणा, जाहे नो संचाएति विसयाणुलोमाहि य विसयपडिकूलाहि य बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य विण्णवणाहि य सण्णवणाहि य आघवित्तए वा ४, ताहे अकामिया चेव थावच्चापुत्तस्स दारगस्स निक्खमणमणुमण्णित्था । तए णं सा थावच्चा गाहावइणी आसणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेइत्ता महत्थं महग्घं महरिहं

रायारिहं पाहुमं गेएहति,गेएिहत्ता मित्तणाइ०जाव संपरिवुमा जेणेव कएहस्स वासुदेवस्स भवणवरपमिदुवारदेसभाए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता पमिहारदेसिएणं मग्गेणं जेणेव कएहे वासुदेवे तेणेव उवागच्छति,उवागच्छित्ता करयलं वच्छावेति, वच्छावेत्ता तं महग्घं महरिहं रायारिहं पाहुमं च उवणेति, उवणेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम एगे पुत्ते थावच्चापुत्ते णामं दारए इट्ठे कंते० जाव से णं संसारभउव्विग्गे इच्छति अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स० जाव पव्वइत्तए,अहं णं णिक्खमणसक्कारं करेमि, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! थावच्चापुत्तस्स निक्खममाणस्स छत्तमउमचामराओ वि दिष्णाओ। तए णं से कएहे वासुदेवे थावच्चागाहावइणिं एवं वयासी-अत्थाहि णं तुमं देवाणुप्पिया! सुणिव्वुया वीसत्था, अहं णं सयमेव थावच्चापुत्तस्स दारगस्स निक्खमणसक्कारं करिस्सामि। तए णं से कएहे वासुदेवे चाउरंगिणीए सेणाए विजयं हत्थिरयणं दुरूढे समाणे जेणेव थावच्चाए गाहावतिणीए भवणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता थावच्चापुत्तं एवं वयासी-मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! मुंडे भवित्ता पव्वाहि, भुंजाहि णं देवाणुप्पिया! विपुले माणुस्सए कामभोगे ममं बाहुच्छायापरिग्गहिए, केवलं देवाणुप्पियस्स अहं नो संचाएमि वाउकायं उवरि, सेणं गच्छमिणं निवारेत्तए,अण्णेणं देवाणुप्पियाणं जं किंचि वि आबाहं वा पवाहं वा उप्पाएइ, तं सव्वं निवारेमि । तए णं थावच्चापुत्ते कएहेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे कएहं वासुदेवं एवं वयासी-जइ णं तुमं देवाणुप्पिया! ममं जीवियंतकरणं मच्चू एज्जमाणं निवारेसि,जरं वा सरीररूवं विणासिणिं सरीरं अवइयमाणिं णिवारेसि, तए णं अहं तव बाहुच्छायापरिग्गहिए विउले माणुस्सए कामभोगे भुंजमाणे विहरामि । तए णं से कएहे वासुदेवे थावच्चापुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे थावच्चापुत्तं एवं वयासी-एएणं देवाणुप्पिया ! दुरतिक्कमणिज्जा णो खलु सक्का सुबलिएणावि देवेण वा दाणवेण वा णिवारेत्तए, णण्णत्थ अप्पणो कम्मक्खएणं। तए णं से थावच्चापुत्ते कएहं वासुदेवं एवं वयासी-जइ णं एए दुरतिक्कमणिज्जा णो खलु सक्का० जाव णण्णत्थ अप्पणो कम्मक्खएणं,त इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! अण्णाणमिच्छत्तअविरइकसायसंचियस्स अप्पणो कम्मक्खयं करेत्तए । तए णं से कएहे वासुदेवे थावच्चापुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुम्हे देवाणुप्पिया! बारवईए णयरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चर० जाव महापहेसु हत्थिखंधवरगया महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा उग्घोसणं करेह । एवं खलु देवाणुप्पिया ! थावच्चापुत्ते संसारभयउव्विग्गे भीए जम्मणजरामरणाणं इच्छति अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतिए मुंमे भवित्ता पव्वइत्तए। जो खलु देवाणुप्पिया ! राया वा जुवराया वा देवी वा कुमारे वा ईसरे वा तलवरे वा कोडुंबियपुरिसा माडंबियइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहे वा थावच्चापुत्त पव्वयंतमणुपव्वयति, तस्स णं कएहे वासुदेवे अणुजाणति, पच्छाऽऽतुरस्स वि य से मित्तणाइजोगक्खेमं वट्टमाणी पमिवहति त्ति कट्टु घोसेणं घोसेह० जाव घोसंति। तए णं थावच्चापुत्तस्स अणुरागएणं पुरिससहस्सं निक्खमणाभिमुहं एहायं सव्वालंकारविभूसियं पत्तेयं पत्तेयं पुरिससहस्सवाहिणीसु सिवियासु दुरूढं समाणं मित्तणातिपरिवुमं थावच्चापुत्तस्स अंतियं पाउब्भवित्था। तए णं से कएहे वासुदेवे पुरिससहस्सं अंतिअं पाउब्भवमाणं पासइ, पासइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-जहा मेहस्स निक्खमणाभिसेओ तहेव सीयपीएहिं कलसेहिं एहावेति, एहावेइत्ता तए णं से थावच्चापुत्ते सहस्सपुरिसेहिं सद्धिं सिवियाए दुरूढे समाणे० जाव रवेणं बारवईणयरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव अरहओ अरिट्ठनेमिस्स छत्ताछत्तं पडागाइपमागं पासंति, पासंतित्ता विज्जाहरचारण० जाव पासेत्ता सिवियाओ पच्चोरुहंति। तए णं से कएहे वासुदेवे थावच्चापुत्तं पुरओ कट्टु जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी सव्वं तं चेव आभरणं। तए णं थावच्चा गाहावइणी हंसलक्खणेणं पमसामएणं आभरणमल्लालंकारं पडिच्छइ,हारवारिधारच्छिन्नमुत्तावलिप्पगासाइं अंसूणि विणिम्मुयमाणी विणिम्मुयमाणी एवं वयासी-जइ अव्वं जाया ! घमिअव्वं जाया! परिमिअव्वं जाया! अस्सिं च णं अट्ठे णो पमादेअव्व,जामेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पमिगया। तए णं से थावच्चापुत्ते पुरिससहस्सेणं सद्धिं सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति०जाव पव्वइए। तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारे जाए इरियासमिए भासासमिए एसणासमिए आयाणभंमनिक्खेवणासमिए उच्चारपासवणखेलजल्लसंघाणपारिट्ठावणियासमिए। तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारे अरिहओ अरिट्ठनेमिस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ,बहूहिं०जाव चउत्थं विहरेइ। तए णं अरिहा अरिट्ठनेमी थावच्चापुत्तस्स अणगारस्स तं इब्भाइयं अणगारसहस्सं सीसत्ताए दलयति । तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारे अण्णया कयाइं अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, णमंसइ,णमसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे सहस्सेणं अणगारेण सद्धिं बहिया

जणवयविहारं विहरित्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया ! । तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारसहस्सेणं सद्धिं तेणं उरालेण उदग्गेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं बहिया जणवयविहारं विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं सेलगपुरे णामं णगरे होत्था । वण्णओ । तस्स णं सेलगपुरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए सुभूमिभागे णामं उज्जाणे होत्था । तस्स णं सेलगपुरस्स सेलए णामं राया होत्था, पउमावती देवी, मंडुए कुमारे जुवराया । तस्स णं सेलगस्स पंथगपामोक्खा णं पंच मंतिसया होत्था; चउव्विहाए बुद्धीए उववेए रज्जधुरचिंतए यावि होत्था । तए णं थावच्चापुत्ते णामं अणगारे सहस्सेणं अणगारेणं सद्धिं जेणेव सेलगपुरे जेणेव सुभूमिभागे णामं उज्जाणे तेणेव समोसढे । सेलए वि राया णिग्गए । धम्मो कहिओ । धम्मं सोच्चा जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे उग्गा भोगा ०जाव चइत्ता हिरण्णं विहरंति० जाव पव्वइए, तहा णं नो संचाएमि पव्वइत्तए । तओ णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वयं०जाव समणोवासए ०जाव अभिगयजीवाजीवे०जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति । पंथगपामोक्खा णं पंच मंतिसया समणोवासगा जाया । थावच्चापुत्ते बहिया जणवयविहारं विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं सोगंधिया णामं णयरी होत्था । वण्णओ । नीलासोए उज्जाणे । वण्णओ । तत्थ णं सोगंधियाए णयरीए सुदंसणे णामं णगरसेट्ठी परिवसइ, अड्ढे० जाव अपरिभूए । तेणं कालेणं तेणं समएणं सुए णामं परिव्वायए होत्था, रिउव्वेय-जजुव्वेय-सामवेय-अथव्वणवेय-सट्ठितंतकुसले संखसमए लद्धट्ठे पंचजमपंचणियमजुत्तं सोयमूलयं दसप्पयार परिव्वायगधम्मं दाणधम्मं च सोयधम्मं च तित्थाभिसेयं च आघवेमाणे पण्णवेमाणे धाउरत्तवत्थपरिहिए तिदंडकुंडियछत्तच्छालियाअंकुसपवित्तियकेसरिहत्थगए परिव्वायगसहस्सेण सद्धिं संपरिवुडे जेणेव सोगंधिया णयरी जेणेव परिव्वायगाऽऽवसहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता परिव्वायगाऽऽवसहंसि भंडाणिक्खेवणं करेइ, करेइत्ता संखसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं सोगंधियाए सिंघाडगबहुजणो अण्णमण्णस्स एवं खलु सुए परिव्वायए इह हव्वमागते ०जाव विहरति । परिसा णिग्गया । सुदंसणे वि णिग्गए । तए णं से सुए परिव्वायए तीसे परिसाए सुदंसणस्स य अण्णेसिं च बहूणं संखाणं परिकहेइ । एवं खलु सुदंसणा ! अम्हं सोयमूलए धम्मे पण्णत्ते । से वि य सोए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-दव्वसोए य, भावसोए य । दव्वसोए य उदएणं, मट्टियाए य । भावसोए य दव्भेहि य, मंतेहि य । जं णं अम्हं देवाणुप्पिया ! किंचि असुई भवति, तं सव्वं सज्जपुढवीए आलिंपति, तओ पच्छा सुद्धेण वारिणा पक्खालिज्जइ, तओ तं असुई सुई भवइ; एवं खलु जीवा जलाभिसेयपूयप्पाणो अविग्घेणं सग्गं गच्छंति । तए णं सुदंसणे सुयस्स अंतिए धम्मं सोच्चा हट्ठतुट्ठे सुयस्स अंतियं सोयमूलं धम्मं गिण्हेइ, गिण्हेइत्ता परिव्वायए विउलेणं असणपाणखाइमसाइमवत्थे पडिलाभेमाणे० जाव विहरइ । तए णं से सुए परिव्वायए सोगंधियाओ णयरीओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं थावच्चापुत्ते णामं अणगारे सहस्सेणं अणगारेणं सद्धिं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणेव सोगंधिया णयरी जेणेव णीलासोए उज्जाणे तेणेव समोसढे । परिसा णिग्गया । सुदंसणं वि णिग्गए थावच्चापुत्तं णामं अणगारं आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वयासी-तुम्हाणं किंमूलए धम्मे पण्णत्ते ? । तते णं थावच्चापुत्ते सुदंसणेणं एवं वुत्ते समाणे सुदंसणं एवं वयासी-सुदंसणा ! विणयमूले धम्मे पण्णत्ते । से वि य णं विणए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-आगारविणए य, अणगारविणए य । तत्थ णं जे से आगारविणए, से णं पंच अणुव्वयाइं, सत्त सिक्खावयाइं, एगारस उवासगपडिमाओ । तत्थ णं जे से अणगारविणए से णं पंच महव्वयाइं पण्णत्ताइं । तं जहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं ०जाव मिच्छादंसणसल्लाओ । दसविहे पच्चक्खाणे, वारस भिक्खूपडिमाओ । इच्चेएणं दुविहेणं विणयमूलेणं धम्मेणं आणुपुव्वेणं अट्ठ कम्मपयडीओ खवेत्ता लोयग्गपइट्ठाणे भवइ । तए णं थावच्चापुत्ते सुदंसणं एवं वयासी-तुब्भे णं सुदंसणा ! किंमूलए धम्मे पण्णत्ते ? । अम्हाणं देवाणुप्पिया ! सोयमूले धम्मे पण्णत्ते ०जाव सग्गं गच्छति । तए णं थावच्चापुत्ते सुदंसणं एवं वयासी-सुदंसणा ! से जहानामए केइ पुरिसे एगं महं रुहिरकयं वत्थं रुहिरेणं चेव धोएज्जा, तए णं सुदंसणा ! तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं चेव पक्खालिज्जमाणस्स अत्थि सोही, नो इणट्ठे समट्ठे, एवामेव सुदंसणा ! तुब्भं पि पाणातिवाएणं ०जाव मिच्छादंसणसल्लेणं णत्थि सोही, जहा तस्स रुहिरकयवत्थस्स रुहिरेणं चेव पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही । सुदंसणा ! से जहाणामए केइ पुरिसे एगं रुहिरकयवत्थ सज्जियक्खारेणं अणुलिंपइ ...

णं* आरुहेति, उण्हं गाहेति, उण्हं गाहेत्ता तओ पच्छा सुद्धेणं वारिणा धोवेज्जा, से णूणं सुदंसणा ! तस्स रुहिरकयवत्थस्स सज्जियाखारेणं अणुलित्तस्स पयणं आरुहियस्स उण्हं गाहियस्स सुद्धेणं वारिणा पक्खालिज्जमाणस्स सोही भवइ ? । हंता भवइ । एवामेव सुदंसणा ! अम्हं पि पाणाइवायवेरमणेणं ०जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं अत्थि सोही, जहा वि तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स०जाव सुद्धेणं वारिणा पक्खालिज्जमाणस्स अत्थि सोही। तत्थ णं सुदंसणे संबुद्धे थावच्चापुत्तं वंदति, णमंसति, णमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! धम्मं सोच्चा जाणित्तए० जाव समणोवासए० जाव अहिगयजीवाजीवे ०जाव पडिलाभेमाणे विहरति । तए णं तस्स सुयस्स परिव्वायगस्स इमीसे कहाए लद्धट्ठस्स समाणस्स अयमेयारूवे०जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु सुदंसणेणं सोयमूलं धम्मं विप्पजहाय विणयमूले धम्मे पडिवण्णे, तं सेयं खलु ममं सुदंसणस्स दिट्ठिं वामेत्तए, पुणरवि सोयमूले धम्मे आघवित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता परिव्वायगसहस्सेणं सद्धिं जेणेव सोगंधिया णयरी जेणेव परिव्वायगावसहे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता परिव्वायगाऽऽवसहंसि भंडगनिक्खेवणं करेति, करेइत्ता धाउरत्तवत्थपरिहिए पविरलपरिव्वायगसद्धिं संपरिवुडे परिव्वायगाऽऽवसहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता सोगंधियाए णयरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव सुदंसणस्स गिहे जेणेव सुदंसणे तेणेव उवागच्छइ । तए णं से सुदंसणे तं सुयं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता नो अब्भुट्ठेति, नो पच्चुग्गच्छति, नो आढाति, नो परियाणाइ, नो वंदति, तुसिणीए संचिट्ठति। तए णं से सुए परिव्वायगे सुदंसणं अणब्भुट्ठियं पासेत्ता एवं वयासी-तुमे णं सुदंसणा ! अण्णया ममं एज्जमाणं पासेत्ता अब्भुट्ठेसि०जाव वंदसि, इयाणिं सुदंसणा ! तुमं ममं एज्जमाणं पासेत्ता०जाव नो वंदइ, तं कस्स णं तुमे सुदंसणा ! इमेयारूवे विणयमूले धम्मे पडिवण्णे ?। तए णं सुदंसणे सुएणं परिव्वायएणं एव वुत्ते समाणे आसणाओ अब्भुट्ठेइ. करयल० सुयं परिव्वायगं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतेवासी थावच्चापुत्ते णामं अणगारे ०जाव इहमागए, इह चेव नीलासोए उज्जाणे विहरइ, तस्स णं अंतिए विणयमूले धम्मे पडिवण्णे । तए णं से सुए परिव्वायए सुदंसणं एवं वयासी-तं गच्छामो णं सुदंसणा ! तव धम्मायरियस्स थावच्चापुत्तस्स अंतियं पाउब्भवामो, इमं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छामो, तं जइ णं मे से एयाइं अट्ठाइं०जाव वागरेति, ततो णं अहं वंदामि, णमंसामि, अह मे से इमाइं अट्ठाइं० जाव नो वागरेइ, तते णं अहं एएहिं चेव अट्ठेहिं हेऊहिं निप्पट्ठपसिणवागरणं करिस्सामि । तए णं से सुए परिव्वायगसहस्सेणं सुदंसणेण य सेट्ठिणा सद्धिं जेणेव नीलासोए उज्जाणे जेणेव थावच्चापुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता थावच्चापुत्तं एवं वयासी-जत्ता भे भंते !, जवणिज्जं, अव्वाबाहं, फासुयं विहारं ?। तए णं थावच्चापुत्ते सुएणं एवं वुत्ते समाणे सुयं परिव्वायं एवं वयासी-सुया ! जत्ता वि मे, जवणिज्जं वि मे, अव्वाबाहं पि मे, फासुयं विहारं पि मे। तए णं से सुए थावच्चापुत्तं एवं वयासी-से किं तं भंते ! जत्ता ?। सुया ! जं णं मम णाणदंसणचरित्ततवसंजममाइएहिं जोएहिं जोयणा सेयं जत्ता । से किं तं भंते ! जवणिज्जं ? । सुया ! जवणिज्जे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-इंदियजवणिज्जे य, नोइंदियजवणिज्जे य । से किं तं इंदियजवणिज्जं ?। सुया ! जं णं मम सोइंदियचक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं निरुवहयाइं वसे वट्टंति से तं इंदियजवणिज्जे । से किं तं णोइंदियजवणिज्जे ? । सुया ! जं णं कोहमाणमायालोभखीणा उवसंता नो उदयंति से तं नोइंदियजवणिज्जे। से किं तं भंते ! अव्वाबाहं ?। सुया ! जं णं मम वाइयपित्तियसिंभियसन्निवाइयविविहरोगायंका णो उदीरेंति से तं अव्वाबाहं । से किं तं भंते ! फासुयविहारं ?। सुया ! जं णं आरामेसु उज्जाणेसु देवउलेसु सभासु पवासु इत्थीपसुपंडगविवज्जियासु वसहीसु पाडिहारियं पीढफलगसिज्जासंथारगं ओगिण्हित्ता णं विहरामि से तं फासुयं विहारं ॥ सरिसवया ते भंते ! किं भक्खेया, अभक्खेया ?। सुया ! सरिसवया भक्खेया वि, अभक्खेया वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सरिसवया भक्खेया वि, अभक्खेया वि ?। सुया ! सरिसवया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-मित्तसरिसवया, धन्नसरिसवया । तत्थ णं जे ते मित्तसरिसवया ते तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-सहजायया, सहवड्ढिया, सहपंसुकीलिया य, ते णं समणाणं निग्गंथाणं णिग्गंथीणं अभक्खेया । तत्थ णं जे ते धन्नसरिसवया ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सत्थपरिणया य, असत्थपरिणया य । तत्थ णं जे ते असत्थपरिणया ते समणाण णिग्गंथाणं अभक्खेया । तत्थ णं जे ते सत्थपरिणया ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-फासुया य, अफासुया य । तत्थ णं जे अफासुया ते सुया ! नो भक्खेया । तत्थ णं जे ते फासुया ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-जाइया य, अजाइया य । तत्थ णं जे ते अजाइया ते अभक्खेया । तत्थ णं जे ते जाइया ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-एसणिज्जा य, अणेसणिज्जा य । तत्थ णं जे ते अणेसणिज्जा ते णं अभक्खेया । तत्थ णं जे ते एसणिज्जा ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-लद्धा य,

* चुल्लयुपरि ।

अलद्धा य । तत्थ णं जे अलद्धा ते अभक्खेया । तत्थ णं जे लद्धा ते निग्गंथाणं भक्खेया । एएणं अट्ठेणं सुया ! एवं वुच्चइ-सरिसवया भक्खेया वि, अभक्खेया वि । एवं कुलत्था वि भाणियव्वा । नवरं इमं णाणत्तं-इत्थिकुलत्था य, धन्नकुलत्था य । इत्थिकुलत्था तिविहा पन्नत्ता । तं जहा-कुलवधूया य, कुलमाउया य, कुलधूया य । धन्नकुलत्था तहेव । एवं मासा वि । नवरं इमं णाणत्त-मासा तिविहा पन्नत्ता । तं जहा-कालमासा य, अत्थमासा य, धन्नमासा य । तत्थ णं जे ते कालमासा ते णं दुवालसविहा पन्नत्ता । त जहा-सावणे०जाव आसाढे । ते णं अभक्खेया । अत्थमासा दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-हिरन्नमासा य, सुवन्नमासा य । ते णं अभक्खेया । धन्नमासा तहेव ॥ एगे भव, दुवे भवं, अणेगे भवं, अक्खए भवं, अव्वए भवं, अवट्ठिए भव, अणेगभूयभावभविए भवं ? । सुया ! एगे वि अहं, दुवे वि अह०जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-एगे वि अहं० जाव अणेगभूयभावभविए वि अह ? । सुया ! दव्वट्ठयाए एगे अह, णाणदंसणट्ठयाए दुवे अह, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवओगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं । एत्थ णं से सुए संबुद्धे । तए णं थावच्चापुत्तं अणगारं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए केवलिपन्नत्त धम्मं निसामित्तए । धम्मकहा भाणियव्वा । तए ण से सुए परिव्वायए थावच्चापुत्तस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! परिव्वायगसहस्सेण सद्धिं संपरिवुडे देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता पव्वइत्तए ? । अहासुहं देवाणुप्पिया ! । तओ उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए तिदंडयाओ० जाव धाउरत्ताओ य एगंते एडेति, एडेइत्ता सयमेव सिहं उप्पाडेति, उप्पाडेइत्ता जेणेव थावच्चापुत्ते ०जाव मुंडे भवित्ता ०जाव पव्वइए, सामाइयमाइयाइ चउदस पुव्वाइं अहिज्जति । तए णं थावच्चापुत्ते सुयस्स अणगारसहस्सं सीसत्ताए विहरति । तए णं थावच्चापुत्ते सोगंधियाओ नीलासोयाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता वहिया जणवयविहारं विहरइ । तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारसहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे जेणेव पुंडरीए पव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पुंडरीयं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहति, दुरूहतित्ता सेयघणसन्निगासं देवसन्निवायपुढवीसिलापट्टयं ०जाव पाओवगमणं समणुपन्ने । तए णं से थावच्चापुत्ते णामं अणगारे वहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए ०जाव केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडित्ता तओ पच्छा सिद्धे वुद्धे०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे । तए णं से सुए अण्णया कयाइ जेणेव सेलगपुरे णगरे जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव समोसरिए । परिसा णिग्गया । सेलओ वि णिग्गओ, धम्मं सोच्चा० जाव देवाणुप्पिया ! पंथगपामोक्खाइं पंचमंतिसयाइ आपुच्छामि, मंडुअं कुमारं रज्जे ठावेमि, तओ पच्छा देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयामि ? । अहासुहं देवाणुप्पिया ! । तए णं से सेलए राया सेलगपुरं णगरं मज्झं मज्झेणं अणुप्पविसइ, जेणेव सए गेहे जेणेव वाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सीहासणे सण्णिसन्ने । तए णं से सेलए राया पंथयपामोक्खे पंचमंतिसए सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए सुयस्स अंतिए धम्मे निसन्ने, से वि य मे धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए, अहं णं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गे ०जाव पव्वयामि, तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! किं करेह, किं वसह, किं वा ते हिययइच्छिए सामत्थे ? । तए ण ते पंथगपामोक्खा पंचमंतिसया सेलयं रायं एवं वयासी-जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! संसार ०जाव पव्वयह, अम्हाणं देवाणुप्पिया ! किं अन्ने आहारे वा, आलंबे वा । अम्हे वि य णं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गा०जाव पव्वयामो । जहा णं देवाणुप्पिया ! अम्हं वहुसु कज्जेसु य कारणेसु य ०जाव तहा णं पव्वइयाण वि समणाणं वहुसु० जाव चक्खू । तए णं से सेलए राया पंथयपामुक्खे पंच मतिसए एवं वयासी-जइ णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे संसारभयउव्विग्गा०जाव पव्वयह, त गच्छह णं देवाणुप्पिया ! सएसु सएसु कोडुंबेसु जेट्ठपुत्ते कुडुंबमज्झे ठावेत्ता पुरिससहस्सवाहिणीयाओ सीयाओ दुरूढा समाणा मम अंतिय पाउब्भवह । ते वि तहेव पाउब्भवंति । तए णं से सेलए राया पंचमंतिसयाइ पाउब्भवमाणाइं पासति, पासइत्ता हट्ठतुट्ठे कोडुंवियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! मंडुयस्स कुमारस्स महत्थं० जाव रायाभिसेयं उवट्ठवेह, ०जाव अभिसिंचंति, ०जाव राया जाए विहरइ । तए णं से सेलए राया मंडुयं आपुच्छति । तए णं से मंडुए राया कोडुंवियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव सेलगपुरं नगरं आसियं ०जाव गंधवट्टिभूयं करेह, कारवेह य, एवमाणत्तिअं पच्चप्पिणह । तए णं से मंडुए राया दोच्चं पि कोडुंवियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव सेलयस्स रन्नो महत्थं ०जाव निक्खमणाभिसेयं, जहा मेहस्स तहेव, नवरं पउमावती

देवी अग्गकेसे पडिच्छइ; सव्वे वि पमिग्गहं गहाय सीयं दुरूहंति, अवसेसं तहेव०जाव सामाइयमाइयाइं इक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, बहुहिं चउत्थ ०जाव विहरइ। तए णं से सुए सेलगस्स अणगारस्स ताइं पंथगपामुक्खाइं पंच अणगारसयाइं सीसत्ताए वियरइ। तए णं से सुए अणगारे अप्पया कयाइं सेलगपुराओ सुभूमिभागाओ उज्जाणाओ पमिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ। तए णं से सुए अणगारे अप्पया कयाइ तेणं अणगारसहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं विहरमाणे जेणेव पुंमरीए पव्वए ०जाव सिद्धा बुद्धा मुत्ता अंतगमा । तए णं तस्स सेलगस्स रायरिसिस्स तेहिं अंतेहि य पंतेहि य तुच्छेहि य लूहेहि य अरसेहि य विरसेहि य सीएहि य उण्हेहि य कालाइक्कंतेहि य पमाणाइक्कंतेहि य णिच्चं पाणभोयणेहि य पयइसुकुमालस्स य सुहोचियस्स सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला० जाव दुरहियासा, कंडूदाहपित्तजरपरिगयसरीरे०जाव विहरइ। तए णं से सेलए रायरिसीएएणं रोगायकेणं सुक्के किसे जाए यावि होत्था। तए णं से सेलए रायरिसी अप्पया कयाइं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे०जाव जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव विहरइ। परिसा णिग्गया। मंडुओ वि राया णिग्गओ, सेलयं अणगारं वंदति, नमंसति, पज्जुवासति । तए णं से मंडुए राया सेलयस्स अणगारस्स सरीरयं सुक्कं भुक्खं लुक्ख० जाव सव्वाबाहं सरोगं पासइ, पासइत्ता एवं वयासी–अहं णं भंते ! तुब्भं अहापवत्तेहिं तिगिच्छिएहिं अहापवत्तेणं ओसहभेसज्जभत्तपाणेणं तिगिच्छं आउंटावेमि, तुब्भे णं भंते ! मम जाणसालासु समोसरह, फासुयं एसणिज्जं पीढफलगसिज्जासंथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरह। तए णं से सेलए अणगारे मंडुयस्स रण्णो एयमट्ठं 'तह' त्ति पमिसुणेइ। तए णं से मंडुए राया सेलयं रायरिसिं वंदति,णमंसति,णमंसइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पमिगए। तए णं सेलए रायरिसी कल्लं०जाव जलंते सभंडमत्तोवगरणमायाए पंथगपामोक्खेहिं पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं सेलगपुरमणुपविसति, जेणेव मंडुयस्स रण्णो जाणसालाओ तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता फासुय पीढं०जाव विहरइ। तए णं से मंडुए राया तिगिच्छिए सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी–तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! सेलयस्स रायरिसिस्स फासुयं एसणिज्ज०जाव तिगिच्छं आउंटेह। तए णं ते तिगिच्छिया मंडुएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा सेलयस्स रायरिसिस्स अहापवत्तेहिं ओसहभेसज्जभत्तपाणेहिं तिगिच्छं आउटेंति, मज्जपाणयं च उवदिसंति। तए णं तस्स सेलयस्स अहापवत्तेहिं० जाव मज्जपाणएण य से रोगायंके उवसंते यावि होत्था, हट्ठे० जाव बलियसरीरे जाए ववगयरोगायंके। तए णं से सेलए तम्मि रोगायंकंसि उवसंतंसि समाणंसि तंसि विउले असणं पाणं खाइमं साइमं मज्जपाणए य मुच्छिए गढिए गिद्धे अज्झोववन्ने पासत्थे पासत्थविहारी ओसण्णे ओसण्णविहारी कुसीले कुसीलविहारी पमत्ते पमत्तविहारी संसत्ते संसत्तविहारी उउबद्धपीढफलगसेज्जासंथारए पमत्ते यावि होत्था, नो संचाएति फासुयं एसणिज्जं पीढफलगं पच्चप्पिणित्ता मंडुयं च रायं आपुच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरित्तए। तए णं तेसिं पंथगवज्जाणं पंचण्हं अणगारसयाणं अण्णया कयाइं एगओ सहियाणं० जाव पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणाणं अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था। एवं खलु सेलए रायरिसी चइत्ता रज्जं०जाव पव्वइए, विउले णं असणं पाणं खाइमं साइमं मज्जपाणए मुच्छिए नो संचाएति०जाव विहरित्तए, नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया ! समणाणं०जाव पमत्ताणं विहरित्तए,तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं कल्लं सेलयं रायरिसिं आपुच्छित्ता पामिहारियं पीढफलगसिज्जासंथारयं पच्चप्पिणित्ता सेलयस्स अणगारस्स पंथयं अणगारं वेयावच्चकरं ठवित्ता बहिया अब्भुज्जाणं० जाव विहरित्तए, एवं संपेहइ,कल्लं जेणेव सेलए रायरिसी तेणेव उवागच्छित्ता सेलयं आपुच्छित्ता पाडिहारियं पीढफलग० जाव पच्चप्पिणंति, पंथयं अणगारं वेयावच्चकरं ठावेंति,बहिया० जाव विहरंति। तए णं से पंथए अणगारे सेलयस्स रायरिसिस्स सेज्जासंथारउच्चारपासवणखेलमल्लओसहभेसज्जभत्तपाणएणं अगिलाणविणएण वेयावडियं करेति। तए णं से सेलए रायरिसी अण्णया कयाइं कत्तियचाउम्मासियंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारमाहारिए सुबहुं च मज्जपाणयं पीए पुव्वावरण्हकालसमयंसि सुहपसुत्ते। तए णं से पंथए कत्तियचाउम्मासियंसि कयकाउस्सग्गे देवसियं पडिक्कमणं पडिक्कंते चाउम्मासियं पमिक्कमणं काउं कामे सेलयं रायरिसिं खामणट्ठयाए सीसेण पाएसु संघट्टेति। तए णं से सेलए रायरिसी पंथएणं सीसेणं पाएसु संघट्टिए समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता एवं वयासी-से केणट्ठेणं भो! एस अपत्थियपत्थिए०जाव परिवज्जिए,जेण मम सुहपसुत्तं पाए संघट्टेति ?। तए णं पंथए अणगारे सेलएणं एवं वुत्ते समाणे भीए तत्थे तसिए करयल० जाव कट्टु एवं वयासी–अहं णं भंते ! पंथए सिस्से कयकाउ–

स्सग्गे देवसियं पडिक्कमणं पडिक्कंते चाउम्मासियं खामेमाणे देवाणुप्पियं वंदमाणे सीसे णं पाएसु संघट्टेमि, तं खमंतु मं देवाणुप्पिया ! णाइ भुज्जो भुज्जो एवं करणयाए त्ति कट्टु सेलयं अणगारं एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेति । तए णं तस्स सेलयस्स रायरिसिस्स पंथएणं अणगारेणं एवं वुत्तस्स अयमेयारूवे० जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु अहं रज्ज च० जाव ओसण्ण० जाव उउबद्धपीढ० विहरामि, तं खलु णो कप्पइ समणाणं पासत्थाणं० जाव विहरित्तए, तं सेयं खलु कल्लं मंडुयं रायं आपुच्छित्ता पाडिहारियं पीढफलगसेज्जासंथारयं पच्चप्पिणित्ता पंथएणं अणगारेणं सद्धिं बहिया अब्भुज्जएणं० जाव जणवयविहारं विहरित्तए, एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता कल्लं ०जाव विहरइ । एवामेव समणाउसो !० जाव णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा ओसण्णे० जाव संथारए पमत्ते विहरइ, से णं इहलोए चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं हीलणिज्जे संसारो भाणियव्वो । तए णं ते पंथगवज्जा पंच अणगारसया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा अण्णमण्णं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-सेलए रायरिसी पंथएणं बहिया० जाव विहरइ । तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं सेलयं रायरिसिं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, एवं संपेहेंति, संपेहेइत्ता सेलयं रायरिसिं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति । तए णं ते सेलयपामोक्खा पंच अणगारसया बहूणि वासाणि सामण्णपरियायं पाउणित्ता जेणेव पुंडरीए पव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जहेव थावच्चापुत्ते तहेव सिद्धा । एवामेव समणाउसो ! जो निग्गंथो वा णिग्गंथी वा० जाव विहरइ । ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

(धणवइमइनिम्माय त्ति) धनपतिर्वैश्रवणः, तन्मत्या निर्मापिता निरूपिता, अलकापुरी वैश्रवणपुरी, प्रमुदितप्रक्रीडिता, तद्वासिजनानां प्रमुदितप्रक्रीडितत्वात् । रैवतक उज्जयन्तः । (चक्कवाय त्ति) चक्रवाकः । (मयणसार त्ति) मदनसारिका, अनेकानि तटानि कटकाश्च गण्डशैला यत्र स तथा । (विवर त्ति) विवराणि च, अवझराश्च निर्झरविशेषाः, प्रपाताश्च भृगवः, प्राग्भाराश्च ईषदवनता गिरिदेशाः, शिखराणि च कूटानि प्रचुराणि यत्र स तथा, ततः कर्मधारयः । अप्सरोगणैर्देवसङ्घैः, चारणैर्जङ्घाचारणाऽऽदिभिः साधुविशेषैर्विद्याधरमिथुनैश्च (संकिण्ण त्ति) सङ्कीर्ण आसेवितो य स तथा । नित्यं सर्वदा क्षणा उत्सवा यत्राऽसौ नित्यक्षणिकः । केषामित्याह-दशाराः समुद्रविजयाऽऽदयः, तेषु मध्ये वरास्त एव वीरा धीरपुरुषा ये ते तथा । (तेलोक्कबलवगाण) त्रैलोक्यादपि बलवन्तोऽतुलबलिनेमिनाथयुक्तत्वाद् ये ते तथा, ते च ते च तेषाम् । (बत्तीसाओ दाओ) द्वात्रिंशत्प्रासादाः, द्वात्रिंशत्सुवर्णकोट्यः, द्वात्रिंशद्धिरण्यकोट्यः इत्यादिको दायो दानं वाच्यः, यथा मेघकुमारस्य । (सो चेव वण्णओ त्ति) " आइगरे तित्थगरे " इत्यादिर्यो महावीरस्य अभिहितः (गवल त्ति) महिषशृङ्गं, गुलिका नीली, गवलस्य वा गुलिका गवलगुलिका । अतसी मालवकप्रसिद्धो धान्यविशेषः । (कोमुईय त्ति) उत्सववाद्यम् । क्वचित्सामुदायिकीमिति पाठः । तत्र सामुदायिकी जनमीलकप्रयोजना । (णिद्धमहुरगंभीरपडिसुएण पि व त्ति) स्निग्धमधुरगम्भीरः प्रतिश्रुतः प्रतिशब्दो यस्य स तथा, तेनैव । केनेत्याह-शारदिकेन शरत्कालजातेन, बलाहकेन मेघेन रसितं शब्दायितं भेर्या । शृङ्गाटकाऽऽदीनि प्राग्वत् । गोपुरं नगरद्वारं, प्रासादो राजगृहं, द्वाराणि प्रतीतानि, भवनानि गृहाणि, देवकुलानि प्रतीतानि, तेषु याः (पडिसुय त्ति) प्रतिश्रुतः प्रतिशब्दाः, तासां यानि शतसहस्राणि लक्षाः, तैः सङ्कुला या सा तथा, तां कुर्वन् । कामित्याह-द्वारकां द्वारवतीं नगरीं, कथंभूतामित्याह-(सब्भिंतरबाहिरियं ति) सहाभ्यन्तरेण मध्यभागेन, बाहिरिकया च, प्राकाराद्बहिर्नगरदेशेन या साभ्यन्तरबाहिरिका, ताम् । (से इति) स भेरीसम्बन्धी शब्दः (विप्पसरित्थ त्ति) विप्रासरत् । (पामोक्खा इति) प्रमुखाः (आविद्धवग्घारियमल्लदामकलाव त्ति) परिहितप्रलम्बपुष्पमालासमूहा इत्यादिवर्णकः प्राग्वत् । (पुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता) वागुरा मृगबन्धनं, वागुरेव वागुरा समुदायः । (नत्थ अप्पणो कम्मक्खयए त्ति) न इति यदेतन्मरणाऽऽदिवारणशक्तेर्निषेधनं, तदन्यत्राऽऽत्मनः कृतात् । आत्मनो वा सम्बन्धिनः कर्मक्षयात्, आत्मना क्रियमाणमात्मीयं वा कर्मक्षयं, वर्जयित्वेत्यर्थः । आत्मनेत्यादौ (अत्ताणे अप्पणो वा कम्मक्खय करित्तए त्ति) कर्मणि इह षष्ठी द्रष्टव्या । (पच्छाऽऽउरस्स इत्यादि) पश्चादस्मिन् राजाऽऽदौ प्रव्रजिते सति आतुरस्यापि च द्रव्याऽऽद्यभावाद् दुःस्थस्य 'से' तस्य, तदीयस्येत्यर्थः । मित्रज्ञातिनिजकसम्बन्धिपरिजनस्य, योगक्षेमवार्तमानीं प्रतिवहति । तत्रालब्धस्येप्सितस्यैव वस्तुनो लाभो योगः, लब्धस्य परिपालनं क्षेमः, ताभ्यां वर्तमानकालभवा वार्तमानी योगक्षेमवार्तमानी, तां निर्वाहं, राजा करोतीति तात्पर्यम् । (इति कट्टु) इति कृत्वा इतिहेतोरेवरूपामेव घोषणां घोषयत कुरुत । (पुरिससहस्समित्यादि) इह पुरुषसहस्रं स्नानाऽऽदिविशेषणम् । स्थापत्यापुत्रस्यान्तिके प्रादुर्भूतमिति सम्बन्धः । (विज्जाहरचारणे त्ति) " इह जंभए य देवे उवयमाणे " इत्यादि द्रष्टव्यम् । एवमन्यदपि मेघकुमारचरितानुसारेण पूर्वं वदेतदध्येतव्यमिति । (इरियासमिए इत्यादि) (एसणासमिए आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिए) आदानेन ग्रहणेन सह भाण्डमात्राया उपकरणलक्षणपरिच्छदस्य या निक्षेपणा मोचनं तस्यां समितः सम्यक्प्रवृत्तिमान् (उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपारिट्ठावणियासमिए) उच्चारः पुरीषं, प्रस्रवणं मूत्रं, खेलो निष्ठीवनं, सिंघाणो नासामलः, जल्लः शरीरमलः । इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-" मणसमिए वयसमिए कायसमिए । " चित्ताऽऽदीनां कुशलानां प्रवर्तक इत्यर्थः । " मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते " चित्ताऽऽदीनामशुभानां निषेधकः । एतदेवाऽऽह-" गुत्ते । " योगापेक्षया " गुत्तिंदिए । " इन्द्रियाणां विषयेष्वसत्प्रवृत्तिनिरोधात् । " गुत्तबंभचारी । " वसत्यादिनवब्रह्मचर्यगुप्तियोगात् । " अकोहे ४ । " कथमित्यत आह-" संते । " सौम्यमूर्तित्वात् । " पसंते । " कषायोदयस्य विफलीकरणात्

"उवसंते।" कषायोदयाभावात् । "परिनिव्वुडे।" स्वास्थ्यातिरेकात् । "अणासवे।" हिंसाऽऽदिनिवृत्तेः । "अममे।" ममेत्युल्लेखस्याभिष्वङ्गतोऽसद्भावात् । "अकिंचणे।" निर्द्रव्यत्वात् । "छिन्नगंथे।" मिथ्यात्वाऽऽदिभावग्रन्थिच्छेदात् । "निरुवलेवे।" तथाविधबन्धहेत्वभावेन तथाविधकर्मानुपादानात् । एतदेवोपमाभिरुच्यते-"कंसपाई व मुक्कतोए।" बन्धहेतुत्वेन तोयाऽऽकारस्य स्नेहस्याभावात् । "संखो इव निरंजणे।" रञ्जनस्य रागस्य कर्तुमशक्यत्वात् । "जीवो विव अप्पडिहयगई।" सर्वत्रौचित्येनास्खलितविहारित्वात् । "गगणमिव निरालंबणे।" देशग्रामकुलाऽऽदीनामनालम्बकत्वात् ।"वाउरिव अप्पडिबद्धे।" क्षेत्राऽऽदौ प्रतिबन्धाभावेनौचित्येन सततविहारित्वात् । "सारयसलिल व सुद्धहियए।" कषायकलुषतागहुलत्ववर्जनात् । "पुक्खरपत्त पि व निरुवलेवे।" पद्मपत्रमिव भोगाभिलाषलेपाभावात् । "कुम्मो इव गुत्तिंदिए।" कूर्मः कच्छपः । "खग्गविसाणं व एगजाए।" खड्ग आरण्यः पशुविशेषः, तस्य विषाणं शृङ्गं, तदेकं भवति, तद्वदेको जातो योऽसङ्गत्वतः सहायत्यागेन स तथा । "विहग इव विप्पमुक्के।" आलयाप्रतिबन्धेन । "भारंडपक्खी व अप्पमत्ते।" भारण्डपक्षिणो हि-"एकोदराः पृथग्ग्रीवाः,अन्योऽन्यफलभक्षिणः ।प्रमत्ता इव नश्यन्ति, यथा भारण्डपक्षिणः ॥ १ ॥" जीवद्वयरूपा भवन्ति, ते च सर्वदा चकितचित्ता भवन्ति इति । "कुंजरो इव सोंडीरे।" कर्मशत्रुसैन्यं प्रति शूर इत्यर्थः । "वसभो इव जायथामे।" आरोपितमहाव्रतभारवहनं प्रति जातबलो, निर्वाहकत्वात् । "सीहो इव दुद्धरिसे।" दुर्धर्षणीय उपसर्गमृगैः । "मंदरो इव निप्पकंपे" परीषहपवनैः । "सागरो इव गंभीरे।" अतुच्छचित्तत्वात् । "चंदो इव सोमलेस्से।" शुभपरिणामित्वात् । 'सूरो इव दित्ततेए।" परेषां क्षोभकत्वात् ।"जच्चकंचणं व जायरूवे।" अपगतदोषलक्षणकुद्रव्यत्वेनोत्पन्नस्वस्वभावः । "वसुंधरा व्व सव्वफाससहे" पृथ्वीवत् शीताऽऽतपाऽऽद्यनेकविधस्पर्शक्षमः । "सुहुयहुयासणो व्व तेयसा जलंते" घृताऽऽदितर्पितवैश्वानरवत् प्रभया दीप्यमानः । "नत्थि णं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधो भवइ" नास्त्ययं पक्षो यदुत तस्य कुत्रापि प्रतिबन्धो भवति । "से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-दव्वओ, खित्तओ,कालओ,भावओ । दव्वओ-सच्चित्ताचित्तमीसेसु । खित्तओ गामे वा नगरे वाऽरण्णे वा खले वा घरे वा अंगणे वा ।" खलं धान्यमलनाऽऽदिस्थण्डिलम् ।"कालओ समए वा आवलियाए वा । " असंख्यातसमयरूपायाम् । "आणापाणुए वा ।" उच्छ्वासनिःश्वासकाले "थोवे वा" सप्तोच्छ्वासरूपे"खणे वा" बहुतरोच्छ्वासरूपे वा' लवे"सप्तस्तोकरूपे वा ।"मुहुत्ते वा" लवसप्तसप्ततिरूपे"अहोरत्ते वा पक्खे वा मासे वा अयणे वा ।" दक्षिणायनेतररूपे प्रत्येकं षण्मासप्रमाणे, संवत्सरे वा "अन्नयरे वा दीहकालसंजोए"युगाऽऽदौ"भावओ कोहे वा माणे वा माए वा लोहे वा भए वा हासे वा।" हास्ये हर्षे वा । "एवं तस्स न भवइ।" एवमनेकधा तस्य प्रतिबन्धो न भवति । "से णं भगवं वासीचंदणकप्पे।" वास्यां चन्दनकल्पो यः स तथा । अपकारिणोऽप्युपकारकारीत्यर्थः । वासीवाऽऽच्छेदनप्रवृत्तं चन्दनं कल्पयति यः स तथा । "समतिणमणिलेट्ठुकंचणे समसुहदुक्खे" समानि उपेक्षणीयतया तृणाऽऽदीनि यस्य स तथा । "इहलोयपरलोयअप्पडिबद्धे जीवियमरणनिरवकंखे संसारपारगामी कम्मसत्तुनिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिए एवं च णं विहरइ त्ति ।" एवमीर्यासमित्यादिगुणयोगेनेति ।

(पंचाणुव्वइयं) इह यावत्करणादेवं दृश्यम्-" सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सए अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं काहिसि । तए णं से सेलए राया थावच्चापुत्तस्स अणगारस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं०जाव उवसंपज्जइ । तए णं से सेलए राया समणोवासए जाए"(अभिगयजीवाजीवे) इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"उवलद्धपुण्णपावे आसवसंवरनिज्जरकिरियाहिगरणबंधमोक्खकुसले ।" क्रिया कायिक्यादिका,अधिकरणं खड्गनिर्वर्त्तनाऽऽदि । एतेन च ज्ञानितोक्ता। "असहिज्जे।" अविद्यमानसहायः, कुतीर्थिकप्रेरितः सम्यक्त्वाऽऽद्यविचलनं प्रति न परसाहाय्यमपेक्षते इति भावः । अत एवाऽऽह-"देवासुरनागजक्खरक्खसकिंनरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जे" देवा वैमानिका ज्योतिष्काः,शेषा भवनपतिव्यन्तरविशेषाः, गरुडाः सुपर्णकुमाराः । एवं चैतत्,यतः-" निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए ।"मुक्तदर्शनान्तरपक्षपातः।"निव्वितिगिच्छे" फलं प्रति निःशङ्कः "लद्धट्ठे ।" अर्थश्रवणतः । "गहियट्ठे ।" अर्थावधारणेन । "पुच्छियट्ठे ।" संशये सति "अभिगयट्ठे ।"बोधात् । "विणिच्छियट्ठे" ऐदम्पर्योपलम्भात् । अत एव"अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ते ।" अस्थीनि च प्रसिद्धानि, मिञ्जा च तन्मध्यवर्ती धातुः, अस्थिमिञ्जा, ता प्रेमानुरागेण सार्वज्ञप्रवचनप्रीतिलक्षणकुसुम्भाऽऽदिरागेण रक्ता इव रक्ता यस्य स तथा । केनोल्लेखेनेत्याह-"अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे ।" (आउसो त्ति) आयुष्मन्निति पुत्राऽऽदेरामन्त्रणम् । शेषं धनधान्यपुत्रदारराज्यकुप्रवचनाऽऽदि । "ऊसियफलिहे" उच्छ्रितं स्फाटिकमिव स्फाटिकमन्तःकरणं यस्य स तथा । मौनीन्द्रप्रवचनावाप्त्या परितुष्टमना इत्यर्थः । इति वृद्धव्याख्या । केचित्त्वाहुः-उच्छ्रितः अर्गलास्थानादपनीय ऊर्ध्वीकृतो, न तिरश्चीनः कपाटपश्चाद्भागादपनीत इत्यर्थः । उत्सृतो वा अपगतः परिघोऽर्गला गृहद्वारे यस्याऽसौ उत्सृतपरिघः, उच्छ्रितपरिघो वा । औदार्यातिरेकादतिशयदानदायित्वेन भिक्षुकप्रवेशार्थमनर्गलितगृहद्वार इत्यर्थः। "अवगुयदुवारे"अपावृतद्वारः कपाटाऽऽदिभिः भिक्षुकप्रवेशार्थमेवास्थगितगृहद्वार इत्यर्थः। इत्येकीयं व्याख्यानम्। वृद्धानां तु भावनावाक्यमेवम् यदुत सद्दर्शनलाभे,न कस्माच्चित्पाषण्डिकाद्बिभेति, शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटशिरास्तिष्ठतीति भावः । "चियत्तंतेउरघरदारप्पवेसे।" (चियत्त त्ति) नाप्रीतिकरः अन्तःपुरगृहे द्वारेण नापद्वारेण प्रवेशः शिष्टजनोचितप्रवेशनं यस्य स तथा। अनीर्ष्यालुत्वं चाऽस्यानेनोक्तम्।अथवा (चियत्तो त्ति) लोकानां प्रीतिकर एव अन्तःपुरे वा गृहे वा गृहद्वारे वा प्रवेशो यस्य स तथा। अतिधार्मिकतया सर्वत्रानाशङ्कनीयत्वादिति ।"चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे ।" उद्दिष्टा अमावास्या पौषधमाहारपौषधाऽऽदिव्रतचतूरूपम्। "समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं ।" पतद्ग्रहः पात्रं, पादप्रोञ्छनं रजोहरणम् । "ओसहभेसज्जेणं" भेषजं पथ्यम् " पाडिहारिएणं पीढफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणे।" प्रातिहारिकेण पुनः समर्पणीयेन, पीठमासनं, फलकमवष्टम्भार्थं, शय्या वसतिः , शयनं वा यत्र प्रसारितपादैः स्वप्यते, संस्तारको लघुतरः " अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।"(सुए परिव्वायगे त्ति) शुको व्यासपुत्रः ऋग्वेदाऽऽदयश्चत्वारो वेदाः , षष्टितन्त्रं साङ्ख्यमतं,साङ्ख्य-

कश्चनमपे मारणपसमाचारेलब्धार्थः। वाचनान्तरे तु यावत्करणा देवमिदं द्रष्टव्यम्-ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्वणवेदानामि-तिहासपञ्चमानामितिहास पुराणं, निघण्टुषष्ठानां निघण्टुर्नाम-कोशः, साङ्गोपाङ्गानामङ्गानि शिक्षाऽऽदीनि, उपाङ्गानि तदुक्तप्र-पञ्चनपराः प्रबन्धाः। सरहस्यानामिदम्पर्ययुक्तानां, सारकः प्रवर्तकः, स्मारको वाऽन्येषां विस्मृतस्य स्मारणात्, धा-रकोऽधुत्पाठनिषेधकः, पारगः पारगामी षडङ्गवित्। षष्टितन्त्र-विशारदः षष्टितन्त्रं कापिलीयशास्त्रं, षडङ्गवेदकत्वमेव व्यनक्ति-संख्याने गणितस्कन्धे, शिक्षाकल्पे शिक्षायामक्षरस्वरूपनिरूपके शास्त्रे, कल्पे तथाविधसामाचारीप्रतिपादके, व्याकरणे शब्दलक्षणे छन्दसि पद्यवचनलक्षणनिरूपके, निरुक्ते शब्दनिरुक्तप्रतिपादके, ज्योतिषामयने ज्योतिःशास्त्रे। अन्येषु च ब्राह्मणकेषु शास्त्रेषु च परिनिष्ठित इति वाचनान्तरम्॥ पञ्चयमपञ्चनियमयुक्तम्। तत्र प-ञ्च यमाः प्राणातिपातविरमणाऽऽदयः, नियमास्तु शौचसन्तोष-तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि। शौचमूलक यमनियमसमीरणाद्-शविधकारम्। धातुरक्तानि वस्त्राणि प्रवराणि परिहितो यः स तथा। त्रिदण्डाऽऽदीनि यस्य हस्ते गतानि यस्य स तथा। तत्र कुण्डिका कमण्डलुः, काञ्चनिका काञ्चनिका करोटिका वाऽभिधीयते, ते च क्रमेण रुद्राक्षकृतमाला मृद्भाजनं चोच्यते। वर्णालिका त्रिका-ष्ठिका, अङ्कुशो वृक्षपल्लवच्छेदार्थं, पवित्रकं ताम्रमयमङ्गुलीयक, केसरी चीवरखण्डं प्रमार्जनार्थम्। (सन्नाल त्ति) सातुषम-लम्। (मच्छुटाणि त्ति) कुमारपूर्णधपी (पयवणं आवट्टे) पाकस्थाने चुल्लयादावारोपयति, ऊष्माणमुष्णम्य माद्यव-ति, (दिट्टि वामेतव्य त्ति) मत वमयितु त्याजयितु-मित्यर्थः। (अट्ठाइ त्ति) अर्थान् अर्थ्यमानत्वादधिगम्य-मानत्वादित्यर्थः। प्रार्थ्यमानत्वाद्वा याच्यमानत्वादित्यर्थः। पृ-च्छ्यमानत्वादायापनीयाऽऽदीन्। तथा तानेव (हेऊइ त्ति) हेतून्, अन्तर्वर्तिन्यास्तदीयज्ञानस्य हेतो गमकान्। (पसिणाइ त्ति) प्रश्नान्, पृच्छ्यमानत्वात्। (कारणाइ त्ति) कारणानि, विव-क्षितार्थनिश्चयस्य जनकानि। (वागरणाइ त्ति) व्याकरणानि, प्रत्युत्तरतया व्याक्रियमाणत्वादेषामिति। (निप्पट्ठपसिणवाग-रणं त्ति) निर्गतानि स्पष्टानि स्फुटानि प्रश्नव्याकरणानि प्रश्नो-त्तराणि यस्य स तथा तम्। (णोणाउवसत त्ति) क्षयोपशम-मुपगत इत्यर्थः। एतेषां च यात्राऽऽदिपदानामागमिकगम्भी-रार्थत्वेनाऽऽचार्यस्य तदर्थपरिज्ञानमसम्भावयताऽपभ्राजनार्थं प्रश्नः कृत इति। (सरिसवय त्ति) एकत्र सदृशवयसः सदृशव-यस, अन्यत्र सर्षपाः सिद्धार्थकाः। (कुलत्थ त्ति) एकत्र कुले तिष्ठन्तीति कुलस्थाः, अन्यत्र कुलत्था धान्यविशे-षाः। सरिसवयाऽऽदिपदप्रश्नश्च छलग्रहणेनोपहासार्थं कृत इति। (एगे भवं त्ति) एको भवान् इति एकत्वाभ्यु-पगमे आत्मनः कृते सूरिणा श्रोत्राऽऽदिविज्ञानानामवयवानां चात्मनोऽनेकत्वोपलब्ध्या एकत्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या प-र्यनुयोगः शुकेन कृतः (दुवे भवं ति) द्वौ भवानिति च द्वित्वा-भ्युपगमे अहमित्येकत्वविशिष्टस्यार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्वं दूष-यिष्यामीतिबुद्ध्या पर्यनुयोगो विहितः। अक्षयः अव्ययः अवस्थि-तो भवान्, अनेन नित्यात्मपक्षः पर्यनुयुक्तः। अनेके भूता अतीता भावाः सत्ताः परिणामा वा भाव्याश्च भाविनो यस्य स तथा। अनेन चानित्यात्मभावित्वप्रश्नेन अनित्याऽऽत्मपक्षः पर्यनुयुक्तः। एकतरपरिग्रहे अन्यतरस्य दूषणायेति। तत्राऽऽचार्येण स्याद्वा-दस्य निखिलदोषगोचरातिक्रान्तत्वादाभवमभ्युपेत्योत्तरमदायि-ए-

कोऽप्यहम, कथम्?, द्रव्यार्थतया, जीवद्रव्यस्यैकत्वात्, न तु प्रदे-शार्थतया। तथा ह्यनेकत्वान्ममेत्यवयवाऽऽदीनामनेकत्वोपलम्भो न बाधकः। तथा कश्चित्स्वभावमाश्रित्यैकत्वसङ्ख्याविशिष्टस्या-ऽपि पदार्थस्य स्वभावान्तरद्वयापेक्षया द्वित्वमपि न विरुद्धम्, इ-त्यत उक्तम्-द्वावप्यहं ज्ञानदर्शनार्थतया, न चैकस्य स्वभावभेदो दृश्यते। एको हि देवदत्ताऽऽदिपुरुषः एकदैव तत्तदपेक्षया पि-तृत्वपुत्रत्वभ्रातृत्वभ्रातृव्यत्वपितृव्यत्वमातुलत्वभागिनेयत्वादीन-नेकान् स्वभावाँल्लभत इति। तथा प्रदेशार्थतया असङ्ख्येयप्रदेश-तामाश्रित्याक्षयः, सर्वथा प्रदेशानां क्षयाभावात्। अव्ययः किय-तामपि च व्ययाभावात्। किमुक्तं भवति?-अवस्थितो नित्यः। असङ्ख्येयप्रदेशो हि न कदाचनापि व्यपैति, अतो नित्यताऽभ्यु-पगमेऽपि न दोषः। उपयोगार्थतया विविधविषयानुपयोगाना-श्रित्य अनेकभूतभावभविकोऽपि अतीतानागतयोर्हि कालयोर-नेकविषयबोधानामात्मनः कथञ्चिदभिन्नानामुत्पादाद्विगमाच्चा-नित्यपक्षो न दोषायेति। पुण्डरीकेण आदिदेवगणधरेण नि-र्वाणत उपलक्षितः पर्वतः, तस्य तत्र प्रथमं निर्वृतत्वात्पुण्डरीक-पर्वतः शत्रुञ्जयः। (अंतेहि येत्यादि) अन्तैर्वल्लचणकाऽऽदिभिः, प्रान्तैस्तैरेव भुक्तावशेषैः पर्युषितैर्वा, रूक्षैर्निःस्नेहैः, तुच्छैरल्पैः, अरसैः हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतैः, विरसैः पुराणत्वाद्विगतरसैः, शी-तैः शीतलैः, उष्णैः प्रतीतैः, कालातिक्रान्तैः तृष्णाबुभुक्षाकाला-प्राप्तैः, प्रमाणातिक्रान्तैः बुभुक्षापिपासामात्रानुचितैः। चकाराः समुच्चयार्थाः। एवंविधविशेषणान्यपि पानाऽऽदीनि निष्ठुरशरी-रस्य न भवन्ति बाधायै। अत आह-प्रकृतिसुकुमारकस्येत्यादि। "वेयणा पाउब्भूया" इत्यस्य स्थाने "रोगायंके" इति क-चिद् दृश्यते। तत्र रोगश्चासावातङ्कश्च कृच्छ्रजीवितकारीति स-मासः। कण्डूः कण्डूतिः, दाहः प्रतीतः, तत्प्रधानेन पित्तज्वरेण परिगतं शरीरं यस्य स तथा। ते इच्छन्ति चिकित्साम्। (आ-उट्टावेमि त्ति) आवर्तयामि कारयामि। (सभंडमत्तोवगरण-मायाए त्ति) भाण्डमात्रा पतद्ग्रहपरिच्छदश्च, उपकरणं च वर्षाक-ल्पाऽऽदि भाण्डमात्रोपकरणं, स्वं च तदात्मीयं भाण्डमात्रोपक-रणं च स्वभाण्डमात्रोपकरणं, तदादाय गृहीत्वा, अभ्युद्यतेन लोद्यमेन, प्रदत्तेन गुरुणोपदिष्टेन, प्रगृहीतेन गुरुसकाशादङ्गीकृ-तेन, विहारेण साधुवर्त्तनेन, विहर्तुं वर्तितुं, पार्श्वे ज्ञानाऽऽदीनां बहिस्तिष्ठतीति पार्श्वस्थः। गाढग्लानत्वाऽऽदिकारणं विना श-य्यातराभ्याहृताऽऽदिपिण्डभोजकत्वादागमोक्तविशेषणः। स च सकृदनुचितकरणेनाल्पकालमपि भवति, अत उच्यते-पार्श्वस्था-नां यो विहारो बहूनि दिनानि यावत्तथावर्तनं स पार्श्वस्थविहा-रः, सोऽस्यास्तीति पार्श्वस्थविहारी। एवमवसन्नाऽऽदिविशेष-णान्यपि, नवरमवसन्नो विवक्षितानुष्ठानालसः, आवश्यकस्वा-ध्यायप्रत्युपेक्षणाध्यानाऽऽदीनामसम्यक्कारीत्यर्थः। कुत्सितं शी-लं कुशीलं, कालविनयाऽऽदिभेदभिन्नानां ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽ-चाराणां विराधक इत्यर्थः। प्रमत्तः पञ्चविधप्रमादयोगात्, सं-सक्तः कदाचित्संविग्नगुणानां कदाचित्पार्श्वस्थाऽऽदिदोषाणां स-म्बन्धाद्गौरवत्रयसंसक्तश्चेति। ऋतुबद्धेऽपि अवर्षाकालेऽपि पी-ठफलकाऽऽदिशय्यासंस्तारकं यस्य स तथा। (नाइ भुज्जो एव करणयाए त्ति) नैव भूयः पुनरपि (एव) इत्थं करणाय, प्रव-र्त्तिष्ये इति शेषः। एवमेवेत्यादिरुपनयः। इह गाथा-"सिढि-लियसंजमकज्जा, वि होइउ उज्जमंति जइ पच्छा। संवेगाओ ते सेलअ व्व आराहया होंति॥१॥" ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। ध० र०। अणु०।

थावय-स्थापक-पुं० । स्थापयति पक्षमक्षेपेण प्रसिद्धव्याप्तिकत्वात् समर्थयति यः स तथा । हेतुभेदे, (स्था०) यथा परिव्राजकधूर्तो-लोकमध्यभागे कृत बहुफलं भवति तमहमेव जानामीति मायया प्रतिग्राममन्यान्यल्लोकमध्यं प्ररूपयति स्म तत्रिप्रद्याय कश्चित् श्रावको लोकमध्यस्यैकत्वात्कथं बहुषु ग्रामाऽऽदिषु तत्संभव इत्येवंविधोपपत्त्या स्वप्रसिद्धो लोकमध्यभागो न भवतीति पक्ष स्थापितवानिति स्थापको हेतुः । उक्तं च-" लोगस्स मज्झजाणण, थावयहेऊउदाहरणं । (८७)" (दश०१अ०) इति । स चायम्-अग्निरत्र धूमात्,तथा नित्यानित्यं वस्तु,द्रव्यपर्यायतस्तथैव प्रतीयमानत्वादिति। अनयोश्च प्रतीतिव्याप्तिकतया कालक्षेपेण साध्यस्थापनात् स्थापक इति । स्था० ४ ठा०३उ० ।

साम्प्रतं स्थापकहेतुमधिकृत्याऽऽह-

लोगस्स मज्झजाणण, थावयहेऊउदाहरणं ।(८७)

लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य मध्यज्ञानं, किम् ?, स्थापकहेतावुदाहरणमित्यक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्-"एगो परिव्वायगो हिंडति । सो य पव्वेइ-जेत्ते दाणाऽऽदि सफलं ति एडु समयेसे कायव्वं । अहं लोयस्स मज्झं जाणामि, ण पुण अन्नो । तो लोगो तमाढाति । पुच्छिओ य सतो सव्वसु वि दिसासु खीलए णिहणिऊण रज्जूए पमाणं काऊण माइट्ठाणिओ भणति-एत्थ लोयमज्झं ति । तओ लोओ विम्हयं गच्छति-अहो!भट्टारएण जाणियं ति । एगो य सावओ, तेण नाय । कह धुत्तो लोय पयाए ति ?, तो अहं पि वचामि त्ति कलिऊण भणिय-ण एस लोयमज्झो,तुज्झो तुम ति । तओ सावएण पुणो भावेऊण अन्नो वेसो कहिओ-जहेस लोयमज्झो त्ति । लोगो तुट्ठो । अन्ने भणंति-अणेगठाणेसु अन्नं अन्नं मज्झं परूवंतयं दट्ठूण विरोधो चोइयत्ति , एवं सो तेण परिव्वायगो णिप्पिट्ठपसिणवागरणो कओ । एसो लोइओ थावगहेऊ । लोउत्तरे वि चरणकरणाणुओगे कुस्सुतीसु असंभावणिज्जसंगाहरओ सीसो एवं चेव पच्चेयव्वो । दव्वाणुओगेण वि साहुणा तारिसं भाणियव्वं । तारिसो य एक्को गोविंदयव्वो । जस्स पुरो उत्तरं चेव दाउं न तीरइ । पुव्वावरविरुद्धो दोसो य ण हवति ।" दश० १ अ० ।

थावर-स्थावर-पुं० । तिष्ठतीत्येवंशीलः स्थावरः । जी०१ प्रति० । शीताऽऽतपाऽऽद्युपेतस्तथेऽपि स्थानान्तरं प्रत्यगमिलक्षितया स्थानशीलि, उत्त० ५ अ० । स्थावरनामकर्मोदयात् पृथिव्यादिके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । आ० चू० । स्था० । नं० । स्थावराः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । द्विविधः स्थावरः,'सूक्ष्मबादरभेदात् । सूक्ष्मस्थावरो वनस्पत्यादिः । बादरस्थावरः पृथिव्यादिः । पा० । सूत्र० ।

तिविहा थावरा पएणत्ता । तं जहा-पुढविकाइया, आउक्काइया, वणस्सइकाइया ।

स्थानशीलत्वात्, स्थावरनामकर्मोदयाद् वा स्थावराः । शेषं व्यक्तमेवेति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

स्थावराऽऽदिविभागमाह-

भूमी घरा य तरुगण, तिविहं पुण थावरं मुणेयव्वं ।
चक्कारबद्धमाणुस, दुविहं पुण होइ दुपयं तु ॥ २२ ॥

भूमिः,गृहाणि,तरुगणश्च,चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः,त्रिविध पुनरोधतः स्थावरं मन्तव्यम् । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि, स्वगतान् भेदान् यथा-भूमिः क्षेत्रं,तच्च त्रिधा सेतु, केतु, उभयसेतुकेतु च, गृहाणि प्रासादाः। तेऽपि त्रिविधाः।खातोच्छ्रितोभयरूपाः। तरुगणा नालिकेर्यादयारामा इति । चक्रारबद्धमानुषमिति । चक्रारबद्धं गन्त्र्यादि । मानुषं दासाऽऽदि । एवं द्विपदं पुनर्भवति द्विविधम् । इति गाथार्थः ॥२२॥ दश० ६ अ० । राज. गृहजाते श्रीवीरजिनस्य चतुर्दशपूर्वभवजीवे स्वनामख्याते विप्रे, कल्प०२ क्षण।आ० चू०। आ०म० । तिष्ठन्तीत्येवंशीला उष्णाऽऽद्यभितापेऽपि तत्परिहारासमर्थाः स्थावराः । "स्थेशभासपिसकसो वरः"॥५।२।८१॥(हैम०)इति वरप्रत्ययः।पृथिवीकायिकाः, अप्कायिकाः, तेजस्कायिकाः, वायुकायिकाः, वनस्पतिकायिका एकेन्द्रियाः। तद्विपाकवेद्य कर्मापि स्थावरनाम । तेजोवायूनां तु स्थावरनामोदयेऽपि चलनं स्वाभाविकमेव, न पुनरुष्णाऽऽद्यभितापेन द्वीन्द्रियाऽऽदीनामिव विशिष्टमिति । कर्म० १ कर्म० ।

थावरकाय-स्थावरकाय-पुं० । स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावराः पृथिव्यादयः, तेषां काया राशयः । स्थावरो वा कायः शरीरं येषां ते स्थावरकायाः । पृथिवीकायाऽऽदिषु, स्था० ।

थावरकाए दुविहे पएणत्ते । तं जहा-भवसिद्धिए चेव, अभवसिद्धिए चेव । स्था० २ ठा० १ उ० ।

(एतद्व्याख्या तु स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)

पंच थावरकाया पएणत्ता । तं जहा-इंदे थावरकाये,बंभे थावरकाये, सिप्पे थावरकाये, समई थावरकाये, पयावए थावरकाये । पंच थावरकायाहिवई पएणत्ता । तं जहा-इंदे थावरकायाहिवई० जाव पयावए थावरकायाहिवई ।

(इंदेत्यादि) स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावराः पृथिव्यादयः, तेषां काया राशयः, स्थावरो वा कायः शरीरं येषां ते स्थावरकायाः । इन्द्रसंबन्धित्वादिन्द्रः स्थावरकायः पृथिवीकायः, एवं ब्रह्मशिल्पसम्मतिप्राजापत्या अपि अप्कायाऽऽदित्वेन वाच्या इति । एतन्नायकानाह-(पञ्चेत्यादि) स्थावरकायानां पृथिव्यादीनामिति सम्भाव्यन्ते, अधिपतयो नायका दिशामिवेन्द्राग्न्यादयो,नक्षत्राणामिवाश्विन्यमदहनाऽऽदयो,दक्षिणोत्तरलोकार्द्धयोरिव शक्रेशानाविति स्थावरकायाधिपतय इति । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

थावरचउक्क-स्थावरचतुष्क-न० । स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणलक्षणे स्थावरोपलक्षिते चतुष्के, कर्म० २ कर्म० ।

थावरजाइ-स्थावरजाति-स्त्री० । एकेन्द्रियजातौ, क० प्र० २ प्रक० ।

थावरणाम(ण्)-स्थावरनामन्-न०।अस्पन्दनत्वनिबन्धने नामकर्मभेदे, आ० । यदुदयवशादुष्णाऽऽद्यभितापेऽपि तत्स्थानपरिहारासमर्थाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावरा जायन्ते । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । प्रव० ।

थावरतिग-स्थावरत्रिक-न० । स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकलक्षणे स्थावरोपलक्षिते त्रिके, कर्म० ५ कर्म० ।

थावरदसग-स्थावरदशक-न० । स्थावरोपलक्षिते दशके, कर्मण इतरत्रसदशकात् स्थावरदशक विपर्यस्त विपरीतार्थे

भवति । तथाहि-तिष्ठन्तीत्येवंशीला उष्णाऽऽद्यभितापेऽपि तत्परिहारासमर्थाः स्थावराः । " स्थेशभासपिसकसो वरः " ॥५।२।८१॥ (हैम०) इति वरप्रत्यय । पृथिवीकायिका अप्कायिकाः तेजस्कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिका एकेन्द्रियाः, तद्विपाकवेद्य कर्मापि स्थावरनाम, तेजोवायूनां तु स्थावरनामोदयेऽपि चलनं स्वाभाविकमेव, न पुनरुष्णाऽऽद्यभितापेन द्वीन्द्रियाऽऽदीनामिव विशिष्टमिति ॥ १ ॥ कर्म० १ कर्म० ।

थावरसुहुमअपज्जं, साहारणअथिरअसुभदुब्भगाणि ।
दुस्सरऽणाइज्जाऽजसं, " .... ॥ २७ ॥

इहापि नामशब्दस्य सम्बन्धात् स्थावरनाम सूक्ष्मनाम अपर्याप्तनाम साधारणनाम अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम दुःस्वरनाम अनादेयनाम (अजस त्ति) अयशःकीर्तिनाम । (२७) कर्म० १ कर्म० ।

थावरदुग- स्थावरद्विक-न० । स्थावरसूक्ष्मलक्षणे स्थावरोपलक्षिते द्विके, कर्म० २ कर्म० ।

थावरविस-स्थावरविष-न० । विषभेदे, यद्धि भुक्त सत्पीडयति । स्था० ६ ठा० ।

थासग-स्थासक-पुं० । दर्पणाऽऽकारे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । विपा० । आदर्शकाऽऽकारे, भ० ११ श० ११ उ० । औ० । हस्तबिम्बे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अश्वाऽऽभरणविशेषे, पुं० । अनु० ।

थासगावली-स्थासकाऽऽवली-स्त्री० । ६ त० । दर्पणाऽऽकृतीनां स्थासकानां स्फूरकाऽऽदिषु उपर्युपरि स्थितानां पङ्क्तौ, अणु० १ वर्ग २ अ० ।

थाह्-स्ताघ-न० । यावति जले नासिका न ब्रुमति तावति जले, बृ० ४ उ० । गाधे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । दीर्घे, दे० ना० ५ वर्ग ३० गाथा ।

थिग्गल-स्थिगल-न० । प्रदेशपतितसंस्कृते; आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । प्रज्ञा० । चित्ते, " आलोय थिग्गलं दगं, संधिं दगभवणाणि य । चरतो न विणिज्झाए, सकट्ठाणविवज्जए " ॥ १५ ॥ दश० ५ अ० १ उ० । साधुर्वस्त्रे थिग्गलक ददाति, न वेति प्रश्ने; उत्तरम्-यो भिक्षुर्वस्त्रस्यैक थिग्गलं ददाति, ददन्तं वा अनुमोदयति, तस्य दोषा , य कारणे त्रयाणा थिग्गलानां परतश्चतुर्थं थिग्गलं ददाति, तस्य प्रायश्चित्त निशीथसूत्रप्रथमोद्देशके, एतदनुसारेण साधूना थिग्गलदान न कल्पत इति । ४३५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

थिण्ण-स्त्यान-त्रि० । " ईः स्त्यानखल्वाटे " ॥ ८ । १ । ७४ ॥ इति स्त्यास्थाने स्त्यी यत्नुक्, स्त्यानेव स्ती थी, नो णः । प्रा० २ पाद । सेवाऽऽदित्वाद् णद्वित्वम् । प्रा० २ पाद । कठिने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । निःस्नेहे, दते च । दे० ना० ५ वर्ग ३० गाथा ।

थिप्प-तृप्-धा० । तृप्तौ, " तृपः थिप्प " ॥ ८ । ४ । १३८ ॥ इति तृप्यते. थिप्पेत्यादेश । 'थिप्पइ ।' तृप्यति । प्रा० ४ पाद ।

विगल्-धा० । विक्षरणे, " विगले थिप्प-णिट्टुहौ " ॥ ८ । ४ । १७५ ॥ इति विगलते स्थिप्पाऽऽदेश । 'थिप्पइ ।' विगलति । प्रा० ३ पाद ।

थिमिअ-न० । देशी स्थिरे, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

थिमिउं-स्तिमितुम्-अव्य० । आर्द्रीकर्तुमित्यर्थे, स० प्र० ।

थिमिओदय-स्तिमितोदक-न० । यस्याध. कर्दमो नास्ति तादृशे जले, औ० ।

थिमिय-स्तिमित-त्रि० । स्वचक्रपरचक्रतस्करडमराऽऽदिसमुत्थभयकल्लोलमालाविवर्जिते, सू० प्र० १ पाहु० । रा० । प्रश्न० । ज्ञा० । भयवर्जितत्वेन स्थिरे, औ० । विपा० । ज्ञा० । निभृते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । दशारपुरुषाणां तृतीये पुरुषे, अन्त० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । स च अन्धकवृष्णेर्धारण्यासुतप्यारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्ध इति अन्तकृद्दशानां प्रथमवर्गे चतुर्थेऽध्ययने चिन्तितम् । अन्त० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । स्था० ।

थिमियमज्झ-स्तिमितमध्य-त्रि० । स्तिमित स्थिर मध्यं देहिनोऽन्त करणं यस्मिन् सति तत्तथा । निश्चलमनस्के, प्रश्न० ४ सव० द्वार ।

थिमियमेइणी-स्तिमितमेदिनी-स्त्री० । निर्भरजनपदे, प्रति० ।

थिर-स्थिर-त्रि० । संहननधृतिभ्या बलवति, आव० ४ अ० । आचा० । सूत्र० । निश्चले, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । व्य० । प्रश्न० । उत्त० । अप्रकम्पे, भ० ११ श० ११ उ० । आव० । अनतिश्लथे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । दृढे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० २ उ० । न० । आ० म० । वृ० । नि० चू० । स्थायिनि, पञ्चा० १७ विव० । असंख्येयकालावस्थायिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । तत्रावस्थाया ध्रुवकर्मिके, व्य० ६ उ० । स्थिरा नाम येषां तत्रैव गृह्णाति । वृ० १ उ० । ध्रुवे, नि० चू० ५ उ० । प्रारब्धकार्यस्यापान्तराल एवापरित्यागकारिणि, ध० ३ अधि० । स्थिरो नाम उद्योग कुर्वन्नपि न परिताम्यति । व्य० ३ उ० । "रूढा बहुसंभूया, थिरा वा ओसढा वि अ । (३५)" स्थिरा निष्पन्ना । दश० ७ अ० ।

थिरग्गहत्थ-स्थिराग्रहस्त-त्रि० । स्थिरोऽग्रहस्तो यस्य स स्थिराग्रहस्त । जी० ३ प्रति० २ उ० । सुलेखकवत् तथाविधहस्ते, उत्त० ४ अ० । भ० ।

थिरचित्त-स्थिरचित्त-त्रि० । अविचलमानसे, जीवा० ६ अधि० ।

थिरछक्क-स्थिरषट्क-न० । स्थिरशुभसुभगसुस्वराऽऽदेययशःकीर्तिरूपे स्थिरोपलक्षिते, कर्म० १ कर्म० ।

थिरजम-स्थिरयम-पु० । यमभेदे, द्वा० ।

स च-

सत्क्षयोपशमोत्कर्षा-दतिचाराऽऽदिचिन्तया ।
रहिता यमसेवा तु, तृतीयो यम उच्यते ॥ २७ ॥

(सदिति) सतो विशिष्टस्य क्षयोपशमस्योत्कर्षादुद्रेकादतिचाराऽऽदीनां चिन्तया रहिता, तदभावस्यैव विनिश्चयात्, यमसेवा तु तृतीयो यमः स्थिरयम उच्यते ॥ २७ ॥ द्वा० १६ द्वा० ।

थिरजस-स्थिरयशस्-त्रि० । अनश्वरकीर्तौ, " समणगणपवरगंधहत्थीण थिरजसाण । " स० ७ अङ्ग ।

थिरजाय-स्थिरजात-पु० । स्थिरेण निर्विघ्नेन जात उत्पन्नो गर्भे स्थिरजातः । चिरेण जाते, त० ।

थिरणाम(ण्)-स्थिरनामन्-न० । नामकर्मभेदे, यदुदयात् शरीरावयवाना शिरोऽस्थिदन्तानां स्थिरता भवति । " दंतअट्ठिमाइ थिरा (४९)" स्थिर स्थिरनामोदयेन दन्तास्थ्यादि निश्चलं

भवति, यदुदयाद् शिरोऽस्थिग्रीवाऽऽदीनामवयवानां स्थिरता भवति तत् स्थिरनाम (४६) । कर्म० १ कर्म० । प० स० ।

थिरतरय–स्थिरतरक–पुं० । अतिशयस्थिरे, पञ्चा० ११ विव० ।

थिरता–स्थिरता–स्त्री० । उत्कर्षकाष्ठाप्राप्तौ, द्वा० १८ द्वा० । महाव्रतेषु एव धर्मे वा स्थैर्यहेतौ निश्चलत्वे, पा० । ध० । स्थैर्ये, बृ० ४ उ० । स्थिरता–जिनधर्मं प्रति परस्य स्थिरताऽऽपादन, स्वस्य वा परतीर्थिकसमृद्धिदर्शनेऽपि जिनप्रवचन प्रति निष्प्रकम्पता । ध० २ अधि० ।

वत्स ! किं चञ्चलस्वान्तो, भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा विषीदसि ।
निधिं स्वसन्निधावेव, स्थिरता दर्शयिष्यति ॥ १ ॥
ज्ञानदुग्धं विनश्येत, लोभविक्षोभकूर्चकैः ।
अम्लद्रव्यादिवास्थैर्या–दिति मत्वा स्थिरो भव ॥ २ ॥
अस्थिरे हृदये चित्रा, वाग्नेत्राऽऽकारगोपना ।
पुंश्चल्या इव कल्याण–कारिणी न प्रकीर्तिता ॥३॥
अन्तर्गतं महाशल्य–मस्थैर्यं यदि नोद्धृतम् ।
क्रियौषधस्य को दोष–स्तदा गुणमयच्छतः ? ॥ ४ ॥
स्थिरता वाङ्मनःकायै–र्येषामङ्गाङ्गितां गता ।
योगिनः समशीलास्ते, ग्रामेऽरण्ये दिवा निशि ॥ ५ ॥
स्थैर्यरत्नप्रदीपश्चे–द्दीप्रः संकल्पदीपजैः ।
तद्विकल्पैरलं धूमै–रलं धूमैस्तथाऽऽश्रवैः ॥ ६ ॥
उदीरयिष्यसि स्वान्ता–दस्थैर्यपवनं यदि ।
समाधेर्धर्ममेघस्य, घटां विघटयिष्यसि ॥ ७ ॥
चारित्रं स्थिरतारूप–मतः सिद्धेष्वपीष्यते ।
यतन्तां यतयोऽवश्य–मस्या एव प्रसिद्धये ॥ ८ ॥
अष्ट० ३ अष्ट० ।

थिरपइण्ण–स्थिरप्रतिज्ञ–त्रि० । भावितस्यानन्यथाकारके, आव० ६ अ० ।

थिरपरिवाडि–स्थिरपरिपाटि–पुं० । स्थिरा अतिशयेन निरन्तराऽऽभ्यासतः स्थैर्यमापन्ना अनुयोगपरिपाट्यो यस्य स स्थिरपरिपाटि । प्रव० ६५ द्वार । व्य० । अनु० । ग० । परिचितसूत्रार्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

थिरव्वय–स्थिरव्रत–पुं० । व्रतेषु स्थिरे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

थिरसंघयण–स्थिरसंहनन–पुं० । स्थिरं दृढ (प्रथममित्यर्थः) संहननं यस्य सः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । बलवत्तरशरीरे, दशा० ४ अ० । अविघटमानसंहनने, भ० १५ श० ।

थिरसंघयणया–स्थिरसंहननता–स्त्री० । तपःप्रभृतिषु शक्तियुक्ततायाम्, उत्त० १ अ० । शरीरसंपद्भेदे, स्था० ८ ठा० । प्रव० ।

थिरसत्त–स्थिरसत्त्व–पुं० । स्थिरं परीषहाऽऽदिसंपातेऽप्यव्यासात्त्वं यस्य स स्थिरसत्त्वः । तस्मिन्, स्था० ४ ठा० ३ उ० । निश्चलमानसावष्टम्भे, बृ० १ उ० ।

थिरसरीर–स्थिरशरीर–पुं० । शारीरबलोपेते, बृ० १ उ० ।

थिरसीस–पुं० । देशी–निर्भीके, निर्भरे, बद्धशिरस्त्राणे, दे० ना० ५ वर्ग ३१ गाथा ।

थिरसुह–स्थिरसुख–न० । निःप्रकम्पानुद्वेजनीये, "स्थिरसुखमासनम्," इति पतञ्जलिः । द्वा० २२ द्वा० ।

थिरा–स्थिरा–स्त्री० । योगदृष्टिभेदे, द्वा० । स्थिरा च भिन्नग्रन्थेरेव, सा च रत्नाभा, तद्बोधो हि रत्नप्रभासमानः, तद्भावोऽप्रतिपाती प्रवर्द्धमानो निरपायो नापरपरितापकृत् परितोषहेतुः प्रायेण प्रणिधानाऽऽदियोनिरिति । (२६) द्वा० २० द्वा० ।

प्रत्याहारः स्थिरायां स्या–द्दर्शनं नित्यमभ्रमम् ।
तथा निरतिचारायां, सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ॥ १ ॥

(प्रत्याहार इति) स्थिरायां दृष्टौ प्रत्याहारः स्याद्वक्ष्यमाणलक्षणः । तथा–निरतिचारायां दर्शनं नित्यमप्रतिपाति, सातिचारायां तु प्रक्षीणनयनपटलोपद्रवस्य तदुत्कोपाऽऽद्यनवबोधकल्पमपि भवति, तथाऽतिचारभावात्, रत्नप्रभायामिव धूल्यादेरुपद्रवः, अभ्रम भ्रमरहितम्, तथा सूक्ष्मबोधेन समन्वितम् ॥ १ ॥

विषयासंप्रयोगेऽन्तः–स्वरूपानुकृतिः किल ।
प्रत्याहारो हृषीकाणा–मेतदायत्तताफलः ॥ २ ॥

(विषयेति) विषयाणां चक्षुरादिग्राह्याणा रूपाऽऽदीनामसंप्रयोगे तद्ग्रहणाभिमुख्यत्यागेन स्वरूपमात्रावस्थाने सति अन्तः स्वरूपानुकृतिश्चित्तनिरोधनिरोध्यतासंपत्तिः किल हृषीकाणां चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां प्रत्याहारः । यत उक्तम्–" स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।" इति ।(२–५४) कीदृशोऽयमित्याह–एतदायत्ताफलः इन्द्रियवशीकरणैकफलः। अभ्यस्यमाने हि प्रत्याहारे तथायत्तानीन्द्रियाणि भवन्ति यथा बाह्यविषयाभिमुखतां नीयमानान्यपि न यान्तीति । तदुक्तम्–"ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणामिति ।" (२–५५) ॥ २ ॥

अतो ग्रन्थिविभेदेन, विवेकोपेतचेतसाम् ।
तत्पायं भवचेष्टा स्या–द्बालक्रीडोपमाऽखिला ॥ ३ ॥

(अत इति) अतः प्रत्याहाराद्, ग्रन्थिविभेदेन विवेकोपेतचेतसां भवचेष्टाऽखिला चक्रवर्त्यादिसुखरूपाऽपि बालक्रीडोपमा बालधूलीगृहक्रीडातुल्या, प्रकृत्यसुन्दरत्वास्थिरत्वाभ्यां प्रपाये स्यात् ॥ ३ ॥

तत्त्वमेतत् परं ज्योति–र्ह्रस्वभावैकमूर्तिकम् ।
विकल्पतल्पमारूढः, शेषः पुनरुपप्लवः ॥ ४ ॥

(तत्त्वमिति) अत्र स्थिरायां ज्ञस्वभाव एका मूर्तिर्यस्य तत्तथा, ज्ञानाऽऽदिगुणभेदस्याऽपि व्यावहारिकत्वात् । परं ज्योतिरात्मरूपं तत्त्वं परमार्थसत् । शेषः पुनर्भवप्रपञ्चो विकल्पतल्पमारूढ उपप्लवो भ्रमविषयः, परिदृश्यमानरूपस्याभावात् ॥ ४ ॥

भवभोगिफणाऽऽभोगो, भोगोऽस्यामवभासते ।
फलं ह्यनात्मधर्मत्वा–त्तुल्यं यत्पुण्यपापयोः ॥ ५ ॥

(भवेति) अस्यां स्थिरायाम्, भोग इन्द्रियार्थसुखसंबन्धः, भवभोगिफणाऽऽभोगः संसारसर्पफणाऽऽटोपोऽवभासते, बहुदुःखहेतुत्वात् । नानुपहत्य भूतानि भोगः संभवति, ततश्च पापम्, ततो दारुणदुःखपरम्परेति । धर्मप्रभवत्वाद्भोगो न दुःखदो भ-

विष्यतीत्यत्राऽऽह-यद् यस्मात् पुण्यपापयोर्द्वयोर्हि फलमनात्मधर्मत्वात्तुल्यम् । व्यवहारत सुशीलत्वकुशीलत्वाभ्यां द्वयोर्विभेदेऽपि निश्चयत संसारप्रवेशकत्वेन कुशीलत्वाविशेषात् ॥५॥

धर्मादपि भवन् भोगः, प्रायोऽनर्थाय देहिनाम् ।
चन्दनादपि संभूतो, दहत्येव हुताशनः ॥६॥

(धर्मादिति) धर्मादपि भवन् भोगो देवलोकाऽऽदौ, प्रायो बाहुल्येन, अनर्थाय देहिनां, तथा प्रमादविधानात् । प्रायोग्रहण शुद्धधर्मात्तेपिभोगनिरासार्थम्, तस्य प्रमादबीजत्वायोगात् । अत्यन्तानवद्यतीर्थकराऽऽदिफलशुद्धेः पुण्यशुद्ध्यादावागमाभिनिवेशाद्धर्मसाराचित्तोपपत्तेरिति । सामान्यतो दृष्टान्तमाह-चन्दनादपि तथा शीतप्रकृते· संभूतो दहत्येव हुताशन', दहनस्य दाहस्वभावापरावृत्ते·। प्राय एतदेव न दहत्यपि कश्चित्, सत्यमन्त्राभिसंस्कृतादाहासिद्धेः सकललोकसिद्धत्वादिति वदति। युक्त चैतत्, निश्चयतो येनांशेन ज्ञानाऽऽदिक तेनांशेनाऽबन्धनमेव, येन च प्रमादाऽऽदिक तेन बन्धनमेव । सम्यक्त्वाऽऽदीनां तीर्थकरनामकर्माऽऽदिबन्धकत्वस्याऽपि तदविनाभूतयोगकषायगतस्योपचारेणैव संभवाद्, इन्द्रियार्थसंबन्धाऽऽदिकं तूदासीनमेवेत्यन्यत्र विस्तरः ॥ ६ ॥

स्कन्धात्स्कन्धान्तराऽऽरोपे, भारस्येव न तात्त्विकी ।
इच्छाया विरतिर्भोगा-त्तत्संस्कारानतिक्रमात् ॥७॥

(स्कन्धादिति) स्कन्धात् स्कन्धान्तराऽऽरोपे भारस्येव भोगादिच्छाया विरतिर्न तात्त्विकी, तत्संस्कारस्य कर्मबन्धजनितानिष्टभोगसंस्कारस्याऽनतिक्रमात् । तदतिक्रमो हि प्रतिपक्षभावनया तत्तनूकरणेन स्यात्, न तु विच्छेदेन प्रसुप्ततामात्रेण चेति । इत्थ भोगासारताविभावनेन स्थिरायां स्थैर्यमुपजायते, सत्यामस्यामपरैरपि योगाऽऽचार्यैरलौल्याऽऽदयो गुणाः प्रोच्यन्ते।

यथोक्तम्-

" अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्व,
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च,
योगप्रवृत्ते· प्रथम हि चिह्नम् ॥ १ ॥
मैत्र्यादियुक्तं विषयेषु चेत,
प्रभाववद्धैर्यसमन्वित च ।
द्वन्द्वैरधृष्यत्वमभीष्टलाभो,
जनप्रियत्वं च तथा पर स्यात् ॥ २ ॥
दोषव्यपायः परमा च तृप्ति-
रौचित्ययोग' समता च गुर्वी ।
वैराऽऽदिनाशोऽथ ऋतम्भरा धी-
र्निष्पन्नयोगस्य तु चिह्नमेतत् " ॥ ३ ॥ इति ।

इहाप्येतदकृत्रिम गुणजातमित एवाऽऽरभ्य विज्ञेयम् ॥ ७ ॥ द्वा० २४ द्वा० ।

थिरावलिया–स्थिराऽऽवलिका–स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

थिरासयत्त–स्थिराऽऽशयत्व–चित्तस्थैर्ये, पं० सू० ४ सूत्र ।

थिरीकरण–स्थिरीकरण–न०। सीदतां चारित्राऽऽदिषु स्थैर्यहेतौ, जीत० । धर्माद् विषीदतां तत्र चारुवचनचातुर्याद्व्यवस्थापने, प्रव० ६ द्वार । पञ्चा० । दश० । ध० । स्वगतपरगतधर्मव्यापाराणां स्थिरत्वाऽऽधाने, पञ्चा० ४ विव० । नि० चू० ।

एतेसुं चिअ खमणा–ऽऽदिएसु सीदंति चोयणा जा तु ।
बहुदोसे माणुस्से, मा सीद थिरीकरणमेयं ॥२८॥

सीदतो णाम-जो थिरसंघयणो धितिसंपण्णो हट्ठो य ण उज्जमइ खमणाऽऽदिएसु, एसा सीयणा । चोयणा प्रेरणा, नियोजनेत्यर्थः, त पुण चोयणं करेति अवाय दंसेउं । जओ भण्णति-(बहुदोसे माणुस्से)दोसा अवाया । ते य "दंडकससत्थगाहा ।" अहवा जरसासकासखयकुट्ठाऽऽदओ संपओगविप्पओगदोसेहि य जुत्ते मा इति पडिसेहे । एवं वयणकिरियासहायत्तेण संजमे थिरं करेति त्ति थिरीकरणं । सेस कंठ । नि० चू० १ उ० । "जहा उज्जेणीए अज्जाऽऽसाढो काल करेंते संजए अप्पाहेइ । मम दरिसावं दिज्जह, जहा उत्तरज्झयणे सुए, त अक्खाणय सव्व तहेव । तम्हा जहा अज्जासाढो थिरो कओ, एव जेऽन्नविया ते थिरीकायव्वा । " दश० ३ अ० । दृढीकरणे, नि० चू० ४ उ० ।

थिरीकरणे आसाढो उदाहरणं–" उज्जेणीए आसाढो आयरिओ काल करिंते साहू समाहीए णिज्जवेति, अप्पाहेति जहा मम दरिसाव देज्जह, ते य ण देंति । सो य छव्वेय गतो देवलोए, तओ हाविओ य, सलिंगेण सिस्सेण य से ओही पउत्ता, दिट्ठो ओहावंतो आगतो, अतरा य गामविउव्वण णाडियारण, पच्छा य सरयकालचवसंथारोपवावण, अतरा य अण्णगाममज्झा स तलागछहारगविउव्वण जलमज्झे खेलणं करेंतओ पासित्ता ठितो । तेहिं समाण पाणमतरवसहिमुवागतो। पच्छा कालिया ते एगमेगस्स आभरणाणि हरिउमारद्धो, पच्छा तेसिं दिट्ठता कहयति परिवाडीए ।

पढमो भणति–
" जेण भिक्खं बलिं देमि, जेण पोसेमि णायए ।
सा मे मही अक्कमति, जायं सरणतो भय ॥ १२४ ॥ "
सो भणति–अतिपडितो सि, मुच आभरणाणि ।

बितिओ वि आरद्धो, सो भणति–
" बहुस्सुयं चित्तकहं, गंगा वहइ पाडल ।
बुज्झमाणग ! भद्द ते, लप ता किंचि सुहासियं ॥ १२५ ॥"

ततिओ भणति, सुणेहि अक्खाणय–
" जेण रोहति बीयाणि, जेण जीयति कासगा ।
तस्स मज्झे विवज्जामि, जाय सरणतो भय ॥ १२६ ॥
अमह दिया य राओ य, तप्पेमि महुसप्पिसा ।
तेण मे उडओ दड्ढो, जाय सरणतो भय ॥ १२७ ॥"

अह वा–
" वग्घस्स मए भीतेण, पावओ सरणं कतो ।
तेण दड्ढं मम अग, जाय सरणओ भय ॥ १२८ ॥ "

चउत्थो भणति–
" लवणपवणसमत्थो, पुव्व होऊण संपइ कीस ? ।
दंडयगहियग्गहत्थो, वयस ! को णामओ वाही ? ॥ १२९ ॥"

सो भणइ–
" जेट्ठासाढेसु मासेसु, मारुओ सुहसीयलो ।
तेण मे भज्जते अंगं, जाय सरणतो भय ॥ १३० ॥
जेण जीवति सत्ताणि, निरोहम्मि अणतए ।
तेण मे भज्जए अग, जाय सरणओ भयं ॥ १३१ ॥ "

पंचमो भणइ–
" जाव वुच्छ सुहं वुच्छ, पादवे निरुवद्दवे ।
मूलाओ उट्ठिता वल्ली, जातं सरणतो भयं ॥ १३२ ॥"

ततो भणति-

"अभिंतरया खुभिया, पेल्लंति बाहिरा जणा ।
दिस भयह मायगा !, जाय सरणतो भयं" ॥१३३॥

अहवा-

"जत्थ राया सयं चोरो, भंडिओ य पुरोहिओ ।
दिस भयह णायरिया !, जाय सरणओ भय" ॥१३४॥

अहवा-

"अइरुग्गयए य सुरिए, चेइयथूभगए य वायसे ।
भित्तीगयए य आयवे, सहि ! सुहिओ हु जणो न बुज्झइ ॥१३५॥
सुम पत्र य अम्म हे ! लवे, मा हु विमाणय जक्खमागय ।
जक्खाहडए हु तायए, अधि दाणि विमग्ग तायय ॥१३६॥
नवमासय कुच्छिधारिया, पासवणे पुलिसे य महिए ।
धूया मे गेहिए हडे, सलणए असलणए य मे जायए" ॥१३७॥

एवं सव्वाभरणाणि घेत्तूण पयाओ, अतरा य सजतीविउव्वण तं दट्ठूण भणति-

"सयमेव य लुक्ख लोचिया,
अप्पाणिआ य विपाडि ऋाणिया ।
ओवाइयलक्खओ य सि,
किं ठेला ! वेवेति वासली ?" ॥ १३८ ॥
" कडए ते कुडले य ते,
अजिअक्खि ! तिलयते य ते ।
पवयणस्स उड्डाहकारिए !,
दुट्ठा सेहि ! कतोऽसि आगता ? ॥ १३९ ॥ "
"राईसरिसवमित्ताणि, परछिद्दाणि पाससि ।
अप्पणो विल्लमित्ताणि, पासतो वि ण पाससि" ॥ १४० ॥

सा य पडिभणति-

" समणोऽसि सजतो असि, बभयारी समलोट्ठकंचणे ।
वेहारियवायओ य ते, जिट्ठज्ज ! किं ते पडिग्गहे ? ॥१४१॥"

(उत्त० नि० २ अ०) (एतासा गाथानामर्थः "दसणपरीसह" शब्देऽग्रे वक्ष्यते) पुणरवि य पयाओ रायरूवसभावार-विउव्वण, पडिबुद्धो य । जहा तेण देवेण तस्स आसाढभूतिस्स थिरीकरण कत, एव जहासत्तिओ थिरीकरण कायव्व ।" नि० चू० १ उ० ।

थिल्लि-थिल्लि-स्त्री० । वेगसराऽऽदिद्वयविनिर्मिते यानविशेषे, दशा० ६ अ० । सूत्र० । ज० । रा० । लाटानां यत् 'अड्डपल्लाण' रूढ, तदन्यविषयेषु थिल्लिरित्युच्यते । जी० ३ प्रति० ४ उ० । औ० । ज्ञा० । भ० ।

थिवथिवत-स्तिवस्तिवत्-त्रि० । डिगडिगायमाने, तं० । " थिविथिविय बीभच्छ । " थिविथिवायमानैरन्त्रैर्बीभत्स, रौद्रमित्यर्थः । तं० ।

थिवुग-स्तिबुक-पु० । पानीयबिन्दौ, आ० चू० १ अ० । आ० म० । प्रज्ञा० । दर्श० । विशे० ।

थिवुगसंकम-स्तिवुकसंक्रम-पु० । " पिंडपगईण जा उदयसंगया तीए अणुदयगयाउ । सकामिऊण वेयइ जं एसो थिवुगसंकामो ॥७९॥ " इत्युक्तलक्षणे सक्रमभेदे, प० स० ५ द्वार । क० प्र० ।

थिहु-स्तिभु-स्त्री० । साधारणबादरवनस्पतिकायभेदे, जी० १ प्रति० ।

थीण-स्त्यान-त्रि० । सघातमापन्ने, स्था० ६ ठा० ।

थीणगिद्धि-स्त्यानगृद्धि-स्त्री० । स्त्याना बहुत्वेन सङ्घातमापन्ना गृद्धिरभिकाङ्क्षा जाग्रदवस्थाऽध्यवसितार्थसाधनविषया यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानगृद्धिः, तस्यां हि सत्यां जाग्रदवस्थाऽध्यवसितमर्थमुत्थाय साधयति, स्त्याना वा पिण्डीभूता ऋद्धिरात्मशक्तिरूपा यस्यामिति स्त्यानर्द्धिरित्यप्युच्यते । तद्भावे हि स्वप्तुः केशवार्द्धबलसदृशी शक्तिर्भवति । अथवा-स्त्याना जमीभूता चैतन्यर्द्धिरस्यामिति स्त्यानर्द्धिरिति, तादृग्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धिः, स्त्यानगृद्धिरिति वा । स्था० ९ ठा० । प्रव० । उत्त० । "गोणाऽऽदय" ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण थीणद्धीतिनिपातः । कर्म १ कर्म० । निद्राविशेषे, कर्म० ६ कर्म० ।

थीणद्धि-स्त्यानर्द्धि-स्त्री० । स्त्याना पिण्डीभूता ऋद्धिरात्मशक्तिरूपा यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानर्द्धिः । तद्भावे हि उत्कर्षत. प्रथमसहननस्य केशवार्द्धबलसदृशी शक्तिर्भवति, श्रूयते चैवं कथानक आगमे-क्वचित्प्रदेशे कोऽपि क्षुल्लको विपाकप्राप्तस्त्यानर्द्धिनिद्रासहितो द्विरदेन दिवा खलीकृतः, तत स तस्मिन् बद्धाऽभिनिवेशो रजन्यां स्त्यानर्द्ध्युदये वर्तमानः समुत्थाय तद्दन्तयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारि च प्रक्षिप्य पुनः सुप्तवान् इत्यादि । तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धिः । (६ गा०) कर्म० ६ कर्म० । ग० । प स० । जीत० ।

स्त्यानर्द्धिदृष्टान्तानाह-

पोग्गलमोयगफरुसग-दंते वडसालभंजणे सुत्ते ।
एतेहि पुणो तस्सा, विगिंचणा होति जयणए ॥२४०॥

पुद्गल पिशित, मोदको लड्डुकः, फरुसक. कुम्भकारो, दन्ता. प्रतीताः, वटशाखाभञ्जनम्, एतानि पञ्चोदाहरणानि सूत्रे स्त्यानर्द्धिनिद्रायां भवन्ति । एतैरेतद्दृष्टान्तोक्तैश्चिह्नैः स्त्यानर्द्धि परिज्ञाय, तस्य स्त्यानर्द्धिमत. साधोर्यतनया विवेचन परित्याग. कर्त्तव्यो भवति ।

तत्र पुद्गलदृष्टान्तमाह-

पिसियासि पुव्व महिसं, विगिंचियं दिस्स तत्थ निसि गंतुं ।
अन्नं हंतुं खायति, उवस्सयं सेसगं णेति ॥ १४१ ॥

" एगम्मि गामे एगो कुटुंबी पक्काणि य तलियाणि य निस्मणेसु अणेगसो मसप्पगारे भक्खेइ । सो अ तहारूवाण थेराण अतिए धम्म सोउ पव्वाइओ गामाइसु विहरइ । तेण य एगत्थ गामे महिसो विगिंचमाणो दिट्ठो । तस्स मसे अभिलासो जातो । तेण अभिलासेण अव्वोच्छिन्नेणेव भिक्खू हिंडित्ता अव्वुच्छिऊण वियारभूमिं गतो । चरिमा सुत्तपोरिसी कया । आवस्सय काउ पातोसिया पोरिसी विहिता । तदभिलासी चेव सुत्तो । सुत्तस्सेव थीणद्धी जाया । सो उट्ठिओ अणाभोगनिव्वत्तिएण कारणेण गतो महिसमरूल । अन्न महिस हतु भक्खित्ता सेस आनेतुं उवस्सयस्स उवरिं ठवित । पच्चूसे गुरूण आलोएइ-एरिसो सुविणो दिट्ठो । साहूहिं दिसावलोक करेंतेहिं दिट्ठं कुणिम, जाणिय-जहा एस थीणद्धी, ताहे लिंगपारंचिय पच्छिस से दिन्न । " अथ गाथाऽक्षरार्थ -पिशिताशी कश्चित्पूर्वं गृहवासे आसीत् । स च महिष विकर्तित दृष्ट्वा सजाततद्भक्षणाभिलाषस्तत्र महिषमण्डले निशि रात्रौ गत्वा अन्य महिष हत्वा खादति, शेषमुद्धरितमुपाश्रये नयति ।

मोदकदृष्टान्तमाह-

मोयगभत्तमलद्धुं, भंतु कवाडे घरस्स निसि खाति ।
भाणं च धोऊणं, आगतोँ आवस्सए विगडे ॥१४२॥

एक साधुर्भिक्षां हिण्डमानो मोदकभक्तं पश्यति । तच्च सुचिरमवलोकितमवभाषितं च परं न लब्धं, ततस्तदलब्ध्वा तदध्यवसायपरिणत एव प्रसुप्तः । रात्रौ तत्र गत्वा गृहस्य कपाटौ भङ्क्त्वा मोदकान् भक्षयति । शेषैर्मोदकैर्भाजनं भृत्वा समागतः । प्राभातिके आवश्यके विकटयति-ईदृशः स्वप्नो मया दृष्ट इति । ततः प्रभाते मोदकभृतभाजनं दृष्ट्वा ज्ञातम्-यथा स्त्यानर्द्धिरिति,तस्यापि लिङ्गपाराञ्चिकं दत्तम् । शेषं पुद्गलाऽऽख्यानकवद्वक्तव्यम् ।

अथ फरुसकदृष्टान्तमाह-

अवरो फरुसगमुंडो, मट्टियपिंडे व छिंदिउं सीसे ।
एगंते अवयज्झइ, पासुत्ता णं विगडणा य ॥ १४३ ॥

अपरः कश्चित् फरुसकः कुम्भकारः क्वापि गच्छे मुण्डो जातः, प्रव्रजित इत्यर्थः । तस्य रात्रौ प्रसुप्तस्य स्त्यानर्द्धिरुदीर्णा । स च पूर्वं मृत्तिकाच्छेदाभ्यासी,ततो मृत्तिकापिण्डानीव समीपप्रसुप्तानां साधूनां शिरांसि छेत्तुमारब्धः । तानि च शिरांसि, कलेवराणि चैकान्ते अपोज्झति । शेषाः साधवोऽपसृताः । स च भूयोऽपि प्रसुप्तः । ततः प्रभाते ईदृशः स्वप्नो मया दृष्ट इति विकटना कृता । प्रभाते च साधूनां शिरांसि, कलेवराणि च पृथक्भूतानि दृष्ट्वा ज्ञातम्-यथा स्त्यानर्द्धिरिति लिङ्गपाराञ्चिकं दत्तम् ।

अथ दन्तदृष्टान्तमाह-

अवरो वि घाडिओ म-त्तहत्थिणा पुरकवाडे भंतूण ।
तस्सुक्खणित्तु दंते, वसहीबाहिं विगडणा य ॥ १४४॥

अपरः कोऽपि साधुर्गृहस्थभावे मत्तहस्तिना शुण्डामुत्क्षिप्य धावता धाटितः पलायमानो महता कष्टेन उज्झितः, एष चूर्ण्यभिप्रायः । निशीथचूर्णिकृता तु-" एगो साहू गोयरनिग्गतो हत्थिणा पक्खित्तो ।" इति लिखितम् । एवमुभयथाऽपि हस्तिकृतपराभवं स्मृत्वा स साधुस्तस्योपरि प्रद्वेषमापन्नः प्रसुप्तः । उदीर्णस्त्यानर्द्धिश्चोत्थाय पुरकपाटौ भङ्क्त्वा हस्तिशालां गत्वा तस्य हस्तिनो व्यापादनं कृत्वा दन्तानुत्खन्य वसतेर्बहिः स्थापयित्वा भूयोऽपि सुप्तः । प्रभाते च विकटना-स्वप्नमालोचयति । साधुभिश्च दिगवलोकनं कुर्वाणैर्भग्नद्वारावोक्षितौ । ततः स्त्यानर्द्धिमान् असाविति कृत्वा लिङ्गपाराञ्चिकः कृतः ।

वटशालाभञ्जनदृष्टान्तमाह-

उब्भामग वडसाले-ण घट्टितो केइ पुव्वगयहत्थी ।
वडसालभंजणाऽऽगमण, उस्सग्गाऽऽलोयणा गोमे ।१४५।

आवश्यककायोत्सर्गत्रिके कृते,तथैव गुरूणामालोचयति,ततो दिगवलोके कृते तथैव ज्ञानम्, लिङ्गपाराञ्चिकश्च कृतः । केचिदाचार्या ब्रुवते-मनुष्यभवे वनहस्ती बभूव, ततो मनुजभवमागतस्य प्रव्रजितस्योदीर्णस्त्यानर्द्धेः पूर्वभवाभ्यासाद्वटशालाभञ्जनमभवत् । शेषं प्राग्वत् ।

कथं पुनरसौ परित्यजनीय इत्याह-

केसवअद्धबलं प-ण्णवेंति मुय लिंग णत्थि तुह चरणं ।
णेच्छसस हरइ संघो, ण वि एक्को मा पदोसं तु ॥१४६॥

केशवो वासुदेवस्तस्य बलादर्द्धबलं स्त्यानर्द्धिमतो भवतीति तीर्थकृदादयः प्रज्ञापयन्ति । एतच्च प्रथमसंहनिनामङ्गीकृत्योक्तम् । इत्यादि । बृ० ४ उ० ।

थिणद्धितिग-स्त्यानर्द्धित्रिक-न० । निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिलक्षणे स्त्यानर्द्ध्युपलक्षिते त्रिके, कर्म० ३ कर्म० । " स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्बे" ॥८।२। ४५ ॥ इति स्तस्य थ । प्रा० २ पाद ।

थुंडूकिअ-न० । देशी -दरकुपितवदनसंकोचने,मौने च । दे० ना० ५ वर्ग ३१ गाथा ।

थुइ-स्तुति-स्त्री० । स्तवने, आव० २ अ० । सूत्र० । स्तुतिर्द्विधा-प्रणामरूपा, असाधारणगुणोत्कीर्त्तनरूपा च । नं० । लोकोत्तरसद्भूततीर्थकृद्गुणवर्णनपरायां (प्रश्न० १ द्वार) एकश्लोकप्रमाणायां (पञ्चा० ४ विव०) ऊर्द्धीभूय जघन्येन चतुष्कस्तुतिप्रकथने, मध्यमेनाष्टस्तुतिकथने, उत्कृष्टेन १०८ स्तुतिकथने, उत्त० १४ अ० । ध० । नि० चू० । मनुदिष्टा, व्य० १ उ० । सथा० । (स्तुतिस्तवयोर्विशेषः ' थय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २३८३ पृष्ठे उक्तः) चैत्यवन्दनायां याकायोत्सर्गानन्तरं भण्यते तास्तुतय इति रूढाः । (तास्तिस्रश्चतस्रो वा दीयन्ते इति ' चेइयवंदण ' शब्दे तृतीयभागे १३१७ पृष्ठे स्तुतिप्रस्तावे प्रत्यपादि) तिस्रः स्तुतीरार्हन्तीर्व्याख्यायाऽऽह हरिभद्रसूरिः-तिस्रः स्तुतयो नियमेनोच्यन्ते,केचित्तु अन्या अपि पठन्ति, न च तत्र नियम इति न तद्व्याख्यानक्रिया । एवमेतत्पठितोपचितपुण्यसंभारा उचितेषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति-" वेयावच्चगराणं संतिगराणं सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराणं करेमि काउस्सग्गं ।" इत्यादि यावत् "वोसिरामि ।" व्याख्या-पूर्ववत्,नवरं-वैयावृत्त्यकराणां प्रवचनार्थं व्यापृतभावानां यथाऽम्बाकूष्माण्ड्यादीनां शान्तिकराणां क्षुद्रोपद्रवेषु सम्यग्दृष्टीनां सामान्येनाऽन्येषां समाधिकराणां स्वपरयोस्तेषामेव स्वरूपमेतदेवैषामिति वृद्धसम्प्रदायः । एतेषां सप्तम्यर्थे षष्ठी, एतद्विषयम्-एतानाश्रित्य, करोमि कायोत्सर्गमिति । कायोत्सर्गविस्तरः पूर्ववत् , स्तुतिश्च, नवरमे-

" ता उस्सग्ग किच्चा, बितीयबिसिलोगिया य इह थुत्ति ।
मणइ अहवा घड्ढ-माणाइसव्वजिणिंदाण ॥ २६ ॥
पुव्वुत्तकय विहिणा, कड्ढति सुत्तत्थव त्ता साविगा ।
सुअस्स भगव नाण, उस्सग्गाविओ थुणइ सथुत्ति ॥२७॥
तत्तिया अहवा वड्ढ माणा तिसिलोगिया य सुद्धवणा ।
कम्मस्स निज्जरट्ठ, महया सद्देण घोसति ॥ २८॥
ठिया तु पुव्वविहिणा, सक्कथय कड्ढइ जाव पणिहाण।" (२६)
चन्द० प० ।

" तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोइआ ।
ताव तत्थ अणुण्णाय, कारणेण परेण वि ॥ १ ॥ "

तिस्र• स्तुतयः कायोत्सर्गानन्तर या दीयन्ते ता यावत्कर्षति, भणतीत्यर्थः । किंविशिष्टाः ? तत्राऽऽह-त्रिश्लोकिकाः त्रयः श्लोका• छन्दोविशेषरूपा आधिक्येन यासु तास्तथा ।" सिद्धाण बुद्धाण०" इत्येकः श्लोकः । "जो देवाण वि ०" इति द्वितीयः । " एक्को वि नमोक्कारो० " इति तृतीय इति । ध० २ अधि० । वृ० । ओघ० । प्रति० ।

पनैर्व्याघातकारणैः समुपस्थितैः देशत• सर्वतो वाऽऽवश्यकमकृत्वा गच्छन्ति । तत्र देशत• कथमकृतवेत्यत आह-

थुतिमंगलकितिकम्मे, काउस्सग्गे य तिविहकिइकम्मे ।
तत्तो य पडिक्कमणे, आलोयणयाएँ कितिकम्मे ॥

स्तुतिमङ्गलमकृत्वा,स्तुतिमङ्गलाकरणे चाऽयं विधि•-आवश्यके समाप्ते द्वे स्तुती उच्चार्य तृतीयां स्तुतिमकृत्वा अभिशय्यां गच्छन्ति । तत्र च गत्वा ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य तृतीयां स्तुतिं ददति । अथवा-आवश्यके समाप्ते एकां स्तुतिं कृत्वा द्वे स्तुती अभिशय्यां गत्वा पूर्वविधिनोच्चरन्ति । अथवा-समाप्ते आवश्यकेऽभिशय्यां गत्वा तत्र तिस्रः स्तुतीर्ददति । अथवा-स्तुतिभ्यो यद् अर्वाक् तत् कृतिकर्म,तस्मिन्नकृते तेऽभिशय्यां गत्वा तत्रैर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य मुखवस्त्रिकां च प्रत्युपेक्ष्य कृतिकर्म कृत्वा स्तुतीर्ददति । व्य• ३ उ० । (इत्यादि प्र० भागे ७२४ पृष्ठे विस्तर•)

आवस्सय काऊणं, जिणोवइट्ठं गुरूवएसेणं ।
तिन्नि थुती पडिलेहा, कालस्स विही इमो तत्थ ॥

आवश्यक जिनोपदिष्ट गुरूपदेशेन कृत्वा पर्यन्ते तिस्र स्तुतयः प्रवर्त्तमाना वक्तव्या । तद्यथा-प्रथमा एकश्लोकिका, द्वितीया द्विश्लोकिका, तृतीया त्रिश्लोकिका । इत्यादि । व्य० ७ उ० । प० व० । पञ्चा० ।

सुकयं आणत्तिं पि व, लोए काऊण सुकयकिइकम्मा ।
वड्ढंतीओ थुइओ, गुरुथुइगहणे कए तिन्नि ॥६॥

सुकृतामाज्ञामिव लोके कृत्वा कश्चिद्विनीतः सुकृतकृतिकर्मा सन्निवेदयत्येवमेतदपि द्रष्टव्यम् । तदनु कायप्रमार्जनोत्तरकालं वर्द्धमाना स्तुतयो रूपतः शब्दतश्च गुरुस्तुतिग्रहणे कृते सति तिस्रस्तिस्रो भवन्ति । इति गाथाऽर्थः ॥ प० व० २ द्वार ।

निस्सकडमनिस्सकडे, वि चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि ।
वेलं च चेइयाणि य, नाउं एक्किक्किया वा वि ॥

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे, अनिश्राकृते च तद्विपरीते, चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते, अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति, भूयांसि वा तत्र चैत्यानि,ततो वेलां, चैत्यानि वा ज्ञात्वा, प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति । बृ० १ उ० ।('चंदण' शब्दे विशेषो वक्ष्यते)"त काउं आवस्सग अमे तिन्नि थुतीओ करेंति । अहवा-एगा एकसिलोगा,बितिया बिसिलोगा, ततिया तिसिलोगा ।" आ० चू० ४ अ० । आव० । सम्पूर्णचैत्यवन्दना स्तुतित्रयेण संपूर्णा भवति । पञ्चा०३ विव•।(चतुर्थस्तुतिस्तु किलाऽर्वाचीनेति ' चेइयवंदण ' शब्दे १३१२ पृष्ठे द्रष्टव्यम) (स्तुतिविषये विशेष• ' चेइयवंदण ' शब्दे १३२० पृष्ठे तृतीयभागे द्रष्टव्यः) " सुयस्स भगवओ करेमि काउस्सग्ग वंदणवत्तियाए ।" इत्यादि प्राग्वद् यावद्"वोसिरामि, एय सुत्तं पठित्ता पणवीसुस्सासमेव काउस्सग्ग करेंति ।"आह च-" सुयनाणस्स चउत्थो त्ति ततो नमोक्कारेण पारित्ता विसुद्धचरणदंसणसुयातियारा मगलनिमित्त चरणदंसणसुयदेसगाण सिद्धाण थुतिं कड्ढति, भणिय च सिद्धाण थुईए । " इति । सा चेय स्तुतिः-"सिद्धाण बुद्धाण०" इत्यादि । आव०४ अ० ।

थुइजुयल-स्तुतियुगल-न० । समयपरिभाषया स्तुतिचतुष्टये, पञ्चा० ३ विव० ।

थुइमंगल-स्तुतिमङ्गल-न० । प्रतिक्रमणस्यान्ते स्तुतित्रयभणने, ओघ० ।

थुइवुड्ढि-स्तुतिवृद्धि-स्त्री० । प्रवर्द्धमानस्तुतिपरिपाठे, पञ्चा० ८ विव० ।

थुक्कार-थूत्कार-पु० । महता शब्देन थुगितिकरणे, रा० ।

थुक्किय-न० । देशी-उन्नते, दे० ना० ५ वर्ग २८ गाथा ।

थुड-स्थुड-न० । वनस्पतीनां स्कन्धभागे, स्था० १० ठा० ।

थुड्डहीर-न० । देशी-चामरे, दे० ना० ५ वर्ग २८ गाथा ।

थुणण-स्तवन-न० । स्तोत्रैर्गुणकीर्तने, आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० । दशा० ।

थुत्थु-पु० । देशी-हसे, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

थुरुणुल्लण्ण-न०। देशी-शय्यायाम्, दे०ना० ५ वर्ग २८ गाथा ।

थुल्लम-पुं० । देशी-पटकुटाम्, दे० ना० ५ वर्ग २८ गाथा ।

थुल्ल-थोर-त्रि० । स्थूलः । "सेवाऽऽदौ वा "॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति लद्वित्वम् । प्रा० २ पाद । परिवर्तने, दे• ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

स्थूल-त्रि० । मोट्टे, आचा• २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

थुवअ-स्तावक-त्रि० । " उः सास्नास्तावके " ॥ ८ । १ । ७५ ॥ इति आदेरात उत्वम् । स्तोतरि, प्रा० १ पाद ।

थुव्वंत-स्तूयमान-त्रि० । " न वा कर्मभावे व्वः क्यस्य च लुक् " ॥ ८ । ४ । २४२ ॥ इति भावे कर्मणि वा वर्तमानस्य ष्टुधातोरन्ते द्विरुक्तो वकाराऽऽगमो वा । प्रा० ४ पाद । अभिनन्द्यमाने, ज्ञ० १४ श० ।

थू-थू-अव्य० । " थू कुत्सायाम् " ॥ ८ । २ । २०० ॥ 'थू' इति कुत्सायां प्रयोक्तव्यम् । कुत्सायाम," थू निल्लज्जो लोओ ।" प्रा० २ पाद ।

थूण-स्तेन-पुं० । " ऊः स्तेने वा " ॥ ८ । १ । १४७ ॥ इति स्तेनशब्दस्यैतो वा ऊत्वम् । 'थूणो ।' पक्षे-'थेणो ।' चौरे, प्रा० १ पाद । स्तेने, दे० ना० ५ वर्ग २९ गाथा ।

थूणा-स्थूणा-स्त्री० । गृहनाऽऽदिस्तम्भनार्थवल्लीकाष्ठे, नि० चू० १३ उ० । " थूणा णं भंते ! उड्ढं ऊसिया समाणी जावइय खेत्तं ओगाहित्ता णं चिट्ठेति, तिरियं पि य णं आयता समाणी तावइयं चेव खेत्तं ओगाहित्ता णं चिट्ठइ ? । हंता गोयमा ! थूणा णं उड्ढं ऊसिया तं चेव चिट्ठइ । " प्रज्ञा० १५ पद । पूर्वजनपदभेदे; पूर्वस्यां दिशि स्थूणाविषयं यावद् विहरेत् । बृ० १ उ० । अश्वे, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

थूणाग-स्थूणाक-पुं० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र एक सामुद्रिकः छद्मस्थविहरतो वीरजिनस्य लक्षणानि दृष्ट्वा विस्मितः शक्रेण प्रत्युक्तः । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

थूणामंडव-स्थूणामण्डप-पुं० । स्थूणाप्रधानं वस्त्राऽऽच्छादिते मण्डपे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

थूभ-स्तूप-पुं० । संघातावयविनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । पीठे, जं० २ वक्ष० । रा० । ऋषभजिनगवदेहाऽऽदिदग्धस्थानेषु भरतेन स्तूपाः प्रावर्तन्त । आचा० (?) । रा० । आ० क० । व्य० । (' आयारपकप्प ' शब्दे द्वितीयभागे ३५५ पृष्ठे देवताविकुर्वितस्तूपैरनुपदैर्विवादो दर्शितः) समूहे, विशे० । " थूभा पुण विन्नगा होंति । " "इट्टगादिचियावच्चा थूभो भवति ।" नि० चू० ३ उ० ।

थूभकरंड-स्तूपकरण्ड-न० । ऋषभपुराऽऽसन्ने धन्ययक्षाऽऽवासे उद्याने, विपा० २ श्रु० ३ अ० ।

थूभमह-स्तूपमह-पुं० । स्तूपस्य विशिष्टे काले पूजायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

थूभिया-स्तूपिका-स्त्री० । लघुशिखरे, ज० १ वक्ष० । जी० । रा० । ज्ञा० ।

थूरी-स्त्री० देशी-तन्तुवायोपकरणे, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

थूल-स्थूल-त्रि० । प्रमाणतः मौल्यतश्च (आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । प्रश्न०) महति, प्रश्न० ५ संव० द्वार । बृहति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । बृहत्काये उपचितमांसशोणिते, सूत्र० ७ श्रु० ६ अ० । उत्त० । अनिपुणे, उत्त० १ अ० ।

थूलगअदिन्नादाण-स्थूलादत्ताऽऽदान-न० । स्थूलं परिस्थूलविषयत्वेन प्रसिद्धमिदं चौर्याऽऽरोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमदत्ताऽऽदानम् । आव० ६ अ० । तृतीयेऽणुव्रते, आव० । परिस्थूलविषयं चौर्याऽऽरोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमिति दुष्टाध्यवसायपूर्वकं स्थूलं, विपरीतमितरत्, स्थूलमेव स्थूलकं, स्थूलकं च तत् अदत्तादानं चेति समासः । आव० ६ अ० ।

थूलगअदिन्नादाणवेरमण-स्थूलकादत्ताऽऽदानविरमण-न० । श्रावकस्य तृतीयेऽणुव्रते, आव० ६ अ० । (' अदिन्नादाणवेरमण ' शब्दे प्रथमभागे ५४० पृष्ठे व्याख्यातमिदम्)

थूलघोण-पुं० । देशी-शूकरे, दे० ना० ५ वर्ग २७ गाथा ।

थूलत्थंतरणासता-स्थूलार्थान्तरनाशता-स्त्री० । स्थूलार्थान्तरघटाऽऽदिनाशतायाम्, विशेषस्य सामान्यरूपादनित्यत्वे, द्रव्या० ११ अध्या० ।

थूलगपाण-स्थूलकप्राण-पुं० । द्वीन्द्रियाऽऽदिजीवे, आ० चू० ६ अ० ।

थूलगपाणवहविरयाइ-स्थूलकप्राणवधविरत्यादि-पुं० । अणुव्रतसत्त्वहिंसाविरमणप्रवृत्तौ, पञ्चा० ६ विव० ।

थूलगपाणवहवेरमण-स्थूलकप्राणवधविरमण-न० । प्रथमाणुव्रते, पञ्चा० । स्थूला असूक्ष्माः कुदृष्टिभिरपि प्राणित्वेन प्राय प्रतीयमानत्वाद् द्वीन्द्रियाऽऽदयः, त एव स्थूलकाः । एतेनैकेन्द्रियाणां व्युदासः । सम्यग्दृष्टिभिरेव प्राय प्रतीयमानत्वेन तेषां सूक्ष्मत्वात् । प्राणा उच्छ्वासाऽऽदयः, तद्योगात्प्राणाः प्राणिनः, अनेनाचेतनानां व्युदासः, तद्वधस्येहाप्रत्याख्येयत्वात् । तेषां वधो हिंसा, तस्य विरमणं विरतिः स्थूलकप्राणवधविरमणम् । पञ्चा० १ विव० ।

थूलगपाणाइवाय-स्थूलकप्राणातिपात-पुं० । स्थूला एव स्थूलकाः, प्राणा इन्द्रियाऽऽदयः, तेषामतिपातः स्थूलकप्राणातिपातः । द्वीन्द्रियाऽऽदिजीववधे, आव० ६ अ० ।

थूलगपाणाइवायवेरमण-स्थूलकप्राणातिपातविरमण-न० । प्रथमाणुव्रते, आव० ६ अ० । आ० चू० । ('पाणाइवायवेरमण' शब्दे व्याख्यास्यते)

थूलगमुसावाय-स्थूलकमृषावाद-पुं० । परिस्थूलवस्तुविषयेऽतिदुष्टविवक्षासमुद्भवः स्थूलः, स्थूल एव स्थूलकः, स्थूलकश्चाऽसौ मृषावादश्चेति समासः । आव० ६ अ० । आ० । स्थूलानृतवादे, पञ्चा० १ विव० ।

थूलगमुसावायवेरमण-स्थूलकमृषावादविरमण-न० । द्वितीयाणुव्रते, आव० ६ अ० । (' मुसावाय ' शब्दे व्याख्यास्यते)

थूलभद्द-स्थूलभद्र-पुं० । शकटालपुत्रे आर्यसंभूतविजयस्य शिष्ये, कल्प० ८ क्षण ।

" अथाभूत्रवमे नन्दे, मन्त्रिराट् कल्पवंशजः । (५६)
शकटालः सुतौ तस्य, स्थूलभद्रश्रियकौ ।
यक्षा च यक्षदिन्ना च, भूताऽथ भूतदिन्नका ॥५७॥
सेणा वेणा तथा रेणा, तत्पुत्र्यः सप्त चाभवन् ।
द्विजो वररुचिस्तत्रासी-न्नवनन्दं स शंसति ॥५८॥
अष्टोत्तरशतश्लोकै-र्नन्दो मन्त्रिणमीक्षते ।
मन्त्री न किञ्चिदप्यूचे, तद्भार्यामथ सोऽस्तवीत् ॥५९॥
पृष्टस्तयोचे त्वद्भर्त्ता, मत्काव्यानि प्रशंसतु ।
उक्तस्तयाऽथ मन्त्र्यूचे, न मिथ्यात्वं स्तवीम्यहम् ॥६०॥
मुहुस्तयोपरुद्धोऽवक्, स तदुक्तं सुभाषितम् ।
दीनाराष्टशतं नन्द-स्तस्यादात्प्रत्यहं ततः ॥६१॥
मन्त्र्यूचेऽस्त्वेश ! किं दत्त, सोऽवदत् त्वत्प्रशंसया ।
मन्त्र्यूचे न प्रशंसामि, लौकिकानि पठत्यसौ ॥६२॥
मत्पुत्र्योऽपि पठन्त्यूचे, राज्ञा स्वः पार्श्वेः सुताः ।
एकद्विताऽऽदिपाठास्ता, मन्त्रिणाऽन्तर्हिता धृताः ॥६३॥
राजसौधे द्विजोऽथाऽऽगा-त्तास्तत्पाठेऽपठन् क्रमात् ।
राज्ञा वररुचेर्द्वारं, वारितं स ततो निशि ॥६४॥
मुक्त्वाऽम्बुयन्त्रे दीनारान्, गङ्गान्तः स्तौति सोऽह्नि ताम् ।
हत्वांऽह्रिणा तदादाय, दत्ते गङ्गेति सोऽवदत् ॥६५॥
तच्छ्रुत्वा पार्थिवोऽमात्य-मूचे दत्तेऽस्य जाह्नवी ।
मन्त्र्यूचे मयि तत्रस्थे, चेद्दास्यति ददाति तत् ॥६६॥
उत्क्रमादापयन्मन्त्री, तद् द्विजस्यार्पितं जले ।
प्रातर्नन्दोऽगमत्तत्रा-ऽमौनीन्मन्त्रियुतः स्तवम् ॥६७॥
स्तवान्तेऽन्तर्जलं यन्त्रः, किञ्चिन्न प्राप स द्विजः ।

मन्त्री पोट्टलिकां राज्ञः, प्रदर्शयांदत्त तस्य ताम ॥ ६८ ॥
मार्यात्युद्भावितोऽयासी-न्मन्त्रिच्छिद्राणि वीक्षते ।
श्रीयकस्याथ वीवाहे, माङ्गलिक्याय भूभुज ॥६९॥
सामग्रीं क्रियमाणां सो-ऽज्ञासीद्दासीमुखात्ततः ।
क्रीडन्ति डिम्भरूपाणि, दाय दाय सुखाऽऽदिकाम ॥७०॥
अपाठयद्वररुचि', सर्वेष्वपि पथेष्विदम ।
"तं न विजाणइ लोओ, ज सगडालो करेसिइ ।
नंदराउं मारेवि करि, सिरियउ रज्जे ठवेसइ" ॥७१॥
राजपाठ्या नृप श्रुत्वा, तच्चरैर्वीक्ष्य चाकुपत ।
नमतो मन्त्रिण· क्ष्माभृ-त्ततो जज्ञे पराङ्मुखः ॥ ७२ ॥
मन्त्री गृह गतः पुत्र-मूचे भोः ! मम मृत्युना ।
कुटुम्ब जीवतादेत· श्रो चेत्सर्वं विनङ्क्ष्यति ॥ ७३ ॥
ततो नृप नमन्त मां, वत्स ! खड्गेन घातये· ।
आः पापमित्यवादीत्स, मन्त्र्यूचे मां विषान्मृतम् ॥ ७४ ॥
घ्नत· पाप न ते सोऽथ, तदादिष्ट तथाऽकरोत ।
हा हा अकार्यमित्यूचे, राज्ञाऽथ श्रीयकोऽवदत ॥ ७५ ॥
यो वो नेष्टः स नोऽप्येव, तत संस्कार्य तं नृप ।
श्रीयक स्माऽऽह मन्त्री स्या ,सोऽवग् भ्राताऽस्ति मे बृहत्॥७६॥
कोशागृहे स्थूलभद्र--स्तमथाजूहवन्नृप· ।
निर्ययौ द्वादशाब्दान्ते, राज्ञोक्तः स्माऽऽह चिन्तये ॥ ७७ ॥
राजोचे शोकवन्यन्त-श्चिन्तयान्यत्र मा गम·।
सोऽथ तत्र गतो दध्यौ, क्व भोगा राज्यचिन्तने ? ॥ ७८ ॥
"मुद्रेय खलु पारवश्यजननी सौख्यच्छिदे देहिनां,
नित्यं कर्कशकर्मबन्धनकरी धर्मान्तरायाऽऽवहा ।
राजार्थैकपरैश्च संप्रति पुनः स्वार्थप्रजार्थापहृत्,
तद् ब्रूम किमतः परं मतिमतां लोकद्वयापायकृत ? ॥७९॥"
गतिश्च नरकाऽन्ता स्या-त्कृत्वा लोच ततस्तदा ।
रत्नकम्बलदशाभी-रजोहरणमप्यथ ॥८०॥
नृपमेत्यावदद्धर्म-लाभस्तेऽस्त्विति चिन्तितम ।
राजोचे निर्वहे· सुष्ठु, यातोऽसौ दध्यिवान्नृपः ॥८१॥
मिषात् कोशागृहे यास्य-तीत्यैक्षिष्टोपरि स्थितः ।
मृतकेभ्यो जनोऽपैति, मुखानि पिदधाति च ॥ ८२ ॥
निर्विकारः स भगवान्, ययौ हृष्टोऽथ भूभृता ।
श्रीयकः स्थापितो मन्त्री, स्थूलभद्रः पुनर्मुनि· ॥ ८३ ॥
सम्भूतसूरे· शिष्योऽभूत्, श्रीयको भ्रातुरञ्जसा ।
मिलितु याति कोशाया , स्थूलभद्ररता च सा ॥८४॥
मनुष्यमीहते नान्य-मुपकोशा तु तत्स्वसा ।
तत्सभोक्ता वररुचि-स्तत्कोशां श्रीयकोऽवदत ॥ ८५ ॥
इतो मृत· पिताऽस्माक, भ्रातुश्च विरहोऽभवत् ।
तव प्रियवियोगोऽभू-त्तदेन पाययाऽऽसवम् ॥ ८६ ॥
स्वसा तदुक्त्या चन्द्र-प्रभा स पायित· सुराम् ।
श्रीयकस्येति कोशाऽऽस्य-त्सोऽथ भावितमम्बुजम् ॥ ८७ ॥
नृपाऽऽस्थाने वररुचे-रार्पयत्कस्यचित्करात् ।
तेनाऽऽघ्रात तदेव द्राक्, तत्रैवाऽवमदासवम् ॥ ८८ ॥
नि·मारितोऽथ ह्रीत्वा, प्रायश्चित्त द्विजा ददु· ।
तप्तस्य त्रपुण पानं, तेनाऽसौ पञ्चतां गत ॥ ८९ ॥
स्थूलभद्रस्तप कुर्वन्, विहरन् गुरुभि· भद्र ।
आगमत्पाटलीपुत्र, वर्षाकालमखेऽन्यदा ॥ ९० ॥
जग्राहाभिग्रहं साधु-रेक सिंहगुहास्थितौ ।
अन्य· सर्पबिले चान्यः, कूपकाऽङ्गनदारुणि ॥ ९१ ॥
स्थूलभद्रश्चतुर्मासीं, कर्तुं कोशागृहे पुन· ।
सिंहसर्पौ शम यातौ, तुष्टा कोशा प्रियाऽऽगमात् ॥ ९२ ॥
उत्थायोचे विधेय किं, चतुर्मास्याश्रयोऽस्त्विह ।
सैव चित्रशालाऽस्ति, स्थितस्तस्यां प्रभुस्तत· ॥ ९३ ॥
रात्रौ शृङ्गारमाधाय, प्रभुक्षोभार्थमागता ।
न पारितः क्षोभयितु, प्रभुर्मन्दरसोदरः ॥ ९४ ॥
धर्मं श्रुत्वा ततो जज्ञे, श्राविका धर्मतत्त्ववित ।
राजादिष्ट नर मुक्त्वा, सा ब्रह्मव्रतमग्रहीत ॥ ९५ ॥
चतुर्मासाऽऽगमे सिंह-गुहाऽऽद्येभ्यागतान् मुनीन् ।
गुरु· स्माऽऽह स्वागत वो, हहो ! दुष्करकारका· !॥९६॥
आयाते स्थूभद्रे तु, गुरुरुत्थाय सम्भ्रमात ।
ऊचे ते स्वागतं साधो !, कृतदुष्करदुष्कर !॥ ९७ ॥
त्रयोऽपि तेऽथ सासूया', मिथः स्माऽऽहुस्तपस्विन· ।
अमात्यपुत्र इत्येव, बहुमन्यन्त सूरयः ॥ ९८ ॥
अथ सिंहगुहासाधु-रन्यप्रावृषि मत्सरात् ।
कोशागृहे चतुर्मासीं-कृतेऽभिग्रहमग्रहीत् ॥ ९९ ॥
आचार्यैरुपयुज्याऽथ, वारितोऽपि जगाम स· ।
वसतिर्मार्गिता दत्ता, तया तां स निरीक्ष्य च ॥ १०० ॥
अनुरक्तोऽर्थयामास, सा नैच्छन्नमति स्म तम ।
आनय द्रव्यलक्ष मे, सोऽवदन्मे कुतो धनम ? ॥ १०१ ॥
सोचे नेपालभूपालः, साधूनां रत्नकम्बलम ।
ददाति लक्षमूल्यं स, तत्रागाल्लब्धवांश्च तत् ॥ १०२ ॥
आगच्छतश्च चौराणां, लक्ष यातीत्यवक् शुक· ।
स्तेनसेनापतिर्वीक्ष्या-ऽऽयातं भिक्षुमुपैक्षत ॥ १०३ ॥
गते तत्र पुनः कीरो-ऽवादील्लक्षं गत गतम् ।
ततस्तमनुगत्योचे, सोऽवग्दण्डेऽस्ति कम्बलम् ॥ १०४ ॥
मये वेश्याकृते मुक्तो, ययौ तस्या ददौ च तम ।
तया चन्दनिकायां स, क्षिप्तो वारयतो मुनेः ॥ १०५ ॥
सोचे शोचयमु न स्वं, त्वमपीदृग् भविष्यसि ।
मग्नो विषयपङ्कान्त , स प्रबुद्धोऽथ तद्गिरा ॥ १०६ ॥
मिथ्यादुष्कृतमुक्त्वाऽगाद्, गुरोरालोचयत्ततः ।
उपालब्धोऽथ गुरुणा, ज्ञातमात्मपरान्तरम् ॥ १०७ ॥
स्थूलभद्रोऽधिसेहे तां, चिर परिचितामपि ।
भवाँस्तु प्रार्थयामास, विगुप्तोऽर्थार्जनेन च ॥ १०८ ॥
गुरुमक्षमयच्चक्र', स्थूलभद्रं च सोऽथ तम् ।
रथिकस्यान्यदा कोशां, ददौ राजा पुरोऽस्य सा ॥ १०९ ॥
स्थूलभद्रगुणानाख्य-च्च तथोपाचरच्च तम ।
(इत· कथाशेषम वैनयिक्यामुक्तम)
तस्मिंश्च काले सञ्जज्ञे, दुष्कालो द्वादशाब्दक· ।
इतस्ततोऽम्बुधेस्तीरे, तमतिक्रम्य साधुभि ॥ ११० ॥
विस्मृतिं याति सिद्धान्ते, गुणनाऽभावतस्तदा ।
पाटलीपत्तने स्थित्वा, यद्यस्याऽऽयाति तच्छ्रुतम ॥१११॥
मेलयद्भिः समस्त तै-र्मिलितैकादशाऽऽत्मिका ।
भद्रबाहुर्द्वादशाङ्ग-भृन्नेपालेषु तिष्ठति ॥ ११२ ॥
सङ्घ· सङ्घाटकेनोचे, पूर्वाण्यध्यापयेति तम् ।
गुरुरूचे महाप्राण, प्रविष्टोऽस्मि ततोऽधुना ॥ ११३ ॥
न क्षमो वाचनां दातु, सघस्याऽऽख्यन्निवृत्य स· ।
पुन· सघाटकेनोचे, सङ्घाऽऽज्ञां यो विलङ्घते ॥ ११४ ॥
को दण्डस्तस्य सोऽप्योच-न्दद्वैवोद्धाट्यते हि सः ।

ततोऽधुना किं क्रियते, सोऽवगमादृद्घाटनं कुरु ॥ ११५ ॥
शिष्यान् प्रेषयतां प्राज्ञान्, दास्ये सप्ताहि वाचनाः।
भिक्षाचर्याः समायातः, कालवेलाविकालयोः ॥ ११६ ॥
तत्रावश्यागतश्चैव, तिस्रश्चाऽऽवश्यके पुनः।
सिद्धे स्थाने महाप्राणे, स प्रवर्त्तते ध्रुवम् ॥ ११७ ॥
आरेभिरे ततोऽध्यादि, वाचनामुद्धुरेण च।
स्थूलभद्रादिकाऽऽवासी-च्छिष्यपञ्चशती ततः ॥११८॥
निरन्तरं वाचनाना मभावेऽस्थैतुमक्षमाः।
स्थूलभद्रं विना सर्वे, परामज्याऽपरे ययुः ॥११९॥
स्थाने स्तोकावशेषे च, पृष्टः श्रीभद्रबाहुना।
किं खिद्यसे न खिद्येऽहं, कान्तिकत्कालः क्रमस्य तत् ॥१२०॥
भिद्ध्यान सदा सर्वे-दिनं दास्यामि वाचनाम्।
सोऽप्राक्षीत् किं मयाऽधीतं, शेषं वा सूरयोऽभ्यधुः ॥१२१॥
सर्षपाद्रितिर्हि सूत्रार्थ-मस्य सिद्धार्थमन्दरौ।
स्तो न्यूनेनाऽपि परं, समयेन पठिष्यसि ॥१२२॥
दशपूर्वी विधसूत्रा-ऽध्यापि स्थाने समर्पिते।
अथान्तरे विहारेण, प्रययुः पाटलीपुरे ॥१२३॥
समाप्याध्ययनास्तत्र, स्थूलभद्रस्य जामयः।
उद्यानस्थान् गुरून् स्थूल-भद्रं चाऽऽनन्तुमाययुः ॥१२४॥
गुरून्नत्वाऽवदन् कुत्र, ज्येष्ठाऽऽर्यं सूरयोऽभ्यधुः।
परत्र गुणयत्यस्मिन्, वीक्ष्याऽऽयान्ती सहोदराः ॥१२५॥
ऋद्धिं दर्शयितुं सिंह-रूपमाधाय तस्थिवान्।
ता सिंहं वीक्ष्य पूत्कृ-त्योचुः सिंहेन भक्षितः ॥१२६॥
गुरूक्ते न सिंहः स, भ्राता वो तस्थिमेकयन्।
दृष्ट्वाऽस्ताः समधाऽनेमुः-स्माक्षीत्सोऽपि कोशलम् ॥१२७॥
यक्षोवाच परिव्रज्य, श्रीयको पर्वपर्वणि।
अभक्तार्थं मयाऽकारि, निशीथे मृत्युमागमन् ॥१२८॥
ततश्च मामभुक्ताना, विदेहे देवताऽनयत्।
तत्र पृष्टः प्रभुः प्राऽऽह, ऋषिहत्याऽस्य ते न तत् ॥१२९॥
मया निर्वेदमयने, स्वाम्युक्ते मुक्तिभावने (?)।
वन्दित्वा तास्ततो याता., द्वितीयेऽह्न्युपनस्थुपः ॥ १३० ॥
न गुरुर्वाचना दध्ये, स ज्ञात्वा छ कृत ततः।
नैनत्पुनः करिष्यामी-त्येवं कष्टेन भूयसा ॥१३१॥
क्षामितोऽध्यापयच्चैव-मुक्ता माऽन्यं दद्देः पुनः।
व्युच्छिद्याऽथ चतुःपूर्वी, दशमाऽत्यद्वियस्तुयुक् ॥ १३२ ॥
योगसंप्राहिता चैव, शिक्षायां स्थूलभद्रयत्। " आ० क०।

थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जथूलभद्दे गोयमसगुत्ते ॥

स्थविरस्याऽऽर्यसम्भूतिविजयस्य माठरगोत्रस्य शिष्यः स्थविर आर्यः स्थूलभद्रो गौतमगोत्रोऽभूत्। तत्सम्बन्धश्चाऽयम्-पाटलिपुरे शकटालमन्त्रिपुत्रः श्रीस्थूलभद्रो द्वादश वर्षाणि कोशागृहे स्थितो वररुचिद्विजप्रयोगात्पितरि मृते नन्दराजेनाऽऽकार्य मन्त्रिमुद्राप्रदानायाभ्यर्थितः सन् पितृमृत्युं स्वचित्ते विचिन्त्य दीक्षामादत्त, पश्चाच्च सम्भूतविजयान्तिके व्रतानि प्रतिपद्य तदादेशपूर्वकं कोशागृहे चतुर्मासीमस्थात्, तदन्ते च षड्रसहावभावविधायिनीमपि तां प्रतिबोध्य गुरुसमीपमागतः सन् तैर्दुष्करदुष्करकारक इति सघसमक्षं प्रोचे, तद्वचसा पूर्वाऽऽयाताः सिंहगुहासर्पबिलकूपकाष्ठस्थायिनस्त्रयो मुनयो दूनाः, तेषु सिंहगुहास्थायी मुनिर्गुरुणा निवार्यमाणोऽपि द्वितीयचतुर्मास्यां कोशागृहे गतो, दृष्ट्वा च तां दिव्यरूपां चलचित्तोऽजनि, तदनु तया नेपालदेशाऽऽनायितरत्नकम्बलस्य खाले क्षिप्त्वा प्रतिबोधितः सन्नागत्योवाच-

" स्थूलभद्रः स्थूलभद्रः, स एकोऽखिलसाधुषु।
युक्तं दुष्करदुष्कर-कारको गुरुणा जगे " ॥ १ ॥
"पुष्फफलाण च रसं, सुराइ मंसाण महिलियाणं च।
जाणंता जे विरया, ते दुक्करकारए वंदे " ॥ २ ॥
कोशाऽपि तत्प्रतिबोधिता सती स्वकामिनं पुष्पार्पितबाणैः दूरस्थाम्रलुम्बानयनगर्वितं रथकारं सर्षपराशिस्थसूच्यग्रस्थपुष्पोपरि नृत्यन्ती प्राऽऽह-
" न दुक्करं अम्बयलुंबितोडणं, न दुक्करं नच्चियसिक्खियाइ।
तं दुक्करं तं च महाणुभावं, जं सो मुणी पमयवणम्मि वुच्छो ॥३॥"

कवयोऽपि-

" गिरौ गुहायां विजने वनान्तरे,
वासं श्रयन्तो वशिनः सहस्रशः।
हर्म्येऽतिरम्ये युवतीजनान्तिके,
वशी स एकः शकटालनन्दनः ॥ ४ ॥
योऽग्नौ प्रविष्टोऽपि हि नैव दग्ध-
श्छिन्नो न खड्गाग्रकृतप्रचारः।
कृष्णाहिरन्ध्रेऽप्युषितो न दष्टो,
नाक्तोऽञ्जनागारनिवासखिन्नो यः ॥ ५ ॥
वेश्या रागवती सदा तदनुगा षड्भी रसैर्भोजनं,
शुभ्रं धाम मनोहरं वपुरहो नव्यो वय सङ्गमः।
कालोऽयं जलदाऽऽविलस्तदपि यः कामं जिगायाऽऽदरात्,
तं वन्दे युवतिप्रबोधकुशलं श्रीस्थूलभद्रं मुनिम् ॥ ६ ॥
रे काम! वामनयना तव मुख्यमस्त्रं,
वीरा वसन्तपिकपञ्चमचन्द्रमुख्याः।
त्वत्सेवका हरिविरञ्चिमहेश्वराऽऽद्याः
हा हा हताश! मुनिनाऽपि कथं हतस्त्वम्?॥ ७ ॥
श्रीनन्दिषेणरथनेमिमुनीश्वराऽऽर्द्र-
बुद्ध्या त्वया मदन रे! मुनिरेष दृष्टः।
ज्ञातं न नेमिमुनिजम्बुसुदर्शनाना,
तुर्यो भविष्यति निहत्य रणाङ्गणे माम् ॥ ८ ॥
श्रीनेमितोऽपि शकटालसुतं विचार्य
मन्यामहे वयममुं भटमेकमेव।
देवोऽद्रिदुर्गमधिरुह्य जिगाय मोहं
यन्मोहनाऽऽलयमयं तु वशी प्रविश्य ॥ ९ ॥ "

अन्यदा द्वादशवर्षदुर्भिक्षप्रान्ते सघाऽऽग्रहेण श्रीभद्रबाहुभिः साधुपञ्चशत्याः प्रत्यहं वाचनासप्तकेन दृष्टिवादे पाठ्यमाने सप्तभिर्वाचनाभिरन्येषु साधुषु उद्विग्नेषु श्रीस्थूलभद्रो वस्तुद्वयोना दशपूर्वी पपाठ। अथैकदा यक्षसाध्वीप्रभृतीनां वन्दनार्थमागतानां स्वभगिनीनां सिंहरूपदर्शनेन दूना श्रीभद्रबाहवो 'वाचनायामयोग्यस्त्वम्' इति श्रीस्थूलभद्रमूचिवांसः। पुनः सघाऽऽग्रहात् 'अथाऽन्यस्मै वाचना न देया' इत्युक्त्वा सूत्रतो वाचनां ददुः।

तथा चाऽऽहुः-

" केवली चरमो जम्बू-स्वाम्यथ प्रभवप्रभुः।

शय्यम्भवो यशोभद्र, सम्भूतविजयस्तथा ॥ १ ॥
भद्रबाहुः स्थूलभद्रः, श्रुतकेवलिनो हि षट् ॥ " कल्प० ८ क्षण ।
ति० । आ० क० । तं० । आ० चू० । नं० । आव० ।
स्था० । उत्त० ।

" थेरस्स णं अज्जसंभूयविजयस्स माढरसगुत्तस्स इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिन्नायाओ होत्था । तं जहा-

" जक्खा य जक्खदिन्ना, भूया तह चेव भूयदिन्ना य ।
सेणा वेणा रेणा, भइणीओ थूलभद्दस्स ॥ १ ॥ " कल्प० ८ क्षण ।

जसभद्दं तुंगियं वंदे, भूयं चेव य माढरं ।
भद्दबाहुं च पाइन्नं, थूलभद्दं च गोयमं ॥ २६ ॥

स्थूलभद्र, चः समुच्चये । गौतम गौतमस्यापत्यम् गौतमः । " ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च " । ४ । १ । १४४ ॥ इत्यण्प्रत्ययः । तं, वन्दे इति क्रियायोगः । नं० ।

श्रीस्थूलभद्रो कोशागृहावस्थितावाहारमपि गृहीतवानिति जनप्रवादः, परं शय्यातरपिण्डत्वेन कथं न जनप्रवादनिबन्धनमिति प्रश्ने, उत्तरम्-श्रीस्थूलभद्रस्य कोशागृहेऽवस्थितिरागमव्यवहारायेनुज्ञातत्वेन यथा नानुचिता, तथा शय्यातरपिण्डग्रहणमपि ज्ञेयम् । ते हि सातिशयज्ञानवत्तया त्रैकालिकविहितं विमृश्यैव सर्वमप्यनुजानन्त इति । ११० प्र० । सेन० १ उल्ला० । श्रीस्थूलभद्रस्य यतित्वे वेश्यागृहस्थितिः, सा सिद्धान्तोक्ता, न वा ?, यदि सिद्धान्तोक्ता, स सिद्धान्तो नामग्राहं प्रसाद्य इति प्रश्ने,उत्तरम्- नन्दीसूत्रे पारिणामिक्यां बुद्धौ स्थूलभद्रः,कार्मिक्यां तु वेश्या,सारथिश्च उदाहरणतयोक्ता. सन्ति,एतदर्थप्रतिपादने स्थूलभद्रस्य यतित्वेऽपि वेश्यागृहेऽवस्थानमुक्तमस्तीति । प्र० २२६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । श्रीस्थूलभद्रस्य नाम चतुरशीतिचतुर्विंशतिं यावत्तिष्ठति, तत्कुत्र ग्रन्थेऽस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-श्रीस्थूलभद्रस्य नाम चतुरशीतिचतुर्विंशतिं यावत्तिष्ठति, तच्चारित्राऽऽदिष्वस्तीति बोध्यम् । ७१ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

थूलरोट्टग-स्थूलरोट्टक-पुं० । बृहद्रोट्टके ' वाटी ' इति प्रसिद्धे, ध० २ अधि० ।

थूलवय-स्थूलवचस्-पुं० । स्थूलमनिपुणं वचो येषां ते स्थूलवचसः । आविचार्यभाषिषु, ध० २ अधि० । उत्त० ।

थूलादत्तादाण-स्थूलादत्ताऽऽदान-न० । स्थूलं च तददत्तस्याऽवितीर्णस्य द्रव्यस्याऽऽदानं ग्रहणं स्थूलादत्ताऽऽदानम् । पञ्चा० १ विव० । परिस्थूलवस्तुविषये चौर्याऽऽरोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धे अतिदुष्टाध्यवसायपूर्वके चौर्ये, स्था०५ ठा० १ उ० ।

थूलि-धूलि-स्त्री० । " चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ " ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति धकारस्य थकारः । रेणौ, प्रा० ४ पाद ।

थूली-स्थूली-स्त्री० । गोधूमस्थूलचूर्णे, गोधूमानां स्थूलचूर्णं सर्पिषा सिक्तं स्थाल्यां पक्वं स्थूलीति मालवप्रसिद्धा । ध० २ अधि० ।

थूह-पुं० । देशी-प्रासादशिखरे, चातके, वल्मीके च । दे०ना०५ वर्ग ३२ गाथा ।

थेअ-स्थित-त्रि० । " क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स० " ॥ ८ । २ । ७७ ॥ इत्यादिना सलुक् । " युवर्णस्य गुणः " ॥ ८ । ४ । २३७ ॥ " क-ग-च-ज-त० ॥ ८।१।१७७॥ इत्यादिना तलुक् । गतेर्निवृत्ते, प्रा० ढु० ४ पाद ।

थेग-थेग-पुं० । कन्दविशेषे, ध० २ अधि० । प्रव० ।

थेज्ज-स्थैर्य-न० । स्थिरतायाम्, औ० । अष्ट० । स्थेये, त्रि० । प्रीतिकरतया गच्छचिन्तायाः प्रमाणभूते, अनेकशो वा प्रीतिकरीकृते, व्य० ३ उ० ।

थेज्जकरण-स्थैर्यकरण-न० । चित्तस्थिरतासंपादने, पञ्चा० १ विव० ।

थेण-पुं० । देशी-स्तेने, दे० ना० ५ वर्ग २९ गाथा ।

थेणिल्लिअ-न० । देशी-हृते, भीते च । दे०ना०५वर्ग३२गाथा ।

थेमिच्च-स्थैमित्य-न० । निश्चलत्वे, द्वा० १८ द्वा० ।

थेय-स्तेय-न० । परस्वापहरणे, द्वा० २० द्वा० ।

थेर-स्थविर-पुं० । ' थविर ' शब्दार्थे, प्रव० २ द्वार । चतुर्मुखे ब्रह्मणि, दे० ना० ५ वर्ग २९ गाथा ।

थेरकंचुइज्ज-स्थविरकञ्चुकिन्-पुं० । ' थविरकंचुइज्ज ' शब्दार्थे, भ० ६ श० ३३ उ० ।

थेरकप्प-स्थविरकल्प-पुं० । ' थविरकप्प ' शब्दार्थे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

थेरकप्पट्ठिइ-स्थविरकल्पस्थिति-स्त्री० । ' थविरकप्पठिइ ' शब्दार्थे, बृ० ४ उ० ।

थेरकप्पिय-स्थविरकल्पिक-पुं० । ' थविरकप्पिय ' शब्दार्थे, प्रव० ७० द्वार ।

थेरभूमि-स्थविरभूमि-जातिश्रुतपर्यायस्थविरेषु, स्थविरभूमित्रिधा । स्था० ३ ठा० २ उ० । (' थविरभूमि ' शब्दे २३१४ पृष्ठे व्याख्याता)

थेरभूमिपत्त-स्थविरभूमिप्राप्त-त्रि० । ' थविरभूमिपत्त ' शब्दार्थे, व्य० १ उ० । बृ० ।

थेरय-स्थविरक-पुं० । ' थविरय ' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

थेरवेयावच्च-स्थविरवैयावृत्य-न० । ' थविरवेयावच्च ' शब्दार्थे, व्य० १ उ० ।

थेरावली-स्थविरावली-स्त्री० । ' थविरावली ' शब्दार्थे, नं० ।

थेरासण-न० । देशी-पद्मे, दे० ना० ५ वर्ग २९ गाथा ।

थेरोवघाइय-स्थविरोपघातिक-पुं० । ' थविरोवघाइय ' शब्दार्थे, दशा० २ अ० ।

थेव-स्तोक-त्रि० । स्तोके, " थेवं पि हु तं बहू होइ । " (१२०) आव० नि० १ अ० । आ० म० । विशे० । देशी-बिन्दौ, दे० ना० ५ वर्ग २९ गाथा ।

थेवरिअ-देशी-जन्मनि, तूर्ये च । दे० ना० ५वर्ग २९ गाथा ।

थोअ-पुं० । देशी-रजके, मूलके च । दे० ना० ५ वर्ग ३२ गाथा ।

थोक-स्तोक-त्रि० । " स्तोकस्य थोक-थोव-थेवा " ॥ ८।२।१२५॥ इति स्तोकस्य थोकाऽऽदेशः । प्रा० २ पाद । स्वल्पीयसि आचा०१ श्रु० ७ अ०४ उ०। कोट०। "थणथोव पणथोव, सग्गी थोव कय.पथोव च । न हु भे वीससियव्वं, थेव पि हु त वहु होइ" ॥ १२० ॥ आव० ४ अ० । आ० म० । निशी० ।

थोगुच्चय-स्तोकोच्चय-पुं० । स्तोकस्योच्चयो: ज्यो० १ पाहु० ।

थोणा-स्थूणा-स्त्री० । " स्थूणातूणे वा " ॥ ८।१।१२५ ॥ इति उत ओत्वम् । दारुस्तम्भे प्रा० १ पाद ।

थोत्त-स्तोत्र-न० । " स्तम्बे थोऽसमस्तस्तम्बे " ॥८।२।४५॥ इति स्तस्य थ । प्रा० २ पाद । महच्छ्लोकप्रमाणे स्तवे, पञ्चा० ४ विव० । को० । स्तोत्राणि तु जिनानाम (आत्मानाम्) पञ्चा० ६ विव० ।

थोत्तगरुई-स्तोत्रगुर्वी-स्त्री० । स्तोत्रमहत्यां पूजायाम् , पञ्चा० ५ विव० ।

थोत्तरयणकोस-स्तोत्ररत्नकोश-पुं० । मुनिसुन्दरसूरिविरचिते जिनस्तवनग्रन्थे, कल्प० ।

तथोक्तं श्रीमुनिसुन्दरसूरिभिः स्वकृतस्तोत्ररत्नकोशे-
" वीरात्त्रिनन्दाङ्क (९९३) शरच्चकार,
स्वचैत्यपूते ध्रुवमेत्य नृपतिः ।
यस्मिन्महैः समहि कल्पसभा-
माथा तदानन्दपुरं न कः स्तुते ? ॥१॥ " कल्प० ७ क्षण ।

थोभग-स्तोभक-पुं० । चकारहिकारतुशब्दवाशब्दाऽऽदिषु निपातेषु, विशे० । आ० म० ।

थोयव्व-स्तोतव्य-त्रि० । पूजनीये, पञ्चा० ।

चरणपडिवत्तिरूवो,थोयव्वोचियपवित्तिओ गुरुओ। (२४)

चरणप्रतिपत्तिरूपश्चारित्राभ्युपगमस्वभाव:, भावस्तव इति प्रकृतम् । स्तोतव्ये पूजनीये भगवति वीतरागे विषयभूते या उचिता सङ्गता प्रवृत्तिः प्रवर्त्तनं, सा स्तोतव्योचितप्रवृत्तिः,तस्या स्तोतव्योचितप्रवृत्तेर्हेतोर्गुरुको गरीयान् द्रव्यस्तवापेक्षया। पञ्चा०६ विव० ।

थोर-स्थूल-त्रि० । " स्थूले लो र " ॥८।१।२५५॥ इति लस्य र० । प्रा० १ पाद । " ओत्कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर स्थूल०- " ॥ ८।१।१२४ ॥ इत्यादिना ऊत ओत्वम् । पृथुले, प्रा० १ पाद । क्रमपृथुलपरिवर्तुले, दे० ना० ५ वर्ग ३० गाथा ।

थोल-पुं० । देशी- वस्त्रैकदेशे, दे० ना० ५ वर्ग ३० गाथा ।

थोव-स्तोक-पुं० । सप्तप्राणाऽऽत्मके कालविशेषे, "सत्त पाणाणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे।" भ०१ श० १ उ० । ते च प्राणाः सप्त समुदिता एकः स्तोकः । ज्यो० १ पाहु० । त० । कल्प० । कर्म० । स्था० । अनु० । स्था० । प्रव० । अल्पे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । स्था० । विशे० । स्वल्पे, आव० ४ अ० । गणनाप्रमाणहीने, त्रि० । विशे० । दर्श० । "थोवाऽऽहारो थोवभणिओ अ, जो होई थोवनिद्दो अ । थोवोवहिउवगरणो, तस्स हु देवा वि पणमंति ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

थोवग-स्तोकक-पुं० । चातकपक्षिणि, आ० १ श्रु० १ अ० ।

थोह-न० । देशी बले, दे० ना० ५ वर्ग ३० गाथा ।

थोहरी-थोहरी-स्त्री० । स्नुहीतरौ, ध० ३ अधि० । प्रव० ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य-श्री १००८ श्री-
विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
थकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

दकारः

द—द—पुं० । दा-दैप्-वा कः । पर्वते. दत्ते, खण्डने, वाच० । दाने, पूजने, क्षीणे, दानशौण्डे, पालके, देवे, दीप्तौ, दुराधर्षे, दयायाम्, दमने, दीने, दन्दशूके, वद्धे, बन्धने, बोधे, बाले, बीजे, बलोदिते, विदोषे, चालने, चीवरे, वरे, प्राणे च । कान्तौ, दिवि, गङ्गायाम्, कुले, कालकृते, उपदायाम्, नैवेद्ये, निर्नाथवनितायाम्, भार्यायां च । एका० । छेदे, सबोधने, पाने, वैराग्ये, अपलोचने, दातरि च । त्रि० । प० को० ।

"द पुमान् दातरि प्राणे, दा स्त्रियां क्रान्तिदानयोः ॥४७॥
छेदे सबोधने पाने, वैराग्ये चापलोचने ।
दस्त्रिलिङ्ग्यां भवेद् मूके, ग्राहकेन्द्रवकेशरिा (?) ॥४८॥" इति माधव. । एका० ।

"दो दाने पूजने क्षीणे, दानशौण्डे च पालके ।
देवे दीप्तौ दुराधर्षे, दोर्भुजे दीर्घदेशके ॥६७॥
दयायां दमने दीने, दंदशूकेऽपि द. स्मृत. ।
बद्धे च बन्धने बोधे, बाले बीजे बलोदिते ॥६८॥
विदोषेऽपि पुमानेष, चालने चीवरे वरे ।
दाऽऽधन्तो दिवि गङ्गायां, कुले कालकृते च दा ॥६९॥
उपदायां च नैवेद्ये, निर्नाथवनिता च दा ।"
इति विश्वदेवशम्भुमुनि. । एका० ।

दअरी—स्त्री० । देशी-सुरायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा ।

दआलु—दयालु—त्रि० । दय-आलुच् । वाच० । "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥ ८ । १ । १७७ । इति स्वरात्परस्यानादिभूतस्यासयुक्तस्य यस्य प्रायिको लुक् । प्रा० १ पाद । कृपायुक्ते, वाच० ।

दइअ—न० । देशी-रक्षिते, दे० ना० ५ वर्ग ३५ गाथा ।

दइच—दैत्य—पुं० । दितेरपत्यम् । दिति-ण्य. । वाच० । "अइर्दैत्यादौ च" ॥ ८ । १ । १५१ ॥ इति दैत्यशब्दे ऐतो अइ इत्यादेश । 'दइच्चो ।' असुरे, प्रा० १ पाद ।

दइण्ण—दैन्य—न० । दीनस्य भाव ष्यञ् । वाच० । "अइर्दैत्यादौ च" ॥ ८ । १ । १५१ ॥ इति दैन्यशब्दे ऐतो अइ इत्यादेशः । 'दइन्न ।' प्रा० १ पाद । दीनत्वे, कार्पण्ये च । वाच० ।

दइय—दयित—पुं० । दय-क्त । पत्यौ । प्रिये, रक्षिते, न० । आचा० । ज्ञा० । आ० म० । प्रियमात्रे च । त्रि० । भार्यायाम्, स्त्री० । वाच० ।

दइवज्ज—दैवज्ञ—पुं० । दैवं पूर्वजन्मार्जितं शुभ जनानां जन्मलग्नाऽऽदिना जानाति । ज्ञ क । वाच० । "ज्ञो ञ" ॥ ८ । २ । ८३ ॥ ज्ञसम्बन्धिनो ञस्य लुग्वा भवति । 'दइवज्जो ।' प्रा० २ पाद । गणके, ज्योतिर्विदि च । वाच० ।

दइवयप्पभाव—दैवकप्रभाव—पुं० । विधिसामर्थ्ये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

दइव्व—दैव—न० । देवादागतम् । देवो देवताऽस्य देवस्येद वा अण् । वाच० । "सेवाऽऽदौ वा" ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति अन्त्यस्य वा द्वित्वम् । 'दइव्वं ।' 'दइव ।' प्रा० २ पाद । भाग्ये, फलोन्मुखे शुभाशुभकर्मणि, "प्राग्जन्मनि कृत कर्म, शुभ वा यदि वा शुभम । दैवशब्देन निर्दिष्ट-मिहजन्मनि तद्बुधै ॥१॥" वाच० ।

दउलतावाद—दौलताऽऽवाद—पारसीकः शब्दः । प्रान्तदेशीये स्वनामख्याते नगरे, यत्र जिनप्रभसूरिर्विहृत । ती० ४८ कल्प ।

दआभास—दकाभास—पुं० । शिवकस्य वेलन्धरनागराजस्य आवासपर्वते, जी० ३ प्रति० ४ उ० । स्था० ।

दओदर—दकोदर—न० । जलोदरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

दओह—दकौघ—पुं० । पानीयप्रवाहे, बृ० १ उ० । स्था० ।

दंड—दण्ड—पुं० । दण्ड्यते-व्यापाद्यते प्राणिनो येन स दण्डः । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । प्राणिन आत्मान वा दण्डयतीति दण्ड । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । स्था० । दण्ड्यते पापकर्मणा लुप्यते येन स दण्ड. । ध० २ अधि० । दुष्प्रयुक्तमनोवाक्कायलक्षणे हिंसामात्रे, "एगे दंडे ।" एकत्व चास्य सामान्यतयोद्देशात् । स० २ सम० । आतु० । भूतोपमर्दे, ध० २ अधि० । आचा० । सूत्र० । प्राण्यव्यपरोपणविधौ, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । वधाऽऽदिरूपे परनिग्रहे. स्था० ३ ठा० ३ उ० । दण्डयति पीडामुत्पादयतीति दण्ड. । दु खविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । परितापकारिणि, आचा० १ श्रु० ७ अ० ३ उ० । पापोपादानसङ्कल्पे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । उपतापे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । मनोवाक्कायानामसद्व्यापारे, उत्त० १९ अ० । आचा० । प्राणिपीडाकारके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । दण्डयन्ते धनापहारेण प्राणी यैस्ते दण्डा । ध० २ अधि० । चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते येभिरात्मा इति दण्डा. । दुष्प्रयुक्तमनोवाक्कायेषु, ध० ३ अधि० । आचा० । स्था० । दुरध्यवसाये, उत्त० ३१ अ० ।

दण्ड निरूपयन्नाह–

दो दंडा पणत्ता । तं जहा–अट्ठादंडे चेव, अणट्ठादंडे चेव । णेरइयाणं दो दंडा पएणत्ता । त जहा–अट्ठादंडे चेव, अणट्ठादंडे चेव । एवं चउवीसदंडओ० जाव वेमाणियाणं ।

(दो दंडा इत्यादि) दण्डः प्राणातिपाताऽऽदि, स चार्थायेन्द्रियाऽऽदिप्रयोजनाय य सोऽर्थदण्डः, निष्प्रयोजनस्त्वनर्थदण्ड इति । उक्तरूपमेव दण्ड सर्वजीवेषु चतुर्विंशतिदण्डकेन निरूपयन्नाह–(नेरइयाणं इत्यादि) एवमिति नारकवदर्थदण्डानर्थदण्डाभिलापेन चतुर्विंशतिदण्डको नेयो, नवर नारकस्य स्वशरीररक्षार्थं परस्योपहननमर्थदण्ड., प्रद्वेषमात्रादनर्थदण्ड. । पृथिव्यादीनामनाभोगेनाप्याहारग्रहणे जीववधभावादर्थदण्ड, अन्यथा तु अनर्थदण्ड । अथवा-उभयमपि भवान्तरार्थदण्डाऽऽदिपरिणतेरिति सम्यग्दर्शनाऽऽदित्रयवतामेव त्वनर्थदण्डो नास्तीति । स्था० २ ठा० १ उ० । त्रयो दण्डा मन आदय. । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

तओ दंमा पण्णत्ता । तं जहा-मणदंमे, वयदंमे, कायदंडे । नेरइयाणं तओ दंमा पण्णत्ता । तं जहा-मणदंडे, वयदंमे, कायदंडे । विगलिंदियवज्जं० जाव वेमाणियाणं ।

कण्ठ्यम्, नवरं मनसा दण्डनमात्मनः परेषां चेति मनोदण्डः । अथवा-दण्ड्यतेऽनेनेति दण्डो, मन एव दण्डो मनोदण्ड इति । एवमितरावपि । विशेषचिन्तायां चतुर्विंशतिदण्डके-(नेरइयाण तओ दंमेत्यादि) यावद्वैमानिकानामिति सूत्रवाच्यम्। नवरं (विगलिंदियवज्जं ति) एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियान् वर्जयित्वेत्यर्थः । तेषां हि दण्डत्रयं न सम्भवति, यथायोगं वाङ्मनसोरभावादिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । स० । ("कायदंम" शब्दे तृ० भागे ४६२ पृष्ठे, तथा वचोदण्डाऽऽदिशब्देषु उदाहरणानि द्रष्टव्यानि) राजनीतिभेदे, स्था० । स च-" वधश्चैव परिक्लेशो, धनस्य हरणं तथा । इति दण्डविधानज्ञै-र्दण्डोऽपि त्रिविधः स्मृतः ॥ १ ॥ " स्था० ३ ठा० ३ उ० । ज्ञा० । आ० म० । मिथ्यादर्शनमायानिदानशल्येषु, ध० २ अधि० । शरीरधनयोरपहारे, विपा० १ श्रु० ४ अ० । निग्रहे, आव० । दण्डो, निग्रहो, यातना, विनाश इति पर्यायाः । आव० ६ अ० । विपा० । पञ्चा० । अपराधानुसारेण राजग्राह्ये द्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । राजाऽऽज्ञायाम्, अपराधिदण्डने, स्था० ५ ठा० ३ उ० । सैन्ये, प्रायश्चित्तदानावसरे राजस्थापितदण्डपुरुषाणां स्वेच्छाचारिणे दण्डः । व्य० १ उ० । स्वपरदण्डहेतौ च, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । प्राणिनां दण्डहेतौ, आयुर्वै घृतमित्यादिवत्कार्ये कारणत्वोपचारात् । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । दण्डनं दण्डः परिधीनामनुशासनम् । आ० ७ ठा० । नि० चू० । दण्डयतीति दण्डः । यष्टिविशेषे, ज० २ वक्ष० । सूत्र० । दश० । " लट्ठी आयपमाणा, विलट्ठिओ चउरंगुलेण परिहीणा । दंडो बाहुपमाणो, विदमओ कक्खामित्तो य ॥ १ ॥ " इति दण्डयष्ट्योर्भेदः । ओ० नि० । पं० भा० । दश० । नि० चू० ।

सचित्तदारुदण्डाऽऽदीनि करोति-

जे भिक्खू सचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंमाणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥२७॥ जे भिक्खू सचित्ताइं दारुदंमाणि वा वेणुदंमाणि वा वेत्तदंमाणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥२८॥ जे भिक्खू सचित्ताइं दारुदंमाणि वा वेणुदंमाणि वा वेत्तदंडाणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

दो सुत्ता उच्चारेयव्वा । सचित्ता जीवसहिता, वेणू वंसो, वेत्तो विव्वलता, ते उ चेव दारू सीसवादिकरणं, परहस्ताद् ग्रहणमित्यर्थः । ग्रहणादुत्तरकालं अपरिभोगेन धरणमित्यर्थः ।

गाहा-

सच्चित्त मीसगे वा, जे भिक्खू दंमए करे व धारे वा ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ ९७ ॥
सयमेव छेदणम्मी, जीवा दिट्ठे परेण उड्डाहो ।
पडिणीयमीसदोसा, भारेण विराहणा दुविधा ॥ ९८ ॥

सय छेयणे जीवोवघातो, परेण दिट्ठे उड्डाहो भवति, परिच्छिण्णे वि मीसवणस्सति त्ति जीवोवघातो भवति, सार्द्रत्वाच्च गुरुः, गुरुत्वाच्चात्मसंयमोपघातः ।

गाहा-

सुत्तणिवातो एत्थं, परच्छिण्णे होति दंडए तिविधे ।
सो चेव मीसओ खलु, सेसे लहुगा य गुरुगा य ॥ ९९ ॥

तिविधो-वंसवेत्तदारुमयो य, सो चेव परच्छिण्णो मीसो भवति, एत्थ सुत्तणिवातो (सेस त्ति) सचित्तो, परित्ते चउलहुअं, अणंते चउगुरुअं ।

गाहा-

बितियपदमणप्पज्झे, गेलण्णऽद्धाणसंजमभए वा ।
उवहीसरीरतेणगे, पडिणीए साणमादीसु ॥ १०० ॥

अणप्पज्झो करेति ।

गिलाणअद्धाणेसु इमं वक्खाणं । गाहा-

वहणं तु गिलाणस्सा, बालादुवही पलंब अद्धाणे ।
अच्चित्ते मीसेतर, सेसेसु वि गहण जतणाए ॥ १०१ ॥

गिलाणो, बालो, उवही, पलंबाणि वा अद्धाणे उज्झंति, सावयभएण वारणट्ठा घेप्पति, उवहिसरीराणां वहणट्ठा, तेणगपडिणीयसाणमादीण णिवारणट्ठा, पुव्वं अचित्तं, पच्छा मीसं, सेसा परित्ताणंता, पुव्वं परित्ता, पच्छा अणंता ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू चित्ताइं दारुदंमाणि वा वेणुदंमाणि वा वेत्तदंडाणि वा कारेइ, कारंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू चित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंमाणि वा वेत्तदंमाणि वा धारेइ, धारंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे भिक्खू चित्ताइं दारुदंमाणि वा वेणुदंमाणि वा वेत्तदंडाणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥३२॥ जे भिक्खू विचित्ताइं दारुदंमाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥ जे भिक्खू विचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंमाणि वा धारेइ, धारंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥ जे भिक्खू विचित्ताइं दारुदंमाणि वा वेणुदंमाणि वा वेत्तदंमाणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

एव विचित्ते वि दो आलावगा । चित्रक एकवर्णः, विचित्रो नानावर्णः, करेति धरेति वा, तस्स मासलहु ।

गाहा-

चित्ते व विचित्ते वा, जे भिक्खू दंमए कए य धारे वा ।
सो आणा अणवत्थ, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥१०२॥

चित्तो णाम-एगतरेण वण्णेण उज्जलो, विचित्तो दोहिं वण्णेहिं, चित्तविचित्तो पंचवण्णेहिं ।

गाहा-

सहजेणाऽऽगंतूण व, अण्णतरजुओ विचित्तवण्णेणं ।
दुल्लभिति संजओ पुण, विचित्त आवज्जूसिते सुत्तं ॥१०३॥

सहजो णाम-तद्द्रव्योत्थित, करमाविकावशदण्डकवत्, आगन्तु-

क.-चित्रकराऽऽदिचित्रित., सूत्रस्याभिप्रायोऽत्रिभूषाभूषिते प्रायश्चित्त भवति ।

गाहा-

वितियपदं गेलणे, असती अद्धाणसंजमभए वा।
उवहीसरीरतेणगे, पमिणीए आणमादीणि ॥ १०४ ॥

अष्येसिं ममगाण अभावे चित्तविचित्ताऽऽदि गेण्हति।" नि०चू० ५उ०।सूत्र०। प्रव०।(दण्डपञ्चक 'दंडपणग' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) चतुर्हस्ते (स० ४ सम०) धनुःपर्याये मानभेदे, अनु०। भ०। ज्यो०। कुक्षिद्वयनिष्पन्नो दण्ड । अनु०। दण्ड इव दण्डः। ऊर्ध्वाध आयते शरीरबाहल्ये जीवप्रदेशकर्मपुद्गलसमूहे, स्था० १ श्रु० १ अ०। आ० चू०। ("पढमे समये दंड करेइ।" इति 'केवलिसमुग्घाय' शब्दे तृतीयभागे ६६३ पृष्ठे व्याख्यातम्)

दंडकिरिया-दण्डक्रिया-स्त्री०। सर्वविषनिवारिण्यां विद्यायाम्, आव० ४ अ०।

दंडखाय-दण्डखात-न०। वाराणसीस्थे तीर्थभेदे, यत्र भव्यपुष्कराऽऽवर्तक पूज्यते। ती० ४३ कल्प।

दंडग-दण्डक-पुं०। साधूपकरणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। पादप्रोञ्छनके, जीत०। ध०। बृ०। "अरिहंतचेइआण"इत्यादौ चैत्यवन्दनस्तवे,ध०२ अधि०। वाक्यपद्धतौ,स्था०१ठा०।("चउवीसदंडय" शब्दे तृतीयभागे १०५८ पृष्ठे व्याख्यातम्) वेत्रलतायाम, ओघ०। चतुर्विंशतिदण्डकमध्ये भवनद्वीपानां दण्डकदशकप्रोक्तमपरेषां व्यन्तराऽऽदिकानां दण्डक एकैक. प्रोक्तस्तत्र किं कारणमिति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र सूत्रकृतां विवक्षैव प्रमाणमिति। ७० प्र०। सेन० १ उल्ला०।

दंडगथुइजुगल-दण्डकस्तुतियुगल-न०। दण्डकश्च "अरहंतचेइआण" इत्यादि, स्तुतिश्च प्रतीता, तयोर्युगलं युग्मम्, एते एव वा युगल, दण्डकस्तुतियुगलम्। स्वनामख्याते स्तुतियुगले, पञ्चा० २ विव०।

दंडगमई-दण्डकमयी-स्त्री०। दण्डको वंशवेत्राऽऽदिमयी यष्टिस्तैर्निर्वृत्तायां चिलिमिलिकायाम, बृ० १ उ०। नि० चू०।

दंडगराय-दण्डकराज-पुं०। जनस्थानराजे, यो हि शुक्रस्य दुहितुर्देवजान्या. शीलं भञ्जयन् शप्त. सन् सराज्यः क्षारतां प्राप्त'। ती० २७ कल्प।

दंडगुरुय-दण्डगुरुक-पुं०। दण्डेन गुरुको दण्डगुरुकः। यस्य महान् दण्डो भवति असौ दण्डेन गुरु भवति। तस्मिन्, सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

दंडणायग-दण्डनायक-पुं०। तन्त्रपालके, राष्ट्ररक्षके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। रा०। औ०। भ०। भूपाले, स्वदेशचिन्ताकर्तरि च। कल्प० ३ क्षण।

दंडणिक्खेव-दण्डनिक्षेप-पुं०। दण्डः प्राणिपीडालक्षणः, तस्य निक्षेपः परित्याग'। संयमे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०।

दंडणीइ-दण्डनीति-स्त्री०। दण्डनं दण्डः परिधीनामनुशासन, तत्र तस्य वा स एव नीतिर्नयो दण्डनीति'। स्था० ७ ठा०। दण्डेनोपलक्षिताया नीतौ, स्था० ९ ठा०। ति०। आ० म०। कल्प०। आ० चू०। (कस्य कुलकरस्य कीदृशी दण्डनीतिरिति 'कुलगर' शब्दे तृतीयभागे ५९३ पृष्ठे उक्तम्)

दंडतयविरइ-दण्डत्रयविरति-स्त्री०। दण्ड्यते चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डा दुर्युक्तमनोवाक्कायाः, तेषां त्रय तस्य विरतिरशुभप्रवृत्तिनिरोध। दुर्युक्तमनोवाक्कायत्रयाऽशुभप्रवृत्तिनिरोधे, ध० ३ अधि०।

दंडदारु-दण्डदारु-न०। ब्रह्मचारिणामग्नेर्दक्षिणतः स्थाप्ये सप्ताङ्गानामन्यतमेऽङ्गे, भ० ११ श० ३ उ०।

दंडपणग-दण्डपञ्चक-न०। यष्ट्यादिदण्डपञ्चके, प्रव०।

लट्ठी तहा विलट्ठी, दंडो अ विदंडओ अ नाली अ।
भणिअं दंडयपणगं, वक्खाणमिणं भवे तस्स ॥६७६॥

यष्टि, तथा-वियष्टिः, तथा-दण्ड., तथा-विदण्डः, तथानालिका, एतद्दण्डपञ्चकं भणित तीर्थकरगणधरैः, तस्य च दण्डपञ्चकस्येद वक्ष्यमाणरूपं व्याख्यानं भवेत्।

एतदेवाऽऽह-

लट्ठी आयपमाणा, विलट्ठि चउरंगुलेण परिहीणा।
दंडो बाहुपमाणो, विदंडओ कक्खमेत्ताओ ॥ ६७७ ॥

"लट्ठी" इत्यादि। यष्टिरात्मप्रमाणः, सार्द्धहस्तत्रयमानो वियष्टिर्यष्टेः सकाशाच्चतुर्भिरङ्गुलैः परिहीनो न्यूनो भवति, दण्डो बाहुप्रमाणः स्कन्धप्रदेशप्रमाणः, विदण्डः कक्षामात्रः कक्षाप्रमाणः।

लट्ठीए चउरंगुल-समूसिया दंडपंचगे नाली।
नइपमुहजलुत्तारे, तीए थग्गिज्जए सलिलं ॥ ६७८ ॥

यष्टेः सकाशात् चतुरङ्गुलसमुच्छ्रिता आत्मप्रमाणाच्चतुर्भिरङ्गुलैः अतिरिक्ता, षोडशाङ्गुलाधिकहस्तत्रयमानेत्यर्थः। दण्डपञ्चके दण्डपञ्चकमध्ये नाली नाम दण्डपञ्चमक इति। इदानीमेतेषां पञ्चानामपि दण्डानां प्रयोजन प्रतिपिपादयिषुरनानुपूर्व्या अपि व्याख्याऽङ्गत्वात्प्रथमं नालिकायाः प्रयोजनमाह-नदीप्रमुखजलोत्तारे नदीह्रदाऽऽदिकमुत्तरीतुमनोभिर्मुनिभिस्तया नालिकया स्ताघ्यते सलिलमिद गाधमगाध वा इति परिमीयते।

अथ यष्ट्यादीनां प्रयोजनमाह-

बज्झइ लट्ठीए जव-णिआ विलट्ठीएँ कत्थइ दुवारं।
घट्टिज्जए उवस्सय-तयणं तेणाइरक्खट्ठा ॥ ६७९ ॥

"बज्झइ" इत्यादि। यष्ट्या यष्टिदण्डकेन उपाश्रये भोजनाऽऽदिवेलायां सागारिकाऽऽदिरक्षणार्थं यवनिका तिरस्करिणी बध्यते, तथा-वियष्ट्या वियष्टिदण्डकेन कुत्रापि प्रत्यन्तग्रामाऽऽदौ तस्कराऽऽदिरक्षणार्थमुपाश्रयसत्क द्वार घट्टयते आहन्यते, येन खाट्कारश्रवणात् तस्करशुनकाऽऽदयो नश्यन्तीति।

उउबद्धम्मि उ दंडो, विदंडओ घिप्पए वरिसकाले।
जं सो लहुओ निज्जइ, कप्पंतरिओ जलभएणं ॥६८०॥

तथा ऋतुबद्धे काले भिक्षाभ्रमणाऽऽदिवेलायां दण्डको गृह्यते, तेन हि प्रद्विष्टाना द्विपदानां मनुष्याऽऽदीनां, चतुष्पदानां गवाश्वाऽऽदीनां, बहुपदानां शरभाऽऽदीनां निवारण क्रियते, दुर्गस्थानेषु च व्याघ्रचौराऽऽदिभये प्रहरणं भवति, वृद्धस्य च अवष्टम्भनहेतुर्भवतीत्यादिप्रयोजनम्।

तथा वर्षाकाले विदण्मको गृह्यते, यद् यस्मात् लघुको भवति, तत. कल्पान्तरिन कल्पस्याभ्यन्तरे कृत' सुखेनैतन्नीयते जल-भयेन, यथाऽप्कायेन न स्पृश्यत इति ॥ ६७० ॥

इदानीमेतेषा दण्मानां शुभाशुभस्वरूपप्रतिपादनायाऽऽह-

विसमाइ वड्ढमाई, दस य पव्वाइ एगवन्नाइ ।
दंडेसु अपोल्लाई, सुहाइँ सेसाइँ असुहाइ ॥ ६७१ ॥

पूर्वोक्तेषु पञ्चसु दण्मकेषु,पर्वाणि ग्रन्थिमध्यानि, एवविधानि शुभानि भवन्तीति सम्बन्धः तत्र विषमाणि एकत्रिपञ्चसप्तनवरूपाणि, तथा दश च दशसंख्यानि । तथा वर्द्धमानानि उपर्युपरि प्रवर्द्धमानानि। तथा एकवर्णानि न पुनश्चित्रलकानि । तथा-(अपोल्लाइ त्ति) अशुषिराणि,निबिमानीत्यर्थ', एवंविधविशेषणविशिष्टपर्वोपेता. स्निग्धवर्णा मसृणा वर्तुलावर्तुलाश्च दण्डका यतिजनस्य प्रशस्ता इति भाव । (सेसाइ असुहाइ ति) शेषाणि पूर्वोक्तविपरीतस्वरूपाणि, पर्वाणि अशुभान्यप्रशस्तानीति । एकाऽऽदिपर्वणां च शुभाशुभफलमित्थमोघनिर्युक्तावुक्तम् । यथा-

" एगपव्व पससति, दुपव्वा कलहकारिका ।
तिपव्वा लाभसपन्ना, चउपव्वा मारणतिया ॥ १ ॥
पचपव्वा उ जा लट्ठी, पथे कलहनिवारिणी ।
छपव्वाए य आयको, सत्तपव्वा निरोगिया ॥ २ ॥
अट्ठपव्वा असपत्ती, नवपव्वा जसकारिया ।
दसपव्वा उ जा लट्ठी, तहिय सव्वसपई ॥ ३ ॥ " इति ।

प्रव० ८१ द्वार । प० भा० ।

जे भिक्खू दंमगं वा लट्ठियाअवहेलणयं वा वेणुसइयं वा सयमेव परिघट्टइ वा,संठवेइ वा,जम्माइवेएइ वा,परिघट्टंतं वा संठवंतं वा जम्माइवेयतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

इदमपि प्रथमोद्देशकवद्वक्तव्यम् ।

गाहा-

दंमग विदंमए वा, लट्ठि विलट्ठी य तिविध तिविधा तु ।
वेणुमय वेत्त दारुय, बहु अप्प अहाकमे चेव ॥ १७० ॥

नि० चू० २ उ० ।

दंडपरिहार-दण्डपरिहार-पुं० । महत्यां जीर्णकम्बलिकायाम् बृ० १ उ० ।

दंमपह-दण्मपथ-पुं० । गोदण्ममार्गे, सूत्र० ।

अंधे व से दंमपहं गहाय,
अविओसिए धासति पावकम्मी । (५)

यथा ह्यन्धश्चक्षुर्विकलो दण्डपथ गोदण्ममार्गं प्रमुखोज्ज्वल गृहीत्वाऽऽश्रित्य व्रजन् सम्यगकोविदतया धृष्यते कण्टकश्वापदाऽऽदिभिः पीम्यते, एव केवललिङ्गधार्यनुपशान्तक्रोधः कर्कशभाष्यधिकरणोद्दीपकस्तथा । (अविओसिए त्ति) अनुपशान्तद्वन्द्व' पापमनार्यं कर्मानुष्ठान यस्याऽसौ पापकर्मा, घृष्यते चतुर्गतिके ससारे यातनास्थानगतः पौन:पुन्येन पीम्यत इति ॥५॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

दंमपासि(ण्)-दण्मपार्श्विन्-पुं० दण्मस्य पार्श्वं दण्मपार्श्वं, तद्विद्यते यस्याऽसौ दण्डपार्श्वी । स्वल्पतया स्तोकापराधेऽपि कुप्यति दण्ड च पातयति य' तस्मिन्, दशा० ६ अ० । सूत्र० ।

दंमपुंछणय-दण्डपुञ्छनक-न० । दण्मयुक्तायां समार्जन्याम्, जं० ५ वक्ष० । सणकहस्तकेशरपर्णाऽऽदिशलाकासमुदाये च, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दंमपुरक्खम-दण्डपुरस्कृत-पुं० । सदा पुरस्कृतदण्मे, दशा० ६ अ० । सूत्र० ।

दंमप्पयार-दण्मप्रकार-पुं० । आज्ञाविशेषे, स० ।

दण्मप्रचार-पुं० । सैन्यविचरणे, स० ।

दंमभी-दण्मभी-स्त्री० । दण्म जीवकर्मसमारम्भ मृषावादाऽऽदिक, दण्डाद्बिभेतीति दण्मभी. । दण्मभीते,आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

दंममाइ-दण्माऽऽदि-पुं० । मल्लानां धरणिपाताऽऽयुधयाङ्कयुद्धप्रभृतिषु, पिं० ।

दंडय-दण्डक-पुं० । ' दंमग ' शब्दार्थे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दंमरयण-दण्मरत्न-न० । रत्नविशेषे, आ० चू० १ अ० । " ·· ···दडरयण परामुसइ । तए ण भवे दडरयण रयणपचसइयं वइरसारमइय विणासण सव्वसत्तुसेन्नाणं खधावारेण खइयस्स गुहादरीविसमपव्भारगिरिपवाताणं समीकरण सतिकरण सुभकरण रन्नो हिदयइच्छितमणोरह पूरग दिव्वमपडिहत दंडरयण गहाय सत्तट्टपदे पच्चोसक्कइ ।" आ० चू० १ अ० । स्था० । प्रश्न० ।

दंडरुइ-दण्मरुचि-पुं० । " एगतदंमरुइणो । " हिंसनश्रद्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दंमलक्खण-दण्मलक्षण-न० । दण्मस्वरूपनिरूपणे, जं० ।

दण्मलक्षणम्-

" यथातपत्राङ्कुशवेत्रचाप-
वितानकुन्तध्वजचामराणाम् ।
व्यापातनश्रीमधुकृष्णवर्ण-
कलाक्रमेणैव हिताय दण्माः (?) ॥ १ ॥
मन्त्रि१ भूरिधन२कुल४क्रयावहा
रोग५मृत्यु६जननाश्च पर्वभिः ।
द्व्यादिभिर्द्विकविवर्द्धितैः क्रमा-
द्वादशान्तविरतैः समैः फलम् ॥ २ ॥
यात्राप्रसिद्धि१र्द्विषतां विनाशो २,
लाभाः प्रभूताः ३ वसुधा४ऽऽगमश्च ।
वृद्धिः ५ पशूनामभिवाञ्छितार्थः ६,
त्र्यादिष्वयुग्मेषु तदीश्वराणाम् ॥३॥ " जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । सूत्र० । औ० । स० । (अत्र विशेषो ' लट्ठि ' शब्दे वीक्ष्य)

दंमलाचिय-दण्मलातिक-पुं० । दण्मो गृहीतो येन स दण्मलात., सुखाऽऽदिदर्शनाद् निष्ठान्तस्य परनिपात. । दण्मलात एव दण्डलातिकः (प्राकृतत्वात्) स्वार्थिक इकप्रत्यय' । यथा-पृथिवीकायिक इत्यत्र । गृहीतदण्मे राज्ञि, व्य० १ उ० ।

दंमवइ-दण्डपति-पुं० । यः पुनस्तं दण्डमुद्गमयति तस्मिन्, बृ० २ उ० ।

दंडविज्जा-दण्डविद्या-स्त्री० । वंशदण्डाऽऽदिपर्वसङ्ख्याफलकथने, उत्त० १५ अ० ।

दंडवीरिय-दण्डवीर्य-पु० । भरतचक्रवर्तिवंशोद्भवे भरतात्सप्तमे स्वनामख्याते नृपे, स्था० ८ ठा० । आव० । आ० चू० ।

दंडसत्थपरिजुण्ण-दण्डशस्त्रपरिजीर्ण-पुं० । दण्डा वेत्रदण्डाऽऽदय, शस्त्राणि खड्गाऽऽदीनि, ताभ्यां परिजीर्णे समन्ततो दुर्बलभावमापादिते, दशा० ६ अ० २ उ० ।

दंडसमायाण-दण्डसमादान-न० । समादीयते कर्म एभिरिति समादानानि कर्मोपादानहेतवः, दण्डा एव मनोदण्डाऽऽदयः प्राणव्यपरोपणाध्यवसायरूपाः समादानानि दण्डसमादानानि । कर्मोपादानहेतुषु प्राणव्यपरोपणाध्यवसायरूपेषु मनोदण्डाऽऽदिषु, जी० ३ प्रति० २ उ० । दण्डयतीति दण्डः पापोपादानसंकल्पः, तस्य समादाने ग्रहणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रति० । आचा० । आ० चू० ।

दंडाइय-दण्डाऽऽयतिक-पुं० । दण्डस्येवाऽऽयतिर्दीर्घत्वं पादप्रसारणेन यस्यास्ति स दण्डाऽऽयतिकः । स्था० ५ ठा० १ उ० । प्रसारितदेहे, स्था० ७ ठा० । औ० । सूत्र० ।

दंडायत-दण्डाऽऽयत-पु० । दण्डवद्दीर्घवदायतो दीर्घो दण्डाऽऽयतः । भून्यस्ताऽऽयतशरीरे, पञ्चा० १८ विव० । सूत्र० । प्रव० ।

दंडारक्खिग-दण्डाऽऽरक्षिक-पु० । दण्डधरे, नि० चू० । "दंडधरो दंडाऽऽरक्खिगो दंडगहियग्गहत्थो सव्वतो अंतेउरं रक्खइ, रण्णो वयणेण इत्थिं पुरिसं वा अंतेपुरं णीणेति, पवेसेति वा । एस दंडाऽऽरक्खिगो ।" नि० चू० ६ उ० ।

दंडासणिय-दण्डाऽऽसनिक-पुं० । दण्डस्येवाऽऽयतं पादप्रसारणेन तद्दीर्घं यदासनं तद्दण्डाऽऽसनं,तदस्यास्तीति दण्डाऽऽसनिकः । आसनविशेषाभिग्रहवति, बृ० ५ उ० ।

दंडि (ण्)-दण्डिन्-पु० । दण्डधारिणि, ज० ३ वक्ष० । औ० । दशा० । सूत्रकनके, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा ।

दंडिय-दण्डिक-पु० । राजनि, व्य० ४ उ० । ध० । करणपतौ च । व्य० १ उ० । स्था० ।

दंडिया-दण्डिका-स्त्री० । लेखोपरि राजमुद्रायाम्, बृ० १ उ० ।

दंडुक्कड-दण्डोत्कट-पु० । दण्ड आज्ञा,अपराधिदण्डनं वा, सैन्यं वा उत्कटं प्रकृष्टो यस्य, तेन वोत्कटो य स दण्डोत्कटः । उत्कटभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

दण्डोत्कल-पु० । दण्डेन उत्कलति वृद्धिं याति य. स दण्डोत्कल । उत्कटभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

दंत-दन्त-पु० । दशने, "दशनानि च कुन्दकलिका स्युः ।" दै० । आचा० । (साधोर्दन्तघर्षणाऽऽचारनिषेधः ' अणायार ' शब्दे प्रथमभागे ३१७ पृष्ठे उक्तः)

दान्त-पु० । दाम्यतीन्द्रियाऽऽदिदम करोतीति दान्त । दश० १० अ० । पापेभ्य उपरते, उत्त० १० उ० । इन्द्रियनोइन्द्रियदमने, न० । ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । सूत्र० । जितेन्द्रिये, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । सूत्र० । दशा० । प्रश्न० । उत्त० । व्य० । आचा० । ग० । क्रोधाऽऽदिरहिते, उत्त० २ अ० । भ० । उपशान्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आ० म० । इन्द्रियजयसम्पन्ने, व्य० १ उ० । समर्थे, स्था० ७ ठा० । वश्येन्द्रिये, धर्मध्यायिनि च । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । पर्वतैकदेशे, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा ।

दंतकम्म-दन्तकर्म-न० । दन्तपुत्तलिकाऽऽदिषु, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० ।

दंतकलह-दन्तकलह-पु० । वाग्युद्धे, " अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् । " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

दंतकुंभी-दन्तकुण्डी-स्त्री० । इङ्गुदाजने, नकारोऽत्राऽऽलाक्षणिकः । त० ।

दंतकुमी-दन्तकुटी-स्त्री० । दष्ट्रासु, त० ।

दंतणिवाय-दन्तनिपात-पु० । दशनच्छेदरूपेऽसम्प्राप्तकामे, दश० ६ अ० ।

दंतधावण-दन्तधावन-न० । दन्तकाष्ठे, नि० चू० ३ उ० । (दन्तधावनविधिः ' ण्हाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१६१ पृष्ठे गतः)

दंतप्पक्खालण-दन्तप्रक्षालन-न० । दन्ताः प्रक्षाल्यन्ते अपगतमला क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालनम् । दन्तकाष्ठे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । आचा० । अनु० ।

दंतप्पहावण-दन्तप्रधावन-न० । अङ्गुल्यादिना क्षालने, दश० ३ अ० ।

दंतपाय-दन्तपात्र-न० । दन्तनिर्मिते पात्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ० ।

दंतपुर-दन्तपुर-स्वनामख्याते दन्तवक्त्रस्य राज्ञो नगरे, व्य० १ उ० । उत्त० । आव० । आ० क० । नि० चू० । आ० चू० ।

दंतमणि-दन्तमणि-पुं० । प्रधानदन्ते, हस्तिप्रभृतीनां दन्तजे मणौ च । प्रश्न० ५ सव० द्वार ।

दंतमल-दन्तमल-पुं० । दन्तकिट्टे, नि० चू० ३ उ० ।

दंतमलमइल-दन्तमलमलिन-न० । दन्तमलमलीमसे, तं० ।

दंतमाल-दन्तमाल-पु० । द्रुमजातिविशेषे, जं० २ वक्ष० ।

दंतवक्क-दन्तवक्र-पु० । दन्तपुरराजे, यद्भार्यायाः सत्यवत्याः दन्तमयसौधकरणे दोहदो जातः,तन्नगर एव धनमित्रवणिग्भार्यायाः धनश्रियास्तथैव दोहदं पूरयितुकामस्य दृढमित्रस्य वन्धमासस्य मुमोचयिषुर्धनमित्रो यथातथ वदन् मुक्तो राजकुलात् । व्य० १ उ० । नि० चू० । आव० । उत्त० । आ० चू० । (इति आलोचनायां ' पच्छित्त ' शब्दे व्याख्यास्यते)

दंत (पा) वण-दन्तपावन-न० । दन्ता. पूयन्ते पवित्रीक्रियन्ते येन काष्ठखण्डेन तद् दन्तपावनम् । प्रव० ४ द्वार । दन्तमलापकर्षणकाष्ठे, उपा० १ अ० । दशा० । दशननिर्लेपनकाष्ठे यष्टिमध्वादौ, पञ्चा० ५ विव० । स्था० । दर्श० ।

दंत(पा)वणविहि-दन्तपावनविधि-पुं० दन्तमलापकर्षणविधौ, उपा० १ अ० । ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे विस्तरः)

दंतवाणिज्ज-दन्तवाणिज्य-न० । दन्ताऽऽश्रित दन्तविषय वाणिज्यम् । दन्तक्रयविक्रययो', ध० २ अधि० । यत्र प्रथमत एव पुलिन्दाना दन्ताऽऽनयननिमित्त मूल्य ददाति, आकरे वा गत्वा स्वय क्रीणाति,ततस्ते वनाऽऽदौ गत्वा तदर्थं घ्नन्ति,तद्विक्रयपूर्वं यदा

जीवनं तस्मिन्, प्रव० ६ द्वार । ध० २० । आव० । आ० चू० । आ० । पञ्चा० । भ० ।

दंतवेयणा–दन्तवेदना–स्त्री० । दन्तपीडायाम्, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

दंतसेढी–दन्तश्रेणी–स्त्री० । दशनपङ्क्तौ, जं० २ वक्ष० । औ० ।

दंतसेणी–दन्तश्रेणी–स्त्री० । 'दंतसेढी' शब्दार्थे, जं० २ वक्ष० ।

दंतसोहणग–दन्तशोधनक–न० । दन्तानां मलानि सारणसाधने उपकरणभेदे, पं० भा० ।

पविरलदंतो पेरो, सेच्छाऽऽदीणं तु दंतखग्गाणं ।
तेबाद्दमरतिमारिय–खवखद्दारोहसोहणयं ॥
अच्छाणमादिमं चिय, पिप्पलतो विकरणट्ट कंदाणं ।
पाणाहिगवत्यादी–पगासमुद्दनाणकरणट्ठा ॥ पं० भा० ।

"दंतसोहणमाइस्स त्ति ।" (२७) मकारोऽलाक्षणिकः । अपिशब्दश्च गम्यमानत्वाद् दन्तशोधनाऽऽदेरल्पस्यापि तुच्छस्य, आस्तामन्यस्य । (२७) उत्त० १६ अ० ।

दंतामय–दन्ताऽऽमय–पुं० । दन्तरोगे, नि० चू० ३ उ० ।

दंतार–दन्तकार–पुं० । दन्तशिल्पिनि, प्रज्ञा० १ पद ।

दंति(ण्)–दन्तिन्–पुं० । हस्तिनि, आ० चू० १ अ० । अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दंतिअ–पुं० । देशी–शशके, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा ।

दंतिंदिय दान्तेन्द्रिय–त्रि० जितार्थे, पञ्चा० १७ विव० ।

दंतिक दान्तिक–न० । मोदकमण्डकाशोकवर्त्यादिके यद्दद्यपि ध दन्तखादक तस्मिन्, बृ० १ उ० । तन्दुलचूर्णे, बृ० १ उ० । नि० चू० । दर्श० । "मननिविधि कार, सेवइ दंतिक्कय ति ।" पं० व० १ द्वार ।

दंतिक्कचुण्ण–दन्तिकचूर्ण–पुं० । तन्दुलसोट्टे, तन्दुलचूर्णमोदकाऽऽदिस्वादकजन्ते, "दंतिक्कचुण्णं वा ।" दन्तिकचूर्णस्तन्दुललोट्ट । यद्वा–दन्तिक तन्दुलचूर्णं, चूर्णं तु मोदकाऽऽदिस्वादकचूर्णम् । बृ० १ उ० ।

दंतिया–दन्तिका–स्त्री० । गुल्मभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दंतिवक्लिया–दन्तवर्ती–स्त्री० । पत्रकाऽऽलयप्रामव्रास्तव्यस्य स्कन्दकनाम्नो ग्रामकूटपुत्रस्य दास्याम्, आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

दंतुक्खलिय–दन्तोत्खलिक–पुं० । फलभोजिषु, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० । औ० । भ० ।

दंतुट्ठ–दन्तोष्ठ–पुं० । दन्तानामोष्ठयोश्च समाहारे, स्था० ७ ठा० ।

दंतुर–दन्तुर–त्रि० । उन्नता दन्ता सन्त्यस्य, दन्त–उरच् । उन्नतदन्तयुक्ते, उन्नताऽऽनते विषमस्थाने च । वाच० । आ० म० ।

दंद–द्वन्द्व–पुं० । शीतोष्णाऽऽदिषु, द्वा० २२ द्वा० । समुच्चयप्रधाने समासभेदे, अनु० ।

से किं तं दंदे ? । दंदे–दन्ताश्च ओष्ठौ च दन्तोष्ठम्, स्तनौ च उदरं च स्तनोदरम्, वस्त्रं च पात्रं च वस्त्रपात्रम्, अश्वश्च महिषश्च अश्वमहिषम्, अहिश्च नकुलश्च अहिनकुलम् । सेत्तं दंदे ।

तत्र समुच्चयप्रधानो द्वन्द्वः । दन्ताश्चोष्ठौ च दन्तोष्ठम्, स्तनौ च उदरं च स्तनोदरमिति प्राण्यङ्गत्वात् समाहारः । वस्त्रपात्रमित्यादौ त्वप्राणिजातित्वाद्, अश्वमहिषमित्यादौ पुनः शाश्वतिकवैरित्वात् । एवमन्यान्यप्युदाहरणानि भावनीयानि । अनु० ।

दंभ–दम्भ–पुं० । मायया परवञ्चने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स० । स्त्रीकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

दंभग–दम्भनक–न० । वैश्वानरप्रतापितलोहशलाकाभिः परशरीरे भङ्ग्या उत्पाद्यन्ते तेषु, विपा० १ श्रु० ६ अ० । वञ्चने च । प्रव० २ द्वार ।

दंभबहुल–दम्भबहुल–त्रि० । दम्भो मायया परवञ्चनं तदुत्कटे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दंभुज्जव–दम्भोद्भव–पुं० । स्वनामख्याते राजनि, यो हि मदाच्छिन्नाशः । ध० १ अधि० ।

दंभोलि–दम्भोलि–पुं० । दम्भोलि गेदयति । दम्भ–ओलिः । वाच० । वज्रे, अशने, प्रति० । अष्ट० ।

दंस–दृश्–धा० । चाक्षुषज्ञानप्रवर्तने, "दृशेर्दाव–दंस–दक्खवाः ।" ॥ ८ । ४ । ३२ ॥ इति दृशेर्ण्यन्तस्य एते त्रय आदेशाः स्युः । "दावइ । दंसइ । दक्खवइ । दरिसइ ।" दर्शयति । प्रा० ४ पाद ।

दंस–पुं० । दन्श दा–अच् । "शषोः सः" ॥ ८ । १ । २६० ॥ इति शकारस्य सकारः । दंशः । प्रा० १ पाद । वनमक्षिकायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । आव० । उत्त० । दन्श करणाऽऽदौ घञ् । वर्मणि, मर्माणि, दोषे, दशने, सर्पाऽऽघाते, दन्ते च । वाच० ।

दंस–पुं० । दर्शन दर्शः । सम्यक्त्वे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दंसण–दर्शन–न० । दृश्यन्ते श्रद्धीयन्ते ज्ञायन्ते वा जीवाऽऽदयः पदार्था अनेनास्माद्स्मिन्वेति दर्शनम् । दृश्–ल्युट् । "र्श–र्ष–तप्त–वज्रे वा" ॥ ८ । २ । १०५ ॥ इति र्शस्य संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात् पूर्वमिकारो वा । "दरिसणं । दंसणं" । प्रा० २ पाद । दृष्टिर्वा दर्शनम् । सम्यक्त्वाऽपरपर्याये, दर्शनमोहनीयक्षयाऽऽद्याविर्भूते तत्त्वश्रद्धानरूपे आत्मपरिणामे, "एगे दंसणे ।" स्था० १ ठा० । तत्त्वोपाधिभेदादनेकविधमपि श्रद्धानसामान्यादेकम्, एकजीवस्य चैकदा एकस्यैव भावादिति । नन्ववबोधसामान्याद् ज्ञानसम्यक्त्वयोः कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते–रुचिः सम्यक्त्वं, रुचिकारणं तु ज्ञानम् । यथोक्तम्–"नाणमवायधिईओ, दंसणमिट्ठं जहोग्गहेहाओ (?) । तह तत्तरुई सम्मं, रोइज्जइ जेण त नाण ॥ १ ॥" स्था० १ ठा० । दर्श० । आचा० । सूत्र० । उत्त० । ज्ञा० । औ० । ध० २० । आव० । ध० । रा० । संथा० । द्वा० । प्र० । प्रव० । आ० म० । स० । आतु० । ओघ० । नं० ।

सम्यक्त्वमिथ्यात्वभेदाद् द्विविधं दर्शनम्–

दुविहे दंसणे पण्णत्ते । तं जहा–सम्मदंसणे चेव, मिच्छादंसणे चेव ।

"दुविहे दंसणे" इत्यादि सत्त सूत्राणि सुगमान्येव । नवरं दृष्टिर्दर्शनं तत्त्वेषु रुचिः, तच्च सम्यगविपरीत जिनोक्तानुसारि, तथा मिथ्या विपरीतमिति ।

सम्यग्दर्शनभेदमाह-

सम्मदंसणे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा-णिसग्गसम्मदंसणे चेव, अभिगमसम्मदंसणे चेव ।

णिसग्गसम्मदंसणे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा-पडिवाई चेव, अपडिवाई चेव । अभिगमसम्मदंसणे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा-पडिवाई चेव, अपडिवाई चेव ।

(सम्मद्दंसणे इत्यादि) निसर्गः स्वभावोऽनुपदेश इत्यनर्थान्तरम् । अभिगमो गुरूपदेशाऽऽदिरिति, ताभ्यां यत्तत्तथा, क्रमेण मरुदेवीभरतवदिति । (निसग्गेत्यादि) प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति सम्यग्दर्शनमौपशमिकं क्षायोपशमिकं वा प्रतिपाति क्षायिकं, तत्रैषां क्रमेण लक्षणम्-इहौपशमिकीं श्रेणिमनुप्रविष्टस्यानन्तानुबन्धिनां दर्शनमोहनीयत्रयस्य चोपशमादौपशमिकं भवति, यो वाऽनादिमिथ्यादृष्टिरकृतसम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्राभिधानशुद्धाशुद्धोभयरूपमिथ्यात्वपुञ्जत्रिपुञ्जीक एवाऽक्षीणमिथ्यादर्शनोऽक्षपक इत्यर्थः, सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, तस्यौपशमिकं भवतीति । कथम् ?, इह यदस्य मिथ्यादर्शनमोहनीयमुदीर्णं तदनुभवेनैवोपक्षीणम्, अन्यच्च मन्दपरिणामतया नोदितम्, अतस्तदन्तर्मुहूर्त्तमात्रमुपशान्तमास्ते, विष्कम्भितोदयमित्यर्थः । तावन्तं कालमस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभ इति ।

आह च-

" उवसामगसेढिगय-स्स होति उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजे, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥ १ ॥
खीणम्मि उदिन्नम्मी, अणुदिज्जते य सेसमिच्छत्ते ।
अंतोमुहुत्तकालं, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ २ ॥" इति ।

अन्तर्मुहूर्त्तमात्रकालत्वादेवास्य प्रतिपातित्वम् । यच्चानन्तानुबन्ध्युदये औपशमिकसम्यक्त्वात्प्रतिपततः सास्वादनमुच्यते तदौपशमिकमेव, तदपि च प्रतिपात्येव, जघन्यतः समयमात्रत्वात्, उत्कृष्टतस्तु षडावलिकमानत्वादस्येति । तथा इह यदस्य मिथ्यादर्शनदलिकमुदीर्णं तदुपक्षीणं, यच्चानुदीर्णं तदुपशान्तम्, उपशान्तं नाम-विष्कम्भितोदयमुपनीतमिथ्यास्वभावं च, तदिह क्षयोपशमस्वभावमनुभूयमानं क्षायोपशमिकमित्युच्यते । नन्वौपशमिकेऽपि यथा क्षयश्चोपशमश्च, तथेहापीति कोऽनयोर्विशेषः ?। उच्यते-अयमेव हि विशेषो-यदिह वेद्यते दलिकं, न तत्र, इह हि क्षायोपशमिके पूर्वशमितमनुसमयमुदेति वेद्यते क्षीयते च, औपशमिके तूदयविष्कम्भनमात्रमेव । आह च-" मिच्छत्तं जमुदिन्नं, तं खीणं अणुदियं च उवसंतं । मीसीभावपरिणयं, वेइज्जतं खओवसमं ॥१॥" इति । एतदपि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वात्, उत्कर्षतः षट्षष्टिसागरोपमस्थितिकत्वाच्च प्रतिपातीति । यदपि च क्षपकस्य सम्यग्दर्शनदलिकचरमपुद्गलानुभवनरूपं वेदकमित्युच्यते, तदपि क्षायोपशमिकभेदत्वात् प्रतिपात्येवेति । तथा मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वमोहनीयक्षयात् क्षायिकमिति । आह च-"खीणे दंसणमोहे, तिविहम्मि वि भवनियाणभूयम्मि । निप्पच्चवायमउलं, सम्मत्तं खाइयं होइ ॥१॥" इति । इदं तु क्षायिकत्वादेवाप्रतिपाति । अत एव सिद्धत्वेऽप्यनुवर्त्तते ।

मिच्छादंसणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अभिगहियमिच्छादंसणे चेव, अणभिगहियमिच्छादंसणे चेव । अभिगहियमिच्छादंसणे दुविहे पएणत्ते । तं जहा-सपज्जवसिए चेव, अपज्जवसिए चेव । एवमणभिगहियमिच्छादंसणे वि ।

(मिच्छादंसणे इत्यादि) अभिग्रहः कुमतपरिग्रहः, स यत्राऽस्ति तदाभिग्रहिकं, तद्विपरीतमनाभिग्रहिकमिति । (अभिग्गहियेत्यादि) आभिग्रहिकमिथ्यादर्शनं सपर्यवसितं सपर्यवसानं सम्यक्त्वप्राप्तौ, अपर्यवसितमभव्यस्य सम्यक्त्वाप्राप्तेः, तच्च मिथ्यात्वमात्रमप्यतीतकालतयाऽनुवृत्त्याऽऽभिग्रहिकमिति व्यपदिश्यते ॥ ६ ॥ अनाभिग्रहिकं भव्यस्य सपर्यवसितम्, इतरस्याऽपर्यवसितमिति । स्था० २ ठा० १ उ० । आ० म० । दर्शनं त्रिविधम् । तद्यथा-मिथ्यादर्शनं, सम्यग्मिथ्यादर्शनम्, सम्यग्दर्शनं च । आ० म० १ अ० १ खण्ड । दर्शनं मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वभेदात्त्रिविधम् । विशे० । क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकभेदाद्दर्शनं त्रिविधम् । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदाद्दर्शनं चतुर्धा । विशे० । औपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकक्षायिकभेदात्पञ्चविधम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । पं० भा० ।

दर्शनस्य सप्तविधत्वमाह-

सत्तविहे दंसणे पण्णत्ते । तं जहा-सम्मदंसणे, मिच्छदंसणे, सम्मामिच्छादंसणे, चक्खुदंसणे, अचक्खुदंसणे, ओहिदंसणे, केवलदंसणे ।

"दंसणे" इत्यादि सुगमम् । नवरं सम्यग्दर्शनं सम्यक्त्वम्, मिथ्यादर्शनं मिथ्यात्वं, सम्यग्मिथ्यादर्शनं मिश्रमिति । एतच्च त्रिविधमपि दर्शनमोहनीयभेदानां क्षयक्षयोपशमोदयेभ्यो जायते, तथाविधरुचिस्वभावं चेति । चक्षुर्दर्शनाऽऽदि तु दर्शनाऽऽवरणीयभेदचतुष्टयस्य यथासम्भवं क्षयोपशमक्षयाभ्यां जायते, सामान्यग्रहणस्वभावं चेति । तदेवं श्रद्धानसामान्यग्रहणयोर्दर्शनशब्दवाच्यत्वाद्दर्शनं सप्तधोक्तमिति । अनन्तरं केवलदर्शनमुक्तं, तच्च छद्मस्थावस्थाया अनन्तरं भवतीति । स्था० ७ ठा० ।

अष्टविधत्वम्-

अट्ठविहे दंसणे पण्णत्ते । तं जहा-सम्मदंसणे, मिच्छदंसणे, सम्मामिच्छदंसणे, चक्खुदंसणे० जाव केवलदंसणे, सुविणदंसणे ।

"अट्ठविहे दंसणे" इत्यादि कण्ठ्यम् । केवलं स्वप्नदर्शनस्याचक्षुर्दर्शनान्तर्भावेऽपि सुप्तावस्थोपाधितो भेदो विवक्षित इति । स्था० ८ ठा० । पं० भा० । कारकरोचकदीपकभेदाद्वा दर्शनं त्रिविधम् । आतु० । (एते भेदाः 'सम्मत्त' शब्दे स्फुटीभविष्यन्ति, सम्यक्त्वपर्यायत्वाद् दर्शनस्य, नवरमिह दर्शनाऽऽदिशब्दे छद्मस्थदर्शनवीतरागदर्शनभेदाः प्रदर्शयिष्यन्ते) श्रद्धानलक्षणे व्यवसाये, व्यवसायांशत्वात्तस्य । स्था० ३ ठा० ३ उ० । 'दृशिर्' प्रेक्षणे, दृश्यते सम्यक् परिज्ञायते सावद्यमनेनेति दर्शनम् । चारित्रे, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् । सूत्र० । सम्यक्त्वप्रभावकशास्त्रे, आव० ४ अ० । स्था० । शास्त्रमात्रे, विशे० । दर्शनविशोधके सूत्रे, व्य० १ उ० । वृ० । उत्त० । "गोविंदनिज्जुत्तिमादी दंसण ।" नि० चू० ११ उ० । अभिप्राये, उपदेशे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । दृश्यते सामान्यरूपेण वस्त्वनेनेति दर्शनम् । उत्त० ८ अ० । दृश्यते विलोक्यते वस्त्वनेनेति दर्शनम् । यद् वा-दृष्टि-

दर्शनम् । कर्म० ४ कर्म० । दर्शनाऽऽवरणकर्मक्षयोपशमाऽऽदि- जे सामान्यमात्रग्रहणे, अनु० । स्था० ।

दंसणावरणिज्जे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–देसदंसणावर- णिज्जे, सव्वदंसणावरणिज्जे ।

दर्शनं सामान्यार्थग्रहणरूपमावृणोतीति दर्शनाऽऽवरणीयम् । उक्तं च–"दसणसीले जीवे, दसणघायं करेइ जं कम्मं । तं पडिहारसमाणं, दंसणवरणं भवे जीवे ॥ १ ॥" (देस त्ति) देशदर्शनाऽऽवरणीयं, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनाऽऽवरणीयम् । सर्वद- र्शनाऽऽवरणीयं तु निद्रापञ्चकं, केवलदर्शनाऽऽवरणीयं चेत्यर्थः । स्था० २ ठा० ४ उ० । सूत्र० । सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तु- नि, सामान्याऽऽत्मके बोधे, कर्म० ४ कर्म० । औ० । आचा० । स० । निर्विशेषविशेषाणां ग्रहणे, सा० म० २ अ० । न० । "पासइ त्ति दंसणं,जं सामन्नग्गहणं तं दंसणं, अणागारमित्य- र्थः ।" न० । विशे० । ('जं सामण्णग्गहणं, दंसणमेयं विसेसियं नाणं ।" (सम्म० १ गा० २ काण्ड) इति द्रव्यपर्यायास्तिकन- ययोर्मतेन 'उपयोग' शब्दे द्वितीयभागे ८६० पृष्ठे चिन्तितम्)

चक्खु अचक्खु ओही, केवलदंसण अणागारा । (१७)

चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनरूपाणि चत्वा- रि दर्शनानि । तत्र चक्षुषा दर्शनं वस्तुसामान्यांशाऽऽत्म- कं ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम्, अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्ट- येन मनसा च यद्दर्शनं सामान्यांशाऽऽत्मकं ग्रहणं तद- चक्षुर्दर्शनम्, अवधिना रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनं सामान्यांश- ग्रहणमवधिदर्शनम्, केवलेन सम्पूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेष- रूपेण यद्दर्शनं सामान्यांशग्रहणं तत्केवलदर्शनमिति । किंरूपा- ण्येतानि दर्शनानि?,अत आह–अनाकाराणि सामान्याऽऽकारयु- क्तत्वे सत्यपि न विद्यते विशिष्टो व्यक्त आकारो येषु तान्यना- काराणि । कर्म० ४ कर्म० । प्रश्न० । प० चू० । प्रव० । अवलोकने, पिं० । पञ्चा० । आत्मनः प्रकटने, व्य० १ उ० ।

दंसणकप्प–दर्शनकल्प–पुं० । कल्पभेदे, पं० भा० ।

... ., एत्तो वोच्छामि दंसणे कप्पं ।
सद्दहणलक्खणं तु, जिणोवदिट्ठेसु भावे तु ।
छव्वगतछक्कायस्सा, आयरियपरंपरागते अत्थे ।
आगाढकारणेसुं, सद्दहणु णिवेसणं तत्थ ।
छक्काए सद्दहित इण–मणण पुणो वि सद्दहेयव्वं ।
आगाढमणागाढे, आयरियव्व तु जं तत्थ ।
दव्वे खेत्ते काले, भावे पुरिसे तिगिच्छ असहाए ।
एतेहि कारणेहिं, सत्तविह होइ आगाढं ।
एगादीया बुड्ढी, एगुत्तरिया य होति दव्वाणं ।
ओमत्थगपरिहाणी, दव्वागाढं वियाणाहि ।
जंपेति पुणो वेज्जो, सचित्तं दुल्लभं च दव्वं च ।
अपमिट्ठणंतो अत्थति, उद्दिसितं जाव सो ठाति ।
जाहे उद्दिट्ठाणी, ताहे ओमत्थहाणिए भणति ।
अम्ह करेमो जोग्गं, अलंभे एगस्स किं कुणिमो ? ।
एवं तु हावयंता, खेत्तं कालं च भावमासज्ज ।
ता जूहंती जाव तु, लंभे जेसिं तु दव्वाणं ।
अह पुण भणेज्ज एव, अवस्समेतेहिं कज्जदव्वेहिं ।
एत दव्वागाढं, तहिं जए पणगहाणीए ।
खेत्तागाढं ऽणमो, असती खेत्ताण मासजोग्गाणं ।
असिवं वा अन्नत्था, णदीतया होज्ज रुद्धा तु ।
आयरियादिअहारग, अहवा अन्नत्थ सावया होज्ज ।
अंतर जहिं च गम्मति, वाला तह तेण खुत्तियं वा वि ।
एतेहि कारणेहिं, खेत्तागाढम्मि एरिसे पत्तो ।
अत्थंति असढभावा, एगक्खेत्ते वि जयणाए ।
कालस्स वा वि असती, वामावासे वियारणा णत्थि ।
एतेहि कारणेहिं, कालागाढं वियाणाहि ।
वासाजोग्गं खेत्तं, पडिलेहित्ता तु कालओ बहुए ।
वच्चंताण य अंतर–वासं तू णिवडितु पवत्तं ।
महरं चंडवरखेत्तं, ताहे तं चेव पुव्वखेत्तं तु ।
गतु वसती वासं, समतीते वीतिदमरात ।
अतिउक्कमं व दुक्खं, अप्पा वा वेदणाभए आसु ।
एतेहि कारणेहिं, भावागाढं वियाणाहि ।
अन्नुक्कमसूलाऽऽदी, अहिडक्काई तु वेदण अप्पा ।
तत्थऽगितावणाऽऽदी, दाहच्छेदोवगाढाऽऽदी ।
जम्मि विणट्ठे गच्छ–स्स विणासो तह य णाणचरणाणं ।
एतेहि कारणेहिं, पुरिसागाढं वियाणाहि ।
तस्स तु सुद्धालंभे, जावज्जीवं पि होति सुद्धेणं ।
कायव्व तु णियमा, पुरिसागाढ भवे एत ।
जेण कुलं आयत्तं, तं पुरिसं आदरेण रक्खाहि ।
ण हु तुंबम्मि विणट्ठे, अरया साहारगा होंति ।
संजोगदिट्ठपाठी, फासुगउवदेसणासु जो कुसलो ।
एतारिसस्स असती, णायव्व तिगिच्छमागाढं ॥
मज्जणतूलिविभासा, अरणे पावरणए य पाणे य ।
केवलियाए पदाणे, अन्नध वत्तो गिलाणो तु ॥
उज्जवसहावरहिता, अव्वत्ता वावि अहव असमत्था ।
एयऽसहायागाढं, तम्हा णु मुणी ण विहरेज्ज ॥
जावति पवयणम्मी, पडिसेवा मूलमुत्तरगुणेसु ।
ता सत्तसु सुद्धेसुं, सुद्धमसुद्धा असुद्धेसु ॥
आगाढमणागाढे, एवं जं जत्थ होति करणिज्जं ।
त तह सद्दहमाणे, दंसणकप्पो भवति एसो ॥ पं० भा० ।

इयाणि दंसणकप्पो । तत्थ गाहा–(छक्काए) छक्काएसु तिसु वगएसु इममत्त सद्दहियव्वं, जो आयरियपरंपराए आगओ अत्थो, आगा- ढे अणागाढे य आयरिज्जइ त सद्दहियव्वं, तत्थिमाणि सत्त आ- गाढाणि । गाहा–(दव्वे खेत्ते) दव्वे ताव वेज्जो पुच्छियव्वो जाव इयाणि दव्वाणि उवइस्सइ, ताव इयाणि न पडिसेविज्जंति । जहा- एयं अम्ह न कप्पइ । जाहे उवइट्ठाणि ताहे उ मत्थइपरिहाणी- ए भणइ । गाहा (एगादीया) एगाईए वुड्ढीए अम्हे करेसु, जो-

ग मग्गसु, न चेव जाव कलमसाली (खेत्त काल गाहा) तहेव य जहिं लाभो तहिं ठायति । अहवा जणेज्जा-आवस्सियाणि दव्वाणि जाणियव्वाणि, दुल्लहाणि परिजाणइ, स तेल्लमाईणि घवइस्सइ, ताहे त दव्वागाढ पणगपरिहाणीए जयति, जाव चउगुरुएण वि गेण्हति । (खेत्तागाढ गाहा) खेत्तस्स वा अलभे असइ मासपाउग्गाण खेत्ताणं एगत्थ अच्छति, असिव वा, अन्नत्थ नईतीर ति गतूण अकारग वा आयरियाण अन्नत्थ सावया वा, तत्थ अतरा वा दिग्घजाईया वा अन्नम्मि देसे अंतरा वा ताहे एगत्थ अत्थति । अहवा खेत्तागाढ अद्धाणे अद्धाणकप्पनिक्खवसहिसन्नाभूमिपालगपलवाऽऽइसु जयणा,सा सद्दहियव्वा । एव खेत्तागाढ । कालओ कालेण बहुतो वासावासपाउग्ग खेत्त वच्चताण अतरा वास पमिय, त च अतरा खेत्त सन्निसद्धग, ताहे त चेव पुव्वपमिलेहियं खेत्त जाति, वच्चता वि अइच्छिए वा वासावासे जइ वासइ मगसिरे दस राया तिण्णि होंति, उक्कोसेण ओमोयरियाए वा, जा जयणा आहाराऽऽइसु । एय कालागाढं । इयाणिं भावागाढ । (गाहा अइउक्कडं च) अइउक्कड ति विसूइयाइ, अहिदट्ठविसअप्पा वा वेयणाहि य पसूलाइ, तत्थ अग्गी फदाइ वा परिसाणताइ दायव्व । एय भावागाढ । पुरिसागाढे जम्मि विणट्ठे गच्छस्स विणासो नाणदरिसणचरित्ताऽऽईणं विणासो । (न हु तुवम्मि विणट्ठे गाहा) ताहे तस्स असुद्धेणावि कीरइ, जाव जीवइ । एय पुरिसाऽऽगाढ । (गाहा-सजोगदिट्ठपाठी) वेज्जस्स वा सजोगदिट्ठपाठिस्स असइ गीयत्थसाविगस्स, ताहे गीयत्थवेज्जस्स जा पाहुडिया कीरइ ण्हाणभोयणचोयणाइ, त सद्दहइ । एय ति तिगिच्छागाढ । (गाहा-होज्ज दव्वसहाय) सहाया वा से नत्थि अवत्तव्वया सुत्तेण वा दोसा य हिंडमाणस्स वा एगागियस्स ताहे एगत्थ अत्थइ,एगत्थ अत्थतो अपायच्छित्तो जाव सहाए न लभइ पाउग्गे । (एयऽसहायागाढ गाहा) जावति एवमाइयाओ, जावंति पडिसेवणाओ मूलुत्तरगुणेसु, ताओ एएसु सत्तसु कारणेसु सुद्धेसु सुद्धाओ, एएसु सत्तसु कारणेसु अ अप्पत्तेसु करेइ असुद्धाओ । एस दसणकप्पो ।" प० चू० ।

दंसणकुसील–दर्शनकुशील–पु० । कुशीलशब्दप्रदर्शितस्वरूपे कुशीलभेदे, महा० ३ अ० ।

दंसणखवग–दर्शनक्षपक–पु० । पदैकदेशे पदप्रयोगात् दर्शनमोहनीयस्य क्षपके, कर्म० ५ कर्म० । दर्शनमोहनीयक्षये, क्षयोपशमे च । स्था० १ ठा० ।

दंसणगुणप्पमाण–दर्शनगुणप्रमाण–न० । गुणप्रमाणभेदे, अनु० ।

अथ दर्शनगुणप्रमाणमाह–

से किं तं दंसणगुणप्पमाणे ? । दंसणगुणप्पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते । त जहा–चक्खुदंसणगुणप्पमाणे, अचक्खुदंसणगुणप्पमाणे, ओहिदंसणगुणप्पमाणे, केवलदंसणगुणप्पमाणे । चक्खुदंसणं चक्खुदंसणस्स घडपडकडरहाऽऽइएसु दव्वेसु, अचक्खुदंसणं अचक्खुदंसणस्स आयभावे, ओहिदंसणं ओहिदंसणस्स सव्वरूविदव्वेहिं, न पुण सव्वपज्जवेहिं, केवलदंसणं केवलदंसणस्स सव्वदव्वेहिं अ, सव्वपज्जवेहि अ । सेत्तं दंसणगुणप्पमाणे ।

(से किं त दंसणगुणप्पमाणे इत्यादि) दर्शनाऽऽवरणकर्मक्षयोपशमाऽऽदिज सामान्यमात्रग्रहणं दर्शनमिति । उक्त च–"सज्जं सामन्नगहण,भावाण नेव कट्टुमागारं । अविसेसिऊण अत्थे, दसणमिइ वुच्चए समए ।१।" तदेवाऽऽत्मनो गुण:, स एव प्रमाण दर्शनगुणप्रमाणम् । इदं च चक्षुर्दर्शनाऽऽदिभेदाच्चतुर्विधम् । तत्र भावचक्षुरिन्द्रियाऽऽवरणक्षयोपशमाद्, द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च, चक्षुर्दर्शनिनश्चक्षुर्दर्शनलब्धिमतो जीवस्य घटाऽऽदिषु द्रव्येषु चक्षुषो दर्शन चक्षुर्दर्शन, भवतीति क्रियाऽध्याहारः । सामान्यविषयत्वेऽपि चास्य यद् घटाऽऽदिविशेषाभिधान तत्सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदभेदादेकान्तेन विशेषेभ्यो व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याऽग्रहणख्यापनार्थम् । उक्त च–" निर्विशेष विशेषाणां, ग्रहो दर्शनमुच्यते ।" इत्यादि । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टय, मनश्चाचक्षुरुच्यते, तस्य दर्शने न चक्षुर्दर्शनं, तदपि भावचक्षुरिन्द्रियाऽऽवरणक्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च, अचक्षुर्दर्शनिनोऽचक्षुर्दर्शनलब्धिमतो जीवस्याऽऽत्मभावे भवति, आत्मनि आत्मनि जीवे भावः संश्लिष्टतया सबन्धो, विषयस्य घटाऽऽदेरिति गम्यते, तस्मिन् सति इद प्रादुर्भवति रूपम । इदमुक्तं भवति-चक्षुरप्राप्यकारि, ततो दूरस्थमपि स्वविषय परिच्छिनत्तीत्यस्याऽर्थस्य ख्यापनार्थं घटाऽऽदिषु चक्षुर्दर्शन भवतीति पूर्वं विषयस्य भेदेनाभिधानम् । श्रोत्राऽऽदीनि तु प्राप्यकारीणि, ततो द्रव्येन्द्रियसश्लेषद्वारेण जीवेन सह सबद्धमेव विषय परिच्छिन्दन्तीत्येतद्दर्शनार्थमात्मभावे भवतीत्येवमिह विषयस्याभेदेन प्रतिपादनमकारीति । उक्त च–" पुट्ठ सुणेइ सद्द, रूव पुण पासइ अपुट्ठ तु ।" इत्यादि । अवधेर्दर्शनमवधिदर्शनम । अवधिदर्शनिनोऽवधिदर्शनाऽऽवरणक्षयोपशमसमुद्भूताऽवधिदर्शनलब्धिमतो जीवस्य सर्वरूपिद्रव्येषु भवति, न पुन सर्वपर्यायेषु, यतोऽवधेरुत्कृष्टतोऽप्येकवस्तुगताः सख्येया असख्येया वा पर्याया विषयत्वेनोक्ता , जघन्यतस्तु द्वौ पर्यायौ द्विगुणितौ, रूपरसगन्धस्पर्शलक्षणाश्चत्वार: पर्याया इत्यर्थ: । उक्तं च-" दव्वाओ असखेज्जे, सखेज्जेआ वि पज्जवे लहइ । दो पज्जवे दुगुणिए, लहइ य एगाउ दव्वाओ ॥१॥ " अत्राऽऽह-ननु पर्याया विशेषा उच्यन्ते, न च दर्शनं विशेषविषय भवितुमर्हति, ज्ञानस्यैव तद्विषयत्वात्कथमिहावधिदर्शनविषयत्वेन पर्याया निर्दिष्टाः, साधूक्तं केवल पर्यायैरपि घटशरावोदञ्चनाऽऽदिभिर्मृदादिसामान्यमेव तथा तथा विशिष्यते, न पुनस्तेन एकान्तेन व्यतिरिच्यन्ते, अतो मुख्यतः सामान्यं, गुणीभूतास्तु विशेषा अप्यस्य विषयी भवन्तीतिख्यापनार्थोऽत्र तदुपन्यासः, केवल सकलदृश्यविषयत्वेन परिपूर्णं दर्शन, केवलदर्शनिनस्तदावरणक्षयाऽऽविर्भूततल्लब्धिमतो जीवस्य सर्वद्रव्येषु मूर्त्तामूर्त्तेषु सर्वपर्यायेषु च भवतीति । मन:पर्यायज्ञान तु तथाविधक्षयोपशमपाटवात् सर्वदा विशेषानेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यम्, अतस्तद्दर्शन नोक्तमिति । तदेतद्दर्शनगुणप्रमाणम । अनु० ।

दंसणग्गह–दर्शनग्रह–पु० । मताऽऽग्रहे, बो० ११ विव० ।

('णाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १९८१ पृष्ठे गतमस्य विवेचनम)

दंसणचरित्तमोह–दर्शनचारित्रमोह–पु० । द्विरूपमोहनीये कर्मणि, प्रश्न० । ननु चारित्रमोहस्य हेतुर्मैथुनमिति प्रतीतम । तदाह–"तिव्वकसाओ बहुमो-हपरिणओ रागदोससंजुत्तो ।" प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

दंसणट्ठ–दर्शनार्थ–त्रि० । दर्शन तत्त्वानां श्रद्धान, तदर्थे वस्तुनि, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

दंसणट्ठया-दर्शनार्थता-स्त्री० । दर्शनप्रभावकशास्त्रार्थिकत्वे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

दंसणणय-दर्शननय-पुं० । दर्शनेन एव सम्यक्त्वमित्येवंभूते नये, आव० । 'णाणणय' शब्दे १९८९ पृष्ठे ज्ञानप्राधान्यं चारित्रप्राधान्यं च वर्णयित्वाऽऽह, तत्र दर्शननयमतावलम्बी अधिगतज्ञाननये इदमाह-

जह नाणेणं न विणा, चरणं नादंसणिस्स इअ नाणं ।
न य दंसणं न भावो, तेन य दिट्ठिं पणिवयामो ॥८४॥

यथा ज्ञानेन विना न चरणं, किं तु सहैव, नादर्शनिन एव ज्ञानं, किं तु दर्शनिन एव । "सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं, मिथ्यादृष्टेर्विपर्यासः ।" इति वचनात् । तथा न च दर्शनं न भावः, किं तु भाव एव; भावलिङ्गान्तर्गतमित्यर्थः । तेन कारणेन ज्ञानस्य तद्भावभावित्वाद्दर्शनस्य ज्ञानोपकारकत्वात् प्राग्वद् (दिट्ठि त्ति) प्राकृतशैल्या दर्शनमस्यास्तीति दर्शनी, तं दर्शनिनं प्रणमामः पूजयामः । इति गाथार्थः ॥ ८४ ॥

स्यादेतत् सम्यक्त्वज्ञानयोर्युगपद्भावादुपकार्योपकारकभावानुपपत्तिरित्येतच्चासत्, यत -

जुगवं पि समुप्पन्नं, सम्मत्तं अहिगमं विसोहेइ ।
जह कयगमंजणाई, जलदिट्ठीओ विसोहिंति ॥ ८५ ॥

युगपदपि तुल्यकालमपि समुत्पन्नं सञ्जातं सम्यक्त्वं ज्ञानेन सह अधिगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते पदार्था येन सोऽधिगमः, ज्ञानमेवोच्यते, तमधिगमं विशोधयति, ज्ञानं विमलीकरोतीत्यर्थः । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह- यथा कतकाञ्जने जलदृष्टी विशोधयत इति । कतको वृक्षस्तस्येदं कातकं फलम्, अञ्जनं सौवीराऽऽदि, कातकं चाञ्जनं च कातकाञ्जने, अनुस्वारोऽत्रालाक्षणिको, जलमुदकं, दृष्टिः स्वविषये लोचनप्रसरलक्षणा, जलं च दृष्टिश्च जलदृष्टी, ते शोधयतः । इति गाथार्थः ।

साम्प्रतमुपन्यस्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकेनांशतो भावनिकां प्रतिपादयन्नाह-

जह जह सुज्झइ सलिलं,तह तह रूवाइँ पासई दट्ठा ।
इय जह जह तत्तरुई, तह तह तत्तागमो होइ ॥ ८६ ॥

यथा यथा शुद्ध्यति सलिलं कातकफलसंयोगात्तथा तथा रूपाणि तद्गतानि पश्यति द्रष्टा ।(इय) एवं यथा यथा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वलक्षणा, संजायत इति क्रिया । तथा तथा तत्त्वाऽऽगमः तत्त्वपरिच्छेदो भवतीति । एवमुपकारकं सम्यक्त्वं ज्ञानस्येति गाथार्थः ॥८६॥

स्यादेतन्निश्चयतः कार्यकारणभाव एवोपकार्योपकारकभावः, स चासम्भवी युगपद्भाविनोरित्यत्रोच्यते-

कारणकज्जविभागो, दीवपगासाण जुगवजम्मे वि ।
जुगवुप्पन्नं पि तहा, हेऊ नाणस्स संमत्तं ॥ ८७ ॥

यथेह कारणकार्यविभागो दीपप्रकाशयोर्युगपज्जन्मनि युगपदुत्पादेऽपीत्यर्थः, युगपदुत्पन्नमपि तथा हेतुः कारणं ज्ञानस्य सम्यक्त्वम् । यस्मादेवं तस्मात्मकलगुणमूलत्वाद् दर्शनस्य दर्शनिन एव कृतिकर्म कार्यमत्मनाऽपि तत्रैव यत्नः कार्यः, सकलगुणमूलत्वादेवेति । उक्तं च-"द्वारं मूलं प्रतिष्ठानं-माधारो भाजनं निधिः । धर्मद्वयोर्द्विषट्कस्य, सम्यग्दर्शनमिष्यते ॥१॥" अयं गाथाऽभिप्रायः ।

इत्थं चोदकेनोक्ते सत्याहाऽऽचार्यः-

नाणस्स जइ वि हेऊ, सविसयनियअं तहा वि संमत्तं ।
तम्हा फलसंपत्ती, न जुज्जई नाणपक्खे व्व ॥ ८८ ॥
जह तिक्खरुई वि नरो, गंतुं देसंतरं नयविहूणो ।
पावेइ न तं देसं, नयजुत्तो चेव पाउणइ ॥ ८९ ॥
इय नाणचरणरहिओ, सम्मद्दिट्ठी वि मुक्खदेसं तु ।
पाउणइ नेव नाणाऽऽ-इसंजुओ चेव पाउणइ ॥ ९० ॥

इदमन्यकर्तृकं गाथात्रयं सोपयोगमितिकृत्वा व्याख्यायते- ज्ञानस्य यद्यपि हेतुः कारणं, सम्यक्त्वमिति योगः । अपिशब्दोऽभ्युपगमवादसूचकः । अभ्युपगम्याऽपि ब्रूमः । तत्त्वतस्तु कारणमेव न भवति, उभयोरपि विशिष्टयोरुपशमकार्यत्वात्स्वविषयनियतमिति कृत्वा । स्वविषयश्चास्य तत्त्वेषु रुचिरेव । तथाऽपि तस्मात् सम्यक्त्वात् (फलसंपत्ती न जुज्जई) फलसम्प्राप्तिर्न युज्यते, मोक्षसुखप्राप्तिर्न घटत इत्यर्थः । स्वविषयनियतत्वादेव, असहायत्वादित्यर्थः । ज्ञानपक्ष इव । अनेन तत्प्रतिपादितसकलदृष्टान्तसंग्रहमाह-यथा ज्ञानपक्षो मार्गज्ञाऽऽदिभिर्दृष्टान्तैरसहायस्य ज्ञानस्यैहिकाऽऽमुष्मिकफलासाधकत्वमुक्तम्, एवमत्रापि दर्शनाभिलापेन द्रष्टव्यम् । दिङ्मात्रं तु प्रदर्श्यते-यथा तीक्ष्णरुचिरपि नरः तीव्रश्रद्धोऽपि पुरुषः, गन्तुं देशान्तरं, देशान्तरगमन इत्यर्थः । नयविहीनः, ज्ञानाऽऽगमक्रियालक्षणनयशून्य इत्यर्थः । प्राप्नोति न तं देशं गन्तुमिष्टं तद्विषयश्रद्धायुक्तोऽपि, नययुक्त एव प्राप्नोति । (इय) एवं ज्ञानचरणरहितः सम्यग्दृष्टिरपि तत्त्वश्रद्धानयुक्तोऽपि मोक्षदेशं तु प्राप्नोति नैव सम्यक्त्वप्रभावादेव, किं तु ज्ञानाऽऽदिसंयुक्त एव प्राप्नोति । तस्मात् तत् त्रितयं प्रधानम्, एतत्त्रितययुक्तस्यैव कृतिकर्म कार्यं, त्रितयं चाऽऽत्मना सेवनीयम्, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति वचनात् । अयं गाथात्रितयार्थः ।

एवमपि तत्त्वे समाख्याते ये सत्त्वधर्मभूयिष्ठाः, यानि चासदालम्बनानि प्रतिपद्यन्ति, तदेतदभिधित्सुराह-

धम्मनियत्तमईआ, परलोयपरम्मुहा विसयगिद्धा ।
चरणकरणे असत्ता, सेणिअरज्जं ववइसंति ॥ ९१ ॥

धर्मश्चारित्रधर्मः परिगृह्यते, तस्मान्निवृत्ता मतिर्येषां ते धर्मनिवृत्तमतयः, परः प्रधानो लोकः परलोकः मोक्षः, तस्मात् पराङ्मुखाः, विषयगृद्धाः शब्दाऽऽदिविषयानुरक्ताः, ते एवंभूताश्चरणकरणे अशक्ता असमर्थाः सन्तः श्रेणिकराज्यं व्यपदिशन्त्यालम्बनमिति गाथार्थः ॥ ९१ ॥

न सेणिओ आसि तया बहुस्सुओ,
न यावि पन्नत्तिधरो न वायगो ।
सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सई,
समिक्ख पन्नाइ, वरं खु दंसणं ॥ ९२ ॥

(न सेणिओ इत्यादि) न श्रेणिको नरपतिः आसीत्तदा तस्मिन्काले बहुश्रुतो बह्वागमः, महाकल्पाऽऽदिश्रुतधर इत्यर्थः । न चाऽपि प्रज्ञप्तिधरो न चापि भगवतीवेत्ता, न वाचकः -न पूर्वधरः, तथाऽपि सोऽसहायो दर्शनप्रभावादेव (आगमिस्साइ त्ति) आयत्यामागामिनि काले, जिनो भविष्यति तीर्थकरो भविष्यति । यतश्चैवमतः समीक्ष्य दृष्ट्वा प्रज्ञया बुद्ध्या दर्शनवि-

पाक तीर्थकराऽऽख्यफलप्रसाधकम(वरखु दंसण ति)'खु'शब्दस्यावधारणार्थत्वात् वर दर्शनमेव, अङ्गीकृतमिति वाक्यशेषः। अयं वृत्तार्थः। किं च--शक्य एवोपाये प्रेक्षावत. प्रवृत्तिर्युज्यते, न पुनरशक्ये शिर शूलशमनाय तक्षकफणाऽलङ्कारग्रहणकल्पे चारित्रे,चारित्र च तथत मोक्षोपायत्वे सत्यप्यशक्याऽऽसेवनं, सूक्ष्मापराधैरपि अनुपयुक्तगमनाऽऽदिभिर्विराध्यमानत्वादायासरूपत्वाच्च नियमेन छद्मस्थस्य तद्भ्रंश उपजायते सर्वस्यैव।६२।

अत -

भट्ठेण चरित्ताओ, सुट्ठअरं दंसणं गहेअव्वं ।

सिज्झंति चरणरहिआ, दंसणरहिआ न सिज्झंति ।६३।

भ्रष्टेन च्युतेन, कुत. ?, चारित्रात्, सुतरां दर्शन ग्रहीतव्य, पुनर्बोधिलाभानुबन्धि,स्वर्गाऽऽदेर्वा ग्रहीतव्येऽशक्यमोक्षोपायत्वात्। तथा च सिध्यन्ति चरणरहिताः प्राणिन' दीक्षाप्रवृत्त्यनन्तरमृतान्तकृत्केवलिन , दर्शनरहितास्तु न सिद्ध्यन्ति, अतो दर्शनमेव प्रधान सिद्धिकारण, तदभावत्वादित्यय गाथाऽर्थः ॥ ६३ ॥ आव० ३ अ० ।

दंसणतह-दर्शनतथ्य-शङ्काऽऽद्यतिचाररहिते जीवाऽऽदितत्त्वश्रद्धाने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

दंसणपडिमा-दर्शनप्रतिमा-स्त्री० । उपासकानां प्रथमप्रतिमायाम्, ध० २ अधि० । प्रव० । पञ्चा० । ('उवासगपडिमा' शब्दे द्वितीयभागे १०६७ पृष्ठे व्याख्यातेयम्)

दंसणपभावग-दर्शनप्रभावक-पुं० । सर्वज्ञशासनप्रकाशके, जीवा १३ अधि० ।

दंसणपरिणाम-दर्शनपरिणाम-पुं० । सम्यग्दर्शनपरिणामे, प्रज्ञा० १३ पद ।

दंसणपरीसह-दर्शनपरीषह-पुं० । दर्शन सम्यग्दर्शन तदेव क्रियाऽऽदिवादिनां विचित्रमतश्रवणेऽपि सम्यक्परिषह्यमाण निश्चलचित्ततया धार्यमाण परीषह । यद्वा-दर्शनशब्देन दर्शन व्यामोहहेतुरैहिकाऽऽमुष्मिकफलानुपलम्भाऽऽदिरिह गृह्यते,नत. स एव परीषह दर्शनपरीषह' । दर्शनपरीषहे, उत्त० २ अ० । स० । प्रव० । जिनानां जिनोक्तभावानां चाश्रद्धानवर्जनरूपे परीषहे, भ० ८ श० ८ उ० । "जिनास्तत्कृतजीवा वा, धर्माधर्मौ भवान्तरम् । परोक्षत्वान्मृषा नैव, चिन्तयेत्प्राप्तदर्शन. ॥ १ ॥" ध० ३ अधि० ।

एतदेव सूत्रकृदाह-

नत्थि णूणं परे लोए, इड्डी वा वि तवस्सिणो ।

अदुवा वंचिओ मि त्ति, इइ भिक्खू ण चिंतए ॥४४॥

नास्ति न विद्यते, (णूण) निश्चित परलोको,जन्मान्तरमित्यर्थ । भूतचतुष्टयाऽऽत्मकत्वाच्छरीरस्य, तस्य चेहैव पातात्,चैतन्यस्य च भूतधर्मभूतत्वात्। तदतिरिक्तस्य चाऽऽत्मनः प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानत्वात्,ऋद्धिर्वा तपोमाहात्म्यरूपा। अपि. पूरणे। कस्य?, तपस्विन', सा चाऽऽमर्षौषध्यादि -

" पादरजसा प्रशमन, सर्वरुजा साधव क्षणात् कुर्यु ।
त्रिभुवनविस्मयजननान्, दद्यु कामाँस्तृणाग्राद्वा ॥ १ ॥
धर्माद्रत्नोन्मिश्रित-काञ्चनवर्षाऽऽदिसर्गसामर्थ्यम् ।
अद्भुतमेरुशिला--सहस्रसंपातशक्तिश्च ॥ २ ॥"

इत्यादिका च, तस्या अप्यनुपलभ्यमानत्वादिति भाव । (अदुव त्ति) अथवा किं बहुना?,वञ्चितोऽस्मि,भोगानामिति गम्यते। (इति) इत्यमुना शिरस्तुण्डमुण्डनोपवासाऽऽदिना यातनाऽऽत्मकेन धर्मानुष्ठानेन। उक्त च-" तपांसि यातनाश्चित्रा., संयमो भोगवञ्चना । " इत्यादि। (इति) इत्यनन्तरमुपदर्शित भिक्षुर्न चिन्तयेत् न ध्यायेत्, परिफल्गुरूपत्वादस्य। तथाहि यत्तावदुक्तम्-" भूतचतुष्टयाऽऽत्मकत्वाच्छरीरस्य जन्मान्तराऽभाव इति। " तदसत्। न हि शरीरस्य जन्मान्तरानुयायित्वमस्माभिरुच्यते, किं त्वात्मन', न च भूतधर्म एव चैतन्ये आत्मव्यपदेशः, तस्य तद्धर्मत्वेनोत्तरत्र निषेत्स्यमानत्वात्। यदपि ऋद्धिर्वा तपस्विनो नास्ति,तदपि वचनमात्रमेव। अथाऽऽत्मन ऋद्धीनां चाऽऽभावे अनुपलम्भो हेतुरुक्त.,सोऽपि स्वसबन्धी, सर्वसम्बन्धी वा ?। तत्र न तावदात्मनोऽभावे स्वसम्बन्ध्यनुपलम्भो हेतु', स्वय तस्य घटाऽऽदिवदनुपलभ्यमानत्वात्,यथैव हि घटाऽऽदिगता रूपाऽऽदय उपलभ्यन्ते, तथा आत्मगता अपि ज्ञानसुखाऽऽदय इति नात्र महदन्तरमुत्पश्यामः। उक्त चाऽऽवश्यकेनवाचकेन-"आत्मप्रत्यक्ष आत्माऽयम्" इत्यादि। अथाऽयं न दृग्गोचर इति नास्तीत्युच्यते,नाऽयमप्येकान्त.। यतस्तत्रैवोक्तम्-"न च नास्तीह तत्सर्वं, चक्षुषा यन्न गृह्यते।" अन्यथा-चैतन्यमपि न दृग्गोचर इति तस्याऽप्यसत्त्व स्यात्, अथ तत् स्वसंविदितमिति सदुच्यते, अयमपि तथाभूत एवेति सदस्तु। उक्तं हि-" अस्त्येव चाऽऽत्मा प्रत्यक्षो, जीवो ह्यात्मानमात्मना। अहमस्मीति संवेत्ति, रूपाऽऽदीनि यथेन्द्रियैः ॥१॥" इति। किं बहुना ?, यथा चैतन्यमस्तीत्यभ्युपगम्यते, तथाऽऽत्माऽप्यभ्युपगन्तव्यः,तथा चाऽऽह-"ज्ञान स्वस्थं परस्थं वा,यथा ज्ञानेन गृह्यते। ज्ञाता स्वस्थ परस्थो वा, तथा ज्ञानेन गृह्यताम् " ॥ १ ॥ इति। अथ सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भ आत्माभावे हेतुः, अयमप्यसिद्ध', अहमस्मीतिप्रत्ययेन प्रतिप्राणि स्वात्मन केवलिनां च सर्वात्मनामुपलम्भस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्। एवमृद्धीनामप्यभावे सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भोऽसिद्ध. । स्वसम्बन्धी तु नियतदेशकालापेक्षोऽन्यथा वा ?। प्रथमपक्षे को वा किमाह ?, क्वचित्कदाचित्तासामनुपलम्भस्य (उपलम्भस्य) चास्माकमपि सम्मतत्वात्। द्वितीयपक्षेपुनरनैकान्तिकता, देशाऽऽदिविप्रकृष्टानामनुपलम्भेऽपि सत्त्वात्,दृश्यते च क्वचित्कदाचिच्चरणरेणुस्पर्शनाऽऽदितो रोगोपशमाऽऽदि , ततश्चेहापि कालान्तरे महाविदेहाऽऽदिषु च सर्वकालमृद्ध्यन्तराणामपि सम्भवस्यानुमीयमानत्वात्। यदपि वञ्चितोऽस्मीति भोगसुखानामनेन शिरस्तुण्डमुण्डनोपवासाऽऽदिना यातनाऽऽत्मकेन धर्मानुष्ठानेनेति। तदप्यसमीक्षिताभिधानम् । भोगसुखानां दु.खानुषक्तत्वेन तत्त्ववेदिनामनादेयत्वात्। तथा च वात्स्यायनोऽप्याह। तद्यथा-"विषसंपृक्तमन्नमनादेयम्, एवं दु खानुषक्तं सुखमनादेयमिति।"प्रयोगश्च-यद्विपत्सानुविद्ध न तत्तत्त्वतस्तदेव, यथा विषयामिश्रमन्नम्, अतृप्तिकाङ्क्षाशोकाऽऽदिभिश्च वैषयिक सुखम्। न चास्यासिद्धता,कालत्रये यथायोगमतृप्त्यादीनां प्रतिप्राणि स्वसंविदितत्वात्, नाऽपि तपसो यातनाऽऽत्मकत्वम्, मनइन्द्रिययोगानामह्लादैव तन्निष्पादनात्। उक्त हि-" मनइन्द्रिययोगाना-महानिश्चोदिता जिनै। यतोऽत्र तत्कथं तस्य, युक्ता स्यात् दु खरूपता ? ॥१॥" शिरस्तुण्डमुण्डनाऽऽदेश्च किञ्चित्पीडाऽऽत्मकत्वेऽपि समीहितार्थसम्पादकत्वेन न दु खदायकता। यदुक्तम्-"दृष्टा चेष्टार्थसंसिद्धौ,कायपीडाऽप्यदु खदा। रत्नाऽऽदिवणिगादीनां, तद्वदत्रापि भाव्यताम्॥१।"प्रयोगश्च-यदिष्टार्थप्रसाधक,न तत् कायपीडाऽऽत्मकत्वेऽपि दु ख-

दापि,यथा रत्नवणिजामभ्यधमाऽऽदि, इष्टार्थप्रसाधक च तप , न चास्याप्यसिद्धता, प्रशमहेतुत्वेन तपसस्तत्परिपकितार-तम्यात्परमाऽऽनन्दतारतम्यस्यानुभूयमानत्वेन तत्प्रकर्षे त-स्याऽपि प्रकर्षानुमानात् । प्रयोगश्च-यत्तारतम्येन यस्य तारतम्य तस्य प्रकर्षे तत्प्रकर्ष , यथाऽग्नितापप्रकर्षे तपनीयविशुद्धि-प्रकर्ष , अनुभूयते च प्रशमतारतम्येन परमाऽऽनन्दतारतम्यम्, लोकप्रतीतत्वाच्चेति सूत्रार्थ. ॥४४॥

तथा—

अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवाऽवि भविस्सइ ।
मुसं ते एवमाहंसु, इति भिक्खू न चिंतए ॥४५॥

अभूवन्नासन् जिना रागाऽऽदिजेतार , अस्तीति विभक्तिप्रतिरू-पको निपातः-ततश्च विद्यन्ते जिनाः, अस्य कर्मप्रवादपूर्वस-प्तदशप्राभृतोद्धृततया वस्तुत. सुधर्मस्वामिनैव जम्बूस्वामिन प्रति प्रणीतत्वात्, तत्काले च जिनसद्भावादित्थमुक्तम्, विदे-हाऽऽदिक्षेत्रान्तरापेक्षया चेति भावनीयम् । (अदुवेति) अथवा अपिर्भिन्नक्रम । (भविस्सइ त्ति) वचनव्यत्ययाद्भविष्यन्ति, जिना , इत्यपि मृषा अलीकम् , ते जिनास्तित्ववादिन , (एव) अनन्तरोक्तन्यायेन (आहंसु त्ति) आहु ब्रुवते,इति भिक्षुर्न चि-न्तयेत्, जिनस्य सर्वज्ञाधिक्षेपप्रतिक्षेपाऽऽदिषु प्रमाणोपपन्नत-या प्रतिपादनात्तदुपदेशमूलत्वाच्च सकलैहिकाऽऽमुष्मिकव्यव-हाराणामिति सूत्रार्थ. ॥ ४५ ॥

इदानीं शिष्याऽऽगमनद्वारम् । तत्र च "नत्थि णूण परे लोए(४४)" इति सूत्रावयवसूचितमुदाहरण निर्युक्तिकृदाह—

ओहाविउकामोऽवि य, अज्जासाढो उ पणियभूमीए ।
काऊण रायरूवं, पच्छा सीसेण अणुसिट्ठो ॥१२३॥

अवधावितुकामोऽपि उत्प्रिष्क्रमितुकामोऽपि, चः पूरणे, आ-र्याषाढस्तु पणितभूमौ व्यवहारभूमौ, हट्टमध्य इत्यर्थ । कृत्वा राजरूप पश्चाच्छिष्येणानुशिष्ट । इति गाथाऽक्षरार्थ. ॥ १२३ ॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेय. । स चायम्-"अत्थि वच्छाभू-मीए अज्जासाढा नामाऽऽयरिया बहुस्सुया,बहुसीसपरिवारा य । तत्थ य गच्छे जो कालं करेति त णिज्जावेंति भत्तपच्चक्खाणाऽऽ-इणा । तो बहवे णिज्जामिया । अण्णया एगो अप्पणो सीसो आयरतरेण भणितो-देवलोगाओ आगतूण मम दरिसण दे-ज्जासु । ण य सो आगतो वक्खित्तचित्तत्तणओ । पच्छा सो चिंते-इ-सुबहु काल किलिट्ठोऽहं,सलिंगेण चेव ओहावति । पच्छा तेण सीसेण देवलोगगएण आभोइतो, पेच्छइ ओहावेंत,पच्छा तेण तस्स पहे गामो विउव्वितो,णडपेच्छा य । सो तत्थ छम्मासे पे-च्छतो अच्छितो, न छुह न तण्ह काल वा दिव्वप्पभावेण वेए-ति, पच्छा त सहरिउ गामस्स बहिं विजणे उज्जाणे छदारए स-व्वालकारविभूसिए विउव्वति सजमपरिक्खणत्थ, दिट्ठा तेण ते, गिण्हामि एसिमाहरणगाणि, वर सुह जीवतो त्ति । सो एग पुढविदारय भणति-आणेहि आभरणगाणि । सो भणति-भगव ! एग ताव मे अक्खाणय सुणेहि, ततो पच्छा गेण्हि-ज्जासि । भणति-सुणेमि । सो भणइ-एगो कुभकारो, सो मट्टिय खणतो तडीए अक्कतो । सो भणति "-

जेण भिक्खं बलिं देमि, जेण पोसेमि णायए ।
सा मे मही अक्कमइ, जायं सरणओ भयं ॥ १२४ ॥

(जेण त्ति) प्राकृतशैल्या यया भिक्षां बलिं ददामि, यथा-क्रम भिक्षुदेवेभ्य इति गम्यते । (जेण त्ति) यया पोषयामि (णा-यए त्ति) ज्ञातीन्, सा (मे त्ति) मा मही आक्रामति अवष्टभ्ना-ति, जातम् उत्पन्नम्, शरणतो भयमिति श्लोकार्थ ॥ १२४ ॥ अयमिहोपनय.-चौरभयादह भवन्त शरणमागत , त्व चैव विलुम्पसि, ततो ममाऽपि जात शरणतो भयम्, एवमुत्त-रत्राप्युपनया भावनीया । " तेण भणइ-अतिपण्डियवाइ-तो सि त्ति घेत्तूण आभरणगाणि पडिग्गहे छुढाणि । गतो पुढविकाइओ । इयाणि आउक्काओ बीओ, सो वि अक्खाणय कहेति-जहा एगो तालायरो कहाकहओ पाडलओ णाम, सो अन्नया गग उत्तरतो उवरि बुट्ठोदएण हीरति, त पासिऊण जणो भणति "-

बहुस्सुयं चित्तकहं, गंगा वहति पाडलं ।
वुज्झमाणग ! भद्दं ते, लव ता किंचि सुभासियं ॥१२५॥

बहुश्रुत बहुविद्य, चित्रकथ नानाकथाकथक, गङ्गा वहति पा-टल पाटलनामकम, उह्यमानक ! भद्र ते, लप ब्रूहि (ता इति) तावद्यावदद्यापि दूर न नीयस इति भाव , किञ्चिदत्यल्प सु-भाषित सूक्तमिति श्लोकार्थ ॥ १२५ ॥

सोऽवादीत्-

जेण रोहंति बीयाणि, जेण जीवंति कासया ।
तस्स मज्झे विवज्जामि, जायं सरणतो भयं ॥ १२६ ॥

येन जलेन रोहन्ति प्रादुर्भवन्ति बीजानि, येन जीवन्ति प्राण-धारण कुर्वन्ति कर्षका कृषीवला., तस्य मध्ये (विवज्जामि त्ति) विपद्ये म्रिये, जात शरणतो भयमिति श्लोकार्थ. ॥१२६॥ " तस्स वि तहेव गेण्हति । एस आउक्काओ गतो । इयाणि ते-उक्काओ ततिओ; तहेव अक्खाणय कहेति-एगस्स तावसस्स अग्गिणा उडओ दड्ढो, पच्छा सो भणति"-

जमहं दिया य राओ य, तप्पेमि महुसप्पिसा ।
तेण मे उडओ दड्ढो, जाय सरणओ भयं ॥ १२७ ॥

यमह दिवा च रात्रौ च तर्पयामि प्रीणयामि मधुसर्पिषा ते-नार्थाद्-अग्निना, मे उटजस्तापसाऽऽश्रमो दग्धो, जात शरणतो भयमिति श्लोकार्थ ॥ १२७ ॥

अथवा-

वग्घस्स मए भीएण, पावगो सरणं कओ ।
तेण दड्ढं मम अंगं, जायं सरणओ भयं ॥ १२८ ॥

(वग्घस्स त्ति) सुब्व्यत्ययाद् व्याघ्रात् पुण्डरीकाद् मया भीतेन पावक अग्नि शरणीकृत., तेनाङ्ग शरीर मम दग्ध, जात शरणतो भयमिति श्लोकार्थ ॥ १२८ ॥

"तस्स वि तहेव गिण्हति । एस तेउक्काओ । इयाणि वाउक्काओ चउत्थो, तहेव अक्खाणय कहेति-जहा एगो जुवाणो घणनि-चियसरीरो, सो पच्छा वाएहिं गहितो, अन्नेण भण्णति"-

लंघणपवणसमत्थो, पुव्वं होऊण संपयं कीस ? ।
दंडगहियग्गहत्थो, वयंस ! किं नामओ वाही ? ॥ १२९ ॥

(लंघणेत्यादि) लङ्घनम्--उत्प्लुत्य गमन, प्लवन धावन. तत्सम-र्थ. पूर्व भूत्वा साम्प्रतम् (कीस त्ति) कस्माद् (दंडगहियग्ग-हत्थो त्ति) प्राकृतत्वाद् गृहीतदण्डाग्रहस्तो,गच्छसीति गम्यते । तदृ य ते वयस्य ! किंनामको व्याधिरिति गाथाऽर्थ ॥ १२९ ॥

स प्राऽऽह-

जिट्ठाऽऽसाढेसु मासेसु, जो सुहो वाइ मारुओ ।
तेण मे भज्जए अंग, जायं सरणओ भयं ॥ १३० ॥

ज्येष्ठाऽऽषाढयोर्मासयोर्यः शुभशैत्याऽऽदिगुणान्वितत्वेन शोभनो वाति मारुतो वायु, तेन मे मम भज्यतेऽङ्गम्, तस्य मेघोन्नतिसंभवत्वेन वातप्रकोपादिति भाव.। एष च जात शरणतो भयम्, घर्मार्दिताना हि शरणमयमिति श्लोकार्थः ॥१३०॥

अथवा-

जेण जीवंति सत्ताणि, णिरोहम्मि अणंतए ।
तेण मे भज्जए अंगं, जायं सरणओ भयं ॥ १३१ ॥

येन वातेन जीवन्ति सत्त्वानि, निरोधे प्रक्रमाद्वातस्य अनन्तके अपरिमिते, तेन मे भज्यतेऽङ्गम्, जात शरणतो भयमिति श्लोकार्थ. ॥ १३१ ॥

"तस्स वि तहेव गेण्हति । एसो वाउक्काओ गतो । इयाणिं वणस्सइकाइओ पचमो, तहेव अक्खाणय कहेति-जहा एगम्मि रुक्खे केसिं पि सउणाण आवासो, तहिय पिल्लगाणि जायाणि, पच्छा रुक्खऽब्भासाओ वल्ली उट्ठिया, रुक्ख वेढनी उवरिं विलग्गा, वेल्लीअणुसारेण सप्पेण विलग्गिऊण ते पिल्लगा खाइया। पच्छा सेसगा भणति "--

जाव वुच्छं सुहं वुच्छं, पादवे निरुवद्दवे ।
मूलाओ उट्ठिया वल्ली, जायं सरणतो भयं ॥ १३२ ॥

यावदुषित सुखमुषित पादपे निरुपद्रवे, इदानीं मूलादुत्थिता वल्ली, ततो वृक्षादेव नस्वतो भय, स चोक्तनीत्या शरणमिति जात शरणतो भयमिति श्लोकार्थ ॥ १३२ ॥

"तस्स वि तहेव गेण्हति । एस वणस्सतिकातो गतो । इयाणिं तसकाओ छट्ठो, तहेव अक्खाणय कहेति-जहा एग नगर परचक्केण रोहिय, तत्थ य बाहरियाए मायगा, ते अब्भितरएहिं णिच्छुब्भंति, बाहिं परचक्केण घेप्पति । पच्छा केण वि अक्खाण भण्णति"-

अब्भितरया खुभिया, पिल्लंति य बाहिरा जणा ।
दिसं भयह मायंगा !, जाय सरणओ भयं ॥ १३३ ॥

अभ्यन्तरका नगरमध्यवर्तिन, क्षुभिता परचक्रात्त्रस्ताः, प्रेरयन्ति निष्काशयन्ति, मा भूदस्माऽऽदिनाय एभ्यो वा भेद, चशब्दो भिन्नक्रम', ततो बाह्याश्च परचक्रलोका उपद्रवन्ति, भवत इति गम्यते । नगरसत्का एत इति, अतो दिश भजत मातङ्गा !, यतो जात शरणतो भय, नगर हि भवतां शरण, तत एव भयमिति श्लोकार्थ. ॥ १३३ ॥

"अथवा-एगत्थ नयरे सयमेव राया चोरो, पुरोहितो भण्डिओ त्ति, तनो दो वि विहरति । पच्छा लोओ मज्झमज्झ भणति"-

जत्थ राया सयं चोरो, भंडिओ य पुरोहितो ।
दिसं भयह नागरिया !, जाय सरणओ भयं ॥१३४॥

यत्र राजा स्वय चौर.-स्वपुर मुष्णाति, भाण्डकश्च पुरोहित, अतो दिश भजत नागरका !, जात शरणतो भयमिति श्लोकार्थ ॥१३४॥

"अहवा एगस्स धिज्जातीयस्स धूया, सा य जोव्वणत्था, पडिरूवदंसणिज्जा, सो धिज्जातिओ त पासिऊण अज्झोववण्णो, तीसे कएण अतीव दुब्बलीभूओ, बभणीए पुच्छितो-निब्बधे कए कहिय । ताए भण्णति-मा अधिइ करेतु, तहा करेमि जहा केणइ पओएण सपत्ती हवति । पच्छा धूय भणति-अम्ह पुव्विं दारिय जक्खा भुंजति, पच्छा घरस्स दिज्जति, तो तव कालपक्खचउद्दसीए जक्खो एहि, मा त विमाणेसु, मा य तत्थ तुम उज्जोय काहिसि । तीए वि जक्खकोऊहल्लेण दीवओ सरावेण ठविओ णीओ, सो य आगतो, सो त परिभुंजिऊण रत्तिं किलतो पसुत्तो । इमाए कोउएण सराव फेडिय, नवर पेच्छति पियर, ताए णायं ज होइ त होउ, इच्छाए भुंजामि भोए, पच्छा ताइ रतिकिलताइ उग्गए सूरे न पडिबुज्झति । पच्छा बभणी मागहिय भणति"-

अइरुग्गयए य सूरिए,
चेतियथूभगए य वायसे ।
भित्तीगयए य आयवे,
सहि ! सुहिओ हु जणो ण बुज्झइ ॥ १३५ ॥

अचिरोद्गतके च सूर्ये, कोऽभिप्रायः ?-प्रथमोदिते रवौ, चैत्यस्तूपगते च वायसे, अनेनोच्चै विवस्वतीत्याह, भित्तिगते चाऽऽतपे, अनेन चोच्चतर इति । सखि ! सुखितो, दुर्वाक्यालङ्कारे, जनो न बुध्यते-न निद्रां जहाति । अनेनाऽऽत्मनो दु खितत्व प्रकटयति, सा हि भर्तृविरहदु खिता रात्रौ न निद्रा लब्धवतीति मागधिकाऽर्थः ॥ १३५ ॥

" पच्छा सा तीसे धूया पडिसुणित्ता पडिभणति मागहिय"-

तुम एव य अम्म हे ! लवे,
मा हु विमाणएँ जक्खमागयं ।
जक्खाहडए हु तायए,
अण्णिं दाणि विमग्ग ताययं ॥ १३६ ॥

त्वमेव चाम्ब ! मात' हे ! इत्यामन्त्रणे, अलापी'-उक्तवती, शिक्षासमये, यथा-(मा हु त्ति) मैव (विमाणय त्ति) विमना विमुख कृथा यक्षमागतम, यक्षाऽऽहृतको (हु त्ति) खलु तातकोऽन्यमिदानीं विमार्गय अन्वेषय, तातकमिति मागधिकाऽर्थः ॥१३६॥

" पच्छा सा धिज्जाइणी भणति "-

णवमासे कुच्छीएँ धालिया,
पासवणे पुलिसे य मदिए ।
धूया मे गेहिए हले,
सलणए असलणए य मे जायए ॥ १३७ ॥

"नव मासान् कुक्षौ धारिता या, प्रस्रवण पुरीष च मर्दित, यस्या इति गम्यते । (धूय त्ति) दुहिता च, गम्यमानत्वात्तया मे मम गेहको भर्ता, हृतश्चौरितोऽतो हेतो, शरणकमशरणकम, अपकारित्वान्मे जातमिति मागधिकाऽर्थ ॥१३७॥

अहवा एगेण धिज्जाइएण तलाय खणाविय, तत्थेव पालीए देसे देउलमारामो कओ, तत्थ तेण जण्णो पवत्तिओ, छगलगा जत्थ मारिज्जति । अण्णया कयाइ सो धिज्जातिओ मरिऊण छगलगो चेव आयातो, सो य घेत्तूण अप्पणिज्जेहिं पुत्तेहिं तस्स चेव तलाए जण्णे मारिउ निज्जति, सो य जाईसरो णिज्जमाणो अप्पाणिज्जियाए भासाए वुब्बुयति, अप्पणा चेव लोयमाणो- जहा मम चेव पवत्तिय, एव सो वेवमाणो साहुणा अतिसयणाणिणा एगेण दीसति । तेण भणिय "-

सयमेव य लुक्ख लोविया, अप्पाणिया य वियाड्डि खाणिया ।

ओवाइयलद्धओ य सि, किं ढेला! वेतेति वाससी ?।१३८।

स्वयमेव च आत्मनैव च (लुक्का त्ति) लुञ्चनोपाद् वृक्षा रोपिता', भवतेति गम्यते। आत्मीया च "वियट्टि" इति देशीवचनत तडागिका खानिता । याचितस्य प्रार्थितस्य प्राप्तेरुपरि देवेभ्यो देयमुपयाचितं, तेनैव लब्ध -अवसर' दुरापत्वेनोपयाचितलब्धः, स एवोपयाचितलब्धकोऽसि त्वमिति, किं ढगलक! (वेवेति वाससी) आरससीति मागधिकाऽर्थ ॥ १३८ ॥

"ततो सो ढगलको तेण पढिएण तुण्हिक्को ठितो,तेण चिन्तिय-किं पि पव्वायगण पढिय, तेण एस तुण्हिक्को ठितो, ततो सो त नवरिस भणति-किं भगव ! एस ढगलको तुब्भेहिं पढियमेत्ते चेव तुण्हिक्को ठिओ ?। तेण साहुणा तस्स कहिय-जहा एस तुज्झ पिया । किमभिण्णाण ? । तेण भणिय-अहं जाणामि। किं पुण एसो कहिहि ति । तेण ढगलगेण पुव्वभवे पुत्तेण सम निहाणग निहिय, त गतूण पाएहिं खमखडेति, एयमभिण्णाण । पच्छा तेण मुक्को, साहुसमीवे धम्म सोऊण भत्त पच्चक्खाएऊण देवलोग गतो। एवं तेण सरणमिति काउ तडागाऽऽरामे जणो य पवत्तिओ,तमेव असरण जाय ।" एवविधोऽत्र समवतार.। "एव तुम्ह अम्हे गया सरण ।" इह च पूर्वं मनुष्यजातेस्त्रसस्य स्मरणार्थमुदाहरणत्रयमिद तु तिर्यग्जातेरिति भावनीयम्। "सो तहेव तस्स आहरणगाणि घेत्तूण सिग्घ गतु समाढत्तो पथे, नवरि सजइ पासति,सामिय टिविडिक्किय । तेण सा भणति"-

कडए य ते कुंडले य ते
अंजियक्खि ! तिलयए य ते ।
पवयणस्स उड्डाहकारिए ! ,
दुट्ठाऽसेहि ! कतोऽसि आगया ? ॥ १३९ ॥

कटके च ते तव, कुण्डले च ते, आञ्जिताक्षि ! तिलकश्च ते त्वया कृतः, प्रवचनस्य उड्डाहकारिके ! दुष्टाशिक्षिते ! कुतोऽस्यागतेति मागधिकाऽर्थ ॥ १३९ ॥

दर्शनपरीक्षाऽर्थं च साध्वीविकरणम् । सैवमुक्ता सर्वादमाह-

राईसरिसवमित्ताणि, परछिद्दाणि पाससि ।
अप्पणो विल्लमेत्ताणि, पासंतो वि न पाससि ॥१४०॥

राजिकासर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यस्यात्मनो विल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसीति श्लोकार्थ ॥ १४० ॥

तथा-

समणो सि संजओ भसि, बंभयारी समलेट्ठुकंचणे ।
वेहारियवायओ य ते, जिट्ठज्ज ! किं ते पडिग्गहे ? ।१४१।

श्रमणोऽसि संयतोऽसि ब्रह्मचारी च समलोष्टकाञ्चनो विहारिकवातकश्च ते यथाऽह वेहारिक इत्यादिरूपो ज्येष्ठार्य ! किं ते तव पतद्ग्रहक इति श्लोकार्थ ॥ १४१ ॥

"एव ताए उड्डाहितो समाणो पुणो वि गच्छति, नवर पेच्छइ खंधावारमित,तस्स किर णिवट्टमाणो दण्डियस्सेव सवडहुत्तो गतो,तेण हत्थिखंधा ओयरित्ता वंदिओ,भणिओ य-भयवं ! अहो परम मगल निमित्त च,ज साहू भज्ज मए दिट्ठो। भयव ! ममाणुग्गहत्थ फासुयएसणिज्ज इम मोयगाऽऽदि सबलो घेप्पति, सो नेच्छति, भायणे आभरणगाणि कूडाणि मा दीसिहिति, तेण दण्डिएण बला मोडिऊण पडिग्गहो गहितो, जाव मोदगे

हुडति, ताव पेच्छति आहरणयाणि, तेण सो खरण्टितो, उवालद्धो य। पुणो वि सबोहितो-जहा ण जुज्जति तुम्ह एव विपरिणामो, मज्झ च अणागमणकारण सुणसु-" सकन्तदिव्वपेम्मा, विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा। अणहीणमणुयकज्जा,णरभवमसुह ण इति सुरा ॥१॥" पच्छा दिव्व देवरूव काऊण पडिगतो, तेण पुव्वि दसणपरीसहो नाहियासिओ, पच्छा अहियासितो ।" एव शेषसाधुभिरपि सहनीयो दर्शनपरीषह । इहोदाहरणोपदर्शकत्वात्प्रकृतिनिर्युक्ते' कथ सूत्रस्पर्शकत्वमिति यत्कैश्चिदुच्यते। तदयुक्तम् । सूत्रसूचितार्थाभिधायित्वात्तस्या , तदभिधानस्य तत्त्वत सूत्रव्याख्यानरूपत्वेन सूत्रस्पर्शकत्वादिति । किं च-"कालीपव्वगसकासे' (३गा०)इत्यादिना क्षुदादिभिरत्यन्तपीडितस्याऽपि यत्परीषहणमुक्त, तत्र मन्दसत्त्वस्य कस्यचिदश्रद्धानात्सम्यक्त्वविचलितमपि सभवेदिति तद्दृढीकरणार्थं दृष्टान्ताभिधानमर्थत सूत्रस्पर्शकमिति व्यक्तमेवैतत्, न च केषाचिदिहोदाहरणाना निर्युक्तिकालादर्वाक्कालभावित्वेनत्याकन्यमाशङ्कनीयम्, स हि भगवाश्चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली कालत्रयविषय वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाऽऽशङ्केति । उत्त० २ अ० ।

दंसणपरीसहविजय-दर्शनपरीषहविजय-पुं० । दर्शनपरीषहसहने, प०स०। स चैवम्-"दसण त्ति"(२२)दर्शनविषयपरीषहोऽपि दर्शनमित्युक्तम्, तत्र सर्वपापस्थानेभ्यो विरत प्रकृष्टतपोऽनुष्ठायी निःसङ्गश्चाह, तथाऽपि न धर्माधर्मफलभूतान् देवनारकाऽऽदीन् पश्यामि,ततो महोपवासाऽऽद्यनुष्ठायिना प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रम्,इत्येव यद् मिथ्यादर्शनमोहनीयस्य प्रदेशोदयत कदध्यवसायस्योत्थानं स दर्शनपरीषह ।स चैव सोढव्य -देवा मनुष्यलोकानामपेक्षया परमसुखिन , न च सप्रति दु षमाऽनुभावतस्तीर्थकराऽऽदिरस्ति,तत परमसुखाऽऽसक्तत्वान्मनुष्यलोके च कार्याभावाच्च सप्रति मनुष्याणा दर्शनपथगोचरतामायान्ति । नारकास्तु निरन्तर तीव्रतरवेदनाऽऽर्तत्वात् पूर्वकृतदुष्कर्मविपाकोदयनिगडनिगडितत्वाच्च गमनाऽऽगमनशक्तिविकला , ततस्तेऽपि नेहाऽऽगच्छन्ति ।नापि दु षमाऽनुभावत उत्तमसहननाभावे सप्रति तादृशो तपोविशेषप्रवृत्तिरस्ति भावनोल्लासो वा, येन ज्ञानातिशयोत्पादनतस्तत्स्थाने देवनारकान्पश्यति; चिरन्तनपुरुषाणां तूत्तमसहननवशाद् दुष्पमा तपोविशेष उत्कृष्टतमा च भावना समासीत्, तत सर्वं तेषामुपपद्यत इति । (२२) प० स० ५ द्वार ।

दंसणपायच्छित्त-दर्शनप्रायश्चित्त -न० । प्रायश्चित्तभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । ('पच्छित्त ' शब्दे चैतद् व्याख्यास्यते)

दंसणपुरिस-दर्शनपुरुष-पुं० । सम्यक्त्वयुक्तपुरुषे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

दंसणबल-दर्शनबल-पुं० । दृढदर्शने, प्रश्न० १ संव० द्वार । दर्शनबल सर्वज्ञवचनप्रामाण्यादतीन्द्रियाऽऽदिवस्तुनिश्चयपदार्थरोचनलक्षणम् । स्था० १० ठा० ।

दंसणबुद्ध-दर्शनबुद्ध-न० । बुद्धभेदे,"दुविहा बुद्धा पण्णत्ता। तं जहा-णाणबुद्धा चेव, दसणबुद्धा चेव ।" स्था० २ ठा० ४ उ० ।

दंसणबोहि (ण्)-दर्शनबोधिन्-पुं० । दर्शनमोहनीयक्षयोपशमाऽऽदिमत्यप्रधानलाभे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

दंसणभावणा-दर्शनभावना-स्त्री० । सम्यक्त्वपर्यालोचने' आचा० ।

तित्थगराण जगवओ, पवयणपावयणिअइसइड्ढीणं ।
अहिगमण णमणदरिसण-कित्तणओ पूयणा थुणणा ॥४॥

तीर्थकृतां जगवता. प्रवचनस्य च द्वादशाङ्गस्य गणिपिटकस्य, तथा प्रावचनिनामाचार्योऽऽदीनां युगप्रधानानां, तथाऽतिशायिना मृद्धिमतां केवलिमन पर्यायावधिमनःचतुर्दशपूर्वविदां, तथाऽमर्षौषध्यादिप्राप्तऋद्धीनां यदभिगमन, गत्वा च दर्शनम्, तथा नमनम्, गुणोत्कीर्त्तन, सपूजनं गन्धाऽऽदिना, स्तोत्रैः स्तवनम्, इत्यादिका दर्शनजावना । अनया हि दर्शनभावनयाऽनवरत भाव्यमानया दर्शनशुद्धिर्भवतीति ॥ ४ ॥

किं च-

जम्माभिसेयणिक्खम-णचरणणाणुप्पत्ती य णिव्वाणे ।
दियलोयजवणमंदिर-णंदीसरभोमनगरेसुं ॥ ५ ॥

तीर्थकृतां जन्माभिषेकभूमिषु, तथा निष्क्रमणचरणज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणभूमिषु, तथा देवलोकभवनेषु, मन्दिरेषु, तथा नन्दीश्वरद्वीपाऽऽदौ, भौमेषु च पातालभवनेषु, यानि शाश्वतानि चैत्यानि, तानि वन्देऽहमिति द्वितीयगाथाऽन्ते क्रिया ॥ ५ ॥

अट्ठावयमुज्जंते, गयग्गपयए य धम्मचक्के य ।
पासरहावत्तणयं, चमरुप्पायं च वंदामि ॥ ६ ॥

एवमष्टापदे, तथा श्रीमदुज्जयन्तगिरौ, गजाग्रपदे दशार्णकूटवर्त्तिनि, तथा तक्षशिलायां धर्मचक्रे, तथा अहिच्छत्रायां पार्श्वनाथस्य धरणेन्द्रमहिमास्थाने,एव रथाऽऽवर्ते पर्वते वैरस्वामिना यत्र पादपोपगमन कृत, यत्र च श्रीवर्द्धमानमाश्रित्य चमरेन्द्रेणोत्पतन कृतम्, एतेषु च स्थानेषु यथासम्भवमभिगमनवन्दनपूजनगुणोत्कीर्त्तनाऽऽदिकाः क्रियाः कुर्वतो दर्शनशुद्धिर्भवतीति ॥ ६ ॥

किं च-

गणियं णिमित्त जुत्ती, संदिट्ठी अवितहं इमं णाणं ।
इय एगंतमुवगया, गुणपच्चइया इमे अत्था ॥ ७ ॥

प्रवचनविदाममी गुणप्रत्ययिका अर्था भवन्ति । तद्यथा--गणितविषये बीजगणिताऽऽदौ पर पारमुपगतोऽयम् । तथा अष्टाङ्गस्य निमित्तस्य पारगोऽयम् । तथा-दृष्टिपातोक्ता नानाविधा युक्तिर्द्रव्यसंयोगाद्, हेतुत्वाद्वेति । तथा सम्यगविपरीता दृष्टिर्दर्शनमस्य त्रिदशैरपि चालयितुमशक्या । तथा अवितथमस्येद ज्ञानं यथैवायमाह तत्तथैव प्रावचनिकस्याऽऽचार्याऽऽदेः प्रशंसां कुर्वतो दर्शनविशुद्धिर्भवति ।

एवमन्यदपि--

गुणमाहप्पं इसिणा-मकित्तणं सुरणरिंदपूया य ।
पोराणचेइयाणि य, इइ एसा दंसणे होइ ॥ ८ ॥

गुणमाहात्म्यमाचार्याऽऽदेर्वर्णयतः, तथा पूर्वमहर्षीणां च नामोत्कीर्त्तनं कुर्वत, तेषामेव च सुरनरेन्द्रपूजाऽऽदिकं कथयत, तथा चिरन्तनचैत्यानि पूजयत इत्येवमादिका क्रिया कुर्वतस्तद्वासनावासितस्य दर्शनविशुद्धिर्भवतीत्येषा प्रशस्ता दर्शनविषया भावनेति । आचा० २ श्रु० ३ चू० १५ अ० ।

साम्प्रत दर्शनभावनास्वरूपगुणदर्शनार्थमिदमाह--

संकाऽऽइदोसरहिओ, पसमाइजुआऽऽइगुणगणोवेओ ।
होइ असंमूढमणो, दंसणसुद्धीइ झाणम्मि ॥ ३२ ॥

शङ्काऽऽदिदोषरहित इति-शङ्कन शङ्का । आदिशब्दात्काङ्क्षाऽऽदिपरिग्रहः । उक्त च-" शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसापरपाषण्डसंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ।" इति । एतेषां च स्वरूप प्रत्याख्यानाध्ययने न्यक्षेण वक्ष्याम' । तत्र शङ्काऽऽदय एव सम्यक्त्वाऽऽख्यप्रशमगुणातिचारत्वाद्दोषा' शङ्काऽऽदिदोषा ,तै रहितः त्यक्त । उक्तदोषरहितत्वादेव किम्? प्रशमस्थैर्याऽऽदिगुणगणोपेतः, तत्र प्रकर्षेण श्रम प्रश्रम खेद , स च स्वपरसमयतत्त्वाधिगमरूपः, स्थैर्य तु जिनशासने निष्प्रकम्पिता । आदिशब्दात्प्रभावनाऽऽदिपरिग्रह । उक्त च-" सपरसमयकोसल्लं, थिरया जिणसासणे पभावणया । आययणसेवभत्ती, दंसणदीवा गुणा पंच " ॥१॥ प्रशमस्थैर्याऽऽदय एव गुणाः, तेषां गण समूहः, तेनोपेतो युक्तो य स तथाविधः । अथवा-प्रशमाऽऽदिना स्थैर्याऽऽदिगुणगणेनोपेत' । तत्र प्रशम ऽऽदिगुणगण प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणः, स्थैर्याऽऽदिस्तु दर्शित एव । य इत्थभूत असौ भवत्यसमूढमनाः, तत्त्वान्तरेऽभ्रान्तचित्त इत्यर्थः। दर्शनशुद्ध्योपलक्षणया हेतुभूतया । क ?, ध्याने । इति गाथाऽर्थ ॥ ३२ ॥ आव० ४ अ० ।

दंसणभेइणी-दर्शनभेदिनी-स्त्री० । ज्ञानाऽऽद्यतिशयतः कुतीर्थिकप्रशसारूपायां विकथायाम्, तद्यथा-"सूक्ष्मयुक्तिशतोपेत, सूक्ष्मबुद्धिकर परम । सूक्ष्मार्थदर्शिभिर्दृष्ट, श्रोतव्य बौद्धशासनम् ॥१॥" इत्यादि । एव हि श्रोतृणां तदनुरागात् सम्यग्दर्शनभेद इति । स्था० ७ ठा० । ध० । ग० ।

दंसणमत्त-दर्शनमात्र-न० । दृष्टिमात्रे, पञ्चा० १२ विव० ।

दंसणमूढ-दर्शनमूढ-पुं० । मिथ्यात्विषु, दर्शनमूढा मिथ्यात्वोदयः । स्था०३ ठा० १ उ० ।

दंसणमोह-दर्शनमोह-पुं० । दृष्टिर्दर्शन यथावस्थितवस्तुपरिच्छेद', तन्मोहयतीति "कर्मणोऽण्" ॥ ५ । १ । ७२ ॥ इत्यण्प्रत्ययः । मोहनीयकर्मभेदे, कर्म० ।

दंसणमोहं तिविहं, सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
सुद्धं अद्धविसुद्धं, अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥१४॥

दर्शनमोह पूर्वोक्तशब्दार्थं, त्रिविध त्रिप्रकार भवति । (सम्म ति) सम्यक्त्व, मिश्र सम्यग्मिथ्यात्व,तथैव मिथ्यात्वम् । एतदेव स्वरूपत आह-शुद्धमर्द्धविशुद्धमविशुद्ध तद्भवति क्रमश' क्रमेणेति । अयमत्रार्थ -मिथ्यात्वपुद्गलकदम्बक मदनकोद्रवन्यायेन शोधित सद् विकाराजनकत्वेन शुद्ध सम्यक्त्व भवति, तदेव किञ्चिद्विकारजनकत्वेनार्द्धविशुद्ध मिश्रम्, तदेव सर्वथाऽप्यविशुद्ध मिथ्यात्वमिति । उक्त हि-

" तद्यथेह प्रदीपस्य, स्वच्छाभ्रपटलैर्गृहम् ।
न करोत्यावृति काञ्चि--देवमेतद्रुचेरपि ॥ १ ॥
एकपुञ्जी द्विपुञ्जी च, त्रिपुञ्जी चाऽनुक्रमात् ।
दर्शनपुनयवोक्षेव, मिथ्यादृष्टि प्रकीर्त्तित ॥ २ ॥ "

अत्राऽऽह--सम्यक्त्व कथ दर्शनमोहनीय स्यात्, न हि तद्दर्शन मोहयति, तस्यैव दर्शनत्वात् ? । उच्यते--मिथ्यात्वप्रकृतित्वेनातिचारलभवादौपशमिकाऽऽदिमोहत्वाच्च दर्शनमोहनीयमिति । कर्म० १ कर्म० । स्था० ।

दंसणरइय-दर्शनरचित-त्रि० । दर्शने दृष्टिमार्गे रचितो विहितो दर्शनरचित । दृष्टिमार्गविहिते वस्तुनि, औ० ।

दर्शनरतिद्–त्रि० । दर्शने सति रतिदो सुखप्रदो दर्शनरतिद. । दर्शने सति सुखप्रदे वस्तुनि, औ० ।

दर्शनरतिक–त्रि० । दृष्टिरुचिये, रा० ।

दंसणरय–दर्शनरत–त्रि० । दर्शनानुरक्ते, वाच० । " बहुसु अ समरसुयसपराएसु दसणरए समतओ कलह सदक्खिए अणुगवेसमाणे । " ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

दंसणलद्धिय–दर्शनलब्धिक–पु० । श्रद्धानमात्रलब्धिके, भ० ८ श० २ उ० ।

दंसणलूसि (ण्)–दर्शनलूषिन्–पु० । सम्यग्दर्शनविध्वंसिनि, असदनुष्ठानेन स्वतो भ्रष्टे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

दंसणवावन्नग–दर्शनव्यापन्नक–पु० । दर्शन सम्यक्त्व व्यापन्न भ्रष्टं येषां ते तथा । निह्नवेषु, प्रश्न० २३ द्वार ।

दंसणविणय–दर्शनविनय–पु० । दर्शन सम्यक्त्व, तदेव विनयो दर्शनविनय , दर्शनस्य वा तदव्यतिरेकाद् दर्शनगुणाधिकानां सुश्रूषणाऽनाशातनारूपो विनयो दर्शनविनय. । स्था० ७ ठा० । सम्यग्दर्शनगुणाधिकेषु सुश्रूषाऽऽदिरूपे विनये,भ०२५श० ७ उ०। उक्त च-" पवयणमसेससघो, दसणमिच्छति इत्थ समम्मत्त । विणओ दसणमोत्ति, कायव्वा चेव एय तु ॥१५॥" स्था०।

दंसणविराहणा–दर्शनविराधना–स्त्री० । विराधना खण्डना, दर्शन सम्यग्दर्शन क्षायिकाऽऽदि, तस्य विराधना दर्शनविराधना । दर्शनप्रत्यनीकतानिह्नवाऽऽदिरूपायां तपोविराधनायाम, स० ३ सम० ।

दंसणविसोहि–दर्शनविशुद्धि स्त्री०। दर्शनाऽऽचारपरिपालनतो विशुद्धिर्दर्शनविशुद्धि । विशुद्धिभेदे, स्था० १० ठा० । दर्शनविशुद्धिकारकाणि शास्त्राणि, तदर्थमध्वान गच्छेत् । बृ० १ उ०।

दंसणसंकिलेस–दर्शनसंक्लेश–पु० । दर्शनस्य सक्लेशोऽविशुद्ध्यमानता स दर्शनसक्लेश । सक्लेशभेदे, स्था० १० ठा० ।

दंसणसंग–दर्शनसङ्ग–पु० । दर्शनेऽवलोकनेऽभिष्वङ्गो दर्शन सङ्ग । अवलोकनाभिष्वङ्गे, प्रश्न० १७ विव० ।

दंसणसंपण्ण–दर्शनसम्पन्न–पु० । अविरतसम्यग्दृष्टौ, सू०१ठ० । स्था० । दर्शनसम्पन्न. सुप्तोऽहमित्येव शब्दते । स्था० ८ ठा० ।

दंसणसपण्णया–दर्शनसपन्नता–स्त्री० । दर्शनस्य क्षायोपशमिकस्य सम्पन्नता । तस्या क्षायोपशमसम्यक्त्वसहितत्वे, उत्त० ।

दसणसंपन्नयाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?। दसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तच्छेयणं करेइ, परं न विज्झायइ, [परं अणुज्झायमाणे] अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ ॥ ६० ॥

दर्शनसम्पन्नतया क्षायोपशमिकसम्यक्त्वसम्पन्नतया भवहेतुभूत मिथ्यात्व, तस्य छेदनं क्षपण करोति । को-[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

न संयोजयन् प्रतिसमयमपरापरेणोपयोगरूपतयोत्पद्यमानेन घटयन्। सयोजन च भेदेऽपि स्यादत आह-भावयंस्तेनाऽऽत्मानमात्मसात्कुर्वन् विहरति भवस्थकेवलितया मुक्ततया चाऽऽस्ते । पठन्ति च-" अणुत्तरेण णाणदंसणेण विहरइ त्ति ।" अत्र च लक्षणे तृतीया । उत्त० पाई० २९ अ० ।

दंसणसमाहि–दर्शनसमाधि–पु० । भावसमाधिभेदे, सूत्र० । दर्शनसमाधौ व्यवस्थितो जिनवचनभावितान्तःकरणो निर्वातशरणप्रदीपवत्र कुमतवायुभिर्भ्राम्यते । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

दंसणसावग–दर्शनश्रावक–पु० । दर्शन सम्यक्त्व तत्प्रतिपन्नः श्रावको दर्शनश्रावक । उपाशकानां प्रथमप्रतिमायाम्, स० १० सम० । आ० चू० । तत्र दर्शन सम्यक्त्व, तत्प्रतिपन्नः श्रावको दर्शनश्रावकः । इह च प्रतिमानां प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रतिमाप्रतिमावतोरभेदोपचारात्प्रतिमावतो निर्देश कृत । एवमुत्तरपदेष्वपि। अयमत्र श्रावको दर्शनश्रावक । इह च प्रतिमाना प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रतिमाभावार्थ सम्यग्दर्शनस्य शङ्काऽऽदिशल्यरहितस्याऽणुव्रताऽऽदिगुणविकलस्याऽयमभ्युपगम सा प्रतिमा प्रथमेति । स० १० सम० ।

दंसणसावय–दर्शनश्रावक–पु० । ' दसणसावग ' शब्दार्थे, स० १० सम० ।

दंसणसुद्धि–दर्शनशुद्धि–स्त्री० । सम्यग्दर्शननिर्मलतायाम, व्य० ४ अ० । प्रति० । सम्यग्दर्शननिर्मलताप्रतिपादके श्रीचन्द्रप्रभसूरिविरचिते स्वनामख्याते ग्रन्थे च । दर्श० १ तत्त्व ।

सप्रति स्वय सौम्यवस्तुगृहीतनामधेयो भगवान् ग्रन्थकारः स्वनाम व्युत्पत्त्या प्रकटयन ग्रन्थस्वरूप प्रयोजन च दर्शयन्निद गाथाद्वयमाह--

चंददमपरहरिसूर–रिद्धिपयनिवहप्पढमवन्नेहिं ।
जेसिं नामं तेहिं, परोवयारम्मि निरएहिं ॥ ५७ ॥
इय पाय पुव्वाऽऽयरि–यरइयगाहाण संगहो एसो ।
विहिओ अणुग्गहत्थं, कुमग्गलग्गाण जीवाणं ॥ ५८ ॥

चन्द्राऽऽदीना रिद्धिपर्यवसानाना पदनिवहानां प्रथमवर्णै प्रथमाक्षरं येषा नामाऽभिधान, तै , चन्द्रप्रभसूरिभिरित्यर्थ । कथंभूतै ? परोपकारनिरतै । इति निगदितप्रकारेण प्राय पूर्वाऽऽचार्यरचितगाथानिरय सग्रहो विहितो निष्पादितोऽनुग्रहार्थं कुमार्गलग्नाना कुप्रवचनकुदेशनावासितान्तःकरणाना सत्त्वप्राणिनामिति गाथाद्वयार्थ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

इदं हि सकलशास्त्रगतार्थप्रतिपादकस्य महत-- [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

जे मज्झत्था धम्म–त्थिणो य जेसिं च आगमे दिट्ठी ।
तेसिं कुवयारको, एसो न उ संकिलिट्ठाणं ॥ ५९ ॥

ये केचनानिर्दिष्टनामान [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

हि घूकवत्प्रकृत्यैव विपरीतस्वभावाः, अतो वस्त्वपि अवस्तु-बुद्ध्या गृह्णन्तीति गाथाऽर्थः ॥ ५६ ॥

संप्रति ग्रन्थकार एवास्य यथावस्थितार्थाभिधासका-नि नामान्यभिधातुकाम आह–

उवएसरयणकोसं, संदेहविसोसहिं व विउयजणा ! ।

अहवा वि पंचरयणं, दंसणसुद्धिं इमं भणह ॥ ६० ॥

उपदेशा हेयोपादेयोपेक्षणीयार्थेषु हानोपादानोपेक्षणीयभण-नानि, त एव रत्नानि,तेषां कोश इव भाण्डागारवदुपदेशरत्नको-श', तम्, सन्देहो दोलायमानता, स एव विष तस्यैवौषधिः-संदेहविषापहारित्वादस्याः सदेहविषौषधि , ताम्, वेति वि-कल्पनार्थ' । विद्वज्जना हे कृतिनः!, अथवाऽपि पञ्चरत्न, सक-लसुखमूलहेतुपञ्चपदार्थप्रकाशकत्वादस्याः । दर्शनशुद्धिमिमां भणत प्रतिपादयत । इति गाथाऽर्थः ॥ ६० ॥

सामान्यमभिधायेदानीमस्यैव माहात्म्योपदर्श-नायाऽऽह–

मिच्छमहण्णवतारण–तरियं आगमसमुद्दबिंदुसमं ।

कुग्गहगहमंतं, सदेहविसोसहिं परमं ॥ ६१ ॥

मिथ्यात्वमहार्णवतारणतरिकां कुवासनोदधिपरमयानपात्रम्, आगमसमुद्रबिन्दुसम सिद्धान्तोदधिनिस्यन्दिबिन्दुकल्प, कु-ग्राहग्रहमन्त्र, निग्राहकमित्यर्थः । सदेहविषौषधि परमां प्रकृ-ष्टामिति गाथाऽर्थ· ॥६१॥

सम्प्रति पुनरपि शास्त्रगतोपदेशमाह–

एयं दंसणसोहिं, सव्वे भव्वा पढंतु निसुणंतु ।

जाणंतु कुणंतु लहं-तु सिवसुहं सासयं क त्ति ॥६२॥

एतां दर्शनशुद्धिं सर्वेऽपि भव्याः पठन्तु सूत्रत ,निशृण्वन्तु अ-र्थत·, जानन्तु पुनः पुनरभ्यासतः,कुर्वन्तु एतदुक्तमनुतिष्ठन्तु,अ-नन्ता शिवसुख शाश्वत झटिनीति गाथाऽर्थ·।६२। दर्श०५ तत्त्व।

"यावत्पाथोधयोऽय सुरगिरिरखिलाऽऽलोकलोकोदरस्थो, यावद् द्वीपोऽथ जम्बूस्त्रिभुवनतिलकः पूर्णचन्द्राऽऽकृतिश्च । यावज्जैनोऽत्र धर्मः प्रभवति हि शशी भूतल तावदेना, भव्या· शृण्वन्तु भव्या विषयविमुखताऽऽपादिकां बोधिदा च" ॥१॥ दर्श० ५ तत्त्व ।

दंसणाभिगम–दर्शनाभिगम–पुं० । दर्शन सामान्यग्राही बोध', तद्भेद् गुणप्रत्ययावध्यादिप्रत्यक्षरूपम् । तेनाभिगमो वस्तुन· प-रिच्छेदे, तत्प्राप्तौ च । स्था० ६ ठा० ।

दंसणाऽऽया–स्त्री० । दर्शनाऽऽत्मन्–पुं० । षष्ठे आत्मनो भेदे, दर्शनाऽऽत्मा सर्वजीवानाम् । भ० । प्राकृतत्वाच्च स्त्रीत्वनि-र्देश· । भ० १२ श० १० उ० ।

दंसणायार–दर्शनाऽऽचार–पुं० । आचरणमाचारो व्यवहारो, द-र्शन सम्यक्त्व, तदाचार । स्था०२ ठा० ३ उ०।सम्यक्त्ववतां व्यवहारे, ध० १ अङ्क । पञ्चा० ।

अथ दर्शनाऽऽचारभेदानाह–

निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।

उववूह–थिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥२६७॥

शङ्कित शङ्का सदेह ,तस्याऽभावो नि शङ्कितम्,दर्शनस्य सम्य-क्त्वस्याऽऽचार·। इत्येवमन्यत्रापि । तथा काङ्क्षितं काङ्क्षा-अन्यान्य-दर्शनग्रह·,तदभावो निष्काङ्क्षित,तथा विचिकित्सा मतिविभ्रम·-युक्त्याऽऽगमोपपन्नेऽप्यर्थे फल प्रति सम्मोह , तदभावो निर्विचि-कित्सम् । यद्वा–विद्वज्जुगुप्सामलमलिना एते इत्यादि साधुजुगु प्सा, तदभावो निर्विज्जुगुप्स,तत एषां द्वन्द्व , र्विच्छिन्ननिर्देशश्च प्राकृतत्वात् । तथा–अमूढा तपोविद्याऽतिशयाऽऽदिकुतीर्थिकर्द्धिद-र्शनेऽप्यमोहस्वभावा अविचलिता,सा च सा दृष्टिश्च सम्यग्दर्शन म अमूढदृष्टि'। अथवा–निर्गता शङ्किताऽऽदिभ्यो ये तेनि शङ्कित· निःकाङ्क्षितनिर्विचिकित्सा जीवा ,अमूढा दृष्टिरस्येत्यमूढदृष्टिश्च जीव एव,तत एते धर्मधर्मिणोरभेदोपचाराद् दर्शनाऽऽचारभेदा भवन्तीति । तथा–उपबृंहणमुपबृंहा-समानधार्मिकाणां क्षमणाऽऽ-याबृत्त्याऽऽदिसद्गुणप्रशंसनेन तत्सद्गुणवृद्धिकरणम्, स्थिरीकरण तु–धर्माद्विषीदतां तत्रैव चारुवचनचातुर्याद्व्यवस्थापनम्, उपबृंहा च स्थिरीकरण च उपबृंहास्थिरीकरणे । तथा तेषां वात्सल्य च प्रभावना च वात्सल्यप्रभावने । तत्र वात्सल्य–समानदेवगुरुध-र्माणां भोजनवसनदानोपकाराऽऽदिभि समानन, प्रभावना–ध-र्मकथाप्रतिवादिनिर्जयदुष्करतपश्चरणकरणाऽऽदिभिर्जिनवचन प्रकाशनम् । यद्यपि च प्रवचन शाश्वतत्वात्तीर्थकरभाषितत्वाद्वा सुरासुरनमस्कृतत्वाद्वा स्वयमेव दीप्यते,तथापि दर्शनशुद्धिमा-त्मनोऽभीप्सुर्यो येन गुणेनाधिकः स तेन तत्प्रवचन प्रभावयति, यथा भगवदार्यवज्रस्वामिप्रभृतिक इति । एते अष्टौ दर्शनाऽऽ-चाराः ॥ २६६ ॥ प्रव० ६ द्वार । नि० चू० । ध० । ति० । ग० । नं० । आचा० । दश० । (विशेषस्तु ' आयार ' शब्दे द्वितीय· भागे ३४० पृष्ठे द्रष्टव्य')

दंसणायाराइयार–दर्शनाऽऽचारातिचार–पुं० । सम्यक्त्वव्यव-हारातिचारे, जीत० ।

दंसणायारातियारपायच्छित्त-दर्शनाऽऽचारातिचारप्रायश्चित्त· न० । प्रायश्चित्तभेदे, जीत० ।

अधुना दर्शनाऽऽचारातिचारप्रायश्चित्तमाह–

संकाऽऽइएसु दोसे, खमणं मिच्छोववूहणाऽऽईसु ।

पुरिमाऽऽई खमणंतं, भिक्खुपभिईण य चउण्हं ॥२८॥

एवं चिय पत्तेयं, उववूहाऽऽईणमकरणे जयणा ।

आयामंतं निव्वी–यगाऽऽइ पासत्थसड्ढेसु ॥ २९ ॥

इह दर्शनाऽऽचारातिचारोऽष्टधा । तद्यथा–शङ्का,आकाङ्क्षा,वि-चिकित्सा, मूढदृष्टि·,उपबृंहा, स्थिरीकरण,वात्सल्य, प्रभावना चेति । तत्र सशयकरण शङ्का । सा द्विधा–देशत , सर्वत· श्च । तत्र देशतस्तुल्येऽपि जीवत्वे कथमेके भव्या , अपरे त्वभव्या इत्यादि । सर्वतस्तु प्राकृतभाषानिबद्धमिद श्रुत न ज्ञायते–किं सर्वज्ञेन प्रणीतम्, आहोस्वित् कुशलमतिनाऽपि परिकल्पितमिति ॥ १ ॥ आकाङ्क्षाऽपि–देशत कुतीर्थिकमत-माकाङ्क्षति–अस्मिन्नपि स्वल्पैहिकैव धर्मो, मोक्षश्च फलमुक्यत इति । सर्वत· सर्वकुमतान्याकाङ्क्षति कृषीवल इव सर्वधान्यानु-ष्ठानवाति कदाचित्किञ्चित्फलतीतिधिया ॥ २ ॥ विचिकित्सा–आत्मन· फल प्रत्यनाश्वास , यथा–आसीत्तादृशानुष्ठायिनां पुरा-तनानां महासत्त्वानां मोक्ष , अस्मादृशानां त्वस्नानकेशलुञ्चना-ऽऽदि कष्टमेव, मन्दसत्त्वत्वात् क मोक्षसमय·?, इति देशत' स्तो-कोऽनाश्वास· । स सर्वतस्तु सर्वथाऽनाश्वास । यथा–"विदक् ज्ञाने (धातुपाठे) विदन्तीति विद· साधव ,तेषां जुगुप्सा विज्जु-गुप्सा । देशतोऽहो ! मलदुर्गन्धा इमे मनुजा यद्यदुकेन स्नायु-स्तदा को दोष· स्यादिति ! । सर्वतस्तु मण्डल्यादिनैकत्र देशे

मिथ ससृष्टभोजिनो गुप्तिगृहवासिम इव महामलीमसाङ्गवासस. प्राग्दत्तदानत्वेनाऽऽजन्म भिक्षाचरा इत्यादि ॥३॥ मूढदृष्टि-परतीर्थिनां राजाऽऽदिकृतां पूजां, मन्त्राऽऽद्यतिशयान् वा दृष्ट्वा, तदागमान् वा श्रुत्वा देशतः स्तोको मनिव्यामोह. । सर्वतस्तु सर्वथा ॥४॥ उपबृंहा-प्रशंसा ज्ञानदर्शनतप संयमवैयावृत्त्योद्यतानां साध्वादीनामुत्साहवृद्धिहेतु प्रशस्ता मिथ्याऽऽशंसा, शाक्यचरकाऽऽदीनां त्वसावप्रशस्ता ॥५॥ स्थिरीकरण-सीदत्सु अमरेत्राऽऽदिषु स्थैर्यहेतु प्रशस्ता, असंयमविषये पुनस्तदप्रशस्ता ॥ ६ ॥ वात्सल्यम्-आचार्यग्लानप्राघूर्णकबालवृद्धाऽऽदीनामाहारोपध्यादिना समाधिसंपादन प्रशस्त, गृहस्थपार्श्वस्थाऽऽद्युपष्टम्भरूप तदप्रशस्तम् ॥ ७ ॥ प्रभावना चतीर्थकरप्रवचनाऽऽदिविषया प्रशस्ता, कुतीर्थिकविषया त्वप्रशस्ता ॥८॥ इह च प्रशस्ताऽऽदीनां प्रशस्तानामकरणेऽतिचारता, अप्रशस्तानां तु करणे देशसर्वभेदाच्चोपबृंहाऽऽदीनामपि शङ्काऽऽदीनामिव ज्ञेय इति दर्शनाचारातिचारस्याष्टौ भेदा. । तत्र शङ्काऽऽदिकेषु चतुर्षु भेदेषु देशत क्षपण मिथ्योपबृंहणाऽऽदिषु च सूचकत्वात् सूत्रस्य मिथ्याशब्देन मिथ्यात्वाऽऽदयो गृह्यन्ते, तेषामुपबृंहणा मिथ्योपबृंहणा, अप्रशस्तेत्यर्थ. । तथा आदिशब्दात् स्थिरीकरणवात्सल्यप्रभावना गृह्यन्ते, ततश्चाप्रशस्तेष्वपि चतुर्दशत क्षपणमेव । एतच्चौघत पुरुषानपेक्षया ज्ञेयम्। अत्राऽऽह-ननु शङ्काऽऽदिकेष्वित्यनेनैव समानप्रायश्चित्तत्वादत्रापि भेदा गृहीष्यन्ते, किं मिथ्योपबृंहणाऽऽदिषु चेति पृथगुक्तं, विशेषाभावात्? उच्यते-उपबृंहाऽऽदयो हि प्रशस्ता , अप्रशस्ताश्च भवन्ति । तत्राप्रशस्ता एव समानप्रायश्चित्ता , न प्रशस्ता , अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं मिथ्योपबृंहणाऽऽदिषु विविच्य प्रोच्यते, अन्यथा प्रशस्तोपबृंहणाऽऽदीनामपि शङ्काऽऽदिवत् प्रायश्चित्त स्यात्। न च तेषु प्रायश्चित्त भवति, तेषां विशिष्टपुण्यानुबन्धहेतुत्वात् । विभागत पुन शङ्काऽऽदिकेषु मिथ्योपबृंहणाऽऽदिषु चेत्यष्टस्वपि देशतः पुरिमार्द्धाऽऽदि क्षपणान्त भिक्षुप्रभृतीना चतुर्णाम्, तत्र भिक्षो पुरिमार्द्ध ,वृषभस्यैकाशनम्, उपाध्यायस्य आचामाम्लम्, आचार्यस्य क्षपणमिति । सर्वतस्त्वेतेष्वपि सूत्र वक्ष्यति । प्रशस्तोपबृंहाऽऽद्यकरणे प्रायश्चित्तमाह-प्रत्येक भिक्षुप्रभृतीनां य तेरुपलक्षणत्वात् प्रवचनाऽऽदेश्चोपबृंहाऽऽद्यकरणे, एतदेवानन्तरोद्दिष्ट पुरिमार्द्धाऽऽदि प्रायश्चित्तम् । अय भावार्थ -यदि भिक्ष्वाऽऽदयो हि प्रवचनाऽऽदिरूपा बृंहामादिशब्दात् स्थिरीकरण वात्सल्य प्रभावना वा न कुर्वन्ति, तदा भिक्षो पुरिमार्द्धं, वृषभस्यैकाशनम् उपाध्यायस्याऽऽचाम्लम्,आचार्यस्य क्षपणमिति । उत्तरार्द्धमुत्तरगाथासंबद्धत्वात्तया सह व्याख्यास्यते ।

सा चेयम्-

पारिवाराऽऽइनिमित्त, ममत्तपरिपालणाऽऽइवच्छल्ले ।
साहम्मिओ त्ति संजम-हेउं वा सव्वहा सुद्धा ॥३०॥

परिवार. सहायरूप , आदिशब्दादाहारोपधिशय्या ,तेषां निमित्तम् । अयमाशय -पार्श्वस्थाऽऽद्यनुकूलयेन सहायाऽऽहारोपधिशय्या लप्स्यन्त इति कृत्वा (पासत्थमक्खेसु त्ति) उपलक्षणत्वात्पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दाऽऽदिषु, श्रावकस्वजनाऽऽदिषु च विषये ममत्वपरिपालनाऽऽदिवात्सल्ये ममत्व प्रतिबन्धरूप, परिपालना त्वौषधाऽऽद्य , आदिशब्दात्सम्भोगसंवाससूत्रार्थदानानि, इत्यादिके वात्सल्ये कृते सति (आयामन निव्वीयगाइ त्ति) भिक्षुवृषभोपाध्यायाऽऽचार्याणां निर्विकृतिकपुरिमार्द्धैकाशनाऽऽचामाम्लानि यथासख्य भवन्ति । अथ पुन.

साधर्मिक इति. समानधार्मिकोऽसाविति, संयम चासौ मत्ससगौत्कारिष्यतीति हेतो:,वाशब्दत्वात् कुलगणसङ्घग्लानाऽऽदिकार्येषु सहायाऽऽदिक करिष्यतीत्यादिबुद्ध्या सर्वस्मिन्ममत्वाऽऽदिके वात्सल्ये कृतेऽपि शुद्धा ॥ ३१ ॥ इत्युक्त दर्शनाचारातिचारप्रायश्चित्तम् । जीत० "इदाणिं एएसिं पच्छित्त भण्णति-तीसु त्रि संका, कखा, वितिगिच्छा य,एताइ तिन्नि । एतासु तिसु वि देसे पत्तेय पत्तेय गुरुगा मूलमिति, सव्वे देदो, पुणसद्दो सव्वसकाऽऽदिविसेसावधारणे दट्ठव्वो । सव्वेहिं ति सव्व सकाए सव्वकखाए सव्ववितिगिछाए य, हौति भवन्तीत्यर्थ । किं त त ?, मूलमिति अनुकारिसणवक्क दट्ठव्व । " नि० चू० १ उ० ।

इयाणिं पच्छित्ता भण्णति-

दिट्ठीमोहे अपसं-सणे य अथिरीकरणे य लहुआ उ ।
वच्छल्लपभावणाण य, अकरणेण मट्ठाणपच्छित्तं ॥३४॥

"दिट्ठीमोह करेति,अहवा उववूह न करेति, अहवा अणुववूहिते केवि आयरिया मासलहु भणति । सम्मत्ताऽऽदीसु थिरीकरण ण करेति, अहवा केति मदण वा मासलहु,वच्छल्ले सामण्णेण विसेसेण य भणियं,त चेव सट्ठाण इमाए गाहाए भणिय,"आयरिए य गिलाणे गुरुगा लाहू ।" पभावण अकरेंतस्स सामण्णेण चउगुरुगा, विसेसेण सट्ठाणपच्छित्त, त च इम-अतिसेसिनिक्खिधम्मकहिवादिविज्जायसम्मतो, गणसम्मतो अतीतणिमित्तेण य एते ससत्तीए पवयणपभावण ण करेंति चउलहुगा, पडुप्पण्णाऽणागतेण य पभावण ण करेंति चउलहुगा, पडुप्पण्णाणागतेण य पभावण ण करेंति चउगुरुगा । एव सट्ठाणपच्छित्त । अहवा-अतिसेसमादिणो पुरिसा इमेसिं पचण्ह पुरिसाण अतरगता । त जहा-आयरियउवज्झायभिक्खुथेरखुड्डया, एएसु सट्ठाणपच्छित्ता भण्णति, आयरिओ पभावण ण करेति चउगुरुगा, उवज्झाओ ण करेति, अहवा भिक्खू ण करेति मासगुरु, थेरो ण करेति मासलहु, खुड्डो ण करेति भिन्नमासो । भणिओ दसणायारो । " नि० चू० १ उ० ।

दसणाराहणा-दर्शनाऽऽराधना-स्त्री० । सम्यक्त्वाऽऽराधने, " तिविहा दसणाऽऽराहणा-उक्कोसा, मज्झिमा, जहण्णा ।" स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

दसणारिय-दर्शनाऽऽर्य-पु० । अष्टमे अनृद्धिप्राप्ताऽऽर्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । (दर्शनार्यभेदाऽऽदयस्तु ' आरिय ' शब्दे द्वितीयभागे ३३६ पृष्ठे उक्ता:)

दसणावरण-दर्शनाऽऽवरण-न० । दर्शन सम्यक्त्वमावृणोतीति दर्शनाऽऽवरणम् । उत्त०३३अ० । दृश्यतेऽनेनेति दृष्टिर्दर्शनम् । सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणाऽऽत्मको बोध । आव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेत्यावरणम्,यद्वा आवृणोति आच्छादयति, तस्याऽऽवरण कर्तर्यनट्प्रत्यये आवरण मिथ्यात्वाऽऽदि, स च जीवव्यापाराऽऽहृतकर्मवर्गणान्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूह ,ततो दर्शनस्याऽऽवरण दर्शनाऽऽवरणम् । कर्म० १ कर्म० । आवरणीयकर्मभेदे, प्रव० ७२ द्वार । स्था० । प० स० । कर्म० । (दर्शनाऽऽवरणस्य बन्धोदयसत्तास्थानाना सवेध 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६६ पृष्ठे द्रष्टव्य)

नवविहे दसणावरणे कम्मे पण्णत्ते। त जहा-निद्दा,निद्दानिद्दा,पयला,पयलापयला,थीणगिद्धी,चक्खुदसणावरणे,अचक्खुदसणावरणे,ओहिदसणावरणे,केवलदसणावरणे॥

(नवेत्यादि) सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणाऽऽत्मको बोधो दर्शनं,तस्याऽऽवरणस्वभावं कर्म दर्शनाऽऽवरण,तन्नवविधम् । तत्र निद्रापञ्चकं तावत्-'द्राकु'कुत्सायां गतौ,नियतं द्राति कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यमनयेति निद्रा सुखप्रबोधा स्वापावस्था, नखच्छोटिकामात्रेणाऽपि यत्र प्रबोधो भवति । तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रेति कार्येण व्यपदिश्यते। तथा निद्राऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा,शाकपार्थिवाऽऽदित्वान्मध्यपदलोपी समासः । सा पुनर्दुःखप्रबोधा स्वापावस्था,तस्यां हि अत्यर्थमस्फुटतरीभूतचैतन्यत्वाद् दुःखेन बहुभिर्घोलनाऽऽदिभिः प्रबोधो भवत्यतः सुखप्रबोधनिद्राऽपेक्षया अस्या अतिशायिनीत्वम्,तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि कार्यद्वारेण निद्रानिद्रेत्युच्यते। उपविष्ट ऊर्द्धस्थितो वा प्रचलत्यस्यां स्वापावस्थायामिति प्रचला । सा ह्युपविष्टस्योर्द्धस्थितस्य वा घूर्णमानस्य स्वप्तुर्भवति । तथाविधविपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलेत्युच्यते । तथैव प्रचलाऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला । सा हि चङ्क्रमणाऽऽदि कुर्वतः स्वप्तुर्भवति, अतः स्थानस्थितस्वप्तृभवा प्रचलामपेक्ष्यातिशायिनी । तद्विपाका कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला । स्त्याना बहुत्वेन सङ्घातमापन्ना गृद्धिरभिकाङ्क्षा जाग्रदवस्थाऽध्यवसितार्थसाधनविषया यस्यां स्वापावस्थायां सा स्त्यानगृद्धिः, तस्यां हि सत्यां जाग्रदवस्थाऽध्यवसितमर्थमुत्थाय साधयति,स्त्याना वा पिण्डीभूता ऋद्धिरात्मशक्तिरूपा यस्यामिति स्त्यानर्द्धिरित्यप्युच्यते, तद्भावे हि स्वप्तुः केशवार्द्धबलसदृशी शक्तिर्भवति । अथवा स्त्याना जडीभूता चैतन्यर्द्धिरस्यामिति स्त्यानर्द्धिरिति । तादृशविपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धिः, स्त्यानगृद्धिरिति वा । तदेवं निद्रापञ्चकं दर्शनाऽऽवरणक्षयोपशमाद् लब्धात्मलाभानां दर्शनलब्धीनामावारकमुक्तम् । अधुना यद्दर्शनलब्धीनां मूलत एव लाभमावृणोति तदिदं दर्शनाऽऽवरणचतुष्कमुच्यते । चक्षुषा दर्शनं सामान्यग्राही बोधश्चक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणं चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम् । अचक्षुषा चक्षुर्वर्जेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा वा दर्शनं यत् तदचक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणमचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम् । अवधिना रूपिमर्यादयाऽवधिरेव वा करणनिरपेक्षो बोधरूपो दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमवधिदर्शनम्, तस्याऽऽवरणमवधिदर्शनाऽऽवरणम् । तथा केवलमुक्तस्वरूपं, तच्च तद्दर्शनं च, तस्याऽऽवरणं केवलदर्शनाऽऽवरणमित्युक्तं नवविधं दर्शनाऽऽवरणम् । स्था० ९ ठा० ।

इदानीं नवविधं दर्शनाऽऽवरणं कर्म व्याख्यानयन्नाह-

दसणचउ पण निद्दा, वेत्तिसमं दंसणाऽऽवरणं ॥ (९)

इह 'भीमो भीमसेन' इति न्यायात्, पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद्वा "दसणचउ" इतिशब्देन दर्शनाऽऽवरणचतुष्कं गृह्यते । तत्र दृष्टिर्दर्शनं,दृश्यते परिच्छिद्यते सामान्यरूपं वस्त्वनेनेति वा दर्शनं,तस्याऽऽवरणान्याच्छादनानि दर्शनाऽऽवरणानि, तेषां चतुष्कं दर्शनाऽऽवरणचतुष्कम् । तथा-"पण निद्द त्ति" 'द्राकृ' कुत्सितगतौ (धातुपाठ) द्राति कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यं यासु ता निद्राः । "भिदादयः" ॥ ५।३।१०८॥ इति (सूत्रेण) अङ्प्रत्ययः । पञ्चेति पञ्चसंख्या-निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिरूपाः निद्राः पञ्च, निद्रापञ्चकमित्यर्थः । ततो दर्शनाऽऽवरणचतुष्कं निद्रापञ्चकमिति नवधा दर्शनाऽऽवरणं भवति । किंविशिष्टमित्याह-(वेत्तिसमं ति) वेत्रिणा प्रतीहारेण समं तुल्यं वेत्रिसमम् । यथा राजानं द्रष्टुकामस्याप्यनभिप्रेतस्य लोकस्य वेत्रिणा स्खलितस्य राज्ञो दर्शनं नोपजायते, तथा दर्शनस्वभावस्याप्यात्मनो येनाऽऽवृतस्य स्तम्भकुम्भाम्भोरुहाऽऽदिपदार्थसार्थस्य न दर्शनमुपजायते, तद्वेत्रिसमं दर्शनाऽऽवरणम् । उक्तं च-

"दसणसीले जीवे, दसणघायं करेइ जं कम्मं ।
तं पडिहारसमाणं, दसणवरणं भवे कम्मं ॥ १ ॥
जह रन्नो पडिहारो, अणभिप्पेयस्स सो उ लोगस्स ।
रन्नो तह दरिसावं, न देइ दट्ठुं पि कामस्स ॥ २ ॥
जह राया तह जीवो, पडिहारसमं तु दंसणाऽऽवरणं ।
तेण हि विघ्घगेण, न पेच्छइ सो घडाईयं ॥ ३ ॥" इति ।९।

अथ दर्शनाऽऽवरणचतुष्कं व्याचिख्यासुराह-

चक्खुदिट्ठिअचक्खू-सेसिंदियओहिकेवलेहि च ॥
दंसणमिह सामन्नं, तस्साऽऽवरणं तयं चउहा । १० ॥

इह चक्षुःशब्देन दृष्टिर्गृह्यते, अचक्षुःशब्देन "सेसिंदिय त्ति" चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियाणि गृह्यन्ते । ततश्च चक्षुश्चाचक्षुश्चावधिश्च केवलं च चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानि, तैः चक्षुरचक्षुरवधिकेवलैः । चशब्दोऽचक्षुःशेषेन्द्रिय इत्यत्र मनसः सूचकः । दर्शनमिह प्रवचने सामान्यं सामान्योपयोग उच्यते । यदुक्तम्-"जं सामन्नग्गहणं, भावाणं नेव कट्टु आगारं । अविसेसिऊण अत्थे, दसणमिय वुच्चए समए ॥ १ ॥" तस्याऽऽवरणं दर्शनाऽऽवरणं, तच्चतुर्धा भवति-चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणमचक्षुर्दर्शनावरणमवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणमिति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-इह चक्षुर्दर्शनं नाम यच्चक्षुषा रूपसामान्यग्रहणं, तस्याऽऽवरणं चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणं,चक्षुःसामान्योपयोगाऽऽवरणमिति यावत् । अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद्दर्शनं स्वस्वविषयसामान्यपरिच्छेदोऽचक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणमचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम् । अवधिना रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमवधिदर्शनं तस्याऽऽवरणमवधिदर्शनाऽऽवरणम्। केवलेन सम्पूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद्दर्शनं वस्तुसामान्यांशग्रहणं तत् केवलदर्शनं, तस्याऽऽवरणं केवलदर्शनाऽऽवरणम् । अत्राऽऽह-ननु यथाऽवधिदर्शनाऽऽवरणं कर्मोच्यते, तथा मनःपर्यायज्ञानस्यापि दर्शनाऽऽवरणं कर्म किमिति नोच्यते ? । उच्यते-मनःपर्यायज्ञानं तथाविधक्षयोपशमपाटवात् सर्वदा विशेषानेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यम्, अतस्तद्दर्शनाभावात्तदावरणं कर्माऽपि न भवति । अत्र च चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणोदये एकद्वित्रीन्द्रियाणां मूलत एव चक्षुर्न भवति, चतुःपञ्चेन्द्रियाणां तु भूतमपि चक्षुस्तथाविधे तदुदये विनश्यति, तिमिराऽऽदिना वाऽस्पष्टं भवति । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनसां पुनर्यथासम्भवमभवनमस्पष्टभवनं वाऽचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणोदयादित्यभिहितं दर्शनाऽऽवरणचतुष्कम् ॥१०॥ कर्म० १ कर्म० । चक्षुषा दर्शनं चक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणं चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम् ।६। अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं, तस्याऽऽवरणमचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम् ।७। अवधिरेव दर्शनं रूपिद्रव्यसामान्यग्रहणम् अवधिदर्शनं, तस्याऽऽवरणमवधिदर्शनाऽऽवरणम् ।८। केवलमेव सकलजगद्भाविवस्तुस्तोमसामान्यग्रहणरूपं दर्शनं केवलदर्शनं, तस्याऽऽवरणं केवलदर्शनाऽऽवरणम् ।९। अत्र निद्रापञ्चकं प्राप्ताया दर्शनलब्धेरुपघातकृत्, चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणाऽऽदिचतुष्टयं तु मूलत एव दर्शनलब्धिमुपहन्ति । आह च गन्धहस्ती-निद्राऽऽदयः सम-

धिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते, दर्शनाऽऽवरणचतुष्टय तु चक्षुर्दर्शनादिलब्धिमूलघात हन्ति दर्शनलब्धिमिति । (६ गाथा) कर्म० ६ कर्म० । दर्शनाऽऽवरणस्य नवोत्तरप्रकृतय । तद्यथा-निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि । (एषा पूर्वोक्ताना व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम्, अचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणम्, अवधिदर्शनाऽऽवरणम्, केवलदर्शनाऽऽवरण च । (६ गाथा) कर्म० ६ कर्म० । आ० । प० स० । (अत्र विशेषः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २६४ पृष्ठे, २५ए पृष्ठे च द्रष्टव्य.)

दंसणावरणिज्ज–दर्शनाऽऽवरणीय–न० । दर्शनाऽऽवरणप्रकृतौ, स० ए समः । आचा० । प्रश्न० ।

दंसणावरणिज्जवग्ग–दर्शनावरणीयवर्ग–पुं० । दर्शनाऽऽवरणप्रकृतिसमुदाये, क० प्र० १ प्रक० ।

दंसणि (ए)–दर्शनिन्–पुं० । दर्शनमस्यास्तीति दर्शनी । सम्यक्त्ववति, आव० ३ अ० । " दसणेण दसणी।" अनु० । आव० । रा० ।

दंसणिज्ज–दर्शनीय–पुं० । आह्लेयदर्शनो य. स तथा । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । दर्शनयोग्ये, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । यानि पश्यनश्चक्षुषी श्रम न गच्छत. । जी० ३ प्रति० ४ उ० । ज्ञा० । स्था० । सू० प्र० ।

दंसणिड्ढि–दर्शनर्द्धि–स्त्री० । दर्शनाद्ध. प्रशमाऽऽदिरूपा । तथा– " सम्मद्दिट्ठी जीवो, विमाणवज्ज न बधए आउ । जति वि ण सम्मत्तजढो, अहव ण बद्धाउओ पुव्वि ॥ १ ॥ " (दश० नि० २०६ गाथाटी०) इत्याद्युक्तलक्षणाया प्रशमाऽऽदिरूपाया सम्यक्त्वसम्पत्तौ, दश० ३ अ० ।

दंसणिंद–दर्शनेन्द्र–पुं० । इन्द्रभेदे, स्था० १० ठा० । (व्याख्याऽस्य ' इद 'शब्दे द्वितीयभागे ५३४ पृष्ठे गता)

दंसणोवघाय–दर्शनोपघात–पुं० । शङ्काऽऽदिभि. सम्यक्त्वविराधनायाम्, स्था० १० ठा० ।

दंसणोवसंपया–दर्शनोपसम्पत्–स्त्री० । सम्पद्भेदे, दर्शनप्रभावनीयसम्मत्यादिशास्त्रपरिभावनार्थमेव दर्शनोपसम्पदिति । ध० ३ अधि० ।

दंसतिग–दर्शत्रिक–न० । चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनलक्षणे, कर्म० ४ कर्म० ।

दंसमसग–दंशमशक–पुं० । दशाश्च मशकाश्च दशमशकाः उभये अप्येते चतुरिन्द्रियाः, महत्त्वामहत्त्वकृतश्चैषा विशेष. । अथवा–दशो दशन, भक्षणमित्यर्थ. । तत्प्रधाना मशका दशमशका. । चतुरिन्द्रियजीवभेदेषु, स० २१ सम० ।

दंसमसगपरीसह–दंशमशकपरीषह–पुं० । दशन्तीति दशा', पचाऽऽदित्वादच्प्रत्यय । मारयितु शक्नुवन्तीति मशकाः। दशाश्च मशकाश्च दंशमशकाः। अथवा-दशो दशन,भक्षणमित्यर्थ., तत्प्रधाना मशका दशमशका. चतुरिन्द्रियविशेषा ,यूकाऽऽद्युपलक्षण चैते एव परीषहो दंशमशकपरीषह । उत्त० २ अ० । प्रव० । स० । दशमशकाऽऽदिभिर्दश्यमानोऽपि न तत. स्थानादपगच्छेन्न च तदपनयनार्थ धूमाऽऽदिना यतेत,न च व्यजनाऽऽदिना निवारयेदित्यनुतिष्ठत. (आव० १ अ०) देहव्यथामुत्पादयत्स्वपि तेष्वनिवारणमप्रद्वेषाभावकरणरूपे परीषहे, भ० १ श० ३उ० । "दष्टोऽपि दशैर्मशकैः, सर्वाऽऽहारप्रियत्नवित् । त्रास द्वेष निरासं न, कुर्यात्कुर्याद्युपेक्षणम् ॥ १ ॥ " ध० ३ अधि० । उत्त० । सूत्र० ।

एतदेव सूत्रकृदाह—

पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरे-व महामुणी ।
णागो संगामसीसे व, सूरे अभिहवे पर ॥ १० ॥

स्पृष्ट.-अभिद्रुत. । च. पूरणे । दशमशकै', उपलक्षणत्वाद् यूकाऽऽदिभिश्च (समरे व त्ति) "पदोऽन्तलोपाविसर्जनीयस्य ॥ " इति रेफात्, तत सम एव-तदगणनया स्पृष्टास्पृष्टावस्थयोस्तुल्य एव । यद्वा -समन्तादरय',शत्रवो यस्मिंस्तत्समरं तस्मिन्नाति सग्रामशिरोविशेषणम् । यति वरणे । महामुनि प्रशस्तयतिः । किमित्याह- (णागो सगामसीसे वेति) इवार्थस्य वाशब्दस्य भिन्नक्रमत्वान्नाग इव हस्तीव सग्रामस्य शिर इव शिर. प्रकर्षावस्था सग्रामशिरस्तस्मिन् शूर पराक्रमवान । यद्वा-शूरो योध', ततोऽन्तर्भावितोपमार्थत्वाद् वाशब्दस्य च गम्यमानत्वात् शूरवद्वाऽभिहन्यात्, कोऽर्थ. ? अभिभवेत् । पर शत्रुम् । अयमभिप्राय -यथा शूर करी, यद्वा यथा वा योध. शरैस्तुद्यमानोऽपि तदगणनया रणशिरसि श त्रु जयति, एवमयमपि दशाऽऽदिभिरभिद्रूयमाणोऽपि भावशत्रु क्रोधाऽऽदिक जयेदिति सूत्रार्थ. ॥ १० ॥

यथा च भावशत्रुर्जेतव्यस्तथोपदेष्टुमाह–

ण संतसे ण वारेज्जा, मणं पि न पओसए ।
उवेहे नो हणे पाणे, भुंजंते मंससोणिए ॥ ११ ॥

न सन्त्रसेदोद्विजेत,दशाऽऽदिभ्य इति गम्यते । यद्वा-अनेकार्थत्वाद्धातूना न कम्पयेत्, तैस्तुद्यमानोऽपि, अङ्गानीति शेष. । न निवारयेद् न निषेधयेत्,प्रक्रमाद् दशाऽऽदीनेव तुदतो,मा भूदन्तराय इति, मनश्चित्त तदपि,आस्तां वचनाऽऽदि,न प्रदूषयेन्न प्रदुष्ट कुर्यात्, किं तु (उवेहे त्ति) उपेक्षेत औदासीन्येन पश्येत्, अत एव न हन्यात् प्राणान् प्राणिनो भुञ्जानान् आहारयतो मांसशोणितम । अयमिहाशय -अत्यन्तबाधकेष्वपि दशकाऽऽदिषु–
" शृगालवृकरूपैश्च, नदद्भिर्घोरनिष्ठुरम ।
आक्षेपत्रोटितस्नायु, भक्ष्यन्ते रुधिरोक्षिताः ॥ १ ॥
स्वरूपै. श्यामसबलै-र्वालपुच्छैर्भयान्वितैः ।
परस्पर विरुध्यद्भि-र्विलुप्यन्ते दिशो दिशम ॥ २ ॥
काकगृध्राऽऽदिरूपैश्च, लोहतुण्डैर्बलान्वितै ।
विनिकृष्टाक्षिजिह्वान्त्राः, विचेष्टन्ते महीतले ॥ ३ ॥
प्राणोपक्रमणैर्घोरै-र्दु.खैरेवविधैरपि ।
आयुष्यक्षपितेनैव,म्रियन्ते न स्वपाणिनः ॥ ४ ॥ " इत्यादि ।
तथा-असङ्क्लिष्ट एते आहारार्थिनश्च भोज्यमेतेषां मच्छरीर बहुसाधारण च यदि भक्षयन्ति किमत्र प्रद्वेषेणेति च विचिन्तयन् तदुपेक्षणपरो न तदुपघात विदध्यादिति सूत्रार्थ. ॥ ११ ॥

इदानीं पथिद्वार, तत्र स्पृष्टो दंशमशकैरित्यादिसूत्रसूचितमुदाहरणमाह–

चंपाए सुमणुभद्दो, जुवराया धम्मघोससीसो य ।
पंथम्मि मसगपरिपी-यसोणितो सो वि कालगतो ॥ए३॥

चम्पायां सुमनुभद्रो युवराजो धर्मघोषशिष्यश्च पथि मशक-

परिपीतशोणित, सोऽपि कालगतः। इति गाथाऽक्षरार्थः॥ ए३॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः। स चायम्-" चंपाए नयरीए जियसत्तुस्स रन्नो पुत्तो सुमणुभद्दो जुवराया, धम्मघोसस्स अंतिए धम्मं सोऊण निविण्णकामभोगो पव्वइओ, ताहे चेव एगल्लविहारपडिमं पडिवन्नो, पच्छा हेट्ठाभूमीए विहरंतो सरयकाले अडवीए पडिमागतो रत्तिं मसएहिं खज्जइ, सो ते ण पमज्जति, सम्मं सहइ, रत्तीए पीयसोणितो कालगतो । एवं अहियासेव्वं । " इत्यवसितो दशमशकपरीषहः। उत्त० पाई० २ अ०।

दंसमसगपरीसहविजय-दंशमशकपरीषहविजय-पुं० । दंशमशकाऽऽदिव्यथापीडासहने, प० सं० । तथा दशपरीषह इत्यत्र दशग्रहणमशेषशरीरोपघातकसत्त्वोपलक्षणम् , यथा काकेभ्यो रक्षता सर्पिः, इत्यत्र काकग्रहणमुपघातकोपलक्षणम् । तेन दशमशकमक्षिकामत्कुणकीटपिपीलिकावृश्चिकाऽऽदिभिर्बाध्यमानस्यापि ततः स्थानादनपगच्छत, तेषां च दशमशकाऽऽदीनां त्रिविधं त्रिविधेन बाधामकुर्वतो, व्यजनाऽऽदिनाऽपि तान् न निवारयतो यत्सम्यक् दंशमशकाऽऽदिव्यथपीडासहनं स दशपरीषहविजयः। प० सं० ४ द्वार।

दंसमाण-दशत्-त्रि० । भक्षणं कुर्वति, " अप्पे जणे णिवारेइ लूसणए सुणए दसमाणे । " आचा० १ श्रु० ए अ० ३ उ०।

दंसिय-दर्शित-त्रि० । प्रकटिते, अनु० । प्रकाशिते च । उत्त० ९ अ० ।प्रज्ञा० ।

दक्ख-दक्ष-त्रि० । दक्ष-अच् । निपुणे, कल्प० ५ क्षण । सूत्र०। चतुरे, स्था० ७ ठा०। उत्त० । सूत्र०। शीघ्रकारिणि, उत्त०५ अ०। वृ० । नि०चू० ।ज्ञा० ।अनु०। भ० । सकलकलाकुशले, कल्प० ६ क्षण । कार्याणामविलम्बकारिणि, उपा० ७ अ० । जी०। आ० म० । कल्प० । रा० । उत्त०। भूतानन्दस्य नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य स्वनामख्याते पदात्यनीकाधिपतौ च । स्था० ५ ठा० १ उ०।

दक्खज्ज-पुं०। देशी-गृध्रे, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा।

दक्खत्त-दक्षत्व-न०। आश्रयकारित्वे, उत्त० ३ अ०।

साम्प्रतं दक्षत्व, तत्प्रसङ्गमाह-

सत्थाहसुओ दक्ख-त्तणेण सेट्ठीसुओ य रूवेण ।
बुद्धीए अमच्चसुओ, जीवइ पुन्नेहिँ रायसुओ ॥१९६॥
दक्खत्तणयं पुरिम-स्स पंचगं सइगमाहु सुंदेरं ।
बुद्धी पुण साहस्सा, सयसाहस्साइँ पुन्नाइं ॥ १ए७ ॥

दक्षत्व पुरुषस्य सार्थवाहसुतस्य पञ्चकमिति पञ्चरूपकफलम्। शातिक शतफलमाह सौन्दर्यं श्रेष्ठिपुत्रस्य। बुद्धि पुन सहस्रवती सहस्रफला मन्त्रिपुत्रस्य। शतसहस्राणि पुण्यानि शतसहस्रफलानि राजपुत्रस्येति गाथाऽक्षरार्थ । भावार्थस्तु कथानकादवसेय। तच्चेदम्-" जहा बम्भदत्तो कुमारो, कुमारामच्चपुत्तो, सेट्ठिपुत्तो, सत्थवाहपुत्तो । एते चउरो वि परोप्परं उल्लावेंति-जहा को भे केण जीवति?। तत्थ रायपुत्तेण भणिय-अहं पुन्नेहिं जीवामि । कुमारामच्चपुत्तेण भणियअहं बुद्धीए। सेट्ठिपुत्तेण भणिय-अहं रूवस्सित्तणेणं। सत्थवाहपुत्तो भणति-अहं दक्खत्तणेण। ते भणंति-अण्णत्थ गतु विण्णाणेमो। ते गया अन्नं नयरं जत्थ ण णज्जति । उज्जाणे आवासिता । दक्खस्स आदेसो दिन्नो-सिग्घं भत्तपरिव्वयं आणेहि । सो वीहिं गतुं एगस्स थेरवाणियगस्स आवणे ठिओ। तस्स बहुया कइया एति । तद्दिवस को वि ऊसवो, सो ण पहुप्पति पुडए बन्धेउं। ततो सत्थवाहपुत्तो दक्खत्तणेण जस्स जं उवउज्जति लवणतेल्लघयगुडसुंठिमिरियं एवमादि तस्स तं देति। अतिविसिट्ठो लाभो लद्धो। तुट्ठो भणति-तुम्हेऽत्थ आगतुया, उयाहु वत्थव्वया?। सो भणति-आगंतुया। तो अम्ह गिहे असणपरिग्गहं करेज्जह। सो भणति-अन्ने मम सहाया उज्जाणे अत्थति, तेहिं विणा णाहं भुजामि। तेण भणियं-सव्वे वि एतु, आगया। तेण तेसिं भत्तसमालहणतंबोलादि उवउत्तं, तं पचरूव रूवयाणं। वितीयदिवसे रूवस्सी वणियपुत्तो वुत्तोअज्ज तुमे दायव्वो भत्तपरिव्वओ। एवं भवउ त्ति सो उट्ठेऊण गणियापाडगं गओ अप्पयं मंडेउं। तत्थ य देवदत्ता नाम गणिया पुरिसवेसिणी बहूहिं रायपुत्तसेट्ठिपुत्ताऽऽदीहिं मग्गिया णेच्छति। तस्स य तं रूवसमुदायं दट्ठूण खुभिया। पडिदासियाए गतूण तीए माउए कहियं-जहा दारिया सुंदरजुवाणे दिट्ठिं देइ । तओ सा भणति-भण एयं मम गिहमणुवरोहेण एज्जह । इहेव भत्तवेलं करेज्जह । तहेव आगता। सइओ दव्ववओ कओ। तइयदिवसे बुद्धिमंतो अमच्चपुत्तो संदिट्ठो-अज्ज तुमे भत्तपरिव्वओ दायव्वो। एवं हवउ त्ति सो गओ करणसालं। तत्थ य तइओ दिवसो ववहारस्स छिज्जंतस्स परिच्छेदं न गच्छइ। दो सवत्तीओ। तासिं भत्ता उवरओ। एक्काए पुत्तो अत्थि, इतरी अपुत्ता य। सा तं दारयं णेहेण उवचरति, भणति य-मम पुत्तो। पुत्तमाया भणइ य-मम पुत्तो। तासिं न परिच्छिज्जइ। तेण भणितं-अहं छिंदामि ववहारं।दारओ दुहा कज्जतु, दव्वं पि दुहा एव। पुत्तमाया भणति-न मे दव्वेण कज्जं, दारगो वि तीए भवतु, जीवंतं पासिहामि पुत्तं । इतरी तुसिणीया अत्थति। ताहे पुत्तो मायाए दिन्नो। तहेव सहस्सं उवओगो। चउत्थे दिवसे रायपुत्तो भणितो-अज्ज रायपुत्त! तुम्हेहिं पुण्णाहिएहिं जोगवहणं वहियव्वं। एवं हवउ त्ति, तओ रायपुत्तो तेसिं अतियाओ णिग्गतुं उज्जाणे ठिओ। तम्मि य नयरे अपुत्तो राया मओ। आसो अहिवासिओ,जम्मि रुक्खच्छायाए रायपुत्तो निसण्णो सा ण वयत्त त्ति। तओ आसेण तस्सोवरि ठाइऊण हिंसित। राया य अभिसित्तो। अणेगाणि सयसहस्साणि जाताणि। एवं अत्थुप्पत्ती भवइ । दक्खत्तणं ति दारं गत ॥ इदाणिं सामत्थयदक्खत्तणयाणेहिं चउहिं जहा अत्थो विढप्पति। पढमं उदाहरणं-सीयालेण भमतेण हत्थी मओ दिट्ठो। सो चिंतेइ-लद्धो मए उवायएण ताव चिरकालस्स भक्खो जाव सीहो आगतो। तेण चिंतियं-सचिट्ठेण ठाइयव्वं । एतस्स सीहेण भणियं-किं अरे! भाइणेज्ज! अच्छिज्जति?। सीयालेण भणियं-आम ति माम!। सीहो भणति-किमेयं मयं ति?। सियालो भणति-हत्थी। केण मारिओ?। वग्घेण। सीहो चिंतेइ-कहमहं ऊणजातिएण मारियं भक्खामि?। गओ सीहो। णवरं वग्घो आगतो। तस्स कहियं-सीहेण मारिओ। सो पाणियं पाउं णिग्गतो। वग्घो नट्ठो। एस भेओ। जाव काओ आगतो। तेण चिंतियं-जइ एयस्स न देमि तो काउ काउ त्ति वासियसद्देण अण्णे कागा एहिंति। तेसिं कागरूणसद्देण सियालाऽऽ अन्ने बहवे एहिंति। किंत्तिया वारेहामि। अओ एतस्स उवप्पयाणं देमि, तेण तओ तस्स खंडं छित्ता दिण्णं। सो

तं घित्तूण गतो । जाव सियालो आगतो । तेण णायं-एयस्स इढेण वारणं करेमि, भिउडिं काऊण वेगो दिण्णो । णट्ठो सियालो । उक्तं च-" उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत् । नीचमल्पप्रदानेन, समं तुल्यपराक्रमैः ॥१॥ " इत्युक्तकथागाथाया भावार्थः ॥ १६६ ॥ १६७ ॥ दश० ३ अ० ।

दक्खत्तं भंते ! साहू,आलसियत्तं साहू ? । जयंती ! अत्थेगइयाणं जीवाणं दक्खत्तं साहू, अत्थेगइयाणं जीवाणं आलसियत्तं साहू । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-तं चेव ०जाव साहू ? । जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया० जाव विहरंति, एएसि णं जीवाणं आलसियत्तं साहू । एएसि णं जीवा अलसाउमाणा णो बहूणं जहा सुत्ता तहा अलसा भाणियव्वा, जहा जागरा तहा दक्खा भाणियव्वा० जाव संजोएत्तारो भवंति । एए णं जीवा दक्खा समाणा बहूहिं आयरियवेयावच्चेहिं उवज्झायवेयावच्चेहिं थेरवेयावच्चेहिं तवस्सिवेयावच्चेहिं गिलाणवेयावच्चेहिं सेहवेयावच्चेहिं कुलवेयावच्चेहिं गणवेयावच्चेहिं संघवेयावच्चेहिं साहम्मियवेयावच्चेहिं अत्ताणं संजोएत्तारो भवंति । एएसि णं जीवाणं दक्खत्तं साहू, से तेणट्ठेणं तं चेव० जाव साहू । भ० १२ श० २ उ० ।

दक्खपइण्ण-दक्षप्रतिज्ञ-पुं० । दक्षा निपुणा प्रतिज्ञा यस्य स तथा । समीचीनामेव प्रतिज्ञां करोति, तां च सम्यङ् निर्वाहयति । कृतायाः समीचीनप्रतिज्ञायाः सम्यङ्निर्वाहके, कल्प० ५ क्षण ।

दक्खा-द्राक्षा-स्त्री० । मृद्वीकायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्रव० ।

दक्खिण-दक्षिण-पुं० । दक्ष-इनन् । सर्वनायिकासु समानुरागे नायकभेदे, मध्यदेशाद्दक्षिणे देशे च । वाच० । जं० । ज्यो० । शरीरस्य दक्षिणे भागे, अनुत्तरे, सरल, परच्छन्दानुवर्तिनि, अवामभागस्थे, औदार्यवति च । त्रि० । वाच० । आ० म० । कल्प० ।

दक्खिणा-दक्षिणा-अव्य० । दिग्देशवृत्तेर्दक्षिणशब्दात् प्रथमापञ्चमीसप्तम्यर्थे आच् । प्रथमाऽद्यर्थविशेषिते दक्षिणदिग्देशार्थे याम्यदिशि, यज्ञशेषे कर्मणि साङ्गतार्थं देये द्रव्ये च । वाच० । दाने, सू० १ श्रु० १६ अ० । आ० म० । "दक्खिणाए पडिलंभो, अत्थि वा णत्थि वा पुणो ।" सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । स्त्री० । यज्ञपत्न्याम्, "अध्वरस्येव दक्षिणा ।" इति रघु । प्रतिष्ठायाम्, दक्षिणकालिकायां रुचिप्रजापते कन्यायाम्, परिच्छन्दे, नायिकाभेदे च । स्त्री० । वाच० ।

दक्खिणायण-दक्षिणाऽयन-न० । दक्षिणस्यामयनं गमनम् । तत् यस्मिन् काले, कर्कटे या रविसंक्रमणे तदादि षण्मासे काले च । वाच० । ज्यो० (अत्राधिकं तु ' अयण ' शब्दे प्रथमभागे ७५० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

दक्खिणावह-दक्षिणापथ-पुं० । ७ त० । अङ्कवद्यन्तिनगरीमतिक्रम्य दक्षिणदिग्वर्तिदेशभेदे, वाच० । " इतो य वइरस्सामी दक्खिणावहे विहरइ ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । वाच० ।

दक्खिण्ण-दाक्षिण्य-न० । दक्षिणस्य भावः ष्यञ् । अनुकूलत्वे, दर्श० १ तत्त्व । दक्षिणार्हे ऋत्विजि, वाच० । मार्दवे, द्वा० ६ द्वा० ।

दाक्षिण्यलक्षणमाह-

दाक्षिण्यं परकृत्ये-ष्वपि योगपरः शुभाऽऽशयो ज्ञेयः ।
गाम्भीर्यधैर्यसचिवो, मात्सर्यविघातकृत् परमः ॥ ४ ॥

दाक्षिण्यं पूर्वोक्तस्वरूपं परकृत्येष्वपि परकार्येष्वपि योगपर उत्साहपरः शुभाऽऽशयः शुभपरिणामो ज्ञेयः, गाम्भीर्यधैर्यसचिवः परैरलक्ष्यमध्यो गम्भीरस्तद्भावो गाम्भीर्यं, धैर्यं धीरता स्थिरत्वं ते गाम्भीर्यधैर्ये सचिवौ सहायावस्येति, मात्सर्यविघातकृत् परप्रशमासहिष्णुत्वविघातकृत्, परमः प्रधानः शुभाऽऽशय इति ॥ ४ ॥ षो० ४ विव० ।

दक्खु-दक्ष-त्रि० निपुणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दृष्ट-न० । दर्शने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

पश्य-पुं० पश्यतीति पश्यः । दर्शके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दग-दक-न० । पानीये, ग० ३ अधि० । स्था० । प्रश्न० । आ० म० । दश० । प्रज्ञा० । नि० चू० । कल्प० । बृ० । अप्काये, आ० चू० ४ अ० । आव० । अष्टाशीतिमहाग्रहान्तर्गते स्वनामख्याते ग्रहे, च० प्र० २० पाहु० । " दो दगा । " स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० । सू० प्र० ।

दगकलसग-दककलशक-पुं० । उदकभृते भृङ्गारे, रा० ।

दगकुंभग-दककुम्भक-पुं० । दकघटे, रा० ।

दगगब्भ-दकगर्भ-पुं० । दकस्योदकस्य गर्भा इव गर्भा दकगर्भाः । कालान्तरे जलवर्षणस्य हेतुषु तत्सूचकेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० । (चतुर्द्धा दकगर्भाः 'उदगगब्भ' शब्दे द्वितीयभागे ७७१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

दगछड्डण-दकछर्दन-न० । उदकप्रतिष्ठापने, उदकप्रक्षेपस्थाने च । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

दगछड्डणमत्तय-दकछर्दनमात्रक-पुं० । उदकप्रतिष्ठापनमात्रके, उपकरणधावनोदकप्रक्षेपस्थाने च । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

दगणिग्गम-उदकनिर्गम-पुं० । जलवाणिकायाम्, नि० चू० १० उ० ।

दगतीर-उदकतीर-न० । उदकाऽऽकरायतो नीयते उदकं तस्मिन्, नि० चू० १६ उ० । उदकोपकण्ठे, बृ० १ उ० ।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा दगतीरंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा तुयट्टित्तए वा णिद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारमाहारित्तए, उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए, सज्झायं वा करित्तए, धम्मं जागरित्तए, झाणं वा झाइत्तए, काउस्सग्गं वा ठाणं ठाइत्तए ॥ १९ ॥

न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा दकतीरे उदकोपकण्ठे स्थातुं वा ऊर्द्धस्थितस्यासितुम्, निषत्तुं वा उपविष्टस्य स्थातुम्, त्वग्वर्त्तयितुं वा दीर्घं कायं प्रसारयितुम्, निद्रायितुं वा सुखप्रतिबोधावस्थया निद्रया शयितुम्, प्रचलायितुं वा स्थितस्य स्वप्तुम्, अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वाऽऽहारमाहारयितुम्, उच्चारं वा प्रस्रवणं वा खेलं वा सिङ्घाणं वा परिष्ठापयितुम्, स्वाध्यायं वा वाचनाऽऽदिकं कर्तुम्, धर्मं ध्यानलक्षणं जागरयितुम्, धातूनामनेकार्थत्वात् (झाणं वा झाइत्तए) ध्यानमनुस्मर्तुमिति, कायोत्सर्गं वा चेष्टाऽभिभवभेदाद् द्विविधकायोत्सर्गलक्षणं स्थानं स्थातुं, कर्तुमित्यर्थः । एष सूत्रार्थः ॥१९॥

अथ निर्युक्तिविस्तरः-

दगतीरे चिट्ठणाऽऽदी, जूवगे आयावणा य बोधव्वा ।
लहुओ लहुया लहुया, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥२५२॥

दकतीरे स्थानाऽऽदीनि कुर्वन् प्रत्येकं लघुको मासः, यूपके वक्ष्यमाणलक्षणे एतानि गृह्णन्ति चतुर्लघुकाः, आतापना प्रतीता, तामपि दकतीरे कुर्वन् चतुर्लघुकाः प्रायश्चित्तं बोध्यम्, तत्रापि प्रत्येकमाज्ञाऽऽदयो दोषाः ।

अत्र दकतीरस्य प्रमाणे च आदेशाः सन्ति, तानेव दर्शयति-

नयणे पूरे दिट्ठे, तडि सिंचण वीइमेव पुट्ठे य ।
अत्थंते आरण्णय-गामपसुमणुस्सइत्थीओ ॥ २५३ ॥

नोदक आह-उदकाऽऽकरायतोदकं नीयते तदुदकतीरम् । यावन्मात्रं नदीपूरेणाऽऽक्रम्यते तदुदकतीरम् । यद्वा-यत्र स्थितैर्जलं दृश्यते तदुदकतीरम् । अथवा-या नद्यास्तटी भवति । यदि वा-यत्र जले स्थिते जलस्थितेन शृङ्गकाऽऽदिना सिच्यते । अथ यावन्तं भूभागं वीचयः स्पृशन्ति । यदि वा यावान् प्रदेशो जलेन स्पृष्टः एतदुदकतीरम् । सूरिराह-यानि त्वया दकतीरलक्षणानि प्रतिपादितानि, तानि न भवन्तीति, किं तु आरण्यका ग्रामेयका वा पशवो मनुष्याः स्त्रियो वा जलार्थिन आगच्छन्तः साधुं यत्र स्थितं दृष्ट्वा तिष्ठन्ति, निवर्तन्ते वा तदुदकतीरमुच्यते ।

एतदेव सविशेषमाह-

सिंचणवीईपुट्ठा, दगतीरं होइ न पुण तम्मत्तं ।
ओतरिउत्तरिउमणा, जहिं दट्ठु तसंति तं तीरं ॥२५४॥

नयनपूरदृष्टप्रभृतीनां सप्तानामादेशानां मध्याच्चरमाणि त्रीणि सिञ्चनवीचिस्पृष्टलक्षणानि दकतीरं भवन्ति, न पुनस्तावन्मात्रमेव, किं तु आरण्यका ग्रामेयका वा तिर्यग्मनुष्या जलपानाऽऽद्यर्थमवतरीतुमुत्तरीतुमनसो जलचरा वा यत्र स्थितं साधुं दृष्ट्वा त्रस्यन्ति, तदव्यभिचारि दकतीरमुच्यते ।

तत्र च स्थाननिषीदनाऽऽदिकरणे दोषान् दर्शयति-

अहिगरणमंतराए, छेदण उसास अणहियासे य ।
आहणण सिंच जलचर-खहचरथलपाणाण वित्तासो ॥२५५॥

दकतीरे तिष्ठतः साधोरधिकरणं वक्ष्यमाणलक्षणं, बहूनां च प्राणिनामन्तरायं भवति । तथा साधोः सम्बन्धिनीनां पादरेणूनां छेदनकाः सूक्ष्मावयवरूपा उड्डीय पानीये निपतेयुः । यद्वा-छेदनं नाम ते प्राणिनः साधुं दृष्ट्वा प्रतिनिवृत्ताः सन्तो हरिताऽऽदिच्छेदनं कुर्वते । (ऊसास त्ति) उच्छ्वासविमुक्ताः पुद्गला जले निपतन्ति, ततोऽप्कायविराधना । यदि वा तेषां प्राणिनां तृषाऽऽर्त्तानामुच्छ्वासोदञ्चनं भवेत्, मरणमित्यर्थः । (अणहियासे इति) अनधिसहास्तृषामसहिष्णवस्ते अतीर्थे जलमवतरेयुः, साधुर्वा कश्चिदनधिसहस्तृषार्त्तः पानीयं पिबेत्, दुष्टगवाऽऽदिना वा तस्याऽऽहननं भवेत्, दकतीरस्थितं वा अनुकम्पया प्रत्यनीकतया वा कश्चिद् दृष्ट्वा सिञ्चनं कुर्यात्, जलचरखचरस्थलचरप्राणिनां च वित्रासो भवेत् ।

तत्राधिकरणं व्याचिख्यासुराह-

दट्ठूण वा नियत्तण, अभिहणणं वा वि अन्नरूवेणं ।
गामाऽऽरण्णपसूणं, जा जहिं आरोवणा भणिया ॥२५६॥

साधुं दृष्ट्वा आरण्यकाऽऽदिप्राणिनां निवर्त्तनं भवति । अभिहननं वा परस्परं तेषां भवेत् । (अन्नरूवेण त्ति) अन्यतीर्थेन वा ते जलमवतरेयुः । तेषां च ग्रामाऽऽरण्यपशूनां निवर्त्तनाऽऽदौ षट्कायोपमर्दः सम्भवेत् । " छक्काय चउसु लहुगा " इत्यादिना या यत्राऽऽरोपणा सा तत्र द्रष्टव्या । एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति-

पाणिपयनियत्तमाण-म्मि अतराय च विमरणे चरिमं ।

सिग्घगइ तंनिमित्तं, अभिघातो काय आयाए॥२५७॥

आरण्यकास्तिर्यञ्च तिर्यक्स्त्रियो वा पानीयं पिपासव इत्याशया तीर्थाभिमुखमायान्तः साधुं दृष्ट्वा, दकतीरस्थितं वा दृष्ट्वा प्रतिपथेन निवर्त्तन्ते, निवर्त्तमाने च तत्राऽऽरण्यकप्राणिगणे साधोरधिकरणं भवति। तेषां च तृषाऽऽर्त्तानामन्तरायं,चशब्दात् परितापना च कृता भवति। तत्रैकस्मिन् परितापिते छेदः, द्वयोस्तु मूलं, त्रिष्वनवस्थाप्यं, चतुर्षु परितापितेषु पाराञ्चिकम्। एतेनान्तरायपदं व्याख्यातम्। (तिमरणे चरिम ति) यद्येकस्तृषाऽऽर्त्तो म्रियते ततो मूलं, द्वयोर्म्रियमाणयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु म्रियमाणेषु साधोः पाराञ्चिकम्। एतेनोच्छ्वासपदं विवृतम्। साधुं दृष्ट्वा ते तिर्यञ्चो भीताः शीघ्रगत्या पलायमाना अन्यमन्योऽन्यं वा अभिघातयेयुः, षट्कायानां वा तन्निमित्तमभिघातं विदध्युः। तत्र " छक्काय चउसु लहुगा " इत्यादिकं कायविराधनानिष्पन्नं प्रायश्चित्तम्,तृषिता वा तिर्यञ्चस्तस्यैव साधोराहननाऽऽदिना आत्मविराधनां कुर्युः। अनेन हननपदं व्याख्यातम्।

" अणहियासे अन्नरूवेण (२५६)" इति पदद्वयं भावयति-

अतमे पवाते मो चे-व मग्गो अपरिहुत्तहरियाऽऽदी।

ओवगे कूमे मगरा, जइ घुंटे तसे य दुहओ वि॥२५८॥

अथ तृषामसहिष्णवस्ते गवादय अतटेनाऽदीर्घेण वाऽवतरेयुः, छिन्नटङ्के वाऽवपातं दद्युः,ततः परितापनाऽऽद्युत्था सैवाऽऽरोपणा। अथ वा स एवाऽऽभिनवो मार्गः प्रवर्त्तते, तत्र चापरिभुक्तेन वा काशेन गच्छन्तो हरिताऽऽदीनां छेदनं कुर्युः, तत्र तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। एतेन छेदनपदं व्याख्यातम्। (ओवग त्ति) गर्त्ता, तत्र प्रपतेयुः, अतीर्थे वा केनचित् कूटं स्थापितं भवेत् तेन कूटेन बद्धा विनाशमश्नुवते। एतोपि छेदनपदं व्याख्यातम्। उदकेन वा जलमवतीर्णा मकराऽऽदिभिः कवली क्रियन्ते। अन्यतीर्थेनातीर्थेन वा साधुनिमित्तमवतीर्णास्तु समविरहिते अप्काये यावतः घुण्टान् कुर्वन्ति तावन्ति चतुर्लघूनि। (तसे य त्ति) अचित्ते अप्काये यदि द्वीन्द्रियमश्नाति ततः षड्लघुकं, चतुरिन्द्रिये छेदः, पञ्चेन्द्रिये एकस्मिन् मूलं, द्वयोरनवस्थाप्यम्, त्रिषु पञ्चेन्द्रियेषु पाराञ्चिकम्। (दुहओ वि त्ति) यत्राप्कायोऽपि, सचित्तद्वीन्द्रियाऽऽदयश्च त्रसास्तत्र द्वाभ्यामप्कायत्रसविराधनाभ्यां निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। सर्वत्रापि च द्वीन्द्रियेषु षट्सु त्रीन्द्रियेषु ....(?) चतुरिन्द्रियेषु चतुर्षु पञ्चेन्द्रियेषु त्रिषु पाराञ्चिकम्। एते तावदारण्यकतिर्यक्समुत्था दोषा उक्ताः।

अथ ग्रामेयकतिर्यक्समुत्थान् दोषानुपदर्शयति-

गामेयकुच्छियाऽकु-च्छिया य एक्केक्क दुट्ठऽदुट्ठा य।

दुट्ठा जह आरण्णा, दुगुंछियऽदुगुंछिया नेया॥ २५९ ॥

ते ग्रामेयकास्तिर्यञ्चो द्विविधाः -कुत्सिता जुगुप्सिताः, अकुत्सिता अजुगुप्सिताः, ते द्वयेऽपि यथा आरण्यकास्तथैव दोषानाश्रित्य ज्ञेयाः, जुगुप्सिताः साधुना गर्दभाऽऽदयः, अजुगुप्सिता गवाऽऽदयः। पुनरेकैके द्विविधाः -दुष्टा अदुष्टाश्च। तत्र ये जुगुप्सिता अजुगुप्सिता दुष्टास्ते द्वयेऽपि यथा आरण्यकास्तथैव दोषानाश्रित्य ज्ञेयाः। ये अजुगुप्सिता अदुष्टास्तेष्वपि यथासंभवं दोषाः उपयुज्य वक्तव्याः।

यत्पुन जुगुप्सिता अदुष्टास्तेषु दोषानाह-

सुत्तिसरदोसे कु-च्छियपडिणीयओभे गिण्हणाऽऽदीया।

आरण्णमणुयथीसु वि, ते चेव नियत्तणाऽऽईया॥२६०॥

येन साधुना महाशब्दिका,या जुगुप्सिता तिरश्ची-गृहस्थकाले भुक्ता, तस्य तां दृष्ट्वा स्मृतिः, इतरस्य कौतुकम्, एवं भुक्ताभुक्तसमुत्था दोषा भवन्ति। अथवा तासु जुगुप्सितासु तिरश्चीसु पार्श्ववर्तिनीषु प्रत्यनीकः कोऽपि (ओभ त्ति) अभ्याख्यानं दद्यात्-" मयैष श्रमणको महाशब्दिकां प्रतिसेवमानो दृष्टः। " इति। तत्र ग्रहणाऽऽकर्षणप्रभृतयो दोषाः। एवं ग्रामेयकाऽऽरण्यकेषु तिर्यक्षु दोषा उपदर्शिताः। अथ मनुष्येष्वभिधीयते-(आरण्णा इत्यादि) मनुष्या द्विविधाः -आरण्यकाः, ग्रामेयकाश्च। तत्राऽऽरण्यकेषु पुरुषेषु त एव दोषाः, स्त्रीष्वप्यारण्यकासु त एव निवर्त्तनान्तरायाऽऽदयो दोषाः।

एते चान्ये अभ्यधिकाः -

पायं अपाउयाओ, सवराईआ तहेव निच्छेका।

आरियपुरिसकुतूहल, आउभय पुलिंद आसु वहे॥२६१॥

प्रायो बाहुल्येन शबरीप्रभृतयः आरण्यका अनार्यस्त्रियोऽप्रावृता वस्त्रविरहिता निश्छेका निर्लज्जाश्च भवन्ति, ततः साधुं दृष्ट्वा आर्योऽयं पुरुष इति कृत्वा कौतूहलेन तत्राऽऽगच्छेयुः,ताश्च दृष्ट्वा साधोरात्मपरोभयसमुत्था दोषा भवेयुः। तदीयपुलिन्दश्च ता साधुसमीपाऽऽयाताः विलोक्य ईर्ष्याभरेण प्रेरितः साधोः, पुलिन्द्याः, उभयस्य वा आशु शीघ्रं वधं कुर्यात्।

थीपुरिसअणायारे, खोभो सागारियं ति वा पहणे।

गामित्थीपुरिसेहि वि, तच्चिय दोसा इमे अन्ने॥२६२॥

अथवा स पुलिन्दः पुलिन्द्या सहानाचारमाचरेत्, ततः स्त्रीपुरुषानाचारे दृष्टे चित्तक्षोभो भवेत्, क्षुभिते च चित्ते प्रतिगमनाऽऽदयो दोषाः। यद्वा-स पुलिन्दस्तां प्रतिसेवितुकामः सागारिकमिति कृत्वा तं साधुं प्रहण्यात्। एते आरण्यकेषु स्त्रीपुरुषेषु दोषा उक्ताः। ग्रामेयकस्त्रीपुरुषेष्वपि त एव दोषाः। एते चाऽन्येऽधिका भवन्ति-

चङ्कमणं निल्लेवण, चिट्ठिता तम्मि चेवपाडियं तु।

अत्थते सकापड, मज्जण दट्ठुं गतीकरणं॥ २६३ ॥

चङ्क्रमणं, निर्लेपनं वा तत्र गृहस्थः कर्त्तुकामोऽपि साधुं दृष्ट्वा कश्चिदन्यत्र गत्वा करोति,कश्चित्तु तत्र तीर्थे साधुसमीपे गत्वा करोति, तथा (चिट्ठित त्ति) कश्चिद् गृहस्थः साधुना सह गोष्ठीनिमित्तं तत्र स्थित्वा पश्चादन्यत्र गच्छति, एवमधिकं तत्र। तथा दकतीरे तिष्ठति साधौ गृहस्थाः [illegible] प्रतिगमनाऽऽदि जायते, मज्जनं च विधीयमानं दृष्ट्वा स्मृतिकौतुके भुक्ताभुक्तानाम्, उपलक्षणत्वात् अन्येऽपि दोषाः [illegible]।

एतदेवाह निर्युक्तिगाथा द्विवृणोति-

स्यमाण साधु विलोक्य तत्राऽऽगत्य चङ्क्रम्यते । एवमाचमन निर्लेपन तत्कर्तुकामः,संज्ञा वा व्युत्स्रष्टुकामः साधु दृष्ट्वा अन्यत्र गत्वा, अन्यतो वा तत्राऽऽगत्य निर्लेपयति, व्युत्सृजति वा । तथा कश्चिदगारो गन्तुकामोऽपरकूले चङ्क्रम्यमाण साधु निरीक्ष्य (कोनामि त्ति) गोष्ठीं, तां साधुना सह करिष्यामीति मत्वा तदर्थं चङ्क्रमण कर्तुं परकूलादपि तत्राऽऽगच्छति,सर्वत्र साधुनिमित्तमागच्छत्यागतस्तिष्ठति च षट्कायान् विराधयेत् ।

" अत्थते सकापय (२६३) " इत्यत्राऽऽह-

दगमेहुणसंकाए, लहुगा गुरुगा उ मूल निस्संके ।
दगतूरकोंचवीरग–पयसकेसादलंकारे ॥ २६५ ॥

साधु दकतीरे तिष्ठन्त दृष्ट्वा कश्चिदगारः शङ्कां कुर्यात्-किमेष उदकपानार्थं तिष्ठति, उत मैथुने दत्तसकेतां काञ्चिदागच्छन्तीं प्रतीक्षते । तत्रोदकपानशङ्कायां चतुर्लघु, मैथुनाऽऽशङ्कायां चतुर्गुरु, नि शङ्किते मूलम् । "मज्जण दढ सतीकरण (२६३) " इति पद व्याख्यायते । कोऽपि मज्जन कुर्वस्तथा कथञ्चिज्जलमास्फालयति यथा दकतूर्यमुदके मुखाऽऽदितूर्याणां शब्दो भवति । यद्वा–कोऽपि क्रौञ्चवीरकेण जलमाहिण्डते,क्रौञ्चवीरको नाम-पेट्टासदृशो जलयाननिवेशः । (पयस त्ति) स्नात्वा पटवासाऽऽदिभि स्वशरीर कोऽपि प्रघर्षति । यद्वा-(केसादलकारे त्ति) केशवस्त्रमाल्याऽऽभरणालङ्कारैरात्मानमलङ्करोति, एतद् मज्जनाऽऽदिक दृष्ट्वा भुक्ताभुक्तसमुत्था स्मृत्यादयो दोषाः । एव पुरुषेषु भणिताः ।

अथ स्त्रीदोषान् दर्शयति-

मज्जणवहणट्ठाणे–सु अत्थते इत्थियं ति गहणाऽऽदी ।
एमेव कुच्छितेतर–इत्थी सविसेस मिहुणेसु ॥ २६६ ॥

सपरिग्रहस्त्रीणा वसन्ताऽऽदिपर्वणि, अन्यत्र वा या जलक्रीडा, यद्वा सामान्यतो मलदाहोपशमनार्थं स्नान, तन्मज्जनमुच्यते । तेषु जलवहनस्थानेषु स्त्रीणां सबन्धिषु तिष्ठन्त त दृष्ट्वा तदीयो ज्ञातिवर्गश्चिन्तयति-अस्मदीयस्त्रीणां मज्जनाऽऽदिस्थाने एष श्रमणः परिभवेन कामयमानो वा तिष्ठति, ततो दुष्टशील इतिकृत्वा ग्रहणाऽऽकर्षणाऽऽदीनि कुर्यात् । याः पुनरपि गृहस्त्रियस्ताः कुत्सिता रजक्यादयः, इतरा अकुत्सिता ब्राह्मण्यादयः,तत्राप्येवमेवाऽऽत्मपरोभयसमुत्थाऽऽद्यो दोषाः । मिथुनेषु स्त्रीपुरुषेषु मैथुनक्रीडया रममाणेषु सविशेषतरा दोषा भवन्ति । ये च चङ्क्रमणाऽऽदयो दोषा पूर्वमुक्तास्तेऽप्यत्र तथैव द्रष्टव्याः । यत एते दोषा अतो दकतीरे अमूनि सूत्रोक्ताऽऽदीनि न कुर्यात् ।

चिट्ठणनिसीयणया, तुयट्ट निद्दा य पयल सज्झाए ।
झाणाऽऽहारवियारे, काउस्सग्गे य मासलहु ॥ २६७ ॥

स्थाने १ निषदने २ त्वग्वर्तने ३ निद्रायां ४ प्रचलायां ५ स्वाध्याये ६ ध्याने ७ आहारे ८ विचारे ९ कायोत्सर्गे चेति १० दशसु पदेषु दकतीरे विधीयमानेषु प्रत्येक मासलघु, असमाचारीनिष्पन्न मिति भाव । (बृ०) (निद्रास्वरूप ' णिद्दा ' शब्दे तथा-निद्रानिद्रास्वरूप च ' णिद्दाणिद्दा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०७२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (प्रचलास्वरूप ' पयला ' शब्दे वक्ष्यते, प्रचलाप्रचलास्वरूप च ' पयलापयला ' शब्दे वक्ष्यते)

अथ विस्तरत प्रायश्चित्त वर्णयितुकाम आह-

सपाइमे असंपा–इमे य दिट्ठे तहेव अदिट्ठे ।
पणगं लहु गुरु लहुगा,गुरुग अहालंदपोरिसीअहिया२६८

दकतीरे सपातिमे असपातिमे वा उभयस्मिन्नपि वक्ष्यमाणलक्षणे दृष्टोऽदृष्टो वा तिष्ठति, कियन्त पुन' कालमित्याह-यथालन्दपौरुषीम् । तत्र यथालन्द त्रिधा-जघन्य, मध्यमम्, उत्कृष्ट वा । तत्र तरुणस्त्रिया उदकार्द्रः करो यावता कालेन शुष्यति तज्जघन्यम्, उत्कृष्ट पूर्वकोटीप्रमाणम् । तयोरपान्तराले सर्वमपि मध्यमम् । तत्र जघन्येन यथालन्देनाधिकार । एत्र यथालन्दाऽऽदिभेदात्त्रिविध काल दकतीरे तिष्ठतः पञ्चक लघुको • • (?) गुरुकाश्चत्वारो मासाः प्रायश्चित्तम् । एतदुपरिष्टाद्व्यक्तीकरिष्यते ।

अथ संपातिमासंपातिमपदे व्याख्याति-

जलजा तु असंपाती, संपातिम सेसगा उ पंचिंदी ।
अहवा मोत्तु विहंगे, होंति असंपातिमा सेसा ॥२७०॥

जलजा मत्स्यमण्डूकाऽऽदय., तेऽसपातिमाः तैर्युक दकतीरमप्यसपातिमम् । शेषाः पञ्चेन्द्रियस्थलचराः खेचरा वा ये ऽन्तरादागत्य सपतन्ति ते सपातिमा.,तैर्युक्त तत्सपातिमम् । अथवा-विहङ्गाः पक्षिणो यत्राऽऽगत्य सपतन्ति तत्सपातिमम्, तान् मुक्त्वा शेषा स्थलचरा जलचरा वा सर्वेऽप्यसपातिमाः, तद्युक्त दकतीरमसपातिमम् ।

अथ पूर्वोक्त प्रायश्चित्त व्यक्तीकुर्वन्नाह-

असंपाइ अहालं–दे अदिट्ठे पंच दिट्ठि मासो उ ।
पोरिसि अदिट्ठि दिट्ठे, लहुगुरु अहिगुरुगलहुआओ ।२७१।

असपातिमे दकतीरे जघन्य यथालन्दमदृष्टस्तिष्ठति प-ञ्चरात्रिन्दिवानि, दृष्टस्तिष्ठति मासलघु, असपातिमे पौरुषीमदृष्टस्तिष्ठति मासलघु, दृष्टस्तिष्ठति मासगुरु, अधिकां पौरुषीमदृष्टस्तिष्ठति मासगुरु, दृष्टस्तिष्ठति चतुर्लघु । एवमसपातिमे भणितम् ।

संपाइमे वि एवं, मासादी नवरि ठाइ चउगुरुए ।
भिक्खूवसभायरिए, तवकालविसेसिया अहवा ।२७२।

सपातिमेऽप्येवमेवार्द्धापक्रान्त्या प्रायश्चित्त द्रष्टव्यम्,नवरं लघुमासादारभ्य चतुर्गुरुके तिष्ठति एतद्दोषत प्रायश्चित्तमुक्तम् । अथवा-एतान्येव भिक्षुवृषभाभिषेकाऽऽचार्याणां तप कालविशेषितानि भवन्ति । तथाहि-पूर्वोक्त सर्वमपि प्रायश्चित्त भिक्षोस्तपसा कालेन च लघुकम्,वृषभस्य कालगुरु तपोलघु, अभिषेकस्य तपोगुरु काललघु, आचार्यस्य तपसा कालेन च गुरुकम् । अत्र चाभिषेकपद गाथायामनुक्तमपि 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति न्यायात्प्रतिपत्तव्यम् । एष द्वितीय आदेशः ।

अहवा भिक्खुस्सेवं, वसभे लहुगाइ ठाइ छल्लहुए ।
अभिसेगे गुरुगादी, छग्गुरुलहुछेदों (?) आयरिए ।२७३।

अथ यदेतत्प्रायश्चित्तमुक्त तद्भिक्षोर्द्रष्टव्यम् । वृषभस्य तु मासलघुकादारभ्य षड्लघुके तिष्ठति, तत्रासपातिमे यथालन्दपौरुषीसमधिकपौरुषीषु दृष्टादृष्टयोर्मासलघुकादारभ्य चतुर्गुरुके तिष्ठति, सपातिमे एतेष्वेव स्थानेषु मासगुरुकादारभ्य षड्लघुके पर्यवस्यति । अभिषेकस्योपाध्यायस्य असपातिमे मासगुरुकादारभ्य षड्लघुके तिष्ठति, स पातिमे चतुर्लघुकादारभ्य षड्गुरुके तिष्ठति, आचार्यस्य च-

तुर्लघुकादारभ्य षड्गुरुके तिष्ठन्ति, सपातिमे चतुर्गुरुकादारभ्य छेदे निष्ठामुपगच्छति। एष तृतीय आदेशः ।

अथ चतुर्थमादेशमाह-

अहवा पंचण्हं स-जईण समणाण चेव पंचण्हं ।
पणगादी आरद्धं, नेयव्वं जाव चरिमपदं ॥२७४॥

अथवा क्षुल्लकाऽऽदिभेदात् पञ्चानां संयतीनां, श्रमणानां चैव पञ्चानां पञ्चकाऽऽदेरारब्धं प्रायश्चित्तं तावन्नेतव्यं यावच्चरमपदं पाराञ्चिकम् ।

एतदेव सविशेषमाह-

संजइ संजय तह सं-पऽसंप अहलंदपोरिसीअहिया ।
चिट्ठाई अदिट्ठे, दिट्ठे पणगाइ जा चरिमं ॥ २७५ ॥

संयत्यः-क्षुल्लिका, स्थविरा, भिक्षुणी, अभिषेका, प्रवर्तिनी चेति पञ्चविधा, संयता अपि क्षुल्लकस्थविरभिक्षुकोपाध्यायाऽऽचार्यभेदात् पञ्चधा। (सपऽसप त्ति) सूचकत्वात् सूत्रस्य सपातिममसपातिमं वा दकतीरं यथालन्दपौरुष्यधिकपौरुषीलक्षणं कालत्रयं, स्थाननिषदनाऽऽदीनि च दशपदानि, अदृष्टे दृष्टे चेति पदद्वयम्, एतेषु पदेषु पञ्चकाऽऽदिकं चरमप्रायश्चित्तं यावन्नेतव्यम् ।

कियन्ति पुनः प्रायश्चित्तस्थानानि भवन्तीति दर्शयति-

पण दस पनरस वीसा, पणवीसा मास चउरो छच्चेव ।
लहु गुरुगा सव्वेते, छेदो मूलं दुगं चेव ॥ २७६ ॥

पञ्चरात्रिन्दिवानि, दशरात्रिन्दिवानि, पञ्चदशरात्रिन्दिवानि, विंशतिरात्रिन्दिवानि, पञ्चविंशतिरात्रिन्दिवानि, मासिकं, चत्वारो मासाः, षण्मासाश्च । एतानि सर्वाणि लघुकानि गुरुकाणि च । तद्यथा-लघुकं पञ्चरात्रिन्दिवानि इत्यादि । एतानि षोडश संजातानि । छेदो, मूलं, द्विकं चैव-अनवस्थाप्यपाराञ्चिकं युगम् । एवं विंशतिरात्रिन्दिवानि प्रायश्चित्तस्थानानि भवन्ति ।

अथाऽमीषामेव पदानां चारणिकां कुर्वन्नाह-

पणगाइ असपाइम, सपाइम दिट्ठमेवऽदिट्ठे य ।
चउगुरुए ठाइ खुड्डी, सेसाणं वुड्ढि एक्केक्कं ॥ २७७ ॥

असपातिमे यथालन्दमदृष्टा क्षुल्लिका तिष्ठति लघुपञ्चकं, दृष्टा तिष्ठति गुरुपञ्चकं, पौरुषीमदृष्टा तिष्ठति गुरुपञ्चकं, दृष्टा तिष्ठति लघुदशकम्, अधिकपौरुषीमदृष्टा तिष्ठति लघुदशकम्, दृष्टाया गुरुदशकम् । सपातिमे यथालन्दमदृष्टा तिष्ठति गुरुपञ्चकं, दृष्टा तिष्ठति लघुदशकं, पौरुषीमदृष्टा तिष्ठति लघुदशकं, दृष्टाया गुरुदशकं, समधिकां पौरुषीमदृष्टायां तिष्ठन्त्या गुरुदशकम्, दृष्टाया लघुपञ्चदशकम् । एवमूर्द्धस्थानमाश्रित्योक्तम् । निषीदन्त्यास्तु गुरुकं पञ्चरात्रिन्दिवेभ्यः प्रारभ्य गुरुपञ्चदशरात्रिन्दिवेषु, त्वग्वर्तनं कुर्वत्या लघुदशरात्रिन्दिवादारभ्य लघुविंशतिरात्रिन्दिवेषु, एवं निद्रायमाणाया गुरुविंशतिरात्रिन्दिवेषु, उच्चारप्रस्रवणे आचरन्त्या लघुमासे, स्वाध्यायं विदधानाया मासगुरुके, धर्मजागरिकया जाग्रत्याश्चतुर्लघुके, कायोत्सर्गं कुर्वत्याश्चतुर्गुरुके इति । एवं क्षुल्लिकायाः प्रायश्चित्तमुक्तम् । शेषाणां तु स्थविराऽऽदीनामेकैकं स्थानमुपरि वर्द्धते, अधस्ताच्च एकैकं स्थानं हीयते । स्थविराया गुरुपञ्चकादारब्धं षड्लघुकं यावद् भिक्षुण्या लघुदशकादारब्धं षड्गुरुकान्तम् । अभिषेकाया गुरुदशकादारब्धं छेदपर्यन्तम् । प्रवर्तिन्या लघुपञ्चदशकादारब्धं मूलान्तमवसातव्यम् ।

एतदेवाऽऽह-

छल्लहुए ठाइ थेरी, भिक्खुणि छग्गुरुए छेदे गणिणी तु ।
मूले पवत्तिणी पुण, जह भिक्खुणि खुड्डए एवं ॥२७८॥

स्थविरा षड्लघुके, भिक्षुणी षड्गुरुके, गणिनी-अभिषेका, सा छेदे, प्रवर्तिनी पुनर्मूले तिष्ठतीति । यथा च भिक्षुण्यामेव क्षुल्लकेऽपि द्रष्टव्यम् । दशभ्यो लघुरात्रिन्दिवेभ्यः षड्गुरुकान्तमसपातिमाऽऽदिषु प्रायश्चित्तं भवतीत्यर्थः ।

गणिणिसरिसो उ थेरो, पवत्तिणिविभागसरिसओ भिक्खू ।
अट्ठुक्कंती एवं, सपयं सपयं गणिगुरूणं ॥ २७९ ॥

गणिनी अभिषेका, तस्याः सदृशः स्थविरो, यथा अभिषेकायाः गुरुदशकमादौ कृत्वा छेदान्तं भणितं, तथा स्थविरस्यापि भणनीयमिति भावः । प्रवर्तिन्याः प्रायश्चित्तविभागेन सदृशो भिक्षुर्भवति, लघुपञ्चदशकात्प्रभृति मूलान्तं प्रायश्चित्तं तस्याऽपि ज्ञेयमिति हृदयम् । एवमर्वाक्कान्ताधस्तनैकपदह्रासोपरितनपदैकवृद्ध्यात्मिकया गणी उपाध्यायो, गुरुराचार्यः, तयोरपि स्वपदं स्वपदं यावत्प्रायश्चित्तं नेतव्यम् । तत उपाध्यायस्य गुरुपञ्चदशकमादौ कृत्वा स्वपदमनवस्थाप्यम्, आचार्यस्य लघुविंशतिरात्रिन्दिवादारभ्य स्वपदं पाराञ्चिकं यावद् द्रष्टव्यम् ।

एवं तु चिट्ठणाऽऽदिसु, सव्वेसु पदेसु जाव उस्सग्गो ।
पच्छित्ते आदेसा, इक्किक्कपयम्मि चत्तारि ॥२८०॥

एवममुना प्रकारेण स्थाननिषदनाऽऽदिषु सर्वेष्वपि पदेषु कायोत्सर्गं यावदेकैकस्मिन् पदे प्रायश्चित्तविषयाश्चत्वार आदेशा भवन्ति । तद्यथा-एकं तावदौघिकं प्रायश्चित्तं, द्वितीयं तदेव तपःकालविशेषितं, तृतीयं छेदान्तम्, चतुर्थं चारणिकाप्रायश्चित्तम् । गतं दकतीरद्वारम् ।

अथ यूपकस्यावसरः, तमेवाभिधित्सुराह-

संकमे जूवे अचलो, चलो य लहुगो य हुंति लहुगा य ।
तम्मि वि सो चेव गमो, णवरि गिलाणे इमं होइ ॥२८१॥

यूपकं नाम खेटाऽऽख्यं जलमध्यवर्त्ति तटं, तत्र देवकुलिका गृहं वा भवेत्, तत्र वसतिं गृह्णतश्चतुर्लघुकाः । तच्च यूपं संक्रमेण वा गम्येत, जलेन वा । संक्रमो द्विविधः-चलोऽचलश्च । अचलेन गच्छतो मासलघु । चलो द्विविधः-सप्रत्यपायः, निष्प्रत्यपायश्च । निष्प्रत्यपायेन गच्छतश्चतुर्गुरुकं भवति । सप्रत्यपायेन व्रजतश्चत्वारो लघुकाः । तस्मिन्नपि यूपके, स एव गमः सा वक्तव्यता या दकतीरे भणिता । "अहिगरणमतराए" (२५५) इत्यारभ्य यावदेकैकस्मिन् पदे चत्वार आदेशा इति । नवरं ग्लानं प्रतीत्य इदमन्यदधिकं दोषजातं भवति-

दट्ठूण य सइकरणं, ओभासण विरहिए य आइयणं ।
परितावण चउलहुगा, अकप्प पडिसेव मूल दुगं ॥२८२॥

ग्लानस्य तदुदकं दृष्ट्वा स्मृतिकरणमीदृशी स्मृतिरुत्पद्यते-पिबाम्यहमुदकम् । ततो सोऽवभाषणं करोति, यदि दीयते ततः संयमविराधना, अथ न दीयते, ततो ग्लानः परितापितः । विरहिते च कारणतः साधुभिः प्रतिश्रये उदकस्याऽऽपानं कुर्यात्, यदि स्वलिङ्गेनाऽऽपिबति ततश्चतुर्लघुकम्, अथ (दुगं ति) स्वलिङ्गं, गृहिलिङ्गं च, तेनाऽकल्प्यमप्कायं प्रतिसेवते ततो मूलं, तेन चापथ्येनानागाढपरितापनाऽऽदयो दोषाः, तन्निष्पन्नमाचार्यस्य प्रायश्चित्तम् ।

अथवा-(अकप्प पडिसेव मूलदुगं ति) अकल्प्य प्रतिसेव्य भग्नव्रतोऽहमिति कृत्वा यद्येको ग्लानोऽवधावते तत आचार्यस्य मूल, द्वयोरनवस्थाप्य, त्रिषु पाराञ्चिकम्।

आउकाए लहुगा, पूतरगादीतसेसु जा चरिमं।
जे गेलन्ने दोसा, धिइदुब्बले सेहे ते चेव ॥ २८३ ॥

अप्काये प्रतिसेविते चतुर्लघुकाः,पूतरकाऽऽदित्रसेषु चरम पाराञ्चिक यावन्नेतव्यम्।तत्र पूतरकाऽऽदिषु द्वीन्द्रियेषु षड्लघुकम्, त्रीन्द्रियेषु षड्गुरुकम्,चतुरिन्द्रियेषु छेद', पञ्चेन्द्रिये मत्स्याऽऽदौ उदकेन सह गिलिते एकस्मिन् मूलं,द्वयोरनवस्थाप्य,त्रिषु पाराञ्चिकम्, ये च ग्लान्ये ग्लानस्य स्मृतिकरणाऽऽदयो दोषा उक्ता , धृतिदुर्बले मन्दाऽऽश्रये शैक्षे त एव द्रष्टव्या'। गतं यूपकद्वारम्।

अथ तापनाद्वारमाह निर्युक्तिकार.-

आयावण तह चेव य, नवरि इमं तत्थ होइ नाणत्तं।
मज्जण सिंचण परिणा-म वित्ति तह देवया पंता॥२८४॥

येदकतीरे अधिकरणान्तरायाऽऽदयो दोषा उक्ता., ते यथासभव दकतीरे इव,पूरके इव वा आतापनां कुर्वत तथैव भणितव्याः, न वरमिद नानात्वं विशेषो भवति-तत्राऽऽतापयतो मज्जन वा सिञ्चन वा कश्चित्कुर्यात्,परिणामो वा तस्य स्नानाऽऽदिविषयो भवेत्, वृत्तिर्वा जीविका मण्डूकानां व्यवच्छिद्येत, प्रान्ता वा देवता लोकेनाऽपूज्यमाना साधोरुपसर्गं कुर्यात्।

तत्र मज्जनसिञ्चनपरिणामद्वाराणि व्याख्यानयति-

मज्जंति व सिंचंति व, पमिणीयऽणुकंपया व णं केइ।
तण्हुण्हपरिगयस्स व,परिणामो ण्हाणपियणेसु॥२८५॥

णमिति तमातापक प्रत्यनीकतया,अनुकम्पया वा केचिन्मज्जयन्ति वा स्नपयन्ति, सिञ्चन्ति वा शृङ्गाटीभिरञ्जलीभिर्वा निर्वापयन्ति। यद्वा-तस्याऽऽतापकस्य तृषितोऽहमित्येव तृष्णापरिगतस्य, घर्माभिभूतमात्रोऽहमित्येवमुष्णपरिगतस्य वा स्नानपानयो. परिणाम सजायते।

वृत्तिद्वार, प्रान्तदेवताद्वार चाऽऽह-

आउट्टजणो मरुगा-ण अदाणे खरितिरिक्ख छोभाऽऽदी।
पच्चक्खदेवपूयण, खरियावरण च खित्ताऽऽई ॥ २८६ ॥

तस्य तापनया आवृत्तो जनो मरुकानां दान ददाति, ततस्तेषामदाने, खरी द्व्यक्षरिका, तिरश्ची महाशब्दिकाप्रभृतिका, तद्विषय क्षोभाभ्याख्यानद्वन्द्वाऽऽदयो दोषा भवेयु। तथा प्रत्यक्षदेवता ऽयमिति कृत्वा तस्य साधो. पूजन, देवतायाश्च अपूजनम्, तत (खरियावरण ति) संयतवेषमावृत्य तत्प्रतिरूप कृत्वा द्व्यक्षरिका प्रतिसेवमाना देवता दर्शयेत्। क्षिप्तचित्ताऽऽदिक वा न श्रमण सा देवता कुर्यादिति।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां स्पष्टयति-

आयावण साहुस्सा, अणुकंपं तस्स कुणइ गामो उ।
मरुयाणं च पओसो, पमणीयाणं च संका तु॥ २८७॥

तस्य साधोर्दकतीरे आतापनां कुर्वतो ग्रामजन सर्वोऽप्यावृत', ततश्चानुकम्पा तस्य करोति, पारणदिवसे भक्ताऽऽदिक सविशेष तस्य ददातीत्यर्थ ; अय प्रत्यक्षदेव, किम स्माकमन्येषां मरुकाऽऽदीनां दत्तेन, एतस्य दत्त बहुफल भवतीति कृत्वा। ततो मरुकाणामदीयमाने प्रद्वेष' सजात, ततस्ते द्व्यक्षरिकामहाशब्दिकाऽऽदित्रिषयमयश' प्रदद्यु , अथैष संयतोऽस्माभिर्द्व्यक्षरिकां महाशब्दिकां वा प्रतिसेवमानो दृष्ट इति। तत्र ये प्रत्यनीकास्तेषां शङ्का भवति। तत्र च गुरुकाः। निःशङ्किते मूलम्। अथवा ये प्रत्यनीकास्ते शङ्कन्ते-कस्मादेष तीर्थस्थाने आतापयति, किं स्तैन्यार्थीति। गत वृत्तिद्वारम्। अथ "पच्चक्खदेव(२८६)" इत्यादि पश्चार्द्धं भाव्यते-यत्रासावातापयति तत्र प्रत्यासन्ना देवता वर्त्तते, तस्या लोक' सर्वोऽपि पूर्वं पूजापर आसीत्, त च साधु तत्राऽऽतापयन्त दृष्ट्वा अय प्रत्यक्षदेवतमिति कृत्वा लोकः सपूजयितु लग्न', ततः सा देवता अपूज्यमाना प्रद्विष्टा सती द्व्यक्षरिकाऽऽद्यभ्याख्यान दद्यात्। अथवा- साधुरूपमावृत्य तत्प्रतिरुप कृत्वा द्व्यक्षरिकां तिरश्चीं वा प्रतिसेवमान दर्शयेत्, क्षिप्तचित्त वा कुर्यात्, अपरां च अकल्प्यप्रतिसेवनाऽऽदिकामक्रिया दर्शयेत्, यस्मादियन्तो दोषास्तस्माद्दकतीरे यूपके वा न स्थानाऽऽदीनि पदानि कुर्यात्।

अथ कुर्यादपि, कथमित्याह-

पढमे गिलाणकारणे, बीए वसहीए असइए वसई।
राइणियकज्जकारणे, ततिए बितियपद जतणाए ॥२८८॥

प्रथम दकतीरे, तत्र ग्लानकारणात् तिष्ठेत्, द्वितीय यूपक, तत्र निर्दोषाया वसतेरसत्यभावे वसति तिष्ठति, तृतीयमातापनापद, तत्र रात्निको राजा, तदायत्त यत् कुलगणसङ्घकार्यं, तत्कारण तिष्ठेत्। एव त्रिष्वपि दकतीराऽऽदिषु यतनया वक्ष्यमाणलक्षणया द्वितीयपदं तत्रावस्थानलक्षण सेवेत।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति-

विज्जदवियऽट्ठयाए, निज्जंतो गिलाणो असति वसहीए।
जोग्गाए वा असती, चिट्ठे दगतीर णोतारे ॥२८९॥

ग्लाने वैद्यस्य समीप नीयमाने, द्रव्यमौषध तदर्थं वा अन्यत्र नीयमानेऽन्यत्र वसतेरभावे दकतीरेऽपि तिष्ठेत्। अथवा विद्यते वसति. पर न ग्लानयोग्या, ग्लानयोग्यवसतेरसति तत्र वसेत्। अथवा-विश्रमणार्थं दकतीरे मुहूर्त्तमात्र ग्लानस्तिष्ठेत्, तमपि मनुष्यतिरश्चामनवतारे अप्रवेशमार्गेऽवतारयेत्।

तत्र च स्थितानामिय यतना-

उदगंतेण चिलिमिली, पमियरए मोत्तु सेस अण्णत्थ।
पमियर पमिसलीणा, करिज्ज सव्वाणि वि पदाणि ॥२९०॥

उदक येनान्तेन पार्श्वेन भवति ततश्चिलिमिली कोट्टको वा दीयते, ये च ग्लानस्य प्रतिचरकास्तान् मुक्त्वा शेषा सर्वेऽप्यन्यत्र तिष्ठन्ति, प्रतिचरका अपि प्रतिसलीनास्तथा तिष्ठन्ति यथा सपातिमसत्त्वानां सत्रासो न भवति, एव सर्वाण्यपि स्थाननिषदनाऽऽदीनि पदानि कुर्यात्। गता दकतीरयतना। वृ० १ उ०।

दगतुंड-दकतुण्ड-पु०। पक्षिभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

दगतूर-उदकतूर्य-न०। उदके मुखाऽऽदितूर्याणां शब्दे, वृ० १ उ०।

दगथालग-दकस्थालक-पु०। कसाऽऽदिमये उदकभृतभाजने, रा०।

दगपंचवस–दकपञ्चवर्ण–पुं० । अष्टाशीतिमहाग्रहाणां चतुस्त्रिंशत्तमे स्वनामख्याते ग्रहे, स्था० । 'दो दगपंचवन्ना ।' स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० ।

दगपासाय–दकप्रासाद–पुं० । स्फटिकप्रासादे, जं० १ वक्ष० ।

दगपिप्पली–उदकपिप्पली–स्त्री० । हरितवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दगफासिया–दकस्पर्शिका–स्त्री० । अवश्याये, कल्प० ६ क्षण ।

दगवाह–दकवाह–पुं० । उदकमार्गे, नि० चू० ८ उ० ।

दगभवण–उदकभवन–न० । जलगृहे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

दगभास–दकाभास–पुं० । शिवकस्य वेलन्धरनागराजस्य आवासपर्वते, स० ८७ सम० ।

दगमंचग–दकमञ्चक–पुं० । स्फटिकमञ्चके, जं० १ वक्ष० । जी० ।

दगमंडग–दकमण्डप–पुं० । स्फाटिके मण्डपे, रा० ।

दगमंमव–उदकमण्डप–पुं० । न० । उदकक्षरणयुक्ते मण्डपे, प्रश्न० ५ सव० द्वार ।

दगमंडवग–दकमण्डपक–पुं० । न० । स्फटिकमण्डपके, जं० १ वक्ष० । जी० । उदकक्षरणयुक्ते मण्डपे, प्रश्न० ५ सव० द्वार ।

दगमग्ग–उदकमार्ग–पुं० । उदकवाहे, नि० चू० ८ उ० ।

दगमट्टिआ–उदकमृत्तिका–स्त्री० । उदकप्रधानायां मृत्तिकायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० १ उ० । अचिराप्कायाऽऽर्द्रीकृतमृत्तिकायाम्, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । दशा० । अनुपहतभूमौ चिक्खिल्ले, ध० । दकमप्कायो, मृत्तिका पृथ्वीकाय., तयोर्द्वन्द्वे, ध० २ अधि० । आ० चू० । आव० । सचित्ते मिश्रे च कर्दमे, बृ० ४ उ० । दकसंयुक्ता मृत्तिका, विवेकद्रव्यप्रयोगपूर्विका तद्विवेचनकलाऽप्युपचाराद्दकमृत्तिका । तस्यां द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गतायां पञ्चदश्यां कलायाम्, जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । स० ।

दगमट्टिआयाण–उदकमृत्तिकाऽऽदान–न० । आदीयते अनेनेत्यादानो मार्गः । उदकमृत्तिकाऽऽदानमार्गे, दश० ५ अ० १ उ० ।

दगमट्टिया–उदकमृत्तिका–स्त्री० । 'दगमट्टिआ' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

दगमालग–दकमालक–न० । स्फटिकमालके, जं० १ वक्ष० । जी० ।

दगरक्खस–उदकराक्षस–पुं० । जलमानुषाऽऽकृतौ जलचरविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

दगरय–उदकरजस्–न० । बिन्दुमात्रे, कल्प० ९ क्षण । पानीयकणिकायाम्, जी० ३ प्रति० ४ उ० । बृ० । औ० । जं० । रा० । आ० म० । कल्प० । प्रज्ञा० । उदकरेणौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दगलेव–दकलेप–पुं० । नाभिप्रमाणजलावतरणे, स्था० ५ ठा० २ उ० । आव० ।

दगवस–दकवर्ण–पुं० । अष्टाशीतिमहाग्रहाणां चतुस्त्रिंशत्तमे ग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० । पञ्चत्रिंशत्तमे च ग्रहे, चं० प्र० २० पाहु० ।

दगवारग–उदकवारक–पुं० । लघुपानीयघटे, बृ० १ उ० । रा० । गडुके, नि० चू० १२ उ० । जी० ।

दगवीणिया–दकवीणिका–दकस्य वीणिका दकवीणिका । उदकवाहे, नि० चू० १ उ० ।

दगसंघट्ट–दकसङ्घट्ट–न० । अर्द्धजङ्घाप्रमाणं यावदुदकमुपतार्य जल तादृशे क्षेत्रे, नि० चू० १० उ० । कल्प० ।

दगसंसट्ठहडा–उदकसंसृष्टाहृता–स्त्री० । उदकसंवन्धाऽऽनीतायां हस्तमात्रगतोदकसंसृष्टायां परिष्ठापनायाम्, आव० ४ अ० ।

दगसत्तघाइ(ण्)–दकसत्त्वघातिन्–पुं० । जलप्राणिहिंसके, सूत्र० दीपि० १ श्रु० ७ अ० ।

दगसीम–उदकसीमन्–पुं० । मनःशिलाकस्य वेलन्धरनागराजस्याऽऽवासपर्वते, स० ८७ सम० । जी० ।

दगसोकरिग–दगसौकरिक–पुं० । परिव्राजके, बृ० १ उ० ।

दगाभास–दकाभास–पुं० । 'दगभास' शब्दार्थे, स० ८७ सम० ।

दगाहरण–उदकाऽऽहरण–न० । उदकमाह्रियते येन तदुदकाऽऽहरणम् । कुटवर्द्धनिकाऽऽदौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

दच्चा–दत्त्वा–अव्य० । दानं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० । उत्त० ।

दच्छ–दक्ष–त्रि० । अच् । "छोऽक्ष्यादौ" ॥८।२।१७॥ इति संयुक्तस्य छः । प्रा० २ पाद । निपुणे, वाच० । तीक्ष्णे, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा । (निरूपितमस्य सर्वं 'दक्ख' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४४० पृष्ठे)

दज्झ–दग्ध–त्रि० । दह–क्त । भस्मीकृते कतृणे, न० । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दट्ठ–दृष्ट–न० । दृश–क्त । "दृशस्तेन ठः" ॥८।४।२१३॥ दृशोऽन्त्यस्य तकारेण सह द्विरुक्तठकारो भवति । इति ठकाराऽऽदेशः । 'दट्ठ ।' प्रा० ढु० ४ पाद । "दट्ठव्व ।" "दट्ठूण ।" प्रा० ४ पाद । स्वपरचक्रभये वीक्षिते, लौकिके च । वाच० ।

दट्ठंतिय–दार्ष्टान्तिक–त्रि० । दृष्टान्तपरिच्छेद्ये, आव० ४ अ० ।

दट्ठव्व–द्रष्टव्य–त्रि० । अवगन्तव्ये, पञ्चा० ४ विव० ।

दट्ठूण–दृष्ट्वा–अव्य० । "क्त्वस्तुमत्तूणतुआणा" ॥८।२।१४६॥ इति क्त्वाप्रत्ययस्य तूणाऽऽदेशः । प्रा० २ पाद । चक्षुषा उपलभ्येत्यर्थे, पञ्चा० २ विव० । प्रश्न० । नि० चू० ।

दडवड–अवस्कन्द–धा० । अवस्कन्द–आधारे घञ् । "शीघ्राऽऽदीनां वहिल्लाऽऽदय" ॥८।४।४२२॥ इति अपभ्रंशे अवस्कन्दस्य दडवडाऽऽदेशः । धाट्याम्, (धाका) इति प्रसिद्धायाम्, "तहिँ मयरद्धयदडवडउ,पडइ अपूरइ कालि ।" प्रा० ४ पाद । "जिह्व गमिही रत्तडी,दडवड होइ विहाणु ।" प्रा० ढु० ४ पाद । धाट्याम्, दे० ना० ५ वर्ग ३५ गाथा ।

दड्ढ–दग्ध–त्रि० । भस्मीकृते, आव० ४ अ० । प्रश्न० । "अग्गिदड्ढाण ।" औ० । "दड्ढमुड्डाइ करेज्जा ।" नि० चू० १ उ० । "एव दीहदड्ढस्स किरियणिमित्त जोइ घेप्पति ।" नि० चू० १ उ० । बृ० । सथा० । प्रश्न० ।

दड्ढ–त्रि० । दशनाऽऽहृते, प्रा० १ पाद ।

दार्ढ्य–न० । दृढत्वे, षो० १२ विव० । आचा० ।

दड्ढच्छवि–दग्धच्छवि–त्रि० । शीताऽऽदिभिरुपहतत्वचि, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दड्ढतिल्ल–दग्धतैल–न० । पक्वान्नोत्तीर्णतैले, ध० २ अधि० ।

दढ–दृढ–न० । दृह क्तः । नि० ह्रस्वभावः । लौहे, रूपककाव्यभेदे, नितान्ते, वाच० । अतिशये, पञ्चा० १ विव० । अत्यर्थे, पञ्चा० ७ विव० । प० व० । तद्वति, बलवति, औ० । ज्ञा० । निष्प्रकम्पे, न० । विस्रोतसिकारहिते, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । स्थिरे, उत्त० १८ अ० । निश्चले, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । समर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । अतिनिबिडे, रा० । स्थूले, प्रगाढे, शक्ते, कठिने च । त्रि० । वाच० । प्रश्न० । स्था० । " एव तासिं दढ सोहिय जाय । " आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दढकेउ–दृढकेतु–पुं० । ऐरवते जनिष्यमाणे चतुर्दशे जिने, प्रव० ७ द्वार । ती० ।

दढजत्तकय–दृढयत्नकृत–न० । परमाऽऽदरविहिते, पञ्चा० ४ विव० ।

दढणेमि–दृढनेमि–पुं० । द्वारवत्यां समुद्रविजयस्य शिवानाम्न्यां भार्यायामुत्पन्ने पुत्रे, अन्त० । स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्याय शत्रुञ्जये सिद्ध इति अन्तकृद्दशानां चतुर्थवर्गस्य दशमेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ३ वर्ग ८ अ० ।

दढधणु–दृढधनुष्–पुं० । जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यत्यष्टमे कुलकरे, स्था० १० ठा० । जम्बूद्वीपे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यामैरवते वर्षे भविष्यति सप्तमे कुलकरे; स० । ती० ।

दढधम्म–दृढधर्मन्–पुं० । श्रुतचारित्ररूपे धर्मे दृढो द्रव्यक्षेत्राऽऽद्यापदुदयेऽपि निश्चल. स दृढधर्मा । राजदन्ताऽऽदित्वाद् दृढशब्दस्य पूर्वनिपात. । बृ० १ उ० । स्था० । व्य० । आ० म० । उक्तञ्च–" दसविहवेयावच्चे, अन्नतरे खिप्पमुज्जम कुणइ । अच्चन्तमणेच्चार्णि, थिरधिरियकिसो पढमभंगो ॥१॥ " अङ्गीकृतापरित्यागे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । दृढ. स्थिर निश्चल धर्मो यस्य स तथा । ओघ० । आपद्यपि धर्मादविचले, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । कर्म० । स्था० । दृढे चारित्रे स्थिरे, बृ० ३ उ० । दृढ' समर्थो धर्मे स्वभाव संग्रामाभङ्गरूपो यस्य स तथा । समर्थस्वभावे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । स्वनामख्याते देवे च, " ईसाणदेवलयसमीवातो दढधम्मो नाम देवो आगतो भणइ । " आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दढधम्मया–दृढधर्मता–स्त्री० । दृढधर्मत्वे, स० ३२ सम० । आव० । आ० चू० । आ० क० । स० । (आपत्सु दृढधर्मता सोदाहरणा ' आवई ' शब्दे द्वितीयभागे २४५ पृष्ठे व्याख्याता)

दढपइण्ण–दृढप्रतिज्ञ–पुं० । सूर्याभस्य देवस्य देवलोकाच्च्युतस्य महाविदेहे वर्षे कस्यचिदाढ्यस्य पुत्रत्वेनोत्पत्स्यमाने जीवे, तदुत्पत्तौ सत्यां तन्मातापित्रोर्दृढा प्रतिज्ञा भविष्यतीति तदन्वर्थनामकरणात् । रा० । अन्त० । (' सूरियाभ ' शब्देऽन्तिमभागे तच्चरित वक्ष्यते)

दढपरक्कम–दृढपराक्रम–पुं० । संयमे, स्थिरवीर्यभाजि, उत्त० १६ अ० ।

दढपाणिपायपासपिट्ठंतरोरुपरिणय–दृढपाणिपादपार्श्वपृष्ठान्तरोरुपरिणत–त्रि० । दृढ पाणिपादं यस्य, तथा पार्श्वौ पृष्ठान्तरे च ऊरू च परिणते परिनिष्ठितां गते यस्य स तथा । उत्तमसंहनने, भ० १४ श० १ उ० । जी० ।

दढप्पहारी–दृढप्रहारी–त्रि० । गाढप्रहारे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । ती० । सिद्धभेदे, पुं० । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० क० । (कथा ' तवसिद्ध ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२०७ पृष्ठे द्रष्टव्या)

दढभूमि–दृढभूमि–त्रि० । स्थिरे, द्वा० १० द्वा० । बहुम्लेच्छदेशे, यत्र श्रीभगवान् वीर कोष्ठे चैत्ये एकरात्रिकया प्रतिमया स्थित' । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । दृढा भूमिरस्य । योगविशेषेण संस्कृतान्त.करणे, विषयसुखरागाऽऽदिना चालयितुमशक्यचित्ते च । वाच० ।

दढमइ–दृढमति–त्रि० । दृढा निश्चला मतिर्यस्य स तथा । निश्चलमतौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

दढमित्त–दृढमित्र–पुं० । दन्तपुरनगरवास्तव्यस्य धनमित्रनाम्नो वणिज' स्वनामख्याते मित्रे, आव० ४ अ० । (कथाऽन्यत्र)

दढमित्तित्त–दृढमैत्रीत्व–न० । निश्चलसौहृदे, बृ० १ उ० ।

दढरह–दृढरथ–पुं० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे अतीतायामवसर्पिण्यां जातेऽष्टमे कुलकरे, स० । स्था० । अस्यामेवावसर्पिण्यां जातस्य दशमतीर्थकरस्य शीतलस्य पितरि, स० । स्था० । आव० । ति० । प्रव० । नवनवतितमे ऋषभनन्दने, कल्प० ७ क्षण ।

दढरहा–दृढरथा–स्त्री० । व्यन्तरेन्द्राणां कालाऽऽदीनां तासामनिकाग्रमहिषीणां च बाह्यायां पर्षदि, धरणाऽऽदीनां भवनपतीन्द्राणां लोकपालाग्रमहिषीसत्कबाह्यपर्षदि च । स्था० ३ ठा० १ उ० । जीवा० ।

दढवइर–दृढवैर–त्रि० । अतिशयवैरशालिनि, दृढवैरा. स्त्रियः, इहापरत्र दारुणवैरकारणत्वात् । त० ।

दढव्वय–दृढव्रत–त्रि० । दृढानि निश्चलानि व्रतानि नियमा उत्तरगुणा इत्यर्थो यस्याऽसौ दृढव्रत. । निश्चलनियमे, ग० २ अधि० । ध० । आफलोदयं प्रारब्धकार्य्यात्यागिनि च । वाच० ।

दढाउ–दृढाऽऽयुष्–पुं० । पञ्चमतीर्थकरस्य पूर्वभवजीवे, "सर्वानुभूतिनामानं, दृढाऽऽयुषो जीवपञ्चमं वन्दे ।" प्रव० ४६ द्वार । स० । ती० । जी० ।

दणुअवह–दनुजवध–पुं० । " लुग्भाजनदनुजराजकुले ज सस्वरस्य न वा" ॥ ८ । १ । २६७ ॥ इत्यनेन सस्वरजकारस्य वा लुक् । दानवमारणे, प्रा० १ पाद ।

दणुवह–दनुजवध–पुं० । ' दणुअवह ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

दण्णियावुड्ढि–दर्णिकावृद्धि–स्त्री० । द्वात्रिंशत्तमे लौकिकभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

दत्त–दत्त–त्रि० । दा–क्तः । विसृष्टे, त्यक्ते, रचिते, वाच० । अनुज्ञाते, प्रश्न० ३ संव० द्वार । वितीर्णे, स्था० ५ ठा० १ उ० । न्यस्ते, ज० १ वक्ष० । भारते वर्षेऽस्यामेवोत्सर्पिण्यां जाते सप्तमे वासुदेवे, स० ३५ सम० । आव० । मेतार्यगणधरपितरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति पञ्चमे कुलकरे, स० । ति० । स्था० । ती० ।

भद्राऽङ्गजे कालिकाऽऽचार्यजामिजे, आ० क० । दर्श० । आ० चू०। आ० म० । (यो हि तुर्मिणीपुराधिप मारयित्वा राजा भूत्वा अनेकान् यज्ञानिष्ट्वा कालिकाऽऽचार्यवचनानुसारेण मृत्वा नारको जात इति " सम्मावाय " शब्देऽन्तिमभागे कथा वक्ष्यते) भारते वर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यामतीते सप्तमे जिने, प्रव० ७ द्वार । सङ्गमस्थविराणां जङ्घाबलपरिक्षयेण नियतवास प्रतिपन्नानां शिष्ये, आ० क० । आ० चू० । उत्सर्पिण्यादौ भविष्यति जिनधर्मोद्धारके महाराजे, ति० । विपाकश्रुते नवमेऽध्ययने उदाहृताया देवदत्तायाः पितरि, स्था० १० ठा०। गन्धर्वनागदत्तस्य पितरि लक्ष्मीपुरवास्तव्ये श्रेष्ठिनि, आ० क० । पार्श्वस्वामिवन्दनकृत ईश्वरराजस्य पूर्वभवे वसन्तपुरवास्तव्ये पुरोहितपुत्रजीवे, ती० १४ कल्प । समुद्रतटवर्त्तिविश्वपुरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सांयात्रिके, ध० र० । स्वनामख्याते चम्पानगरीराजे महाचन्द्रस्य कुमारस्य पितरि, विपा० १ श्रु० १ अ० । चन्दनाऽऽगते स्वनामख्याते गृहपतौ, स च वीरान्तिके प्रव्रज्य अनशनेन मृत्वा सुधर्मायां सभाया तस्मिं सिंहासने गङ्गदत्तया देवतया द्विसागरोपमस्थितिक उपपन्न इति सप्तमे पुष्पिकाऽध्ययने सूचितम् । नि० १ श्रु० ३ वर्ग ६ अ० । स्वनामख्याते कल्किराजपुत्रे, " पन्नरसउ तिउत्तरे विक्कमवरिसे सत्तुंजे उद्धार करित्ता जिणभवणमेमिअ च वसुहं काउ अज्जियतित्थयरनामो सग्ग गतु चित्तगुत्तो नाम जिणवरो होति ।" ती० ३० कल्प। स्वनामख्याते वेश्यायामश्रद्दधाने पुरुषे, पु० । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । दाने, न० । उत्त० १ अ० ।

दात्र–न०। शस्त्रभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

दात्ति–दत्ति–स्त्री० । अविच्छिन्नप्रदाने, पञ्चा० १८ विव० । " दत्तीओ जत्तिए वारे, खिवई होंति तत्तिया । अवोच्छिन्नानि वा पाओ, दत्ती होइ दवतर ॥१॥" इति । स्था० ५ ठा० १ उ०। पञ्चा०। कल्प० । करस्थाल्यादिभ्यो अव्यवच्छिन्नधारया पतति भिक्षां या, सा दत्तिरभिधीयते । भिक्षाविच्छेदे च द्वितीया दत्ति, एव सिक्थमात्रेऽपि पतिते भिक्षैव दत्तिरिति । प्रव० ४ द्वार ।

दत्तिसंख्यासूत्रम्-

संखा दत्तियस्स णं भिक्खुस्स पडिग्गहधारिस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स जावतियं जावतियं अंतो पडिग्गहस्स उविइत्ता दलएज्जा, तावइयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया । तत्थ से केइ छज्जएण वा दूसएण वा वालएण वा अंतो पडिग्गहंसि उविइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्तीति वत्तव्वं सिया । तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सगं पिंडं साहणिय अंतो पडिग्गहंसि उविइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्तीति वत्तव्वं सिया ॥ ३९ ॥

संख्या परिमाण दत्तिकाया ,सूत्रे पुस्त्वमार्षत्वाद्,यावद् यावद् कश्चिदन्त पतद्ग्रहे (उविइत्ता) अवनम्य दद्यात्, तत्र तावत्यो दत्तय इति वक्तव्य स्यात् । किमुक्त भवति ?-एकस्यामपि भिक्षायामुत्पादिताया यावतो यावतो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददाति तावत्यस्तत्र दत्तय इति । तत्र 'से'तस्य साधो कश्चित् दायकेन वशकलमयेन,दूष्येण वा वस्त्रेण,वालकेन वा गोमहिष्यादिवालकृतेन गालनाऽऽदिना अन्त. पतद्ग्रहे अवनम्य दद्यात्, साऽपि, णमिति वाक्यालङ्कारे, एका दत्तिरिति वक्तव्य स्यात् । तत्र 'से' तस्य साधोर्बहवो भुञ्जाना भिक्षार्थं साधुमागत दृष्ट्वा सर्वे ते स्वीय स्वीय पिण्ड संहृत्य एक पिण्ड कृत्वा अन्त पतद्ग्रहे (उविइत्ता) अवनम्य दद्यात्,सर्वाऽपि,णमिति पूर्ववत्, एका दत्तिरिति वक्तव्यम् । एतत्सूत्र पतद्ग्रहधारिण उक्तम् ।

सम्प्रति पाणिपतद्ग्रहविषयमाह-

संखा दत्तियस्स णं भिक्खुस्स पाणिपडिग्गहस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स जावतियं जावतियं अंतो पाणिंसि उविइत्ता दलएज्जा, तावइयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया । तत्थ से केइ छज्जएण वा दूसएण वा वालएण वा अंतो पाणिंसि उविइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्तीति वत्तव्वं सिया । तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिंडं साहणिय अंतो पाणिंसि उविइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्तीति वत्तव्वं सिया ॥ ४० ॥

(पाणीत्यादि) पाणिपतद्ग्रहस्यापि विषये एवमेव सूत्र वक्तव्यमिति सूत्रसंक्षेपार्थ. ।

सम्प्रति भाष्यविस्तर -

हत्थेण व मत्तेण व, भिक्खा होई समुज्जया ।
दत्तिओ जत्तिए वारे, खिवती होंति तत्तिया ॥ १०९ ॥

हस्तेन वा, मात्रण वा,या समुद्यता उत्पादिता भिक्षा सा भिक्षेत्युच्यते । दत्तयः पुनस्तामेव भिक्षां यावतो वारान् विच्छिद्य क्षिपति तावत्यो भवन्ति ।

अव्वोच्छिन्ननिवायाओ, दत्ती होइ उ वेतरा ।
एगाणेगासु चत्तारि, विभागा भिक्खदत्तिसु ॥ ११० ॥

अव्यवच्छिन्ननिपाताद् दत्तिर्भवति, इतरा वा भिक्षा च भवति, भिक्षादत्तिषु च एकानेकासु विषये चत्वारो विभागा विकल्पा ।

तानेवाऽऽह-

इग भिक्खा इग दत्ती, एगा भिक्खा यऽणेगदत्तीओ ।
णेगा वि य एगाओ, णेगाओ चेव णेगाओ ॥ १११ ॥

एका भिक्षा एका दत्तिरिति प्रथमो विकल्प । एका भिक्षा अनेका दत्तय इति द्वितीय । अनेका भिक्षा एका दत्तिरिति तृतीय । अनेका भिक्षा अनेका दत्तय इति चतुर्थ । तत्र प्रथमभङ्ग एव दायकेन अव्यवच्छिन्ना भिक्षा दत्ता, सा एका भिक्षा एका च दत्ति । द्वितीयभङ्गे व्यवच्छिन्ना दत्ता । तृतीयभङ्गे सूत्रमिदम-" तत्थ से बहवे भुंजमाणा " इत्यादि " जाव सा एगा दत्ती वत्तव्व सिया । (४० सू०)" अस्येय भावना-केचित्पथिका कर्मकरा वा एकत्रावकाशे पृथक् पृथक् उपस्कृत्य भुञ्जते, तेषामेक साधुना तत्र च भिक्षार्थमागत्य धर्मलाभ समुद्दिष्टस्तत स परिवेषक आत्मीयाद् ददामीति व्यवसित ,ततस्तैरपि शेषकै स भण्यते-प्रत्येक प्रत्येकमस्मदीयमध्यादपि साधवे भिक्षा देहि, ततस्तेन परिवेषकेण सर्वेषां सकाशान् गृहीत्वा एकत्र समील्याव्यवच्छिन्न दत्तम, एवमनेका भिक्षा एका दत्तिरित्युपपद्यते । चतुर्थभङ्गोऽप्येवमेव, नवर व्यवच्छिन्न दानमिति ।

अत्र दत्तिष्वेकानेकदायकभिक्षाभेदतोऽष्टौ भङ्गाः, तानुपदिदर्शयिषुः प्रथमत एकानेकदायकभिक्षाविषयां चतुर्भङ्गीमाह-

एमेव एगऽणेगे, दायगभिक्खासु होंति चउभंगा ।
एगो एगं देती, एगोऽणेगा उ णेग एगं च ॥ ११२ ॥
णेगा य अणेगाओ, पाणीसु पडिग्गहधरेसु ।

एवमेव अनेनैव प्रकारेण एकस्मिन् अनेकस्मिंश्च दायके, एकानेकभिक्षासु च चतुर्भङ्गी भवति । गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । तामेव चतुर्भङ्गीमाह-एको दायक एकां भिक्षां ददाति १, एकोऽनेकाः २, अनेके एकाम्, ३, अनेके अनेकाः ४ । एते चत्वारो भङ्गाः पाणिषु पाणिभोजिषु, पतद्ग्रहधरेषु च द्रष्टव्याः ।

अत्र यथा दत्तिष्वष्टौ भङ्गास्तथा दर्शयति--

एगो एगं एक्कसि, एगो एगं चऽणेगसो वारे ।
एगोऽणेगा एक्कसि, एगोऽणेगा तु बहुसो तु ॥ ११३ ॥

एको दायक एकां भिक्षामेकवारं ददाति ॥१॥ एको दायक एकां भिक्षां बहुशो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददाति ॥२॥ एको दायकोऽनेका भिक्षा एकवारमव्यवच्छेदेन ददाति ॥३॥ एको दायकोऽनेका भिक्षा बहुशो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददाति ॥४॥ एवमेकमधिकृत्य एकानेकभिक्षासु दत्तिविषया चतुर्भङ्ग्यभिहिता ।

साम्प्रतमनेकान् दायकानधिकृत्य एकानेकभिक्षासु दत्तिविषयां चतुर्भङ्गीमाह--

णेगा एगं एक्कसि, णेगा एगं चऽणेगसो वारे ।
णेगा णेगा एक्कसि, णेगा णेगा य बहुवारे ॥ ११४ ॥

अनेके दायका एका भिक्षामेकवारमव्यवच्छेदेन ददति ॥ ५ ॥ अनेके दायका एका भिक्षामनेकशो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददति ॥ ६ ॥ अनेके दायका अनेका भिक्षा एकत्र समपिण्ड्य एकवारं ददति ॥ ७ ॥ अनेके दायका अनेका भिक्षा विच्छिद्य विच्छिद्य बहून् वारान् ददति ॥ ८ ॥

पाणिपडिग्गहियस्स वि, एसेव कमो भवे निरवसेसो ।
गणवासे निरवेक्खो, सो पुण सपडिग्गहो जइतो ॥ ११५ ॥

पाणिपतद्ग्रहकस्यापि एष एवानन्तरोदितः क्रमो भवति निरवशेषो ज्ञातव्यः, स च पाणिपतद्ग्रहभोजी गणवासे निरपेक्षः सपतद्ग्रहो भाजिनो विकल्पित कदाचित्स्यात् कदाचिन्नेति, ततस्तस्य पाणिपतद्ग्रहभोजिता । व्य० ६ उ० ।

सुत्त-

जे भिक्खू गिलाणस्सऽट्ठाए परं तिण्हं वियमदत्तीणं पडिगाहेइ, पडिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

दत्तीए पसमाण पसती, तिण्ह पसतीण परेण चउत्था पसती गिलाणकज्जेण वि ण घेत्तव्वा, जो गिण्हति तस्स चउलहुं ।

गाहा -

जे भिक्खु गिलाणस्सा, परेण तिण्हं तु वियमदत्तीणं ।
गिण्हेज्ज आदिएज्ज व, सो पावति आणमादीणि ॥ १० ॥

तिण्ह दत्तीण परतो गहणे वि चउलहु, (आदियणे त्ति) पिबंतस्स वि चउलहु ।

तिण्ह दत्तीण परतो आहरणे, आदियणे वा इमे दोसा-

अप्पच्चओ य गरहा, मददोसो गेहिवड्ढणं चेव ।
तिण्ह परं गेण्हंते, परेण खिंसाऽऽदिय चेव ॥ ११ ॥

(अप्पच्चओ त्ति) जहा एस पच्चक्खतो होउ वियडं गिण्हति, आपिबति वा, तहा एस अण्णं पि करेति मेहुणाऽऽदिय (गरह त्ति) एस पूण नीयकुलजातिनो त्ति । मददोसो वि ते पव्वतिघमाइ वा । पुणो पुणो गहणे वा वियडे गेही वड्ढति । खिंसाभिस्तु ते परिसपवज्जाए त्ति ।

गाहा-

बिइ कारणगहणं, तस्स पमाणं तु तिण्णि दत्तीओ ।
णातुं व अभागरिए, सेहादिअसंखवतो य ॥ १२ ॥

तिण्णि दत्तीओ तिण्णि, पसतीओ, कारणाओ ताओ पाय असागारिगे अत्थति, णिहुसो तिण्णि पसती गिण्हइ वा, अभाविय-सेहअपरिणामगेहिं सद्धिं उड्डावण करेति, गिहीहिं वा । नि० चू० १६ उ० । (द्वितीयपद ' पसङ ' शब्दे वक्ष्यते) (भिक्षुप्रतिमासु दत्तिप्रमाण ' भिक्खुपडिमा ' शब्दे वक्ष्यते)

दत्तिय-दृत्रिक-पुं० । वातपूर्णे चर्मणि, नि० चू० १ उ० ।

दत्तिया-दात्रिका-स्त्री० । छेदसाधने शस्त्रे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

दत्तेगाऽऽग्गह-एकादिदत्तिग्रह-पुं० । प्राकृते पूर्वापरनिपातोऽतन्त्रमिति पूर्वनिपात. । एकद्व्यादिभिक्षाविशेषग्रहणे, पञ्चा० १८ विव० ।

दत्तेसणिज्ज-दत्तैषणीय-न० । उत्पादाऽऽद्येषणादोषरहिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

दत्थर-पुं० । देशी--वस्त्रशाटके, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा ।

ददंत-ददत्-न० । दायके, बृ०-१ उ० ।

दद्दर-दर्दर-न० । बहले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । ज० । जी० । आ० म० । प्रज्ञा० । औ० । चीरावनद्धकुण्डिकाऽऽदिभाजनमुखे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जी० । आ० म० । रा० । यस्य चतुर्भिश्चरणैरवस्थान भुवि तस्मिन् गोधाचर्मावनद्धे वाद्यविशेषे, ज० २ वक्ष० । जी० । रा० । चपेटाप्रकारे, प्रज्ञा० २ पद । आ० म० । जी० । ज्ञा० । रा० । औ० । निरन्तरकाष्ठफलकमये नि·श्रेणिविशेषे, पिं० । सोपानवीथ्याम्, स० । घने, पु० । स० ।

दद्दरपिहाण-दर्दरपिधान-न० । वस्त्रमयबन्धने, बृ० १ उ० ।

दद्दरिया-दर्दरिका-स्त्री० । उत्करेन वाद्यमाने वाद्यविशेषे, आ० चू० १ अ० । ' चउचलणपइट्ठाणा गोहिया । ' चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठान भुवि यस्या· सा तथा गोधाचर्मणा अवनद्धेति गोधिका वाद्यविशेष , दर्दरिकेति यत्पर्याय । स्था० ७ ठा० । अनु० । रा० ।

दद्दु-दद्रु-पुं० । दद्-रु । क्षुद्रकुष्ठभेदे, "दाद" इति प्रसिद्धे, ज० २ वक्ष० । भ० । कच्छपे, वाच० । " दद्रुकिडिभसिब्भकुभियफरुसच्छविचित्तलंगा । " प्रश्न० ७ द्वा० ६ उ० ।

दद्दुर-दर्दुर-पुं० । दुनाति कर्णौ शब्दैः ष्टरन् । वाच० । मण्डूके, स्था० ४ ठ० । प्रश्न० । भ० । ज्ञा० । औ० । स्वनामख्याते पर्वते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । ज० । भ० । रा० । सू० प्र० १९ पाहु० ।

चर्म्मावनद्धमुखे कलशे, प्रश्न० ५ सब० द्वार। मण्डूको भूत्वा दर्दुरावतंसके जाते देवे, ज्ञा०।

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णगरे होत्था। तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णाम राया होत्था। तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं गुणसिलए णामं चेइए होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे चउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं० जाव सद्धिं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव समोसढे अहापडिरूवं उवग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं सोहम्मे कप्पे दद्दुरवडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए दद्दुरंसि सीहासणंसि दद्दुरे देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं चउहिं अग्गमहिसीहिं तिहिं परिसाहिं एवं जहा सूरियाभे० जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति। इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं विउलेणं ओहिणा आभोएमाणे० जाव नट्टविहिं उवदंसित्ता पडिगए, जहा सूरियाभे भंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं आयाहिण पयाहिणं करेइ,वंदति,णमंसति, णमंसइत्ता एवं वयासी—अहो णं भंते ! दद्दुरे देवे महिड्ढिए ६। दद्दुरस्स णं भंते ! देवस्स सा दिव्वा देवड्ढी ३ कहिं गता,कहिं अणुप्पविट्ठा?। गोयमा ! सरीरं गया, सरीरं अणुप्पविट्ठा, कूडागारदिट्ठंते *। दद्दुरेणं भंते ! देवेणं सा दिव्वा देवड्ढी किण्णा लद्धा किण्णा पत्ता० जाव अभिसमण्णागया ?। एवं खलु गोयमा ! इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे रायगिहे णामं णयरे होत्था। गुणसिलए चेइए। तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स सेणिए णामं राया होत्था। तत्थ णं रायगिहे णयरे णंदे णामं मणियारसेट्ठी परिवसइ,अड्ढे दित्ते० जाव अपरिभूए। तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा ! रायगिहे णयरे जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव समोसढे। परिसा णिग्गया। सेणिओ वि राया णिग्गतो। तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एहाए पायविहारचारेणं० जाव पज्जुवासति। तए णं णंदे मणियारसेट्ठी धम्मं सोच्चा समणोवासए जाते, जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तए णं अहं गोयमा ! रायगिहाओ णयराओ पडिणिक्खतो बहिया जणवयविहारेणं विहरामि। तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी अण्णया कयाइं असाहुदंसणेण य अपज्जुवासणाए य अणाणुसासणाए य असुस्सूसणाए य सम्मत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं, मिच्छत्तपज्जवेहिं परिवड्ढमाणेहिं मिच्छत्तं विप्पडिवण्णे जाते यावि होत्था। तए णं णंदे मणियारसेट्ठी अण्णया कयाइं गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूलंसि मासंसि अट्ठमभत्तं परिगिण्हति, पोसहसालाए० जाव विहरति। तए णं णंदस्स अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि तण्हाए छुहाए अभिभूयस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ए- धम्मा णं ते० जाव ईसरपभिइओ, जेसिं णं रायगिहस्स बहिया बहुओ वावीओ पोक्खरणीओ० जाव सरपंतियाओ, जत्थ णं बहुजणो ण्हाइ अ, पियति य, पाणियं च संवहति, तं सेयं खलु ममं कल्लं पाउब्भवाए सेणियं रायं आपुच्छित्ता रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए वेभारपव्वयस्स अदूरसामंते वत्थुपाढगरोइयंसि भूमिभागंसि० जाव णंद पोक्खरणिं खणावित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति,संपेहेइत्ता कल्लं पाओ पोसहं पारेति,पारेइत्ता ण्हाए कयबलिकम्मे मित्तणाइ० जाव सद्धिं संपरिवुडे महत्थं० जाव पाहुडं रायारिहं गिण्हति, गिण्हइत्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता० जाव पाहुडं उवट्ठवेति, उवट्ठवेइत्ता एवं वयासी—इच्छामि णं सामी ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे रायगिहस्स णयरस्स बहिया० जाव खणावित्तए ?। अहासुहं देवाणुप्पिया !। तए णं णंदे सेणिएणं रण्णा अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठतुट्ठे रायगिहं णयरं मज्झं मज्झेण णिग्गच्छति, णिग्गच्छतित्ता वत्थुपाढगरोइयंसि भूमिभागंसि णंदं पुक्खरिणिं खणावेउं पयत्ते यावि होत्था। तए णं सा णंदा पुक्खरिणी आणुपुव्वेणं खणमाणा खणमाणा पोक्खरिणी जाए यावि होत्था; चाउक्कोणा समतीरा अणुपुव्वं सुजायवप्पसीयलजला संछन्नपत्तभिसमुणाला बहुउप्पलपउमकुमुदनलिणीसुभगसोगंधियपुंडरीयमहापुंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तफुल्लकेसरोववेया परिहत्थभमतमत्तछप्पयअणेगसउणगणमिहुणविवियरियसद्दुन्नइयमहुरसरणाइया पासादीया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा। तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी णंदाए पोक्खरिणीए चउदिसिं चत्तारि वणसंडे रोवावेति। तए णं ते वणसंडा आणुपुव्वेण संरक्खिज्जमाणा संगोविज्जमाणा संवड्ढिज्जमाणा वणसंडा जाया किण्हा० जाव निकुरंबभूया पत्तिया पुप्फिया० जाव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति। तए णं णंदे मणियारसेट्ठी पुरच्छिमिल्ले वणसंडे एगं महं चित्तसभं करावेति, अणेगखंभसयसन्निविट्ठं पासाईया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा। तत्थ णं बहूणि किण्हाणि य० जाव सुक्किल्लाणि य कट्ठकम्माणि य पोत्थकम्माणि य चित्तलेपगंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमाइं उवदंसिज्जमाणा चिट्ठति। तत्थ णं बहूणि आसणाणि य सयणाणि य अत्थुयपच्चत्थुयाइं चिट्ठंति। तत्थ णं बहवे णडा य० जाव दिण्णभत्तवेतणा

तालायरकम्मं करेमाणा विहरंति । रायगिहविणिग्गओ य जत्थ बहुजणो तेसु पुव्वनत्थेसु आसणेसु य सयणेसु य संनिसण्णो य संतुट्टो य सुहमाणो य सोहमाणो य सुहं सुहेणं विहरति। तए णं णंदे मणियारसेट्ठी दाहिणिल्ले वणसंडे एगं महं महाणससालं कारावेति,अणेगखंभ० जाव रूवं । तत्थ णं बहवे पुरिसा दिण्णभत्तवेतणा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडेंति, बहूण समणमाहणअतिहिकिविणवणीमगाणं परिभाएमाणा परिभुंजाएमाणा विहरंति । तए णं णंदे मणियारसेट्ठी पच्चच्छिमिल्ले वणसंडे एगं महं तेगिच्छियसालं कारावेइ, अणेगखंभसय० । तत्थ णं बहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य जाणुया य जाणुयपुत्ता य कुसला य कुसलपुत्ता य दिण्णभत्तवेतणा बहूणं वाहियाण य गिलाणाण य रोगियाण य दुब्बलाण य तेगिच्छं कम्मं करेमाणा विहरंति । अण्णे य एत्थ बहवे पुरिसा दिण्णभत्तवेतणा तेसिं बहूणं वाहियाण य रोगियाण य गिलाणाण य दुब्बलाण य ओसहभेसज्जभत्तपाणेणं पडियार करेमाणा विहरंति । तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी उत्तरिल्ले वणसंडे एगं महं अलंकारियसभं कारेइ अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं० जाव पासाईया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा । तत्थ णं बहवे अलंकारियमणुस्सा दिण्णभत्तवेतणा बहूणं समणाण य अणाहाण य गिलाणाण य रोगियाण य दुब्बलाण य अलंकारियकम्मं करेमाणा विहरंति । तए णं तीए णंदाए पोक्खरिणीए बहवे सणाहा य अणाहा य पंथिया य पंथियकरोडिका य तणाहारा कट्ठाहारा पत्ताहारा अप्पेगइया ण्हायंति, अप्पेगइया पाणियं पियंति, अप्पेगइया पाणियं संवहंति, अप्पेगइया विसज्जियसेयजल्लमलपरिस्समनिद्दखुप्पिवासा सुहं सुहेणं विहरंति । रायगिहविणिग्गओ वि जत्थ बहुजणो, किं ते ?, जलरमणविविहमज्जणकयलिलयाहरयकुसुमपत्थरयअणेगसउणिगणरुयरिभियसंकुलेसु सुहं सुहेणं अभिरममाणा अभिरममाणा विहरंति । तए णं णंदाए पोक्खरिणीए बहुजणो ण्हायमाणो य पीयमाणो य पाणियं च संवहमाणो य अण्णमण्णं एवं वयासी-धण्णे णं देवाणुप्पिया ! णंदे मणियारसेट्ठी, कयत्थे०जाव जम्मजीवियफले । जस्स णं इमेयारूवा णंदा पोक्खरिणी चाउक्कोणा० जाव पडिरूवा । जस्स णं पुरच्छिमिल्ले तं चेव सव्वं चउसु वि वणसंडेसु० जाव रायगिहणयरविणिग्गओ जत्थ बहुजणो आसणेसु य सयणेसु य सण्णिसण्णे य संतुयट्टो य पेच्छमाणो य साहेमाणो य सुहं सुहेणं विहरति। तए णं धण्णे कयत्थे कयपुण्णे कयाणुल्लोया सुलद्धे माणुस्सए जम्मजीवियफले णंदस्स मणियारस्स । तए णं रायगिहे णयरे सिंघाडग० जाव बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं परूवेइ, एवं विण्णवेइ-धण्णे णं देवाणुप्पिया ! णंदे मणियारसेट्ठी, सो चेव गमओ० जाव सुहं सुहेणं विहरति । तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे धाराहयकलंबुगं पि व समुस्ससियरोमकूवे परं साया सोक्खमणुभवमाणो विहरति ॥ तए णं तस्स णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स अण्णया कयाइ सरीरगंसि सोलस रोगायंका पाउब्भूया । तं जहा-"सासे १ कासे २ जरे ३ दाहे, ४ कुच्छिसूले ५ भगंदरे ६। अरिसा ७ अजीरए ८ दिट्ठी-९ मुद्धसूले १० अकारए ११॥१॥" अच्छिवेयणा १२ कण्णवेयणा १३ कंडू य १४ उदरे १५ कोढे १६ । तए ण से णंदे मणियारसेट्ठी सोलसहिं रोगायंकेहिं अभिभूए समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! रायगिहे णयरे सिंघाडग०जाव महापहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स सरीरगंसि सोलस रोगायंका पाउब्भूया । तं जहा-सासे० जाव कोढे । त जो णं इच्छति देवाणुप्पिया ! विज्जो वा विज्जपुत्तो वा जाणुओ वा जाणुपुत्तो वा कुसलो वा कुसलपुत्तो वा णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स तेसिं च णं सोलसण्हं रोगाणं एगमवि रोगायंकं उवसामेत्तए, तस्स णं णंदे मणियारसेट्ठी विउलं अत्थसंपयाणं दलयति त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि घोसेह०जाव पच्चप्पिणह । ते वि तहेव० जाव पच्चप्पिणंति । तए णं रायगिहे णयरे इमेयारूवं घोसणं सोच्चा णिसम्म बहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य० जाव कुसलपुत्ता य सत्थकोसहत्थगता य सिलियाहत्थगता य गुलियाहत्थगता य ओसहभेसज्जहत्थगता य सएहिं सएहिं गिहेहिंतो णिक्खमंति,णिक्खमइत्ता रायगिहं णगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स सरीरं पासंति, तेसिं रोगायंकाणं णियाणं पुच्छंति, पुच्छइत्ता णंदस्स मणियारस्स बहूहिं उव्वलणेहि य उव्वट्टणेहि य सिणेहपाणेहि य वमणेहि य विरेयणेहि य सेयणेहि य अवदहणेहि य अवण्हाणेहि य अणुवासणेहि य वत्थिकम्मेहि य निरूहेहि य सिरावेहेहि य तच्छणाहि य पच्छणाहि सिरोवत्थाहि य तप्पणाहि य पुडपाएहि य छल्लीहि य वल्लीहि य मूलेहि य कंदेहि य पत्तेहि य पुप्फेहि य फलेहि य बीएहि य सिलियाहि य गुलियाहि य ओसहेहि य भेसज्जेहि य इच्छति तेसिं सोलसण्ह रोगायकाणं एगमवि रोगायकं उवसामित्तए, नो चेव णं संचाएइ उवसामित्तए । तए णं ते बहवे वेज्जा य

णं भंते ! देवस्स केवइय कालं ठिती पन्नत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पन्नत्ता । से णं दद्दुरे देवे आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता महाविदेहे वासे सिज्झिहिति, बुज्झिहिति० जाव अंतं करेहिति ।

(एवं सूरियाभ त्ति) यथा राजप्रश्नकृते सूर्याभो देवो वर्णितः, एवमयमपि वर्णनीयः। कियता वर्णकेनेत्याह-(०जाव दिव्वाइं इत्यादि) स चायं वर्णकः-" दिव्वाहिं परिसाहिं सत्तहिं अणीएहिं सत्तहिं अणीयाहिवईहिं । " इत्यादि । (इमं च णं केवलकप्पं ति) इमं च-केवलः परिपूर्णः, स चासौ कल्पश्च स्वकार्यकरणसमर्थ इति केवलकल्पः, केवल एव वा केवलकल्पः, तम्। (आभोएमाणे त्ति) इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"पासइ समणं भगवं महावीरं । " इत्यादि । (कूडागारदिट्ठंते त्ति) एवं चाऽसौ-" से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सरीरगं गया, सरीरगं अणुप्पविट्ठा ? । गोयमा ! से जहानामए कूडागारसाला सिया दुहओ।" वहिरन्तश्च "गुत्ता लित्ता।" साऽऽवरणत्वेन,गोमयाऽऽद्युपलेपनेन च । उभयतो गुप्तत्वमेवाऽऽह-"गुत्ता" वहिःप्राकारावृता। "गुत्तदुवारा।" अन्तर्गुप्तेत्यर्थः।अथवा-गुप्ता गुप्तद्वाराणां केषाञ्चिद् स्थगितत्वात्, केषाञ्चिच्चास्थगितत्वादिति । निवाया।" वायोरप्रवेशात्। "निवायगंभीरा।" किल महद् गृहं निवातं प्रायो न भवतीत्यत आह-"निवातगभीरा।" निर्वातविशालेत्यर्थः । " तीसे णं कूडागारसालाए अदूरसामंते एत्थ णं महं एगे जणसमूहे चिट्ठइ,तए णं से जणसमूहे एगं महं अब्भवद्दलयं वा वासवद्दलयं वा महावायं वा एज्जमाणं पासइ,पासइत्ता तं कूडागारसालं अंतो अणुपविसित्ता णं चिट्ठइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-सरीरगं गया, सरीरगं अणुपविट्ठ त्ति।" असाधुदर्शनेनेति,साधूनामदर्शनेन,अत एवापर्युपासनया अनासेवनया, अननुशासनया शिक्षाया अभावेन, अशुश्रूषणया श्रवणेच्छाया अभावेन,सम्यक्त्वपर्यवैः सम्यक्त्वरूपपरिणामविशेषैरेव मिथ्यात्वं विशेषेण प्रतिपन्नः विप्रतिपन्नः, काष्ठकर्माणि दारुमयपुत्रिकाऽऽदिनिर्मापणानि। एवं सर्वत्र, नवरं पुस्तं वस्त्रं चित्रं लेप्यं च प्रसिद्धं, ग्रन्थिमानि यानि सूत्रेण ग्रथ्यन्ते, मालावत्। वेष्टिमानि वेष्टनतो निष्पाद्यन्ते, पुष्पमालालम्बूसकवत्। पूरिमाणि यानि पूरणतो भवन्ति, कनकाऽऽदिप्रतिमावत्। संघातिमानि संघातनिष्पाद्यानि,रथाऽऽदिवत्। उपदर्श्यमानानि लोकैरन्योऽन्यमित्यर्थः । (तालायरकम्मं ति) प्रेक्षणककर्मविशेषः। (तेगिच्छियसालं ति) चिकित्साशालामरोगशालां, धंशा भिषग्वरा आयुर्वेदपाठकाः, वैद्यपुत्रास्तत्पुत्रा एव, (जाणुय त्ति) ज्ञायकाः, शास्त्रानध्यायिनोऽपि शास्त्रज्ञप्रवृत्तिदर्शनेन रोगस्वरूपतश्चिकित्सावेदिनः । कुशलाः स्ववितर्काच्चिकित्साऽऽदिप्रवीणाः । (वाहियाण ति) व्याधितानां विशिष्टचित्तपीडावतां, शोकाऽऽदिविप्लुतचित्तानामित्यर्थः। अथवा-विशिष्टा आधिर्यस्मात्स व्याधिः स्थिररोगः कुष्ठाऽऽदिः, तद्वतां ग्लानानां क्षीणहर्षाणामशक्तानामित्यर्थः । रोगितानां संजातज्वरकुष्ठाऽऽदिरोगिणाम्, आशुघातिरोगाणां वा (ओसहमित्यादि) औषधमेकद्रव्यरूपं, भेषजं द्रव्यसंयोगरूपम् । अथवा-औषधमेकानेकद्रव्यरूपम्,भेषजं तु पथ्यम्। भक्तं तु भोजनमात्रम्, प्रतिचारककर्म प्रतिचारकत्वम् । (अलंकारियसभं ति) नापितकर्मशालाम् । (विसज्जिय इत्यादि) विसृष्टस्वेदजल्लमलपरिश्रमनिद्राक्षुत्पिपासाः । तत्र जल्लः स्थिरो मालिन्यहेतुः, मलस्तु स एव कठिनीभूत इति। राजगृहाद्विनिर्गतोऽपि च यत्र बहुजनः।(किं ते ति) किं तद्यत्करोति ? । उच्यते-जलरमणैर्जलक्रीडाभिः,विविधमज्जनैः बहुप्रकारस्नानैः, कदलीनां लतानां च गृहकैः,कुसुमस(प्र)स्तरैः, अनेकशकुनिगणरुतैश्च। कीदृशैः ?, रिभितैः स्वरघोलनावद्भिर्मधुरैरित्यर्थः। सङ्कुलानि यानि तानि तथा तेषु, पुष्करिणीवनखण्डलक्षणेषु पञ्चसु वस्तुष्विति प्रक्रमः। (सतुयट्टो य त्ति) शयितः (साहेमाणो य त्ति) प्रतिपादयन्। (गमओ त्ति) पूर्वोक्तपाठः। (साया सोक्ख त्ति) सातात् सातवेदनीयोदयात् सौख्यं सुखम् । " सासे " इत्यादि श्लोकः प्रतीतार्थः, नवरम् (अजीरए त्ति) आहारापरिणतिः । (दिट्ठीमुद्धसूले ति) दृष्टिशूलं नेत्रशूलं, मूर्द्धशूलं मस्तकशूलम् । (अकारए त्ति) भक्तद्वेषः । " अच्छिवेयणा" इत्यादि श्लोकातिरिक्तम् । (कडु त्ति) खर्जूः । (उदरे त्ति) उदरं, जलोदरमित्यर्थः। (सत्थकोसेत्यादि) शस्त्रकोशः क्षुरनखरदनाऽऽदिभाजनं,स हस्ते गतः स्थितो येषां ते तथा। एवं सर्वत्र। नवरं शिलिकाः किराततिक्तकाऽऽदितृणरूपाः, प्रतलपाषाणरूपा वा शस्त्रतीक्ष्णीकरणार्थाः। तथा-गुटिकाः द्रव्यसंयोगनिष्पादितगोलिकाः । औषधभेषजे तथैव । (उव्वलणेहीत्यादि) उद्वलनानि देहोपलेपनविशेषाः, यानि देहाद् हस्तामर्शनेनापनीयमानानि मलाऽऽदिकमादायोद्वलन्तीति। उद्वर्त्तनानि तान्येव। विशेषस्तु लोकरूढिसमवसेय इति। स्नेहपानानि द्रव्यविशेषपक्वघृताऽऽदिपानानि। वमनानि प्रसिद्धानि। विरेचनान्यधोविरेकाः। स्वेदनानि सप्तधान्यैकादिभिः(?)। अवदहनानि दम्भनानि। अपस्नानानि स्नेहापनयनहेतुद्रव्यसंस्कृतजलेन स्नानानि । अनुवासनाश्चर्मयन्त्रप्रयोगेणापानेन जठरे तैलप्रवेशनानि। वस्तिकर्माणि चर्मवेष्टनप्रयोगेण शिरःप्रभृतीनां स्नेहपूर्णानि,गुदे वा वर्त्यादिक्षेपणानि। निरूहा अनुवासना एव, केवलं द्रव्यकृतो विशेषः। शिरावेधा नाडीवेधनानि, रुधिरमोक्षणानीत्यर्थः। तक्षणानि त्वचः क्षुरप्राऽऽदिना तनूकरणानि। प्रक्षणानि ह्रस्वानि त्वचो विदारणानि । शिरोवस्तयः शिरसि बद्धस्य चर्मकोशस्य संस्कृततैलापूरलक्षणाः । प्रागुक्तानि वस्तिकर्माणि सामान्यानि, अनुवासनानिरूहशिरोवस्तयस्तु तद्भेदाः । तर्पणानि स्नेहद्रव्यविशेषैर्बृंहणानि। पुटपाकाः कुष्ठिकानां कणिकावेष्टितानामग्निना पचनानि । अथवा-पुटपाकाः पाकविशेषनिष्पन्ना औषधविशेषाः । छल्ल्यो रोहिणीप्रभृतयः, वल्ल्यो गुडूचीप्रभृतयः। कन्दाऽऽदीनि प्रसिद्धानि। एतैरिच्छन्ति एकमपि रोगमुपशमयितुमिति। (निवद्धाउए त्ति) प्रकृतिस्थित्यनुभागबन्धापेक्षया । (बद्धपएसिए त्ति) प्रदेशबन्धापेक्षयेति । (भतनिग्घाइए ति) निर्घातितान्तः। (सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि) इत्यनेन यद्यपि सर्वग्रहणम्, तथाऽपि तिरश्चां देशविरतिरेव।

इहार्थे गाथे-

" तिरियाण चारित्तं, निवारियं अह जतो पुणो तेसिं ।
सुव्वइ बहुयाण पि य, महव्वयारोहणं समए ॥ १॥
न महव्वयसब्भावे, विचरणपरिणामसंभवो तेसिं ।
न बहुगुणाण पि जओ, केवलसंभूइपरिणामो ॥ २ ॥ " इति।

इह यद्यपि सूत्रे उपनयो नोक्तस्तथाऽप्येवं द्रष्टव्य -
"सपन्नगुणो वि जओ, सुसाहुसंसग्गिवज्जिओ पायं ।
पावइ गुणपरिहाणिं, दद्दुरजीवो व्व मणियारो ॥१॥ " त्ति ।

अथवा-

"तित्थयरवंदणत्थं, चलिओ भावेण पावए सग्गं ।
जह दद्दुरदेवेणं, पत्तं वेमाणियसुरत्तं ॥ २ ॥" इति ।

ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । सेमुकनामकस्य उत्तरभवजीवे, आ० क० । ('सेडुय' शब्देऽत्र कथा)

दद्दुरवडिंसग-दर्दुरावतंसक-न० । दर्दुरदेवाधिष्ठिते विमाने, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

दप्प-दर्प-पु० । दृप्-घञ्, अच् वा । निष्कारणेऽनाचारे, व्य० ४ उ० । प्रकृत्या कामभोगे, नि० चू० १ उ० । माने, स० ५१ सम० । धृष्टतायाम्, भ० १२ श० ५ उ० । अष्टमे गौणाब्रह्मणि, दर्पो देहदृप्तता, तज्जनकत्वादस्य दर्प इत्युच्यते । आह च -"रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा हवंति । दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं तु पक्खी ॥ १ ॥" अथवा-दर्प सौभाग्याऽऽभिमानं, तत्र भव चेद, न हि प्रद्यमादिन्याद्वा पुरुषस्यात्र प्रवृत्तिं सम्भवतीति दर्प एवोच्यते । तदुक्तम्-" प्रशान्तवाहितचित्तस्य, सम्भवन्त्यखिला क्रिया । मैथुनव्यतिरेकिण्यो, यदि रागो न मैथुने ॥१॥" प्रश्न० ४ संव० द्वार । स्त्रीणां मानमर्दनादुत्पन्ने गर्वे, उत्त० १ अ० । धावनवल्गनमेदनाऽऽदौ, जीत० । पञ्चा० । ध० । "दप्पो पुण होइ वग्गणाईओ।" इति । स्था० १० ठा० । " जो अणेगव्वायामजोग्गवग्गणाऽऽदिकिरियं करेति णिक्कारणे सो दप्पो।" नि० चू० १ उ० । प्रमादे , नि० चू० ।

" दस दारा दप्पे " इत्यस्य व्याख्या-

वायामवग्गणाऽऽदी, णिक्कारणधावणं तु दप्प चेव ।
कायाऽपरिणयगहणं, अकप्पेॉ जं वा अगीतेणं ॥४६४॥

वायामो जहा-लगुडिभमाडणं, उवलयकट्ठाण वमणं, मल्लवत् । आदिसद्दगहणा बाहुजुद्धकरणं, वीवराइवणं । णिक्कारणेण धावणं वड्डुयप्पयाणं । दप्पो गतो । नि० चू० १ उ० ।

दप्पण-दर्पण-पु० । पुरुषप्रतिबिम्बदर्शनाऽऽधारे, वाच० । आदर्शे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प० व० । नि० चू० । प्रश्न० । ज० । आ० चू० । रा० ।

दप्पणिज्ज-दर्पणीय-त्रि० । बलकरे, उत्साहवृद्धिकरे च । स्था० ६ ठा० । कल्प० । ज्ञा० । औ० । प्रज्ञा० । जी० ।

दप्पपडिसेवणा-दर्पप्रतिसेवना-स्त्री० । आगमप्रतिषिद्धप्राणातिपाताऽऽद्यासेवायाम्, स्था० १० ठा० । नि० चू० । (विस्तरस्तु 'पडिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते)

दप्पिय-दर्पित-त्रि० । दृप्ते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । दर्पाद्विराधका भवन्ति ज्ञानाऽऽदीनाम् । नि० चू० १ उ० । दर्पयति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दप्पुल्ल-दर्पवत्-त्रि० । " आल्विल्लोल्लाल -वन्त-मन्तेत्तेर- मणा मतोः" ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति मतोः स्थाने उल्लाऽऽदेश । दृप्ते, प्रा० २ पाद ।

दब्भ-दर्भ-पु० । 'दम'ग्रन्थे । घञ् । वाच० । समूले कुशे, समूला दर्भाः, अमूलाः कुशाः । भ० ८ श० ६ उ० । आ० म० । आचा० । नि० । विपा० । भ० । अन्त० । प्रज्ञा० । दर्भैरप्रभूतैः कुशैरप्रभूतैर्जात्या दर्भकुशभेद इत्यन्ये । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । "कशा काशा, बल्वजाश्च, तथाऽन्ये तृणगोमशा । मौञ्जाश्च शाड्वलाश्चैव, षम् दर्भाः परिकीर्तिताः ॥ १ ॥" इत्युक्तेषु काशाऽऽदिषु षट्सु तृणेषु, वाच० ।

दब्भपुप्फ-दर्भपुष्प-पु० । दर्वीकरसर्पविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । प्रश्न० ।

दब्भय-दर्भक-पु० । समूले कुशे, भ० १८ श० १ उ० ।

दब्भवण-दर्भवन-न० । दर्भकानने, "जातणाहिं किं ते अभिवण दब्भवण ?।" दर्भवनप्रतीत, दर्भपत्राणि छेदकानि, नदग्राणि च भेदकानि भवन्तीति तद्घातनाहेतुत्वेनोक्तम् । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दब्भवत्तिय-दर्भवर्तित-पु० । न० । दर्भेण शरीरविकर्तने, दशा० ६ अ० ।

दब्भविज्जा-दर्भविद्या-स्त्री० । रोगप्रतीकारणविद्याभेदे, अन्या दर्भे दर्भविषया भवति विद्या, यथा दर्भैरपमृज्यमान आतुरः प्रगुणो भवति । व्य० ५ उ० ।

दब्भियायण-दार्भ्यायण-पु० । दर्भवंशोत्पन्ने, " चित्ता णक्खत्ते किंगोत्ते पण्णत्ते ?। दब्भियायणसगोत्ते पण्णत्ते । " सू० प्र० १० पाहु० । ज० । चं० प्र० ।

दम-दम-पु० । दम-घञ् । इन्द्रियनिग्रहे, प्रश्न० ४ संव० द्वार । स० । इन्द्रियोपशमे, न० । आचा० । उत्त० । दण्डे, बाह्येन्द्रियाणां स्थेयविषयव्यतिरिक्तेभ्यो निवर्त्तने, "निग्रहो बाह्यवृत्तीनां, दम इत्यभिधीयते ।" इत्युक्ते बाह्येन्द्रियव्यापाररोधे विकारहेतुसन्निधानेऽपि मनसः स्थैर्ये, "कुत्सितात्कर्मणो विप्र !, यच्च चित्तनिवारणम् । स कीर्तितो दम," इत्युक्ते कुकर्मभ्यो मनसो निवारणे, कर्दमे, दमने च । वाच० ।

दमअ-पु० । देशी-दरिद्रे, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा ।

दमग-दमक-पु० । हस्त्यश्वाऽऽदीनां प्रथमं विनयग्राहके, नि० चू० ११ उ० ।

द्रमक-पु० । दुर्भगे, रङ्के, व्य० ३ उ० । दरिद्रे, नि० चू० १५ उ० । आ० म० । आ० क० । बृ० । ज्ञा० । विशे० । आव० । द्रमको नाम दरिद्रो भूत्वा य प्रव्रजति । बृ० १ उ० ।

दमगभत्त-द्रमकभक्त-न० । रङ्केभ्यो दीयमाने भक्ते, नि० चू० ६ उ० ।

दमघोस-दमघोष-पु० । शिशुपालपितरि, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । वसुदेवस्वसुः पत्यौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

दमण-दमन-न० । उपतापे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । पशूनां शिक्षाग्रहणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दमणग-दमनक-पु० । पुष्पजातिविशेषे 'दवना' इतिख्याते, प्रश्न० ५ संव० द्वार । रा० । गन्धद्रव्यविशेषे च । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । आ० म० । " दमणगपुडाण वा ।" ज० १ वक्ष० । रा० ।

दमणा-दमना-स्त्री० । गन्धद्रव्यविशेषे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दमदंत-दमदन्त-पु० । स्वनामख्याते हस्तिशीर्षकपुराधिपतौ, येन हस्तिनागपुर रुद्धम् । ग० ।

अथ दमदन्तसंबन्धो यथा-" अत्थि तिवुहपुरं पि व विबुहजणसमाइसं उवट्ठुण व पुन्नागपमिपुन्नपयारोवरि दिप्पतरयकविसीस हत्थिसीस नाम नयरं। "जत्थ धुवं वणियाण, ववहारपराण अइसमिद्धाण। वणियारयाण लीला, धणओ वि न पावए कह वि ॥ १ ॥" तत्थ समरचत्तवेरिवारपेरियदंतिभग्गदंतो दमदंतो नाम राया। "कित्ती रणहयरिउवय-सहूया जस्स चंदकरसरिसा। रुज्झ करेइ दुज्जण-जणमणदहण हुयासु व्व ॥ १ ॥" अन्नया सो दमदंतराया तिखंडभरहेसर दुद्धरवेरिरायपमिवासुदेवं सेवेउ रायगिहं नगरं गओ। तम्मि समए हत्थिणाउराओ नीहरिऊण सपरियणेहिं पंमवेहिं तस्स देसो उल्लहिय लूसिओ। इमं सरूवं दमदंतरण्णा रायगिहाओ वलिएण सुणिय परमं पओसमुव्वहंतेण नासियदिक्खेण निययसिन्नेण सह हत्थिणाउरं समंतओ, जंबुद्दीवं पि व लवणसायरेण, वेढियं। तओ सो दूयमुहेण पंडवे विण्णवेइ-अम्ह देसो तुम्हेहिं वीरजणगरहणिज्जेण छलेण उवद्दुओ, न बलेण। जओ-"छलमुचिय कीवाणं, कीवाण वयं णियविरहिए ठाणे। बलवंताण नराण, न एस मग्गो सुवंसाणं ॥ १ ॥" ता जइ तुम्हाण पयरू भुयदमबलमत्थि, तो पुराओ निग्गंतूण दमपरक्कमपईवसिहाए सलभलीलमुव्वहह। तओ एवंविहं दूएण तज्जिया अवि पमवा भयभीया न नीहरिया सनयराओ जुज्झिउं। तओ बहुदिणरोहणनिव्विन्नो दमदंतो हत्थिसीसपुरं गओ एवं चिंतिऊण-" खत्तियकुलब्भवाणं, समुइपत्ताण सिहपोय व्व। जुज्झं काउं उचियं, अन्नह अजसो फुरइ लोए ॥ १ ॥" इओ य नाएण रज्जं पालयंतो दमदंतो कइवयदिणेहिं वइक्कतेहिं सिरिनेमिनाहसीससिरिधम्मघोससूरिवयणपहसंभूयपभूयसंवेगरसरंगततरंगिणीए धम्मदेसणाए एहाऊण विगयपावसंतावो रज्जमकज्जं, ममारे कारागारं, पेयसीओ रक्खसीओ, विसए विसे, चउरंगसाहणं दुग्गइसाहणं व मन्नंतो संवेगं गओ संसारसुहमुज्झिय वज्जियसव्वसावज्जकज्जमणवज्जं पव्वज्जं पडिवज्जइ। तओ रायरिसी कमेण गीयत्थो होउं विहरंतो पमवपालिए हत्थिणाउरे गोउरदुआरे मेरु व्व निप्पकंपो पडिमं ठिओ। तम्मि समए रायवाडियाए निग्गच्छंतेहिं पंचहिं पमवेहिं पलोइय वाहणेहिं उत्तरिय नमसिओ जावसार मुणीसरो। अहो! दुक्करकारओ एस रायरिसी इय अभिनंदिय पुरओ पत्थिएसु तेसु तत्थ आगओ सपरियणो पयईए दुज्जणो दुज्जोहणो, तं मुणिंदं पिक्खिय अणेण अम्हाण कुत्रपुरिसागयं कित्तिसव्वस्समवहरियं, पुव्ववइरमणुसरंतो माउलिंगेण ताडेइ, तब्भाव मुणंतेण तप्परियणेण पाहाणखंडेहिं आहणिऊण सिट्ठुरासी कओ, रायवाडीए वलिएण जुहिट्ठिररन्ना तत्थ तं मुणिमपिच्छंतेण तट्ठाणे सिट्ठुरासिं पलोयंतेण नियपरियणो पुट्ठो-कहिं विहरिओ स महप्पा धम्मकप्पदुदुकप्पो?। तेणावि दुज्जोहणवुत्ततो तप्पुरओ वुत्तो। तं सुणिय अईव अधिइं कुणंतो पायक्केहिं सिट्ठुरासिं दूरे काराविय अंगसंवाहणेहिंतो अंगं सज्जं निम्माविय सयं तं मुणिवरं खामिय पत्तो पासायं जुहिट्ठिरनरवरो। दमदंतो वि संवेगवेगेण एवं भावेइ-" एस मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ। सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥१॥" तओ स कोरवेसु अवकारकारिसु, पमवेसु य उवयारपरेसु समचित्तवित्तिं धारेइ। अह जुहिट्ठिरराओ सेवाऽवसराऽऽगयं दुज्जोहणं एवं निब्भत्थेइ-अरे कुमार! अणीकयमायागायार! इहभवपरभवदुगंछणिज्जं मुणिवरावमाणणं किं तए कयं?, तइया किं तुमं कत्थ वि गओ आसि, किं वा तस्स परक्कमं गीयमाणं न तए सुयं, जइया तेन वेढियं हुत्था हत्थिणाउरं?, अणेण य रायरिसिणा पुव्विं पंचावि वयं जिया, संपइ पुण पंच वि इंदिया। धरिओ य दुद्धरो महव्वयभारो, अतो को तं निज्जिणिउं सक्कइ, तओ सो वि रायरिसी तं दुस्सहं परिसहं सहंते संवेगावेसेण झाणंतरियं पमिवज्जिय गुणसेणिमारुहिय सपत्तकेवलनाणो सिवपुरं गओ। " वुत्ततमेयं दमदंतसाहुणो, चित्ते निसित्ता सममित्तसत्तुणो। संवेगरंगगणनट्टसीलया, हवेइ सिद्धिं परिणेइ लीलया ॥ १ ॥" ॥ ८७ ॥ ग० २ अधि०। आ० क०। आ० चू०। आ० म०।

दमदमाय-दमदमाय-नामधा०। आडम्बरकरणे, अदमद् दमद्भवति। "अव्यक्तानुकरणादनेकस्वरात् कृभ्वस्तिना अनितौ डाच्" ॥ ७। २। १४५ ॥ (हैम०) इति डाच्प्रत्ययः, दमदद्द्विर्वचनं च। "डाच्यादौ" ॥ ७। २। १४९॥ (हैम०) इति तलुक्। "डित्यन्त्यस्वराऽऽदेः" ॥ २। १। ११४॥ (हैम०) इत्यलुक्। "डाच्लोहितादिभ्यः षित्" ॥ ३। ४। ३० ॥ (हैम०) इति क्यष्प्रत्ययः। "क्यङ्षोर्यलुक्" ॥ ८। ३। १३८ ॥ इति क्यजन्तसम्बन्धिनो यस्य लुक्। 'दमदमाइ।' 'दमदमाअइ।' दमदमायति। प्रा० ३ पाद।

दमय-द्रमक-पुं०। कर्मकरे, बृ० १ उ०।

दमयंती-दमयन्ती-स्त्री०। भीमपुत्र्यां नलनृपमहिष्याम्, ती०। (कथाऽन्यत्र)

दमसायर-दमसागर-पुं०। दम इन्द्रियदमोऽर्थात् चारित्रम्। दम एव दुस्तरत्वात् सागर इव दमसागरः। तरितुमशक्यत्वात् सागरकल्पे दमे, उत्त० १६ अ०।

दमिम-द्रविड-पुं०। देशभेदे, तद्देशस्थे च। वाच०। न०। प्रव०।

दमिल-द्रमिल-पुं०। अनार्यक्षेत्रे, तज्जे मनुष्ये च। प्रश्न० १ पद। नि० चू०। सूत्र०। प्रव०।

दमिला-द्रमिला-स्त्री०। अनार्यदेशोत्पन्नायां योषिति, भ० ९ श० ३३ उ०।

दमी-दमिन्-पुं०। दमो विद्यते येषां ते दमिनः। उपशमवत्सु साधुषु, उत्त० १६ अ०। जितेन्द्रिये, उत्त० २२ अ०। उद्वृत्तदमनशीले च। उत्त० १६ अ०।

दमीसर-दमीश्वर-पुं०। दमो विद्यते येषां ते दमिनो जितेन्द्रियाः, तेषामीश्वरो दमीश्वरः। उपशमवतां साधूनामैश्वर्यधारिणि, उत्त० १६ अ०।

दमेयव्व-दमितव्य-त्रि०। वशीकर्तव्ये, उत्त० १ अ०।

दम्म-दम्य-त्रि०। दमनयोग्ये, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ०। दश०। आ० क०।

द्रम्म-पुं०। पणषोडशके, वाच०।

दय-न०। देशी-जले, शोके, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा।

दयपत्त-दयाप्राप्त-त्रि०। प्राप्तकरुणागुणे, औ०। दयाकारिणि च। स्या० ६ ठा०। रा०।

दया-दया-स्त्री०। दय-भिदा०-अङ्। "यत्नादपि परक्लेशं, हर्तुं या हृदि जायते। इच्छा भूमिसुरश्रेष्ठ!, सा दया परिकी-

र्तिता ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे इच्छाभेदे, वाच० । कृपायाम्, द्वा०२४ द्वा० । माचा० । स० । सूत्र० । अनुकम्पायाम्, दश० ९ अ० १ उ० । आव० । प्रश्न० । जीवरक्षायाम, दशा० १ अ० । स्वव्यापादनपरप्राणरक्षणायाम्, अष्ट० २७ अष्ट० । दुःखितजन्तुत्राणाभिलाषे, ध० १ अधि० । " न तद्दानं न तद्ध्यानं, न तज्ज्ञानं न तत्तपः । न सा दीक्षा न सा भिक्षा, दया यत्र न विद्यते ॥ १ ॥ " स्था० ।

दयाइअ-न० । देशी-रक्षिते, दे० ना० ५ वर्ग ३५ गाथा ।

दयालु-दयालु-त्रि० । दय-आलुच् । कृपालुके, वाच० ।

दयावत्-त्रि० । " आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः " ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति मतो स्थाने आलु इत्यादेशः । प्रा० २ पाद । सघृणे, दर्श० ४ तत्त्व । सत्त्वानुकम्पके, ध० र० । दुःखितजन्तुत्राणाभिलाषुके, प्रव० २३६ द्वार ।

सम्प्रति दशमं गुणं प्रतिपादयितुमाह-

मूलं धम्मस्स दया, तयणुगयं सव्वमेवऽणुट्ठाणं ।
सिद्धं जिणिंदसमए, भण्णइ तेणिह दयालू ॥१७॥

मूलमाद्यं कारणं धर्मस्योक्तनिरूपस्य दया प्राणिरक्षा । यदुक्तं श्रीमदाचाराङ्गसूत्रे-"से बेमि जे अईया, जे पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पन्नविंति, एवं परूवयंति-सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परितावेयव्वा, न उवद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे निइए सासए समिच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेइए।" इत्यादि । यतोऽन्यान्यपि व्रतानि तद्रक्षार्थं दीपयन्ति । तथा चाऽऽह-"अहिंसैव मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी । अस्याः संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥१॥ " इति । अत एव तदनुगतं जीवदयासहितमपि, सर्वमेव विहाराऽऽहारतपोविधानादि सदनुष्ठानं, सिद्धं प्रतीतं, जिनेन्द्रसमये पारगतसिद्धान्ते । तथा चोक्तं श्रीशय्यम्भवसूरिपादैः -" जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए । जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥१॥" (दश०) इति । अन्यैरप्युक्तम् -"न सा दीक्षा न सा भिक्षा, न तद्दानं न तत्तपः । न तद् ध्यानं न तद् ध्यानं, दया यत्र न विद्यते ॥ १ ॥" इति । भण्यते अभिधीयते तेन कारणेनेह धर्माधिकारे दयालुर्धर्मार्हः । स हि किल स्वल्पदयाऽपि जीववधस्य यशोधरजीवसुरेन्द्रदत्तमहाराजस्येव दारुणविपाकमवबुध्यमानो न जीववधे प्रवर्त्तत इति ॥ १७ ॥ ध० र० ।

दयावण-पुं० । देशी-दीने, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा ।

दयासूरि-दयासूरि-पुं० । द्रव्यानुयोगार्थोपदेशके तपागच्छप्रधाने स्वनामख्याते सूरौ, द्रव्या० १५ अध्या० ।

दर-दर-अव्य० । ईषदर्थे, अर्द्धार्थे च । " दरार्द्धाऽल्पे " ॥ ८।२ । २१५ ॥ दर इत्यव्ययमर्द्धार्थे ईषदर्थे च प्रयोक्तव्यम् ।"दरविअसिअं ।" अर्द्धेनेषद्वा विकसितमित्यर्थः । प्रा० २ पाद । प्रव० । विशे० । न्यूनतायाम्, दरा द्विविधा । तद्यथा-पेट्टदरा, धान्यभाजनदरा च । पेट्टमुदरं, तद्रूपा दरा पेट्टदरा । धान्यभाजनानि कटपल्यादय, तान्येव दरा धान्यभाजनदरा । बृ० १ उ० । नि० चू० । अर्द्धे, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा ।

दरंदर-पुं० । देशी-उल्लासे, दे० ना० ५ वर्ग ३७ गाथा ।

दराजिमिअ-दराजिमित-त्रि० । अर्द्धभुक्ते, बृ० ३ उ० ।

दरादिण्ण-दरदत्त-त्रि० । ईषद्वितीर्णे, पञ्चा० १० विव० ।

दरपट्ठावित-दरप्रस्थापित-त्रि० । अर्द्धप्रस्थापिते, नि० चू० १६ उ० ।

दरमत्त-पुं० । देशी-बलात्कारे, दे० ना० ५ वर्ग ३७ गाथा ।

दरवंदिय-दरवन्दित-न० । द्वात्रिंशद्वन्दनकदोषे, " देसीकहविकहेते, कहेति दरवंदिए कुंचो । " देशीकथाप्रवृत्तस्तान् यत्र करोति तद्धि परिकुञ्चितम् । बृ० ३ उ० ।

दरविद्दर-पुं० । देशी-दीर्घे, विरले च । दे० ना० ५ वर्ग ४२ गाथा ।

दरसण-दर्शन-न० । मते, यथा-" आगारमावसंता वा, आरण्णा वा वि पव्वया । इमं दरिसणमावण्णा, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥ १ ॥ " अनु० ।

दरसणिज्ज-दर्शनीय-त्रि० । द्रष्टुं योग्ये, च० प्र० १८ पाहु० । पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति तस्मिन्न । भ० ९ श० ५ उ० ।

दराहिंमिय-दराहिण्मित-त्रि० । अर्द्धपर्यटिते, बृ० ४ उ० ।

दरिअ-पुं० । देशी-दृप्ते, दे० ना० ५ वर्ग ३५ गाथा ।

दरिद्द-दरिद्र-त्रि० । धनविहीने, स्था० ४ ठा० ३ उ० । अनीश्वरे, दुःस्थे च । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

दरिद्दकुल-दरिद्रकुल-न० । अनीश्वरे, स्था० ८ ठा० । निर्धनकुले च । कल्प० ७ क्षण ।

दरिद्दथेर-दरिद्रस्थविर-पुं० । हस्तिकल्पनगरीवास्तव्ये समृद्धे सत्यऽऽकस्मिके स्वनामख्याते स्थविरे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दरिद्दीहूय-दरिद्रीभूत-त्रि० । अदरिद्रे दरिद्रतां गते, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

दरिय-दृप्त-त्रि० । दृप-क्त । "अरिर्दृप्ते" ॥ ८ । १ । १४४ ॥ दृप्तशब्दे ऋतोऽरिरादेशो भवति । 'दरिओ' । प्रा० १ पाद । "दृप्ते" ॥ ८ । २ । ९६ ॥ दृप्तशब्दे शेषस्य द्वित्वं न भवति । "भम धम्मिअ ! वीसत्थो, सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण । गोलाणईकच्छकुडंग-वासिणा दरियसीहेण ॥१॥" (इति गाथासप्तशत्याम) प्रा० २ पाद । गर्विते, वाच० । औ० । दर्पाऽऽध्माते, रा० । प्रश्न० । "दरियनागदप्पमहणा ।" दृप्तनागदर्पमथना । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

दरियमह-दृप्तमह-पुं० । विशिष्टे काले दर्पात्पूजायाम्, आचा० २ श्रु० १ अ० १ चू० १ उ० ।

दरिस-दृश्-(ष्)धा० । चाक्षुषज्ञाने, भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् । वाच० । "दृशाऽऽदीनामरिः " ॥ ८ । ४ । २३५ ॥ इति दृपेररि । 'दरिसइ ।' प्रा० ४ पाद । पश्यति । अदर्शत्, अद्राक्षीत् । वाच० । "दर्शं दर्शं सुरूपां स्त्रीम् ।" आ० क० ।

दरिसण-दर्शन-न० । " र्शर्षतप्तवज्रे वा " ॥ ८ । २ । १०५ ॥ इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्वं इकारो वा भवति । 'दरिसण ।' 'दंसण ।' प्रा० २ पाद । सम्यक्त्वे, आ० क० । आतु० । आगमे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । संवेदने, स० १० सम० । प्रकाशने, स० ५ अङ्ग । आलोकने, रा० । वाक्ये च । स० ६ अङ्ग ।

दरिसणरइय-दर्शनरतिक-त्रि० । दर्शने आलोकने रतिर्यस्य स दर्शनरतिकः । विदग्धणाख्ये, रा० ।

दरिसणावरणिज्ज–दर्शनाऽऽवरणीय–न० । दर्शनं सामान्यार्थबोधरूपमावृणोतीति दर्शनाऽऽवरणीयम् । दर्शनाऽऽवरणकर्मणि, स्था० । उक्तं च–"दंसणसीले जीवे, दंसणघायं करेइ जं कम्मं । तं पडिहारसमाणं, दंसणवरणं भवे जीवे ॥ १ ॥" इति । स्था० २ ठा० ४ उ० । (अस्य सर्वा वक्तव्यता 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २५६ पृष्ठे द्रष्टव्या)

दरिसणिज्ज–दर्शनीय–त्रि० । दर्शनाय चक्षुर्व्यापाराय हितं दर्शनीयम् । औ० । यं पश्यच्चक्षुषा श्रमं न गच्छति तस्मिन्, स० । ज्ञा० । नि० । विपा० । दर्शनयोग्ये, जं० १ वक्ष० । रा० । प्रश्न० । रूपातिशये, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आचा० । रा० । सू० प्र० । औ० । शोभने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

दरिसयंत–दर्शयत्–त्रि० प्रकटयति, स० २ अङ्ग ।

दरिसावण–दर्शन–न० । कृपाया प्रेरणे, आव० १ अ० ।

दरी–दरी–स्त्री० । पर्वतकन्दराविशेषे, भ० ३ श० २ उ० । ज्ञा० । जं० । आचा० । आव० । शृगालाऽऽद्युत्कीर्णभूमिविशेषेषु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । मूषिकाऽऽदिकृतायां लघ्व्यां खड्डायाम्, ज० २ वक्ष० ।

दरुम्मिल्ल–न० । देशी-घने, दे० ना० ५ वर्ग ३७ गाथा ।

दल–दद्–धा० । दाने, 'दस्यड०, मस्य ल० । 'दलइ ।' सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आचा० । अग० ।

दल–न० । दल-अच् । पत्रे, विशे० । भागे, पं० स० ५ द्वार । उपादानकारणे, पञ्चा० ७ विव० । ध० । जिनभवननिष्पत्त्यङ्गके, दर्श० १ तत्त्व । शस्त्रच्छेदे, अपकृष्टद्रव्ये, तमालपत्रे, उच्चतायाम्, पङ्के, अर्द्धे च । वाच० । खण्डे, विशे० । उत्सेधवद्वस्तुनि च । पु० । वाच० ।

दलयित्ता–दत्त्वा–अव्य० । दानं कृत्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

दलंती–दलयती–स्त्री० । घरट्टेन गोधूमाऽऽदिचूर्णयन्त्याम्, पिं० ।

दलयमाण–ददत्–त्रि० । दानं कुर्वति, स्था० ३ ठा० १ उ० । "हत्थतालं दलयमाणे ।" हस्तेन तामनं हस्ततालं, तं "दलयमाणे" ददत् यष्टिमुष्टिलकुटाऽऽदिभिर्मरणाऽऽदिनिरपेक्ष आत्मनः परस्य वा प्रहरन्निति भावः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । "अत्थादाणं दलमाणो त्ति ।" अर्थादानं द्रव्योपादनकारणमष्टाङ्गनिमित्तं ददत् प्रयुञ्जान इत्यर्थः । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

दलागणि–दलाग्नि–पु० । दलानि पत्राणि तेषामग्निस्तद्दहनप्रवृत्तो वह्निः, तस्मिन्, स्था० ७ ठा० ।

दलिअ–न० । देशी-निकूणिताक्षे, दे० ना० ५ वर्ग ५२ गाथा ।

दलिद्द–दरिद्र–पु० । दरिद्रा-अच् आलोपः । वाच० । 'हरिद्राऽऽदौ लः" ॥ ८ । १ । २५४ ॥ इत्यसंयुक्तस्य रस्य लः । प्रा० १ पाद । निर्द्धने, दीने च । वाच० ।

दलिय–दलिक–न० । यां प्रकृतिं बध्नाति जीवस्तदनुभावेन प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकम् । तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ० । पं० सं० । परमाण्वात्मके, प० स० ५ द्वार । वस्तु दलिकं द्रव्यं योग्यमर्हमित्यनर्थान्तरम् । आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० ।

दव–दव–पु० । दुनोति-दु-अच् । वने, वाच० । वनानले च । दर्श० १ तत्त्व । प्रव० । उत्त० । भावे-अप् । उपतापे, वाच० ।

द्रव–पु० । द्रु-अप् । रसे, वेगे, गतौ, पलायने, परिहासे, वाच० । जले, पिं० । विकृतिविशेषे, आव० ६ अ० । सप्तदशविधे संयमे च, कर्मकाठिन्यद्रवणकारित्वाद् विलयहेतुत्वाच्च । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । सूत्र० । पानके, बृ० १ उ० । यच्च सौवीरं द्रवाऽऽदिकमलेपकृत, यच्च दुग्धतैलवसाद्रवघृताऽऽदिकं लेपकृत तदुभयमपि द्रवमित्युच्यते । बृ० ५ उ० । नि० चू० । गह्वरे, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा ।

दवकर–द्रवकर–त्रि० । परिहासकारिणि, भ० ९ श० ३३ उ० । औ० ।

दवकारी–द्रवकारी–स्त्री० । परिहासकारिण्याम्, भ० ११ श० ११ उ० ।

दवगंधित्त–द्रवगन्धित्व–न० । द्रवस्य गूथस्य कुथितनकाऽऽदेरिव गन्धो यस्यास्ति । तस्मिन्, ध० १ अधि० ।

दवगुम–द्रवगुम–पु० । अपिण्डीकृते आर्द्रगुडे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । प० व० ।

दवग्गि–द (दा) वाग्नि–पु० । दवस्य वनस्य अग्निः दवाग्निः । वाच० । "वाऽव्ययोत्खाताऽऽदावदातः" ॥ ८ । १ । ६७ ॥ इति आदेराकारस्य अत्वम् । "दवग्गी । दावग्गी ।" प्रा० १ पाद । वनोद्भवेऽग्नौ, औ० । प्रश्न० । उत्त० । "दवग्गिजालाभिहए ।" जी० १ प्रति० । "दवग्गिणा" दवाग्निना वह्निज्वालनेन निर्दयं यथा भवति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दवग्गिकम्म–दवाग्निकर्म–न० । क्षेत्ररक्षानिमित्तं वने दवदाने, यथोत्तरापथे दग्धे हि तत्र तरुणं तृणमुत्तिष्ठति । पञ्चा० १ विव० ।

दवग्गिदाण–दवाग्निदान–न० । भूमिषु तरुणतृणरोहणार्थं वने क्रियमाणे दवकर्मणि, ध० २ अधि० ।

दवग्गिदावणया–दवाग्निदापनता–स्त्री० । दवाग्नेर्दवस्य दापनं दाने प्रयोजकत्वमुपलक्षणत्वाद्दानं च दवाग्निदापनं, तदेव प्राकृतत्वात् "दवग्गिदावणया ।" कर्मतः उपभोगपरिभोगव्रतातिचाररूपाणां पञ्चदशकर्मादानानामन्यतमे, (भ० ८ श० ५ उ० । आ०) क्षेत्राऽऽदिशोधननिमित्तं वनाग्नेर्वितरणे, उपा० १ अ० । आव० ।

दवण–दवन–न० । याने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

दवणमग्ग–दवनमार्ग–पु० । दवनमिति यानं, तन्मार्गो दवनमार्गः । तस्मिन्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

दवदप्पसील–द्रुतदर्पशील–त्रि० । असमीक्ष्य कारिणि, पं० व० ४ द्वार ।

भासइ दुअं दुअं ग–च्छए अ दरितो व गोविसो सरए ।
सव्वदुयदुयकारी, फुट्टइ व ठिओ वि दप्पेणं ॥४६७॥

द्रुतं द्रुतम् असमीक्ष्य सम्भ्रमाऽऽवेशवशाद्यो भाषते, यश्च द्रुतं द्रुतं गच्छति । क इवेत्याह–शरदि दर्पितः इव दर्पोत्कुरः इव गोवृषो बलीवर्दविशेषः । शरदि हि प्रचुरचारिप्राणतया, मक्षिकाऽऽद्युपद्रवरहिततया च गोवृषो मदोद्रेकादुच्छृङ्खलः पर्यटतीत्येवमसावपि निरङ्कुशस्त्वरितं त्वरितं गच्छति, यश्च सर्वद्रुतद्रुतकारी प्रत्युपेक्षणाऽऽदीनां सर्वासामपि क्रियाणामतित्वरितकारी, यश्च दर्पेण तीव्रोद्रेकवशात् स्फुटतीव स्थितोऽपि सन् गमनाऽऽदिकां क्रियामकुर्वन्नपि इत्यर्थः । एष द्रुतदर्पशील उच्यते । वृ० १ उ० ।

कह उग्गमेज कहइ वा, सज्झायं कुणतु हिंडंतो ? ॥
जो णिक्खमणपवेसे, कालो भणितो उ वासउदुबद्धे ।
दुचउक्कं उदुबद्धे, विहारो हेमंतगिम्हेसु ॥
णवमो वासावासे, एसो कप्पो जिणेहिँ पन्नत्तो ।
एयस्स संखमाणं, वोच्छामि अहं समासेण ॥
दोण्हि सया चत्ताला, उदुबद्धे एत्तिओ विहारे तु ।
वासासु पन्नासा, पणगं पणग हु सति सीयट्ठा ॥
पुरपच्छिममज्झाणं, सव्वेसिं एस कालभेदो तु ।
णिच्चं हिंमंतेणं, विगाहितो होति सो नियमा ॥
तम्हा खलु उप्पत्ती, ण एसियव्वा तु तेसिँ दव्वाणं ।
जस्सट्ठा निप्फन्नं, तं गंतुं एमते मतियं ॥
अतिबहुयउद्धजट्ठा, णातुं दव्वकुलदेसभावे य ।
पुच्छति सुद्धमसुद्धं, ताहे गहण अगहणं वा ॥
अहवा पुट्ठो भणेज्जा, समणाहिकय व अहव निक्खित्तं ।
पच्छित्तं वा वि भवे, तत्थ तु दारा इमे होंति ॥
समणो समणी सावय, सात्तिय संबंधि इड्ढिमामाए ।
रायातु णिक्खेवे, वेया णिक्खेवयं कुज्जा ॥
ढमए दूभग भट्ठे, समणच्छण्हे वाय तेणे य ।
ण य णाम ण वत्तव्व, पुट्ठे रुट्ठे जहा वयणं ॥
एतेसिं दाराणं, विभास भणिता जहा च कप्पम्मि ।
सव्वे च निरवसेसा, णायव्वा सव्वदव्वेसु ॥
जं पुण जत्था इणहं, दव्वे खेत्ते य होज्ज काले य ।
तेहिं का पुच्छा तू, जह उज्जेणीएँ मंडेसु ॥
एमेव माहमासे, किसराए संखमीएँ का पुच्छा ? ।
ठिइ तिण्हेव कुलम्मी, बहुए दव्वम्मि का पुच्छा ? ॥
तम्हा तु गहणकाले, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
सो होज्जा दव्वस्स तु, ण मूलओ तस्स उप्पत्ती ॥
कीते पामिच्चे छि-ज्जए य णिप्फत्तिए य निप्फण्हे ।
कज्जं णिप्फत्तिमय, समाणिते होति निप्फण्ह ॥
कमिनकीताऽऽदीया, तंदुलमादी तु होज्ज समट्ठा ।
णिप्फत्ती सा तु भवे, आयट्ठायासु निप्फन्नं ॥
तं होति कप्पणिज्जं, जं पुण समणट्ठ होज्ज णिप्फन्नं ।
तं तु न कप्पति एत्थ, च चोयए चोदओ इणमो ॥
णिप्फत्तिओ य णिप्फ-न्नओ य गहणं तु होज्ज समणस्स ।
णिप्फत्तिओ य सुद्धे, कह णु णिप्फन्नए सोही ? ॥
एवं गवेसियव्व, न एगट्ठाणग परिच्चत्त ।
भणति अफासुदव्वे-ण चेव गहणं तु साहूणं ॥
तो तेणं साहूणं, किं कज्जं होति तु गविट्ठेणं ।
अन्नं पि य एगकुले, ण हु आकरो सव्वदव्वाणं ॥
नित्तकुसुमादियाण, सव्वदव्वाण संभवेगकुले ।
ताणि तु गवेसमाणे, हाणी सव्वेव णाणादी ॥
तम्हा पप्पं परिहर, अपप्प चिय वज्जतो वि वज्जति हु ।
अप्पप्पं साहेंतो, विवज्जति ण तं च साहेति ॥
णिप्फत्ती समणट्ठा, समणट्ठा चेव मातु णिप्फन्नं ।
गहितं होज्ज जयंते-ण तत्थ सोही कहं होति ? ॥
एवमवि अप्पमत्तो, उवउत्तो उज्जयं गवेसतो ।
सुद्धो जइ चावन्नो, खमओ इव सो असढभावो ॥
जो पुण मुक्कधुराओ, णिरुज्जमो जइ वि सो उ णाऽऽवन्नो ।
तह वि य आवन्नो चिय, आहाकम्म परिणउ व्व ॥
एयस्स साहणट्ठं, अहवा अन्नं पि भन्नए एत्थ ।
कारगसुत्तं इणमो, तमहं वोच्छं समासेणं ॥
एगम्मि वितियएँ तय-म्मि जे अत्थकुसलजिणदिट्ठा ।
एतेसु जुत्तजोगी, विहरंतो अहाउयं सुज्झे ॥
अंगग्गहणं पढमं, आयारो तस्स वितियसुयखंधे ।
तस्स वि वीयज्झयणे, उद्देसे तस्स ततियम्मि ॥
जइ सुत्तं खलु सेयरू-वस्सेणं होज्ज सुलभे उ ।
अहवा वी तइ एत्ती, अज्झयणम्मी तइज्जम्मी ॥
तस्स वि तइउद्देसे, आदीसुत्तम्मि जं समक्खाय ।
जदि संकमो असुद्धो, ताहे जयणाएँ जुत्तो उ ॥
देसूणं पि हु कोडिं, अत्थतो सो वि सुज्झती णियमा ।
तम्हा विसुद्धभावो, सुज्झति णियमा जिणमयम्मि ॥
वाहिरकरणे जुत्तो, उवओग मट्ठिओ सुयधराणं ।
जं दोससमावन्नो, विमाणं जिणवयणतो सुद्धो ॥
दव्वेण य भावेण य, सुद्धासुद्धे य होति चउभंगो ।
ततिओ दोसु वि सुद्धो, चउत्थओ उभयह विसुद्धो ॥
वीओ भावविसुद्धो, दव्वविसुद्धो य पढमओ होति ।
अहवा वि दोसकरणं, दव्वे भावे य दुविह तु ॥
भावविसुद्धा-राहगो, दव्वतो सुद्धो य होतऽसुद्धो य ।
जे जिणदिट्ठा दोसा, रागादी तेहिँ न उ लिप्पे ॥
एतेसामन्नतरं, कीयादी अणुवउत्त जो गिण्हे ।
तट्ठाणगावराहे, संवच्छियमोऽवराहाण ॥
आवण्णे सट्ठाणं, दिज्जाति अह पुण बहुं तु आवण्णे ।
तहिय किं दायव्वं, भण्णति इणमो सुणह वोच्छं ॥
सुज्झइ तवेण दिज्जा, वत्तु छेदो वा तहेव मूलं वा ।
कत्थेदं भणयती, भण्हति तु णिसीहमायम्मि ॥
वीसतिमे उद्देसे, मास चउमास तह य छम्मासं ।
उग्घातमणुग्घात, भणितं सव्वं जहाकमसो ॥
एसो तु दवियकप्पो, जहक्कमं वण्णितो समासेणं ।

"अज्ज मए सुय, गाहा-(दव्वाणि) जाणि पुण साहुस्स आहाराईणि दव्वाणि गेहण पंति, तेसिं जहसंभवं मग्गह, कओ एस साली उप्पन्नाऽऽदिघोसणपाहुमियाए (?) नीणियाए? । आगारि

वि, भावओ सुद्धो । अहवा-दुविह कारणे दव्वे, भावे य सुद्धो वा । भावओ सुद्धो आराहओ होइ,जे जिणदिट्ठा भावा रागाइयो, तेहिं न लेप्पइ जम्हा । गाहा-(एतेसामन्नयर) एएसिं कीयाईण आहाराईण वा जो (अणुवउत्त जो गिण्हे) तस्साऽऽरोवणपच्छित्त,जया पुण वहुइआ आलोयणा होज्जा ।" तत्र कथं दातव्यम् ?। उच्यते-"सव्वत्थ हेउ समक्खिऊण जइ तवेण सुज्झइ तो तवो दिज्जइ, इहरहा छेओ वा, मूल वा । कह एव-पमाण भणिय ?। उच्यते-निसीहस्स वीसइमे उद्देसए । एस ताव दवियकप्पो । " प० चू० ।

पंचएहं असणादी-ण पणवीस तिहा भवे विसोही उ।
अहवा वि उ उद्दसिया, एत्तो तिगवड्ढिया सोही ॥
असणं पाणं वत्थं, पायं सेज्जा य पंच एतेसिं ।
सुद्धी पण वीसति वा, उग्गम तह एसणाए य ॥
सुयणाणपमाणेण तु, गहियमसुद्धे वि होति सुद्धो तु ।
अहवा वि तु उद्दसिया, सोलस उप्पायणादोसा ॥
एएसिं सव्वेसिं, हणपयणकिणादि णवहिँ कोडीहिं ।
कयकारिताणुमोदित, एमा तिगवड्ढिता सोही ॥पं०भा०।

तत्थ दव्वकप्पो ताव आहारमाइ । गाहा-(असण पाणं वत्थ पायसेज्जा) एएसिं पचण्ह वि पचपचगविसोहि त्ति । पचपचेगा नाम-पण्णरस उग्गमदोसा, दस एसणादोसा । एए पंचपचगा पंचवीसं भवंतो पणवीसाए सुयनाणमाणओ सुद्धा । अहवा-ठ इस य-सोलस उप्पायणा दोसा, एएसिं सव्वेसिं पि तिवड्ढिया सोहि त्ति । " न हणइ न हणावेइ, हणत नाणुजाणइ । न पयइ न पयावेइ, पयत नाणुजाणइ ॥ १ ॥ न किणइ न किणावेइ, किणत नाणुजाणइ । " एस दव्वकप्पो । पं० चू० ।

दवियत्ता स्त्री०-द्रव्याऽऽत्मन्-पु० । द्रव्य त्रिकालानुगामि उपसर्जनीकृतकषायाऽऽदिपर्याय, तद्रूप आत्मा द्रव्याऽऽत्मा । आत्मभेदे, स च सर्वेषां जीवानाम् । भ० १२ श० १० उ० ।

दवियरस--द्रवितरस -पुं० । द्रवयुक्तनिर्यासे, ओघ० ।

दवियाणुओग-द्रव्यानुयोग-पु० । अनुयोगभेदे, स्था० ।

तत्स्वरूपम्-

दसविहे दवियाणुओगे पण्णत्ते । तं जहा-दवियाणुओगे, माउयाणुओगे, एगट्ठियाणुओगे,करणाणुओगे,अप्पियाणप्पिए, भावियाभाविए, वाहिरावाहिरे, सासयासासए, तहणाणे, अतहणाणे ॥

(दसविहे इत्यादि) अनुयोजनं सूत्रस्यार्थेन संवन्धनम्, अनुरूपोऽनुकूलो वा योग सूत्रस्याभिधेयार्थं प्रति व्यापारोऽनुयोग , व्याख्यानमिति भाव । स च चतुर्द्धा,व्याख्येयभेदात् । तद्यथा-चरणकरणानुयोगो,धर्मकथाऽनुयोगो, गणितानुयोगो, द्रव्यानुयोगश्च । तत्र द्रव्यस्य जीवाऽऽदेरनुयोगो विचारो द्रव्यानुयोग । स च दशधा । तत्र (दवियाणुओगे त्ति) यज्जीवाऽऽदेर्द्रव्यत्वं विचार्यते स द्रव्यानुयोग । यथा-द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायान्, द्रूयते वा तैस्तै पर्यायैरिति द्रव्यम्, गुणपर्यायवानर्थ , तत्र सति जीवे ज्ञानाऽऽदय सहभावित्वलक्षणा गुणा', न हि तद्वियुक्तो जीव. कदाचनापि सभवति, जीवत्वहाने. । तथा पर्याया अपि मानुषत्वबाल्याऽऽदयः कालकृतावस्थालक्षणा' तत्र सन्त्येवेत्यतो भवत्यसौ गुणपर्यायवत्त्वाद्द्रव्यमित्यादि द्रव्यानुयोग' । स्था० १० ठा० । (मातृकानुयोगाऽऽदीनां शब्दार्थ पृथक् पृथक्)

दवियाऽऽता-स्त्री०-द्रव्याऽऽत्मन्-पु० । 'दवियत्ता' शब्दार्थे, भ० १२ श० १० उ० ।

दव्व-द्रव्य-न० । द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम् । " कृद्बहुलम् ॥ " इति वचनात्कर्त्तरि य । आ०म०१अ०१ खण्ड । नि० चू० । ज० । अनु० । अनादिमदुत्प्रेक्षितपर्यायशृङ्खलाऽऽधारेऽर्थे, विशे० । ल० । स्था० ॥

अथ द्रव्यलक्षणमाह -

दव्वए दुयए दोरव-यवो विगारो गुणाण संदावो ।
दव्व भव्वं भाव-स्स भूअभावं च जं जोग्गं ॥ २८ ॥

'दु' 'द्रु' गताविति धातु , ततश्च द्रवति तांस्तान् स्वपर्यायान् प्राप्नोति मुञ्चति वेति तद् 'द्रव्यम्,' इत्युत्तरार्द्धादानीय सर्वत्र सम्बध्यते । तथा द्रूयते स्वपर्यायैरेव प्राप्यते मुच्यते चेति द्रव्य, यान्किल पर्यायान् द्रव्यं प्राप्नोति, तैस्तदपि प्राप्यते, यांश्च मुञ्चति, तैस्तदपि मुच्यत इति भावः । तथा द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रु. सत्ता, तस्या एवावयवो, विकारो वेति द्रव्यम् । अवान्तरसत्तारूपाणि हि द्रव्याणि महासत्ताया अवयवा विकारा वा भवन्त्येवेति भाव. । तथा गुणा रूपरसाऽऽदय', तेषां,संद्रवणं संद्राव: समुदायो घटाऽऽदिरूपो द्रव्यम् । तथा-(भव्व भावस्स त्ति) भविष्यतीति भाव , तस्य भावस्य भाविन पर्यायस्य यद्द्रव्य योग्य तदपि द्रव्यम्,राज्यपर्यायार्हकुमारवत् । तथा भूतभाव चेति-भूतः पश्चात्कृतो भाव पर्यायो यस्य तद् भूतभाव, तदपि द्रव्यम्, अनुभूतघृताऽऽधारत्वपर्यायरिक्तघृतघटवत् । चशब्दाद् भूतभविष्यत्पर्याय च द्रव्यमिति ज्ञातव्यम् । भूतभविष्यद्घृताऽऽधारत्वपर्यायरिक्तघृतघटवदिति । एतदपि भूतभावम् । तथा भूतभविष्यद्भाव च । कथंभूत सद्द्रव्यम् ?, इत्याह-यद्योग्य भूतस्य भावस्य, भूतभविष्यतोश्च भावयोरिदानीमसत्त्वेऽपि यद्योग्यमर्हं तदेव द्रव्यमुच्यते, नान्यत् । अन्यथा सर्वेषामपि पर्यायाणामनुभूतत्वादनुभविष्यमाणत्वाच्च सर्वस्यापि पुद्गलाऽऽदेर्द्रव्यत्वप्रसङ्गात् । इति गाथार्थं ॥ २८ ॥ विशे० । स्था० । द्रव्या० । अनु० । स० । नि०चू० । न० । सूत्र० । आव० ।

गुणपर्यायाऽऽधारो द्रव्यम्-

गुणपर्याययोः स्थान-मेकरूपं सदाऽपि यत् ।
स्वजात्या द्रव्यमाख्यातं, मध्ये भेदो न तस्य वै ॥१॥

गुणपर्याययोर्भाजन कालत्रये एकरूप द्रव्य स्वजात्या निजत्वेन एकस्वरूप भवति, पर पर्यायवद् न परावृत्ति लभते, तद् द्रव्यमुच्यते । यथा-ज्ञानाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं जीवद्रव्यम्, रूपाऽऽदिगुणपर्यायभाजनं पुद्गलद्रव्यम्,सर्वरक्तत्वाऽऽदिघटत्वाऽऽदिगुणपर्यायभाजन मृद्द्रव्यम । यथा वा तन्तव पटापेक्षयाऽवयवापेक्षया पर्यायाः । कथम्?, यत पटद्रव्यम, पुनस्तन्तवोऽवयवापेक्षया पर्यायाः । कथंम्?, यत पटविचाले पटावस्थाविचाले च तन्तूनां भेदो नास्ति, तन्त्ववयवावस्थायामन्वयत्वरूपो भेदोऽस्ति , तस्मात् पुद्गलस्कन्धमध्ये द्रव्यपर्यायत्वमापेक्षिक बोध्यम् । अथ कश्चिदेव कथयिष्यति-

ति । अतो द्रव्यस्य षडेव भेदान् सूत्रोक्तान् श्रुत्वा विस्तारतया विस्तारयुक्त्या, आगमेभ्यः स्याद्वादसमुद्दिष्टेभ्यः, आकर्ण्य, श्रवणविपर्यीकरण श्रवण, तत्र विस्तारेणैव श्रुतानामवगमो जायतेऽतो विस्तारतया श्रुत्वा, च पुन , समन्वयस्य याचा· उद्घोषणद्वारा कण्ठे कृत्वा,मनसि निदिध्यास्य,भो भव्यलोका.! सम्यक्त्वप्राणिन. ! अर्हत्क्रमाम्भोजयुग श्रीजिनचरणभजनस्थैर्य भजन्तु,श्रुत्वा समन्वयस्य च श्रीप्रभुस्मृतिरेव माध्वीयसी, तत्कृत्वा तत्करण श्रेयो निबन्धनमिति । तथा भोजेति सकेतेन सदर्भकर्तुर्नामनिदर्शनमिति । अत्राध्याये सम्यक्त्वद्वाढ्याय सर्वभेदाऽऽख्यानमिति प्रयोजन चेति ॥ २१ ॥ द्रव्या० १०अध्या०।

द्रव्यभेदानाह-

कइविहा णं भंते ! दव्वा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा दव्वा पण्णत्ता । त जहा-जीवदव्वा य, अजीवदव्वा य । अजीवदव्वा ण भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा- रूवी अजीवदव्वा य, अरूवी अजीवदव्वा य । एवं एएणं अभिलावेणं जहा अजीवपज्जवा० जाव से तेणट्ठेणं गोयमा ! एव वुच्चइ-ते णं णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता । जीवदव्वा णं भंते ! किं सखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ?। गोयमा ! णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जीवदव्वा णं णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता ?। गोयमा ! असंखेज्जा णेरइया० जाव असंखेज्जा वाउकाइया, अणंता वणस्सइकाइया, असंखेज्जा बेइंदिया, एवं०जाव वेमाणिया, अणंता सिद्धा । से तेणट्ठेणं० जाव अणंता ।

(अजीवपज्जव त्ति) यथा प्रज्ञापनायां विशेषाभिधाने पञ्चमे पदेऽजीवपर्यवाः पठिता ,तथेहाजीवद्रव्यसूत्राण्यध्येयानि । तानि चैवम्-" अरूविअजीवदव्वा ण भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता । त जहा-धम्मत्थिकाए० ।" इत्यादि । तथा-" रूविअजीवदव्वा ण भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता । त जहा-खधा० ।' इत्यादि । तथा. "ते ण भंते ! किं सखेज्जा, किं असखेज्जा,अणंता ?। गोयमा ! णो सखेज्जा,णो असखेज्जा,अणंता । से केणट्ठेण भंते ! एव वुच्चइ ?। गोयमा ! अणंता परमाणू, अणंता दुपएसिया खंधा, अणंता तिपएसिया खंधा० जाव अणंता अणंतपएसिया खंध त्ति । "

द्रव्याधिकारादेवेदमाह-

जीवदव्वा णं भंते ! अजीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अजीवदव्वा णं जीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?। गोयमा ! जीवदव्वा णं अजीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । णो अजीवदव्वा णं जीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव हव्वमागच्छंति । गोयमा ! जीवदव्वा णं अजीवदव्वा परियादियंति, अजीवदव्वा परियादियत्ता ओरालियं वेउव्वियं आहारगं तेयगं कम्मगं सोइंदियं० जाव फासिंदियं, मणजोगं वइजोगं कायजोगं आणापाणुत्तं च णिव्वत्तयंति, से तेणट्ठेणं० जाव हव्वमागच्छंति । णेरइया णं भंते ! अजीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति, अजीवदव्वा णं णेरइया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?। गोयमा ! णेरइया णं अजीवदव्वा परिभोगत्ताए० जाव हव्वमागच्छंति. णो अजीवदव्वा णं णेरइया ०जाव हव्वमागच्छंति । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! णेरइया णं अजीवदव्वे परियादियंति, अजीवदव्वे परियादियंतित्ता वेउव्वियं तेयगं कम्मगं सोइंदियं० जाव फासिंदियं आणापाणुत्तं च णिव्वत्तयंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-एवं० जाव वेमाणिया, णवरं सरीरइंदियजोगा जाणियव्वा जस्स जं अत्थि ॥

(जीवदव्वा ण भंते ! अजीवदव्वा इत्यादि) इह जीवद्रव्याणि परिभोजकानि, सचेतनत्वेन ग्राहकत्वात् । इतराणि तु परिभोग्यानि, अचेतनतया ग्राह्यत्वादिति ।

द्रव्याधिकारादेवेदमाह-

से णूणं भंते ! असंखेज्जे लोए अणंताइं दव्वाइं आगासे भइयव्वाइं । हंता ! गोयमा ! असंखेज्जे लोए० जाव भइयव्वाइं । लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे कइदिसिं पोग्गला चिज्जंति ?। गोयमा ! णिव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं ॥

(से णूणमित्यादि) (असंखेज्ज त्ति) असङ्ख्यातप्रदेशाऽऽत्मक इत्यर्थ. । (अणंताइं दव्वाइं ति) जीवपरमाण्वादीनि । " आगासे भइयव्वाइं ति " काकाशस्य पाणवादीनि । " ... भक्तव्यानि भर्त्तव्यानि, इ , सप्तम्याश्च षष्ठ्यर्थत्वादाकाशस्य भक्तव्यानि भर्त्तव्यानि, धारणीयानीत्यर्थ. । पृच्छतोऽयमभिप्रायः-कथमसङ्ख्यातप्रदेशाऽऽत्मके लोकाऽऽकाशेऽनन्तानां द्रव्याणामवस्थानम् ?। हता ! इत्यादिना तत्र तेषामनन्तानामप्यवस्थानमावेदितम् । आवेदयतश्चायमभिप्राय -यथा प्रतिनियतेऽपवरकाऽऽकाशे प्रदीपप्रभापुद्गलपरिपूर्णेऽप्यपरापरप्रदीपप्रभापुद्गला अवतिष्ठन्ते, तथाविधपुद्गलपरिणामसामर्थ्यात्, एवमसङ्ख्यातेऽपि लोके तेष्वेव२प्रदेशेषु द्रव्याणां तथाविधपरिणामवशेनावस्थानात्, अनन्तानामपि तेषामवस्थानमविरुद्धमिति । असङ्ख्याते लोकेऽनन्तद्रव्याणामवस्थानमुक्तं, तच्चैकैकस्मिन् प्रदेशे तेषा चयापचयाऽऽदिमद्भवतीत्यत आह-(लोगस्सेत्यादि) (कइदिसिं पोग्गला चिज्जंति) कतिभ्यो दिग्भ्य आगत्य एकत्राऽऽकाशप्रदेशे चीयन्ते लीयन्ते ।

आकाशप्रदेशे द्रव्याणि-

लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे कइ दिसिं पोग्गला छिज्जंति ?। एवं चेव । एवं उवचिज्जंति, एवं अवचिज्जंति ॥

(छिज्जंति त्ति) व्यतिरिक्ता भवन्ति (उवचिज्जंति त्ति) स्कन्धरूपा पुद्गला पुद्गलान्तरसंपर्कादुपचिता भवन्ति । (अवचिज्जंति त्ति) स्कन्धरूपा एव प्रदेशविघटनेनापचीयन्ते ।

द्रव्याधिकारादेवेदमाह । भाषाऽऽदिरूपेण द्रव्यग्रहणम्-

जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए गे-

एहइ, ताइं किं ठियाइं गेएहइ, अट्ठियाइं गेएहइ ?। गोयमा ! ठियाइं पि गेएहइ, अट्ठियाइं पि गेएहइ। ताइं भंते ! किं दव्वओ गेएहइ, खेत्तओ गेएहइ, कालओ गेएहइ, भावओ गेएहइ ?। गोयमा ! दव्वओ वि गेएहइ, खेत्तओ वि गेएहइ, कालओ वि गेएहइ, भावओ वि गेएहइ। ताइं दव्वओ अणंतपएसियाइ दव्वाइ, खेत्तओ असंखेज्जपएसोगाढाइं, एवं जहा पण्णवणाए पढमे आहारुद्देसए० जाव णिव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं । जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं वेउव्वियसरीरत्ताए गेएहति, ताइं किं ठियाइं० एवं चेव, णवरं णियमं छद्दिसिं, एवं आहारगसरीरत्ताए वि। जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं तेयगसरीरत्ताए गेएहति पुच्छा ?। गोयमा ! ठियाइं गेएहति, णो अट्ठियाइं गेएहति, सेसं जहा ओरालियसरीरस्स, कम्मगसरीरे एवं चेव, एवं० जाव भावओ गेएहइ, ताइं किं एगपएसियाइ गेएहइ, दुपएसियाइं गेएहइ, एवं जहा भासापदे० जाव आणुपुव्विं गेएहइ, णो अणाणुपुव्विं गेएहइ। ताइं भंते ! कइ दिसिं गेएहइ ?। गोयमा ! णिव्वाघाएणं जहा ओरालियस्स। जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं सोइंदियत्ताए गेएहइ, जहा वेउव्वियसरीर, एवं ०जाव जिब्भिंदियत्ताए, फासिंदियत्ताए जहा ओरालियसरीर, मणजोगत्ताए जहा कम्मगसरीर, णवरं णियमा छद्दिसिं, एवं वइजोगत्ताए वि, कायजोगत्ताए वि जहा ओरालियसरीरस्स । जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं आणापाणुत्ताए गेएहति, जहेव ओरालियसरीरत्ताए०जाव सिय पंचदिसिं ॥

(ठियाइ ति) स्थितानि जीवप्रदेशावगाढक्षेत्रस्याभ्यन्तरवर्त्तीनि, अस्थितानि च तदनन्तरवर्त्तीनि । तानि पुनरौदारिकशरीरपरिणामविशेषादाकृष्य गृह्णाति । अन्ये त्वाहु - स्थितानि तानि यानि नैजन्ते, तद्विपरीतानि त्वस्थितानि, (किं दव्वओ गिएहइ त्ति) किं द्रव्यमाश्रित्य गृह्णाति, द्रव्यत किंस्वरूपाणि गृह्णातीत्यर्थः । एव क्षेत्रत क्षेत्रमाश्रित्य कतिप्रदेशावगाढानीत्यर्थः। वैक्रियशरीराधिकारे ' नियमं छद्दिसिं ति " यदुक्त तत्रायमभिप्रायः-वैक्रियशरीरी पञ्चेन्द्रिय एव प्रायो भवति, स च त्रसनाड्या मध्य एव, तत्र च षण्णामपि दिशामनावृतत्वमलोकेन विवक्षितलोकदेशस्येत्यत उच्यते- (नियम छद्दिसिं ति) यच्च वायुकायिकानां त्रसनाड्या बहिरपि वैक्रियकरण भवति, तदिह न विवक्षितमप्रधानत्वात्, तस्य च तथाविधलोकान्तनिष्कुटे वा वैक्रियशरीरी वायुर्न सम्भवतीति। तैजससूत्रे-(ठियाइ गिएहइ ति) जीवावगाढक्षेत्राभ्यन्तरीभूतान्येव गृएहाति। (नो अट्ठियाइ गिएहइ त्ति) न तदनन्तरवर्तीनि गृएहाति, तस्याऽऽकर्षपरिणामाभावात् । अथवा- स्थितानि स्थिराणि गृह्णाति, नोऽस्थितान्यस्थिराणि, तथाविधस्वभावत्वात् । (जहा भासापदे त्ति) यथा प्रज्ञापनाया एकादशे पदे तथा वाच्यम्। तच्च-(तिपएसियाइ गिएहइ ०जाव अणतपएसियाइ गिएहइ इत्यादि) श्रोत्रेन्द्रियसूत्रे-(जहा वेउव्वियसरीर ति) यथा वैक्रियशरीरद्रव्यग्रहण स्थितास्थितद्रव्यविषय षड्दिक्क च,एवमिदमपि, श्रोत्रेन्द्रियद्रव्यग्रहण हि नाडीमध्य एव, तत्र च (सिय तिदिसिमित्यादि) नास्ति व्याघाताभावादिति (फासिंदियत्ताए जहा ओरालियसरीर ति) अयमर्थः-स्पर्शनेन्द्रियतया तथा द्रव्याणि गृएहाति यथौदारिकशरीर स्थितास्थितानि षड्दिगागतप्रभृतीनि चेति भावः । (मणजोगत्ताए जहा कम्मगसरीर, नवर नियमा छद्दिसिं, ति) मनोयोगतया तथा द्रव्याणि गृह्णाति यथा कार्मणस्थितान्येव गृह्णातीति भाव । केवल तत्र व्याघातेनेत्याद्युक्तमिह तु नियमात् षड्दिशीत्येव वाच्यम्, नाडीमध्य एव मनोद्रव्यग्रहणभावात् । अत्रसाना हि नास्तीति । (एव वइजोगत्ताए त्ति) मनोद्रव्यवद्वाग्द्रव्याणि गृह्णातीत्यर्थः । (कायजोगत्ताए जहा ओरालियसरीरस्स त्ति) काययोगद्रव्याणि स्थितास्थितानि षड्दिगागतप्रभृतीनि चेत्यर्थः । भ० २५ श० २ उ० ।

दुविहा दव्वा पएणत्ता । तं जहा-गइसमावन्नगा चेव, अगइसमावन्नगा चेव ॥

द्रव्यसूत्रे गतिर्गमनमात्रमेव, शेष तथैवेति पृथ्वीकायवत्। स्था०२ ठा० । (किं द्रव्य गुरु, किं वा लघ्विति 'अगुरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५७ पृष्ठे चिन्तितम्। पुद्गलास्तिकायप्रदेशः किं द्रव्यमिति ' पोग्गलत्थिकाय ' शब्दे वक्ष्यते) (द्रव्यक्षेत्रकालभावाना परस्पर समावेश ' अणुओग ' शब्दे प्रथमभागे ३४३ पृष्ठे चिन्तितः) (जीवास्तिकायाऽऽदीना द्रव्यप्रदेशार्थतयाऽल्पबहुत्वम ' अत्थिकाय ' शब्दे प्रथमभागे ५१४ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) संयमे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०।

वैशेषिकरीत्या द्रव्याणि, तत्र दोषश्च-

पृथिव्यप्तेजोवायुराकाश कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि । तदत्र पृथिव्यप्तेजोवायूना पृथग्द्रव्यत्वमनुपपन्नम् । तथाहि-त एव परमाणव· प्रयोगविस्रसाभ्या पृथिव्यादित्वेन परिणमन्तोऽपि न स्वकीय द्रव्यत्व त्यजन्ति, न चावस्थाभेदेन द्रव्यभेदो युक्त·, अतिप्रसङ्गादिति । आकाशकालयोश्चास्माभिरपि द्रव्यत्वमभ्युपगतमेव । दिशस्त्वाकाशावयवभूताया अनुपपन्न पृथग्द्रव्यत्वम्, अतिप्रसङ्गदोषादेव । आत्मनश्च स्वशरीरमात्रव्यापिन उपयोगलक्षणस्याभ्युपगतद्रव्यत्वमिति । मनसश्च पुद्गलविशेषतया पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भाव इति परमाणुवद्भावान्मनसश्च जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भाव इति । यदपि तैरभिधीयते-यथा पृथिवीत्वयोगात्पृथिवीति, तदपि स्वप्रक्रियामात्रमेव । यतो न हि पृथिव्या पृथग्भूत पृथिवीत्वमपि, येन तद्योगात्पृथिवी भवेत्,अपि तु सर्वमपि यदस्ति तत्सामान्यविशेषाऽऽत्मक नरसिंहाऽऽकारमुभयस्वभावमिति ।

तथा चोक्तम्-

" नान्वय सहभेदत्वा-न्न भेदोऽन्वयवृत्तितः।
मृद्भेदद्वयसंसर्ग-वृत्ति जात्यन्तर घट ॥ १ ॥ "

तथा-

" नरस्य सिंहरूपत्वा-न्न सिंहो नररूपत· ।
शब्दविज्ञानकार्याणा, भेदाज्जात्यन्तर हि सः॥१॥ ' इत्यादि।

अथ रूपरसगन्धस्पर्शा रूपिद्रव्यवृत्तेर्विशेषगुणा , तथा संख्यापरिमाणानि पृथक्त्व संयोगविभागौ परत्वापरत्वे इत्येते सामान्यगुणा·, सर्वद्रव्यवृत्तित्वात् । तथा-बुद्धि सुखदु से-

च्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारा आत्मगुणाः । गुरुत्वं पृथिव्युदकयोः, द्रव्यस्वभावत्वेन परोपाधिकत्वं पृथिव्युदकाग्निषु, स्नेहोऽम्भस्येव, वेगाऽऽख्यः संस्कारो मूर्तद्रव्येष्वेव, आकाशगुणः शब्द इति । तत्र संख्याऽऽदयः सामान्यगुणा रूपाऽऽदिवद्द्रव्यस्वभावत्वेन परोपाधिकत्वाद् गुणा एव न भवन्ति । यथाऽपि स्युस्तथाऽपि न गुणानां पृथक्त्वव्यवस्था, तत्पृथक्त्वभावे द्रव्यस्वरूपहानेः, गुणपर्यायवद् द्रव्यमिति कृत्वा नान्तरीयकतया द्रव्यग्रहणेनैव ग्रहणं स्यात्यमिति न पृथग्भावः । किं च तस्य भावस्तत्त्वमित्युच्यते । भावप्रत्ययश्च यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलावित्यनेन भवति । तत्र घटो रक्त उदकस्याऽऽहारको जलवान् मन्थरेव घट उच्यते । अत्र च घटस्य भावो घटत्वं, रक्तस्य भावो रक्तत्वम्, आहारकस्य भाव आहारकत्वं, जलवतो भावो जलवत्त्वमित्यत्र घटसामान्यरक्तगुणक्रियाद्रव्यसम्बन्धरूपाणां गुणानां सद्भावात्, द्रव्ये पृथुबुध्नाकार उदकाऽऽद्याहारणक्रमे कुटकाऽऽदये शब्दस्य घटाऽऽदेरभिनिवेशः, तत्र त्वतलौ, इह च रक्ताऽऽख्यको गुणो, यत्सद्भावात्कतरश्च तद् द्रव्यं यत्र शब्दनिवेशो येन भावप्रत्ययः स्यादिति । किमिदानीं रक्तस्य भावो रक्तत्वमिति न भवितव्यम्?, भवितव्यमुपचारेण । तथाहि-रक्त इत्येतद् द्रव्यत्वेनोपचर्यं तस्य सामान्यं भाव इति रक्तत्वमिति । न चोपचारस्तत्त्वचिन्तायामुपयुज्यते, शब्दसिद्धावेव तस्य कृतार्थत्वादिति । शब्दश्चाऽऽकाशस्य गुण एव न भवति, तस्य पौद्गलिकत्वादाकाशस्य चामूर्त्तत्वादिति । शेषं तु प्रक्रियामात्रं न साधनदूषणयोरङ्गम् । क्रियाऽपि द्रव्यसमवायिनी गुणवत्पृथगाश्रयितुं न युक्तेति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आ० चू० । आ० म० । स्था० । तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगाऽऽत्ममनांसि नवैव द्रव्याणि । पृथिव्यप्तेजोवायुरित्येतच्चतुःसंख्यं नित्यानित्यभेदाद् द्विप्रकारं द्रव्यम् । तत्र परमाणुरूपं नित्यम्, सदकारणवन्नित्यमिति वचनात् । तदारब्धं तु द्व्यणुकाऽऽदिकार्यद्रव्यमनित्यम् । आकाशाऽऽदिकं तु नित्यमेव, अनुत्पत्तिमत्त्वात् । एषां च द्रव्यत्वाभिसम्बन्धाद् द्रव्यरूपता । द्रव्यत्वाभिसम्बन्धाद् यानि तु नैव, न च तानि द्रव्यत्वाभिसम्बन्धवन्ति । यथा गुणाऽऽदिवस्तूनीति केवलव्यतिरेकिहेतुबलात् पृथिव्यादीनि द्रव्याऽऽदिगुणाऽऽदिभ्यो व्यावृत्तरूपाणि सिद्धानि, पृथिव्यादीनामपि भेदवतां पृथिवीत्वाभिसम्बन्धाऽऽदिकं लक्षणमितरेभ्यो भेदव्यवहारे तच्छब्दवाच्यत्वे वा साध्ये केवलव्यतिरेकिरूपं द्रष्टव्यम्, अभेदवतां त्वाकाशकालदिगद्रव्याणामनादिसिद्धतच्छब्दवाच्यता द्रष्टव्या । सम्म० ३ काण्ड । (भिक्षायां ग्राह्यद्रव्यविचारो 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ६७६ पृष्ठे उक्तः । पानकसक्त्वाऽऽदिशब्देषु च वक्ष्यते) पित्तले, विदे, विलेपनद्रव्ये, भेषजे, भव्ये जन्तुनि, विनये, मद्ये, व्याकरणोक्ते लिङ्गसंख्याऽन्वयिनि पदार्थे, द्रोर्वृक्षस्य विकारः, तस्येदं वा यत् । वृक्षविकारे, तत्सम्बन्धिनि च । त्रि० । वाच० । प० देवविजयगणिकृतप्रश्ने, उत्तरम्-कश्चित् श्राद्धः स्वद्रव्येण प्रतिमां, कश्चित्पुस्तकं च कारयति, लिखति वा, तदा प्रतिमाकर्तुर्देवद्रव्यं, पुस्तकलेखकस्य ज्ञानद्रव्यं च लगति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-उभयोरपि यथाक्रमं ते उभे न लगत इति सम्भाव्यते । १६७ प्र० । सेन० २ उल्ला० । गोमहिष्यजाप्रभृतीनां सर्पिषः, एवं क्षीरमिश्राऽऽदिपयसा, गोमहिष्यादितक्राणां चैकद्रव्यत्वमुत भिन्नद्रव्यत्वं वा?, श्राद्धविधौ त्वित्थं प्रोक्तम् यत्पृथक् पृथक् नामाऽऽस्वादवत्त्वेन द्रव्यत्वम्, परं तेषु तक्राऽऽदिषु पृथक् पृथक् आस्वादवत्त्वं, न तु नामत्वमतस्तत्र कया रीत्या द्रव्यसंख्या गण्यते?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-गोमहिष्यजाप्रभृतीनां सर्पिषः, क्षीरमिश्राऽऽदिपानीयानां च, गोमहिष्यादितक्राणां चैकद्रव्यत्वं गण्यते, यत उभयभिन्नत्वे सति भिन्नद्रव्यत्वं स्यादिति । २०१ प्र० । सेन० २ उल्ला० । अहम्मदावादसङ्घकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च । यथा-आम्लतक्रमधुरतक्रयोः, तथोष्णोदकशीतोदकयोः, तथा मेघजलकूपजलयोरेकद्रव्यत्वं गण्यते पृथग् वेति प्रश्ने, उत्तरम्-आम्लतक्रमधुरतक्रप्रमुखाणामेकद्रव्यत्वं गण्यत इति । १८४ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । (भावद्रव्यस्य अनुतटिकादिभेदा ' मङ्गलभेय ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

दव्वंतर-द्रव्यान्तर-न० । एकद्रव्यादन्यस्मिन् द्रव्ये तद्द्रव्यसदृशे, सम्म० । यथा-गोत्वसदृशपरिणतियुक्ताच्छाबलेयद्रव्यात्तत्सदृशपरिणतियुक्तं बाहुलेयाऽऽदिद्रव्यान्तरम् । सम्म० ३ काण्ड । " पच्चुप्पन्नं भावं, विगयभविस्सेहिँ जं समाणेइ । एयं पडुच्च वयणं, दव्वंतरणिस्सियं जं च ॥३॥ " सम्म० ३ काण्ड ।

दव्वछक्क-द्रव्यषट्क-न० । षडेव षट्कं द्रव्याणां षट्कं द्रव्यषट्कम् । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकालस्वभावे षड्द्रव्यसमुदाये, दर्श० १ तत्त्व ।

दव्वजाय-द्रव्यजात-न० । तथाविधाशनाऽऽदिद्रव्यविशेषे, उत्त० २९ अ० । द्रव्यप्रकारे, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

दव्वट्ठपएसट्ठया-द्रव्यार्थप्रदेशार्थता-स्त्री० । द्रव्यार्थप्रदेशार्थनयाऽऽश्रयणे, भ० २५ श० ३ उ० ।

दव्वट्ठया-द्रव्यार्थता-स्त्री० । द्रव्यमुपेक्षितपर्यायं वस्तु, तदेवार्थो द्रव्यार्थः, तद्भावस्तत्ता । भ० १० श० ४ उ० । द्रव्यत्वे, अनु० । द्रव्यं च तदर्थश्चेति द्रव्यार्थः, तस्य भावो द्रव्यार्थता । प्रदेशगुणपर्यायाऽऽधारतायामन्वयिद्रव्यतायाम्, स्था० १ ठा० । द्रव्यास्तिकनयमते, "दव्वट्ठयाए सासया, पज्जवट्ठयाए असासया ।" द्रव्यार्थनया द्रव्यास्तिकनयमतेन शाश्वती, द्रव्यास्तिकनयो हि द्रव्यमेव तात्त्विकमभिमन्यते, न पर्यायान्, द्रव्यं चान्वयिपरिणामित्वात् । अन्यथा द्रव्यत्वायोगात्, अन्वयित्वाच्च सकलकालभावीति भवति द्रव्यार्थतया शाश्वती । जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

दव्वट्ठाणाउय-द्रव्यस्थानाऽऽयुष्-न० । द्रव्यं पुद्गलद्रव्यं, तस्य स्थानं भेदः परमाणुद्विप्रदेशकाऽऽदि, तस्याऽऽयुः स्थितिः । अथवा-द्रव्यस्याणुत्वाऽऽदिभावेन यत्स्थानमवस्थानं तद्रूपमायुर्द्रव्यस्थानाऽऽयुः । द्रव्यस्थितौ, भ० ५ श० ७ उ० ।

दव्वट्ठिइ-द्रव्यस्थिति-स्त्री० । द्रव्याणां वर्तनाकाले, विशे० । भ० । (सा च चतुर्विधा ' काल ' शब्दे तृतीयभागे ४७१ पृष्ठे गता) (' उवचय ' शब्दे द्वितीयभागे ८८१ पृष्ठे वक्ष्यमाणेन च)

दव्वट्ठिय-द्रव्यार्थिक-पुं० । द्रव्यमेवार्थो यस्य, न तु पर्यायः, स द्रव्यार्थिकः । नयभेदे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । द्रव्यस्थित-पुं० । द्रव्ये च वस्तुतथ्यबुद्ध्या स्थितो, न तु पर्याये इति द्रव्यस्थितः । नयभेदे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । द्रव्यास्तिक-पुं० । अस्तीति मतिरस्य आस्तिकः । " देसि-

कास्तिकनास्तिक०-॥" इति निपातनादिकण्, द्रव्ये आस्तिको, न तु पर्याये इति द्रव्यास्तिक । आ० म० १ अ० २ खण्ड । जं० । द्रव्यमात्रप्ररूपके मूलनयभेदे, रत्ना०७ परि० ।

द्रव्यार्थिकमतम्-

द्रव्यार्थिकमते द्रव्यं, तत्त्वं नेष्टमतः पृथक् । (१२)

द्रव्यार्थिकस्य मते द्रव्य परमार्थत. सत्, अतो द्रव्यात् पृथग् भिन्न विकल्पसिद्ध गुणपर्यायस्वरूप तत्त्व नेष्टम्, सद्वृत्तिमतोऽपि तस्य परमार्थतोऽसत्त्वादिति भाव. । नयो० । ("तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी । दव्वट्ठिओ य,"(३ गाथा) इत्यादिगाथया 'णय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८७६ पृष्ठे द्रव्यार्थिकनयो विवृत)स च शुद्धाऽशुद्धभेदेन द्विधा । तत्र शुद्धो द्रव्यास्तिको नयग्रहनयाभिमतविषयप्ररूपक । सर्वमेक सदविशेषादिति शुद्धद्रव्यास्तिकाभिप्राय. । अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयमतार्थावलम्बी एकान्तनित्यचेतनाचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसाङ्ख्यदर्शनाऽऽश्रित ,अत एव तन्मतानुसारिण साङ्ख्या । सम्म० १ काण्ड । वक्ष्यति चाऽऽचार्य.-" जं काविल दरिसणं, एय दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं । " इति नैगमनयाभिप्राय । द्रव्यास्तिक शुद्धाशुद्धतया आचार्येण न प्रदर्शित एव । नैगमस्य सामान्यग्राहिण सग्रहेऽन्तर्भूतत्वाद्विशेषग्राहिणश्च व्यवहारे इति नैगमाभावादिति द्रव्यप्रतिपादकनयप्रत्ययराशिमूलव्याकरणी द्रव्यास्तिक शुद्धाऽशुद्धतया व्यवस्थित , अत्र पर्यायास्तिक ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतनयप्रत्ययराशिमूलव्याकरणी शुद्धाशुद्धतया व्यवस्थित । सम्म० १ काण्ड । नयो० । स्या० ।

"दव्वट्ठिअनयपयमी" (सम्म० १ काण्ड ४ गाथा) अस्याश्च गाथाया. सर्वमेव शास्त्र विवरणम् । " दव्वट्ठिओ अ पज्जवनओ य " (३) इत्यादिपश्चार्द्धैकदेशस्य विवरणायाऽऽह सूरि.-

> दव्वट्ठिअनयपयडी, सुद्धा संगहपरूवणाविसओ ।
>
> पडिरूवे पुण वयण-त्थनिच्छओ तस्स ववहारो ॥ ४ ॥

इति गाथासूत्रम् । अत्र च सग्रहनयप्रत्यय शुद्धो द्रव्यास्तिको, व्यवहारनयप्रत्ययस्त्वशुद्ध इति तात्पर्यार्थः ॥ अवयवार्थस्तु-द्रव्यास्तिकनयस्य व्यावर्णितस्वरूपस्य, प्रकृति स्वभाव , शुद्धेत्यसकीर्णा विशेषासस्पर्शवती, सग्रहस्याभेदतया (?) हि नयस्य प्ररूपणा-प्ररूप्यते नयेनैव कृत्वोपचर्यंते पदसंहति , तस्या विषयोऽभिधेय , विषयाऽऽकारेण विषयिणो वृत्तस्य विषयव्यवस्थापकत्वात्, उपचारेण विषयेण विषयिप्रकथनमेतत् । अन्यथा क प्रस्ताव शुद्धद्रव्यास्तिके विधातु प्रक्रान्ते सग्रहप्ररूपणाया. ?. स च सग्रहप्ररूपणाभिप्रायेण भाव एव । तथाहि-जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभावितरूपेण, स्वार्थद्रव्यालिङ्गकर्माऽऽदिप्रकारेण वा सुबन्तस्य योऽर्थः स भावाद् व्यतिरिक्तो वा भवेदव्यतिरिक्तो वा? । यदि व्यतिरिक्तस्तदा निरुपाख्यत्वादत्यन्ताभाववत्तिङन्ताऽऽदिरूप इति कथ सुबन्तवाच्य ? । अव्यतिरिक्तश्चेत्कथ न भावमात्रता सुबन्तार्थस्य, तिङन्तार्थस्यापि क्रियाकालकारकपुरुषोपग्रहवचनाऽऽदिरूपेण परिभाष्यमाणस्य सत्तारूपतैव । तथाहि पचतीत्यत्र क्रिया विक्लित्तिलक्षणा,काल आरम्भप्रभृतिरपवर्गपर्यन्तो वर्तमानस्वरूप ,कारक कर्ता,पुरुष पर.,भावाऽऽत्मकैरुपग्रह परार्थता, वचनमेकत्व यद्यपि प्रतिपत्तिविषय ,तथाऽपि सत्त्वमेवैतत् । यत क्रिया ह्यसती चेत्कारकैर्न साध्येत,खपुष्पाऽऽदिवत्,सती चेदस्तित्वमात्रमेव,सा कारकैरभिव्यज्यत इति । एव कालाऽऽदयोऽप्यसत्त्वश्चेत् शशशृङ्गाऽऽदिवत्न,सदात्मकाश्चेत्कथ नास्तिवादभिन्ना (?) इति सत्तैव तिङन्तस्यार्थ ,घटोऽस्तीत्यस्यार्थे यद्वाक्य प्रयुज्यते घट सन्निति,तत्र भावाभिधायिता पदद्वयस्यापि । तथाहि'घट' इति विशेषण, सन्निति विशेष्यम् । अत्र द्वयेनाऽपि वा भावविपरीतेन भाव्यम् । न ह्यन्यथा तद्विशेषण, नापि तद्विशेष्य स्याद्, निरुपाख्यत्वात्, अत्यन्ताभाववत् । यदि पुनरभावविपरीत तदिष्यते, विशेषणविशेष्ययोः कथ न भावरूपता ? । तेन यदेव घटस्य भावो घटत्व, तदेव घट', यच्च सतो भाव. सत्त्व, तदेव सन्निति सर्वत्र सग्रहाभिप्रायेण प्ररूपणाविषयो भाव एव । उक्तं चैतत् समयसद्भावमभिदधताऽन्येनापि--

> " अस्त्यर्थ. सर्वशब्दाना--मिति प्रत्याय्य लक्षणम् ।
>
> अपूर्वदेवताशब्दै , सम प्राऽऽहुर्गवादिषु ॥ १ ॥
>
> घटाऽऽदीना न चाऽऽकारा-न्प्रत्यापयति वाचक ।
>
> वस्तुमात्रनिवेशित्वा-त्तद्गतिर्नान्तरीयका ॥ २ ॥ " इति ।

अत एव "यत्र विशेषक्रिया नैव श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषे प्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते," इत्युक्त शब्दसमयविद्भिरिति । अवगतिश्चैव युक्ता-यदि सत्ता पदार्थो न व्यभिचरेत्, अव्यभिचरेत् । अव्यभिचारे च तदावेशात्सदात्मकतैव,आसत्तापरित्यागे वा स्वरूपहानिरिति न सन्मात्रमेवाध्यक्षस्य,शब्दस्य वा विषय , नि शेषमशेषपृथग्व्यवस्थापितमधुराऽऽदिरसपानकद्रव्यवत् । भेदप्रतिभासस्तु भेदप्रतिपादकाऽऽगमोपहतान्त करणानां तिमिरोपप्लुतदृशामेकशशलाञ्छनमण्डलस्यानेकत्वावभासनवदसदिति सर्वभेदानपह्नुवान सर्वं सन्मात्रतया सगृह्णन् सग्रह , शुद्धा द्रव्यास्तिकप्रकृतिरिति स्थितम् । तामेव शुद्धां 'पडिरूवे पुण(४)' इत्यादिगाथापश्चार्द्धेन दर्शयत्याचार्य -प्रतिरूप प्रतिबिम्ब,प्रतिनिभिरिति यावत् । विशेषेण घटाऽऽदिना द्रव्येण सकीर्णा सत्ता,पुनरिति प्रकृति स्मारयति । तेनाऽयमर्थ -विशेषेण सकीर्णा सत्ता प्रकृति' स्वभावो वचनार्थनिश्चय इति हेयोपादेयोपेक्षणीयवस्तुविषयनिवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसपादनार्थम्,उच्यत इति वचन,तस्य घट इति विभक्तरूपतयाऽस्तीत्यविभक्ताऽऽत्मतया प्रतीयमानो व्यवहारक्षमोऽर्थ ,तस्य निश्चयो निर्गत पृथग्भूतश्च य' परिच्छेद , तस्येति द्रव्यास्तिकस्य, व्यवहार इति लोकप्रसिद्धव्यवहारप्रवर्तनपरो नय सोऽभिमन्यते । यदि हि हेयोपादेयोपेक्षणीयस्वरूपा परस्परतो विभिन्नस्वभावा' सद्रूपतया शब्दप्रभवे सवेदने भावा प्रतिभान्ति, ततो निवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षणो व्यवहारस्तद्विषय प्रवृत्तिमासादयति,नान्यथा । न चैकान्तत. सन्मात्राविशिष्टेषु सग्रहाभिमतेषु पृथक्स्वरूपतया परिच्छेदो बाधितरूपो व्यवहारनिबन्धन सभवतीति । तथाहि-यद्याद्याऽऽकारे निरपेक्षतया स्वग्राहिणो ज्ञाने प्रतिभासमाधत्ते,तत्तयैव सदिति व्यवहर्त्तव्य,यथा प्रतिनियत सत्त्वाऽऽदिरूपम,सन्निवेशघटाद्याकारनिरपेक्ष च घटाऽऽदिक स्वावभासिनि ज्ञाने स्वरूप सन्निवेशयतीति स्वभावहेतु. । घटाऽऽदिनिरपेक्षत्व च पटाऽऽदे घटाऽऽद्यभावेऽपि भावाद्वभासमानाच्च सिद्धम् । यद्वा-प्रतिशब्दो वीप्सायाम्, रूपशब्दश्च वस्तुन्यत्र प्रवर्त्तते । तेनायमर्थ -रूप रूप प्रति प्रतिवस्तु, वस्तु प्रति यो वचनार्थनिश्चय',तस्य प्रकृति. स्वभाव स व्यवहार इति । तथाहि-प्रतिरूपमेव वचनार्थनिश्चयो व्यवहारहेतु ,न पुनरस्तित्वमात्रनिश्चय ,यतोऽस्तीत्युक्तेऽपि श्रोता शङ्कामुपगच्छन् लक्ष्यते,अत किमिच्छन् लक्ष्यतेऽस्ती-

त्याशङ्कायां द्रव्यमित्युच्यते,तदपि किम्?,पृथिवी,साऽपि का?, वृक्ष, सोऽपि कः?,चूतः, तत्राप्यर्थित्वे यावत्पुष्पितः फलितः,इत्यादि तावच्छिन्नेनीति यावद् व्यवहारसिद्धिरिति । व्यवहारो हि नानारूपतया सत्तां व्यवस्थापयति, तथैव सव्यवहारसंभवात्। अतो व्यवहरतीति व्यवहार इत्यन्वर्थसंज्ञा विभ्रदशुद्धा द्रव्यास्तिकप्रकृतिर्भवति ।

विशेषप्रस्तारस्य पर्यायनया मूलव्याकरणी, शब्दाऽऽदयश्च शेषा पर्यायनयभेदा इति प्रागुक्त, तत्समर्थनार्थम्-

मूलणिमेणं पज्जव-णयस्स उज्जुसुअवयणविच्छेदो ।
तस्स उ सद्दाईआ, साहपसाहा सुहुमभेया ॥ ५ ॥

इति गाथासूत्रम् । अस्य तात्पर्यार्थ -पर्यायनयस्य प्रकृतिराद्या ऋजुसूत्र',स त्वशुद्धा, शब्द शुद्धा,शुद्धतरा समभिरूढ',अत्यन्तशुद्धा त्वेवभूत इति । अवयवार्थस्तु-मूलनिमेणमाधार',पर्यायो विशेष , तस्य नय उपपत्तिबलात्परिच्छेद , तस्य, ऋजु वर्त्तमानसमर्थ वस्तु,स्वरूपावस्थितत्वात्,तदेव सूत्रयति परिच्छिनत्ति, नातीतानागतं,तस्यासत्त्वेन कुटिलत्वात्।तस्य वचन पद वाक्य वा,तस्य विच्छेदोऽन्त.सीमेति यावत्। ऋजुसूत्रवचनस्येति कर्मणि षष्ठी।तेन ऋजुसूत्रस्यायमर्थो नान्यस्येति प्ररूपयतो वचन विच्छिद्यमान यत्तन्मूलनिमेणमत्र गृह्यते। ननु कथ वचनाविच्छेद' शब्दरूप परिच्छेदस्यभावस्य नयस्याऽऽधार.। नैष दोषः, विषयेण विषयिकथनरूपत्वादस्य । न च वचनार्थोऽस्य विषयो, न शब्द इति वक्तव्य, वचनार्थयोरभेदात् वचनमपि यतो विषय । अथ विषय एव किन्नोक्त इति न प्रेरणीयम्,शब्दाभिहितस्यैव प्रमाणत्वमिति ज्ञापनार्थत्वादेवमभिधानम, तस्य च पूर्वापरपर्यायविविक्ते एकपर्याय एव प्ररूपयतो वचन विच्छिद्यते,एकपर्यायस्य परपर्यायासस्पर्शात् । उक्त च तन्मतमर्थं प्ररूपयद्भि -" पलाल न दहत्यग्नि-र्दह्यते न गिरि क्वचित् । नासयत प्रव्रजति, भव्यजीवो न सिद्ध्यति ॥१॥ "; पलालपर्यायस्याग्निसाद्भावपर्यायादत्यन्तभिन्नत्वाद् य. पलालो नाऽसौ दह्यते,यश्च भस्मभावमनुभवति, नासौ पलालपर्याय इति। सम्म०१काण्ड । (" नाम ठवणा दविए,त्ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो । " (६ गाथा सम्म०१ काण्ड) इत्यादिगाथाया ' णय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८०८ पृष्ठे व्याख्यातोऽर्थ)

एतदेवाऽऽह-

तिर्यगूर्ध्वप्रचयिनः, पर्यायाः खलु कल्पिताः ।
सत्यं तेष्वन्वयि द्रव्यं, कुण्डलाऽऽदिषु हेमवत् ॥ १३ ॥

(तिर्यगिति) तिर्यक्प्रचयिन. परस्परसमानाधिकरणत्वे सति परस्परसमानकालीना रूपरसाऽऽदय अणुत्वस्थौल्याऽऽदयश्च, ऊर्ध्वप्रचयिन परस्परसमानाधिकरणत्वे सति परस्परभिन्नकालीना रक्तश्यामत्वाऽऽदय., सयोगविभागाऽऽदयश्च, पर्याया. खलु निश्चित, कल्पिता वासनाविशेषप्रभवविकल्पसिद्धा अपारमार्थिका इति यावत् । तेषु कल्पनारूढेषु पर्यायेष्वन्वयि व्यापकतया प्रतीयमान द्रव्य सत्य, कुण्डलाऽऽदिषु नानाकाञ्चनपर्यायेष्वन्वीयमान, हेमवत्। अय भाव -यथा शुक्तौ रजतभ्रान्तौ बाधाऽवतारानन्तर रजताभावभानेऽपि शुक्तेर्भासमानत्वाद् शुक्ते सत्यत्व, रजतस्य चासत्यत्व, तथा कुण्डलाऽऽद्यभावभानेऽपि हेम्नो भानात् कुण्डलाऽऽदिपर्यायाणामसत्यत्व हेमद्रव्यस्य सत्यत्वम् । एवमन्यत्रापि भावनीयमिति । नन्वेव भ्रमाधिष्ठानत्वमेव सत्यत्व, भ्रमविषयत्व चासत्यत्वमित्यागतम्,न चासत्यत्व प्रत्यक्षप्रमीयमानेषु पर्यायेष्वव्यापकम,एव तत्र तदसत्त्वरूपसत्यत्वमपि तेष्वव्यापकमिति चेद्,न,सत्यरजतस्याऽपि प्रतिभासकाले सत्ताभानेन कालत्रयसत एवैतन्मये सत्यत्वस्वीकारात्। अत एव कालवृत्यत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वमेव परमार्थसत्यत्वमित्यभिप्रेत्याऽऽहैतत्साम्प्रदायिक. ॥१३॥

आदावन्ते च यन्नास्ति, मध्येऽपि हि न तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तो-ऽवितथा इव लक्षिताः ॥१४॥

(आदाविति) आदावन्ते च यद्वस्तु नास्ति,तन्मध्येऽपि मध्यकालेऽपि न तथा,नास्ति इत्यर्थ.। न हि प्रागभावध्वंसावच्छिन्नकालसम्बन्ध सत्य इत्यभ्युपगन्तु शक्यम्, उत्पत्तिविनश्यत्समययोरुत्पत्तिविनाशव्यापारव्यग्रयोरन्वयिव्यवहारात , न च तद्विवेके मध्यभाग कश्चिदवशिष्यते, इक्षुदण्डस्येव सकलमूलाग्रभागच्छेदे । किं च-पूर्व पश्चाच्चासत्स्वभावस्य कथ मध्यमक्षणे सत्स्वभावत्वम,स्वभावविरोधाद्, मध्यमक्षणे सन्नेव पर्याय पूर्वापरकालयोरसद्व्यवहारकारीति न स्वभावविरोध इति चेत्, तर्हि पूर्वापरकालयोरसत्स्वभाव एवाय मध्यमक्षणसबन्धेन सद्व्यवहारकारीत्येव किं न स्वीक्रियते?,तस्मान्न निरपेक्षपारमार्थिकसत्ताक (?) न पर्यायाः,किं तु वितथै. शशविषाणाऽऽदिभि. काल्पनिकत्वेन सदृशा. सन्तोऽनादिलौकिकव्यवहारवासनावशादवितथा इव लक्षिताः, लोकैरिति शेष ॥ १४ ॥

नन्वेव द्रव्यार्थिकनये पर्यायाणां शशविषाणप्रायत्वात्तदवगाहिज्ञानमलीकविषयत्वेन मिथ्या स्याद्,न च घटाऽऽदिज्ञानविनिर्मुक्तविषयको द्रव्योपयोग' कश्चिदवशिष्यते, इति नामशेषता च तस्य स्यादित्याशङ्क्य शुद्धावान्तरद्रव्यार्थिकभेदेन तस्य द्वैविध्याभावानुपपत्तिरित्यभिप्रायवानाह-

अयं द्रव्योपयोगः स्या-द्विकल्पेऽन्त्ये व्यवस्थितः ।
अन्तरा द्रव्यपर्याय-धीः सामान्यविशेषवत् ॥ १५ ॥

(अयमिति) अयं द्रव्योपयोगो द्रव्यार्थिकनयजन्यो बोधोऽन्त्ये विकल्पे शुद्धसग्रहाऽऽख्ये व्यवस्थित पर्यायबुद्ध्या अविचलित' स्यात्, अन्तरा शुद्धसग्रहशुद्धर्जुसूत्रविषयमध्ये द्रव्यपर्यायधीरेव स्यात्, सामान्यविशेषबुद्धिवत् । यथा हि परेषां द्रव्यत्वाऽऽदिक द्रव्यापेक्षया सामान्य सद् गुणाऽऽद्यपेक्षया विशेषाऽऽख्यां लभते, तथाऽस्माक घटाऽऽदिक स्वपर्यायापेक्षया सामान्य सद् गुणाऽऽद्यपेक्षया पर्यायाऽऽख्या लभते,इति यद्यवगाही अवान्तरद्रव्यार्थिकः पर्यायोपसर्जनतां, द्रव्यमुख्यतां चाऽवगाहमानो न विरुध्यते,असतोऽप्युपसर्जनतया आश्रयण च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाऽऽकाशस्य शब्दग्राहकतां वदतां तार्किकाणाम, आनुपूर्वीविशेषविशिष्टस्य शब्दस्य श्रोत्रग्राह्यता वदतां मीमांसकाऽऽदीनां च दृश्यत एवेति भाव'। यद्वा-घटाऽऽदेर्द्रव्यार्थिकेन पर्यायविनिर्मुक्तद्रव्याऽऽकारेणैव ग्रहः, पर्यायनयेन तत्र पर्यायत्वाऽऽपादने च पर्यायविशिष्टतया ग्रहणमित्येव सूक्ष्मेक्षिकायां शुद्धसंग्रहादन्त्यविशेष यावदव्यवस्थिति ,अन्त्यविशेषविकल्पे च शुद्धर्जुसूत्रलक्षणे कारणाभावादेव द्रव्योपयोगो व्यवस्थित. स्यादनुपरत. स्यादिति व्याख्येयम। न चानयाऽनवस्थयैवैकस्याऽपि बोधस्यानापत्तिः, तत्तदवान्तरभेदप्रवृत्तौ वा विषयान्तरसंचारानुपपत्ति ,पर्यायान्तरजिज्ञासोपरमे तद्बोधविश्रान्तेरिति भावनीयम । तदिदमुक्त सम्मतौ-

" पज्जवणयवुक्कंत,वत्थु दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं ।
जाव दवियोवओगो, अपच्छिमवियप्पणिव्वयणो ॥८॥ "

(पूर्वं ' णय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०८६ पृष्ठे गाथेयं व्याख्याता) किं त्विदाग्युपयुक्तत्वेन किञ्चिद् विवियते-न विद्यते पश्चिमे विकल्पनिर्वचने सविकल्पधीव्यवहारलक्षणे यत्र स तथा, सग्रहावसान इति यावत् । ततः परं विकल्पवचनाप्रवृत्तेरीदृशो यावद् द्रव्योपयोगः प्रवर्तते तावद् द्रव्यार्थिकस्य वचनीयं वस्तु, तच्च पर्यायनयेन वि-विशेषेण उत्-ऊर्ध्वं क्रान्तमेव विषयीकृतमेव पर्यायनयाऽऽक्रान्तं सत्तायां नानाभावादित्येकोऽर्थः ।

यद्वा-यद् वस्तु सूक्ष्मतरसूक्ष्मतमाऽऽदिशुद्धिना पर्यायनयेन स्थूलरूपं त्यजता व्युत्क्रान्त-गृहीत्वा मुक्तं, किमिद मृत्सामान्यं, यद् घटाऽऽदिविशेषानुपरक्तविषयीभवदन्त्यमाकारेण (?) यावच्छुद्धरूपतमोऽन्त्यो विशेषस्तावत्तत्सर्वं द्रव्यार्थिकस्य वचनीयमतो यावदपश्चिमविकल्पनिर्वचनो योऽन्त्यो विशेषस्तावद् द्रव्योपयोग प्रवर्तते इति द्वितीयोऽर्थः ।

अत एव द्रव्यपर्यायविषयतया, तदितराविषयतया वा न शुद्धजातीयद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकव्यवस्था, किं तूपसर्जनीकृतानर्थप्रधानीकृतस्वार्थविषयतया। तदुक्तम्-

" दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा, णत्थि णओ नियमसुद्धजाईओ ।
ण य पज्जवट्ठिओ णा-म को अ भयणाय उ विसेसो ॥ ९ ॥"

भजनोपसर्जनप्रधानभावावगाहनात्सामान्यसग्रहेऽपि शुद्धद्रव्यार्थैकान्तिको न स्यादिति चेन्न. स्यादेव पर्यायनयविचारानवतारदशायामेव तस्य शुद्धत्वव्यवस्थिते , तदवतारे तु पूर्वप्रवृत्तद्रव्यार्थिकाप्रामाण्यनिश्चयेन तदर्थाभावस्यैव निश्चयात् । तदुक्तम्-

" दव्वट्ठिअवत्तव्वं, अवत्थु णियमेण होइ पज्जाए ।
तह पज्जववत्थु अव-त्थुमेव दव्वट्ठिअणयस्स ॥ १० ॥ "

(सम्म० १ काण्ड)

अवस्तु इतरनयप्राधान्योपस्थितिजनित नयाप्रामाण्यनिश्चयकृताऽवस्तुत्वनिश्चयविषय , तस्मात्पर्यायविनिर्मुक्तप्रकारताकस्य पर्यायनिष्ठोपसर्जनत्वस्य विषयताकस्य वा द्रव्यार्थिकस्य तत्तत्तर्कोपनीतस्वार्थविचारदशायामेव शुद्धत्वं, पर्यायनयाऽऽयातत्वाऽऽकाङ्क्षाया चाशुद्धत्वमिति विवेक. । नयो० ।

अथ नवसु नयेषु प्रथमो द्रव्यार्थिकनय उक्त', अतस्तस्य भेदा दश, तेषु प्रथम भेदं विवरीषुराह -

द्रव्यार्थिकनयस्त्वाद्यो, दशधा समुदाहृतः ।
शुद्धद्रव्यार्थिकस्तत्र, ह्यकर्मोपाधितो भवेत् ॥ ९ ॥

(द्रव्यार्थिकेति) द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाऽऽदिक्रमेण नया नव वर्तन्ते, तेषु आद्य- प्रथमो द्रव्यार्थिको नय दशधा दशप्रकार समुदाहृत', तत्र च प्रथमो द्रव्यार्थिकनय शुद्धद्रव्यार्थिक इति अकर्मोपाधित कर्मणामुपाधितो रहित शुद्धद्रव्यार्थिक कथ्यते । सद् द्रव्यम । लक्षण त्विदम्-सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्याप्नोतीति सत्, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सद्, अर्थक्रियाकारि च सत् । यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्,यच्च नार्थक्रियाकारि तदेव परतोऽप्यसत्, इति निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्यास्वभावविभावपर्यायाद् द्रवति, द्रोष्यति, अदुद्रुवत् इति द्रव्यम्। गुणपर्यायवद् द्रव्यम्,गुणाश्रयो द्रव्य वा। यदुक्त विशेषाऽऽवश्यकवृत्तौ -"दवए दुयए दोरव-यवो विगारो गुणाण सद्भावो । दव्वं भव्वं भावस्स भूअभावं च ज जोग्ग॥२८॥" ('दव्व' शब्देऽनुपदमेवास्या २४६२पृष्ठे व्याख्या गता) द्रवति तॉस्तान्पर्यायान् प्राप्नोति मुञ्चति वा १। द्रूयते स्वपर्यायैरेव प्राप्यते मुच्यते वा २ । द्रु सत्ता, तस्या एवावयवो विकारो वेति द्रव्यम् । ३ -४ । अवान्तरसत्तारूपाणि द्रव्याणि महासत्ताया अवयवो विकारो भवत्येवेति भावः। गुणा. रूपरसाऽऽदय ,तेषां सद्भावः समूहो घटाऽऽदिरूपो द्रव्यम् ५ । तथा(भव्वं भविस्सति) भविष्यतीति भाव ,तस्य भाविन. पर्यायस्य योग्य यद्द्रव्य तदपि द्रव्यम्, राजपर्यायार्हकुमारवत् ६ । तथा भूत हि पश्चात्कृतो भाव पर्यायो यस्य तदपि द्रव्यम् । इति दिक् । तदेव द्रव्यमर्थ' प्रयोजन यस्यासौ द्रव्यार्थिक , अस्त्यर्थे ठक्प्रत्यय । शुद्ध कर्मोपाधिरहितश्चाऽसौ द्रव्यार्थिकश्च शुद्धद्रव्यार्थिक इति ॥ ९ ॥

अथ तस्य द्रव्यार्थिकस्य शुद्धताया विषय दर्शयन्नाह-

यथा संसारिणः सन्ति, प्राणिनः सिद्धसन्निभाः ।
शुद्धाऽऽत्मानं पुरस्कृत्य, भवपर्यायतां विना ॥ १० ॥
उत्पादव्यययोर्गौणे, सत्तामुख्यतयाऽपरः ।
शुद्धद्रव्यार्थिको भेदो, ज्ञेयो द्रव्यस्य नित्यवत् ॥ ११ ॥

प्राणा द्रव्यभावभिन्ना. सन्ति येषा ते प्राणिन. । ससारो गतिचतुष्काऽऽविर्भावः,सोऽस्ति येषां ते ससारिण । यथा येन प्रकारेण शुद्धाऽऽत्मवाऽऽदिलक्षणेन, सिद्धसन्निभाऽष्टकर्मनिर्मुक्तजीवनिभा विद्यन्ते । किं कृत्वा सन्ति?,शुद्धाऽऽत्मान मूलभाव,तथा सहजभाव शुद्धाऽऽत्मनः स्वरूप,पुरस्कृत्याग्रे कृत्वा,कथम्?,विना,केन विना ?,भवपर्यायता,भव ससारस्तस्य पर्यायो भावस्तत्ता भवपर्यायता,तां विना । एतावता या चाऽनादिकालिकी जीवस्य ससारावस्था वर्त्तते, सा प्रस्तुताऽपि न गण्यते । अविद्यमानोऽपि बाह्याऽऽकारेण सिद्धाऽऽकारः,तथाऽपि गृह्यतेऽन्तर्विद्यमानत्वात् । तदायमात्मा शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सिद्धसम एवास्तीति भावः । अत्र भावमात्रपरा द्रव्यसग्रहगाथा-" मग्गणगुणठाणेहिं, चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया । विण्णेया ससारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥ १ ॥ " ॥ १० ॥ (उत्पादेति) उत्पादस्य व्ययस्य च गौणताया, तथा सत्ताया प्रधानकतायाश्च मुख्यतायाम्, अपर इति द्वितीयो भेद शुद्धद्रव्यार्थिकस्य ज्ञेय । यत. उत्पादव्यययोर्गौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिको नाम द्वितीयो भेद २। अस्य मते द्रव्य नित्य गृह्यते, नित्य तु कालत्रयेऽप्यविचलितस्वरूप,सत्तामादायैवेद युज्यते,कथम्?,पर्यायाणां प्रतिक्षणध्वंसिना परिणामित्वेनानित्यत्वोलब्धे ,पर तु जीवपुद्गलाऽऽदिद्रव्याणा सत्ता अव्यभिचारिणी नित्यभावमवलम्ब्य त्रिकालाविचलितस्वरूपाऽवतिष्ठते, ततो द्रव्यस्य नित्यवदिति द्रव्यस्य नित्यत्वेन द्वितीयो भेद ॥ ११ ॥

अथ तृतीयभेदमुपदिशन्नाह-

कल्पनारहितो भेदः, शुद्धद्रव्यार्थिकाऽभिधः ।
तृतीयो गुणपर्याया-दभिन्नः कथ्यते ध्रुवम् ॥ १२ ॥

भेद कल्पनया रहित कल्पनारहितस्तृतीयो भेद शुद्धद्रव्यार्थिकनामाऽस्ति ३ । यथा जीवद्रव्य, पुद्गलाऽऽदिद्रव्य च निजनि-

जगुणपर्यायेभ्यश्चाभिन्नमस्ति, यद्यपि भेदो वर्त्तते द्रव्याऽऽदीनां गुणपर्यायेभ्य, तथाऽपि भिन्नविषयिण्यर्पणा न कृता, अभेदाख्यैवार्पणा कृता, अतः कारणाद्यद् यद् द्रव्य तत्तद् द्रव्यजन्यगुणपर्यायाभिन्न तिष्ठति। यदेव द्रव्य तदेव गुणो, यदेव द्रव्य तदेव पर्यायो, महापटजन्यखण्डपटवत्तदात्मकत्वात्। अत्र हि विवक्षावशाद् भिन्नाभिन्नत्वं ज्ञेयमिति ॥ १२ ॥

अथ चतुर्थं भेदमाह--

कर्मोपाधेरशुद्धाऽऽख्य-श्चतुर्थो भेद ईरितः।
कर्मभावमयस्त्वात्मा, क्रोधी मानी तदुद्भवात् ॥ १३ ॥

(कर्मेति) कर्मोपाधे. सकाशात् कर्ममिश्रजीवद्रव्यस्याशुद्धत्व जायते, तत. कर्मोपाधेरशुद्धद्रव्यार्थिकश्चतुर्थो भेद. कथितः। यत. कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति भेद.। अस्य च लक्षण कथयति-यथा कर्मभावमय कर्मणां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीना भावा. प्रकृतयस्ते प्रचुरा यत्रेति कर्मभावमय, आत्मा तादृग्रूपो लक्ष्यते। येन येन कर्मणा आगत्य आत्मा निरुद्ध्यते, तदा तत्तत्कर्मस्वभावतुल्यपरिणत. सन् व्यवह्रियते, यत. क्रोधोदयाद् जीव क्रोधीति व्यपदिश्यते, मानकर्मोदयाज्जीवो मानीति व्यपदिश्यते। एव यदा यद् द्रव्य येन भावेन परिणमति, तदा तद् द्रव्य तन्मय कृत्वा ज्ञेयम्। यथा-लोहोऽग्निना परिणतो यदा काले प्राप्यते तदा अग्निरूप एवोद्भाव्यते, न तु लोहरूप.। एवमात्माऽपि मोहनीयाऽऽदिकर्मोदयेन यदा क्रोधाऽऽदिपरिणत. स्यात् तदा क्रोधाऽऽदिरूप एव बोद्धव्य.। अत एवाष्टावात्मनो भेदा. सिद्धान्ते व्याख्याता इति।

अथ पञ्चम भेदमाह-

उत्पादव्ययसापेक्षो-ऽशुद्धद्रव्यार्थिकोऽग्रिमः।
एकस्मिन्समये द्रव्य-मुत्पादव्ययध्रौव्ययुक् ॥ १४ ॥

उत्पादव्ययसापेक्ष. पञ्चमो भेदोऽशुद्धद्रव्यार्थिको ज्ञेय। यत.. उत्पादव्ययसापेक्षः सत्ताग्राहकोऽशुद्धद्रव्यार्थिक पञ्चम इति ।५। यथा एकस्मिन्समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यरूप कथ्यते। कथ तद् ?, य. कटकाऽऽद्युत्पादसमय स एव केयूराऽऽदिविनाशसमय., पर तु कनकसत्ता कटककेयूरयो परिणामिन्यावर्जनीयैव। एव सति त्रैलक्षण्यग्राहकत्वेनेद प्रमाणवचनमेव स्यान्न तु नयवचनमिति चेन्न। मुख्यगौणभावेनैवानेन नयेन त्रैलक्षण्यग्रहणान्मुख्यनय स्वस्वार्थग्रहणेन नयानां सप्तभङ्गीमुखेनैव व्यापारात् ॥ १४ ॥

अथ षष्ठभेदमाह-

भेदस्य कल्पनां गृह्ण-न्नशुद्धः षष्ठ इष्यते।
यथाऽऽत्मनो हि ज्ञानाऽऽदि-गुणाः शुद्धः प्रकल्पनात् ॥ १५ ॥

(भेदेति) अशुद्धद्रव्यार्थिक. षष्ठो भेदो भेदस्य भेदभावस्य कल्पना गृह्णन् सन् जायते, यथा हि ज्ञानाऽऽदयो गुणा' शुद्धा आत्मन कथ्यन्ते, अत्र षष्ठी विभक्तिर्भेद कथयति, भिक्षो पात्रमितिवत्। परमार्थतस्तु गुणगुणिनोर्भेद एव नास्ति, तस्मात् कल्पितो भेदोऽत्र ज्ञेयो, न तु साहजिक. ॥ १५ ॥

अथ सप्तम भेद कथयति-

अन्वयी सप्तमश्चैक-स्वभावः समुदाहृतः।
द्रव्यमेक यथा प्रोक्त, गुणपर्यायभावितम् ॥ १६ ॥

(अन्वयीति) अन्वयद्रव्यार्थिक सप्तमो भेद एकस्वभाव उक्त। यथा-द्रव्य चैक गुणै' पर्यायैश्च भावित वर्त्तते, द्रव्यमेक गुणपर्यायस्वभावमस्ति। गुणेषु रूपाऽऽदिषु पर्यायेषु कम्बुग्रीवाऽऽदिषु द्रव्यस्य घटस्यान्वयोऽस्ति। यतस्तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः। अथवा-सति सद्भावोऽन्वय.। यथा-सति दण्डे घटोत्पत्ति'। अत एव यदा द्रव्य ज्ञायते तदा द्रव्यार्थाऽऽदेशेन तदनुगतसर्वगुणपर्याया अपि ज्ञायन्ते। यथा-सामान्यप्रत्यासत्त्या परस्य सर्वा व्यक्तिरपि अवगन्तव्या, तथा अत्राऽपि ज्ञेयमित्यन्वयद्रव्यार्थिक सप्तम इति ॥ १६ ॥

अथाष्टमभेदोत्कीर्त्तनमाह-

स्वद्रव्याऽऽदिकसग्राही, ह्यष्टमो भेद आहितः।
स्वद्रव्याऽऽदिचतुष्केभ्यः, सन्नर्थो दृश्यते यथा ॥ १७ ॥

(स्वेति) स्वद्रव्याऽऽदिग्राहको द्रव्यार्थिकोऽष्टमो भेद. कथित। यथा-अर्थो घटाऽऽदि स्वद्रव्यत. स्वक्षेत्रत. स्वकालत' स्वभावत सन्नेव प्रवर्तते। स्वद्रव्याद् घटः काञ्चनो, मृन्मयो वा ॥ १ ॥ स्वक्षेत्राद् घट पाटलिपुत्रो, माथुरो वा ॥२॥ स्वकालाद् घटो वासन्तिको, ग्रैष्मो वा ॥३॥ स्वभावात् घट श्यामो, रक्तो वा ॥४॥ एव चतुर्ष्वपि घटद्रव्यस्य सत्ता प्रमाणसिद्धैवाऽस्ति। स्वद्रव्याऽऽदिग्राहको द्रव्यार्थिकोऽष्टमो भेद इति ज्ञेयम् ॥ १७ ॥

अथ नवम भेदमाह-

परद्रव्याऽऽदिकग्राही, नवमो भेद उच्यते।
परद्रव्याऽऽदिकेभ्योऽस-न्नर्थः संभाव्यते यथा ॥ १८ ॥

तेषु द्रव्यार्थाऽऽदिषु परद्रव्याऽऽदिग्राहको द्रव्यार्थिको नवमः ॥९॥ यथाऽर्थो घटाऽऽदि परद्रव्याऽऽदिचतुष्टयेभ्योऽसन् वर्त्तते। घटापेक्षया परद्रव्य पट, अतस्तत्त्वादिभ्यो घटोऽसन्नस्ति ॥१॥ परक्षेत्राद् यथा-घटो माथुरो वर्त्तते, न काशीज, किं तु घटक्षेत्र मथुरा, तदपेक्षया काशी भिन्ना। अत एव परक्षेत्रात्काशीलक्षणादसन् घट. ॥२॥ परकालाद् यथा-घटो वसन्ते निष्पन्नोऽतो वासन्तिको घटः, वसन्तापेक्षया ग्रैष्मो भिन्नस्ततो ग्रीष्मकालजाद्वासन्तिको घटोऽसन् ॥३॥ परभावाद्-विवक्षितश्यामाऽऽदिभावापेक्षया रक्तो घटोऽसन् वर्त्तते ॥४॥ एव परद्रव्याऽऽदिग्राहको द्रव्यार्थिको नवम ॥ १८ ॥

अथ दशमभेदोत्कीर्त्तनमाह-

परमभावसंग्राही, दशमो भेद आप्यते।
ज्ञानस्वरूपकस्त्वात्मा, ज्ञानं सर्वत्र सुन्दरम् ॥ १९ ॥

परमभावसग्राही परमभावग्राहको दशमो भेद. कथित ।१०। यथा-ज्ञानस्वरूपक आत्मा ज्ञानस्वरूपी कथित, दर्शनचारित्रवीर्यलेश्याऽऽदयो ह्यात्मनो गुणा अनन्ता' सन्ति, पर तु तेषु एक ज्ञान सारतर वर्त्तते। अन्यद्रव्येभ्य आत्मनो भेदो ज्ञानगुणेन दर्शयिष्यते। तस्मात्कारणाच्छ्रीघ्रोपस्थितिकत्वेनाऽऽत्मन परमस्वभावो ज्ञानमेवाऽऽस्ते। इत्थमन्येषामपि द्रव्याणां परमभावा असाधारणगुणा ग्रहीतव्याः। परमभावग्राहको द्रव्यार्थिको दशम इति। अत्रानेकस्वभावानां मध्ये ज्ञानाऽऽख्य परमस्वभावो गृहीत इति द्रव्यार्थिकस्य दश भेदा ॥ १९ ॥ द्रव्या० ५ अध्या०।

द्रव्यार्थिकभेदानाह -

आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रिधा ॥ ६ ॥

आद्यो द्रव्यार्थिक'। रत्ना० ७ परि०। (तत्र नैगमाऽऽदीनां व्याख्याऽन्यत्र)

दव्वणय-द्रव्यनय-पुं० । द्रव्यार्थिकनये, उत्त० ।

द्रव्यनय आह-"यथा नामाऽऽदि नाऽऽकार, विना संवेद्यते तथा । नाऽऽकारोऽपि विना द्रव्य,सर्वं द्रव्याऽऽत्मकं ततः ॥१॥" तथाहि-द्रव्यमेव मृदादि निखिलस्थासकोशकुशूलकपालाऽऽद्याकारानुयायि वस्तु सत्,तस्यैव तत्तदाकारानुयायिनः सद्बोधविषयत्वात्, स्थासकोशाऽऽद्याकाराणां तु मृद्द्रव्यातिरेकिणां कदाचिदनुपलम्भात्, तच्चोत्पादाऽऽदिसकलविकारविरहितं तथातथाऽऽविर्भावतिरोभावमात्रान्वितं समूर्छितसर्वप्रभेदनिर्भेदबीजं द्रव्यमागृहीततरङ्गाऽऽदिप्रभेदस्तिमितसरःसलिलवत् । उत्त० १ अ० ।

आह च-

दव्वपरिणाममित्तं, मोत्तूणाऽऽगारदरिसणं किं तं ? ।

उप्पायव्वयरहियं, दव्वं चिय निव्वियारं तं ॥ ६६ ॥

को हि नाम स्थापनानयस्याऽऽकारग्रहः ?,यस्माद्द्रवतीति द्रव्यमनादिमदुत्प्रेक्षितपर्यायशूदलाऽऽधारः मृदादिपूर्वपर्यायमात्रतिरोभावेऽग्रेतनपर्यायमात्राऽऽविर्भावः परिणामो द्रव्यस्य परिणामो द्रव्यपरिणामः, स,एव तन्मात्र,तद् मुक्त्वा किमन्यदाकारदर्शनं, येनोच्यते"आगारो च्चिय मइसद्दवत्थु ।" इत्यादि ?। ननु द्रव्यमेव तत्, किंविशिष्टम्?, उत्पादव्ययरहितं, निर्विकारम्-उत्फणविफण-कुण्डलिताऽऽकारसमन्वितसर्पद्रव्यवद् विकाररहितं, किं हि नाम तत्राऽपूर्वमुत्पन्नं, विद्यमानं वा विनष्टं, येन विकारः स्यादिति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ ६६ ॥

ननु कथमुत्पादाऽऽदिरहितमुच्यते,यावता सर्पाऽऽदिके द्रव्ये उत्फणविफणाऽऽद्यः पर्याया उत्पद्यमाना निवर्त्तमानाश्च प्रत्यक्षेणैव दृश्यन्ते ?, इत्याह-

आविब्भावतिरोभा-वमेत्तपरिणामकारणमचिंतं ।

निच्चं बहुरूवं पि य, नडो व्व वेसंतराऽऽवन्नो ॥ ६७ ॥

आविर्भावश्च तिरोभावश्च, तावेव तन्मात्रं,तदेव परिणामः, तस्य कारणं द्रव्यं, यथा सर्पः उत्फणविफणाऽवस्थयोरिति, न ह्यत्रापूर्वं किञ्चिदुत्पद्यते, किं तर्हि ?, छन्नरूपतया विद्यमानमेवाऽऽविर्भवति । नाप्याविर्भूतं सद्विनश्यति,किं तु छन्नरूपतया तिरोभावमेवाऽऽसादयति । एवं च सत्याविर्भावतिरोभावमात्र एव कार्योपचारात्कारणत्वमस्यौपचारिकमेव । तस्मादुत्पादाऽऽदिरहितं द्रव्यमुच्यत इति । आह-ननु यद्येकस्वभावं निर्विकारं द्रव्यं, तर्ह्यनन्तकालभाविनामनन्तानामप्याविर्भावतिरोभावानामेकहेलयैव कारणं किमिति न भवति ?, इत्याह-अचिन्त्यमचिन्त्यस्वभावं द्रव्यं,तेनैकस्वभावस्याऽपि तस्य क्रमेणैवाऽऽविर्भावतिरोभावप्रवृत्तिः,सर्पाऽऽदिद्रव्येऽप्येकस्वभावेऽप्युत्फणाविफणाऽऽदिपर्यायक्रमप्रवृत्तेः प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति । ननु यद्येवम्, उत्फणविफणाऽऽदिबहुरूपत्वात्पूर्वावस्थापरित्यागेन चोत्तरावस्थाऽधिष्ठानादनित्यता द्रव्यस्य किमिति न भवति ?, इति चेत् इत्याह-वेषान्तराऽऽपन्ननटवद् बहुरूपमपि द्रव्यं नित्यमेव । इदमुक्तं भवति-यथा नायकविदूषककपिराक्षसाऽऽदिपात्रावसरेषु वेषान्तराण्यापन्नो वेषान्तराऽऽपन्नो नटो बहुरूपः, एवमुत्फणविफणाऽऽदिभावैर्यद्यपि द्रव्यमपि बहुरूपम्, तथाऽपि नित्यमेव, स्वरूपमविकारित्वात्, आकाशवत्;यथाहि घटपटाऽऽदिसंबन्धेन बहुरूपमप्याकाशं स्वयमविकारित्वाद् नित्यम्, एवं द्रव्यमपीति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ ६७ ॥

कारणमेव च सर्वत्र त्रिभुवने विद्यते, न क्वचित् कार्यम्, यच्च कारणं तत् सर्वं द्रव्यमेव, इति दर्शयन्नाह-

पिंडो कारणमिट्ठो, पय व परिणामओ तहा सव्वं ।

आगाराइ न वत्थुं, निक्कारणओ खपुप्फं व ॥ ६८ ॥

मृदादिपिण्डः कारणमिष्टः कारणमात्रमेवाभ्युपगम्यते । कुतः ?, इत्याह-परिणामित्वात् परिणमनशीलत्वात्,पयोवद् दुग्धवत् । यथा च पिण्डः, तथाऽन्यदपि सर्वं स्थासकोशकुशूलाऽऽदिकं त्रैलोक्यान्तर्गतं वस्तु कारणमात्रमेव, परिणामित्वात्, पयोवत्, यद् यत् कारणं तत् सर्वं द्रव्यमेव, इति द्रव्यनयस्य स्वपक्षसिद्धिः । ननु मृत्पिण्डाऽऽदीनां कार्यभूताः स्थासकोशकुशूलघटाऽऽदयः प्रत्यक्षेणैव दृश्यन्ते, संबन्धिशब्दश्च कारणशब्दः सर्वदैव कार्यापेक्ष एव प्रवर्तते, तत् कथं कारणमात्रमेवाऽस्ति, न कार्यम् ?, इति चेत् । नैवम्, आविर्भावतिरोभावमात्र एव कार्योपचारात्, उपचारस्य चावस्तुत्वात् । इति स्वपक्षं व्यवस्थाप्य परपक्षं दूषयितुमाह-(आगारेत्यादि) द्रव्यमात्रं विहाय स्थापनाऽऽदिनयैर्यदाकाराऽऽदिकमभ्युपगम्यते,तत् सर्वमवस्तु । कुतः ?, इत्याह निष्कारणत्वात् कारणमात्ररूपतयाऽनभ्युपगमात्, तदभ्युपगमे त्वस्मत्पक्षप्रवेशप्रसङ्गात्, इह यत् कारणं न भवति तद् न वस्तु, यथा गगनकुसुमम्, अकारणं च परैरभ्युपगम्यते सर्वमाकाराऽऽदिकम्, अतो वस्तु । इति गाथाऽर्थः ॥ ६८ ॥ विशे० ।

दव्वणाम-द्रव्यनामन्-न० । द्रव्यलक्षणेऽर्थे, अनु० । तच्च-"से किं तं दव्वणामे ?। दव्वणामे छव्विहे पण्णत्ते । तं जहा धम्मत्थिकाए० जाव अद्धासमए य । सेत्तं दव्वणामे ।" अनु० ।

दव्वतो-द्रव्यतस्-अव्य० । भावशून्यत्वेनाप्रधानतयाऽयथार्थमित्यर्थे, पञ्चा० १६ विव० ।

दव्वत्त-द्रव्यत्व-न० । द्रवति ताँस्तान् पर्यायान् गच्छतीति द्रव्यं,तस्य भावस्तत्त्वम् । द्रव्यभावे, द्रव्या० ।

द्रव्यत्वं द्रव्यभावत्वं, पर्यायाऽऽधारतोन्नयः ।

प्रमाणेन परिच्छेद्यं, प्रमेयं प्रणिगद्यते ॥ ३ ॥

द्रवति ताँस्तान् पर्यायान् गच्छतीति द्रव्यं, तस्य भावस्तत्त्वम् । द्रव्यभावो हि पर्यायाऽऽधारताऽभिव्यङ्ग्यजातिविशेषः । "द्रव्यत्वं जातिरूपत्वाद् गुणो न भवति," इत्यनैयायिकाऽऽदिवासनया आशङ्का न कर्त्तव्या, यतः-"सहभाविनो गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः ।" इत्यस्यैव जैनशासने व्यवस्थाऽस्तीति । द्रव्यत्वं चेद् गुणः स्याद्रूपाऽऽदिवदुत्कर्षापकर्षभाग् स्यादिति तु कुचोद्यम्, एकत्वाऽऽदिसङ्ख्यायाः परमतेऽपि व्यभिचारेण तथा व्याप्त्यभावादेव निरसनीयम् ॥ ३ ॥ द्रव्या० ११ अध्या० ।

दव्वत्थव-द्रव्यस्तव-पुं० । द्रव्ये द्रव्यविषयः स्तवः पूजा द्रव्यस्तवः । भावस्तवकारणभूते स्तवभेदे, पञ्चा० । स च-

दव्वे भावे य थओ, दव्वे भावथयरागओ सम्मं ।

जिणभवणाऽऽदिविहाणं, भावथओ चरणपडिवत्ती ॥२॥

द्रव्ये द्रव्यविषयः, भावस्तवकारणभूत इत्यर्थः । भावे भावविषयः पारमार्थिकः, परिणामविशेषरूपो वेत्यर्थः । चशब्दः समुच्चये । स्तवः स्तोतव्यपूजनं, भवतीति गम्यम् । तत्राऽऽद्यं तदाह-द्रव्ये द्रव्यविषयः स्तवः । कः इत्याह-(जिणभवणाऽ

विहाण) अर्हद्गृहप्रतिमाऽऽदीनां करणम्, उपलक्षणत्वात्कारणं च । कथम् ?, सम्यगागमनीत्या । कुतः ?, भावस्तवरागतः सर्वविरतिबहुमानात् । चरणं हि निर्वाणैकहेतुत्वाच्चरणं, ततस्तत्प्राप्त्युपायश्च द्रव्यस्तव इति विधेयोऽसावित्येवंरूपादिति ।

अथ भावस्तवस्वरूपमाह--भावस्तवः परमार्थपूजनमध्यात्मपूजा वा । क इत्याह--चरणप्रतिपत्तिः--सर्वविरत्यभ्युपगमः । इति गाथाऽर्थः ॥ २ ॥

अथ द्रव्यस्तवलक्षणं प्रपञ्चयन्नाह–

जिणभवणबिंबठावण–जत्तापूयाऽऽइ सुत्तओ विहिणा ।
दव्वत्थओ त्ति नेयं, भावत्थयकारणत्तेण ॥ ३ ॥

जिनस्यार्हतो भवनं च गृहं, बिम्बं च प्रतिमा, स्थापनं च प्रतिष्ठा, यात्रा चाष्टाह्निका महिमा, पूजा च पुष्पाऽऽद्यर्चनम्, आदिर्यस्य जिनगुणगानाऽऽदेस्तज्जिनभवनबिम्बस्थापनयात्रापूजाऽऽदि । द्रव्यस्तव इति ज्ञेयमिति योगः । तच्च न यथाकथञ्चिदित्याह–सूत्रत आगममाश्रित्य, तदपि विधिना । "जह रेहइ तह सम्म" इत्यादिना विधानेन द्रव्यस्तवो भावस्तवकारणभूतपूजा, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः । ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । केन हेतुनेत्याह–भावस्तवकारणत्वेन चरणप्रतिपत्तिरूपभावस्तवहेतुत्वात् । द्रव्यशब्दो ह्यत्र कारणपर्यायः । इति गाथाऽर्थः ॥ ३ ॥

कथं पुनरिदं जिनभवनाऽऽदि भावस्तवहेतुतां प्रतिपद्यत इत्याह–

विहियाणुट्ठाणमिणं, ति एवमेयं सया करेंताणं ।
होइ चरणस्स हेऊ, णो इहलोगाइवेक्खाए ॥ ४ ॥

विहितमाप्ताऽऽगमे विधेयतयाऽनुमतं यदनुष्ठानं क्रिया तद्विहितानुष्ठानम्, इदं जिनभवनाऽऽदिकरणलक्षणम्, इति अनेनोल्लेखेन, एवमनेन भावस्तवानुरागलक्षणेन स्तवविधिलक्षणेन वा प्रकारेण । एतज्जिनभवनाऽऽदिविधानम्, सदा सर्वकालम्, कुर्वतां विदधताम्, भवति जायते, चरणस्य सर्वविरतिरूपचारित्रस्य, हेतुर्निमित्तम् । एतदेव जिनभवनाऽऽदि । उक्तविपर्यये यद्भवति तदाह–(नो) नैव । इहलोकाऽऽद्यपेक्षया ऐहभविककीर्त्यादिपारभविकदेवत्वराज्याऽऽदिपदार्थावष्टम्भेन चरणस्य हेतुर्भवति । एतज्जिनभवनाऽऽदिविधानं निदानदूषितत्वात् । इति गाथाऽर्थः ॥ ४ ॥

भावस्तवकारणत्वं तदनुरागश्च द्रव्यस्तवनिबन्धनमुक्तम्, तत्राऽसौ यथा भावस्तवहेतुः स्यात्तथा दर्शितं, न पुनस्तदनुराग इत्याशङ्क्याऽऽह–

एवं चिय भावथए, आणाआराहणा उ रागो वि ।
जं पुण इय विवरीयं, तं दव्वथओ वि णो होइ ॥ ५ ॥

(एव चिय) एवमेव विहितानुष्ठानमिदमित्यभिप्रायेणैव, भावस्तवे चरणप्रतिरूपे, रागोऽपि बहुमानोऽपि, न केवलं चरणहेतुत्वमित्यपिशब्दार्थः । कुत एतदेवमित्याह–आज्ञाऽऽराधनादाप्तोपदेशानुपालनात्, निर्निदानतामेव हि जिनाः समनुमन्यन्ते । उक्तविपर्ययमाह–यज्जिनभवनाऽऽदिविधानम्, पुनरिति पूर्वोक्तार्थविलक्षणताप्रतिपादनार्थः, इति विपरीतमनन्तरोक्तविधिविपर्ययं, तम्, तज्जिनभवनाऽऽदिविधानम्, द्रव्यस्तवोऽप्युक्तनिर्वचनो न केवलं भावस्तवः, उत्सूत्रत्वात्, न भवति न जायते । इति गाथाऽर्थः ॥ ५ ॥

उक्तविधिविपरीततायामपि तद् द्रव्यस्तवो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह–

भावे अइप्पसंगो, आणाविवरीयमेव जं किंचि ।
इह चित्ताणुट्ठाणं, तं दव्वथओ भवे सव्वं ॥ ६ ॥

भावे च सत्तायां पुनर्द्रव्यस्तवस्योक्तविपरीतत्वेऽपि । किं स्यादित्याह–अतिप्रसङ्गोऽतिव्याप्तिलक्षणाऽनिष्टाऽऽपत्तिरित्यर्थः । अतिप्रसङ्गमेव व्यनक्ति--आज्ञाविपरीतमेव आप्तवचनविपर्यस्तमपि । एवकारस्यापिशब्दार्थत्वाद्, यदित्यनुष्ठानम् किञ्चिदनियतस्वरूपम्, इह स्तवविचारे, चित्रानुष्ठानं नानाप्रकारा हिंसाऽऽदिक्रिया, तदनुष्ठानम्, द्रव्यस्तवो निर्णीतशब्दार्थो, भवेत् जायेत । सर्वं समस्तम् । आज्ञाविपरीतत्वाविशेषेण जिनभवनाऽऽदिविधानवदिति गाथाऽर्थः ॥ ६ ॥

इहार्थे परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह–

जं वीयरागगामी, अह तं णणु गरहितं पि हु स एवं ।
सिय उचियमेव जं तं, आणाआराहणा एवं ॥ ७ ॥

यदित्यनुष्ठानम्, वीतरागगामि जिनविषयम्, अथेति परप्रश्नार्थः, तदनुष्ठानमाज्ञाविपरीतमपि द्रव्यस्तवो भवति, न पुनर्यत्किञ्चन हिंसाऽऽदिकम्, अतः कथमतिप्रसङ्ग इति परमतम् । एतत्परिहरन्नाह–(नन्विति) परमताक्षमायाम्, गर्हितमपि निन्द्यमपि गालीप्रदानाऽऽदिकम्, आस्तामगर्हितम् । हुशब्दो वाक्यालङ्कृतौ, स इति द्रव्यस्तवः, भवेद् । एवमनेन भवदभ्युपगतन्यायेनाऽऽज्ञाविपरीतमप्यनुष्ठानं वीतरागविषयं द्रव्यस्तव इत्येवलक्षणेन । पुनः परमतमाशङ्कमान आह–स्याद्भवेत्, तव मतिरिति गम्यम् । यदुत उचितमेव सङ्गतमेव, यदित्याज्ञाविरीतं वीतरागगामि, तदित्यनुष्ठानं द्रव्यस्तवो भवति, न पुनर्गर्हितमपीति नातिप्रसङ्गः । इत्यत्रोत्तरमाह--आज्ञाऽऽराधनाऽऽप्ताऽऽदेशपालनैव । एवमनेनैव प्रकारेणाऽऽज्ञाविपरीतमपि यदुचितमनुष्ठानं तद् द्रव्यस्तव इत्येवलक्षणेन द्रव्यस्तवाभ्युपगमे आज्ञाऽनुपालनारूपत्वादुचितस्य । नाज्ञोत्तीर्णमप्युचितं भवितुमर्हति । इति गाथाऽर्थः ॥ ७ ॥

उचितानुष्ठानस्याऽऽज्ञाऽनुपालनारूपत्वमेव दर्शयन्नाह–

उचियं खलु कायव्वं, सव्वत्थ सया णरेण बुद्धिमता ।
इय फलसिद्धी णियमा, एस च्चिय होइ आणं ति ॥ ८ ॥

उचितमेव देशकालावस्थाऽऽद्यपेक्षया सङ्गतमेव, खलुरवधारणे, कर्त्तव्यं विधेयम्, सर्वत्र समस्ते देशे, पात्रे वा । सदा सर्वदा, नरेण पुरुषेण । नरग्रहणं प्राणिमात्रोपलक्षणम् । धर्मोपदेशे नराणां प्राधान्यात्, बुद्धिमता मतिमता, बुद्धिविकलो हि न तत् कर्तुं क्षमते, बुद्धिवैकल्यादेव । अथ कस्मादेवमुपदिश्यत इत्याह–इत्यनेनोचितकरणेन, फलसिद्धिः साध्यनिष्पत्तिः, नियमाश्रियेण, साध्यश्च मुख्यवृत्त्या मोक्षार्थः, तत्कारणतया धर्मार्थः, प्रसङ्गतश्चेतराविति । प्रकृतार्थयोजनायाऽऽह–एषेवानन्तरोक्ता उचितक्रिया, भवति वर्त्तते, आज्ञा आप्तोपदेशः, तत उचितकरणमाज्ञाऽऽराधनेति स्थितम् । इतिशब्दः समाप्त्युपप्रदर्शने वा । इति गाथाऽर्थः ॥ ८ ॥

उचितकरणं द्रव्यस्तव इत्युक्तम्, अथैतस्यैव विपर्ययमाह–

जं पुण एयविउत्तं, एगतेणेव भावसुण्णं ति ।

तं विसयम्मि वि ण तओ, भावथयाहेउतो णेयं ॥९॥

यदित्यनुष्ठानम्, पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः, एतद्वियुक्तमौचित्यरहितम् । तथा एकान्तेनैव सर्वथैव, भावशून्यं बहुमानशून्यम्, एकान्तग्रहणाद् भावलेशयुक्तस्य कथञ्चिदौचित्यवियुक्तस्यापि द्रव्यस्तवत्वमाह, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थो भिन्नक्रमश्च । तदित्यनुष्ठानम्, विषयेऽपि वीतरागेऽपि, विधीयमानम्, आस्तामविषये । न तको न द्रव्यस्तवो, भवतीति ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । कुतः ?, इत्याह-भावस्तवाहेतुतः, इह भावप्रत्ययस्य लुप्तस्य दर्शनाद्भावस्तवाहेतुत्वाद्भावस्तवाकारणत्वात् । इति गाथाऽर्थः ॥ ९ ॥

अथ कस्माद्भावस्तवाहेतुभूतमनुष्ठानं द्रव्यस्तवो न भवतीत्यत्राऽऽशङ्कायामाह-

समयम्मि दव्वसद्दो, पायं जं जोग्गयाएँ रूढो त्ति ।
णिरुवचरितो उ बहुहा, पओगभेदोवलंभाओ ॥१०॥

समये सिद्धान्ते, द्रव्यशब्दो द्रव्यमित्येष ध्वनिः, प्रायो बाहुल्येन, प्रायोग्रहणात् क्वचिदप्राधान्येऽपि, वर्तत इति सूचनार्थः । यदिति यस्मादर्थे, अयं च " भावत्थयहेऊ (१२)" इत्यनेन व्यवहितगाथाऽवयवेन सम्भन्त्स्यते । योग्यतायां योग्यतावाचित्वे, रूढः प्रसिद्ध इत्येवं वक्ष्यमाणोदाहरणन्यायेन उपचरितादुपचारान्निष्क्रान्तो निरुपचरितोऽकाल्पनिकः, तुशब्द एवकारार्थः, तेन निरुपचरित एव । कुत एतदेवमित्याह-बहुधा बहुभिः प्रकारैः, प्रयोगभेदोपलम्भाद् प्रयुक्तविशेषदर्शनात् । इति गाथाऽर्थः ॥ १० ॥

प्रयोगभेदानेव दर्शयन्नाह-

मिउपिंडो दव्वघडो, सुसावगो तह य दव्वसाहु त्ति ।
साहू य दव्वदेवो, एमाइ सुए जओ भणितं ॥११॥

मृत्पिण्डो मृत्तिकापिण्डो द्रव्यघटो द्रव्यतो योग्यतया घटो द्रव्यघटः, सुश्रावकः शोभनः श्रमणोपासकः, तथा चेति समुच्चये । द्रव्यतो योग्यतया साधुर्द्रव्यसाधुः । इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः । साधुश्च संयतः पुनः, द्रव्यतो योग्यतया देवः सुरो द्रव्यदेवः । (एमाइ त्ति) इह चशब्दलोपः प्राकृतत्वात्, ततश्च एवमादि च इत्यादि प्रयोगजातम् । आदिशब्दाद् द्रव्यनारकाऽऽदिग्रहः । श्रुते प्रवचने, यतो यस्माद्भणितमुक्तम्, ततः प्रयोगभेदोपलम्भाद् द्रव्यशब्दो योग्यतायां रूढः । इति गाथाऽर्थः ॥११॥

यतो योग्यतायां द्रव्यशब्दः-

ता भावत्थयहेऊ, जो सो दव्वत्थओ इहं इट्ठो ।
जो उ ण एवंभूओ, स अप्पहाणो परं होति ॥१२॥

तत्तस्माद्भावस्तवहेतुश्चरणप्रतिपत्तिकारणं साक्षात्परम्परया वा यो जिनभवनविधानाऽऽद्यनुष्ठानविशेषः । (सो इति) असौ द्रव्यस्तवः पूर्वोक्तस्वरूपः । इह द्रव्यस्तवाधिकारे, अन्यत्र पुनः स्तवशब्दार्थज्ञ, तत्रानुपयुक्तपुरुषाऽऽदिलक्षणोऽपि,इष्टोऽभिमतो द्रव्यस्तवस्वरूपविदुषाम् । ननु भावस्तवाहेतुरपि द्रव्यस्तवोऽभव्याऽऽदीनामिष्यते, तत्कथमित्याह-यः पुनर्द्रव्यस्तवविशेषः, (न) नैव, एवम्भूतोऽमुं प्रकारं भावस्तवकारणत्वलक्षणं प्राप्तः, स द्रव्यस्तवः, अप्रधानोऽशोभनः, परं केवलम्, भवति जायते, द्रव्यस्तवस्याप्राधान्येऽपि प्रवृत्ते, अशोभनत्वं चास्य भावस्तवाहेतुत्वादेवेति गाथाऽर्थः ॥१२॥

अप्राधान्यार्थतामेव द्रव्यशब्दस्य दर्शयन्नाह-

अप्पाहन्ने वि इहं, कत्थइ दिट्ठो उ दव्वसद्दो त्ति ।
अंगारमद्दगो जह, दव्वायरिओ सयाऽभव्वो ॥१३॥

अप्राधान्येऽप्यप्रधानत्वेऽपि, न केवलं योग्यतायामेव । इह प्रवचने, क्वचित् शब्दविषये, दृष्टस्तु उपलब्ध एव, द्रव्यशब्दो द्रव्य इति ध्वनिः, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । इहैव निदर्शनामाह-अङ्गारमर्दकः प्रवचनप्रतीतः । यथेति दृष्टान्तार्थः । द्रव्याऽऽचार्य आचार्यत्वयोग्यताया अभावादप्रधानाऽऽचार्यः । कियन्तं कालं यावदित्याह-सदा आजन्माऽपीत्यर्थः । अथवा-स च स पुनः, अभव्यो मुक्तेरयोग्यो यत इति गाथाऽर्थः ॥१३॥ (अङ्गारमर्दकसंविधानकं तु ' अंगारमद्दग ' शब्दे प्र० भागे ४३ पृष्ठे गतम्)
" जो उ न एवम्भूतो, स अप्पहाणो परं होइ । (१२)" इत्येवं पूर्वोक्तमर्थं निगमयन्नाह-

अप्पाहन्ना एवं, इमस्स दव्वत्थवत्तमविरुद्धं ।
आणावज्झत्तणओ, न होइ मोक्खंगया णवरं ॥१४॥

अप्राधान्याद्भावस्तवाहेतुत्वेनाशोभनत्वात्,एवमुक्तेन न्यायेनाप्राधान्यार्थे द्रव्यशब्दप्रवृत्तिदर्शनलक्षणेन, (इमस्स त्ति) अस्य भावस्तवाहेतोर्द्रव्यस्तवस्य, द्रव्यस्तवत्वं द्रव्यस्तवता, अविरुद्धं सङ्गतमेव । एवं तर्हि भावस्तवहेतोस्तदहेतोश्च द्रव्यस्तवत्वाविरुद्धतायां सत्यामविशेष एव तयोः । सत्यम् । नवरं केवलम्, न भवति न जायते,मोक्षाङ्गता निर्वाणहेतुता । 'इमस्स' इति वर्त्तते । कुतः ?,आज्ञाबाह्यत्वादाप्रवचनबहिष्कृतत्वात् । यदाज्ञाबाह्यं तन्मोक्षाङ्गं न भवति, तथाविधहिंसाऽऽदिवत्, आज्ञाबाह्यश्चायं भावस्तवाहेतुर्द्रव्यस्तवः । इति गाथाऽर्थः ॥ १४ ॥

यथाऽस्मादप्रधानान्मोक्षो न भवति, तथा फलान्तरमपि किं नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह--

भोगाऽऽदिफलविसेसो,उ अत्थि एत्तो वि विसयभेदेण ।
तुच्छो उ तगो जम्हा, हवति पगारंतरेणावि ॥ १५ ॥

भोगा मनोज्ञशब्दाऽऽदयः, आदिशब्दात्स्वर्गसुकुलप्रत्ययातिशुभशरीराऽऽदिपरिग्रहः । त एव फलविशेषः साध्यभेदो भोगाऽऽदिकफलविशेषः,पुनरस्ति भवति,इतोऽपि अप्रधानद्रव्यस्तवादपि, न केवलं प्रधानद्रव्यस्तवादेव । अथ कथमाज्ञाबाह्यानुष्ठानस्यैव फलतेत्याशङ्क्याऽऽह- विषयभेदेन गोचरविशेषेण,निखिलातिशयमाणिक्यमकराऽऽकरभगवद्वीतरागलक्षणेन हेतुना, न हि भगवद्विषयमाज्ञाविकलमप्यनुष्ठानमफलम्,पात्रप्राधान्यादिति । ननु यद्येवं फलमाज्ञाबाह्यानुष्ठानं, तदा कथमस्याप्रधानद्रव्यस्तवतेत्यत्राऽऽह-तुच्छस्त्वल्पः पुनः, तकोऽसौ भोगाऽऽदिफलविशेषो,नाऽसौ विवेकिना फलतयाऽवभासते । कस्मादेवमित्याह-यस्मात् कारणात्, भवति जायते, तको भोगाऽऽदिफलविशेष इति प्रकृतम् । प्रकारान्तरेणाप्युपायान्तरेणाऽपि, जिनभवनाऽऽदिव्यतिरेकेणाऽपि, बालतपःप्रभृतिभिरपीत्यर्थः । " दौर्गत्यदोषविच्छेदिमणिप्राप्तिपटीयसः । पारावाराज्जरत्काच-खण्डप्राप्तिः फलं किमु ? ॥१॥ " इति गाथाऽर्थः ॥ १५ ॥

अथ द्रव्यस्तवस्याऽद्रव्यस्तवतामाशङ्क्य परिहरन्नाह--

उचियाणुट्ठाणाओ, विचित्तजइजोगतुल्ल मो एस ।
जं ता कह दव्वथओ, तद्दारेणऽप्पभावाओ ॥ १६ ॥

(उचियाणुट्ठाणाओ) इह भावप्रत्ययस्य लुप्तत्वेनोचितानुष्ठा-

नत्वादाप्तोपदिष्टत्वेन विहितक्रियारूपत्वाच्चिविभयतियोगतुल्यो ग्लानप्रतिचरणस्वाध्यायाऽऽदिरूपनानाविधसाधुव्यापारसदृशोऽतिशुभ इत्यर्थः । मकारोऽत्र प्राकृतशैलीप्रभवः । एषोऽनन्तरोक्तो, जिनभवनविधानाऽऽदिकोऽनुष्ठानविशेषः । (यद्दिति) यस्मादेवम्, तत्तस्मात्, कथं केन प्रकारेण, द्रव्यस्तवो भवति । न कथञ्चिदित्यर्थः । भावस्तव एवाऽयमिति हृदयम् ।

अत्रोत्तरमाह-तद्द्वारेण जिनभवनाऽऽदिविधानमुखेन अल्पः साधुयोगापेक्षया स्तोको,भाव शुभाध्यवसायो यस्मात्स तथा, तस्मात्, इह च भावप्रत्ययो दृश्यः, अतोऽल्पभावत्वात् । इति गाथाऽर्थः ॥१६॥

अमुमेव गाथार्थं भावयन्नाह-

जिणभवणाऽऽदिविहाण-द्दारेणं एस होति सुहजोगो ।
उचियाणुट्ठाण पि य, तुच्छो जइजोगतो णवरं ॥१७॥

जिनभवनाऽऽदिविधानद्वारेण अर्हदाश्रयबिम्बप्रभृतिकरणमुखेन, एष द्रव्यस्तवः, भवति वर्तते, शुभयोगो यतियोगवत् प्रशस्तव्यापारः । तथा-उचितानुष्ठानमपि च विहितक्रियाऽपि च जिनभवनाऽऽदिविधानद्वारेणैव । अपि चेति समुच्चये । यद्यप्येवं तथाऽपि तुच्छोऽसारः, अल्पभावरूपत्वाद्, यतियोगतः साधुव्यापारात्सकाशात्, नवरं केवलम् । यतियोगो हि स्वरूपेणैव शुभः, उचितानुष्ठानरूपश्चाथ पुनर्जिनभवनाऽऽदिद्वारेणैव, न तु स्वरूपत , स्वरूपेण तस्य मनागवद्यरूपत्वात् । इति गाथाऽर्थः ॥ १७ ॥ पञ्चा० ६ विव० । दर्श० । आ० म० । ध० व० । प्रति० । त० । दर्श० । ('थय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २३८४ पृष्ठे विशेषोऽस्य वीक्ष्यः) (द्रव्यस्तवस्य करणे कारणे च श्रावकोऽधिकारीति अनुमोदने च साधुरपीति च ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२२२ पृष्ठे प्रत्यपादि)

अयमिहापि द्रव्यस्तवस्य सङ्क्षिप्तोऽर्थः-

श्रमणानामियं पूर्णा, सूत्रोक्ताऽऽचारपालनात् ।
द्रव्यस्तवाद् गृहस्थानां, देशतस्तद्विधिस्त्वयम् ॥१॥
न्यायार्जितधनो धीरः, सदाचारः शुभाऽऽशयः ।
भवनं कारयेज्जैनं, गृही गुर्वादिसंमतः ॥२॥
तत्र शुद्धां महीमादौ, गृह्णीयाच्छास्त्रनीतितः ।
परोपतापरहितां, भविष्यज्जनसन्ततिम् ॥३॥
अप्रीतिर्नैव कस्याऽपि, कार्या धर्मोद्यतेन वै ।
इत्थं शुभानुबन्धः स्या-दत्रोदाहरणं प्रभुः ॥४॥
आसन्नोऽपि जनस्तत्र, मान्यो दानाऽऽदिना यतः ।
इत्थं शुभाऽऽशयस्फात्या, बोधिवृद्धिः शरीरिणाम् ॥५॥
इष्टकाऽऽदि दलं चारु, दारु वा सारवन्नवम् ।
गवाद्यपीडया ग्राह्य, मूल्यौचित्येन यत्नतः ॥६॥
भृतका अपि सन्तोष्याः, स्वय प्रकृतिसाधवः ।
धर्मो भावेन न व्याज्या-द्धर्ममित्रेषु तेषु तु ॥७॥
स्वाऽऽशयश्च विधेयोऽत्रा-निदानो जिनरागतः ।
अन्याऽऽरम्भपरित्यागा-ज्जलाऽऽदियतनावता ॥ ८ ॥
इत्थं चैषोऽधिकृत्यागा-त्सदारम्भः फलान्वितः ।
प्रत्यहं भाववृद्धयाऽऽसौ-भावयज्ञः प्रकीर्त्तितः ॥ ९ ॥
जिनगेहं विधायैवं, शुद्धमव्ययनीवि च ।
द्राक् तत्र कारयेद्विम्ब, साधिष्ठानं हि वृद्धिमत् ॥ १० ॥
विभवोचितमूल्येन, कर्त्तुः पूजापुरस्सरम् ।
देयं तदनघस्यैव, यथा चित्तं न नश्यति ॥ ११ ॥
द्वा० ५ द्वा० ।

दव्वदेवत्त-द्रव्यदेवत्व-न० । साध्ववस्थायाम्, भ० १४ श० ७ उ० ।

दव्वधम्म-द्रव्यधर्म-पु० । न० । दानधर्मे, यो दानधर्मः स द्रव्यधर्मोऽवगन्तव्य इति । तथा चोक्तम्-" अन्न पान च वस्त्र च, आलय' शयनाऽऽसनम् । शुश्रूषा वन्दन तुष्टि', पुण्य नवविध स्मृतम् " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

दव्वपिय-द्रव्यप्रिय-त्रि० । द्रव्य परिहास , तत्प्रिये, औ० ।

दव्वपुरिस-द्रव्यपुरुष-पु० । पुरुषत्वेन उत्पत्स्यते यस्तस्मिन्, उत्पन्नपूर्वे च । स्था० । विशेषोऽत्रैन्द्रसूत्राद् द्रष्टव्यः । भवत्यत्र भाष्यगाथा-" आगमओऽणुवउत्तो, इयरो दव्वपुरिसो तिहा तइओ । एगभवियाइ तिविहो, मूलुत्तरणिम्मिओ वा वि " ॥१॥ मूलगुणनिर्मित' पुरुषप्रायोग्यानि द्रव्याणि, उत्तरगुणनिर्मितस्तु तदाकारवन्ति तान्येवेति भावपुरुषभेदा' । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

दव्वपोग्गलपरियट्ट-द्रव्यपुद्गलपरिवर्त्त-पु० । ७ त० । द्रव्यविषयके पुद्गलपरिवर्त्ते, कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० । प्रव० । (तद्व्याख्या 'पोग्गलपरियट्ट' शब्दे वक्ष्यते)

दव्वप्पमाण-द्रव्यप्रमाण-न० । द्रव्याणां गणनायाम, यथा एतावन्तोऽत्रौदनभेदा', एतावन्ति च शाकविधानानि, इयन्तश्च खाद्यविशेषा , एतावन्ति च द्राक्षापानकाऽऽदीनि पानकानि । व्य० ६ उ० । अनु० ।

दव्वभावतदुभयकप्प-द्रव्यभावतदुभयकल्प-पुं० । द्रव्यभावसम्मिलिते कल्पे, प० भा० ।

तदुभयकप्पो अहुणा, एते च्चिय दव्वभावकप्पा तु ।
दोएहि वि मिलिया एते, तदुभयकप्पो इमो सो य ॥
आहारे अट्ठविहे, सेज्जोवहि पंचपंचगविसोही ।
दंसणचरित्तगुत्तो, तवसमितिगुणेहिँ सोहेति ॥
असणाऽऽदीतो चउहा, उवकारि चउव्विहो य तस्सेव ।
एसऽट्ठविहाऽऽहारो, परूवणा तस्सिमा होति ॥
असणं तु ओदणाऽऽदी,तदुवकारी उ खीरकुसणाऽऽदी ।
पाणं तु पाणमेव तु, कप्पूराऽऽदी तु उवकारी ॥
खाइम फलाइयं तू, सुंठाऽऽदी होति तदुवकारी तु ।
साइम तंबोलाऽऽदी, तुएहाऽऽदी तदुवकारी तु ॥
एत आहाराऽऽदी, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं ।
उप्पाएँ दंसणाऽऽदी-हि जुतो अहवा तदट्ठाए ॥ प० भा० ।

इयाणिं उभयकप्पो-एए चेव दो दव्वभावकप्पे य मेलिया एगट्ठा य उभयकप्पो भवइ, दव्वियकप्पस्स पुरिमद्धं, भावकप्पस्स पच्छिमद्धं । गाहा-(आहारे अट्ठविहे त्ति) अट्ठविहे

आहारे असणे मूलगुणसुद्धे, उत्तरगुणसुद्धे य । एवं पाणे, एवं खाइमे मूलगुणउत्तरगुणसुद्धे, एवं साइमे सेओवदीण, एमेव पचपचगविसोही, भावओ य दंसणचरित्ततवाऽगुणेहिं सोहेइ। एस उभयकप्पो । पं० चू० ।

दव्वभूय-द्रव्यभूत-पुं० । अनुपयुक्ते, नि० चू० २ उ० ।

दव्वरासि-द्रव्यराशि-पुं० । पुरीषाऽऽदिद्रव्यसमूहे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

दव्वलिंग-द्रव्यलिङ्ग-न० । भावविकलत्वेनाप्रधानप्रव्रजिताऽऽदिनेपथ्यचरणलक्षणे वेषे, पञ्चा० ४ विव० । जी० ।

दव्वलिंगधर-द्रव्यलिङ्गधर-पुं० । चिह्नरूपकधारके, पं० व० ४ द्वार । द्रव्यलिङ्गी जानानो यदि स्वयं महाव्रतीभूय विहरति, तदाऽऽराधको भवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-गुर्वादिसामग्र्यभावे यदि स्वयं महाव्रतीभूय विहरति, तदाऽऽराधक , अन्यथा नेति । १२३ प्र० । सेन० १ उल्ला० । द्रव्यलिङ्गिनो द्रव्यं जिनप्रासादे वा प्रतिमायां वा जीवदयायां वा ज्ञानकोशे वा कुत्र कुत्र व्यापार्यते ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्- द्रव्यलिङ्गिनो द्रव्यं जिनानां प्रासादे प्रतिमायां च नोपयोगि , जीवदयायां ज्ञानकोशे चोपयोगीति ज्ञानमस्ति । १६३ प्र० । सेन ३ उल्ला० ।

दव्वलेस्सा-द्रव्यलेश्या-स्त्री० । औदारिकशरीराऽऽदिवर्णे, भ० १ श० ९ उ० ।

दव्वलोय-द्रव्यलोक-पुं० । लोकभेदे, भ० ११ श० १० उ० । ("लोग" शब्दे व्याख्यास्यते चैव)

दव्ववणाऽऽहरण-द्रव्यव्रणोदाहरण-पुं० । कृतज्ञाते, पञ्चा० १६विव० ।

दव्ववय-द्रव्यव्यय-पुं० । द्रव्यव्यये, सेन० । सतत्त्रेरमुक्तद्रव्यान्त साधुसाध्वीद्रव्यस्य व्यय. साधुसाध्वीनां कस्मिन् स्थाने योज्यते भवद्भिरिति प्रश्ने, उत्तरम्-सतत्त्रेरमुक्तद्रव्यस्य व्ययं साधुसाध्वीक्षेत्रयोरापन्नप्राणधेयाऽऽनयनमार्गसाहाय्यकरणाऽऽदिषु श्राद्धैः कार्यत इति । ३७२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

दव्ववेय-द्रव्यवेद-पुं० । स्त्रीपुंसोर्नपुंसकस्य च बाह्ये आकारे, कर्म० ४ कर्म० ।

दव्वसंभारिय-द्रव्यसंभारित-न० । द्रव्यैः कर्पूरपाटलाऽऽदिभिः संभारितं वासितं द्रव्यसंभारितम् । कर्पूरपाटलाऽऽदिवासिते जले, बृ० २ उ० ।

दव्वसंमत्त-द्रव्यसम्यक्त्व-न० । अनाभोगवद्रुचिमात्रे सम्यक्त्वे, "जिनवयणमेव तत्तं, एत्थ रुई होइ दव्वसम्मत्तं ।" जिनवचनमेव तत्त्वं नान्यदित्यत्र रुचिर्भवतीति द्रव्यसम्यक्त्वम्। पं० व० ४ द्वार । ध० ।

दव्वसमय-द्रव्यसमय-पुं० । द्रव्यस्य सम्यगयनं द्रव्यसमयः। द्रव्यपरिणतिविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

दव्वसार-द्रव्यसार-पुं० । द्रव्यलक्षणसारे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

दव्वसिणाण-द्रव्यस्नान-न० । बाह्यस्नाने, ध० । द्रव्यस्नानं वपुःपावित्र्यसुखकरत्वाऽऽदिना भावशुद्धिहेतुः । उक्तं चाष्टके-
"जलेन देहदेशस्य, क्षणं यच्छुद्धिकारणम् ।
प्रायोऽन्यानुपरोधेन, द्रव्यस्नानं तदुच्यते ॥ १ ॥"

देहदेशस्य त्वङ्मात्रस्यैव, क्षणं, न तु प्रभूतकालं, प्रायः शुद्धिहेतुर्न त्वेकान्तेन, नाहग् रोगग्रस्तस्य क्षणमप्यशुद्धेः, प्रक्षालनार्हमलादन्यस्य मलस्य कर्णनासाऽऽद्यन्तर्गतस्यानुपरोधेनाप्रतिषेधेन । यद्वा-प्रायो जलादन्येषां प्राणिनामनुपरोधेनाऽव्यापादनेन द्रव्यस्नानं बाह्यस्नानमित्यर्थः । ध० २ अधि० ।

दव्वसील-द्रव्यशील-न० । चेतनाचेतनाऽऽदेर्द्रव्यस्य स्वभावे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

दव्वसुद्ध-द्रव्यशुद्ध-न० । उद्गमाऽऽदिदोषरहिते द्रव्ये, भ० १५ श० । प्रासुके, विपा० २ श्रु० १ अ० ।

दव्वहालिया-द्रव्यहालिका-स्त्री० । कुहमाऽऽख्यवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दव्वहोमा-द्रव्यहोमा-स्त्री० । नानाविधैर्द्रव्यैः कणवीरपुष्पाऽऽदिभिर्मधुघृताऽऽदिभिर्वोच्चाटनाऽऽदिकैः कार्यैः होमो हवनं यस्या सा द्रव्यहोमा तस्याम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दव्वाणंतय-द्रव्यानन्तक-न० । जीवद्रव्याणां पुद्गलद्रव्याणां वा यदनन्तकं तस्मिन्, स्था० १० ठा० ।

दव्वाणुओग-द्रव्यानुयोग-पुं० । षड्द्रव्यविचारे, द्रव्या० १ अध्या० । आचा० । ('दविआणुओग' शब्दे २४६२ पृष्ठे व्याख्याऽस्य)

दव्वाणुओगतक्कणा-द्रव्यानुयोगतर्कणा-स्त्री० । द्रव्यगुणपर्यायविचारे, तत्प्रतिपादके ग्रन्थे च । द्रव्या० ।

श्रीयुगाऽऽदिजिनं नत्वा, कृत्वा श्रीगुरुवन्दनम् ।
आत्मोपकृतये कुर्वे, द्रव्यानुयोगतर्कणाम् ॥ १ ॥
विना द्रव्यानुयोगोहं, चरणकरणाऽऽख्ययोः ।
सारं नेति कृतिश्रेष्ठ, निर्दिष्टं सम्मतौ स्फुटम् ॥ २ ॥

(श्रीयुगाऽऽदीत्यादि) तत्र प्रथममिष्टदेवतानमस्करणेन सप्रयोजनाभिधेयो दर्शितः । आद्यपदद्वयेन मङ्गलाऽऽचरणं, नमस्कारकरणं च १ । आत्मार्थिन इहाधिकारिणः २ । तेषामर्थबोधो भविष्यतीत्युपकाररूपं प्रयोजनम् ३ । द्रव्याणामनुयोगेऽधिकारः ४ । अथ द्रव्यानुयोग इति कः शब्दार्थः ?, अनुयोगो हि सूत्रार्थयोर्व्याख्यानम्, तस्य चत्वारो भेदाः । तत्र प्रथमश्चरणानुयोगः, आचारवचनमाचाराङ्गाऽऽदिसूत्राणि १ । द्वितीयो गणितानुयोगः संख्याशास्त्रं, चन्द्रप्रज्ञप्त्यादिसूत्राणि २ । तृतीयो धर्मकथानुयोगः-आख्यायिकावचनम्, ज्ञाताधर्मकथाऽङ्गाऽऽदिसूत्राणि ३ । चतुर्थो द्रव्यानुयोगः षड्द्रव्यविचारः, सूत्रकृताङ्गाऽऽदिसूत्राणि, सम्मतितत्त्वार्थप्रमुखप्रकरणानि च महाशास्त्राणि, ततोऽन्यभेदविचारणामहं कुर्वे ॥१॥ (विना द्रव्येति) द्रव्यानुयोगोऽहं द्रव्यगुणपर्यायविचारं विना चरणकरणयोः सारं न, चरणसप्तत्याः करणसप्तत्याश्च सारं केवलं द्रव्यानुयोग एव, इत्ययं निष्कर्षः । सम्मतिग्रन्थे स्फुटं प्रकटं, कृतिश्रेष्ठ बुधजनवल्लभ, निर्दिष्टं कथितं, बुधा एव जानते, न तु बाह्यदृष्टयः । यतः-" चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा । चरणकरणस्स सारं, णिच्छयसुद्धं न याणंति " ॥ ६७ ॥ (सम्म० ३ काण्ड) इतीयं गाथा सम्मतौ कथिता, अतश्चरणकरणानुयोगमूलं इहोपायो द्रव्यानुयोग एव उक्तः । द्रव्या० १ अध्या० ।

गुणानां हि विकाराः स्युः, पर्याया द्रव्यपर्यवाः।
इत्यादि कथयन् देवसेनो जानाति किं हृदि ? ॥१७॥

इत्थं पदार्थाः प्रणिधाय मूर्ध्नि,
परीक्षिता ज्ञानगुरोः सदाज्ञाम् ।
तुच्छोक्तिमुत्सृज्य विमोहमूला-
मर्हत्क्रमाम्भोजरतेन सर्वे ॥ १८ ॥

गुणविकाराः पर्याया एव कथयित्वा तेषां भेदाधिकारे पर्याया द्विविधाः-द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्चेति कथयंश्च देवसेनो दिगम्बराऽऽचार्यो नयचक्रग्रन्थकर्त्ता हृदि चित्ते किं जानाति ?, अपि तु समाचितार्थं न किमपि जानातीत्यर्थः । पूर्वापरविरुद्धभाषणादसत्प्रलापश्चाय एवेदमित्यभिप्राय । किञ्च-द्रव्यपर्याया एव कथनीयाः, परं तु गुणपर्याया इति पृथग् भेदोत्कीर्तनं न कर्त्तव्यं, द्रव्ये गुणत्वाधिरोपाद्,गुणे च गुणत्वाभावादिति निष्कर्षः ॥ १७ ॥ इत्थमनया रीत्या पदार्था द्रव्यगुणपर्यायाः परीक्षिताः स्वरूपलक्षणभेदाऽऽदिकथनेन विशदीकृताः । किंकृत्वा ?, ज्ञानगुरोः परम्पराऽऽगतश्रुताऽऽचार्यस्य, सदाज्ञा सत्यनिदेशं, मूर्ध्नि मस्तके,निधाय संस्थाप्य । पुनः किंकृत्वा ?, विमोहमूलां भ्रमनिबन्धनां, तुच्छोक्तिं तुच्छबुद्धिप्रणीतवचनम्,उत्सृज्यापाकृत्य । कीदृशेन मया ?, अर्हत्क्रमाम्भोजरतेन वीतरागचरणकमलसेवनरसिकेन, सर्वे पदार्था मया परीक्षिता इत्यर्थः । भोजेति नामनिरूपणं चेति ॥ १८ ॥ द्रव्या० १४ अध्या० ।

द्रव्याऽऽदिकानां तु विचारमेवं,
विज्ञापयिष्यन्ति सुमेधसो ये ।
प्राप्स्यन्ति ते सन्ति यशांसि लक्ष्म्यः,
सौख्यानि सर्वाणि च वाञ्छितानि ॥ १ ॥
गुरोः श्रुतेश्चानुभवात्प्रकाशितः,
परो हि द्रव्याऽऽद्यनुयोग आन्तरः ।
जिनेशवाणीजलधौ सुधाकरः,
सदा शिवश्रीपरिभोगनागरः ॥ २ ॥

एवमनया रीत्या, द्रव्याऽऽदिकानां विचारं ये सुपुरुषा विज्ञापयिष्यन्ति, ते सुमेधसः, इह सन्ति शोभनानि यशांसि । पुनः लक्ष्म्यः,परत्र सर्वाणि वाञ्छितानि सुखानि प्राप्स्यन्तीति भावः॥१॥ गुरोः ज्ञानगुरोः, श्रुतेः सिद्धान्तात्, अनुभवात् स्वानुभूतेः, आन्तरोऽन्तर्ध्यानमयः, परः प्रकृष्टो द्रव्यानुयोगः प्रकाशितः । कीदृशः ?, वीतरागवचनसमुद्रे चन्द्र इव चन्द्रः, निरन्तरं शिवलक्ष्मीविलासे नायक इव नागर इति ॥२॥ द्रव्या० १५ अध्या० ।

दव्वादेस-द्रव्याऽऽदेश-पुं० । आदेशः प्रकारो द्रव्यरूप आदेशो द्रव्याऽऽदेशः । भ० १४ श० ४ उ० । द्रव्यप्रकारेण द्रव्यत इत्यर्थः, परमाणुत्वाऽऽद्याश्रित्येति यावत् । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

दव्वाभाव-द्रव्याभाव-पुं० । निष्परिग्रहत्वेनार्थासत्तायाम्, पञ्चा० ६ विव० ।

दव्वाभिग्गह-द्रव्याभिग्रह-पुं० । लेपकृताऽऽदिद्रव्यविषये, ग० १ अधि० ।

दव्वाभिग्गहचरय-द्रव्याभिग्रहचरक-पुं० । द्रव्याभिग्रहेण चरति भिक्षामटति द्रव्याऽऽश्रिताभिग्रहं वा चरत्यासेवते य स द्रव्याभिग्रहचरकः । औ० । भिक्षाचर्यायाति, भिक्षाचर्यायास्तद्भेदविषयत्वात् भिक्षायां च । भ० २५ श० ७ उ० । ग०

दव्वायरिय-द्रव्याऽऽचार्य-पुं० । आचार्यत्वयोग्यताया अभावादप्रधानाऽऽचार्ये, पञ्चा० ६ विव० ।

दव्वालंकार-द्रव्यालङ्कार-पुं० । स्वनामख्याते ग्रन्थे, यत्र चार्वाकमतखण्डनं कृतम् । स्या० ।

दव्वावइ-द्रव्याऽऽपद्-स्त्री० । कल्पनीयाऽशनाऽऽदिद्रव्यदुर्लभतायाम्, जीत० ।

दव्वावस्सय-द्रव्याऽऽवश्यक-न० । द्रव्यरूपमावश्यकं प्रकृतं, तत्राऽऽवश्यकोपयोगाधिष्ठितः साध्वादिदेहोऽवन्दनकाऽऽदिसूत्रोच्चारणलक्षणश्चाऽऽगमः आवर्तकाऽऽदिका क्रिया चाऽऽवश्यकमुच्यते, आवश्यकोपयोगशून्यस्तु ता एव देहाऽऽगमक्रिया द्रव्याऽऽवश्यकम् । तस्मिन्, अनु० ।

दव्विंद-द्रव्येन्द्र-पुं० । इन्द्रभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (व्याख्या तु ' इंद ' शब्दे द्वितीयभागे ५३२ पृष्ठे गता)

दव्विय-दैविक-पुं० । देवेन कृतोपद्रवे, व्य० ७ उ० ।

दव्वी-दर्वी-स्त्री० । भाजनविशेषे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । आव० । पिं० । प्रज्ञा० ।

दव्वीअर-पुं० । देशी-सर्पे, दे० ना० ५ वर्ग ३७ गाथा ।

दव्वीकर-दर्वीकर-पुं० । दर्वीव दर्वी फणा तत्करणशीला दर्वीकराः । अहिभेदे, प्रज्ञा० ।

दर्वीकरभेदानभिधित्सुराह-

से किं तं दव्वीकरा ?। दव्वीकरा अणेगविहा पणत्ता । तं जहा-आसीविसा, दिट्ठीविसा, उग्गविसा, भोगविसा, तयाविसा, लालाविसा, उस्सासविसा, णिस्सासविसा, कण्हसप्पा, सेदसप्पा, काउदरा, दव्भपुप्फा, कोलाहा, मेलिमिंदा, सेसिंदा, जे यावण्णे तहप्पगारा । से त्तं दव्वीकरा ।

आश्यो दंष्ट्रास्तासु विषं येषां ते आशीविषाः । उक्त च-"आसी दाढा तग्गय-महाविसा आसीविसा मुणेयव्वा" इति । दृष्टौ विषं येषां ते दृष्टिविषाः, उग्रं विषं येषां ते उग्रविषाः, भोगः शरीरं, तत्र विषं येषां ते भोगविषाः, त्वचि विषं येषां ते त्वग्विषाः, प्राकृतत्वाच्च 'तयाविसा' इति पाठः । लाला मुखाऽऽस्रावः, तत्र विषं येषां ते लालाविषाः, निःश्वासे विषं येषां ते निःश्वासविषाः, कृष्णसर्पाऽऽदयो जातिभेदा लोकतः प्रतिपत्तव्याः । उपसंहारमाह-" से त्त दव्वीकरा ।" प्रज्ञा० १ पद ।

दव्वोवओग-द्रव्योपयोग-पुं० । द्रव्यार्थिकनयजन्यबोधे, न० ।

दव्वोवगाहणा-द्रव्यावगाहना-स्त्री० । द्रव्यस्य पर्यायैरवगाहना आश्रयणं द्रव्यावगाहना । अवगाहनाभेदे, स्था० ४ ठा० । (' ओगाहणा ' शब्दे तृ० भागे ७६ पृष्ठे व्याख्यातेयम्)

दव्वोसह-द्रव्यौषध-न० । बहुद्रव्यसमुदायौषधे,नि० चू० २ उ० ।

दस-दश-त्रि० । संख्याभेदे, दश० ।

णामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो खलु निक्खेवो, दसगस्स उ छव्विहो होइ ॥९॥

आह-किमिति द्रुमादीन् विहाय दशशब्द उपन्यस्तः ?। उच्यते-एतत्प्रतिपादनादेव द्रुमादीनां गम्यमानत्वात् । तत्र नामस्थापने सुगमे । द्रव्यदशकं दश द्रव्याणि-सचित्ताचित्तमिश्रा-

णि मनुष्यरूपकटकाऽऽदिविभूषितानीति। क्षेत्रदशक दश क्षेत्रप्रदेशा ,कालदशक-दश काला वर्तनाऽऽदिरूपत्वात्कालस्य दशावस्थाविशेषा इत्यर्थः। वक्ष्यति च-"बाला किड्डा मंदा" इत्यादिना। भावदशक-दश भावा , ते च सान्निपातिकभावे स्वरूपतो भावनीया । प्रथ चैन एव विवक्षया दशाध्ययनविशेषा इति । एव एवभूत खलु निक्षेपो न्यास , दशशब्दस्य बहुवचनत्वाद्दशाना षड्विधो भवति। तत्र खलुशब्दोऽवधारणार्थ । एव एव प्रक्रान्तोपयोगीति तुशब्दो विशेषणार्थ'। किं विशिनष्टि ?। नाऽय दशशब्दमात्रस्य, किं तु तद्वाच्यस्याऽर्थस्याऽपीति गाथाऽर्थ ॥ ६॥ दशा० १ अ०। अनु०। कल्प०। स्था०।

दसउर-दशपुर-न०। साम्प्रत 'मन्दसोर' इति प्रसिद्धे स्वनामख्याते नगरे, आ० क०।

"आस्तां तावद्वितताऽऽर्यो, वक्ष्ये दशपुरोद्भवम् (२)
अस्त्यकम्पा पुरी चम्पा, तत्राऽऽसीत्स्वर्णहारक ।
कुमारनन्दि स्त्रीलोल , श्रीमान् श्रीद इवापर ॥ ३॥
दर्श दर्श सुरूपां स्त्रीं, पञ्चस्वर्णशताऽऽहृते'।
उद्वहन् सम्राट सोऽभू-द्योषित्पञ्चशतीपति ॥ ४॥
ईर्ष्यालुस्तत्र सौध-मेकस्तम्भ विधाप्य स ।
विललास सम ताभि-र्देवीभिरिव देवराट् ॥ ५॥
अथान्यदा पञ्चशैल-द्वीपग व्यन्तरीयुगम्।
गच्छन्नन्दीश्वरद्वीप-यात्राया वृत्रहाऽऽज्ञया ॥ ६॥
विद्युन्मालीव तत्कान्त', प्रच्युत पञ्चशैलगात्।
ततो विग्द्दु स्वार्ते. स्वय पश्यदितस्तत ॥ ७॥
कुमारनन्दि चम्पाया, रमोद्याने व्यचिन्तयत्।
पयोऽस्यहल्लभो भावी, तत्तस्य समदर्शयत ॥ ८॥
के युवामिति तेनोक्ते, ताभ्या देव्याविनीरितम्।
कथं च यावन्नागच्छे , पञ्चशैलमथो गते ॥ ९॥
नृपमुक्त्वा स तद्वाक्तोऽ-वादयत् पटह पुरे।
कुमारनन्दि यः पञ्च-शैले नयति तस्य स. ॥ १०॥
स्वर्णकोटिं प्रदत्ते त, दधे वृद्धनियामक ।
पुत्राणा तद्धन दत्त्वा, त पोते न्यस्य सोऽचलत ॥ ११॥
दूर गत्वा घनापे न, निर्याम किञ्चिदीक्षसे ।
सोऽप्यधात्किमपि श्याम, प्रेक्षे निर्यामकोऽब्रवीत ॥ १२॥
नितम्बेऽद्रेर्वटोऽस्त्येष, पोतोऽस्याधोऽयमेष्यति ।
तत्त्वमत्रावलम्बेथा , पोतोऽस्याध स्फुटिष्यति ॥ १३॥
गतस्य तव शैलोर्द्ध, भारुण्डा पञ्चशैलत ।
द्विजा वाऽप्यहयो ह्यास्या, एष्यन्त्येकोदरा. खगाः ॥ १४॥
तन्मध्यपदलग्नस्त्व, पञ्चशैले गमिष्यसि ।
इत्युक्त स तथाऽकार्षीत्, पञ्चशैल जगाम च ॥ १५॥
निर्यामकः पुन. पोत-स्फोटाद्ब्धे गतो मृतः।
व्यन्तरीभ्या तु ताभ्या स, दृष्ट श्रीस्तस्य दर्शिता ॥ १६॥
उक्तश्चानेन देहेन, भोग्ये आवां न ते तत'।
हासाप्रहासाकान्त. स्यां, पञ्चशैलाऽधिपो मृत' ॥ १७॥
इत्युक्त्वाऽग्निप्रवेशाऽद्य, कुर्वीथा दानपूर्वकम्।
तत्कथ यास्ययोद्याने, नीत्वा ताभ्याममोचि स. ॥ १८॥
अथाऽऽगत्य जनोऽप्राक्षी-द्वीक्षित तत्र किं त्वया ?।
सोऽवदत्ते मया दृष्टे, व्यन्तर्यौ मर्त्यदुर्लभे ॥ १९॥
श्रमणोपासको मित्र, नागिलस्तत्र तेन स ।
वारितोऽप्यविशद्वह्नौ, दत्त्वा दान निदानवान् ॥ २०॥
पञ्चशैलाधिप सोऽभू-न्नागिलो व्रताद्धिभोऽथ नागिल ।
पारिव्रज्याऽच्युते जात', शक्रसामानिक सुरः ॥ २१॥
अथान्यदाऽष्टमद्वीपे, यात्राया पटहाऽग्रहे ।
पटहोऽक्षेपि शक्रेण, विद्युन्मालिगले बलात ॥ २२॥
वादयन्नथ भीतोऽगात, ज्ञात्वा त नागिलोऽवधेः।
आगाद्दृष्ट्वा स तत्तेजो-ऽसहमान पलायत ॥ २३॥
तेजः सहस्व मा वेत्सी-त्युक्तोऽथावेत्ति को न च' ?।
आद्यरूपमथाऽऽदर्श्य, ज्ञापितो धर्मवैभवम् ॥ २४॥
सविग्न' सोऽवदन्मित्र !, कर्त्तव्यमधुना दिश ।
तेनोक्त कुरु वीरार्चां, सम्यक्त्व भावि ते तत' ॥ २५॥
महाहिमवत' सोऽथा-ऽऽदाय गोशीर्षचन्दनम्।
कृत्वाऽर्चां तेन वीरस्य, न्यक्षिपत्काष्ठसम्पुटे ॥ २६॥
प्रेक्ष्यान्न सागर पोत, षण्मासोत्पातबाधितम्।
निवार्य तेषामुत्पात- मार्पयत्त त समुद्गकम् ॥ २७॥
उक्तश्चास्तीह देवाधि-देवार्चा भूभृतेऽर्प्य ताम्।
आगत्योऽन्त'पुरे वीन-भये वीतभयस्ततः ॥ २८॥
उदायनो नृपस्तत्र, जैनभावितमानस. ।
तस्य प्रभावती देवी, प्रेयसी परमाऽऽर्हता ॥ २९॥
राज्ञ समर्पित पोत-वणिग्भि. स समुद्गक. ।
देवाधिदेवप्रतिमा, मध्येऽस्त्यस्येत्यभाषत ॥ ३०॥
पर्षुत्स्वस्येन्द्राऽऽद्यर्चाऽर्थ, वाहिनोऽपि हि नाऽवहत्।
प्रभावत्युक्तदेवाधि-देवश्रीवीरमूर्त्तये ॥ ३१॥
स्पर्शेऽपि परशोः प्राक्--रासाऽऽर्चा दृवनिर्मिता।
कृत्वाऽन्त'पुरे चैत्य, सदाऽऽनर्च प्रभावती ॥ ३२॥
देवी तत्रान्यदाऽनृत्य -द्राजा वीणामवादयत्।
देव्याः शीर्षमदृष्ट्वाऽस्य, भ्रष्ट तद्वादन करात् ॥ ३३॥
देवी रुष्टाऽवदद् दुष्ट, नृत्त किं मे, न सोऽवदत्।
निर्बन्धात् कथिते देवी, स्माऽऽहाऽऽर्हत्या न मेऽस्ति भी. ॥ ३४॥
देवी स्नात्वाऽन्यदा चेटी--सूचे वासास्युपानय ।
साऽनयद्(द्र)क्तवासासि, देव्यूचे किमिद इसे ! ॥ ३५॥
देवार्चाप्रगुणां मा किं, न जानासीति ता क्रुधा।
करस्थदर्पणेनाह-न्ममीऽऽघाताच्च सा मृता ॥ ३६॥
मृता ता वीक्ष्य देवीति, दध्यौ हा खण्डित व्रतम्।
ततो राजानमापृच्छ्या-ऽनशन विदधाम्यहम् ॥ ३७॥
निर्बन्धेऽमस्त तद्राजा, बोध्योऽहमिति चाब्रवीत्।
कृत्वाऽथाऽनशन मृत्वा, देवी देवोऽभवद्दिवि ॥ ३८॥
प्रतिमां देवदत्तां च, कुब्जा देव्याज्ञयाऽऽर्चयत ।
देवी देवेन स्वप्नाऽऽद्यै- र्बोधितोऽप्यबुध्यत राट् ॥ ३९॥
तत' प्रभावती देवी, भौतो भूत्वाऽगमत्सभाम्।
सुफलान्यार्पयद्राज्ञे, राजा तान्याद सादरः ॥ ४०॥
सन्ति क्वैतान्यपृच्छच्च, भौत सोऽवग्मदाश्रमे ।
ततस्तेन सम राजा, तत्कृतेऽगात्तदाश्रमे ॥ ४१॥
सोऽथ तैर्मोष्टुमारेभे, नश्यस्तेभ्यो ययौ वने ।
साधूनालोक्य तत्राऽस्थात्, श्रुत्वा धर्ममबुद्ध च ॥ ४२॥
ततः प्रभावतीदेवो, दर्शयित्वा स्वमूचिवान्।
राजन्नितो मे देवर्द्धि-स्तत् त्वमत्र दृढो भव ॥ ४३॥
स्मरे' कार्ये च गाढे मा--मित्युक्त्वा तत्र जग्मुषी।
वीक्ष्याऽऽस्थाने तथैव स्व, सोऽर्हद्धर्मे दृढोऽभवत् ॥ ४४॥
इतश्च श्राद्धो गान्धारो, नत्वा तीर्थभुवोऽखिला ।
नन्तु वैताढ्यचैत्यानि, तन्मूलेऽस्थादुपोषित. ॥ ४५॥
तत्र शासनदेव्या स, नित्यचैत्यान्यवन्द्यत ।

तोपाध्यास्मै सर्वकाम- गुटिकानां शतं ददौ ॥ ४६ ॥
सोऽथ वीतभये दिव्य--प्रतिमां नन्तुमागमत् ।
तत्राभूदतिसारोऽस्य, पालितो देवदत्तया ॥ ४७ ॥
उल्लाघः सोऽथ नात्तस्यै, दत्त्वा प्रव्राजितः स्वयम् ।
वर्णः स्वर्णसमो मे ऽस्त्वि-त्याशैकां गुटिकामसौ ॥ ४८ ॥
तत्प्रभावात्तथाभूता, दध्यौ भोगार्थिनी पुनः ।
एष राजा पितृप्रायः, परे चास्य मुण्डाकाः ॥ ४९ ॥
प्रद्योतार्थमथ प्राऽऽश, द्वितीयां गुटिकामसौ ।
सुवर्णगुटिकारूप, तस्य तद्देशथाऽभ्यधीत् ॥ ५० ॥
तेन प्रैष्यत दूतोऽस्यै, प्रेक्ष्ये त तावदाह सा ।
अनलगिरिणाऽथाऽऽगा-द्रात्रौ हृष्टोऽकथच्च सः ॥ ५१ ॥
अहमेष्यामि यद्येतां, प्रतिमां सह नेष्यसि ।
स तत्प्रपद्य तत्पार्श्वे, निशा निर्गम्य जग्मिवान्॥ ५२ ॥
तत्समां प्रतिमामन्यां, कारयित्वाऽगमत्पुनः ।
मुक्त्वैतां तां गृहीत्वा च, सुवर्णगुटिकां च सः ॥ ५३ ॥
तत्रानलगिरेर्मूत्रो-च्चारगन्धेन बाधिताः ।
उदायनगजाः सर्वे-ऽप्यनूपशिमदास्तदा ॥ ५४ ॥
राजपुंभिस्ततो राज्ञो, विज्ञप्त देव ! दासिका ।
हृता प्रद्योतराजेन, रात्रावागत्य चोरवत् ॥ ५५ ॥
या त्वसौ प्रतिमा साऽस्ति, तेऽभ्यधुर्देव ! विद्यते ।
पूजाकालेऽथ पुष्पाणि, दृष्ट्वा म्लानान्यचिन्तयत् ॥ ५६ ॥
प्रतिबिम्ब विमुच्याऽत्र, प्रतिमा सा हृताऽमुना ।
प्रतिमां मुञ्च चेटयस्तु, दूतेनोचेऽथ तं नृप ॥ ५७ ॥
नार्पयत्तां स राजाऽथा--चालीज्ज्येष्ठेऽपि तं प्रति ।
दशापि गणराजान-स्तस्य तेन सहाचलन् ॥ ५८ ॥
तापार्त्ते च मरौ सैन्य, जलाभावादबाध्यत ।
तत प्रभावतीदेव , स्मृतोऽकार्षीत्त्रिपुष्करीम ॥ ५९ ॥
आदिमध्यान्तगा सैन्य-सुस्थोऽथोज्जयिनीं ययौ ।
पुनर्दूतेन राजोचे, प्रद्योत को जनक्षयः ? ॥ ६० ॥
द्वयेऽपि सैनिकाः सन्तु, पश्यन्तः पारिपार्श्वकाः ।
आरूढयोः पदात्योर्वा, तुल्यस्थित्यो रणोऽस्तु नौ ॥ ६१ ॥
ऊचे प्रद्योतराजोऽपि, सावष्टम्भमिदं वचः ।
योत्स्यावहे रथेनाऽऽवा, प्रागभ्येत्य रणाङ्गणे ॥ ६२ ॥
अथाऽऽरुह्यानलगिरिं, प्रद्योतः प्रातरागतः ।
उदायनो रथेनाऽऽगा-दवन्तीश जगाद च ॥ ६३ ॥
राजन्नसत्यसन्धोऽसि, नास्ति मोक्षस्तथापि ते ।
भावी प्रद्योत! खद्योत- स्त्व मे बाणार्कसङ्गतः ॥ ६४ ॥
रथं न्यस्याथ मण्डल्यां, प्रद्योतेऽमुदायनः ।
उत्क्षिप्तोत्क्षिप्तपादान्म , क्षिप्त्वा बाणानपातयत् ॥ ६५ ॥
प्रद्योतो निपतन्नागाद्, बद्धोदायनभूभुजा ।
भाले दासीपतिरिति, दत्त्वाऽङ्कं चरणे कृतः ॥ ६६ ॥
गत्वा राजा ततोऽवन्त्या, दध्याऽऽज्ञां सर्वतो निजाम् ।
निषिद्धः प्रतिमां गृह्ण-न्नधिष्ठाय्याऽचलत्ततः ॥ ६७ ॥
वर्षाकाले विचालेऽस्था-दवस्कन्दभयादथ ।
धूलीवप्र विधायाऽस्थु-र्दशाऽपि परितो नृपाः ॥ ६८ ॥
प्रद्योतो चरणस्थोऽपि, बुभुजे नृभुजा सह ।
पृष्ट पर्युषणाया च, भोज्य सूदेन तेऽस्तु किम् ? ॥ ६९ ॥
चाणमोऽत्रादीद्विषान्मृत्यो , का पृच्छा मेऽद्य सूदप ! ?।
स बभाषे पर्युषणा, राजेन्द्रोऽद्यास्त्युपोषितः ॥ ७० ॥
सोऽभ्यधान्मेऽप्यभक्तार्थं , पर्वपर्युषणाऽद्य चेत् ।
ममाऽपि मातापितरौ, श्रावकौ यद् बभूवतुः ॥ ७१ ॥
सूदाध्यक्षो नृपस्याऽऽख्य-द्राज्ञोचे धूर्त एषकः ।
किं पुनर्मम पर्वेऽस्मिन्, प्रतिक्रान्तिर्न सेत्स्यति ॥ ७२ ॥
ततः स क्षामितो मुक्तश्च, दत्तास्मदेशमालया ।
ललाटे पट्टबन्धश्च, यत्नोऽङ्कच्छादनाकृते ॥ ७३॥
नृपा मुकुटबद्धाः प्राक्, पट्टबद्धा इतोऽभवन् ।
वर्षास्वतिक्रमेऽयासी -न्निजं पुरमुदायन ॥ ७४ ॥
आगत्याऽऽगत्य वस्तत्र, वसति स्म वणिग्जनः ।
सोऽकथास्तथैव तज्जज्ञे, पुरं दशपुरं ततः ॥ ७५ ॥"
आ० क०। दश० । विशे०। आ० चू०। आ० म०। उत्त० । नं०।

दसकालिय-दशकालिक-न०। कालेन निर्वृत्त कालिक, प्रमाणकालेनेति भाव । दशाध्ययनभेदाऽऽत्मकत्वाद्दशप्रकार कालिकम्, प्रकारशब्दलोपाद्दशकालिकम् । दशवैकालिकाऽऽख्ये ग्रन्थे, दश० १ अ० ।

दसगुण-दशगुण-पु० । एकगुणापेक्षया दशाभ्यस्ते, स्था० १० ठा० ।

दसगुणकालग-दशगुणकालक -पुं० । दशगुण एकगुणकालापेक्षया दशाभ्यस्तः कालो वर्णविशेषो येषां तेषु, स्था० १० ठा० ।

दसजाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्स-दशजातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्र-न० । दशैव जातौ यानि कुलकोटीनां जातिविशेषलक्षणानां योनिप्रमुखाणि उत्पत्तिस्थानद्वारकाणि शतसहस्राणि लक्षाणि तेषु, स्था० १० ठा० ।

दसट्ठाण-दशस्थान-न० । दशसु प्रकारेषु, दश स्थानानि नैरयिकाणामनिष्टानि, देवानां चेष्टानि शब्दाऽऽदीनीति । भ० १४ श० ५ उ० । (' वीईवयण ' शब्दे प्रसङ्गाद् वक्ष्यन्ते)

दसट्ठाणणिव्वत्तिय-दशस्थाननिर्वर्तित-पु० । दशभि स्थानैः प्रथमसमयैकेन्द्रियत्वाऽऽदिभिः पर्यायैर्हेतुभिर्यैर्निर्वृत्ता बन्धयोग्यतया निष्पादितास्ताः तेषु, दशभि स्थानैर्निर्वृत्तिर्वा येषां तेषु च । स्था० १० ठा० ।

दसण-दशन-पु० । 'दशनानि च कुन्दकलिका' स्यु'।' है० । दश्यते अनेन । दन्ते, शिखरे च । करणे ल्युट् । कवचे, भावे ल्युट् दंशने, दन्ताऽऽदिना आघाते च । प्रव० ३८ द्वार । वाच० ।

दसणाम-दशनामन्-न० । दशविधपदार्थनामनि, अनु० ।

अथ दशनामाभिधानार्थमाह-

से किं तं दसनामे ?। दसनामे दसविहे पण्णत्ते । त जहा-गोण्णे, नोगोण्णे, आयाणपएणं,पडिवक्खपएणं, पहाणयाए, अणाइयसिद्धे, नामेणं, अवयवेणं, संजोगेण, पमाणेणं ।

अनु० । (टीका सुगमा)

दसण्ण-दशार्ण-पु० । दश ऋणानि दुर्गाणि जलानि वा यत्र । ऋणशब्दे वृद्धि । वाच० । मृत्तिकावतीपुरीप्रतिबद्धे देशविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । सूत्र० । उत्त० । प्रव० । आ० म० । नदीभेदे, स्त्री० । वाच० ।

दसण्णकूड-दशार्णकूट-न० । स्वनामख्याते कूटे, आ० क० । आ० म० । आचा० । आ० चू० । प्रति० । ('गयग्गपय' शब्दे तृतीयभागे ८४२ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

दसण्णपुर–दशार्णपुर–न० । स्वनामख्याते नगरे, यत्र दशार्णभद्रो नृप श्रीभगवन्तं महावीरं दशार्णकूटनगरनिकटसमवसृतं ववन्दे । स्था० १० ठा० । आव० । आ० चू० । आ० म० ।

दसण्णभद्द–दशार्णभद्र–पुं० । स्वनामख्याते दशार्णपुरराजे, स्था० । दशार्णभद्रो दशार्णपुरनगरनिवासी विश्वम्भराविभुर्यो भगवन्तं महावीरं दशार्णकूटनगरनिकटसमवसृतमुद्यानपालवचनादुपलभ्य यथा न केनापि वन्दितो भगवाँस्तथा मया वन्दनीय इति राज्यसम्पदवलेपाङ्कितश्च चिन्तयामास । ततः प्रातः सविशेषकृतस्नानविलेपनाऽऽभरणाऽऽदिविभूषः प्रकल्पितप्रधानोद्वपपतिपृष्ठाऽऽरूढो वल्गनाऽऽदिविविधक्रियाकारिसदर्पसर्पच्चतुरङ्गसैन्यसमन्वितः पुष्यमाणवकसमुद्घुष्यमाणाऽगणितगुणगणः सामन्तामात्यमन्त्रिराजदौवारिकदूताऽऽदिपरिवृतः सान्तःपुरपौरजनपरिवृत आनन्दमयमिव सपादयन्महीमण्डलमायामल स्यामराबत्या नगरान्निर्जगाम । निर्गत्य च समवसरणमभिगम्य यथाविधि भगवन्तं भव्यजननलिनवनविबोधनाभिनवभानुमन्तं महावीरं वन्दित्वोपविवेश । अत्रान्तरे दशार्णभद्रभूपाभिप्रायं च तन्मानविनोदनोद्यतः कृताष्टमुखे प्रतिमुखं विहिताष्टदन्ते प्रतिदन्तं कृताष्टपुष्करिणीके प्रतिपुष्करिणि निरूपिताष्टपुष्करे प्रतिपुष्करं विरचिताष्टदले प्रतिदलं विरचितद्वात्रिंशद्बद्धनाटके वारणेन्द्रे आरूढः स्वश्रिया निखिलं गगनमण्डलमापूरयन्तमसरपतिमवलोक्य कुतोऽस्यादृशामीदृशी विभूतिः ?, कृतोऽनेन निरवद्यो धर्म इति, ततोऽहमपि तं करोमि, इति विभाव्य प्रवव्राज, जितोऽहमधुना त्वयेति भणित्वा च शक्रः प्रणिपपातेति । सोऽयं दशार्णभद्रः सञ्जायते, परमनुत्तरोपपातिकाङ्गे नाधीतः क्वचित्सिद्धश्च श्रूयत इति । तथा अतिमुक्तक एव श्रूयते अन्तकृद्दशाङ्गे–पलाशपुरे नगरे विजयस्य राज्ञः श्रीनाम्न्या देव्या अतिमुक्तको नाम पुत्रः षड्वार्षिको गौतमं गोचराऽऽगतं दृष्ट्वा एवमवादीत्–के यूयम् ?, किं पर्यटत ? । ततो गौतमोऽवादीत्–श्रमणा वयं, भिक्षार्थं च पर्यटाम । तर्हि भदन्ताः ! आगच्छत युष्मभ्यं भिक्षां दापयामीति भणित्वाऽङ्गुल्या भगवन्तं गृहीत्वा स्वगृहमानैषीत् । ततः श्रीदेवी हृष्टा भगवन्तं प्रतिलम्भयामास । अतिमुक्तकः पुनरवोचत्–यूयं क्व वसथ ? । भगवानुवाच–भद्र ! मम धर्माऽऽचार्याः श्रीवर्द्धमानस्वामिन उद्याने वसन्ति, तत्र वयं परिवसामः । भदन्ताः ! गच्छाम्यहं भवद्भिः सार्द्धं भगवतो महावीरस्य पादान् वन्दितुम् ? । गौतमोऽवादीत्–यथासुखं देवानां प्रिय ! । ततो गौतमेन सह गत्वाऽतिमुक्तकः कुमारो भगवन्तं वन्दते स्म । धर्मं श्रुत्वा प्रतिबुद्धो गृहमागत्य पितरावब्रवीत्–यथा संसारान्निर्विण्णोऽहं प्रव्रजामीत्यनुजानीत युवाम् । तावूचतुः वत्स ! त्वं किं जानासि ? । ततोऽतिमुक्तकोऽवादीत्–अम्ब ! तात ! यदेवाहं जानामि तदेव जानामीति । ततस्तौ तमवादिष्टाम् । कथमेतत् ? । सोऽब्रवीत्–अम्ब ! तात ! जानाम्यहं यदुत–जातेनाऽऽवश्यं मर्त्तव्यं, न जानामि तु कदा वा कस्मिन् वा कियच्चिराद्वा । तथा न जानामि कैः कर्मभिर्निरयाऽऽदिषु जीवा उत्पद्यन्ते । एतत्पुनर्जानामि, यथा–स्वयं कृतैः कर्मभिरिति । तदेवं मातापितरौ प्रतिबोध्य प्रवव्राज, तपः कृत्वा च सिद्ध इति । इह त्वयमनुत्तरोपपातिकेषु दशमाध्ययनतयोक्तस्तदपर एवाऽयं भविष्यतीति । स्था० १० ठा० । आव० । उत्त० । आ० म० । आ० चू० । आ० क० । तथा च–"सट्ठिकरिसहस्स" इति गाथाया व्याख्यानं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्–चतुःषष्टिसंख्या हस्तिसहस्राः, किंलक्षणाः ?, सहाष्ट तैर्यानि तानि साष्टदन्तानि, अष्टसंख्यानि शिरांसि अष्टशिरांसि, साष्टदन्तानि च तानि अष्टशिरांसि च साष्टदन्ताष्टशिरांसि चतुःषष्टिगुणीकृतानि साष्टदन्ताष्टशिरांसि येषां ते चतुःषष्टिसाष्टदन्ताष्टशिरसः । अत्र मध्यमपदलोपी समासो ज्ञेयः । अष्टानां च चतुःषष्ट्या गणने द्वादशोत्तराणि पञ्चशतानि शिरांसि प्रतिगजं स्युरिति, तथैकैकस्मिन् दन्तेऽष्टाष्टपुष्करिण्य इति । ५३ प्र० । सेन० २ उल्ला० । तथा दशार्णभद्राधिकारे हस्तिमुखाऽऽदिविकुर्वणा किमिन्द्रेण कृता, किमुतैरावणदेवेन वेति प्रश्ने, उत्तरम्–आवश्यकचूर्ण्याद्यनुसारेण हस्तिमुखाऽऽदि सर्वमिन्द्राऽऽदेशादैरावणेन विचक्रे, आवश्यकवृत्त्याद्यनुसारेण तु तत्सर्वं स्वयं विमौजसेति । ११७ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

दसतिग–दशत्रिक–न० । दशान्यस्ते ऽवयवे समुदाये, सघा० १ अधि० १ प्रस्ता० । ('चेइयवंदण' शब्दे तृतीयभागे १०९८ पृष्ठे दशत्रिकाणि प्रतिपादितानि)

दसदसमिया–दशदशमिका–स्त्री० । दश दशमानि दिनानि यस्यां सा दशदशमिका । दशदशकनिष्पन्नायां भिक्षुप्रतिमायाम्, स्था० ।

दसदसमिया णं भिक्खुपडिमा एगं राइंदियसएण अद्धछट्ठेहि य भिक्खासएहिं अहासुत्तं० जाव आराहिया भवइ ।

(दसेत्यादि) दश दशमानि दिनानि यस्यां सा दशदशमिका, दशदशकनिष्पन्नेत्यर्थः । भिक्षूणां प्रतिमा प्रतिज्ञा भिक्षुप्रतिमा एकेनेत्यादि दशदशकानि दिनानां शतं भवन्तीति प्रथमे दशदशके भिक्षा । द्वितीये विंशतिः । एवं दशमे शतम् । सर्वमीलने पञ्चशतानि पञ्चाशदधिकानि भवन्तीति । (अहासुत्तेत्यादि) (अहासुत्त) सूत्रानतिक्रमेण, यावत्करणात्–(अहाअत्थ) अर्थस्य निर्युक्त्यादेरनतिक्रमेण (अहातच्च) शब्दार्थानतिक्रमेण (अहामग्ग) क्षायोपशमिकभावानतिक्रमेण (अहाकप्प) तदाचारानतिक्रमेण, सम्यक्कायेन, न मनोरथमात्रेण, (फासिया) विशुद्धपरिणामप्रतिपत्त्या (पालिया) सीमा यावत्तत्परिणामाहान्या, शोधिता निरतिचारतया शोभिता वा तत्समाप्तावुचितानुष्ठानकरणतः, तारिता तीरं नीता प्रतिज्ञातकालोपर्यप्यनुष्ठानात्, कीर्तिता नामत इदं चेदं च कर्त्तव्यमस्यां तत्कृतं मयेत्येवमिति । आराधिता सर्वपदमीलनात्, भवति जायते इति प्रतिमाऽभ्यासः । स्था० १० ठा० । प्रव० । । स० । अन्त० ।

दसदसय–दशदशक–न० । शते, स्था० १० ठा० ।

दसदिट्ठंत–दशदृष्टान्त–पुं० । मनुष्यलाभे दशसु दृष्टान्तेषु, आ० म० १ अ० २ खण्ड । (ते च 'माणुसत्त' शब्दे वक्ष्यन्ते)

दसदिवसिय–दशदिवसिक–त्रि० । दशाहिके, "दसदिवसियं ठिइवडियं ।" ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

दसधणु–दशधनुष्–पुं० । जम्बूद्वीपे द्वीपे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यामैरवते वर्षे भविष्यति षष्ठे कुलकरे, स० । ति० । जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां दशमे कुलकरे च । स्था० १० ठा० ।

दसद्धवण्ण–दशार्द्धवर्ण–त्रि० । पञ्चवर्णे, स० ३४ सम० । रा० ।

औ० । जी० । " दसद्धवएणस्स कुसुमस्स जाणुस्सेहपमाण- मेत्त ।" रा० ।

दसपएसिय-दशप्रदेशिक-पुं० । दशाणुके, स्था० १० ठा० ।

दसपएसोगाढ-दशप्रदेशावगाढ-पुं० । दशप्रदेशेष्वाकाशस्या- वगाढा आश्रिता दशप्रदेशावगाढा. । आकाशस्य दशसु प्रदे- शेषु आश्रिते, स्था० १० ठा० ।

दसपुव्वि(ण्)-दशपूर्विन्-पुं० । अधीतोत्पादाऽऽदिपूर्वदशके, कल्प० ।

" महागिरि. सुहस्ती च, सूरि श्रीगुणसुन्दर. ।
श्यामाऽऽर्यं स्कन्दिलाऽऽचार्यो, रेवतीमित्रसूरिराट् ॥ १ ॥
श्रीधर्मो भद्रगुप्तश्च, श्रीगुप्तो वज्रसूरिराट् ।
युगप्रधानप्रवरा., दशैते दशपूर्विण. ॥२॥" कल्प० ८ क्षण ।

दसबल-दशबल-पुं० । " दशपाषाणे हः " ॥ ८ । १ । २६२ ॥ इति शकारस्य वैकल्पिको हकार. । 'दसबलो । दहबलो । " प्रा० १ पाद । दश बलानि यस्य स । बुद्धभगवति, को० । "दानशील- क्षमावीर्य- ध्यानप्रज्ञाबलानि च । उपायाः प्रणिधिर्ज्ञान. दश बुद्धबलानि वै " ॥ १ ॥ वाच० ।

दसम-दशम-त्रि० । दशानां पूर्ण , डट् मट् । येन दश सङ्ख्या पूर्यते तस्मिन्, आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० । पञ्चा० ।

दसमभत्तिय-दशमभक्तिक-पुं० । दिनचतुष्टयमुपोषिते, प्रश्न० ३ सव० द्वार ।

दसमी-दशमी-स्त्री० । ङीप् । सा च "शताऽऽयुर्वै पुरुष." इति श्रुते. पुरुषस्याऽऽयु कालस्य शतसङ्ख्यकतया दशभिर्वि- भाग । नवतेरूर्द्ध्व दशवर्षावच्छिन्ने काले पुरुषावस्थाऽऽदौ, वाच० । द० प० । ज्यो० । (' तिहि ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२३० पृष्ठे दशमीफलान्युक्तानि)

दसमुद्दामंमियग्गहत्थ-दशमुद्रामण्डिताग्रहस्त-पुं० । दशभि- र्मुद्राभिर्मण्डितौ अग्रहस्तौ येषा तेषु, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

दसमुद्दियाणंतय-दशमुद्रिकानन्तक-न० । हस्ताङ्गुलीमुद्रिका- दशके, भ० ६ श० ३३ उ० ।

दसरत्तट्ठिइवडिया-दशरात्रस्थितिपतिता-स्त्री० । कुलक्रमादाग ते पुत्रजन्मानुष्ठाने, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

दसरह-दशरथ-पुं० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षेऽस्यामेवोत्सर्पिण्यां जातेऽष्टमस्य वासुदेवस्य पितरि, स्था० ९ ठा० । आव० । ति० । स० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते नवमे कुलकरे, स्था० १० ठा० । स० ।

दसविह-दशविध-त्रि० । दशप्रकारके, प्रश्न० ३ सव० द्वार ।

दसविहकप्प-दशविधकल्प-पुं० । कल्पविकल्पाऽऽदिके दश- प्रकारे कल्पे, प० भा० । (दशविधकल्पा 'कप्प' शब्दे तृतीय- भागे २२९ पृष्ठे उक्ता.)

दसवेयालिय-दशवैकालिक-न० । विकालेनापराह्णलक्षणेन नि- र्वृत्त वैकालिकम्, दशाध्ययननिर्माण च तद्वैकालिक च मध्यप- दलोपाद्दशवैकालिकम । पा० । न० । शय्यम्भवसूरिकृते स्व- नामख्याते श्रुतग्रन्थे, अस्य दशवैकालिकस्यानुयोग । तत्रानु- योगव्याख्या स्वस्थाने निरवशेषोक्ता ।

इह तु-

एयाइँ परूवेउं, कप्पे वण्णियगुणेण गुरुणा उ ।
अणुओगो दसवेया-लियस्स विहिणा कहेयव्वो ॥ ६ ॥

एतानि निक्षेपाऽऽदिद्वाराणि (' अणुओग ' शब्दे) प्ररूप्य व्याख्याय कल्पे वर्णितगुणेन गुरुणा, षट्त्रिंशद्गुणसमन्वि- तेनेत्यर्थ. । अनुयोगो दशवैकालिकस्य, विधिना प्रवचनोक्तेन कथयितव्य आख्यातव्य । इति गाथाऽर्थ. ॥ ६ ॥ सम्प्रत्यजा- नानः शिष्य पृच्छति-यदि दशकालिकस्यानुयोग., ततस्तद्- शकालिक भदन्त ! किमङ्गमङ्गानि, श्रुतस्कन्ध श्रुतस्कन्धा', अ- ध्ययनम्, अध्ययनानि, उद्देशक उद्देशका इत्यष्टौ प्रश्ना' । एतेषां मध्ये त्रयो विकल्पा खलु प्रयुज्यन्ते, तद्यथा- दशकालिक, श्रु- तस्कन्ध ,अध्ययनानि,,उद्देशकाश्चेति, यतश्चैयमतो दशाऽऽदीना निक्षेप' कर्तव्य' । तद्यथा- दशानां कालस्य श्रुतस्कन्धस्याध्यय- नस्य, उद्देशकस्य चेति ।

तथा चाऽऽह निर्युक्तिकार.--

दसकालियं ति नामं, संखाए कालओ य निद्देसो ।
दसकालिय सुअखंधं, अज्झयणुद्देस निक्खिविउं ॥ ७ ॥

दशकालिक प्राग्निरूपितशब्दार्थम, इति एतद्भूत, यन्नाम अभि- धानम् । इद किम ? , सङ्ख्यान संख्या, तया, कालतश्च कालेन चाय निर्देश -निर्देशन निर्देश., विशेषाभिधानमित्यर्थ. । अस्य च निबन्धन विशेषेण वक्ष्याम. " मणग पडुच्च " इ- त्यादिना ग्रन्थेन । यतश्चैवमत.-(दसकालिय ति) कालेन नि- र्वृत्त कालिक, दशशब्दस्य कालशब्दस्य च निक्षेपः । निर्वृत्ता- र्थस्तु निक्षेप । तथा श्रुतस्कन्धम्, तथाऽध्ययनमुद्देश तदेकदेश- भूतम । किम् ? । निक्षेप्तुमनुयोगोऽस्य कर्त्तव्य इति गाथाऽर्थ. । दश०,१ अ० । (दशशब्दस्य निक्षेप ' दस ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४७६ पृष्ठे गत) (कालशब्दस्य च ' काल ' शब्दे तृतीयभागे ४७० पृष्ठादारभ्य विशेषो द्रष्टव्यः)

इह पुनर्दिवसप्रमाणकालेनाऽधिकार , तत्राऽपि तृतीयपौ- रुष्या, तत्राऽपि बह्वतिक्रान्तयेति । आह-यदुक्तम्-" पगयं तु भावेण ति," तत्कथ न विरुध्यत इति ? । उच्यते-क्षायोपशमि- कभावकाले शय्यम्भवेन निर्व्यूढ, प्रमाणकाले चोक्तलक्षणमित्य- विरोध. । अथवा-प्रमाणकालोऽपि भावकाल एव , तस्याऽ- द्धाकालस्वरूपत्वात्, तस्य च भावत्वादिति ।

तथा चाऽऽह निर्युक्तिकार -

सामाइयअणुकमओ, वन्नेउं विगयपोरसीए उ ।
निज्जूढं किर सिज्ज-भवेण दसकालियं तेणं ॥ १२ ॥

सामायिकमावश्यकप्रथमाध्ययन, तस्यानुक्रम. परिपाटीवि- शेष , सामायिके वाऽनुक्रम सामायिकानुक्रम , ततः सामायि- कानुक्रमत' सामायिकानुक्रमेण, वर्णयितुम्, अनन्तरोपन्यस्त- गाथाद्वाराणीति प्रक्रमाद्गम्यते । विगतपौरुष्यामेव,तुशब्दस्याऽव- धारणार्थत्वाद्, निर्व्यूढ पूर्वगताद्धृत्य विरचितम् । किलशब्दः परोक्षाऽऽप्ताऽऽगमवादसंसूचक' । शय्यम्भवेन चतुर्दशपूर्वविदा,द- शकालिक प्राग्निरूपिताक्षरार्थं,तेन कारणेनोच्यत इति गाथार्थ ॥ १२ ॥ श्रुतस्कन्धयोश्च निक्षेपश्चतुर्विधो द्रष्टव्य , यथाऽनुयोग- द्वारेषु, स्थानाशून्यार्थं किञ्चिदुच्यते-इह नोआगमत' ज्ञशरी- रभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यश्रुत पुस्तकपत्रन्यस्तम । अथवा-

सूत्रमण्मलाऽऽदि । भावश्रुतं त्वागमतो ज्ञाता उपयुक्त । नोआगमतस्त्विदमेव दशकालिकं,नोशब्दस्य देशवचनत्वात् । एव नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यश्रुतस्कन्ध सचेतनाऽऽदिः। तत्र सचित्तो द्विपदाऽऽदि'। अचित्तो द्विप्रदेशिकाऽऽदि'। मिश्र. सेनाऽऽदिर्देशाऽऽदिरिति । तथा-भावस्कन्धस्त्वागमतस्तदर्थोपयोगपरिणाम एव । नोआगमतस्तु दशकालिकश्रुतस्कन्ध एवेति, नोशब्दस्य देशवचनत्वादिति।इदानीमध्ययनोद्देशकन्थासप्रस्ताव । त चानुयोगद्वारक्रमाऽऽयात प्रत्यध्ययन यथासम्भवमोघनिष्पन्नं निक्षेपे लाघवार्थं वक्ष्याम इति । ततश्च यदुक्तम्- "दसकालियसुयखध, अज्झयणुद्देस णिक्खिविउ"(६) अनुयोगोऽस्य कर्त्तव्य इति तद्दशत सपादितमिति ।

साम्प्रतं प्रस्तुतशास्त्रसमुत्थानवक्तव्यताऽभिधित्सयाऽऽह-

जेण व जं व पडुच्चा, जत्तो जावंति जह य ते ठविया ।
सो तं च तओ ताणि य, तहा य कमसो कहेयव्वं ॥ १३ ॥

येन वाऽऽचार्येण,यद्वा वस्तु,प्रतीत्याङ्गीकृत्य,यतश्चाऽऽत्मप्रवादाऽऽदिपूर्वतो,यावन्ति वाऽध्ययनानि,यथा च येन प्रकारेण,तान्यध्ययनानि,स्थापितानि न्यस्तानि,स चाऽऽचार्यः, तच्च वस्तु,ततस्तस्मात्पूर्वात्,तानि चाध्ययनानि, तथा च तेनैव प्रकारेण, क्रमशः क्रमेणानुपूर्व्या कथयितव्य प्रतिपादयितव्यमिति गाथासमासार्थं । अवयवार्थं तु प्रतिद्वार नियुक्तिकार एव यथाऽवसर वक्ष्यति ।

तत्राधिकृतशास्त्रकर्तुं स्तवद्वारेणाऽऽद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाऽऽह-

सेज्जंभवं गणहरं, जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं ।
मणगपियरं दसका-लियस्स निज्जूहगं वंदे ॥ १४ ॥

सेज्जंभवमिति नाम, गणधरमिति अनुत्तरज्ञानदर्शनाऽऽदिधर्मगण धारयतीति गणधरस्तम्, जिनप्रतिमादर्शनेन प्रतिबुद्ध, तत्र रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाऽऽदिजेतृत्वाज्जिनः, तस्य प्रतिमा सद्भावस्थापनारूपा, तस्याः दर्शनमिति समासः । तेन हेतुभूतेन, प्रतिबुद्ध मिथ्यात्वाज्ञाननिद्राऽपगमेन सम्यक्त्वविकाश प्राप्तम् । मनकपितरमिति मनकाऽऽख्यापत्यजनकम्,दशकालिकस्य प्रागुक्तनिरूपिताक्षरार्थस्य, निर्यूहक पूर्वगतोद्धृतार्थविरचनाकर्तारं, वन्दे स्तौमि । इति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्- " एत्थ वद्धमाणसामिस्स चरमतित्थगरस्स सीसो तित्थसामी सुहम्मो नाम गणधरो आसि । तस्स वि जंबू णामो, तस्स वि य पभवो त्ति । तस्सऽन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तम्मि चिंता समुप्पन्ना-को मे गणधरो होज्ज त्ति'। अप्पणो गणे य संघे य सव्वओ उवओगो कतो, ण दीसइ कोइ अव्वोच्छित्तिकरो। ताहे गारत्थेसु उवउत्तो, उवओगे कए रायगिहे सेज्जंभवं माहणं जण्ण जयमाणं पासति । ताहे रायगिहं नगरं आगंतूण संघाडय-वावारेति जण्णवाडं गंतु भिक्खट्ठा धम्मं लाहेह, तत्थ तुब्भे अतित्था विजिज्जिहिह ताहे तुब्भे भणिज्जह-"अहो कष्ट तत्त्व न ज्ञायते इति ।" तओ गया साहू, अतित्था विधाय तेहिं भणित-"अहो कष्ट तत्त्व न ज्ञायते । " तेण य सेज्जंभवेण दारमूले ठिएण त वयणं सुयं । ताहे सो विचिंतेइ-एते उवसता तवस्सिणो, असच्च ण वयंति त्ति काउ अज्झावगसगासं गतु भणति-किं तत्त ?। सो भणति-वेदा तत्त । ताहे सो असिं कड्ढिऊण भणति-सीस ते छिंदामि, जइ मे तुम तत्तं न कहेसि । तओ अज्झावओ भणति-पुत्ता ! मम समये भणियमेय वेदत्थे, पर सीसच्छेदे कहियव्व त्ति सपय कहयामि ज एत्थ तत्त, एतस्स जूवस्स हेट्ठा सव्वरयणमई पडिमा अरहओ सा धुव्व त्ति आरिहओ धम्मो तत्तं। ताहे सो तस्स पाएसु पडितो । सो य जण्णवामओ उवक्खेविउ तस्स चेव दिण्णो । ताहे सो गतूण ते साहू गवेसमाणे गओ आयरियसगासं । आयरिय वंदित्ता साहुणो य भणति-मम धम्म कहेह । ताहे आयरिया उवउत्ता-जहा इमो सो त्ति, ताहे आयरिएहिं साहुधम्मो कहिओ । संबुद्धो पव्वइओ सो चउद्दसपुव्वी जाओ । जदा य सो पव्वइओ तया य तस्स गुव्विणी महिला होत्था । तम्मि य पव्वइए लोगो णियल्लओ त तमस्सति-जहा तरुणाए भत्ता पव्वइतो, अपुत्ताए अवि अत्थि तव, किं वि पोट्टे त्ति पुच्छति ?। सा भणतिउवलक्खेमि मणग । तओ समएण दारगो जाओ, ताहे णिव्वत्तबारसाहस्स णियल्लगेहिं जम्हा पुच्छिज्जतीए मायाए से भणिओ मणगं ति, तम्हा मणओ से णाम कय ति । जदा सो अट्ठवरिसो जाओ ताहे सो मातर पुच्छति-को मम पिया?। सा भणइ-तव पिया पव्वइओ । ताहे सो दारओ णासिऊण पिउसगास पट्ठिओ । आयरिया य त काल चपाए विहरति । सो वि य दारओ चपामेवाऽऽगतो । आयरिएण य सण्णाभूमि गएण सो दारओ दिट्ठो । दारएण वंदिओ आयरिओ । आयरियस्स य त दारग पेच्छतस्स णेहो जाओ। तस्स वि दारगस्स तहेव । आयरिएहिं पुच्छिय-भो दारग ! कुतो ते आगमण ?। सो दारगो भणति-रायगिहातो । आयरिएण भणियंरायगिहे तुम कस्स पुत्तो, नत्तुओ वा ?। सो भणइ-सेज्जभवो नाम बम्हणो त्ति तस्साहं पुत्तो, सो य किर पव्वइओ । तेहिं भणिय-तुम केण कज्जेण आगओऽसि ?। सो भणइ-अह पि पव्वइस्स। पच्छा सो दारओ भणति-तो भणह, बंभ तुम्हे जाणह?। आयरिया भणति-जाणेमो । तेण भणिय-सो कहिं ति?।ते भणति-सो मम मित्तो एगसरीरब्भूतो, पव्वयाहि तुम मम सगासे । तेण भणिय-एव करेमि । तओ आयरिया आगतु पडिस्सए आलोएति सचित्तो पडुप्पन्नो । सो पव्वइतो । पच्छा आयरिया उवउत्ता केवत्तिय कालं एस जिवइ त्ति । णायं-जाव छम्मासा । ताहे आयरियाणं बुद्धी समुप्पन्ना-इमस्स थोवगं आउं,किं कायव्वं ति ? । त चोद्दसपुव्वी कम्हि वि कारणे समुप्पन्ने णिज्जूहति, दसपुव्वी पुण अपच्छिमो अवस्समेव णिज्जूहति । मम पि इमं कारण समुप्पन्न, तो अहमवि णिज्जूहामि। ताहे आढत्तो निज्जूहिउ। ते य निज्जूहिज्जतो वियाले निज्जूढा थोवावसेसे दिवसे । तेण त दसवेयालिय भणिज्जति।" अनेन च कथानकेन न केवलं येन येस्यस्यैव शास्त्रस्य भावार्थोऽभिहित', किं तु यद्वा प्रतीत्यैतस्यापीति ।

तथा चाऽऽह नियुक्तिकार.-

मणगं पडुच्च सेज्जं-भवेण निज्जूहिया दसऽज्झयणा ।
वेयालियाइ ठविया, तम्हा दसकालियं नामं ॥ १५ ॥

मनक प्रतीत्य मनकाऽऽख्यमपत्यमाश्रित्य,शय्यंभवेनाऽऽचार्येण, निर्यूढानि पूर्वगतादुद्धृत्य विरचितानि, दशाध्ययनानि द्रुमपुष्पिकाऽऽदीनि । (वेयालियाइ ठविय त्ति) विगत. कालो विकाल , विकलन वा विकाल इति । विकाल शकल. खण्डमित्यनर्थान्तरम् । तस्मिन् विकालेऽपराह्णे स्थापितानि न्यस्तानि द्रुमपु-

ष्पिकाऽऽदीन्यध्ययनानि यतः, तस्माद्दशकालिक नाम । व्युत्पत्तिः पूर्ववत् । दशवैकालिक वा विकालेन निर्वृत्तम्, सकालाऽऽदिपाठाच्चातुरर्थिकष्ठक् । "तद्धितेष्वचामादेः" ॥ ७।२।११७॥ इत्यादिवृद्धेर्वैकालिकम् । दशाध्ययननिर्माणं च तद्वैकालिक च दशवैकालिकमिति गाथार्थ ।

एव येन वा यद्वा प्रतीत्येति व्याख्यातम् । इदानीं यतो निर्यूढानीत्येतद्व्याचिख्यासुराह–

आयप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती ।
कम्मप्पवायपुव्वा, पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥१६॥
सच्चप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ ।
अवसेसा निज्जूढा, नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥ १७ ॥
वीओ वि य आएसो, गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ ।
एयं किर निज्जूढं, मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥ १८ ॥

इहाऽऽत्मप्रवादपूर्वं यत्राऽऽत्मनः ससारिमुक्ताऽऽद्यनेकभेदभिन्नस्य प्रवदनमिति, तस्मान्निर्यूढा भवति धर्मप्रज्ञप्तिः, षड्जीवनिकेत्यर्थः । तथा–कर्मप्रवादपूर्वात् । किम् ?। पिण्डस्य तु एषणा त्रिविधा निर्यूढेति वर्त्तते । कर्मप्रवादपूर्वं नाम–यत्र ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मणो निदानाऽऽदिप्रवदनमिति । तस्मात् किम् ?। पिण्डस्यैषणा त्रिविधा गवेषणा–ग्रहणैषणा–ग्रासैषणाभेदभिन्ना । निर्यूढा सा पुनस्तत्राऽमुना सबन्धेन पतति । आधाकर्मोपभोक्ता ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मप्रकृतीर्बध्नाति । उक्त च–"आहाकम्म भुंजमाणे समणे अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ।" इत्यादि । शुद्धपिण्डोपभोक्ता चाशुभाश्च बध्नातीत्यत्र प्रसङ्गेन । प्रकृत प्रस्तुमः । सत्यप्रवादपूर्वाद् निर्यूढा भवति वाक्यशुद्धिस्तु । तत्र सत्यप्रवाद नाम–यत्र जनपदसत्याऽऽदेः प्रवदनमिति । वाक्यशुद्धिर्नाम–सप्तममध्ययनम् । अवशेषाणि प्रथमद्वितीयाऽऽदीनि निर्यूढानि नवमस्यैव प्रत्याख्यानपूर्वस्य तृतीयवस्तुन इति । द्वितीयोऽपि चाऽऽदेश । आदेशो विध्यन्तरम्, गणिपिटकादाचार्यसर्वस्वाद् द्वादशाङ्गादाचाराऽऽदिलक्षणात्, इद दशकालिक, किलेति पूर्ववत्, निर्यूढमिति च । किमर्थम् ? । मनकस्योक्तस्वरूपस्य अनुग्रहार्थमिति गाथात्रयार्थः । एव यत इति व्याख्यातम् ॥ १८ ॥

अधुना यावन्तीत्येतत्प्रतिपाद्यते–

दुमपुप्फियाइया खलु, दस अज्झयणा सभिक्खुयं जाव ।
अहिगारा वि य एत्तो, वोच्छं पत्तेयमेक्केक्के ॥ १९ ॥

तत्र द्रुमपुष्पिकेति प्रथमाध्ययननाम, तदादीनि दशाध्ययनानि । (सभिक्खुय जाव त्ति) स भिक्ष्वध्ययन यावत्, खलुशब्दो विशेषणार्थ । किं विशिनष्टि ?। तदन्ये द्वे चूडे । यावन्तीति व्याख्यातम् । यथा चेत्येतत् पुनरधिकाराभिधानद्वारेणैव च व्याचिख्यासु सबन्धकत्वेनेद गाथादलमाह–अधिकारादपि चातो वक्ष्ये प्रत्येकमेकैकस्मिन्नध्ययने । तत्राध्ययनपरिसमाप्तेर्योऽनुवर्तते सोऽधिकार । इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

पढमे धम्मपससा, सो य इहेव जिणसासणम्मि त्ति ।
बिइए धिइए सक्का, काउं जे एस धम्मो त्ति ॥ २० ॥
तइए आयारकहा, उ खुड्डिया आयसंजमोवाओ ।
तह जीवसंजमो वि य, होइ चउत्थम्मि अज्झयणे ॥२१॥
भिक्खविसोही तवसं–जमस्स गुणकारिया उ पंचमए ।
छट्ठे आयारकहा, महई जोग्गा महयणस्स ॥ २२ ॥

वयणविभत्ती पुण स–त्तमम्मि पणिहाणमट्ठमे भणियं ।
णवमे विणओ दसमे, समाणियं एस भिक्खु त्ति ॥२३॥

प्रथमेऽध्ययने कोऽर्थाधिकार ?, इत्यत आह–धर्मप्रशसा । दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मान धारयतीति धर्मः, तस्य प्रशसा स्तव , सकलपुरुषार्थानामेव धर्म प्रधानमित्येवरूपा । तथाऽन्यैरप्युक्तम्–" धनदोऽर्थार्थिना प्रोक्त, कामिनां सर्वकामद । धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधक ॥ १ ॥ " इत्यादि । स चात्रैव जिनशासने धर्मो, नाऽन्यत्र, इहैव निरवद्यवृत्तिसद्भावात् । एतच्चोत्तरत्र न्यक्षेण वक्ष्यामः । धर्माभ्युपगमे च सत्यपि मा भूदभिनवप्रव्रजितस्याधृतेः समोह इत्यनस्तन्निराकरणार्थाधिकारवदेव द्वितीयाध्ययनम । आह च–द्वितीयेऽध्ययने अयमर्थाधिकार । धृत्या हेतुभूतया शक्यते कर्तुम् । 'जे' इति पूरणार्थो निपातः, एष जैनो धर्म इति । उक्त च–" जस्स धिई तस्स तवो, जस्स तवो तस्स सा गती सुलभा । जे अधितिमतपुरिसा, तवो वि खलु दुल्लभो तेसिं ॥१॥ " सा पुनर्धृतिराचारे कार्या, न त्वनाचारे, इत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव तृतीयाध्ययनम् । आह च–तृतीयेऽध्ययने कोऽर्थाधिकार ?, इत्यत आह–आचारगोचरा कथा आचारकथा, सा चेहैवाणुविस्तरभेदात् । यत आह–क्षुल्लिका लघ्वी, सा च आत्मसंजमोपायः । संयमनं संयमः, आत्मनः सयम आत्मसयमस्तदुपायः । उक्तं च–" तस्याऽऽत्मा संयमे यो हि, सदाचारे रत सदा । स एव धृतिमान् धर्म–स्तस्यैव च जिनोदितः ॥१॥ " इति । स चाऽऽचार षड्जीवनिकायगोचरः प्राय इत्यतश्चतुर्थमध्ययनम् । अथवाऽऽत्मसयमस्तदन्यजीवपरिपालनमेव तत्त्वत , इत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव चतुर्थमध्ययनम् । आह च–तथा जीवसंजमोऽपि भवति चतुर्थेऽध्ययनेऽर्थाधिकार इति । अपिशब्दादात्मसयमोऽपि तद्भावेनैव वर्त्तते । उक्तं च–" छसु जीवनिकाएसु, जे बुहे सजए सदा । से चेव होति विष्णेये, परमत्थेण सजए ॥१॥ " इत्यादि । एवमेव धर्म , स च देहे स्वस्थे सति पाल्यते, स चाऽऽहारमन्तरेण प्रायः स्वस्थो न भवति, स च सावद्येतरभेद इत्यनवद्यो ग्राह्य इत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव पञ्चममध्ययनमिति । आह च–भिक्षाविशोधिस्तपःसयमस्य गुणकारिकैव पञ्चमेऽध्ययनेऽर्थाधिकार इति । तत्र भिक्षणं भिक्षा, तस्या विशोधिः सावद्यपरिहारेणेतरस्वरूपकथनमित्यर्थः, तपःप्रधानः संयमस्तपःसयम , तस्य गुणकारिकैवेय वर्त्तते इति । उक्त च–" से सजते समक्खाते, निरवज्जाहार जे विऊ । धम्मकायट्ठिते सम्मं, सुहजोगाण साहए ॥१॥" इत्यादि । गोचरप्रविष्टेन च सता स्वाचारं पृष्टेन तद्विदाऽपि न महाजनसमक्ष तत्रैव विस्तरत कथयितव्यः, अपि तु आलये । गुरवो वा कथयन्तीति वक्तव्यम् । अतस्तदर्थाधिकारवदेव षष्ठमध्ययनमिति । आह च–षष्ठेऽध्ययनेऽर्थाधिकारः आचारकथा । साऽपि महती, न क्षुल्लिका, योग्या उचिता, महाजनस्य विशिष्टपरिषद इत्यर्थ । वक्ष्यति च–" गोयरग्गपविट्ठो उ, न निसिज्जइ कत्थइ । कहं च ण पबंधिज्जा, चिट्ठित्ता णेव सजए ॥१॥" इत्यादि । आलयगतेनापि तेन, गुरुणा वा वचनदोषगुणाभिज्ञेन निरवद्यवचसा कथयितव्यमिति । अतस्तदर्थाधिकारवदेव सप्तममध्ययनमिति । आह च–"वयणविभत्ती" इत्यादि । वचनस्य विभक्तिर्वचनविभक्ति , विभजन विप्रकिरेर्थप्रभृतमनवद्यम्, इत्थभूत च सावद्यमित्यर्थः, पुन शब्दः शेषाध्ययनार्थाधिकारेभ्य अस्याधिकृतार्थाधिकारस्य विशेषणार्थ

इति सप्तमेऽध्ययनेऽर्थाधिकार इति । उक्त च-" सावज्जऽणवज्जाण, वयणाण जो न याणति विसेसं । वोत्तुं पि तस्स न खम, किमंग ! पुण देसण काउं ॥ १ ॥ " इत्यादि । तच्च निरवद्य वच. स्वाचारे प्रणिहितस्य भवतीत्यतस्तदर्थाधिकारवदेवाष्टममध्ययनमिति । आह च-प्रणिधानमष्टमेऽध्ययनेऽर्थाधिकारत्वेन भणितमुक्तम । प्रणिधान नाम-विशिष्टश्चेतोधर्म इति । उक्त च-" पणिहाणरहियस्सेह, निरवज्ज पि भासिय । सावज्जतुल्ल विन्नेय, मज्झत्थेणेह सुहुम ॥१॥ " इत्यादि । आचारप्रणिहितश्च यथोचितविनयसपन्न एव भवतीत्यतस्तदर्थाधिकारवदेव नवममध्ययनमिति । आह च-नवमेऽध्ययने विनयोऽर्थाधिकार इति । उक्त च-" आयारपणिहाणम्मि, से सम्म वट्टती बुहे । णाणादीण विणीते जे, मोक्खट्ठा णिव्विगिंछिए ॥ १ ॥ " इत्यादि । एतेष्वेव नवस्वध्ययनार्थेषु यो व्यवस्थित. स सम्यग्भिक्षुरित्यनेन सबन्धेन स भिक्ष्वध्ययनमिति । आह च-दशमेऽध्ययने समाप्ति नीतमिद साधुक्रियाऽभिधायक शास्त्रम् । एतत्क्रियासमन्वित एव भिक्षुर्भवति । अत आह-एष भिक्षुरिति गाथाचतुष्टयार्थः ।

स एवगुणयुक्तोऽपि भिक्षु कदाचित् कर्मपरतन्त्रत्वात्कर्मणश्च बलवत्त्वात्सीदेव, ततस्तस्य स्थिरीकरण कर्तव्यमतस्तदर्थाधिकारवदेव चूडाद्वयमित्याह-

दो अज्झयणा चूलिय, विसीययंते थिरीकरणमेगं ।
बिइए विवित्तचरिया, असीयणगुणाइरेगफला ॥ २४ ॥

द्वे अध्ययने । किम् ? । चूडा चूडेव चूडा, तत्र प्रमादवशात्किसीदति सति साधौ सजमे स्थिरीकरणमेकं प्रथमम्, स्थिरीकरणफलमित्यर्थ. । तथा च तत्रावधावप्रेक्षिण साधोर्दु-प्रजीवित्वे नरकपाताऽऽदयो दोषा वर्ण्यन्ते इति । तथा च द्वितीयेऽध्ययने विविक्तचर्या वर्ण्यते । किंभूता ?, असीदनगुणातिरेकफला, तत्र विविक्तचर्यैकान्तचर्या द्रव्यक्षेत्रकालभावेष्वसबद्धता, उपलक्षण चैषा नियतचर्याऽऽदीनामिति । असीदनगुणातिरेक' फल यस्या सा तथाविधेति गाथार्थ. ॥ २४ ॥

दसकालियस्स एसो, पिंडत्थो वण्णिओ समासेणं ।
एत्तो एक्केक्कं पुण, अज्झयणं कित्तइस्सामि ॥ २५ ॥

दशकालिकस्य प्राङ्निरूपितशब्दार्थस्य, एपोऽनन्तरोदित , पिण्डार्थ सामान्यार्थ', वर्णित प्रतिपादित , समासेन सक्षेपेण, अत ऊर्ध्वं पुनरेकैकमध्ययन, कीर्तयिष्यामि प्रतिपादयिष्यामीति,पुन शब्दस्य व्यवहित उपन्यास । इति गाथार्थ.।२५। दश० १ अ० ।

अथ शास्त्रकर्तुः स्तवमाह-

सिज्जंभव गणहरं, जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं ।
मणगपिअरं दसका-लिअस्स निज्जूहगं वंदे ॥ १ ॥

शय्यंभवम्,अनुत्तरज्ञानाऽऽदिधर्मगण धारयतीति गणधरस्तं, जिनप्रतिमादर्शनेन प्रतिबुद्ध मिथ्यात्वाविरत्यज्ञाननिद्राऽपगमेन सम्यक्त्वविकाश प्राप्त,निर्यूहक पूर्वगतोद्धृतार्थविरचनाकर्तार, मनकपितर दशवैकालिककृत वन्दे स्तौमीति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथानकादवसेय -श्रीसुधर्मशिष्यो हि जम्बू , तस्य श्रीप्रभव , तस्य शय्यम्भव ॥ १ ॥

मणगं पडुच्च सिज्जं-भवेण निज्जूहिआ दसज्झयणा ।
वेआलिआइ ठविआ, तम्हा दसकालिअं नाम ॥ २ ॥

मनकं प्रतीत्य मनकाऽऽख्यमपत्यमाश्रित्य शय्यंभवेन निर्यूढानि पूर्वगतादुद्धृत्य विरचितानि, दश अध्ययनानि द्रुमपुष्पिकाऽऽदीनि सभिक्ष्वध्ययनप्रान्तानि । विगत कालो विकाल , विकलन वा विकाल , शकल. खण्डश्चेति । तस्मिन् विकाले निर्वृत्त दशाध्ययननिर्माण च इद वैकालिकम ॥ २ ॥

य प्रतीत्य कृतं तद्वक्तव्यतामाह-

छहिँ मासेहिँ अहीयं, अज्झयणमिणं तु अज्जमणगेण ।
छम्मासा परिआओ, अह कालगओ समाहीए ॥ ३ ॥

षड्भिर्मासैरधीत पठितमध्ययनमिद तु अधीयत इत्यध्ययनम । इदमेव दशवैकालिकाऽऽख्य शास्त्रम् । केनाऽधीतमित्याह-आर्यमणकेन भावाऽऽराधनयोगात् आराद् यात. सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्य., आर्यश्चासौ मणकश्चेति विग्रह । तेन, षण्मासा' पर्याय इति । तस्याऽऽर्यमणकस्य षण्मासा एव प्रव्रज्याकाल , अल्पजीवितत्वात् । अत एवाऽऽह-अथ कालगत समाधिनेति । यथोक्तशास्त्राध्ययनपर्यायानन्तर कालगत आगमोक्तेन विधिना मृत , समाधिना शुभलेश्याध्यानयोगेनेति गाथार्थ ॥ ३ ॥

अत्र चैव वृद्धवाद'-यथा तेनैतावता श्रुतेनाऽऽराधितमेवमन्येऽप्येतदध्ययनानुष्ठानत आराधका भवन्त्विति ।

आणंदअंसुपायं, कासी सिज्जंभवा तहिं थेरा ।
जसभद्दस्स य पुच्छा, कहणा य विआलणा संघे ॥ ४ ॥

आनन्दाश्रुपातम्-अहो आराधितमनेनेति हर्षाश्रुमोक्षणमकार्षु कृतवन्त शय्यंभवा प्राग्व्यावर्णितस्वरूपाः, तत्र तस्मिन् काले स्थविरा. श्रुतपर्यायवृद्धा प्रवचनगुरव , पूजार्थं बहुवचनमिति । यशोभद्रस्य च शय्यंभवप्रधानशिष्यस्य, गुरुश्रुपातदर्शनेन किमेतदाश्चर्यमिति विस्मितस्य सत पृच्छा-भगवन् ! किमेतदकृतपूर्वमित्येवभूता ? । कथना च भगवतः संसारस्नेह ईदृश सुतो ममाऽयमित्येवरूपा । चशब्दात्पश्चात्तापश्च यशोभद्राऽऽदीनाम् । अहो ! गुराविव गुरुपुत्रके वर्तितव्यमिति, न तत् कृतमस्माभिरित्येवभूतप्रतिबन्धदोषपरिहारार्थम् । न मया कथित नात्र भवतां दोष इति गुरुपरिसस्थापन च । विचारणा सङ्घ इति । शय्यंभवेनाल्पायुषमेनमवेत्य मयेद शास्त्र निर्यूढ किमत्र युक्तमिति निवेदिते विचारणा सङ्घे-कालह्रासदोषात् प्रभूतसत्त्वानामिदमेवोपकारकमतस्तिष्ठत्वेतदित्येवभूता स्थापना चेति गाथाऽर्थ' । दश० २ चू० । वीरमोक्षात् " वासाणं सहस्सेहिं, वरिससहस्सेहिँ नवहिँ वोच्छेदो । दसवेयालियसुत्तस्स दिन्नसाहुम्मि बोद्धव्वो ॥ ७१९ ॥ " ति० ।

दसवेयालियणिज्जुत्ति-दशवैकालिकनिर्युक्ति-स्त्री० । दशवैकालिकस्य भद्रबाहुस्वामिरचितनिर्युक्तिग्रन्थे, दश० ।

" जयति विजितान्यतेजा , सुराऽसुराधीशसेवित श्रीमान् ।
विमलस्त्रासविरहित-स्त्रिलोकचिन्तामणिर्वीर' ॥ १ ॥ "

इहार्थतोऽर्हत्प्रणीतस्य सूत्रतो गणधरोपनिबद्धपूर्वगतोद्धृतस्य शारीरमानसाऽऽदिकटुकदु खसन्तानविनाशहेतोर्दशकालिकाभिधानस्य शास्त्रस्यातिसूक्ष्ममहार्थगोचरस्य व्याख्या प्रस्तूयते । तत्र प्रस्तुतार्थप्रविकटविघ्नैरेष्टदेवतानमस्कारद्वारेणाऽशेषविघ्नविनायकाऽपोहसमर्थां परममङ्गलाऽऽलयामिमा प्रतिज्ञागाथामाह निर्युक्तिकारः-

सिद्धिगइमुवगयाणं, कम्मविसुद्धाण सव्वसिद्धाणं ।

नमिऊणं दसकालिय–णिज्जुत्तिं कित्तइस्सामि ॥ १ ॥

सिद्धिगतिमुपगतेभ्यो नत्वा दशकालिकनिर्युक्तिं कीर्त्तयिष्यामीति क्रिया। तत्र सिद्ध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्त्यस्यामिति सिद्धिर्लोकाग्रक्षेत्रलक्षणा। तथा चोक्तम्–" इह बोंदिं चइत्ता णं, तत्थ गतूण सिज्झइ । (औ० २ गा०) " गम्यत इति गतिः, कर्मसाधनम्। सिद्धिरेव गम्यमानत्वाद्गतिः सिद्धिगतिः, तामुप सामीप्येन गताः प्राप्तास्तेभ्यः सकललोकाग्रक्षेत्रप्राप्तेभ्य इत्यर्थः। प्राकृतशैल्या चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। यथोक्तम्–" छट्ठीविभत्तीए भण्णइ चउत्थी। " तत्रैकेन्द्रियाः पृथिव्यादयः सकर्मका अपि तदुपगमनमात्रमधिकृत्य यथोक्तस्वरूपा भवन्त्यत आह कर्मविशुद्धेभ्यः। क्रियत इति कर्म ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिलक्षणं, तेन विशुद्धा वियुक्ताः कर्मविशुद्धाः, कर्मकलङ्करहिता इत्यर्थः। तेभ्यः कर्मविशुद्धेभ्यः। आह–एवं तर्हि वक्तव्यं न सिद्धिगतिमुपगतेभ्योऽव्यभिचारात्। तथाहि–कर्मविशुद्धाः सिद्धिगतिमुपगता एव भवन्ति। न। आविर्भूतक्षेत्रविभागोपगतसिद्धप्रतिपादनपरदुर्नयनिरासार्थत्वादस्य। तथा चाहुरेके–" रागाऽऽदिवासनामुक्तं, चित्तमेव निरामयम्। सदा नियतदेशस्थ, सिद्ध इत्यभिधीयते " ॥ १ ॥ इत्यलं प्रसङ्गेन। दश० १ अ०।

दससण्णाविक्खंभण–दशसंज्ञाविष्कम्भण–न०। दश च ताः संज्ञाश्च तासां विष्कम्भणं निरोधस्तस्मिन्, पो० ५ विव०।

दससमयट्ठिइय–दशसमयस्थितिक–त्रि०। दश समयाः स्थितिर्येषां तेषु, स्था० १० ठा०।

दससय–दशशत–न०। सहस्रसङ्ख्याधायाम, स्था० १० ठा०।

दससयसहस्स–दशशतसहस्र–न०। दशलक्षाऽऽत्मिकायां सङ्ख्यायाम्, अनु०।

दससहस्स–दशसहस्र–न०। सङ्ख्याभेदे, अनु०।

दसहा–दशधा–अव्य०। दशविधे, उत्त० ३३ अ०। वाच०।

दसहासामायारी–दशधासामाचारी–स्त्री०। दशधेत्याख्याऽभिधानं यस्याः सा। दशप्रकारलक्षणायामिच्छाकाराऽऽदिसामाचार्याम्, ध० ३ अधि०। (ताश्च दश ' सामायारी ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

दसा–दशा–स्त्री०। दन्–श–अङ्, निन्लोपः। चरितगतिसिद्धिगमनलक्षणायामवस्थायाम्, न०। अनुभागेन युक्तो विभागो दशा। नि० चू० ११ उ०। वर्षशताऽऽयुष्कापेक्षया वर्षदशकप्रमाणायां कालकृतायां जन्तववस्थायाम्, दश०।

साम्प्रतं प्रस्तुतोपयोगित्वात्कालस्य कालदशकद्वारे विशेषार्थप्रतिपिपादयिषयेदमाह–

बाला किड्डा मंदा, बला य पन्ना य हायणि पवंचा ।
पब्भार मम्मुही सा–यणी य दसमा उ कालदसा ॥१०॥

बाला क्रीडा च मन्दा च बला च प्रज्ञा च हायिनी ईषत्प्रपञ्चा प्राग्भारा मृन्मुखी शायिनी। तथाहि एता दश दशा जन्तववस्थाविशेषलक्षणा भवन्ति।

आसां च स्वरूपमिदमुक्तं पूर्वमुनिभिः–

" जातमित्तस्स जंतुस्स, जा सा पढमिया दसा।
ण तत्थ सुहदुक्खाइं, बहु जाणंति बालया ॥ १ ॥
बितियं च दसं पत्तो, णाणाकिड्डाहिं किड्डइ।
न तत्थ कामभोगेहिं, तिव्वा उप्पज्जई मई ॥ २ ॥
ततियं च दसं पत्तो, पंचकामगुणे नरो।
समत्थो भुंजिउं भोए, जइ से अत्थि घरे बहू ॥ ३ ॥
चउत्थी उ बला नाम, जं नरो दसमस्सिओ।
समत्थो बलं दरिसिउं, जइ होइ निरुवद्दवो ॥ ४ ॥
पंचमिं तु दसं पत्तो, आणुपुव्वीए जो नरो।
इच्छियत्थं विचिंतेति, कुडुंबं वाऽभिकंखति ॥ ५ ॥
छट्ठी उ हायणी नाम, जं नरो दसमस्सिओ।
विरज्जइ य कामेसु, इंदिएसु य हायति ॥ ६ ॥
सत्तमिं च दसं पत्तो, आणुपुव्वीइ जो नरो।
निट्ठुहइ चिक्कणं खेलं, खासति य अभिक्खणं ॥ ७ ॥
संकुचियवलीचम्मो, संपत्तो अट्ठमिं दसं।
णारीणमणभिप्पेओ, जराए परिणामिओ ॥ ८ ॥
णवमी मम्मुही नामं, जं नरो दसमस्सिओ।
जराघरे विणस्संतो, जीवो वसइ अकामओ ॥ ९ ॥
हीणभिन्नसरो दीणो, विवरीओ विचित्तओ।
दुब्बलो दुक्खिओ सुवइ, संपत्तो दसमिं दसं ॥ १० ॥ "

दश० १ अ०। स्था०। न०। नि० चू०। दीपवर्त्याम्, " अपेक्षन्ते न च स्नेहं, न पात्रं न दशाऽन्तरम्। परोपकारनिरताः, मणिदीपा इवोत्तमाः ॥१॥ " इत्युद्भटः। चित्ते कामकृते विरहिणां नेत्ररागाऽऽद्यवस्थादशके, वाच०। वस्त्राञ्चले, वाच०। दशैव दशसङ्ख्या एव दशा दशाधिकाराभिधायकत्वाद्दशा इति बहुवचनान्तं स्त्रीलिङ्गम्। शास्त्रस्याभिधाने, पा०। दशाध्ययनप्रतिबद्धप्रथमवर्गयोगाद्दशाग्रन्थविशेषे, अणु० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०।

दस दसाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–कम्मविवागदसाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, आयारदसाओ, पण्हावागरणदसाओ, बंधदसाओ, दोगिद्धिदसाओ, दीहदसाओ, संखेवियदसाओ ॥

(दस त्ति) दशसंख्याः (दसाओ त्ति) दशाधिकाराभिधायकत्वाद्दशा इति बहुवचनान्तं स्त्रीलिङ्गं शास्त्रस्याभिधानमिति। कर्मणोऽशुभस्य विपाकः फलं कर्मविपाकः, तत्प्रतिपादिका दशाध्ययनाऽऽत्मकत्वाद् दशाः कर्मविपाकदशाः विपाकश्रुताऽऽख्यस्यैकादशाङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धो, द्वितीयश्रुतस्कन्धोऽप्यस्य दशाध्ययनाऽऽत्मक एव। न चासाविहाभिमतः, वक्ष्यमाणत्वादिति। तथा–साधूनुपासते सेवन्त इत्युपासकाः श्रावकाः, तद्गतक्रियाकलापप्रतिबद्धा दशा दशाध्ययनोपलक्षिता उपासकदशाः सप्तममङ्गमिति। तथा–अन्तो विनाशः, स च कर्मणस्तत्फलभूतस्य वा संसारस्य कृतो यैस्तेऽन्तकृताः, ते च तीर्थकराऽऽदयः, तेषां दशा अन्तकृद्दशाः, इह चाऽष्टमाङ्गस्य प्रथमवर्गे दशाध्ययनानीति तत्संख्ययोपलक्षितत्वादन्तकृद्दशा इत्यभिधानेनाऽष्टममङ्गमभिहितम्। तथोत्तरः प्रधानो नास्योत्तरो विद्यत इत्यनुत्तर उपपतनमुपपातो जन्मेत्यर्थोऽनुत्तरश्चासावुपपातश्चेत्यनुत्तरोपपातः, सोऽस्ति येषां तेऽनुत्तरोपपातिकाः सर्वार्थसिद्धाऽऽदिविमानपञ्चकोपपातिन इत्यर्थः, तद्वक्तव्यता प्रतिबद्धा दशा दशाध्ययनोपलक्षिता अनुत्तरोपपातिकदशा

नवममङ्गमिति । तथा-चरणमाचारो ज्ञानाऽऽदिविषयः पञ्चधा तस्यानाचारप्रतिपादनपरा दशा दशाध्ययनाऽऽत्मिका आचारदशा दशाश्रुतस्कन्ध इति या रूढा, तथा प्रश्नश्च पृच्छा, व्याकरणानि च निर्वचनानि प्रश्नव्याकरणानि, तत्प्रतिपादिका दशा दशाध्ययनाऽऽत्मिका, प्रश्नव्याकरणदशा दशममङ्गमिति। तथा-बन्धदशा द्विगृद्धिदशा दीर्घदशा सङ्क्षेपिकदशाश्चास्माकमप्रतीता इति । स्था० १० ठा० । ध० । पा० । कल्प० । "दस उद्देसणकाला, दसाण कप्पस्स हुंति छच्चेव । दस चेव य ववहार-स्स हुंति सव्वे वि छव्वीसं ॥४८॥" आ० चू० १ अ० । "छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं ।" आव० ४ अ० । उद्योतिषोक्तेः नक्षत्रानुसारेण सूर्याऽऽदिग्रहाणां स्वाभिस्येन भोगावकाशे, पाइ०।

दसार-दशार्ह-पुं० । " दशार्हे " ॥८।२।८५॥ इति हस्य लुक् । प्रा० २ पाद । हरिवंशकुलोद्भवेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आ० म० । समुद्रविजयाऽऽदिवसुदेवान्ता दश दशारा । ज्ञा० । अन्त० । समवभावमा वासुदेवे, स्था० २ ठा० ३ उ० । वासुदेवकुलोत्पन्नेषु, स० । यद्यपि धनुर्थाऽध्ययने दशाराणां च सुस्थता उक्ता, सा चेदानीं नोपलभ्यते, दशवृत्तौ व्युच्छिन्नत्वात् । स्था० १० ठा० । बलदेवे, द्वा० म० १ श० २ स्कन्द० । स्था० चू० । " दसण्ह दसाराण बलदेवपामोक्खाण ।" नि० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ० ।

दसारगंडिया-दशार्हगण्डिका-स्त्री० । दशार्हवक्तव्यताधिकारानुगतासु वाक्यपद्धतिषु, यत्र दशार्हाणां पूर्वभवाऽऽदयभिधीयते । स० ।

दसारचक्क-दशार्हचक्र-न० । यादवसमूहे, उत्त० । " दसारचक्केण य सो, सव्वओ परिवारिओ ।" उत्त० २२ अ० ।

दसारमंडण-दशार्हमण्डन-न० । दशार्हाणां वासुदेवकुलीनप्रजानां मण्डना शोभाकारिणो दशार्हमण्डनाः । दशार्होत्तमपुरुषेषु, स०।

दसारमंडल-दशार्हमण्डल-न० । दशार्हाणां वासुदेवानां मण्डलानि दशार्हमण्डलानि, बलदेववासुदेवद्वयलक्षणा, समुदाया दशार्हमण्डलानि। बलदेववासुदेवद्वयलक्षणे समुदाये, स० । (बलदेववासुदेवयोः सर्वा वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२७८ पृष्ठे उक्ता) ('बलदेववासुदेव' शब्दयोः भविष्यद्बलदेववासुदेवा वक्ष्यन्ते)

दशार्हमण्डल. भरतवर्षे भविष्यद्बलदेववासुदेवपितृमातृप्रभृतिनामनिर्देशः-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए नव बलदेववासुदेवपियरो भविस्संति । नव वासुदेवमायरो भविस्संति, नव बलदेवमायरो भविस्संति । नव दसारमंडला भविस्संति । तं जहा- उत्तमपुरिसा, मज्झिमपुरिसा, पहाणपुरिसा, तेयसी०एवं सो चेव वण्णओ भाणियव्वो० जाव नीलगपीतगवसणा । दुवे दुवे रामकेसवा भायरो भविस्संति । तं जहा-

" नंदे य नंदमित्ते, दीहबाहू य महबाहू ।
अइबले महाबले, बलभद्दे य सत्तमे ॥१॥
तिविट्ठू य दुविट्ठू य, आगमिस्सेण वण्हिणो ।
जयंते विजए भद्दे, सुप्पभे य सुदंसणे ॥२॥
आणंदे णंदणे पउमे, संकरिसण अपच्छिमे । "

पूर्वभवनामाऽऽदीनि-

एएसि णं नवण्हं बलदेववासुदेवाणं पुव्वभविया नव णामधेज्जा भविस्संति, नव धम्माऽऽयरिया भविस्संति, नव नियाणभूमीओ भविस्संति, नव नियाणकारणा भविस्संति, नव पडिसत्तू भविस्संति । तं जहा- तिलए य लोहजंघे वइरजंघे य केसरी पहाराए अपराजिए, भीमसेणे महाभीमे सुग्गीवे य अपच्छिमे ।

"एए खलु पडिसत्तू, कित्तीपुरिसाण वासुदेवाणं ।
सव्वे वि चक्कजोही, हम्मिंहि हंता सचक्केहिं ॥ १ ॥ "

ऐरवते वर्षे येषां पितृमातृप्रभृतयः-

जंबुद्दीवे दीवे एरवए वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए नव बलदेववासुदेवपियरो भविस्संति, णव वासुदेवमायरो भविस्संति, णव बलदेवमायरो भविस्संति, णव दसारमंडला भविस्संति । तं जहा-उत्तमपुरिसा, मज्झिमपुरिसा, पहाणपुरिसा० जाव दुवे दुवे रामकेसवा भायरो भविस्संति, णव पडिसत्तू भविस्संति, णव पुव्वभवणामधेज्जा, णव धम्मायरिया, णव णियाणभूमीओ, णव णियाणकारणा, आयाए एरवए आगमिस्साए भाणियव्वा, एवं दोसु वि आगमिस्साए भाणियव्वा । स० ।

दसारवग्ग-दशार्हवर्ग-पुं० । दशार्हसमुदाये, दश० १ अ० ।

दसारवरवीरपुरिस-दशार्हवरवीरपुरुष-पुं० । दशार्हाणां समुद्रविजयाऽऽदीनां दशार्हस्य वा वासुदेवस्य ये वराश्च पुरुषास्ते । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । दशार्हाः समुद्रविजयाऽऽदयस्तेषु मध्ये वरास्त एव वा वरा वीरपुरुषास्ते दशार्हवरवीरपुरुषाः । दशार्हश्रेष्ठपुरुषेषु, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

दसारवंस-दशार्हवंश-पुं० । बलदेववासुदेववंशे, "तीसे य समाए तओ वंसा समुप्पज्जित्था ।" जं० २ वक्ष० । ति० । स० ।

दससुयखंध-दशाश्रुतस्कन्ध-पुं० । दशाध्ययनप्रतिपादको ग्रन्थो दशा, स चाऽसौ श्रुतस्कन्धश्च दशाश्रुतस्कन्धः । दशाकल्पापरपर्यायेऽसमाधिस्थानाऽऽद्यर्थाभिधायकतयाऽर्थतो वर्द्धमानस्वामिमुखे सूत्रतो द्वादशस्वङ्गेषु गणधरैस्ततोऽपि मन्दमेधसामनुग्रहायातिशायिभिः प्रत्याख्यानपूर्वादुद्धृत्य पृथक् दशाध्ययनत्वेन व्यवस्थापिते ग्रन्थे, दशा० ।

" यथास्थिताशेषपदार्थसार्थ-क्रमार्थसन्धानविधिप्रवीणम् ।
जिनं जनाऽऽनन्दकरं कृपाऽब्धिं, नमामि भव्याम्बुजबोधसूरम् ॥१॥
स्तुमो महावीरजिनस्य तेजो, भवार्णवनीराऽऽकरपारगस्य ।
अनादिदुष्कर्मगणस्य नित्यं, तृणायितं यत्र सुखापमेव (?) ॥२॥
श्रीवसुभूतितनूजं, वन्दे श्रीगौतमाभिधं सदा साधुम् ।
सकललब्ध्येकनिलयं, मतय गुणचन्द्रनौघस्य ॥ ३ ॥
येषां प्रसादमासाद्य, जायते शास्त्रकौशलम् ।
श्रीगुरूणामहं तेषां, वन्दे चरणपङ्कजम् ॥ ४ ॥
अध्ययनदशकमेतत्, चूर्णिकृता यद्यपि वर्णितं सम्यक् ।
तदपि त्वरयति मामिह, वृत्तिविधौ वाक्यकृद्भक्तिः ॥ ५ ॥"

इह रागद्वेषाऽऽद्यभिभूतेन संसारपारावारसारिजीवेनेन्द्रिया-

ऽऽध्यतममानसानेकातिकटुकदुःखोपनिपातपीडितेन तत्परिहाराय हेयोपादेयपदार्थसार्थविज्ञानविधौ यत्नः कर्त्तव्यः, स च न विशिष्टविवेकमृते, विवेकोऽपि न प्राप्ताशेषातिशयकलापाऽऽप्तोपदेश विना, स चाऽऽप्त आत्यन्तिकदोषप्रक्षयादेव भवितुमर्हति । स च वीतरागस्यैव, अत आरभ्यते अर्हद्वचनानुयोगः। अय च दशाश्रुतस्कन्धोऽतिगम्भीरोऽल्पाक्षरैर्यो घोषितश्चूर्णिकृता, अत एवाऽल्पबुद्धीनामुपकारासमर्थ , तेन तेषामनुग्रहार्थे मया तस्य किञ्चिद्विस्तरतो व्याख्यानमातन्यते-अथ दशाश्रुतस्कन्ध इति कः शब्दार्थः ? । उच्यते-दशाध्ययनप्रतिपादको ग्रन्थो दशा, स चासौ श्रुतस्कन्धश्चेति दशाश्रुतस्कन्धः, दशाकल्प इति वा पर्यायनाम । अयञ्च ग्रन्थोऽसमाधिस्थानाऽऽदिपदार्थशासनाच्छास्त्रम् । ननु दशाश्रुतस्कन्धप्रारम्भोऽयुक्तः, प्रयोजनाऽऽदित्रयी रहितत्वात्, कण्टकशाखामर्दनाऽऽदिवदित्याशङ्काऽपनोदाय प्रयोजनाऽऽदिकमादावुपन्यसनीयम् । यदुक्तम्-" पूर्वमेवेह सवन्धः, साभिधेय प्रयोजनम । मङ्गल चैव शास्त्रस्य, प्रयोक्तव्य प्रवर्त्तकम ॥ १ ॥ " दशा० १ अ० । तत्र प्रथमेऽध्ययने विंशतिरसमाधिस्थानानि । द्वितीयेऽध्ययने एकविंशति शबलाः । तृतीये त्रयस्त्रिंशदाशातना । चतुर्थेऽष्टौ गणिसम्पदः । पञ्चमे दश चित्तसमाधिस्थानानि । षष्ठे एकादशोपासकप्रतिमाः । सप्तमे द्वादश भिक्षुप्रतिमाः । अष्टममध्ययन कल्पसूत्राऽऽख्य पृथगस्ति, तत्र तीर्थकृच्चरित, पर्युषणाकल्पः, स्थविराऽऽवली चेत्यधिकाराः । नवमे त्रिंशन्मोहनीयस्थानानि । दशमे नव निदानस्थानानि । दशा० १० अ० । ध०।" भणितो दसाण वेदो, जत्थ सरलपहिँ होइ सरिसाण । समणम्मि फग्गुमित्ते, गोयमगोत्ते महासत्ते ॥ १ ॥ " ति० ।

दसाहिया-दशाहिका-स्त्री० । दशदिवसप्रमाणायां पुत्रजन्मक्रियायाम, भ० ११ श० ११ उ० ।

दसाहुस्सव-दशाहोत्सव-पु० । दशदिवसमहे, प्रति० ।

दसिया-दशिका-स्त्री० । वस्त्राऽञ्चले, बृ० ३ उ० । वर्तिकायां च । वस्त्रस्याग्रभागे ऊर्णिकादशिका बध्यन्ते । बृ० ७ उ० ।

दसुत्तरा-दशोत्तरा-स्त्री० । दशाधिके अष्टौ रेखा दशोत्तरा दशकवृद्ध्या पलपरिमाणसूचिका । ज्यो० २ पाहु० ।

दसू-देशी-शोके, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा ।

दसेर-पु० । देशी-सूत्रकनके, दे० ना० ५ वर्ग ३३ गाथा ।

दस्सु-दस्यु-पु० । चौरे, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० । अदत्ताऽऽहरो वा दस्युर्वोऽपहरति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

दह-दशन्-त्रि० । दन्-श-कनिन् । वाच० । "दशपाषाणे हः" ॥ ८ । १ । २६२ ॥ इति दशन्शब्दे शकारस्य हकारः । 'दह । दस ।' प्रा० १ पाद । सङ्ख्याविशेषे, वाच० ।

द्रह--पु० । " द्रेरो न वा " ॥ ८ । २ । ८० ॥ इति रेफस्य वा लुक् । जलाऽऽशये , प्रा० २ पाद ।

हृद-पु० । " ह्रदे हदोः " ॥ ८ । २ । १२० ॥ इति हकारदकारयोर्व्यत्यय । प्रा० २ पाद । अगाधजलाऽऽशये, ज० ४ वक्ष० । आचा० । स० प्र० । नं० । प्रश्न० ।

मंदरस्स उत्तरदाहिणेणं चुल्लहिमवंतसिहरीसु वासहरपव्वएसु दो महद्दहा पन्नत्ता बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अण्णमण्णं णाइवट्टंति आयामविक्खंभउव्वेहसंठाणपरिणाहेणं । तं जहा-पउमद्दहे चेव, पुंडरीयद्दहे चेव । तत्थ णं दो देवयाओ महिड्ढियाओ जाव पलिओवमट्ठिइयाओ परिवसंति । त जहा-सिरि चेव, लच्छी चेव । एवं महाहिमवंतरुप्पिसु वासहरपव्वएसु दो महद्दहा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला० जाव महापउमद्दहे चेव, महापोंडरीयद्दहे चेव । देवताओ-हिरि चेव, बुद्धि चेव । एवं निसढनीलवंतेसु तिगिच्छिद्दहे चेव, केसरिद्दहे चेव । देवताओ-धिई चेव, कित्ती चेव ।

(जंबू इत्यादि) इह च हिमवदादिषु षट्सु वर्षधरेषु क्रमेणैते पद्माऽऽदय षडेव ह्रदाः । तद्यथा-' पउमे य महापउमे, तिगिच्छि केसरिद्दहे चेव । दहपुंडरीए, पुंडरीए चेव य दहाओ ॥ १ ॥ " हिमवत उपरि बहुमध्यभागे पद्महृद एष शिखरिणि पौण्डरीका , ते च पूर्वापराऽऽयतौ सहस्रपञ्चशतविस्तृतौ चतुष्कोणौ दशयोजनावगाढौ रजतकूलौ वज्रमयपाषाणौ तपनीयतलौ सुवर्णमध्यरजतमणिवालुकौ चतुर्दशमणिसोपानौ स्वभावतारौ तोरणध्वजच्छत्राऽऽदिविभूषितौ नीलोत्पलपुण्डरीकाऽऽदिचितौ विचित्रशकुनिमत्स्यविरचितरवौ षट्पदपटलोपभोग्याविति । (तत्थ ण ति) तयोर्महाह्रदयोर्द्वे देवते परिवसतः-पद्मह्रदे श्रीः , पौण्डरीके लक्ष्मीः । ते च भवनपतिनिकायाऽभ्यन्तरसूने, पल्योपमस्थितिकत्वात् । व्यन्तरदेवीनां हि पल्योपमार्द्धमेवाऽऽयुरुत्कर्षतो भवति । भवनपतिदेवीनां तूत्कर्षतोऽर्द्धपञ्चमपल्योपमान्यायुर्भवति । आह च-" अद्धुट्ठअद्धपंचमपलिओवमअसुरजुयलदेवीण । सेसवणदेवयाए य, देसूणअद्धपलियमुक्कोस ॥१॥ " इति । तयोश्च महाह्रदयोर्मध्ये योजनमाने पद्मे अर्द्धयोजनबाहल्ये दशावगाहे जलान्ताद् द्विकोशोच्छ्रये वज्राऽरिष्टवैडूर्यमूलकन्दनाले वैडूर्यजाम्बूनदमयबाह्याऽभ्यन्तरपत्रे कनककर्णिके तपनीयकनककेशरे तयो कर्णिकेऽर्द्धयोजनमाने तदर्द्धबाहल्ये तदुपरि देव्योर्भवने इति । (एवमित्यादि) महाहिमवति महापद्मो, रुक्मिणि तु महापौण्डरीक , तौ च द्विसहस्राऽऽयामौ तदर्द्धविष्कम्भौ द्वियोजनमानपद्मव्यासवन्तौ । तयोर्देवते परिवसतः । महापद्मे ह्रीः, पौण्डरीके बुद्धिरिति । (एवमित्यादि) निषधे तिगिच्छिह्रदे धृतिर्देवता, नीलवति केशरिह्रदे कीर्तिर्देवता । तौ च ह्रदौ चतुर्द्विसहस्राऽऽयामविष्कम्भाविति । भवति चात्र गाथा-"एएसु सुरवहूओ, वसति पलिओवमट्ठितीआओ । सिरिहिरिधिईकित्तीओ, बुद्धीलच्छीसमाणाओ ॥१॥ " इति । स्था० २ ठा० ३ उ० । रेवत्यां बलदेवस्य राज्ञः रेवत्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, नि० । स च अरिष्टनेमितीर्थकरानगारस्य वरदत्ताभिधानस्यान्तिके प्रव्रज्यामशनेन मृत्वा देवलोके उत्पन्न , ततश्च्युत्वा महाविदेहे वर्षे सेत्स्यतीति निरयावलिकाऽन्तर्गतवृष्णिदशानां तृतीयेऽध्ययने सूचितम् । नि० १ श्रु० ५ वर्ग १० अ० ।

जंबू ! मंदरस्स दाहिणेणं तओ महाद्दहा पण्णत्ता । तं जहा-पउमद्दहे, महापउमद्दहे, तिगिच्छिद्दहे । तत्थ णं तओ देवयाओ महिड्ढियाओ० जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति । तं जहा-सिरी, हिरी, धिई । एवं उत्तरेण वि, णवर केसरि-

दहे महापोंडरीयदहे पोंडरीयदहे देवयाओ-कित्ती, बुद्धी, लच्छी । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

षष्ठे स्थाने-

जंबुद्दीवे दीवे छ महद्दहा पणत्ता । तं जहा-पउमद्दहे, महापउमद्दहे, तिगिच्छिद्दहे, केसरिदहे, पुंडरीयदहे, महापुंडरीयदहे । तत्थ णं छ देवयाओ महिड्डियाओ०जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति । तं जहा-सिरि, हिरि, धिइ, कित्ती, बुद्धी, लच्छी । स्था० ६ ठा० ।

सव्वे वि णं महद्दहा दस जोयणाइं उव्वेहेणं पणत्ता । स्था० ।

दहगलण-ह्रदगलन-न० । ह्रदस्य मध्ये मत्स्याऽऽदिग्रहणार्थं भ्रमणे, जलनिःसारणे च । विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

दहण-दहन-पुं० । दह-ल्युट् । दहतीति दहनः । अग्नौ, विशे० । आ० चू० । ज्वालाभिर्भस्मीकरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । कृत्तिकानक्षत्रे, दहन कृत्तिकायाः देवता । स्था० २ ठा० ३ उ० पाटलिपुत्रनगरवास्तव्यस्य हुताशननाम्नः श्रावकस्य ज्वलनशिखायां भार्यायां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, प्रा० क० । चित्रकवृक्षे, भल्लातके, दुष्टचेतसि च । भावे ल्युट् । दाहे, वाच० ।

दहणसील-दहनशील-पुं० । ज्वालनस्वभावे, त० । "पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या, शठं च मित्रं चपलं कलत्रम् । विलासकालेऽपि दरिद्रता च, विनाऽग्निना पञ्च दहन्ति देहम् ॥१॥" त० ।

दहप्पवहण-ह्रदप्रवहण-न० । ह्रदजलस्य प्रकृष्टे वहने, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

दहफुल्लिया-ह्रदफुल्लिका-स्त्री० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दहबल-दशबल-पुं० । 'दसबल' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

दहमहण-ह्रदमर्दन-ह्रदस्य मध्ये पौनःपुन्येन परिभ्रमणे, जले निस्सारिते पङ्कमर्दने च । विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

दहमद्दण-ह्रदमर्दन-न० । 'दहमहण' शब्दार्थे, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

दहमह-ह्रदमह-ह्रदस्य विशिष्टे काले पूजायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

दहमहण-ह्रदमथन-न० । ह्रदजलस्य तरुशाखाभिर्विलोडने, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

दहमुह-दशमुख-पुं० । "दशपाषाणे हः" ॥ ८ । १ । २६२ ॥ इति शकारस्य वैकल्पिको हकारः । 'दहमुहो । दसमुहो ।' रावणे, प्रा० १ पाद ।

दहवई-ह्रदवती-स्त्री० । "दो दहवईओ ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । 'दहावई' शब्दार्थे, स्था० ६ ठा० ।

दहवहण-ह्रदवहन-न० । स्वत एव ह्रदात्जलनिर्गमे, विपा० २ श्रु० ८ अ० ।

दहवोल्ली-स्त्री० । देशी- स्थाल्याम्, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दहावई-ह्रदावती-स्त्री० । ह्रदा अगाधजलाऽऽशया सन्त्यस्यामिति ह्रदावती । जं० ४ वक्ष० । जम्बूद्वीपे मेरोः पूर्वस्यां दिशि शीताया महानद्याः दक्षिणतः सङ्गतायामन्तर्नद्याम्, स्था० ६ ठा० ।

तस्स णं दहावईकुंडस्स दाहिणिल्लेणं तोरणेणं दहावई महाणई पवूढा समाणी कच्छावई आवत्ते विजए दुहा विभयमाणी विभयमाणी दाहिणेणं सीआं महाणई समप्पेइ । सेसं जहा गाहावईए । जं० ४ वक्ष० ।

दहावईकुंड-ह्रदावतीकुण्ड-न० । ह्रदावतीनाम्न्या अन्तर्नद्या उद्गमकुण्डे, जं० ।

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे दहावईकुंडे णामं कुंडे पणत्ते ? । गोयमा ! आवत्तस्स विजयस्स पच्चत्थिमेणं कच्छगावईए विजयस्स पुरत्थिमेणं णीलवंतस्स दाहिणिल्ले णितंबे एत्थ णं महाविदेहे वासे दहावईकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते । सेसं जहा गाहावईकुंडस्स०जाव अट्ठो ।

ह्रदावतीकुण्ड प्रश्नसूत्रम् । शेषं यथा ग्राहावतीकुण्डस्य रूपास्थानं ग्राहावतीद्वीपपरिमाणभवननामार्थकथनप्रमुखं तथा ज्ञेयम्, नवरं ह्रदावतीद्वीपो ह्रदावतीति नामार्थं समधिगम्यः, ह्रदा अगाधजलाऽऽशयाः सन्त्यस्यामिति ह्रदावती । साधनिका प्राग्वत् । जं० ४ वक्ष० ।

दहि-दधि-न० । दध-इन् । दुग्धविकृतिभेदे, प्रव० ४ द्वार । औ० । उत्त० । प्रज्ञा० । स्था० । प्रश्न० । दधिनवनीतघृतानि चत्वार्येव मद्यादिसम्बन्धीनि, तस्माद् दुग्धानां तानि दध्यादीनि न भवन्ति । पं० व० २ द्वार । आ० चू० । आव० । स्था० । दिनद्वयातीते दध्यपि जीवसंसक्तिर्यथा-" जइ मुग्गमासमाई, विदलं कच्चम्मि गोरसे पडइ । ता तसजीवुप्पत्ति, भणंति दहिए वि दुदिणुवरि ॥ १ ॥" हारिभद्रदशवैकालिकवृत्तावपि-" इत्यकान्तकारनालदधिनीमनाऽऽदिषु वायुकुथ्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्तीति ।" " दध्यहर्द्वितयातीतम् । " इति हैममपि वचः । ध० २ अधि० । आचा० । वस्त्रे च, धा-कि-द्वित्वम् । धारणकर्तरि, त्रि० । वाच० । " पइयोः सन्धिर्वा " ॥ ८।१।५ ॥ इति सन्धिविकल्पः । " दहि ईसरो । दहीसरो ।" प्रा० १ पाद । "दधिदुग्धरसयदकृ-दुग्धसतिक्तमुद्गलमिश्रादिमलदूषणा ।" औ० ३ प्रति० ४ उ० । निर्विकृतिकदुग्धजं दधि निर्विकृतिकं, विकृतिर्वेति प्रश्ने, उत्तरम्-एवंविधदुग्धजं दध्यपि निर्विकृतिकं स्यात्, परं प्रसङ्गपरम्पराशैथिल्याच्च ग्राह्यमिति वृद्धसम्प्रदायः । १०९ प्र० । सेन० २ उल्ला० । षोडशप्रहरानन्तरं दध्यभक्ष्यं स्यात्, उताष्टप्रहरानन्तरं वेति स्पष्टतया ज्ञापनीयमिति प्रश्ने, उत्तरम्-"आमगोरससम्पृक्तं द्विदलं पुष्पितौदनम् । दध्यहर्द्वितयातीतं, क्वथिताऽन्नं च वर्जयेत् " ॥ १ ॥ इति योगशास्त्रतृतीयप्रकाशे । एतच्छ्लोकवृत्तौ यथा । न हि इत्र किमपि -कश्चिच्चास्तो हेतुगर्भेषु त्यागमात्रं प्रतिपादयन् आज्ञाविराधक इत्यादिमामगोरससम्पृक्तद्विदलाऽऽदौ न हेतुगर्भो जीवसञ्चारः किन्तु त्यागमात्रमेव । तथाहि-"आमगोरससम्पृक्ते द्विदले," इत्यादिदलात् पुष्पितौदने, अहर्द्वितयातीते च दधि, क्वथितान्ने च वै जन्तवस्ते केवलज्ञानिभिर्दृष्टा इत्यामगोरसद्विदलाऽऽदिभोजनं वर्जयेदिति, तद्भोजनाद् हिंसाप्राणातिपातलक्षणो दोषः स्यादिति । अहर्द्वितया-

तीतमिति कोऽर्थः?, दिनद्वयातिक्रमेऽभक्ष्यम्। दिवसग्रहणेन रात्रिग्रहणं समागतमेव, यथा-त्रिंशद्दिनैर्मासः, पञ्चदशदिनैः पक्ष इत्यर्थः। एतावता रात्रिद्वयातिक्रमे द्वादशाऽपिप्रहरातिक्रान्ते दध्यभक्ष्यं, यदा प्रथमदिवसे प्रभाते मेलितं तदा षोडशप्रहरानन्तरमेवाभक्ष्यं भवति, परं षोडशप्रहरनियमो नेति समाधानमिति । यतः पूर्वदिने संध्यायां मेलिते द्वादशप्रहरानन्तरमप्यभक्ष्यं भवतीति । ध्द्व२ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

दहिउप्फ–न० । देशी–नवनीते, दे० ना० ५ वर्ग ३४ गाथा ।

दहिघण–दधिघन–पुं० । दधिपिण्डे, अ० १ वक्ष० । प्रज्ञा० । जी० । रा० ।

दहिट्ठ–पुं० । देशी–कपित्थे, दे० ना० ५ वर्ग ३५ गाथा ।

दहित्थार–पुं० । देशी–दधिसरे, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दहिमुहपव्वय–दधिमुखपर्वत–पुं० । पर्वतभेदे, स्था० । दधिवत् श्वेत मुखं शिरो रजतमयत्वाद् येषां ते दधिमुखा· । उक्तं च–" सच्छदधिविमलनिम्मल–दहिघणगोखीरहारसंकासा । गगणतलमणुलिहंता, सोहंते दधिमुहा रम्मा " ॥ १ ॥ इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । नन्दीश्वरद्वीपेऽञ्जनपर्वतानां प्रत्येकं चतुर्दिक्षु पुष्करिणीनां मध्यभागस्थेषु स्वनामख्यातेषु पर्वतेषु, स० ।

सव्वे वि णं दधिमुहा पव्वया पल्लासंगाणसंठिया सव्वत्थ समा विक्खंभुस्सेहेणं चउसट्ठिं चउसट्ठिं जोयणसहस्साइं पण्णत्ता ।

(सव्वे वि णमित्यादि) इतोऽष्टमे नन्दीश्वराऽऽख्ये द्वीपे पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु चत्वारोऽञ्जनकपर्वता भवन्ति, तेषां च प्रत्येकं चतसृषु दिक्षु चतस्रः पुष्करिण्यो भवन्ति , तासां च मध्यभागेषु प्रत्येकं दधिमुखपर्वता भवन्ति,ते च षोडश पल्यङ्कसंस्थानसंस्थिता समानाः सर्वत्र समा विष्कम्भेण मूलाऽऽदिषु दशसहस्रविष्कम्भत्वात्तेषाम् । क्वचित्तु–"विक्खम्भुस्सेहेण" इति पाठ ,तत्र तृतीयैकवचनलोपदर्शनाद्विष्कम्भेणेति व्याख्येयम् । तथा–उत्सेधेनोच्चत्वेन चतुष्षष्टिरिति । स० ६४ सम० । (अस्य वर्णकस्तु ' अंजणग ' शब्दे प्रथमभागे ४७ पृष्ठे उक्त·)

दहिवण्ण–दधिपर्ण–पुं० । वृक्षभेदे, स्था० १० ठा० । प्रज्ञा० । स० । औ० । ति० । रा० ।

दहिवासुया–दधिवासुका–स्त्री० । वनस्पतिविशेषे, जी० । " दहिवासुयामडवगे । " दधिवासुका नाम वनस्पतिविशेष , तन्मया मण्डपका दधिवासुकामण्डपका· । जी० ३ प्रति० ४ उ० । ज० । रा० ।

दहिवाहण–दधिवाहन–पुं० । चेटकमहाराजदुहितुः पद्मावत्याः पत्यौ चम्पाराजे, आ० क० । आ० चू० । स च सभार्यया पद्मावत्या सह दोहदपूरणार्थमुद्यानभूमिकां गत , तत्र मत्तेन हस्तिना अपह्रियमाणीतो गृहं प्रत्यागतः, पद्मावती तु वने हृता प्रव्रजिता च पुत्रमेकं जनयित्वा मातङ्गेषु आक्षिपत्, स च करकण्डुनामा क्रमेण राजा भूत्वा एकस्मै ब्राह्मणाय ग्रामदानार्थं दधिवाहनं प्रचोद्य युयुत्सु स्वमात्रा पद्मावत्या निवारित ,क्रमेण प्राव्राजीत्, दधिवाहनोऽपि प्रव्रजित· । आ० क० । आ० चू० । आव० । ती० । उत्त० । (इय कथा ' करकंडु ' शब्दे तृतीयभागे ३५७ पृष्ठे उक्ता)

दहिव्वय–दधिव्रत–पुं० । न दध्यत्ति दधिव्रतः । दधिप्रत्याख्यानवति, आव० ४ अ० । ' पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः । " स्था० ।

दा–दा–धा० । जुहो०–उभ०–सक०–सेट् । दाने, वाच० । " स्वराणां स्वरा· ॥ ८ । ४ । २३८ ॥ " इति दाधातोराकारस्यैकारः । "देइ । दाई । " प्रा० ४ पाद ।

दाअ–पुं० । देशी–प्रतिभुवि, दे० ना० ५ वर्ग ३८ गाथा ।

दाइ–दाइ–अव्य० । अभिप्रायाभिदर्शने, नि० चू० २ उ० ।

दाइज्जमाण–दर्श्यमाण–पुं० । चक्षुषा प्रत्यक्षं कार्यमाणे वस्तुनि, कल्प० ५ क्षण ।

दाइय–दायाद–पुं० । पुत्राऽऽदिषु, भ० ९ श० ३३ उ० ।

दायिक–पुं० । गोत्रिके, कल्प० ५ क्षण । " दायिकसुतमाणिक्यः, प्रेरितवानस्मदादिजनान् ।" भ० ४१ श० १९ उ० ।

दाइया–दारिका–स्त्री० । बालिकायाम, आ० म० १ अ० २ खण्ड । "एव परिवाडीए सुदरी दाइया ।" आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दाउं–दातुं–अव्य० । सकृद्दानं कर्तुमित्यर्थे, उपा० १ अ० । " दाउं वा अणुप्पदाउं वा अणुप्पदाणत्थ रायाभिओगेण ।" प्रति० ।

दाकलस–उदककलश–पुं० । लघुतरे घटे, भ० १५ श० ।

दाकुंभ–उदककुम्भ–पुं० । महद्घटे, भ० १५ श० ।

दाघ–दाह–पुं० । ' दाह ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

दाडिम–दाडिम–न० । " डो लः ॥ ८ । १ । २०२ ॥ " स्वरात् परस्यासंयुक्तस्यानादेर्डस्य प्रायो लुग् भवति । ' दालिम । दाडिम ।' वाच० । जी० । औ० । आचा० । ज्ञा० ओघ० । रा० ।

दालिमपुप्फप्पगासपीवराहरा–दाडिमपुष्पप्रकाशपीवराधरा–स्त्री० । दाडिमपुष्पप्रकाशः पीवरः प्रवरः सुभगोऽधरो यासां ता दाडिमपुष्पप्रकाशपीवराधरा· । सुन्दराधरोष्ठासु योषित्सु, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

दाढा–दंष्ट्रा–स्त्री० " दंष्ट्राया दाढा " ॥ ८ । २ । १३९ ॥ दंष्ट्राशब्दस्य 'दाढा' इत्यादेशो भवति । प्रा० २ पाद । दशनविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आव० । "वराह दाढाए" अनु० । दंष्ट्रार्थं वराहाऽऽदयो व्यापाद्यन्ते । आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

दाढिकालि–दंष्ट्रिकाऽऽवलि–स्त्री० । यमलतन्तुद्वयव्यूतायां पट्याम्, जीत० । यथा मुखमध्ये यमलितोभयदन्तपङ्क्तिरूपा दाढिकाऽऽवलिर्दंष्ट्रिकावलिर्निरीक्ष्यते,एव धौतपोतिकाऽपि द्विजसत्कसदृशस्वरूपपरिधानरूपा दृश्यमाना दाढिकालिरिव प्रतिभातीति कृत्वा दाढिकालिरुच्यते । वृ० ३ उ० ।

दाढिगालि–दंष्ट्रिकाऽऽवलि–स्त्री० । 'दाढिकालि' शब्दार्थे,जीत० ।

दाढिया–दंष्ट्रिका–स्त्री० । उत्तरोष्ठकेशगुच्छे दशनविशेषे, ओष्ठस्याधोभागे च । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । प्र० । विशिष्टदंष्ट्राशालिनि, त्रि० । अनु० ।

दाढियालि दंष्ट्रिकाऽऽवलि–स्त्री० । 'दाढिकालि' शब्दार्थे, जीत० ।

दादुद्धिय-दंष्ट्रोद्धृत-त्रि० । उत्खातदंष्ट्रे, दश० १ चू० ।

दाण-दान-न० । दा-भावे ल्युट् । वितरणे, प्रव० ६ द्वार । पञ्चा० । प्रश्न० । लब्धस्याऽन्नाऽऽदेर्ग्लानाऽऽदिभ्यो वितरणे, प्रश्न० ३ संव० द्वार । अशनाऽऽदिप्रदाने, आव० ४ अ० । स्वपरानुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानम् । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । उत्त० । कल्प० । कर्म० । याचकाभीप्सितार्थे धने, कल्प० ५ क्षण । उत्त० । "दानेन महाभोगो, देहिनां सुरगतिश्च शीलेन । भावनया च विमुक्तिस्तपसा सर्वाणि सिद्ध्यन्ति " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

" दाणं च तत्थ तिविहं, नाणपयाणं च अभयदाणं च ।
धम्मोवग्गहदाणं, च नीणदाणं इमं तत्थ ॥ ९२ ॥ "
" सरिसे वि मणुयजम्मे, पयं सयलं पि केइ कयपुन्ना ।
जं जाणंति जए तं, सुनाणदाणप्पभावेणं ॥ ९४ ॥
दितो य नाणदाणं, भुवणे जिणसासणं समुद्धरइ ।
सिरिपुंडरीयगणहर, इव पावइ परमपयमउलं ॥ ९५ ॥
ता दायव्वं नाणं, अणुसरियव्वा सुनाणिणो मुणिणो ।
नाणस्स सया भत्ती, कायव्वा कुसलकामेहिं ॥ ९६ ॥
बीयं तु अभयदाणं, तं इह अभयप्पयाणं सयलजीवाणं ।
अभउ त्ति धम्ममूलं, दयाइधम्मो पसिद्धमिणं ॥ ९७ ॥
इक्कं चिय अभयपया-णमित्थ दाऊण सव्वसत्ताणं ।
वज्जाउह व्व कमसो, सिज्झंति पहीणजरमरणा ॥ ९८ ॥
नाऊण इमं मयणी-कयाणं जीवाणं सरणरहियाणं ।
साहीणं दायव्वं, भवियेहिं अभयदाणमिणं ॥ ९९ ॥
धम्मोवग्गहदाणं, तच्च पुण असणवसणमाईणं ।
आरंभनियत्ताणं, साहूण हुंति देयाणि ॥ १०० ॥
तित्थयरचक्कवट्टी, बलदेवा वासुदेवमंडलिया ।
जायंति जगब्भहिया, सुपत्तदाणप्पभावेण ॥ १०१ ॥
जह भयवं रिसहजिणो, घयदाणवसेण सयलजयनाहो ।
जाओ जह भरहवई, भरहो मुणिभत्तदाणेणं ॥ १०२ ॥

अवि य-

दंसणमित्तेण वि मुणि-वराण नासेइ दिणकयं पावं ।
जो देइ ताण दाणं, तेण जए किं न सुविढत्तं ? ॥ १०३ ॥
तं सुपवित्तं भवणं, मुणिणो विहरंति जत्थ समभावा ।
न कया वि साहुरहिओ, जिणधम्मो पायडो होइ ॥ १०४ ॥
ता तेसिं दायव्वं, सुद्धं दाणं गिहीहिं पत्तोए ।
अणुकंपोचियदाणं, दायव्वं निययसत्तीए ॥ १०५ ॥

किं च--

न तवो सुट्ठु गिहीणं, विसयाऽऽसत्ताण होइ न हु सीलं ।
सारंभाण न भावो, तो साहीणं सया दाणं ॥ १०६ ॥
इय तिविहं पि हु दाणं, नरवर ! संखेवओ तुहऽक्खायं ।
विधरियसिवसुहसीलं, सेपइ सीलं निसामेसु ॥ १०७ ॥
ध० र० (७०) ।

दाणफलं लवितूणं, लावावे तु गिहिअसतित्थीहिं ।
जो पादं उप्पाए, लवंगविट्ठं तु तं होति ॥ २०८ ॥

दाणफलं अप्पणा कहेति, गिहिअण्णतित्थिएहिं वा कहावेत्ता जो पादं उप्पादेति, एयं लवणविट्ठं भण्णति ।

तस्सिमे विहाणा-

लोइय लोउत्तरियं, दाणफलं तु दुविधं समासेणं ।
लोइयऽणेगविधं पुण, लोउत्तरियं इमं तत्थ ॥ २०९ ॥

समासतो दुविहं दाणफलं-लोइयं, लोउत्तरियं च । लोइयं अणेगविहं-गोदान, भूमिदान, हिरण्णदान, भत्तप्रदानाऽऽदि । लोउत्तरियं इमं ।

गाहा-

अण्णे पाणे वेस-ज्जवत्तवत्थे य सेज्जसंथारे ।
भोज्जविहि पाणऽरोगे, भायणभूमाविविहसयणा ॥२१०॥

पाणाऽऽदियाणं सत्तण्हं पच्छद्धेण जहासंखफला । अन्नदाणे भोज्जविही भवति, पानकदाने खाद्यापानकविधी, भेसज्जदाणेण आरोग्गो, पत्तदाणेण भायणविधी, वत्थदाणेण विभूसणविधी, सेज्जादाणेण विविहा, संथारगदाणेण अणेगभोगगादिसेज्जाविहाणा भवति ।

संखेवओ वा फलं इमं-

अहवाऽवि समासेणं, साधूणं पीतिकारओ पुरिसो ।
इह य परत्थ य पावति, पीढीओ पीवरतराओ ॥२११॥

अहवासद्दो विगप्पवायगो । समासो संखेवो, साधूण भत्तपाणेहिं पीतीतो उप्पाणतो इहलोए परलोए य पीवराओ पीतीओ पावति, पीवरं प्रधानं, तरशब्दः आधिक्यतरकर्मवाचकः, सर्वजनाधिक्यतरा प्रीत्य., प्राप्नोतीत्यर्थः । शेषं पूर्ववत्, णवर-

एमेव गमो णियमा, दुविधा उवहिम्मि होति णायव्वो ।
पुव्वे अवरे य पदे, सेज्जाऽऽहारे वि य तहेव ॥२१२॥

दुविहे उवकरणे-ओहिए, उवग्गहिए य । उस्सग्गाववाएहिं एसेव गमो, सेज्जआहारेसु वि एसेव विही भाणियव्वो । नि० चू० २ उ० ।

दशविधं दानम्-

दसविहे दाणे पण्णत्ते । तं जहा-
"अणुकंपा संगहे चेवा-ऽभया कालुणिए ति य ।
लज्जाए गारवेणं च, अधम्मे पुण सत्तमे ॥ १ ॥
धम्मे य अट्ठमे वुत्ते, काहिई य कयंति य । " स्था० १० ठा० ।

(अनुकम्पादानव्याख्या 'अणुकंपादाण' शब्दे प्रथमभागे ३६० पृष्ठे द्रष्टव्या) (सङ्ग्रहदानविस्तरः 'संगहदाण' शब्दे वक्ष्यते) (अभयदानव्याख्या ' अभयदाण ' शब्दे प्र० भागे ७०६ पृष्ठे प्रतिपादिता) (कारुणिकदानव्याख्या ' कालुणिय ' शब्दे तृतीयभागे ५०२ पृष्ठे द्रष्टव्या) (लज्जादानविस्तरः ' लज्जादाण ' शब्दे वक्ष्यते) (गौरवदानव्याख्या ' गारवदाण ' शब्दे तृतीयभागे ८७१ पृष्ठे द्रष्टव्या) (अधर्मदानव्याख्या ' अधम्मदाण ' शब्दे प्रथमभागे ५६८ पृष्ठे गता) (धर्मदानव्याख्यानम् ' धम्मदाण ' शब्दे वक्ष्यते) (करिष्यतिदानविस्तरस्तु ' काहीइदाण ' शब्दे तृतीयभागे ५०६ पृष्ठे द्रष्टव्यः) (कृतदानविषय ' कयदाण ' शब्दे तृतीयभागे ३५४ पृष्ठे समुक्तं) १० ॥ शिष्येभ्यो विसर्जने, विशे० । (लोके दानप्रकारश्च प्रथमवृषभस्वामिना प्रवर्तित इति ' उसह ' शब्दे द्वितीयभागे ११२७ पृष्ठे उक्तं) दाने लौकिका आहुः-" वारिदस्तृप्तिमाप्नोति, सुखमक्षय्यमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टा-मायुष्कमभयप्रदः "॥१॥ अत्र चैकमेव सुभाषितमभयप्रदानमिति, तुषमध्ये कणिकावत् ।

आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। " दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं।" (२३) सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। " मध्याह्नेऽर्चा तु सत्पात्र-दानपूर्वं तु भोजनम्।" (६५) सत्पात्रं साध्वादि, तस्मिन् दानपूर्वं दानं दत्त्वेत्यर्थः, भोजनमभ्यवहरणं, 'तुः' एवकारार्थः। ततः सत्पात्रदानपूर्वमेव भोजनमिति निष्कर्षः। (६५) ध० २ अधि०। (साधुभ्यो दानप्रकारः ' अहसंविभाग ' शब्दे प्रथमभागे ३३ पृष्ठे उक्तम्)

इह तत्रानुक्तं तत्स्वरूपम्-

आहारवस्त्रपात्राऽऽदेः, प्रदानमतिथेर्मुदा ।
उदीरितं तदतिथि-संविभागव्रतं जिनैः ॥४०॥

अतिथेः साधोः, मुदा हर्षेण, गुरुत्वभक्त्यतिशयेन, न त्वनुकम्पाऽऽदिनेत्यर्थः। प्रदानम्-प्रकर्षेण मनोवाक्कायशुद्ध्या दानं वितरणम्। कस्य ?, आहारवस्त्रपात्राऽऽदेः, तत्राऽऽहारोऽशनाऽऽदिः चतुर्विधः, वस्त्रं प्रतीतम्, कम्बलो वा, पात्रं पतद्ग्रहाऽऽदि, आदिशब्दाद् वसतिपीठफलकशय्यासंस्तारकाऽऽदिग्रहणम्, अनेन हिरण्याऽऽदिदाननिषेधः, तेषां यतेरनधिकारित्वात्। तदतिथिसंविभागव्रतम्। जिनैः-अर्हद्भिः, उदीरितं प्रतिपादितम्। तत्र अतिथेः उक्तलक्षणस्य, सङ्गतः-आधाकर्माऽऽदिद्विचत्वारिंशद्दोषरहितो, विशिष्टो भागो विभागः पश्चात्कर्माऽऽदिदोषपरिहारायाशनदानरूपोऽतिथिसंविभागः, तद्रूपं व्रतम्। अतिथिसंविभागव्रतमाहाराऽऽदीनां च न्यायार्जितानां प्रासुकैषणीयानां कल्पनीयानां च देशकालश्रद्धासत्कारक्रमपूर्वकमात्मानुग्रहबुद्ध्या यतिभ्यो दानमित्यर्थः। तत्र शाल्यादिनिष्पत्तिभागो देशः १, सुभिक्षदुर्भिक्षाऽऽदिः कालः २, विशुद्धचित्तपरिणामः श्रद्धा ३, अभ्युत्थानाऽऽसनदानवन्दनानुव्रजनाऽऽदिः सत्कारः ४, यथासम्भवं पाकस्य पेयाऽऽदिपरिपाट्या प्रदानं क्रमः ५, तत्पूर्वकं देशकालाऽऽद्यौचित्येनेत्यर्थः। यदूचुः-" नायागयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दव्वाणं देसकालसद्धासक्कारकमजुअं पराए भत्तीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाणं दाणं अतिहिसंविभागो।"

अनूदितं चैतत् श्रीहेमसूरिभिः -

" प्रायः शुद्धैस्त्रिविधविधिना प्रासुकैरेषणीयैः,
कल्पप्रायैः स्वयमुपहितैर्वस्तुभिः पानकाऽऽद्यैः।
काले प्राप्तान् सदनमसमश्रद्धया साधुवर्गान्,
धन्याः केचित्परमविहिता हन्त ! समानयन्ति ॥ १ ॥
अशनमखिलं खाद्यं स्वाद्यं भवेदथ पानकं,
यतिजनहितं वस्त्रं पात्रं सकम्बलप्रोञ्छनम्।
वसतिफलकप्रख्यं मुख्यं चरित्रविवर्द्धनं,
निजकमनलः प्रीत्या यायि प्रदेयमुपासकैः ॥ २ ॥"

तथा-

" साहूण कप्पणिज्जं, जं न वि दिन्नं कहिंचि किंचि तहिं।
धीरा जहुत्तकारी, सुसावगा तं न भुंजंति ॥ ३ ॥
वसहीसयणाऽऽसणभ-त्तपाणभेसज्जवत्थपायाई।
जइ वि न पज्जत्तधणो, थोवा वि हु थोवयं दिज्जा ॥ ४ ॥"

वाचकमुख्यस्त्वाह-

" किञ्चित् शुद्धं कल्प्यमकल्प्यं, स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाऽऽद्यं वा ॥ १ ॥
देशं कालं पुरुष-मवस्थामुपयोगशुद्धिपरिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं, नैकान्तात् कल्पते कल्प्यम् ॥ २ ॥"

ननु यथा शास्त्रे आहारदातारः श्रूयन्ते, न तथा वस्त्राऽऽदिदातारः, न च वस्त्राऽऽदिदानस्य फलं श्रूयते, तत्र वस्त्राऽऽदिदानं युक्तम्। नैवम्। भगवत्यादौ वस्त्राऽऽदिदानस्य साक्षादुक्तत्वात्। यथा-" समणे निग्गंथे फासुयएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं पीढफलगसिज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणे विहरति।" इत्याहारवत्संयमाऽऽधारशरीरोपकारकत्वाद्वस्त्राऽऽद्योऽपि साधुभ्यो देया। ध० २ अधि०। पञ्चा०। (पोषधं पारयता श्रावकेण नियमात्साधुभ्यो दत्त्वा भोक्तव्यमिति, तद्विधिश्च ' पोसहपारणगविहि ' शब्दे वक्ष्यते)

काले देशे कल्प्यं, श्रद्धायुक्तेन शुद्धमनसा च।
सत्कृत्य च दातव्यं, दानं प्रयताऽऽत्मना सद्भ्यः ॥ १ ॥"

तथा-

" दानं सत्पुरुषेषु, स्वल्पमपि गुणाधिकेषु विनयेन।
वटकणिकेव महान्तं, न्यग्रोधं सत्फलं कुरुते ॥ २ ॥
इत्यादि।

"दुःखसमुद्रं प्राज्ञा-स्तरन्ति पात्रार्पितेन दानेन।
लघुनेव मकरनिलयं, वणिजः सद्यानपात्रेण ॥ १ ॥" आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ०।

यदाह-

" पठति पाठयते पठतामसौ, वसनभोजनपुस्तकवस्तुभिः।
प्रतिदिनं कुरुते य उपग्रहं, स इह सर्वविदेव भवेन्नरः ॥१॥"

लिखितानां च पुस्तकानां संविग्नगीतार्थेभ्यो बहुमानपूर्वकं व्याख्यापनं, व्याख्यापनार्थं दानं, व्याख्यायमानानां च प्रतिदिनं पूजापूर्वकं श्रवणं चेति। साधूनां च जिनवचनानुसारेण सम्यक्त्वचारित्रमनुपालयतां दुर्लभं मनुष्यजन्म सफलीकुर्वतां स्वयं तीर्णानां परं तारयितुमुद्यतानामा तीर्थकरगणधरेभ्यः, आ च तद्दिनदीक्षितेभ्यः सामायिकसंयतेभ्यो यथोचितप्रतिपत्त्या स्वधनवपनं, यथा उपयुज्यमानस्य चतुर्विधाऽऽहारभेषजवस्त्राऽऽश्रयाऽऽदेर्दानम्, न हि तदस्ति यद्द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयाऽनुपकारकं नाम, तत्सर्वस्वस्याऽपि दानं, साधुधर्मोद्यतस्य स्वपुत्रपुत्र्यादेरपि समर्पणं च। ध० २ अधि०। ज०। स्था०। दश०। (श्रमणेभ्योऽप्रासुकदानेनाल्पाऽऽयुः, प्रासुकदानेन दीर्घायुरिति 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे ११ पृष्ठे प्रतिपादितम्) "दानात्कीर्तिः सुधाशुभ्रा, दानात्सौभाग्यमुत्तमम्। दानात्कामार्थमोक्षाः स्युर्दानधर्मो वरस्ततः ॥ १ ॥" पञ्चा० २ विव०।

" दानेन सत्त्वानि वशीभवन्ति,
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दाना-
त्तस्माद्धि दानं सततं प्रदेयम् ॥ १ ॥" ध० र०।

न्यायाऽऽत्तं स्वल्पमपि हि, भृत्यानुपरोधतो महादानम्।
दीनतपस्व्यादौ गु-र्वनुज्ञया दानमन्यत्तु ॥ १३ ॥

न्यायाऽऽत्तं ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राणां स्वजातिविहितन्यायोपात्तम्, स्वल्पमपि हि स्तोकमपि हि, भृत्यानुपरोधतो भृत्यानुपरोधेन पोष्यवर्गाविघातेन, महादानं विशिष्टदानम्, दीनतपस्व्यादौ विषये, गुर्वनुज्ञया पित्रादिकुलपुरुषानुज्ञया, यदेवविशेषणं तन्महादानम्। दानमन्यत्तु न्यायाऽनुपात्तभृत्याद्युप-

ऊचे स्नुषा॰ पुन' श्वश्रू--र्नीत्वाऽमौ तत्र मुच्यताम् ॥३७॥
ऊचिरेऽथ स्नुषा नैतद्, युज्यते श्वश्रु ! साऽवदत् ।
यूय जाता सपुत्रिण्य , कार्यं किमधुनाऽमुना ? ॥३८॥
अकृत्यमपि कार्यं किं, कृत्वा पश्चान्न मुच्यते ?।
अनङ्गय भुक्तमत्यार्यो, तत्किं भद्य सदैव तत् ?॥३९॥
दुग्धभ्रान्त्या चन्द्रकान्तां, पाययित्वा स शायित ।
तत्कान्ताभि॰ शम्बलार्थं, मोदका रत्नगर्भिता ॥४०॥
तस्याक्रियन्त स्नेहेन, मुक्ता उच्छीर्षके च ते ।
अथोत्पाट्य यथा नीतो, मुक्तस्तत्र तथैव स॰ ॥४१॥
प्रबुद्धोऽचिन्तयच्चाय-त्तत कथमिहागमम् ?।
तावत्तत्राऽऽगते पत्न्यौ, तथैव तमपश्यताम् ॥४२॥
ताभ्यामूचेऽथ किं नाथ !, व्योम्नोऽकार्षीर्गताऽऽगतम् ।
मार्गच्छाया न काऽप्यत्र, दृश्यतेऽङ्गेषु येन वा (?) ॥४३॥
ददौ शून्यान् स हुङ्कारान्, धृष्टोऽहमिति चिन्तयन् ।
अथोत्थाय ययौ गेह, प्रियाऽऽत्तनलपशम्बल॰ ॥४४॥
आययौ क्लेखशालाया, पितरि स्नाति चाऽऽत्मज ।
तस्यादाद्दत्तो वेश्या, शम्बलान्मोदक करे ॥४५॥
सोऽश्नन्ययौ बहिस्तात्त, तत्र रत्नं विलोक्य च ।
आर्पयत्कान्दविकस्य, प्रत्यह मोदकाऽऽप्तये ॥४६॥
जलान्त॰क्षेपणाद् ज्ञात, जलकान्त च तेन तत् ।
भुञ्जाना मोदके जग्ने, दृष्ट्वा रत्न प्रियाऽवदत् ॥४७॥
रत्नीकृत्य लाघवार्थं- मर्जनां किं प्रियाऽऽनय ?।
हुमित्युक्त्वा प्रविष्टोऽन्त-स्ततिप्रियाप्रेम भावयन् ॥४८॥
इतश्च सेचनाऽऽख्येभो, नद्यामग्राहि तन्तुना ।
मन्त्रिणा पटहोऽदायि, योऽधुना जलकान्तद॰ ॥४९॥
तस्य राजा निजा पुत्रीं, राज्यार्द्धं च प्रयच्छति ।
तदाऽर्पयन्कान्दविक-स्त तु तेनामुचद्गजम् ॥५०॥
पृष्ट कान्दविको राज्ञा, कुतस्तेऽभूदिद वद ?।
चौर्यादाप्त स भीत्याऽऽह, ददौ मे कृतपुण्यज ॥५१॥
राजोचे न चेद् वेद य-त्तत्व व्रज निजे गृहे ।
अकार्षीत् कृतपुण्यस्य, देश पुत्रीं च दत्तवान् ॥५२॥
स त्रिभार्योऽभुनग् भोगा-नन्यदाऽभयमूचिवान् ।
प्रियाचतुष्टयोदन्त-मत्यपूर्वं यथा तथा ॥५३॥
अचीकरत्ततश्चैत्य, द्विद्वारमभयो बहि ।
कृतपुण्यसम तत्र, लेप्ययक्ष न्यवेशयत् ॥५४॥
सापत्याभि समभ्नाभि , स्त्रीभिर्यक्षोऽयमर्च्यताम् ।
भावी रोगोऽन्यथाऽर्णीणा-मिति चाऽघोषयत्पुरे ॥५५॥
अभय कृतपुण्यश्च, निविष्टौ यक्षमण्डपे ।
आयान्ती पश्यत पौरी--र्यावत्ता समुपागता ॥५६॥
यक्षं पतिमिव प्रेक्ष्या-न्नूवस्ना प्रेमसाश्रव ।
यक्षोत्सङ्गेऽपि नृप्रिया, नत्पत्न्यान्युपाविशन् ॥५७॥
उपलक्ष्याभयो बुद्ध्या, स्थविरां नामतर्जयत् ।
कृतपुण्यस्य ना॰ पत्नी , सर्वस्वमपि चार्पयन् ॥५८॥
पत्नीभि सप्तभि सार्द्धं, ससारसुखमन्वभूत् ।
कृतपुण्यो यथार्थाऽऽख्यो, मर्त्यलोकेऽप्यमर्त्यवत् ॥५९॥
अन्यदा समवासार्षीत, श्रीवीरस्तत्र तीर्थकृत् ।
कृतपुण्यो नमस्कृत्य, स्वामिन पृष्टवान् सुधी ॥६०॥
सम्पत्तिश्च विपत्तिश्च, कथमासीन्मम प्रभो ! ।
स्वाम्यूचे हन्त ! न जज्ञे, त्वदर्था पायसदानत ॥६१॥
रेखाद्वयविधानाच्च, बभूवान्तरिकाद्वयम् ।
तच्छ्रुत्वा तत्क्षणात्सर्वं, सामायिकमुपाददे ॥६२॥" आ० क०।
" नो कप्पइ अज्जप्पभिइ " इत्यारभ्य " तेसिं असणं वा दाउ अणुप्पदाउ " इति सम्यक्त्वग्रहणसमये प्रत्याख्यायते। अत्राऽऽह-इह पुन को दोष॰ स्याद्येनेत्थ तेषामन्ययूथिकानामन्नाऽऽदिदाने प्रतिषेध इति ?। उच्यते-तेषां तद्भक्तानां च मिथ्यात्वस्थिरीकरण, धर्मबुद्ध्या ददत सम्यक्त्वलाञ्छना, तथा आरम्भाऽऽदिदोषाश्च । पुनरापन्नानामनुकम्पया दद्यादपि ।

यत उक्तम्--

" सव्वेहिं पि जिणेहिं, दुज्जयजियरागदोसमोहेहिं ।
सत्ताणुकंपणट्ठा, दाणं न कहिं वि पडिसिद्ध " ॥१॥

तथा च भगवन्तस्तीर्थकरा अपि त्रिभुवनैकनाथा॰ प्रविव्रजिषव सांवत्सरिकमनुकम्पया प्रयच्छन्ति दानमित्यलं विस्तरेण । आव॰ ६ अ० । आचा॰ । उपा० ।

से समणुएणे असमणुण्णस्स असणं पाणं खाइमं साइमं वा णो पाएज्जा, णो णिमंतेज्जा, णो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि ।

(से समणुण्णे इत्यादि) न केवल गृहस्थेभ्य॰ कुशीलेभ्यो वाऽकल्प्यमिति कृत्वाऽऽहाराऽऽदिक न गृह्णीयात्समनोज्ञ ,असमनोज्ञाय तत्पूर्वोक्तम् अशनाऽऽदिक न प्रदद्यात्, नाऽपि परमत्यर्थमाद्रियमाणोऽशनाऽऽदिनिमन्त्रणतोऽन्यथा वा तेषा वैयावृत्त्य कुर्यादिति। ब्रवीमीतिशब्दावधिकारपरिसमाप्त्यर्थौ ।

किंभूतस्तर्हि किंभूताय दद्यादित्याह-

धम्ममायाणह पवेदियं वद्धमाणेण मइमया, समणुण्णे समणुण्णस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पायं वा सेज्जं वा॰ पाएज्जा, णिमंतेज्जा, कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि ।

(धम्मं इत्यादि) धर्म दानधर्मं जानीत यूयं प्रवेदित कथित, केन श्रीवर्द्धमानस्वामिना ?,किंभूतेन ?, मतिमता केवलिना । किंभूत धर्ममिति दर्शयति-यथा समनोज्ञ॰ साधुरुद्युक्तविहारी, अपरस्मै समनोज्ञाय चारित्रवते संविग्नाय सांभोगिकायैकसामाचारीप्रविष्टायाशनाऽऽदिक चतुर्विध,तथा वस्त्राऽऽदिकमपि चतुर्थ्या,प्रदद्यात् प्रयच्छेत् । तथा तदर्थं च निमन्त्रयेत्, पेशलमत्यर्थं वैयावृत्यमङ्गमर्दनाऽऽदिक कुर्याद्, नैतद्विपर्यस्तेभ्यो गृहस्थेभ्य॰ कुतीर्थिकेभ्य पार्श्वस्थाऽऽदिभ्योऽसंविग्नेभ्योऽसमनोज्ञेभ्यो वेत्येतत् पूर्वोक्त कुर्यादिति। किं तु समनोज्ञेभ्य एव, परमत्यर्थमाद्रियमाणस्तदर्थंसीदने परमुत्तप्यमान सम्यग् वैयावृत्त्य कुर्यात, तदेव गृहस्थाऽऽद्य कुशीलास्त्याज्या इति निदर्शितम् । अय तु विशेष -गृहस्थेभ्यो यावल्लभ्यते तावद् गृह्यते, केवलमकल्पनीय प्रतिषिध्यते, असमनोज्ञेभ्यस्तु दानग्रहण प्रति सर्वनिषेध । आचा॰ १ श्रु० ८ अ० २ उ० । ('अणुउत्थिय ' शब्दे प्रथमभागे ४६३ पृष्ठे तेभ्योऽशनाऽऽदिदानप्रतिषेधपराणि सूत्राणि प्रतिपादितानि)

पार्श्वस्थाऽऽदिभ्योऽशनाऽऽदि न देयम्-

जे भिक्खू पासत्थस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं

वा देइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥८०॥ जे भिक्खू पासत्थस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥८१॥ जे भिक्खू पासत्थं वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥८२॥ जे भिक्खू पासत्थं वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥८३॥

गाहा–

जे भिक्खु पासत्थो–सएणकुसीलाण नितियवासाणं ।
देज्जा अहव पडिच्छे, सो पावति आणमादीणि ॥२७७॥

पासत्थस्स असणं वा पडिच्छइ इत्यादि, एवं ओसण्णे वि दो सुत्ता, ससत्ते वि दो, णितिए वि दो। एतेसिं जो देति, तेसिं वा हत्थाओ पडिच्छति, तस्स आणाऽऽदी।

अहवा–

पासत्थादी पुरिसा, जत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते ।
जे णाणभुविहियाणं, ण होंति करणेण समणुण्णा ।२७८।

कंठा।

किं कारणं तेहिं समाणं दाणग्गहणं पडिसिज्झति ?। भण्णति–

पासत्थमहाछंदे, कुसीले ओसण्णमेव संसत्ते ।
उग्गमउप्पायणए–सणा य बायालमवराहा ॥ २७९ ॥

जम्हा उज्जमाणाण साधूणं ते पासत्थादी करणेण ति किरियाए समणुण्णा सदृशा न भवन्ति, तम्हा दाणग्गहणं पडिसिज्झति। अहवा–जम्हा ते करणेण तुल्ला ण भवति, तम्हा तेहिं सह समणुण्णया ण भवति, संभोगो ण भवतीत्यर्थः। किं चान्यत् । पासत्थगाहा–ते पासत्थादी उग्गमदोसेसु सोलससु उप्पायणादोसेसु य सोलससु दससु य एसणादोसेसु एतेसु बायालमवराहेसु णिच्च वट्टति, अतो हेतेण तेसिं ते नातिउज्जिता, अणुमोदिता इत्यर्थः। तेसिं हत्थाओ गेण्हतेण उग्गमदोसा पडिसेविता भवंति ।

गाहा–

उग्गमउप्पायणए–सणा य तिविहेण तिकरणविसोही।
पासत्थे अहाछंदे, कुसीले नितिए वि एमेव ॥ २८० ॥

उग्गमाऽऽदियाण सिएह पि तिकरणविसोहिं त्ति सयं ण करेंति, अण्ण पि ण कारवेंति, अण्णं च करेंत ण समणुजाणति। एक्केक्क मणवयणकाएहिं तिविहं । एवं तिकरणविसोहिं ण करेंति त्ति वक्कसेस । एवं ण करेंति पासत्थादी चउरो अहाछंदपंचमा। णितियवासी पुण किरियकलाव जति वि असेसं करेति, तहा वि णितिअवासित्तणओ एवं चेव दट्ठव्वो ।

एयाणि गाहा (?)–

"एतेहिं असुद्धपडिसे–वया य अविसुद्धे चउ गुरुगा।"

एवाइ सेवाए ते पासत्थादी ठाणा सोधिते से मग्गणं करेति त्ति वुत्तं भवति। सो णियचारित्त विसोहेइ। एएसु पुण असुद्धेसु नियमा चरित्तभेदो, अशुद्धिरित्यर्थः । चरित्तेण असुद्धेण मोक्खाभावो, तेण पडिकुट्ठं दाणकरणं एतेसु, जो पुण एतेसु तिकरणविसोहिं करेति सो णियमा चरित्तं विसोहेति ।

उग्गमदोसा गाहा (?)–

जम्हा उग्गमाऽऽदिदोसा पासत्थादी ण वज्जति, तम्हा विसुद्धि त्ति चारित्तविसुद्धी, तं इच्छतो ते वि पासत्थादी वज्जेज्जा, एस णियमो।

किंच–

सुइज्जइ गाहा (?)–

जो पासत्थाऽऽदियाण देति तस्स पासत्थादिसु रागो लक्खिज्जइ, जो पुण तेसिं हत्था गेण्हति तस्स तेसु मज्झेणं पीती लक्खिज्जति, तम्हा तेसु जा दाणग्गहणे रागपीती, सा वज्जेयव्वा । कम्हा ?, जम्हा दुट्ठसंगातो बहू दोसा, अदुट्ठसंसग्गातो य गुणा भवति। तम्हा ते दुट्ठससग्गिकते दोसे परिहरेज्जा।

ण वि रागो गाहा (?)–

सुहसीलजणो पासत्थादी, तेसु ण वि रागो, ण वि दोसो। अत्थ चोदक.–एवं अत्थावत्तीओ णज्जति, तेसु संसग्गि पमुच्च णाणुण्णा, णावि पडिसेहो। जति अहापवत्तीए ससग्गी भवति, भवतु णाम, ण दोसो ?। उच्यते-जति वि तेहिं ण रागो ण दोसो वा, तहा वि तेहिं जा ससग्गी सा वज्जणिज्जा। कह ?। उच्यते–वणे सुको वणसुको, वणचरेण वा गहितो सुको वणसुको, तेण कय उवम उदाहरण, त दट्ठूण जाणिऊण बुधा पडिता घातिकरो ससग्गी, त णेच्छति ।

" माताऽप्येका पिताऽप्येको, मम तस्य च पक्षिण. ।
अहं मुनिभिरानीत , स च नीतो गवाशनै. ॥ १ ॥
गवाशनानां स गिर.शृणोति, वयं च राजन् ! मुनिपुङ्गवानाम्।
प्रत्यक्षमेतद्भवताऽपि दृष्ट, संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ॥२॥ "

अण्णं च पडिसिद्ध तित्थकरेहिं, जहा कुसीलेण सदा भवियव्वं, पुणो पडिसिज्झति–जो कुसीलो तेण सह संसग्गो ण कायव्वो, एस पडिसेहो । असविग्गस्स पाहुणस्स तिण्णि वारे देति माइट्ठाणविमुक्को। तस्स आउट्टतस्स एक्कसिं मासलहु, दो तिण्णि य वारे वि मासलहुं, ततियवाराओ पर नियमा माइस्स मासगुरु, विसंभोगे य जीत अविसुद्धं सद्धुजति, तस्स च चउगुरुगा, दूरे सोवारण काउ त्ति भोतिके अण्णदेस संभोतिया गता, तत्थ अण्णे गतुमणा पुच्छेज्जा–ते अम्ह किं संभोतिया ?। तत्थ आयरिओ जति एगतेण भणति संभोतिया, तो मासलहु। अह भणति-असंभोइया, तो वि मासलहु, असखमादी दोसा। तम्हा आयरिएण साधारण कायव्व, भो सुण-संभोती होइया इदाणिं न णज्जति, तुब्भे णाउ भुंजेज्जह । जम्हा एवमादी दोसगुणा भवति तम्हा तेसिं ण दायव्वं, णावि तेसिं हत्थाओ पडिच्छियव्व ।

इमो अववादो–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
एएहिं कारणेहिं, देज्ज व गिण्हेज्ज जयणाए ॥२८१॥
अद्धाणम्मि विवित्ता, हिंपदेसे सिंधु एव ओमम्मि ।
गेलण्ण कोट्ठकंबल–अहिमाइ पडेण ओमज्जे ॥ २८२ ॥

गाहा कंठा ।

जइऊण गाहा (?)–

जइऊण मासिएहिं ति। जे उ उद्देसियमादी ठाणा तेसु पुव्वं गिण्हति त्ति वुत्तं भवति, जता तेसु ण लभति तदा पासत्थादि उवदिट्ठेसु गिहेसु गिण्हेति, तहा वि असतीए, ताहे पुव्वगतो पासत्थो परिचियघरेसु दवावेति, तहा वि असतीए पासत्थसघामेण हिंडति, एसा तेसिं समीवातो गहणे जयणा, तेसिं वा असथरे देज्जा, ण दोसो ।

जे भिक्खू ओसण्णस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥८४॥ जे भिक्खू ओसण्णस्स

असणं वा४ पमिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥७५॥ जे भिक्खू ओसण्णस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥ ७६ ॥ जे भिक्खू ओसण्णस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥७७॥ जे भिक्खू कुसीलस्स असणं वा ४ देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥७८॥ जे भिक्खू कुसीलस्स असणं वा ४ पमिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥८६॥ जे भिक्खू कुसीलस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥९०॥ जे भिक्खू कुसीलस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥९१॥ जे भिक्खू णितियवासस्स असणं वा ४ देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥९२॥ जे भिक्खू णितियस्स असणं वा ४ पमिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ॥९३॥ जे भिक्खू णितियं वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥ ९४ ॥ जे भिक्खू णितियं वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पमिच्छइ, पमिच्छंतं वा साइज्जइ ॥९५॥ जे भिक्खू संसत्तस्स असणं वा ४ देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥ ९६ ॥ जे भिक्खू संसत्तस्स असणं वा ४ पडिच्छइ, पमिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९७ ॥ जे भिक्खू संसत्तस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥९८॥ जे भिक्खू संसत्तस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पमिच्छइ, पमिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९९ ॥

जे भिक्खू गाहा। पासत्थादी गाहा। पासत्थगाहा। उग्गमगाहा। एताणि गाहा। उग्गमदोसगाहा। सुज्झइ गाहा। ण वि रागो गाहा। असिवे गाहा। जत्थ सुलभ वत्थं तम्मि विसए, अग्रतरे वा असिवादिकारणे होज्जा, एवमादिकारणेहिं तं विसयमेव गच्छतो इह अलभतो पासत्थादिवत्थं गेण्हेज्जा, देज्ज वा तेसिं। अहवा-अद्धाण गाहा २८२। अद्धाणे वा विविता मुसिया अलभता पासत्थादि तत्थ गेण्हेज्जा, हिमदेसे वा सीताभिभूता पामिहारियं गेण्हेज्जा, एमेव सिंधुमादिविसए ओमम्मि उज्जलवत्थो भिक्खं लभति, अप्पणो तम्मि उज्जलवत्थे असंते पासत्थादियाण गेण्हेज्ज, गेलण्णे वा किमिकुट्ठादिए कवलरयण पासत्थादियाण देज्ज, गिण्हेज्ज वा, अहिमादिणा डक्के वा सगलवत्थेणं ओमज्जण कायव्वं, अप्पणो असते पासत्थवत्थं गेण्हेज्ज वा, देज्ज वा तेसिं। नि० चू० १५ उ०।

जे भिक्खू अइरेगपडिग्गहं खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा थेरगस्स वा थेरियाए वा अहत्थच्छिण्णस्स अपायच्छिण्णस्स अकण्णच्छिण्णस्स अनासच्छिण्णस्स अणोट्ठच्छिण्णस्स सत्तस्स देयइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

हत्था अच्छिण्णा जेसिं ते अहत्थच्छिण्णा भाणियव्वा। एवं सव्वे पदा। सत्तो समर्थः। एतेसिं दिंतस्स चउलहु।

गाहा-

अव्वालवुड्ढदाणे, इत्थीपुरिसाण जुंगिताणं वा ।
सुत्तत्थवीरिएण व, पज्जत्तसकोविताणं वा ॥ १३६ ॥

अथवा बालभावं अतिक्कता, अवुड्ढा वुड्ढभावं अप्पत्ता, सरीरेण जातीए वा अजुंगिता, सुत्तं च अधीय, जेहिं अत्थो वि सुतो, गीयत्था इत्यर्थः। वीर्यं वा उप्पादणशक्तिः, गीयत्थणातो चेव पज्जत्तो, पादकप्पितो वि वुत्तं भवति, सकोविता गमणागमणमचेट्ठा, ते य सवीरियत्तणतो चेव सकोविता, एतेसिं जो इत्थीण वा पुरिसाण वा अतिरेगपडिग्गहं देति, अहवा।

गाहा-

अभिणवपुराणगहितं, पातमछिण्णं तहेव छिण्णं च ।
निद्दिट्ठमणिद्दिट्ठं, पाते देंताण आणादी ॥ १३७ ॥

अभिणव पुराण वा ज ल अच्छिण्णं छिण्णं वा गणिमादियाण णिद्दिट्ठं वा अणिद्दिट्ठं वा जो देइ, तस्स आणादिया दोसा। चउलहु च से पच्छित्तं, जो सुत्तपमिसिद्धाण देति।

इमाए य अदेंतस्स दोसा। गाहा-

अद्धाणणिग्गयादी-णऽदेंतो दोसा तु वण्णिता पुव्विं ।
रोगजओजेसज्जं, णिरुयस्स कमेसहेहिं तु ॥ १३८ ॥

दिंतस्स उवसंथारो, जो हत्थपादादिविगलो, तस्स जुत्त दाण, समत्थस्स किं दिज्जति?, गतु सयमेव आणेउ त्ति, सेस कंठ।

इमेहिं पुण कारणेहिं समत्थस्स दिज्जति-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे जए व गेलण्णे ।
सेहे चरित्तसावय-भए व अद्धाण जयणाए ॥ १३९ ॥

एते असिवादिकारणा दाणभायणभूमीए होज्जा, अतरदेसे वा अद्धाणे बालवुड्ढादियाण दाण प्रति जयणा कायव्वा, जत्थ बहुतरा णिज्जरा, जत्थ वा बहुतरा हाणी दीसइ, पुव्वं तस्स दायव्वं, जो वा पादच्छिण्णादिओ कमो भणितो, तेण दायव्वं।

गाहा-

एएहिं कारणेहिं, सक्काण वि देंतिऽसंसत्ती ।
जेसिं होज्जितरे वा, तेसिं पुण सज्ज परिहाणी ॥ १४० ॥

अच्छिण्णहत्थादिया सक्का, तेसिं देज्ज, जेण तेसिं असंसत्ती। असंसत्ती णाम-भायणवोच्छेदो, अभाव इत्यर्थः। इतरे हत्थपावछिण्णादिया, तेसिं परिहाणी होज्ज वा, ण वा, तेसिं पुण सक्काणं भायणाभावे सज्जति, वट्टते चेव परिहाणी, तम्हा तेसिं दायव्वं।

गाहा-

जे चेव सक्कदाणे, असक्क असतीए दोस पावेंति ।
असतीए सक्काण वि, ते चेव अदेंति पावेंति ॥ १४१ ॥
जं ते असंथरंता, अणेसणं जं च भायणभूमीए ।
पावेंति तहा सावय-तेणादिविराहणा जं च ॥ १४२ ॥

सक्कस्स देंतो जे दोसा भणिता, असक्कस्स य अदेंतो जे दोसा भणिया, ते चेव दोसा सक्काण वि असतीए अदेंतो पावति, तम्हा असिवादिकारणे अवेक्खिऊ सक्कस्स वि दायव्वं ॥ १४१ ॥ अह ण देति तो इमे दोसा—ते अच्छि-

ब्रह्मदत्ताश्रिया समणसंघा जं सत्तेणव पेच्छिस्संति, ज य भागणभूमीए सगरा आमंतादि या पाविस्संति, सावगभूमीगयाण या सयणेहिं मेहो उ लिकामाश्रिआति, भावणाण वा गच्छंता साधवा भजाते, तेहिं वा झोडज्झति, ज चउण्ह किं वि सरीरसमाविरादण पावेति, त सव्वं पावच्छित्त अदेंते पावति ।

अहवा इमाए जयणाए आवणा दायव्वा । गाहा-

पुव्वं तु असंजोगी, दुगातिगवच्छं मदेव हुंमादी ।

तो पच्छा इतराण वि, तेसिं देंतो भवे सुद्धो ॥१४३॥

तेसिं मद्धाण असिवादिकारणेहिं दिज्जते पढमं जं असंतोहय याद, तं दिज्जति, होलु वा मिलु वा जागेलु जं यदं, त दिज्जति, दुद्धं वा नाइदालि वा असयमाणजुत्ताणि दिज्जति, जति ते णत्थि, तो पच्छा इयराण वि मलोइयालि असिणालि समचउरंसाानिसयणजुत्ताणि य देंतो सद्धो भवति ।

इतिरिंकप्रतिषद् दर्शाति-

जे भिक्खू अहरेगपडिग्गहगं गुणमगस्स वा गुणिपाए वा थेरगस्स वा थेरियाए वा हत्थच्छिणस्स पायच्छिणस्स कएणच्छिणस्स णासच्छिणस्स असत्ताणं देइ, ण देयंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

पुव्वियसुत्ताओ चेव इम सुत्त पन्निपवत्ततं, किं च-पूर्व यतं अहाणादिया सत्यतो भणिता, इह पुण सुत्तओ चेव भण्णति ।

गाहा-

अहाण बालवुड्ढा-ऽऽउराण दुविहाण जुंगिताणं च ।

गुणवनवीरियाण, भयनचडविक्कोवितायं वा ॥१४४॥

दुविधा जुंगिता-जातीए, सरीरेण वा । सेस पूर्ववत् ।

गाहा-

अभिणवपुराणगहितं, पायपन्निणं तहेव छिण्णं च ।

णिहिट्ठमणिद्दिट्ठं, तेसिं अदेंताण आणादी ॥ १४५ ॥

कंठा पूर्ववत् ।

गाहा-

अद्धाणओमअसिवे, उद्दिट्ठामति अदेंते जं पावे ।

पारअमच्छावाए, थेरस्स य जत्ति जं कुज्जा ॥ १४६ ॥

पूर्ववत् ।

गाहा-

दुविहजयआतुराणं, तप्पडिचरगाण निज्जराणी य ।

जुंगिते पुव्वनिसिद्धो, भणति देमेतरो पच्छा ॥१४७॥

आसुकारी दीहरोगेण वा, अहवा-आगतुओ तदुत्थेण वा भायणाणि विणा जा परिहाणी, त अदेंतो पावति । णणु दुविहो जुंगिओ-भणतसुत्तेण पुव्व णिसिद्धो, ण पव्वइओ ण विज्जति ? । भण्णति-जातिजुंगितो वि देसो पव्वाविज्जति, इतरो त्ति सरीरजुंगिओ पव्वज्जाए ठितो, पच्छा जाते तेसिं इमा विही अतिथयव्वा ।

गाहा-

जातीयजुंगितो खलु, जत्थ ण णज्जति तहिं तु सो अत्थ ।

अमुगणिमित्त वि गओ, इतरो जहि णज्जति तहिं तु ।१४८।

पूर्ववत्कथा ।

गाहा-

जं तरुवंता काग-चेति ग जं पि ग करेंति उड्डाहं ।

किं णु हु गिहिणामणो, वि जुंगिता लोकसंका तु ॥१४९॥

कथा पूर्ववत् ।

सरीरविकले दाण पडुच्च इमो कमो । गाहा-

पादऽच्छिन्नामकरके-ण जुंगिते जातिजुंगितो चेव ।

वोगत्ये चउ लहुगा, सरिसे पुव्वं तु समणीणं ॥१५०॥

पादादिविकल भणिय कमातो जो वोच्चत्थं देति, तस्स चउलहु, साहुसाहुणीण सरिसे विकलभावे दोण्ह वि दायव्वं । असति दोण्ह वि समणीसु पुव्व दायव्वं ।

अदाणे इमो अववातो । गाहा-

विनियपडिग्गणप्पज्जो, देज्ज व अविकोविते य अप्पज्झे ।

जाणंतो असतीए, उ पंडपम्हेसु पज्जेज्जा ॥ १५१ ॥

अपज्जत्तो पत्तविहादिगे ण देज्ज, सेहो वा अकोवितो गुणदोसेसु, सो वा ण देज्ज । अप्पज्झो वा जाणतो वि असतीए भायणस्स ण देज्ज, विज्जमाणे वि पामायादिसु वा मह-यसेसु ग देज्जा; एवमादिकारणेसु अदेंतो वि सुद्धो । नि० चू० १४ उ० ।

" समणुन्नमसणीय, पत्ते दाणं भवे अणट्ठाय ।

जह कडुयतुंबगाय, णागसिरिभवम्मि दोवइए ॥ १ ॥ "

हा० ? चू० १६ अ० । (अत्र 'दुवई' शब्दे विशेषो द्रष्टव्य)

दाने जातिर्न निमित्तम्-" जे य जातिमदपत्तयावण साहूण दाणाइसु पवट्टति, न गुणाऽगुणनिमाए, ते वि विवज्जासमायण । जहा गुणा पूइणिज्जा, तं चेव दाणाइसु पवट्टणेण निमित्त कज्जतु, किं जाइमाइपमिईहिं, जओ न जाईए निद्धम्मा वि अत्थि, ता तेसु दाण महाफल होज्जा, अह तेसु य गुणा अत्थि, तहा वि ते चिय पवित्तिनिमित्त दाणाइसु करितु, न किंचि जाइमाइणा । " दर्श० ३ तत्त्व ।

तीर्थकृते भिक्षादान महाफलम्, तत्र पञ्च दिव्यानि जायन्ते-

तए णं तस्स विजयस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं पडिग्गहसुद्धेणं तिविहं तिकरणसुद्धेणं दाणेणं मए पडिलाभिए समाणे देवाउयणिबद्धे संसारपरित्तीकए गिहंसि य से इमाइं पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं । तं जहा-वसुहारा वुट्ठा १, दसद्धवण्णे कुसुमे णिवातिते २, चेलुक्खेवे कए ३, आहयाओ देवदुंदुहीओ ४, अंतरा वि य णं आगासे अहो दाणे अहो दाणे त्ति घुट्ठे ५ । भ० १५ श० ।

(श्रमणमाहनेभ्यो दाने फलम् ' आउ ' शब्दे द्वितीयभागे १२ पृष्ठे दर्शितम्)

अथ तीर्थकृतो दान तदद्भुतम् । अनन्तर जगद्गुरोर्महादानमुक्तम् । तच्च न युक्तमिति परमतमाशङ्क्याह-

कश्चिदाहास्य दानेन, क इवाऽर्थः प्रसिद्ध्यति ।

मोक्षगामी ध्रुवं ह्येष, यतस्तेनैव जन्मना ॥१॥

कश्चिद् दुर्विदग्धमतिः, आह ब्रूते, अस्य जगद्गुरोर्दानेन वितरणेन कइर्थ, न कश्चिदित्यर्थः, अर्थः पुरुषार्थो, धर्मार्थकाममोक्षाणामन्य-

तम , फल वा प्रसिद्ध्यति निष्पद्यते,अर्थाऽऽदिषु तस्य निरपेक्षत्वात् । दानधर्मस्य च तत्कारणत्वान्मोक्षार्थं सिद्ध्यतीति चेन्नेत्याह-मोक्ष निर्वाणं गमिष्यति यास्यतीति मोक्षगामी, ध्रुव निश्चित, हिशब्दो जिनदानस्य प्रयोजनाभावभावनार्थः । एव जगद्गुरुर्यतो यस्मात्कारणात्, तेनैवाऽकृतेन, यस्मिन् जन्मनि दानं ददाति न जन्मपरम्परया, जन्मना भवेन, दान हि भवपरम्परया मोक्षफल, येन च तद्भवेनैवावश्य निर्वातव्य, तस्य दानेन न कश्चिदर्थ इति ॥१॥

अथोत्तरमाह-

उच्यते कल्प एवास्य, तीर्थकृन्नामकर्मणः ।
उदयात् सर्वसत्त्वानां, हित एव प्रवर्त्तते ॥ २ ॥

उच्यते अनन्तरोदिताऽऽक्षेपस्य समाधिरभिधीयते,कल्पशब्दः करणार्थः । यदाह- " सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा । औपम्ये चाधिवासे च, कल्पशब्द विदुर्बुधाः ॥ १ ॥ " करण च क्रिया, समाचार इत्यर्थ. । ततश्च कल्प एव जीतमेव, वक्ष्यमाणे दानाऽऽदिना सर्वसत्त्वहितवर्तनलक्षणेऽस्य जगद्गुरोर्न पुन. फलविशेष प्रति प्रत्याशा । किंरूपोऽसौ कल्प इत्याह-तीर्थकृतस्तीर्थकरस्य सबन्धि तीर्थकरत्वनिबन्धन यन्नामाऽऽख्य कर्माऽदृष्ट तत्तथा, तस्य तीर्थकृन्नामकर्मण उदयाद्विपाकात् सर्वसत्त्वानां सकलशरीरिणाम् । इह च हितशब्दयोगेऽपि न चतुर्थी, सबन्धस्यैव विवक्षितत्वात् । हिते पथ्ये अनुकूलविधावेव, इह यदिति शेषो दृश्यः, तेन यदेतत् प्रवर्तते व्याप्रियते भगवानिति ततश्चास्य दानात् कल्पपरिपालनं विना नान्यत् फलमस्तीति भावनेति ॥ २ ॥

परिहारान्तरमाह-

धर्माङ्गख्यापनार्थं च, दानस्याऽपि महामतिः ।
अवस्थौचित्ययोगेन, सर्वस्यैवानुकम्पया ॥ ३ ॥

धर्मस्य कुशलाऽऽत्मपरिणामविशेषस्याङ्गमवयवः कारणं वा धर्माङ्ग, तस्य ख्यापन प्रकाशन धर्माङ्गख्यापन, तस्मै इद धर्माङ्गख्यापनार्थं, भावप्रत्ययगर्भत्वाच्चिर्देशस्य धर्माङ्गताख्यापनार्थमिति द्रष्टव्यम । महादान दत्तवानिति प्रक्रमगम्यम् । धर्माङ्ग दान भगवता प्रवृत्तत्वाच्छीलवदिति भव्यजनसप्रत्ययार्थमित्यर्थ । चशब्द. पूर्वोक्तपरिहारापेक्षया परिहारान्तरसमुच्चयार्थ. । कस्येत्याह-दानस्याऽपि वितरणस्यापि, न केवल शीलाऽऽदेर्धर्माङ्गतेत्यपिशब्दार्थः। महामतिरव्याहतबोधो भगवान्, किं यथाकथञ्चिदस्य धर्माङ्गताया ख्यापन, नेत्याह-अवस्थाया भूमिकाया औचित्ययोग आनुरूप्यलक्षणधर्मसबन्ध.-अवस्थौचित्ययोग., तेन,स्वभूमिकोचितत्वेनेत्यर्थ. । धर्माङ्गता च तस्य किं गृहिणामेव, नेत्याह-सर्वस्यैव, एवशब्दस्याऽपिशब्दार्थत्वान्न केवल गृहिण एव, निरवशेषस्यापि दातुर्यतेर्गृहिणो वाऽनुकम्पया कृपया, न तु गृहिणामनुकम्पादानमुचितम्, " अणुकपादाण पुण, जिणेहिँ न कयाइ पमिसिद्ध । " इति वचनात् । यत् पुन साधु साधवे ददाति तदनुकम्पानिमित्त न भवति, भक्तिनिमित्तत्वात्तस्य । यत् पुनरसयताय दान तत् साधोर्न सभवति, " गिहिणो वेयावडियं, न कुज्जा अभिवायणवंदणपूयण च ।" इति वचनात् । तत. सर्वस्याऽपि गृहस्थस्यैव व्याख्येय,नैवम,यतो विशिष्टपुष्टाऽऽलम्बनसद्भावे यतेरप्यनुकम्पादानसभव इति न दोष. । अमु चार्थं ग्रन्थकार एव व्यक्तीकरिष्यति । श्रूयते चाऽऽगमे आर्यसुहस्त्याचार्यस्य रङ्कदान,न चानुकम्पादान साधुषु न सभवति, " आयरिय अणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिओ महाभागो । " इति वचनादिति ॥ ३ ॥

धर्माङ्गमेव दान यतः-

शुभाऽऽशयकरं ह्येत-दाग्रहच्छेदकारि च ।
सदभ्युदयसाराङ्ग-मनुकम्पाप्रसूति च ॥ ४ ॥

शुभ प्रशस्तमाशय चित्त कर्तुं शीलमस्येति शुभाऽऽशयकर, हि इति यस्मादेव तस्माद्धर्माङ्गता दानस्येति प्रकृतम् । एतदिति दानम । तथा-आग्रहच्छेदकारि च-वित्त प्रति ममकारलक्षणाभिनिवेशनाशकर्तृ, चशब्द. समुच्चये । तथा सन् शोभनोऽभ्युदयान्तरानुबन्धित्वेन योऽभ्युदयः कल्याणावाप्ति , तस्य साराङ्ग प्रधानकारण सदभ्युदयसाराङ्गम । आह च- " दानेन भोगानाप्नोति, यत्र यत्रोपपद्यते । शीलेन भोगान् स्वर्गं च, निर्वाणं चाधिगच्छति ॥ १ ॥ " तथाऽनुकम्पाया दयायाः सकाशात् प्रसूति प्रभवो यस्य तदनुकम्पाप्रसूति. । चशब्दः समुच्चय इति ॥ ४ ॥ द्वा० २ अष्ट० । पञ्चा० । कल्प० । द्वा० । (प्रायश्चित्तदानविधि ' पच्छित्त ' शब्दे वक्ष्यते)

अथ दान प्रति विधिनिषेधविचारः-

से णाईए, णादियावए, ण समणुजाणति (१७) ।

(से णाईए इत्यादि) स भिक्षुस्तद्दा कल्प्य माददीत न गृह्णीयान्नाप्यपरमादापयेद् ग्राहयेत, नाप्यपरमनेषणीयमाददान समनुजानीयात् । अथवा-सङ्गाल सधूम वा नाद्यान्न भक्षयेन्नापरमादयेददन्तं वा न समनुजानीयादिति । आचा० १ श्रु० २, अ० ५ उ० ।

दाणट्ठया य जे पाणा, हणंति तसथावरा ।
तेसिं संरक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति णो वए ॥ १८ ॥

अन्नपानदानार्थमाहारमुदक च पचनपाचनाऽऽदिकया क्रियया कूपखननाऽऽदिकया चोपकल्पयेत् । तत्र यस्माद्धन्यन्ते व्यापाद्यन्ते त्रसा स्थावराश्च जन्तवस्तस्मात्तेषां रक्षानिमित्त साधुरात्मगुप्तो जितेन्द्रियोऽत्र भवदीयानुष्ठाने पुण्यमित्येव नो वदेदिति ॥१८॥

यद्येव, नास्ति पुण्यमिति ब्रूयात्तदेतदपि न ब्रूयादित्याह-

जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाण तहाविहं ।
तेसिं लाभंतरायं ति, तम्हा णत्थि त्ति णो वए ॥ १९ ॥

(जेसिमित्यादि) येषां जन्तूनां तदन्नपानाऽऽदिक किल धर्मबुद्ध्योपकल्पयन्ति, तथाविध प्राण्युपमर्ददोषदुष्ट निष्पादयन्ति, तन्निषेधे च यस्मात्तेषामाहारपानार्थिनां तल्लाभान्तरायो विघ्नो भवेत्,तदभावेन तु पीड्येरन्,तस्मात्कूपखननसत्राऽऽदिके कर्मणि नास्ति पुण्यमित्येतदपि नो वदेदिति ॥१९॥

एनमेवार्थं पुनरपि समासत स्पष्टतर बिभणिषुराह-

जे य दानं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करेंति ते ॥ २० ॥

(जे य दाणमित्यादि)ये केचन प्रपासत्राऽऽदिक दान बहूनां जन्तूनामुपकारीति कृत्वा प्रशसन्ति श्लाघन्ते,ते परमार्थानभिज्ञाः, प्रभूततरप्राणिनां तत्प्रशसाद्वारेण वध प्राणातिपातमिच्छन्ति, तद्दानस्य प्राणातिपातमन्तरेणानुपपत्ते । येऽपि च किल सूक्ष्मधियो वयमित्येव मन्यमाना आगमसद्भावानभिज्ञा. प्रतिषेधन्ति निषेधयन्ति, तेऽप्यगीतार्था.,प्राणिनां वृत्तिच्छेद वर्तनोपा-

यन्विघ्नं कुर्वन्तीति ॥२०॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । आचा० । आव० । (कृतप्रत्याख्यानोऽशनाऽऽदिदानं न कुर्यादिति 'पच्चक्खाण' शब्दे वक्ष्यते) (भुञ्जाने साधुभिर्द्रमकाऽऽदिभ्यो न देयमसंयतपोषणभयादिति 'भोयण' शब्दे विस्तरेण वक्ष्यते) "ऐन्द्रशर्मप्रदं दान-मनुकम्पासमन्वितम् । भक्त्या सुपात्रदानं तु, मोक्षदं देशितं जिनैः ॥१॥" द्वा० १ द्वा० । (अनुकम्पा० (२) इत्यादिभिर्दशभिः श्लोकैरनुकम्पादानम् 'अणुकंपादाण' शब्दे प्रथमभागे ३६० पृष्ठे व्याख्यातम्)

नन्वेवं "गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा" इत्याद्यागमविरोधः ?, इत्यत आह-

वैयावृत्ये गृहस्थानां, निषेधः श्रूयते तु यः ।
स औत्सर्गिकतां बिभ्रद्, नैतस्यार्थस्य बाधकः ॥१२॥

(वैयावृत्य इति) गृहस्थानां वैयावृत्ये तु साधोर्यो निषेधः श्रूयते, स औत्सर्गिकतां बिभ्रन्नैतस्यापवादिकस्यार्थस्य बाधकः । अपवादो ह्युत्सर्गं बाधते, न तूत्सर्गोऽपवादमिति ॥१२॥

सूत्रान्तरं समाधत्ते-

ये तु दानं प्रशंसन्ती-त्यादिसूत्रेऽपि संगतः ।
विहाय विषयो मृग्यो, दशाभेदं विपश्चिता ॥१३॥

(ये त्विति) ये तु दानं प्रशंसन्तीत्यादिसूत्रेऽपि "जे उ दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं । जे अ णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥ २० ॥" इति सूत्रकृतसूत्रेऽपि दशाभेदं विहाय संगतो युक्तो विषयो विपश्चिता मृग्यः पैदम्पर्यशुद्ध्या विचारणीयो, न तु पदार्थमात्रे मूढतया भाव्यम्, अपुष्टाऽऽलम्बनविषयतयैवास्योपपादनात् । आह च-"ये तु दानं प्रशंसन्ती-त्यादि सूत्रं तु यत् स्मृतम् । अवस्थाभेदविषयं, द्रष्टव्यं तन्महात्मभिः ॥ १ ॥" इति ॥१३॥

पुनः शङ्कते-

नन्वेवं पुण्यबन्धः स्यात्, साधोर्न च स इष्यते ।
पुण्यबन्धान्यपीडाभ्यां, भक्तं भुङ्क्ते यतो यतिः ॥१४॥

(नन्विति) नन्वेवमपवादतोऽपि साधोरनुकम्पादानेऽभ्युपगम्यमाने पुण्यबन्धः स्यात्, अनुकम्पायाः सातबन्धहेतुत्वात् । न च स पुण्यबन्ध इष्यते साधोः, यतो यस्माद् यतिः पुण्यबन्धान्यपीडाभ्यां हेतुभ्यां भक्तं भुङ्क्ते ॥१४॥

एतदेव स्पष्टयति-

दीनाऽऽदिदाने पुण्यं स्या-त्तददानं च पीडनम् ।
शक्तौ पीडाऽप्रतीकारे, शास्त्रार्थस्य च बाधनम् ॥१५॥

(दीनाऽऽदीति) प्रकटं भोजने दीनाऽऽदीनां याचमानानां दाने पुण्यं स्याद्, न चानुकम्पावाँस्तेषामदत्त्वा कदापि भोक्तुं शक्तः । अतिधार्ष्ट्यमवलम्ब्य कथञ्चित्तेषामदाने च पीडनं स्यात्तेषां तदानीमप्रीतिरूपं, शासनद्वेषात्परत्र च कुगतिसङ्गतिरूपम् । तदप्रीतिदानपरिणामाभावान्न दोषो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह-शक्तौ सत्यां पीडायाः परदुःखस्याप्रतीकारेऽनुद्धारे च शास्त्रार्थस्य पराप्रीतिपरिहारप्रयत्नप्रतिपादनरूपस्य बाधनं, रागद्वेषयोरिव शक्तिनिगूहनस्यापि चारित्रप्रतिपन्थित्वात् । प्रसिद्धोऽयमर्थः सप्तमाष्टके ॥ १५ ॥

किञ्च दानेन भोगाऽऽप्ति-स्ततो भवपरम्परा ।
धर्माधर्मक्षयान्मुक्ति-र्मुमुक्षोर्नेष्टमित्यदः ॥ १६ ॥

किं च दानेन हेतुना भोगाऽऽप्तिर्भवति, ततो भवपरम्परा मोहधारावृद्धेः, तथा धर्माधर्मयोः पुण्यपापयोः क्षयान्मुक्तिः, इति हेतोरदोऽनुकम्पादानं मुमुक्षोर्नेष्टम् ॥ १६ ॥

सिद्धान्तयति-

नैवं यत्पुण्यबन्धोऽपि, धर्महेतुः शुभोदयः ।
वह्नेर्दाह्यं विनाश्येव, नश्वरत्वात् स्वतो मतः ॥ १७ ॥

(नैवमिति) नैवं यथा प्रागुक्तम्, यत् यस्मात्पुण्यबन्धोऽपि शुभोदयः सद्विपाको धर्महेतुर्मतः, तद्धेतुभिरेव दशाविशेषेऽनुषङ्गः, पुण्यानुबन्धिपुण्यबन्धसम्भवात्, प्राणातिपातविरमणाऽऽदौ तथाऽवधारणात् । न चायं मुक्तिपरिपन्थी, दाह्यं विनाश्य वह्नेरिव तस्य पापं विनाश्य स्वतो नश्वरत्वान्नाशशीलत्वात् । शास्त्रार्थाबाधेन निर्जराप्रतिबन्धकपुण्यबन्धाभावान्नात्र दोष इति गर्भार्थः ॥ १७ ॥

भोगाऽऽप्तिरपि नैतस्मा-द्भोगपरिणामतः ।
मन्त्रितं श्रद्धया पुंसां, जलमप्यमृतायते ॥ १८ ॥

(भोगाऽऽप्तिरिति) भोगप्राप्तिरपि नैतस्मादापवादिकादनुकम्पादानात्, अभोगपरिणामतो भोगानुभवोपनायकाध्यवसायाभावात् । दृष्टान्तमाह-मन्त्रितं जलमपि पुंसां श्रद्धया भक्त्याऽमृतायतेऽमृतकार्यकारि भवति । एवं हि भोगहेतोरप्यध्यवसायविशेषाद्भोगानुपनतिरुपपद्यत इति भावः ॥ १८ ॥

नन्विदं हरिभद्रसम्मत्या भवद्भिर्व्यवस्थाप्यते, तेनैव स्वाभिनिवेशेनोक्तमित्याशङ्क्याऽऽह-

न च स्वदानपोषार्थ-मुक्तमेतदपेशलम् ।
हरिभद्रो ह्यदोऽभाणीद्, यतः संविग्नपाक्षिकः ॥१९॥

(न चेति) न च स्वदानस्य स्वीयासंयतदानस्य पोषार्थं समर्थनार्थमुक्तमेतदपेशलमसुन्दरम् । यतो यस्मात्संविग्नपाक्षिको हरिभद्रोऽदः प्रागुक्तं, हि निश्चितमभाणीत् । न हि संविग्नपाक्षिकोऽनृतं ब्रूते । तदुक्तं सप्तविंशतितमाष्टकविवरणे-"स्वकीयासंयतदानसमर्थनागर्भार्थकमिदं प्रकरणं सूरिणा कृतमिति केचित्कल्पयन्ति । हरिभद्राऽऽचार्यो हि भोजनकाले शङ्खनादनपूर्वकमर्थिभ्यो भोजनं दापितवानिति श्रूयते । न चैतत्सम्भाव्यते, संविग्नपाक्षिको ह्यसौ, न च संविग्नस्य तत्पाक्षिकस्य वाऽनागमिकार्थोपदेशः सम्भवति, तस्य हानिप्रसङ्गात् । आह च-"संविग्गोऽणुवएसं, ण देइ दुब्भासियं कडुविवागं । जाणंतो तम्मि तहा, अतहक्कारो उ मिच्छत्तं" ॥ १ ॥ इति ॥ १९ ॥

भक्तिस्तु भवनिस्तार-वाञ्छया स्वस्य सुपात्रतः ।
तया दत्तं सुपात्राय, बहुकर्मक्षयक्षमम् ॥ २० ॥

(भक्तिस्त्विति) भक्तिस्तु स्वस्य सुपात्रतो भवनिस्तारवाञ्छा । आराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिः, आराधना च गौरवितप्रीतिहेतुः, क्रिया गौरवितसेवा चेत्येतदपि फलतो नैतल्लक्षणमतिशेते । तया भक्त्या सुपात्राय दत्तं बहुकर्मक्षये क्षमं समर्थं भवति ॥ २० ॥

तथाहि-

पात्रदानचतुर्भङ्ग्या-माद्यः संशुद्ध इष्यते ।
द्वितीये भजना शेषा-वनिष्टफलदौ मतौ ॥ २१ ॥

(पात्रेति) पात्रदानविषयिणी या चतुर्भङ्गी-संयताय शुद्ध-

दानम्, संयतायाशुद्धदानम्, असंयताय शुद्धदानम्, असंयतायाऽशुद्धदानमित्यभिलापा । तस्यामाद्यो भङ्गः सम्यगतिशयेन शुद्ध इष्यते, निर्जराया एव जनकत्वात् । द्वितीये भङ्गे काल।ऽऽदिभेदेन फलभावाऽभावाभ्यां भजना विकल्पाऽऽत्मिका । शेषौ तृतीयचतुर्थभङ्गौ अनिष्टफलदौ एकान्तकर्मबन्धहेतुत्वाग्मनौ ॥ २१ ॥

शुद्धं दत्त्वा सुपात्राय, सानुबन्धशुभार्जनात् ।
सानुबन्धं न बध्नाति, पापं बद्धं च मुञ्चति ॥ २२ ॥

(शुद्धमिति) सुपात्राय प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मणे शुद्धमन्नाऽऽदिक दत्त्वा सानुबन्धस्य पुण्यानुबन्धिनः शुभस्य पुण्यस्यार्जनात् सानुबन्धमनुबन्धसहितं पापं न बध्नाति, बद्धं च पूर्वं पापं मुञ्चति त्यजति । इत्थं च पापनिवृत्तौ प्रयाणभङ्गाप्रयोजकपुण्येन मोक्षसौलभ्यमावेदितं भवति ॥२२॥

भवेत्पात्रविशेषे वा, कारणे वा तथाविधे ।
अशुद्धस्यापि दानं हि, द्वयोर्लाभाय नान्यथा ॥ २३ ॥

(भवेदिति) पात्रविशेषे वाऽऽगमाभिहितस्वरूपकपकाऽऽदिरूपे, कारणे वा तथाविधे दुर्भिक्षदीर्घाध्वग्लानत्वाऽऽदिरूपे आगाढे, अशुद्धस्याऽपि दानं हि सुपात्राय द्वयोर्दातृगृहीत्रोर्लाभाय भवेत्, दातुर्विवेकशुद्धान्तःकरणत्वाद्, गृहीतुश्च गीतार्थाऽऽदिपदवत्त्वात्; नान्यथा पात्रविशेषस्य कारणविशेषस्य वा विरहे ॥ २३ ॥

नन्वेवं संयतायाशुद्धदाने फले द्वयोर्भवतु भजना, दातुर्बहुतरानिर्जराऽल्पतरपापकर्मबन्धभागित्वं तु भगवत्युक्तं कथमपवादाऽऽश्रयाऽपि भावशुद्ध्या फलविशेषादित्यत आह-

अथवा यो गृही मुग्धो, लुब्धकज्ञातभावितः ।
तस्य तत् स्वल्पबन्धाय, बहुनिर्जरणाय च ॥ २४ ॥

(अथवेति) अथवा पक्षान्तरे, यो गृही मुग्धोऽसत्शास्त्रार्थो लुब्धकज्ञातेन मृगेषु लुब्धकानामिव साधुषु आधाकर्माऽऽद्युपढौकनेनानुधावनमेव युक्तमिति पार्श्वस्थप्रदर्शितेन भावितो वासितः, तस्य तत्संयतायाऽशुद्धदानं तु मुग्धत्वादेव स्वल्पपापबन्धाय, बहुकर्मनिर्जरणाय च भवति ॥

अल्पाऽऽयुष्कत्वम्-

इत्थमाशयवैचित्र्या-दत्राल्पाऽऽयुष्कहेतुता ।
युक्ता चाशुभदीर्घाऽऽयु-र्हेतुता सूत्रदर्शिता ॥ २५ ॥

(इत्थमिति) इत्थममुना प्रकारेण, आशयवैचित्र्याद्भावभेदात्, अत्र संयताऽशुद्धदाने, अल्पाऽऽयुष्कहेतुताऽशुभदीर्घाऽऽयुर्हेतुता च, सूत्रदर्शिता स्थानाङ्गाऽऽयुक्ता, युक्ता, मुग्धाभिनिविष्टयोरेतदुपपत्ते । शुद्धदायकापेक्षयाऽशुद्धदायके मुग्धेऽल्पशुभाऽऽयुर्बन्धसम्भवात् । क्षुल्लकभवग्रहणरूपाया अल्पतायाश्च सूत्रान्तरविरोधेनासम्भवादिति । व्यक्तमिदं स्थानाङ्गवृत्त्यादौ ॥ २५ ॥

यस्तूत्तरगुणाशुद्धं, प्रज्ञप्तिविषयं वदेत् ।
तेनात्र भजनासूत्रं, दृष्टं सूत्रकृते कथम् ? ॥ २६ ॥

(यस्त्विति) यस्तु आधाकर्मिकस्यैकान्तदुष्टत्वं मन्यमानः प्रकृतेऽर्थे, प्रज्ञप्तिगोचरं भगवतीविषयम्, उत्तरगुणाशुद्धं वदेत्। शाक्यपरित्यागबीजाऽऽदिसत्त्वाऽऽदिस्थलेऽप्यप्रासुकानेषणीयपदप्रवृत्तिदर्शनात् । तेन चैव यूकापरिभवभयात्परिधानं परित्यजता, अत्र विषये, सूत्रकृते, भजनासूत्रम् , कथं दृष्टम् ? । एव हि तदनाचारश्रुते श्रूयते-" अहागडाइं भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा । उवलित्ते वियाणिज्जा-ऽणुवलित्ते त्ति वा पुणो " ॥१॥ अत्र ह्याधाकर्मिकस्य फले भजनैव व्यक्तीकृता,अन्योऽन्यपदग्रहणेनार्थान्तरस्य कर्तुमशक्यत्वात्, स्वरूपतोऽसावद्ये भजनाऽनुत्पादनस्यानतिप्रयोजनत्वाच्चेति संक्षेपः ॥ २६ ॥

शुद्धं वा यदशुद्धं वा-ऽसंयताय प्रदीयते ।
गुरुत्वबुद्ध्या तत्कर्म-बन्धकृन्नाऽनुकम्पया ॥ २७ ॥

(शुद्ध वेति) असंयताय यच्छुद्धं वाऽशुद्धं वा गुरुत्वबुद्ध्या प्रदीयते तदसाधुषु साधुमनःस्थ्या कर्मबन्धकृत्, न पुनरनुकम्पया । अनुकम्पादानस्य क्वाऽप्यनिषिद्धत्वात् । " अणुकंपादाणं पुण, जिणेहि न कयाइ पडिसिद्धं । " इति वचनात् ॥ २७ ॥

दोषपोषकतां ज्ञात्वा, सामुपेक्ष्य ददज्जनः ।
प्रज्ज्वाल्य चन्दनं कुर्यात्, कष्टामङ्गारजीविकाम् ॥२८॥
अतः पात्रं परीक्षेत, दानशौण्डः स्वयं धिया ।
तत् त्रिधा स्यान्मुनिः श्राद्धः, सम्यग्दृष्टिस्तथाऽपरः ॥२९॥
एतेषां दानमेतत्स्य-गुणानामनुमोदनात् ।
औचित्यानतिवृत्त्या च, सर्वसंपत्करं मतम् ॥ ३० ॥

दोषेति स्पष्ट ॥ २८ ॥ अत इति स्पष्टं ॥ २९ ॥ (एतेषामिति) एतेषां मुनिश्राद्धसम्यग्दृशां दानम्, एतत्स्थानामेतद्वृत्तीनां गुणानामनुमोदनात्तद्दानस्य तद्भक्तिपूर्वकत्वात्। औचित्यानतिवृत्त्या स्वाचारानुल्लङ्घनेन च, सर्वसंपत्करं ज्ञानपूर्वकत्वेन परम्परया महानन्दप्रदं मतम् ॥ ३० ॥

शुभयोगेऽपि यो दोषो, द्रव्यतः कोऽपि जायते ।
कूपज्ञातेन स पुन-र्नानिष्टो यतनावतः ॥ ३१ ॥

(शुभयोगेऽपीति) पात्रदानवद्बुद्धीनां साधर्मिकवात्सल्याऽऽदौ शुभयोगेऽपि प्रशस्तव्यापारेऽपि यः कोऽपि द्रव्यतो दोषो जायते, स कूपज्ञातेन आगमप्रसिद्धकूपदृष्टान्तेन, यतनावतो यतनापरायणस्य नानिष्टः, स्वरूपेण सावद्यत्वेऽप्यनुबन्धतो निरवद्यत्वात् । तदिदमुक्तम्-" जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स । सा होइ णिज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स॥१॥" अत्र हि अपवादपदप्रत्ययाया विराधनाया व्याख्यानात् फलभेदोपयिको ज्ञानपूर्वकत्वेन क्रियाभेद एव लभ्यते । यत्तु वर्जनाभिप्रायजन्या निर्जरा प्रति जीवघातपरिणामाजन्यत्वेन जीवविराधनायाः प्रतिबन्धकाभाववत्वेनैवास्य हेतुत्वमिति कश्चिदाह साहसिकः, तस्यापूर्वमेव व्याख्यानमपूर्वमेव चाऽऽगमतर्ककौशलं,कैवल्याद्यस्तस्याः प्रतिबन्धकत्वाभावाज्जीवघातपरिणामविशिष्टत्वेन प्रतिबन्धकत्वे च विशेषणाभावप्रयुक्तस्य विशिष्टाभावस्य शुद्धविशेष्यस्वरूपत्वे विशेष्याभावप्रयुक्तस्य तस्य शुद्धविशेषणरूपस्यापि सम्भवाज्जीवघातपरिणामोऽपि देवाना प्रियस्य निर्जराहेतुः प्रसज्येत। अथ वर्जनाभिप्रायेण जीवघातपरिणामजन्यत्वप्रकृतं स्वरूपमेव विराधनायाः स्याज्यतेऽतो नेयमसती प्रतिबन्धिकेति चेत्, किमेतद्विराधनापदं प्रवृत्तिनिमित्तं, विशेषणं वा ?। आद्ये प्रवृत्तिनिमित्तं नास्तिपदं चोक्तं इत्ययमुन्मत्तप्रलापः । अन्त्ये चोक्तदोषतादवस्थ्यमिति शिष्यद्भुबन्धनमात्रमेतत् । अथ यद्धर्मविशिष्टं यद्वस्तु निजस्वरूपं जहाति स धर्मस्तत्प्रोपाधिरिति नियमाद्वर्जनाभिप्रायविशिष्टा हि जीवविराधना जीवघातपरिणामजन्यत्वं

संयमनाशहेतु परित्यजतीति भावार्थपर्यालोचनादनुपहितविराधनात्वेन प्रतिबन्धकत्वं लभ्यते इत्युपहितायास्तस्याः प्रतिबन्धकाभावत्वमङ्गमिति चेन्न, प्रकृतविरहे धनव्ययेऽपि जीवघातपरिणामजन्यत्वस्यावश्यमेव त्याजयितुमशक्यत्वात्। अत एव तत्प्रकारकत्वमिति प्रतिबन्धकत्वस्यापि तद्वानस्यानुपपत्तेः स्यादेतत्। धर्मेतरानिष्टप्रायानावशिष्टविशिष्टविधानत्वेन प्रतिबन्धकत्वे न कोऽपि दोषः, प्रकृते तु धर्मेतरानिष्टप्रायस्य पृथक्कारत्वाकल्पनाद्यभावमिति चेन्न। विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहात्, अन्यथा दोषाभावविशिष्टधर्मस्यैव दुष्प्रज्ञानेऽपि प्रतिबन्धकत्वप्रसङ्गात्, विशेष्याभावप्रयुक्तेऽनिष्टप्रसङ्गाच्च। तस्माद् धर्मेतराभिप्रायस्यैव फलविशेषे नियामकत्वे हेतुत्व, व्यवहारेण च तत्तत्कर्तृणां भावानुगतानां निमित्तत्वमिति साम्प्रतम्। विवर्धितं चैवमन्यत्रेति नेह विस्तरः ॥ ३१ ॥

इत्थं दानविधिज्ञाता, धीरः पुण्यप्रभावकः ।

यथाशक्ति ददद्दानं, परमाऽऽनन्दभाग् भवेत् ॥ ३२ ॥

इत्थमिति स्पष्टम् ॥ ३२ ॥ द्वा० १ द्वा० ।

दक्षिणायाम्, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । 'द्दो' अवगण्डकने लुट्। खण्डने, विशे० । आव० । गजमदे, ज्ञा० १ श्रु० ए अ० । मदकारिणि, "दाणवारिभरकपोलमूला।" कल्प० २ क्षण। तीर्थकृद्दानमज्ञया प्राप्नुवन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्, ते नाप्नुवन्तीति वृद्धवादः, अक्षराणि तु ग्रन्थे दृष्टानि न स्मरन्तीति। १६८ प्र०। सेन० २ उल्ला० । केनापि स्वगृहे जिनगृहे मुक्तं, तत्र श्राद्धः कोऽपि भाटकं दत्वा तिष्ठति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-यद्यपि स्वाम्यन्तराटकप्रदानपूर्वकमवस्थाने दोषो न लगति, तथाऽपि तथाविधकारणमन्तरेण युक्तिमत् न प्रतिभाति, देवद्रव्यभोगाऽऽदौ नि शूकताप्रसङ्गादिति। ४१७ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। पौषधमध्ये य.चकाऽऽदेर्दानं दातु कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम् मुख्यवृत्त्या पौषधमध्ये याचकाऽऽदेर्दानं दातु न कल्पते, कश्चिद्विशेषकारणविशेषे तथा जिनशासनोन्नतिं ज्ञात्वा कदाचिद्यदि ददाति तदा निषेधो ज्ञातो नास्तीति। ४३३ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

दाणंतराय-दानान्तराय-न०। दीयते इति दानं, तद्विषयमन्तरायं दानान्तरायम्। प्रथमायामन्तरायस्योत्तरप्रकृतौ यदुदयवशात् सति विभवेऽपि समागते च गुणवति पात्रे दत्ताऽस्मै बहुफलमिति जानन्नपि दातु नोत्सहते, तद्दानान्तरायम्। तस्मिन्, कर्म० ६ कर्म०। पं० सं०। सं०।

दाणगहण-दानग्रहण-न०। प्रदानाऽऽदानयोः, नि०चू०५ उ०।

दाणजुय-दानयुत-पु०। दानरुचौ, कर्म० १ कर्म०।

दाणट्ठ-दानार्थ-न०। दानमर्थो यस्य तद्दानार्थम्। दाननिमित्ते, प्रश्न० ५ संव० द्वार। सूत्र०।

दाणधम्म-दानधर्म-पु०। दानधर्मकर्त्तव्यतायाम्, "दानात्कीर्त्तिः सुधाशुभ्रा, दानात्सौभाग्यमुत्तमम्। दानात्कामार्थमोक्षाः स्यु-र्दानधर्मो वरस्ततः ॥ १ ॥" पञ्चा० २ विव०।

दाणव-दानव-पु०। दनोरपत्यम्, अण्। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। "कगचजतदपयवां प्रायो लुक्" ॥ ८। १। १७७ ॥ इति प्रायग्रहणात्स्वरात्परस्यानादिभूतस्यासंयुक्तस्यापि वकारस्यालुक्। 'दाणवो।' प्रा० १ पाद। भवनपतिविशेषे, व्यन्तरभेदे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। असुरे, अनु०। स्था०। उत्त०। आ० म०।

दाणविंद-दानवेन्द्र-पु०। चमराऽऽदौ, आ०म०१ अ०१ खण्ड।

दाणविप्पणास-दानविप्रनाश-पु०। दत्तापलापे, प्रश्न० ३ संव० द्वार।

दाणसड्ढ-दानश्राद्ध-पु०। प्रकृत्यैव दानरुचौ, ध० ३ अधि०। वृ०।

दाणसूर-दानशूर-पु०। तृतीये शूरभेदे, "दाणसूरे वेसमणे।" दानशूरो वैश्रवण उत्तराशालोकपालस्तीर्थकराऽऽदिजन्मपारणकाऽऽदिषु हिरण्यवृष्टिपातनाऽऽदिनेति। उक्तं च-"वेसमणवयणसचोइया उ ते तिरियजंभगा देवा। कोडिग्गसो हिरण्णं, रयणाणि य तत्थ उवणेंति ॥ १ ॥" इति। स्था० ४ ठा० ३ उ०। सथा०।

दाणाइ-दानाऽऽदि-पु०। वितरणप्रभृतौ, आदिशब्दाद् गुरुसेवातपःप्रभृतीनां च सङ्ग्रहः। पञ्चा० २ विव०।

दाणामा-दानमयी-स्त्री०। प्रव्रज्यायाम्, "दाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए।" भ० ३ श० २ उ०।

दाणिं-इदानीम्-अव्य०। "इदानीमो दाणिं" ॥ ८। ४। २७७ ॥ शौरसेन्यामिदानीमः स्थाने 'दाणिं' इत्यादेशः। प्रा० ४ पाद। सम्प्रतीत्यर्थे, भ० ३ श० २ उ०। सूत्र०। "अणंतरकरणीयं दाणिं आणवेदु अय्यो।" व्यत्ययात्प्राकृतेऽपि-"अन्न दाणिं बोहिं।" प्रा० ४ पाद। "सुणध दाणिं हगे! शक्रावयालतित्थनिवासी धीवले।" प्रा० ४ पाद। वाक्यालङ्कारे, वृ० १ उ०।

दाणुवएस-दानोपदेश-पु०। अन्नाऽऽद्यान्प्रदानोपदेशे, आव० ६ अ०। पञ्चा०।

दायालय-उदकस्याद्यक-न०। उदकार्द्रस्थालके, भ०१५ श०।

दाददलिआ-स्त्री०। देशी-अङ्गुली, दे० ना०५ वर्ग०३८ गाथा।

दाम-दामन्-न०। दो-मनिन्। "स्नमदामशिरोनभः" ॥ ८। १। ३२ ॥ इति पर्युदासान्नपुंस्त्वम्। 'दाम।' प्रा० १ पाद। स्रजि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। मालायाम्, भ० ११ श० ११ उ०। कल्प०। प्रज्ञा०। औ०। आ० क०। स्था०। रज्जौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। स्त्रियां टाप्। दामा। मन:शिलाकस्य वेलन्धरनागराजस्याऽऽवासपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ०। स्त्रियां टाप्। दामा। दामे। वाच०। पाशकविशेषे, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

दामग-दामक-न०। रज्जुमयपादसंयमने, प्रश्न०३ आश्र०द्वार।

दामड्ढि-दामार्द्धि-पु०। शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराज्ञः स्वनामख्याते वृषभानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ०।

दामण-दामन-न०। बन्धने, प्रव० ३८ द्वार।

दामणी-दामनी-स्त्री०। गवादीनां बन्धनविशेषभूतायां रज्जौ, भ० १६ श० ६ उ०। ज०। अष्टादशतमाया तीर्थकरप्रवर्त्तिन्याम्, प्रव० ए द्वार। "कुन्थुस्स दामणी खलु।" ति०। दामन्याकारे स्त्रीणां सुलक्षणविशेषे च। ज० २ वक्ष०। प्रसवे, नयानयोश्च। दे० ना० ५ वर्ग ५२ गाथा।

दामण्णग-दामन्नक-पु०। राजगृहनगरवास्तव्यस्य मणिकारश्रेष्ठिन स्वनामख्याते पुत्रे, आव० ६ अ०। आ० चू०। (स च पूर्वभवे मत्स्यमांसप्रत्याख्यानपरिपालनाद् मणिकारश्रेष्ठिनः पुत्रत्वेनोत्पन्नः क्रमेण सागरपतिसार्थवाहस्य गृहस्वामी जातः। ततो

देवलोकं गत्वा ततश्च्युत्वा सेत्स्यतीति 'पञ्चक्खाण' शब्दे उदाहरिष्यते)

दामड्डग–दामार्द्धिक–न० । मालार्द्धये, भ० १६ श० ६ उ० । स्था० ।

दामलिवि–दामलिपि–स्त्री० । ब्राह्मया लिपेः सप्तदशे भेदे, स० १८ सम० ।

दामिली–द्राविडी–स्त्री० । द्रविडदेशोद्भवायां तद्भाषानिबद्धायां मन्त्रविशेषरूपायां विद्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दामोअर–दामोदर–पु० । " नादियुज्योरन्येषाम् " ॥८।४।३२७॥ चूलिकापैशाचिकेऽप्यन्येषामाचार्याणां मतेऽनादौ वर्त्तमानस्य तृतीयो न । दामोदरो । प्रा० ४ पाद । जीर्णदुर्गस्योत्तरदिशि गिरिद्वारे पञ्चमवासुदेवस्य प्रतिमायाम्, ती० ४ कल्प ।

दाय–दाय–पु० । दा–कर्मणि घञ् । " विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य, पुत्रैर्यत्र प्रकल्पते । " इत्युक्ते पित्रादिसम्बन्धवति तदुपरमे तत्सम्बन्धवति पुत्राऽऽदिभिर्विभजनीये द्रव्ये, विवाहकाले जामात्रादिभ्यो देये धने च । भावे घञ् । वाच० । पर्वदिवसाऽऽदौ दाने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । कल्प० । सामान्यदाने च । न० । औ० । ज्ञा० । भ० । 'दो' भावे घञ् । खण्डने, 'दैप्' करणाऽऽदौ घञ् । अम्बुनि, स्थाने, लये, सोल्लुण्ठनवाक्ये च । वाच० ।

दायग–दायक–पु० । दातरि, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० । प्रश्न० ।

दायगदोस–दायकदोष–पु० । ग्रहणैषणायाः षष्ठे दोषे, पिं० ।

अथ दायकद्वारं गाथाषट्केनाऽऽह–

बाले वुड्ढे मत्ते, उम्मत्ते वेविए य जरिए य ।
अंधेल्लए पगलिए, आरूढे पाउयाहिं च ॥ ६०३ ॥
हत्थेंदुनियलवद्धे, विवज्जए चेव हत्थपाएहिं ।
तेरासि गुव्विणी बा–लवच्छ भुंजंति घुसुलंती ॥६०४॥
भज्जंती य दलंती, कंडंती चेव तह य पीसंती ।
पिंजंती रुंचंती, कत्तंती पमद्दमाणी य ॥ ६०५ ॥
छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चेव ।
ते चेवोगाहंती, संघट्टंताऽऽरभंती य ॥ ६०६ ॥
ससत्तेण य दव्वे–ण लित्तहत्था य लित्तमत्ता य ।
उव्वत्तंती साहा–रणं व दिंती य चोरिययं ॥ ६०७ ॥
पाहुडियं च ठवंती, सपच्चवाया परं च उद्दिस्स ।
आभोगमणाभोगे–ण दलंती वज्जणिज्जा य ॥६०८॥

बालाऽऽदिका वर्जनीया इति क्रियायोगः । तत्र बालो जन्मतो वर्षाष्टकस्यान्तर्वर्त्ती १ वृद्धः सप्ततिवर्षाणां, मतान्तरापेक्षया षष्टिवर्षाणां वा उपरिवर्त्ती २, मत्तः पीतमदिराऽऽदिः ३, उन्मत्तो दृप्तो, ग्रहगृहीतो वा ४, वेपमानः कम्पमानशरीरः ५, ज्वरितो ज्वररोगपीडितः ६, अन्धश्चक्षुर्विकलः ७, प्रगलितो गलत्कुष्ठः ८, आरूढः पादुकयोः काष्ठमयोपानहोः ९ ॥६०३॥ तथा हस्तान्दुना करविषयकाष्ठबन्धनेन निगडेन च पादविषयलोहमयबन्धेन बद्धः १०, हस्ताभ्यां पादाभ्यां वर्जितश्छिन्नत्वात् ११–१२, त्रैराशिको नपुंसकः १३, गुर्विणी आपन्नसत्त्वा १४, बालवत्सा स्तन्योपजीविशिशुका १५, भुञ्जाना भोजनं कुर्वती १६, घुसुलन्ती दध्यादि मथ्नती १७ ॥६०४॥ भर्जमाना चुल्ल्यां कविल्लकाऽऽदि चणकादौ स्फोटयन्ती १८, दलन्ती घरट्टेन गोधूमाऽऽदि चूर्णयन्ती १९, कण्डयन्ती उदूखले तन्दुलाऽऽदिकं कुट्टयन्ती २०, पिंषन्ती शिलायां तिलामलकाऽऽदि प्रमृद्नन्ती २१, पिञ्जन्ती पिञ्जनेन रुताऽऽदिकं विरलं कुर्वती २२, रुम्वन्ती कार्पासं लोढिन्या लोढयन्ती २३, कृन्तन्ती कर्त्तनं कुर्वती २४, प्रमृद्नन्ती रुतं कराभ्यां पौनःपुन्येन विरलं कुर्वती २५ ॥६०५॥ षट्कायव्यग्रहस्ता षट्काययुक्तहस्ता २६, तथा श्रमणार्थं भिक्षामादाय तानेव षट्कायान् भूमौ निक्षिप्य ददती २७, तानेव षट्कायानवगाहमाना पादाभ्यां चालयन्ती २८, संघट्टयन्ती तानेव षट्कायान् शेषशरीरावयवेन च स्पृशन्ती २९, आरभमाणा तानेव षट्कायान् विनाशयन्ती ३० ॥६०६॥ ससक्तेन दध्यादिना द्रव्येण लिप्तहस्ता खरण्टितहस्ता ३१, तथा तेनैव द्रव्येण दध्यादिना ससक्तेन लिप्तमात्रा खरण्टितमात्रा ३२, उद्वर्तयन्ती महत्पिठराऽऽदिकमुद्वर्त्य तन्मध्याद्ददती ३३, साधारणं बहूनां सत्कं ददती ३४, तथा चोरितं ददती ३५ ॥६०७॥ अग्रिकूराऽऽदिनिमित्तं मूलस्थाल्यामाकृष्य स्थगतिकाऽऽदौ मुञ्चन्ती ३६, सप्रत्यपाया सम्भाव्यमानापायदात्री ३७, तथा विवक्षितसाधुव्यतिरेकेण परमन्यं साध्वादिकमुद्दिश्य हठात् स्थापितं तद्ददती ३८, तथा–आभोगेन साधूनामित्थं न कल्पत इति परिज्ञायाप्यशुद्धं ददती ३९, अथवा–अनाभोगेनाशुद्धं ददती ४०, सर्वसंख्यया चत्वारिंशद्दोषाः ॥ इह प्रक्षिताऽऽदिद्वारेषु "संसज्जिमेहिं वज्जं, अगारिहिएहिं पि गोरसदवेहिं ।" इत्यादिग्रन्थेन संसक्ताऽऽदिदोषाणामभिधानेऽपि यद् भूयोऽप्यत्र " ससत्तेण य दव्वे–ण लित्तहत्था य लित्तमत्ता य । (६०७)" इत्याद्यभिधानं, तद्दशेषदायकदोषाणामेकत्रोपदर्शनार्थमित्यदोषः ॥६०८॥

सम्प्रत्येतेषामेव दायकानामपवादमधिकृत्य वर्जनावर्जनविभागमाह–

एएसि दायगाणं, गहणं केसिं वि होइ भइयव्वं ।
केसिं वी अग्गहणं, तव्विवरीए भवे गहणं ॥ ६०९ ॥

एतेषां बालाऽऽदीनां दायकानां मध्ये केषाञ्चित्–सूत्रक्रमतः आरभ्य पञ्चविंशतिसंख्यानां ग्रहणं भजनीयं कदाचित्तथाविधं महत्प्रयोजनमुद्दिश्य कल्प्यते, शेषकाले नेति । तथा केषाञ्चित्षट्कायव्यग्रहस्ताऽऽदीनां पञ्चदशानां हस्ताद्ग्रहणं भिक्षायाः, तद्विपरीते तु बालाऽऽदिविपरीतेषु दातरि भवेद् ग्रहणम् ।

सम्प्रति बालाऽऽदीनां हस्ताऽऽदेर्भिक्षाग्रहणे ये दोषाः सम्भवन्ति ते दर्शनीयाः, तत्र प्रथमतो बालमधिकृत्य दोषानाह–

कासद्धिग अप्पाहण, दिन्ने वयगहण पज्जंते ।
कजियमग्गण दिस्से, उड्डाहपओसचारभडा ॥ ६१० ॥

काचिदभिनवा श्राद्धिका श्रमणेभ्यो भिक्षा देया इति निजपुत्रिकां (अप्पाहण त्ति) सादिश्य भक्तं गृहीत्वा क्षेत्रं जगाम, गतायां तस्यां कोऽपि साधुसंघाटको भिक्षामागतः, तया च बालिकया तस्मै तन्दुलौदनो वितीर्णः, सोऽपि च संघाटकमुख्यः साधुस्तां बालिकां मुग्धतरामवगत्य लाम्पट्यतो भूयो भूयः उवाच–पुनर्देहि पुनर्देहीति । ततस्तया समस्तोऽप्योदनो दत्तः । तत एवमुद्धृत्य घृततक्रदध्यादिकमपि । अपराह्णे च समागता जननी, उपविश्य भोजनाय भणिता च निजपुत्रिका–देहि पुत्रि ! मह्यमोदनमिति । साऽवोचत्–दत्तः समस्तोऽप्योदनः साधवे । साऽब्रवीत्–शोभनं कृतवती, मुद्गान् मे देहि । सा प्राह–मुद्गा अपि साधवे सर्वे प्रदत्ताः । एवं यद् यत् किमपि सा

याचते, तत्तत्सर्वं साधवे दत्तमिति । तत पर्यन्ते काञ्जिकमा-
श्रमयाचि । श्राविका भणति-तदपि साधवे दत्तमिति । तत सा-
ऽभिनवश्राद्धिका रुष्टा सती पुत्रिकामेवमपवदति-किमिति त्व-
या सर्वं साधवे दत्तम् ? । सा ब्रूते-स साधुर्भूयो भूयो याचते,ततो
मया सर्वमदायि । ततः सा साधोरुपरि कोपाऽऽवेशमाबिभ्रती
सूरीणामन्तिकमगमत् । अचकथच्च सकलमपि साधुवृत्तान्तं,
यथा- भवदीय. साधुरित्थमित्थं मत्पुत्रिकाया. सकाशात् या-
चित्वा याचित्वा सर्वमोदनाऽऽदिकमानीतवानिति । एव तस्यां
महता शब्देन कथयन्त्या शब्दश्रवणतः प्रातिवेशिकजनोऽन्यो-
ऽपि च परम्परया भूयान्मिलितो, ज्ञातश्च सर्वैरपि साधुवृत्ता-
न्त ,ततो विद्धति तेऽपि कोपावेशिन साधूनामवर्णवादम्-नून-
ममी साधुवेषविडम्बितश्चारभटा इव लुण्टाका , न साधुसदृ-
क्षा इति । तत प्रवचनावर्णवादापनोदाय सूरिभिस्तस्या
सर्वजनस्य च समक्ष स साधुर्निर्भर्त्स्योपकरण च सकलमागृ-
ह्य वसतेर्निष्काशित , तत एवं तस्मिन्निष्काशिते श्राविकाया'
कोप' शममगमत । तत सूरीणामुक्तवती-क्षमाश्रमण ! भ-
गवन्! मा मन्निमित्तमेव निष्काशयत, क्षमस्वैक ममापराधमि
ति, ततो भूयोऽपि यथावत्साधु शिक्षयित्वा प्रवेशित । सूत्र सु-
गम. नवरम् (उड्डाहपओसचारनमा इति) लोके उड्डाहस्ततो
लोकस्य प्रद्वेषभावश्चारभटा इव लुण्टाका अमी न साधव
इत्यवर्णवाद । यत एव बालादिभ्यो ग्रहणे दोषा , ततो बालान्न
ग्राह्यमिति ।

सम्प्रति स्थविरदायकदोषानाह-

थेरो गलंतलालो, कंपणहत्थो पडिज्ज वा देंतो ।
अपहु त्ति य अवियत्त,एगयरे वा उभयओ वा ॥६११॥

अत्यन्तस्थविरो हि प्रायो गलल्लालो भवति , ततो देयमपि
वस्तु लालया खरण्टित भवतीति तद्ग्रहणे लोके जुगुप्सा । तथा
कम्पमानहस्तो भवति, ततो हस्तकम्पनवशतो तद् वस्तु भूमौ
निपतति । तथा च-षट्जीवनिकायविराधना,तथा-स्वय वा स्थ-
विरो ददत् निपतेत, तथा च सति तस्य पीडा, भूम्याश्रितषट्
जीवनिकायविराधना च । अपि च-प्राय स्थविरो गृहस्याप्रभु-
स्स्वामी भवति, ततस्तेन दीयमानेनाप्रभुरेष इति विचिन्त्य गृहे
स्वामित्वेन नियुक्तस्य " अवियत्त" प्रद्वेष स्यात्, स च एकतर-
स्मिन् साधौ, यद्वा-उभयोरपीति ।

मत्तो-मत्ताश्चाश्रित्य दोषानाह-

अयाम भाणभेओ, वमणं असुइ त्ति लोगगरिहा य ।
पंतावण च मत्ते, वमणविवज्जा य उम्मत्ते ॥ ६१२ ॥

मत्त कदाचिन्मत्ततया साधोरालिङ्गन विदधाति, भाजन वा
भिनत्ति । यद्वा-कदाचित् पीतमालव ददानो वमति, वमँश्च साधु,
साधुपात्र वा खरण्टयति । ततो लोके जुगुप्सा-धिगमी साध-
वोऽशुचयो ये मत्तादपीत्थ भिक्षा गृह्णन्तीति । तथा कोऽपि मत्तो
मदवशविह्वलतया-रे मुण्ड ! किमत्राऽऽयात इति ब्रुवन् घातमपि
विदधाति, तत एव यतो मत्तेऽत्रयासाऽऽदयो दोषा , तस्मा-
न्न ततो ग्राह्यम । एत एवाऽऽलिङ्गनाऽऽदयो दोषा वमनवर्जा
उन्मत्तेऽपि, तस्मात्ततो पि न ग्राह्यम् ।

सम्प्रति वेपितज्वरिताचाश्रित्य दोषानाह-

वेवण परिसाडणया, पासे व छुभेज्ज भाणभेओ वा ।
एमेव य जरियम्मि वि, जरसंकमणं च उड्डाहो ॥६१३॥

वेपिवात्तु दातु सकाशाद्भिक्षाग्रहणे देयवस्तुन' परिशाटन भ-
वति । यद्वा-पार्श्वे साधुभाजनाद् बहि. स वेपितो देय वस्तु क्षि-
पेत् । यद्वा-येन स्वादशहिना भाजनेन कृत्वा भिक्षामानयति त
स्य भूमौ निपाते भेदः स्फोटन स्यात् । एवमेव ज्वरितेऽपि दोषा
भावनीया । किं च-ज्वरितात् ग्रहणे ज्वरसङ्क्रमणमपि साधो-
र्भवेत्, तथा जनोड्डाहो यथा-अहो ! अमी आहारलम्पटा., य-
दित्थं ज्वरपीडितादपि भिक्षां गृह्णन्तीति ।

अन्धगलत्कुष्ठावाश्रित्य दोषानाह-

उड्डाह कायपडणं, अंधे भेओ य पासछुहणं वा ।
तद्दोसी संकमणं, गलंतभिसाभिन्नदेहे य ॥ ६१४ ॥

अन्धाद्भिक्षाग्रहणे उड्डाह., स चायम्-अहो ! अमी औदारिका
यदन्धादपि भिक्षां दातुमशक्नुवतो भिक्षा गृह्णन्तीति । तथा-
अन्धोऽपश्यन् पादाभ्यां भूम्याश्रितषड्जीवनिकायघात विदधा-
ति । तथा-लोष्ठाऽऽद्यैः स्खलित सन् भूमौ निपतेत् । तथा-वस-
तिभिक्षादानायोत्पाटितहस्तगृहीतस्थालस्थाद्भाजनभङ्ग' । तथा-
स देय वस्तु पार्श्वे भाजनबहिस्तात् प्रक्षिपेत्, अदर्शनात् । त-
स्मादन्धादपि न ग्राह्यम् । तथा त्वग्दोषिणि, किंविशिष्टे ?, इ-
त्याह-गलितभृशभिन्नदेहे । अत्राऽऽर्षत्वाद् व्यत्यासेन पदयो-
जना । स चेत्थम्-भृशमतिशयेन गलत् अर्द्धपक्व रुधिरं
च बहिर्वहत् भिन्नश्च स्फुटितो देहो यस्य स तथा तस्मि-
न्, तद्दाहिसङ्क्रमणे कुष्ठव्याधिसङ्क्रान्ति' स्यात् , तस्मात्ततोऽपि
न ग्राह्यम ।

सम्प्रति पादुकाऽऽरूढादिचतुष्टयदोषानाह-

पाउयदुरूढपडणं, बद्धे परियाव असुइखिंसा य ।
करछिन्नाऽसुइखिंसा,ते चिय पायम्मि पडणं च ॥६१५॥

पादुकाऽऽरूढस्य भिक्षादानाय प्रचलत. कदाचिद् दु स्थितत्वात्
पतन स्यात । तथा-बद्धे दातरि भिक्षां प्रयच्छति परितापो
दु'ख तस्य भवत । तथा-(असुइ त्ति) तस्याप्युत्सर्गाऽऽदौ जलेन
तस्याशौचकरणामभवात्, ततो भिक्षाग्रहणे लोके जुगुप्सा, य-
था-अमी अशुचयो यदेतस्मादप्यशुचिपूतत्वात् भिक्षामाददत
इति । एव छिन्नकरेऽपि भिक्षा प्रयच्छति लोके जुगुप्सा, तथा-
हस्ताभावेन शौचकरणासम्भवात । एतच्चोपलक्षणम,तेन हस्ता-
भावे येन कृत्वा भाजने न भिक्षा ददाति । यद्वा-देय वस्तु तस्य
पतनमपि भवति । तथा च सति षड्जीवनिकायव्याघातः । एत
एव दोषा पादेऽपि छिन्नपादेऽपि दातरि द्रष्टव्या , केवल पादा-
भावेन तस्य भिक्षादानाय प्रचलन प्रायो नियमत पतन पातो
भवेत् । तथा च सति भूम्याश्रितकीटिकाऽऽदिकसत्त्वव्याघात. ।

सम्प्रति नपुसकमधिकृत्य दोषानाह-

आयपरोभयदोसा,अभिक्खगहणम्मि खोभणे नपुंसे ।
लोगदुगुंछा संका, एरिसया नूणमेए वि ॥ ६१६ ॥

नपुसके भिक्षां प्रयच्छति आत्मपरोभयदोषा । तथाहि-नपुस-
काद् भिक्षाग्रहणेऽतिपरिचयो भवति, अतीव परिचयात् तस्य
नपुसकस्य साधोर्वा क्षोभो वेदोदयरूप समुपजायते । ततो
नपुसकस्य साधुलिङ्गाऽऽश्लेषणेन द्वयस्यापि मैथुनसेवया क-
र्मबन्ध , अभीक्ष्णग्रहणशब्दोपादानाच्च कदाचित् भिक्षाग्रहणे
दोषाभावमाह, परिचयाभावात् । तथा लोके जुगुप्सा-यथैते नपु-
सकादपि निकृष्टाद्भिक्षामाददते इति, साधूनामप्युपरि जनस्य
शङ्का भवति तस्माद् यथैतेऽपि साधवो नूनमीदृशा नपुसकाः ।

कथमत्यासन्नेन सह भिक्षाग्रहणव्याजतोऽतिपरिचयं विदधत इति ।

संप्रति गुर्विणीबालवत्से आश्रित्य दोषानुपदर्शयति-

गुव्विणि गब्भे संघ-ट्टणा उ उट्ठंत वेसमाणीए ।
बालाई मंसेंदुग, मज्जाराई विराहिज्जा ॥ ६१७ ॥

गुर्विण्या भिक्षादानार्थमुत्तिष्ठन्त्या भिक्षां दत्वा स्थाने उपविशन्त्याश्च गर्भस्य सघट्टन सवलनं भवति, तस्मान्न ततो ग्राह्यम् । (बालाई मंसुदुग त्ति) अत्राऽऽर्षत्वाद् व्यत्यासेन पदयोजना-बालमिति शिशु भूमौ,मञ्चिकाऽऽदौ वा निक्षिप्य यदि भिक्षां ददाति,तर्हि तं बाल मार्जाराऽऽद्यो बिडालसारमेयाऽऽद्यो मांसेन्दुकाऽऽदि मांसखण्ड शशकशिशुरिति वा कृत्वा विराधयेत् विनाशयेत । तथा--आहारखरण्टितौ शुष्कौ हस्तौ भवत.,ततो भिक्षां दत्वा पुनर्दार्व्या हस्ताभ्यां गृह्यमाणस्य बालस्य पीडा भवेत्,ततो बालवत्सातोऽपि न ग्राह्यम्॥६१७॥पिं०॥

किं च-

थणगं पिज्जमाणी य, दारगं वा कुमारियं ।
तं निक्खिवित्तु रोयंत, आहरे पाणभोयणं ॥ ४२ ॥

स्तनं पाययन्ती, कमित्याह-दारक वा,कुमारिकाम् । वाशब्दस्य व्यवहितः सबन्ध' । अत एव नपुसक वा । तद्दारकाऽऽदि, निक्षिप्य रुदद् भूम्यादौ आहरेत् पानभोजनम् । अत्राय वृद्धसम्प्रदाय -" गच्छवासी, जइ थणजीवी पियन्तो णिक्खित्तो, तो न गिण्हति । रोवउ वा, मा वा; अह अन्न पि आहारेइ, तो जति ण रोवइ,तो गिण्हति, अह रोवइ,तो न गिण्हति । अह अपियंतो णिक्खित्तो थणजीवी रोवइ,तओ ण गिण्हति । अह न रोवति, तो गिण्हति । गच्छणिग्गया पुण जाव थणजीवी ताव रोवउ वा,मा वा, पिवंतओ वा, अपिवंतओ वा ण गिण्हति । जाहे अन्न पि आहारेउ आढत्तो भवति, ताहे जइ पिवंतओ, तो रोवउ वा,मा वा,ण गिण्हति । अह अपिवंतओ, तो जइ रोवइ, तो परिहरति, अरोवंतं गेण्हति । सीसो आह-को तत्थ दोसोऽत्थि ? । आयरिओ भणइ-तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं घिप्पमाणस्स अथिरत्तणेण परितावणा दोसा,मज्जाराऽऽदि वा अवहरेज्ज । " इति सूत्रार्थ. ॥४२॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४३॥

तद्भवेद् भक्तपान त्वनन्तरोदित सयतानामकल्पिक, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः । ॥ ४३ ॥ दश० ५ अ० १ उ० ।

भुञ्जाना मथ्नन्तीं चाऽऽश्रित्य दोषानाह-

भुंजंती आयमणे, उदग वोमी य लोगगरिहा य ।
घुसुलंती संसत्ते, करम्मि लित्ते वहे रसगा ॥ ६१८ ॥

भुञ्जाना दात्री भिक्षादानार्थमाचमन करोति, आचमने च क्रियमाणे उदक विराध्यते, अथ न करोत्याचमन, तर्हि लोके बोटिरीतिकृत्वा गर्हा स्यात् । तथा-"घुसुलती" दध्यादि मथ्नन्ती यदि तद् दध्यादिससक्त मथ्नाति, तर्हि तेन ससक्तदध्यादिना लिप्ते करे तस्या भिक्षा ददत्या.,तेषा रसजीवाना वधो भवति, ततस्तस्या अपि हस्तान्न कल्पते ।

सम्प्रति पेषणाऽऽदिदोषानुपदर्शयति-

दगबीए संघट्टण, पीसणकंडणदलनज्जणे डहणं ।
पिंजंत रुवणाई, दिन्ने लित्ते करे उदगं ॥ ६२० ॥

पेषणकण्डनदलनानि कुर्वन्तीना हस्ताद्भिक्षाग्रहणे उदकबीजसघट्टन स्यात । तथाहि-पिषन्तीं यदा भिक्षादानायोत्तिष्ठति तदा पिष्यमाणतिलाऽऽदिसरका काश्चिन्मृत्तिका सचित्ता अपि हस्ताऽऽदौ लगिताः सम्भवन्ति, ततो भिक्षादानाय हस्ताऽऽदिप्रस्फोटने भिक्षा वा ददत्या भिक्षासम्पर्कतस्तासा विराधना भवति । भिक्षां वा दत्वा भिक्षाऽवयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत् । तत. पेषणे उदकबीजसघट्टना । एव कण्डनदलनयोरपि यथायोग भावनीयम् । तथा-भर्जने भिक्षां ददत्या वेलालगनेन कमिल्लक्षिप्तगोधूमाऽऽदीनां दहनं स्यात । तथा-पिञ्जन, रुञ्जनमादिशब्दात्कर्तनप्रमर्दने वा कुर्वती भिक्षा दत्वा भिक्षाऽवयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत, ततस्तत्राप्युदक विनश्यतीति न ततो भिक्षा कल्पते ।

सम्प्रति षट्कायव्यग्रहस्ताऽऽदिपञ्चकस्वरूपं गाथाद्वयेनाऽऽह-

लोणदगअगणिवत्थी, फलाइ मच्छाइ सजीय हत्थम्मि ।
पाएणोगाहणया, संघट्टण सेसकाएणं ॥ ६२१ ॥
खणमाणी आरभए, मज्जए धोएज्ज सिंचए किंचि ।
छेयविसारणमाई, छिंदइ छट्टे फुरफुरते ॥ ६२२ ॥

इह सा षट्कायव्यग्रहस्ता उच्यते, यस्या हस्ते सजीव लवण मुदकमग्निर्वायुपूरितो वा बस्ति.,फलाऽऽदिक बीजपूराऽऽदिक मत्स्याऽऽदयो वा विद्यन्ते,तत. सा यद्येतेषा सजीवलवणाऽऽदीनामन्यतमादपि श्रमणभिक्षादानार्थं भूम्यादौ निक्षिप्त ,तर्हि न कल्पते। तथा-अवगाहना नाम यदेषां षड्जीवनिकायाना पादेन सघट्टन शेषकायेन हस्ताऽऽदिना समर्दन सघट्टनमारभमाणा ॥६२१॥ कुद्दाद्यादिना भूम्यादि खनन्ती, अनेन पृथिवीकायाऽऽरम्भ उक्त । यद्वा-मज्जन्ती शुद्धेन जलेन स्नाती । अथवा- धावती शुद्धेनोदकेन वस्त्राणि प्रक्षालयन्ती । यदि वा किञ्चिद् वृक्षवल्ल्यादि सिञ्चन्ती,एतेनाप्कायाऽऽरम्भो दर्शित । उपलक्षणमेतत् । ज्वलयन्ती वा फूत्कारेण वैश्वानर वस्त्यादिक वा सचित्तवातभृतमितस्तत प्रक्षिपन्ती,एतेनाग्निवायुसमारम्भ उक्त । तथा शाकाऽऽदे छेदविसारणे कुर्वती । तत्र छेद पुष्पफलाऽऽदे खण्डन, विशरण तेषामेव खण्डानां शोषणायाऽऽतपे मोचनम् । आदिशब्दात्तन्दुलमुद्गाऽऽदीनां शोधनाऽऽदिपरिग्रह । तथा-छिन्दन्ती षष्ठान् त्रसकायान् मत्स्याऽऽदीन् ' फुरफुरते' इति परिस्फुरमाणान्, पीमयोहेलानि त्यर्थ । अनेन त्रसकायाऽऽरम्भ उक्त । इत्थ षड्जीवनिकायारम्भमाणाया हस्तान्न कल्पते ।

सम्प्रति षट्कायव्यग्रहस्तेतिपदस्य व्याख्याने मतान्तरमुपदर्शयति-

छक्कायवग्गहत्था, केई कोलाइ कन्नलइयाइ ।
सिद्धत्थगपुप्फाणि य, सिरम्मि दिन्नाइ वज्जेंति ॥६२३ ॥

केचिदाचार्या षट्कायव्यग्रहस्तेतिवचनत कोलाऽऽदीनि बदराऽऽदीनि, आदिशब्दात्करीराऽऽदिपरिग्रह । (कन्नलइया इति)कर्णपिनद्धानि । तथा सिद्धार्थकपुष्पाणि शिरसि दत्तानि वर्जयन्ती ।

अन्ने भणंति दसमु वि,एसणदोसेसु अत्थि तग्गहण ।
तेण न वज्ज भण्णइ, न तु गहणं दायए गहणे ॥६२४॥

अन्ये त्वाचार्यदेशीया भणन्ति । यथा दशस्वपि शङ्किताऽऽदिषु एषणादोषेषु मध्ये तद्ग्रहणं षड्जीवनिकायस्यापहस्तेनोपादानमस्ति, तेन कारणेन लोकाऽऽदियुक्तदेशविषयाग्रहणं न घटते, तदेतदपार्थकम्। यत आह-जायते अशंसारं दीयते, न तु दायकग्रहणादेषणादोषमध्ये षट्कायस्य ग्रहणमित्यस्य ग्रहणं विधत्ते, तत्कथमुच्यते, न तद्ग्रहणमिति ।

सम्प्रति समसि(ञ्चि)मद्भ्यदाऽऽद्यादिदोषानाह--

मंथाञ्जिमंसि देसे, मंसञ्जिमदव्वलित्तकरमत्ते ।
मत्तारायत्तणओ, उक्खिवणे वि ते चेव ॥ ६५५ ॥

ससक्तिमति ससक्तिमद्द्रव्यघाति, देश मध्ये,ससक्तिमता द्रव्येण लिप्त करो मात्र वा यस्याः सा तथाविधा दात्री भिक्षा ददती करपिलग्नान् सत्त्वान् हन्ति,तस्मात्सा वर्ज्यते। तथा-महत्पिठराऽऽदेरपवर्तने सत्त्वाः , सन्नमन्नमिति सत्त्वाग्निकीटिका मत्कोटाऽऽदिसत्त्वव्याघात । इत्युक्त भवति-महत्पिठरं यदा तदा वा नोत्पाट्यते, नापि यथा तथा वा सञ्चार्यते, सदृष्टादेव, किंतु प्रयोजनविशेषे सति सकृत्, ततस्तदाश्रित्य प्राय कीटिकाऽऽदय सत्त्वा सन्तिष्ठन्ते । ततो यदा तत्पिठराऽऽदिकमुत्क्षिप्य किञ्चिद्ददाति तदा तदाश्रितजन्तुव्यापादः । एते च दोषाः उत्पाट्यमानेऽपि सत्त्वे पिठराऽऽदौ, तत्राऽपि हि भूयो निक्षेपणे हस्तसंस्पर्शतो वा सत्त्वाग्निकीटिकाऽऽदिसत्त्वव्याघात । अपि च-तथा जनस्य महत उत्पाटने दात्र्या पीडाऽपि भवति, तस्मात्तदुत्पाटनेऽपि भिक्षा कल्पते ।

सम्प्रति साधारण चोरित वा ददत्या दोषानाह-

साधारणं बहूणं, तत्थ उ दोसा जहेव अणिसहे ।
चोरियए गहणाई, भयए सुएहाऽ वा देंते ॥ ६५६ ॥

बहूना साधारण यदि ददाति, तर्हि तत्र यथा प्राक् अनिसृष्टे दोषा उक्तास्तथैव द्रष्टव्या । तथा चौर्येण भृतककर्मकरे स्नुषाऽऽदौ वा ददति ग्रहणाऽऽदयो ग्रहणबन्धनताडनाऽऽदयो दोषा द्रष्टव्या , तस्मात्ततोऽपि न कल्पते । पिं० ।

विशेषमाह-

गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोयणं ।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥३९॥

गुर्विण्या गर्भवत्या उपन्यस्तमुपकल्पितम् । किं तदित्याह-विविधमनेकप्रकार, पानभोजन द्राक्षापानखण्डखाद्यकाऽऽदि । तत्र भुज्यमान तया विवर्जयेत्,मा भूत्तस्याहारत्वेनाऽभिलाषाऽनिवृत्त्या गर्भपतनाऽऽदिदोष इति । भुक्तशेष भुक्तोद्धरित, प्रतीच्छेत्, यत्र तस्या निवृत्तोऽभिलाष इति सूत्रार्थ ॥ ३९ ॥

किं च-

सिया य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी ।
उट्ठिया वा निसीएज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥४०॥

स्याच्च कदाचिच्च,श्रमणार्थं साधुनिमित्त, गुर्विणी पूर्वोक्ता, कालमासवती गर्भाधानान्नवममासवतीत्यर्थ । उत्थिता वा यथाकथञ्चिन्निषीदेन्निषण्णा-ददामीति साधुनिमित्तम् । निषण्णा वा स्वव्यापारेण पुनरुत्तिष्ठेत्-ददामीति साधुनिमित्तमेवेति सूत्रार्थ ॥ ४० ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥४१॥

तद्भवेद् भक्तपान तु, तथा निषीदनोत्थानाभ्यां दीयमान सयतानामकल्पिकम् । इह च स्थविरकल्पिकानामनिषीदनोत्थानाभ्यां यथावस्थितया दीयमान कल्पिकम । जिनकल्पिकाना त्वापन्नसत्त्वया प्रथमदिवसादारभ्य सर्वथा दीयमानमकल्पिकमेवेति सम्प्रदाय । यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत,न मम कल्पते तादृशमित्येतत्पूर्ववदेवेति सूत्रार्थ ॥४१॥ दश० ५ अ० १ उ० । केषुचिद्दायकदोषेषु जीतकल्पानुसारेण निर्विकृतिक प्रायश्चित्तम् । जीत० । प्रव० । आचा० । उत्त० । ग० । ध० । ओघ० । दश० । पञ्चा० । आचा० । नि० चू० । स्था० । (नैगनोऽशनाऽऽदि ददाति इत्यत्र ' गोयरचरिया ' शब्दे तृतीयभागे ६६५ पृष्ठे उक्तम्)

दायगसुद्ध-दायकशुद्ध-त्रि० । दायक शुद्धो यत्राऽऽशंसाऽऽदिदोषरहितत्वात् । दायकदोषरहिते, भ० १५ श० । दायकशुद्ध तु यत्र दाता औदार्याऽऽदिगुणान्वित । विपा० २ श्रु० १ अ० ।

दायण-दापन-न० । यथा गृहीतभक्तपानयोर्निवेदने, प्रश्न० १ सव० द्वार ।

दायणा-दापना-स्त्री० । पृच्छाप्रतिपृच्छयार्थस्य व्याख्याने,"दायणा तयत्थस्स वक्खाणा"(२६३२) विशे० । आ०म० । आ०चू० ।

दायव्व-दातव्य-त्रि० । दातु योग्ये, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

दायाद-दायाद-पु० । दाय विभजनीयधनमादत्ते । आ-दा-क । पुत्रे, सपिण्डे, वाच० । पितृपिण्डोदकदानयोग्ये, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दायार-दायार-पु० । दायाय दानार्थमियूति आगच्छन्तीति दायारा । याचके, कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

दार-दार-पु० । ब० व० । दारयन्ति विदारयन्ति पुरुषस्यान्तरङ्गगुणानिति दारा । आतु० । दारयन्ति भ्रातृस्नेहम्, दृ-णिच्, अप् । पत्न्याम् , सा हि पत्यु भ्रातृस्नेह भिनत्तीति लोकप्रसिद्धम् । वाच० । कलत्रे, प्रव० ६ द्वार । आ० चू० । आव० । स्त्रियाम् , उत्त० २१ अ० ।

द्वार-न० । प्रासादभवनदेवकुलाऽऽदीनां (रा०) प्रवेशमुखे, विशे० । प्रव० । भ० । दश० । पञ्चा० । नि० चू० । अनु० । रा० । (विजयाऽऽदीनां जम्बूद्वीपद्वाराणा वक्तव्यता 'जंबूदीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३७२ पृष्ठे उक्ता) (सूर्याभविमानद्वारवक्तव्यता 'सूरियाभ' शब्दे द्रष्टव्या) गृहाऽऽदिनिर्गमस्थाने, प्रतीहारे, उपाये, मुखे च । वाच० । कटिसूत्रे, दे० ना० ५ वर्ग ३८ गाथा ।

दारग-दारक-पु० । दृणाति भिनत्ति उदर दृ-ण्वुल् । वाच० । बालके, व्य० ३ उ० । दश० । रा० । आ० क० । सूत्र० । ज्ञा० । आ० म० । डिम्भदारककुमारकाणामल्पबहुबहुतरकालकृतो विशेष । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । बालिकायाम् , स्त्री० । टाप् । अत इत्वम । वाच० । आ० म० । प्रश्न० । अन्त० । आचा० । भेदके, ग्रामशूकरे, पु० । वाच० ।

दारजक्खिणी-द्वारयक्षिणी-स्त्री० । द्वारस्थाया यक्षिण्याम् , आव० ४ अ० ।

दारट्ठ-द्वारस्थ-पु० । द्वारपाले, बृ० १ उ० ।

दारघंता-स्त्री० । देशी- पेटायाम, दे० ना० ५ वर्ग ३८ गाथा ।

दारपमियरग-द्वारप्रतिचरक-पु० । अभ्यन्तरसूत्रस्थायिनि, प्रव० ७१ द्वार ।

दारपिंड-द्वारपिण्ड-पु० । द्वारशाखायाम्, जं० १ वक्ष० । जी० ।

दारपिहाण-द्वारपिधान-न० । द्वारकपाटस्थगने, (तत्र द्वारपिधाने दोषाः । कारणे तत्कर्तव्यता च 'वसइ' शब्दे वक्ष्यते)

णो पिहे ण यावपंगुणे,
दारं सुणघरस्स संजए ।
पुट्ठे ण उदाहरे वायं,
ण समुच्छे णो संथरे तणं ॥ १३ ॥

केनचिच्छयनाऽऽदिनिमित्तेन शून्य गृहमाश्रितो भिक्षुः, तस्य गृहस्य द्वार कपाटाऽऽदिना न पिदधीत न स्थगयेन्नापि तच्चालयेत् । यावत् (ण यावपंगुणे त्ति) नोद्घाटयेत्, तत्रस्थोऽन्यत्र वा केनचिद्धर्माऽऽदिक मार्गे वा पृष्टः सन् सावद्या वाचं नोदाहरेद् न ब्रूयात् । आभिग्रहिको जिनकल्पिकाऽऽदिर्निरवद्यामपि न ब्रूयात् । तथा न समुच्छिन्द्यात् तृणानि कचवरं च प्रमार्जनेन नापनयेत्, नापि शयनार्थी कश्चिदाभिग्राहिकस्तृणाऽऽदिकं संस्तरेत्, तृणैरपि संस्तारकं न कुर्यात्, किं पुनः कम्बलाऽऽदिनाऽन्यो वा शुषिरतृणं न संस्तरेदिति ॥१३॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

दारवाल-द्वारपाल-पु० । द्वाररक्षके, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दारविलजोग-द्वारविलयोग-पु० । स्थगने, पं० व० ४ द्वार ।

दारमंतभेय-दारमन्त्रभेद-पु० दाराणां कलत्राणामुपलक्षणत्वान्मित्राऽऽदीनां च मन्त्रो मन्त्रणं तस्य भेदः प्रकाशनं दारमन्त्रभेदः । स्वदारसन्तोषस्य द्वितीयव्रतस्य तृतीयेऽतिचारभेदे, प्र० ध० । अस्य चानुवादरूपत्वेन सत्यत्वाद् यद्यपि नातिचारत्वं घटते, तथाऽपि विश्रब्धभाषितार्थप्रकटनजनितलज्जाऽऽदित कलत्रमित्राऽऽदेर्मरणाऽऽदिसंभवेन परमार्थतोऽस्यासत्यत्वात् कथञ्चिद्भङ्गरूपत्वेनातिचारतैव । रहस्यदूषणे हि रहस्यमाकाराऽऽदिना विज्ञायानधिकृत एव प्रकाशयति, इह तु मन्त्रयितैव स्वयं मन्त्र भिनत्तीत्यनयोर्भेदः । प्रव० ६ द्वार ।

दारावती-द्वारावती-स्त्री० । सौराष्ट्रदेशप्रतिबद्धायां राजधान्याम्, प्रज्ञा० १ पद ।

दारिआ-देशी-वेश्यायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ३७ गाथा ।

दारु-दारु-न० । काष्ठे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । स्था० । ज्ञा० । नि० चू० ।

दारुग-दारुक-पु० । वासुदेवस्य धारिण्यां देव्यामुत्पन्ने पुत्रे, स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां तृतीयवर्गस्य द्वादशेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ३ वर्ग १ अ० । दारुकोऽनगारो वासुदेवस्य पुत्रो भगवतोऽरिष्टनेमिनाथस्य शिष्योऽनुत्तरोपपातिकोक्तचरित इति । स्था० ६ ठा० । कृष्णसारथौ च । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । दारु-स्वार्थे कन् । देवदारुवृक्षे, वाच० । काष्ठे, न० । आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० । आ० म० । आव० । उत्त० ।

दारुघर-दारुगृह-न० । करपत्रस्फाटितदारुफलकमये गृहे, व्य० ४ उ० ।

दारुण-दारुण-पु० । 'दृ' भये उनन् । दारयति विदारयति चित्तमिति दारुणः । चित्तके, वाच० । दारयन्ति जनमनांसि इति दारुणाः । विलपिताऽऽक्रन्दिताऽऽदिषु, उत्त० ६ अ० । रौद्ररसे, भयानकरसे, वाच० । रौद्रे च । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । प्रश्न० । दारयन्ति मन्दसत्त्वानां संयमविषया धृतिमिति दारुणा । भाषायाम्, स्त्री० । उत्त० २ अ० । भयानके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । असह्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । भयावहे, दुःसहे, भीषणे, भयहेतौ च । वाच० ।

दारुणभाव-दारुणभाव-पु० । रौद्राध्यवसाये, बृ० ३ उ० ।

दारुणमति-दारुणमति-स्त्री० । रौद्रमतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दारुणविवाग-दारुणविपाक-पु० । नरकाऽऽदिदुःखकारणत्वेन घोरोदये, प्रश्न० ८ विव० । रौद्रफले, प्रश्न० १५ विव० । तीव्रविपाके कर्मणि, पो० १ विव० ।

दारुणसहाव-दारुणस्वभाव-त्रि० । दारुणः क्रोधान्वितः स्वभावो यस्याऽसौ दारुणस्वभावः । क्रोधान्वितस्वभावे, व्य० १ उ० ।

दारुदंडय-दारुदण्डक-न० । रजोहरणस्य काष्ठमयेऽल्पदण्डे, यत्र दारुमयस्य दण्डस्याग्रभागे ऊर्णिका दशिका बध्यन्ते तद्दारुदण्डकम् । बृ० ५ उ० ।

दारुपव्वय-दारुपर्वत-पु० । दारुनिर्मापित इव पर्वतविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

दारुपाय-दारुपात्र-न० । काष्ठमये पात्रे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । आचा० ।

दारुय-दारुक-पुं० । वसुदेवस्य धारिण्या जाते स्वनामख्याते पुत्रे, तद्वक्तव्यता गजसुकुमारस्येव । अन्त० २ श्रु० ३ वर्ग १ अ० ।

दारुसंकम-दारुसंक्रम-पु० । जले सेत्वादिकरणे, स्थले गर्तालङ्घनाऽऽदिके च । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

दालण-दारण-न० । विदारणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दालि-दालि-स्त्री० । मुद्गाऽऽदिद्विदले, प्रव० ३८ द्वार । उत्त० । ध० ।

दालिअ-देशी-चक्षुषि, दे० ना० ५ वर्ग ३८ गाथा ।

दालिद्द-दारिद्र्य-न० । "हरिद्राऽऽदौ लः" ॥ ८ । १ । २५४ ॥ इति असंयुक्तस्य रस्य लः । 'दालिद्दं ।' धनराहित्ये, प्रा० १ पाद ।

दालियंब-दालिकाम्ल-न० । दाल्या मुद्गाऽऽदिमय्या निष्पादिते ऽम्ले, उपा० १ अ० ।

दालिमरसिय-दाडिमरसिक-त्रि० । दाडिमरसस्पृष्टे, विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

दाव-दाव-पु० । दवानले, आव० ४ अ० ।

दावग्गि-दावाग्नि-पु० । 'दवग्गि' शब्दार्थे, औ० ।

दावद्दव-दावद्रव-पु० । समुद्रतटवृक्षविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स० । प्रश्न० । आव० । आ० चू० । ('आराहग' शब्दे द्वितीयभागे ३७३ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यता)

दावर-द्वापर-न० । यदा प्रत्येकस्यापि प्रथमो भङ्गो न प्राप्यते तदा द्वापर इति । समयपरिभाषया द्वितीये, बृ० १ उ० ।

दावरजुम्म-द्वापरयुग्म-न० । द्वाभ्यामादित एव कृतयुग्माद्योपरिवर्तिभ्यां यद्परं युग्मं कृतयुग्माद्यन्यत्तन्निपातनाद्विशेषात् परयुग्मे, न० । "जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेण अवहीरमाणे अ-

वहीरमाणे दुपज्जवसिए । से त दावरजुम्मे ।" भ० १८ श० ४ उ० । द्विपर्य्यवसिते राशौ च । स्था० ४ ठा ३ उ० । सूत्र० ।

दावाणल–दावानल–पुं० । वनहुताशने, आव० ४ अ० ।

दावारय–उदकवारक–न० । जलपात्रे, ज० १५ श० ।

दास–दास–पुं० । गृहदास्या. सञ्जाते, दुर्भिक्षाऽऽदिष्वर्थाऽऽदिना वा क्रीते, ऋणाऽऽदिव्यतिरेके वा अवरुद्धे, ग० १ अधि० । ध० । दासा दासीपुत्राऽऽदयः । स्था० ३ ठा० १ उ० । सूत्र० । जी० । बृ० । भृतकविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । चेटके, औ० । प्रश्न० । रा० । पं० भा० । प० चू० ।

गब्भे कीते अणए, दुब्भिक्खे सावराहरुद्धे वा ।
समणाण व समणीण व, न कप्पती तारिसे दिक्खा ॥३८५॥

गब्भे त्ति ओगालिदासो, किणित्ता दासो कतो, रिण अदेंतो दाससत्तेण पडिओ, दुब्भिक्खे ठाति दासत्तणेण पइठो, किमवि कारणे अवराधा दंडं अदेंतो रत्ता दासो कतो, बंदिगो णिरुद्धो दविणं अदेंतो दासो कतो । एते दिक्खेतु ण कप्पति । नि० चू० ११ उ० ।

दासचेडग–दासचेटक–पुं० । दासस्य भृतकविशेषस्य चेटकः कुमारकः दासचेटकः । अथवा–दासश्चासौ चेटकश्चेति दासचेटकः । दासकुमारे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

दासत्त–दासत्व–न० । गृहदासीपुत्रतायाम्, भ० १२ श० ७ उ० ।

दासपोरुस–दासपौरुष–न० । चेटकचेटीपतिप्रमुखाऽऽदिके, उ-त्त० ३ अ० ।

दासरहि–दासरथि–पुं० । दशरथापत्ये, "तेयाजुने य दासरही रामो सीयालक्खणसहिओ पिउआणाए वनवास गओ ।" ती० २४ कल्प ।

दासवाय–दासवाद–पुं० । दासोऽयमाचार्य्य इति वार्त्तायाम, स्था० ६ ठा० ।

दासी–दासी–स्त्री० । चेटिकायाम, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । औ० । रा० । दास्यो घटयोषितः सर्वोपसदा, ताभिरपि सह सम्पर्कं परिहरेत् । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

दासीखव्वडिया–दासीकर्वटिका–स्त्री० । स्थविरगोदासाद्विगतस्य गोदासगणस्य चतुर्थशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

दासीचोर–दासीचौर–पुं० । चेटीचौरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दाह–दाह–पुं० । "हो घोऽनुस्वारात्" ॥ ८ । १ । २६४ ॥ इति सूत्रे क्वचिदननुस्वारादिति वचनाद् हस्य घ । 'दाहो । दाघो ।' प्रा० १ पाद । बाह्ये सतापे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । अस्मीकरणे, नि० चू० १ उ० । रोगभेदे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । विपा० । ज्ञा० । आ० म० । "महोत्था विउलो दाहो, सव्वगत्तेसु पत्थिवा ! । " (१९) उत्त० २० अ० । गात्रसन्तापे च । वाच० ।

दाहवक्कंतिय–दाहव्युत्क्रान्तिक–त्रि० । दाहो व्युत्क्रान्त उत्पन्नो यस्याऽसौ दाहव्युत्क्रान्त , स एव दाहव्युत्क्रान्तिक. । दाहोत्पन्नौ, भ० ६ श० ३३ उ० । ज्ञा० ।

दाहा–दाहा–स्त्री० । प्रहरणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

दाहिण–दक्षिण–त्रि० । " दु खदंक्षिणतीर्थे वा " ॥ ८ । २ । ७२ ॥ एषु सयुक्तस्य ह । 'दाहिणो । दक्खिणो । ' प्रा० २ पाद । अवामभागस्थे, वाच० । सू० प्र० । आचा० ।

दाहिणगामुय–दक्षिणगामुक–पुं० । दक्षिणस्या दिशि गमनशीले, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दाहिणड्ढभरह–दक्षिणार्द्धभरत–पुं० । भरतक्षेत्रस्य दक्षिणार्द्धे, कल्प० १ क्षण ।

दाहिणड्ढभरहकूड–दक्षिणार्द्धभरतकूट–न० । दक्षिणार्द्धभरतनाम्नो देवस्याऽऽवासभूते कूटे, जं० १ वक्ष० ।

दाहिणड्ढमणुस्सखेत्त–दक्षिणार्द्धमनुष्यक्षेत्र–पुं० । दक्षिणार्द्धमनुष्यक्षेत्रभवेषु, " दाहिणड्ढमणुस्सखेत्ताण सावट्ठिं चदा पभासिंसु वा, पभासति वा, पभासिस्सति वा, सावट्ठिं सूरिया तविंसु वा, तवति वा, तविस्सति वा । " स० ६५ सम० ।

दाहिणड्ढलोगाहिवई–दक्षिणार्द्धलोकाधिपति–पुं० । लोकस्यार्द्धमर्द्धलोको दक्षिणो योऽर्द्धलोको दक्षिणार्द्धलोकस्तस्य योऽधिपतिः । तस्मिन्, उपा० २ अ० । कल्प० ।

दाहिणत्त–दक्षिणत्व–न० । सरलत्वे, स० ३५ सम० ।

दाहिणदारिय–दक्षिणद्वारिक–न० । दक्षिण द्वार येषामस्ति तानि दक्षिणद्वारिकाणि । अश्विन्यादिषु सप्तनक्षत्रेषु, स्था० ७ ठा० । दक्षिणदिशि येषु गच्छत. शुभ भवति । स० ७ सम० ।

दाहिणपच्चच्छिमा–दक्षिणपश्चिमा–स्त्री० । नैर्ऋत्यकोणे, रा० । स्था० ।

दाहिणभुय–दक्षिणभुज–पुं० । दक्षिणहस्ते, रा० । सू० प्र० ।

दाहिणवाय–दक्षिणवात–पुं० । दक्षिणस्याः दिशः समागच्छति वाते, प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

दाहिणा–दक्षिणा–स्त्री० । दक्षिणस्या दिशि, स्था० ६ ठा० ।

दाहिणायण–दक्षिणायन–पुं० । न० । रवे कर्कसक्रमादनन्तरं षण्मासाऽऽत्मके समये, सू० प्र० १० पाहु० ।

दाहिणावत्त–दक्षिणाऽऽवर्त्त–पुं० । अनुकूलप्रवृत्तावावर्त्ते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दाहिणिल्ल–दाक्षिणात्य–त्रि० । दक्षिणदिग्भवमात्रे, स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रज्ञा० ।

दि–त्वया–तृतीया । "भे दि० ॥८।३।३६॥ इत्यादिना त्वया इत्यस्य स्थाने दि इत्यादेश । प्रा० ३ पाद ।

दिअ–द्विज–पुं० । द्विर्जायते जन-म । वृत्तौ सख्याया वारार्थत्वम् । वाच० । " सर्वत्र लवरामवन्द्रे " ॥ ८ । २ । ७६ ॥ इति सयुक्तस्याध स्थितस्य वकारस्य लुक् । द्विज । दिओ । प्रा० २ पाद । " द्विन्योरुत " ॥ ८ । १ । ९४ ॥ इति सूत्रे क्वचिन्नेति वचनाद् न उत्वम । दिओ । प्रा० १ पाद । ब्राह्मणे, ब्राह्मणाऽऽदिवर्णत्रये, "जन्मना जायते शूद्र सस्कारैर्द्विज उच्यते ।" दन्ते, अण्डजे विहगाऽऽदौ, तुम्बुरुवृक्षे च । वाच० ।

द्विप–पुं० । द्वाभ्या मुखशुण्डाभ्या पिबति । पा-क । हस्तिनि, वाच० ।

दिअंबर-दिगम्बर-पुं० । शिवे, नग्ने, आर्हतभेदे, वाच० । साधुभेदे, आ० म० । द्वी० । आचा० ।

दिअंबरदसण-दिगम्बरदर्शन-न० । दिगम्बराणां शास्त्रे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दिअज्झ-देशी-सुवर्णकारे, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दिअधुत्त-देशी-काके, दे० ना० ५ वर्ग ४१ गाथा ।

दिअर-देवर-पुं० । देव अरच् । "एत इद्वा वेदना-चपेटा-देवर-केसरे" ॥ ८ । १ । १४६ ॥ इति एत इत्वम् । 'दिअरो । देवरो ।' प्रा० १ पाद । पत्युः कनिष्ठभ्रातरि, वाच० ।

दिअलिअ-देशी-मूर्खे, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दिअसिअ-देशी-सदाभोजने, अनुदिने च । दे० ना० ५ वर्ग ४० गाथा ।

दिअह-दिवस-पुं० । दीव्यत्यत्र दिव-असच् किञ्च । षष्टिदण्डात्मके समये, "दिअहा जंति झडप्पडहिँ, पडहिँ मणोरह पच्छि ।" प्रा० ४ पाद ।

दिअहड-दिवस-पुं० । षष्टिदण्डात्मके समये, "जे महु दिण्णा दिअहडा, दइए पवसन्तेण । ताण गणन्तिएँ अङ्गुलिउ, जज्जरिआउ नहेण ॥" प्रा० ४ पाद । प्रवसता चलता दयितेन ये मम दिवसा दत्तास्तान् गणयन्त्या ममाङ्गुल्यो नखेन जर्जरिताः । प्रा० ढु० ४ पाद ।

"नाडीषष्टिमितस्तत्र, सावनो दिवसः स्मृतः ।
त्रिंशद्भागोऽर्कराशेस्तु, दिवसः सौर उच्यते ॥ १ ॥
चान्द्रस्तु तिथ्यवच्छिन्नो, भौमो भूपरिधेर्मतः ।"

इत्युक्तेषु सावनाऽऽदिषु दिनेषु च । वाच० । "भमरा एत्थु वि लिम्बडइ, केवि दिअहडा विलम्बु ।" प्रा० ४ पाद ।

दिअहुत्त-देशी-पूर्वाह्णभोजने, दे० ना० ५ वर्ग ४० गाथा ।

दिआहम-देशी-भासपक्षिणि, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दिइ-दृति-स्त्री० । दृ-क्तिन् । जलाऽऽधारे चर्ममये भाजने, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । अनु० ।

दिइआ-दृतिका-स्त्री० । चर्मनिर्मितोदकपात्रे, मत्स्यभेदे च । वाच० । अनु० ।

दिकाण-द्रेष्काण-पुं० । मेषाऽऽदीनां लग्नानां दशांशाऽऽत्मके त्रिलवे, " कूणठिकाणलोगेसु, उत्तमठ्ठं तु कारए । एवं लग्गाणि जाणिज्जे, दिक्काणेसु ण संसओ ॥१॥" द० प० ।

दिक्खकाल-दीक्षाकाल-पुं० । योगकाले, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दिक्खभाव-दीक्षाभाव-पुं० । प्रव्रज्याया भावे, पञ्चा० १८विव० ।

दिक्खा-दीक्षा-स्त्री० । दीक्षण दीक्षा । प्रव्रज्यायाम्, ओघ० । दशा० ।

साम्प्रत ज्ञानत्रयभावाभावयोर्दीक्षाऽधिकारित्वानधिकारित्वप्रतिपादनायाऽऽह-

अस्मिन् सति दीक्षाया, अधिकारी तत्त्वतो भवति सत्त्वः ।
इतरस्य पुनर्दीक्षा, वसन्तनृपसन्निभा ज्ञेया ॥ १ ॥

अस्मिन् ज्ञानत्रये, सति विद्यमाने, दीक्षाया विरतिरूपायाः, अधिकारी अधिकारवान्, शास्त्रनयेऽङ्गित्वेन तत्त्वतः परमार्थतो भवति, सत्त्वः पुमान्, इतरस्याऽनधिकारिणः, पुनर्दीक्षा प्रतरूपा, वसन्तनृपसन्निभा विडम्बनाप्राया चैत्रमासपरिहासकृतराजसन्निभा मुग्धनृपदीक्षावत्कार्याकरणेन ज्ञेया ज्ञातव्या ॥ १ ॥

अधुना दीक्षाया निरुक्तमुपदर्शयन् ज्ञानिन एव तां नियमयन्नाह-

श्रेयोदानादशिव-क्षपणाच्च सतां मतेह दीक्षेति ।
सा ज्ञानिनो नियोगाद्, यथोदितस्यैव साध्वीति ॥ २ ॥

श्रेयोदानाच्छ्रेयः सुन्दरं तस्य दानं वितरणं तस्मात्, अशिवं प्रत्यवायस्तत्क्षपणाच्च तन्निरसनाच्च, सतां मुनीनां मताऽभिप्रेता, इह प्रवचने, दीक्षेति प्रागुक्ता । इत्येवमनया निरुक्तक्रियया, सा दीक्षा, ज्ञानिनो ज्ञानवतो, नियोगान्नियोगेन, यथोदितस्यैवाधिकारिण एव, साध्वीति निरवद्या वर्तते ॥ २ ॥

ननु च यदि ज्ञानिन एव नियमेन साध्वी दीक्षा, ततः कथं पूर्वोक्तज्ञानत्रयविकलानां माषतुषप्रभृतीनां समये सा श्रेयसी श्रूयत इत्याशङ्क्याऽऽह-

यो निरनुबन्धदोषा-च्छ्राद्धोऽनाभोगवान् वृजिनभीरुः ।
गुरुभक्तो ग्रहरहितः, सोऽपि ज्ञान्येव तत्फलतः ॥ ३ ॥

य एवंविधो निरनुबन्धदोषाच्छ्राद्ध । निरनुबन्धो व्यवच्छिन्नसन्तानो दोषो रागाऽऽदिर्निरनुबन्धश्चासौ दोषश्च तस्माच्छ्राद्धः श्रद्धावान् । यस्तु सानुबन्धदोषाच्छिद्रपक्षमाक्षिपेत्कर्मक्षणात् कथञ्चिच्छ्राद्धो भवति, स नेह गृह्यते । अनाभोगवान् अनाभोगोऽपरिज्ञानमात्रमेव केवलं ग्रन्थार्थाऽऽदिषु सूक्ष्मबुद्धिगम्येषु स विद्यते यस्य स तथा वृजिनं पापं तस्माद्भीरुर्वृजिनभीरु संसारविरक्तत्वेन । गुरवः पूज्यास्तेषु भक्तो गुरुबहुमानात् । ग्रह आग्रहो मिथ्याऽभिनिवेशस्तेन रहितो ग्रहरहितोऽनेन सम्यग्दर्शनवत्त्वमस्याऽऽवेदयति, सोऽपि य एवमुक्तविशेषणवान्, ज्ञान्येव ज्ञानवानेव । तत्फलतो ज्ञानफलसंपन्नत्वेन, ज्ञानस्याऽपि ह्येतदेव फलं संसारविरक्तत्वगुरुभक्त्याऽऽदि, तदस्याऽपि विद्यत इति कृत्वा ॥ ३ ॥

कथं पुनर्ज्ञानफलं माषतुषाऽऽदेर्गुरुबहुमानमात्रेण तथाविधज्ञानविकलस्य सन्मार्गगमनाऽऽदीत्याशङ्क्याऽऽह-

चक्षुष्मानेकः स्या-दन्धोऽन्यस्तन्मतानुवृत्तिपरः ।
गन्तारौ गन्तव्यं, प्राप्नुत एतौ युगपदेव ॥४॥

चक्षुरमलमनुपहतं विद्यते यस्य स चक्षुष्मानेकः कश्चित् स्याद्भवेत्पुरुषो मार्गगमनप्रवृत्तः, अन्धो दृष्टिविकलोऽन्यस्तत्परः, केवलं मार्गानुसारितया विशिष्टविवेकसंपन्नत्वेन च । तन्मतानुवृत्तिपरस्तस्य चक्षुष्मतो मतमभिप्रायो वचनं वा तन्मूलं तदनुवृत्तिपरस्तदनुवर्तनप्रधानः शेषानुमतवचनपरित्यागेन । एतौ द्वावपि चक्षुष्मत्सदन्धौ गन्तारौ गमनशीलावनवरतप्रयाणकवृत्त्या गन्तव्यं विवक्षितनगराऽऽदि । प्राप्नुत एतौ युगपदेवैककालमेव । इदमुक्तं भवति-चक्षुष्मान् पुरस्ताद् व्रजत्यन्धस्तु पृष्ठतः, एवमनयोर्व्रजतोरेकपदन्यास एवान्तरं नापरं महत्, यदि वा-तदपि समानपदन्यासयोः साहित्येन बाहुलग्नयोर्व्रजतोर्नास्त्येवमेककालप्राप्तव्यनगराऽऽदिस्थानप्राप्तद्वयोरपीति । यथैवमेतयोर्नान्तरं तथा गुरुमाषतुषकल्पशिष्ययोर्ज्ञान्यज्ञानिनोः फलं प्रति सन्मार्गगमनप्रवृत्तयोर्मार्गपर्यन्तप्राप्तौ मुक्त्यध्वयथार्थायां न किञ्चिदन्तरमिति गाथार्थः ॥ ४ ॥

एवं समानफलत्वं ज्ञान्यज्ञानिनोः प्रतिपाद्य दीक्षाऽर्हत्वं विशेषज्ञानासमन्वितस्यापि दर्शयति-

यस्यास्ति सत्क्रियाया-मित्थं सामर्थ्ययोग्यताऽविकला ।
गुरुभावप्रतिबन्धाद्, दीक्षोचित एव सोऽपि किल ॥ ५ ॥

यस्य विशिष्टज्ञानरहितस्याप्यस्ति विद्यते सत्क्रियायां सदाचारे, इत्थमनेन प्रकारेण, सामर्थ्ययोग्यता सामर्थ्येन समानफलसाधकत्वरूपेण योग्यताऽविकला परिपूर्णा, गुरुषु धर्माऽऽचार्याऽऽदिषु भावप्रतिबन्धाद् भावेन प्रतिबद्धत्वेन हेतुना दीक्षोचित एव दीक्षायोग्य एव प्रस्तुतः, किलेत्याप्ताऽऽगमवादः, यतः संसारविरक्त एवास्या अधिकारी शेषगुणवैकल्येऽपीत्युक्तम् ॥५॥

इदानीं दीक्षायाः समानफलतया देयत्वमभिदधानो विषमफलस्य चाऽदेयत्वमुपदर्शयन्निदमाह-

देयाऽस्मै विधिपूर्वं, सम्यक्तन्त्रानुसारतो दीक्षा ।
निर्वाणबीजमेषे-त्यनिष्टफलदाऽन्यथाऽत्यन्तम् ॥ ६ ॥

देया दातव्याऽस्मै योग्याय विधिपूर्वं विधानपूर्वं सम्यगवैपरीत्येन तन्त्रानुसारतः शास्त्रानुसारतो दीक्षा व्रतरूपा निर्वाणस्य बीजं मोक्षसुखयोर्हेतुत्वेन । एषेति दीक्षैषाऽनिष्टफलदा विपर्ययफला संसारफलाऽन्यथाऽयोग्याय दीयमानाऽत्यन्तमतिशयेनेति ॥६॥

का पुनरियं दीक्षेत्याह-

देशसमग्राऽऽख्येयं, विरतिर्न्यासोऽत्र तद्वति च सम्यक् ।
तन्नामाऽऽदिस्थापन-मविप्लुतं स्वगुरुयोजनतः ॥७॥

देशाऽऽख्या, समग्राऽऽख्या चेयं दीक्षा विरतिरुच्यते, देशविरतिदीक्षा, सर्वविरतिदीक्षा चेत्यर्थः । न्यासो निक्षेपोऽत्र दीक्षायां व्रतन्यास इत्यर्थः । सा विद्यते यस्य तद्वांस्तस्मिंस्तद्वति च पुरुषे देशदीक्षावति, सर्वदीक्षावति च सम्यक् समीचीनं सङ्गतम् । तन्नामाऽऽदिस्थापनं तेषां प्रवचनप्रसिद्धानां नामाऽऽदीनां चतुर्णां स्थापनमारोपणमविप्लुतम् उपद्रवरहितमनुपप्लवमिति यावत् । कथं तन्नामाऽऽदिस्थापनम्? स्वगुरुयोजनतः स्वगुरुभिरात्मीयपूज्यैर्योजनं सम्बन्धनमौचित्येन यत्र तन्नामाऽऽदीनां तत्सकाशात् ॥ ७ ॥

कथं पुनर्विशिष्टनामन्यासस्य स्वगुरुभिः प्रसादीकृतस्य दीक्षानिमित्तत्वमिति मन्यमानं परं प्रत्याह-

नामनिमित्तं तत्त्वं, तथा तथा चोद्धृतं पुरा यदिह ।
तत्स्थापना तु दीक्षा, तत्त्वेनान्यस्तदुपचारः ॥ ८ ॥

नामनिमित्तं नामहेतुकं तद्भावस्तत्त्वं नामप्रतिपाद्यगुणाऽऽत्मकत्वम्, कृतप्रशान्ताऽऽदिनाम्नः प्रशमाऽऽदिस्वरूपोपलम्भात् । तन्नाम्नि च तद्गुणस्मरणाऽऽद्युपलब्धेस्तथा तथा चोद्धृतं तेन तेन स्वरूपेणोद्धृतमुद्व्यूढं कृतनिर्वाहम् । पुरा पूर्वं, यद्यस्मादिह प्रवचने, मुनिभिः तत् स्थापना तु तस्यैव नाम्नः स्थापना तु स्थापनैव नामन्यास एव दीक्षा प्रस्तुता, तत्त्वेन परमार्थेनान्यस्तदुपचारोऽन्यक्रियाकलापस्तदुपचारस्तस्या दीक्षाया उपचारो वर्त्तते, विधोपचारात् ॥ ८ ॥

कस्मात्पुनर्नामाऽऽदिन्यासे महानादरः क्रियत इत्याशङ्कयाऽऽह-

कीर्त्यारोग्यध्रुवपद-संप्राप्तेः सूचकानि नियमेन ।
नामाऽऽदीन्याचार्याः, वदन्ति तत्तेषु यतितव्यम् ॥ ९ ॥

कीर्त्तिः श्लाघा, आरोग्यं नीरुजत्वं, प्राक्तनसहजौत्पत्तिकरोगविरहेण, ध्रुवं स्थैर्यं भावप्रधान्यान्निर्देशस्य । पदं स्थानं विशिष्टपुरुषावस्थारूपमाचार्यत्वाऽऽदि । कीर्तिश्चारोग्यं च ध्रुवं च पदं च कीर्त्यारोग्यध्रुवपदानि, तेषां संप्राप्तिरपूर्वलाभः, तस्याः संप्राप्तिपूर्विकायाः प्राप्तेः सूचकानि गमकानि नियमेनावश्यतया, नामस्थापनाद्रव्यभावरूपाण्याचार्याः पूज्या वदन्ति ब्रुवते । तत्तस्मात्तेषु नामाऽऽदिषु यतितव्यं यत्नो विधेयः । इह चेदं तात्पर्यमवसेयम्-अन्वर्थनाम्नो हि कीर्त्तनमात्रादेव शब्दार्थप्रतिपत्तेर्विदुषां प्राकृतजनस्य च मनःप्रसादात्कीर्त्तिराविर्भवति । यथा सुधर्मभद्रबाहुस्वामिप्रभृतीनामुत्तमपुरुषाणां प्रवचने कीर्तिरुदपादि । स्थापनाऽप्याकारवती रजोहरणमुखवस्त्रिकाऽऽदिधारणद्वारेण भावगर्भप्रवृत्त्या आरोग्यमुपजनयति, द्रव्यमप्याचाराऽऽदिश्रुतं सकलसाधुक्रिया चाभ्यस्यमाना व्रतस्थैर्योपपत्तये प्रभवति, भावोऽपि सम्यग्दर्शनाऽऽदिरूपः पूर्वोक्तपदावाप्तये संपद्यते । न हि विशिष्टभावमन्तरेणाऽऽगमोक्तविशिष्टपदावाप्तिर्जीवतो भवति । अथवा सामान्येनैव कीर्त्यारोग्यमोक्षसंप्राप्तेः सूचकानि सर्वाण्येव नामाऽऽदीनीति ॥ ९ ॥

किमिति दीक्षाप्रस्तावे नामाऽऽदिषु यतितव्यमित्याशङ्कयाऽऽह-

तत्संस्कारादेषा, दीक्षा संपद्यते महापुंसः ।
पापविषापगमात् खलु, सम्यग्गुरुधारणायोगात् ॥१०॥

तत्संस्कारान्नामाऽऽदिसंस्कारादेषा द्विविधा दीक्षा व्रतरूपा संपद्यते संजायते महापुंसो महापुरुषस्य, न ह्यमहापुरुषा व्रतधारिणो भवन्ति । पापं विषमिव पापविषं, तस्यापगमात् खल्वपगमादेव, पापविषयोर्वाऽपगमात् । विषापहारिणी दीक्षेति केषाञ्चित् प्रसिद्धिस्तदनुरोधादिदमुक्तम् । पापविषापगमादेव दीक्षेति सम्यगवैपरीत्येन गुरुश्च धारणा च गुरुधारणे, ताभ्यां योगः सम्बन्धस्तस्माद् गुरुधारणायोगात् । गुरुयोगात्पापापगमो, धारणायोगादेव विषापगम इति ॥ १० ॥

दीक्षा संपद्यते महापुंस इत्युक्तं तत्संपत्तौ सर्वविरतस्य यद्भवति तदाह-

संपन्नायां चास्यां, लिङ्गं व्यावर्णयन्ति समयविदः ।
धर्मैकनिष्ठतैव हि, शेषत्यागेन विधिपूर्वम् ॥ ११ ॥

संपन्नायां च संजातायां चास्यां दीक्षायां लिङ्गं लक्षणं व्यावर्णयन्ति कथयन्ति समयविदः आगमवेदिनः, धर्मैकनिष्ठतैव हि धर्मतत्परतैव हि, शेषत्यागेन धर्मादन्यः शेषस्तत्त्यागेन तत्परिहारेण, विधिपूर्वं शास्त्रोक्तविधानपुरःसरं यथाऽऽज्ञमत्यैव शेषत्यागेन धर्मैकनिष्ठता सेवनीया नान्यथेति भावः ॥

अस्यामेव सर्वविरतिदीक्षायां क्षान्त्यादियोजनामार्याद्वयेन दर्शयति-

वचनक्षान्तिरिहाऽऽदौ, धर्मक्षान्त्यादिसाधनं भवति ।
शुद्धं च तपोनियमाद्, यमश्च सत्यं च शौचं च ॥१२॥
आकिञ्चन्यं मुख्यं, ब्रह्मापि परं सदागमविशुद्धम् ।
सर्वं शुक्लमिदं खलु, नियमात्संवत्सरादूर्ध्वम् ॥ १३ ॥

वचनक्षान्तिरागमक्षान्तिरिह दीक्षायामादौ प्रथमं धर्मक्षान्त्यादिसाधनं भवति । आदिशब्दान्मार्दवाऽऽदिग्रहः । धर्मक्षान्त्यादीनां साधनं वचनक्षान्तिर्भवति, तत्पूर्वकत्वात्तेषाम्, शुद्धं चाक्ि-

ए च तपो द्वादशभेदं नियमानियमेन यमश्च संयमश्च, सत्य चाविसंवादनाऽऽदिरूपं शौचं च बाह्याभ्यन्तरभेदम् ॥ १२ ॥

अकिञ्चनस्य भाव आकिञ्चन्यं, मुख्य निरुपचरितम्, ब्रह्मापि ब्रह्मचर्यमपि, पर प्रधानम्, सदागमविशुद्धं सदर्थप्रतिपादक आगम, सदागमः,तेन विशुद्धं निर्दोषं,सर्वं पूर्वोक्तं दशविधमपि क्षान्त्यादिशुक्लमिदं खलु निरतिचारमिदमेव नियमाद्वितरथ्यावृत्त्या शुक्लस्याऽशुक्लनिवर्तकत्वात्संवत्सरादूर्ध्वं क्रियामलत्यागेन संवत्सरकालात्ययेन शुक्लं भवतीति ॥ १३ ॥

अस्यैव दीक्षावतः पूर्वोत्तरकालभाविगुणयोगमाह–

ध्यानाध्ययनाभिरतिः, प्रथमं पश्चात्तु भवति तन्मयता ।
सूक्ष्मार्थालोचनया, संवेगः स्पर्शयोगश्च ॥ १४ ॥

ध्यानं धर्म्यं शुक्लं च स्थिराध्यवसानरूपं, यथोक्तम्–"एकालम्बनसंस्थस्य, सदृशप्रत्ययस्य च । प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तः, प्रवाहो ध्यानमुच्यते ॥ १ ॥" अध्ययनं स्वाध्यायपाठः,ध्यानं चाध्ययनं च ध्यानाध्ययने । अध्ययनपूर्वकत्वेऽपि ध्यानस्याल्पाच्तरत्वादभ्यर्हणीयत्वाच्च पूर्वनिपातः, तयोरभिरतिराशक्तिरलघरतप्रवृत्तिः प्रथममादौ दीक्षासपन्नस्य, पश्चात्तु पश्चात्पुनर्भवति । तन्मयता तन्मयत्वं तत्परता, सूक्ष्माश्च तेऽर्थाश्च बन्धमोक्षाऽऽदयः, तेषामालोचना,तया सूक्ष्मार्थाऽऽलोचनया, संवेगो मोक्षाऽभिलाषः स्पर्शयोगश्च स्पर्शस्तत्त्वज्ञानं तेन योगः संबन्धः सम्भवतीति ॥ १४ ॥

स्पर्शयोगश्चेत्युक्तं तत्र स्पर्शलक्षणमाह–

स्पर्शस्तत्त्वाऽऽप्तिः, संवेदनमात्रमविदितं त्वन्यत् ।
बन्ध्यमपि स्यादेतत्, स्पर्शस्त्वक्षेपतत्फलदः ॥ १५ ॥

स्पृश्यतेऽनेन वस्तुनस्तत्त्वमिति स्पर्शः, स च कीदृगित्याह–तत्त्वाप्तिस्तस्य तस्य वस्तुनो जीवाऽऽदेस्तत्त्व स्वरूपं तस्याऽऽप्तिरुपलम्भो ज्ञानं स्पर्श उच्यते,संवेदनमात्रं वस्तुस्वरूपपरामर्शशून्यमविदितं त्वन्यत् कथञ्चिद्वस्तुग्राहित्वेऽपि न विदितं वस्तु तदित्यविदितमुच्यते,बन्ध्यमपि विफलमपि स्यादेतत् संवेदनमात्रं, स्पर्शस्तु स्पर्शः पुनरक्षेपतत्फलदोऽक्षेपेणैव तत् स्वसाध्यं फलं ददातीत्ययमनयोः स्पर्शसंवेदनयोर्विशेष इति ॥ १५ ॥

संवेगस्पर्शयोगेन दीक्षावान् यत् करोति, तदाह–

व्याध्यभिभूतो यद्वन्निर्विण्णस्तेन तत्क्रियां यत्नात् ।
सम्यक्करोति तद्वद्दीक्षित इह साधुसच्चेष्टाम् ॥ १६ ॥

व्याधिना कुष्ठाऽऽदिनाऽभिभूतो ग्रस्तो यद्वद्यथा, निर्विण्णो निर्वेदं प्राप्तस्तेन व्याधिना तत्क्रियां तच्चिकित्सां व्याधिप्रतीकाररूपां यत्नाद्यत्नेन सम्यक्करोति विधत्ते, तद्वत्तथा दीक्षित इह प्रक्रमे साधूनां सच्चेष्टा विनयाऽऽदिरूपा तां साधुसच्चेष्टाम् ॥ १६ ॥ षो० १२ विव० । अथ वृद्धप० शुभविजयगणिकृतप्रश्नसमुच्चय च–यथा तीर्थकृद्भिः सह ये दीक्षां गृह्णन्ति ते किं तीर्थकृद्वत्पाठोच्चाराऽऽदिकं कुर्वन्त्युत भिन्नमिति प्रश्ने,उत्तरम्–तीर्थकरैः सार्द्धं दीक्षाग्रहणं कुर्वद्भिः स्वयं तत्काले तत्कालाऽऽद्यनुसारेण तपस्याग्रहणं क्रियते,न तु तीर्थकरवत्,प्रथमतीर्थकृता सार्द्धं तु तीर्थकरवत् पाठोच्चारं कुर्वन्तीति ज्ञायते ॥१८९ प्र०। सेन० २ उल्ला० । सिद्धाऽऽदिसंक्रान्तिप्रयमध्ये तथाऽऽवर्तिकामासमध्ये च कानि कानि धर्मकार्याणि शुद्ध्यन्ति,कानि नेति प्रश्ने,उत्तरम्–दीक्षाप्रतिष्ठाऽऽदिकं न शुद्ध्यत्यन्यानि तु शुद्ध्यन्तीति, चतुर्मासकमध्येऽपि उपस्थापनामालारोपणाऽऽदि विना धर्मकार्याणि सर्वाणि शुद्ध्यन्ति, कारणवशात्तदपि विजयदशम्यनन्तरं शुद्ध्यतीति योगोपधानप्रतोच्चाराऽऽदीनां तु दिनशुद्धिरेव विलोक्या न मासवर्षाऽऽदि । १२४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । ('पव्वज्जा' शब्दे दीक्षाविधिर्वक्ष्यते) सर्वेषामभयप्रदानेन भावसत्रे,पं० व० १ द्वार । योग०,आ० म० १ अ० २ खण्ड । प्रश्न० । पञ्चा० । (नपुंसकाऽऽदीनां दीक्षितानां परिष्ठापना 'परिट्ठवणा' शब्दे वक्ष्यते)

दिक्खागुण–दीक्षागुण–पुं० । जिनदीक्षाधर्मे, जिनसाधर्मिकभक्तिप्रभावनाऽऽदौ च । पञ्चा० २ विव० । षो० ।

दिक्खादावण–दीक्षादापन–न० । प्रौढोत्सवैः सुताऽऽदीनां प्रव्राजने, प्रश्न० । तथैव प्रौढोत्सवैः सुताऽऽदीनामादिशब्दात्पुत्रभ्रातृभ्रातृव्यस्वजनसुहृत्परिजनाऽऽदीनां दीक्षादापनम्,उपलक्षणत्वाद्रुपस्थापनाकारणं च, श्रूयतेऽपि कृष्णचेटकनृपयोः स्वापत्यविवाहनेऽपि नियमवतोः स्वपुत्र्यादीनामन्येषां च थावच्चापुत्राऽऽदीनां प्रौढोत्सवैः प्रव्राजना,इयं च महाफला । यतः–"ते धन्ना कयपुन्ना,जणओ जणणी अ सयणवग्गो अ । जेसिं कुलम्मि जायइ, चारित्तधरो महापुत्तो" ॥ १ ॥ इति । (६७ ध० २ अधि० ।

दिक्खावयपरिणय–दीक्षावयःपरिणत–त्रि० । दीक्षावयोभ्यां सम्प्राप्ते, ध० २ अधि० ।

दिक्खाविहाण–दीक्षाविधान–न० । दीक्षाविधौ,पञ्चा० २ विव० ।

दिक्खिऊण–प्रेक्षित्वा–अव्य० । दृष्ट्वेत्यर्थे, ती० ३ कल्प ।

दिक्खियजिणोमाण–दीक्षितजिनावमान–अधिवासितजिनप्रोक्षणके, पञ्चा० ८ विव० ।

दिक्खोवयार–दीक्षोपकार–पुं० । भव्यसत्त्वस्य दीक्षादानेनानुग्रहे, पञ्चा० १८ विव० ।

दिगंवर–दिगम्बर–पुं० । 'दिअंबर' शब्दार्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दिगायरिय–दिगाचार्य–पुं० । दिगाचार्यशब्देन किमुच्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्–सचित्ताचित्तमिश्रवस्त्वनुज्ञाया दिगाचार्य इति योगशास्त्रप्रकाशवृत्तौ प्रायश्चित्तवैयावृत्त्यमिति श्लोकव्याख्याने दिगाचार्यशब्दार्थो ज्ञेय इति । १३२ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

दिगिंछा–देशी–बुभुक्षायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । स० । प्र० ।

दिगिंछापरिगय–दिगिञ्छापरिगत–त्रि० । क्षुधाव्याप्ते, उत्त० २ अ० । आ० चू० ।

दिगिंछापरिसह–दिगिञ्छापरि(री)षह–पुं० । इह च दिगिञ्छेति देशीवचनेन बुभुक्षोच्यते,सैवात्यन्तव्याकुलत्वहेतुरप्यसंयमभीरुतया आहारपरिपाकाऽऽदिवाञ्छाविनिवर्तनेन परीति सर्वप्रकारेण सह्यत इति परीषहः । क्षुत्परीषहे, उत्त० २ अ० । भ० । स० । ('खुहा' शब्दे तृतीयभागे ७५५ पृष्ठे व्याख्यातम्)

दिगिंछापरीसह–दिगिञ्छापरीषह–पुं० । 'दिगिंछापरिसह' शब्दार्थे, उत्त० २ उ० ।

दिगु–द्विगु–पुं० । संख्यापूर्वे समासभेदे, "संख्यापूर्वो द्विगुः" ॥ २ । १ । ५२ ॥ इति पाणिनिवचनम् । अनु० ।

से किं तं दिगुसमासे ? । दिगुसमासे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा–तिण्णि कडुगाणि तिकडुगं, तिण्णि महुराणि तिमहुरं,

तिन्नि गुणाणि तिगुणं, तिन्नि पुराणि तिपुरं, तिन्नि सराणि तिसर, तिन्नि पुक्खराणि तिपुक्खर, तिन्नि बिंदुआणि तिबिंदुअ, तिन्नि पहाणि तिपहं, पच नदीओ पचनदि, सत्त गया सत्तगयं, नव तुरगा नवतुरंगं, दस गामा दसगाम, दस पुराणि दसपुरं । सेचं दिगुसमासे ।

"सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः" ॥२।१।५२॥ त्रीणि कटुकानि समाहृतानि त्रिकटुकम् । एवम्-त्रीणि मधुराणि समाहृतानि त्रिमधुरं, पत्राऽऽदिगणे दर्शनादिह पञ्चमूलीत्यादिषु स्त्रियामीप्रत्ययो न भवति, एव शेषाएयप्युदाहरणानि भावनीयानि । अनु० ।

दिग्घ-दीर्घ-पु० । दृ-घञ् । घस्य नेत्वम् । " दीर्घे वा " ॥ ८ । २ । ९१ ॥ दीर्घशब्दे शेषस्य घस्य उपरि पूर्वो वा भवति । "दिग्घो । दीहो ।" प्रा० ४ पाद । शालमलीवृक्षे, उष्ट्रे, द्विमात्रे स्वरवर्णे च । आयते, वाच० । स्थूले च । त्रि० । जं० २ वक्ष० ।

दिच्छा-दित्सा-स्त्री० । दातुमिच्छायाम्, अनु० ।

दिट्ठ-दिष्ट-न० । दिश-क्त । भाग्ये, "न दिष्टमिष्ट कुरुते" इति माघ । काले, पु० । उपदिष्टे, वाच० । प्रतिपादिते च । त्रि० । नयो० ।

दृष्ट-न० । दृश-क्तः । स्वपरचक्रभये घोषिते, वाच० । दर्शने, सू० १ उ० । नि० चू० । स्था० । अवलोकिते, पञ्चा० ७ विव० । प्रज्ञा० । दर्श० । प्रश्न० । आव० । स्था० । सूत्र० । व्य० । उत्त० । उपलब्धे, हा० ३१ अष्ट० । अभिमते, अनु० । लौकिके च । त्रि० । वाच० ।

आगमतश्च ज्ञेयं, तद्दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्यतया ॥ (१०)

आगमतश्च ज्ञेय भवति, तत्कथ ज्ञेयम् ? । दृष्ट प्रत्यक्षानुमानप्रमाणोपलब्धमिष्टमागमेन स्ववचनैरेवाभ्युपगत, ताभ्यामविरुद्धानि वाक्यानि यस्मिन्नागमतस्वे तद् दृष्टेष्टाऽविरुद्धवाक्यम्, तद्भावस्तया । (१०) षो० १ विव० ।

दिट्ठंत-दृष्टान्त-पु० । दृष्टोऽन्तो नाशोऽवसान यस्मिन् । मरणे, वाच० । दृष्टमर्थमन्त नयतीति दृष्टान्तः, अतीन्द्रियप्रमाणदृष्ट सवेदन निष्ठा नयतीत्यर्थः । दश० १ अ० । आ० म० । दृष्टोऽन्त. परिच्छेदो विवक्षितः साध्यसाधनयो सवन्धस्याविनाभावरूपस्य प्रमाणेन यत्र ते दृष्टान्ता. । प्रज्ञा० ३० पद । साध्यस्योपमाभूते, न० । उदाहरणे, विशे० ।

दृष्टान्तफलम्-

पुव्वमभिन्ना भिन्ना, य वारिया कहमियाणि कप्पंति ? ।
सुण आहरण चोयग !, ण कमति सव्वत्थ दिट्ठंतो ॥१८७॥

पूर्वसूत्रे भवद्भिरभिन्नानि भिन्नानि च वारितानि प्रतिषिद्धानि, कथमिदानीमस्मिन् सूत्रे कल्पन्ते ?, इति भणत, न युक्त पूर्वापरव्याहतमीदृश वक्तुमिति भावः । अत्राऽऽचार्य प्राऽऽह-शृणु निशमय, आहरणं दृष्टान्तम् हे नोदक ! यथा कल्पन्ते । अत्र नोदको गुरुवचनमनाकर्ण्य दुर्विदग्धतादर्पोऽऽध्मात प्रतिवक्ति-आचार्य ! न सर्वत्राप्यर्थे दृष्टान्तः क्रमते, दृष्टान्तमन्तरेणाप्यर्थप्रतिपत्ते ।

तथाहि-

जइ दिट्ठंता सिध्दी, एवमसिध्दी उ आणगेज्झाणं ।
अह ते तेसि पसिध्दी, पसाहए किं नु दिट्ठंता ॥१८९॥

यदि दृष्टान्तादर्थानां सिद्धिस्तर्हि आज्ञाग्राह्याणां निगोदभव्याभव्याऽऽदीनामर्थानामसिद्धि. प्रसज्येत. अथ ते तथाऽऽज्ञया तेषा प्रसिद्धिस्तत. किं नुरिति वितर्के । किमेव दृष्टान्ततोऽर्थसिद्धि. क्रियते ।

किं चान्यत्-

कप्पम्मि अकप्पम्मि य, दिट्ठंता जेन होंति अविरुध्दा ।
तम्हा न तेसि सिध्दी, विहि अविहि विसोवओग इव ॥१९०॥

दृष्टान्तेन यद्यदात्मन इष्ट तत्सर्व यदृच्छया प्रसाध्यते, तथा कल्प्यते हिंसा कर्तु विधिनेति प्रतिज्ञा, निष्प्रत्यपायत्वादिति हेतुः । यथा विधिना विषोपभोगदृष्टान्तः । अस्य च भावना यथा-विधिना मन्त्रपरिगृहीतं विष खाद्यमानमदोषाय भवति, अविधिना पुनः खाद्यमान महान्तमनर्थमुपढौकयति । एव हिंसाऽपि विधिना विधीयमाना न दुर्गतिगमनाय प्रभवति, अविधिना तु विधीयमाना दुर्गतिगमनायोपदिष्टा, यतश्चैवमतो निष्प्रत्यपायत्वात् कल्प्यते कर्तु हिंसेति निगमनम् । एव कल्पेऽकल्पे वा येन कारणेन दृष्टान्ता अविरुद्धा भवन्ति, कल्प्यमप्यकल्प्यम्, अकल्प्यमपि कल्प्यम । यदृच्छया दृष्टान्तबलेन क्रियत इति भाव । तस्मान्न तेभ्यो दृष्टान्तेभ्योऽर्थानां सिद्धिर्भवति । गाथायां पञ्चम्यर्थे षष्ठी । विधिनाऽविधिना च विषोपभोग इवेति ।

इत्य नोदकेन स्वपक्षे स्थापिते सति सूरिराह-

असिध्दी जइ नाएण, नायं किमिह उच्चते ? ।
अह ते नायतो सिध्दी, नायं किं पमिसिज्झए ? ॥१९१॥

यदि ज्ञातेन दृष्टान्तेनार्थानामसिद्धिः, ततस्त्वया ज्ञात विषदृष्टान्त इह किमुच्यते किमेवमभिधीयते ? । अथ ते ज्ञाततो दृष्टान्तसिद्धि., ततोऽस्माभिरुच्यमान ज्ञात किं प्रतिषिध्यते ? ।

किं च-

अंधकारो पदीवेण, वज्जए न उ अन्नहा ।
तहा दिट्ठंतिओ भावो, तेणेव उ विसुज्झति ॥ १९२ ॥

अन्धकारशब्दस्य पुनपुसकलिङ्गत्वाद् यथाऽन्धकारो रात्रौ प्रदीपेनैव वर्ज्यते विशोध्यते, न तु नैवान्यथा । विशोधिते च तस्मिन् घटाऽऽदिक वस्तु परिस्फुटमुपलभ्यते, तथाऽपि दार्ष्टान्तिको दृष्टान्तग्राह्यो भाव पदार्थोऽन्धकारवदतिगहनोऽपि तेनैव दृष्टान्तेन प्रदीपकल्पेन विशुध्यते निर्मलीभवति, विशुद्धे च तस्मिन् परिस्फुटा विवक्षितार्थप्रतिपत्तिर्भवतीति दृष्टान्तोपदर्शनमत्र क्रियते । किञ्च-सौख्यप्रीणिता वय, स्ववाक्येनैव प्रथता यद् दृष्टान्तेनार्थप्रसाधनमभ्युपगतम, अस्माकमपि त्वदीय एव दृष्टान्त सूत्रस्य सार्थकत्व प्रसाधयिष्यति । सू० १ उ० २ प्रक० । आ०चू० । नि० चू० । विशे० । आव० । (न दृष्टान्तमात्रादर्थसिद्धिरिति ' पलव ' शब्दे वक्ष्यते) शास्त्रे, अलङ्कारोक्ते अलङ्कारभेदे च । वाच० ।

दिट्ठंतपरिणाम-दृष्टान्तपरिणाम-पु० । दृष्टान्तेन श्रद्धापयितव्ये, व्य० ।

दृष्टान्तपरिणामकमाह-

परोक्खं हेउग अत्थं, पच्चक्खेण उ साहियं ।
जिणेहिं एस अक्खातो, दिट्ठंतपरिणामगो ॥ ५७ ॥

परोक्ष, हेतुक हेतुना लिङ्गेन गम्यं हेतुकम्, अर्थं प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षप्रसिद्धेन दृष्टान्तेन साधयन् आत्मबुद्धावारोपयन् यो वर्तते एष दृष्टान्तपरिणामको जिनैराख्यातो, दृष्टान्तेन विवक्षितमर्थं परिणामयत्यात्मबुद्धावारोपयतीति दृष्टान्तपरिणामक इति व्युत्पत्तेः। व्य० १० उ०।

दिट्ठंताभास-दृष्टान्ताऽऽभास-पुं०। दुष्टदृष्टान्ते, रत्ना०।

अथ दृष्टान्ताऽऽभासान् भासयन्ति-

साधर्म्येण दृष्टान्ताऽऽभासो नवप्रकारः ॥ ५८ ॥

दृष्टान्तो हि प्राग् द्विप्रकारः प्रोक्तः, साधर्म्येण वैधर्म्येण च। ततस्तदाभासोऽपि तथैव वाच्य इति साधर्म्यदृष्टान्ताऽऽभासस्तावत् प्रकारतो दर्शितः ॥ ५८ ॥

प्रकारानेव कीर्तयन्ति-

साध्यधर्मविकलः १, साधनधर्मविकलः २, उभयधर्मविकलः ३, संदिग्धसाध्यधर्मा ४, संदिग्धसाधनधर्मा ५, संदिग्धोभयधर्मा ६, अनन्वयः ७, अप्रदर्शितान्वयः ८, विपरीतान्वयश्च ९ इति ॥ ५९ ॥

इतिशब्दः प्रकारपरिसमाप्तौ, एतावन्त एव साधर्म्यदृष्टान्ताऽऽभासप्रकारा इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

क्रमेणामूनुदाहरन्ति-

तत्रापौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वाद् दुःखवदिति साध्यधर्मविकलः (१) ॥ ६० ॥

पुरुषव्यापाराभावे दुःखानुत्पादेन दुःखस्य पौरुषेयत्वात्। तत्रापौरुषेयत्वसाध्यस्यावृत्तेरयं साध्यधर्मविकल इति। (१) ॥ ६० ॥

तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुवदिति साधनधर्मविकलः (२) ॥ ६१ ॥

परमाणौ हि साध्यधर्मोऽपौरुषेयत्वमस्ति, साधनधर्मस्त्वमूर्त्तत्वं नास्ति, मूर्त्तत्वात्परमाणोः (२) ॥ ६१ ॥

कलशवदित्युभयधर्मविकलः (३) ॥ ६२ ॥

तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव च हेतौ कलशदृष्टान्तस्य पौरुषेयत्वान्मूर्त्तत्वाच्च साध्यसाधनोभयधर्मविकलता (३) ॥ ६२ ॥

रागाऽऽदिमानयं वक्तृत्वाद्देवदत्तवदिति संदिग्धसाध्यधर्मा (४) ॥ ६३ ॥

देवदत्ते हि रागाऽऽदयः सदसत्त्वाभ्यां संदिग्धाः, परचेतोविकाराणां परोक्षत्वाद्रागाऽऽद्यव्यभिचारिलिङ्गादर्शनाच्च (४)॥६३॥

मरणधर्माऽयं रागाऽऽदिमत्त्वान्मैत्रवदिति संदिग्धसाधनधर्मा (५) ॥ ६४ ॥

मैत्रे हि मरणधर्मो रागाऽऽदिमत्त्वाऽऽख्यः संदिग्धः (५) ॥६४॥

नायं सर्वदर्शी रागाऽऽदिमत्त्वान्मुनिविशेषवदिति संदिग्धोभयधर्मा (६) ॥ ६५ ॥

मुनिविशेषे सर्वदर्शित्वरागाऽऽदिमत्त्वाऽऽख्यौ साध्यसाधनधर्मौ संदिह्येते, तदव्यभिचारिलिङ्गादर्शनात (६) ॥ ६५ ॥

रागाऽऽदिमान्विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वादिष्टपुरुषवदित्यनन्वयः (७) ॥ ६६ ॥

यद्यपीष्टपुरुषे रागाऽऽदिमत्त्वं च वक्तृत्वं च साध्यसाधनधर्मौ दृष्टौ, तथाऽपि यो यो वक्ता स स रागाऽऽदिमानिति व्याप्त्यसिद्धेरनन्वयत्वम् (७) ॥ ६६ ॥

अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्यप्रदर्शितान्वयः (८) ॥ ६७ ॥

अत्र यद्यपि वास्तवोऽन्वयोऽस्ति तथाऽपि वादिना वचनेन न प्रकाशित इत्यप्रदर्शितान्वयत्वम्। यद्यप्यत्र वस्तुनिष्ठो न कश्चिद्दोषः, तथाऽपि परार्थानुमाने वचनगुणदोषानुसारेण वक्तृगुणदोषौ परीक्षणीयाविति प्रवक्तव्य वाचनिक दुष्टत्वम्। एवं विपरीतान्वयाप्रदर्शितव्यतिरेकविपरीतव्यतिरेकेष्वपि द्रष्टव्यम्। (८) ॥ ६७ ॥

अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यदनित्यं तत्कृतकं घटवदिति विपरीतान्वयः (९) ॥ ६८ ॥

प्रसिद्धानुवादेन ह्यप्रसिद्धं विधेयं, प्रसिद्धं चात्र कृतकत्वं हेतुत्वेनोपादानात्; अप्रसिद्धं त्वनित्यत्वं साध्यत्वेन निर्देशात्; इति प्रसिद्धस्य कृतकत्वस्यैवानुवादसर्वनाम्ना यच्छब्देन निर्देशो युक्तः, न पुनरप्रसिद्धस्यानित्यत्वस्य, अनित्यत्वस्यैव च विधिसर्वनाम्ना तच्छब्देन परामर्श उपपन्नो, न तु कृतकत्वस्य (६) ॥ ६८ ॥

अथ वैधर्म्यदृष्टान्ताऽऽभासमाहुः-

वैधर्म्येणाऽपि दृष्टान्ताऽऽभासो नवधा ॥ ६९ ॥

तानेव प्रकारानुद्दिशन्ति-

असिद्धसाध्यव्यतिरेकः १, असिद्धसाधनव्यतिरेकः २, असिद्धोभयव्यतिरेकः ३, संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः ४, संदिग्धसाधनव्यतिरेकः ५, संदिग्धोभयव्यतिरेकः ६, अव्यतिरेकः ७, अप्रदर्शितव्यतिरेकः ८, विपरीतव्यतिरेकश्च ९, ॥ ७० ॥

अथैतान् क्रमेणोदाहरन्ति-

तेषु भ्रान्तमनुमानं प्रमाणत्वात्यत्पुनर्भ्रान्तं न भवति न तत्प्रमाणं यथा स्वप्नज्ञानमिति,असिद्धसाध्यव्यतिरेकः स्वप्नज्ञानाद्भ्रान्तत्वस्यानिवृत्तेः (१) ॥ ७१ ॥

निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रमाणत्वाद्, यत्तु सविकल्पकं न तत्प्रमाणं यथा लैङ्गिकमित्यसिद्धसाधनव्यतिरेको लैङ्गिकात्प्रमाणत्वस्याऽनिवृत्तेः (२) ॥ ७२ ॥

नित्यानित्यः शब्दः सत्त्वात्यस्तु न नित्यानित्यः स न संस्तद्यथा-स्तम्भ इत्यसिद्धोभयव्यतिरेकः स्तम्भान्नित्यानित्यत्वस्य सत्त्वस्य चाव्यावृत्तेः (३) ॥ ७३ ॥

व्यक्तमेतत्सूत्रत्रयमपि (३) ॥ ७३ ॥

असर्वज्ञोऽनाप्तो वा कपिलोऽक्षणिकैकान्तवादित्वाद्यः सर्वज्ञ आप्तो वा स क्षणिकैकान्तवादी यथा सुगत इति संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः सुगतेऽसर्वज्ञतानाप्तत्वयोः साध्यधर्मयोर्व्यावृत्तेः संदेहात् (४) ॥ ७४ ॥

अयं च परमार्थतोऽसिद्धसाध्यव्यतिरेक एव क्षणिकैकान्तस्य प्रमाणबाधितत्वेन तदभिधातुरसर्वज्ञतानाप्तत्वप्राप्ते केवल-

(जीवा णं भंते ! किं सम्मदिट्ठी इत्यादि) सुगममापदपरिसमाप्तेः, नवरं सास्वादनसम्यक्त्वयुक्तोऽपि सूत्राऽभिप्रायेण पृथिव्यादिषु नोत्पद्यते, "उभयाभावो पुढवाइएसु" इति वचनात्। द्वीन्द्रियाऽऽदिषु सास्वादनसम्यक्त्वयुक्त उपपद्यते। ततः पृथिव्यादयः सम्यग्दृष्टयः प्रतिषिद्धा द्वीन्द्रियाऽऽदयोऽभिहिताः ॥ सम्यग्मिथ्यादृष्टिपरिणामः पुनः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां भवति, न शेषाणां, तथास्वाभाव्यात्। अत उभयेऽपि सम्यग्मिथ्यादृष्टयः प्रतिषिद्धाः। प्रज्ञा० १६ पद। जी०। भ०। (दृष्टिविषयेऽल्पबहुत्वम् 'अप्पाबहुय' शब्दे प्रथमभागे ६७२ पृष्ठे उक्तम्) अन्तःकरणप्रवृत्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। बुद्धौ, उत्त० २ अ०। नेत्रे, ग० १ अधि०।

दिट्ठिआ–दिष्ट्या–अव्य०। दिश-यक्-अन्यथादि० नि०। वाच०। दिष्ट्या, दिष्ट्या इति विश्लेषे " ई-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित् " ॥ ८। २। १०४ ॥ इत्यनेन यात्पूर्वं इकारः लोकात् " ष्टस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे " ॥ ८। २। ३४ ॥ इति टस्य ठः। " अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम् " ॥ ८। २। ८९ ॥ इति द्वित्वे " कगचजतदपयवां प्रायो लुक् " ॥ ८। १। १७७॥ इति यलुक्। 'दिट्ठिया।' प्रा० ढु० २ पाद। मङ्गले, हर्षे, भाग्येनेत्यर्थे च। वाच०।

दिट्ठिकीव–दृष्टिक्लीव–पुं०। यश्चिलिमिलिकान्तर्गतः सर्वतः सर्वं करोति तादृशे क्लीबे, " दिट्ठिकीवो सव्वं चिलिमिलियंतरितो करेति। " नि० चू० ४ उ०।

दिट्ठिजुद्ध–दृष्टियुद्ध–न०। योधप्रतियोधयोश्चक्षुषोर्निर्निमेषावस्थाने, जं० ३ वक्ष०।

दिट्ठिणिव्वत्ति–दृष्टिनिर्वृत्ति–स्त्री०। निर्वर्त्तनं निर्वृत्तिर्निष्पत्तिः, दृष्टेर्निर्वृत्तिः दृष्टिनिर्वृत्तिः। दृष्टिनिष्पत्तौ, भ०।

कइविहा णं भंते ! दिट्ठिणिव्वत्ती पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविहा दिट्ठिणिव्वत्ती पण्णत्ता। तं जहा–सम्मदिट्ठिणिव्वत्ती, मिच्छादिट्ठिणिव्वत्ती, सम्मामिच्छादिट्ठिणिव्वत्ती। एवं०जाव वेमाणिआ। जस्स जइविहा दिट्ठी। भ० १९ श० ८ उ०।

दिट्ठिदंड–दृष्टिदण्ड–पुं०। क्रियास्थानभेदे, आव०।

. . . . , दिट्ठिविवज्जासओ इमो होइ।
जो मित्तममित्तं ती, काउं घाइज्ज अहवा वि ॥ ४९ ॥
गामाईघाएसु व, अतेण तेणं ति वा वि घाइज्जा।
दिट्ठिविवज्जासे सो, किरिआठाणं तु पंचमयं ॥ ५० ॥
आव० ४ अ०।

दिट्ठिमं–दृष्टिमत्–पुं०। दर्शनं दृष्टिः सदनुष्ठानं वा यस्यासौ दृष्टिमान्। आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०। यथावस्थितान् पदार्थान् श्रद्दधाने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। सम्यग्दर्शनिनि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

दिट्ठिया–दृष्टिका (जा)–स्त्री०। दृष्टेर्जाता दृष्टिजा। अथवा–दृष्टं दर्शनं वस्तु वा निमित्ततया यस्यामस्ति सा दृष्टिका। दर्शनार्थं या गतिक्रिया, दर्शनाद्वा यत्कर्मेति सा दृष्टिजा, दृष्टिका वा। स्था० २ ठा० १ उ०। आव०।

दिट्ठिराग–दृष्टिराग–त्रि०। दिट्ठिरागो भसियमिय किरियाण अकिरियवाईणमाह–" चुलसी णियसकट्ठी, वेणइआण य बत्तीस। " स्वकीयायां स्वकीयाया दृष्टौ रक्ता हते, यतो "जिणवयणबाहिरमती, मूढा णियदंसणाणुरागेण। सव्वण्णू कहितमेते, मोक्खपहं न तु पवज्जंति" ॥१॥ स्वकीयायां स्वकीयायां दृष्टौ रक्ते, आ०चू० १ अ०। "रागेण" (४) दृष्टिरागाऽऽदिरूपेण गोविन्दवाचकोत्समाऽऽर्यामिव। ध० २ अधि०। आ० म०।

दिट्ठिवाय–दृष्टिपात (वाद)–पुं०। दृष्टयो दर्शनानि नया वा उच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवतरन्ति यत्रासौ दृष्टिवादो, दृष्टिपातो वा। प्रवचनपुरुषस्य द्वादशेऽङ्गे, स्था० ४ ठा० १ उ०। दृष्टिर्दर्शनं सम्यक्त्वाऽऽदि, वदनं वादो, दृष्टीनां वादो दृष्टिवादः। प्रव० १४४ द्वार।

दृष्टिवाद पर्यायतो दशधाऽऽह–

दिट्ठिवायस्स णं दस नामधिज्जा पण्णत्ता। तं जहा–दिट्ठिवाएइ वा हेतुवाएइ वा भूयवाएइ वा तच्चावाएइ वा सम्मावाएइ वा धम्मावाएइ वा भासाविजएइ वा पुव्वगएइ वा अणुओगगएइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहेइ वा।

हिनोति गमयति जिज्ञासितमर्थमिति हेतुः, अनुमानोत्थापकं लिङ्गमुपचारादनुमानमेव वा वादो हेतुवादः। तथा–भूताः सद्भूताः पदार्थाः, तेषां वादो भूतवादः। तथा–तत्त्वानि वस्तूनामैदम्पर्याणि, तेषां वादस्तत्त्ववादः, तथ्यो वा सत्यो वादस्तथ्यवादः। तथा–सम्यगविपरीतो वादः सम्यग्वादः। तथा–धर्माणां वस्तुपर्याणां धर्मस्य वा चारित्रस्य वादो धर्मवादः। तथा–भाषा सत्याऽऽदिका, तस्या विचयो निर्णयो भाषाविचयः, भाषाया वाचो विजयः समृद्धिर्यस्मिन् स भाषाविजयः। तथा–सर्वश्रुतात्पूर्वं क्रियन्त इति पूर्वाणि उत्पादपूर्वाऽऽदीनि चतुर्दश, तेषु गतोऽभ्यन्तरीभूतस्तत्स्वभाव इत्यर्थ इति पूर्वगतः। तथा अनुयोगः प्रथमानुयोगस्तीर्थकराऽऽदिपूर्वभवाऽऽदिव्याख्यानग्रन्थो गण्डिकाऽनुयोगश्च भरतनरपतिवंशजातानां निर्वाणगमनानुत्तरविमानगमनवक्तव्यताव्याख्यानग्रन्थ इति द्विरूपेऽनुयोगे गतोऽनुयोगगत एतौ च पूर्वगतानुयोगगतौ दृष्टिवादांशावपि दृष्टिवादतयोक्ताववयवे समुदायोपचारादिति। तथा–सर्वे विश्वे, ते च ते प्राणाश्च द्वीन्द्रियाऽऽदयो भूताश्च तरवो जीवाश्च पञ्चेन्द्रियाः सत्त्वाश्च पृथिव्यादय इति द्वन्द्वे सति कर्मधारयः, ततस्तेषां सुखं शुभं वा आवहतीति सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखाऽऽवहः, सुखाऽऽवहत्वं च संयमप्रतिपादकत्वात्संयमस्य निर्वाणहेतुत्वाच्चेति। स्था० १० ठा०।

से किं तं दिट्ठिवाए ?। दिट्ठिवाए णं सव्वभावपरूवणा आघविज्जइ। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा–परिकम्मे १, सुत्ताइ २, पुव्वगए ३, अणुओगे ४, चूलिया ५।

दृष्टयो दर्शनानि, वदनं वादः, दृष्टीनां वादो यत्र स दृष्टिवादः। अथवा–पतनं पातो, दृष्टीनां पातो यत्र स दृष्टिपातः। तथाहि–तत्र सर्वनयदृष्टय आख्यायन्ते। तथा चाऽऽह सूरिः–" दिट्ठिवाएणं " इत्यादि। दृष्टिवादेन। अथवा–दृष्टिपातेन। यद्वा–दृष्टिवादे, दृष्टिपाते। णमिति वाक्यालङ्कारे। सर्वभावप्ररूपणा आख्यायते, (से समासतो पञ्चविधे पण्णत्ते इत्यादि) सर्वमिदं प्रायो व्यवच्छिन्नं, तथाऽपि लेशतो यथागतसंप्रदायं किञ्चि-

ध्ययनाध्ययने-स दृष्टिवादो दृष्टिपातो वा समासत पञ्चविध प्रज्ञप्त । तद्यथा- परिकर्म १, सूत्राणि २, पूर्वगतम ३, अनुयोग ४, चूलिका ५ ।

से किं त परिकम्मे ? । परिकम्मे सत्तविहे पण्णत्ते । तं जहा—सिद्धसेणियापरिकम्मे १, मणुस्ससेणियापरिकम्मे २, पुट्ठसेणियापरिकम्मे ३, ओगाढसेणियापरिकम्मे ४, उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ५, विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ६, चुयाचुयसेणियापरिकम्मे ७ ।

से किं तं सिद्धसेणियापरिकम्मे ? । सिद्धसेणियापरिकम्मे चउद्दसविहे पण्णत्ते । तं जहा—माउयापयाइं १, एगट्ठियपयाइं २, पादोट्ठपयाइं ३, आगासपयाइं ४, केउभूयं ५, रासिबद्धं ६, एगगुणं ७, दुगुणं ८, तिगुणं ९, केउभूए १०, पडिग्गहे ११, संसारपडिग्गहे १२, नंदावत्तं १३, सिद्धावत्त १४ । सेतं सिद्धसेणियापरिकम्मे ॥ १ ॥

से किं त मणुस्ससेणियापरिकम्मे ? । मणुस्ससेणियापरिकम्मे चउद्दसविहे पण्णत्ते । त जहा—ताई चेव माउयापयाइं १, एगट्ठियपयाइं २, पादोट्ठपयाइं ३, आगासपयाइं ४, केउभूयं ५, रासिबद्धं ६, एगगुणं ७, दुगुणं ८, तिगुणं ९, केउभूए १०, पडिग्गहे ११, संसारपडिग्गहे १२, नंदावत्त १३, मणुस्सावत्तं १४ । सेत मणुस्ससेणियापरिकम्मे ॥ २ ॥

से किं तं पुट्ठसेणियापरिकम्मे ? पुट्ठसेणियापरिकम्मे इक्कारसविहे पण्णत्ते । तं जहा—आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्त १०, पुट्ठावत्त ११ । सेत पुट्ठसेणियापरिकम्मे ॥ ३ ॥

से किं तं ओगाढसेणियापरिकम्मे ? । ओगाढसेणियापरिकम्मे इक्कारसविहे पण्णत्ते । तं जहा—आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्तं १०, ओगाढावत्त ११ । सेतं ओगाढसेणियापरिकम्मे ॥ ४ ॥

से किं तं उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ? । उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे इक्कारसविहे पण्णत्ते । त जहा—आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्त १०, उवसंपज्जणावत्तं ११ । सेत उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ॥ ५ ॥

से किं तं विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ? । विप्पजहणसेणियापरिकम्मे एक्कारसविहे पण्णत्ते । तं जहा—आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्तं १०, विप्पजहणावत्तं ११ । सेतं विप्पजहणसेणियापरिकम्मे ॥ ६ ॥

से किं तं चुयाचुयसेणियापरिकम्मे ? । चुयाचुयसेणियापरिकम्मे एक्कारसविहे पण्णत्ते । तं जहा—आगासपयाइं १, केउभूयं २, रासिबद्धं ३, एगगुणं ४, दुगुणं ५, तिगुणं ६, केउभूए ७, पडिग्गहे ८, संसारपडिग्गहे ९, नंदावत्त १०, चुयाचुयावत्त ११, सेतं चुयाचुयसेणियापरिकम्मे ॥ ७ ॥

छ चउक्कनइयाइं, सत्त तेरासियाइं । सेत परिकम्मे ॥१॥

तत्र परिकर्मनाम योग्यतापादन तद्धेतु शास्त्रमपि परिकर्म । किमुक्त भवति ?—सूत्रपूर्वगतानुयोग, तत्रार्थग्रहणयोग्यतासम्पादनसमर्थानि परिकर्माणि, यथा गणितशास्त्रे सकलनाऽऽदीन्याद्यानि षोडश परिकर्माणि शेषगणितसूत्रार्थग्रहणयोग्यतासम्पादनसमर्थानि । तथाहि-यथा गणितशास्त्रे तद्योग्य-षोडशपरिकर्मगृहीतसूत्रार्थः सन् शेषगणितशास्त्रग्रहणयोग्यो भवति, नान्यथा, तथा गृहीतविवक्षितपरिकर्मसूत्रार्थः सन् शेषसूत्राऽऽदिरूपदृष्टिवादश्रुतग्रहणयोग्यो भवति, नेतरथा । तथा चोक्तं चूर्णौ-" परिकम्म ति योग्यताकरण, जहा गणियस्स सोलस परिकम्मा, तग्गहियसुत्तत्थो सेसगणियस्स जोग्गो भवति, एवं गहियपरिकम्मसुत्तत्थो सेससुत्ताइ दिट्ठिवायसुयस्स जोग्गो भवइ । त्ति" तच्च परिकर्म सिद्धश्रेणिकापरिकर्माऽऽदिमूलभेदापेक्षया सप्तविध, मातृकापदाऽऽद्युत्तरभेदापेक्षया त्र्यशीतिविध, तच्च समूलोत्तरभेदं सूत्रतोऽर्थतश्च व्यवच्छिन्न यथागतसम्प्रदायतो वाच्यम, एतेषां सिद्धश्रेणिकापरिकर्माऽऽदीना सप्ताना परिकर्मणामाद्यानि षट् परिकर्माणि स्वसमयवक्तव्यताऽनुगतानि, स्वसिद्धान्तप्रकाशकानीत्यर्थ । ये तु गोशालकप्रवर्तिता आजीविका पाषण्डिन., तन्मतेन च्युताच्युतश्रेणिकापरिकर्मसहितानि सप्तापि परिकर्माणि, स्वसमयवक्तव्यता तु प्रज्ञाप्यन्ते । सप्रत्येतेष्वेव परिकर्मसु नयचिन्ता । तत्र-नया सप्त नैगमाऽऽदय । नैगमोऽपि द्विधा-सामान्यग्राही, विशेषग्राही च । तत्र य सामान्यग्राही स सग्रह प्रविष्ट, यस्तु विशेषग्राही स व्यवहारम् । आह च भाष्यकृत्-" जो सामन्नग्गाही, स नेगमो संगह गओ अहवा । इयरो ववहारमिओ, जो तेण समाणनिद्देसो ॥ ३९ ॥ " (विशे०) शब्दाऽऽदयश्च त्रयोऽपि नया एक एव नय परिकल्प्यते, तत एव चत्वार एव नया, एतैश्चतुर्भिर्नयैराद्यानि षट् परिकर्माणि स्वसमयवक्तव्यतया परिचिन्त्यन्ते । तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्-" इयाणिं परिकम्मनयचिंता, नेगमो दुविहो-संगहिओ, असंगहिओ य । संगह पविट्ठो संगहिओ, असंगहिओ ववहार । तम्हा संगहो, ववहारो, उज्जुसुओ, सद्दाइ य एक्को, एव चउरो नया एहिं चउहिं नएहिं ससमय गइपरिकम्मा चिंतिज्जंति । " तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्-" चउक्क नइयाइ ति । " आद्यानि षट् परिकर्माणि । चतुर्नयिकानि चतुर्नयोपेतानि । तथा-ते एव गोशालकप्रवर्तिता आजीविका पाषण्डिन त्रैराशिका उच्यन्ते । कस्मादिति चेत् ?, उच्यते-इह ते सर्वं वस्तु त्र्यात्मकमिच्छन्ति । तद्यथा-जीव, अजीव, जीवाजीवश्च । लोक., अलोक, लोकालोकाश्च । सत्, असद्,

सदसत् । नयचिन्तायामपि त्रिविधं नयमिच्छन्ति । तद्यथा-द्रव्यास्तिकम्, पर्यायास्तिकम्, उभयास्तिकं च । उक्तं च-तत्त्रिभी राशिभिश्चरन्तीति त्रैराशिकाः, तन्मतेन सप्ताऽपि परिकर्माणि चिन्त्यन्ते । तथा चाऽऽह सूत्रकृत्-" सत्त तेरासिया ।" इति । सप्त परिकर्माणि त्रैराशिकयानि त्रैराशिकमतानुसारीणि । एतदुक्तं भवति-पूर्वसूरयो नयचिन्तायां त्रैराशिकमतमवलम्बमाना. एतान्यपि परिकर्माणि त्रिविधयाऽपि नयचिन्तया चिन्तयन्ते स्मेति । (सेतं परिकम्मे) तत् एतत्परिकर्म ॥१॥

से किं तं सुत्ताइं ?। सुत्ताइं बावीसं पण्णत्ताइं । तं जहा-उज्जुसुयं १, परिणयापरिणयं २, बहुभंगियं ३, विप्पचइयं ४, अणंतरं ५, परंपरसमाणं ६, संजूहं ७, संभिण्णं ८, अहच्चायं ९, सोवत्थियं १०, घंटं ११, नंदावत्तं १२, बहुलं १३, पुट्ठपुट्ठं १४, वियावत्तं १५, एवंभूयं १६, दुयावत्तं १७, वत्तमाणुप्पयं १८, समभिरूढं १९, सव्वओभद्दं २०, पणामं २१, दुपडिग्गहं २२ । इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं छिन्नछेयनइयाणि ससमयसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं अछिन्नछेयनइयाणि आजीवियसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं तिगनइयाणि तेरासियसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइयाइं बावीसं सुत्ताइं चउक्कनइयाणि ससमयसुत्तपरिवाडीए. एवामेव सपुव्वावरेणं अट्ठासीइं सुत्ताइं भवंतीति मक्खाइं । सेतं सुत्ताइं ॥ २ ॥

(से किं तं सुत्ताइं ति) अथ कानि सूत्राणि ? । सर्वस्य पूर्वगतस्य सूत्रार्थस्य सूचनात्सूत्राणि । तथाहि-तानि सूत्राणि सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां सर्वनयानां सर्वभङ्गविकल्पानां प्रदर्शकानि । तथा चोक्तं चूर्णिकृता-"ताणि य सुत्ताणि सव्वदव्वाण सव्वपज्जवाण सव्वनयाण सव्वभंगविकप्पाण य पदसगाणि सव्वस्स पुव्वगयस्स सुयस्स अत्थस्स य सूयग त्ति सूयण त्ति सूया भणिया जहाभिहाणत्था । " इति । आचार्य आह-सूत्राणि द्वाविंशतिः प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-ऋजुसूत्रमित्यादि । एतान्यपि संप्रति सूत्राणि सूत्रतोऽर्थतश्च व्यवच्छिन्नानि यथागतसंप्रदायतो वा वाच्यानि, तानि सूत्राणि नयविभागतो विभज्यमानानि अष्टाशीतिसंख्यानि भवन्ति । कथमिति चेदत आह-(इच्चेयाइं बावीसं सुत्ताइं इत्यादि) इह यो नाम नयसूत्रं छेदेन छिन्नमेवाभिप्रैति न द्वितीयेन सूत्रेण सह संबन्धयति । यथा-" धम्मो मंगलमुक्किट्ठं " इति श्लोकम्, तथा ह्ययं श्लोकः छिन्नच्छेदनयमतेन व्याख्यायमानो न द्वितीयाऽऽदीन् श्लोकानपेक्षते, नाऽपि द्वितीयाऽऽदयः श्लोका अमुम् । अयमत्राभिप्राय.-तथा कथञ्चनाप्यमुं श्लोकं पूर्वसूरय छिन्नछेदनयमते व्याख्यान्ति स्म, यथा न मनागपि द्वितीयाऽऽदिश्लोकानामपेक्षा भवति, द्वितीयाऽऽदीनपि श्लोकान् तथा व्याख्यानयन्ति स्म, यथा न तेषां प्रथमश्लोकस्यापेक्षा, तथा सूत्राण्यपि यन्नयाभिप्रायेण परस्पर निरपेक्षाणि व्याख्यान्ति स्म, स छिन्नच्छेदनयः। छिन्नो द्विधाकृतः पृथक्कृतः छेदः पर्यन्तो येन स. छिन्नछेद , प्रत्येकं कल्पितपर्यन्त इत्यर्थः । स चाऽसौ नयश्च छिन्नच्छेदनय., इत्येतानि द्वाविंशतिसूत्राणि स्वसमयसूत्रपरिपाट्या स्वसमयवक्तव्यतामधिकृत्य सूत्रपरिपाट्यां विवक्षिताया छिन्नच्छेदनयिकानि, अत्र "अतोऽनेकस्वरात्" । ७ । २ । ६ ॥ (हैम०) इति मत्वर्थीय इकप्रत्यय । ततोऽयमर्थ.-छिन्नछेदनयवन्ति द्रव्याणि। तथा (इच्चेइयाइ इत्यादि) इत्येतानि द्वाविंशतिसूत्राणि आजीविकसूत्रपरिपाट्यां गोशालप्रवर्त्तिताऽऽजीविकपाषण्डिमतेन सूत्रपरिपाट्या विवक्षितायामच्छिन्नच्छेदनयिकानि। इयमत्र भावना-अच्छिन्नच्छेदनयो नाम य. सूत्रं सूत्रान्तरेण छिन्नमर्थतः सूत्र सूत्रान्तरेण सहाऽछिन्नमित्यर्थः, तत्सबन्धमभिप्रैति । यथा-"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं" इति श्लोकम् । तथा ह्ययं श्लोकोऽच्छिन्नच्छेदनयमतेन व्याख्यायमानो द्वितीयाऽऽदीन् श्लोकानपेक्षते, द्वितीयाऽऽदयोऽपि श्लोका एनं श्लोकम् । एवमेतान्यपि द्वाविंशतिसूत्राणि अक्षररचनामधिकृत्य परस्पर विभक्तान्यप्यच्छिन्नच्छेदनयमतेनार्थसबन्धमपेक्ष्य सापेक्षाणि वर्त्तन्ते । तदेवं नयाभिप्रायेण परस्पर सूत्राणां सबन्धाद्यधिकृत्य भेदो दर्शित.। सम्प्रत्यन्यथा नयविभागमधिकृत्य भेदं दर्शयन्ति-(इच्चेइयाइ इत्यादि) इत्येतानि द्वाविंशतिसूत्राणि त्रैराशिकसूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायां त्रिकनयकानि, त्रिकेति प्राकृतत्वात्स्वार्थे कप्रत्ययः । ततोऽयमर्थ -त्रिनयिकानि त्रिनयोपेतानि । किमुक्तं भवति ?-त्रैराशिकमतमवलम्ब्य द्रव्यास्तिकाऽऽदिनयत्रिकेण चिन्त्यन्ते इति । तथा इत्येतानि द्वाविंशतिसूत्राणि स्वसमयसूत्रपरिपाट्यां स्वसमयवक्तव्यतामधिकृत्य सूत्रपरिपाट्यां विवक्षिताया चतुर्नयिकानि सग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दरूपनयचतुष्टयोपेतानि सग्रहाऽऽदिनयचतुष्टयेन चिन्त्यन्ते इत्यर्थ. । एवमेवोक्तेनैव प्रकारेण (पुव्वावरेण ति) पूर्वाणि चापराणि च पूर्वापर, समाहारप्रधानो द्वन्द्व', पूर्वापरसमुदाय इत्यर्थ. । तत एतदुक्तं भवति-नयविभागतो विभिन्नानि पूर्वाणि अपराणि च सूत्राणि समुदितानि सर्वसख्यया अष्टाशीतिसूत्राणि भवन्ति, चतसृणां द्वाविंशतीनामष्टाशीतिमानत्वात्, इत्याख्यातं तीर्थकरगणधरै. (से तं सुत्ताइं) तान्येतानि सूत्राणि ।

से किं तं पुव्वगए ?। पुव्वगए चउद्दसविहे पण्णत्ते । तं जहा-उप्पायपुव्वं १, अग्गेणीयं २, वीरियप्पवायं ३, अत्थिनत्थिप्पवायं ४, नाणप्पवायं ५, सच्चप्पवायं ६, आयप्पवायं ७, कम्मप्पवायं ८, पच्चक्खाणप्पवायं ९, विज्जाणुप्पवायं १०, अवंझं ११, पाणाउ १२, किरियाविसालं १३, लोकबिंदुसारं १४ । उप्पायपुव्वस्स णं दस वत्थू चत्तारि चूलयावत्थू पण्णत्ता । अग्गेणीयपुव्वस्स णं चोद्दस वत्थू दुवालस चूलियावत्थू पण्णत्ता । वीरियपुव्वस्स णं अट्ठ वत्थू अट्ठ चूलियावत्थू पण्णत्ता । अत्थिणत्थिप्पवायपुव्वस्स अट्ठारस वत्थू दस चूलियावत्थू पण्णत्ता । नाणप्पवायपुव्वस्स बारस वत्थू पण्णत्ता । सच्चप्पवायपुव्वस्स णं दोण्णि वत्थू पण्णत्ता । आयप्पवायपुव्वस्स णं सोलस वत्थू पण्णत्ता । कम्मप्पवायपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता । पच्चक्खाणपुव्वस्स णं वीसं वत्थू पण्णत्ता । विज्जाणुप्पवायपुव्वस्स णं पण्णरस वत्थू पण्णत्ता । अवंझपुव्वस्स णं बारस वत्थू पण्णत्ता । पाणाउपुव्वस्स णं तेरस वत्थू पण्णत्ता । किरियाविसालपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता । लोगबिंदुसारपुव्वस्स णं पणवीसं वत्थू पण्णत्ता ।
" दस चोद्दस अट्ठ अट्ठा-रसेव बारस दुवे य वत्थूणि ।

सोलस तीसा वीसा, पणरस आणुप्पवायम्मि ॥ १ ॥
बारस इक्कारसमे, बारसमे तेरसेव वत्थूणि ।
तीसा पुण तेरसमे, चोद्दसमे पणवीसा उ ॥ २ ॥
चत्तारि दुवालस अ-ट्ठ चेव दस चेव चूलवत्थूणि ।
आइल्लाण चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि ॥ ३ ॥
सेतं पुव्वगए ३ ॥

(से किं तं इत्यादि) अथ किं तत् पूर्वगतम् ?। इह तीर्थकरस्तीर्थप्रवर्तनकाले गणधरान् सकलश्रुताधारभावेन समर्थानधिकृत्य पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थं भाषते, ततस्तानि पूर्वाण्युच्यन्ते, गणधराः पुनस्तत्र रचनां विदधाना आचाराऽऽदिक्रमेण विदधति, स्थापयन्ति वा । अन्ये तु व्याचक्षते-पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थमर्हन् भाषते, गणधरा अपि पूर्वं पूर्वगतसूत्रं विरचयन्ति, पश्चादाचाराऽऽदिकम् । अत्र चोदक आह-नन्विदं पूर्वापरविरुद्धम्, यस्मादाचारनिर्युक्तावुक्तम्-"सव्वेसिं आयारो पढमो" इत्यादि । सत्यमुक्तम् किं तु तत्स्थापनामधिकृत्योक्तम् । अक्षररचनामधिकृत्य पुनः पूर्वं पूर्वाणि कृतानि, ततो न कश्चित् पूर्वापरविरोधः । सूरिराह- (पुव्वगते इत्यादि) पूर्वगतं श्रुतं चतुर्दशविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-उत्पादपूर्वमित्यादि । तत्रोत्पादप्रतिपादकं पूर्वमुत्पादपूर्वम् । तथाहि-तत्र सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां चोत्पादमधिकृत्य प्ररूपणा क्रियते । आह च चूर्णिकृत्-"पढमं उप्पायपुव्वं, तत्थ सव्वदव्वाण पज्जवाण य उप्पायभावमंगीकाउं पण्णवणा कया ।" इति । तस्य पदपरिमाणमेका पदकोटी । द्वितीयमग्रायणीयम् । अग्रं परिमाणं तस्य अयनं गमनम्, परिच्छेद इत्यर्थः । तस्मै हितमग्रायणीयम्, सर्वद्रव्याऽऽदिपरिमाणपरिच्छेदकारीति भावार्थः । तथाहि-तत्र सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां सर्वजीवविशेषाणां च परिमाणमुपवर्ण्यते । यत उक्तं चूर्णिकृता-" बिइयं अग्गेणीयं, तत्थ सव्वदव्वाण पज्जवाण य सव्वजीवाण य अग्गं परिमाणं वणिज्जइ ।" इति । अग्रायणीयं, तस्य पदपरिमाणं षण्णवतिपदशतसहस्राणि तृतीयं पूर्वं वीर्यप्रवादम् । पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् वीर्यप्रवादं तत्र सकर्मेतराणां जीवानामजीवानां च वीर्यं प्रवदन्तीति वीर्यप्रवादम्, कर्मणि अण्प्रत्ययः । तस्य पदपरिमाणं सप्ततिपदशतसहस्राणि । चतुर्थम् अस्तिनास्तिप्रवादम्, तत्र यद्वस्तु लोकेऽस्ति धर्मास्तिकायाऽऽदि, यच्च नास्ति खरशृङ्गाऽऽदि, तत्प्रवदतीत्यस्तिनास्तिप्रवादम् । अथवा- सर्वं वस्तु स्वरूपेणास्ति, पररूपेण नास्तीति अस्तिनास्तिप्रवादम्, तस्य पदपरिमाणं षष्टिः पदशतसहस्राणि । पञ्चमं ज्ञानप्रवादम्-ज्ञानं मतिज्ञानाऽऽदिभेदभिन्नं पञ्चप्रकारं तत्सप्रपञ्चं वदतीति ज्ञानप्रवादम्, तस्य पदपरिमाणम्, एका पदकोटी पदेनैकेन न्यूना । षष्ठं सत्यप्रवादम्, सत्यं संयमो वचनं वा तत्सत्यसंयमं वचनं वा प्रकर्षेण सप्रपञ्चं वदतीति सत्यप्रवादम्, तस्य पदपरिमाणम् एका पदकोटी षड्भिः पदैरधिका । सप्तमं पूर्वम्-आत्मप्रवादम्, आत्मानं जीवमनेकधा नयमतभेदेन यत्प्रवदतीति तदात्मप्रवादम्, तस्य पदप्रमाणं षड्विंशतिपदकोटयः । अष्टमं कर्मप्रवादं कर्म ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकमष्टप्रकारं, तत्प्रकर्षेण प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाऽऽदिभिर्भेदैः सप्रपञ्चं वदति कर्मप्रवादं, तस्य पदपरिमाणम्-एका कोटी अशीतिश्च पदसहस्राणि, नवमं (पच्चक्खाणं ति) अत्रापि पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् प्रत्याख्यानप्रवादमिति द्रष्टव्यम् । प्रत्याख्यानं सप्रभेदं यद्वदति तत्प्रत्याख्यानप्रवादं, तस्य पदप्रमाणं चतुरशीतिपदलक्षाणि । दशमं विद्याऽनुप्रवादं, विद्याऽनेकातिशयसम्पन्ना अनुप्रवदति साधनानुकूल्येन सिद्धिप्रकर्षेण प्रवदतीति विद्याऽनुप्रवादं, तस्य पदपरिमाणम्, एका पदकोटी दश च पदलक्षाः । एकादशमवन्ध्यं, वन्ध्यं नाम निष्फलं, न विद्यते वन्ध्यं यत्र तदवन्ध्यम् । किमुक्तं भवति ?-यत्र सर्वेऽपि ज्ञानतपःसंयमाऽऽदयः शुभफलाः, सर्वे च प्रमादाऽऽदयोऽशुभफला यत्र वर्ण्यन्ते तदवन्ध्यं नाम, तस्य पदपरिमाणं षड्विंशतिपदकोटयः । द्वादशं प्राणायुः, प्राणाः पञ्चेन्द्रियाणि, त्रीणि मानसाऽऽदीनि बलानि, उच्छ्वासनिःश्वासौ च आयुश्च प्रतीतं, ततो यत्र प्राणा आयुश्च सप्रभेदमुपवर्ण्यते, तदुपचारतः प्राणाऽऽयुरित्युच्यते, तस्य पदपरिमाणमेका पदकोटी षट्पञ्चाशच्च पदलक्षाणि । त्रयोदशं क्रियाविशालम्-क्रियाः कायिक्याऽऽदयः, संयमक्रियाछन्दःक्रियाऽऽदयश्च, ताभिः प्ररूप्यमाणाभिर्विशालं, तस्य पदपरिमाणं नव पदकोटयः । चतुर्दशं लोकबिन्दुसारम् लोके जगति श्रुतलोके वा अक्षरस्योपरि बिन्दुरिव सारं सर्वोत्तमं सर्वाक्षरसन्निपातलब्धिहेतुत्वात् लोकबिन्दुसारं, तस्य पदपरिमाणमर्द्धत्रयोदश पदकोटयः । (उप्पायपुव्वस्स णं) इत्यादि सुगमम्, नवरं वस्तु ग्रन्थविच्छेदविशेषः, तदेव लघुतरं क्षुल्लकं वस्तु, तानि चाऽऽदिमेष्वेव चतुर्षु पूर्वेषु न शेषेषु । तथा चाऽऽह-"आइल्लाण चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि । सेतं पुव्वगए ।" तदेतत् पूर्वगतम् । नं० । (अनुयोगव्याख्या 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३४१ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्या) (मूलप्रथमानुयोगः 'मूलपढमाणुओग' शब्दे वक्ष्यते) (गण्डिकानुयोगव्याख्या 'गंडियाणुओग' शब्दे तृतीयभागे ७७१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

से किं तं चूलियाओ ?। चूलियाओ आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं, सेसाइं पुव्वाइं अचूलियाइं । सेतं चूलियाओ । दिट्ठिवायस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, से णं अंगट्ठयाए बारसमे अंगे एगे सुयखंधे, चोद्दस पुव्वाइं, संखिज्जा वत्थू, संखिज्जा चूलवत्थू, संखिज्जा पाहुडा, संखेज्जा पाहुडपाहुडा, संखिज्जाओ पाहुडियाओ, संखिज्जाओ पाहुडपाहुडियाओ, संखिज्जाइं पयसयसहस्साइं पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासया कडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति । एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जति । सेतं दिट्ठिवाए ॥ १२ ॥

अथ कास्ताश्चूलाः ?। इह चूला शिखरमुच्यते । यथा मेरौ चूलाः, तत्र चूला इव चूला दृष्टिवादे परिकर्मसूत्रपूर्वानुयोगोक्तानुक्तार्थसंग्रहपरा ग्रन्थपद्धतयः । तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्-" दिट्ठिवाए जं परिकम्मसुत्तपुव्वाणुजोगे चूलिअं न भणियं, तं चूलासु भणियं ति ।" अत्र सूरिराह-चूला आदिमानां चतुर्णां पूर्वाणाम्, शेषाणि पूर्वाण्यचूलिकानि, ता एता चूलाः, आदिमानां चतुर्णां पू-

षीणां प्राक् पूर्ववक्तव्यताप्रस्तावे चूडावस्तूनीति भणिता । आह च चूर्णिकृत्-" ताओ अचूलाओ आइल्लपुव्वाण चउण्ह चूलावत्थू भणिय । " एताश्च सर्वस्यापि दृष्टिवादस्योपरि किल स्थापिता । तथैव च पठ्यन्ते, ततः श्रुतपर्वते चूला इव राजन्ते इति चूला इत्युक्ताः । तथा चोक्तं चूर्णिकृता-"ते सव्वुवरि ठिया पढिज्जंति य अतो तेसु य पव्वयचूला इव चूला । " इति । तासां च चूलानामियं सख्या प्रथमपूर्वस्य चतस्रः, द्वितीयपूर्वस्य द्वादश, तृतीयपूर्वस्य अष्टौ, चतुर्थपूर्वस्य दश । तथा च पूर्वमुक्त सूत्रे-"चत्तारि दुवालस अट्ठ चेव दस चेव चूलावत्थूणि आइल्लाणं चउण्ह, सेसाए चूलिया नत्थि ।" सर्वसंख्यया चतुस्त्रिंशत् चूलिका (सेत्तं चूलिय त्ति) अथैताश्चूलिकाः (दिट्ठिवायस्स णं) इत्यादि पाठसिद्ध, नवरम् (सखेज्जा वत्थु त्ति) सख्येयानि वस्तूनि, तानि च पञ्चविंशत्युत्तरे द्वे शते । कथमिति चेत्? उच्यते-प्रथमे पूर्वे दश वस्तूनि, द्वितीये चतुर्दश, तृतीये ऽष्टौ, चतुर्थे अष्टादश पञ्चमे द्वादश, षष्ठ द्वे, सप्तमे षोडश, अष्टमे त्रिंशत्, नवमे विंशतिः, दशमे पञ्चदश, द्वादश एकादशे, त्रयोदश द्वादशे, त्रिंशत्त्रयोदशे, चतुर्दशे पञ्चविंशतिः । तथा च सूत्रे प्राक् पूर्ववक्तव्यतायामुक्तम्-

" दस चोद्दस अट्ठ अट्ठा-रसेव बारस दुवे य वत्थूणि ।
सोलस तीसा वीसा, पन्नरस अणुप्पवायम्मि ॥१॥
बारस एक्कारसमे, बारसमे तेरसेव वत्थूणि ।
तीसा पुण तेरसमे, चउदसमे पण्णवीसाओ ॥२॥ "

सर्वसंख्यया चामूनि द्वे शते पञ्चविंशत्यधिके, तथा सख्येयानि चूडावस्तूनि, तानि च चतुस्त्रिंशत्संख्याकानि । न० । नं० । वृ० । आ० म० । दश० । प्रश्न० । सूत्र० । उत्त० । कर्म० । अनु० । ओ० अपेक्षया सूक्ष्मजीवाऽऽदिभावकथने, ध० १ अधि० । स्था० । सर्वदृष्टीनां तत्र समवतारस्तस्य जनके, प० चू० ।

ननु स्त्रीणां दृष्टिवादः किमिति न दीयते ?, इत्याह-

तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुब्बला धिईए य ।
इय अइसेसऽज्झयणा, भूयावाओ य नो थीणं ॥५५२॥

यदि हि दृष्टिवाद स्त्रिया कथमपि दीयेत, तदा तुच्छाऽऽदिस्वभावतया अहो ! अहं या दृष्टिवादमपि पठामीत्येवं गर्वाऽऽध्मातमानसाऽसौ पुरुषपरिभवाऽऽदिष्वपि प्रवृत्तिं विधाय दुर्गतिमभिगच्छेत् । अतो निरवधिकृपानीरनीरधिभिः परानुग्रहप्रवृत्तैर्भगवद्भिः तीर्थकरैरुत्थानसमुत्थानश्रुताऽऽदीन्यतिशयवन्त्यध्ययनानि दृष्टिवादश्च स्त्रीणां नानुज्ञातः । अनुग्रहार्थं पुनस्तासामपि किञ्चित् श्रुत देयमित्येकादशाङ्गाऽऽदिविरचन सफलमिति गाथाऽर्थः ॥ ५५२ ॥ विशे० । कर्म० । वृ० ।

दिट्ठिवायअक्खेवणी-दृष्टिवादाऽऽक्षेपणी-स्त्री० । दृष्टिवादस्य कथाभेदे, स्था० ४ ठा० । (' अक्खेवणी ' शब्दे प्रथमभागे १५२ पृष्ठे व्याख्या)

दिट्ठिवायउवएसा-दृष्टिवादोपदेशा-स्त्री० । दृष्टिर्दर्शन सम्यक्त्वाऽऽदि वादो दृष्टीनां वादो दृष्टिवादस्तद्विषय उपदेश प्ररूपणं यस्या सा दृष्टिवादोपदेशा इति । तृतीये सज्ञाभेदे, प्रव० १४४ द्वार ।

दिट्ठिविपज्जय-दृष्टिविपर्यय-पु० । मिथ्याऽभिनिवेशे, द्वा० ८ द्वा० ।

दिट्ठिविपरियासदंड-दृष्टिविपर्यासदण्ड-पु० । दृष्टेर्विपर्यासो रज्जुमिव सर्पबुद्धिस्तया दण्डो दृष्टिविपर्यासदण्डः । स्तेनुकाऽऽदिबुद्ध्या यराऽऽयभिघातेन घटकाऽऽदिव्यापादने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अहावरे पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासिया दंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भाईहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूताहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्तमेव मन्नमाणे मित्ते हयपुव्वे भवइ, दिट्ठिविपरियासिया दंडे ॥ १२ ॥ से जहाणामए केइ पुरिसे गामघायंसि वा णगरघायंसि वा खेडकव्वडमडंबघायंसि वा दोणमुहघायंसि वा पट्टणघायंसि वा आसमघायंसि वा सन्निवेसघायंसि वा निगमघायंसि वा रायहाणिघायंसि वा अतेणं तेणमिति मन्नमाणे अतेणे हयपुव्वे भवइ दिट्ठिविपरियासिया दंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ, पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासिया दंडवत्तिए त्ति आहिए ॥ १३ ॥

अथाऽपरं पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यायते । तद् यथानाम कश्चित्पुरुषश्चारभटाऽऽदिको मातृपितृभ्रातृभगिनीभार्यापुत्रदुहितृस्नुषाऽऽदिभिः सार्धं वसस्तिष्ठन् ज्ञातिपालनकृते मित्रमेव दृष्टिविपर्यासादमित्रोऽयमित्येवं मन्यमानो हन्याद् व्यापादयेत् तेन च दृष्टिविपर्यासवता मित्रमेव हतपूर्वं भवतीति, अतो दृष्टिविपर्यासदण्डोऽयम् ॥१२॥ पुनरप्यन्यथा तमेवाऽऽह-(से जहेत्यादि) तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः पुरुषकारमुद्वहन् ग्रामघाताऽऽदिके विभ्रमे भ्रान्तचेता दृष्टिविपर्यासादचौरमेव चौरोऽयमित्येव मन्यमानो व्यापादयेत्, तदेवं तेन भ्रान्तमनसा विभ्रमाऽऽकुलेनाचौर एव हतपूर्वो भवति, सोऽयं दृष्टिविपर्यासदण्डः । तदेवं खलु तस्य दृष्टिविपर्यासवतः तत्प्रत्ययिकं सावद्य कर्माधीयते, तदेव पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासप्रत्ययिकमाख्यातमिति ॥१३॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ध० । आ० चू० । स्था० ।

दिट्ठिविस-दृष्टिविष-पु० । दृष्टौ विषं येषां ते दृष्टिविषाः । दर्वीकरसर्पभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । स्था० ।

दिट्ठिविसभावणा-दृष्टिविषभावना-स्त्री० । दृष्टौ विषं येषां ते दृष्टिविषाः, तत्स्वरूपप्रतिपादिका दृष्टिविषया भावना । पा० । अङ्गबाह्यकालिकश्रुतविशेषे, पा० । प० व० । व्य० ।

दिट्ठिसंचाल-दृष्टिसंचार-पुं० । निमेषाऽऽदौ, ध० २ अधि० । आव० । ल० ।

दिट्ठिसंपण्ण-दृष्टिसंपन्न-पु० । सम्यग्दृष्टियुक्ते, ध० ३ अधि० । आव० । स्था० ।

दिट्ठिसंपण्णया-दृष्टिसम्पन्नता-स्त्री० । सम्यग्दृष्टितायाम्, स्था० १० ठा० ।

दिट्ठिसंबंध-दृष्टिसम्बन्ध-पु० । संयतीनां दृष्टिरात्मीयया दृष्ट्या बध्नाति । संयते, व्य० ७ उ० ।

दिट्ठिसम्मोह-दृष्टिसम्मोह-पु० । अन्यथादर्शनहेतौ, षो० ।

दृष्टिसंमोहलक्षणम्-

गुणतस्तुल्ये तत्त्वे, संज्ञाभेदाऽऽगमान्यथादृष्टिः ।

भवति यतोऽसावधमो, दोषः खलु दृष्टिसंमोहः ॥ ११ ॥

गुणे उपकारफल, तदाश्रित्य तुल्ये समाने द्वयोर्वस्तुनो ,तद्भा- वस्तत्त्व तस्मिंस्तुल्ये सति । सञ्ज्ञाभेदाऽऽगमान्यथादृष्टि ,आगमेन आगमविषये अन्यथा विपरीता दृष्टिर्मतिरस्येत्यागमान्यथा- दृष्टिर्बहुव्रीहिसमास.। सञ्ज्ञाभेदेन नामभेदेनाऽऽगमान्यथादृष्टि- रिति पुरुष परिगृह्यते । भवति जायते, यतो यस्माद्दोषादसौ दोषोऽधमो निकृष्ट., खलुशब्दोऽवधारणे, अधम एव दोषो दृष्टिसमोहाभिधान । इदमत्र हृदयम्-निदर्शनमात्रेण द्वयो- रारम्भयोर्भोगोपभोगलक्षण फलमाश्रित्य तुल्यमेव तत्त्वम् । तत्रै- कस्मिन्नारम्भे प्रवृत्त पुरुष तत्फलोपयोगी तमारम्भ सावद्य मन्यते,अपरस्तु तत्समान एव प्रवृत्तस्तमारम्भ निर्दोष मन्यते । तत्फल च स्वयमेवोपभुङ्क्ते, यतो दोषात् स दृष्टिसमोह इति । अथवा-गुणे परिणामो भावोऽध्यवसायविशेषस्तदङ्गीकरणेन तुल्ये तत्त्वे सञ्ज्ञाभेदाऽऽगमान्यथादृष्टि पुरुषो यतो दोषाद् प्रवर्तते स दृष्टिसमोहो नाम दोषो भवति । यत्र तु गुणतो भावाऽऽख्याद् गुणाच्च तुल्य तत्त्व स्वरूप द्वयोरारम्भाऽऽत्मनोर्व्यक्तिभेदेन वस्तु- नोस्तत्र चैत्याऽऽयतनाऽऽदिविषये क्षेत्रहिरण्यग्रामाऽऽदौ शास्त्री- याध्यवसायभेदेन प्रवृत्तत्वात् स्वय च तत्फलस्यानुपभोगात् केवलमागमानुसारितया तत्रोपेक्षापरित्यागेन ग्रामक्षेत्राऽऽद्या- रम्भनमपरिहरतोऽपि न दृष्टिसमोहाऽऽख्यो दोष, तत्त्वतस्त- स्याऽऽरम्भपरिवर्जनात् । दर्शनमागमो जिनमत, तत्र समोहः समूढता,अन्यथोक्तस्यान्यथाप्रतिपत्तिर्दर्शनसमोह । न चैवंविध- स्याऽऽगमिकस्य दोष सम्भवतीति । तथाचाऽऽगम- "चोएइ चेइआण, खेत्तहिरण्णाइ गामगावाइ । लग्गतस्स उ जइणो, तिकरणसोही कह नु भवे ? ॥ १ ॥" अर्थ च स चोद्य परिहा- रोऽवसेय । यदि वा-अहिंसाप्रशमाऽऽदीना तन्त्रान्तरेष्वपि तुल्ये तत्त्वे परिभाषाभेदमात्रेणाऽऽगमेष्वन्यथादृष्टि पुरुषो यतो भवति स दृष्टिसमोह इति ॥ ११ ॥ षो० ४ विव० ।

दिट्ठिसार-दृष्टिसार-पु० । दृष्टिसद्भावे, आ० चू० १ अ० ।

दिट्ठिसूल-दृष्टिशूल-न० । नेत्रशूले, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

दिट्ठिसेवा-दृष्टिसेवा-स्त्री० । भावनाधानुसारेण दृष्टेर्दृष्टिमीलने, प्रव० १६६ द्वार । दर्श० ।

दिट्ठेल्लय-दृष्ट-त्रि० । चक्षुषा उपलब्धे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दिण-दिन-पु० । द्यति तम सूर्यकिरणोपलक्षिते षष्टिदण्डा- ऽऽत्मके तद्विशिष्टे वा चतुर्यामाऽऽत्मके काले, वाच० । पञ्चा० ए विव० । घस्र-सूर्याङ्क-दपन--यामेति पर्याया , दिन--दिवस-- वासराणां पुन्नपुंसकत्वम् । है० ।

दिणकय-दिनकृत-पु० । सूर्ये, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

दिणकर-दिनकर-पु० । दिन करोति स्वोदयेन कृ-टक् । दिने कर. किरणो यस्य वा । सूर्ये, वाच० । अनु० । दिनकरणशीले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । सू० प्र० । आ० चू० । आ० म० । स्था० ।

दिणकरपण्णत्ति-दिनकरप्रज्ञप्ति-स्त्री० । सूर्यप्रज्ञप्तिनामके ग्रन्थे, ज्यो० २१ पाहु० ।

दिणकिच्च-दिनकृत्य-न० । स्वनामख्याते ग्रन्थे, ध० २ अधि० । दिवसकार्ये, वाच० ।

६३०

दिणक्खय-दिनक्षय-पु० । "एकस्मिन्सावने त्वहि, तिथीनां त्रि- तय यदा । तदा दिनक्षयः प्रोक्त." इत्युक्ते एकसावनदिनवृत्ति- तिथित्रयरूपे काले, वाच० । स्था० ६ ठा० ।

दिणवुड्डि-दिनवृद्धि-स्त्री० । अधिकदिने, अतिरात्रोऽधिकदि- नवृद्धिरिति यावत् । स्था० ६ ठा० ।

दिणरासि-दिनराशि-पु० । अहोरात्रपुञ्जे, व्य० १ उ० ।

दिणसूरि-दिनसूरि-पु० । इन्द्रदत्तसूरिशिष्ये सिंहगिरिसूरि- गुरौ स्वनामख्याते सूरौ, ग० ४ अधि० ।

दिण्ण-दत्त-त्रि० । दा-क्त । विसृष्टे, त्यक्ते, रक्षिते च । द्वाद- शपुत्रमध्ये (दत्तक) पुत्रभेदे । वाच० । प्रज्ञा० २ पद । औ० । रा० । आचा० । उत्त० । वितीर्णे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । प्रश्न० । आचा० । नमेरेकविंशतिजिनस्य प्रथमभिक्षादायके, स० । आ० म० । निवेशिते प्रश्न० १ आश्र० द्वार । चन्द्रप्रभ- स्याष्टमजिनस्य प्रथमे शिष्ये, स० । श्रेयांसस्यैकादशमस्य जि- नस्य पूर्वभवे जीवे, स० । अष्टापदपर्वतस्थे स्वनामख्याते ताप- से च । पु० । उत्त० १० अ० । आ० म० । भावे क्त । दाने, "दत्त सप्तविध प्रोक्त-मदत्त षोडशाऽऽत्मकम् । पण्यमूल्य भृ- तिस्तुष्ट्या, स्नेहात्प्रत्युपकारत ॥ १ ॥ स्त्रीणां चानुग्रहार्थं च, दत्त सप्तविध स्मृतम्' इत्युक्ते दानभेदे च । न० । वाच० । "दि- ण्णभत्तवेयणा ।" दत्त भृतिभक्तलक्षण द्रव्य भोजनम्वरूप वर्तेन मूल्य येभ्यस्ते तथा । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । पा० । उत्त० ।

दैन्य-न० । दीनस्य भाव ष्यञ् । दीनत्वे, कार्पण्ये च । वाच० । शोके च । स्था० १० ठा० । आव० ।

दिण्णगणि (ण्)-दत्तगणिन्-पु० । वीरमोक्षात् सार्द्धद्वादशशते वर्षे जाते स्वनामख्याते प्रसिद्धे गणिनि, ति० ।

दिण्णय-दत्तक-पु० । स्वार्थे कन् । "दद्याद् माता पिता वा य, स पुत्रो दत्तको भवेत्" इत्युक्ते स्वनामख्याते पुत्रभेदे, वाच० । दत्तक. पुत्रतया वितीर्णो, यथा बाहुबलिनाऽनलवेग श्रूयते, स च पुत्रवत्पुत्र । स्था० १० ठा० ।

दिण्णवयण-दीप्तवचन-न० । कुपितवचने,प्रश्न० ५ सव० द्वार ।

दित्त-दीप्त-पु० । दीप-क्त । निम्बूके, सिंहे च । स्वर्णे, हिङ्गुनि च । न० । वाच० । जाज्वल्यमाने, च० प्र० १ पाहु० । ज० । भ० । न० । नि० । ज्ञा० । उज्ज्वले, न० । कान्तिमति, रा० । ज्वलिते, दग्धे, भासिने, दीप्तिमति, वाच० । भास्वरे च । त्रि० । च० प्र० १६ पाहु० । ज्ञा० । लाङ्गलिकायाम, अग्निशि- खौषधौ, ज्योतिष्मत्या च । टाप् । वाच० । धातुवद्वीर्या- ऽऽदियुक्ते, " दित्त च कामा समभिद्दवति ।" उत्त० ३४ अ० । प्रसिद्धे, 'अड्ढा दित्ता वित्थिण्णविपुलभवणसयणासणजाणवाह- णाइणा ।" भ० २६ श० ३ उ० । स्था० ।

दृप्त-त्रि० । दृप-क्त. । गर्विते, वाच० । दर्पवति, औ० । दश० । भ० । ज्ञा० । प्रश्न० । स्था० । ज० ।

दित्तचित्त-दीप्तचित्त-पु० । स्त्री० । हर्षातिरेकेणापहृतचित्ते, वृ० ३ उ० ।

दीप्तचित्तस्य चिकित्सा-

दित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणाव- च्छेदियस्स निज्जूहित्तए अगिलाए तस्स करणिज्जं वे-

यावज्जियं जाव तत्तो रोगातंकातो विप्पमुक्को, तत्तो पच्छा तस्स अहालहुस्सेगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥११॥

अस्य व्याख्या सङ्क्षेपत प्राग्वत् ॥ ११ ॥

सम्प्रति भाष्यकारो विस्तरमभिधित्सुराह-

एमेव गमो नियमा, दित्ताऽऽदीणं पि होति नायव्वो ।
जो होइ दित्तचित्तो, सो पलवति अनिच्छियव्वाइं ।१४९।

एष एवानन्तरः क्षिप्तचित्तस्तत्र गमः प्रकारो लौकिकलोकोत्तरिकभेदाऽऽदिरूपो, दीप्तानामपि दीप्तचित्तप्रभृतीनामपि नियमाद् वेदितव्य, यत्पुनर्नानात्व तदभिधातव्यम । तदेवाधिकृतसूत्रेऽभिधित्सुराह-(जो होइ इत्यादि) यो भवति दीप्तचित्तः सोऽनीप्सितव्यानि बहूनि प्रलपति, बहूनीप्सितप्रलपनं तस्य लक्षण, क्षिप्तचित्तस्त्वपहतचित्ततया मौनेनाप्यवतिष्ठते, इति परस्परं सूत्रयोर्विशेष इति भाव. ॥ १४९ ॥

अथ कथमेष दीप्तचित्तो भवतीति तत्कारणप्रतिपादनार्थमाह-

इति एस असंमाणा, खित्तो सम्माणतो हवति दित्तो ।
अग्गीव इंधणेहिं, दिप्पइ चित्तं इमेहिं तु ॥ १५० ॥

इति प्रागुक्तेन प्रकारेण, एष क्षिप्तः क्षिप्तचित्तोऽसमानतोऽपमानतो भवति, दीप्तो दीप्तचित्त पुन. सम्मानतो विशिष्टसम्मानावाप्तितो भवति । दीप्तचित्तो नाम-यस्य दीप्तं चित्त, तच्च चित्त दीप्यते, अग्निरिवेन्धनैरेभिर्वक्ष्यमाणैर्लाभमदाऽऽदिभि.॥१५०॥

तानेवाऽऽह-

लाभमदेण व मत्तो, अहवा जेऊण दुज्जए सत्तू ।
दित्तम्मि सातवाहणो, तमहं वुच्छं समासेणं ॥१५१॥

लाभमदेन वा मत्त सन् दीप्तचित्तो भवति, अथवा दुर्जयान् शत्रून् जित्वा, उभयस्मिन्नपि दीप्ते दीप्तचित्ते लौकिको दृष्टान्त.-शातवाहनो राजा, तमहं शातवाहनदृष्टान्त समासेन वक्ष्ये ॥१५१॥

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-

महुरा दंडाऽऽणत्ती, निग्गय सहसा अपुच्छियं कयरं ।
तस्स य तिक्खा आणा, दुहा गया दो वि पाडेउं ॥१५२॥

गोयावरीए नदीए तडे अ पइट्ठाण नयर, तत्थ सालवाहणो राया, तस्स खरगओ अमच्चो, अन्नया सो सालवाहणो राया दंडनायग आणवेइ-महुर घेत्तूण सिग्घमागच्छ । सो य सहसा अपुच्छिऊण दंडेहिं सह निग्गतो । ततो चिंता जाया-का महुरा घेत्तव्वा,दक्खिणमहुरा,उत्तरमहुरा वा ?। तस्स आणा तिक्खा, पुणो पुच्छिउ न तीरति । ततो दंडा दुहा काऊण दोसु वि पेसिया, गहिया तो दो वि महुराओ । ततो वद्धावगो पेसिओ । तेणाऽऽगतूण राया वद्धाविओ-देव ! दो वि महुराओ गहियाओ, अन्नो आगतो-देव ! अमुगत्थ पदेसे विपुलो निहीपायडो जातो । ततो उवरुवरि कल्लाणनिवेदणेण हरिसवसविसप्पमाणहियहिअओ परवसो जातो । ततो हरिस धरिउमचायतो सयणिज्ज कुट्टइ, खंभे आहणइ, कुड्डे विद्दवइ, बहूणि य असमंजसाणि पलवति । ततो खरगेणामच्चेण तमुवायण पडिबोहिउकामेण खंभा कुड्डा बहू विद्दविया । रण्णा पुच्छिअ-केण विद्दविय ?। सो भणइ-तुब्भेहिं । ततो मम सम्मुहमलीयमेव भणति त्ति रुट्ठेण रन्ना खरगो पाएण ताडिओ । ततो सकेइयपुरिसेहिं उप्पाडितो, अन्नत्थ सगोविओ य । ततो कम्हि पओयणे समावडिए रण्णा पुच्छिओ-कत्थ अमच्चो चिट्ठति ?। सकेतियपुरिसेहिं कहिय-देव ! तुम्ह अविणयकारि त्ति सो मारितो । राया विसूरिउ पवत्तो-दुट्ठु कयं मए,तयाणि न किंपि चेइय ति । ततो सभावत्थो जातो,ताहे संकेइयपुरिसेहिं विण्णवितो-देव ! गवेसामि जइ वि कयाइ चंडालेहिं रक्खितो हुज्जा । ततो गवेसिऊण आणीतो, राया सतुट्ठो, अमच्चेण सब्भावो कहितो, तुट्ठेण विउला भोगा दिण्णा ।" साम्प्रतमक्षरार्थो भिधीयते-शातवाहनेन राज्ञा मथुराग्रहणाय दण्डस्य दलस्याऽऽज्ञप्ति कृता, ते दण्डा सहसा कां मथुरा गृण्हीम इत्यपृष्ट्वा निर्गताः, तस्य च राज्ञ आज्ञा तीक्ष्णा, ततो भूयः प्रष्टु न शक्नुवन्ति, ततस्ते दण्डा द्विविधा गता द्विधा विभज्य, एके दक्षिणमथुरायामपरे उत्तरमथुरायां गता इत्यर्थः । द्वे अपि च मथुरे पातयित्वा ते समागता. ॥१५२॥

सुयजम्ममहुरपाडण-निहिलंभनिवेयणा जुगव दित्तो ।
सयणिज्जखंभकुड्डे, घट्टेइ इमाइँ पलवंतो ॥१५३॥

सुतस्य जन्म, मथुरयो पातन, निधेर्लाभस्तस्य च युगपन्निवेदनाया स हर्षवशात् दीप्तचित्तोऽभवत्, दीप्तचित्ततया च इमानि वक्ष्यमाणानि प्रलपन् शयनीयस्तम्भकुड्यानि घट्टयति ॥ १५३ ॥

तत्र यानि प्रलपति तान्याह-

सच्चं भण गोयावरि ! पुव्वसमुद्देण साहिया संती ।
सालाहणकुलसरिसं, जति ते कूले कुलं अत्थि ॥१५४॥

हे गोदावरि ! पूर्वसमुद्रेण साधिकृता कृतमर्यादा सती सत्य भण ब्रूहि,यदि तव कूले शातवाहनकुलसदृश कुलमस्ति ।१५४।

उत्तरतो हिमवंतो, दाहिणतो सालवाहणो राया ।
समभारभरक्कंता, तेण न पल्हत्थए पुहवी ॥१५५॥

उत्तरे उत्तरस्यां दिशि हिमवान् गिरिर्दक्षिणत शातवाहनो राजा, तेन समभारभराऽऽक्रान्ता सती पृथिवी न पर्यस्यति । अन्यथा यद्यह दक्षिणतो न स्या, ततो हिमवद्भाराऽऽक्रान्ता नियमत. पर्यस्येत् ॥ १५५ ॥

एयाणि य अन्नाणि य, पलवंतो सो अभाणियव्वाइं ।
कुसलेण अमच्चेण, खरगेणं सो उवाएणं ॥ १५६ ॥

एतान्यनन्तरोदितानि, अन्यानि च सोऽभणितव्यानि बहूनि प्रलपितवान्, ततः कुशलेन खरकनाम्नाऽमात्येनोपायेन प्रतिबोधयितुकामेन ।

किमित्याह-

विद्दवियं केण ति य, तुब्भेहिं पायतालणा खरए ।
कत्थ त्ति मारितो सो, दुट्ठु त्ति य दंसणे भोगा ॥१५७॥

विद्रावित विनाशित समस्त स्तम्भकुड्याऽऽदि । राज्ञा पृष्टम्-केनेदं विनाशितम् ?। अमात्य. सम्मुखीभूय सरोष निष्ठुर च वक्ति-युष्माभि । ततो राज्ञा कुपितेन तस्य पादेन ताडना कृता, तदनन्तर सङ्केतितपुरुषै. स उत्पाटित., सगोपितश्च । तत. समागते कस्मिंश्चित्प्रयोजने राज्ञा पृष्टम्-कुत्रामात्यो वर्तते ?। सङ्केतितपुरुषैरुक्तम्-देव ! युष्मत्पादानामविनयकारी मारित. । ततो दुष्ट कृत मयेति प्रचुर विसमरितवान् । स्वस्थीभूतेऽस्मिन् ज्ञाते सङ्केतितपुरुषैरमात्यदर्शन कारितम् । सद्भावकथनानन्तर राज्ञा तस्मै विपुला भोगा. प्रदत्ता इति' ॥ १५७ ॥

उक्तो लौकिको दीप्तचित्तो, लोकोत्तरिकमाह-

महऽज्झयण भत्तखीरे, कंबलगपडिग्गहे फलगसड्ढे ।
पासाए कप्पट्ठे, वायं काऊण वा दित्तो ॥ १५८ ॥

महाध्ययन पौण्डरीकाऽऽदिक दिवसेन,पौरुष्या वा समागतम्, अथवा-भक्तमुत्कृष्ट लब्ध, नास्मिन्क्षेत्रे भक्तमीदृश केनापि लब्धपूर्व, यदि वा-क्षीर चातुर्जातकसम्मिश्रमवाप्त, नैतादृशमुत्कृष्ट क्षीर केनापि लभ्यते, यदि वा-कम्बलरत्नमतीवोत्कृष्टम्,अथवा-विशिष्टवर्णाऽऽदिगुणोपेतम्,अपलक्षणहीन पतद्ग्रह(फलग त्ति) यद्वा-फलक चम्पकपट्टाऽऽदिकम् ।अथवा-श्राद्धमीश्वरमतिदातारमुपासकत्वेन प्रतिपन्न लब्धम् । यदि वा-प्रासादे सर्वोत्कृष्टे उपाश्रयत्वेन लब्धे, (कप्पट्ठे इति) ईश्वरपुत्रे रूपवति प्रज्ञानिधाने लब्धे प्रमोदते, प्रमोदभरवशाच्च दीप्तचित्तो भवति । एतेन लाभमदेन वा मत्त इति लोकोत्तरे योजितम् । अधुना दुर्जयान् शत्रून् जित्वेत्येतद्योजयति-(वाय काऊण व त्ति) वाद वा परप्रवादिना दुर्जयेन सह कृत्वा त पराजित्यातिहर्षवशतो दीप्तो दीप्तचित्तो भवति ॥१५८॥

साम्प्रतमेनामेव गाथां विनेयजनानुग्रहाय विवरीषुराह-

पुंडरियमाऽयं खलु, अज्झयणं कड्ढिऊण दिवसेणं ।
हरिसेण दित्तचित्तो, एवं होज्जाहि कोऽवि उ ॥ १५९ ॥

कश्चित्पौण्डरीकाऽऽदिकमध्ययन खलु दिवसेन, उपलक्षणमेतत्-पौरुष्यादिना वा, कर्षित्वा पठित्वा, हर्षेण दीप्तचित्तो भवेत्, एवमध्ययनलाभेन दीप्तचित्तता ॥ १५९ ॥

दुल्लहदव्वे देसे, पडिसेविय त अलद्धपुव्वं वा ।
आहारोवहिवसही, अहुणविवाहो व कप्पट्ठो ॥१६०॥

दुर्लभद्रव्ये देशे, तद् दुर्लभद्रव्य, केनाप्यलब्धपूर्व, वाशब्द समुच्चये, प्रतिसेव्य लब्ध्वा, दीप्तचित्तो भवति । एवमाहारे भक्तक्षीराऽऽदिके,उपधौ कम्बलरत्नाऽऽदिके,वसतौ प्रासादाऽऽदिरूपायां लब्धायाम्,यदि वा-(कप्पट्ठो त्ति) ईश्वरपुत्रोऽधुना कृतविवाह' प्रज्ञानिधान शिष्यत्वेन लब्ध इति हर्षेण दीप्तचित्तो भूयात् ॥ १६० ॥

तत्रैतेषु दीप्तचित्तेषु यतनामाह-

दिवसेण पोरिसीए, तुमए ठवियं इमेण अद्धेण ।
एयस्स नत्थि गव्वो, दुम्मेहतरस्स को तुज्झं ? ॥१६१॥

दिवसेन,पौरुष्या वा त्वया पौण्डरीकाऽऽदिकमध्ययन स्थापित पठित, तदनेन दिवसस्य, पौरुष्या वा अर्द्धेन, तथाप्येतस्य नास्ति गर्व , तव पुनर्दुर्मेधस को गर्व. ?, नैव युक्त इति भाव: । एतस्मादपि तव हीनप्रज्ञत्वात् ॥ १६१ ॥

तद्दव्वस्स दुगुछण, दिट्ठंतो भावणा असरिसेणं ।
पगयम्मि पण्णवेत्ता,विज्जाऽऽदि विसोहि जा कम्मं॥१६२॥

यतो दुर्लभद्रव्य भक्त्य क्षीराऽऽदि तेन लब्ध, तस्य द्रव्यस्य जुगुप्सन क्रियते,यथा नेदमतिशोभनम्, अमुको वाऽस्य दोष इत्यादि । यद्वा-दृष्टान्तोऽन्येनापीदृशमानीतमिति प्रदर्शन क्रियते । तस्य दृष्टान्तस्य भावना असदृशेन तस्मात् शतभागेन, सहस्रभागेन वा यो हीनस्तेन कर्तव्या । तथा (पगयम्मि इत्यादि) प्रकृते अवमतरस्य विशिष्टे प्रासादाऽऽदिके सपाद्ये तथाविध श्रावकमितर वा प्राप्य तदभावे कस्यापि महर्द्धिकस्य, विद्याऽऽदि, आदिशब्दाद् मन्त्रचूर्णाऽऽदिपरिग्रह , यावत्कर्मापि प्रयुज्य, ततोऽवमतरस्य विशिष्टप्रासादाऽऽदिसपादने तस्यापभ्राजना सपादनीया, येन प्रगुणो भवति । तत. पश्चाद्विद्याऽऽदिप्रयोगजनितपापविशुद्ध्यै विशोधि. प्रायश्चित्त प्रतिपत्तव्येति ॥ १६२ ॥

साम्प्रतमेतदेव विवरीषुराह-

उक्कोसं बहुविहियं, आहारोवगरणफलगमादीयं ।
खुड्डेणोमतरेणं, आणीतो भामितो पउणो ॥ १६३ ॥

उत्कृष्टं बहुविधिकं बहुभेदमाहार भक्तक्षीराऽऽदिकमुपकरण कम्बलरत्नप्रभृति फलक चम्पकपट्टातिनिसपट्टाऽऽदिकम, आदिशब्द. स्वगतानेकभेदसूचक , तथाविधश्राद्धप्रज्ञापनेन विद्याऽऽदिप्रयोगेण वा सपाद्य क्षुद्रेण क्षुल्लकेन,गुणतोऽवमतरेण शतभागसहस्रभागाऽऽदिना हीनेन आनीतमुपदर्श्य सोऽपभ्राजितः क्रियते, ततः प्रगुणो भवति ॥ १६३ ॥

प्रासादाऽऽदिविषये यतनामाह-

अदिट्ठसड्ढकहणं, आउट्टा अभिणवो य पासाओ ।
कयमित्ते य विवाहे, सिद्धादिसुया कइयवेणं ॥१६४॥

यस्तेन श्राद्धो न दृष्टोऽदृष्टपूर्व , तस्यादृष्टस्य श्राद्धस्य कथन प्रज्ञापना,उपलक्षणमेतत्-अन्यस्य महर्द्धिकस्य विद्याऽऽदिप्रयोगतोऽभिमुखीकरण वा, ततस्ते आवृत्ता. सन्तस्तस्य लब्धमानिनः समीपमागत्य ब्रुवते-वयमेतेन क्षुल्लकेन प्रज्ञापिता , ततोऽभिनव एव कृतमात्र एव युष्माक मे प्रासादो दत्त इति । तथा सिद्धपुत्राऽऽदिकेषु प्रज्ञापन, विद्याऽऽदिप्रयोग वा कृत्वा तत्सुत. कृतमात्रविवाह एव व्रतार्थं तत्समक्षमुपस्थापनीयो, येन तस्यापभ्राजनोपजायते, तत. पश्चाद्दत्त । तथा कैतवेन कपटेन सिद्धाऽऽदिसुता सिद्धपुत्राऽऽदिसुता. कृतमात्र एव विवाहे उत्पादनीया., शकुनाऽऽदिवैगुण्यमुद्भाव्य मुच्यन्ते, यदि न स्यात् तात्त्विकी व्रतश्रद्धेति ॥ १६४ ॥

" वाय काऊण व " इत्यत्र यतनामाह-

चरगाऽऽदि पन्नवेउं, पुव्वं तस्स पुरतो जिणावेंति ।
ओमतरगेण तत्तो, पगुणति ओभामितो एवं ॥१६५॥

चरकाऽऽदिक प्रचण्ड परवादिनमध कृतसाधोर्वादे वाऽस्माभ्य पूर्व प्रज्ञाप्य प्ररूपितस्याधिकृतस्य वादाभिमानिन साधो' पुरतोऽवमतरेण चरकाऽऽदिक जापयन्ति वरवृषभा:,ततः स एवमपभ्राजित सन् प्रगुणायते प्रगुणो भवति ॥ १६५ ॥ व्य० २ उ० । बृ० ।

दित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ ११ ॥

दीप्तचित्तां निर्ग्रन्थीं गृण्हन्नवलम्बमानो वा नातिक्रामत्याज्ञाम । तत्र निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा अपि वक्तव्यता वक्तव्या,नवरमेतत्प्रत्यभिलाप. कर्तव्य. । बृ० ६ उ० । स्था० । नि० । ओघ० ।

दित्ततव-दीप्ततपस्-पु०। दीप्त तपो यस्य स दीप्ततप. । हुताशन इव कर्मवनदाहकत्वेन ज्वलत्तेजस्के तपस्विनि, विपा० १ श्रु० १ अ० । ज्ञा० । स्था० । औ० । नि० । भ० ।

दित्तधर-दीप्तधर-पु० । ज्वलितधारके, स्था० १० ठा० ।

दृप्तधर-पु० । दर्पवद्धारके, स्था० १० ठा० ।

दित्ता-दीप्ता-स्त्री० । ज्वलन्त्याम् , उत्त० १६ अ० ।

दित्ति–दिति (ती)–स्त्री० । दोऽवखण्डने, क्तिच् वा ङीप् । दैत्यमातरि कश्यपपत्न्याम्, भावे क्तिन् । खण्डने, वाच० । पुनर्वसुनक्षत्राधिष्ठातृदेवतायाम् , स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० ।

दीप्ति–स्त्री० । दीप-क्तिन् । कान्तौ, " कान्तिरेव वयोभोग-देशकालगुणाऽऽदिभिः । उद्दीपिताऽतिविस्तारं, प्राप्ता दीप्तिरिहोच्यते ॥ १ ॥ " इत्युक्ते स्त्रीणां गुणभेदे, वाच० । दीपने, ज्ञा० १ श्रु० १० अ० ।

दित्तिमं–दीप्तिमत्–पु० । परवादिनामक्षोभ्ये षट्त्रिंशत्सूरिगुणानां चतुस्त्रिंशत्तमे गुणे, ग० १ अधि० । आचा० । प्रव० ।

दित्सा–दित्सा–स्त्री० । दातुमिच्छायाम्, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

दिदिक्खा–दिदृक्षा–स्त्री० । द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा । दर्शनेच्छायाम्, न० । षो० ।

> दिदृक्षा भवबीजं चा-विद्या चाऽनादिवासना ।
> भङ्ग्यैषैवाऽऽश्रिता साङ्ख्य-शैववेदान्तिसौगतैः ॥ २९ ॥

(दिदृक्षेति) पुरुषस्य प्रकृतिविकारान् द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा सैवेयमिति साङ्ख्याः , भवबीजमिति शैवाः , अविद्येति वेदान्तिकाः , अनादिवासनेति सौगताः ॥ २९ ॥ द्वा० १२ द्वा० ।

दिद्ध–दिग्ध–पु० । दिह-क्त । विषाक्तबाणे, वह्नौ च । भावे क्त । स्नेहे, लेपने, न० । कर्मणि क्त. । लिप्ते, वाच० । नि० चू० १ उ० ।

दिप्प–दीप्र–त्रि० । प्रकाशिते, " दीप्रदीपाङ्कुरायते । " रत्ना० १ परि० ।

दिप्पंत–दीप्यमान–त्रि० । भासमाने, नि०चू० १ उ० । दीप्यमानविमलग्रहगणसमप्रभा. । दीप्यमानो रजन्यां भास्वान् विमलोऽत्र धूल्याद्यपगमेन ग्रहगणो ग्रहसमूहस्तेन समा प्रभा यासां ता । जी० ३ प्रति० ४ उ० । अनर्थे, दे०ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दिप्पमाण–दीप्यमान–त्रि० । भासमाने, औ० । कल्प० । "दिप्पमाणसोहं । " दीप्यमाना शोभा यस्य तम् । कल्प० ३ क्षण ।

दिप्पा–दीप्रा–स्त्री० । दीपप्रभासदृश्याम्, ध० १ अधि० । योगदृष्टिभेदे, द्वा० ।

> प्राणायामवती दीप्रा, योगोत्थानविवर्जिता ।
> तत्त्वश्रवणसंयुक्ता, सूक्ष्मबोधमनाश्रिता ॥ १६ ॥

प्राणायामवती प्राणायामसहिता दीप्रा दृष्टि योगोत्थानेन विवर्जिता, प्रशान्तवाहितालाभात् । तत्त्वश्रवणेन संयुक्ता, शुश्रूषाफलभावात् । सूक्ष्मबोधेन विवर्जिता, वेद्यसंवेद्यपदाप्राप्तेः ॥ १६ ॥ द्वा० २२ द्वा० । (प्राणायामव्याख्या ' पाणायाम ' शब्दे द्रष्टव्या) (तत्त्वश्रुतिश्च ' तत्तसुइ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१८३ पृष्ठे गता)

> कर्मवज्रविभेदेना-नन्तधर्मकगोचरे ।
> वेद्यसंवेद्यपदजे, बोधे सूक्ष्मत्वमत्र न ॥ २३ ॥

(कर्मेति) कर्मैव वज्रमतिदुर्भेदत्वात् तस्य विभेदेनानन्तधर्मकं भेदाभेदनित्यत्वानित्यत्वाऽऽद्यनन्तधर्मात्मकं यद्वस्तु तद्गोचरे वस्तुनस्तथात्वपरिच्छेदिनि, वेद्यसंवेद्यपदजे बोधे सूक्ष्मत्वं यत्तदत्र दीप्राया दृष्टौ न भवति, तद्ग्रन्थिभूमिकारूपत्वादस्या । तदुक्तम्-" भवाम्भोधिसमुत्तारात्, कर्मवज्रविभेदतः । ज्ञेयव्याप्तेश्च कार्त्स्न्येन, सूक्ष्मत्वं नाऽयमत्र तु ॥ १ ॥ " ॥ २३ ॥

> अवेद्यसंवेद्यपदं, चतसृष्वासु दृष्टिषु ।
> पक्षिच्छायाजलचर-प्रवृत्त्याभं यदुल्बणम् ॥ २४ ॥

(अवेद्येति) आसु मित्राऽऽद्यासु चतसृषु दृष्टिषु यद्यस्मादवेद्यसंवेद्यपदम् उल्बणमधिकम् । पक्षिच्छायायां जलसंसर्गिण्यां जलधिया जलचरप्रवृत्तिरिवाऽऽभा वेद्यपदसंवेद्यसम्बन्धिनी यत्र तत्तथा । तत्र हि न तात्त्विकं वेद्यसंवेद्यपदं,किं त्वारोपाधिष्ठानसंसर्गितयाऽतात्त्विकम्, अत एवानुल्बणमित्यर्थ । एतदपि चरमासु चरमयथाप्रवृत्तकरणेन एवेत्याचार्या । तदिदमभिप्रेत्योक्तम्-" अवेद्यसंवेद्यपदं, यस्मादासु तथोल्बणम् । पक्षिच्छायाजलचर-प्रवृत्त्याभमतः परम् ॥ १ ॥ " ॥ २४ ॥

> वेद्यं संवेद्यते यस्मि-न्नपायाऽऽदिनिबन्धनम् ।
> पदं तद् वेद्यसंवेद्य-मन्यदेतद्विपर्ययात् ॥ २५ ॥

(वेद्यमिति) वेद्यं वेदनीयं वस्तुस्थित्या, तथा भावयोगिसामान्येनाविकल्पकज्ञानग्राह्यमित्यर्थ । संवेद्यते क्षयोपशमानुरूपं निश्चयबुद्ध्या विज्ञायते, यस्मिन्नाशयस्थाने, अपायाऽऽदिनिबन्धनं नरकस्वर्गाऽऽदिकारणं हिंसाऽहिंसाऽऽदि तद्वेद्यसंवेद्यपदम्,अन्यदवेद्यसंवेद्यपदमेतद्विपर्ययादुक्तलक्षणव्यत्ययात् । यद्यपि शुद्धं यथावद्वेद्यसंवेदनं माषतुषाऽऽदावसम्भवि, योग्यतामात्रेण च मित्राऽऽदिदृष्टिष्वपि सम्भवि,तथाऽपि वेद्यसंवेद्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं ग्रन्थिभेदजनितो रुचिविशेष एवेति न दोष ।२५।

> अपायशक्तिमालिन्यं, सूक्ष्मबोधविघातकृत् ।
> न वेद्यसंवेद्यपदे, वज्रतण्डुलसन्निभे ॥ २६ ॥

(अपायेति) अपायशक्तिमालिन्यं नरकाऽऽद्यपायशक्तिमलिनत्वं, सूक्ष्मबोधस्य विघातकृत् अपायहेत्वासेवनक्लिष्टबीजसद्भावात्तस्य सद्ज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमाभावनियतत्वात् । न वेद्यसंवेद्यपदे उक्तलक्षणे वज्रतण्डुलसन्निभे, प्रायो दुर्गतावपि मानसदुःखाभावेन तद्वेद्यसंवेद्यपदवतो भावपाकायोगात् । एतच्च व्यावहारिकं वेद्यसंवेद्यपदं भावमाश्रित्योक्तम् । निश्चयतस्तु प्रतिपतितसद्दर्शनानामनन्तसंसारिणां नास्त्येव वेद्यसंवेद्यपदभाव । नैश्चयिकतद्वति क्षायिकसम्यग्दृष्टौ श्रेणिकाऽऽदाविव पुनर्दुर्गत्ययोगेन तप्तलोहपदन्यासतुल्याया अपि पापप्रवृत्तेश्चरमाया एवोपपत्ते ।

यथोक्तम्-

> " अतोऽन्यदुत्तरा स्वस्मात्, पापे कर्माऽऽगसोऽपि हि ।
> तप्तलोहपदन्यास-तुल्या वृत्ति क्वचिद्यदि ॥ १ ॥
> वेद्यसंवेद्यपदत., संवेगातिशयादिति ।
> चरमैव भवत्येषा, पुनर्दुर्गत्ययोगत. ॥ २ ॥ " इति ॥ २६ ॥

> तच्छक्तिः स्थूलबोधस्य,बीजमन्यत्र चाक्षतम् ।
> तत्र यत्पुण्यबन्धोऽपि, हन्तापायोत्तरः स्मृतः ॥ २७ ॥

(तच्छक्तिरिति) अन्यत्र चावेद्यसंवेद्यपदे तच्छक्तिरपायशक्ति स्थूलबोधस्य बीजमक्षतमनभिभूतम् । तत्रावेद्यसंवेद्यपदे यद्यस्मात् पुण्यबन्धोऽपि हन्तापायोत्तरो विघ्नान्तरीयक स्मृत , ततस्तत्पुण्यस्य पापानुबन्धित्वात् ॥ २७ ॥

> प्रवृत्तिरपि योगस्य, वैराग्यान्मोहगर्भतः ।
> प्रसूतेऽपायजननी-मुत्तरां मोहवासनाम् ॥ २८ ॥

(प्रवृत्तिरपीति) तत्रेति प्राक्तनमत्रानुषज्ज्यते । तत्र मोहगर्भतो वैराग्याद् योगस्य प्रवृत्तिरपि सद्गुरुपारतन्त्र्याभावेऽपायजननीमुत्तरा मोहवासनां प्रसूते, मोहमूलानुष्ठानस्य मोहवासनाऽवन्ध्यबीजत्वात्, अतोऽत्र योगप्रवृत्तिरप्यकिञ्चित्करीति भाव ॥ २८ ॥

अवेद्यसंवेद्यपदे, पुण्यं निरनुबन्धकम् ।
भवाभिनन्दिजन्तूनां, पापं स्यात्सानुबन्धकम् ॥२९॥

(अवेद्येति) अवेद्यसवेद्यपदे पुण्य निरनुबन्धकमनुबन्धरहित स्यात् । यदि कदाचिन्न स्यात् पापानुबन्धि, सानुबन्धे तत्र ग्रन्थिभेदस्य नियामकत्वात् । भवाभिनन्दिना क्षुद्रत्वाऽऽदिदोषवतां जन्तूनां पाप सानुबन्धकमनुबन्धसहित स्यात्,रागद्वेषाऽऽदिप्राबल्यस्य तदनुबन्धावन्ध्यबीजत्वात् ॥२९॥

कुकृत्यं कृत्यमाभाति, कृत्यं चाकृत्यमेव हि ।
अत्र व्यामूढचित्ताना, कण्डूकण्डूयनाऽऽदिवत् ॥३०॥

(कुकृत्यमिति) कुकृत्य प्राणातिपाताऽऽदिकृत्य करणीयमाभाति । कृत्य चाहिंसाऽऽदि,अकृत्यमेव हि अनाचरणीयमेव । अत्राऽवेद्यसवेद्यपदे व्यामूढचित्ताना मोहग्रस्तमानसाना, कण्डूलानां कण्डूयनाऽऽदिवत् । आदिना कृम्याकुलस्य कुष्ठिनोऽग्निसेवनग्रह. । कण्डूयकाऽऽदीना कण्ड्वादेरिव भवाभिनन्दिनामवेद्यसवेद्यपदादेव विपर्ययधीरिति भाव ॥३०॥

एतेऽसच्चेष्टयाऽऽत्मान, मलिन कुर्वते निजम् ।
बडिशाऽऽमिषवत्तुच्छे, प्रसक्ता भोगजे सुखे ॥३१॥

(एत इति) एते भवाभिनन्दिनोऽसच्चेष्टया महारम्भाऽऽदिप्रवृत्तिलक्षणया निजमात्मान मलिनं कुर्वते, कर्मरज सम्बन्धात्, बडिशाऽऽमिषवद् मत्स्यगलमांसवत् । तुच्छेऽल्पे रौद्रविपाके प्रसक्ता. भोगजे भोगप्रभवे सुखे ॥३१॥

अवेद्यसंवेद्यपद, सत्सङ्गाऽऽगमयोगतः ।
तद्दुर्गतिप्रद जेय, परमाऽऽनन्दमिच्छता ॥३२॥

(अवेद्येति) यतोऽस्याय दारुणो विपाक ,तत्तस्मादवेद्यसवेद्यपद दुर्गतिप्रद नरकाऽऽदिदुर्गतिकारणम्, सत्सङ्गाऽऽगमयोगतो विशिष्टसङ्गमाऽऽगमसम्बन्धात । परमाऽऽनन्द मोक्षसुख मिच्छता जेयम्, अस्यामेव भूमिकायामन्यदा जेतुमशक्यत्वात् । अत एवानुवादपरोऽप्यागम इति योगाऽऽचार्या अयोग्ययोगासिद्धेरिति ॥३२॥ द्वा० २२ द्वा० ।

[दि]य–द्विज–पुं० । द्विर्जायते, सुजर्थे वृत्तौ द्विशब्द , जन-ड । संस्कृतब्राह्मणे, वाच० । आचा० । सूत्र० ।

[दि]व–न० । दिव-क । स्वर्गे, दिवौकस इत्यत्रादन्तता । दिवसे, [गग]ने च । वाच० । स० ४३ सम० ।

[दुग]क–त्रि० । द्वि०व० । द्विकसख्याया,तद्युक्ते च । त्रि० । वाच० ।

[दि]पोय–द्विजपोत–पुं० । पक्षिशिशौ, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

[दिव]स–दिवस–पु० । दीव्यन्त्यत्र, दिव असच् किच्च । सूर्यकिरणोपलक्षिते पञ्चदशमुहूर्ताऽऽत्मके काले, त० । ज्यो० । [मा]सस्य त्रिंशत्तमे भागे, ज्यो० २ पाहु० ।

[दिव]सयर–दिवसकर–पु० । सूर्ये, को० ।

दियसबंभयारि (ण्)–दिवसब्रह्मचारिन्–पु० । दिवसे ब्रह्म चरतीत्येवशीलो दिवसब्रह्मचारी । दिवसे मैथुनत्यागिनि, पञ्चा० १० विव० । स० । आ० चू० ।

दिया–दिवा–अव्य० । दिव-क । दिवसे, पा० । भ० ।

दियाभोयण–दिवाभोजन–न० । दिवसभोजने, नि० चू० ११ उ० । (दिवाभोजनस्य अवर्णवादे प्रायश्चित्तम् ' राईभोयण ' शब्दे वक्ष्यते)

दियालोगच्चुय–देवलोकच्युत–त्रि० । ऋषीभूते, "दियालोगच्चुयाभासिया ।" देवलोकच्युतै ऋषीभूतैराभाषितानि देवलोकच्युताऽऽभाषितानि । स० ४३ सम० ।

दिरअ–द्विरद–पु० । " दिन्योरुत् " ॥ ८ । १ । ९४ ॥ इत्यत्र बहुलाधिकारात्कचिदुत्व न । प्रा० १ पाद । द्वौ रदौ यस्य स. । हस्तिनि, वाच० ।

दिलिवेढय–दिलिवेष्टक–पु० । ग्राहभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दिलिंदिअ–देशी–बाले, दे० ना० ५ वर्ग ४० गाथा ।

दिल्लीपुर–दिल्लीपुर–न० । यमुनातटस्थे इन्द्रप्रस्थनामके नगरे, ती० १६ कल्प ।

दिव–दिव–न० । स्वर्गे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

दिवड्ढ–द्व्यर्द्ध–त्रि० । द्वितीयमर्द्धं यस्य तद् द्व्यर्द्धम् । सार्द्धे, सू० प्र० १० पाहु० । च० प्र० । आ० म० । ज्यो० । स० ।

द्व्यपार्द्ध–त्रि० । द्वितीयमपार्द्धं यत्र तद् द्व्यपार्द्धम् । सार्द्धे, स्था० ६ ठा० ।

दिवड्ढखेत्त–द्व्यपार्द्धक्षेत्र–न० । सार्द्धक्षेत्रे, सू० प्र० १ पाहु० ।

दिवड्ढखेत्तिय–द्व्यपार्द्धक्षेत्रिक–त्रि० । द्व्यपार्द्धं क्षेत्र येषा ते । सार्द्धक्षेत्रिके, स्था० ६ ठा० ।

द्व्यर्द्धक्षेत्रिक–त्रि० । द्व्यर्द्धं क्षेत्र येषां ते । सार्द्धोपेतक्षेत्रिके, स० ४५ सम० । ज्यो० । सू० प्र० । च० प्र० । आ० म० ।

दिवस–दिवस–पु० । " दिवसे स " ॥ ८ । १ । २६३ ॥ इति सस्य पाक्षिको ह. । प्रा० १ पाद । दिवसकरप्रभाप्रकाशितनभ -खण्डरूपे सूर्यकिरणाऽऽस्पृष्टव्योमखण्डरूपे वा चतु प्रहराऽऽत्मके समये, विशे० । स० । औ० । ध० । प्रश्न० । द्वी० ।

ता कह ते दिवसा आहिय त्ति वएज्जा ? । ता एगमेगस्स णं पक्खस्स पन्नरस दिवसा पण्णत्ता । त जहा–पडिवादिवसे, वितियदिवसे, जाव० पन्नरसे दिवसे । ता एतेसि णं पन्नरसण्हं दिवसाणं पन्नरस णामधेज्जा पण्णत्ता । त जहा–

" पुव्वंगे सिद्धमणो–रमे य तत्तो मणोहरे चेव ।
जसभद्दे य जसोधरे, सव्वकामसमिद्धे ति य ॥ १ ॥
इंदमुद्धाभिसित्ते, सोमणस धणंजए य बोधव्वे ।
अत्थसिद्धे अभिजिते, अच्चसणे सतंजए चेव ॥ २ ॥
अग्गिवेसे उवसमे, दिवसाणं नामधेज्जाइं । "

(ता कह ते इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । कथ केन प्रकारेण, केन क्रमेणेत्यर्थ. ? । भगवन् ! त्वया दिवसा आख्याता इति व-

देत् ॥ भगवानाह-(एगमेगस्स णमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । एकैकस्य, अत्रापान्तरालवर्ती, मकारोऽलाक्षणिकः, णमिति वाक्यालङ्कारे । पक्षस्य पञ्चदश दिवसाः प्रज्ञप्ताः, वक्ष्यमाणक्रमयुक्ताः। तमेव क्रममाह-(त जहेत्यादि) तद्यथा-प्रतिपत्प्रथमो दिवसो, द्वितीया द्वितीयो दिवस, तृतीया तृतीयो दिवसः, एव यावत्पञ्चदशी पञ्चदशो दिवसः । (ता एएसि णमित्यादि) तत्र एतेषां पञ्चदशानां दिवसानां क्रमेण पञ्चदश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-प्रथम. प्रतिपल्लक्षणः पूर्वाङ्गनामा, द्वितीयः सिद्धमनोरमः, तृतीयो मनोहर, चतुर्थो यशोभद्र, पञ्चमो यशोधर, षष्ठ सर्वकामसमृद्धः, सप्तम इन्द्रमूर्द्धाभिषिक्तः, अष्टमः सौमनसो, नवमो धनञ्जयो, दशमोऽर्थसिद्धः, एकादशोऽभिजित, द्वादशोऽत्यसनं, त्रयोदश. शतञ्जयः, चतुर्दशोऽग्निवेशः, पञ्चदश उपशमः । एतानि दिवसानां क्रमेण नामधेयानि । चं०प्र० १० पाहु० १३ पाहु० पाहु० । द्वादशाऽऽदिमुहूर्तो दिवस । आ० म० २ अ० । अहोरात्रे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । (दिनरात्रिहानिवृद्धी 'सूरमण्डल' शब्दे वक्ष्येते)

दिवसतिहि-दिवसतिथि-स्त्री० । तिथे पूर्वभागे, सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० ।

दिवसभयग-दिवसभृतक-पु० । भृयते पोष्यते स्मेति भृतः, स एव भृतकः, कर्मकर इत्यर्थ. । प्रतिदिवस नियतमूल्येन कर्मकरणार्थं यो गृह्यते स । प्रतिदिवस नियतमूल्येन कर्मकरणार्थं गृहीते भृत्ये, स्था० ४ ठा० १ उ० । प० चू० । प० भा० ।

दिवसुज्जुत्त-दिवसोद्युक्त-त्रि० । प्रतिदिनमुद्यते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दिवह-दिवस-पु० । 'दिवस' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

दिवाकर-दिवाकर-पुं० । सूर्ये, उत्त० ११ अ० । रा० । ज्ञा० । औ० । "उत्तिट्ठते दिवायरे जलत इव ।" उत्त० ११ अ० ।

दिवाकरकूम-दिवाकरकूट-पु० । जम्बूमन्दरदक्षिणे रुचकवरपर्वतस्याष्टमे कूटे, स्था० ८ ठा० ।

दिवागर-दिवाकर-पुं० । 'दिवाकर' शब्दार्थे, उत्त० ११ अ० ।

दिवागरकूम-दिवाकरकूट-पु० । 'दिवाकरकूम' शब्दार्थे, स्था० ८ ठा० ।

दिविट्ठ-द्विपृष्ठ-पु० । द्वितीये वासुदेवे, ति० । आव० ।

दिवे-दिवा-अव्य० । "किलाऽथवा-दिवा-सह-नहे. किराहवइ दिवे सहु नाहिं" ॥ ८ । ४ । ४१६ ॥ इति दिवा इत्यस्य 'दिवे' इत्यादेशः । दिवसे, वाच० । "दिवे दिवे गग पहाणु ।" प्रा० ४ पाद ।

दिव्व-दिव्य-त्रि० । दीव्यतेऽनेन दिव-क्यप् । उत्तमे, स० १० सम० । औ० । प्रधाने, रा० । प्रश्न० । जी० । ज० । औ० । ज्ञा० । स्था० । च० प्र० । सू० प्र० । प्रज्ञा० । विशिष्टे, स० १० सम० । न० । स्वर्गगतवस्तुविषये, स्था० ३ ठा० ३ उ० । आ० क० । भ० । सुरनिर्मिते, आ० म० १ अ० २ खण्ड । स्था० । आ० क० । देवोचिते, औ० । कल्प० । देवरमणे, रा० । व्यन्तराट्टहासाऽऽदिविषये पापश्रुतभेदे, ध० ३ अधि० । व्यन्तराऽऽदिकृते उपसर्गे, आव० ५ अ० । विशे० । उत्त० । कल्प० । सूत्र० । आ० चू० । दैवजन्ये, न० । द्यौ. स्वर्गस्तद्वासी देवोऽप्युपचाराद् द्यो, तत्र भवो दिव्यः । वैमानिकाऽऽदिदेवसम्बन्धिनि, स्था० ४ ठा० ४ उ० । "दिव्व गाए मणनिव्वुइकर ।" । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । "दिव्वजुयलपरिहिओ ।" उत्त० २२ अ० । मनोहरे, घोलनाऽऽत्मके च । दिवि भव यत् । लवङ्गे, चन्दने, शपथरूपे, अलौकिकप्रमाणभेदे, गुग्गुलौ, तम्बोके भावभेदे च । न० । नायकभेदे, पु० । वाच० ।

दिव्वग-दिव्यक-त्रि० । व्यन्तराऽऽदिना हास्यप्रद्वेषाऽऽदिजनिते उपसर्गभेदे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

दिव्वजाग-दिव्ययाग-पु० । जिनपूजायाम्, कल्प० ५ क्षण ।

दिव्वतुडिय-दिव्यत्रुटित-न० । वेणुवीणामृदङ्गाऽऽद्यातोद्येषु, रा० । दिव्यतूर्य-न० । वाद्यभेदे, रा० ।

दिव्वदेवजुति-दिव्यदेवद्युति-स्त्री० । विशिष्टायां शराऽऽभरणाऽऽदिदीप्तौ, स० १० सम० । स्था० ।

दिव्वदेवड्ढि-दिव्यदेवर्द्धि-स्त्री० । प्रधानपरिवाराऽऽदिरूपायां देवर्द्धौ, स० १० सम० । स्था० ।

दिव्वदेवाणुभाव-दिव्यदेवानुभाव-त्रि० । उत्तमवैक्रियकरणाऽऽदिप्रभावे, स० १० सम० । स्था० ।

दिव्वज्झुणि-दिव्यध्वनि-पु० । सर्वप्राणिश्रुतिसुखदायां स्वस्वभाषापरिणामिन्यां सशयशतव्यवच्छेद्यां योजनव्यापिन्यां भगवद्वाण्याम्, दर्श० १ तत्त्व ।

दिव्वाग-दिव्याक-पु० । मकुलिसर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दिव्वायवत्त-दिव्याऽऽतपत्र-स्त्री० । शोभने आतपत्रे, रा० ।

दिव्वासा-स्त्री० । देशी-चामुण्डायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ३६ गाथा ।

दिसा-दिक्-स्त्री० । "दिक्प्रावृषो स." ॥ ८ । १ । १९ ॥ इति अन्त्यव्यञ्जनस्य स । 'दिसा' । प्रा० १ पाद । दिश् क्विप् वा टाप् । आशायां, ककुभि च । वाच० । दिशतीति दिक् । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । दिश्यते व्यपदिश्यते पूर्वाऽऽदितया वस्त्वनयेति दिक् । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

तां निर्युक्तिकृन्निक्षेप्तुमाह-

नामं ठवणा दविए, खेत्ते तावे य पण्णवगभावे ।
एस दिसानिक्खेवो, सत्तविहो होइ नायव्वो ॥ ४० ॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रतापप्रज्ञापकभावरूप सप्तधा दिङ्निक्षेपो ज्ञातव्य, तत्र सचित्ताऽऽदेर्द्रव्यस्य दिगित्यभिधानं नामदिक्, चित्रलिखितजम्बूद्वीपाऽऽदेर्दिग्विभागस्थापन स्थापनादिक् ।

द्रव्यदिङ्निक्षेपार्थमाह-

तेरसपएसियं खलु, तावइएसुं भवे पएसेसुं ।
जं दव्वं ओगाढं, जहण्णगं त दसदिसागं ॥ ४१ ॥

द्रव्यदिग् द्वेधा-आगमतो, नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञातानुपयुक्त, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता त्वियम्-त्रयोदशप्रदेशिक द्रव्यमाश्रित्य या प्रवृत्ता, खलुरवधारणे, त्रयोदशप्रदेशिकमेव दिक्, न पुनर्दशप्रदेशिक यत् कैश्चिदुक्तमिति, प्रदेशा-परमाणवस्तैर्निष्पादित कार्यद्रव्य तावत्स्वेव क्षेत्रप्रदेशेष्ववगाढ जघन्य द्रव्यमाश्रित्य दशदिग्विभागपरिकल्पनातो द्रव्यदिगियमिति । तत्स्थापना (२) । त्रिबाहुक नवप्रदेशिकमभिलिख्य चतसृषु दिक्ष्वेकैकवृद्धवृद्धि. कार्या ।

क्षेत्रदिशमाह-

अट्ठपएसो रुयगो, तिरियं लोयस्स मज्झयारम्मि ।
एस पभवो दिसाणं, एसेव भवे अणुदिसाणं ॥ ४२ ॥

तिर्यग्लोकमध्ये रत्नप्रभापृथिव्या उपरि बहुमध्यदेशे मेरुमध्ये अष्टप्रदेशो रुचकः, सर्वक्षुल्लकप्रतरौ, तयोरुपरितनस्य चाधस्तनस्य प्रदेशा गोस्तनाकाराः चत्वारश्चत्वार एवमष्टप्रदेशो रुचकः, एष दिशामनुदिशां च प्रभवः उत्पत्तिस्थानमिति । आचा० (३) ।

आसामभिधानान्याह-

इंदऽग्गेई जम्मा, य नेरई वारुणी य वायव्वा ।
सोमा ईसाणा वि य, विमला य तमा य बोधव्वा ॥४३॥

आसामाद्यन्ते विजयद्वारानुसारेण शेषाः प्रदक्षिणतः समावसेयाः, ऊर्ध्वं विमला तमा बोद्धव्या इति ।

आसामेव स्वरूपनिरूपणायाऽऽह-

दुपएसाइ दुरुत्तर, एगपएसा अणुत्तरा चेव ।
चउरो चउरो य दिसा, चउराइ अणुत्तरा दुण्णि ॥४४॥

चतस्रो महादिशो द्विप्रदेशाद्या द्विद्विप्रदेशोत्तरवृद्धाः, विदिशस्त्वेकप्रदेशरचनाऽऽत्मिकाः, अनुत्तराः वृद्धिरहिताः, ऊर्ध्वाधो दिग्द्वयं त्वनुत्तरमेव चतुःप्रदेशाऽऽदिरचनाऽऽत्मकम् ।

किञ्च-

अंतो साइयाओ, बाहिरपासे अपज्जवसियाओ ।
सव्वाणंतपएसा, सव्वा य भवंति कडजुम्मा ॥ ४५ ॥

सर्वाऽप्यन्तर्मध्ये सादिका रुचकाद्या इति दृश्या, बहिश्चालोकाऽऽकाशाऽऽश्रयणादपर्यवसिताः, सर्वाश्च दशाप्यनन्तप्रदेशाऽऽत्मिका भवन्ति । (सव्वा य हवंति कडजुम्म त्ति) सर्वासां दिशां प्रत्येकं ये प्रदेशास्ते चतुष्केणापह्रियमाणाश्चतुष्का एवावतिष्ठन्ते इत्यतः, ताभिः प्रदेशाऽऽत्मिकाभिर्दिशोऽऽगमसंज्ञया " कडजुम्म त्ति " शब्देनाभिधीयन्ते । तथा चाऽऽगम- " कइ णं भंते ! जुम्मा पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता । तं जहा-कडजुम्मे, तेओए, दावरजुम्मे, कलिओए । से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे अवहीरमाणे चउपज्जवसिए सिया, से णं कडजुम्मे । एवं तिपज्जवसिए तेओए, दुपज्जवसिए दावरजुम्मे, एगपज्जवसिए कलिओए त्ति । "

पुनरप्यासां संस्थानमाह-

सगडुद्धिसंठियाओ, महादिसाओ य होंति चत्तारि ।
मुत्तावली य चउरो, दो चेव य होंति रुयगनिभा ॥४६॥

महादिशश्चतस्रोऽपि शकटोर्द्धिसंस्थानाः, विदिशश्च मुक्तावलिनिभाः, ऊर्ध्वाधोदिग्द्वयं रुचकाऽऽकारमिति ।

तापदिशमाह-

जस्स जओ आइच्चो, उएइ सा तस्स होइ पुव्वदिसा ।
जत्तो य अत्थमेइ उ, अवरदिसा सा उ नायव्वा ॥४७॥
दाहिणपासम्मि य दा-हिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं ।
एया चत्तारि दिसा, तावक्खेत्ते उ अक्खाया ॥४८॥

तापयतीति ताप आदित्यः, तदाश्रिता दिक् तापदिक्, शेषं सुगमं, केवलं दक्षिणपार्श्वाऽऽदिव्यपदेशः पूर्वाऽभिमुखस्येति द्रष्टव्यः ।

तापदिगङ्गीकरणेन योऽपि व्यपदेशो भवतीति प्रसङ्गेन आह-

जे मंदरस्स पुव्वे-ण मणुस्सा दाहिणेण अवरेणं ।
जे यावि उत्तरेणं, सव्वेसिं उत्तरो मेरू ॥ ४९ ॥
सव्वेसिं उत्तरेणं, मेरू लवणो य होइ दाहिणओ ।
पुव्वेणं उट्ठेइ, अवरेण अत्थमइ सूरो ॥ ५० ॥

ये मनुष्याः मेरोः पूर्वेण मनुष्या क्षेत्रदिगङ्गीकरणेन, तत्र कापेक्ष पूर्वाऽऽदिदिक्षु व्यवस्थिताः, तेषां सर्वेषामुत्तरो मेरुर्दक्षिणेन लवणः इति तापदिगङ्गीकरणेन, शेषं सुगमम् ।

प्रज्ञापकदिशमाह-

जत्थ य जो पण्णवओ, कस्स वि साहइ दिसासु य निमित्तं ।
जत्तोमुहो य ठाई, सा पुव्वा पच्छओ अवरा ॥ ५१ ॥

प्रज्ञापको यत्र कश्चित् स्थितः दिशा यस्य कस्यचिन्निमित्तं कथयति, स यदभिमुखस्तिष्ठति, सा पूर्वा, पृष्ठतश्चापरेति, निमित्तकथनं चापलक्षणमन्योऽपि व्याख्याता ग्राह्य इति ।

शेषदिक्कथनार्थमाह-

दाहिणपासम्मि उ दा-हिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं ।
एयासिमंतरेणं, अण्णा चत्तारि विदिसाओ ॥ ५२ ॥
एतासिं चेव अट्ठ-ण्हमंतरा अट्ठ होंति अण्णाओ ।
सोलस सरीरउस्सय-बाहल्ला सव्वतिरियदिसा ॥५३॥
हेट्ठा पायतलाणं, अहोदिसा सीसउवरिमा उड्ढा ।
एया अट्ठारस वी, पण्णवगदिसा मुणेयव्वा ॥ ५४ ॥
एवं पकप्पियाणं, दसण्ह अट्ठण्ह चेव य दिसाणं ।
नामाइं वोच्छामी, जहक्कमं आणुपुव्वीए ॥ ५५ ॥
पुव्वा य पुव्वदक्खिण, दक्खिण तह दक्खिणाऽवरा चेव ।
अवरा य अवरउत्तर, उत्तर पुव्वुत्तरा चेव ॥ ५६ ॥
सामुत्थाणी कविला, खेलेज्जा खलु तहेव अहिधम्मा ।
परियाधम्मा य तहा, सावित्ती पण्णवित्ती य ॥ ५७ ॥
हेट्ठा नेरइयाणं, अहोदिसा उवरिमा उ देवाणं ।
एयाइं नामाइं, पण्णवगस्सा दिसाणं तु ॥ ५८ ॥

एताः सप्त गाथाः कण्ठ्याः, नवरं द्वितीयगाथायां सर्वतिर्यग्दिशां बाहल्यं पिण्डः शरीरोच्छ्रयप्रमाणमिति ।

साम्प्रतमासां संस्थानमाह-

सोलस तिरियदिसाओ, सगडुद्धीसंठिया मुणेयव्वा ।
दो मल्लगमूलाओ, उड्ढे य अहे वि य दिसाओ ॥५९॥

षोडशाऽपि तिर्यग्दिशः शकटोर्द्धिसंस्थाना बोद्धव्याः, प्रज्ञापकप्रदेशे संकटा बहिर्विशालाः, नारकदेवाऽऽख्ये द्वे च ऊर्ध्वाऽधोगामिन्यौ शरावाऽऽकारे भवतः, यतः शिरोमूले पादमूले च स्वल्पत्वान्मल्लकबुध्नाऽऽकारे गच्छन्त्यौ च विशाले भवत इति । आसां सर्वासां तात्पर्यं यन्त्रकादवसेयम्, तच्चेदम् (४) ।

भावदिङ्निरूपणार्थमाह-

मणुया तिरिया काया, तहऽग्गबीया चउक्कगा चउरो ।

देवा नेरइया वा, अट्ठारस हुंति भावदिसा ॥ ६० ॥

मनुष्याश्चतुर्भेदाः, तद्यथा-संमूर्छनजाः, कर्मभूमिजाः, अकर्मभूमिजाः, अन्तर्द्वीपजाश्चेति । तथा-तिर्यञ्चो द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति चतुर्द्धा, कायाः पृथिव्यप्तेजोवायवश्चत्वारः, तथा-अग्रमूलस्कन्धपर्वबीजाश्चत्वार एव, एते षोडश देवनारकप्रक्षेपादष्टादश, एभिर्भावैर्भवनाज्जीवो व्यपदिश्यत इति भावदिगष्टादशभेदेति । अत्र च सामान्यदिग्ग्रहणेऽपि यस्यां दिशि जीवानामविगानेन गत्यागती स्पष्टे सर्वत्र संभवतः, तयैवेहाधिकार इति तामेव निर्युक्तिकृत्साक्षाद्दर्शयति, भावदिक्काविनाभाविनी सामर्थ्यादधिकृतैव ।

यतस्तदर्थमन्या दिशश्चिन्त्यन्त इत्यत आह-

पन्नवगदिसऽट्ठारस, भावदिसाओ वि तत्तिया चेव ।
एक्केक्क विंधेज्जा, हवंति अट्ठारसऽट्ठारा ॥ ६१ ॥
पण्णवगदिसाए पुण, अहिगारो एत्थ होइ णायव्वो ।
जीवाण पोग्गलाण य, एयासु गयागई अत्थि ॥६२॥

प्रज्ञापकापेक्षया अष्टादशभेदा दिशः, अत्र च भावदिशोऽपि तावत्प्रमाणा एव प्रत्येकं संभवन्तीत्यत एकैकां प्रज्ञापकदिशं भावदिगष्टादशकेन विन्ध्येत् ताडयेद्, अतोऽष्टादशाष्टादशकाः, ते च संख्यया त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि भवन्तीति, एतच्चोपलक्षणम्, तापदिगादावपि यथासंभवमायोजनीयमिति । क्षेत्रदिशि तु चतसृष्वेव महादिक्षु संभवो, न विदिगादिषु, तासामेकप्रदेशिकत्वाच्चतुष्प्रदेशिकत्वाच्चेति गाथाद्वयार्थः । अयं च दिक्संयोगकलापः -" अण्णयरीओ दिसाओ आगओ अहमंसि" इत्यनेन परिगृहीतः । सूत्रावयवार्थश्चायम्-इह दिग्ग्रहणात् प्रज्ञापकदिशश्चतस्रः पूर्वाऽऽदिका ऊर्ध्वाऽधोदिशौ च परिगृह्येते, भावदिशस्त्वष्टादशाऽपि, अनुदिग्ग्रहणात्तु प्रज्ञापकविदिशो द्वादशेति, तत्रासंज्ञिना नैषोऽवबोधोऽस्ति, संज्ञिनामपि केषाञ्चिद्भवति, केषाञ्चिन्नेति, यथाऽहममुष्या दिशः समागत इहेति । " एवमेगेसिं णो णायं भवइ त्ति " एवमित्यनेन प्रकारेण प्रतिविशिष्टदिग्विदिगागमनं नैकेषां विदितं भवतीत्येतदुपसंहारवाक्यम् ।

एतदेव निर्युक्तिकृदाह-

केसिंचि णाणसण्णा, अत्थी केसिंचि नत्थि जीवाणं ।
कोऽहं परम्मि लोए, आसी कयरा दिसाओ वा ॥६३॥

केषाञ्चिज्जीवानां ज्ञानाऽऽवरणीयक्षयोपशमवतां ज्ञानसंज्ञाऽस्ति, केषाञ्चित्तु तदावृत्तिमतां न भवतीति । यादृग्भूता संज्ञा न भवति तां दर्शयति-कोऽहं परस्मिन् लोके जन्मनि मनुष्याऽऽदिरासम्, अनेन भावदिग् गृहीता, कतरस्या वा दिशः समायातः, इत्यनेन तु प्रज्ञापकदिगुपात्तेति, यथा कश्चिन्मदिरामदघूर्णितलोललोचनोऽव्यक्तमनोविज्ञानो रथ्यामार्गनिपतितश्च श्वोत्क्रुष्टश्वगणापलिह्यमानवदनो गृहमानीतो मदात्यये न जानाति कुतोऽहमागत इति, तथा प्रकृतो मनुष्याऽऽदिरपीति गाथाऽर्थः ।

न केवलमेषैव संज्ञा नास्ति, अपराऽपि नास्तीति सूत्रकृदाह-

अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी ?, के वा इओ चुए इह पेच्चा भविस्सामि ? ।३।

अस्ति विद्यते ममेत्यनेन षष्ठ्यन्तेन शरीरं निर्दिशति, ममास्य शरीरकस्याधिष्ठाता, अतति-गच्छति सततगतिप्रवृत्त आत्मा-जीवोऽस्तीति, किंभूत ?, औपपातिकः,उपपातः-प्रादुर्भावो जन्मान्तरसंक्रान्तिः,उपपाते भव औपपातिक इति, अनेन संसारिणः स्वरूपं दर्शयति, स एवंभूत आत्मा ममास्ति नास्तीति चैवंभूता संज्ञा केषाञ्चिदज्ञानावष्टब्धचेतसां न जायत इति । तथा-कोऽहं नारकतिर्यग्मनुष्याऽऽदिः पूर्वजन्मन्यासम् ?, को वा देवाऽऽदिः 'इतो' मनुष्याऽऽदेर्जन्मनः च्युतो विनष्ट, इह संसारे प्रेत्य जन्मान्तरे भविष्यामि उत्पत्स्ये,एषा च संज्ञा न भवतीति । इह च यद्यपि सर्वत्र भावदिशाधिकारः प्रज्ञापकदिशा च, तथाऽपि पूर्वसूत्रे साक्षात् प्रज्ञापकदिगुपात्ता, अत्र तु भावदिगित्यवगन्तव्यम् । ननु चात्र संसारिणां दिग्विदिगागमनाऽऽदिजा विशिष्टा संज्ञा निषिध्यते, न सामान्यसंज्ञेति, एतच्च संज्ञिनि धर्मिण्यात्मनि सिद्धे सति भवति, " सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते " इति वचनात्, स च प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणगोचरातीतत्वाद्दुरुपपादः, तथाहि-नासावध्यक्षेणार्थसाक्षात्कारिणा विषयीक्रियते, तस्यातीन्द्रियत्वाद्,अतीन्द्रियत्वं च स्वभावविप्रकृष्टत्वात्,अतीन्द्रियत्वादेव च तदव्यभिचारिकार्याऽऽदिलिङ्गसम्बन्धग्रहणासंभवान्नाप्यनुमानेन, तस्याप्रत्यक्षत्वे तत्सामान्यग्रहणशक्त्यनुपपत्तेः,नाप्युपमानेन, आगमस्याऽपि विवक्षाया प्रतिपाद्यमानायामनुमानान्तर्भावात् । अन्यत्र च बाह्येऽर्थे सम्बन्धाभावादप्रामाण्यम्, प्रमाणत्वे वा परस्परविरोधित्वान्नाप्यागमेन, तमन्तरेणापि सकलार्थोपपत्तेर्नाप्यर्थापत्त्या, तदेव प्रमाणपञ्चकाऽतीतत्वात् षष्ठप्रमाणविषयत्वादभाव एवाऽऽत्मनः । प्रयोगश्चायम्-नास्त्यात्मा, प्रमाणपञ्चकविषयातीतत्वात्, खरविषाणवदिति, तदभावे च विशिष्टसंज्ञाप्रतिषेधाभावसंभवेनानुत्थानमेव सूत्रस्येति, एतत्सर्वमनुपासितगुरोर्वचः । तथाहि-प्रत्यक्ष एवाऽऽत्मा, तद्गुणस्य ज्ञानस्य स्वसंवित्सिद्धत्वात्,स्वसंविदिष्टाश्च विषयव्यवस्थितय ,घटपटाऽऽदीनामपि रूपाऽऽदिगुणप्रत्यक्षत्वादेवाध्यक्षत्वमिति, मरणाभावप्रसङ्गाच्च न भूतगुणश्चैतन्यमाशङ्कनीयम्, तेषां सदा संनिधानसंभवादिति, हेयोपादेयपरिहारोपादानप्रवृत्तेश्चानुमानेन परात्मनि सिद्धिर्भवतीति, एवमनयैव दिशोपमानाऽऽदिकमपि स्वधिया स्वविषये यथासंभवमायोज्य, केवल मौनीन्द्रेणानेनैवाऽऽगमेन विशिष्टसंज्ञानिषेधद्वारेणाहमिति चाऽऽत्मोल्लेखेनाऽऽत्मसद्भावः प्रतिपादितः, शेषाऽऽगमानां चानाप्तप्रणीतत्वादप्रामाण्यमेवेति । अत्र चास्त्यात्मेत्यनेन क्रियावादिनः सप्रभेदा नास्तीत्यनेन चाक्रियावादिन एतदन्तःपातित्वाच्चाज्ञानिकवैनयिकाश्च सप्रभेदा उपक्षिप्ता, ते चामी-

" असियसतं किरियाणं, अकिरियवाईण होइ चुलसीई ।
अन्नाणि य सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसा " ॥१॥

तत्र जीवाजीवाऽऽश्रवबन्धपुण्यपापसंवरनिर्जरामोक्षाऽऽख्या नव पदार्थाः स्वपरभेदाभ्यां नित्यानित्यविकल्पद्वयेन च कालनियतिस्वभावेश्वराऽऽत्माऽऽश्रयणादशीत्युत्तरं भेदशतं भवति क्रियावादिनाम्,एते चास्तित्ववादिनोऽभिधीयन्ते । इयमत्र भावना अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः ॥ १ ॥ अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालतः ॥२॥ अस्ति जीवः परतो नित्यः कालतः ॥३॥ अस्ति जीवः परतोऽनित्यः कालतः ॥४॥ इत्येवं कालेन चत्वारो भेदा लब्धा , एवं नियतिस्वभावेश्वराऽऽत्मभिरप्येकैकेन चत्वारश्चत्वारो विकल्पा लभ्यन्ते, एते च पञ्च चतुष्कका विंशतिर्भवति । इयं च जीवपदार्थेन लब्धा, एवमजीवाऽऽदयोऽ-

ष्वष्टौ प्रत्येक विंशतिभेदा भवन्ति । ततश्च नव विंशतय. शतमशीत्युत्तर भवति १८० । तत्र स्वत इति स्वेनैव रूपेण जीवोऽस्ति, न परोपाध्यपेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे इव, नित्यः-शाश्वतो न क्षणिक', पूर्वोत्तरकालयोरवस्थितत्वात्, कालत इति काल एव विश्वस्य स्थित्युत्पत्तिप्रलयकारणम् । उक्त च-"कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजा. । कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रम. ॥ १ ॥ " स चातीन्द्रियो युगपच्चिरक्षिप्रक्रियाऽभिव्यङ्ग्यो हिमोष्णवर्षाव्यवस्थाहेतु' क्षणलवमुहूर्त्तयामाहोरात्रमासर्त्वयनसंवत्सरयुगकल्पपल्योपमसागरोपमोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपुद्गलपरावर्त्तातीतानागतवर्त्तमानसर्वाद्धाऽऽदिव्यवहाररूपः ॥ १ ॥ द्वितीयविकल्पे तु कालादेवाऽऽत्मनोऽस्तित्वमभ्युपेय, किं त्वनित्योऽसाविति विशेषोऽस्य पूर्वविकल्पात् ॥ २ ॥ तृतीयविकल्पे तु परत एवास्तित्वमभ्युपगम्यते, कथ पुनः परतोऽस्तित्वमात्मनोऽभ्युपेयते ?, नन्वेतत्प्रसिद्धमेव सर्वपदार्थाना परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदो, यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वपरिच्छेदो, ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्येति । एवमेव चानात्मनस्तम्भकुम्भाऽऽदीन् समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्ते वस्तुन्यात्मबुद्धि. प्रवर्त्तत इति, अतो यदात्मनः स्वरूप तत्परत एवावधार्यते, न स्वत इति ॥ ३ ॥ चतुर्थविकल्पोऽपि प्राग्वदिति चत्वारो विकल्पाः ॥ ४ ॥ तथाऽन्ये नियतित एवाऽऽत्मन. स्वरूपमवधारयन्ति, का पुनरिय नियतिरिति ? । उच्यते-पदार्थानामवश्यंतया यद्यथाभवने प्रयोजककर्त्री नियति. । उक्त च-" प्राप्तव्यो नियतिबलाऽऽश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्य भवति नृणा शुभोऽशुभो वा । भूताना महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्य भवति न भाविनोऽस्ति नाश. ॥ १ ॥ " इय च मस्करिपरिव्राण्मतानुसारिणी प्राय इति । अपरे पुनः स्वभावादेव संसारव्यवस्थामभ्युपयन्ति, क पुनरय स्वभाव ?, वस्तुन. स्वत एव तथापरिणतिभाव. स्वभाव. ।

उक्त च-

" क. कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्य,
विचित्रभाव मृगपक्षिणां च ।
स्वभावत सर्वमिद प्रवृत्त,
न कामचारोऽस्ति कुत. प्रयत्न ? ॥ १ ॥
स्वभावतः प्रवृत्ताना, निवृत्ताना स्वभावत ।
नाह करोमीति भूतानां, य. पश्यति स पश्यति ॥ २ ॥
केनाञ्जितानि नयनानि मृगाङ्गनानां,
को ऽलङ्करोति रुचिराङ्गरुहान् मयूरान् ।
कश्चोत्पलेषु दलसन्निचय करोति,
को वा दधाति विनय कुलजेषु पुंसु ? ॥ ३ ॥ "

तथाऽन्येऽभिदधते-समस्तमेतज्जीवादीश्वरात्प्रसूत, तस्मादेव स्वरूपेऽवतिष्ठते, क' पुनरयमीश्वर ?, अणिमाऽऽद्यैश्वर्ययोगादीश्वर' । उक्त च-" अज्ञो जन्तुरनीशः स्या-दात्मन. सुखदु खयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेच्छ्वभ्र वा स्वर्गमेव वा ॥ १ ॥ " तथाऽन्ये ब्रुवते-न जीवाऽऽदय पदार्था. कालाऽऽदिभ्य स्वरूप प्रतिपद्यन्ते, किं तर्हि ?, आत्मन , क' पुनरयमात्मा ?, आत्माद्वैतवादिना विश्वपरिणतिरूप । उक्तञ्च-" एक एव हि भूताऽऽत्मा, भूते भूते व्यवस्थित. । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत ॥ १ ॥ " तथा- " पुरुष एवेद सर्वं यद् भूत यच्च भाव्यम् " इत्यादि । एवमस्त्यजीव स्वत नित्य कालत इत्येव सर्वत्र योज्यम् । तथा-अक्रियावादिनो-नास्तित्ववादिन., तेषामपि जीवाजीवाऽऽश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाऽऽख्याः सप्त पदार्था स्वपरभेदद्वयेन तथा कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वराऽऽत्मभि षड्भिश्चिन्त्यमानाश्चतुरशीतिविकल्पा भवन्ति । तद्यथा नास्ति जीव स्वत' कालत ,नास्ति जीव परत कालत., इति कालेन द्वौ लब्धौ, एव यदृच्छानियत्यादिष्वपि द्वौ द्वौ भेदौ प्रत्येक भवत , सर्वेऽपि जीवपदार्थे द्वादश भवन्ति, एवमजीवाऽऽदिष्वपि प्रत्येक द्वादशैते सप्त द्वादशकाश्चतुरशीतिरिति ८४ । अयमत्रार्थ नास्ति जीव. स्वत. कालत इति, इह पदार्थाना लक्षणेन सत्ता निश्चीयते. कार्यतो वा ? । न चाऽऽत्मनस्तादृगस्ति किञ्चिल्लक्षण, येन सत्ता प्रतिपद्येमहि, नाऽपि कार्यमणूनामिव महीध्राऽऽदि संभवति, यच्च लक्षणकार्याभ्या नाधिगम्यते वस्तु तन्नास्त्येव वियदिन्दीवरवत्, तस्मान्नास्त्यात्मेति । द्वितीयविकल्पोऽपि यच्च स्वतो नात्मान बिभर्ति गगनारविन्दाऽऽदिक तत्परतोऽपि नास्त्येव,अथ वा सर्वपदार्थानामेव परभागादर्शनात्सर्वाऽर्वाग्भागसूक्ष्मत्वाच्चोभयानुपलब्धेः सर्वानुपलब्धितो नास्तित्वमध्यवसीयते । उक्त च-" यावद् दृश्य परस्ताव-द्भाग. स च न दृश्यते " इत्यादि । तथा " यदृच्छातोऽपि नास्तित्वमात्मन., का पुनर्यदृच्छा ?, अनभिसन्धिपूर्विकाऽर्थप्राप्तिर्यदृच्छा ।

" अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं,
चित्र जनानां सुखदुःखजातम् ।
काकस्य तालेन यथाऽभिघातो,
न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः ॥ १ ॥
सत्य पिशाचा. स्म वने वसामो,
भेरीं कराग्रैरपि न स्पृशाम ।
यदृच्छया सिद्ध्यति लोकयात्रा,
भेरीं पिशाचा परिताडयन्ति ॥ २ ॥ "

यथा काकतालीयमबुद्धिपूर्वक, न काकस्य बुद्धिरस्ति- मयि ताल पतिष्यति, नापि तालस्याभिप्राय - काकोपरि पतिष्यामि, अथ च तत्तथैव भवति, एवमन्यदप्यतर्कितोपनतमजाकृपाणीयमातुरभेषजीयमन्धकण्टकीयमित्यादि द्रष्टव्यम् . एव सर्वं जातिजरामरणाऽऽदिक लोके यादृच्छिक काकतालीयाऽऽदिकल्पमवसेयमिति । एव नियतिस्वभावेश्वराऽऽत्मभिरप्यात्मा निराकर्त्तव्य । तथा-ज्ञानिकाना सप्तषष्टिर्भेदा. । ते चामी-जीवाऽऽदयो नव पदार्था., उत्पत्तिश्च दशमी, सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य , सदवक्तव्य , असदवक्तव्य', सदसदवक्तव्य , इत्येते सप्तभि प्रकारैर्विज्ञातु न शक्यन्ते, न च विज्ञातै. प्रयोजनमस्ति । भावना चेयम्-सन् जीव इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन ?, असन् जीव इति को जानाति ? किं वा तेन ज्ञातेनेत्यादि । एवमजीवाऽऽदिष्वपि प्रत्येक सप्त विकल्पा , नव सप्तकास्त्रिषष्टि , अमी चान्ये चत्वारस्त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्त । तद्यथा--सति भावोत्पत्तिरिति को जानाति ?, किं वाऽनया ज्ञातया ?, एवमसति सदसती अवक्तव्या भावोत्पत्तिरिति को वेत्ति ?, किं वाऽनया ज्ञातयेति शेषविकल्पत्रयमुत्पत्त्युत्तरकाल पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न सम्भवतीति नोक्तम्, एतच्चतुष्टयप्रक्षेपात्सप्तषष्टिर्भवन्ति । तत्र सन् जीव इति को वेत्ति ?, इत्यस्यायमर्थः-न कस्यचिद्विशिष्ट ज्ञानमस्ति, योऽतीन्द्रियान् जीवाऽऽदी - ` ` न च तैर्ज्ञातैः किंचित्फलमस्ति । त नि ऽऽदिग-

णोपेतः,एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा ?,ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति, तस्मादज्ञानमेव श्रेय । अपि च-तुल्येऽप्यपराधे मकामकरणे लोके स्वल्पो दोषो, लोकोत्तरेऽपि आकुट्टिकानाभोगसहसाकाराऽऽदिषु क्षुल्लकभिक्षुस्थविरोपाध्यायसूरीणा यथाक्रममुत्तरोत्तर प्रायश्चित्तमित्येवमन्येष्वपि विकल्पेष्वायोज्यम् । तथा वैनयिकाना द्वात्रिंशद्भेदाः, ते चानेन विधिना भावनीयाः, सुरनृपयतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृष्वष्टसु मनोवाक्कायप्रदानचतुर्विधविनयकरणात् । तद्यथा-देवाना विनय करोति मनसा वाचा कायेन, तथा-देशकालोपपन्नेन दानेनेत्येवमादि । एते च विनयादेव स्वर्गापवर्गमार्गमभ्युपयन्ति,नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकलक्षणो विनयः,सर्वत्र चैवविधेन विनयेन देवाऽऽदिपूपतिष्ठमान· स्वर्गापवर्गभाग् भवति। उक्त च-"विणया णाण णाणा-ओ दसण दसणाहि चरणं च । चरणाहिंतो मोक्खो, मोक्खे सोक्ख अणाबाह ॥१॥" अत्र च क्रियावादिनामस्तित्वे सत्यपि केषाञ्चित्सर्वगतो नित्योऽनित्य कर्ताऽकर्ता मूर्त्तोऽमूर्त· श्यामाकतण्डुलमात्रो ऽङ्गुष्ठपर्वमात्रो दीपशिखोपमो हृदयाधिष्ठान इत्यादिकः । अस्ति चौपपातिकश्च,अक्रियावादिना त्वात्मैव न विद्यते,कुतः पुनरौपपातिकत्वम् ?, अज्ञानिकास्तु नात्मान प्रति विप्रतिपद्यन्ते, किं तु तज्ज्ञानमकिञ्चित्करमेषामिति, वैनयिकानामपि नात्माऽस्तित्वे विप्रतिपत्ति , किं त्वन्यन्मोक्षसाधन विनयादृते न सभवतीति प्रतिपन्नाः । तत्रानेन सामान्याऽऽत्मास्तित्वप्रतिपादनेनाक्रियावादिनो निरस्ता द्रष्टव्या· । आत्मास्तित्वानभ्युपगमे च-

" शास्ता शास्त्र शिष्य , प्रयोजन वचनहेतुदृष्टान्ता ।
सन्ति न शून्य ब्रुवत-स्तदभावाच्चाप्रमाण स्यात् ॥ १ ॥
प्रतिषेध्यप्रतिषेधौ, स्तश्चेच्छून्य कथ भवेत्सर्वम् ? ।
तदभावेन तु सिद्धा, अप्रतिसिद्धा जगत्यर्था· ॥ २ ॥ "

एव शेषाणामप्यत्रैव यथासभव निराकरणमुत्प्रेक्ष्यमिति ॥३॥

गतमानुषङ्गिकम् । प्रकृतमनुस्रियते-तत्रेह " एवमेगेसिं णो णाय भवइ " इत्यनेन केषाञ्चिन्न सञ्ज्ञेत्यभ्यात्केषाञ्चित्तु भवतीत्युक्त भवति, तत्र सामान्यसञ्ज्ञाया· प्रतिप्राणि सिद्धत्वात्तत्कारणपरिज्ञानस्य चेहाकिञ्चित्करत्वाद्विशिष्टसञ्ज्ञायास्तु केषाञ्चिदेव भावात तस्याश्च भवान्तरगाम्यात्मस्पष्टप्रतिपादने सोपयोगित्वात् सामान्यसञ्ज्ञाकारणप्रतिपादनमनादृत्य विशिष्टसञ्ज्ञायाः कारण सूत्रकृद्दर्शयितुमाह-

से जं पुण जाणेज्जा सह संमइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं अंतिए वा सोच्चा, त जहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि० जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि,एवमेगेसिं जं णाय भवति-अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ, सोऽहं ॥ ४ ॥

'से ज पुण जाणेज्ज त्ति' सूत्र यावत् 'सोऽहमिति ।' 'से' इति निर्देशो मागधदेशीया प्रथमैकवचनान्त , स इत्यनेन च य प्राग्निर्दिष्टो ज्ञाता विशिष्टक्षयोपशमाऽऽदिमान्स प्रत्यवमृश्यते, यदित्यनेनापि यत्प्राग्निर्दिष्ट दिग्विदिगागमन, तथा कोऽहमभूवमतीतजन्मनि देवो नारकस्तिर्यग्योनो मनुष्यो वा ?, स्त्री पुमान्नपुसको वा ?। को वाऽमुतो मनुष्यजन्मनः प्रभ्रष्टोऽह प्रेत्य देवाऽऽदिर्भविष्यामीत्येतत्परामृश्यते,जानीयादवगच्छेद्, इदमुक्त भवति-न कश्चिदनादौ ससृतौ पर्यटन्नसुमान् दिगागमनाऽऽदिक जानीयात्, य· पुनर्जानीयात्स एवम्-(सह सम्मइयाए त्ति) सहशब्द· सबन्धवाची, सदिति प्रशसायां, मति· ज्ञानम् । अयमत्र वाक्यार्थ·-आत्मना सह सदा या सन्मतिर्वर्तते, तया सन्मत्या कश्चिज्जानीते,सहशब्दविशेषणाच्च सदाऽऽत्मस्वभावत्व मतेरावेदित भवति, न पुनर्यथा वैशेषिकाणां व्यतिरिक्ता सती समवायवृत्त्यात्मनि समवेतेति । यदि वा (सम्मइए त्ति) स्वकीयया मत्या स्वमत्येति, तत्र जिनमध्यस्त्राऽऽदिक स्वकीय दृष्टमत· सहशब्दविशेषण, सहशब्दश्चासमस्त इति, सत्यपि चाऽऽत्मन सदा मतिसन्निधाने प्रबलज्ञानाऽऽवरणाऽऽवृतत्वान्न सदा विशिष्टोऽवबोध इति,सा पुन सन्मति·,स्वमतिर्वा अवधिमन पर्यायकेवलज्ञानजातिस्मरणभेदाच्चतुर्विधा ज्ञेया ,तत्रावधिमन पर्यायकेवलानां स्वरूपमन्यत्र विस्तरेणोक्त, जातिस्मरण त्वाभिनिबोधिकविशेषः, तदेव चतुर्विधया मत्याऽऽत्मन कश्चिद्विशिष्टदिग्गत्यागती जानाति, कश्चिच्च परस्तीर्थकृत्सर्वज्ञ , तस्यैव परमार्थत परशब्दवाच्यत्वात्परत्व, तस्य तेन वा व्याकरणम्-उपदेशस्तेन जीवांस्तद्गतौश्च पृथिव्यादीन तद्गत्यागती च जानाति, अपर· पुनरन्येषां तीर्थकरव्यतिरिक्तानामतिशयज्ञानिनामन्तिके श्रुत्वा जानातीति, यच्च जानाति तत् सूत्रावयवेन दर्शयति । तद्यथा-पूर्वस्या दिश आगतोऽहमस्मि, एव दक्षिणस्या पश्चिमाया उत्तरस्या उर्द्धदिशोऽधोदिशोऽन्यतरस्या· दिशोऽनुदिशो वा आगतोऽहमस्मीत्येवमेकेषा विशिष्टक्षयोपशमाऽऽदिमता तीर्थकरान्यातिशयज्ञानिबोधितानां च ज्ञानं भवति, तथा प्रतिविशिष्टदिगागमनपरिज्ञानान्तरमेषामेतदपि ज्ञान भवति, यथाऽस्ति मेऽस्य शरीरकस्याधिष्ठाता ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण उपपादुको भवान्तरसङ्क्रान्तिभागसर्वगतो भोक्ता मूर्तिरहितोऽविनाशी शरीरमात्रव्यापीत्यादिगुणगणात्मेति । स च द्रव्यकषाययोगोपयोगज्ञानदर्शनचारित्रवीर्याऽऽत्मभेदादष्टधा, तत्रोपयोगाऽऽत्मना बाहुल्येनेहाधिकार , शेषास्तु तदंशतयोपयुज्यन्त इति उपन्यस्ता । तथा-अस्ति च ममाऽऽत्मा, योऽमुष्या दिशोऽनुदिशश्च सकाशादनुसञ्चरति गतिप्रायोग्यकर्मोपादानादनु पश्चात् सचरत्यनुसचरति, पाठान्तर वा-(अणुसंसरइ त्ति) दिग्विदिशागमन भावदिगागमन वा स्मरतीत्यर्थ· । साम्प्रत सूत्रावयवेन पूर्वसूत्रोक्तमेवार्थमुपसहरति-सर्वस्या दिश सर्वस्याश्चानुदिशो य आगतोऽनुसञ्चरति, अनुसस्मरतीति वा स , अहमित्यात्मोल्लेख , अहप्रत्ययग्राह्यत्वादात्मन , अनेन पूर्वाऽऽद्या प्रज्ञापकदिश सर्वा गृहीता , भावदिशश्चेति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० चू० । स्था० । (अह कस्या दिश आगत इति विचार ' आता ' शब्दे द्वितीयभागे १८२ पृष्ठे निदर्शित·)

द्वाभ्यां दिग्भ्यां प्रव्राजनाऽऽदि प्रवर्तते-

दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ निग्गंथाण वा णिग्गंथीणं वा पव्वावित्तए पाईणं चेव, उदीण चेव । एव मुंडावित्तए १ सिक्खावित्तए २ उवट्ठावित्तए ३ संभुंजित्तए ४ संवसित्तए ५ सज्झाय उद्दिसित्तए ६ सज्झायं समुद्दिसित्तए ७ सज्झायमणुजाणित्तए ८ आलोइत्तए ९ पडिक्कमित्तए १० निंदित्तए ११ गरहित्तए १२ विउट्टि-

त्तए १३ विसोहित्तए १४ अकरणयाए १५ अब्भुट्ठित्तए अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पमिवज्जित्तए १६ ।

द्वे दिशौ काष्ठे अभिगृह्याऽङ्गीकृत्य, तदभिमुखीभूयेत्यर्थः । कल्पते युज्यते, निर्गता ग्रन्थाद्धनाऽऽदेरिति निर्ग्रन्थ्याः साधवः, तेषां निर्ग्रन्थ्यः साध्व्यः, तासां प्रव्राजयितुं रजोहरणाऽऽदिदानेन प्राचीनां प्राचीं, पूर्वामित्यर्थः । उदीचीनामुदीचीमुत्तरामित्यर्थः । उक्तं च-"पुव्वामुहो उ उत्तर-मुहो व्व देजाऽहवा पमिच्छेज्जा । जाए जिणादओ वा, हवेज्ज जिणचेइयाइं वा ॥१॥ " इति । (एवमिति) यथा प्रव्राजनसूत्रं दिग्द्वयाभिलापेन अधीतम्, एवं मुण्डनाऽऽदिसूत्राण्यपि षोडशाऽध्येतव्यानीति । तत्र मुण्डयितुं शिरोलुञ्चनेन १, शिक्षयितुं ग्रहणशिक्षापेक्षया सूत्रार्थौ ग्राहयितुमासेवनाशिक्षापेक्षया तु प्रत्युपेक्षणाऽऽदिशिक्षयितुमिति २, उत्थापयितुं महाव्रतेषु व्यवस्थापयितुम् ३, सम्भोजयितुं भोजनमण्डल्यां निवेशयितुम् ४, संवासयितुं संस्तारकमण्डल्यां निवेशयितुम् ५. सुष्ठु आ मर्यादयाऽधीयत इति स्वाध्यायोऽङ्गाऽऽदिस्तमुपदेष्टुं योगविधिक्रमेण सम्यग्योगेनाधीष्वेदमित्येवमुपदेष्टुमिति ६, समुद्देष्टुं योगसमाचार्यैव स्थिरपरिचितं कुर्विदमिति वक्तुमिति ७, अनुज्ञातुं तथैव सम्यगेतद्धारयाऽन्येषां च प्रवेदयेत्येवमभिधातुमिति ८ आलोचयितुं गुरवेऽपराधान् निवेदयितुमिति ९, प्रतिक्रमितुं प्रतिक्रमणं कर्तुमिति १०, निन्दितुमतिचारान् स्वसमक्षं जुगुप्सितुम् ११ । आह च-" सचरित्तपच्छयावो ।" निन्दति गर्हितं गुरुसमक्षं तानेव जुगुप्सितुम् । आह च-" अचरित्तपच्छयावो ।" निन्दति गर्हितं गुरुसमक्षं तानेव जुगुप्सितुम् १२। आह च-" गरहा वि तहा जातीयमेव, नवरं परप्पयासणए त्ति ।" (विउट्टित्तए त्ति) व्यतिवर्तयितुं विच्छोटयितुं विश्रुट्टयितुं वा, अतिचारानुबन्धविच्छेदयितुमित्यर्थः । १३, विशोधयितुमतिचारपङ्कापेक्षयाऽऽत्मानं विमलीकर्तुमिति १४, अकरणतया पुनर्न करिष्यामीत्येवमभ्युत्थातुमभ्युपगन्तुमिति १५, यथार्हमतिचाराऽऽद्यपेक्षया यथोचितं पापच्छेदकत्वात्, प्रायश्चित्तविशोधकत्वाद्वा प्रायश्चित्तम् । उक्तं च-" पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं तु भन्नए तेण । पाएण वा वि चित्तं, विसोहए तेण पच्छित्तं ॥१॥" इति । तपः कर्म निर्विकृतिकाऽऽदिकं प्रतिपत्तुमभ्युपगन्तुमिति १६ ।

सप्तदश सूत्रं साक्षादेवाऽऽह-

दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ णिग्गंथाणं वा णिग्गंथीण वा अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसियाणं भत्तपाणपमियाइक्खित्ताणं पाओवगयाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए । त जहा-पाईणं चेव, उदीणं चेव।

पश्चिमैवामङ्गलपरिहारार्थमपश्चिमा, सा चासौ मरणमेव योऽन्तस्तत्र भवा मारणान्तिकी, सा चासौ संलिख्यतेऽनया शरीरकषायाऽऽदीनि संलेखना तपोविशेषः, सा चेति अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना, तस्याः (झूसण त्ति) जोषणा सेवा, तया तल्लक्षणधर्मेणेत्यर्थः । (झूसियाणं ति) सेवितानां, तद्युक्तानामित्यर्थः । तया वा झूषितानां क्षपितानां, क्षपितदेहानामित्यर्थः, तथा भक्तपाने प्रत्याख्याते यैस्ते तथा, तेषां, पादपवदुपगतानामचेष्टतया स्थितानामनशनविशेषं प्रतिपन्नानामित्यर्थः, कालं मरणकालमनवकाङ्क्षिणा तत्रानुत्सुकानां विहर्तुं स्थातुमिति ॥ १७ ॥ स्था० २ ठा० १ उ० । नि० चू० ।

तिसृभिर्दिग्भिर्गत्यादि प्रवर्तते-

तओ दिसाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-उड्डा, अहो, तिरिया । (स्था०) एवं आगई वक्कंती आहारे वुड्डी णिवुड्डी गइपरियाए समुग्घाए कालसंजोगे दंसणाभिगमे णाणाभिगमे जीवाभिगमे । तिहिं ठाणेहिं जीवाणं अजीवाभिगमे पण्णत्ते । तं जहा-उड्डाए, अहोए, तिरियाए । एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण । एवं मणुस्साण वि ।

दिङ्निरूपणपूर्वकं तासु गत्यादि निरूपयन् "तओ दिसाओ" इत्यादि सूत्राणि चतुर्दशानि, सुगमानि च, नवरं दिश्यते व्यपदिश्यते पूर्वाऽऽदितया वस्त्वनयेति दिक्, सा च नामाऽऽदिभेदेन सप्तधा । आह च निर्युक्तिकृत्-"णाम ठवणा दविए, खेत्तदिसा तावखेत्त पण्णवए । सत्तमिया भावदिसा, सा होइऽट्ठारसविहा उ ॥४०॥"(आचा०नि०) तत्र द्रव्यस्य पुद्गलस्कन्धाऽऽदेर्दिग् द्रव्यदिक् १, क्षेत्रस्याऽऽकाशस्य दिक् क्षेत्रदिक् । सा चैवम्-"अट्ठपएसो रुयगो, तिरियं लोगस्स मज्झयारम्मि । एस पभवो दिसाणं, एसेव भवे अणुदिसाणं ॥४२॥ "(आचा०नि०) तत्र पूर्वाऽऽद्या महादिशश्चतस्रोऽपि द्विप्रदेशाऽऽदिकाऽऽद्युत्तरा अनुदिशस्तु एकप्रदेशा अनुत्तरा ऊर्ध्वाधोदिशौ तु चतुराऽऽदि अनुत्तरे ।

यतोऽवाचि-

" दुपएसाऽऽदि दुरुत्तर, एगपएसा अणुत्तरा चेव ।
चउरो चउरो य दिसा, चउराइ अणुत्तरा दोन्नि ॥ ४४ ॥
सगडुद्धिसंठियाओ, महादिसाओ हवंति चत्तारि ।
मुत्तावली य चउरो, दो चेव य होंति रुयगनिभा ॥ ४६ ॥ "

नामानि चासाम्-" इंदऽग्गेयी जम्मा, य नेरई वारुणी य वायव्वा । सोमा ईसाणा वि य, विमला य तमा य बोधव्वा ॥४३॥ " ताप सविता, तदुपलक्षिता क्षेत्रदिक् तापक्षेत्रदिक्, सा चाऽनियता । यत उक्तम्-"जेसिं जत्तो सूरो, उदेइ तेसिं तई हवइ पुव्वा । तावक्खेत्तदिसाओ, पयाहिणं सेसयाओ सा ॥४७॥" इति । (आचा०नि०) तथा प्रज्ञापकस्याऽऽचार्यादेर्दिक् प्रज्ञापकदिक् । सा चैवम्-" पण्णवओ जो अभिमुहो, सा पुव्वा सेसिया पयाहिणओ । तस्सेवऽणुगतव्वा, अग्गेयाई दिसा नियमा ॥५१॥"

भावदिक् चाष्टादशविधा-

" पुढवि-जल-जलण-वाया, मूलो खंधग्गपोरबीया य ।
बि ति चउ पंचिंदिय-तिरि-य-नारगा देवसंघाया ॥१॥
समुच्छिम-कम्माक-म्मभूमगनरा तहऽतरद्दीवा ।
भावदिसा दिस्सइ ज, संसारी नियमेहिं ॥२॥ " इति ।

इह च क्षेत्रतापप्रज्ञापकादिग्भिरेवाधिकारः, तत्र च तिर्यग्ग्रहणेन पूर्वाऽऽद्याश्चतस्र एव दिशो गृह्यन्ते, विदिक्षु जीवानामनुश्रेणिगामितया वक्ष्यमाणगत्या गतिव्युत्क्रान्तीनामयुज्यमानत्वात्, शेषपदेषु च विदिशामविवक्षितत्वात् । यतोऽत्रैव वक्ष्यति-"तिहिं दिसाहिं जीवाण गई पवत्तइ । " इत्यादि । तथा ग्रन्थान्तरेऽप्याहारमाश्रित्योक्तम्-" निव्वाघाएण नियमा छद्दिसिं ति । " तत्र " तिहिं दिसाहिं ति " सप्तमी तृतीया पञ्चमी वा यथायोगं व्याख्येयेति, गतिः प्रज्ञापकस्थानापेक्षया मृत्वाऽन्यत्र गमनमेवमिति पूर्वोक्ताभिलापसूत्रनार्थः । आगतिं प्रज्ञापकप्रत्यासन्नस्थाने आगमनमिति, व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिः, आहारः प्रतीतः, वृद्धिः शरीरस्य वर्द्धनं, हानिः शरीरस्यैव हानिः, गतिपर्यायश्चलनं जीवत एव, समुद्घातो वेदनाऽऽ-

द्विलक्षणः,कालसंयोगो वर्तनाऽऽदिकालल्लक्षणानुभूतिर्मरणयोगो वा, दर्शनेनावध्यादिना प्रत्यक्षप्रमाणभूतेनाभिगमो बोधो दर्शनाभिगमः,एवं ज्ञानाभिगमः जीवानां ज्ञेयानामवध्यादिनैवाभिगमो जीवाभिगम इति। " तिहिं दिसाहिं जीवाणं अजीवाभिगमे पन्नत्ते। तं जहा-उड्डा,अहो,तिरिया।" एवं सर्वत्राभिलापनीयमिति दर्शनार्थं परिपूर्णान्त्यसूत्राभिधानमिति। एतान्यजीवाभिगमान्तानि सामान्यजीवसूत्राणि। चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायां तु नारकाऽऽदिपदेषु दिक्त्रये गत्यादीनां त्रयोदशानामपि पदानां सामस्त्येनासम्भवात्,पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु मनुष्येषु च तत्सम्भवात्। तदतिदेशमाह-(एवमित्यादि) यथा सामान्यसूत्रेषु गत्यादीनि त्रयोदशपदानि दिक्त्रयेऽभिहितान्येव पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्येषु इति भाव। एवं चैतानि षड्विंशतिसूत्राणि भवन्तीति। अथवा नारकाऽऽदिषु कथमसम्भव इति?,उच्यते-नारकाऽऽदीनां द्वाविंशतेर्जीवविशेषाणां नारकदेवेषूत्पादाभावादूर्ध्वाधोदिशोर्विवक्षया गत्यागत्योरभाव ,तथा दर्शनज्ञानजीवाजीवाभिगमा गुणप्रत्यया अवध्यादिप्रत्यक्षरूपा दिक्त्रये न सन्त्येव। भवप्रत्ययावधिपक्षे तु नारकज्योतिष्कास्तिर्यगवधयो भवनपतिव्यन्तरा ऊर्ध्वावधयो वैमानिका अधोऽवधय एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां त्ववधिर्नास्त्येवेति। स्था० ३ ठा० २ उ०।

षड्भिर्दिग्भिश्च गत्यागती प्रवर्त्तेते-

कहिं दिसाहिं जीवाणं गई पवत्तइ। तं जहा-पाईणाए० जाव अहाए, एवमागई वक्कंती आहारे वुड्ढी निवुड्ढी विगुव्वणा गइपरियाए समुग्घाए कालसंजोगे दंसणाभिगमे जीवाऽभिगमे अजीवाभिगमे, एवं पंचेंदियतिरिक्खजोणियाण वि, मणुस्साण वि ॥

षड्भिर्दिग्भिर्जीवानां गतिरुत्पत्तिस्थानगमनं प्रवर्त्तते। अनुश्रेणिगमनात्तेषामित्येवमेतानि चतुर्दश सूत्राणि नेयानि। नवरं गतिरागतिश्च। प्रज्ञापकस्थानापेक्षिण्यौ प्रसिद्धे एव, व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिस्थानप्राप्तस्योत्पादः, सोऽपि ऋजुगतौ षट्स्वेव दिक्षु, तथा आहारः प्रतीतः, सोऽपि षट्स्वेव दिक्षु,एतद्व्यवस्थितप्रदेशावगाढपुद्गलानामेव जीवेन स्पर्शनात्, स्पृष्टानामेवाऽऽहरणादित्येव षड्दिक्कता यथासम्भवं वृद्ध्यादिष्वप्यूह्येति। तथा वृद्धिः शरीरस्य, निर्वृद्धिर्हानिस्तस्यैव, विकुर्वणा वैक्रियकरणं, गतिपर्यायो गमनमात्रं न परलोकगमनरूपं, तस्य गत्यागतिग्रहणेन गृहीतत्वादिति। समुद्घातो वेदनाऽऽदिकः सप्तविधः ,कालसंयोगः समयक्षेत्रमध्ये आदित्याऽऽदिप्रकाशसंबन्धलक्षणः,दर्शनं सामान्यग्राही बोधः, तच्चेह गुणप्रत्ययावध्यादिप्रत्यक्षरूपं, तेनाभिगमो वस्तुनः परिच्छेदस्तत्प्राप्तिर्वा दर्शनाभिगमः। एवं ज्ञानाभिगमोऽपि, जीवाभिगमः सत्त्वाऽभिगमो, गुणप्रत्ययावध्यादिप्रत्यक्षतः। अजीवाभिगमः पुद्गलास्तिकायाऽऽद्यभिगमः, सोऽपि तथैवेति। एवमिति,तथा-"कहिं दिसाहिं जीवाणं गई पवत्तइ" इत्यादिसूत्राण्युक्तानि। एवं चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायाम्-"पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं कइहिं दिसाहिं गई।" इत्यादीन्यपि वाच्यानि। तथा मनुष्यसूत्राण्यपि, शेषेषु नारकाऽऽदिपदेषु पदसु दिक्षु गत्यादीनां सामस्त्येनासम्भव। तथाहि-नारकाऽऽदीनां द्वाविंशतेर्जीवविशेषाणां नारकदेवेषूत्पादाभावादूर्ध्वाधोदिशोर्विवक्षया गत्यागत्योरभाव, तथा दर्शनज्ञानजीवाऽजीवाभिगमा गुणप्रत्ययावधिलक्षणप्रत्यक्षज्ञानरूपा न सन्त्येव, तेषां भवप्रत्ययावधिपक्षे तु नारकज्योतिष्कास्तिर्यगवधयो, भवनपतिव्यन्तरा ऊर्ध्वावधयो, वैमानिकास्त्वधोऽवधयः, शेषा निरवधय एवेति भावना। विवक्षाप्रधानानि च प्रायोऽन्यत्राऽपि सूत्राणीति। स्था० ६ ठा०।

रायगिहे० जाव एवं वयासी-किमियं भंते! पाईणे त्ति पवुच्चइ?। गोयमा! जीवा चेव, अजीव चेव। किमियं भंते! पडीणे त्ति पवुच्चइ?। गोयमा! एवं चेव। एवं च दाहिणा, एवं च उदीणा, एवं उड्डा, एवं अहो वि। कइ णं भंते! दिसाओ पण्णत्ताओ?। गोयमा! दस दिसाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-पुरच्छिमा, पुरच्छिमदाहिणा, दाहिणा, दाहिणपचच्छिमा, पच्चच्छिमा, पच्चच्छिमुत्तरा, उत्तरा, उत्तरपुरच्छिमा, उड्डा, अहो ॥

(किमियं भंते! पाईण त्ति पवुच्चइ त्ति) किमेतद्वस्तु यत्प्रागेव प्राचीन दिग्विवक्षायां प्राचीना प्राची पूर्वेति प्रोच्यते? उत्तरं तु जीवाश्चैवाऽजीवाश्चैव जीवाजीवरूपा प्राची, तत्र जीवा एकेन्द्रियाऽऽदयोऽजीवास्तु धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशाऽऽदयः। इदमुक्तं भवति-प्राच्यां दिशि जीवा अजीवाश्च सन्तीति।

एयासि णं भंते! दसण्हं दिसाणं कइ नामधेज्जा पण्णत्ता?। गोयमा! दस नामधेज्जा पण्णत्ता। तं जहा-" इंदा अग्गेयी य जमा, य नेरई वारुणी य वायव्वा। सोमा ईसाणीया, विमला य तमा य बोधव्वा ॥ १ ॥"

(इन्द्रेत्यादि) इन्द्रो देवता यस्याः सैन्द्री,अग्निर्देवता यस्याः सा आग्नेयी, एवं यमो देवता याम्या, निर्ऋतिर्देवता नैर्ऋती, वरुणो देवता वारुणी, वायुर्देवता वायव्या,सोमदेवता सौम्या, ईशानदेवता ऐशानी, विमलतया विमला, तमा रात्रिस्तदाकारत्वात्तमाऽन्धकारेत्यर्थ , अत्र ऐन्द्री पूर्वा,शेषा क्रमेण, विमला तूर्द्धं, तमा पुनरधोदिगिति, इह च दिशः शकटोर्द्धसंस्थिताः, विदिशस्तु मुक्तावल्याकाराः, ऊर्द्धाधोदिशौ च रुचकाकारे। आह च-" सगडुद्धिसंठियाओ, महादिसाओ हवंति चत्तारि। मुत्तावली य चउरो, दो चेव य होंति रुयगनिभा।"(४६) इति (आचा०)

इंदा णं भंते! दिसा किं जीवा जीवदेसा जीवप्पएसा; अजीवा, अजीवदेसा, अजीवप्पएसा?। गोयमा! जीवा वि, तं चेव० जाव अजीवप्पएसा वि। जे जीवा ते णियमं एगिंदिया बेइंदिया० जाव पंचिंदिया अणिंदिया; जे जीवदेसा ते णियमं एगिंदियदेसा० जाव अणिंदियदेसा, जे जीवप्पएसा ते णियमं एगिंदियप्पएसा० जाव अणिंदियप्पएसा। जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-रूवी अजीवा, अरूवी अजीवा य। जे रूवी अजीवा ते चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-खंधा, खंधदेसा, खंधप्पएसा, परमाणुपोग्गला।

(जीवा चीत्यादि) ऐन्द्री दिग् जीवा, तस्यां जीवानामस्तित्वात्। एवं जीवदेशा ,जीवप्रदेशाश्चेति। तथा अजीवानां पुद्गलाऽऽदीनामस्तित्वादजीवाः, धर्मास्तिकायाऽऽदिदेशाना पुनर-

स्तित्वादजीवदेशाः, एवमजीवप्रदेशा अपीति। तत्र ये जीवास्ते एकेन्द्रियाऽऽदयोऽनिन्द्रियाश्च केवलिनो, ये तु जीवदेशास्ते एकेन्द्रियाऽऽदीनाम ६, एव जीवप्रदेशा अपि।

जे अरूवी अजीवा ते सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा-नो धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पएसा; नो अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पएसा; नो आगासत्थिकाए, आगासत्थिकायस्स देसे, आगासत्थिकायस्स पएसा, अद्धासमए।

(जे अरूवी अजीवा ते सत्तविह त्ति)कथम्?,(नोधम्मत्थिकाए) अयमर्थ -धर्मास्तिकाय समस्त एवोच्यते,स च प्राची दिग्न भवति,तदेकदेशभूतत्वात्तस्या , किं तु धर्मास्तिकायस्य देशः, सा तदेकदेशभागरूपेति । तथा तस्यैव प्रदेशाः सा भवति, असंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकत्वात्तस्या. २। एवमधर्मास्तिकायस्य देशः, प्रदेशाश्च २। एवमाकाशास्तिकायस्य देश , प्रदेशाश्च २। अद्धासमयश्चेति । तदेव सप्तप्रकारा रूप्यजीवरूपा ऐन्द्री दिगिति ।

अग्गेयी णं भंते ! दिसा किं जीवा, जीवदेसा, जीवप्पएसा पुच्छा?। गोयमा ! णो जीवा,जीवदेसा वि,जीवप्पएसा वि; अजीवा वि, अजीवदेसा वि, अजीवप्पएसा वि; जे जीवदेसा ते णियमा एगिंदियदेसा ।

" अग्गेयी ण " इत्यादि प्रश्नः, उत्तर तु जीवा निषेधनीया विदिशामेकप्रादेशिकत्वादेकप्रदेशे च जीवानामवगाहाभावात्, असङ्ख्यातप्रदेशावगाहित्वात् तेषाम. तत्र " जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसे त्ति ।" एकेन्द्रियाणा सकललोकव्यापकत्वादाग्नेय्या नियमादेकेन्द्रियदेशा सन्तीति ।

अहवा एगिंदियदेसा य, बेइंदियस्स देसे १, अहवा एगिंदियदेसा य, बेइंदियस्स देसा २, अहवा एगिंदियदेसा य, बेइंदियाण य देसा ३, अहवा एगिंदियदेसा,तेइंदियस्स देसे, एवं चेव तियभंगो भाणियव्वो । एवं० जाव अणिंदियाणं तियभंगो, जे जीवप्पएसा ते णियमा एगिंदियप्पएसा, अहवा एगिंदियप्पएसा य बेइंदियस्स पएसा,अहवा एगिंदियप्पएसा य बेइंदियाण य पएसा, एवं आदिल्लविरहिओ०जाव अणिंदियाण। जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता । त जहा-रूवी अजीवा य,अरूवी अजीवा य, जे रूवी अजीवा ते चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-खंधा,खंधदेसा, खंधप्पएसा,परमाणुपोग्गला । जे अरूवी अजीवा ते सत्तविहा पण्णत्ता । त जहा-नो धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे,धम्मत्थिकायस्स पएसा, एवं अधम्मत्थिकायस्स वि० जाव आगासत्थिकायस्स पएसा, अद्धासमए वि दिसासु नत्थि, जीवा देसे भंगो होइ सव्वत्थ ।

जमा णं भंते ! दिसा किं जीवा ?। जहा इंदा तहेव णिरवसेसं, णेरइया जहा अग्गेयी,वारुणी जहा इंदा,वायव्वा जहा अग्गेयी, सोमा जहा इंदा, ईसाणी जहा अग्गेयी, विमलाए जीवा जहा अग्गेयीए, अजीवा जहा इंदाए,एवं तमा वि, णवरं अरूवी छव्विहा अद्धासमओ न भण्णइ ।।

(अह वेत्यादि) एकेन्द्रियाणां सकललोकव्यापकत्वादेव, द्वीन्द्रियाणा चाल्पत्वेन क्वचिदेकस्याऽपि तस्य सम्भवादुच्यते-एकेन्द्रियाणा देशाश्च, द्वीन्द्रियस्य च देश इति द्विकयोगे प्रथमः १ । अथवा-एकेन्द्रियपद तथैव, द्वीन्द्रियपदे त्वेकवचन, देशपदे पुनर्बहुवचनमिति द्वितीय , अत्र च यदा द्वीन्द्रियो द्व्यादिनिर्देशैस्ता स्पृशति तदा स्यादिति । अथवा एकेन्द्रियपद तथैव, द्वीन्द्रियपद देशपद च बहुवचनान्तमिति तृतीय । स्थापना-एके० देशाः ३, द्वी० १ देशः १ । एके० देशाः ३, द्वी० १ देशः ३ । एके० देशा. ३,द्वी० १ देशाः३ । एव त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियानिन्द्रियैः सह प्रत्येक भङ्गत्रय दृश्यम्-एव प्रदेशपक्षोऽपि वाच्यो, नवरमिह द्वीन्द्रियाऽऽदिषु प्रदेशपद बहुवचनान्तमेव, यतो लोकव्यापकावस्थानिन्द्रियवर्जजीवाना यत्रैक प्रदेशस्तत्रासङ्ख्यातास्ते भवन्ति, लोकव्यापकावस्थानिन्द्रियस्य पुनर्यद्यप्येकत्र क्षेत्रप्रदेशे एक एव प्रदेशस्तथाऽपि तत्प्रदेशपदे बहुवचनमेवाग्नेय्या तत्प्रदेशानामसङ्ख्यातानामवगाढत्वादत. सर्वेषु द्विकसयोगेष्वाद्यविरहित भङ्गकद्वयमेव भवतीत्येतदेवाऽऽह-(आइल्लविरहिओ त्ति) द्विकभङ्ग इति शेष । (विमलाए जीवा जहा अग्गेयीए त्ति) विमलायामपि जीवानामनवगाहात् (अजीवा जहा इंदाए त्ति) समानवक्तव्यत्वात्, एव (तमा वि त्ति) विमलावत्तमाऽपि वाच्येत्यर्थ । अथ विमलायामनिन्द्रियसम्भवात्तद्देशाऽऽदयो युक्ता ,तमाया तु तस्यासम्भवात्कथ त इति ?। उच्यते-दण्डाऽऽद्यवस्थ तमाश्रित्य तस्य देशो, देशाः, प्रदेशाश्च विवक्षया तत्रापि युक्ता एवेति । अथ तमाया विशेषमाह-(णवरमित्यादि) (अद्धासमओ न भण्णइ त्ति) समयव्यवहारो हि सञ्चरिष्णुसूर्याऽऽदिप्रकाशकृतः, स च तमायां नास्तीति तत्राद्धासमयो न भण्यत इति । अथ विमलायामपि नास्त्यसाविति, कथ तत्र समयव्यवहार ?,इत्युच्यते-मन्दरावयवभूतस्फटिककाण्डे सूर्याऽऽदिप्रभासङ्क्रान्तिद्वारेण तत्र सञ्चरिष्णुसूर्याऽऽदिप्रकाशभावादिति । भ० १० श० १ उ० ।

दिग्विदिक्प्रवहद्वारे-

इंदा णं भंते ! दिसा किमादिया, किंपवहा,कइपदेसादिया, कइपदेसुत्तरा, कइपदेसिया, किंपज्जवसिया,किंसंठिया पण्णत्ता ?। गोयमा ! इंदा णं दिसा रुयगादिया रुयगप्पवहा दुपदेसिया दुपदेसुत्तरा,लोगं पडुच्च असंखेज्जपएसिया, अलोगं पडुच्च अणंतपएसिया, लोगं पडुच्च सादिया सपज्जवसिया, अलोगं पडुच्च सादिया अपज्जवसिया, लोगं पडुच्च मुरजसंठिया, अलोगं पडुच्च सगडुद्धियसंठिया पण्णत्ता । अग्गेयी ण भंते ! दिसा किमादिया. किंपवहा, कइपएसादिया, कइपएसवित्थिण्णा, कइपएसिया, किं पज्जवसिया, किंसंठिया पण्णत्ता ?। गोयमा ! अग्गेयी णं दिसा रुयगादिया रुयगप्पवहा एगपदेसादिया एगपदेसवित्थिण्णा अणुत्तरा, लोगं पडुच्च असंखेज्जपदेसिया, अलोगं पडुच्च अणंतपदेसिया, लोगं पडुच्च सादिया सपज्जवसिया,अलोगं पडुच्च अपज्जव-

सिया छिन्नमुत्तावलिसंठिता पण्णत्ता । जमा जहा इंदा । णेरई जहा अग्गेयी । एवं जहा इंदा तहा दिसा चत्तारि । जहा अग्गेयी तहा चत्तारि विदिसाओ । विमला णं भंते ! दिसा किमादिया पुच्छा ?। गोयमा ! जहा अग्गेयी, विमला णं दिसा रुयगादिया रुयगप्पवहा चउप्पदेसादिया दुपदे- सवित्थिण्णा अणुत्तरा, लोगं पडुच्च सेसं जहा अग्गेयी, णवरं रुयगसंठिया । एवं तमा वि ॥

(किमादिय त्ति) क आदिः प्रथमो यस्याः सा किमादिका, आदिश्च विवक्षया विपर्ययेणाऽपि स्यादित्यत आह-(किंपवहत्ति) प्रवहति प्रवर्ततेऽस्मादिति प्रवहः, क प्रवहो यस्या सा तथा । (कतिपएसाइय त्ति) कति प्रदेशा आदिर्यस्या सा कतिप्रदेशाऽऽदिका । (कइपएसुत्तर त्ति) कति प्रदेशा उत्तरे वृद्धौ यस्या सा तथा । (लोग पडुच्च मुरजसंठिय त्ति) लोकान्तस्य परिमण्डलत्वाऽऽकारत्वेन मुरजसंस्थानता दिश स्यात्तनश्च लोकान्त प्रतीत्य मुरजसंस्थितेत्युक्तम् । एतस्य च पूर्वाऽऽदिदिशमाश्रित्य चूर्णिकारकृतेयं भावना-" पुव्वुत्तराए पएसहाणी तहा दाहिणपुव्वाए रुयगदेसे मुरयहेट्ठ दिसि अन्ते वत्तपएसा द- ट्ठव्वा, मज्झे य तुम हवति त्ति । " (अलोग पडुच्च सगडुद्धिसंठिय त्ति)रुचके तुण्ड कल्पनीयम्,आदौ सङ्कीर्णत्वात्तत उत्तरोत्तर विस्तीर्णत्वादिति । भ० १३ श० ४ उ० । ध० । स्था० ।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स बहुमज्झदेसभाए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्लेसु खुड्डगपयरेसु एत्थ णं अट्ठपएसिए रुयगे पण्णत्ते, जओ णं इमाओ दस दि- साओ पवहंति । त जहा-पुरच्छिमा, पुरच्छिमदाहिणा, दाहिणा, दाहिणपच्चच्छिमा, पच्चच्छिमा, पच्चच्छिमुत्तरा, उत्तरा, उत्तरपुरच्छिमा, उड्ढा, अहो । स्था० १० ठा० ।

तुच्छस्य दरिद्रश्रावकस्य दिगाद्यपेक्षया दिश्यते यया शिष्य सा दिगाचार्योपाध्याया । पञ्चा० ५ विव० ।

एगपक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पति इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए, जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ।

एक समान पक्ष एकपक्ष', सोऽस्यास्तीति एकपक्षिकः, प्रव्रज्यया श्रुतेन च स्ववर्गस्य,भिक्षो कल्पते इत्वरां कियत्कालभाविनीम्, इत्वरग्रहणमुपलक्षणम् । यावत्कथिका च । दिशमाचार्यत्वमुपाध्यायत्व वा, अनुदिश वा आचार्योध्यायपदद्वितीयस्थानवर्तित्व, वाशब्दो विकल्पार्थ । उपदेष्टु वा, तस्य वा स्वय धारयितु, यथा वा तस्य गणस्य प्रीतिक स्यात्, तथा वा दिशमनुदिश वा उद्दिशेत् । किमुक्त भवति ?-भिन्नपाक्षिकमप्यप वादपदेन स्वगणप्रीत्याऽऽचार्याऽऽदिपदाध्यारोपित कुर्यादिति सक्षेपार्थ' ।

व्यासार्थ तु भाष्यकृद्विवक्षु प्रथमत पूर्वसूत्रेण सह सम्बन्धमाह-

निक्खित्तम्मि उ लिंगे, मूल सातिज्जणाएँ एहाणाऽऽदी ।
दिएणेसु य होइ दिसा, दुविधा वि य एस संबंधो ३१९

यदि लिङ्ग रजोहरण ' निक्षिप्त ' परित्यक्त भवति, ततस्तस्मिन्निक्षिप्ते लिङ्गे,यदि वा लिङ्गापरित्यागेऽपि स्नानाऽऽदे. "सा- द्यमाणे " अनुमनने, मूलं नाम प्रायश्चित्त, दानेन समस्तपर्यायोच्छेदत. प्रदत्तेषु व्रतेषु द्विविधाऽप्याचार्यत्वमुपाध्यायत्वरूपा दिक् दीयते,ततोऽयधावनसूत्रानन्तर दिक्सूत्रोपन्यासः, एष पूर्वसूत्रेण सहाऽस्य सूत्रस्य सम्बन्ध' ।

साम्प्रतमेकपक्षिकत्व व्याख्यानयति-

दुविहो य एगपक्खी, पव्वज्ज सुए य होइ नायव्वो ।
सुत्तम्मि एगवायण, पव्वज्जाए कुलिच्चाऽऽदी ॥३२०॥

द्विविधो द्विप्रकार एकपाक्षिको भवति ज्ञातव्य । तद्यथा-प्रव्रज्यायां, श्रुते च । तत्र सूत्रे सूत्रविषय एकपाक्षिकत्वाचन एका समाना परस्पर वाचना येश्यः स तथा, एकगुरुकुलाधीत इ-त्यर्थ । प्रव्रज्यया चैकपाक्षिक एककुलवर्ती, आदिशब्दादेकगच्छवर्तिशिष्यसहाध्यायाऽऽदिपरिग्रह. ।

एतदेव स्पष्टतरमाह-

सकुलिच्च उ पव्वज्जा, पक्खित्तो एगवायण सुयम्मि ।
अब्भुज्जतपरिकम्मे, मोहे रोगे च इत्तरिओ ॥ ३२१ ॥

प्रव्रज्यापाक्षिको नाम (सकुलिच्च उ त्ति) स्वकुलसम्भवी, उपलक्षणमेतत्, तेन स्वगणसम्भवी स्वशिष्य इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । श्रुते श्रुतपाक्षिक पुनरेकवाचन. । इह सूत्रे इत्वरादिग्ग्रहणाद् यावत्कथिक्यपि दिक् सूचिता । तामुभयीमपि व्याख्यानयति-(अब्भुज्जय इत्यादि) आचार्योऽभ्युद्यतविहारपरिकर्मकाम ,उपलक्षणमेतत्,अभ्युद्यतमरण वा प्रतिपत्तुमनाः यावत्कथिकमाचार्यमुपाध्याय वा स्थापयितुमाह-चिकित्सा वा कर्तुं काम इत्वरम् । अक्षरयोजना त्वियम्-अभ्युद्यतमरणे वा, यावत्कथिकावाचार्योपाध्यायाविति शेष । मोहे रोगे चेत्वर., बहुवचन द्वित्वेऽपि प्राकृतत्वात्, आचार्यश्च यावत्कथिकाऽऽचार्यस्थापने द्विविध.-सापेक्षो, निरपेक्षश्च ।

तथा चात्र राजदृष्टान्त',तमेवाऽऽह-

दिट्ठंतो जह राया, सावेक्खो खलु तहेव निरवेक्खो ।
सावेक्खो जुवनरिंदं,ठवेइ इय गच्छुवज्झायं ॥ ३२२ ॥

दृष्टान्तोऽत्र यथा राजा । तथाहि-राजा द्विविध.-सापेक्षो, निरपेक्षश्च । तत्र य सापेक्ष स जीवन्नेव युवराज स्थापयति, युवराजश्च स स्थापनीयो यस्मिन्ननुरक्ता परिषत् । तत कालगतेऽपि राज्ञि न वैराग्यमुपजायते, किं तु तदवस्थमेव राज्यमनुवर्तते, यस्तु निरपेक्ष' सन् स्थापयति युवराज, तस्मिंश्च स्थापिते राज्ञि कालगते दायादाना परस्परकलहतो राज्य विनाशमाविशति । एवमाचार्योऽपि द्विविध -सापेक्षो, निरपेक्षश्च । तत्र यो गच्छसापेक्ष स जीवन्नेव गणधर स्थापयति, तस्मिंश्च स्थापिते कालगतेऽप्याचार्ये गच्छो न सीदति । तथा चाऽऽह-इति एव सापेक्षराज इव युवनरेन्द्र, सापेक्ष आचार्यो जीवन्नेवेति वाक्यशेष , गच्छोपाध्याय गच्छनायक स्थापयति । पुनर्गच्छनिरपेक्ष सन् आचार्य जीवन् स्थापयति । तस्मिन् कालगते परस्परकलहभावतो गच्छो विनाशमुपयाति, तस्माद् जीवत्येव गणधरे आचार्य उपाध्यायो वा स्थापयितव्य. ।

साम्प्रत मिथ्यात्व चाऽऽचार्योपाध्यायस्थापनाविषयमाह-

गणहरपाउग्गासति, पमायअट्ठाविते व कालगते ।
थेराण पगासेंती, जावऽण्णो न ठावितो तत्थ ॥ ३२३ ॥

गणधरस्य गणधरपदस्य प्रायोग्यो गणधरप्रायोग्यस्तस्यासति अभावे । अथवा-प्रमादतोऽस्थापित एवाऽऽचार्ये काल-

गते इत्वर आचार्य उपाध्यायो वा स्थाप्यते, स च यैः स्थाप्यते, ते स्थविराणां गच्छवृद्धतराणां प्रकाशयन्ति-यावत्तत्र,मूलाऽऽचार्यपदे चाऽन्यो न स्थापितो भवति, तावदेव युष्माकमाचार्य उपाध्यायो वा प्रवर्त्तक इति। इह एकपाक्षिको द्विविध उक्तः-प्रव्रज्यया, श्रुतेन च। अत्र च भङ्गचतुष्टयम्। तद्यथा-प्रव्रज्यया एकपाक्षिकश्रुतेन १, प्रव्रज्यया न श्रुतेन २, न प्रव्रज्यया श्रुतेन ३, न प्रव्रज्यया नापि श्रुतेन ४। एतदपि भङ्गचतुष्टय कुलाऽऽदिष्वपि योजनीयम्।

तथा चाऽऽह-

पव्वज्जाएँ कुलस्स य, गणस्स संघस्स चेव पत्तेयं ।
समगं सुएण भंगा, कुज्जा कमसो दिसाबंधे ॥ ३२४ ॥

दिग्बन्धे आचार्यपदे, उपाध्यायपदे वा स्थाप्यमाने इत्यर्थ, प्रव्रज्यया कुलस्य गणस्य सङ्घस्य च प्रत्येकं श्रुतेन सार्द्धं भङ्गचतुष्टय प्रत्येक योजयेदिति भाव । तत्र प्रव्रज्यया भङ्गचतुष्टयमुपदर्शितम्। इदानीं कुलस्योपदर्श्यते-कुलेनैकपक्षः श्रुतेन च १। कुलेनैकपाक्षिको न श्रुतेन २। कुलेन नैकपाक्षिकः किं तु श्रुतेन ३। न श्रुतेन नापि कुलेन ४। एवं गणेन सङ्घेन च प्रत्येकं भङ्गचतुष्टय भावनीयम्। तत्र प्रव्रज्या कुलं गणं चाऽधिकृत्य य. प्रथमभङ्गवर्त्ती स इत्वरो, यावत्कथिको वा स्थापनीय, तदभावे तृतीयभङ्गवर्त्ती यदि पुनर्द्वितीयभङ्गवार्त्तिनं,चतुर्थभङ्गवार्त्तिनं वा स्थापयति, तदा तस्य स्थापयितु प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुमासा, न केवलमेतत् प्रायश्चित्त, किं चाऽऽज्ञादयोऽपि दोषा. ।

तथा चाऽऽह-

आणाऽऽइणो य दोसा, विराहणा होइ-मेहिँ ठाणेहिं ।
संकिय अभिणवगहणे, तस्स व दीहेण कालेण ॥३२५॥

आज्ञाऽऽदय आज्ञाऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनारूपा, चशब्दोऽनुक्तप्रायश्चित्तसमुच्चये । तच्च प्रायश्चित्तं प्रागेवोपदर्शितम्, तथा विराधना गच्छस्य भेदो भवति,आभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यां स्थानाभ्याम्,तौ एव दर्शयति, शङ्कितेऽभिनवग्रहणे च साधूनां यदि ग्लानावस्था स्थापयितु दीर्घेण कालेन रोगचिकित्सा वा कृत्वा समागतस्य शङ्कते ।

एतदेव विभावयिषु प्रथमत इत्वरस्य, यावत्कथिकस्य च स्थापने विषयमाह-

परिकम्मं कुणमाणे, मरणस्सऽब्भुज्जयस्स ववहारे ।
मोहे रोगतिगिच्छा, ओहावंते वि आयरिए ॥ ३२६ ॥

अभ्युद्यतस्य मरणस्य पादपोपगमनलक्षणस्य परिकर्म द्वादशसावत्सरिकसंलेखनारूपं कुर्वाणे, यदि वा अभ्युद्यतविहारस्य जिनकल्पाऽऽदिप्रतिपत्तिलक्षणस्य परिकर्म्म तपोभावनाऽऽदिलक्षणं कुर्वति, यावत्कथिक आचार्य स्थापनीय, मोहे मोहचिकित्सायां, रोगचिकित्सायां,यदि वा अवधावत्याचार्ये इत्वर आचार्य. स्थापयितव्य. ।

तत्र श्रुतानेकपाक्षिकेत्वराऽऽचार्यस्थापने दोषमाह-

दुविहतिगिच्छं काउं-ण आगतो सकियम्मि कं पुच्छे ? ।
पुच्छंतु च कं इयरे, गणभेदो पुच्छणाहेउ ॥ ३२७ ॥

श्रुत्वाऽनेकपाक्षिकेत्वराऽऽचार्यस्थापने द्विविधचिकित्सा,मोहचिकित्सा, रोगचिकित्सां चेत्यर्थ । दीर्घकाल कृत्वा समागतः सन् शङ्किते सूत्रे, अर्थे च कं पृच्छेत् ?, नैव कञ्चनेति भाव । स्थापिताऽऽचार्यस्य भिन्नवाचनाकत्वात्,इतरे वा गच्छवासिनि आचार्ये मोहचिकित्सां वा कुर्वन्तः कं पृच्छन्तु, नैव कञ्चन, पूर्वोक्तादेव हेतोः। ततस्ते वाचनाप्रदायकमलभमाना गच्छान्तरमुपसंपद्येरन्, गच्छान्तरोपसपत्तौ च प्रश्नहेतोर्गणभेदः स्यात्।

सम्प्रति श्रुतानेकपाक्षिकयावत्कथिकाऽऽचार्यस्थापने दोषमाह-

न तरइ सो संधाउं, अप्पाधारो व पुच्छिउं देइ।
अन्नत्थ व पुच्छंते, सचित्ताऽऽदी उ गेण्हंति ॥ ३२८ ॥

स श्रुतानेकपाक्षिक· स्थापितो यावत्कथिक आचार्यो भिन्नवाचकत्वाद् न शक्नोति सधातु विस्मृतमालापक दातुम । अथवा-श्रुतानेकपाक्षिकोऽल्पश्रुतोऽप्युच्यते, ततोऽल्पाधार . अल्पस्य सूत्रार्थस्य चाऽऽश्रय इति पृष्ट सन्नन्य पृष्टमालापकं ददाति, अन्यत्र च गणान्तरे गत्वा पृच्छति, ते गच्छान्तरवर्तिन आचार्यास्तेनोत्पादित सचित्ताऽऽदिक गृह्णन्ति,अगीतार्थाना न किञ्चिदाभाव्यमिति जिनवचनात्तस्य च तेषां समीपे प्रस्थापना च।

उपसहारमाह-

सुयतो अणेगपक्खिय, एए दोसा भवे ठवेंतस्स ।
पव्वज्जाऽणेगपक्खिय, ठवयंते इमे भवे दोसा ॥ ३२९ ॥

श्रुतानेकपक्षिणमित्वर,यावत्कथिक वाऽऽचार्य स्थापयत एते अनन्तरोदिता दोषा भवन्ति,प्रव्रज्याऽनेकपक्षिण पुनरित्वर, यावत्कथिक वा स्थापयत इमे वक्ष्यमाणा भवन्ति दोषा ।

तानेव प्रतिपिपादयिषुराह-

दोण्ह वि बाहिरभावो, सचित्ताऽऽदीसु भंमणं नियमा ।
होइ गणस्स उ भेदो,सुचिरेण न एम अम्हं ति ॥३३०॥

प्रव्रज्यानेकपक्षिक इत्वरयावत्कथिकाऽऽचार्यस्थापने द्वयोरपि, गच्छस्याऽऽचार्यस्य चेत्यर्थ· । बहिर्भावो बहिर्भावाध्यवसायो भवति । तथाहि-योऽसौ स्थापयति आचार्य स गच्छवर्तिन साधून्समस्तानपि परकीया·मन्यते, साधवोऽपि गच्छवर्तिनस्त परमभिमन्यन्ते, एव परस्परबहिर्भावाध्यवसाये मति स्थापितस्य गच्छवर्तिना च साधूनामनाभाव्यानि सचित्ताऽऽदीनि गृह्णता नियमतो भण्डन कलहो भवति, तथा च सति प्रवचनोड्डाह· प्राक्तने व्यावर्णित , प्रायश्चित्ताऽऽपत्तिश्च,अन्यच्च गच्छवर्तिनस्ते साधवो मन्यन्ते सुचिरेणापि प्रभूतेनाऽपि कालेन गच्छता-नास्माकमेव, परकीयत्वात् । उपलक्षणमेतत्, सोऽप्यभिमन्यते सुचिरेणाप्येते परकीया इत्येव परस्परमध्यवसायभावतो गणस्य गच्छस्य भेदो भवति, तस्मादित्वरो, यावत्कथिको वा प्रथमभङ्गवर्ती स्थापयितव्य· ।

अत्रैवापवादमाह-

अन्नयरतिगिच्छाए, पढमासति तइयभंगमित्तरियं ।
तइयस्सेव उ असती, बितिओ तस्सासति चउत्थो॥३३१॥

अन्यतरचिकित्सायां-मोहचिकित्सायां, रोगचिकित्सायां वा। आचार्यमित्वरमुपलक्षणमेतत्, अभ्युद्यतमरणप्रतिपत्त्यभ्युद्यतविहारपरिकर्मप्रतिपत्तौ वा यावत्कथिकमाचार्यमुत्सर्गत प्रथमभङ्गवर्तिन स्थापयेत्, प्रथमभङ्गवर्त्तिनोऽसति अभावे तृतीय तृतीयभङ्गवर्तिनमित्वरम्, उपलक्षणमेतद्-यावत्कथिक वा स्थापयेत् । तत्र सूत्रेऽर्थे च स शीघ्रं निष्पादयितव्यः । तृतीयस्याऽपि तृतीयभङ्गवर्तिन·, एवशब्दोऽपिशब्दार्थः, अ-

सत्यभावे पुनर्द्वितीयो द्वितीयभङ्गवर्ती, तस्यासति चतुर्थः। तत्र योऽसौ चतुर्भङ्गवर्ती स्थापयितव्यो भवति स एतादृशगुणः-

पयतीएँ मिउसहावं, पगतीए संमतं वि णियगं वा ।
नाऊण गणस्स गुरुं, ठावेंति अणेगपक्खं पि ॥३३२॥

अनेकपाक्षिणमपि प्रव्रज्यापक्षरहितश्रुतसमानपक्षराहितमपि प्रथमद्वितीयतृतीयभङ्गवर्त्यसम्भवे प्रकृत्या, स्वभावेन स्वपक्षभावतो मृदुस्वभावमरोषणस्वभावं, तथा प्रकृत्या स्वभावेन सम्मतमभिमतं,समस्तस्याऽपि गच्छस्येति गम्यते। स्वजनसम्बन्धभावतो वा निजकमात्मीयं ज्ञात्वा गणस्य गुरुः स्थापयितव्यः ।

तस्य चतुर्भङ्गवर्तिनः सचित्ताऽऽदिषु य आभवनव्यवहारस्तमभिधित्सुराह-

साहारणं तु पढमे, बिइए खेत्तम्मि तइएँ सहदुक्खे ।
अणहिज्जंते सीसे, तेसिं एक्कारस विभागा ॥ ३३३ ॥

प्रथमे वर्षे साधारणम्,किमुक्तं भवति?-यावल्लभते तस्य तद्,द्वितीये वर्षे यत्क्षेत्रे तदीये लभ्यते तद्गच्छवर्तिनां साधूनां,शेष गणधरस्य, तृतीये वर्षे समदुःखोपनता यद् लभन्ते तत्तेषामेव गच्छवर्तिनामाभवति, शेष गणधरस्य, चतुर्थाऽऽदिषु वर्षेषु सर्वं गणधरस्य,एष आभवनव्यवहारोऽनधीयाने शिष्ये । किमुक्तं भवति?-ये स्थापिताऽऽचार्यस्य समीपे न पठन्ति तान् प्रति द्रष्टव्यः, ये पुनराचार्यस्य समीपे न पठन्ति तेषामेकादश विभागा । तथा चाऽऽह-शेषेऽप्रधाने एकादश विभागाः प्रकारा आभवद्व्यवहारस्य ।

तानेव प्रतिपिपादयिषुराह-

पुव्वुद्दिट्ठं तस्सा, पच्छुद्दिट्ठं पवायर्यंतस्स ।
संवच्छरम्मि पढमे, पडिच्छए जत्थ सचित्तं ॥ ३३४ ॥

प्रतीच्छिके गच्छान्तरादध्ययनार्थमधिकृतगच्छोपसम्पदं प्रपन्ने यत् आचार्यपदस्थापनातः पूर्वमुद्दिष्टं सचित्तम्, उपलक्षणमेतत्-अचित्तकं, वस्त्रपात्रं प्रथमे वर्षे भवति सम्पद्यते तत्सर्वं तस्य प्रतीच्छकस्य, एष प्रथमो विकल्पः । यत्पुनराचार्यपदस्थापनातः पश्चादुद्दिष्टं प्रथमे वर्षे सम्पद्यते सचित्ताऽऽदिकं तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतस्थापनाऽऽचार्यस्याध्यापयितुः, एष द्वितीयो विकल्पः ।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, पडिच्छए जं तु होइ सचित्तं ।
संवच्छरम्मि बितिए, तं सव्वं पवायर्यंतस्स ॥ ३३५ ॥

आचार्यपदस्थापनातः पूर्वं पश्चाद्वा यदुद्दिष्टं सचित्तम्,उपलक्षणमेतदचित्तं वा,द्वितीये संवत्सरे भवति सम्पद्यते । केत्याह- प्रतीच्छके गच्छान्तरादागत्य सूत्रार्थस्य वा प्रतीच्छनं प्रतीच्छा, तया चरति प्रतीच्छिकस्तस्मिन्, तत्सर्वं प्रवाचयतोऽध्यापयितुरधिकृतस्थापिताऽऽचार्यस्य वेदितव्यम् । एष तृतीयोऽपि विकल्पः ।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, सीसम्मि उ जं तु होइ सचित्तं ।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं गुरुस्स आभवति ॥३३६॥

आचार्यपदस्थापनात पूर्वं पश्चाद्वा उद्दिष्टं यत् सचित्तम्,उपलक्षणत्वादस्याचित्तं, वस्त्राऽऽदिकं, शिष्ये प्रथमवर्षे भवति सम्पद्यते तत् सर्वं गुरोराभवति । एष चतुर्थो विभागः ।

पुव्वुद्दिट्ठं तस्सा, पच्छुद्दिट्ठं पवायर्यंतस्स ।
संवच्छरम्मि बिइए, सीसम्मि उ जं तु सचित्तं ॥३३७॥

यत्सचित्तमचित्तं वाऽऽचार्यपदस्थापनातः पूर्वमुद्दिष्टं सचित्तमचित्तं वा शिष्ये द्वितीये संवत्सरे भवति सम्पद्यते, तत्सर्वं तस्य शिष्यस्याऽऽभवति । एष पञ्चमो विभागः । यत्पुनराचार्यपदस्थापनात पश्चादुद्दिष्टं सचित्तमचित्तं वा शिष्ये तृतीये संवत्सरे भवति सम्पद्यते, तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतगुरोराभवति । एष सप्तमो विभागः ।

पुव्वुद्दिट्ठं तस्सा, पच्छुद्दिट्ठं पवायर्यंतस्स ।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सिस्सिणिए उ सच्चित्तं ॥३३८॥

आचार्यपदस्थापनात पूर्वमुद्दिष्टं सचित्तमचित्तं वा प्रथमे संवत्सरे शिष्यिण्याः शिष्याया आभवति । एषोऽष्टमो विभागः ८। यत्पुनराचार्यपदस्थापनातः पश्चादुद्दिष्टं सचित्ताऽऽदिकं प्रथमे संवत्सरे शिष्यायाः सम्पद्यते, तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतस्य गुरोराभाव्यम् । एष नवमो विभागः ९ ।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, सिस्सीए उ जं तु सचित्तं ।
संवच्छरम्मि बितिए, एतं सव्वं पवायर्यंतस्स ॥ ३३९ ॥

पूर्वं पश्चादुद्दिष्टं सचित्तमचित्तं वा द्वितीये संवत्सरे शिष्याया सम्पद्यते, तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतस्य गुरोः । एष दशमो विभागः ।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, पडिच्छयाए उ जं तु सचित्तं ।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं पवायर्यंतस्स ॥ ३४० ॥

पूर्वं पश्चाद्वा यदुद्दिष्टं सचित्तमुपलक्षणमेतदचित्तं वा प्रथमे वर्षे प्रातीच्छिकयाः शिष्यायाः सम्पद्यते,तत्सर्वं प्रवाचयतोऽधिकृतस्य गुरोः । एवं न्यायेन द्वितीयाऽऽदिष्वपि संवत्सरेषूक्तः । एष एकादशोऽपि विभागः ।

साम्प्रतमुपसंहारमाह-

जम्हा एते दोसा, दुविहे वि अ पक्खिए तु ठवियम्मि ।
तम्हा उ ठवेयव्वो, कमेणमेणं तु आयरिओ ॥ ३४१ ॥

द्विविधे-अन्यपाक्षिके श्रुतप्रव्रज्यापक्षरहिते चेत्यर्थः । स्थापिते चाऽऽचार्ये यस्मादेते अनन्तरोदिता दोषास्तस्मादनेनानन्तरोदितेन " पढमासति तइयभंग (३३१) " इत्यादिलक्षणेन क्रमेण स्थापयितव्य आचार्य इति ।

अथ प्रथमभङ्गवर्त्ती केन विधिना स्थापयितव्यः ?,उच्यते-

एयस्सेगदुगादी, निप्फन्ना तेसि बधइ दिसाओ ।
संपुच्छणा आलोयण-दाणे मिलिएण दिट्ठंतो ॥३४२॥

एतस्य प्रथमभङ्गवर्तिनः स्थापिताऽऽचार्यस्य एकद्विकाऽऽदयः एकद्वित्रिचतुरादयः शिष्या निष्पन्ना यदि भवन्ति, ततस्तेषां, दिशं आचार्यत्वमुपाध्यायत्वं चेत्यर्थः । बध्नाति, तथा योऽसावाचार्ये संदिष्टो-यथैव सूत्रतोऽर्थतश्च निर्मोप्याऽऽचार्यपदे स्थापनीयस्तस्य स्थापितगणधरेणाऽऽचार्यपदे स्थापितस्य शिष्याणां विप्रतारणार्थं सम्प्रच्छनं, तद्दत्तवहनमवलोकनं साक्षात्समीपं गत्वा स्वयमयाऽऽनिर्वहन् प्रच्छन्नं दानं वस्त्रपात्राऽऽदेः । एतेषां समाहारो द्वन्द्वः, तस्मिन्नपि कृते विपरिणामाभावे मिलितेन गोपालद्वयमिलनेन दृष्टान्तो वक्तव्यो, द्वयोर्गोपालयोर्मिलितयोः प्रभूता धनवृद्धिरभूत्, तथा युष्माकमस्माकं च मिलितानां विहरतां भूयान् ज्ञानाऽऽदिलाभो भवतीति मिलितैर्विहर्तव्यमिति ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुरिदमाह-

गीयमगीया बहवो, गीयत्थसलक्खणा उ जे तत्थ ।
तेसिं दिसाउ दाउं, वियरति सेसे जहरिहं तु ॥३४३॥

गच्छे बहवः साधवो (गीयमगीया इति) गीतार्था अगीतार्थाश्च, तत्र ये गीतार्थास्तत्रापि सलक्षणा आचार्यलक्षणोपेता, तेषां दिश आचार्यपदानि दत्त्वा शेषान्साधून्यथार्हं यथायोग्य, तथा केषाञ्चिदनुरत्नाधिकत्वेन केषाञ्चित्सामान्यतः शिष्यत्वेन वितरति प्रयच्छति। एतच्च तदा द्रष्टव्य यदा प्रत्येक बहवः शिष्याः प्राप्यन्ते, अन्यथा त्वेक एवाऽऽचार्यं स्थापनीयः, शेषाः समस्ता अपि शिष्यत्वेन सवध्यन्ते, तत्रापि सलक्षणानां देशो ज्ञायते ।

एतदेव सुव्यक्तमभित्सुराह-

मूलायरि रायणिओ, अणुसरिसो तस्स होउवज्झाओ ।
गीयमगीया सेसा, माज्झिल्लया होंति सीसा ह ॥३४४॥

मूलाऽऽचार्यो नाम रात्निको रत्नाधिकः, तस्य मूलाऽऽचार्यस्यानुसदृशोऽनुरूप उपाध्याय', शेषास्तु ये गीतागीतार्थास्ते तस्य ' मज्झिल्लगा ' अनुरत्नाधिका, हकारोऽलाक्षणिकः, शिष्या भवन्ति ।

रायणिया गीयत्था, अलाद्धिया धारयंति पुव्वदिसं ।
अपहुच्चंते सलक्खणे, केवलमेगे दिसाबंधो ॥३४५॥

ये पुना रात्निका व्रतपर्यायेणाधिका , गीतार्था श्रुतसपदुपेता व्रतश्रुतनिष्पन्नाश्च केवलं सग्रहे उपग्रहे चाऽलब्धिका , ते पूर्वदिश पूर्वाऽऽचार्यप्रदत्त दिशमनुरत्नाधिकत्वलक्षण धारयन्ति, न त्वाचार्यपदमुपाध्यायत्व वा तेषामारोप्यते,तल्लब्धिहीनत्वात्। एष विधि -यावन्तः स्थापिता आचार्यास्तेषा प्रत्येकमनुगन्तव्यम्, एतच्च तदा क्रियते यदा भूयास' साधव श्याप्यन्ते। (अपहुच्चने इत्यादि) अप्रभवति प्रत्येकमाचार्याणा साधुपरिवारे भूयस्यप्राप्यमाणे केवलमेकस्मिन् सलक्षणे विशिष्टाऽऽचार्यलक्षणोपेते दिग्बन्ध आचार्यपदाध्यारोपः क्रियते।

एतदेवाऽऽह-

सीसे य पहुच्चंते, सव्वेसिं तेसि होति दायव्वो ।
अपहुच्चंतेसुं पुण, केवलमेगे दिसाबंधो ॥ ३४६ ॥

शिष्ये शिष्यवर्गे प्रत्येक प्रभवति तेषामाचार्यलक्षणोपेतानां सर्वेषामपि देशो दातव्य । अप्रभवत्सु प्रत्येक पूर्णतया साधुष्वप्राप्यमाणेषु केवलमेकस्मिन् सलक्षणतरे दिग्बन्ध कर्त्तव्यः, शेषाणा तु सलक्षणाना दिशोऽनुज्ञाप्या ।

साम्प्रत तेष्वाचार्यपदस्थापितेषूपकरणदानविधिमाह-

अच्चित्त व जहरिहं, दिज्जइ तेसुं व बहुसु गीएसु ।
एस विही अक्खाओ, अगीएसु इमो उ विही ॥३४७॥

तेषु वाऽऽचार्यपदस्थापितेषु बहुषु गीतार्थेषु अचित्त वस्तु पात्राऽऽदि उपकरण यथाऽर्हं यो यावन्मात्रार्हस्तस्य तावन्मात्र दीयते, एष विधिराख्यातो गीतार्थेषु सूत्रार्थनिष्पन्नेष्वाचार्यलक्षणोपेतेषु, अगीतेष्वनधिगतसूत्रार्थेष्वाचार्यलक्षणोपेतेष्वय वक्ष्यमाणो विधिर्द्रष्टव्य ।

तमेवाऽऽह-

अरिह व अनिम्मायं, नाउ थेरा जणंति जो ठवितो ।
एयं गीयं काउं, दिज्जाहि दिसं अणुदिसं वा ॥३४८॥

अर्हो नाम लक्षणोपेततयाऽऽचार्यपदयोग्य , परमद्यापि सूत्रेऽर्थे च न निर्मातस्तमर्हमनिर्मात ज्ञात्वा यो गणधरस्तत्काल स्थापितस्त स्थविरा वृद्धा आचार्या भणन्ति-यथा एत साधु गीत गीतार्थं कृत्वा दद्यात् भवान् दिशमनुदिश वा ।

सो निम्माविय ठवितो, अत्यति जइ तेण सह तो लट्ठं ।
अह न वि चिट्ठइ तहियं,संघामो ता से दायव्वो ।३४९।

योऽसावाचार्येण सदिष्टो-यथैत साधु निर्माप्य एतस्मै दिशमनुदिश वा दद्यात् स निर्मापितो निर्माप्याऽऽचार्यपदे स्थापित , ततः स यदि निर्मापित स्थापितस्तेन सह तिष्ठति विहरति ततो लष्ट समीचीनम् । अथ नैव, अपिशब्द एवकारार्थो, न तिष्ठति तत्र तस्य समीपे तर्हि (से) तस्य सङ्घाटो दातव्यः,यस्य पूर्वाऽऽचार्येण वैयावृत्यकरो दत्त सोऽपि तेन सार्द्धं विहरति।

तत्र ये स्थापितगणधरेणैको द्वौ त्रयो वा सहाया दत्ताश्च पूर्वाऽऽचार्यप्रदत्तो वैयावृत्यकरस्तान् पाठयति,ये चाभिनवशैक्षका उपस्थापिता प्रव्राजिता ,तेऽप्यात्मन शिष्यत्वेन सबन्धनीया , एव सजातपृष्ठविहार स्तन् अन्यत्र विहारेण गत , तस्य तत्र विहरत. शिष्यान् सस्थापितगणधरो विपरिणमयितुकामो यत् समाचरति तदुपदर्शयति -

पेसेइ गंतुं व सयं व पुच्छे,
संबंधमाणो उवहिं व देती ;
सज्झंतिया सिं व समाल्लिया वि,
सचित्तमेव न लभे करेंतो ॥ ३५० ॥

यत्र स निर्मापितः स्थापितो विहरति तत्रोदन्तवाहकान्साधून् तत्शिष्याणा प्रेषयति । अथवा-स्वयमन्तराऽन्तरा गत्वा तान्पृच्छति। यथा-सस्तरथ यूय सुखेन, यद् भो भवतां नास्ति तत्कथयत, येनाऽह ददामीति । तथा तान् शिष्यानात्मन सबन्धयन् उपधिं चान्तराऽन्तरा ददाति । तथा ये स्वाध्यायनिमित्त समीपस्थायिनोऽनुरत्नाधिका गीतार्था इत्यर्थ , तान् तेषा निर्माप्यस्थापितानामाचार्याणा मुक्त्वा नात्मनः समालापयति सश्लेषयति, ' लीङ् ' सश्लेषणे इतिवचनात् । एव तेन गीतार्था शिष्याश्च विपरिणम्यमाना निर्मापितस्थापितस्य समीप मुक्त्वा त स्थापितगणधरमुपसपद्यन्ते । स चैव सचित्त साधुवर्गलक्षणमात्मसात् कुर्वन् न लभते, व्यवहारतो न ते तस्याऽऽभवन्तीति भाव. ।

अथैवमपि ते विपरिणम्यमाना न विपरिणमन्ति, नाऽपि तस्य समीपमायान्ति, ततोऽनेन दृष्टान्तेन तावत्सबन्धयन्ति, तमेव दृष्टान्तमाह-

गोवालगदिट्ठंत, करेति जह दोन्नि भाउणो गोवा ।
रक्खती गोणीओ, पिहप्पिहा असहिया दो वि ॥३५१॥
गेलन्ने एगस्स उ, दिण्णा गोणी उ ताहे अन्नस्स ।
इय नाऊण ताहे, सहिया जाया दुवे गोवा ॥ ३५२ ॥

" दोन्नि गोवाला सहोयरभाउगा भडण करेत्ता पत्तेय पत्तेय वेयणएण गावीओ रक्खति, अन्नया तेसिं एगो रोगी जातो, ततो तेण जाव न रक्खिया तो गावीतो परिहीणो जातो,अन्नया वितिओ पमिलग्गो, सो वि तहेव परिहीणो। ततो तेहिं एगागि-

यस्स न सोहणमिति चिंतिऊण परोप्पर पीती कया, ततो एको पडिलग्गो तस्स चिंतिओ गावीओ रक्खह, एव इयरस्स वि, एवं तेसिं दव्वपरिवुड्ढी जाया । एव अम्हे वि वीसु वीसु विहरताण परिहाणी भवति, तम्हा मिलिया वि हरामो, जेण विउला णाणाईण वुड्ढी हवइ, ज तुब्भ त तुब्भ चेव नाहं त हरामि । एव समल्लियावेत्ता सीसे लब्भति, एव विपरिणामेइ, तह वि सो न लहइ । "

सप्रत्यक्षरयोजना । गोपालकदृष्टान्त करोति-यथा द्वौ गोपौ भ्रातृकौ, तौ द्वावप्यसहितौ पृथक् पृथग् वेतनेन गा रक्षत, अन्यदा एकस्य ग्लानत्वे गा अन्यस्य गोस्वामिना दत्ता, स वेतनात् परिभ्रष्ट । एवमितरोऽपि ग्लानत्वे वेतनपरिहीणो जात, तत इति पृथक् असहतस्थितस्य महती द्रव्यहानिरिति कृत्वा जातौ द्वावपि सहिताविति ।

उपसहारमाह-

एवं दोसु वि अम्हे, पिहप्पिहा तह विहरिमो समगं ।
वाघाते णऽण्णोण्णे, सीसा उ परं व न भयंति ॥३५३॥

एव द्वयेऽपि वयं यद्यपि पृथक् पृथक् तिष्ठाम, तथाऽपि समक सहितया विहरामो,येन व्याघाते ग्लानत्वाऽऽदिलक्षणे, अन्योऽन्यस्य ज्ञानाऽऽदिहानिर्नोपजायते,शिष्या वा पर न भजन्ते, एवमपि सत्कुर्वाणो न लभते शिष्यम् । व्य० २ उ० ।

दिग्विपरिणामे-

जे भिक्खू दिसं विप्परिणामेइ,विप्परिणामंतं वा साऽज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खू दिसं अवहरइ, अवहरंतं वा साऽज्जइ ॥ १३ ॥

दिशेति व्यपदेश -प्रव्रजनकाले, उपस्थापनाकाले वा य आचार्य्य उपाध्यायो वा व्यपदिश्यते सा तस्य दिशा इत्यर्थ । तस्यापहारः, त परित्यज्य अन्यमाचार्य्यमुपाध्याय वा प्रतिपद्यते इत्यर्थ । सजतीए एवत्तिणी ।

अवि य-

रागेण व दोसेण व, दिसावहारं करेति जो भिक्खू ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १२५ ॥

रागेण-किंचि णीयल्लग पासित्ता रागो जातो, ताहे त दिस गेण्हति,पुरिल्ले आयरिओवज्झाए उज्झेति। दोसेण-को वि कम्हि चि कारणे वडुसद्धो समणो अण्ण आयरिय सदिसंति, तस्स चउगुरु पच्छित्त, आणादिणो दोसा भवति ।

अहवा इमो रागेण उद्दिसति-

जातिकुलरूवभासा-धणबलपरिवारजसतवे लाभे ।
सत्तवयबुद्धिधारण, उग्गहसीले समायारी ॥ १२६ ॥

माउपक्खविसुद्धा जाती, पियापक्खविसुद्ध इक्खागुमादिय कुल,सुविभत्तऽगोवगअहीणपंचेंदियत्तत्तण रूव, मियमहुरकडुअभिहाणा भासा, धणिम पव्वतियस्स ता तत्थ मेऽत्थि,उववेयमसलोणिओ वक्षव,विरियतरायक्खओवसमेण वा बलव,ससमयपरसमयवित्थारत्तणेण लोगुत्तरे य जसो,चउत्थादिणा बाहिरब्भतरेण वा तवेण वा जुत्तो आहारोवकरणलाभसपण्णो विकिआवईसु अ अणुस्सुओ अदविक्कमो य सत्तमतो, दुरेज्झवसाणो वा सत्तमंतो,तीसतिवरिसो तिट्ठतो इय वयव, उप्पाइयादिचउविहबुद्धिसु बेदो बुद्धिम, बहु धरेति, बहुविध धरेइ, अणिस्सिय धरेति, असदिद्ध धरेति,दुद्धरं धरेइ,धुवं धरेइ,एव उग्गहणे वि समादी,सीलउववेतो सीलव,चक्कवालसमायारीए जुत्तो कुसलो य ।

एव-

एतेहिं उववेतं, रागेण परं च उद्दिसति कोइ ।
जच्चाइविहूणं वा, उज्झति कोई परिभवेणं ॥१२७॥

एतेहिं उववेय कोइ रागेण अण्ण आयरिय उद्दिसति, एतेहिं चेव जच्चादिएहिं विहूण कोइ परिभवेण परिच्चयति, दोषेणेत्यर्थ. ।

गाहा-

अहवण मेत्ती पुव्वं, पूयाइड्ढिपरिवारतो रागे ।
अहिकरणमसमाणे, सभावऽणिट्ठं च दोसेणं ॥ १२८ ॥

'अहवण' शब्दो विकल्पप्रदर्शने,मित्रभावो मैत्री, तत्पूर्व तन्निमित्त,महत्त्वणपूइय,तेण वा सो पूइतो अट्ठारादिइड्ढिसपण्ण,परिवारसंपण्ण वा,एतेहिं गुणेहिं उववेय रागेण आयरिय पभिवज्जति, आयरिएण पुण सद्धिं अधिकरणे उप्पण्णे आयरिएण वा असमाणिओ, सभावेण वा अणिट्ठं आयरिय परिच्चयति एस दोसेण ।

पुरिसतरियपरिच्चाए अण्णमुद्देसेण य इमे दोसा-

आणादिणो य दोसा, विराहणा होति संजमाऽऽताए ।
दुल्लभवोहीयत्तं, वितियपयविराहणा चेव ॥ १२९ ॥

तित्थकराण आणाभगो, आदिसद्दाओ अणवत्था-जहा एयस्स पयमसच्च तहा अण्ण पि, एव मिच्छत्त जणयति, वितियपदविराहणे सजमविराहणा । अण्णेण भणितो-किमायरियं परिच्चयसि ?, उत्तराउत्तरेण अधिकरण, एत्थ आयसजमविराहणा, दुल्लभवोधीयत्त च णिव्वत्तेति, तम्हा दिसावहार णो करे ।

वितियपदेण अण्णमायरियं उद्दिसिज्जा-

वितियपए आयरिए, ओसण्णोवाइए य कालगते ।
ओसण्णे छव्विहो खलु, वत्तमवत्तस्स मग्गणया ॥१३०॥

जइ आयरिओ ओसण्णो जातो, ओहाइतो वा, कालगतो वा,एए तिण्णि दारा । एत्थ ओसण्णो छव्विहो-पासत्थो, ओसण्णो,कुसीलो, ससत्तो,अहाछंदो,णितिओ य। तम्मि गच्छे आयरिओ जो सकप्पिओ वत्तो अवत्तो वा सो वत्तावत्तो कह गण धरेति त्ति चउभंगेण मग्गणा कज्जति । सोलसवरिसाऽऽरेण वयसा अवत्तो, परेण वत्तो, अणधीयणिसीहो अगीयत्थो सुत्तेण अत्थनो वा, सुत्तेण गीयत्थो वएण वत्तो, सुत्तेण वि वत्तो वएण वि वत्तो, पढमभगो । वितियओ सुअवत्तो ण वएण । ततिआ सुएण अणुवत्तो वएण वत्तो । चउत्थो दोहिं वि अवत्तो ।

वत्ते खलु गाहा-

वत्ते खलु गीयत्थे, अव्वत्ते वतेण हवइ अगीयत्थे ।
ओसण्णो छव्विहो खलु, अहवोसण्णे य संगमणा १३१

वएण वत्तो गीयत्थो एस पढमभगो, खलु पादपूरणे, अवत्तो वएण एस वितियभगो, पढमभंगे हवइ अगीयत्थे एस ततियभगो, पढमभंगिल्लो उभयवत्तो, तस्स

इच्छा-अणायरिय उद्दिसति वा, ण वा, सो चत्तोऽमो ओस-ण्णायरिय सारेति, चोदयतीत्यर्थः । कह ?, अण्ण गीत पे-सति, अहवा-ओसण्णे सय गतु चोदेति त, एस च सय वा गच्छति ।

गाहा-

एगाह पणग पक्खे, चउमासे वरिसे जत्थ वा मिलति ।
चोदेति चोदवेती, अणिच्छे वट्ठावए सयं तु ॥ १३२ ॥

एगाहे वि ओसण्णे दिणे दिणे गतु सारेति, एगाहे वा अंतर पंचाह पक्खाह दिणाण वा सारेति, एव पक्खे, चाउम्मासे, वरिसे य, जत्थ वा समोसरणादिसु मिलति, तत्थ वा सा-रेति, सव्वहाऽणिच्छत ण सयमेव वट्ठावेति ।

इमा य-

अण्णं च उद्दिसावे, परेयणट्ठा ण संगहट्ठाए ।
जति णाम गारवेण वि, मुए नऽणिच्छे सग ठाति ॥१३३॥

सो उजमयत्तो अण्ण वा आयरिय उद्दिसति, किमर्थं ?, परोवणट्ठा ण गच्छस्स सगहट्ठा वत्थस्स गहणट्ठा, इव यमेव प्रकटयन्, मम जीवने चेव अण्णमायरिय उद्दिसति, जति णाम एतिसेण गारवेण ओसण्णत्तणं मुएज्ज, तहा वि साधू तत्रट्ठा अणिच्छे, सयमेव आयरियपदे ठायति । गतो पढमभंगो ।

इयाणिं बितियभगो । सुयवत्तो गाहा-

सुयवत्तो वयऽवत्तो, भणति गण तेऽहं धारिउमसत्तो ।
सारेहि सगणमेव, अण्णं व वयाम आयरियं ॥१३४॥

जो सुत्तेण वत्तो वएण अव्वत्तो सो त आयरिय भणति-एय ते गण अहं पडुप्पण्णवयत्तणाओ य धारिउ असत्तो, ताहे तुम एय सगण सारेहि, अहवा ण सारेहि तो अम्हे अण्ण आयरिय वयामो इत्यर्थं ।

आयरियगाहा-

आयरिय-मुवज्झायं, पुच्छंते अप्पणो य असमत्थे ।
तिगसवच्छरमद्ध, कुलगणसघे दिसाबंधो ॥१३५॥

आयाउप्पण्ण वयसणातो गण वट्ठावेउमसमत्थो अण्णे आ-यरियउवज्झाए उद्दिसिउमिच्छतो पुव्वायरिय भणति-अम्हे अण्णस्स आयरियस्स गो उवसपज्जामो, सो ण उवसपण्णा ण अम्ह सचित्तादी हरति, तुम जति सगण ण सारेति, तो अम्ह णियच्छु चेव आयरिय पडिवज्जामो, कुलिच्च कुलसमवाय ठाउ कुले ओवट्ठयति,ताहे कुलेणजो दत्तो स तेसिं तिण्णि वरि-साणि सचित्तादि णो हरति,एव गणे सघे य तिण्णि वरिसाणि।

पत्तो इमा विधी-

सचित्तादि हरति ण, कुलं पि णेच्छामो जं कुलं तुज्झं ।
वच्चामो अण्णगणं, संघं वा जति तुमं ण ठासि ॥१३६॥

पुव्वायरियस्स अग्गतो भणितं-ज तुह कुल त कुलिच्चो, अम्ह तिण्ह वरिसाण उवरि सचित्तादी हरति, जइ तुम्ह अ-म्हायरिओ ण ठासि तो अम्हे अतो विभरतो गणं संघं वा दूर-तर वयामो ताहे गणायरिओ ण ठासि, तो अम्हे अतो वि परमागेण सघ वा दूरतर वयामो, ताहे गणायरिय उद्दि-सावेंति, गणसमवाए वा उवट्ठायति, सो वि सवच्छर स-चित्तादी ण हरति, एव सघे उवट्ठायति, सो वि छम्मासे स-चित्तादी ण हरति, एव बितियपदेण दिसावहार करेति ।

गाहा-

एवं वि अठायंते, ताहेतु अद्धपंचमे वरिसे ।
सयमेव धरेति गणं, अणुलोमवएण सारेइ ॥ १३७ ॥

एव अद्धपचमे वरिसे पुव्वायरिय चोदणाहिं ताहेउ अव-ताहेउ जाहे सो ण ठाइ, ताहे अद्धपचमेहिं वरिसेहिं वय-वत्तीभूतो सयमेव गण धरेति, जत्थ य पासति तत्थ य पु-व्वायरिय अणुलोमेहिं वयणेहिं सारेति, चोदयतीत्यर्थः ।

गाहा-

अहवा जति अत्थि थेरा, सत्ता परिकड्ढिउं ण तं गच्छं ।
पढमभंगसरिसओ, तस्स उ गमओ मुणेयव्वो ॥१३८॥

अथवेति विकल्पवाची, अप्पणा गीयत्थे अण्णे य से थेरा गच्छपरिकड्ढणा अत्थि, तो अण्ण आयरिय ण उद्दिसति, कम्हा न उद्दिसति ?, भण्णति-जतो पढमभगसरिसो चेव एस गमो भवति । गतो बितियभगो ।

इयाणिं ततियभगो । गाहा-

वत्तव्वयो अगीओ, जति थेरा तत्थ केइ गीतत्था ।
तेसंऽतिए पढंतो, चोदंते असति अण्णत्थ ॥ १३९ ॥

जो पुण वयसा प्राप्तो स वयोव्यक्तो,अगीयत्थो पुण जइ सग-च्छे थेरा, गीयत्थो तो सो तेहिं थेराण अंतिए समीवे पढतो गच्छस्स चोदणादि सारण करेति, ओसण्णायरिय वा चोदेति, तेसिं गीयत्थथेराण असति गण घेत्तु अघेत्तु वा अण्णायरियस-मीवे उवसपज्जति, सुत्तट्ठाण पट्ठा । गतो ततियभगो ।

इयाणिं चउत्थो । गाहा-

जो पुण उभओऽवत्तो, वट्टावगअसति सो उ उद्दिसति ।
सव्वे वि उद्दिसंता, मोत्तूण इमे तु उद्दिसति ॥ १४० ॥

जो सुत्तेण वएण अवत्तो सो गणवट्टावगस्स असति अ-ण्णत्थ आयरिय उद्दिसति, उवसपद्यतेत्यर्थः । एते चउभगिल्ला सव्वे वि इमे मोत्तु उद्दिसति ।

गाहा-

संविग्गमगीयत्थं, असंविग्गं अ गीयत्थं ।
आयरियउवज्झाया, उद्दिसमाणस्स चउगुरुगा ॥१४१॥
सत्तरत्तं तवो होति, तओ छेदो पहावति ।
छेदेण छिन्नपरियाए, तओ मूलं ततो दुगं ॥१४२॥
छट्ठाणविरहियं वा, संविग्गं वा वि वयति गीयत्थं ।
चतुरो य अणुग्घाया,तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥१४३॥

सविग्ग अगीयत्थ, असविग्ग गीयत्थ, एते आयरियउव-ज्झायत्तेण उद्दिसतस्स चउगुरुग भवति ॥ १४१ ॥ अण्णे सत्तदिणे चउगुरु, छेदो, एव छल्लहु, छग्गुरुगा वि छेदो सत्त दिणे वा, ततो एक्केक्कदिण मूल, अणवट्ठ, पारचिया भव-न्ति । अहवा-छग्गुरुगतओ परियरणगादिओ, छेदो सत्तदिणेसु

णेयो; ततो परं मूल, अणवट्ठपारंचियाए पच्छित्तं वियाणमाणेण संविग्गो गीयत्थो उद्दिसियव्वो ॥१४२॥ छट्ठाणविरहिय सदोस संविग्ग गीयत्थ सदोस जति उद्दिसति, तो चउगुरुगा पायच्छित्तं, आणादिया य दोसा भवंति ।

'छट्ठाणविरहिय त्ति' (१४३) अस्य व्याख्या-

छट्ठाण जाणि तेहिं, तव्विरहित काहिया चउरो ।
ते चिय उद्दिसमाणा, छट्ठाणगयाण जे दोसा ॥१४४॥

पासत्थो, ओसण्णो,कुसीलो,संसत्तो अहाछंदो,णितिओ य, एतेहिं छहिं ठाणेहिं विरहितो सदोसो। को भवति ?। भण्णति-काहियादिया चउरो-कोवाए, ममाए, संपसारए,पासणिए। अहवा-काहिए, पासणिए, मामाए, असंपक्किरिए। एते उद्दिसमाणस्स ते चेव दोसा, जे छट्ठाणगते भणिया। ओसण्णेत्ति गयं।

इदाणिं ओहाइयकालगते त्ति दो दारा-

ओहाणियकालगते, जाविच्छा ताहे उद्दिसावेति ।
अव्वत्ते तिविहे वी, नियमा पुण संगहट्ठाए ॥ १४५ ॥
तीसु वि दीवितकज्जा-सि वज्जिया जाति य तस्स तं णत्थि।
निक्खिवित्थ वयंति दुवे,भिक्खू किं दाणि णिक्खिवितुं १४६
दोण्हऽट्ठाए दोण्ह वि, णिक्खमणा होति उज्जमंतेसु ।
सीयंतेसु तु सगणो, वच्चति मा ते विणासेज्जा ॥१४७॥
वत्तम्मि जो गमो खलु, गणवच्छेसो गमो उ आयरिए।
णिक्खमणे तम्मि चत्ता, जमुद्दिसे तम्मि ते पच्छा ॥१४८॥
ओहातियओमत्थे, भणति अणाहा वय विणा तुज्झं।
कमसंसिमसागरिए, दुप्पक्खितरगं जतो तिण्हं ॥ १४९॥
जो जेण जम्मि ठाण-म्मि ठावितो दंसणे व चरणे वा।
सो तं ततो सुय त-म्मि चेव काउं भवे णिरिणो॥१५०॥

जति वि आयरिओ ओहातिओ। ओहावणं च दुविध-सारूवियत्तणेण, गिहत्थत्तणेण वा । कालगते आयरिए जो पढमिल्लेसु तिसु भंगेसु अवत्ता तिण्णि भणिया, तेसिं जाहे इच्छा आयरियउवज्झाएसु इमो विधी ।। वत्तम्मिगाहा। जह गणावच्छेतितो उवज्झाओ, जया उवज्झाओ आयरिओ वा अण्ण आयरियं उद्दिसति ताहे जो उभयवत्तम्मि भिक्खुम्मि विधी,स च्चेव गणावच्छेए आयरिए य विधी दट्ठव्वो, णवरं गणणिक्खेवं काउं वयति सगणे, जे अण्णे आयरियउवज्झाया संविग्गा गीयत्था तेतेसिं गणणिक्खेवं करेंति, असंविग्गा अगीतेसु तेसु जति णिक्खवंति तो तेण णिक्खिवमाणा चत्ता भवंति, तम्हा असंविग्गा गीतेसु णिक्खेवे असंभवे सगणा चेव वच्चति, जमुद्दिसति आयरिओ (तम्मि त्ति) तस्य ते सव्वे शिष्या भवंति, पच्छित्तअणुवसंपण्णकालाओ पच्छा, उवसंपज्जणकालादारभ्येत्यर्थः । ओहाइयगाहा।ओहाइय ओसण्ण वा आयरियं जत्थ पासति तत्थिम भणति-तुज्झेहिं विणा अणाहा वय, वयमित्यात्मनिर्देशो । असागारिए पदेसे तस्स ओसण्णो धावित्ता आयरियस्स कमेसु पदेसु सीसेण णिवडति भणइ-एहि पसादेण अब्भुट्ठेहासणादी करेह, अम्हे भो सुयमाणयम्मिभय पि य इओ तओ डुलुडुवेमो॥

सीसो पुच्छति-तस्स गिहीभूतस्स अचारित्तिणो किं पादेसु णिवडिज्जति ?। आयरिओ भणति-दुप्पडिकरगं जओ तिण्हं-मातु पितु धम्मायरियस्स य, एते परमोवकारिणो, एतेसिं दुक्खेण पच्चुवकारो काउं सक्कति। किं चान्यत, जो जेण धम्मोवदेसप्पदाणादिणा दंसणे चरणे वा ठावितो, सो तं गुरु दंसणचरणेहिंतो चुयंते देवदंसणचरणेसु ठावित णिग्गयरिणो भवति, कृत्युपकारेत्यर्थः।

न मायरियउवज्झाया गणपरिहुत्ता अण्णायरियं उवसंपज्जंति, तदा इमो विधी-

णिक्खिवणे वि य अप्पणो, परे य संतेसु तस्स ते देंति ।
संघाड देयऽसंतो, सो वि ण वावारेऽणापुच्छा ॥१५१॥

जया तेहिं आयरिओवज्झाएहिं आलोयणप्पदाणेण अप्पा उवणिक्खित्तो भवति, तदा भणति-इमे य मे साहू,एस परिणिक्खेवो, तेण वि आयरिएण अप्पणो संतेसु साहुसु ण घेत्तव्वा, तस्स चेव ते देंति, अह वत्थव्वायरियस्स असंति साहूण ता सव्वे घेतु पाडिच्छायरियस्स एगसंघाडग कप्पग देंति, सो वि अ पाडिच्छायरिओ वत्थव्वायरियस्स अणापुच्छाए ते सिस्से ण वावारेति एसणाऽऽदिसु ।

सुत्त-

जे भिक्खू दिसं विप्परिणामेइ, दिसं विप्परिणामंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

इमो सुत्तस्स सुत्तेण सह संबंध । गाहा-

सयमेव य अवहारो, होति दिसाए ण मे गुरू तो से।
अहं भणिता विप्परिणा-मणा उ अण्णोसिमा होंति।१५२।

सयमिति स्वयम् अतिक्रान्तसूत्रे विप्परिणामणा आत्मगता अभिहिता ।

इमा पुण वक्खमाणसुत्ते अण्णे अण्णस्स दिसाविप्परिणामणं करोति-

रागेण व दोसेण व, विप्परिणामं करेति जो भिक्खू।
दुविहं तिविह दिसाए, सो पावति आणमादीणि।१५३।

दिस विप्परिणामेति रागेण वा दोसेण वा रागेण-तम्मि सेहे अज्झोववातो गाढं, ताहे तेण रागेण विप्परिणामेत्त अप्पणो अंते आकड्ढेति, दोसेण-मा तस्स सीसो भवउ त्ति वि विप्परिणामेति, आयरिओ उवज्झाया दुविहा दिसा साहूण, आयरियउवज्झाए पवत्तिणी य तिविहा संजतीण दिसा, एया दिसा विप्परिणामेंतस्स आणादिया दोसा ।

सो पुण इमेहिं विप्परिणामेति। गाहा-

महरो अकुलीणो त्ति य, दुम्मेहो दमग मंदबुद्धि त्ति ।
अवि य सपल्लाभलद्धी,सीसो परिभवति आयरियं।१५४।
डहरो एस तव गुरू,तुमं च थेरो न जुज्जते जोगो।
अविपक्कबुद्धि एसो, वए करेज्जा वि जं किं वि ॥१५५॥

कोइ सेहो परिणयवओ तरुणायरियस्स समीवे पव्वतितुकामो अण्णेण भण्णति-महरो एस तव गुरू, तुमं च परिणयवओ,ण एस आयरियसीसस्स जोगो जुज्जति । कह पुत्तणत्तुअसमाणस्स सीसो भविस्ससि?,कह वा विणय काहिसि?,किं च ते सजणादिजणो भणिहिति त्ति ?। अहवा भणाति-सो महरो अविपक्कबुद्धी, अविपक्कबुद्धित्तणेण अकज्जं पि कज्जं वयति, अविपक्कबुद्धित्तणातो किं वि दोसं करेज्जा ।

गाहा–

एमेव सेसएसु वि, तं निंदतो मय परं वाऽवि ।
संतेण असतेण व, पमंसए तं कुलादीहिं ॥१५६॥

एसा–कुलाऽऽदिया पदा, तेहिं कुलाऽऽदिएहिं पदेहिं त णिंदेति जस्स उवट्ठितो, सो पुण सओ परओ वा सतेहिं वा असतेहिं वा कुलाऽऽदिएहिं जस्स पदुट्ठो सय पर वा तं णिंदति, तस्स सेहस्स जमुद्दिसति तम्मि सतेहिं वा सय परयग वा पससति– इमो कुलीणो, सो अकुलीणो, इमो मेहावी, सो दुम्मेहो, इमो ईसरणिक्खतो, सो दमगो । अहवा–इमो प-रधपत्तादिएहिं ईसरो, सो दमगो, इमो बुद्धिसपण्णो, सो अबुद्धिमं । अवि चाऽसौ अलाभलद्धी, इमो सलद्धिम । इमेहिं कारणेहिं सिस्सो परो वाए परिभवति आयरिय । अहवा–पसंसते कुलाऽऽदीहिं सेह-न कुलमतो, सो अकुलजो । एव सेसपदेसु वि कारणे विपरिणामेण वि करेज्ज ।

गाहा–

नाऊण य वोच्छेयं, पुव्वगए कालियाणुओगे य ।
सुत्तत्थजाणगम्मा, कप्पंति विस्सासणा ताहे ॥ १५७ ॥

पूर्ववत् । नि० चू० १० उ० ।

"उभे मूत्रपुरीषे च, दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
रात्रौ दक्षिणतश्चैव, तथा चाऽऽयुर्न हीयते ॥ १ ॥"

प्रव० १०६ द्वार ।

दिक्सिद्धिः–दिग्धर्मोपेत द्रव्य प्रमाणतः सिद्धम् । तथाहि–मूर्तेष्वेव द्रव्येषु मूर्तं द्रव्यमवधिं कृत्वैतदस्मात्, अत. पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेणापरेणोत्तरेणोत्तरपूर्वेणाधस्तादुपरिष्टादित्यमी दश प्रत्यया यया भवन्ति सा दिगिति । तथा च सूत्रम्–"अत इदमिति यतस्तद्दिशो लिङ्गमिति ।" एते हि विशेषप्रत्यया नाऽऽकस्मिकाः सम्भवन्ति । तथा च परस्पराऽऽपेक्षमूर्तद्रव्यनिमित्तानामितरेतराऽऽश्रयत्वेऽपि प्राच्यादिभेदेन नानात्व कार्यविशेषात् व्यवस्थितम् । प्रयोगश्चात्र–यदेतत् पूर्वापराऽऽदि ज्ञान तद् मूर्तद्रव्यव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धन, तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात् । सम्म० ३ काण्ड । सूत्र० । "दिसो दिसिं ।" एकस्या दिशोऽन्या दिश, पुनस्तस्या अन्या दिशामित्यर्थः । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । विपा० । भ० । नरकपृथिवीषु देवलोकेषु वाऽष्टासु दिक्षु, ध्वनत्सु वा दिक्षु पङ्क्तिगतनरकाऽऽवासविमानविचारः प्रवर्तते, तत्र नाम–स्थापना–द्रव्य–क्षेत्र ताप–प्रज्ञापक–भावदिशामावश्यकाऽनुक्तानां सप्तानां मध्ये का दिक् प्रवर्तते, एतासा दिशा मध्यवर्तिनी का च दिक्, तथा का च देवलोकाऽऽदिषु दिक् प्रवर्तते, तत्सहेतुक प्रमाणमिति प्रश्ने, उत्तरम्–पङ्क्तिगत नरकाऽऽवासविमानविचाराधिकारे नामाऽऽदीना सप्ताना दिशां मध्ये क्षेत्रदिग् ज्ञायत इति । १८ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

दिसाकुमार–दिक्कुमार–पुं० । रूपणनियुक्तगजरूपचिह्नधरे भवनवासिदेवभेदे, प्रज्ञा० २ पद । स० । प्र० । स्था० । औ० । प्रव० । (दिक्कुमारलक्ष्या 'ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०५ पृष्ठे द्रष्टव्या)

दिसाकुमाराऽऽवास–दिक्कुमाराऽऽवास–पुं० । दिक्कुमाराणां भवनाऽऽवासे, "छावत्तरिं दिसाकुमाराण वाससयसहस्सा पण्णत्ता ।" स० ७६ सम० ।

दिसाकुमारिया–दिक्कुमारिका–स्त्री० । दिक्कुमारभवनपतिदेवविशेषजातीयदेवीषु, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० चू० ।

रूपाऽऽद्याश्चतस्रो दिक्कुमारिका:–

चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा–रूवा, रूवसा, सुरूवा, रूवावई ॥

"चत्तारि दिसा" इत्यादि सुगम, नवर दिक्कुमार्यश्च ता महत्तरिकाश्च प्रधानतमा , एतासां वा महत्तरिका दिक्कुमारीमहत्तरिका ,एता मध्यरुचकवास्तव्या अर्हतो जातमात्रस्य नालकर्तनाऽऽदि कुर्वन्तीति । स्था० ४ ठा० १ उ० । चित्राऽऽद्याश्चतस्रो दिक्कुमार्य. । आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० चू० ।

रूपाऽऽद्याः षट् दिशाकुमारिका:–

छ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा–रूवा, रूवंसा, सुरूवा, रूवावई, रूवकंता, रूवप्पभा । स्था० ६ ठा० ।

दिशाऽऽदिष्वष्टसु कूटेष्वष्टौ नन्दोत्तराऽऽद्या. दिक्कुमार्यः–

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ० जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति । त जहा–"णंदुत्तरा य णंदा य, आणंदा णंदिवद्धणा । विजया वेजयंती य, जयंती अपराजिया ॥ १ ॥" स्था० ८ ठा० । आ० म० । आ० चू० ।

कनकाऽऽदिकूटेषु समाहाराऽऽद्याष्टौ दिक्कुमार्य –

तत्थ ण अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ० जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति । तं जहा–"समाहारा सुप्पइण्णा, सुप्पबुद्धा जसोहरा । लच्छीवई सेसवई, चित्तगुत्ता वसुंधरा ॥ १ ॥" स्था० ८ ठा० । आ० म० ।

स्वस्तिकाऽऽदिकूटेष्विलादेव्याद्या अष्टौ दिक्कुमार्य.–

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ० जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति । त जहा–"इलादेवी सुरादेवी, पुढवी पउमावई । एगनासा णवमिया, सीया भद्दा य अट्ठमा ॥१॥" स्था० ८ ठा० । आ० म० । आ० चू० ।

रत्नाऽऽदिकूटेष्वलम्बुषाऽऽद्या अष्टौ दिक्कुमार्य.–

तत्थ णं अट्ठ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ महिड्ढियाओ० जाव पलिओवमट्ठिईयाओ परिवसंति । त जहा–"अलंबुसा मित्तकेसी, पुंडरी गीयवारुणी । आसा य सव्वगा चेव, उत्तराओ सिरी हिरी ॥१॥" स्था० ८ ठा० । आ० म० । आ० चू० ।

अधोलोकवासिन्यो भोगङ्कराऽऽद्या अष्टौ दिक्कुमार्य –

अट्ठ अहोलोगवत्थव्वाओ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा–"भोगकरा भोगवती, सुभोगा भोगमालिणी । सुवच्छा वच्छमित्ता य, वारिसेणा बलाहगा ॥१॥" स्था० ८ ठा० । आ० म० ।

ऊर्ध्वलोकवासिन्यो मेघङ्कराऽऽद्या अष्टौ दिक्कुमार्यः-

अट्ठ उड्ढलोगवत्थव्वाओ दिसाकुमारीमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-"मेहंकरा मेहवई, सुमेघा मेघमालिनी। तोयधारा विचित्ता य, पुप्फमाला अणिंदिया ॥ १ ॥" स्था० ८ ठा० । आ० म० ।

(ताश्च तीर्थकृज्जन्ममहोत्सवे आगता इति 'तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२७१ पृष्ठे द्रष्टव्याः) षट्पञ्चाशद्दिक्कन्यकानां कुमारीति संज्ञा कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र भवनपतयः सर्वेऽपि प्रायः क्रीडाप्रिया भवन्तीति कुमारा उच्यन्ते, तथा एता दिक्कुमार्योऽपि भवनपतित्वेन तद्वद्बोध्या इति। ३२५ प्र०। सेन० ३ उल्ला० ।

दिसागइंद-दिग्गजेन्द्र-पुं० । भूमिधारणाय दिक्ष्ववस्थितेषु गजेषु, द्वी० ।

जोयणसाहस्सीया, एए कूमा हवंति चत्तारि ।
पुव्वाइयाऽऽणुपुव्वी, दिसागइंदाण ते होंति ॥ १४१ ॥
पउमुत्तरे नीलवंत, सुहत्थिया अंजणागिरी चेव ।
एए दिसागइंदा, दिव्वपलिओवमट्ठितिया ॥ १४२ ॥
पुव्वेण होइ विमल, सयंपभे दक्खिणे दिसाभाए ।
अवरे पुण पच्छिमओ, णिवुज्जोयं च उत्तरओ ॥ १४३ ॥ द्वी० ।

दिसाचक्कवाल-दिक्चक्रवाल-न० । दिग्मण्डले, तपोविशेषे च। एकत्र पारणके पूर्वस्यां दिशि यानि फलाऽऽदीनि तान्याहृत्य भुङ्क्ते, द्वितीये तु दक्षिणस्यामित्येव दिक्चक्रवालेन तत्र तपःकर्मणि पारणककरणं तत्तपःकर्म दिक्चक्रवालमुच्यते । नि० १ श्रु० ३ वर्ग० ३ अ० । भ० ।

दिसाचर-दिक्चर-पुं० । भगवच्छिष्येषु देशाटेषु, पार्श्वापत्यीयेष्विति चूर्णिकारः । दिशाया चरन्ति यान्ति मन्यन्ते भगवतो वयं शिष्या इति दिक्चराः, देशाटा वा दिक्चरा भगवच्छिष्याः पार्श्वस्थीभूता इति । भ० १५ श० ।

दिसाजत्तिय-दिग्यात्रा-स्त्री० । देशान्तरगमने, उपा० १ अ० ।

दिसाडाह-दिग्दाह-पुं० । अन्यतमस्यां दिशि अधोऽन्धकारे उपरि च प्रकाशाऽऽत्मके दह्यमानमहानगरप्रकाशकल्पे, भ० ३ श० ७ उ० । जी० । नि० चू० । आ० चू० । अनु० । व्य० । स्था० । दिग्दाहो वायव्यादिषु मण्डलेषु भवन् शस्त्राग्निक्षुत्पीडाविधायी भवति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दिसाणाग-दिङ्नाग-पुं० । स्वनामख्याते बौद्धविदुषि, सम्म० १ काण्ड ।

दिसाणुवाय-दिगनुपात-पुं० । दिगनुसरणे, प्रज्ञा० ३ पद ।

दिसादवेक्खा-दिगाद्यपेक्षा-स्त्री० । आचार्योपाध्यायाऽऽदिपरिवाराऽऽसम्बने, पञ्चा० ५ विव० ।

दिसादाह-दिग्दाह-पुं० । 'दिसाडाह' शब्दार्थे, भ० ३ श० ७ उ० ।

दिसादि-दिगादि-पुं० । मेरुमध्यवर्तिनि रुचके, मेरौ च । दिशामादिर्दिगादिः । तदादि-रुचकाऽऽदिर्दिशा विदिशां च पमयो रुचकाख्यप्रदेशाऽऽत्मको मेरुमध्यवर्ती, ततो मेरुरपि दिगादिरुच्यते । सू० प्र० ५ पाहु० । च० प्र० ।

दिसापरिमाण-दिक्परिमाण-न० । सर्वतोऽमुकदिशि वा इयद्दवधि गमनाऽऽदिनियमने, ध० २ अधि० ।

दिसापोक्खि(ण)-दिक्प्रोक्षिण्-पुं० । उदकेन दिशः प्रोक्ष्य ये फलपुष्पाऽऽदि समुच्चिन्वन्ति तादृशेषु तपस्विवानप्रस्थेषु, औ० । नि० । भ० । आ० चू० ।

दिसाबंध-दिग्बन्ध-पुं० । आचार्यत्वाऽऽदिलक्षणे दिशो बन्धे, ध० २ अधि० ।

दिसावाल-दिक्पाल-पुं० । दिशामधीश्वरेषु,वाच० । आ०म० ।

दिसामूढ-दिङ्मूढ-त्रि० । पूर्वस्यामपि पश्चिमा इत्याकारकज्ञानवति, "दिसामोहो से जातो, अहवा मूढे दिस पवुच्च ।" नि० चू० १९ उ० ।

दिसामोह-दिङ्मोह-पुं० । पूर्वस्यामपि पश्चिमा इत्याकारके ज्ञाने, ध० २ अधि० । नि० चू० ।

दिसायरिय-दिगाचार्य-पुं० । गुर्वादिषु दिग्वर्तिसाधूनां सारणाऽऽदिकर्तरि, ह्री० १ प्रका० । पञ्चा० ।

दिसावलोअ-दिगवलोक-पुं० । दिग्दर्शने, "सागारियसरक्खणट्ठा उड्ढमहो तिरियं च दिसावलोगो कायव्वो।" नि०चू० ४ उ० ।

दिसाविरमण-दिग्विरमण-न० । प्रथमे गुणव्रतभेदे, ध०२अधि० ।

दिसासुद्धि-दिक्शुद्धि-स्त्री० । तत्कालोच्छ्वसितशङ्खपणवाऽऽदिनिनादश्रवणपूर्णकुम्भभृङ्गारच्छत्रध्वजचामराऽऽद्यवलोकनशुभगन्धाऽऽघ्राणाऽऽदिस्वभावायां स्वनामख्यातायां शुद्धौ, ध० २ अधि० ।

दिसासोवत्थिय-दिक्स्वस्तिक-पुं० । जम्बूद्वीपे मेरुपूर्वे रुचकपर्वतस्याष्टमे कूटे, स्था० ८ ठा० ।

दिक्सौवस्तिक-पुं० । दिक्प्रोक्षके, दक्षिणाऽऽवर्ते स्वस्तिके च । जी० ३ प्रति० ४ उ० । औ० । जं० ।

दिसासोवत्थियासण-दिक्सौवस्तिकाऽऽसन-न० । येषामधोभागे दिक्स्वस्तिका आलिखिता सन्ति तेष्वासनविशेषेषु, जी० ३ प्रति० ४ उ० । जं० ।

दिसाहत्थिकूम-दिग्घस्तिकूट-पुं० । दिक्षु हस्त्याकारेषु कूटेषु, जं० ।

दिग्गजकूटवक्तव्यतामाह-

मंदरे णं भंते ! पव्वए भद्दसालवणे कइ दिसाहत्थिकूमा पण्णत्ता? । गोयमा ! अट्ठ दिसाहत्थिकूमा पण्णत्ता । तं जहा-

"पउमुत्तरे णीलवंते, सुहत्थी अंजणागिरी ।
कुमुदे अ पलासे अ, वडेंसे रोअणागिरी ॥ १ ॥"

कहि णं भंते ! मंदरे पव्वए भद्दसालवणे पउमुत्तरे णामं दिसाहत्थिकूमे पण्णत्ते? । गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लाए सीआए उत्तरेणं एत्थ णं पउमुत्तरे णामं दिसाहत्थिकूमे पण्णत्ते । पंच जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, पंच गाउअसयाइं उव्वेहेणं, एवं विक्खंभपरिक्खेवो भाणियव्वो चुल्लहिमवंतसरिसो, पासायाणं तं चेव, पउमुत्तरे देवो, रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं ॥ १ ॥

एवं णीलवंतदिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपुरच्छिमेणं पुरच्छिमिल्लाए सीआए दक्खिणेणं, एअस्स वि नीलवंतो देवो, रायहाणी दाहिणपुरच्छिमेणं ॥ २ ॥

एवं सुहत्थिदिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपुरच्छिमेणं दक्खिणिल्लाए सीओआए पुरच्छिमेणं, एअस्स वि सुहत्थी देवो, रायहाणी दाहिणपुरच्छिमेणं ॥ ३ ॥

एवं चेव अंजणागिरिदिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपच्चच्छिमेणं दक्खिणिल्लाए सीओआए पच्चच्छिमेणं एअस्स वि अंजणागिरी देवो, रायहाणी पच्चच्छिमेणं ॥ ४ ॥

एवं कुमुदे वि दिसाहत्थिकूडे मंदरस्स दाहिणपच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमिल्लाए सीओआए दक्खिणेणं, एअस्स वि कुमुदो देवो, रायहाणी दाहिणपच्चच्छिमेणं ५ ।

एवं पलासे वि दिसाहत्थिकूडे मंदरस्स उत्तरपच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमिल्लाए सीओआए उत्तरेणं, एयस्स णं वि पलासो देवो, रायहाणी उत्तरपच्चच्छिमेण ६ ।

एवं वडेंसे वि दिसाहत्थिकूडे मंदरस्स उत्तरपच्चच्छिमे उत्तरिल्लाए सीआए महाणईए पच्चच्छिमेणं, एअस्स वि वडेंसो देवो, रायहाणी उत्तरपच्चच्छिमेणं ७ ।

एवं रोअणागिरी दिसाहत्थिकूडे मंदरस्स उत्तरपुरच्छिमेणं उत्तरिल्लाए सीआए पुरच्छिमेणं, एअस्स वि रोअणागिरी देवो, रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं, उत्तरिल्लाए सीआए पुरच्छिमेण ८ ।

"मंदरे णं भंते ! पव्वए" इत्यादि प्रश्नसूत्रे दिक्षु पैशान्यादिविदिक्प्रभृतिषु हस्त्याकाराणि कूटानि दिग्हस्तिकूटानि, कूटशब्दवाच्यानामपेषां पर्वतत्वव्यवहार ऋषभकूटप्रकरण इव ज्ञेय । स्थानाङ्गेऽष्टमस्थाने तु पूर्वाऽऽदिषु दिक्षु हस्त्याकाराणि । उत्तरसूत्रे पद्मोत्तरेति श्लोकः । पद्मोत्तर०, नीलवान्, सुहस्ती, अञ्जनागिरि । "अञ्जनाऽऽदीनां गिरौ" ॥ ३ । २ । ७७ ॥ (हैम०) इत्यादिना दीर्घ । कुमुद, पलाश, अवतंस, रोचनागिरि । अन्यत्र रोहणागिरि०, अत्रापि दीर्घत्वं प्राग्वत् । अथैषां दिग्व्यवस्था पृच्छन्नाह-(कहि णमित्यादि) क भदन्त ! मेरौ भद्रशालवने पद्मोत्तरो नाम दिग्हस्तिकूट प्रज्ञप्त ? । गौतम ! मन्दरस्यैशान्या पौरस्त्याया मेरुत पूर्वदिग्वर्तिन्या शीताया उत्तरस्याम् । अनेनोत्तरदिग्वर्तिन्या शीताया व्यवच्छेद कृत । अत्रान्तरे पद्मोत्तरो नाम दिग्हस्तिकूटोऽपि मेरुत पञ्चाशद्योजनानिक्रम्य भवति, प्रासादजिनसमश्रेणिस्थितत्वात् । पञ्च योजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन, पञ्च गव्यूतशतान्युद्वेधेन, एवमुच्चत्वन्यायेन विष्कम्भ । अत्र विभक्तिलोप प्राकृत । परिक्षेपश्च भणितव्य । तथाहि-मूले पञ्चयोजनशतानि, मध्ये त्रीणि योजनशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि, उपरि अर्द्धतृतीयानि योजनशतानीत्येवरूपो विष्कम्भ, तथा मूले पञ्चदश योजनशतानि एकाशीत्यधिकानि, मध्ये एकादश योजनशतानि षडशीत्यधिकानि किञ्चिदूनानि, उपरित सप्त योजनशतान्येकनवत्यधिकानि किञ्चिदूनानि इति परिक्षेप । प्रासादाऽऽदीनां च एतद्वर्तिदेवस्वरूपाणां तदेव प्रमाणमिति गम्य गन्धहिमवत्कूटपतिप्रासादस्येति । अत्र बहुवचननिर्देशो वक्ष्यमाणदिग्हस्तिकूटवर्तिप्रासादेष्वपि समानप्रमाणसूचनार्थम् । पद्मोत्तरदिग्हस्ती पद्मोत्तरोऽत्र देव, तस्य राजधान्युत्तरपूर्वस्यामुत्तरविदिग्वर्तिकूटाधिपत्वादस्येति १ । अथ शेषेष्वतन्न्यायेन प्रदक्षिणाक्रमेण दर्शयन्नाह-" एव नीलवन " इत्यादि व्यक्त, नवरम् (एवमिति) पद्मोत्तरन्यायेन नीलवन्नाम्ना दिग्हस्तिकूट । मन्दरस्य दक्षिणपूर्वस्या पौरस्त्याया दक्षिणस्या, तनोऽत्र प्राच्यजिनभवनाऽऽग्नेयप्रासादयोर्मध्ये ज्ञेय । एतस्यापि नीलवान् देव प्रभु, तस्य राजधानी दक्षिणपूर्वस्यामिति २ । "एव सुहत्थि" इत्यादि व्यक्त, नवर दाक्षिणात्याया मेरुतो दक्षिणदिग्वर्तिन्याः शीतोदाया पूर्वत । अनेन मेरुतः पश्चिमदिग्वर्तिन्या शीतोदाया व्यवच्छेद कृत, अत्रान्तरे सुहस्तिदिग्हस्तिकूट । आग्नेयप्रासाददाक्षिणात्यजिनभवनमध्यवर्तीत्यर्थ । एतस्यापि सुहस्ती देव, राजधानी तस्य दक्षिणपूर्वस्यां, नीलवत सुहस्तिनोरेकस्यामेव दिशि राजधानीत्यर्थ ३ । एव समविदिग्हस्तिकूटाधिपयोरेकस्यां विदिशि राजधानीद्वयम् २ अग्रेऽपि भाव्यम् । " एव चेव " इत्यादि व्यक्त, नवर दाक्षिणात्यजिनगृहनैर्ऋतप्रासादयोर्मध्ये इत्यर्थ ४ । एवमित्यादि व्यक्त, नवर पाश्चात्याया पश्चिमाभिमुख वहन्त्या शीतोदाया दक्षिणस्यामिति नैर्ऋतप्रासादपाश्चात्यजिनभवनयोर्मध्यवर्तीत्यर्थ ५ । एवमिति व्यक्त, पाश्चात्यजिनभवनवायव्यप्रासादयोरन्तरे इत्यर्थ ६ । " एव वडेंसे वि दिसाहत्थिकूडे " इत्यादि गतार्थ, नवरमुत्तराया मेरुत उत्तरदिग्वर्तिन्या शीताया पश्चिमत, अनेन पूर्वदिग्वर्तिन्या शीताया व्यवच्छेद कृतः, वायव्यप्रासादोत्तराहभवनयोर्मध्यवर्तीत्यर्थ ७ । " एव रोअणागिरी दिसाहत्थिकूडे " इत्यादि व्यक्त, नवरम्-उत्तराया शीताया पूर्वत, उत्तराहजिनभवनेशानप्रासादयोरन्तराले इत्यर्थ ८ । एषु च बहुभि पूर्वाऽऽचार्यै शाश्वतजिनभवनस्तोत्रेषु जिनभवनान्युच्यन्ते, इह तु सूत्रकृता नोक्तानि, तेन तत्त्व केवलिनो विदन्ति । अत एवोक्त रत्नशेखरसूरिभि, स्वोपज्ञक्षेत्रविचारे-" करिकूड नइदह, कुरुकचण जमलसमपि अट्ठेसु । जिणभवणविसवाओ, जो त जाणंति गीअत्था ॥१॥ इति । अथैषा वापी चतुष्कप्रासादानां जिनभवनानां करिकूटाना च स्थाननियमने । अत्र वृद्धाना सम्प्रदाय । तथाहि-भद्रशालवने हि मेरोश्चतसृष्वपि दिक्षु नदीद्वयप्रवाहै रुद्धा अतो दिक्ष्वेव भवनानि भवन्ति, किं तु नदीतटनिकटस्थानि भवनानि, गजदन्तनिकटस्था प्रासादा, भवनप्रासादान्तरित्वात् शीताया, शीतोदाऽन्तरालेष्वष्टसु करिकूटा, अत एव विशेषतो दर्श्यते-मेरोरुत्तरपूर्वस्यामुत्तरकुरुषु बहि शीताया उत्तरदिग्भागपञ्चाशद्योजनेभ्योऽपर प्रासाद, तत्पार्श्वेऽपि एवश्चतस्रो वाप्य । एव शेषेष्वपि प्रासादेषु ज्ञेयम् । मेरो पूर्वस्या शीताया दक्षिणत ५० योजनेभ्य परत सिद्धायतन, मेरोर्दक्षिणपूर्वस्या ५० योजनातिक्रमे देवकुरुणा बहि शीताया दक्षिणत एव प्रासादा, मेरोर्दक्षिणत ५० योजनातिक्रमे देवकुरुणा मध्ये शीतोदाया पूर्वत सिद्धायतन, मेरोरपरदक्षिणत ५० योजनान्यवगाह्य देवकुरुणां बहि शीतोदाया दक्षिणत प्रासाद, पश्चिमाया ५० योजनातिक्रमे शीतोदाया उत्तरत सिद्धायतन, मेरोरपरस्या ५० योजनान्यवगाह्य उत्तरकुरुणा बहि शीतोदाया पश्चिमत सिद्धायतनमिति । एतेषा चाष्टस्वन्तरेष्वष्टौ करिकूटा इति । जं० ४ वक्ष० । स्था० ।

दिसिदेवया-दिग्देवता-स्त्री० । इन्द्राऽऽदिषु, पञ्चा० ८ विव० । ध० ।

दिसिव्वय-दिग्व्रत-न० । प्रथमे गुणव्रतभेदे, आव ६ अ० ।

साम्प्रत तेषामेवाणुव्रतानां परिपालनाय भावनाभूतानि गुणव्रतान्यभिधीयन्ते । तानि पुनस्त्रीणि भवन्ति । तद्यथा-दिग्व्रतम् १, उपभोगपरिभोगे परिमाणम् २, अनर्थदण्डवर्जनमिति ३ । तत्राऽऽद्यगुणव्रतस्वरूपाभिधित्सयाऽऽह-

दिसिव्वए तिविहे पन्नत्ते । त जहा-उड्ढदिसिव्वए, अहोदिसिव्वए, तिरिअदिसिव्वए ॥ ३५ ॥

(दिसिव्वए तिविहे इत्यादि) दिशो ह्यनेकप्रकाराः शास्त्रे वर्णिताः, तत्र सूर्योपलक्षिता पूर्वा, शेषाश्च दक्षिणाऽऽदिकास्तदनुक्रमेण द्रष्टव्याः । तत्र दिशासम्बन्धि, दिक्षु वा व्रतम्-एतावत्सु पूर्वाऽऽदिदिग्विभागेषु मया गमनाऽऽद्यनुष्ठेय, न परत इत्येवंभूत दिग्व्रतम् । एतच्चोघतस्त्रिविध प्रज्ञप्तम्, तीर्थकरगणधरैः । तद्यथेति पूर्ववत् । ऊर्ध्वं दिक्, तत्सम्बन्धि तस्यां वा व्रतम्-एतावती दिगूर्ध्वं पर्वताऽऽद्यारोहणादवगाहनीया, न परत इत्येवंभूतमिति भावना । अधः दिगधोदिक्, तत्सम्बन्धि तस्यां वा व्रतमधोदिग्व्रतम्-एतावती दिगधः कूपाऽऽद्यवतरणादवगाहनीया,न परत इत्येवंभूतमिति हृदयम् । तिर्यग्दिशः पूर्वाऽऽदिकाः,तासां सम्बन्धि तासु वा व्रत तिर्यग्दिग्व्रतम्-एतावती दिक् पूर्वेणावगाहनीया, एतावती दक्षिणेनेत्यादि, न परत इत्येवंभूतेतिभावार्थः । अस्मिंश्च सत्यवगृहीतक्षेत्राद् बहिः स्थावरजङ्गमप्राणिगोचरो दण्डः परित्यक्तो भवतीति गुणः ।

इदमपि चातिचाररहितमनुपालनीयमतोऽस्यैवातिचारानभिधित्सुराह-

दिसिव्वयस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणिअव्वा, न समायरिअव्वा । तं जहा-उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कमे, अहोदिसिप्पमाणाइक्कमे, तिरिअदिसिप्पमाणाइक्कमे, खेत्तवुड्ढी, सइअंतरधानं ॥ ३६ ॥

(दिसिव्वयस्स समणोवासएणमित्यादि) दिग्व्रतस्योक्तस्वरूपस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या , न समाचरितव्या । तद्यथा-ऊर्ध्वदिग्व्रतप्रमाणातिक्रम , यावत्प्रमाण परिगृहीत तस्यातिलङ्घनमित्यर्थः । एवमन्यत्रापि भावना कार्या । अधोदिक्प्रमाणातिक्रम , तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम , क्षेत्रस्य वृद्धि क्षेत्रवृद्धिरित्येकतो योजनशतपरिमाणमभिगृहीतमन्यतो दश योजनान्यभिगृहीतानि, तस्यां दिशि समुत्पन्ने कार्ये योजनशतमध्यादपनीयान्यानि दश योजनानि, तत्रैव स्वबुद्ध्या प्रक्षिपति संवर्द्धयत्येकत इत्यर्थः । स्मृतेर्भ्रंशोऽन्तर्धानं स्मृत्यन्तर्धानम्-किं मया परिगृहीत, कया मर्यादया व्रतमित्येवमननुस्मरणमित्यर्थः । स्मृतिमूल नियमानुष्ठानं,भ्रंशे नियमन एव नियमभ्रंश इत्यतिचार । "एत्थ य सामायारी -उड्ढं ज पमाण गहिय,तस्स उवरि पव्वयसिहरे रुक्खे वा मक्कडो य पक्खी वा सावयस्स वत्थ आभरणं वा गेण्हिऊ पमाणाइरेगे उवरिभूमि वच्चेज्जा, तत्थ से न कप्पइ गतु, जाहे त पडिय अन्नेण वा आणीय ताहे कप्पइ । एय पुण अट्ठावयउज्जेतसम्मेयसुपइट्ठवज्जतचित्तकूडअंजणगमंदराऽऽदिसु पव्वएसु भवेज्जा । एव अहे कूवियाऽऽदिसु विभासा । तिरियं ज पमाण गहियं,त तिविहेण वि तिकरणेण णातिक्कमियव्वं । खेत्तवुड्ढी सावगेण न कायव्वा । कहं?,सो पुव्वेण भगमं गहाय गओ जाव त परिमाण, ततो परेण भड अग्घइ त्ति काउ अवरेण जाणि जोयणाणि ताणि पुव्वदिसाए सद्दहइ, एसा खेत्तवुड्ढी, से न कप्पइ काउं. सिय त्ति वोलीणो होज्जा, णियत्तियव्वं विस्सरिए वा न गतव्वं, अन्नो वि न विसज्जियव्वो,जे अणाणाए को वि गओ होज्जा, ज विसुमरियं खेत्तगतेण लद्धं, तत्र गेण्हेज्जति" ॥ ३६ ॥ आव० ६ अ० । ध० । उपा० । श्रा० । पञ्चा० । ध० २० । आ० चू० ।

दिसीविभाय-दिग्विभाग-पु० । ईशानाऽऽदिषु कोणेषु,सू० प्र० १ पाहु० । रा० ।

दिस्स-दृश्य-अव्य० । उत्प्रेक्ष्येत्यर्थे,सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

दिस्समाण-दृश्यमान-त्रि० । उपदिश्यमाने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

दृश्यमान-त्रि० । चक्षुषा उपलभ्यमाने,आव०४ अ० । आचा० ।

दिस्सा-दृष्टा-अव्य० । उत्प्रेक्ष्येत्यर्थ, भ० १७ श० ८ उ० ।

दिह-दिह्-धा० । उपचये, अनु० । अदा०-उभ०-सक०-अनिट् । देग्धि, दिग्धे । अधिक्षत् । अदिग्ध । वाच० ।

दिहागअ-द्विधागत-त्रि० । " सर्वत्र लवरामचन्द्रे " ॥ ४ । २ ७६ ॥ इति वलोपः । धस्य हः । द्विप्रकार प्राप्ते, प्रा० ढु० १ पाद ।

दिहि-धृति-स्त्री० । 'दिहि' इत्येतदर्थ तु " धृतेर्दिहिः " ॥ ८ । २ । १३१ ॥ इति वक्ष्याम इति धृतेर्दिहि । प्रा० १ पाद । " धृतेर्दिहि " ॥ ८ । २ । १३१ ॥ इति धृतिशब्दस्य दिहिरित्यादेशो वा । ' दिही । धिई । ' प्रा० २ पाद । स्त्री० । धृ-क्तिन् । तुष्टौ, धारणे, योगे, विष्कम्भावधिके अष्टमे योगे, सुखे, धारणायाम, अवसादेऽपि शरीराऽऽदे स्तम्भनशक्तौ, अष्टादशाक्षरपादके छन्दोभेदे, अष्टादशसङ्ख्यायां च । वाच० ।

दीण-दीन-त्रि० । दी क्त ,तस्य न । दुःखिते भीते च । वाच० । रङ्के,पञ्चा० ७ विव० । दैन्यवति,विपा० १ श्रु० २ अ० । स्था० । क्षीणसकलपुरुषार्थशक्तौ,ज्ञा० १२ अ० । पं०व० । करुणाऽऽस्पदे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । दुःस्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । प्रश्न० । अनु० । शृगालत्वविहारिणि, आचा० १ श्रु० ६ अ० । "दीणाभास दीणे, गंति दीणजपिए पुरिस्ने । क पेच्छसि तद्द त, दीणाए दिट्ठिए तत्थ ॥१॥" व्य० ३ उ० ।

दीणजाइ-दीनजाति-त्रि० । दीना वा हीना जातिरस्येति दीनजाति । हीनजातौ, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणदाण-दीनदान-न० । कृपणेभ्योऽनुकम्पावितरणे, पञ्चा० ७ विव० ।

दीणदिट्ठि-दीनदृष्टि-पु० । विच्छायचक्षुषि, स्था०४ ठा०२ उ० ।

दीणपण्ण-दीनप्रज्ञ-पु० । दीनसूक्ष्मार्थाऽऽलोचने, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणपरक्कम-दीनपराक्रम-पु० । हीनपुरुषकारे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणपरिणय-दीनपरिणत-पु० । अदीनः सन् दीनतया परिणतो यस्तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणपरियाय-दीनपर्याय-पुं० । दीनस्येव पर्यायोऽवस्था प्रव्रज्याऽऽदिलक्षणो यस्य तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणपरिवार-दीनपरिवार-पुं० । दीनः परिवारो यस्य तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणभावया-दीनभावता-स्त्री० । प्रत्यनीकापमानाऽऽद्यै दैन्ये, दीनो भावो मानसाध्यवसायो यस्यासौ दीनभावो, दीनभावस्य भावो दीनभावता । आतु० ।

दीणभासि (ण्)-दीनभाषिन्-पुं० । दीनवद् भाषणशीले, दीनवद्दीनं वा भाषते । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणमण-दीनमनस्-पुं० । स्वभावत एवानुन्नतचेतसि, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

दीणया-दीनता-अव्य० । दैन्ये, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणववहार-दीनव्यवहार-पुं० । दीनान्योन्यदानप्रतिदानाऽऽदिक्रिये, हीनाविवादे च । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणवित्ति-दीनवृत्ति-पुं० । दीनस्येव वृत्तिर्वर्तनं जीविका यस्य तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणविमण (स्)-दीनविमनस्-त्रि० । दीनो दैन्यवान् विमना शून्यचित्तः, दीनश्चासौ विमनाश्च दीनविमना । दैन्यवच्छून्यचेत्ते, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

दीणविमणवयण-दीनविमनोवदन-त्रि० । दीनस्येव विमनस इव वदनं यस्य तस्मिन्, भ० ९ श० ३३ उ० । विपा० ।

दीणसंकप्प-दीनसंकल्प-त्रि० । उत्तमचित्तस्वाभाव्येऽपि कथञ्चिद्दीनविमर्शे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणसीलसमायार-दीनशीलसमाचार-पुं० । दीनधर्मानुष्ठाने, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणसेवि(ण्)-दीनसेविन्-पुं० । दीनं नायकं सेवते यस्तस्मिन्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीणाणुकंपण-दीनानुकम्पन-न० । निःस्वान्धबधिरपङ्गुरोगाऽऽर्त्तप्रभृतिष्वनुकम्पाकरणे, ध० २ अधि० ।

दीणार-दीनार-पुं० । न० । दी-आरक् नुट् च । स्वर्णभूषणे, मुद्रायां, सुवर्णकर्षद्वये, निष्कमाने, वाच० । आचा० । आ० क० । औ० । नि० चू० । आ० म० ।

दीणारमालिया-दीनारमालिका-स्त्री० । दीनाराऽऽकृतिमालायाम्, औ० ।

दीणोभासी-दीनावभासि(षि)न्-पुं० । दीनवदवभासते प्रतिभाति, अवभाषते वा याचत इत्येवंशीले, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

दीप्प-दीप्र-त्रि० । भास्वरे, स्था० ८ ठा० ।

दीप्पा-दीप्रा-स्त्री० । दीपप्रभायां, योगदृष्टौ च । द्वा० २० द्वा० । (अस्या व्याख्या 'दिप्पा' शब्देऽनुपदमेव २५२० पृष्ठे गता)

दीव-दीप-पुं० । दीप-कः । प्रदीपे, दर्श० १ तत्त्व । पो० । नि० चू० । दश० । तैलाऽऽदिस्नेहयोगेन वर्तिकादाहकशिखाऽन्विते, वाच० । प्रकाशके वस्तुनि, स्था० १० ठा० । दीपशिखायाम्, स० १० सम० । दीपनक्रियाविकल्पे च । विशे० । त्रिविधा दीपा:-अवष्वस्तनदीपा, शृङ्खलावद्धा इत्यर्थः । उत्कम्पनदीपा ऊर्ध्वदण्डवन्तः । पञ्जरदीपा अभ्रपटलाऽऽदिपञ्जरयुक्ताः । प्रयोऽप्येते त्रिविधाः सुवर्णरूप्यतदुभयत्वादिति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । 'दीपो' दीप्तौ । दीपयति प्रकाशयतीति दीपः । भावतः श्रुतज्ञानलाभे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ("सकडसत्थवम्मी, अप्पम्मि वि असह सरिसगारेण । अत्थाइअइ पच्छा, सारिम्से दीवगे उ विही ॥२८॥" इत्यादि 'पच्छित्त' शब्दे वक्ष्यते) दीपादीपशतप्रदीप्यते ज्वलति, सोऽपि च प्रदीप्यते, दीपो न पुनरस्यान्यदीपोत्पत्तावपि क्षीयते । उत्त० १ अ० । (दीपाऽऽदिभिर्जिनपूजा, तत्फलाऽऽदिकं च 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२८६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

द्वीप-न० । द्विर्गता आपोऽत्र । अच् आदेरत इत्त्व । वाच० । द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां स्नानपानाऽऽहाराऽऽद्युपष्टम्भहेतुलक्षणाभ्यां प्राणिनः पान्तीति द्वीपाः । जन्त्वावासभूतविशेषे क्षेत्रविशेषे, अनु० । जलवृते भूदेशे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । प्रज्ञा० । द्वीपोऽपि पूर्ववच्चतुर्धा-तत्र नामद्वीपो-यस्य द्वीप इति नाम । स्थापनाद्वीपो-या द्वीपस्य स्थापना । यथा-चित्रलिखितजम्बूद्वीपाऽऽदि । द्रव्यद्वीपो द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतस्तदर्थज्ञातानुपयुक्तः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरद्रव्यद्वीपौ सुबोधौ । तद्व्यतिरिक्तद्रव्यद्वीपो द्विधा-सन्दीनः, असन्दीनश्च । तत्र यो हि पक्षमासाऽऽद्यावुदकेन प्लाव्यते स सन्दीनो, विपरीतस्त्वसन्दीनः-सिंहलद्वीपाऽऽदिः । भावद्वीपोऽपि द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतस्तदर्थज्ञातोपयुक्तः । नोआगमतस्तु साधुः । कथमित्याह-यथाहि नदीसमुद्रबहुमध्यप्रदेशे सांयात्रिका द्रव्यद्वीपमवाप्याऽऽश्वसन्ति, तथा पारातीतसंसारपारावारान्तरचारखेदमेदस्विनो देहिनः परमपरोपकारैकप्रवृत्तं साधुं समवाप्याऽऽश्वसन्ति, अतो भावतः परमार्थतो द्वीपो भावद्वीप उच्यते । सोऽपि सदीनासदीनभेदाद् द्विधा-तत्र परीषहोपसर्गोऽऽद्यैः क्षोभ्यः सन्दीनः, तदितरस्त्वसन्दीनः । अथवा-भावद्वीपः सम्यक्त्वं, तच्च प्रतिपातित्वादौपशमिकं, क्षायोपशमिकं च । सन्दीनो भावद्वीपः, क्षायिकं चासन्दीन इति । ननु क्वचित् तत्पर्यायाऽऽपन्नं वस्तु भावनिक्षेपे निक्षिप्यते, यथाऽत्रैव जम्बूपर्यायमनुभवन् भावजम्बूत्वेन निक्षिप्तः । क्वचित्तदन्यपर्यायाऽऽपन्नं वस्तु भावनिक्षेपे निक्षिप्यते, यथाऽत्रैव भावद्वीपपर्यायमननुभवन् साधुः सम्यक्त्वं चेति परस्परमुदाहरणवैषम्यं कथं युक्तिमदिति ? । अत्रोच्यते-वस्तुगत्या तत्पर्यायाऽऽधारतया भवनं भाव इति कृत्वा तत्पर्यायभाग्येव वस्तु भावनिक्षेपे निक्षिप्यते । यत्तु तद्वस्तु भावनिक्षेपे निक्षिप्यते तत्तद्गतभावगतगुणाऽऽरोपादौपचारिकमिति न दोषः, विवक्षाया विचित्रत्वादिति । प्रस्तुते च-द्विर्गता गता लवणोदस्याऽऽपोऽस्मादिति अन्वर्थवशाद् द्वीपत्व, पृथिव्यादिपरिणामरूपत्वाद् द्रव्यद्वीपत्वं, तत्र च द्रव्यद्वीपेनात्राधिकारः, तत्राप्यसन्दीनेनेति । अथ चैत्य नामाऽऽदिभेदाद् द्वीपश्चतुर्द्धा-नामद्वीपो-द्वीप इति नाम, नामनामवतोरभेदोपचारात् । स्थापनाद्वीपो द्वीपस्य स्थालवलयाऽऽद्याकारः । द्रव्यद्वीपो-द्वीपाऽऽरम्भकद्रव्याणि पृथिव्यादीनि, तदात्मकत्वाद् द्वीपानाम् जं० । भावद्वीपस्तु स्थाल्याद्याकृतिमत् सत्ताऽऽत्मकं सर्वतः समुद्रजलप्लावितं क्षेत्रखण्डम् । जं० १ वक्ष० । स च द्रव्यभावभेदाद् द्विधा-तत्र द्रव्यद्वीपः आश्वासद्वीपः, आश्वास्यतेऽस्मिन्निति आश्वासः, स चासौ द्वीपश्चाऽऽश्वासद्वीपः । यदिवा-श्वसनमाश्वासः, आश्वासाय द्वीप आश्वासद्वीपः, तत्र नदीसमुद्रबहुमध्यप्रदेशे भिन्नवोहित्थाऽऽदयस्तमवाप्याऽऽश्वसन्ति । असावपि द्वेधा-सन्दीनोऽसन्दीनश्चेति । यो हि पक्षमासाद्युदकेन प्लाव्यते स सन्दीनो, विपरीतस्त्वसन्दीनः, सिंहलद्वीपाऽऽदिः । यथा हि सांयात्रिकास्तं द्वीपमसन्दीनमुद-

न्दद्वादेरुचितीर्थेव समवाप्याश्वसन्त्येव त भावमधानायोत्थित साधुमवाप्यापरे प्राणिनः समाश्वसन्ति। यदि वा दीप इति प्रकाशदीप प्रकाशाय दीप. प्रकाशदीप , स चाऽऽदित्यचन्द्रमण्यादिरसदीन ,अपरस्तु विद्युदुल्काऽऽदिः सदीन.। यदि वा प्रचुरेन्धनतया विवक्षितकालावस्थायसदीनो,विपरीतस्तु सदीन इति । यथा ह्यसौ स्फुटाविदनतो हेयोपादेयहानोपादानवता निमित्तभावमुपयाति तथा कश्चित्समुद्राऽऽन्तर्वर्तिनामाश्वासकारि च भवति,एव ज्ञानप्रधानायोत्थित परीषहोपसर्गाक्षोभ्यतयाऽसदीनः साधुर्विशिष्टोपदेशदानतोऽपरेषामुपकारायेति। अपरे भावद्वीप, भावदीप चान्यथा व्याचक्षते । तद्यथा-भावद्वीप सम्यक्त्व,तच्च प्रतिपातित्वादौपशमिक, क्षायोपशमिक च। सदीनो भावद्वीप , क्षायिक त्वसदीन इति । त द्विविधमप्यवाप्य परीतसमारत्वात्प्राणिन आश्वासन्ति । भावदीपस्तु सदीन श्रुतज्ञानम्, असदीनस्तु केवलमिति । तच्चावाप्य प्राणिनोऽवश्यमाश्वासन्त्येवेति। आचा०१ श्रु०६ अ०३उ०। समुद्रान्तःपतितस्य जन्तोर्जलकल्लोलाऽऽकुलितस्य मुमूर्षोरतिश्रान्तस्य विश्रामहेतौ, सम्यक्त्वाऽऽदिके ससारभ्रमणविश्रामहेतौ,सूत्र०१ श्रु०११ अ०। (जम्बूद्वीपाऽऽदीनां गणना 'आणुपुव्वी' शब्दे द्वितीयभागे १४७ पृष्ठे गता) (जम्बूद्वीपनाम्ना कियन्तो द्वीपा इति 'जंबूदीव ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३७६ पृष्ठे गता) (अन्तर्द्वीपा 'अनरदीव' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठे उक्ताः)

दीवअ-देशी-कृकलासे, दे० ना० ५ वर्ग ४१ गाथा ।

दीवंग-द्वीपाङ्ग-पु० । सुषमसुषमाजाते चतुर्थे कल्पवृक्षभेदे,दीप प्रकाशक वस्तु, तत्करणत्वाद्दीपाङ्ग । स्था० १० ठा० । प्रश्न०। यथेह स्निग्ध प्रज्वलन्त्य काञ्चनमय्यो दीपिका उद्द्योत कुर्वाणा दृश्यन्ते तद्वद् द्वीपाङ्गो विस्रसापरिणत. प्रकृष्टोद्द्योतेन सर्वमुद्द्योतयन् वर्तते । न० ।

दीवकलिया-दीपकलिका-स्त्री० । दीपशिखायाम्, अनु० ।

दीवकुमार-द्वीपकुमार-पु० । भुवनतियुक्तर्कसिंहरूपधरेषु भवनवासिविशेषेषु, प्रज्ञा० १ पद । स्था० । औ० । भ० ।

द्वीपकुमारा सर्वे समाहारा इत्यादिवक्तव्यता-

दीवकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा, सव्वे समुस्सासणिस्सासा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । एवं जहा पढमसए बितियउद्देसए दीवकुमाराण वत्तव्वया तहेव०जाव समाउया समुस्सासणिस्सासा। एवं णागाऽवि । दीवकुमारा णं भंते ! कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ पण्णत्ताओ । तं जहा-कण्हलेस्सा० जाव तेउलेस्सा। एएसि णं भंते ! दीवकुमाराणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा दीवकुमारा तेउलेस्सा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा,णीललेस्सा विसेसाहिया,कण्हलेस्सा विसेसाहिया । एएसि णं भंते ! दीवकुमाराणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पड्ढिया वा, महिड्ढिया वा ?। गोयमा ! कण्हलेस्सेहिंतो णीललेस्सा महिड्ढिया ०जाव सव्वमहिड्ढिया वा तेउलेस्सा । सेवं भंते ! भंते त्ति ०जाव विहरइ ॥ भ० १६ श० ११ उ० ।

दीवकुमारावास-द्वीपकुमाराऽऽवास-पुं० । द्वीपकुमाराणां भवनाऽऽवासे,"छावत्तरिं दीवकुमाराणं वाससयसहस्सा पण्णत्ता।" स० ७६ सम० ।

दीवग-दीपक-पु० । दीप-स्वार्थे कन् । प्रदीपे,आ०म०१ अ०२ खण्ड। श्येनपक्षिणि, रागभेदे च। वाच०। सम्यक्त्वभेदे, स्वय तत्त्वश्रद्धानरहित एव मिथ्यादृष्टि परस्य धर्मकथाऽऽदिभिस्तत्त्वश्रद्धान दीपयति प्रकाशयति, तत्सम्बन्धि सम्यक्त्व दीपकमुच्यते । विशे०।

सयमिह मिच्छद्दिट्ठी, धम्मकहाईहिँ दीवइ परस्स ।
सम्मत्तमिण दीवग, कारणफलभावओ णेय ॥ ५० ॥

स्वयमिह मिथ्यादृष्टिरभव्यो भव्यो वा कश्चिदङ्गारमर्दकवत् । अथ च-धर्मकथाऽऽदिभिर्धर्मकथया मातृस्थानानुष्ठानेनातिशयेन वा केनचिद्दीपयतीति प्रकाशयति परस्य श्रोतु सम्यक्त्वमिद व्यञ्जकम् । आह-मिथ्यादृष्टे सम्यक्त्वमिति विरोध ?। सत्यम्,किं तु कारणफलभावतो ज्ञेय-तस्य हि मिथ्यादृष्टेरपि य. परिणाम स खलु प्रतिपत्तृसम्यक्त्वस्य कारणभाव प्रतिपद्यते, तद्भावभावित्वात्तस्य, अत कारण एव कार्योपचारात्सम्यक्त्वाविरोध', यथाऽऽयुर्घृतमिति ॥५०॥ धा०। रथवीरपुरनामनगराद् बहि स्थे स्वनामख्याते उद्याने, उत्त० ३ अ० । विशे० । आ० म० । आ० चू० । आ० क० । कुङ्कुमे, अर्थालङ्कारभेदे च । न० वाच० । दीपयति-णिच् ण्वुल् । यमान्याम्, स्त्री० । कार्यप्रकाशके, कुशले च । त्रि० । स्त्रियां टाप्, अत इत्वम् । वाच० ।

दीवचंद-दीपचन्द्र-पु० । ज्ञानधर्माऽऽख्यपाठकशिष्ये स्वनामख्याते पाठके, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

दीवचंपय-दीपचम्पक-न० । दीपस्थगनके, भ० ८ श० ६ उ० । रा० ।

दीवचवग-दीपचम्पक-न० । 'दीवचंपय ' शब्दार्थे, भ० ८ श० ६ उ० ।

दीवण-दीपन-पुं० । त्रि० । प्रकाशने, वाच० । ओघ० । दीपन करोति कथयतीत्यर्थे, सू० १ उ० २ प्रक० ।

दीवणिज्ज-दीपनीय-त्रि०।दीपयति जठराग्निमिति दीपनीय , बाहुलकात्कर्त्तर्यनीयप्रत्यय । अग्निवृद्धिकरे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । स्था० । ज्ञा० । प्रज्ञा० ।

दीवमं-दीप्यत्-पु० । श्रीमति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

दीवयत-दीपयत्-पु० । शोभयति, कल्प० २ क्षण ।

दीवय-द्वीपक-पु० । चित्रके, जी०१ प्रति० ।

दीववदिर-द्वीपवन्दिर-न० । स्वनामख्याते श्रावकप्रधाने नगरे, प० व० ४ द्वार ।

दीवसमुद्द-द्वीपसमुद्र-पु० । जम्बूद्वीपाऽऽदिलवणसमुद्राऽऽदिषु, जी० । .

द्वीपसमुद्रवक्तव्यतामाह-

कहि णं भंते! दीवसमुद्दा, केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा, के महालया णं भंते ! दीवसमुद्दा, किंसंठिया णं भंते ! दीवसमुद्दा, किमागारभावपडोयारा णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवा दीवा, ल-

वणादिया समुद्दा. संठाणतो एकविहिविहाणा, वित्थारतो अणेगविहिविहाणा-दुगुणा दुगुणा पडुप्पाएमाणा पडुप्पाएमाणा पवित्थरमाणा पवित्थरमाणा ओभासमाणवीइया बहुउप्पलपउमकुमुदणलिणसुभगसोगंधियपोंडरीयमहापोंडरीयसतपत्तसहस्सपत्तपफुल्लकेसरोवचिया, पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइया परिक्खित्ता, पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ता अस्सि तिरियलोए असंखेज्जा दीवसमुद्दा सयंभूरमणपज्जवसाणा पण्णत्ता समणाउसो ! ।

(कहि णं भंते ! दीवसमुद्दा इत्यादि) क कस्मिन्, णमिति वाक्यालङ्कारे, भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् !, द्वीपसमुद्रा प्रज्ञप्ताः ?। अनेन द्वीपसमुद्राणामवस्थानं पृष्टम् । (केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा इति) कियन्तः कियत्सङ्ख्याकाः, भदन्त ! द्वीपसमुद्राः ?। अनेन द्वीपसमुद्राणां सङ्ख्यानं पृष्टम् ।(के महालया णं भंते ! दीवसमुद्दा इति) किं महान् आलय आश्रयो व्याप्यक्षेत्ररूपो येषां ते महालयाः, किंप्रमाणा महालयाः, णमिति प्राग्वत् । द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः ?। किंप्रमाणं द्वीपसमुद्राणां महत्त्वमिति पाठः । एतेन द्वीपसमुद्राणामायामाऽऽदिपरिमाणं पृष्टम् । तथा -(किंसंठिया णं भंते ! दीवसमुद्दा इति) किं संस्थितं संस्थानं येषां ते किंसंस्थिताः, णमिति पूर्ववत् । भदन्त ! द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः?। अनेन संस्थानं पप्रच्छ । (किमागारभावपडोयारा णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता इति) आकारभावः स्वरूपविशेषः, कस्याऽऽकारभावस्य प्रत्यवतारो येषां ते किमाकारभावप्रत्यवताराः । बहुलग्रहणाद्वैयधिकरण्येऽपि समासः । णमिति पूर्ववत् । द्वीपसमुद्राः ?। किं स्वरूपं द्वीपसमुद्राणामिति भावः । अनेन स्वरूपविशेषविषयः प्रश्नः कृतः । भगवानाह-(गोयमेत्यादि) गौतम ! जम्बूद्वीपाऽऽदयो द्वीपाः, लवणाऽऽदिका लवणसमुद्राऽऽदिकाः समुद्राः, अनेन द्वीपानां समुद्राणां चाऽऽदिरुक्तः । एतच्चापृष्टमपि भगवता कथितमुत्तरत्रोपयोगित्वात्, गुणवते शिष्यायापृष्टमपि कथनीयमिति ख्यापनार्थं च । (संठाणओ इत्यादि) संस्थानतः संस्थानमाश्रित्य (एगविहिविहाणा इति) एकविधि एकप्रकारं विधानं येषां ते एकविधिविधानाः, एकस्वरूपा इति भावः। सर्वेषां वृत्तसंस्थानसंस्थितत्वात् । विस्तरतो विस्तारमधिकृत्य पुनरनेकविधिविधानाः, अनेकविधानि अनेकप्रकाराणि विधानानि येषां ते तथा, विस्तारमधिकृत्य नानारूपा इत्यर्थः । तदेव नानारूपत्वमुपदर्शयति-(दुगुणा दुगुणा पडुप्पाएमाणा पडुप्पाएमाणा पवित्थरमाणा पवित्थरमाणा इति) द्विगुणं द्विगुणं यथा भवति एवं प्रत्युत्पद्यमानाः प्रत्युत्पद्यमानाः, गुण्यमाना इत्यर्थः । प्रविस्तरन्तः प्रविस्तरन्तः, प्रकर्षेण विस्तारं गच्छन्तः । तथाहि-जम्बूद्वीप एकं लक्षं, लवणसमुद्रो द्वे लक्षे, धातकीखण्डश्चत्वारि लक्षाणीत्यादि । (ओभासमाणवीइया इति) अवभासमाना वीचयः कल्लोला येषां तेऽवभासमानवीचयः । इदं विशेषणं समुद्राणां प्रतीतमेव, द्वीपानामपि वेदितव्यम्, तेष्वपि ह्रदनदीतडागाऽऽदिषु कल्लोलसम्भवात् । तथा बहुभिरुत्पलपद्मकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रैः (फुल्ल त्ति) प्रफुल्लैर्विकसितैः (केसरे त्ति) केसरोपलक्षितैरुपचिता उपचितशोभाका बहूत्पलपद्मकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रप्रफुल्लकेसरोपचिताः, तत्र उत्पलं गर्दभकं, पद्मं सूर्यविकाशि, कुमुदं चन्द्रविकाशि, नलिनमीषद्रक्तपद्मं, सुभगं पद्मविशेषः, सौगन्धिकं कह्लारं, पुण्डरीकं शताम्बुजं, तदेव बृहत् महापुण्डरीकं, शतपत्रसहस्रपत्रे पद्मविशेषौ पत्रसङ्ख्याकृतभेदौ । (पत्तेयं पत्तेयमिति) प्रतिशब्दोऽत्राभिमुख्ये, "लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये" ॥ २ । १ । १४ ॥ इति च समासः, ततो वीप्साविवक्षायां प्रत्येकशब्दस्य निर्वचनं, पद्मवरवेदिकापरिक्षिप्ताः, प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डपरिक्षिप्ताश्च ।(सयंभूरमणपज्जवसाणा इति) जम्बूद्वीपाऽऽदयो द्वीपाः स्वयम्भूरमणद्वीपपर्यवसानाः,- लवणसमुद्राऽऽदयः स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यवसानाः । अस्मिन् तिर्यग्लोके यत्र यत्र स्थिताः असङ्ख्येया द्वीपसमुद्राः प्रज्ञप्ताः । हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! इह अस्मिन् "तिरियलोए" इत्यनेन संस्थानमुक्तम् । असङ्ख्येया इत्यनेन सङ्ख्यानम्, " दुगुणा दुगुणा " इत्यादिना महत्त्वम्, " संठाणतो " इत्यादिना संस्थानम् । जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

कियन्ति द्वीपसमुद्राणां नामधेयानीति भगवानाह-

केवतिया णं भंते ! दीवसमुद्दा नामधेज्जेहिं पण्णत्ता ? । गोयमा ! जावइया लोगे सुभा नामा सुभा वण्णा० जाव सुभा फासा, एवतिया दीवसमुद्दा णामधेज्जेहिं पण्णत्ता ।

गौतम ! यावन्ति लोके सामान्यतः शुभानि नामानि शङ्खचक्रस्वस्तिककलशश्रीवत्साऽऽदीनि, शुभाः वर्णाः, शुभा गन्धाः, शुभा रसाः, शुभाः स्पर्शाः-शुभवर्णनामानि, शुभगन्धनामानि, शुभरसनामानि, शुभस्पर्शनामानि च, एतावन्तो द्वीपसमुद्रा नामधेयैः प्रज्ञप्ताः, एतावन्ति द्वीपसमुद्राणां नामधेयानीति भावः ।

सागरोपमप्रमाणतो द्वीपसमुद्रपरिमाणमाह-

केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा उद्धारसमएणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! जावइया अड्डाइज्जाइं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया, एवतिया दीवसमुद्दा उद्धारसमएणं पण्णत्ता ।

(केवइया णं भंते ! इत्यादि) कियन्तो भदन्त ! द्वीपसमुद्रा उद्धारसमयेन उद्धारपल्योपमसागरोपमप्रमाणेन प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! यावन्तोऽर्द्धतृतीयानामुद्धारसागरोपमाणामुद्धारसमया एकैकसूक्ष्मवालाग्रापहारसमयाः, एतावन्तो द्वीपसमुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ताः । उक्तं च-"उद्धारसागराणं, अड्डाइज्जाण जत्तिया समया । दुगुणादुगुणपवित्थर- दीवोदहि रज्जु एवइया ॥१॥"

दीवसमुद्दा णं भंते ! किं पुढवीपरिणामा, आउपरिणामा, जीवपरिणामा, पोग्गलपरिणामा ? । गोयमा ! पुढविपरिणामा वि, आउपरिणामा वि, जीवपरिणामा वि, पोग्गलपरिणामा वि ॥

(दीवसमुद्दा णं भंते ! इत्यादि) द्वीपसमुद्राः, णमिति पूर्ववत् । भदन्त ! पृथिवीपरिणामा अप्परिणामाः ?। भगवानाह-गौतम ! पृथिवीपरिणामा अपि अप्परिणामा अपि, पृथिव्य एव जीवपुद्गलपरिणामाऽऽत्मकत्वात् सर्वद्वीपसमुद्राणाम् ।

दीवसमुद्देसु णं भंते ! सव्वपाणा सव्वभूया सव्वजीवा सव्वसत्ता पुढविकाइयत्ताए० जाव तसकाइयत्ताए उववण्णपुव्वा ? । हंता गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो, इति दीवसमुद्दा संमत्ता ।

(दीवसमुद्देसु ण भंते ! सव्वपाणा सव्वभूया इत्यादि) द्वीपसमुद्रेषु, णमिति पूर्ववत्, सर्वेष्विति गम्यते। भदन्त ! सर्वे प्राणा द्वीन्द्रियाऽऽदयः, सर्वे भूताः तरवः, सर्वे जीवाः पञ्चेन्द्रियाः, सर्वे सत्त्वाः पृथिव्यादय उत्पन्नपूर्वाः ? । भगवानाह-गौतम ! असकृदुत्पन्नपूर्वाः । अथवा-अनन्तकृत्वः, सर्वेषामपि सांव्यवहारिकराश्यन्तर्गतानां जीवानां सर्वेषु स्थानेषु प्रायोऽनन्तश उत्पादात् ॥ जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

द्वीपसमुद्राणामुच्चत्वम्-

सव्वे वि णं दीवसमुद्दा दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता ।

"सव्वे वि" इत्यादि सुगम, नवरमुद्वेधम्-"ओडत्त त्ति भणियं होइ।" द्वीपानाम "ओमत्तणाभावे वि" अधोदिशि सहस्रं यावद् द्वीपव्यपदेश, जम्बूद्वीपे तु पश्चिमविदेहे जगतीप्रत्यासत्तौ "ओमत्तमवि अत्थि त्ति ।" स्था०१० ठा० । द्वीपसमुद्रोपपत्तिप्रतिपादके दीर्घदशानां षष्ठेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ।

दीवसागरपण्णत्ति-द्वीपसागरप्रज्ञप्ति-स्त्री० । द्वीपसागराणां प्रज्ञप्तयो यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः । पा० । दशमे कालिकश्रुतभेदे, पा० । नं० ।

दीवसिहा-दीपशिखा-स्त्री० । ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिभार्यायां सागरदत्तवणिक्सुतायाम्, उत्त० १३ अ० । नि० । ति० ।

दीवाइजलणभेय-दीपाऽऽदिज्वलनभेद-पुं० । दीपचन्द्रतारकाऽऽदीनां दीपनविशेषे, पञ्चा० २ विव० ।

दीवावह-दीपापह-त्रि० । दीपविनाशके, व्य० ४ उ० ।

दीवायण-द्वैपायन-पुं० । द्वीपमयन जन्मभूमिर्यस्य स द्वीपायन, स एव प्रज्ञाऽऽद्यण् । "द्वीपे न्यस्तस्तया बाल-स्ततो द्वैपायनोऽभवत् ।" इत्युक्ते व्यासे, वाच० । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । षष्ठे ब्राह्मणपरिव्राजके, औ० । स्था० । ती० । दश० । आ० म० । स चाऽऽगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां विंशतितमस्तीर्थङ्करो भविष्यति । स० ।

दीवावली-दीपाऽऽवली-स्त्री० । दीपपङ्क्तौ, कार्तिकाऽमायां च । ती० २० कल्प । श्रीमहावीरस्य निर्वाणसमये अमावास्या तिथि, स्वातिनक्षत्र चाभूताम्, दीपालिकासंबन्धिगुणनसमये च कस्मिंश्चिद्वर्षे ते भवतः, कस्मिंश्चिच्च नेति । एतदुपरि केचनेत्थं कथयन्ति-यदा स्वात्यमावास्ये भवतस्तदा गुणनीयम् । अन्ये च-यस्मिन् दिने " मेरइया " इति लोकप्रसिद्धक्रियाविशेषस्तस्मिन् दिने गुणनीयमिति । तत्र " मेरइया " करणे भेदो भवति-एतद्देशमध्ये ये गुर्जरलोका सन्ति, तैः पाक्षिकदिने तानि कृतानि, एतद्देशीयैस्तु द्वितीयवासरे, ततः किं स्वस्वदेशानुसारेण " मेरइया " करणदिने गणनीयम्, उत गुर्जरदेशानुसारेणेति ? प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र दीपाऽऽलिकागुणनमाश्रित्य स्वस्वदेशीयलोका यस्मिन् दिने दीपाऽऽलिका कुर्वन्ति तस्मिन् दिने गुणनीयमिति । ३ प्र० । ह्री० ४ प्रका० । कल्प० ।

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे, तं रयणिं च णं नवमल्लई-नवलेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो अमावासाए पाराभोअं पोसहोववासं पट्ठविंसु, गए से भावुज्जुए, दव्वुज्जुयं करिस्सामो ॥ १२८ ॥

(जं रयणिं च णं इत्यादि) यस्यां रात्रौ श्रमणो भगवान् महावीरः कालगतः, यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणः, तस्यां रात्रौ (नवमल्लई इत्यादि) नवमल्लिकिजातीया काशिदेशस्य राजानः, नवलेच्छकिजातीयाः कोशलदेशस्य राजानः, ते च कार्यवशाद् गणमेलापकं कुर्वन्ति इति गणराजानोऽष्टादश, ये चेटकमहाराजस्य सामन्ता श्रूयन्ते, ते तस्याममावास्यायां पारं संसारपारमाभोगयति प्रापयति यस्तमेवंविधं (पोसहोववासं ति) पौषधोपवासं कृतवन्तः, आहारत्यागपौषधरूपम् उपवासं चक्रुरित्यर्थः । अन्यथा-दीपकरणं न सम्भवति, ततश्च गते स भावोद्योते ततो द्रव्योद्योतं करिष्याम इति तैः दीपाः प्रवर्तिताः, ततः प्रभृति दीपोत्सवः संवृत्तः, कार्तिकशुक्लप्रतिपदि च श्रीगौतमस्य केवलमहिमा देवैश्चक्रे, अतस्तत्रापि जनप्रमोदः, नन्दिवर्द्धननरेन्द्रश्च भगवतोऽस्तं श्रुत्वा शोकाऽऽर्त्तः सुदर्शनया भगिन्या सबोध्य सादरं स्ववेश्मनि द्वितीयायां भोजितस्ततो भ्रातृद्वितीयापर्वरूढिः । कल्प० १ अधि० ६ क्षण । ती० । दीपाऽऽलिकाऽऽदिपर्वणि सुखभक्तिकाऽऽदिकरणे मिथ्यात्वमारम्भो वेति प्रश्ने, उत्तरम्-आरम्भो लगतीति ज्ञातमस्ति, न तु मिथ्यात्वमिति ॥ २२४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

दीविआ-देशी-उपदेहिकायाम्, मृगाऽऽकर्षण्यां च । दे० ना० ५ वर्ग ३ गाथा ।

दीविय-दीपित-त्रि० । कथिते, ओघ० ।

द्वीपिक-पुं० । शाकुनिकपुरुषसंबन्धिपञ्जरस्थतित्तिरौ, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

द्वीपिन्-पुं० । चित्रके, आ० म०१ अ०१ खण्ड । प्र० । प्रश्न० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । ज० । स्था० । सूत्र० । प्रति० । आचा० ।

दीवियग-द्वैप्य-त्रि० । द्वीपसम्भवे, ज्ञा० १ श्रु० ११ अ० ।

दीविया-दीपिका-स्त्री० । ह्रस्वो दीपो दीपिका । ह्रस्वे दीपे, ज० २ वक्ष० । " दीवियाचक्कवालविंद ।" दीपिकानां चक्रवाल सर्वपरिमण्डलरूपं वृन्दं दीपिकाचक्रवालवृन्दम् । जी० ३ प्रति० ४ उ० । ज० ।

दीवुस्सव-दीपोत्सव-पुं० । दीपमालिकायाम्, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

दीवूसयअमावसा-दीपोत्सवामावास्या-स्त्री० । कार्तिकामावास्यायाम्, ती० २० कल्प ।

दीसंत-दृश्यमान-त्रि० । चक्षुषा प्रत्यक्षे, सूत्र०१ श्रु०३ अ०४उ० ।

दीह-दीर्घ-पुं० । दृ-घञ्, घस्य नेत्वम् । शालतालवृक्षे, उष्ट्रे, द्विमात्रे स्वरवर्णे च । वाच० । "एगे दीहे ।" आयते, स्था०१ठा० । सूत्र० । विशे० । प्रज्ञा० । औ० । रा० । प्रचुरे, भ० १ श० ६ उ० । असंख्येये, त्रि० । विशे० । " दीहरहस्सहिमपक्खाणि । " विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

दीहकाल-दीर्घकाल-त्रि० । दीर्घः सन्तानापेक्षया अनादित्वात् कालः स्थितिबन्धकालो यस्य तद् दीर्घकालम् । दीर्घस्थितिके, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दीहकालिगी-दीर्घकालिकी-स्त्री० । कालिसञ्ज्ञायाम्, विशे० ।

इह दीहकालिगी का-लिग त्ति सण्णा जया सुदीहं पि ।
संभरइ भूयमेस्सं, चिंतेइ य किह णु कायव्वं ? ॥५०८॥

इह दीर्घशब्दस्य लुप्तदर्शनाद् दीर्घकालिकी ' कालिकी ' इ-

त्युच्यते, कालिकी चासौ सञ्ज्ञा च पुंवद्भावात् 'कालिकसञ्ज्ञा' इति द्रष्टव्यम् । यया सुदीर्घमपि काल भूतमतीतमर्थं स्मरति, एष्यच्च भविष्यद्वस्तु चिन्तयति-कथ नु नाम कर्तव्यम ?,इत्येषा चिन्तामाश्रित्य दीर्घोऽतीताऽनागतवस्तुविषय कालो यस्या सा दीर्घकालिकी कालिकसञ्ज्ञोच्यत इत्यर्थ ॥५०८॥ विशे० । (' सरणी ' शब्दे चैतया सञ्ज्ञिनो द्रष्टव्या)

दीहकालिय-दीर्घकालिक-त्रि० । दीर्घ कालो विद्यते यस्य स दीर्घकालिक । स्था० ३ ठा० १ उ० । चिरन्तने,दशा० ७ अ० ।

दीहकालियउवएस-दीर्घकालिकोपदेश-पु० दीर्घ कालो दीर्घकाल , सोऽस्यास्तीति दीर्घकालिकः, स चासावुपदेशश्च, उपदेशो भणन, दीर्घकालोपदेश. । दीर्घकालिके भणने, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

दीहखद्ध-दीर्घखद्ध *-त्रि० । प्रचुरतरे, व्य० ४ उ० ।

दीहगोरवपरिणाम-दीर्घगौरवपरिणाम-पु० । यत आयु स्वभावाद् जीवस्य दीर्घ दीर्घगमनतया लोकान्ताद् लोकान्त यावद् गमनशक्तिर्भवति स दीर्घगौरवपरिणाम । अष्टमे आयुष. परिणामे, इह गौरवशब्दो गमनपर्याय । स्था० ६ ठा० ।

दीहजीह-देशी-शङ्खे, दे० ना० ५ वर्ग ४१ गाथा ।

दीहडक्क-दीर्घदष्ट-त्रि० । सर्पदष्टे, नि० चू० १ उ० ।

दीहण-दृष्टान्त-पु० । देशीयशब्दमेतत् । उदाहरणे, दर्श० १ तत्त्व ।

दीहणिद्दा-दीर्घनिद्रा-स्त्री० । मरणे, चिरकालव्यापिन्या निद्रायाम, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । क्षुभ्नाऽऽदित्वान्न णत्वम् । वाच० ।

दीहणिव-दीर्घनृप-पु० । काम्पिल्यपुरराजे, यो हि ब्रह्मदत्तेन हत । उत्त० १३ अ० ।

दीहदंत-दीर्घदन्त-पु० । जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे आगामिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्या भविष्यति द्वितीये चक्रवर्त्तिनि, स० । नि० । ती० ।

दीहदसा-दीर्घदशा-स्त्री० । ब० व० । दशाध्ययने ग्रन्थविशेषे, स्था० ।

दीहदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा-
"चंदे सूरे य सुक्के य, सिरिदेवी पहावई ।
दीवसमुद्दोववत्ती, बहुपुत्ती मंदरे इय ॥ १ ॥
थेरे संभूयविजए, पम्ह उस्सासनिस्ससे ॥"

दीर्घदशा स्वरूपतोऽनवगता एव, तदध्ययनानि तु कानिचिन्निरयाऽऽवलिकाश्रुतस्कन्ध उपलभ्यन्ते, तत्र चन्द्रवक्तव्यताप्रतिबद्ध चन्द्रमध्ययनम् । तथाहि-राजगृहे महावीरस्य चन्द्र-ज्योतिष्कराजो वन्दन कृत्वा नाट्यविधिं चोपदर्श्य प्रतिगतः, गौतमश्च भगवन्त तद्वक्तव्यता पप्रच्छ, भगवांश्चोवाच-श्रावस्त्यामङ्गजिन्नामाऽयं गृहपतिरभूत्पार्श्वनाथसमीपे च प्रव्रजितो विराध्य च मनाक् श्रामण्य चन्द्रतयोत्पन्नो, महाविदेहे च सेत्स्यतीति । तथा सूरवक्तव्यताप्रतिबद्ध सूर, सूरवक्तव्यता चन्द्रवद्, नवर सुप्रतिष्ठो नाम्ना वभूवेति । शुक्रो ग्रह., तद्वक्तव्यता चैवम्-राजगृहे भगवन्त वन्दित्वा शुक्रे प्रतिगते गौतमेन पृष्टे तथैव भगवानुवाच--वाराणस्या सौमिलनामा ब्राह्मणोऽयमभवत्, पार्श्वनाथ चाऽपृच्छत्-"त भते ! जवणिज्ज," तथा-"सरिसवया मासा कुलत्था य ते भोज्जा," तथा-"एगे भव दुवे भव ।" इत्यादि । भगवता चैतेषु विभक्तेष्वादिष्ट. श्रावको भूत्वा पुनर्विपर्यासादारामाऽऽदिलौकिकधर्मस्थानानि कारयित्वा दिक्प्रोक्षकतापसत्वेन प्रव्रज्य प्रतिषष्ठपारणक क्रमेण पूर्वाऽऽदिदिग्भ्य आनीय कन्दाऽऽदिकमभ्यवजहार । अन्यदाऽसौ यत्र क्वचन गर्ताऽऽदौ पतिष्यामि तत्रैव प्राणाम्त्यक्ष्याम इत्यभिग्रहमभिगृह्य काष्ठमुद्रया मुख बद्ध्वा उत्तराभिमुख' प्रतस्थौ,तत्र प्रथमदिवसे पराह्णसमये अशोकतरोरधो होमाऽऽदिकर्म कृत्वोवास, तत्र देवेन केनाप्युक्त -अहो सौमिल ब्राह्मण महर्षे ! दु -प्रव्रजित ते, पुनर्द्वितीयेऽहनि तथैव सप्तपर्णस्याध उषित उक्तः, तृतीयाऽऽदिषु दिनेषु अश्वत्थवटोदुम्बराणामध उषितो भणितो देवेन,तत पञ्चमदिनेऽवादीदसौ-कथ नु नाम मे दु प्रव्रजितम् ?। देवोऽवोचत्-त्व पार्श्वनाथस्य भगवत समीपे अणुव्रताऽऽदिक श्रावकधर्म्म प्रतिपद्याधुनाऽन्यथा वर्त्तसे इति दु प्रव्रजित तव, ततोऽद्यापि तमेवाणुव्रताऽऽदिक धर्म प्रतिपद्यस्व, येन सुप्रव्रजित तव भवतीति । एवमुक्त तथैव चकार, तत. श्रावकत्व प्रतिपाल्यानालोचितप्रतिक्रान्त काल कृत्वा शुक्रावतसके विमाने शुक्रत्वेनोत्पन्न इति । तथा श्रीदेवीसमाश्रयमध्ययनाश्रीदेवीति । तथाहि-एषा राजगृहे महावीरवन्दनाय सौधर्मादाजगाम, नाट्यं दर्शयित्वा प्रतिजगाम च, गौतमस्तत्पूर्वभव पप्रच्छ । भगवांस्त जगाद-राजगृहे सुदर्शनश्रेष्ठी बभूव, प्रियाभिधाना च तद्भार्या, तयो सुता भूता नाम वृहत्कुमारिका पार्श्वनाथसमीपे प्रव्रजिता शरीरबकुशा जाता सातिचारा च मृत्वा दिव गता, महाविदेहे च सेत्स्यतीति । तथा प्रभावती चेटकदुहिता वीतभय-नगरनायकोदायनमहाराजभार्या,यया जिनबिम्बपूजाऽर्थं स्नानानन्तर चेट्या सितवसनार्पणेऽपि विभ्रमाद्रक्तवसनमुपनीतमनवसरमनयेति मन्यमानया मन्युना दर्पणेन चेटिका हता मृता च, सा ततो वैराग्यादनशन प्रतिपद्य देवत्व प्रतिपन्ना, यया चोज्जयनीराजान प्रति विक्षेपेण प्रस्थितस्य ग्रीष्मे मासि पिपासाऽभिभूतसमस्तसैन्यस्योदायनमहाराजस्य स्वच्छशीतलजलपरिपूर्णत्रिपुष्करकरणेनोपकारोऽकारीत्येवलक्षणप्रभावतीचरितयुक्तमध्ययन प्रभावतीति समाम्यते न चैव निरयावलिका-श्रुतस्कन्धे दृश्यत इति पञ्चमम् । तथा बहुपुत्रिकादेवीप्रतिबद्ध सैवाध्ययनमुच्यते । तथाहि राजगृहे महावीरवन्दनार्थं सौधर्माद् बहुपुत्रिकाभिधाना देवी समवततार,वन्दित्वा च प्रतिजगाम, केयमिति पृष्टे गौतमेन भगवानवादीत्-वाराणस्या नगर्या भद्राऽभिधानस्य सार्थवाहस्य सुभद्राऽभिधाना भार्यैव बभूव,सा च वन्ध्या पुत्रार्थिनी भिक्षार्थमागतमार्यासंघाटक पुत्रलाभ पप्रच्छ । स च धर्ममचीकथत् । प्राव्राजीच्च सा बहुजनापत्येषु प्रीत्याऽभ्यङ्गोद्वर्त्तनापरायणा सातिचारा मृत्वा सौधर्ममगमत्, ततश्च्युत्वा च विभेलसंनिवेशे ब्राह्मणीत्वेनोत्पत्स्यते, तत पितृभागिनेयभार्या भविष्यति युगलप्रसवा च, सा षोडशभिर्वर्षैर्द्वात्रिंशदपत्यानि जनयिष्यति, ततोऽसौ तन्निर्वेदादार्या प्रक्ष्यति, ताश्च धर्मं कथयिष्यन्ति, श्रावकत्व च सा प्रतिपत्स्यते, कालान्तरे प्रव्रजिष्यति, सौधर्मे चन्द्रसामानिकतयोत्पद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति । तथा स्थविर संभूतविजयो भद्रबाहुस्वामिनो गुरुभ्राता स्थूलभद्रस्य शकडालपुत्रस्य दीक्षादाता, तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धमध्ययन स एवोच्यत इति नवमम् । शेषाणि प्रतीयप्रतीतानि । स्था० १० ठा० ।

* खद्धशब्देन प्रचुरमभिधीयते । प्रव० २ द्वार ।

दीहदिट्ठि-दीर्घदृष्टि-पुं० । दीर्घकालभावित्वादस्यार्थस्यानर्थस्य च दृष्टिः पर्यालोचनम् । विमृश्यकारित्वे, अविमृश्यकारित्वे हि महादोषसम्भवात् । यत उक्तम्-" सहसा विदधीत न क्रिया-मविवेकः परमाऽऽपदां पदम् । वृणते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥१॥" इति । ध० १ अधि० । दीर्घा दृष्टिरस्य । परिमने, दीर्घा दूरगा दृष्टिर्यया । दूरवीक्षणे यन्त्रभेदे, वाच० ।

दीहद्धा-दीर्घाद्धा-स्त्री० । पर्याप्ताद्धायाम्, क० प्र० १ प्रक० ।

दीहपट्ठ-दीर्घपृष्ठ-पुं० । यवराजामात्ये, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

दीहपास-दीर्घपार्श्व-पुं० । ऐरवते भाविनि षोडशे जिनेन्द्रे, प्र० व० ७ द्वार । ति० ।

दीहबाहु-दीर्घबाहु-पुं० । ऋषभस्य त्रिसप्ततितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां तृतीये बलदेवे, स० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे अस्यामेवोत्सर्पिण्यां चन्द्रप्रभजिनस्य पूर्वभवे जीवे, स० ।

दीहभद्द-दीर्घभद्र-पुं० । माठरसगोत्रस्याऽऽर्यसंभूतिविजयस्य स्थविरस्यैकादशे स्वनामख्याते स्थविरेऽन्तेवासिनि, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

दीहमद्ध-दीर्घाद्ध-न० । दीर्घा अद्धा कालो यस्य तद्दीर्घाद्धम् । मकार आगमिकः । दीर्घकालगम्ये, स्था० २ ठा० १ उ० । प्रश्न० । भ० । सूत्र० । ज्ञा० ।

दीर्घाध्व-न० । दीर्घोऽध्वा मार्गो यस्मिन् तद्दीर्घाध्वम् । दीर्घमार्गगम्ये, स्था० २ ठा० १ उ० । प्रश्न० । भ० । सूत्र० । ज्ञा० । दीर्घमार्गे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

दीहमद्धा-दीर्घाद्धा-स्त्री० । दीर्घोऽद्धा कालो यस्यां सा दीर्घाद्धा, मकारस्त्वागमिकः। दीर्घकालगम्यायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

दीर्घाध्वा-स्त्री० । दीर्घोऽध्वा मार्गो यस्यां सा दीर्घाध्वा । दीर्घमार्गगम्यायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० । औ० ।

दीहमाउ-दीर्घाऽऽयुष्-न० । चिरजीविते, शुभमितीह विशेषणं द्रष्टव्यमिति । स्था० १० ठा० ।

दीहर-दीर्घ-पुं० । " रो दीर्घात् " ॥ ८ । २ । १७१ ॥ इति दीर्घशब्दात्स्वार्थे रः । 'दीहरं । दीहं ।' प्रा० २ पाद । " सर्वत्र लवरामवन्द्रे " ॥८ । २ । ७९॥ इति रलुक् । "खघथधभाम्" ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इति घस्य ह । प्रा० ढुं० १ पाद । आयते, "अन्ने ते दीहरलोअण अन्नु ते भुअजुअलु । " प्रा० २ पाद ।

दीहराय-दीर्घरात्र-न० । यावज्जीवे, आव० ४ अ० । आचा० ।

दीहलोय-दीर्घलोक-पुं० । वनस्पतौ, आचा० । यस्मादसौ कायस्थित्या परिमाणेन शरीरोच्छ्रयेण च शेषैकेन्द्रियेभ्यो दीर्घो वर्तते । तथाहि-कायस्थित्या तावत् " वणस्सइकाइए णं भंते ! वणस्सइकाए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? । गोयमा ! अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ, खेत्तओ अणंता लोया असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागे । " परिमाणतस्तु-" पडुप्पन्नवणस्सइकाइया णं भंते ! केवतिकालस्स निल्लेवणा सिया ? । गोयमा ! पडुप्पन्नवणस्सइकाइयाणं नत्थि निल्लेवणा । " तथा-शरीरोच्छ्रयाच्च दीर्घो वनस्पतिः, " वणस्सइकाइया णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! साइरेगं जोयणसहस्सं सरीरोगाहणा । " न तथाऽन्येषामेकेन्द्रियाणाम्, अत स्थितमेतत्सर्वथा दीर्घलोको वनस्पतिरिति । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

दीहलोयसत्थ-दीर्घलोकशस्त्र-न० । वनस्पत्युत्सादकेऽग्नौ, आचा० । अस्य च शस्त्रमग्निः, यस्मात्स हि प्रवृद्धज्वालाकलापाऽऽकुलः सकलतरुगणप्रध्वंसनाय प्रभवति, अतोऽसौ तदुत्सादकत्वाच्छस्त्रम् । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

दीहवच्छ-दीर्घवृक्ष-पुं० । महति वृक्षे, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

दीहवेयड्ड-दीर्घ (विजयार्द्ध) वैताढ्य-पुं० । दीर्घे अर्द्धकेयवि-भागकारके पर्वतविशेषे, स्था० ।

जंबू ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो दीहवेयड्डपव्वया पण्णत्ता । तं जहा-बहुसमतुल्ला० जाव भारहे चेव दीहवेयड्डे, एरावए चेव दीहवेयड्डे । भारहे णं दीहवेयड्डे दो गुहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-बहुसमतुल्लाओ अविसेसमणाणत्ताओ अन्नमन्नं णाइवट्टंति आयामविक्खंभुच्चत्तसंठाणपरिणाहेणं । तं जहा-तिमिसगुहा चेव, खंडगप्पवायगुहा चेव । तत्थ णं दो देवा महड्डिया० जाव पलिओवमट्ठिइया परिवसंति । तं जहा-कयमालए चेव, णट्टमालए चेव । एरावए णं दीहवेयड्डे दो गुहा पण्णत्ता । तं जहा-जाव कयमालए चेव, णट्टमालए चेव ।

(दो दीहवेयड्ड त्ति) वृत्तवैताढ्यव्यवच्छेदार्थं दीर्घग्रहणं, वैताढ्यौ विजयाढ्यौ चेति संस्कारः, तौ च भरतैरवतयोर्मध्यभागे पूर्वापरतो लवणोदधिं स्पृष्टवन्तौ पञ्चविंशतियोजनोच्छ्रितौ तत्पादावगाढौ पञ्चाशद्विस्तृतौ आयतसंस्थितौ सर्वराजतावुभयतो वहिः काञ्चनमयकनकाङ्कावेति । आह च-" पणवीस उव्विद्धो, पन्नास जोयणाणि वित्थिण्णो । वेयड्डो रययमओ, भरहक्खेत्तस्स मज्झम्मि ॥१॥ " इति । (भारहे णमित्यादि) वैताढ्ये अपरतस्तमिस्रागुहा गिरिविस्ताराऽऽयामा द्वादशयोजनविस्तारा अष्टयोजनोच्छ्रया आयतचतुरस्रसंस्थाना विजयद्वारप्रमाणद्वारा वज्रकपाटपिहिता बहुमध्ये द्वियोजनान्तराभ्यां त्रियोजनविस्ताराभ्यामुन्मग्ननिमग्नजलाभिधानाभ्यां नदीभ्यां युक्ता, तद्वत्पूर्वेण खण्डप्रपातगुहेति । (तत्थ णं ति) तयोस्तमिस्राया गुहाया कृतमालकः, इतरस्या नृत्तमालक इति । (एरवए) इत्यादि तथैव । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

जंबू ! मंदरस्स पुरच्छिमेणं सीआए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ दीहवेयड्डा, अट्ठ तिमिसगुहाओ, अट्ठ खंडगप्पवायगुहाओ, अट्ठ कयमालगा देवा, अट्ठ णट्टमालगा देवा, अट्ठ गंगाओ, अट्ठ सिंधूओ, अट्ठ गंगाकुंडा, अट्ठ सिंधुकुंडा, अट्ठ उसभकूडा पण्णत्ता, अट्ठ उसभकूडा देवा पण्णत्ता । जंबू ! मंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठ दी-

ड्ढवेयड्ढा एवं चेव० जाव अट्ठ उसभकूडा देवा पण्णत्ता,नवरमेत्थ रत्तारत्तवईओ,तासिं चेव कूडा । जंबू ! मंदरपच्चच्छिमेण सीओयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा० जाव अट्ठ नट्टमालगा देवा अट्ठ गंगाकुंडा अट्ठ सिंधुकुडा अट्ठ गंगाओ अट्ठ सिंधूओ अट्ठ उसभकूडपव्वया अट्ठ उसभकूडा देवा पण्णत्ता । जंबू ! मंदरपुरच्छिमेणं सीओयाए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा० जाव अट्ठ णट्टमालगा देवा अट्ठ रत्तकुंडा अट्ठ रत्तावईकुंडा अट्ठ रत्ताओ० जाव अट्ठ उसभकूडदेवा पण्णत्ता । स्था० ८ ठा० । स० । जं० ।

(तेषां कूटानि 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६१८ पृष्ठे द्रष्टव्यानि)

दीहसद्द-दीर्घशब्द-पुं० । दीर्घवर्णाऽऽश्रिते, मेघाऽऽदिशब्दवद् दूरश्राव्ये च । स्था० १० ठा० ।

दीहसुत्त-दीर्घसूत्र-न० । बृहत्सूत्रे, नि० चू० ।

जे भिक्खू सणकप्पासाओ वा पोण्डकप्पासाओ वा तणकप्पासाओ वा मिलकप्पासाओ वा दीहसुत्ताइं करेइ, करतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ नि० चू० ५ उ० ।

('सुत्त' शब्दे व्याख्यास्यते चैतत्)

दीहसेण-दीर्घसेन-पुं० । भरतक्षेत्रजचन्द्रप्रभजिनसमकालिके ऐरवतजे जिने, ति० । श्रेणिकस्य राज्ञो धारण्या जाते स्वनामख्याते पुत्रे, स च महावीरस्वामिनोऽन्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्याय संलेखनया मृत्वा विजये देवलोके उपपद्य ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीयवर्गस्य प्रथमेऽध्ययने सूचितम् । अणु० १ श्रु० २ वर्ग १ अ० । असावन्य श्रेणिकधारणीसुत एतन्नामा वीरान्तिके प्रव्रज्य द्वादशवर्षपर्याय संलेखनया मृत्वा सर्वार्थसिद्धे उपपन्नो महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां प्रथमवर्गस्य षष्ठेऽध्ययने सूचितम् । अणु० १ वर्ग १ अ० । भरतक्षेत्रजशान्तिनाथजिनसमकालिक ऐरवतजे जिने च । ति० ।

दीहाउ-दीर्घाऽऽयुष्-न० । 'आयुरप्सरसोर्वा' ॥ ८ । १ । २० ॥ इत्यन्त्यव्यञ्जनस्य सो वा । 'दीहाउसो । दीहाऊ ।' प्रा०१ पाद । दीर्घं सागरोपमपरिमिततया आयुरेषामिति दीर्घाऽऽयु । उत्त० ५ अ० । चिरजीवित्वे, कल्प० १ क्षण ।

दीहाउअत्ता-दीर्घायुष्टा-स्त्री० । दीर्घस्थितिकजीवितहेतुकर्मत्वे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (एतत्कारणानि 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे १२ पृष्ठे उक्तानि)

दीहासण-दीर्घाऽऽसन-न० । शय्यारूपे आसने,ज०१ वक्ष० । जी० ।

दीहिया-दीर्घिका-स्त्री० । ऋजुसारिण्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । ज० । अनु० । आचा० । जी० । प्रज्ञा० । भ० । नि० चू० । औ० ।

दु-दुर्-अव्य० । अभावे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । जुगुप्सायाम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दुअं-द्रुतम्-अव्य० । त्वरिते, अनु० । आव० ।

दुअक्खर-देशी-षण्ढे, दे० ना० ५ वर्ग ४७ गाथा ।

दुअक्खरय-द्व्यक्षरक-पुं० । दासे, भृतक. कर्मकरस्ताद्विपर्योऽक्षरको द्व्यक्षरकः, द्व्यक्षरकाभिधानो दास इत्यर्थः । पिं० ।

दुअक्खरिया-द्व्यक्षरिका-स्त्री० । दास्याम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दुअल्ल-दुकूल-न० । "दुकूले वा लश्च द्विः" ॥ ८ । १ । ११९ ॥ इति ऊकारस्य वैकल्पिकोऽकार, तत्सन्नियोगे लस्य द्वित्वम् । 'दुअल्लं, दुऊलं ।' आर्षे-'दुगुल्लं' । प्रा० १ पाद । वस्त्रे, औ० । दु-ऊलच्-कुक् च । दुङ् कूजति । 'कूल' आवरणे । क्षौमाम्बरे, श्लक्ष्णवस्त्रे, न० । सूक्ष्मवस्त्रे च । वाच० ।

दुआइ-द्विजाति-पुं० । "द्विन्योरुत्" ॥ ८ । १ । ९४ ॥ इति इकारस्य उत्वम् । प्रा० १ पाद । "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥ ८ । २ । ७९ ॥ इति वलुक् । प्रा० २ पाद । वाच० । द्वे जाती जन्मनि यस्य "ब्राह्मण क्षत्रियो वैश्य-स्त्रयो वर्णा द्विजातय ।" इति मनूक्ते वर्णत्रये, "मातुरग्रेऽधिजनन, द्वितीय मौञ्जीबन्धने" इत्युक्तेस्तथा तथात्वम् । वाच० ।

दुआरुक्ख-दुरारुह्येय-न० । कृच्छ्राऽऽरुह्ये वस्तुतत्त्वे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

दुआर-द्वार-न० । प्रवेशनिर्गममार्गे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । प्रतोल्या च । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

दुआरिया-द्वारिका-स्त्री० । अपद्वारे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

दुआवत्त-द्विकाऽऽवर्त्त-पुं० । षोडशोऽच्छिन्नच्छेदनयिके दृष्टिवादस्य सूत्रे, स० १२ अङ्ग ।

दुइअ-द्वितीय-त्रि० । "द्विन्योरुत्" ॥ ८ । १ । ९४ ॥ इतीकारस्योत्कार. । 'दुइओ ।' प्रा० १ पाद । "पानीयाऽऽदिष्वित्" ॥ ८ । १ । १०१ ॥ इति ईकारस्य इकारः । 'दुइअ ।' प्रा० १ पाद । "सर्वत्र लवराद-" ॥ ८ । २ ७९ ॥ इत्यादिना वलुक् । प्रा० २ पाद । "कगचजतद०-" ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इत्यादिना तलोप । द्वयोः पूरण द्वितीय । द्वयो पूरणे द्वितीये भागे, वाच० ।

दुइज्जित्तए-द्रोतुम्-अव्य० । विहर्तुमित्यर्थे, स्था०५ ठा०२ उ० ।

दुउच्छ-गुप्-भ्वा० स्वा०-आत्म०-अक०-सेट् । कुत्सने,वाच० । "जुगुप्से झुणदुगुच्छदुगुञ्छा." ॥ ८ । ४ । ४० ॥ इति दुगुच्छाऽऽदेश । "कगच०-" ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति गलोपे, "दुउच्छइ । दुगुञ्छइ ।" प्रा० ४ पाद ।

दुउण-द्विगुण-त्रि० । "द्विन्योरुत" ॥ ८ । १ । ९४ ॥ इतीकारस्योत्कारः । 'दुउणो । बिउणो ।' प्रा० १ पाद । द्वाभ्यां गुण्यते, गुण-घञर्थे क. । द्वाभ्यां गुणिते, वाच० ।

दुऊल-दुकूल-न० । 'दुअल्ल' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

दुओणय-द्व्यवनत-न० । अवनतिरवनतमुत्तमाङ्गप्रधान प्रणमनमित्यर्थ ,द्वे अवनते यस्मिन् तद् द्व्यवनतम् । द्विरवनम्य वन्दने, आव० । एव यदा प्रथममेव "इच्छामि खमासमणो वन्दिउं जावणिज्जाए निसीहियाए ।" इत्यभिधाय च्छन्दोऽनुज्ञापनायाऽवनतमिति द्वितीय पुनर्यदा कृताऽऽवर्तो निष्क्रान्त "इच्छामि" इत्यादि सूत्रमभिधाय छन्दोऽनुज्ञापनायैवाऽवनतमिति । आव० ३ अ० । वृ० । प्रव० ।

दुंदमिअ-देशी-गमगर्जिते, दे० ना० ५ वर्ग ४५ गाथा ।

दुंदुभग–दुन्दुभक–पु० । अष्टादशे महाग्रहे, " दो दुदुभगा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । चं०प्र० । कल्प० । जं० । सू० प्र० ।

दुंदुभि–दुन्दुभि–पु० । ढक्काविशेषे, भ० ६ श० ३३ उ० । आ० चू० । औ० । रा० । कल्प० । जं० । महत्प्रमाणे मुरजे, नि० चू० १ उ० । भेर्य्याकारे सङ्कटमुखे देवाऽऽतोद्यविशेषे, रा० । ज्ञ० । प्रश्न० । जी० । ज्ञा० ।

दुंदुभिणी–देशी–रूपवत्याम्, दे० ना० ५ वर्ग ५ गाथा ।

दुंदुहि–दुन्दुभि–पु० । 'दुदुभि' शब्दार्थे, रा० ।

दुंवत्ती–देशी–सरिति, दे० ना० ५ वर्ग ४८ गाथा ।

दुक्कम–दुष्कृत–न० । दुष्टं कृतं दुष्कृतम् । पापे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । आचा० । आ० म० । स० । असदनुष्ठाने, असातावेदनीयोदयरूपे पापफले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । पापकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आ० म० । अकर्तव्ये, आ० ४ अ० । पापविपाके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । दुःखे च । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । "मिच्छाए मणदुक्कमाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए ।" आव० ३ अ० । " दुक्कमं ति वा, सावज्जमणुचिन्तं ति वा, पावकम्ममासेवितं ति वा वितहमाइन्नं ति वा एगट्ठा । " आ० चू० १ अ० ।

दुक्कमकम्म–दुष्कृतकर्म्मन्–न० । दुष्टं कृतं दुष्कृतं, तदेव कर्म्मानुष्ठानम् । पापानुष्ठाने, दुष्कृतेन कर्म्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकं तद् दुष्कृतकर्म । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

दुक्कडकम्मकारि(ण्)–दुष्कृतकर्मकारिन्–पु० । दुष्कृतं कर्म्म कर्तुं शीलं येषां ते दुष्कृतकर्मकारिणः । पापानुष्ठानकरणशीलेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

दुक्कडकारि (ण्)–दुष्कृतकारिन्–पु० । पापविधायिनि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

दुक्कडगरहा–दुष्कृतगर्हा–स्त्री० । दुष्कृतेष्विहपरभवगतेषु गर्हा । अकर्तव्यबुद्धिसारापरसाक्षिकयाम्, आव० १ अ० ।

दुक्कडतावि (ण्)–दुष्कृततापिन्–पु० । दुष्कृतेनातिचाराऽऽसेवनेन तप्यते अनुताप करोतीत्येवंशील दुष्कृततापी । अतिचाराऽऽसेवनानुतापकरणशीले, पञ्चा० १५ विव० ।

दुक्कमि(ण्)–दुष्कृतिन्–त्रि० । दुष्कृतं विद्यते येषां ते दुष्कृतिनः । नारकेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । महापापेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

दुक्कमिय–दुष्कृतिक–त्रि० । दुष्कृतमसदनुष्ठानं पापं वा तत्फलं वा असातावेदनीयोदयरूपं तद्विद्यते यस्मिन् स दुष्कृतिकः । असदनुष्ठायिनि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

दुक्कप्प–दुष्कल्प–पु० । पार्श्वस्थाऽऽदीनां प्रवचननिन्दितानां कल्पे, पं० भा० ।

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए णिच्चकाल पासत्थो ।
णिचं च निंदओ पव–यणम्मि तं जाणसु दुकप्पं ॥
दुकप्पविहारीणं, एगंताऽऽसातणाएँ बंधो य ।
आसायणाएँ बंधे–ण य दीहो होइ ससारो ॥ पं० भा० ।

दयाणि दुकप्पो । तत्थ सो दंसणाईहिं पासत्थो अच्छइ, निच्चं निंदिओ गरहिओ य पवयणम्मि, जेण नाइं ठाणाणि पडिसेवइ । गाहा–(दुकप्पविहाराणं) पाठसिद्धा । पं० चू० ।

दुक्कय–दुष्कृत–त्रि० । पापे, षो० १३ विव० । पापकर्मणि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दुक्कर–दुष्कर–त्रि० । कृ–खल् । दुष्करमेव दुक्करम् । कष्टसाध्ये, पञ्चा० १३ विव० । कर्तुमशक्ये, आव० ५ अ० । नि० चू० । ज्यो० । "अव्वो ! दुक्करकारअ ।" प्रा० २ पाद । "एगिम्म पइ मणोरहइ, दुक्करु दइउ करेइ ।" प्रा० ४ पाद । दुःखेन क्रियते । कृ–खल् । अकार्ये, वाच० । माघे, रात्रौ, चतुर्थीयस्नाने, दे० ना० ५ वर्ग ४ गाथा ।

दुक्करकरण–दुष्करकरण–न० । दुष्करकारितायाम्, व्य० १० उ० । नि० चू० । "दुक्करकरणं च कह ?, उच्यते–ण दुक्करं जं पमिलेविय त जीवस्स सफुडाणुकूलं दुक्करं, नओ ज चित्तनिवित्तिकरण त दुक्करकरण ति ।" नि० चू० २० उ० ।

दुक्काल–दुष्काल–पु० । धान्यमहर्घताऽऽदिना दुष्टे समये, ज० १ वक्ष० ।

दुक्कुक्कणिआ–देशी–पतद्ग्रहे, दे० ना० वर्ग ४७ गाथा ।

दुक्कुलजम्मप्पमत्थि–दुष्कुलजन्मप्रशस्ति–स्त्री० । दुष्कुलेषु शकयवनशबरबर्बराऽऽदिसबन्धिषु यज्जन्म असदाचाराणां प्राणिनां प्रादुर्भावस्तस्य प्रशस्तिः प्रज्ञापना । असदाचाराणां प्रादुर्भावप्रज्ञापनायाम्, ध० । तत्र चोत्पन्नानां किमित्याह–"दुःखपरम्परानिवेदनमिति ।" दुःखानां शारीरमानसाशर्मलक्षणानां या परम्परा प्रवाहस्तस्या निवेदनं प्ररूपणम् । यथा–असदाचारपारवश्याज्जीवा दुष्कुलेषूत्पद्यन्ते, तत्र चासुन्दरवर्णरसगन्धस्पर्शशरीरभाजा तेषां दुःखनिराकरणनिबन्धनस्य धर्मस्य स्वप्नेऽप्यनुपलम्भाद् हिंसाऽनृतस्तेयाऽऽद्रुतकर्मप्रवणानां नरकाऽऽदिफलं पापकर्मोपचय एव सपद्यते, तदभिभूतानामिह परत्र चाऽव्यवच्छिन्नानुबन्धा दुःखपरम्परा प्रसूयते । यदुच्यते–" कर्मभिरेव स जीवो, विवशः ससारचक्रमुपयाति । द्रव्यक्षेत्राद्या भा–वभिन्नमावर्त्तते बहुशः ॥ १ ॥" ध० १ अधि० ।

दुक्कुड–देशी–असहने, दे० ना० ५ वर्ग ४४ गाथा ।

दुक्ख–दुःख–न० । "वाऽव्ययथवचनाऽऽद्याः " ॥ ८ । १ । ३३ ॥ इति पुंसि वा प्रयोगः । 'दुक्खा । दुक्खाइं ।' प्रा० १ पाद । " कगटडतदपशषस ≍क ≍पामूर्ध्वं लुक् " ॥ ८ । २ । ७७ ॥ एषां सयुक्तवर्णसंबन्धिनामूर्ध्वं स्थितानां लुग् भवति । दुःखम् । प्रा० २ पाद । दुःखं करोति दुःखयति, दुःखयतीति दुःखम् । पापकर्मणि, उत्त० ६ अ० । सूत्र० । प्रश्न० । दशा० । महा० । आचा० । औ० । दुष्करे, बृ० ६ उ० । क्लेशे, म० ६ समा० । संसारे, उत्त० ३२ अ० । रोगे, उत्त० २ अ० । सूत्र० । अमनोज्ञसमुत्पादे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । दुष्कृतकर्मफले, दश० १ अ० । असातावेदनीयोदये, आचा० २ श्रु० ४ चू० १ अ० । प्रतिकूलतयाऽवभासमाने राजसे चित्तधर्मे, द्वा० ११ द्वा० । उदयेन असातवेदनीयोदय प्राप्ते (सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०) कष्टे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आचा० । अज्ञाने, मोहनीये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । असुखरूपे, भ० ५

पुणणाहिं कंमुयामेसु, कंमू मे अवहा णो उवसमे ।
ता एयस्स उवसमणं, गोयम ! णिसुणेसु जं करे ॥
अहंतं कुंथु वावाए, जइ णो अन्नत्थ गयं भवे ।
कंमूयमाणेहि णिचादी, अणुवसमं णो किलम्मए ॥
जइ वावाएज्ज तं कुंथु, कंमुयमाणो व इयरहा ।
तो तं अइरोद्दझाणम्मि, पविट्ठे णिच्छयओ मुणे ॥
अह किलामे तओ भयणा, रोद्दज्झाणेयरस्स उ ।
कंमूयमाणस्स उण, देइ सुन्दमट्टज्झाणं मुणे ॥
समज्जे रोद्दझाणट्ठो, उक्कोसं नारगाउयं ।
दुन्नगिरियंपमतेरिच्छं, अट्टज्झाण समज्जिणे ॥
कुंथुपदफरिसजणिया-ओ दुक्खाओ उवसमित्थया ।
एत्थ हल्लफल्लीभूते, जमरत्थंतर वए ॥
विवएणमुहल्लावणे, अइदीणविमणदुम्मणे ।
सुन्ने वएणे य मूढदिसे, मंदरदीहनिस्ससे ॥
अविस्सामं दुक्खहेउयं, असुहं तेरिच्छनारयं ।
कम्मं निबंधइत्ता ण, भमिही भवपरंपर ॥
एवं खउवममाओ तं, कुंथुवइरजं दुहं ।
कह कह बहूकिलेसेणं, जइ खणमेक्क पि उवसमे ॥
ता मह किलेसमुत्तिचुं, सुहिय से अराणयं ।
मन्नंतो पमुइओ हिट्ठो, सत्यच्छिन्नो त्ति चिट्ठइ ॥
चिंतइ किल निव्वुओ मि अहं, निद्दलिय दुक्ख पि मे ।
कंडुयणा-दिट्ठिं सयमेव, न मुणे एव जहा मए ॥
रोद्दज्झाणगएण इह, अट्टज्झाणे तहेव य ।
संवगइत्ता उ तं दुक्खं, अणंताणंतगुणं कम ॥
जं वाऽणुसमयमणवरयं, जहा राई तहा दिणं ।
दुट्टमेवाणुभवमाणस्स, वीसामो नो भवेज्ज मे ॥
खण पि नरयतिरिएसु, सागरोवमसंखया ।
रसरमविलज्जए हियय, जं वा इत्थ ततो ण त्ति ॥
अहवा किं कुंथुजणिया, उम्मुक्को सो दुक्खसंकडा ।
खीणऽट्ठकम्ममरिमा सो, भवेज्ज जणमेत्तेण वओ ॥
कुंथुमुवलक्खण इहइ, सव्वं पच्चक्खदुक्खदं ।
अणुभवमाणो त्ति जं पाणी, ण य संती तेणुवेक्खइ ।
अन्ने त्ति गुरुयरे दुक्खे, सव्वेसिं ससारिणं । महा० २ अ० ।

नारकतिरश्चां दुःखबाहुल्य प्रतीतमेव-

"अच्छिनिमीलणमित्त, नत्थि सुह दुक्खमेव अणुबद्धं ।
नरए नेरइआणं, अहोनिस पच्चमाणाणं ॥ १ ॥
जं नरए नेरइआ, दुक्ख पावंति गोयमा ! तिक्ख ।
त पुण निगोअमज्झे, अणनगुणिअ मुणेयव्व ॥ २ ॥"

मानुष्यके गर्भजन्मजरामरणविविधाधिव्याधिदौस्थ्याऽऽद्युपद्रवैर्दुःखितैव, देवत्वेऽपि च्यवनदास्यपराभवेर्ष्याऽऽदिभिः । ऊचे च-

" सूईहिं अग्गिवण्णाहिं, सभिण्णस्स निरतर ।
जारिस गोअमा ! दुक्ख, गब्भे अट्ठगुणं तओ ॥ १ ॥
गब्भाओ नीहरतस्स, जोणिजतुनिपीलणे ।
सयसाहस्सिअ दुक्ख, कोडाकोडीगुणं पि वा ॥ २ ॥
चारगनिरोहवहबंधरोगधणहरणमरणवसणाइ ।
मणसंतावो अजसो, विग्गोवणया य माणुस्से ॥ ३ ॥
चिंतासंतावेहि अ, दारिद्दरुआहि दुप्पउत्ताहिं ।
लद्धूण वि माणुस्सं, मरति केई सुनिव्विण्णा ॥ ४ ॥
ईसाविसायमयकोहमायलोहेहिं एवमाईहिं ।
देवादिसमभिभूआ, तेसिं कत्तो सुहं नाम ? ॥५॥" ध०२ अधि०।

दुःखत्रयाभिहतस्य पुरुषस्य तदपघातहेतुत्वाद् जिज्ञासोत्पद्यते । आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति दुःखत्रयम् । तत्राऽऽध्यात्मिकं द्विविधम्-शारीरं, मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम् । मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम् । सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम् । बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा-आधिभौतिकमाधिदैविकं चेति । तत्राधिभौतिकं-मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरनिमित्तम् । आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाऽऽवेशहेतुकम् । अनेन दुःखत्रयेण रजःपरिणामभेदेन बुद्धिवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलतया अभिसम्बन्धोऽभिघातः । (१५) स्या० ।

दुक्खी भंते ! दुक्खेणं फुडे ?। गोयमा ! दुक्खी दुक्खेणं फुडे, नो अदुक्खी दुक्खेणं फुडे । दुक्खी भंते ! नेरइए दुक्खेणं फुडे, अदुक्खी नेरइए दुक्खेण फुडे ?। गोयमा ! दुक्खी नेरइए दुक्खेणं फुडे, नो अदुक्खी नेरइए दुक्खेण फुडे, एवं दंडओ० जाव वेमाणियाणं, एवं पंच दंडगा नेयव्वा-दुक्खी दुक्खेणं फुडे, दुक्खी दुक्खं परियाइयइ, दुक्खी दुक्खं उदीरेइ, दुक्खी दुक्खं वेएइ, दुक्खी दुक्खं निज्जरेइ ।

(दुक्खी भंते ! दुक्खेण फुडे त्ति) दुःखनिमित्तत्वाद् दुःखं कर्म, तद्वान् जीवो दुःखी भदन्त ! दुःखेन दुःखहेतुत्वात् कर्मणा स्पृष्टो बद्धः, (नो अदुक्खी इत्यादि) नो नैवादुःखी अकर्मा दुःखेन स्पृष्टः, सिद्धस्यापि तत्प्रसङ्गादिति । (एव पच दंडगा णेयव्व त्ति) एवमित्यनन्तरोक्ताभिलापेन पञ्च दण्डका नेतव्याः, तत्र दुःखी दुःखेन स्पृष्ट इत्येक उक्त एव । (दुक्खी दुक्ख परियाइयइ त्ति) द्वितीयः, तत्र दुःखी कर्मवान् दुःखं कर्मपर्यायं ददाति, सामस्त्येनोपादत्ते, निधत्ताऽऽदि करोतीत्यर्थः । (उदीरेइ त्ति) तृतीय । (वेएइ त्ति) चतुर्थ । (निज्जरेइ त्ति) पञ्चम । उदीरणवेदननिर्जरणानि तु व्याख्यातानि प्रागिति । भ० ७ श० १ उ० ।

(जीवेन कृत दुःखमिति ' किंभय ' शब्दे तृतीयभागे ५२६ पृष्ठे प्रतिपादितम्)

जीवा णं भंते ! किं अत्तकडे दुक्खे, परकडे दुक्खे, तदुभयकडे दुक्खे ?। गोयमा ! अत्तकडे दुक्खे, णो परकडे दुक्खे, णो तदुभयकडे दुक्खे । एवं० जाव वेमाणियाणं । भ० १७ श० ३ उ० ।

जवने, दे० ना० ५ वर्ग ४२ गाथा ।

दुक्खक्खंध-दुःखस्कन्ध-पुं० । असातोदयपरम्परायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

दुक्खक्खम-दुःखक्षम-त्रि० । दुःखसहे, दुःखमसातवेदनीयोदयस्तदुदीर्णे सम्यक् क्षमते सहते न वैक्लव्यमुपयाति नापि न दुपशमार्थं वैद्यौषधाऽऽदि मृग्यते । आचा०२ श्रु० ४ चू०१ अ० ।

दुक्खक्खय-दुःखक्षय-पुं० । शारीरमानसानेकक्लेशविलये,पा० ।

दुक्खक्खय-दुःखक्षय-पुं० । दुःखमसुखं तत्कारणत्वाद्वा कर्म तत् क्षपयतीति दुःखक्षय । असुखक्षये, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

दुक्खग्गहण-दुःखग्रहण-न० । दुःखसङ्कटे, पं० व० १ द्वार ।

दुक्खंत-दुःखान्त-त्रि० । दुःखानामन्तो दुःखान्त । दुःखावसाने, पो० १६ विव० ।

दुक्खंतकर दुःखान्तकर-त्रि० । असुखस्य तद्धेतुभूतस्य भवस्य कर्मणो वा विनाशकारिणि, पञ्चा० १४ विव० ।

दुक्खत्त-दुःखाऽऽर्त्त-त्रि० । दुःखपीडिते, प्रव० ६ द्वार ।

दुक्खत्तगवेसण-दुःखाऽऽर्त्तगवेषण-न० । दुःखाऽऽर्त्तस्य दुःखपीडितस्य गवेषणमौषधाऽऽदिना प्रतिजागरण दुःखाऽऽर्त्तगवेषणम् । प्रव० ६ द्वार । दुःखितस्य प्रतीकारकरणे, पञ्चा० १६ विव० ।

दुक्खपडिकूल-दुःखप्रतिकूल-त्रि० । दुःखद्वेषिणि, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दुक्खपरंपरा-दुःखपरम्परा-स्त्री० । दुःखजन्ममरणेषु वियोगाऽऽदिरूपासु सकष्टश्रेणिषु, आतु० ।

दुक्खपरंपराणिवेयण-दुःखपरम्परानिवेदन-न० । दुःखानां शारीरमानसाशर्मलक्षणाना प्रवाहप्ररूपणे, आतु० ।

दुक्खपालिया-दुःखपालिता-स्त्री० । दुःखेन पालयितुं शक्यायां बालावस्थायाम्, त० ।

दुक्खफास-दुःखस्पर्श-पुं० । दुःखं स्पृशतीति दुःखस्पर्शः । असातोदयविपाकिनि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

दुक्खभय-दुःखभय-त्रि० । दुःखजन्ममरणाऽऽदिरूपाद्भयमेषामिति दुःखभयाः । मरणाऽऽदिभीतेषु, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

दुक्खमज्जिय-अर्जितदुःख-पुं० । अर्जितमुपार्जितं दुःखं यैस्ते अर्जितदुःखा. । मकारोऽत्रालाक्षणिक., प्राकृतत्वात्परनिपात । सञ्चितदुःखे, उत्त० ६ अ० ।

दुक्खमत्ता-दुःखमात्रा-स्त्री० । दुःखलेशे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

दुक्खमा-दुःषमा-स्त्री० । अधमकालाख्यायाम्, दश० १ चू० ।

दुक्खमोक्ख-दुःखमोक्ष-त्रि० । दुःखानामसातोदयजनितानां विनाशे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

दुक्खर-दुष्कर-त्रि० । दुःखेन क्रियते इति दुष्कर. । दुरनुष्ठाने उत्त० ३ अ० ।

दुक्खरक्खिया-दुःखरक्षिता-स्त्री० । कष्टेन रक्षणयोग्यायाम्, "दुक्खरक्खियाओ।" त० । दुःखरक्षिता. कष्टेन रक्षणयोग्या यौवनावस्थायां (स्त्रियः) त० ।

दुक्खरिय-दुष्करिक-पुं० । दासे, नि० चू० १६ उ० ।

दुक्खरिया-दुष्करिका-स्त्री० । दास्याम्, महाश्रद्धायाम्, नि० चू० १६ उ० । वेश्यायां च । नि० चू० १ उ० ।

दुक्खविमोक्ख-दुःखविमोक्ष-पुं० । घातिकर्मभवोपग्राहिकमदविमोक्षे, पं० व० ४ द्वार ।

दुक्खविमोक्खय-दुःखविमोक्षक-पुं० । दुःखविमोचके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

दुक्खविमोयग-दुःखविमोचक-पुं० । अष्टप्रकारकर्माऽपनेतरि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

दुक्खसंभव-दुःखसंभव-पुं० । दुःखस्य सम्भवो येषु ते दुःखसम्भवाः । दुःखप्रजनकेषु,दुःखं करोति ततो दुःखयतीति वा दुःखं पापकर्म, तत सम्भव उत्पत्तिर्येषा ते दुःखसम्भवा । पापकर्मजेषु, उत्त० ६ अ० ।

दुक्खसंभार-दुःखसम्भार-पुं० । दुःखबाहुल्ये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दुक्खसमुदीरण-दुःखसमुदीरण-त्रि० । असुखप्रवर्तके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दुक्खसह-दुःखसह-त्रि० । परीषहोपसर्गकृतं दुःखं सहते इति दुःखसह । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० । परीषहजेतरि, दश० ७ अ० ।

दुक्खावणता-दुःखापनता-स्त्री० । ताशब्दोऽत्र प्राकृत. । मरणलक्षणदुःखप्रापणायाम्, इष्टवियोगाऽऽदिदुःखहेतुप्रापणायां च । भ० ३ श० ३ उ० ।

दुक्खाविज्जंत-दुःखाय्यमान-त्रि० । दुःखमनुभाव्यमाने, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दुक्खासिया-दुःखासिका-स्त्री० । उपसर्गाऽऽदिसम्पाद्यवेदनायाम्, स्था० ३ ठा० ४ उ० । आचा० ।

दुक्खाहड-दुःखाऽऽहृत-त्रि० । दुःखेनाऽऽह्रियते इति दुःखाऽऽहृतम् । दुःखोत्पाद्ये, उत्त० ७ अ० ।

दुक्खि (ण्)-दुःखिन्-त्रि० । दुःखमसातवेदनीयमुदयेन यत् प्राप्तं तत्कारणं वा दुःखयतीति दुःख, तदस्यास्तीति दुःखी । दुःखविशिष्टे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । आचा० ।

दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विदेज्ज सिलोय पूयणं ।
एवं सहितेऽहिपासए, आयतुलं पाणेहि संजए ॥१२॥

दुःखमसातवेदनीयोदयेन यत्प्राप्त, तत्कारणं वा, दुःखयतीति दुःखं, तदस्यास्तीति दुःखी सन् प्राणी पौनःपुन्येन मोहं याति सदसद्विवेकविकलो भवति । इदमुक्तं भवति-असातोदयाद् दुःखमनुभवन्नार्तो मूढस्तत्करोति येन पुन. पुन सुखी संसारसागरमनन्तमप्येति तदेवंभूत मोहं परित्यज्य सम्यगुत्थानेनोत्थाय निर्विद्येत जुगुप्सेत परिहरेदात्मश्लाघा स्तुतिरूपाम्,तथा पूजनं वस्त्राऽऽदिलाभरूपं परिहरेत् । एवमनन्तरोक्तरीत्या परिवर्तमान सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानाऽऽदियुक्तो वा संयतः प्रव्रजितोऽपरप्राणिभि सुखार्थिभिरात्मतुलामात्मतुल्यतां दुःखाप्रियत्वसुखप्रियत्वरूपामधिकं पश्येत्,

आत्मतुल्यान् सर्वानपि प्राणिन पालयेदिति ॥ १२ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दुक्खिय-दुःखित-त्रि० । " दु खदक्षिणतीर्थे वा " ॥८।२।७२॥ इति सयुक्तस्य वा ह' । 'दुह। दुक्ख।' प्रा० २ पाद। "निर्दुरो-र्वा " ॥ ८। १। १३ ॥ इति दुरोऽन्त्यव्यञ्जनस्य वा लुक् । " दु-क्खिओ। दुहिओ।" प्रा० १ पाद। दु खमस्यातऽऽस्मक जातमे-षामिति दुःखिना । जातदुःखेषु,उत्त० ३ अ० । "परदुक्खेण दु-क्खिआ विरला ।" प्रा० २ पाद । रोगाऽऽदिपीडाक्रान्ता-से,त० ।

दुक्खुच्छेयट्ठि (ण्)-दुःखोच्छेदार्थिन्-पु० । ससारक्लेशजि-हासुषु, द्वा० २२ द्वा० ।

दुक्खुत्तेय-दुःखोत्तेय-त्रि० । कृच्छ्रबोध्ये, जीवा० ३३ अधि० ।

दुक्खुत्त-द्विःकृत्वस्-अव्य० । द्वौ वारावित्यर्थे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

दुक्खुव्वेय-दुःखोद्वेग-पु० । दु.खादुद्वेगो यस्य स दुःखोद्वेग. । दु खोद्विग्ने, " दुक्खुव्वेयसुहेसए । " सुखस्यैषक सुखैषक दु खोद्वेगश्चासौ सुखैषकश्च दु खोद्वेगसुखैषक । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

दुखुर-द्विखुर-पु० । द्वौ खुरौ प्रतिपद येषां ते द्विखुरा । प्रश्ना० १ पद । गोमहिषाऽऽदिषु,सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । उत्त० । व्या० । जी० ।

दुग-द्विक-न० । द्वैक्रियनिह्नवे, उत्तरपदलोपादेकसमये द्वे क्रिये समुदिते द्विक्रिय, तदधीयते तद्वादिनो वा द्वैक्रिया । कालभे-देन क्रियानुभवप्ररूपिण इत्यर्थ । आ० म० १ अ० २ खण्ड । उत्त० । स्था० । द्वौ साधर्मिकौ सविग्नसांभोगिकाऽऽदिरू-पावेकत्र एकस्मिन् स्थाने समुदितौ विहरत ,तत्रैकोऽन्यतरद् अ-कृत्य स्थान प्रतिसेव्य आलोचयेत् । यद्यगीतार्थ प्रतिसेवि-तवान् ततस्तस्मै शुद्धतपो दातव्यम् । अथ गीतार्थस्तर्हि यदि परिहारतपोयोग्यमापन्नस्तत परिहारतपो दद्यात, तदनन्तर स्थाप्यते विविक्त कृत्वा प्ररूप्यते इति स्थापनीय परिहारत-पोयोग्यमनुष्ठान तत् स्थापयित्वा प्ररूप्य य आपन्न स परि-हारतप प्रतिपद्यते, इतर कल्पस्थितो भवति, स एव च त-स्यानुपारिहारिकस्ततस्तेन तस्य करणीयवैयावृत्त्यमित्येष सूत्र-सक्षेपार्थ. ।

अधुना निर्युक्तिविस्तर -

दोमाहम्मिय छव्वा-रसेव लिंगम्मि होइ चउभंगो ।
चत्तारि विहारम्मि उ, दुविहो भावम्मि भेदो उ ॥ ३ ॥

द्विशब्दस्य, साधर्मिकशब्दस्य च यथाक्रमं षट् द्वादश नामाऽऽदयो निक्षेपा ,द्विशब्दस्य षट्,साधर्मिकशब्दस्य द्वाद-शधा निक्षेप इत्यर्थ । लिङ्गे लिङ्गविषये चतुर्भङ्गी भवति। सूत्रे च पुस्त्वनिर्देश प्राकृतत्वात् । तथा विहारे चत्वारो नामाऽऽदयो निक्षेपा । तत्र भावे द्विविधो भेद । एष द्वारगाथासक्षेपार्थ । व्यासार्थं च प्रतिपदमभिधित्सु प्रथमतो द्विशब्दस्य षड्नि-क्षेपमाह-

नाम ठवणा दविए, खेत्ते काले य होइ बोधव्वो ।
भावे य दुगे एसो, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ४ ॥

नामद्विक,स्थापनाद्विक,द्रव्य द्रव्यविषय द्विकम्, एव क्षेत्रद्विक कालद्विक च भवति बोद्धव्य,तथा भावे च भावविषय च द्विक-म,एव द्विके द्विशब्दस्य षड्विधो भवति निक्षेप । तत्र नामद्विक द्वे नामनी । अथवा यस्य द्विकमिति नाम तन्नामद्विक, स्थापनाद्विक द्वे स्थापने, द्विकस्य स्थापना वा द्विकम् ।

सम्प्रति द्रव्यक्षेत्रकालद्विकप्रतिपादनार्थमाह-

चित्तमचित्तं एक्के-क्कयस्स जे जत्तिया दुगे भेया ।
खेत्ते दुपएसाऽऽदी, दुसमयमादी उ कालम्मि ॥ ५ ॥

द्रव्यद्विक द्विविधम्-आगमतो,नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो द्विक-शब्दार्थज्ञाता,तत्र चानुपयुक्त । नोआगमतस्तु त्रिविधम्,ज्ञशरी-रभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात् । तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्राग्व-त् । तद्व्यतिरिक्त सचित्तमचित्तं च । एकैकस्य ये यावन्तो द्विक-भेदा सम्भवन्ति ते सर्वे वक्तव्या. । ते चेमे-सचित्त द्रव्य द्विक द्विधा-ससारस्थं,निर्वृत्त च । ससारस्थ द्विधा-एकेन्द्रियम्,अ-नेकेन्द्रिय च । तत्रैकेन्द्रिय पञ्चप्रकारम्-पृथिव्यप्तेजोवायुवन-स्पतिभेदात् । एकैकमपि द्विधा-पर्याप्तम्, अपर्याप्त च । अने-केन्द्रिय द्विधा-विकलेन्द्रियं, पञ्चेन्द्रिय च । विकलेन्द्रिय त्रि-धा-द्वित्रिचतुरिन्द्रियभेदात्(?) पुन. प्रत्येक द्विधा-पर्याप्तम्,अप-र्याप्तम् । पञ्चेन्द्रिय द्विधा-सख्यातवर्षाऽऽयुष्कम्,असख्यातवर्षा-ऽऽयुष्क च । एकैक द्विधा-पर्याप्तम्,अपर्याप्त च । निर्वृत्तमपि द्वि-धा-अनन्तरसिद्धम्,परम्परसिद्ध च । अथवा-सचित्त त्रिविधम् । तद्यथा-द्विपद,चतुष्पदम्,अपद च । तत्र द्विपद द्वौ पुरुषावित्यादि । चतुष्पद द्वौ बलीवर्दावित्यादि । अचित्त द्वौ परमाणू द्वौ द्विप्रदे-शिकौ,द्वौ त्रिप्रदेशकौ,यावद् द्वौ सख्यातप्रदेशिकौ, द्वावनन्त-प्रदेशिकौ । सख्यातस्य सङ्ख्याता भेदा. । असख्यातस्य अ-सख्याता । अनन्तस्य अनन्ता । उक्त द्रव्यद्विकम् । आह- (खेत्ते दुपदेसादी) क्षेत्रे क्षेत्रविषय द्विप्रदेशाऽऽदि द्वावाकाशप्रदेशावा-दिशब्दाद् द्विप्रदेशावगाढ वा द्रव्य क्षेत्रद्विक, क्षेत्रे द्विके तस्या-वस्थानात् । यद्विवा-तस्य द्वे भारते, द्वे ऐरावते इत्या-दिपरिग्रह । उक्त क्षेत्रद्विकम् । कालद्विकमाह-द्विसमयाऽऽदिक, द्वौ समयावादिशब्दाद् द्वे आवलिके, द्वौ मुहूर्तावित्यादिपरिग्र-ह. । अथवा-द्विसमयस्थितिकं द्रव्य कालद्विके अवस्थानात कालद्विकमादिशब्दाद् द्व्यावलिकास्थितिकाऽऽदिपरिग्रह. । उक्त कालद्विकम् ।

अधुना भावद्विकमाह-

(भावे पसत्थमपस-त्थगं च दुविधं दुयं च णायव्वं ।
अविरयपमायमेव य, अपसत्थं होति दुविधं तु ॥६॥)
भावे पसत्थमियरं, होइ पसत्थं तु नाणे णोनाणे ।
केवलछउमत्थ नाणे, नो नाणे दिट्ठि चरणे य ॥६॥

भावद्विक द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो द्विकशब्दार्थज्ञाता, तत्र चोपयुक्त । " उपयोगो भावनिक्षेपः " इति वचनात् । नोआगमतो द्विधा । तद्यथा- प्रशस्तम्,इतरच्च । इतर नामाऽप्रशस्तम् । तच्चेदम्- रागो, द्वेषश्च । प्रशस्त द्विधा- ज्ञान, नोज्ञान च । तत्र ज्ञाने ज्ञानविषय द्विकमिदम् । तद्यथा-कै-वलिक, छाद्मस्थिक च । नो ज्ञाने नोज्ञानविषय द्विकम्-दृष्टि, चरण च । दृष्टि सम्यक्त्व, चरण चारित्रम् ।

एतदेव सप्रभेद प्ररूपयति-

एक्केक्कं पि य तिविहं, सट्ठाणे नत्थि खइएँ अइयारो ।
उवसामिएसु दोसु अ, अइयारो होज्ज सेसेसु ॥ ७ ॥

एकैकमपि दर्शन, चरण च प्रत्येकमित्यर्थ । त्रिविध त्रिप्रकारम्। तद्यथा-क्षायिकम औपशमिक, क्षायोपशमिक च । तत्र क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिकसम्यग्दृष्टावौपशमिकमुपशमश्रेण्या, शेषकाल क्षायोपशमिक, चरणमपि क्षायिक क्षपकनिर्ग्रन्थस्य, औपशमिकमुपशमिकश्रेण्याम्, अन्यदा क्षायोपशमिक,तत्र क्षायिके ज्ञाने दर्शने चारित्रे च स्वस्थाने नास्त्यतीचार । तथाहि-केवलिनस्त्रिष्वपि ज्ञानदर्शनचारित्रेषु क्षायिकेषु वर्तमानस्य न तद्विषया काचिदपि विराधना । परस्थानेषु सम्भवेऽपि, तथा श्रेणिकेऽल्पत्वाद्वे क्षायिके दर्शने वर्तमानस्य दर्शने नास्ति विराधना, ज्ञानचरणयोस्तु भजनेति । (उवसामिएसु दोसुत्ति) द्वयोर्दर्शनचरणयोरौपशमिके भावे वर्तमानयो. स्वस्थाने चाऽस्त्यतीचार., औपशमिक हि दर्शन चारित्र नियमादुपशमश्रेण्यां भवति, तत्र कषायाणामुपशान्तत्वान्नास्ति कश्चिदतीचारसम्भव । ज्ञानविराधनात् सम्भवेदप्यनुयोगतोऽन्यथा प्ररूपणाचिन्तनाऽऽदिसम्भवात्। उपशमश्रेणीत पाते तु भवत्यतीचार , औदयिकभावे वर्तमानत्वात्। शेषेषु पुन क्षायोपशमे स्वस्थाने चातिचारो भवेत्, क्षायोपशमिकत्वात्।

एतदेवाऽऽह-

सट्ठाण परट्ठाणे, खओवसमिएसु तीसु वी भयणा ।
दंसणउवसमखइए, परट्ठाणे होंति भयणा उ ॥ ८ ॥

क्षायोपशमिके भावे वर्तमानेषु त्रिष्वपि ज्ञानाऽऽदिषु स्वस्थाने परस्थाने चातिचार ,कदाचिद् भवति, कदाचिन्न भवतीत्यर्थ । दर्शने, उपलक्षणमेतत्, चरणे च, औपशमिके क्षायिके च स्वस्थानेऽतीचारो भवति, परस्थाने तु भजना।

अत्र येन द्विकेनाधिकार तदभिधित्सुराह-

दव्वदुए दुपएणं, सचित्तेण च एत्थ अहियारो ।
मीसेणोदइएण य, भावम्मि वि होति दोहिं पि ॥ ९ ॥

अत्र द्रव्यद्विकेन चाऽधिकार -तत्र द्रव्यद्विकेन सचित्तेन तेनाऽपि च द्विपदेन साधर्मिकद्वयस्य चिन्त्यमानत्वात्, भावे मिश्रेण क्षायोपशमिकेन औदयिकेन चेति द्वाभ्या भावाभ्यामधिकार। अनयोरेव द्वयोर्भावयोर्वर्तमानस्यातीचारसम्भवात् । व्य० २ उ० । द्वौ ककारौ यत्रासौ द्विक । कृतके, पु०। रत्ना० ८ परि०।

दुगुंछ-गुप-धा० । कुत्सने, भ्वा०-आत्म०-अक०-सेट् । वाच० । " जुगुप्सेर्झुण-दुगुच्छ-दुगुञ्छाः " ॥ ८ । ४ । ४ ॥ इति जुगुप्सेर्दुगुच्छदुगुञ्छावादेशौ । ' दुगुच्छइ । दुगुञ्छइ । ' प्रा ४ पाद । जुगुप्सन । अजुगुप्सिष्ट । वाच० ।

दुगुंछग-जुगुप्सक-पु० । गर्हके, आव० ३ अ० । मुनीना जुगुप्सा कर्तु योग्याया योषिति, त० ।

दुगुंछण-जुगुप्सन-न० । गर्हणे,आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

दुगुंछमाण-जुगुप्समान-त्रि० । गर्हमाणे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

दुगुंछा-जुगुप्सा-स्त्री० । लोकविहितायां निन्दायाम्, विशे० । आ० चू० । उत्त० । सूत्र० । आचा० । यत्पुनरस्नानदन्तधावनमण्डलीभोजनाऽऽदिकमपर मृतकलेवरविष्ठाऽऽदिक जुगुप्सते सा जुगुप्सा । साध्वाचारनिन्दारूपे आन्तरग्रन्थे, वृ० १ उ० २ प्रक० । " अण्हाणमाइएहिं, साहु तु दुगुंछति दुगुंछ । " उत्त० ४ अ० । जुगुप्सा प्रवचनविषया विद्वज्जुगुप्सादर्शनेन सा भूयं- लेव प्रत्ययो यत्र तत्तथा । प्रवचननिन्दायाम्, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

दुगुंछाकम्म-जुगुप्साकर्म-न० । यदुदयेन च विष्ठाऽऽदिवीभत्सपदार्थेभ्यो जुगुप्सन तज्जुगुप्साकर्म । कर्मभेदे, स्था० १० ठा० ।

दुगुंछामोहणीय-जुगुप्सामोहनीय-न० । यदुदयात्सनिमित्तम-निमित्त वा जीवस्याशुभवस्तुविषया जुगुप्सा भवति, तज्जुगुप्सामोहनीयम् । कर्म० १ कर्म० । यदुदयवशात्पुनर्जन्तो शुभाशुभवस्तुविषय व्यलीकमुपजायते तज्जुगुप्सामोहनीयम् । कर्मभेदे, कर्म० ६ कर्म० ।

दुगुंछित्ता-जुगुप्सित्वा-अव्य० । धिगमा पापकारिणमित्यादिना निन्दा कृत्वेत्यर्थे, ध० २ अधि० ।

दुगुंछिय-जुगुप्सित-त्रि० । गर्हिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० । जुगुप्सितावद्यगर्हिता समानार्था. । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दुगुंछियकुल-जुगुप्सितकुल-न० । छिम्पकाऽऽदिकुलेषु, ओघ० । चर्मकारकुलाऽऽदिषु, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥२६॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु वत्थ वा पडिग्गहं वा कंबल वा पायपुंछणं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ।२७। जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु वसहिं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं करेइ, करतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झाय उद्दिसइ, उद्दिसतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं समुद्दिसइ, समुद्दिसतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं अणुजाणइ, अणुजाणतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झाय वाएइ, वायंत वा साइज्जइ ॥३३॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झाय पडिच्छइ, पडिच्छतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥ जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झाय परियट्टेइ, परियट्टतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

चउलहु तेसिं पच्छित्त ।

तेसिं इमे भेदा, सरूव च । गाहा-

दुविहा दुगुंछिता खलु, इत्तरिया होंति आवकहिया य ।
एएसिं णाणत्त, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ६६१ ॥
सूयगमातगकुला, इत्तरिया ते य होंति णिज्जूढा ।
जे तत्थ जुगिता खलु, ते होंती आवकहिया य ॥६६२॥

णिज्जूढा जे वज्जाकया मतगपडिय त्ति, आवकहिगा. जे जत्थ विसए जात्यादिजुगिता जहा दक्खिणापहे लोहे लोहकारकल्ला लाभेसु णडवरुडचम्मकारादि ते आवकहिया।

गाहा-

तेसु असणवत्थादी, वसही अहव वायणादीणि ।

जे भिक्खू गिण्हेज्जा, विसेज्ज कुज्जा व आणादी ॥ ६६३ ॥

असणवत्थादियाण गहणं, जो वसहीए वा विसेज्ज पविसति, वायणादि वा सज्झाय कुज्जा, तस्स आणादिया दोसा ।

गाहा-

अयसो पवयणहाणी, विप्परिणामो तह दुगुंछा य ।

तेसिं च होति संका, सव्वे एयारिसा समणा ॥ ६६४ ॥

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने ।

अद्धाणरोहए वा, अयाणमाणे वि वितियपदं ॥ ६६५ ॥

सर्वे साधवो नीचा इत्यादि अयसः, असभोजसपक्ख त्ति काश्चित् प्रव्रजतीति एव पवयणहानी, अभोज्जे दुभक्तादिग्रहण दृष्ट्वा धर्माभिमुखा पूर्वप्रतिपन्नगा वा विपरिणमते, स्वपाकादिसमाना इति जुगुप्सा, जेसु वि गेण्हइ तेसु वि संका-सव्वे एयलिंगधारिणो एते एयारिस त्ति अह परिमो । इमो अववादो ।

एतेहिं असिवादिकारणेहिं जया घेप्पति तदा पवयणपरिहाणी, जाहे चउलहु पत्तो ताहे इमाए जयणाए गेण्हति । गाहा-

अण्णत्थ व ठावेउं, लिंगविवेगं च काउ पविसेज्जा ।

काऊण व उवओगं, अदिट्ठमत्तादिसंवरितो ॥ ६६६ ॥

सो दुगुंछितो असणवत्थादी अप्पसारिय अण्णत्थ सुण्णघरादिसु ठवाविज्जति, त वि पच्छा गेण्हति, अहवा रओहरणादि उवकरणं अण्णत्थ ठवेत्तु सरक्खादि परलिंग काउ जहा अदसादिदोसा ण भवति, तदा पविसिउं गेण्हति । अहवा मज्झण्हादिविअणकाले दिगावलोयणं काउ अण्णेण अदिस्सतो मेत्तयं पत्तं वा वासकप्पमादिणा सुट्ठु आवरेत्ता पविसति, गेण्हइ पच्छा दिय वि जहा अविरुद्ध तहा गेण्हति, वसहिं अण्णत्थ असभतो वाहिं सावयतेणभएसु वसहिं गेण्हिज्जइ, जहा ण णज्जति सज्झाय ण करेंति, रायदुट्ठादिसु अतिगतो अप्पसागारिसज्झायज्झाणधम्मकहादी वि करेज्ज । नि० चू० १६ उ० ।

दुगुण-द्विगुण-त्रि० । द्विरावृत्ते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आचा० । स० । "दुगुण करेइ से पावं ।" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

दुगुल्ल-दुकूल-न० । गौडविषये विशिष्टे कार्पासिके वस्त्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० । जी० । दुकूलो वृक्षविशेषस्तस्य वल्कलं गृहीत्वोदूखले जलेन सह कुट्टयित्वा बुसीकृत्य च सूत्रीकृत्य वयते यत्तद् दुकूलम् । जं० २ वक्ष० । प्रश्न० । दुकूलाभिधानवृक्षत्वग्निष्पन्ने वस्त्रजातिविशेषे, भ० ११ श० ११ उ० । जी० । ज्ञा० । सू० प्र० । आ० म० । दशा० । नि० चू० । "दुगुल्लपट्टपडिच्छन्नं ।" दुकूलं वस्त्रं तस्य य पट्टो युगलापेक्षया एकपट्ट, तेन आच्छादित । कल्प० २ क्षण । रा० ।

दुगूल्ल-दुकूल-न० । 'दुगुल्ल' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

दुगोय-द्विगोत्र-न० । गोत्रवेदनीयकर्मद्विके, कर्म० । "गोयवेयणियं ।" इतिवचनाद्गोत्रवेदनीयस्वरूपं तत्र गोत्रमुच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रभेदाद् द्विधा । सातासातभेदाद्वेदनीयमपि द्विधा, इत्येताश्चतस्रः प्रकृतयो गोत्रद्विकशब्देन गृह्यन्ते । कर्म० ५ कर्म० ।

दुग्ग-दुर्ग-त्रि० । दुःखेन गम्यतेऽसौ कर्मणि-रू. । विषमे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । गहने, दुर्विज्ञेये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । स्त्री० । अपराजितायां नीलयां च । स्त्री० । गुग्गुलौ, पुं० । दुःखेन गच्छत्यत्र । दुर्-गम-आधारे रू. । पर्वतादिदुर्गमे पुरे कोट्ट (किला) (गढ) इतिख्याते दुर्गमदेशे, वाच० । दुःखेन सत्तरे संसारे, न० । वाच० । खातवलयप्राकाराऽऽदिदुर्गमे, भ० ७ श० ६ उ० । स्तेनपरचक्राऽऽद्यगम्यस्थाने च । बृ० ३ उ० । भ० । ज० । कष्टसाध्ये, ज० १ श० ३ उ० । दु.खाऽऽश्रयणीये, भ० ५ श० ६ उ० । पर्वताऽऽदिदुर्गमिव कथमपि लङ्घयितुमशक्ये, स्था० ५ ठा० २ उ० । दुर्गमप्रदेशे च । विपा० १ श्रु० ३ अ० । दशा० ।

तिविहं च होति दुग्गं, रुक्खे सावए मणुस्सदुग्गं वा ।

निक्कारणम्मि गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥ ११ ॥

त्रिविधं च भवति दुर्गम् । तद्यथा-वृक्षदुर्गं, श्वापददुर्गं, मनुष्यदुर्गं च । यद् वृक्षैरतीव गहनतया दुर्गमं, यत्र वा पथि वृक्षाः पतितास्तद् वृक्षदुर्गम् । यत्र व्याघ्रसिंहाऽऽदीनां भयं तत् श्वापददुर्गम् । यत्र म्लेच्छबोधिकाऽऽदीनां मनुष्याणां भयं तन्मनुष्यदुर्गम् । एतेषु त्रिष्वपि दुर्गेषु यदि निष्कारणे निर्ग्रन्थीं गृह्णाति अवलम्बते वा चतुर्गुरु, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः । बृ० ६ उ० । दु खे, कष्टयां च । दे० ना० ५ वर्ग ५३ गाथा ।

दुग्गइ-दुर्गति-स्त्री० । दुष्टा गतिर्दुर्गतिः । दुष्टायां गतौ, स्था० ।

तओ दुग्गईओ पण्णत्ताओ । तं जहा-णेरइयदुग्गई, तिरिक्खजोणियदुग्गई, मणुस्सदुग्गई (देवदुग्गई) ॥

मनुष्यदुर्गतिर्दुःखितमनुष्यापेक्षया, देवदुर्गतिः किल्बिषिकाऽऽद्यपेक्षया इति । स्था० ४ ठा० १ उ० । आतु० ।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुग्गइं गच्छंति । तं जहा-पाणाइवाएणं जाव परिग्गहेणं । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

"तओ जिए सइ होइ, दुविहं दोग्गइं गए । दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाए सुचिरादवि ॥ १८ ॥" उत्त० ७ अ० ।

दुग्गइगय-दुर्गतिगत-त्रि० । दुर्गतिं प्राप्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

दुग्गइगामि (ण्) -दुर्गतिगामिन्-त्रि० । दुर्गतिं नारकतिर्यग्रूपामयन्ति प्राणिनामिति दुर्गतिगामिन्यः । दुर्गतिगमनहेतौ, तिस्रो लेश्या दुर्गतिगमनहेतवः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । दुर्गतो दरिद्रः सन् दुर्गतिं गमिष्यतीति दुर्गतिगामी । दुर्गतिगमनशीले च । पुं० । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

दुग्गइपहदायग-दुर्गतिपथदायक-पुं० । तिर्यग्नारककुमानुषकुदेवरूपदुर्गतिमार्गप्रापके, ग० २ अधि० ।

दुग्गइप्पवाअ-दुर्गतिप्रपात-त्रि० । दुर्गतौ नरकाऽऽदिकायां कर्तारं प्रपातयतीति दुर्गतिप्रपातः । दुर्गतौ वा प्रपातो यस्मात् स तथा । दुर्गतिपतनहेतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दुग्गइफल-दुर्गतिफल-त्रि० । दुर्गतिः फलं यस्य स दुर्गतिफलः । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । कुदेवत्वाऽऽदिप्रयोजने, पञ्चा० ४ विव० ।

दुग्गइफलवाइ (ण्) -दुर्गतिफलवादिन्-पुं० । दुर्गतिः फलं यस्य स दुर्गतिफलः, तद्वदनशीला दुर्गतिफलवादिनः । दुर्गतिफलमार्गोपदेष्टरि मिथ्यादृष्टौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

दुग्गइवद्धण-दुर्गतिवर्द्धन-न० । संसारवर्द्धने, दश० ६ अ० ।

दुज्जोहण–दुर्योधन–पु० । स्वनामख्याते धृतराष्ट्रपुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । आ० म० । सिंहपुरनगरराजस्य सिंहरथाभिधानस्य स्वनामख्याते गुप्तिपाले, स्था० १० ठा० । विपा० ।

दुज्झा–दोह्या–स्त्री० । दोहार्हायाम, दश० ७ अ० ।

दुज्झाण–दुर्ध्यान–न० । आर्त्तरौद्ररूपे ध्याने, ध० २ अधि० ।

दुज्झाय–दुर्ध्यात–त्रि० । दुष्टो ध्यातो दुर्ध्यातः । एकाग्रचित्ततया आर्त्तरौद्रलक्षणे, ध० २ अधि० । आव० । दुष्टचिन्ताविषयीकृते, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

दुज्झोस–दुर्जोष–पु० । दुःक्षये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

दुट्ठ–दुष्ट–त्रि० । दोषवति, प्रति० । सू० । (स च विषयकषायभेदाद् द्विधेति 'पारंचिय' शब्दे व्याख्यास्यते) प्रद्विष्टे च राजनि, नि० चू० १ उ० । सूत्र० । दुर्मनसि,सूत्र० २ श्रु० २ अ० । द्विष्ट–त्रि० । तत्त्व प्रज्ञापकं वा प्रति द्वेषवति, स्था० ३ ठा० ४ उ० । द्विष्टो द्वेषवान् अत्युत्कटरूषायत्र द्विष्टस्त प्राणग्राह विना न मुञ्चति । दर्श० २ तत्त्व ।

दुट्ठगाह–दुष्टग्राह–पु० । निर्दयमहामकराऽऽदिषु, त० ।

दुट्ठचेय–दुष्टचेतस्–पु० । कलुषान्तःकरणे, आचा० २ श्रु० ४ चू० १ अ० २ उ० ।

दुट्ठट्ठकम्मणिट्ठावग–दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापक–पु० । दुष्टानामष्टानां कर्मणां निष्ठापके विनाशके केवलजिने, प० स० १ द्वार ।

दुट्ठवाइ (ण्)–दुष्टवादिन्–पुं० । प्रत्यकग्राहिणि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

दुट्ठस्स–दुष्टाश्व–पु० । कुलक्षणघोटके, त० । गर्दभे च । सू० १ उ० २ प्रक० ।

दुट्ठस्सहत्थिमाइ–दुष्टाश्वहस्त्यादि–पु० । मारकतुरगकरिवरप्रभृतौ, पञ्चा० १८ विव० ।

दुट्ठसावयसमाहय–दुष्टश्वापदसमाहत–त्रि० । दुष्टा क्षुद्रा श्वापदा व्याघ्राऽऽदयस्तैः समाहतेष्वभिभूतेषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दुट्ठहियय–दुष्टहृदय–त्रि० । दुष्टचित्ते, त० ।

दुट्ठाण–दुःस्थान–न० । शीताऽऽतपदंशमशकाऽऽदियुक्तेषु कायोत्सर्गाऽऽसनाऽऽद्याश्रयेषु, भ० १६ श० ३ उ० ।

दुट्ठाणय–द्विस्थानक–न० । स्वनामख्याते स्थानाङ्गस्य द्वितीयेऽध्ययने, स्था० २ ठा० १ उ० ।

दुट्ठासण–दुष्टासन–न० । पादोपरि पादस्थापनाऽऽदिकेऽनौचित्योपवेशने, प्रव० ३८ द्वार । ध० ।

दुणाम–द्विनामन्–न० । द्विविधं द्विप्रकारकं च तद् नाम द्विनाम । नामभेदे, अनु० ।

से किं तं दुनामे ? । दुनामे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–एगक्खरिए अ, अणेगक्खरिए अ । से किं तं एगक्खरिए ? । एगक्खरिए ह्रीः, श्रीः, धीः, स्त्री । सेत्तं एगक्खरिए । से किं तं अणेगक्खरिए ? । अणेगक्खरिए–कन्ना, वीणा, लता, माला । सेत्तं अणेगक्खरिए ॥

(से किं तं दुनामे इत्यादि) यत एकेन द्विनामान एव द्विविधं द्विप्रकारम् । तद्यथा–एकं च तदक्षरं च तेन निर्वृत्तमेकाक्षरिकम्, अनेकानि च तान्यक्षराणि च तैर्निर्वृत्तमनेकाक्षरिकम् । चकारौ समुच्चयार्थौ । तत्रैकाक्षरिके–ह्रीर्लज्जा,देवताविशेषो वा । श्रीर्देवताविशेषः । धीर्बुद्धिः । स्त्री योषिदिति । अनेकाक्षरिका कन्येत्यादि । उपलक्षणं चेदं बलाकापताकाऽऽदीनामाद्यक्षरनिष्पन्ननाम्नामिति । तदेवं यदस्ति वस्तु तत्सर्वमेकाक्षरेण वा नाम्नाऽभिधीयतेऽनेकाक्षरेण वाऽतोऽनेन नामद्वयेन विवक्षितस्य सर्वस्यापि वस्तुजातस्याभिधानाद् द्विनामोच्यते, द्विरूपं तस्यैतस्य नाम द्विनाम, द्वयोर्वा नाम्नोः समाहारो द्विनामेति ।

एतदेव प्रकारान्तरेणाऽऽह–

अहवा दुनामे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–जीवणामे अ, अजीवणामे अ । से किं तं जीवणामे ? । जीवणामे–देवदत्तो, जण्णदत्तो, विण्हुदत्तो, सोमदत्तो । सेत्तं जीवणामे । से किं तं अजीवणामे ? । अजीवणामे–घडो, पडो, कडो, रहो । सेत्तं अजीवणामे ॥

(अहवा दुनामे इत्यादि) जीवस्य नाम जीवनाम, अजीवस्य नाम अजीवनाम । अत्रापि यदस्ति, तेन जीवनाम्ना, अजीवनाम्ना वा भवितव्यमिति । जीवाजीवनामभ्यां विवक्षितसर्ववस्तुसंग्रहो भावनीयः । शेषं सुगमम् ।

पुनरेतदेवान्यथा प्राऽऽह–

अहवा दुनामे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–विसेसिए, अविसेसिए य । अविसेसिए जीवदव्वे, अजीवदव्वे य । विसेसिए णेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे, अविसेसिए णेरइए, विसेसिए रयणप्पभाए सक्करप्पभाए वालुअप्पभाए पंकप्पभाए धूमप्पभाए तमाए तमतमाए, अविसेसिए रयणप्पभाए पुढविणेरइए, विसेसिए पज्जत्तए अ अपज्जत्तए अ, अविसेसिए तिरिक्खजोणिए, विसेसिए एगिंदिए बेइंदिए तेइंदिए चउरिंदिए पंचिंदिए, अविसेसिए पुढविकाइए आउकाइए तेउकाइए वाउकाइए वणस्सइकाइए, विसेसिए पुढविकाइए, अविसेसिए एगिंदिए, विसेसिए पुढविकाइए सुहुमकाइए अ बादरपुढविकाइए अ, अविसेसिए सुहुमपुढविकाइए, विसेसिए पज्जत्तयसुहुमपुढविकाइए अ, अविसेसिए अ बादरपुढविकाइए, विसेसिए पज्जत्तयबादरपुढविकाइए अ अपज्जत्तयबादरपुढविकाइए । एवं आउकाइए तेउकाइए वाउकाइए वणस्सइकाइए अ विसेसिअविसेसिअपज्जत्तएहिं भाणिअव्वा । अविसेसिए बेइंदिए, विसेसिए पज्जत्तयबेइंदिए अ अपज्जत्तयबेइंदिए य । एवं तेइंदिअचउरिंदिआ वि भाणिअव्वा । अविसेसिए पंचिंदिअतिरिक्खजोणिए, विसेसिए जलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए थलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए खयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए जलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए, विसेसिए संमुच्छिमजलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ गब्भवक्कंतिअजलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ, अविसेसिए संमुच्छिमजलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए, विसेसिए अपज्जत्तयसंमुच्छिमजलयरपंचिंदिअतिरिक्खजोणिए अ अपज्जत्तयसंमुच्छिमजलयरपंचिंदिअ-

दुणय-दुर्नय-त्रि० । स्वार्थग्राहिणि इतरांशप्रतिक्षेपिणि, स्या० ५ अध्या० । नयाऽऽभासे, आ० म० । यस्तु नयान्तरनिरपेक्षः स दुर्नयो नयाभास इति ।

तथा चाऽऽहाकलङ्कः-

" भेदाभेदाऽऽत्मके ज्ञेये, भेदाभेदाभिसन्धयः ।
ये त्वपेक्षान्यया लक्ष्यन्ते, ज्ञेयास्ते नयदुर्नयाः ॥ १ ॥ "

अस्याः कारिकाया लेशतो व्याख्या-भेदो विशेषोऽभेदस्तु सामान्य, तदात्मके, सामान्यविशेषाऽऽत्मके इत्यर्थः । ज्ञेये प्रमाणपरिच्छेद्यवस्तुनि,ये भेदाभेदाभिसन्धय. सामान्यविशेषयो. पुरुषाऽभिप्राया अपेक्षान्यां लक्ष्यन्ते ते यथासङ्ख्य नयदुर्नया ज्ञातव्या.। किमुक्त भवति ?-विशेषसाकाङ्क्षः सामान्यग्राहकाऽभिप्रायो, विशेषपरिग्राहको वा सामान्यसापेक्षो नय., इतरेतराकाङ्क्षारहितस्तु दुर्नय ॥ आ० म० १ अ० २ खण्ड । इतरप्रतिक्षेपी तु नयो नयाऽऽभासो, दुर्नयो वेत्युच्यते । मलयगिरिचरणास्तु-नयो-दुर्नय , सुनयश्चेति दिगम्बरव्यवस्था, न त्वस्माक, नयदुर्नययोरर्थाविशेषात् । नयो० । परामर्शा अभिप्रेतधर्मावधारणाऽऽत्मकतया शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नयसंज्ञामश्नुवते । स्या० । एते मिथ परस्पर पृथग् भिन्न भिन्न पक्षप्रतिपक्षकदर्थिता वादप्रतिवादकदर्थनाविडम्बिता नया. दुर्नया इत्यर्थः । अष्ट० ३२ अष्ट० ।

" स्वकृतपरिणताना दुर्नयाना विपाक ,
पुनरपि सहनीयोऽन्यत्र ते निर्गुणस्य ।
स्वयमनुभवतोऽसौ दुःखमोक्षाय सद्यो,
भवशतगतिहेतुर्जायतेऽनिच्छतस्ते ॥ १ ॥" आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । सर्वे सावधारणा सन्तो दुर्नया , अवधारणविरहितास्ते सुनया., सर्वैश्च सुनयै स्याद्वाद । अनु० ।

दुणाम-दुर्नाम-पु० । मदाद् दुष्ट नमन दुर्नाम इति । मानकषायभेदे, भ० १२ श० ५ उ० ।

दुणामधिज्ज-दुर्नामधेय-त्रि० । पुराण पतित इति कुत्सितनामधेय, दशा० १ चू० ।

दुणिक्क-देशी- चूर्णिते, दे० ना० ५ वर्ग ४५ गाथा ।

दुणिक्कम-दुर्निष्क्रम-त्रि० । दु खेन नितरां क्रम क्रमण यत्र तस्मिन, भ० ७ श० ६ उ० ।

दुणिक्खित्त-देशी-दुश्चरिते, दुर्दर्शे, दे० ना० ५ वर्ग ४५ गाथा ।

दुणिद्द-द्विनिद्र-न० । द्वयोर्निद्रयो. समाहारो द्विनिद्रम । निद्राप्रचलालक्षणे निद्राद्विके, कर्म० ५ कर्म० ।

दुणिय-दुर्नीत-न० । दुष्ट नीत दुर्नीतम । दुष्कृते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । अप्रावृते, नि० चू० १ उ० ।

दुणियन्थ-देशी-जघनवस्त्रे,जघने च । दे० ना० ५ वर्ग४३गाथा ।

दुणिरिक्खरूव-दुर्निरीक्ष्यरूप-त्रि० । दु प्रेक्ष्ये कल्प० ३ क्षण ।

दुणिविट्ठ-दुर्निविष्ट-त्रि० । विह्वले निर्भरे, नि० चू० ११ उ० ।

दुणिवोह-दुर्निबोध-त्रि० । दुष्पापके, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

दुणिसीहिया-दुर्निषद्या-स्त्री० । दु खहेतुस्वाध्यायभूमौ, भ० १६ श० २ उ० ।

दुणेय-दुर्ज्ञेय-त्रि० । दुरवगमे, आव० ४ अ० । आ० म० । दुर्लक्ष्ये, दश० ४ अ० ।

दुत-द्रुत-त्रि० । शीघ्रे, पञ्चा० ७ विव० । त्वरिते, स्था० ७ ठा० । आशुइत्यर्थे, षो० ९ विव० ।

दुत्तर-दुस्तर-त्रि० । दुर्लङ्घ्ये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । उत्त० ।

दुत्ति-देशी-शीघ्रे, दे० ना० ५ वर्ग ४१ गाथा ।

दुत्तितिक्ख-दुस्तितिक्ष-त्रि० । परीषहाऽऽदौ दु सहे, "पुरिमपच्छिमगाणं जिणाणं दुग्गम भवइ । त जहा-दुआइक्ख दुविभज दुत्तितिक्ख दुरणुचर ।" स्था० ५ ठा० १ उ० । (' तित्थयर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६२ पृष्ठे व्याख्या)

दुत्तोस-दुस्तोष-त्रि० । यस्य तुष्टि. कर्तुं न शक्यते तस्मिन्, दश० ५ अ० ।

दुत्थ-दुस्थ-त्रि० । दुर्गते, स्था० ३ उ० । जघने, दे० ना० ५ वर्ग ४२ गाथा ।

दुत्थाह-देशी-दुर्भगे, दे० ना० ५ वर्ग ४३ गाथा ।

दुत्थुरुहुंड-देशी-पुरुषे, कलहशीलायां स्त्रियां च । दे० ना० ५ वर्ग ४७ गाथा ।

दुदसण-द्विदर्शन-न० । द्वयोर्दर्शनयोः समाहारो द्विदर्शनम । चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनद्वये, कर्म्म० ४ कर्म० ।

दुदंत-दुर्दान्त-त्रि० । दमयितुमशक्ये, उत्त० २७ अ० । चक्षुषि, उत्त० ३२ अ० । आ० म० ।

दुदम-दुर्दम-त्रि० । दुर्जये, उत्त० १ अ० । स्वनामख्यातेऽश्वग्रीवराजदूते, आ० क० ।

दुदम्म-देशी-देवरे, दे० ना० ५ वर्ग ४४ गाथा ।

दुदसा-दुर्दशा-स्त्री० । दीनावस्थायाम, अष्ट० ७ अष्ट० । वृ० ।

दुदिट्ठ-दुर्दृष्ट-त्रि० । दुष्टे दृष्टे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

दुद्दिण-दुर्दिन-न० । मेघतिमिरदिने, पिं० ।

दुद्दोली-देशी-वृक्षपङ्क्तौ, दे० ना० ५ वर्ग ४३ गाथा ।

दुद्ध-दुग्ध-न० । "क-ग-ट-ड-त द-प-श-ष-स ᳲक ᳲप मूर्ध्वे लुक्" ॥ ८ । २ । ७७ ॥ इति संयुक्तवर्णाऽऽदिभूतस्य गकारस्य लुक् । प्रा० २ पाद । " अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम् " ॥ ८ । २ । ८९ ॥ इत्यनादौ वर्तमानस्य शेषस्य धकारस्य द्वित्वम । ' दुद्ध । ' प्रा० २ पाद । क्षीरे, दुग्ध पञ्चभेद गोमहिषीकरभीछगलिकागड्डरिकासम्बन्धित्वेन । प्रव० ४ द्वार । उत्त० । आ० म० । " पासरु " इति नाम्ना प्रसिद्धस्य दुग्धस्य भक्षणे कोऽपि दोषो, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-लोकोक्त्या दोष श्रूयते,न त्वात्मीयशास्त्रानुसारेणेति । ८० प्र० । सेन० २ उल्ला० । अथ प० नगर्षिगणिकृतप्रश्नस्तदुत्तर च । यथा-उत्कालितदुग्धमध्ये प्रक्षिप्तगोधूमाऽऽदिचूर्णचिप्पटिकया तद् दुग्ध निर्विकृतक स्यान्न वेति प्रश्ने,उत्तरम्-गोधूमाऽऽदिचूर्णे प्रक्षिप्ते सति यद्दुग्धमेकरस वर्णान्तराऽऽदिप्राप्त च भवति तन्निर्विकृतिक भवतीति । १०८ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

दुद्धअ-देशी-समूहे, दे० ना० ५ वर्ग ४२ गाथा ।

दुद्धकाय-दुग्धकाय-पु० । दुग्धघटकाये, परिहरणाया दुग्धघटकाय दृष्टान्त उक्त. । आव० ३ अ० । आ० क० ।

दुद्धणिग्धिमुद्द–देशी–पाहे, दे० ना० ५ वर्ग ४० गाथा ।

दुद्धजाइ–दुग्धजाति–स्त्री० । आस्वादतः क्षीरसदृशायां मदिरायाम्, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

दुद्धणी–दुग्धाटी–स्त्री० । क्वथितेन दुग्धे दुग्धे जातायां किलाटिकायाम् ग्लानादिकृताभिप्राये । प्रव० ४ द्वार । ध० ।

दुद्धर–दुर्धर–त्रि० । दुःखेन धर्तुं शक्यं दुर्धरम् । दश० ४ अ० । गहन, स्था० ६ ठा० । दुर्वहे, स० । धारयितुमशक्ये, ध० ३ उ० । अनुकरणीये, प्रश्न० १ द्वा० ।

दुद्धरधर–दुर्धरधर–त्रि० । दुर्धराणि प्राणातिपाताऽऽदिनिवृत्तिलक्षणानि च यानि महाव्रतानि धारयन्ति दुर्धरधराः । पञ्चमहाव्रतिषु, प्रश्न० १ द्वा० ।

दुद्धरपहकरवेग–दुर्धरपथकरवेग–त्रि० । दुर्धरं दुर्वहं च यान् स्वनन्तःशाताऽऽदिकं सोक्षमार्गं धरतीति दुर्धरपथकरस्तथाविधो वेगः प्रसरो यस्यासौ तथोक्तः । सू० १ ०० ।

दुद्धरिस दुर्धर्ष–पु० । यो न पराजेतुम शक्यते तस्मिन्, दशा० १० अ० ३ ५० । ज्ञानावरण .. नीय, त्रि० । स० ।

दुद्धसाडिया–दुग्धशाटिका–स्त्री० । न दुग्धकणचूर्णमिश्रे दुग्धे, प्रव० ४ द्वार । ध० २ अधि० ।

दुद्धसाडिया–दुग्धशाटिका–स्त्री० । द्राक्षाऽऽदिमिश्रे दुग्धे, दुग्धशाटीति सम्प्रदायेन रूढत्वे । प्रव० ४ द्वार ।

दुद्धसाडी–दुग्धशाटी–स्त्री० । द्राक्षाऽऽदिभिः पयसि, ध० २ अधि० ।

दुद्धसाडी–दुग्धशाटी–स्त्री० । अम्लयुक्ते, दुग्धे, ध० २ अधि० ।

दुद्धोलणिआ–देशी–गोदोहनपात्रे, नाग्यां, गुरुण्यां च । दे० ना० ५ वर्ग ५४ गाथा ।

दुद्धोलणी–देशी–गोदोहनपात्र्याम्, गुरुण्यां च । दे० ना० ५ वर्ग ५४ गाथा ।

दुद्धोलणी–देशी–या दुग्धाऽपि दुग्धं ददाति तस्याम्, दे० ना० ५ वर्ग ५६ गाथा ।

दुप–द्विप–पु० । द्वाभ्यां मुखेन, करेण चाऽऽपिबतीति द्विपः । "मूलविभुजाऽऽदयः" ॥५ । १ । १४४ ॥ इति कप्रत्ययः । हस्तिनि, जी० २ प्रति० १ उ० । आ० म० ।

दुपएस–द्विप्रदेश–त्रि० । द्वौ प्रदेशावारम्भकावस्येति द्विप्रदेशः । द्व्यणुके, उत्त० १ अ० ।

द्विप्रवेश–त्रि० । द्वौ प्रवेशौ यस्मिंस्तद् द्विप्रवेशम् । द्वौ वारौ प्रवेशे, प्रथमं गुरुमनुज्ञाप्य प्रविशन, द्वितीयं पुनर्निर्गत्य प्रविशन इति । प्रव० २ द्वार ।

दुपएसिय–द्विप्रदेशिक–त्रि० । प्रदेशद्वयावस्थिते, स० ५ श० ७ उ० ।

दुपक्ख–दुष्पक्ष–पु० । दुष्टः पक्षो दुष्पक्षः । असत्प्रतिज्ञाऽभ्युपगमे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

द्विपक्ष–न० । द्वौ पक्षौ समाहृतौ इति द्विपक्षम् । गृहस्थपक्षसंयतपक्षयोः समाहारे, वृ० १ उ० । सूत्र० । रागद्वेषाऽऽत्मके पक्षद्वये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । "उभ दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्म (६)" द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षम् । सप्रतिपक्षेऽनैकान्तिके पूर्वापरविरुद्धार्थाऽभिधायितयाऽविरोधिवचने, (सूत्र०) कर्मबन्धनिर्जरणे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । द्विपक्षं कर्म सेवन्ते । तद्यथा–प्रव्रज्यामाधाकर्मिकवसत्यासेवनाद् गृहस्थत्वं च, रागं द्वेषं च, ईर्यापथं साम्परायिकं चेत्यादि । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

दुपडोआर–द्विपदावतार–त्रि० । द्वयोः स्थानयोः पर्यवसिते, स्था० ।

जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं । तं जहा–जीव च्चेव, अजीव च्चेव, तस च्चेव, थावर च्चेव, सजोणिय च्चेव, अजोणिय च्चेव, साउय च्चेव, अणाउय च्चेव, सइंदिय च्चेव, अणिंदिय च्चेव, सवेयग च्चेव, अवेयग च्चेव, सरूवि च्चेव, अरूवि च्चेव, सपोग्गल च्चेव, अपोग्गल च्चेव, संसारसमावण्णग च्चेव, असंसारसमावण्णग च्चेव, सासय च्चेव, असासय च्चेव । आगासे चेव, नोआगासे चेव, धम्मे चेव, अधम्मे चेव, बंधे चेव, मोक्खे चेव, पुण्णे चेव, पावे चेव, आसवे चेव, संवरे चेव, वेयणा चेव, णिज्जरा चेव ॥

(जदत्थीत्यादि) यदिताऽऽदि पूर्ववत्, यज्जीवाऽऽदिकं वस्तु अस्ति विद्यते, णमिति वाक्यालङ्कारे । क्वचित्पाठः–(जदत्थि च णं ति) तत्रानुस्वार आगमिकः, चशब्दः पुनरर्थे । एवं चास्य प्रयोगः–यत्पुनः संसारमादि वस्तु, पूर्वाध्ययनप्ररूपितत्वात्, यच्चास्ति लोके पञ्चास्तिकायाऽऽत्मके लोक्यते प्रमीयते इति लोक इति व्युत्पत्त्या लोकालोकरूपे वा, तत्सर्वं निरवशेषं द्वयोः पदयोः स्थानयोः पक्षयोर्विपर्यासवस्तुतद्विपर्ययलक्षणयोरवतारो यस्य तद् द्विपदावतारमिति । "दुपडोआर" इति क्वचित्पठ्यते, तत्र द्वयोः प्रत्यवतारो यस्य तद् द्विप्रत्यवतारमिति स्वरूपवत्, प्रतिपक्षवच्चेत्यर्थः । तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासे । (जीव च्चेव अजीव च्चेव त्ति) जीवाश्चैव अजीवाश्चैव, प्राकृतत्वात् नपुंसकत्वेन निर्देशः । चकारौ समुच्चयार्थौ । एवकारावधारणे । तेन च राश्यन्तरापोहमाह–नोजीवाऽऽख्यं राश्यन्तरमस्तीति चेत्, नैव, सर्वनिषेधकत्वे नोशब्दस्य नोजीवशब्देनाजीव एव प्रतीयते, देशनिषेधकत्वे तु जीवदेश एव प्रतीयते, न च देशो देशिनोऽत्यन्तव्यतिरिक्त इति जीव एवासाविति । 'चेव' इति वा एवकारार्थः । "च्चिय चेव एवार्थे" इति वचनात् । ततश्च जीवा एवेति विवक्षितमसत्यजीवा एवेति च तत्प्रतिपक्ष इति । एवं सर्वत्र । अथवा यदस्तीति यत् सन्मात्रं वस्तित्यर्थः । तत् द्विपदावतारं द्विविधं जीवाजीवभेदादिति । शेषं तथैव । अथ त्रसत्यादिनवसूत्र्या जीवतत्त्वस्यैव भेदान् सप्रतिपक्षानुपदर्शयति–तत्र त्रसनामकर्मोदयतस्त्रस्यन्तीति त्रसाः द्वीन्द्रियाऽऽदयः, स्थावरनामकर्मोदयात्तिष्ठन्तीत्येवंशीलाः स्थावराः पृथिव्यादयः, सह योन्योत्पत्तिस्थानेन सयोनिकाः संसारिणः, तद्विपर्यासभूता अयोनिकाः सिद्धाः, सहाऽऽयुषा वर्तन्त इति सायुषः, तदन्येऽनायुषः सिद्धाः । एवं सेन्द्रियाः संसारिणः, अनिन्द्रियाः सिद्धाऽऽदयः, सवेदकाः स्त्रीवेदाऽऽद्युदयवन्तः, अवेदकाः सिद्धाऽऽदयः, सह रूपेण मूर्त्या वर्तन्ते इति समासान्ते इन्प्रत्यये सति सरूपिणः संस्थानवर्णाऽऽदिमन्तः, सशरीरा इत्यर्थः । न रूपिणोऽ-

रूपिणो मुक्ता',सपुद्गलाः कर्माऽऽदिपुद्गलवन्तो जीवा',अपुद्गलाः सिद्धा', संसार भव समापन्नका आश्रिता संसारसमापन्नका' संसारिणः, तदितरे सिद्धाः,शाश्वता सिद्धा',जन्ममरणाऽऽदिरहितत्वात्। अशाश्वता' संसारिणस्तद्युक्तत्वादिति । एव जीव तत्त्वस्य द्विपदावतार निरूप्याजीवतत्त्वस्य त निरूपयन्नाह-(आगासे इत्यादि) आकाश व्योम,नो आकाश तदन्यद्धर्मास्तिकाया-ऽऽदि,धर्मो धर्मास्तिकायो गत्युपष्टम्भगुण',तदन्योऽधर्मोऽधर्मास्तिकाय· स्थित्युपष्टम्भगुण , सविपक्षबन्धाऽऽदितत्त्वसूत्राणि चत्वारि प्राग्वदिति । स्था० २ ठा० १ उ० ।

दुपमोयार-द्विप्रत्यवतार-न० । द्वयो· प्रत्यवतारो यस्य तद् द्विप्रत्यवतारम् । स्वरूपवति, प्रतिपक्षवति च । स्था० २ ठा० १ उ० ।

दुपय-द्विपद्-पु० । द्वे पदे यस्याऽसौ द्विपदः । मनुष्ये, स० १२ अङ्ग । अनु० । गन्धाम् , ध० २ अधि० । विशे० । सूत्र० । आचा० । आव० । देवे, पक्षिणि, राक्षसे च । "मिथुनतुलाघटकन्या·,द्विपदाख्याश्चापपूर्वभागश्च।" इति ज्योतिषोक्ते राशिभेदे च । वाच० । प्रश्न० । नि० चू० । आ० चू० । उत्त० । ध० २० । "आसाढे मासे दुपया होइ पोरिसी।" पादद्वयपरिमिते, त्रि० । उत्त० २६ अ० ।

द्रुपद्-पु० । स्वनामख्याते काम्पिल्यपुरराजे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

दुपयचउप्पयपमाणाऽइक्कम-द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम-पुं० । स्थूलपरिग्रहविरमणलक्षणस्य पञ्चमस्याऽणुव्रतस्य चतुर्थेऽतिचारे,ध०२०। तथा द्वे पदे येषां तानि द्विपदानि कलत्रावरुद्धदासीदासकर्मकरपदात्यादीनि, हंसमयूरकुक्कुटशुकसारिकाचकोरपारापतप्रभृतीनि च। चत्वारि पदानि येषा तानि चतुष्पदानि गोमहिषमेषाविककरभरासभतुरगहस्त्यादीनि, तानि यद्गर्भे ग्राहयति सोऽतिचार इति सबन्ध । यथा किल केनाऽपि संवत्सराऽऽद्यवधिना द्विपदचतुष्पदाना परिमाण कृत,तेषा च विवक्षित संवत्सराऽऽद्यवधिमध्य एव प्रसवेऽधिकद्विपदाऽऽदिभावाद् व्रतभङ्ग· स्यादिति, तद्भयात्कियत्यपि काले गते गर्भ ग्राहयतो गर्भस्थद्विपदाऽऽदिभावेन बहिश्च तदभावेन कथञ्चिद् व्रतभङ्गाभङ्गरूपोऽतिचार इति चतुर्थ· । प्रव० ६ द्वार । ध० । उत्त० । नि० चू० । आव० ।

दुप्पउत्त-दुष्प्रयुक्त-त्रि० । दुष्टप्रयोगवति, स्था० १ ठा० । अकुशले, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

दुप्पउत्तकायकिरिया-दुष्प्रयुक्तकायक्रिया-स्त्री०। दुष्ट प्रयुक्त प्रयोगो यस्य स दुष्प्रयुक्तस्तस्य कायक्रियायाम्,दुष्ट प्रयुक्तो दुष्प्रयुक्त , स चाऽसौ कायश्च दुष्प्रयुक्तकायस्तस्य क्रियायां च । भ० ३ श० १ उ० ।

दुप्पउल्ल-दुष्पक्व-त्रि० । अर्धस्विन्ने, पञ्चा० १ विव० ।

दुप्पएसिय-द्विप्रदेशिक-पु० । " दुपएसिया खधा । " स्कन्धाऽऽदिषु, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

दुप्पओग-दुष्प्रयोग-पु० । दुष्टे मनोवाक्कायप्रयोगे, द्रोहाभिमाने-र्ष्याऽऽदिलक्षणो मनोदुष्प्रयोग ,वाग्दुष्प्रयोगस्तु हिंस्रपरुषाऽऽदिवचनलक्षण , कायदुष्प्रयोगस्तु धावनवल्गनाऽऽदि· । दश० ४ अ० ।

दुप्पच्चवेक्खिय-दुष्प्रत्युपेक्षित-त्रि० । विभ्रान्तचक्षुषा निरीक्षिते, प्रव० ६ द्वार ।

दुप्पजीवि (ण्)-दुष्प्रजीविन्-पु० । दु खेन कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदारभोगापेक्षया जीवितुं शीले प्राणिनि, दश० १ चू० ।

दुप्पडिकंत-दुष्परिक्रान्त-त्रि० । दुराक्रान्ते, आचा० ।

गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जातं दुप्परिक्कंतं भवति अवियत्तस्स भिक्खुणो ॥१५६॥

ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्राम', ग्रामादनु-पश्चादपरो ग्रामो ग्रामानुग्रामस्त दूयमानस्यानेकार्थत्वाद्गच्छतो विहरत एकाकिन. साधोर्यत्स्यात्तद्दर्शयति· दुर्यात दुष्ट यात दुर्यात गमनक्रियाया गर्हा गच्छत पदानुकूलप्रतिकूलोपसर्गसद्भावादर्द्दर्दकस्येव कृतगतिभेदस्य दुष्टव्यन्तरीजङ्घाच्छेदवत्, तथा-दुष्ट पराक्रान्तमाक्रान्त स्थानमेकाकिनो भवति स्थूलभद्रेर्ष्योपितोपकोशागृहसाधोरिवेति, यदि वा चतुर्मासोषितसर्पबिलगृहोषितसाधोरिव तस्य महासत्त्वतया अक्षोभेऽपि दुष्पराक्रान्तमेवेति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । दु शब्दोऽभावार्थस्तेन प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना अप्रतिक्रान्तानामनिवर्त्तितविपाकानां कर्म्मणि, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

दुप्पडिगर-दुष्प्रतिकर-त्रि० । दु खेन प्रतिकर्तुमशक्ये, ग० ३ उ० ।

दुप्पडिग्गह-द्विप्रतिग्रह-न० । दृष्टिवादस्य स्वसमयपरिपाट्या स्थिते सूत्रविशेषे, स० १२ अङ्ग ।

दुप्पडिपूर-दुष्प्रतिपूर-त्रि० । पूरयितुमशक्ये, त० ।

दुप्पडिबूहणीय-दुष्प्रतिबृंहणीय-त्रि० । प्रतिबृंहणानर्हे, जीवितमायुष्क तत् क्षीण सत् दुष्प्रतिबृंहणीयम्, दुरभावार्थो नैव बृंहणीयते इति यावत्। निष्प्रत्यूहप्रतिपालनार्हे, अथवा--जीवित सयमजीवित तद् दुष्प्रतिबृंहणीय कामानुषक्तजनान्तर्वर्तिना दु-खेन निष्प्रत्यूहसयम प्रतिपालय इति । आचा०१ श्रु०२ अ०५ उ० ।

दुप्पडियाणंद-दुष्प्रत्यानन्द्य-त्रि० । बहुभिरपि सतोपकारैरनुत्पाद्यमानसंतोषे, विपा०१ श्रु०२ अ० । दु खेन प्रत्यानन्द्यत इति दुष्प्रत्यानन्द्य । इदमुक्त भवति-तैरानन्दितेनापरेण केनचित् प्रत्युपकारेण हेतुना यत्राऽऽत्मातो दु खेन प्रत्यानन्दयते । यदि वा· सत्युपकारे प्रत्युपकारभीरुर्नैवानन्दते, प्रत्युत शठतया उपकारे दोषमेवोत्पादयति । तथा चोक्तम्-" प्रतिकर्तुमशक्तिष्ठा , नराः पूर्वोपकारिणाम् । दोषमुत्पाद्य गच्छन्ति, मद्गूनामिव वायस ॥१॥ " इति । दशा० ६ अ० ।

दुप्पडियार-दुष्प्रत्युपकर-त्रि० । दु खेन कृच्छ्रेण प्रतिक्रियते कृतोपकारेण पुसा प्रत्युपक्रियते इति खल्प्रत्यये दुष्प्रत्युपकरः । प्रत्युपकर्तुमशक्ये, स्था० ।

तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो ! । तं जहा-अम्मापिउणो, भट्टिस्स, धम्मायरियस्स, संपाओ वि य णं केइ पुरिसे अम्मापियर सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भंगेत्ता सुरभिणा गंधवट्टएणं उव्वट्टित्ता तिहिं उदगेहिं मज्जावेत्ता सव्वालंकारविभूसियं करेत्ता मणुन्नं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं भोअणं भोआवेत्ता जावज्जीव पिट्ठिवडिंसिया ते परिवहेज्जा, तेणावि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडियार भवइ ॥

हे श्रमण ! हे आयुष्मन् !, समस्तनिर्देशो वा-हे श्रमणाऽऽयुष्मन्निति भगवता शिष्य सम्बोधित । अम्बया मात्रा सह पिता जनक अम्बापितरौ, तयोरेक स्थानम्, जनकयोरेकत्वविवक्षणात् । तथा (भट्टिस्स त्ति) भर्तुः पोषकस्य, स्वामिन इत्यर्थः । इति द्वितीयम् । धर्मदानाऽऽचार्यो धर्माऽऽचार्यस्तस्येति तृतीयम् । आह च-"दुष्प्रतिकारौ माता-पितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन् । तत्र गुरुरिहामुत्र च, सुदुष्करतरप्रतीकार ॥१॥" इति । तत्र जनकदुष्प्रतिकार्यतामाह-(संपाओ त्ति) प्रातः प्रभातं तेन सयुतः संप्रात , संप्रातरपि च प्रभातसमयमात्रमपि च, यद्वा प्रातः सपूर्वं नर्देशगणे । अनेन कार्यो-नराणप्रता दर्शयति, महाकल्याणकार्यस्याहाऽनिप्रभाते, प्रतिशब्दार्थत्वाद् वाऽस्य प्रतिप्रभातमित्यर्थः । कश्चिदिति कुलीन एव, न तु सर्वोऽपि, पुरुषो मानवो, देवादिरक्षादेर्विविधप्रतिकारासम्भवात् । शतपाकानामौषधिद्रव्याना पाको यस्य, औषधिशतेन वा सह पच्यते यत्, शतकृत्वो वा पाको यस्य, शतेन वा रूपकाणां मूल्यत. पच्यते यत्तच्छतपाकम्, एव सहस्रपाकमपि, ताभ्या तैलाभ्याम् । (अभिंगित्ता) अभ्यङ्ग कृत्वा । (गन्धट्टएण त्ति) गन्धाट्टकेन गन्धद्रव्यक्षोदेन, उद्वर्त्तन कृत्वा, त्रिभिरुदकैर्गन्धोदकोष्णोदकशीतोदकैर्मज्जयित्वा स्नापयित्वा, मनोज्ञं शालिमोदनाऽऽदि, स्थाली पिठरी तस्या पाको यस्य तत्तथा । अन्यत्र हि पक्वमपक्व वा न तथाविध स्यादितीदं विशेषणमिति । शुद्ध भक्तदोषवर्जित, स्थालीपाक च तच्छुद्ध, स्थालीपाकेन वा शुद्धमिति विग्रह । अष्टादशभिर्लोकप्रतीतैर्व्यञ्जनै शालनकैः सूपाऽऽदिभिराकुलं सङ्कीर्णं यत्तत्तथा । अथवा-अष्टादशभेद तच्च व्यञ्जनाऽऽकुल चेति । अत्र भेदपदलोपेन समास., भोजनं भोजयित्वा ।

पते चाष्टादश भेदा —

" सूपोदणो२ जवण्णं३, तिन्नि य मंसाइं६ गोरसो७ जूसो८ ।
भक्खा९ गुललावणिया१०, मूलफला११ हरियगं१२ डागो१३ ॥१॥
होइ रसालू१४ य तहा१५, पाणं पाणीय१६ पाणगं चेव१७ ।
अट्ठारसमो सागो१८, निरुवहओ लोइओ पिंडो ॥ २ ॥ "

अस्य व्याख्या-मांसत्रयं जलजाऽऽदिसत्कं, जूषो मुद्गतन्दुलजीरककटुभाण्डाऽऽदिरसः, भक्ष्याणि खण्डखाद्याऽऽदीनि, गुललावणिका गुलपर्पटिका लोकप्रसिद्धा, गुडधाना वा, मूलफलान्येकमेव पद हरितकं जीरकाऽऽदि, शाको वस्तुलाऽऽदिभर्जिका, रसालू मज्जिका । तल्लक्षणमिदम्-"दो घयपला महुपलं, दहिस्स अद्धाढयं मिरियवीसा । दस खंडगुलपलाइं, एस रसालू निवइजोग्गा ॥१॥ " इति । पान सुराऽऽदि, पानीयं जलं, पानकं द्राक्षापानकाऽऽदि, शाकस्तक्रसिद्ध इति ।

यावज्जीव यावत्प्राणधारण पृष्ठ्यां स्कन्धे अवतंस इवावतंस., शेखरस्तस्य करणमवतंसिका पृष्ठ्यवतंसिका, तया परिवहेत, पृष्ठ्यारोपितमित्यर्थः । तेनापि परयाहृकेन परिवहनेन वा तस्यामापितुर्दुष्प्रत्युपकरमशक्यप्रतीकार इत्यर्थः । अनुभूतोपकारतया प्रत्युपकारकारित्वात । आह च-" कयउवयारो जो होइ सज्जणो होउ को गुणो तस्स ?। उवयारबाहिरा जे, हवंति ते सुहरा सुयणा ॥ १ ॥ " इति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अथ भर्तुर्दुष्प्रतिकार्यतामाह-

समणाउसो ! केइ महच्चे दरिद्दं समुक्कसेज्जा, तए णं से दरिद्दे समुक्किट्ठे समाणे पच्छा पुरं च णं विउलभोगसमिइसमन्नागए यावि विहरेज्जा । तए णं से महच्चे अन्नया कयाइं दरिद्दीहूए समाणे तस्स दरिद्दस्स अंतियं हव्वमागच्छेज्जा । तए णं से दरिद्दे तस्स भट्टिस्स सव्वस्सं वि दलयमाणे तेणावि तस्स दुप्पडियारं भवइ ।

कश्चित् कोऽपि, महती पेश्वर्यलक्षणाऽर्चा उज्ज्वला पूजा वा यस्य । अथवा-महान्तश्चामात्यर्थानिमयाऽर्चाश्च पुरुष इति महार्चो, महार्च्यो वा, माहत्य महत्य, तयोरात्माहत्यो वा, ईश्वर इत्यर्थः । दरिद्रमनीश्वर कञ्चन पुरुषमनिद्रु.स्थ समुत्कर्षयेत् धनदानाऽऽदिनोत्कृष्ट कुर्यात्, तत. समुत्कर्षणानन्तर स दरिद्र. समुत्कृष्टो धनाऽऽदिभि (समाणे त्ति) सन् (पच्छ त्ति) पश्चात् काले (पुर च ण त्ति) पूर्वकाले च, समुत्कर्षणकाल एवेत्यर्थः । अथवा पश्चात् भर्तुरसमक्ष. पुरश्च भर्तु. समक्ष च, विपुलया भोगसमित्या भोगसमुदयेन समन्वागतो युक्तो य. स तथा, सचापि विहरेत् वर्तेत, ततोऽनन्तर स महार्चो भर्ता । (सव्वस्स त्ति) सर्वं च तत् स्व च द्रव्य चेति सर्वस्व, तदपि आस्ताम, अल्पमिति । (दलयमाण त्ति) ददत्, न कृतप्रत्युपकारो भवेदिति शेष । अतस्तेनापि सर्वस्वदानेन सर्वस्वदायकेनापि वा दुष्प्रतिकरमेवेति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अथ धर्माऽऽचार्यदुष्प्रतिकार्यतामाह-

केइ तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतियमेगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने । तए णं से देवे तं धम्मायरियं दुब्भिक्खाओ वा देसाओ सुभिक्खं देसं साहरेज्जा, कंताराओ वा णिक्कंतारं करेज्जा, दीहकालिएण वा रोगातंकेण अभिभूयं विमोइज्जा, तेणावि तस्स धम्मायरियस्स दुप्पडियारं भवइ ।

(केइ इत्यादि) (आरिय ति) पापकर्मभ्य आराद्यातमिति आर्यमत एव धार्मिकमत एव सुवचन श्रुत्वा श्रोत्रेण निशम्य मनसाऽवधार्य, अन्यतरेषु देवलोकेष्वन्यतरदेवाना मध्ये इत्यर्थः । देवत्वेनोत्पन्न इति । दुर्लभा भिक्षा यस्मिन् देशे स दुर्भिक्षस्तस्मात्संहरेत् नयेत । कान्तारमरण्य निर्गत , कान्तारान्निष्क्रान्तो निष्कान्तारस्तं, निष्कान्तार वा, दीर्घ कालो विद्यते यस्य स दीर्घकालिकस्तेन रोग. कालसह. कुष्ठाऽऽदिरातङ्क. कृच्छ्रजीवितकारी सद्योघातीत्यर्थः., शूलाऽऽदि ,अनयोर्द्वन्द्वैकत्वे रोगाऽऽतङ्क, तेनेति धर्मस्थापके न तु नवति कृतोपकार. । शेष सुगमम् । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

दुप्पडिलेह-दुष्प्रत्युपेक्ष्य-त्रि० । यत्र सम्यक् न शक्यते प्रत्युपेक्षितु तस्मिन्, प्रव० ८४ द्वार ।

दुप्पडिलेहण-दुष्प्रत्युपेक्षण-त्रि० । दुष्टमुद्भ्रान्तचेतसा प्रत्युपेक्षण दुष्प्रत्युपेक्षणम । आव ४ अ० । दुर्निरीक्षणे, आव० ४ अ० । आ० चू० ।

दुप्पडिलेहिय-दुष्प्रत्युपेक्षित-त्रि० दुर्निरीक्षिते, आचा० १ श्रु० १ चू० ।

दुप्पणिहाण-दुष्प्रणिधान-न० । प्रणिधानं प्रयोग , दुष्ट प्रणिधान दुष्प्रणिधानम् । आव० ६ अ० । अशुभमन प्रवृत्त्यादिरूपे प्रयोगे, स्था० ।

तिविहे दुप्पणिहाणे पण्णत्ते । तं जहा-मणदुप्पणिहाणे,व-

यदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे। एवं पंचिंदियाणं० जाव वेमाणियाणं ॥

दुष्प्रणिधानमशुभमनःप्रवृत्त्यादिसामान्यप्रणिधानवत् व्याख्येयमिति । स्था० ३ ठा० १ उ० । प्रव०। आ० चू० । भ० । ध० ।

चउव्विहे दुप्पणिहाणे पण्णत्ते। तं जहा–मणदुप्पणिहाणे०जाव उवगरणदुप्पणिहाणे, एवं पंचेंदियाणं० जाव वेमाणियाणं । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

दुप्पणिहिय–दुष्प्रणिहित–त्रि० । विश्रोतोगामिनि, दश० ८ अ० । स्था० । आचा० ।

दुप्पणोल्लिय–दुष्प्रणोद्य–त्रि० । दुःखेन प्रणोद्यते इति दुष्प्रणोद्यः। दुस्त्यजे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

दुप्पण्णवणिज्ज–दुष्प्रज्ञाप्य–न० । दुःखेन प्रज्ञप्तुं योग्ये, दुःखेन धर्मसंज्ञोपदेशेनानार्यसङ्कल्पान्निवर्त्तन्ते । आचा० १ श्रु० १चू० ३ अ० १ उ० ।

दुप्पत–दुष्पत–न० । अपननशीले पात्रविशेषे, “ज ठविज्जंतं उड्ढं ठायति, चालिय पुण पलोट्टति, तं दुप्पतं ।” नि० चू० १ उ० ।

दुप्पतर–दुष्प्रतर–त्रि० । दुरुत्तरे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

दुप्पधंसग–दुष्प्रधर्षक–त्रि० । दुर्धर्ष एव दुर्धर्षकः। उत्त० ६ अ०। शत्रुभिर्दुराकलनीये, उत्त० ९ अ० ।

दुप्पमज्जण–दुष्प्रमार्जन–त्रि० । अविधिना प्रमार्जने, ध० ३ अधि० ।

दुप्पमज्जिय–दुष्प्रमार्जित–त्रि० । आबाधना अनुपयुक्ततया च रजोहरणाऽऽदिना विशोधिते, प्रव० ६ द्वार। आचा० । आव०।

दुप्पमज्जियचारि (ण्)–दुष्प्रमार्जितचारिन्–पुं० । दुष्प्रमार्जितेऽवस्थाननिषीदनशयनीयकरनिक्षेपोच्चाराऽऽदिपरिष्ठापनकारके, दशा० १ अ० । स० । आ० चू० । प्रश्न० ।

दुप्पय–दुष्पद–न० । पुष्पकमूलेन प्रतिष्ठिते, वृ० ३ उ० ।

दुप्पयारप्पमद्दण–दुष्प्रचारप्रमर्दन–त्रि०। दुष्प्रचाराश्चौराऽऽदयोऽन्यायकारिणस्तान् प्रमर्दयति यस्तस्मिन् । अन्यायकारिप्रचारनिवारके, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

दुप्परक्कंत–दुष्पराक्रान्त–न० । प्राणिघातादत्तापहाराऽऽदौ कर्मणि, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

दुप्परिअल्ल–देशी–अशक्ये दुर्गुणे, अनभ्यस्ते च । दे० ना० ५ वर्ग ५५ गाथा ।

दुप्परिक्कमतर–दुष्परिक्रमतर–न० । कष्टकर्त्तव्यनेजोजननभक्तकरणाऽऽदिप्रक्रिये, भ० ६ श० १ उ० ।

दुप्परिच्चय–दुष्परित्यज–त्रि० । दुःखेन परित्यक्तुं योग्ये, उत्त०। “दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।” उत्त० ८ अ० ।

दुप्परियत्तणसील–दुष्परिवर्त्तनशील–त्रि० । महता कष्टेन पश्चाद्वलनशीले, “मच्छो व्विव दुप्परियत्तणसीलाओ ।” मत्स्यवत् दुष्परिवर्त्तनशीला महता कष्टेन परिवर्त्तनं पश्चाद्वालयितुं शील स्वभावो यासां तास्तथा स्त्रिय । तं० ।

दुप्परिवत्तणसील–दुष्परिवर्त्तनशील–त्रि० । 'दुप्परियत्तणसील' शब्दार्थे, तं० ।

दुप्परिस–दुष्प्रधृष्य–त्रि० । अपरिभवनीये, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

दुप्पलिओसहिभक्खणया–दुष्पक्वौषधिभक्षणता–स्त्री० । भोजनतः परिभोग उपभोगव्रतस्यातिचारविशेषे, “दुप्पक्कोसहिभक्खणया ।” दुष्पक्वा अग्निना अर्धपक्वा औषधयस्तद्भक्षणता । अतिचारता चास्य पक्वबुद्ध्या भक्षयतः । उपा० १ अ० । ध० । ध० २० । आव० ।

दुप्पलिओसहिभक्खणया–दुष्पक्वौषधिभक्षणता–स्त्री० । 'दुप्पलिओसहिभक्खणया' शब्दार्थे, उपा० ७ अ० ।

दुप्पलिय–दुष्पक्व–त्रि० । मन्दपक्वे, ध० २ अधि० ।

दुप्पाउयम–दुष्प्रावृत–त्रि० । परिधानवर्जिते, त० ।

दुप्पवेस–दुष्प्रवेश–त्रि० । दुरवगाहे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । औ० ।

दुप्पवेसतरग–दुष्प्रवेशतरक–त्रि० । प्रवेष्टुमशक्ये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दुप्पसह–दुष्प्रसह–पुं० । कल्किनृपसमकालिके राजोपद्रुतसर्वके स्वनामख्याते आचार्ये, ती० २० कल्प । “दूसमपज्जंते बारसवरिसिओ पव्वइय दुहफूमियनयरे दसवेयालियागमधरो अट्ठासिलोगप्पमाणगणहरमतजावी अट्ठउक्किठतवो दुप्पसहो नाम आयरिओ चरमजुगप्पहाणो अट्ठ वासाइं सामण्णं पालित्ता वीसवरिसाओ अट्ठमभत्तेण कयाणसणो सोहम्मे कप्पे पलिओवमाओसरो भावयारो उप्पिज्जहिइ दुप्पसहो सूरी फग्गुसिरी अज्जा, नाइलो सावगो, सच्चसिरी साविया, एस अपच्छिमो संघो ।” ती० २० कल्प । ति० ।

दुप्पसहंतं चरणं, जं भणियं भगवया इहं खेत्ते ।
आणाजुत्ताणमिणं, न होइ अहुणो त्ति वामोहो ॥५७॥

(दुप्पसहन्तमिति) दुःखेन प्रकर्षप्राप्ततया सह्यत इति दुष्प्रसह, तद्गुणयोगादाचार्योऽपि दुष्प्रसह । यथा दण्डयोगाद्दण्डः पुरुष इति। स पर्यन्ते पर्यन्ते यस्य तत्तथा, चरणं चारित्रं भणितं प्रतिपादितं भगवता श्रीमन्महावीरेण, इहास्मिन् क्षेत्रे भरताभिधाने यद्यस्मात्कारणात् तस्मादाज्ञायुक्तानामपि, न केवलमाज्ञाबाह्यानामिदं प्रस्तुतं चारित्रं न भवति न जायतेऽधुनेति साम्प्रतं तत्साध्यातिशयदर्शनाद्य इति तेषामसद्ग्राहगृहीतचेतसां व्यामोहो मूढतेति यावत् । मूढता च तेषामागमवचनान्यथाकरणादिति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ दर्श० २ तत्त्व । शत्रुञ्जयतीर्थस्योद्धारके, “सुमङ्गल शूरसैन्यस्योद्धारकारका । अवक् दुष्प्रसहोदन्त,भावी निमलवाहन ।१३।” ती० १ कल्प । “अन्या पश्चिममुद्धार, राजा विमलवाहन । श्री दुष्प्रसहसूरीणा-मुपदेशाद्विधास्यति ॥ १ ॥” ती० १ कल्प ।

दुप्पस्स–दुर्दर्श–त्रि० । दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः । परीषहाऽऽदौ दुर्दर्शे, “मज्झिमगाणं जिणाणं, दुप्पस्स दुगमं भवइ ।” स्था० ५ ठा० १ उ० । ('तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६२ पृष्ठे व्याख्या)

दुप्पहंसय–दुष्प्रहंसक–त्रि० । दुरभिभवे, उत्त ११ अ० ।

दुफास–द्विस्पर्श–त्रि० । द्वावविरुद्धौ स्निग्धशीताऽऽत्मकौ स्पर्शावस्येति द्विस्पर्शः। उत्त० पाई० १ अ० । स्निग्धरूक्षशीतो-

रत्नप्रभानाम-पतरावियद्दस्पर्शोद्वयपुक्ते, भ० १८ श० ६ उ० । स्था० ।

दुवालस–द्वादशन्–पुं० । द्वौ च दश च, द्वाधिका वा दश, आत्वम । (बारा) सङ्ख्याभेदे, वाच० । प्रश्न० । सू० प्र० । आचा० । द्विरावृत्ता दश । विंशतिभिन्नसङ्ख्यायाम्, वाच० ।

दुवालसंग–द्वादशाङ्ग–न० । आर्षे 'दुवालसगे' इत्यपि । प्रा० १ पाद । परमपुरुषस्याङ्गानीवाङ्गानि द्वादश अङ्गान्याचाराऽऽदीनि यत्र तद् द्वादशाङ्गम् । श्रुते, अनु० ।

दुवालसंगं गणिपिडगं । तं जहा–आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ, विवाहपण्णत्ती, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइअदसाओ, पण्हावागरणाइं, विवागसुयं, दिट्ठिवाओ अ । (४२)

अनु० । पा० । सूत्र० । स० । नं० । स्था० ।

दुवालसंगि (ण्)–द्वादशाङ्गिन्–पुं० । श्रुतकेवलिनि, ध० ३ अधि० ।

दुवालसंगी–द्वादशाङ्गी–स्त्री० । अङ्गप्रविष्टे श्रुते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

दुवालसंसिय–द्वादशाश्रिक–त्रि० । द्वादश अश्रय. कोटयो यत्र स्मिन् द्वादशकोणोपेते, अनु० । स्था० ।

दुवालसम–द्वादशम–त्रि० । द्वादशसङ्ख्यापूरणे, स्था० ६ ठा० ।

दुवालसविह–द्वादशविध–त्रि० । द्वादशप्रकारे, प्रश्न० २ सव० द्वार । आ० चू० ।

दुवालसायतण–द्वादशायतन–न० । द्वादशपदार्थेषु, सूत्र० ।

अथ बौद्धमतं निरूप्यते–

तत्र हि पदार्थाः द्वादशायतनानि । तद्यथा–चक्षुरादीनि पञ्च, रूपाऽऽदयश्च विषयाः पञ्च, शब्दायतनं, धर्मायतनं च । धर्मा सुखाऽऽदयो, द्वादशायतनपरिच्छेदकारणे प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रधाने प्रमाणे, तत्र चक्षुरादीनि द्रव्याप्यजीवग्रहणेनैवोपात्तानि, मनइन्द्रियाणि तु जीवग्रहणेनेति । रूपाऽऽदयश्च विषया अजीवग्रहणेनोपात्ता न पृथगुपादातव्याः । शब्दायतनं तु पौद्गलिकत्वाच्छब्दस्याजीवग्रहणेन ग्रहणम् । न च प्रतिव्यक्ति पृथक् पदार्थता युक्तिमङ्गतेति । धर्माऽऽत्मकं सुखं दुःखं च पद्यसातादिरूपं, ततो जीवगुणत्वाज्जीवेऽन्तर्भाव । अथ तत्कारणं कर्म, तत् पौद्गलिकत्वादजीव इति । प्रत्यक्षं च तन्निर्विकल्पकमिष्यते, तथानिश्चयाऽऽत्मकतया प्रवृत्तिनिवृत्त्योरनङ्गमित्यप्रमाणमेव । तदप्रामाण्ये तत्पूर्वकत्वादनुमानमपीति । शेषस्त्वाक्षेपपरिहारोऽन्यत्र सुविचारित इति नेह प्रतन्यते । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

दुविलय–दुविलक–पुं० । अनार्यदेशभेदे, प्रव० २७४ द्वार । सूत्र० ।

दुवेयग–द्विवेदक–पुं० । स्त्रीपुरुषवेदयुक्ते, वृ० ४ उ० ।

दुव्वद्ध–दुर्बद्ध–त्रि० । अविधिना बद्धे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

दुव्वल–दुर्बल–त्रि० । कृशाङ्गे, दीने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । सूत्र० । त० । हीनबले, विपा० १ श्रु० ७ अ० । स्था० । भ० । असमर्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । रा० । अविद्यमाननियमे, विपा० १ श्रु० २ अ० । व्याधिपीडिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अदृढे, नि० चू० २ उ० । शारीरमानसावष्टम्भरहिते, जी० ३ प्रति० २ उ० । भूमिगतार्धिकाते, वृ० ४ उ० । नि० चू० । दुर्बलिकापुष्पमित्रे, आ० चू० १ अ० । ग्लानत्वाद्धुनैवोत्थितेऽसमर्थशरीरे, वृ० ३ उ० । न विद्यते बलं गमनं यस्मिन् स गाढाऽऽतपासन्नवाऽऽदिना दुर्बलो, दुःशब्दोऽभाववाची । जेष्ठाषाढाऽऽदिके च । व्य० २ उ० ।

दुव्वलचारित्त–दुर्बलचारित्र–पुं० । दुर्बलं चारित्रं इति दुर्बलचारित्रः । धिक्कारजेन मूलोत्तरगुणपरिपेषिणि, नि० चू० १ उ० । ६५० ।

सम्प्रति दुर्बलचारित्रद्वारमाह–

मूलगुणउत्तरगुणे, पडिसेवइ पणगमाइ जा चरिमं ।
धिइवीरियपरिहीणो, दुव्वलचरणो अणट्ठाए ।

मूलगुणोत्तरगुणविषयानपराधान् यः प्रतिसेवते सेवते । कथमित्याह–पञ्चकाऽऽदि यावच्चरमम् । इह पञ्चकशब्देन यत्र प्रतिसेविते रात्रिन्दिवपञ्चकमापद्यते स सर्वजघन्यक्षरणापराधः परिगृह्यते, आदिशब्दाद् दशरात्रिन्दिवाऽऽदिप्रायश्चित्तस्थानानि यावच्चरमं सर्वोत्कृष्टचरणापराधलक्षणं पाराञ्चिकप्रायश्चित्तस्थानमिति । कथंभूतः सन् प्रतिसेवते ?, इत्याह धृतिवीर्यपरिहीणो मानसिकावष्टम्भबलरहित सोऽपि यदि पुष्टाऽऽलम्बनतः प्रतिसेवते ततो न दोषभाग् भवेदित्याह (अणट्ठाए त्ति) अर्थो ज्ञानज्ञानाऽऽदिकं प्रयोजनं, तदभावोऽनर्थः, तेन यः प्रतिसेवते स एव दुर्बलचरण ।

एवंविधस्य छेदश्रुतार्थदाने दोषबाहुल्यख्यापनार्थमिदमाह–

पंचमहव्वयभेदो, छक्कायवहो अ तेणऽणुण्णाओ ।
सुहसीलवियत्ताणं, कहेइ जो पवयणरहस्सं ॥

तेनाऽऽचार्येण पञ्चमहाव्रतभेदः, षट्कायवधश्चानुज्ञात यः सुखशीलाव्यक्तानां शरीरसुश्रूषाऽऽदिकं शीलयन्तीति सुखशीलाः पार्श्वस्थाऽऽदय., अव्यक्ता श्रुतेन, वयसा च, सुखशीलाश्चाव्यक्ताश्चेति द्वन्द्वः । तेषामिति चूर्णिकृत । निशीथचूर्णिकृत पुनरयम्– सुखे शरीरसौख्ये शीलं स्वभावो व्यक्तं परिस्फुटं येषां ते सुखशीलव्यक्तास्तेषाम् । यद्वा सुखं मोक्षसौख्यं, तद्विषयं तत्त्वं शीलं मूलोत्तरगुणानुष्ठानं, ततो वियतो यत उद्यत आत्मा वा येषां ते सुखशीलवियताः, सुखशीलव्यापृतमनो वा, तेषामुभयत्रापि पार्श्वस्थाऽऽदीनामित्यर्थ । प्रवचनरहस्यं छेदयथार्थतत्त्वं कथयति ।

कथं पुनस्तेन पञ्चमहाव्रतभेदः, षट्कायवधश्चानुज्ञातो भवतीति ? । उच्यते–

निस्साणपदं पीहइऽनिस्साणविहारियं न रोएइ ।
तं जाण मंदधम्मं, इहलोगगवेसगं समणं ॥

निश्रायते मन्दधर्मैरासेव्यते इति निश्राणं तच्च तत्पदं च निश्राणपदम्, अपवादपदमित्यर्थ. । तदेव यः स्पृहयति, अनिश्राणविहारितां तु न रोचयति, तमेवंविधं श्रमणं जानीहि मन्दधर्माणमिहलोकगवेषकं, मनोज्ञभक्तपानाऽऽद्युपभोगेन केवलस्यैवेहलोकस्य चिन्तकं परलोकपराङ्मुखम्, एवंविधस्य च प्रवचनरहस्यप्रदाने विशेषत पञ्चमहाव्रतभेद , षट्कायवधश्च भवतीति युक्तमुक्तम् । वृ० १ उ० १ प्रक० ।

दुव्वलपच्चवमित्त–दुर्बलप्रत्यवमित्र–पुं० । अचलप्रातिवेशिकराजे, स्था० ६ ठा० । दुर्बलानामकारणवत्सले, रा० । सूत्र० ।

दुव्वलियत्त–दुर्बलिकत्व–न० । दुष्टं बलमस्यास्तीति दुर्बलिकस्तद्भावो दुर्बलिकत्वम् । दौर्बल्ये, भ० १२ श० २ उ० । नि० चू० ।

दुव्वलियापूसमित्त–दुर्बलिकापुष्यमित्र–न० । आत्मार्थमेव भिक्षां हिण्डमानो बहूनां दुर्बलिनामाहारं सपादयन् दुर्बलिकापुष्यमित्र इति । आर्यरक्षितसूरिपितरि स्वनामख्याते आचार्ये, स चाऽऽर्यरक्षितस्वामिनि दिवंगते स्वगणं परिपालयन् कर्मविषये विन्ध्येन साकं विप्रतिपद्यमानं गोष्ठमाहिलमुत्थापितवान् । स्था० ७ ठा० । ध० र० । विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

दुव्विभज–दुर्विभज–न० । कष्टविभजनीये, स्था० ५ ठा० १ उ० । ('तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६२ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

दुब्भ–दुह्–धा० । अदा०-उभ०-द्विक०-अनिट् । दोहे, " कर्मो दुहलिहवहरुधामुच्चातः " ॥ ८ । ४ । २४५ ॥ इति दुहेरन्त्यस्य कर्मभावे द्विरुक्तो ब्भो वा, तत्सन्नियोगे क्यस्य लुक् । 'दुब्भइ । दुहिज्जइ ।' प्रा० ४ पाद ।

दुब्भग–दुर्भग–त्रि० । सर्वैः परित्यक्ते निर्गतिके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । अनिष्टे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

दुब्भगणाम–दुर्भगनाम–न० । द्विचत्वारिंशन्नामकर्मभेदे, यदुदयवशादुपकारकृदपि जनस्याप्रियो भवति तद् दुर्भगनाम । उक्तं च–" उवकारकारगो वि हु, न रुच्चइ दुभगो उ जस्सुदए ।" इति । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । प० सं० । आ० ।

दुब्भगतिग–दुर्भगत्रिक–न० । दुर्भगदुःस्वरानादेयस्वभावरूपे, कर्म० १ कर्म० ।

दुब्भगाकरा–दुर्भगाऽऽकरा–स्त्री० । सुभगमपि दुर्भगमाकरोति इति दुब्भगाऽऽकरा । सुभगस्य दुर्भगकारके विद्याभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दुब्भासिय–दुर्भाषित–न० । दुष्टं सावद्यवाग्रूपं भाषितं यत्र तत्तथा । ध० २ अधि० । अनागमिकार्थोपदेशे, पञ्चा० १२ विव० । असद्भूतोद्भावे, जीत० । गर्वे, आ० म० २ अ० १ खण्ड । दुर्वाचा प्रतिक्रान्ते च । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

दुब्भि–दुरभि–पुं० । दुर्गन्धे वैमुख्यकृति, स्था० १ ठा० । नि० चू० । प्रज्ञा० । आचा० ।

दुब्भिक्ख–दुर्भिक्ष–न० । सस्योत्पत्त्यभावेन (दर्श० १ तत्त्व) दुर्लभा भिक्षा यस्मिन्देशे स दुर्भिक्षः । अलभ्यभिक्षाके देशे, स्था० ३ ठा० १ उ० । भिक्षाभावे, स्था० ४ ठा० २ उ० । कालविभ्रमे, आव० ६ अ० । दुष्काले, स० ३४ सम० । प्रव० । औ० । अन्नाकाले, दश० १ अ० । वीरात्कियन्तो दुर्भिक्षा अभवन्, यतः केऽप्येवं कथयन्ति–द्वादशकद्वयमभवत्, परिशिष्टपर्वाऽऽदौ च यत्र तन्नामानि प्रश्ने,उत्तरम्–वीरादर्वाक् दुष्काला भूयांसो बभूवुः,परं साक्षात् द्वादशाब्दं दुष्कालत्रयं शास्त्रे प्रोक्तं दृश्यते, तत्र परिशिष्टपर्वणि तु, नन्दीवृत्तौ चैक इति । ये तु दुष्कालद्वयमेव कथयन्ति तत्कस्मिन् शास्त्रे वर्तते,तन्नाम ज्ञापनीय,पश्चात्तदुत्तरविषये ज्ञाप्यते इति । ३७८ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

दुब्भिक्खभत्त–दुर्भिक्षभक्त–न० । यद् भिक्षुकार्थं दुर्भिक्षे संस्क्रियते । भक्तभेदे,ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । " समणनिग्गंथाण भुंजमाणाणं जं दुब्भिक्खे दाया देति तं दुब्भिक्खभत्तं ।" नि०चू० ९ उ० ।

दुब्भिगंध–दुरभिगन्ध–त्रि० । दुर्गन्धे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । नीमतराद्यगन्धोपेते,ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । कुथितकमेवरकाऽऽदौ,आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । रा० । दुरभिगन्धेन कुथितकलेवरातिशायिनि नरके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । असमञ्जगन्धे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । दुष्टगन्धे च । ज्ञा० २ श्रु० ९ अ० । " एगे दुब्भिगंधे ।" स्था० १ ठा० । दुरभिगन्धपरिगता लसुनाऽऽदिवत् । प्रज्ञा० १ पद ।

दुब्भिसद्द–दुरभिशब्द–पुं० । दुरभिरशुभः मनोज्ञो यो न भवति । "एगे दुब्भिसद्दे ।" स्था० १ ठा० । अशुभशब्दे, प्रज्ञा० ११ पद ।

दुब्भूइ–दुर्भूति–स्त्री० । अशिवे, बृ० ३ उ० ।

दुब्भूय–दुर्भूत–त्रि० । दुष्टा जनधान्याऽऽदीनामुपद्रवहेतुत्वाद् दुर्भूता यूकामत्कुणोन्दुरतिड्डप्रभृतिर्ईतिविशेषेषु सत्त्वेषु, भ० ३ श० २ उ० । अशिवे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

दुब्भेय–दुर्भेद–त्रि० । दुर्मोचे दुःक्षरणीये, विशे० । रा० ।

दुभागपत्त–द्विभागप्राप्त–त्रि० । द्विभागोऽर्द्धं तत्प्राप्तो द्विभागप्राप्तः । द्विभागप्राप्ते आहारे, द्विभागो वा प्राप्तोऽनेनेति द्विभागप्राप्तः । द्विभागप्राप्ते साधौ च । भ० ७ श० १ उ० ।

दुम-धवलि–नामधा० । श्वेतीकरणे, " धवलेर्दुमः " ॥ ८।४।२४ ॥ इति धवलयतेर्ण्यन्तस्य वा दुमाऽऽदेशः । 'दुमइ । धवलइ ।' प्रा० १ पाद ।

दुम–पुं० । दुः शाखाऽस्त्यस्य द्रुमः । वृक्षे,उत्त० ३२अ० । वाच० । 'दु दु'गताविरयस्य मु ,दुरस्मिन्देशे विद्यत इति तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुपि प्राप्ते "द्रुद्रुभ्यां म (७४४ उणा०)" इति मप्रत्ययान्तस्य द्रुम इति भवति । दश० १ अ० ।

साम्प्रतं द्रुमनिक्षेपप्ररूपणायाऽऽह–

नामदुमो ठवणदुमो, दव्वदुमो चेव होइ भावदुमो ।
एमेव य पुप्फस्स वि, चउव्विहो होइ निक्खेवो ॥३४॥

नामद्रुमो यस्य द्रुम इति नाम अभिधानम् । स्थापनाद्रुमो द्रुम इति स्थापना । द्रव्यद्रुमश्चैव भवति । भावद्रुम । तत्र द्रव्यद्रुमो द्विधा-आगमतो,नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञातानुपयुक्तो,नोआगमतस्तु-ज्ञशरीरभव्यशरीरोभयव्यतिरिक्तस्त्रिविधः । तद्यथा-एकभविको,बद्धाऽऽयुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च । तत्रैकभविको नाम य एकेन भवेनानन्तरं द्रुमेषूत्पत्स्यते । बद्धाऽऽयुष्कस्तु येन द्रुमनामगोत्रे कर्मणी बद्धे इति । अभिमुखनामगोत्रस्तु येन ते नामगोत्रे कर्मणी उदीरणावलिकायां प्रक्षिप्ते इति । अयं च त्रिविधोऽपि भाविनावद्रुमकारणत्वाद् द्रव्यद्रुम इति । भावद्रुमोऽपि द्विविध –आगमतो,नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो ज्ञातोपयुक्तः । नोआगमतस्तु द्रुम एव द्रुमनामगोत्रे कर्मणी वेदयन्निति । एवमेव च यथा द्रुमस्य तथा, किम्?, पुष्पस्यापि वस्तुनस्तद्विकारभूतस्य, चतुर्विधो भवति निक्षेप इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

साम्प्रतं नानादेशजविनेयगणसम्मोहार्थमागमे द्रुमपर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह–

दुमा य पायवा रुक्खा, आगमा विडिमा तरू ।
कुजा महीरुहा वच्छा, रोवगा रुंजगा वि य ॥ ३५ ॥

द्रुमाश्च पादपा वृक्षाः आगमा विटपिनस्तरवः कुजा महीरु-

निष्ठितार्थस्य समाप्तसकलकृत्यस्य, यद्वा निषेधे सकलकर्मनिराकरणलक्षणे भवा नैषेधिका मुक्तिगतिस्तया निष्ठितार्थो यस्तस्य, ऋषभजस्य ऋषभनाम्न । स चान्योऽपि सम्भवत्यत आह-भरतपितुरिति । वन्दते स्तौति, प्रक्रमान्नैषेधिका, प्रतिमा वा, तथा साधु, सम्यगिति भृश वासयति सवासयति, कोऽर्थः ?-रात्रिन्दिव व्यवस्थापयति, नोऽसाधु सहरणाऽऽदिना नीतमपि, किलेति परोक्षाऽऽप्तवादसूचकः, अथेत्युपन्यासे, सिद्धैरुपलक्षितः पर्वत सिद्धपर्वत, तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति तदधिष्ठायकदेवताविशेष एवोक्त । यद्वा-तत्तीर्थानुभाव एवाय यदसाधोस्तत्रावस्थानमेव न सपद्यते । तथा चरमशरीर साधुरारोहतीत्यत्र पदप्रचारेणेति गम्यते । उदाहरण कथन, (कासी य त्ति) अकार्षीत्, अनेन चैवविधादेव प्रवादोऽस्थानकारणमुक्तम् । " घित्तूण पुमरीय " इत्यादिना च प्रसङ्गाऽऽगत वैरस्वामिजन्मोकम्, तथा-(पासिऊण इड्ढि त्ति) तामेव प्रतीतामेव भगवति जङ्घाचारणलब्धिरूपां, तथा-(तिवग्गा वि त्ति) त्रयो वर्गा येषा ते त्रिवर्गा , तेऽपि प्रक्रमाद् दिन्नकोडिन्नशैवलिनत्रयोऽपि, नैको, द्वौ वेत्यपिशब्दार्थः । (अणगारे त्ति) अविद्यमानगृहा , ते च तापसाऽऽदयोऽपि स्युरत आह-प्रकर्षेण व्रजिता मिथ्यात्वाऽऽदिभ्यो विनिर्गता प्रव्रजिता , तथा-(एगस्स खीरभोयणहेउ त्ति) क्षीरान्नभोजनमेव विशुद्धाध्यवसायविशेषोत्पत्तिनिबन्धनतया हेतु कारणं क्षीरभोजनहेतुः,मयूरव्यसकाऽऽदित्वात्समास ,तस्मादित्येतिशेष । (नाणुप्पन्न त्ति) ज्ञानस्योत्पादनमुत्पत्, सपदादित्वात् क्विप्,ज्ञानोत्पत् । तथा (चिरससिट्ठ त्ति) चिर प्रभूतकाल मसृष्ट स्वस्वाम्यादिसबन्धेन सबद्धो यस्त,चिर परिचित सहवासाऽऽदिना स पूर्वो यस्तम् । उभयत्र विस्पष्ट पटुर्विस्पष्टपटुरितिवत् " सहसुपा " ॥ ९ । १ । ४ ॥ इत्यत्र सुपेतियोगविभागात्समासः । चिरमनुगतमभिप्रायानुवर्तिनम्, आत्मानमिति शेष । ममेत्यात्मनिर्देश । तत प्रभूतमोहनीयाऽऽच्छादिततया न ते ज्ञानोत्पत्तिरित्यभिप्राय । देहस्य तु शरीरस्य भेदे विनाशे द्वावप्यावां तुल्यौ मुक्तिपदप्राप्त्या समौ भविष्याव इति । मा त्वमधृतिं कृथा इति भाव । तथा येन प्रकारेण यथा (मन्ने त्ति) आर्षत्वात् पुरुषव्यत्यय , ततो मन्यसे, त्वमेतं ज्ञानावासिलक्षणमर्थं वस्तु, वय जानीमोऽवबुध्यामहे, किंविशिष्टा सन्त इत्याह-क्षीण पुनर्भवाभावतः ससारो येषां ते क्षीणससारा , तेन प्रकारेण तथा व्यवच्छेदफलत्वाच्चैव । किमित्याह-(मन्ने त्ति) प्राग्वत् , मन्यसे एतमर्थमनन्तरोक्त, विमानवासिनोऽपि देवा जानन्त्यवबुध्यन्ते ?। एव च यथा क्षीणससारा जानन्ति, तथा विमानवासिनोऽपि जानन्तीत्याशयवत क्षीणससारिणां च परिज्ञान प्रति साम्यमभिमतमित्यहो तवाविवेकितेत्युपालब्ध । तथा (जाणगपुच्छ ति) ज्ञापकपृच्छया पृच्छति, न हि तस्य भगवत समस्तज्ञेयविषयविज्ञानचक्षुष कश्चिदज्ञानमस्ति, किं तु गौतम प्रतिबोधयितुमित्थमुपालभते-यथा, किम ?,दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवास्तेषां वचन वाचो (गज्झ ति) ग्राह्यमुपादेयम । (आओ त्ति) आर्षत्वात् आहोस्वित्,जिनाना वरा प्रधाना जिनवरा उत्पन्नकेवलास्तीर्थकृत ,तेषा, तदनेन एकमस्तपरिज्ञानस्य देवपरिज्ञानस्य च साम्याऽऽपादनम्, अपर तु साम्ये सत्यपि"देहस्स य भेयम्मि वि, दोन्नि वि तुल्ला भविस्सामो त्ति" अस्मद्वचनत शतशोऽपि श्रुतात्र विनिश्चयमपि विहितवान्,देववचनात्तु सकृदाकर्णितात्तथेति प्रतिपद्याष्टापद प्रति प्रयात इत्यहो ते मोहविजृम्भितमित्युक्त भवति । श्रुत्वा तदुपालम्भ भगवत सबन्धि (मिच्छाचारस्स त्ति) आर्षत्वाद् मिथ्याचाराद्युक्तरूपात्क्षम्यमाणत्वात् प्रतिक्रमितुमुपतिष्ठतीत्युपगच्छति,तन्निश्रयेति गौतमनिश्रया अनुशिष्टिं शिक्षाम । एतद्गाथार्थस्तु सम्प्रदायादवसेय । स चायम्-"तेण कालेण तेण समएण पिट्ठिचंपा नाम नयरी, तत्थ सालो राया, महासालो जुवराया, तेसिं सालमहासालाण भगिणी जसवतीति । से पिढरो भत्तारो, जसवतीए अत्तओ पिढरपुत्तो गागली नाम कुमारो, तत्थ वद्धमाणसामी समोसढो सुभूमिभागे उज्जाणे, सालो निग्गतो, धम्मं सोच्चा जं णवर महासाल रज्जे ठावेमि, सो अइगतो, तेण आपुच्छितो महासालो भणइ-अह पि ससारभयउव्विग्गो जहा तुब्भे, इह मेढीपरिमाण तहा पव्वइयव्वस्स वि । ताहे गागलिं कंपिल्लाओ सद्दाविऊण पट्टो बद्धो, अभिसित्तो, राया जातो, तस्स माया कंपिल्लपुरे नयरे दिण्णिल्लिया पिढरस्स, तेण तओ सद्दाविता, सो पुण तेसिं दो सिवियाओ कारेति०जाव ते पव्वइया,सा भगिणी समणोपासिया जाया । तते ण ते समणा होतगा एक्कारस अगाइ अहिज्जिया, तते ण समणे भगव महावीरे बहिया जणवयविहारं विहरइ । तेण कालेण तेण समएणं रायगिहं नाम नयरं, तत्थ सामी समोसढो, ताहे सामी पुणो विनिग्गतो, चंप पहाविओ, ताहे सालमहासाला सामी आपुच्छति, अम्हे वि पिट्ठीचंप वच्चामो, जइ नाम ता ण कोवि बुज्झिज्जा, सम्मत्तं वा लहिज्जा, सामी विजाणइ जहा ताणि सबुज्झिहति, ताहे सामिणा गोयमसामी सेविज्जओ दिन्नो,सामी चंप गतो, गोयमसामी पिट्ठिचंप गतो,तत्थ समोसरण, गागलीपितरो जसवती य निग्गयाणि, भगव धम्म कहेइ,ताणि य धम्म सोऊण सविग्गाणि, ताहे गागली भणइ०ज नवर अम्मापियरो आपुच्छामि,जेट्ठपुत्त च रज्जे ठवेमि,ताणि आपुच्छियाणि भणति-जइ तुम ससारभयउव्विग्गो, अम्हे वि,ता एसो पुत्त रज्जे ठावित्ता अम्मापीतीहिं सम पव्वतितो, गोयमसामी ताणि घेत्तूण चप वच्चइ, तेसिं सालमहासालाण पथ वच्चताण हरिसो जाओ, जहा ससार उत्तारियाणि, एवं तेसिं सुहेण अज्झवसाणेण केवलणाण उप्पन्न । इयरेसिं पि चिंता जाया-जहा एएहिं अम्हे रज्जे ठावियाणि, ससाराओ मोइयाणि, एव चिंतताण सुहेण अज्झवसाणेण तिण्ह पि केवलनाण उप्पन्न, एव ताणि उप्पन्नणाणाणि चप गयाणि, सामीपयाहिण करेमाणाणि तित्थ पणमिऊण केवलिपरिस पहावियाणि । गोयमसामी भगव वदिऊण तिक्खुत्तो पाएसु पडितो उट्ठितो भणइ-कहिं वच्चह, एह तित्थयर वदह ? । ताहे सामी भणइ-मा गोयम ! केवली आसाएहि, ताहे आउट्टो खामेइ, सवेग च गतो । तत्थ गोयमसामिस्स सका जाया-मा ह च ण सिज्झिज्जामि त्ति, एव गोयमसामी विचिंतेइ । इओ य देवाण सलावो वट्टति-जो अट्ठावय विलग्गइ, चेइयाणि य वदति धरणीगोयरो, सो तेण भवग्गहणेण सिज्झइ, ताहे सामी तस्स चित्त जाणइ, ताव सयणसंबोहणय एयस्स वि थिरता भविस्सइ त्ति दो वि कयाणि भविस्सति, एयस्स वि पच्चओ, ते वि सबुज्झिस्सति त्ति । सो वि सामिं आपुच्छति-अट्ठावय जामि त्ति । तत्थ भगवया भणिय-वच्च अट्ठावय, चेइयाणि वदह । ते एव भगव हट्ठतुट्ठो वदित्ता गतो,तत्थ य अट्ठावए जणाववाय सोऊण तिन्नि तावसा पच पच सयपरिवारा पत्तेय ते अट्ठावय विलग्गामो त्ति, तत्थ किलिस्सति-कोडिन्नो, दिन्नो, सेवाली, जो

फोसिओ सो चउत्थं चउत्थं काऊण पत्ता मूलकंदाणि आहारेइ सच्चित्ताणि, सो पढमं मेहलं विलग्गो । बिइओ य छट्ठछट्ठेण काऊण परिसडियं पंडुपत्ताणि आहारेइ, सो वि य मेहलं विलग्गो । तइओ अट्ठमं २ काऊण जो सेवालो सयं मइल्लओ तं आहारेइ, सो तइयं मेहलं विलग्गो । एवं ते वि ताव किलिस्संति । भगवं च गोयमे ओरालियसरीरे अइहुयवहतत्तमिव तरुणरविकिरणसरिसतेए पत्ते पेच्छिऊण ते भणंति-एस किर एत्थ थुल्लओ समणो विलग्गिहि त्ति, जं अम्हे महातवस्सी सुक्का भुक्खा न तराओ विलग्गिउ, भगवं च गोयमे जंघाचारणलद्धीए लूयातंतुपुडगं पि व निस्साए उप्पयइ०जाव ते य पलोयंति, एस आगओ, एसो अइगओ त्ति, ताहे ते विम्हिया जाया पसंसंति, अच्छंति य पलोएंता,जइ ओयरइ,तो एयस्स वयं सीसा, एत्थ ते पडिच्छंता अच्छंति. सामी वि चेइयाइं वंदित्ता उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए पुढविसिलापट्टयवट्टो असोगवरपायवस्स अहे तं रयणीवासाए उवगओ । इओ य सक्कस्स लोगपालो वेसमणो, सो वि अट्ठावयं चेइयवंदओ एइ, सो चेइयाणि वंदित्ता गोयमसामिं वंदइ, ताहे सो धम्मं कहेइ, भगवं अणगारगुणे परिकहेउं पयत्तो अंताहारा पंताहारा एवं वण्णेइ, वेसमणो चिंतेइ-एस भगवं एरिसे साहुगुणे वण्णेइ,अप्पणो य से इमा सरीरसुकुमारया जारिसा देवाण वि नत्थि.भगवं तस्स आकूयं नाउं पुंडरीयं नामऽज्झयणं पण्णवेइ-जहा पोक्खलावइविजए पुंडरीगिणीए नयरीए नलिणिवणे उज्जाणे समोसढे,महापउमे निग्गए,धम्मं सोच्चा जं०णवरं देवाणुप्पिया ! पुंडरीयं कुमारं रज्जे ठवेमि ? । अहासुहं मा पडिबंधं करेह । एवं०जाव पुंडरीए राया जाए०जाव विहरइ । तए णं से कंडरीए कुमारे जुवराया जाए । तए णं से पउमे राया पुंडरीयरायं आपुच्छइ, तए णं से पुंडरीए सिबियं नीणेइ० जाव पव्वइए,णवरं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ, बहूहिं छट्ठऽट्ठममहातवोवहाणेहिं बहूणि वासाणि सामण्णं पालिऊण मासियाए संलेहणाए सहिं भत्ताए झोसित्ता० जाव सिद्धे । अन्नया य ते थेरा भगवंता पुव्वाणुपुव्विं विहरमाणे०जाव पुंडरीगिणीए समोसढे, परिसा णिग्गया । तए णं से पुंडरीए राया कंडरीएणं जुवरन्ना सद्धिं इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठ० जाव गए, धम्मकहा०जाव से पुंडरीए सावगधम्मं पडिवज्जे० जाव पडिगए सावए जाए । तए णं से कंडरीए जुवराया थेराणं धम्मं सोच्चा हट्ठ० जाव जहेव तुब्भे वयह, जं०णवरं देवाणुप्पिया ! पुंडरीयं आपुच्छामि, तए णं० जाव पव्वयामि ? । अहासुहं पडिबंधं । तए णं से कंडरीए० जाव थेरे नमसइ, नमंसित्ता अंतियाओ पडिनिक्खमइ, निक्खमित्ता तामेव चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ०जाव पच्चोरुहइ,जेणेव पुंडरीए राया तेणेव उवागच्छइ,करयल०जाव पुंडरीयं रायं एवं वयासी-एवं खलु मए देवाणुप्पिया ! थेराणं अंतिए०जाव धम्मे निसंते, से धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए । तए णं अहं देवाणुप्पिया ! संसारभउव्विग्गे भीए जम्मणमरणाणं, इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे थेराणं अंतिए० जाव पव्वइत्तए त्ति । तए णं से पुंडरीए राया एवं वयासी-मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! इयाणिं थेराणं अंतिए०जाव पव्वयाहि । अहं णं तुमं महया २ रायाभिसेएणं अभिसिंचिस्सामि । तए णं से कंडरीए पुंडरीयस्स रन्नो एयमट्ठं नो आढाइ,नो परिजाणइ,तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं से कंडरीए रायं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी-इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! ०जाव पव्वइत्तए त्ति । तए णं से पुंडरीए राया कंडरीयं कुमारं जाहे नो संचाएइ विसयाणुलोमाहिं बहूहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य सन्नवणाहि य विन्नवणाहि य आघवित्तए वा०४, ताहे विसयपडिकूलाहिं संजमभउव्वेगकरीहिं पन्नवणाहिं पन्नवेमाणे २ एवं वयासी-एवं खलु जाया ! निग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलिए,एवं जहा पडिक्कमणे० जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति, किं तु अहीव एगंतदिट्ठी, खुरो इव एगंतधाराए, लोहमया जवा चावेयव्वा, वालुयाकवले इव निस्सारे,गंगा व महानई पडिसोयं गमणीए, महासमुद्दे इव भुयाहिं दुत्तरे, तिक्खं चंकमियव्वं, असिधारं व तवं चरियव्वं,नो य खलु कप्पइ जाया ! समणाणं निग्गंथाणं पाणाइवाए वा०जाव मिच्छादंसणसल्ले वा अहाकम्मे वा उद्देसिए वा मिस्सजाए वा अज्झोयरए पूइकम्मे पामिच्चे अच्छिज्जे अणिसट्ठे अभिहडेइ वा कंतारभत्तेइ वा दुब्भिक्खभत्तेइ वा गिलाणभत्तेइ वा वद्दलियाभत्तेइ वा सेज्जायरपिंडेइ वा मूलभोयणेइ वा कंदभोयणेइ वा फलभोयणेइ वा बीयभोयणेइ वा हरियभोयणेइ वा भोत्तए वा, पायए वा, तुमं च णं जाया ! सुहसमुचिए,णो चेव णं दुहसमुचिए, णालं सीतं णालं उण्हं णालं खुहा णालं पिवासा णालं चोरा णालं वाला णालं दंसा णालं मसगा णालं वाइयपित्तियसिंभियसन्निवाइए विविहे रोगायंके उच्चावए वा गामकंटए वा बावीसं परीसहोवसग्गे उदिण्णे सम्मं अहियासित्तए वि, णो खलु जाया ! अम्हे इच्छामो तुब्भं खणमवि विप्पओगं,तं अच्छाहि ताव जाया ! अणुभवाहि रज्जसिरिं पच्छा पव्वइहिसि । तए णं से कंडरीए एवं वयासी-तहेव णं तं देवाणुप्पिया ! जं णं तुब्भे वयह,किं पुण देवाणुप्पिया ! निग्गंथे पावयणे कीवाणं कायराणं कापुरिसाणं इहलोयपडिबद्धाणं परलोगपरम्मुहाणं विसयतिसियाणं दुरणुचरे पागयजणस्स, धीरस्स निच्छियस्स ववसियस्स नो खलु एत्थ किंचि दुक्करं करणयाए, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! ० जाव पव्वइत्तए त्ति । तए णं कंडरीयं पुंडरीए राया जाहे नो संचाएइ बहूहिं आघवणाहि य०४ आघवित्तए वा०४,ताहे अकामए चेव निक्खमणं अणुमन्नित्था । तए णं से पुंडरीए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-जहा महाबलस्स महरिहं निक्खमणमहिमं करेह०जाव पव्वइतो,सामाइयमाइयाइं एगारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जित्ता बहूहिं चउत्थछट्ठऽट्ठमाईहिं तवोविहाणेहिं ०जाव विहरइ, अन्नया तस्स कंडरीयस्स अंतेहि य पंतेहि य० जाव रोगायंके पाउब्भूते० जाव दाहवक्कंतीए यावि विहरति । तए णं ते थेरा भगवंतो अन्नया कयाइ पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगामं विहरमाणा पुंडरीगिणीए नलिणिवणे समोसढा,तए णं से पुंडरीए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे० जाव पज्जुवासइ । परिसा धम्मकहा भणियव्वा । तए णं से पुंडरीए राया धम्मं सोच्चा जेणेव कंडरीए अणगारे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता कंडरीयं वंदइ,नमंसइ,नमंसित्ता कंडरीयस्स सरीरं सव्वाबाहं सरुयं पासइ, पासेत्ता जेणेव थेरा तेणेव उवागच्छइ, थेरे वंदइ, वंदित्ता एवं वयासी-अहं णं भंते ! कंडरीयअणगारस्स अहापवत्तेहिं तेगिच्छएहिं फासुएसणिज्जेहिं अहापवत्तेहिं ओसहभेसज्जेहिं भत्तपाणेहिं तिगिच्छं आउट्टामि, तुब्भे णं भंते ! मम जाणसालासु समोसरह । तए णं थेरा पुंडरीयस्स रन्नो एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता जाणसालासु विहरंति । तए णं से

पुंमरीए कंमरीयस्स तेगिच्छं आउट्टेइ, त मणुन्नं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारितस्स समणस्स से रोगायके खिप्पामेव उवसन्ते, हट्ठे जाए, आरोगे बलियसरीरे, ततो रोगायकामुक्के वि समाणे तेसि मणुन्नंसि असणे० ४ मुच्छिए० जाव अज्झोववन्ने विविहे य पाणगंसि, णो संचाएइ बहिया अब्भुज्जएण विहारेण विहरित्तए त्ति । तए ण से पुंडरीए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव कंमरीए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कंमरीयं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिण करेइ, करेत्ता वदइ, वंदइत्ता एव वयासी- धन्ने सि ण तुमं देवाणुप्पिया ! पुण्णे सि ण कयत्थे कयलक्खणे सुलद्धे ण तव देवाणुप्पिया ! माणुस्सए जम्मे जीवियफले ज ण तुम रज्ज च० जाव अतेउर च विछड्डित्ता० जाव पव्वइए; अह ण अहन्ने अकयपुण्णे, ज णं माणुस्सए भवे अणेगजाईजरामरणरोगसोगसारीरमाणसए कामदुक्खवेयणवसणसयउवद्दवाभिभूए अधुवे अणितिए असासए संझब्भरागसरिसे जलबुब्बुयसमाणे कुसग्गजलबिन्दुसन्निभे सुमिणगदंसणोवमे विज्जुलयाचचले अणिच्चे सडणपडणविद्धंसणधम्मके पुव्वि पच्छा वा अवस्स विप्पजहियव्वे इति, तहा माणुस्सय सरीरयं पि दुक्खाययणं विविहवाहिसयसन्निकेयं अट्ठियकट्ठुट्ठियं छिराण्हारुजालओणद्धसंपिणद्धं मट्टियभंड व दुब्बलं असुइसंकिलिट्ठं अणिट्ठवि य सव्वकालसंठप्पयं जराकुणिमजज्जरघर व सडणपडणविद्धंसणधम्मयं पुव्वि वा पच्छा वा अवस्सविप्पजहियव्वं, कामभोगा वि य णं माणुस्सगा असुई असासया वंतासवा पित्तासवा खेलासवा सुक्कासवा सोणियासवा उच्चारपासवणखेलसिंघाणगवंतपित्तसुक्कसोणियसमुब्भवा अमणुन्नदुरूयमुत्तपूइपुरीसपुण्णा मयगंधुस्सासअसुभनिस्सासउव्वियणगा बीभच्छा अप्पकालिया लहुस्सगा कलमलाहिया सुदुक्खा बहुजणसाहारणा परिकिलेसकिच्छदुक्खसज्झा अबुहजणनिसेविया सदा साहुगरहणिज्जा अणतसंसारवद्धणा कडुगफलविवागा चुडलि व्व अमुच्चमाणा दुक्खाणुबंधिणो सिद्धिगमणविग्घा पुव्वि वा पच्छा वा अवस्स विप्पजहियव्वा भवंति त्ति । जे वि य णं रज्जे हिरण्णे सुवण्णे य० जाव सावएज्जे, से वि य णं अग्गिसाहिए चोरसाहिए रायसाहिए मच्चुसाहिए दाइयसाहिए अधुवे अणितिए असासए पुव्वि वा पच्छा वा अवस्स विप्पजहियव्वे भविस्सइ त्ति, एवंविहम्मि रज्जे० जाव अतेउरे य माणुस्सएसु य कामभोगेसु मुच्छिए नो संचाएमि० जाव पव्वइत्तए, तं धन्ने सि ण तुमं० जाव सुलद्धे णं मणुयजम्मे, ज ण पव्वइए । तए ण से कंमरीए पुंमरीएण एव वुत्ते तुसिणीए संचिट्ठइ । तए ण से पुंडरीए दोच्चं पि तच्च पि एवं वयासी- धन्ने सि तुमं, अहं अहन्ने । तए ण से दोच्चं तच्च पि एवं वुत्ते समाणे अकामए अवसवसे लज्जाए गारवेण य पुंमरीयं रायं आपुच्छइ, थेरेहिं सद्धिं बहिया जणवयविहार विहरइ । तए ण से कंडरीए थेरेहिं सद्धिं किंचि कालं उग्गं उग्गेणं विहरित्ता ततो पच्छा समणत्तणनिव्विण्णे समणत्तणनिब्भच्छिए समणगुणमुक्कजोगे थेराण अंतियाओ सणियं सणियं पच्चोसक्कइ, जेणेव पुंमरीगिणी नयरी जेणेव पुंमरीयस्स रन्नो भवणे जेणेव असोगवणिया जेणेव असोगवरपायवे जेणेव पुढवीसिलापट्टए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता० जाव सिलापट्टयं दुरूहइ, दुरूहित्ता ओहयमणसंकप्पे० जाव झियाइ । तए ण पुंमरीयस्स अम्मधाई तत्थाऽऽगच्छइ० जाव त तहा पासेइ, पासित्ता पुंडरीयस्स साहेइ, से वि य ण अंतेउरपरियालसपरिवुडे तत्थ गच्छइ, गच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिण० जाव धन्नो सि ण तुमं० जाव तुसिणीए । तए ण पुंडरीए एवं वयासी- अट्ठो भंते ! भोगेहिं ? । हंता अट्ठो । तए णं कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता कंडरीयं महया रायाभिसेएणं० जाव रज्जं पसासेमाणे विहरइ । तए ण से पुंडरीए सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, करेत्ता चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जइ, कंडरीयस्स आयारभंडगं संगहेइ, गेण्हेत्ता इमं अभिग्गहं गिण्हइ- कप्पइ मे थेराणं अंतिए धम्मं पडिवज्जित्ता पच्छा आहारं आहरित्तए त्ति कट्टु थेराभिमुहे निग्गए, कंडरीयस्स उ तं पाणीयं पाणभोयणं आहारियस्स नो सम्मं परिणते वेयणा पाउब्भूया उज्जला विउला० जाव दुरहियासा । तए ण से रज्जे य० जाव अंतेउरे य मुच्छिए जाव अज्झोववन्ने अट्टदुहट्टवसट्टे अकामए कालं किच्चा सत्तमपुढवीए तेत्तीससागरोवमट्ठिइए जाते । पुंडरीए वि य ण थेरे पत्ते पासित्ता अंतिए ते दोच्चं पि चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जति अट्ठमभत्तपारणगंसि अईणे० जाव आहारेइ, तेण य कालाइक्कंत सीयलुक्खअरसविरसेण अपरिणएण वेयणा दुरहियासा जाया, तए ण से अंजलिपरिग्गहियं कट्टु करयलपरिग्गहियं० जाव अंजलिं कट्टु "नमोत्थु ण अरहंताणं० जाव संपत्ताणं," "नमोत्थु णं थेराणं भगवंताणं मम धम्मायरियाणं धम्मोवएसगाणं पुव्वि पि य णं मए थेराणं अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए० जाव सव्वे अकरणिज्जे जोगे पच्चक्खाए, इयाणिं पि य ण तेसिं चेव णं भगवंताणं अंतिए सव्वपाणाइवायं० जाव सव्वं अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामि, ज पि य इमं इमं सरीरगं० जाव एयं पि चरिमेहिं ऊसासनीसासेहिं वोसिरामि त्ति," एवं आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे तेत्तीससागरोवमट्ठिई देवो जातो, ततो चइत्ता महाविदेहे सिज्झिहि त्ति। त मा तुमं दुब्बलत्तं बलियत्तं वा गेण्हाहि, जहा सो कंमरीओ तेण दोब्बल्लेण अट्टदुहट्टवसट्टो सत्तमाए उववन्नो, पुंमरीओ पडिपुण्णगलकवोलो सव्वट्ठसिद्धे उववन्नो । देवाणुप्पिया ! बलितो दुब्बलो वा अकारणं एत्थ झाणनिग्गहो कायव्वो, झाणनिग्गहो परमं पमाणं, तत्थ वेसमणो सद्धो भगवया अक्खायं नायं ति, एत्थ सईव संवेगमावण्णो त्ति वंदित्ता पडिगतो त्ति, तत्थ वेसमणस्स एगो सामाणितो देवो, तेण तं पुंडरीयज्झयणं ओगाहियं, पंच सयाणि सम्मत्तं च पडिवण्णो त्ति । केइ भणंति- जंभगो सो ताहे भगवं कल्लं चेइयाणि वंदित्ता पच्चोरुहइ, ते तावसा भणंति- तुब्भे अम्हाणं आयरिया, अम्हे तुब्भ सीसा । सामी भणइ- तुब्भं अम्ह य तिलोगगुरू आयरिया । ते भणंति- तुब्भ वि अण्णो आयरिओ ? । ताहे सामी भगवंतो गुणसंथवं करेइ, पव्वइया देवया, तेसिं लिंगाणि उवणीयाणि, ताहे ते भगवया सद्धिं वच्चंति, भिक्खावेला य जाया, भगवं भणइ- किं आणिज्जउ ? । ते भणंति- पायसो, भगवं च सव्वलद्धिसंपण्णो पडिग्गहगं महुघयसंजुत्तस्स पायसस्स भरेत्ता आगतो । ताहे भणइ- परिवाडीए ठाह, ते ठिया, भगवं च अक्खीणमहाणसिओ, ते धाया, ते जुहत्तुयर आउट्टा, ताहे सयमाहारेइ ताहे पुणरवि पढिया, तेसिं च सेवालभक्खगाण जेमित्ताणं चेव नाणं उप्पन्नं, दिवसस्स य मो कुसाइच्चस पेच्छ-

ताण, कोंमिश्रवग्गे सामिं ददूहूण उवयश्रा। गोयमसामी पुण पुरतो पकट्ठमाणे सामी पयाहिणीकरेइ। ते वि केवलिपरिसं पहाविया। गोयमसामी भणइ-एह सामिं वदह। सामी भणइ मा गोयमा! केवली आसाएहि। गोयमसामी आवट्टो मिच्छादुक्कडं करेइ। ततो गोयमसामिस्स सुट्ठुतरं अधिई जाया। ताहे सामी गोयमं भणइ-किं देवाणं वयणं गज्झं, आतो जिणाणं? गोयमो भणइ-जिणवराणं। तो कीस अधिई करेसि? ताहे सामी चत्तारि कडे पणवेइ। तं जहा-सुट्ठुकडे, विदलकडे, चम्मकडे, कवडकडे। एवं सामी वि गोयमसामीतो केवलकडसमाणो। किं च-चिरसंसिट्ठो सि मे गोयमा!, चिरपरिचिओ सि मे गोयमा! जाव अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो, ताहे सामी 'दुमपत्तय' नामऽज्झयणं पणवेइ। देवो वि सेससमणमामाणिओ ततो चइत्ता ण तुंबवणसंनिवेसे धणगिरी नाम गाहावई, सो अड्ढो, सो य पव्वइउकामो, तस्स य मायापियरो वारेइ, पच्छा से जत्थ जत्थ वारेंति, तत्थ तत्थ विपरिणामेति, जहा अहं पव्वइउकामो। तस्स य तयाणुरूवस्स गाहावइस्स सुणंदा नाम धूया। सा भणइ-मम देह। ताहे सा दिण्णा। तीसे य भाया अज्जसमितो नाम पुव्वपव्वइतो, तीसे य सुणंदाए कुच्छिंसि सो देवो उववन्नो। ताहे भणइ धणगिरी-एस ते गब्भो बितिज्जतो होहिइ, सो सीहगिरिस्स पासे पव्वाइओ। इतो य नवण्हं मासाणं दारओ जातो।" इत्यादि भगवद्वैरस्वामिकथा आवश्यकचूर्णितोऽवसेयेत्युक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः।

संप्रति सूत्राऽऽलापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः, स च सूत्रे सतीत्यतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम्। तच्चेदम्-

दुमपत्तए पंडुयए, जह निवडइ रायगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥१॥

द्रुमो वृक्षः, तस्य पत्रं पलाशं, तदेव तथाविधावस्थाप्राप्त्याऽनुकम्पितं द्रुमपत्रकं, (पंडुयए त्ति) आर्षत्वात् पाण्डुरकं, कालपरिणामतस्तथाविधरोगाऽऽदेर्वा प्राप्तवलक्षभावं, येन प्रकारेण यथा, निपतति शिथिलवृन्तबन्धनत्वाद् भ्रस्यति, प्रक्रमाद् द्रुमत एव रात्रिगणानां, दिनगणाविनाभावित्वादुपलक्षणत्वाद्वा रात्रिन्दिवसमूहानाम्, अत्यये अतिक्रमे, एवमित्येवंप्रकारं मनुष्याणां मनुजानां, शेषजीवोपलक्षणं चैतद्, जीवितमायुः, तदपि हि रात्रिन्दिवगणानामतिक्रमे यथास्थित्या स्थितिक्षयरूपया हाराऽऽत्मकेनाध्यवसायाऽऽदिजनितेनोपक्रमणेन वा जीवप्रदेशेभ्यो भ्रस्यतीत्येवमुच्यते। यतश्चैवमतोऽत्यन्तनिरुद्धं कालं समयं तम्, अपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् समयमपि, आस्तामावलिकाऽऽदि। गौतमेति गौतमसगोत्रस्येन्द्रभूतेरामन्त्रणम्, मा प्रमादी मा प्रमादं कृथाः, शेषशिष्योपलक्षणं च गौतमग्रहणम्। उक्तं हि निर्युक्तिकृता-'तन्निस्साए भगवं, सीसाणं देइ अणुसट्ठिं॥"

अत्र च पाण्डुरकपदाऽऽक्षिप्तं यौवनस्याप्यनित्यत्वमाविष्कुर्वन्नाह निर्युक्तिकृत्-

परियट्टियलावण्णं, चलंतसंधिं मुयंतबिंटागं।
पत्तं वसणप्पत्तं, कालप्पत्तं भणइ गाहं ॥४२॥
जह तुब्भे तह अम्हे, तुब्भे वि य होहिह य जहा अम्हे।
अप्पाहेइ पडंतं, पंडुरपत्तं किसलयाणं ॥४३॥
न वि अत्थि न वि य होहि ऽ, उल्लावो किसलपंडुपत्ताणं।
उवमा खलु एस कया, भवियजणविबोहणट्ठाए ॥४४॥

परिवर्तितं कालपरिणत्याऽन्यथाकृतं, लावण्यमभिरामगुणाऽऽत्मकमस्येति परिवर्तितलावण्यं, यतोऽनन्तस्य प्रागिव सौकुमार्याऽऽदि विद्यते। तथा चलन्तः शिथिलीभवन्तः सन्धयो यस्मिंस्तत्तथा, अत एव (मुयंतबिंटाग त्ति) मुञ्चत् त्यजत् सामर्थ्याद् वृक्षं वृन्तं पत्रबन्धनं यस्य तन्मुञ्चद्वृन्तकं, वृन्तस्य च वृक्षमोचने पत्रस्य पतनमेव भवतीत्येतादित्युक्तं भवति, पत्रं पर्णं, व्यसनमापदं, प्राप्तं व्यसनप्राप्तं, तथा कालं, प्रक्रमात् पतनप्रस्तावं, प्राप्तं गतं कालप्राप्तं, भणत्यभिधत्ते, गीयत इति गाथा, तां छन्दोविशेषरूपाम्। तामेवाऽऽह-यथेति सादृश्ये, ततो यथा यूयं संप्रति किशलयभावमनुभवन्तः स्निग्धाऽऽदिगुणैर्गर्वमुद्वहन्तोऽस्मानुपहसथ, तथा वयमतीतदशायां, तथा यूयमपि च भविष्यथ यथा वयमिति। जीर्णभावे हि यथा वयमिदानीं विवर्णविच्छायतयोपहास्यान्येवं यूयमपि भाविनीति। (अप्पाहेइ त्ति) उक्तन्यायेनोपदिशति पितेव पुत्रस्य, पतद् भ्रस्यत्पाण्डुकपत्रं जीर्णपर्णं, किशलयानामभिनवपत्राणाम्। ननु किमेवं पत्रकिशलयानामुल्लापाः सम्भवन्ति, येनेदमुच्यते?। अत आह-नैवास्ति नैव विद्यते, नैव भविष्यति, उपलक्षणत्वान्नैव भूतः, कोऽसौ?, उल्लापो वचनं, केषाम्?, किशलयपाण्डुपत्राणामुक्तरूपाणाम्। आर्षत्वाच्च यल्लोपः। तदिह किमेवमुक्तमिति?, आह-उपमा उपमितिः, खल्वेवकारार्थे, तत उपमैवैषाऽनन्तरोक्ता, कृताऽभिहिता। (भवियजणविबोहणट्ठाए त्ति) प्रतीतमेव। यथेह किशलयानि पाण्डुपत्रेणानुशिष्यन्ते, तथा अन्योऽपि यौवनगर्वितोऽनुशासनीयः। तथा चैतदनुवादिना वाचकेनावाचि-"परिभवसि किमिति लोकं, जरसा परिजर्जरीकृतशरीरम्। अचिरात् त्वमपि भविष्यसि, यौवनगर्वं किमुद्वहसि?॥१॥" तदेवं जीवितयौवनयोरनित्यत्वमवगम्य न प्रमादो विधेय इति गाथात्रयार्थः।

पुनरायुषोऽनित्यत्वं ख्यापयितुमाह-

कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥२॥

कुशो दर्भसदृशस्तृणविशेषः, तनुकत्वाच्च तस्योपादानं, तस्याग्रं प्रान्तस्तस्मिन्, यथेत्युपमाप्रदर्शकः, अवश्यायः शरत्कालभावी श्लक्ष्णवर्षः, तस्य बिन्दुरेव बिन्दुकोऽवश्यायबिन्दुकः, स्तोकमल्पं, कालमिति गम्यते। तिष्ठत्यास्ते, लम्बमानको मनाग् निपतन्, बद्धाऽऽस्पदो हि कदाचित् कालान्तरमपि क्षमेतेत्येवं विशिष्यते। एवमित्युक्तसदृशं मनुजानां मनुष्याणां, मनुजग्रहणं च प्राग्वत्। (जीविय त्ति) जीवितं, यत एवं, ततः समयं गौतम! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नुपदेशमाह-

इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम! मा पमायए ॥३॥

इतीत्युक्तन्यायेन, इत्वरे अयनशीले, कोऽर्थः?, स्वल्पकालभाविनि, एत्युपक्रमहेतुभिरनपवर्त्यतया यथास्थित्यैवानुभवनीयतां गच्छतीत्यायुः, तच्चैव निरुपक्रममेव, तस्मिन्, तथाऽनुकम्पितं जीवितं जीवितकं, वशब्दस्य गम्यमानत्वात्तस्मिंश्चाथाऽऽत् सोपक्रमाऽऽयुषि, बहवः प्रभूताः प्रत्यपायाः उपघातहेतवोऽध्यवसाननिमित्ताऽऽदयो यस्मिंस्तत्तथा, अनेन चानुकम्पताहेतुराविष्कृतः, एवं चोक्तद्रुमपत्रोदाहरणतः, कुशाग्रजलबिन्दूदाहरणतश्च मनुजाऽऽयुर्निरुपक्रमं सोपक्रमं चेत्वरम्, अतोऽस्याप्यनित्यतां मत्वा विधुनीहि

जीवात् पृथक् कुरु, रजः कर्म, (पुरे कड ति) पुरा पूर्वं तत्कालापेक्षया, कृतं विहितं पुराकृतम् । तद्विधुननोपायमाह-समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । पठन्ति च-"एवं मणुयाण जीविए, इत्तरिए बहुपच्चवायए ।" इति सुगममेवेति सूत्रार्थः ।

स्यात् पुनर्मनुष्यभावावाप्तावुद्यस्याम इत्याह-

दुल्लभे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।
गाढा य विवागकम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥४॥

दुर्लभो दुरवापः, खलु विशेषणे, अकृतसुकृतानामिति विशेषं द्योतयति । मानुषो मनुष्यसम्बन्धी, भवो जन्म, चिरकालेनापि प्रभूतकालेनापि, आस्ताम् अल्पकालेनेत्यपिशब्दार्थः । सर्वप्राणिनां सर्वेषामपि जीवानाम् । ननु मुक्तिगमनं प्रति भव्यानामिव केषाञ्चिन्मनुजभवावाप्तिं प्रति सुलभत्वविशेषोऽस्ति किमेवम् ?, अत आह-गाढा विनाशयितुमशक्यतया दृढा, च इति यस्माद् (विवागकम्मुणो त्ति) विपाका उदयाः कर्मणो मनुष्यगतिविघातिप्रकृतिरूपाणां, यत एवमतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ।

कथं पुनर्मनुजत्वं दुर्लभं, यद्वा-यदुक्तं सर्वप्राणिनां दुर्लभं मनुजत्वमिति, तत्रैकेन्द्रियाऽऽदिप्राणिनां तद्दुर्लभत्वं दर्शयितुकामः कायस्थितिमाह-

पुढविक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ५ ॥
आउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ६ ॥
तेउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ७ ॥
वाउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ८ ॥
वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालमणंतदुरंतयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ९ ॥
बेइंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखेज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०॥
तेइंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखेज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥११॥
चउरिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखेज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१२॥
पंचिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
सत्तऽट्ठभवग्गहणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१३॥
देवे नेरइए य अइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
एक्केक्कभवग्गहणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १४ ॥

पृथ्वी कठिनरूपा, सैव कायः शरीरं पृथ्वीकायः, तम्, अतिशयेन मृत्वा मृत्वा तत्रैवोत्पत्तिलक्षणेन, गतः प्राप्तोऽतिगतः (उक्कोसं ति) उत्कर्षतो जीवः प्राणी, तु पूरणे, संवसेत्तद्रूपतयैवावतिष्ठेत, कालं सङ्ख्याऽतीतमसङ्ख्येयमित्यर्थः, यत एवमतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति ॥ एवमप्कायतेजस्कायवायुकायसूत्रत्रयमपि व्याख्येयम् ॥ तथा वनस्पतिसूत्रं, नवरं कालमनन्तमिति । अनन्तकायिकापेक्षमेतत्, प्रत्येकवनस्पतीनां कायस्थितेरसङ्ख्यातत्वात् । तथा-दुष्टोऽन्तोऽस्येति दुरन्तम्, इदमपि साधारणापेक्षयैव, ते ह्यत्यन्ताल्पबोधतया ततः उद्वृत्ता अपि न प्रायो विशिष्टं मानुषाऽऽदिभवमाप्नुवन्ति । इह च कालं सङ्ख्यातीतमिति विशेषानभिधानेऽप्यसङ्ख्योत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानम्, अनन्तमिति चानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणमित्यवगन्तव्यम् । यत आगमः-"असंखोसप्पिणिओसप्पिणीओ एगिंदियाण उ चउण्हं । ता चेव अणंताओ, वणस्सइए उ बोधव्वा ॥१॥" तथा द्वे द्विसङ्ख्ये इन्द्रिये स्पर्शनरसनाऽऽख्ये येषां ते द्वीन्द्रियाः कृम्यादयः, तत्कायमतिगतः उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्कालं सङ्ख्येयसंज्ञितं सङ्ख्यातवर्षसहस्राऽऽत्मकम्, अतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः ॥ एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्रे अपि भावनीये ॥ तथा पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शनाऽऽदीनि येषां ते तथा, ते चोत्तरत्र देवनारकयोरभिधानाद् मनुष्यत्वस्य दुर्लभत्वेन प्रक्रान्तत्वात्तिर्यञ्च एव गृह्यन्ते, तत्कायमतिगतः, तत्कायोत्पन्न इत्यर्थः । उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्सप्त वाऽष्ट वा सप्ताष्टानि तानि च तानि भवग्रहणानि च जन्मोपादानानि सप्ताष्टभवग्रहणानि, यतोऽतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । तथा देवान् नैरयिकांश्च अतिगतः उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् एकैकभवग्रहणं, ततः परमवश्यं नरेषु तिर्यक्षु वोत्पादात् ॥ यद्वा-(उक्कोसं ति) उत्कृष्यते तदन्येभ्य इत्युत्कर्षः, तमुत्कृष्टं कालं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममानम्, (एक्केक्कभवग्गहणे ति) अपेर्गम्यमानत्वादेकैकभवग्रहणमपि संवसत्यतो जीवः संवसेदतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रदशकार्थः ।

उक्तमेवार्थमुपसंहर्तुमाह-

एवं भवसंसारे, संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं ।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१५॥

एवमुक्तप्रकारेण पृथिव्यादिकायस्थितिलक्षणेन, भव एव तिर्यगादिजन्माऽऽत्मकः संस्रियमाणत्वात्संसारो भवसंसारस्तस्मिंस्संसरति पर्यटति, शुभानि शुभप्रकृत्यात्मकानि, अशुभानि चाशुभप्रकृतिरूपाणि शुभाशुभानि, तैः कर्मभिः पृथ्वीकायाऽऽदिप्रवृत्तिबन्धनैर्जीवः प्राणी, प्रमादैः बहुलो व्याप्तः प्रमादबहुलः, यद्वा-बहून् भेदान् लातीति बहुलो मद्याऽऽद्यनेकभेदः प्रमादो धर्मं प्रत्यनुद्यमाऽऽत्मको यस्य स बहुलप्रमादः, सूत्रे च व्यत्ययनिर्देशः प्राग्वत् । इह चायमाशयः-यतोऽयं जीवः प्रमादबहुलः सन् शुभाशुभानि कर्माण्युपचिनोति, उपचित्य च तदनुरूपासु गतिषु भवं जीवभावमुपगम्य भ्राम्यति, ततो दुर्लभत्वात्पुनर्मानुषत्वस्य, प्रमादमूलत्वाच्च सकलानर्थपरम्परायाः, समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः । एवं मनुजभवदुर्लभत्वमुक्तम् ।

इदानीं तदवाप्तावप्युत्तरोत्तरगुणावाप्तिरिति दुरापैवेत्याह-

लद्धूण वि माणुसत्तणं, आयरियत्तं पुणरावि दुल्लहं ।
बहवे दसुया मिलक्खुया, समयं गोयम ! मा पमायए ।१६।
लद्धूण वि आरियत्तणं, अहीणपंचिंदियता हु दुल्लहा ।
विगलिंदियता हु दीसई, समयं गोयम ! मा पमायए ।१७।
अहीणपंचिंदियत्तं पि से लभे, उत्तमधम्मसुती हु दुल्लहा ।
कुतित्थिणिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ।१८।
लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।

मिच्छत्तणिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥
धम्मं पि हु सद्दहंतया, दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहिँ मुच्छिया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

लब्ध्वाऽपि प्राप्यापि मानुषत्वमिदं तावदतिदुर्लभमेव कथञ्चिल्लब्ध्वाऽपीत्यपिशब्दार्थः। आर्यत्व मगधाऽऽद्यार्यदेशोत्पत्तिलक्षण, पुनरपि भूयोऽपि, आकारस्त्वलाक्षणिकः।-दुर्लभ दुरवापम्। किमित्यत आह-बहवः प्रभूता दस्यवो देशप्रत्यन्तवासिनश्चौरा। (मिलिक्खुय त्ति) म्लेच्छा अव्यक्तवाचो, न यदुक्तमार्यैरवधार्यते, ते च शकयवनशबराऽऽदिदेशोद्भवाः, येऽथवा प्राप्यापि मनुजत्व जन्तुरुत्पद्यते, ते च सर्वेऽपि धर्माधर्मगम्यागम्यभक्ष्याभक्ष्याऽऽदिसकलाऽऽर्यव्यवहारबहिष्कृतास्तिर्यञ्च एव वा। इति समयमपि गौतम! मा प्रमादीः। इत्थमार्यदेशोत्पत्तिरूपमार्यत्वमपि दुर्लभम्। तथाविधमपि लब्ध्वाऽप्यार्यत्वमुक्तरूपमहीनान्यविकलानि पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शनाऽऽदीनि यस्य स तथा तद्भावोऽहीनपञ्चेन्द्रियता। हुरवधारणे भिन्नक्रमश्च, दुर्लभैव। यद्वा-हु पुनरर्थे। अहीनपञ्चेन्द्रियता पुनर्दुर्लभा। इहैव हेतुमाह-विकलानि रोगाऽऽदिभिरुपहतानीन्द्रियाणि येषां तद्भावो विकलेन्द्रियता, हुरिति निपातोऽनेकार्थतया च बाहुल्यसूचकः। ततश्च यतो बाहुल्येन विकलेन्द्रियता दृश्यते, ततो दुर्लभाऽहीनपञ्चेन्द्रियता, तथा च समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः। तथा कथञ्चिदहीनपञ्चेन्द्रियतामप्युक्तन्यायतोऽतिदुर्लभामपि स इति जन्तुर्लभेत प्राप्नुयात्, तथाऽप्युत्तम प्रधानो यो धर्मस्तस्य श्रुतिराकर्णना या सा तथा, हुरवधारणे भिन्नक्रमश्च। ततो दुर्लभैव, किमिति, यतः कुत्सितानि च तानि तीर्थानि कुतीर्थानि-शाक्योलूकाऽऽदिप्ररूपितानि, तानि विद्यन्ते येषामनुष्ठेयतया स्वीकृतत्वात्ते कुतीर्थिनः, तान्नितरां सेवते यः कुतीर्थिकनिषेवको जनो लोकः, कुतीर्थिनो हि यशःसत्काराऽऽद्येषिणो यदेव प्राणिप्रिय विषयाऽऽदि, तदेवोपदिशन्ति, तत्तीर्थकृतामप्येवंविधत्वात्। उक्तं हि-"सत्कारयशोलाभा-र्थिभिश्च मूढैरिहान्यतीर्थकरैः। अवसादितं जगदिदं, प्रियाण्यपथ्यान्युपदिशद्भिः ॥१॥" इति सुकरैव तेषां सेवा। तत्सेवनाच्च कुत उत्तमधर्मश्रुतिः?। पठ्यते च-"कुतित्थणिसेवए जणे" इति स्पष्टम्। एवं तद्दुर्लभत्वमवधार्य समयमपि गौतम! मा प्रमादीः। किं च-लब्ध्वाऽपि उत्तमधर्मविषयत्वादुत्तमां तां श्रुतिमुक्तरूपां, श्रद्धानं तत्त्वरुचिरूपं पुनरपि दुर्लभं दुरापमपि। इहैव हेतुमाह-मिथ्याभावो मिथ्यात्वम्-अतत्त्वेऽपि तत्त्वप्रत्ययरूपं, तं निषेवते यः स मिथ्यात्वनिषेवको, जनो लोकोऽनादिभवाभ्यस्ततया गुरुकर्मतया च तत्रैव च प्रायः प्रवृत्ते। यत एवमतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः ॥ अन्यच्च--धर्मं, प्रक्रमात्सर्वज्ञप्रणीतम, अपिर्भिन्नक्रमः, हुर्वाक्यालङ्कारे। तत श्रद्दधतोऽपि कर्तुमभिलषन्तोऽपि दुर्लभकाः कायेन शरीरेण, उपलक्षणत्वाद् मनसा वाचा च, स्पर्शका अनुष्ठातारः। कारणमाह-इहास्मिन् जगति कामगुणेषु मूर्च्छिता मूढाः, गृद्धिमन्त इत्यर्थः। जन्तव इति शेषः। प्रायेण ह्यपथ्येष्वेव विषयेष्वभिष्वङ्गः प्राणिनाम्। यत उक्तम्-"प्रायेण हि यदपथ्य, तदेव चाऽऽतुरजनप्रिय भवति। विषयाऽऽतुरस्य जगतः-स्तथाऽनुकूला प्रिया विषया ॥१॥" पाठान्तरम् कामगुणैर्मूर्च्छिता इव मूर्च्छिता विलुप्तधर्मविषयचैतन्यत्वात्, यतश्चैवमतो दुरापामिमामविकलां धर्मसामग्रीमवाप्य समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रपञ्चकार्थः।

अन्यच्च-सति शरीरे तत्सामर्थ्ये च सति धर्मस्पर्शनेति तदनित्यताऽभिधानद्वारेण प्रमादोपदेशमाह-

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।
से सोयबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२१॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।
से चक्खुबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २२ ॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।
से घाणबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २३ ॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।
से जिब्भबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २४ ॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।
से फासबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २५ ॥
परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।
से सव्वबले य हायए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २६ ॥

परिजीर्यति सर्वप्रकारं वयोहानिमनुभवति 'ते' तव, शरीरमेव जराऽऽदिभिरभिभूयमानतयाऽनुकम्पनीयमिति शरीरकम्। यद्वा-(परिजूरइ त्ति) "निन्देर्जूर०-" इति प्राकृतलक्षणात् परिनिन्दतीवाऽऽत्मानमिति गम्यते। यथा धिग्मां, कीदृशं जातमिति?। किमिति, यतः केशाः शिरसिजाः, उपलक्षणत्वाद्रोमाणि च, पाण्डुरा एव पाण्डुरकाः भवन्ति, पूर्वं जननयनहारिणोऽत्यन्तकृष्णाः, सम्प्रति शुक्लतां भजन्ते, 'ते' तव, पुनस्तेशब्दोपादानं भिन्नवाक्यत्वादुपदेशाधिकाराच्चादुष्टम्। एवमुत्तरत्रापि तथा। (से इति) तद् यत्प्रथममासीत् श्रोत्रयोः कर्णयोर्बलं दूराऽऽदिशब्दश्रवणसामर्थ्यं श्रोत्रबलं, चः समुच्चये। हीयते जरातः स्वयमपैति। यद्वा-शरीरजीर्णताऽवस्थाभाव्येतद्रूपमपि योज्यं, यथा च परिजीर्यति शरीरकं तथा च सति केशाः पाण्डुरका भवन्ति। (से इति) अथ श्रोत्रबलं हीयते यतः ततः शरीरस्य तत्सामर्थ्यस्य चास्थिरत्वात् समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः। एवं सूत्रपञ्चकमपि ज्ञेयम्, नवरमिह प्रथमतः श्रोत्रोपादानं प्रधानत्वात्, प्रधानत्वं च तस्मिन्सति शेषेन्द्रियाणामवश्यभावात्, पटुतरक्षयोपशमजत्वाच्च तथोपदेशाधिकारादुपदेशस्य च श्रोत्रग्राह्यत्वात् ॥ तथा सर्वबलमिति

सर्वेषां करचरणाऽऽद्यवयवानां स्वस्वव्यापारसामर्थ्यम्। यद्वा-सर्वेषां मनोवाक्कायानां ध्यानाध्ययनचङ्क्रमणाऽऽदिचेष्टाविषयाऽशक्तिरिति सूत्रषट्कार्थः ।

जरातः शरीराशक्तिरुक्ता। सम्प्रति रोगतस्तमाह-

अरई गंडं विसूइया,
आयंका विविहा फुसंति ते ।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २७ ॥

अरतिर्वाताऽऽदिजनितश्चित्तोद्वेग ,गण्डं गडुः,विध्यतीव शरीरं सूचिभिरिति विसूचिका अजीर्णविशेष , आङिति सर्वाऽऽत्मप्रदेशाभिव्याप्त्याऽऽतङ्कयन्ति कृच्छ्रजीवितमात्मानं कुर्वन्तीत्यातङ्काः सद्योघातिनो रोगविशेषा ,विविधा अनेकप्रकाराः,स्पृशन्ति पराभृशन्ति, 'ते' तव,शरीरकमिति गम्यते । ततश्च विपतति विशेषेण बलोपचयादपैति विध्वस्यति जीवं विमुक्तं विशेषेणाधः पतति शरीरकम्। अतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः। सर्वत्र वर्त्तमाननिर्देशः प्राग्वत्। केशपाण्डुरत्वाऽऽदि च यद्यपि गौतमे न सम्भवति तथाऽपि तन्निश्रयाऽशेषशिष्यप्रतिबोधनार्थत्वाद-दुष्टमिति सूत्रार्थः ।

यथा चाप्रमादो विधेयस्तथाऽऽह-

वोच्छिंद सिणेहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं व पाणियं ।
से सव्वसिणेहवज्जिए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २८ ॥

(वोच्छिंद त्ति) विविधैः प्रकारैरत्यप्राबल्येन छिन्धयपनयत्युच्छिन्द्धि, स्नेहमभिष्वङ्ग,कस्य सवन्धिनम् ?, आत्मनः, किमिव ?, कुमुदमिव चन्द्रोद्द्योतविकाश्युत्पलमिव (सारइय व त्ति)सूत्रत्वात् शरदि भवं शारदं, वेत्युपमार्थो भिन्नक्रमश्च प्रागयोजित । पानीयं जलं, यथा तत्प्रथमं जलमग्नमपि जलमपहाय वर्त्तते, तथा त्वमपि चिरसंसृष्टचिरपरिचितत्वाऽऽदिभिर्मद्विषयस्नेहवशगोऽपि तमपनय, अपनीय वस इति। अथानन्तरं सर्वस्नेहवर्जितः सन्समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । इह च जलमपहाय एतावति सिद्धे यच्छारदपदोपादानं तच्छारदजलस्येव स्नेहस्याप्यतिमनोरमत्वख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः ।

किं च-

चिच्चा ण धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं ।
मा वंतं पुणो वि आविए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २९ ॥

त्यक्त्वा परिहृत्य,णेति वाक्यालङ्कारे। धनं चतुष्पदाऽऽदि,चशब्दो भिन्नक्रमः । ततो भार्यां च कलत्रं च,प्रव्रजितो गृहान्निष्क्रान्त', हिरिति यस्मात् (सीति) सूत्रत्वेनाकारलोपादसि भवसि, (अणगारियं ति) अनगारेषु भावभिक्षुषु भवमनगारिकम्, अनुष्ठानं चास्य गम्यमानत्वात्,तच्च,प्रतिपन्नवानसीति शेष'। यद्वा-प्रव्रजितः प्रतिपन्नः (अणगारियं ति) अनगारता, मा ' अमा नो ना ' इति निषेधे । वान्तमुद्गीर्णं (पुणो वि त्ति) पुनरपि (आविए त्ति) आपिब, किं तु समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ।

कथं च वान्तपानं भवतीत्याह-

अवउज्झिय मित्तबंधवं,
विउलं चेव धणोहसंचयं ।
मा तं बिइयं गवेसए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३० ॥

अपोह्य त्यक्त्वा, मित्राणि सुहृदो, बान्धवाश्च स्वजना इति समाहारः । मित्रबान्धवं, विपुलं विस्तीर्णं, च समुच्चये भिन्नक्रमश्च । एवेति पूरणे। ततो धनं कनकाऽऽदिद्रव्यं, तस्यौघः समूहस्तस्य सचयो राशीकरणं धनौघसंचय , तं च, मा, तदिति मित्राऽऽदिकं, द्वितीयं, पुनर्ग्रहणार्थमिति गम्यते । गवेषय-अन्वेषय, तत्परित्यागाच्छ्रामण्यमङ्गीकृत्य पुनस्तदभिष्वङ्गवान् मा भूः, त्यक्तं हि तद्वान्तोपमं, तदभिष्वङ्गश्च वान्तपानप्राय इत्यभिप्राय । किं तु समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । इति सूत्रार्थः।

इत्थं प्रतिबन्धनिराकरणार्थमभिधाय दर्शनविशुद्ध्यर्थमाह-

न हु जिणे अज्ज दिस्सई,
बहुमए दिस्सइ मग्गदेसिए ।
संपइ णेआउए पहे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३१ ॥

'न हु' नैव जिनस्तीर्थकृदद्यास्मिन् काले, दृश्यते अवलोक्यते, यद्यपीति गम्यते । तथाऽपि (बहुमए त्ति) पन्थाः। स च द्रव्यतो नगराऽऽदिमार्गो, भावतस्तु सातिशयश्रुतज्ञानदर्शनचारित्राऽऽत्मको मुक्तिमार्गः,तदेह भावमार्गः परिगृह्यते, दृश्यते उपलभ्यते, (मग्गदेसिए त्ति) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य मार्गत्वेनार्थाद् मुक्तेर्देशितो जिनैः कथितो मार्गदेशितः। अयमाशयः-सम्प्रति यद्यपि जिनो न दृश्यते, तदुपदिष्टस्तु मार्गो दृश्यते, न चैवंविधोऽयमतीन्द्रियार्थदर्शिनं जिनं विना सम्भवति, सदिग्धचेतसो भाविनोऽपि भव्या न प्रमादं विधास्यन्तीति। अतः सम्प्रति इदानीं,सत्यपि मयि इति भावः। नैयायिके निश्चितमुक्त्याख्यलाभप्रयोजने, पथि मार्गे, समयमपि गौतम ! केवलानुत्पत्तिसंशयविधानेन मा प्रमादीः । यद्वा-त्रिकालविषयत्वात्सूत्रस्य भाविभव्योपदेशकमप्येतत्। ततोऽयमर्थः -यथा आद्यमार्गोपदेशकं नगरं वा पश्यन्तोऽपि पन्थानमवलोकयन्तस्तस्याविच्छिन्नोपदेशतस्तत्प्रापकत्वं निश्चिन्वन्ति, तथा यद्यप्याद्यजिनः, उपलक्षणत्वाद् मोक्षश्च, नैव दृश्यते, तथाऽपि तद्देशितः पन्था मार्ग्यमाणत्वाद् मार्गो मोक्षस्तस्य (देसिए त्ति) सूत्रत्वाद्देशको मार्गदेशको दृश्यते,ततस्तस्यापि तत्प्रापकत्वं मामपश्यद्भिरपि भाविभव्यैर्निश्चेतव्यं, यतश्चैवं भाविभव्यानामुपदिश्यते, अतः सम्प्रतीत्यादि प्राग्वत्, द्विविधाऽपि चेत्थं व्याख्या, सूचकत्वात् सूत्रस्येति गाथाऽर्थः ।

अत्रैवार्थे पुनरुपदिशन्नाह-

अवसोहिय कंटगापहं,
ओइण्णोऽसि पहं महालयं ।
गच्छसि मग्गं विसोहियं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३२ ॥

(अवसोहिय त्ति) अवशोध्यापसार्य पृथक्कृत्य, परिहृत्येति यावत्। (कण्टगापहं ति) आकण्टोऽस्त्यास्तिक:, क-

पटकाश्च द्रव्यतो बब्बूलकण्टकाऽऽदयो, भावतस्तु चरकाऽऽदिकुश्रुतय., तैराकुल पन्था कण्टकपथस्तम, ततश्चावतीर्णोऽस्यनुप्रविष्टो भवसि (पह ति) पन्थान (महालय ति) महान्त महता वा आलय आश्रयो महालय.। स च द्रव्यतो राजमार्गो, भावतस्तु महद्भिस्तीर्थकराऽऽदिभिराश्रित. सम्यग्दर्शनाऽऽदिमुक्तिमार्गस्तम्। कश्चिदवतीर्णोऽपि मार्गं न गच्छेदत आह-गच्छसि मार्गं, न पुनरवस्थित एवासि, सम्यग्दर्शनाऽऽद्यनुपालनेन मुक्तिमार्गगमनप्रवृत्तत्वात् । भवतस्तत्राप्यनिश्चयेऽपायप्राप्तिरेव स्यादित्याह-विशोध्येति विनिश्चित्य, तदेवं प्रवृत्त सन् समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थ. ।

एवं च पूर्वेण दर्शनविशुद्धिमनेन च मार्गप्रतिपत्तिमभिधाय ततस्तत्प्रनीतावपि कस्यचिदनुतापसम्भव इति तन्निराचिकीर्षयाऽऽह-

अवले जह भारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३३ ॥

अबलोऽविद्यमानशरीरसामर्थ्यो, यथेत्यौपम्ये, भार वहतीति भारवाहक. । मा निषेधे । (मग्गे त्ति) मार्गं (विसमे त्ति) विषम मन्दसत्त्वैरतिदुस्तरम्, (अवगाहिय ति) अवगाह्य प्रविश्य, त्यक्त्वाऽङ्गीकृतभार. सन्निति गम्यते। पश्चात्तत्कालानन्तर, पश्चादनुतापक. पश्चात्तापकृत्, अभूदिति शेष. । इदमुक्तं भवति-यथा कश्चिद्देशान्तरगतो बहुभिरुपायैः स्वर्णाऽऽदिकमुपार्ज्य स्वगृहाभिमुखमागच्छन्प्रतिभीरुतयाऽन्यवस्त्व-तार्दित स्वर्णाऽऽदिक स्वशिरस्यारोप्य कतिचिद्दिनानि सम्यगुद्वहति, अनन्तर च क्वचिदुपलाऽऽदिसंकुले पथि अहो ! अहमनेन भारेणाऽऽक्रान्त इति तमुत्सृज्य स्वगृहमागतोऽत्यन्तनिर्धनतयाऽनुतप्यते, किं मया मन्दभाग्येन तत्परित्यक्तमिति ? । एव त्वमपि प्रमादपरतया त्यक्तसंयमभार. सन्नेवंविधो मा भू., किं तु समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थ ।

बहिरिदमद्यापि निस्तरणीयमल्प च निस्तीर्णमित्यभिसन्धिनोत्साहभङ्गोऽपि स्यादिति तदपनोदायाऽऽह-

तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ? ।
अभितुर पार गमित्तए,
समय गोयम ! मा पमायए ॥ ३४ ॥

(तिण्णो हु सि त्ति) तीर्ण एवास्यर्णवमिवार्णवम्, (महं ति) महान्त गुरु, किमिति प्रश्ने, पुनरिति वाक्योपन्यासे । तत. किं पुनस्तिष्ठसि तीर पारमागत प्राप्त. ?।किमुक्त भवति ?-भवन उत्कृष्टस्थितीनि च कर्माणि भावतोऽर्णव उच्यते, स च द्विविधोऽपि त्वयोत्तीर्णप्राय एवेति केन हेतुना तीरप्राप्तेऽप्यौदासीन्य भजसे ?, नैवेद तवोचितमित्याशय , किं तु अभित्वरस्व आभिमुख्येन त्वरस्व शीघ्रो भव पार परतीर भावतो मुक्तिपदम्, (गमेत्तए त्ति) गन्तुम्। अतश्च समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थ. ।

अथापि स्याद् मम पारप्राप्तियोग्यतैव न समस्त्यत आह ।

अथवा शेषशिष्यापेक्षया किमस्याप्रमादस्य फल, यत् पुनरपमुपदिश्यत इत्याह-

अकलेवरसेणिमुस्सिया,
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि।
खेम च सिवं अणुत्तरं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३५ ॥

कडेवरशरीरम,अविद्यमान कलेवरमेषामकलेवराः सिद्धा ,तेषा श्रेणिरिव श्रेणिरकलेवरश्रेणिः, ययोत्तरोत्तरशुभपरिणामप्राप्तिरूपया ते सिद्धिपदमारोहन्ति, क्षपकश्रेणिमित्यर्थ । यद्वा-कलेवराण्येकेन्द्रियशरीराणि, तन्मयत्वेन तेषां श्रेणिः कडेवरश्रेणिः वशाऽऽदिविरचिता प्रासादाऽऽदिष्वारोहणहेतु., तथा च या न साऽकडेवरश्रेणिरनन्तरोक्तरूपैव, ताम् (उस्सिय त्ति) उच्छ्रितां गमिष्यसीति सम्बन्ध.। यद्वा-(उस्सिय त्ति) उच्छ्रित्येवोच्छ्रितोत्तरसंयमस्थानावाप्त्या तामुच्छ्रितामिव कृत्वा, सिद्धिमिति सिद्धिनामान, गौतम ! (लोय गच्छसि त्ति) प्राग्वत् । लोकं गमिष्यसि, सशब्दस्यावच्छेदफलत्वादस्य गमिष्यस्येव, क्षेम परचक्राऽऽद्युपद्रवरहितम। चः समुच्चये, भिन्नक्रमश्च । शिवमनुत्तर च,तत्र शिवमशेषदुरितोपशमनेन,अनुत्तर नास्योत्तरमन्यत्प्रधानमस्तीत्यनुत्तर, सर्वोत्कृष्टमित्यर्थ. । यतश्चैव तत समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थ. ।

सम्प्रति निगमयन्नुपदेशसर्वस्वमाह-

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे,
गामगए नगरे व संजए ।
संतीमग्गं च बूहए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३६ ॥

बुद्धोऽवगतहेयाऽऽदिविभाग , परिनिर्वृत कषायाऽऽद्युपशमतः समन्ताच्छीतीभूत ,चरेरासेवस्व, संयममिति शेषः। (गाम त्ति) सुपो लोपाद् ग्रामे गत. स्थितो, नगरे वा, उपलक्षणत्वादरण्याऽऽदिषु च। किमुक्त भवति ?, सर्वस्मिन्नभिष्वङ्गत्वात् सम्यग्यतः पापस्थानेभ्य उपरतः संयत ,शाम्यन्त्यस्या सर्वदुरितानीति शान्तिः निर्वाण, तस्या मार्ग पन्था । यद्वा-शान्तिरुपशम., सैव मुक्ति तस्या हेतुर्मार्ग शान्तिमार्गो,दशविधधर्मोपलक्षण शान्तिग्रहणम ।तम्, चशब्दो भिन्नक्रम ,ततो बृहयस्व भव्यजनप्ररूपणया वृद्धि नये ,तत. समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थ ।

इत्थ भगवदभिहितमिदमाकर्ण्य गौतमो यत कृतवांस्तदाह-

बुद्धस्स निसम्म भासियं,
सुकहियमट्ठपओवसोहियं ।
रागं दोसं च छिंदिया,
सिद्धिगइं गए गोयमे (त्ति बेमि) ॥ ३७ ॥

बुद्धस्य केवलाऽऽलोकादवलोकितसमस्तवस्तुतत्त्वस्य.प्रक्रमात् श्रीमहावीरस्य,निशम्याऽऽकर्ण्य,भाषितमुक्त,सुष्ठु शोभनेन नयानुगततत्त्वाऽऽदिना प्रकारेण,कथित प्रबन्धेन प्रतिपादित सुकथितम । अत एवार्थप्रधानानि पदान्यर्थपदानि, तैरुपशोभित जातशोभमर्थपदोपशोभितम, राग विषयाऽऽद्यभिष्वङ्गविषयम्, द्वेषमपकारिण्यप्रीतिलक्षण, चः समुच्चये। छित्त्वाऽपनीय, सिद्धिगतिं गत प्राप्तो गौतम इन्द्रभूतिनामा भगवत्प्रथमगणधर इति सु-

प्रार्थः । इतिः परिसमाप्तौ । ब्रवीमीति पूर्ववत् । उत्त० पाई० १० अ० । आ० म० । आ० चू० । स० । नि० चू० ।

दुमपुप्फियज्झयण-द्रुमपुष्पिकाध्ययन-न०, । द्रुमस्य पुष्प द्रुमपुष्पम् । अवयवलक्षणः षष्ठीसमास । द्रुमपुष्पशब्दस्य "प्रागिवात्कः" ॥ ५ । ३ । ७० ॥ इति वर्त्तमान अज्ञाते कुत्सिते सञ्ज्ञायां कनि प्रत्ययेनकारलोपे च कृते द्रुमपुष्पिक इति प्रातिपदिकस्त्रीत्वविवक्षायाम् "अजाऽऽद्यतष्टाप्" ॥ ४ । १ । ४ ॥ इति टाप्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे च कृते "प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुप" ॥ ७ । ३ । ४४ ॥ इतीत्वे कृते "अकः सवर्णे दीर्घः" ॥ ६ । १ । १० ॥ इति दीर्घत्वे परगमने च द्रुमपुष्पिकेति भवति । द्रुमपुष्पोदाहरणयुक्ता द्रुमपुष्पिकेति । द्रुमपुष्पिका चासौ अध्ययन चेति समानाऽऽधिकरणस्तत्पुरुषः । द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनमिति ।

अस्य चैकार्थिकानि प्रतिपादयन्नाह-

दुमपुप्फिया य आहा-रएसणा गोयरे तया उंछो ।
मेस जलूगा सप्पे, वणऽक्खइसुगोलपुत्तुदगे ॥ ३७ ॥

(एषां पदानामर्थस्तत्तच्छब्देषु) दशवैकालिकस्य द्रुमपुष्पोदाहरणयुक्ते प्रथमेऽध्ययने, दश० नि० १ अ० ।

दुमराय-द्रुमराज-पुं० । प्रधानवृक्षे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

दुमसेण-द्रुमसेन-पुं० । नवमवासुदेवबलदेवयो पूर्वभवे स्वनामख्याते धर्माऽऽचार्ये, स० । श्रेणिकस्य राज्ञो धारण्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, स च महावीरस्वामिनोऽन्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्याय सलेखनया मृत्वाऽपराजिते देवलोके उपपद्य ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां द्वितीयवर्गस्याष्टमेऽध्ययने सूचितम् । अणु० २ वर्ग १ अ० ।

दुमिय-धवलित-त्रि० । श्वेतीकृते, "दुमियघट्ठमट्ठे ।" 'दुमिए' सुधापङ्कधवलिते घृष्टे पाषाणाऽऽदिना उपरि घर्षिते ततो मृष्टे मसृणीकृते । सू० प्र० २० पाहु० । च० प्र० । भ० । कल्प० ।

दुमिस्स-द्विमिश्र-न० । औदारिकमिश्रवैकारिकमिश्रद्विके, कर्म० ४ कर्म० ।

दुमुह-द्विमुख-पुं० । स्वनामख्याते द्वितीये प्रत्येकबुद्धे, उत्त० । काम्पिल्यपुरे जयवर्मराजा, तस्य गुणमाला प्रिया । अन्येद्युर्जयवर्मा राजा स्थपतीनेवमाह—अद्भुतमास्थानमण्डपं कुरुत । वास्तुज्ञैस्तैर्भूमिपूजापुरस्सर भूमिभाग परीक्ष्य सुमुहूर्ते खान विरचित, तत्र खाते पञ्चमदिवसे नानामणिमण्डितः खमणिरिव प्रज्वलन् मुकुटो दृष्ट *। तैर्विज्ञप्तो राजा सहर्ष भूमिनन्त मुकुट जग्राह । त्रिचिन्नवादित्रनिर्घोषपूर्व महनोत्सवेन त मुकुट स्वगृहे प्रावेशयत् । वर्षाऽऽद्यै सत्कृता शिल्पिनो विमानसदृशमास्थानमण्डप सद्यश्चक्रु । चित्रकरैस्तत् सद्य एव चित्रितम् । नृप. शुभमुहूर्ते त मुकुट मस्तके निधाय तस्मिन्नास्थानमण्डपे सुसिंहासने निषण्णः, तस्मिन् मुकुटे मूर्द्धस्थिते सति राज्ञो मुखद्वयम् दृश्यते, तदनु स राजा लोके द्विमुखतया विख्यातः ।

अथैव मुकुटकथा-अवन्तीशेन चण्डप्रद्योतेन मुकुटवर्णक श्रुत्वा स्वदूत प्रहित । दूतोऽपि तत्र गत्वा द्विमुख प्रति एवमवादीत्-राजन् ! तव मुकुटमिम चण्डप्रद्योतनृपतिर्मार्गयति, यदि तव जीवितेन कार्य, तदा तस्याऽत्र प्रेष्य । एव दूतवचः श्रुत्वा द्विमुखनरेन्द्रः प्रोवाच-रे दूत ! तव स्वामिनो मम मुकुटग्रहणाभिलाष स्वयस्तुहारणायैव जातोऽस्ति, त्व तत्र गत्वा स्वस्वामिनं ब्रूयाः-शिवा देवी राज्ञी १, अनलगिरिनामा हस्ती २, अग्निभीरुनामा रथः ३, लोहजङ्घनामा ४ दूतश्चेति वस्तुचतुष्टयं ममाऽर्पयेतामित्युक्त्वा द्विमुखनृपेण स दूतो गले धृत्वा निष्कासितः, उज्जयिन्यां गत्वा चण्डप्रद्योताय तद्वचो निवेदयामास । क्रुद्धोऽथ चण्डप्रद्योतनृपतिर्गणनायकतुरगगजेन्द्ररथपदातिदलपरिवेष्टित' स्थाने स्थाने प्राभृतपूर्वकमभ्यागतानेकराजलैन्यवर्द्धमानबलः पञ्चालदेशसीमं प्राप । द्विगुणोत्साहो द्विमुखनृपस्तैः सप्तसुतैः सैनिकलक्षैश्च परिवृतश्चण्डप्रद्योतसमुखमगात् । तयोर्घोरसङ्ग्रामो बभूव । मुकुटप्रभावाद् द्विमुखराजस्तदा द्विगुण भुजबल प्रससार । क्षणेन सकलमपि चण्डप्रद्योतबलं तेन भग्न नष्ट च चण्डप्रद्योतं रथान्निपात्य बद्ध्वा च स्वपुर निन्ये द्विमुखनृपः, त स्वाऽऽवासे भव्यरीत्या रक्षितवान् । अन्यदा चण्डप्रद्योतेन प्रकामस्वरूपां सञ्चरणया कन्यां दृष्ट्वा यामिकानामेवमुक्तम् अस्य द्विमुखराज्ञः कत्यपत्यानि सन्ति ?, इयमङ्गजा च कस्य ? । यामिका ऊचु.-अस्य राज्ञो वनमाला पत्नी सप्त सुतान् सुषुवे, अन्यदा तया चिन्तितम् मम सप्त पुत्रा जाता लालिताश्च, पुत्री तु नैकाऽपि जातेति स्वमनोरथपूर्तये सा मदनयक्षमाराराध । अन्यदा सा कल्पद्रुममञ्जरिकां स्वप्ने ददर्श, क्रमेणेमा सुषुवे । यक्षोपयाचित दत्त्वाऽस्या मदनमञ्जरीति नाम कृतम् । साम्प्रत सर्वलोकचमत्कारकारी यौवनाऽऽगमे इय जातेति यामिकवचन श्रुत्वा, अप्सरोधिक तद्रूप च दृष्ट्वा कामाऽऽर्त्तश्चण्डप्रद्योतश्चिन्तयति-इय चेन्मम पत्नी स्यात्तदा मम जीवित सफल स्यात्, राज्यभ्रंशोऽपि मे कल्याणाय जात ,यदिय दृष्टा, चेद् द्विमुखराजा इमा मह्य ददातु, तदाऽहमस्य यावज्जीव सेवको भवामि । चण्डप्रद्योतस्येदृशः परिणामस्तस्य यामिकैर्ज्ञात्वा द्विमुखराज्ञे कथित । राजाऽऽज्ञया यामिकैश्चण्डप्रद्योत. सभायामानीत. । द्विमुखराज्ञाऽभ्युत्थान कृत्वा चण्डप्रद्योत. स्वार्द्धाऽऽसने निवेशित । स प्राञ्जलीभूय एवं बभाषे-मत्प्राणास्तव वशगा' सन्ति, मच्छ्रियस्त्वदायत्ता सन्ति, त्व मम प्रभुरसि, अहं मत. पर सदैव तव सेवकोऽस्मि । अथ तद्भाववेत्ता द्विमुखराजा चण्डप्रद्योताय तदैव निजां पुत्रीं ददौ, ज्योतिर्विद्भिः सुमुहूर्त्ते दत्ते चण्डप्रद्योतनृपो द्विमुखराजपुत्रीं परिणीतवान्, करमोचावसरे च तस्मै घन द्रव्यं हस्तमवन्तीदेशं च दत्तवान् । कन्यासहित चण्डप्रद्योत स्वदेशे द्विमुखो विसर्जितवान् । अन्यदा द्विमुखनरेन्द्रस्य पुरे लोकैरिन्द्रस्तम्भोऽद्भुत कृत', पूजितश्च,द्विमुखनृपोऽपि त भृश पूजितवान्, तस्मिन्महे व्यतीतेऽन्येद्युस्तमिन्द्रस्तम्भ विलुप्तशोभममेध्यान्त पतित द्विमुखराजा ददर्श,एवं च चिन्तितवान्-जनैर्य पूजितो,मणिमालाकुसुमाऽऽदिभिश्च शृङ्गारित. सोऽयमिन्द्रस्तम्भः साम्प्रतमीदृशो जात , यथाऽय स्तम्भ पूर्वापरावस्थाभेदमाप्त , तथा सर्वोऽपि संसारी जिन्ना भिन्नामवस्था प्राप्नोति, अवस्थाभेदकारण रागद्वेषावेव, तत्प्रलयस्तु समताऽऽश्रयणाद्भवति, समता च ममतापरित्यागाद्भवति, ममतापरित्यागस्तु संयम विना न भवतीति वैराग्यमाप स शासनदेवतासमर्पितवेषः सर्वविरतिसामायिक द्विमुखराजः स्वय प्रतिपद्य प्रत्येकबुद्धो बभूव । उक्तञ्च-"यो इन्द्रयष्टिं पौरजनैः सुरेश-ध्वज च लुप्त पतित परेऽह्नि । भूतिं त्वभूतिं द्विमुखो निरीक्ष्य, बुद्ध प्रपेदे जिनराजधर्मम् ॥ १ ॥" इति । उत्त० ६ अ० । व्य० । मद्दा० । ती० ।

* मुकुट किरीट पुन्नपुंसकमित्यमरः ।

दुमोक्ख-दुर्मोक्ष-त्रि० । दुःखेन मुच्यते इति दुर्मोक्षः । दुस्तरे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

दुम्मइ-दुर्मति-त्रि० । दुष्टा पापोपादानतया मतिर्यस्य सो दुर्मतिः । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । विपर्यस्तबुद्धौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

दुम्मइणी-देशी-कलहशीलानां स्त्रियाम्, दे० ना० ५ वर्ग ४७ गाथा ।

दुम्मण-दुर्मनस्-त्रि० । दैन्यादिमति, शिष्टदायार्थे । स्था० ३ ठा० २ उ० । " दुम्मणजणदइयवज्जिय । " कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

दुम्मणिय-दौर्मनस्य-न० । दुष्टमनोभावे, दशा० १ अ० ३ उ० ।

दुम्मय-दुर्मद-पु० । दुष्टो मदो दुर्मदः । दुष्टमदे, तद्वति च । त्रि० । आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

दुम्मुह-दुर्मुख-पु० । वसुदेवस्य धारणीजाते पुत्रे, अन्त० ३ वर्ग ९ अ० । (तन्वक्तव्यता गजसुकुमारस्येव) सर्पभेदे, दे० ना० ५ वर्ग ४८ गाथा ।

दुम्मेह-दुर्मेधस्-पु० । दुर्दुष्टा मेधा यस्यासौ दुर्मेधाः । उत्त० ७ अ० । दुर्बुद्धौ प्रश्न० २ आश्र० द्वार । दश० । विपा० । दुष्टा विपर्यस्ताऽऽहितादिविपर्ययेण मेधा वस्तुस्वरूपावधारणशक्तिर्येषां ते दुर्मेधसः । विषयैर्जितेषु जन्तुषु, उत्त० ७ अ० ।

दुम्मोय-दुर्मोच-त्रि० । दुःखमोचनीये, विशे० ।

दुय-द्रुत-न० । शीघ्रे, स्था० ७ ठा० । नि० चू० । न० । नाट्यभेदे, जं० ५ वक्ष० । आ० चू० । आ० म० । गेयदोषे, द्रुतं यत्त्वरितं गीयते, त्वरितगाने हि रागपूरितस्वरव्यक्तिश्च न भवति । जं० १ वक्ष० । जी० । द्रवत्यूर्ध्वम्, द्रु-क्तः । वृक्षे, पु० । शीघ्रतायति, द्रवीभूते, पलायिते च । त्रि० । वाच० ।

दुयअ द्विक-त्रि० । द्विपरिमाणे, भ० ७ श० १ उ० ।

द्विपद-त्रि० । द्विपदे, " पढमं दुयओ भेओ । " पृथिवीकायप्रयोगपरिणतेष्विव द्विको द्विपरिमाणो, द्विपदो वा । भ० ८ श० १ उ० ।

दुयगा-देशी-दावपि दूतवती इत्यभिमतार्थं, उत्त० । " बहुस्सो परिसप्पती दुयगा वि । " उत्त० १३ अ० ।

दुयचारित्त द्रुतचारित्र-न० । असमाधिस्थानभेदे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

दुयट्ठाण-द्विकस्थान न० । मूलगुणोत्तरगुणस्थाने, पं० चू० ।

दुयविलंबिय-द्रुतविलम्बित-न० । विलम्बितात्मिनये, रा० । आ० म० । छन्दोभेदे, वाच० ।

दुयसीलय-द्रुतशीलत्व-न० । अपर्यालोच्य सम्भ्रमाऽऽवेशाद्द्रुत द्रुत भाषणाऽऽदिषु, ध० । तथाहि द्रुतशीलत्व चाऽपर्यालोच्य सम्भ्रमाऽऽवेशाद् द्रुत द्रुत भाषण तथा द्रुत द्रुत गमन द्रुत द्रुत कार्यकरण स्वभावस्थितेनाऽपि नीचोद्रेकवशाद्दर्पण स्फुटनमिवेति च । ध० ३ अधि० ।

दुया-द्विता-स्त्री० । द्वयोर्भावे, पो० १६ विव० ।

दुयाह-द्विकाह-न० । दिनद्वये, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० ।

दुरयण-दुर्जन-पु० । " जलयां य. " ॥ ८ । ४ । २९२ ॥ मागध्यां जस्य स्थाने यो भवतीति जस्य यः । प्रा० ४ पाद । दुष्टो जनो यस्मात्, यद्वान्यजनेन साधुरपि दुष्यति । खले, वाच० ।

दुर-दूर-अव्य० । अभावे, व्य० २ उ० ।

दुरइक्कम-दुरतिक्रम-त्रि० । दुःखेनातिक्रमो लङ्घनं विनाशो येषां ते तथा । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । दुरतिक्रमणीये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

दुरंत-दुरन्त-न० । दुष्टोऽन्तो विनाशः प्रान्तो वा यस्य तद् दुरन्तम् । दुर्विनाशे, दुष्प्रान्ते, स० । आचा० । दुःखेन न पर्यन्तो यस्य तद् दुरन्तम् । उत्त० ११ अ० । दुष्पर्यन्ते, स्था० १ श्रु० ८ अ० । दुष्टावसाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । विपाकदारुणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । " दुरन्तपन्तलक्खणो । " दुरन्तानि दुष्टपर्यवसानानि प्रान्तान्यसुन्दराणि लक्षणानि यस्य स तथा । उपा० २ अ० । भ० ।

दुरदर-देशी-दुःखोत्तीर्णे, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा ।

दुरणुचर-दुरनुचर-न० । स्था० ५ ठा० १ उ० । ('तित्थयर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६२ पृष्ठे व्याख्या) दुःखेनाऽऽसेव्ये प्रवचने च । भ० ६ श० ३३ उ० । द्वा० । दुःखेनानुचर्यते सेव्यते यः स तथा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । दुःखेनाऽऽसेव्ये संयमे, पञ्चा० १० विव० । मार्गे, संयमानुष्ठानविधौ च । पु० । आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

दुरणुपालय-दुरनुपालक-पु० । दुःखेनानुपाल्यत इति दुरनुपालः, स एव दुरनुपालकः । दुःखानुपालनीये, उत्त० २१ अ० । पञ्चा० ।

दुरत्थ-दूरस्थ-त्रि० । ग्रामाऽऽदेर्बहिःस्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ० ।

दुरप्प (ण्)-दुरात्मन्-पु० । दुष्टाऽऽचारप्रवृत्ते आत्मनि, उत्त० २० अ० । ओघ० । आ० म० । प्रश्न० ।

दुरभि-दुरभि-पु० । वैसुण्यवृत्ति, अनु० ।

दुरभिगंध-दुरभिगन्ध-पु० । दुरति सर्वेषामाभिमुख्येन दुष्टो गन्धो यस्यासौ दुरभिगन्धः । दुर्गन्धयुक्ते, जी० ३ प्रति० २ उ० । आचा० ।

दुरभिगंधणाम-दुरभिगन्धनाम-न० । यदुदयात् शरीरेषु गन्धो दुरभिरुपजायते तद् दुरभिगन्धनाम । गन्धनामकर्मभेदे, कर्म० ६ कर्म० । पं० सं० ।

दुरभिगम-दुरभिगम-त्रि० । दुःखेनाभिगन्तव्ये, " तओ पच्छा अदेलागे ण दुरभिगमे पण्णत्ते । " स्था० ३ ठा० ४ उ० । अथ तत्त्वबोधोत्कमपि समेति, एव च सामर्थ्यात्प्रथमपश्चिमौ दुरभिगम, क्रमेण पर्यन्ताभिगम्यत्वादिति । स्था० ३ ठा० ४ उ० । दुरवबोधे च । म० १० अष्ट० ।

दुरवगाह-दुरवगाह-त्रि० । दुष्प्रवेशे, " स्वरेऽन्तरश्च " ॥ ८ । १ । १४ ॥ इति दुरन्तर्वर्त्यव्यञ्जनस्य स्वरपरे लुक् न । " दुरवगाह ।" आव० १ अ० । दुष्प्रवेशे, विशे० । आ० म० । दुःखाध्येये च । म० १० अष्ट० ।

दुरस-द्विरस-न० । रसद्वये, तद्वति च । त्रि० । भ० १ श० ७ उ० । स्था० ।

दुरहि-दुरभि-पु०। दुर्गन्धे, त०।

दुरहिगम-दुरभिगम-त्रि०। 'दुराभिगम' शब्दार्थे, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

दुरहिट्ठिय-दुरधिष्ठित-त्रि०। दुराश्रये दुःसेवे, दश० ६ अ०।

दुरहियास-दुरध्यास-त्रि०। सोढुमशक्ये दुर्विषहे, प्र० १५ श०। दुरधिसह्ये, भ० ५ श० ६ उ०। उपा०। विपा०।

दुरहियासय-दुरध्यासक-त्रि०। दुरधिसहनीये, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। सूत्र०।

दुरहिसह-दुरधिसह-त्रि०। सोढुमशक्ये, स्था० ६ ठा०।

दुराइ-द्विरात्र-न०। द्वयो रात्र्योः समाहारे,स्था० ५ ठा०२ उ०।

दुराणुवत्त-दुरानुवर्त्त-त्रि०। दुःखेनानुवर्त्ये, व्य० ३ उ०।

दुराराह-दुराराध-त्रि०। दुःखेनाऽऽराध्ये, कल्प० ३ अधि० ९ क्षण।

दुरारोह-दुरारोह-त्रि०। दुःखेनाऽऽरुह्यतेऽध्यास्यत इति दुरारोहः। दुरध्यासे, उत्त० २३ अ०।

दुरालोअ-देशी- तिमिरे, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा।

दुरासय-दुराश्रय-त्रि०। दुःखेनाऽऽश्रीयत इति दुराश्रय। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। दुःखेनाऽऽश्रयन्ति यमतिकोपनत्वाऽऽदिभिरिति दुराश्रयः। उत्त० पाई० १ अ०। क्रूरे, उत्त० १ अ०।
दुरासद-त्रि०। दुःखेनाऽऽसाद्यतेऽभिभूयते इति दुरासदम्। दुरभिभवे, दश० २ अ०। दु सहे च। उत्त० २२ अ०।

दुरितारि-दुरितारि-स्त्री०। श्रीसंभवजिनस्य प्रवचनदेव्याम्, प्रव० २७ द्वार।

दुरिय-दुरित-न०। दुष्टमितं गमनं नरकाऽऽदिस्थानमनेनेति। वाच०। पापे, आतु०।

दुरियारि-दुरितारि-स्त्री०। 'दुरितारि' शब्दार्थे, प्रव०२७ द्वार।

दुरुक्क-दुरुक्त-न०। दुष्टमुक्तम्। दुष्टवचने, वाच०। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ०।

दुरुत्तर-दुरुत्तर-त्रि०। "स्वरेऽन्तरश्च" ॥ ८। १। १४॥ इत्यन्त्यव्यञ्जनस्य स्वरे परे लुक् न। प्रा० १ पाद। दुःखेन उत्तीर्यते। दुर्-उत्-तृ-खल्। दुस्तरे, दुष्टमुत्तरम्। प्रा० १ पाद। दुष्टे उत्तरे, न०। वाच०। दुर्लङ्घ्ये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। दुर्गमे च। त्रि०। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

दुरुत्तार-दुरुत्तार-त्रि०। दुःखेनोत्तरणीये, आव० ३ अ०।

दुरुद्धर-दुरुद्धर-त्रि०। दुःखेनोद्धर्तुं शक्ये, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० २ उ०।

दुरुवचार-दुरुपचार-त्रि०। दुष्टे उपचारे,तद्वति च। 'दुरुवचाराओ।" त०। दुरुपचारा - दुष्ट उपचार उपचाराम्वितवचनाऽऽदिविस्तारो यासां तास्तथा स्त्रियः। त०।

दुरुवणीय-दुरुपनीत-पु०। दुष्टमुपनीतं निगमितमस्मिन्निति दुरुपनीतम्। उपन्यासहेतुभेदे, दश० १ अ०। स्था०।
दुरुपनीतद्वारं व्याचिख्यासुराह-
अणिमिसगिण्हणभिक्खुग, दुरुवणीए उदाहरणं (७१)
अनिमिषा मत्स्याः, तद्ग्रहणे भिक्षुरुदाहरणम्, इदं च लौकिकम्, अनेन चोक्तन्यायाल्लोकोत्तरमप्याक्षिप्तं वेदितव्यमिति, गाथादलाक्षरार्थः। भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्-"किन्न कोइ तच्चणिओ जालवावडकरो मच्छगवहाए चलिओ। धुत्तेण भणइ-आयरिय! अघणा ते कथा। सो भणइ-जालमेतं।" इत्यादि श्लोकादवसेयम्-
"कन्थाऽऽचार्याऽघना ते ननु शफरवधे जालमश्नासि मत्स्यान्,
ते मे मद्योपदंशाः पिबसि ननु युतो वेश्यया यासि वेश्याम्।
कृत्वाऽरीणां गलेऽङ्घ्रिं क्व नु तव रिपवो येषु सन्धिं छिनद्मि,
चौरस्त्वं द्यूतहेतोः कितव इति कथं येन दासीसुतोऽस्मि॥१॥"
इदं लौकिकम्। चरणकरणानुयोगे तु-
"इय सासणस्स वण्णो, जायइ जेण न तारिसं बूया।
वादे वि उवहसिज्जइ, निगमणओ जेण त चेव॥ १॥"
उदाहरणदोषता पुनरस्य स्पष्टैवेति। दश० १ अ०।

दुरुवयार-दुरुपचार-त्रि०। 'दुरुवचार' शब्दार्थे, त०।

दुरुव्वूढत्त-दुरुद्वेष्टक-पु०। दुःखेनोद्वेष्टने, व्य० १ उ०।

दुरुहमाण-दूरोहत्-त्रि०। दुष्टमारोहति, "सेज्जासथारएदुरुहमाणे।" आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०। "से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव दुरुहमाणे।" आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ०।

दुरुहियास-दुरध्यास-त्रि०। दुःखेनाधिसह्ये, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। ज०।

दुरूढ-दूरूढ-त्रि०। आरूढे, स्था० ६ ठा०। ज०।

दुरूव-दूरूप-त्रि०। दुष्टं रूपं यस्य स दूरूपः। सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। बीभत्सदेहे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। विरूपे, आ० १ श्रु० १ अ०। "पगे दुरूवे।" अमनोज्ञरूपे, स्था० १ ठा०। दुःस्वभावे च। भ० ७ श० ६ उ०। "दुरूवे दुव्वण्णे।" भ० १ श० ८ उ०। स्था०।

दुरूवताय-दूरूपताक-पु०। दूरूपनाहेतुतया परिणमति दूरूपतां करोतीत्यर्थे, भ० ७ श० १५ उ०।

दुरूवभक्खि(ण्)-दूरूपभक्षिण्-पु०। अशुच्यादिभक्षके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

दुरूहण-दूरोहण-न०। आरोहणे, नि० चू० १२ उ०।

दुरूहित्तु-दूरुह्य-अव्य०। समारुह्येत्यर्थे, समारोप्येत्यर्थे च। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

दुरूहिय-दूरुह्य-अव्य०। आरुह्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

दुरेह-द्विरेफ-पु०। "द्विन्योरुत्" ॥ ८। १। ९४॥ इतीत उत्वम्। 'दुरेहो।' प्रा० १ पाद। द्वौ रेफौ वाचकनाम्नि यस्य सः। भ्रमरे, तच्छब्दस्य रेफद्वयवत्त्वेन तद्वाच्यमधुकरपदार्थेऽपि द्विरेफत्वम्। वाच०।

दुली-देशी-कूर्मे, दे० ना० ५ वर्ग ४२ गाथा।

दुल्ल-देशी- वस्त्रे, दे० ना० ५ वर्ग ४१ गाथा।

दुल्लग-देशी -अघटमाने, दे० ना० ५ वर्ग ४३ गाथा।

दुल्लभ-दुर्लभ-पु०। दुर्-लभ-खल्। कर्चूरे, दुरालभायाम्, श्वेतकण्टकार्यां च। स्त्री०। वाच०। दुरापे, त्रि०। प्रश्न० ३

आश्र० द्वार । पञ्चा० । दश० । उत्त० । सूत्र० । आ०म० । आ० चू० । आतु० । आचा० । भ० । " जीविय चयइ, दुच्चय च-यइ, दुक्कर करेइ, दुवहं लहइ, बोहिं बुज्झइ ।" (व्याख्याऽस्य ' आउ ' शब्दे द्वितीयभागे १३ पृष्ठे द्रष्टव्या) शतपाकसहस्र-पाकाऽऽदिद्रव्ये, नि० चू० १ उ० ।

दुल्लभदव्वागाढ-दुर्लभद्रव्यागाढ-पुं० । दुर्लभद्रव्यालाभेऽ-नागाढे, "सतपागसहस्सपाग घय तेल्ल तेण साहुणो कज्ज, तं-म्मि अलब्भते दुल्लभदव्वागाढ ।" नि० चू० ११ उ० ।

दुल्लभबोहिय-दुर्लभबोधिक-पु० । दुर्लभा बोधिर्भवान्तरे जि-नधर्मप्राप्तिर्यस्यासौ दुर्लभबोधिक' । भवान्तरे दुरापजिनध-र्मके, प्रति० । स्था० ('सुलभबोहिय' शब्दे वर्णकोऽस्य वक्ष्यते)

परिवारपूयहेऊ, पामत्थाण च आणुवत्तीए ।
जो न कहेइ विसुद्धं, तं दुल्लहबोहियं जाण ॥२८॥

परिवार आत्मव्यतिरिक्त ,तत परिवारेण पूजा, परिवारस्य वा पूजा परिवारपूजा। अथवा-परिवारपूजा इहलोकप्रीतिप्रभवा,तस्या हेतुर्निमित्तमिति। पार्श्वे सम्यक्त्व,तस्मिन् ज्ञानाऽऽदिपार्श्वे तिष्ठ न्तीति पार्श्वस्था ,तेषामनुवृत्तिरनुवर्त्तन,तया,यो न कथयति न प्रकाशयति, विशुद्ध सर्वविशुद्ध सर्वविदुपदिष्ट यथावस्थित मु-क्तिमार्ग,तमाचार्य साधु वा दुर्लभबोधिक जानीहि। अयमत्र भा-वार्थ -यो हि मनोज्ञमविग्नोऽपि परिवारापेक्षया सम्यक्त्वसा-ध्वाचार न कथयति, भयमन्यथा प्रवृत्त सम्यक्त्वकथनेन प्रकटो भविष्यति,ततोऽय मयि सरोषो भविष्यति,तत शरीराऽऽदिस्थि तिं न करिष्यति,पूजा वा न भविष्यतीति हेतो ,पार्श्वस्थानुवृत्त्या वा यद्युत मामेते सम्यक् कथयत: प्रकोप यास्यन्त्यतो यस्मा त्स्वाकिक कृतमिति, एते चानुवर्त्तिता भवन्त्विति स्वबुद्ध्या सुन्दरमपि विदधाना. ससारसागरे निपतन्ति ।

यत उक्तम्-

" जिणाणाए कुणताण, तूण निव्वाणकारण ।
सुदर पि सबुद्धीए, सव्व भवनिवधण ॥
जे गयआरभरया, ते जीवा होंति अप्पदोसयरा ।
बउ महपावयरा, जे आरत पसमति ॥"

यत एवमत परमाऽऽराध्यकालिकसूरिभिरिव प्राणप्रहाणेऽपि परानुवृत्याऽपि नैवान्यथा प्रापणीयमिति गाथार्थ ॥ २८ ॥ दर्श० ३ तत्त्व ।

दुल्लभबोहियता-दुर्लभबोधिकता-स्त्री० । दुर्लभा बोधिर्जिनध-र्म्मो यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता । दुर्लभजिनधर्मतायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० । प्रति० । रा० । (पञ्चभि: कारणैर्दु-र्लभबोधिकताकर्म करोतीत्युक्तम् ' अवरावाय ' शब्दे प्रथ-मभागे ७०२ पृष्ठे)

दुल्ललिय-दुर्ललित-न० । दुर्-' लल ' ईप्सायाम्,भावे क्त । वाच० । दुष्टेच्छायाम्, दुर्लभवस्तुवाञ्छायाम्, महा० ६ अ० ।

दुल्लसिआ-देशी-दास्याम, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा ।

दुल्लह-दुर्लभ-त्रि० । ' दुल्लभ ' शब्दार्थे,प्रश्न० ३आश्र०द्वार ।

दुल्लहबोहिय-दुर्लभबोधिक पु० । ' दुल्लभबोहिय ' शब्दार्थे, प्रति० ।

दुल्लहसेज्जा-दुर्लभशय्या-स्त्री० । असुलभवसतौ, पञ्चा० १७ विव० । नि० चू० ।

दुवअण-द्विवचन-न० । " द्विन्योरुत् " ॥ ८ । १ । ९४ ॥ इति द्विशब्देकारस्योकार' । " दुवअण ।" प्रा०१ पाद । उच्यतेऽने-नोक्तिर्वेति वचनम् । द्वयोरर्थयोर्वचन द्विवचनम । स्था० ३ ठा० ६ उ० । व्याकरणोक्ते औतस्प्रभृतिप्रत्यये, वाच० । वस्तुद्व-यप्रतिपादके वचने च । यथा वृक्षौ । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० । आ० म० । प्रज्ञा० ।

दुवई-द्रौपदी-स्त्री० । द्रुपदराजदुहितरि, ज्ञा० ।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं नयरी होत्था । तीसे णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरि-च्छिमे दिसीभाए सुभूमिभागे णामं उज्जाणे होत्था । तत्थ णं चंपाए णयरीए कोणिए णामं राया होत्था । महया हिमवंतवण्णओ । तत्थ णं चंपाए णयरीए तओ माहणा भायरो परिवसंति । तं जहा-सोमे १, सोमदत्ते २, सो-मभूई ३, अड्ढा ०जाव रिउव्वेय ४ ० जाव सुपरिणिट्ठिए यावि होत्था । तेसि णं माहणाणं तओ भारियाओ हो-त्था । तं जहा-नागसिरी, भूतसिरी, जक्खसिरी, सुकु-मालपाणिपाया०जाव तेसिं णं माहणाणं इट्ठा कंता पिया मणुण्णा मणामा विउले माणुस्सए कामभोए० जाव विह-रंति। तए णं तेसिं माहणाणं अन्नया कयाइं एगयओ स-मुवागयाणं०जाव इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जि-त्था-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमे विउलधण०जाव सावएज्जे अलाहि० जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं दाउं पकाम भोत्तु पकामं परिभाएउं, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! अण्णमण्णस्स गिहेसु कल्लाकल्लिं विउलं असणं पाणं खाइम साइमं उवक्खडावेउं, उवक्खडावेत्ता परिभुंजेमाणा विहरित्तए अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता कल्लाकल्लिं अण्णमण्णस्स गिहेसु विउलं असणं पाणं खाइम साइमं उवक्खडावेंति, उवक्खडावेत्ता परि-भुंजमाणा विहरंति । तए णं तीसे णागसिरीए माहणीए अन्नया कयाइ भोयणवारए जाए यावि होत्था । तए णं सा णागसिरी विउलं असणं पाणं खाइम साइमं उवक्ख-डेति,उवक्खडेत्ता एगं महं सालइयं तित्तालाउइयं बहुसं-भारसजुत्तं णेहावगाढं उवक्खडावेति, उवक्खडावेत्ता एगं बिंदुयं करयलंसि आसाएति, त खारं कडुयं अखज्जं वि-सभूयं जाणित्ता एवं वयासी-धिरत्थु णं मम णागसिरीए अहन्नाए अपुण्णाए दूभगाए दूभगसत्ताए दूभगनिंबो-लियाए, तं जाए णं मए सालइए बहुसंभारसंभिए नेहाव-गाढे उवक्खडिए सुबहुदव्वक्खए य नेहक्खए य कए, तं जइ णं मम जाउयाओ जाणिस्संति, ताओ णं मम खिंसिस्संति, तं जाव मम जाउया न जाणंति ताव मम सेयं एयं साल-इयं तित्तालाउयं बहुसंभारनेहकयं एगंते गोविचए

सालइयं महुरालाउयए० जाव नेहावगाढं उवक्खमियए एवं संपेहेति, संपेहेत्ता तं सालइयं० जाव गोवेति, गोवेत्ता अएणं सालइयं महुरालाउयं उवक्खडेति, उवक्खडेत्ता तेसिं माहणाणं एहायाणं० जाव सुहासणवरगयाणं तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिवेसेइ । तए णं ते माहणा जिमियभुत्तुत्तरागया समाणा आयंता चोक्खा परमसुइभूया सकम्मसपउत्ता जाया यावि होत्था । तए णं ताओ माहणीओ एहायाओ०जाव विभूसियाओ तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारेंति, आहारेत्ता जेणेव सयाइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सकम्मसंपउत्ताओ जायाओ। तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा नामं थेरा० जाव बहुपरिवारा जेणेव चंपा णामं णगरी जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं० जाव विहरंति। परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया। तए णं तेसिं धम्मघोसाणं थेराणं अंतेवासी धम्मरुई नामं अणगारे उराले० जाव तेयलेस्से मासं मासेणं खममाणे विहरइ । तए णं से धम्मरुई णामं अणगारे मासखमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, बीयाए पोरिसीए झाणं झाएइ, तइयाए पोरिसीए जहा गोयमसामी तहेव ओगाहेइ, ओगाहेत्ता तहेव धम्मघोसं थेरं आपुच्छति, आपुच्छित्ता० जाव जेणेव चंपा नयरी उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं० जाव अडमाणे जेणेव नागसिरीए माहणीए गिहे, तेणेव अणुप्पविट्ठे। तए णं सा णागसिरी धम्मरुईणामं अणगारं एज्जमाणं पासति, पासित्ता तस्स सालइयस्स तित्तकडुयस्स बहुनेहाए पडिणिट्ठयाए हट्ठतुट्ठा उट्ठाए उट्ठेति, जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तं सालइयं तित्तालाउयं बहुणेहावगाढं धम्मरुइस्स अणगारस्स पडिग्गहए सव्वमेव निस्सरति। तए णं से धम्मरुई अणगारे अहापज्जत्तमिति कट्टु नागसिरीए माहणीए गिहाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता चंपाए नयरीए मज्झं मज्झेणं पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जेणेव धम्मघोसा थेरा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मघोसस्स अदूरसामंते इरियावहियं पडिक्कमइ, पडिक्कमित्ता अण्णपाणं पडिलेहेइ, पडिलेहेइत्ता अण्णपाणं करयलंसि पडिदंसेति। तए णं ते धम्मघोसा थेरा तस्स सालइयस्स बहुनेहावगाढस्स गंधेणं अभिभूया समाणा ताओ सालइयाओ णेहावगाढाओ एगं बिंदुगं गहाय करयलंसि आसायंति, तित्तगं खारं कडुयं अखज्जं अभोज्जं विसब्भूयं जाणेत्ता धम्मरुइं अणगारं एवं वयासी—जइ णं तुमं देवाणुप्पिया ! एयं सालइयं० जाव बहुणेहावगाढं आहारेइ, तेणं तुमं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि, तं मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! इमं सालइयं० जाव आहारेसि, मा णं तुमं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि, तं गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! इमं सालइयं एगंतमणावाए अचित्ते थंडिले परिट्ठवेह, परिट्ठवेत्ता अण्णं फासुयं एसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिग्गाहेत्ता आहारं आहारेहि । तए णं से धम्मरुई अणगारे धम्मघोसाणं थेराणं एवं वुत्ते समाणे धम्मघोसस्स थेरस्स अंतियाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता सुभूमिभागाओ उज्जाणाओ अदूरसामंते थंडिले पडिलेहेति, पडिलेहेत्ता ततो सालइयाओ एगं बिंदुगं गहाय थंडिलंसि णिस्सरइ । तए णं तस्स सालइयस्स तित्तालाउयस्स बहुनेहावगाढस्स गंधेणं बहूणि पिपीलिगासहस्साणि पाउब्भूया, जं जहा णं पिपीलिया आहारेति, तं तहा अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जइ । तए णं तस्स धम्मरुइस्स अणगारस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था—जइ ताव इमस्स सालइयस्स०जाव एगम्मि बिंदुयम्मि पक्खित्तम्मि अणेगाइं पिपीलियासहस्साइं ववरोविज्जंति, तं जइ णं अहं एयं सालइयं थंडिलंसि सव्वं णिसिरामि तए णं बहूणं पाणाणं बहूणं भूयाणं बहूणं सत्ताणं बहूणं जीवाणं वहकरणं भविस्सति, तं सेयं खलु ममं तं सालइयं०जाव नेहावगाढं सयमेव आहारेत्तए, ममं चेव एएणं सरीरएणं णिज्जाउ त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता मुहपोत्तियं पडिलेहेति, पडिलेहेत्ता ससीसोवरियं कायं पमज्जेइ, पमज्जेत्ता तं सालइयं तित्तकडुयं बहुणेहावगाढं बिलमिव पण्णगभूएणं अप्पाणेणं सव्वं सरीरकोट्ठगंसि पक्खिवति। तए णं तस्स धम्मरुइस्स तं सालइयं० जाव णेहावगाढं आहारियस्स समाणस्स मुहुत्तंतरेणं परिणममाणंसि सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला० जाव दुरहियासा, तए णं धम्मरुई अणगारे अथामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्जमिति कट्टु आयारभंडगं एगंते ठवेइ, ठवेत्ता थंडिलं पडिलेहेइ, पडिलेहेत्ता दब्भसंथारगं संथरेइ, संथरेत्ता दब्भसंथारगं दुरूहति, दुरूहित्ता पुरत्थाभिमुहे संपलियंकणिसण्णे करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—"णमोऽत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं० जाव संपत्ताणं, णमोऽत्थु णं धम्मघोसाणं थेराणं मम धम्मायरियाणं मम धम्मोवएसगाणं पुव्विं पि य णं मए धम्मघोसाणं थेराणं अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए० जाव सव्वे परिग्गहे, इयाणिं पि णं अहं तेसिं चेव भगवंताणं

अंतियं सव्वं पाणातिवायं पच्चक्खामि० जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि जावज्जीवाए जहा खंदओ० जाव चरिमेहिं ऊसासेहिं वोसिरामि" त्ति कट्टु आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालगए । तए णं ते धम्मघोसा थेरा धम्मरुइं अणगारं चिरगयं जाणेत्ता समणे निग्गंथे सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! धम्मरुई णाम अणगारे मासखमणपारणगंसि सालइयस्स० जाव गाढस्स निसरणट्ठयाए बहिया णिग्गए चिरगए, त गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! धम्मरुइस्स अणगारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसण करेह । तए णं ते समणा निग्गंथा० जाव पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता धम्मघोसाणं थेराण अंतियाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमइत्ता धम्मरुइस्स अणगारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणा जेणेव थंडिल्ले तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता धम्मरुइस्स अणगारस्स सरीरग णिप्पाणं णिच्चेट्ठं जीवियाओ विप्पजढ पासंति, पासइत्ता हा हा अहो अकज्जमिति कट्टु धम्मरुइस्स अणगारस्स परिनिव्वाणवत्तियं काउस्सग्गं करेंति, धम्मरुइस्स अणगारस्स आयारभंडगं गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव धम्मघोसा थेरा तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता गमणागमणाए पडिक्कमति, पडिक्कमइत्ता एवं वयासी–एवं खलु अम्हे तुम्हं अंतियाओ पडिणिक्खमाणा सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स परिपेरंते णं धम्मरुइस्स अणगारस्स सव्वं० जाव करेमाणा जेणेव थंडिल्ले तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ०जाव इहं हव्वमागया, त कालगए णं भंते ! धम्मरुई अणगारे, इमीसे आयारभंडए । तए णं ते धम्मघोसा थेरा पुव्वगए उवओगं गच्छति, उवओगं गच्छित्ता समणे णिग्गंथे णिग्गंथीओ य सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–एवं खलु अज्जो ! मम अंतेवासी धम्मरुई णाम अणगारे पगइभद्दए ०जाव विणीए मास मासेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं० जाव णागसिरीए माहणीए गिहं अणुप्पविट्ठे । तए णं सा णागसिरी माहणी० जाव णिसिरइ । तए ण से धम्मरुई णामं अणगारे अहापज्जत्तमिति कट्टु० जाव कालं अणवकंखमाणे विहरति, से ण धम्मरुई णामं अणगारे बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं सोहम्मे०जाव सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववण्णे । तत्थ णं अजहण्णमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं धम्मरुइस्स वि तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता । से णं धम्मरुई देवे ताओ देवलोगाओ०जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति, बुज्झिहिति०जाव अंत काहिति । त धिरत्थु णं अज्जो ! णागसिरीए माहणीए अहण्णाए अपुण्णाए० जाव णिंबोलियाए जइ णं तहारूवे साहूणं साहुरूवे धम्मरुई णामं अणगारे मासखमणपारणगंसि सालइएण०जाव णेहावगाढेणं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविए । तए णं ते समणा निग्गंथा धम्मघोसाणं थेराणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म चंपाए णयरीए सिंघाडगतिग० जाव बहुजणस्स एवमाइक्खंति० ४ धिरत्थु णं देवाणुप्पिया ! णागसिरीए माहणीए० जाव निंबोलियाए, जाए णं तहारूवे साहूणं साहुरूवे सालइएणं जीवियाओ ववरोवेति । तए णं तेसिं समणाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खंति०४ धिरत्थु णं णागसिरीए माहणीए० जाव ववरोविए । तए णं ते माहणा चंपाए नयरीए बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ता० जाव मिसमिसेमाणा जेणेव णागसिरी माहणी, तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता णागसिरिं माहणिं एवं वयासी–इ जो णागसिरी ! अपत्थियपत्थिए दुरंतपंतलक्खणे हीणपुण्णचाउद्दसे धिरत्थु णं तव अधण्णाए अपुण्णाए निंबोलियाए० जाव ण तुमं तहारूवे साहूणं साहुरूवे मासखमणपारणगंसि सालइएण०जाव ववरोविए, उच्चावयाहिं अक्कोसणाहिं अक्कोसति, उच्चावयाहिं उद्धंसणाहिं उद्धंसेंति, उच्चावयाहिं निब्भत्थणाहिं निब्भत्थेंति, उच्चावयाहि निच्छूहणाहिं निच्छूहेंति, उच्चावयाहिं निच्छोभणाहिं निच्छोभेंति, तज्जेंति, तालेंति, तज्जित्ता तालित्ता साओ गिहाओ निब्भच्छेंति । तए णं सा नागसिरी माहणी सयाओ गिहाओ निच्छूढा समाणी चंपाए नयरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहेसु बहुजणेण हीलिज्जमाणी खिंसिज्जमाणी निंदिज्जमाणी गरहिज्जमाणी तज्जिज्जमाणी तालिज्जमाणी बहिज्जमाणी पव्वहिज्जमाणी धिक्कारिज्जमाणी थुक्कारिज्जमाणी कत्थइ वि ठाणं वा निलयं वा अलभमाणी दंडिखंडनिवसणा खंडमल्लयखंडघडगहत्थगया फुट्टहडाहडसीसा मच्छियाचडगरेणं अण्णिज्जमग्गा० जाव गेहे गेहे णं देहंबलियाए वित्तिं कप्पेमाणी विहरति । तए णं तीसे नागसिरीए माहणीए तब्भवंसि चेव सोलस रोगायंका पाउब्भूया । त जहा–"सासे १ खासे २ जरे ३ दाहे ४, कुच्छिसूले ५ भगंदरे ६ । अरसा ७ जोणिसूले ८ ०जाव कोढे १६ ।" तए णं सा नागसिरी माहणी सोलसहिं रोगायंकेहिं अभिभूया समाणी अट्टदुहट्टवसट्टा कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमट्ठितीए नेरइयत्ताए उववण्णा । सा णं तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता मच्छेसु उववण्णा । तत्थ णं सत्थवज्झा दाहवक्कंतीए कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिईए

नेरइयत्ताए उववण्णा। सा णं तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता दोच्चं पि मच्छेसु उववज्जति। तत्थ वि य णं सत्थवज्झा दाहवक्कंतीए दोच्चं पि अहे सत्तमाए पुढवीए उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु उववज्जति। सा णं तओहिंतो० जाव उव्वट्टित्ता तच्चं पि मच्छेसु उववण्णा। तत्थ वि य णं सत्थवज्झा० जाव कालमासे कालं किच्चा दोच्चं पि छट्ठाए पुढवीए उक्कोसेणं, तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता उरगेसु, एवं जहा गोसालो पुढवीसु तहा नेयव्वं० जाव रयणप्पभाओ सत्तसु उववण्णा, तओ उव्वट्टित्ता सण्णीसु उववण्णा, तओ उव्वट्टित्ता जाइं इमाइं खहयरविहाणाइं० जाव अदुत्तरं च णं खरवायरपुढविकाइयत्ताएसु अणेगसयसहस्सखुत्तो,सा णं तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चंपाए नयरीए सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स भद्दाए भारियाए कुच्छिंसि दारियत्ताए पयाया।

इद सर्वं सुगमम्। नवरं (सालइय ति) शारदिकं, सारेण वा रसेन चित युक्तम्-सारचितम्, (तित्तालाउय त्ति)कटुकतुम्बकम्, (बहुसंभारसंजुत्त) बहुभि संभारद्रव्यैरुपरि प्रक्षेपद्रव्यैस्त्वगेलाप्रभृतिभिः संयुक्तं यत्तत्तथा,स्नेहावगाढं स्नेहव्याप्तम्। (दूभगसत्ताए त्ति) दुर्भगं सत्त्वं प्राणी यस्या सा तथा। (दूभगनिंबोलियाए त्ति) निम्बगुलिकेव निम्बफलमिव अत्यनादेयत्वसाधर्म्याद् दुर्भगानां मध्ये निम्बगुलिका दुर्भगनिम्बगुलिका। अथवा-दुर्भगानां मध्ये निम्बोलिता निमज्जिता दुर्भगनिम्बोलिता,(जाउयाउ त्ति) देवराणां जाया भार्या इत्यर्थः। (विलमिवेत्यादि) विले इव रन्ध्रे इव पन्नगभूतेन सर्पकल्पेन आत्मना करणभूतेन सर्वं तदलाबु शरीरकोष्ठकेन प्रक्षिपति। यथा किल विले सर्प आत्मानं प्रक्षिपति प्रवेशयति पार्श्वान् असंस्पृशन्, एवमसौ वदनकन्दरपार्श्वान् असंस्पृशन्नाहारेण तद्रससंचारणतस्तदलाबु जठरविले प्रवेशितवानिति भाव। (गमणागमणाए पडिक्कमति त्ति) गमनागमनामीर्यापथिकीम्, (उच्चावयाहिं ति) असमञ्जसाभि (अक्कोसणाहिं ति) मृताऽसि त्वमित्यादिभिर्वचनैः (उद्धसणाहिं ति) दुष्कुलीनेत्यादिभि कुलाऽऽद्यभिमानपातनार्थैः (निच्छुहणाहिं ति) निःसराऽस्मद्गेहादित्यादिभि (निच्छोडणाहिं ति) त्यजाऽस्मदीयं वस्त्राऽऽदीत्यादिभि (तज्जेति त्ति) ज्ञास्यसि पापे! इत्यादिभणनत। (तालिंति त्ति) चपेटाऽऽदिभि। हील्यमाना जात्युद्घट्टनेन, खिंस्यमाना परोक्षकुत्सनेन,निन्द्यमाना मनसा जनेन, गर्ह्यमाणा तत्समक्षमेव,तर्ज्यमाना अङ्गुलीचालनेन ज्ञास्यसि पापे! इत्यादिभणनत। प्रव्यथ्यमाना यष्ट्याद्याताडनेन, धिक्कियमाणा धिक्शब्दविषयीक्रियमाणा, एवं थूत्क्रियमाणा,दण्डिरू कृतसन्धानं जीर्णवस्त्रं,तस्य खण्डं निवसनं परिधानं यस्याः सा तथा,खण्डमल्लकं खण्डशरावं भिक्षाभाजनं,खण्डघटकं च पानीयभाजनं, तौ हस्तयोर्गतौ यस्या सा तथा। (फुट्ट ति) स्फुटितं स्फुटितकेशसञ्चयत्वेन विकीर्णकेशं (हडाहड ति) अत्यर्थं, शीर्षं शिरो यस्याः सा तथा। माक्षिकाचटकरेण मक्षिकासमुदायेन,अन्वीयमानमार्गा अनुगम्यमानमार्गा मलाविलं हि वस्तु माक्षिकाभिर्वेष्ट्यत एवेति। देहबलिमित्यत्र तद्व्याख्यानं देहबलिका, तया, अनुस्वारो नैपातिकः। (सत्थवज्झ त्ति) शस्त्रवध्या, जानेति गम्यते। (दाहवक्कंतीए त्ति) दाहव्युत्क्रान्त्या दाहोत्पत्त्या, "खहयरविहाणाइं० जाव अदुत्तरं च" इत्यत्र गोशालकाध्ययनसमानं सूत्रं तत एव दृश्यं, बहुत्वात्तु न लिखितम्।

तए णं सा भद्दा सत्थवाही नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं० जाव दारियं पयाया सुकुमालकोमलियगयतालुयसमाणा, तीसे णं दारियाए निव्वत्ताए बारसाहियाए अम्मापियरो इमं एयारूवं गोण्णं गुणनिप्फन्नं नामधेज्जं करेंति-जम्हा णं एसा दारिया सुकुमालगयतालुयसमाणा, तं होउ णं अम्हं इमीसे दारियाए नामधेज्जं सुकुमालिया। तए णं तीसे दारियाए अम्मापियरो णामधेज्जं करेंति सुकुमालिय त्ति। तए णं सा सुकुमालिया दारिया पंचधाईपरिग्गहिया। तं जहा-खीरधाईए,मज्जणधाईए, मंडणधाईए,अंकधाईए,कीलावणधाईए,गिरिकंदरमल्लीणा इव चंपगलया णिव्वाया णिव्वाघायंसि०जाव परिवड्ढइ। तए णं सा सुकुमालिया दारिया उम्मुक्कबालभावा रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा जाया आवि होत्था। तत्थ णं चंपाए णयरीए जिणदत्ते णामं सत्थवाहे परिवसइ अड्ढे। तस्स णं जिणदत्तस्स भद्दा भारिया सुकुमाला इट्ठा०जाव माणुस्सए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणा विहरति। तस्स णं जिणदत्तस्स पुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए सागरए णाम दारए सुकुमाले० जाव सुरूवे। तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे अण्णया कयाइ सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स अदूरसामंतेणं वीतीवयति, इमं च णं सुकुमालिया दारिया ण्हाया चेडियासपरिवुडा उप्पिं आगासतलगंसि कणगमयतिंदुसएणं कीलमाणी कीलमाणी विहरति। तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे सुकुमालियं दारियं पासइ, पासइत्ता सुकुमालियाए दारियाए रूवेण य जायविम्हए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया! कस्स दारिया, किं णामधेज्जं? तए णं से कोडुंबियपुरिसा जिणदत्तेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा करयल० जाव एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया! सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स धूया भद्दाए अत्तए सुकुमालिया णाम दारिया सुकुमालपाणि० जाव उक्किट्ठा। तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे तेसिं कोडुंबियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा जेणेव सए गेहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ण्हाए मित्तनातिसद्धिं संपरिवुडे चंपाए णयरीए मज्झंमज्झेणं जेणेव सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहे तेणेव उवाए। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे जिणदत्तं सत्थवाहं

एज्जमाणं पासति, पासइत्ता आसणाओ अब्भुट्ठेति, अ-ब्भुट्ठेत्ता आसणेण उवनिमंतेति, उवनिमंतेत्ता आस-त्थं वीसत्थ सुहासणवरगयं जिणदत्तं सत्थवाहं एवं व-यासी-भणदेवाणुप्पिया ! किमागमणप्पओयणं ! । तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे सागरदत्त सत्थवाहं एव वया-सी-एवं खलु अह देवाणुप्पिया ! तव धूय भद्दाए अ-त्तयं सुकुमालियं सागरदत्तस्स भारियत्ताए वरेमि, जइ णं जाणह देवाणुप्पिया ! जुत्त वा पत्तं वा सलाहणिज्ज वा सरिसो वा संजोगो, तो दिज्जउ णं सुकुमालिया दा-रिया सागरस्स दारगस्स, तए णं देवाणुप्पिया ! भण किं दलयामो सुक्क सुकुमालियाए ? । तए णं से सागरदत्ते स-त्थवाहे जिणदत्तं सत्थवाहं एव वयासी-एवं खलु दे-वाणुप्पिया ! सुकुमालिया दारिया एगा जाया इट्ठा० ५ जा-व किमग ! पुण पासणयाए, त नो खलु अहं इच्छामि सुकुमालियाए दारियाए खणमवि विप्पओग, त जइ ण देवाणुप्पिया ! सागरए दारए मम घरजामाउए भवइ, तो णं अह सागरस्स दारगस्स सुकुमालिय दारिय दलयामि ? । तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे सागरद-त्तेण सत्थवाहेण एव वुत्ते समाणे जेणेव सए गिहे ते-णेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सागरं दारय सद्दावेति, स-द्दावेत्ता एवं वयासी-एव खलु पुत्ता ! सागरदत्ते सत्थ-वाहे मम एवं वयासी-एव खलु देवाणुप्पिया ! सुकुमालि-या दारिया इट्ठा ५, त जइ णं सागरए दारए मम घरजामाउए भवति० जाव दलयामि । तए णं से सागरए दारए जिणदत्तेणं सत्थवाहेणं एव वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे अन्नया कयाइ सोहणंसि तिहिकरणे विउलं असणं पाणं खाइमं साइम उवक्खडावेति, उवक्खडावेत्ता मित्तनाई आमंतेति, आमं-तेत्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता सागरं दारयं ण्हायं० जाव सव्वालंकारविभूसियं करेति, करेत्ता पुरिससहस्सवाहि-णीयं सीयं दुरूहावेति, दुरूहावेत्ता मित्तनाइ० जाव परि-वुडे सव्विड्ढीए साओ गिहाओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता चंपा नगरिं जेणेव सागरदत्तस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सीयाओ पच्चोरुहेति, पच्चोरुहेत्ता सागरं दारगं सागरदत्तस्स उवणेइ । तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे विपुल असणं पाण खाइमं साइम उवक्खडावेइ, उवक्ख-डावेत्ता० जाव सम्माणेत्ता सागरं दारग सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं पट्टयं दुरूहावेति, दुरूहावेत्ता सेयापीत-एहिं कलसेहिं मज्जावेति, मज्जावेत्ता होमं करावेति, करा-वेत्ता सागरदत्तं दारए सुकुमालियाए दारियाए पाणिं गिण्हावेइ । तए ण सागरए दारए सुकुमालियाए दा-रियाए इमं एयारूव पाणिफास पडिसंवेदेति-से जहा-णामए असिपत्तेइ वा० जाव मुम्मुरेइ वा, एत्तो अणिट्ठतराए चेव पाणिफासं संवेदेति । तए णं से सागरदारए अकामए अवसवसे मुहुत्तमेत्तं संचिट्ठति । तए ण सागरदत्ते सत्थवाहे सागरस्स दारयस्स अम्मापियरो मित्तणाई विउल असण पाणं खाइम साइम पुप्फवत्थ० जाव सम्माणेत्ता पडि-विसज्जेइ । तए ण सागरए दारए सुकुमालियाए सद्धिं जेणेव वासघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छेत्ता सुकुमा-लियाए दारियाए सद्धिं तलिमंसि निवज्जइ । तए ण से सागरए दारए सुकुमालियाए दारियाए इमं एयारूवं अंगफासं सवेदेति-से जहाणामए असिपत्तेइ वा० जाव अमणामतराए चेव अंगफासं पच्चणुब्भवमाणे विहरति । तए ण तं सागरदारए अंगफास असहमाणे अवसवसे मुहुत्तमेत्त संचिट्ठति । तए ण सागरए दारए सुकुमालिय सुहपसुत्तं जाणेत्ता सुकुमालियाए दारियाए पासाओ उ-ट्ठेति, उट्ठेत्ता जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सयणीयंसि निवज्जइ । तए णं सुकुमालिया दारिया तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धा समाणी पतिव्वया पतिमणुरत्ता पतिं पासे अपासमाणी तलिमाओ उट्ठेति, उट्ठेत्ता जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ, उवाग-च्छइत्ता सागरस्स दारगस्स पासे णिवज्जति । तए ण से सागरए दारए सुकुमालियाए दारियाए दोच्चं पि इमं एया-रूव अगफासं पडिसवेदेति-से जहाणामए असिपत्तेइ वा० जाव अमणामतराए चेव अंगफासं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ । तए णं सागरए दारए त अगफासं असहमाणे अकाममा-णे अवसवसे मुहुत्तमेत्त संचिट्ठति । तए णं सागरए दारए सुकुमालियं दारियं सुहपसुत्तं जाणेत्ता सयणिज्जाओ उट्ठेति, उट्ठेत्ता वासघरस्स दारं विहाडेति, विहाडेत्ता मारामुक्के विव काणए जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । तए ण सुकुमालिया दारिया तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धा पतिव्वया० जाव अपासमाणी सयणिज्जाओ उ-ट्ठेति, उट्ठेत्ता सागरस्स दारयस्स सव्वओ समता मग्गणग-वेसणं करेमाणी करेमाणी वासघरस्स दार विहाडियं पासति, पासित्ता एव वयासी-गए ण से सागरए दारए त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पा० जाव झियायति । तए ण सा भद्दा सत्थ-वाही कल्लं पाउ० दासचेडी सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वया-सी-गच्छह णं तुम देवाणुप्पिया ! बहूवरस्स मुहधोवणियं उवणेहि । तए णं सा दासचेडी भद्दाए सत्थवाहीए एवं वुत्ता समाणी एयमट्ठं तह त्ति पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता मुह-

धोवणियं गिएहेइ, गिएहेत्ता जेणेव वासघरे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छित्ता सुकुमालियं दारियं० जाव झियायमाणिं पासेति, पासेत्ता एवं वयासी-किं णं तुमं देवाणुप्पिए! ओहयमण०जाव झियाहि ?। तए णं सा सुकुमालिया दारिया त दासचेडियं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! सागरए दारए मम सुहपसुत्तं जाणित्ता मम पासाओ उट्ठेति, उट्ठेत्ता वासघरदुवारं अवगुणेति, अवगुणेत्ता० जाव पडिगए, तए णं अहं मुहुत्तंतरस्स० जाव दारं विहाडियं पासामि, गए णं से सागरए त्ति कट्टु ओहयमण० जाव झियामि। तए णं सा दासचेडी सुकुमालियाए दारियाए एयमट्ठं सोच्चा जेणेव सागरदत्ते सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सागरदत्तस्स एयमट्ठं निवेदेति। तए णं से सागरदत्ते दासचेडीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते० ४ जेणेव जिणदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहं तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जिणदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी-किं णं देवाणुप्पिया! एवं जुत्तं वा पत्तं वा कुलाणुरूवं वा कुलसरिसं वा,जं णं सागरए दारए सुकुमालियं दारियं अदिट्ठदोसवडियं विप्पजहाय इहमागए,बहूहिं खिज्जणियाहि य रुंटणियाहि य उवालभति। तए णं जिणदत्ते सत्थवाहे सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं सोच्चा जेणेव सागरए दारए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता सागरं दारयं एवं वयासी-दुट्ठु णं पुत्ता! तुमे कयं, सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहाओ इह हव्वमागए,तेणं तं गच्छह णं तुमं पुत्ता! एवमवि गए सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहे। तए णं से सागरए जिणदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी-अवियाइं अहं ताओ गिरिपडणं वा तरुपडणं वा मरुप्पवायं वा जलप्पवेसं वा जलणप्पवेसं वा विसभक्खणं वा वेहाणसं वा सत्थोवाडणं वा गिद्धपट्ठं वा पव्वज्जं वा विदेसगमणं वा अब्भुवगच्छेज्जामि, नो खलु अहं सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स गिहं गच्छेज्जामि। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे कुड्डंतरिए सागरस्स एयमट्ठं निसामेति,लज्जिए विलिए विड्डे पविट्ठे विव जिणदत्तस्स गिहाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सए गेहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुकुमालियं दारियं सद्दावेति, सद्दावेत्ता अंके निवेसेति, निवेसेत्ता एवं वयासी-किं णं तव पुत्ता! सागरएणं दारएणं मुक्का, अहं णं तुमं तस्स दाहामि, जस्स णं तुमं इट्ठा० जाव मणाभिरामा भविस्ससि त्ति सुकुमालियं दारियं ताहिं इट्ठाहिं० जाव वग्गूहिं समासासेइ, समासासेत्ता पडिविसज्जेति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे अन्नया उप्पिं आगासतलगंसि सुहनिसन्ने रायमग्गं अवलोएमाणे अवलोएमाणे चिट्ठति। तए णं सागरदत्ते सत्थवाहे एगं महं दमगपुरिसं पासति दंडिखंडनिवसणं खंडमल्लगखंडघडहत्थगयं मच्छियासहस्सेहिं० जाव अण्णिज्जमाणमग्गं। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-तुब्भे णं देवाणुप्पिया! एयं दमगं पुरिसं विउलेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलोभेह, पडिलोभेत्ता गिहं अणुप्पवेसेह, अणुप्पवेसेत्ता खंडमल्लगं खंडघडगं च से एगंते एडेह, एडेत्ता अलंकारियकम्मं करेह, करेत्ता एहायं कयबलिकम्मं० जाव विभूसियं करेह, करेत्ता मणुण्णं असणं पाणं खाइमं साइमं भोयावेह, भोयावेत्ता मम अंतियं उवणेह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा ०जाव पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता जेणेव से दमगपुरिसे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तं दमगं असण पाणं खाइम साइम पडिलोभेंति, सयं गिहं अणुप्पवेसंति, अणुप्पवेसेत्ता त खंडमल्लगं खंडघडगं च तस्स दमगपुरिसस्स एगते एडेंति। तए णं से दमगपुरिसे तंसि खंडमल्लगंसि खंडघडगंसि य एडिज्जमाणंसि महया महया सद्देणं आरसति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे तस्स दमगपुरिसस्स तं महया महया आरसियसद्दं सोच्चा णिसम्म [तए णं] सागरदत्ते कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-किं णं देवाणुप्पिया! एस दमगपुरिसे महया महया सद्देणं आरसति ?। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा त सागरदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी-एस णं सामी! तंसि खंडमल्लगंसि खंडघडगंसि य एडिज्जमाणंसि महया महया सद्देण आरसति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे तं कोडुंबियपुरिसे एवं वयासी-मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया! एयस्स दमगपुरिसस्स तं खंडमल्लगं० जाव एडेह, पासे ठवेह, जहा णं पत्तिय भवति। ते वि तहेव ठवेंति, ठवेत्ता तस्स दमगस्स पुरिसस्स अलंकारियं कम्मं करेंति, करेत्ता सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भिंगेंति, अब्भिंगिए समाणे सुरभिणा गंधुव्वट्टणएणं गायं उव्वट्टेंति, उसिणोदगगंधोदएणं एहाणेंति, सीओदगेणं एहावेंति, एहावेत्ता पम्हलसुकुमालाए गंधकासाइए गायाइं लूहेंति, लूहेत्ता हंसलक्खणपडसाडगं परिहिंति, परिहित्ता सव्वालंकारविभूसियं करेंति, करेत्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं भोयावेंति, भोयावेत्ता सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स उवणेंति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे सुकुमालियं दारियं एहायं० जाव सव्वालंकारविभूसियं करेत्ता त दमगपुरिसं एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया! मम धूया

इट्ठा एवं णं अहं तव भारियत्ताए दलामि, भद्दियाए भद्दए भवेज्जासि। तए णं से दमगपुरिसे सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं वासघरं अणुपविसति, सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं तलिमंसि निवज्जति। तए णं से दमगपुरिसे सुकुमालियाए दारियाए सद्धिं इमेयारूवं अंगफासं पडिसंवेदेति, सेसं जहा सागरस्स० जाव सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेत्ता वासघराओ णिग्गच्छति, णिग्गच्छित्ता खंडमल्लगं खंडघडगं च गहाय मारामुक्के विव काए जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तए णं सा सुकुमालिया दारिया० जाव गए णं से दमगपुरिसे त्ति कट्टु ओहयमण० जाव झियायति। तए णं सा भद्दा कल्लं पाउप्पभा० दासचेडिं सद्दावेति, सद्दावेत्ता० जाव सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं निवेदेति। तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे तहेव संभंते समाणे जेणेव वासघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुकुमालियं दारियं अंके निवेसेइ, निवेसेत्ता एवं वयासी—अहो णं तुमं पुत्ता! पुरा पोराणाणं० जाव पच्चणुब्भवमाणी विहरसि, तं मा णं तुमं पुत्ता! ओहयमण० जाव झियाहि, तुमं णं पुत्ता! मम महाणसंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं जहा पोट्टिला० जाव परिभाएमाणी विहराहि। तए णं सा सुकुमालिया दारिया एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता महाणसंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं० जाव दलमाणी विहरति।

सुकुमालके कोमले कामसमर्थे गजतालुसमाना, गजतालुकं तत्स्पर्शे च सुकुमालं भवतीति। "गुण धेयादि" गुणं भणतं (पत्त त्ति) प्राप्तं प्राप्तकालं, पात्रं वा गुणानामेव पुत्र.। श्लाघनीयं वा, सदृशो वा सयोगो विवाहयोग इति। "से जहानामए असिपत्तेइ वा" इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्—"करपत्तेइ वा खुरपत्तेइ वा कलंबचीरियापत्तेइ वा सत्तिअग्गेइ वा कोंतग्गेइ वा तोमरग्गेइ वा भिंडिमालग्गेइ वा सूचिकलावएइ वा विच्छुयडंकेइ वा कविकच्छूइ वा इंगालेइ वा मुम्मुरेइ वा अच्चीइ वा जालेइ वा अलाएइ वा सुद्धागणीइ वा भवे एयारूवे। नो इणट्ठे समट्ठे। एत्तो अणिट्ठतराए चेव अकंततराए चेव, अप्पियतराए चेव, अमणुण्णतराए चेव, अमणामतराए चेव त्ति।" तत्रासिपत्रं खड्गः, करपत्रं क्रकचं, क्षुरपत्रं क्षुरः, कदम्बचीरिकाऽऽदीनि लोकरूढ्याऽवसेयानि, वृश्चिककण्टकः, कपिकच्छूः खर्जूकारी वनस्पतिविशेषः, अङ्गारो विध्यातो विज्वालोऽग्निकणः, मुर्मुरोऽग्निकणमिश्रं भस्म, अर्चिरिन्धनप्रतिबद्धा ज्वाला, ज्वाला तु इन्धनच्छिन्ना, अलातमुल्मुकं, शुद्धाग्निरयःपिण्डान्तर्गतोऽग्निरिति। (अकामए त्ति) अकामको निरभिलाषः। (अवसवसे त्ति) अपस्ववशः, अपगतात्मा तन्त्रत्वे इत्यर्थः। (तलिमंसि निवज्जइ त्ति) तल्पे शयनीये निपद्यते, (पइव्वय त्ति) पतिं भर्तारं व्रतयति तमेवाभिगच्छामीत्येवं नियमं करोतीति। पतिव्रता पतिमनुरक्ता भर्तारं प्रति रागवतीति। (मारामुक्के विव काए त्ति) मार्यन्ते प्राणिनो यस्यां शालायां सा मारा शूना, तस्या मुक्तो यः स मारामुक्तः, माराद्वा मरणान्मारकपुरुषाद्वा मुक्तो विमुक्त इव, काको वायसः। (घडगस्स त्ति) घटकस्य घटस्य, तस्य, (कुलाणुरूव त्ति) कुलोचितं, वणिजां वाणिज्यमिव (कुलसरिस त्ति) श्रीमद्वणिजां स्ववाणिज्यमिव (परिच्छदोसवज्जिय त्ति) न एवं उपलक्षणत्वात् दोषे सुरूपे पतिना समापन्ना अदृष्टदोषपतिना वा। (विउज्जाणिवाइं ति) रोहक्रियाभि, कार्मणिकानि कृत्रिमक्रियाणि, (मरुप्पवाय य त्ति) निर्जलदेशे प्रपात (सत्थोवाडण त्ति) शस्त्रेणावपाटनं विदारणमात्मन इत्यर्थः। (गिद्धपट्ठ त्ति) गृध्रस्पृष्टं गृध्रैः स्पर्शनं कलेवराणां मध्ये निपत्य गृध्रैरात्मनो भक्षणमित्यर्थः। (अब्भुवगच्छेज्जामि त्ति) अभ्युपैमि। "पुरा पुराणाणं" इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्—"दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं कडाणं पावाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिविसेसं ति।" समर्थः—पुरा पूर्वं भवे पुराणानामतीतकालभाविनां तथा दुश्चीर्णानां दुश्चरितं मृषावादपरदारिकाऽऽदि, तद्धेतुकानि कर्माण्यपि दुश्चीर्णानि इत्युपदिश्यन्ते, अतस्तेषामेव दुष्पराक्रान्तं प्राणिघातादत्तादानाऽऽदिकृतानां प्रकृत्यादिभेदेन, पुराकृतत्वेऽप्युपभुक्तानां पापानामशुभरूपाणां कर्मणां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनां पापकं सदशुभं फलवृत्तिविशेषम्, उदयप्राप्तं प्रत्यनुभवन्ती विहरसि वर्तसे।

तेणं कालेणं तेणं समएणं गोवालियाओ अज्जाओ बहुस्सुयाओ एवं जहेव तेयलिणाए सुव्वयाओ, तहेव समोसढाओ, तहेव संघाडओ० जाव गिहं अणुपविट्ठो, तहेव० जाव सुकुमालिया पडिलाभेइ, पडिलाभेत्ता एवं वयासी—एवं खलु अज्जाओ! अहं सागरस्स दारगस्स अणिट्ठा० जाव अमणामा, णेच्छइ णं सागरदारए मम नामं वा० जाव परिभोगं वा, जस्स जस्स वि य णं दिज्जामि तस्स तस्स वि य णं अणिट्ठा० जाव अमणामा भवामि, तुब्भे य णं अज्जाओ बहुणायाओ, एवं जहा पोट्टिला० जाव उवलद्धे, जेणं अहं सागरदारगस्स इट्ठा कंता० जाव भवेज्जामि। अज्जाओ तहेव भणंति, तहेव साविया जाया, तहेव चिंता, तहेव सागरदत्तं सत्थवाहं आपुच्छति, आपुच्छित्ता० जाव गोवालियाणं अज्जाणं अंतियं पव्वइया। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा जाया इरियासमिया० जाव गुत्तबंभयारिणी बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठम० जाव विहरति। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा अण्णया कयाइं जेणेव गोवालियाओ अज्जाओ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वंदति, नमंसति, नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं अज्जा! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणी चंपाए णयरीए बाहिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंते छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेण तवोकम्मेणं सूराभिमुही आयावेमाणी विहरित्तए। तए णं ताओ गोवालि-

याओ अज्जाओ सुकुमालियं अज्जं एवं वयासी-अम्हे णं अज्जो! समणीओ निग्गंथीओ इरियासमियाओ० जाव गुत्तबंभयारिणीओ, नो खलु अम्ह कप्पति बहिया गामस्स वा० जाव सण्णिवेसस्स वा० जाव छट्ठं छट्ठेणं० जाव विहरित्तए, कप्पति णं अम्ह अंतो उवस्सयस्स वत्तिपरिक्खित्तस्स संघाडिबद्धियाए णं समतलपइयाए आयावित्तए। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा गोवालियाए अज्जाए एयमट्ठं नो सद्दहति, नो पत्तियति, नो रोवेति, एयमट्ठं असद्दहमाणी अपत्तियमाणी सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंते छट्ठं छट्ठेणं० जाव विहरति। तत्थ णं चंपाए नयरीए ललियनाम गोट्ठी परिवसइ, नरवइदिन्नवियारा अम्मापिइ नियगनिप्पिवासा वेसविहारकयणिकेया णाणाविह अविणयप्पहाणा अड्ढा० जाव अपरिभूया। तत्थ णं चंपाए णयरीए देवदत्ता णामं गणिया होत्था सुकुमाला जहा अंमडा। तए णं तीसे ललियाए गोट्ठीए अण्णया कयाइ पंच गोट्ठिल्लगपुरिसा देवदत्ताए गणियाए सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स सिरिं पच्चणुभवमाणा विहरंति। तत्थ णं एगे गोट्ठिल्लपुरिसे देवदत्तं गणियं उच्छंगे धरेइ, एगे पुरिसे पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ, एगे पुरिसे पुप्फपूरियं रयति, एगे पुरिसे पाए रएइ, एगे पुरिसे चामरुक्खेवं करेति। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा देवदत्तं गणियं तेहिं पंचहिं गोट्ठिल्लपुरिसेहिं सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी पासति, पासेत्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था-अहो णं इमा इत्थिया पुरा पोराणाणं० जाव विहरति। तं जइ णं मे इमस्स सुचरियस्स तवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, तो णं अहमवि आगमिस्सेणं भवग्गहणेणं इमेयारूवाइं उरालाइं माणुस्सगाइं० जाव विहरेज्जामि त्ति कट्टु णियाणं करेइ, करेत्ता आयावणभूमीए पच्चोरुहइ। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा सरीरपाउसिया जाया यावि होत्था। अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवेइ, अभि० २ पाए धोवेइ, अभि० २ सीसं धोवेइ, अभि० २ मुहं धोवेइ, अभि० २ थणतराइं धोवेइ, अभि० २ कक्खतराइं धोवेति, अभि० २ गुज्झतराइं धोवेति। जत्थ णं ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएइ, तत्थ वि य णं पुव्वामेव उदएणं अब्भुक्खित्ता तओ पच्छा ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ। तए णं ताओ गोवालियाओ अज्जाओ सुकुमालियं अज्जं एवं वयासी-एवं खलु अज्जे! अम्हे समणीओ निग्गंथीओ इरियासमियाओ० जाव बंभचेरधारिणीओ, नो खलु कप्पति अम्हं सरीरपाउसियाए होत्तए, तुमं च णं अज्जे! सरीरपाउसिया अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवेसि० जाव चेतेसि, तं तुमं णं देवाणुप्पिया! एयस्स ठाणस्स आलोएहि० जाव पडिवज्जाहि। तए णं सुकुमालिया अज्जा गोवालियाणं अज्जाणं अंतिए एयमट्ठं सो नो आढाइ, नो परियाणइ, अणाढाइमाणी अपरिजाणमाणी विहरंति। तए णं ताओ अज्जाओ सुकुमालियं अज्जं अभिक्खणं अभिक्खणं हीलेंति० जाव परिभवंति, अभिक्खणं अभिक्खणं एयमट्ठं निवारेंति। तए णं तीसे सुकुमालियाए अज्जाए समणीहिं निग्गंथीहिं हीलिज्जमाणीए० जाव वारिज्जमाणीए इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था-जया णं अहं अगारमज्झे वसामि, तया णं अहं अप्पवसा, जया णं अहं मुंडा पव्वइया, तया णं अहं परवसा, पुव्विं च णं मम समणीओ आढंति, इयाणिं तु नो आढंति, तं सेयं खलु ममं कल्लं पाउप्पभूया गोवालियाणं अज्जाणं अंतियाओ पडिणिक्खमेत्ता पाडिएक्कं उवस्सयं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता कल्लं गोवालियाणं अज्जाणं अंतियाओ पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमित्ता पाडिएक्कं उवस्सयं उवसंपज्जित्ता णं विहरति। तए णं सा सुकुमालिया अज्जा अणोहट्टिया अणिवारिया सच्छंदमई अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थं धोवेति० जाव चेएति। तत्थ वि य णं पासत्था पासत्थविहारिणी ओसण्णा ओसण्णविहारिणी कुसीला कुसीलविहारिणी संसत्ता संसत्तविहारिणी बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे अण्णयरंसि विमाणंसि देवगणियत्ताए उववण्णा। तत्थेगइयाणं देवीणं नवपलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता। तत्थ णं सुकुमालियाए देवीए नवपलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता। तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे पंचालेसु जणवएसु कंपिल्लपुरे णामं णयरे होत्था। वण्णओ। तत्थ णं दुवए णाम राया होत्था। वण्णओ। तस्स णं दुवयस्स रण्णो चुलणी णामं देवी होत्था, सुकुमाला० जाव सुरूवा। तस्स णं दुवयस्स रण्णो पुत्ते चुलणीए देवीए अत्तए धट्ठज्जुणे णामं कुमारे जुवराया होत्था। तए णं सा सुकुमालिया देवी ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे पंचालेसु जणवएसु कंपिल्लपुरे नगरे दुवयस्स रण्णो चुलणीए देवीए कुच्छिंसि दारियत्ताए पयाया। तए णं सा चुलणी देवी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणं राइंदियाणं वइक्कंताणं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरं दारियं पयाया। तए णं

तीसे दारियाए निव्वत्ते वारसाहिए दिवसे इमं एयारूव णाम,जम्हा णं एसा दारिया दुवयस्स रन्नो धूया,चुलणीए देवीए अत्तया,तं होऊणं अम्हं इमीसे दारियाए णामधिज्जं दोवई। तए णं तीसे अम्मापियरो इमं एयारूवं गोणं गुणनिप्फन्नं णामधेज्जं करिंति दोवई। तए णं सा दोवई दारिया पंचधाईपरिग्गहिया। तं जहा-खीरधाईए, अंकधाईए, मंडणधाईए, कीलावणधाईए,मज्जणधाईए। गिरिकंदरमल्लीणा इव चंपगलया णिवाया निव्वाघायंमि सुहं सुहेणं परिवड्ढइ। तए णं सा दोवई रायवरकन्ना उम्मुक्कबालभावा०जाव उक्किट्ठसरीरा जाया यावि होत्था। तए णं सा दोवई रायवरकन्नया अन्नया कयाइ अंतेउरियाओ ण्हायं ०जाव विभूसियं करेंति,दुवयस्स रन्नो पायवंदियं पेसेइ। तए णं सा दोवई रायवरकन्ना जेणेव दुवए राया तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता दुवयस्स रन्नो पायग्गहणं करेति। तए णं से दुवए राया दोवइं दारियं अंके निवेसेति,दोवईए रायवरकन्नाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य जायविम्हए दोवइं रायवरकन्नं एवं वयासी-जस्स णं अहं तुमं पुत्ता! रायस्स वा जुवरायस्स वा भारियत्ताए सयमेव दलइस्सामि, तत्थ णं तुमं दुहिया वा सुहिया वा भवेज्जासि ?, तए णं मम जावज्जीवाए हियदाहे भविस्सति;तं णं अहं पुत्ता! अज्जयाइ सयंवरं रयामि, अज्जो! पाएणं तुमं दिन्नसयंवरा, जं णं तुमं सयमेव रायं जुवरायं वा वरेहिसि, से णं तव भत्तारे भविस्सइ त्ति कट्टु ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं०जाव आसासेइ, पडिविसज्जेति। तए णं से दुवए राया दूयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! बारवइं णगरिं,तत्थ णं तुमं कण्हं वासुदेवं समुद्दविजयपामोक्खं दसदसारे बलदेवपामुक्खं पंचमहावीरे उग्गसेणपामोक्खे सोलस रायसहस्से पज्जुण्णपामोक्खाओ अद्धुट्ठाओ कुमारकोडीओ संवपामोक्खाओ सट्ठिं दुद्दंतसाहस्सीओ वीरसेणपामुक्खाओ एक्कवीसं वीरपुरिससाहस्सीओ महसेणपामुक्खाओ छप्पन्नं बलवगसाहस्सीओ अन्ने य बहवे राईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहप्पभिइओ करयलपरिग्गहियं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेहि, वद्धावेत्ता एवं वयाहि-एवं खलु देवाणुप्पिया! कंपिल्लपुरे नगरे दुवयस्स रन्नो धूयाए चुलणीए देवीए अत्तयाए धट्ठज्जुणकुमारस्स भगिणीए दोवईए रायवरकन्नाए सयंवरे भविस्सइ, तं णं तुब्भे दुवयं रायं अणुगिण्हमाणा अकालपरिहीणा चेव कंपिल्लपुरे णगरे समोसरह। तए णं से दूए करयल०जाव कट्टु दुवयस्स रन्नो एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छ

इत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह०जाव उवट्ठवेति। तए णं से दूए ण्हाए०जाव सस्सिरीए चाउग्घंटं आसरहं दुरूहति, दुरूहइत्ता बहूहिं पुरिसेहिं सन्नद्धबद्ध० जाव गहियाउहपहरणेहिं सद्धिं संपरिवुडे कंपिल्लपुरं णगरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छति,णिग्गच्छइत्ता पंचालजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव देसप्पंते तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता सुरट्ठजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव बारवती णगरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता बारवइं नगरिं मज्झं मज्झेणं अणुप्पविसति, जेणेव कण्हस्स वासुदेवस्स बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चाउग्घंटं आसरहं ठवेति, ठवेत्ता रहाओ पच्चोरुहेइ, मणुस्सवग्गुरापरिक्खित्ते पायचारविहारेणं जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता कण्हं वासुदेवं समुद्दविजयपामुक्खे य दसदसारे० जाव बलवगसाहस्सीओ करयल० तं चेव०जाव समोसरह। तए णं से कण्हे वासुदेवे तस्स दूयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे० जाव हियए तं दूयं सक्कारेइ, सक्कारित्ता संमाणेइ, संमाणित्ता पडिविसज्जेइ। तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! सभाए सुहम्माए सामुदाणियं भेरिं तालेहि। तए णं से कोडुंबियपुरिसे करयल०जाव कण्हस्स वासुदेवस्स एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता जेणेव सभाए सुहम्माए सामुदाणिया भेरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सामुदाणियं भेरिं महया महया सद्देणं तालेइ। तए णं ताए सामुदाणियाए भेरीए तालियाए समाणीए समुद्दविजयपामुक्खा दस दसारा०जाव महसेणपामुक्खाओ छप्पन्नं च बलवगसाहस्सीओ ण्हाया०जाव विभूसिया जहाविभवं इड्ढिसक्कारसमुदएणं अप्पेगइया हयगयगया, अप्पेगइया०जाव पायविहारचारेण जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल०जाव कण्हं वासुदेवं जएणं विजएणं वद्धावेंति। तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! अभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह, हयगय० जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समुत्तजालाउलाभिरामे० जाव अंजणगिरिकूडसन्निभं गयवरं नरवई दुरूढे। तए णं से कण्हे वासुदेवे समुद्दविजयपामोक्खेहिं दसदसारेहिं०जाव अणंगसेणपामोक्खाहिं अणेगाहिं गणियासाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए० जाव रवेणं बारवइं णगरिं म-

ज्झं मज्झेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छइत्ता सुरट्ठजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव देसप्पंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पंचालजणवयस्स मज्झं मज्झेण जेणेव कंपिल्लपुरे णगरे तेणेव पहारेत्थगमणाए १ । तए णं से दुवए राया दोच्चं दूयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! हत्थिणापुरं णयरं, तत्थ णं तुमं पंडुरायं सपुत्तयं जुहिट्ठिल्लं भीमसेणं अज्जुणं नउलं सहदेवं दुज्जोहणं भाइसयसमग्गं गंगेयं विदुरं दोणं जयद्दहं सउणं कीवं अस्सत्थामं करयल०जाव कट्टु तहेव०जाव समोसरह । तए णं से दूए एवं वयासी जहा वासुदेवे, णवरं भेरी नत्थि०जाव जेणेव कंपिल्लपुरे णगरे तेणेव पहारेत्थगमणाए २। एएणेव कमेणं तच्चं दूयं चंपं नयरिं, तत्थ णं तुमं कण्हं अंगरायं सल्लं नंदिरायं करयल० तहेव०जाव समोसरह ३ । चउत्थं दूयं सोत्थिमइं णगरिं, तत्थ णं तुमं सिसुपालं दमघोससुयं पंचभाइसयं संपरिवुडं करयल० तहेव० जाव समोसरह ४ । पंचमं दूयं हत्थिसीसं णयरं, तत्थ णं तुमं दमदंतं रायं करयल०जाव समोसरह ५ । छट्ठं दूयं महुरिं नगरिं, तत्थ णं तुमं धरं रायं करयल० जाव समोसरह ६ । सत्तमं दूयं रायगिहं णगरं, तत्थ णं तुमं सहदेवं जरासिंधसुयं करयल० जाव समोसरह ७ । अट्ठमं दूयं कोण्डिण्णं णगरं, तत्थ णं तुमं रुप्पिं भीसगसुयं करयल० तहेव० जाव समोसरह ८ । नवमं दूयं विराडं णगरं, तत्थ णं तुमं कीयगं भाउयसयसमग्गं करयल० जाव समोसरह ९ । दसमं दूयं अवसेसेसु गामागरणगरेसु अणेगाइं रायसहस्साइं० जाव समोसरह १० । तए णं से दूए तहेव णिग्गच्छति, णिग्गच्छइत्ता जेणेव गामागरणगर० जाव समोसरइ । तए णं ताइं अणेगाइं रायसहस्साइं तस्स दूयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा तं दूयं सक्कारेति, संमाणेति, संमाणेत्ता पडिविसज्जेति । तए णं ते वासुदेवपामुक्खा बहवे रायसहस्सा पत्तेयं पत्तेयं ण्हाया सण्णद्धबद्धहत्थिखंधवरगया हयगयरहभडचडगरपहकर०सएहिं २ णगरेहिंतो अभिणिग्गच्छंति, अभिणिग्गच्छंतित्ता जेणेव पंचाले जणवए तेणेव पहारेत्थगमणाए । तए णं से दुवए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! कंपिल्लपुरे णगरे बहिया गंगाए महानदीए अदूरसामंतेणं एगं महयं सयंवरमंडवं करेह अणेगखंभसयसंनिविट्ठं लीलट्ठियसालिभंजियागं०जाव पच्चप्पिणंति । तए णं से दुवए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! वासुदेवपामुक्खाणं बहूणं रायसहस्साणं आवासे करेह, ते वि करेत्ता पच्चप्पिणंति । तए णं से दुवए राया वासुदेवपामुक्खाणं बहूणं रायसहस्साण आगमणं जाणेत्ता पत्तेयं पत्तेयं० जाव हत्थिखंध० जाव सद्धिं संपरिवुडे अग्घं च पज्जं च गहाय सव्वड्ढीए कंपिल्लपुराओ णयराओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता जेणेव ते वासुदेवपामोक्खा बहवे रायसहस्सा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ताइं वासुदेवपामुक्खाइं अग्घेण य पज्जेण य सक्कारेति, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता तेसिं वासुदेवपामुक्खाणं पत्तेयं पत्तेयं आवासे वियरति । तए णं ते वासुदेवपामुक्खा जेणेव सयाइं सयाइं आवासाइं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता हत्थिखंधाहिंतो पच्चोरुहंति, पत्तेयं पत्तेयं खंधावारनिवेसं करेंति, करेत्ता सएसु सएसु आवासेसु अणुप्पविसंति, सएसु सएसु आवासेसु य आसणेसु य सन्निसण्णा य संतुट्टा य बहूहिं गंधव्वेहि य णाडएहि य उवगिज्जमाणा य उवणच्चिज्जमाणा य विहरंति । तए णं से दुवए राया कंपिल्लपुरं नगरं अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेति, उवक्खडावेत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च मज्जं च मंसं च सीधुं च पसण्णं च सुबहुं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं च वासुदेवपामोक्खाण रायसहस्साणं आवासेसु साहरह, ते वि साहरंति । तए णं ते वासुदेवपामुक्खा तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं० जाव पसण्णं च आसाएमाणा० ४ जाव विहरंति । जिमियभुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा आयंता चोक्खा० जाव सुहासणवरगया णं बहूहिं गंधव्वेहि य० जाव विहरंति । तए णं से दुवए राया पुव्वावरण्हकालसमयंसि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! कंपिल्लपुरं णयरं सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरमहापहेसु वासुदेवपामोक्खाण य रायसहस्साणं आवासेसु हत्थिखंधवरगया महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! कल्लं पाउप्पभाए दुवयस्स रण्णो धूयाए चुलणीए देवीए अत्तयाए धट्ठज्जुणस्स भगिणीए दोवईए रायवरकण्णाए सयंवरे भविस्सइ, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! दुवयं रायाणं अणुगिण्हमाणा ण्हाया० जाव विभूसिया हत्थिखंधवरगया सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्जमाणेण सेयवरचामराहिं महया हयगयरहभडचडगरेण०जाव परिक्खित्ता जेणेव सयंवरे मंडवे तेणेव उवागच्छह, उवागच्छइत्ता पत्तेयं पत्तेयं नामंकेसु आसणेसु निसीयह, दोवइं रायवरकन्नं पडिवालेमाणा पडिवालेमाणा

चिट्ठइ,घोसणं घोसेह,मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तहेव पच्चप्पिणंति। तए णं से दुवए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! सयंवरमंडवं आसियं संमज्जितोवलित्तं सुगंधवरगंधियं पंचवण्णपुप्फोवयारकलियं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्क० जाव गंधवट्टियभूयं मंचाइमंचकलियं करेह, करेत्ता वासुदेवपामोक्खाणं बहूणं रायवरसहस्साणं पत्तेयं पत्तेयं नामंकियाइं आसणाइं सेयवरत्थपच्चुयाइं रएहि, रएत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह, ते वि तहेव० जाव पच्चप्पिणंति। तए णं ते वासुदेवपामोक्खा बहवे रायाणो कल्लं पाउप्पभाए ण्हाया० जाव विभूसिया हत्थिखंधवरगया सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्जमाणेण सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणेहिं महया हयगयरहभडचडगरेणं मद्धि संपरिवुडा सव्विड्ढीए०जाव रवेणं जेणेव सयंवरमंडवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता सयवरं अणुप्पविसंति, अणुप्पविसइत्ता पत्तेयं २ नामंकिएसु आसणेसु निसीयंति, णिसीयंतित्ता दुवयरायवरकण्णं पडिवालेमाणा चिट्ठंति। तए णं से दुवए राया कल्लं पाउप्पभाए ण्हाया० जाव विभूसिए हत्थिखधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्जमाणेणं सेयवरचामरेहिं उद्धुव्वमाणेहिं महया हयगय० जाव सद्धिं संपरिवुडे कंपिल्लपुरं णगरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छति, णिग्गच्छइत्ता जेणेव सयंवरमंडवे जेणेव वासुदेवपामोक्खा बहवे रायवरसहस्सा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तेसिं वासुदेवपामोक्खाणं करयल०जाव वद्धावेइ,वद्धावेत्ता कण्हस्स वासुदेवस्स सेयवरचामर गहाय उववीयमाणे उववीयमाणे चिट्ठति। तए णं सा दोवई रायवरकण्णा कल्लं पाउप्पभाए जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता मज्जणघरं अणुप्पविसति, अणुप्पविसइत्ता ण्हाया कयवलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुद्धप्पा वेसाइं मंगलाइं पवरवत्थपरिहिया सव्वालंकारविभूसिया मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ,पडिनिक्खमेत्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता जिणघरं अणुप्पविसति, अणुप्पविसइत्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, करेत्ता लोमहत्थगं परामुसइ, परामुसइत्ता एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेति, तहेव भाणियव्वं० जाव धूवं डहति।

(कप्पति ण अम्हं इत्यादि) "अम्ह ति" अस्माकं मते,प्रव्रजिताया इति गम्यते। अन्तर्मध्ये उपाश्रयस्य वसतेर्वृतिपरिक्षिप्तस्य, परेषामनालोकनत इत्यर्थः। सघाटी निर्ग्रन्थिकाप्रच्छदविशेष, सा बद्धा निवेशिता, काये इति गम्यते। यया सा सघाटीबद्धिका, तस्याः, णमिरयलङ्कारे, समतले द्वयोरपि

भुवि विन्यस्तत्वात्पदे पादौ यस्या सा समतलपदिका, तस्याः, आतापयितुमातापनां कर्तुं, कल्पन इति योग। (ललिय त्ति) क्रीडाप्रधाना (गोट्ठि त्ति) जनस्य समुदायविशेषः। (नरवइदिन्नवियार त्ति) नृपानुज्ञातकामचारा (अम्मापीईनियगनिव्विसेस त्ति) मात्रादिनिरपेक्षा (वेसविहारकयनिकेय त्ति) वेश्याविहारेषु वेश्यामन्दिरेषु कृतो निकेतो निवासो यया सा तथा। (णाणाविहअविणयप्पहाणा) इति कण्ठ्यम्। (पुप्फपूरिय रएइ त्ति) पुष्पशेखरं करोति। (पाए रएइ त्ति) पादावलक्तकाऽऽदिना रञ्जयति। पाठान्तरे-"रोवेइ त्ति" घृतजलाभ्यामार्द्रयति। (सरीरबाउसिय त्ति) बकुश· शबलचारित्रः, स च शरीरत उपकरणतश्चेत्युक्त, शरीरबकुशा तद्विभूषाऽनुवर्तिनीति। (ठाणं ति) कायोत्सर्गस्थानं निषदनस्थानं वा शय्यां त्ववर्तनं नैषेधिकीं स्वाध्यायभूमिं चिन्तयति करोति। "आलोएहि० जाव" इत्यत्र यावत्करणात्-" निंदाहि गरिहाहि पडिक्कमाहि विउट्टाहि विसोहेहि अकरणयाए अब्भुट्ठेहि अहारिहं तवोकम्म पायच्छित्तं पडिवज्जाहि।" इति दृश्यमिति। तत्राऽऽलोचनं गुरोर्निवेदन,निन्दन पश्चात्तापो,गर्हणं गुरुसमक्ष निन्दनमेव, प्रतिक्रमण मिथ्यादुष्कृतदानलक्षणम्, अकृत्यान्निवर्तनं वा। वित्रोटनमनुबन्धच्छेदन, विशोधन व्रतानां पुनर्नवीकरणं, शेषं कण्ठ्यमिति। (पाडिएक्कं ति) पृथक् (अणोहट्टिय त्ति) अविद्यमानोपघट्टको यदृच्छया प्रवर्तमानाया हस्तपादादिना निवर्तको यस्या. सा तथा। तथा नास्ति निवारको मैव कार्षीरित्येव निषेधको यस्याः सा तथा। (अग्घयाए त्ति) अर्घप्रभृति (अग्घ व त्ति) अर्घ. पुष्पाऽऽदीनि पूजाद्रव्याणि, (पज्ज व त्ति) पादहितं पाद्य, पादप्रक्षालनस्नेहनोद्वर्तनाऽऽदि। मद्यमधुप्रसन्नाऽऽख्याः सुराभेदा एव।(जिणपडिमाण अच्चणं करेइ त्ति) कस्याञ्चिद् वाचनायामेतावदेव दृश्यते। वाचनान्तरेऽत्र तु-"ण्हाया०जाव सव्वालंकारविभूसिया मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता जिणघरं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसइत्ता जिणपडिमाए आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता लोमहत्थगं परामुसइ, परामुसइत्ता एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेति,तहेव भाणियव्वं०जाव धूवं डहइ त्ति।" इह यावत्करणादर्थत इदं दृश्यम्-लोमहस्तकेन जिनप्रतिमां प्रमार्ष्टि, सुरभिणा गन्धोदकेन स्नपयति, गोशीर्षचन्दनेनानुलिम्पति, वस्त्राणि निवासयति, तत· पुष्पाणां माल्याना, ग्रथितानामित्यर्थ। गन्धाना चूर्णानां, वस्त्राणामाभरणाना चाऽऽरोपण करोति स्म, मालाकलापावलम्बनं पुष्पप्रकरं, तन्दुलैर्दर्पणाऽऽद्यष्ट मङ्गलकाले रचनं करोति।

करइत्ता वामं जाणुं अंचेति, अंचेत्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि णिसीयइ, णिसीयइत्ता तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ, निवेसेत्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमइत्ता करयल० जाव कट्टु एवं वयासी–नमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आदिगराणं तित्थगराणं सयंसंबुद्धाणं० जाव ठाणं संपत्ताणं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता जिणघराओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव अंतेउरे तेणेव उवागच्छइ। तए णं तं दोवइरायवरकण्णं अंतेउरियाओ सव्वालंकार–

विभूसिय करेंति, किं ते वरपायपत्तनेउर० जाव चेडिया-चक्कवालमयहरगवंदपरिक्खित्ता अंतेउराओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता किड्डावियाए लेहियाए सद्धिं चाउग्घंटं आसरहं दुरूहति। तए णं से धट्ठज्जुणे कुमारे दोवईए रायवरकन्नाए सारत्थयं करेति। तए णं सा दोवई रायवरकन्ना कंपिल्लपुर णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सयंवरमंडवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता रहं ठवेइ, ठवेत्ता रहाओ पच्चोरुहति, पच्चोरुहइत्ता किड्डावियाए लेहियाए सद्धिं सयंवरमडवं अणुप्पविसति, अणुप्पविसइत्ता करयल० तेसिं वासुदेवपामोक्खाणं बहूणं रायवरसहस्साणं पणामं करेति। तए णं सा दोवई रायवरकन्ना एग महं सिरिदामगंडं, किं ते पाडलमल्लियं चंपय० जाव सत्तच्छयाईहिं गंधद्धणिम्मुयंतं परमसुहफासं दरिसणिज्जं गिण्हति। तए णं सा किड्डाविया सुरूवा० जाव वामहत्थेणं चिल्लग दप्पणं गहेऊण सा सललियं दप्पणसंकतबिंबदंसिए य से दाहिणेणं हत्थेणं दरिसेइ पवररायसीहे फुडविसयविसुद्धरिभियगंभीरमहुरभणिया सा तेसिं सव्वेसिं पत्थिवाणं अम्मापिऊणं वंससत्तसामत्थगोत्तविक्कंतिकंतिवहुविह आगममाहप्परूव [जोव्वणगुणलावण्ण] कुलसीलजाणिया कित्तणं करेति, पढम च ताव वण्हिपुगवाणं दसारवरवीरपुरिसाणं तिल्लोक्कवलवगाणं सत्तुसयमहस्साणं माणोवमद्दगाणं भवसिद्धियवरपुंडरीयाण चिल्लगाणं बलवीरियरूवजोव्वणगुणलावण्णकित्तिया कित्तणं करेति। ततो पुणो उग्गसेणमाईणं जायवाण जाणइ य सोहग्गरूवकलियवरेहिं वरपुरिसगंधहत्थीणं जो हु ते होइ हिययदइओ। तए णं सा दोवई रायवरकन्नगा बहूणं रायवरसहस्साणं मज्झं मज्झेणं समइत्थमाणी समइत्थमाणी पुव्वकयणियाणेणं चोइज्जमाणी चोइज्जमाणी जेणेव पंच पंडवा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ते पंचपंडवे तेणं दसद्धवण्णेणं कुसुमदामेणं आवेढियपरिवेढियं करेति, करेत्ता एवं वयासी- एए णं मए पंच पंडवा वरिया। तए णं ताइं वासुदेवपामोक्खाणि बहूणि रायसहस्साणि महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वयंति-सुवरियं खलु भो दोवईए रायवरकन्नाए त्ति कट्टु सयंवरमंडवाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सयाइं आवासे तेणेव उवागच्छंति। तए णं धट्ठज्जुणे कुमारे पचपंडवे दोवइं च रायवरकन्नं चाउग्घंटं आसरहं दुरूहेति, दुरूहेत्ता कंपिल्लपुरं मज्झं मज्झेणं० जाव सयभवणं अणुप्पविसति। तए णं दुवए राया पंचपंडवे दोवइं च रायवरकन्नं पट्टे दुरूहति, दुरूहित्ता सेयापीएहिं कलसेहिं मज्जावेति, मज्जावेत्ता अग्गिहोमं करेति, करेत्ता पंचण्हं पंडवाणं दोवईए य पाणिग्गहणं कारावेइ। तए णं से दुवए राया दोवईए रायवरकन्नाए इम एयारूवं पीइदाणं दलयति। तं जहा-अट्ठ हिरण्णकोडीओ ०जाव अट्ठ पेसणकारीओ, अट्ट दासीचेडीओ, अण्णं च विपुलं धणकणग० जाव दलयति। तए णं से दुवए राया ताइ वासुदेवपामोक्खाइ विउलेणं असणं पाणं खाइम साइमं वत्थगंध० जाव पडिविसज्जेति। तए णं से पंडुए राया तेसिं वासुदेवपामुक्खाणं बहूणं रायसहस्साणं करयल ०जाव एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरे णगरे पंचण्हं पंडवाणं दोवईए देवीए कल्लाणकरे भविस्सति, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया! ममं अणुगिण्हमाणा समोसरह। तए णं ते वासुदेवपामुक्खा पत्तेयं पत्तेयं० जाव पहारेत्थगमणाए। तए णं से पंडुए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एव वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरे णगरे पंचण्हं पंडवाण पंच पासायवडिंसए करेह, अब्भुग्गयऊसिय० वण्णओ०जाव पडिरूवे। तए ण ते कोडुंबियपुरिसा पडिसुणेंति०जाव कारवेंति। तए णं से पंडुए राया पचहिं पंडवेहिं दोवईए देवीए सद्धिं हयगयरहसंपरिवुडे कंपिल्लपुराओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव हत्थिणाउरे तेणेव उवागए। तए णं से पंडुए राया तेसिं वासुदेवपामुक्खाणं आगमणं जाणेत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरस्स णयरस्स बाहिया वासुदेवपामुक्खाण बहूणं रायसहस्साणं आवासे करेह, अणेगखंभसय० तहेव०जाव पच्चप्पिणंति। तए णं ते वासुदेवपामुक्खा बहवे रायसहस्सा हत्थिणाउरे णयरे तेणेव उवागच्छंति। तए णं से पंडुए राया ते वासुदेवपामुक्खा०जाव आगए जाणेत्ता हट्ठतुट्ठे ण्हाए कयवलिकम्मे जहा दुवए राया जहारिहं आवासे दलयति। तए णं ते वासुदेवपामुक्खा बहवे रायसहस्सा जेणेव सयाइं आवासाइं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता तहेव०जाव विहरंति। तए णं से पंडुए राया हत्थिणाउरं णयरं मज्झं मज्झेणं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-तुब्भे णं देवाणुप्पिया! विउल असण पाणं खाइमं साइमं तहेव ०जाव उवणेंति। तए णं ते वासुदेवपामुक्खा बहवे राया ण्हाया कयवलिकम्मा तं विउलं असण पाण खाइम साइम तहेव ०जाव विहरंति। तए ण से पंडुए राया ते पंचपंडवे दोवइं च देविं पट्टयं दुरूहति, सेयापीएहिं कलसेहिं ण्हावेति, कल्लाणकं करेति, करेत्ता ते वासुदेवपामोक्खे

वहवे रायसहस्से विउलेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पुप्फवत्थ० सक्कारेति, संमाणेति, सम्माणेत्ता० जाव पडिविसज्जेति। तए णं ताइ वासुदेवपामुक्खाइ बहूई रायाइ०जाव पडिगयाइ । तए णं ते पंच पडवा दोवईए देवीए सद्धिं कल्लाकल्लिं वारवारेण उरालाइ भोगभोगाइ० जाव विहरति। तए णं से पडुए राया अन्नया कयाइ पंचहिं पडवेहिं.कुंती देवी दोवईए देवीए सद्धिं अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडा सीहासणवरगया विहरति। इमं च णं कच्छुल्लए नारए दसणेणं अइभद्दए विणीए अंतो अंतो य कलुसहियए मज्झत्थउवत्थिए य अल्लीणसोम्मपियदसणे सुरूवे अमइलसगलपरिहिए कालमियचम्मउत्तरासंगरइयवच्छे दंडकमंडलुहत्थे जडामउडदित्तसिरए जण्णोवइयगणेत्तियमुंजमेहलवागलधरे हत्थकयकच्छभीए पियगंधव्वे धरणिगोयरप्पहाणे संवरणावरणिउयवयणुप्पयणिलेसिणीसु य संकामणिआभिओगपण्णत्तिगमणीथंभणीसु य बहूसु विज्जाहरीसु विज्जासु विस्सुयजसे इट्ठे रामस्स य केसवस्स य पज्जुण्णपईवसंबअनिरुद्धनिसढउम्मुयसारणगयसुमुहदुम्मुहाईण जायवाण अद्धुट्ठाण य कुमारकोडीण हिययदइए संथवए कलहजुद्धकोलाहलप्पिए भंडणाभिलासी बहुसु अ समरेसु य संपराएसु दंसणरए समतओ कलहं सदक्खिणं अणुगवेसमाणे असमाहिकरे दसारवरवीरपुरिसतेल्लोक्कबलवगाण आमंतेऊण त भगवइ पक्कमणिं गगणगमणदच्छं उप्पइणियं आवाहइत्ता गगणतलमभिलंघयंतो गामागरनगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणसंवाहसहस्समंडियं थिमियमेइणीयं णिब्भरजणपद वसुहं ओलोइंतो रम्मं हत्थिणाउरं णयरं उवागए, पंडुरायभवणंसि अइवेगेण समोवयइ। तए णं से पंडुराया कच्छुल्लनारयं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता पंचहिं पंडवेहिं कुंतीए देवीए सद्धिं आसणाओ अब्भुट्ठेति, कच्छुल्लनारय सत्तट्ठपयाइ पच्चुग्गच्छइ,तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेति, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता महरिहेणं आसणेण उवनिमंतेति। तए णं से कच्छुल्लनारए उदगपरिपोसियाए दब्भोवरि पच्चत्थयाए भिसियाए निसीयति, निसीयइत्ता पंडुराय रज्जे य०जाव अंतेउरे य कुसलोदतं पुच्छति। तए णं से पंडुए राया कुंती देवी पंच य पंडवा कच्छुल्लनारय आढंति० जाव पज्जुवासंति। तए णं सा दोवई देवी कच्छुल्लनारय असंजयअविरयअप्पडिहयअपच्चक्खायपावकम्मे त्ति कट्टु नो आढाति०जाव णो पज्जुवासति। तए ण तस्स कच्छुल्लनारयस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था–अहो णं दोवई देवी रूवेण य० जाव लावण्णेण य पंचहिं पंडवेहिं अवत्थद्धा समाणी मम णो आढाति० जाव नो पज्जुवासति, त सेयं खलु मम दोवईए देवीए विप्पिय करित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता पंडुरायं आपुच्छति, आपुच्छइत्ता उप्पयणियं विज्जं आवाहेइ। ताए उक्किट्ठाए०जाव विज्जाहरगईए लवणसमुद्द मज्झं मज्झेणं पुरत्थाभिमुहे वीईवयइ,उवयंते यावि होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं धायईसंडे दीवे पुरच्छिमद्धदाहिणड्ढभरहवासे अवरकंका नामं रायहाणी होत्था। तत्थ णं अवरकंकाए रायहाणीए पउमणाभे णाम राया होत्था महया हिमवंतवण्णओ। तस्स णं पउमणाभस्स रण्णो सत्त देवीसयाइं अवरोधे होत्था। तस्स णं पउमनाभस्स रण्णो पुत्ते सुणाभे णामं पुत्ते जुवराया वि होत्था। तए णं से पउमणाभे राया अंतेउरंसि अवरोधे संपरिवुडे सीहासणवरगए विहरति। तए णं से कच्छुल्लनारए जेणेव अवरकंका रायहाणी जेणेव पउमनाभस्स रण्णो भवणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पउमणाभस्स रण्णो भवणंसि झत्ति वेगेण समोवइए। तए णं से पउमनाभे राया कच्छुल्लनारयं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता आसणाओ अब्भुट्ठेति,अग्घेणं०जाव आसणेणं उवनिमंतेइ । तए णं से कच्छुल्लनारए उदगपरिपोसियाए दब्भोवरि पच्चत्थयाए भिसियाए निसीयइ० जाव कुसलोदतं आपुच्छति। तए णं से पउमनाभे राया णियओरोहे जायविम्हए कच्छुल्लनारय एवं वयासी–तुमं देवाणुप्पिया ! बहूणि गामाणि० जाव गिहाइ अणुप्पविससि,तं अत्थियाइं ते कहिं वि देवाणुप्पिया ! एरिसए ओरोधे दिट्ठपुव्वे, जारिसए णं मम अवरोधे ?। तए ण से कच्छुल्लनारए पउमेणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे ईसिं विहसियं करेति, करेत्ता एवं वयासी–सरिसेणं तुमं पउमनाभा ! तस्स अगडदद्दुरस्स। के णं देवाणुप्पिया ! से अगडदद्दुरे ? एवं वयासी। जहा मल्लिणाए। एवं खलु देवाणुप्पिया ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे णयरे दुपयस्स रण्णो धूया चुलणीए देवीए अत्तया पंडुस्स सुण्हा पंचण्हं पंडवाणं भारिया दोवई णामं देवी रूवेण य० जाव उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा, दोवईए देवीए छिन्नस्स वि पायंगुट्ठस्स अयं तव अवरोहे सयमं कलं ण अग्घइ त्ति कट्टु पउमणाभं रायं आपुच्छति, आपुच्छइत्ता० जाव पडिगए। तए णं से पउमणाभे राया कच्छुल्लनारयअंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म दोवईए देवीए रूवे य लावण्णे य जोव्वणे य मुच्छिए गिद्धे जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पोसहसालं० जाव त पुव्वसंगइयं देवं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे णयरे०जाव सरीरा, तं इच्छामि णं देवाणुप्पि-

या ! दोवइं देविं इह हव्वमाणीयं । तए णं पुव्वसंगइए देवे पउमणाभं एवं वयासी-नो खलु देवाणुप्पिया ! एयं भूयं वा, एयं भव्वं वा, एयं भविस्सं वा, जं णं दोवई देवी पंचपंडवे मोत्तूण अन्नेणं पुरिसेणं सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं० जाव विहरिस्सइ, तहा वि य णं अहं तव पीइट्ठाए दोवइं देविं इह हव्वमाणेमि त्ति कट्टु पउमणाभं आपुच्छइ, ताए उक्किट्ठाए० जाव लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं जेणेव हत्थिणाउरे नगरे तेणेव पहारेत्थगमणाए । तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिणाउरे नयरे जुहिट्ठिल्ले राया दोवईए देवीए सद्धिं उप्पिं आगासतलगंसि सुहपसुत्ते यावि होत्था । तए णं से पुव्वसंगइए देवे जेणेव जुहिट्ठिल्ले राया जेणेव दोवई देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता दोवईए देवीए ओसोवणिं दलयइ, दलयित्ता दोवइं देविं गेण्हइ, गेण्हइत्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव जेणेव अवरकंका रायहाणी जेणेव पउमणाभस्स भवणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पउमणाभस्स भवणंसि असोगवणियाए दोवइं देविं ठावेइ, ओसोवणिं अवहरति, जेणेव पउमणाभे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया ! मए हत्थिणाउराओ णयराओ दोवई देवी इह हव्वमाणीया तव असोगवणियाए चिट्ठति, अओ परं तुमं जाणासि त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । तए णं सा दोवई देवी तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धा समाणी तं भवणं असोगवणियं च अपच्चभिजाणमाणी एवं वयासी-नो खलु अम्हं इमे सए पासाए, णो खलु एसा अम्हं सगा असोगवणिया, तं ण णज्जति णं अहं केणइ देवेण वा दाणवेण वा किन्नरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण वा अन्नस्स रण्णो असोगवणियं साहरिय त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पा० जाव झियायति । तए णं से पउमणाभे राया ण्हाए० जाव सव्वालंकारविभूसिए अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडे जेणेव असोगवणिया जेणेव दोवई देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता दोवइं देविं ओहय० जाव झियायमाणिं पासइ, पासइत्ता एवं वयासी-किंणं तुमं देवाणुप्पिए ! ओहय० जाव झियाहि, एवं खलु तुमं देवाणुप्पिया ! मम पुव्वसंगइएणं देवेणं जंबुद्दीवाओ भारहाओ वासाओ हत्थिणाउराओ णयराओ जुहिट्ठिल्लस्स रण्णो भवणाओ साहरिया, तं मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! ओहय० जाव झियाहि, तुमं णं मए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं० जाव विहराहि । तए णं सा दोवई देवी पउमणाभं रायं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे बारवईए नयरीए कण्हे णामं वासुदेवे मम पियभाउए परिवसइ, तं जइ णं से छण्हं मासाणं मम कूवं नो हव्वमागच्छति, तए णं अहं देवाणुप्पिया ! जं तुमं वदसि तस्स आणाउवायवयणणिद्देसे चिट्ठिस्सामि । तए णं से पउमणाभे दोवईए देवीए एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणित्ता दोवइं देविं कन्नंतेउरे ठवेति । तए णं सा दोवई देवी छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं आयंबिलपरिग्गहिएणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणी विहरइ । तए णं से जुहिट्ठिल्ले राया तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धे समाणे दोवइं देविं पासे अपासमाणे सयणिज्जाओ उट्ठेइ, उट्ठेत्ता दोवईए देवीए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ, दोवईए देवीए कत्थइ सुइं वा खुइं वा पवित्तिं वा अलभमाणे जेणेव पंडुराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पंडुरायं एवं वयासी-एवं खलु ताओ ! ममं आगासतलगंसि सुहपसुत्तस्स पासाओ दोवईए देवीए ण णज्जति-केणइ देवेण वा दाणवेण वा किंपुरिसेण वा किन्नरेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण वा हिया वा, णीया वा, उक्खित्ता वा, तं इच्छामि णं ताओ ! दोवईए देवीए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करित्तए । तए णं से पंडुराया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! हत्थिणाउरे नगरे सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरमहापहपहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! जुहिट्ठिल्लस्स रण्णो आगासतलगंसि सुहपसुत्तस्स पासाओ दोवई देवी ण णज्जइ केणइ देवेण वा दाणवेण वा किंपुरिसेण वा किन्नरेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण वा हिया वा णीया वा उक्खित्ता वा । (वाम जाणु अंचेइ त्ति) उत्क्षिपतीत्यर्थः । (दाहिण जाणुं धरणितलंसि निहट्टु) निहत्य, स्थापयित्वेत्यर्थः । (तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ) निवेशयतीत्यर्थः । (ईसिं पच्चुण्णमति. पच्चुण्णमइत्ता करयलपरिग्गहिय अंजलिं मत्थए कट्टु एवं वयासी-नमोऽत्थु णं अरहंताणं० जाव संपत्ताणं वंदति, नमंसइ, णमंसइत्ता जिणघराओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमइत्ता" । "तत्र वन्दते चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्यति पश्चात्प्रणिधानाऽऽदियोगेनेति वृद्धाः" । न च द्रौपद्या प्रणिपातदण्डकमात्रं चैत्यवन्दनमभिहितम्, सूचनात् सूत्रम् इति सूत्रप्रामाण्यादन्यस्यापि श्रावकाऽऽदेस्तावदेव तदिति मन्तव्यम् । चरितानुवादरूपत्वादस्य । न च चरितानुवादवचनानि विधिनिषेधसाधकानि भवन्ति, अन्यथा सूर्याभाऽऽदिदेववक्तव्यतायां बहूनां शस्त्राऽऽदिवस्तूनामर्चनं श्रूयत इति तदपि विधेयं स्यात् । किं चाविरताना प्रणिपातदण्डकमात्रमपि चैत्यवन्दनं समाव्यते, यतो वन्दते, नमस्यतीतिपदद्वयस्य वृत्त्यान्तरव्याख्यानमेवमुपदर्शितं जीवाभिगमवृत्तिकृता । विरतिमतामेव प्रसिद्धचैत्यवन्दनविधिर्भवति, अन्येषां तथाऽभ्युपगमपुरस्सरकायोत्सर्गासिद्धेः । ततो वन्दते सामान्येन, नमस्करोति आशयवृद्धेः प्रीत्युत्थानकृतनमस्कारेणेति । किं च-" समणेण सावएण य, अवस्स कायव्वयं हवति जम्हा । अतो अहो निसिस्स य, तम्हा आव-

हस्य नाम ॥ १ ॥" तथा-" जं णं समणो वा समणी वा सावओ वा साविआ वा तच्चित्ते तल्लेस्से तम्मणे उभओ कालं आवस्सए चिट्ठति, त णं लोउत्तरियं भावावस्सए।" इत्यादेरनुयोगद्वारवचनात्। तथा सम्यग्दर्शनसपन्न प्रवचनभक्तिमान् षड्विधाऽऽवश्यकनिरत. षट्स्थानकयुक्तश्च श्रावको भवतीत्युमास्वातिवाचकवचनात् श्रावकस्य षड्विधाऽऽवश्यकसिद्धावावश्यकान्तर्गतप्रसिद्ध चैत्यवन्दनं सिद्धमेव भवतीति। (सारत्थयं ति) सारथ्य सारथिकर्म " तए णं सा किड्डाविया" इत्यादौ यावत्करणादिदं दृश्यम्-" साभाविय-घस्स चोदहजणस्स उस्सुयकर विचित्तमणिरयणबद्धछरु-म ति। " तत्र क्रीडापिका क्रीडनधात्री, (साभावियघस्स ति) स्वाभाविकोऽकृतकृतो घर्षो दर्पण यस्य स तथा त, दर्पणमिति योग। (चोद्दहजणस्स उस्सुयकर ति) तरुणलोकस्य औत्सुक्यकर प्रेक्षणलम्पटत्वकर (विचित्तमणिरयणबद्धछरुग्र ति) विचित्रमणिरत्नैर्बद्ध छरुको मुष्टिग्रहणस्थान यः स तथा त (चिल्लग) दीप्यमान, दर्पणमादर्शम (दप्पणसकन्तबिंबसदंसिए से त्ति) दर्पणे सक्रान्तानि यानि राज्ञा बिम्बानि प्रतिबिम्बानि तै सदर्शिता उपलम्भिता ये ते तथा तांश्च (से) तस्या, दक्षिणहस्तेन दर्शयति स्म, रूपवा इति प्रक्रम.। प्रवरराजसिंहान्, स्फुटमर्थतो विशद, वर्णतः विशुद्ध, शब्दार्थदोषरहित, रिभित स्वरघोलनाप्रकारोपेत, गम्भीर मेघशब्दवद् मधुरकर्णसुखकर, भणित भाषित यस्या' क्रीडापिकाया सा तथा तम, तथा (तेषां) मातापितरौ वशाऽऽदिक हरिवंशाऽऽदिक, सत्त्वमापत्स्वर्यैक्लव्यकरमध्यवसानकर च। सामर्थ्य बल,गोत्र गोत्रमगोत्राऽऽदि,विक्रान्ति विक्रम,कान्ति प्रभा, पाठान्तरेण कीर्ति वा प्रख्याति, बहुविधाऽऽगमं नानाविधशास्त्रविशारदतामित्यर्थ , माहात्म्य महानुभावतां,कुल वंशस्यावान्तरभेद, शील च स्वभाव जानाति या सा तथा, कीर्तन करोति स्मति। वृष्णिपुङ्गवाना यदुप्रधानाना दशाराणा समुद्रविजयाऽऽदीनां, दशारस्य वा वासुदेवस्य ये वरा वीराश्च पुरुषास्ते तथा, ते च ते त्रैलोक्येऽपि बलवन्तश्चेति विग्रह.। वीरास्तेषां शत्रुशतसहस्राणा रिपुलक्षाणां मानमवमृद्नन्ति ये ते तथा तेषा, तथा भविष्यतीति भव्या भाविनी सा सिद्धिर्येषा ते भवसिद्धिकास्तेषां मध्ये वरपुण्डरीकाणीव वरपुण्डरीकाणि ये ते तथा तेषाम्(चिल्लगाण ति) दीप्यमानाना तेजसा। तथा-बल शारीर,वीर्यं जीवप्रभव, रूप शरीरसौन्दर्यं, यौवन तारुण्य, गुणान् सौन्दर्याऽऽदीन् लावण्य च स्पृहणीयता कीर्तयति या सा तथा, क्रीडापिका कीर्तन करोति स्मेति पूर्वोक्तमपि किञ्चिद्विशेषाभिधानायाभिहितमिति न दुष्टम्।।समइच्छमाणी ति)समतिक्रामन्ती (दसइवगेण ति)इह श्रीदामगण्डेन पूर्वगृहीतेनेति सम्बन्धनीयम। (कयालकारे त्ति) कृतावसरण मङ्गलकरणमित्यर्थ.।(इम च ण ति) इतश्च (कच्छुल्लए नारए त्ति) एतन्नामा नारद। इह क्वचिद् यावत्करणादिद दृश्यम्-" दसणेण अइभद्दए" भद्रदर्शनमित्यर्थ.। (विणीए अन्तो अन्तो य कलुसहियए) बहिरन्तश्च दुष्टचित्त, कलिप्रियत्वादित्यर्थ। (मज्झत्थउवत्थिए य त्ति) माध्यस्थ्य समताम् अभ्युपगतो, समप्रवृत्त इति भाव। (अल्लीणसोमपियदसण सुरूवे) आश्रितानां सात्त्विकानां सौम्यमरौद्र प्रियं च दर्शनं यस्य स तथा। (अमइलसगलपरिहिए) अमलिन सकलमखण्ड,सकल वा वस्त्र,वल्कलं वा इति गम्यते। परिहितं निवसितं येन स तथा।(कालमियचम्मउत्तरासंगरइयवच्छे)कालमृगचर्म उत्तरासङ्गेन रचितं वक्षसि येन स तथा। (दण्डकमण्डलुहत्थ जडामउडदित्तसिरए जण्णोवइयगणेत्तियमुंजमेहलवागलधरे) गणेत्रिका रुद्राक्षकृत कलाचिकाभरण,मुञ्जमेखला मुञ्जमय कटीदवरक ,वल्कलं तरुत्वक् (हत्थकयकच्छभीए) कच्छपिका तदुपकरणविशेष। (पियगन्धव्वे) गन्धर्वप्रिय गीतप्रिय। (धरणिगोयरप्पहाणे) आकाशगामित्वात्। (संवरणावरणिओवयणुप्पयणिलेसणीसु य संकामणिआभिओगपण्णत्तिगमणीथभणीसु य बहूसु विज्जाहरीसु विज्जासु विस्सुयजसे) इह संवरण्यादिविद्यानामर्थः शब्दानुसारतो वाच्य. । (विज्जाहरीसु त्ति) विद्याधरसंबन्धिनीषु, विश्रुतयशाः ख्यातकीर्तिः। (इट्ठे रामस्स य केसवस्स य पज्जुन्नपईवसंबअनिरुद्धनिसढउम्मुयसारणगयसुमुहदुम्मुहाईण जायवाण अद्धुट्ठाण य कुमारकोडीण हिययदइए) वल्लभ इत्यर्थः (संथवए) तेषां संस्तावकः (कलहजुद्धकोलाहलप्पिए) कलहो वाग्युद्ध,युद्ध तु आयुधयुद्ध, कोलाहलो बहुलोकमहाध्वनि'। (भंडणाभिलासी) भण्डन पिष्टातकाऽऽदिभिः (बहूसु य समरसंपराएसु)सग्रामेष्वित्यर्थ। (दंसणरए समन्तओ कलह सदक्खिणं ति) सदानमित्यर्थः। (अणुगवेसमाणे असमाहिकरे दसारवरवीरपुरिसतेलोक्कबलवगाणं आमंतेऊण त भगवतिं पक्कमणि गगणगमणदच्छं उप्पइओ गगणतलमभिलंघयंतो गामागरनगरखेडकब्बडमडबदोणमुहपट्टणसंवाहसहस्समंडियं थिमियमेइणीयं णिब्भयजणपदं वसुहं ओलोइंतो रम्मं हत्थिणाउरं णगरं उवागए,) (असंजयअविरयअप्पडिहयअपच्चक्खायपावकम्मे त्ति कट्टु) असंयतः संयमरहितत्वात्, अविरतो विशेषतपस्यरतत्वात्प्रतिहतानि न प्रतिषेधितानि अतीतकालकृतानि निन्दनत न प्रत्याख्यातानि च भविष्यत्कालभावीनि पापकर्माणि प्राणातिपाताऽऽदिक्रिया येन। अथवा-न प्रतिहतानि सागरोपमकोटाकोट्यन्त.प्रवेशनेन सम्यक्त्वलाभेन., न च प्रत्याख्यातानि सागरोपमकोटाकोट्या संख्यातसागरोपमैर्न्यूननाकरणेन सर्वविरतिलाभतः पापकर्माणि ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनि येन स तथेति पदत्रयस्य च कर्मधारय। (कूवं ति)कूजक व्यावर्तकबलमिति भाव।

तं जो णं देवाणुप्पिया! दोवईए देवीए सुइं वा खुइं वा पवित्तिं वा परिकहेइ,तस्स णं ते पंडुए राया विउलं अत्थसंपयाणं दलइ त्ति कट्टु घोसणं घोसावेह, एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा० जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से पंडुए राया दोवईए देवीए कत्थइ सुइं वा० जाव अलभमाणे कुंतिं देविं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छइ णं तुमं देवाणुप्पिया! बारवइं णगरिं कण्हस्स वासुदेवस्स एयमट्ठं णिवेदेहि,कण्हे णं परं वासुदेवे दोवईए देवीए मग्गणगवेसणं करेज्जा, अन्नहा न नज्जइ दोवईए देवीए सुइं वा खुइं वा पवित्तिं वा उवलभेज्जा। तए णं सा कुंती देवी पंडुएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणी० जाव पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता ण्हाया कयबलिकम्मा हत्थिखंधवरगया हत्थिणाउरं णगरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ,णिग्गच्छइत्ता कुरुजणवयं मज्झं मज्झेणं जेणेव सुरट्ठा जणवए जेणेव बार-

वई णयरी जेणेव अम्मुज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवा-
गच्छइत्ता हत्थिखंधाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता को-
डुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं
तुब्भे देवाणुप्पिया ! जेणेव बारवई नगरी तेणेव बारवइं ण-
गरिं अणुप्पविसह, अणुप्पविसित्ता कण्हं वासुदेवं क-
रयल० जाव एवं वयह-एवं खलु सामी ! तुब्भ पिउत्था कुं-
ती देवी हत्थिणाउराओ णगराओ इह हव्वमागया तुब्भं
दंसणं कंखइ । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा० जाव कहिं-
ति । तए णं कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसाण अंतिए ए-
यमट्ठं सोचा णिसम्म हट्ठतुट्ठे हत्थिखंधवरगए हयगय०
जाव बारवईए णयरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव कुंती देवी
तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता हत्थिखंधाओ पच्चोरुहइ,
पच्चोरुहइत्ता कुंतीए देवीए पायग्गहणं करेति, करेत्ता कुंतीए
देवीए सद्धिं हत्थिखंधं दुरूहति, दुरूहइत्ता बारवइं न-
गरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ,
उवागच्छइत्ता सयं गिहं अणुप्पविसति । तए णं से कण्हे वा-
सुदेवे कुंतिं देविं एहाय कयबलिकम्म जिमियभुत्तुत्तरागयं०
जाव सुहासणवरगयं एवं वयासी-संदिसह णं पिउत्था !
किमागमणपओयणं ? । तए णं सा कुंती देवी कण्हं वासु-
देवं एवं वयासी-एवं खलु पुत्ता ! हत्थिणाउरे णयरे जुहिट्ठि-
ल्लस्स रण्णो आगासतलगंसि सुहप्पसुत्तस्स दोवईए देवीए
पासाओ ण णज्जइ केणइ अवहिया वा० जाव उक्खित्ता वा,
तं इच्छामि णं पुत्ता ! दोवईए देवीए मग्गणगवेसणं कयं ।
तए णं से कण्हे वासुदेवे कुंतिं देविं पिउत्थं एवं वयासी-
जं नवरं पिउत्था ! दोवईए देवीए कत्थइ सुइं वा ० जाव ल-
भामि, तो णं अहं पायालाओ वा भवणाओ वा अद्धभर-
हाओ वा समंताओ दुवइं देविं साहत्थिं उवणेमि त्ति कट्टु कुंतिं
पिउत्थं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता० जाव पडिविसज्जेइ ।
तए णं सा कुंती देवी कण्हेण वासुदेवेणं पडिविसज्जिया
समाणी जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ।
तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दा-
वेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! बारवइं
णयरिं एवं जहा पंडू तहा घोसणं घोसावेति, घोसावेत्ता०
जाव पच्चप्पिणंति, पंडुस्स जहा । तए णं से कण्हे वासुदेवे
अण्णया कयाइ अंतो अंतेउरगए ओरोहे० जाव विहराति ।
इमं च णं कच्छुल्लणारए जेणेव कण्हस्स रण्णो गिहं
तेणेव० जाव समोवइए० जाव णिसीइत्ता कण्हं वासुदेवं कु-
सलोदंतं पुच्छइ । तए णं से कण्हे वासुदेवे कच्छुल्लं णारयं
एवं वयासी-तुमं णं देवाणुप्पिया ! बहूणि गामागरि० जाव
अणुप्पविससि, तं अत्थियाइं ते कहिं वि दोवईए देवीए सुइ वा
० जाव उवलद्धा । तए णं से कच्छुल्लए णारए कण्हं वासुदेवं
एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अण्णया कयाइ धाय-
ईसंडे दीवे पुरच्छिमद्धे दाहिणड्ढभरह वासं अवरकंका राय-
हाणिं गए । तत्थ णं मए पउमणाभस्स रण्णो भवणंसि दोवई
देवी जारिसिया दिट्ठपुव्वा यावि होत्था । तए णं से कण्हे
वासुदेवे कच्छुल्लं णारयं एवं वयासी-तुब्भं चेव देवाणुप्पि-
या ! एयं पुव्वकम्मं । तए णं से कच्छुल्लनारए कण्हेणं वा-
सुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे उप्पयणिं विज्जं आवाहेति, जा-
मेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । तए णं से
कण्हे वासुदेवे दूतं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी- ग-
च्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! हत्थिणाउरं णयर पंडुस्स रण्णो
एयमट्ठं निवेदेह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! धायइसंडे दीवे
पुरच्छिमद्धे अवरकंकाए रायहाणीए पउमणाभस्स भवणंसि
दोवईए देवीए पवत्ती उवलद्धा, त गच्छतु पंच पंडवा चाउरं-
गिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे पुरच्छिमवेयालिसमुद्दाए ममं
पडिवालेमाणा चिट्ठतु । तए णं से दूते० जाव भणइ-पडिवाले
माणा० जाव चिट्ठह. ते वि० जाव चिट्ठंति । तए णं से कण्हे
वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-ग-
च्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सण्णाहियं भेरिं तालेह, ते वि
तालेंति । तए णं तीए सण्णाहियाए भेरीए सद्दं सोचा समुद्द-
विजयपामोक्खा दस दसारा० जाव छप्पणं बलवगसाहस्सी-
ओ सण्णद्धबद्धा० जाव गहियाउहप्पहरणा अप्पेगइया
हयगया अप्पेगइया गयगया० जाव वग्गुरापरिक्खित्ता
जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छं-
ति, उवागच्छइत्ता करयल० जाव वद्धावेंति । तए णं से कण्हे
वासुदेवे हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारि-
ज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं महया हयगय-
भडचडगरपहकरेणं बारवतीए नगरीए मज्झं मज्झेणं नि-
ग्गच्छति, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पुरच्छिमवेयालीसमुद्दे तेणेव
उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पचहिं पंडवेहिं सद्धिं एगओ मिल-
ति, खधावारनिवेसं करोति, करेत्ता पोसहसालं कारावेइ, कारा-
वेत्ता पोसहसालं अणुप्पविसति, अणुप्पविसइत्ता सुट्ठियं
देवं मणसीकरेमाणे चिट्ठति । तए णं कण्हस्स वासुदेवस्स
अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि सुट्ठिओ० जाव आगओ । भण
देवाणुप्पिया ! जं मए कायव्वं ? । तए णं से कण्हे वासुदेवे
सुट्ठियं देवं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! दोवई दे-
वी० जाव पउमणाभस्स भवणंसि साहरिया, तं णं तुमं देवा-
णुप्पिया ! मम पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठस्स छण्हं र-
हाणं लवणसमुद्दे मग्गं वियराहि, जं णं अहं अवरकंकं रा-
यहाणिं दोवईए देवीए कूवं गच्छामि । तए णं से सुट्ठिए देवे

कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-किं णं देवाणुप्पिया ! जहा चेव पउमणाभस्स रण्णो पुव्वसंगतिएणं देवेणं दोवई०जाव साहरिया, तह चेव दोवइ देविं धायईसंडाओ दीवाओ भारहाओ वासाओ०जाव हत्थिणाउरं साहरामि,उदाहु पउमणाभं राय सपुरबलवाहणं लवणसमुद्दे पक्खिवामि ? । तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं देव एवं वयासी-मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! ०जाव साहराहि । तुमं णं देवाणुप्पिया ! लवणसमुद्दे अप्पछट्ठस्स छण्हं रहाणं मग्गं वितराहि, सयमेवाहं दोवईए देवीए कूवं गच्छामि । तए णं से सुट्ठिए देवे कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं होउ, पचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठस्स छण्ह रहाणं लवणसमुद्दे मग्गं वियरइ । तए णं से कण्हे वासुदेवे चाउरंगिणिं सेणं पडिविसज्जेति, पडिविसज्जेत्ता पचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे छहिं रहेहिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयति, जेणेव अवरकंकाए रायहाणीए अग्गुज्जाणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता रह ठावेति, ठावेत्ता दारुयं सारहिं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! अवरकंकं रायहाणिं अणुप्पविसाहि,पउमणाभस्स रण्णो वामेणं पाएणं पायपीढं अवक्कमेत्ता कुंतग्गेणं लेहं पणामेहि, पणामेत्ता तिवलियं भिउडिं निलाडे साहट्टु आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए एवं वयाहि-हं भो पउमणाभा ! अपत्थियपत्थिया दुरंतपंतलक्खणा हीणपुण्णचाउद्दसा सिरिहिरिधिइकित्तिपरिवज्जिया अज्ज न भवसि, किं णं तुमं न याणासि कण्हस्स वासुदेवस्स भगिणिं दोवइं देविं इहं हव्वमाणेसि, तं एवमवि गए पच्चप्पिणाहि- जं दोवइं देविं कण्हस्स वासुदेवस्स पच्चप्पिणाहि, अहवा जुज्झसज्जो णिग्गच्छाहि, एस णं कण्हे वासुदेवे पचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे दोवईए देवीए कूवं हव्वमागए । तए णं से दारुए सारही कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता अवरकंकं रायहाणिं अणुप्पविसइ, जेणेव पउमनाभे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल ०जाव वद्धावेइ, वद्धावेत्ता एवं वयासी-एस णं सामी ! मम विणयपडिवत्ती, इमा अण्णा मम सामिस्स समुद्दाऽऽणत्ति त्ति कट्टु आसुरुत्ते ४ वामपाएणं पायपीढं अवक्कमइ, अवक्कमित्ता कुंतग्गेणं लेहं पणामेइ,पणामेत्ता०जाव कूवं हव्वमागए । तए णं से पउमणाभे राया दारुएणं सारहिणा एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ५ तिवलिभिउडिं निलाडे साहट्टु एवं वयासी-णं अप्पणामि णं अहं देवाणुप्पिया ! कण्हस्स वासुदेवस्स दोवइं देविं । एस णं अहं सयमेव जुज्झसज्जे णिग्गच्छामि त्ति कट्टु दारुयं सारहिं एवं वयासी-केवलं भो रायसत्थेसु दूते अवज्झे त्ति कट्टु असक्कारिय असंमाणिय अवद्दारेणं णिच्छुभावेमि । तए णं से दारुए सारही पउमणाभेणं असक्कारिए असंमाणे० जाव निच्छूढे समाणे जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता करयल०जाव कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु अहं सामी ! तुम्हं वयणेणं०जाव णिच्छुभावेइ । तए णं से पउमणाभे राया बलवाउयं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह । तयाणंतरं च णं छेयायरियउवदेसमइविगप्पणाविगप्पेहिं० जाव उवणेति । तए णं से पउमणाभे राया सण्णद्धबद्धे०जाव आभिसेक्कं हत्थिरयणं दुरूहति, दुरूहेत्ता हयगयचाउरंगिणीए सेणाए परिक्खित्ते जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव पहारेत्थगमणाए । तए णं से कण्हे वासुदेवे पउमणाभं रायं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता ते पंचपंडवे एवं वयासी-हं भो दारगा ! किं णं तुब्भे पउमणाभेणं सद्धिं जुज्झेह, उयाहु पिच्छेह । तए णं ते पंच पंडवा कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-अम्हे णं सामी ! जुज्झामो, तुम्हे पेच्छह । तए णं से पंच पंडवा सन्नद्धबद्ध० जाव पहरणा रहे दुरूहंति, दुरूहेत्ता जेणेव पउमणाभे राया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता एवं वयासी-अम्हे वा पउमणाभे वा राय त्ति कट्टु पउमणाभेणं सद्धिं संपलग्गे यावि होत्था । तए णं से पउमणाभे राया ते पंच पंडवे खिप्पामेव हयमहियपवरविवडियचिंधद्धयपडागा०जाव दिसो दिसिं पडिसेहेति । तए णं ते पंच पंडवा पउमणाभेणं रन्ना हयमहियपवरविवडिय ०जाव पडिसेहिया समाणा अथामा अबला० जाव अधारणिज्ज मिति कट्टु जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छंति । तए णं से कण्हे वासुदेवे ते पच पंडवे एवं वयासी-कह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! पउमणाभेणं रन्ना सद्धिं संपलग्गा । तए णं ते पंच पंडवा कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे तुम्हेहिं अब्भणुन्नाया समाणा सण्णद्धबद्धा रहे दुरूहामो जेणेव पउमणाभे राया० जाव पडिसेहए । तए णं से कण्हे वासुदेवे ते पचपंडवे एवं वयासी-जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! एवं वयंता अम्हे णो पउमणाभे राय त्ति कट्टु पउमणाभेणं सद्धिं संपलग्गा, ततो णं तुब्भे णो पउमणाभे हयमहियपवर० जाव पडिसेहिया । तं पेच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! अहं णो पउमणाभे राय त्ति कट्टु पउमणाभेणं रन्ना सद्धिं जुज्झामि, रहं दुरूहति, ७९८ तेणेव उवागच्छइ, उव ।

तणुसोल्लियसिंदुवारं कुंदेंदुसण्णिगाम नियगस्स बल-स्स हरिसजणणं रिउसेणाविणासकरं पंचजण्णं संखं परामुसति, परामुसइत्ता मुहवाउपूरियं करोति । तए णं तस्स पउमणाभस्स तेणं संखसद्देणं बलतिभाए हए० जाव पडिसेहिए ।

(सुइ व त्ति) श्रूयत इति श्रुति शब्दस्ताम्, (खुतिं व त्ति) क्वण क्षुति शीत्काराऽऽदि शब्दविशेष एव, ताम्, प्रयुक्तिं वार्त्ता, वार्तापर्यायाश्चैव इति । (हिया व त्ति) हृता प्रदेशान्तरे स्थापिता, नीता नेत्रा स्वस्थानं प्रापिता, आक्षिप्ता आकृष्टेवेति । (इमा अन्ने-त्यादि) इयमन्या अपरा मदीयस्वामिनः सवर्ग्यिनी, विनयप्रति-पत्तिरिति वर्तते । (समुहाणत्ति कट्टु) स्वमुखेन स्वकीयवदनेन भणिता आज्ञप्तिरादेश. स्वमुखाऽऽज्ञप्तिरिति कृत्वा, एवमभिधाय (आसुरुत्ते त्ति) क्रुद्धः (वलवाउए त्ति) वलव्यापृन , सैन्य-व्यापारवान् । (अभिसेक्क त्ति) अभिषेकमर्हतीत्याभिषेक्य, मू-र्द्धाभिषिक्तमित्यर्थः । (छेयायरियउवएसमइविगप्पणाविगप्पेहिं ति) छेको निपुणो य आचार्य. कलाचार्यः, तस्योपदेशात्सरपूर्विका या मतेर्नुद्धेर्या कल्पनाविकल्पा. कृतिभेदास्ते तथा तैरिति । इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-" सुनिउणेहिं ति " सुनिपुणैर्नरै. (उ-ज्जलनेवत्थहत्थपरिवच्छिय ति) उज्ज्वलनेपथ्येन निर्मलवेषेण (हत्थ ति) शीघ्र, परिवाक्षितः परिगृहीतः परिवृतो य. स तथा । नम । (सुसज्जं) सुष्ठु प्रगुण (वम्मियसन्नद्धबद्धकवचियउप्पी लियकच्छवच्छगेवेज्जगलपवरभूसणविरायत) वर्माणि नि-युक्ता वार्मिकास्तैः सन्नद्धः कृतसन्नाहो य स वार्मिकसन्नद्ध., बद्ध कवचं सन्नाहविशेषो यस्य स बद्धकवच , स एव बद्धकव-चिक । अथवा-वर्मित सन्नद्धो बद्धस्त्वक्त्राणबन्धनात् कवचितश्च य. स तथा, भेदश्चैतेषां लोकतोऽवसेयः । एकार्थाश्चैते शब्दा., सनद्धता प्रकर्षाभिधानायोक्ता इति । तथा उत्पीडिता गाढीकृता कक्षा हृदयरज्जुर्वक्षसि यस्य स तथा । ग्रैवेयक ग्रीवाऽऽ-भरण बद्ध गले कण्ठे यस्य स तथा । प्रवरभूषणैर्विराजमानो य स तथा । ततो वर्मिताऽऽदिपदानां कर्मधारयोऽतस्तम । (अहियतं-यजुत्त सललितवरकण्णपूरविराइत पलवओचूलमहुयरकयंध-गार) प्रलम्बानि अवचूलानि कटकन्यस्ताधोमुखकूर्चका यस्य स प्रलम्बावचूल , मधुकरैर्भ्रमरैर्मदजलगन्धाऽऽकृष्टैः कृतमन्धकर येन स तथा । तत कर्मधारयोऽतस्तम् (चित्तपरिच्छेयपच्छद) चित्रो विचित्रः परिच्छेको लघुः प्रच्छदो वस्त्रविशेषो यस्य स तथा तम् । (पहरणावरणभरियजुद्धसज्जं) प्रहरणानां कुन्ताऽऽदी-नामावरणाना च कङ्कटाना भृतो य. स तथा । स च युद्धस-ज्जश्चेति कर्मधारयोऽतस्तम । (सच्छत्त सज्झय सघंट पचामेलयपरिमण्डियाभिराम) पञ्चभिरापीडैः शेखरैः परिमण्डितोऽत एवाभिरामश्च रम्यो यः स तथा । (ओसारिय-जमलजुयलघंट) अवसारितमवलम्बित यमल सम युगल द्वयोर्घण्टयोर्यत्र स तथा तम् । (विज्जुपिणद्ध व कालमेह) घ-एटाप्रहरणाऽऽदीनामुज्ज्वलत्वेन विद्युत्कल्पत्वात्, हस्तिदेहस्य च कालत्वेन महत्त्वेन च मेघकल्पत्वादिति । (उप्पाइयपव्वय व च-क्कमतं) चङ्क्रममाणमिवौत्पातिकपर्वतम् । पाठान्तरेण-औ-त्पातिक पर्वतमिव (सक्ख ति) साक्षात् (मत्त ति) मदवन्न (गुलुगुलुगुलेंतं मणपवणजइणवेगं) मन पवनज-यी वेगो यस्य स तथा त भीमम्, [संगामिअाओग] सांग्रामिक आयोग परिकरो यस्य स तथा तम् । (अभिसेक्क हत्थिरयण पडिकप्पेति, पडिकप्पेत्ता उवणेति त्ति) (हयमहियपवरविघ-डियचिंधद्धयपडागे) हतमथिता अत्यर्थं हता., अथवा हता प्रहारतो, मथिता मानमथनाद् हतमथिता , तथा प्रवरा वि पतिताश्चिह्नध्वजाः कपिध्वजाऽऽद्यः, पताकाश्च तदन्या येषां ते तथा । तत. कर्मधारयोऽतस्तान् । यावत्करणात्-" किच्छो-वगयपाणे त्ति " दृश्यम । कण्ठगतजीवितव्यानीत्यर्थं । (अम्हे वा पउमनाभे वा राय त्ति कट्टु इति) अस्माक पद्मनाभस्य च बलवत्त्वादिह सङ्ग्रामे वय वा भवाम., पद्मनाभो वा, नो-भयेषामपीह सयुगे त्राणमस्तीति कृत्वा इति निश्चयं वि-धाय सम्प्रलग्ना, योद्धुमिति शेषः । (अम्हे णो पउमनाभे राय त्ति कट्टु त्ति) वयमेवेह रणे जयामो न पद्मनाभो राजेति यदि स्वविषये विजयनिश्चय कृत्वा पद्मनाभेन सार्द्धं योद्धु सम्प्रालगिष्यथ, ततो न पराजय प्राप्स्यथ, निश्चय-सारत्वात्फलप्राप्ते । आह च-

" शुभाशुभानि सर्वाणि, निमित्तानि स्युरेकत ।
एकतस्तु मनो याति, तद्विशुद्ध जयाऽऽवहम् ॥ १ ॥

तथा-

स्याद्विनिश्चयैकनिष्ठानां, कार्यसिद्धिः परा नृणाम् ।
संशयक्षुण्णचित्तानां, कार्ये संशीतिरेव हि ॥ २ ॥ "

शङ्खविशेषणानि क्वचिद् दृश्यन्ते-(सिय गोखीरहारधवल त-णुसोल्लियसिंदुवार कुंदेंदुसन्निगास) (तणुसोल्लिय त्ति) म-ल्लिका, सिन्दुवारो निर्गुण्डि (नियगस्स बलस्स हरिसजणण रिउसेणाविणासकरं पचजण्ण ति) पाञ्चजन्याभिधानम् ।

तए णं से कण्हे वासुदेवे धणु परामुसति, वेढो धणुं पूरेइ, पूरे-इत्ता धणुसद्दं करेइ । तए णं तस्स पउमणाभस्स दोच्चे बलति-भाए तेणं धणुसद्देणं हयमहिय० जाव पडिसेहेति । तए णं से पउमणाभे राया तिभागबलावसेसे अथामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्ज मिति कट्टु सिग्घं तुरियं चवलं जेणेव अवरकंका रायहाणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अवरकंकं रायहाणिं अणुप्पविसति, अ-णुप्पविसित्ता दुवाराइं पिहेति, रोहसज्जे चिट्ठइ । तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव अवरकंका णयरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता रहं ठवेइ, ठवेत्ता रहाओ पच्चोरुहेति, पच्चोरुहित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, एगं महं नरसीहरूवं विउव्वति, विउव्वइत्ता महया महया सद्देणं पाददद्दर करेति । तए णं से कण्हेणं वासुदेवेणं महया महया सद्देणं पाददद्दरेणं कएणं समाणेणं अवरकंका राय-हाणी संभग्गपायारगोपुरट्टालयचरियतोरणपल्हत्थियपवरभ-वणसिरिघराओ सरसरस्स धरणियले सन्निवइया । तए णं से पउमणाभे राया अवरकंकं रायहाणिं संभग्ग० जाव पासित्ता भीए तसिए उव्विग्गे दोवइं देविं सरणं उवेइ । तए णं सा दोवई देवी पउमणाभं रायं एवं वयासी-किं णं तुमं देवाणुप्पिया ! ण जाणासि कण्हस्स वासुदेवस्स

उत्तमपुरिसस्स विप्पियं करेमाणे, तं चेवमवि गते गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! एहाए उल्लपडसाडए ओचूलगवत्थणियत्थे अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडे अग्गाइं पवराइं रयणाइं गहाय मम पुरओ काउं कएहं वासुदेवं करयल० जाव पायपडिए सरणं उवेहि, पणइवच्छला णं देवाणुप्पिया ! उत्तमपुरिसा । तए णं से पउमणाभे राया दोवईए देवीए एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता एहाए० जाव सरणं उवेइ,उवेत्ता करयल० जाव कट्टु एवं वयासी–दिट्ठा णं देवाणुप्पिया ! उत्तमपुरिसाणं इड्ढी०जाव परक्कमे, तं खामेमि णं देवाणुप्पिया ! ०जाव खमंतु णं देवाणुप्पिया ! ०जाव नाहं भुज्जो भुज्जो एवं अकरणयाए त्ति कट्टु पंजलिउडे पायवडिए कएहस्स वासुदेवस्स दोवइं देविं साहत्थिं उवणेइ । तए णं से कएहे वासुदेवे पउमनाभं रायं एवं वयासी–हं भो पउमणाभा ! अपत्थियपत्थिया ४ किं णं तुमं न याणासि मम भगिणिं दोवइं देविं इह हव्वमाणेसि । त एवमवि गए नत्थि ते ममाहिंतो इयाणिं भयमत्थि त्ति कट्टु पउमणाभं राय पडिविसज्जेइ,पडिविसज्जेइत्ता दोवतिं देविं गिएहति,गिएहइत्ता रहं दुरूहेति, दुरूहेत्ता जेणेव पच पंडवा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता पंचपंडवाणं दोवइं देविं साहत्थिं उवणेइ । तए णं से कएहे वासुदेवे पंचपरुवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठेहिं रहेहिं लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे तेणेव पहारेत्थगमणाए । तेणं कालेणं तेणं समएणं धायईसंडे दीवे पुरच्छिमद्धे भारहे वासे चंपा नामं नयरी होत्था,पुएणभद्दे णाम चेइए । तत्थ णं चंपाए णयरीए कपिल्ले णामं वासुदेवे राया होत्था,महया हिमवंतवएणओ । तेणं कालेणं तेणं समएणं मुणिसुव्वए अरिहंते चंपाए णयरीए जेणेव पुएणभद्दे चेइए तेणेव समोसढे,कपिल्ले वासुदेवे धम्मं सुणेइ । तए णं से कपिल्ले वासुदेवे मुणिसुव्वयस्स अरहओ धम्मं सुणेमाणे कएहस्स वासुदेवस्स संखसद्दं सुणेइ । तए णं तस्स कपिलस्स वासुदेवस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था–किं मन्ने धायईसंडे दीवे भारहे वासे दोच्चे वासुदेवे समुप्पन्ने, जस्स य अय संखसद्दे मम पिव मुहवायपूरियं वीय वइ । तए णं मुणिसुव्वए अरहा कपिलं वासुदेवं एवं वयासी–से णूणं कपिल्ला वासुदेवा ! मम अंतिए धम्मं णिसम्ममाणस्स संखसद्द आकएिणत्ता इमेयारूवे अब्भत्थिए किं मन्ने धायईसंडे दीवे०जाव वीय भवइ, से णूण कविल्ला वासुदेवा ! अट्ठे समट्ठे हंता अत्थि । त णो खलु कविल्ला ! एवं भूयं वा,भविय वा भविस्सं वा,जं णं एगखेत्ते एगजुगे एगसमएणं दुवे दुवे अरिहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जिंति वा, उप्पज्जिस्संति वा, एवं खलु कपिल्ला वासुदेवा ! जंबुद्दीवाओ भारहाओ वासाओ हत्थिणाउराओ णयराओ पंडुस्स रएणो सुएहा पचएहं पंडवाण भारिआ दोवई देवी तव पउमनाभस्स रएणो पुव्वसंगइएणं देवेणं अवरकंकं रायहाणिं साहरिआ । तए णं से कएहे वासुदेवे पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे छहिं रहेहिं अवरकंकं रायहाणिं दोवईए देवीए कूवं हव्वमागए । तए णं तस्स कएहस्स वासुदेवस्स पउमनाभेणं रएणा सद्धिं संगामेमाणस्स०जाव अय संखसद्दे तव मुहवायपूरिए इव वीयं भवइ । तए णं से कविल्ले वासुदेवे मुणिसुव्वयं अरहं वंदइ,णमंसइ,णमंसइत्ता एवं वयासी–गच्छामि णं अहं भंते ! कएहं वासुदेवं उत्तमपुरिसं सरिसपुरिसं पासामि । तए णं मुणिसुव्वए अरिहा कपिलं वासुदेवं एव वयासी–णो खलु देवाणुप्पिआ ! एवं भयं वा भव्वं वा भविस्सं वा,जं णं अरिहंता वा अरिहंतं पासंति, चक्कवट्टी वा चक्कवट्टिं पासंति, बलदेवा वा बलदेवं पासंति,वासुदेवा वा वासुदेवं पासंति,तह वि य णं तुमं कएहस्स वासुदेवस्स लवणसमुद्द मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणस्स सेयापीयाइं धयग्गाइं पासिहिसि । तए णं से कविल्ले वासुदेवे मुणिसुव्वयं अरिहंतं वंदइ,णमंसइ,णमंसइत्ता हत्थिखंधं दुरूहइ, दुरूहइत्ता सिग्घं जेणेव वेलाउले तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता कएहस्स वासुदेवस्स लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणस्स सेयापीयाइं धयग्गाइं पासइ, पासइत्ता एवं वयासी–एस णं मम सरिसपुरिसे उत्तमपुरिसे कएहे वासुदेवे लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवयति त्ति कट्टु पंचजएणं संखं परामुसइ,परामुसइत्ता मुहवायपूरियं करेइ । तए णं से कएहे वासुदेवे कविलस्स वासुदेवस्स संखसद्दं आयएणेइ,आयएणेइत्ता पंचजएणं संखं मुहवायपूरियं करेति । तए णं दो वि वासुदेवा संखसद्दसामायारिं करेति । तए णं से कविल्ले वासुदेवे जेणेव अवरकंका णयरी तेणेव उवागच्छति,उवागच्छइत्ता अवरकंकं रायहाणिं संभग्गतोरणं०जाव पासइ,पासइत्ता पउमनाभं रायं एवं वयासी–किं णं देवाणुप्पिआ ! एसा अवरकंका णयरी संभग्गा० जाव सन्निवाइया । तए णं से पउमनाभे कविलं वासुदेव एवं वयासी–एवं खलु सामी ! जंबुद्दीवाओ भरहाओ वासाओ इह हव्वमागम्म कएहेणं वासुदेवेणं तुब्भे परिभूय अवरकंका णयरी०जाव सन्निवाइया । तए णं से कविले वासुदेवे पउमनाहस्स रएणो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा पउमनाभं रायं एवं वयासी–ह भो पउमणाभा ! अपत्थियपत्थिया ! किं णं तुमं न जाणासि मम सरिसस्स पुरिसस्स कएहस्स वासुदेवस्स विप्पियं करेमाणा,कविल्ले वासुदेवे आसुरुत्ते० जाव पउमणाभं

णिव्विसयं आणवेइ, आणवेत्ता पउमनाहस्स पुत्तं अ-वरकंकाए रायहाणीए महया महया रायाभिसेएणं अभि-सिंचइ, अभिसिंचइत्ता० जाव पडिगए । तए णं से कण्हे वासुदेवे लवणसमुद्दं मज्झं मज्झेणं वीईवइत्ता गंगं उवा-गए ते पंच पंडवे एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! गंगं महानइं उत्तरह जाव ताव अहं सुट्ठियं लवणा-हिवइं पासामि । तए णं ते पंच पंडवा कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ता समाणा जेणेव गंगा महानई तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता एगट्ठियाए नावाए मग्गणगवेसणं करेंति, करेत्ता एगट्ठियाए नावाए गंगं महानइं उत्तरंति, अन्नम-न्नं एवं वयासी-पहू णं देवाणुप्पिया ! कण्हे वासुदेवे गंगं महानइं बाहाहिं उत्तरित्तए, उदाहु णो पहू उत्तरित्तए त्ति कट्टु एगट्ठियणावं णुमंति, णुमंतित्ता कण्हं वासुदेवं पडिवालेमाणा चिट्ठंति । तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं लवणाहिवइं पासइ, पासइत्ता जेणेव गंगा महानई तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एगट्ठियाए नावाए सव्वओ स-मंता मग्गणगवेसणं करेति, एगट्ठियं नावं अपासमाणे ए-गाए बाहाए रहं सतुरंगमसारहिं गिण्हइ, गिण्हइत्ता ए-गाए बाहाए गंगं महानइं वासट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च विच्छिन्नं उत्तरिउं पवत्ते यावि होत्था । तए णं से क-ण्हे वासुदेवे गंगाए महानईए बहुमज्झदेसभाए संपत्ते स-माणे संते तंते परितंते बद्धसेए जाए यावि होत्था । तए णं तस्स कण्हस्स वासुदेवस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव स-मुप्पज्जित्था-अहो णं पंच पंडवा महाबलवगा, जेहिं गंगा महानई वासट्ठिजोयणाइं अद्धजोयणं च विच्छिन्ना बाहाहिं उत्तिण्णा, इच्छंतएहिं णं पंचहिं पंडवेहिं पउमनाभे राया हय-महिय० जाव णो पडिसेहिए । तए णं गंगा देवी कण्हस्स वासुदेवस्स इमं एयारूवं अज्झत्थियं० जाव जाणित्ता थाहं वितरइ । तए णं से कण्हे वासुदेवे मुहुत्तंतरं समासासेइ, स-मासासेत्ता गंगं महानदिं वासट्ठिं० जाव उत्तरइ, जेणेव पंच पंडवा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता पंचपंडवे एवं वयासी-अहो णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! महाबलवगा, जेणं तुब्भेहिं गंगा महानई वासट्ठिं० जाव उत्तिण्णा, इच्छंतएहिं तुब्भेहिं प-उमनाहे० जाव नो पडिसेहिए । तए णं ते पंच पंडवा कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ता समाणा कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे तुब्भेहिं विसज्जिया समा-णा जेणेव गंगा महानई तेणेव उवागच्छित्ता एगट्ठियाए णावाए मग्गणगवसणं तं चेव० जाव तुम्हे पडिवालेमाणे चिट्ठामो । तए णं से कण्हे वासुदेवे तेसिं पंचण्हं पंडवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते० जाव तिवलियं भिउडिं णिलाडे कट्टु एवं वयासी-अहो जया णं मए लवणसमुद्दं दुन्नि जोयणसयसहस्सविच्छिन्नं वीईवइ-त्ता पउमणाहं हयमहिय० जाव पडिसेहित्ता अवरकंका संभग्गा, दोवई देवी साहत्थि उवणीया, तया णं तुम्हे मम माहप्पं न विण्णायं, इयाणिं जाणिस्सह त्ति कट्टु लोहदंडं परामुसइ, परामुसइत्ता पंचण्हं पंडवाणं रहं चूरेइ, चूरेत्ता णिव्विसए आणवेइ । तत्थ णं रहमद्दणे णाम कोट्टे नि-विट्ठे । तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव सए खंधावारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सएणं खंधावारेणं सद्धिं अभिसमन्नागए यावि होत्था । तए णं से क-ण्हे वासुदेवे जेणेव बारवई नयरी तेणेव उवागच्छति, उ-वागच्छइत्ता अणुप्पविसति । तए णं ते पंच पंडवा जेणेव हत्थिणाउरे णयरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता जे-णेव पंडुए राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता कर-यल० जाव एवं वयासी-एवं खलु ताओ ! अम्हे कण्हेण वासुदेवेणं णिव्विसया आणत्ता । तए णं पंडुराया ते पंचपंडवे एवं वयासी-कहं णं पुत्ता ! तुब्भे कण्हेणं वासुदेवेण णिव्विसया आणत्ता । तए णं ते पंच पंडवा पंडुरायं एवं वयासी- एवं खलु ताओ ! अम्हे अवर-कंकाओ पडिणियत्ता लवणसमुद्दं दुन्नि जोयणसयसह-स्साइं वीईवइत्ता, तए णं से कण्हे वासुदेवे अम्हं एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! गंगं महानइं उत्त-रेह० जाव चिट्ठह जाव ताव अहं एवं तहेव० जाव चिट्ठा-मो । तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं लवणाहिवइं दट्ठूणं तं चेव सव्वं, णवरं कण्हस्स चिंता ण वुच्चइ० जाव णिव्वि-सए आणवेइ । तए णं से पंडुराया ते पंचपंडवे एवं व-यासी-दुट्ठु णं पुत्ता ! कयं कण्हस्स वासुदेवस्स विप्पियं क-रेमाणेहिं । तए णं से पंडुराया कुंतिं देविं सद्दावेति, स-द्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! बा-रवइं णयरिं कण्हस्स वासुदेवस्स निवेएहि-एवं खलु दे-वाणुप्पिया ! तुमे पंचपंडवा णं निव्विसया आणत्ता, तुमं च णं देवाणुप्पिया ! दाहिणड्ढभरहस्स सामी, तं संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! ते पंच पंडवा कयरं देसं वा दिसिं वा विदिसिं वा गच्छंतु णं । तए णं सा कुंती पंडुणा रण्णा एवं वुत्ता समाणी हत्थिखंधं दुरूहति, दुरूहइत्ता जहा हेट्ठा० जाव सं-दिसंतु णं पिउत्था ! किमागमणपओयणं ?। तए णं सा कुं-ती कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु तुमं पुत्ता ! पंच पंडवा णिव्विसया आणत्ता, तुमं च णं दाहिणड्ढभर-हसामी० जाव दिसिं वा विदिसिं वा गच्छंतु । तए णं से कण्हे वासुदेवे कुंतिं देविं एवं वयासी-अपूइवयणा

णं पिउत्था ! उत्तमपुरिसा चक्कवट्टी वा वासुदेवा वा बलदेवा वा, तं गच्छंतु णं पंच पंमवा दाहिणिल्लं वेयालिं, तत्थ पंमुमहुरं णिवेसंतु, मम अदिट्ठसेवगा भवंतु त्ति कट्टु कुंतिं देविं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता० जाव पमिविसज्जेइ । तए णं सा कुंती देवी० जाव पंमुस्स एयमट्ठं णिवेएइ । तए णं पंमुराया पंचपमवे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे पुत्ता ! दाहिणिल्लं वेयालिं, तत्थ णं तुब्भे पंमुमहुरं णिवेसेह । तए णं ते पंच पंमवा पंडुस्स रण्णो०जाव तह त्ति पमिसुणंति, पमिसुणेत्ता सबलवाहणा हयगय०जाव हत्थिणाउराओ णयराओ पमिणिक्खमंति, पमिणिक्खमइत्ता जेणेव दक्खिणिल्ला वेयाली तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता पंडुमहुरं निवेसंति, निवेसित्ता तत्थ णं ते विपुलभोगसमिइसमन्नागया वि होत्था । तए णं सा दोवई देवी अन्नया कयाइ आवन्नसत्ता जाया वि होत्था । तए णं सा दोवई णवण्हं मासाणं०जाव सुरूवं दारयं पयाया० जाव सुकुमाले, निव्वत्तबारसाहस्स इमं एयारूवं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करिंति, जम्हा णं अम्ह एस दारए पंचण्हं पंडवाणं पुत्ते दोवईए अत्तए, तं होउ णं अम्हं इमस्स दारगस्स णामधेज्जं पंमुसेणे त्ति, बावत्तरिं कलाओ०जाव अलं भोगसमत्थे जाए जुवराया०जाव विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा थेरा समोसढा, परिसा णिग्गया, पंडवा निग्गया, धम्मं सोच्चा एवं वयासी-जं णवरं देवाणुप्पिया ! दोवइं देविं आपुच्छामो, पंमुसेणं च कुमारं रज्जे ठावेमो, तओ पच्छा देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता०जाव पव्वयामो ? । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तए णं पंच पंमवा जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता दोवइं देविं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिए ! अम्हेहिं थेराणं अंतिए धम्मं णिसंते०जाव पव्वयामो । तुमं देवाणुप्पिए ! किं करेसि ? । तए णं सा दोवई देवी पंच पंमवे एवं वयासी-जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गा० जाव पव्वयह, मम के अन्ने आलंबे वा० जाव भविस्सइ ? । अहं पि य णं संसारभयउव्विग्गा देवाणुप्पिएहिं सद्धिं पव्वइस्सामि । तए णं ते पंच पंमवा पंडुसेणस्स कुमारस्स अभिसेओ० जाव राया जाए ०जाव रज्जं पसाहेमाणे विहरइ । तए णं ते पंच पंमवा दोवई देवी य अन्नया कयाइं पंमुसेणं रायं आपुच्छंति । तए णं से पंडुसेणे राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! णिक्खमणाभिसेयं०जाव उवट्ठवेह, पुरिससहस्सवाहणीओ सिवियाओ उवट्ठवेह०जाव पच्चोरुहंति, जेणेव थेरा आयरिया अहिज्जंति०जाव समणा जाया चउद्दस पुव्वाइं अहिज्जंति, बहूणि वासाणि०जाव छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं सा दोवई देवी सीयाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता०जाव पव्वइया सुव्वयाए अज्जाए सिस्सणियत्ताए दलयंति, एक्कारसंगाइं० जाव अहिज्जइ, अहिज्जइत्ता बहूणि वासाणि छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं० जाव अप्पाणं भावेमाणा विहरइ । तए णं ते थेरा भगवंतो अन्नया कयाइ पंमुमहुराओ नयराओ सहस्संबवणाओ उज्जाणाओ पमिनिग्गच्छंति, पडिनिग्गच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरंति । तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी जेणेव सुरट्ठाजणवए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सुरट्ठाजणवयंसि संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ० ४-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अरिहा अरिट्ठनेमी सुरट्ठाजणवए० जाव विहरइ । तए णं ते जुहिट्ठिल्लपामोक्खा पंच अणगारा बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा अन्नमन्नं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अरहा अरिट्ठनेमी पुव्वाणुपुव्विं० जाव विहरइ, तं सेयं खलु अम्हं थेरा आपुच्छित्ता अरिहं अरिट्ठनेमिं वंदणाए गमित्तए, अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पमिसुणित्ता जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता थेरे भगवंते वंदंति, णमंसंति, णमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणा अरिहं अरिट्ठणेमिं० जाव गमित्तए ? । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पमिबंधं करेह । तए णं ते जुहिट्ठिल्लपामोक्खा पंच अणगारा थेरेहिं अब्भणुन्नाया समाणा थेरे भगवंते वंदंति, णमंसंति, णमंसइत्ता थेराणं अंतियाओ पमिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता मासं मासेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं गामाणुगामं दूइज्जमाणा० जाव जेणेव हत्थिकप्पे णयरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छइत्ता हत्थिकप्पस्स बहिया सहस्संबवणे उज्जाणे० जाव विहरंति । तए णं ते जुहिट्ठिल्लवज्जा चत्तारि अणगारा मासखमणपारणए पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेंति, बीयाए एवं जहा गोयमसामी, णवरं जुहिट्ठिल्लं आपुच्छंति०जाव अममाणा हत्थिकप्पे नयरे बहुजणस्स सद्दं निसामेंति-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अरहा अरिट्ठनेमी उज्जंतसेलसिहरे मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं पंचहिं छत्तीसेहिं अणगारसएहिं सद्धिं कालगए०जाव सव्वदुक्खप्पहीणे । तए णं जुहिट्ठिल्लवज्जा चत्तारि अणगारा बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा हत्थिकप्पाओ णयराओ पमिणिक्खमंति, पमिणिक्खमइत्ता

जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे जेणेव जुहिट्ठिल्ले अणगारे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भत्तपाणं पच्चक्खंति, गमणागमणं पडिक्कमंति,एसणमणेसणं आलोयंति, भत्तपाणं पडिदंसेंति,पडिदंसेत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया! ०जाव अरिहा अरिट्ठनेमी कालगए,तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया! इमं पुव्वगहियं भत्तपाणं परिट्ठवित्ता सेत्तुंजए पव्वए सणियं सणियं दुरूहित्तए संलेहणाए झोसणाए झुसियाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता तं पुव्वगहियं भत्तपाणं एगंते परिट्ठवेंति, परिट्ठवेत्ता जेणेव सेत्तुंजए पव्वए तेणेव उवागच्छंति,उवागच्छित्ता सेत्तुंजयं पव्वयं सणियं दुरूहंति, दुरूहित्ता०जाव कालं अणवकंखमाणा विहरांति। तए णं ते जुहिट्ठिल्लपामोक्खा पंच अणगारा सामाइयमाइयाइं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता दोमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे० जाव तमट्ठमाराहेंति,अणंते०जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पण्णे० जाव सिद्धा। तए णं सा दोवई अज्जा सुव्वयाणं अज्जियाणं अंते सामाइयमाइयाइं इक्कारस अंगाइं अहिज्जइ,अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववण्णा। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं दससागरोवमाइं ठिई पन्नत्ता। तत्थ णं दुवयस्स देवस्स दससागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। से णं भंते! दुवए देवो ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०जाव संसारस्स अंतं काहिति। एवं खलु जंबू! समणेणं भगवया महावीरेणं सोलसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

(वेढो त्ति) वेष्टक एकवस्तुविषयपदपद्धतिः। स चेह धनुर्विषयो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिप्रसिद्धोऽध्येतव्यः। तद्यथा-"अइरुग्गयबालचंदइंदधणुसन्निगासं।" अचिरोद्गतो यो बालचन्द्रः शुक्लपक्षद्वितीयाचन्द्रः,तेनेन्द्रधनुषा च वक्रतया सन्निकाशं सदृशं यत्तत्तथा। 'वरमहिसदरियदप्पियदढघणसिंगमारइयसारं।" वरमहिषस्य दृप्तदर्पितस्य सजातदर्पातिशयस्य यानि दृढानि घनानि च शृङ्गाग्राणि तैः रचितं सारं च यत्तत्तथा। 'उरगवरपवरगवलपवरपरहुयभमरकुलनीलिनिद्धधंतधोयपट्टं।" उरगवरो नागवरः,प्रवरगवलं वरमहिषशृङ्गं,प्रवरपरभृतो वरकोकिलो,भ्रमरकुलं मधुकरनिकरो,नीली गुलिका,एतानीव स्निग्धं कालकान्तिमत्, ध्मातमिव ध्मातं च तेजसा ज्वलत्, धौतमिव धौतं च निर्मलं पृष्ठं यस्य तत्तथा। "निउणोवियमिसिमिसितमणिरयणघंटियाजालपरिक्खित्तं।" निपुणेन शिल्पिना उपचितानामुज्ज्वालितानां मणिरत्नघण्टिकानां यज्जालं तेन परिक्षिप्तं वेष्टितं यत्तत्तथा। 'तमितरुणकिरणतवणिज्जबद्धचिंधं।" तमिदिव विद्युदिव तरुणाः प्रत्यग्राः किरणा यस्य तत्तथा,तस्य तपनीयस्य सम्बन्धीनि बद्धानि चिह्नानि लाञ्छनानि यत्र तत्तथा। "दद्दरमलयगिरिसिहरकेसरचामरवालयद्धचंदचिंधं।" दर्दरमलयाभिधानौ यौ गिरी,तयोर्यानि शिखराणि,तत्सम्बन्धिनो ये केसरचामरवालाः सिंहस्कन्धचमरपुच्छकेशा अर्द्धचन्द्राश्च तल्लक्षणानि चिह्नानि यत्र तत्तथा। "कालहरियरत्तपीयसुक्किलबहुण्हारुसंपिनद्धजीवं।" कालाऽऽदिवर्णा या बहवः स्नायवः शरीरान्तर्बन्धास्ताभिः संपिनद्धा जीवा प्रत्यञ्चा यस्य स तत्तथा। "जीवियंतकरणं ति।" शत्रूणामिति गम्यते। (सम्भगेत्यादि) सभ्भग्नानि प्राकारो गोपुराणि च प्रतीतः,अट्टालकाश्च प्राकारोपरिस्थानविशेषाः, चरिका च नगरप्राकारान्तरेऽष्टहस्तो मार्गः, तोरणानि च यस्यां सा तथा। पर्यस्तितानि पर्यस्तीकृतानि,सर्वतः क्षिप्तानीत्यर्थः। प्रवरभवनानि श्रीगृहाणि च भाण्डागाराणि यस्याः सा तथा। तत पदद्वयस्य कर्मधारयः। (सरसरस्स त्ति) अनुकरणशब्दोऽयमिति। (उल्लपडसाडए त्ति) सद्यःस्नानेन आर्द्रौ पटशाटकौ उत्तरीयवस्त्रपरिधाने यस्य स तथा। (ओचूलगवत्थनियत्थे त्ति) अवचूलमधोमुखचूलं मुत्कलाञ्चलं यथा भवतीत्येवं वस्त्रं निवसितं येन स तथा। (न एत्थ वि गए नत्थि ते ममाहिंतो इयाणिं भयमत्थि त्ति) तत्सादित्थमपि गतं अस्मिन् कार्ये नास्ति अयं पक्षः-यदुत ते तव मत्तो भयमस्ति भवति(पगच्छिय त्ति) तौ (मुसंति त्ति) गोपयन्ति। श्रान्तः खिन्नः, तान्तः शुष्कगलकाङ्क्षावान् जातः, परितान्तः सर्वथा खिन्नः एकार्थिकाश्चैते। (इच्छंतपाहिं ति) इच्छया फलाविदित्यर्थः। (वेयालीए त्ति) वेलातटे इति। इहापि सूत्रे उपनयो दृश्यते। एवं चासौ द्रष्टव्यः -

"सुवहू वि तवकिलेसो, नियाणदोसेण दूसिओ संतो।
न सिवाय दोवतीए,जह किल सुकुमालिया जम्मे॥१॥"

अथवा-

"अमणुन्नमभत्तीए, पत्ते दाणं भवे अणत्थाय।
जह कडुयतुंबदाणं, नागसिरिभवम्मि दोवइए ॥२॥" इति।

ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। तं०। स्था०। प्रश्न०। आ० म०। ह्री०। प्रति०।

दुवग्ग-द्विवर्ग-पु०। उभयकोटौ, नि० चू० १५ उ०। आचा०।

दुवण-द्रुवन-न०। उपतापने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

दुवय-द्विपद-पु०। 'दुपय' शब्दार्थे, स० १२ अङ्ग।

दुव्वामतरय-दुर्वाम्यतरक-पु०। दुस्त्याज्यतरकलहे, अ० ६ श० १ उ०।

दुवार-द्वार-न०। "पद्मछद्ममूर्खद्वारे वा" ॥८।२।११२॥ इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उद्वा। 'दुवारं।' पक्षे 'वारं।' 'देरं।' 'दारं।' प्रा० २ पाद। प्रतोल्याम्, आ० म० १ अ० १ खण्ड। प्रासस्य मुखे, बृ० १ उ० ३ प्रक०। प्रासादभवनदेवकुलाऽऽदीनां प्रवेशमुखे च। बृ० १ उ० ३ प्रक०। प्रज्ञा०। (अपावृतद्वारवसतौ द्वारपिधानं यतिभिः कर्तव्यमिति 'वसइ' शब्दे वक्ष्यते)

दुवारकम्म-द्वारकर्म-न०। द्वारस्य विषमायाः भूमेः समीकरणे, नि० चू० ५ उ०।

दुवारपिहाण-द्वारपिधान-न०। कपाटमाश्रित्य द्वारस्थगने, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ०।

दुवारबाहा-द्वारबाहा-स्त्री० । द्वारशाखे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० ।

दुवारसाहा-द्वारशाखा-स्त्री० । द्वारपार्श्वस्थकाष्ठाऽऽदौ, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

दुवारिअ-दौवारिक-पुं० । "उत्सौन्दर्यादौ" ॥८।१।१६०॥ इति औत उत् । 'दुवारिओ ।' प्रा० १ पाद ।

दौवारिक-पुं० । द्वारे नियुक्तः, ठञ् । द्वारपाले, वाच० ।

दुवालसावत्त-द्वादशाऽऽवर्त-न० । "दुवालसावत्ते कितिकम्मे पण्णत्ते । तं जहा-'दुओणयं जहाजायं, कितिकम्मं बारसावयं । चउस्सिरं तिगुत्तं दुपवेसं एगनिक्खमणं ॥१॥" इति सूत्राभिधानगर्भेषु कायव्यापारविशेषेषु, स० १ सम० ।

दुविट्ठु-द्विविष्टप-पुं० । द्वितीये वासुदेवे, ति० । नवमे भविष्यति वासुदेवे, स० । ती० ।

दुविह-द्विविध-त्रि० । "द्विन्योरुत्" ॥८।१।९४॥ इति द्विशब्देकारस्योकारः । 'दुविहो ।' प्रा०१ पाद । द्वे विधे प्रकारा-वस्येति द्विविधः । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । द्विप्रकारे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आचा० । विशे० । उत्त० । स्था० । प्रश्न० ।

दुविहभूमिपत्त-द्विविधभूमिप्राप्त-त्रि० । वय (व्यञ्जनजातत्वा-ऽऽदि) श्रुतपर्याय (यावत्पर्यायस्य यद्धुत दीयते) रूपद्वि-तवाचनायोग्यतां प्राप्ते, नि० चू० १९ उ० ।

दुव्वण्ण-दुर्वर्ण-न० । अशुभवर्णे, नि०चू० । "पक्कपक्षोववेय दु-व्वण्ण ।" एकस्मिन्नपि पततीत्यर्थः । "अहवा-पयाहाहरुरसनि-भ सुवण्ण, सेसा सव्वे दुव्वण्णा ।" अनिष्टा इत्यर्थः । नि०चू०१ उ० । भ० । कुरूपे च । त्रि० । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

दुव्वय-दुर्व्रत-त्रि० । असम्यग्व्रते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । दुष्टा-नि व्रतानि येषां ते तथा । यथा मासक्षपण, व्रतकालसमाप्तौ प्रभूततरसत्त्वोपघातेन मांसप्रदानम्, अन्यदपि नक्तभोजना-ऽऽदिकं दुष्टव्रतमिति । तथाऽन्यस्मिन् जन्मान्तरे मधुमद्यमांसा-ऽऽदिकमभ्यवहरिष्यामीत्येवमज्ञानान्धा जन्मान्तरविधिद्वारेण सनिदानमेव व्रतं गृह्णन्ति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । व्रतवर्जिते, विपा० १ श्रु० १ अ० । दशा० ।

दुव्वलचारित्त-दुर्बलचारित्र-पुं० । दुर्बलश्चारित्रे इति दुर्बल-चारित्रः । विना कारणेन मूलोत्तरगुणपरिसेविनि, नि० चू० १ उ० । व्य० ।

दुव्वसुमुणि-दुर्वसुमुनि-पुं० । मोक्षगमनायोग्ये, आचा० ।

दुव्वसुमुणी अ[illegible]णाए तुच्छए गिलाइ वत्तए, एस [illegible]रे पसंसिए (१०[illegible])

(दुव्वसु इत्यादि) वसु द्रव्यम्, पतच्च भव्येऽर्थे [illegible] च भव्य इत्यनेन । भव्यश्च [illegible], ततश्च [illegible] योग्य यद् द्रव्य तद् व[illegible]सु, दुर्वसु [illegible] दुर्वसुमुनि -मो[illegible]योग्य [illegible] जयति ?, अनाज्ञया तीर्थकरोपदेश[illegible]वैरीत्यर्थः [illegible] तीर्थकरोपदेशो दुष्कर, येन स्वैरित्वमभ्युप[illegible] उच्यते-उद्देशकाऽऽदेरारभ्य सर्वं यथासम्भवमायोज्यम् । तथाहि-मिथ्यात्वमोहितं लोकं सम्बोद्धु, दुष्करमशेषमात्मानमध्यारोपयितुं, रत्यरती निग्रहीतुं, शब्दाऽऽदि-विषयेष्विष्टानिष्टेषु माध्यस्थ्यं भावयितुं, प्रान्तरूक्षाणि भोक्तुम्, एवं यथोद्दिष्टया मौनीन्द्राज्ञया असिधारकल्पया दुष्करं सञ्चरितुम्, अनुकूलप्रतिकूलांश्च नानाप्रकारानुपसर्गान् सोढुम् । असहने च कर्मोदयोऽनाद्यतीतकालसुखभावना च कारणं, जीवो हि द्रव्य-भावतो दुःखजीरुरनिरोधसुखप्रियोऽतो निरोधकल्पायामाज्ञायां दुःखं वसति । अयमश्च किम्भूतो भवतीत्याह-(तुच्छए इत्यादि) तुच्छो रिक्त, स च द्रव्यतो निर्धनो, घटाऽऽदिरिव जलाऽऽदिर-हितो, भावतो ज्ञानाऽऽदिरहितः । ज्ञानाऽऽदिरहितो हि कचित्सं-शीतिविषये केनचित्पृष्टोऽपरिज्ञानात् ग्लायति वक्तुं, ज्ञानस-मन्वितो वा चारित्ररिक्तः पूजासत्कारभयाच्छुद्धमार्गप्ररूपणा-वसरे ग्लायति यथावस्थितं प्रज्ञापयितुम् । तथाहि-प्रवृत्तस-न्निधि सन्निधिनिर्दोषतामाचष्टे । एवमन्यत्रापीति । यस्तु कषा-यमहाविषगरलपन्नगवदाज्ञोपजीवकः स सुवसुमुनिर्भवत्य-रिक्तो न ग्लायति च वक्तुम्, यथावस्थितवस्तुपरिज्ञानादनुष्ठा-नात् । आह च-(एस इत्यादि) एष इति सुवसुमुनिर्ज्ञानाऽऽद्यरिक्तो यथावस्थितमार्गप्ररूपको वीरं कर्मविदारणात्, प्रशंसितस्त-द्विद्भिः श्लाघित इति । आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

दुव्वह-दुर्वह-त्रि० । वोढुमशक्ये, उत्त० १९ अ० ।

दुव्वाइ-दुर्वाक्-पुं० । अप्रियवक्तार, दश० ९ अ० ।

दुव्विअड्ढ-दुर्विदग्ध-पुं० । ज्ञानलवगर्वोद्धुरे, जीवा० २० अ-धि० । पण्डितम्मन्ये, स्था० ।

दुव्विअड्ढा-दुर्विदग्धा-स्त्री० । मिथ्याऽहङ्कारविगम्भितायां पर्षदि, न० ।

दुव्विचिंतिय-दुर्विचिन्तित-पुं० । दुष्टो विचिन्तितो दुर्विचि-न्तितः । चलचित्ततया अशुभे विचिन्तिते, "जं थिरमज्झवसा-णं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं ।" इति वचनात् । ध०२ अधि० ।

दुव्विजाण-दुर्विज्ञ-त्रि० । दुर्विज्ञानार्थे, प्रश्न०१ आश्र०द्वार ।

दुव्विण्णाय-दुर्विज्ञात-त्रि० । दुष्टं विज्ञातं दुर्विज्ञातम् । दुष्टे विज्ञाते, आचा० १ श्रु० ७ अ० ३ उ० ।

दुव्विणीय-दुर्विनीत-त्रि० । दुर्विनययुक्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आव० । आ० म० ।

दुव्विदड्ढ-दुर्विदग्ध-पुं० । 'दुव्विअड्ढ' शब्दार्थे, जीवा०२०अधि० ।

दुव्विदड्ढ-दुर्विदग्ध-पुं० । 'दुव्विअड्ढ' शब्दार्थे, जीवा० २० अधि० ।

दुव्विदड्ढबुद्धि-दुर्विदग्धबुद्धि-पुं० । स्वाभिप्रायेणाऽऽगमानु-सारिणि, दर्श० ५ तत्त्व ।

दुव्विभज्ज-दुर्विभज-त्रि० । कष्टविभजनीये, "मज्झिमगाण दु-व्विभज्ज दुग्गम भवइ ।" आख्यातेऽपि तत्र दुर्विभज कष्ट-विभजनीयम्, ऋजुजडत्वादेव तद्भवतीति । दुःशकं शि-ष्याणां वस्तुतत्त्वस्य विभागेनावस्थापनमित्यर्थः । दुर्विभव-मित्यत्र पाठान्तरे दुर्विभाव्यम्, दुःशका विभावना कर्तुं तस्ये-त्यर्थः । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

दुव्विभाव-दुर्विभाव-त्रि० । दुर्लक्ष्ये, विशे० ।

दुव्वियड-दुर्विवृत-त्रि० । दुष्टविवृतो दुर्विवृतः । परिधानवर्जि-ते, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

दुव्वियड्ढ—दुर्विदग्ध—पुं० । 'दुव्विअड्ढ' शब्दार्थे, जी० २० अधि० ।

दुव्वियड्ढ—दुर्विदग्ध—पुं० । 'दुव्विअड्ढ' शब्दार्थे, जीवा० २० अधि० ।

दुव्विसह—दुर्विषह—त्रि० । दुस्सहे, भ० ७ श० ६ उ० ।

दुव्विसोज्झ—दुर्विशोध्य—त्रि० । दुःखेन शुद्धिप्रकर्षप्रापणीये, पञ्चा० ११ विव० ।

दुव्विहिय—दुर्विहित—पुं० । पार्श्वस्थाऽऽदौ, आव० ३ अ० ।

दुव्वोल—देशी— उपालम्भे, दे० ना० ५ वर्ग ४२ गाथा ।

दुस—दुष—धा० । दिवा०-पर०-अक०-अनिट् । वाच० । वैकृत्ये, विशे० । दुष्यति, अदुषत्, अदुक्षत् । वाच० ।

दुसण्णप्प—दुस्संज्ञाप्य—पुं० । दुःखेन कृच्छ्रेण सञ्ज्ञाप्यन्ते प्रज्ञाप्यन्ते बोध्यन्त इति दुःसञ्ज्ञाप्याः । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

तओ दुसण्णप्पा पण्णत्ता । तं जहा—दुट्ठे, मूढे, वुग्गाहिए ॥ ३ ॥

अस्य सम्बन्धमाह—

सम्मत्ते वि अजोग्गा, किमु दिक्खणवायणासु दुट्ठाई ? ।
दुस्सण्णप्पाऽऽरभो, मा मोहपरिस्समो होज्जा ॥ ३२७ ॥

दुष्टाऽऽदयस्त्रय सम्यक्त्वग्रहणेऽप्ययोग्याः किं पुनर्दीक्षावाचनयो ? । अतस्तेषां प्रज्ञापने मोघो निष्फलः प्रज्ञापकस्य परिश्रमो मा भूदिति दुःसञ्ज्ञाप्यसूत्रमारभ्यते । अनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य व्याख्या—त्रयो दुःखेन कृच्छ्रेण सञ्ज्ञाप्यन्ते प्रतिबोध्यन्त इति दुःसञ्ज्ञाप्या प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-दुष्टस्तत्त्वप्रज्ञापकं प्रति द्वेषवान्, स चाप्रज्ञापनीयो द्वेषेणोपदेशाप्रतिपत्तेः । एवं मूढो गुणदोषानभिज्ञः, व्युद्ग्राहितो नाम कुप्रज्ञापकदृढीकृतविपरीतबोधः । एष सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः—

दुस्समाप्पो तिविहो, दुट्ठाई दुट्ठो वण्णितो पुव्विं ।
मूढस्स य णिक्खेवो, अट्ठविहो होइ कायव्वो ॥ ३२८ ॥

दुःसञ्ज्ञाप्यो दुष्टाऽऽदिभेदात्त्रिविधः, तत्र दुष्टः पूर्वं पाराञ्चिकसूत्रे यथा वर्णितस्तथाऽत्रापि मन्तव्यः । मूढस्य पुनरष्टविधो निक्षेपो वक्ष्यमाणनीत्या कर्तव्यो भवति ।

तत्र पदत्रयनिष्पन्नामष्टभङ्गीमाह—

दुट्ठे मूढे वुग्गा—हिए य भयणा उ अट्ठहा होइ ।
पढमगभंगे सुत्तं, पढमं बिइयं तु चरिमम्मि ॥ ३२९ ॥

दुष्टो मूढो व्युद्ग्राहित इति त्रिभिः पदैरष्टधा भजना भवति, अष्टौ भङ्गा इत्यर्थः । अत्र च प्रथमे भङ्गे प्रथमं सूत्रं निपतति चरमेऽष्टमे भङ्गेऽदुष्टोऽमूढोऽव्युद्ग्राहित इत्येवंलक्षणे द्वितीयं वक्ष्यमाणं सूत्रमिति । बृ० ४ उ० ।

अथैषां मध्ये के प्रव्राजयितुं योग्या ?, के वा नेत्याह—

मोत्तूण वेदमूढं, अप्पडिसिद्धा उ सेसगा मूढा ।
वुग्गाहिता य दुट्ठा, पडिसिद्धा कारणं मोत्तुं ॥ ३३० ॥

वेदमूढं मुक्त्वा ये शेषा द्रव्यक्षेत्रमूढाऽऽदयस्तेऽप्रतिषिद्धाः, प्रव्राजयितुं कल्पन्ते इत्यर्थः । ये तु व्युद्ग्राहिता दुष्टाश्च कषायदुष्टाऽऽदयस्ते कारणं मुक्त्वा प्रतिषिद्धाः, कारणे तु कल्पन्ते इति भावः ।

किमर्थमेते प्रतिषिद्धाः ?, इत्याह—

जं तेहिँ अभिग्गहियं, आमरणंता य तं न मुंचंति ।
सम्मत्तं पि ण लग्गति, तेसिं कत्तो चरित्तगुणा ? ॥ ३३१ ॥

यस्तैर्व्युद्ग्राहिताऽऽदिभिः किमपि शाक्याऽऽदिदर्शनमन्यद्वा भारताऽऽदिकं मिथ्याश्रुतमभिगृहीतमाभिमुख्येनोपादेयतया स्वीकृतं तदामरणान्तं न मुञ्चन्ति । अथ चैतेषां सम्यक्त्वमपि न लगति, कुतश्चारित्रगुणा इति ? ।

कथं पुनरमीषां सम्यक्त्वमपि न लगतीत्याह—

सोयमुयघोररणमुह—दारभरणपेयकिच्चमइएसु ।
सग्गेसु देवपूयण—चिरजीवणदाणदिट्ठेसु ॥ ३३२ ॥
इच्चेवमाइलोइय—कुसुइवुग्गाहणाकुहियकण्णा ।
फुडमवि दाइज्जंतं, गिण्हंति न कारणं केइ ॥ ३३३ ॥

इह नारकाऽऽदौ शौचसुतघोररणमुखदारभरणप्रेतकृत्यमयेषु देवपूजनचिरजीवनदानदृष्टेषु च स्वर्गेषु ये भाविता भवन्ति, तथा हि-शौचविधानात् पुत्रोत्पादनाद् घोरसमरशिरःप्रवेशाद् धर्मपत्नीपोषणात् पितृप्रदानाऽऽदिप्रेतकर्मविधानाद् वैश्वानराऽऽदिदेवपूजनात् चन्द्रसूर्याऽऽदिरूपचिरकालजीवनाद् धनधरित्र्यादिदानात् स्वर्गा अवाप्यन्ते, इत्येवमादिलौकिककुश्रुतिव्युद्ग्राहणाकुथितकर्णाः सन्तस्तस्या कुश्रुतेर्घटनाया स्फुटमपि दर्श्यमानं कारणमुपपत्तिं केचिद्गुरुकर्माणो न प्रतिपद्यन्ते, अतस्ते दुःसञ्ज्ञाप्या मन्तव्याः । बृ० ४ उ० ।

दुसमदुसमा—दुःषमदुःषमा—स्त्री० । अवसर्पिण्याः षष्ठे उत्सर्पिण्याश्च प्रथमेऽरके, भ० । "एक्कवीसं वाससहस्साइं कालो दुसमदुसमा ।" भ० ६ श० ७ उ० । स्था० । जी० । ति० । आ० चू० । तं० । ज्यो० । (अस्या वर्णकः "ओसप्पिणी" शब्दे तृ० भागे १२८ पृष्ठे, 'उस्सप्पिणी' शब्दे द्वि० भागे ११६६ पृष्ठे च द्रष्टव्यः)

दुसमय—द्विसमय—त्रि० । द्वौ समयौ यत्र स द्विसमयः । समयद्वयजाते, भ० १४ श० १ उ० ।

दुसमयसिद्ध—द्विसमयसिद्ध—पुं० । सिद्धत्वसमयाद् द्वितीयसमयवर्तिनि, प्रकारान्तरेण तृतीयसमयवर्तिनि परम्परसिद्धभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दुसमसुसमा—दुःषमसुषमा—स्त्री० । अवसर्पिण्याश्चतुर्थे उत्सर्पिण्यास्तृतीये चारके, भ० । "एगा सागरोवमकोडाकोडी बायालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणिया कालो दुसमसुसमा ।" भ० ६ श० ७ उ० । जं० । (अस्या वर्णकस्तु 'ओसप्पिणी' शब्दे तृ० भागे १२१ पृष्ठे, 'उस्सप्पिणी' शब्दे द्वि० भागे ११७१ पृष्ठे च द्रष्टव्यः) "एगा दुसमसुसमा ।" स्था० १ ठा० ।

दुसमा—दुःषमा—स्त्री० । अवसर्पिण्याः पञ्चमे उत्सर्पिण्या द्वितीये चारके, भ० । "एक्कवीसं वाससहस्साइं कालो दुसमा ।" भ० ६ श० ७ उ० । स्था० । जी० । ति० । आ० चू० । ज्यो० । तं० । (अस्या वर्णकस्तु "ओसप्पिणी" शब्दे तृतीयभागे १२१ पृष्ठे, 'उस्सप्पिणी' शब्दे द्वि० भागे ११६६ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यः) "दसहिं ठाणेहिं ओगाढं दुस्समं जाणेज्जा । तं जहा-अकाले वरिसइ, काले न वरिसइ, असाहू पुज्जंति, साहू न

पूइज्जति, गुरुसु जणो मिच्छं पडिवज्जो अमणुण्णा सद्दा० जाव फासा ।" स्था० १० ठा० ।(अस्य वक्तव्यता ' कलिजुग ' शब्दे तृ० भागे ३८० पृष्ठे) नवर " तओ गोयमसामी जाणगपुव्व पुच्छइ-भयवं ! तुम्ह निव्वाणानतर किं किं भविस्सइ ? । पहुणा भणिय सोम ! मम मुक्खगयस्स तिहिं वासेहिं अद्धनवमेहि य मासेहिं पचम अरओ दूसमा लगिस्सइ। मह मुक्खगमणाओ वासाण चउसट्ठीए अपच्छिमकेवली जबूसामी सिद्धिं गमिही। तेण समयम्मि पज्जवनाण, परमोही, पुलायलद्धी, आहारगसरीरखवगसेढी, उवसमगसेढी,जिणकप्पो,परिहारविसुद्धि-सुहुमसपराय-अहक्खायचारित्ताणि, केवलनाण, सिद्धिगमण च त्ति दुवालस ठाणाइ भारहे वासे वुच्छिज्जिहिंति । " अज्जसुहम्मप्पमुहा, होहिंति जुगप्पहाणआयरिया । दुप्पसहो जा सूरी, चउरहिया दोण्णि य सहस्सा ॥ १ ॥ " सत्तरिसमाऽहिए वाससए थूलभद्दम्मि सग्गगए चरमाणि चत्तारि पुव्वाणि, समचउरंसस्सठाण, वज्जरिसहनाराय सघयण, महापाणज्झाण च वुच्छिज्जिहिइ । वासपचसएहिं अज्जवइरे दसम पुव्व संघयण चउक्क च अत्थगच्छिही । मह मुक्खगमणाओ पालयनंदचंदगुत्ताइराईसु वोलीणेसु चउसयसत्तरेहिं विक्कमाइच्चो राया होही । तत्थ सट्ठिवरिसाण पालगस्स रज्ज, पणपण्णसयं नंदाण, अट्ठोत्तर सय मोरियवसाण, तीस दूसमित्तस्स, सट्ठी बलमित्तभाणुमित्ताण, चालीस नरवाहणस्स, तेरस गद्दभिल्लस्स, चत्तारि··· गस्स, तओ विक्कमाइच्चो । सो साहियसुवण्णपुरिसो पुहविं अरिण काउ नियसवच्छर पवत्तेही । " तह गद्दभिल्लरज्जस्स छायगो कालिगायरियो होही । तेवण्णचउसएहिं, गुणसयकलिओ सुअपउत्तो ॥ १ ॥ " दूसमाए वट्टमाणीए नयराणि गामभूयाणि होहिंति, मसाणरूवा गामा, जमदडसमा रायाणो, दासप्पाया कुडुबिणो, लचग्गहणपरा निओगिणो. सामिद्दोहिणो भिच्चा, कालरत्तितुल्लाओ सासूओ, सप्पिणीतुल्लाओ वहूओ, निल्लज्जया कुलबहूओ पिक्खियाईहिं सिक्खिया वेसाचरियाओ कुलंगणाओ, सच्छंदचारिणो पुत्ता य, सीसा य अकालवासिणो कालअवासिणो य,महासुहिया रिद्धिसमाणभायणा च दुज्जणा, दुहिआऽणमाणपत्ता अप्पिद्धिया य सज्जणा, परचक्कडमरदुब्भिक्खजुया देसा,खुद्दसत्तबहुला मेइणी, असज्झायपरा अत्थलुद्धा विप्पा, गुरुकुलवासचाइणो मदधम्मा कसायकलुसियमणा समणा, अप्पबला सम्मदिट्ठिणो सुरनरा, ते चेव पबलबला मिच्छदिट्ठिणो होहिंति । देवा न दाहिंति दरिसण, न तहा फुरतपहावा विज्जामता, ओसहीण गोरसकप्पूरसक्कराइदव्वाण च रसवण्णगधहाणी, नराण बलमेहाआऊणि हाइस्सति, मासकप्पा च पालणाणि खित्ताणि न भविस्सति, पडिमारूवो सावयधम्मो वुच्छिज्जिहइ, आयरिया वि सीसाण सम्म सुय न दाहिंति ।

" कलहकरा डमरकरा, असमाहिकरा अनिव्वुइकरा य ।
होहिंति इत्थ समणा, दससु वि खित्तेसु सयराइ ॥ १ ॥
ववहारएँ मताइएँ, मुनिविज्जयाए य मुनीण ।
गालिहिंति आगमत्था, अणत्थलुद्धा य तद्दियह ॥ २ ॥
उवगरणवत्थपत्ता-इयाण वसहीण सड्डयाण च ।
उज्झिस्सति कापण, जह नरवइणो कुडुंबीण ॥ ३ ॥ "

किं बहुणा-बहवे भंडा अप्पे समणा होहिंति, पुव्वायरियपरपराग्गय सामायारिं मुत्तूण नियगमइविगप्पिय सामायारिं समचारित्त ति रजाविता तहाविह मुद्धजन मोहम्मि पाडित्ता उस्सुत्तभासिणो अप्पथुइपरनिंदापरायणा य केइ होहिंति, बलवता अनिट्ठानिवा,अप्पबला पूआनिवा भविस्सति ।" ती० २० कल्प ।

दुसमाकाल-दुःषमाकाल-पुं० । अवसर्पिण्या पञ्चमे उत्सर्पिण्या द्वितीये च समये, ज० २ वक्ष० । " एकवीसं वाससहस्साइ कालो दुसमा । " भ० ६ श० ७ उ० । आचार्याणामुपाध्यायाना धर्माचार्याणां साधुसाध्वीश्रावकश्राविकाणां वा दुःप्रसह यावद् दुःषमाया या सख्या दीपालिकाकल्पाऽऽदिषु उक्ताऽस्ति, सा कथा विवक्षया ?, पञ्चमारके दिनानि स्तोकानि जायन्ते, सख्या च बह्वीति लोकाः पृच्छन्ति, तत्र किमुत्तर दीयत इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र भरतक्षेत्रे दुःषमाया अल्पकालत्वेऽपि भूम्ने प्राचुर्याद् बहुषु देशेषु साध्वादिसभवेन दीपालिकाकल्पाऽऽद्युक्तयुगप्रधानाऽऽदिसख्याऽर्थतः सगच्छते, न त्वात्मज्ञातसाध्वादिनेति बोध्यम् । ३८ प्र० । सेन०२ उल्ला० ।

दुसह-दुःसह-पुं० । " लुकि दुरो वा " ॥ ८ । १ । ११५ ॥ दुर उपसर्गस्य रेफलोपे सति उत ऊत्व वा । "दूसहो,दुसहो ।" रेफलोपाभावे " दुस्सहो । " प्रा० १ पाद । " निर्दुरोर्वा " ॥ २ । १ । १३ ॥ इति दुरस्य व्यञ्जनस्य वा लुक् । " दुस्सहो । " प्रा० १ पाद । चित्राङ्गपरनामके कल्पवृक्षभेदे, ति० ।

दुसुमिण-दुःस्वप्न-न०। अशुभसूचके स्वप्न, प्रश्न०१ आश्र०द्वार।

दुस्संचार-दुःसंचार-त्रि० । दुर्गमार्गे, दशा० १० अ० ।

दुस्संवोह-दुःसम्बोध-पुं० । दुःखेन सम्बोध्यते धर्मचरणप्रतिपत्तिं कार्यते इति दुःसम्बोधः। दुःखेन धर्माऽऽचरण प्रतिपाद्यमाने, बोधयितुमशक्ये च । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

दुस्समाण-दुष्यमाण-पुं० । द्वेष कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

दुस्सरणाम-दुःस्वरनाम-न० । यदुदयवशात्स्वरः श्रोतृणां कर्णकटु प्रादुर्भवति तद् दुःस्वरनाम। नामकर्मभेदे, कर्म०६ कर्म०। प० स० । प्रव० । स्था० । कर्महीनस्वरे, कर्म० १ कर्म० ।

दुस्सल-दुःशल-त्रि० । दुर्ग्रहे, दुर्विनीते, वृ० ६ उ० ।

दुस्सह-दुःषह-पुं० । ' दुसह ' शब्दार्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

दुस्सहिय-दुःसहित-त्रि० । दुःखेनाधिसहिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

दुस्साहड-दुःसंहृत-त्रि० । दुःखेन संह्रियते मील्यते स्मेति दुःसहृतम । दुर्मिले, उत्त० ७ अ० ।

दुस्सिज्जा-दुःशय्या-स्त्री० । विषमभूमाऽऽदिरूपाया शय्यायाम्, दशा० ८ अ० ।

दुस्सील-दुःशील-त्रि०। दुष्ट रागद्वेषाऽऽदिदोषविकृत शील स्वभावः समाधिराचारो वा यस्यासौ दुःशील । उत्त० १ अ० । दशा० । विपा० । अशुभस्वभावहीने, विपा० १ श्रु० १ अ० । दुष्टाऽऽचारे, ग० १ अधि० । प्रश्न० । उत्त० । वृ० । दुःसमाधौ च । पिण्डोलके च । " दुस्सीले णरगाओ ण मुच्चइ । " सूत्र० १ श्रु० १० अ० । " दुस्सीलाओ खरो विव । " खरवद् विष्ठाभक्षकगर्दभवत् दुःशीला दुष्टाचारा निर्लज्जत्वेन यत्र तत्र ग्रामनगराऽऽ-

रएयमार्गक्षेत्रगृहोपाश्रयचैत्यगृहगर्तावाटिकाऽऽदौ पुरुषाणां वाञ्छाकारित्वात् तथाविधवेश्याकुट्टनीसीरांग्पकामुण्डिकाऽऽदीनामव । (स्त्रिय) त० । जिनशासनश्रावकस्य भार्यायाम्, सा प्रतिमां प्रतिपन्नस्य स्वपत्युर्देहे लोहकीलकेन व्यथयाञ्चकार । आ० क० ।

दुस्सुय–दुःश्रुत–त्रि० । दुष्टं श्रुतं श्रवणं यत्राऽसौ दुःश्रुत । दुष्टश्रुते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । दुष्टं श्रुतं दुःश्रुतम् । दुष्टे श्रुते, न० । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

दुस्सेज्जा–दुःशय्या–स्त्री० । दुःखोत्पादकवसतौ, स० १ श० ६ उ० ।

दुह–दुःख–न० । " दुःखदक्षिणतीर्थे वा " ॥ ८ । २ । ७२ ॥ इति सयुक्तस्य ह । ' दुह । दुक्ख । ' प्रा० २ पाद । नरके, नरकाऽऽवासे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । नरकाऽऽदियातनास्थाने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । दुःखहेतुत्वादसदनुष्ठाने, असातवेदनीयोदयात् तीव्रपीडाऽऽत्मके असाते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । असातवेदनीयोदये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । पीडायाम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । शरीरमनसोरननुकूले, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । दुःखोत्पादके च । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । " विपुलकक्कसा य गाढा चंडा दुहा तिव्वा दुरहियासा । " इति एकार्थाः । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

दोह–पु० । दुह–कर्मणि घञ् । दुग्धे, "सदोहश्चाग्रमेऽहनि।" इति स्मृतिः । आधारे घञ् । दोहनपात्रे, वाच० । भावे घञ् । दोहने, गोदोहनस्थाने च । बृ० ३ उ० ।

दुहश्र–दुर्हत–त्रि० । दुष्टं हतो दुर्हतः । दुष्टहते, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

द्विहत–त्रि० । द्वाभ्यां रागद्वेषाभ्यां हतो द्विहतः । द्वाभ्यां हते, आचा १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

दुर्भग–त्रि० । अल्पभाग्ये, प्रा० १ पाद ।

दुहओ–द्विधा–अव्य० । प्रकारद्वये, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । रा० । सूत्र० । उत्त० ।

द्विधातस्–अव्य० । द्वयोर्मार्गयो, स० १६ श० ६ उ० । उभयत इत्यस्यर्थे च । दशा० १० अ० । आचा० । " दुहओ गुत्तित्ता ।" बहिरन्तश्च गोमयाऽऽदिना लिप्ता । रा० । " दुहतो सविङ्खियमाधियत्वात् । " द्विधातो द्वयो पार्श्वयो सवेल्लितानि अग्राणि यस्य तत् द्विधात संवेल्लिताग्रं यस्त सामर्थ्यादुत्तरयेस्ते तथा तेषाम् । रा० । चूर्णिते, दे० ना० ५ वर्ग ।

दुहओणय–द्विधोन्नत–त्रि० । उन्नते, भ० ११ श० ११ उ० । जी० ।

दुहओखहा–द्विधाखा–स्त्री० । उभयतोऽङ्कुशाऽऽकाराया श्रेण्याम्, स्था० ७ ठा० । भ० । नाड्या वामपार्श्वाऽऽदेर्नाडी प्रविश्य तथैव गत्वा अस्या एव दक्षिणपार्श्वाऽऽदौ यथोत्पद्यते सा द्विधाखा नाम्नी, यद्बहिर्भूतयोर्वामदक्षिणपार्श्वलक्षणयोर्द्वयोराकाशश्रेण्योरनया स्पृष्टत्वादिति । भ० २५ श० ३ उ० ।

दुहओणंतय–द्विधाऽनन्तक–न० । सर्वाद्धायाम्, स्था० १० ठा० ।

दुहओओसंसप्पओग–द्विधाओकाऽऽशंसाप्रयोग–पु० । नवेयामन्दस्ततश्चक्रवर्तीत्येवरूपेऽर्थे, स्था० १० ठा० । भ० ।

दुहओवक्का–द्विधावक्रा–स्त्री० । यस्यां वारद्वयं वक्रं कुर्वन्ति सा द्विधावक्रा । इयं चोर्ध्वक्षेत्रादाग्नेयीदिशोऽधःक्षेत्रे वायव्यदिशि गत्वा य उत्पद्यते तस्य भवति । तथाहि–प्रथमसमये आग्नेयास्तिर्यग्नैर्ऋत्या याति, ततस्तिर्यगेव वायव्यां,ततोऽधो वायव्यामेवेति । त्रिसमयेय त्रसनाड्या मध्ये बहिर्वा भवतीति । भ० २५ श० ३ उ० । श्रेणीभेदे, उभयतो वक्राया स्थापनायाम् । स्था० ७ ठा० ।

दुहट्ट–दुर्घट–त्रि० । दुःस्थगे, उपा० २ अ० । दुरवाप्ये, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

दुःखाऽऽर्त्त–त्रि० । दुःखपीडिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

दुहट्टिय–दुःखार्तित–त्रि० । दुःखयतीति दुःख रोग ,तेन आर्त्तः पीडितः क्रियते इति दुःखार्तितः । रोगपीडिते, उत्त० २ अ० ।

दुहट्ट–दुःखार्थ–पु० । दुःखमेवार्थो यस्मिन् स दुःखार्थः । नरके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

दुहण–द्रुघण–पु० । चट्टकारे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । मुद्गरविशेषे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उपा० ।

दोहन–न० । दोहे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

दुहतोआवत्ता–द्विधातआवृत्ता–स्त्री० । द्वीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

दुहलोगपडिणीय–द्विधालोकप्रत्यनीक–पु० । यौवर्ष्याऽऽदिभिरिन्द्रियार्थसाधनपरे गतिप्रत्यनीके, भ० ८ श० ८ उ० ।

दुहव–दुर्भग–त्रि० । " लुकि दुरो वा " ॥ ८ । १ । ११५ ॥ इति दुर उपसर्गस्य रेफलोपे उत ऊत्वं वा । प्रा० १ पाद । " खघथधभाम् " ॥ ८ । ४ । २६७ ॥ इति भस्य हः । " दुर्भगसुभगे वः " ॥ ८ । १ । १९२ ॥ इति गस्य व । 'दुहवो ।' 'दूहवो ।' प्रा० दु० ४ पाद । वाच० । त्रि० । दुष्टं भग भाग्यं यस्य । अल्पभाग्ये, पतिस्नेहशून्याया स्त्रियाम्, स्त्री० । वाच० ।

दुहविमोयणतर–दुःखविमोचनतर–त्रि० । अतिशयेन दुःखविमोच्ये, भ० १६ श० २ उ० ।

दुहविवाग–दुःखविपाक–पु० । पापकर्मफले, विपा० ।

पढमस्स णं भंते ! सुयखंधस्स दुहविवागाणं समणेणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पएणत्ते ?। तए णं सुहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं वयासी–एवं खलु जंबू! समणेणं आइगरेणं० जाव सपत्तेण दुहविवागाणं दस अज्झयणा पएणत्ता–"मियउत्ते, उज्झियए, अभग्गे सगडे,वहस्सई, नंदी । उंबरे, सोरियदत्ते, य देवदत्ता य अंजू य ॥ १ ॥ "

(मियउत्ते इत्यादिगाथा) तत्र (मियउत्ते त्ति) मृगपुत्राभिधानराजसुतवक्तव्यताप्रतिबद्धमध्ययन मृगपुत्र एव । एवं सर्वत्र, नवरम् (उज्झियए त्ति) उज्झितकी नाम सार्थवाहपुत्र, (अभग्ग त्ति) सूत्रत्वादभग्नसेनविजयाभिधानचौरसेनापतिपुत्र । (सगडे त्ति) शकटाभिधानसार्थवाहसुतः । (वहस्सइ त्ति) सूत्रत्वादेव बृहस्पतिदत्तनामा पुरोहितपुत्रः । (नंदी त्ति) सूत्रत्वादेव नन्दिवर्द्धनो राजकुमार । (उंबर त्ति) सूत्रत्वादेव उम्बरदत्तो नाम सार्थवाहसुत । (सोरियदत्ते त्ति) सौरिकदत्तो

नाम सार्थवाहपुत्रः। चशब्दः समुच्चये। (देवदत्ता य त्ति) देवदत्ता नाम गृहपतिसुता। च समुच्चये। अञ्जू नाम सार्थवाहसुता। चशब्दः समुच्चये। इति गाथासमासार्थः। विपा० १ श्रु० १ अ०। स०। "न हि दुक्खविवागाहिं,उववणाहिं ताहिं ताहिं। न य जीवो अजीवो उ, कयपुव्वो उ चितए ॥१॥" दृ० प०।

दुहवेयणन्तर–दुःखवेदनतर–त्रि०। अतिशयेन दुःखवेद्ये, ज०१६ श० २ उ०।

दुहसयविवाग–दुःखशतविपाक–पु०। दुःखशतानां फलरूपे कर्मफले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

दुहसिज्जा–दुःखशय्या–स्त्री०। शेरते आसते इति शय्याः, दुःखदा शय्या दुःशय्या। पा०।

चत्तारि दुहसेज्जाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-तत्थ खलु इमा पढमा दुहसेज्जा-से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए निग्गंथे पावयणे संकिए कंखिए वितिगिच्छिए भेयसमावण्णे कलुससमावण्णे निग्गंथं पावयणं णो सद्दहइ,णो पत्तियइ,णो रोएइ, निग्गंथं पावयणं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे मणं उच्चावयं नियच्छइ, विणिघायमावज्जइ, पढमा दुहसेज्जा। अहावरा दोच्चा दुहसेज्जा-से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए,सएणं लाभेणं णो तुस्सइ,परस्स लाभमासाएइ, पीहेइ, पत्थेइ, अभिलसइ, परस्स लाभमासाएमाणे० जाव अभिलसमाणे मणं उच्चावयं नियच्छइ विणिघायमावज्जइ, दोच्चा दुहसेज्जा। अहावरा तच्चा दुहसेज्जा-से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए दिव्वे माणुस्सए कामभोगे आसाएमाणे० जाव अभिलसमाणे मणं उच्चावयं णियच्छइ, विणिघायमावज्जइ, तच्चा दुहसेज्जा। अहावरा चउत्था दुहसेज्जा-से णं मुंडे भवित्ता० जाव पव्वइए, तस्स णमेवं भवइ-जया णं अहमगारवासमावसामि तया णमहं संवाहणपरिमद्दणगाउब्भंगगाउच्छोलणाइं लभामि, जप्पभिइं च णं अहं मुंडे भवित्ता० जाव पव्वइए, तप्पभिइं च णं अहं संवाहण० जाव गाउच्छोलणाइं णो लभामि, से णं संवाहणाइं० जाव गाउच्छोलणाइं आसाएइ० जाव अभिलसइ, से णं संवाहणा० जाव गाउच्छोलणाइं आसाएमाणे० जाव मणं उच्चावयं नियच्छइ, विणिघायमावज्जइ, चउत्था दुहसेज्जा।

(चत्तारीत्यादि) चतस्रश्चतुःसंख्या दुःखदाः शय्या दुःखशय्याः,ताश्च द्रव्यतोऽनथाविधखट्वाऽऽदिरूपा, भावतस्तु दुःस्थचित्ततया दुःश्रमणस्वभावा प्रवचनाश्रद्धानपरलाभप्रार्थनकामाऽऽशंसनस्नानाऽऽदिप्रार्थनविशेषिता प्रज्ञप्ता. सूत्रे इति। तासु मध्ये स कश्चिद् गुरुकर्मा, अथार्थो वाऽयम् स च वाक्योपक्षेपे,प्रवचने शासने,दीर्घत्वं च प्राकृतत्वादिति। शङ्कितः एकभावविषयसंशये संयुक्तः, काङ्क्षितो मतान्तरमपि साध्विति बुद्धिः, विचिकित्सितः फलं प्रति शङ्कावान्, भेदसमापन्नो बुद्धिद्वैधमापन्नः-एवमिदं सर्वं जिनशासनोक्तम्?, अन्यथा वेति। कलुषसमापन्नो नैतदेवमिति विपर्यस्त इति। न श्रद्धत्ते सामान्येनैवमिदमिति, नो प्रत्येति प्रतिपद्यते प्रीतिद्वारेण,नो रोचयति अभिलाषातिरेकेणाऽऽसेवनाभिमुखतयेति। मनश्चित्तमुच्चावचमसमञ्जसं, निर्गच्छति निर्याति, करोतीत्यर्थः। ततो विनिपातं धर्मभ्रंशं संसारं वा आपद्यते, एवमसौ श्रामण्यशय्यायां दुःखमास्ते इत्येका। तथा स्वेन स्वकीयेन लभ्यते लम्भनं वेति लाभोऽन्नादिस्तस्याऽऽदेर्वा,तेन आशां करोत्याशयति-स नूनं मे दास्यतीत्येवमिति। आस्वादयति वा लभेत चेत् तद् भुङ्क्ते। एवं स्पृहयति वाञ्छति, प्रार्थयति याचते, अभिलषति सन्धेऽप्यधिकतरं वाञ्छतीत्यर्थः। शेषमुक्तार्थमेवमप्यसौ दुःखमास्ते इति द्वितीया। तृतीया कण्ठ्या। अगारवासो गृहवासस्तमावसामि, तत्र वर्ते संवाहनं शरीरस्यास्थिसुखतयाऽऽदिना नैपुण्येन मर्दनविशेषः, परिमर्दनं तु पृष्ठाऽऽदेर्मर्दनमात्रम्,परिशब्दस्य धात्वर्थमात्रवृत्तित्वात्,गात्राभ्यङ्गस्तैलाऽऽदिनाऽभ्यञ्जनं,गात्रोत्क्षालनमङ्गधावनमेतानि लभेत कश्चिन्निर्देश्यतीति। शेषं कण्ठ्यमिति चतुर्थी। स्था० ४ ठा० ३ उ०। ध०। आचा०।

दुहसेज्जा–दुःखशय्या–स्त्री०। 'दुहसिज्जा' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

दुहा–द्विधा–स्त्री०। प्रकारद्वये, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। ध०। पञ्चा०।

द्विविध–त्रि०। द्वे विधे प्रकारावस्येति द्विविधः। द्विप्रकारे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

दुहापडिबद्ध–द्विधाप्रतिबद्ध–त्रि०। ('पव्वज्जा' शब्देऽस्य व्याख्या) द्विप्रकारेण बद्धे, स्था० ३ ठा० २ उ०।

दुहाव–छिद्–धा०। रुधा०-उभ०-सक०-अनिट्। द्वैधीकरण, वाच०। "छिदेर्दुहावणिच्छल्ल" ॥ ८ । ४ । १२४ ॥ इत्यादिना छिदेर्दुहावाऽऽदेशो 'दुहावइ।' प्रा० ४ पाद। छिनत्ति। छिन्ते। अच्छैत्सीत्, अच्छिदत्। अच्छित्। छिद्। वाच०।

दुहावह–दुःखावह–त्रि०। दुःखमावहतीति। दुःखोपार्जके, नि०चू०१ उ०। दुःखदायके, उत्त०। "सव्वे कामा दुहावहा।" सर्वे कामा शब्दाऽऽदयो दुःखाऽऽवहा. मृगाऽऽदीनामिव यतो दुःखावाप्तिहेतुरात्मनः परेर्ष्याविषादाऽऽदिभिश्चित्तव्याकुलत्वोत्पादकत्वान्नरकाऽऽदिहेतुत्वाच्चेति। उत्त० पाइ० १३ अ०। सूत्र०।

दुहावास–दुःखाऽऽवास–पु०। नरकाऽऽदिषु,सूत्र०१ श्रु०८ अ०।

दुहि (ण्)–दुःखिन्–पु०। दुःखयुक्ते, सूत्र० टी० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। उत्त०। आ० म०।

दुहिअय–दुःखित–त्रि०। 'स्वार्थे कश्च वा' ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इति कः। 'दुहिअए, सुहिअए।' सजातदुःखे, प्रा० २ पाद।

दुहिय–दुःखित–त्रि०। दुःखं संजातमस्येति दुःखितः। संजातदुःखे,उत्त० ६ अ०। 'दुक्खिय' शब्दार्थे च। प्रा० २ पाद।

दुहिया–दुहिता–स्त्री०। "स्वस्रादेर्डा" ॥ ८ । ३ । ३५ ॥ इति दुहितृशब्दाद् डाप्रत्ययः, 'दुहियाहि।' प्रा० ३ पाद। दुहितुः पतिः। अलुक्समासः। जामातरि, वाच०। आ० म०।

दुहिल–द्रुहिल न०। द्रोहस्वभावे द्रुहिलम्।

यथा-

" यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत् ।
आकाशमिव पङ्केन, नासौ पापेन युज्यते ॥ १ ॥
कलुषं वा दुहिल, समता पुण्यपापयोः । " आ० म० १ अ० २ खण्ड । पुण्यपापलपनाऽऽदौ, सू० १ उ० ।

यथा-

" एतावानेव लोकोऽयं, यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे ! वृकपदं पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥ १ ॥
पिब खाद च जातु शोभने !, यदतीत वरगात्रि ! तन्न ते ।
न हि भीरु ! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥२॥"
इत्यादि वेदवचनाऽऽदिवत्तथाविधयुक्तिरहितम् । अनु० ।

दुहोवणीय-दुःखोपनीत-त्रि० । सामीप्येन प्रासङ्गिके, दशा० १ चू० । दुःखेन पीडयोपनीतान्युच्चारितानि दुःखोपनीतानि । पीडयोच्चरितेषु, न० । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

दूअ-दूत-पुं० । अन्येषां गत्वा राजाऽऽदेशनिवेदके, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

दूइज्जंत-दूयमान-त्रि० । गच्छति, व्य० ७ उ० ।

द्रवत्-त्रि० । ग्रामानुग्रामं गच्छति, "दूइज्जता दुविधा, णिक्कारणिगा तहेव कारणिगा । असिवादी कारणिगा, चक्के मूलाइया इतरे ॥ १ ॥ " बृ० ५ उ० ।

दूइज्जंतग-दूइजन्तक-पुं० । मोराकसन्निवेशस्थेषु स्वनामख्यातेषु पाखण्डिषु, "तत्थ मोराए दूइज्जंतगा नाम पासंडा, तेसिं तत्थ आवासो । " स्वनामख्याते तेषामधिपतौ, भगवतो महावीरस्य पितुः सिद्धार्थकस्य वयस्ये, मित्रे च । आ० म० । मोराकसन्निवेशं प्राप्तस्य (तन्निवासी दूइज्जन्तकाभिधानपासण्डस्थो दूइज्जन्तक एवोच्यते) पितुः सिद्धार्थस्य वयस्यो मित्रं स भगवन्तमभिवाद्य वसतिं दत्तवानिति । आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० ।

दूइज्जमाण-दूयमान-त्रि० । विहरति, धातूनामनेकार्थत्वात् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० ।

द्रवत्-त्रि० । गच्छति, औ० । रा० । विपा० । ज्ञा० । आचा० । भ० ।

दूइज्जित्तय-द्रोतुम्-अव्य० । विहर्तुमित्यर्थे; स्था० ५ ठा० २ उ० । "गामाणुगामं दूइज्जित्तए त्ति ।" ग्रामानुग्रामं विहर्तुम् । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

दूइपलासय-दूतिपलाशक-न० । वाणिजकग्रामे स्वनामख्याते चैत्ये, यत्र श्रीमहावीरस्वामी समवसृतः । भ० १० श० ३ उ० । आ० चू० ।

दूई-दूती-स्त्री० । परस्परसंदिष्टार्थकथिका दूती । पिं० । द्वितीये उत्पादनदोषे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

दूतीपिण्डो यथा-

सग्गामे परग्गामे, दुविहा दूई उ होइ नायव्वा ।
सा वा सो वा पभणइ, भणई तं छन्नवयणेणं ॥

इह दूती द्विधा । तद्यथा-स्वग्रामे, परग्रामे च । तत्र यस्मिन् ग्रामे साधुर्वसति तस्मिन्नेव ग्रामे यदि संदेशककथिका, तर्हि सा स्वग्रामदूती । या तु परग्रामे गत्वा संदेशं कथयति, सा परग्रामदूती । एकैकाऽपि च द्विधा । तद्यथा-प्रकटा, छन्ना च । तत्र मा तव माता, स च तव पिता एवं भणति संदेशं कथयति, सा प्रकटा । या तु तं संदेशं छन्नवचनेन कथयति सा छन्ना ।

एतमेवार्थं च सविशेषं व्यक्तीकरोति-

एक्केक्का वि य दुविहा, पागड छन्ना य छन्न दुविहा उ ।
लोगुत्तरे तत्थेगा, बीया पुण उभयपक्खे वि ॥

इह दूतीसमाचरणमपि दूती, साऽपि चैकैका स्वग्रामविषया, परग्रामविषया च द्विधा । तद्यथा-प्रकटा, छन्ना च । तत्र छन्ना पुनरपि द्विधा । तद्यथा--एका लोकोत्तरे लोकोत्तर एव, द्वितीयसंघाटकसाधोरपि गुप्ता इत्यर्थः । द्वितीया पुनरुभयपक्षेऽपि लोकोत्तरे वा, पार्श्ववर्तिनो जनस्य संघाटकसत्कद्वितीयसाधोरपि च गुप्तेति भावः ।

तत्र स्वग्रामपरग्रामविषयां प्रकटां दूतीमाह-

भिक्खाई वच्चंतो, अप्पाहणि नेइ खत्तियाईणं ।
सा ते अमुगं माया, सो य पिया ते इमं भणइ ॥

भिक्षाऽऽदौ भिक्षाऽऽदिनिमित्तं चेत्यर्थः, व्रजन्, तस्यैव ग्रामस्य सत्के, संघाटकान्तरे परग्रामे वा (खत्तियाईण) जनन्यादीनाम् । (अप्पाहणिं) संदेशं कथयति । यथा सा ते माता अमुकं भणति, स वा ते पिता इदं भणति ।

संप्रति स्वग्रामपरग्रामविषयां लोकोत्तरे छन्नां दूतीमाह-

दूइत्तं खु गरहियं, अप्पाहिउ बिइयपच्चया भणइ ।
अविकोविया सुया ते, जा इह इमं जणणिं खत्तिं ॥

कोऽपि साधुः कस्याश्चित् पुत्रिकाया अप्पाहितः संदिष्टः सन् एवं चिन्तयति-दूतीत्वं खलु गर्हितं, सावद्यत्वात्, तत एवं विचिन्त्य द्वितीयप्रत्ययाद् द्वितीयसंघाटकसाधुर्मा दूतीदोषदुष्टं संदिदयत्येवमर्थं भङ्ग्यन्तरेणेदं भणति-यथा अविकोविदा अकुशला जिनशासने सा तव सुता, या इह इदं भणमदीया खन्ती जननीमिति । साऽप्यवगतार्थसंदेशका द्वितीयसंघाटकसाधुश्चित्तरक्षणार्थमेव भणति-वारयिष्यामि तां निजसुतां येन पुनरेवं न संदिशतीति ।

संप्रति स्वग्रामपरग्रामविषयामुभयपक्षप्रच्छन्नां दूतीमाह-

उभए वि य पच्छन्ना, खंत कहेज्जाहि खत्तियाएँ तुमं ।
तं तह संजायं ति य, तहेव अह त करेज्जासि ॥

उभयस्मिन्नपि च लोकलोकोत्तररूपे पक्षे प्रच्छन्ना दूती यथा (खंत त्ति) विभक्तिलोपात् खन्तस्य पितुः, अथवा खन्तिकाया जनन्यास्त्वं कथय-यथा तद्विवक्षितं विवक्षितं कार्यं तथैव संजातम् । अथवा- तद् विवक्षितं तथैव कुर्यात् ।

संप्रति प्रकटपरग्रामदूतीमाश्रित्य दोषान् दृष्टान्तेनोपदर्शयति--

गामाण दोण्ह वेरं, सेज्जायरि बूय तत्थ खंतस्स ।
वहुपरियणखंतऽज्ज-स्साणं च नाए कए जुज्झ ॥
जामाइपुत्तपतिमा-रणं च केई कहिंति जणवाओ ।
जामाऽपुत्तपइमा-रणं च खंतेण मे सिट्ठं ॥

विस्तीर्णो नाम ग्रामः, तस्योपकण्ठे गोकुलाभिधो ग्रामः, विस्तीर्णग्रामे च धनदत्तो नाम कुटुम्बी, तस्य भार्या प्रियमती, तस्या दुहिता देवका, सा च तस्मिन्नेव ग्रामे सुन्दरेण परिणीता, तस्याः

पुत्रो वलिष्ठो,दुहिता रेवती। सा च गोकुलग्रामे सगमेन परिणीता, प्रियमती स्वाऽऽयुःक्षयात् पञ्चत्वमुपगता, धनदत्तोऽपि संसारभयभीतः प्रव्रज्यामग्रहीत, गुरुभिश्च सार्द्धं विहरति। ततः कालान्तरे पुनरपि यथाविहारक्रमं तत्रैव ग्रामे समागतो निजदुहितुर्देवक्या वसत्यावसथात्। तदानीं च तयोर्द्वयोरपि ग्रामयोः परस्परं वैरं वर्तते स्म। विस्तीर्णग्रामवासिना च गोकुलेन गोकुलग्रामस्योपरि धाटी सूचिता,धनदत्तश्च तन्निवारणाय ग्रामे भिक्षायै व्रजितवाम्ननो देवक्या दुहित्रा शय्यानर्या प्रणिन यथा हे पित ! त्वं गोकुलग्रामे यास्यसि, ततो निजदौहित्र्या रेवत्याः कथय-यथा तव जनन्या सदिष्टम्-अत्र ग्रामस्योपरि तत्रधाटया समागमिष्यति,ततः सकलमपि स्वकीयमेकान्ते स्थापयेरिति। ततः साधुना तस्यै तस्यै कथितं,तया च निजभर्त्रे,तेन च सकलग्रामस्य कथितम्। ततः सर्वोऽपि ग्राम सन्नद्धबद्धकवचोऽभवत्, आगतश्च द्वितीयदिने धाट्या विस्तीर्णग्रामो,जातं परस्परं महद्युद्धम्,तत्र सुन्दरो वलिष्ठश्च धाट्या सह गतो,सगमश्च गोकुलग्रामे वसति,त्रयोऽपि च युद्धे पञ्चत्वमुपजग्मुः , देवकी च पतिपुत्रजामातृमरणमाकर्ण्य विलपितुं प्रावर्तिष्ट,लोकश्च तन्निवारणाय समागतोऽवादीत-यदि गोकुलग्रामो धाटीमागच्छन्तीं नाज्ञास्यत,ततोऽसन्नद्धो नायोत्स्यत्। तथा च न पत्यादयो म्रियेरन्। नत केन दुरात्मना गोकुलग्रामो ज्ञापित ? एतच्च लोकस्य वचः श्रुत्वा सज्ञातकोपा सैवमवादीत मया अजानन्त्या पिता दुहितुः सदिष्ट,ततस्तेन साधुवेषविडम्बकेन मत्पतिपुत्रजामातृमारकेण पित्रा ज्ञापित। तत च लोके स्थाने स्थाने धिक्कारं लभते,प्रवचनस्य च मालिन्यमुड्डाहादि। दूइ सुगमम्।पिं०।पञ्चा०। ध०। ग०। दर्श०। नि० चू०। दूतत्रिपाद्य च। व्य० १ उ०।

दूईपिंड-दूतीपिण्ड-पुं० । कार्यसङ्घट्टनाय दूत्य गोचरा यति दूतीपिण्डः। द्वितीये उत्पादनादोषे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ए उ०।

जे भिक्खू दूईपिंडं भुंजइ, भुंजतं वा साइज्जइ ॥ ६० ॥

गिहिसंदेसग णेति, आणेति वा, ज तण्णिमित्तं पिंडं लभति, सो दूतीपिंडो।

गाहा-

जे भिक्खू दूतिपिंडं, गेण्हेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे ।

सो आणा अणवत्थ, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१३६॥

अप्पणा गेण्हति, अण्ण वा गेण्हत अणुजाणाति, तस्स आणादिया दोसा, चउलहु च पच्छित्त।

(अमेतनपाठस्तु पिण्डनिर्युक्तिपाठतो गतार्थ)

नवर वितियपदे इमेहिं कारणेहिं करेज्जा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।

अद्धाणरोहए वा, कुज्जा तं वा वि जयणाए ॥१४३॥

पूर्ववत् कण्ठ्या। नि० चू० १३ उ०।

दूण-देशी-हस्तिनि, दे० ना० ५ वर्ग ४४ गाथा।

दूत-दूत-पुं०। अन्येषां ज्ञात्वा राजाऽऽदेशनिवेदके,औ०। रा०। कल्प०। ज्ञा०। भ०।

दूतविज्जा-दूतविद्या-स्त्री० । विद्याभेदे, व्य० १ उ० । काचिद् दूतविद्या भवति, तया च दूतविद्यया यो दूतः आगच्छति, तस्य दशस्थानमापद्यते,तेनेनरस्य दशस्थानमुपशाम्यति। व्य०५उ०।

दूभगसत्ता-दुर्भगसत्त्वा-स्त्री० । दुर्भगः सत्त्वः प्राणी यस्याः सा तथा। दुर्भगप्राणिकायां योषिति, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

दूभगणिंबोलिया-दुर्भगनिम्बगुलिका-स्त्री० । निम्बगुलिकेव निम्बफलमिव अत्यनादेयत्वसाधर्म्याद् दुर्भगानां मध्ये निम्बगुलिका दुर्भगनिम्बगुलिका। दुर्भगत्वान्निम्बगुलिकावदनादेयायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

दुर्भगनिर्वोलिता-स्त्री० । दुर्भगाना मध्ये निर्वोलिता निर्मथिता निमज्जिता दुर्भगनिर्वोलिता । दुर्भगानां मध्ये निमज्जितायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

दूमग-दावक-त्रि० । उपतापके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दूमण-दवन-न० । उपतापने; प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

धवलन-न० । श्वेतीकरणे; व्य० ४ उ० ।

दुर्मनस्-न० । त्रि० । दुष्टमनसि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

दूमिअ-धवलित-त्रि० । " धवलेर्दुमः " ॥ ८ । ४ । २४ ॥ इति धवलयतेर्ण्यन्तस्य दुमादेशे " स्वराणां स्वरा बहुलम् । " ॥८ । ४ । २३८॥ इति दीर्घत्वम् । 'दूमिअ ।' प्रा० ४ पाद । सेट्यादिना श्वेतीकृते, ध० ३ अधि० । कल्प० । ज्ञा० । नि० चू० । दूमिया नाम सुकुमारलेपेन सुकुमारीकृतकुड्या,सेटिकया धवलीकृतकुड्या वा । बृ० १ उ० ।

दूमिय-धवलित-त्रि० । ' दूमिअ ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

दूय-दूत-पुं० । अन्येषां गत्वा राजाऽऽदेशनिवेदके, भ० ७ श० ए उ० । औ० ।

दूयकम्म-दूतकर्म-न० । द्वितीये उत्पादनादोषे, उत्त० २४ अ० । यदा गृहस्थगृहे गुप्तप्रकटसमाचारान् स्वजनाऽऽदीनां कथयित्वाऽऽहारं गृह्णाति तदा दूतकर्माऽऽख्यो द्वितीयो दोषः । उत्त० २४ अ० ।

दूयपलास-दूतपलाश-न० । वाणिजकग्रामनगरस्येशानकोणे स्वनामख्याते चैत्ये, उपा० १ अ० ।

दूयविज्जा-दूतविद्या-स्त्री० । विद्याभेदे, व्य० १ उ० ।

दूर-दूर-त्रि० । विप्रकृष्टे, भ० १ श० १ उ० । नि० चू० । अगोचरे च । भ० २ श० १ उ० । विप्रकर्षे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० । अत्यर्थे च । स० । दीर्घकाले, दूरवर्तित्वान्मोक्षे च । पुं० । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

दूरगइय-दूरगतिक-त्रि० । सौधर्माऽऽदिगतिकेषु, स्था० ८ ठा० ।

दूरपाय-दूरपात-न० । दूरात्पतने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दूरय-दूरग-त्रि० । असमीपवर्तिनि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ०२उ० ।

दूरसुव्वत-दूरश्रूयमाण-त्रि० । दूरे श्रूयमाणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दूरालइय-दूरालयिक-त्रि० । दूरालयो मोक्षस्तन्मार्गो वा, स विद्यते यस्येति मत्वर्थीयष्ठन्,दूरालयिकः । मोक्षगामिनि,आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

दूरालय-दूरालय-पु०। मोक्षे, मोक्षमार्गे च। आचा० १ श्रु० ३ अ० ६ उ०।

दूरवह-दूरवत्-त्रि०। दूरस्थे, आव० ४ अ०।

दूरुहइत्ता-दुरारुह्य-अव्य०। दुष्टमारुह्येत्यर्थे, कपा० २ अ०।

दूरुहमाणी-दुरारोहन्ती-स्त्री०। दुष्टमारोहन्त्याम्, दशा० ५ अ० १ उ०।

दूस-दुष-धा०। दिवा०-पर०-अक०-अनिट्। वैकृत्ये, वाच०। "रुषाऽऽदीनां दीर्घः" ॥ ८। ४। २३५ ॥ इति स्वरस्य दीर्घः। 'दूसइ।' प्रा० ४ पाद। दुष्यति। अदुषत्। अदुदूषत्। वाच०।

दूष्य-न०। तन्तुसन्तानसम्भवे, ज० २ वक्ष०। वस्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। उत्त०। आचा०। आ० म०। नि० चू०। आच्छादनवस्त्रे, औ०। वस्त्रजातौ, जी० ३ प्रति० ४ उ०। चीनांशुकाऽऽदौ च। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। प्रव०।

दूसंतर-दूष्यन्तर-न०। वस्त्ररचितभित्त्यन्तरे, उत्त० १६ अ०।

दूसगणि (ण्)-दूष्यगणिन्-पु०। नन्द्यध्ययनकर्तुर्देववाचकस्य स्वनामख्याते गुरौ, न०।

दूसण-दूषण-न०। दुष-णिच्-ल्युट्। कलङ्के, तं०। रावणस्य मातृष्वस्रेये भ्रातरि च। वाच०।

दूसपट्टपरिपूय-दूष्यपट्टपरिपूत-न०। वस्त्रपट्टगालिते, तं०।

दूसपणग-दूष्यपञ्चक-न०। वस्त्रपञ्चके, दश०।

दुविहं च दूसपणगं, समासओ तं पि होइ नायव्वं।
अप्पडिलेहिय दूसं, दुप्पडिलेहं च विन्नेय ॥ ७ ॥ दश० १ अ०।

अप्पमिलेहियदूसे, तूली उवहाणगं च णायव्वं।
गंडुवधाणाऽऽलिंगिणि, मसूरए चेव पोत्तमए ॥६८४॥

दूष्य वस्त्रं तद् द्विविधम्। अप्रत्युपेक्ष्य, दुष्प्रत्युपेक्ष्यं च। तत्र यत्सर्वथाऽपि न प्रत्युपेक्षितुं शक्यते तदप्रत्युपेक्ष्यम्, यच्च सम्यक् न शक्यते प्रत्युपेक्षितुं तद् दुष्प्रत्युपेक्ष्यम्। तत्र अप्रत्युपेक्षितदूष्यपञ्चकं यथा-तूली हंसरुतभृतो रूतभृतो ऽर्कतूलाऽऽदिभृतो वा विस्तीर्णः शयनीयविशेषः। तथा उपधानकं हंसरोमाऽऽदिपूर्णमुच्छीर्षकम्। तथा उपधानकस्योपरि कपोलप्रदेशे या दीयते सा गण्डोपधानिका, गल्लमसूरिकेत्यर्थः। तथा जानुकूर्पराऽऽदिषु या दीयते सा आलिङ्गिनी। तथा वस्त्रकृतं चर्मकृतं वा वृत्तं रूताऽऽदिपूर्णमासनं मसूरकः। एतानि सर्वाण्यपि पोतमयानि वस्त्रमयानि प्रायेणेति।

अथ दुष्प्रत्युपेक्षितपञ्चकमाह-

पल्हवि कोयवि पावा-रग नवए तह य दाढगाली य।
दुप्पडिलेहियदूसे, एयं बीयं भवे पणगं ॥ ६८५ ॥

पह्नवि, कोयवि., प्रावारक., नवक, तथा दढगालिश्च, एतद् दुष्प्रत्युपेक्षितदूष्यविषयं द्वितीयं पञ्चकं भवेत्।

अथैतदेव व्याख्यानयन्नाह-

पल्हवि हत्थुत्थरणं, कोयवित्रो रूयपूरिओ पडओ।
दढगालि धोयपोती, सेसपसिद्धा भवे भेदा ॥ ६८६ ॥

पह्नविर्हस्त्यास्तरणं हस्तिनः पृष्ठे यदास्तीर्यते, वरक इत्यर्थः। ये चान्ये आस्तरकाऽऽद्वयोऽल्परोमयुक्ता बहुरोमयुक्ता वा ते सर्वेऽप्यन्तर्भवन्ति। यदुक्तं निशीथचूर्णौ-"जे य वड्डा अत्थरगा दुवाइमाणभेदा मउररोमा उब्भूतरोमा वा, ते सव्वे इत्थ निवयति त्ति।" (वड्डा अत्थरग त्ति) य. किल उष्ट्रोपरि न्यस्यते। तथा कोयविको रूतपूरित. पटः, बृहद्दीति यदुच्यते। ये चान्ये उल्वणरोमाणो नैपालकम्बलप्रभृतयस्ते सर्वेऽत्रान्तर्भवन्ति। उक्तं च-"जे अन्ने एवमाइभेदा उल्लणरोमा कम्बलगादि ते सव्वे इत्थ निवयति।" तथा-दढगालिर्धौतपोतिका ब्राह्मणानां सवलिं त्वक्षपरिधानवस्त्रमित्यर्थः। ये चान्ये द्विसरसूत्रपटीप्रभृतयो भेदास्ते सर्वेऽत्र निपतन्ति। उक्तं च-" विरलिमाई भूरिभेदा सव्वे एत्थ निवयंति त्ति।" (विरलिमादि त्ति) दोरियाप्रमुखा, शेषौ च प्रावारकनवकलक्षणौ प्रसिद्धावेव भेदौ। तत्र प्रावरक. सरोमकः पटः। स च माणिकाप्रभृतिक.। अन्ये तु प्रावारको बृहत्कम्बलः परियस्थिर्वेत्याहु.। प्रव० ८ द्वार। बृ०। अप्रतिलेखितदूष्यपञ्चके चैकाशनकम्। असंवधेऽपि तदेव प्रायश्चित्तम्। जीत०।

दूसमा-दुःषमा-स्त्री०। 'दुसमा' शब्दार्थे, भ०६ श०७ उ०।

दूसमित्त-दूष्यमित्र-पुं०। पाटलिपुत्रे मौर्यवंशनाशे सत्यभिषिक्ते स्वनामख्याते राजनि, ती० २० कल्प।

दूसरणाम-दुःस्वरनाम-न०। 'दुसरणाम' शब्दार्थे, कर्म० ६ कर्म०।

दूसरयण-दूष्यरत्न-न०। प्रधानवस्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कल्प०। औ०।

दूसल्ल-देशी-दुर्भगे, दे० ना० ५ वर्ग ४३ गाथा।

दूसह-दुस्सह-पुं०। 'दुसह' शब्दार्थे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

दूसासण-दुःशासन-पु०। " लुप्तयरवशषसां शषसां दीर्घः " ॥ ८। १। ४३ ॥ इति प्राकृतलक्षणवशादुपरि लुप्तशकारस्य शस्याऽऽदेः स्वरस्य दीर्घः। 'दूसासणो।' प्रा० १ पाद। स्वनामख्याते दुर्योधनभ्रातरि, वाच०।

दूसिय-दूषित-त्रि०। दत्तदूषणे, प्राप्तदूषणे, अभियुक्ते, मैथुनापवादयुक्ते, वाच०। औ०।

दूसियपंडग-दूषितपण्डक-पु०। पण्डकभेदे, दूषितपण्डको द्विविध.-आसिक्तः, उपासिक्तश्च। बृ०। उपघातपण्डकोऽपि द्विविधो-वेदोपघाते, उपकरणोपघाते च।

तत्र दूषितं पण्डकं तावद्व्याख्यानयति-

दूसियवेओ दूसिय, दोसु वि वेएसु सज्जए दूसी।
दूमेति सेसवेदो, दोसु व सेविज्जए दूसी ॥

दूषितो वेदो यस्य स दूषितवेदः, एष दूषित उच्यते। द्वयोर्वा नपुंसकपुरुषवेदयो:, अथवा नपुंसकस्त्रीवेदयोर्यः सज्जयति प्रसङ्गं करोति, स प्राकृतशैल्या दूषी भण्यते। यो वा शेषौ स्त्रीपुरुषवेदौ दूषयति निन्दति स दूषी, द्वाभ्यां वा-आस्यकपोलकाभ्यां य. सेव्यते, सेवते वा स दूषी।

अस्यैव भेदानाह-

आसित्तो ऊसित्तो, दुविहो दूसी उ होइ नायव्वो।

आसित्तो सावच्चो, अणवच्चो होइ ऊसित्तो ॥

स दूषी द्विविधो ज्ञातव्यो भवति-आसिक्तः,उपसिक्तश्च ।आसिक्तो नाम-सापत्यो यस्यापत्यमुत्पद्यते, सबीज इति भाव' । यस्तु निरपत्योऽपत्योत्पादने सामर्थ्यविकलो,निर्बीज इत्यर्थ ।स उपसिक्त उच्यते । घृ० ४ उ० । नि० चू० । प०भा०। प०चू० ।

दूसिगा-दूषिका-स्त्री०। दूषयति नेत्र क्लिन्न करोति । दूष-णिच् एवुल् । वाच० । नेत्रयोर्मले, नि० चू० ३ उ० । स्था० ।

दूसद्दल-देशी-दुर्भगे, दे० ना० ५ वर्ग ४३ गाथा ।

दूहट्ट-देशी-लज्जादुर्मनसि, दे० ना० ५ वर्ग ४८ गाथा ।

दूहव-दुर्भग-त्रि० । "उतो दुर्भगसुभगे व" ॥८।२।१९२॥ इति गस्य व । 'दूहवो ।' अल्पभाग्ये, प्रा० १ पाद ।

दे-दे-अव्य० "दे संमुखीकरणे च ।" ॥८।२।१९६॥ संमुखीकरणे सख्या आमन्त्रणे च दे इति प्रयुज्यते । " दे पसिअ ताव सुदरि !, दे आपासिअ निअत्तसु ।" प्रा० २ पाद ।

देअर-देवर-पु० । " कगचजतदपयवा०-॥ ८।१।१७७॥ इत्यादिना वलुक् । 'देअरो ।' प्रा० १ पाद । वाच० । अनु० ।

देउल-दिवकुल-न० । "यावत्तावज्जीविताऽऽवर्तमानाऽवटप्रावारकदेवकुलैवमेवेनः " ॥८।२।२७१॥ इति सस्वरस्य वकारस्यान्तर्वर्तमानस्य वा लुक् । 'देउल ।' प्रा० २ पाद । देवस्थाने, आ० म० १ अ० २ खण्ड । रा० ।

देउलदरिसण-देवकुलदर्शन-न० । देवप्रतिमादर्शने, पिं० ।

देउलिया-देवकुलिका-स्त्री० । यक्षाऽऽदीनामायतने, बृ० १ उ० ३ प्रक० । देवकुलपरिपालके, न० । ओघ० ।

देक्ख-दृश-धा० । भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् । चाक्षुषज्ञाने, वाच० । "दृशो निअच्छपेच्छ०-" ॥८।४।१८१॥ इत्यादिना देक्खाऽऽदेश । 'देक्खइ ।' प्रा० ४ पाद । पश्यति । अदर्शत् । अद्राक्षीत् । वाच० ।

देज्ज-देय-त्रि० । दातु योग्ये, षो० १२ विव० ।

देप्पिणु-दत्त्वा-अव्य० । " एप्प्येप्पिण्वेव्येविणव. " ॥८।४।४४०॥ इत्यपभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्यैप्पिण्वादेश. । दाम कृत्वेत्यर्थे, 'जेप्पि असेसु कसायबलु देप्पिणु अभउ जयस्सु ।' प्रा० ४ पाद । अशेषकषायबलं जित्वा जगतोऽभय दत्त्वा । प्रा० ढु० ४ पाद ।

देयड-दृतिकार-पु० । शिल्पाऽऽचार्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । ज्ञा० ।

देर-द्वार-न० । "द्वारे वा ' ॥८।१।७९॥ इति द्वारशब्दे अ.त एत्वा । 'देर ।' पक्षे-'दुआर । दार । वार ।' निर्गमप्रवेशमुखे, प्रा० १ पाद ।

देल्लमहत्तर-देलमहत्तर-पुं० । सूराऽऽचार्यशिष्ये दुर्गस्वामिगुरौ, अयमाचार्यो ज्योतिर्निमित्तशास्त्रेषु अतिविद्वानासीत् । जै० इ० ।

देव-पु०-न० । देव-पु० । "गुणाऽऽद्य' क्लीवे वा" ॥८।१।३४॥ इति वा क्लीवत्वम । 'देवाणि ।' देवा । प्रा० १ पाद । दीव्यन्ति निरुपमक्रीडामनुभवन्तीति देवा । न० । दश० । स्था० । दीव्यन्ति यथेच्छ क्रीडन्तीति देवा । आ० म० १ अ० १ खण्ड । प्रज्ञा० । स्था० । दीव्यन्ति स्वरूपे इति देवा. । अष्ट० २९ अष्ट० ।

तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा । तं जहा-माणुस्सगं भवं, आरिए खेत्ते जम्मं, सुकुलपच्चायाइं ।

(पीहेज्ज त्ति) स्पृहयेदभिलषेत् । आर्यक्षेत्रमर्द्धषड्विंशतिजनपदानामन्यतर मगधाऽऽदिसुकुले इक्ष्वाक्वादौ देवलोकात्प्रतिनिवृत्तस्याजातिर्जन्म, आयातिर्वा आगतिः, सुकुलप्रत्याजातिः, सुकुलप्रत्यायातिर्वा, तामिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । (देवपरितापः ' परिताव ' शब्दे वक्ष्यते)

इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं देवे चइस्सामि त्ति जाणइ-विमाणाभरणाइं णिप्पभाइं पासित्ता, कप्परुक्खगं मिलायमाणं पासित्ता, अप्पणो तेयलेस्सं परिहायमाणं जाणित्ता ।

विमानाऽऽभरणानां निष्प्रभत्वमौत्पातिक,नष्टचक्षुर्विभ्रमरूपमा(कप्परुक्खग त्ति)चैत्यवृक्षम,(तेयलेस्स ति)शरीरदीप्ति,सुखासिकां वा । 'इच्चेएहिं' इत्यादिनिगमनम । भवन्ति चैवविधानि लिङ्गानि देवाना च्यवनकाले । उक्त च-"माल्यम्लानि कल्पवृक्षप्रकम्प., श्रीह्रीनाशो वाससा चोपराग । दैन्य तन्द्रा कामरागाङ्गभङ्गो, दृष्टेर्भ्रान्तिर्वेपथुश्चारतिश्च ॥ १ ॥" इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । दीव्यन्ति क्रीडाऽऽदिधर्मभाजो भवन्ति,दीव्यन्ते स्तूयन्ते ये ते देवा' । स्था० ४ ठा० १ उ० । " दिवु" क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिष्विति दिवेरच्प्रत्यये देव इति सिद्धम् । दश० १ अ० । भवनपत्यादिषु, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आव० । आ० चू० । दर्श० । ओघ० । पिं० । स० । स्था० । द्वा० । प्रश्न० । औ० । सूत्र० । उत्त० । विशे० । ज्योतिष्कवैमानिकेषु, उत्त० १६ अ० । अनुत्तरसुरान्तेषु, औ० ।

देवानामस्तित्व,संशयवन्तसप्तम गणधर मौर्य प्रत्याह भगवान्महावीर.-

ते पव्वइए सोउं, मोरिओ आगच्छइ जिणसगासं ।
वच्चामि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ १८६४ ॥
आभट्ठो य जिणेण, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।
नामेण य गोत्तेण य,सव्वण्णू सव्वदरिसी णं ।१८६५।

गाथाद्वयमपि प्रकटार्थम् ॥ १८६४ ॥ १८६५ ॥

आभाष्य तत. किमुक्त ?. इत्याह-

किं मण्णे अत्थि देवा,उयाहु नत्थि त्ति संसओ तुज्झ ।
वेयपयाण य अत्थं,न जाणसी तेसिमो अत्थो ।१८६६।

हे आयुष्मन् मौर्य ! त्वमेव मन्यसे-किं देवाः सन्ति, न वेति, उभयथाऽपि वेदपदश्रवणात् ?। तथाहि-"स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोक गच्छति ।" इत्यादि । तथा-"अपाम सोमममृता अभूम,अगमन् ज्योतिरविदाम देवान्,क नूनमस्मात्तृणवदराति ,किमु मूर्तिममृतमर्त्यस्य ।" इत्यादि । तथा'को जानाति मायोपमान् देवान् गीर्वाणानिन्द्रयमवरुणकुबेराऽऽदीन् ।' इत्यादि । एतेषां च वेदपदानामयमर्थस्तव बुद्धौ प्रतिभासते, यथा स एव यज्ञ एव दुरितवारणक्षमत्वादायुध प्रहरण यस्यासौ यज्ञायुधी, यजमानोऽञ्जसा प्रगुणेन न्यायेन स्वर्गलोक गच्छति, इति देवसत्ताप्रतिपत्तिः । तथा अपाम-पीतवन्त , सोम लतारसम, अमृता अमरणधर्माणः, अभूम भूताः स्म, अगमन् गताः, ज्योतिः स्वर्गम्, अविदाम देवान्देवत्वं प्राप्ता स्म, किं नूनमस्मान्वृद्धं तृणवत्करिष्यति, कोऽसावित्या-

हु-अराति. व्याधिः.तथा किमु प्रश्ने,मूर्ति जराम्, अमृतमर्त्यस्येति-अमृतत्व प्राप्तस्य मर्त्यस्य, पुरुषस्येत्यर्थः । अमरणधर्मिणो मनुष्यस्य किं करिष्यन्ति जराव्याधय इति भाव । अत्रापि देवसत्ताप्रतिपत्तिः। "को जानाति मायोपमान्" इत्यादीनि तु देवाभावप्रतिपादकानि, अतस्तव संशयः । अयुक्तश्चायम् । यतोऽमीषां वेदपदानामर्थं त्वं न जानासि,चशब्दाद्युक्तिं च न वेत्सि। एतेषां हि वेदपदानां नायमर्थो, यस्तवाभिप्रेत., किं त्वयं वक्ष्यमाणलक्षण इति ।

अत्र भाष्यम्-

तं मन्नसि नेरइया, परतता दुक्खसंपउत्ता य ।
न तरंतीहागंतुं, सद्धेया सुव्वमाणा वि ॥ १८६७ ॥
सच्छंदयारिणो पुण, देवा दिव्वप्पभावजुत्ता य ।
जं न कयाइ वि दरिसण-मुवेंति तो संसओ तेसु ।।१८६८।

मौर्य ! त्वमेव मन्यसे-नारका स्वकृतपापनरकपालाऽऽदिपरतन्त्राः पराधीनवृत्तयोऽतीवदुःखनघातविह्वलाश्च न शक्नुवन्त्यत्राऽऽगन्तुमतः प्रत्यक्षीकरणोपायाभावात् श्रूयमाणा अपि श्रद्धेया भवन्तु, देवास्तु स्वच्छन्दचारिणो दिव्यप्रभावयुक्ताश्च तथाऽपि यस्मान्न कदाचिद्दर्शनपथमवतरन्ति, श्रूयन्ते च श्रुतिस्मृत्यादिषु, अतस्तेषु शङ्केति ॥ १८६७ ॥ १८६८ ॥

अत्रोत्तरमाह-

मा कुरु संसयमेए, सुदूरमणुयाइभिन्नजाईए ।
पेच्छसु पच्चक्खं चिय, चउव्विहे देवसंघाए ।।१८६९।।

मौर्यपुत्र ! देवेषु मा संशय कार्षीस्त्वम्,एतानेव हि सुदूरमत्यर्थं मनुजाऽऽदिभ्यो भिन्नजातीयान् दिव्याऽऽभरणाविलेपनवसनसुमनोमालाऽलङ्कृतान् भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकरूपाणांश्चतुर्विधदेवसंघातान् मम वन्दनार्थमिहैव समवसरणाऽऽगतान् प्रत्यक्षत एव पश्येति ॥ १८६९ ॥

अथैतद्दर्शनात्पूर्वं य आसीत्संशय', स युक्तोऽभवत्।

नैवम् । कुत. ?, इत्याह-

पुव्वं पि न संदेहो, जुत्तो जं जोइसा सपच्चक्ख ।
दीसंति तक्कया वि य, उवघायाणुग्गहा जगओ ।१८७०।

इह समवसरणाऽऽगतदेवदर्शनात्पूर्वमपि तवान्येषां च संशयो न युक्तो, यद्यस्माच्चन्द्राऽऽदित्याऽऽदिज्योतिष्कास्त्वया सर्वेणापि च लोकेन स्वप्रत्यक्षत एव सर्वथा दृश्यन्ते, अतो देशत. प्रत्यक्षत्वात् कथ समस्तामराभावाशङ्का ? । किं च- सन्त्येव देवाः, लोकस्य तत्कृतानुग्रहोपघातदर्शनात्। तथाहि- दृश्यन्ते क्वचित्केचित्रिदशाः कस्याऽपि किञ्चिद्विभवप्रदानाऽऽदिनाऽनुग्रहं,तत्प्रहरणाऽऽदिना चोपघात कुर्वन्त., ततो राजाऽऽदिवत्कथमेते न सन्तीति ॥ १८७० ॥

पुनरपि परमाशङ्क्य ज्योतिष्कदेवास्तित्व साधयन्नाह-

आलयमेत्तं च मई, पुर व तव्वासिणो तह वि सिद्धा ।
जे ते देव त्ति मया, न य निलया निच्चपरिसुण्णा ।१८७१।

अथैवंभूता मति परस्य भवेत्-आलया एव आलयमात्र चन्द्राऽऽदिविमानानि, न तु देवा , तत्कथ ज्योतिष्कदेवानां प्रत्यक्षत्वमभिधीयते ?। किं तद्यथा आलयमात्रमित्याह-(पुर ति) यथा पुर शून्य लोकानामालयमात्रं स्थानमात्र,न तु तत्र लोका. सन्ति,एवं चन्द्राऽऽदिविमानान्यप्यालयमात्रमेव,न तु तत्र देवाः केचिन्निवसन्ति, अत कथ तेषां प्रत्यक्षत्वम् ? । अत्रोत्तरमाह-तथाऽपि तद्वासिन आलयवासिनः सामर्थ्यात्ते सिद्धास्ते देवा इति मताः संमता । यो ह्यालय' स सर्वोऽपि तन्निवासिना अधिष्ठितो दृष्ट',यथा प्रत्यक्षोपलभ्यमाना देवदत्ताऽऽद्यधिष्ठिता वसन्तपुराऽऽद्यालया', आलयाश्च ज्योतिष्कविमानान्यत आलयत्वान्यथानुपपत्तेर्ये तन्निवासिनः सिद्धास्ते देवा इति मता' । आह ननु कथं ते देवाः सिद्ध्यन्ति ?, यादृशा हि प्रत्यक्षेण देवदत्ताऽऽदयो दृश्यन्ते तेऽपि तादृशा एव स्युरिति । तदयुक्तम् । विशिष्टा हि देवदत्ताद्यालयेभ्यश्चन्द्राद्यालया इत्यतस्तन्निवासिनोऽपि विशिष्टा. सिध्यन्ति, ते च देवदत्ताऽऽदिविलक्षणा देवा इति।

अपरस्त्वाह-नन्वालयत्वादित्यय हेतुस्तन्निवासिजनसाधनेऽनैकान्तिक , शून्याऽऽलयैर्व्यभिचारात् । अत्रोत्तरमाह-(न य निलयेत्यादि) न च निलया आलया नित्यमेव शून्या भवन्ति। अयमभिप्राय -ये केचिदालयास्ते प्राग्, इदानीमेष्यति वा कालेऽवश्यमेव तन्निवासिभिरधिष्ठिता एव भवन्ति, न तु नित्यमेव परिशून्या । ततो यदा तदा वा चन्द्राऽऽद्यालयनिवासिनो देवा. सिध्यन्ति, इति ॥ १८७१ ॥

पुनरप्यत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहारमाह-

को जाणइ व किमेयं, ति होज्ज निस्संसयं विमाणाइं ।
रयणमयनभोगमना-दिह जह विज्जाहराईणं ।।१८७२।।

यदि वा एवंभूता मति परस्य भवेद्युत-चन्द्राऽऽद्यालयत्वेन यदीयते नवक्विस्तदिद को जानाति किञ्चिद्भवेत्किं सूर्योऽग्निमयो गोलश्चन्द्रस्त्वम्बुमयः स्वभावत. स्वच्छ , आहोस्विदेवंभूता एवैते भास्वररत्नमया गोलका ज्योतिष्कविमानान्यत. कथमेतेषामालयत्वसिद्धिः? । अत्र प्रतिविधानमाह- निःसंशय विमानान्येतानि, रत्नमयत्वे सति नभोगमनात्, पुष्पकाऽऽदिविद्याधरतपःसिद्धिविमानवदिति । अत्र विद्याधरपवनाऽऽदिव्यवच्छेदार्थं रत्नमयत्वविशेषणमिति ॥ १८७२ ॥

अपरमपि पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

होज्ज मई मायं, तहा वि तक्कारिणो सुरा जे ते ।
न य मायाइविगारा, पुर व निच्चोवलंभाओ ।।१८७३।।

अथ परस्य मतिर्भवेन्नैते चन्द्राऽऽदिविमानान्यालया , किं तु मायेय मायाविना केनाऽपि प्रयुक्ता । अत्रोच्यते-मायात्वममीषामसिद्ध, वाङ्मात्रेणैव भवताऽभिधानात्तथाऽप्यभ्युपगम्योच्यते, ये तत्कारिण तथाविधमायाप्रयोक्तारस्ते सुराः सिद्धा एव, मनुष्याऽऽदीनां तथाविधवैक्रियकरणादर्शनात्, अभ्युपगम्य च मायात्वममीषामभिहित, न चैते मायाऽऽदिविकारा , नित्योपलम्भात्, सर्वेण सर्वदा दृश्यमानत्वादित्यर्थ , प्रमिरूपाटलिपुत्राऽऽदिपुरवदिति । मायेन्द्रजालकृतानि हि वस्तूनि न नित्यमुपलभ्यन्त इति नित्यविशेषणोपादानमिति ॥ १८७३ ॥

प्रकारान्तरेणाऽपि देवास्तित्व साधयन्नाह-

जइ नारगा पवन्ना, पगिट्ठपावफलभोइणो तेणं ।
सुबहुगपुण्णफलभुजो, पवत्तियव्वा सुरगणा वि ।१८७४।

इह स्वकृतप्रकृष्टपापफलभोगिनस्तावत्कचिन्नारका. प्रतिपत्तव्या , ते च यदि प्रपन्ना (तेण ति) तर्हि तेनैव प्रकारेण स्वोपार्जितसुष्ठुबहुकपुण्यफलभुजः सुरगणा अपि प्रतिपत्तव्या । अत्राऽऽह-नन्विहैवातिदुःखितनरास्तिर्यञ्चश्चातिदुःखिता प्रकृष्ट-

पापफलभुजो भविष्यन्ति, तथा मनुष्या एवातिसुखिता. प्रकृष्टपुण्यफलभुजो भविष्यन्ति, किमदृष्टनारकदेवपरिकल्पनयेति ?। तदयुक्तम् । प्रकृष्टपापफलभुजां सर्वप्रकारेणापि दुःखेन भवितव्यम्, न चातिदुःखितानामपि नरतिरश्चां सर्वप्रकार दुःख दृश्यते, सुखदपवनाऽऽश्लोकाऽऽदिसुखस्य सर्वेषामपि दर्शनात् । प्रकृष्टपुण्यफलभुजामपि सर्वप्रकारेणापि सुखेन भवितव्यम्, न चेहातिसुखितानामपि नराणां सर्वप्रकार सुखमवलोक्यते, पूतिदेहोद्भवस्य रोगजराऽऽदिप्रभवस्य च दुःखस्य तेषामपि सद्भावात्, तस्मात्प्रकृष्टपापनिबन्धनसर्वप्रकारदुःखवेदिनो नारका, प्रकृष्टपुण्यहेतुकसर्वप्रकारसुखभोगिनो देवाश्चाभ्युपगन्तव्या एवेति ॥ १८७४ ॥

ननु यदि देवा सन्ति, तर्हि स्वच्छन्दचारिणोऽपि किमित्यत्र ते कदाचिदपि नाऽऽगच्छन्तीत्याह-

संकंतदिव्वपेम्मा, विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा ।

अणहीनमणुयकज्जा, नरभवमसुभं न एंति सुरा ॥१८७५॥

नाऽऽगच्छन्तीह सदैव सुरगणा, संक्रान्तदिव्यप्रेमत्वाद्विषयप्रसक्तत्वात्, प्रकृष्टरूपाऽऽदिगुणकामिनीप्रसक्तदेशान्तरगतपुरुषवत्; तथाऽसमाप्तकर्तव्यत्वात्, बहुकर्तव्यताप्रसाधननियुक्तविनीतपुरुषवत् । तथा अनधीन मनुजानां कार्यं येषां तेऽनधीनमनुजकार्या, तद्भावस्तत्त्व, तस्मान्नेहाऽऽगच्छन्ति सुराः, अनभिमतगेहाऽऽदौ निःसङ्गयतिवदिति । तथा अशुभत्वाद् नरभवस्य तद्गन्धासहिष्णुतया नेहाऽऽगच्छन्ति देवा, स्वपरित्यक्तकलेवरवदिति ॥ १८७५ ॥

तर्हि किं सर्वथा तेऽत्र नाऽऽगच्छन्ति ?, नैवम्, अत एवाऽऽह-

नवरि जिणजम्मदिक्खा-केवलनिव्वाणमहनिओगेण ।

भत्तीए सोम्म ! संसय विच्छेयत्थं व एज्ज सुरा ॥१८७६॥

पुव्वाणुरागओ वा, समयनिबंधा तवोगुणाओ वा ।

नरगणपीडाऽणुग्गह-कंदप्पाईहिँ वा केइ ॥ १८७७ ॥

नवरं जिनजन्मदीक्षाकेवलनिर्वाणमहोत्सवनियोगेन तत्कर्तव्यतानियमेनेह देवा आगच्छेयुः । तत्र सौम्य ! केचिदिन्द्राऽऽदयो निजभक्त्या समागच्छन्ति, केचित्तु तदनुवृत्त्या, अन्ये संशयव्यवच्छेदार्थम्, अपरे तु पूर्वभविकपुत्रमित्राऽऽद्यनुरागात्, समयनिबन्ध प्रतिबोधाऽऽदिनिमित्त सकेतनिश्चय, तस्माच्च केचिद्देवा इहाऽऽगच्छन्ति, अन्ये तु महासत्त्वसाध्वादितपोगुणसमाकृष्टाः, केचित्तु पूर्ववैरिकनरगणपीडार्थम्, अपरे तु पूर्वसुहृत्पुत्राऽऽद्यनुग्रहार्थम्, केचिद्देवा कन्दर्पाऽऽदिभिरिहाऽऽगच्छन्ति । आदिशब्दात्साध्वादिपरीक्षाहेतोरिति दृष्टव्यमिति । तदेव निरूपित देवानामत्राऽऽगमनकारणम्, अनागमनकारण च ॥ १८७६॥१८७७ ॥

अथ देवसिद्धावन्यदपि कारणमाह-

जाइस्सरकहणाओ, कासइ पच्चक्खदरिसणाओ य ।

विज्जामंतोवायण-सिद्धीओ गहविगाराओ ॥ १८७८ ॥

उक्किट्ठपुण्णसंचय-फलभावाओऽभिहाणसिद्धीओ ।

सव्वाऽऽगमसिद्धाओ, य संति देव त्ति सद्धेय ॥१८७९॥

सन्ति देवा इत्येतत् श्रद्धेयमिति प्रतिज्ञा, जातिस्मरणप्रत्ययितपुरुषेण कथनात्, नानादेशविचारिप्रत्ययितपुरुषावलोकितकथितविचित्रवृहद्देवकुलाऽऽदिवस्तुवत् । तथा कस्याऽपि तप प्रभृतिगुणयुक्तस्य प्रत्यक्षदर्शनप्रवृत्तेश्च, केनचित्प्रत्यक्षप्रमाणेनोपलम्भादित्यर्थः । दूरविप्रकृष्टनगराऽऽदिवत् । तथा विद्यामन्त्रोपयाचनेभ्य कार्यसिद्धेः, प्रसादफलानुमितराजाऽऽदिवत् । तथा (गहविगाराउ त्ति) अत्र प्रयोगः-ग्रहाधिष्ठितपुरुषदेहो जीवव्यतिरिक्तादृश्यवस्त्वधिष्ठातृकः, पुरुषासमान्यविकारवत्क्रियादर्शनात्, सञ्चरिष्णुयन्त्रव्यतिरिक्तमध्यप्रविष्टादृश्यमानपुरुषाधिष्ठितयन्त्रवत् । तथा तपोदानाऽऽदिक्रियासमुपार्जितोत्कृष्टपुण्यसंभारफलसद्भावात्, उत्कृष्टपापप्राग्भारफलसद्भावनिश्चितनारकवत् । एतच्च प्रागेव भावितम् । तथा देवा इति यदभिधानं ततोऽपि च देवानां सिद्धि । एतच्चानन्तरगाथायां व्यक्तीकरिष्यते । तथा सर्वे च ते आगमाश्च सर्वाऽऽगमास्तेष्वविप्रतिपत्त्या सिद्धत्वाच्च सन्ति देवा इति ॥ १८७८ ॥ १८७९ ॥

यदुक्तम्-"अभिहाणसिद्धीओ (१८७६) त्ति" तद्भावयन्नाह-

देव त्ति सत्थयमिदं सुद्धत्तणओ घडाभिहाणं व ।

अह व मई मणुओ च्चिय, देवो गुणरिद्धिसंपन्नो ॥१८८०॥

तं न जओ तच्चत्थे, सिद्धे उवयारओ मया सिद्धी ।

तच्चत्थसीहसिद्धे, माणवसीहोवयारो व्व ॥१८८१॥

'देवा' इत्येतत्पद सार्थक, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदत्वात्, घटाऽऽदिवत् । तत्र दीव्यन्तीति देवा इति व्युत्पत्तिमत्त्वम्, समासतद्धितरहितत्वेन च शुद्धत्वम् । भावना चात्र प्रागुक्तैव । अथ परस्य मतिर्भवेन्ननु मनुष्य एवेह दृश्यमानो देवो भविष्यति, किमदृष्टदेवकल्पनया ? । किं सर्वोऽपि मनुष्यो देव इति । नेत्याह-गुणसंपन्नो गणधराऽऽदिः, रिद्धिसंपन्नश्चक्रवर्त्यादिः । अत्रोच्यते-तदेतन्न यस्मात्तथ्ये मुख्ये वस्तुनि क्वचित्सिद्धे सत्यन्यत्रोपचारतस्तत्सिद्धिर्मता, यथा मुख्ये यथार्थे सिंहेऽन्यत्र सिद्धे ततो माणवके सिंहोपचारः सिध्यति, एवमिहापि यदि मुख्या देवाः क्वचित्सिद्धा भवेयुस्तदा राजाऽऽदेर्देवोपचारो युज्यते, नान्यथेति ॥ १८८० ॥ १८८१ ॥

देवाभावे चाग्निहोत्रक्रियाणां वैफल्यमिति दर्शयन्नाह-

देवाभावे विफलं, जमग्गिहोत्ताइयाण किरियाणं ।

सग्गीयं जन्नाण य, दाणाइफलं च तदजुत्तं ॥१८८२॥

वा इत्यथवा, इद दूषणम्-देवाभावेऽभ्युपगम्यमाने, यदग्निहोत्रादिक्रियाणाम्, "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादिना स्वर्गीय फलमुक्त, तथा यज्ञाना च यत्फलमभिहित, दानाऽऽदिफलं च यत्समस्तलोकेप्रसिद्धम्, तत्सर्वमयुक्त प्राप्नोति । स्वर्गो ह्येतेषां फलमुक्त स्वर्गिणां चाभावे कुतः स्वर्ग इति । "स एष यज्ञायुधी" इत्यादीनि च वेदवाक्यानि देवास्तित्वप्रतिपादनपराणि वर्त्तन्ते । अत किं तान् न प्रतिपद्यसे ? । यदपि "को जानाति मायोपमान् गीर्वाणानिन्द्रयमवरुणकुबेराऽऽदीन्" इत्यादि वाक्य, तदपि न देवानां नास्तित्वाभिधायक, किन्तु सुराणामपि मायोपमत्वाभिधानेन शेषर्द्धिसमुदायानां सुतरामनित्यत्वप्रतिपादकं बोद्धव्यम् । अन्यथा हि देवास्तित्वप्रतिपादकवाक्यानि, श्रुतिमन्त्रपदैरिन्द्राऽऽदीनामाह्वान चानर्थक स्यात् ॥ १८८२ ॥

एतदेवाऽऽह-

जमसोमसूरसुरगुरु-साराज्जाईणि जयइ जन्नेहिं ।

मंतावाहणमेव य, इंदाईणं विहा सव्व ॥ १८८३ ॥

यमेत्यादि पूर्वार्द्धस्यायमर्थः-यक्ष्यपोमजिप्रभृतिकतुनिर्यथाश्रुति "यम-सोम सूर्य-सुरगुरु स्वाराज्यानि जयति" इत्यादीनि देवा

स्तित्वसूचकानि वेदवाक्यानि देवाभावे वृथैव स्युः । इह चो-क्थषोडशप्रभृतयो यज्ञविशेषा मन्तव्याः, स यूपो यज्ञ एव हि क्रतुरुच्यते, यूपरहितस्तु दानाऽऽदिक्रियायुक्तो यज्ञ इति । स्व. स्वर्गस्तत्र राज्यानि जयत्युपूर्जयतीत्यर्थ इति । तथा मन्त्रैरिन्द्राऽऽदीनामाह्वानं देवास्तित्व एवोपपद्यते,अन्यथा वृथैव स्यात् । इन्द्राऽऽदीनां मन्त्रपदैराह्वानमेवमवगन्तव्यम्-" इन्द्र ! आगच्छ मेधातिथे मेषवृषण ।" इत्यादि । तस्माद्युक्तितो वेद-वाक्येभ्यश्च सन्ति देवा इति स्थितम् । तदेवं छिन्नो मौर्यपुत्रस्य भगवता संशयः ॥१८७३॥ विशे० । सूत्र० । स्था० । आ० म० ।

देवानां स्वरूपं यथा-

अमिलायमल्लदामा, अणिमिसनयणा य नीरजसरीरा ।
चउरंगुलेण भूमिं, न छिवंति सुरा जिणो कहइ ॥

सुरा देवाश्चतुर्निकायभाविनोऽपि अम्लानमाल्यदामानः,तथा न विद्यते निमेषो येषां ते, अनिमेषे नयने येषां ते अनिमेषन-यनाः, तथा नीरजा निर्मलं शरीरं येषां ते नीरजशरीराः । चतुरङ्गुलेन चतुर्भिरङ्गुलैर्भूमिं न स्पृशन्ति इति जिनः सर्वज्ञः कथयति । व्य० १ उ० ।

देवा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-एगसरीरी चेव,बिसरीरी चेव । स्था० २ ठा० २ उ० ।

देवाश्चतुर्विधास्तद्यथा-

से किं तं देवा ? । देवा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-भवणवासी, वाणमंतरा, जोइसिया, वेमाणिया ॥

(से किं तमित्यादि) अथ के ते देवाः ? । सूरिराह-देवाश्चतुर्वि-धाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-भवनवासिनो,व्यन्तराः,ज्योतिष्काः,वैमा-निकाः । प्रज्ञा० १ पद । नं० । स० । जी० । उत्त० ।

देवानाह-

देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमिज्ज वाणमंतर, जोइस वेमाणिया तहा ॥ २०३ ॥

देवा उक्तनिरुक्ताश्चतुर्विधाश्चतुष्प्रकारा उक्ताः, तीर्थकराऽऽदि-भिरिति गम्यते । 'ते' इति तान् देवान् मे मम कीर्तयतः प्रति-पादयतः शृणु-आकर्णय शिष्य प्रतीदमाह । तत्कीर्त्तनं भवन-भेदाभिधानं विनेति । तद्भेदानाह-(भोमिज्ज त्ति) भूमौ पृ-थिव्यां भवा भौमेयका भवनवासिनः, रत्नप्रभापृथिव्यन्तर्भूत-त्वाद् भवनानाम् । उक्तं हि-" इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणस-हस्समोगाहित्ता हेट्ठा चेगम्मि जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अ-ट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं भवणवासीणं देवाणं स-त्तभवणकोडीओ बावत्तरिं च भवणवाससयसहस्सा हवंती-ति मक्खायं ।" (वाणमंतर त्ति) आर्षत्वाद्विविधान्यन्तरा-ण्युत्कर्षापकर्षाऽऽत्मकविशेषरूपाणि निवासभूतानि वा गिरि-कन्दरविवराऽऽदीनि येषां तेऽमी व्यन्तराः । उक्तं हि-" ते ह्यधस्तिर्यगूर्ध्वं च त्रीनपि लोकान् स्पृशन्तः स्वातन्त्र्यात् परा-भियोगाच्च प्रायेण प्रतिपन्ननियतगतिप्रचारा मनुष्यानपि कांश्चिद् भृत्यवदुपचरन्ति तथाविधेषु च शैलकन्दरान्त-रवनविवराऽऽदिषु प्रतिवसन्त्यतो व्यन्तरा इत्युच्यन्ते । (जो-इस त्ति) द्योतयन्त इति ज्योतींषि विमानानि, तन्निवासित्वा-द्देवा अपि ज्योतींषि, ग्राम समागत इत्यादौ तन्निवासिजन-ग्रामवत् । विशेषेण मानयन्त्युपभुञ्जन्ति सुकृतिन एतानीति विमानानि,तेषु भवा वैमानिकाः । तथेति समुच्चये,इति सूत्रार्थः ।

एतानेवोत्तरभेदानाह-

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वाणमंतरा ।
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥ २०४ ॥

दशधा त्विति दशधैव (भवणवासि त्ति) भवनेषु वस्तु शीलमेषामिति भवनवासिनः, अष्टधा अष्टप्रकारा वनेषु विवि-धोपवनाऽऽदिषूपलक्षणत्वादन्येषु च विविधाऽऽस्पदेषु क्री-डैकरसिकतया चरितुं शीलमेषामिति वनचारिणो व्यन्तराः, पञ्चविधाः पञ्चप्रकाराः (जोइसिय त्ति) ज्योतिःषु विमा-नेषु भवा ज्योतिष्काः, ज्योतींष्येव वा ज्योतिष्काः, द्विविधा वैमानिकास्तथेति सूत्रार्थः ।

एतानेव नामग्राहमाह-

असुरा नाग सुवन्ना, विज्जू अग्गी विआहिया ।
दीवोदहिदिसा वाया, थणिया भवणवासिणो ॥ २०५ ॥
पिसाय भूय जक्खा य, रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा ।
महोरगा य गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमंतरा ॥ २०६ ॥
चंदा सूरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा ।
दिसाविचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥ २०७ ॥
वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोद्धव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥ २०८ ॥
कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा ।
सणंकुमारमाहिंद-बंभलोगा य लंतगा ॥ २०९ ॥
महासुक्कसहस्सारा, आणया पाणया तहा ।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥ २१० ॥
कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
गेवेज्जाऽणुत्तरा चेव, गेवेज्जा नवविहा तहिं ॥ २११ ॥
हिट्ठिमाहेट्ठिमा चेव, हेट्ठिमामज्झिमा तहा ।
हेट्ठिमाउवरिमा चेव, मज्झिमाहिट्ठिमा तहा ॥२१२॥
मज्झिमामज्झिमा चेव, मज्झिमाउवरिमा तहा ।
उवरिमाहिट्ठिमा चेव, उवरिमामज्झिमा तहा ॥२१३॥
उवरिमाउवरिमा चेव, इइ गेवेज्जगा सुरा ।
विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया ॥ २१४ ॥
सव्वट्ठसिद्धगा चेव, पंचहाऽणुत्तरा सुरा ।
इइ वेमाणिया एए-ऽणेगहा एवमादओ ॥ २१५ ॥

सूत्राण्येकादश प्रायः प्रतीतान्येव, नवरम्, असुरा इत्य सुरकुमाराः । एवं नागाऽऽदिष्वपि कुमारशब्दः सबन्धनीयः । सर्वेऽपि ह्यमी कुमाराऽऽकारधारिण एव । यथोक्तम्-कुमारवदेव कान्तदर्शना सुकुमारा मृदुमधुरललितगतयः शृङ्गाराभिजा-तरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभाषाऽऽभरणप्रहरणावर-यानवाहनाः कुमारवच्चोल्वणरागाः क्रीडनपराश्चेत्यतः कुमारा इत्युच्यन्ते । (तारागणा इति) प्रकीर्णतारकासमूहाः, दिशासु

विशेषेण मेरुप्रादक्षिण्यनित्यचारितालक्षणेन चरन्ति परिभ्रमन्तो-ऽपेयशीला दिशाविचारिण, तद्विमानानि ह्येकादशभिरेकविंशैर्योजनशतैर्मेरोश्चतसृष्वपि दिक्ष्वबाधया सततमेव प्रदक्षिणं चरन्तीति, तेऽप्येवमुक्ता ज्योतींष्युक्तन्यायतो विमानान्यालया आश्रया येषां ते ज्योतिरालया, कल्प्यन्ते इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशाऽऽदिदशप्रकारत्वेन विभज्यन्ते देवा एतेष्विति कल्पा देवलोका, तानुपगच्छन्त्युत्पत्तिविषयतया प्राप्नुवन्तीति कल्पोपगा, कल्पानुक्तरूपानतीतास्तदुपरिवर्तिस्थानोत्पन्नतयाऽतिक्रान्ता कल्पातीता । (सोहम्मीसाणग त्ति) सुधर्मा नाम शक्रस्य सभा, साऽस्मिन्नस्तीति सौधर्म्मः कल्प, स एवामवस्थितिविषयोऽस्तीति सौधर्मिण । तथा ईशानो नाम द्वितीयदेवलोक, तन्निवासिनो देवा अपि ईशाना, त एवेशानका । एवमुत्तरत्रापि व्युत्पत्ति कार्या । ग्रीवेव ग्रीवा लोकपुरुषस्य त्रयोदशरज्जूपरिवर्तिप्रदेश, तन्निविष्टतयाऽतिभ्राजिष्णुतया च तदाभरणभूता ग्रैवेयका देवाऽऽवासा, तन्निवासिनो देवा अपि ग्रैवेयका । न विद्यन्त उत्तरा प्रधाना स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याऽऽदिभिरेभ्योऽन्ये देवा इत्यनुत्तरा । (हेट्ठिम त्ति) अधस्तनानुपरितनपङ्क्त्यपेक्षया प्रथमास्त्रयस्तत्रापि (हेट्ठिम त्ति) अधस्तना अधस्तनाधस्तना प्रथमत्रिकाधोवर्तिन, (हेट्ठिममज्झिमा तह त्ति) अधस्तनमध्यमा प्रथमत्रिकमध्यवर्तिन (हेट्ठिमाउवरिमा चेव त्ति) अधस्तनोपरितना प्रथमत्रिकोपरिवर्तिना मध्ये तत्रा मध्यमा मध्यमत्रिकवर्तिन, तेष्वपि अधस्तना एव मध्यममध्यमा मध्यमोपरितना उपरिवर्तिनस्तेष्वधस्तना उपरितनाधस्तना । एव उपरितनमध्यमा उपरितनोपरितना । इति भेदसमाप्तौ । तत एवामवस्थेदा एव 'ग्रैवेयका' सुरा । अभ्युदयविघ्नहेतून् विजयन्त इति विजया, तथैव वैजयन्ताः " उणादयो बहुलम् " ॥ ३ । ३ । १ ॥ इति बहुलवचनात् चप्रत्यये उपसर्गाकार । एव जयन्ता । अपरैरन्यैरभ्युदयविघ्नहेतुभिरजिता अनभिभूता अपराजिता, सर्वेऽर्था सिद्धा इव सिद्धा येषां ते सर्वार्थसिद्धा, ते हि विजितप्रायकर्म्माण उपस्थितभद्रा एव तत्रोत्पत्तिभाज इतीत्यादीनि निगमनम । अत्र च वैमानिका इति वैमानिकभेदाः सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदनन्यत्वात्, एवमादय इति । आदिशब्दस्य प्रकारवचनत्वादेवप्रकारा इत्येकादशसूत्रार्थ. ।

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे परिकित्तिया ।
एत्तो कालविभाग तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥२१६॥
संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ २१७ ॥

त्रयकालाभिधायिसूत्रद्वय प्राग्वत् सादिसपर्यवसितत्वभावनार्थम ।

साहियं सागरं एक्कं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
भोमेज्जाण जहन्नेणं, दस वाससहस्सिया ॥२१८॥
पलिओवममेगं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
वतराण जहन्नेण, दस वाससहस्सिया ॥ २१९ ॥
पलिओवममेगं तु, वासलक्खेण साहियं ।
पलिओवमट्ठभागो, जोइसेसु जहन्निया ॥ २२० ॥
दो चेव सागराइ, उक्कोसेणं वियाहिया ।
सोहम्मम्मि जहन्नेणं, एगं च पलिओवमं ॥ २२१ ॥
सागरा साहिया दोन्नि, उक्कोसेणं वियाहिया ।
ईसाणम्मि जहन्नेणं, साहियं पलिओवमं ॥ २२२ ॥
सागराणि अ सत्तेव, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
सणंकुमारे जहन्नेणं, दोण्णिओ सागरोवमा ॥ २२३ ॥
साहिया सागरा सत्त, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
माहिंदम्मि जहन्नेणं, साहिया दुन्नि सागरा ॥ २२४ ॥
दस चेव सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
बंभलोए जहन्नेण, सत्तओ सागरोवमा ॥ २२५ ॥
चउद्दस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
लंतगम्मि जहन्नेणं, दसओ सागरोवमा ॥ २२६ ॥
सत्तरस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
महासुक्के जहन्नेण, चोद्दस सागरोवमा ॥ २२७ ॥
अट्ठारस सागराइ, उक्कोसेण ठिई भवे ।
सहस्सारे जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥ २२८ ॥
सागराऊ अउणवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
आणयम्मि जहन्नेण, अट्ठारस सागरोवमा ॥ २२९ ॥
वीसं तु सागराइ, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
पाणयम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणवीसई ॥ २३० ॥
सागरा एक्कवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
आरणम्मि जहन्नेणं, वीसई सागरोवमा ॥ २३१ ॥
बावीसा सागराइ, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
अच्चुयम्मि जहन्नेण, सागरा इक्कवीसई ॥ २३२ ॥
तेवीस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
पढमम्मि जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥ २३३ ॥
चउवीस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
बिइयम्मि जहन्नेणं, तेवीसं सागरोवमा ॥ २३४ ॥
पणवीस सागराइ, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
तइयम्मि जहन्नेण, चउवीसं सागरोवमा ॥ २३५ ॥
छव्वीस सागराइं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
चउत्थम्मि जहन्नेणं, सागरा पणवीसई ॥ २३६ ॥
सागरा सत्तवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
पंचमम्मि जहन्नेणं, छव्वीसं सागरोवमा ॥ २३७ ॥
सागरा अट्ठवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
छट्ठम्मि जहन्नेणं, सागरा सत्तवीसई ॥ २३८ ॥
सागरा अउणवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
सत्तमम्मि जहन्नेणं, सागरा अट्ठवीसई ॥ २३९ ॥
तीसं तु सागराइ, उक्कोसेण ठिई भवे ।
अट्ठमम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणतीसई ॥ २४० ॥
सागरा इक्कतीसं तु, उक्कोसेण वियाहिया ।
नवमम्मि जहन्नेणं, तीसई सागरोवमा ॥ २४१ ॥

बत्तीस सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
चउसुं पि विजयाईसु, जहन्ना इक्कतीसई ॥ २४२ ॥
अजहएणमणुक्कोसं, तेत्तीसं सागरोवमा ।
महाविमाणे सव्वट्ठे, ठिई एसा वियाहिया ॥ २४३ ॥
जा चेव य आउठिई, देवाणं तु वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई, जहएणमुक्कोसिया भवे ॥ २४४ ॥

सप्तविंशतिसूत्राणि प्रायो निगदसिद्धान्येव, नवरं (साहिय त्ति) प्राकृतत्वात् साधिकम् । (सागरं इति) सागरोपममेकम्, उत्कृष्टेन स्थितिर्भवति । भौमेयकानां भवनवासिनाम् इयं च सामान्योक्तावप्युत्तरनिकायाधिपस्य बलेरेवावगन्तव्या । दक्षिणनिकाये त्विन्द्रस्यापि सागरोपममेव । उक्तं हि- "चमर बलि सागरमहियं ति ।" जघन्येन दशवर्षसहस्राणि प्रमाणमस्या दशवर्षसहस्रिका । इयमपि सामान्योक्तावपि कियत्त्वषाणामेव स्थितिप्रभावाऽऽदीनां देवेषु सहैव ह्रासादित्युत्तरत्रापि भावनीयम् । तथा पल्योपमवर्षलक्षाधिकमिति । ज्योतिषामुत्कृष्टस्थित्यभिधानम्, चन्द्रापेक्षम्, सूर्यस्य तु वर्षसहस्राधिकं पल्योपममायुः । ग्रहाणामपि तदेव नातिरिक्तं, नक्षत्राणां तस्यैवार्द्धं, तारकाणां तच्चतुर्भागः, तथा पल्योपमाष्टभागो ज्योतिष्षु जघन्या स्थितिरित्यपि तारकापेक्षमेव । शेषाणां पल्योपमचतुर्थभागस्यैव जघन्यस्थितित्वात् । यत उक्तम्-चतुर्भागः शेषाणामिति । इह च सर्वत्र उक्तरूपयोरुत्कृष्टजघन्यस्थित्योरपान्तरालवर्त्तिनी मध्यमा स्थितिरिति दृष्टव्य, तथा प्रथम इति प्रक्रमाद् ग्रैवेयके अधस्तनाधस्तने । एवं द्वितीयाऽऽदिष्वपि ग्रैवेयकामितिसम्बन्धनीयम् । अविद्यमानं जघन्यमिति जघन्यत्वमस्यामित्यजघन्या । तथा अविद्यमानमुत्कृष्टमित्युत्कृष्टत्वमस्यामित्यनुत्कृष्टा, अजघन्या चासावनुत्कृष्टा च जघन्यानुत्कृष्टा । मकारो लाक्षणिकः । महच्च तदायुःस्थित्याद्यपेक्षया विमानं च महाविमानं तच्च तत् । सर्वे निरवशेषा अर्थ्यमानत्वादर्था अनुत्तरसुखाऽऽदयो यस्मिंस्तत् सर्वार्थं च महाविमानं सर्वार्थं तस्मिन् स्थितिरिति सर्वत्रायुःस्थितिप्रक्रमाद्देवानां तथा आयुःस्थितिरेव कायस्थितिस्तदभिधाने तत्रानन्तरमनुत्पत्तिरेवेत्यभिप्राय इति सप्तविंशतिसूत्रार्थः । अन्तरविधानाभिधायि च सूत्रद्वयं पूर्ववद्व्याख्येयम् ।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहएणयं ।
विजढम्मि सए काए, देवाणं होज्ज अंतरं ॥ २४५ ॥
एएसिं वएणतो चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणदेसतो वा वि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ २४६ ॥

सूत्रद्वयं प्राग्वद्व्याख्येयम् ।

इत्थं जीवानजीवांश्च सविस्तरमुपदर्श्य निगमयितुमाह-

संसारत्था य सिद्धा य, इइ जीवा वियाहिया ।
रूविणो चेवऽरूवी य, अजीवा दुविहा वि य ॥ २४७ ॥

संसारस्थाश्च सिद्धाश्च इतीत्येवप्रकारा जीवा व्याख्याता विशेषेण सकलभेदाऽऽख्यानात्मया प्रकथिताः । रूपिणश्चैव (रूवी य त्ति) अकारप्रश्लेषादरूपिणश्चाजीवा द्विविधा अपि व्याख्याता इति योग इति सूत्रार्थः ।

यदुक्तं जीवाजीवविभक्तिं शृणुतैकमनस इति, तत्र जीवाजीवविभक्तिमभिधाय शृणुतैकमनस इतिवचनात् कश्चिच्छ्रवणश्रद्धानमात्रेणैव कृतार्थतां मन्येत नयतस्तदाशङ्काऽपनोदार्थमाह-

इइ जीवमजीवे य, सोच्चा सद्दहिऊण य ।
सव्वनयाण अणुमए, रमेज्जा संजमे मुणी ॥ २४८ ॥

इतीत्येवंप्रकारान् (जीवमजीव त्ति) जीवाजीवानेताननन्तरोक्तान् श्रुत्वा अवधार्य श्रद्धाय च तथेति प्रतिपद्य सर्वे च ते नयाश्च सर्वनया ज्ञानक्रियानयान्तर्गता नैगमाऽऽदय , तेषामनुमतोऽभिप्रेतस्तस्मिन् । कोऽर्थः ?, ज्ञानसहितसम्यक्चारित्ररूपे रमेत रतिं कुर्यात् । क ?, सम्यक्यमनं पृथिव्यादिजीवोपमर्दतस्तृणपञ्चकाऽऽद्यजीवोपादानाऽऽदेश्च उपरमणं संयमः, तस्मिन् मुनिरुक्तरूप इति सूत्रार्थः । उत्त० ३६ अ० ।

पञ्चविधा देवास्तद्यथा-

कइविहा णं भंते देवा ! पएणत्ता ?। पंचविहा देवा पएणत्ता । तं जहा-भवियदव्वदेवा, नरदेवा, धम्मदेवा, देवाधिदेवा, भावदेवा ।

(कइविहा णमित्यादि) दीव्यन्ति क्रीडां कुर्वन्ति, दीव्यन्ते वा स्तूयन्ते आराध्यतया ते देवाः (भवियदव्वदेव त्ति) द्रव्यभूता देवा द्रव्यदेवाः,द्रव्यता चाप्राधान्याद् भूतभावत्वाद्वा, भाविभावत्वाद्वा । तत्राप्राधान्याद्देवगुणशून्या देवा द्रव्यदेवाः, यथा साध्वाभासा द्रव्यसाधवः । भूतभावपक्षे तु भूतस्य देवत्वपर्यायस्य प्रपन्नकारणभावदेवत्वाच्च्युता द्रव्यदेवाः । भाविभावपक्षे तु-भाविनो देवत्वपर्यायस्य योग्या दैवतयोत्पत्स्यमाना द्रव्यदेवाः । तत्र भाविभावपक्षपरिग्रहार्थमाह-भव्याश्च ते द्रव्यदेवाश्चेति । नरदेवाः, (धम्मदेव त्ति) धर्मेण श्रुताऽऽदिना देवा धर्मप्रधाना वा देवा धर्मदेवाः (देवाइदेव त्ति) देवान् शेषानतिक्रान्ताः पारमार्थिकदेवत्वयोगाद्देवा देवातिदेवाः " देवाहिदेव त्ति ।" क्वचिद् दृश्यते । तत्र च देवानामधिकाः पारमार्थिकदेवत्वयोगाद्देवा देवाधिदेवाः (भावदेव त्ति) भावेन देवगत्यादिकर्मोदयजातपर्यायेण देवा भावदेवाः ।

भविकद्रव्यदेवा यथा-

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-भवियदव्वदेवा भवियदव्वदेवा ?। गोयमा ! जे भवियपंचिंदियतिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा देवेसु उववज्जित्तए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-भवियदव्वदेवा ।

(भविए इत्यादि) इह जातावेकवचनमतो बहुवचनार्थे व्याख्येयं, ततश्च ये भव्या योग्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका वा, मनुष्या वा देवेषूत्पत्तुं ते यस्माद्भाविदेवभावा इति गम्यम् । अथ तेनार्थेन तेन कारणेन हे गौतम ! तान् प्रत्येवमुच्यते-भव्यद्रव्यदेवा इति ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-नरदेवा नरदेवा ?। गोयमा ! जे इमे रायाणो चाउरंतचक्कवट्टी उप्पएणसमत्तचक्करयणप्पहाणा णवणिहिपइणो समिद्धकोसा बत्तीसं रायवरसहस्सा णुयातमग्गा सागरवरमेहलाहिपतिणो मणुस्सिंदा से तेणट्ठेणं० जाव नरदेवा ।

(जे इमे इत्यादि) (चाउरंतचक्कवट्टि त्ति) चतुरन्तायाः भर-

ताऽऽदिपृथिव्या एते स्वामिन इति चातुरन्ताः, चक्रेण वर्त्तनशीलत्वाच्च चक्रवर्त्तिन, ततः कर्मधारयः । चतुरन्तग्रहणेन च वासुदेवाऽऽदीनां व्युदासः, ते यस्मादिति वाक्यशेषः । (उप्पण्णसमत्तचक्करयणप्पहाण त्ति) आर्षत्वान्निर्देशस्य, उत्पन्न समस्तरत्नप्रधानं चक्रं येषां ते तथा । (सागरवरमेहलाहिवइणो त्ति) सागर एव वरा मेखला काञ्ची यस्याः सागरवरमेखला पृथ्वी, तस्या अधिपतयो ये ते तथा, सागरमेखलान्तपृथिव्यधिपतय इति भावः । (से तेणट्ठेण त्ति) अथ तेनार्थेन तेन कारणेन गौतम ! तान् प्रत्येवमुच्यते नरदेवा इति ।

मे केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-धम्मदेवा धम्मदेवा ? । गोयमा ! जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया० जाव गुत्तबंभयारी, से तेणट्ठेणं० जाव धम्मदेवा ॥

(जे इमे इत्यादि) य इमेऽनगारा भगवन्तस्ते यस्मादिति ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-देवाधिदेवा देवाधिदेवा ? । गोयमा ! जे इमे अरहंता भगवंतो उप्पण्णणाणदंसणधरा० जाव सव्वदरिसी, से तेणट्ठेणं० जाव देवाधिदेवा देवाधिदेवा ॥

(जे इमे इत्यादि) ये इमे अर्हन्तो भगवन्तस्ते यस्मादुत्पन्नज्ञानदर्शनधरा इत्यादि । (से तेणट्ठेण त्ति) अथ तेनार्थेन तान् प्रति गौतम ! एवमुच्यते-देवाधिदेवा देवाधिदेवा इति ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-भावदेवा भावदेवा ? । गोयमा ! जे इमे भवणवइवाणमंतरजोइसियवेमाणिया देवा देवगइणामगोयाइं कम्माइं वेदेंति, से तेणट्ठेणं० जाव भावदेवा भावदेवा ॥

(जे इमे इत्यादि) ये इमे भवनपत्यादयस्ते यस्माद्देवगतिनामगोत्रे कर्मणी वेदयन्ति अनेनार्थेन तान् प्रत्येवमुच्यते-भावदेवा भावदेवा इति । भ० १२ श० ६ उ० । (भव्यदेवाऽऽदयः कुत उत्पद्यन्ते इति ' उववाय ' शब्दे द्वितीयभागे ९६५ पृष्ठे समुक्तम्) (अल्पबहुत्वं ' लोगविंदु ' शब्दे सूत्रयदम्)

चउवीसाए देवेहिं भवण-वाण-जोइस-वेमाणिआणं दसअट्ठपंचएगविहा इम चउवीसं देवा केइ पुण विंति अरिहंता ॥३०॥ आव० ४ अ० । आ० चू० । प्रश्न० ।

(महर्द्धिकाऽऽदिदेवाना पुद्गलाऽऽदानपूर्वकं गमनाऽऽदि 'पुग्गल' शब्दे वक्ष्यते) (तेषामनुपरिवर्तना 'अणुपरियट्टण' शब्दे प्रथमभागे ३०५ पृष्ठे द्रष्टव्या) (अविशुद्धलेश्यदेवविषयक ज्ञान ' विभंग ' शब्दे वक्ष्यते) (पुरन्दराऽऽदिदेवाना लोकानि 'लोग' शब्दे प्रदर्शयिष्यन्ते) (देवाना जराभावाभाववक्तव्यता ' जरा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४२५ पृष्ठे द्रष्टव्या)

शुक्रसहस्रारयोश्चतुर्हस्तदेवा , अन्यत्र त्वन्यथा । यत आह-
" भवणवणजोइसोहम्मीसाणे सत्त हुंति रयणीओ ।
एक्केक्कहाणि सेसे, दुदुगे य दुगे चउक्के य ॥ १ ॥
गेवेज्जेसु य दुन्नि य, एक्का रयणी अणुत्तरसुरेसु ॥ " इति भवधारणीयान्येवमुत्तरवैक्रियाणि तु लक्षमपि सम्भवन्ति, उत्कृष्टेनैवत्, जघन्यतस्त्वङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणान्युत्पत्तिकाले भवधारणीयानि भवन्त्युत्तरवैक्रियाणि त्वङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणानीति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । (देवानामाहार ' आहार ' शब्दे द्वितीयभागे ५०९ पृष्ठे गतः) (देवाना शब्दश्रवण 'सद्द' शब्दे वक्ष्यते) (देवदुर्गतिः 'दुग्गइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५७४ पृष्ठे द्रष्टव्या) (सदेवीकानामदेवीकाना देवानां परिचारः ' परियारणा ' शब्दे वक्ष्यते) (देवानामाशातना ' आसायणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४७८ पृष्ठे द्रष्टव्या) (देवाना धार्मिकत्वसिद्धिः ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२२४ पृष्ठे गता) (देवानामुद्वेग ' उव्वेग ' शब्दे द्वितीयभागे ११११ पृष्ठे प्रतिपादितः) दीव्यन्ते स्तूयन्ते केचित्पूर्वभवपरम्परोपार्जिततीर्थकृन्नामकर्मोदयतो नमत्त्रिविष्टपाधिपत्यसुरासुरमर्त्याधिपतिभिरिति देवाः । दर्श० १ तत्त्व । ज्ञानाऽऽदिप्रकृष्टगुणवति देवनातिशायिनि जिनाऽऽदिके देवविशेषे, दर्श० ।

चउतीसअइसयजुओ, अट्ठमहापाडिहेरकयसोहो ।
अट्ठदसदोसरहिओ, सो देवो नत्थि संदेहो ॥ ६ ॥

तत्र सकलत्रिभुवनातिशायिसर्वाऽऽश्चर्यनिधानभूतसर्वैश्वर्यनिवेदनपरभुवनजननयनाऽऽनन्दविधायकानन्यजनसाधारणचतुस्त्रिंशदतिशयैर्युतः समन्वितो यः स देव इति प्रकृतम् । अष्टमहाप्रातिहार्यैरशोकाऽऽदिभिः कृता विहिता शोभा यस्य सोऽपि देवः । अष्टादशदोषैरज्ञानाऽऽदिभी रहितो विवर्जितो यः स देवः । अयमत्र भावार्थः -यो हि देवो वा खेचरो वा वैक्रियाऽऽदिलब्धिमत्तरो वा इत्थंभूतस्फीतिमानपि यद्यष्टादशदोषरहितो न भवति न स देव इति नात्र संशयः संदेह इति गाथार्थः । दर्श० १ तत्त्व । अकम्पिकगणधरस्य पितरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० । भविष्यति चतुर्विंशतितमे जिने, ति० । "चाविसमो अवडजीवो देवो । " ती० ४० कल्प । राजनि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । स्वनामख्याते द्वीपे, प्रज्ञा० १५ पद । " देवे णाम दीवे वलयाऽऽकारसंठिते । " सू० प्र० १९ पाहु० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । प्रज्ञा० १५ पद । सम्भाव्ये, अनु० । आराध्यतमे च । पञ्चा० १ विव० । केचन प्रचुरकर्मवशा सत्यामपि सम्यक्त्वाऽऽदिकायां सामग्र्यां न तद्भव एव मोक्षमास्कन्दन्ति, अपि तु सौधर्माऽऽद्याः पञ्चोत्तरविमानावसाना देवा भवन्तीति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । स्था० । औ० । मेघाऽऽदीन् स्थितान् दृष्ट्वा न देव देवेति वदेत् ।

तहेव मेहं व नहं व माणवं,
न देव देव त्ति गिरं वएज्जा ।
समुच्छिए उन्नए वा पओए,
वएज्ज वा वुट्ठबलाहय त्ति ॥ ५२ ॥

तथैव मेघं वा नभो वा मानवं वाऽऽश्रित्य नो देवदेव इति गिर वदेत्, मेघमुन्नतं दृष्ट्वा उन्नतो देव इति नो वदेत्, एवं नभ आकाश मानवं राजानं वा देवमिति नो वदेत्, मिथ्यावादलाघवाऽऽदिप्रसङ्गात् । कथ तर्हि वदेदित्याह-उन्नतं दृष्ट्वा समुत्थित उन्नतो वा पयोद इति वदेद्वा वृष्टो बलाहक इति सूत्रार्थः । दश० ७ अ० । (देवानां परितापकारणानि "परिताव " शब्दे वक्ष्यन्ते)

दैव-न० । "एच्च दैवे" ॥ ८ । १ । १५३ ॥ इति दैवशब्दे ऐत एत् अइश्च वा । "दिव देव दइव्व दइव । " प्रा० १ पाद । पूर्वकृते कर्मणि, पो० ७ विव० ।

देवा णं भंते ! संजयाइ वत्तव्वं सिया ? । गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अब्भक्खाणमेयं देवाणं । देवा णं भंते !

असंजयाइ वत्तव्वं सिया ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे णि-हुरवयणमेयं देवाणं। देवा णं भंते ! संजयासंजयाइ वत्तव्वं सिया ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे असब्भूयमेयं देवा-णं। से किं खाइं णं भंते ! देवाइ वत्तव्वं सिया ?। गोय-मा ! देवा णं नोसंजयाइ वत्तव्वं सिया।

(देवा णमित्यादि) (से किं खाइ णं भंते ! देवाइ व-त्तव्वं सिय त्ति) "से" इति अथार्थः। किमिति प्रश्नार्थः (खाइ ति) पुनरर्थः। णं वाक्यालङ्कारार्थः। (देवाइ त्ति) य-द्वस्तु तद्वक्तव्यं स्यादिति। (नोसंजयाइ वत्तव्वं सियत्ति) नोसंयता इत्येतद्वक्तव्यं स्यात्। असंयतशब्दपर्यायत्वेऽपि नो-संयतशब्दस्यानिष्ठुरवचनत्वाद् मृतशब्दापेक्षया परलोकीभूत-शब्दवदिति। भ० ५ श० ४ उ०।

देवई-देवकी-स्त्री०। कृष्णस्य वासुदेवस्य मातरि, स०। आ० क०। आव०। ति०। सा च जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आ-गमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां मुनिसुव्रतो नाम एकादशमो जि-नो भविष्यति। स०। "एक्कारसमो देवईजीवो मुणिसुव्व-ओ" ति १६ कप्प। प्रव०।

देवउत्त-देवोप्त-त्रि०। देवेनोप्तो देवोप्तः। देवनिष्पादिते, सू-त्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

देवगुत्त-देवरक्षिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

देवपुत्त-पु०। देवस्य पुत्रो देवपुत्रः। देवसुते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

देवउत्तवाइ(ण्)-देवोप्तवादिन्-पु०। देवेनोप्तो देवोप्तः, कर्षके-णेव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्येववादिनि प-रतीर्थिके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

इदमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसि आहियं।
देवउत्ते अयं लोए, ... ॥

इदमिति वक्ष्यमाणं, तुशब्दः पूर्वेभ्यो विशेषणार्थः। अ-ज्ञानमिति मोहविजृम्भणमिहास्मिन् लोके एकेषां न सर्वे-षामाख्यातमभिप्रायः। किं पुनस्तदाख्यातमिति तदाह-देवे-नोप्तो देवोप्तः कर्षकेणेव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लो-क इत्यर्थः। देवैर्वा गुप्तो रक्षितो देवगुप्तो, देवपुत्रो वेत्या-दिकमज्ञानमिति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

देवउप्फ-देशी-पक्वपुष्पे, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा।

देवउल-देवकुल-देवस्थाने, आ०म० १ अ० २ खण्ड। प्रा०।

देवे-दातुम्-अव्य०। "तुम एवमणाणहमणहिं च" ॥ ८।४। ४४१॥ इति तुम एवादेशे 'देवं।' दानं कर्तुमित्यर्थे, प्रा० ४ पाद।

देवंधगार-देवान्धकार-पु०। देवानामप्यन्धकारोऽसौ तच्छ-रीरप्रभाया अपि तत्राप्रभावनादिति देवान्धकारः। तिमिर-काये, स्था० ४ ठा० २ उ०। देवानामपि तत्रोद्योताभा-वेनान्धकारभावात्। भ० ६ श० ५ उ०। (अत्र कुत्र भवतीति 'लोगुज्जोय' शब्दे वक्ष्यते)

देवकज्ज-देवकार्य-न०। देवकृत्ये, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ०। तथा चाह-"तं नाण तं च विन्नाणं, तं कलासु अ कोसलं। सा बुद्धी पोरिसं तं च, देवकज्जेण जं वए॥१॥" इति। ध० २ अधि०।

देवकम्म(ण्)-देवकर्मन्-न०। देवक्रियायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ०।

देवकार्म्मण-न०। देवस्य कार्म्मणं च। तथाविधद्रव्यसंयोगे, स्था० ५ ठा० २ उ०।

देवकलिया-देवोत्कलिका-स्त्री०। देवानां वातस्येवोत्कलिका देवोत्कलिका। देवलहरी, स्था० ४ ठा० ३ उ०। तत्समवाय-परिशेषे च। स्था० ३ ठा० १ उ०। जी०।

देवकहकहय-देवकहकहक-पु०। देवानां प्रमोदभरवशतः स्वे-च्छावचनैर्बोलः कोलाहलो देवकहकहकः। देवकोलाहले, जी० ३ प्रति० ५ उ०। आचा०। देवप्रमोदकलकले, स्था० ४ ठा० ३ उ०। रा०। (अत्र कुत्र भवति इति "लोगुज्जोय" शब्दे वक्ष्यते)

देवकाम-देवकाम-पु०। देवसम्बन्धिविषये, उत्त० ७ अ०।

देवकिब्विस-देवकिल्बिष-पु०। देवकिल्बिषभावनाजनिते देव-भेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

कइविहा णं भंते! देवकिब्विसिया पण्णत्ता?। गोयमा! तिविहा देवकिब्विसिया पण्णत्ता। तं जहा-तिपलिओवमट्ठि-ईया, तिसागरोवमट्ठिईया, तेरससागरोवमट्ठिईया। कहिं णं भंते! तिपलिओवमट्ठिईया देवकिब्विसिया परिवसंति?। गोयमा! उप्पिं जोइसियाणं हिट्ठिं सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु। एत्थ णं तिपलिओवमट्ठिईया देवकिब्विसिया परिवसंति। कहिं णं भंते! तिसागरोवमट्ठिईया देवकिब्विसिया परि-वसंति?। गोयमा!। उप्पिं सोहम्मीसाणाणं कप्पाणं हिट्ठिं सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु, एत्थ णं तिसागरोवमट्ठि-ईया देवकिब्विसिया परिवसंति। कहिं णं भंते! तेरससा-गरोवमट्ठिईया देवकिब्विसिया परिवसंति?। गोयमा! उप्पिं बंभलोगस्स कप्पस्स हिट्ठिं लंतए कप्पे, एत्थ णं तेरससागरोवमट्ठिईया देवकिब्विसिया परिवसंति। देवकि-ब्विसिया णं भंते! केसु कम्मादाणेसु देवकिब्विसियत्ता-ए उववत्तारो भवंति?। गोयमा! जे इमे आयरियपडि-णीया उवज्झायपडिणीया कुलपडिणीया गणपडिणी-या संघपडिणीया आयरियउवज्झायाणं अयसकरा अव-ण्णकरा अकित्तिकरा बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मि-च्छत्ताभिनिवेसेहि य अप्पाणं वा ३ वुग्गाहेमाणा वुप्पाए-माणा बहूहिं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, पाउणि-त्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवकिब्विसिएसु देवेसु देवकिब्वि-

सियत्ताए उववत्तारो भवंति, त चेव तिपलिओवमट्ठिईएसु वा,तिसागरोवमट्ठिईएसु वा,तेरससागरोवमट्ठिईएसु वा। देवकिव्विसिया णं भंते ! ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छंति, कहिं उववज्जंति ? । गोयमा ! जाव चत्तारि पंच णेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवभवग्गहणाइ संसारं अणुपरियट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति० जाव अंतं करेंति, अत्थेगइया अणाईयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतार अणुपरियट्टंति। भ० ए श० ३३ उ० ।

किल्बिषिका देवास्त्रिधा । तद्यथा-

तिविहा देवा किव्विसिया पन्नत्ता। त जहा-तिपलिओवमट्ठिईया, तिसागरोवमट्ठिईया, तेरससागरोवमट्ठिईया । कहि णं भंते ! तिपलिओवमट्ठिईया देवा किव्विसिया परिवसंति ?। उप्पिं जोइसियाणं हिट्ठिं सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु,एत्थ णं तिपलिओवमट्ठिईया देवा किव्विसिया परिवसंति । कहि णं भंते! तिसागरोवमट्ठिईया देवा किव्विसिया परिवसंति ?। उप्पिं सोहम्मीसाणाणं कप्पाणं हेट्ठिं सणंकुमारमाहिंदकप्पेसु, एत्थ णं तिसागरोवमट्ठिईया देवा किव्विसिया परिवसंति । कहि णं भंते! तेरससागरोवमट्ठिईया देवकिव्विसिया परिवसंति ?। उप्पिं बंभलोयस्स कप्पस्स हिट्ठिं लंतगे कप्पे, एत्थ णं तेरससागरोवमट्ठिईया देवकिव्विसिया परिवसंति ॥

"तिविहा" इत्यादि स्फुटम्, केवलं (किव्विसिय त्ति)"णाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स सव्वसाहूणं । माई अवण्णवाई, किव्विसियं भावणं कुणइ ॥ १ ॥" इति। एवंविध भावनोपात्त किल्बिष पापमुदये विद्यते येषां ते किल्बिषिका देवानां मध्ये किल्बिषिका पापा । अथवा देवाश्च ते किल्बिषिकाश्चेति देवकिल्बिषिकाः, मनुष्येषु चाण्डाला इवास्पृश्याः। स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

देवकिव्विसिया-दैवकिल्बिषिकी-स्त्री०।देवानां मध्ये किल्बिषाः पापाः, अत एवाऽस्पृश्याऽऽदिधर्माणश्चाण्डालप्राया',तेषामियं दैवकिल्बिषिकी । संक्लिष्टभावनाभेदे,बृ० १ उ० । प्रव०। दश० ।

अथ दैवकिल्बिषिकीं विभावयिषुराह-

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सव्वसाहूणं ।
माई अवन्नवाई, किव्विसियं भावणं कुणइ ॥

ज्ञानस्य केवलिना धर्माऽऽचार्याणां सर्वसाधूनामेतेषामवर्णवादी, तथा मायी स्वशक्तिगूहनान्मायावान्, एष किल्बिषिकीं भावनां करोतीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः । बृ० १ उ० ।

देवकिव्विसियत्त-देवकिल्बिषिकत्व-न०। देवानां मध्ये किल्बिषप्रायाः पापमात्रप्रायोऽन एवास्पृश्याऽऽदिधर्मको, देवश्चासौ किल्बिषश्चेति वा देवकिल्बिष , तस्य भावस्तत्ता। किल्बिषिकदेवत्वे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवकिव्विसियाए कम्मं पगरेंति । तं जहा--अरहंताणं अवण्णं वयमाणे, अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वयमाणे, आयरियउवज्झायाणमवण्णं वयमाणे वा, चाउवण्णस्स संघस्स अवण्णं वयमाणे ।

अवर्णोऽश्लाघाऽसद्दोषोद्भावनमित्यर्थ । अयमर्थोऽन्यत्रैवमुच्यते-" णाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सव्वसाहूणं । माई अवण्णवाई, किव्विसियं भावणं कुणइ ॥ १ ॥ " इति । इह कन्दर्पभावना नोक्ता, चतुःस्थानकत्वादित्यवसरश्चायमस्या इति सा प्रदर्श्यते-" कंदप्पे कुक्कुइए, दवसीले यावि हासणकरे य । विम्हावितो य सपरं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥१॥" इति । कन्दर्पः कन्दर्पकथावान्, कुकुचितो भाण्डचेष्टो द्रवशीलो दर्पोद्धुरगमनभाषणाऽऽदिः, हासनकरो वेषरचनादिना स्वपरहासोत्पादको, विस्मापक इन्द्रजाली । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे अ जे नरे ।
आयारभावतेणे अ, कुव्वइ देवकिव्विसं ॥ ४६ ॥

तपस्तेनो वाक्स्तेनो रूपस्तेनस्तु यो नरः कश्चित्,आचारभावस्तेनश्च पालयन्नपि क्रियां तथाभावदोषात्, किल्बिषं करोति । किल्बिषिकं कर्म निर्वर्तयतीत्यर्थः । तपस्तेनो नाम क्षपकरूपकतुल्यः कश्चित्केनचित् पृष्टस्त्वमसौ क्षपक इति । स पूजाऽऽद्यर्थमाह-अहम् । अथवा वक्ति-साधव एव क्षपका , तूष्णीं वाऽऽस्ते। एवं वाक्स्तेनो धर्मकथिकाऽऽदितुल्यरूपः कश्चित्केनचित्पृष्ट इति। एवं रूपस्तेनो राजपुत्राऽऽदितुल्यरूपः । एवमाचारस्तेनो विशिष्टाऽऽचारवत्तुल्यरूप इति । भावस्तेनस्तु परोत्प्रेक्षितं कथञ्चित् किञ्चित् श्रुत्वा स्वयमनुत्प्रेक्षितमपि मयैतत्प्रपञ्चेन चर्चितमित्याहेति सूत्रार्थः ।

लद्धूण वि देवत्तं, उववन्नो देवकिव्विसे ।
तत्थावि से न याणाइ, किं मे किच्चा इमं फलं ॥ ४७ ॥

लब्ध्वाऽपि देवत्व तथाविधक्रियापालनवशेन उपपन्नो देवकिल्बिषे देवकिल्बिषिकाये इति, तत्राप्यसौ न जानात्यविशुद्धावधिर्वा, किं मम कृत्वा इद फल किल्बिषिकदेवत्वमिति सूत्रार्थः ।

अत्रैव दोषान्तरमाह--

तत्तो वि से चइत्ता णं, लब्भिही एलमूअयं ।
नरगं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥४८॥

ततोऽपि देवलोकादसौ च्युत्वा लप्स्यते एलमूकतामजभाषाऽनुकारित्वं मानुषत्वे, तथा नरकं तिर्यग्योनिं वा पारम्पर्येण लप्स्यते,बोधिर्यत्र सुदुर्लभा सकलसंपन्निबन्धना यत्र जिनधर्मप्राप्तिर्दुरापा । इह च प्राप्नोत्येलमूकतामिति वाच्ये असकृद्भवप्राप्तिख्यापनाय लप्स्यत इति भविष्यत्कालनिर्देश इति सूत्रार्थ ।

प्रकृतमुपसंहरति-

एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं ।
अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ॥ ४९ ॥

एन च दोषमनन्तरोदित सत्यपि श्रामण्ये किल्बिषिकत्वाऽऽदिप्राप्तिरूप दृष्ट्वाऽऽगमत. ज्ञातपुत्रेण भगवता वर्द्धमानेन भा-

षितमुकम्,अणुमात्रमपि स्तोकमात्रमपि, किमुत प्रभूत,मेधावी मर्यादावर्ती, माया मृषावादमनन्तरोदित वर्जयेत्परित्यजेत्। इति सूत्रार्थः । दश० ५ अ० २ उ० ।

देवकिब्बिसीया-दैवकिल्बिषिकी-स्त्री० । 'देवकिब्बिसिया' शब्दार्थे, सू० १ उ० ।

देवकुमार-देवकुमार-पु० । देवबालक, रा० । त० । स्त्रियां ङी-प् । देवबालिकायाम्, रा० ।

देवकुरु-देवकुरु-पु० । जम्बूमन्दरपर्वतस्य दक्षिणस्थे स्वनामख्याते देशविशेषे, स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० । जम्बूद्वीपे द्वीपे दशसु क्षेत्रेषु स्वनामख्यातेऽन्यतमे क्षेत्रे, स्था० १० ठा० । मन्दरपर्वतस्य दक्षिणस्या दिशि देवकुरुषु देशेषु स्वनामख्याते ह्रदे च । स्था० ५ ठा० २ उ० । जम्बूद्वीपे द्वीपे षट्सु अकर्मभूमिषु स्वनामख्यातायामन्यतमायां भूमौ, स्था० ६ ठा० । प्रव० । रतिकरपर्वते उत्तरस्यामीशानस्य देवराजस्य रामरक्षिताया अग्रमहिष्याः स्वनामख्यातायां राजधान्यां च । स्त्री० । स्था० ४ ठा० २ उ० । जी० । ती० । जम्बूद्वीपे सौमनसे वक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते चतुर्थे कूटे, स्था० ७ ठा० । जम्बूद्वीपे द्वीपे विद्युत्प्रभवक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते तृतीये कूटे, स्था० ६ ठा० । जम्बूद्वीपे द्वीपे मेरुपर्वतस्य दक्षिणपश्चिमायां दिशि सिद्धाऽऽयतनविद्युत्प्रभकूटयोर्दक्षिणपश्चिमस्थे स्वनामख्याते कूटे च । न० । जं० ४ वक्ष० । स्था० । " दो देवकुराओ । " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

कहि णं भंते! महाविदेहे वासे देवकुरा णामं कुरा पण्णत्ता ?। गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं णिसहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरेणं विज्जुप्पहस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं सोमणसस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं महाविदेहे वासे देवकुरा णामं कुरा पण्णत्ता, पाईणपडीणायया उदीणदाहिणविच्छिण्णा इक्कारस जोअणसहस्साइं अट्ठ य बायाले जोअणसए दुण्णि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स विक्खंभेणं जहा उत्तरकुराए वत्तव्वया० जाव अणुसज्जमाणा पम्हगंधा मियगंधा अममा सहा तेयमूली सणिचारी ॥

(कहि णं भंते ! इत्यादि) क्व भदन्त ! महाविदेहे वर्षे देवकुरवो नाम कुरवः प्रज्ञप्ताः ?। गौतम ! मन्दरगिरेर्दक्षिणतो निषधादुत्तरतो विद्युत्प्रभवक्षस्काराद्रेर्नैर्ऋतकोणस्थगजदन्तकगिरि पर्वतं सौमनसवक्षस्काराद्रेः पश्चिमायाम् अत्रान्तरे देवकुरवो नाम कुरवः प्रज्ञप्ताः । शेषं प्राग्वत् । इमाश्चोत्तरकुरूणां यमलजातका इवेति । तदतिदेशमाह-यथोत्तरकुरूणां वक्तव्यता । कियद्दूरमित्याह-यावदनुसज्जन्त सन्तानेनानुवर्तमाना , सन्तीति वर्तमाननिर्देशः कालत्रयेऽप्येतेषा सत्ताप्रतिपादनार्थं । के ते इत्याह-पद्मगन्धा , मृगगन्धा , अममा , सहा , तेजस्तलिनः, शनैश्चारिणः । एते मनुष्यजातिभेदाः । एतदेव व्याख्यानं प्राक् सुषमावर्णनतो ज्ञेयम् । जं० ४ वक्ष० ।

देवकुरुमहद्दुम-देवकुरुमहाद्रुम-पु० द्रुमभेदे, "दो देवकुरुमहद्दुमा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

देवकुरुमहद्दुमावास-देवकुरुमहाद्रुमावास-पु० । आवासभेदे, "दो देवकुरुमहद्दुमावासा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

देवकुरुय-देवकुरुज-पु० । अकर्मभूमिकमनुष्यभेदे, अनु० । " पम्हाइं देवकुरुयाइं ।" प्रज्ञा० १ पद ।

देवकुल-देवकुल-न० । सशिखरे देवप्रासादे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । औ० । अनु० । आ० ठा० ।

देवकुलिय-देवकुलिक-पु० । देवस्थाननियुक्ते देवपूजके, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

देवकुलिया-देवकुलिका-स्त्री० । देहल्याम्, सेन० । जिनमन्दिरे भ्रमन्त्यो देहरी इत्यपरपर्याया देवकुलिकाश्चतुर्विंशतिश्च-तुर्विंशतिर्वा कार्या इति प्रश्ने, उत्तरम्-मूलनायकात्पृथक् चतुर्विंशतिर्देवकुलिकाः क्रियन्ते इत्यत्रतया सूत्रधारा वदन्तीति । ८०३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

देवगइ-देवगति-स्त्री० । देवेषु गतिर्यस्यासौ देवगति , देवत्वप्रसाधिका वा गतिर्देवगतिः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । दीव्यन्तीति देवाः नाकिनः, तेषां गतिर्गम्यमानत्वाद् देवगति , नामकर्मोदयसम्पाद्यो देवत्वलक्षणः पर्यायविशेषो वेति देवगतिः । गतिभेदे, स्था० १० ठा० । उत्त० । रा० ।

देवगय-देवगत-अर्हद्वाश्रिते, दर्श० ५ तत्त्व ।

देवगुण-देवगुण -पु० । वीतरागत्वाऽऽदौ, षो० ५ विव० ।

देवगुत्त-देवगुप्त-पु० । स्वनामख्याते सप्तमे परिव्राजके, औ० । स्वनामख्याते भविष्यति चतुर्विंशतितीर्थंकरेष्वन्यतमे तीर्थंकरे, ति० ।

देवचंद-देवचन्द्र-पु० । दीपचन्द्रपाठकशिष्ये स्वनामख्याते-ऽष्टकग्रन्थटीकाकर्तरि, अष्ट० ।

" तच्छिष्येण सुबोधाय, देवचन्द्रेण धीमता ।
व्याख्याता सुगमा शुद्धा, टीकेयं तत्त्वबोधिनी ॥ ११ ॥"
"श्रीस्याद्वादरहस्याना, ज्ञानात् लब्धोदयेन च ।
देवचन्द्रेण बोधार्थं,सटीकेयं विनिर्मिता॥१२॥"अष्ट० ३२ अष्ट०।

बृहत्क्षेत्रसमासवृत्तिकारकस्य सिद्धसूरेः प्रशिष्ये कक्कसूरेः शिष्ये,अयमाचार्यः विक्रमसंवत् ११६५ मिते वर्तमान आसीत्। द्वितीयो देवचन्द्रसूरिः श्रीहेमचन्द्रसूरेः शिष्य शान्तिनाथचरित्रस्थानाङ्गवृत्तिग्रन्थयोः कर्त्ताऽऽसीत् । तृतीय प्रद्युम्नसूरिशिष्यो मानदेवसूरिपूर्णचन्द्रसूरिणोर्गुरु , स च विक्रमसंवत् ११६२ मिते वर्तमान आसीत् ।

देवचंदगणि-देवचन्द्रगणिन्-पु० । सटीकाष्टकस्तुतेः कर्त्तरि गणिनि, स च विक्रमसंवत् १६४८ मिते विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

देवचिंतग-दैवचिन्तक-पु० । राज्ञां शुभाशुभचिन्तके, व्य० १० उ० ।

देवचेइय-देवचैत्य-न० । जिनप्रतिमायाम्, दशा० १० अ० ।

देवच्चण-देवार्चन-न० । देवपूजायाम्, " देवगुणपरिज्ञाना-त्तद्भावानुगतमुत्तमं विधिना । स्यादादराऽऽदियुक्तं, यत्तद्देवार्चनं चेष्टम् ॥ " षो० ५ विव० ।

देवछंदग-देवच्छन्दक-पु० । देवाऽऽसने,जी० ३ प्रति० ४ उ०। रा० । आ० म० ।

देवजस-देवयशस्-पुं० । भगवतोऽरिष्टनेमिनः शिष्ये स्वनामख्यातेऽनगारे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ० चू० ।

देवजाण-देवयान-न० । देववाहने, पञ्चा० २ विव० ।

देवजाणी-देवयानी-स्त्री० । शुक्रस्य महाग्रहस्य दुहितरि, ती० २७ कल्प ।

देवजिण-देवजिन-पुं० । भारते वर्षे स्वनामख्याते द्वाविंशतितमे भविष्यति जिने, प्रव० ७ द्वार ।

देवजुइ-देवद्युति-स्त्री० । शरीराऽऽभरणाऽऽदीनां दीप्तियोगे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ० । रा० ।

देवज्जग-देवार्जक-पुं० । देवश्रेष्ठे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

देवट्ठाण-देवस्थान-न० । देवभेदे, " चउवीसं देवट्ठाणा । " चतुर्विंशतिर्देवस्थानानि देवभेदाः दश भवनपतीनाम्, अष्टौ व्यन्तराणां, पञ्च ज्योतिष्काणाम्, एकं कल्पोपपन्नवैमानिकानाम् । एवं चतुर्विंशतिः । स० २४ सम० ।

देवट्ठिइ-देवस्थिति-स्त्री० । देवमर्यादायाम्, स्था० ।

चउव्विहा देवाणं ठिई पण्णत्ता । तं जहा-देवे णामेगे, देवसिणाए णामेगे, देवपुरोहिए णामेगे, देवपज्जलणे णामेगे ।

स्थानाद्देवत्वमपि स्यादतो देवस्थितिसूत्रम्, स्थितिः क्रमो मर्यादा, राजाऽमात्याऽऽदिमनुष्यस्थितिवत्, देवः सामान्यो, नामेति वाक्यालङ्कारे । एकः कश्चित्, स्नातकः प्रधानो देव एव, देवानां वा स्नातक इति विग्रहः । एवमुत्तरत्रापि, नवरं पुरोहितः शान्तिकर्मकारी । (पज्जलणे त्ति) प्रज्वलयति दीपयति वर्णवादकरणेन मागधवदिति प्रज्वलित इति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

देवदुहदुहग-देवदुहदुहक-न० । देवदुहदुहेत्येव शब्दप्रतिपादने, जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० ।

देवड्ढि-देवर्द्धि-स्त्री० । विमानरत्नाऽऽदिसंपदि, स्था० ३ ठा० ३ उ० । परिवाराऽऽदिसम्पदि च । नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ० । प्रश्नव्याकरणदशानां स्वनामख्याते तृतीयेऽध्ययने, स्था० १० ठा० । ('इड्ढि' शब्दे द्वितीयभागे ५८२ पृष्ठे वक्तव्यता गता)

देवड्ढिगणिखमासमण-देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण-पुं० । स्वनामख्याते वालभ्या वाचनायाः कारके आचार्ये, जै० इ० । अयमाचार्यः वीरमोक्षात् ९८० मिते विक्रमसंवत् ५१० मिते विद्यमान आसीत् । अनेन वलभीपुरे सर्वं आगमं पुस्तकाऽऽरूढोऽकारि । एतत्समये एकं पूर्वं व्युच्छेदाऽवशिष्टमासीत् । जै० इ० । "सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिं संपन्ने । देवड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥ १४ ॥ " कल्प० २ अधि० ८ क्षण । श्रीकल्पसूत्र श्रीमहावीरादनु नवशताशीतिवर्षातिक्रमे देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणलिखितया पुस्तकाऽऽरूढं जातं । ततः पुराऽप्यस्तिकिमपि पुस्तकमभूत् येन प्रश्ने, उत्तरम्-सर्वोऽपि सिद्धान्तो देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन नवशताशीतिवर्षातिक्रमे पुस्तकाऽऽरूढः कृतः, ततः पुराऽपि पुस्तकानि सम्भाव्यन्त इति । २३ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

देवड्ढिपत्त-देवर्द्धिप्राप्त-पुं० । देवर्द्धिविकुर्वणासमर्थेषु, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

देवड्ढिवण्णण-देवर्द्धिवर्णन-न० । देवानामृद्धेर्विभूतिरूपाऽऽदिलक्षणायाः प्रकाशने, ध० । यथा तत्रोत्तमा रूपसंपत्, सत्स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्यायोगो, विशुद्धेन्द्रियावधित्वलक्षण, प्रकृष्टानि भोगसाधनानि दिव्यो विमाननिवह इत्यादि वक्ष्यमाणमेव, तथा सुकुलाऽऽगमनोक्तिरिति । देवस्थानात् च्युतावपि विशिष्टे देशे विशिष्टे काले निष्कलङ्केऽन्वये उदग्रे सदाचारेणाऽऽख्यायिकापुरुषयुक्ते अनेकमनोरथापूरकमत्यन्तनिरवद्यं जन्मेत्यादि वक्ष्यमाणलक्षणैव, तथा कल्याणपरम्पराऽऽख्यानमिति । ततः सुकुलाऽऽगमनादुत्तरं कल्याणपरम्परायास्तत्र सुन्दरं रूपम्, आलयो लक्षणानां, रहितमामयेनेत्यादिरूपाया अत्रैव धर्मफलाध्याये वक्ष्यमाणाया आख्यानं निवेदनं कार्यमिति । ध० ? अधि० ।

देवड्ढिवायग-देवर्द्धिवाचक-पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, यदाहुर्देवर्द्धिवाचकवराः । कर्म० ५ कर्म० ।

देवणागसूरि-देवनागसूरि-पुं० । कर्मस्तवटीकाकृतो गोविन्दगणिनो गुरौ, जै० इ० ।

देवणिकाय-देवनिकाय-पुं० । देवसमानधर्मप्राणिसङ्घे, स्था० ।

नव देवनिकाया पण्णत्ता । तं जहा-
" सारस्सयमाइच्चा, वण्ही वरुणा य गद्दतोया य ।
तुसिता अव्वाबाहा, अग्गिच्चा चेव रिट्ठा य ॥१॥ "

सारस्वता आदित्या वह्नयो वरुणा गर्द्दतोयास्तुषिता अव्याबाधा आग्नेया एते कृष्णराज्यन्तरेष्वष्टासु परिवसन्ति, रिष्टस्तु कृष्णराजिमध्यभागवर्त्तिनि रिष्टाभे विमानप्रस्तटे परिवसतीति । स्था० ६ ठा० । सूत्र० ।

देवतम-देवतमस्-न० । तमस्कायभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

देवता-देवत्व-न० । देवभावे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

देवताउववण-देवतोपवन-न० । व्यन्तरकानने, पञ्चा० ७ विव० ।

देवतिग-देवत्रिक-न० । देवगतिदेवानुपूर्वीदेवाऽऽयूरूपे, प० स० ५ द्वार ।

देवती-देवकी-स्त्री० । कृष्णस्य वासुदेवस्य मातरि, अन्त० ३ वर्ग० ८ अ० ।

देवथुइ-देवस्तुति-स्त्री० । " समासे वा " ॥ ८ । २ ॥ ९७ ॥ शेषाऽऽदेशयोः समासे वा द्वित्वमिति वैकल्पिकं थस्य द्वित्वम् । 'देवत्थुइ । देवथुइ ।' देवस्तवे, प्रा० २ पाद ।

देवदत्त-देवदत्त-पुं० । देवा एनं देयासुरिति देवदत्तः । देवैर्दत्ते, पि० । " जायति देवदत्ता, गिहीव अगिही व तेसिं दाहामि । " (अत्र देवदत्तपदस्य बहवोऽर्थाः 'आधाकम्म' शब्दे द्वितीयभागे २२४ पृष्ठे प्रतिपादिताः) उत्तरमथुरावास्तव्ये स्वनामख्याते वणिजि दर्श० ४ तत्त्व । ती० । धातकीखण्डभरते हरिषेणस्य राज्ञः समुद्रदत्तायां जातायाम्-जाते स्वनामख्याते पुत्रे, उत्त० ६

अ० । (तत्कथा ' णमि ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८०८ पृष्ठे प्रतिपादिता)

देवदत्ता–देवदत्ता–स्त्री० । चम्पायां नगर्यां स्वनामख्यातायां गणिकायाम्, दश० ३ अ० । ती० । ज्ञा० । (तत्कथा ' दक्खत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४४० पृष्ठे द्रष्टव्या) वीतभयनगरे उदायननृपतेर्महिष्या प्रभावत्याः स्वनामख्यातायां चेट्याम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड। आ० क०। प्रश्न०। विपाकश्रुतस्य स्वनामख्याते नवमेऽध्ययने, स्था० । तत्र किल सुप्रतिष्ठे नगरे सिंहसेनो राजा श्यामाभिधानदेव्यामनुरक्तः,तद्वचनादेवैकोनानि पञ्च शतानि देवीनां तां मिमारयिषूणि ज्ञात्वा कुपितः सन् तन्मातॄणामेकोनपञ्चशतान्युपनिमन्त्र्य महत्यगारे आवासं दत्त्वा भक्ताऽऽदिभिः सम्पूज्य विश्रब्धानि सदेवीकानि सपरिवाराणि सर्वतो द्वारबन्धनपूर्वकमग्निप्रदानेन दग्धवान्ततोऽसौ राजा मृत्वा षष्ठ्या पृथिव्यां च गत्वा रोहितके नगरे दत्तसार्थवाहस्य दुहिता देवदत्ताऽभिधानाऽभवत्। सा च पुष्यनन्दिना राज्ञा परिणीता,स्वमातुर्भक्तिपरतया तत्कृत्यानि कुर्वन्नासामास तया च भोगविघ्नकारिणीति तन्मातुर्ज्वलल्लोहदण्डस्यापानप्रक्षेपात्सहसा दाहनवधो व्यधायि,राज्ञा चासौ विविधविडम्बनाभिर्विडम्ब्य विनाशितेति विपाकश्रुते देवदत्ताऽभिधानं नवममिति। स्था० १० ठा० ।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रोहीडए णामं णयरे होत्था रिद्ध० ३, पुढवीवडिंसए उज्जाणे, धरणे जक्खे, वेसमणदत्तो राया, सिरी देवी, पूसणंदी कुमारे जुवराया, रोहीडए णयरे दत्तणामं गाहावई परिवसइ अड्डे,कण्हसिरी भारिया । तस्स णं दत्तस्स धूया कण्हसिरीए अत्तया देवदत्ता णामं दारिया होत्था,अहीण०जाव उक्किट्ठसरीरा । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे० जाव परिसा णिग्गया । तेणं कालेणं तेणं समएणं जेट्ठे अंतेवासी छट्ठक्खमण० तहेव० जाव रायमग्गं ओगाढे हत्थी आसे पुरिसे पासइ, तेसिं पुरिसाणं मज्झगयं पासइ एगं इत्थियं अवओडगबंधणं उक्खित्तकण्णणास० जाव सूलभिज्जमाणं पासइ, इमे अज्झत्थिए ४ तहेव णिग्गए० जाव एवं वयासी–एसि णं भंते ! इत्थिया पुव्वभवे का आसी ?। एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबूद्दीवे दीवे भारहे वासे सुपतिट्ठे णामं णयरे होत्था रिद्ध० ३,महासेणे राया,तस्स णं महासेणस्स रण्णो धारणीपामोक्खं देवीसहस्सं ओरोहे यावि होत्था । तस्स णं महासेणस्स पुत्ते धारिणीए देवीए अत्तए सीहसेणे णामं कुमारे होत्था अहीणजुवराया,तए णं तस्स सीहसेणस्स कुमारस्स अम्मापियरो अण्णया कयाइं पंच पासायवडिंसयाइं करेइ अब्भुग्गए० । तए णं तस्स सीहसेणस्स कुमारस्स अण्णया कयाइ सामापामोक्खाणं पंचण्हं रायवरकण्णगसयाणं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हावेइ, पंचसय उदाओ । तए णं सीहसेणस्स कुमारस्स सामापामोक्खाहिं पंचहिं देवीसएहिं सद्धिं उप्पिं० जाव विहरइ । तए णं से महासेणे राया अण्णया कयाइ कालधम्मुणा० णीहरणं राया जाए महया व तए णं से सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छिए ४ अवसेसाओ देवीओ णो आढाइ णो परिजाणाइ, अणाढाइमाणे अपरिजाणमाणे विहरइ । तए णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एकूणाइं पंच माईसयाइं इमीसे कहाए लद्धट्ठाइं समाणीयाए, एवं खलु सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छिए ४, अम्हं धूयाओ णो आढाइ, णो परिजाणइ, तं सेयं खलु अम्हं सामादेविं अग्गिपओगेण वा विसप्पओगेण वा सत्थप्पओगेण वा जीवियाओ ववरोवित्तए,एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता सामादेवीए अंतराणि य छिद्दाणि य विरहाणि य परिजागरमाणीओ विहरंति । तए णं सा सामादेवी इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणे एवं वयासी–एवं खलु ममं पंचण्हं सवत्तीसयाइं; इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे अण्णमण्णं एवं वयासी–एवं खलु सीहसेणे राया० जाव पडिजागरमाणीओ विहरंति, तं ण णज्जति णं ममं केणइ कुमरणेणं मारेस्सति त्ति कट्टु भीया जेणेव कोवघरे तेणेव उवागच्छइ,ओहय० जाव झियाइ । तए णं से सीहसेणे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव कोवघरए जेणेव सामा देवी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सामादेविं ओहय०जाव पासइ,पासइत्ता एवं वयासी–किं णं तुमं देवाणुप्पिया ! ओहय० जाव झियाइ । तए णं सामादेवी सीहसेणेण रण्णा एवं वुत्ता समाणी उप्फेणउप्फेणियं सीहसेणरायं एवं वयासी–एवं खलु सामी ! मम एकूणं पंच सवत्तीसयाइ,पंच सवत्तीसयाणं इमीसे कहाए लद्धट्ठए समणीयाए अण्णमण्णं सद्दावेइ,सद्दावेइत्ता एवं वयासी एवं खलु सीहसेणे राया सामादेवीए मुच्छिए ४ अम्हं धूयाओ णो आढाइ० जाव अंतराणि य छिद्दाणि य०जाव पडिजागरमाणीओ विहरति, तं ण णज्जइ णं ममं केणइ कुमरणेणं मारिस्सइ त्ति कट्टु भीया ४ झियामि । तए णं से सीहसेणे राया सामादेविं एवं वयासी–मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! ओहय० जाव झियाहि त्ति, अहं ण तहा वत्तिहामि, जहा ण तव णत्थि कत्तो वि सरीरस्स आवाहे वा पवाहे वा भविस्सइ त्ति कट्टु ताहिं इट्ठाहिं समासासेति, तओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सुपइट्ठियस्स नयरस्स बहिया एगं महं कूडागारसालं करेह,अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं पासाईय० ४ करेह, करेहत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा करयल० जाव पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता

सुप्पइट्ठियस्स णयरस्स बहिया पच्चच्छिमे दिसिभाए एगं मह कूमागारसालं० जाव करेइ, अणेगखंभपासाइया जेणेव सीहसेणे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तमाणत्तिय पच्चप्पिणइ । तए णं से सीहसेणे राया अण्णया कयाइ एगूणगाणं पचण्हं देवीसयाणं एगूणाइं पंच माईसयाइं आमंतेइ । तए णं तासिं एगूण पंचण्हं देवीसयाणं एगूणं पंच माइसयाइं सीहसेणेणं रण्णा आमंतियाइं समाणाइं सव्वालंकारविभूसियाइं करेइ, जहाविभवेणं जेणेव सुपइट्ठे णयरे जेणेव सीहसेणे राया तेणेव उवागच्छइ, तए णं से सीहसेणे राया एकूणं पंचदेवीसयाणं एकूणं पंचण्हं माईसयाणं कूडागारसालं आवसहं दलयइ । तए णं से सीहसेणे राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवणेह, सुबहुपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं च कूमागारसालं साहरह । तए णं ते कोडुंबिय० तहेव० जाव साहरइ । तए णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणपंचण्ह माईसयाइं० जाव सव्वालंकारविभूसियाइं तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च० ६ आसाएमाणा ४ गंधव्वेहिं णाडएहि य उवगीयमाणाइं विहरइ । तए णं से सीहसेणे राया अद्धरत्तकालसमयंसि बहूहिं पुरिसेहिं संपरिवुडे जेणेव कूडागारसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता कूडागारसालाए दुवाराइं पिहेइ, कूमागारसालाओ समंता अगणिकायं दलयति । तए णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणगाणं पंच माइसयाइं सीहरण्णा आलीवियाइं समाणाइं रोयमाणाइं ३ अत्ताणाइं असरणाइं कालधम्मुणा संजुत्ताइं । तए णं से सीहसेणे राया एयकम्मे ४ सुबहु० जाव समज्जिणित्ता चउत्तीसं वाससयाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं ठिती उववण्णे, से णं ताओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव रोहीडए णयरे दत्तस्स सत्थवाहस्स कण्हसिरीए भारियाए कुच्छिंसि दारियत्ताए उववन्ने, तेणं सा कण्हसिरी णवण्हं मासाणं० जाव दारियं पयाया सुकुमाल० जाव सुरूवं । तए णं तीसे दारियाए अम्मापियरो णिव्वत्तबारसाहियाए विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं० जाव मित्तणामधेज्जं करेइ, होउ णं दारिया देवदत्ता णामेणं । तए णं सा देवदत्ता पचधाईपरिग्गहिया० जाव परिवड्ढइ । तए णं सा देवदत्ता दारिया उम्मुक्कबालभावे जोव्वणेण य रूवेण य लावण्णेण य० जाव अईव २ सरूवा उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा जाया यावि होत्था । तए णं सा देवदत्ता दारिया अण्णया कयाइ ण्हाया० जाव विभूसिया बहूहिं खुज्जाहिं० जाव परिक्खित्ता उप्पिं आगासतलगंसि कणगतिंदूसएणं कीलमाणी विहरइ । इमं च णं वेसमणदत्ते राया ण्हाया० जाव विभूसिए आसं दुरूहइ, बहूहिं पुरिसेहिं संपरिवुडे आसवाहणियाए णिज्जायमाणे दत्तस्स गाहावइस्स गिहस्स अदूरसामंते वीईवयमाणे । तए णं से वेसमणे राया० जाव वीईवयमाणे देवदत्तं दारियं उप्पिं आगासतलगंसि कीलमाणिं पासइ, पासइत्ता देवदत्ताए दारियाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य० जाव विम्हिए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–कस्स णं देवाणुप्पिया ! एसा दारिया, किं वा णामधेज्जेणं ? । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा वेसमणरायं करयल० एवं वयासी-एस णं सामी ! दत्तसत्थवाहस्स धूया कण्हसिरिअत्तया देवदत्ता णामं दारिया रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा । तए णं से वेसमणे राया आसवाहणिओ पडिणियत्ते समाणे अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! दत्तस्स धूयं कण्हसिरीअत्तयं देवदत्तं दारियं पूसणंदिस्स जुवरण्णो भारियत्ताए वरेह, जइ वि य सव्वरज्जसुक्का । तए णं से अब्भिंतरट्ठाणिज्जा पुरिसा वेसमणरण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठा करयल० जाव एवं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता ण्हाया० जाव सुद्धप्पावेससंपरिवुडा । तए णं जेणेव दत्तस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, तए णं से दत्ते सत्थवाहे ते पुरिसे एज्जमाणे पासइ, पासइत्ता हट्ठ आसणाओ अब्भुट्ठेइ, सत्तट्ठपयाइं अब्भुग्गए आसणेणं उवणिमंतेइ, उवणिमंतेइत्ता ते पुरिसे आसत्थे वीसत्थे सुहासणवरगए एवं वयासी–संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! किमागमणप्पओयणं ? । तए णं ते रायपुरिसा दत्त सत्थवाहं एवं वयासी–अम्हे णं देवाणुप्पिया ! तव धूयं कण्हसिरीअत्तयं देवदत्तं दारियं पूसणंदिस्स जुवरण्णो भारियत्ताए वरेमो, तं जइ णं सि देवाणुप्पिया ! जुत्तं वा पत्तं वा सलाहणिज्जं वा सरिसो वा संजोगो, दिज्जउ णं देवदत्ता भारिया पूसणंदिस्स जुवरण्णो, भण देवाणुप्पिया ! किं दलयामो सुक्कं ? । तए णं से दत्ते ते अब्भिंतरठाणपुरिसस्स एवं वयासी–एयं च णं देवाणुप्पिया ! ममं सुक्कं जं णं वेसमणदत्ते राया ममं दारियाणिमित्तेणं अणुगेण्हइ, २ ते ठाणपुरिसे विउलेणं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेइ, पडिविसज्जेइ । तए णं से ठाणपुरिसे जेणेव वेसमणे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता वेसमणस्स रण्णो एयमट्ठं णिवेदेइ । तए णं से दत्ते गाहावई अण्णया सोभणंसि तिहिकरणदिवसणक्खत्त–

मुहुत्तंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खमावेइ, उवक्खमावेइत्ता मित्तणाइ आमंतेइ,ण्हाए०जाव पायच्छित्ते सुहासणवरगए तेणं मित्तणाइसद्धिं संपरिवुडे तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा ४ । एवं च णं विहरइ, जिमियभुत्तुत्तरागए आयंते ३ तं मित्तणाइं विउलं गंधपुप्फ०जाव अलंकारेणं सक्कारेइ,सक्कारेइत्ता देवदत्तं दारियं ण्हायं० जाव विभूसियं सरीरं पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूहेइ,दुरूहिएत्ता सुबहुमित्त०जाव सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए०जाव सव्वरवेणं रोहिडगं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव वेसमणे रण्णो गिहे जेणेव वेसमणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल०जाव वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता वेसमणे देवदत्तं दारियं उवणेइ । तए णं से वेसमणे देवदत्तं दारियं उवणीयं पासइ, पासइत्ता हट्ठ विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खमावेइ, उवक्खमावेइत्ता मित्तणाइं आमंतेइ, ०जाव सक्कारेइ,सम्माणेइ,पूसणदिकुमारं देवदत्तं दारियं पट्टयं दुरूहेइ, दुरूहेइत्ता सेयापीएहिं कलसेहिं मज्जावेइ, मज्जावेइत्ता वरणेवत्थाइं करेइ, करेइत्ता अग्गिहोमं करेइ, पूसणदिकुमारं देवदत्ताए दारियाए पाणिं गिण्हावेइ । तए णं से वेसमणदत्ते राया पूसणंदिस्स कुमारस्स देवदत्तं दारियं सव्वड्ढीए० जाव रवेणं महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं पाणिग्गहणं करेइ, देवदत्ताए भारियाए अम्मापियरो मित्त० जाव परियणं च विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं वत्थगंधमल्लालंकारे य सक्कारेइ० जाव पडिविसज्जेइ । तए णं से पूसणंदिकुमारे देवदत्ताए दारियाए सद्धिं उप्पिं पासायफुट्टवत्तीसं उवगिज्झइ,उवगिज्झइत्ता०जाव विहरइ । तए णं तीसे वेसमणे राया अण्णया कयाइ कालधम्मुणा णीहरणं०जाव राया जाए पूसणंदी । तए णं से पूसणंदी राया सिरीए देवीए मायाभत्ते यावि होत्था, कल्लाकल्लिं जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता पायपमणं करेइ, करेइत्ता सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भिंगावेइ, अट्ठिसुहाए मंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउव्विहाए संवाहणाइं संवाहावेइ,संवाहावेइत्ता सुरभिणा गंधवट्टएणं उव्वट्टावेइ,उव्वट्टावेइत्ता तिहिंतिष्पिपाणीए,ण्हवरावइ,उदएहिं मज्जावेइ, मज्जावेइत्ता तं जहा उसिणोदएणं, सीओदएणं, गंधोदएणं,विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं भोयावेइ, सिरीए देवीए ण्हायाए०जाव पायच्छित्ताए० जाव जिमियभुत्तुत्तरागयाए तओ पच्छा ण्हाइ, भुंजेइ वा उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ । तए णं तीसे देवदत्ताए देवीए अण्णया पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं करेइ, करेइत्ता इमेयारूवे अब्भत्थिए ४ एवं खलु पूसणंदिराया सिरीए देवीए माइभत्ते० जाव विहरइ, तं एएणं विक्खेवेणं णो संचाएमि अहं पूसणंदिणा रण्णा सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे,एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता सिरीए देवीए अंतराणि य ३ पडिजागरमाणी पडिजागरमाणी विहरइ । तए णं सा सिरी देवी अण्णया कयाइ मज्जावी विरहियसयणिज्जंसि सुत्ताजाया यावि होत्था । इम च णं देवदत्ता देवी जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सिरीदेविं मज्जावीयं विरहियसयणिज्जंसि सुहपसुत्तं पासइ,पासइत्ता दिसालोयं करेइ, करेइत्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता लोहदंडं परामुसइ, परामुसइत्ता लोहदंडं तावेइ, तावेइत्ता तत्तं समजोइभूयं फुल्लकिंसुयसमाणं संडासएणं गहाय जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता सिरीए देवीए अपाणंसि पक्खेवेइ । तए णं सा सिरी देवी महया महया सद्देणं आरसित्ता कालधम्मुणा० । तए णं से सिरीदेवीए दासचेडीओ आरसियसद्दं सोच्चा णिसम्म जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदत्तं देविं तओ अवक्कममाणिं पासइ, पासइत्ता जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सिरीदेविं णिप्पाणं णिच्चेट्ठं जीवविप्पजढं पासइ, पासइत्ता हा हा अहो अकज्जमिति कट्टु रोयमाणी ३ जेणेव पूसणंदी राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पूसणदिरायं एवं वयासी-एवं खलु सामी ! सिरी देवी देवदत्ताए देवीए अकाले चेव जीवियाओ ववरोविया । तए णं से पूसणंदी राया तासिं दासचेडीणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म महया माइसोएणं अप्फुण्णे समाणे परसुणियत्ते विव चंपगपायवे धसइ धरणीतलंसि सव्वंगेहिं सण्णिवडिए । तए णं से पूसणंदी राया मुहुत्तंतरेणं आसत्थे समाणे बहूहिं राईसर० जाव सत्थवाहेहिं मित्त०जाव सयणेण य सद्धिं रोयमाणे ३ सिरीए देवीए इड्ढीए णीहरणं करेइ, करेइत्ता आसुरुत्ते ६ देवदत्तं देविं पुरसेहिं गिण्हावेइ, गिण्हावेइत्ता एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ । एवं खलु गोयमा ! देवदत्ता देवी पुरा०जाव विहरइ । देवदत्ता णं भंते ! देवी इओ कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति,कहिं उववज्जिहिति ? । गोयमा ! असीइवासाइं पर० कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववण्णे, संसारो तहेव, तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता गंगपुरे णयरे हंसत्ताए पच्चायाहिति, से णं तत्थ साउणिएहिं वधिए समाणे तत्थेव गंगपुरे सेट्ठिबोही सोहम्मे महाविदेहे सिज्झिहिति०जाव अंतं काहिति ।

(अब्भुग्गय त्ति) इदमेव दृश्यम्-" अब्भुग्गयमूसियपहसिए विव।" अभ्युद्गतोच्छ्रितानि अत्यन्तोच्चानि प्रहसितानीव हसितुमारब्धानीवेत्यर्थः। " मणिकणगरयणचित्ते।" इत्यादि। "एग च ण मह जवग्ग करेति अणेगखंभसयसंनिविट्ठं।" इत्यादि भवनवर्णकसूत्र दृश्यम्। (पञ्चसया उ दाओ त्ति) हिरण्यकोटिसुवर्णकोटिप्रभृतीनां प्रेषणकारिकान्तानां पदार्थानां पञ्च पञ्च शतानि सिंहसेनकुमाराय पितरौ दत्तवन्तावित्यर्थः। स च प्रत्येकं स्वजायाभ्यो दत्तवानिति। "महया" इत्यनेन " महयाहिमवंतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे " इत्यादि राजवर्णको दृश्य। (भीया जे त्ति)"भीया तत्था उब्बिग्गा" इत्यादि। इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-(ओहयमणसंकप्पा भूमिगयदिट्ठीया करयलपल्हत्थमुही अट्टज्झाणोवगय त्ति)(इत्येण उप्फेणिय त्ति) सकोपोष्मवचनं यथा भवतीत्यर्थः। इतोऽनन्तरवाच्यस्यैकत्वकरं पुस्तकेषूपलभ्यते तथैवमवग-तव्यम्-"एवं खलु सामी! मम एगूणगाणं पंचण्हं सवत्तीसयाणं एगूणं पंचमाइसयाइं इमीसे कहाए लद्धट्ठाइं समाणाइं अन्नमन्नं सहावेति,सहावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छिए ४ अम्हं धूयाओ णो आढाइ, णो परिजाणइ, अणाढायमाणे अपरियाणमाणे विहरइ जावेति। यावत्करणादेवं दृश्यम्-"तं सेयं खलु अम्हं सामं देविं अग्गिपओगेण वा विसप्पओगेण वा सत्थप्पओगेण वा जीवियाओ ववरोवित्तए एवं संपेहिंति, संपेहित्ता मम अंतराणि पडिजागरमाणीओ विहरंति, त न नज्जइ णं सामी! मम केणइ कुमरणेण मारिस्संतीति कट्टु भीया ४।" यावत्करणात्-" तत्थ तसिया उब्बिग्गा ओहयमणसंकप्पा भूमिगयदिट्ठिया।" इत्यादि दृश्यम्। (वत्तिहामि त्ति) यतिष्ये। (नत्थि त्ति) न भवत्ययं पक्षो, यदुत (कत्तो इ त्ति) कुतश्चिदपि शरीरकस्य आबाधो वा प्रबाधो वा भविष्यति, तत्र आबाध ईषत्पीडा, प्रबाध प्रकृष्टा पीडैव। (इति कट्टु त्ति) एवमभिधाय (अणेगखंभ त्ति) अनेकस्तम्भशतसंनिविष्टमित्यर्थः। "पासा०" इत्यनेन "पासाईयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं" इति दृश्यम्। (जइ वि य णं सरज्जसुक्क त्ति) यद्यपि सा स्वकीयराज्यशुल्का, स्वकीयराज्यलभ्येत्यर्थः। (सुत्तं वत्ति) सगनम्। (पत्त व त्ति) पात्रं वा, अथवा स्थानं वा। (सलाहणिज्ज व त्ति) श्लाघ्यमिदं (सरिसो व त्ति) उचित स्तयोरिव वधूवरयोरिति। (आयत त्ति) आचान्तो जलग्रहणात् (चोक्खे त्ति) चोक्ष सिक्थलेपाद्यपनयनात्। किमुक्तं भवति-(परमसुइभूए त्ति) अत्यन्तं शुचीभूत इति (हाय त्ति) यावत्करणादिदं दृश्यम्-"कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते"(सव्वालंकारे त्ति) 'सुबहुमित्त' इत्यत्र यावत्करणात्-"मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणेणं।" इति दृश्यम्। "सव्विड्ढीए" इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्-"सव्वजुईए" सर्वद्युत्याऽऽभरणादिसंबन्धिन्या सर्वयुक्त्या वा उचितेष्टवस्तुघटनालक्षणया, सर्वबलेन सर्वसैन्येन सर्वसमुदायेन पौराऽऽदिमीलनेन। (सव्वायरेण) सर्वोचितकृत्यकरणरूपेण। (सव्वविभूईए) सर्वसंपदा। (सव्वविभूसाए) समस्तशोभया। (सव्वसंभमेणं) प्रमोदकृतौत्सुक्येन (सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारेणं सव्वतूरसद्दसंनिनाएणं) सर्वतूर्यशब्दानां मीलने यः संगतो नितरां नादो महान् घोषस्तानित्यर्थः। अल्पेष्वपि ऋद्ध्यादिषु सर्वशब्दप्रवृत्तिर्दृष्टा। अत आह-" महता इड्डीए महता जुईए महया बलेणं महया समुदएणं महया वरतुडियजमगसमगप्पवाइएणं।" (जमगसमग त्ति) युगपदेतद्विशेषेणाऽऽह-(संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरवमुइंगदुंदुहिणिग्घोसनाइयरवेणं) तत्र शङ्खाऽऽदीनां नितरां घोषो निर्घोषो महाप्रयत्नोत्पादित शब्दः नादित ध्वनिमात्रमेतद्द्वयलक्षणो यो रवः स तथा तेनेति। (सियापीयाहिं ति) रजतसुवर्णमयैरित्यर्थः। (सिरीए देवीए मायाए यावि होत्था त्ति) श्रिया देव्या, मातेति बहुमानबुद्ध्या भक्त. मातृभक्तश्चाप्यभूदिति। (कप्पाकप्पि त्ति) प्राप्तः ४ (गधवट्टएण त्ति) गन्धचूर्णेन (जिमियभुत्तुत्तरागयाए त्ति) जेमिताया कृतभोजनायां तथा भुक्तोत्तरमागताया स्वस्थानमिति भावार्थः। उदाराणमनोज्ञान् भोगान् भुञ्जानो विहरति। (पुव्वरत्तावरत्त त्ति) पूर्वरात्रापररात्रकालसमये, रात्रेः पूर्वभागे पश्चाद्भागे चेत्यर्थः। (मज्जाइय त्ति) पोतमद्या (विरहियसयणिज्जसि त्ति) विरहिते निर्जनस्थाने शयनीये विरहितशयनीये तत्र (परामुसइ त्ति) गृह्णाति (समजोइभूय त्ति) समस्तुल्यो ज्योतिषाऽग्निना भूतो जातो यः स तथा। (रोयमाणीउ त्ति) अश्रुविमोचनात्। इहान्यदपि पदद्वयमध्येयम्। तद्यथा-(कंदमाणीओ) आक्रन्दशब्दं कुर्वन्त्यः। (विलवमाणीओ त्ति) विलापान् कुर्वन्त्यः (आसुरुत्ते त्ति) आशु शीघ्रं रुष्ट कोपेन विमोहित। इहान्यदपि पदचतुष्कं दृश्यम्। तद्यथा (रुट्ठे त्ति) उदितरोषः (कुविए त्ति) प्रवृद्धकोपोदयः (चंडिक्किए त्ति) प्रकटितरौद्ररूपः (मिसिमिसेमाणे त्ति) कोपाग्निना दीप्यमान इव। विपा० १ श्रु०। ब्रह्मलोकादुपरि किं सम्यग्दृशो देवा अधिका उत मिथ्यादृशोऽधिका इति प्रश्ने, उत्तरम्- पञ्चमदेवलोकात्परतो युक्त्या विचार्यमाणे मिथ्यादृष्टिभ्यः सम्यग्दृष्टयो देवा अधिका. सभाव्यन्त इति। २१२ प्र०। सेन०१ उल्ला०। चतुर्भिरङ्गुलैर्देवा भूमिं न स्पृशन्तीति यदुच्यते, तत् कुत्र स्थल इति प्रसादयमिति प्रश्ने, उत्तरम्-महीतल कुत्रापि न स्पृशन्तीति सग्रहणीवृत्त्याद्यभिप्राय.। १६७ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। देवानां भवधारणीयेनापि वपुषा कदाचित्कुत्रापि गमन संभवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-सगमकसुरसम्बन्धाऽऽद्यनुसारेण देवाना भवधारणीयेनापि वपुषा कदाचिदत्राऽऽगमनं ज्ञायत इति। ३५२ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। देवो देवीं मूलशरीरेण भुङ्क्ते, उत वैक्रियेण वेति प्रश्ने, उत्तरम्-उभयथाऽपि भोगो भवतीत्यक्षराणि श्रीभगवतीप्रज्ञापनाजीवाभिगमराजप्रश्नीयप्रमुखग्रन्थेषु सन्तीति। ३५६ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। देवा मूलशरीरेण नग्नास्तिष्ठन्ति, किं वा वस्त्राणि परिदधतीति प्रश्ने, उत्तरम्-मूलशरीरेण वस्त्रपरिधाननिषेधो ज्ञातो नास्तीति। ३६१ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

देवड्ढिगणि-देवर्द्धिगणिन्-न०। श्रीकल्पसूत्रस्य स्थविरावलीप्रान्ते "देवड्ढिगणिं नमसामि।" इति गाथा पुस्तकाऽऽरूढकालीना, उत प्राक्कालीना ?। यदि पुस्तकाऽऽरूढकालीना तर्हि देवर्द्धिगणिकृतत्वे स्वस्य नमस्करणमनुचितम्,अन्यकृतत्वे तु सर्वा अपि स्थविरावलीगाथा अन्यकृता कथं न भवन्ति, इत्येका। यदि प्राक्कालीना तदाऽप्रेतनानां नमस्करणं कथमुचितमिति प्रश्ने, उत्तरम्-इय गाथा देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणशिष्येणान्येन वा पाश्चात्येन केनापि स्थविरेण कृतेति सम्भाव्यते, तथैव सर्वा अपि तत्कृता. सम्भावनीयाः, अनुपपद्यमानत्वाभावात्। गतिस्तु स्थितस्यैव चिन्तनीया, प्रशमरतिवत्, यतस्तत्राप्युमास्वातिवाचककृतताया प्रान्तगाथाकदम्बके तन्नमस्कारो दृश्यते, तेन

तदेयान्यकृत ज्ञेय, न च सपूर्णग्रन्थोऽपि, तत्र विप्रतिपत्तेरभावात्, ग्रन्थस्योमास्वातिवाचककृतत्वेन सुप्रतीतत्वादिति । ५६ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

देवदव्व–देवद्रव्य–न० । चैत्यद्रव्ये, कर्म० १ कर्म० । द्वी० । जीवा० ।

जिनद्रव्यसाधारणप्रस्तावाऽऽविष्करणद्वारेण भक्षणरक्षणवर्द्धनफलोपदर्शनाय गाथात्रयमाह–

जिणपवयणवुड्डिकरं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।
भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ होइ ॥ ५८ ॥
जिणपवयणवुड्डिकरं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।
रक्खंतो जिणदव्वं, परित्तसंसारिओ होइ ॥ ५९ ॥
जिणपवयणवुड्डिकरं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।
वड्ढंतो जिणदव्वं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ६० ॥

आसामक्षरार्थः सुगमः । भावार्थस्तु समस्तोऽपि पूर्वकथानकादवसेयः। यथा–अनर्थं चूलेनानेकशोऽनेकभवपरम्परासु महद् दुःखमनुभूतं, यथा च कश्चिद्रुचिना जिनसाधारणद्रव्य रक्षता वृद्धिमापादयताऽनेकभवेषु कल्याणमासाद्य तीर्थकृद् भूत्वा शान्तिपदमुपगतः। ततः सर्वथाऽस्मिन्नर्थे यत्नवद्भिर्भाव्यमिति गाथात्रयार्थः । दर्श० १ तत्त्व । दश० । देवद्रव्याधिकारे कथं श्राद्धैर्देवद्रव्यवृद्धिः कर्तुं शक्यते, यदुक्तमागमे–" भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ भणिओ । " इति जानन्त्यात्मव्यतिरिक्ताना यच्छ्रस्तेषां संसारवृद्धिं प्रति कारणं भवति, न द्विविधं कस्यापि विकारकृत्स्यात्सर्वेषामपायकृदेव स्याद्, ग्रन्थान्तरे आलोचनाधिकारे मूषकाऽऽदीनामपि दोषोत्पत्तिरुक्ताऽस्ति, तदत्र का वृद्धिं प्रति रीतिरिति प्रश्ने, उत्तरम्–स्ववुद्ध्या श्राद्धानां देवद्रव्यस्य विनाशन एव दोषो, यथाकालमुचितव्याजदानपूर्वकं ग्रहणे तु न भूयान् दोषः, समधिकव्याजदाने पुनर्दोषाभावोऽवसीयते,नेन तेषां यत्तद्वर्जनं तन्निःशूकताऽऽदिदोषपरिहारार्थं ज्ञेयम्। किञ्च–श्रीजिनशासने देवद्रव्यस्य विनाशे दुर्लभा बोधिना,तद्भक्षणाऽऽदिदेशनाद्यानोपेक्षणाऽऽदौ साधोरपि भवदुःखं च शास्त्रे दर्शितम्, ततस्तेन तदनभिज्ञानं श्राद्धानां तव्याव्यापारणमेव यौक्तिकं मा कदाचित्प्रमादाऽऽदिना स्वल्पोऽपि तदुपभोगो भवत्विति सुस्थानस्थापनप्रत्यहसाराऽऽदिकरणपुरस्सरमहानिधानवत्तत्परिपालनेन च तेषामपि न कोऽपि दोष , किं तु तीर्थकृन्नामकर्मनिबन्धनाऽऽदिहेतुर्लाभ एवेति,इतरस्य तु तद्भोगदोषानभिज्ञस्य निःशूकताऽऽद्यसंभवाद्वृद्ध्यर्थं ग्रहणकग्रहणपूर्वकं समर्पणे न दोष इति तथा व्यवह्रियमाणमस्तीति संभाव्यते, पूर्वकाऽऽदिषु तु वृद्ध्याद्यर्थं समर्पणव्यवहाराभावात्तेषां तद्भक्षणे दोष एवेति । १५६ प्र० । सेन० २ उल्ला० । देवद्रव्यस्य वृद्धिकृते श्राद्धैः तत् स्वयं व्याजेन गृह्यते,न चेति,तद्ग्राहकाणां दूषणं, किं वा भूषणमिति प्रश्ने, उत्तरम्–श्राद्धानां देवद्रव्यस्य व्याजेन न युज्यते ग्रहणं, निःशूकताप्रसङ्गात्, ननु वाणिज्याऽऽदौ व्यापारणीयं स्वल्पस्य देवद्रव्यभोगस्य शङ्कासंकाश्याऽऽदिरत्नीयाऽऽपत्तौ दुष्टविपाकजनकतया दर्शितत्वादिति । ३३४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । उपाश्रये सांवत्सरिकाऽऽदिप्रतिक्रमणावसरे यद् घृतं गतैलाऽऽदिकमानीतं तद्देवद्रव्ये साधारणद्रव्ये वा समायातीति प्रश्ने, उत्तरम् यथाप्रतिज्ञं देवद्रव्ये साधारणद्रव्ये वा तत्समायातीत्यवधेयम् । ४३२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । श्राद्धा देवद्रव्यं व्याजेन गृह्णन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–महत्कारणं विना न गृह्णन्तीति । ४६१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । अथ वटपल्लीयसंघकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च यथा–शतदोक्कमकपुष्पाणि मालिकपार्श्वाद् गृहीत्वा जिनप्रतिमायाश्च पूज्यते, मालिकस्य तद् द्रव्यस्थाने धान्यवस्त्राऽऽदिकं समर्प्यते, तदर्पणे च दोक्कदशकमुद्धरति तद् द्रव्यं देवसत्कं मालिकसंबन्धि वेति प्रश्ने, उत्तरम्–शतदोक्कमकपुष्पाणि गृहीत्वा धान्यादि समर्प्यते, तदर्पणे च कम्बोरकेण यदुद्धरति तद्देवद्रव्यं भवति, न तु मालिकस्य, यतो लोके शतदोक्कमकपुष्पचटापनयशोवादो जायते, तस्मान्न्यूनचटापने दोषो लगति, तदुद्धरितं द्रव्यं देवद्रव्ये प्रक्षिप्यते तदा दोषो न लगतीति । ६१ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

देवदव्वहरण–देवद्रव्यहरण–न० । चैत्यद्रव्यग्रहणे, कर्म० १ कर्म० ।

देवदार–देवद्वार–न० । सिद्धाऽऽयतनस्य पूर्वदिक्स्थे स्वनामख्याते द्वारे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

देवदारु–देवदारु–न० । गन्धाङ्गभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । देवानां प्रियं दारु यस्य तत्काष्ठचन्दनस्य देवप्रियत्वात् । स्वनामख्याते वृक्षे, अयं पुमानप्यत्र–" अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम् ।" वाच० ।

देवदाली–देवदाली–स्त्री० बहुबीजके लताविशेषे,प्रज्ञा० १ पद ।

देवदिण्ण–देवदत्त–पुं० । राजगृहे नगरे धननाम्नः सार्थवाहस्य भद्रायां भार्यायां जाते स्वनामख्याते पुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । देवप्रसादाल्लब्धेषु सुभद्राया द्वात्रिंशत्पुत्रेषु,आ० क० ।

देवदीव–देवद्वीप–पुं० । स्वनामख्याते द्वीपे, जी० ।

देवदीवे दो देवा महिड्ढीया–देवभद्दा,महाभद्दा ।

" देवे णं भंते ! दीवे किं समचक्कवालसंठिए, विसमचक्कवालसंठिए ?। गोयमा ! समचक्कवालसंठिए, नो विसमचक्कवालसंठिए । देवे णं भंते ! दीवे केवइयं चक्कवालविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ते, से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेणं परिक्खित्ते ।" सुगमं, नवरं एकया पद्मवरवेदिकया अष्टयोजनोच्छ्रयजगत्युपरि भाविन्येति द्रष्टव्यम् । एवमेकेन वनखण्डेन च । इदं तु सूत्रं बहुषु पुस्तकेषु न दृश्यते,केषुचित् तद्देशोत्पत्तिदेश इति लेखितम्। "कइ णं भंते" इत्यादि । कति भदन्त ! देवस्य द्वीपस्य द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ?। भगवानाह–गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–" विजयवैजयन्तजयन्तमपराजितं।" "कहि णं भंते! दीवस्स दीवेत्यादि।" क भदन्त ! देवस्य द्वीपस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह–गौतम ! देवद्वीपपूर्वार्द्धपर्यन्ते देवसमुद्रपूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि अत्र एतस्मिन्नवकाशे विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, प्रमाणं वर्णकश्च जम्बूद्वीपविजयद्वारवत्,नामान्वर्थसूत्रमपि तथैव।' कहि णं भंते ! इत्यादि ।" क भदन्त ! विजयस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता ?। भगवानाह–गौतम ! विजयस्य द्वारस्य पश्चिमदिशि तिर्यगसंख्येयानि

योजनशतसहस्राण्यवगाह्य अत्रान्तरे विजयस्य विजया नाम राजधानी प्रज्ञप्ता । सा च जम्बूद्वीपविजयद्वाराधिपतिविजयस्य देवस्येव वक्तव्या । एवं वैजयन्तजयन्तापराजितद्वारवक्तव्यताऽपि भावनीया, ज्योतिष्कवक्तव्यता सर्वाऽप्यसङ्ख्येयतया वक्तव्या, नामान्वर्थचिन्तायामपि (दो देव त्ति) शब्दे देवमहादेवौ वक्तव्यौ । शेषं सर्वमरुणवरोपपात *। जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

देवदूस-देवदूष्य-न० । जिनवरस्य स्कन्धे संयमग्रहणावसरे सुरपतिर्यत्सुरवृष्य मुञ्चति, तस्यावस्थानस्य मान प्रमाणमिति प्रश्ने, उत्तरम्-दीक्षासमये देवेन्द्रमुक्तजिनवरस्कन्धस्थदेवदूष्यस्यावस्थानकालनियममाश्रित्य सप्ततिशतस्थानकानुसारेण श्रीवीरस्य साधिकं वर्षं यावच्छेषाणां च तीर्थकृतां यावज्जीवं देवदूष्यावस्थानकालमान श्रीवीरवदिति ज्ञेयमिति । १३५ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

देवदूसजुगल-देवदूष्ययुगल-न० । देववस्त्रयुग्मे, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

देवदेव-देवदेव-पु० । इन्द्रेषु, तीर्थकरेषु च । आ०चू० ५ अ० ।

देवदेवमहिय-देवदेवाभिक-पु० । इन्द्रादप्यधिके तीर्थकराऽर्हति, आ० चू० ५ अ० ।

देवदेवमहित-पु० । देवाधिदेवपूजिते जिने, आ० चू०५ अ० ।

देवदोणी-देवद्रोणी-स्त्री० । स्थलग्राम, "साधम्मियथलीसु ।" नि० चू० १ उ० ।

देवपंचिंदियसंसारसमावन्नजीव-देवपञ्चेन्द्रियसंसारसमापन्नजीव-पु० । पञ्चेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

देवपडिक्खोभ-देवप्रतिक्षोभ-पु० । तमस्काये, " देवपडिक्खोभेइ वा ।" देवप्रतिक्षोभ इति वा, तत्क्षोभहेतुत्वात् । भ० ६ श० ५ उ० ।

देवपरियारण-देवपरिचारण-न० । श्रीविजयराजगणिकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च यथा-शक्राऽऽदयो देवाः संभोगं कर्तुकामाः देवलोकविमाने देवीभिः परिचारणां कुर्वन्ति, विमानाद्बहिर्वा तदाश्रित्य प्रसादमिति प्रश्ने, उत्तरम्-शक्राऽऽदयो देवा देवलोके स्वस्वसुधर्मसभायां देवीभिः सह परिचारणां न कुर्वन्ति, तत्र माणवकचैत्यस्तम्भसमुद्गकस्थितजिनदंष्ट्राशातनाभयादित्यभिप्रायः प्रज्ञप्तिदशमशतकपञ्चमोद्देशकेऽस्तीत्युपलक्षणत्वादन्यत्र सिद्धाऽऽयतनव्यतिरिक्तस्थाने परिचारणां कुर्वन्तीति सम्भाव्यते इति । १०५ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

देवपरिसा-देवपरिषत्-स्त्री० । देवपरिवारे, औ० ।

देवपव्वय-देवपर्वत-पु० । जम्बूमन्दरपश्चिमस्थे सीतायाः महानद्या उत्तरकूलस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ० । जं० । स्था० । पश्चिमवनखण्डवेदिकान्तविजयान्त्यपूर्वस्थे स्वनामख्याते पर्वतयुगले च । "दो देवपव्वया ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

देवपुत्थय-देवपुस्तक-न० । देवलोकपुस्तकेषु किंलिपीकृतमस्ति, किमभिधान तत् शास्त्रमिति प्रश्ने, उत्तरम्-देवलोकपुस्तकेषु लिपीकरणं तत्स्वरूपशास्त्रमाश्रित्य सम्भाव्यते, तदभिधान तु कुत्रापि दृष्टं नास्तीति । ७३ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

देवपूयाइणाय-देवपूजादिज्ञात-न० । देवतार्चनप्रभृत्युदाहरणे, पञ्चा० ८ विव० । देवपूजास्नात्रनवस्य (?) तेणानन्तर आरूढ आरात्रिकोत्तारणमङ्गलप्रदीपाऽऽदि कृत्वा कुर्वन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-तथाकरणेऽधुना प्रवृत्तिर्न दृश्यते, निषेधस्तु शास्त्रे दृष्टो नास्तीति क्वचिद्देशविशेषे तत्कुर्वन्तीति । १०४ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

देवप्पहसूरि-देवप्रभसूरि-पु० । स्वनामख्याते आचार्ये, दर्श० ५ तत्त्व । स च विचारसारप्रकरणकृतः प्रद्युम्नसूरेर्गुरोः पद्मप्रभसूरेर्गुरुः । द्वितीयोऽपि मुनिचन्द्रसूरिशिष्यः तारचन्द्रगुरुः, तेन च पाण्डवचरित्रमहाकाव्य मृगावतीचरित्रं चेति ग्रन्थौ रचितौ । तृतीयोऽपि विक्रमसंवत् १२६४ वर्षे मुनिसुव्रतचरित्रकारकस्य पद्मप्रभसूरेर्गुरुरासीत् । जै० इ० ।

देवप्पिय-देवप्रिय-पु० । वसन्तपुरे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ग० २ अधि० । (तत्कथा 'खुड्डुक' शब्दे तृतीयभागे ७५४ पृष्ठे द्रष्टव्या)

देवफलिहक्खोभ-देवपरिक्षोभ-पु० । तमस्काये, " देवपलिक्खोभेइ व त्ति ।" देवानां परिक्षोभहेतुत्वादिति । भ० ६ श० ५ उ० । स्था० ।

देवफलिह-देवपरिघ-पु० । देवानां परिघ इवार्गलेव दुर्लङ्घयत्वाद्देवपरिघ इति । भ० ६ श० ५ उ० । तमस्काये, भ० ६ श० ५ उ० । स्था० ।

देवभद्द-देवभद्र-पु० । देवद्वीपस्थे स्वनामख्याते देवे, च० प्र० २ पाहु० । सू० प्र० । चैत्रगच्छीये भुवनेन्द्रसूरिशिष्ये स्वनामख्याते मुनौ, गू० ।

चैत्रगच्छमधिकृत्य-

"तत्र श्रीभुवनेन्द्रसूरिसुगुरुर्भूभूषणं भासुरज्योतिः सद्गुणरत्नरोहणगिरिः कालक्रमेणाभवत् (८)
तत्पादाम्बुजमण्डनं समभवत् पक्षद्वयीशुद्धिमान्
श्रीरक्षोरसहक्षदूषणगुणत्यागग्रहेवाऽऽहतः ।
कालुष्यं च जडोद्भवं परिहरन् दूरेण सन्मानसस्थायी राजमरालवद्गणिवरः श्रीदेवभद्रप्रभुः ॥ ९ ॥"

गु० ६ उ० । ध० र० । ग० । द्वितीयोऽप्येतन्नामा रुद्रपल्लीयगच्छस्थापकस्याभयदेवसूरेः शिष्यः प्रभानन्दसूरेर्गुरुः, स च विक्रमसंवत् १२९६ मिते आसीत् । तृतीयश्च चन्द्रगच्छे भद्रेश्वरसूरिशिष्यः, स विक्रमसंवत् १२४२ वर्षे आसीत्, यच्छिष्येण सिद्धिसेनेन प्रवचनसारोद्धारटीका रचिता । चतुर्थश्च खरतरगच्छे प्रसन्नचन्द्राचार्यस्य शिष्यः विक्रमसंवत् ११६८ वर्षे विद्यमान आसीत्, येन पार्श्वनाथचरित्रं संवेगरङ्गमाला वीरचरित्रं कथारत्नकोशश्चेत्यादयोऽनेके ग्रन्था रचिताः । पञ्चमश्च चन्द्रसूरेः शिष्यस्तत्कृतसङ्ग्रहणीटीकाकृत् । जै० इ० ।

देवमइ-देवमति-स्त्री० । स्वर्गिचातुर्ये, जं० ३ वक्ष० ।

देवमहाभद्द-देवमहाभद्र-पु० । देवद्वीपस्थे स्वनामख्याते देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । च० प्र० । जी० ।

देवमहावर-देवमहावर-पु० । देवसमुद्रस्थे स्वनामख्याते देवे, सू० प्र० १९ पाहु० । च० प्र० । जी० ।

* पुस्तके मूलपाठो नोपलभ्यते ।

देवय-दैवत-न० । देवतैव दैवतम् । स्था० ३ ठा० १ उ० । देवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । दशा० । भ० । औ० । आव० । ओघ० । अधि म० । परमदेवतायां च । च० प्र० १८ पाहु० ।

देवया-देवता-स्त्री० । रागाऽऽदिदोषरहिते, (विशे०) जिननायके, धर्माऽऽचार्ये, पञ्चा० १ विव० । प्रति० । इन्द्राऽऽदिदेवेषु, प्रति० । स्था० । ओघ० ।

देवयाणाम-देवतानामन्-न० । देवताऽभिधायके नामनि, अनु० ।

से किं तं देवयाणामे ?। देवयाणामे अणेगविहे पएणत्ते । तं जहा-अग्गिदेवताहिं जाए अग्गिए अग्गिदिण्णे अग्गिसम्मे अग्गिधम्मे अग्गिदेवे अग्गिदासे अग्गिसेणे अग्गिरक्खिए । एव सव्वनक्खत्तदेवतानामा जाणिअव्वा ।

एत्थ पि संगहणीगाहाओ-

"अग्गि पयावइ सोमे, रुद्दो अदिती विहस्सई सप्पे ।
पिति भग अज्जम सविआ, तहा वाऊ अ इंदग्गी ॥ १ ॥
मित्तो इंदो निरती, आओ विस्सो अ बंभ विण्हू अ ।
वसु वरुण अय विवद्धि. पूसा अस्सी जमे चेव ॥ २ ॥"

से तं देवतानामे ।

(से किं त देवयाणामे इत्यादि) अग्निदेवतासु जात'-अग्निकः । एवमग्निदत्तादीन्यपि । नक्षत्रदेवतानां संग्रहार्थमग्नीत्यादिगाथाद्वय,तत्र कृत्तिकानक्षत्रस्याधिष्ठाता अग्नि ,रोहिण्या प्रजापति , एव मृगशिर प्रभृतीना क्रमेण-सोमो रुद्रोऽदितिः बृहस्पतिः सर्प पितृ भग ,अर्यमा सविता त्वष्टा वायु·,इन्द्राग्नी मित्रः,इन्द्र·,निर्ऋतिः, अम्भः,विश्वः ब्रह्मा विष्णु ,वसु ,वरुण , अज·, विवर्द्धि । अस्य स्थानेऽन्यत्र अहिर्बुध्न पठ्यते । पूषा , अश्वि । यमश्चैवेति । (से त देवतानामे) अनु० ।

देवयाणिओग-देवतानियोग-पु० । देवतोद्देशे, पञ्चा० १६ विव० ।

देवयापणिहाण-देवताप्रणिधान-न० । सर्वक्रियाणां फलनिरपेक्षतयेश्वरसमर्पणरूपे ईश्वरप्रणिधाने, द्वा० २२ द्वा० ।

देवयाभिओग-देवताभियोग-पु० । देवपरतन्त्रतायाम्, उपा० २ अ० ।

देवयाहिमुत्ति-देवताधिमुक्ति-स्त्री० । बुद्धकपिलाऽऽदिदेवताविशेषभक्तौ, ध० १ अधि० ।

देवर-देवर-पु० । 'देअर' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

देवरण्ण-देवारण्य-न० । देवानामरण्यमिव दलाद्भवेन नाशनत्वाद्य स देवारण्यमिति । तमस्काये, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

देवरमण-देवरमण-न० । सौभाञ्जन्या नगर्या बहिरुत्तरपश्चिमायां दिशि स्थिते स्वनामख्याते उद्याने, विपा० १ श्रु० ४ अ० ।

देवराय-देवराज-पु० । देवेषु कान्त्यादिगुणै राजमाने, कल्प० १ अधि० १ क्षण । उपा० । इन्द्रे, आव० ४ अ० । कोशलाविषये कस्मिंश्चिद् ग्रामे स्थिते स्वनामख्याते कुटुम्बिनि परमश्रावके, पिं० ।

देवराट्-पु० । देवेन्द्रे, "देवीभिरिव देवराट् ।" प्रा० क० ।

देवरायकुंजरवरप्पमाण-देवराजकुञ्जरवरप्रमाण-पु० । देवराजो देवेन्द्रस्तस्य कुञ्जरो हस्ती तद्वद् वर शास्त्रोक्त प्रमाण देहमान यस्य स तथा । देवराजहस्तिशरीरप्रमाणसदृशप्रमाणशरीरे, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

देवल-देवल-पु० । मुनिभेदे, व्यासशिष्ये, धौम्यस्य ज्येष्ठभ्रातरि, देवान् जीविकार्थं लाति लाक· । देवोपजीविनि, स्वार्थे कन् । अस्यैवार्थे, "देवकोपोपजीवी च, नाम्ना देवलको भवेत् ।" इत्युक्ते विप्रे, वाच० । सूत्र० ।

देवलासुय-देवलासुत-पुं० । उज्जयिनीनृपे, आ०क० । आ०चू० ।

देवलोग-देवलोक-पु० । देवानामिन्द्रादीनां लोक स्थानम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । सौधर्माऽऽदिषु द्वादशसु लोकेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । भ० ।

कइविहा णं भंते ! देवलोगा पएणत्ता ?। गोयमा ! चउव्विहा देवलोगा पएणत्ता । तं जहा-भवणवासी, वाणमंतरा, जोइसिया, वेमाणिया । भवणवासी दसविहा, वाणमंतरा अट्ठविहा, जोइसिया पंचविहा, वेमाणिया दुविहा । भ० ५ श० ए उ० ।

देवलोके मिथ्यात्विदेवदेवीनां क आचार इति प्रश्ने, उत्तरम्-यथा सम्यग्दृशां सिद्धाऽऽयतनेषु जिनार्चनाऽऽदिप्रवृत्तिरूप आचारस्तथा मिथ्यादृशां तथैव वर्तमाननागाऽऽदिप्रतिमापूजनाऽऽदिरूप· सम्भाव्यत इति । एए प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

देवलोगगमण-देवलोकगमन-न० । सुकुलप्रत्यागतौ, स० ७ अङ्ग० ।

देवलोगसमाण-देवलोकसमान-त्रि० । देवलोकसदृशे, दशा० १ चू० ।

देवलोय-देवलोक-पु० । 'देवलोग' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

देवलोयगमण-देवलोकगमन-न० । 'देवलोगगमण' शब्दार्थे, स० ७ अङ्ग ।

देवलोयसमाण-देवलोकसमान-त्रि० । 'देवलोगसमाण' शब्दार्थे, दशा० १ चू० ।

देववंदणविहि-देववन्दनविधि-स्त्री० । देवस्तवनविधौ, ध०र० । (अस्य व्याख्या 'वंदन' शब्दे) विंशतिस्थानाऽऽदिषु देववन्दन मुखवस्त्रिकां विना घटते । न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-मुख्यवृत्त्या मुखवस्त्रिकां विना देववन्दन न घटते । २०३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । पदगणनमेकवारदेववन्दन वा विस्मृत द्वितीयदिने पारणातः प्राक् तत्करोति यदि तदा शुद्ध्यति, न वेति प्रश्ने उत्तरम्-प्रथमदिने विस्मृतपदगण न पकशो देववन्दन वा द्वितीयदिने पारणकरणादर्वागवधिपूर्त्यादि महत्कारण विना न शुध्यति, क्रियमाण तु दृश्यत इति आरूाना, यतीनां तु तन्नियमो ज्ञातो नास्तीति । ३०६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा श्रीवीरहीरसूरीणां प्रतिमाऽग्रे यो देवान् वन्दते, स वासक्षेप कृत्वा, अन्यथा वेति प्रश्ने, उत्तरम्-श्रीगुरुप्रतिमाग्रे देवा वन्दिता न शुद्ध्यन्ति, यदि च तीर्थकृत्प्रतिमा वासक्षिता भवति पञ्चाऽऽर्द्रा, तदा तदग्रे वासक्षेप कृत्वा देवा व-

न्दिताः शुद्ध्यन्तीति । १५४ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । पौषधिके त्रिसन्ध्य विस्तरेण देवा वन्द्यन्ते, तदक्षराणि क सन्ति, मध्याह्ने देववन्दना तु सामाचारीपौषधविधिप्रकरणाऽऽदिषु दृश्यते इति प्रश्ने, उत्तरम्-यद्यपि पौषधिकथाद्याना सामाचार्यादिषु मध्याह्न एव वन्दन दृश्यते, तथाऽपि "पडिकमओ गिहिणो वि हु, सगवेला पच वेल इअरस्स । पूआसु तिसझासु अ, होइ तिवेला जहन्नेण" ॥१॥ इत्याद्यक्षरबलात्त्रिकालपूजाऽऽस्थानीयत्वेन परम्परागतत्वेन च त्रिकाल देववन्दन युक्तिमदेवेति । २९ प्र० । सेन० २ उल्लास ।

देववर-देववर-पु० । देवसमुद्रे, स्वनामख्याते देवे, सू० प्र० १६ पाहु० । च० प्र० । जी० ।

देववायग-देववाचक-पु० । नन्द्यध्ययनकर्त्तरि दूष्यगणिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, न० ।

देवविग्गहगइ-देवविग्रहगति-स्त्री० । देवानां नाकिना विग्रहान् क्षेत्रविभागानतिक्रम्य गतिर्गमन देवविग्रहगतिः । स्थितिनिवृत्तिलक्षणायामृजुवक्ररूपाया विहायोगतिकर्म्माऽऽपाद्याया वा गतौ, स्था० १० ठा० ।

देववूह-देवव्यूह-पु० । देवानां व्यूह साङ्ग्रामिकव्यूह इव यो दुरधिगमत्वात्स देवव्यूह । सागराऽऽदौ, स्था० ४ ठा० २ उ० । भ० ।

देवसइ-देवस्मृति-स्त्री० । "नमो वीअरायाए सव्वण्णूण तेलोक्कपूइआण जहट्ठिअवत्थुवाईण ।" इत्यादिरूपे जिनस्मरणे, ध० २ अधि० ।

देवसंघ-देवसङ्घ-पु० । देवसमुदाये, औ० ।

देवसंसारविउस्सग्ग-देवसंसारव्युत्सर्ग-पु० । ससारव्युत्सर्गभेदे, औ० ।

देवसक्खिय-देवसाक्षिक-त्रि० । देवताः साक्षिणो यत्र तद्देवसाक्षिकम् । दैवसाक्षिमिति प्रत्याख्यानाऽऽदौ, पा० ।

देवसण्णत्ति-देवसंज्ञप्ति-स्त्री० । देवकृतदैवप्रतिबोधना या सा तथा । प्रव्रज्याभेदे, स्था० १० ठा० । "उदायणसबोही पव्वावाई देवसण्णत्ती ।" प० भा० । प० चू० ।

देवसण्णिवाय-देवसन्निपात-पु० । देवाना भुवि समवतारे, "तिहिं ठाणेहिं देवसन्निवाए सिया । त जहा-अरहतेहिं जायमाणेहिं अरहतेहिं पव्वयमाणेहिं अरहताण णाणुप्पयमहिमासु, एव देवुक्कलियादेवकहकहए ।" स्था० ३ ठा० १ उ० । (अर्हतां परिनिर्वाणमहिमासु देवसन्निपातो 'लोगुज्जोय' शब्दे) देवाना सन्निपात समागमो रमणीयत्वाद्यत्र स तथा । देवसमागमोपेते शिलापट्टकाऽऽदौ, भ० २ श० १ उ० । देवसङ्घाते च । रा० ।

देवसत्त-देवशप्त-पु० । नपुसकभेदे, ग० १ अधि० । प० भा० । "देवेहिं सत्तो देवसत्तो ।" प० चू० ।

देवसमुद्द-देवसमुद्र-पु० । स्वनामख्याते समुद्रे, "अत्थ देवोदे समुद्दे दो देवा महड्डिया देवभद्दा देवमहाभद्दा ।" देवः समुद्रो वृत्तो वलयाऽऽकारसस्थानसस्थितो यावत् परिक्षिप्य तिष्ठति, अत्राऽपि समचक्रवालाऽऽदिसूत्राणि तथैव, नवर देवोदकस्य समुद्रस्य विजयद्वार देवोदकसमुद्रपूर्वार्द्धपर्यन्ते नाम द्वीपपूर्वार्द्धपश्चिमदिशि, सप्रेति वक्तव्यम्-राजधानी विजयद्वारस्य पश्चिमदिशि देव समुद्र तिर्यगसख्येयानि योजनशतसहस्राणि अवगाह्य वक्तव्या । एव वैजयन्तजयन्तापराजितद्वारवक्तव्यताऽपि भावनीया, नामान्वर्थचिन्तायामपि देवभद्रदेवमहाभद्रौ देवौ, शेष तथैव यथा देवो द्वीप । जी० ३ प्रति० ।

देवसम्मण-देवशर्म्मन्-पु० । काम्पिल्यनगरासन्ने कस्मिंश्चिद् ग्रामे स्थिते गौतमप्रतिबोधिते (त०) स्वनामख्याते ब्राह्मणे, उत्त० १३ अ० । आ० चू० । कल्प० । आ० म० । जम्बूद्वीपे ऐरवते वर्षे अस्यामेवोत्सर्पिण्यां जाते देवसेनापरनामके स्वनामख्याते एकादशे तीर्थकरे, स० ।

देवसयणिज्ज-देवशयनीय-न० । देवशय्यायाम्, जी० ।

तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं एत्थ णं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते, तस्स णं देवसयणिज्जस्स अयमेतारूवे वण्णावासे पण्णत्ते । तं जहा-णाणामणिमया पडिपादा सोवण्णिया पादा णाणामणिमया पायसीया जंबूणदमयाति गत्ताइं वइरामया संधी नानामणिमए वेज्जे रययामया तूली लोहियक्खमया बिब्बोयणा तवणिज्जमई गंमोवहाणिया, से णं देवसयणिज्जे सालिंगणवट्टिए उहओ बिब्बोयणे दुहओ उण्णए मज्झणए गंभीरे गंगापुलिणवालुउद्दालसालिसए ओयवितखोमदुगुल्लपट्टपडिच्छयणे सुविरइयरयत्ताणे रत्तंसुयसंवुमे सुरम्मे आईणगरूतबूरणवणीयतूलफासमउए पासातीए । जी० ३ प्रति० ।

देवसिअ-दैवसिक-त्रि० । दिवसेन निर्वृत्तो दिवसपरिणामो वा दैवसिक- । दिवसभवे, आव० ४ अ० । ध० । प्रव० । आ० म० । आ० चू० । स्त्रियां ङीप् । दिवसे भवा दैवसिकी । दिवसभवायाम्, औ० । प्रतिक्रमणभेदे, (तद्वक्तव्यता 'पडिक्कमण' शब्दे वक्ष्यते)

देवसीह-देवसिंह-पु० । मथुरानगरस्थे स्वनामख्याते श्रमणोपासके, ती० ९ कल्प ।

देवसुंदर-देवसुन्दर-पु० । सोमतिलकसूरिशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, ग० ४ अधि० । स च विक्रमसवत् १४४७ मिते तपागच्छे विद्यमान आसीत्, विक्रमसवत्-१३९६मितेऽस्य जन्म, विक्रमसवत्-१४०४ मिते दीक्षा, विक्रमसवत्-१४२०मिते सूरिपद, ज्ञानसागरकुलमण्डनगुणरत्नसोमसुन्दराश्चेति शिष्यास्तस्याऽऽसन् । जै० इ० ।

देवसुय-देवश्रुत-पु० । जम्बूद्वीपे भारते वर्षे स्वनामख्याते षष्ठे भविष्यति जिने, प्रव० ७ द्वार । तथा षष्ठ देवश्रुतजिनं वन्दे ।" प्रव० ४ द्वार । ती० ।

देवसूरि-देवसूरि-पु० । स्याद्वादरत्नाकर-(रत्ना० १ परि०) जीवानुशासनवृत्तिकारके, जीवा० ३६ अधि० । एतस्य महात्मनः सङ्क्षिप्तमितिवृत्तम्-गुर्जरदेशे मद्दाहृतग्रामे प्राग्वाटवंशगृहपतेर्जिनदेव्यां भार्यायां पूर्णचन्द्रस्वप्नसूचित सुतो जज्ञे, स्वप्नानुसारेण पूर्णचन्द्र इति नाम्ना प्रसिद्धिमगमत् । भृगुकच्छपु-

रे विक्रमसंवत्-११५२ वर्षे मुनिचन्द्रसूरिपार्श्वे दीक्षां जग्राह । तदानीं रामचन्द्र इति नाम लेभे, पश्चात्तर्कव्याकरणसाहित्याऽऽद्यनेकशास्त्रेषु परिनिष्ठां प्राप्य विक्रमसंवत्-११७४ सूरिपदं सहैव च तेन देवसूरिरिति नाम लब्धम् । ततः क्रमेण धवलक्कपुरे उदयश्रेष्ठिकारितसीमन्धरस्वामिप्रतिमां प्रातिष्ठिपत्, अणहिल्लपुरपट्टने वाहडश्रावकस्य वीरप्रभुप्रतिमामस्थापयत् । नागपुरराजं सिद्धराजाऽऽक्रान्तममोचयत् । कर्णाटकदेशे कर्णावत्या नगर्या गत्वा कुमुदचन्द्र नाम वादप्रसिद्ध दिगम्बराऽऽचार्यं वादे आहूय अणहिल्लपुरपट्टने सिद्धराजसमक्षं तं पराजिग्ये । ततः सतुष्टेन सिद्धराजेन तस्मै दीनारलक्षं दातुमुत्सृष्ट, किं तु तेन निष्परिग्रहेण नाङ्गीकृतमिति तत्रैव श्रीऋषभदेवचैत्यं तद्द्रव्येण कारितम् । विक्रमसंवत्-१२२६ वर्षेऽयं देवसूरिर्देवलोकमगमत् । जै० इ० । जो० । मुनिचन्द्रसूरिशिष्ये रत्नप्रभसूरेर्गुरौ स्वनामख्याते आचार्ये, रत्ना० ८ परि० । "यैरत्र स्वप्रज्ञया, दिगम्बरस्याऽर्पिता पराभूतिः । प्रत्यक्ष विबुधानां, जयन्तु ते देवसूरयो नव्या. ॥२॥" निर्जितदुर्जयपरप्रवादा. श्रीदेवसूरिपादाः । स्या० । सामन्तभद्रसूरिशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, ग० । सर्वदेवसूरेर्गुरौ स्वनामख्याते सूरौ, ग० ।

वृद्धगच्छमधिकृत्य-

" अत्रवत्तत्र प्रथम , सूरिः श्रीसर्वदेवाऽऽह्व ॥ २१ ॥

रूपश्रीरिति नृपति-प्रदत्तविरुदोऽथ देवसूरिरभूत् ।

श्रीसर्वदेवसूरि-र्जज्ञे पुनरेव गुरुचन्द्र ॥२२॥ " ग० ४ अधि० ।

देवसेण-देवसेन-पु० । देवा सेना यस्य, देवाधिष्ठिता वा सेना यस्य स देवसेन इति । शतद्वारनगरस्थे महापद्मापरनामके स्वनामख्याते नृपे, " तस्स महापउमस्स रन्नो दव्वे वि नामधिज्जे भविस्सइ देवसेणे त्ति ।" स्था० ६ ठा० ३० । (एतद्वक्तव्यता ' महापद्म ' शब्दे वक्ष्यते) ऐरवतवर्त्तमानजिनेषु स्वनामख्याते षोमशे जिने, प्रव० ७ द्वार । भारते वर्षे भविष्यज्जिनस्य विमलवाहनस्य पूर्वभवजीवे, " देवसेणे विमलवाहणे तित्थयरो । " ती० २० कल्प । नयचक्रग्रन्थकारके स्वनामख्याते दिगम्बराऽऽचार्ये, " इत्यमेव समादिष्ट, नयचक्रेऽपि तत्कृता । " द्रव्या० ८ अध्या० । तज्जन्म विक्रमसंवत्-६५१ वर्षे रामसेनस्य स शिष्य , तेन दर्शनसारभावसग्रहतत्त्वसाराऽऽराधनासारधर्मसग्रहाऽऽलापपद्धत्यादयो ग्रन्था विरचिताः । जै० इ० । भद्दिलपुरनगरे नागस्य गृहपतेः सुलसानामभार्यायामुत्पन्ने स्वनामख्याते पुत्रे, स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्ध इत्यन्तकृद्दशाना पञ्चमेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० १ वर्ग १ अ० ।

देवसेणगणि-देवसेनगणिन्-पु० । यशोभद्रसूरिशिष्ये पृथ्वीचन्द्रगुरौ,तेन च पर्युषणाकल्पटिप्पणो नाम ग्रन्थो विरचितः। जै०इ०।

देवस्सपरिभोग-देवस्वपरिभोग-पु०। देवस्वस्य जिनबिम्बनिर्माापणार्थं कल्पितत्वेन जिनदेवद्रव्यस्य परिभोगो भक्षणं देवस्वपरिभोग । जिनदेवद्रव्यभक्षणे, उपचारात्तद्धेतुकं कर्म्म देवस्वपरिभोग. । तद्धेतुके कर्म्मणि च । पञ्चा० ५ विव० ।

देवा-देवा-स्त्री० । दिव० अच् । पद्मचारिण्या लतायाम्, प्रसनपर्णां च । वाच० । प्रा० ।

देवाइ-देवादि-पु० । देवाऽऽदियोगाद्देवाऽऽदिः । जिने, "देवाइ समणे भगवं महावीरे ।" रा० ।

देवाऽदेव-देवातिदेव-पु० । देवान् शेषानतिक्रान्ताः पारमार्थिकदेवत्वयोगाद्देवातिदेवाः। पञ्चविधभव्यद्रव्यदेवाऽऽदिदेवभेदे, भ० १२ श० ६ उ० ।

देवाउय-देवाऽऽयुष्-न० । देवानामायुष्कर्म्मणि, " चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्म पगरेंति । त जहा-पगइभद्दयाए, विणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए । " स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

देवागमण-देवाऽऽगमन-न० । यद्यपि सुराणामचिन्त्यशक्त्या सर्वत्राऽऽगमनशक्तिरस्ति, तथापि सिद्धान्ते सुराणामागमनं प्रायो निर्याणमार्गेणोक्त दृश्यत इति । ४६ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

देवाजीव-देवाऽऽजीव-त्रि० । देवं देव प्रतिमाद्रव्यमाजीवति । जीव अण् । पूजादौ, न० ।

देवाणंद-देवाऽऽनन्द-पु०। ऐरवते वर्षे भविष्यति चतुर्विंशतितमे स्वनामख्याते जिने,स० । " देवाणंदे य अरहा,समाहिं पडिदिसतु मे ।" ति० ।

देवाणंदसूरि (ण्)-देवानन्दसूरिन्-पु० । जयदेवसूरीन्द्रशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, ग० ४ अधि० ।

देवाणंदा-देवानन्दा-स्त्री० । ब्राह्मणकुण्डग्रामे कोमालसगोत्रस्य ऋषभदत्ताभिधानस्य ब्राह्मणस्य जालन्धरायणसगोत्राया भार्य्यायां महावीरस्वामिनो मातरि, आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० । पुरन्दराऽऽदिष्टेन हरिनैगमेषिदेवेन यदुदरात् त्रिशलाभिधानाया राजपत्न्या उदरसंक्रामण भगवतो महावीरस्य कृतम् । स्था० १० ठा० । (एतच्च ' महावीर'शब्दे स्फुटीभविष्यति)

इह खलु जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे दाहिणमाहणकुंडपुरसंणिवेसंसि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स देवाणंदाए माहणीए जालंधरायणसगोत्ताए सीहब्भवभूएणं अप्पाणेण कुच्छिंसि गब्भं वक्कंते समणे भगवं महावीरे । आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० । स० । आ० म० । आ० चू० । कल्प० ।

(देवानन्दायाः प्रव्रज्याऽऽदिवक्तव्यता ' उसभदत्त ' शब्दे द्वितीयभागे ११५३ पृष्ठे द्रष्टव्या) एकस्य स्वनामख्यातायां पञ्चदश्या रात्रौ, ज० ७ वक्ष० । च० प्र० । कल्प० । " जहा देवाणदा पुप्फचूलाए अंतिए । " नि० १ श्रु० ४ वर्ग २ अ० ।

देवाणुपुव्वी-देवानुपूर्वी-स्त्री० । एकोनविंशतितमे शुभकर्म्मभेदे, उत्त० ३३ अ० ।

देवाणुपुव्वीए पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमसहस्सस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागूणं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अबाहा । प्रज्ञा० २१ पद ।

देवाणुप्पिय-देवानुप्रिय-पु० । सरलस्वभावे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । ज० । रा० । विपा० ।

देवाणुभाग-देवानुभाग-पु० । अद्भुतवैक्रियशरीराऽऽदिशक्तियोगे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ० ।

देवाणुभाव-देवानुभाव-न०। कोपदण्डाऽऽदिजाते देवानां तेजोविशेषे, सामर्थ्ये च । वाच० । रा० । स्था० ।

देवातिदेव-देवातिदेव-पुं० । देवाना मध्येऽतिशयवत्त्वात् देवातिदेव । अर्हति, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

देवारण्ण-देवारण्य-न० । देवानां क्रीडास्थाने, ज्यो० ६ पाहु० । तमस्काये, देवारण्यमिति वा बलवद्देवभयात्क्षुभ्यतां देवाना तथाविधाऽऽरण्यमिव शरणभूतत्वात् । भ० ६ श० ५ उ० ।

देवावास-देवाऽऽवास-पुं० । देवानां भवनपत्यादीनां स्थानेषु, भ० १३ श० २ उ० । (तद्वक्तव्यता 'ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०२ पृष्ठे द्रष्टव्या) अश्वत्थवृक्षे, वाच० ।

देवावासंतर-देवाऽऽवासान्तर-न० । देवाऽऽवासविशेषे, भ० १० श० ३ उ० ।

देवावुक्कालिया-देवोत्कालिका-स्त्री० ।' देवकलिया ' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

देवासुरसंगाम-देवासुरसङ्ग्राम-पुं० । देवासुरयुद्धे, भ० ।

अत्थि णं भंते ! देवा असुरा संगामा देवा असुरा ? । हंता अत्थि । देवासुरेसु णं भंते ! संगामेसु वट्टमाणेसु किं णं तेसिं देवाणं पहरणरयणत्ताए परिणमंति ? । गोयमा ! जं णं ते देवा तणं वा कट्टं वा पत्तं वा सक्करं वा परामुसंति, तं णं तेसिं णं देवाणं पहरणरयणत्ताए परिणमति । जहेव देवाण तहेव असुरकुमाराणं ? । णो इणट्ठे समट्ठे, असुरकुमारा णं देवा णं णिच्चं विउव्विया पहरणरयणा पण्णत्ता ।

(जं णं देवा तणं वा कट्ठं वेत्यादि) इह च यद्देवानां तृणाऽऽद्यपि प्रहरणीय भवति तदचिन्त्यपुण्यसंभारवशात्सुभूमचक्रवर्तिन स्थालमिव, असुराणां तु यन्नित्यविकुर्वितानि तानि भवन्ति तद्देवापेक्षया,तेषा मन्दतरपुण्यत्वात्तथाविधपुण्याणामित्येवमवगन्तव्यमिति । भ० १८ श० ७ उ० ।

देवाहिदेव-देवाधिदेव-पुं० । देवानामिन्द्राऽऽदीनामधिका देवाः पूज्यत्वाद्देवाधिदेवा इति । अष्टादशदोषरहितेषु, दर्श० १ तत्त्व । तीर्थकरेषु, ते च चतुर्विंशत् । स० २३ सम० । आव० । (तद्वक्तव्यता ' तित्थयर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२९४ पृष्ठे द्रष्टव्या) भायलस्वामिगढस्थाया जिनप्रतिमायां च । भायलस्वामिगढे देवाधिदेव. । ती० ४३ कल्प । आ० क० । नि० चू० ।

देवाहिवइ-देवाधिपति-पुं० । देवेषु अधिपतिर्देवाधिपति. । देवेष्वधिककान्तिधारिणि, उत्त० ११ अ० । सूत्र० । इन्द्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

देविंद-देवेन्द्र-पुं० । दीव्यन्तीति देवा भवनवास्यादयस्तेषामिन्द्रा प्रभवो देवेन्द्रा. । चमराऽऽदिषु, आव० ४ अ० । आ० म० । कल्प० । ते च द्वात्रिंशत् । स० । द० प० । उपा० । (तद्वक्तव्यता ' इंद ' शब्दे द्वितीयभागे ५३५ पृष्ठे द्रष्टव्या) (देवाना मनुष्यलोकगमन 'मणुस्सलोय' शब्दे वक्ष्यते)

देविंदणाय-देवेन्द्रज्ञात-न० । देवेन्द्रोदाहरणे, पञ्चा० ।

कायव्वो जहसत्तिं, पवरो देविंदणाएणं ॥ ८ ॥

यथा हि भगवतामर्हतां जन्ममहाऽऽदिषु सुरेन्द्रः सर्वविभूत्या सर्वाऽऽदरेण च शरीरसत्कारं विधत्ते, तद्वदन्यैरप्यसौ विधेय. ॥ ८ ॥ पञ्चा० ९ विव० ।

देविंदत्थव-देवेन्द्रस्तव-पुं० । देवेन्द्रवक्तव्यताप्रतिबद्धे स्वनामख्याते प्रकीर्णकग्रन्थभेदे, द० प० ।

देविंदपूइय-देवेन्द्रपूजित-पुं० । देवेन्द्राः शक्राऽऽदयस्तैः पूजितेषु समभ्यर्चितेषु अर्हत्सु, प० सू० १ सूत्र ।

देविंदमुणीसर-देवेन्द्रमुनीश्वर-पुं० । रुद्रपालीयगच्छोद्भवे सङ्घतिलकसूरिशिष्ये, स च विक्रमसंवत् १४७० वर्षे विद्यमान आसीत्, तेन च प्रश्नोत्तररत्नमालावृत्तिनामा ग्रन्थो विरचित. । जै० इ० ।

देविंदसूरि-देवेन्द्रसूरि-पुं० । जगच्चन्द्रसूरिशिष्ये, धर्मरत्नटीकाकारके स्वनामख्याते आचार्ये, ध० र० । देवभद्रसूरिशिष्ये च । षृ० ६ उ० । "पायातिण निच्च देविंदसूरी जियमहविहवा ज सुय गीइनाम कय ता हुति।" सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

देविंदाइअणुगिति-देवेन्द्राऽऽद्यनुकृति-स्त्री० । देवाधिपदेवदानवप्रभृत्याचारानुकरणे, पञ्चा० ६ विव० ।

देविंदोग्गह-देवेन्द्रावग्रह-पुं० । अवगृह्यते स्वामिना स्वीक्रियते य सोऽवग्रह । देवेन्द्रस्य शक्रस्य ईशानस्य वाऽवग्रह. । दक्षिणलोकार्द्धे, उत्तरे च । प्रति० । भ० । देवेन्द्रस्य लोकमध्यवर्तिरुचकदक्षिणार्द्धमवग्रहः । आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० १ उ० ।

देविंदोववाय-देवेन्द्रोपपात-पुं० । स्वनामख्याते कालिकश्रुतभेदे, पा० ।

देविंधयार-देवान्धकार-न० । अन्धकारभेदे, स्था० ।

तिहिं ठाणेहिं देविंधयारे सिया । तं जहा-अरिहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं, अरिहंतपन्नत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे, पुव्वगए वोच्छिज्जमाणे ॥

देवानां भवनाऽऽदिष्वन्धकारं देवान्धकार, लोकानुभावादेवेति, लोकान्धकारे उक्तेऽपि यद्देवान्धकारमुक्तं तत्सर्वत्रान्धकासद्भावप्रतिपादनार्थमिति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

देविड्ढि-देवर्द्धि-स्त्री० । त्रिधात्रिधा प्रकाराभ्यां षड्धा देवर्धि. । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

देवित्थी-देवस्त्री-स्त्री० । स्त्रीभेदे, जी० २ प्रति० । (तद् वक्तव्यता ' इत्थी ' शब्दे द्वितीय भागे ५९५ पृष्ठे गता)

देविल्लासुय-देविल्लासुत-पुं० । अनुरक्तलोचनायाः पत्यौ स्वनामख्याते उज्जयनीनृपे, आव० ४ अ० । (तद्वक्तव्यता ' सव्वकामविरत्तया ' शब्दे वक्ष्यते)

देवी-देवी-स्त्री० । दीव्यति, दिव अच् गौरा० ङीष् । दुर्गायाम्, वाच० । उत्त० । "यत्प्रभावादवाप्यन्ते, पदार्थाः कल्पना विना । सा देवी संविदे नः स्ता-दस्तकल्पलतोपमा ॥ ३ ॥" उत्त० १ अ० । मूर्वायाम, स्पृक्कायां च । देवस्य पत्नी ङीप् । देवपत्न्याम्, वाच० । स्था० । " देवीणं ठावणा मुणेयव्वा ।" देवीनां सुरव-

धूनाम्। पञ्चा० २ विव०। प्रव०। राजाग्रमहिष्याम, व्य०३ उ०। सू० प्र०। प्रश्न०। "तस्स णं सेणियस्स रएणो धारणी नाम देवी होत्था।" ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। (देवीवर्णक 'राज' शब्दे वक्ष्यते) जम्बूद्वीपे भारते वर्षे अस्यामेवोत्सर्पिण्यां सप्तमस्यारनाम्नश्चक्रवर्तिन. स्वनामख्यातायां मातरि, स०। आव०। अत्रैव दशमस्य हरिषेणचक्रवर्तिन' स्वनामख्यातायां पत्न्याम्, स०। अस्यामेवोत्सर्पिण्यामष्टादशमस्याऽरस्वामिनस्तीर्थकरस्य स्वनामख्यातायां मातरि, स०। प्रव०। आव०। (देवीनामाशातना 'आसायणा' शब्दे द्वितीयभागे ४८३ पृष्ठे द्रष्टव्या) विप्रस्त्रीणामुपधौ च।"देव्यस्ता विप्रयोषित.।" इत्युक्ते।वाच०। तथेशाने सौधर्मे ज्योतिश्चक्रे व्यन्तरनिकाये असुराऽऽदिनिकाये च प्रत्येकं देवेभ्यो देवीवर्गो द्वात्रिंशदधिकद्वात्रिंशद्गुण इति प्रज्ञापनायां महादण्डके प्रोक्तमस्त्यन्यत्र तु "तिगुणा तिरूवअहिआ।" इत्यादिवचनात्सर्वसुरेभ्य' सर्वदेवीवर्गो द्वात्रिंशद्रूपाधिकद्वात्रिंशद्गुण इत्यत्रोत्तरवचन कथं सगच्छते प्रज्ञापनायां सनत्कुमाराऽऽदिदेवेभ्यो देवीनामधिकत्वप्रतिपादनाऽऽदिप्रश्ने, उत्तरम्-ईशानाऽऽदिषु यद्देवापेक्षया देवीना द्वात्रिंशद्गुणत्व तदीशानाऽऽदिदेवभोग्यदेव्यपेक्षयाऽवगन्तव्य,तेनाधिका अपि तत्र देव्यः सभाव्यन्ते, ताश्च सनत्कुमाराऽऽदिदेवापेक्षया गण्यमाना द्वात्रिंशदधिकद्वात्रिंशद्गुणा भवन्तीति न कश्चन प्रज्ञापनोपाङ्गे "तिगुणा तिरूवअहिआ त्ति" गाथोक्तगाथार्थयोर्भेद इति। ४१ प्र०। सेन० १ उ०।

देवीपडिमा-देवीप्रतिमा-स्त्री०। देव्या मूर्तौ; "तत्थ णं दो देवीओ य पडिमा कया।" आ० म० १ अ० २ खण्ड।

देवुक्कलिया-देवोत्कलिका-स्त्री०। देवानां वा तस्यैवोत्कलिका देवोत्कलिका। आ० म०१ अ०१ खण्ड। प्रश्न०। तत्समवायविशेषे, स्था० ३ ठा० १ उ०। रा०। देवलहरौ च। स्था० ४ ठा० ३ उ०। (देवोत्कलिका कुत्र भवति इति 'लोगुज्जोय' शब्दे वक्ष्यते)

देवुज्जोय-देवोद्द्योत-पुं०। देवप्रकाशे, स्था०।

तिहिं ठाणेहिं देवुज्जोओ सिया। तं जहा-अरहंतेहिं जायमाणेहिं, अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं, अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु। स्था० ३ ठा० १ उ०। आम०। रा०। (अर्हतां परिनिर्वाणमहिमासु देवोद्द्योतो भवति इति 'लोगुज्जोय' शब्दे वक्ष्यते)

देवेंदगणि (ण्)-देवेन्द्रगणिन्-पुं०। देवभद्रगणिशिष्ये तपागच्छस्थे स्वनामख्याते गणिनि, देवभद्रगणिमधिकृत्य-"तेषामुभौ विनेयौ, देवेन्द्रगणीन्द्रविजयचन्द्राह्वौ।" ग० ४ अधि०। बृहद्गच्छीये आम्रदेवसूरिगुरौ, स च विक्रमसवत्-११२६ मिते विद्यमान आसीत्। उत्तराध्ययनसूत्रोपरि टीका प्रवचनसारोद्धारग्रन्थ आख्यानमणिकोशश्चेत्यादिका ग्रन्था अनेन चक्रिरे, अयमाचार्य. सैद्धान्तिकशिरोमणिनाम्ना प्रसिद्ध.। जै० इ०।

देवेंदवंदिय-देवेन्द्रवन्दित-पुं०। देवानां भुवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामिन्द्रा: स्वामिनो देवेन्द्रास्तैर्वन्दितेऽर्हति, कर्म० २ कर्म०।

देवेंदसीहसूरि-देवेन्द्रसिंहसूरि-पुं०। अञ्चलगच्छीये अजितसिंहसूरिगुरौ, एतेन जैनमेघदूताऽऽद्या ग्रन्था रचिताः। विक्रमसवत्-१३७१ वर्षेऽस्य स्वरगमत्। जै० इ०।

देवेंदसूरि-देवेन्द्रसूरिन्-पुं०। श्रीमज्जगच्चन्द्रसूरितपागच्छस्थापकशिष्ये स्वनामख्याते सूरौ, कर्म० १ कर्म०। अयमाचार्य. विक्रमसंवत्-१२७०-१३२७ वर्षाणामन्तराले आसीत्, तेन च सटीक. कर्मग्रन्थः, श्राद्धदिनकृत्यटीकावृत्ति, नव्यकर्मग्रन्थपञ्चाशकवृत्तिः, सिद्धपञ्चाशकवृत्तिः, धर्मरत्नवृत्ति, सुदर्शनश्रेष्ठिचरित्र, देववन्दनभाष्य, गुरुवन्दनभाष्यं, प्रत्याख्यानभाष्यमृषभाऽऽदिवर्द्धमानान्तस्तुति., पाक्षिकप्रतिक्रमणसूत्रवृत्तिरित्यादयनेके ग्रन्था विरचिताः। विक्रमसवत्-१३२७ वर्षेऽस्य स्वर्गतः। जै० इ०। स्वनामख्याते सूरौ च। "कह पुण देविंदसूरीहिं चत्तारि विंबाणि उज्जेणपुराओ आणीयाणि।" ती० १२ कल्प।

देवेसरवंदिय-देवेश्वरवन्दित-पुं०। देवेन्द्रवन्दिते, "देवेसरवंदिय च मरुदेव।" स०।

देव्व-दैव-पुं०। चतुर्थे विवाहभेदे, ध०। यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा स दैव। ध० १ अधि०।

देवोववाय-देवोपपात-पुं०। जम्बूद्वीपे भारते वर्षे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां त्रयोविंशतितमे स्वनामख्याते भविष्यति तीर्थकरे, स०।

देस-देश-पुं०। दिश-अच्। जनपदे, बृ० ४ उ०। जीत०। स्था०। आव०। नि० चू०। रा०। मण्डले, स्था० ५ ठा०३उ०। जन्मक्षेत्राऽऽदौ, स्था०३ ठा०३ उ०। प्रदेशे, स्था० ३ ठा०३उ०। भ०। अनु०। प्रकारे, विशे०। स्था०। अवयवविशेषे, स्था० १ ठा०। जी०। अंशे, आतु०। प्रश्न०। पूर्वाऽऽदिदिक्षु, स्था०७ ठा०। एकदेशे, उपा० १ अ०। प्रस्तावे, विशे०। देश. प्रस्तावोऽवसरो विभाग. पर्याय इत्यनर्थान्तरम्। दश० १ अ०। आ० म०। विशे०। ग्रामनगराऽऽदौ, द्वा० १२ अष्ट०। देशन देशः। कथने, विशे०। आ० म०।

देसकहा-देशकथा-स्त्री०। तृतीये विकथाभेदे ग० १ अधि०।

देसकहा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-देसविहिकहा, देसविअप्पकहा, देसच्छंदकहा, देसनेवत्थकहा।

तथा देशो मगधाऽऽदौ विधिर्विरचना भोजनमणिभूमिकाऽऽदीना, भुज्यते वा यद्यत्र प्रथमतयेति देशविधिस्तत्कथा देशविधिकथा। एवमन्यत्रापि, नवर विकल्प सस्यनिष्पत्ति., वप्रकूपाऽऽदिदेवकुलभवनाऽऽदिविशेषश्चेति। छन्दो गम्यागम्यविभागो यथा लाटदेशे मातुलभगिनी गम्या, अन्यत्राऽगम्येति। नेपथ्य स्त्रीपुरुषाणा वेष स्वभाविको विभूषाप्रत्ययश्चेति इह दोषा। स्था० ४ ठा० २ उ०। आव०। दश०। नि० चू०। औ०। स०। प्रश्न०। आ० चू०।

इयाणिं देसकहा-

छंदं विधी विकप्पं, णेवत्थं बाहुविहं जणवयाणं।

एता कधा कधिंते, चतु जमला सुक्किला चउरो॥१२५॥

गाहापच्छद्ध तदेव।

अग्गद्धस्स इमा वक्खा-

छंदो गंम विधि रय-णा चेव य भुज्जते य जं पुव्वं।

सारणिकूवविकप्पो, णेवत्थं जोयमादीयं ॥ १२६ ॥

छदो आयारो, गम्मा जहा लामाण माउलडुहिया, माउलस्स धूया वा गमा,विहो नाम विन्थरो,रयणा णाम जहा कोसलावि सए आहारभूमी हरिनोवलित्ता कज्जति, पउमिणिपत्ताऽऽदीहिं भूमी अत्थरिज्जति, ततो पुष्फोवयारो कज्जति, तओ पत्ती उविज्जति, ततो पासेहिं करोडगा कट्टोरगा मकुया सिप्पीओ य ठविज्जति,सुज्जते य ज पुव्व,जहा-कोकणे पया,उत्तराव हे सत्तुया,अन्नेसु वा ज विसएसु ढाऊण पच्छा अणेगमवक्खप्पगारा दिज्जति, सारणीकूवाईओ विकप्पा भएणति, णेवत्थ मोयमादीय भवति । मोयमा णाम-जा ह्मामाण कण्णा सा मरहट्ठराण जोयमा भएणति, त च वाहप्पभिति इत्थिया ताव ववति,जाव परिणीया,जाव य आवएणसत्ता जाया, ततो भायण कज्जति, सयण मेलेऊण पऊओ दिज्जति, तप्पभिइ फिट्टइ जोयमा ।

इदाणि देसकहा दोसदरिसणत्थ भएणति-

रागदोसुप्पत्ती, सपक्खपरपक्खओ य अधिकरणं ।
बहुगुण इमो त्ति दोसो, मोत्तुं गमणं व अएणेसिं ॥१२७॥

देसकहा त ज देस वएणेति, तत्थ रागो, इयरे दोसो, रागदोसओ त कम्मबधो, किं च-सपक्खेण वा परपक्खेण वा सह अहिकरण भवति, कह ?, साधू एग विसय पससति, अवर णिंदति, ततो सपक्खेण वा परपक्खेण वा भणितो-तुम किं जाणसि कूवमडुक्के ?, तो उत्तरपच्चुत्तरातो अधिकरण भवति । किं चान्यत्-देसेवरिणज्जमाणे अएणो साहू चितेति-बहुगुणो इमो देसो वरिणओ, सो वरिणओ सोउ तत्थ गच्छति।देसकहि त्ति दार । नि० चू० १ उ० ।

देसकाल-देशकाल-पु० । देश. प्रस्तावोऽवसरो विभाग. पर्याय इत्यनर्थान्तरम् । स देशरूप. कालो देशकाल.। अभीप्सितवस्त्ववाप्त्यवसरकालरूपे कालभेदे, विशे० । आतु० । आ० । चू० ।

इदानीं देशकालमभिधित्सुस्तत्स्वरूप विवृण्वन्नाह-

जो जस्स जयावसरो, कज्जस्स सुभासुभस्स सो पायं ।
जण्णइ स देसकालो,देसोऽवसरो त्ति थक्को त्ति ॥२०६३॥

देश , अवसर , थक्कमिति पर्याया., तद्रूप कालो देशकाल ,स भएयते। क इत्याह-यो यस्य शुभस्याशुभस्य वा कार्यस्य निश्चितो यदाऽवसर स देशकालो भएयते, कथ निश्चित ?, इत्याह-सोपाय वक्ष्यमाणोपायत इत्यर्थ । इति गाथार्थ ॥ २०६३ ॥

तत्र शुभस्य साध्वाहिभिक्षाकालक्षणस्य कार्यस्य निश्चयोपायगर्भ प्रस्तावकालमाह-

निद्धूमग च गाम, महिलाथूभं च सुएणयं दट्ठुं ।
नीयं च काय ओलिंति ति जाया भिक्खस्स हरहरा॥२०६४॥

ओदनाऽऽदिपाकक्रियापरिसमाप्तौ निर्द्धूमक च ग्राम, पानीयवाहिकामहिलास्तूप च, कूपाऽऽदितट शून्य दृष्ट्वा तथा नीच च काका, (ओलिंति त्ति) अवलीयन्ते गृहाणि प्रत्यागच्छन्तीत्यादि च चिह्न दृष्ट्वा जानीयात्, यथा संजाता भैक्षस्य (हरहर त्ति) अतीव भिक्षाप्रस्ताव इति ॥ २०६४ ॥

अथाप्रशस्तस्य कार्यस्य निश्चयोपायपूर्वक प्रस्तावकालमाह-

निम्मच्छियं महुं पा-यसो निही खज्जगावणो सुन्नो ।
जा यंगणे पसुत्ता, पउत्थवइया य मत्ता य ॥२०६५॥

निर्माक्षिकमपगतसकलमाक्षिक मधु, तथा प्रकटस्थाकाशीभूतो निधि., इत्येतद् दृष्ट्वा तद्ग्रहणस्य य प्रस्तावो ज्ञायते स देशकालः । तथा खाद्यकाऽऽपणः कुल्लूरिकहट्टः शून्य इत्यवलोक्य यत्तद्गनखाद्यानां ग्रहणप्रस्तावो निश्चीयते, तथा या चाङ्गणे प्रसुप्ता प्रोषितपतिका च मदिरामत्ता च, तस्या अपि तदानीमतीवमदनाऽऽकुलीकृतत्वाद्यो ग्रहणप्रस्तावो विज्ञायते,स सर्वोऽपि देशकाल इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थ. ॥२०६५॥ विशे० ।

देसकालजाणण-देशकालज्ञान-न० । देशकालज्ञतायाम्, प्रव० ६ द्वार ।

देसकालजुय-देशकालयुत-त्रि० । क्षेत्रकालोचिते, प्रश्न० १ पद्द ।

देसकालएणुया-देशकालज्ञता-स्त्री० । अवसरोचितार्थसम्पादनरूपाया प्रस्तावज्ञतायाम्, भ० २५ श० ७ उ० ।

देसकालदाण-देशकालदान-न० । कटकाऽऽदौ विशिष्टनृपतेः प्रस्तावदाने, दश० ६ अ० १ उ० ।

देसकालभावरण-देशकालभावज्ञ-पु० । देश काल भाव च जानातीति देशकालभावज्ञ । देशकालभावानां ज्ञातरि, प्रव० । देश काल भाव च लोकाना ज्ञात्वा सुखेन विहरति शिष्याणां वाऽभिप्रायान् ज्ञात्वा सुखेनानुवर्त्तयति । प्रव० ६५ द्वार । आचा० ।

देसकालावइत्त-देशकालाव्यतीतत्व-न० । प्रस्तावोचिततारूपे चतुर्दशे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० । रा० ।

देसकालसंवरण-देशकालसंस्मरण-न० । स्मरणभेदे, व्य० १ उ० ।

देसग-देशक-पु० । देशयति कथयतीति देशक. । कथके, स० १ सम० ।

देसग्ग-देशाग्र-न० । देशान्ते, ज्ञा० १ श्रु० १५ अ० ।

देसघाइ (ण्) देशघातिन्-न० । स्वघात्यज्ञानाऽऽदेर्गुणस्य देश मतिज्ञानाऽऽदिलक्षण घातयन्तीत्येवशीलानि देशघातीनि । देशघातिप्रकृतीना रसस्पर्द्धकभेदे, प० स० ५ द्वार । देशघातीनि रसस्पर्द्धकानि भवन्ति । स्वस्य ज्ञानाऽऽदेर्गुणस्य देशमेकदेश मतिज्ञानाऽऽदिलक्षण घातयन्तीत्येव शीलानि देशघातीनि । तानि चानेकप्रकारच्छिद्रशतसङ्कुलानि । तथाहि-कानिचिद् अनेकबृहच्छिद्रशतसङ्कुलानि, वशदलनिर्मापितकटवत् । कानिचिन्मध्यमानेकच्छिद्रशतसङ्कुलानि,कम्बलवत् । कानिचित् पुनरतीव सूक्ष्मानेकच्छिद्रशतसङ्कुलानि,तथाविधवस्त्रवत् । तथा तानि स्तोकस्नेहानि विशिष्टनैर्मल्यरहितानि च भवन्ति । तथा चोक्तम्-" देसविघाइत्तणओ, इयरो कडकबल सुसकासो । विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अविमलो य " ॥ १ ॥ क० प्र० ।

देशघातिस्वरूपमाह-

देसविघाइत्तणओ, इयरो कमकंबलंसुसंकासो ।
विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अविमलो य ॥३७॥

इतरो देशघाती देशघातित्वात् स्वविषयैकदेशघातित्वाङ्घति, स च विविधबहुच्छिद्रभृतः । तद्यथा-कश्चित् ,वंशदलनिर्म्मापितकट इवातिस्थूरच्छिद्रशतसङ्कुलः, कश्चित्कम्बल इव मध्यमविवरशतसङ्कुलः, कोऽपि पुनस्तथाविधमसृणवासोवदतीव सूक्ष्मविवरसंवृत ।(कडकंबलसुसंकास इति) कटो वंशदलनिर्मापितः, कम्बल ऊर्णामयः, अंशुकं वस्त्रं, तत्संकाश , तथा स्वरूपतोऽल्पस्नेहः स्तोकस्नेहाऽविभागसमुदायरूपः, अविमलश्च नैर्मल्यरहितश्चेति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ प० सं० ३ द्वार । देशघातिरसस्पर्द्धकान्विते प्रकृतिभेदे, स्त्री० । ङीप् । प० सं० ३ द्वार । " देसघाइरसेण, पगईओ होंति देसघाईओ ।" देशघातिरसेन देशघातिरसस्पर्द्धकसम्बन्धेन प्रकृतयो मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूपाः पञ्चविंशतिसङ्ख्या देशघातिन्यो व्यपदिश्यन्ते । कर्म० ५ कर्म० । प० सं० । (ताश्च मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूपाः पञ्चविंशतिप्रकृतयः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६६ पृष्ठे उक्ताः)

देसचाइ (ण्)-देशत्यागिन्-पुं० । देशस्य जन्मक्षेत्राऽऽदेस्त्यागो देशत्याग ,स यस्मिन्नविनये प्रभुगाढप्रदानाऽऽदावस्ति स देशत्यागी । जन्मक्षेत्राऽऽदित्यागवत्यविनये, स्था० ३ ठा० ३ उ० । नि० चू० ।

देसच्चाय-देशत्याग-पुं० । जन्मक्षेत्राऽऽदित्यागे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

देसच्छंद-देशच्छन्द-पुं० । देशविषयके गम्यागम्यविभागे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

देसच्छंदकहा-देशच्छन्दकथा-स्त्री० । देशकथाभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । (व्याख्या "देसकहा" शब्दे गता)

देसजइ-देशयति-पुं० । " सव्वेण च देसेण च, तेण जुओ होइ देसजई । " सर्वेण द्वादशव्रताऽऽत्मकेन देशेन वाऽन्यतरव्रतप्रतिपत्तिलक्षणेन युक्ते श्रावके, आतु० । " सम्मद्दंसणसहिओ,गिण्हंतो विरइमप्पसत्तीए । एगव्वयाइचरिमो, अणुमोयइ त्ति देसजई ॥१॥ " कर्म० २ कर्म० ।

देसजय-देशयत-पुं० । देशे सकल्पनिरपराधत्रसवधविषये यत यमन संयमो यस्य स देशयतः । सम्यग्दर्शनयुते एकाणुव्रताऽऽदिधारिणि अनुमतिमात्रश्रावके, यदाह श्रीशिवशर्मसूरिवरः कर्मकृतौ-" एगव्वयाइ चरमो, अणुमोयइ त त्ति देसजई । " कर्म० ४ कर्म० ।

देसजुय-देशयुत-पुं० । षट्त्रिंशत्सूरिगुणानां प्रथमे गुणे, प्रव० । यो मध्यदेशे जातो यो वाऽर्द्धषड्विंशतिषु जनपदेषु स देशयुतः, स ह्यार्यदेशभणितं जानाति । ततः सुखेन तस्य समीपे शिष्याः सर्वेऽप्यधीयते । प्रव० ६४ द्वार ।

देसड-देश-पुं० । " एवपरसमंध्रुवमामनाक् एम्व पर समाणु ध्रुवु म मणाउं " ॥ ८ । ४ । ४१८ ॥ इत्यत्र प्रायोग्रहणाद् देशस्य देसडाऽऽदेशः । स्थाने, " माणि पणट्ठइ जइ न तणु, तो देसडा चइज्ज । " माने प्रणष्टे यदि तनुर्न त्यज्यते ततो देशस्त्यज्यते । प्रा० ढु० ४ पाद ।

देसण-देशन-न० । प्ररूपणे, न० ।

देसणा-देशना-स्त्री० । धर्मकथायाम्, पो० १४ विव० । ध० ० । स्था० । कथने, जी० ३७ अधि० । आख्यात भगवतेद न कुड्याऽऽदिनि.सृतं, यथा कश्चिदभ्युपगम्यते-" तस्मिन्ध्यानसमापन्ने, चिन्तारत्नवदास्थिते । नि सरन्ति यथाकाम, कुड्याऽऽदिभ्योऽपि देशनाः ॥ १ ॥ " स्था० १ ठा० ।

देसणिग्गमण-देशनिर्गमन-न० । देशेषु विहारक्रमकरणे,व्य० ३ उ० ।

देसणिसूदग-देशनिषूदक-त्रि० । देशविनाशके,"विशाखभूतिजीवश्च, भव भ्रान्त्वाऽथ केसरी । जज्ञे तुङ्गगिरौ शङ्ख-पुरादेशनिसूदकः ॥१॥ " आ० क० ।

देसणी-देशनी-स्त्री० । प्रज्ञापन्याम्, दश० ७ अ० ।

देसणेवत्थ-देशनेपथ्य-न० । देशानुकूले स्त्रीपुरुषाणां वेषे, देशकथाभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० । (व्याख्या 'देसकहा' शब्देऽनुपदमेव गता)

देसदंसण-देशदर्शन-न० । देशनिरीक्षणे, बृ० ।

शिष्य. पृच्छति ?, तेन जिनकल्पिकपदवीं संपादयितुमिच्छता द्वादश वर्षाणि सूत्रग्रहणं कृतं,द्वादशवर्षैरर्थः समग्रोऽपि गृहीतः, अतो देशदर्शनेन विना किमिवास्य न सिद्ध्यतीत्युच्यते-

जइ वि पगासोऽहिगओ, देसीभासाजुओ तहा वि खलु ।
तब्भुय सिया य त्तीसुं, परयामाई य पच्चक्ख ॥

यद्यपि तेन प्रकाशोऽर्थः सूत्रस्याधिगतः सम्यग्विज्ञातः, तथापि खलु निश्चयेनासौ विनेयो देशदर्शनेन देशीभाषायुतः कर्तव्यः । कुत ?, इत्याह-(तब्भुय इत्यादि) उद्भुकमिति स्यानम्, (सिय त्ति) स्यात्शब्दो भवत्यर्थे, आशङ्कायां, भजनायां वा । तत्र भवत्यर्थे सुप्रसिद्ध । आशङ्कायां यथा-" दव्वथओ भावथओ, दव्वथओ बहुगुणो त्ति बुद्धि सिया । " भजनायां यथा-" सिय तिभागे सिय तिभागतिभागे " इत्यादि । (त्तीसु त्ति) विष्वक्, पृथगित्यर्थः । परकागुन्द्रा भद्रमुस्तक इत्यर्थः । एते, आदिग्रहणात् पयः पिच्च नीरमित्यादयश्च शास्त्रप्रसिद्धाः शब्दा ,तेषु तेषु देशेषु लोकेन तथा तथा व्यवह्रियमाणा देशदर्शनं कुर्वता, प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षत उपलभ्यन्त इति ।

आह-यद्यसौ तान् प्रत्यक्षतो नोपलभेत, ततः का नाम न्यूनता भवेत् ?, उच्यते-

जो वि पगासो बहुसो, गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो ।
जच्चंधस्स व चंदो, फुडो वि संतो तहा स खलु ॥

योऽपि प्रकाशोऽर्थो बहुशो गुणितः स्वभ्यस्तीकृतः, पर न प्रत्यक्षत उपलब्धः, स जात्यन्धस्येव चन्द्रः स्फुटोऽपि सन् खलुरवधारणे, तथैवास्फुट एव मन्तव्य । इदमत्र हृदयम्-यथा चन्द्रः प्रकटोऽपि साक्षाद्दर्शनं विना जात्यन्धस्य न परिस्फुटाऽऽकारः प्रतिभासते, एवमस्यापि शास्त्रानुसारतः प्रकटा अपि प्रत्यक्षदर्शनमन्तरेण न परिस्फुटा व्यवहारोपयोगिनोऽर्थाः प्रतिभासन्ते ।

यतश्चैव तत -

आयरियत्तअणविए, भयणा जविओ परीइ नियमेण ।
अप्पतईओ जहन्ने, उज्जयं किं वाऽऽरियं खेत्तं ? ॥

आचार्यपदस्यानर्योऽयोग्यस्तस्मिन् भजनाऽर्थग्रहणानन्तरं देशदर्शनं कार्यते वा, न वा, यस्तु भव्य आचार्यपदयोग्य स नि-

यमेन पर्येति देशदर्शनाय पर्यटति । स चाऽऽत्मतृतीयो जघन्येनापञ्चयन्तया कृत्वा प्रेषणीय । किं च उभयमिति किमृतुबद्धकालप्रायोग्यमिदं क्षेत्रम्, उत वर्षावासयोग्यम् ?, तथा किमेतदार्यं सार्द्धपञ्चविंशतिजनपदमध्यवर्ति, आहोस्विदनार्यम् ?,एतत्सर्वमपि देशदर्शन विदधानो जानाति ।

अथ देशदर्शनस्यैव गुणान्तराभिधित्सया द्वारगाथामाह-

दंसणसोही थिरकरण, देस अइसेस जणवयपरिच्छा ।
काउ सुय दायव्वं, अविणीयाणं विवेगो य ॥

देशदर्शनं कुर्वतो दर्शनशुद्धिरात्मन', स्थिरीकरण चान्येषां भवति । (देस त्ति) नानादेशभाषासु कौशलम्, अतिशेषा अतिशया जनपदपरीक्षा च जायते, तत एतानि दर्शनशुद्ध्यादीनि कृत्वा विनीतेभ्य श्रुत दातव्यम् । अविनीताना विवेकः परित्याग. कर्तव्य इति द्वारगाथासमासार्थ ।

अथ विस्तरार्थं विभणिषुराह--

जम्मणनिक्खमणेसु य, तित्थयराणं महाणुभावाणं ।
इत्थ किर जिणवराणं, आगाढ दंसण होइ ॥

जन्मनिष्क्रमणशब्दाभ्या तदाधारभूता भूमयो गृह्यन्ते, जन्मभूमिषु अयोध्याऽऽदिषु, निष्क्रमणभूमिषु उज्जयन्ताऽऽदिषु, चशब्दाज्ज्ञानोत्पत्तिभूमिषु पुरिमतालाऽऽदिषु, निर्वाणभूमिषु सम्मेतशैलचम्पाऽऽदिषु, तीर्थकराणा महानुभावाना सातिशयाचिन्त्यप्रभावाना सबन्धिनीषु विहरतोऽत्र किल भगवता जिनवराणां जन्म जज्ञेऽत्र तु भगवन्तो दीक्षा प्रतिपन्ना, इह केवलज्ञानमासादितवन्त., इह पुन. परिवृता, एव बहुजनमुखेन श्रुत्वा स्वय च दृष्ट्वा नि.शङ्कितत्वभावादागाढमतीव विशुद्ध दर्शन सम्यक्त्व भवतीति । गत दर्शनद्वारम् ।

अथ स्थिरीकरणद्वारमाह-

संवेगं संविग्गाण, जणए सुविहिओ सुविहियाणं ।
आउत्तो जुत्ताणं, विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं ॥

संविग्नानां साधूना सवेग जनयति-अहो ! अय भव्याचार्योऽवगाहितसमस्तसिद्धान्तसिन्धुरभ्यस्तचरणकरणसामाचारीक इत्थ देशदर्शन करोतीति भावनाया. स्थिरीकरण करोतीत्यर्थ । स्वय सुविहितानुष्ठानस्तेषामपि सुविहितानां स्वयमायुक्तो विकथानिद्राऽऽदिप्रमादैरप्रमत्तस्तेषामपि युक्तानामप्रमादिना यश्च विशुद्धलेश्य तेषामपि सुलेश्यानामिति । गत स्थिरीकरणद्वारम् । अत्र विशेषचूर्णिकृता दर्शनशुद्धिद्वार विवृण्वतेय गाथा गृहीता, सवेगस्य सम्यग्दर्शनलक्षणत्वात् सवेगदर्शनेन शुद्धि कृता भवतीति कृत्वा स्थिरीकरणद्वार तु मूलत एव नोपात्त, द्वारगाथायामपि " दसणसोही देस-प्पवेस अइसेस जणवयपरिच्छा ।" इत्येष एव पाठो गृहीत, अतस्तदभिप्रायेण गत दर्शनशुद्धिद्वारम् ।

अथ देशप्रवेशद्वार व्याचष्टे-

णाणादेसीकुसलो, णाणादेसीकयस्स सुत्तस्स ।
अभिलावे अत्थकुसलो, होइ तओऽणेण गंतव्वं ॥
कहयति अभासियाण वि, अभासिए आवि पव्वयावेइ ।
सव्वे वि तत्थ पीई, बंधति सभासिओ णे त्ति ॥

पियधम्मऽवज्जभीरू, साहम्मियवच्छलो असढभावो ।
संविग्गावेइ परं, परदेसपवेसणे साहू ॥

नानाप्रकारा मगधमालवमहाराष्ट्रलाटकर्णाटद्राविडगौडविदर्भाऽऽदिदेशभवा या देशी भाषा, तस्यां कुशल सन् नानादेशीकृतस्य नानादेशभाषानिबद्धस्य सूत्रस्याऽभिलापे उच्चारणेऽर्थकथने च कुशलो भवति, यत एव ततोऽनेन देशदर्शनार्थं गन्तव्यम् ॥ तथा-नञ कुत्सार्थत्वात् कुत्सिता अव्यक्तवर्णविभागा भाषा येषा तेऽभाषिकास्तेषामप्यसौ धर्मं कथयति, नि.शेषदेशभाषानिष्णातत्वात् । अभाषिकॉश्चापि तद्देशभाषया प्रतिबोध्य प्रव्राजयति,सर्वेऽपि च शिष्यास्तत्राऽऽचार्ये प्रीति बध्नन्ति,सभाषिको "णे"अस्माकमयमितिकृत्वा । तथा प्रियधर्मा धर्मश्रद्धालुरवद्य पापकर्म तस्माद्भीरुरवद्यभीरुः, साधर्मिकाः साधवस्तेषां वत्सलो द्रव्यतो भक्तपानाऽऽदिना, भावतस्तु स्खलिताऽऽदिषु सारणाऽऽदिना, अशठभावो मातृस्थानरहित , एवविधोऽसौ साधु परदेशप्रवेशने वर्तमान. परमन्य सयमयोगेषु सीदन्तमपि सविग्नयति सदुपदेशदानाऽऽदिना सविग्न करोतीति । गत देशद्वारम्, देशप्रवेशद्वार वा ।

अथातिशयद्वारमाह-

सुत्तत्थथिरीकरणं, अइसेसाणं च होइ उवलद्धी ।
आयरियदंसणेणं, तम्हा सेविज्ज आयरिए ॥

आचार्याणा-दर्शनेन, सेवनेनेति यावत् । सूत्रार्थस्थिरीकरणमतिशयाना च पूर्वाणामुपलब्धिः प्राप्तिर्भवति, यत एव तस्माद् सेवेत पर्युपासीताऽऽचार्यान् ।

एतदेव व्याख्यानयति-

उभए निसंकियाइ, पुव्विं से जाइँ पुच्छमाणस्स ।
होइ जओ सुत्तत्थे, बहुस्सुए सेवमाणस्स ॥

उभये सूत्रेऽर्थे च यानि पूर्वं (से) तस्य शङ्कितानि पदानि, तानि आचार्याणा समीपे पृच्छतो नि.शङ्कितानि जायन्ते । एवं बहुश्रुतान् सेवमानस्य जय. सूत्रार्थविषयेऽन्य. सातिशयो भवति, अतो बहुश्रुतपर्युपासन विधेयम् ।

अपि च-

भवियाऽऽरिय देसाणं, दंसणं कुणइ एस इय सोउं ।
अन्ने वि उज्जमते, विणिक्खमंते य से पासे ॥

भव्याचार्य एष देशानां दर्शन करोति इति श्रुत्वाऽन्येऽपि पर्युपास्यमानाचार्यसबन्धिन शिष्या उद्यच्छन्ते सूत्रार्थग्रहणाऽऽदावुद्यम कुर्वन्ति गृहिणोऽपि च तद्गुणग्रामरञ्जितमनसो विनिष्क्रामन्ति दीक्षा प्रतिपद्यन्ते । (से) तस्य भविष्यदाचार्यस्य पार्श्वे इति ।

अतिशयानामुपलब्धि' कथ भवतीत्याह-

सुत्तत्थे अइसेसा, सामायारी य विज्जजोगाऽऽई ।
विज्जाजोगाइसुए, विसंति दुविहा अओ होंति ॥

इहातिशयास्त्रिविधास्तद्यथा-सूत्रार्थातिशया , सामाचार्यातिशया ; विद्यायोगा । आदिशब्दान्मन्त्राश्चेति त्रयोऽतिशयाः । तत्र विद्या स्त्रीदेवताऽधिष्ठिता, पूर्वसेवाऽऽदिप्रक्रियासाध्या वा, योगा पादलेपप्रभृतयो गगनगमनाऽऽदिफला., मन्त्रा पुरुषदेवता , पठितसिद्धा वा । यद्वा-विद्यायोगा., चशब्दान्मन्त्राश्च श्रुते एव विशन्ति अन्तर्भवन्ति, अतो द्विविधा अति-

शया भवन्ति, तत्र सूत्रार्थातिशयाः सामाचार्यातिशयाश्चे- त्येतेषामतिशयानामुपलब्धिरत्राऽऽचार्यपर्युपासनायां भवति ।

अथ सामाचार्या अतिशय विभावयिषुराह-

णिक्खमणे य पवेसे, आयरियाणं महाणुभावाणं ।
सामायारीकुसलो, अ होइ गणसंपवेसेणं ॥

स देशदर्शनं कुर्वाणस्तेषु तेषु नगराऽऽदिषु बहुश्रुतानामाचार्याणां महानुभावानां सम्बन्धी यो गणो गच्छस्तन्मध्ये यः सम्यगेकीभावेनैकत्रावस्थानलक्षणेन प्रवेशस्तेन बहुशो गणान्तरेषु निष्क्रमणे प्रवेशे च सामाचारीकुशलो भवति ।

कथमित्याह-

आगंतुमाहुभाव-म्मि अविदिए धन्नसालमाइठिया ।
उप्पत्तियाउ थेरा, सामायारीउ ठाविंति ॥

आगन्तुकाः प्राघूर्णकाः, उपसम्पन्ना वा, तेषां साधूनां भावेऽविदिते कीदृशेनाऽभिप्रायेणाऽऽगताः, के वाऽमीत्यपरिज्ञाते केचित् स्थविरा आचार्या धान्यशालायामादिशब्दात् घृतशालाऽऽदिष्ववस्थिता औत्पत्तिकीरनुत्पन्नपूर्वाः सामाचारीः स्थापयन्ति ।

कथमित्याह-

सव्वे वि पडिग्गहए, दंसेउं नीह पिंमवायट्ठा ।
आहिमरमाइसंका, पडिलेहेउं व पविसंति ॥

ते आचार्याः पिण्डपातार्थं भिक्षानिमित्तं साधून् निर्गच्छतो भणन्ति-सर्वेऽपि प्रतिग्रहान् दर्शयित्वा निर्गच्छत, अदर्शितप्रतिग्रहैर्न गन्तव्यम । कुत इत्थं कुर्वन्तीत्याह-आभिमराऽऽद्याशङ्कया मा कश्चिदभिमर उदायिनृपमारकवत् श्रमणवेषेणाऽऽगतो भवेत्, आदिग्रहणेन चौरो वा मा धान्याऽऽदिमोषणायाऽऽगतो भवेदित्याद्याशङ्कयाऽपूर्वी सामाचारीं स्थापयन्ति, भिक्षाप्रतिनिवृत्ता अपि च गुरूणां पुरतः सर्वं प्रत्युपेक्ष्य ततः प्रविशद्भिरेवाभिमराऽऽदिभिः कारणैरिति । गतमतिशयद्वारम् ।

अथ जनपदपरीक्षाद्वारमाह-

अब्भे नदी तलावे, कूवे अइपूरए य नावे वाणीए ।
मंस फलपुप्फभोगी, वित्थिन्ने खेत्ते कप्पविही ॥

स देशदर्शनं कुर्वन् जनपदानां परीक्षां करोति-कस्मिन् देशे कथं धान्यनिष्पत्तिः, तत्र क्वचिद्देशेऽभ्रैः सस्यं निष्पद्यते, वृष्टिपानीयैरित्यर्थः । यथा लाटविषये, क्वापि नदीपानीयैर्यथा सिन्धुदेशे, क्वचित्तु तडागजलैर्यथा द्रविडविषये, क्वापि कूपपानीयैर्यथोत्तरापथे, क्वचिदतिपूरकेण, यथा बन्नासाया पूराद्दतिरिच्यमानाया तत्पूरपानीयभाविताया क्षेत्रभूमौ धान्यानि प्रकीर्यन्ते । (नावेति) यत्र नावमारोप्य धान्यमानीतमुपभुज्यते, यथा काननद्वीपे, (वाणि त्ति) यत्र वाणिज्येनैव वृत्तिरुपजायते, न कर्षणेन, यथा मथुरायाम्, (मंस त्ति) यत्र दुर्भिक्षे समापतिते मांसेन कालोऽतिवाह्यते । तथा यत्र पुष्पफलभोगी प्राचुर्येण लोको, यथा कोङ्कणाऽऽदिषु, तथा कानि विस्तीर्णानि क्षेत्राणि, कानि वा सङ्कीर्णानि (कप्पे त्ति) कस्मिन् क्षेत्रे कः कल्पो यथा सिन्धुविषयेऽनिमिषाऽऽद्याहारा अगर्हिताः । (विहि त्ति) कस्मिन् देशे कीदृश समाचारो यथा सिन्धुषु रजकः सम्भोज्यो, महाराष्ट्रविषये कल्पपाला अपि सम्भोज्या इति ।

अपि च-

सज्झायसंजमहिए, दाणाइमभाउले सुलभवित्ती ।
कालुभयहिए खित्ते, जाण पडिणीयरहिए य ॥

स्वाध्यायहितं यत्राखण्डे सूत्रार्थपौरुष्यौ भवतः, संयमहितं स्त्रीदोषरहितमल्पबीजरहिताऽऽदि वा । (दाणाइ त्ति) दानश्राद्धेरादिग्रहणादभिगमश्राद्धैश्चा समाकुलम् । अत एव सुलभा सुप्रापा वृत्तिर्हेतुराहारस्य सम्पत्तिर्यत्र तत् सुलभवृत्तिकं, तथा किमिदमागन्तुकभद्रकम्, उत वास्तव्यभद्रकमित्याद्युपलक्षणाद्द्रष्टव्यम । (कालुभयहिए खित्ते त्ति) अमूनि वर्षावासप्रायोग्याणि, अमूनि तु ऋतुबद्धकालयोग्यानि, इत्युभयकालहितानि क्षेत्राणि जानाति, तथा प्रत्यनीकः साध्वादीनामुपद्रवकारी तद्रहितानि च क्षेत्राणि सम्यग् जानातीति । गत जनपदपरीक्षाद्वारम् । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

देसधम्म-देशधर्म-पु० । देशाऽऽचारे, देशधर्मो देशाऽऽचारः । स च प्रतिनियत एव नेपथ्याऽऽदिभेदलिङ्ग इति । दश० १ अ० ।

देसप्पंत-देशप्रान्त-पु० । देशस्य शेषसीमायाम्, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

देसबंध-देशबन्ध-पु० । देशतो देशापेक्षया बन्धः । बन्धभेदे, भ० ८ श० ६ उ० ।

देसभासा-देशभाषा-स्त्री० । मालवमहाराष्ट्राऽऽदिप्रसिद्धभाषायाम्, बृ० ६ उ० । पुरुषद्वासप्ततिकलाभभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

देसय-देशक-पु० । देशयतीति देशकः । उपदेष्टरि, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आव० ।

देसवासी-देशवर्षिन्-पु० । देशे आत्मनो वा देशेन वर्षतीति देशवर्षी । एकदेशमात्रे वर्षणशीले, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

देसविअप्पकहा-देशविकल्पकथा-स्त्री० । देशकथाभेदे, स्था० । (व्याख्या ' देसकहा ' शब्देऽनुपदमेव गता)

देसविण्णाण-देशविज्ञान-न० । विविधमण्डलेषु सञ्चरतां विचित्रलोकलोकोत्तरव्यवहारज्ञाने, पञ्चा० १७ विव० ।

देसवित्थाराणंतय-देशविस्तारानन्तक-न० । एक आकाशप्रतर सर्वविस्तारानन्तकसर्वाऽऽकाशास्तिकाय इत्येवरूपेऽनन्तभेदे, स्था० १० ठा० ।

देसविरइ-देशविरति-स्त्री० । देशः प्राणातिपाताऽऽदि, एकदेशस्तु वृक्षच्छेदनाऽऽदिः, तयोर्विरमणं विरतिर्यस्या निवृत्तौ सा देशविरतिः । विशे० । अणुव्रतादिधर्मनिर्पत्तिपरिणामे, पञ्चा० १० विव० । देशविरतिसम्यक्त्वधारिणो द्वादशदेवलोके याता नवेति प्रश्ने, उत्तरम्-द्वादशदेवलोके याता इत्यक्षराणि पन्नवणासूत्रे वृत्तौ च सन्तीति । ७५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

देसविरइगुणट्ठाण-देशविरतिगुणस्थान-न० । देशविरता एकद्व्याद्यणुव्रतधरभेदाः श्रावकाः, तेषां गुणस्थानम् । आव० ४ अ० । श्रावकसम्बन्धिगुणस्थाने, प्रव० । तथा सर्वसावद्ययोगस्य देशे एकव्रतविषयस्थूलसावद्ययोगाऽऽदौ सर्वव्रतविषयानुमतिवर्जसावद्ययोगान्तो विरतिर्यस्याऽसौ स देशवि-

रत, सर्वसावद्ययोगविरतिस्त्वस्य नास्ति, प्रत्याख्यानाऽऽवरणकषायोदयात् सर्वविरतिरूपं हि प्रत्याख्यानमावृण्वन्तीति- प्रत्याख्यानाऽऽवरणा उच्यन्ते, इति देशविरत, तस्य गुणस्थानं देशविरतगुणस्थानम् । प्रव० २२ द्वार । कर्म० । प० स० । दर्श० ।

देसविरइसामाइय-देशविरतिसामायिक-न० । देशविरतिरूपस्वरूपैव सामायिकमिति । सामायिकभेदे, अस्य पर्याया -"विरयाविरई संवुडमसंवुडे बालपंडिय चेव देसिकदेसविरई अणुधम्मो य ।" विशे० । आ० म० (एषां पदानां व्याख्या तत्तच्छब्दे) (वक्तव्यता सर्वैव 'सामाइय' शब्दे द्रष्टव्या)

देसविराहय-देशविराधक-पु० । देशं स्तोकमंशं ज्ञानाऽऽदित्रयरूपस्य मोक्षमार्गस्य तृतीयभागरूपं चारित्रं विराधयति । प्राप्तस्य चारित्रस्यापालनादप्रासेवी देशमात्रस्य विराधके, भ० ८ श० १ उ० ।

देसविरुद्ध-देशविरुद्ध-न० । तत्तद्देशीयशिष्टैरनाचीर्णे,ध० । तत्र यत्र देशे शिष्टजनैरनाचीर्णं तत्तत्र देशविरुद्धम् । यथा-सौवीरेषु कृषिकर्मेत्यादि । अथवा जातिकुलाऽऽद्यपेक्षयाऽनुचितं देशविरुद्धं, यथा ब्राह्मणस्य सुरापानमित्यादि । ध० २ अधि० ।

देसविहिकहा-देशविधिकथा-स्त्री० । देशकथाभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० । (व्याख्या 'देसकहा' शब्देऽनुपदमेव गता)

देससंका-देशशङ्का-स्त्री० । देशविषये जीवाऽऽद्यन्यतमपदार्थैकदेशगोचरे शङ्काभेदे, प्रव० ६ द्वार । यथाऽस्ति जीवः केवलं सर्वगतोऽसर्वगतो वा सप्रदेशोऽप्रदेशो वेति शङ्का देशविषया, जीवाऽऽद्यन्यतमपदार्थैकदेशगोचरेत्यर्थः । प्रव० ६ द्वार । नि० चू० ।

देससाहणणबंध-देशसंहननबन्ध-पु० । देशेन देशस्य संहननलक्षणो बन्धः संबन्धः शकटाङ्गाऽऽदीनामिव । देशसंहननबन्धभेदे, भ० ८ श० ९ उ० ।

देसादायारलंघण-देशाऽऽद्याचारलङ्घन-न० । जनपदग्रामकुलप्रभृतिसमाचारातिक्रमे, पञ्चा० ३ विव० ।

देसाराहय-देशाऽऽराधक-पु० । सम्बोधरहितत्वात्क्रियापरत्वाद् देशं स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याऽऽराधयति । देशमात्राऽऽराधके, भ० ८ श० १ उ० ।

देसावगासिय-देशावकाशिक-न० । देशे दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य विभागोऽवकाशोऽवस्थानमवतारो विषयो यस्य तद्देशावकाशं, तदेव देशावकाशिकम् । दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिनं संक्षेपकरणलक्षणे, सर्वव्रतसंक्षेपकरणलक्षणे वा । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तयाणंतरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा -आणवणपओगे १, पेसवणपओगे २, सद्दाणुवाए ३, रूवाणुवाए ४, बहिया पोग्गलपक्खेवे ५ । उपा० १ अ० । आव० । आ० चू० । सूत्र० । पञ्चा० ।

श्रावकस्य द्वितीयशिक्षाव्रते, श्रा० । ध० र० । ध० ।

६५९

अधुना देशावकाशिकव्रतातिचारानाह-

प्रेषणानयने शब्द-रूपयोरनुपातने ।

पुद्गलप्रेरणं चेति, मता देशावकाशिके ॥ ५६ ॥

प्रेषणं चाऽऽनयनं चेति प्रेषणानयने, शब्दश्च रूपं चैतयोरनुपातनेऽवतारणे, शब्दानुपातो रूपानुपातश्चेत्यर्थः । पुद्गलप्रेरणं चेति पञ्चातिचारा देशावकाशिके देशावकाशिकनाम्नि व्रते ज्ञेयाः । अथ भाव.-दिग्व्रतविशेष एव देशावकाशिकव्रतम् । इयांस्तु विशेषो-दिग्व्रतं यावज्जीवं संवत्सरचतुर्मासीपरिमाणं वा, देशावकाशिकं तु दिवसप्रहरमुहूर्ताऽऽदिपरिमाणं, तस्य च पञ्चातिचाराः । तद्यथा-प्रेषणं भृत्यादेर्विवक्षितक्षेत्राद् बहिः प्रयोजनाय व्यापारणम्, स्वयं गमने हि व्रतभङ्गः स्यादिति अन्यस्य प्रेषणम्, देशावकाशिकव्रतं मा भूद्गमनागमनाऽऽदिव्यापारजनितप्राण्युपमर्द इत्यभिप्रायेण गृह्यते, स तु स्वयं कृतोऽन्येन वा कारित इति न कश्चित्फले विशेषः, प्रत्युत स्वयं गमने ईर्यापथविशुद्धेर्गुणः, परस्य पुनरनिपुणत्वादीर्यासमित्यभावे दोष इति प्रथमोऽतिचारः । १ । आनयनं विवक्षितदेशाद् बहिः स्थितस्य सचेतनाऽऽदिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्रे प्रापणं सामर्थ्यात्प्रेष्येण, स्वयं गमने हि व्रतभङ्गः स्यात्, परेण त्वानयने न भङ्ग इति बुद्ध्या यदाऽऽनाययति सचेतनाऽऽदि द्रव्यं तदाऽतिचार इति द्वितीयः । २ । शब्दस्य क्षुत्कासिताऽऽदेरनुपातनं श्रोत्रेऽवतारणं शब्दानुपातनं, यथा विहितस्वगृहवृतिप्राकाराऽऽदिव्यवच्छिन्नभूप्रदेशाभिग्रहः प्रयोजने उत्पन्ने विवक्षितक्षेत्राद् बहिर्व्रतभङ्गभयात्स्वयं गन्तुं बहिः स्थितं वाऽऽह्वातुमशक्नुवन् वृतिप्राकाराऽऽदिप्रत्यासन्नवर्तीभूय कासिताऽऽदिशब्दं आह्वानीयानां श्रोत्रेऽनुपातयति, ते च तच्छ्रवणात्तत्समीपमागच्छन्तीति शब्दानुपातननामातिचारस्तृतीयः । ३ । एवं रूपानुपातनं, यथा रूपं शरीरसम्बन्धि उत्पन्नप्रयोजनः शब्दमनुच्चारयन्नाह्वानीयानां दृष्ट्यनुपातयति, तद्दर्शनाच्च तत्समीपमागच्छन्तीति रूपानुपातनाऽऽख्योऽतिचारश्चतुर्थः । ४ । तथा पुद्गलाः परमाणवस्तत्सङ्घातसमुद्भवा बादरपरिणामं प्राप्ता लोष्टाऽऽदयोऽपि तेषां प्रेरणं क्षेपणं विशिष्टदेशाभिग्रहे हि सति कार्यार्थी परगृहगमननिषेधाद्यदा लोष्टकान् परेषां बोधनाय क्षिपति, तदा लोष्टातिपातसमनन्तरमेव ते तत्समीपमनुधावन्ति, ततश्च तान् व्यापारयतः स्वयमगच्छतोऽप्यतिचारो भवतीति पञ्चमः । ५ । इह चाऽऽद्यद्वयमव्युत्पन्नबुद्धित्वेन सहसाकाराऽऽदिना वा, अन्त्यत्रयं तु मायापरतयाऽतिचारतां यातीति विवेकः । इहाऽऽहुर्वृद्धा -दिग्व्रतसंक्षेपकरणमणुव्रताऽऽदिसंक्षेपकरणस्याप्युपलक्षणं द्रष्टव्यं, तेषामपि संक्षेपस्यावश्यकर्तव्यत्वात् । अत्राऽऽह-ननु अतिचाराश्च दिग्व्रतसंक्षेपकरणस्यैव श्रूयन्ते, न व्रतान्तरसंक्षेपकरणस्य, तत्कथं व्रतान्तरसंक्षेपकरणं देशावकाशिकव्रतमिति ? । अत्रोच्यते-प्राणातिपाताऽऽदिव्रतान्तरसंक्षेपकरणेषु बधबन्धाऽऽदय एवातिचाराः, दिग्व्रतसंक्षेपकरणे तु संक्षिप्तत्वात्क्षेत्रस्य प्रेष्यप्रयोगाऽऽदयोऽतिचारा भिन्नातिचारसंभवाच्च दिग्व्रतसंक्षेपकरणस्यैव देशावकाशिकत्वं साक्षादुक्तम् ॥ ५६ ॥ इत्युक्ता देशावकाशिकव्रतातिचाराः । ध० २ अधि० । संपूर्णदिवसे देशावकाशिकं क्रियते, तत्रोच्चारणपारणाविधिर्लिखनीयः, तथा तत्र सामायिकं गृहीतं पारितं च शुद्ध्यति, न वा, तथा देशावकाशिकेन सह सामायिकमुच्चरति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-देशावकाशिकोच्चारणाविधिः-"दे

सावगासिअवपभोग पञ्चक्खामि" इत्यादिको दृश्यते, पर पारणविधिर्ज्ञातो नास्ति, तथा देशावकाशिकमध्ये सामायिकस्य ग्रहण पारण च शुरूयति, तेन सह सामायिकग्रहणमपि शुरूयतीति । ४२७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

देसाहिवइ-देशाऽधिपति-पु०। देशाऽऽरक्षिके,देशव्यापृतिकेषा। बृ० ४ उ० । स्था० ।

देसि-देशिन्-त्रि० । देशवति, अवयविनि,विशे० ।

देसिक्कदेसविरय-देशैकदेशविरत-पु० । श्रावके, आतु० । षण्णां पृथिव्यादिकायानां षष्ठांशत्वाद् देशस्त्रसकायव्यपरोपणलक्षण ,तस्यापि सकल्पजाऽऽरम्भजत्वेन द्विभेदत्वादेकदेश सकल्पजत्रसविनाशनिवृत्तिरूप पुनस्तस्यापि सापराधनिरपराधभेदद्वयेन द्विप्रकारत्वादत्र ।निरपराधसकल्पजत्रसजीवविनाशनिवृत्तिरूपो देशैकदेशस्तेन स्वयं हननघातनाद्विरतो निवृत्तो देशविरत. ॥ आतु० ।

देसिगणि-देशगणि-पु० । स्वनामख्याते आचार्ये, "तत्तो अ थिरचरित्त, उत्तमसम्मत्तसत्तसंजुत्त । देसिगणिखमासमणं, माढरगुत्त नमसामि" ॥ ११ ॥ कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

देसितव-देशितवत्-त्रि० । प्रकाशिते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

देसिता-देशित्वा-अव्य० । कथयित्वेत्यर्थे, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

देसिय-देशिक-पु० । देशन देश कथन, सोऽस्यास्तीति देशिक । गुरौ, उपदेष्टरि, आ० म० १ अ० १ खण्ड । विशे० । व्य० । देशयतीति देशिक । अप्रयायिनि, आव० ५ अ० । बृहत्क्षेत्रव्यापिनि, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

देशित-त्रि० । उपदिष्टे, कथिते, विशे० । आव० । पा० । जी० ।

दैवसिक-त्रि०। दिवसयाने, "देसिय च अईआरं, चिंतिज्ज अणुपुव्वसो ।" उत्त० २६ अ० ।

देसिल्लग-देशीय-त्रि० । देशोद्भवे, बृ० ३ उ० । यथा पारसुवर्णकम् । नि० चू० १६ उ० ।

देसीतो-देशीतस्-अव्य० । देशीभाषामाश्रित्येत्यर्थे,बृ० २ उ० ।

देसीनाममाला-देशीनाममाला-स्त्री०। देशीभाषानामकोषे, रा० ।

देसीपोरपमाण-देशीपर्वप्रमाण-त्रि० । अङ्गुष्ठपर्वपरिमितमुष्टिप्रमाणे, देशीशब्दस्याऽङ्गुष्ठवाचकत्वात् । व्य० ८ उ० । नि०चू० ।

देसीभासा-देशीभाषा-स्त्री० । देशप्रसिद्धाऽपभ्रंशभाषायाम्, आ० चू० १ अ० । आचा० ।

देसेय-देशौजस्-त्रि० । देशैश्वले (देशौजा देशतश्चला.) भ०२५ श० ४ उ० ।

देसोहि-देशावधि-पु० । देशप्रकाशके अवधिज्ञाने, स० ।

देह-देह-पु० । न० । ' दिह ' उपचये, देहः। आहारपरिणामजनितोपचये शरीरे, अनु० । उत्त० । आव० । विशे० । प्रव० । आ० चू० । आ० म० । स्था० । पिशाचनामभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

देहबलिया-देहबलिका-स्त्री० । अनुस्वारो नैपातिक'। देहबलमित्यस्याऽऽख्याने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । भिक्षावृत्तौ, देहंबलिका नाम भिक्षावृत्ति. । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

देहणी-देशी-पङ्के, दे० ना० ५ वर्ग ४८ गाथा ।

देहदुब्बलदोस-देहदुर्बलदोष-पु० । सहननदुर्बले, प० चू० ।

देहपरिणाम-देहपरिणाम-पु० । प्रतिविशिष्टायां शरीरशक्तौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

देहपलोयण-देहप्रलोकन-न० । आदर्शाऽऽदौ देहदर्शने, दश० ३ अ० ।

देहबल-देहबल-न० । सहननजनिते शरीरसामर्थ्ये,बृ०३ उ०।

देहबलिया-देहबलिका-स्त्री० । भिक्षावृत्तौ, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

देहमाण-प्रेक्षमाण-त्रि० । पश्यति, "दिट्ठोरा देहमाणो देहमाणो चिट्ठइ ।" भ० ९ श० ३३ उ० । सूत्र० ।

देहली-देहली-स्त्री०। द्वारशाखाप्रोते अध खण्डमे,आ०म०२अ०।

देहविभूसा-देहविभूषा-स्त्री० । स्नानाऽऽदिरूपाया देहपरिष्क्रियायाम्, बृ० १ उ० ।

देहविमुक्क-देहविमुक्त-पु० । सिद्धे, भ० ८ श० २ उ० ।

देहव्वावि-देहव्यापिन्-पु० । शरीरमात्रव्यापके आत्मनि, दश० ४ अ० ।

देहसमाहि-देहसमाधि-पु० । शरीरसमाधाने,ए० व० ४द्वार ।

देहसहाव-देहस्वभाव-पु० । शरीरस्वरूपे, व्य० ५ उ० ।

देहादिणिमित्त-देहाऽऽदिनिमित्त-न० । शरीरगृहपुत्रकलत्रप्रभृत्यर्थे, पञ्चा० ४ विव० ।

देहि-देहिन्-पु० । आत्मनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

दो-द्वौ-पु० । "द्वेः दो वे" ॥ ८ । ३ । ११९ ॥ द्विशब्दस्य प्रथमायां द्विवचने सस्कृते-द्वौ । प्राकृते-'दो' इति । प्रा० ३ पाद ।

दोआल-देशी-वृषभे, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा ।

दोउ-दोउ-अव्य० । ' दो ' इति निपातो विकल्पार्थे, " दोइ सिणेह उवालब्भ ।" बृ० ३ उ० ।

दोकिरिय-द्वैक्रिय-पु० । द्वे क्रिये समुदिते द्विक्रिय, तदधीयते तद्वेदिनो वा द्वैक्रियाः । कालानेकेन क्रियाद्वयानुभवप्ररूपेषु गङ्गाचार्यप्रवर्तितेषु पञ्चमनिह्नवेषु, स्था० ७ ठा० ।

तद्वक्तव्यता-

अट्ठावीसा दो वा-समया 'तइया' सिद्धि गयस्स वीरस्स ।
दोकिरियाणं दिट्ठी, उल्लुगतीरे समुप्पन्ना ॥ २४२४ ॥

अष्टाविंशत्यधिके द्वे वर्षशते तदा सिद्धि गतस्य श्रीमन्महावीरस्यात्रान्तरे द्वैक्रियनिह्नवाना दृष्टिरुल्लुकातीरे समुत्पन्नेति ॥ २४२४ ॥

कथ पुनरियमुत्पन्ना ?, इत्याह-

नइखेमजणवउल्लुग, महगिरि धणगुत्त अज्जगंगे य ।
किरिया दो रायगिहे, महातवोतीरमणिनाए ॥२४२५॥

उल्लुका नाम नदी, तदुपलक्षितो जनपदोऽप्युल्लुका । उल्लुकानद्याश्चैकस्मिंस्तीरे धूलिप्राकाराऽऽवृतनगरविशेषरूप खेटस्थानमासीत्, द्वितीये तु उल्लुकातीर नाम नगरम्, अन्ये त्वा-

हु -एनदेवोल्लुकातीरं धूलीप्राकाराऽऽवृतत्वात्खेटमुच्यते, तत्र च महागिरिशिष्यो धनगुप्तो नाम,अस्यापि शिष्य आर्यगङ्गो नामाऽऽचार्य. । अथ च नद्या पूर्वतटे, तदाचार्यास्त्वपरतटे । ततोऽन्यदा शरत्समये सूरिवन्दनार्थं गच्छन् गङ्गो नदीमुत्तरति, स च खल्वाट । ततस्तस्योपरिष्टादुष्णेन दह्यते खल्ली । अधस्तात्तु नद्याः शीतलजलेन शैत्यमुत्पद्यते,ततोऽत्रान्तरे कथमपि मिथ्यात्वमोहनीयोदयादसौ चिन्तितवान्-अहो ! सिद्धान्ते युगपत्क्रियाद्वयानुभव. किल निषिद्धोऽह स्वेकस्मिन्नेव समये शैत्यमौष्ण्य च वेदयामि, अतोऽनुभवविरुद्धत्वान्नेदमागमोक्त शोभनमाभातीति विचिन्त्य गुरुभ्यो निवेदयामास । ततस्तैर्वक्ष्यमाणयुक्तिभि प्रज्ञापितोऽसौ । यदा च स्वाग्रहग्रस्तबुद्धित्वान्न किञ्चित्प्रतिपद्यते,तदा उद्घाट्य बाह्य कृतो विहरन् राजगृहनगरमागत ,तत्र च महातपस्तीरप्रभवनाम्नि प्रश्रवणे मणिनागनाम्नो नागस्य चैत्यमस्ति । तत्समीपे च स्थितो गङ्ग पर्षत्पुर सर युगपत्क्रियाद्वयवेदन प्ररूपयति स्म । तच्च श्रुत्वा प्रकुपितो मणिनागस्तमवादीत्-अरे दुष्ट शिक्षक ! किमेव प्रज्ञापयसि ?,यतोऽत्रैव प्रदेशे समवसृतेन श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिना एकस्मिन् समये एकस्या एव क्रियाया वेदन प्ररूपितम्, तच्चेहस्थितेन मयाऽपि श्रुतम्, तत्कि ततोऽपि लष्टतर प्ररूपको भवान्, येनैव युगपत्क्रियाद्वयवेदन प्ररूपयसि ?। तत्परित्यज चैता कूटप्ररूपणाम्, अन्यथा नाशयिष्यामि त्वाम् । इत्यादितदुदितभयवाक्यैर्युक्तिवचनैश्च प्रबुद्धोऽसौ मिथ्यादुष्कृत दत्त्वा गुरुमूल गत्वा प्रतिक्रान्त इति ॥ २४२५ ॥

अत्र भाष्यम्-

नइमुल्लुगमुत्तरओ, सरए सीयजलमज्जगंगस्स ।
सूराभितत्तसिरसो, सीउसिणवेयणोभयओ ॥२४२६॥
लग्गोऽयमसग्गाहो, जुगवं उभयकिरिओवओगो त्ति ।
जं दो वि समयमेव य,सीउसिणवेयणाओ मे ॥२४२७॥

गतार्थे,नवरमार्यगङ्गस्य लग्नोऽयमसदूग्रहो यदुत-युगपत्क्रियाद्वयसवेदनोपयोगोऽस्ति,यद्यस्मात् मे मम द्वे अपि शीतोष्णवेदने समकालमेव स्त । प्रयोगश्चात्र-युगपदुभयक्रियासवेदनमस्ति, अनुभवसिद्धत्वात्, मम पादशिरोगतशीतोष्णक्रियासवेदनवदिति ॥ २४२६ । २४२७॥

एव गङ्गेनोक्ते किमभूदित्याह-

तरतमजोगेणायं, गुरुणाऽभिहिओ तुमं न लक्खेसि ।
समयाइसुहुमयाओ,मणोऽतिचलसुहुमयाओ य ॥२४२८॥

गुरुणाऽभिहितोऽसौ-हन्त ! योऽय युगपत्क्रियाद्वयानुभव.- त्वया गीयते, स तरतमयोगेन क्रमेणैव भवत. सपद्यते, न युगपत्, पर सदपि क्रमभवनमस्य त्व न लक्षयसि, समयावलिकाऽऽदे. कालस्य सूक्ष्मत्वात्, तथा मनसश्चातिचलत्वेनातिसूक्ष्मत्वेनाऽऽशुसचारित्वादिति । तस्मादनुभवसिद्धत्वादित्यसिद्धोऽय हेतुरिति ॥ २४२८ ॥

हेत्वसिद्धिमेव भावयति-

सुहुममासुचरं चित्तं, इंदियदेसेण जेण जं कालं ।
संबज्झइ त तम्म-त्तनाणहेउ त्ति नो तेण ॥ २४२९ ॥
उवलभए किरियाओ, जुगवं दो दूरभिन्नदेसाओ ।
पायसिरोगयसीउ-एहवेयणाऽणुभवरूवाओ ॥२४३०॥

सूक्ष्मम आशुचर च चित्त मन , तत्र सूक्ष्म सूक्ष्मातीन्द्रियपुद्गलस्कन्धनिर्वृत्तत्वादाशुचर तु शीघ्रसचरणशीलत्वात् । ततश्च तदेवभूतं चित्त येन२ कायाऽऽद्याकारस्पर्शनाऽऽदिद्रव्येन्द्रियसबन्धिना देशेन सह यस्मिन् काले संबध्यते सयुज्यते तस्मिन् काले तस्य तन्मात्रज्ञानहेतुर्भवति-येन स्पर्शनाऽऽदिद्रव्येन्द्रियदेशेन सबध्यते तज्जन्यस्यैव शीताऽऽदिविषयस्योष्णाऽऽदिविषयस्य वा एकतरविज्ञानस्य हेतुर्जायते, न तु येनेन्द्रियदेशेन सह तत्काले स्वय तत्र सबद्ध तज्जन्यज्ञानस्यापि हेतुरित्यर्थ. । इतिशब्दो वाक्यसमाप्त्यर्थ. । येनैव, तेन कारणेन नो नैव दूरभिन्नदेशे द्वे क्रिये कोऽपि युगपदुपलभते सवेदयते इति सबन्ध । कथभूते द्वे क्रिये इत्याह-पादशिरोगतशीतोष्णवेदनयोरनुभवनमनुभवस्तद्रूपे तदात्मके । अत्र प्रयोग.-इह पादशिरोगतशीतोष्णवेदने युगपन्न कोऽपि सवेदयते, भिन्नदेशत्वाद्विन्ध्यहिमवच्छिखरस्पर्शनाक्रियाद्वयवदिति, अनुभवसिद्धत्वात्, इत्यसिद्धोऽय हेतुरिति ॥ २४२९ । २४३० ॥

किञ्च-

उवओगमओ जीवो, उवउज्जइ जेण जम्मि जं कालं ।
सो तम्मओवओगो, होइ जहिंदोवओगम्मि ॥२४३१॥

उपयोगेनैव केवलेन निर्वृत्त उपयोगमयो जीव । तत स येन केनापि स्पर्शनाऽऽदीन्द्रियदेशेन करणभूतेन यस्मिन् शीतोष्णाऽऽद्यन्यतरविषये (ज काल ति) यस्मिन् काले उपयुज्यते सावधानो भवति तन्मयोपयोगो भवति-यत्र शीताऽऽद्यन्यतरार्थे उपयुक्तस्तन्मयोपयोग एव भवति, नान्ययोपयुक्त इत्यर्थ. । उदाहरणमाह-(जहिंदोवओगम्मि त्ति)यथा इन्द्रोपयोगे वर्त्तमानो माणवकस्तन्मयोपयोग एव भवति,न पुनरर्थान्तरमयोपयोग. । इदमत्र तात्पर्यम्-एकस्मिन्काले एकत्रैवार्थे उपयुक्तो जीव सभवति, न त्वर्थान्तरे, पूर्वोक्तसाङ्कर्याऽऽदिदोषप्रसङ्गात् । ततश्च युगपत्क्रियाद्वयोपयोगानुभवोऽसिद्ध एवेति ॥ २४३१ ॥

एकस्मिन्नर्थे उपयुक्तः किमित्यर्थान्तरेऽपि नोपयुज्यते ?,इत्याह-

सो तदुवओगमेत्तो-वउत्तसत्ति त्ति तस्समं चेव ।
अत्थंतरोवओगं, जाउ कहं केण वंसेण ? ॥ २४३२ ॥

स जीवः (तदुवओगमेत्तोवउत्तसत्ति त्ति) तस्य विवक्षितेकार्यस्योपयोगस्तदुपयोगः, स एव तन्मात्र तत्रोपयुक्ता व्यापृता निष्ठां गता शक्तिर्यस्य स तदुपयोगमात्रोपयुक्तशक्तिरिति कृत्वा कथ तत्समकालमेवार्थान्तर उपयोग यातु ?, न कथचिदित्यर्थ., साङ्कर्याऽऽदिप्रसङ्गात् । किं च-सर्वैरपि स्वप्रदेशैरेकस्मिन्नर्थे उपयुक्तो जीव. केनोद्धरितेनांशेनार्थान्तरोपयोग व्रजतु ?। नास्त्येव हि स कश्चिदुद्धरितोंऽशो येन तत्समकमेवार्थान्तरोपयोगमसौ गच्छेदिति भावः ॥२४३२॥

यदि समकालमेव क्रियाद्वयोपयोगो न भवति, तर्हि कथ तमह सवेदयामि ?, इत्याशङ्कयाऽऽह-

समयाइसुहुमयाओ, मन्नसि जुगवं च भिन्नकालं पि ।
उप्पलदलसयवेहं, व जह व तदलायचक्कं ति ॥२४३३॥

समयावलिकाऽऽदिकालस्तद्विभागस्य सूक्ष्मत्वाद् भिन्नकालमपि कालविभागेन प्रवृत्तमपि क्रियाद्वयसवेदनमुत्पलपत्रशतवेधवद्युगपत्प्रवृत्तमिव मन्यसे त्वम् । न हि उत्पलपत्रशतमौत्तराधर्येण व्यवस्थापित सुतीक्ष्णयाऽपि सूच्या केनेन समर्थेना-

ऽपि च वेधकर्त्रा समकालमेव विध्यते, किं तु कालभेदेन, उपर्युपरितने अविद्धेऽधोऽधोवर्त्तिनः पत्रस्य वेधायोगात्, अथ च वेधकर्त्ता युगपद्विद्धितमेव वेधं मन्यते, तद्वेधनकालभेदनस्य सूक्ष्मत्वेन दुर्लक्षत्वात्। यथा वा तत्प्रसिद्धमलातचक्र कालभेदेन दिक्षु भ्रमदपि भ्रमणकालभेदस्य सूक्ष्मत्वेन दुरवगमत्वान्निरन्तरभ्रमणमेव लक्ष्यते, एवमिहापि शीतोष्णक्रियानुभवकालभेदस्य सूक्ष्मत्वेन दुरवसेयत्वाद्युगपदिव तदनुभव मन्यते भवानिति ॥ २४३३ ॥

मनोऽपि शिर.पादाऽऽदिभिः स्पर्शनेन्द्रियदेशैरिन्द्रियान्तरैश्च युगपन्न सबध्यते, किं तु क्रमेणैव, केवलमाशुचारित्वेन सूक्ष्मत्वेन च तस्य क्रमसबन्धो न लक्ष्यत इति दर्शयन्नाह–

चित्त पि नेंदियाइं, समेइ सममइ य खिप्पचारि त्ति ।
समय व सुक्कसक्कुलि–दसणे सव्वोवलद्धि त्ति २४३४॥

चित्तमपि च, नैवेन्द्रियाणि, सममेव समेति-मनोऽपि नैवेन्द्रियैः सह युगपत्सबध्यते इत्यर्थ । उपलक्षणत्वान्नाऽपि शिर·पादाऽऽदिभि स्पर्शनेन्द्रियदेशैर्युगपत्सबध्यते, अथ च क्षिप्रचारि शीघ्रसचरणशील तदिति कृत्वा समकमिव युगपदिव सर्वत्र सबद्ध लक्ष्यते इति शेषः। दृष्टान्तमाह–(समयं वेत्यादि) समय वेत्येतदनन्तर योजितमप्यावृत्त्या पुनरपीह योज्यते। तत्र वाशब्दो यथार्थे, यथाशब्दश्च दृष्टान्तोपन्यासार्थे। यथा–शुष्कशष्कुलिकादशने सर्वेषामपि शष्कुलिकागतरूपरसगन्धस्पर्शशब्दानामुपलब्धि· सर्वोपलब्धिरसमक प्रवृत्ताऽपि समक लक्ष्यते, तथाऽत्रापि मन शिर पादाऽऽदिभिस्स्पर्शनेन्द्रियदेशैरिन्द्रियान्तरैश्च क्रमेण सबध्यमानमपि युगपत् सबध्यमान लक्ष्यत इत्यर्थ.। इदमत्र हृदयम्–इह दीर्घां शुष्कां च शष्कुलिकां कस्यचिद्भक्षयतस्तद्रूप चक्षुषा वीक्ष्यमाणस्य रूपज्ञानमुत्पद्यते, तद्गन्ध च घ्राणेनाऽऽजिघ्रतो गन्धज्ञानम्, तद्रस च रसनया आस्वादयतो रसज्ञान, तत्स्पर्श च स्पर्शनेन वेदयत· स्पर्शज्ञान, चर्वणोत्थ तच्छब्द च शृण्वत शब्दज्ञानमुपजायते। एतानि च पञ्चापि ज्ञानानि क्रमेणैव जायन्ते, अन्यथा साङ्कर्याऽऽदिदोषप्रसङ्गात्, मत्यादिज्ञानोपयोगकाले चावध्याद्युपयोगस्याऽपि प्रसि ,एक च घटाऽऽदिकमर्थं विकल्पयतोऽनन्तानामपि घटाऽऽद्यर्थविकल्पानां प्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च। न चैतदस्ति । तत. क्रमेण जायमानान्यप्येतानि ज्ञानानि प्रतिपत्ता युगपदुत्पद्यन्ते इति मन्येत, समयाऽवलिकाऽऽदिकालविभागस्य सूक्ष्मत्वात्, एवमिहापि शिर·पादाऽऽदिभि स्पर्शनेन्द्रियदेशैरिन्द्रियान्तरैश्च क्रमेण सबध्यमानमपि मनः प्रतिपत्ता युगपत्सबध्यमानमध्यवस्यति, न तु तत्त्वतोऽसौ मनस स्वभाव , तथा चोक्तम्–" युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति । " यदि चोक्तन्यायेन सर्वेन्द्रियद्वारेणोत्पद्यमान उपलम्भे क्रमेण सचरतो मनस सचारो दुर्लक्षस्तर्हि कथमेकस्यैव स्पर्शनेन्द्रियमात्रस्य शीतवेदनोपयोगादुष्णवेदनोपयोगरूप उपयोगान्तरे जन्ये तत्सचारः सुलक्षः स्यात्, अलक्ष्यमाणे च तत्क्रमसचारे शीतोष्ण क्रियाद्वयोपयोगविषयो युगपदध्यवसायो भवत इति ॥२४३४॥

एतदेवाऽऽह–

सव्विंदियउवलंभे, जइ संचारो मणस्स दुल्लक्खो ।
एगेंदिओवओगं–तरम्मि किह होउ य सुलक्खो ।२४३५।

व्याख्यातार्थैव ॥ २४३५ ॥

यदि पुनरेकस्मिन्नर्थे उपयुक्तमपि मनोऽर्थान्तरेऽप्युपयोग गच्छेत्तदा को दोष स्यात्?, इत्याह–

अन्नविणिउत्तमन्न वि–णिओगं लभइ जइ मणो तेणं ।
हत्थि पि ठियं पुरओ, किमन्नचित्तो न लक्खेइ ॥२४३६॥

अन्यस्मिन् शीतवेदनाऽऽदिकेऽर्थे विनियुक्तमुपयुक्तमन्यविनियुक्तम्, मनो यदि (अन्न त्ति) अन्य उष्णवेदनाऽऽदिकोऽर्थस्तद्विषय उपयोगोऽन्यस्तमन्य विनियोगमुपयोग लभते, (तेण त्ति) तर्हि किमित्यन्यचित्तोऽन्यार्थोपयुक्तचित्तो देवदत्ताऽऽदिर्हस्तिनमपि पुरतो व्यवस्थित न लक्षयति ?, तस्मादेकस्मिन्नर्थे उपयुक्त मनो न कदाचिदन्यार्थोपयोग लभते इति ॥ २४३६ ॥

यदि त्वेकोपयोगे उपयोगान्तरमपीष्यते, तदेतदपि किं नेष्यते?, किमित्याह–

विणिओगंतरलाभे, व किं त्थ नियमेण तो समं चेव ।
पइवत्थुमसंखेज्जा–णंता वा जं न विणिओगा ? ॥२४३७॥

एकोपयोगकाले विनियोगान्तरस्योपयोगान्तरस्य वा लाभे इष्यमाणे (तो त्ति) तत किमत्र क्रियाद्वयोपयोगलक्षणेन नियमेन (ज ति) यत्प्रतिवस्तु असख्येया अनन्ता वा सममेव युगपदेव विनियोगा उपयोगा नेष्यन्ते?। इदमुक्त भवति–यदि शीतवेदनोपयोगकाले उष्णवेदनोपयोगोऽपीष्यते, तर्हि किमत्रानेन क्रियाद्वयोपयोगनैयत्येन यदसख्येया अनन्ता वा प्रतिवस्तु युगपदुपयोगा न भवन्ति, यथैककाले द्वितीयोपयोगस्तथा बहवोऽपि भवन्त्विति भाव· । इह च " दव्वाउ असखज्जे सखेज्जे आवि पज्जवे लभइ । " इति वचनादेकस्मिन्नर्थे समकालमवधिज्ञानिन किलोत्कृष्टतोऽसख्येया उपयोगा· प्राप्नुवन्ति, शेषज्ञानिनां त्वनन्ता इत्याभिप्रायवता प्रोक्तम्–" पइवत्थु असखेज्ज " इत्यादि ॥ २४३७ ॥

अत्र पराभिप्रायमधिकृत्य परिहारमाह–

बहुबहुविहाइगहणे, नणूवओगबहुया सुएऽभिहिया ।
तमणेगगहणं चिय, उवओगाणेगया न त्थि ॥२४३८॥

ननु बहुबहुविधक्षिप्राऽनिश्रिताऽसदिग्धध्रुवसेतरवस्तुग्रहणे पूर्वमिहैवावग्रहाऽऽदीनामनुज्ञाने एकस्मिन्नुपयोगबहुता श्रुतेऽभिहितैवेति । " पइवत्थुमसंखेज्जे " इत्यादि सिद्धसाधनमेवेति परेणोक्ते सत्याह–(तमणेगेत्यादि) तद् बहुबहुविधाऽऽदिरूप वस्तुनोऽनेकपर्यायाणां सामान्यरूपतया ग्रहणमात्रमेव ज्ञाने उपयोगयोग्यतामात्रव्यवस्थापनमेव, एककर्मिस्तु वस्तुन्येककालमुपयोगानेकता क्वापि नास्ति, क्रमेणैवोपयोगानां जाता-दिति ॥ २४३८ ॥

यदुक्त "तणेगगहण चिय" इति तदुपजीव्य पर प्राह–

समकमणेगग्गहणे, जइ सीओसिणदुगम्मि को दोसो? ।
केण व भणिय दोसो, उवओगदुगे वियारोऽयं २४३९।

यद्याचार्य! समक युगपदनेकेषामर्थाना ग्रहण त्वयाऽप्यनुज्ञायते, तदा शीतोष्णद्वये गृह्यमाणे को दोष , येन तद्ग्राह्युपगमो दूष्यते ?। सूरिराह–(केण वेत्यादि) केन पुनर्भणित–हन्त! यत्समकमनेकार्थग्रहणे दोषा गृह्यन्ते युगपदपि सामान्यरूपतया सेनावनग्रामनगरादिवदनेकेऽर्था इत्येतन्न निवारयाम, वयमित्यर्थ , केवलमिहोपयोगद्वये विचारोऽय प्रस्तुत । स चोपयोग एकदा एक एव भवति, न त्वनेक इति ॥ २४३९ ॥

पुनरपि परप्रश्नमाशङ्क्योत्तरमाह-

समयमणेगग्गहणे, एगाणेगोवओगभेओ को ? ।
सामन्नमेगजोगो, खंधावारोवओगो व्व ॥ २४४० ॥
खंधारोऽय साम-न्नमेत्तमेगोवओगया समय ।
पइवत्थुविभागो पुण, जो सोऽणेगोवओग त्ति ॥२४४१॥

ननु समकं युगपदनेकार्थग्रहणे अभ्युपगम्यमाने कोऽयमेकानेकोपयोगभेदो नाम, येनोच्यते-" उवओगाणेगया नत्थि ।" इति । अत्रोत्तरमाह-(सामन्नमेगजोगो त्ति) यः सामान्योपयोगः स एकोपयोगोऽभिधीयते, स्कन्धावारोपयोगवदिति दृष्टान्तः । अमुमेवार्थं स्पष्टयति-"खंधारोऽयमित्यादि ।" समकं युगपदेव स्कन्धावारोऽयमित्येवं यत्सामान्यं सामान्यमात्रग्राहकोऽप उपयोग इत्यर्थः, स एकोपयोगेना भण्यते । यः पुनः प्रतिवस्तु एते हस्तिनः, अमी अश्वाः, इमे रथाः, एते पदातयः, एते खड्गकुन्ताऽऽदयः, शिरस्त्राणकवचाऽऽदयः, पटकुटिकाः, ध्वजाः, पताकाः, ढक्काशङ्खकाहलाऽऽदयः, करभरासभाऽऽदयश्चेत्यादिको विभागो भेदाध्यवसायः सोऽनेकोपयोग इति ॥ २४४० ॥ २४४१ ॥

आह-एवमेकानेकोपयोगभेदे भवद्भिर्युगपत्किं निषिध्यते ?, इत्याह-

ते च्चिय न संति समयं, सामन्नाणेगगहणमविरुद्धं ।
एगमणेगं पि तयं, तम्हा सामण्णभावेणं ॥२४४२॥

न एवानेकोपयोगाः समकं युगपन्न सन्ति न भवन्तीति निषिध्यन्ते अस्माभिः । यत्तु सामान्येनानेकपदार्थानां युगपद् ग्रहणं तदविरुद्धमेव । (तम्ह त्ति) तस्माद्युगपदनेकोपयोगनिषेधेन । किमुक्तं भवतीत्याह- (एगमणेगं पीत्यादि) यदि स्कन्धावाराऽऽद्युपयोगे युगपदनेकार्थग्रहणमस्माभिरनुज्ञायते, (तय ति) तदनेकमप्यनेकार्थग्रहणमपि सदित्यर्थः, (एग ति) एकमेव तत्त्वतः एकार्थग्रहणमेवेत्यर्थः, केनेत्याह- (सामन्नभावेण ति) सामान्यरूपतयेत्यर्थः । अयमत्र तात्पर्यार्थः -यदनेकार्थग्रहणमनुज्ञायते तत् सामान्यमेव रूपमाश्रित्य, विशेषरूपतया त्वनेकार्थग्रहणं नास्त्येव, एकस्मिन् काले एकस्यैव विशेषोपयोगस्य सद्भावादिति ॥ २४४२ ॥

अमुमेवार्थं प्रकृते योजयन्नाह-

उसिणेयं सीएय, न विभागो नोवओगदुगमित्थं ।
होज्ज सम दुगगहणं, सामन्नं वेयणा मे त्ति ॥ २४४३ ॥

उष्णेयं शीतेयं वेदना इत्येवं योऽसौ विभागो भेदोऽसौ केइ शीतोष्णविभागेन शीतोष्णविशेषरूपतया युगपद् ग्रहणं नेष्टमित्यर्थः, अत एव तद्विषयमुपयोगद्वयं युगपन्नेष्टम् । किं युगपद्वस्तुद्वयग्रहणं सर्वथा नेष्टम् ?। नेव, कुतः ?, इत्याह-भवेत् सम युगपद्वस्तुद्वयग्रहणम् । किं विशेषरूपतया ?, नेत्याह- सामान्यं सामान्यरूपतयेत्यर्थः । कथम्?, वेदना मे मम वर्तते इत्येवं युगपद् द्वयग्रहणं भवेद्, न तु शीतोष्णवेदनाविशेषरूपतयेत्यर्थः, युगपदुपयोगद्वयप्रसङ्गात्, तत्र च दोषाणामुक्तत्वादिति ॥ २४४३ ॥

आह-ननु यदि वेदनामात्रग्राहकं सामान्यज्ञानं, तदेव शीतोष्णवेदनाविशेषग्राहकमपि तत् कस्मान्नेष्यते ?, इत्याह-

जं सामन्नविसेसा, विलक्खणा तन्निबंधणं जं च ।
नाणं जं च विभिन्ना, सुदूरओवग्गहाऽवाया ॥२४४४॥

जं च विसेसं नाणं, सामन्ननाणपुव्वयमवस्सं ।
तो सामन्नविसेसं, नाणाइं नेगसमयम्मि ॥ २४४५ ॥

(तो त्ति) तस्मात्सामान्यग्राहकं विशेषग्राहकं च ज्ञानं द्वेऽपि नैकसमये नैककालं भवत इति द्वितीयगाथायाः सम्बन्धः । कुत इत्याह-(जं सामन्नेत्यादि) यद्यस्मात्सामान्यविशेषौ परस्परमतीव विभिन्नलक्षणौ भिन्नजातीयावतः कथं तावेककालमेकज्ञाने प्रतिभासेते ?, एकत्वप्रसङ्गात्, सामान्यतत्स्वरूपवद्विशेषतत्स्वरूपवद्वा ? । मा भूत्तत्प्रतिभासस्तथापि तज्ज्ञाने युगपद्भविष्यत इत्याह- यस्माच्च तन्निबन्धनं सामान्यविशेषहेतुकं सर्वमपि ज्ञानं, तत्कथं तत्प्रतिभासमन्तरेणोत्पद्येत ? । सामान्यविशेषज्ञानयोरेकत्वादेककालं ते भविष्यत इति चेत्, तदयुक्तम्, कुतः ?, इत्याह-यस्माच्च सुदूरं विभिन्नौ सामान्यविशेषज्ञानरूपौ-अवग्रहावायाविति कथं समकालं भवतः ?। यद्यस्माच्चावश्यं सामान्यग्राहकज्ञानपूर्वकमेव विशेषग्राहकं ज्ञानं, नानवगृहीतमीह्यते, नानीहितं निश्चीयत इत्यादिवचनादतः कथं तयोर्युगपत्सम्भव इति ॥ २४४४ ॥ २४४५ ॥

पुनरपि परः प्राऽऽह-

होज्ज न विलक्खणाइं, समयं सामन्नणेयनाणाइं ।
बहुयाण को विरोहो, समयम्मि विसेसनाणाणं ॥२४४६॥

नन्वाचार्य ! एवं तर्ह्यस्तु यदुत सामान्यवेदनामात्रग्राहकं सामान्यज्ञानं, शीतोष्णवेदनाविशेषग्राहकं विशेषज्ञानरूपं भेदज्ञानं चेत्येते द्वे अपि सुदूरविलक्षणत्वात्समकं युगपन्न भवतः, बहूनां तु शीतोष्णाऽऽदिविशेषज्ञानानां समये एकस्मिन् काले जायमानानां विशेषज्ञानरूपतया तेषां बहूनामपि तुल्यत्वेन वैलक्षण्याभावात्को विरोधः ?, येन शीतोष्णवेदनाविशेषज्ञाने युगपद् ग्रहणं निषिध्येते इति ॥ २४४६ ॥

अत्रोत्तरमाह-

लक्खणभेया उ च्चिय, सामण्णं च जमणेगविसयं ति ।
तमघेत्तु न विसेस-न्नाणाइ तेण समयम्मि ॥ २४४७ ॥
तो सामन्नग्गहणा-णतरमीहियमवेइ तब्भेयं ।
इय सामन्नविसेसा-वेक्खो जावंतिमो भेओ ॥ २४४८ ॥

तेन कारणेन समये एकस्मिन् काले बहूनि विशेषज्ञानानि न भवन्ति । कुतः ?, इत्याह-लक्षणं शीतोष्णाऽऽदिविशेषणस्वरूपं तस्य परस्परं भेदाद्भिन्नत्वान्न तद्ग्राहकाणि ज्ञानानि समकं भवन्ति, यस्माच्चानेकविषयमनेकाधारं सामान्यम्, इत्यतस्तदगृहीत्वा न विशेषज्ञानसम्भूतिरस्तीत्यतोऽपि न युगपद्विशेषज्ञानानि । इदमुक्तं भवति-पूर्वं वेदनासामान्यं गृहीत्वा तत ईहां प्रविश्य शीतेयं पादयोर्वेदनेति वेदनाविशेषं निश्चिनोति । शिरस्यपि प्रथमं वेदनासामान्यं गृहीत्वा तत ईहां प्रविश्य उष्णेयमिह वेदनेत्यध्यवस्यति । न हि घटविशेषज्ञानादनन्तरमेव पटाऽऽश्रयसामान्यरूपे गृहीते पटविशेषज्ञानमुपजायते, " उग्गहो ईहऽवाओ य " इत्यमुनैव क्रमेण घटाऽऽदिविशेषज्ञानोत्पत्त्यभिधानात् । एवं च सति विशेषज्ञानादनन्तरमपि विशेषज्ञानं नोत्पद्यते, आस्तां पुनः समकम्, सामान्यस्यानेकविशेषाऽऽश्रयत्वात् । तच्च पूर्वमगृहीत्वा विशेषज्ञानस्याप्रवृत्तेरिति ।

यतश्चैवं सामान्येऽगृहीते नास्ति विशेषज्ञानं, (तो त्ति) ततः

सामान्यग्रहणानन्तरमीहित तद्भेद सामान्यभेद घटत्वाऽऽदिसामान्याऽऽश्रयं घटाऽऽदिविशेषमित्यर्थं ,अवैति घटाऽऽदिरेवायम इत्येव निश्चिनोतीत्यर्थः । तत्र उत्तरभेदापेक्षया घट एव सामान्यम । तस्मिश्च गृहीते ईहित्वा धातुजोऽय न मार्त्त इत्येव निश्चिनोति । ततो धातुजोऽप्युत्तरभेदापेक्षया सामान्यम् । तस्मिंश्च गृहीते ईहित्वा ताम्रोऽय न तु राजताऽऽदिः इतीत्थ निश्चिनोतीति । एव सामान्यविशेषापेक्षा तावत्कर्तव्या, यावदन्तिमो भेद. स कश्चिद्यदनन्तरमीहा न प्रवर्तते । ततश्चैव न कश्चिद्विशेषज्ञानानां युगपत्प्रवृत्तिसभव., सामान्यरूपतया तु समकालमपि विशेषाणा ग्रहण भवेत् । यथा-सेना, वनमित्यादि, न तु युगपदुपयोग इत्युक्तमेव । तथा च सति भिन्नकाले एव शीतोष्णविशेषज्ञाने । ततो भ्रान्तमेव समकाल शीतोष्णक्रियाद्वयवेदन भवन इति ॥ २४४७ ॥ २४४८ ॥

इत्यादियुक्तिशतैः प्रज्ञापितोऽपि न स्वाग्रह मुक्तवान् गङ्ग., ततः किमित्याह-

इय पत्रविओ वि जओ न पवज्जइ तो तओ कओ वज्झो ।
तो रायगिहे समयं, किरियाओ दो परूवंतो ॥२४४९॥
मणिनागेणारद्धो, भओववत्तिओ पभिबोहिओ बोत्तु ।
इच्छामो गुरुमूलं, गंतूण तओ पडिक्कंतो ॥ २४५० ॥

व्याख्यातार्थं एवेति ॥ २४४९ ॥ २४५० ॥ विशे० । उत्त० । आ० चू० । आ० म० । औ० ।

दोक्खर-द्व्यक्षर-न० । षण्ढे, बृ० ।

" गती भवे पच्चलोइय च, मिठ्ठत्तया सीयलगत्तया य ।
धुव भवे दोक्खरनामधेज्जा, सकारपच्चत्तरिओ ढकारो ॥१॥"

द्व्यक्षरनामधेयो भवेत्, तच्चाक्षरद्वय सकारप्रत्यन्तरितो ढकार इति प्रतिपत्तव्यम, प्राकृतशैल्या सण्ढो, सस्कृते तु षण्ढ इति । बृ० ४ उ० । दशा०, व्य० ४ उ० ।

दोगच्च-दौर्गत्य-न० । दुर्गतिभावे, दारिद्र्ये च । प० व० ४ द्वार । बृ० । नि० चू० । पञ्चा० ।

दोगिद्धिदसा-द्विगृद्धिदशा-स्त्री० । स्वरूपतोऽप्यनवसितायाम्, "दोगिद्धिदसाण दस अज्झयणा पण्णत्ता । त जहा-"वाए विवाए उववाए णातीसे महासुविणा बावत्तरिसव्वसुमिणा-हारे रामगुत्ते एमेए दस आहिया । " द्विगृद्धिदशाश्च स्वरूपतोऽप्यनवसिता । स्था० १० ठा० ।

दोगुंछि-जुगुप्सिन्-त्रि० । निन्दके, उत्त० । जुगुप्सते आत्मानमाहार विना धर्मधुराधरणाक्षममित्येवंशीलो जुगुप्सी । उत्त० ६ अ० ।

दोग्ग-देशी-युग्मे, दे० ना० ५ वर्ग ४९ गाथा ।

दोग्गइ-दुर्गति-स्त्री० । दुष्टा गतिः दुर्गतिः । अथवा दुर्गा गतिः दुर्गतिः । अथवा- दु ख वा यत् सेव्यते सा दुर्गतिः । दुर्गती विषमेत्यर्थ । अथवा-कुत्सिता गतिः दुर्गतिः । कुत्सिताऽर्थे दु-शब्द । यथा-दुर्गम. । नरकगतौ, तिर्यग्गतौ च । स्था० १ ठा० ।

दोग्गुण-दौर्गुण्य-न० । दुर्गुणत्वे, द्वा० ३१ अष्ट० ।

दोच्चंग-द्वितीयाङ्ग-न० । शाकाऽऽदिव्यञ्जने, " दोच्चग त्ति " सामयिकी सज्ञा । ओदनाऽऽदिमूलापेक्षया भोजनस्य शाकरूपाणि द्वितीयाङ्गानि । बृ० १ उ० ।

दोच्च-दौत्य-त्रि० । दूतकर्मणि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

द्वितीय-द्वित्वसङ्ख्यापूरके, विपा० १ श्रु० ३ अ० । भ० । उपा० ।

दोच्चा-द्वितीया-स्त्री० । द्वितीयसप्तरात्रिन्दिवप्रतिमायाम, पञ्चा० १९ विव० ।

दोज्झ-दोह्य-त्रि० । दोहनयोग्ये, "जहा गावो दोज्झाति वा ।" आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

दोण-द्रोण-पु० । माने, चत्वारः पुनराढका समुदिता एको द्रोणः । ज्यो० २ पाहु० । औ० । पञ्चप्रमाण द्रोणमानम् । त० । द्रोणाऽऽख्ये सिन्धुवेलावलयिते नगरे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । द्रोण' किंयन्मणमान इति प्रश्ने, उत्तरम्-चतुर्भि कुडवै प्रस्थ., प्रस्थैश्चतुर्भिराढक , चतुर्भिराढकैर्द्रोण ; अत्र नाममालावृत्तौ कुडवशब्देन प्रसृतिद्वयव्याख्यातमस्ति, तदनुसारेण यद्भवति तद्द्रोणमानमवसेय, परमियन्मणमानो द्रोण इति तु क्वापि व्यक्त दृष्ट न स्मरतीति । १८८ प्र० सेन ३ उल्ला० ।

दोणक्क-देशी-आयुक्ते, ग्रामिके च । दे० ना० ५ वर्ग ५० गाथा ।

दोणक्का-देशी-सरघायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ५१ गाथा ।

दोणमुह-द्रोणमुख-न० । द्वयोः पथोर्मुखमस्येति द्रोणमुखम् । जलस्थलनिर्गमप्रवेशने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । एट्टने, रा० । प्रश्न० । व्य० । भ० । जी० । बाहुल्येन जलनिर्गमप्रवेशे, दशा० ७ अ० । स्था० । ग० । यत्र जलस्थलपथावुभावपि भवत. । कल्प० १ अधि० ४ क्षण । जी० । नि० चू० । ज० । अनु० । स्था० । उत्त० । "दोणमुह जलथलपहेण ।" यस्य तु जलपथेन स्थलपथेन वा द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्या भाण्डमागच्छति तद् द्वयो पथयोर्मुखमिति निरुक्तया द्रोणमुखमुच्यते, तच्च तथा भृगुकच्छ ताम्रलिप्ता वा । बृ० १ उ० । नि० चू० । औ० । जलस्थलपथोपेते नगरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

दोणमेह-द्रोणमेघ-पु० । यावता वृष्टेनाऽऽकाशबिन्दुभिर्महती गगरी भ्रियते तावत्प्रमाणजलवर्षिणि मेघे, विशे० ।

दोणसूरि-द्रोणसूरि-पु० । अणहिलपट्टननगरे अभयदेवसूरिसमकालिके स्वनामख्याते विद्वद्वरे, येन नवस्वङ्गेषु स्थानाङ्गाऽऽदिषु अभयदेवसूरिकृतवृत्ते सशोधनमकारि ।

" अणहिलपाटकनगरे सघवरैर्वर्तमानबुधमुख्यै ।
श्रीद्रोणाचार्याऽऽद्यै-र्विद्वद्भि शोधिता चेति ।। १ ॥ "
" शास्त्रार्थनिर्णयसुसौरभलम्पटस्य,
विद्वन्मधुव्रतगणस्य सदैव सेव्य ।
श्रीनिर्वृताऽऽख्यकुलसन्नदपद्मकल्प ,
श्रीद्रोणसूरिरनवद्ययश पराग ॥ २ ॥ " स्था० १० ठा० ।

पञ्चा० । भ० । निर्वृतिककुलनभ स्तिमितसूर्येण पण्डितगणेनगुणवत्प्रियेण सशोधिता चेयम । ज्ञा० १ श्रु० ६ वर्ग १ अ० ।

दोणी-द्रोणी-स्त्री० । नौकायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जलपरिपूर्णायां महत्यां कुण्डिकायाम्, अनु० ।

दोतिप्पभा-द्युतिप्रभा-स्त्री० । चन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, ज्ञा० १ श्रु० ६ वर्ग १ अ० ।

दोच्छिअ-देशी-चर्मकूपे, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा ।

दोधार-द्विधाकार-पु० । रूपस्य द्विधाकरणे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

दोजागकर-दौर्जाग्यकर-न० । कलाभेदे, स० ७२ समः ।

दोमणसिया-दौर्मनसिका-स्त्री० । वैमनस्ये, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

दोमासिय-द्वैमासिक-न० । द्विमासपरिणाममस्येति द्वैमासिकम् । मासद्वयपरिमाणे, नि० चू० २० उ० ।

दोमासियपडिमा-द्वैमासिकप्रतिमा-स्त्री० । मासद्वयप्रतिमानिर्वाह्ये साधुप्रतिज्ञाविशेषे, तत्र हि द्वौ मासौ यावद् द्वे दत्ती भक्तस्य, द्वे एव च पानकस्य । औ० ।

दोमिलि-दोमिली-स्त्री० । ब्राह्म्या लिपेर्लेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद ।

दोर-दोर-स्त्री० । सूत्रदवरके, रज्जौ, आ० म० १ अ० २ खण्ड । कटिसूत्रे, दे० ना० ५ वर्ग ३८ गाथा ।

दोरज्ज-द्वैराज्य-न० । राज्यद्वयभावे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

दोव-दोव-पु० । अनार्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

दोवारिय-दौवारिक-पु० । प्रतोद्वारे द्वारपालके, भ० ६ श० ५ उ० । नि० चू० । ज्ञा० । रा० । "दोवारिआ तु दारिठा दोवारिया दारे चेव (अन्त पुरस्य) जेसिं मिलेति ।" नि० चू० ६ उ० । औ० ।

दोवारियभत्त-दौवारिकभक्त-न० । द्वारपालस्य एकवृत्तेः उरापडुमाऽऽदे, पेटकाऽऽदिभक्ते, नि चू० ६ उ० ।

दोविह-द्विविध-त्रि० । द्विविध एव द्वैविध्यम् । द्विःप्रकारे, उत्त० २ अ० ।

दोवेल्ली-देशी-साय भोजने, दे० ना० ५ वर्ग ४० गाथा ।

दोस-दोष-पु० । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगेषु, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । प्रश्न० । मले, ध० ३ अधि० । चौर्याऽऽदिके, अन्त० ३ वर्ग० ८ अ० । आत्मन परस्य वा दूषणे, भ० १२ श० ५ उ० । मालिन्यकारिचेष्टायाम, तं० । कालदोषो दुर्भिक्षाऽऽदि:, क्षेत्रदोष संयमाननुगुणत्वाऽऽदि , द्रव्यदोषो भक्ताऽऽदिना शरीराननुकूलता, भावदोषो ग्लानत्वज्ञानाऽऽदिहान्यादि: । पञ्चा० १७ विव० ।

द्वेष-द्विष्यत्यनेनेति द्वेष । द्वेषवेदनीये कर्मणि, यद्वा द्वेषण द्वेष । वेदनीयकर्माऽऽपादिते भावे, अप्रीतिपरिणामे, प० सू० १ सूत्र० । 'एगे दोसे ।'' स्था० १ ठा० । आव० । औ० । आ० चू० । भ० । आ० म० । सूत्र० । ज्ञा० । ति० । नि० चू० । कल्प० । प्रव० । उपशमत्यागाऽऽत्मके, विकारे, उत्त० ६ अ० । परद्वेषाध्यवसाये, आतु० । दु स्वाभिकस्य तदनुस्मृतिपूर्वकविगर्हणे, द्वा० १५ द्वा० । स्वपराऽऽत्मनोर्बाधारूपे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । क्रोधमानकषायाऽऽत्मके, ग० २ अधि० । स्था० । "दोसे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-कोहे य, माणे य ।" प्रज्ञा० २३ पद ।

अथ दोषस्य द्वेषस्य वा व्याख्यामाह-

दूसंति तेण तम्मि व, दूसणमह देसणं व देसो त्ति ।
देसो य सो चउद्धा, दव्वे कम्मेयरविभिन्नो ॥२९६६॥

" दुष " वैकृत्ये, दुष्यन्ति विकृतिं भजन्ति तेन तस्मिन् वा प्राणिन इति दोष , दूषणं वा दोषः, इति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । अथवा "द्विष" अप्रीतौ, द्विषन्ति अप्रीतिं भजन्ति तेन तस्मिन् वा प्राणिन इति द्वेष', द्वेषण वा द्वेष । इत्यपि स्वयमेव दृश्यम् । कुत पुनरिदं दृश्यते इत्याह-(अह देसणं व देसो त्ति) अथवा द्वेषण द्वेष इति भावसाधनपक्षोपन्यासादनन्तरोक्त स्वयमेव दृश्यते । (देसो य सो चउद्ध त्ति) स च द्वेषो, वाशब्दाद् दोषो वा, नामाऽऽदिभेदाच्चतुर्धा द्रष्टव्य । तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ते द्रव्ये विचार्ये (कम्मेयराभिन्नो त्ति) कर्मद्रव्यदोष , नोकर्मद्रव्यदोषश्च भवतीत्यर्थ ॥ २९६६ ॥

तस्य च द्विविधस्यापि स्वरूपमाह-

जुग्गा बद्धा बज्झं-तगा य पत्ता उदीरणावलियं ।
अह कम्मदव्वदोसो, इयरो दुट्ठव्वणाईओ ॥२९६७॥

पूर्ववच्चतुर्विधाः पुद्गला कर्मद्रव्यदोष', नोकर्मद्रव्यदोषस्तु दुष्टव्रणाऽऽदिरिति ॥ २९६७ ॥

भावदोषं भावद्वेषं वा प्राऽऽह-

जं दोसवेयणिज्जं, समुइण्णं एस भावओ दोसो ।
वत्थुविकिइस्सहावो-ऽणब्भुवगमप्पीइलिंगो वा ॥२९६८॥

यद्दोषवेदनीयं द्वेषवेदनीयं वा कर्म , समुदीर्णमुदयप्राप्तमेव भावदोषो भावद्वेषो वा । अयं च स्वभावस्थस्य वस्तुनः शरीरदेशाऽऽदेर्विकृतिस्वभाव कार्ये कारणोपचाराद् प्रकृत्यन्यथाभावरूप । तत्र भावदोषोऽनीप्सितलिङ्गोऽनिष्टदूषणाऽऽदिकार्यतस्य । भावद्वेषस्त्वप्रीतिलिङ्ग इति ॥ २९६८ ॥

अत्र च क्रोधमानयो कोऽपि मिश्रपरिणामोऽप्रीतिजातिसामान्यत, समुदायेन द्वेष', मायालोभौ तु प्रीतिजातिसामान्यत , स एव रागमिच्छतीति दर्शयन्नाह-

कोहं माणं चाऽपीइ,जाईओ वेइ संगहो दोसं ।
मायालोभे य स पी-इजाइसामन्नओ रागं ॥२९६९॥

गतार्थो ॥ २९६९ ॥

व्यवहारनयमाश्रित्याऽऽह-

मायं पि दोसमिच्छइ, ववहारो जं परोवघायाय ।
नाओवादाणे च्चिय,मुच्छा लोभो त्ति तो रागो ॥२९७०॥

न केवल क्रोधमानौ, किन्तु मायामपि द्वेषमिच्छति व्यवहारनयो यस्मादियमपि परोपघाताय परवञ्चनायैव विधीयते । ततो माया द्वेष , परोपघातहेतुत्वात् क्रोधमानवदिति । न्यायेन नीत्या मायामन्तरेणोपार्ज्यते उपार्ज्यत इति न्यायोपादान, तस्मिन् न्यायोपादानेऽपि वित्ते यतो मूर्छा भवति, ततस्तदात्मको लोभो राग । अन्यायोपात्ते तु वित्ते मायाऽऽदिकषायसम्भवेन द्वेष एव स्यादिति न्यायोपादानविशेषणमिति भाव ॥२९७०॥

ऋजुसूत्रमाह-

उज्जुसुयमयं कोहो, दोसो सेसाणमयमणेगंतो ।
रागो त्ति व दोसो त्ति व,परिणामवसेण उ वसेओ ।२९७१।

ऋजुसूत्रनयस्येदं मतम्-क्रोधः प्रथमकषायो द्वेषः, अप्रीत्यात्मकत्वाच्छेषाणां तु मानमायालोभानां रागद्वेषत्वविचारं प्रत्येतत् तस्य मतम्, किमित्याह-अनेकान्तोऽनिश्चयः। एतदेव व्याचष्टे-शेषे मानाऽऽदिकषायत्रयवर्गे कोऽपि रागः, कोऽपि वा द्वेषः, इत्ययं परिणामवशेनैवावसेयो निश्चयो नान्यथेति ॥२६७१॥

कुत इत्याह-

संपयगाहि त्ति नओ, न उवओगदुगमेगकालम्मि।
अप्पीइपीइमेत्तो-वओगओ तं तहा दिसइ ॥ २६७२ ॥

यत साम्प्रतग्राही वर्तमानैकक्षणवस्तुग्राही तस्कोऽसौ ऋजुसूत्रः, ततः क्रोधमानौ द्वेषो, मायालोभौ तु राग इत्येवमसौ न मन्यते, मानाऽऽदिक्षणकाले क्रोधाऽऽदिक्षणाभावात्, तदभावश्च तयोः क्रमभावित्वात्, प्राक्तनस्य चोत्पन्नानन्तरमेव विनाशादिति। स एव च मानो द्वेषो भवति, कदा ?, परगुणेषु यो द्वेषोऽप्रीतिस्तदुपयोगे तदध्यवसायपरिणतिकाल इत्यर्थः। अस्तु वा क्रोधमानाऽऽदीनां समकालभाविता, तथाऽप्युपयोगद्वयमसावेककाले न मन्यत इति कथं भिन्नकषायद्वयोपगाद् द्वेषो रागो वा स्यात् ?। एतदेवाऽऽह-(न उवओगदुगमेगकालम्मि त्ति) न च कषायद्वयोपयोगमेककालमसौ मन्यते, येन क्रोधमानौ, द्वेषो, मायालोभौ तु राग स्यादिति। तर्हि किमसौ मन्यते ?, इत्याह-(अप्पीईत्यादि) अप्रीतिप्रीतिमात्रोपयोगतस्त तं मानाऽऽदिकषायं तथा तथा व्यपदिशति ॥ २६७२ ॥

एतदेव भावयति-

माणो रागो त्ति मओ, साहंकारोवओगकालम्मि।
सो चेय होइ दोसो, परगुणदोसोवओगम्मि ॥२६७३॥
माया लोभो चेवं, परोवघाओवओगओ दोसो।
मुच्छोवओगकाले, रागोऽभिस्संगलिंगो त्ति ॥२६७४॥

मानो राग इति ऋजुसूत्रस्य सम्मत। कदा ?, साहङ्कारोपयोगकाले-स्वस्मिन्नात्मन्यहोऽहं नमो महानित्येव योऽसावहङ्कारो निजगुणेषु बहुमानोऽभिष्वङ्गस्तदुपयोगकाले तदुपयोगसमये इत्यर्थः, (स एव च मानो द्वेषो भवति, कदा ?, परगुणेषु यो द्वेषोऽप्रीतिस्तदुपयोगे तदध्यवसायपरिणतिकाल इत्यर्थः) एवं परोपघाताय व्याप्रियमाणौ मायालोभौ द्वेष, स्वशरीरस्वधनस्वजनाऽऽदिषु मूर्छोपयोगकाले तु तावेव राग। कुत ?, इत्याह-अभिष्वङ्गलिङ्ग इति कृत्वा। अभिष्वङ्गो हि रागो, यश्च स्वशरीराऽऽदिषु मूर्छोपयोग, स व्यक्तोऽभिष्वङ्ग इति युक्तमस्य रागत्वमिति भाव ॥ २६७३ ॥ २६७४ ॥

अथ शब्दाऽऽदिनयत्रयमतमाह-

सद्दाइमयं माणे, मायाए चिय गुणोवगाराय।
उवओगो लोभो च्चिय, जओ स तत्थेव अवरुद्धो ॥२६७५॥
सेससा कोहो वि य, परोवघायमेव त्ति तो दोसो।
तल्लक्खणो य लोभो, अह मुच्छा केवलो रागो ॥२६७६॥
मुच्छाणुरंजणं वा, रागो सदूसणं ति तो दोसो।
सद्दस्स व भयणेय, इयरे एकेकतियपक्खा ॥ २६७७ ॥

शब्दाऽऽदिनयानामिदं मतं, माने मायायां च स्वगुणोपकाराय आत्मन उपकाराय व्याप्रियमाणाया य उपयोग स लोभ एव, यतः स स्वगुणोपकारोपयोगः स्वात्मनि मूर्छाऽऽत्मकत्वात् नैव लोभेऽवरुद्धोऽन्तर्भूतः। तथा च सति स मानमाययोः स्वगुणोपकारोपयोगः स्वाऽऽत्मनि मूर्छाऽऽत्मकत्वाल्लोभ इव राग इत्यभिप्रायः। शेषास्तु परोपघातोपयोगरूपा मानमाययोरंशाः क्रोधश्च सर्वः, एते सर्वे परोपघातमयास्ततो द्वेष इति मन्तव्याः। न केवलमेते तथा लोभोऽपि द्वेषः। किं सर्वः ? नेत्याह-यतस्तल्लक्षणः परोपघातोपयोगरूपः। अथ परानुपघातोपयोगरूपो मूर्छोपयोगाऽऽत्मको लोभः पृच्छ्यते, तत्राऽऽह-केवलो राग एवासाविति। अथवा किं बहुनोक्तेन ?, संक्षिप्य ब्रूमः। किमित्याह (मुच्छेत्यादि) इह सर्वेष्वपि क्रोधव्यतिरिक्तेषु मानमायालोभकषायेषु यन्मूर्छाऽऽत्मकमनुरञ्जनं य कश्चिन्मूर्छोपयोग इत्यर्थः। स रागो मन्तव्य। अथ सदूषणमप्रीत्युपयोगस्ततोऽसौ द्वेषो ज्ञातव्य। शब्दनयस्येव भजना विकल्पना। वाशब्दात् ऋजुसूत्रस्य च। शेषौ तु सङ्ग्रहव्यवहारनयौ नैगमस्यान योरेवान्तर्भावादेकैकस्त्रिकपक्षी-एकैकः स्थितो नियमित पक्षो यत्रोस्तावेकैकस्थितपक्षौ। तथाहि-सङ्ग्रहनयः क्रोधमानौ द्वेषमेवेच्छति, मायालोभौ तु रागम्। व्यवहारनयोऽपि लोभ रागमेव मन्यते, शेषकषायत्रय तु द्वेषमेवेति। अत शब्दाऽऽदिनया भजनाऽभ्युपगमपरत्वादेकैकस्थितपक्षाविभ्यां ताभ्यां भिन्ना इति। तदेव व्याख्याती रागद्वेषौ ॥ २६७५ ॥ २६७६ ॥ २६७७ ॥ विशे०। "दस दोसे पण्णत्ते। तं जहा-तज्जायदोसे मइभंगदोसे पसत्थारदोसे परिहरणदोसे सलक्खणकारणहेउदोसे संकामणनिग्गहवत्थु दोसे।" स्था० १० ठा०। (व्याख्या तत्तच्छब्दोपरि)

द्वेषे उदाहरणम्-

"दोषेण बहुना सार्द्धं, नावा धर्मरुचिं मुनिम्।
गङ्गामुत्तारयामास, नन्दनामकनाविक ॥ १ ॥
लोकाऽऽगादानर दत्त्वा, मुनिस्तेन धृत पुन।
भिक्षावेला व्यतिक्रान्ता, स तथाऽप्यमुचन्न तम् ॥ २ ॥
अमुच्यमानो रुष्ट स, मुनिर्दृग्विषलब्धिक।
आलोक्य क्रूरया दृष्ट्या, तमधाक्षीत् पलालवत् ॥ ३ ॥
क्वापि ग्रामे सभायां सोऽभवद् मृत्वा गृहोलक।
सोऽपि साधुर्गतस्तत्र-विशन्दोकं च ता सभाम् ॥ ४ ॥
गृहोलकोऽपि न दृष्ट्वा, कोपेनाभूज्ज्वलन्निव।
भुञ्जानस्य मुनेरूर्द्धं, चिक्षेप पावकं तत ॥ ५ ॥
स मुनिर्यत्र यत्राऽऽस्ते, तत्र तत्र तथैव स।
मुनिर्ज्ञात्वा स एवाय नन्द इत्यदहत्तथा ॥ ६ ॥
गङ्गा विशति पाथोधिं, वर्त्म यत्रै पराध्वना।
वाहस्तत्र चिरत्यक्तो, मृतगङ्गेति कथ्यते ॥ ७ ॥
हंसोऽजन्मृतगङ्गायां, स नन्दाऽऽत्मा गृहोलक।
कर्मधर्मसमायोगात्, साधेन सममन्यदा ॥ ८ ॥
साधु सञ्चरमाण स, महात्मा तेन वर्त्मना।
माघमासे वसस्तत्र, हंसस्त प्रेक्ष्य सोऽकुपत् ॥ ९ ॥
पक्षौ भृत्वाऽथ नीरेण, सीकरैरशिचन्मुनिम्।
दग्धस्तत्रापि मृत्वा स, सिंहोऽभूदञ्जनाऽचले ॥ १० ॥
सोऽगात्तत्रापि सार्थेन, सिंहस्त क्षिप्तोऽभ्यगात्।
दग्धस्तेन तथैवासौ, वाराणस्यामभूद्वटु ॥ ११ ॥
सोऽपि तत्र गत साधु-र्दृष्ट्वा न वटुरीर्ष्यया।
जघान लेष्टुभिर्दुष्ट मत्वा तमपि सोऽदहत् ॥ १२ ॥
अकामनिर्जरायोगा-द्राजा तत्रैव सोऽभवत्।

जासी' सस्मार नन्दाऽऽया-स्वतो दध्यौ भयद्रुत ॥१३॥
कथञ्चिद्यदि जाने त, क्षमयाम्यधुनाऽपि तत् ।
तदज्ञानोपायभूतां, समस्यां स व्यधादिमाम् ॥१४॥
गङ्गाया नाविको नन्द, सभायां च गृहोलक ।
मृतगङ्गातटे हस, सिंहश्चाञ्जनपर्वते ॥ १५ ॥
वाराणसीपुर्यां, राजा तत्रैव चाभवत् ।
य एता पूरयेतास्य, राज्यार्धं वितराम्यहम् ॥ १६ ॥
पठन्ति तत्र सर्वेऽपि, समस्या तामिमा जना ।
विहरन् सोऽपि तत्रैवा-ऽऽगत्याऽऽरामे मुनि स्थित ॥ १७ ॥
तां चाऽऽरामिकपठितां, श्रुत्वा साधुरपूरयत् ।
एतेषा घातको यश्च, सोऽप्यत्रैव समागत ॥ १८ ॥
अधीत्याऽऽरामिकस्ता स, पठति स्म नृपाग्रत' ।
राजा मुमूर्छ तत् श्रुत्वा, जघ्नुरारामिक जना ॥ १९ ॥
सोऽवदन्न मयाऽपूरि, स्वस्थो राजा जगाद तम् ।
केनेयं पूरिता ब्रूहि, स स्माऽऽहाऽऽगन्तुकसाधुना ॥ २० ॥
नृपस्तत्र नरान् प्रैषीत्, सुप्रसन्न स चेन्मयि ।
तदेत्य त्वत्पदोपान्त, नमामि क्षमयामि च ॥ २१ ॥
अनुज्ञातोऽस्त्येत्य मत्वा, श्राद्धोऽभूद्देशनाश्रुते' ।
अथाऽऽलोच्य प्रतिक्रान्तो, निर्वृतिं साधुरप्यगात् ॥ २२ ॥"
आ० क० ।

(रागस्य द्वेषस्य च हेतव " चरणविहि " शब्दे तृतीयभागे ११२८ पृष्ठे दर्शिता) अर्धे,कोपे च । दे०ना० ५ वर्ग ५१ गाथा।

दोसज्झाण-द्वेषध्यान-न० । अप्रीतिमात्र परद्रोहाध्यवसायो वा द्वेष , तस्य ध्यान, मधुदेवपिङ्गयाऽऽद्ययोरिव धर्मरुचिनाविकनन्दयोरिव वशोत्पत्तौ वीरकदेवस्येव वा दुर्ध्याने, आतु० ।

दोसउरिया-दोपोरिका-स्त्री० । ब्राह्मीलेख्यविधाने, स० १८ सम० ।

दोसकिरिया-द्वेषक्रिया-स्त्री० । द्वेषजन्यक्रियाभेदे, आ० चू० ४ अ० ।

दोसणिग्घायणाविणय-दोषनिर्घातनाविनय-पु० । क्रुद्धाऽऽदेः क्रोधाऽऽद्यपनयनाऽऽत्मके विनयभेदे, दशा० ।

से किं त दोसनिग्घायणाविणए ? । दोसनिग्घायणाविणए चउव्विहे पण्णत्ते । त जहा-कुद्धस्स कोह विणएत्ता भवति, दुट्ठस्स दोसं णेगिण्हित्ता भवति, कंखियस्स कंख छिंदित्ता भवति, आयासुप्पणिहिते यावि भवति । से तं दोसनिग्घायणाविणए ॥

साम्प्रत दोपनिर्घातनार्थं पिपृच्छिषुरिदमाह-" से किं त " इत्यादि प्रश्नसूत्र कण्ठ्यम् । गुरुराह-दोपनिर्घातनाविनयश्चतुर्विधश्चतु'प्रकार प्रज्ञप्त । तद्यथा-(कुद्धस्सेति) क्रुद्धस्य क्रोध विनयिता भवति १, दुष्टस्य दोष निगृहीता भवति २, काङ्क्षितस्य काङ्क्षाव्युच्छेदयिता भवति ३, आत्मसुप्रणिधितश्चापि भवति ४। तत्र क्रुद्धस्य किञ्चिन्निमित्तमासाद्योदीर्णक्रोध मृदुलक्षण मृदुवचनाऽऽदिभिर्विनयिता अनेता भवति । क्रोधपरित्यागलक्षणमाचार वा शिक्षयिता भवति १, दुष्टस्य कषायविषयपरिणामवच , अहङ्काराद्विष्टस्य वा आचारस्याव शीलो विनमिता भवति । अथ वा दोषोपनेता भवति २ । (कङ्क्षित त्ति) काङ्क्षितो नाम भक्तपानपरसमयपाखण्डमतपरिज्ञानाद्यद्रस्तुदर्शनमनुष्यमाभिलाषस्य काङ्क्षा तत्प्राप्तिरूपां व्युच्छेदयिता तदभिलाप विनयिता भवति, प्रापयिता ऽत्यर्थः ३ । वस्त्वन्तरदर्शनात् तदभिलाषापनेता वा भवति ४ । उक्त च-" सपुण्णमेव तु भवे गणिस्स, ज कखियाण पविणेइ कख । " इति । (आय त्ति) आत्मसुप्रणिधित', कथ भवतीति चेत् ? । उच्यते-यदा स्वयमेनेष्वनन्तरोक्तेषु न प्रवर्त्तते, तदा स सुप्रणिधित उच्यते । प्रणिधान वा प्रणिधि , शोभना निधि सुप्रणिधि', बहांश्चापि भवति । आकारान्तत्व प्राकृतत्वात् । " सेत " इति व्यक्तम । दशा० ५ अ० । व्य० ।

दोसणिज्जत-देशी-चन्द्रे, दे० ना० ५ वर्ग ५१ गाथा ।

दोसणिस्सिय-द्वेषनिःसृत-न० । द्वेषे नि सृत मत्सरिणां गुणवत्यपि निर्गुणोऽयमित्यादिरूपे मृषावादे, स्था० १० ठा० ।

दोसदंसि-दोषदर्शिन्-त्रि० । दोषस्य स्वरूपतो वेत्तरि, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

दोसपडिघायविणय-दोषप्रतिघातविनय-पु० । दोषा क्रोधाऽऽदयस्तेषां प्रतिघातो निर्घातना, स एव विनयो दोषप्रतिघातविनयः । दोषनिर्घातनाविनये, प्रव० ६५ द्वार ।

दोसपडियारणा-दोषप्रतिचारणा-पु० । दोषनिषेधे, पञ्चा० १६ विव० ।

दोसपडियारणाय-दोषप्रतिकारज्ञात-पु० । रोगचिकित्सोदाहरणे, पञ्चा० १० विव० ।

दोसपडिसेह-दोषप्रतिषेध-पु० । निर्दोषतायाम्, पञ्चा० १३ विव० ।

दोसबंधण-द्वेषबन्धन-न० । द्विष्यत्यनेनेति वा द्वेष , द्वेष एव बन्धन द्वेषबन्धनम् । द्वेषबन्धने, आ० चू० ४ अ० । द्वेषमोहनीयस्व-वे च । प्रज्ञा० २ पद ।

दोसरहिय-दोषरहित-पु० । दोषा रोगाऽऽदय , तै' रहितः । रोगाऽऽदिरहिते, सू० प्र० २० पाहु० ।

दोसव-दोषवत्-त्रि० । दोषयुक्ते, पञ्चा० ८ विव० ।

दोसवत्तिया-द्वेषप्रत्यया-स्त्री० । अप्रीतिकारकायां क्रियायाम्, आव० ४ अ० । सा दुविहा पण्णत्ता-कोहणिस्सिया य, माणणिस्सिया य । कोहणिस्सिया अप्पणा कुप्पइ, परस्स कोह उप्पाएइ । माणणिस्सिया सय मज्जति, परस्स वा माण उप्पाएइ । " आव० ४ अ० । मूर्च्छाभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० । क्रियाभेदे, आ० चू० ४ अ० ।

दोससयगग्गरी-दोषशतगर्गरी-स्त्री० । दोषा परस्परकलहमत्सरगालिप्रदानमर्मोद्घाटनकलङ्कप्रदानजल्पनशापप्रदानस्वपरप्राणाघातचिन्तनादयस्तेषा शतानि तेषा गर्गरिका भाजनविशेष । दोषशतभृतायां कुम्भ्याम्, त० ।

दोसा-स्त्री० । ब्राह्मीलेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद ।

दोसाणिअ-देशी-निर्मलीकृते, दे० ना० ५ वर्ग ५१ गाथा ।

दोसारण-देशी-कोपे, दे० ना० ५ वर्ग ५१ गाथा ।

दोसिणा–ज्योत्स्ना–स्त्री० । चन्द्रलेश्यायाम्, चं० प्र० ।

ज्योत्स्नालक्षणम्–

ता कहं ते दोसिणालक्खणे आहिता ति वदेज्जा ?। ता दोसिणा ति अ चंदलेसा ति अ । दोसिणा ति य किंअट्ठे, किंलक्खणे ? । ता एगट्ठे एगलक्खणे आहिता । सूरलेस्सा ति य आयवे ति य किंअट्ठे किंलक्खणे ?। ता एगट्ठे एगलक्खणे । ता छाया ति य अंधकारे ति य किंअट्ठे किंलक्खणे ?। ता एगट्ठे एगलक्खणे ।

कथं ज्योत्स्नालक्षणमाख्यातमिति ?। एतद्विषयमेव प्रश्नसूत्रमाह-(ता कहं ते इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्, कथं केन प्रकारेण, भगवन् ! त्वया ज्योत्स्नालक्षणमाख्यातमिति वदेत ? । एवं सामान्यतः पृष्ट्वा विवक्षितमप्यर्थं प्रकटनाय विशेषप्रश्नं करोति (ता चंदलेस्साइ इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । चन्द्रलेश्या इति ज्योत्स्ना इति । अनयोः पदयो । अथवा ज्योत्स्ना इति चन्द्रलेश्या इत्यनयोः पदयोरिहाक्षराणामानुपूर्वीभेदेनार्थभेदो दृष्टो, यथा वटन न टव इति पदानाम् । अपि चानुपूर्वीभेददर्शनादर्थभेददर्शनं यथा पुत्रस्य गुरु, गुरोः पुत्र इतिवत् । इहापि कदाचिदानुपूर्वीभेदादर्थभेदो भविष्यतीत्याशङ्कावशात् चन्द्रलेश्या इति ज्योत्स्ना इत्युक्त्वा, ज्योत्स्ना इति लेश्या इत्युक्तम् । अनयोः पदयोरानुपूर्व्याऽनानुपूर्व्या व्यवस्थितयोः कोऽर्थः, किं परस्परं भिन्नः, उताभिन्न इति ?। स च किंलक्षणः किंस्वरूपः, लक्ष्यते तदन्यव्यवच्छेदेन ज्ञायते येन लक्षणमसाधारणं स्वरूपं यस्य स तथा । एवं प्रश्ने कृते भगवानाह-(ता एगट्ठे एगलक्खणे इति) 'ता' इति पूर्ववत् । चन्द्रलेश्या इति ज्योत्स्ना इत्यनयोः पदयोः आनुपूर्व्या अनानुपूर्व्या वा व्यवस्थितयोरेकः एवाभिन्नः पदार्थः । य एव एकस्य पदस्य वाच्योऽर्थः, स एव द्वितीयस्यापीति भाव । (एगलक्खणे इति) एकमभिन्नमसाधारणं लक्षणं यस्य स तथा । किमुक्तं भवति ?–यदेव चन्द्रलेश्या इत्यनेन पदेन चान्यस्य साधारणं स्वरूपं प्रतीयते तदेव ज्योत्स्ना इत्यनेनाऽपि पदेन, यदेव च ज्योत्स्ना इत्यनेन पदेन तदेव चन्द्रलेश्या इत्यनेनाऽपि पदेनेति । एवम्–आतप इति सूर्यलेश्या इति । तथाऽन्धकार इति छाया इति । अथवा-छाया इति अन्धकार इति । एतेषु पदेषु विषये प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि भावनीयानि । चं० प्र० २० पाहु० ।

ज्योत्स्नावृद्धिहानी–

ता कता ते दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता दोसिणापक्खेणं दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा । ता कहं ते दोसिणापक्खे दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता अंधकारपक्खातो दोसिणे पक्खे दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा । ता कहं ते अंधकारपक्खातो दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता अंधकारपक्खातो णं दोसिणापक्खं अयमाणे चंदे चत्तारि बायाले मुहुत्तसते छायालीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स जाइं चंदे विरज्जति, तं जहा-पढमाते पढमं भागं० जाव पण्णरसीते पण्णरसं भागं । एवं खलु अंधकारपक्खातो दोसिणापक्खे दोसिणा बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता केवतिता णं दोसिणापक्खे दोसिणा आहिता ति वदेज्जा ?। ता परित्ता असंखेज्जा भागा । ता कता ते अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता अंधकारे पक्खे अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा । ता कहं ते अंधकारे पक्खे अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता दोसिणापक्खातो णं अंधकारपक्खे अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा । ता कहं ते दोसिणापक्खातो अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा ?। ता दोसिणापक्खातो णं अंधकारपक्खं अयमाणे चंदे चत्तारि बायाले मुहुत्तसते छायालीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स जाइं चंदे रज्जति, तं जहा-पढमाते पढमं भागं० जाव पण्णरसीए पण्णरसं भागं । एवं खलु दोसिणापक्खातो अंधकारपक्खे अंधकारे बहू आहिता ति वदेज्जा । ता केवतिए णं अंधकारपक्खे अंधकारे आहिता ति वदेज्जा ?। ता परित्ता असंखेज्जा भागा ।

(ता कता ते दोसिणा इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । कदा कस्मिन् काले भगवन् ! ते त्वया ज्योत्स्ना प्रभूता आख्याता इति वदेत् ? । भगवानाह-(ता दोसिणमित्यादि) 'ता' इति पूर्ववत्, ज्योत्स्नापक्षे ज्योत्स्ना बहुराख्याता इति वदेत् ? । (ता कहं ते इत्यादि) 'ता' इति प्राग्वत् । कथं केन प्रकारेण भगवन् ! त्वया ज्योत्स्नापक्षे ज्योत्स्ना बहुराख्याता इति वदेत् ? । भगवानाह-(ता अंधकारे) इत्यादि सुगमम् । "ता कहं ते" इत्यादि प्रश्नसूत्रं निगदसिद्धम् । निर्वचनमाह-(ता अंधकारपक्खाओ इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । अन्धकारपक्षात् ज्योत्स्नापक्षमयमानश्चन्द्रमाश्चत्वारि मुहूर्त्तशतानि द्वाचत्वारिंशानि द्विचत्वारिंशदधिकानि षट्चत्वारिंशतं च द्वाषष्टिभागान् मुहूर्त्तस्य यावत् ज्योत्स्ना निरन्तरं प्रवर्द्धते । तथा चाह यानि यावत् चन्द्रो विरज्यते शनैः शनैः राहुविमानेनाऽऽवृतस्वरूपो भवति, मुहूर्त्तसङ्ख्यागणिते भावना प्राग्वत् कर्त्तव्या । कथमनावृतो भवतीत्याह । तद्यथा-प्रथमाया प्रतिपल्लक्षणाया तिथौ प्रथमपञ्चदशद्वाषष्टिभागसत्कभागचतुष्टयप्रमाणं यावदनावृता भवति, द्वितीयस्या तिथौ द्वितीयं भागं यावत् । एवं तावद् द्रष्टव्यं यावत् पञ्चदश्यां पञ्चदशमपि भागं यावदनावृतो भवति, सर्वाऽऽत्मना राहुविमानेनाऽऽवृतो भवतीति भाव । उपसंहारमाह-(एवं खलु इत्यादि)तत एवमुक्तेन प्रकारेण खलु निश्चितमन्धकारपक्षात् ज्योत्स्ना बहुतराऽऽख्याता इति वदेत् । इयमत्र भावना-इह शुक्लपक्षे यथा प्रतिपत्प्रथमक्षणादारभ्य प्रतिमुहूर्त्तं यावन्मात्रं शनैः शनैः चन्द्रः प्रकटो भवति, तथा अन्धकारपक्षे प्रतिपत्प्रथमक्षणादारभ्य प्रतिमुहूर्त्तं तावन्मात्रं शनैः २ चन्द्र आवृत उपजायते । तत एवं सति यावत्येवान्धकारपक्षे ज्योत्स्ना तावत्येव शुक्लपक्षे, या पञ्चदश्या ज्योत्स्ना साऽन्धकारपक्षादधिकेति । अन्धकारपक्षात् शुक्लपक्षे ज्योत्स्ना प्रभूता आख्यातेति । (ता कहं ते इत्यादि) 'ता' इति पूर्ववत् । कियती ज्योत्स्नापक्षे ज्योत्स्ना आख्याता इति वदेत् ?। भगवानाह-परीता परिमिता असङ्ख्येया भागा निर्विभागा भागा । एवमन्धकारसूत्राण्यप्युक्तानुसारेण भावनीयानि, नवरमन्धकारपक्षे अमावास्याया योऽन्धकारः स ज्योत्स्नापक्षादधिक इति ज्योत्स्नापक्षादन्धकारपक्षे अन्धकारपक्षप्रभूत आख्यात इति । चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० ।

दोसिणाभा-ज्योत्स्नाभा-स्त्री० । ज्योतिषेन्द्रस्य चन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । जं० । सू० प्र० । जी० ।

दोसिणी-देशी-ज्योत्स्नायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ५० गाथा ।

दोसिय-दौषिक-त्रि० । दूष्यं परमस्येति दौषिकः । दूष्यक्रयविक्रयकारिणि, अनु० । व्य० ।

दोसियन्न-दोषान्न-न० । रात्रिपर्युषितेऽन्ने, प्रश्न० ५ सव० द्वार ।

दोह-द्रोह-पु० । अनिष्टचिन्तने, अष्ट० २९ अष्ट० ।

दोह-पु० । दुह-कर्मणि घञ् । दुग्धे, 'सन्दोहमाप्टमेऽहानि' इति स्मृतिः । आधारे घञ् । दोहनपात्रे, भावे घञ् । दोहने, वाच० ।

दोहट्टि-दोहट्टि-पु० । स्वनामख्याते ग्रामे, " दोहट्टिवसतिवासे, श्रेष्ठिश्रीजासकस्य दानरुचे । तदुपष्टम्भादपर, च आविकाया वसुन्धर्या ॥ १ ॥ " जीवा० ३६ अधि० ।

दोहणवाडण-दोहनपाटन-न० । यत्र ग्रामिका गा' दोग्धि । गोदोहनस्थाने, नि० चू० २ उ० ।

दोहणहारी-देशी-जलहारिण्याम्, पारिहारिण्यां च । दे० ना० ५ वर्ग ५६ गाथा ।

दोहणी-देशी-पङ्के, दे० ना० ५ वर्ग ४८ गाथा ।

दोहल-दौहृद-पु० । गर्भप्रभावोद्भूतेऽन्तर्वत्नीफलाऽऽदावभिलापविशेषे, कल्प १ अधि० ४ क्षण । सूत्र० । पो० । " प्रदीपि दोहदे ल " ॥ ८ । १ । २२१ ॥ इति दस्य लः । ' दोहलो. ' प्रा० १ पाद ।

दोहा-द्विधा-अव्य० । द्विप्रकारे, " ओच्च द्विधा कृगः " ॥ ८ । १ । ९७ ॥ द्विधाशब्दे कृगधातोः प्रयोगे इत ओत्वं, चकारादुत्वं च । 'दोहा किज्जइ । दुहा किज्जइ । दोहाइयं । दुहाइअ।' कृग इति किम्-' दिहागअ । ' क्वचित्केवलस्याऽपि-" दुहा वि सो सुरवहूसत्थो । " प्रा० १ पाद ।

दोहासल-देशी-कटीतटे, दे० ना० ५ वर्ग ५० गाथा ।

दोहूअ-देशी-शवे, दे० ना० ५ वर्ग ४६ गाथा ।

द्रवक्क-भय-न० । " शीघ्राऽऽदीनां वहिल्लाऽऽदय. " ॥ ८ । ४ । ४२२ ॥ इति सूत्रान्तरपठितभयस्य 'द्रवक्क' इति सूत्रेण भयस्य स्थाने द्रवक्काऽऽदेशः । "दिवेहिं विढत्तउ खाहि वढ संचि म एकुवि द्रम्मु कोवि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु ॥" प्रा० ४ पाद ।

द्रेहि-दृष्टि-न० । " शीघ्राऽऽदीनां वहिल्लाऽऽदय. " ॥ ८ । ४ । ४२२ ॥ इति सूत्रान्तरपठितदृष्टेर्द्रेहि. इति सूत्रेण दृष्टे स्थाने द्रेहि आदेशः । " एक्कमेक्कउ जइ वि जो, णदिहरिसु दसब्बायरेण तो वि द्रेहि । जहि कहिं विराहो को-सक्कइ सचरे विदड्ढनयणानेहि पलुट्टा ।" प्रा० ४ पाद ।

द्वितवर-द्वितवर-पु० । काकन्दीनगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, स च वीरान्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्यायो विपुले पर्वते सिद्ध इत्यन्तकृद्दशायां षष्ठवर्गस्य षष्ठेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ५ वर्ग ।

इति श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञकल्प–भट्टारक–
जैनश्वेताम्बराऽऽचार्यश्री १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-
विरचिते " अभिधानराजेन्द्रे " दकाराऽऽदिशब्द–
सङ्कलनं समाप्तम् ।

धकार

ध-ध-पुं० । धे-धा-वा ड । धर्मे, कुबेरे, ब्रह्मणि, गुह्ये, गुह्यके, प्रचरे, वह्नौ, वादे, देशभेदे, उपरिभागे, इन्द्रेभकुम्भे, धन्वन्तरौ, ध्वनौ, विशेषे निनादे, शशिनि च । षण्ढे, पारुष्ये, धूनने, खड्गे, सामर्थ्ये, धने, धान्ये च । न० । आधारभूते, धायके, भूते, भीते च । त्रि० ।

" धो विधाता धनं धर्मो, धो गुह्ये गुह्यके स्वरे ।
धश्च स्वाधारभूतेऽपि, वह्नौ वादे च धायके ॥
देशभेदे भूते भाते, धस्तथापरि वर्त्तते ।
ध च षण्ढे च पारुष्ये, ... ॥ " एका० ।
" ध. पुसीन्द्रेभकुम्भे स्याद्, धन्वन्तरि तथा द्वयो' ।
स्याद् ध्वनौ च विशेषे च, निनादशशिधातृषु ॥ ५० ॥
क्लीबे तु ध धूनने च, खड्गसामर्थ्यदन्तिषु ।
धनधान्ये , ... ॥ ५१ ॥" एका० ।

धंखाहरण-ध्वाङ्क्षोदाहरण-न० । काकदृष्टान्ते, " धंखाहरणेण विन्नेया । " ध्वाङ्क्षोदाहरणेन काकज्ञातेन। पञ्चा० १२ विव० । (तत्स्वरूप 'गुरुकुलवास' शब्दे तृ० भा० ए३ए पृष्ठे दर्शितम्)

धंग-देशी-भ्रमरार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धंत-देशी-अतिशये, " धंत पि दुद्धकंखी, न लभइ दुद्ध अधेणूओ । " व्याख्या-(धंत पि त्ति) देशीवचनत्वादतिशयेनाऽपि दुग्धकाङ्क्षी, न लभते दुग्धमधेनो सकाशादिति । बृ० १ उ० ।

ध्मान्त-न० । ध्वन-क्त । अन्धकारे, वाच० ।

ध्मात-त्रि० । ध्मा-क्त । दग्धे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० । अग्निसम्पर्केण निर्मलीकृते, आ० म० १ अ० १ खण्ड । जी० । न० । रा० । अग्निना तापिते च । औ० । शब्दिते, पिं० । दीर्घश्वासहेतुकशब्दयुक्ते च । वाच० । अग्निसयोगे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । ज० । ज्ञा० । ' ध्मा ' शब्दाग्निसंयोगयोरिति वचनात् । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

धंतधोयकणगरुअगसरिसप्पभ-ध्मातधौतकनकरुचकसदृशप्रभ-त्रि० । ध्मातमग्निना तापित धौत जलेन क्षालित यत्कनक तस्य यो रुचको वर्णस्तत्सदृशप्रभ । गौराङ्गे, औ० ।

धंतधोयरूप्पपट्ट-ध्मातधौतरूप्यपट्ट-न० । ध्मातोऽग्निसम्पर्केण निर्मलीकृतो धौतो भूनिपतितश्लक्ष्णहस्तसमार्जनेनातितेजितो रूप्यमय पट्ट विशदीकृतो यो रूप्यपट्टो रजतपत्रम् । जी० ३ प्रति० ४ उ० । विशदीकृतो यो रूप्यपट्टो रजतपत्रक स ध्मातधौतरूप्यपट्ट । रा० । अन्ये तु व्याचक्षते ध्मातोऽग्निसयोगेन यो धौत शोधितो रूप्यपट्ट स ध्मातधौतरूप्यपट्ट । रा० । ज्ञा० । अग्निसम्पर्केण निर्मलीकृते भूनिपतितश्लक्ष्णहस्तसमार्जनेनातितेजिते अग्निसयोगेन शोधिते रजतपत्रके, " धंतधोयरुप्पपट्टेइ वा " जी० ३ प्रति० ४ उ० । ज० ।

धंतधोयरुप्पपट्टअंकसंखचंदकुंदसालिपिट्ठरासिसमप्पभ-ध्मातधौतरूप्यपट्टाङ्कशङ्खचन्द्रकुन्दशालिपिष्टराशिसमप्रभ-त्रि० । ध्मातधौतरूप्यपट्टाङ्कशङ्खचन्द्रकुन्दशालिपिष्टराशिसदृशप्रभे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

धंधा-देशी-लज्जायाम, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धंसण-ध्वंसन-न० । भ्रंशे, " धंसेइ जो अभूएण । " ध्वंसयति मायया भ्रंशयतीति । म० ३० सम० । अपनयने, " सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसइ ईसिय रय । " ध्वंसयत्यपनयतीति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । अध पतने, गमने, नाशे च, वाच० ।

धंसाड-मुच-त्यागे, तु०-मुचादि०-उभ०-सक० अनिट् । "मुचेश्छड्डावहेड-मेल्लोस्सिक्क-रेअव-णिल्लुञ्छ-धंसाडा " ॥ ८ । ४ । ९१ ॥ इति सूत्रेण मुञ्चतेर्धंसाडाऽऽदेश । ' धंसाडइ । ' पक्षे-'मुअइ ।' प्रा० ४ पाद । मुञ्चति, अमुचत् । वाच० ।

धंसामिअ-देशी-व्यपगते, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धअ-देशी-पुरुषे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धगधगंत-धगधगायमान-त्रि० । जाज्वल्यमाने, " धगधगंतसहुकूयण । " ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । "पज्जलति जत्थ धगधग-धगस्स गुरुणा वि चोइए सीसा।" (धगधगधगस्स त्ति) अनुकरणशब्दोऽयम् । धगधगिति धगधगायमान यथा स्यात्तथेत्यर्थ । प्राकृतत्वाच्चैव प्रयोग । ग० २ अधि० ।

धगधगाइय-धगधगायित-त्रि० । धगधगिति कुर्वति, " धगधगाइयजलतजालुज्जलाभिराम । " कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

धट्ठज्जुण-धृष्टद्युम्न-पुं० । धृष्ट प्रगल्भ द्युम्न बल यस्य । "धृष्टद्युम्ने ण " ॥ ८ । २ । ९४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण द्युस्य न द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । द्रुपदराजपुत्रे, वाच० ।

धडिया-घटिका-स्त्री० । "मणैर्दशभिरेका च, घटिका कथिता बुधै ।" इत्युक्तलक्षणे दशमणाऽऽत्मके मानविशेषे, त० । कल्प० ।

धण-धण-धा० । ध्वाने, भ्वादि०-पर०-सक०-सेट् । धणति । अधाणीत् । अधणीत् । वाच० ।

ध्रण-धा० । ध्वाने, भ्वादि०-पर०-अक०-सेट् । ध्रणति । अध्रणीत् । अध्राणीत् । वाच० ।

ध्वण-धा० । ध्वाने, भ्वादि०-पर०-अक०-सेट् । ध्वणति, अध्वाणीत् । अध्वणीत् । वाच० ।

ध्वन-धा० । शब्दे, चुरा०-उभ०-सक०-सेट् । ध्वनयति । अदिध्वनत् । अध्वनयीत् । वाच० । ध्वन-घञ् । शब्दे, पुं० । वाच० । रवे, भ्वादि०-पर०-अक०-सेट् । वा-घटादि । ध्वनति । अध्वानीत् । अध्वनीत् । ध्वनयति । ध्वानयति । वाच० ।

धन-धा० । धान्योत्पादने जुहो० पर० अक०-सेट् । दधन्ति, अधानीत् । अधनीत् । वाच० । रव, भ्वादि०-पर०-अक०-सेट् । धनति ।

अधानीत् । अधनीत् । वाच० । धन-अच् । वस्तुनि, अर्थे, वाच० । हिरण्यरूप्याऽऽदिके, उत्त० ६ अ० । रा० । "घणियमियर तु धण ।" यद् घटितमितरद् वा अघटित तद्धनमुच्यते । बृ० १ उ० । गोमहिष्यादिके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आव० । औ० । उत्त० । गुडखण्डशर्कराऽऽदिके, धन गुडखण्डशर्कराऽऽदि, गोमहिष्यजाऽविकाकरभतुरगाऽऽदि वा । आव० ६ अ० । मापकाऽऽदिके, आ० चू० ६ अ० । 'धनम्' गणिम-धरिम-मेय-पारिच्छेद्य-भेदाच्चतुर्धा । यदाह- "गणिम जाईफलफोफलाई, धरिम तु कुंकुमगुडाइ । मेज्जं चोप्पडलोणाइ, रयणवत्थाइ परिछेज्जं ।" ॥ १ ॥ (४७ श्लो०) ध० २ अधि० । आ० चू० । दशा० । कल्प० । औ० । ज्ञा० । भ० । धन च न्यायेनैवोपार्जयदिति गृहिधर्मे । ध० १ अधि० । धनार्थिनाऽपि धर्म एव कार्यः । "धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनद ।" "तो पडिभणेइ सेट्ठी, धणत्थिणो जइ तुमे तहा वि इम । धम्म करेह ज एस देइ धण कामधेणुसमो ॥" ध० र० । अर्थस्यापि पुरुषार्थतया सकलैहिकाऽऽमुष्मिकफलनिबन्धनतया च तदुपार्जन प्रयत्नमानो विधेय इति केषाञ्चित्कदाशय । यत आहु - "धनैर्दुष्कुलीनाः कुलीना क्रियन्ते, धनैरेव पापात्पुनर्निस्तरन्ति । धनेभ्यो विशिष्टो न लोकेऽस्ति कश्चिद्, धनान्यर्जयध्व धनान्यर्जयध्वम् ॥ १ ॥" इति ।

तन्मतमपाकर्तुमाह-

> जे पावकम्मेहिँ धणं मणूसा,
> समाययंती अमतिं गहाय ।
> पहाय ते पास पयट्टिए नरे,
> वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ॥ २ ॥

ये केचनाविवक्षितस्वरूपा पापकर्मभिरिति पापोपादानहेतुभिरनुष्ठानैर्धन द्रव्य मनुष्या मनुजा , तेषामेव प्रायस्तदर्थोपायप्रवर्तनादित्यमुक्तम् । समाददते स्वीकुर्वन्ति, अमतिमिति प्राग्वत्, नञ कुत्सायामपि दर्शनात्कुमतिम् चक्ररूपा.(गहाय त्ति) गृहीत्वा सम्प्रधार्य । पठ्यते च-"अमय गहाय त्ति ।" अशोभन मतममत नास्तिकाऽऽदिदर्शनम्, अथवा-अमृतमिवाऽमृतम् । आत्मनि परमानन्दोत्पादकतया तच्च प्रक्रमाद्धनम् । (पहाय त्ति) प्रकर्षेण नन्मध्यादल्पस्याप्यग्रहणाऽऽत्मकेन हित्वा त्यक्त्वा, नानिति धनैकरसिकान्, पश्यावलोकय । विनयमेवाह-(पयट्टिए त्ति) आर्षत्वात् स्वत एवाशुभानुभावत प्रवृत्तान्प्रवर्तितान्वा, प्रक्रमात्पापकर्मोपार्जितधनेनैव मृत्युमुखमिति भाव । एतच्च गम्यते, नरान् पुरुषान्, पुनरुपादानमादरख्यापकमेकान्तक्षणिकपक्षनिरासार्थं वा । एकान्तक्षणिकपक्षे हि नैरेव धनमुपार्जित तेषामेव प्रवर्तनम् । तथा च बन्धमोक्षाभावश्चेति भाव । एतच्च पश्य वैर कर्म " वेरे वज्जे य कम्मे य " इतिवचनात् । तेनानुबद्धा सततमनुगता वैरानुगता , नरक रत्नप्रभाऽऽदिक नारकनिवास उपयान्ति एतद्धनत्यागविनया सामीप्येन गच्छन्ति, त एव मृत्युमुखप्रवृत्ता इति प्रक्रम. । यदि वा-पाशा इव पाशा स्त्र्यादयस्तेषु प्रवृत्तास्तैर्वा प्रवर्तिता पाशप्रवृत्ता पाशप्रवर्तिता वा नरकमुपयान्तीति सबन्ध । ते हि द्रव्यमुपार्ज्य स्त्र्यादिष्वभिरमन्ते, तदभिरत्या च नरकातिथय एव भवन्तीति भाव । शेष प्राग्वत् । तदनेन सूत्रेण धनमिहैव मृत्युहेतुतया परत्र च नरकप्रापकत्वेन तत्त्वतः पुरुषार्थ एव न भवतीति तत्प्रसक्तो धर्मे प्रति मा प्रमादी-

रित्युक्त भवति । नरकप्राप्तिलक्षणश्चापायो न प्रत्यक्षेणावगम्यते-इहैवमृत्युलक्षणापायदर्शनमुदाहरणम् । तत्र वृद्धसम्प्रदायः-"एगम्मि नयरे एगो चोरो, सो रत्तिं विभवसपन्नेसु घरेसु खत्तं खणिय, सुबहु दविणजाय घेत्तु अप्पणो घरेगदेसे कूवं सयमेव खणित्ता तत्थ दविणजाय पक्खिवति, जहाकिंचय च सुंकन्दाऊण कण्णं विहेउ पसूय ति उवइवेत्ता तत्थेवागडे पक्खिवइ, मा मे मज्झा चेडरूवाणि परूढपणयाणि होऊण रयणाणि परस्स पगासिति । एव काले वच्चति अण्णया तेणेगा कन्नया विवाहिया अतीवरूविणी सा पसूया सना तेण न मारिया । दारगो य सो अट्ठवरिसो जाओ । तेण चिंतियं-अइचिरकाल विधारिया एय पुव्व उद्दवेउ पच्छा दारय उद्दाविस्स, तेण सा उद्दवेउ अगडे पक्खित्ता, तेण दारगेण णिहाओ निग्गच्छिऊण हाहा कया, लोगो मिलितो, तेण भणति-एएण मे माया मारिय त्ति । रायपुरिसेहिं सुयतेहिं गहितो, दिट्ठो कूवो दव्वभरिओ, अट्ठियाणि य सुबहूणि, सो बधेऊण रायमभमुवणीओ, जायणापगारेहिं सव्व दव्व दवावेऊण कुमारेण मारिओ ।" एवमन्येऽपि धन प्रधानमिति तदर्थं प्रवर्तमानाः तदपहारयेहैवानर्थभाजिनो नरकमुपयान्तीति सूत्रार्थः । उत्त० पाई० ४ अ० । (सयमस्थस्य धनेन चेत्प्रयोजनमुत्पद्येत तदा किं कर्तव्यमिति तद्वक्तव्यता ' अट्ठजाय ' शब्दे प्रथमभागे २४१ पृष्ठे उक्ता) स्नेहे, धनिष्ठानक्षत्रे च । वाच० । पार्श्वनाथस्य प्रथमभिक्षादायके, स० । राजगृहनगरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, आ० म० द्वि० । आ० चू० । आचा० । (तद्वक्तव्यता ' चिलातीपुत्त ' शब्दे तृतीयभागे ११८७ पृष्ठे उक्ता) ("रोहिणी" शब्दे च दृश्या) देवदत्तदारकस्य पितरि राजगृहनगरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, ज्ञा० ।

तत्कथा राजगृहवर्णनमधिकृत्य-

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था, णगरस्स वण्णओ । तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था, महया वण्णओ । तत्थ णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए गुणसिलए णामं चेइए होत्था, वण्णओ । तस्स णं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते एत्थ णं महं एगे जिण्णुज्जाणे यावि होत्था, विणट्ठदेवउले परिसडियतोरणघरे णाणाविहगुच्छगुम्मलयावल्लिवच्छच्छाइए अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था । तस्स णं जिण्णुज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे भग्गकूवए यावि होत्था, तस्स णं भग्गकूवस्स अदूरसामंते एत्थ णं महं एगे मालुयाकच्छए यावि होत्था, किण्हे किण्होभासे० जाव रम्मे महामेहनिउरंबभूए बहूहिं रुक्खेहि य गुच्छेहि य गुम्मेहि य लयाहि य वल्लीहि य तणेहिं य कुसेहि य कुसुमेहि य खाणुएहि ५ संछण्णेहि य परिछण्णे अतो झुसिरे बाहिं गंभीरे अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था । तत्थ णं रायगिहे णयरे धणे णामं सत्थवाहे अड्ढे दित्ते० जाव विउलभत्तपाणे, तस्स णं धणस्स सत्थवाहस्स भद्दा नामं भारिया

होत्था, सुकुमालपाणिपाया अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा लक्खणवंजणगुणोववेया माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगी ससिसोमाकारकंतपियदंसणा सुरूवा करयलपरिमियतिवलियमज्झा कुंडलुल्लिहियगंडलेहा कोमुइरयणियरपडिपुण्णसोमवयणा सिंगारागारचारुवेसा० जाव पडिरूवा वंझा अवियाउरी जाणुकोप्परमाया यावि होत्था । तस्स णं धणस्स सत्थवाहस्स पंथए णामं दासचेडए होत्था, सव्वंगसुंदरंगे मंसोवचिए बालकीलावणकुसले यावि होत्था । तए ण से धणे सत्थवाहे रायगिहे णयरे बहूणं णगरणिगमसेट्ठिसत्थवाहाणं अट्ठारसण्ह य सेणिप्पसेणीणं बहुसु कज्जेसु य कुडुंबेसु य ०जाव चक्खुभूए यावि होत्था, णियगस्स वि य णं बहुसु कुडुंबेसु य बहुसु गुज्झेसु य० जाव चक्खुभूए यावि होत्था । तत्थ णं रायगिहे णयरे बाहिया विजए णामं तक्करे होत्था, पावे चंडालरूवे भीमतररुद्दकम्मे आरुसियदित्तरत्तणयणे खरफरुसमहल्लविगयबीभच्छदाढिए असंपुडियउट्ठे उद्धुयपइण्णलंबंतमुद्धए भमरराहुवण्णे णिरणुक्कोसे णिरणुतावे दारुणे पइभए णिस्संसइए णिरणुकंपे अहीव एगंतदिट्ठीए खुरेव एगधाराए गिद्धेव आमिसतल्लिच्छे अग्गिमिव सव्वभक्खी जलमिव सव्वग्गाही उक्कंचणवंचणमायाणियडिकूडकवडसाइसंपओगबहुले चिरणगरविणट्ठदुट्ठसीलायारचरित्ते जूयपसंगी मज्जपसंगी मंसपसंगी भोज्जपसंगी दारुणहिययदारए साहसिए संधिच्छेयए उवहिए विस्संभघाई आलीवगतित्थभेयलहुहत्थसंपउत्ते परस्स दव्वहरणे णिच्चं अणुबद्धे तिव्ववेरे रायगिहस्स णयरस्स बहूणि अतिगमणाणि य णिग्गमणाणि य दाराणि य अवदाराणि य छिंडिओ य खंडीओ य णगरणिद्धमणाणि य संवट्टणाणि य णिव्वट्टणाणि य जूयखलयाणि य पाणागाराणि य वेसागाराणि य तक्करट्ठाणाणि य तक्करघराणि य सिंघाडगाणि य तियाणि य चउक्काणि य चच्चराणि य णागघराणि य भूयघराणि य जक्खदेउलाणि य सभाणि य पव्वताणि य पणियसालाणि य सुण्णघराणि य आभोएमाणे मग्गमाणे गवेसमाणे बहुजणस्स छिद्देसु य विसमेसु य विहुरेसु य वसणेसु य अब्भुदएसु य उस्सवेसु य पसवेसु य तिहीसु य छणेसु य जण्णेसु य पव्वणीसु य जुद्धेसु य मत्तपमत्तस्स य वक्खित्तस्स य वाउलस्स य सुहियस्स य दुहियस्स य विदेसत्थस्स य विप्पवसियस्स य मग्गं च छिद्दं च विहरं च अंतरं च मग्गमाणे गवेसमाणे एवं च णं विहरइ, बहिया वि य णं रायगिहस्स णयरस्स आरामेसु य उज्जाणेसु य सुसाणेसु य वाविपोक्खरिणीदीहियागुंजालियासु य सरेसु य सरपंतियासु य सरसरपंतियासु य जिण्णुज्जाणेसु य भग्गकूवेसु य मालुयाकच्छएसु य सुसाणेसु य गिरिकंदरलयणउवट्ठाणेसु य बहुजणस्स छिद्देसु य० जाव एवं च णं विहरइ । तए णं तीसे भद्दाए भारियाए अण्णया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणीए अयमेयारूवे अब्भत्थिए ०जाव समुप्पज्जित्था−अहं धणेणं सत्थवाहेणं सद्धिं बहूणि वासाणि सद्दफरिसरसगंधरूवाणि माणुस्सगाइं कामभोगाइं पच्चणुब्भवमाणी विहरामि । णो चेव णं अहं दारगं वा दारियं वा पयायामि । तं धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ ०जाव सुलद्धेणं माणुस्सए जम्मजीवियफले, तासिं अम्मयाणं जासिं मण्णे णियगकुच्छिसंभूयाइं थणदुद्धलुद्धयाइं महुरसमुल्लावगाइं मम्मणपयंपियाइं थणमूलकक्खदेसभागं अभिसरमाणाइं मुद्धयाइं थणियं पिवंति, तओ य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हिऊणं उच्छंगे णिवेसियाइं देंति समुल्लावए पिए समहुरे पुणो पुणो मंजुलप्पभणिए, तं णं अहं अधण्णा अपुण्णा अलक्खणा अकयपुण्णा एत्तो एगमवि ण पत्ता, त सेयं मम कल्लं पाउप्पभाए रयणीए० जाव जलंते धणं सत्थवाहं आपुच्छित्ता धणेणं सत्थवाहेणं अब्भणुण्णाया समाणी सुबहु विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता सुबहुपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं गहाय बहुमित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणमहिलाहिं सद्धिं संपरिवुडा जाइं इमाइं रायगिहस्स णयरस्स बहिया णागाणि य भूयाणि य जक्खाणि य इंदाणि य खंदाणि य रुद्दाणि य सिवाणि य वेसमणाणि य, तत्थ णं बहूणं णागपडिमाण य० जाव वेसमणपडिमाण य महरिहं पुप्फच्चणियं करेत्ता जाणुपायवडिया एवं वइत्तए−जइ णं अहं देवाणुप्पिया ! दारगं वा दारियं वा पयायामि, तो णं अहं तुब्भं जायं च दायं च भायं च अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेमि त्ति कट्टु उवाइयं उवयाइत्तए एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं० जाव जलंते जेणामेव धणे सत्थवाहे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं वयासी−एवं खलु अहं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं सद्धिं बहूणि वासाइं० जाव विहरामि समुल्लावए सुमहुरे पुणो २ सुमंजुलप्पभणिए तेणं अहं अधण्णा अपुण्णा अकयलक्खणा एत्तो एगमवि ण पत्तो, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणी विपुलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा० जाव अणुवड्ढेमि उवाइयं करित्तए । तए णं धणे सत्थवाहे भद्दं भारियं एवं वयासी−ममं पि य णं खलु देवाणुप्पिए ! एस चेव मणोरहे, कहं णं तुमं दारगं वा दारियं वा पया-

एज्जसि भद्दाए सत्थवाहीए एयमट्ठं अणुजाणामि । तए णं सा भद्दा सत्थवाही धणेणं सत्थवाहेणं अब्भणुण्णाया समाणी हट्ठतुट्ठा ०जाव हियया विउलं असणपाणखाइमसाइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता सुबहुं पुप्फगंधमल्लालंकारं गिण्हइ,गेण्हइत्ता सयाओ गिहाओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता रायगिहं णयरं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पुक्खरिणीए तीरे सुबहुं पुप्फगंधमल्लालंकारं ठवेइ, ठवेइत्ता पुक्खरिणिं ओगाहेइ, ओगाहेइत्ता जलमज्जणं करेइ, करेइत्ता जलकीडं करेइ, करेइत्ता ण्हाया कयवलिकम्मा उल्लपडसाडिया जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हइ, गिण्हइत्ता पुक्खरिणीओ पच्चोरुहइ, तं सुबहुं पुप्फवत्थगंधमल्लं गिण्हइ, गिण्हइत्ता जेणामेव णागघरए य ०जाव वेसमणघरए य तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तत्थ णं णागपडिमाण य० जाव वेसमणपडिमाण य आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, लोमहत्थगं परामुसइ, णागपडिमाओ य० जाव वेसमणपडिमाओ य लोमहत्थेणं पमज्जइ, पमज्जइत्ता उदगधाराए अब्भुक्खेइ, अब्भुक्खेइत्ता पम्हलसुकुमालए गंधकासाईए गायाइं लूहेइ, लूहेइत्ता महरिहं वत्थारुहणं मल्लारुहणं गंधारुहणं चुण्णारुहणं वण्णारुहणं च करेइ० जाव धूवं डहइ। जाणुपायवडिया पंजलिउडा एवं वयासी–जइ णं अहं दारगं वा दारियं वा पयायामि तो णं अहं तुब्भं जायं० जाव अणुवड्ढेमि त्ति कट्टु उवाइयं करेइ, जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता विउलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आसाएमाणी०जाव विहरइ,जिमिय०जाव सुइभूया जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अदुत्तरं च णं भद्दा सत्थवाही चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु विपुलं असणं० ४ उवक्खडेइ, उवक्खडेइत्ता बहवे णागा य० जाव वेसमणा य उवयायमाणी णमंसमाणी०जाव एवं च णं विहरइ । तए णं सा भद्दा सत्थवाही अण्णया कयाइ केणइ कालंतरेणं आवण्णसत्ता जाया यावि होत्था । तए णं तीसे भद्दाए सत्थवाहीए दोसु मासेसु विइक्कंतेसु तइए मासे वट्टमाणे इमे एयारूवे दोहले पाउब्भूए–धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ० जाव कयलक्खणाओ ताओ अम्मयाओ जाओ णं विउलं असणं० ४ सुबहुं पुप्फगंधमल्लालंकारं गहाय मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणमहिलाहिं सद्धिं संपरिवुडाओ रायगिहं णयरं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव ओगाहिंति, ओगाहिंतित्ता ण्हायाओ कयवलिकम्माओ सव्वालंकारविभूसियाओ विपुलं असणं० ४ आसाएमाणीओ० जाव परिभुंजमाणीओ दोहलं विणेंति, एवं संपेहेइ, संपेहेतित्ता कल्लं० जाव जलंते जेणेव धणे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता धणं सत्थवाहं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम तस्स गब्भस्स०जाव विणेंति, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणी ०जाव विहरित्तए ?। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तए णं सा भद्दा सत्थवाही धणेणं सत्थवाहेणं अब्भणुण्णाया समाणी हट्ठतुट्ठा० जाव हियया विउलं असणं० ४ जाव ण्हाया कय० जाव उल्लपडसाडगा जेणेव णागघरए० जाव धूवं डहइ, डहइत्ता पणामं करेइ, करेइत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तए णं ताओ मित्तणाइ० जाव णयरमहिलाओ भद्दं सत्थवाहिं सव्वालंकारविभूसियं करेंति। तए णं सा भद्दा सत्थवाही ताहिं मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणणयरमहिलियाहिं सद्धिं विपुलं असणं० ४ जाव परिभुंजमाणी य दोहलं विणेति, जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । तए णं सा भद्दा सत्थवाही संपुण्णदोहला० जाव तं गब्भं सुहं सुहेण परिवहइ । तए णं सा भद्दा सत्थवाही णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाण राइंदियाणं सुकुमालपाणिपायं० जाव दारगं पयाया । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे जाइकम्मं करेंति,तहेव०जाव विपुलं असणं उवक्खडावेंति, तहेव मित्तणाइ भोयावेत्ता अयमेयारूवं गोण्णं गुणनिप्फण्णं णामधिज्जं करेंति–जम्हा णं अम्हं इमे दारए बहूणं णागपडिमाण य० जाव वेसमणपडिमाण य उवाइयलद्धे, तं होऊणं अम्ह इमे दारए देवदिण्णे णामेणं । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधिज्जं करेंति देवदिण्णे त्ति। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो जायं च मायं च अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेंति। तए णं से पंथए दासचेडए देवदिण्णस्स दारगस्स बालग्गाही जाए देवदिण्णं दारगं कडीए गिण्हइ, गिण्हइत्ता बहूहिं डिंभएहि य डिंभियाहि य दारएहि य दारियाहि य कुमारेहि य कुमारियाहि य सद्धिं संपरिवुडे अभिरममाणे अभिरमइ । तए णं सा भद्दा सत्थवाही अण्णया कयाइ देवदिण्णं दारयं ण्हायं कयवलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छित्तं सव्वालंकारविभूसियं करेइ, पंथयस्स दासचेडयस्स हत्थयंसि दलयइ । तए णं से पंथए दासचेडए भद्दाए सत्थवाहीए हत्थाओ देवदिण्णं दारगं कडीए गिण्हइ, गिण्हइत्ता सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ,

णिक्खमइत्ता बहूहिं डिंभएहि य डिंभियाहि य० जाव कुमारियाहिं सद्धिं संपरिवुडे जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिन्न दारयं एगंते ठावेइ, बहूहिं डिंभएहि य०जाव कुमारियाहिं सद्धिं संपरिवुडे पमत्ते यावि विहरइ । इमं च णं विजयतक्करे रायगिहस्स णयरस्स बहूणि दाराणि य अवदाराणि य तहेव ०जाव आभोएमाणे मग्गमाणे गवेसमाणे जेणेव देवदिन्ने दारए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिन्नं दारयं सव्वालंकारविभूसियं पासइ, पासतित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स आभरणालंकारे संमुच्छिए गढिए गिद्धे अज्झोववन्ने पंथयं दासचेडयं पमत्तं पासइ, पासइत्ता दिसालोयं करेइ, करेइत्ता देवदिन्न दारगं गिण्हइ,गिण्हइत्ता कक्खंसि अल्लियावेइ,अल्लियावेत्ता उत्तरिज्जेणं पिहेइ,पिहेइत्ता सिग्घं तुरियं चवलं वेइयं रायगिहस्स णयरस्स अवदारेणं णिग्गच्छइ,णिग्गच्छइत्ता जेणेव जिणुज्जाणे जेणेव भग्गकूवए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिन्नं दारयं जीवियाओ ववरोवेइ, ववरोवेत्ता आभरणालंकारं गिण्हइ, गिण्हइत्ता देवदिन्नस्स दारगस्स सरीरं णिप्पाणं णिच्चेट्ठं ०जाव विप्पजढं भग्गकूवए पक्खिवइ, पक्खिवइत्ता जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मालुयाकच्छयं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसइत्ता णिच्चले णिप्फंदे तुसिणीए दिवसं खवेमाणे चिट्ठइ । तए णं से पथए दासचेडए तओ मुहुत्तंतरस्स जेणेव देवदिन्ने दारए ठविए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिन्नं दारयं तंसि ठाणंसि अपासमाणे रोयमाणे कंदमाणे विलवमाणे देवदिन्नस्स दारगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ,करेइत्ता देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे जेणेव धणे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता धणं सत्थवाहं एवं वयासी-एवं खलु सामी ! जहा सत्थवाही देवदिन्न दारयं एहायं० जाव मम हत्थंसि दलयइ । तए णं अहं देवदिन्न दारयं कडीए गिण्हामि, गिण्हइत्ता० जाव मग्गणगवेसणं करेमि । तं ण णज्जइ णं सामी ! देवदिन्ने दारए केणइ णेणिए वा अवहरिए वा अक्खित्ते वा पायवडिए धणस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं णिवेएइ । तए णं से धणे सत्थवाहे पथयस्स दासचेडयस्स एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म तेणव महया पुत्तसोएणाभिभूए समाणे परसुणियत्ते व चंपगपायवे धस त्ति धरणियलंसि सव्वंगेहिं सन्निवइए । तए णं से धणे सत्थवाहे तओ मुहुत्तंतरस्स आसत्थे पच्चागयप्पाणे देवदिन्नस्स दारगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ, करेइत्ता देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता महत्थं पाहुडं गिण्हइ, गिण्हइत्ता जेणेव णयरगुत्तिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं महत्थं पाहुडं उवणेइ,उवणेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम पुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए देवदिन्ने णामं दारए इट्ठे० जाव उंबरपुप्फं पि व दुल्लहे सवणयाए, किमंग ! पुण पासणयाए । तए णं सा भद्दा देवदिन्नं दारयं एहायं सव्वालंकारविभूसियं पंथगस्स दासस्स हत्थे दलयइ०जाव पायवडिए, त मम णिवेइ । तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! देवदिन्नस्स दारयस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं कत्तिए । तए णं ते णयरगुत्तिया धणेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा सण्णद्धबद्धकवया उप्पीलियसरासणपट्टिया० जाव गहियाउहपहरणा धणेणं सत्थवाहेणं सद्धिं रायगिहस्स णयरस्स बहूणि अइगमणाणि य० जाव पवासु य मग्गणगवेसणं करेमाणा रायगिहाओ णयराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव जिणुज्जाणे जेणेव भग्गकूवए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता देवदिन्नस्स दारयस्स सरीरं णिप्पाणं णिच्चेट्ठं जीवविप्पजढं पासंति, हा हा अहो अकज्जमिति कट्टु देवदिन्नं दारगं भग्गकूवाओ उत्तारेइ, उत्तारेइत्ता धणस्स सत्थवाहस्स हत्थे दलयंति । तए णं ते णयरगुत्तिया विजयस्स तक्करस्स पयमग्गमणुगच्छमाणा जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मालुयाकच्छयंसि अणुप्पविसंति,विजयं तक्करं ससक्खं सहोढं सगेवेज्जं जीवग्गाहं गिण्हइ, गिण्हइत्ता अट्ठिमुट्ठिजाणुकोप्परप्पहारसंभग्गमहियगत्तं करेंति, अवउडावंधणं करेंति, करेंतित्ता देवदिन्नस्स दारयस्स आभरणं गिण्हंति,गिण्हंतित्ता विजयस्स तक्करस्स गीवाए बंधइ, बंधइत्ता मालुयाकच्छयाओ पडिणिक्खमंति, जेणेव रायगिहे णयरे तेणेव उवागच्छंति, रायगिहं णयरं अणुप्पविसंति,रायगिहे णयरे सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरमहापहपहेसु कसप्पहारेहि य लयाप्पहारेहि य छिवाप्पहारेहि य णिवाएमाणा छारं च धूलिं च कयवरं च उवरि पक्खिवमाणा २ महया २ सद्देणं उग्घोसेमाणा एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया ! विजए णाम तक्करे०जाव गिद्धे विव आमिसभक्खी बालघायए य बालमारए,त णो खलु देवाणुप्पिया ! एयस्स केइ राया वा रायमच्चे वा अवरज्झइ, णण्णत्थ अप्पणो सयाइ कम्माइं अवरज्झंति त्ति कट्टु जेणामेव चारगसाला तेणामेव उवागच्छंति,उवागच्छंतित्ता हडिबंधणं करिंति, भत्तपाणणिरोहं करिंति, तिसंझ कसप्पहारेहि य०जाव णिवाएमाणा विह-

रंति । तए णं से धणे सत्थवाहे मित्तणाइणियगसय-
णसंबंधिपरियणेणं सद्धिं रोयमाणेणं० जाव विलवमा-
णेणं देवदिण्णस्स दारगस्स सरीरस्स महया इड्ढीसक्कारस-
मुदएणं णीहरणं करेति, करेत्तित्ता बहूइं लोइयाइं मय-
किच्चाइं करेति, केणइ कालंतरेणं अवगयसोए जाए यावि
होत्था । तए णं से धणे सत्थवाहे अण्णया कयाइं
लहुसयंसि रायावराहंसि संपलित्ते जाए यावि होत्था । तए
णं ते णगरगुत्तिया धण्णं सत्थवाहं गिण्हंति, गिण्हंतित्ता
जेणेव चारगे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता चारगं
अणुप्पविसंति, अणुप्पविसंतित्ता विजएणं तक्करेणं सद्धिं
एगओ पमिबंधणं करिंति । तए णं सा भद्दा भारिया क-
ल्लं० जाव जलंते विउलं असणं० ४ उवक्खमेति, उवक्ख-
मेत्तित्ता भोयणपिमयं करेइ, भोयणाइं पक्खिवति, लं-
छियं मुद्दियं करेति, करेतित्ता एगं च सुरभिवारि-
पडिपुण्णं दगवारयं करेति, करेतित्ता पंथयं दासचेमयं स-
द्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पि-
या ! इमं विउलं असणं० ४ गहाय चारगसालाए ध-
ण्णस्स सत्थवाहस्स उवणेहि । तए णं से पंथए भद्दाए
सत्थवाहीए एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे तं भोयणपिमयं तं च
सुरभिवरवारिपडिपुण्णं दगवारयं गिण्हइ, गिण्हइत्ता स-
याओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता रायगिहं
णयरं मज्झंमज्झेणं जेणेव चारगसाला जेणेव धणे स-
त्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भोयणपिडयं ठ-
वेति, ठवेतित्ता उल्लंछेइ, उल्लंछेइत्ता भायणाइं गिण्हइ, गि-
ण्हइत्ता भायणाइं धोवेइ, धोवेइत्ता हत्थसोयं दलयइ, द-
लयइत्ता धण्णं सत्थवाहं तेणं विपुलेणं असण० ४ परि-
वेसेइ । तए णं से विजए तक्करे धण्णं सत्थवाहं एवं व-
यासी–तुमे णं देवाणुप्पिया ! मम एत्तो विपुलाओ अ-
सणं० ४ संविभागं करेह । तए णं से धणे सत्थवाहे
विजयं तक्करं एवं वयासी–अवियाइं अहं विजया ! एवं वि-
पुलं असणं० ४ कागाणं वा सुणगाणं वा दलएज्जा,
उक्कुरुडियाए वा णं छड्डेज्जा, णो चेव णं तव पुत्तघायगस्स
पुत्तमारगस्स अरिस्स वेरियस्स पमिणीयस्स पच्चामित्तस्स
एत्तो विपुलाओ असण० ४ संविभागं करेज्जामि । तए णं
से धणे सत्थवाहे तं विपुलं असणं० ४ आहारेइ, तं पंथयं
विसज्जेइ । तए णं से पंथए दासचेडए तं भोयणपिमगं गिण्हइ,
जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पमिगए । तए णं तस्स
धण्णस्स सत्थवाहस्स तं विपुलं असण० ४ आहारियस्स–
माणस्स उच्चारपासवणेणं उव्वाहित्था । तए णं से
धणे सत्थवाहे विजयं तक्करं एवं वयासी–एहि ताव

विजया ! एगंतमवक्कमामो, जेणं अहं उच्चारपासवणं
परिट्ठवेमि । तए णं से विजए तक्करे धण्णं सत्थवाहं
एवं वयासी–तुब्भं देवाणुप्पिया ! विपुलं असणं वा पाणं
वा खाइमं वा साइमं वा आहारियस्स अत्थि उच्चारे वा
पासवणे वा, मम णं देवाणुप्पिया ! इमेहिं बहूहिं कसप्प-
हारेहि य० जाव लयापहारेहि य तण्हाए य छुहाए य
परिब्भवमाणस्स णत्थि केइ उच्चारे वा पासवणे वा, तं
छंदेणं तुमं देवाणुप्पिया ! एगंते अवक्कमित्ता उच्चारपासवणं
परिट्ठवेह । तए णं से धणे सत्थवाहे विजएणं तक्करेणं एवं
वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं से धणे सत्थवाहे
मुहुत्तंतरस्स बलियतराग उच्चारपासवणेणं उव्वाहिज्जमा-
णे विजयं तक्करं एवं वयासी–एहि ताव विजया !० जाव
अवक्कमामो । तए णं से विजए धण्णं सत्थवाहं एवं वया-
सी–जइ णं तुमं देवाणुप्पिया ! ताओ विपुलाओ असणं
० ४ संविभागं करेह, तओ णं अहं तुब्भेहिं सद्धिं एगंतं
अवक्कमामि । तए णं से धणे सत्थवाहे विजयं तक्करं एवं
वयासी–अहं णं ताओ विपुलाओ असणं ० ४ संवि-
भागं करेस्सामि । तए णं से विजए तक्करे धण्णस्स सत्थ-
वाहस्स एयमट्ठं पमिसुणेइ । तए णं से विजयए तक्करे
धण्णेणं सद्धिं एगंते अवक्कमइ, उच्चारपासवणं परिट्ठवेइ,
आयंते चोक्खे परमसुइभूए तमेव ठाणं उवसंकमित्ता णं
विहरइ । तए णं सा भद्दा कल्लं ०जाव जलंते विपुलं
असणं ४ ० जाव परिवेसेइ । तए णं से धणे सत्थ-
वाहे विजयस्स तक्करस्स ताओ विपुलाओ असण० ४
संविभागं करेइ । तए णं से धणे सत्थवाहे पंथयं दासचे-
डं विसज्जेइ, तए णं से पंथए भोयणपिमयं गहाय चार-
गसालाओ पमिणिक्खमइ, पमिणिक्खमइत्ता रायगिहं ण-
यरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे जेणेव भद्दा भारिया
तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भद्दं सत्थवाहिणिं एवं
वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिए ! धणे सत्थवाहे तव पुत्त-
घायस्स ०जाव पच्चामित्तस्स ताओ विउलाओ असण
पाण खाइम साइम संविभागं करेति । तए णं सा भद्दा
सत्थवाही पंथयस्स दासचेमस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा
आसुरुत्ता रुट्ठा० जाव मिसिमिसेमाणा धण्णस्स सत्थवाह-
स्स पओसमावज्जइ । तए णं से धणे सत्थवाहे अण्णया
कयाइ मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणेणं सएण य अ-
त्थसारेण रायकज्जाओ अप्पाणं मोयावेइ, मोयावेइत्ता
चारगसालाओ पमिणिक्खमइ, पमिणिक्खमइत्ता जेणेव
अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अलं-
कारियकम्मं करावेइ, करावेत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव

उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अह धोयमट्टियं गिण्हइ, गिण्हइत्ता पुक्खरिणिं ओगाहेइ, ओगाहेइत्ता जलमज्जणं करेइ, एहाए कयवलिकम्मे० जाव रायगिहं णयरं अणुप्पविसइ । रायगिहस्स णयरस्स मज्झ मज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव पहारेत्थगमणाए । तए णं तं धणं सत्थवाहं एज्जमाणं पासित्ता रायगिहे णयरे वहवे णयरणिगमसेट्ठिसत्थवाहपभिओ आढयंति, पमिजाणंति, सक्कारेंति, सम्माणेंति, अब्भुट्ठेंति सरीरकुसलं पुच्छंति । तए णं से धणे सत्थवाहे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जा वि य से तत्थ वाहिरिया परिसा भवइ, त दास त्ति वा, पेस त्ति वा, भइगा ति वा, भाइल्लेति वा, सा वि य णं धणं सत्थवाहं एज्जमाणं पासइत्ता पायपडियाए खेमकुसलं पुच्छइ, जे वि य से तत्थ अब्भिंतरिया परिसा भवइ, त माया इय वा पिया इय वा भाया ति वा भइणी ति वा, सा वि य णं धणं सत्थवाहं एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता आसणाओ अब्भुट्ठेइ, कंठाकंठिय अवदासियं वाहप्पमोक्खणं करेइ । तए णं से धणे सत्थवाहे जेणेव भद्दा भारिया तेणेव उवागच्छइ । तए णं सा भद्दा भारिया सत्थवाही धणं सत्थवाहं एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता णो आढाति, णो परियाणाइ, अणाढायमाणी अपरिजाणमाणी तुसिणीया परंमुही सचिट्ठइ । तए णं से धणे सत्थवाहे भद्दं भारियं एवं वयासी–किं णं तुमं देवाणुप्पिया ! ण तुट्ठा वा ण हरिसा वा णाणदी वा, जं मए सेएणं अत्थसारेणं रायकज्जाओ अप्पा विमोइए । तए णं सा भद्दा धणं सत्थवाहं एवं वयासी–कहं णं देवाणुप्पिया ! मम तुट्ठा वा० जाव आणंदे वा भविस्सइ । जेणं तुम मम पुत्तघायकस्स० जाव पच्चामित्तस्स ताओ विपुलाओ असण० ४ संविभाग करेसि । तए णं से धणे सत्थवाहे भद्दं सत्थवाहिं एवं वयासी–णो खलु देवाणुप्पिए ! धम्मो त्ति वा तवो त्ति वा कयपडिकइया वा लोगजत्ता ति वा णायए त्ति वा घाडियए ति वा सहाएइ वा सुहि त्ति वा ततो विपुलाओ असण० ४ संविभाए कए, णण्णत्थ सरीरचिंताए । तए णं सा भद्दा सत्थवाही धणेण सत्थवाहेण एवं वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठा० जाव आसणाओ अब्भुट्ठेति, कंठाकंठिअ अवतासेति, खेमकुसलं पुच्छइ, पुच्छइत्ता एहाया० जाव पायच्छित्ता विपुलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ । तए णं से विजए तक्करे चारगसालाए तेहिं बंधेहि य वहेहि य कसप्पहारेहि य० जाव तण्हाएहि य छुहाएहि य पराभवमाणे कालमासे कालं किच्चा णरएसु णेरइयत्ताए उववन्ने, से णं तत्थ णेरइए जाए कालेकाला–

भासे० जाव वेयणं पच्चणुब्भवमाणा विहरति । से णं तओ उव्वट्टित्ता अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतार अणुपरियट्टिस्सइ । एवामेव जंबू ! जेणं अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरियउवज्झायाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे विपुलमणिमुत्तियधणकणगरयणसारेणं लुब्भइ, से वि य एवं चेव । तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा णामं थेरा भगवंतो जाइसंपण्णा० जाव पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा ०जाव जेणामेव रायगिहे णयरे जेणेव गुणसिलए चेइए ०जाव अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ । तए णं तस्स धणस्स सत्थवाहस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म इमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था । एवं खलु भगवंतो जाइसंपण्णा इहमागया, इह संपत्ता, त इच्छामि णं थेरे भगवंते वंदामि, णमंसामि, एहाए० जाव सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइ वत्थाइ पवरपरिहिए पायविहारचारेणं जेणेव गुणसिलए चेइए जेणेव थेरे भगवंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता वंदइ, णमंसइ । तए णं थेरा भगवंतो धणस्स सत्थवाहस्स विचित्त धम्ममाइक्खंति । तए णं से धणे सत्थवाहे धम्मं सोच्चा एवं वयासी–सद्दहामि णं भंते ! णिग्गंथे पावयणे० जाव पव्वइए० जाव बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणित्ता भत्त पच्चक्खाइत्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइ अणसणाइं छेदइत्ता कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववण्णे । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं धणस्स देवस्स चत्तारि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता । से णं धणे देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएण गइक्खएण अणंतर चयं चइत्ता महाविदेहे वासे सिज्झिहिति० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेहिति, जहा णं जंबू ! धणेणं सत्थवाहेणं णो धम्मेइ वा० जाव विजयस्स तक्करस्स ताओ विपुलाओ असणं० ४ संविभागे कए, णण्णत्थ सरीरस्स रक्खणट्ठाए, एवामेव जंबू ! जो ण अम्हं णिग्गंथे वा णिग्गंथी वा० जाव पव्वइए समाणे ववगयण्हाणुमद्दणपुप्फगंधमल्लालंकारविभूसिए इमस्स ओरालियसरीरस्स णो वण्णहेउं वा रूवहेउं वा विसयहेउं वा तं विपुल असण० ४ आहारमाहारेइ, णण्णत्थ णाणदंसणचरित्ताणं वहणट्ठयाए, से णं इहलोए चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावगाण बहूणं साविगाण अ अच्चणिज्जे० जाव पज्जुवासणिज्जे भवइ, परलोए वि य णं

णो बहूणि हत्थच्छेयणाणि य कण्णच्छेयणाणि य णासाच्छेयणाणि य एवं हियउप्पायणाणि य वसणुप्पायणाणि य उल्लंबणाणि य पाविहिंति, अणादीयं च णं अणवदग्गं दीहं० जाव वीईवइस्सति,जहा व से धण्णे सत्थवाहे मित्तणाइणेसु आहारे विहरिउं ज ण वट्टए साहु देहो तम्हा धणु व्व विजय साहू, तं तेण पोसिज्जा । एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं दोच्चस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि ॥

एव खल्वित्यादि तु प्रकृताध्ययनार्थसूत्र, सुगम चैतत्सर्वं, नवर जीर्णोद्यान चाप्यभूत,चापीति समुच्चये,अपिचेत्यादिवत् । विनष्टानि देवकुलानि परिशटितानि तोरणानि प्राकारद्वारदेवकुलसम्बन्धीनि गृहाणि च यत्र तत्तथा । नानाविधा ये गुच्छा वृन्ताकीप्रभृतय ,गुल्मा वशजालीप्रभृतय·,लता अशोकलताऽऽदय ,वल्लयस्त्रपुषीप्रभृतय , वृक्षा· सहकाराऽऽदय , तैश्छादित यत्तत्तथा । अनेकैर्व्यालशतैः श्वापदशतैः शङ्कनीयं भयजनक चाप्यभूत्, शङ्कनीयमित्येतद्विशेषणमवरुत्वात्क्रियावचनस्य न पुनरुक्तता । (मालुकाकच्छ इति) एकास्थिकफला वृक्षविशेषा· मालुका· प्रज्ञापनाभिहिता , तेषा कक्षो गहन मालुकाकक्ष । चिर्भिटिकाकच्छ इति तु जीवाभिगमचूर्णिकार· । (किण्हे किण्होभासे) इह यावत्करणादिद दृश्यम्-" णीले णीलोभासे हरिए हरिओभासे सीए सीओभासे णिद्धे णिद्धोभासे तिव्वे तिव्वोभासे किण्हे किण्हच्छाए णीले णीलच्छाए हरिए हरियच्छाए सीए सीयच्छाए णिद्धे णिद्धच्छाए तिव्वे तिव्वच्छाए घणकडियकडिच्छाए त्ति । " कृष्ण· कृष्णवर्णोऽञ्जनवत् स्वरूपेण कृष्ण एवावभासते, द्रष्टॄणां प्रतिभातीति कृष्णावभास·, किल किञ्चिद्वस्तुस्वरूपेण भवत्यन्यादृश प्रतिभासते तु सन्निधानविप्रकर्षाऽऽदे कारणादन्यादृशमिति । एव क्वचिदसौ नीलो मयूरग्रीववत्,क्वचित् हरित· शुकपिच्छवत्, हरितालाभ इति वृद्धा· । तथा शीत स्पर्शत· वल्ल्याद्याक्रान्तत्वादिति च वृद्धा । स्निग्धो न रूक्ष , तीव्रो वर्णाऽऽदिगुणप्रकर्षवान्, तथा कृष्ण· सद् वर्णेन , कृष्णच्छाय छाया च दीप्तिरादित्यकरावरणजनिता चेति । एवमन्यत्रापि । (घणकडियकडिच्छाए त्ति) अन्योन्यशाखाऽनुप्रवेशात् बहिरन्तरच्छायारम्यो महामेघानां निकुरम्ब· समूहस्तद्वद्य· स महामेघनिकुरम्बभूत· । वाचनान्तरे त्विदमधिक पठ्यते-"पत्तिए पुष्फिए फलिए हरियगरे रिज्जमाणे । " हरितकश्चासौ (रेरिज्जमाणे त्ति) भृश राजमानश्च यः स तथा । (सिरीए अईव २ उवसोभेमाणे चिट्ठइ त्ति) श्रिया वनलक्ष्म्या अतीव २ उपशोभमानस्तिष्ठति । (कुसेहि य त्ति) दर्भै· । क्वचित्-"कूवएहि य त्ति" पाठ । तत्र कूपिकाभि स्निग्धत्वयात् (खाणुएहि य त्ति) स्थाणुभिश्च । पाठान्तरेण-(खत्तएहिं ति) खातैर्गर्तैरित्यर्थ । अथवा-(कूविएहिं ति) चौरगवेषकै , (खत्तएहिं ति) खानकै , क्षेत्रस्थेति गम्यते । चौरैरित्यर्थ । अयमभिप्राय -गहनत्वात्तस्य तत्र चौरा· प्रविशन्ति तद्गवेषणार्थमितरे चेति सछन्नो व्याप्त , परिच्छन्न· समन्तात् अन्तर्मध्ये तु सावकाशत्वात् बहिर्गम्भीरो दृष्टेरप्रक्रमणात् (अड्डे दित्ते) इह यावत्करणादिद द्रष्टव्यम्-" वित्ते विच्छिण्णविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुदासदासीगोमहिसगवेलगप्पभूए बहुधणबहुजायरूवरयए आओगपओगसपउत्ते विच्छड्डियविउलभत्तपाणे त्ति । " व्याख्यात्वस्य मेघकुमारराजवर्णकवत्, भद्रावर्णकस्य तु धारिणीवर्णकवद्वर (करयल त्ति) अनेन " करयलपरिमियतिवलियमज्झा इ त्ति " दृश्यम् । (वझ त्ति) अपत्यफलापेक्षया निष्फला (अवियाउरि त्ति) प्रसवानन्तरमपत्यमरणेनापि फलवती वन्ध्या भवतीत्यत उच्यते (अवियाउरि त्ति) अविजननशीला अपत्यानामत एवाऽऽह जानुकूर्पराणामेव माता जननी जानुकूर्परमाता । एतान्येव शरीरांशभूतानि तस्या· स्तनौ स्पृशन्ति, नापत्यमित्यर्थः । अथवा-जानुकूर्पराण्येव मात्रा परप्राणाऽऽदे साहाय्यसमर्थ उत्सङ्गनिवेशनीयो वा परिकरो यस्या न पुत्रलक्षण· सा जानुकूर्परमात्रा । (दासचेडे त्ति) दासस्य भृतकविशेषस्य चेट कुमारक दासचेट· । अथवा दासश्चासौ चेटश्चेति दासचेट । (तक्करे त्ति) चौर , पापस्य पापकर्मकारिणः चण्डालस्येव रूप स्वभावो यस्य स तथा चण्डालकर्मापेक्षया भीमतराणि रौद्राणि कर्माणि यस्य स तथा । (आरुसिय त्ति) आरुष्टस्येव दीप्ते रक्ते नयने यस्य स तथा । खरपरुषे अतिकर्कशे महत्यौ विकृते बीभत्से दाढिके उत्तरोष्ठकेशगुच्छरूपे दशनविशेषरूपे वा यस्य स तथा । असंपतितौ असपुटितौ असम्बृतौ वा परस्परासक्तौ तुच्छत्वाद्दशनदीर्घत्वाच्च ओष्ठौ यस्य स तथा, उद्धूना वायुना प्रकीर्णा विकीर्णा लम्बमाना मूर्द्धजा यस्य स तथा, भ्रमरराहुवर्ण· कृष्ण इत्यर्थ· । निरनुक्रोशो निर्दयो, निरनुताप· पश्चात्तापरहित·, अत एव दारुणो रौद्र , अत एव प्रतिभयो भयजनक·, नि सशयिक· शौर्यातिशयादेव तत्साधयिष्याम्येवेत्येव प्रवृत्तिक· । पाठान्तरेण-" निसंसे " नृनरान् शसति हिनस्तीति नृशस· । निशसो वा विगतश्लाघ· । (निरणुकंपे त्ति) विगतप्राणिरक्ष , निर्गता वा जनानामनुकम्पा यत्र स तथा । अहिरिव एकान्तग्राह्यमेवेद मयेत्येवमेका निश्चया दृष्टिर्यस्य स तथा । (खुरे व्व एगधाराए त्ति) एकत्रान्तरे वस्तुभागेऽपहर्तव्यलक्षणे धारेव धारा परोपतापप्रधानप्रवृत्तिलक्षणा यस्य स तथा । यथा क्षुर एकधार एवमसौ मोषणलक्षणैकप्रवृत्तिक एवेति भाव । (जलमिव सव्वग्गाहि त्ति) यथा जल सर्वं स्वविषयाऽऽपन्नमभ्यन्तरीकरोति तथाऽयमपि सर्वं गृह्णातीति भाव· । तथा उत्कञ्चनवञ्चनमायानिकृतिकूटकपटै सह योऽतिसम्प्रयोगो गार्द्ध्यं, तेन बहुल प्रचुरो य· स तथा,तत्र ऊर्ध्वं कञ्चन मूल्याऽऽद्यारोपणार्थमुत्कञ्चन, हीनगुणस्य गुणोत्कर्षप्रतिपादनमित्यर्थ । वञ्चन प्रतारण,माया परवञ्चनबुद्धि· । निकृतिर्वकवृत्त्या गलकर्त्तकानामिवावस्थान, कूट कार्षापणतुलाऽऽदे परवञ्चनार्थं न्यूनाधिककरण, कपट नेपथ्यभाषाविपर्ययकरणम् , अथवा-एभिरुत्कञ्चनाऽऽदिभिस्सहातिशयेन य सम्प्रयोगस्तेन यो बहुलः स तथा । यदि वा-सातिशयेन द्रव्येण कस्तूरिकाऽऽदिना परस्य द्रव्यस्य सम्प्रयोग सातिशयसम्प्रयोग । ततश्चोत्कञ्चनाऽऽदिभि सातिशयसम्प्रयोगेण च यो बहुल स तथा । उक्त च-" सो होइ साइजोगो, दव्वं ज छुहिय अन्नदव्वेसु । दोसगुणा वयणेसु य, अत्थविसंवायणं कुणइ ॥१॥" इति एकीय व्याख्यानम् । व्याख्यानान्तर पुनरेवम्-उत्कञ्चनमुत्कोचा, निकृतेर्वञ्चनप्रच्छादनार्थं कर्म, सातिविस्रम्भएतत्सम्प्रयोगबहुल , शेष तथैव· चिर बहुकाल यावद् नगरे नगरस्य वा विनष्टो विप्लुतः चिरनगरविनष्ट· बहुकालीनो यो नगरविनष्टो भवति स किलात्यन्त धूर्तो भवतीत्येव-

विशेषितः, तथा दुष्टं शीलं स्वभाव आकार आकृतिश्चरित्र चाऽनुष्ठानं यस्य स तथा । ततः कर्मधारयः । द्यूतप्रसङ्गी द्यूताऽऽसक्तः । एवमितराणि, नवरं भोज्यानि खण्डखाद्याऽऽदीनि, पुनर्हृदयग्रहण हृदयदारक इत्यस्य विशेषणार्थत्वात् न पुनरुक्तम् । लोकानां हृदयानि दारयति स्फोटयतीति हृदयदारकः । पाठान्तरेण-(जणहियाकारए) जनहितस्याकर्त्तेत्यर्थः । साहसिको वितर्कितकारी, सधिच्छेदकः क्षेत्रखानकः, औपधिको मायित्वेन प्रच्छन्नचारी, विस्रम्भघाती विश्वासघातक , आदीपकोऽग्निदाता, तीर्थानि तीर्थभूतदेवद्रोण्यादीनि, भिनत्ति द्विधा करोति, तद्द्रव्यमोषणाय तत्परिकरभेदनेनेति तीर्थभेदः । लघुभ्यां क्रियासु दक्षाभ्यां हस्ताभ्यां सप्रयुक्तो यः स तथा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः । परस्य द्रव्यहरणे नित्यमनुबद्धः, प्रतिबद्ध इत्यर्थः । तीव्रवैर अनुबद्धविरोधः, अतिगमनानि प्रवेशमार्गान्, निर्गमनानि निस्सरणमार्गान् द्वाराणि प्रतोल्यः, अपद्वाराणि द्वारिकाः, "छिण्णी" छिण्डिका वृतिच्छिद्ररूपा ,"खण्डी" प्राकारच्छिद्ररूपाः, नगरनिर्द्धमनानि नगरजलनिर्गमप्रणालनान् संवर्त्तनानि मार्गमिलनस्थानानि,निवर्त्तनानि मार्गनिवर्त्तनस्थानानि,द्यूतखलकानि द्यूतस्थण्डिलानि, पानागाराणि मद्यगेहानि, वेश्यागाराणि वेश्याभवनानि, तस्करस्थानानि शून्यदेवकुलागाराऽऽदीनि,तस्करगृहाणि तस्करनिवासान् शृङ्गाटकाऽऽदीनि प्राग् व्याख्यातानि सभाजनोपवेशनस्थानानि, प्रपा जलदानस्थानानि, लिङ्गव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात् । पणितशालाहट्टान् शून्यगृहाणि प्रतीतानि, आभोगयन् पश्यन्, मार्गयन् अन्वयधर्मपर्यालोचनतः, गवेषयन् व्यतिरेकधर्मपर्यालोचनत , बहुजनस्य छिद्रेषु प्रविरलपरिवारत्वाऽऽदिषु चौरप्रवेशावकाशेषु विषमेषु तीव्ररोगाऽऽदिजनितातुरत्वेषु,विधुरेषु इष्टजनवियोगेषु व्यसनेषु राजाऽऽद्युपपन्नवेषु, तथाऽभ्युदयेषु राजलक्ष्म्यादिलाभेषु, उत्सवेषु इन्द्रोत्सवाऽऽदिषु, प्रसवेषु पुत्राऽऽदिजन्मसु,तिथिषु मदनत्रयोदश्यादिषु,क्षणेषु बहुलोकभोजनदानाऽऽदिरूपेषु, यज्ञेषु नागाऽऽदिपूजासु, पर्वणीषु कौमुदीप्रभृतिषु अधिकरणभूतासु मत्तः पीतमद्यतया, प्रमत्तश्च प्रमादवान् य स तथा, तस्य बहुजनस्येति योग । व्याक्षिप्तस्य च प्रयोजनान्तरोपयुक्तस्य,व्याकुलस्य च नानाविधकार्याक्षेपेण सुखितस्य दुःखितस्य च, विदेशस्थस्य च देशान्तरस्थस्य, विप्रोषितस्य च देशान्तर गन्तु प्रवृत्तस्य,मार्गं च पन्थानं, छिद्रं च अपद्वारं,विरह च विजनम्, अन्तर चावसरमिति । आरामादिपदानि प्राग्वत् । (सुसाणेसु य त्ति) श्मशानेषु, गिरिकन्दरेषु गिरिरन्ध्रेषु, लयनेषु गिरिवर्त्तिपाषाणगृहेषु, उपस्थानेषु तथाविधमण्डपेषु, बहुजनस्य छिद्रेष्वित्यादि पुनरावर्त्तनीयम । (जाव एवं च ण विहरइ त्ति) (कुडुंबजागरियं जागरमाणीए त्ति) कुटुम्बचिन्तायां जागरण निद्राक्षयः कुटुम्बजागरिका, द्वितीयायास्तृतीयार्थत्वात् । तया जाग्रत्या विबुध्यमानया, अथवा कुटुम्बजागरिकां जाग्रत्याः कुर्वन्त्या' (पयायामि त्ति) प्रजनयामि । "तासिं मन्ने ।" इत्यत्र तासां सुलब्धं जन्म जीवितफलम्, अहं मन्ये वितर्कयामि यासां निजककुक्षिसम्भूतानीत्येवमक्षरघटना कार्या,निजककुक्षिसम्भूतानि किम्भरूपाणि इति गम्यते । स्तनदुग्धलुब्धकानि मधुरसमुल्लापकानि मन्मन स्खलत्प्रजल्पित येषां तानि तथा । स्तनमूलात्कक्षादेशभागमभिसरन्ति सचरन्ति, स्तनजं पिबन्ति, ततश्च कोमलकमलोपमाभ्यां हस्ताभ्यां गृहीत्वा उत्सङ्गनिवेशितानि ददति समुल्लापकान् समधुरान्, (एत्तो एगमवि न पत्त त्ति) इतः पूर्वमेकमपि डिम्भक न प्राप्ता । अथवा इत उक्तलक्षणात् डिम्भकविशेषणकलापादेकमपि विशेषण न प्राप्ता । "बहिया नागघराणि वा" इत्यादि प्रतीतम् । (जाणुपायवडिय त्ति) जानुभ्यां पादपतिता जानुपादपतिता, जानुनी भुवि विन्यस्य प्रणति गतेत्यर्थः । "जाय च" इत्यादि । याग पूजां, दाय पर्वदिवसाऽऽदौ दान भाग लाभांशम् । अक्षयनिधिमव्ययं भाण्डागारम्, अक्षयनीवीं वा मूलधन, येन जीर्णीभूतस्य देवकुलस्योद्धार' करिष्यते । अक्षीणकां वा प्रतीतां वर्द्धयामि, पूर्वकाले अल्प सन्त महान्त करोमीति भाव । (उवयाइयं ति) उपयाच्यते मृग्यते स्म यत्तत् उपयाचितमीप्सित वस्तु याचितु प्रार्थयितुम् । (उल्लपडसाडिय त्ति) स्नानेनार्द्रपटशाटिके उत्तरीयपरिधानवस्त्रे यस्याः सा तथा । (आलोए त्ति) दर्शने नागाऽऽदिप्रतिमाना प्रणाम करोति । तत प्रद्युम्नमति,लोमहस्तक प्रमार्ज्जनिका परामृशति गृह्णाति, ततस्तेनता प्रमार्ज्जयति । (अब्भुक्खेइ त्ति) अभिषिञ्चति वस्त्राऽऽरोपणाऽऽदीनि प्रतीतानि । "चाउद्दसी" इत्यादौ "उद्दिट्ठ त्ति" अमावास्या, (आवण्णसत्त त्ति) आपन्न उत्पन्न सत्त्वो जीवो गर्भे यस्याः सा तथा । डिम्भदारककुमारकाणामल्पबहुबहुतरकालकृतो विशेष । मूर्च्छितो मूढो, गतविवेकचैतन्य इत्यर्थ । ग्रथितो लोभ तन्तुभि सन्दर्भितः, गृद्ध आकाङ्क्षावान्, अध्युपपन्न -अधिक तदेकाग्रतां गत इति । शीघ्राऽऽदीनि एकार्थिकानि शीघ्रगतिशयख्यापनार्थानि । निःप्राणमुच्छ्वासाऽऽदिरहित, निश्चेष्ट व्यापाररहित (जीवविप्पजढ त्ति) आत्मना विप्रमुक्तो निश्चलो गमनागमनाऽऽदिवर्जितः, निस्पन्दो हस्ताऽऽद्यवयवचलनरहित', तुष्णीको वचनरहित , प्रेषयन् प्रेरयन्, श्रुतिं वार्तामात्र, क्षुतिं तस्यैव सम्बन्धिन शब्दं, तच्चिह्न वा, प्रवृत्तिं व्यक्तान्तरवार्त्तां नीतो मित्राऽऽदिना स्वगृहे अपहृतश्चौरेण आक्षिप्त उपलोभितः । (परसुनियत्ते व त्ति) परशुना कुठारेण निकृत्तः छिन्नो य. स तथा तद्वत् । (नगरगुत्तिय त्ति) नगरस्य गुप्तिं रक्षां कुर्वन्तीति नगरगुप्तिका आरक्षिका । (सनद्धबद्धवम्मियकवय त्ति) सन्नद्धाः सहननाभि कृतसन्नाहाः, बद्धाः कशाबन्धनेन वर्म्मिताश्च अङ्गरक्षीकृताः शरीरारोपणेन कवचाः कङ्कटा यैस्ते तथा । तत कर्मधारय । अथवा-वर्मित शब्द कवचिन्नाधीयत एव । (उप्पीलियसरासणपट्टिया) उत्पीमिता आक्रान्ता गुणेन शराऽऽसन धनुस्तल्लक्षणा पट्टिका यैस्ते तथा । अथवा-उत्पीमिता बद्धा शरासनपट्टिका बाहुपट्टको यैस्ते तथा । दृश्यते च धनुर्धराणा बाहौ चर्मपट्टबन्ध इति । इह स्थाने वाचनान्तरादिद दृश्यम्-" पिणद्धगेवेज्जबद्धआविद्धविमलवरचिंधपट्टा ।" पिनद्धानि परिहितानि ग्रैवेयकाणि ग्रीवारक्षकाणि यैस्ते तथा । बद्धो गाढीकरणेन आविद्धः परिहितो मस्तके विमलो वरचिह्नपट्टो यैस्ते तथा । ततः कर्मधारय । "गहियाउहपहरणा । " गृहीतान्यायुधानि प्रहरणाय प्रहारदानाय यैस्ते तथा । अथवाऽऽयुधप्रहरणयोः क्षेप्याक्षेप्यकृतो विशेष । (सखक्ख ति) ससाक्षि साक्षिणोऽध्यक्षान् विधायेत्यर्थ । (सहोढ ति) समोषम्, (सगेवेज्ज ति) सह ग्रैवेयकेन ग्रीवाबन्धनेन यथा भवति तथा गृह्णन्ति । (जीवग्गाह गिण्हति त्ति) जीवतीति जीवत्न जीव जीवन्त गृह्णन्ति अस्थिमुष्टिजानुकूर्परैस्तेषु वा ये प्रहारास्तैः मथित मथित मोटित जर्जरित गात्र शरीर यस्य स तथा, त कुर्वन्ति । (अवउडगबधण ति) अवकोटनेनावमोटनेन कृकाटिकाया बाहोश्च

पश्चाद्भागे नयनेन बन्धनं यस्य स तथा तं कुर्वन्ति । (कसप्पहारे य त्ति) बध्नतामनालि, (छिव त्ति) श्लक्ष्णः कशः लता कम्बा, बालघातकः प्रहारदानेन, बालमारकः प्राणवियोजनेन, (रायमच्चे त्ति) राजामात्यः (अवरज्झइ त्ति) अपराध्यति अनर्थं करोति, (नच्चाध त्ति) न स्वाध्यत्येवार्थं । वाचनान्तरे त्विदं नाधीयत एव, स्वकानि निरुपचरितानि गोपचारेणाऽऽत्मनः सम्बन्धीनि, (लहुस्सगंसि त्ति) लघु स्व आत्मा स्वरूपं यस्य स लघुस्वकः अल्पस्वरूप, राज्ञि विषये अपराधो राजापराधस्तत्र सप्रकृतः प्रतिपादितः, पिशुनैरिति गम्यते । (भोयणपिडय ति) भोजनस्थाल्यादिधारभूतं वंशमयं भाजनं पिटकं,तत्करोति सज्जीकरोतीत्यर्थ । पाठान्तरेण-(भरेइ त्ति) पूरयति । पाठान्तरेण-भोजनपिटकं करोति-अशनाऽऽदीनि लाञ्छितं रेखाऽऽदिदानतो मुद्रितं कृतमुद्राभिमुद्रम्, (उल्लछेइ त्ति) विगतलाञ्छनं करोति (परिवेसयति) भोजयति (अविियाइ ति) अपि. सम्भावने । (आइं ति) भाषायाम । अरे. शत्रोर्वैरिणः सानुबन्धशत्रुभावस्य, प्रत्यनीकस्य प्रतिकूलवृत्ते , प्रत्यमित्रस्य वस्तु वस्तु प्रति अमित्रस्य, (भणस्स त्ति) कर्मणि षष्ठी, उच्चारप्रस्रवणं कर्तुं, णमित्यलङ्कारे । (उग्गाहित्थ त्ति) उद्बाधयति स्म (एहि ताबेत्यादि) एहि आगच्छ तावदिति भाषामाश्रे। हे विजय ! एकान्तं विजनमपक्रमामो याम. (जेण ति) येनाहमुच्चाराऽऽदि परिष्ठापयामीति । (छन्देण ति) अभिप्रायेण, यथारुचीत्यर्थ. । (अणकारिवसह त्ति) यस्यां नापिताऽऽदिभिः शरीरसत्कारो विधीयते, अलङ्कारिककर्म नखरदनाऽऽदि, दासा गृहदासीपुत्रा ,प्रेष्या वे तथाविधप्रयोजनेषु नगरान्तराऽऽदिषु प्रेष्यन्ते भृतका ये आबाल्यात्पोषिता । (भाइल्लग त्ति) ये भागं लाभस्य लभन्ते,ते क्षेमकुशलमनर्थानुत्पन्नानर्थप्रतिघातरूप, कण्ठे च गृहीत्वा कण्ठाकण्ठि । यद्यपि व्याकरणे युद्धविषय एवैतद्विधिःऽत्रयोजाप दृश्यते, तथापि योगविभागाऽऽदिभिरेतस्य साधुशब्दता द्रष्टव्येति । (अवयासिय त्ति) आलिङ्ग्य, बाष्पप्रमोक्षणमानन्दाश्रुजलप्रमोचनम्।(नायए त्ति इत्यादि) नायकः प्रभुः ,न्यायदो वा न्यायदर्शी,ज्ञातको वा स्वजनपुत्रक । इति रूपद्वयं,वा विकल्पे। (साहिज्जए त्ति) सहचारी, सहाय साहाय्यकारी, सुहृदभिन्नम, (वधेहि य त्ति) बन्धो रज्ज्वादिबन्धनं, बधो यष्ट्यादिताडनं, कशप्रहाराऽऽदयस्तु तद्विशेषा । (काले कालोभासे इत्यादि) काल कृष्णवर्णं , काल एवावभासते कृष्णो, कालो वा अवभासो दीप्तिर्यस्य स कालावभास । इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-" गम्भीरलोमहरिसे भीमे उत्तासणए परमकण्हे वणेण, से णं तत्थ निच्चं भीए निच्चं तत्थे निच्चं तसिए निच्चं परमसुहसंबद्ध नरगं त्ति । " तत्र गम्भीरो महान् रोमहर्षो भयसम्भूतो रोमाञ्चो यस्य यतो वा सकाशात् स तथा । किमित्येवमित्याह-भीमो भीष्म., अत एवोत्रासकारित्वादुत्त्रासनक । एतदपि कुत इत्याह-परमकृष्णो वर्णेनेति, परां प्रकृष्टां अशुभस्वरूपां पापकर्मगोपनीनाम, (अणाइयमित्यादि) अनादिकम । (अणवदग्ग त्ति) अनन्तम् (दीहमद्ध ति) दीर्घाद्धं दीर्घकालं, दीर्घाध्वं वा दीर्घमार्गम्, चातुरन्तं चतुर्विभागं संसारं एव कान्तारमरण्यं संसारकान्तारमिति । अतोऽधिकृत ज्ञानं ज्ञापनीये योजयन्नाह-(एवामेवेत्यादि) एवमेव विजयचौरवदेव (सारेण त्ति) सारे, णमित्यलङ्कारे करणे तृतीया वेयम । लुभ्यति

लोभीभवति । (से वि एव चेव त्ति) सोऽपि प्रव्रजितो विजयवदेवनरकादिकमुकरूपं प्राप्नोति । "जहा णं" इत्यादिनाऽपि ज्ञानमेव विज्ञापनीये नियोजितम् (नन्नत्थ सरीरसारक्खणट्ठाए त्ति) न शरीररक्षणार्थादन्यत्र तदर्थमेवेत्यर्थः । (जहा से धणे त्ति) दृष्टान्तनिगमनम् । इह पुनर्विशेषयोजनामिमामभिदधति बहुश्रुताः । इह राजगृहनगरस्थानीयं मनुष्यक्षेत्रं, धनसार्थवाहस्थानीयः साधुजीव , विजयचौरस्थानीयं शरीरं, पुत्रस्थानीयो निरुपमनिरन्तराऽऽनन्दनिबन्धनत्वेन संयमो भवति । असत्प्रवृत्तिकशरीरात्संयमविघात । आभरणस्थानीया शब्दाऽऽदिविषया, तदर्थप्रवृत्तं हि शरीरं संयमविघाते प्रवर्त्तते, हडिबन्धनस्थानीयं जीवशरीरयोरविभागेनावस्थानं, राजस्थानीयं कर्मपरिणाम , राजपुरुषस्थानीया कर्मभेदाः, लघुस्वकापराधस्थानीया मनुष्याऽऽयुष्कबन्धहेतव. मूत्राऽऽदिमलपरिष्ठापनस्थानीया प्रत्युपेक्षणाऽऽदयो व्यापारा., यतो भक्ताऽऽदिदानाभावे यथाऽसौ विजय. प्रस्रवणाऽऽदेर्व्युत्सर्जनाय न प्रवृत्तवान्, एवं शरीरमपि निरशनं प्रत्युपेक्षणाऽऽदिषु न प्रवर्त्तते । पान्थस्थानीयो मुग्धसाधुः, सार्थवाहस्थानीया आचार्या., ते हि विगर्हितसाधु भक्ताऽऽदिभिः शरीरमुपष्टम्भयन्तं साध्वन्तरादुपश्रुत्योपालम्भयन्ति विवक्षितसाधुनैव निवेदिते वेदनावैयावृत्त्यादिके भोजनकारणे परितुष्यन्ति वेति । पठ्यते च-

" सिवसाहणेसु आहा-रविरहिओ ज न वट्टए देहो ।
तम्हा धणो व्व विजयं, साहू तं तेण पोसेज्जा ॥ १ ॥"

एवं खल्वित्यादि निगमनम, इतिशब्द. समाप्तौ । ब्रवीमीति पूर्ववदेवेति । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । कौशाम्बीनगरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, आचा० १ श्रु०२ अ० १ उ० । (तत्कथा 'आतङ्क ' शब्दे द्वितीयभागे १५७ पृष्ठे द्रष्टव्या) चम्पानगरीवास्तव्ये सार्थवाहे, "चंपाए परममाहेसरो धणो णाम सत्थवाहो।" आ० म० १ अ०२ खण्ड । आ० चू० । (तद्वक्तव्यता 'चक्खिदिय ' शब्दे तृतीयभागे ११०५ पृष्ठे द्रष्टव्या) चम्पानगरीवास्तव्येऽहिच्छत्रासंप्रस्थिते स्वनामख्याते सार्थवाहे ज्ञा० १ श्रु० १५ अ० । (तत्कथा " णंदिफल " शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७५३ पृष्ठे द्रष्टव्या) वसन्तपुरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । पाटलिपुत्रनगरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, तस्य दुहिता भगवतो महावीरस्य सकाशे प्रव्रजिता । आ० चू० १ अ० । अपरविदेहक्षितिप्रतिष्ठितनगरस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, स च त्रयोदशे भवे ऋषभनामा तीर्थंकर आसीत् । आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० चू० । कस्मिंश्चित् सन्निवेशे स्थिते ग्रामाधिपतिसुते धनवतीपतौ स्वनामख्याते सार्थवाहे, पु० । स च तीर्थकरनामकर्मोदयादरिष्टनेमिस्तीर्थकरोऽभूत् । उत्त० २२ अ० ।

धणंजय-धनञ्जय-पुं० । धन जयति जि-खच् मुम् च । अर्जुने, वह्नौ, नागभेदे, पोषणकरे देहस्थवायौ, ककुभवृक्षे, चित्रकवृक्षे च । वाच० । अपरविदेहस्थमूकाराजधानीभवे स्वनामख्याते नृपे, यस्य पुत्रः प्रियमित्रो विंशतिभिस्तीर्थकृत्त्वकारणैस्तीर्थंकरत्वमवाप । आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ० क० । आ० चू० । कल्प० । सौर्यपुरनगरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, आव०४ अ० । आ० क० । आ० चू० । (तत्कथा शौचेन योगसंग्रहावसरे 'सुइ' शब्दे द्रष्टव्या) पक्षस्य पञ्चदशसु दिवसेषु नवमे दिवसे, ज्यो० ४ पाहु० । जं० । कल्प० । स्वनामख्याते

गोत्रे च । " उत्तरापोट्ठपदा णक्खत्ते किं गोत्ते पण्णत्ते ?, धणञ्जयसगोत्ते पण्णत्ते ।" सू० प्र० १० पाहु० । जं० । धनञ्जयमालाद्विसन्धानमहाकाव्याऽऽदिकृति जैनकवौ;अय कविः विक्रमसंवत् ७७४ मिते विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

धणकंता-धनकान्ता-स्त्री० । कलिङ्गदेशस्थकाञ्चनपुरनगरस्थधनवहश्रेष्ठिपत्न्याम्, दर्श० १ तत्त्व ।

धणक्खय-धनक्षय-पुं० । धनहानौ, व्य० ३ उ० । धनक्षय इति वा । जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

धणगिरि-धनगिरि-पुं० । अवन्तीजनपदस्य तुम्बवनसन्निवेशे स्थिते स्वनामख्याते इभ्यपुत्रे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । कल्प० । आ० क० । (तद्वक्तव्यता 'अज्जवइर' शब्दे प्रथमभागे २१६ पृष्ठे गता) आर्यसिंहगिरिस्थविरस्य शिष्ये स्वनामख्याते स्थविरे, (कल्प०) आर्यफल्गुमित्रस्य शिष्ये स्वनामख्याते वसिष्ठसगोत्रे स्थविरे च । " थेरस्स णं अज्जफग्गुमित्तस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जधणगिरी थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगोत्ते । " (कल्प०) " धणगिरिं च वासिट्ठं ।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

धणगुत्त-धनगुप्त-पुं० । कस्मिंश्चिन्नगरे स्थिते स्वनामख्याते आचार्ये,आ०चू० ४ अ० । (तद्वक्तव्यता 'पच्छित्त' शब्दे वक्ष्यते) " आचार्यो धनगुप्ताख्याः, एकत्र नगरेऽभवन् । " (१) आ० क० । उल्लुकातीरनगरस्थे आचार्यमहागिरिशिष्ये द्वैक्रियपञ्चमनिह्नवधर्माचार्यस्य गङ्गाचार्यस्य स्वनामख्याते गुरौ, आ० म० १ अ० २ खण्ड । विशे० । स्था० ।

धणगोव-धनगोप-पुं० । राजगृहनगरस्थधनसार्थवाहस्य पुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

धणणंदि (दी)-धननन्दि (न्दी)-पुं० । स्त्री० । द्विगुणे देवद्रव्ये, " देवदव्वं दुगुण धणणंदी मग्गइ ।" दर्श० १ तत्त्व ।

धणणिहि-धननिधि-पुं० । कोशे, तदात्मके लौकिके निधिभेदे च । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

धणतोसग धनतोषक-त्रि० । धनेन तुष्यतीति धनतोषकः । चौराऽऽदिके, " धणतोसगा गहिया य जे नरगणा ।" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

धणत्थि (ण्)-धनार्थिन्-त्रि० । धनाभिलाषिणि, " तो पभिभणेइ सेट्ठी, धणत्थिणो जइ तुमे तहा वि इमं ।" ध० र० ।

धणदत्त-धनदत्त-पुं० । राजगृहनगरस्थे धनापरनामधेये स्वनामख्याते सार्थवाहे, न० । आ० क० । आ० म० । आ० चू० । (तत्कथा ' चिलाइपुत्त ' शब्दे तृतीयभागे ११८८ पृष्ठे गता) वसन्तपुरस्थे तिलकश्रेष्ठिपुत्रे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, पिं० । (तत्कथा ' परावट्टिय ' शब्दे वक्ष्यते) विस्तीर्णग्रामस्थे स्वनामख्याते कुटुम्बिनि च । पिं० ।

धणदेव-धनदेव-पुं० । मण्डिकगणधरस्य पितरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । आ०चू० । अम्बिकग्रामापरनामधेये वर्द्धमानकनगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि,आ० चू० १ अ० । आ०म० । कल्प० । स्था० । (तद्वक्तव्यता 'वीर' शब्दे) " धनदेवो वणिक् तत्राऽऽयातः प्रेक्ष्य महानदीम् ।" (१३) आ०क० । द्वारवतीवास्तव्ये कमलामेलायाः पत्यौ उग्रसेनस्य नप्तरि, आ० म० १ अ० १ खण्ड । आ०चू० । काम्पिल्यपुरस्थे स्वनामख्याते वणिजि, उत्त० १३ अ० । (तद्वक्तव्यता 'बंभदत्त ' शब्दे) कौशाम्बीनगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि, ध० र० । (तद्वक्तव्यता ' धम्मसेण ' शब्दे) राजगृहनगरस्थधनसार्थवाहस्य स्वनामख्याते पुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

धणधण्णदव्वजाय-धनधान्यद्रव्यजात-न० । धनधान्यरूपद्रव्यकारे, " निक्खित्ताणि य हरंति धणधण्णदव्वजायाणि ।" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

धणधण्णपमाणाइक्कम-धनधान्यप्रमाणातिक्रम-पुं० । धनधान्ययोः प्रमाणस्य बन्धनतोऽतिक्रमोऽतीचारः धनधान्यप्रमाणातिक्रमः । ध० र० । इच्छापरिमाणस्य पञ्चमाणुव्रतस्यातिचारभेदे, धनधान्यस्य प्रमाणप्राप्तस्याऽधमर्णाऽऽदिभ्योऽधिकलाभे समुपस्थिते यावच्चातेन विक्रीणीते तावद् गृह एव तत्स्यापयतः सत्यकारेण वा स्वीकुर्वतः स्थूलमूढकाऽऽदिबन्धनेन वा धनधान्यातिक्रमरूपः प्रथमोऽतिचार इति । ध० २ अधि० । ध० र० । आव० । उपा० ।

धणधण्णसंचय-धनधान्यसंचय-पुं० । धनं हिरण्याऽऽदि,धान्यं शाल्यादि,तयोः सञ्चयो राशिर्धनधान्यसञ्चयः । धनधान्ययो राशौ, उत्त० ६ अ० ।

धणपाल-धनपाल-पुं० । राजगृहनगरस्थधनसार्थवाहसुते स्वनामख्याते सार्थवाहे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । कौशाम्बीनगरस्थे स्वनामख्याते नृपे, "कोसंबी णयरी,धणपालो राया, वेसमणभद्दे अणगारे पडिलाभिए इह०जाव सिद्धे ।" विपा० २ श्रु० ४ अ० । अवन्तीजनपदस्थतुम्बवनसन्निवेशस्थे स्वनामख्याते इभ्ये च । आ० म० १ अ० २ खण्ड । सर्वदेवब्राह्मणपुत्रे चन्द्रगच्छीयमहेन्द्रसूरिशिष्येण शोभनाचार्येण प्रतिबोधिते श्रावके, अयं च धनपालो भोजराजसमकालिको महाकविरासीत् । जै० इ० ।

धणप्पभा-धनप्रभा-स्त्री० । कुण्डलवरद्वीपस्यवैश्रमणप्रभनगरस्योत्तरपार्श्ववर्तिन्यां राजधान्याम्, " धणप्पभा उत्तरे पासे ।" द्वी० ।

धणवद्धण-धनवर्द्धन-पुं० । धनवृद्धिकारके, स्था० १० ठा० ।

धणमण-धनवत्-त्रि० । " आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतो " ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण मतोरेते आदेशाः । प्रा० २ पाद । धनिनि, व्य० ।

अधुना धनवतां स्वरूपमाह-

कोडिग्गसो हिरण्णं, मणिमुत्तसिलप्पवालरयणाई ।
अज्जयपिउपज्जागय, एरिसया होंति धणमंता ॥ ३३० ॥

येषामार्यपिता पिता प्रतीतः, पर्यायः प्रपितामहः,तेभ्य आगतं कोट्यग्रशः कोटिसङ्ख्यया हिरण्यं मणिमुक्ताशिलाप्रवालरत्नानि च,मणयश्चन्द्रकान्ताऽऽद्याः ,मुक्ताफलानि विद्रुमाणि,रत्नानि कर्केतनाऽऽदीनि,ते ईदृशा भवन्ति धनवन्तः । व्य० १ उ० ३ प्रक० ।

धणमंत-धनवत्-त्रि० । ' धणमण ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

धणमित्त-धनमित्र-पुं० । विजयपुरस्थे वसुश्रेष्ठिसुते स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ध० र० ।

धनमित्रचरित्रं पुनरेवम्-

" गुरुसत्तगणसमेयं, गाहाछंदमलामियऽत्थि विणयपुरं ।
तत्थाऽऽसि वसु सिट्ठी, भद्दा नामेण से भज्जा ॥ १ ॥
ताण सुओ धणमित्तो, बालस्स वि तस्स उवरया पियरो ।
पुन्ने घणे पणट्ठे, नट्ठो विहवो नररवु व्व ॥ २ ॥
परिवड्डिओ दुहेण, सो कमसो परियणेण वि विमुक्को ।
परिणयणत्थं अधणु-त्ति को वि न य देइ से कन्नं ॥ ३ ॥
तो लज्जिओ नयरा-उ णिग्गओ दविणअज्जणमयराहे ।
पिच्छइ कत्थ वि मग्गे, पारोहं किंसुयतरुम्मि ॥ ४ ॥
तो सरइ खत्तवायं, सो सुयपुव्वं जहा अखीरदुमे ।
जइ दीसइ पारोहो, ता तस्स अहे धणं मुणसु ॥ ५ ॥
बिल्लपलासेसु धुवं, पारोहे थूलए बहु दव्वं ।
तणुए थोवं तह निसि, जलरे बहु थोवमियरम्मि ॥ ६ ॥
घिद्दे पुण पारोहे, रत्तरसे निग्गयम्मि रयणाइं ।
सेए रययं पीए, कणगं न हु नीरसे किं पि ॥ ७ ॥
अत्तियमित्ते देसे, पारोहो उच्चओ भवे उवरिं ।
तत्तियमित्ते देसे, अहे वि निहियं धणं मुणसु ॥ ८ ॥
तणुए उवरिं परोहे, हिट्ठा पिहुले धुवं धणं मुणसु ।
विवरीए तयभावो, इय चिन्तेऊण धणमित्तो ॥ ९ ॥ "

" नमो धनदाय नमो धरणेन्द्राय नमो धनपालाय " इति मन्त्रं पठन् खनति स्म तं प्रदेशम् ।

किं तु अपुन्नवसेण, केवलअंगारपूरियं नियइ ।
तयमयफलसजुयलं, तओ इमो चिंतइ विसन्नो ॥ १० ॥
पारोहपीयरसद्द-सणेण कणयम्मि निच्छिए वि धुवं ।
इंगालं चिय पिच्छे-मि केवलेहिं विगयपुन्नो ॥ ११ ॥
दविणत्थिणा नरेण, न हु कायव्वो तहा वि निव्वेओ ।
जं सव्वत्थ वि गिज्झइ, सिरीइ मूलं अनिव्वेओ ॥ १२ ॥
इय चिंतिउं पुरओ वि हु, बहुसुभागे खणेइ दविणकए ।
न य पावइ काणवरा-डियं पि कत्थइ अपुन्नवसा ॥ १३ ॥
सिप्पत्तेण धाउवायं, मुणु किलेसं सहेइ न हु अन्नं ।
होउ धणिओ तो चयइ, पवहणे भज्जइ तयं तो ॥ १४ ॥
सइ पलमज्झायणिज्जं, करेइ अज्जेइ कहवि किं पि धणं ।
तं पि नरेसरतक्कर-पमुहेहिं घिप्पए तस्स ॥ १५ ॥
तो सअपयत्तेण, सोलभा कुणइ निवइपमिइंण ।
तह वि तदपुन्नवसओ, न ते वि किं पि हु पसीयंति ॥ १६ ॥
एव दुहं सहंतो, परिभमिरो महियले कया वि इमो ।
केवलकलिय गुणसा-यर गुरु नयवरे नियइ ॥ १७ ॥
सजायकम्मविवरो, बहुबहुमाणेण नमइ गुरुचरणे ।
तो कहइ मुणिवरो त-स्स समुचियं धम्मकहमेव ॥ १८ ॥
धम्मेण धणसमिद्धी, जम्मो धम्मेण उत्तमकुलम्मि ।
धम्मेण दीहमाउ, धम्मेण बहुगममारुग्गं ॥ १९ ॥
सयलवउकलाहियत्त-म्मि निम्मला भमइ धम्मओ कित्ती ।
हम्मियरइरमणकए, कय धम्माउ इह होइ ॥ २० ॥
जं भुंजंति सुहाइं, मणिरयणपहापहासियदिसेसु ।
भवणेसु भवणवइणो, तं सव्वं धम्ममाहप्पं ॥ २१ ॥
जं दाविमनयानं, णियवद्ध बद्धिणो नमइ चलणे ।
तं सुरधम्मवल्लाइ-दुमस्स कुसुमुग्गमं मन्ने ॥ २२ ॥
सद्दसुरसुरकरिकर-चालियनवसवादचामरनीलो ।
सुरलोए सुरनाहो, हवेइ धम्मप्पभावेण ॥ २३ ॥
किं बहुणा भणिएण,-धम्मेण हवंति सयलसिद्धीओ ।
धम्मेण विमुक्काण उ, जियाण न कया वि फलसिद्धी ॥२४॥
तं सोउं धणमित्तो, कयजली जपए नमिय सूरिं ।
एवमिणं मुणिपुंगव !, जं तुब्भेहिं समाइट्ठं ॥ २५ ॥
जम्माउ वि मह दुक्खं, मुणइ च्चिय पहु ! तुमे सनाणेण ।
को हेऊ पुण इत्थ, तो कहइ गुरू सुणसु भद्द ! ॥ २६ ॥
इह भरहे विजयपुर-म्मि नगरम्मि त्ति गिहवई आसि ।
मगहा मे दइया सो-उ धम्मनामं पि न हु सुणइ ॥ २७ ॥
धम्मकरणुज्जुयाण, अन्नेसिं पि हु करेइ बहुविग्घे ।
मच्छरभरिओ कस्स वि, लाभं न हु सक्कए दट्ठुं ॥ २८ ॥
जइ पुण कइ पि मे पि-च्छिरस्स ववहरइ कोइ बहुलाभं ।
पइ जरो सत्तमुहे-हिं तस्स इय वासरा जंति ॥ २९ ॥
अन्नदिणे करुणाए, सुदरनामेण सावएण इमो ।
नीओ मुणीण पासे, कहिओ तेहिं पि इय धम्मो ॥ ३० ॥
उवसमविवेगसवर-सारो जहसत्ति नियमतवपवरो ।
जिणधम्मो कायव्वो, मतुच्छलच्छीइ कुलभवणं ॥ ३१ ॥
इय सुणिय किंचि भावे-ण किं पि दक्खिन्नओ वि गिण्हेइ ।
सो पइदिणचिइवंदण-करणजुए ऽभिग्गहे के वि ॥ ३२ ॥
मुणिणो नमित्तु पत्तो, सगिहम्मि पमायपरवसो धणियं ।
भंजइ अभिग्गहे के, वि के वि अइयरइ मूढमणो ॥ ३३ ॥
इक्कं पुण चिइवंदण-अभिग्गहं पालए निरइयारं ।
कालक्कमेण मरिउं, सपइ सो एस तं जाओ ॥ ३४ ॥
पुव्वकयदुक्कयवसा, तए इमं परिसं फलं पत्तं ।
जिणवंदणप्पभावा, जायं निहिदंसणाईयं ॥ ३५ ॥
इय सोउं धणमित्तो, संवेगगओ नमित्तु मुणिनाहं ।
बहुदुक्खलक्खदलणं, गिहिधम्मं गिण्हए सम्मं ॥ ३६ ॥
दिवसनिसिपढमपहरे, मुत्तुं धम्मकक्खणं अह सेसं ।
सहसाणाभोगेण, विणा पओसं च वज्जिस्सं ॥ ३७ ॥
एवं गिण्हिय घोरं, अभिग्गहं वंदिउं च गुरुचरणे ।
पुरमज्झे कस्सइ सा-वगस्स गेहम्मि उत्तरइ ॥ ३८ ॥
सुयइ भोगेण, उच्चिणिउ मालिणा सम कुसुमे ।
घरजिणहरजिणपडिमा-उ निच्चमच्चेइ भत्तीए ॥ ३९ ॥
बीए पहरे सोया-गमाविरोहेण कुणइ ववसायं ।
संपज्जइ अकिलेसे-ण तेण खलु भोयणं तस्स ॥ ४० ॥
जह जह धम्मम्मि थिरो, हवेइ तह तह पवड्ढए विहवो ।
विच्चेइ बहु धम्मे, वीसुं गिण्हेइ तो गेहं ॥ ४१ ॥
एगेण महिड्ढियसा-वएण दिन्ना य तस्स नियधूया ।
अच्चधम्मिउ त्ति काउं, दुन्नि वि चिट्ठंति धम्मपरा ॥ ४२ ॥
पत्तो, कया वि सोगो, उसम्मि गुलतिल्लमाइ विक्किणिउं ।
तं चेव पुण तं गुरु-मन्नगिहं गतुमुच्चलिय ॥ ४३ ॥
तं मेहरो य निहिठवि-य तवकलसे तओ गहिउकामो ।
उज्झावइ इंगाले, न कणयं नियइ धणमित्तो ॥ ४४ ॥
किमिणं उज्झाविज्जइ, इय पुट्ठे तेण मेहरो भणइ ।
कणगं ति कहिय पिउणा, पवंचिया इच्चिरं अम्हे ॥ ४५ ॥
सव्वं उज्झावेमो, एए इंगालए निएऊण ।
तो सेट्ठी सुद्धमणो, भणेइ भो भद्द ! सुवन्नमिणं ॥ ४६ ॥
जंपेइ मेहरो हद-विमूढ ! किं वाउलो सि मत्तो सि ।
धणरहिओ सि अहवा, सव्वं सुन्नं हरिद्दस्स ॥ ४७ ॥
जइ कणगमिणं ता म-ज्झ दाउं गुलतिल्लमाइयं किं पि ।
गिण्हसु इमं तुमं चिय, मह चेव करेइ मिट्ठी वि ॥ ४८ ॥

तं खिविडं नियजाणे, सगिहे पत्तो नामेसु जिणबिंब ।
जा सभालइ ता ती-स सहस्समाण तय जाय ॥ ४९ ॥
तेणं धम्मपरेणं, अन्न पि समज्जिय बहु दविणं ।
जाओ जणप्पवाओ, उभइ अहो धम्ममाहप्पं ॥ ५० ॥
इत्तो तत्थेव पुरे, सुमित्तनामा वसेइ महइब्भो ।
रयणावलिं स विरए, कोडिमुल्लेहिं रयणेहिं ॥ ५१ ॥
केण वि गुरुकज्जेणं, तस्स वि वत्तट्ठियस्स पासम्मि ।
एगागी सपत्तो, धणमित्तो तह निसन्नो य ॥ ५२ ॥
उच्चियालाव सह ते-ण काउ इब्भो पओयणवसेण ।
पत्तो गिहमज्झे का-उ कज्जमह पइ जा तत्थ ॥ ५३ ॥
ता रयणावलिमनिए, वि भणइ जा विरइओ मए मुक्का ।
सा कत्थ गया रयणा-वलि त्ति भो कहसु धणमित्त ! ॥५४॥
न तुम मम च मुत्तुं, को वि इहासी तओ तुमे चेव ।
सा गहिया अप्पसु त, मा चिरकालं विलवेसु ॥ ५५ ॥
तो चिंतइ धणमित्तो, अहह अहो ! कम्मविलसिय निवह ।
ज अकए वि य दोसे, इय वयणिज्जाइँ लब्भंति ॥ ५६ ॥
इत्तु च्चिय पडिसिद्ध, परगेहगमणं जिणेहि सट्ठाणं ।
ज परगिहगमणाओ, कलकमाइ जियाण धुवं ॥ ५७ ॥
ता परगेहे गेहो, अणज्जवयणिज्जयाइ दोसेण ।
गुरुकज्जे वि कथा वि हु, एगागी नेव वच्चिव्वं ॥ ५८ ॥
इय चिंतिय भणइ अह, इब्भ ! तुम पि य न किंचि जाणेमि ।
सो आह न छुट्टिज्जइ, परिसवयणेहि धणमित्त ! ॥ ५९ ॥
काउ ववहार रा-उले वि त लेमि तुह सयासाओ ।
इयरो वि पडिजणेई, ज जुत्त कुणसु त इब्भ ! ॥ ६० ॥
तो धणमित्तो धा-रु त्ति साहिओ निवइणो सुमित्तेण ।
न इम इमस्मि संभव-इ कह वि इय चिंतइ निवो वि ॥६१॥
एस पुण निच्छपण, कहेइ ता पुच्छिमो तय चेव ।
अह हक्कारिय पुट्ठो, धणमित्तो कहइ जह वित्त ॥ ६२ ॥
पभणइ निवो वि विम्हिय-हियओ भो इब्भ ! किमिह कायव्वं ?।
सो आह देव ! इमिणा, गहिया रयणावली नूण ॥ ६३ ॥
अह जपइ धणमित्तो, देव ! कलक इम न हु सहेमि ।
पसपोह जेण दिव्वे-ण तेणिम पत्तियावेमि ॥ ६४ ॥
भणइ निवो इब्भ ! तुम, होसु सिरे ज गहेइ फालमिमो ।
आमंतितेण भणिए, ठविओ दिव्वसो तओ रन्ना ॥ ६५ ॥
सगिहेसु दो वि पत्ता, अह धणमित्तो विसेसधम्मपरो ।
चिट्ठइ सुविसुद्धमणो, पत्तो पुण दिव्वदिवसम्मि ॥ ६६ ॥
काउ सिणाण अट्ठ-प्पयारपूआइ पूइऊण जिणे ।
तह काउ काउसग्गं, सम्मद्दिट्ठीण देवाण ॥ ६७ ॥
फाले धमिज्जमाणे, पुरो निविट्ठे निवम्मि लोए य ।
बहुपउरज्जुओ पत्तो, धणमित्तो दिव्वठाणम्मि ॥ ६८ ॥
इब्भो वि तत्थ पत्तो, धणमित्तो जाव गिण्हही फालं ।
इन्जस्स उट्ठियाओ, पडिया रयणावली ताव ॥ ६९ ॥
तो भणिव नरवइणा, इब्भ ! किमेय ति सो वि खुद्दमणो ।
जा देइ उत्तर न हु, ता पुट्ठो तेण धणमित्तो ॥ ७० ॥
जीइ रयणावलीए, कए विवाओ तुमाउ सा किमिय ।
होइ न व त्ति इमो वि हु, जपइ सा चेव देव ! इमा ॥ ७१ ॥
परमत्थमित्थ नवर, मुणति सव्वन्नुणो तओ राया ।
नियनमारियहत्थे स-म्मिहओ त समप्पेइ ॥ ७२ ॥
सम्म समाणेउ, सुद्द नि पमुत्त सिट्ठिधणमित्त ।
नियपुरिसाणं अप्पिय, इब्भ च गओ निवो सगिह ॥ ७३ ॥
अह धणमित्तो नियमित्त-पउरसावयगणेण परियरिओ ।
तित्थुब्भइ कुणतो, सपत्तो निययगेहम्मि ॥ ७४ ॥
इत्तो य तत्थ पत्तो, गुणसायरकेवली तव नमिउ ।
धणमित्तो नवरजणो, सपरिजणो नरवई वि गओ ॥ ७५ ॥
रन्ना इब्भो वि तहिं, आइओ निसुणिउ च धम्मकह ।
समए य पुत्तल, पुट्ठो नाणी कहइ एव ॥ ७६ ॥
इह विजयपुरे नगरे, सेट्ठवई आसि नागदत्त त्ति ।
सुद्धुला मायावहुला, मगहा नामेण तस्स पिया ॥ ७७ ॥
अन्नोन्नसियाविदाए, ईसरवणिणो पियाइ वररयण ।
पविसिय कहमवि तग्गिह-मवहरए लक्खमुल्ल सा ॥ ७८ ॥
नाउ इमा त मग्गइ, न य कइरी मन्नए वयइ विरसे ।
तो देइ उवालभ, वणिभज्जा नागदत्तस्स ॥ ७९ ॥
भज्जानेहाविमोहिय-मणो इमो भणइ गिहमणुस्सेहि ।
तुह चेव त अवहम, मा अलिय देसु पेआल ॥ ८० ॥
इय सुणिय वणिवइया, नियवररयणोवलनतुट्ठा सा ।
काऊण तावसवय, उववन्ना वतरत्तेण ॥ ८१ ॥
विहियतहाविहकम्मा, जाया मगहा वि एस इब्भु त्ति ।
मरिऊण नागदत्तो, धणमित्तो एस उववन्नो ॥ ८२ ॥
कुविएण तेण वतर- सुरेण नियरयणवइयरे तम्मि ।
इब्भस्स तिन्नि पुत्ता, निहया नमिया कमेणित्थ ॥ ८३ ॥
तो रन्ना इब्भसुहे, पलोइए भो भणेह एव ति ।
किं तु मरणम्मि तेसिं, हेऊ इण्हि मए नाओ ॥ ८४ ॥
पुण भणइ गुरू रयणावली वि, तेणेव अवहरा एसा ।
पत्त धणामसेण, आल किल आलठाणाओ ॥ ८५ ॥
धणमित्तधम्मथिरभा-वरंजिएहिं सुदिट्ठिअमरेहिं ।
त वतरमक्कमिउ, रयणावलि मोइया तइया ॥ ८६ ॥
आह निवो किं अज्ज वि, इमस्स कोई सुरो भणइ नाणी ।
रयणावलीइ सहिय, विहव हरिही सुमित्तस्स ॥ ८७ ॥
तो अट्टवसट्टगओ मरि-उ इब्भो भवे बहु भमिही ।
वतरसुरजीवो वि हु, बहुहा निज्जाइही वेर ॥ ८८ ॥
इय सोउ सविग्गो, राया रयणावलिं सुमित्तस्स ।
अप्पित्तु ठवित्तु सुय, रज्जे गिण्हेइ चारित्त ॥ ८९ ॥
धणमित्तो वि हु जिट्ठ पुत्त ठविऊण नियकुडुंबम्मि ।
गिण्हिय केवलिपासे, दिक्ख कमसो गओ मुक्खं ॥ ९० ॥"

"इत्यवेत्य धनमित्रवृत्तक,
सुरूवृत्तजनहर्षकारकम् ।
अन्यगेहगमन यथा तथा,
सत्यजन्तु भविनो हि सत्पथा ॥ ९१ ॥"

इति धनमित्रचरित्रम् ॥ ध० र० ।

दन्तपुरनगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि, आव० ४ अ० । नि० चू० आ० क० । आ० चू० । (तद्वक्तव्यता 'णिरवलाव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २११२ पृष्ठे द्रष्टव्या) उज्जयिनीनगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि, ग० २ अधि० । (तद्वक्तव्यता 'आउकाय' शब्दे द्वितीयभागे २४ पृष्ठे गता) (तद्वक्तव्यता 'पिवासापरीसह' शब्देऽपि अस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्या) चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे, आव० ४ अ० । आ० क० । (तद्वक्तव्यता 'संवेग' शब्दे) शत्रुञ्जयशैलस्थशान्तिमरुदेवयोश्चैत्ययोरुद्धारकारके श्रावके, ती० १ कल्प । अवसर्पिण्यां जायमानस्य स्वयम्भुवासुदेवस्य पूर्वभव-

नामधेये, ति० । स० । व्यक्तगणधरस्य स्वनामख्याते पितरि च । आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

धणरक्खिय-धनरक्षित-पु० । राजगृहनगरस्थस्य धनसार्थवाहस्य पुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

धणराइ-धनराजि-स्त्री० । सिन्धुदत्तसुतायां काम्पिल्यपुरस्थस्य ब्रह्मदत्तस्यान्तःपुरप्रधानायां महिष्याम्, उत्त० १३ अ० ।

धणवइ-धनपति-पु० । ६ त० । कुबेरे, वाच० । द्वारावतीवर्णनमधिकृत्य-"धणवइमइणिम्मिया ।" धनपतिर्वैश्रवण इति । ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । जयपुरनगरस्थे धनावहश्रेष्ठिनो भ्रातरि, दर्श० ४ तत्त्व । वसन्तपुरनगरस्थे धनावहश्रेष्ठिनो भ्रातरि, आ० म० १ अ० २ खण्ड । काञ्चीनगरनिवासिनि कस्मिंश्चित्सांयात्रिके, येन समुद्रविजयदशार्हप्रतिष्ठापिता द्वारावतीस्थिता पार्श्वनाथप्रतिमा द्वारावतीदाहानन्तर समुद्रप्लाविताया द्वारावत्या समुद्रे स्थिता निजयानपात्रे देवतातिशयेन स्खलितेऽत्रैव जिनबिम्ब तिष्ठतीति दिव्यवाचा निश्चिते नाविकैरुद्धारिता स्वपुरमानीय प्रासादे स्थापितेति । ती० ५२ कल्प । कनकपुरनगरस्थस्य वैश्रवणकुमारस्य युवराजस्य स्वनामख्याते पुत्रे, सुखविपाकाध्ययनेषु षष्ठेऽध्ययने, विपा० २ श्रु० ६ अ० ।

कणगपुरं णयरं, सेयासेए उज्जाणे, वीरभद्दो जक्खो, पियचंदो राया, सुभद्दा देवी, वेसमणे कुमारे जुवराया, सिरीदेवीपामोक्खाणं पंचसया, तित्थगरागमणं, धणवई जुवरायपुत्तो० जाव पुव्वभवे मणिवया णयरी, मित्तो राया संभूतिविजए अणगारे पडिलाभिए० जाव सिद्धे ॥ विपा० २ श्रु० ६ अ० ।

धणवई-धनवती-स्त्री० । कलिङ्गविषयस्थकाञ्चनपुरस्थस्य धनावहश्रेष्ठिनः सुतायाम्, दर्श० १ तत्त्व । पश्चिमे सन्निवेशे स्थितस्य कस्यचिद् ग्रामाधिपतिसुतस्य धननाम्नो नवमे भवे भविष्यदरिष्टनेमितीर्थकरस्य भार्यायाम्, उत्त० २२ अ० । कल्प० ।

धणवसु-धनवसु-पु० । उज्जयिनीनगरस्थे स्वनामख्याते वणिजि आव० ४ अ० । (वक्तव्यता 'आवई' शब्दे द्वितीयभागे २४५ पृष्ठे गता) "उज्जयिन्या धनवसु-श्चम्पा गन्तुमना वणिक् ।" आ० क० । आ० चू० ।

धणवह-धनवह-पु० । कलिङ्गविषयस्थकाञ्चनपुरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, "तत्थ धणवहो णाम सेट्ठी ।" दर्श० १ तत्त्व । जयपुरनगरस्थे धनपतिश्रेष्ठिभ्रातरि, "जयउरं नाम नयरं, जियसत्तू नाम राया, धणवइधणावहा दुवे भायरो सेट्ठी ।" दर्श० ४ तत्त्व । वसन्तपुरनगरस्थे धनपतिश्रेष्ठिभ्रातरि, "वसंतपुरं नगरं, जियसत्तू राया, धणवईधणावहा भायरो सेट्ठी ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । राजगृहनगरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, "रायगिहे नयरे पहाणस्स धणावहस्स सेट्ठिस्स ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । कौशाम्बीनगरवास्तव्ये मूलाया पत्यौ स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, आ० चू० १ अ० । "आसीद्धनावह श्रेष्ठी, मूला तस्य च गेहिनी ।" आ० क० । "तत्थेव णयरे धणवहो सेट्ठी, मूला भारिया ।" आ०म० १ अ० २ खण्ड । ऋषभपुरस्थस्तूपकरण्डकोद्यानस्थे स्वनामख्याते नृपे, विपा० २ श्रु० २ अ० । (तत्कथा विपाकश्रुतस्य द्वितीये श्रुतस्कन्धे द्वितीयाध्ययने 'भद्दणंदि' शब्दे वक्ष्यते)

धणविजय-धनविजय-पु० । लोकनालिकासूत्रभाषावृत्तिकृति आचार्ये, अयं विक्रमसंवत् ११४१ मिते विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

धणसमिद्ध-धनसमृद्ध-त्रि० । धनेन समृद्धे, "धणसमिद्धे सत्थवाहकुलजाओ ।" आव० ४ अ० । प्रश्न० ।

धणसम्म (ण्)-धनशर्मन्-पु० । उज्जयिनीनगरस्थे धनमित्रवणिक्सुते स्वनामख्याते वणिजि, ग० २ अधि० । उत्त० ।

धणसिरी-धनश्री-स्त्री० । जयपुरनगरस्थयोर्धनपतिधनावहश्रेष्ठिनोः स्वनामख्यातायां भगिन्याम्, दर्श० ४ तत्त्व । वसन्तपुरस्थयोर्धनपतिधनावहश्रेष्ठिनोर्भगिन्याम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड । श्रेणिकस्य भार्यायाम्, त० । दन्तपुरनगरस्थस्य धनमित्रसार्थवाहस्य भार्यायाम्, आव० ४ अ० । आ० क० । आ० चू० । नि० चू० । चम्पानगरीस्थस्य धनसार्थवाहस्य भार्यायाम्, आव० ४ अ० । चम्पानगरीमधिकृत्य-" धनमित्रसार्थवाहो, धनश्रीस्तस्य वल्लभा ।" आ० क० । हेमपुरस्थस्य सुरदत्तश्रेष्ठिनः सुताया जिनमत्याः स्वनामख्यातायां सख्याम्, दर्श० १ तत्त्व ।

धणसेट्ठि (ण्)-धनश्रेष्ठिन्-पु० । राजगृहनगरस्थे श्रेष्ठिनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । (तत्कथा 'धण' शब्देऽनुपदमेव गता) श्रावस्तीवास्तव्ये श्रेष्ठिनि, उत्त० ८ अ० । (तत्कथा 'कविल' शब्दे तृतीयभागे ३७७ पृष्ठे गता) पाटलिपुत्रनगरस्थे श्रेष्ठिनि; यस्य दुहिता भगवतः सकाशे प्रव्रजिता । आ० म० १ अ० २ खण्ड । कस्मिंश्चिन्नगरे स्थिते धनप्रियायाः पत्यौ स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि च । पिं० ।

धणसेण-धनसेन-पु० । द्वारावतीवास्तव्ये कमलामेलायाः पितरि स्वनामख्याते नृपे, दर्श० ४ तत्त्व । आ० म० । आ० चू० ।

धणहाणि-धनहानि-स्त्री० । धनक्षये, तत्कारणीभूते राज्यस्यापलक्षणभेदे च । यतः सर्वत्र धनक्षयः सम्भवति । ज्य० ३ उ० ।

धणहारि (ण्)-धनहारिन्-त्रि० । धनं हरतीति धनहारी । धनहरणशीले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

धणावह-धनावह-पु० । 'धणवह' शब्दार्थे, दर्श० १ तत्त्व ।

धणि-ध्वनि-पु० । ध्वन इन् । शब्दे, स्था० १ ठा० । विशे० । आव० । तूर्यनिनादे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । अव्यक्ते मृदङ्गाऽऽदिशब्दे, अलङ्कारोक्ते उत्तमकाव्ये च । वाच० ।

धनिन्-पु० । धनवति, प्रा० २ पाद ।

धणिअ-देशी-गाढे, दे० ना० ५ वर्ग ५८ गाथा ।

धणिआ-देशी-प्रियायाम्, दे० ना० ५ वर्ग ५८ गाथा ।

धणिओज्जालिय-धनितो(को)ज्ज्वालित-त्रि० । अत्यर्थमुज्ज्वालिते, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

धणिट्ठा-धनिष्ठा-स्त्री० । अतिशयेन धनवती इष्ठन् ङ्लेलुक् । वसुदेवताके स्वनामख्याते नक्षत्रभेदे, वाच० । ज्यो० । स्था० । अनु० । चं० प्र० । ज० । सू० प्र० । स० ।

धणिट्ठासंवच्छर–धनिष्ठासंवत्सर–पुं० । यस्मिन्संवत्सरे धनिष्ठानक्षत्रेण सह शनैश्चरो योगमुपादत्ते स धनिष्ठासम्वत्सरः । इत्युलक्षणे शनैश्चरसंवत्सरभेदे, जं० ७ वक्ष० ।

धणिय–धणिय–न० । अत्यर्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । " धणिय अप्पा निजो तस्रो । " धणियमत्यर्थमिति । व्य० २ उ० । आव० । " धणियं पि समत्थचित्तेन । " धणियमत्यर्थमिति । आतु० । अत्यन्ते, उत्त० १ अ० ।

धनिक–न० । अत्यर्थे, "धीइधणियणिव्वकवे" धनिकमत्यर्थमिति । औ० । "धणियमाणापहाणो य ।" धनिकमत्यर्थम् । ध० २ अधि० । धनिवत् कायति-कै-क । धन्याके,पुं० । न० । धने,पुं० । धन विद्यतेऽस्यस्य ठन् । धनस्वामिनि, वाच० । स० ६ अङ्ग । उत्तमर्णे च । त्रि० । " धनिकस्य यथारुचि । " इति स्मृतिः । स्त्रियां टाप् । प्रियङ्गुवृक्षे, वध्वां च । वाच० ।

धनित–न० । अत्यर्थे, " धीइधणियघद्दफच्छा । " सथा० ।

ध्वनित–त्रि० । शब्दिते, वाच० ।

धणी–देशी–जायाप्राप्तिवद्धे, निःशङ्के च । दे० ना० ५ वर्ग ६२ गाथा ।

धणु–धनुष्–न० । धन-उस् । " धनुषो वा " ॥ ८।१।२२॥ इति प्राकृतसूत्रेण धनु शब्दस्यान्त्यव्यञ्जनस्य वा हः । कार्मुके,प्रा० १ पाद । प्रियालवृक्षे, धनुर्द्धरे, त्रि० । वाच० । भ० । चापे, आ० म० १ अ० २ खण्ड । स० । जं० । विपा० । " जाव च ण से पुरिसे धणुं परामुसइ ।" धनुर्दण्डगुणाऽऽदिसमुदाय । भ०५ श० ६ उ० । चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्ने अवमानविशेषे, अनु० । " दण्ड धणू य जुग, नालिया य अक्खो मुसल च चउहत्थ । " ज्यो० २ पाहु० । प्रव० । जी० । प्रज्ञा० । त० । जं० । स्था० । " छण्णवइअगुलाणि से एगे दंडेइ वा धणुइ वा जुगइ वा नालियाइ वा अक्खेइ वा मुसलेइ वा ।" भ० ६ श० ७ उ० । स० । " धणुं च पयम्मि ।" पथि मार्गविधौ धनुरेव मान मार्गगव्यूताऽऽदिपरिच्छेदो धनु सज्ञाप्रसिद्धेनैवावमानविशेषेण क्रियते, न तु दण्डाऽऽदिभिरिति । अनु० । मेषावधिके नवमे राशौ च । न० । वाच० । यो धनुर्विमुक्तार्द्धचन्द्राऽऽदिभिर्बाणै कर्णाऽऽदीनां छेदनभेदनाऽऽदि करोति स धनु । नारकाणां कदर्थके दशमे परमाधार्मिकभेदे, पुं० । प्रव० १८० द्वार । भ० । अनु० । सम० । (' असिपत्त ' शब्दे प्रथमभागे ८४६ पृष्ठे ७८ गाथा गता)

धणुकुडिल–कुटिलधनुष्–न० । कुटिले धनुषि, "धणुकुडिलवकपागारपरिक्खित्ता ।" धनुष्कुटिलं कुटिलं धनु । ततोऽपि वक्रेण प्राकारेण परिक्षिप्ता या सा तथा । रा० । ज्ञा० ।

धणुक्क–धनुष्क–न० । चापे, स० । चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्ने अवमानविशेषे च । न० । अनु० । पा० । पाञ्चालदेशस्थकाम्पिल्यपुरनृपतेर्ब्रह्मदत्तपितुर्ब्रह्मराजस्य स्वनामख्याते सेनापतौ, उत्त० १३ अ० । आ० क० । (तद्वक्तव्यता ' धभदत्त ' शब्दे वक्ष्यते)

धणुग्गह–धनुर्ग्रह–पुं० । वातव्याधिविशेषे, धनुर्ग्रह इति वा । जी०३ प्रति० ४ उ० । धनुर्ग्रहोऽपि वातविशेषो, य. शरीर कु–ब्जीकरोति । बृ० ३ उ० । व्य० ।

धणुत्तासणा–धनुस्त्रासना–स्त्री० । धनुषा भयजनने, " सद्दोवओगो धणुत्तासणा य । " धानुष्कैर्वा पापर्द्धिर्वा पक्षिणस्त्रासनं कुर्वन्ति भयमुपजनयन्तीत्यर्थः । बृ० २ उ० ।

धणुद्धय–धनुर्ध्वज–पुं० । भाविन्युत्सर्पिण्यां महापद्मस्य प्रथमतीर्थकरस्य सकाशे प्रव्रजिष्यति स्वनामख्याते नृपे, स्था० ८ ठा० ।

धणुद्धर–धनुर्धर–पुं० । धनुर्धारयति धृ अच् । धानुष्के, वाच० । धनुर्द्धराः कोदण्डप्रहरणा इति । स० ।

धणुपिट्ठ–धनुष्पृष्ठ–न० । मण्डलखण्डाऽऽकारे क्षेत्रे, स० ५७ सम० । जम्बूद्वीपलक्षणवृत्तक्षेत्रस्य हैमवतैरण्यवताऽऽदिवर्षावच्छिन्नस्याऽऽरोपितज्याधनुष्पृष्ठाकारे परिधिखण्डे च । हैमवतैरण्यवतोरधिकारे जम्बूद्वीपलक्षणवृत्तक्षेत्रस्य हैमवतैरण्यवताख्यां द्वितीयषष्ठवर्षाभ्यामवच्छिन्नस्याऽऽरोपितज्याधनुष्पृष्ठाकारे परिधिखण्डमे धनुःपृष्ठे, उच्येते, तत्पर्यन्तभूते सरलप्रदेशपङ्क्ती तु जीवे इव जीवे इति । स० ३७ सम० । (तच्च कस्य वर्षस्य वर्षधरपर्वतस्य कियत्प्रमाणमिति ' वासहर ' शब्दे वक्ष्यते)

धणुपुहत्तिया–धनुष्पृथक्त्विका–स्त्री० । गव्यूते, " धणुपुहत्तिया वि गाउय वि ।" गव्यूतं द्विधनुःसहस्रप्रमाणमिति । प्रज्ञा० १ पद ।

धणुवल–धनुर्वल–न० । धनुर्द्धरवले, "धणुबल वा आलिंगति ।" भ० ३ श० २ उ० ।

धणुय–धनुष्क–न० । ' धणुक ' शब्दार्थे, स० ।

धणुव्वेय–धनुर्वेद–पुं० । धनुष उपचारात् तत्प्रक्षेपणीयास्त्रप्रयोगाऽऽदेरेपयोगी वेद. । यजुर्वेदस्योपवेदे, शस्त्रास्त्रप्रयोगोपसंहारप्रतिपादकमन्त्रसहिते शास्त्रभेदे, वाच० । धनुःशास्त्रे, जं० २ वक्ष० । इषुशास्त्रे, तच्च भगवत ऋषभदेवस्य समये आसीत् । "इसुसत्थ धणुव्वेओ ।"इषुशास्त्र नाम धनुर्वेद,स च तदैव राजधर्मे सति प्रावर्तत । आ० म० १ अ० १ खण्ड । शिक्षाशास्त्रे, " कुलपुत्रक एकोऽत्र, धनुर्वेदविशारद । कस्यापि धनिन पुत्रान्, धनुर्वेदमशिक्षयत् ॥१॥ " आ० क० । आ० म० । तदात्मके द्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाभेदे, औ० । स० । ज्ञा० । सूत्र० । तदात्मके पापश्रुतभेदे च । आव० ४ अ० ।

धणुस्संम–धनुःखण्ड–न० । धनु शकले, " सषो सयोगे सो ऽग्रीष्मे " ॥ ८ । ४ । २८९ ॥ इति सूत्रेण मागध्या सयोगे वर्तमानयो सकारषकारयोरूर्द्ध्वलोपाऽऽद्यपवाद. स. । प्रा०४ पाद ।

धणुस्सग्ग–धनोत्सर्ग–पुं० । धनसम्पत्तौ, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

धणुह–धनुष्–पुं० । ' धणु ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

धणेसर–धनेश्वर–पुं० । भरुकच्छस्थे स्वनामख्याते वणिजि, ती० ६ कल्प । कान्तीनगरवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे, येन द्वारावत्या कृष्णवासुदेवेन प्रतिष्ठापिता पार्श्वनाथप्रतिमा द्वारावतीदाहानन्तर समुद्रेण द्वारावत्यां प्लावितायां समुद्रमध्ये स्थिता सिंहलद्वीपगमने स्वयानपात्रे स्तम्भिते पद्मावतीदेव्या वाक्येन समुद्रमध्यादुद्धृत्य स्वनगरप्रासादे स्थापितेति । ती०

५ कल्प । भद्रबाहुस्वामिविरचितबृहत्कल्पभाष्यवृत्तिकर्तुः क्षेमकीर्तिसूरेर्गुरुपरम्परायां जाते स्वनामख्याते आचार्ये, वृ०।

" श्रीजैनशासननभस्तलतिग्मरश्मिः,
श्रीपद्मचन्द्रकुलपद्मविकाशकारी ।
पूज्यो निराकृतदिगम्बरडम्बरोऽभूत्,
श्रीमान् धनेश्वरगुरु प्रथित पृथिव्याम् ॥ ७ ॥
श्रीमच्चैत्रपुरैकमण्डनमहावीरप्रतिष्ठाकृत-
स्तस्माच्चैत्रपुरप्रबोधतरणे श्रीचैत्रगच्छोऽजनि ।
तत्र श्रीभुवनेन्दुसूरिसुगुरुर्भूभूषण भासुर-
ज्ज्योति सद्गुणरत्नरोहणगिरि कालक्रमेणाऽभवत् ॥ ६ ॥"

वृ० ६ उ० । द्वितीयोऽप्येतन्नामा विशालगच्छीयो जिनवल्लभसूरिरचितसार्द्धशतकग्रन्थोपरि टीकाया रचयिताऽयमाचार्य विक्रमसंवत्-११७१ वर्षे आसीत् । अपरोऽप्यतिप्राचीन. शिलाऽऽदित्यराजस्य वलभीपुरराजस्यार्थे शत्रुञ्जयमाहात्म्यग्रन्थकृद् धनेश्वरसूरि । जै० इ० ।

धणोहसंचय-धनौघसंचय-पु० । धनस्यौघ समूहो धनौघस्तस्य सचयो राशीकरणम । कनकाऽऽदिद्रव्यसमूहस्य राशीकरणे, व्य० १० अ० ।

धण्ण-धन्य-त्रि० । धन लब्धा, धने साधु',धनमर्हति । भ० २ श० १ उ० । अन्त० । स्था० । नि० । धनाय हित धनस्य निमित्त संयोग उत्पातो, धन प्रयोजनमस्य वा यत् । वाच० । धनलम्भिनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । भ० । " धण्णाओ अपुण्णाओ अवगाओ ।" आ०म० १ अ० २ खण्ड । "अहो धयस्स धण्णया ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड । " धण्णेसि ण तुम जाया ।" धन लब्धासि । भ० ९ श० ३३ उ० । धनावहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सौभाग्याऽऽद्युपेताऽऽदिना धनार्हे, द्वा० १४ द्वा० । धनलाभयोग्ये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । धनसाधौ पुण्यवति, पञ्चा० ४ विव० । पं० व० । " धण्णाणमेयजोगो, धण्णा चेट्ठति पयणीतीए । धण्णा बहु मण्णते, धण्णा जे णऽप्पदूसति " ॥ १ ॥ धन्यानां भावधनलब्धॄणां तत्साधूनां वा सत्त्वानामिति गम्यते, तद्योगेऽपि धन्याः पुण्यवन्तश्चेष्टन्ते प्रवर्त्तन्ते इति । पञ्चा० २ विव० । श्रेयस्करे, आव० ४ अ० । श्लाघ्ये, " ते धण्णा सप्पुरिसा ।" पञ्चा० ६ विव० । अश्वकर्णवृक्षे, कृतार्थे, धनोपयोगिन्यर्थशास्त्रे, धनाय हिते, धनकारणे च । वाच० । धन ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणमर्हन्तीति धन्या. । साध्व्यादिषु ज्ञानदर्शनचारित्रधनेषु, " धन्ना नाणाइधणा ।" विशे० । " धण्णा आवकहाए, गुरुकुलवास न मुचति ।" धन्या धर्मधन लब्धार. । पञ्चा० ११ विव० । भ० । पार्श्वनाथस्य प्रथमभिक्षादायके स्वनामख्याते श्रावके, आ० म० १ अ० १ खण्ड । काकन्दीवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे च । पु० । तत्कथाऽनुत्तरोपपातिकदशायास्तृतीयवर्गस्य प्रथमेऽध्ययने । सा च ' धण्णग ' शब्दे तत्कथ्यताप्रतिबद्धेऽनुत्तरोपपातिकदशायास्तृतीयवर्गस्य प्रथमेऽध्ययने च । अनु० । आमलक्याम, धन्याके, वाच० । वाराणसीनगर्यां कोष्ठचैत्यवास्तव्यस्य सुरादेव गृहपतेर्भार्यायां च । स्त्री० । उपा० ४ अ० । (तत्कथा " सुरादेव " शब्दे वक्ष्यते)

धन्व-न० । धन्व—अच् । चापे, वाच० ।

धन्वन्-न० । धन्व०-कनिन् । धनुषि. मरुदेशे च । वाच० ।

धान्य-न० । धाने पोषणे साधु-यत् । सतुषे तण्डुलाऽऽदौ, सबीजे शालितिलयवाऽऽदौ च । दश० ६ अ० । वाच० । उत्त० । सूत्र० । धान्य व्रीहिकोद्रवमुद्गमाषतिलगोधूमयवाऽऽदि । आव० ६ अ० । तच्च सप्तदशविधम्-" सणसत्तरसबीया भवे धण्ण ।" शणं सप्तदश येषां तानि शणसप्तदशानि बीजानि धान्य भवेदिति । तानि चामूनि-" व्रीहिर्यवो मसूरो. गोधूमो मुद्गमाषतिलचणका' । अणवः प्रियङ्गुकोद्रव-मकुष्टका शालिराढक्य ॥ १ ॥ किं च कलायकुलत्थौ, शणसप्तदशानि बीजानि ।" बृ० १ उ० २ प्रक० । आ० म० ।

कुत्रचिद् धान्याना चतुर्विंशतिभेदा यथा-

सणसत्तरसादीणं, धण्णाकाणं तु कोमिकोमीणं ।
जेसिं तु जायणट्ठा, एरिसया होंति णिइईया ॥ ३११ ॥

शण सप्तदशो येषां तानि शणसप्तदशानि । तानि चामूनि-शालिः, यव , कोद्रव., व्रीहि., रालक , तिला., मुद्गाः, माषाः, चवला , चणका , तुवरी, मसूरक , कुलत्था , गोधूमाः, निष्पावा' अतसी, शणश्च । उक्त च-" सालिजवकोद्दवव्रीहि-रालगतिलमुग्गमासचवलचणा । तुवरिमसूरकुलत्था, गोहुमनिप्फावअयसिसणा ॥ १ ॥" व्य० १ उ० ।

धन्नाइं चउवीसं, जव गोहुम सालि वीहि सट्ठी य ।
कोद्दव अणुया कंगू, रालय तिल मुग्ग मासा य ।१०१८।
अयसि हरिमंथ तिउगड, निप्फावसिलिंद राय मासा य ।
इक्खू मसूर तुवरी, कुलत्थ तह धन्नय कलाया ॥१०१९॥

धान्यानि चतुर्विंशतिर्भवन्ति । यथा-जवा., गोधूमा , शालयो, व्रीहय , षष्टिका', कोद्रवाः, अणुका., कङ्गु., रालक , तिला., मुद्गा माषाश्च । तथा अतसी, हरिमन्था., त्रिपुटका निष्पावा शिलिन्दा राजमाषा', इक्षव., मसूरा., तुवरी, कुलत्था , तथा-धान्यकं, कलाय इति । एतानि च प्रायेण लोकप्रसिद्धानि प्रायुक्तानि,नवरं षष्टिका. शालिभेदा ,ये षष्टिरात्रेण पच्यन्ते । अणुका जुगन्धरी,बृहच्छिरा कङ्गु ,अल्पतरशिरा रालक.,हरिमन्थाः कृष्णचणकाः, शिलिन्दा मकुष्ठ , राजमाषाश्चवलका.,धान्य कुस्तुम्भरी, कलाया अत्र वृत्तचणका इति । प्रव० १५६ द्वार । केचन भूकाटिका वदन्ति यथा श्रीमतां त्रिफलाऽऽद्युत्कटद्रव्यनिष्पन्नचूर्णप्रक्षेपे प्रासुकं पानीय तथाऽस्माकमप्युत्कटद्रव्यजनितचूर्णप्रक्षेपे धान्यादि प्रासुकीभवतीति किमत्र बाधकमिति प्रश्ने, उत्तरम् भूकाटिककृताशङ्कामाश्रित्य यथा त्रिफलाप्रक्षेपादुदके वर्णाऽऽदिपरावर्तो भवति तथा यदि धान्यफलाऽऽदावपि भवेत्तदोदकवद् धान्यादि प्रासुक भवति न च तस्मात्तत्कथ प्रासुक तदिति । २१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । पञ्चदशकर्माऽऽदाननिषेधवता धान्यनालिकेराऽऽदिफलगुलीहरितालपशूनां विक्रये भङ्गोऽभङ्गो वा ?, तथा सद्दालपुत्राऽऽदीना श्राद्धानां कर्माऽऽदानस्य संभवो, निषेधो वेति प्रश्ने, उत्तरम्-धान्याऽऽदीनां कृतपरिमाणादूर्द्ध क्रयादिकरणे भङ्गोऽन्यथा न चेति, तथा सद्दालपुत्राऽऽदीना परिमितत्वादङ्गालादिकर्मकरणेऽपि न कर्माऽऽदानसङ्गेति वृद्धोक्तिः । ७१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

धण्णंतरि-धन्वन्तरि-पु० । धन्वन् शिल्पशास्त्र तस्यान्तमियर्त्ति ऋ इन् शक० । "नारायणांशो भगवान्, स्वय धन्वन्तरिर्महान् ।

पुरा समुद्रमथने,समुत्स्थौ महोदधे ॥१॥"इत्युक्तेः स्वर्गवैद्यभेदे, दिवोदासे काशिराजे, विक्रमाऽऽदित्यसभासदि पण्डितभेदे, " धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कु-वेतालभट्ट " इत्यादि । वाच० । वैद्यकशास्त्रप्रणेतरि स्वनामख्याते योगिनि, " जोगीव जहा महावेज्जो।" योगी धन्वन्तरि ,तेन च विभङ्गज्ञानबलेनाऽऽगामिनि काले प्राचुर्येण रोगसम्भवं दृष्ट्वाऽष्टाङ्गाऽऽयुर्वेदरूपं वैद्यकशास्त्रं चक्रे । बृ० १ उ० २ प्रक० । विजयपुरराजस्य कनकरथस्य स्वनामख्याते वैद्ये, तत्कथा विपाकश्रुतस्याष्टमेऽध्ययने इति । स्था० १० ठा० । (सा च 'उंबरदत्त' शब्दे द्वितीयभागे ६७२ पृष्ठे द्रष्टव्या) जमदग्निपरीक्षार्थं मनुष्यलोकमुपागते देवलोकस्थे स्वनामख्याते तापसे, "इतश्च जैनमादेशा--वभूतां द्वौ सुरौ दिवि । स्व स्व धर्म प्रशसन्ता--वूचतु साधु तापसौ ॥१॥" आ० क० । आ० चू० । "इतो य दो देवा वेसानरो सड्ढो धणतरी तावसभत्तो ।"इति । आ० म०१ अ० २ खण्ड। द्वारावतीवास्तव्ये कृष्णवासुदेवस्य स्वनामख्याते वैद्ये, आ० क० ।

" बारवई वेअरणी. धन्ननरि भविअ अभविए विज्जे।
कहणा य पुच्छिअम्मी, गइनिद्देसे असयोही" ॥१॥ आ० क० ।
" नगरी द्वारवत्यासी--दुपकण्ठं पयोनिधेः ।
भोगावतीव पाताला- दागता क्ष्मापुरेक्षया ॥ १ ॥
रत्नान्यतो गृहीत्वेव, सर्वरत्नमयी कृता ।
पुरीयं वेधसाऽथोऽत्र वृष्णेरेवाब्धिरेव स. ॥ २ ॥
नाम्ना कृष्णो नृपस्तत्र, चरित्रैर्धवलः पुन. ।
आदिमांशु. प्रतापेन, हिमांशुश्च प्रशस्तित' ॥ ३ ॥
विद्येते तत्र वैद्यौ द्वौ, वैद्यविद्याविशारदौ ।
अन्यो वैतरणीनामा, धन्वन्तरिरनन्यक ॥ ४ ॥
चिकित्सां ग्लानसाधूनां, अन्यः प्रासुकभेषजै ।
विदधाति प्रदत्ते च, स्युश्चेत्तानि स्ववेश्मनि ॥ ५ ॥
अनन्यो ग्लानसाधूना-माख्यत्सावद्यभैषजम् ।
प्रासुक ब्रूहि न. किञ्चि-दित्युक्ते साधुभि पुन ॥ ६ ॥
स ऊचे न मयाऽधीतं, वैद्यक भवतां कृते ।
एव तौ द्वौ महारम्भौ, चिकित्सा कुरुत' पुरि ॥ ७ ॥
प्रष्टुं कृष्णोऽन्यदाऽप्राक्षी -द्वैद्ययो. काऽनयोर्गति ? ।
जीवाशौषधदानेन, जीवहिंसाविधायिनोः ॥ ८ ॥
स्वाम्यूचे सप्तमीं पृथ्वीं, पापो धन्वन्तरिर्गमी ।
अन्यो वैतरणीजीवो, गङ्गाविन्ध्यान्तरे हरि. ॥ ९ ॥
स च तत्र वय प्राप्तो, भावी यूथपतिः स्वयम् ।
गमिष्यन्त्यन्यदा तत्र, सार्थेन सह साधव. ॥ १० ॥
तत्रैकस्य मुने. पादे, मग्न शल्य दुरुद्धरम् ।
ततस्तदर्थं सर्वेऽस्थु, सशल्यांह्रिर्मुनिर्जगौ ॥ ११ ॥
मदर्थे वो मृतिर्मा भूत, शल्यमेतन्ममान्तकृत् ।
तच्छल्योद्धरणाशक्ता., निर्बन्धात्तेन नोदिता ॥ १२ ॥
मुक्त्वा त स्थण्डिले शुद्धे, सच्छायस्य तरोस्तले ।
तेऽपि जग्मुः कथमपि, शोकशल्येन शल्यिता. ॥ १३ ॥
तदा च तत्र स भ्राम्य-न्नागाद् वानरयूथपः ।
पुरोगैस्तुमुलश्चक्रे, साधुं त वीक्ष्य वानरैः ॥ १४ ॥
यूथपस्तमथोऽपश्य-न्नूहापोहेन तत्क्षणात् ।
जातजातिस्मृति सर्वं, प्राग्भव स्मरति स्म सः ॥ १५ ॥
दृष्ट्वा शल्य मुने' शल्यो-द्धरणीं शल्यरोहणीम् ।
गिरौ गत्वाऽनयत्साधु, नि.शल्यं विदधेऽचिरात् ॥ १६ ॥
साधोरग्रे विलिख्याऽऽथ-स्सोऽथ प्राग्भववैद्यताम् ।
धर्ममाख्यन्मुनिः सोऽथा-नशनेन मृतस्त्वहात् ॥ १७ ॥ "

अथ किं तस्याभूदित्याह-

" सो वानरजूहवई, कंतारे सुविहिआणुकंपाए ।
भासुरवरबुंदिधरो, देवो वेमाणिओ जाओ ॥ १८ ॥ "

अनुकम्पा भक्ति । वैमानिक सहस्रारे ।

" प्रयुज्यावधिमद्राक्षी-त्तत्पुस्त मुनि च स' ।
आगेत्यादर्शयद्दिव्यां, देवर्द्धि तां निजां मुने' ॥ १९ ॥
ऊचे च त्वत्प्रसादेन, प्राप्यत श्रीरियं प्रभो ! ।
तेनाथोत्पाट्य स मुनि-र्नीत' स मुनिसन्निधौ ॥ २० ॥
दृष्ट्वान्तेऽस्माद्दुरागास्त्वं, कथ शल्यमगाच्च ते ।
सोऽथ वानरवैयस्यो-दन्त तेषामचीकथत् ॥ २१ ॥
वानर साधुभक्त्येवं, लेभे सामायिकव्रतम् ।
अन्यथोपात्तदुःकर्मा, स्याद् वराक. स नारक' ॥ २२ ॥ "
आ० क० ।

धणंतरिकूव–धन्वन्तरिकूप–पु० । अहिच्छत्रानगरीस्थे स्वनामख्याते कूपे, " धणतरिकूवस्स यावि पिंजरवण्णाए मट्टियाए गुरुवएसा कचण उप्पज्जइ । " सं० ६ कल्प ।

धणमण्ण–धन्यमन्य–त्रि० । आत्मान धन्य मन्यमाने, " धन्य मन्योऽतिभक्तितः । " आ० क० ।

धणय–धन्यक–पु० । शालिभद्रभगिनीपतौ, स्था० १० ठा० । काकन्दीनगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सार्थवाहे, तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धेऽनुत्तरोपपातिकदशायास्तृतीयवर्गस्य द्वितीयेऽध्ययने च । स्था० १० ठा० ।

दृश्यते तु प्रथमेऽध्ययने-

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं काकंदी णाम नयरी होत्था, रिद्धित्थिमियसमिद्धा । सहसंबवणे उज्जाणे, सव्वोउय०, जियसत्तू राया । तत्थ णं काकंदीए नयरीए भद्दा नामं सत्थवाही परिवसइ अड्ढा०जाव अपरिभूता । तीसे णं भद्दाए सत्थवाहीए पुत्ते धण्णे नामं दारए होत्था, अहीण० जाव सुरूवे पंचधाइपरिग्गहितो । त जहा–खीरधातीए० जहा महाबलो० जाव बावत्तरिकलाओ अहीते० जाव अलं भोगसमत्थे जाते यावि होत्था । तते णं सा भद्दा सत्थवाही धण्णं दारयं उम्मुक्कबालभावं० जाव भोगसमत्थं विजाणित्ता बत्तीसं पासायवडंसए कारेति, अब्भुग्गयमूसिए० जाव अणेगखंभसयसन्निविट्ठं० जाव बत्तीसाए इब्भवरकन्नयाणं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हावेति, बत्तीसओ दाओ० जाव उप्पिं पासाय फुट्टंति० जाव विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे, परिसा निग्गया, राया जहा कोणिओ तहा निग्गतो । तते णं तस्स धण्णस्स दारगस्स तम्मि महे जहा जमाली तहा निग्गते,नवरं पायचारेणं०जाव नवरं अम्मयं भद्दं सत्थवाहिं आपुच्छामि । तते णं अहं

देवाणुप्पिए ! अंतिए० जाव पव्वयामि० जाव जहा जमाली तहा आपुच्छति,पुच्छिया वुत्तं पडिवुत्तिया जहा महाबले० जाव जाहे नो संचाएति जहा थावच्चापुत्तस्स जियसत्तू आपुच्छति, छत्तचामराओ सयमेव जितसत्तू निक्खमण करेति, जहा थावच्चापुत्तस्स कएहे०जाव पवइए अणगारे जाए इरियासमिते० जाव गुत्तबभयारी। तते ण से धम्म अणगारे ज चेव दिवसं मुमे भवित्ता०जाव पव्वइत्तए,त चेव दिवसं समणं भगव महावीरं वंदति,नमसति, नमसतित्ता एवं वयासी-एवं खलु इच्छामि ण भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुणाए समाणा जावज्जीवाए छट्ठ छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं आयंविलपरिग्गहिएणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स विहरित्तए, छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि कप्पति से आयविल पडिग्गहित्तए नो चेव णं अणायंविलं, तं पि य ससट्ठ नो चेव णं असंसट्ठं, त पि य णं उज्झियधम्मियं नो चेव णं अणुज्झियधम्मिय,त पि य णं जं अण्णे वहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगा नावकखति ?। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिवधं करेह। तते णं से धम्मे अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाते समाणे हट्ठ० जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेण तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरति। तते णं से धम्मे अणगारे पढमछट्ठक्खमणपारणयम्मि पढमाए पोरिसीए सज्झाय करेति, जहा गोयमसामी तहेव आपुच्छति,जेणेव काकंदी नगरी तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता काकंदीए नगरीए उच्चनीच० जाव अडमाणे आयंबिलं णो अणायंबिलं० जाव नावकखति। तते णं से धम्मे अणगारे ताए अब्भुज्जतपवत्ताए परिगाहियत्ताए एसणाए एसमाणे जति भं भत्तं लभति,तो पाण न लभति जति पाणं लभति,तो भत्त न लभति। तते ण से धम्मे अणगारे अदीणे अदीणमणे अकलुसे अविसाई अपरितंतयोगी जयणघमणजोगचरित्ते अहापज्जत्तसमुदाणं पडिगाहिति,पडिगाहितित्ता काकंदीनगरीतो पडिनिक्खमति जहा गोयमो तहा पडिदंसेति। तते ण से धम्मे अणगारे समणेणं भगवया अब्भणुण्णाते समाणे अमुच्छिए०जाव अणज्झोववन्ने विलमिव पण्णगभूएण अप्पाण आहार आहारेति, आहारेतित्ता संजमेण तवसा० जाव विहरति। तए णं से समणे भगवं महावीरे अण्णया कया वि काकंदीनयरीतो सहसंववणाओ पडिनिक्खमति,वहिया जणवयविहार विहरति। तए णं से धम्मे अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाण थेराण अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अगाइ अहिज्जति, संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति। तए ण से धम्मे अणगारे जहा खंदओ० जाव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठति,धम्मस्स णं अणगारस्स पाएं अयमेयारूवे तवरूवलावण्णे होत्था-से जहानामए रुक्खछल्ली ति वा कट्ठपाओया ति वा जरग्गाओ वा णहेति वा एवामेव धम्मस्स अणगारस्स पाया सुक्का निम्मंसा अट्ठिचम्मविरत्ता ते पणायंति, नो चेव णं मंससोणियत्ताए धम्मं अणगारय ति पायं अयमेयारूवे से जहानामए कलसगलिया ति वा मुग्गमाससंगलिया ति वा तरुणिया छिण्णा उण्हे दिन्ना सुक्का समाणा गिलायमाणी चिट्ठति, एवामेव धम्मस्स पायंगुलिआए सुक्काओ०जाव सोणियत्ताए धम्मस्स जघाणं अयमेयारूवे से जहाणामए कक्कजघा ति वा केकइजंघा ति वा ढिणियाति वा जघायं ति वा०जाव सोणियत्ताए,धम्मस्स जाणुण अयमेयारूवे, से जहानामए कालिपोरेइ वा मऊरपोरेइ वा डिणियालियापोरेति वा०जाव सोणियत्ताए,धम्मस्स ऊरू अयमेयारूवे,से जहानामए सामकरिडल्लेइ वा बोरिकरिडल्लेइ वा सल्लइसामलितरूणं ते छिण्णिउण्णि० जाव चिट्ठति, एवामेव धम्मस्स ऊरू वा सोणियत्ताए,धम्मस्स कडिपट्टस्स इमेयारूवे, स जहानामए उट्टपाए ति वा ऊरूगपाए ति वा महिसपादेइ वा० जाव सोणियत्ताए, धम्मस्स उदरभायणस्स इमेयारूवे, से जहानामए सुक्कदलदित्तेइ वा भज्जणयकवल्लेइ वा कट्ठकोलंवथोमे व उदरं सुक्क, धम्मस्स पांसुलियकडयाणं इमेयारूवे,से जहानामए कंसयावली ति वा पाणावली ति वा रूडावली ति वा,धम्मस्स पिट्ठकरंडयाणं इमेयारूवे,से जहानामए चित्तयकडरेति वा वायणीपत्तेइ वा तालीयंटपत्तेइ वा, एवामेव धम्मस्स वाहाणं इमेयारूवे,से जहानामए समिसंगलियाइ वा पहायासगलिया ति वा अगच्छियसंगलिया ति वा, एवामेव धम्मस्स हत्थाण अयमेयारूवे,से जहानामए सुक्कछगणियाइ वा वडपत्तेइ वा पलासपत्तेइ वा.एवामेव धम्मस्स हत्थंगुलीयाण अयमेयारूवे,से जहानामए कुससंगलियाति वा मुग्गमासतरुणियाच्छिए आयवेदिणा सुक्का समाणी,एवामेव धम्मस्स गीवा,से जहानामए करगगीवाइ वा कुण्डियागीवाइ वा उवत्थवणाए वा,एवामेव धम्मस्स हणुयाए से जहानामए लाउफलेइति वा हओवफलेइ वा अवगट्ठियाए वा,एवामेव धम्मस्स उट्ठाण से जहाणामए सुक्कजलोया ति वा सेलेसगुलिया ति वा अलत्तगगुलिया ति वा, एवामेव धम्मस्स जिब्भाए, से जहा वडपत्तेति वा उंवरपत्तेति वा सागपत्तेति वा, एवामेव धम्मस्स नासियाए,से जहाणामए अंवडगपेसियाइ वा माउलुंगपेसियाइ वा तरुणिया, एवामेव धम्मस्स अच्छीणं, से जहानामए वीणाछिद्द त्ति वा पभाइयतारगा ति वा, एवामेव धण्णस्स कण्णाणं, से जहाणामए सीसमूला छल्लियाति वा वालुकच्छल्लीइ वा करेल्लयाछल्लियाइ वा

एवामेव धएणस्स (१) से जहा णामए तरुणगलाओ ति वा तरुणगए-लाउय त्ति वा मिलायए त्ति वा तरुणए०जाव चिट्ठति,एवामेव धएणस्स अणगारस्स सीसं लुक्खं निम्मंसं अट्ठिचम्मछिरत्ताए पणायंति, नो चेव णं मंससोणियत्ताए,एवं सव्वत्थमेव नवरं उदरजायणा काणा जिब्भा ओट्ठा एएसिं अट्ठी न जवति चम्मछिरत्ताए पणाइत भणंति,धएणे णं अणगारेणं सुक्कपायजंघोरुहणादिगतं तम्मिकरालणं कडमाहेणं पिट्ठमंमिएण उदरभायणेणं वीतिज्जमाणेहिं पांसुलिकडएहिं अक्खसुत्तमाला विव गणिज्जमाणेहिं पिट्ठकरंमगसंधीहिं गंगातरंगभूतेणं उक्खंडगदेसभायणेणं सुक्कसप्पसमाणेहिं बाहाहिं सिढिलकडाली विव लंबंतेहि य अग्गिहत्थेहिं कंपणाईओ विव वेयमाणीए सीसघमीए पव्वातवदनकमले ओज्झगवदामुहे ओब्बुड्डणयकोसे जीवंजीवेणं गच्छति, जीवंजीवेणं चिट्ठति, भासं भासिस्सामि, विगलाइ से जहानामए इंगालसगडियाति वा जहा खंदओ तहा ०जाव हुतासणाइभासरासिपलिच्छिणे तवेणं तए णं तवतेयं सिरीसउव्व सोभेमाणे सोभेमाणे चिट्ठति । तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे गुणसिले चेइए सेणिए राया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसढे, परिसा निग्गया, सेणिओ निग्गओ, धम्मकहा, परिसा निग्गया तए णं से सेणिए राया समणस्स०अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म समणं भगवं वंदति, नमंसति, नमंसतित्ता एवं वयासी-इमेसि णं भंते ! इंदभूतिपामोक्खाणं चउदसएहं समणसाहस्सीणं कयरे अणगारे महादुक्करकारए चेव महानिज्जराए चेव ?। एवं खलु सेणिया! इमासिं इंदभूतिपामोक्खाणं चउदसएहं समणसाहस्सीणं धएणे अणगारे महादुक्करकारए चेव महानिज्जराए चेव । से केणि णं भंते! एवं वुच्चति-इमासिं०जाव साहस्सीणं धएणे णं अणगारे णं महादुक्करकारए चेव महानिज्जराए चेव ?। एवं खलु सेणिया! तेणं कालेणं तेणं समएणं काकंदीनामं नयरी होत्था;उप्पिं पासायवडिंसए विहरति। तते णं अहं अणया कयाइ पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव काकंदी नयरी जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे तेणेव उवागए अहापडिरूवं उग्गहं संजमेणं ०जाव विहरामि, परिसा निग्गया तहेव०जाव पव्वतिते०जाव बिलमिव०जाव आहारेति । धएणस्स ण अनगारस्स पदाइसरीरवस्रतो सव्वो ०जाव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठति,से तेणट्ठेणं सेणिया ! एवं वुच्चति-इमासिं च चउदमसहस्साणं धम्मे अणगारे महादुक्करकारए महानिज्जराए चेव । तते णं से सेणिए राया समणस्स भगवओ अंतिए एअमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० समणं भगवं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, करेतित्ता वंदति, नमंसति, णमंसित्ता जेणेव धएणे अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता धएणं अणगारं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, वदति, नमंसति, णमंसित्ता एवं वयासी-धएणेसि णं तुमं देवाणुप्पिए ! संपुण्णे सुकयत्थे कतलक्खणे सुलद्धे णं देवाणुप्पिया ! तव माणुस्सए जम्मजीवियफले त्ति कट्टु वंदति, नमंसति, णमंसतित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं तिक्खुत्तो वंदति, नमंसति,णमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । तते णं तस्स धएणस्स अणगारस्स अणया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणे इमेयारूवे अब्भत्थिए-एवं खलु अहं इमेणं उरालेणं जहा खंदओ तहेव चिंता आपुच्छणं थेरेहि सद्धिं विपुलं दुरूहति मासियाए संलेहणाए नवमासपरियाओ०जाव कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिम०जाव नवगेविज्जयविमाणपत्थडे उड्ढं दूरं वीतीवयति, वीतीवतित्ता सव्वट्ठसिद्धे विमाणे देवत्ताए उववएणे थेरा तहेव उत्तरति०जाव इमीमे आयारभमेति भंते त्ति भगवं गोयमे तहेव पुच्छति, पुच्छतित्ता जहा खंदयस्स भगवं वागरेति ०जाव सव्वट्ठसिद्धे विमाणे उववएणे। धएणस्स णं भंते ! देवस्स केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता?। गोयमा! तेत्तीसं सागरोवमा ठिती पएणत्ता। से णं भंते! ततो देवलोगाओ कहिं गच्छहिति०कहिं सिज्झिहिति ?। गोयमा! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०५,एवं खलु जंबू! समणेणं०जाव संपत्तेणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पएणत्ते। अणु०३वर्ग१अ०।

धाएणक-न०। कुस्तुम्भरीनामके धान्यभेदे, दश० ६ अ०।

धएणगर-धान्यकर-न० । स्वनामख्याते पुरे, यत्र विमलजिनेन प्रथमभिक्षा लब्धेति । आ० म० १ अ० १ खण्ड।

धएणजक्ख-धन्ययक्ष-पुं०। ऋषभपुरस्थस्तूपकरण्डकोद्यानस्थे यक्षे, विपा० २ श्रु० ९ अ०। (तत्कथा 'भद्दणंदि' शब्दे वक्ष्यते)

धएणणिहि-धान्यनिधि-पुं०। कोष्ठागारे लौकिके निधिभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

धएणपत्थय-धान्यप्रस्थक-न०। धान्यमानविशेषे, व्य०१ उ०।

धएणपिडक-धान्यपिटक-न०। धान्यप्रस्थके, व्य० १ उ०।

धएणपुंजियसमाणा-पुञ्जितधान्यसमाना-स्त्री०। खले लूनपूतविशुद्धपुञ्जीकृतधान्यसमाना सकलातिचारकचवरविरहेण ह्यवस्थस्वभावत्वात् पुञ्जितस्य धान्यविशेषणस्य परनिपात प्राकृतत्वात् (स्था०) प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

धएणप्पमाण-धान्यप्रमाण-न०। मानमेयं प्रमाण, धान्यविषयं मानं प्रमाणं धान्यप्रमाणम् । मानप्रमाणभेदे, अनु०। (धान्यप्रमाण 'माण' शब्दे वक्ष्यते)

धएणमाण-धान्यमान-न० । धान्यप्रमाणे, नि० चू० १ उ० ।

धएणमासफल-धान्यमाषफल-न० । सोमशईवेतसर्वपाऽऽत्मके हिरण्याऽऽदिपरिमाणभेदे, स्था० ८ ठा० ।

धएणय-धन्यक-पुं० । 'धएणग' शब्दार्थे, स्था० १० ठा० ।

धएणविक्खित्तसमाणा-विक्षिप्तधान्यसमाना-स्त्री० । यद्विकीर्णं गोखुरक्षुएणतया विक्षिप्तं धान्यं तत्समाना विक्षिप्तधान्यसमाना, विक्षिप्तस्य धान्यविशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । या हि सहसमुत्पन्नातिचारकचवरयुक्तत्वात् सामग्र्यन्तरापेक्षितया कालक्षेपलभ्यस्वस्वभावा सा धान्यविकीर्णसमानोच्यते । इत्युक्तलक्षणे प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

धएणविरल्लियसमाणा-विरल्लितधान्यसमाना-स्त्री० । खलक एव यद्विरल्लितं विसारितं वायुना पूतपुञ्जीकृतं धान्यं तत्समाना, विरल्लितस्य धान्यविशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । या हि लघुनाऽपि यत्नेन स्वस्वभावं लप्स्यत इत्युक्तलक्षणे प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

धएणसंकड्डियसमाणा-संकर्षितधान्यसमाना-स्त्री० । यत्संकर्षितं क्षेत्रादाकर्षितं खलमानीतं धान्यं तत्समाना । संकर्षितस्य धान्यविशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । या हि बहुतरातिचारोपेतत्वाद् बहुतरकालप्राप्तव्यस्वस्वभावा सा धान्यसङ्कर्षितसमाना । इत्युक्तलक्षणे प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

धएणहाणि-धान्यहानि-स्त्री० । राज्यापलक्षणभेदे, यत्प्रभावाद् वृष्टेऽपि मेघे शस्यनिष्पत्तिस्तादृशी नोपजायते । व्य० १० उ० ।

धएणाउस-देशी-कथ्यमानाऽऽशीर्वादे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धएणागार-धान्यागार-न० । कोष्ठागारे, नि० चू० ८ उ० ।

धएणावत्ति-धान्यावाप्ति-स्त्री० । शस्यलाभे, "फलमिह धान्यावाप्तिः ।" षो० ७ विव० ।

धएणावह-धान्यावह-पुं० । राजगृहनगरस्थे स्वनामख्याते प्रधानश्रेष्ठिनि, आ० चू० १ अ० । ऋषभपुरस्थस्तूपकरण्डकोद्यानवास्तव्ये नृपे, विपा० २ श्रु० २ अ० । ध० र० । (तत्कथा 'भद्दणंदि' शब्दे)

धत्त-धत्त-पुं० । बहुबीजके वनस्पतिभेदे, जी० १ प्रति० । निहिते, त्रि० । आ० म० १ अ० २ खण्ड । ननु "दधातेर्हिः" ॥७।४।४२॥ इति हिशब्दाऽऽदेशस्तर्हि हितमिति भवितव्यं, कथं धत्तमित्युच्यते ?, प्राकृते देशीपदस्याविरुद्धत्वान्न दोषः । अथवा-धत्त इति नित्यपदव्युत्पन्न एव यदृच्छाशब्दः । आव० १ अ० ।

धात्त-त्रि० । दधातीति धं, ध आत्तो यस्मिन् स धात्तः, निष्ठान्तस्य "जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात् क्तोऽकृतमितप्रतिपन्नाः" ॥ ६ । २ । १७० ॥ इति परनिपातः अथवा धेनाऽऽत्तो गृहीतो धात्तः । निहिते, आव० १ अ० ।

धमण-धमन-पुं० । धम्यतेऽनेन धमल्युः । नले भस्त्राध्मापके, क्रूरे च । त्रि० । अग्निसंयोगे, न० । "चीयणधमणाहिधारणा ।" आचा० नि० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

धमणि-धमनि-स्त्री० । धम-अनि वा ङीप् । नालधाम, उत्त० २ अ० । वाच० । ज्ञा० । प्रश्न० । भ० । "नव धमणीओ ।" धमन्यो रसवहा नाड्यः । त० । शिरायाम, उत्त० पाई० २ अ० । कोष्ठकहृदन्तरे, नाडीमधिकृत्य- "कुट्ठे कुट्ठे धमणिअंतरेसु" धमन्य कोष्ठकहृदन्तराणीति । विपा० १ श्रु० १ अ० । हट्टविलासिन्याम् ग्रीवायाम, हरिद्रायां च । वाच० ।

धमणिसतय-धमनिसंतत-त्रि० । धमनीभिर्नाडीभिः सततो व्याप्तः । उत्त० ७ अ० । नाडीव्याप्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । "किं से धमणिसंतए ।" धमनीसततो नाडीव्याप्तो, मांसक्षयेण दृश्यमाननाडीकत्वात् । भ० २ श० ५ उ० । यस्य शरीरं नाडीभिर्व्याप्तं दृश्यत इत्यर्थः । उत्त० २ अ० । धमनयः शिरास्ताभिः सततो व्याप्तो धमनिसततः । शिराजिर्व्याप्ते, उत्त० पाई० २ अ० ।

धमणी-धमनी-स्त्री० । 'धमणि' शब्दार्थे, उत्त० २ अ० ।

धमधमेंत-धमधमायमान-त्रि० । धमधमेति वर्णव्यक्तिमिवोत्पादयति, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

धमधमेंतघोस-धमधमायमानघोष-त्रि० । धमधमायमानो धमधमेति वर्णव्यक्तिमिवोत्पादयन् घोषः शब्दो यस्य स तथा । धमधमेति वर्णव्यक्त्युत्पादकशब्दोपेते, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

धममहिसी-देशी-नीहारार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ६१ गाथा ।

धमास-धमास-पुं० । वृक्षभेदे, ल० प्र० । कपोतलेश्याया वर्णकमधिकृत्य " धमाससारेइ वा । " प्रज्ञा० १७ पद ।

धम्म-धर्म-पुं० । न० । धृ-मन् । दश० १ अ० । स्वभावे, दर्श० १ तत्त्व । स्था० । आचा० । दश० । दशा० । ज्ञा० । विशे० । सूत्र० । उत्त० । "धम्मसब्भावो त्ति एगट्ठा धम्मो त्ति वा सभावो त्ति वा दो वि एगट्ठा ।" नि० चू० २० उ० । परिणाम स्वभाव शक्तिर्धर्म इतिपर्यायाः । स्था० ६ ठा० । धर्माः सहभाविन , क्रमभाविनश्च पर्याया इति । स्था० २ ठा० १ उ० । "सव्वं धम्मं जाणित्तए । धर्मं जीवाऽऽदिद्रव्यस्वभावमुपयोगोत्पत्त्यादिकं श्रुताऽऽदिरूपं वा । स० १० समः० । "लोहो सुयस्स धम्मो ।" विशे० । विशेषे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ० ।

(१) धर्मधर्मिणोरेकान्तेन भेदेऽभ्युपगम्यमाने धर्मिणो निःस्वभावताऽऽपत्तिः, स्वभावस्य धर्मत्वात्तस्य च ततोऽन्यत्वात्, स्वो भावः स्वभावः, तस्यैवाऽऽत्मीया सत्ता, न तु तदर्थान्तरं धर्मरूपं, ततो न निःस्वभावताऽऽपत्तिरिति चेत्, न, इत्थं स्वरूपसत्ताऽभ्युपगमे तदपरसत्तासामान्ययोगकल्पनाया वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अपि च-यद्येकान्तेन धर्मधर्मिणोर्भेदस्ततो धर्मिणो ज्ञेयत्वाऽऽदिभिर्धर्मैरननुवेधात्तस्य सर्वथाऽनवगमप्रसङ्ग , न ह्यज्ञेयस्वभावं ज्ञातुं शक्यते इति । तथा च सति तदभावप्रसङ्गः, कदाचिदप्यनवगमाभावात्, तथाऽपि तत्सत्त्वाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गोऽन्यस्यापि यस्य कस्यचित्कदाचिदप्यनवगतस्य शशशृङ्गाऽऽदेर्भावाऽऽपत्तेः । एवं च धर्म्यभावे धर्माणामपि ज्ञेयत्वप्रमेयत्वाऽऽदीनां निराश्रयत्वादभावाऽऽपत्तिः । न हि धर्म्याधाररहिताः क्वापि धर्माः सम्भवन्ति, तथाऽनुपलब्धेः । अन्यच्च परस्परमपि तेषां धर्माणामेकान्तेन भेदाभ्युपगमे सत्त्वाऽऽद्यननुवेधात्कथं भावाभ्युपगमः ?, तदन्यसत्त्वाऽऽदिधर्माभ्युपगमे च धर्मित्वप्रसक्तिरनवस्था च, तदेकान्तभेदपक्षे धर्मधर्मिभावः, नाऽप्येकान्ताभेदपक्षे, यतस्तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने धर्ममात्रं वा स्यात्, धर्मिमात्रं वा ?। अन्यथैकान्ताभेदानुपपत्तेः, अन्यतराभावे वा अन्यतरस्याप्यभावः , परस्परनान्तरीयकत्वात् । धर्मनान्तरीयको हि धर्मी, धर्मिनान्तरीयकाश्च धर्माः, ततः कथमेकाभावे परस्याऽवस्थानमिति? । कल्पितो

धर्म्मधर्मिभावः,ततो न दूषणमिति चेत्तर्हि वस्त्वभावप्रसङ्गः। न हि धर्मधर्मिस्वभावरहितं किञ्चिद्वस्त्विति, धर्मधर्मिभावश्च कल्पित इति तदभावप्रसङ्गः। धर्मा एव कल्पिता न धर्मी, तत्कथमभावप्रसङ्ग इति चेत्, न, धर्माणां कल्पनामात्रभावत्वाभ्युपगमेन परमार्थतोऽसत्त्वाभ्युपगमात्, तदभावे च धर्मिणोऽप्यभावाऽऽपत्तिः। अथ तदेवैकं स्वलक्षणं सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्त्येकस्वभावम्। धर्मिव्यावृत्तिनिबन्धनाश्च या व्यावृत्तयो भिन्ना इव विकल्पितास्ता धर्मास्ततो न कश्चिद्दोषः। तदप्ययुक्तम्। एवं कल्पनाया वस्तुनोऽनेकान्तात्मकताप्रसक्तेः। अन्यथा सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्त्ययोगात्। हि येन निजस्वभावेन घटाद् व्यावर्तते पटस्तेनैव स्तम्भादपि, स्तम्भस्य घटरूपताप्रसक्तेः। तथाहि-घटाद् व्यावर्तते घटव्यावृत्तिस्वभावतया स्तम्भादपि चेत् घटव्यावृत्तिस्वभावतयैव व्यावर्तते, तर्हि बलात् स्तम्भस्य घटरूपताप्रसक्तिः। अन्यथा-ततः तत्स्वभावतया व्यावृत्त्ययोगात्। तस्माद्यतो यतो व्यावर्तते तत्तद्व्यावृत्तिनिमित्तभूताः स्वभावा अवश्यमभ्युपगन्तव्याः, ते चानेकान्तेन धर्मिणो भिन्नाः, तदभावप्रसङ्गात्। तथा च-तदवस्थ एव पूर्वोक्तो दोषः, तस्माद्भिन्ना अभिन्नाश्च। भेदाभेदोऽपि धर्मधर्मिणोः कथमिति चेत्?। उच्यते-इह यद्यपि तादात्म्यतो धर्मिणा धर्माः सर्वेऽपि लोलीभावेन व्याप्ताः, तथाऽप्ययं धर्मी, एते धर्मा इति परस्परं भेदोऽप्यस्ति, अन्यथा तद्भावानुपपत्तिः। तथा च सति प्रतीतिबाधा, मिथो भेदेऽपि च विशिष्टान्योन्यानुवेधेन सर्वधर्म्माणां धर्मिणा व्याप्तत्वादभेदोऽप्यस्ति। अन्यथा तस्य धर्मा इति प्रसङ्गानुपपत्तेः। नं०। सम्म०।

(२) अथ चैतन्याऽऽदयो रूपाऽऽदयश्च धर्मा आत्माऽऽदेर्घटाऽऽदेश्च धर्मिणोऽत्यन्तं व्यतिरिक्ता अपि समवायसम्बन्धेन सम्बद्धाः सन्तो धर्मिधर्मव्यपदेशमश्नुवते, तन्मतं दूषयन्नाह-

> न धर्मधर्मित्वमतीव भेदे,
> वृत्त्याऽस्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति ।
> इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ,
> न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ॥ ७ ॥

धर्मधर्मिणोरतीव भेदेऽतीवेत्यत्रेवशब्दो वाक्यालङ्कारे। त च प्रायोऽतिशब्दार्थिकवृत्तेश्च प्रयुञ्जते शाब्दिकाः। यथा-"आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्।" 'उद्धृतः क इव सुखावहः परेषाम्" इत्यादि। ततश्चैकान्तभिन्नत्वेऽङ्गीक्रियमाणे धर्मधर्मित्वं न स्यात्। अस्य धर्मिण इमे धर्माः, एषां च धर्माणामयमाश्रयभूतो धर्मीत्येवं सर्वप्रसिद्धो धर्मधर्मिव्यपदेशो न प्राप्नोति, तयोरत्यन्तभिन्नत्वेऽपि तत्कल्पनायां पदार्थान्तरधर्माणामपि विवक्षितधर्मधर्मित्वाऽऽपत्तेः। एवमुक्ते मतिः पर प्रत्यवतिष्ठते-वृत्त्याऽस्तीति अयुतसिद्धानामाधार्याऽऽधारभूतानामिह प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवायः। स च समवयनात्समवाय इति। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्तनाद्वृत्तिरिति चाऽऽख्यायते। तया वृत्त्या समवायसंबन्धेन तयोर्धर्मधर्मिणोरितरेतरविनिर्लुठितत्वेऽपि धर्मधर्मिव्यपदेश इष्यते। इति नानन्तरोक्तो दोष इति। अत्राऽऽचार्यः समाधत्ते-चेदिति। यद्येवं तव मतिः, सा प्रत्यक्षप्रतिक्षिप्ता; यतो न त्रितयं चकास्ति-अयं धर्मी, इमे चास्य धर्माः, अयं चैतत्सम्बन्धनिबन्धनं समवाय इत्येतत्त्रितयं वस्तुत्रयं न चकास्ति, ज्ञानविषयतया न प्रतिभासते। यथा किल शिलाशकलयुगलस्य मिथोऽनुसन्धायकं रालाऽऽदिद्रव्यं तस्मात्पृथक् तृतीयतया प्रतिभासते, नैवमत्र समवायस्याऽपि प्रतिभानम्। किन्तु द्वयोरेव धर्मधर्मिणोः। इति शपथप्रत्यायनीयोऽयं समवाय इति भावार्थः। किं चायं तेन वादिना एको नित्यः सर्वव्यापको मूर्तश्च परिकल्प्यते, ततो यथा घटाऽऽश्रिताः पाकजरूपाऽऽदयो धर्माः समवायसम्बन्धेन समवेतास्तथा किं न पटेऽपि?, तस्यैकत्वनित्यत्वव्यापकत्वैः सर्वत्र तुल्यत्वात्। यथाऽऽकाश एको नित्यो व्यापकः, अमूर्तश्च सन्सर्वैः सम्बन्धिभिर्युगपदविशेषेण सम्बध्यते, तथा किं नायमपीति विनश्यदेकवस्तुसमवायाभावे च समस्तवस्तुसमवायाभावः प्रसज्यते। तत्तदवच्छेदकभेदान्नायं दोष इति चेदेवमनित्यत्वाऽऽपत्तिः। प्रतिवस्तु स्वभावभेदादिति। अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिभासनं, यतस्तस्येहेतिप्रत्ययः सावधानं साधनम्। इहप्रत्ययश्चानुभवसिद्ध एव। इह तन्तुषु पटः, इहाऽऽत्मनि ज्ञानमिह घटे रूपाऽऽदय इति प्रतीतेरुपलम्भात्। अस्य च प्रत्ययस्य केवलधर्मधर्म्यनालम्बनत्वादस्ति समवायाऽऽख्यं पदार्थान्तरं तद्धेतुः, इति पराशङ्कामभिसंधाय पुनराह-इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्ताविति। इहेदमिति इहेदमिति आश्रयाऽऽश्रयिभावहेतुक इहप्रत्ययो वृत्तावप्यस्ति समवायसम्बन्धेऽपि विद्यते, चशब्दोऽपिशब्दार्थः, तस्य च व्यवहितसम्बन्धः, तथैव च व्याख्यातम्। इदमत्र हृदयम्-यथा त्वन्मते पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात्पृथिवी, तत्र पृथिवीत्वं पृथिव्या एव स्वरूपमस्तित्वाख्यं, नापरं वस्त्वन्तरं, तेन स्वरूपेण समं योऽसावभिसम्बन्धः पृथिव्याः, स एव समवाय इत्युच्यते, "प्राप्तानामेव प्राप्तिः समवायः" इति वचनात्। एवं समवायत्वाभिसंबन्धात्समवाय इत्यपि किं न कल्प्यते?। यतस्तस्यापि यत्समवायत्वं स्वस्वरूपं, तेन सार्द्धं सम्बन्धोऽस्त्येव। अन्यथा निःस्वभावत्वात् शशविषाणवदवस्तुत्वमेव भवेत्। ततश्च इह समवाये समवायित्वमित्युल्लेखेन इहप्रत्ययः समवायेऽपि युक्त्या घटत एव। ततो यथा पृथिव्यां पृथिवीत्वं समवायेन समवेतम्, समवायेऽपि समवायत्वमेव समवायान्तरेण संबन्धनीयं, तदप्यपरेणेत्येवं दुस्तराऽनवस्थामहानदी। एवं समवायस्याऽपि समवायत्वाभिसम्बन्धे युक्त्या उपपादिते साहसिक्यमालम्ब्य पुनः पूर्वपक्षवादी वदति-ननु पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वाऽऽदिसम्बन्धनिबन्धनं समवायो मुख्यस्तत्र त्वतलाऽऽदिप्रत्ययाभिव्यङ्ग्यस्य संगृहीतसकलावान्तरजातिलक्षणव्यक्तिभेदस्य सामान्यस्योद्भवात्। इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिभेदाऽभावे जातेरनुद्भूतत्वाद् गौणोऽयं युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवायत्वाभिसम्बन्धः तत्साध्यश्च समवाय इति। तदेतन्न विपश्चिच्चेतश्चमत्कारकारणम्। यतोऽत्रापि जातिरुद्भवन्ती केन निरुध्येत?। व्यक्तेरभेदेनेति चेत्। न तत्तदवच्छेदकवशात्तद्भेदोपपत्तौ व्यक्तिभेदकल्पनाया दुर्निवारत्वात्। अन्यो हि घटसमवायोऽन्यश्च पटसमवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्तिभेद इति। तत्सिद्धौ सिद्ध एव जात्युद्भवस्तस्मादन्यत्राऽपि मुख्य एव समवायः, इहप्रत्ययस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्। तदेतत्सकलं सपूर्वपक्षं समाधानं मनसि निधाय सिद्धान्तवादी प्राऽऽह-न गौण इति योऽयं भेदः स नास्ति, गौणलक्षणाभावात्। तल्लक्षणं चेत्थमाचक्षते-"अव्यभिचारी मुख्यो-ऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च। विपरीतो गौणोऽर्थः, सति मुख्ये धीः कथं गौणे?॥१॥" तस्माद्धर्मधर्मिणोः सम्बन्धेन मुख्यः समवायः, समवाये च समवायत्वाभिसम्बन्धे गौण इत्ययं भेदो नानात्वं नास्तीति

भावार्थ. । किं च-योऽयमिह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययात्समवायसाधनमनोरथ, स खल्वनुहरते नपुंसकादपत्यप्रसवमनोरथम, इह तन्तुषु पट इत्यादिव्यवहारस्यालौकिकत्वात्पांशुलपादानामपि इह पटे तन्तव इत्येव प्रतीतिदर्शनात । इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात । अत एवाऽऽह-अपि च लोकबाध इति । अपि चेति दूषणाऽभ्युच्चये। लोक प्रामाणिकलोक सामान्यलोकश्च, तेन बाधो विरोधो लोकबाधस्तदप्रतीतव्यवहारसाधनात् बाधशब्दस्य "ईहाऽऽद्या प्रत्ययभेदत " इति पुंस्त्रीलिङ्गता । तस्माद्धर्मधर्मिणोरविष्वग्भावलक्षण एव सवन्ध प्रतिपत्तव्यो नान्यः समवायाऽऽदि. । इति काव्यार्थ. ॥७॥ स्या० ।

(३) धर्मानुरूपो हि सर्वत्रापि धर्मी । यथा काठिन्य प्रति पृथिवी, यदि पुनरनुरूपत्वाभावेऽपि धर्मधर्मिभावो भवेत् ततः काठिन्यजलयोरपि स भवेत, तन्न भवति, तस्मादचेतना. पुद्गलाः । तथा चोक्तम्-

" वाइसभावममुत्त, विसयपरिच्छेयग च वेयन्न ।
विवरीयसहावाणि य, भूढाणि जगप्पसिद्धाणि ॥ १ ॥
ता धम्मधम्मिभावो, कहमेएसिं अणुभव गाहे ।
अणुरूवत्ताभावे,कादिन्नजलाण किं न भवे ?॥२॥" आ० म०१ अ०२ खण्ड। जीवपुद्गलानां गतिपर्यायेण धारणाद् धर्म्म.। धर्मास्तिकाये,भ०२० श० २ उ० । अनु० । "एगे धम्मे।"धर्मो धर्मास्तिकाय । स० १ सम० । स्था० । धर्मो धर्मास्तिकायो गत्युपष्टम्भगुण । स्था०२ ठा० १ उ० । (वक्तव्यता 'धम्मत्थिकाय' शब्दे द्रष्टव्या)मर्यादायाम्, धर्म , स्थिति ,समयो,व्यवस्था, मर्यादेत्यनर्थान्तरमिति । आ० चू० २ अ० । प्रति० । आचारे,बृ० १ उ० १ प्रक० । उत्त० । धर्मो यतिश्राद्धाचारलक्षण इति । ध० २ अधि० । दुर्गतौ प्रपततो जीवान् धारयति सुगतौ च तान्स्थापयतीति धर्म । स्था० १ ठा० । " दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्धारयते पुन । धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृत ॥ १ ॥ " न० । आ० चू० । आव० । ओघ० । आ० म० । ज्ञा० । दश० । पञ्चा० । पा० । सूत्र० । इत्युक्तलक्षणे दुर्गतिगर्त्तनिपतज्जन्तुजातधरणप्रवणपरिणामपूर्वके (पञ्चा० १ विव०) कुशलानुष्ठाने, पञ्चा० ४ विव० । सूत्र० । दुर्गतिगर्तनिपतज्जन्तुजातत्राणदानक्षमे,दर्श० १ तत्त्व । संसारोद्धरणस्वभावे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्वर्गापवर्गमार्गभूते, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । दर्श० । ध० र० । आव० । अभ्युदयनि श्रेयससिद्धिसाधने, (ध० १ अधि०) पुण्यलक्षणे आत्मपरिणामे, धर्माधर्म्मौ पुण्यपापलक्षणौ स्वानुभवत्वादात्मपरिणामरूपाविति । आव०४ अ० । सूत्र० । (पुण्यभङ्गास्तद्वक्तव्यता च 'पुण्ण' शब्दे द्रष्टव्या) सम्यग्दर्शनाऽऽदिके कर्मक्षयकारणे आत्मपरिणामे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । सम्यग्दर्शनमूलोत्तरगुणसंहतिस्वरूपो धर्म इति । न० । धर्म. सम्यग्ज्ञानदर्शनचरणाऽऽत्मक इति । त०। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मक धर्ममिति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । श्रुतचारित्राऽऽख्याऽऽत्मके कर्मक्षयकारणे जीवस्याऽऽत्मपरिणामे,सूत्र० २ श्रु०५ अ० । धर्मो भावतश्चारित्रधर्मो, धर्महेतुत्वात् श्रुतधर्मश्चेति । दश० १ अ० । स० । आ० चू० । धर्मो द्विविध -श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्चेति । आव० ५ अ० । स० । भ० । प्रति० । त० । प० सू० । औ० । स्था० । ज० । सथा० । प्रश्न० । सूत्र० । आचा० । उत्त० । पा० । धर्म संसारोद्धरणस्वभाव.,जिनप्रणीत वा श्रुतचारित्राऽऽख्यमिति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । उत्त० । स० । धर्म. क्षायिकचारित्राऽऽदिरिति । स्था० ३ ठा० १ उ० । सूत्र० । दुर्गतिनिषेधेन शोभनगतिधारणाद् धर्म श्रुतचारित्राऽऽख्यमिति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । स्था० । आव० । " धम्माण कासवो मुह ।" धर्माणां श्रुतधर्माणां चारित्रधर्माणा च काश्यप आदीश्वरो मुख वर्तते, धर्माः सर्वेऽपि तेनैव प्रकाशिता इत्यर्थ । उत्त० २५ अ० । सर्ववित्प्रणीतेऽहिंसाऽऽदिलक्षणे सम्यक्त्वे, दर्श० १ तत्त्व । सूत्र० । दश० । क्षान्त्यादिके श्रमणधर्मे, दश० ६ अ० । प्रश्न० । " न ते धम्मविऊ जणा ।" क्षान्त्यादिको दशविधो धर्म इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । प्रति० । उत्त० । पा० । स्था० । आव० । प्राणातिपातविरमणाऽऽदिके श्रावकधर्मे, दश० ६ अ० । सूत्र० । दानाऽऽदिके श्रावकधर्मे च । सथा० । धर्मास्तित्वं विशेषावश्यके यथा-" समासु तुल्य विषमासु तुल्य, सतीष्वसत्स्वप्यसतीषु सत्त्व । फल क्रियास्वित्यथ यन्निमित्त, तद्देहिनां सोऽस्ति नु कोऽपि धर्म ?॥ १ ॥ " विशे० । (१९१७ गाथाटी०) (विस्तरेणानुमानाऽऽदिना तत्सिद्धि. 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २५२ पृष्ठे द्रष्टव्या) (एकान्तेन धर्माधर्मयोरस्तित्वनास्तित्वे नाभ्युपेये इति ' अणेगतवाय ' शब्दे प्रथमभागे ४२६ पृष्ठे प्रोक्तम्)

(४) अथ धर्मपदवाच्यमाह-

वचनादविरुद्धाद्य-दनुष्ठानं यथोदितम् ।
मैत्र्यादिभावसंमिश्रं, तद्धर्म इति कीर्त्यते ॥ ३ ॥

उच्यते इति वचनमागम ,तस्माद्वचनमनुसृत्येत्यर्थ., ल्यब्लोपे पञ्चमीय, यदनुष्ठानमिहलोकपरलोकावपेक्ष्य हेयोपादेययोरर्थयोरिहैव शास्त्रे वक्ष्यमाणलक्षणयोर्हानोपादानलक्षणा प्रवृत्तिरिति तद्धर्म इति कीर्त्यते इत्युत्तरेण योग. । कीदृशाद्वचनादित्याह-अविरुद्धात् कषच्छेदतापेषु अविघटमानात, तत्र विधिप्रतिषेधयोर्बाहुल्येनोपवर्णन कषशुद्धि , पदे पदे तद्योगक्षेमकारिक्रियोपदर्शन छेदशुद्धिः, विधिप्रतिषेधतद्विषयाणां जीवाऽऽदिपदार्थाना च स्याद्वादपरीक्षया यथात्म्येन समर्थन तापशुद्धि. । तदुक्त धर्मबिन्दौ-" विधिप्रतिषेधौ कषः । तत्संभवपालनाचेष्टोक्तिश्छेद' । उभयनिबन्धनभाववादस्ताप इति ।" तथाविरुद्ध वचन जिनप्रणीतमेव, निमित्तशुद्धे', वचनस्य हि वक्ता निमित्तमन्तरङ्ग, तस्य च रागद्वेषमोहपारतन्त्र्यमशुद्धिस्तेभ्यो वितथवचनप्रवृत्ते , न चैषा शुद्धिर्जिने भगवति, जिनत्वविरोधात्,जयति रागद्वेषमोहरूपान्तरङ्गान् रिपूनितिशब्दार्थानुपपत्ते ,तपनदहनाऽऽदिशब्दवदन्वर्थतया चास्याभ्युपगमाद्, निमित्तशुद्ध्यभावाभावाज्जिनप्रणीतवचनमविरुद्ध,यत. कारणस्वरूपानुविधायि कार्य,तन्न दुष्टकारणाऽऽरब्ध कार्यमदुष्ट भवितुमर्हति निम्बबीजादिवेक्षुयष्टिरिति । अन्यथा-कारणव्यवस्थोपरमप्रसङ्गात् यच्च यदृच्छाप्रणयनप्रवृत्तेषु तीर्थान्तरीयेषु रागाऽऽदिमत्स्वपि घुणाक्षरोत्किरणव्यवहारेण क्वचित्किञ्चिदविरुद्धमपि वचनमुपलभ्यते, मार्गानुसारिबुद्धौ वा प्राणिनि क्वचित, तदपि जिनप्रणीतमेव, तन्मूलत्वात्तस्य । तदुक्तमुपदेशपदे-" सव्वप्पवायमूल, दुवालसग जओ जिणक्खाय । रयणागरतुल्ल खलु, तो सव्व सुदर तम्मि " ॥ १ ॥ इति । कीदृशमनुष्ठान धर्म इत्याह-" यथोदितम् " यथा येन प्रकारेण कालाऽऽद्याराधनानुसाररूपेण उदित प्रतिपादित, तत्रैवाविरुद्धे वचने इति गम्य-

म, अन्यथाप्रवृत्तौ तु तद्वेषित्वमेवाऽऽपद्यते न तु धर्मः। यथोक्तम्-" तत्कारी स्यात्स नियमा-त्तद्वेषी चेति यो जडः । आगमार्थे तमुल्लङ्घ्य, तत एव प्रवर्त्तते " ॥ १ ॥ इति । धर्मदासक्षमाश्रमणैरप्युक्तम्-" जो जहवाय न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी तश्रो हु को अन्नो ? । वड्ढेइ मिच्छत्त, परस्स सक जणेमाणो " ॥१॥ इति । पुनरपि कीदृशमित्याह-मैत्र्यादिभावसंमिश्रम् । मैत्र्यादय मैत्रीमुदिताकरुणामाध्यस्थ्यलक्षणा ये भावा अन्तःकरणपरिणामाः तत्पूर्वकाश्च धर्मानुष्ठानविशेषा सत्त्वगुणाऽधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु तैः संमिश्रं संयुक्तं, मैत्र्यादिभावानां श्रेयसाऽभ्युदयफलधर्मकल्पद्रुममूलत्वेन शास्त्रान्तरेषु प्रतिपादनात्, तत्र समस्तसत्त्वविषय. स्नेहपरिणामो मैत्री १, नमनप्रसादाऽऽदिभिर्गुणाधिकेष्वभिव्यज्यमानाऽन्तर्भक्तिरनुरागः प्रमोद २,दीनाऽऽदिष्वनुकम्पा करुणा ३ अरागद्वेषवृत्तिर्माध्यस्थ्यमिति ४। तदेवंविधमनुष्ठान धर्म इति दुर्गतिप्रपतज्जन्तुजातधारणात्स्वर्गाऽऽदिसुगतौ धानाच्च धर्म इत्येवंरूपतेन कीर्त्यते शब्द्यते सकलाकल्पितभावकल्पनाकल्पनकुद्दाले सुधीभिरिति। नन्वेव वचनानुष्ठान धर्म इति प्राप्त, तथा च प्रीतिभक्त्यसङ्गानुष्ठानेष्वव्याप्तिरिति चेन्न, वचनव्यवहारक्रियारूपधर्मस्यैवात्र लक्ष्यत्वेनाव्याप्त्यभावादिति । वस्तुत प्रीतिभक्तित्वे इच्छागतजातिविशेषौ, तद्वज्जन्यत्वेन प्रीतिभक्त्यनुष्ठानयोर्भेद , वचनानुष्ठानत्व वचनस्मरणनियतप्रवृत्तिकत्वम्, एतत्त्रितयभिन्नानुष्ठानत्वम् असङ्गानुष्ठानत्व निर्विकल्पस्वरसवाहिप्रवृत्तिकत्व वा । इह तु वचनादित्यत्र वेदात्प्रवृत्तिरित्यत्रेव प्रयोज्यत्वार्थिका पञ्चमी, तथा च वचनप्रयोज्यप्रवृत्तिकत्व लक्षणमिति न कुत्राप्यव्याप्तिदोषावकाशः, प्रीतिभक्त्यसङ्गानुष्ठानानामपि वचनप्रयोज्यत्वानपायात् ।

"धर्मश्चित्तप्रभवो, यतः क्रियाऽधिकरणाऽऽश्रयं कार्यम् ।
मलविगमेनैतत् खलु, पुष्ट्यादिमदेव विज्ञेय ॥ २ ॥
रागाऽऽदयो मला खलु-त्वागमसद्योगतो विगम एषाम् ।
तदय क्रियात एव हि, पुष्टिश्चित्तस्य शुद्धस्य ॥ ३ ॥
पुष्टि पुण्योपचयः, शुद्धि पापक्षयेण निर्मलता ।
अनुबन्धिनि द्वयेऽस्मिन्,क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया ॥ ४ ॥ " (षो० ३ विव०)

इत्यादि षोडशकग्रन्थानुसारेण तु पुष्टिशुद्धिमच्चित्त भावधर्मस्य लक्षण,तदनुगता क्रिया च व्यवहारधर्मस्येति पर्यवसन्नम्। प्रतिपादित चेत्थमेव महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिभिरपि स्वकृतद्वात्रिंशिकायाम्। इत्थ च शुद्धानुष्ठानजन्या कर्ममलापगमलक्षणा सम्यग्दर्शनाऽऽदिनिर्वाणबीजलाभफला जीवशुद्धिरेव धर्मः। यच्चेहाऽविरुद्धवचनादनुष्ठानं धर्म इत्युच्यते, तदुपचारात् । यथा-तन्दुलोदक पादरोग। एतेन व्यवहारभावधर्मयोरुभयोरपि लक्षणे उपपादिते भवत , भावलक्षणस्य हृद्ये उपचारेणैव लाभात्, अन्योऽन्यानुगतत्व च तयोस्तत्र तत्र प्रसिद्धमिति ? ॥३॥

प्रदर्शित धर्मलक्षणम् । अमुमेव धर्म भेदत प्रभेदतश्च विभणिषुराह-

स द्विधा स्यादनुष्ठातृ-गृहियतिविभागतः ।
सामान्यतो विशेषाच्च, गृहिधर्मोऽप्यय द्विधा ॥ ४ ॥

स यः पूर्वं प्रवक्तुमिष्टो धर्मो द्विधा द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां स्याद् भवेत् । कुत इत्याह-"अनुष्ठातृगृहियतिविभागत इति ।" अनुष्ठातारौ धर्मानुष्ठायकौ यौ गृहियतिनौ तयोर्विभागतो विशेषात्, गृहस्थधर्मो यतिधर्मश्चेति भाव । तत्र गृहमस्यास्तीति गृही, तद्धर्मश्च नित्यनैमित्तिकानुष्ठानरूपः, व्रतानि महाव्रतानि विद्यन्ते यस्मिन् स यती, तद्धर्मश्च चरणकरणरूप । तत्र च गृहिधर्म विशिनष्टि-' गृहिधर्मोऽपीति ।' अय साक्षादेव इदि वर्तमानतया प्रत्यक्षो गृहिधर्म उक्तलक्षणः, किं पुनः सामान्यधर्म इत्यपिशब्दार्थ । द्विधा द्विभेद , द्वैविध्य दर्शयति-सामान्यतो विशेषाच्चेति । तत्र सामान्यतो नाम सर्वविशिष्टजनसाधारणानुष्ठानरूप , विशेषात् सम्यग्दर्शनाणुव्रताऽऽदिप्रतिपत्तिरूप , चकार उक्तसमुच्चय इति ॥ ४ ॥ ध० १ अधि० ।
(गृहिधर्म ' ' गिहिधम्म ' शब्दे तृतीयभागे ८८७ पृष्ठे दृश्यः)

(५) अथ लोकोत्तरमाह-

धम्मो बावीसविहो, अगारधम्मोऽणगारधम्मो य ।
पढमो य बारसविहो, दसहा पुण बीयओ होइ ॥ १२॥

धर्मो द्वाविंशतिविध सामान्येन द्वाविंशतिप्रकारः, अगारधर्मो गृहस्थधर्म , अनगारधर्मश्च साधुधर्म । प्रथमश्चागारधर्मो द्वादशविध । दशधा पुनर्द्वितीयोऽनगारधर्मो भवतीति गाथासमासार्थ ॥ १२ ॥ दश० ६ अ० । उपा० । पञ्चा० । स्था० ।
(यतिधर्म. 'जइधम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३६४ पृष्ठे द्रष्टव्य)

(६) व्यासार्थं चाह-

सम्मत्तमूलमणुव्वय-पणगं तिन्नि उ गुणव्वया होंति ।
सिक्खावयाई चउरो, बारसहा होइ गिहिधम्मो ॥ २ ॥

तत्र सम्यक्त्व निःसङ्केऽपि देशघाती ऽऽयातमिथ्यात्वमोहनीयकर्ममलपरिणाम , तन्मूलमाद्य प्रथम यस्य तत्सम्यक्त्वमूलम्, अणूनि लघूनि व्रतानि अणुव्रतानि, महाव्रतापेक्षया तेषामतिसूक्ष्मत्वात् । यदि वा-अनु पश्चात् महाव्रतकथनापेक्षया कथनीयत्वेन व्रतानि अनुव्रतानि, तेषां पञ्चकमणुव्रतपञ्चकम-नुव्रतपञ्चक वा । (तिन्नि त्ति) सख्यैतानि,तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् त्रीण्येव न तु पञ्च चत्वारि वा,तेषामन्यथारूढत्वात् । किम् ?,गुणव्रतानि,प्राकृतत्वात् पुँल्लिङ्गता, व्रतानि गुणव्रतानि भवन्ति जायन्ते, श्रावक.धर्म इत्यध्याहारः । चतुश्चत्वारि शिक्षाऽभ्यासस्तद्रूपाणि व्रतानि चतु शिक्षाव्रतानि, तैः सहितः समन्वितः, इतिशब्दस्येह लुप्तदर्शनाद् व्रत इति श्रावकधर्मो द्वादशधा द्वादशप्रकार । इदमत्र हृदयम्-सम्यक्त्वमूलमणुव्रतपञ्चकं श्रावकधर्मो भवति, त्रीणि गुणव्रतानि च चतुःशिक्षापदसहितश्च श्रावकधर्मो भवति । यद्वा-सम्यक्त्व मूलमस्य सम्यक्त्वमूल ,नपुंसकता तु प्राकृतप्रभवा । अणुव्रताना पञ्चक यत्र सोऽणुव्रतपञ्चक.,प्राकृतवशाच्चान्यथानिर्देश ।तत पञ्चाणुव्रतिक, शेष पूर्ववदिति गाथार्थ । दर्श० २ तत्त्व ।

तथा च-

पाणे य णाइवाएज्जा, अदिन्नं पि य णादए ।
सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥ १९ ॥

प्राणप्रियाणां प्राणिना प्राणान्नातिपातयेत् । तथा परेणाऽदत्तं दन्तशोधनमात्रमपि, नाददीत न गृह्णीयात् । तथा-सहाऽऽदिना मायया वर्त्तत इति सादिकं समायम्,मृषावाद न ब्रूयात् । तथाहि-परवञ्चनार्थं मृषावादोऽधिक्रियते, स च न मायामन्तरेण भवतीत्यतो मृषावादस्य माया आदिभूता वर्त्तते । इदमुक्त भवति-यो हि परवञ्चनार्थं समायो मृषावाद. स परिह्रियते । यस्तु

संयमगुप्त्यर्थं न मया मृगा उपलब्धा इत्यादिकः स न दोषायेति । एष य. प्राक् निर्दिष्टो धर्मः, श्रुतचारित्राऽऽख्यस्वभावो वा (वुसीमउ त्ति) छान्दसत्वान्निर्देशार्थस्त्वयम् । वस्तूनि ज्ञानाऽऽदीनि, तद्वतो ज्ञानाऽऽदिमत इत्यर्थः । यदि वा (वुसीमउ त्ति) वश्यस्य आत्मवशगस्य, वश्येन्द्रियस्येत्यर्थः ॥ १९ ॥

अपि च-

अतिक्कमं ति वायाए, मणसा वि न पत्थए ।
सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ॥ २० ॥

(अइक्कमंतीत्यादि) प्राणिनामतिक्रमं पीडाऽऽत्मकं, महाव्रतातिक्रमं वा मनोऽवष्टब्धतया परतिरस्कारं वा, इत्येवंभूतमतिक्रमं वाचा मनसाऽपि न प्रार्थयेत् । एतद्द्वयनिषेधे च कायातिक्रमो दूरत एव निषिद्धो भवति । तदेवं मनोवाक्कायकृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेनातिक्रमं न कुर्यात् । तथा इन्द्रियदमनेन तपसा वा दान्तः सन् मोक्षस्याऽऽदानमुपादानं सम्यग्दर्शनाऽऽदिकं सुष्ठूद्युक्तः सम्यग्विस्रोतसिकारहितं आहरेत् आददीत, गृह्णीयादित्यर्थः ॥ २० ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

(७) अधुना यतिधर्मस्यावसरः । यद्वा-सम्यगज्यस्तश्रावकधर्मस्यातितीव्रस्यैकान्ततो भवभ्रमणविमुखस्य संयतातिशिवसुखाभिलाषातिरेकस्य यतिधर्मकरणश्रद्धोत्पद्यते, अतस्तत्स्वरूपनिरूपणायेदमाह-

खंती य मद्दवऽज्जव, मुत्ती तवसंजमे य बोधव्वे ।
सच्चं सोयं आकिं-चणं च बंभं च जइधम्मो ॥४॥

प्रायः प्रतीतार्थैव, नवरमाद्यपदचतुष्टयेन कषायजयः प्रतिपादितः । तपः पुनर्द्वादशप्रकारं, तच्चान्यतोऽवसेयम् । संयमश्च सप्तदशविधः । यत उक्तम्-" पञ्चाऽऽश्रवाद्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः । दण्डत्रयविरतिश्चे-ति संयमः सप्तदशभेदः ॥ १ ॥ " सत्यं सर्वथाऽलीकपरिहरणं, शौचं वचनक्रिययोरविसंवादेन सदाचारता, आकिञ्चन्यं किञ्चन द्रव्यमुच्यते, ततो न किञ्चनमकिञ्चनमकिञ्चनस्य भाव आकिञ्चन्यमव्ययतेत्यर्थः । यतिधर्मो भवतीति सर्वत्र योजनीयम् । मुक्तिपदोपादानेऽप्याकिञ्चन्यस्य लब्धत्वादाकिञ्चनपदोपादानं विशेषद्योतनार्थम् । विशेषश्चात्र संयमोपष्टम्भनिमित्तं किञ्चित्प्राशुकैषणीयमुपकरणं धारयन्नपि मुक्ततोपेत एव भवति । ननु पुनरतिजडताऽवष्टब्धमना दिगम्बरपरिकल्पनया मुक्तिमान् , तस्या असंयमाऽऽदिदोषदुष्टत्वेनाभिमतत्वात् तर्हि संयमोपकारायैव सकिञ्चनताऽपि भविष्यति मुक्तता, नेत्याह-सर्वथैव संयमोपघातकत्वेनातिदुष्टत्वादिति । चशब्दः समुच्चयार्थः । ब्रह्म च ब्रह्मचर्यं, स्त्रीसेवापरिहार इति गाथार्थः । दर्श० २ तत्त्व । स्था० ।

तिविहे धम्मे पण्णत्ते । तं जहा-सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे ।

(तिविहे धम्मे इत्यादि) श्रुतमेव धर्मः श्रुतधर्मः स्वाध्यायः, एवं चारित्रधर्मः क्षान्त्यादिश्रमणधर्मः । अयं च द्विविधोऽपि द्रव्यभावभेदे धर्मे भावधर्म उक्तः । यदाह-"दुविहो उ भावधम्मो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य । सुयधम्मे सज्झाओ, चरित्तधम्मे समणधम्मो ॥१॥ " इति । अस्तिशब्देन प्रदेशा उच्यन्ते, तेषां कायो राशिरस्तिकायः, स चासौ संज्ञया धर्मश्चेत्यस्तिकायधर्मो, गत्युपष्टम्भलक्षणो धर्मास्तिकाय इत्यर्थः । अयं च द्रव्यधर्म इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

प्रकारान्तरेण धर्मभेदानाह-

तिविहे भगवया धम्मे पण्णत्ते । तं जहा-सुअहिज्जिए, सुज्झाइए, सुतवस्सिए । जया सुअहिज्जियं भवइ तदा सुज्झाइयं भवइ, जया सुज्झाइयं भवइ तया सुतवस्सियं भवइ । से सुअहिज्जिए सुज्झाइए सुतवस्सिए सुयक्खाए णं भगवया धम्मे पण्णत्ते ॥

" तिविहे" इत्यादि स्पष्टं, केवलं भगवता महावीरेणेत्येवं जगाद सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्रतीति, सुष्ठु कालविनयाऽऽद्याराधनेनाधीतं गुरुसकाशात् सूत्रतः पठितं स्वधीतं तथा सुष्ठु विधिना तत एव व्याख्यानेनार्थतः श्रुत्वा ध्यातमनुप्रेक्षितं श्रुतमिति गम्यं सुध्यातम्, अनुप्रेक्षणाभावे तत्त्वानवगमेनाध्ययनश्रवणयोः प्रायोऽकृतार्थत्वादिति । अनेन भेदद्वयेन श्रुतधर्म उक्तः । तथा सुष्ठु इहलोकाऽऽद्याशंसारहितत्वेन तपसितं तपस्यनुष्ठानं सुतपसितमिति चारित्रधर्म उक्त इति अयाणामप्येषमुत्तरोत्तरतोऽविनाभावं दर्शयति-" जया " इत्यादि व्यक्तं, परं निर्दोषाध्ययनं विना श्रुतार्थाप्रतीतेः सुध्यातं न भवति, तदभावे ज्ञानविकलतया सुतपसितं न भवतीति भावः । यदेतत् स्वधीताऽऽदित्रयं भगवता वर्द्धमानस्वामिना धर्मः प्रज्ञप्तः (से त्ति) स स्वाख्यातः सुष्ठूक्तः सम्यग्ज्ञानक्रियारूपत्वात् तयोश्चैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकसुखावन्ध्योपायत्वेन निरुपचरितधर्मत्वात् सुगतिधारणाद्धि धर्म इति । उक्तं च-" नाणपगासयं सो-हओ तओ संजमो य गुत्तिकरो । तिण्हं पि समाओगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥ १ ॥ " इति । णमिति वाक्यालङ्कारे, सुतपसितमिति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

(८) द्रव्यभावभेदेन द्विविधं धर्मं प्रतिपिपादयिषुराह-

दुह दव्वभाव धम्मो, दव्वे दव्वस्स दव्वमेवं वा ।
तित्ताइसब्भावो वा, गम्मादित्थी कुलिंगो वा ॥

धर्मो द्विविधः । तद्यथा-द्रव्यधर्मो, भावधर्मश्च । तत्र द्रव्ये इति द्वारपरामर्शः । द्रव्यविषयो धर्म उच्यते-द्रव्यस्यानुपयुक्तस्य धर्मो मूलोत्तरगुणानुष्ठानं द्रव्यधर्मः, " इह अनुपयुक्तो द्रव्यम् " इति वचनात् । द्रव्यमेव वा धर्मो द्रव्यधर्मः धर्मास्तिकाय (तित्ताइ सहावो वा इति) तिक्ताऽऽदिर्वा द्रव्यस्य स्वभावो द्रव्यधर्मः । (गम्मादित्थी कुलिंगो व त्ति) गम्याऽऽदिर्धर्मः स्त्रीविषयो द्रव्यधर्मः, तत्र केषाञ्चित् मातुलदुहिता गम्या केषाञ्चिदगम्येत्यादि । तथा कुलिङ्गो वा कुतीर्थिकधर्मो द्रव्यधर्मः ।

पाठान्तरम्-

दुविहो उ होइ धम्मो, दव्वधम्मो य भावधम्मो य ।
धम्मत्थिकायदव्वे, दव्वस्स व जस्स जो भावो ॥

सुगमा ।

भावधर्मप्रतिपादनार्थमाह-

दुह होइ भावधम्मो, सुयचरणे वा सुयम्मि सज्झातो ।
चरणम्मि समणधम्मो, खंती मुत्ती भवे दसहा ॥

द्विविधो भवति भावधर्मः । तद्यथा-श्रुतः चरणप्रकारः क्षान्त्यादिः ।

पाठान्तरम्-

भावम्मि होइ दुविहो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य ।
सुयधम्मो सज्झातो, चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥

सुगमा । आ० म० २ अ० । आ० चू० । धर्मो दुर्गतिगर्ता-निपतज्जन्तुजातत्राणदानक्षमः, सोऽपि नामस्थापनाद्रव्यभाव-भेदाद्विधमानश्चतुर्धा सम्भवति । तत्र नामधर्मो यथा-कस्यचित्पुरुषाऽऽदेः सचेतनस्य धर्म इति नाम प्रदीयते । स्थापनाधर्मो यथा-कस्यचिद्वस्तुनो धर्म इति स्थापना विधीयते-एवं मया धर्मः पुनः समस्तान्यधार्मिकैर्धर्मबुद्ध्या परप्रतारणबुद्ध्या वा विधीयमानः सर्वोऽपि स्थानाऽध्ययनाऽऽदि द्रव्यधर्म एव । तथा-सद्दर्शनप्रतिपन्नानां श्रमणाऽऽदीनां चतुर्णामपि यच्चैत्यवन्दनप्रतिक्रमणस्वाध्यायाऽऽद्यनुष्ठानसेवनमविधिनाऽनुपयोगेन तथा-परोपरोधपरचित्तरञ्जनवतां पार्श्वस्थाऽऽदीनां च यदनुष्ठानं तदपि द्रव्यधर्म एव, विवक्षितार्थसाधकत्वादिति । (विशेषश्चाऽत्र 'दव्वधम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४७४ पृष्ठे द्रष्टव्य) भावधर्मस्तु-श्रुतचारित्ररूपः साधुश्रावकाऽऽदिभिः सम्यगुपयोगपूर्वकं विधीयते । यद्वा ग्रामदेशकुलराजधर्मभेदाच्चतुर्विधः,-तत्र ग्रामधर्मो ग्रामाऽऽचारः, एवं देशाऽऽदिष्वप्यायोजनीयम् । दानाऽऽदिभेदेन वा चातुर्विध्यम् । तच्च प्रतीतमेवातो नेह प्रतन्यते । दर्श० ४ तत्त्व ।

तथा च सूत्रकृताङ्गनिर्युक्तौ धर्मस्य नामाऽऽदिनिक्षेपं दर्शयितुमाह-

णामं ठवणा धम्मो, दव्वधम्मो य भावधम्मो य ।
सचित्ताचित्तमीसग-गिहत्थदाणे दवियधम्मे ॥ २ ॥

(नाम ठवणेत्यादि) नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धा धर्मस्य निक्षेपः । तत्राऽपि नामस्थापनेऽनादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो धर्मः सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा । तत्राऽपि सचित्तस्य जीवच्छरीरस्योपयोगलक्षणो धर्मः स्वभावः । एवमचित्तानामपि धर्मास्तिकायानां यो यस्य स्वभावः स तस्य धर्म इति । तथाहि-" गइलक्खणओ धम्मो, ठाणलक्खणओ अहम्मो य । भायणं सव्वदव्वाणं, नहं अवगाहलक्खणं ॥ १ ॥ " पुद्गलास्तिकायोऽपि ग्रहणलक्षण इति मिश्रद्रव्याणां च क्षीरोदकाऽऽदीनां यो यस्य स्वभावः स तद्धर्मतयाऽवगन्तव्य इति । गृहस्थानां च यः कुलनगरग्रामाऽऽदिधर्मो गृहस्थेभ्यो गृहस्थानां वा यो दानधर्मः स द्रव्यधर्मः (सूत्र०) ।

भावधर्मस्वरूपनिरूपणायाऽऽह-

लोइयलोउत्तरिओ, दुविहो पुण होति भावधम्मो उ ।
दुविहो वि दुविहतिविहो, पचविहो होति णायव्वो ॥३॥

(लोइय इत्यादि) भावधर्मो नोआगमतो द्विविधः । तद्यथा-लौकिको, लोकोत्तरश्च । तत्र लौकिको द्विविधः-गृहस्थानां, पाखण्डिकानां च । लोकोत्तरस्त्रिविधः-ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात् । तत्राऽप्याभिनिबोधिकं ज्ञानं पञ्चधा । दर्शनमप्यौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकवेदकक्षायिकभेदात् पञ्चविधम् । चारित्रमपि सामायिकाऽऽदिभेदात् पञ्चविधम् । गाथाक्षराणि त्वेवं नेयानि । तद्यथा-भावधर्मो लौकिकलोकोत्तरभेदाद् द्विधा, द्विविधोऽपि चाऽयं यथासङ्ख्येन द्विविधस्त्रिविधः । तत्रैव लौकिको गृहस्थ-पाखण्डिकभेदाद्-द्विविधः । लोकोत्तरोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात् त्रिविधः । ज्ञानाऽऽदीनि प्रत्येकं त्रीण्यपि पञ्चधैवेति । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

(९)धर्मपदमधिकृत्य सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिप्रतिपादनाय।

णामं ठवणा धम्मो, दव्वधम्मो अ भावधम्मो उ ।
एएसिं णाणत्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ३९ ॥

(णाम ठवणा धम्मो त्ति) अत्र धर्मशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । नामधर्मः, स्थापनाधर्मो, द्रव्यधर्मो, भावधर्मश्च । एतेषां नानात्वं भेदं वक्ष्ये अभिधास्ये, यथानुपूर्व्या यथानुपरिपाट्येति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

साम्प्रतं नामस्थापने क्षुण्णत्वादागमतो नोआगमतश्च ज्ञानुपयुक्तज्ञशरीरेतरभेदांश्चानादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यधर्माऽऽद्यभिधित्सयाऽऽह-

दव्वं च अत्थिकाओ, पयारधम्मो य भावधम्मो य ।
दव्वस्स पज्जवा जे, ते धम्मा तस्स दव्वस्स ॥ ४० ॥

इह त्रिविधोऽधिकृतो धर्मः । तद्यथा-द्रव्यधर्मः, अस्तिकायधर्मः, प्रचारधर्मश्चेति । तत्र द्रव्यं चेत्यनेन धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदभेदाद् द्रव्यधर्ममाह । तथाऽस्तिकाय इत्यनेन तु सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा उपलक्षणत्वादवयवे समुदायशब्दोपचारादस्तिकायधर्म इति । प्रचारधर्मश्चेत्यनेन ग्रन्थेन द्रव्यदेशमाह । भावधर्मश्चेत्यनेन तु भावधर्मस्य स्वरूपमाह । साम्प्रतं प्रथमोद्दिष्टद्रव्यधर्मस्वरूपाभिधित्सयाऽऽह-द्रव्यस्य पर्याया ये उत्पादविगमाऽऽदयस्ते च धर्मास्तस्य द्रव्यस्य, ततश्च द्रव्यस्य धर्मा द्रव्यधर्मा इत्यनामसत्ताकद्रव्यधर्माभावप्रदर्शनार्थो बहुवचननिर्देश इति गाथार्थः ॥ ४० ॥

इदानीमस्तिकायाऽऽदिधर्मस्वरूपप्रतिपिपादयिषयाऽऽह-

धम्मत्थिकायधम्मा, पयारधम्मो य विसयधम्मो उ ।
लोइय कुप्पावणिओ, लोगुत्तरलोगिणेगविहो ॥ ४१ ॥

धर्मग्रहणाद्धर्मास्तिकायपरिग्रहः । ततश्च धर्मास्तिकाय एव गत्युपष्टम्भकोऽसङ्ख्येयप्रदेशात्मकोऽस्तिकायधर्म इति । अन्ये तु व्याचक्षते-धर्मास्तिकायाऽऽदिस्वभावोऽस्तिकायधर्म इत्येतच्चायुक्तम् । तत्र धर्मास्तिकायाऽऽदीनां द्रव्यत्वेन तस्य द्रव्यधर्माव्यतिरेकादिति । तथा-प्रचारधर्मश्च विषयधर्म एव, तु-शब्दस्यैवकारार्थत्वात् । तत्र प्रचरणं प्रचारः, प्रकर्षेण गमनमित्यर्थः । स एवाऽऽत्मस्वभावत्वाद्धर्मः प्रचारधर्मः । स च किंविषीदन्त्येतेषु प्राणिन इति विषया रूपाऽऽदयः तद्धर्म एव । तथा च वस्तुतो विषयधर्म एवाऽयं यद्भागाऽऽदिमान् सत्त्वस्तेषु प्रवर्त्तत इति । चक्षुरादीन् द्रव्यवशतो रूपाऽऽदिषु प्रवृत्तिः प्रचारधर्म इति हृदयम् । प्रधानसंसारनिबन्धनत्वेन चास्य प्राधान्यख्यापनार्थं द्रव्यधर्मात्पृथगुपन्यासः । इदानीं भावधर्मः, स च लौकिकाऽऽदिभेदभिन्न इति । आह च-लौकिकः कुप्रावचनिकः । लोकोत्तरस्तत्र-(लोगो णेगविहो त्ति) लौकिकोऽनेकविध इति गाथाऽर्थः ॥ ४१ ॥

तदेवानेकविधत्वमुपदर्शयन्नाह-

गम्मपसुदेसरज्जे, पुरवरगामगणगोट्ठिराईणं ।
सावज्जो उ कुतित्थिय-धम्मो न जिणेहिँ उ पसत्थो ॥४२॥

तत्र गम्यधर्मो यथा दक्षिणापथे मातुलदुहिता गम्या, उत्तरापथे पुनरगम्यैव । एवं भक्ष्याभक्ष्यपेयापेयविभाषा कर्त्तव्येति । पशुधर्मो मात्रादिगमनलक्षणः । देशधर्मो देशाचारः; स च प्रतिनियत एव नेपथ्याऽऽदिलिङ्गभेद इति । राज्यधर्मः प्र-

तिराज्य भिन्न। न च कराऽऽदिः पुरवरधर्मः प्रतिपुरवर भिन्नः, कचित् किञ्चिद्विशिष्टोऽपि पौरमापाप्रतिपादनाऽऽदिलक्षण' । सद्वितीया योषिद्देशान्तर गच्छतीत्यादिलक्षणो वा । ग्रामधर्म' प्रतिग्राम भिन्न । गणधर्मो मल्लाऽऽदिगणव्यवस्था यथा समपादपातेन विषमग्रह इत्यादि । गोष्ठीधर्मो गोष्ठीव्यवस्था । इह च समवयःसमुदायो गोष्ठी । तद्व्यवस्था पुनर्वसन्ताऽऽदावेवकर्तव्यमित्यादिलक्षणा । राजधर्मो दुष्टेतरनिग्रहपरिपालनाऽऽदिरिति । भावधर्मता चाऽस्य ग्रम्याऽऽदीना विवक्षया भावरूपत्वाद् द्रव्यपर्यायत्वाद्वा तस्यैव च द्रव्यानपेक्षस्य विवक्षितत्वाद् लौकिकैर्वा भावधर्मत्वेनेष्टत्वात् । देशराज्याऽऽदिभेदश्चैकदेश एवानेकराज्यसंभव इत्येव सुधिया भाव्यम् । इत्युक्तो लौकिकः । कुप्रावचनिक उच्यते-अत्रापि सावद्यप्रायो लौकिककल्प एव । यत आह (सावज्जो उ इत्यादि) अवद्यं पाप सहावद्येन सावद्य । तुशब्दस्त्वेवकारार्थ । स चावधारणे । सावद्य एव क ?, कुतीर्थिकधर्मश्चरकपरिव्राजकाऽऽदिधर्म इत्यर्थः। कुत एतदित्याह-न जिनैरर्हद्भिस्तुशब्दादन्यैश्च प्रेक्षापूर्वकारिभिः प्रशंसित स्तुतः । सारम्भपरिग्रहत्वाद् । अत्र बहुवक्तव्यम्,तत्तु नोच्यते, गमनिकामात्रफलत्वात्प्रस्तुतव्यापारस्येति गाथार्थ. ॥ ४२ ॥ उक्त कुप्रावचनिकः ।

साम्प्रत लोकोत्तर प्रतिपादयन्नाह-

दुविहो लोगुत्तरिओ, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य ।
सुयधम्मो सज्झाओ, चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥ ४३ ॥

द्विविधो द्विप्रकारो,लोकोत्तरो लोकप्रधानो, धर्म इति वर्तते । तथा चाऽऽह-श्रुतधर्मः, खलु चारित्रधर्मश्च । तत्र श्रुत द्वादशाङ्ग तस्य धर्म श्रुतधर्म । खलुशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि। स हि वाचनाऽऽदिभेदाद्भिन्न इति । आह च-श्रुतधर्म स्वाध्यायवाचनाऽऽदिरूपस्तस्य चिन्ताया धर्महेतुत्वाद् धर्म इति । तथा चारित्रधर्मश्च तत्र ' चर ' गतिभक्षणयोरित्यस्य " अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः" ॥ ३ । २ । १८४ ॥ इति इत्रप्रत्ययान्तस्य चरित्रमिति भवति । चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्र क्षयोपशमरूप,तस्य भावश्चारित्रमशेषकर्मक्षयाय चेष्टेत्यर्थ. । ततश्चारित्रमेव धर्मश्चारित्रधर्म इति । चः समुच्चये । अय च श्रमणधर्म एवेत्याह-चारित्रधर्म. श्रमणधर्म इति । तत्र श्राम्यतीति श्रमण " कृत्यल्युटो बहुलम् " ॥ ३ । ३ । ११३ ॥ इति वचनात् कर्तरि ल्युट् श्राम्यतीति तपस्यतीति। एतदुक्त भवति-प्रव्रज्यादिवसादारभ्य सकलसावद्ययोगविरतो गुरूपदेशादनशनाऽऽदि यथाशक्त्या प्राणोपरमात्तपश्चरतीति । उक्त च-" य सम' सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च । तपश्चरति शुद्धात्मा, श्रमणोऽसौ प्रकीर्तित ॥ १ ॥" इति । तस्य धर्म. स्वभाव । श्रमणधर्मश्च क्षान्त्यादिलक्षणो वक्ष्यमाण इति गाथार्थ ॥ ४३ ॥ दश० १ अ० ।

धर्मभेदान् सामान्येन निरूपयन्नाह-

दसविहे धम्मे पमुत्ते । त जहा-गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठधम्मे,पासंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे । स्था० १० ठा० ।

(कस्य दर्शने कति धर्मभेदा इति 'वाद' शब्दे वक्ष्यते)

(१०) धर्मस्य लक्षणाभिलाषया सम्बन्धमुपरचयन्ति प्रकरणकार.-

अस्य स्वलक्षणमिदं, धर्मस्य बुधैः सदैव विज्ञेयम् ।

सर्वाऽऽगमपरिशुद्धं, यदादिमध्यान्तकल्याणम् ॥ १ ॥

(अस्येत्यादि) अस्य धर्मस्य स्वलक्षण लक्ष्यते तदितरव्यावृत्त वस्त्वनेनेति लक्षणम् । स च तल्लक्षणं चेति स्वलक्षणमिदं वक्ष्यमाण बुधैर्विद्वद्भिः सदैव सर्वकालमेव विज्ञेयम् । सर्वकालव्याप्त्या लक्षणस्यान्यथात्वाभावमुपदर्शयति सर्वैरागमैः परिशुद्ध निर्दोष यदादिमध्यान्तकल्याणमादिमध्यावसानेषु सुन्दरमिति योऽर्थ ॥ १ ॥

किं पुनर्धर्मस्य स्वलक्षणमित्याह-

धर्मश्चित्तप्रभवो, यतः क्रियाऽधिकरणाऽऽश्रयं कार्यम् ।
मलविगमेनैतत् खलु, पुष्ट्यादिमदेष विज्ञेयः ॥ २ ॥

(धर्म इत्यादि) प्रभवत्यस्मादिति प्रभव । चित्तरूपत्वाच्चित्तहेतुकत्वाच्चारित्र, चित्त स चाऽसौ प्रभवश्च चित्तप्रभवः स धर्मो विज्ञेयः । विशेषणसमासाङ्गीकरणाच्चच्छब्देन चित्तमेव परामृश्यते, यतश्चित्तात्क्रिया प्रवर्त्तते विधिनिषेधविषया । सा च क्रिया कार्यं चित्तनिष्पाद्यत्वात् । तत्र स्वरूपेण क्रियालक्षण कार्यं कीदृश यच्चित्तात्प्रवर्त्तत इत्याह-अधिकरणाऽऽश्रयमिह यद्यप्यधिकरणशब्द' सामान्येनाऽऽधारवचनस्तथापि प्रक्रमात् चित्तस्याधिकरणमाश्रय. शरीर,चित्तस्य शरीराऽऽधारत्वात् । क्रियालक्षण कार्यमधिकरणाऽऽश्रयं शरीराऽऽश्रय यत प्रवर्त्तते चित्तात्तच्चित्त धर्म इत्युक्तम् । चित्तात्प्रभवतीति पुनरुच्यते चित्तस्य । एतत्पुष्ट्यादिमदित्यनेन सह सबन्धो न स्यात् । यत् इत्यनेनापि केवलमेव चित्त न गृह्येत । तथा धर्मस्यैव विशेषत्व स्यात्र चित्तस्य, तनश्च चित्तस्य विशेषणपदैरभिसम्बन्धो न स्यादिति दोष । एतदेव चित्तं मलविगमेन रागाऽऽदिमलापगमेन पुष्ट्यादिमत् पुष्टिशुद्धिद्वयसमन्वितमेष धर्मो विज्ञेय इति ॥ २ ॥

मलविगमेनैतत्खलु पुष्टिमदित्युक्तं, तत्र के मलाः कथं च पुष्ट्यादिमत्त्व चित्तस्येत्येव वक्तुकामनायां श्रोतुरिदमाह-

रागाऽऽदयो मलाः ख-ल्वागमसद्योगतो विगम एषाम् ।
तदयं क्रियात एव हि, पुष्टिः शुद्धिश्च चित्तस्य ॥ ३ ॥

(रागाऽऽदय इत्यादि) इह मला. प्रक्रमाच्चित्तस्यैव संबन्धिन परिगृह्यन्ते । ते च रागाऽऽदयो रागद्वेषमोहा जातिसंग्रहीता. । व्यक्तिभेदेन तु भूयांस । खलुशब्दावधारणाद्रागाऽऽदय एव नान्ये । आगमनमागम सम्यक्परिच्छेदस्तेन सद्योगः सद्व्यापारः आगमसहितो वा य. सद्योग सत्क्रियारूप । तत. सकाशाद्विगम एषां रागाऽऽदीनां मलापगम सञ्जायते । तत् तस्मादयमागमसद्योग क्रिया वर्त्तते सर्वोऽपि शास्त्रोक्ता विधिप्रतिषेधाऽऽत्मिका । अत एव ह्यागमसद्योगात् क्रियारूपात् पुष्टिर्वक्ष्यमाणस्वरूपा शुद्धिश्च चित्तस्य सम्भवति ॥ ३ ॥

पुष्टिशुद्ध्योर्लक्षण दर्शयति-

पुष्टिः पुण्योपचयः, शुद्धिः पापक्षयेण निर्मलता ।
अनुबन्धिनि द्वयेऽस्मिन्, क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया ॥४॥

(पुष्टिरित्यादि) उपचीयमानपुण्यता पुष्टिरभिधीयते,शुद्धिः पापक्षयेण निर्मलता, पाप ज्ञानावरणीयाऽऽदि च सम्यग्ज्ञानाऽऽदिगुणविघातहेतुर्घातिकर्मोच्यते। तत्क्षयेण यावती काचिद्देशतोऽपि निर्मलता सम्भवति सा शुद्धिरुच्यते, अनुबन्ध. सन्तानः

प्रवाहोऽविच्छेद इत्यनर्थान्तरम्। स विद्यते यस्य द्वयस्य तदिदमनुबन्धि तस्मिन् पुष्टिशुद्धिद्वयेऽस्मिन् प्रत्यक्षीकृते सति क्रमेणाऽऽनुपूर्व्या पुण्योपचयपापक्षयाख्यां प्रवर्द्धमानाख्या तस्मिन् जन्मनि भवान्तरेषु वा प्रकृष्यमाणवीर्यस्य जीवस्य मुक्तिः परा तात्त्विकी सर्वकर्मक्षयलक्षणा ज्ञेयेति ॥ ४ ॥

कथं पुनरिदमनुबन्धि द्वयं न भवतीत्याह–

न प्रणिधानाऽऽद्याशय–संविद्व्यतिरेकतोऽनुबन्धि नत्।
भिन्नग्रन्थेर्निर्मल–बोधवतः स्यादियं च परा ॥ ५ ॥

(नेत्यादि) (प्रणिधानाऽऽद्याशयसंविद्व्यतिरेकेन इति) प्रणिधानाऽऽदयश्च ते आशयाश्च वक्ष्यमाणा पञ्चाप्यत्रमायस्यानाविशेषास्तेषां संवित्संवित्ति संवेदनमनुभवस्तस्याऽव्यतिरेकोऽभावस्तस्मात्तदाशयसंविद्व्यतिरेकेणैतद्द्वय पुष्टिशुद्धिरूप नानुबन्धि भवति, तस्मादेतद्द्वयमनुबन्धिकर्त्तुकामेन प्रणिधानाऽऽदिषु यतितव्यम्। इयं च कस्येत्याह- भिन्नग्रन्थेरपूर्वकरणवशेन कृतग्रन्थिभेदस्य तत्प्रभावादेव निर्मलबोधवतो विमलबोधसम्पन्नस्य स्याद्भवेदिय च प्रस्तुता प्रणिधानाऽऽशयसंवित् परा प्रधाना ॥ ५ ॥

प्रणिधानाऽऽदिराशय उक्तस्तमेव सङ्ख्याविशिष्टं नामग्राहमाह–

प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नज–यसिद्धिविनियोगभेदतः प्रायः।
धर्मज्ञैराख्यातः, शुभाऽऽशयः पञ्चधाऽत्र विधौ ॥ ६ ॥

प्रणिधिश्च प्रवृत्तिश्च विघ्नजयश्च सिद्धिश्च विनियोगश्च एत एव भेदास्तानाश्रित्य कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी। प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नजयसिद्धिविनियोगभेदत (प्राय इति) प्राचुर्येण शास्त्रेषु धर्मज्ञैर्धर्मवेदिभिराख्यात कथित शुभाऽऽशय शुभपरिणामः पञ्चधा पञ्चप्रकार। अत्र प्रक्रमे विधौ कर्त्तव्योपदेशे प्रतिपादिताऽऽशयपञ्चकव्यतिरेकेण। पुष्टिशुद्धिलक्षण द्वयमनुबन्धि न भवतीति ॥ ६ ॥

तत्र प्रणिधानलक्षणमाह–

प्रणिधानं तत्समये, स्थितिमत्तदधः कृपानुगं चैव।
निरवद्यवस्तुविषयं, परार्थनिष्पत्तिसारं च ॥ ७ ॥

(प्रणिधानमित्यादि) प्रणिधान विशेष्य, शेषपदानि विशेषणानि। तत्समये प्रतिपन्नविवक्षितधर्मस्थानमर्यादायां स्थितिमत्प्रतिष्ठितमविचलितस्वभाव तदध कृपानुगं चैव स्वप्रतिपन्नधर्मस्थानस्याधोऽधस्ताद्ये वर्त्तन्ते जीवा न तावतीं धर्मपदवीमाराधयन्ति, तेषु कृपया करुणया अनुरागमनुगत तेषु करुणापरम्। न तु गुणहीनत्वात्तेषु द्वेषसमन्वित निरवद्यवस्तुविषय, निरवद्य सावद्यपरिहारेण यद्वस्तु धर्म्मगत तद्विषयो यस्य परार्थनिष्पत्तिसार च परोपकारनिष्पत्तिप्रधानं चैवस्वरूप प्रणिधानमवसेयम् ॥ ७ ॥

इदानीं प्रवृत्तिमाह–

तत्रैव तु प्रवृत्तिः, शुभसारोपायसङ्गतात्यन्तम्।
अधिकृतयत्नातिशया–दौत्सुक्यविवर्जिता चैव ॥ ८ ॥

(तत्रैवेत्यादि) तत्रैव तु विवक्षितप्रतिपन्नधर्म्मस्थाने प्रवृत्तिरेवस्वरूपा भवति। सा च न क्रियारूपा किं त्वाशयरूपा, शुभसारोपायसङ्गताऽत्यन्त बाह्यक्रियाद्वारेण विशेषण सर्वं योजनीयम्। शुभ सुन्दर सारः प्रकृष्टो नैपुण्यान्वितो य उपायस्तेन सङ्गता युक्ता, अधिकृते धर्मस्थाने यत्नातिशय प्रयत्नाऽऽशयस्तस्माद् सा सपद्यते, औत्सुक्यविवर्जिता चैव औत्सुक्य त्वराभिलाषातिरेकस्तेन विवर्जिता विरहिता प्रयत्नातिशयमेव विधत्ते न त्वौत्सुक्यमिति भाव ॥ ८ ॥

अधुना विघ्नजयमाह–

विघ्नजयस्त्रिविधः खलु, विज्ञेयो हीनमध्यमोत्कृष्टः।
मार्गे इह कण्टकज्वर–मोहजयसमः प्रवृत्तिफलः ॥ ९ ॥

(विघ्नजयस्त्रिविध खलु विज्ञेय इति) विघ्नस्य धर्मान्तरायस्य जय. पराभवो निराकरण स त्रिविधस्तिस्रो विधा अस्येति त्रिविधस्त्रिभेदः। खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे। त्रैविध्यमेवाऽऽह- हीनमध्यमोत्कृष्टः हीनमध्यमाख्या सहित उत्कृष्ट एको हीनो विघ्नजयोऽपरो मध्यमोऽपरस्तूत्कृष्ट इति। त्रैविध्यमेव निदर्शनेन साधर्म्यगर्भमाह- मार्गे इह कण्टकज्वरमोहजयसम इति। मार्गे प्रवृत्तस्य पुंस· कण्टकविघ्नजयसमो ज्वरविघ्नजयसमो मोहविघ्नजयसम। इदमत्र तात्पर्यम्- यथा नाम कस्यचित्पुरुषस्य प्रयोजनवशान्मार्गप्रवृत्तस्य कण्टकाऽऽकीर्णमार्गावतीर्णस्य कण्टकविघ्नो विशिष्टगमनविघातहेतुर्भवति। तद्रहिते तु पथि प्रवृत्तस्य गमनं निराकुल सजायते। एव कण्टकविघ्नजयसम प्रथमो विघ्नजय.। कण्टकाश्चेह सर्वे एव प्रतिकूलाः शीतोष्णाऽऽदयो धर्मस्थानविघ्नहेतवस्तैरजितस्य धर्म्मार्थिनोऽपि निराकुलप्रवृत्त्यसिद्धेः। आशयभेदश्चाय बाह्यकण्टकविघ्नजयेनोपलक्ष्यते। तथा-तस्यैव ज्वरवेदनाऽभिभूतशरीरस्य विह्वलपादन्यासस्य निराकुलं गमन चिकीर्षोरपि, कर्त्तुमशक्नुवतः कण्टकविघ्नादभ्यधिको ज्वरविघ्नस्तज्जयस्तु विशिष्टगमनप्रवृत्तिहेतुर्निराकुलशरीरत्वेन परिदृश्यते। इहापि ज्वरकल्पा· शारीरा एव रोगा परिगृह्यन्ते। तदभिभूतस्य विशिष्टधर्मस्थानाऽऽराधनाऽक्षमत्वात्। ज्वरकल्पशारीरदु खविघ्नजयस्तु सम्यग्धर्मस्थानाऽऽराधनाय प्रभवति। तस्यैवाध्वनि जिगमिषो पुरुषस्य दिङ्मोहकल्पो मोहविघ्नस्तेनाभिभूतस्य पुनः पुन प्रेर्यमाणस्याप्यध्वनीनैर्न गमनोत्साह. कथञ्चित् प्रादुर्भवति। मोहविघ्नजयस्तु स्वयमेव मार्गतत्त्वपरिज्ञानात् परैश्चोच्यमानमार्गश्रद्धानात्मन्दोत्साहतापरित्यागेन गमनप्रवृत्तिहेतुर्भवति। इहापि दिङ्मोहगमनविघ्नकल्पो मिथ्यात्वाऽऽदिजनितो मनोविभ्रम· परिगृह्यते। तज्जयस्तु मिथ्यात्वाऽऽदिदोषनिराकरणद्वारेण। मनोविभ्रमापसारकत्वेन प्रस्तुतधर्ममार्गेऽनवरतप्रयाणकप्रवृत्त्या गमनाय सपद्यते। एव कण्टकज्वरमोहविघ्नजयसमस्त्रिविधो विघ्नजय उक्त। स एव विशिष्यते-प्रवृत्तिफल प्रवृत्तिर्धर्मस्थानविषया फलमस्याऽऽशयविशेषस्य विघ्नजयसञ्ज्ञितस्येति प्रवृत्तिफल ॥ ९ ॥

एव तृतीयमाशयभेद प्रतिपाद्य सिद्धिरूपमाशयमाह–

सिद्धिस्तत्तद्धर्म–स्थानावाप्तिरिह तात्त्विकी ज्ञेया।
अधिके विनयाऽऽदियुता, हीने च दयाऽऽदिगुणसारा ॥ १० ॥

(सिद्धिरित्यादि) सिद्धिर्नामाऽऽशयभेद, सा च स्वरूपत कीदृशी ?, तत्तद्धर्मस्थानावाप्तिरिह तात्त्विकी ज्ञेया तस्य तस्य विवक्षितस्य धर्मस्थानस्याऽहिंसाऽऽदेरवाप्ति सिद्धिरुच्यते। सा च तात्त्विकादं च विशेषण तत्तद्धर्मस्थानावाप्तेरतात्त्विकत्वपरिहारार्थम्। न ह्यतात्त्विकी सा सिद्धिर्भवितुमर्हति। सा च सिद्धिरधिके पुरुषविशेषे सूत्रार्थोभयवेदिन्यन्यस्तत्भावनामार्गे तीर्थकल्पे गुरौ विनयाऽऽदियुता विनयवैयावृत्त्यबहुमानाऽऽदिसमन्विता हीने च स्वप्रतिपन्नधर्मस्थानापेक्षया हीनगुणे निर्गुणे वा,

सामान्येनैव प्राणिगणे दयाऽऽदिगुणसारा दयादानव्यसनपति- तदु:खापहाराऽऽदिगुणप्रधानाधिकहीनगुणग्रहणाद् मध्यमोप- कारफलवत्यपि सा सिद्धिरित्युक्तं भवति ॥ १० ॥

एवं सिद्धिमभिधाय तत्फलभूतमेव विनियोगमाह-

सिद्धेश्चोत्तरकार्यं, विनियोगेऽवन्ध्यमेतदेतस्मिन् ।
सत्यन्वयसंपत्त्या, सुन्दरमिति तत्परं यावत् ॥ ११ ॥

सिद्धेश्चोत्तरकार्यं विनियोगः सिद्धेरुत्तरकालभावि । कार्यं विनियोगो नामाऽऽशयभेदो विज्ञेय इति सबन्धनीयम् । अवन्ध्यफलं,न कदाचिन्निष्फलमेतद्धर्मस्थानमहिंसाऽऽदि,एतस्मिन् विनियोगे सति सजातेऽन्वयसंपत्त्याऽविच्छेदसंपत्त्या हेतुभूतया सुन्दरमेतत्पूर्वोक्तं धर्मस्थानम् । इतिशब्दो भिन्नक्रमः । परमित्यने न संबन्धनीयो यावत् (तत्परमिति) तद्धर्मस्थानं परं प्रकृष्टं यावत्सपन्नमनेन विनियोगस्याऽनेकजन्मान्तरसन्तानक्रमेण प्रकृष्टधर्मस्थानावाप्तिहेतुत्वमावेदयति । इदमत्र हृदयम्- अहिंसाऽऽदिलक्षणधर्मस्थानावाप्तौ सत्यां स्वपरयोरुपकारायाऽविच्छेदेन तदैव धर्मस्थानस्य विनियोगो व्यापारः स्वात्मतुल्यपरफलकर्तृत्वमभिधीयते । एवं हि स्वयं सिद्धस्य वस्तुनो विनियोगः सम्यक्कृतो भवति । यदि परस्मिन्नपि तत्संपादने विशेषेण नियोगो नियोजनमध्यारोपणमिति कृत्वा आशयभेदत्वाच्च विनियोगस्याऽन्यस्याप्रतिपादनप्रक्रियया सफलोपकारहेतुत्वं दर्शयति सूत्रकारः ॥ ११ ॥

एवमेतान्प्रणिधानाऽऽदीनभिधाय कथञ्चित् क्रियारूपत्वप्रसक्तावेषामाशयविशेषत्वसमर्थनायाऽऽह-

आशयभेदा एते, सर्वेऽपि हि तत्त्वतोऽवगन्तव्याः ।
भावोऽयमनेन विना, चेष्टा द्रव्यक्रिया तुच्छा ॥ १२ ॥

आशयभेदा आशयप्रकारा एते पूर्वोक्ताः सर्वेऽपि हि सर्व एव कथञ्चित् क्रियारूपत्वेऽपि तदुपलक्ष्यतया तत्त्वतः परमार्थेनावगन्तव्या विज्ञेयाः परिणामविशेषा एते इति । शुभाऽऽशयः पञ्चधा विविधो वेत्युक्तं स किं भावादपरोऽथ भाव एवेत्याशङ्कायामिदमाह-(भावोऽयमिति) अयं पञ्चप्रकारोऽप्याशयो भाव इत्यभिधीयते। अनेन भावेन विना चेष्टा व्यापाररूपा कायवाङ्मनःसङ्गता द्रव्यक्रिया तुच्छा भावविकला क्रिया द्रव्यक्रिया तुच्छा असारा स्वफलाऽसाधकत्वेन ॥ १२ ॥

कस्मात्पुनर्द्रव्यक्रियायास्तुच्छत्वाऽऽपादनेन भावप्राधान्यमाश्रीयत इत्याह-

अस्माच्च सानुबन्धा-च्छुद्ध्यन्तोऽवाप्यते द्रुतं क्रमशः ।
एतदिह धर्मतत्त्वं, परमो योगो विमुक्तिरसः ॥ १३ ॥

(अस्माच्चेत्यादि) अस्मात् पूर्वोक्तादाशयपञ्चकरूपात् सानुबन्धात् अनुबन्धः सन्तानस्तेन सह वर्त्तते यो भावः स सानुबन्धस्तदविनाभूतः,स चाव्यवच्छिन्नसन्तानस्तस्मादेवंविधाद्भावाच्छुद्धेरन्तः प्रकर्षः शुद्ध्यन्तोऽवाप्यते प्राप्यते द्रुतमविलम्बितं प्रभूतकालात्ययविगमेन क्रमशः क्रमेणाऽऽनुपूर्व्या तस्मिन् जन्मन्यपरस्मिन्वा कर्मक्षयप्रकर्षो लभ्यते । ननु चैष एव भावो धर्मपरमार्थ आहोस्विदन्यद्धर्मतत्त्वमित्याशङ्कायां परस्य निर्वचनमाह-एतदिह धर्मतत्त्वम् । अत्र यद्यपि भावस्य प्रस्तुतत्वादेतदित्यत्र पुंल्लिङ्गतायामेव इति निर्देशः प्राप्नोति तथाऽपि धर्मतत्त्वमित्यस्य पदस्य प्रधानापेक्षया नपुंसकनिर्देशोऽयं- स्तु एतदिह प्रस्तुतं भावस्वरूपं धर्मतत्त्वं नान्यदुक्तं परमो योग इति । अयं भावः -परमो योगो वर्त्तते,स च कीदृग् ?-विमुक्तिरसः विशिष्टा मुक्तिर्विमुक्तिस्तद्विषयो रसः प्रीतिविशेषो यस्मिन् योगे स विमुक्तिरसः, विमुक्तौ रसोऽस्येति वा गमकत्वात् समासः । अथवा-पृथगेव पदान्तरं न विशेषणं,तेनाऽयं भावो विमुक्तौ रसः प्रीतिविशेषो विमुक्तिरस उच्यते । एतदुक्तं भवति- भाव एव धर्मतत्त्वं भाव एव च परमो योगो भाव एष च विमुक्तिरस इति ॥ १३ ॥

ननु च भावाच्छुद्ध्यन्तोऽवाप्यते इत्युक्तं, शुद्धिश्च पापक्षयेण प्रागुक्ता कथं पुनः पापमनीतेऽनादौ काले यद् भूयो भूय आसेवितं तत्यक्त्वा भावमेवाभिलषति न पुनः पापं बहु मन्यते इत्याह-

अमृतरसाऽऽस्वादज्ञः,कुभक्तरसलालितोऽपि बहुकालम् ।
त्यक्त्वा तत्क्षणमेनं, वाञ्छत्युच्चैरमृतमेव ॥ १४ ॥

(अमृतेत्यादि) अमृतरसस्याऽऽस्वादस्तं जानातीत्यमृतरसाऽऽस्वादज्ञः कुभक्तरसलालितोऽपि कुभक्तानां कदशनानां यो रसस्तेन लालितोऽत्यभिरमितोऽपि पुरुषो बहुकालं प्रभूतकालं नैरन्तर्यवृत्त्याऽत्र "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" ॥ २ । ३ । ५ ॥ इति द्वितीया । त्यक्त्वा परित्यज्य तत्क्षणं तस्मिन्नेव क्षणे,शीघ्रमेव कुभक्तरसममृतरसज्ञानेन वाञ्छत्यभिलषत्युच्चैरमृतमेव सुरभोज्यममृतमभिधीयते । तद्धि सर्वरसप्रधानत्वात् स्पृहणीयमतितरां भवति ॥ १४ ॥

एवं त्वपूर्वकरणात्, सम्यक्त्वामृतरसज्ञ इह जीवः ।
चिरकालाऽऽसेवितमपि,न जातु बहु मन्यते पापम् ॥१५॥

(एवं त्वित्यादि) एवं त्वपूर्वकरणात् । एवमेवापूर्वकरणादपूर्वपरिणामात् सम्यक्त्वामृतरसज्ञ इह जीवः सम्यक्त्वामृतरसमनुभवद्वारेण जानातीति तज्ज्ञ उच्यते । चिरकालाऽऽसेवितमपि प्रभूतकालाभ्यस्तमपि न जातुचित् न कदाचित् बहु मन्यते बहुमानविषयीकरोति पापं मिथ्यादर्शनमोहनीयं तत्कार्यं वा प्रवचनोपघाताऽऽदि । इह च कुभक्तरसकल्पं पापमिथ्यात्वाऽऽदि। अमृतरसाऽऽस्वादकल्पो भावः सम्यक्त्वाऽऽदिरवसेय इति ॥१५॥

सम्यक्त्वामृतरसज्ञो जीवः पापं न बहु मन्यते इत्युक्तम् । तत्र सम्यग्दृष्टिरपि विरतेरभावात् पापं कुर्वन् दृश्यत एवेत्याशङ्क्याऽऽह -

यद्यपि कर्मनियोगात्, करोति तत्तदपि भावशून्यमलम् ।
अत एव धर्मयोगात्, क्षिप्रं तत्सिद्धिमाप्नोति ॥ १६ ॥

यद्यपि कथञ्चित् कर्मनियोगात् कर्मव्यापारात् करोति विदधाति तत् पापं तद्भावशून्यमलं तदपि क्रियमाणं पापं भावशून्यमिदं पापवृद्धिहेतुर्भावः क्लिष्टाध्यवसायस्तेन शून्यमलमत्यर्थं सम्यग्दृष्टिर्हि पापं कुर्वाणोऽपि न भावतो बहु मन्यते । यथेदमेव साधिष्ठिति । अत एव पापाऽबहुमानद्वारेण । धर्मयोगात्कर्मोत्साहाद्धर्मसंबन्धाद्वा क्षिप्रमचिरेण तत्सिद्धिमाप्नोति धर्मनिष्पत्तिमवाप्नोतीति ॥ १६ ॥ षो० ३ विव० ।

(११) अस्य स्वलक्षणमिदं धर्मस्येत्युक्तं प्राक् तत्रास्यैव धर्मतत्त्वस्य विस्तरेण लिङ्गान्याह-

सिद्धस्य चास्य सम्यग्, लिङ्गान्येतानि धर्मतत्त्वस्य ।
विहितानि तत्त्वविद्भिः, सुखावबोधाय भव्यानाम् ॥१॥

सिद्धस्य च निष्पन्नस्य चास्य प्रत्यक्षीकृतस्य मध्यगवेषपरीक्ष्येन प्रशस्तानि वा लिङ्गानि लक्षणान्येतानि वक्ष्यमाणानि धर्मतत्त्वस्य धर्मस्वरूपस्य चिह्नानि शास्त्रेऽभिहितानि तत्त्वविद्भिः परमार्थवेदिभिः सुखावबोधाय सुखपरिज्ञानाय येन तानि सुखेनैव बुध्यन्ते भव्यानां योग्यानाम् ॥ १ ॥

तान्येव लिङ्गानि स्वरूपतो ग्रन्थकारः पठति-

औदार्यं दाक्षिण्यं, पापजुगुप्साऽथ निर्मलो बोधः ।
लिङ्गानि धर्मसिद्धेः, प्रायेण जनप्रियत्वं च ॥ २ ॥

उदारस्य भाव औदार्यं वक्ष्यमाणलक्षणं, दक्षिणोऽनुकूलस्तद्भावो दाक्षिण्यं निर्देक्ष्यमाणस्वरूपं, पापजुगुप्सा पापपरिहारः । अथ निर्मलो बोधोऽभिधास्यमानस्वरूपः, लिङ्गानि चिह्नानि धर्मसिद्धेर्धर्मनिष्पत्तेः प्रायेण बाहुल्येन जनप्रियत्वं च लोकप्रियत्वं च ॥ २ ॥

साम्प्रतमौदार्यलक्षणमाह-

औदार्यं कार्पण्य-त्यागाद्विज्ञेयमाशयमहत्त्वम् ।
गुरुदीनाऽऽदिष्वौचि-त्यवृत्ति कार्ये तदत्यन्तम् ॥ ३ ॥

औदार्यं नाम धर्मतत्त्वलिङ्गं, कार्पण्यत्यागात् कृपणभावपरित्यागाद्तुच्छवृत्त्या विज्ञेयमाशयमहत्त्वमाशयस्याध्यवसायस्य महत्त्वं विपुलत्वम् । तदेव विशिष्यते-गुरुदीनाऽऽदिष्वौचित्यवृत्ति गुरुषु गौरवार्हेषु तदधिकारे । यथोक्तम्-"माता पिता कलाऽऽचार्य, एतेषां ज्ञातयस्तथा । वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः ॥१॥" दीनाऽऽदिषु चानाधारेषु यदौचित्यवृत्ति औचित्येन वृत्तिरस्मिन्नौदार्ये आशयमहत्त्वे वा तदौचित्यवृत्ति, कार्ये कार्यविषये तदौदार्यमाशयमहत्त्वं वा अत्यन्तमतिशयेन औचित्यवृत्तिकारि वा, एतद् गुर्वादिषु ॥ ३ ॥ षो० ४ विव० । (दाक्षिण्यम् [४] इत्यादिना दाक्षिण्यलक्षणं ' दक्खिण्ण ' शब्दे २४४१ पृष्ठेऽत्रैव भागे गतम्) (पापजुगुप्सा [५] इत्यादिना पापजुगुप्सालक्षणं 'पावदुगुंछा' शब्दे वक्ष्यते) (निर्मल [६] इत्यादिना निर्मलबोधलक्षणं ' णिम्मलबोहत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०८४ पृष्ठे गतम्) (युक्तम् [७] इत्यादिना जनप्रियत्वलक्षणं ' जणप्पियत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३८८ पृष्ठे समुक्तम्)

एवं धर्मतत्त्वलिङ्गान्यौदार्याऽऽदीनि विधिमुखेन प्रतिपाद्य धर्मतत्त्वव्यवस्थितानां पुंसां व्यतिरेकमुखेन विषयतृष्णाऽऽदीनां स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुर्दृष्टान्तपूर्वकं विकाराभावमाविर्भावयितुमाह-

आरोग्ये सति यद्व-द्व्याधिविकारा भवन्ति नो पुंसाम् ।
तद्वद्धर्माऽऽरोग्ये, पापविकारा अपि ज्ञेयाः ॥ ८ ॥

(आरोग्ये इत्यादि) आरोग्ये रोगाभावे सति जायमाने यद्वदिति यथा व्याधिविकारा रोगविकारा भवन्ति नो पुंसामारोग्यवतां तद्वदिति । तथा धर्माऽऽरोग्ये धर्मरूपमारोग्यं तस्मिन् सति पापविकारा अपि वक्ष्यमाणा न भवन्तीति विज्ञेयाः । ८ ।

पापविकारा ये न भवन्ति तान् विशेषतो निर्दिशति-

तत्रास्य विषयतृष्णा, प्रभवत्युच्चैर्न दृष्टिसंमोहः ।
अरुचिर्न धर्मपथ्ये, न च पापा क्रोधकण्डूतिः ॥ ९ ॥

तदेव स्थिते धर्मतत्त्वयुक्तस्य नास्य पुरुषस्य विषयतृष्णा वक्ष्यमाणलक्षणा प्रभवति जायते उच्चैरत्यर्थं न दृष्टिसंमोहो वक्ष्यमाणलक्षण एव अरुचिरभिलाषाभावो न धर्मपथ्ये न धर्मपथ्यविषये, न च पापा स्वरूपेण पापहेतुर्वा क्रोधकण्डूतिः क्रोध एव कण्डूतिः, कण्डूशब्दः कण्ड्वादिषु पठ्यते, तस्य क्तिप्रत्ययान्तस्य रूपमेतत् ॥ ९ ॥ षो० ४ विव० । (विषयतृष्णालक्षणं 'विसयतण्हा' शब्दे वक्ष्यते) (दृष्टिसमोहश्च ' दिट्ठिसमोह ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५१७ पृष्ठे गत)

एवं दृष्टिसमोहमभिधाय तदनन्तरं धर्मपथ्यविषयाया अरुचेर्लिङ्गमाह-

धर्मश्रवणेऽवज्ञा, तत्त्वरसाऽऽस्वादविमुखता चैव ।
धार्मिकसत्त्वाऽऽसक्ति-श्च धर्मपथ्येऽरुचिर्लिङ्गम् ॥१२॥

(धर्मेत्यादि) धर्मस्य श्रवणमविपरीतार्थमाकर्णनं तत्राऽवज्ञाऽनादरस्तत्त्वे परमार्थे रस आसक्तिहेतुः तस्याऽऽस्वादस्तस्मिन् विमुखता वैमुख्यं तत्त्वरसाऽऽस्वादविमुखता चैव, धार्मिका ये सत्त्वास्तैरसक्तिरसंयोगोऽसम्पर्को धार्मिकसत्त्वासक्तिश्च । धर्मपथ्ये धर्मं पथ्यमिव तस्मिन्नरुचेर्लिङ्गमिति प्रत्येकमभिसम्बन्धः करणीयः ॥ १२ ॥

न च पापा क्रोधकण्डूतिरित्युक्तं तस्याश्चिह्नमाह-

सत्येतरदोषश्रुति-भावादन्तर्बहिश्च यत् स्फुरणम् ।
अविचार्य्य कार्यतत्त्वं, तच्चिह्नं क्रोधकण्डूतेः ॥ १३ ॥

(सत्येत्यादि) सत्यदोषश्रुतिभावादसत्यदोषश्रुतिभावाच्चान्तर्बहिश्चाभ्यन्तरपरिणाममाश्रित्यान्तर्बहिर्गताऽप्रसन्नताऽऽकारद्वारेण बहिश्च यत् स्फुरणं वा वृद्धिश्चलनं वा अविचार्याऽनालोच्य कार्यतत्त्वं कार्यपरमार्थं तच्चिह्नं लक्षणं क्रोधकण्डूतेः क्रोधकण्ड्वाः ॥ १३ ॥

एवमेते विषयतृष्णाऽऽदयो व्यतिरेकमुखेनोक्तास्तदभावमुपदर्शयन् मैत्र्यादिगुणसम्भवमाह-

एते पापविकाराः, न प्रभवन्त्यस्य धीमतः सततम् ।
धर्मामृतप्रभावा-द्भवन्ति मैत्र्यादयश्च गुणाः ॥ १४ ॥

(एते इत्यादि) एते पापविकाराः पूर्वोक्ता न प्रभवन्ति न जायन्तेऽस्य पुरुषस्य धीमतो बुद्धिमतः सततमनवरतं धर्मामृतप्रभावाद्धर्म एवामृतं धर्मामृतं तत्प्रभावाद्भवन्ति सम्पद्यन्ते मैत्र्यादयश्च गुणा वक्ष्यमाणस्वरूपाः ॥ १४ ॥

मैत्र्यादीनामेव लक्षणमाह-

परहितचिन्ता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करुणा ।
परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥ १५ ॥

(परेत्यादि) परेषां प्राणिनां हितचिन्ता हितचिन्तनं मैत्री, ज्ञेयेति सर्वत्र वाक्यशेषः । परेषां दुःखं तद्विनाशिनी तथा करुणा कृपा, परेषां सुखं तेन तस्मिन् वा तुष्टिः परितोषोऽप्रीतिपरिहारो मुदिता, परेषां दोषा अविनयाऽऽद्यः प्रतिकर्तुमशक्यास्तेषामुपेक्षामवधीरणमुपेक्षा, सम्भवत्प्रतीकारेषु तु दोषेषु नोपेक्षा विधेया ॥ १५ ॥

एवं मैत्र्यादिगुणान् भावनारूपानभिधाय धर्मतत्त्वलक्षणोपसंहारं चिकीर्षुराह-

एतज्जिनप्रणीतं, लिङ्गं खलु धर्मसिद्धिमज्जन्तोः ।
पुण्याऽऽदिसिद्धिसिद्धेः, सिद्धं सद्धेतुभावेन ॥ १६ ॥

(एतदित्यादि) एतत् पूर्वोक्तं सर्वमेवौदार्याऽऽदिविधिप्रतिषेधविषयं जिनप्रणीतं जिनोक्तं लिङ्गं लक्षणं, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे धर्मसिद्धिमतः धर्मनिष्पत्तिमज्जन्तोः प्राणिनः पुण्याऽऽदिसिद्धिसिद्धेः पुण्याऽऽद्युपायनिष्पत्तेः, सिद्धं प्रतिष्ठितं, सद्धेतुभावेन सत्का-

रणत्वेनाबन्ध्यहेतुत्वेनेति यावत्। पुण्योपायाश्चत्वार.। यथोक्तम्-" दया भूतेषु वैराग्य, विधिवद्दान यथोचितम् । विशुद्धा शीलवृत्तिश्च । पुण्योपाया प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥ " आदिग्रहणात ज्ञानयोगपरिग्रह', ज्ञानयोगोपायपरिनिष्पत्तेश्च सद्धेतुत्वेन सिद्धमेतल्लिङ्गमिति ।१६। षो० ४ विव० ।

(१२) धर्मद्रुममूलप्रतिपादनपरा गाथामाह-

जीवदय सच्चवयण, परधणपरिवज्जणं सुसीलं च ।
खंती पंचिंदियनि-ग्गहो य धम्मस्स मूलाइ ॥ १ ॥

जीवाश्चेतनाऽऽदिलिङ्गग्म्या एकेन्द्रियाऽऽदय.,तेषां दया रक्षण जीवदयेति।न्हस्व-त्व प्राकृतप्रभवम्।धर्ममूल भवतीति सर्वत्र क्रियाऽध्याहार कार्य ।सत्य यथार्थ वचन सत्यवचन,तदपि परे आत्मव्यतिरिक्ता जनास्तेषां धन वित्त परधन तस्य परि समन्ताद्वर्जन परिहरण परधनपरिवर्जन, सुष्ठु शोभन शील सदाचारश्चतुर्थव्रत वा सुशील, भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य । सदाचारत्व चतुर्थव्रतनि कलङ्कता चेत्यर्थ. । क्षान्ति कषायोपशम , पञ्चेति पञ्चसख्यानीन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्राऽऽख्यानि,तेषा निग्रह , स्वविषयग्रहणलम्पटतायामपि रागद्वेषाकरण व्यावृत्तन धर्ममूल भवति । यद्वा-तानि सर्वाण्यपि धर्मलक्षणवृक्षस्य मूलानीव मूलानि । अयमत्र भावार्थ चकारस्यैवकारार्थस्येह मयन्धादेतानि च प्रत्येक समुदितानि धर्ममहाद्रुमस्य नरसुरशिवसौख्यकुसुमफलप्रदस्य मूलानि, न तु पुन परपरिकल्पितयागपञ्चाग्नितपःशून्यारण्यनिवासकृतकारितसद्भक्ताऽऽदिदानप्रभृतीनि तेषा जीवघातनिष्पाद्यत्वेनाधर्मरूपत्वादिति गाथार्थ । दर्श० २ तत्त्व । "भक्ष्याभक्ष्यविवेकाच्च,गम्यागम्यविवेकत । तपोदयाविशेषाच्च,स धर्मो व्यवतिष्ठते॥१॥" द्वा०३द्वा० । धर्मावलम्बनानि-"धम्म ण चरमाणस्स पच निस्साठाणा पण्णत्ता । त जहा-छक्काया गणो राया गाहावई सरीर । " (अस्य व्याख्या 'णिस्साठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१४८ पृष्ठे द्रष्टव्या)"दोहिं ठाणेहिं आया केवलिपण्णत्त धम्म लभेज्ज सवणयाए । 'स्था० २ ठा०४ उ० । (विशेष 'खओवसमिय'शब्दे तृतीयभागे ६७० पृष्ठे गत) (आरम्भपरिग्रहाभ्यां विरताऽविरतस्य धर्मलाभालाभौ ' आरभ ' शब्दे द्वितीयभागे ३७१ पृष्ठे द्रष्टव्यौ)

(१३) धर्मानधिकारिण आह-

सुत्तेण चोइओ जो, अण्ण उद्दिसिअ त ण पडिवज्जे ।
सो तत्तवायवज्झो, न होइ धम्मम्मि अहिगारी ॥ ७ ॥

सूत्रेण चोदित इदमित्थमुक्तमेव यः सत्त्व अन्य प्राणिनमुद्दिश्याऽऽत्मतुल्यमुदाहरणतया तन्न प्रतिपद्यते सौत्रमुक्त, स एवंभूतस्तत्त्ववादवाह्य परलोकमङ्गीकृत्य परमार्थवादबाह्यो न भवति धर्मे सकलपुरुषार्थहेतावधिकारी, सम्यग्विवेकाभावादिति गाथार्थ । प० व० ४ द्वार । अथ कलिकालिमामलिनान्तराऽऽत्मान सन्त सन्तोऽपि किमेवविधश्रावकश्रमणगुणगण श्रोतु श्रद्धा कर्तु वा शक्नुवन्ति न सर्वेऽपीत्याह-(रयणत्थिणो थोत्यादि) अथवा-किमिदयुगीनमानवा सर्वथैकान्ततो निराकाङ्क्षतामवलम्ब्येत्थभूतगुणगणमदातु दातु समर्था भवन्ति । दर्श० ३ तत्त्व ।

(१४) अथ सद्धर्मग्रहणयोग्यतामाह-

संविग्नस्तच्छ्रुतेरेव, ज्ञानतत्त्वो नरोऽनघः ।
दृढ स्वशक्त्या जातेच्छः, संग्रहेऽस्य प्रवर्तते ॥ ३० ॥

एवमुक्तनीत्या (तच्छ्रुतेः) तस्या धर्मदेशनायाः श्रुते श्रवणान्नर' श्रोता पुमान् अनघो व्यावृत्ततत्त्वप्रतिपत्तिबाधकमिथ्यात्वमालिन्य सन्नत एव ज्ञाततत्त्व' करकमलतलाऽऽकलितनिस्तलास्थूलामलमुक्ताफलवच्छास्त्रलोचनबलेनाऽऽलोकितसकलजीवाऽऽदिवस्तुवाद., तथा-(संविग्न') सवेगमुक्तलक्षण प्राप्त सन् जातेच्छो लब्धविकीर्षापरिणामोऽर्थाद्धर्मे (दृढम्) अतिसूक्ष्माऽऽभोगपूर्व यथा स्यात्तथा स्वशक्त्या स्वसामर्थ्येन हेतुभूतेन अस्य धर्मस्य सग्रहे सम्यग् वक्ष्यमाणयोगवन्दनाऽऽदिशुद्धिरूपविधिपूर्वं ग्रहे प्रतिपत्तौ (प्रवर्तते) प्रवृत्तिमाधत्ते । अदृढमयथाशक्ति च धर्मग्रहणप्रवृत्तौ भङ्गसभवेन प्रत्युतानर्थसभव इति दृढस्वशक्त्योर्ग्रहण कृतमित विशेषगृहिधर्मग्रहणयोग्यता प्रतिपादिता भवति शास्त्रान्तरे चैकविंशत्या गुणैर्धर्मग्रहणार्हो भवतीति प्रतिपादितम् । ध० १ अधि० । (ते च गुणा ' धम्मरयण ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

(१५)धर्माधिकारिण'-

जे पुव्वुट्ठाई णो पच्छा णिवाती, जे पुव्वुट्ठाई पच्छा णिवाती, जे णो पुव्वुट्ठाई णो पच्छा णिवाती, सेऽवि तारिसिए सिया, जे परिण्णाय लोगमण्णे सयंति ॥ १५२ ॥

य कश्चिद्विदितसंसारस्वभावतया धर्मचरणैकप्रवणमनाः पूर्वं प्रव्रज्यावसरे सयमानुष्ठानेनोत्थातु शीलमस्येति पूर्वोत्थायी, पश्चाच्च श्रद्धासवेगतया विशेषेण वर्द्धमानपरिणामो नो निपाती;निपतितु शीलमस्येति विगृह्य णिनि । निपतन वा निपात , सोऽस्यास्तीति निपाती,सिंहतया निष्क्रान्त. सिंहतया विहारी च गणधराऽऽदिवत्प्रथमो भङ्ग । द्वितीयभङ्ग सूत्रेणैव दर्शयन्नाह-पूर्वमुत्थातु शीलमस्येति पूर्वोत्थायी, पुनर्विचित्रत्वात्कर्मपरिणतेस्तथाविधभवितव्यतानियोगात्पश्चान्निपाती स्यात्, नन्दिषेणवत् । कश्चिद्दर्शनतोऽपि गोष्ठामाहिलवदिति । तृतीयभङ्गस्य चाभावादनुपादान, स चायम्-(जे णो पुव्वुट्ठायीत्यादि) नो पूर्वोत्थायी पश्चान्निपातीति । तथा ह्युत्थाने सति निपातोऽनिपातो वा चिन्त्यते, सति धर्मिणि धर्मचिन्ता, तदुत्थानप्रतिषेधे च दूरोत्सादितैव निपातचिन्तेति । चतुर्थभङ्ग दर्शयन्नाह यो हि नो पूर्वोत्थायी न च पश्चान्निपाती सोऽविरत एव गृहस्थ सम्भोत्थायी भवति, सम्यग्विरतेरभावान्नापि पश्चान्निपाती, उत्थानाविनाभावित्वान्निपातस्य,शाक्याऽऽदयो वा चतुर्थभङ्गपतिता द्रष्टव्या , तेषामप्युभयासद्भावादिति । ननु च गृहस्था एव चतुर्थभङ्गपतिता युक्ता वक्तु, तथाहि-तेषा सावद्ययोगानुष्ठानेनानुत्थानतया प्रतिज्ञामन्दराऽऽरोपाभावान्निपाताभाव , शाक्याऽऽदिरपि चतुर्थभङ्गपतित इत्यत आह-(सेऽवि इत्यादि)सोऽपि शाक्याऽऽदिर्गण पञ्चमहाव्रतभाराऽऽरोपणाभावेन सावद्ययोगानुष्ठानतया नो पूर्वोत्थायी, निपातस्य च तत्पूर्वकत्वान्नो पश्चान्निपातीत्यतस्तादृश एव गृहस्थतुल्य एव स्यात्, आश्रवद्वाराणामुभयेषामप्यसवृतत्वात्, उदायिनृपमारकवत् । अन्येऽपि ये सावद्यानुष्ठायिनस्तेऽपि तादृशा एवेति दर्शयन्नाह-(जे परिण्णाय इत्यादि)येऽपि स्वयूथ्या पार्श्वस्थाऽऽदयो द्विविधयाऽपि परिज्ञया लोक परिज्ञाय पुन एवनपाऽऽनाऽऽद्यर्थं तमेव लोकमन्वाश्रिता अन्वेषयन्ति वा तेऽपि गृहस्थतुल्या एव नवेयु. ॥ १५२ ॥

स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह-

एयं णियाय मुणिणा पवेदितं, इह आणाकंखी पंडिते अणिहे, पुव्वावररायं जयमाणे, सया सीलं संपेहाए सुणिया भवे अकामे अझंझे, इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ ?॥ १५३ ॥

(एय इत्यादि) एतद् यदुत्थाननिपाताऽऽदिकं प्रागुपन्यस्तं तत्केवलज्ञानावलोकनेन (णियाय त्ति) ज्ञात्वा मुनिना तीर्थकृता प्रवेदितं कथितम्। इह चान्यत्प्रवेदितमित्याह-(इह इत्यादि) इहास्मिन्मौनीन्द्रे प्रवचने व्यवस्थितः सन् आज्ञां तीर्थकृतोपदेशमाकाङ्क्षितुं शीलमस्येत्याज्ञाकाङ्क्षी आगमानुसारप्रवृत्तिकः, कश्चैवंभूतः? पण्डितः सदसद्विवेकज्ञोऽनिहः स्नेहरहितो रागद्वेषविप्रमुक्तोऽहर्निशं गुरुनिर्देशवर्त्ती यत्नवान् स्यादित्येतदाह-(पुव्वावर इत्यादि) पूर्वरात्रं रात्रेः प्रथमो यामोऽपररात्रं रात्रेः पाश्चात्य एतद्यामद्वयमपि यतमानः सदाचारमाचरेत्, मध्यवर्त्तियामद्वयमपि यथोक्तविधिना स्वपन् वैराग्यादिकं विध्यात्, रात्रियतनाप्रतिपादनेन चाह्न्यपि प्रतिपादितैव भवति, आद्यन्तग्रहणे मध्यग्रहणस्यावश्यम्भावित्वात्। किञ्च-(सया सील इत्यादि) सदा सर्वकालं 'शीलम्' अष्टादशभेदसहस्रसङ्ख्यं, संयमं वा। यदि वा चतुर्धा शीलम्-महाव्रतसमाधानं तिस्रो गुप्तयः पञ्चेन्द्रियदमः कषायनिग्रहश्चेत्येतच्छीलं संप्रेक्ष्य मोक्षाङ्गतयाऽनुपालयेत नाक्षिनिमेषमात्रमपि कालं प्रमादवशगो भूयात्। कश्च शीलसंप्रेक्षकः स्यादित्याह-यो हि श्रुत्वा शीलसंप्रेक्षणफलं निःशीलनिर्व्रतानां च नरकाऽऽदिपातविपाकमाकर्ण्याऽऽगमात्, 'भवेत्' स्याद् अकाम इच्छामदनकामरहित इति। तथा नास्य झञ्झा माया लोभेच्छा विद्यत इत्यझञ्झः, कामझञ्झाप्रतिषेधाच्च मोहनीयोदयः प्रतिषिद्धः, तत्प्रतिषेधाच्च शीलवान् स्यादिति, एतदुक्तं भवति-धर्मं श्रुत्वा स्याद् अकामोऽझञ्झश्चेत्यनेन चोत्तरगुणा गृहीताः, उपलक्षणार्थत्वाच्च मूलगुणा अपि गृहीताः, ततः स्याद् अहिंसकः सत्यवादीत्याद्यपि द्रष्टव्यम्। ननु चान्यः जीवाच्छरीरमित्येव भावनायुक्तस्यानिगूहितबलवीर्यस्य पराक्रममाणस्याऽष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणोऽपि मे यथोपदेशं प्रवर्त्तमानस्यापि नाशेषकर्ममलापगमोऽद्यापि भवतीत्यतस्तथाभूतमसाधारणकारणमाचक्ष्व, येनाहमाश्वेवाशेषमलकलङ्करहितः स्याम, अहं च भवदुपदेशादपि सिंहेनापि सह युद्ध्ये, न मे कर्मक्षयार्थं प्रवृत्तस्य किञ्चिदशक्यमस्तीत्यत्रोत्तरसूत्रेणैवाऽऽह-(इमेण चेव इत्यादि) अनेनैवौदारिकेण शरीरेणेन्द्रियनोइन्द्रियाऽऽत्मकेन विषयसुखपिपासुना स्वैरिणा सार्द्धं युध्यस्व, इदमेव सन्मार्गावतारणतो वशीकुरु, किमपरेण बाह्यतस्ते युद्धेन ?, अन्तरारिषड्वर्गकर्मरिपुजयाद्धि सर्वं सेत्स्यति भवतो, नातोऽपरं दुष्करमस्तीति ॥ १५३ ॥

किं त्विदमेव सामग्री अगाधसंसारार्णवे पर्यटतो भवकोटिसहस्रेष्वपि दुष्प्रापेति दर्शयितुमाह-

जुद्धारिहं खलु दुल्लहं जहित्थकुसलेहिं परिणाविवेगे भासिते, चुते हु बाले गब्भातिसु रज्जति, अस्सिं चेयं पवुच्चति, रूवंसि वा छणंसि वा, से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अण्णहा लोगमुवेहमाणे, इय कम्मं परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसति, संजमती णो पगब्भती, उवेहमाणो पत्तेयं सायं, वण्णाएसी णारभे कंचणं सव्वलोए एगप्पमुहे विदिसप्पतिण्णे णिव्विण्णचारी अरए पयासु ॥ १५४ ॥

(जुद्धारिह इत्यादि) एतदौदारिकं शरीरं भावयुद्धार्हं, सद्गुरुप्रधारणे। स च भिन्नक्रमो, दुर्लभमेव दुष्प्रापमेव, उक्तं च-"ननु पुनरिदमतिदुर्लभ-मगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम्। मानुष्यं खद्योतक-तडिल्लताविलसितप्रतिमम्"॥ १ ॥ इत्यादि। पाठान्तरं वा-"जुद्धारियं च दुल्लहं।" तत्रानार्यं संग्रामयुद्धं, परीषहाऽऽदिरिपुयुद्धं त्वार्यं, तद् दुर्लभमेव तेन युध्यस्व, ततो भवतोऽशेषकर्मक्षयलक्षणो मोक्षोऽचिराद्भावीति भावार्थः। तच्च भावयुद्धार्हं शरीरं लब्ध्वा कश्चित्तेनैव भवेनाशेषकर्मक्षयं विधत्ते, मरुदेवीस्वामिनीव, कश्चित् सप्तभिरष्टभिर्वा भवैर्भरतवत्, कश्चिदपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तेन, अपरो न सेत्स्यत्येव, किमित्येवं यत आह-(जहाकुसलेहिं इत्यादि) यथा येन प्रकारेणात्रास्मिन् संसारे कुशलैस्तीर्थकृद्भिः परिज्ञा विवेकः परिज्ञानविशिष्टता, कस्यचित्कोऽध्यवसाय संसारवैचित्र्यहेतुर्भाषितः प्रज्ञापितः स च मतिमता तथैवाभ्युपगन्तव्य इति। तदेव परिज्ञाननानात्वं दर्शयन्नाह-(चुए इत्यादि) लब्ध्वाऽपि दुर्लभं मनुजत्वं प्राप्य च मोक्षैकगमनहेतुं धर्मं पुनरपि कर्मोदयात् तस्माच्च्युतो बालः अज्ञः गर्भाऽऽदिषु रज्यते, गर्भ आदिर्येषां कुमारयौवनावस्थाविशेषाणां ते गर्भाऽऽदयः, तेष्वेव गार्ध्यमुपयाति, यथैभिः सार्द्धं मम वियोगो मा भूत् इत्येतदध्यवसायी भवति। यदि वा-धर्मात् च्युतस्तत्करोति येन गर्भादिषु यातनास्थानेषु सङ्गमुपयाति।" रिज्जइ त्ति " वा क्वचित्पाठः, रीयते गच्छतीत्यर्थः। स्यात्-क्वोक्तमिदम् ?, यत्प्राग् व्यावर्णितमित्याह-(अस्सिं चेयं पवुच्चइ रूवंसि वा छणंसि वा से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अण्णहा लोगमुवेहमाणे, इय कम्मं परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसति संजमती णो पगब्भइ) अस्मिन्नार्हते प्रवचने एतत्पूर्वोक्तं प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते। एतच्च वक्ष्यमाणमत्रैवोच्यते इति दर्शयन्नाह-रूपे चक्षुरिन्द्रियविषये अभ्युपपन्नो, वाशब्दादन्यत्र वा स्पर्शरसाऽऽदौ क्षणे प्रवर्तते, 'क्षणु' हिंसायाम्, क्षणनं क्षणो हिंसा, तस्यां प्रवर्त्तते, वाशब्दादन्यत्र चानृतस्तेयाऽऽदाविति, रूपप्रधानत्वाद्विषयाणां रूपित्वाच्च रूपोपादानम्, आश्रवद्वाराणां च हिंसाप्रधानत्वात्तदादित्वाच्च तदुपादानमिति। बालो रूपाऽऽदिविषयनिमित्तं धर्माच्च्युतः सन् गर्भाऽऽदिषु रज्यते, अत्राऽऽर्हते मार्गे इदमुच्यते, यस्तु पुनर्गर्भाऽऽदिगमनहेतुं ज्ञात्वा विषयसङ्गं धर्मादच्युतो हिंसाद्याश्रवद्वारेभ्यो निवर्त्तते स किंभूतः स्यादित्याह- स जितेन्द्रियो दुरवधारणे, स एवैकः अद्वितीयो मुनिर्ज्जगत्त्रयमन्ता संविद्धपथः सम्यग्विद्धस्ताडितः क्षुण्णः पन्था मोक्षमार्गो ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽख्यो येन स तथा। (संविद्धभए त्ति) वा पाठः। संविद्धभयो दृष्टभय इत्यर्थः, यो ह्याश्रवद्वारेभ्यो हिंसादिभ्यो निवृत्तः स एव मुनिः क्षुण्णमोक्षमार्गः इति भावार्थः। किञ्च-अन्येन प्रकारेणान्यथा विषयकषायाभिभूतं हिंसाऽऽदिकर्मसु प्रवृत्तं लोकं गृहस्थलोकं वा पाषण्डिलोकं वा, पचनपाचनौद्देशिकसावद्याऽऽहाराऽऽदिप्रवृत्तमुत्प्रेक्षमाणोऽन्यथा वाऽस्मान्निवृत्ताशुभव्यापारमुत्प्रेक्ष्यमाणः संविद्धपथो मुनिः स्यादिति। लोकं चान्यथोत्प्रेक्ष्य किं कुर्यादित्याह-इति पूर्वोक्तैर्हेतुभिर्यद्बद्धं कर्म तदुपादानं च सर्वतः परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञायाऽपि सर्वतः परिहरेत्। कथं परिहरतीत्याह-(से ण हिंस-

ति) स कर्मपरिहर्त्ता कायवाङ्मनोभिर्न हिनस्ति जन्तून्, न घातयत्यपरैर्नाप्यनुमन्यते । किञ्च-पापोपादानप्रवृत्तमात्मानं संयमयति, सप्तदशप्रकारं वा संयमं करोति संयमयति, आचारं-क्विबन्त चैतत्-संयम इवाऽऽचरति संयमयति । किं च-(नो पगब्भइ) 'गल्भ' धार्ष्ट्ये, असंयमकर्मसु प्रवृत्तः सन् न-प्रगल्भत्वमायाति, रहस्यप्यकार्यप्रवृत्तो जिहेति न धृष्टता-मवलम्बते इति, उपलक्षणार्थत्वादस्य क्षुण्णमोक्षपथो मुनि-र्न क्रुध्यति न जात्यादिमानमुद्वहति, न वञ्चनां विधत्ते, न लुभ्यति । किमाकलय्यैतत् कुर्यादित्याह-(उवेहमाणे त्ति) उत्प्रेक्षमाणोऽवगच्छन् प्रत्येकं प्राणिनां सातं मनोऽनुकूलं ना-न्यसुखेनान्यः सुखीति नाऽपि परदुःखेन दुःखी, अतः प्राणिनो न हिंस्यात् । इति प्राणिनां प्रत्येकं सातमुत्प्रेक्षमाणश्च किं कुर्यादित्याह-वर्ण्यते प्रशस्यते येन स वर्णः साधुकारस्तदादे-शी वर्णाऽऽदेशी वर्णाभिलाषी समारभते कञ्चन पापाऽऽरम्भं सर्वस्मिन्नपि लोके, यदि वा- तपःसंयमाऽऽदिकमप्यारम्भं यशःकीर्त्यर्थं नाऽऽरभते, प्रवचनोद्भावनार्थं त्वारभते ।

तदुद्भावकाश्चामी-

" प्रावचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च ।
विद्यासिद्धः ख्यातः, कविरपि चोद्भावकास्त्वष्टौ ॥ १ ॥ "

यदि वा वर्णो-रूपं तदादेशी-तदभिलाषुकः, नोद्वर्तनाऽऽदिकाः क्रिया आरभेत,किन्नु सञ्जेनतत् कुर्यादित्याह-(पगप्पमुहे) एको मोक्षोऽशेषमलकलङ्करहितत्वात् संयमो वा रागद्वेषरहितत्वात्त-त्र प्रगतं मुखं यस्य स तथा,मोक्षे तदुपाये वा दत्तैकदृष्टिर्न कञ्चन पापाऽऽरम्भमारभेत इति । किञ्च-मोक्षसंयमाभिमुखा दिक् त-तोऽन्या विदिक् तां प्रकर्षेण तीर्णो विदिक्प्रतीर्णः, स चैवंभूतः सम्रारम्भी स्यात्, कुमार्गपरित्यागेन न पापारम्भान्वेषी भवती-त्यर्थः । किञ्च-(णिव्विण्णचारी) चरणं चारः अनुष्ठानं, निर्विण्ण-स्य चारो निर्विण्णचारः, सोऽस्यास्तीति निर्विण्णचारी, कुत इति चेत् ?, यतः प्रजास्वरतः प्रजायन्त इति प्रजाः प्राणिनः, तत्रारतः तदारम्भाद् निवृत्तो निर्ममत्वो वा, यश्च शरीराऽऽदिष्वपि मम-त्वरहितः स निर्विण्णचार्येव भवति, यदि वा प्रजाः स्त्रियस्ता-स्वरतः आरम्भेऽपि निर्वेदमागच्छति, कारणाभावे कार्यस्याप्य-भावादिति ।

यश्च प्रजास्वरक्त आरम्भरहितः, स किंभूतः स्यादित्याह-

से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणि-ज्जं पावं कम्मं तं णो अण्णेसी, जं सम्मं ति पासहा तं मो-णं ति पासहा जं मोणं ति पासहा तं सम्मं ति पासहा, ण इमं सक्कं सिढिलेहिं अदिज्जमाणेहिं गुणासातेहिं वंकसमाया-रेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं, मुणी मोणं समायाए धुणे सरीरगं, पंतं लूहं च सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो, एस ओहंतरे मुणी,तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि ॥२५५॥

(से वसुमं) वसु द्रव्यं,स चात्र संयमः, तद्विद्यते यस्य स निवृ-त्ताऽऽरम्भो मुनिर्वसुमान् (सव्वसमण्णागय त्ति) सर्वं सम्यगन्वा-गतं प्रज्ञानं पदार्थाऽऽविर्भावकं यस्याऽऽत्मनस्तेनाऽऽत्मना सर्व-समन्वागतप्रज्ञानरूपाऽऽपन्नेन यदकर्त्तव्यं पापं कर्म तन्नो कदाचि-दप्यन्वेषति, उपलब्धपरमार्थरूपेणाऽऽत्मना न सावद्यानुविधा-यी स्यादिति भावार्थः । यदेव सम्यक्प्रज्ञानं तदेव पापकर्मवर्जनं, यदेव पापकर्मवर्जनं तदेव च सम्यक्प्रज्ञानमित्येतद्गतप्रत्यागत-सूत्रेणैव दर्शयितुमाह-सम्यगिति सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वं वा त-त्सहचरितम्, अनयोः सहभावादेकग्रहणे द्वितीयग्रहणं न्या-य्यं, यदिदं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वं वेत्येतत्पश्यत तन्मुनेर्भावो मौ-नं-संयमानुष्ठानमित्येतत्पश्यत, यच्च मौनमित्येतत् पश्यत त-त्सम्यग्ज्ञानं नैश्चयिकसम्यक्त्वं वा पश्यत, ज्ञानस्य विरति-फलत्वात् सम्यक्त्वस्य चाभिव्यक्तिकारणत्वात् सम्यक्त्वज्ञा-नचरणानामेकताऽध्यवसेयेति भावार्थः । एतच्च न येन केनचि-च्छक्यमनुष्ठातुमित्याह-नैतत्सम्यक्त्वाऽऽदित्रयं सम्यगनुष्ठातुं शक्यं, कैः ? 'शिथिलैः' अल्पपरिणामतया मन्दवीर्यैः संय-मतपसोर्धृतिदृढिमरहितैरिति । किञ्च-(आदिज्जमाणेहिं) आ-र्द्रैः पुत्रकलत्राऽऽद्यनुषङ्गजनितस्नेहादार्द्रीक्रियमाणैरेतद् पूर्वो-क्तमशक्यमिति संबन्धः, किञ्च-(गुणासाएहिं) गुणाः शब्दाऽऽ-दयस्तेषु आस्वादो येषां ते गुणाऽऽस्वादास्तैरिति । किञ्च-(वंक-समायारेहिं) वक्रः समाचारो येषां ते तथा, तैर्मायाविभिरित्यर्थः । (पमत्तेहिं) विषयकषायाऽऽदिप्रमादैः प्रमत्तैरिति । (गारमावसं-तेहिं) अगारं गृहं तदाद्याक्षरलोपाद्गारमित्युक्तं तदागारमावस-द्भिः सेवमानैः पापकर्मवर्जनरूपं मौनमनुष्ठानमशक्यमिति सर्वत्र योज्यम् । कथं तर्हि शक्यमित्याह-(मुणी मोणं समायाए धुणे स-रीरगं पंतं लूहं च सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो) (मुणी मोणं ति) मुनिर्जगत्त्रयस्य मन्ता मौनं मुनित्वमशेषसावद्यानुष्ठानवर्जन-रूपं समादाय गृहीत्वा धुनीयाच्छरीरकमौदारिकं कर्मशरीरं वा । कथं च तस्य धुननमित्याह-प्रान्तं पर्युषितं वल्लचणकाद्य-ल्पं वा तदपि रूक्षं विकृतेरभावात्तत् सेवन्ते तदभ्यवहरन्ति,के ते ?,वीराः कर्मविदारणसहिष्णवः,किंभूताः ?, सम्यक्त्वदर्शिनः, समत्वदर्शिनो वा । यश्च प्रान्तरूक्षसेवी स किंगुणः स्यादित्याह-(एस ओहंतरे मुणी) एषोऽनन्तरोक्तविशेषणविशिष्ट ओघो भा-वौघः संसारस्तं तरतीति । कोऽसौ ?, मुनिः "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा " ॥ ३ । ३ । १३१ ॥ इति तीर्णः एवासौ, स बा-ह्याभ्यन्तरसङ्गाभावान्मुक्तः, कश्चैवंभूतो ?, यः सावद्यानुष्ठाना-द्विरत इत्येवं व्याख्यातः । इतिरधिकारसमाप्तौ । ब्रवीमीति पूर्ववत् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

इह त्रीणि वयांसि-युवा मध्यवया वृद्धश्चेति, तत्र मध्यवयाः परिपक्वबुद्धित्वाद् धर्मार्ह इत्येतद्दर्शयति-

मज्झिमेणं वयसा एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिता सोच्चा मे-धावी वयणं पंडियाणं णिसामित्ता समयाए धम्मे आयरि-एहिं पवेदिते ते अणवकंखमाणा अणतिवाएमाणा अप-रिग्गहमाणा णो परिग्गहावंति सव्वावंति च णं लोगंसि णिहाय दंडं पाणेहिं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए ॥

युवा मध्यवया वृद्धश्चेति । तत्र मध्यमवया परिपक्वबुद्धित्वा-द्धर्मार्ह इत्यतो दर्शयति-मध्यमेन वयसाऽप्येके संबुध्यमाना धर्मचरणाय सम्यगुत्थिता इति, सत्यपि प्रथमचरमवयसोरु-त्थाने यतो बाहुल्याद्योग्यत्वाच्च प्रायो विनिवृत्तभोगकुतूहल इति निष्प्रत्यूहधर्माधिकारीति मध्यमवयोग्रहणम् । कथं संबुध्य-मानाः समुत्थिता इत्याह-(सोच्चा इत्यादि) इह त्रिविधाः संबुध्यमानका भवन्ति । तद्यथा-स्वयंबुद्धाः, प्रत्येकबुद्धाः, बु-द्धबोधिताश्च । तत्र बुद्धबोधितेनेहाधिकार इति दर्शयति-मेधा-वी मर्यादाव्यवस्थितः परिमतानां तीर्थकृदादीनां वचनं हिता-हितप्राप्तिपरिहारप्रवर्तकं श्रुत्वाऽऽकर्ण्य पूर्वं पश्चान्निशम्याऽऽ-

व्यधार्य समतामालम्बेत । किमिति ?, यतः समतया माध्यस्थ्येनार्यैस्तीर्थकृद्भिर्धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यः प्रवेदितः आदौ प्रकर्षेण वा कथित इति । ते च मध्यमे वयसि श्रुत्वा धर्मं संबुद्ध्यमानाः समुत्थिताः सन्तः किं कुर्युरित्याह-(ते अभिक्रममाणा इत्यादि) ते निष्क्रान्ता मोक्षमभिप्रार्थयन्तः कामभोगानभिकाङ्क्षन्तस्तथा प्राणिनोऽनतिपातयन्तः परिग्रहमपरिगृह्णन्तः बाह्याभ्यन्तरयोर्ग्रहणे मध्योपादानमपि द्रष्टव्यम् । तथा मृषावादमवदन्त इत्याद्यपि वाच्यमेवंभूताश्च देहेऽप्यममत्वा (सव्वावंति त्ति) सर्वस्मिन्नपि लोके, च समुच्चये, स च भिन्नक्रमः । एमिति वाक्यालङ्कारे । नोपरिग्रहवन्तश्च भवन्तीति यावत् । किञ्च-(णिहाय इत्यादि) प्राणिनो दण्डयतीति दण्डः परितापकारी तं दण्डं प्राणिषु प्राणिभ्यो वा निधाय क्षिप्त्वा त्यक्त्वा पापं पापोपादानं कर्माष्टादशभेदभिन्नं तदकुर्वाणोऽनाचरन्नेष महान् विद्यते ग्रन्थः स बाह्याभ्यन्तरोऽस्येत्यग्रन्थः व्याख्यातस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिः प्रतिपादित इति । आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० । इह हि दुरन्तानन्तचतुरन्तासारविसारिसंसारापारपारावारे निमज्जता भव्यजन्तुना जिनप्रवचनप्रतीतचोल्लकाऽऽदिदशनिदर्शनदुष्प्रापां कथमपि प्रशस्तसमस्तमनुजजन्माऽऽदिसामग्रीमवाप्य भवजलधिसमुत्तरणप्रवणप्रवहणस्वधर्मसत्कर्मविधाने प्रयत्नो विधेयः । यदवादि-"भवकोटीदुष्प्रापा-मवाप्य नृभवाऽऽदिसकलसामग्रीम् । भवजलधियानपात्रे, धर्मे यत्नः सदा कार्यः ॥१॥" सङ्घा० १ अधि० १ प्रस्ताव० । कामार्थयोस्तु बाधाया धर्मो रक्षणीयः, धर्ममूलत्वादर्थकामयोः । उक्तं च "-धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनापि जीवतः । आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्यं, धर्मवित्ता हि साधवः ॥१॥" (१३) ध० १ अधि० । (धर्मविषये तेतलिपुत्रकथा 'तेतलिसुय' शब्दे २३५२ पृष्ठे गता) "जाव न दुक्खं पत्ता, माणब्भंसं च पाणिणो पायं । ताव न धम्मं गेण्हं-ति भावओ तेयलिसुय व्व" ॥ १ ॥ ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । "नेह लोके सुखं किञ्चि-च्छादितस्यांहसा भृशम् । मितं च जीवितं नृणां, तेन धर्मे मतिं कुरु" ॥ १ ॥ आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

प्रक्रान्तमेव समर्थयन्नाह-

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥ ३६ ॥

जरा वयोहानिलक्षणा यावन्न पीडयति, व्याधिः क्रियासामर्थ्यशत्रुर्यावन्न वर्द्धते । यावदिन्द्रियाणि क्रियासामर्थ्योपकारीणि श्रोत्रादीनि न हीयन्ते तावदत्रान्तरे प्रस्ताव इति कृत्वा धर्मं समाचरेत् चारित्रधर्ममिति सूत्रार्थः ॥३६॥ दश० ८ अ० ।

पापाद्विरम्य धर्ममेवाऽऽश्रयेत्, तथा च-

वेराणुगिद्धे णिचयं करेति,
इओ चुए स दुहमट्ठदुग्गं ।
तम्हा उ मेधावि समिक्ख धम्मं,
चरे मुणी सव्वओ विप्पमुक्के ॥ ६ ॥

येन केन कर्मणा परोपतापरूपेण वैरमनुबध्यते जन्मान्तरशतानुयायि भवति, तत्र गृद्धो वैरानुगृद्धः । पाठान्तरं वा "आरम्भसत्तो त्ति" आरम्भे सावद्यानुष्ठानरूपे सक्तो लग्नो निरनुकम्पो निचयं द्रव्योपचयं तन्निमित्ताऽऽपादितकर्मनिचयं स्थानात् च्युतो जन्मान्तरं गतः सन् वा करोत्युपादत्ते, स एवंभूत उपात्तवैरः कृतकर्मोपचय इत्यतोऽस्मात्स्थानाच्च्युतो जन्मान्तरं गतः सन् दुःखयतीति दुःखं नरकाऽऽदिकं यातनास्थानमर्थतः परमार्थतो दुर्गं विषमं दुरुत्तरमुपैति । यत एवं तत्तस्मान्मेधावी विवेकी मर्यादावान् वा संपूर्णसमाधिगुणं जानानो धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं समीक्ष्याऽऽलोच्याङ्गीकृत्य मुनिः साधुः सर्वतः सबाह्याभ्यन्तरात्सङ्गाद्विप्रमुक्तोऽपगतः संयमानुष्ठानं मुक्तिगमनैकहेतुभूतं चरेदनुतिष्ठेत् आरम्भाऽऽदिसङ्गाद्विप्रमुक्तो निश्रितभावेन विहरेदिति यावत् ॥ ६ ॥ सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

(१६) तथा च-

दियहाइं दो व तिन्नि च, अद्धाणं होइ जं तु लग्गेण ।
सव्वायरेण तस्स वि, संबलयं लेइ पविसंतो ॥
जो पुण दीहपवासो, चुलसीइजोणिलक्खनियमेण ।
तस्स तवसीलमइयं, संबलयं न चिंतेह ॥
जह जह पहरे दियहे, माससंवच्छरे ति वोलिंति ।
तह तह गोयम ! जाणसु, ढुक्के आसन्नमरणं च ॥
जस्स न नज्जइ कालं, न य वेला नेव दियहपरिमाणं ।
नाए वि णत्थि कोइ वि, जगम्मि अजरामरो एत्थ ॥
पावो पमायवसओ, जीवो संसारकज्जमुज्जुत्तो ।
दुक्खेहिँ न निव्विन्नो, सुक्खेहिँ न गोयमा ! तिप्पे ॥
जीवेण जाणिउं वि, सज्जयाणि जो इ सएसु देहाणि ।
थेवेहिँ तओ सयल, पि तिहुयणं होज्ज पमिहत्थं ॥
नहदंतमुद्धभमुह-क्खिकेसजीवेण विप्पमुक्केसु ।
तह वि हविज्ज कुलसे-लमेरुगिरिसन्निभे कूमे ॥
हिमवंतमलयमंदर-दीवोदहिधरणिसरिसरासीओ ।
अहियारो आहारो, जीवेणाहारिओ अणंतहुत्तो ॥
गुरुदुक्खभरकंत-स्स अंसुनिवाएण जं जलं गलियं ।
तं अगमतलायणई-समुद्दमाईसु ण वि होज्जा ॥
आवीयं थणछीरं, सागरसलिलाउ बहुयरं होज्जा ।
संसारम्मि अणंते, अविलाजोणीए एक्काए ॥
सत्ताहविनन्नसुकुहिय-साण जोणीए देसम्मि ।
किमियत्तणकेवलए-ण जाणि मुक्काणि देहाणि ॥
तेसिं सत्तमपुढवी-ए सिद्धिखेत्तं च पावओ कुरुडं ।
चोद्दसरज्जु लोगं, अणंतभागेण विन्नरेज्जा ॥
एते य कामभोगे, कालमणंतं इह सओवभोगे य ।
अप्पुव्व व्वि य मन्नइ, जीवो तह वि य विसयसोक्खं ॥
जह कच्छुलो तुयमाणो, दुहं मुणेइ सोक्खं ।
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामदुहं सुहं बेंति ॥
जाणंति अणुहवंति य, अणुजम्मजरामरणसंभवे दुक्खे ।
न य विसएसु विरज्ज-ति गोयम ! दुग्गइगमणपत्थिए जीवे ॥
सव्वगहाण पभवो, महागहो सव्वदोसपायट्टी ।
कामग्गहो दुरप्पा, जेणभिभूयं जगं सव्वं ॥

तस्स वसं जे गया पाणी-
जाणंति जइ भोगिड्डि-संपयासव्वमेव धम्मफलं ।
तह वि ढढमूलहियए,
पावं काऊण दोग्गइं जंति ॥
बच्चइ खणेण जीवो, पंतानिलधाउसिंभखोभेहिं ।
उज्जमह मा विसीयह, तरतमजोगो इमो दुलहो ॥
पंचिंदियत्तण मा-णुसत्तण आरिए जणे सुकुलं ।
साहुसमागमसुणणा, सद्दहणा भोगपव्वज्जा ॥
मूलअहिविसविसूइय-पाणियसत्थग्गिसंभमेहिं च ।
देहंतरसंकमणं, करेइ जीवो मुहुत्तेण ॥
जावाउसावसेसं, जाव य थोवो वि अत्थि ववसाओ ।
ताव करेज्जऽप्पहियं, मा तप्पिह हा पुणो एत्थ ॥
सुरधणुविज्जुक्खणदि-ट्ठनट्ठसकाणुरागसिमिणसमं ।
देहं इति सुविपुष्ठस-मय भंगवज्ज चरिउं ॥
इय जाव ण चुक्कसि ए-रिसस्स खणभंगुरस्स देहस्स ।
उग्गं कट्ठ घोरं, चरसु तव नत्थि परिवामी ॥
वासमहस्सं पि जई, काऊणं संजमं सुविउल पि ।
अंते किलिट्ठभावो, न विसुज्झइ कंडरीय व्व ॥ महा० ६ अ० ॥

(१७) ते धन्ना जे धम्मं, चरिउं जिणदेसियं पयत्तेणं ।
गिहिपासवंधणाओ, उम्मुक्का सव्वभावेण ॥ द० प० ।

धर्ममुपदिशन् भगवानादितीर्थकरो भरततिरस्काराऽऽगतसंवेगान् स्वपुत्रानुद्दिश्येदमाह । यदि वा सुरासुरनरोरगतिरश्च समुद्दिश्य प्रोवाच यथा--

संबुज्झह किं न बुज्झह,
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राइओ,
नो सुलभं पुणरवि जीवियं ॥ १ ॥

संबुध्यध्व यूयं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणे धर्मे बोधं कुरुत । यत् पुनरेवंभूतोऽवसरो दुराप । तथाहि--मानुषं जन्म, तत्रापि कर्मभूमिः पुनरार्यदेशः, सुकुलोत्पत्तिः, सर्वेन्द्रियपाटवं, श्रवणश्रद्धाऽऽदिप्राप्तौ सत्यां स्वसत्त्विस्यवहम्मेनाह--किं न बुध्यध्वमित्यवश्यमेवंविधसामग्र्यावाप्तौ सत्यां सकर्णेन तुच्छान् भोगान् परित्यज्य सद्धर्मबोधो विधेय इति भाव. ।

तथाहि-

"निर्वाणाऽऽदिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्मान्विते,
लब्धे स्वल्पमचारु कामजसुखं नो सेवितुं युज्यते ।
वैडूर्याऽऽदिमहोपलौघनिचिते प्राप्तेऽपि रत्नाकरे,
लातु स्वल्पमतीस काचशकलं किं चोचितं साम्प्रतम्" ॥ १ ॥

अकृतधर्माचरणानां तु प्राणिनां सबोधिः सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राऽवाप्तिलक्षणा प्रेत्य परलोकगतानां, खलुशब्दस्याऽवधारणार्थत्वात् सुदुर्लभैव । तथाहि-विषयप्रमादवशात् सकृत् धर्माऽऽचरणाद् भ्रष्टस्याऽनन्तमपि कालं संसारे पर्यटनमभिहितमिति । किं च हु रित्यवधारणे । नैवातिक्रान्ता रात्रय उपनमन्ति पुनर्ढौकन्ते । न ह्यतिक्रान्तो यौवनाऽऽदिकालः पुनरावर्त्तत इति भाव । तथाहि--" भवकोटिभिरसुलभम्, मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे । न च गतमायुर्भूय , प्रत्येत्यपि देवराजस्य" ॥ १ ॥ नो नैव संसारे सुलभं सुप्रापं संयमप्रधानं जीवितम् । यदि वा-जीवितमायुस्त्रुटितं सत् तदेव संधातुं न शक्यत इति वृत्तार्थ । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अथ शतवर्षायुष्कस्य जीवस्यान्यस्यापि धर्मोपदेशं ददाति--

जो वाससयं जीवइ, सुही भोगे य भुंजई ।
तस्स वि सेविउं सेओ, धम्मो य जिणदेसिओ ॥ २२ ॥

यो जीवो वर्षशतं जीवति, प्राणान् धरतीत्यर्थः । च पुनः सुखी भोगान् भुनक्ति, तस्यापि जीवस्य सेवितुं सदा कर्तुं श्रेयो मङ्गलं धर्मो दुर्गतिपतज्जीवाधारः, जिनदेशितः केवलिना भाषितः ॥ २२ ॥

किं पुण सपच्चवाए, जो नरो निच्चदुक्खिओ ।
सुठुयर तेण कायव्वो, धम्मो य जिणदेसिओ ॥ २३ ॥

किं पुनः सप्रत्यपाये सकष्टे आयुषि काले वा सति इति शेष. । यो नरो नित्यदुःखितः सदा दुःखाऽऽकुलो भवेत् तेन दुःखितजीवेन जिनदेशितो धर्मः सुष्ठुतर विशेषतः कर्त्तव्यो नन्दिषेणपूर्वभवब्राह्मणवदिति ॥ २३ ॥

नंदमाणो चरे धम्मं, वरं मे लट्ठतरं भवे ।
अनंदमाणो वि चरे, मा मे पावतरं भवे ॥ २४ ॥

नन्दमानः सौख्यं भुञ्जन् धर्मं जिनोक्तं चरेत्, कुर्यादित्यर्थः, किंभूतं धर्मम् ?, वरं श्रेष्ठं शिवप्रापकत्वात्, कया भावनया धर्मं कुर्यादित्याह-मे ममात्र भवे परभवे च लष्टतरमतिकल्याणं भवेदिति भावनयेति । अनन्दमानोऽपि सौख्यमभुञ्जन्नपि धर्मं कुर्यात्,कया भावनयेत्याह-मे मम पापतरं मा भवतु ममातिपापं मा भवतु, एकं तावदहं पापफलं भुनज्मि, पुनर्धर्माकरणे मा भवतु मेऽतिपापमिति भावनयेति ॥ २४ ॥

किञ्च-

न वि जाई कुलं वा वि, विज्जा नावि सुसिक्खिया ।
तारेइ नरं व नारिं वा, सव्वं पुन्नेहिँ वड्ढई ॥ २५ ॥

नरं पुरुषं, वाशब्दाद्बालाऽऽदिभेदभिन्नं, नारीं स्त्रियं, वाशब्दात्क्लीबं, जातिर्मातृपक्षं , ब्राह्मणादिका जातिर्वा, कुलं पितृपक्षः उग्रभोगादिकं कुलं वा, विद्या वा सुशिक्षिता वा सदभ्यस्ता वा, नापीति नैव तारयति भवाब्धिनीरं प्रापयति सर्वं स्वर्गापवर्गाऽऽदिसौख्यं पुण्यैः सविमलसाधुदानाऽऽदिभिर्वर्द्धते प्राप्यते इत्यर्थ । अत्राऽन्यत्राऽपि चकारवकाराऽऽदिशब्दा यथायोगं पूरणसमुच्चयाऽऽदिकेऽर्थे ज्ञातव्या इति ॥ २५ ॥

पुन्नेहिं हीयमाणेहिं, पुरिमागारो वि हायई ।
पुन्नेहिं वड्ढमाणेहिं, पुरिसायारो वि वड्ढई ॥ २६ ॥

पुण्यैरन्नपानवस्त्रपीठफलकौषधाऽऽदिभिः साधुदानाऽऽदिभिरुपार्जितशुभफलैः हीयमानैः क्षयं गच्छद्भिः पुरुषकारः पुरुषाभिमानः, अपिशब्दाद्यद्यपि यशःकीर्तिस्फीतिलक्ष्म्यादिकं हीयते, शनैः क्षयं यातीत्यर्थः, पुण्यैर्वर्द्धमानैः पुरुषकारोऽपि वर्द्धते ॥ २६ ॥

पुण्णाइं खलु आउसो ! किच्चाइं करिणिज्जाइं पीइकराइं

वणकराइं धणकराइं जसकराइं कित्तिकराइं, नो खलु आउसो ! एवं चिंतियव्वं-एसंति खलु बहवे समया आवलिया खणा आणापाणू थोवा लवा मुहुत्ता दिवसा अहोरत्ता पक्खा मासा उऊ अयणा संवच्छरा जुगा वाससया वाससहस्सा वाससयसहस्सा वासकोडीओ वासकोडाकोडीओ जत्थ णं अम्हे बहूइं सीलाइं वयाइं गुणाइ वेरमणाइं पच्चक्खाणाइं पोसहोपवासाइं पडिवज्जिस्सामो पट्ठविस्सामो करिस्सामो, तो किमत्थं आउसो ! नो एवं चिंतेयव्वं भवइ अंतरायबहुले खलु अयं जीविए, इमे बहवे वाइयपित्तियसिंभियसण्णिवाइया विविहा रोगायंका फुसंति जीवियं ॥

" पुन्नाइ " इत्यादि गद्यम् । खलु निश्चये, हे आयुष्मन् ! पुण्यानि शुभप्रकृतिरूपाणि कृत्यानि कार्याणि करणीयानि कर्तुं योग्यानि (पीतिकराणि त्ति) मित्राऽऽदिना सह स्नेहोत्पादकाऽऽनि,वर्णकराणि एकदिग्व्यापिसाधुवादकराणीत्यर्थः । धनकराणि सद्रत्नसमृद्धिकराणि, कीर्तिकराणि सर्वदिग्व्यापिसाधुवादकराणीत्यर्थ ,नैव च खलु एवार्थत्वात्,हे आयुष्मन् ! एव वक्ष्यमाण चिन्तितव्य मनसा विकल्पनीयम् (एसती ति) एष्यन्ति, आगमिष्यन्ति, खलुनिश्चये, बहव समया बहवे इत्यग्रेऽपि योज्यम् । त० । यत्र समयावलिकाऽऽदौ, ण वाक्यालङ्कारे (अम्हे त्ति) वय बहूनि प्रभूतानि, शीलानि समाधानानि, व्रतानि महाव्रतानि (गुणाइ ति) गुणान् विनयाऽऽदीन् । अत्र " गुणाद्याः क्लीबे वा " ॥ ८ । १ । ३४ ॥ इति क्लीबत्वम् । (वेरमणाइ ति) असयमाऽऽदिभ्यो निवर्तनानि प्रत्याख्यानानि, नमस्कारसहितपौरुष्यादीनि, पौषध पर्वदिनमष्टम्यादि, तत्रोपवासा अभक्तार्थकरणानि पौषधोपवासास्तान् प्रतिपत्स्यामहे आचार्याऽऽदिपार्श्वेऽङ्गीकरिष्याम (पट्ठविस्सामो त्ति) प्रस्थापयिष्याम अङ्गीकरणानन्तर प्रथमतया कर्तुमारप्स्याम , करिष्याम इति साक्षात्कारेण सतत निष्पादयिष्यामः ।(त त्ति) तावदादौ किमर्थं नैव चिन्तयितव्यम् । हे आयुष्मन् ! त्व शृणु, यतो भवति, अन्तरायबहुल विघ्नप्रचुरमिद,खलु निश्चये,जीवितमायुर्जीवाना,तथा इमे प्रत्यक्षा बहव वातिका वातरोगोद्भवा , पैत्तिका. पित्तरोगजाः (सिंभिए त्ति) श्लेष्मभवा सान्निपातिका सन्निपातजन्या विविधा अनेकप्रकारा. रोगा व्याधयस्ते च ते आतङ्काश्च कृच्छ्रजीवितकारिण इति रोगातङ्का जीवित स्पृशन्तीति ॥

अथ किं सर्वे मनुजा एवविधा भवन्ति,नेति दर्शयति इत्याह-

आसित खलु आउसो ! पुव्विं मणुया ववगयरोगायंका बहुवाससयसहस्सजीविणो । त जहा-जुयलधम्मिया अरिहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा चारणा विज्जाहरा; ते णं मणुया अईव सोमचारुरूवा भोगुत्तमा भोगलक्खणधरा सुजायमव्वंगसुंदरंगा रत्तुप्पलपत्तमकरचरणकोमलंगुलितला नगनगरमगरसागरचक्कंकवरलक्खणंकियतला सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणा आणुपुव्विं सुजायपीवरंगुलिया उन्नयतणुतंबनिद्धनहा संठियसुसिलिट्ठगूढगुंफा एणीकुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्वजंघा समुग्गनिमग्गगूढजाणू गयससणसुजायसन्निभोरू वरवारणमत्ततुल्लविक्कमविलासगई सुजायवरतुरयगुज्झदेसा आइण्णहय व्व निरुवलेवा पमुइयवरतुरयसीहअइरेगवट्टियकडी साहय सोणंदमुसलदप्पणनिगरियवरकणगच्छरुसरिसवरवइरवलियमज्झा , गंगावत्तपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणबोहियकोसायंतपउमगंभीरवियडनाभी उज्जुयसमसहियसुजायजच्चतणुकसिणनिद्धआइज्जलडहसुकुमालमउयरमणिज्जरोमराई झसविहगसुजायपीणकुच्छी झसोयरा पम्हवियडनाभी संगयपासा सन्नयपासा सुंदरपासा सुजायपासा मियमाइयपीणरइयपासा. अकरंडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयदेहधारी पसत्थबत्तीसलक्खणधरा कणगसिलायलुज्जलपसत्थसमतला उवचियविच्छिन्नपिहुलवच्छा सिरिवच्छंकियवच्छा पुरवरफलिहवट्टियभुया भूयंगीसरविउलभोगआयाणफलिहउच्छूढदीहबाहू जुगसंनिभपीणरइयपीवरपउट्ठसंठियउवचिय (घण) थिरसुबद्धसुसिलिट्ठपव्वसंधी रत्ततलोवचियमउयमंसलसुजायलक्खणपसत्थअच्छिद्दजालपाणी पीवरवट्टियसुजायकोमलवरंगुलिया तंबतलिणसुइरुइरनिद्धनखा चंदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा सोत्थियपाणिलेहा ससि १-रवि२संख३चक्क४सोत्थिय५विभत्तसुविरइयपाणिलेहा वरमहिसवराहसीहसद्दूलउसभनागवरविउलउन्नयमउयक्खंधा चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा अवट्ठियसुविभत्तचित्तमंसूमंसलसंठियपसत्थसद्दूलविउलहणुया उवचियसिलप्पवालबिंबफलसन्निभाधरुट्ठा पंडुरससिसगलविमलसंखगोखीरकुंददगरयमुणालियाधवलदंतसेढी. अखंडदंता, अप्फोडियदंता, अविरलदंता, सुनिद्धदंता, सुजायदंता, एगदंतसेढी विव अणेगदंता,हुयवहनिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा सारदनवथणियमहुरगंभीरकुंचनिग्घोसदुंदुहिसरा गरुलाययउज्जुतुंगनासा अवदालियपुंडरीयनयणा कोकासियधवलपत्तलच्छी,आनामियचावरुइलकिण्हचिहुरराइसुसंठियसंगयआययसुजायभमुहा अल्लीणपमाणजुत्तसवणा, सुसवणा, पीणमंसलकपोलदेसभागा, अइरुग्गयसमग्गसुद्धचंदद्धसंठियनिडाला, उडुवइपडिपुन्नसोम्मवयणा, छत्तागारुत्तमंगदेसा, घणनिचियसुबद्धलक्खणुन्नयकूडागारनिभनिरुवमपिंडियग्गसिरा, हुयवहनिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जकेसंतकेसभूमी, सामलियचमघणनिचियच्छोडियमिउविसयसुहुमलक्खणपसत्थसुगंधिसुंदरभुयमोयगभिंगनीलकज्जलपहट्ठभमरगणनिद्धनिकुरंबनिचियकुंचियपयाहिणावत्तमुद्धसिरया लक्खणवंजणगुणो-

वत्तेया, माणुम्माणप्पमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगा, ससिसोम्मागारकंतपियदंसणा, सब्भावसिंगारचारूरूवा, पासाईया, दरसणिज्जा, अभिरूवा, पडिरूवा, ते णं मणुया ओहस्सरा मेहस्सरा हंसस्सरा कोंचस्सरा नंदिस्सरा नंदिघोसा सीहस्सरा सीहघोसा, मंजुस्सरा मंजुघोसा सुस्सरा सुस्सरघोसा अणुलोमवाउवेगा कंकग्गहणी कवोयपरिणामा, सउणीपासपिटुंतरोरुपरिणया, पउमुप्पलसुगंधसरिसनीसाससुरभिवयणा छवीनिरायंका, उत्तमपसत्थअइसेसनिरुवमतणू, जल्लमल्लकलंकसेयरयदोसवज्जियसरीरा, निरुवलेवा, छाया उज्जोवियंगमंगा, वज्जरिसहनारायसंघयणा, समचउरंससंठाणसंठिया, छधणुसहस्साइं, उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता, ते णं मणुया दोछप्पण्णगपिट्ठिकरंडगसया पण्णत्ता, समणाउसो ! ते णं मणुया पगइभद्दया पगइविणीया पगउवसंता पगइपयणुकोहमाणमायलोभा मिउमद्दवसंपन्ना अल्लीणा भद्दया विणीया अप्पिच्छा असंनिहिसंचया अचंडा असिमसिकिसिवाणिज्जविवज्जिया, विडिमंतरनिवासिणो, इच्छियकामकामिणो, गेहागाररुक्खकयनिलया, पुढवीपुप्फफलाहारा ते णं मणुयगणा पण्णत्ता, आसीय समणाउसो! पुव्विं मणुयाणं छव्विहे संघयणे पण्णत्ते । तं जहा—वज्जरिसहनारायसंघयणे १ रिसहनारायसंघयणे २ नारायसंघयणे ३ अद्धनारायसंघयणे ४ कीलियासंघयणे ५ छेवट्ठसंघयणे ६ संपइ खलु आउसो ! मणुयाणं छेवट्ठे संघयणे वट्टइ, आसिय आउसो ! पुव्विं मणुयाणं छव्विहा संठाणा पण्णत्ता, तं जहा— समचउरंसे निग्गोहे साए वामणे खुज्जे वामणे हुंडे संपइ खलु आउसो ! मणुयाणं हुंडे संठाणे वट्टइ ।

(१८) अथोपदेशं ददातीत्याह–

संघयणं संठाणं, उच्चत्तं आउयं च मणुयाणं ।
अणुसमयं परिहायइ, ओसप्पिणिकालदोसेणं ॥ १ ॥

संहननं संस्थानं शरीराऽऽदेरुच्चत्वमुच्चत्वमानमायुश्च मनुजानां, चकारादन्येषां च अनुसमयं समयं समयं प्रति परिहीयते अवसर्पिणीकालदोषेणेति ॥ १ ॥

कोहमयमायलोभा, ओसन्नं वड्ढए य मणुयाणं ।
कूडतुलकूडमाणा, तेऽणुमाणेण सव्वं ति ॥ २ ।

क्रोधमानमायालोभाश्च (ओसन्नं) प्रवाहेण वर्द्धन्ते पूर्वमनुष्यापेक्षया विशेषतो वर्द्धयन्ति, मनुष्याणां कूटतुलानि कूटतोलनाऽऽद्युपकरणानि कूटमानानि कूटकुडवप्रस्थादिमानानि च वर्द्धयन्ति,तेन कूटतुलाऽऽदिनाऽनुमानेनानुसारेण (सव्वं ति) क्रयाणकवाणिज्याऽऽदिकं कूटं वर्द्धते इति ॥ २ ॥

विसमा अज्ज तुलाओ,विसमाणि य जणवएसु माणाणि ।
विसमा रायकुलाइं, जेण उ विसमाइँ वासाइं ॥ ३ ॥

विषमा असमानाऽन्यग्रहणायान्याश्च मद्य दुःषमा काले तुला तथा जनपदेषु मगधाऽऽदिदेशेषु मानानि कुडवसेतिकाऽऽदिप्रमाणानि विषमाणि असमानि जातानि,चशब्दाद् नेकप्रकारवञ्चनानि । तथा–विषमाणि अनेकान्यायकारकाणि राजकुलानि वर्त्तन्तेऽद्य तेन कारणेन तुशब्दोऽप्यर्थः । वर्षाण्यपि संवत्सराण्यपि विषमाणि दु:स्वरूपाणि जानीतीति ॥ ३ ॥

विसमेसु य वासेसुं, हुंति असाराइँ ओसहिबलाइँ ।
ओसहिदुब्बल्लेण य, आऊ परिहायइ नराणं ॥४॥

विषमेषु वर्षेषु सत्सु भवन्तीति असाराणि सारवर्जितानि औषधिबलानि गोधूमाऽऽदिवीर्याणि औषधिदुर्बलत्वेन नराणामन्येषामपि आयुर्जीवितं परिहीयते क्षीयते इति ॥ ४ ॥

एवं परिहायमाणे, लोए चंदु व्व कालपक्खम्मि ।
जे धम्मिया मणुस्सा, सुजीवियं जीवियं तेसिं ॥५॥

एवमुक्तप्रकारेण परिहायमाने लोके कृष्णपक्षे चन्द्रवत् ये धार्मिका धर्मयुक्ता मनुष्यास्तेषां जीवितं जीवितकालः सुजीवितं सुष्ठु जीवितं ज्ञातव्यमिति ॥ ५ ॥ तं० ।

एवं निस्सारे माणुसत्तणे जीविए अ विहडंति ।
न करेह चरणधम्मं, पच्छा पच्छाणुतप्पिहह हा ॥२४॥

एवम् उक्तप्रकारेण निस्सारे असारे मानुषत्वे मनुजत्वे, तथा जीविते आयुषि रत्नकोटिकोटिभिरपि अप्राप्ये अधिपतति समये समये क्षयं गच्छतीत्यर्थः, न कुरुत यूयं चरणधर्मं ज्ञानदर्शनपूर्वकं देशसर्वचारित्रं हा इति महत्खेदे, पश्चादायुःक्षयानन्तरम् आयुःक्षयचरमक्षणे वा पश्चात्तापं कायवाङ्मनोभिर्महाखेदं करिष्यथ, नरकस्थशशिराजवदिति ॥ २४ ॥

भव्याः प्रश्नयन्ति कथं वयं नात्मस्वरूपं जानीमः, इत्युक्ते गुरुराह–

घुट्ठम्मि सयं मोहे, जिणेहिँ वरधम्मतित्थमग्गस्स ।
अत्ताणं च न याणह, इह जाए कम्मभूमीए ॥ २५ ॥

धर्मस्य जिनोक्तरूपस्य, तीर्थं पवित्रकरणस्थानकं,तस्य मार्गो ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः, वरश्चाऽसौ धर्मः तीर्थमार्गश्च सघः, तथा तस्मिन् प्राकृतत्वाद्विभक्तिपरिणामः। जिनैः रागाऽऽदिजेतृभिः स्वयमात्मना " घुट्ठम्मीति "कथिते निरूपिते सति आत्मानं न यूयं जानीत,क्व सति ? मोहे सति तीव्रमिथ्यात्वमिश्रमोहनीयकर्मोदये सतीत्यर्थः। इह कर्मभूमौ जाता अपि, अपेर्गम्यमानत्वादिति। अन्या अर्थोऽन्योऽपि सद्गुरुप्रसादात्कार्य इति ॥२५॥ तं०।

एवं खु जरामरणं, परिक्खिवइ वग्गुरं च मियजूहं ॥
नयणं पिच्छह मिच्छं, संमूढा मोहजालेणं ॥ २७ ॥

एतज्जरामरणं,खु निश्चये,जीवमृगयूथं परिक्षिपति परिवेष्टयति, च इवार्थे, यथा वागुरा मृगयूथं परिक्षिपति, न च पश्यत यूयं प्राप्तं जरामरणं मोहजालेन संमूढा मोहं गता श्रीगौतमप्रतिबोधितदेवशर्मद्विजवदिति ॥ २७ ॥ तं० ।

अथोपदेशान्तरं ददातीत्याह–

जड्डाणं वड्डाणं, निव्विन्नाणं च निव्विसेसाणं ।
संसारसूयराणं, कहियं पि निरत्थयं होइ ॥ ७ ॥

जड्डानां द्रव्यभावमूर्खाणां, वड्डानां केषाञ्चिन्मठपारापतसदृशानां वृद्धानां निर्विज्ञानां विशिष्टज्ञानरहितानां निर्विशेषाणामपवादोत्सर्गज्येष्ठेतराऽऽदिविशेषरहितानां संसारसूकराणामेवचि-

धानां गृहस्थानां साध्वाभासानामपि कथितमपि उक्त वक्ष्यमाण निरर्थक भवति, ब्रह्मदत्तोदायिनृपमारकाऽऽदिवत् ॥ ९ ॥

किं पुत्तेहिँ पियाहि य, अत्थेण वि पिंडिएण बहुएणं ।
जो मरणदेसकाले, न होइ आलंबणं किंचि ॥ १० ॥

पुत्रैरङ्गजैः किं न किञ्चित्, पितृभिर्वा किमर्थेनापि पिण्डितेन मीलितेन बहुकेन प्रभूतेन किं नन्दमम्मणादिनेव योऽङ्गजाऽऽदिकलापः मरणदेशकाले मरणप्रस्तावे न भवति आलम्बनमाधाररूप किञ्चिदिति ॥ १० ॥

पुत्ता चयंति मित्ता, चयंति भज्जा वियंऽमयं चयइ ।
तं मरणदेसकाले, न चयइ सुविअज्जिओ धम्मो ॥ ११ ॥

मातापितर पुत्रास्त्यजन्ति, मित्र मित्रास्त्यजन्ति, सहजमित्रपूर्वमित्रवत्, भार्याऽपि क्षम प्रत्यक्ष जीवन्तमित्यर्थः, मृत वा स्वकान्त त्यजति । यद्वा भार्या, णमिति वाक्यालङ्कारे, आर्षत्वादकारविश्लेषे, (अमयमिति) अमृत जीवन्तं त्यजति, जीवन्तमेव स्वकान्त मुक्त्वाऽन्यपुरुषान्तरं प्रवृत्तेन प्रतिपद्यते, वनमालावत् । यस्मिन् प्रस्तावे ते पुत्राऽऽदय त्यजन्ति (तमिति) तस्मिन् प्रस्तावे मरणदेशकाले च न त्यजति (सुट्ठ त्ति) जिनाऽऽज्ञापूर्वकदृढभावेन (वि त्ति) विशेषेण निरन्तरकरणेनार्जित. धर्म. श्रुतचारित्ररूप इति ॥ ११ ॥

अथ गाथाचतुष्टयेन धर्ममाहात्म्यं वर्णयतीत्याह-

धम्मो ताणं धम्मो, सरणं धम्मो गई पइट्ठा य ।
धम्मेण सुचरिएण य, गम्मइ अजरामरं ठाणं ॥ १२ ॥

धर्मः सम्यग्ज्ञानदर्शनचरणाऽऽत्मक. त्राणमनर्थप्रतिहननमर्थसंपादन च तद्धेतुत्वात्, धर्म. शरण, रागाऽऽदिभयभीतक जनपरिरक्षण, धर्मो गम्यते, दु स्थितै सुस्थितार्थमाश्रीयत इति गतिः धर्म प्रतिष्ठान संसारगर्त्तापतत्प्राणिवर्गस्याऽऽधार, धर्मेण सुचरितेन सुष्ठ्वासेवितेन, चशब्दादनुमोदनेन, साहाय्यदानाऽऽदिना गम्यते, अवश्य प्राप्यते, अजरामर स्थान मोक्षलक्षणमित्यर्थ, देवकुमारवत् ॥ १२ ॥

पीइकरो वण्णकरो, भासकरो जसकरो रइकरो य ।
अभयकरो निव्वुइकरो, परत्त वी अज्जिओ धम्मो ॥ १३ ॥

प्रीतिकर परमप्रीत्युत्पादक, वर्णकर एकदिग्व्यापी कीर्त्तिकरः, यद्वा वपुषि गौरवत्वाऽऽदिवर्णकर । यद्वा श्रुताऽऽत्मकज्ञानकर., भास्कर' कान्तिकर. यद्वा भाषाकर वचनपटुत्वमाधुर्याऽऽदिगुणकर इत्यर्थः । यश करः सर्वदिग्व्यापिकीर्तिकर, चशब्दात् श्लाघाशब्दकर, तत्र श्लाघा तत्स्थान एव साधुवाद. । अभयकरो निर्भयकर । निर्वृतिकर. सर्वकर्मक्षयभावकरः । (परत्त वि अज्जिओ त्ति) परत्र द्वितीये जीवाना परलोके द्वितीय इत्यर्थ धर्म ॥ १३ ॥

अमरवरेसु अणोवम-रूवं भोगोवभोगरिद्धी य ।
विन्नाण नाणमेव य, लब्भइ सुकएण धम्मेण ॥ १४ ॥

अमरवरेषु महामहर्द्धिकदेवेषु अनुपमरूप भोगोपभोगऋद्धय विज्ञान ज्ञानमेव च लभ्यते, सुकृतेन धर्मेण प्रदेशीराजमेघकुमारधन्यानगाराऽऽनन्दादिनेव । तत्र भोगा गन्धरसस्पर्शा, उपभोगा शब्दरूपविषया, यद्वा-सकृद्भोगा उपभोगा, ते चान्नपानानुलेपनाऽऽदिरूपा, ऋद्धयो देवदेव्यादिपरिवाररूता, विज्ञानमनेकप्रकाररूपाऽऽदिकरण, ज्ञान मतिश्रुतावधिरूपम । यद्वा-देवेषु रूपाऽऽदय. प्राप्यन्ते,इह च (विन्नाण त्ति) केवलज्ञान (नाण ति) ज्ञानचतुष्क त्रिक द्विक चेति ॥ १४ ॥

देविंदचक्कवट्टि-त्तणाइँ रज्जाइँ इच्छिया भोगा ।
एयाइँ धम्मलाभो, फलाइँ जं चावि निव्वाणं ॥ १५ ॥

देवेन्द्रचक्रवर्तित्वानि राज्यानि गजाश्वरथपदातिभाण्डागारकोष्ठागारबललक्षणानि, यद्वा-स्वाम्यमात्य २ जनपद ३ दुर्ग ४ बल ५ शस्त्र ६ मित्राणि ७, ईप्सिता भोगा. । एतानि धर्मलाभात् फलानि भवन्ति, यच्चापि निर्वाणमिति ॥ १५ ॥ त० ।

तथा च महानिशीथे-

धम्मे य णमिट्ठे पिए कंते परमत्थसुही सयणजणमित्तबंधुपरिवग्गो धम्मे य ण दिट्ठिकरे धम्मे य णं पुट्ठिकरे धम्मे य णं बलकरे धम्मे य णं उच्छाहगरे धम्मे य णं निम्मलजसकित्तिपसाहगे धम्मे य ण माहप्पजणगे धम्मे य णं सुट्ठु सोक्खपरंपरादायगे, से य ण सेवणिज्जे, से य णं आराहणिज्जे,से य णं पोसणिज्जे,से य णं पालणिज्जे, से य णं कारणिज्जे,से य णं चरणिज्जे, से य णं अणुट्ठिज्जे,से य णं उवइसणिज्जे,से य णं कहणिज्जे,से य णं भणणिज्जे,से य णं पण्णवणिज्जे, से य णं कारवणिज्जे, से य ण धुवे सासए अक्खए अव्वए सयलसोक्खनिही धम्मे, से य णं अलज्जणिज्जे से य ण अउलबलवीरिए पुरिससत्तपरक्कमे संजुए पवरवरे इट्ठे पिए कंते दइए सयलसोक्खदारिद्दसंतावुव्वेगअयसदुक्खसंकलंकजरामरणाइअसेसभयनिन्नासगे अणण्णसरिससहाए तेलोक्केक्कमामिसाले, ता अलं सुही सयणजणमित्तबंधुगणधणधन्नसुवन्नहिरन्नरयणोहनिही कोससत्तयाइसक्कचाविविज्जुलयाऽऽमोवचंचलाए सुमुणिंदजालपरिसाए खणदिट्ठणट्ठभंगुराए अधुवाए असासयाए संसारवुड्ढिकारगाए निरयावयारहेउभूयाए सुगइमग्गविग्घदायगाए अणंतदुक्खपयायगाए रिद्धीए सुदुल्लहा हुवे लान्ना धम्मस्स साहणी सम्मदंसणनाणचरित्ताराहिणी निरुवयाइसामग्गी अणवरयमहन्निसाणसमएहिं णं खडखमेहिं तु परिसडइ, आदट्ठघोरनिट्ठुर अचंमा जरासणिसणिणवायसंचुण्णिए सहजज्जरब्भमणे इव अकिंचिकरे भवइ, ता दिहाणादियहेण इमे तणुकिमलयदलग्गपरिसंठियं जलबिंदुमिवाकम्हे निमिसब्भतरेण वल्लिफुमलइजीविए अविढत्तपरलोगपत्थयणाणं तु निप्फले चेव मणुयजम्मे तो भो ण खमे तणुतणुयतरे वि ईसिं पियमाए, जओ णं एत्थ खलु समकालमेव समसत्तुमित्तभावेहिं भवियव्वं, अप्पमत्तेहिं च पंचमहव्वयं धारेयव्वं । तं जहा-कामिणपाणाइवायविरती, अणलीयभासित्त, दतसोहणमित्तस्स वि अदिन्नस्स वज्जणं मणोवयकायजोगेहिं तु अखडियअविराहियणवगु-

त्तिपरिवोढियस्स णं परमपवित्तस्स सव्वकालमेव दुद्धरबं-
भचेरस्स धारणं वत्थपत्तसजमोवयरणेसुं पि णिम्ममतया
असणपाणाईणं तु चउव्विहेणेव गईभोयणचाओ उग्गमु-
प्पायणेसणाईसु णं विसुद्धपिंडग्गहणं संजोयणाइपंचदो-
सविरहिएणं परमिएणं काले भिन्ने पंचसमितितिसोहणं
तिगुत्तिगुत्तिया इरियासमिइमाईओ भावणाओ अणस-
णाइतवोवहाणट्ठाणं मासाइभिक्खुपडिमाओ विचित्ते द-
व्वाइअभिग्गहे, अहो णं भूमीसयणे केसलोए निप्पडि-
कम्मसरीरया सव्वकालमेव गुरुनिओगकरणं खुप्पिवासाइ-
परीसहाहियासणं दिव्वाइउवसग्गाविजयलद्धावलद्धावि-
त्तिया, किं बहुणा अच्चंतदुव्वहे भो वहियव्वे अवीसमतेहिं
चेव सिरिमहापुरिसवूढो अट्ठारससीलंगसहस्सभारे त-
रियव्वे य भो बाहाहि महासमुद्दे अविसाईहिं व णं
भो भक्खियव्वे णिरासाए वालुयाकवलोपरि सकेयव्वं च
भो णिसियसुतिक्खदारुणकरवालधाराए पाणचायणं भो
सुहुयवहजालावलीभरियव्वे णं भो सुहुमपवणकोच्छलगे
गमियव्वं च णं भो गंगापवाहपडिसोएणं तोलेयव्वं भो
साहसतुलाए मंदरगिरिं जेयव्वे य णं भो एगागिएहिं चेव
धीरताए सुदुज्जए चाउरंगे बले विंधेयव्वा णं भो परोप्पर-
विवरीयभमंतअट्ठचक्कोवरिं वामच्छिम्मि उड्डी उद्धिया गहेय-
व्वा णं भो सयलतिहुयणविजयाणि णिम्मलजसकित्तीज-
यपभागा, ता भो भो जणा!–

"एयाओ धम्माणु–ट्ठाणाउ सुदुक्करं णत्थि किंचि मन्नंति।
बुज्झंति नामभारा, ते च्चिय बुज्झाति वीसमंतेहिं ॥
सीलभरो अइगुरुओ, जावज्जीवमाविस्सामो ।
ता उज्झिऊण पेम्मं, घरसारं पुत्तदव्वेण ॥
माईय णीसंगा, अविसाई पयरहसव्वुत्तम धम्मं ।
णो धम्मस्स भमुक्का–उक्कचण वंचणा य ववहारो ॥
निच्छम्मो भो धम्मो, मायाडीसल्लरहिओ य ।
भूएसु जंगमत्त, तेसु वि पंचिंदियत्तमुक्कोसं ॥
तेसु वि च्चिय माणुसत्तं, मणुयत्ते आरिए देसे ।
देसे कुलं पहाणं, कुले पहाणेइ जाइमुक्कोसा ॥
तीए रूवसमुद्दे, रूवे य बलं पहाणवर ।
होइ बले वि य जीवं, जीए य पहाणयं तु विन्नाणं ॥
विन्नाणे सम्मत्त, सम्मत्ते सीलसपत्ती ।
सीले खाइयभावो, खाइयभावे य केवलं नाण ॥
केवलिए पडिपुन्ने, पत्ते अयरामरो मोक्खो ।
ण य संसारम्मि सुहं, जाइजरामरणदुक्खगहियस्स ।
जीवस्स अत्थि जम्हा, तम्हा मोक्खोववाए उ ॥
आहिंडिऊण सुइर, अणतहुत्तो हु जोणिलक्खेसु ।
तस्साहणसामग्गी, पत्ता भो भो बहू इण्हि ॥
तो एत्थ जं ण पत्त, तदत्थ भो उज्जम कुणह तुरियं ।
विबुहजणणिंदियमिणं, उज्जह संसारअणुबंधं ॥
लहिउं भो धम्मसुइं, अणेगभवकोडिलक्खेसु ।
विउलं पि जइ णाणुट्ठइ. सम्मं ता णवरि दुल्लहं होही ॥
महा० २ चू० ।

तथा च पञ्चसूत्रे-

जायाए धम्मगुणपडिवत्तिसद्धाए भाविज्जा एएसिं स-
रूवं पयइसुंदरत्त अणुगामित्त परोवयारित्तं परमत्थहेउत्तं,
तहा दुग्गुणरत्त भगे दारुणत्तं महामोहजणगत्त भूओ दु-
ल्लहत्तं ति, एवं जहासत्तीए उचियविहाणेणं अच्चंतभा-
वसारं पडिवज्जिज्जा । तं जहा–थूलगपाणाइवायविरमणं,
थूलगमुसावायविरमण, थूलगअदत्तादाणविरमणं, थूल-
गमेहुणविरमण, थूलगपरिग्गहविरमणमिच्चाइ पडिव-
ज्जिऊण पालणे जइज्जा सयाणागाहगे सिआ सयाणा-
भावगे सिआ सयाणापरतंते सिआ आणा हि मोह-
विसपरममतो जलं रोसाइजलणस्स कम्मवाहितिगिच्छा-
सत्थ कप्पपायवो सिवफलस्स वज्जिज्जा अधम्ममित्तजो-
ग चिंतिज्जाऽभिणवपाविए गुणे अणाइभवसंगए अ अ-
गुणे उदग्गसहकारित्त अधम्ममित्ताणं उभयलोगगरहि-
अत्तं असुहजोगपरपरं च, परिहरिज्जा सम्मं लोगविरुद्धे
करुणापरे जणाणं न खिसाविज्जा धम्मं संकिलेसो खु एसा
परमबोहिबीअमबोहिफलमप्पणो त्ति, एवमालोएज्जा न
खलु इत्तो परो अणत्थो अंधत्तमेयं संसाराडवीए ज-
णगमणिट्ठावायाणं अइदारुणं सरूवेणं असुहाणुबंधमच्चत्थं
सेविज्ज धम्ममित्ते विहाणेणं अंधे विवाणुकट्टए वाहिए
विव विज्जे दरिद्दो विव ईसरे भीओ विव महानायगे नइओ
सुंदरमन्नंति बहुमाणजुत्ते सिआ आणाकंखी आणापडि-
च्छगे आणाअविराहगे आणानिप्फायगे त्ति, पडिवन्नध-
म्मगुणारिह च वट्टिज्जा गिहिसमुचिएसु गिहिसमायारे-
सु परिसुद्धाणुट्ठाणे परिसुद्धमणकिरिए परिसुद्धवइकिरिए
परिसुद्धकायकिरिए वज्जिज्जा अणेगोवघायकारगं गर-
हणिज्जं बहुकिलेस आयइविराहग समारंभं, न चिं-
तिज्जा परपीडं, न भाविज्जा दीणय, न गच्छिज्जा हरि-
सं, न सेविज्जा वितहाभिनिवेसं, उचिअमणपवत्तगे सि-
आ, न भासिज्जा अलियं, न फरुसं न पेसुन्नं ना-
निबद्ध, हिअमिअभासगे सिआ, एवं न हिंसिज्जा भूआ-
णि, न गिण्हिज्ज अदत्त, न निरिक्खिज्ज परदारं, न कु-
ज्जा अणत्थदंडं, सुहकायजोगे सिआ, तहा लाहो-
चिअदाणे लाहोचिअभोगे लाहोचिअपरिवारे लाहोचि-

अनिहिकेरे सिआ अमंतावगे परिवारस्स गुणकरे ज-हासत्ति अणुकंपापरे निम्ममे जावेण, एवं खु तप्पालणे वि धम्मो जह अन्नपालणे त्ति। सव्वे जीवा पुढो पुढो ममत्तं बंधकारणं, तहा तेसु तेसु समायारेसु सइसमन्नागए सिआ अमुगोऽहं अमुगकुले अमुगसिस्से अमुगधम्मट्ठाणट्ठिए न मे तव्विराहणा न मे तदारंभो वुद्धी ममेअस्स एअमित्थ सारं एयमायभूयं एअं हिअं असारमन्नं सव्वं विसेसओ अविहिगहणेणं एवमाह तिलोगबंधू परमकारुणिगे सम्मं संबुद्धे भगवं अरहंते त्ति, एवं समालोचिअ तदविरुद्धेसु समायारेसु सम्मं वट्टिज्जा भावमंगलमेअं तन्निप्फत्तीए तहा जागरेज्ज धम्मजागरिआए, को मम कालो किमेअस्स उचिअं, असारा विसया नियमगामिणो विरसावसाणा, भीसणो मच्चू सव्वाभावकारी अविन्नायागमणो अणिवारणिज्जो पुणो पुणोऽणुबंधी, धम्मो एअस्स ओसहं एगंतविसुद्धो महापुरिससेविओ सव्वहिअकारी निरइआरो परमाणंदहेऊ, नमो इमस्स धम्मस्स, नमो एअधम्मप्पगासगाणं, नमो एअधम्मपालगाणं, नमो एअधम्मपरूवगाणं, नमो एअधम्मपवज्जगाणं, इच्छामि अहमिणं धम्मं पडिवज्जित्तए सम्मं मणवयणकायजोगेहिं,होउ ममेअं कल्लाणं परमकल्लाणाणं जिणाणमणुभावओ,सुप्पणिहाणमेवं चिंतिज्जा पुणो पुणो एअधम्मजुत्ताणमववायकारी सिआ,पहाणं मोहच्छेअणमेअं,एवं विसुज्झमाणे भावणाए कम्मापगमेणं उवेइ एअयस्स जुग्गयं, तहा संसारविरत्ते संविग्गो भवइ, अममे अपरोवतावी विसुद्धे विसुद्धमाणभावे त्ति ।

जातायां धर्मगुणप्रतिपत्तिश्रद्धायां भावतस्तथाविधकर्मक्षयोपशमेन भावयेदेतेषां स्वरूपं धर्मगुणानाम् । प्रकृतिसुन्दरत्वं जीवसंक्लेशविशुद्ध्या, आनुगामुकत्वं भवान्तरवासनानुगमन, परोपकारित्वं तथापीडाऽऽदिनिवृत्त्या, परमार्थहेतुत्वं परम्परया मोक्षसाधनत्वेन, तथा दुरनुचरत्वं सदैवानभ्यासात् , भङ्गे दारुणत्वं भगवदाज्ञाखण्डनेन , महामोहजनकत्वं धर्मदूषकत्वेन, भूयो दुर्लभत्वं विपक्षानुबन्धपुष्ट्येति भाव इति। एवमुक्तेन प्रकारेण यथाशक्ति शक्त्यनुरूपं, न तदन्याधिकयाऽभ्यासुचितविधानमेव शास्त्रोक्तेन विधिना, अत्यन्तभावसार महता प्रणिधानयत्नेन, प्रतिपद्येत धर्मगुणान् रागसिकया प्रवृत्त्या, अस्या विपाकदारुणत्वात् । किंनामास्ता नित्याह-(त जहा इत्यादि) तद्यथा-स्थूरप्राणातिपातविरमणं, स्थूरमृषावादविरमणं स्थूरादत्तादानविरमणं, स्थूरमैथुनविरमणं,स्थूलपरिग्रहविरमणमित्यादि। आदिशब्दाद्दिग्व्रताऽऽद्युत्तरगुणपरिग्रहः। आदावुपन्यासश्चैषां भावत इत्थमेव प्राप्तेरिति।

उक्तं च-

"सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहत्तेण सावओ होज्जा ।
चरणोवसमखयाणं, सागरसंखंतरा होंति ॥ १ ॥
एवं अप्परिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु ।
अण्णयरसेढिवज्जं, एगभवेण च सव्वाइं ॥ २॥"

इत्यादि । (पडिवज्जिऊण इत्यादि) प्रतिपद्य पालने यतेत, अधिकृतगुणानाम्। कथमित्याह-सदाज्ञाग्राहकः स्यात्, अध्ययनश्रवणाभ्याम्। आज्ञा आगम उच्यते,सदाज्ञाभावकः स्यात्, अनुप्रेक्षाद्वारेण, सदाज्ञापरतन्त्रः स्यादनुष्ठानं प्रति। किमेषमित्याह-आज्ञा हि मोहविषपरममन्त्रः तदपनयनेन, जलं द्वेषाऽऽदिज्वलनस्य तद्विध्यापनेन । कर्मव्याधिचिकित्साशास्त्र, तत्क्षयकारणत्वेन, कल्पपादपः शिवफलस्य, तदवन्ध्यसाधनत्वेन । तथा (वज्जेज्जा इत्यादि) वर्जयेत् अधर्ममित्रयोगम्। अकल्याणमित्रसम्बन्धं, चिन्तयेत् अभिनवप्राप्तान् गुणान् स्थूरप्राणातिपातविरमणाऽऽदीन् अनादिभवसङ्गताश्च अगुणान्, सदैवाविरतत्वेन, उदग्रसहकारित्वमधर्ममित्राणाम्, अगुणान्प्रति उभयलोकगर्हितत्वं तत्पापानुमत्यादिना, अशुभयोगपरम्परा च अकुशलानुबन्धनं। तथा (परिहरेज्जा इत्यादि) परिहरेत्सम्यग्लोकविरुद्धानि तदशुभाध्यवसायाऽऽदिनिबन्धनानि, अनुकम्पापरो जनानां मा भूत्तेषामधर्मः, न खिंसयेद् धर्मम्, न गर्हयेज्जनैरित्यर्थः, संक्लेश एवैषा खिंसाऽशुभभावत्वेन, परमबोधिबीजं, तत्प्रद्वेषेण । अबोधिफलमात्मन इति । जनानां तन्निमित्तभावेन, तथा एवमालोचयेत्सूत्रानुसारेण, न खल्वतः परोऽनर्थोऽबोधिफलात्,तत्कारणभावाच्च लोकविरुद्धत्वादिति। अन्धत्वमेतत्संसाराटव्या हितदर्शनाभावेन,जनकमनिष्टपातानां, नरकाऽऽद्युपपातकारणतया, अतिदारुणं स्वरूपेण संक्लेशप्रधानत्वात्। अशुभानुबन्धमत्यर्थं परम्परोपघातभावेनेत्यत एवोक्तम्-

"लोकः खल्वाधारः, सर्वेषां धर्मचारिणां यस्मात्। तस्माल्लोकविरुद्धं, धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम् ॥ १ ॥" इत्यादि। तथा (सेवेज्ज इत्यादि) सेवेत धर्ममित्राणि विधानेन सत्प्रतिपत्त्यादिना,अन्ध इवानुकर्षकान्,पाताऽऽदिभयेन व्याधित इव वैद्यान्, दुःखभयेन दरिद्र इवेश्वरान्, स्थितिहेतुत्वेन। भीत इव महानायकान् आश्रयणीयत्वेन । तथा न इतो धर्ममित्रसेवनात्। सुन्दरतरमन्यदिति कृत्वा बहुमानयुक्तः स्यात् धर्ममित्रेषु। आज्ञाकाङ्क्षी अदत्तायामस्या तेषाम्, आज्ञाप्रतीच्छकः प्रदानकाले तेषामेव, आज्ञाविराधकः प्रस्तुतायां तेषामेव, आज्ञानिष्पादकः इत्यौचित्येन तेषामेव । (पडिवण्णेत्यादि) प्रतिपन्नधर्मगुणार्हं च वर्त्तेत सामान्येनैव गृहिसमुचितेषु गृहिसमाचारेषु नानाप्रकारेषु परिशुद्धानुष्ठानं सामान्येनैव, परिशुद्धमनःक्रिय शास्त्रानुसारेण, परिशुद्धवाक्क्रियोऽनेनैव, परिशुद्धकायक्रियोऽनेनैव । एतद्विशेषणमभिधातुमाह-वर्जयेदनेकोपघातकारक सामान्येन, गर्हणीयं प्रकृत्या, बहुक्लेशं प्रवृत्तौ, आयतिविराधकं परलोकपीडाकरं, समारम्भमङ्गारकर्माऽऽदिरूपम् । तथा न चिन्तयेत् परपीडां सामान्येन। न भावयेद् दीनतां कस्यचिदसंप्रयोगे, न गच्छेद्दर्पं कस्यचित्संप्रयोगे,न सेवेत वितथाभिनिवेशम्, असत्याध्यवसायं, किन्तु उचितमनःप्रवर्त्तकः स्यादुचितानुसारेण. एवं न भाषेतानृतमसत्याख्यानाऽऽदि, न परुषं निष्ठुरं, न पैशून्यं परप्रीतिहारि, नानिबद्धं विकथाऽऽदि, किं तु हितमितभाषकः स्यात् सूत्रनीत्या। एवं न हिंस्याद् भूतानि पृथिव्यादीनि, न गृह्णीयाददत्तं स्तोकमपि, न निरीक्षेत परदारान्, रागतः। न कुर्यादनर्थदण्डम् अपध्यानाऽऽचरिताऽऽदि,किं तु शुभकाययोगः स्यादागमनीत्या । तथा (लाभोचियदाणेत्यादि) तथा लाभोचितदानं -अपमानाऽऽद्यपेक्षया तथा,लाभोचितभो·

ग.-अष्टभागाऽऽद्यपेक्षया, लाभोचितपरिवारः चतुर्भागाऽऽदिभर्तव्यपरिमाणेन, लाभोचितनिधिकारः स्यात्, चतुर्भागाऽऽद्यपेक्षयैव । उक्तं चात्र लौकिकैः -

" पादमायान्निधिं कुर्यात्-पादं वित्ताय वर्द्धयेत् ।
धर्मोपभोगयोः पादं, पादं भर्त्तव्यपोषणे ॥ १ ॥"

तथाऽन्यैरप्युक्तम्-

" आयादर्द्धं नियुञ्जीत, धर्मे यद्वाऽधिकं ततः ।
शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्नतस्तुच्छमैहिकम् ॥ १ ॥ " इत्यादि ।

तथा असंतापकः परिजनस्य इत्यादिनि वर्त्तते शुभप्रणिधानेन । गुणकरो यथाशक्ति भवस्थितिकथनशीलत्वेन, अनुकम्पापरः प्रतिफलनिरपेक्षतया, निर्ममो भावेन भवास्थित्यालोचनात् । कः एवंगुण इत्यादित्याह-एवं यस्मात्तत्पालनेऽपि धर्मे, जीवोपकारभावात्, तथाऽन्यपालन इति जीवाविशेषेण । किमित्येतदेवमित्याह-सर्वे जीवाः पृथक्पृथग् वर्त्तन्ते स्वकर्मभेदेन, किं तु ममत्वं बन्धकारणं सोऽनरूपत्वात् । उक्तं च-

" संसाराम्बुनिधौ सत्त्वाः, कर्मोर्मिपरिघट्टिताः
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते, तत्र कः कस्य बान्धवः ? ॥ १ ॥ "

तथा-

" अत्यायतेऽस्मिन् संसारे, भूयो जन्मनि जन्मनि ।
सत्त्वो नैवास्त्यसौ कश्चिद्, यो न बन्धुरनेकधा ॥२॥" इत्यादि ।

सर्वथा परिभावनामात्रमेतत्स्वजनो न स्वजन इति ।(तह तेसु तेसु इत्यादि) तथा तेषु तेषु समाचारेषु गृहिसमुचितेष्विति वर्त्तेत, स्मृतिसमन्वाऽऽगतः स्यात् आभोगयुक्तः । कथमित्याह-अमुकोऽहं देवदत्ताऽऽदिनामा अमुककुले इक्ष्वाकाऽऽद्यपेक्षया, अमुकशिष्यो धर्मतः तत्तदाचार्यापेक्षया, अमुकधर्मस्थानस्थितः अणुव्रताऽऽद्यपेक्षया,न मम तद्विराधना साम्प्रतम्, न मम तदारम्भो विराधनाऽऽरम्भः । तथा वृद्धिमेतस्य धर्मस्थानस्य, एतदत्र सारं धर्मस्थानमेतदात्मभूतमानुगामुकत्वेन, एतद्धितं सुन्दरपरिणामत्वेन, असारमन्यत्सर्वमर्थजाताऽऽदीति, विशेषतोऽविधिग्रहणेन विपाकदारुणत्वात् । यथोक्तम्-

" पापेनैवार्थरागान्ध, फलमाप्नोति यत् क्वचित् ।
बडिशामिषवत्तत्तु, विना नाशं न जीर्यति ॥ १ ॥ " इति ।

एतदेवमेवेत्याह-एवमाह त्रिलोकबन्धुः, समुपचितपुण्यसंभारः परमकारुणिकः, तथाभव्यत्वनियोगात् । सम्यक्संबुद्धोऽनुत्तरबोधिबीजतः, भगवानर्हन् सत्त्वविशेष इति । एवं समालोच्य तदविरुद्धेषु अधिकृतधर्मस्थानाविरुद्धेषु समाचारेषु विचित्रेषु सम्यग् वर्त्तेत सूत्रनीत्या भावमङ्गलमेतद्विधिना वर्त्तनम्, तन्निष्पत्तेरधिकृतसमाचारनिष्पत्तेरिति । (तह जागरिज्जेत्यादि) तथा जागृयात् भावनिद्राविरहेण, धर्मजागरया तत्त्वाऽऽलोचनरूपया, को मम कालः वयोऽवस्थारूपः ?, किमेतस्योचितं धर्माऽऽद्यनुष्ठानम् ? । असारा विषयाः, तुच्छा शब्दाऽऽदयो, नियमगामिनो वियोगान्ताः, विरसावसानाः परिणामदारुणाः, तथा भयानको मृत्युः महाभयजननः, सर्वाभावकारी तत्साध्यार्थक्रियाभावात् । अनिज्ञाताऽऽगमनः, अदृश्यस्वभावत्वात् मृत्योः । अनिवारणीयः, स्वजनाऽऽदिवर्गेण । पुनः पुनरनुबन्धी, अनेकयोनिभावेन । धर्म एतस्यौषधं, मृत्योर्व्याधिकल्पस्य । किंविशिष्टः ?, इत्याह-एकान्तविशुद्धः निवृत्तिरूपः, महापुरुषसेवितः तीर्थकराऽऽदिसेवितः, सर्वहितकारी मैत्र्यादिरूपतया । निरतिचारो तथागृहीतपरिपालनेन, परमानन्दहेतुः निर्वाणकारणमित्यर्थः । नमः एतस्मै धर्माय अनन्तरोदितरूपाय, नमः एतद्धर्मप्रकाशकेभ्योऽर्हद्भ्यः, नमः एतद्धर्मपालकेभ्यो यतिभ्यः, नमस्तद्धर्मप्ररूपकेभ्यो यतिभ्य एव, नमः एतद्धर्मप्रतिपत्तृभ्यः श्रावकाऽऽदिभ्यः, इच्छाम्यहमेतं धर्मं प्रतिपत्तुम्, अनेनैतत्पक्षपातमाह-सम्यग्मनोवाक्काययोगैः । अनेन तु सम्पूर्णप्रतिपत्तिरूपं प्रणिधिविशेषमाह-भवतु ममैतत् कल्याणम्, अधिकृतधर्मप्रतिपत्तिरूपं परमकल्याणानां जिनानामनुभावतः, तदनुग्रहेणेत्यर्थः । सुप्रणिधानमेव चिन्तयेत् पुनः पुनः । एवं हि स्वाऽऽशयादेव तन्निमित्तोऽनुग्रह इति । तथा एतद्धर्मयुक्तानां यतीनामवपातकारी स्यात्, आज्ञाकारीति भावः । प्रधानं मोहच्छेदनमेतत् । तदाज्ञाकारित्वं तन्मोहच्छेदनयोगनिरत्यन्तयेति हृदयम् । एवं कुशलाभ्यासेन विशुद्ध्यमानो विशुद्ध्यमान एतत्सेवक इति प्रक्रमः । भावनयोपकारूपया कर्मापगमेन हेतुना, उपैत्येतस्य धर्मस्य योग्यताम् । एतदेवाऽऽह-तथा संसारविरक्तस्तदोषभावनया,संविग्नो भवति मोक्षार्थी, अममो ममत्वरहितः ,अपरोपतापी परपीडापरिहारी, विशुद्धो ग्रन्थ्यादिभेदेन विशुद्ध्यमानभावः शुभकरणकवृद्ध्येति पं० सू० २ सूत्र ।

(श्रुतधर्ममधिकृत्य धर्मस्तुतिः ' काउस्सग्ग ' शब्दे तृ० भा० ४१६ पृष्ठे " तमतिमिर " इत्यादिगाथाभिर्भाविता)

(१६) साम्प्रतं पदार्थ उच्यते-

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं,अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥ १ ॥

" धर्मो मङ्गलमुत्कृष्ट-महिंसा संयमस्तपः ।
देवा अपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः ॥ १ ॥ "

तत्र'धृ'धारणे,इत्यस्य धातोः मप्रत्ययान्तस्येदं रूपं धर्म इति । मङ्गलरूपं पूर्ववत् । तथा-'कृष्'विलेखने,इत्यस्य धातोरुत्पूर्वस्य निष्ठान्तस्येदं रूपमुत्कृष्टमिति । तथा-'हह्' 'हिंसि' हिंसायाम्,इत्यस्य " इदितो नुम् धातो ॥४।१।५८॥ " इति नुमि कृते स्त्र्यधिकारे टाबन्तस्य नञ्पूर्वस्येदं रूपम्, यदुताहिंसेति । तथा-'यमु' उपरमे,इत्यस्य धातोः संपूर्वस्याच्प्रत्ययान्तस्य संयम इति रूपं भवति । तथा-'तप' सन्तापे, इत्यस्य धातोरसुन्प्रत्ययान्तस्य तप इति । तथा-'दिवु' क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, इत्यस्य धातोरच्प्रत्ययान्तस्य जसि देवा इति भवति । अपिशब्दो निपातः, तदित्येतस्य सर्वनाम्नः पुंस्त्वविवक्षायां द्वितीयैकवचनं तमिति भवति । तथा-नमसित्यस्य प्रातिपदिकस्य " नमो वरिवश्चित्रङः क्यच् ॥३।१।१९॥"इति क्यजन्तस्य लट्क्रियान्तादेशः,ततश्च नमस्यन्तीति भवति । यदिति सर्वनाम्नः षष्ठ्यन्तस्य यस्येति भवति,धर्मे पूर्ववत् । सदेति सर्वस्मिन् काले " सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा " ॥ ५ । ३ । १५ ॥ इतिदाप्रत्ययः, " सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि " ॥ ५ । ३ । ६ ॥ इति स आदेशः सदा । तथा-'मन' ज्ञाने इत्यस्य धातोरसुन्प्रत्ययान्तस्य मन इति भवति । इति पदानि । साम्प्रतं पदार्थ उच्यते-तत्र दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः । तथा चोक्तम्-" दुर्गतिप्रसृतान् जीवान्, यस्माद्धारयते ततः । धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्मा-

धर्मं इति स्मृत ॥ १ ॥" मङ्ग्यते हितमनेनेति मङ्गलमित्यादि पूर्ववत् । उत्कृष्ट प्रधानम्, न हिंसा अहिंसा, प्राणातिपातविरतिरित्यर्थ. । संयम आश्रवद्वारोपरम , तापयत्यनेकभवोपात्तमष्टप्रकारं कर्म इति तपः,अनशनाऽऽदि ।दीव्यन्तीति देवा ,क्रीडन्तीत्यादिभावार्थ. । अपिः सम्भावने, देवा अपि, मनुष्यास्तु पुनराम । तमित्येवंविशिष्ट जीव नमस्यन्तीति प्रकटार्थम् । यस्य जीवस्य किम ? । धर्मे प्रागभिहितस्वरूपे, सदा सर्वकाल मन इत्यन्त करणम् । अय पदार्थ इति । पदविग्रहस्तु परस्परापेक्षसमासभाक्त्वेनेह निबन्धनाभावान्न प्रदर्शित इति चालनाप्रत्यवस्थाने तु प्रमाणचिन्तायां यथावसरमुपरिष्टाद्वक्ष्याम' ।

(२०) प्रवृत्ति' पुनस्तयोरमुनोपायेनेति प्रदर्शयन्नाह-

कत्थइ पुच्छइ सीसो, कहिँ वि अपुट्ठा कहंति आयरिआ ।
सीसाणं तु हियट्ठा, विपुलतरागं तु पुच्छाए ॥ ३८ ॥

क्वचित् किञ्चिदनवगच्छन् पृच्छति शिष्य. कथमेतदितीयमेव चालना, गुरुकथन प्रत्यवस्थानम्, इत्थमनयोः प्रवृत्तिः। तथा क्वचिदपृष्टा एव सन्त' पूर्वपक्षमाशङ्क्य किञ्चित्कथयन्त्याचार्या. तत् प्रत्यवस्थानमिति गम्यते। किमर्थं कथयन्त्यत आह्-शिष्याणामेव हितार्थ,तुशब्द एवकारार्थः,तथा विपुलतर तु प्रभूततर तु कथयन्ति। (पुच्छाए त्ति) शिष्यप्रश्ने सति पटुप्रश्नोऽयमित्यवगमादिति गाथार्थः । " एव तावत्समासेन, व्याख्या लक्षणयोजना । कृतेयं प्रस्तुते सूत्रे, कार्यैवमपरेष्वपि ॥१॥" ग्रन्थविस्तरदोषान्न वक्ष्याम', उपयोगे तु वक्ष्याम प्रति सूत्र,यत. सूत्रस्पर्शकोऽधुना प्रोच्यते । अनुगमनिर्युक्तिविभागश्च विशेषतः सामायिकबृहद्वृत्त्याऽवसेय. तत्रोदित यत.-

" होइ कयत्थो वोत्तु, सपयच्छेअं सुअं सुआणुगमे ।
सुत्तालावगनासो, णामादिन्नासविणियोग ॥ १ ॥
सुत्तप्फासियणिज्जु-त्तिणिओगो सेसओ पयत्थाइ ।
पाय सो चिय णेगम-णयाइमयगोयरो होइ ॥ २ ॥
एव सुत्ताणुगमो, सुत्तालावगकओ अनिक्खेवो ।
सुत्तप्फासियणिज्जु-त्तिणया अ वच्चंति समग तु ॥ ३ ॥"

इत्यल प्रसङ्गेन गमनिकामात्रमेतत् । दश० १ अ० ।

धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमित्यादौ धर्मग्रहणे सति अहिंसासंयमतपोग्रहणमयुक्त, तस्याऽहिंसासयमतपोरूपत्वाद्व्यभिचारित्वादिति।उच्यते, नाहिंसाऽऽदीनां धर्मकारणत्वाद्धर्मस्य च कार्यत्वात्कार्यकारणयोश्च कथञ्चिद् भेदात् कथञ्चिदभेदश्चेति, तस्य द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वात । उक्त च-"नत्थि पुढवीविसिट्ठो,घमो त्ति अ तेण जुज्जइ अणुणो । जं पुण घडु त्ति पुव्व, नासी पुढवी इओ न.ओ ॥१॥" इत्यादि । गत्यादिधर्मव्यवच्छेदेन तत्स्वरूपप्रापणार्थं वा,अहिंसाऽऽदिग्रहणमदुष्टमित्यलविस्तरेण। आह्-अहिंसासयमतपोरूपो धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमित्येतद्वच किमाज्ञासिद्धम्, आहोस्विद्युक्तिसिद्धमपि ?, प्रोच्यते-उभयसिद्धम्, कुत ?, जिनवचनत्वात्,तस्य च निरुपचरितयुक्तिपाशाऽऽदिसिद्धत्वात ।

आह च निर्युक्तिकार'--

जिणवयण सिद्ध चे-व भण्णइ कत्थई उदाहरणं ।
आसज्ज उ सोयारं, हेऊ वि कहिं वि भण्णेज्जा ॥४९॥

जिनाः [illegible], तेषा वचन सर्वाज्ञया सिद्धमेव [illegible], [illegible] कुत जिनानां [illegible]ऽसंभवत्[illegible] वचनासंभवात् । उक्त च-" रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषा--स्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥१॥" इत्यादि । तथापि तथाविधश्रोत्रपेक्षया तत्रापि भण्यते क्वचिदुदाहरण, तथाऽऽश्रित्य तु श्रोतार हेतुरपि क्वचिद्भण्यते,न तु नियोगत.,तुशब्द. श्रोतृविशेषणार्थ. । किंविशिष्ट श्रोतारम ?, पटुधिय, मध्यमधिय च, न तु मन्दधियमिति । तथाहि पटुधियो हेतुमात्रोपन्यासादेव प्रकृतार्थावगतिर्भवति, मध्यमधीस्तु तेनैव बोध्यते,न त्वितर इत्यर्थ । तत्र साध्यसाधनान्वयव्यतिरेकप्रदर्शनमुदाहरणमुच्यते दृष्टान्त इत्यर्थ. । साध्यधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणश्च हेतुः । इह च हेतुमुल्लङ्घ्य प्रथममुदाहरणाभिधान, न्यायानुगतत्वात्तदुपन्यासेनैव हेतो साध्यार्थसाधकत्वोपपत्ते' । क्वचिद्धेतुमन्तरेणाप्यर्थ दृष्टान्त एवोच्यत इति न्यायप्रदर्शनार्थं वा। यथा गतिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भको धर्मास्तिकायश्चक्षुष्मतो ज्ञानस्य, दीपवत् । उक्त च-

" जीवानां पुद्गलाना च, गत्युपष्टम्भकारणम ।
धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य, दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥ १ ॥"

तथा क्वचिद्धेतुरेव केवलोऽभिधीयते, न दृष्टान्त , यथा मदीयोऽयमश्वो, विशिष्टचिह्नोपलब्ध्यन्यथानुपपत्तेरित्यल प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

तथा--

कत्थइ पंचावयवं, दसहा वा सव्वहा न पडिसिद्धं ।
न य पुण सव्वं भण्णइ, हंदी सवियारमक्खायं ॥५०॥

श्रोतारमेवाङ्गीकृत्य क्वचित्पञ्चावयव, दशधा चेति क्वचिद्दशावयव, सर्वथा गुरुश्रोत्रपेक्षया, न प्रतिषिद्धमुदाहरणाद्यभिधानमिति वाक्यशेषः । यद्यपि च न प्रतिषिद्ध तथाप्यविशेषेणैव, न च पुन. सर्वं भण्यते, उदाहरणाऽऽदि । किमित्यत आह्-(हंदी सवियारमक्खाय ति) हन्दीत्युपप्रदर्शने, किमुपदर्शयति-यस्मादिहान्यत्र च शास्त्रान्तरे सविचार सप्रतिपक्षमाख्यात, साकल्यत उदाहरणाऽऽद्यभिधानमिति गम्यते । पञ्चावयवाश्च प्रतिज्ञाऽऽदय. । यथोक्तम्-"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमना. । अवयवा दश पुन प्रतिज्ञाविभक्त्याद्य.। वक्ष्यति च-" ते उ पइण्णविहत्ती " इत्यादि । प्रयोगाश्चैतेषा लाघवार्थमिहैव स्वस्थाने दर्शयिष्यामीति गाथार्थ. । दश० १ अ० ।

"धम्मो मंगल" इत्यादिलक्षणमधिकृत्य निर्दिश्यते-अहिंसासंयमतपोरूपो धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमिति प्रतिज्ञा, इह च धर्मी इति धर्मनिर्देश ,अहिंसा संयमतपोरूप इति धर्मविशेषणमुत्कृष्ट मङ्गलमिति साध्यो धर्म. धर्मिधर्मसमुदाय प्रतिज्ञा, इय च श्लोकार्द्धेनोक्तेति।देवाऽऽदिदेवपूजितत्वादिति हेतु.,आदिशब्दात्सिद्धविद्याधरनरपतिपरिग्रह । अयं च श्लोकतृतीयपादेन सूत्रेऽस्य सेन,अर्हदादिवदिति दृष्टान्त । अत्रापि चाऽऽदिशब्दाद्गणधराऽऽदिपरिग्रह् । अय च श्लोकचरमपादेनोक्तो वेदितव्य इति । न च भावमनोऽधिकृत्यार्हद्दृष्टान्ते अस्ति कश्चिद्दोष इति। इह यो यो देवाऽऽदिपूजित, स स उत्कृष्ट मङ्गल यथाऽर्हदादयस्तथा च देवाऽऽदिपूजितो धर्म इत्युपनय , तस्माद्देवाऽऽदिपूजितत्वादुत्कृष्ट मङ्गलमिति निगमनम । इह चावयवद्वय सूत्रोक्तावयवत्रयाविनाभूतमिति कृत्वा तेन सूचितमवगन्तव्यमित्यल विस्तरेण ।

प्रगता असवः प्राणा यस्मादिति प्रासुकं निर्जीवम् । तच्च स्वकृतमपि भवत्यत आह-अकृत, तदपि कारितमपि भवत्यत आह-अकारितम्, तदप्यनुमतमपि भवत्यत आह-अननुमतम् । तदप्युद्दिष्टमपि भवति यथावदर्थिकाऽऽदि, न च तदिष्यत इत्यत आह-अनुद्दिष्टमिति, एतत्परिज्ञानोपायश्चोपन्यस्तसकलप्रदानाऽऽदिलक्षणस्तत्रावगन्तव्य इति गाथार्थः ।

तदन्ये पुन किमित्यत आह-

अप्फासुगकयकारिय-अणुमयउद्दिट्ठभोइणो हुंदि ।
तसथावरहिंसाए, जणा अकुसला उ लिप्पंते ॥ ९८ ॥

अप्रासुककृतकारितानुमोदितोद्दिष्टभोजिनश्चरकाऽऽदय', इन्दीत्युपप्रदर्शने, किमुपप्रदर्शयति-त्रसन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियाऽऽदय., तिष्ठन्तीति स्थावराः पृथिव्यादयः, तेषां हिंसा प्राणव्यपरोपणलक्षणा, तया जना' प्राणिन , अकुशला अनिपुणा स्थूलमनयश्चरकाऽऽदयो लिप्यन्ते सवध्यन्त इत्यर्थ' । इह च हिंसाक्रियाजनितेन कर्मणा लिप्यन्त इति भावनीय, कारणे कार्योपचारात्, ततश्च ते शुद्धधर्मसाधका न भवन्ति, साधव एव भवन्तीति गाथार्थ ।

एसा हेउविसुद्धी, दिट्ठंतो तस्स चेव य विसुद्धी ।
सुत्ते भणिया उ फुडा, सुत्तप्फासे उ ऽयमन्ना ॥ ९९ ॥

एषा अनन्तरोक्ता, हेतुविशुद्धि. प्राग्निरूपितशब्दार्था, अधुना दृष्टान्त. प्राग्निरूपितशब्दार्थ', तथा तस्यैव च दृष्टान्तस्य विशुद्धि , किम् ?, सूत्रे भणितोक्तैव, स्फुटा स्पष्टा ।

तच्चेद सूत्रम्-

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रस ।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥२॥

अत्राऽऽह-अथ कस्माद्दशावयवनिरूपणायां प्रतिज्ञाऽऽदीन् विहाय सूत्रकृता दृष्टान्त एवोक्त इति ?। उच्यते-दृष्टान्तादेव हेतुप्रतिज्ञे अभ्यूह्ये, इतिन्यायप्रदर्शनार्थम् । कृत प्रसङ्गेन, प्रकृत प्रस्तुम. । तत्र यथा येन प्रकारेण द्रुमस्य प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य, पुष्पेषु प्राग्निरूपितशब्दार्थेष्वेव, असमस्तपदाभिधानमनुमेयगृहिद्रुमाणामाहाराऽऽदिषु पुष्पाद्यधिकृत्य विशिष्टसम्बन्धप्रतिपादनार्थमिति । तथा चान्यायोपार्जितवित्तदानेऽपि ग्रहणं प्रतिषिद्धमेव, भ्रमरश्चतुरिन्द्रियविशेष. , किम् ?, आपिबति, मर्यादया पिबत्यापिबति, कम् ? , रस्यत इति रसस्त निर्यास, मकरन्दमित्यर्थ । एष दृष्टान्त. । अथ च तद्देशोदाहरणमधिकृत्य वेदितव्य इत्येतच्च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तौ दर्शयिष्यति । उक्त च-सूत्रस्पर्शे त्वियमन्येति । अधुना दृष्टान्तविशुद्धिमाह-न च नैव, पुष्प प्राग्निरूपितस्वरूप, क्लामयति पीडयति, स च भ्रमर प्रीणाति तर्पयत्यात्मानमिति सूत्रसमुदायार्थ' । अवयवार्थ तु निर्युक्तिकारो महता प्रपञ्चेन व्याख्यास्यति ।

तथा चाऽऽह-

जह भमरो त्ति य एत्थ, दिट्ठंतो होइ आहरणदेसे ।
चंदमुहि दारिगेयं, सोम्मत्तवहारण ण सेसं ॥ १०० ॥

यथा भ्रमर इति चात्र प्रमाणे दृष्टान्तो भवत्युदाहरणदेशमधिकृत्य, यथा चन्द्रमुखी दारिकेयमित्यत्र सौम्यत्वावधारणं गृह्यते, न शेष कलङ्काङ्कितत्वाऽनवस्थितत्वाऽऽदीति गाथार्थ' ।

एवं भमराऽऽहरणे, अणिययवित्तित्तणं न सेसाणं ।
गहणं दिट्ठंतविसु-द्धि सुत्ते भणिया इमा चन्ना ॥१०१॥

एव भ्रमरोदाहरणे अनियतवृत्तित्व, गृह्यत इति शेष., न शेषाणामविरत्यादीनां भ्रमरधर्माणा ग्रहण दृष्टान्त इति । एषा दृष्टान्तविशुद्धि सूत्रे भणिता, इय चान्या सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ताविति गाथार्थ. ।

एत्थ य भणिज्ज कोई, समणाणं कीरए सुविहियाणं ।
पागोवजीविणो त्ति य, लिप्पतारंभदोसेण ॥ १०२ ॥

अत्र चैव व्यवस्थिते सति ब्रूयात्कश्चिद्, यथा-श्रमणानां क्रियते सुविहितानामिति । एतदुक्त भवति-यदिद पाकनिर्वर्तन गृहिभिः क्रियते, इद पुण्योपादानसकल्पेन श्रमणानां क्रियते सुविहितानामिति तपस्विनां, गृह्णन्ति च ते ततो भिक्षामित्यत. पाकोपजीविन इति कृत्वा लिप्यन्ते, आरम्भदोषेणाऽऽहारकरणक्रियाफलेनेत्यर्थ । तथा च लौकिका अप्याहुः-" क्रयेण क्रायको हन्ति, उपभोगेन खादक. । घातको वधचित्तेन, इत्येष त्रिविधो वध ॥ १ ॥ " इति गाथार्थ. ।

साम्प्रतमेतत्परिहरणाय गुरुराह-

वासइ न तणस्स कए, न तणं वड्ढइ कए मयकुलाणं ।
न य रुक्खा सयसाहा, फुल्लंति कए महुयराण ॥१०३॥

वर्षति न तृणस्य कृते, न तृणार्थमित्यर्थः । तथा न तृण वर्द्धते कृते मृगकुलानामर्थाय, तथा न च वृक्षा शतशाखा पुष्पन्ति कृतेऽर्थाय मधुकराणाम, एव गृहिणोऽपि न साध्वर्थं पाक निर्वर्तयन्तीत्यभिप्राय इति गाथार्थ ।

अत्र पुनरप्याह-

अग्गिम्मि हवी हूयइ, आइच्चो तेण पीणिओ संतो ।
वरिसइ पयाहियाए, तेणोसहिओ परोहंति ॥ १०४ ॥

इह यदुक्त वर्षति न तृणार्थमित्यादि, तदसाधु, यस्मादग्नौ हविर्हूयते, आदित्यस्तेन हविषा घृतेन प्रीणित सन् वर्षति, किमर्थम् ?, प्रजाहितार्थं लोकहिताय, तेन वर्षितेन किम्?, औषध्य प्ररोहन्त्युत्पद्यन्ते। तथा चोक्तम्-" अग्नावाज्याऽऽहुति सम्य-गादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टि-र्वृष्टेरन्न तत' प्रजा ॥ १ ॥ " इति गाथार्थ. ।

अधुनैतत्परिहारायेदमाह-

किं दुब्भिक्खं जायइ, जइ एवं अह भवे दुरिट्ठं तु ।
किं जायइ सव्वत्था, दुब्भिक्खं अह भवे इंदो ॥१०५॥

किं दुर्भिक्ष जायते यद्येव कोऽभिप्राय ?,तद्धि सदा हूयत एव, ततश्च कारणाविच्छेदेन कार्यविच्छेदोऽयुक्त इति । अथ भवेद् दुरिष्ट तु दुर्नक्षत्र दुर्यजन वा,अत्राप्युत्तरम्, किं जायते सर्वत्र दुर्भिक्षम्?,नक्षत्रस्य दुरिष्टस्य वा नियतदेशविषयत्वात्,सदैव सद्यज्वनां भावात्?, उक्त च-" सदैव देवा सन्तो, ब्राह्मणाश्च क्रियापरा । यतय साधवश्चैव, विद्यन्ते स्थितिहेतव' ॥ १ ॥ " इत्यादि ।

अथ भवेदिन्द्र इति किम् ?-

वासइ तो किं विग्घं, निग्घायाईहिं जायए तस्स ।
अह वासइ उउसमए, न वासई तो तणट्ठाए ॥ १०६ ॥

वर्षति नत' किं विघ्नोऽन्तराय निर्घाताऽऽदिर्जायते, आ-दिशब्दाद्दिग्दाहाऽऽदिपरिग्रह' । तस्येन्द्रस्य, परमैश्वर्ययुक्तत्वेन विघ्नानुपपत्तेरिति भावना । अथ वर्षति ऋतुसमये गर्भसद्भावात् इति वाक्यशेषः । न वर्षति ततस्तृणार्थं, तस्येत्थमभिसंधेरभावादिति गाथाद्वयार्थः ।

किं च दुमा पुप्फंती, भमराणं कारणा अहासमयं
मा भमरमहुयरिगणा, किलामएज्जा अणाहारा ॥१०७॥

किं च द्रुमा पुष्यन्ति भ्रमराणां कारणात् कारणेन यथासमय यथाकालं, मा भ्रमरमधुकरिगणा क्लामेषु ग्लानिं प्रतिपद्येरन्, अनाहारा अविद्यमानाऽऽहारा सन्त , काक्वा नैवैतदित्थमिति गाथार्थ ।

साम्प्रत पराभिप्रायमाह-

कस्सइ बुद्धी एसा, वित्ती उवकप्पिया पयावइणा ।
सत्ताणं तेण दुमा, पुप्फंती महुयरिगणट्ठा ॥ १०८ ॥

अथ कस्यचिद् बुद्धि कस्यचिदभिप्राय स्याद्यदुत एषा वृत्तिरुपकल्पिता, केन ?, प्रजापतिना, केषाम्?, सत्त्वाना प्राणिनां, तेन कारणेन द्रुमा पुष्यन्ति, मधुकरिगणार्थमेवेति गाथार्थ ।

अत्रोत्तरमाह-

तं न भवइ जेण दुमा,नामागोयस्स पुव्वविहियस्स ।
उदएण पुप्फफलं, निव्वत्तइंती इमं चन्नं ॥ १०९ ॥

यदुक्त परेण तन्न भवति, कुत इत्याह--येन द्रुमा नामगोत्रस्य कर्मण पूर्वविहितस्य जन्मान्तरोपात्तस्य, उदयेन विपाकानुभवलक्षणेन, पुष्पफल निर्वर्त्तयन्ति कुर्वन्त्यन्यथा सदैव तद्भावप्रसग इति भावनीयम् । इद चान्यत्कारण वक्ष्यमाणमिति गाथार्थ ।

अत्थि बहू वणसंडा, भमरा जत्थ न उवेंति न वसंति ।
तत्थ वि पुप्फंति दुमा, पगई एसा दुमगणाणं ॥११०॥

सन्ति बहूनि वनखण्डानि, तेषु तेषु स्थानेषु भ्रमरा यत्र नोपयान्ति अन्यतो न वसन्ति, तेष्वेव,तथाऽपि पुष्यन्ति द्रुमा ,अत प्रकृतिरेषा स्वभाव एषा द्रुमगणानामिति गाथार्थ ।

अत्राऽऽह-

जइ पगई कीस पुणो, सव्वं कालं न देंति पुप्फफलं ।
जं काले पुप्फफलं, दयंति गुरुराह अत एव ॥ १११ ॥

यदि प्रकृति किमिति पुन सर्वकाल न ददति न प्रयच्छन्ति, किम् ?, पुष्पफलम्, एवमाशङ्कयाऽऽह-यद्यस्मात् कालेनियत एव पुष्पफल ददति, गुरुराह-अत एवास्मादेव हेतोः।

पगई एस दुमाणं, जं उउसमयम्मि आगए संते ।
पुप्फंति पायवगणा, फलं च कालेण बंधंति ॥११२॥

प्रकृतिरेषा द्रुमाणा यदृतुसमये वसन्ताऽऽद्यावागते सति पुष्यन्ति पादपगणा वृक्षसंघातास्तथा फल च कालेन बध्नन्ति, तदर्थानभ्युपगमे तु नित्यप्रसङ्ग इति गाथार्थ ।

साम्प्रत प्रकृतेऽप्युक्तार्थयोजना कुर्वन्नाह-

किं नु गिही रंधंती, समणाणं कारणा अहासमयं ।
मा समणा भगवंतो, किलामएज्जा अणाहारा ॥ ११३ ॥

किं नु गृहिणो राध्यन्ति पाक निर्वर्त्तयन्ति श्रमणानां कारणेन, यथाकाल, मा श्रमणा भगवन्त क्लाम्यन्त्वनाहारा इति पूर्ववदिति गाथार्थः । नैवैतदित्थमित्यभिप्राय' ।

अत्राऽऽह-

समणाणुकंपनिमित्तं, पुण्णनिमित्तं च गिहनिवासीओ ।
कोइ भणिज्जा पागं,करेंति सो भन्नइ न जम्हा ? ॥११४॥

श्रमणेभ्योऽनुकम्पा श्रमणानुकम्पा तन्निमित्त, न ह्येते हिरण्यग्रहणाऽऽदिना अस्माकमनुकम्पा कुर्वन्तीति मत्वा भिक्षादानार्थं पाक निर्वर्तयन्त्यत श्रमणानुकम्पानिमित्त, तथा सामान्येन पुण्यनिमित्त च गृहनिवासिन एव कश्चिद् ब्रूयात्, पाक कुर्वन्ति, स भण्यते, नैतदेव, कुतो ?, यस्मात्-

कंतारे दुब्भिक्खे, आयंके वा महइ समुप्पन्ने ।
रत्तिं समणसुविहिया, सव्वाहार न भुंजंति ॥ ११५ ॥

कान्तारेऽरण्याऽऽदौ, दुर्भिक्षेऽन्नाकाले, आतङ्के वा ज्वराऽऽदौ, महति समुत्पन्ने सति, रात्रौ श्रमणाः सुविहिता' शोभनानुष्ठाना', किम् ?, सर्वाहारमोदनाऽऽदि न भुञ्जते,

अह कीस पुण गिहत्था, रत्तिं आयरतरेण रंधंति ।
समणेहिँ सुविहिएहिं, चउव्विहाहारविरएहिं ॥११६॥

अथ किमिति पुनर्गृहस्थास्तत्रापि रात्रौ आदरतरेणात्यादरेण राध्यन्ति श्रमणै सुविहितैश्चतुर्विधाऽऽहारविरतै सद्भिरिति गाथात्रयार्थ' ।

किञ्च-

अत्थि बहुगामनगरा, समणा जत्थ न उवेंति न वसंति ।
तत्थ वि रंधंति गिही, पगई एसा गिहत्थाणं ॥११७॥

सन्ति बहूनि ग्रामनगराणि तेषु तेषु देशेषु श्रमणा साधवो यत्र नोपयान्ति, अन्यतो न वसन्ति,तत्रैव,अथ च तत्रापि राध्यन्ति गृहिण , अत प्रकृतिरेषा गृहस्थानामिति गाथार्थः ।

अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह-

पगई एस गिहीणं, जं गिहिणो गामनगरनिगमेसु ।
रंधंति अप्पणो परि--यणस्स कालेण अट्ठाए ॥११८॥

प्रकृतिरेषा गृहिणा वर्त्तते यद् गृहिणो ग्रामनगरनिगमेषु, निगम स्थानविशेष,राध्यन्ति आत्मन' परिजनस्यार्थाय निमित्तं कालेनेति योग इति गाथार्थ ।

तत्थ समणा तवस्सी, परकडपरनिट्ठियं विगयधूमं ।
आहारं एसंती, जोगाणं साहणट्ठाए ॥ ११९ ॥

तत्र श्रमणा तपस्विन इत्युद्यतविहारिणो नेतरे, परकृतपरनिष्ठितमिति कोऽर्थ ?, परार्थं कृतमारब्ध परार्थं च निष्ठितमन्त गत विगतधूम धूमरहितम्, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायाद्विगताङ्गार च, रागद्वेषमन्तरेणेत्यर्थं । उक्त च-" रागेण सइगालं, दोसेण सधूमगं वियाणाहि । " आहारमोदनादिलक्षणमेषन्ते गवेषन्ते, किमर्थमत्राऽऽह-योगानां मनोयोगाऽऽदीना सयमयोगाना वा साधनार्थं, न तु वर्णाऽऽद्यर्थमिति गाथार्थ ।

नवकोडीपरिसुद्धं, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं ।
छट्ठाणरक्खणट्ठा, अहिंसअणुपालणट्ठाए ॥ १२० ॥

इयं च किल भिन्नकर्तृकी, अस्या व्याख्या-नवकोटिपरि-

शुद्ध. तत्रैता नवकोट्यः, यदुत-" ण हणइ ण हणावेइ, हणं-त नाणुजाणइ । एवं-न किणइ ३, एवं-न पयइ ३ । " एतानि परिशुद्धं, तथा उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धमित्येतद्वस्तुत. सकलोपाधिविशुद्धकोटिख्यापनमेव, एवंभूतमपि किमर्थं भुञ्जते ?, 'षड्स्थानरक्षणार्थम् ?,तानि चामूनि-"वेयणवेयावच्चे,इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणवित्तियाए, छट्ठ पुण धम्मचिंताए " ॥ १ ॥ अपि च-भवान्तरे प्रशस्तभावनाभ्यासादहिंसानुपालनार्थम । तथा चाऽऽह-नाहारत्यागतो भावितमते देहत्यागो भवान्तरेऽप्यहिंसायैव भवतीति गाथार्थः ।

दिट्ठंतसुद्धि एसा, उवसंहारो य सुत्तनिद्दिट्ठो ।
संती विज्जंति त्ति य, संतिं सिद्धिं च साहेंति ॥१२१॥

दृष्टान्तशुद्धिरेषा प्रतिपादिता, उपसंहारस्तु उपनयस्तु सूत्रनिर्दिष्टः सूत्रोक्त ।

तच्चेदं सूत्रम्-

एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ॥ ३ ॥

एवमनेन प्रकारेण एते ये अधिकृताः प्रत्यक्षेण वा परिभ्रमन्तो दृश्यन्ते, श्राम्यन्तीति श्रमणास्तपस्यन्तीत्यर्थः । एते च तन्त्रान्तरीया अपि भवन्ति । यथोक्तम्-" निग्गथसक्कतावस-गेरुयआजीव पचहा समणा । " अत आह-मुक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन,ये लोके अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रपरिमाणे, सन्ति विद्यन्ते, अनेन समयक्षेत्रे सदैव विद्यन्त, इत्येतदाह-साधयन्तीति साधव , किं साधयन्ति ?, ज्ञानाऽऽदीनि गम्यते । अत्राऽऽह-ये मुक्तास्ते साधव एवेत्यत इदमयुक्तम् । अत्रोच्यते-इह व्यवहारेण निह्नवा अपि मुक्ता भवन्त्येव,न च ते साधव इति तद्व्यवच्छेदार्थत्वान्न दोषः । आह-न च ते सदैव सन्तीत्यनेनैव व्यवच्छिन्ना इत्युच्यन्ते, वर्त्तमानतीर्थापेक्षयैवेद सूत्रमिति न दोष. । अथवाऽन्यथा व्याख्यायते-ये लोके सन्ति साधव इत्यत्र य इत्युद्देश , लोक इत्यनेन समयक्षेत्र एव नान्यत्र, किम् ?,शान्ति सिद्धिरुच्यते, तां साधयन्तीति शान्तिसाधवः । तथा चोक्तं निर्युक्तिकारेण-" संती विज्जंति त्ति य, संतिं सिद्धिं च साहेंति । " इद व्याख्यातमेव, विहङ्गमा इव भ्रमरा इव पुष्पेषु,किम ?। दानभक्तैषणासु रता ,दानग्रहणाद्दत्त गृह्णन्ति नादत्त, भक्तग्रहणेन तदपि भक्तं प्रासुक, न पुनराधाकर्माऽऽदि,एषणाग्रहणेन गवेषणाऽऽदित्रयपरिग्रह , तेषु स्थानेषु रता. सक्ता इति सूत्रसमासार्थः । दश० १ अ० ।

(२१) विहङ्गमानां निक्षेपाऽऽयुक्त्वा इत्थमनेकप्रकार विहङ्गममभिधाय प्रकृतोपयोगमुपदर्शयति-

इहइं पुण अहिगारो, विहासगमणेहिं भमरेहिं (१२७)

इह सूत्रे, पुन शब्दोऽवधारणे,इहैव, नान्यत्र,अधिकार प्रस्ताव प्रयोजनम् । कैरित्याह-विहायोगमनैराकाशगमनै ,भ्रमरै षट्पदैरिति गाथार्थः ।

दाणेति दत्तगिण्हण, भत्ते भज सेव फासुगेण्हणया ।
एसणतिगम्मि निरया,उवसंहारस्स सुद्धि इणा ॥१२८॥

दानेति सूत्रे दानग्रहणं दत्तग्रहणप्रतिपादनार्थम् , दत्तमेव गृह्णन्ति नाऽदत्तम् । भक्तग्रहण भज सेवायामित्यस्य निष्ठान्तस्य भवति । अयमेवाभ्य प्रासुकग्रहण प्रासुकमाधाकर्माऽऽदिरहितं गृह्णन्ति,तेनरहितं । (एसण त्ति) एषणाग्रहणमेषणात्रितये गवेषणाऽऽदिलक्षणे, निरताः सक्ताः,उपसंहारस्योपनयस्य. शुद्धिरियं वक्ष्यमाणलक्षणेति गाथार्थः ।

अवि भमरमहुयरिगणा,अविदिन्नं आवियंति कुसुमरसं ।
समणा पुण भगवंतो, नादिन्नं भोत्तुमिच्छंति ॥ १२९ ॥

अपि भ्रमरमधुकरिगणाः, मधुकरीग्रहणमिहापि स्त्रीसंग्रहणार्थम । जातिमग्रहार्थमिति चान्ये । अविदत्त सन्त,किम् ?,आपिबन्ति,कुसुमरस कुसुमाऽऽसव, श्रमणाः पुनर्भगवन्तो नादत्त भोक्तुमिच्छन्तीति विशेष । इति गाथार्थः ।

साम्प्रत सूत्रेणैवोपसंहारविशुद्धिरुच्यते-कश्चिदाह-" दाणभत्तेसणे रया " इत्युक्तम्, यत एवमत एव लोको भक्त्याकृष्टमानसस्तेभ्य प्रयच्छत्याधाकर्माऽऽदि । तस्य ग्रहणे सत्त्वोपरोध , अग्रहणे च स्वद्वृत्यलाभ इति । अत्रोच्यते-वय चेत्यादि सूत्रम्-

वय च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ ।
अहागमेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरो जहा ॥ ४ ॥

वय च वृत्तिं लप्स्याम प्राप्स्यामस्तथा यथा न कश्चिदुपहन्यते । वर्त्तमानैष्यत्कालोपन्यासस्त्रैकालिकन्यायप्रदर्शनार्थं । तथा चैते साधवः सर्वकालमेव यथाकृतेषु आत्मार्थमभिनिर्वर्तितेष्वाहाराऽऽदिषु, रीयन्ते गच्छन्ति, वर्त्तन्त इत्यर्थ । पुष्पेषु भ्रमरा यथा । इत्येतच्च पूर्वं भावितमेवेति सूत्रार्थः ।

यतश्चैवमतो महुगारसमेत्यादि सूत्रम्-

महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया ।
नाणा पिंमरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो,त्ति बेमि ॥५॥

मधुकरसमा भ्रमरतुल्या , बुध्यन्ते स्म बुद्धा , अधिगततत्त्वा इत्यर्थः । एवभूता इत्यत आह-ये भवन्ति वा अनिश्रिता कुलाऽऽदिष्वप्रतिबद्धा इत्यर्थः ।

अत्राऽऽह-

अस्संजएहिं भमरे-हिं जइ समा संजया खलु भवंति ।
एवं उवम किच्चा, नूणं अस्संजया समणा ॥ १३० ॥

असंयतै कुतश्चिदप्यनिवृत्तै भ्रमरै षट्पदै ,यदि समास्तुल्या , सयता साधव , खल्विति समा एव भवन्ति । ततश्चासक्तिनोऽपि, ते अत एवैनामित्थप्रकारामुपमां कृत्वा इदमापद्यते नूनमसयता श्रमणा इति गाथार्थः ।

एवमुक्ते सत्याहाऽऽचार्य , एतच्चायुक्तम्, सूत्रोक्तविशेषणनिरस्कृतत्वात, तथा च बुद्धग्रहणादसञ्ज्ञिनो व्यवच्छेद , अनिश्रितग्रहणात् त्वसंयतत्वस्येति ।

निर्युक्तिकारस्त्वाह-

उवमा खलु एस कया, पुव्वुत्ता देसलक्खणोवणया ।
अणिययवित्तिनिमित्त, अहिंसअणुपालणट्ठाए ॥१३१॥

उपमा, खल्वेषा, मधुकरसमेत्यादिरूपा, कृता, पूर्वोक्तात् पूर्वोक्तेन, देशलक्षणोपनयात् देशलक्षणोपनयेन, यथा चन्द्रमुखी कन्येति, तृतीयार्थो चेह पञ्चमी । इय चानियतवृत्तिनिमित्त कृता अहिंसाऽनुपालनार्थमिद च भावयन्त्येवेति गाथार्थ ।

जह दुमगणा उ तह नग-रजणवया पयणपायणसहावा ।
जह भमरा तह मुणिणो, नवरि अदत्त न भुंजंति ।१३२।

यथा द्रुमगणा वृक्षसंघाता , स्वभावत एव पुष्पफलनस्वभावास्तथैव नगरजनपदा नगराऽऽदिलोका ,स्वयमेव पचनपाच-

नस्वभावा वर्त्तन्ते, यथा भ्रमरा इति भावार्थं वक्ष्यति । तथा मुनयो, नवरमेतावान्विशेष -अदत्तं स्वामिभिर्न भुञ्जत इति गाथार्थः ।

अमुमेवार्थं स्पष्टयति-

कुसुमे सहावफुल्ले, आहारंति भमरा जह तहा उ ।
भत्तं सहावसिद्धं, समणसुविहिया गवेसंति ॥ १३३ ॥

कुसुमे पुष्पे, स्वभावफुल्ले प्रकृतिविकसिते, आहारयन्ति कुसुमरसं पिबन्ति, भ्रमरा मधुकरा , यथा येन प्रकारेण कुसुमपीडामनुत्पादयन्त , तथा तेनैव प्रकारेण, भक्तमोदनाऽऽदि, स्वभावसिद्धमात्मार्थं कृतम, उद्गमाऽऽदिदोषरहितमित्यर्थ । श्रमणाश्च ते सुविहिताश्च श्रमणसुविहिता , शोभनानुष्ठानवन्त इत्यर्थ. । गवेषयन्ति अन्वेषयन्तीति गाथार्थ ।

साम्प्रत पूर्वोक्तो यो दोषो मधुकरसमा इत्यत्र, एतत्परिजिहीर्षयैव यावतोपसहार. क्रियते तदुपदर्शयन्नाह-

उवसंहारो भमरा, जह तह समणा वि अवहजीवंति ।
दंत त्ति पुण पयम्मी, नायव्व वक्कसेसमिणं ॥ १३४ ॥

उपसंहार उपनय , भ्रमरा यथा अवधजीविनः, तथा श्रमणा अपि साधवोऽप्येतावतैवांशेनेति गाथादलार्थः । इतश्च श्रमणसाधूनां नानात्वमवसेयम् । यत आह सूत्रकार -" नानापिण्डरया दन्ता ' इति । नानाऽनेकप्रकाराभिग्रहविशेषात्प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिण्ड आहारपिण्ड , नाना चाऽसौ पिण्डश्च नानापिण्ड , अन्तप्रान्ताऽऽदिर्वा, तस्मिन् रता अनुद्वेगवन्त । दान्ता इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन । अनयोश्च स्वरूपमधस्तपसि प्रतिपादितमेव, अत्र चोपन्यस्तगाथावरमदलस्यावसर । दान्ता इति पुन पदे सौत्रे । किम् ?, ज्ञातव्यो वाक्यशेषोऽयमिति गाथार्थ ।

किंविशिष्टो वाक्यशेष , दान्ता ईर्याऽऽदिसमिताश्च-
तथा चाऽऽह-

जह इत्थ चेव इरियाऽऽ-एसु सव्वम्मि दिक्खियपयारे ।
तसथावरभूयहियं, जयंति सब्भावियं साहू ॥ १३५ ॥

यथाऽत्रैवाधिकृताध्ययने भ्रमरोपमयैषणासमितौ यतन्ते, तथा ईर्याऽऽदिष्वपि। तथा सर्वस्मिन् दीक्षितप्रचारे साध्वाचरित एव इत्यर्थः । किम् ?, त्रसस्थावरभूतहितम्, यतन्ते सद्भाविक पारमार्थिक साधव इति गाथार्थः ।

अन्ये पुनरिद गाथादल निगमने व्याख्यानयन्ति, न च तद्विचारु, यत आह-

उवसंहारविसुद्धी, एस समत्ता उ निगमणं तेणं ।
वुच्चंति साहुणो त्ती, जेण ते महुगरसमाणा ॥ १३६ ॥

उपसंहारविशुद्धिरेषा समाप्ता तु, अधुना निगमनावसर , तत्र सौत्रमुपदर्शयति, निगमनमिति द्वारपरामर्शः । तेनोच्यन्ते साधव इति, येन कारणेन ते मधुकरसमाना उक्तन्यायेन भ्रमरतुल्या इति गाथार्थं ।

निगमनार्थमेव स्पष्टयति--

तम्हा दयाऽऽइगुणसु-ट्ठिएहिँ भमरो व्व अवहवित्तीहिं ।
साहूहिँ साहिओ त्ती, उक्किट्ठ मंगलं धम्मो ॥ १३७ ॥

तस्माद्दयाऽऽदिगुणसुस्थितैरादिशब्दात्सत्याऽऽदिपरिग्रह । भ्रमर इवावधवृत्तिभि.। कै.?, साधुभि. साधितो निष्पादित , उत्कृष्ट मङ्गल प्रधान मङ्गल, धर्मः प्राङ्निरूपितशब्दार्थः । इति गाथार्थ ॥ १३७ ॥

इदानीं निगमनविशुद्धिमभिधातुकाम आह-

निगमणसुद्धी तित्थ-तरा वि धम्मत्थमुज्जुया विहरे ।
भन्नइ कायाणं ते, जयणं न मुणंति न करेंति ॥ १३८ ॥

निगमनशुद्धि प्रतिपाद्यते। अत्राऽऽह-तीर्थान्तरीया. चरकपरिव्राजकाऽऽदय किम?,धर्मार्थं धर्मायोद्यता उद्युक्ता विहरन्ति, अतस्तेऽपि साधव एवेत्यभिप्राय । भण्यतेऽत्र प्रतिवचनम्-कायाना पृथिव्यादीनां ते चरकाऽऽदय , किम्?, यतनां प्रयत्नकरणलक्षणां, न मन्यन्ते न जानन्ति, न मन्यते वा, तथाविधाऽऽगमाऽऽश्रवणान्न कुर्वन्ति परिज्ञानाभावाद्भावितमेवेदमधस्तादिति गाथाऽर्थ ॥१३८॥

किं च-

न य उग्गमाइसुद्धं, भुंजंती महुयरा वणुवरोही ।
नेव य तिगुत्तिगुत्ता, जह साहू निच्चकालं पि ॥१३९॥

न चोद्गमादिशुद्ध भुञ्जते, आदिशब्दादुत्पादनाऽऽदिपरिग्रह । मधुकरा इव भ्रमरा इव सत्त्वानामनुपरोधिनः सन्तो नैव च त्रिगुप्तिगुप्ता यथा साधवो नित्यकालमपि । एतदुक्त भवति-यथा साधवो नित्यकाल त्रिगुप्तिगुप्ता एव नेन कदाचिदपि तत्परिज्ञानशून्यत्वात्तस्मान्न एते साधव. । इति गाथार्थः ॥१३९॥

साधव एव तु साधव , कथम्?, यतः-

कायं वायं च मणं, इंदियाइं च पंच दमयंति ।
धारेंति बंभचेरं, संजमयंती कसाए य ॥ १४० ॥

काय, वाच, मनश्च, इन्द्रियाणि च पञ्च दमयन्ति । तत्र कायेन सुसमाहितपाणिपादास्तिष्ठन्ति, गच्छन्ति वा । वाचा निष्प्रयोजन न ब्रुवते, प्रयोजनेऽप्यालोच्य सत्त्वानुपरोधेन । मनसा अकुशलमनोनिरोध, कुशलमनउदीरण च कुर्वन्ति । इन्द्रियाणि पञ्च दमयन्ति, इष्टानिष्टविषयेषु रागद्वेषाकरणेन । पञ्चेति साङ्ख्यपरिकल्पितैकादशेन्द्रियव्यवच्छेदार्थम् । तथा च-वाक्पाणिपादपायूपस्थमनांसीन्द्रियाणि तेषामिति । धारयन्ति ब्रह्मचर्यम्, सकलगुप्तिपरिपालनात् । तथा सयमयन्ति कषायांश्च, अनुदयेनोदयविफलीकरणेन च । इति गाथार्थ ॥१४०॥

जं च तवे उज्जुत्ता, तेणेसिं साहुलक्खणं पुन्नं ।
तो साहुणो ति भन्न-त्ति साहवो निगमणं चेयं ॥१४१॥

यच्च तपसि प्राग्वर्णितस्वरूपे, किम्?, उद्युक्ता. तेन प्रकारेणैतेषां साधुलक्षण पूर्णमविकलम्, कथम्?, अनेक प्रकारेण साधयन्त्यपवर्गमिति साधव.। यतश्चैव तत. साधव एव भण्यन्ते साधवो, न चरकाऽऽदय इति । निगमन चैतत् । इति गाथार्थ ॥ १४१ ॥

इत्थमुक्त दशावयवम् । प्रयोग त्वेव वृद्धा दर्शयन्ति-अहिंसाऽऽदिलक्षणधर्मसाधका' साधव एव, स्थावरजङ्गमभूतोपरोधपरिहारित्वात, तदन्यैवंविधपुरुषवत् । विपक्षो दिगम्बरभिक्षुभौताऽऽदिवत् । इह ये स्थावरजङ्गमभूतोपरोधपरिहारिणस्ते उभयप्रसिद्धैवंविधपुरुषवदहिंसाऽऽदिलक्षणधर्मसाधका दृष्टा ।तथा च साधव स्थावरजङ्गमभूतोपरोधपरिहारिण इत्युपनय ; तस्मात्स्थावरजङ्गमभूतोपरोधपरिहारित्वात्ते अहिंसाऽऽदिलक्षणधर्मसाधका.साधव एव इति निगमनम्। पक्षाऽऽदिशुद्ध्यस्तु निर्दिशता

पत्रेति न प्रतन्यन्ते, एवमर्थाधिकारद्वयवशात्पञ्चावयवदशावयवाभ्यां वाक्याभ्यां व्याख्यातमध्ययनम् । दश० १ अ० ।

" पमिपुष्मधम्मविग्घ-त्तणेण इह अतरायविरगाओ ।
जीवा ण हुति नियमा, नो जत्तो तत्थ कायव्वो ॥
जत्र धम्माउ सोहग्ग धम्मेण हुति सयलरिद्धीओ ।
धम्मेण पवररूव, तत्तो सविग्गए भणिय ॥ "
दर्श० १ तत्त्व ।

" भद्दा सयल किरिय कुणति मुणिणो सिवत्थमेव सया ।
त पुण लब्भइ गयमय-वरागदोसेण धम्मेण ॥ १३ ॥
धम्मेण सरागेण उ, लब्भइ सग्गाइय फल सो वि ।
जायइ परपराए, नियमेण सुक्खहेउ त्ति ॥ १४ ॥
धम्माओ धणलाभो, त्ति ज पि वुत्त तय पि न हु जुत्त ।
सव्वो वि हु पुरिसत्थो, धम्माउ च्चिय जओ भणिया ॥१५॥"

उक्त च-

" धनदो धनार्थिनां धर्म, कामद सर्वकामिनाम ।
धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधक ॥ १६ ॥" ध० र० ।
" धर्मोऽय धनवल्लभेषु धनद कामार्थिनां कामद',
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रद किमथवा पुत्रार्थिनां पुत्रद ।
राज्यार्थिष्वपि राज्यद. किमपर नानाविकल्पैर्नृणा,
तत्किं यन्न ददाति किं च ननुते स्वर्गापवर्गावपि ॥५४॥ 'ध०र०।
" धर्माऽऽख्य पुरुषार्थोऽय, प्रधान इति गीयते ।
पापसक्त पशोस्तुल्य, धिग्धर्मरहित नरम् ॥ १ ॥ '
स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

(२२) धर्मस्य मोक्षकारणत्व यथा-

संखाय पेसल धम्म, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे ।
उवसग्गेऽहियासित्ता, आमोक्खाए परिव्वए ॥२२॥

सख्यायेति सम्यक् ज्ञात्वा स्वसमत्या, अन्यतो वा श्रुत्वा (पेसल त्ति)मोक्षगमन प्रत्यनुकूल, किं तद् ?, धर्म श्रुतचारित्राऽऽख्य, दृष्टिमान् सम्यक्दर्शनी, परिनिर्वृत इति कषायोपशमाच्छीतीभूत परिनिर्वृतकल्पो वा । उपसर्गाननुकूलप्रतिकूलान्, सम्यक् नियम्याधिसह्याऽऽमोक्षाय मोक्ष यावत् परि समन्ताद् व्रजेत् संयमानुष्ठानेन गच्छेदिति ॥ २२ । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

अपि च-

धम्मस्स य पारए मुणी, आरंभस्स य अतए ठिए ।
सोयति य णं ममाइणो, णो लब्भंति णियं परिग्गह ॥९॥

धर्मस्य श्रुतचारित्रभेदभिन्नस्य, पार गच्छतीति पारग सिद्धान्तपारगामी, सम्यक् चारित्राऽनुष्ठायी वेति । चारित्रमधिकृत्याऽऽह-आरम्भस्य सावद्यानुष्ठानरूपस्यान्ते पर्यन्ते तदभावरूपे, स्थितो मुनिर्भवति । ये पुनर्नैवं भवन्ति, ते अकृतधर्मा मरणे दु:खे वा समुपस्थिते आत्मान शोचन्ति । णमिति वाक्यालङ्कारे । यदि वा इष्टमरणाऽऽद्यावर्थनाशे वा (ममाइणो त्ति) ममेदमहमस्य स्वामीत्येवमध्यवसायिन शोचन्ति । शोचमाना अप्येते निजमात्मीय परि समन्ताद् गृह्यते आत्मसात्क्रियत इति परिग्रहो हिरण्याऽऽदिरिष्टस्वजनाऽऽदिर्वा, नष्ट मृत वा न लभन्ते न प्राप्नुवन्तीति । यदि वा धर्मस्य पारग मुनिमारम्भस्याऽन्ते व्यवस्थितमेनमागत्य स्वजना मातापित्रादय शोचन्ति ममत्वयुक्ताः स्नेहालव', न च ते लभन्ते निजमप्यात्मीयपरिग्रहबुद्ध्या गृहीतमिति । अत्रान्तरे नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-

" सोऊण तय उवट्ठिय, केइ गिही विग्घेण उट्ठिया ।
धम्ममिम अणुत्तरे मुणी, त पि जिणिज्ज इमेण पडिए ॥१॥ "
सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

किं चान्यत्-

जे धम्म सुद्धमक्खंति, पडिपुण्णमणेलिसं ।
अणेलिसस्स ज ठाणं, तस्स जम्मकहा कओ ? ॥१९॥

ये महापुरुषा वीतरागा करतलाऽऽमलकवत्सकलजगद्द्रष्टारस्त एवंभूता परहितैकरता शुद्धमवदात सर्वोपाधिविशुद्धम, धर्ममाख्यान्ति प्रतिपादयन्ति, स्वत समाचरन्ति च । प्रतिपूर्णमायतचारित्रसद्भावात्सपूर्ण यथाख्यातचारित्ररूप वा । अनीदृशमनन्यसदृश धर्ममाख्यान्त्युपतिष्ठन्ति । तदेवमनीदृशस्यानन्यसदृशस्य ज्ञानचारित्रोपेतस्य यत् स्थान सर्वद्वन्द्वोपरमरूप तदवाप्तस्य कुतो जन्मकथा-जातो मृतो वेत्येवरूपा कथा, स्वप्नान्तरेऽपि तस्य कर्मबीजाभावात् कुतो विद्यत इति । तथोक्तम-" दग्धे बीजे यथाऽत्यन्त, प्रादुर्भवति नाङ्कुर । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुर. " ॥ १ ॥ इत्यादि ॥ १९॥

किञ्चान्यत्-

कओ कयाइ मेधावी, उप्पज्जति तहागया ।
तहागया अप्पडिन्ना, चक्खू लोगस्सऽणुत्तरा ॥ २० ॥

कर्मबीजाभावात्कुत कस्मात्कदाचिदपि मेधाविनो ज्ञानाऽऽत्मकास्तथा पुनरावृत्त्याऽऽगतास्तथागता पुनरस्मिन् ससारेऽशुचिगर्भाधाने समुत्पद्यन्ते, न कथञ्चित्कदाचित्कर्मोपादानाभावादुत्पद्यन्त इत्यर्थ । तथा तथागतास्तीर्थकृद्गणधराऽऽदयो न विद्यन्ते प्रतिज्ञानिदानबन्धनरूपा येषा ते प्रतिज्ञानिदाना निराशसा. सत्त्वहितकरणोद्यता अनुत्तरज्ञानत्वादनुत्तर लोकस्य जन्तुगणस्य सदसदर्थनिरूपणकारणतश्चक्षुर्भूता हिताहितप्राप्तिपरिहार कुर्वन्त सकललोकलोचनभूतास्तथागता' सर्वज्ञा भवन्तीति ॥ २०॥ सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । (आपत्सु दृढधर्मेना योगसग्रहायेति ' आवई ' शब्दे द्वितीयभागे २४५ पृष्ठे गता) धर्माऽऽख्याने तु यथा पित्रादीनामुपकारस्तथा नान्यथा । '(लोगंतिय ' शब्दे चैव वक्ष्यते) केवलिप्रज्ञप्तधर्मस्य श्रवणता दुर्लभा । यतोऽवाचि-" सुलहा सग्गलोयसिरी, रयणायरमेहला मही सुलहा । निव्वुइसुहजणियरुई, जिणवयणसुई जए दुलहा ॥ १ ॥ " इति । श्रुतस्य वा श्रद्धानता दुर्लभा । उक्त च-" आहच्च सवणलद्धु सद्धा परमदुल्लहा । सोच्चा नेयाउय मग्ग, बहवे परिभस्सइ " ॥ १ ॥ इति । स्था० ६ ठा० ।

उक्त च--

" लब्भइ सुरसामित्त, लब्भइ पहुअत्तण न सदेहो ।
इक्को नवरि न लब्भइ, जिणिंदवरदेसिओ धम्मो ॥ १ ॥
धम्मो पवित्तिरूवो, लब्भइ कइयावि निरयदुक्खभया ।
जो निअवसुस्सहावो, सो धम्मो दुल्लहो लोए ॥ २ ॥
नियव त्थुधम्मसवण, दुल्लह वुत्त जिणिदआणा य ।
अतप्फासणमेग-च हुति केसिमवि धीराण ॥ ३ ॥ " अष्ट० २ अष्ट० ।

" एसो य असइ दोसा-सेवणओ धम्मवज्झचित्ताण ।
ता धम्मे जइयव्वं, सम्म सइ धीरपुरिसेहिं" ॥ १ ॥ इति ।
स्था० ६ ठा० ।

(२३) मनुजभवदुर्लभत्वमुक्त्वा तदवाप्तावप्युत्तरोत्तरगुणावाप्तिरति दुरापेवेत्याह-

अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे,
उत्तमधम्मसुती हु दुल्लहा ।
कुतित्थिणिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥
लद्धूण वि उत्तमं सुइं,
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।
मिच्छत्तणिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १९ ॥
धम्मं पि हु सद्दहतया,
दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहिं मुच्छिया,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २० ॥

कथञ्चिदहीनपञ्चेन्द्रियतामप्युक्तन्यायतोऽतिदुर्लभामपि स इति जन्तुर्लभेत प्राप्नुयात्, तथाऽप्युत्तम प्रधानो यो धर्मस्तस्य श्रुतिराकर्णना या सा तथा, दुरवधारणे, भिन्नक्रमश्च । ततो दुर्लभैव, किमिति ?, यतः कुत्सितानि च तानि तीर्थानि च कुतीर्थानि शाक्योलूकाऽऽदिप्ररूपितानि, तानि विद्यन्ते येषामनुष्ठेयतया स्वीकृतत्वात्ते कुतीर्थिनः, तान्नितरां सेवते य कुतीर्थिनिषेवको जनो लोकः, कुतीर्थिनो हि यश सत्काराऽऽद्यैषिणो यदेव प्राणिप्रिय विषयाऽऽदि, तदेवोपदिशन्ति, तत्तीर्थकृतामप्येवविधत्वात् । उक्तं हि-"सत्कारयशोलाभार्थिभिश्च मूढैरिहान्यतीर्थकरैः । अवसादितं जगदिदं, प्रियाण्यपथ्यान्युपदिशद्भिः ॥ १ ॥" इति सुकरैव तेषां सेवा, तत्सेवनाच्च कुत उत्तमधर्मश्रुति ?। पठ्यते च-"कुतित्थणिसेवए जणे" इति स्पष्टम् । एव तद्दुर्लभत्वमवधार्य समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । किं च-लब्ध्वाऽपि उत्तमधर्मविषयत्वादुत्तमां ता श्रुतिमुक्तरूपा, श्रद्धान तत्त्वरुचिरूप, (पुणरावि त्ति) पुनरपि दुर्लभं दुरापमपि । इहैव हेतुमाह-मिथ्याभावो मिथ्यात्वम्-अतत्त्वेऽपि तत्त्वप्रत्ययरूप, तन्निषेवते य स मिथ्यात्वनिषेवकः, जनो लोकोऽनादिभवाभ्यस्ततया गुरुकर्म्मतया च तत्रैव च प्राय' प्रवृत्ते । यत एवमत समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । अन्यच्च-धर्म्मं प्रक्रमात् सर्वज्ञप्रणीतम,अपिर्भिन्नक्रम । हुर्वाक्यालङ्कारे । तत श्रद्दधतोऽपि कर्तुमभिलषन्तोऽपि दुर्लभका' कायेन शरीरेण,उपलक्षणत्वान्मनसा वाचा च स्पर्शका अनुष्ठातारः । कारणमाह-इहास्मिन् जगति कामगुणेषु मूर्च्छिता मूढा, गृद्धिमन्त इत्यर्थः । जन्तव इति शेष । प्रायेण ह्यपथ्येष्वेव विषयेष्वभिष्वङ्ग प्राणिनाम्, यत उक्तम्-"प्रायेण हि यदपथ्य, तदेव चाऽऽतुरजनप्रियं भवति । विषयाऽऽतुरस्य जगत-स्तथाऽनुकूला प्रिया विषया ॥१॥" पाठान्तरम्-कामगुणैर्मूर्च्छिता इव मूर्च्छिताः विलुप्तधर्मविषयचैतन्यत्वात् यतश्चैवमतो दुरापामिमामविकला धर्मसामग्रीमवाप्य समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति । उत्त० पाई० १० अ० । स्था० ।

(२४) पर्यायच्युतस्यैहिक दोषमाह-

धम्माओ भट्ठं सिरिओववेअं,
जण्णग्गि विज्झायमिवऽप्पतेअं ।
हीलंति णं दुव्विहिअं कुसीला,
दाढुद्धिअं घोरविसं व नागं ॥ १२ ॥

धर्मात् श्रमणधर्मात , भ्रष्ट च्युत, श्रियाऽपपेत तपोलक्ष्म्या अपगत, यज्ञाग्निमग्निष्टोमानिल, विध्यातमिव यागावसानेऽल्पतेजसम, अल्पशब्दो भावतेज शून्य भस्मकल्पमित्यर्थ , हीलयन्ति कदर्थयन्ति, पतितस्त्वमिति पङ्क्त्याऽपसारणाऽऽदिना, एनमुन्निष्क्रान्त, दुर्विहितमुन्निष्क्रमणादेव दुष्टानुष्ठायिन, कुशीलास्तत्सङ्गोचिता लोका., स एव विशेष्यते-(दाढुद्धिय त्ति) प्राकृतशैल्या उद्धृतदंष्ट्रमुत्खातदंष्ट्र, घोरविषमिव रौद्रविषमिव, नाग सर्पं यज्ञाग्निसर्पोपमान, लोकनीत्या प्रधानभावादप्रधानभावव्यापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥१२॥

एवमस्य भ्रष्टशीलस्यैवतयैहिक दोषमभिधाय ऐहिकाऽऽमुष्मिकमाह--

इहेव धम्मो अयसो अकित्ती,
दुण्णामधिज्जं च पिहुज्जणम्मि ।
चुअस्स धम्माओ अहम्मसेविणो,
संभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गई ॥ १३ ॥

इहैवेहलोके एवाधर्म इत्ययमधर्मफलेन दर्शयति, यदुतायश अपराक्रमकृत न्यूनत्व, तथा-अकीर्तिरदानपुण्यफलप्रवादरूपा, तथा--दुर्नामधेय च 'पुराण' पतित.' इति कुत्सितनामधेय च । क्वेत्याह--पृथग्जने सामान्यलोकेऽप्यास्तां विशिष्टलोके, कस्येत्याह-च्युतस्य धर्मात्,उत्प्रव्रजितस्येति भावः । तथा-अधर्मसेविन कलत्राऽऽदिनिमित्त षट्कायोपमर्दकारिण ,तथा-संभिन्नवृत्तस्य भाखरमनीयखण्डितचारित्रस्य च क्लिष्टकर्मबन्धनात् अधस्ताद्गतिर्नरकेषूपपात इति सूत्रार्थ' ॥१३॥

अस्यैव विशेषप्रत्यपायमाह--

भुंजित्तु भोगाइँ पसज्झचेअसा,
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ।
गइं च गच्छे अणभिज्झिअं दुहं,
बोही अ से नो सुलभा पुणो पुणो ॥ १४ ॥

स उत्प्रव्रजितो भुक्त्वा भोगान् शब्दाऽऽदीन्, प्रसह्यचेतसा धर्मनिरपेक्षतया प्रकटेन चित्तेन, तथाविधमज्ञोचितधर्मफल, कृत्वाऽभिनिर्वृत्य, असयम कृष्याद्यारम्भरूप,बहुमसन्तोषात् प्रभूत,स तथा भूतो मृत सन्, गतिं च गच्छत्यनभिध्यातां अनिध्यातां, इष्टानिष्टामित्यर्थ । काचित् सुखाऽप्येवभूता भवत्यत आह-दु खां प्रकृत्यैवासुन्दरा दु खजननीं, बोधिश्चासौ जिनधर्मप्राप्तिश्चास्योन्निष्क्रान्तस्य न सुलभा पुन पुन' प्रभूतेष्वपि जन्मसु दुर्लभैव, प्रवचनविराधकत्वादिति सूत्रार्थ ॥ यस्मादेव तस्मादेव तद्दुत्पन्नदु खोऽप्येतदनुचिन्त्य नोत्प्रव्रजेदित्याह-

इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो,
दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो ।

पलिओवमं छिज्जइ सागरोवमं,
किमंग ! पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥ १५ ॥

अस्य तावदित्यात्मन एव निर्देशः, नारकस्य जन्तोः, नरकमनुप्राप्तस्येत्यर्थः । दुःखोपनीतस्य सामीप्येन प्राप्तदुःखस्य, क्लेशवृत्तेः एकान्तक्लेशवेष्टितस्य सतो, नरक एव पल्योपमं क्षीयते, सागरोपमं च यथाक्रममप्रत्ययम्, किमङ्ग ! पुनर्ममेदं संयमारतिनिष्पन्नं मनोदुःखं तथाविधक्लेशरहितम्, एतत् क्षीयत एवैतत्चिन्तनेन नोत्प्रव्रजितव्यमिति सूत्रार्थः ॥१५॥

विशेषेणैतदेवाऽऽह-

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई,
असासया भोगपिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणऽवस्सई,
अवस्सई जीविअपज्जवेण मे ॥ १६ ॥

न मम चिरं प्रभूतं कालं दुःखमिदं संयमारतिलक्षणं भविष्यति । किमित्यत आह-अशाश्वती प्रायो यौवनकालावस्थायिनी, भोगपिपासा विषयतृष्णा, जन्तोः प्राणिनः । अशाश्वतीत्वे एव कारणान्तरमाह-न चेच्छरीरेणानेनापयास्यति न यदि शरीरेणानेन करणभूतेन वृद्धस्यापि सतोऽपयास्यति, तथाऽपि किमाकुलत्वं यतोऽपयास्यति जीवितपर्यायेण जीवितस्यापगमेन, मरणेनेत्येवं निश्चितं स्यादिति सूत्रार्थः ॥१६॥

अस्यैव फलमाह-

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिआ,
उवेंति वाया व सुदंसणं गिरिं ॥ १७ ॥

यस्येति साधोः, एवमुक्तेन प्रकारेण, आत्मा, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् आत्मैव, भवेन्निश्चितो दृढः, स त्यजेद्देहं कदाचिद्विघ्ने उपस्थिते, न तु धर्मशासनं न पुनर्धर्मज्ञानमिति, तं तादृशं धर्मनिश्चितं, न प्रचालयन्ति संयमस्थानान्न कम्पयन्तीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि । निदर्शनमाह-उत्पतद्वाता इव संपातपवना इव सुदर्शनं गिरिं मेरुम् । एतदुक्तं भवति-यथा मेरुं वाता न चालयन्ति तथा तमपीन्द्रियाणीति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥

उपसंहरन्नाह-

इच्चेव संपस्सिअ बुद्धिमं नरो,
आयं उवायं विविहं विआणिआ ।
काएण वाया अदु माणसेणं,
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिज्जासि ॥१८॥

इत्येवमध्ययनोक्तं दुष्प्रजीवित्वाऽऽदि सम्प्रेक्ष्याऽऽदित आ... यथावद् दृष्ट्वा बुद्धिमान्नरः सम्यक् बुद्ध्युपेतः, आयमुपायं विविधं विज्ञाय, आयः सम्यग्ज्ञानाऽऽदेः, उपायस्तत्साधनप्रकारः कालविनयाऽऽदिर्विविधोऽनेकप्रकारस्तं ज्ञात्वा, किमित्याह-कायेन, वाचा, अथ-मनसा, त्रिभिरपि करणैर्यथाप्रवृत्तैः त्रिगुप्तिगुप्तः सन् जिनवचनमर्हदुपदेशमधितिष्ठेत् यथाशक्ति तदुक्तैकक्रियापालनपरो भूयात्, भवाय सिद्धौ ततो मुक्तिसिद्धेरिति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ दश० १ चू० ।

(२५) किमभिसन्धय धर्ममाचक्षीतेति दर्शयति-

दयं लोगस्स जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे विभए किट्टे वेदवी मे उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए संतिं विरतिं उवसमं णिव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणइवत्तिय सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा ।

दयां कृपां लोकस्य जन्तुलोकस्योपरि द्रव्यतो ज्ञात्वा, क्षेत्रतः प्राचीनं, प्रतीचीनं दक्षिणमुदीचीनम्, अपरानपि दिग्विभागान् निरीक्ष्य सर्वत्र दयां कुर्वन् धर्ममाचक्षीत, कालतो यावज्जीवं, भावतोऽरक्तोऽद्विष्टः; कथमाचक्षीत ? । तद्यथा-सर्वे जन्तवो दुःखद्विषः सुखलिप्सव आत्मोपमया सदा द्रष्टव्या इति । उक्तं च "तत्परस्य संदध्यात्-प्रतिकूलं यदात्मनः । एष सङ्ग्रहिको धर्मः, कामादन्यत् प्रवर्तते ॥ १ ॥" इत्यादि । तथा धर्ममाचक्षाणो विभजेद् द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदैराक्षेपिण्यादिकथाविशेषैर्वा प्राणातिपातमृषावादादत्ताऽऽदानमैथुनपरिग्रहरात्रिभोजनविरतिविशेषैर्वा धर्मं विभजेत्, यदि वा कोऽयं पुरुषः कं नतो देवताविशेषमभिगृहीतोऽनभिगृहीतो वा एवं विभजेत्, तथा कीर्तयेद् व्रतानुष्ठानफलं, कोऽसौ कीर्तयेद् ?, वेदवित् आगमविदिति । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-" जे खलु भिक्खू बहुस्सुए बज्झागमे आहरणहेउकुसले धम्मकहालद्धिसंपन्ने खेत्तं कालं पुरिसं समासज्ज कहेइ पुरिसे के वा दरिसणमभिसपन्नो एवं गुणजातीए पभू धम्मस्स आघवित्तए । " इति कण्ठ्यम् । स पुनः केषु निमित्तभूतेषु कीर्तयेदित्याह-(से उट्ठिएसु वा इत्यादि) स आगमवित् स्वसमयपरसमयज्ञ उत्थितेषु वा भावोत्थानेन यतिषु, वाशब्द उत्तरपेक्षया पक्षान्तरद्योतकः । पार्श्वनाथशिष्येषु चतुर्यामोत्थितेष्वेव, वर्द्धमानतीर्थाऽऽचार्याऽऽदिः पञ्चयामं धर्मं प्रवेदयेदिति स्वशिष्येषु वा सदोत्थितेष्वज्ञानज्ञापनाय धर्मं प्रवेदयेदिति । अनुत्थितेषु वा श्रावकाऽऽदिषु शुश्रूषमाणेषु धर्मं श्रोतुमिच्छत्सु गुर्वादेः पर्युपासनं कुर्वत्सु वा संसारोत्तरणाय धर्मं प्रवेदयेत् । तत्किंभूतं प्रवेदयेदित्याह-"संतिं" इत्यादि, यावत् " भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा " शमनं शान्तिरहिंसेत्यर्थः । तामाचक्षीत, तथा विरतिम्, अनेन च मृषावादाऽऽदिशेषव्रतसङ्ग्रहः । तमुपशमं क्रोधजयाद् अनेन चोत्तरगुणसङ्ग्रहः, तथा निर्वृतिर्निर्वाणं मूलगुणोत्तरगुणयोरैहिकाऽऽमुष्मिकफलभूतमाचक्षीत । तथा, शौचं सर्वोपाधिशुचित्वं निर्व्याजव्रतधारणं, तथा आर्जवं मायावक्रतापरित्यागात्, तथा मार्दवं मानस्तब्धतापरित्यागात्, तथा लाघवं सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थिपरित्यागात् । कथमाचक्षीतेति दर्शयति-अनतिपत्य । यथावस्थितं वस्त्वागमाभिहितं, तथाऽनतिक्रम्येत्यर्थः, केषां कथयति ?, सर्वेषां प्राणिनां, दशविधा प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिनस्तेषां सामान्यतः संक्षिप्तेन्द्रियाणां, तथा सर्वेषां भूतानां मुक्तिगमनयोग्येन भव्यत्वेन भूतानां व्यवस्थितानां, तथा सर्वेषां जीवानां जिजीविषूणां च, तथा सर्वेषां सत्त्वानां तिर्यङ्नरामराणां संसारे क्लिश्यमानतया करुणाऽऽस्पदानाम्, ए-

कार्थिकानि चैतानि प्राणाऽऽदीनि वचनानीत्यतस्तेषां क्षान्त्यादिकं दशविधं धर्मं यथायोगं प्राणुपन्यस्तं शान्त्यादिपदाभिहितमनु विचिन्त्य स्वपरोऽथ भिक्षणशीलो भिक्षुर्धर्मकथालब्धिमानाचक्षीत प्रतिपादयेदिति ।

यथा च धर्मं कथयेत्तदाह-

अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताणं आसाइज्जा, णो परं आसाएज्जा, णो अण्णाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं आसाएज्जा, से अणासायए अणासायमाणे वज्झमाणाणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे, एवं से सरणं भवति महामुणी ।

" अणुवीइ भिक्खू " इत्यादि यावत् " सरणं भवति महामुणि त्ति"। स भिक्षुर्मुमुक्षुरनुविचिन्त्य पूर्वापरेण धर्मं पुरुषं वाऽऽलोच्य यो यस्य कथनयोग्यस्तं धर्ममाचक्षाण, आङिति मर्यादायां, यथाऽनुष्ठानं सम्यग्दर्शनाऽऽदेः शातना आशातना, तमात्मानं नो आशातयेत्, तथा धर्ममाचक्षीत, यथाऽऽत्मन आशातना न भवेत् । यदि वा आत्मन आशातना द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यतो यथाऽऽहारोपकरणाऽऽदेर्द्रव्यस्य कालातिपाताऽऽदिकृताऽऽशातना बाधा न भवति तथा कथयेत्, आहाराऽऽदिद्रव्यवा यथा च शरीरस्यापि पीडाभावाऽऽशातनारूपा स्यात्, कथयतो वा यथा गात्रभङ्गरूपा भावाऽऽशातना न तस्य स्यात्तथा कथयेदिति । तथा न परं शुश्रूषुराशातयेत्, यतः परो हीलनया कुपितः सन्नाहारोपकरणशरीरान्यतरपीडायै प्रवर्तेताऽतस्तदाशातनां वर्जयन् धर्मं ब्रूयादिति । तथा नान्यान् वा सामान्येन प्राणिनो भूतान् जीवान् नो आशातयेद् बाधयेत्, वदेव स मुनिः स्वतोऽनाशातकैरनाशातयन् तथा परानाशातयतोऽननुमन्यमानोऽपरेषां वध्यमानानां प्राणिनां भूतानां सत्त्वानां जीवानां यथा पीडा नोत्पद्यते तथा धर्मं कथयेदिति । तद्यथा यदि लौकिककुप्रावचनिकपार्श्वस्थाऽऽदिदानानि प्रशंसत्यवटतडागाऽऽदीनि वा, ततः पृथिवीकायाऽऽदयो व्यापादिता भवेयुः, अथ दूषयति-ततोऽपरेषामन्तरायाऽऽपादनेन तत्कृतो बन्धविपाकानुभवः स्यात् । उक्तं च-" जे उ दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं । जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥१॥" तस्मात्तदवटतडागाऽऽदिविधिप्रतिषेधव्युदासेन यथाऽवस्थितं दानं शुद्धं प्ररूपयेत्सावद्यानुष्ठानं चेति । एवं च कुर्वन्नुभयदोषपरिहारी जन्तूनामाश्वासभूमिर्भवतीत्येतद् दृष्टान्तद्वारेण दर्शयति-यथाऽसौ द्वीपोऽसंदीनः शरणं भवत्येवमसावपि महामुनिः तद्रक्षणोपायोपदेशतो वध्यमानानां वधकानां च तदध्यवसायान्निवर्तने, न विशिष्टगुणस्थानाऽऽपादनाच्छरण्यो भवति । तथाहि-यथोद्दिष्टेन कथाविधानेन धर्मकथां कथयन् काँश्चन प्रव्राजयति, काँश्चन श्रावकान्विधत्ते, काँश्चन सम्यग्दर्शनयुतान् करोति, केषाञ्चित्प्रकृतिभद्रतामापादयति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

किञ्चान्यत्-

सयं समेच्चा अदुवा वि सोच्चा,
भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं ।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा,
ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥ १९ ॥

स्वयमात्मना परोपदेशमन्तरेण समेत्य ज्ञात्वा चतुर्गतिकं संसारं, तत्कारणानि च मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपाणि, तथाऽशेषकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं, तत्कारणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, एतत्सर्वं स्वतः एवावबुद्ध्यान्यस्माद्वाऽऽचार्याऽऽदेः सकाशात् श्रुत्वाऽन्यस्मै मुमुक्षवे धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं भाषेत । किंभूतम्?, प्रजायन्त इति प्रजाः स्थावरजङ्गमा जन्तवः, तेभ्यो हितं सदुपदेशदानात् सर्वोपकारिणं धर्मं ब्रूयादिति । उपादेयं प्रदर्श्य हेयं प्रदर्शयति--ये गर्हिता जुगुप्सिता मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः कर्मबन्धहेतवः, सह निदानेन वर्तन्त इति सनिदानाः, प्रयुज्यन्त इति प्रयोगा व्यापाराः, धर्मकथाप्रबन्धा वा ममास्मात्सकाशात्पूजालाभसत्काराऽऽदिकं भविष्यतीत्येवंभूतनिदानाऽऽशंसारूपांस्तांश्चारित्रविघ्नभूतान् महर्षयः सुधीरधर्माणो न सेवन्ते नानुतिष्ठन्ति । यदि वा-ये गर्हिताः सनिदाना वाक्प्रयोगाः, तद्यथा-कुतीर्थिकाः सावद्यानुष्ठानाविरता निःशीला अनिर्वृताः कुटिलवेण्टलकारिण इत्येवंभूतान् परदोषोद्घाटनया मर्मवेधिनः, सुधीरधर्माणो वाक्कण्टकान् न सेवन्ते न ब्रुवत इति ॥ १९ ॥

किं चान्यत्-

केसिंचि तक्काइ अबुज्झ भावं,
खुद्दं पि गच्छेज्ज असद्दहाणे ।
आउस्स कालाइचरं वघाए,
लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥ २० ॥

केषाञ्चिन्मिथ्यादृष्टीनां कुतीर्थिकभावितानां स्वदर्शनाग्राहिणां, तर्कया वितर्केण स्वमतिपर्यालोचनेन, भावमभिप्रायं दुष्टान्तःकरणवृत्तित्वमबुद्ध्वा कश्चित्साधुः श्रावको वा स्वधर्मस्थापनेच्छया तीर्थिकतिरस्कारप्रायं वचो ब्रूयात्, स च तीर्थिकस्तद्वचोऽश्रद्दधानोऽरोचयन्नप्रतिपाद्यमानोऽतिकटुकं भावयेत्, क्षुद्रत्वमपि गच्छेद्विरूपमपि कुर्यात्, पालकपुरोहितवत् स्कन्दकाऽऽचार्यस्येति । क्षुद्रत्वगमनमेव दर्शयति-स निन्दावचनकुपितोऽपि वक्तुर्यदायुस्तस्याऽऽयुषो व्याघातरूपं परिक्षयस्वभावं कालातिचारं दीर्घस्थितिकमप्यायुः संवर्तेत । एतदुक्तं भवति-धर्मदेशना हि पुरुषविशेषं ज्ञात्वा विधेया । तद्यथा-कोऽयं पुरुषो राजाऽऽदिः कञ्चन देवताविशेषं गतः कतरद्वा दर्शनमाश्रितोऽभिगृहीतोऽनभिगृहीतो वाऽयमित्येवं सम्यक् परिज्ञाय यथार्हं धर्मदेशना विधेया । यश्चैतदबुद्ध्वा किञ्चिद्धर्मदेशनाद्वारेण परविरोधकृद्वचो ब्रूयात् स परस्मादैहिकाऽऽमुष्मिकयोर्मरणाऽऽदिकमपकारं प्राप्नुयादिति । यत एव ततो लब्धमनुमानं येन पराभिप्रायपरिज्ञाने स लब्धानुमानः परेषु प्रतिपाद्येषु यथायोगं यथार्हप्रतिपत्त्याऽर्थान् सद्धर्मप्ररूपणाऽऽदिकान् जीवाऽऽदीन् स्वपरोपकाराय ब्रूयादिति ॥ २० ॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

से भिक्खू मायण्णे अन्नयरं दिसं अणुदिसं वा पडिवन्ने धम्मं आइक्खे विभए किट्टे उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए संतिविरतिं उवसमं निव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवातियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं०जाव सत्ताणं अणुवाइं किट्टिए धम्मं ॥ ५७ ॥

स भिक्षुराहारोपधिशयनस्वध्यायाऽऽदीनां मात्रां जानातीति तद्विधिज्ञः सन् अन्यतरां दिशमनुदिशं वा प्रतिपन्नः समाश्रितो धर्ममाख्यापयेत्, यद्यत्र विधेयस्तद्यथा-भोग विभजेत्कर्मफलानि च कीर्तयेदाविर्भावयेत, तच्चैकार्थप्रवृत्तेन साधुना स्वगुरुपास्थितेषु वा कौतुकाऽऽदिप्रवृत्तेषु शुश्रूषमाणेषु श्रोतु प्रवृत्तेषु स्वपराभिप्राय वेदयेद्वानेदयेत्प्रकथयेदेति यावत् । श्रोतुमुपस्थितेषु यत्कथयेत्तद्दर्शयितुमाह-(संतिविरइ इत्यादि) शान्तिरुपशमः क्रोधजयस्तत्प्रधाना प्राणातिपातिन्यो विरतिः शान्तिविरति । यदि वा-शान्तिरशेषक्लेशापगमरूपा तस्यैतदर्थं विरतिस्तां कथयेत्, तथोपशममिन्द्रियोपशमरूप रागद्वेषाप्रावजनितम् । तथा-निर्वृतिं निर्वाणमशेषद्वन्द्वोपरमरूप, तथा (सोयवियं ति) शौच, तदपि भावशौच, सर्वोपाधिशुद्धता मनामालिन्यम् । (अज्जवियं ति) आर्जवममायित्व, तथा-मार्दव मृदुभाव सर्वत्र प्रश्रयवत्त्व विनयनम्रतेति यावत । तथा-(लाघवियं ति) कर्मणां लाघवाऽऽपादन कर्मगुरोर्वाऽऽत्मनः कर्मापनयनतो लघ्ववस्थासजननम् । साम्प्रतमुपसहारद्वारेण सर्वशुभानुष्ठानाना मूलकारणमाह-अतिपतनमतिपात प्राणगुपमर्दन, तद्विद्यते यस्यासावतिपातिकस्तत प्रतिषेधादनतिपातिकस्त, सर्वेषां प्राणिनां भूतानां यावत्सत्त्वानां धर्ममनुविचिन्त्य वा कीर्तयेत्कथयेत् । इदमुक्त भवति-सर्वप्राणिनां रक्षाभूतं धर्मं कथयेदिति ॥ ४७ ॥

साम्प्रत धर्मकीर्तन यथानिरूपितमधिभवति तथा दर्शयितुमाह-

से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउ धम्ममाइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउ धम्ममाइक्खेज्जा, णो लेणस्स हेउ धम्ममाइक्खेज्जा, णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो अन्नेसिं विरूवरूवाण कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा, नन्नत्थ कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा ॥ ४८ ॥

स भिक्षुः परकृतपरिनिष्ठिताऽऽहारभोजी यथाक्रियाकलाऽनुष्ठायी शुश्रूषन् सुधर्मं कीर्तयन्नान्नस्य हेतोर्ममायमीश्वरो धर्मकथाप्रश्रवणे विशिष्टमाहारजात दास्यतीति, एतन्निमित्त न धर्ममाचक्षीत, तथा पानवस्त्रलयनशयननिमित्त न धर्ममाचक्षीत। नान्येषां विरूपरूपाणामुच्चावचानां कार्याणां कामभोगाना वा निमित्तं तथा धर्ममाचक्षीत, ग्लानिमुपगच्छन् न धर्ममाचक्षीत। कर्मनिर्जरायाश्चान्यत्र न धर्मं कथयेदपरप्रयोजननिरपेक्ष एव धर्मं कथयेदिति ॥ ४८ ॥

धर्मकथाश्रवणफलप्रदर्शनद्वारेणोपसजिघृक्षुराह-

इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया जे ते एवं सव्वोवगता ते एव सव्वोवरता ते एव सव्वोवसंता ते एव सव्वताए परिनिव्वुडे त्ति बेमि ॥ ४९ ॥

इहास्मिन् जगति, खलुर्वाक्यालङ्कारे । तस्य भिक्षोर्गुणवतोऽन्तिके समीपे पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं धर्मं श्रुत्वा निशम्यावगम्य सम्यगुत्थानेनोत्थाय वी(धी)रा कर्मविदारणसहिष्णवो, ये चैवंभूतास्ते एव पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टानुष्ठानतया सर्वस्मिन्नपि मोक्षकारणसम्यग्दर्शनाऽऽदिके उप सामीप्येन गता. सर्वोपगतास्तथैव सर्वेभ्य उपरता. सर्वोपरता., तथा त एव सर्वोपशान्ता जिनकषायतया शीतीभूताः, तथा एव सर्वाऽऽत्मतया सर्वसामर्थ्येन सदनुष्ठानेनोद्यम कृतवन्तो, ये चैवभूतास्तेऽशेषकर्मक्षय कृत्वा परि समन्तान्निर्वृत्ता अशेषकर्मक्षय कृतवन्त इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ४९ ॥ सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

(२६) इह भवजलधिनिमग्नसत्त्वाभ्युज्जिहीर्षयाऽभ्युद्यतेन स्वहितसपादननिपुणेन गुरुलाघवचिन्तावता प्रश्नार्थव्याकरणसमर्थेन विदुषा सद्धर्मपरीक्षाया यत्नो विधेय , सा च परीक्षकमन्तरेण न सम्भवति, तदविनाभावित्वात्परीक्षाया ,सद्धर्मपरीक्षकाऽऽदिभावप्रतिपादनार्थं च अष्टर्यापोडशाधिकारप्रतिबद्ध प्रकरणमारेभे हरिभद्रसूरि , तस्य चाऽऽदावेव प्रयोजनाभिधेयसम्बन्धप्रतिपादनार्थमिदमार्थ्यासूत्र जगाद-

प्रणिपत्य जिनं वीरं, सद्धर्मपरीक्षकाऽऽदिभावानाम् ।
लिङ्गाऽऽदिभेदतः खलु, वक्ष्ये किञ्चित्समासेन ॥१॥

प्रणिपत्य नमस्कृत्य, जिनं जितरागद्वेषमोह सर्वज्ञं वीरं सदेवमनुष्यासुरलोके श्रमणो भगवान् महावीर इत्यागमप्रसिद्धनामानमनेनेष्टदेवतास्तवद्वारेण मङ्गलमाह । सद्धर्मपरीक्षकाऽऽदिर्विधो वक्ष्यमाणस्तदाद्यो ये भावास्तेषां किञ्चिदित्यस्य स्वरूपमात्राभिधायित्वाल्लेश वक्ष्ये लिङ्गाऽऽदिभेदत खल्विति लिङ्गवृत्ताऽऽदिविशेषप्रतिपादनद्वारेण यद्यप्यपरैरेव पूर्वाचार्यैः सद्धर्मपरीक्षाऽऽदयो भावा. स्फुटमेवाभिहितास्तथाऽप्यहं समासेनैवाभिधास्यामीति (१) ॥

सद्धर्मपरीक्षकस्य त्रिविधस्य व्यापारमुपदर्शयति-

बालः पश्यति लिङ्गं, मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तम् ।
आगमतत्त्वं तु बुधः, परीक्षते सर्वयत्नेन ॥ २ ॥

बालो विशिष्टविवेकविकलो लिङ्ग वेषमाकार बाह्य पश्यति, प्रधानेन धर्मार्थिनोऽपि तस्य तत्रैव भूयसा रुचिप्रवृत्ते । मध्यमबुद्धिर्मध्यमविवेकसपन्नो, विचारयति मीमांसते, वृत्त वक्ष्यमाणस्वरूप प्राधान्येन समाश्रयति, तत्रैवाभिलाषत्वात् । आगमतत्त्व त्वागमपरमार्थमैदंपर्यरूप, बुधो विशिष्टविवेकसपन्न, परीक्षते समीचीनमवलोकयति । सर्वयत्नेन सर्वाऽऽदरेण धर्माधर्मव्यवस्थाया आगमनिबन्धनत्वात् । यत उक्तम्-" धर्माधर्मव्यवस्थाया , शास्त्रमेव नियामकम । तदुक्ताऽऽसेवनाद्धर्म-स्त्वधर्मस्तद्विपर्ययात ॥ १ ॥ " ॥ २ ॥

इदानीं पूर्वोक्ताना बालाऽऽदीनामेव लक्षणमाह-

बालो ह्यसदारम्भो, मध्यमबुद्धिस्तु मध्यमाऽऽचारः ।
ज्ञेय इह तत्त्वमार्गे, बुधस्तु मार्गानुसारी यः ॥ ३ ॥

बालो हि पूर्वोक्त. असत्रसुन्दर आरम्भोऽस्येत्यसदारम्भोऽविद्यमान वा यदागमे क्वचिद्विहित नदारम्भन इत्यसदारम्भः, न सदा न सर्वदा स्वशक्तिकाऽऽद्यपेक्ष आरम्भोऽस्येति वा, मध्यमबुद्धिस्तु पूर्वोक्तो मध्यमाऽऽचार आगमैदंपर्यविकलत्वात् प्रावचनिककार्यप्रवृत्ते ज्ञेय इह प्रक्रमे तत्त्वमार्गे परमार्थमार्गे प्रवचनोक्त-

तिनिमित्ते, बुधस्तूक्तलक्षण एव मार्गानुसारी ज्ञानाऽऽदित्रयानुसारी स्वपरयोस्तद्वृद्धिहेतुत्वेन यः स विज्ञेय इति ॥ ३ ॥

कथं पुनर्बाह्यलिङ्गप्राधान्यदर्शिनो बालत्वमित्याह-

बाह्यं लिङ्गमसारं, तत्प्रतिबद्धा न धर्मनिष्पत्तिः ।
धारयति कार्यवशतो, यस्माच्च विडम्बकोऽप्येतत् ॥ ४ ॥

बाह्यं बहिर्वर्त्ति दृश्यम्, लिङ्गमाकारो वेषस्तदसारम् । यत-स्तत्प्रतिबद्धा तदविनाभाविनी, न धर्मनिष्पत्तिर्न धर्मसिद्धिर्विदुषां मता । धारयति कार्यवशात् कार्याङ्गीकरणेन स्वाभिप्रेतफलसिद्धये, यस्माच्च विडम्बकोऽप्येतत्कर्मनिष्पत्त्यभावविवक्षया यस्माच्चेति हेत्वन्तरसूचनम् । एको हेतुर्बाह्यलिङ्गाद्धर्मनिष्पत्तेरभावो, द्वितीयस्तु कुतश्चिन्निमित्ताद्विडम्बकस्याऽपि तद्धारणमतस्तद् बाह्यलिङ्गमसारम् । स तु बालस्तदेव प्राधान्येन मन्यत इति ॥ ४ ॥

ननु च बाह्यलिङ्गस्य कथमप्राधान्यं भवद्भिरुच्यते, यतस्तत्परिग्रहत्यागरूपमित्याशङ्क्याऽऽह-

बाह्यग्रन्थत्यागात्, न चारु न त्वत्र तदितरस्यापि ।
कञ्चुकमात्रत्यागा-न्न हि भुजगो निर्विषो भवति ॥५॥

(बाह्येत्यादि) बाह्यग्रन्थत्यागाद्धनधान्यस्वजनवस्त्राऽऽदित्यागात् न चारु न शोभनं बाह्यलिङ्गं, ननु निश्चितमेतदत्र लोके । तद् बाह्यलिङ्गमितरस्यापि मनुष्यतिर्यक्प्रभृतेः संभवति । एनमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया दर्शयति-कञ्चुकमात्रत्यागादुपरिवर्तित्वङ्मात्रपरित्यागान्न हि नैव भुजगः सरीसृपः कथञ्चिन्निर्विषो भवति ॥ ५ ॥

प्रस्तुतमेवार्थं तन्त्रान्तरसंवादेनाऽऽह-

मिथ्याऽऽचारफलमिदं, ह्यपरैरपि गीतमशुभभावस्य ।
सूत्रेऽप्यविकलमेत-त्प्रोक्तममेध्योत्करस्यापि ॥ ६ ॥

मिथ्या अलीको विशिष्टभावशून्य आचारो मिथ्याऽऽचारः, तस्य फलं कार्यमिदं बाह्यलिङ्गं केवलमेव, हिर्यस्मादपरैरपि तन्त्रान्तरीयैर्गीतं कथितमशुभभावस्याऽन्तःशुभभावरहितस्य पुंसः । मिथ्याऽऽचारस्वरूपं चेदम्-"बाह्येन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याऽऽचारः स उच्यते ॥ १ ॥" जन्मान्तरोपार्जिताकुशलकर्मविपाक एवैष यद्भोगोपभोगाऽऽदिरहितेन प्रेक्षावत्पुरुषपरिनिन्दनीयं क्लिष्टं जीविकाप्रायं तथाविधबाह्यलिङ्गधारणमिति । तन्त्रान्तरप्रसिद्धमिममर्थमङ्गीकृत्यापरैरपि इत्युक्तम् । न केवलं तन्त्रान्तरेषु, सूत्रेऽस्मदागमेऽपि स्वकीयेऽविकलं परिपूर्णमेतद् बाह्यलिङ्गं स्वकीयमेव प्रोक्तं प्रतिपादितमेतद्भाविकपारभाविकलिङ्गान्याश्रित्यामेध्योत्करस्याप्युच्चारनिकरकल्पस्यापि, प्रवचनोदिताशेषगुणशून्यस्येति यावत् । यत उक्तम्-"अणतसो दव्वलिंगाइं ।" ॥ ६ ॥

मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तमित्युक्तं तत्र किं तदित्याह-

वृत्तं चारित्रं खल्व-सदारम्भविनिवृत्तिमत्तच्च ।
सदनुष्ठानं प्रोक्तं, कार्ये हेतूपचारेण ॥ ७ ॥

वृत्तं वर्त्तनं विधिप्रतिषेधरूपं, तच्च चारित्रमेव, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, तच्चेह सदनुष्ठानं प्रोक्तम् । तत्कीदृशम् ?, असदारम्भविनिवृत्तिमत्, असदारम्भोऽशोभनाऽऽरम्भः प्राणातिपाताऽऽद्याश्रवपञ्चकरूपः, ततो विनिवृत्तिमदहिंसाऽऽदिनिवृत्तिरूपमहिंसाऽऽद्यात्मकम्, ननु कथं सदनुष्ठानं चारित्रमभिधीयते । यतश्चारित्रमान्तरपरिणामरूपम्, सदनुष्ठानं तु बाह्यसत्क्रियारूपं, तदनयोः स्वरूपभेदः परिस्फुट एवास्तीत्याशङ्क्याऽऽह-कार्ये हेतूपचारेण कार्ये सदनुष्ठानरूपे हेतूपचारेण भावोपचारेण तत्पूर्वकत्वात् सत्क्रियायाः, यच्चाऽऽन्तरपरिणामविकलं तत् सदनुष्ठानमेव न भवतीति भावार्थः ॥ ७ ॥

एतच्च सदनुष्ठानं शुद्धाशुद्धभेदं तद्द्वयमप्याह-

परिशुद्धमिदं नियमा-दान्तरपरिणामतः सुपरिशुद्धात् ।
अन्यदतोऽन्यस्मादपि, बुधविज्ञेयं त्वचारुतया ॥ ८ ॥

परिशुद्धं सर्वप्रकारशुद्धमिदं सदनुष्ठानं नियमान्नियमेनान्तरपरिणामतस्तथाविधचारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमाऽऽदिजन्यात् सुपरिशुद्धाच्छास्त्रानुसारेण सम्यक्त्वज्ञानमूलादिति भावः । अन्यदित्यपरिशुद्धमतोऽन्यस्मादान्तरपरिणामाद्योऽन्यः कश्चिद्धेतुर्लाभपूजाख्यात्यादिस्ततोऽन्यस्मादपि प्रवर्त्तते । ननु परिशुद्धाऽपरिशुद्धयोः सदनुष्ठानयोः स्वरूपं तुल्यमेवोपलभामहे, तत्कथं प्रतिनियतस्वरूपतया ज्ञायत इत्याह-(बुधविज्ञेयं त्वचारुतया) बुधैस्तत्त्वविद्भिरेवाचारुतया असुन्दरत्वेनेतररूपविविक्तं तद्विज्ञायते, यथा-अचार्विति न पुनरितरैस्तेषां तद्गतविशेषानुपलम्भादिति ॥ ८ ॥

कः पुनर्विशेषो यदुपलम्भात् सदनुष्ठानासदनुष्ठानयोरिदमवधार्यते, परिशुद्धमेतदिति
तदुपदर्शनार्थमाह-

गुरुदोषाऽऽरम्भितया, तेष्वकरणयत्नतो निपुणधीभिः ।
सन्निन्दाऽऽदेश्च तथा, ज्ञायत एतन्नियोगेन ॥ ९ ॥

गुरून् दोषान् प्रवचनोपघातकारिण आरब्धुं शीलमस्येति गुरुदोषाऽऽरम्भी, तद्भावस्तया । लघुषु सूक्ष्मेषु दोषेष्वकरणयत्नः परिहाराऽऽदरस्तस्माच्च निपुणधीभिः कुशलबुद्धिभिस्तथा सतां सत्पुरुषाणां साधुश्रावकप्रभृतीनां निन्दाऽऽदिर्निन्दागर्हाप्रद्वेषाऽऽदिस्तस्माच्च ज्ञायत एतदपरिशुद्धानुष्ठानं, नियोगेनाऽऽवश्यतया, यो हि गुरुदोषाऽऽदिषु प्रवर्त्तते, तस्यान्तःकरणशुद्धेरभावादसदनुष्ठानमेतदिति निश्चीयते ॥ ९ ॥

"आगमतत्त्वं तु बुधः परीक्षते (२)" इत्युक्तं किंपुनस्तदित्याह-

आगमतत्त्वं ज्ञेयं, तद्दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्यतया ।
उत्सर्गाऽऽदिसमन्वित-मलमैदम्पर्यशुद्धं च ॥ १० ॥

आगमतत्त्वं ज्ञेयं भवति, तत्कथम् ?, ज्ञेयं, दृष्टं प्रत्यक्षानुमानप्रमाणेनोपलब्धमिष्टमागमेन स्ववचनैरेवाभ्युपगतं ताभ्यामविरुद्धानि वाक्यानि यस्मिन्नागमतत्त्वे तत् दृष्टेष्टाऽविरुद्धवाक्यं तद्भावस्तया योऽर्थः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परिच्छिद्यते तस्मिन् यथाऽऽगमतत्त्वमप्यविरोधि भवति, तद्विरुद्धस्य ताभ्यामेव निराकरणात्, प्रत्यक्षानुमानविरुद्धस्याऽऽगमस्याप्रमाणत्वात्, स्ववचनैरेवाऽऽगमेनाभ्युपगतेऽर्थे प्रदेशान्तरवर्तिनाऽस्यैवाऽऽगमस्य वचनं यदि विरोधि न भवेदित्यर्थस्ततः आगमतत्त्वमिष्टाविरोधिवाक्यं भवति, परस्पराविरोधि वचनमित्यर्थः, तदेव विशिनष्टि-उत्सर्गाऽऽदिसमन्वितमुत्सर्गः सामान्यं यथा-"न हिंस्याद् भूतानि" आदिशब्दादपवादो विशेषो ग्लानाऽऽदिप्रयोजनगतस्ताभ्यां युक्तम् । अलमत्यर्थमैदम्पर्यशुद्ध

च, इदं परं प्रधानमस्मिन्वाक्य इतीदंपरं तद्भाव ऐदम्पर्यम, वाक्यस्य तात्पर्यं शक्तिरित्यर्थस्तेन शुद्धं यदागमतत्त्वं तदिह ज्ञेयमिति ॥ १० ॥

तदेवाऽऽगमतत्त्वमुपन्यस्यति ग्रन्थकारः-

आत्माऽस्ति स परिणामी, बद्धः सत्कर्मणा विचित्रेण ।
मुक्तश्च तद्वियोगा-द्धिंसाऽहिंसाऽऽदि तद्धेतुः ॥ ११ ॥

(आत्माऽस्तीत्यादि) आत्मा जीवः, सोऽस्ति लोकायतमतनिरासेनैव यत्र प्रतिपाद्यते, तदागमतत्त्वमित्येव पदान्तरेष्वपि सम्बन्धनीयम् । स परिणामी, स पूर्वप्रस्तुत आत्मा परिणामी परिणामसहितः, पञ्चस्वपि गतिष्वन्वयी चैतन्यस्वरूपः पुरुषः, परिणामलक्षणं चेदम्-"परिणामो ह्यर्थान्तर-गमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥१॥" स च परिणामी जीवो बद्धः सत्कर्मणा विचित्रेण वस्तु सत्कर्म न काल्पनिक वासनाऽऽदिस्वभावं, तेन बद्धो जीवप्रदेशकर्मपुद्गलान्योन्यानुगतिपरिणामेन । यथोक्तं बन्धाधिकारे-" तत्र पौद्गलमात्मस्थ-मचेतनमतीन्द्रियम् । बन्ध प्रत्यादि सत्कर्म, सतति प्रत्यनादिकम् ॥ १ ॥ " (मुक्तश्च तद्वियोगात्)कर्मवियोगात्,आत्यन्तिककर्मपरिक्षयात् (हिंसाऽहिंसाऽऽदितद्धेतुरिति) हिंसा आदिर्यस्य तद्धिंसाऽऽदि, प्राणातिपाताऽऽदिपञ्चकम । अहिंसा आदिर्यस्य तदहिंसाऽऽदि, महाव्रतपञ्चकम, तयोर्बद्धमुक्तयोर्यतो बन्धमोक्षयोर्वा हेतुर्यत्र ते हिंसाऽहिंसाऽऽदि चेति ॥ ११ ॥

ऐदम्पर्यशुद्धं चेत्युक्तम् । का पुनरैदम्पर्यशुद्धिरित्याह-

परलोकविधौ मानं, वचनं तदतीन्द्रियार्थदृग् व्यक्तम् ।
सर्वमिदमनादि स्या-दैदम्पर्यस्य शुद्धिरिति ॥ १२ ॥

परलोकविषयो विधि कर्त्तव्योपदेशस्तस्मिन्, मानं प्रमाणं, वचनमागमः, कीदृशमित्याह-तद्वचनमतीन्द्रियानर्थान् पश्यतीत्यतीन्द्रियार्थदृक्, सर्वज्ञः सर्वदर्शी, तेन व्यक्तमभिव्यक्तार्थं प्रतिपादितार्थमिति यावत् । सर्वमिदं वचनमनादि स्यात् प्रवाहतः सर्वदेशाङ्गीकरणेनैयमैदम्पर्यस्य शुद्धिरित्येवंप्रकाराऽवसेयेति ॥ १२ ॥ षो० १ विव० ।

अन्यत्राप्यवाचि-

"न शब्दमात्रेण वदन्ति धर्मं,
विश्वेऽपि लोका न विचारयन्ति ।
स शब्दसाम्येऽपि विचित्रभेदै-
र्विभिद्यते क्षीरमिवार्जुनीयम् ॥ १ ॥
लक्ष्मीं विधातुं सकलां समर्थं,
सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनम् ।
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः,
सुवर्णवद् वञ्चनभीतचित्ताः ॥ २ ॥" इति ।

परीक्षोपायमेवाऽऽह-कषाऽऽदिप्ररूपणेति । यथा सुवर्णमात्रसाम्येन तथाविधमुग्धलोकैरविचारेणैव शुद्धाशुद्धरूपस्य सुवर्णस्य प्रवृत्तौ कषच्छेदतापाः परीक्षणाय विचक्षणैराद्रियन्ते, तथाऽत्रापि श्रुतधर्मे परीक्षणीये कषाऽऽदीनां प्ररूपणेति । कषाऽऽदीनेवाऽऽह-"विधिप्रतिषेधौ कष इति ।" "विधिरविरुद्धकर्त्तव्यार्थोपदेशकं वाक्यम् ।" यथा-स्वर्गकेवलार्थिना तपोध्यानाऽऽदि कर्त्तव्यं, समितिगुप्तिशुद्धा क्रिया इत्यादि । प्रतिषेध पुनः-" न हिंस्यात्सर्वभूतानि " " नानृतं वदेत् ' इत्यादि । ततो विधिश्च प्रतिषेधश्च विधिप्रतिषेधौ, किमित्याह-कषः सुवर्णपरीक्षायामिव कषपट्टके रेखा । इदमुक्तं भवति-यत्र धर्मे उक्तलक्षणो विधिः,प्रतिषेधश्च पदे पदे सुपुष्कल उपलभ्यते स धर्मः कषशुद्धः । न पुनः-" अन्यधर्मस्थिताः सत्त्वाः, असुरा इव विष्णुना । उच्छेदनीयास्तेषां हि, वधे दोषो न विद्यते ॥ १ ॥" इत्यादिकवाक्यगर्भ इति । छेदमाह-" तत्सम्भवपालना चेष्टोक्तिश्छेद इति " । तयोर्विधिप्रतिषेधयोरनाविर्भूतयोः स म्भवः, प्रादुर्भूतयोश्च पालना रक्षारूपा, ततस्तत्सम्भवपालनार्थं या चेष्टा भिक्षाऽटनाऽऽदिबाह्यक्रियारूपा, तस्या उक्तिश्छेदः । यथा कषशुद्धावप्यन्तरामशुद्धिमाशङ्कमानाः सौवर्णिकाः सुवर्णगोलिकाऽऽदेश्छेदमाद्रियन्ते,तथा कषशुद्धावपि धर्मस्य छेदमपेक्षन्ते । स च छेदो विशुद्धबाह्यचेष्टारूपो,विशुद्धा च चेष्टा सा यत्रासन्तावपि विधिप्रतिषेधावबाधितरूपौ स्वात्मानं लभेते,सन्धाऽऽत्मानौ चातीचारलक्षणापचारविरहितौ, उत्तरोत्तरां वृद्धिमनुभवतः,सा यत्र धर्मे चेष्टा सप्रपञ्चा प्रोच्यते स धर्मश्छेदशुद्ध इति । यथा कषच्छेदशुद्धमपि सुवर्णं तापमसहमानं कालिकोन्मीलनदोषान्न सुवर्णभावमश्नुते,एवं धर्मोऽपि सत्यामपि कषच्छेदशुद्धौ तापपरीक्षायामनिर्वहमाणो न स्वभावमासादयत्यतस्तापं प्रज्ञापयन्नाह-"उभयनिबन्धनभाववादस्ताप इति ।" उभयोः कषच्छेदयोरनन्तरमेवोक्तरूपयोर्निबन्धनं परिणामि, किमित्याह-तापोऽत्र श्रुतधर्मपरीक्षाधिकारे । इदमुक्तं भवति-यत्र शास्त्रे द्रव्यरूपतयाऽप्रच्युतानुत्पन्नः पर्यायात्मकतया च प्रतिक्षणमपरापरस्वभावाऽऽस्कन्दनेनानित्यस्वभावो जीवाऽऽदिरवस्थाप्यते स्यात्तत्र तापशुद्धिः । यतः परिणामिन्येवाऽऽत्मादौ तथाविधाशुद्धपर्यायनिरोधेन ध्यानाध्ययनाऽऽद्यपरशुद्धपर्यायप्रादुर्भावादुक्तलक्षणः कषो बाह्यचेष्टाशुद्धिलक्षणश्च छेद उपपद्यते, न पुनरन्यथेति । एतेषां मध्यात्को बलीयानितरो वेति प्रश्ने यत्कर्त्तव्यं तदाह-" अमीषामन्तरदर्शनमिति ।" अमीषां त्रयाणां परीक्षाप्रकाराणां परस्परमन्तरस्य विशेषस्य समर्थासमर्थरूपस्य दर्शनं कार्यमुपदेशकेन, तदेव दर्शयति-" कषच्छेदयोरयत्न इति " । कषच्छेदयोः परीक्षाक्षमत्वेनाऽऽदरणीयतायामयत्नोऽतात्पर्यं मतिमतामिति । कुत इत्याह-" तदभावेऽपि तापाभावेऽभाव इति । " तयोः कषच्छेदयोर्भावः सत्ता तद्भावस्तस्मिन्, किं पुनरतद्भावे इत्यपिशब्दार्थः । किमित्याह-' तापाभावे ' उक्तलक्षणतापविरहे अभावः परमार्थतोऽसत्त्वमेव परीक्षणीयस्य, न हि तापे विघटमानं हेम कषच्छेदयोः सतोरपि स्वं स्वरूपं प्रतिपत्तुमलं, जातिसुवर्णत्वादस्य । एतदपि कथमित्याह-" तच्छुद्धौ हि तत्साफल्यमिति । " तच्छुद्धौ तापशुद्धौ, हिर्यस्मात्तत्साफल्यं तयोः कषच्छेदयोः सफलभावः । तथाहि-ध्यानाध्ययनाऽऽदिकोऽर्थो विधीयमानः प्राग्बद्धकर्मनिर्जरणफलं , हिंसाऽऽदिकश्च प्रतिषिद्ध्यमानो नवकर्मोपादाननिरोधफलं , बाह्यचेष्टाशुद्धिश्चानयोरेवानाविर्भूतयोर्योगेनाऽऽविर्भूतयोश्च परिपालनेन फलवती स्यात् , न चापरिणामि न्यन्युक्तलक्षणौ कषच्छेदौ स्वकार्यं कर्तुं प्रभविष्णू स्या त, तयोस्तापशुद्धावेव सफलत्वमुपपद्यते न पुनरन्यथेति । ननु फलविकलावपि तौ भविष्यत इत्यत आह-"फलवन्तौ च वास्तवाविति ।" उक्तलक्षणफलभाजौ सन्तौ पुनस्तौ कषच्छेदौ वास्तवौ कषच्छेदौ भवतः, स्वसाध्यक्रियाकारिणो हि वस्तुनो वस्तुत्वमुशन्ति सन्त , विपक्षे बाधामाह-" अन्यथा याचितकमण्डनमिति ।"

अन्यथा फलविकलौ सन्तौ वस्तुपरीक्षाधिकारे समवतारि- तावपि तौ याचितकमण्डनम्, द्विविध ह्यलङ्कारफल, निर्वाहे सति परिशुद्धाभिमानिकसुखजनिका स्वशरीरशोभा, कथ- ञ्चिन्निर्वहणाभावे च तेनैव निर्वाहः, न च याचितकमण्डने एतद्द्वितीयमप्यस्ति, परकीयत्वात्तस्य, ततो याचितकमण्डन मिव याचितकमण्डनम् । इदमुक्त भवति-द्रव्यपर्यायोभयस्वभावे जीवे कषच्छेदौ निरुपचरिततयोपस्थाप्यमानौ स्वफल प्रत्यय- स्वसामर्थ्येनैव स्याताम्, नित्याऽद्येकान्तवादे तु स्ववादशोभार्थं तद्वादिभि कल्प्यमानावप्येतौ याचितकमण्डनाऽऽकारौ प्रति- भासेते, न पुन स्वकार्यकराविति । ध० १ अधि० ।

(२७) कषाऽऽदिस्वरूपमाह-

पाणवहाइआणं, पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो ।
झाणज्झयणाऽऽईणं,जो अ विही एस धम्मकसो ॥२१॥

प्राणवधाऽऽदीनां पापस्थानानां सकललोकसम्मतानां य- स्तु प्रतिषेधः शास्त्रे,ध्यानाध्ययनाऽऽदीनां यश्च विधिस्तत्रैव, एष धर्मकषो वर्त्तत इति गाथाऽर्थः ॥२१॥

बज्झाणुट्ठाणेणं, जेण न वाहिज्जई तयं नियमा ।
संभवइ अपरिसुद्धं,सो उण धम्मम्मि छेउ त्ति ॥ २२ ॥

बाह्यानुष्ठानेन इतिकर्त्तव्यतारूपेण येन न बाध्यते तद्विधि- प्रतिषेधद्वय नियमात् सभवति चैतत्परिशुद्ध निरतिचार, स पुनस्तादृशः प्रक्रमादुपदेशोऽर्थो बाह्यधर्मच्छेद इति गाथाऽर्थः।

जीवाऽऽइभाववाओ, बंधाइपसाहगो इहं तावो ।
एएहिँ सुपरिसुद्धो, धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥ २३ ॥

जीवाऽऽदिभाववादः पदार्थवादः बन्धाऽऽदिप्रसाधको बन्ध- मोक्षाऽऽदिगुण इह ताप उच्यते । एभि कषाऽऽदिभि सु- परिशुद्धः स धर्मः श्रुतानुष्ठानरूप धर्मत्वमुपैति, सम्यग् भवतीति गाथार्थः ॥२३॥

एएहिँ जो न सुद्धो,अन्नयरम्मि उ ण सुट्ठु निव्वडिओ ।
सो तारिसओ धम्मो, नियमेण फले विसंवयइ ॥ २४ ॥

एभि कथाऽऽदिभिर्यो न शुद्धस्त्रिभिरपि अन्यतरस्मिन् वा कषाऽऽदौ न सुष्ठु निर्घटित , न व्यक्त इत्यर्थ । स तादृशो ध- र्मः श्रुताऽऽदिर्नियमादवश्यतया फले स्वसाध्ये विसवदति, न तत्साधयतीति गाथार्थ । पं० व० ४ द्वार ।

णाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि,
इच्छापणीता वंकाऽऽणिकेया ।
कालग्गहिता णिचए णिविट्ठा,
पुढो पुढो जाइं पकप्पयंति ॥ १३१ ॥

इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवति अहोववाइए फासे प- डिसंवेदयंति, चिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं चिट्ठं परिचिट्ठति, अ- चिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं णो चिट्ठं परिचिट्ठति, एगे वदंति अदुवा वि णाणी णाणी वयंति,अदुवा वि एगे ॥१३२॥ आवंती केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो वि- वादं वदंति, से दिट्ठं च णे सुयं च णे मयं च णे विण्णायं च णे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सुप्पडिलेहियं च णे सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परियावेयव्वा किलामेयव्वा, परिघेतव्वा, उद्दवेयव्वा, एत्थं पि जाणह णत्थित्थ दोसो, अणारिय- वयणमेयं, तत्थ जे आरिया ते एवं वयासी-से दुद्दिट्ठं च भे दुस्सुयं च भे दुम्मयं च भे दुव्विण्णायं च भे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वतो दुप्पडिलेहियं च भे, जं णं तुब्भे एवमाइक्खह एव भासह एवं परूवेह एवं पण्णवेह सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा,अ- ज्जावेयव्वा,परितावेयव्वा,किलामेयव्वा परिघेतव्वा, उद्दवेत- व्वा,एत्थ पि जाणह णत्थित्थ दोसो.अणारियवयणमेयं,वयं पुण एवमाइक्खामो एव भासामो एवं परूवेमो एवं पण्णवेमो सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा,ण परिघेतव्वा,ण किलामेयव्वा,ण परितावे- यव्वा,ण उद्दवेयव्वा,एत्थं वि जाणह णत्थित्थ दोसो,आ- रियवयणमेयं,पुव्वं णिकायसमयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सा- मि-हं भो पवाइया ! किं भे सायं दुक्खं, उयाहु अ- साय, समिया पडिवण्णे यावि एव बूया-सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अ- साय अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि ॥ १३३ ॥

(णाणागमो इत्यादि) न ह्यनागमो मृत्योर्मुखस्य कस्यचि- दपि संसारोदरवर्तिनोऽस्तीति । उक्त च-

" वसत यदीह कश्चिदनुसन्तत-सुखपरिभोगलालितः ।
प्रयत्नशनपरोऽपि विगतव्यथ-मायुरवाप्तवाञ्नरः ॥ १ ॥
न खलु नर सुरौघसिद्ध-सुरकिन्नरनायकोऽपि यः ।
सोऽपि कृतान्तदन्तकुलि-शाऽऽक्रमेण कृशितो न नश्यति ॥२॥"
तथोपायोऽपि मृत्युमुखप्रतिषेधस्य न कश्चिदस्तीति ।

उक्त च-

" नश्यति नौति याति वितनोति करोति रसायनक्रियां,
चरति गुरुव्रतानि विवराण्यपि विशति विशेषकातर ।
तपति तपांसि खादति मितानि करोति च मन्त्रसाधन,
तदपि कृतान्तदन्तयन्त्रककचक्रमणैर्विदार्यते ॥ १ ॥ "

ये पुनर्विषयकषायाऽभिष्वङ्गात् प्रमत्ता धर्मं नावबुध्यन्ते,ते किं- भूता भवन्तीत्याह-(इच्छा इत्यादि)इन्द्रियमनोविषयानुकूला प्र- वृत्तिरिहेच्छा, तया विषयाऽभिमुखमभिकर्मबन्ध संसाराभिमुख वा प्रकर्षेण नीता इच्छाप्रणीताः,ये चैवभूतास्ते 'वङ्काऽऽनिकेता' वङ्कस्यासंयमस्य आ-मर्यादया संयमावधिभूतया निकेतभू- ता आश्रया वङ्काऽऽनिकेता , वङ्को वा निकेतो येषां ते वङ्का- निकेताः, पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् । ये चैवभूतास्ते कालगृहीताः कालेन मृत्युना गृहीताः कालगृहीताः , पौन पुन्यमरणभाज इत्यर्थ , धर्मचरणाय वा गृहीतः-अभिसंधितः कालो येस्ते कालगृहीता , आहिताग्निदर्शनादार्षत्वाद्वा निष्ठान्तस्य परनि- पातः । तथाहि--पाश्चात्ये वयसि परुत्परारि वा अपत्यप- रिणयनोत्तरकाल वा धर्मं करिष्याम इत्येव गृहीतकालाः, ये चैवभूतास्ते निचये निविष्टा निचये कर्मनिचये तदुपादाने वा सावद्याऽऽरम्भनिचये निविष्टा अध्युपपन्नाः, ये चेच्छाप्रणी-

ता वह्वानिकेना कालगृहीता निश्चये निविष्टास्ते तत्कर्माण· किमपर कुर्वन्तीति दर्शयितुमाह (पुढो पुढो इत्यादि) पृथक् पृथगेकेन्द्रियद्वीन्द्रियाऽऽदिकां जातिमनेकश प्रकल्पयन्ति प्रकुर्वन्ति । पाठान्तर वा-" एत्थ मोहे पुणो पुणो " अत्र अस्मिन्निच्छाप्रणीताऽऽदिके हृषीकानुकूले मोहे कर्मरूपे वा मोहे निमग्ना पुन पुनस्तत्कुर्वन्ति येन तदप्रच्युति स्यात् । तदप्रच्युतौ च किं स्यादित्याह-(इहमेगेसिं इत्यादि) इहास्मिंश्चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके एकेषा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायवता तत्र तत्र नरकतिर्यग्गत्यादिषु यातनास्थानकेषु संस्तव· परिचयो भूयो भूयो गमनाद्भवति । तत किमित्याह-(अहोववाइए इत्यादि) त एवमिच्छया प्रणीतत्वादिन्द्रियवशगास्तद्वशित्वात्तदनुकूलमाचरन्तो नरकाऽऽदियातनास्थानजातसंस्तवास्तीर्थिका अप्यौद्देशिकाऽऽदिनिर्दोषमाचक्षाणा । (अहोववाइए त्ति) अथ औपपातिकान्नरकाऽऽदिजन्वान् स्पर्शान् दु·खानुभवान् प्रतिसंवेदयन्ति अनुभवन्ति । तथाहि-लौकायतिका ब्रुवते-"पिब खाद च चारुलोचने ! यदतीत वरगात्रि ! तन्न ते । न हि भीरु ! गत निवर्त्तते, समुदयमात्रमिद कलेवरम् ॥१॥" वैशेषिका अपि सावद्ययोगाऽऽरम्भिण·, तथाहि ते भाषन्ते-" अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रो(प्रो)क्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमा " इत्यादि, अन्येऽपि सावद्ययोगानुष्ठायिनोऽनया दिशा वाच्या , स्यात् किं सर्वोऽपीच्छाप्रणीताऽऽदिर्यावत्तत्र तत्र कृतसंस्तवोऽथ औपपातिकान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयत्याहोस्वित्कश्चिदेव तद्योग्यकर्मकार्ये वाऽनुभवति ?, न सर्व इति दर्शयति (चिट्ठ इत्यादि) 'चिट्ठ' भृशमत्यर्थं, क्रूरैर्वधबन्धाऽऽदिभि कर्मभि क्रियाभि (चिट्ठमिति) भृशमत्यर्थमेव विरूपा दशा वैतरणीतरणासिपत्रवनपत्रपाताभिघातशाल्मलीवृक्षाऽऽलिङ्गनाऽऽदिजनितामनुभवन्तस्तमस्तमाऽऽदिस्थानेषु परितिष्ठति, यस्तु नात्यर्थं हिंसाऽऽदिभि· कर्मभिर्वर्त्तते सोऽत्यन्तवेदनानिचितेष्वपि नरकेषु नोत्पद्यते । स्यात् क एव वदतीत्यत आह-(एगे वयतीत्यादि) एके चतुर्दशपूर्वविदादयो वदन्ति ब्रुवते । अथवाऽपि ज्ञानी वदति, ज्ञान सकलपदार्थाऽऽविर्भावकमस्यास्तीति ज्ञानी, स चैतद् ब्रवीति-यद्दिव्यज्ञानी केवली भाषते, श्रुतकेवलिनोऽपि तदेव भाषन्ते, यच्च श्रुतकेवलिनोऽपि भाषन्ते निरावरणज्ञानिनोऽपि तदेव वदन्तीत्येतत्प्रत्यागतसूत्रेण दर्शयति-(णाणी इत्यादि) ज्ञानिन केवलिनो यद्वदन्ति, अथवाऽप्येके श्रुतकेवलिनो यद्वदन्ति तद्यथार्थभावित्वादेकमेव, एकेषां सर्वार्थप्रत्यक्षत्वादपरेषा तदुपदेशप्रवृत्तेरिति वक्ष्यमाणेऽप्येकवाक्यतेति । तदाह-(आवन्तीत्यादि) यावन्त , (केयावन्ती ति) केचन लोके मनुष्यलोके श्रमणा पाषण्डिमका ब्राह्मणा द्विजाऽऽद्य· पृथक् पृथग् विरुद्धो वादो विवादस्त वदन्ति । एतदुक्त भवति-यावन्त केचन परलोक श्रोत्संवत्स्ते आत्मीयदर्शनानुरागितया पारक्य दर्शनमपवदन्तो विवदन्ते । तथाहि साङ्ख्या ब्रुवते-" पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मोक्ष , सर्वव्याप्यात्मा निष्क्रियो निर्गुणश्चैतन्यलक्षणो, निर्विशेष सामान्य तत्त्वमिति । " वैशेषिकास्तु भाषन्ते-द्रव्याऽऽदिषट्पदार्थपरिज्ञानान्मोक्ष , समवायिज्ञानगुणेनेच्छाप्रयत्नद्वेषाऽऽदिभिश्च गुणैर्गुणवानात्मा, परस्परनिरपेक्षं सामान्यविशेषाऽऽत्मक तत्त्वमिति । ' शाक्यास्तु वदन्ति- 'यथा-परलोकानुयाय्यात्मैव न विद्यते, निःसामान्य वस्तु क्षणिक चेति " । मीमांसकास्तु मोक्षमसर्वज्ञाभावेन स्वप्नादिधना घ्नन्ति । तथा केषाञ्चित् पृथिव्यादय एकेन्द्रिया जीवा न भवन्त्यपरे वनस्पतीनामप्यचेतनतामाहु , तथा· द्वीन्द्रियाऽऽदीनामपि कृम्यादीनां न जन्तुस्वभाव प्रतिपद्यन्ते, सद्भावे वा न तद्वधे बन्धोऽल्पबन्धता वेति । तथा-हिंसायामपि भिन्नवाक्यता । तदुक्तम्-" प्राणी प्राणिज्ञान, घातकचित्त च तद्गता चेष्टा । प्राणैश्च विप्रयोग·, पञ्चभिरापद्यते हिंसा ॥ १ ॥ " इत्येवमादिक औद्देशिकपरिभोगाभ्यनुज्ञाऽऽदिकश्च विरुद्धो वाद· स्वत एवाभ्यूह्य । यदि वा-ब्राह्मणा श्रमणा धर्मविरुद्ध वाद यद्वदन्ति तत् सूत्रेणैव दर्शयति-" से दिट्ठ च ण " इत्यादि यावत्-" णत्थित्थ दोसो त्ति । " ' से त्ति ' तच्छब्दार्थे, यदह वक्ष्ये तद् दृष्टमुपलब्धं, दिव्यज्ञानेनास्माभिरस्माक वा सबन्धिना तीर्थकृता आगमप्रणायकेन, चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः, श्रुत चास्माभिर्गुर्वादे सकाशात्, अस्मद्गुरुः शिष्यैर्वा तदन्तेवासिभिर्वाऽभिमत युक्तियुक्तत्वादस्माकमस्मत्तीर्थकराणां वा विज्ञान च तत्त्वभेदपर्यायैरस्माभिरस्मत्तीर्थकरेण वा स्वतो न परोपदेशदानेन । एतच्चोर्ध्वाधस्तिर्यक्षु दशस्वपि दिक्षु सर्वत· सर्वै· प्रत्यक्षानुमानोपमानाऽऽगमार्थापत्त्यादिभि· प्रकारै सुष्ठु प्रत्युपेक्षित च पर्यालोचित च, मन प्रणिधानाऽऽदिनाऽस्माभिरस्मत्तीर्थकरेण वा । किं तदित्याह-सर्वे प्राणा· सर्वे जीवा· सर्वे भूता· सर्वे सत्त्वा हन्तव्या आज्ञापयितव्या क्लामयितव्या परिगृहीतव्या परितापयितव्या अपद्रावयितव्या *। अत्रापि धर्मचिन्तायामप्येव जानीथ , यथा-नास्त्यत्र यागार्थं देवतोपयाचितकतया वा प्राणिहननाऽऽदौ ' दोष· ' पापानुबन्ध इति । एव यावन्तः केचन पाषण्डिका औद्देशिकभोजिनो ब्राह्मणा वा धर्मविरुद्ध परलोकविरुद्ध वा वाद भाषन्ते । अय च जीवोपमर्दकत्वात् पापानुबन्धी अनार्यप्रणीत इति । आह च-(अणारिय इत्यादि) आराद्याता सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यास्तद्विपर्यासादनार्या· क्रूरकर्माणस्तेषां प्राण्युपघातकारीद वचनम् । ये तु तथाभूता न ते किंभूत प्रज्ञापयन्तीत्याह-(तत्थ इत्यादि) तत्रेति वाक्योपन्यासार्थे, निर्धारणे वा । ये ते आर्या देशभाषाचारित्रार्यास्त एवमवादिषुर्यथा-यत्तदनन्तरोक्तं दुर्दृष्टमेतद् दुष्ट दृष्ट दुर्दृष्ट (भे) युष्माभिर्युष्मत्तीर्थकरेण वा, एव यावद् दु प्रत्युपेक्षितमिति । तदेव दुर्दृष्टाऽऽदिक प्रतिपाद्य दुःप्रज्ञापनानुवादद्वारेण तदभ्युपगमे दोषाऽऽविष्करणमाह-(जणमित्यादि)णमिति वाक्यालङ्कारे । यदेतद्वक्ष्यमाण यूयमेवमाचक्षध्वमित्यादि । यावदत्रापि यागोपहाराऽऽदौ जानीथ यूयम्-यथा नास्त्येवात्र प्राण्युपमर्दानुष्ठाने दोष पापानुबन्ध इति, तदेव परवादे दोषाऽऽविर्भावनेन धर्मविरुद्धत्वमाविर्भाव्य स्वमतवादमार्या आविर्भावयन्ति (वयमित्यादि) पुन शब्द पूर्वस्माद्विशेषमाह-वय पुनर्यथा धर्मविरुद्धवादो न भवति तथा प्रज्ञापयाम इति, तान्येव पदानि सप्रतिषेधानि तु हन्तव्यादीनि यावद् केवलमत्रास्मदीये वचने नास्ति दोषोऽत्राप्यधिकारे जानीथ यूय यथाऽत्र हननाऽऽदिप्रतिषेधविधौ नास्ति दोष पापानुबन्ध , सावधारणत्वाद्वाक्यस्य नास्त्येव दोष , प्राण्युपघातप्रतिषेधाच्चार्यवचनमेतत् । एवमुक्ते सति ते पाषण्डिका ऊचु -भवदीयमार्यवचनमस्मदीय त्वनार्यमित्येतन्निरन्तराः सुहृद· प्रत्येष्यन्ति , युक्तिविकलत्वात् , तदत्राऽऽचार्यो यथा परमतस्यानार्यता स्यात्तथा दिदर्शयिषु स्वयमप्यस्थिता वादिनो न विवदतेत्यनीति कृत्वा प्रत्येकमसप्रश्नता·

* पुस्तक मूलटीकयो पाठव्यत्यास उपलभ्यते ।

र्थमाह-(पुव्वमित्यादि) पूर्वमादावेव समयम्--आगमं यद्यदीयाऽऽगमेऽभिहितं तन्निकाव्य व्यवस्थाप्य पुनस्तद्विरूपाऽऽपादनेन परमतानार्यता प्रतिपाद्येत्यतस्तदेव परमत प्रश्नयति, यदि वा पूर्वं प्राश्निकाश्निकाव्य तत पाखण्डिकान् प्रश्नयितुमाह-(पत्तेयमित्यादि) एकमेकं प्रति प्रत्येक, भो प्रावादुका' ! भवत' प्रश्नयिष्यामि, किं (भे) युष्माक सात मन आह्लादकारि, दु खमसात मन प्रतिकूलम ? । एव पृष्टा. सन्तो यदि सातमित्येव ब्रूयुस्तत' प्रत्यक्षाऽऽगमलोकबाधा स्यात्.अथासातमित्येव ब्रूयुस्तत 'समिया' सम्यक् प्रतिपन्नांस्तान् प्रावादुकान् स्ववाग्यन्त्रितानप्येव ब्रूयात, अपि सभाषने, सभाष्यत एतद्भणन, यथा न केवल भवतां दु खमसात, सर्वेषामपि प्राणिनां दु.खमसात, मनसोऽनभिप्रेतमपरिनिर्वाणमनिर्वृत्तिरूप महद्भय दु खमित्येतत् परिगणय्य सर्वेऽपि प्राणिनो न हन्तव्या इत्यादि वाच्य, तद्धनने च दोष. । यस्त्वदोषमाह तदनार्यवचनम् । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्। तदेव प्रावादुकानां स्ववाग्यन्त्रणयाऽनार्यता प्रतिपादिता, अत्रैव रोहगुप्तमन्त्रिणा विदिताऽऽगमसद्भावेन माध्यस्थ्यमवलम्बमानेन तीर्थिकपरीक्षाद्वारेण यथा निराकरणं चक्रे तथा निर्युक्तिकारो गाथाभिराचष्टे-

खुड्डगपायसमास, धम्मकहं पि य अजंपमाणेण ।
छन्नेण अण्णलिंगी, परिच्छिया रोहगुत्तेणं ॥ २२७ ॥

अनया गाथया संक्षेपत सर्व कथानकमावेदितम्-क्षुल्लकस्य पादसमासो गाथापादसंक्षेपस्तमजल्पता धर्मकथां च छन्नेनाप्रकटेनान्यलिङ्गिन प्रावादुका' परीक्षिता निरूपिता रोहगुप्तेन रोहगुप्तनाम्ना मन्त्रिणेति गाथासमासार्थ' । भावार्थस्तु कथानकादवसेय । तच्चेदम्--चम्पायां नगर्यां सिंहसेनस्य राज्ञो रोहगुप्तो नाम महामन्त्री, स चाऽऽर्हद्दर्शनभावितान्त'करणो विज्ञातसदसद्वादः, तत्र च कदाचिद्राजाऽऽस्थानस्थो धर्मविचार प्रस्तावयति स,तत्र यो यस्याभिमत' स त शोभनमुवाच, स च तूष्णींभाव भजमानो राज्ञोक.-धर्मविचारं प्रति किमपि न ब्रूते भवान् ?। स त्वाह-किमेभिः पक्षपातवचोभिर्विमर्शाम , स्वत एव धर्मं परीक्षामहे तीर्थिकानित्याभिधाय राजानुमत्या "सकुण्डल वा वदन न व त्ति ।" अय गाथापादो नगरमध्ये आलम्बे, सपूर्णा तु गाथा भाण्डागारिता, नगर्यां चोद्घुष्टम्-यथा य एत गाथापाद पूरयिष्यति, तस्य राजा यथेप्सित दान दास्यति, तद्भक्तश्च भविष्यतीति । त च गाथापाद सर्वेऽपि गृहीत्वा प्रावादुका निर्जग्मु, पुन सप्तमेऽह्नि राजानमास्थानस्थमुपस्थितास्तत्राऽऽद्यावेव परिव्राड् ब्रवीति--

भिक्खं पविट्ठेण मएऽज्ज दिट्ठ,
पमदामुह कमलविलासनेत्तं ।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं,
सकुंडल वा वयणं न व त्ति ॥ २२८ ॥

सुगमा , नवरमपरिज्ञाने व्याक्षेप कारणमुपन्यस्त, न पुनर्वीतरागतेति पूर्वगाथाविसंवादादसौ तिरस्कृत्य निर्धाटितः ।

पुनस्तापसः पठति -

फलोदएणम्मि गिहं पविट्ठो,
तत्थाऽऽसणत्था पमदा मे दिट्ठा ।
वक्खित्तचित्तेण ण सुट्ठु नायं
सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥ २२९ ॥

" फलोदएण " इत्यादि सुगम पूर्ववत् ।

तदनन्तर शौद्धोदनिशिष्यक' प्राऽऽह-

मालाविहारम्मि मएऽज्ज दिट्ठा,
उवासिया कंचणभूसियंगी ।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं,
सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥२३०॥

पूर्ववत्,एवमनया दिशा सर्वेऽपि तीर्थिका वाच्याः। आर्हतस्तु पुनर्न कश्चिदागत इति राज्ञाऽभाणि, मन्त्रिणा त्वार्हतक्षुल्लकोऽप्येवभूतपरिणाम इत्येवं संप्रत्यय एषां स्यादित्यतो भिक्षार्थं प्रविष्ट प्रत्यूपस्येव क्षुल्लकः समानीतः, तेनापि गाथापाद गृहीत्वा गाथां बभाषे ।

तद्यथा--

खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स,
अज्झप्पजोगे गयमाणसस्स ।
किं मज्झ एएण विचिंतिएणं,
सकुंडल वा वयण न व त्ति ॥ २३१ ॥

सुगमा। अत्र च क्षान्त्यादिकमपरिज्ञाने कारणमुपन्यस्तं,न पुनर्व्याक्षेप इत्यतो गाथासंवादात् क्षान्तिदमजितेन्द्रियत्वाध्यात्मयोगाधिगतेभ्य कारणाद्राज्ञो धर्मं प्रति भावोल्लासोऽभूत. क्षुल्लकेन च धर्मप्रश्नोत्तरकाल पूर्वगृहीतशुष्केतरकर्दमगोलकद्वय भित्तौ निक्षिप्य गमनमारेभे, पुनर्गच्छन् राज्ञोक्तम्-किमिति भवान् धर्मं पृष्टोऽपि न कथयति ?, स चावोचत्-हे मुग्ध ! ननु कथित एव धर्मो भवतः शुष्केतरगोलकदृष्टान्तेन ।

एतदेव गाथाद्वयेनाऽऽह-

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया ।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई ॥२३२॥
एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥२३३॥

(एव लग्गंति) अयमत्र भावार्थ -ये ह्यक्षप्रत्यक्षानिरीक्षणव्यासङ्गात् कामिनीनां मुख न पश्यन्ति, तदभावे तु पश्यन्ति, ते कामगृध्नुतया सार्द्रा., सार्द्रत्वाच्च ससारपङ्के कर्मकर्दमे वा लगन्ति, ये तु पुन. क्षान्त्यादिगुणोपेता. ससारसुखपराङ्मुखाः काष्ठमुनय. ते शुष्कगोलकसन्निभा न क्वचिल्लगन्तीति गाथाद्वयार्थः । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

तथा च-

बहुजणणमणम्मि संवुडो,
सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए ।
दह एव सया अणाविले,
धम्मं पादुरकासि कासवं ॥ ७ ॥

(बहुजणनमणम्मीत्यादि) बहून् जनान् आत्मान प्रति नामयति प्रह्वीकरोति, तेषां नम्यते स्तूयते बहुजननमनो धर्म. ।

स एव बहुभिर्जनैरात्मीयाऽऽत्मीयाऽऽशयेन यथाऽभ्युपगमप्रशंसया स्तूयते प्रशस्यते । कथम् ? । अत्र कथानकम्-"राजगृहे नगरे श्रेणिको महाराजः, कदाचिदसौ चतुर्विधबुद्ध्युपेतेन पुत्रेण अभयकुमारेण सार्धमास्थानस्थितस्ताभिस्ताभिः कथाभिरासाञ्चक्रे, तत्र कदाचिदेवंभूता कथाऽभूत्, तद्यथा-इहलोके धार्मिका बहवः, उताऽधार्मिका इति ? । तत्र समस्तपर्षदाऽभिहितम्-यथाऽत्राऽधार्मिका बहवो लोकाः, धर्म तु शतानामपि मध्ये कश्चिदेवैको विधत्ते, तदाकर्ण्याऽभयकुमारेणोक्तम्-यथा प्रायशो लोकाः सर्व एव धार्मिकाः, यदि न निश्चयो भवतां, परीक्षा क्रियते । पर्षदाऽप्यभिहितम्-एवमस्तु । ततोऽभयकुमारेण धवलेतर प्रासादद्वयं कारितं, घोषितं च डिण्डिमेन नगरे, यथा यः कश्चिदिह धार्मिकः स सर्वोऽपि धवलप्रासादं गृहीतबलिः प्रविशतु, इतरस्त्वितरमिति । ततोऽसौ लोकः सर्वोऽपि धवलप्रासादमेव प्रविष्टः । निर्गच्छंश्च कथं त्वं धार्मिक इत्येवं पृष्टः कश्चिदाचष्टे-यथाऽहं कर्षकोऽनेकशकुनिगणो मद्धान्यकणैरात्मानं प्रीणयति, खलकसमागतधान्यकणभिक्षादानेन च मम धर्म इति । अपरस्त्वाह-यथाऽहं ब्राह्मणः षट्कर्माऽभिरतस्तथा बहुशौचस्नानाऽऽदिभिर्वेदविहितानुष्ठानेन पितॄन्देवाँस्तर्पयामि । अन्यः कथयति-यथा वणिक्कुलोपजीवी भिक्षादानाऽऽदिप्रवृत्तः । अपरस्त्विदमाह-यथाऽहं कुलपुत्रको न्यायाऽऽगतं निर्गतिकं कुटुम्बं पालयाम्येव । तावत् श्वपाकोऽपीदमाह-यथाऽहं कुलक्रमाऽऽगतं धर्ममनुपालयामीति, मदाश्रिताश्च बहवः पिशितभुजः प्राणान् धारयन्तीत्येवं सर्वोऽप्यात्मीयमात्मीयं व्यापारमुद्दिश्य धर्मे नियोजयति । तत्राऽपरमसितप्रासादं श्रावकद्वयेन प्रविष्टं, तत्र किमधर्माऽऽचरणं भवद्भ्यामकारीत्येवं पृष्टं सकृन्मद्यनिवृत्तिभङ्ग्यलीकमकथयत् । तथा-साधवं एवाऽत्र परमार्थतो धार्मिका यथागृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहणसमर्थाः । अस्माभिस्तु-

" अवाप्य मानुषं जन्म, लब्ध्वा जैनं च शासनम् ।
कृत्वा निवृत्तिं मद्यस्य, सम्यक् साऽपि न पालिता ॥ १ ॥
अनेन व्रतभङ्गेन, मन्यमाना अधार्मिकम् ।
अधमाधममात्मानं, कृष्णप्रासादमाश्रिता ॥ २ ॥"

तथाहि-

" लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्या-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमाना ।
तेजस्विनः सुखमसूनपि सत्यजन्ति,
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥ ३ ॥
वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं,
न चापि भग्नं चिरसंचितव्रतम् ।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्धचेतसो,
न चाऽपि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥ ४ ॥"

तदेवं सर्वोऽप्यात्मानं धार्मिकं मन्यत इति कृत्वा "बहुजनमनो धर्म" इति स्थितम् । तस्मिंश्च सवृत्तः समाहितः सन् नरः पुमान् सर्वार्थैर्बाह्याभ्यन्तरैर्धनधान्यकलत्रममत्वाऽऽदिभिरनिश्रितोऽप्रतिबद्धः सन् धर्मं प्रकाशितवानित्युत्तरेण सह सम्बन्धः । निदर्शनमाह-ह्रद इव स्वच्छाम्भसा भृतः सदाऽनाविलोऽनेकमत्स्याऽऽदिजलचरसंक्रमेणाऽप्यनाकुलोऽकलुषो वा क्षान्त्यादिलक्षणं धर्मं प्रादुरकार्षीत् प्रकटं कृतवान् । यदि वा-एवंविशिष्ट एव काश्यपः तीर्थंकरसम्बन्धिनं धर्मं प्रकाशयेत्, छान्दसत्वात् ' वर्तमाने भूतनिर्देश इति ' ॥ ७ ॥

स बहुजनमनने धर्मे व्यवस्थितो यादृग् धर्मं प्रकाशयति तद्दर्शयितुमाह । यदि वोपदेशान्तरमेवाऽधिकृत्याऽऽह -

बहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेयं समतं उवेहिया ।
जे मोणपदं उवट्ठिते, विरतिं तत्थ अकासि पंडिए ॥८॥

(बहवे इत्यादि) बहवोऽनन्ताः प्राणा दशविधप्राणभाक्त्वात्तद्भेदोपचारात् प्राणिनः, पृथगिति पृथिव्यादिभेदेन सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकनरकगत्यादिभेदेन वा संसारमाश्रितास्तेषां च पृथगाश्रितानामपि प्रत्येकं समतां दुःखद्वेषित्वं सुखप्रियत्वं च समीक्ष्य दृष्ट्वा, यदि वा-समतां माध्यस्थ्यमुपेत्य यो मौनीन्द्रपदमुपस्थितः संयमाऽऽश्रितः स साधुस्तत्राऽनेकभेदभिन्नप्राणिगणे दुःखद्विषि सुखाभिलाषिणि सति तदुपघाते कर्त्तव्ये विरतिमकार्षीत् कुर्याद्वेति, पापाद्दीनः पापानुष्ठानात् दवीयान् पण्डित इति ॥ ८ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

(२८) सूत्रकृताङ्गस्य श्रुतस्कन्धीयनवमाध्ययनोक्तः साधूनामाचरणीयानाचरणीयो धर्मो यथा-

कयरे धम्मे अक्खाए, माहणेण मतीमता ।
अजुं धम्मं जहातच्चं, जिणाणं * तं सुणेह मे ॥ १ ॥

(कयरे इत्यादि) जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमुद्दिश्येदमाह । तद्यथा-कतरः किंभूतो दुर्गतिगमनलक्षणो धर्म आख्यातः प्रतिपादितः (माहणेण ति)मा जम्बून् व्यापादयेत्येवं विनेयेषु वाक्प्रवृत्तिर्यस्याऽसौ माहनो भगवान् वीरवर्धमानस्वामी तेन, तमेव विशिनष्टि-मननं मतिः=अवगच्छति जगत्त्रयं कालत्रयोपेतं यया सा केवलज्ञानाऽऽख्या मतिः, सा अस्याऽस्तीति मतिमान्, तेनोत्पन्नकेवलज्ञानेन भगवतेति पृष्टे सुधर्मस्वाम्याह-रागद्वेषजितो जिनास्तेषां सम्बन्धिनं धर्मम् । (अजुमिति) ऋजुं मायाप्रपञ्चरहितत्वादवक्रं, तथा- (जहातच्चमिति) यथावस्थितं मम कथयतः शृणुत यूयं, न तु यथाऽन्यैस्तीर्थिकैर्दम्भप्रधानो धर्माऽभिहितस्तथा भगवताऽपीति । पाठान्तरं वा-(*जणगा । तं सुणेह मे) जायन्त इति जना लोकास्त एव जनकास्तेषामामन्त्रणम्-हे जनकाः ! तं धर्मं शृणुत यूयमिति ॥ १ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सुष्ठूक्तो भवतीत्यतो यथोद्दिष्टप्रतिपक्षभूतोऽधर्मस्तदाश्रितांस्तावद्दर्शयितुमाह-

माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदु वोक्कसा ।
एसिया वेसिया सुद्दा, जे य आरंभणिस्सिया ॥ २ ॥

(माहणेत्यादि) ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्यास्तथा चाण्डालाः, अथ वोक्कसा अवान्तरजातीयाः । तद्यथा-ब्राह्मणेन शूद्र्यां जातो निषादो, ब्राह्मणेनैव वैश्यायां जातोऽम्बष्ठः, तथा निषादेनाम्बष्ठ्यां जातो बोक्कसः, तथा एषितुं शीलमित्येषिका मृगलुब्धका हस्तितापसाश्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एषयन्ति, तथा कन्दमूलफलाऽऽदिकं च । तथा ये चाऽन्ये पाषण्डिकाः नानाविधैरुपायैर्भक्ष्यमेषयन्त्यन्यानि वा विषयसाधनानि, ते सर्वेऽप्येषिका इत्युच्यन्ते । तथा वैशिका वणिजो मायाप्रधानाः कलोपजीविनः, तथा शूद्राः कृषीबलाऽऽदयः । आभीरजातीयाः कियन्तो वा वक्ष्यन्त इति दर्शयति । ये चाऽन्ये वर्णापसदाः नानारूपसावद्याऽऽरम्भनिश्रिता यन्त्रपीडननिर्लाञ्छन-

था रसाद् दधिसौवीरकादू जाता रसजाः,तथा संस्वेदाज्जाताः सस्वेदजा यूका मत्कुणाऽऽदयः। उद्भिज्जाः खञ्जरीटकदर्दुराऽऽदय इति । अज्ञातभेदा हि दुःखेन रक्ष्यन्त इत्यतो भेदेनोपन्यास इति ॥ ८ ॥ एभिः पूर्वोक्तैः षड्भिरपि कायैस्त्रसस्थावररूपैः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नैर्नारम्भी नापि परिग्रही स्यादिति सबन्धः । तदेतद् विद्वान् सश्रुतिको ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया मनोवाक्कायकर्मभिर्जीवोपमर्दकारिणमारम्भं परिग्रहं च परिहरेदिति ॥ ९ ॥

शेषव्रतान्यधिकृत्याऽऽह--

मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइयं ।

सत्था दाणाइँ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १० ॥

(मुसावायमित्यादि) मृषा असद्भूतो वादो मृषावादः, तं विद्वान् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् , तथा-(अवहिद्धमिति) मैथुनम्, अवग्रहं परिग्रहम्, अयाचितमदत्ताऽऽदानम्। यदि वा-" अबहिद्धमिति।" मैथुनग्रहोऽवग्रहमयाचितमित्यनेनादत्ताऽऽदानं गृहीतम् । एतानि च मृषावादाऽऽदीनि प्राण्युपतापकारित्वात् शस्त्राणीव शस्त्राणि वर्तन्ते। तथा- दीयते गृह्यतेऽष्टप्रकारं कर्मभिरिति कर्मोपादानकारणानि,अस्मिन् लोके तदेतत्सर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१०॥

किं चाऽन्यत्-

पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि य ।

धूणा दाणाइँ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ ११ ॥

(पलिउंचणमित्यादि) पञ्चमहाव्रतधारणमपि कषायिणो निष्फलं स्यादतस्तत्साफल्याऽऽपादनार्थं कषायनिरोधो विधेय इति दर्शयति । परि समन्तात् कुञ्च्यन्ते वक्रतामापद्यन्ते क्रिया येन मायाऽनुष्ठानेन तत्परिकुञ्चनं मायेति भण्यते । तथा-भज्यते सर्वत्राऽऽत्मा प्रह्वीक्रियते येन स भजनो लोभस्तम्, तथा-यदुदयेन ह्यात्मा सदसद्विवेकाविकलत्वात् स्थण्डिलवद्भवति , स स्थण्डिलः क्रोधः । यस्मिंश्च सत्यूर्ध्वं श्रयति जात्यादिना दर्पाऽऽध्मातः पुरुष उत्तानीभवति स उच्छ्रायो मानः, छान्दसत्वात्पुंस्त्रीलिङ्गता । जात्यादीनामेतत्स्थानानां बहुत्वात् तत्कार्यस्याऽपि मानस्य बहुत्वमतो बहुवचनम्। चकाराः स्वगतभेदसूचनार्थाः , समुच्चयार्था वा । धूनयेति प्रत्येकं क्रिया योजनीया । तद्यथा-परिकुञ्चनं माया धूनय, धूनीहि वा। तथा-भजनं लोभं, तथा-स्थण्डिलं क्रोधं, तथा-उच्छ्रायं मानं, विचित्रत्वात् सूत्रस्य, क्रमोल्लङ्घननिर्देशो न दोषायेति। यदि वा--रागस्य दुस्त्यजत्वात्, लोभस्य च मायापूर्वकत्वादित्यादावेव मायालोभयोरुपन्यास इति । कषायपरित्यागे विधेये पुनरपरं कारणमाह-एतानि परिकुञ्चनाऽऽदीनि अस्मिन् लोके आदानानि वर्त्तन्ते तदेतद्विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत ॥ ११ ॥

पुनरप्युत्तरगुणानधिकृत्याऽऽह-

धोयणं रयणं चेव, वत्थीकम्मं विरेयणं ।

वमणंऽजणपलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १२ ॥

(धोयणमित्यादि) धावनं प्रक्षालनं हस्तपादयोर्वस्त्राऽऽदेर्रञ्जनमपि, (?)तथा-विरेचनं निरुहाऽऽत्मकमधोविरेको वा। वमनमूर्ध्वविरेकः । तथा--अञ्जनं नयनयोरिति । एवमादिकमन्यदपि शरीरसंस्काराऽऽदिकं यत् संयमपरिमन्थकारि संयमोपघातरूपं , तदेतद्विद्वान् स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाय प्रत्याचक्षीत ॥ १२ ॥

अपि च-

गंधमल्लसिणाणं च, दंतपक्खालणं तहा ।

परिग्गहित्थि--कम्मं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १३ ॥

(गन्धमल्ल इत्यादि) गन्धाः कोष्टपुटाऽऽदयः, माल्यं जात्यादिकम्, स्नानं च शरीरप्रक्षालनं देशतः, सर्वतश्च । तथा-दन्तप्रक्षालनं कदम्बकाष्ठाऽऽदिना, परिग्रहः सचित्ताऽऽदेः स्वीकरणम् । तथा-स्त्रियो दिव्यमानुषतैरश्च्यः । तथा-कर्म हस्तकर्म, सावद्यानुष्ठानं वा । तदेतत्सर्वं कर्मोपादानतया संसारकारणत्वेन परिज्ञाय विद्वान् परित्यजेदिति ॥ १३ ॥

किं चाऽन्यत्-

उद्देसियं कीयगडं, पामिच्चं चेव आहडं ।

पूयं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १४ ॥

(उद्देसियमित्यादि) साध्वाद्युपदेशेन यद्दानाय व्यवस्थाप्यते तदुद्देशिकम् । तथा-क्रीतं क्रयस्तेन क्रीतं गृहीतं क्रीतक्रीतं, (पामिच्च ति) साध्वर्थमन्यत उद्यतकं यद् गृह्यते तदभिधीयते, चकारः समुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणार्थः । साध्वर्थं यद् गृहस्थेन नीयते तदाहृतम्। तथा-(पूयमिति) आधाकर्मावयवसंपृक्तं शुद्धमप्याहारजातं भवति । किं बहुनोक्तेन ?-यत् केनचिद्दोषेणानेषणीयमशुद्धं तत्सर्वं विद्वान् परिज्ञाय संसारकारणतया निस्पृहः सन् प्रत्याचक्षीतेति ॥ १४ ॥

किं च-

आसूणिमक्खिरागं च, रसगिद्धूवघायकम्मगं ।

उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १५ ॥

(आसूणि इत्यादि) येन घृतपानाऽऽदिना आहारविशेषेण रसायनक्रियया वा अशूनः सन् आ समन्तात् शूनीभवति बलवानुपजायते, तदाशूनीत्युच्यते। यदि वा-(आसूणि त्ति) श्लाघ्यत-श्लाघया क्रियमाणया आ समन्तात् शूनः शूनो लघुप्रकृतिः कश्चिद्दर्पाऽऽध्मातत्वात् स्तब्धो भवति। तथा-अक्ष्णां रागो रञ्जनं सौवीराऽऽदिकमञ्जनमिति यावत् । एवं रसेषु शब्दाऽऽदिषु विषयेषु वा गृद्धिं गार्ध्यं तात्पर्यमासेवा, तथोपघातकर्मेत्युच्यते । तदेव लेशतो दर्शयति-(उच्छोलणं ति) अयतनया शीतोदकाऽऽदिना हस्तपादाऽऽदिप्रक्षालनम्, तथा-कल्कं लोध्राऽऽदिद्रव्यसमुदायेन शरीरोद्वर्तनकं, तदेतत्सर्वं बन्धनायेत्येवं विद्वान् परिमतो ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥ १५ ॥

अपि च-

संपसारी य कयकिरिए, पसिणाऽऽयतणाणि य ।

सागारियं च पिंडं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १६ ॥

(संपसारी य इत्यादि) असंयतैः सार्धं संप्रसारणं पर्यालोचनं, परिहरेदिति वाक्यशेषः । एवं भयमानुष्ठानप्रत्युपदेशदानम् । तथा-' कयकिरिए ' नाम कृता शोभना गृहकरणाऽऽदिक्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवमसंयतानुष्ठानप्रशंसनम् । तथा-प्रश्नस्याऽऽदर्शे प्रश्नाऽऽदेरायतनमाविष्करणं कथनं यथावस्थितप्रश्ननिर्णयनानि । यदि वा प्रश्नाऽऽयतनानि लौकिकानां

परस्परव्यवहारे मिथ्याशास्त्रगतसंशये वा प्रश्ने सति यथावस्थितार्थकथनद्वारेणाऽऽयतनानि निर्णयनानीति । तथा-सागारिक शय्यातर, तस्य पिण्डमाहारम् । यदि वा-सागारिकपिण्डमिति सूनकगृहपिण्ड, जुगुप्सित वर्णापसदपिण्ड च । चशब्द. समुच्चये । तदेतत्सर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१६॥

किं चान्यत्-

अट्ठावयं न सिक्खिज्जा, वेहाईयं च णो वए ।
हत्थकम्मं विवायं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १७ ॥

(अष्टापदमित्यादि) अर्थ्यते इत्यर्थो धनधान्यहिरण्याऽऽदिकः, पद्यते गम्यते येनार्थस्तत् पद शास्त्रम्, अर्थार्थं पदमर्थपद चाणक्याऽऽदिकमर्थशास्त्र, तत्र शिक्षयेन्नाप्यसेन्नाप्यपरप्राण्युपमर्दकारि शास्त्र शिक्षयेत्, यदि वा अष्टापद द्यूतक्रीडाविशेषस्त न शिक्षयेत, नापि पूर्वशिक्षितमनुशीलयेदिति । तथा-वेधो धर्मानुवेधस्तस्मादतीतमधर्मप्रधानं वचो नो वदेत् । यदि वा-वेध इति वस्त्रवेधो द्यूतविशेष, तद्गत वचनमपि नो वदेत्, आस्तां तावत्क्रीडनमिति । हस्तकर्म प्रतीतम । यदि वा-हस्तकर्म हस्तक्रिया परस्पर हस्तव्यापारप्रधानः कलहस्त, तथा विरुद्धवाद, शुष्कवादमित्यर्थः । चः समुच्चये । तदेतत्सर्वं संसारभ्रमणकारण ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत ॥ १७ ॥

किं च-

पाणहा उ य छत्तं च, णालीयं वालवीयणं ।
परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥ १८ ॥

(पाणहा उ इत्यादि) उपानहौ काष्ठपादुके च, तथा-आतपाऽऽदिनिवारणाय छत्रम् । तथा-नालिका द्यूतक्रीडाविशेषः । तथा-वालैर्मयूरपिच्छैर्वा व्यजनक, तथा-परेषां संबन्धिनीं क्रियामन्योऽन्यां परस्परतोऽन्यनिष्पाद्यामन्य. करोत्यपरनिष्पाद्या चापर इति । च' समुच्चये । तदेतत्सर्वं विद्वान् पण्डित कर्मोपादानकारणत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥ १८ ॥

तथा-

उच्चारं पासवणं, हरिएसु ण करे मुणी ।
वियडेण वावि साहट्टु, णाऽऽयमे य कयाइ वि ॥ १९ ॥

(उच्चारमिति) उच्चारप्रस्रवणाऽऽदिकां क्रियां हरितेषूपरि बीजेषु वा स्थण्डिले वा मुनि. साधुर्न कुर्यात्, तथा-विकटेन विगतजीवेनाप्युदकेन संहृत्यापनीय बीजानि हरितानि वा, नाऽऽचमेत न निर्लेपन कुर्यात्, किमुताविकटेनेति भावः ॥१९॥

किं च-

परमत्ते अन्नपाणं, ण भुंजेज्ज कयाइ वि ।
परवत्थं अचेलो वि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २० ॥

(परमत्ते इत्यादि) परस्य गृहस्थस्यामत्र भाजनं परामत्र, तत्र पुरःकर्म पश्चात्कर्म, तद्भयाद् हृतनष्टाऽऽदिदोषसंभवाच्चान्न पान च मुनिर्न कदाचिदपि भुञ्जीत । यदि वा-पतद्ग्रहधारिणोऽच्छिद्रपाणेः पाणिपात्र परपात्र, यदि वा-पाणिपात्रस्याच्छिद्रपाणेर्जिनकल्पिकाऽऽदेः पतद्ग्रहः परपात्रं, तत्र संयमविराधनाभयान्न भुञ्जीत, तथा-परस्य गृहस्थस्य वस्त्रं परवस्त्र तत् साधुरचेलोऽपि सन् पश्चात्कर्माऽऽदिदोषभयाद्, हृतनष्टाऽऽदिदोषसंभवाच्च न बिभृयात् । यदि वा-जिनकल्पिकाऽऽदिकोऽचेलो भूत्वा सर्वमपि वस्त्र परवस्त्रमिति कृत्वा न बिभृयात्, एतत्सर्वं परपात्रभोजित्वाऽऽदिक संयमविराधकत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥ २० ॥

आसंदी पलियंके य, णिसिज्जं च गिहंतरे ।
संपुच्छणं व सरणं वा, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २१ ॥

आसन्दीति आसनविशेष. । अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्सर्वोऽप्यासनविधिर्गृहीतः । तथा-पर्यङ्क. शयनविशेष. । तथा गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्यां वाऽऽसन वा संयमविराधनाभयात् परिहरेत् । तथा चोक्तम्-" गम्भीरझुसिरा एते, पाणा दुप्पडिलेहगा । अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वा वि संकणा ॥ १ ॥ " इत्यादि । तथा-तत्र गृहस्थगृहे कुशलाऽऽदिप्रच्छनमात्मीयशरीरावयवप्रच्छन वा । तथा-पूर्वक्रीडितस्मरण चेत्येतत्सर्वं विद्वान् विदितवेद्यः संसारनर्थायेति ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् ॥ २१ ॥

अपि च-

जसं किर्त्तिं सलोयं च, जा य वंदणपूयणा ।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २२ ॥

(जस कित्तिमित्यादि) बहुसमरसंघट्टनिर्वहणशौर्यलक्षणं यश , दानसाध्या कीर्तिः, आतितपोबहुश्रुत्यादिजनिता श्लाघा, तथा-या च सुराऽसुराधिपतिचक्रवर्तिबलदेववासुदेवाऽऽदिभिर्वन्दना, तथा तैरेव सत्कारपूर्विका वस्त्राऽऽदिना पूजना । तथा-सर्वस्मिन्नपि लोके इच्छामदनरूपा ये केचन कामा', तदेतत्सर्वं यशःकीर्तिमपकारितया परिज्ञाय परिहरेदिति ॥ २२ ॥

किं चान्यत्-

जेणेह णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाणं तहाविहं ।
अणुप्पयाणमन्नेसिं, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २३ ॥

(जेणेहमित्यादि) येनान्नेन पानेन वा तथाविधेनेति सुपरिशुद्धेन, कारणापेक्षया त्वशुद्धेन वा, इहास्मिन् लोके, इदं संयमयात्राऽऽदिक दुर्भिक्षरोगाऽऽतङ्काऽऽदिक वा भिक्षुर्निर्वहेन्निर्वाहयेद्वा, तदन्नं पान वा तथाविधं द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया शुद्ध कल्प्य गृह्णीयात, तथैतेषामन्नाऽऽदीनामनुप्रदानमन्यस्मै साधवे संयमयात्रानिर्वहणसमर्थमनुतिष्ठेत् । यदि वा-येन केनचिदनुष्ठितेन संयमं निर्वहेन्निर्वाहयेदसारतामापादयेत् । तथाविधमशनं पानं वा, अन्यद्वा तथाविधमनुष्ठानं न कुर्यात् । तथा-परामशनाऽऽदीनामनुप्रदान गृहस्थाना परतीर्थिकाना स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातकं नानुशीलयेदिति । तदेतत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेदिति ॥ २३ ॥

यदुपदेशेनैतत्कुर्यात्तद्दर्शयितुमाह-

एवं उदाहु निग्गंथे, महावीरे महामुणी ।
अणंतनाणदंसी से, धम्मं देसितवं सुतं ॥ २४ ॥

(एवं उदाहु इत्यादि) एवमनन्तरोक्तया नीत्या उद्देशकाऽऽदेरारभ्य (उदाहु त्ति) उदाहृतवानुक्तवान्, निर्गतो बाह्याभ्यन्तरो ग्रन्थो यस्मात्स निर्ग्रन्थो, महावीर इति श्रीमद्वर्धमानस्वामी, महांश्चासौ मुनिश्च महामुनि , अनन्त ज्ञान दर्शन च यस्यासावनन्तज्ञानदर्शी, स भगवान्, धर्मं चारित्रलक्षणं सं

सारोत्तरणसमर्थ वा । तथा-श्रुत च जीवाऽऽदिपदार्थसूचक, देशितवान् प्रकाशितवान् ॥ २४ ॥

किं चान्यत्-

भासमाणो न भासेज्जा, णेव वंफेज्ज मम्मयं ।
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुचिंतिय वियागरे ॥ २५ ॥

(भासमाणो इत्यादि) यो हि भाषासमित न भाषमाणोऽपि धर्मकथासम्बन्धभाषक एव स्यात् । उक्त च-" वयणविहत्तीकुसलो, वओगयं बहुविहं वियाणतो । दिवस पि भासमाणो, साहू व गुत्ततयं पत्तो ॥ १ ॥ " यदि वा-यत्रान्यः कश्चिद्-न्नाऽऽदिको भाषमाणस्तत्राऽन्तर एव सश्रुतिकोऽहमित्येवमभिमानवान् न भाषेत । तथा-मर्म गच्छतीति मर्मग वचो न (वफेज्ञ त्ति) नाभिलपेत् । यद्वचनमुच्यमानं तथ्यमतथ्यं वा सद् यस्य कस्यचिन्मनःपीडामाधत्ते,तद्विवेकी न भाषेतेति भावः । यदि वा-मामक ममीकारः पक्षपातस्त भाषमाणो (न वफेज्ञ त्ति) नाभिलपेत् । तथा-मातृस्थान मायाप्रधान वचो विवर्जयेत । इदमुक्त भवति-परवञ्चनबुद्ध्या गूढाऽऽचारप्रधानो भाषमाणोऽभाषमाणो वाऽन्यदा वा मातृस्थान न कुर्यादिति । यदा तु वक्तु कामो भवति, तदा नैतद्वचः परमात्मनोरुभयोर्वा बाधकमित्येव प्राग्विचिन्त्य वचनमुदाहरेत । तदुक्तम्-" पुव्व बुद्धीएं पेहित्ता, पच्छा वक्कमुदाहरे । " इत्यादि ॥ २५ ॥

अपि च-

तत्थिमा तइया भासा, जं वदित्ताऽणुतप्पति ।
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा णियंठिया ॥ २६ ॥

(तत्थिमेत्यादि) सत्या-असत्या-सत्यामृषा-असत्यामृषेत्येवरूपासु चतसृषु भाषासु मध्ये तत्रेय सत्यामृषेत्येतदभिधानात् तृतीया भाषा,सा च किञ्चिन्मृषा किञ्चित्सत्या इत्येवरूपा। तद्यथा-दश दारका अस्मिन्नगरे जाता मृता,नदत्र न्यूनाधिकसंभवे सति संख्याया व्यभिचारात्सत्यामृषात्वमिति । यां चैवरूपां भाषामुदित्वा अनु पश्चाद्भाषणाज्जन्मान्तरे वा तज्जनितेन दोषेण तप्यते पीड्यते क्लेशभाग्भवति । यदि वा-अनुतप्यते, किं ममैवभूतेन भाषितेनेत्येवं पश्चात्ताप विधत्ते । तस्मादिदमुक्तं भवति-मिश्राऽपि भाषा दोषाय, किं पुनरसत्या,द्वितीया समस्ताऽर्थविसंवादिनी । तथा-प्रथमाऽपि भाषा सत्या, या प्राण्युपतापेन दोषानुषङ्गिणी सा न वाच्या। चतुर्थ्यप्यसत्यामृषा भाषा बुधैरनाचीर्णा सा न वक्तव्येति । सत्याया अपि दोषानुषङ्गित्वमधिकृत्याऽऽह-यद्वचः (छन्न ति) क्षणु हिंसायां, हिंसाप्रधानम् । तद्यथा-बध्यतां चौरोऽय, लूयन्ता केदाराः, दम्यन्तां गोरथका इत्यादि । यदि वा-(छन्न ति) प्रच्छन्न यल्लोकैरपि प्रच्छाद्यते तत्सत्यमपि न वक्तव्यमिति । एषाऽऽज्ञा अयमुपदेशो निर्ग्रन्थो भगवांस्तस्येति ॥ २६ ॥

किं च-

होलावायं सहीवायं, गोयावायं च नो वदे ।
तुमं तुम ति अमणुन्नं, सव्वसो तं ण वत्तए ॥ २७ ॥

(होलावायमित्यादि) होलेत्येव वादो होलावाद । तथा-सखेत्येव वाद सखिवादः,तथा-गोत्रोद्घाटनेन वादो गोत्रवाद , यथा-काश्यपसगोत्रो, वासिष्ठसगोत्रो वेति इत्येवरूप वाद साधुर्नो वदेत्। तथा-" तुमं तुम " तिरस्कारप्रधानमेकवचनान्त यद्वचनोच्चारणमेवेऽमनोज्ञ मनःप्रतिकूलरूपमन्यदप्येवभूतमपमानाऽऽपादकं सर्वश सर्वथा तत साधूनां वक्तु न वर्तत इति । यच्चाभिहितोक्त निर्युक्तिकारेण । तद्यथा-" पासत्थोसन्नकुसी-लसथवो ण किल वट्टए काउ । तदिदं" इत्यादि ॥२७॥

अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसग्गियं भए ।
सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा, पडिबुज्झेज्ज ते विऊ ॥ २८ ॥

(अकुसीलेत्यादि) कुत्सित शीलमस्येति कुशीलः, स च पार्श्वस्थाऽऽदीनामन्यतम,न कुशीलोऽकुशीलः,सदा सर्वकालं,भिक्षणशीलो भिक्षु,कुशीलो न भवेन्न चापि कुशीलैः सार्धं संसर्गं साङ्गत्य,भजेत सेवेत । तत्संसर्गदोषोद्भिभावयिषयाऽऽह-" सुहरूवाः सातागौरवस्वभावा, तत्र तस्मिन् कुशीलसंसर्गे सयमोपघातकारिण उपसर्गाः प्रादुःष्यन्ति । तथाहि-कुशीलवक्तारो भवन्ति-क. किल प्रासुकोदकेन हस्तपाददन्ताऽऽदिके प्रक्षाल्यमाने दोष स्यात् । तथा-नाशरीरो धर्मो भवतीत्यतो येन केनचित्प्रकारेणाऽऽधाकर्मसान्निध्याऽऽदिना, तथा-उपानच्छत्राऽऽदिना च शरीर धर्माऽऽधार वर्तयेत्। उक्त च-"अप्पेण बहुमेसेज्जा,एय पंडियलक्खण ।" इति । ' शरीर धर्मसयुक्त,रक्षणीय प्रयत्नत । शरीरात्स्रवते पाप, पर्वतात्सलिल यथा ॥ १ ॥ " तथा साम्प्रतमल्पानि सहननानि, अल्पधृतयश्च सयमे जन्तव इत्येवमादि कुशीलोक्त श्रुत्वा अल्पसत्त्वास्तत्रानुपजन्त्येव विद्वान् विवेकी प्रतिबुद्धेव जानीयात, बुद्ध्वा चाऽपायरूप कुशीलससर्गं परिहरेदिति ॥ २८ ॥

नन्नत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए ।
गामकुमारियं किड्डं, नातिवेलं हसे मुणी ॥२९॥

(नन्नत्थेत्यादि)तत्र साधुर्भिक्षाऽऽदिनिमित्तं ग्रामाऽऽदौ प्रविष्टः सन् परो गृहस्थस्तस्य गृह परगृह तत्र न निषीदेन्नोपविशेत्, उत्सर्गतोऽस्यापवादं दर्शयति-नान्यत्रान्तरायेणेति । अन्तरायः शक्त्यभाव ,स च जरसा रोगाऽऽतङ्काभ्यां स्यात्तस्मिन्नान्तराये सत्युपविशेत । यदि वा-उपशमलब्धिमान् कश्चित्सुसहायो गुर्वनुज्ञातः कस्यचित्तथाविधस्य धर्मदेशनानिमित्तमुपविशेदपि। तथा-ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारकास्तेषामिय ग्रामकुमारिकाऽसौ क्रीडा हास्यकन्दर्पहस्तसस्पर्शनाऽऽलिङ्गनाऽऽदिका । यदि वा-वट्टकन्दुकाऽऽदिका, तां मुनिर्न कुर्यात, तथा वेला मर्यादा तामतिक्रान्तमतिवेल न हसेन्मर्यादामतिक्रम्य मुनि साधुर्ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽद्यष्टविधकर्मबन्धभयान्न हसेत् । तथा चाऽऽगम -"जीवे ण भते ! हसमाणे उस्सूयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बधइ ? । गोयमा ! सत्तविहबधए वा अट्ठविहबधए वा । " इत्यादि ॥ २९ ॥

किं च-

अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए ।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥३०॥

(अणुस्सुओ इत्यादि) उराला उदारा शोभना मनोज्ञा ये चक्रवर्त्यादीनां शब्दाऽऽदिषु विषयेषु कामभोगा वस्त्राऽऽभरणगीतगन्धर्वयानवाहनाऽऽदय ,तथा-आज्ञैश्वर्याऽऽदयश्चैतेषूदारेषु दृष्टेषु श्रुतेषु वा नोत्सुक स्यात्। पाठान्तर वा-न निश्रितोऽनिश्रितोऽप्रतिबद्ध स्यात्। यतमानश्च सयमानुष्ठाने, परि समन्तान्मूलोत्तरगुणेषु उद्यम कुर्वन् व्रजेत्सयम गच्छेत। तथा-चर्यायां भिक्षाऽऽदिकायामप्रमत्त स्यात्,नाऽऽहाराऽऽदिषु रसगार्ध्यं विदध्या-

दिति । तथा-स्पृष्टश्चाभिद्रुतश्च परीषहोपसर्गैस्तत्रादीनमनस्कः कर्मनिर्जरां मन्यमानो विषहेत सम्यक् सहादिति ॥३०॥

परीषहोपसर्गाधिसहनमेवाधिकृत्याऽऽह-

हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले ।
सुमणे अहियासिज्जा, ण य कोलाहलं करे ॥ ३१ ॥

(हम्ममाणो इत्यादि) हन्यमानो यष्टिमुष्टिलकुटाऽऽदिभिरपि न कुप्येत् कोपवशगो भवेत् । तथा-दुर्वचनान्युच्यमान आकुश्यमानो निर्भर्त्स्यमानो न संज्वलेत् प्रतीपं वदेत् मनागपि मनोऽन्यथात्वं विदध्यात्, किं तु सुमनाः सर्वं कोलाहलमकुर्वन्नधिसहेतेति ॥ ३१ ॥

किं चान्यत्-

लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए ।
आयरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥ ३२ ॥

(लद्धे कामे इत्यादि)लब्धान् प्राप्तानप्राप्तानपि कामानिच्छामदनरूपान् गन्धालङ्कारवस्त्राऽऽदिरूपान् वा वैरस्वामिवन्न प्रार्थयेनानुमन्येत,न गृह्णीयादित्यर्थः । यदि वा-यत्र कामावसायितया गमनाऽऽदिलब्धिरूपान् कामास्तपोविशेषलब्धानपि नोपजीव्यात्यनागतान् ब्रह्मदत्तवत्प्रार्थयेत्, एवं च कुर्वतो भावविवेक आख्यात आविर्भावितो भवति । तथा-आर्याण्यार्याणां कर्तव्यानि अनार्यकर्तव्यपरिहारेण । यदि वा-आचर्याणि मुमुक्षूणां यान्याचरणीयानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि तानि बुद्धानामाचार्याणामन्तिके समीपे सदा सर्वकालं शिक्षेताभ्यसेदिति । अनेन हि शीलवता नित्यं गुरुकुलवास आसेवनीय इत्यावेदितं भवतीति ॥ ३२ ॥

यदुक्तं बुद्धानामन्तिके शिक्षेत्तत्स्वरूपनिरूपणायाह-

सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं ।
वी (धी) रा जे अत्तपन्नेसी, धितिमंता जिइंदिया ॥३३॥

(सुस्सूसमाण इत्यादि) गुरोरादेशं प्रति श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा, गुर्वादेर्वैयावृत्त्यमित्यर्थः । तां कुर्वाणो गुरुमुपासीत सेवेत । तस्यैव प्रधानगुणद्वयद्वारेण विशेषणमाह-सुष्ठु शोभना वा प्रज्ञाऽस्येति सुप्रज्ञः स्वसमयपरसमयवेदी गीतार्थ इत्यर्थः । तथा-सुष्ठु शोभनं वा सबाह्याभ्यन्तरं तपोऽस्यास्तीति सुतपस्वी, तमेवम्भूतं ज्ञानिनं सम्यक् चारित्रवन्तं गुरुं परलोकार्थी सेवेत । तथा चोक्तम्-"नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य । धन्ना आवकहाए,गुरुकुलवासं न मुयंति ॥ १ ॥" (ग०) य एवं कुर्वन्ति तान् दर्शयति । यदि वा के ज्ञानिनस्तपस्विन इत्याह-वीराः कर्मविदारणसहिष्णवो,धीरा वा परीषहोपसर्गाक्षोभ्या ,धिया बुद्ध्या राजन्तीति वा धीरा ये केचनाऽऽसन्नसिद्धिगमनाः आप्तो रागाऽऽदिविप्रमुक्तस्तस्य प्रज्ञा केवलज्ञानाऽऽख्या,तामन्वेष्टुं शीलं येषां ते आप्तप्रज्ञान्वेषिणः , सर्वज्ञोक्तान्वेषिण इति यावत् । यदि वा-आत्मप्रज्ञान्वेषिण आत्मनः प्रज्ञा ज्ञानमात्मप्रज्ञा तदन्वेषिणः आत्मज्ञत्वान्वेषिण आत्महितान्वेषिण इत्यर्थः । तथा-धृतिः संयमे रतिः, सा विद्यते येषां ते धृतिमन्तः । संयमधृत्या हि पञ्चमहाव्रतभारोद्वहनं सुसाध्यं भवतीति । तपः साध्या च सुगतिर्हस्तप्राप्येति । तदुक्तम्-"जस्स धिई तस्स तवो, जस्स तवो तस्स सुग्गई सुलहा । जे अधिइमंतपुरिसा, तवो वि खलु दुल्लहो तेसिं ॥ १ ॥ " तथा-जितानि वशीकृतानि स्वविषयरागद्वेषविजयेनेन्द्रियाणि स्पर्शनाऽऽदीनि यैस्ते जितेन्द्रियाः शुश्रूषमाणा यथोक्तविशेषणविशिष्टा भवन्तीति ॥ ३३ ॥

तदभिधित्सुराह-

गिहे दीवमपासंता, पुरिसाऽऽदाणिया नरा ।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥ ३४ ॥

(गिहे दीवमित्यादि) गृहे गृहवासे गृहपाशे वा, गृहस्थभाव इति यावत् । (दीव त्ति) दीपी दीप्तौ, दीपयति प्रकाशयतीति दीपः ,स च भावदीपः श्रुतज्ञानलाभः । यदि वा-द्वीपः समुद्राऽऽदौ प्राणिनामाश्वासभूतः, स च भावद्वीपः संसारसमुद्रे सर्वज्ञोक्तचारित्रलाभः, तदेवम्भूतं दीपं द्वीपं वा गृहस्थभावेऽपश्यन्तोऽप्राप्नुवन्तः सन्तः सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थिता उत्तरोत्तरगुणस्थानेनैवम्भूता भवन्तीति दर्शयति-नराः पुरुषाः पुरुषोत्तमत्वाद्धर्मस्य नरोपादानम, अन्यथा स्त्रीणामप्येतद्गुणभाक्त्वं भवति, अथवा देवाऽऽदिव्युदासार्थमिति । मुमुक्षूणां पुरुषाणामादानीया आश्रयणीयाः पुरुषाऽऽदानीयाः महतोऽपि महीयांसो भवन्ति । यदि वा-आदानीयो हितैषिणां मोक्षस्तन्मार्गो वा सम्यग्दर्शनाऽऽदिकः पुरुषाणां मनुष्याणामादानीयः, स विद्यते येषामिति विगृह्य मत्वर्थीयः"अर्श आदिभ्योऽच्' ॥५।२।१२७॥ इति । तथा य एवम्भूतास्ते विशेषेणेरयन्त्यष्टप्रकारं कर्मेति वीराः। तथा बन्धनेन सबाह्याभ्यन्तरेण [पुत्रकलत्राऽऽदि]स्नेहरूपेणोन्मुक्ता बन्धनोन्मुक्ताः सन्तो जीवितमसंयमजीवितं, प्राणधारणं वा नाभिकाङ्क्षन्ति नाभिलषन्तीति ॥ ३४ ॥

किं चान्यत्-

अगिद्धे सद्दफासेसु, आरंभेसु अणिस्सिए ।
सव्वं तं समयातीतं, जमेतं लवियं बहुं ॥ ३५ ॥

(अगिद्धे इत्यादि) अगृद्धोऽनध्युपपन्नो मूर्च्छितः क्व?,शब्दस्पर्शेषु मनोज्ञेषु,आद्यन्तग्रहणान्मध्यग्रहणमतो मनोज्ञेषु रूपेषु गन्धेषु रसेषु वा अगृद्ध इति द्रष्टव्यम् । तथेतरेषु चाऽद्विष्ट इत्यपि वाच्यः । तथा-आरम्भेषु सावद्यानुष्ठानरूपेष्वनिःश्रितोऽसम्बद्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थः ।उपसंहर्तुकाम आह-सर्वमेतदध्ययनाऽऽदेरारभ्य प्रतिषेध्यत्वेन यल्लपितमुक्तं मया बहु,तत्समयादार्हतादागमादतीतमतिक्रान्तमितिकृत्वा प्रतिषिद्धम् । यदपि च विधिद्वारेणोक्तं तदेतत्सर्वं कुत्सितसमयातीतं लोकोत्तरं प्रधानं वर्तते ॥ ३५ ॥

यदपि च तैः कुतीर्थिकैर्बहु लपितं तदेतत्सर्वं समयातीतमिति कृत्वा नानुष्ठेयमिति प्रतिषिध्य प्रधाननिषेधद्वारेण मोक्षाभिसंधानेनाऽऽह-

अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए ।
गारवाणि य सव्वाणि, णिव्वाणं संधए मुणी ॥३६॥

(अइमाणं चेत्यादि) अतिमानो महामानस्तं, चशब्दात्तत्सहचरितं क्रोधं च, तथा-मायां, चशब्दात्तत्कार्यभूतं लोभं च, तदेतत्सर्वं पण्डितो विवेकी ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् । तथा-सर्वाणि गारवाणि ऋद्धिरससातरूपाणि सम्यक् ज्ञात्वा संसारकारणत्वेन परिहरेत्परिहृत्य च मुनिः साधुर्निर्वाणमशेषकर्मक्षयरूपं, विशिष्टाऽऽकाशदेशं वा संधयेदभिसंदध्यात्, प्रार्थयेदिति यावत् । ॥ ३६ ॥ सूत्र० १ श्रु०

६ अ०।(कदा पुनरुत्पन्ननिरावरणज्ञानाना तीर्थकृतां वाग्योगो प्रवर्तते येनासावाकर्ण्यते ?, उच्यते-धर्मकथावसरे। किंभूतस्तैः पुनर्धर्मः प्रवेदितस्तद् वक्ष्यते 'लोगसार' शब्दे)

तथा च-

केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं, केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

केवलिप्रज्ञप्तः, कोऽसौ ?, धर्मः श्रुतधर्मः चारित्रधर्मश्च मङ्गलम्, अनेन कपिलाऽऽदिप्रज्ञप्तधर्मव्यवच्छेदमाह्। आव० ४ अ०।

अपि च-

कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसले हि दीवयं।
कममेव गहाय णो कलिं, नो तेयं नो चेव दावरं॥२३॥

कुत्सितो जयोऽस्येति कुजयो द्यूतकारः, महतोऽपि द्यूतजयस्य सद्भिर्निन्दितत्वादनर्थहेतुत्वाच्च कुत्सितत्वमिति। तमेव विशिनष्टि-अपराजितो दीव्यन् कुशलत्वादन्येन न जीयते। अक्षैर्वा पाशकैर्दीव्यन् क्रीडंस्तत्पातज्ञः कुशलो निपुणः यथा असौ द्यूतकारोऽक्षैः पाशकैः कपर्दकैर्वा रममाणः (कडमेव त्ति) चतुष्कमेव गृहीत्वा तल्लब्धजयत्वात् तेनैव दीव्यति। ततोऽसौ तल्लब्धजयः सन्न कलिमेकक, नाऽपि त्रेत त्रिक च, नापि द्वापर द्विकं गृह्णातीति॥२३॥

दार्ष्टान्तिकमाह-

एवं लोगम्मि ताइणा,
बुइए जे धम्मे अणुत्तरे।
तं गिण्हइ जंऽतिउत्तमं,
कडमिव सेसऽवहाय पमिए॥२४॥

यथा द्यूतकारः प्राप्तजयत्वात् सर्वोत्तम दीव्यं चतुष्कमेव गृह्णात्येवमस्मिंल्लोके मनुष्यलोके तायिना त्रायिणा वा सर्वज्ञेनोक्तोऽयं धर्मः क्षान्त्यादिलक्षणः श्रुतचारित्राऽऽख्यो वा नाऽस्योत्तरोऽधिकोऽस्तीत्यनुत्तर, तमेकान्तहितमपि कृत्वाऽस्युत्तम सर्वोत्तम च गृहाण विस्रोतसिकारहितः स्वीकुरु। पुनरपि निगमनार्थं तमेव दृष्टान्त दर्शयति-यथा कश्चिद् द्यूतकारः कृत कृतयुग, चतुष्कमित्यर्थः, शेषमेकाऽऽद्यपहाय त्यक्त्वा दीव्यन् गृह्णाति, एव पण्डितोऽपि साधुरपि, शेष गृहस्थकुप्रावचनिकपार्श्वस्थाऽऽदिभावमपहाय सपूर्णं महान्त सर्वोत्तम धर्मं गृह्णीयादिति भाव॥२४॥

उत्तर मणुयाण आहिया,
गामधम्मा इइ मे अणुस्सुयं।
जंसी विरता समुट्ठिया,
कासवस्स अणुधम्मचारिणो॥२५॥

(उत्तरेत्यादि) उत्तराः प्रधाना, दुर्जयत्वात्। केषाम् ?, उपदेशार्हत्वान्मनुष्याणाम्। अन्यथा सर्वेषामेवेति। के ते ?, ग्रामधर्माः शब्दाऽऽदिविषया मैथुनरूपा वेति। एव ग्रामधर्मा उत्तरत्वेन सर्वज्ञैराख्याताः, मयैतदनुपश्चाच्छ्रुतम्। एतच्च सर्वमेव प्राग्उक्त, यच्च वक्ष्यमाण तन्नाभेयेनाऽऽदितीर्थकृता पुत्राननुदिश्याऽभिहित सत् पाश्चात्यगणधराः सुधर्मस्वामिप्रभृतयः स्वशिष्येभ्य प्रतिपादयन्त्यतो मयैतदनुश्रुतमित्यनवद्यम्। यस्मिन्निति कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी, सप्तमी वेति। यान् ग्रामधर्मानाश्रित्य ये विरताः, पञ्चम्यर्थे वा सप्तमी। येभ्यो वा विरताः सम्यक् सयमरूपेणोत्थिताः समुत्थितास्ते काश्यपस्यर्षभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा संबन्धी यो धर्मस्तदनुचारिणस्तीर्थकरप्रणीतधर्मानुष्ठायिनो भवन्तीत्यर्थः॥२५॥

किं च-

जे एय चरंति आहियं,
नाएणं महया महेसिणा।
ते उट्ठिय ते समुट्ठिया,
अन्नोन्नं सारति धम्मओ॥२६॥

(जे एय इत्यादि)। ये मनुष्या एनं प्रागुक्त धर्मं ग्रामधर्मविरतिलक्षणं, कुर्वन्ति चरन्ति। आख्यातं ज्ञातेन ज्ञातपुत्रेण, (महयेति) महाविषयस्य ज्ञानस्याऽनन्यभूतत्वाद् महान् तेन तथाऽनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुत्वान्महर्षिणा श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिना आख्यातं धर्मं ये चरन्ति, ते एव सयमोत्थाने कुतीर्थिकपरिहारेणोत्थिताः। तथा-निह्नवाऽऽदिपरिहारेण त एव सम्यक्त्वमार्गदेशनाऽपरित्यागेनोत्थिताः समुत्थिता इति, नाऽन्ये कुप्रावचनिका जमालिप्रभृतयश्चेति भावः। त एव च यथोक्तधर्मानुष्ठायिनोऽन्योऽन्य परस्पर धर्मतो धर्ममाश्रित्य धर्मतो वा भ्रश्यन्त सारयन्ति चोदयन्ति, पुनरपि सद्धर्मे प्रवर्तयन्तीति॥२६॥

मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवहिं धुणित्तए।
जे दूमण तेहिँ णो णया, ते जाणंति समाहिमाहियं॥२७॥

(मा पेहेत्यादि) दुर्गति ससारं वा प्रणामयन्ति प्रह्वीकुर्वन्ति प्राणिनां प्रणामकाः शब्दाऽऽदयो विषयास्तान् पुरा पूर्वं भुक्तान् मा प्रेक्षस्व मा स्मर। तेषां स्मरणमपि यस्मान्महतेऽनर्थाय, अनागतांश्च नोद्दिक्षेत नाऽऽकाङ्क्षेदिति। तथा-अभिकाङ्क्षेत् अभिलषेदनारतं चिन्तयेदनुरूपमनुष्ठान कुर्यात्। किमर्थमिति दर्शयति-उपधीयते ढौक्यते दुर्गतिं प्रत्यात्मा येनाऽसावुपधिर्मायाः अष्टप्रकारं वा कर्म; तद्धूननायाऽपनयनायाऽभिकाङ्क्षेदिति सम्बन्धः। दुष्टधर्मं प्रत्युपनता कुमार्गानुष्ठायिनस्तीर्थिकाः। यदि वा-(दूमण त्ति) दुष्टमन कारिण उपतापकारिणो वा शब्दाऽऽदयो विषयास्तेषु ये महासत्त्वाः न नताः प्रह्वीभूतास्तदाचारानुष्ठायिनो न भवन्ति, ते च सन्मार्गानुष्ठायिनो जानन्ति विदन्ति समाधिं रागद्वेषपरित्यागरूप धर्मध्यान च आहितमात्मनि व्यवस्थितम्। आ समन्ताद्धित वा त एव जानन्ति, नाऽन्य इति भावः॥२७॥

तथा-

णो काहिए होज्ज संजए,
पासणिए ण य संपसारए।
नच्चा धम्मं अणुत्तरं,
कयकिरिए ण यावि मामए॥२८॥

(णो काहिए इत्यादि) सयत प्रव्राजित कथया चरति काथिको गोचराऽऽदौ न भवेत्। यदि वा-विरुद्धां पैशुन्याऽऽपादनीं स्त्र्यादिकथां वा न कुर्यात्। तथा-प्रश्नेन राजाऽऽदिकिंवृत्तरूपेण, दर्पणाऽऽदिप्रश्ननिमित्तरूपेण वा चरतीति प्राश्निको न भवेत्। नापि च सप्रसारको देववृष्ट्यनर्थकाण्डाऽऽदिसूच-

कथाविस्तारको भवेदिति । किं कृत्वेति दर्शयति-ज्ञात्वाऽवबुध्य नास्योत्तरो विद्यत इत्यनुत्तरस्तं श्रुतचारित्राऽऽख्यं धर्मं सम्यगवगम्य, तस्य हि धर्मस्यैतदेव फलं यदुत विकथानिमित्तपरिहारेण सम्यक् क्रियावान् स्यादिति तद्दर्शयति कृता स्वभ्यस्ता क्रिया संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियस्तथाभूतश्च, न चाऽपि मामको ममेदमहमस्य स्वामीत्येव परिग्रहाऽऽग्रही भवेदिति ॥ २८ ॥

छन्नं च पसंस णो करे, न य उक्कोस पगास माहणे ।
तेसिं सुविवेगमाहिए, पणया जेहिँ सुजोसिअं धुयं ॥२९॥

(छन्नमित्यादि) 'छन्न ति' माया, तस्याः स्वाभिप्रायप्रच्छादनरूपत्वात्, तां न कुर्यात् । चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थे । तथा-प्रशस्यते सर्वैरप्यविगानेनाऽऽद्रियत इति प्रशस्यो लोभ, त च न कुर्यात् । तथा-जात्यादिभिर्मदस्थानैर्लघुप्रकृतिं पुरुषमुत्कर्षयतीत्युत्कर्षको मान, तमपि न कुर्यादिति सम्बन्धः । तथा-अन्तर्व्यवस्थितोऽपि मुखदृष्टिभङ्गविकारैः प्रकाशीभवतीति प्रकाश क्रोध, त च (माहणे त्ति) साधुर्न कुर्यात् । तेषां कषायाणां यैर्महात्मभिर्विवेकः परित्याग आहितो जनितस्त एव धर्मं प्रति प्रणता इति । यदि वा-तेषामेव सत्पुरुषाणां सुष्ठु विवेकः परिज्ञानरूप आहित प्रथित प्रसिद्धिं गत., त एव च धर्मं प्रति प्रणताः, यैर्महासत्त्वैः सुष्ठु जुष्टं सेवित, धूयतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तद्धूत संयमानुष्ठानम् । यदि वा-यैः सदनुष्ठायिभि (सुजोसिअं ति) सुष्ठु क्षिप्त धूननार्हत्वाद् धूतं कर्मेति ॥ २९ ॥

अपि च-

अणिहे सहिए सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।
विहरेज्ज समाहिइंदिए, अत्तहिअं खु दुहेण लब्भइ ॥३०॥

(अणिहे इत्यादि) स्निह्यत इति स्निहः । न स्निहः-अस्निह, सर्वत्र ममत्वरहित इत्यर्थः । यदि वा-परीषहोपसर्गैर्निहन्यते इति निहः, न निहोऽनिह उपसर्गैरपराजित इत्यर्थः । पाठान्तर वा-" अणहे त्ति । " नास्याघमस्तीत्यनघो, निरवद्यानुष्ठायीत्यर्थः । सह हितेन वर्तत इति सहित, सहितो युक्तो वा ज्ञानाऽऽदिभिः, स्वहित आत्महितो वा सदनुष्ठानप्रवृत्तेः । तमेव दर्शयति-सुष्ठु संवृत इन्द्रियनोइन्द्रियैर्विस्रोतसिकारहित इत्यर्थः । तथा-धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थः प्रयोजनं, स एवार्थः, तस्यैव सद्भिरर्थ्यमानत्वाद् धर्मार्थः, स यस्याऽस्तीति स धर्मार्थी । तथोपधानं तपः, तत्र वीर्यवान्, स एवम्भूतो विहरेत् संयमानुष्ठान कुर्यात् । समाहितेन्द्रियः संयतेन्द्रिय एव । यत आत्महित दुःखेनाऽसुमता संसारे पर्यटता सद्धर्मानुष्ठानेन लभ्यते अवाप्यत इति । तथाहि-"न पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतक तडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥ १ ॥" तथाहि-युगसमिलाऽऽदिदृष्टान्तनीत्या मनुष्यजन्म एव तावद् दुर्लभं, तत्राऽप्यार्यक्षेत्राऽऽदिकं दुरापमित्यत आत्महितं दुःखेनाऽवाप्यत इति मन्तव्यम् ।

अपि च-

[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

भवति बले चाऽऽयुष्क, प्रकृष्टमायुष्कतोऽपि विज्ञानम् ।
विज्ञाने सम्यक्त्वं, सम्यक्त्वे शीलसंप्राप्तिः ॥ ३ ॥
एतत्पूर्वश्चाऽयं, समासतो मोक्षसाधनोपायः ।
तत्र च बहु सम्प्राप्तं, भवद्भिरल्प च सम्प्राप्यम् ॥ ४ ॥
तत्कुरुतोद्यममधुना, मदुक्तमार्गे समाधिमाधाय ।
त्यक्त्वा सङ्गमनार्य, कार्यं सद्भिः सदा श्रेयः ॥ ५ ॥ " इति ।
॥ ३० ॥

एतच्च प्राणिभिर्न कदाचिदवाप्तपूर्वमित्येतद्दर्शयितुमाह—

ण हि णूण पुरा अणुस्सुतं,
अदुवा त तह णो समुट्ठियं ।
मुणिणा सामाइआऽऽहितं,
नाएणं जगसव्वदंसिणा ॥ ३१ ॥

यदेतन्मुनिना जगत सर्वभावदर्शिना ज्ञातपुत्रीयेण सामायिकाऽऽद्याहितमाख्यात तन्नून निश्चित न हि नैव पुरा पूर्वं जन्तुभिरनुश्रुत श्रवणपथमायातम् । अथवा-श्रुतमपि तत् सामायिकाऽऽदि यथाऽवस्थित तथा नाऽनुष्ठितम् । पाठान्तर वा-"अवितह त्ति" अवितथ यथावन्नानुष्ठितमतः कारणादसुमतामात्महित सुदुर्लभमिति ॥ ३१ ॥

पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याऽऽह-

एवं मत्ता महतरं, धम्ममिणं सहिया बहू जणा ।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा, विरया तिन्न महोघमाहितं ॥ ३२ ॥

(एव मत्ता इत्यादि) एवमुक्तरीत्या आत्महितं सुदुर्लभ मत्वा ज्ञात्वा धर्माणां च महदन्तर धर्मविशेष कर्मणो वा विवरं ज्ञात्वा । यदि वा-(महतर ति) मनुष्याऽऽर्यक्षेत्राऽऽदिकमवसर सदनुष्ठानस्य ज्ञात्वा एत जैन धर्मं श्रुतचारित्राऽऽत्मकं, सह हितेन वर्तत इति सहिता ज्ञानाऽऽदियुक्ता बहवो जना लघुकर्माणः समाश्रिताः सन्तो गुरोराचार्याऽऽदेस्तीर्थकरस्य वा छन्दानुवर्त्तकास्तदुक्तमार्गानुष्ठायिनो, विरताः पापेभ्यः कर्मभ्यः सन्तस्तीर्णा महौघमपार संसारसागरमेवमाख्यातं मया भवतामपरैश्च तीर्थकृद्भिरन्येषाम् ॥ ३२ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

किं च-

संघए साहुधम्मं च, पावधम्मं णिराकरे ।
उवहाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं न पत्थए ॥ ३५ ॥

(संधए इत्यादि) साधूनां धर्मः क्षान्त्यादिको दशविधः, सम्यग्दर्शनचारित्राऽऽख्यो वा, तमनुसन्धयेद् वृद्धिमापादयेत् । तद्यथा-प्रतिक्षणमपूर्वज्ञानग्रहणेन ज्ञानम् । तथा शङ्काऽऽदिदोषपरिहारेण, सम्यग्जीवाऽऽदिपदार्थाधिगमेन च सम्यग्दर्शनमस्खलितमूलोत्तरगुणसम्पूर्णपालनेन प्रत्यहमपूर्वज्ञानग्रहणेन चारित्रवृद्धिं मापादयेदिति । पाठान्तर वा-" सद्दहे साधुधम्मं च " पूर्वोक्तविशेषणविशिष्ट साधुधर्मं मोक्षमार्गत्वेन श्रद्दधीत निःशङ्कतया गृह्णीयात्, चशब्दात्सम्यगनुपालयेच्च । तथा-पाप पापोपादानकारणं धर्मं प्राण्युपमर्दैन प्रवृत्तं, निराकुर्यात् । तथा-उपधानं तप तत्र यथाशक्त्या वीर्यं यस्य स भवत्युपधानवीर्यं, स एवम्भूतो भिक्षुः क्रोधं, मानं च न प्रार्थयेत् न वर्धयेदिति ॥ ३५ ॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं,
समाहितं अट्ठपदोवसुद्धं ।
तं सद्दहाणा य जणा अणाऊ,
इंदा व देवाहिव आगमिस्संति ॥ २९ ॥

(सोच्चा य इत्यादि) श्रुत्वा च दुर्गतिधारणाद् धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यमर्हद्भिर्भाषितं सम्यगाख्यातमर्थपदानि युक्त्या हेतवो वा तैरुपशुद्धमवदातं सद्युक्तिकं सद्धेतुकं वा, यदि वा अर्थैरभिधेयैः पदैश्च वाचकैः शब्दैरुप सामीप्येन शुद्धं निर्दोषम् । तमेवभूतमर्हद्भिर्भाषितं धर्मं श्रद्दधाना । तथा-अनुतिष्ठन्तो जना लोका अनायुषोऽनपगतायुष्कर्माणः सन्तः सिद्धाः सायुषश्चेन्द्राऽऽद्या देवाधिपा आगमिष्यन्तीति ॥ २९ ॥ सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

(२६) धर्माधर्मविचारश्च सूक्ष्मबुद्ध्या कर्तव्यः, धर्मविचारे सूक्ष्मबुद्धेराश्रयणीयतामुपदिशन्नाह-

सूक्ष्मबुद्ध्या सदा ज्ञेयो, धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः ।
अन्यथा धर्मबुद्ध्यैव, तद्विघातः प्रसज्यते ॥ १ ॥

(सूक्ष्मेति) सूक्ष्मबुद्ध्या निपुणमत्या, सदा सर्वकालं, ज्ञेयो ज्ञातव्यः, कोऽसावित्याह-धर्मो दुर्गतिप्रपातरक्षणे हेतुः, कैरित्याह-धर्मार्थिभिर्धर्मश्रद्धालुभिर्नरैर्मानवैः, अन्यथा स्थूलबुद्ध्या धर्मविवेचने कुतीर्थिकानामिव धर्मबुद्ध्यैव धर्माभिप्रायेणापि, तद्विघातो धर्मव्याहतिः । प्रसज्यते प्राप्नोतीति ॥ १ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह-

गृहीत्वा ग्लानभैषज्य-प्रदानाभिग्रहं यथा ।
तदप्राप्तौ तदन्तेऽस्य, शोकं समुपगच्छतः ॥ २ ॥

गृहीत्वा आदाय, ग्लानायाशक्ताय, भैषज्यप्रदाने औषधवितरणविषये, योऽभिग्रहः प्रतिज्ञा, ग्लानाय मया भैषज्यं दातव्यमित्येवंरूपः स तथा तं, यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, तस्य ग्लानत्वाभावेन ग्लानभैषज्यप्रदानस्याप्राप्तिरसंभवस्तदप्राप्तिस्तस्यां, तस्य ग्लानभैषज्यप्रदानाभिग्रहस्यान्ते कालावधिपूर्त्या पर्यवसानतस्तत्र, शोकमुद्वेगं, समुपगच्छतो व्रजतोऽभिग्रहीतुर्धर्मबुद्ध्याऽप्यधर्मो भवति । तथा सर्वत्रेति प्रकृतमिति ॥ २ ॥

शोकमेव दर्शयति-

गृहीतोऽभिग्रहः श्रेष्ठो, ग्लानो जातो न च क्वचित् ।
अहो मेऽधन्यता कष्टं, न सिद्धमभिवाञ्छितम् ॥ ३ ॥

गृहीत आत्तोऽभिग्रह उक्तरूपा प्रतिज्ञा, श्रेष्ठोऽतिप्रशस्यः, ग्लानो रोगवान् जातो भूतो वा, मे मम, धनं लब्धुं धनं वार्हतीति धन्यस्तद्भावस्तत्ता, तन्निषेधोऽधन्यता, कष्टमिति खेदवचनं, न सिद्धं न निष्पन्नमभिवाञ्छितमभिमतमिति ॥ ३ ॥

प्रकृतयोजनायाऽऽह-

एवं ह्येतत्समादानं, ग्लानभावाभिसन्धिमत् ।
साधूनां तत्त्वतो यत्तद्, दुष्टं ज्ञेयं महात्मभिः ॥ ४ ॥

एवमनेन प्रकारेणाभिग्रहविषयाप्राप्तौ शोकगमनलक्षणेन, हिशब्दोऽधिकृताभिग्रहस्य धर्मव्याघातरूपताभावनार्थः । एतस्य ग्लानभैषज्यप्रदानाभिग्रहस्य समादानं ग्रहणमेतत् समादानं, यच्छब्दोऽत्र द्रष्टव्यो, यद्यस्मात् ग्लानभावे रोगवत्त्वेऽभिसन्धिरभिप्रायो यदि कश्चित् साधुर्ग्लानो भवति तदा शोभनं स्याद्सदभिग्रहस्य सफलत्वप्राप्तेरित्येवंलक्षणो विद्यते यत्र तत् ग्लानभावाभिसन्धिमत्, साधूनां मुनीनामेतत्समादानमिति योगः । अथवा-साधूनां ग्लानभावाभिसन्धिमदिति योगः । तत्तत्त्वतः परमार्थवृत्त्या नाऽन्यथेति तस्मात्कारणाद् दुष्टं दोषवत्, ग्लानभावाभिसन्धिमत्त्वेन कर्मबन्धहेतुत्वात्, ज्ञेयं ज्ञातव्यं, महात्मभिः प्रशस्यस्वभावैरिति ॥ ४ ॥

एवमर्थापत्त्या दोषप्राप्तिरन्यैरप्युपलब्धेति दर्शयन्नाह-

लौकिकैरपि चैषोऽर्थो, दृष्टः सूक्ष्मार्थदर्शिभिः ।
प्रकारान्तरतः कैश्चि-द्यत एतदुदाहृतम् ॥ ५ ॥

लोके विदिता लौकिका वाल्मीकिप्रभृतयः, तैरपि च न केवलं जैनैरेव, एषोऽनन्तरोदितोऽर्थोऽर्थापत्तिजनितदोषलक्षणो, दृष्ट उपलब्धः । किंभूतैरित्याह-सूक्ष्मार्थदर्शिभिः पटुदृष्टिभिर्ये यद्वस्तुविवेचकैर्न वै ह्यतिस्थूलबुद्धयोऽर्थापत्तिगम्यानेवंविधानर्थान् ज्ञातुमलं भवन्ति, ननु मिथ्यादृशां कथं सूक्ष्मार्थदर्शित्वम् ? । उच्यते मत्यज्ञानाऽऽवरणाऽऽक्षयोपशमविशेषात् अज्ञानं, तर्हि तेषां कथम् ?, नन्वाऽप्युच्यते-सदसतोरविशेषात् आह च-
" सयसयविसेसणाओ गाहा । " प्रकारान्तरतः-अस्मदुक्तप्रकाराद् ग्लानभैषज्यदानाभिग्रहलक्षणादन्येन प्रकारेण कैश्चिद्वाल्मीक्यादिभिरेव, न सर्वैः, कथं तैर्दृष्टोऽयमित्यवगमितमित्याह-यतो यस्मादेतद् वक्ष्यमाणमुदाहृतमभिहितमिति ॥ ५ ॥

अङ्गेष्वेव जरां यातु, यत्त्वयोपकृतं मम ।
नरः प्रत्युपकाराय, विपत्सु लभते फलम् ॥ ६ ॥

किल सुग्रीवेण ताराऽऽवाप्तौ रामदेव एवमुक्तः-अङ्गेष्वेव मदीयगात्रेष्वेव जरां जरणपरिणामं यातु गच्छतु, मा प्रत्युपकारद्वारेण प्रतियातनीयं भवत्वित्यवधारणार्थः, किं तत् ?, यद्वालेः सकाशात् तारां विमोच्य मम तदर्पणेन त्वया भवता उपकृतमुपकारः कृतं, ममेत्यात्मानं सुग्रीवो निर्दिशति । तस्मात् किमित्येवमित्याह-नरः उपकारकारिमानवः उपकारं प्रतीत्याऽर्थित्योपकारः प्रत्युपकारः तस्मै प्रत्युपकाराय उपकृतनरेण क्रियमाणाय संपद्यते यत्फलं विपत्सु व्यसनेषु सत्सु लभते प्राप्नोति तत्फलमुपकारकारिक्रियायाः साध्यम् । अयमभिप्रायः-उपकारको व्यसनगत एव उपकारक्रियायाः फलमुपकृतेन कृतं लभते, न पुनरन्यदा व्यसनाभावे, निरवसरत्वेन तदसंभवादिति । किमुक्तं भवति ?-मा त्वमापदं प्राप, यस्यामहं भवन्तमुपकरोमीति । अन्ये त्वाहुः-नरः उपकृतमानवः, प्रत्युपकारार्थं विपत्सूपकारकारि व्यसनेषु लभते फलं, फलहेतुत्वादवसरमिति ॥ ६ ॥

एवं तावद्धर्मार्थप्रवृत्तावपि धर्मव्याघातो भवत्यनिपुणबुद्धीनां ग्लानभैषज्याभिग्रहप्रवृत्ताविवेति समर्थितम्, अधुनैवमेव सर्वास्वपि प्रवृत्तिष्विति दर्शयन्नाह-

एवं विरुद्धदानाऽऽदौ, हीनोत्तमगतेः सदा ।
प्रव्रज्याऽऽदिविधाने च, शास्त्रोक्तन्यायबाधिते ॥ ७ ॥
द्रव्याऽऽदिभेदतो ज्ञेयो, धर्मव्याघात एव हि ।
सम्यग् माध्यस्थ्यमालम्ब्य, श्रुतधर्मव्यपेक्षया ॥ ८ ॥

यथा ग्लानभैषज्यदानाभिग्रहे धर्मबुद्ध्या कृतेऽपि धर्मबुद्धिदोषाद् धर्मव्याघातः प्रसज्यत्येवमनेनैव न्यायेन विरुद्धस्य शास्त्रविनिवारितस्य जीवोपघातहेतुत्वाद्देयद्रव्यस्याऽऽधाकर्माऽऽदिदोषदूषितस्य तिलाऽऽदेर्वा विरुद्धाय वा भक्तदोषत्वेन शास्त्रनिरा

कृताय पात्राय,दानं वितरणं विरुद्धदानं,तदादिर्यस्य शीलतपोभावनाधर्मस्य गुरुविनयऽऽदेवतापूजनाऽऽदेर्वा स विरुद्धदानाऽऽदिस्तत्र द्रव्याऽऽदिभेदतो धर्मव्याघात एव,ज्ञेय इति योगः। कुत इत्याह हीनस्य गुणविमुक्तस्य,देयद्रव्यपात्रस्य वा उत्तमं प्रधानमेतदिति गतिरवगमो बोधो हीनोत्तमगतिः, तनो हीनोत्तमगतेः सदा सर्वदा,शास्त्रनिराकृतत्वेन हि हीनमपि देयं पात्रं चोत्तममिति बोधविपर्ययादनवगच्छन् यदा दाने प्रवर्त्तते,तदा धर्मस्य व्याघात स्फुट एवेति। दातव्यद्रव्यविरुद्धता च-"अन्नाईणं सुद्धा-ण कप्पणिज्जाण देसकालजुयं। दाणं जईणमुचियं, गिहीण सि-क्खावयं भणियं ॥ १ ॥" इत्येतद्दानविशेषणविपर्ययादवसेया। पात्रविरुद्धता पुनरेवम्-"सीहत्वयरहियाए,दाणं जं दिज्जई कु-पत्ताए। तं खलु धोवइ वत्थं, रुहिरकयं लोहितेणेव ॥ १ ॥" तथा प्रव्रज्याऽऽदीनां सर्वविरतिप्रतिपत्तिप्रभृतीनां विधानं करणं प्रव्रज्याऽऽदिविधानम्, आदिशब्दाद्देशविरत्यादिसंग्रहः। तत्र च न केवलं विरुद्धदानाऽऽदावेव, किंभूते प्रव्रज्याऽऽदिविधाने ?,इत्याह-शास्त्रोक्तन्यायबाधिते आगमाभिहितनयनिराकृते, हीनोत्तमगतेरिति हेतुरिहापि वर्तते, धर्मव्याघातो ज्ञेय इत्येतदपि सम्बन्धनीयं,तत्र प्रव्रज्याऽऽदिविधाने शास्त्रोक्तोऽयं न्यायः-

" नियनियसहावलोयण--जणवायावगमजोगसुद्धीहिं ।
उचियत्तं नाऊणं, निमित्तओ सइ पयट्टेज्जा ॥ १ ॥ "

तथा-

" पव्वज्जाए जोग्गा, आरियदेसम्मि जे समुप्पन्ना ।
जाइकुलेहिं विसिट्ठा, तह खीणप्पायकम्ममला ॥ १ ॥ "

इत्यादौ ।

देशविरतौ पुनः-

" गुरुमूलेसु य धम्मो, सविग्गो इत्तर व इयरं वा ।
वज्जेसु तओ सम्मं, वज्जेइ इमे अईयारे ॥ १ ॥ "

जिनदीक्षायां तु-

" दिक्खाए चेव रागो, लोगविरुद्धाण चेव चागो त्ति ।
सुंदरगुरुजोगो च्चिय, जस्स तओ एत्थ उचिओ त्ति ॥१॥ "

एतद्बाधा चैतद्विपर्ययाऽदिति द्रव्याऽऽदिभेदतो द्रव्यक्षेत्रकालभावविशेषानाश्रित्य विरुद्धदानाऽऽदौ प्रव्रज्याऽऽदिविधाने च ज्ञेयो ज्ञातव्यो धर्मव्याघात। एव च धर्मबाधैव,न तु धर्माऽऽराधन, तत्र विरुद्धदाने द्रव्यतो धर्मव्याघातो,यथैषणीयत्वेनाविरुद्धद्रव्ये कूराऽऽदौ साधुसंस्तरणहेतौ सत्यपि अनेषणीयतया विरुद्धम्,अन एव हीनमुत्तममिति बुद्ध्या ददत। एव क्षेत्रतोऽकान्ताराऽऽदिक्षेत्रे, कालत सुभिक्षकाले, भावतस्त्वग्लानावस्थायाम्। उक्त च-"संथरणम्मि असुद्धं, दोण्ह वि गिण्हतदेंतयाण हियं। आउरदिट्ठंतेण, तं चेव हियं असंथरणे ॥ १॥" तथा प्रव्रज्याऽऽदिविधाने औत्सर्गिकशास्त्रबाधिते द्रव्यतो धर्मव्याघातो यथा-शास्त्रनिराकृत नपुंसकाऽऽदिक जीवद्रव्य प्रव्राजयत, क्षेत्रतोऽकान्ताराऽऽदिक्षेत्रे, कालत सुभिक्षकाले, भावत स्वस्थावस्थायामिति। हिशब्द स्फुटार्थ । कथ धर्मव्याघातो ज्ञेय इत्याह-सम्यगविपरीत, मध्यस्थमनाग्रहत्वमालम्ब्याऽऽश्रित्य, तदपि न स्वरुच्या, किं तु शुभधर्मव्यपेक्षया आगमापेक्षया, न तु तदनपेक्षयेति ॥ ८ ॥ हा० २१ अष्ट०। (अथ कस्य धर्मानुष्ठानत्व, कस्य नेति ' धम्माणुट्ठाण ' शब्देऽग्रे वक्ष्यते)

(३०) सयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्माऽऽदीनां धर्मस्थितत्वाधर्मस्थितत्वाऽऽदि यथा -

से नूणं भंते ! संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे धम्मे ठिए, असंजयअविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मए अहम्मे ठिए, संजयासंजए धम्माधम्मे ठिए ? । हंता ! गोयमा ! संजयविरय० जाव धम्माधम्मे ठिए । एएसि णं भंते ! धम्मंसि वा अहम्मंसि वा धम्माधम्मंसि वा चक्किया केइ आसइत्तए वा० जाव तुयट्टित्तए वा ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं खाइअट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ० जाव धम्माधम्मे ठिए ? । गोयमा ! संजयविरय ० जाव पावकम्मे धम्मट्ठिए धम्मं चेव उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, असंजयपावकम्मे अहम्मे ठिए अहम्मं चेव उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, संजयासंजए धम्माधम्मे ठिए धम्माधम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । से तेणट्ठेणं गोयमा !० जाव ठिए ।

(से नूण भंते ! इत्यादि) (धम्म त्ति) सयमे (चक्किया केइ आसइत्तए चेति) धर्माऽऽदौ शक्नुयात्कश्चिदासयितुम् ?। नायमर्थ समर्थो, धर्माऽऽदेरमूर्तत्वात्। मूर्त एव ह्याऽऽसनाऽऽदिकरणस्य शक्यत्वादिति। भ० १७ श० २ उ०।

"तिविहे धम्मे पण्णत्ते। तं जहा-सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे।" स्था० ३ ठा०३ उ०। (व्याख्या सत्वशब्दे द्रष्टव्या)

अथ धर्मस्थितत्वाऽऽदिक दण्डकेन निरूपयन्नाह-

जीवा णं भंते ! किं धम्मे ठिया, अहम्मे ठिया, धम्माधम्मे ठिया ? । गोयमा ! जीवा धम्मे वि ठिया, अहम्मे वि ठिया, धम्माधम्मे वि ठिया । णेरइया णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! णेरइया णो धम्मे ठिया, अहम्मे ठिया, णो धम्माधम्मे ठिया । एवं० जाव चउरिंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णो धम्मे ठिया, अहम्मे ठिया, धम्माधम्मे वि ठिया । मणुस्सा जहा जीवा, वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइया । भ० १७ श० २ उ० ।

धर्मप्रतिपादके सूत्रकृताङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य नवमेऽध्ययने च । स० २१ सम० । प्रश्न० । आव० । (तदधिकारार्थवक्तव्यता ' धम्मज्झयण ' शब्दे वक्ष्यते) धर्मसारभूतत्वात् षड्जीवनिकाऽऽख्यदशवैकालिकस्य चतुर्थेऽध्ययने, दश० ४ अ० । (तदधिकारार्थवक्तव्यता "छज्जीवणिकाय" शब्दे तृ० भा० १३४५ पृष्ठे गता) धर्मभाव गतो धर्म"। आ० चू० ५ अ० । चरणश्रुतधर्मानुगते ध्यानभेदे,आव० ४ अ० । "धम्माणुरजिय धम्म।" आ० चू० ४ अ० । आव० । उत्त० (एतद्वक्तव्यता ' धम्मज्झाण ' शब्दे वक्ष्यते) आत्मनि, देहधारणाद् जीवे, धनुर्गुणरूपे, उपमायाम्, न्याये, उपनिषदि, यमे, सोमाध्यायिनि, सत्सङ्गे च । वाच० । दुर्गतौ प्रपतन्त सत्वसङ्घात धारयतीति धर्मः ।

पञ्चदशे जिने, आ० म० २ अ० । स० । आ० चू० । प्रव० । ती० । ध० । अनु० । (एतद्वक्तव्यता 'धम्मजिण' शब्दे वक्ष्यते) आचार्य्यसिंहस्य शिष्ये शाण्डिल्यस्य गुरौ काश्यप गोत्रोत्पन्ने स्वनामख्याते आचार्ये, "थेरस्स ण अज्जसीहस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण । "धम्म पि अ कासववंदे।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण । आचार्य्यहास्तिनः शिष्ये आचार्य्यसिंहस्य गुरौ सुव्रतगोत्रे स्वनामख्याते आचार्ये, "थेरस्स ण अज्जहत्थिस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी सुव्वयगोत्ते।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण । "वंदामि अज्जधम्मं, सुव्वय सीललद्धिसंपन्नं।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण । विराटविषयस्थसिंहपुरनगरस्थे स्वनामख्याते ग्रामचौरे च । पु० । दर्श० २ तत्त्व । धनुषि, "कोयण्डं गंडीवं धम्मं धणुय सरासणं चावं।" को० । ज्योतिषोक्ते लग्नान्नवमस्थाने च । न० । वाच० ।

विषयसूची-

धम्म्य-त्रि० । धर्मादनपेतः, धर्मेण प्राप्यो वा यत् । धर्मयुक्ते, धर्मजन्ये च । वाच० । उत्त० । धर्मः क्षमाऽऽदिलक्षण., तस्मादनपेतं धर्म्यम् । प्रव० ६ द्वार । जिनप्रणीतभावश्रद्धानाऽऽदिलक्षणे ध्यानभेदे, न० । आव० ४ अ० ।

धम्मउर-धर्मपुर-न० । स्वनामख्याते पुरभेदे, दर्श० १ तत्त्व ।

धम्मंग-धर्माङ्ग-न० । धर्मस्य कुशलाऽऽत्मपरिणामविशेषस्याङ्गमवयवः कारणं वा धर्माङ्गम् । धर्मस्यावयवे, धर्मस्य कारणे च । "धर्माङ्गख्यापनार्थं च, दानस्यापि महामतिः । (३)" द्वा० २७ अष्ट० ।

धम्मंतराइय-धर्मान्तरायिक-त्रि० । अन्तरायो विघ्नः, सोऽस्ति येषु तान्यन्तरायिकाणि, धर्मस्य चारित्रप्रतिपत्तिलक्षणस्यान्तरायिकाणि धर्मान्तरायिकाणि । वीर्यान्तरायचारित्रमोहनीयभेदे, "धम्मंतराइयाणं कम्माणं।" भ० ९ श० ३१ उ० ।

धम्मंतराय-धर्मान्तराय-पुं० । धर्मविघ्ने, ग० ।

अथ धर्मान्तरायमाश्रित्य प्रस्तुतमेव निरूपयति-

सीलतवदाणभावण-चउविहधम्मंतरायभयभीए ।
जत्थ बहू गीयत्था, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥१००॥

दानं शीलं तपो भावना, एतेषां द्वन्द्वः, त एव चतस्रो विधाः प्रकारा यस्य दानशीलतपोभावनाचतुर्विधः । सूत्रे च बन्धानुलोम्याद् व्यत्ययनिर्देशः । एवंविधो धर्मः, तस्यान्तरायो विघ्नः, तस्माद्यद्भयं तेन भीताः साशङ्का यत्र गच्छे बहवो गीतार्था भवन्ति, हे गौतम ! स गच्छो भणितः । इति गाथाछन्दः ॥१००॥ ग० २ अधि० ।

धम्मंतेवासि (ण्)-धर्मान्तेवासिन्-पुं० । अन्ते समीपे वस्तुं शीलमस्येत्यन्तेवासी, धर्मार्थमन्तेवासी धर्मान्तेवासी । शिष्ये, स्था० १० ठा० । धर्मप्रतिबोधनतः शिष्यो धर्मार्थितयोपपन्नो वा शिष्यो धर्मान्तेवासी । शिष्यभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । "अहं णं तुब्भं धम्मंतेवासी।" शिल्पार्थग्रहणार्थमपि शिष्या भवन्तीत्यत उच्यते धर्मान्तेवासी । भ० १५ श० ।

धम्मकंखिय-धर्मकाङ्क्षित-त्रि० । धर्मे काङ्क्षा संजाताऽस्येति धर्मकाङ्क्षितः । धर्मेच्छावति, त० ।

धम्मकत्ता-धर्मकर्तृ-त्रि० । धर्मानुष्ठानविधायके, दर्श० ।

गुरो स्वरूपमाविष्कुर्वन्नाह-

धम्मन्नु धम्मकत्ता य, सया धम्मपरायणो ।
सत्ताणं धम्मसत्तत्थ-देसओ भयए गुरू ॥ ४२ ॥

धर्मज्ञो धर्मकर्ता च सदा धर्मानुष्ठानविधायकः, एवंविधो हि स्वपरोपकारकरणक्षमो विशेषेण भवति । यत उक्तम्-"गुणसुट्ठियस्स वयणं, घयमहुसित्तो व्व पावओ भाइ । गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहीणो जह पईवो ॥ १ ॥" सदा सर्वकालं धर्मपरायणो धर्मानुष्ठायी, तच्चैकदा क्वापि छद्मस्थपदस्य प्रवर्त्तते यस्तस्योभयलोकाविरोधकत्वात् । उक्तं च-" से दिया

वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा।" तथा सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थोपदेशको गुरुरुच्यत इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ दर्श० ४ तत्त्व।

धम्मकरण-धर्मकरण-न०। कुशलानुष्ठानाऽऽसेवने, पञ्चा० २ विव०।

धम्मकस-धर्मकष-पुं० "पाणवहाईआण, पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो। झाणज्झयणाईण, जो अ विही एस धम्मकसो ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे सम्यग्धर्मपरिशोधनोपायेषु कषच्छेदतापेषु प्रथमे उपाये, प० व० ४ द्वार। (तद्वक्तव्यता धर्मपरीक्षाऽवसरे 'धम्म' शब्देऽनुपदमेव गता)

धम्मकहा-धर्मकथा-स्त्री०। दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसङ्घातं धारयतीति धर्मः, तस्य कथनं कथा धर्मकथा। ओघ०। ध०। धर्मस्वरूपाया वार्त्ताया कथनं धर्मकथा। उत्त० २६ अ०। धर्मदेशनाऽऽदिलक्षणवाक्यप्रबन्धरूपे कथाभेदे, ग० २ अधि०। अहिंसाऽऽदिधर्मप्ररूपणा धर्मकथेति। औ०। यत् पुनः-इह परत्र च स्वयं च कर्मविपाकोपदर्शनं सा धर्मकथेति। बृ० १ उ० ३ प्रक०। धर्मकथा धर्मोपायकथा। उक्तं च-" दयादानक्षमाऽऽद्येषु, धर्माङ्गेषु प्रतिष्ठिता। धर्मोपादेयतागर्भा, बुधैर्धर्मकथोच्यते ॥ १ ॥" इयं चोत्तराध्ययनाऽऽदिरूपाऽवसेयेति। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

धर्मकथामेव दर्शयति-

अत्थि लोए, अत्थि य अलोए, एवं जीवा, अजीवा, बंधे, मोक्खे, पुण्णे, पावे, आसवे, संवरे, वेयणा, णिज्जरा, अरिहंता, चक्कवट्टी, बलदेवा, वासुदेवा, नरका, णेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, माया, पिया, रिसओ, देवा, देवलोआ, सिद्धी, सिद्धा, परिणिव्वाणं, परिणिव्वुया, अत्थि पाणाइवाए, मुसावाए, अदिण्णादाणे, मेहुणे, परिग्गहे। अत्थि कोहे, माणे, माया, लोभे० जाव मिच्छादंसणसल्ले। अत्थि पाणाइवायवेरमणे, मुसावायवेरमणे, अदिण्णादाणवेरमणे, मेहुणवेरमणे, परिग्गहवेरमणे० जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे। सव्वं अत्थिभावं अत्थि त्ति वयति, सव्वं णत्थिभावं णत्थि त्ति वयति, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति, फुसइ पुण्णपावे, पच्चायंति जीवा, सफले कल्लाणपावए। औ०।

तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ। तं जहा-अगारधम्मं, अणगारधम्मं च। अणगारधम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वयइ सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं, राईभोअणाओ वेरमणं; अयमाउसो! अणगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते, एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरमाणे आणाए आराहए भवति। अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ। तं जहा-पंच अणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं। पंच अणुव्वयाइं। तं जहा-थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे। तिण्णि गुणव्वयाइं। तं जहा-अणत्थदंडवेरमणं, दिसिव्वयं, उवभोगपरिभोगपरिमाणं। चत्तारि सिक्खावयाइं। तं जहा-सामाइअं देसावगासियं, पोसहोववासे, अतिहिसंविभागे, अपच्छिमा मारणंतिआ संलेहणा झूसणाराहणा, अयमाउसो! अगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते। औ०। भ०। उपा०।

भेदतो धर्मकथामाह-

धम्मकहा बोधव्वा, चउव्विहा धीरपुरिसपन्नत्ता।
अक्खेवणि विक्खेवणि, संवेगे चेव निव्वेए ॥९९॥

धर्मविषया कथा धर्मकथा, असौ बोद्धव्या चतुर्विधा धीरपुरुषप्रज्ञप्ता, तीर्थकरगणधरप्ररूपितेत्यर्थः। चातुर्विध्यमेवाऽऽह-आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगश्चैव, निर्वेद इति। सूचनात् सूत्रमिति न्यायात् संवेजनी, निर्वेदनी चैवेत्युपन्यासगाऽथाक्षरार्थः ॥९९॥ दश० ३ अ०।

आसां कथानां या यस्य कथनीयेत्येतदाह-

वेणइयस्स पढमया, कहा उ अक्खेवणी कहेयव्वा।
तो ससमयगहियत्थे, कहिज्ज विक्खेवणी पच्छा ॥१०॥

विनयेन चरति वैनयिकः शिष्यस्तस्मै प्रथमतया आदिकथनेन, कथा तु आक्षेपणी उक्तलक्षणा कथयितव्या। ततः स्वसमयगृहीतार्थे सति तस्मिन् कथयेद्विक्षेपणीमुक्तलक्षणामेव पश्चादिति गाथार्थः ॥ १० ॥

किमित्येतदेवमित्याह-

अक्खेवणिअक्खित्ता, जे जीवा ते लभंति संमत्तं।
विक्खेवणीएँ भज्जं, गाढतरागं च मिच्छत्तं ॥ ११ ॥

आक्षेपण्या कथया आक्षिप्ता आवर्जिता आक्षेपण्याक्षिप्ता ये जीवास्ते लभन्ते सम्यक्त्वम्। तथा-आवर्जनशुभभावस्य मिथ्यात्वमोहनीयक्षयोपशमोपायत्वात्। विक्षेपण्यां भाज्य सम्यक्त्वं कदाचिल्लभन्ते, कदाचिन्नेति, तच्छ्रवणात्तथाविधपरिणामभावात् गाढतरं वा मिथ्यात्वं जडमतेः परसमयदोषानवबोधाद् निन्दाकारिण एतेन द्रष्टव्या इत्यभिनिवेशेनेति गाथार्थः ॥ ११ ॥ दश० ३ अ०।

धर्मकथाकर्त्तुः किं फलं स्यादतस्तत्फलमाह-

धम्मकहाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ?। धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ, आगमिस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ ॥२३॥

धर्मकथया व्याख्यानरूपया निर्जरां जनयति। पाठान्तरतश्च प्रवचनं प्रभावयति प्रकाशयति। उक्तं हि-"पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तिओ तवस्सी य। विज्जासिद्धो य कवी, अट्ठेव पभावया भणिया॥१॥" (आगमिस्स भद्दत्ताए त्ति) सूत्रत्वादागमिष्यदित्यागामिकालभावि भद्रं कल्याणं यस्मिंस्तथा तस्य भावस्तया, यदि वा-आगमिष्यतीत्यागमः आगामिकालस्तस्मिन्

शाश्वत्कृतनया अनवरतकल्याणतयोपलक्षितं कर्म निबध्नाति शुभानुबन्धि शुभमुपार्जयतीति भावः ॥ २३ ॥ उत्त० २९ अ० ।

" गयरागदोसमोहा , धम्मकहं जे करेंति समयन्नू ।
अणुदियहमवीसंता, सव्वपावाण मुच्चंति ।" महा० ३ अ० ।

तथा च-

संखाइ धम्मं च वियागरंति,
बुद्धा हु ते अंतकरा भवंति ।
ते पारगा दोण्ह वि मोयणाए,
संसोधितं पण्हमुदाहरंति ॥ १८ ॥

सम्यक् ख्यायते परिज्ञायते यया सा संख्या, सद्बुद्धिस्तया स्वतो धर्मं परिज्ञायाऽपरेषां यथावस्थितं धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं व्याकुर्वन्ति प्रतिपादयन्ति । यदि वा-स्वपरशक्तिं परिज्ञाय पर्षदं वा प्रतिपाद्य चार्थं सम्यगवबुध्य धर्मं प्रतिपादयन्ति, ते चैवंविधा बुद्धाः कालत्रयवेदिनो जन्मान्तरसञ्चितानां कर्मणामन्तकरा भवन्ति । अन्येषां च कर्मापनयनसमर्था भवन्तीति दर्शयति-ते यथावस्थितधर्मप्ररूपकाद् द्वयोरपि पराऽऽत्मनो कर्मपाशविमोचनया स्नेहाऽऽदिनिगडविमोचनया वा करणभूतया संसारसमुद्रस्य पारगा भवन्ति । ते चैवंभूताः सम्यक् शोधितं पूर्वोत्तराविरुद्धं प्रश्नं शब्दमुदाहरन्ति । तथाहि-पूर्वं बुद्ध्या पर्यालोच्य कोऽयं पुरुषः कस्य चार्थस्य ग्रहणसमर्थोऽहं वा किंभूतार्थप्रतिपादनशक्त इत्येवं सम्यक् परीक्ष्य व्याकुर्यादिति । अथवा-परेण किञ्चिदर्थं पृष्टस्तं प्रश्नं सम्यक् परीक्ष्योदाहरेत् सम्यगुत्तरं दद्यादिति । तथा चोक्तम्-" आयरियसयधारि-पत्त अत्थेण सरियमुणिपत्त । तो सयमज्झयारे, ववहरिउं जे सुहं होंति ॥ १ ॥ " गीतार्थाः । यथावस्थितं धर्मं कथयन्तः स्वपरतारका भवन्तीति ॥ १८ ॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । (" लोगविजय " शब्दे विस्तरतो वक्ष्यते)

दुक्खसुमुणी अणाणाए तुच्छए गिलाइवत्तए एस वीरे पसंसिए अच्चे तिलोगसंजोग एसणाए पवुच्चति-जं दुक्खं पवेदितं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी, जहा पुण्णस्स कत्थति तहा तुच्छस्स कत्थति जहा तुच्छस्स कत्थति तहा पुण्णस्स कत्थति, अवि य हणे अणाढायमाणे,एत्थं पि जाण सेयंति णत्थि,केय पुरिसे कं च णए ?, एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए, उड्ढं अहं, तिरियं दिसासु, से सव्वओ सव्वपरिण्णाचारी ण लिप्पई छणपदेण,वीरे से मेहावी जे अणुग्घायणस्स खेयण्णे,जे य बंधपमोक्खमण्णेसी कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के ॥१०२॥ से जं च आरभे जं च णारंभे, अणारद्धं च ण आरभे, छणं छणं परिण्णाय लोगसण्णं च सव्वसो ॥१०३॥ उद्देसो पासगस्स णत्थि बाले पुण णिहे कामसमणुण्णो असमितदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ त्ति बेमि । आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

धर्मकथा यतीनां कीदृशीत्याह-

सज्झायाईसंतो, तित्थयरकुलाणुरूवधम्माणं ।
कुज्जा कहं जईणं, संवेगविवड्ढणिं विहिणा ॥

स्वाध्यायाऽऽदिश्रान्तः सत्तीर्थकरकुलानुरूपधर्माणां महात्मनाम्, किमित्याह-कुर्यात् कथां यतीनां संवेगविवर्द्धनीं विधिनाऽऽसनचलनाऽऽदिनेति गाथार्थः । पं० व० ३ द्वार । पुरुषेण केवलस्त्रीणां स्त्रिया च केवलपुरुषाणामग्रे धर्मकथा न कर्तव्या । तथा चोक्तम्-

वुड्ढाणं तरुणाणं, रत्तिं अज्जा कहेइ जा धम्मं ।
सा गणिणी गुणसागर !, पडिणीया होइ गच्छस्स ॥११६॥

वृद्धानां स्थविराणां, तरुणानां यूनां पुरुषाणां केवलानामकेवलानां वा (रत्तिं ति) " सप्तम्या द्वितीया " ॥८।३।१३७॥ इति प्राकृतसूत्रेण सप्तमीस्थाने द्वितीयाऽऽदिविधानात् रात्रौ या आर्या गणिनी (धम्मं ति) धर्मकथां कथयति , उपलक्षणत्वाद्दिवसेऽपि या केवलपुरुषाणां धर्मकथां कथयति , हे गुणसागर ! हे इन्द्रभूते ! सा गणिनी गच्छस्य प्रत्यनीका भवति । अत्र च गणिनीग्रहणेन शेषसाध्वीनामपि तथाविधाने प्रत्यनीकत्वमवसेयमिति । ननु कथं साध्व्यः केवलपुरुषाणामग्रे धर्मकथां न कथयन्ति ? । उच्यते-यथा साधवः केवलानां स्त्रीणां धर्मकथां न कथयन्ति, तथा साध्व्योऽपि केवलानां पुरुषाणामग्रे धर्मकथां न कथयन्ति । यत उक्तं श्रीउत्तराध्ययने-" नो इत्थीणं कहं कहत्ता हवइ, से निग्गंथे, तं कहमिति चे आयरियाऽऽह-निग्गंथस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जेज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणेज्जा,दीहकालियं वा रोगायंकं भवेज्जा,केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा,तम्हा खलु नो इत्थीणं कहं कहेज्ज त्ति ।"(नो इत्थीणं ति) नो स्त्रीणामेकाकिनीनां कथां कथयिता भवति, यथेदं दशब्रह्मचर्यसमाधिस्थानमध्ये द्वितीयं ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानं साधूनामुक्तं, तथा साध्वीनामप्येतद् युज्यते । तत्र साध्वीनां पुरुषाणामेव केवलानां कथाया अकथने भवतीति । तथा स्थानाङ्गेऽपि-"नो इत्थीणं कहं कहेत्ता हवइ ।" इदं नवब्रह्मचर्यगुप्तीनां मध्ये द्वितीयगुप्तिसूत्रम् । अस्य वृत्तिः-नो स्त्रीणां, केवलानामिति गम्यते । कथा धर्मदेशनाऽऽदिलक्षणावाक्यप्रतिबन्धरूपामित्यादि । यथा च-द्वितीयां गुप्तिं साधवः पालयन्ति तथा साध्व्योऽपि पालयन्ति, सा च साध्वीनां पुरुषाणामेव केवलानामग्रे कथाया अकथने भवत्यतः प्रोच्यते, न केवलपुरुषाणां साध्व्यो धर्मकथां कथयन्तीति गाथार्थः ॥ ११६ ॥ ग० ३ अधि० ।

तथा च-

मुद्धजणखेत्तसुत्तवो-इसस्सविद्दवणदक्ख समणीओ ।
ईईओ वि य काउ त्ति, अडंति धम्मं कहंतीओ ॥

मुग्धजना स्वल्पबुद्धिलोकास्त एव क्षेत्राणि बीजवपनभूमयस्तेषु शुभबोध प्रधानाऽऽशयः स एव सस्यं धान्यं, तस्य विद्रवणं विनाशकरणं, तत्र दक्षाः पटवः , प्राकृतत्वाच्चात्र विभक्तिलोपः । श्रमण्य आर्यिका ईतय इव यथा तिड्डाद्याः काननं न सर्वा अटन्ति ग्रामाऽऽदिषु चरन्ति धर्मं दानाऽऽदिकं कथयन्त्यो भ्राम्यन्ती इति गाथार्थः ।

एतदपि निराकर्तुमाह–

एगंतेणं चिय तं, न सुंदरं जेण ताण पमिसेहो ।
सिद्धंतदेसणाए, कप्पट्ठिए व गाहाए ॥

एकान्तेनैव सर्वथा, तद्धर्मकथनं, नैव सुन्दरं भव्यं, येन तासां साध्वीनां, प्रतिषेधो निराकरणं, सिद्धान्तदेशनाया आगमकथनस्य, यथा प्रतिषेधः कल्पस्थितयैव गाथयेत्यर्थः ।

कल्पगाथामेवाऽऽह–

कुसमयसुईण महणो, विबोहओ भवियपुंडरीयाणं ।
धम्मो जिणपन्नत्तो, पकप्पजइणा कहेयव्वो ॥

कुसमयश्रुतीनां कुसिद्धान्तमतीनां, मथनो विनाशको, विबोधको विकाशको, भव्यपुण्डरीकाणां मुक्तियोग्यप्राणिश्रेष्ठपद्मानां, धर्मो ज्ञानाऽऽदिको, जिनप्रज्ञप्तो मुनीन्द्रगदितः, प्रकल्पयतिना निशीथज्ञसाधुना, कथयितव्यो वक्तव्यः, न पुनः साध्व्येति हृदयमिति गाथार्थः ।

ननु यदि तासां स दीयतेऽतो निष्यते तद्धर्मकथनमित्याह–

संपइ पुणो न दिज्जइ, पकप्पगथस्स ताण सुत्तत्थो ।
जइया वि य दिज्जंतो, तइया वि य एस पडिसेहो ॥

साम्प्रतमधुना, पुनर्नैव दीयते वितीर्यते, प्रकल्पग्रन्थस्य निशीथस्य, तासामार्यिकाणां, सूत्रार्थः–सूत्रेण पद्धत्या सहितो [illegible]ऽभिधेयं सूत्रार्थः, उभयमिति हृदयम् । यदाऽपि वा दीयते वितीर्यते स, तदापि च तस्मिन्नपि काले, एष व्याख्यानकरणलक्षणः, प्रतिषेधो निवारणमिति गाथार्थः ॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तपूर्वकं दर्शयन्नाह–

हरिभद्दधम्मजणणी–ए किं च जाइणिपवत्तिणीए वि ।
एगो वि य गाहत्थो, नो सिट्ठो तु मुणियतत्ताए ॥

सूचनात्सूत्रस्य हरिभद्रसूरिधर्मजनन्याऽपि धर्मदातृत्वेन प्रतिपन्नमात्रा, किं चाऽभ्युच्चये, याकिनीप्रवर्त्तिन्या एतन्नामकमहत्तरया, न केवलमन्याभिरित्यपिशब्दार्थः । एकोऽपि च गाथार्थोऽभिधेयम्, आस्तां प्रभूत इत्यपेरर्थः, नो नैव शिष्टः कथितो मुणिततत्त्वया ज्ञातपरमार्थया । तथा च किल–"चक्किदुगं हरिपणगं।" इत्यादिगाथाया स्वार्थं पृष्टा हरिभद्रभट्टेण तथा च कथित इति सुप्रतीतोऽयमर्थ इति गाथार्थः ।

एवं ज्ञातजीवोपदेशमाह–

बहु मन्नसु मा चरियं, अमुणियतत्ताण तासिं ता ।
जीव ! जइ वा निवारिया, ता वारसु महुरवक्केण ॥

बहु मन्यस्व भव्यमिदमिति मत्वा, मेति निषेधे, चरितं धर्मकथनलक्षणम्, अमुणिततत्त्वानामविदितपरमार्थानां, तासामार्यिकाणां, तस्माज्जीवाऽऽत्मन् ! यदि वा विकल्पार्थः, तिष्ठन्ति । निवारिता निषिद्धास्ततो वारय निषेधय, मधुरवाक्येन कोमलवचसेति गाथार्थः । जीवा० २७ अधि० ।

अमुणिय मुणीण चरणा, केई मज्झण्हकालसमयम्मि ।
इत्थीण केवलीणं, कहिंति धम्मं भवाभिरया ॥

मुनीनाममुणितचरणा अविदितयतीयाचारित्राः, केऽप्येके, मध्याह्नकालसमये प्रहरद्वयोर्ध्वं, स्त्रीणां आर्यिकाणां, केवलाना माधकाऽमिश्रितानां, कथयन्ति धर्मं श्रुतधर्माऽऽदिकं, किंविशिष्टाः ?, भवाभिरताः संसाराऽऽसक्ता इति गाथार्थः ।

एतदपि न संगतमित्याह–

सिद्धंतसामयपमिइ–पकप्पसुत्ताण संमयं जम्हा ।
न इय धम्मकहणम्मी, एए दोसा पसज्जंति ॥

सिद्धान्तामृतप्रतिपूर्णकर्णपुटकानामागमसुधासंभृतश्रवणच्छद्रयाणां सम्मतमभिप्रेतं, नेति निषेधे, इदमित्थं धर्मकथनं, यस्मादित्थमेव कथने प्रतिपादने, एते वक्ष्यमाणा दोषा दूषणानि प्रसज्यन्ते प्रादुर्भवन्तीति गाथार्थः ।

तानेवाऽऽह–

इत्थिकहा उ अगुत्ती, मज्झण्हे वसयाऽऽगमे संका ।
पलिमंथो दसवेका–लियम्मि अन्नं इमं भणिय ॥

स्त्रीषु केवलनारीषु कथा धर्मकथनम्, इदं चोत्तराध्ययने द्वितीयव्याख्याने कथितम् । तुः समुच्चये । अगुप्तिः प्रत्यहं तद्दिग्दिष्टदर्शनतो ब्रह्मचर्यरक्षा, मध्याह्नचारित्वप्रस्तावाऽऽगमनत्वेन द्विसाला मध्याह्ने केवलाना वसुधाश्रये आगमे आगमनमवस्थानं तथा शङ्का–अकमन्यकार्यमेतानि करिष्यन्तीत्येवं मन्दमतिरूपा, पलिमन्थः स्वकार्यव्याघातः साधूना, तथा दशवैकालिके समयप्रसिद्धे अन्यदपरमिदं वक्ष्यमाणं भणितं तूक्तमिति गाथार्थः ।

तदेव श्लोकपञ्चकेनाह–

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥
जहा कुक्कडपोयस्स, निच्चं कुललओ भयं ।
एवं तु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भय ॥
हत्थपायपडिच्छिन्नं, कन्ननासाविगप्पियं ।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥
अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥
चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पि व दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहारे ॥

सर्वा अपि प्रकटार्थाः ।

यत एवमत आह–

एत्तो चिय केई पु–व्वसूरिणो मोक्खसोक्खतल्लिच्छा ।
आसीसं पि हु दिंता, ते अहोमुहाएँ दिट्ठीए ॥

एतस्मादेव कारणात्, केऽपि पुण्यभाजः, पूर्वसूरयश्चिरन्तनाऽऽचार्याः, मोक्षसौख्यलिप्सवो निर्वाणसुखाभिलाषनिष्ठाः, आशिषमपि धर्मलाभमपि, न केवलधर्मकथामित्यपिशब्दार्थः, हुः पूर्ववत् । अददुर्दत्तवन्तः, आर्यिकाणामिति शेषः । अधोमुखया न्यग् स्ववक्रया दृष्ट्या लोचनेनेति गाथार्थः ।

अत्रापि जीवानुशिक्षामाह–

सिद्धिवधूवरसुहसं–गलालसो जीव ! जइ तुमं ता मा ।
कहसु तुम जिणधम्मं, इत्थीसु अकालचारीसु ॥

सिद्धिवधूवरसुरतसङ्गलालसो मुक्तिकान्ताप्रधानाभिष्वङ्गलम्पटो, जीव ! प्राणिन् ! यदि त्वं भवान्, तस्मान्मा निषेधे, कथय

यत्र च, भवान् जिनधर्मं सर्वज्ञवृषभ, अकालचारिणीषु प्रस्तावादागतासु स्त्रीषु नारीषु इति गाथार्थः । जीवा० २४ अधि० । (यस्यां वसतौ धर्मकथाशब्दः संयतीभिः श्रूयते, तत्र वस्तव्यं न वेति ' वसइ ' शब्दे वक्ष्यते) (अन्तर्गृहे धर्मकथा न कर्त्तव्येति ' अंतरगिह ' शब्दे प्रथमभागे ८५ पृष्ठे गतम्) ननु श्रावकस्य धर्मकथनेऽधिकारोऽस्ति ?, अस्तीति ब्रूमः, गीतार्थादधिगतसूत्रार्थस्य गुरुपरतन्त्रवचनस्य तस्यैव सूत्रार्थस्य कथने को नाम नाधिकारः ?, " पढइ सुणेइ गुणेइ य, जणस्स धम्मं परिकहेइ " इत्यादिवचनात् । तथा चूर्णिः-" सो जिणदाससावओ अट्ठमिचउद्दसीसु उववासं करेइ, पुत्थयं च वाएइ । " इत्यादि । ध० २ अधि० । धर्मस्य श्रुतरूपस्य कथा व्याख्या धर्मकथा । स्वाध्यायभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । प्रव० । उत्त० । औ० । धर्मकथा होव स्वरूपतः ' सुद्धं धम्मुवएसं, गुरुप्पसाएण सम्ममवबुद्ध । सपरोवयारजणगं, जो मग्गस्स कहिज्ज धम्मत्थी ।" इति । ध० ३ अधि० । धर्मप्रधाना कथा धर्मकथा । ज्ञाताधर्मकथाऽऽख्यस्य षष्ठस्याङ्गस्य द्वितीये श्रुतस्कन्धे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

तस्याधिकारार्थो यथा-

दोच्चस्स णं भंते ! सुयक्खंधस्स धम्मकहाणं समणेणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?। एवं खलु जंबू ! धम्मकहाणं दस वग्गा पण्णत्ता । ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

(' अग्गमहिसी ' शब्दे प्रथमभागे ? पृष्ठे धर्मकथायाः सर्वे वर्गाः)

धम्मकहि (ण्)-धर्मकथिन्-पुं० । धर्मकथा प्रशस्ताऽस्यास्तीति धर्मकथी, शिक्षाऽऽदित्वादिन् । आक्षेपणीविक्षेपणीसंवेगजननीनिर्वेदनीलक्षणां चतुर्विधां जनितजनमनःप्रमोदां धर्मकथां कथयति , ध० २ अधि० । प्रव० । प्रवचनप्रभावकभेदे, स्था० । नि० चू० । दश० । पिं० ।

आयपरसमुत्तारो, तित्थविवड्ढी य होइ कहयंते ।
अन्नन्नाभिगमेण य, पूयाथिरया य बहुमाणो ॥

क्षीराश्रवाऽऽदिलब्धिसंपन्न आक्षेपणीविक्षेपणीसंवेगजननीनिर्वेदनीभेदाच्चतुर्विधां धर्मकथां कथयन् धर्मकथीत्युच्यते, तस्मिन् धर्मं कथयति आत्मनः परस्य च संसारसागरात् समुत्तारो निस्तरणं भवति, तीर्थविवृद्धिश्च भवति, प्रभूतलोकस्य प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः। तथा देशनाद्वारेण पूजाफलमुपवर्ण्यान्यान्याभिगमेन अन्यान्यश्रावकबोधनेन पूजायाः स्थिरता, बहुमानश्च कृतो भवति । वृ० १ उ० । धर्मकथाकथके, पिं० ।

धम्मकाम-धर्मकाम-त्रि० । धर्मे श्रुतचारित्रलक्षणे कामो वाञ्छा यस्य स धर्मकामः । धर्मवाञ्छावति, त० ।

धम्मकाय-धर्मकाय-पुं० । धर्मसाधने शरीरे, "सुसिलिट्ठा धम्मकायपीमा वि ।" धर्मसाधनशरीरवेदनेति । पञ्चा० १७ विव० ।

धम्मकित्ति-धर्मकीर्त्ति-पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, न० । ' विबुधवरधर्मकीर्त्ति-श्रीविद्याऽऽनन्दसूरिमुख्यबुधैः ।" कर्म० २ कर्म० । ' पणिहनवरधम्मकित्तिमुख्यबुधैः । " ध० र० । स्वनामख्याते बौद्धसूरौ, "वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः, स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः । सन्तापाऽऽरम्भः पापहानाय चेति, ध्वस्तप्रज्ञाने पञ्चलिङ्गानि जाड्ये ॥१॥ " इति च तद्वाक्यम् । आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

धम्मकिरिया-धर्मक्रिया-स्त्री० । धर्मानुष्ठाने, यो० बिं० ।

धम्मकुमार-धर्मकुमार-पुं० । नागेन्द्रगच्छीये विबुधप्रभसूरिशिष्ये, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १३३४ मिते विद्यमान आसीत् । शालिभद्रचरित्रनामग्रन्थमरीरचत् । जै० इ० ।

धम्मक्खाइ(ण्)-धर्माऽऽख्यायिन्-पुं० । धर्ममाख्याति भव्यानां प्रतिपादयतीति धर्माऽऽख्यायी । धर्मप्रतिपादके, औ० । सूत्र० । ज्ञा० ।

धर्मख्याति-त्रि० । धर्माद्वा ख्यातिः प्रसिद्धिर्यस्य सः । धर्मेण प्रसिद्धे, औ० ।

धम्मगुज्झ-धर्मगुह्य-न० । धर्मरहस्ये, "इदमत्र धर्मगुह्यं, सर्वस्वं चैतदेवास्य । " षो० २ विव० ।

धम्मगुरु-धर्मगुरु-पुं० । दीक्षाऽऽचार्ये, " स धर्मगुरुपूजकः । " हा० २५ अष्ट० ।

धम्मघोस-धर्मघोष-पुं० । मथुरास्थे पार्श्वनाथस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, ती० ८ कल्प । दक्षिणमथुरास्थे स्वनामख्याते आचार्ये, आ० चू० १ अ० । महावीरस्वामिनः शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, आ० चू० ४ अ० । आव० । विमलगणिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, विमलगणिमधिकृत्य- ' शिष्यो गच्छपतिः प्रतापनरसि श्रीधर्मघोष प्रभुः । " दर्श० ५ तत्त्व । कौशाम्बीनगरस्थे धर्मवसोराचार्यस्य शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, आव० ४ अ० । आ० चू० । आ० क० । आतुरप्रत्याख्यानप्रकीर्णकवृत्तिकारकस्य महेन्द्रसूरेर्गुरौ स्वनामख्याते आचार्ये, आतु० । स चाञ्चलगच्छीयो जयसिंहसूरिशिष्यः । येन विक्रमसंवत् १२६३ मिते शतपदिका नाम ग्रन्थो विरचितः । अस्य जन्म १२०८ वर्षे मरुदेशे आसीत् । जै० इ० । अन्योऽपि धर्मघोषसूरिर्नागेन्द्रगच्छे हेमप्रभसूरेः शिष्यः, सोमप्रभसूरेश्च गुरुः । अन्योऽप्येतन्नामा ऋषिमण्डलस्तोत्रकर्ता । जै० इ० । चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते स्थविरे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । तपागच्छस्थे देवेन्द्रसूरेः शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, ग० ४ अधि० । अयमाचार्यः सङ्घाऽऽचार-कालसप्ततिनामानौ ग्रन्थौ व्यधात्, विक्रमसंवत् १३२७ मितेऽयं सूरिपदमाप । जै० इ० । मगधजनपदस्थवसन्तपुरनगरस्थे स्वनामख्याते आचार्ये, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । आ० क० । वाराणसीनगरस्थे स्वनामख्यातेऽनगारे, आ० चू० ४ अ० । आ० क० । ती० । आव० । चम्पानगरीनृपतेर्मित्रप्रभस्य स्वनामख्यातेऽमात्ये, आव० ४ अ० । उज्जयिनीवास्तव्ये स्वनामख्यातेऽनगारे, आव० ४ अ० । आ० क० । विमलजिनस्य प्रपौत्रके शिष्ये स्वनामख्याते स्थविरे, भ० ।

तद्वक्तव्यता यथा-

तेणं कालेणं तेणं समएणं विमलस्स अरहओ पओप्पए धम्मघोसे णामं अणगारे जाइसंपन्ने । वण्णओ जहा केसिसामिस्स, जाव पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव

तथा च निर्युक्तिकृदाह-

धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो, भावधम्मेण एत्थ अहिगारो।
एसेव होइ धम्मं, एसेव समाहिमग्गो त्ति॥ १॥

(धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो इत्यादि) दुर्गतिगमनधारणलक्षणो धर्मः, पूर्वं प्राग् दशवैकालिकश्रुतस्कन्धषष्ठाऽध्ययने धर्मार्थकामाऽऽख्ये समुद्दिष्टः प्रतिपादितः। इह तु भावधर्मेणाधिकारः। एष एव च भावधर्मः परमार्थतो धर्मो भवति। अमुमेवार्थमुत्तरयोरप्यध्ययनयोरतिदिशन्नाह-एष एव च भावसमाधिर्भावमार्गश्च भवतीत्यवगन्तव्यमेति। यदि वा-एष एव च भावधर्म एष एव च भावसमाधिरेष एव च तथा भावमार्गो भवति, न तेषां परमार्थतः कश्चिद्भेदः। तथाहि-धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यः क्षान्त्यादिलक्षणो वा दशप्रकारो भवेद्, भावसमाधिरप्येवंप्रकार एव। तथाहि-सम्यगाधानमारोपणं गुणानां क्षान्त्यादीनामिति समाधिः, तदेव मुक्तिमार्गोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽख्यो भावधर्मतया व्याख्यातयितव्य इति॥ १॥ सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

धम्मज्झाण-धर्म(र्म्य)ध्यान-न०। धर्ममाज्ञाऽऽदिपदार्थस्वरूपपर्यालोचनैकाग्रता। स० १ सम०। धर्मभाव गतो धर्म्यः। आ०चू०४ अ०। धर्मे क्षमाऽऽदिदशलक्षणस्तस्मादनपेतं धर्म्यं सर्वज्ञाऽऽज्ञाऽनुचिन्तनम्। प्रव० ६ द्वार। श्रुतचरणधर्मादनपेतं धर्म्यम्। स्था० ४ ठा० १ उ०। बाह्याऽऽध्यात्मिकभावानां याथात्म्यं धर्मस्तस्मादनपेतं धर्म्यम्। सम्म० ३ काण्ड। तदेव ध्यानं धर्म्म (र्म्य) ध्यानम्। ध्यानभेदे, औ०। ग०।

तत्स्वरूपं यथा-

" सूत्रार्थसाधनमहाव्रतधारणेषु,
बन्धप्रमोक्षगमनाऽऽगमहेतुचिन्ता।
पञ्चेन्द्रियव्युपरमश्च दया च भूते,
ध्यानं तु धर्म्ममिति संप्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥१॥" दश० १ अ०।

तच्चतुर्विधम्-

धम्मज्झाणे चउव्विहे पन्नत्ते। तं जहा-आणाविजए, अवायविजए, विवागविजए, संठाणविजए।

अथ धर्मं चतुर्विधमिति स्वरूपेण चतुर्षु पदेषु स्वरूपलक्षणाऽऽलम्बनानुप्रेक्षालक्षणेष्ववतारो विचारणीयत्वेन यस्य तच्चतुष्पदावतारं चतुर्विधस्यैव पर्यायोऽयमिति। क्वचित् " चउप्पडोयारं " इति पाठः। तत्र चतुर्षु पदेषु प्रत्यवतारो यस्येति विग्रह इति। स्था० ४ ठा० १ उ०। ('झाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६६३ पृष्ठे व्याख्यातम्) उक्तं च-" आगमउवएसेणं, निसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं। भावाण सद्दहणं, धम्मज्झाणस्स तं लिंगं॥ १॥" इति। तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यक्त्वं धर्मस्य लिङ्गमिति हृदयम्। (स्था०)। अथ धर्मस्याऽऽलम्बनान्युच्यन्ते-" धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता। तं जहा-वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा।" (स्था०) अथानुप्रेक्षा उच्यते-"धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पन्नत्ताओ। तं जहा-एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा।" स्था० ४ ठा० १ उ०। औ०। भ०। प्रव०। आव०। तच्च द्विविधम्-बाह्यम्, आध्यात्मिकं च। सूत्रार्थपर्यालोचनं स्थिरता, शीलगुणानुरागो, निभृतकायवाग्व्यापाराऽऽदिरूपं बाह्यम्। आत्मनः स्वसंवेदनग्राह्यमन्येषामनुमेयमाध्यात्मिकं तत्त्वार्थसंग्रहाऽऽदौ चातुर्विध्येन प्रदर्शितं संक्षेपतोऽन्यत्र दशविधम्। तद्यथा-"अपायोपायजीवाजीवविपाकविरागभवसंस्थानाऽऽज्ञाहेतुविचयानि चेति।" लोकसंसारविचयो संस्थानभवविचययोरन्तर्भावान्नोद्दिष्टदशभेदेभ्यः पृथगभिधानम्। तत्रापाये विचारो यस्मिंस्तदपायविचयम्, एवमन्यत्रापि योज्यम्, दुष्टमनोवाक्कायव्यापारविशेषाणामपायः कथमनुमानं स्यादित्येवंभूतः सकल्पप्रबन्धो दोषपरिवर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्वादपायविचयम्। तेषामेव कुशलानां स्वीकरणमुपायः स कथमनुमेयः स्यादिति सकल्पप्रबन्ध उपायविचयम्। असंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकसाकारानाकारोपयोगलक्षणोऽनादिस्वकृतकर्मफलोपभोगित्वाऽऽदि जीवस्वरूपानुचिन्तनं जीवविचयम्। धर्माधर्माऽऽकाशकालपुद्गलानामनन्तपर्यायाऽऽत्मकानामजीवानामनुचिन्तनमजीवविचयम्। मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नस्य पुद्गलाऽऽत्मकस्य मधुरकटुकफलस्य कर्मणः संसारिसत्त्वविषयविपाकविशेषानुचिन्तनं विपाकविचयम्। कुत्सितमिदं शरीरकं शुक्रशोणितसमुद्भूतमशुचिभृतघटोपममनित्यमपरित्राणं गदाशुचि, न च निरूतया सुशुचि, आधेयाशौचं न किञ्चिदत्र कमनीयतरं समस्ति, किम्पाकफलोपभोगोपमा प्रमुखरसिका विपाककटव प्रकृत्या मङ्गुराः पराधीना सन्तोषामृताऽऽस्वादपरिपन्थिनः सद्भिर्निन्दिता विषयाः, तदुद्भवं च सुखं दुःखानुषक्तिदुःखजनकं च नातो भोगिनां तृप्तिः। न चैनदात्यन्तिकमिति नात्राऽऽस्था विवेकेनाऽऽधातु युक्तेति विरतिरेवात श्रेयस्कारिणीत्यादिविरागहेतुचिन्तनं वैराग्यविचयम्। प्रेत्य स्वकृतकर्मफलोपभोगार्थं पुनः प्रादुर्भावो भवः। स चारघट्टघटीयन्त्रवन्मूत्रपुरीषान्त्रतन्त्रनिबद्धदुर्गन्धजठरपुरकोटराऽऽदिषु जन्ममावर्तनं, न चात्र किं चिद् जन्तो स्वकृतकर्मफलमनुभवतश्चेतनमचेतनं वा सहायभूतं शरणतां प्रतिपद्यत इत्यादिभवसंक्रान्तिदोषपर्यालोचनं भवविचयम्। भवनवनगसरित्समुद्रभूरुहाऽऽदयः पृथ्वीव्यवस्थिताः, साऽपि घनोदधिघनवाततनुवातप्रतिष्ठा, तेऽप्याकाशप्रतिष्ठाः, तदपि स्वात्मप्रतिष्ठं, तच्चाधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्णयन्त्यधोलोकमित्यादि संस्थानानुचिन्तनं संस्थानविचयम्। अतीन्द्रियत्वाद्धेतूदाहरणाऽऽदिसद्भावेऽपि बुद्ध्यतिशयशक्तिविकलैः परलोकबन्धमोक्षधर्माधर्माऽऽदिभावेष्वत्यन्तं तु सर्वोपदेशप्रामाण्यात् तद्विषयं तद्वचनं तथैवेत्याज्ञाविचयम्। आगमविषयप्रतिपत्तौ तर्कानुसारिरुद्धे पुंसः स्याद्वादप्ररूपकाऽऽगमस्य कषच्छेदतापशुद्धिसमाश्रयणीयत्वगुणानुचिन्तनं हेतुविचयम्। एतच्च सर्वं धर्मध्यानं, श्रेयोहेतुत्वात्। एतच्च "संवररूपमशुभास्रवप्रत्यनीकत्वात् "आस्रवनिरोधः संवरः" इति वचनात्। गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षाऽऽदीनां चाऽऽस्रवप्रतिबन्धकारित्वात्। अयमपि जीवाजीवान्यां कथञ्चिदभिन्न एव, एकान्ते दोषोपपत्तेः। न चायमेकान्तवादिनां घटते, मिथ्याज्ञानान्मिथ्याज्ञानस्य निमित्तमनुपपत्तेः। संवरशुद्धिस्तु सर्वदेशभेदोत्पातप्रशंसेयावद्गाऽऽधानमप्रमत्तसंयतस्यान्तर्मुहूर्त्तकालप्रमाणं स्वर्गसुखनिबन्धनमेतद्धर्म्यध्यानं प्रतिपत्तव्यम्। सम्म० ३ काण्ड। आ० चू०। (विस्तरतो वक्तव्यता 'झाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६६१ पृष्ठे)

धम्मज्झाणि (ण्)-धर्मध्यानिन्-पुं०। धर्मध्यानवति, "जिणसाहुगुणुक्कित्तण-पसंसणादाणविणयसंपन्नो। सुअसीलसंजमरओ, धम्मज्झाणी मुणेअव्वो॥१॥" आव० ४ अ०।

धम्मज्झाणोवगय-धर्मध्यानोपगत-त्रि० । धर्मध्यानयुक्ते, दर्श० ४ तत्त्व ।

धम्मट्ठ-धर्मार्थ-पुं० । धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थं प्रयोजनम् । धर्महेतुके प्रयोजने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । धर्मनिमित्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । हा० । धर्मश्चार्थं, परमार्थतोऽन्यस्यानर्थरूपत्वात् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । तस्यैव स द्भिरर्थ्यमाणत्वात् (सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०) धर्मार्थ । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । धर्मरूपेऽर्थे, " जे धम्मट्ठ वियागरे । " जन्तूनां धर्मरूपमर्थं व्याकुर्वन्ति ये धर्मप्रतिपत्तियोग्या इत्यर्थं । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

धम्मट्ठकाम-धर्मार्थकाम-पुं० । धर्मं चारित्रधर्मादिस्तस्यार्थं प्रयोजनं मोक्ष, तं कामयतीच्छति विशुद्धविहितानुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामः । मुमुक्षौ, दश० ६ अ० । धर्मार्थकामेषु, दश० ६ अ० ।

धम्मट्ठविचेहा-धर्मार्थविचेष्टा-स्त्री० । धर्मनिमित्तकद्रव्योपार्जनचेष्टायाम्, " धर्मार्थं यस्य विचेष्टा, तस्यानीहा गरीयसी । प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ ६ ॥ " हा० ४ अष्ट० । प्रति० ।

धम्मट्ठाण-धर्म (र्म्य) स्थान-न० । धर्मश्चासौ स्थानं धर्मस्थानम् । धर्मरूपे आलये, " धम्मट्ठाणे त्रिया उ जं परमे । " दश० १ अ० । धर्मादनपेतं धर्म्यम्, तदेव स्थानम् । उपशमप्रधाने द्वितीये क्रियास्थानभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । तथा च क्रियास्थानस्याधर्मस्थानधर्मस्थानधर्माधर्मस्थानभेदेषु । द्वितीय धर्मोपादानभूतं पक्षमाश्रित्य पुरुषविजयविभङ्गाद् वदयति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

धम्मट्ठि (ण्) -धर्मार्थिन्-पुं० । धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थो धर्मार्थ । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थं प्रयोजनं, स एवार्थस्तस्यैव सद्भिरर्थ्यमाणत्वाद् धर्मार्थः, स यस्यास्तीति धर्मार्थी । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । धर्मेणार्थी, धर्म एव वाऽर्थ परमार्थतोऽन्यस्यानर्थरूपत्वाद् धर्मार्थ , स विद्यते यस्याऽसौ धर्मार्थ । धर्मप्रयोजनवति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । जी० । " धम्मट्ठी धम्मविऊ । " धर्मः श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थं , स एवार्थो धर्मार्थ स विद्यते यस्याऽसौ धर्मार्थी । न पूजाऽऽद्यर्थं क्रियासु प्रवर्त्तते, अपि तु धर्मार्थम् । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । ' धम्मट्ठी उवहाणवीरिए । " सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । शिव सुखाभिलाषितया पक्षपातपरिहारेण पूर्वापरपर्यालोचके, दर्श० ५ तत्त्व । परलोकभीरौ च । पं० व० ।

धर्मार्थिताया फलम्-

धम्मत्थी दिट्ठत्थे, दढो व्व पंकम्मि अपमिबंधाओ ।
उत्तारिज्जंति सुहं, धन्ना अण्णाणसलिलाओ ॥७६॥

धर्मार्थिनः प्राणिनः, दृष्टार्थे ऐहिके, दृढ इव वनस्पतिविशेष , इव पङ्केऽप्रतिबन्धात्कारणादुत्तार्यन्ते पृथक् क्रियन्ते, सुखं धन्या पुण्यभाजः, कुत ?, अज्ञानसलिलान्मोहादिति गाथार्थ । पं० व० ४ द्वार ।

धम्मणायग-धर्मनायक-पुं० । धर्मस्य क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्राऽऽत्मकस्य नायकः स्वामी, यथावत्पालनाद् धर्मनायक । स० १

सम० । तद्वशीकरणात् तत्फलपरिभोगाच्च धर्मनायक' । जी० ३ प्रति० । तीर्थकरे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । रा० । " धम्मणायगाणं २२ । " इह धर्मोऽधिकृत एव,तस्य [नायका] स्वामिन , तत्तल्लक्षणयोगेन, तद्यथा-तद्वशीकरणभावात् तदुत्तमावाप्तेस्तत्फलपरिभोगात्तद्विघातानुपपत्तेः । तथाहि-एतद्वशिनो भगवन्तो विधिसमासादनेन विधिनाऽयमासो भगवद्भिः , तथा निरतिचारपरिपालनतया पालितश्चातिचारविरहेण, एव यथोचितदानतो दत्तश्च यथाभव्यम, तथा तत्रापेक्षाभावेन नामीषां दाने वचनापेक्षा,एव च तदुत्तमावाप्तयश्च भगवन्त प्रधानक्षायिकधर्मावाप्त्या तीर्थकरत्वात्प्रधानोऽयं भगवतां,तथा परार्थसपादनेन सार्थकरणशीलतया, एव हीनेऽपि प्रवृत्तेः, अवन्ध्यबोधाय गमनाऽऽकर्णनात् । तथा तथाभव्यत्वयोगात् अत्युदारमेतदेतेषाम् । एव तत्फलपरिभोगयुक्ता सकलसौन्दर्येण निरुपमं रूपाऽऽदि भगवतां, तथा प्रातिहार्ययोगात् नान्येषामेतत्,एवमुदारर्द्ध्यनुभूते समग्रपुण्यसम्भारजेय, तथा तदाधिपत्यतो भावात् न देवानां स्वातन्त्र्येण, एव तद्विघातरहिता अवन्ध्यपुण्यबीजत्वात् एतेषां स्वाश्रयपुष्टमेतत्, तथा अधिकानुपपत्तेर्नोतोऽधिकं पुण्यं, एव पापक्षयभावाद् निर्दम्भमेतत्, तथाऽहेतुकविघातासिद्धे सदा सत्त्वाऽऽदिभावेन । एव धर्मस्य नायका धर्मनायका इति ॥ २२ ॥ ल० ।

धम्मणाह-धर्मनाथ-पुं० । पञ्चदशे स्वनामख्याते जिने, " श्रीधर्मनाथमानम्य, रत्नवाहपुरे स्थितम् । तस्यैव पुररत्नस्य, कल्पं किञ्चिद् प्रथीम्यहम् ॥ १ ॥ " ती० ११ कल्प ।

धम्मणिप्फत्ति-धर्मनिष्पत्ति-स्त्री० । धर्मसिद्धौ, षो० ३ विव० ।

धम्मणिरुच्छाह-धर्मनिरुत्साह-पुं० । सदनुष्ठाननिरुद्यमे, " णहु धम्मणिरुच्छाहो, पुरिसो सूरो सुबलिओ वि । " सूत्र० १ श्रु० ११ अ० १ उ० ।

धम्मण्णु-धर्मज्ञ-पुं० । धर्मवेदिनि, षो० २ विव० । सकलशास्त्रार्थवेदिनि च । दर्श० ४ तत्त्व ।

धम्मतत्त-धर्मतत्त्व-न० । धर्मपरमार्थे, " एतदिह धर्मतत्त्वम् । " षो० ३ विव० । धर्मस्वरूपे, षो० ३ विव० । " लिङ्गान्येतानि धर्मतत्त्वस्य । " षो० ३ विव० । 'प्रतिपिद्धो धर्मतत्त्वज्ञै.' धर्मस्वरूपवेदिनि । षो० ६ विव० ।

धम्मतित्थ-धर्मतीर्थ-न० । तीर्यते ससारसागरोऽनेनेति तीर्थं, धर्म एव धर्मप्रधानं वा तीर्थं धर्मतीर्थम् । धर्मरूपे तीर्थे, धर्मप्रधाने तीर्थे च । आ० म० २ अ० । ध० । ल० ।

धम्मतित्थयर-धर्मतीर्थकर-पुं० । तीर्यतेऽनेनेति तीर्थं,धर्मप्रधानं तीर्थं धर्मतीर्थं, धर्मग्रहणाद् द्रव्यतीर्थस्य नद्यादेः शाक्याऽऽदिसम्बन्धिनश्चाधर्मप्रधानस्य परिहार । तत्करणशीलो धर्मतीर्थकर । सदेवमनुजासुराया पर्षदि सर्वभाषापरिणामिन्यां धर्मतीर्थप्रवर्तके जिने, ध० २ अधि० । आ० म० । ल० । "अह तेणेव कालेणं, धम्मतित्थयरे जिणे । " उत्त० २३ अ० ।

धम्मतोलण-धर्मतोलन-न० । धर्माधिकरणिकनीतिशास्त्रप्रसिद्धे धर्मतोलने, व्य० २ उ० । ('अट्ठजाय' शब्दे प्रथमभागे २४३ पृष्ठे साधुभिर्धर्मतोलने यथा विद्याऽऽदि उपयोक्तव्य तथोक्तम्)

धम्मत्थकाम-धर्मार्थकाम-पुं० । धर्मार्थं कामयतीति । साधौ, दश० ६ अ० । धर्मश्चारित्रधर्माऽऽदिस्तस्यार्थः प्रयोजनं मोक्ष ,

तं कामयन्ते इच्छन्ति विशुद्धवेदानुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामाः। मुमुक्षुषु, दश० ६ अ०

धम्मत्थिकाय-धर्मास्तिकाय-पुं० । जीवानां पुद्गलानां च स्वभावत एव गतिपरिणामपरिणतानां तत्स्वभावधारणात् तत्स्वभावपोषणाद्धर्मः, अस्तयश्चेह प्रदेशाः, तेषां कायः सङ्घातः, ' गणकाए य निकाए,खंधे वग्गे तहेव रासी य।''इति वचनात्। अस्तिकायः प्रदेशसङ्घात इत्यर्थः, धर्मश्चासौ अस्तिकायश्च धर्मास्तिकायः । प्रज्ञा० १ पद । जी० । कर्म० । अनु० । " जीवानां पुद्गलानां च, गत्युपग्रहकारणम् । धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य, दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे, श्राव० ४ अ० । दर्श० । आ० । सकललोकव्याप्यसङ्ख्येयप्रदेशाऽऽत्मकामूर्ते । अजीवद्रव्यविशेषे, अनु० । दर्श० । (धर्मास्तिकायस्यास्तित्वम् ' अत्थिकाय ' शब्दे प्रथमभागे ५१६ पृष्ठे गतम्)

अथ धर्मास्तिकायस्य लक्षणमाह-

परिणामी गतेर्धर्मो, भवेत्पुद्गलजीवयोः ।
अपेक्षाकारणाल्लोके, मीनस्येव जलं सदा ॥ ४ ॥

गतेर्गमनस्य,परिणामी अर्थाद् गतिपरिणामी, पुद्गलजीवयोर्धर्मो धर्मास्तिकायो, भवेत् । कस्माल्लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मकाऽऽकाशखण्डे; अपेक्षाकारणात् परिणामव्यापाररहितादधिकरणरूपौदासीन्यहेतोश्च । तत्र दृष्टान्तमाह-" मीनस्येव जलं सदेति। " सदा निरन्तरं, जलं यथा मीनस्य मत्स्यस्य गतिपरिणामि अस्ति, अपेक्षाकारणात्-गमनाऽऽगमनाऽऽदिक्रियापरिणतस्य मत्स्यस्य जलमपेक्षाकारणमस्ति, तथैव धर्मद्रव्यमपि ज्ञेयम्। निष्कर्षस्त्वयम्-स्थले झषक्रिया व्याकुलतया चेष्टाहेतिच्छाभावादेव न भवति ,न तु जलाभावादिति गत्यपेक्षाकारणे मानाभाव इति चेत् ? । न। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां लोकसिद्धव्यवहारादेव तद्धेतुत्वसिद्धेरन्यथाऽन्यकारणेनेतराखिलकारणासिद्धिप्रसङ्गादिति दिक् ॥ ४ ॥ द्रव्या० १० अ० ।

धम्मत्थिकाएण भंते ! जीवाणं किं पवत्तइ ? । गोयमा ! धम्मत्थिकाएणं जीवाणं आगमणगमणभासुम्मेसमणजोगवइजोगकायजोगा जे यावन्ने तहप्पगारा चलभावा सव्वे ते धम्मत्थिकाए पवत्तंति, गतिलक्खणेणं धम्मत्थिकाए ॥

(आगमणगमणेत्यादि) आगमनगमने प्रतीते,भाषा व्यक्तवचनम, 'भाष' व्यक्तायां वाचीति वचनात् । उन्मेषोऽक्षिव्यापारविशेषः, मनोयोगवाग्योगकाययोगाः प्रतीता एव। एतेषां च द्वन्द्वः।ततस्ते इह च मनोयोगाऽऽदयः सामान्यरूपाः ,आगमनाऽऽदयस्तु तद्विशेषा इति भेदेनोपात्ताः ।भवति च सामान्यग्रहणेऽपि विशेषग्रहणं तत्स्वरूपोपदर्शनार्थमिति। (जे यावन्ने तहप्पगारे त्ति) ये चाप्यन्ये आगमनाऽऽदिभ्योऽपरे तथाप्रकाराः आगमनाऽऽदिसदृशा भ्रमणचलनाऽऽदयः । (चलसभाव त्ति) चलस्वभावाः पर्यायाः , सर्वे ते धर्मास्तिकाये सति प्रवर्त्तन्ते' कुतः ?,इत्याह-' गतिलक्खणेण धम्मत्थिकाए त्ति।'' भ०१३ श० ४ उ० । तथा च-"एगे धम्मे।''एकः प्रदेशार्थतया सङ्ख्यातप्रदेशाऽऽत्मकत्वेऽपि द्रव्यार्थतया तस्यैकत्वात् जीवपुद्गलानां स्वाभाविके क्रियावत्त्वे सति परिणतानां तत्स्वभावधारणाद्धर्मः । स चास्तीनां प्रदेशानां सङ्घाऽऽत्मकत्वात् कायोऽस्तिकाय इति। स्था० १ ठा० । न यतो धर्मास्तिकायविचारः-कोऽसौ धर्मो धर्मास्तिकायः । आह-सिद्धे सति वस्तुनोऽस्तित्वे इदमनेन लक्ष्यते इति वक्तुं युक्तम,अस्य तु सत्त्वमेवासिद्धम् ।अत्रोच्यते-यद्यच्छुद्धपदवाच्यं तत्तदस्ति।यथा स्तम्भाऽऽदिशुद्धपदवाच्यभावात् प्रमाणान्तरबाधितविषयत्वाख्यादोषरहितत्वेन, न च सिद्धत्वात्, न च खपुष्पाऽऽदिषु सङ्केतिते. स्वादिशुद्धपदैरनेकान्तो वृद्धपरम्पराऽऽगतसङ्केतविषयाणामेव शुद्धपदानां वाच्यत्वस्येह हेतुत्वेनेष्टत्वान्निपुणेन प्रतिपत्त्रा भाव्यम्,अन्यथा धूमाऽऽदेरपि गोपालघटिकाऽऽदिष्वन्यथाभावदर्शनादेव प्रसङ्गो दुर्निवारः स्यात् । उक्तं च-"अत्थि त्ति निव्वियप्पो,जीवो नियमाउ सद्दओ सिद्धो । कम्हा सुद्धपयत्ता, घडखरसिंगाणुमाणाओ ॥ १ ॥ " इत्यालं प्रसङ्गेन । उत्त० पाई २८ अ० । (धर्मास्तिकायस्य वर्णाऽऽदिद्रव्याऽऽदिभेदतः स्वरूपं च 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे ५१६ पृष्ठे गतम्) धर्मास्तिकायविषये हीरप्रश्ने नगर्षिगणिकृतप्रश्नो यथा-सम्पूर्णो धर्मास्तिकायो द्रव्यमुच्यते, स्कन्धो वेति ?। अत्रोत्तरम्-सम्पूर्णो धर्मास्तिकायो द्रव्यमुच्यते, कुत्रचित् स्कन्धोऽप्युपचारात्, नात्र किमपि बाधकं ज्ञायते। ही० ३ प्रका० ।

सकलमेव धर्मास्तिकायरूपमवयविद्रव्यमाह-

अवयवी नाम अवयवानां तथारूपसङ्घातपरिणामविशेष एव, न पुनरवयवद्रव्येभ्यः पृथगर्थान्तरं द्रव्यं,तथाऽनुपलम्भात् । तन्तव एव हि आतानवितानरूपं सङ्घातपरिणामविशेषमापन्ना लोके पटव्यपदेशभाज उपलभ्यन्ते,न तदतिरिक्तं पटाऽऽख्यं नाम।उक्तं चान्यैरपि-"तन्त्वादिव्यतिरेकेण,न पटाऽऽद्युपलम्भनम्। तन्त्वादयो विशिष्टा हि, पटाऽऽदिव्यपदेशिनः ॥ १ ॥ " प्रज्ञा० १ पद ।

धर्मास्तिकायस्यैकार्थिकान्याह-

धम्मत्थिकायस्स णं भंते ! केवइया अभिवयणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पण्णत्ता । तं जहा-धम्मे ति वा,धम्मत्थिकाए इ वा, पाणाइवायवेरमणे ति वा, मुसावायवेरमणेति वा, एवं० जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगेति वा०जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगेति वा,इरियासमिए ति वा,भासासमिए ति वा,एसणासमिए ति वा,आदाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए ति वा, उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपारिठावणियासमिई ति वा, मणगुत्ती ति वा, वइगुत्ती ति वा, कायगुत्ती ति वा, जे यावन्ने तहप्पगारा,सव्वे ते धम्मत्थिकायस्स अभिवयणा ।

(अभिवयण त्ति) अभि इत्यभिधायकानि वचनानि शब्दा अभिवचनानि, पर्यायशब्दा इत्यर्थः । (धम्मेइ व त्ति) जीवपुद्गलानां गतिपर्याये धारणाद्धर्मः , इतिः रूपप्रदर्शने, वा विकल्पे। (धम्मत्थिकाए व त्ति) धर्मश्चासावस्तिकायश्च प्रदेशराशिरिति धर्मास्तिकायः । (पाणाइवायवेरमणे इ वा इत्यादि) इह धर्मश्चारित्रलक्षणः , स च प्राणातिपातविरमणाऽऽदिरूपः, ततश्च धर्मशब्दसाधर्म्यादस्तिकायरूपस्यापि धर्मस्य प्राणातिपातविरमणाऽऽदयः पर्यायतया प्रवर्त्तन्त इति। (जे यावन्नेत्यादि) ये चान्येऽपि तथाप्रकाराश्चारित्रधर्माभिधायकाः सामान्यतो विशेषतो वा शब्दाः। ते सर्वेऽपि धर्मास्ति-

कायस्याभिवचनानीति । भ०२० श०२ उ० । (अस्तिकायानामस्तिकायत्वम् 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे ५१६ पृष्ठे गतम्)

धम्मत्थिकायदेस-धर्मास्तिकायदेश-पुं० । धर्मास्तिकायस्य बुद्धिविकल्पितो द्व्यादिप्रदेशाऽऽत्मको विभागो धर्मास्तिकायदेश । अजीवद्रव्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद । दर्श० । जी० ।

धम्मत्थिकायप्पएस-धर्मास्तिकायप्रदेश-पुं० । धर्मास्तिकायस्य प्रकृष्टो देश· प्रदेश , निर्विभागो निरंशो भागो धर्मास्तिकायप्रदेश । प्रज्ञा० १ पद । अजीवद्रव्यभेदे, दर्श० ५ तत्त्व । जी० । " अट्ठ धम्मत्थिकायमज्झपएसा पण्णत्ता । " स्था० ८ ठा० ।

धम्मद-धर्मद-पुं० । धर्मं चारित्ररूप ददातीति धर्मद । जी० ३ प्रति० । चारित्रधर्मदायके तीर्थंकरे, कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

धम्मदत्त-धर्मदत्त-पुं० । स्वनामख्याते कल्किराजसुते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । ती० । " कल्किपुत्रो धर्मदत्तो, भावी स परमाऽऽर्हत । दिने दिने जैनबिम्ब, प्रतिष्ठाप्याथभोक्ष्यते ॥१॥ " ती० १ कल्प० ।

धम्मदय-धर्मदय-पुं० । धर्मं श्रुतचारित्राऽऽत्मक दुर्गतिप्रपतज्जन्तुधारणस्वभाव दयते ददातीति धर्मदय· । स० १ सम० । चारित्रधर्मदायके तीर्थंकरे, भ० १ श० १ उ० ।

धम्मदाण-धर्मदान-न० । धर्मकारण दान,धर्म एव वा दानम् । " समतृणमणिमुक्तेभ्यो, यद्दान दीयते सुपात्रेभ्य । अक्षयमतुलमनन्त, तद्दान भवति धर्माय ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे दानभेदे, स्था० १० ठा० ।

धम्मदार-धर्मद्वार-न० । धर्मस्य चारित्रलक्षणस्य द्वारमिव द्वार धर्मद्वारम् । क्षान्त्यादिके धर्मोपाये, " चत्तारि धम्मदारा पण्णत्ता । त जहा-खंती, मुत्ती, अज्जवे,मद्दवे । " धर्मस्य चारित्रलक्षणस्य द्वाराणीव द्वाराण्युपाया क्षान्त्यादीनि धर्मद्वाराणि । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

धम्मदासगणि-धर्मदासगणि-पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, दर्श० ४ तत्त्व । ध० । अनेन भगवता उपदेशमाला नाम ग्रन्थो रचित । अयमाचार्यो वीरप्रभोरपि पूर्वं बभूवेति प्रसिद्धि· । जै० इ० । तथा चाहु -"प्रतिहतसकलश्यामो-हतमिस्रा धर्मदासगणिमिश्रा ।" ध० र० । तथा चाऽऽह-भगवान् धर्मदासगणि । दर्श० ४ तत्त्व ।

धम्मदिवस-धर्मदिवस-पुं० । चतुर्दश्यष्टमाऽऽदिके धर्मदिने, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

धम्मदुम-धर्मद्रुम-पुं० । धर्मवृक्षे, स्था० ।

धम्मदूअ-धर्मदूत-पुं० । वृद्धावस्थासूचके पलिताऽऽदिके, तस्या धर्मकरणयोग्यावस्थोपदेशकत्वात्तथात्वम् । आव० ४ अ० ।

धम्मदेव-धर्मदेव-पुं० । धर्मेण श्रुताऽऽदिना देवो धर्मप्रधानो वा देवो धर्मदेव । भ० १२ श० ९ उ० । चारित्रवत्स्वरूपे देवभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

धम्मदेसग-धर्मदेशक-पुं० । धर्मं श्रुतचारित्राऽऽत्मक देशयतीति धर्मदेशक· । भ० १ श० १ उ० । धर्मोपदेशदायके, कल्प० १ अधि० १ क्षण । स० । ध० । रा० ।

धम्मदेसणा-धर्मदेशना-स्त्री० । कुशलानुष्ठानप्ररूपणायाम्, द्वा० ३१ अष्ट० ।

तत्प्रदानविधिमाह-

सा च संवेगकृत् कार्या, शुश्रूषोर्मुनिना परा ।
बालाऽऽदिभाव संज्ञाय, यथाबोधं महात्मना ॥ १७ ॥

सा च देशना संवेगकृत्संवेगकारिणी, संवेगलक्षण चेदम्-
" तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रबन्धे, देवे रागद्वेषमोहाऽऽदिमुक्ते ।
साधौ सर्वग्रन्थसदर्भहीने,संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुराग·॥१॥"
मुनिना गीतार्थेन साधुना,अन्यस्य धर्मोपदेशेऽनधिकारित्वात् ।

यथोक्त निशीथे-

" संसारदुक्खमहणो, विबोहणो भवियपुण्डरीयाण ।
धम्मो जिणपण्णत्तो, पकप्पजइणा कहेअव्वो " ॥ १ ॥ इति ।

(प्रकल्पयतिनेति) अधीतनिशीथाध्ययनेन ।

(परा) शेषतीर्थान्तरीयधर्मातिशायितया प्रकृष्टा कार्या प्रज्ञापनीया । कीदृशस्य पुरतः सा कार्येत्याह-शुश्रूषो श्रोतुमुपस्थितस्य, मुनिना च किं ज्ञानपूर्वमाख्येयेत्याह-(बालाऽऽदिभावमित्यादि) बालाऽऽदीना त्रयाणां धर्मपरीक्षकाणाम,आदिपदेन मध्यमबुद्धिबुधयोर्ग्रहणात्, भाव परिणामविशेष स्वरूप वा संज्ञाय सम्यगवैपरीत्येन ज्ञात्वाऽवबुद्ध्य । ध० १ अधि० । (बालाऽऽदीनां धर्मपरीक्षकाणां स्वरूप 'धम्म' शब्दे धर्मपरीक्षाऽवसरे २६७४ पृष्ठे गतम्) कथ सा कार्येत्याह-(यथाबोधमिति) बोधानतिक्रमेण, अनवबोधे धर्माऽऽख्यानस्योन्मार्गदेशनारूपत्वेन प्रत्युतानर्थसम्भवात् । न ह्येमान्ध समाकृष्यमाणः सम्यगध्वान प्रतिपद्यत इति । मुनिना कीदृशेन ?, महात्मना-तदनुग्रहैकपरायणतया महान् आत्मा यस्य स तेन इति संक्षेपतो धर्मदेशनाप्रधानविधि , विस्तरतस्तु धर्मबिन्दौ (२ प्रक०) उक्त ।

स चायम्-" इदानीं तद्विधिमनुवर्णयिष्याम इति । " इदानीं संप्रति तद्विधिं सद्धर्मदेशनाक्रम वर्णयिष्यामो निरूपयिष्यामो वयमिति । तद्यथा-" तत्प्रकृति-देवताधिमुक्तिज्ञानमिति । " तस्य सद्धर्मदेशनार्हस्य जन्तोः प्रकृतिः स्वरूपं गुणवत्सङ्ग लोकप्रियत्वाऽऽदिका,देवताधिमुक्तिश्च बुद्धकपिलाऽऽदिदेवताविशेषभक्ति ,तयोर्ज्ञान प्रथमतो देशकेन कार्यम । ज्ञातप्रकृतिको हि पुमान् रक्तो द्विष्टो मूढ पूर्वं व्युद्ग्राहितश्च वेश्च भवति, तदा कुशलैस्तथा तथाऽनुवर्त्य लोकोत्तरगुणपात्रतामानीयते । विदितदेवताविशेषाधिमुक्तिश्च तत्तद्देवताप्रणीतमार्गानुसारिवचनोपदर्शनेन दूषणेन च सुखमेव मार्गेऽवतारयितु शक्य इति । तथा-"साधारणगुणप्रशंसेति ।" साधारणाना लोकलोकोत्तरयो सामान्यानां गुणानां प्रशंसा पुरस्कारो देशनाऽर्हस्याग्रतो विधेया । यथा-" प्रदान प्रच्छन्न गृहमुपगते सम्भ्रमविधि', प्रिय कृत्वा मौन सदसि कथनं चाप्युपकृते' । अनुत्सेको लक्ष्म्या निरभिभवसारा: परकथा , श्रुते चासन्तोष कथमनभिजाते निवसति ? ॥१॥ " तथा-" सम्यक् तदधिकाऽऽख्यानमिति । " सम्यगविपरीतरूपतया तेभ्यः साधारणगुणेभ्योऽधिका विशेषवन्तो ये गुणा· तेषामाख्यान कथनम् । यथा -"पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम् । अहिंसा सत्यमस्तेय, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥१॥ " इति । तथा- "अबोधेऽप्यनिन्देति' अबोधेऽनवगमेऽपि सामान्यगुणानां,विशेषगुणानां वा व्याख्यातानामपि अनिन्दा अहो मन्दबुद्धिर्भवान् य इत्थमाचक्षाणेष्वप्यस्मासु न बुध्यते वस्तुतत्त्वमित्येव श्रोतुस्तिरस्कारपरिहाररूपा, निन्दितो हि श्रोता किञ्चिद् बुभुत्सुरपि सन् दूर विरज्यत इति । तर्हि किं कर्तव्यमित्याह -"शुश्रूषाभाव

करणमिति।" धर्मशास्त्रं प्रति श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा, तल्लक्षणो भावः परिणाम, तस्य करणं निर्वर्त्तनं श्रोतुस्तैस्तैर्वचनैरिति। शुश्रूषामनुत्पाद्य धर्मकथने प्रत्युतानर्थसंभव। पठ्यते च-"स खलु पिशाचकी वातकी वा, यः परेऽनर्थिनि वाचमुदीरयति। "भूयो भूय उपदेश इति।" भूयो भूयः पुनः पुनरुपदिश्यत इत्युपदेश। उपदेष्टुमिष्टो वस्तुविषय. कथञ्चिदनवगमे सति कार्यः। किं न क्रियते दृढसन्निपातरोगिणां पुन पुनः क्रिया तिक्ताऽऽदिक्वाथपानोपचार इति। तथा-"बोधे प्रज्ञोपवर्णनमिति।" बोधे सकृदुपदेशेन, भूयो भूय उपदेशेन वोपदिष्टवस्तुन परिज्ञाने तस्य श्रोतु. प्रज्ञोपवर्णनं बुद्धिप्रशंसन, यथा-नाऽलघुकर्म्माण प्राणिन एवंविधसूक्ष्मार्थबोद्धारो भवन्तीति। तथा-" तन्त्रावतार इति।" तन्त्रे आगमेऽवतार. प्रवेश आगमबहुमानोत्पादनद्वारेण तस्य विधेय। आगमबहुमानश्चैवमुत्पादनीय.-

" परलोकविधौ शास्त्रात्, प्रायो नान्यदपेक्षते।
आसन्नभव्यो मतिमान्, श्रद्धाधनसमन्वित ॥ १ ॥
उपदेश विनाऽप्यर्थ--कामौ प्रति पटुर्जन।
धर्मस्तु न विना शास्त्रा--दिति तत्राऽऽदरो हित. ॥ २ ॥
अर्थाऽऽदावविधानेऽपि, तदभाव. परं नृणाम्।
धर्मेऽविधानतोऽनर्थः, क्रियोदाहरणात्परः ॥ ३ ॥
तस्मात्सदैव धर्मार्थी, शास्त्रयत्नः प्रशस्यते।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन्, शास्त्राऽऽलोक. प्रवर्त्तक ॥ ४ ॥"
(शास्त्रयत्न इति) शास्त्रे यत्नो यस्येति समासः।
"पापाऽऽमयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम्।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं, शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥ ५ ॥
न यस्य भक्तिरेतस्मिं--स्तस्य धर्मक्रियाऽपि हि।
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या, कर्मदोषादसत्फला ॥ ६ ॥
य. श्राद्धो मन्यते मान्या-नहङ्कारविवर्जितः।
गुणरागी महाभाग-स्तस्य धर्मक्रिया परा ॥ ७ ॥
यस्य त्वनादर. शास्त्रे, तस्य श्रद्धाऽऽदयो गुणाः।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वा- न्न प्रशंसाऽऽस्पद सताम् ॥ ८ ॥
मलिनस्य यथाऽत्यन्तं, जलं वस्त्रस्य शोधनम्।
अन्त.करणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥ ९ ॥
शास्त्रभक्तिर्जगद्वन्द्यै-र्मुक्तिदूती परोदिता।
अत्रैवेयमतो न्याय्या, तत्प्राप्त्यासन्नभावतः ॥ १० ॥"

(अत्रैवेति) मुक्तावेव (इयमिति) शास्त्रभक्ति, "तत्प्राप्त्यासन्नभावत इति' मुक्तिप्राप्तिसमीपभावादिति। तथा--"प्रयोग आक्षेपण्या इति।" प्रयोगो व्यापारण, धर्मकथाकाले आक्षिप्यन्ते आकृष्यन्ते मोहात्तत्त्वं प्रति भव्यप्राणिनोऽनयेति आक्षेपणी। (तस्या कथायाश्चातुर्विध्यम् ' अक्खेवणी ' शब्दे प्रथमभागे १५२ पृष्ठे गतम्) तथा-" ज्ञानाऽऽद्याचारकथनमिति।" ज्ञानस्य श्रुतलक्षणस्य, आचारो ज्ञानाऽऽचार, आदिशब्दाद्दर्शनाऽऽचारश्चारित्राऽऽचारस्तपआचारो वीर्याऽऽचारश्चेति। ततो ज्ञानाऽऽद्याचाराणा कथनं प्रज्ञापनमिति समास'। ध० १ अधि०। अनन्तरोक्तपञ्चविंशद्विधे ज्ञानदर्शनाऽऽद्याचारे यथाशक्ति प्रतिपत्तिलक्षणं पराक्रमण, प्रतिपत्तौ च यथाबलं पालनेति। तथा-"निरीहशक्यपालनेति।" निरीहैरैहिकपारलौकिकफलेषु राज्यदेवत्वाऽऽदिलक्षणेषु व्यावृत्ताभिलाषेण शक्यस्य ज्ञानाऽऽचाराऽऽदेर्विहितमिदमिति बुद्ध्या पालना कार्या इति च कथ्यत इति। तथा-' अशक्ये भावप्रतिपत्तिरिति।' अशक्ये ज्ञानाऽऽचाराऽऽदिविशेष एव, कर्त्तुमपार्यमाणे कुतोऽपि धृतिसंहननकालबलाऽऽदिवैकल्यात् भावप्रतिपत्ति। भावेनान्तःकरणेन प्रतिपत्तिरनुबन्ध., न पुनस्तत्र प्रवृत्तिरपि, अकालौत्सुक्यस्य तत्त्वत आर्त्तध्यानत्वादिति। तथा-" पालनोपायोपदेश इति।" एतस्मिन् ज्ञानाऽऽद्याचारे प्रतिपन्ने सति पालनाय उपायस्याधिकगुणतुल्यगुणलोकमध्यसंवासलक्षणस्य निजगुणस्थानकोचितक्रियापरिपालनानुस्मारणस्वभावस्य चोपदेशो दातव्य इति। तथा-"फलप्ररूपणेति।" अस्याऽऽचारस्य सम्यक् परिपालितस्य सत' फलमिहैव तावदुपप्लवह्रासो भावैश्वर्यवृद्धिर्जनप्रियत्वं च, परत्र च सुगतिजन्मोत्तमस्थानलाभ'. परम्परया निर्वाणावाप्तिश्चेति यत्कार्यं तस्य प्ररूपणा प्रज्ञापना विधेयेति। ध० १ अधि०। (देवर्द्धिवर्णनं ' देवड्ढिवण्णण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६१७ पृष्ठे गतम्) (असदाचारगर्हा ' असदायार ' शब्दे प्रथमभागे ८४० पृष्ठे प्रतिपादिता) (नारकदुःखोपवर्णनम् " णारयदुक्खोववण्णण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१२ पृष्ठे गतम्) (दुष्कुलजन्मप्रशस्ति "दुक्कुलजम्मप्पसत्थि" शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५४८ पृष्ठे प्रोक्ता) (मोहनिन्दां 'मोहणिंदा' शब्दे प्रतिपादयिष्यामि) (धर्मबीजं च ' धम्मबीज ' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव वक्ष्यामि) (सज्ञानप्रशंसन ' सण्णाणप्पसंसण ' शब्दे प्रतिपादयिष्यते) "वीर्यर्द्धिवर्णनमिति।" वीर्यर्द्धे. प्रकर्षरूपाया शुद्धाऽऽचारबललभ्यायास्तीर्थकरपर्यवसानाया वर्णनमेति। यथा-" मेरुं दण्डं धरां छत्रं, यत्केचित्कर्तुमीशते। तत्सदाचारकल्पद्रु-फलमाहुर्महर्षय ॥१॥" तथापरिणते गम्भीरायाः पूर्वदेशनापेक्षयाऽत्यन्तसूक्ष्माया आत्मास्तित्वतद्बन्धमोक्षाऽऽदिकाया देशनाया योगो व्यापार कार्य। इदमुक्तं भवति-य पूर्वं साधारणगुणप्रशंसाऽऽदिरनेकधोपदेशः प्रोक्त आस्ते, स यदा तदाचारकर्मह्रासातिशयाद्ज्ञाङ्गित्वलक्षण परिणाममुपागतो भवति तदा जीर्णे भोजनमिव गम्भीरदेशनायामसौ देशनार्होऽवतार्यत इति। ध० १ अधि०।

इत्थं देशनाविधिं प्रपञ्च्योपसंहरन्नाह-" एवं संवेगकृत्कर्म, आख्येयो मुनिना पर.। यथाबोधं हि शुश्रूषो-र्भावितेन महात्मना ॥१॥" इति व्याख्यातप्रायम्। आह-धर्माख्यानेऽपि यदा तथाविधकर्मदोषान्नावबोध श्रोतुरुत्पद्यते, तदा किंफलं धर्माऽऽख्यानमित्याह-"अबोधेऽपि फलं प्रोक्तं, श्रोतॄणां मुनिसत्तमै। कथकस्य विधानेन, नियमाच्छुद्धचेतस ॥१॥" इति सुगमम्। आह-प्रकारान्तरेणापि देशनाफलस्य संभाव्यमानत्वादलमिहैव यत्नेनेत्याशङ्क्याह-

" नोपकारो जगत्यस्मिं-स्तादृशो विद्यते क्वचित्।
यादृशी दु खविच्छेदा-द्देहिनो धर्मदेशना ॥ १ ॥" इति।

(न) नैवोपकारोऽनुग्रहो, जगति भुवने, अस्मिन्नुपलभ्यमाने, तादृशो विद्यते समस्ति, क्वचित्काले क्षेत्रे वा, यादृशी यादृग्रूपा, दु खविच्छेदात् शारीरमानसदु खापनयनात्, देहिना देशनाऽर्हाणा, (धर्मदेशनेति) धर्मदेशनाजनितो मार्गश्रद्धानाऽऽदिगुण तस्य नि शेषक्लेशलेशाकलङ्कमोक्षाऽऽक्षेप प्रत्यवन्ध्यकारणत्वात्। इति निरूपितो धर्मबिन्दौ सद्धर्मदेशनाप्रदानविधि। ध० १ अधि०। सद्वा०।

बालाऽऽदीना सद्धर्मपरीक्षकाणा सप्रपञ्चं लक्षणमभिधाय तद्गतदेशनाविधिमाह-

बालाऽऽदिभावमेवं, सम्यग् विज्ञाय देहिनां गुरुणा।

सद्धर्मदेशनाऽपि हि, कर्त्तव्या तदनुसारेण ॥ १३ ॥

बालाऽऽदीनां भावः परिणामविशेषः, स्वरूपं वा, तमेवमुक्तनीत्या सम्यगवैपरीत्येन, विज्ञायाऽवबुध्य, देहिनां जीवानां, गुरुणा शास्त्राभिहितस्वरूपेण । यथोक्तम्-"धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मप्रवर्त्तकः । सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते ॥१॥" सद्धर्मस्य देशनाऽपि हि प्रतिपादना कर्त्तव्या । तदनुसारेण बालाऽऽदिपरिणामानुरूपेण यस्य यथोपकाराय सम्पद्यते देशना, तस्य तथा विधेयेति ॥ १३ ॥

अत्रैव हेतुद्वारेण व्यतिरेकमाह-

यद्भाषितं मुनीन्द्रैः, पापं खलु देशना परस्थाने ।
उन्मार्गनयनमेत-द्भवगहने दारुणविपाकम् ॥ १४ ॥

यद्यस्माद्भाषितमुक्तम्, मुनीन्द्रैः समययुक्तैः, पापं खलु वर्त्तते । देशना परस्थाने बालसम्बन्धिनी मध्यमबुद्धेस्तत्सम्बन्धिनी बुधस्य स्थाने । किमित्याह-उन्मार्गनयनमुन्मार्गप्रापणमेतद्विपरीतदेशनाकरणम् । भवगहने संसारगहने, दारुणविपाकं तीव्रविपाकम् । ते हि विपरीतदेशनया अन्यथा चान्यथा च प्रवर्त्तन्त इति कृत्वा ॥ १४ ॥

कथं पुनर्देशनास्वरूपेण समयोक्तत्वेन सुन्दराऽपि सती परस्थानेऽपायमित्याह-

हितमपि वायोरौषध-महितं तत्तच्छ्लेष्मणो यथाऽत्यन्तम् ।
सद्धर्मदेशनौषध-मेवं बालाऽऽद्यपेक्षमिति ॥१५॥

हितमपि योग्यमपि, वायोः शरीरगतस्य वातस्यौषधं स्नेहपानाऽऽदि अहितं, तदेवौषधं श्लेष्मणो यथाऽत्यन्तं भवति । तत्प्रकोपहेतुत्वेन सद्धर्मस्य देशनौषधं स्वरूपेण सुन्दरमपि तद्वज्ज्ञाहेतुत्वेन एवमहितं भवति । (बालाऽऽद्यपेक्षमिति) बालमध्यमबुद्धिबुधापेक्षं तस्मात्तदपायभीरुणा तद्धितप्रवृत्तेन च गुरुणा तेषां भावं विज्ञाय, देशना विधेयेति शास्त्रोपदेशः ॥ १५ ॥ षो० १ विव० ।

गुरुर्बालाऽऽदीनां देशनां विदधातीत्युक्तम्, तत्र विधिमाह-

बालाऽऽदीनामेषा, यथोचितं तद्विदो विधिर्गीतः ।
सद्धर्मदेशनाया-मयमिह सिद्धान्ततत्त्वज्ञैः ॥ १ ॥

बालाऽऽदीनामेषां पूर्वोक्तानां, यथोचितं यथार्हम्, तद्विदो बालाऽऽदिस्वरूपविदः, विधिर्गीतः कथितः । सद्धर्मदेशनाया विषये, अयमिह वक्ष्यमाणः, सिद्धान्ततत्त्वज्ञैरागमपरमार्थनिपुणैरिति ॥ १ ॥

तत्र बालस्य परिणाममाश्रित्य हितकारिणीं देशनामाह-

बाह्यचरणप्रधाना, कर्त्तव्या देशनेह बालस्य ।
स्वयमपि च तदाचार-स्तदग्रतो नियमतः सेव्यः ॥ २ ॥

बाह्यचरणप्रधाना बाह्यानुष्ठानप्रवरा, कर्त्तव्या विधेया देशना प्ररूपणा, इह प्रक्रमे बालस्याऽऽत्मधर्मार्थिनः, स्वयमपि चाऽऽत्मनाऽपि च, तदाचारः-स बाह्याचारश्चोपदिश्यमानोऽन्यस्तदग्रतो बालस्याग्रतो, नियमतो नियमेन, सेव्यो भजनीय । यदि पुनः स्वयमन्यथा सेवते, अन्यथा चोपदिशति, ततः तदविश्वासात् तत्त्वदर्शनमसम्यगवबुद्ध्येत समुपदिष्टमपि सर्वं ऽऽसेव्यं भवति ॥ २ ॥

तामेव बालस्य देशनामाह-

सम्यग् लोचविधानं, ह्यनुपानत्कत्वमथ धरा शय्या ।
प्रहरद्वयं रजन्याः, स्वापः शीतोष्णसहनं च ॥ ३ ॥

सम्यग् लोचविधानं लोचकरणं, कथनीयं भवतीति योगः । हिशब्दश्चार्थे सर्वत्राभिसम्बन्धनीयः । अनुपानत्कत्वं च-न विद्यते उपानहौ यस्य सोऽयमनुपानत्कस्तद्भावस्तत्त्वम् । अथ धरा शय्या-धरा पृथ्वी सैव शय्या शयनीयं, नान्यत्पर्यङ्काऽऽदि, प्रहरद्वयं रजन्याः स्वापः-प्रथमयामे स्वाध्यायकरणं सामान्येनैव साधुना, द्वितीयतृतीयप्रहरयोस्तु स्वापः स्वपनं, चतुर्थे पुनः स्वाध्यायकरणं, समयनीत्या शीतोष्णसहनं च- शीतोष्णयोः सहनं स्वसामर्थ्यापेक्षमार्त्तध्यानाऽऽदिपरिहारेण ॥ ३ ॥

षष्ठाष्टमाऽऽदिरूपं, चित्रं बाह्यं तपो महाकष्टम् ।
अल्पोपकरणसंधा-रणं च तच्छुद्धता चैव ॥ ४ ॥

षष्ठाष्टमाऽऽदिरूपं समयप्रसिद्धं, चित्रं नानाप्रकारं, बाह्यं तपो महाकष्टं दुरनुचरम्, अल्पसत्त्वैर्दुर्बलसहननैश्चेति कृत्वा, अल्पोपकरणसंधारणं च अल्पमेवोपकरणम् [सधारणीय] तच्छुद्धता चैव उद्गमाऽऽदिदोषविशुद्धता ॥ ४ ॥

गुर्वी पिण्डविशुद्धि-श्चित्रा द्रव्याऽऽद्यभिग्रहाश्चैव ।
विकृतीनां संत्याग-स्तथैकसिक्थाऽऽदिपारणकम् ॥५॥

गुर्वी पिण्डविशुद्धिराधाकर्माऽऽदित्यागेन चित्रा द्रव्याऽऽद्यभिग्रहाश्चैव द्रव्यक्षेत्रकालभावाभिग्रहाः समयप्रसिद्धाः । विकृतीनां सत्यागः क्षीराऽऽदीनाम्, तथैकसिक्थाऽऽदिपारणकम् । एकसिक्थभोजनं पारणके । आदिशब्दादेककवलाऽऽदिग्रहः ॥ ५ ॥

अनियतविहारकल्पः, कायोत्सर्गाऽऽदिकरणमनिशं च ।
इत्यादि बाह्यमुच्चैः, कथनीयं भवति बालस्य ॥ ६ ॥

अनियतविहारकल्पोऽनियतश्चासौ विहारश्च नैकक्षेत्रवासित्वम्, तस्य कल्पः समाचारः, कायोत्सर्गाऽऽदिकरणमनिशं च-कायोत्सर्गस्याऽऽदिशब्दान्निषद्याकरणमासेवनमित्यादि बाह्यमुच्चैर्बाह्यमनुष्ठानं प्रतिश्रयप्रत्युपेक्षणप्रमार्जनकालग्रहणाऽऽदि कथनीयं भवति बालस्य सर्वथोपदेष्टव्यं हितकारीति ॥ ६ ॥

इदानीं मध्यमबुद्धेर्देशनाविधिमाह-

मध्यमबुद्धेस्त्वीर्या-समितिप्रभृति त्रिकोटिपरिशुद्धम् ।
आद्यन्तमध्ययोगै-र्हिततद्द्वि खलु साधुसद्वृत्तम् ॥ ७ ॥

मध्यमबुद्धेस्तु मध्यमबुद्धेः पुनरीर्यासमितिप्रभृति ईर्यासमित्यादिकम्, प्रवचनमातृरूपं साधुसद्वृत्तं, समाख्येयमिति योगः । तच्च कीदृशं साधूनां सद्वृत्तम् ? । त्रिकोटिपरिशुद्धं रागद्वेषमोहत्रयपरिशुद्धम् । अथवा तिस्रः कोटयो हननपचनक्रयणरूपाः कृतकारितानुमतिभेदेन गृह्यन्ते, ताभिः परिशुद्धम् । अथवा-कषच्छेदतापकोटित्रयपरिशुद्धं, प्रवचनमातृन्तर्गतत्वात् सकलप्रवचनस्य । तस्य च कषच्छेदतापपरिशुद्धत्वेनाभिधानात्तदेव च यत्नमनुष्ठीयमानम्, सद्वृत्तम्, साधुसद्वृत्तमेव विशिष्यते-आद्यन्तमध्ययोगैर्हिततद्द्वि सर्वात्मनि । आद्ययोगेन, मध्ययोगेनान्त्ययोगेन वा, प्रथमो जीवितव्यस्य वा, हिततदुपकारि । अथवा-आदियोगेन प्रथमवयोऽवस्थागतेनाध्ययनाऽऽदिना, मध्यमयोगेन द्वितीयवयोऽवस्थानार्थिनाऽर्थश्रवणाऽऽदिना, अन्त्ययोगेन चरमवयोऽवस्थाभाविना धर्मध्यानाऽऽदिना । भावनाविशेषरूपेण, हिततद्द्वि हितकारि हितफलमेवेति ॥ ७ ॥

एतदेवाऽऽह-

अष्टौ साधुभिरनिशं, मातर इव मातरः प्रवचनस्य ।
नियमेन न मोक्तव्याः, परमं कल्याणमिच्छद्भिः ॥ ८ ॥

अष्टौ साधुभिरनिशं प्रवचनस्य मातरो न मोक्तव्या इति सम्बन्धः । ताश्च मातर इव, पुत्रस्येति गम्यते । प्रवचनस्य प्रसूतिहेतुत्वेन, हितकारित्वेन च मातृत्वमवसेयम् । नियमेनावश्यभावेन । कीदृशैः साधुभिः ?, परमं कल्याणमिच्छद्भिरैहलौकिकपारलौकिकपरमकल्याणकामैः ॥ ८ ॥

एतच्च समाख्येयम्-

एतत्सचिवस्य सदा, साधोर्नियमान्न भवभयं भवति ।
भवति च हितमत्यन्तं, फलदं विधिनाऽऽगमग्रहणम् ॥ ९ ॥

एतत्सचिवस्य प्रवचनमातृसहितस्य, सदा सर्वकालं, साधोर्यतेर्नियमान्नियमेन, न भवभयं भवति संसारभयं न जायते, निःश्रेयससंनिधिविषयेच्छानिष्पत्तेः । भवति च संपद्यते च । प्रवचनमातृविधानसंपन्नस्य हितं भव्यपापपरिहारसारत्वेनात्यन्तं प्रकर्षवृत्त्या फलदं फलहेतुर्विधिना विनयबहुमानाऽऽदराऽऽदिना, आगमग्रहणं वाचनाऽऽदिरूपमेतेति ॥ ९ ॥

आगमग्रहणस्य गुर्वधीनत्वात् तद्वचनमप्युपदेष्टव्यमित्याह-

गुरुपारतन्त्र्यमेव च, तद्बहुमानात्सदाशयानुगतम् ।
परमगुरुप्राप्तेरिह, बीजं तस्माच्च मोक्ष इति ॥ १० ॥

गुरुपारतन्त्र्यमेव च गुर्वायत्तत्वम्, तद्बहुमानाद्गुरुविषयाऽऽन्तरप्रीतिविशेषात् । [न तु दृष्टिमात्रज्ञानात्] सदाशयानुगतम्- सदाशयः संसारक्षयहेतुर्गुरुरयं ममेत्येवंभूतः कुशलपरिणामः, तेनानुगतं गुरुपारतन्त्र्यम् । परमगुरुप्राप्तेरिह सर्वज्ञप्राप्तेर्बीजम्, गुरुबहुमानाज्जन्मान्तरे तथाविधपुण्योपादानेन सर्वज्ञदर्शनसंभवाद् गुरुपारतन्त्र्यं सर्वज्ञप्राप्तिबीजं भवति । तस्माच्चैव विधाद्गुरुपारतन्त्र्यान्मोक्षः [इति हेतोर्गुरुपारतन्त्र्यं साधुनाऽवश्यं विधेयमिति] ॥ १० ॥

पूर्वोक्त एव वस्तुनि सङ्कृत्ताऽऽदौ क्रियासम्बन्धं दर्शयति-

इत्यादि साधुवृत्तं, मध्यमबुद्धेः सदा समाख्येयम् ।
आगमतत्त्वं तु परं, बुधस्य भावप्रधानं तु ॥ ११ ॥

मध्यमबुद्धेरेवमादि साधुवृत्तं प्रस्तुतम्, सदा समाख्येयं प्रकाशनीयम्, आगमतत्त्वं तु पूर्वोक्तं परं केवलमेव, बुधस्य प्राङ्निरूपितस्य, भावप्रधानं तु परमार्थसारं समाख्येयमिति ॥ ११ ॥

कृतस्तच्चमेव बुधोपदेशमाह-

वचनाऽऽराधनया खलु, धर्मस्तद्बाधया त्वधर्म इति ।
इदमत्र धर्मगुह्यं, सर्वस्वं चैतदेवास्य ॥ १२ ॥

वचनाऽऽराधनया आगमाऽऽराधनयैव, खलुशब्द एवकारार्थः । धर्मः श्रुतचारित्ररूपः, संपद्यते । तद्बाधया तु वचनबाधया त्वधर्म इति । इदमत्र विधिप्रतिषेधरूपं वचनमागमाऽऽख्यं धर्मगुह्यं धर्मरहस्यम्, सर्वस्वं चैतदेवाऽस्य धर्मस्य, एतद् वचनमेव सर्वस्वं सर्वसारो वर्त्तत इति ॥ १२ ॥

अथ किमर्थं बुधस्यैवमुपदेशः क्रियते सकलानुष्ठानोपसर्जनीभावाऽऽपादानद्वारेणेत्याशङ्क्य तन्मूलत्वं सकलानुष्ठानानामुपदर्शयन्नाह-

यस्मात्प्रवर्त्तकं भुवि, निवर्त्तकं चान्तराऽऽत्मनो वचनम् ।
धर्मश्चैतत्संस्थो, मौनीन्द्रं चैतदिह परमम् ॥ १३ ॥

यस्मात् प्रवर्त्तकं स्वाध्यायध्यानाऽऽदिषु विधेयेषु, भुवि मर्त्यलोके, निवर्त्तकं च हिंसाऽनृताऽऽदिभ्यः सकाशादन्तराऽऽत्मनो मनसो वचनमागमरूपम्, धर्मश्चैतत्संस्थो वचनसंस्थो वचने सति स्थित इति कृत्वा मौनीन्द्रं चैतद्वचनमिह प्रक्रमे परमं प्रधानम् । एतदुक्तम्-" सर्वज्ञोक्तेन शास्त्रेण, विदित्वा योऽत्र तत्त्वतः । न्यायतः क्रियते धर्मः, स धर्मः स च सिद्धये ॥ १ ॥" ॥ १३ ॥

किमेवं वचनमाहात्म्यं ख्याप्यत इत्याह-

अस्मिन् हृदयस्थे सति, हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति ।
हृदयस्थिते च तस्मि-न्नियमात्सर्वार्थसंसिद्धिः ॥ १४ ॥

अस्मिन् प्रवचने आगमे, हृदयस्थे सति हृदयप्रतिष्ठिते सति, हृदयस्थश्चित्तस्थस्तत्त्वतः परमार्थेन, मुनीन्द्रः सर्वज्ञ इति कृत्वा, हृदयस्थिते च तस्मिन् भगवति मुनीन्द्रे नियमान्नियमेन, सर्वार्थसंसिद्धिः सर्वार्थनिष्पत्तिः ॥ १४ ॥

किमेवं सर्वप्रयोजनसिद्धिद्वारेण भगवान् संस्तूयत इत्याह-

चिन्तामणिः परोऽसौ, तेनैवं भवति समरसाऽऽपत्तिः ।
सैवेह योगिमाता, निर्वाणफलप्रदा प्रोक्ता ॥ १५ ॥

चिन्तारत्नं चिन्तामणिः, परः प्रकृष्टोऽसौ भगवान् सर्वज्ञस्तेन भगवतैवमागमबहुमानद्वारेण, भवति जायते, समरसाऽऽपत्तिः समताऽऽपत्तिः । आगमाभिहितसर्वज्ञस्वरूपोपयोगोपयुक्तस्य तदुपयोगाऽनन्यवृत्तेः परमार्थेन सर्वज्ञरूपत्वाद् ग्राह्याऽऽलम्बनाऽऽकारोपरक्तत्वेन मनसः समापत्तिर्ध्यानविशेषरूपा, तत्फलभूता वा समरसाऽऽपत्तिरित्यभिधीयते । यथोक्तं योगशास्त्रे-' क्षीणवृत्तेरभिजात्यस्येव मणेर्ग्राह्यग्रहीतृग्रहणेषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ।" सैवेह प्रस्तुता समापत्तिरभिसंबध्यते योगिमाता योगिजननी, योगी चेह सम्यक्त्वाऽऽदिगुणः पुरुषः । यथोक्तम्-"सम्यक्त्वज्ञानचारित्र-योगः सद्योग उच्यते । एतद्योगाद्वियोगी स्यात्परमब्रह्मसाधकः ॥ १ ॥" सैव विशिष्यते-निर्वाणफलप्रदा निर्वाणकार्यप्रसाधनी प्रोक्ता तद्वेदिभिराचार्यैः ॥ १५ ॥

बालाऽऽदीनां सद्धर्मदेशनाविधिरधिकृतः, तमेव निगमयन्नाह-

इति यः कथयति धर्मं, विज्ञायौचित्ययोगमनघमतिः ।
जनयति स एनमतुलं, श्रोतृषु निर्वाणफलदमलम् ॥ १६ ॥

इति यः कथयति धर्ममेवमुक्तनीत्या यो गुरुर्धर्मं कथयति, विज्ञाय ज्ञात्वा, औचित्ययोगमौचित्यव्यापारं तत्संबन्धं वा, अनघमतिर्निर्दोषबुद्धिर्जनयति स गुरुरेनं धर्ममतुलमनन्यसदृशं श्रोतृषु शुश्रूषाप्रवृत्तेषु, निर्वाणफलदं मोक्षफलप्रदम्, अलमत्यर्थमिति ॥ १६ ॥ षो० २ विव० । श्रीवीरतीर्थङ्करे देशनां दत्त्वा देवच्छन्दाल्लं प्राप्ते सति एकादशगणधरमध्याद् ज्येष्ठत्वाद् गौतम एव धर्मदेशनां ददाति, पट्टधारित्वेन स्थापितत्वात् । सुधर्मस्वामी वा, अन्यो वा यः कश्चिद् गणधरो वेति ? प्रश्ने, उत्तरम्-दीक्षया ज्येष्ठत्वात्सति गौतमस्वामिनि गौतमस्वाम्येव धर्मदेशनां विधत्ते, असति च तस्मिन्नन्योऽपि यो ज्येष्ठो भवति, स विधत्ते इति । २७७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

धम्मदेसणाजोग्ग-धर्मदेशनायोग्य-त्रि० । लोकोत्तरधर्मप्रज्ञापनाऽर्हे, "स धर्मदेशनायोग्यो, मध्यस्थत्वाज्जिनैर्मतः ।" ध० १ अधि० ।

धम्मधण-धर्मधन-न० । धर्माऽऽत्मके द्रव्ये, जीवा० १२ अधि० ।
' दायेकण धणसिरिहिं, तेसिं कप्पाडिआणि अच्छीणि । नाऊण

वि जिणवयणं, जे इह विहलंति धम्मधणं ॥ १ ॥ " सघा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

धम्मधरोद्धरणमहावराह–धर्मधरोद्धरणमहावराह–पुं० । धर्मे सर्वज्ञप्रणीत , स एव जीवाऽऽदिपदार्थाऽऽधारत्वेन धरा पृथिवी, तस्या यदुद्धरणं स्वरूपप्रकाशरक्षणाद् यथाऽवस्थितत्वेनावस्थापनम्, तद्विषये महावराह आदिवराहो धम्मधरोद्धरणमहावराह । धराया महावराहवद् धर्मस्यावस्थापके, "धम्मधरोद्धरणमहा-वराहजिणचंदसूरिसिस्साण । " प्रव० २७६ द्वार ।

धम्मधम्मिपत्ति–धर्मधर्मिप्राप्ति–स्त्री० । धर्माणां धर्मिरूपेण प्राप्ति धर्मधर्मिप्राप्ति । धर्माणां धर्मिरूपेण प्राप्तौ, अने०१ अधि० ।

धम्मधम्मिभाव–धर्मधर्मिभाव–पुं० । धर्मधर्मितायाम, आ० म० १ अ० १ खण्ड । (धर्मधर्मिणोर्भेदाभेदविचारो ' धम्म ' शब्देऽनुपदमेव २६६३ पृष्ठे गत.)

धम्मधुरा–धर्मधुरा–स्त्री० । धर्म एवातिसात्त्विकैरुह्यमानतया धूरिव धूर्धर्मधुरा । उत्त०१४ अ० । धर्माऽऽस्तिकाया धुरि, "धणेण किं धम्मधुराहिगारे ।" धर्मधुराधिकारे दशविधयतिधर्मधूर्वहनाधिकारे । उत्त० १४ अ० । धर्मचिन्तायाम, सू० १ उ० ।

धम्मपइण्ण–धर्मप्रतिज्ञ–त्रि० । धर्मकरणाभ्युपगमपरे, व्य० १ उ० ।

धम्मपक्खिय–धर्मपाक्षिक–त्रि० । पुण्योपादानभूते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

धम्मपडिमा–धर्मप्रतिमा–स्त्री० । धर्मः श्रुतचारित्रलक्षण., तद्विषया प्रतिमा प्रतिज्ञा, धर्मप्रधान शरीरं वा धर्मप्रतिमा । धर्मविषयकप्रतिज्ञायाम्, धर्मप्रधाने शरीरे च । स्था० १ ठा० ।

तत्स्वरूपमाह--

" एगा धम्मपडिमा,ज से आया पज्जवजाए ।" प्राक्तनयग्म-पर्यवा ज्ञानाऽऽदिविशेषा जाता यस्य स पर्यवजातो, भवतीति शेष , विशुद्ध्यतीत्यर्थ । आहिताग्न्यादित्वाच्च जातशब्दस्योत्तरपदत्वमिति । अथवा--पर्यवान्, पर्यवेषु वा यात प्राप्त. पर्यवयात । अथवा--पर्यव. परिरक्षा, परिज्ञान वा । शेष तथैवेति । स्था० १ ठा० ।

धम्मपण्णत्ति–धर्मप्रज्ञप्ति–स्त्री० । धर्मप्ररूपणायाम, धर्मप्ररूपणावति दर्शने च । उपा० ६ अ० । " महावीरस्सतिए धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता ण विहरित्तए ।" उपा० १ अ० । धर्मप्रज्ञप्तिर्यथावस्थितधर्मप्रज्ञापनात् । दशवैकालिकस्य षड्जीवनिकायाऽऽख्येऽध्ययने च । दश० ४ अ० । " आयप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ धम्मपण्णत्ती । " दश० १ अ० ।

धम्मपण्णवणा–धर्मप्रज्ञापना–स्त्री० । धर्मस्य क्षान्त्यादिदशलक्षणोपेतस्य प्रज्ञापना प्ररूपणा धर्मप्रज्ञापना । धर्मप्ररूपणायाम, " धम्मपण्णवणा जा सा ।" सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

धम्मपत्थ–धर्मपथ्य–त्रि० । धर्माय पथ्यमिव । धर्माय हिते, धर्मश्रवण-तत्त्वरमाऽऽस्वाद-धार्मिकसत्त्वसंसर्गादिरूपे, षो० ४ विव० ।

धम्मपय–धर्मपद–न० । धर्मफलके सिद्धान्तपदे, " जस्संतिए धम्मफलाणि सिक्खे । " दश० ६ अ० १ उ० । क्षान्त्यादिके च । " विऊण ते धम्मपयं अणुत्तरं ।" आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

धम्मपरंपरा–परम्पराधर्म–त्रि० । परम्परया धर्मो यस्य स परम्पराधर्म । प्राकृतत्वाच्च परम्पराशब्दस्य परनिपात. । परम्परया धर्मं प्राप्ते, उत्त० १४ अ० ।

धम्मपरायण–धर्मपरायण–त्रि० । धर्मानुष्ठायिनि, दर्श० ४ तत्त्व । धर्मध्यानतत्परे, उत्त० १४ अ० । धर्मैकनिष्ठे, उत्त० १४ अ० । " एव ते कमसो बुद्धा, सव्वे धम्मपरायणा ।" उत्त० १४ अ० । " सया धम्मपरायणो । " दर्श० ४ तत्त्व ।

धम्मपरूवणा–धर्मप्ररूपणा–स्त्री० । धर्मविषयायां प्ररूपणायाम, श्रीविमलनाथप्रपौत्रश्रीधर्मघोषस्थविरपार्श्वे प्रव्रज्य महाबलकुमार पञ्चमकल्पे दशाब्धिस्थितिमनुपाल्यानन्तर श्रीवीरपार्श्वे प्रव्रज्य सिद्ध इति भगवत्येकादशशतैकादशोद्देशकाऽऽद्यावुक्तम्, तथा सति श्रीविमलनाथवीरयो श्रीकल्पसूत्राऽऽदिग्रन्थे महदन्तर दृश्यते, तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-भगवतीवृत्तौ द्वितीयवृत्तौ द्वितीयव्याख्यानप्रपौत्रके शिष्यसन्ताने इत्युक्तमस्ति, तेन कल्पसूत्रोक्तकालमानमाश्रित्य न काऽप्यनुपपत्तिरिति । २५३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

धम्मपाढग–धर्मपाठक–त्रि० । धर्माध्यापके, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

धम्मपारग–धर्मपारग–त्रि० । धर्मस्य श्रुतचारित्राऽऽत्मकस्य पारग. सम्यग् वेत्ता धर्मपारग । धर्मस्य सम्यग् वेत्तरि, " बुद्धा धम्मस्स पारगा । " आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

धम्मपाल–धर्मपाल–पुं० । कौशाम्बीवास्तव्यस्य धनयक्षस्य श्रेष्ठिन. स्वनामख्याते पुत्रे, द्वा० २३ अष्ट० ।

धम्मपिवासिय–धर्मपिपासित–त्रि० । पिपासेव पिपासा, प्राप्तेऽपि धर्मेऽतृप्तिः, धर्मपिपासा सजाताऽस्येति धर्मपिपासित. । धर्मप्राप्तावतृप्ते, न० । भ० ।

धम्मपुरिस–धर्मपुरुष–पुं० । अर्हति, स्था० । (' पुरिस ' शब्दे व्याख्या वक्ष्यते) धर्म. क्षायिकचारित्राऽऽदिः, तदर्जनपर पुरुषो धर्मपुरुष. । " धम्मपुरिसो तदज्जणवावारपरो जहा साहू ।" इत्युक्तलक्षणे पुरुषभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । विशे० । आ० म० । आ० चू० । "सुहावह धम्मपुरिसाण ।" धर्मपुरुषाणां धर्मप्रधाननराणाम् । पञ्चा० ६ विव० ।

धम्मप्पएस–धर्मप्रदेश–पुं० । धर्मशब्देन धर्मास्तिकायो गृह्यते, तस्य प्रकृष्टो देशः प्रदेशो निर्विभागो भागो धर्मप्रदेश. । धर्मास्तिकायस्य निर्विभागे भागे, अनु० ।

धम्मप्पभ–धर्मप्रभ–पुं० । अञ्चलगच्छीये सिंहतिलकसूरिगुरौ, अयमाचार्य विक्रमसंवत् १३३१ मिते जात , १३९३ मिते स्वर्गत. । जै० इ० ।

धम्मप्पलज्जण–धर्मप्ररञ्जन–त्रि० । धर्मे प्ररज्यते आसज्यते इति धर्मप्ररञ्जन । औ० । धर्मप्रायेषु कर्मसु प्रकर्षेण रज्यत इति धर्मप्ररञ्जन. । ' रलयोरैक्यमिति ' कृत्वा रस्य स्थाने लकार. । धर्माऽऽसक्ते, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

धम्मप्पलोइ (ण्)–धर्मप्रलोकिन्–पुं० । धर्मं प्रलोकयत्युपादेयतया प्रेक्षते पाखण्डिषु वा गवेषयतीति धर्मप्रलोकी । धर्मस्योपादेयतया प्रेक्षके, पाखण्डिषु धर्मगवेषके च । औ० । ज्ञा०

धम्मप्पवाइ (ण्) - धर्मप्रवादिन् - पुं० । धर्मं प्रवदितुं शीलं यस्य स धर्मप्रवादी । धर्मप्रावादुके, आचाराङ्गचतुर्थाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकार्थाधिकारमधिकृत्य - " बिइए धम्मप्पवाइयपरिक्खा ।" धर्मं प्रवदितुं शीलं येषां ते धर्मप्रवादिनः, त एव धर्मप्रवादिकाः, धर्मप्रावादुका इत्यर्थः । तेषां परीक्षा युक्तायुक्तविचारणम् । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

धम्मप्पसंसा - धर्मप्रशंसा - स्त्री० । दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, तस्य प्रशंसा धर्मप्रशंसा । सकलपुरुषार्थानामेव धर्मः प्रधानमित्येवरूपे धर्मस्य स्तवे, तथाऽन्यैरप्युक्तम् - " रैदो धनार्थिनां धर्मः, कामिनां सर्वकामदः । धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः " ॥ १ ॥ दश० १ अ० । पो० ।

धम्मप्पावाउय - धर्मप्रावादुक - पुं० । धर्मप्रवादिनि, आचा० १ श्रु० १४ अ० १ उ० ।

धम्मप्पिय - धर्मप्रिय - त्रि० । धर्ममित्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

धम्मफल - धर्मफल - न० । धर्मस्य फलं धर्मफलम्, धर्मेण वा फलं धर्मफलम् । धर्मप्रयोजने, दश० १ अ० ।

धर्मफलमाह -

जया जीवमजीवा य, दो वि एए वियाणइ ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥ १४ ॥

यदा यस्मिन् काले, जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति विविधं जानाति, तदा तस्मिन् काले, गतिं नरकगत्यादिरूपां, बहुविधां स्वपरगतभेदेनानेकप्रकारां, सर्वजीवानां जानाति । यथाऽवस्थितजीवाजीवपरिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाभावात् ॥ १४ ॥

उत्तरोत्तरां फलवृद्धिमाह -

जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ।
तया पुन्नं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ ॥ १५ ॥

यदा गतिं बहुविधां सर्वजीवानां जानाति, तदा पुण्यं च पापं च बहुविधगतिनिबन्धनं, तथा बन्धं जीवकर्मयोगदुःखलक्षणं, मोक्षं च तद्वियोगसुखलक्षणं जानाति ॥ १५ ॥

जया पुन्नं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ ।
तया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ॥ १६ ॥
जया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरं च बाहिरं ॥ १७ ॥

यदा पुण्यं च पापं च बन्धं मोक्षं च जानाति, तदा निर्विन्ते मोहाभावात्सम्यग्विचारयत्यसारदुःखरूपतया भोगान् शब्दाऽऽदीन् यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान्, शेषास्तु वस्तुतो भोगा एव न भवन्ति ॥ १६ ॥ (जया इत्यादि) यदा निर्विन्ते भोगान् यान् दिव्यान्, यांश्च मानुषान्, तदा त्यजति संयोगं सम्बन्धं द्रव्यतो भावतः साभ्यन्तरं बाह्यं क्रोधाऽऽदिहिरण्याऽऽदिसम्बन्धमित्यर्थः ॥ १७ ॥

[त]या चयइ संजोगं, सब्भिंतरं च बाहिरं ।
[त]या मुंडे भवित्ता णं, पव्वइए अणगारियं ॥ १८ ॥

यदा त्यजति संयोगं साभ्यन्तरं बाह्यम्, तदा मुण्डो भूत्वा द्रव्यतो भावतश्च प्रव्रजति प्रकर्षेण व्रजत्यपवर्गं प्रत्यनगारं द्रव्यतो भावतश्चाविद्यमानागारमिति भावः ॥ १८ ॥

जया मुंडे भवित्ता णं, पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥ १९ ॥

यदा मुण्डो भूत्वा प्रव्रजत्यनगारम् (तया संवरमुक्किट्ठं ति) प्राकृतशैल्या उत्कृष्टं संवरं धर्मं सर्वप्राणातिपाताऽऽदिविनिवृत्तिरूपं, चारित्रधर्ममित्यर्थः । स्पृशत्यनुत्तरं सम्यगासेवत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ॥ २० ॥

यदोत्कृष्टसंवरं धर्मं स्पृशत्यनुत्तरं तदा धुनाति - अनेकार्थत्वात्पातयति कर्मरजः कर्मैवाऽऽत्मरञ्जनाद्रज इव रजः । किंविशिष्टमित्याह - अबोधिकलुषं कृतम् - अबोधिकलुषेण मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

जया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥ २१ ॥

यदा धुनाति कर्मरजः अबोधिकलुषं कृतम्, तदा सर्वत्रगं ज्ञानमशेषज्ञेयविषयं, दर्शनं चाशेषदृश्यविषयम्, अभिगच्छत्यावरणाभावादाधिक्येन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥ २२ ॥

यदा सर्वत्रगं ज्ञानं दर्शनं चाधिगच्छति, तदा लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकमलोकं चानन्तं जिनो जानाति केवली, लोकौ च सर्वैः, नान्यतरमेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥ २३ ॥

यदा लोकमलोकं च जिनो जानाति केवली, तदोचितसमयेन योगान्निरुध्य मनोयोगाऽऽदीन् शैलेशीं प्रतिपद्यते भवोपग्राहिकर्मांशक्षयाय ॥ २३ ॥

जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ता णं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥ २४ ॥

यदा योगान्निरुध्य शैलेशीं प्रतिपद्यते, तदा कर्म क्षपयित्वा भवोपग्राह्यपि सिद्धिं गच्छति लोकान्तक्षेत्ररूपां, नीरजाः सकलकर्मरजोविनिर्मुक्तः ॥ २४ ॥

जया कम्मं खवित्ता णं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥ २५ ॥

यदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः, तदा लोकमस्तकस्थः त्रैलोक्योपरिवर्ती, सिद्धो भवति शाश्वतः कर्मबीजाभावादनुत्पत्तिधर्मेति भावः । उक्तो धर्मफलाऽऽख्यः षष्ठोऽधिकारः ॥ २५ ॥

साम्प्रतमिदं धर्मफलं यस्य दुर्लभं तमभिधित्सुराह -

सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहोविस्स, दुलहा सुगइ तारिसगस्स ॥ २६ ॥

सुखाऽऽस्वादकस्याभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखभोक्तुः, श्रमणस्य द्रव्यप्रव-

जितस्य,साताऽऽकुलस्य जाविसुखार्थं व्याक्षिप्तस्य,निकामशायिन सूत्रार्थवेलामप्युल्लङ्घ्य शयानस्य, उत्सोलनाप्रधाविन उत्सोलनयोदकाऽयतनया प्रकर्षेण धावति पादाऽऽदिशुद्धिं करोति य स तथा तस्य । किम् ?, इत्याह--दुर्लभा दुष्प्रापा, सुगति सिद्धिपर्यवसाना, तादृशस्य भगवदाज्ञालोपकारिण इति गाथार्थ ॥ २६ ॥

इदानीमिद धर्मफल यस्य सुलभ तमाह--

तवगुणपहाणयस्स य, उज्जुमई खंतिसंजमरयस्स ।
परिसहे जिणंतस्स, सुलहा सुगइ तारिसगस्स ॥ २७ ॥
पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जेसिं पिओ तवो सं-जमो य खंती य बंभचेरं च ॥२८॥

तपोगुणप्रधानस्य षष्ठाष्टमाऽऽदितपोधनवत ऋजुमतेर्मार्गप्रवृत्तबुद्धेः, क्षान्तिसयमरतस्य क्षान्तिप्रधानसयमाऽऽसेविन इत्यर्थः । परीषहान् क्षुत्पिपासाऽऽदीन्, जयतोऽभिभवत ,सुलभा सुगति रुक्तलक्षणा, तादृशस्य भगवदाज्ञाकारिण इति गाथार्थ. ॥२७॥ पश्चादपि वृद्धावस्थायामपि, ते प्रयाता. प्रकर्षेण याता अविराधितसंयमा अपि सन्मार्गं प्रपन्ना , शीघ्र गच्छन्ति अमरभवनानि देवविमानानि । ते के ?, इत्याह-येषां प्रिय तप. संयम , क्षान्ति., ब्रह्मचर्यं च ॥ २८ ॥ दश० ४ अ०।

धम्मजड्ड-धर्मभ्रष्ट-त्रि० । धर्मच्युते, दश० १ चू० ।

धम्ममइ-धर्ममति-स्त्री० । धर्मबुद्धौ, " इच्छजणविप्पओगे, आवई पमियस्स रोगघत्थस्स । वइपरिणामेय तहा, धम्ममई होइ पायए ॥१॥ " दर्श० १ तत्त्व ।

धम्ममग्ग-धर्ममार्ग-पु० । परलोकगामिनि मार्गे , प० व० ४ द्वार।

धम्ममाण-ध्मायमान-त्रि० । भस्त्रावातेनोद्दीप्यमाने, " लोहागरधम्ममाणधमधमेतघोस । " प्रश्न० २ आश्र० । अग्निना ताप्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० ए अ० ।

धम्ममित्त-धर्ममित्र-पु० । धर्मसुहृदि, पो० ६ विव० । पद्मप्रभजिनस्य पूर्वभवनामधेये, स० ।

धम्ममुत्ति-धर्ममूर्त्ति-स्त्री०। अञ्चलगच्छीये शिवसिंहसूरिशिष्ये जयकीर्त्तिसूरिगुरौ, जै० ६० ।

धम्ममुह-धर्ममुख-न० । धर्माणा मुखमिव मुखमुपायो धर्ममुखम् । धर्मोपाये, "धम्माण कासवो मुह ।" उत्त० पाई०२५ अ०।

धम्ममूल-धर्ममूल-न० । धर्मलक्षणवृक्षस्य मूलमिव मूलम् । धर्ममूलभूते जीवदयाऽऽदिके, दर्श० ७ तत्त्व । (तानि च 'धम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६७२ पृष्ठे दर्शितानि)

धम्ममेह-धर्ममेघ-पु० । यावत्तत्त्वभावनेन फलमलिप्सोः सर्वथा विवेकख्यातौ, धर्ममशुक्लकृष्णं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघ , प्रसङ्ख्याने कुशीदस्य सर्वथा विवेकख्यातौ, धर्ममेघ समाधिरित्युक्तलक्षणे असम्प्रज्ञातापरनामधेये समाधिभेदे, द्वा० ३० द्वा० ।

धम्मय-धर्मद-पु० । ' धम्मद ' शब्दार्थे, स० १ सम० ।

धम्मरय-धर्मरत-त्रि० । चारित्रधर्माऽऽसक्तचित्ते, पञ्चा० ५ विव० । उद्युक्तविहारिणि, " धम्मरयपुव्वसूरीणं । " उद्युक्तविहारिचिरन्तनाऽऽचार्याणाम । जीवा १ अधि० ।

धम्मरयण-धर्मरत्न-न० । धर्म एव रत्न धर्मरत्नम् । दर्श० २ तत्त्व । धर्माणा मध्ये यो रत्नमिव वर्तते जिनप्रणीतो देशविरतिसर्वविरतिरूपो धर्मो धर्मरत्नम् । ध० १ अधि० । जिनप्रणीतदेशविरतिसर्वविरत्यात्मकधर्मरूपे सकलैहिकाऽऽमुष्मिकसम्पत्तिजनकेऽचिन्त्यचिन्तामणौ, दश० ४ अ० ।

इह हि हेयोपादेयाऽऽदिपदार्थसार्थपरिज्ञानप्रवीणस्य जन्मजरामरणरोगशोकाऽऽदिदुर्गदौर्गत्यनिपीडितस्य भव्यसत्त्वस्य स्वर्गापवर्गाऽऽदिसुखसम्पत्सपादनावन्ध्यनिबन्धन सद्धर्मरत्नमुपादातुमुचित,तदुपादानोपायश्च गुरूपदेशमन्तरेण न सम्यग् विज्ञायते, न चानुपायप्रवृत्तानामभीष्टार्थसिद्धिरिति. कारुण्यपुण्यचेतस्तया धर्मार्थिना धर्मोपादानपालनोपदेश दातुकाम. सूत्रकार शिष्टमार्गानुगामितया पूर्वं तावदिष्टदेवतानमस्काराऽऽदिप्रतिपादनार्थमिमा गाथामाह-

नमिऊण सयलगुणरय-णकुलहरं विमलकेवलं वीरं ।
धम्मरयणत्थियाणं, जणाण वियरेमि उवएसं ॥ १ ॥

इह पूर्वार्द्धेनाऽभीष्टदेवतानमस्कारद्वारेण विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलमभिहितम,उत्तरार्द्धेन,चाभिधेयमिति । सबन्धप्रयोजने पुन सामर्थ्यगम्ये । तथाहि-सबन्धस्तावदुपायोपेयलक्षण ,साध्यसाधनलक्षणो वा,तत्रेद शास्त्रमुपाय ,साधन वा,साध्यमुपेय वा शास्त्रार्थपरिज्ञानमिति । प्रयोजन तु द्विविधम्-कर्त्तुः,श्रोतुश्च । पुनरनन्तर-परम्परभेदादेकैक द्वेधा। तत्रानन्तर-कर्त्तु. सत्त्वानुग्रह.। परम्परम्-अपवर्गाऽऽदिप्राप्ति । तथा चोक्तम्-"सर्वज्ञोक्तोपदेशेन, य. सत्त्वानामनुग्रहम् । करोति दु खतप्ताना, स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम् ॥ १ ॥" इति । श्रोतु पुनरनन्तर-शास्त्रार्थपरिज्ञान, परम्पर-तस्याप्यपवर्गप्राप्ति. । उक्त च-"सम्यक् शास्त्रपरिज्ञाना-द्विरक्ता भवतो जनाः । लब्ध्वा दर्शनसंशुद्धिं, ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १ ॥" इति । साम्प्रत सूत्रव्याख्या-नत्वा प्रणम्य, कम् ?, वीर कर्मविदारणात्तपसा विराजनाद्वीर्ययुक्तत्वाच्च जगति यो वीर इति ख्यात । यदवादि-" विदारयति यत्कर्म, तपसा तद् विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृत. ॥ १ ॥ " त वीर श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिनम् । किंविशिष्टम्-सकलगुणरत्नकुलगृहम्-सकला समस्ता ये गुणा. क्षमामार्दवाऽऽर्जवाऽऽदय ,त एव रौद्रदारिद्र्यमुद्राविद्रावकत्वात्सकलकल्याणकलापकारणत्वाच्च रत्नानि सकलगुणरत्नानि, तेषां कुलगृहमुत्पत्तिस्थान, त सकलगुणरत्नकुलगृहम् । पुन किंविशिष्टम् ?-विमलकेवलम्-विमल सकलतदावारककर्मरेणुसम्पर्कविकलत्वेन निर्मल केवल केवलाऽऽख्य ज्ञान यस्य स विमलकेवलस्त, क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रियासापेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह-वितरामि प्रयच्छामि,कम्?,उपदेशम्-उपदिश्यते इत्युपदेशो हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तवचनरचनाप्रपञ्चस्तम् केभ्यो ?, जनेभ्यो लोकेभ्य । कथम्भूतेभ्य ?,धर्मरत्नार्थिभ्यो दुर्गतिप्रपतन्त प्राणिगण धारयति,सुगतौ धत्ते चेति धर्म । उक्त च-"दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्धारयते तत । धत्ते चैतान् शुभे स्थाने,तस्माद्धर्म इति स्मृत ॥१॥" इति । स एव रत्न प्राग्व्यावर्णितशब्दार्थं, तदर्थयन्ते मृगयन्ते इत्येव शीला ये ते धर्मरत्नार्थिनस्तेभ्य ,सूत्रे च षष्ठी चतुर्थ्यर्थे प्राकृतलक्षणवशात्। यदाहुः प्रभुश्रीहेमचन्द्रसूरिपादा' स्वकृतप्राकृतलक्षणे-" चतुर्थ्याः षष्ठी ॥८।३।१३१॥ " इति गाथाक्षरार्थ ॥ भावार्थ पुनरयम्-नत्वेति पूर्वकालाभिधायिना क्त्तोत्तरकालक्रियेण स्यात्त्वा-

दशार्द्धवनाद्सवाहिना पदेनैकान्तनित्यानित्यवस्तुविस्तारवादिप्रवादिमृगयोर्मुखबन्धो व्यधायि, यतोऽनैकान्तेन नित्योऽनित्यो वा कर्त्ता क्रियाद्वयं कर्त्तुमीष्टे, क्रियाभेदे कर्तृभेदात्; ततो द्वितीयक्रियाक्षणे कर्तुरनित्यत्वाभावप्रसङ्गाभ्यां द्वयोरप्यप्राकृतिरिति । सकलगुणरत्नकुलगृहमित्यनेन भगवतः श्रीमत्पश्चिमतीर्थाधिनाथस्य पूजातिशयः प्रकाश्यते । तथा च पूज्यन्त एवाहत्प्रथमिकाविधीयमानावनामवशासनुत्पन्नशिरःकोटीरकोटीविटङ्कसङ्घट्टैः सुरासुरनरनिकरनायकैरपि गुणवन्तः ।

उक्तं च-

"सव्वो गुणेहिँ गणणो, गुणाहियस्स जह लोगेँ वीरस्स ।
समतमउरूवितओ, सहस्सनयणो सययमेइ ॥ १ ॥" इति ।

विमलकेवलमित्यमुना तु ज्ञानातिशयसपन्नतया प्रसिद्धसिद्धार्थपार्थिवकुलविमलनभस्तलनिशीथिनीनाथस्य जिननाथस्य वचनातिशयः प्रपञ्च्यते । यतः केवलज्ञाने सत्यवश्यभाविनी भगवतां तीर्थकृतां सद्देशनाप्रवृत्तिः, तीर्थकरनामकर्मण इत्थमेव वेद्यमानत्वात् । यदुक्तं श्रीभद्रबाहुस्वामिपादैः -'तं च कहं वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाईहिं ।" इत्यादि । वीरमिति सान्वयपदेन च भगवतः समूलकाषकषितनिःशेषापायनिबन्धनकर्मशत्रुसङ्घातस्य चरमजिनेश्वरस्यापायापगमातिशयः प्रस्पष्टं निष्टङ्क्यते, यतोऽपायभूतं भवभ्रमणकारणत्वात्सर्वमपि कर्म । तथा चाऽऽगमः -" सव्वं पावं कम्मं, भामिज्जइ जेण संसारे ।" इति । धर्मरत्नार्थिन इत्यनेन श्रवणाधिकारिणामर्थित्वमेव मुख्यं लिङ्गमित्यभाणि । यदुक्तं परोपकारभूरिभिः श्रीहरिभद्रसूरिभिः-" तत्थऽहिगारी अत्थी, समत्थओ जो न सुत्तपडिकुट्ठो । अत्थी उ जो विणीओ, समुट्ठिओ पुच्छमाणो य" ॥१॥ इति । जनानामित्यनेन बहुवचनान्तेनेदमुदितं भवति-यथा नैकमेवेश्वराऽऽदिकमाश्रित्योपदेशदाने प्रवर्तितव्यं, किं तु सामान्येन सर्वसाधारणतया । तथा चाऽऽह भगवान् सुधर्मस्वामी-"जहा पुन्नस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ । जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुन्नस्स कत्थई ॥१॥" इति । वितराम्युपदेशमितीहायमाशयः-न निजप्रज्ञाभिमानेन, न परपरिभवाभिप्रायेण, न कस्यचिद्वस्तुपार्जनाय प्रवर्तते, किं तर्हि कथं नु नामाऽमी जन्तवः सद्धर्ममार्गमासाद्यानाद्यपर्यवसितं महानन्दामन्दाऽऽनन्दसन्दोहमवाप्स्यन्तीत्यनुग्रहबुद्ध्या परेषामात्मनश्च ।

यद्भाणि-

" शुद्धमार्गोपदेशेन, यः सत्त्वानामनुग्रहम् ।
करोति नितरां तेन, कृतः स्वस्याप्यसौ महान् ॥ १ ॥"

तथा-

" न भवति धर्मः श्रोतुः, सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् ।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या, वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति " ॥ १ ॥
इत्युक्तः समावार्थः सकलोऽपि गाथार्थः ॥ १ ॥

अथ यथाप्रतिज्ञात विभणिषुः प्रस्तावमयमाह-

भवजलहिम्मि अपारे, दुलहं मणुयत्तणं पि जंतूणं ।
तत्थ वि अणत्थहरणं, दुलहं सद्धम्मवररयणं ॥ २ ॥

भवन्त्यस्मिन् नारकतिर्यङ्नरामररूपेण कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिन इति भवः संसारः, स एव जन्मजरामरणादिजलधारणाज्जलधिः, तस्मिन्ननादिनिधनतयाऽपारेऽदृष्टपर्यन्ते, परिभ्रम्यमाणानामिति शेषः । दुर्लभं दुरापं, मनुजत्वमपि मनुष्यभावोऽपि, दूरे तावद्देशकुलजातिप्रभृतिसामग्रीत्यपेरर्थः । यज्जगदे जगद्बन्धुना श्रीवर्द्धमानस्वामिनाऽष्टापदादागतं श्रीगौतममहामुनिं प्रति-

" दुलहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।
गाढा य विवागकम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ४ ॥"
इति । ध० र० । (अस्या अर्थः 'दुमपत्तय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५७० पृष्ठे उक्तः)

अन्यैरप्युक्तम्-

" संसारकान्तारमपारमस्मिन्, सम्भ्रम्यमाणो लभते शरीरी ।
कृच्छ्रेण नृत्वं सुपसस्यबीजं,प्ररूढदुष्कर्मशमेन(भूतम)नूनम् ॥१॥
नरेषु चक्री त्रिदशेषु वज्री, मृगेषु सिंहः प्रशमो व्रतेषु ।
मतो महीभृत्सु सुवर्णशैलो, भवेषु मानुष्यभवः प्रधानः ॥२॥ "

तथा-

" अनर्घ्याण्यपि रत्नानि, लभ्यन्ते विभवैः सुखम् ।
दुर्लभो रत्नकोट्याऽपि, क्षणोऽपि मनुजाऽऽयुषः ॥१॥ " इति ।

जन्तूनां प्राणिनां, तत्रापि मनुजत्वे सत्यपि । अनर्थहरणमिति-नार्थ्यन्ते नाभिलष्यन्ते ये दारिद्र्यदुःखोपद्रवाऽऽदयोऽपायास्ते ह्रियन्ते विध्वस्यन्ते येन तदनर्थहरणं दुर्लभं दुष्प्रापं, किं तदित्याह-सन् साधुः पूर्वापराविरोधप्रभृतिगुणगणालङ्कृतत्वेन परप्रवादकल्पितधर्मापेक्षया शोभनो धर्मः सद्धर्मः सम्यग्दर्शनाऽऽदिकः, स एवैहिकार्थमात्रप्रदायीतररत्नापेक्षया शाश्वतानन्तमोक्षार्थदातृत्वेन वरं प्रधानं रत्नं सद्धर्मवररत्नमिति ।

अथामुमेवार्थं दृष्टान्तविशिष्टं स्पष्टयन्नाह-

जह चिंतामणिरयणं, सुलहं न हु होइ तुच्छविहवाणं ।
गुणविहववज्जियाणं, जियाण तह धम्मरयणं पि ॥ ३ ॥

यथा येन प्रकारेण, चिन्तामणिरत्नं सुप्रतीतं, सुलभं सुप्रापम्, (न हु) नैव भवति जायते, तुच्छविभवानाम्-तुच्छः स्वल्पो विभवः-कारणे कार्योपचाराद्विभवकारणं पुण्यं येषां ते तुच्छविभवाः, स्वल्पपुण्या इत्यर्थः, तेषाम्, तथाविधपशुपालवत् । तथा गुणा अक्षुद्रताऽऽदयो वक्ष्यमाणस्वरूपास्तेषां विशेषेण भवनं सत्ता गुणविभवः । अथवा-गुणा एव विभवो विभूतिर्गुणविभवः, तेन वर्जितानां रहितानां, जीवानां पञ्चेन्द्रियप्राणिनाम् । उक्तं च-"प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ताः, भूतानि तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः ॥१॥" अपिशब्दस्य वक्ष्यमाणस्येह सम्बन्धादेव भावना कार्या-एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां तावद्धर्मप्राप्तिर्नास्ति, पञ्चेन्द्रियजीवानामपि तत्तद्योग्यताहेतुगुणसामग्रीविकलानां तथा तेन प्रकारेण धर्मरत्नं सुलभं न भवतीति प्रकृते सम्बन्ध इति ।

पूर्वसूचितपशुपालदृष्टान्तश्चायम्-

" बहुविबुधजनोपेतं, हरिरक्षितमप्सरःशतसमेतम् ।
इह अत्थि हत्थिणउरं, सुरपुरन्दरपुरं व वरं ॥ १ ॥
तत्र श्रेष्ठिगरिष्ठः, पुन्नागो नागदेवनामाऽऽसीत् ।
निम्मलसीलगुणधरा, वसुन्धरा गेहिणी तस्स ॥ २ ॥
तत्तनयो विनयोज्ज्वल-मतिविभवभरो बभूव जयदेवः ।
इक्को रयणपरिक्खं, सिक्खइ सो बारस समा उ ॥३॥
विजितान्यहासममलं, विश्वासं चिन्तितार्थदानपटुम् ।
चिन्तामणिं पमुत्तुं, सेसमणी गणइ उवलसमे ॥ ४ ॥
चिन्तामणिरत्नकृते, सुकृती स कृतोद्यमः पुरे सकले ।
हट्टे हट्टेण घरं, घरेण भमिओ अपरितंतो ॥ ५ ॥

न च तमवाप दुरापं, पितरावूचेऽथ यदू मयाऽत्र पुरे ।
चिंतामणी न पत्तो, तो जामि तयत्थमन्नत्थ । ६ ॥
ताभ्यामभाणि वत्स !, स्वच्छमते ! कल्पनैव खल्वेषा ।
अन्नत्थ वि कत्थइ न-त्थि एस परमत्थओ भवणे ॥ ७ ॥
तद्रत्नैरसपत्नै-र्येथेष्टमन्यैरपि व्यवहरस्व ।
निम्मलकमलाकलिय, भवण ते होइ जेणमिण ॥ ८ ॥
इत्युक्तोऽपि स चिन्ता-रत्नाऽऽप्ती रचितनिश्चयश्चतुरः ।
वारिज्जंतो पियरे-हिँ निग्गओ हत्थिणापुरओ ॥ ९ ॥
नगरागणग्रामाकर-कर्वटपत्तनपयोधितीरेषु ।
तम्मग्गणपवणमणो, सुइर भंतो किलिस्संतो ॥ १० ॥
तमलभमानो विमना., दध्यौ किं नास्ति सत्यमेवेदम् ? ।
अहव न तस्मऽत्थित्त, न अन्नहा होइ सत्थुत्त ॥ ११ ॥
इति निश्चित्य स चेतसि, निपुण धम्मुमितुमारभत भूय. ।
पत्तराओ मणिखणीओ, पुच्छीपुच्छिं नियच्छंतो ॥ १२ ॥
वृद्धनरेणैकेन च, सोऽभाणि यथा मणीवतीहास्ति ।
खाणी मणीण तत्थ य, पवरमणी पावइ सपुन्नो ॥ १३ ॥
तत्र च जगाम मणिगण-मनवमनारतमथो मृगयमाण ।
एगो य तत्थ मिलिओ, पसुवालो बालिसो अहिय ॥ १४ ॥
जयदेवेन निरैक्ष्यत् वर्तुल उपलश्च करतले तस्य ।
गहिओ परिच्छिओ तह, नाओ चिंतामणि त्ति इमो ॥ १५ ॥
सोऽयाचि तेन स मुदा, पशुपाल प्राह किममुना कार्यम् ? ।
भणइ वणी सगिहगओ, बालाण कीलण दाहं ॥ १६ ॥
सोऽजल्पदीदृशा इह, ननु बहव सन्ति किं न गृह्णासि ? ।
सिट्ठिसुओ भणइ अह, ससुस्सुओ नियगगिहगमणे ॥ १७ ॥
तद्देहि मह्यमेन, त्वमन्यमपि भद्र ! लप्स्यसे ह्यत्र ।
अपरोवयारसील-त्तणेण तह वि हु न सो देइ ॥ १८ ॥
नत एतस्यापि च वर-मयमुपकर्त्ताऽस्तु मा स्म भूदफल ।
इय करुणारसियमई, सिट्ठिसुओ भणइ आभीर ॥ १९ ॥
यदि भद्र ! मम न दत्से, चिन्तामणिमेनमात्मनाऽपि तत. ।
आराहसु जेण तुह, वि चिंतिय देइ खलु एसो ॥ २० ॥
इतर. प्रोचे यदि स-त्यमेष चिन्तामणिर्मयाऽचिन्ति ।
ता घोरकरिरकक्खर-पमुह मह देउ लहु बहुय ॥ २१ ॥
अथ हसितविकसितमुख ,श्रेष्ठिसुत स्माऽऽह चिन्त्यते नैवम् ।
किं तु उववासतिगतिम-रयणिमुहे विसमहिपीढे ॥ २२ ॥
शुचिपट्टनिहितमिचये, स्नपितविलिप्त मणिं निधायोच्चै ।
कप्पूरकुसुममाई-हिं पूइउ नमिय विहिपुव्व ॥ २३ ॥
तदनु धिचिन्त्यत इष्ट, पुरोऽस्य सर्वमपि लभ्यते प्रात ।
इय सोउ गोवालो, वि आगियागाममभिचलिओ ॥ २४ ॥
न स्थास्यति हस्ततले, मणिरत्न नूनमिदमपुण्यस्य ।
इय चिंतिय सिट्ठिसुओ, वि तस्स पुट्ठिं न छड्डेइ ॥ २५ ॥
गच्छन् पथि पशुपाल , प्राह मणे ! आगिका इमा अधुना ।
चिंतिज्जिय किंचिय घणमा-रमाइ काहामि तुह पूय ॥ २६ ॥
मच्चिन्तितार्थपूर्त्या, सान्वयसंज्ञो भवेस्त्वमपि भुवने ।
परमविमुत्तयनेण तेण भणिय पुणो एय ॥ २७ ॥
दूरे ग्रामस्तावन्मणे ! कथा कथय काञ्चन ममाग्रे ।
अह न मुणसि तोऽह तुह, कहेमि निसुणेसु एगग्गो ॥२८॥
देवगृहमेकहस्त, चतुर्भुजो वसति तत्र देवस्तु ।
इय पुच्छंतं पुत्तो, वि जंपए जाव नेव मणी ॥२९॥
तावदुवाच स रुष्टो, यदि हुङ्कारमात्रमपि न मे दत्से ।
ता चिंतियत्थसंपा-यणम्मि तुह केरिसी आसा ? ॥ ३० ॥
तच्चिन्तामणिरिति ते, नाम मृषा सत्यमेव यदि चेदम् ।
ज तुह सपत्तीए, वि न मह फिट्टइ मणे ! चिंता ॥ ३१ ॥
किं च क्षणमपि योऽह, रत्नातकैर्विना न हि स्थातुम् ।
सत्तो सोह कहमिह, चववासतिगेण न मरामि ? ॥ ३२ ॥
तन्मे मारणहेतो-र्वणिजारे ! वञ्चितोऽस्मि तत्त्वच्च ।
जत्थ न दीससि इय भणि-य खिओ तेण सो सुमणी ॥३३॥
जयदेवो मुदितमना, सपूर्णमनोरथ प्रणतिपूर्वम् ।
चिंतामणिं गहित्ता, नियनयराभिमुहमह चलिओ ॥ ३४ ॥
मणिमाहात्म्यादुल्लसि-तवैभव. पथिमहा पुरे नगरे ।
रयणवइनामधूय, परिणीय सुबुद्धिसिट्ठिस्स ॥ ३५ ॥
बहुपरिकरपरिकलितो, जननिवहैर्गीयमानसुगुणगणः ।
हत्थिणपुरम्मि पत्तो, पणओ पियराण चलणेसु ॥ ३६ ॥
अभिनन्दित. स ताभ्यां, स्वजनै. समानितः स बहुमानै. ।
थुणिओ लोसजणेण, भोगाण भायण जाओ ॥ ३७ ॥
ज्ञातस्यास्योपनयो-ऽयमुक्षकैरमरनरकतिर्यक्षु ।
इयरमणीण खणीसु य, परिब्भमतेण कह कह वि ॥ ३८ ॥
जीवेन लभ्यत इय, मनुजगति. सन्मणीवतीतुल्या ।
तत्थ वि दुलहो चिंता-मणि व्व जिणदेसिओ धम्मो ॥ ३९ ॥
पशुपालोऽत्र यथा खलु, माणिं न लेभेऽनुपात्तसुकृतधनः ।
जह पुन्नचित्तजुत्तो, वणिपुत्तो पुण तय पत्तो ॥ ४० ॥
तद्वत्कृतगुणविभवो, जीवो लभते न धर्मरत्नमिदम् ।
अविकलनिम्मलगुणगण-विहवनरो पावइ तय तु ॥ ४१ ॥
दृष्टान्तमेन विनिशम्य सम्यक्, सद्धर्मरत्नग्रहणे यदीच्छा ।
अमुष्यदारिद्र्यविनाशदक्ष, तत्सद्गुणौघ्यमुपार्जयध्वम् ॥४२॥"
इति पशुपालकथेतिगाथार्थ ।

कतिगुणसपन्न पुनस्तत्प्राप्तियोग्य इति प्रश्नमाशङ्क्याऽऽह-

इगवीसगुणसमेओ, जुग्गो एयस्स जिणमए भणिओ ।
तदुवज्जणम्मि पढम, ता जइयव्वं जओ भणिय ॥४॥

एभिरेकविंशतिगुणैर्वक्ष्यमाणै समेतो युक्तः । पाठान्तरेण-समृद्ध. सम्पूर्ण ,समिद्धो वा देदीप्यमानो, योग्य उचित.,एतस्य प्रस्तुतधर्मरत्नस्य, जिनम तेऽर्हच्छासने, भणित. प्रतिपादित., तद्दर्शिभिरिति शेष. । तत. किम् ?, इत्याह-(तदुवज्जणम्मि त्ति) तेषां गुणानामुपार्जने ग्रहणे, प्रथममादौ, तस्माद्धेतोर्यतितव्यम् । इहायमाशय.-यथा प्रासादार्थिना शल्योद्धारपीठबन्धाऽऽद्यावाद्रियन्ते, तद्विनाऽविरत्वाद्विशिष्टप्रासादस्य, तथा धर्मार्थिनेतेरेते गुणा सम्यगुपार्जनीया , तदधीनत्वाद्विशिष्टधर्मसिद्धेरिति यतो यस्माद्भणित गदित, पूर्वसूरिभिरिति गम्यत इति । ध० र० १ अधि० ।

धम्मरयणस्स जोग्गो, अक्खुद्दो रूववं पगइसोम्मो ।
लोयप्पिओ अक्कूरो, भीरू असढो सुदक्खिन्नो ॥३७०॥
लज्जालुओ दयालू, मज्झत्थो सोम्मदिट्ठि गुणरागी ।
सक्कह-सपक्खजुत्तो, सुदीहदंसी विसेसन्नू ॥ ३७१ ॥
वुड्ढाणुगो विणीओ, कयन्नुओ परहिअत्थकारी अ ।
तह चेव लद्धलक्खो, एगवीसगुणो हवइ सड्ढो ॥३७२॥

परतीर्थिकप्रणीताना सर्वेषामपि धर्माणा मध्ये प्रधानत्वेन यो रत्नमिव वर्तते स धर्मरत्नम्, जिनोदितो देशविरत्यादिरूप समाचार । तस्य योग्य उचित:, ईदृक्स्वरूप एव श्राव-

को भवति । तद्यथा-अक्षुद्र इत्यादि । तत्र यद्यपि क्षुद्रस्तुच्छः, क्षुद्रः क्रूरः, क्षुद्रो दरिद्रः, क्षुद्रो लघुरित्यनेकार्थः क्षुद्रशब्दस्तथाऽपीह तुच्छार्थो गृह्यते, तस्यैव प्रस्तुतोपयोगित्वात्। ततः क्षुद्रस्तुच्छोऽगम्भीर इत्यर्थः । तद्विपरीतोऽक्षुद्रः । स च सूक्ष्ममतित्वात्सुखेनैव धर्ममवबुध्यते १ । रूपवान् संपूर्णाङ्गोपाङ्गतया मनोहराऽऽकारः, स च तथारूपसंपन्नः सदाचारप्रवृत्त्या भविकलोकानां धर्मे गौरवमुत्पादयन्प्रभावको भवति । ननु नन्दिषेणहरिकेशबलप्रभृतीनां कुरूपाणामपि धर्मप्रतिपत्तिः श्रूयते, अतः कथं रूपवानेव धर्मेऽधिक्रियते । सत्यम् । इह द्विविधं रूपम्-सामान्यम्, अतिशायि च । तत्र सामान्यं संपूर्णाङ्गत्वाऽऽदि । तच्च नन्दिषेणाऽऽदीनामप्यासीदेवेति न विरोधः । प्रायिकं चैतत्, शेषगुणसद्भावे कुरूपत्वस्याप्यदुष्टत्वात् । एवमग्रेऽपि । अतिशायि पुनर्यद्यपि तीर्थकराऽऽदीनामेव संभवति, तथाऽपि येन कश्चिद्देशे काले वयसि वा वर्त्तमानो रूपवानयमिति जनानां प्रतीतिमुपजनयति तदेवेहाधिकृतं मन्तव्यम् । २ । प्रकृत्या स्वभावेन, सौम्योऽभीषणाऽऽकृतिर्विश्वसनीयरूप इत्यर्थः । एवंविधश्च प्रायेण न पापव्यापारे व्याप्रियते, सुखाऽऽश्रयणीयश्च भवति ३ । लोकस्य सर्वजनस्येह परलोकविरुद्धविवर्जनेन दानशीलाऽऽदिगुणैश्च प्रियो वल्लभो लोकप्रियः, सोऽपि सर्वेषां धर्मे बहुमानं जनयति ४ । अक्रूरोऽक्लिष्टाध्यवसायः, क्रूरो हि परच्छिद्रान्वेषणस्य संपट् कलुषमनाः स्वानुष्ठानं कुर्वन्नपि फलभाग्भवतीति ५। भीरुरैहिकाऽऽमुष्मिकापायेभ्यस्त्रासनशीलः । स हि कारणेऽपि सति न निःशङ्कमधर्मे प्रवर्त्तते ६। अशठः सदऽनुष्ठाननिष्ठ, शठो हि वञ्चनप्रपञ्चचतुरतया सर्वस्याप्यविश्वसनीयो भवति ७ । सदाक्षिण्य स्वकार्यपरिहारेण परकार्यकरणैकरसिकान्तःकरणः; स च कस्य नाम नानुवर्त्तनीयो भवति ८॥ ३७॥ (लज्जालुओ त्ति) प्राकृतशैलया लज्जावान् स खल्वकृत्याऽऽसेवनवार्त्तयाऽपि व्रीडति, स्वयमङ्गीकृतमनुष्ठानं च परित्यक्तुं न शक्नोति ९ । दयालुर्दयावान्, दुःखितजन्तुजातत्राणाभिलाषुक इत्यर्थः । धर्मस्य हि दया मूलमिति प्रतीतमेव १० । मध्यस्थो-रागद्वेषत्यक्तधीः, स हि सर्वत्रारक्तद्विष्टतया विश्वस्याऽपि वल्लभो भवति ११ ॥ सौम्यदृष्टिः-कस्याप्यनुद्वेजकः, स हि दर्शनमात्रेणाऽपि प्राणिनां प्रीतिं पल्लवयति १२ । गुणेषु गाम्भीर्यस्थैर्यप्रमुखेषु रज्यतीत्येव शीलो गुणरागी, स हि गुणपक्षपातित्वादेव सगुणान् बहु मन्यते, निर्गुणांश्चोपेक्षते १३ । सत्कथनरुचय उत्कथाः सदाचारचारित्वाऽऽदिचर्या ये सपक्षाः सहयोजनास्तैर्युक्तोऽन्वितो धर्माविबन्धकपरिवार इति भावः । एवंविधश्च न केनचिदुन्मार्गो गन्तुं शक्यते १४ । अन्ये तु सत्कथः, सपक्षयुक्तश्चेति पृथक् गुणद्वयं मन्यते, मध्यस्थः सौम्यदृष्टिश्चेति द्वाभ्यामप्येकमेवेति । तथा सुदीर्घदर्शी सुपर्यालोचितपरिणामपेशलकार्यकारी, स किल परिणामिकया बुद्ध्या सुन्दरपरिणामत्वैहिकमपि कार्यमारभते १५ । विशेषज्ञः सदितरवस्तुविभागवेदी । अविशेषज्ञस्तु दोषानपि गुणत्वेन गुणानपि दोषत्वेनाध्यवस्यति १६ ॥ ३७१ ॥ वृद्धान् परिणतमतीननुगच्छति, गुणार्जनबुद्ध्या सेवत इति वृद्धानुगः । वृद्धजनानुगत्या हि प्रवर्त्तमानः पुमान् न जातुचिदपि विपदः पदं भवति १७ । विनीतो गुरुजनगौरवकृत, विनयवति हि सपदि संपदः प्रादुर्भवन्ति । स्वल्पमप्युपकारमैहिकं पारत्रिकं चापरेण कृतं जानाति, न निह्नुते इति कृतज्ञः । कृतघ्नो हि सर्वत्राप्यमन्दानिन्दां समासादयति १९ । परेषामन्येषां हितानर्थप्रयोजनानि कर्त्तुं शीलं यस्य स परहितार्थकारी, सदाक्षिण्योऽभ्यर्थित एव करोत्ययं पुनः स्वत एव परहिताय प्रवर्त्तते इत्यनयोर्भेदः । यश्च प्रकृत्यैव परहितकरणे नितरां निरतो भवति, स निरीहचित्ततयाऽन्यानपि सद्धर्मे स्थापयति २० । तथा-लब्धमिव लब्धलक्षः शिक्षणीयानुष्ठानं येन स लब्धलक्षः, पूर्वभवाभ्यस्तमिव सर्वमपि धर्मकृत्यं करोत्येवाधिगच्छतीति भावः । ईदृशो हि वन्दनप्रत्युपेक्षणाऽऽदिकं धर्मकर्म्म सुखेनैव शिक्षयितुं शक्यते । तदेवमेकविंशतिगुणसंपन्नश्राद्धः श्रावको भवतीति । प्र० २६७ द्वार । ध० । दर्श० । (१-अक्षुद्रत्वे भीमसोमकथा 'भीमसोम' शब्दे) (२-रूपवत्त्वे सुजातकथा 'सुजाय' शब्दे) (३-प्रकृतिसौम्यत्वे विजयश्रेष्ठिकथा 'विजयसेट्ठि' शब्दे) (४-लोकप्रियत्वे विनयंधरकथा 'विणयंधर' शब्दे) (५-अक्रूरत्वे कीर्तिचन्द्रकथा 'अक्कूर' शब्दे प्रथमभागे १२६ पृष्ठे प्रतिपादिता) (६-भीरुत्वे विमलदृष्टान्त 'विमल' शब्दे) (७-अशठभावे चक्रदेवचरित्रम् 'असढ' शब्दे प्रथमभागे ८३१ पृष्ठे गतम्) (८-सुदाक्षिण्ये क्षुल्लककुमारकथा 'अलोभया' शब्दे प्रथमभागे ७८५ पृष्ठे गता) (९-लज्जालुत्वे विजयकुमारकथा 'विजयकुमार' शब्दे) (१०-दयालुत्वे यशोधरवृत्तम 'सुरिंदद्त्त' शब्दे) (११-माध्यस्थत्वे सोमवसुवृत्त 'सोमवसु' शब्दे)(१२-गुणानुरागित्वे पुरन्दरराजचरित्र 'पुरंदर' शब्दे) (१३-सत्कथाया रोहिणीज्ञात 'रोहिणी' शब्दे) (१४-सुपक्षगुणे भद्रनन्दिवृत्त 'भद्दणंदि' शब्दे) (१५ सुदीर्घदर्शित्वे धनमित्रश्रेष्ठिवृत्त 'धणमित्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६५५ पृष्ठे गत,'भद्दा' शब्दे च)(१६-विशेषज्ञत्वे सुबुद्धिमन्त्रिवृत्त 'सुबुद्धि' शब्दे)(१७-वृद्धानुगत्वे मध्यमबुद्धिचरित्र 'मज्झिमबुद्धि' शब्दे) (१८-विनीतत्वे भुवनतिलकवृत्त 'भुवणतिलय' शब्दे) (१९-कृतज्ञत्वे विमलकुमारकथा 'विमलकुमार' शब्दे) (२०-परहितकारित्वे भीमकुमारकथा 'भीमकुमार' शब्दे) (२१-लब्धलक्ष्यत्वे नागार्जुनकथा 'णागज्जुण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६३५ पृष्ठे गता)

साम्प्रतमेतन्निगमनायाह-

एए इगवीसगुणा, सुयाणुसारेण किंचि वक्खाया ।
अरिहंति धम्मरयणं, घित्तुं एएहिँ संपन्ना ॥ २९ ॥

एते पूर्वोक्तस्वरूपाः, एकविंशतिसंख्या गुणाः श्रुतानुसारेण शास्त्रान्तरोपलम्भद्वारेण, किञ्चिन्न सामस्त्येन, व्याख्याताः स्वरूपतः फलतश्च प्ररूपिताः । किमर्थम्?, इत्याह-यतोऽर्हन्ति योग्यतासारं धर्मरत्नं ग्रहीतुं, न पुनर्वसन्तनृपवद्राजलीलामिति भावः । के?, इत्याह-एभिरनन्तरोक्तैः गुणैः संपन्नाः समन्ताः संपूर्णा वेति ।

आह-किमेकान्तेनैतावद्गुणसंपन्ना धर्माधिकारिण उताऽपवादोऽप्यस्तीति प्रश्ने सत्याह-

पायऽद्धगुणविहीणा, एएसिं मज्झिमावरा नेया ।
इत्तो परेण हीणा, दरिद्दपाया मुणेयव्वा ॥ ३० ॥

इहाधिकारिणस्त्रिधा चिन्त्या -उत्तमा मध्यमा जघन्याश्च । तत उत्तमाः संपूर्णगुणा एव, पादश्चतुर्थांशोऽर्द्धं दलं, गुणशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् पादप्रमाणैरर्द्धप्रमाणैश्च गुणैर्ये विही-

ना विकला, एतेषामुक्तगुणानां मध्याद् ते यथाक्रम मध्यमावरा ज्ञेया', चतुर्थांशविहीना मध्यमा', अर्द्धविहीना जघन्या इति भाव, तेभ्योऽपि हीनतरेषु का वार्त्ता?, इत्याह-(इत्तो परेणं ति) एतेभ्योऽपि, परेणार्द्धाद्भ्यधिकैर्हीना रहिता., दरिद्रप्राया अकिञ्चनकजनकल्पाः, 'मुणितव्या' वेदितव्या। यथाहि दरिद्रा उदरकन्दराभरणचिन्ताव्याकुलतया न रत्नक्रयमनोरथमपि कुर्वन्ति, तथैतेऽपि न धर्माभिलाषमपि विदधतीति।

एष च स्थिते यद्विधेयं तदाह-

धम्मरयणत्थिणा तो, पढमं एयज्जणम्मि जइयव्वं ।
ज सुद्धभूमिगाए, रेहइ चित्तं पवित्त पि ॥ ३१ ॥

धर्मरत्नमुक्तस्वरूप, तदर्थिना तल्लिप्सुना, तत्तस्मात् कारणात, प्रथममादावेषा गुणानामर्जने विढपने यतितव्य, तदुपार्जन प्रति यत्नो विधेय, तद्विनाभावित्वाद्धर्मप्राप्ते.। अत्रैव हेतुमाह-य-स्मात्कारणाच्छुद्धभूमिकायां प्रभासचित्रकरपरिकर्मितभूमाविवाकसद्वाधारे (रेहइ त्ति) राजते, चित्र चित्रकर्म, पवित्रमपि प्रशस्तमप्यालिखित सदिति। ध० र०। (प्रभासचित्रकरकथा 'पभासचित्तगर' शब्दे वक्ष्यते)

श्रावकसाधुसम्बन्धभेदाद् द्विधा धर्मरत्न प्रतिपाद्येदानीं क कीदृगिद कर्तुं शक्नोतीत्येतदाह-

दुविहं पि धम्मरयणं, तरइ नरो घित्तुमविगलं सो उ ।
जस्सेगवीसगुणरय-णसंपया सुत्थिया अत्थि ॥ १४० ॥

द्विविधमपि द्विप्रकारमपि, न पुनरेकतरमेवेत्यपिशब्दार्थ। धर्मरत्न पूर्वोक्तशब्दार्थम्, (तरइ त्ति) शक्नोति "शकेश्चय-तर-तार-पाराः" ॥ ८।४।८६ ॥ इति वचनात्। नर इति जातिनिर्देशान्नरो नरजातीयो अन्तुर्न पुन. पुमानेवेति, ग्रहीतुमुपादातुमविकल सम्पूर्णं, स एव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्। यस्य किमित्याह-यस्य श्रीप्रभमहाराजस्येवैकविंशतिगुणरत्नसम्पत् "अक्खुद्दो रूववं पगइसोमो।" इत्यादिशास्त्रपरूनिप्रतिपादिता गुणमाणिक्यविभूति, सुस्थिता दुर्बोधाऽऽशयदूषितत्वाभिरुपद्रवाऽस्ति विद्यते इति। ननु पूर्वमुक्तमेवैकविंशतिगुणसमृद्धो योग्यो धर्मरत्नस्येति तत्किं पुनरिदमुच्यते?। सत्यम्, पूर्वं योग्यतामात्रमुक्तम्, यथा-बालत्वेऽपि वर्तमानो राजपुत्रो राज्यार्ह उच्यते, सम्प्रति करणशक्तिरप्यस्याभिधीयते, यथा-प्रौढीभूतो राजपुत्र कर्तुं शक्नोत्येव राज्यमिति। ध०र०। (श्रीप्रभमहाराजकथा 'सिरिप्पभ' शब्दे) धर्मरत्नवक्तव्यताप्रतिबद्धे शान्तिसूरिविरचिते स्वनामख्याते प्रकरणग्रन्थविशेषे च, ध० र०।

तत्र चैकविंशतिगुणैर्धर्मरत्नयोग्यो भवतीत्यभिधाय विशेषत. पूर्वाचार्याणां श्लाघ्यमाह-

ता सुट्ठु इमं भणियं, पुव्वाऽऽयरिएहिँ परहियरएहिं ।
इगवीसगुणोवेओ, जोग्गो मइ धम्मरयणस्स ॥ १५१ ॥

यत एभिर्गुणैर्युक्तो धर्मं कर्तुं शक्नोति, ततः सुष्ठु शोभनमिद भणितमुक्त पूर्वाऽऽचार्यै. पूर्वकालसञ्जातसूरिभि, परहितरतैरन्यजनोपकारकरणलालसै., किं तत्?, इत्याह-एकविंशतिगुणैरुपेतो युक्तो, योग्य उचित, (सइ त्ति) सदा, धर्मरत्नस्य पूर्वव्यावर्णितस्वरूपस्येति।

अथ प्रकृतशास्त्रार्थमनुवदन्नुपसंहारगाथायुगलमाह-

धम्मरयणत्थियाणं, देसचरित्तीण तह चरित्तीण ।
लिंगाइ जाइँ समए, भणियाइँ मुणियतत्तेहिं ॥ १४२ ॥
तेसिँ इमो भावत्थो, नियमइविहवाणुसारओ भणिओ ।
सपराणुग्गहहेउं, समासओ संतिसूरीहिं ॥ १४३ ॥

धर्मरत्नोचितानामुक्तस्वरूपाणां, देशचारित्रिणां श्रमणोपासकानां, तथा चारित्रिणां साधूनां, लिङ्गानि चिह्नानि, यानि समये सिद्धान्ते, भणितान्यभिहितानि, मुणिततत्त्वैरवबुद्धसिद्धान्ततत्त्वैरिति प्रथमगाथार्थ ॥१४२॥ तेषामयमुक्तस्वरूपो, भावार्थस्तात्पर्यं, निजमतिविभवानुसारत. स्वबुद्धिसम्पदनुरूप भणित., सिद्धान्तमहाम्भोधेः पारस्य लब्धुमशक्यत्वाद्यावदवबुद्ध तावद्वर्णितमिति भाव.। किमर्थं पुनरियान् प्रयासः कृत.?, इत्याह-स्वपरयोरनुग्रह उपकार, स एव हेतु कारण यस्य भणनस्य तत्स्वपरानुग्रहहेतु, क्रियाविशेषणमेतत्, स्वपरानुग्रहोऽप्यागमादेव भविष्यतीति चेन्न, तत्राऽऽगमे कोऽप्यर्थः। क्वापि भणितस्तमल्पायुषोऽल्पमेधसश्चेदयुगीना नावगन्तुमीशा इति समासतोऽल्पग्रन्थेन भणित.। कै.?, इत्याह-शान्तिसूरिभिर्जिनप्रवचनावदातमतिभि' परोपकारैकरसिकमानसैश्चन्द्रकुलविमलनभस्तलनिशीथिनीनाथैरिति द्वितीयगाथार्थः॥१४३॥

अथ शिष्याणामर्थित्वोत्पादनायोक्तशास्त्रार्थपरिज्ञानस्य फलमुपदर्शयन्नाह-

जो परिभावइ एयं, सम्मं सिद्धंतगब्भजुत्तीहिं ।
सो मुत्तिमग्गलग्गो, कुग्गहगत्तेसु न हु पडइ ॥ १४४ ॥

यः कश्चिद् लघुकर्मा, परिभावयति सम्यगालोचयत्येवं पूर्वोक्तं धर्मलिङ्गभावार्थं, सम्यग् मध्यस्थभावेन, सिद्धान्तगर्भाभिरागमसाराभिर्युक्तिभिरुपपत्तिभि., स प्राणी, मुक्तिमार्गे निर्वाणनगराध्वनि लग्नो गन्तु प्रवृत्त., कुग्रहा दुष्पमाभाविनो मतिमोहविशेषा, त एव गर्त्ता अवटा गतिविघातहेतुत्वादनर्थजनकत्वाच्च, तेषु नैव पतति, हुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्। अत एव सुखेन सन्मार्गेण गच्छतीति।

उक्त प्रकरणार्थपरिभावनस्यानन्तरफलम्, अधुना परम्परफलमाह-

इय धम्मरयणपगरण-मणुदियहं जे मणम्मि भावंति ।
ते गलियकलिलपंका, निव्वाणसुहाइँ पावंति ॥ १४५ ॥

इत्यनन्तरोक्त, धर्मरत्नमुक्तशब्दार्थं, तत्प्रतिपादक प्रकरण शास्त्रविशेषो धर्मरत्नप्रकरणम्, अनुदिवस प्रतिदिनम्, उपलक्षणत्वात्प्रतिप्रहरमित्याद्यपि द्रष्टव्यम्। ये केचिदासन्नमुक्तिगमना मनसि हृदये, भावयन्ति विवेकसार चिन्तयन्ति, ते शुभतराध्यवसायसाजोगास्थितोऽपेतः कलिलपङ्क पापकर्मक्षोत्करो येभ्यस्ते गलितकलिलपङ्का। (निव्वाणसुहाइ ति) निर्वाणं सिद्धिस्तत आधारे आधेयोपचारादिह निर्वाणशब्देन निर्वाणगता जीवा उच्यन्ते, सिद्धा इत्यर्थः। तेषां सुखानि प्राप्नुवन्ति। ध० र०। धर्मरत्नप्रकरणस्य वृत्तिकारो देवेन्द्रसूरिः। "श्रीधर्मरत्नशास्त्र, बह्वर्थं स्वल्पशब्दसंदर्भम्। स्वपरोपकारहेतो-र्विवृणोमि यथाश्रुतं किञ्चित्" ॥ १ ॥ ध० र०।

"स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा।
धर्मरत्नस्य टीकेय, सुखबोधा विनिर्ममे ॥ ८ ॥
प्रथमां प्रतिमाप्रतिमा, विज्ञाणो गुरुजनेषु भक्तिभरम्।
विद्वान् विद्याऽऽनन्द, सानन्दमना लिलेखास्या' ॥ ६ ॥
श्रीहेमकलशवाचक परिमितवरधर्मकीर्तिमुख्यबुधै.।

स्वपरसमयैककुशलै--स्तदेव सशोधिता चेयम् ॥ १० ॥
यदुदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥ ११ ॥
बह्वर्थमल्पशब्दं, शास्त्रमिदं रचयता मया कुशलम् ।
यदवापि धर्मरत्न-प्राप्तिर्जगतोऽपि तेनाऽस्तु ॥१२॥" ध०र०।

धम्मरहस्स-धर्मरहस्य-न० । धर्मसर्वस्वे, दर्श० १ तत्त्व । कुशलकर्मगुह्ये, " एय धम्मरहस्सं, विन्नेयं बुद्धिमंतेहिं ।" पञ्चा० ७ विव० ।

धम्मराग-धर्मराग-पुं० । धर्मे चारित्रलक्षणे रागो धर्मरागः । ध० २ अधि० । कुशलानुष्ठानानुरागे, " कंतारे भिक्खहिओ, घयपुन्ने भोत्तुमिच्छइ छुहिओ । जह तह सदणुट्ठाणे, अणुराओ धम्मराओ त्ति ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे (सथा०) कुशलानुष्ठानानुरागे, पञ्चा० ३ विव० । धर्मरागश्चारित्रधर्मस्पृहेति । द्वा० १५ द्वा० । यो० विं० ।

धम्मरागि (ण्)-धर्मरागिन्-पुं० । श्रुतचारित्रलक्षणधर्मानुरक्ते, पञ्चा० ७ विव० ।

धम्मरुइ-धम्मरुचि-स्त्री० । धर्मपदमात्रश्रवणजनितप्रीतिसहिता धर्मपदवाच्यविषयिणी रुचिर्धर्मरुचिः । ध०२ अधि० । धर्मश्रद्धायाम्, न चैवं प्रामस्य धर्माऽऽदिपदवाच्यविषयिण्यपि रुचिस्तथा स्यादिति वाच्यम्, निरुपपदधर्मपदवाच्यत्वेऽस्यैव ग्रहणात् । न चैवं चारित्रधर्माऽऽदिपदवाच्यविषयिण्यामव्याप्ति , निरुपपदत्वस्य वास्तवधर्मातिप्रसञ्जकोपपदराहित्यस्य विवक्षणादिति दिक् । ध० २ अधि० । धर्मे श्रुताऽऽदौ रुचिर्यस्य स तथा । स्था० १० ठा० । धर्मेण श्रुतधर्मेण रुचिर्यस्य स धर्मरुचिः । श्रुतधर्मोऽन्याभिरुचिके, त्रि० । उत्त० २८ अ० । यो हि धर्मास्तिकाय श्रुतधर्मं चारित्रधर्मं च जिनोक्तं श्रद्धते स धर्मरुचिरिति । स्था० १० ठा० । धर्मधर्मिणोरभेदाद् धर्मश्रद्धाऽऽत्मके सम्यक्त्वभेदे च ।

अथ धर्मरुचेः स्वरूपमाह-

जो अत्थिकायधम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥२७॥

योऽस्तिकायानां धर्माऽऽदीनां धर्मो गत्युपष्टम्भादिरस्तिकायधर्मस्तम्, जातावेकवचनम्, श्रुतधर्ममङ्गप्रविष्टाऽऽद्यागमस्वरूपं, खलुर्वाक्यालङ्कारे । चारित्रधर्मं वा सामायिकाऽऽदि,चस्य चार्थत्वात् श्रद्दधाति,तथेति प्रतिपद्यते,जिनाऽभिहितं तीर्थकृदुक्तं, स धर्मरुचिरिति ज्ञातव्यो धर्मेषु पर्यायेषु धर्मे वा श्रुतधर्माऽऽदौ रुचिरस्येति । उत्त०पाई० २८ अ० । प्रव० । स्था० । दर्श० । वाराणसीस्थे स्वनामख्याते अनगारे, ओघ० । (तत्कथा ' णंद ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७४८ पृष्ठे गता) रोहितकनगरस्थे स्वनामख्याते साधौ, आ० चू० ४ अ० । (तत्कथा ' वेदना ' शब्दे, परिट्ठावणियासमिइ शब्दे च) मथुरानगरस्थे स्वनामख्याते मुनौ, ती०८ कल्प । चम्पानगरीस्थे धर्मघोषस्याऽऽचार्यस्य स्वनामख्याते शिष्ये, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । (तत्कथा ' दुब्बं ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५७८ पृष्ठे गता) वसन्तपुरस्थस्य जितशत्रोर्नृपस्य स्वनामख्याते पुत्रे, आ० क०

तथाऽनवद्ये धर्मरुचिकथा-

" धात्रीक्षोमे सदा सक्त, वसन्तपुरमन्वभूत् ।
जितशत्रुर्नृपस्तत्र, धारणी सहचारिणी ॥ १ ॥
आसीद्धर्मरुचिः सूनु-र्यथार्थोऽस्य सुधांशुवत् ।
सुवामनं पुष्पमिव, ऋजुः कमलनालवत् ॥ २ ॥
वृद्धत्वादन्यदा राजा, जिघृक्षुस्तापसव्रतम् ।
दातुकामस्तनूजस्य, राज्यं सविस्मयमानसः ॥ ३ ॥
सोऽथ मातरमप्राक्षी-द्राज्य तात. किमुज्झति ? ।
तमूचे जननी वत्स !, राज्यं संसारवर्द्धनम् ॥ ४ ॥
पुत्रोऽप्युवाच तर्ह्येव, कार्यं तेन ममाऽपि न ।
उभावपि ततो जातौ, तापसौ तापसाऽऽश्रमे ॥ ५ ॥
चतुर्दश्यामथाथावि, घोषणा सर्वतोमुखीम् ।
अमावास्येत्यनाकुट्टि , प्रभाते भविता ततः ॥ ६ ॥
अद्यैव तत्प्रभातार्थं, कार्यः कन्दाऽऽदिसंग्रहः ।
अचिन्तयद्धर्मरुचि-रनाकुट्टिर्वरं सदा ॥ ७ ॥
अमावास्या च दृष्ट्वा स, साधून् यातोऽन्तिकाध्वना ।
अप्राक्षीदद्य वः किं ना-कुट्टिर्योऽथमहद्वनम् ? ॥ ८ ॥
यावज्जीवमनाकुट्टि-रस्माकं भद्र ! तेऽभ्यधुः ।
ऊहापोह प्रपन्नोऽथ, जातिस्मरणमाप सः ॥ ९ ॥
ततः प्रत्येकबुद्धोऽभू-द्देवः शासनदेव्यदात् ।
सस्मारैकादशाङ्गानि, सिद्धः कृत्वा चिरं व्रतम् " ॥ १० ॥

एतदेवाऽऽह-

" सोऊण अणाउट्टिं, अणभीओ वज्जिऊण अणगं तु ।
अणवज्जिअ उवगओ, धम्मरुई नाम अणगारो ॥ ११ ॥"
आ० क० । आ० म० । आचा० । विशे० । वाराणसीस्थे स्वनामख्याते नृपे, आ०म० । आ०चू० । नं० । आ०क० । (तत्कथा "पारिणामिया" शब्दे) काम्पिल्यपुरस्थे स्वनामख्याते नृपे, ती०२४ कल्प । (तत्कथा 'कपिल्ल' शब्दे तृतीयभागे १७६ पृष्ठे गता)

धम्मलद्ध-धर्मलब्ध-त्रि० । धर्मेण लुधिकया लब्धं धर्मलब्धम्, उद्देशकक्रीतकृताऽऽदिदोषरहिते भक्ताऽऽदौ, " ते धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे " (२१) सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । (इयं गाथा अस्या अर्थश्च 'कुसील' शब्दे तृतीयभागे ६११ पृष्ठे गतः)

धम्मववत्था-धर्मव्यवस्था-स्त्री० । धर्मस्य प्रमाणप्रसिद्धौ, द्वा० ७ द्वा० । साधुसामग्र्यं धर्मव्यवस्था चानिर्वाह्यत इतीयमत्राभिधीयते । " भक्ष्याभक्ष्यविवेकाच्च, गम्यागम्यविवेकतः । तपोदयाविशेषाच्च, सद्धर्मो व्यवतिष्ठते ॥१॥" द्वा० ६ द्वा० ।

विदित्वा लोकमुल्लिप्य, लोकसज्ञां च लभ्यते ।
इत्थं व्यवस्थितो धर्मः, परमाऽऽनन्दकन्दभूः ॥३२॥

(विदित्वेति) विदित्वा ज्ञात्वा,लोकं स्वेच्छाकल्पिताऽऽचारसक्तं जनम्,उल्लिप्य निराकृत्य, लोकसज्ञां बहुभिर्लौकैराचीर्णमेवाऽस्माकमाचरणीयमित्येवरूपा च लभ्यते प्राप्यते । इत्थमुक्तरीत्या, व्यवस्थितः प्रमाणप्रसिद्धो, धर्मः परमानन्द एव कन्दस्तस्य भूरुत्पत्तिस्थानम् ॥ ३२ ॥ द्वा० ७ द्वा० ।

धम्मव-धर्मवत्-त्रि० । धर्मोपेते, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टि(ण्)-धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्तिन्-पुं० । धर्म एव वरं प्रधानं चतुरन्तहेतुत्वात् चतुरन्तं चक्रमिव चातुरन्तचक्रम्, तेन वर्तितुं शीलं यस्य सः धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्ती । जी० ३ प्रति० ४ उ० । त्रयः समुद्राश्चतुर्थो हिमवानिति चत्वारोऽन्तास्तेषु प्रभुतया भवाश्चातुरन्ताश्चतुरन्तस्वामिनः,

एवंविधा ये चक्रवर्त्तिन' ते चातुरन्तचक्रवर्त्तिनः, धर्म्मस्य वराः श्रेष्ठा चातुरन्तचक्रवर्त्तिन. धर्म्मवरचातुरन्तचक्रवर्त्तिनः । कल्प० १ अधि० २ क्षण । अथ समुद्राश्चतुर्थो हिमवान्, एते चत्वारोऽन्ता पृथिव्या' पर्यन्ता., तेषु स्वामितया भवतीति चातुरन्त , स चासौ चक्रवर्ती चातुरन्तचक्रवर्ती, वरश्चासौ चातुरन्तचक्रवर्ती चेति वरचातुरन्तचक्रवर्ती राजातिशयः, धर्मविषये वरचातुरन्तचक्रवर्ती धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्ती । स० १ सम०। औ० । भ० । धर्म एव वरमितरचक्रापेक्षया,कपिलाऽऽदिधर्मचक्रापेक्षया वा चातुरन्त, दानाऽऽदिभेदेन चतुर्विभागश्चतसृणां वा नरकाऽऽदिगतीनामन्तकारित्वाच्चतुरन्त, तदेव चातुरन्त यच्चक्र भवारातिच्छेदात् तेन वर्तितु शील यस्य स तथा। भ० १ श० १ उ० । धर्म एव त्रिकोटिपरिशुद्धत्वेन सुगताऽऽदिप्रणीतधर्मचक्रापेक्षया उभयलोकहितत्वेन, चक्रवर्त्यादिचक्रापेक्षया च वरं प्रधान चतसृणां गतीनां नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणानामन्तो यस्मात्तच्चतुरन्तचक्रमिव चक्र रौद्रमिथ्यात्वाऽऽदिभावशत्रुलवनात् तेन वर्तत इत्येवशीलो धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्ती । " चाउरते त्ति " समृद्ध्यादित्वादात्वम् । ध० २ अधि० । शेषधर्मप्रणेतॄणां मध्ये सातिशयत्वादतिशायिनि धर्मनायके तीर्थकरे,कल्प०१ अधि०२ क्षण । तीर्थकरवर्णकमधिकृत्य " धम्मवरचाउरतचक्कवट्टीणं ।" यथाहि पृथिव्यां शेषराजातिशायी वरचातुरन्तचक्रवर्ती भवति, तथा भगवान् धर्मविषये शेषप्रणेतॄणां मध्ये सातिशयत्वात् तथोच्यते। स०१ सम०। इदमत्र हृदयम्-यथोदितधर्म एव वर प्रधान चक्रवर्तिचक्रापेक्षया लोकद्वयोपकारित्वेन कपिलाऽऽदिप्रणीतधर्मचक्रापेक्षया वा त्रिकोटिपरिशुद्धतया चत्वारो गतिविशेषा नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणा ,तच्छेदेन तदन्तहेतुत्वाच्चतुरन्त, चतुर्भिर्वाऽन्तो यस्मिंस्तच्चतुरन्तम्, कैश्चतुर्भिः ?-दानशीलतपोभावनाऽऽख्यैर्धर्मैः, अन्त प्रक्रमाद्भवान्तोऽभिगृह्यते । चक्रमिव चक्रमतिरौद्रमहामिथ्यात्वाऽऽदिलक्षणभावशत्रुलवनात् । तथा च लूयन्त एवानेन भावशत्रवो मिथ्यात्वाऽऽदय इति प्रतीत,दानाऽऽद्यभ्यासादाग्रहनिवृत्त्यादिसिद्धे , महात्मना स्वानुभवसिद्धमेतत् । एतेन च प्रवर्त्तन्ते भगवन्त । तथा भव्यत्वनियोगतो वरबोधिलाभात्स्य तथा तथौचित्येन अभिसिद्धिप्राप्ते', एवमेव वर्त्तनादिति । तदेवमेतेन वर्त्तितु शीला धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्त्तिन. ॥ २४ ॥ ल० ।

धम्मवररयणमंडियचामीयरमेहलाग--धर्मवररत्नमण्डितचामीकरमेखलाक-पु०। दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मान धारयतीति धर्म , स एव वररत्नमण्डिता चामीकरमेखला यस्य स. धर्मवररत्नमण्डितचामीकरमेखलाकः । "शेषाद्वा" ॥ ७ । ३ । १७५॥ इति कप्रत्यय.। उत्तरगुणरूपरत्नमण्डितमूलगुणरूपधर्माऽऽत्मकचामीकरमेखलोपेते संघमेरौ, तथा च-सङ्घस्य मेरुरूपकेण स्तवमधिकृत्य-" धम्मवररयणमंडियचामीयरमेहलागस्स । ' न० । इह धर्मो द्विधा-मूलगुणरूप., उत्तरगुणरूपश्च । तत्रोत्तरगुणरूपो रत्नानि, मूलगुणरूपस्तु मेखला, न खलु मूलगुणरूपधर्माऽऽत्मक चामीकरमेखलाविशिष्टोत्तरगुणरूपवररत्नविभूषणविकला शोभते । न० ।

धम्मवसु--धर्मवसु-पु० । कौशाम्बीनगरस्थे धर्मघोषधर्मयशसोर्गुरौ स्वनामख्याते गुरौ, " कोसंबिअजियसेणो, धम्मघोसधम्मजसे।" आव० ४ अ०। आ० क०। (तत्कथा 'मरणाय-या ' शब्दे प्रथमभागे ४०४ पृष्ठे गता)

धम्मवाय-धर्मवाद-पु० । धर्मप्रधानो वादो धर्मवाद । " ज्ञातः स्वशास्त्रतत्त्वेन,मध्यस्थेनाघभीरुणा । कथाबन्धस्तत्त्वधिया, धर्मवाद प्रकीर्त्तित ॥ १ ॥" इत्युक्तलक्षणे वादभेदे, द्वा० ७ द्वा०। अष्ट०। (धर्मवादस्वरूप 'वाद' शब्दे) धर्माणां वस्तुपर्यायाणां धर्मस्य वा चारित्रस्य वादो धर्मवाद.। दृष्टिवादे, स्था० १० ठा०। (अस्य स्वरूपम् " दिट्ठिवाय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५१२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

धम्मवावार-धर्मव्यापार-पु० । क्षान्तिप्रत्युपेक्षाऽऽदौ, षो० १० विव०।

धम्मविउ-धर्मवित्-त्रि० । दुर्गतिप्रसृतजन्तुधारणस्वभावं स्वर्गापवर्गमार्गं वेत्तीति धर्मवित् । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । धर्मं चेतनद्रव्यस्वभाव श्रुतचारित्ररूपं वा वेत्तीति धर्मवित् । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । धर्मं यथावत्तत्फलानि च स्वर्गावाप्तिलक्षणानि सम्यग् वेत्तीति धर्मवित् । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । यथावस्थित परमार्थतो धर्मं सर्वोपाधिविशुद्धं जानातीति धर्मवित् । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । धर्मपरिच्छेदककरणनिपुणे, " न ते धम्मविऊ जणा । " ते सम्यग्धर्मपरिच्छेदे कर्त्तव्ये विद्वांसो निपुणाः । तथाहि--क्षान्त्यादिको दशविधो धर्मस्तमज्ञात्वैवान्यथा च धर्मं प्रतिपादयन्तीति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

धम्मविज्ज-धर्मवैद्य-पु० । आचार्ये, प० व० १ द्वार ।

धम्मविणिच्छय-धर्मविनिश्चय-पु० । " धनदो धनार्थिनां धर्म., कामदः सर्वकामिनाम् । धर्म एवाऽपवर्गस्य, पारम्पर्येण साधक ॥ १ ॥ " इत्यादिरूपे धर्मस्वरूपपरिज्ञानाऽऽत्मके विनिश्चयभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

धम्मवित्त-धर्मवित्त-न० । धर्मधने, " धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनापि जीवत. । आढ्योऽस्मीत्यवगन्तव्य, धर्मवित्ता हि साधव. ॥ १ ॥ " ध० १ अधि०।

धम्मवित्तिय-धर्मवृत्तिक-त्रि०। धर्मेणैव चारित्राविरोधेन, श्रुताविरोधेन वा वृत्तिर्जीविका यस्य । धर्माविरुद्धजीविके, " धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा । " औ० ।

धम्मविरुद्ध-धर्मविरुद्ध-त्रि० । धर्मद्वेषिणि, "धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम् ।" प० सू० २ सूत्र० ।

धम्मवीमंसय-धर्मविमर्शक-पु० । धर्मविचारके, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

धम्मवीय-धर्मबीज-न०। धर्मकारणे, "तस्मिन् प्रायः प्ररोहन्ति, धर्मबीजानि गेहिनि । विधिनोप्तानि बीजानि, विशुद्धायां यथा भुवि ॥ १६ ॥ " ध० । (' गिहिधम्म ' शब्दे तृतीयभागे ८६६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

" धर्मबीज परं प्राप्य, मानुष्यं कर्मभूमिषु ।
न सत्कर्मकृषावस्य, प्रयतन्तेऽल्पमेधस. ॥ २ ॥"
अस्येति धर्मबीजस्य । ध० १ अधि०।
" विधिनोप्ताद् यथा बीजा-दङ्कुराऽऽद्युदय. क्रमात् ।
फलसिद्धिस्तथा धर्म-बीजादपि विदुर्बुधा ॥ १ ॥
वपन धर्मबीजस्य, सत्प्रशसाऽऽदि तद्गतम् ।
तच्चिन्ताऽऽद्यङ्कुराऽऽदि स्या-त्फलसिद्धिस्तु निर्वृति. ॥ २ ॥

चिन्तासच्छ्रुत्यनुष्ठान, देवमानुषसम्पदः ।
क्रमेणाङ्कुरसत्काण्ड-नालपुष्पसमा मताः ॥ ३ ॥
फल प्रधानमेवाऽऽहु-र्मोक्षानुषङ्गिकमित्यपि ।
पलालादिपरित्यागात् कृषौ धान्याऽऽप्तिवद् बुधाः ॥ ४ ॥
अत एव च मन्यन्ते, तत्त्वभावितबुद्धय. ।
मोक्षमार्गक्रियामेकां, पर्यन्तफलदायिनीम् ॥ ५ ॥" द्वा० ।

धम्मवीरिय–धर्मवीर्य--पुं० । सुपार्श्वजिनसमकालिके स्वनामख्याते चक्रवर्त्तिनि, ति० ।

धम्मवुड्ढि–धर्मवृद्धि–स्त्री० । धर्मसमृद्धौ, पञ्चा० २ विव० ।

धम्मसंगह–धर्मसंग्रह–पुं० । सगृह्यतेऽनेनेति संग्रहः, धर्मस्य सग्रहो धर्मसग्रह । यद्वा-धर्मस्य सग्रहो यत्र स धर्मसग्रहः । मानविजयगणिविरचिते स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, तथाच ग्रन्थकृत्प्रथमं श्लोकद्वयेन मङ्गल समाचरन् श्रोतृप्रवृत्तये स्वाभिधेय प्रतिजानीते-

"प्रणम्य प्रणताशेष--सुरासुरनरेश्वरम् ।
तत्त्वज्ञ तत्त्वदेष्टार, महावीर जिनोत्तमम् ॥ १ ॥
श्रुताब्धेः सम्प्रदायाच्च. ज्ञात्वा स्वानुभवादपि ।
सिद्धान्तसार वक्ष्यामि, धर्मसग्रहमुत्तमम् ॥ २ ॥"
ध० १ अधि० ।

साम्प्रत सकलशास्त्रार्थपरिसमाप्तिमुपदर्शयन्नाह-
"इत्येष यतिधर्मोऽत्र, द्विविधोऽपि निरूपितः ।
तत्कार्त्स्न्येन हि धर्मस्य, सिद्धिमाप निरूपणम् ॥ ८७ ॥"

इति पूर्वोक्तप्रकारेण, अत्र शास्त्रे, एष प्रत्यक्ष द्विविधः-सापेक्षनिरपेक्षभेदवान्, न पुनरेक एवेत्यपिशब्दार्थः । यतिधर्म स्वलक्षणो निरूपितो निरूपणविषयीकृत., ततो द्विविधयतिधर्मनिरूपणाद् द्विविधगृहिधर्मस्य च प्रागेव निरूपणात्कार्त्स्न्येन सर्वप्रकारेण धर्मस्य निरूपण शास्त्राऽऽदौ प्रतिज्ञात सिद्धिमाप सम्पूर्णतां प्राप । ध०४ अधि० । (विशेषस्त्वत्र 'अणगारधम्म ' शब्दे प्रथमभागे २७६ पृष्ठे गत.)

"प्रत्यक्षरं गणनया, ग्रन्थेऽत्र स्युरनुष्टुभाम् ।
चतुर्दशसहस्राणि, षट्शती चाष्टकोत्तरा ॥ १ ॥" ध० ।

इत्थं शान्तिविजयसूरिवर्णन प्रतिपाद्य-
"तेषां विनेय उदिताऽऽदरतो विवव्रे,
ग्रन्थ च मानविजयाभिधवाचकोऽमुम् ।
न्यून यदत्र मतिमन्दतया भवेत्त-
न्मेधाविभिर्मयि कृपा प्रणिधाय शोध्यम् ॥ ६ ॥
सत्तर्ककर्कशधियाऽखिलदर्शनेषु,
मूर्द्धन्यतामधिगतास्तपगच्छधुर्या ।
काश्या विजित्य परयूथिकपर्षदोघ्या ,
विस्तारितप्रवरजैनमतप्रभावा. ॥ १० ॥
तर्कप्रमाणनयमुख्यविवेचनेन,
प्रोद्बोधिताऽऽदिममुनिश्रुतकेवलित्वा ।
चक्रुर्यशोविजयवाचकराजिमुख्या ,
ग्रन्थेऽत्र मय्युपकृति परिशोधनाऽऽद्यै ॥ ११ ॥
बाल इव मन्दगतिरपि, सामाचारीविचारदुर्गम्ये ।
अत्राभूव गतिमा--स्तेषां हस्तावलम्बेन ॥ १२ ॥
वर्षे दिग्गलमुनिरस-चन्द्र १६७८ प्रमिते च माघवे मासे ।
गुरुतृतीयादिवसे, यत्न सफलोऽयमजनिष्ट ॥ १३ ॥
अहम्मदावादपुरे रसाग्रे,
देशे स्फुरद्गूर्जरदेशमण्डने ।
श्रीवंशजन्मा मनिआऽभिधानो,
वणिग्वरोऽभूच्छ्रुभकर्मकर्त्ता ॥ १४ ॥
नित्य गेहे दानशाला विशाला,
प्रौढोत्सत्या तीर्थराजाऽऽदियात्रा ।
सप्तक्षेत्र्यां वित्तवापश्च यस्य,
ख्यातु प्रायो ह्यसदाद्यैरशक्यः ॥ १५ ॥
साधु श्रीशान्तिदास प्रवरगुणनिधिस्तत्सुतोऽभूदुदारो,
धात्र्यां विख्यातनामा जगदुसमधिकालेकसत्कृत्यकर्मा ।
रङ्कानामन्नवस्त्रौषधसुवितरणाद्येन दुष्कालनाम,
विध्वस्त शस्तभूत्या बहुविधि महिता ज्ञातिसाधर्मिकाश्च ॥१७॥
पुत्रस्तस्तसमस्तगेहकरणीयस्य स्फुट वार्द्धके,
सिद्धान्तश्रवणाऽऽदिधर्मकरणे बद्धस्पृहस्यानिशम् ।
सद्धर्मद्वयसविधानरचनाशुश्रूषणोत्कण्ठित-
स्तस्य प्रार्थनयाऽस्य गुम्फनविधौ जातः प्रयत्नो मम ॥१७॥
ज्ञानाऽऽराधनमतिना, ज्ञानाऽऽदिगुणान्वितेन सुधियेयम् ।
प्रथमाऽऽदर्शे लिखिता, गणिना कान्त्यादिविजयेन ॥ १८ ॥
धात्री सप्तद्वीपात्री भुजगपतिधृता सार्णवा यावदास्ते,
प्रोच्चैः सौवर्णशृङ्गोल्लिखितसुरपथो मन्दराद्रिश्च यावत् ।
विश्वे विद्योतयन्तौ तमनु शशिरवी भ्राम्यतश्चेह यावत्,
ग्रन्थो व्याख्यायमानो विबुधजनवरैर्नन्दतादेष तावत् ॥१९॥
ये ग्रन्थार्थविभावनातिनिपुणा सम्यग्गुणग्राहिण ,
सन्तः सन्तु मयि प्रसन्नहृदयास्ते किं खलैस्तैरिह ।
येषा सुरूसुभाषितामृतरसासिक्तेऽपि चित्ते भृश,
ग्रीष्मर्त्तौ मरुभूमिकास्विव परं लेशो न सलक्ष्यते ॥ २० ॥
विलोक्यानेकशास्त्राणि, विहिताद् ग्रन्थतस्त्विह ।
प्रेत्यापि बोधिलाभोऽस्तु,परमानन्दकारणम् ।२१।" ध०४अधि०।

धम्मसंहिया–धर्मसंहिता–स्त्री० । धर्मबुद्ध्यर्थं सहिता दृब्धा रचिता । सम्-धा-क्त. । मनुयाज्ञवल्क्यप्रभृतिप्रणीते धर्मप्रतिपादनार्थे शास्त्रे, वाच० । अनु० ।

धम्मसद्धा–धर्मश्रद्धा–स्त्री० । धर्मे श्रुतधर्माऽऽदिस्तत्र तत्करणाभिलाषरूपा श्रद्धा धर्मश्रद्धा । धर्मकरणाभिलाषे, उत्त०२९ अ०।

धर्मश्रद्धैव सकलकल्याणनिबन्धनमिति तामाह-

धम्मसद्धाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ, अगारधम्मं च ण चयइ । अणगारे ण जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयणसंजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ ॥ ३ ॥

धर्मश्रद्धयोक्तरूपया, सात सातवेदनीय, तज्जनितानि सौख्यानि सातसौख्यानि । प्राग्वन्मध्यपदलोपी समास , तेषु, वैषयिकसुखेष्विति यावत् । रज्यमान' पूर्व राग कुर्वन् विरज्यते विरक्ति गच्छति । अगारधर्मं च गृहाऽऽचार,गार्हस्थ्यमिति यावत् । चशब्दश्चेह वाक्यालङ्कारे । त्यजते परिहरति । तदत्यागस्य वैषयिकसुखानुरागनिबन्धनत्वात् । ततश्च "अणगारे त्ति" प्राकृतत्वादनगारो यति सन् शारीरमानसाना दु.खानाम्,किंरूपाणामित्याह-छेदनभेदनसयोगाऽऽदीनामिति,छेदन खड्गादिना द्विधाकरण, भेदन कुन्ताऽऽदिना विदारणम्,आदिशब्दस्येहापि सब-

न्धात् ताडनाऽऽदयश्च गृह्यन्ते, ततश्छेदनभेदनाऽऽदिना शारीरदुःखाना संयोग इत्ताचादनिष्टसंबन्ध, आदिशब्दादिष्टवियोगाऽऽदिग्रह, ततः संयोगाऽऽदीनां मानसदुःखाना विशेषेण पुनरसंभवलक्षणेनोच्छेदोऽभावो व्युच्छेद, तं करोतीति तन्निबन्धनकर्मोच्छेदनेनेति भाव । अत एव व्याबाधमुपरतसकलपीडं मोक्षमिति यावत् । च. पुनरर्थे भिन्नक्रम., तत सुख पुनर्निर्वर्तयति जनयति । पूर्वं संवेगफलाभिधानप्रसङ्गेन धर्मश्रद्धायाः फलनिरूपणमिह तु स्वातन्त्र्येणेत्यपौनरुक्त्यमिति भावनीयम्। उत्त० पाई० २९ अ० ।

धर्मश्रद्धाया एव महत्त्वमुपदर्शयति-

निमग्गुस्सग्गकारी य, सव्वतो छिन्नबंधणा ।

एगो वा परिसाए वा, अप्पाणं सोऽभिरक्खइ ॥

य. ताधर्मश्रद्धावानतो निम्नमेन एव स्वभावत एव उत्सर्गकारी, सर्वतश्छिन्नबन्धन, सर्वत्र ममत्वरहित इत्यर्थं । स एको वा एकाकी वा, पर्षदि वा व्यवस्थित आत्मानमभिरक्षति । दश० १ उ० ।

धम्मसद्धालु-धर्मश्रद्धालु-त्रि० । धर्मलिप्सौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

धम्मसण्णा-धर्मसंज्ञा-स्त्री० । धर्मश्रद्धायाम्, स्था० ७ ठा० ६ उ० । मोहनीयक्षयोपशमाज्जायमाने क्षमाऽऽद्यासेवनरूपे संज्ञाभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

धम्मसण्णास-धर्मसंन्यास-पुं० । इहस्थधर्मत्यागे, "धर्मसंन्यासवान् भवेत् । ३ ।" अष्ट० ८ अष्ट० । क्षपकश्रेणियोगिनः क्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्मनिवृत्तिरूपे सामर्थ्ययोगभेदे, द्वा० १६ द्वा० । (एतद्वक्तव्यता 'जोग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६२६ पृष्ठे गता)

धम्मसत्थ-धर्मशास्त्र-न० । धर्मप्रतिपादकं शास्त्रं धर्मशास्त्रम् । मन्वादिप्रयुक्ते स्मृतिशास्त्रे, वाच० । जीवदयाऽऽदिविचारप्रतिपादके शास्त्रे च । दर्श० ३ तत्त्व । "धम्मसत्थस्स देसओ ।" दर्श० ४ तत्त्व । "विसेसओ धम्मसत्थकुसलमई ।" धर्माभिधायिग्रन्थनिपुणबुद्धि । पञ्चा० १३ विव० ।

धम्मसमुयायार-धर्मसमुदाचार-पुं० । धर्मरूपश्चारित्राऽऽत्मकः समुदाचार सदाचार., सप्रमोदो वाऽऽचारो यस्य स धर्मसमुदाचारः । चारित्रधर्माऽऽत्मकसदाचारोपेते, श्रद्धया चारित्रधर्माऽऽत्मकाऽऽचारोपेते च । औ० ।

धम्मसरण-धर्मशरण-न० । धर्माऽऽत्मके शरणे, द० प० ।

पाविअभसाहुमरणो, सरणं काउं पुणो वि जिणधम्मं ।
पहरिसरोमंचपवं-चकंचुअंचियतणू भणइ ॥ ४१ ॥
पवरसुकएहिं पत्तं, पत्तेहि वि नवरि केहि वि न पत्तं ।
त केवलिपण्णत्तं, धम्मं सरणं पवन्नोऽहं ॥ ४२ ॥
पत्तेण अपत्तेण य, पत्ताणि य जेण नरसुरसुहाइं ।
मुक्खसुह पुण पत्ते-ण नवरि धम्मो स मे सरणं ॥४३॥
निद्दलियकलुसकम्मो, कयसुहजम्मो(?)खलीयकअहम्मो ।
पमुहपरिणामरम्मो, सरणं मे होउ जिणधम्मो ॥ ४४ ॥
कालत्तए वि नमय, जम्मणजरमरणवाहिसयसमयं ।
अमयं व बहुमय जिण-मयं च सरणं पवन्नोऽहं ॥४५॥
पसमियकामपमोहं, दिट्ठादिट्ठेसु न कलियविरोहं ।
सिवसुहफलयममोहं, धम्म सरणं पवन्नोऽहं ॥ ४६ ॥

नरयगइगमणरोहं, गुणसंदोहं पवाइनिक्खोहं ।
निहणियअवम्हजोहं, धम्मं सरणं पवन्नोऽहं ॥४७॥
भासुरसुवण्णसुंदर-रयणालंकारगारवमहग्घं ।
निहिमिव दोगच्चहरं, धम्मं जिणदेसियं वंदे ॥४८॥ द० प० ।

धम्मसवण-धर्मश्रवण-न० । दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मं श्रुतचारित्ररूप., तस्य श्रवणमाकर्णनमर्थतो धर्मश्रवणम । अर्थतो धर्माऽऽकर्णने, षो० १६ विव० । ध० । धर्मशास्त्राऽऽकर्णने च । पञ्चा० १० विव० । तस्माच्च धर्मश्रवणाद् मन.खेदापनोदाऽऽदिगुणः स्यात । यदाह-"क्लान्तमपोज्झति खेद, तप्तं निर्वाति बुध्यते मूढम । स्थिरतामेति व्याकुल-मुपयुक्तसुभाषित चेत. ॥१॥" प्रत्यहं धर्मश्रवण चोत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तिसाधनत्वात्प्रधानमिति ॥ २२ ॥ ध १ अधि० ।

धर्मश्रवणे यत्नः, सततं कार्यो बहुश्रुतसमीपे ।
हितकाङ्क्षिभिर्नृसिंहै-र्वचनं ननु हारिभद्रमिदम् ॥१७॥

दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मं श्रुतचारित्ररूपः, तस्य श्रवणमाकर्णनमर्थत:, तस्मिन् धर्मश्रवणे यत्नः प्रयत्न आदर, सततमनवरत, कार्य. कर्त्तव्यो, बहुश्रुतसमीपे बहुश्रुतसन्निधाने. हितकाङ्क्षिभिर्हिताभिलाषिभिर्नृसिंहै पुरुषसिंहै , पुरुषोत्तमैरिति यावत् । वचनं प्रार्थनारूप, नन्विति वितर्के। एवं वितर्कयत यूय, हरिभद्रस्येदं हारिभद्रमिदमेवंविधं यदुत बहुश्रुतसमीपे धर्मश्रवणे यत्नो विधेय । अथवा-वचनमागमरूप, ननु निश्चितं हारि मनोहारि, भद्रमिदं कल्याणमिदं यतो वर्त्तते, अतो वचनगतधर्मश्रवणे बहुश्रुतसमीपे एव यत्न श्रेयान्, अबहुश्रुतेभ्यो धर्मश्रवणेऽपि विपरीतार्थोपपत्तेः प्रत्यवायसंभवात् । अथवा-हरिभद्रसूरे स्तुतिं कुर्वाणोऽपर एव कश्चिदिदमाह-' वचन ननु हारिभद्रमिदम् । ' हरिभद्रसूरेरिदं धर्मगत वचनं प्रकरणाऽऽश्रय, तस्माद्धर्मश्रवणे बहुश्रुतसमीपे एव यत्नो विधेयोऽबहुश्रुतेभ्यो हरिभद्राऽऽचार्यवचनार्थानुपलम्भादेव वचनमाहात्म्यद्वारेण स्तौतीति ॥१७॥ षो० १६ विव० ।

धम्मसागर-धर्मसागर-पुं० । कल्पसूत्रोपरि किरणावलिकारके आचार्ये, अनेन च कुमतिकुद्दालाऽऽदयोऽनेके ग्रन्था रचिता. । ते तीव्रभाषानिबद्धा इत्याचार्याणामरुचिपात्रतां गता. । जै० इ० ।

धम्मसार-धर्मसार-पुं० । धर्मोत्कर्षे, " जयणा उ धम्मसारो, जं भणिया वीयरागेहिं । " पञ्चा० ७ विव० । धर्मसामर्थ्ये, " धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमाय । " आव० ५ अ० । धर्मस्य सारः परमार्थो धर्मसार । धर्मस्य परमार्थे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । धर्मस्य सार. चारित्रं धर्मसारः । चारित्रे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

धम्मसारहि-धर्मसारथि-पुं० । धर्मरथस्य प्रवर्त्तकत्वेन सारथिरिव धर्मसारथि । यथा-रथस्य सारथी रथ रथिकमश्वांश्च रक्षति, एव भगवान् चारित्रधर्माङ्गानां संयमाऽऽत्मप्रवचनाऽऽख्यानां रक्षणोपदेशाद् धर्मसारथि । भ० १ श० १ उ० । जी० । स० । रा० । धर्मस्य स्वपरापेक्षया सम्यक् प्रवर्त्तनपालनदमनयोगत. सारथित्वम् । तद्यथा-सम्यक् प्रवर्त्तनयोगेन परिपाकापेक्षणात्, प्रवर्त्तकज्ञानसिद्धेरपुनर्बन्धकत्वात्, प्रकृत्याऽऽभिमुख्योपपत्तेः । तथा-गाम्भीर्ययोगात्साधुसहपा-

रिप्रासेरनुबन्धप्रधानत्वाद्रतीचारधर्मोत्तत्वोपपत्तेः । एतेन पालनायोग प्रत्युक्तः, सम्यक्प्रवर्त्तनस्य निर्वहणफलत्वात्, नान्यथा सम्यक्त्वमिति समयविदः । एवं दमनयोगेन दान्तो ह्येव धर्मः कर्मवशितया कृतो व्यभिचारी अनिवर्त्तकभावेन नियुक्त स्वकार्ये स्वाङ्गोपचयकारित्या नीतः स्वात्मीभाव तत्प्रकर्षस्याऽऽत्मरूपत्वेन । भावधर्मोऽसौ हि भवत्येवैतदेव, तदाद्यस्थानस्याप्येव प्रवृत्तेरवन्ध्यबीजत्वात् सुसवृत्तकाञ्चनरत्नकरण्डकप्राप्तितुल्या हि प्रथमधर्मस्थानप्राप्तिरित्यन्यैरप्यभ्युपगमात्, तदेव धर्मस्य सारथयो धर्मसारथयः ॥ २३ ॥ ल० । ध० । धर्ममार्गप्रवर्त्तयितरि तीर्थकरे, " धिइम धम्मसारही । " (१५) उत्त० १६ अ० । कल्प० । यथा सारथिरुन्मार्गे गच्छन्त रथं मार्गमानयति, एवं भगवन्तोऽपि मार्गभ्रष्ट जन मार्गे आनयन्ति । अत्र च मेघकुमारदृष्टान्तः । कल्प० १ अधि० १ क्षण । (मेघकुमारकथा 'मेघकुमार' शब्दे)

धम्मसासण-धर्मशासन-न० । धर्मज्ञाने, दश० १ चू० । धर्मशास्त्रे च । दश० ।

" साहित्यस्य विशारदो यदि पर जानाति सल्लक्षण,
तर्के कर्कशमानसोऽतिविभुता यद्यस्ति सा ज्योतिषि ।
किञ्चानेककलाऽऽलयोऽपि विकल प्राणी पर गीयते,
यो जानाति न स्वर्गमोक्षसुखद धर्मानुग शासनम् ॥१॥" दश० ६ अ० ।

धम्मसाहण-धर्मसाधन-न० । धर्मस्य कर्मानुपादाननिर्जरणलक्षणस्य साधन हेतुरहिंसाऽऽदिर्धर्मसाधनम् । धर्महेतावहिंसादिके, हा० १२ अष्ट० ।

धम्मसिद्धि-धर्मसिद्धि-स्त्री० । धर्मनिष्पत्तौ, " लिङ्गानि धर्मसिद्धेः । " षो० ४ विव० ।

धम्मसिरी-धर्मश्री-पुं० । अस्याश्चतुर्विंशतिकाया प्रागनन्तकालेनातीतायां चतुर्विंशतिकाया भवे चरमतीर्थकरे, ग० । अस्या ऋषभाऽऽदिचतुर्विंशतिकाया प्रागनन्तकालेन याऽतीता चतुर्विंशतिका तस्या मत्सदृश सहदृस्नतनुर्धर्मश्रीनामा चरमतीर्थकरो बभूव । ग०१ अधि० । (तत्कथा 'सावज्जायरिय' शब्दे)

धम्मसील-धर्मशील-त्रि० । धर्म शील सततमनुष्ठेय यस्य स धर्मशीलः । धार्मिके, वाच० । धर्मस्वभावे च । सूत्र०२ श्रु०२ अ० ।

धम्मसीलसमुयायार-धर्मशीलसमुदाचार-त्रि० । धर्मशीलो धर्मस्वभावो धर्माऽऽत्मक समुदाचारो यत्किञ्चनानुष्ठान यस्य स । धर्मस्वभावाऽऽत्मकानुष्ठाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

धम्मसीह-धर्मसिंह-पुं० । अभिनन्दनजिनस्य पूर्वभवनामधेये, स० । पाटलिपुत्रस्थे स्वनामख्याते क्षत्रियमुनौ, सथा० ।

पाडलिपुत्तम्मि पुरे, चंदयपुत्तस्समे य आसी य ।
नामेण धम्मसीहो, चंदसिरी सो पहिऊणं ॥ ६७ ॥

पाटलिपुत्रे नगरे (चन्दयपुत्तस्समे य त्ति) चन्द्रगुप्तपुत्रस्य सम सयन्धु सुहृत्, मम सुहृदभिप्रायेषु दर्शनात् । अथवा-चन्द्रगुप्तसम मान्यत्वादासीदभूद्नाम्ना धर्मसिंह इति । कथभूत ?, (चंदसिरिं सो पयहिऊण) चन्द्रगुप्तश्री चन्द्रगुप्तलक्ष्मीकः, (पइहिऊण ति) प्रस्तावात् नामेव लक्ष्मीं परित्यज्य, चारित्र गृहीतवानित्यर्थः ।

ततः किं कृतवानित्याह-

कुल्लयरम्मि पुरवरे, अह सो अब्भुट्टिओ ठिओ धम्मे ।
कासी य गद्धपिट्ठं, पच्चक्खाणं विगयसोगो ॥ ७० ॥

अथ कोल्लयरपुरे स धर्मसिंहाभिधानः क्षत्रियमुनिः, अभ्युत्थितोऽभ्युद्यतः मरणाय, स्थितश्च धर्मे पर्यन्ताऽऽराधनाकृत्यरूपे, (कासी य त्ति) अकार्षीत्, (गद्धपिट्ठ त्ति) गृध्रपृष्ठाभिधानमनाथपतितगोकलेवराऽऽदिमध्ये निपतनरूप (पच्चक्खाण विगयसोगो त्ति) प्रत्याख्यानमनशनाङ्गीकाररूप, विगतशोको विगतदैन्य इति गाथार्थः ॥ ७० ॥

अह सो वि चत्तदेहो, तिरियसहस्सेहिँ खायमाणो य ।
सो वि तह खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ ७१ ॥

अथ स त्यक्तदेहो व्युत्सृष्टशरीरस्तिर्यक्सहस्रैः श्ववृकशृगालगृध्राऽऽदिभिः खाद्यमानश्च, सोऽपि तथा खाद्यमानः प्रतिपन्न उत्तमार्थ सम्यगाराधनामित्यर्थः ॥ ७१ ॥ सथा० । धर्मजिनस्य प्रथमभिक्षादायके च । स० ।

धम्मसुअक्खायभावणा-धर्मस्वाख्यातभावना-स्त्री० । भावनाभेदे, सा यथा-

" स्वाऽऽख्यातः खलु धर्मोऽय, भगवद्भिर्जिनोत्तमैः ।
य समालम्बमानो हि, न मज्जेद्भवसागरे ॥ १ ॥ "

स्वाख्याततामेवाऽऽह-

" सयम सूनृत शौच, ब्रह्माकिञ्चनता तपः ।
क्षान्तिर्मार्दवमृजुता, क्षान्तिश्च दशधा ननु ॥ २ ॥ "

अत्राय भावः-सयमाऽऽदिदशविधधर्मप्रतिपादनप्रकारेण भगवतामर्हतां स्वाख्यातधर्मत्वानुप्रेक्षणमेवेति । धर्माणां गुणभावना तदाख्यातॄणां भगवतामनुप्रेक्षानिमित्त स्तुतिरिति । तथा च धर्मकथकोऽर्हन्निति भावनेत्येव प्रत्यासन्नम् । तथा-

" पूर्वापरविरुद्धानि, हिंसाऽऽदेः कारकाणि च ।
वचासि चित्ररूपाणि, व्याकुर्वद्भिर्निजेच्छया ॥ ३ ॥
कुतीर्थिकैः प्रणीतस्य, सद्गतिप्रतिपन्थिनः ।
धर्मस्य सकलस्यापि, कथं स्वाख्यातता भवेत् ? ॥ ४ ॥
यच्च तत्समये क्वापि, दयासत्याऽऽदिपोषणम् ।
दृश्यते तद्वचोमात्र, बुधैर्ज्ञेयं न तत्त्वतः ॥ ५ ॥
यत्रोद्दाममदान्धसिन्धुरघटं साम्राज्यमासाद्यते,
यत्र शेषजनप्रमोदजनक सपद्यते वैभवम् ।
यत्पूर्णेन्दुसमद्युतिर्गुणगणः सप्राप्यते यत्पर,
सौभाग्यं च विजृम्भते तदखिलं धर्मस्य लीलायितम् ॥ ६ ॥
यन्न प्लावयति क्षितिं जलनिधिः कल्लोलमालाऽऽकुलो,
यत्पृथ्वीमखिलां धिनोति सलिलाऽऽसारेण धाराधरः ।
यच्चन्द्रोष्णरुची जगत्युदयतः सर्वान्धकारच्छिदे,
तन्निःशेषमपि ध्रुवं विजयते धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥ ७ ॥
अर्हता कथितो धर्मः, सत्योऽयमिति भावयन् ।
सर्वसपत्करे धर्मे, धीमान् दृढतरो भवेत् ॥८॥" ध० ३ अधि० ।

धम्मसुइ-धर्मश्रुति-स्त्री० । अर्हत्प्रणीतधर्माऽऽकर्णने, उत्त० ३ अ० ।

"किञ्चगेयश्रवणा-दधिको धर्मश्रुतौ राग ।" षो० ११ विव० । आ० क० ।

धम्मसेण-धर्मसेन-पुं० । भगवत ऋषभदेवस्य शतपुत्रेषु स्वनामख्यातेऽपतमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण० । नन्दनस्य सप्तमबलदेवस्य पूर्वभवनामधेये, स० । ति० ।

धम्मसेणगणिमहत्तर-धर्मसेनगणिमहत्तर-पुं० । वसुदेवहिण्डीग्रन्थस्य द्वितीयतृतीयखण्डयोः कर्त्तरि, जै० इ० ।

धम्महिय-धर्महित- त्रि० । धर्माय हितमुपकारकं धर्महितम् । धर्मोपकारके, उत्त० पाई० २ अ० ।

धम्माइगर-धर्माऽऽदिकर-पुं० । धर्मो द्विभेदः-श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्च । श्रुतधर्मेणेहाधिकारः, तस्य करणशीलो धर्मादिकरः । आव० ५ अ० । श्रुतधर्मस्य सूत्रतः प्रथमकरणशीले तीर्थङ्करे, ध० २ अधि० । प्रश्न०, न० । आव० ५ अ० । आ० चू० । ल० ।

धम्माणुओग-धर्मानुयोग-पुं० । धारयति दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वमिति धर्मः, तस्मिन् धर्मे धर्मविषयेऽनुयोगो धर्मानुयोगः । उत्तराध्ययनाऽऽदिप्रकीर्णकरूपेऽनुयोगभेदे, ओघ० । धर्मकथानुयोग उत्तराध्ययनाऽऽदिक इति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

धम्माणुट्ठाण-धर्मानुष्ठान-कृत्यानुष्ठाने, ध० १ अधि० ।

"अन्ने भणंति तिविहं, सययब्भिसयभावजोगओ णवरं ।
धम्मम्मि अणुट्ठाणं, जहुत्तरं पहाणरूवं तु ॥१॥
एयं च ण जुत्तिखमं, णिच्छयणयजोगओ जओ विसए ।
भावेण य परिहीणं, धम्माणुट्ठाणमो किह णु ? ॥२॥
ववहारओ उ जुज्जइ, तहा तहा अपुणबंधगाईसु ॥" इति ।

एतद्वृत्ती यथा-अन्ये आचार्या भणन्ति, त्रिविधं त्रिप्रकारं, सततविषयभावयोगतः, योगशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् सतताऽऽदिपदानां सतताभ्यासाऽऽदौ लाक्षणिकत्वात् सततोभ्यासविषयाभ्यासभावाभ्यासयोगादित्यर्थः । नवरं केवलं, धर्मेऽनुष्ठानं यथोत्तरं प्रधानरूपं, तुरेवकारार्थः । यद्यदुत्तरं तदेव ततः प्रधानमित्यर्थः । तत्र सतताभ्यासो नित्यमेव मातापितृविनयाऽऽदिवृत्तिः । विषयाभ्यासो मोक्षमार्गनायकेऽर्हल्लक्षणे पौनःपुन्येन पूजनाऽऽदिप्रवृत्तिः । भावाभ्यासो भावानां सम्यग्दर्शनाऽऽदीनां भावाह्लेपेन भूयो भूयः परिशीलनम् ॥ १ ॥ एतच्च द्विविधमनुष्ठानं न युक्तिक्षमं नोपपत्तिसहं, निश्चयनययोगेन निश्चयनयाभिप्रायेण यतो मातापित्रादिविनयस्वभावे सततोभ्यासे सम्यग्दर्शनाऽऽधनाऽऽराधनारूपे धर्मानुष्ठानं दूरापास्तमेव, विषये इत्यनन्तरमापिगम्य, विषयेऽपि अर्हदादिपूजालक्षणे विषयाभ्यासेऽपि, भावेन भववैराग्याऽऽदिना परिहीणं धर्मानुष्ठानं,कथं नु ?,न कथञ्चिदित्यर्थः । ओकारः प्राकृतत्वात् । परमार्थोपयोगरूपत्वाद्धर्मानुष्ठानस्य, निश्चयनयमते भावाभ्यास एव धर्मानुष्ठानं, नान्यद् द्वयमिति निगर्व ॥ २ ॥ व्यवहारतस्तु व्यवहारनयादेशे तु, युज्यते द्वयमपि, तथा तथा तेन तेन प्रकारेणापुनर्बन्धकाऽऽदिषु अपुनर्बन्धकप्रभृतिषु, तत्रापुनर्बन्धकः पापं न तीव्रभावात्करोतीत्याद्युक्तलक्षण । आदिशब्दादपुनर्बन्धकस्यैव विशिष्टोत्तरावस्थाविशेषभाजौ मार्गाभिमुखमार्गपतितौ अविरतसम्यग्दृष्ट्यादयश्च गृह्यन्त इति । ध० १ अधि० ।

धम्माणुण्ण-धर्मानुज्ञ-त्रि० । धर्मे श्रुतचारित्रलक्षणेऽनुज्ञाऽनुमोदनं यस्य स धर्मानुज्ञः । दशा० ६ अ० । धर्मे कर्त्तव्येऽनुज्ञाऽनुमोदनं यस्य स धर्मानुज्ञः । सूत्र० १ श्रु० १८ अ० । धर्मानुमोदितरि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

धम्माणुय-धर्मानुग-त्रि० । धर्मं श्रुतचारित्ररूपमनुगच्छतीति धर्मानुगः । धर्मानुयायिनि, दशा० ६ अ० । ज्ञा० । औ० । सूत्र० ।

धम्माणुराग-धर्मानुराग-पुं० । धर्मबहुमाने, भ० १ श० ७ उ० ।

धम्माणुरागरत्त-धर्मानुरागरक्त-त्रि० । धर्मानुरागो धर्मबहुमानः, तेन रक्त इव यः स तथा । धर्मबहुमानानुरागिणि, भ० १ श० ७ उ० ।

धम्माणुरागि-(ण्) धर्मानुरागिण्-त्रि० । श्रुतचारित्रलक्षणधर्मानुरक्ते, पञ्चा० ७ विव० । धर्माभिलाषिणि च । दर्श० १ तत्त्व ।

धम्माधम्मट्ठाण-धर्माधर्मस्थान-न० । उपशमप्रधानानुपशमप्रधाने क्रियास्थानस्य तृतीये भेदे,सूत्र० २ श्रु० २ अ० । (धर्माधर्मयुक्तं तृतीयं स्थानमाश्रित्य 'पुरिसविजयविभंग'शब्दे वक्ष्यते)

धम्मायरण-धर्माऽऽचरण-न० । धर्मानुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

धम्मायरिय-धर्माऽऽचार्य-पुं० । श्रुतचारित्रधर्माऽऽचारसाधौ, ध०२ अधि० । धर्मः श्रुतधर्मस्तत्प्रधानं प्रणायकत्वेनाऽऽचार्यो धर्माचार्यः । मतोपदेष्टरि, स्था० ७ ठा० । " धम्मायरियं धम्मोवदेसयं समणं भगवं महावीरं वंदामो ।" भ० २ श० १ उ० । धर्मदाताऽऽचार्यो धर्माचार्यः । स्था० ३ ठा० १ उ० । धर्मदातर्याचार्ये,ध०२ अधि० । धर्मप्रतिबोधके,स्था० ४ ठा० ३ उ० । बोधिलाभहेतुभूते गुरौ च । पञ्चा०१ विव० । "धम्मो जेणुवइट्ठो,सो धम्मगुरू गिही व समणो वा ।" ठा० ३ उ० ।

धम्मायार-धर्माचार-पुं० । स्त्रीणां चतुःषष्टि[illegible]न्तर्गते कलाभेदे, कल्प० ७ अधि० १ क्षण ।

धम्माराम-धर्माराम-पुं० । धर्मे श्रुतधर्माऽऽदावाकाङ्क्षित्याभिव्याप्त्या रमते रतिमान् भवतीति धर्मारामः । उत्त० २ अ० । धर्मविषयकरतिमति साधौ, उत्त० १६ अ० । धर्म एव सततमानन्दहेतुतया प्रतिपाल्यतया वाऽऽरामो धर्मारामः । उत्त०२ अ० । धर्म आराम इव पापसंतापोपतप्तानां जन्तूनां निर्वृतिहेतुतया अभिलषितफलप्रदानतश्च धर्माऽऽरामः । धर्माऽऽत्मके आरामे, "धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही । धम्मारामे रए दंते, बंभचेरसमाहिए ॥१॥" उत्त० १६ अ० ।

धम्मारामरय-धर्माऽऽरामरत-त्रि० । धर्माऽऽरामे रत आसक्तिमान् धर्मारामरतः । धर्माऽऽरामाऽऽसक्ते,उत्त०१६ अ० । धर्मे आ समन्तात् रमन्त इति धर्मारामाः साधवस्तेषु रतो धर्माऽऽरामरतः । साधुभिः सह युक्ते च । उत्त० १६ अ० ।

धम्माराहग-धर्माऽऽराधक-पुं० । धर्मानुकूलवर्त्तिनि, स्था० २ ठा० ४ उ० । सूत्र० ।

धम्माराहण-धर्माराधन-न० । धर्माऽऽसेवने, स्था० २ ठा० ४ उ० । "जे केइ महापुरिसा, धम्माराहणसहा इह लोए ।" चारित्राऽऽराधनसमर्थाः । प० व० ३ द्वार ।

धम्मावाय-धर्मवाद-पुं० । धर्मेण वस्तुपर्यायाणां धर्मस्य वा चारित्रस्य वादो धर्मवादः । दृष्टिवादे, स्था० १० ठा० ।

धम्माहिगारि (ण्)-धर्माधिकारिण्-पुं० । धर्मग्रहणयोग्ये धार्मिके, ध० १ अधि० । पञ्चा० । प० व० ।

धम्मि (ण्)–धर्मिन्–त्रि० । धर्मोऽस्ति यस्याऽसौ धर्मी । औ० । धर्म अस्त्यर्थे इनिः । पुण्यवति, वस्तुगुणस्वरूपधर्मयुक्ते, वाच० । आचा० ।

धम्मिट्ठ–धर्मिष्ठ–त्रि० । अतिशयेन धर्मी । इष्ठन् इनेर्लुक् । अत्यन्तधर्मवति, वाच० । रा० । धर्मबहुले, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । धर्मोऽस्ति यस्य स धर्मी, स एवान्येभ्योऽतिशयवान् धर्मिष्ठः । औ० ।

धर्मेष्ट–त्रि० । धर्म श्रुतरूप एवेष्टो वल्लभः पूजितो वा यस्य स धर्मेष्टः । प्रियधर्मे, औ० ।

धर्मीष्ट–त्रि० । धर्मिणामिष्टो धर्मीष्टः । धर्मिणां वल्लभे, औ० ।

धम्मिड्ढि–धर्मर्द्धि–स्त्री० । ऋद्धिभेदे, " सा मणुइ धम्मिड्ढी, जा मणुइ धम्मकज्जेसु । " ध० २ अधि० ।

धम्मिपरिणाम–धर्मिपरिणाम–पुं० । धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तावुत्तरधर्मोत्पत्तिर्धर्मिपरिणामः । परिणामभेदे, यथा–मृत्पिण्डस्य धर्मिणः पिण्डरूपधर्मपरित्यागेन घटरूपधर्मान्तरस्वीकारः । द्वा० २४ द्वा० ।

धम्मिय–धार्मिक–त्रि० । धर्मं चरति सततमनुशीलयति ठक् । धर्मशीले, वाच० । "धम्मियमाहणभिक्खुए सिया ।" धार्मिका धर्माऽऽचारशीलाः। सूत्र० १ श्रु० ७ अ० १ उ० । धर्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरति धार्मिकः । साधौ, स्था० २ ठा० ४ उ० । ज्ञा० । सूत्र० । रा० । औ० । भ० । धर्मे श्रुतचारित्राऽऽत्मके प्रयः स्था० ३ ठा० ३ उ० । धर्मनिरते, द्वा० ३ द्वा० । " न हिंस्यात्सर्वभूतानि [illegible] चराणि चराणि च । आत्मवत्सर्वभूतानि, य पश्यति स ध[illegible] ॥१॥" अनु० । "एव परिहायमाणो, लोगे चंदो व्व कालपक्खम्मि । जे धम्मिया मणुस्सा, सुजीवियं जीवियं तेसिं ॥१॥" ति० । धर्मं प्रयोजनमस्येति धार्मिकः । स्था० ३ ठा० १ उ० । धर्मार्थे, दशा० १० अ० । धर्मे नियुक्तो धार्मिकः । औ० । धर्मार्थ नियुक्त धार्मिकम् । धर्मप्रतिबद्धे, धार्मिको धर्मप्रतिबद्धत्वात्, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । धार्मिकस्य संयतस्येदं धार्मिकम् । धार्मिकसम्बन्धिनि च । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

धर्मित–त्रि० । अतिशयेन संजाते, " धम्मियसमुद्दवरूकवइयउव्वीलियफक्कवच्छगेवेयबद्धगलवरभूसणविराइय ।" धर्मिताऽऽदयः शब्दा एकार्था एव सम्बद्धताप्रकर्षख्यापनार्थाः । भेदो यत्रैषामस्ति स च कल्पितोऽवसेयः । औ० ।

धम्मियकरण–धार्मिककरण–न० । धार्मिकस्य संयतस्येदं धार्मिकम्, कृतिः करणमनुष्ठानम् । धार्मिककरणभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

धम्मियजाण–धार्मिकयान–न० । धर्मार्थगमनसाधने याने, "धम्मियं जाणपवरं उवट्ठवेह ।" धर्मार्थं यानं गमनं येन तत्कर्मयानं, तन्मध्ये प्रवरं श्रेष्ठं शीघ्रगमनत्वाऽऽदिगुणोपेतमिति । दशा० १० अ० । ज्ञा० । अन्त० ।

धम्मियजायणा–धार्मिकयाचना–स्त्री० । धर्मकथापूर्वके याचने, आचा० । " धम्मियाए जायणाए जाएज्जा । " धर्मकथनपूर्वकं गच्छाग्निर्गतो याचेत । आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ० ।

धम्मियणाडय–धार्मिकनाटक–न० । जिनजन्माभ्युदयभरतनिष्क्रमणाऽऽदिधर्मसम्बद्धे नाटके, पञ्चा० ६ विव० ।

धम्मियववसाय–धार्मिकव्यवसाय–पुं० । व्यवसायभेदे, प्रति० ।

धम्मियाधम्मियकरण–धार्मिकाधार्मिककरण–न० । धार्मिकस्य संयतस्येदं धार्मिकमेवमितरत्तत्र मधार्मिकोऽसंयतस्तस्य करणम् । अथवा धर्मे भवं धर्मो वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकम् । विपर्ययस्तमितरत्करणं धार्मिकाधार्मिककरणम् । करणभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

धम्मियाधम्मियोवक्कम–धार्मिकाधार्मिकोपक्रम–पुं० । धार्मिकश्चासौ देशेन संयमरूपत्वाद्धार्मिकश्च तथैवासंयमरूपत्वाद् धार्मिकाधार्मिकः । उपक्रम उपायपूर्वक आरम्भो धार्मिकाधार्मिकोपक्रमः । देशविरताऽऽरम्भरूपे उपक्रमभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

धम्मियाराहणा–धार्मिकाऽऽराधना–स्त्री० । आराधनमाराधना ज्ञानाऽऽदिवस्तुनोऽनुकूलवर्तित्व, निरतिचारज्ञानाऽऽद्यासेवनेति यावत् । धर्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्तीति धार्मिकाः साधवस्तेषामियं धार्मिकी । सा चासावाराधना चेति निरतिचारज्ञानाऽऽदिपालना धार्मिकाऽऽराधना । आराधनाभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० । " धम्मियाराहणा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–सुयधम्माराहणा चेव, चरित्तधम्माराहणा चेव । " स्था० २ ठा० ४ उ० । विप्रलभेदेनाऽऽराधनाभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

धम्मियोवक्कम–धार्मिकोपक्रम–पुं० । धर्मे श्रुतचारित्राऽऽत्मके भवः, स वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकः, उपक्रमणमुपक्रम उपायपूर्वक आरम्भो धार्मिकोपक्रमः । श्रुतचारित्राऽऽर्थकाऽऽरम्भाऽऽत्मके उपक्रमभेदे, (स्था०) धार्मिकस्य संयतस्य यश्चारित्राऽऽद्यर्थे [illegible] उपक्रम स धार्मिक एवोपक्रम । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

धम्मिल्ल–धम्मिल्ल–पुं० । संयतेषु केशेषु, वाच० । " धम्मिल्लो केसहत्थगो भण्णई " (५७) को० ५७ गाथा । स्वनामख्याते भावी, आव० ६ अ० । त० । (तत्कथा धम्मिल्लहिण्डयां । समासतः, ' पच्चक्खाण ' शब्देऽपि) कुशाग्रसन्निवेशस्थे सुधर्मस्वामिनः पितरि, स्वनामख्याते विप्रे च । कल्प० २ अधि० ८ क्षण । आ० म० । आ० चू० । विचरिणाममापन्ने च । त्रि० । ' अकविलसुसिणिद्धसुगंधदीहधम्मिल्लसिरया । ' धम्मिल्ला विपरिणाममापन्ना संयमविज्ञानाभावात् शिरोजा इति । जं० २ वक्ष० ।

धम्मीसर–धर्मेश्वर–पुं० । भारतवर्षेऽतीतोत्सर्पिण्यां भवे जिनेश्वरापरपर्याये विंशतितमे जिने, प्रव० ७ द्वार ।

धम्मुज्जय–धर्मोद्यत–त्रि० । धर्मस्पृहावति, जीवा० १२ अधि० ।

धम्मुत्तर–धर्मोत्तर–त्रि० । धर्मैर्गुणैरुत्तरो धर्मोत्तरः । आ० चू० ५ अ० । धर्मः प्रशमाऽऽदिरूपस्तदुत्तरस्तत्प्रधानो धर्मोत्तरः । पो० १० विव० । धर्मप्रधाने सम्यग्दर्शनाऽऽदिके, धर्मप्राधान्ये, न० । " धम्मुत्तरं वड्डउ । " धर्मोत्तरं चारित्रधर्मोत्तरं चारित्रधर्मप्राधान्यं यथा स्यात् । ध० २ अधि० । ल० । आव० । न्यायबिन्दुटीकाकारके बौद्धाऽऽचार्ये, अयं सौगतः वीरसंवत् ८८४ वर्षे आसीत् । जै० इ० ।

धम्मुत्तरखंति–धर्मोत्तरक्षान्ति–स्त्री० । धर्मः प्रशमाऽऽदिरूपस्तदुत्तरा तत्प्रधाना क्षान्तिर्धर्मोत्तरक्षान्तिः । क्षान्तिभेदे, पो० १० विव० ।

धम्मेकणिट्ठ-धर्मैकनिष्ठ-त्रि० । धर्मतत्परे, पो० १२ विव० ।

धम्मोवएस-धर्मोपदेश-पुं० । धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः, तस्योपदेशो देशना । धर्मदेशनायाम्,'धर्मोपदेशश्रवणम्' । ध०२ अधि०। आचाराङ्ग-लोकसाराध्ययनपञ्चमोद्देशकाऽऽदिमसूत्रे ह्रदोपमेनाऽऽचार्येण भाव्यमित्यत्र वृत्तौ धर्ममाश्रित्य चतुर्भङ्ग्यां प्रत्येकबुद्धास्तृतीयभङ्गवर्त्तिनः, तीर्थकृत्तु चतुर्थभङ्गस्था इत्युक्तप्रकारेण सर्वेऽपि प्रत्येकबुद्धा धर्मोपदेशं न ददत्येतत्कथं सङ्गच्छतीति ?। तत्र-ऋषिमण्डलसूत्रे-" पत्तेअबुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउं सिवं पत्ता । पणयालीसं इसिभा-सियाइँ अज्झयणपवराइं " ॥ १ ॥ इति गाथायां प्रत्येकबुद्धानामध्ययनमुक्तमिति किमत्र तत्त्वमिति प्रश्ने ?, उत्तरम्-आचाराङ्गवृत्त्यनुसारेण प्रत्येकबुद्धाः सभाप्रबन्धेन धर्मोपदेशं न ददतीत्यवसीयते । ऋषिमण्डले तु तेषामध्ययनप्रणयनरूपधर्मोपदेश इति न किमप्यनुपपन्नम् , इति । ३८३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

धम्मोवएसय-धर्मोपदेशक-त्रि० । धर्मदेशके, ध० २ अधि० ।

धम्मोवओग-धर्मोपयोग-पुं० । धर्मस्यैतिकर्त्तव्यतावबोधे, प० सू० ४ सूत्र ।

धम्मोवगरण-धर्मोपकरण-न० । संयमोपकरणे, आचा० ।

धर्मोपकरणस्य च न परिग्रहत्वम्-

परिग्गहाओ अप्पाणं अवक्कमेज्जा ।(९०)

परिगृह्यत इति परिग्रहो धर्मोपकरणातिरिक्तमुपकरण,तस्मादात्मानमवष्वष्केदपसर्पयेत् । अथवा-संयमोपकरणमपि मूर्च्छया परिग्रहो भवति, "मूर्च्छा परिग्रह." (तत्त्वा०७ अ०१७ सूत्र) इति वचनात् । तत आत्मानं परिग्रहादपसर्पयन्नुपकरणे तुरगवन्मूर्च्छां न कुर्यात् । ननु च य धर्मोपकरणाऽऽद्यपि परिग्रहो, न स चित्तकालुष्यमृते भवति । तथाहि-आत्मीयोपकारिणि रागः, उपघातकारिणि च द्वेषः, तत. परिग्रहे सति रागद्वेषौ नेदिष्ठौ, ताभ्यां कर्मबन्धः, तत्कथं न परिग्रहो धर्मोपकरणम्, ?। उक्तं च-" ममाहमिति चैष या-वदभिमानदाहज्वरः, कृतान्तमुखमेव ता-वदिति न प्रशान्त्युन्नयः । यशःसुखपिपासितैरयमसावनर्थोत्तरैः, परैरपसदैः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते ॥ १ ॥ " नैष दोषः, न हि धर्मोपकरणे ममेदमिति साधूनां परिग्रहग्रहयोगोऽस्ति । तथा ह्यागम -" अवि अप्पणो वि देहम्मि, णायरंति ममाइयं । " यदिह परिगृहीतं कर्मबन्धायोपकल्प्यते, स परिग्रहो, यत्तु पुन. कर्मनिर्जरणार्थं प्रभवति, तत्परिग्रह एव न भवतीति ।

आह च-

अणहा णं पासए परिहरिज्जा,
एस मग्गे आरिएहिं पवेइए ॥ ९१ ॥

(अणहा णं इत्यादि) णमिति वाक्यालङ्कारे अन्यथेत्यन्येन प्रकारेण,पश्यकः सन्, परिग्रहं परिहरेत् । यथाहि-अविदितपरमार्था गृहस्था सुखसाधनाय परिग्रहं पश्यन्ति, न तथा साधु । तथाहि-प्रथमस्याऽऽश्रय -आचार्यसत्कमिदमुपकरण, न ममेति रागद्वेषमूलत्वात्परिग्रहग्रहयोगोऽत्र निषेध्यो; न धर्मोपकरण, तेन विना संसारार्णवपारागमनादिति । उक्तं च-" सा ध्य यथाकथञ्चित्, स्वल्पं कार्यं महच्च न तथेति । प्लवनमृते न-हि शक्यं, पारं गन्तुं समुद्रस्य ॥ १ ॥ " अत्र चाऽऽर्हताऽऽभासैर्बोटिकैः सह महान् विवादोऽस्तीत्यतो विवक्षितमर्थं तीर्थकराभिप्रायेणापि सिसाधयिषुराह-(एस मग्गे इत्यादि) धर्मोपकरण न परिग्रहायेत्यनन्तरोक्तो मार्ग , आराधाताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यास्तीर्थकृतः, तैः प्रवेदितः कथितो, न तु यथा बोटिकैः कुण्डिकाकाष्टिकालवणिकाऽश्ववालधिवालाऽऽदिस्वरुचिविरचितो मार्ग इति । न वा यथा मौद्गल्यस्वातिपुत्राभ्यां शौद्धोदनिं स्वर्ज्ञीकृत्य प्रकाशितः । इत्यनया दिशा अन्येऽपि परिहार्या इति । इह तु स्वशास्त्रगौरवमुत्पादयितुमार्यैः प्रवेदितः । (९१) आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

धम्मोवग्गहदाण-धर्मोपग्रहदान-न० । दानाभयप्रदातृणा-माहाराऽऽद्यैरुपग्रह· । दत्तैर्यैर्जायते ह्युच्चैः-स्तद्धर्मोपग्रहं स्मृतम् " ॥ १ ॥ इत्युक्तलक्षणे दानभेदे, ग० २ अधि० ।

धम्मोवाय-धर्मोपाय-पुं० । प्रवचने, तदन्तरेण धर्मस्यासम्भवात् । चतुर्दशसु पूर्वेषु, आ० म० १ अ० १ खण्ड । सामायिकाऽऽदिके च,आ० म० १ अ० १ खण्ड । (धर्मोपायव्याख्या ' तित्थयर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६१ पृष्ठे गता)

धम्मोवायदेसग-धर्मोपायदेशक-पुं० । दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, तस्योपायो द्वादशाङ्गं प्रवचनम् । अथवा-पूर्वाणि देशयतीति देशक ,धर्मोपायस्य देशको धर्मोपायदेशकः । गणधरे, चतुर्दशपूर्वविस्तु,आ० म० १ अ० १ खण्ड । चतुर्विंशतिसङ्ख्याकेषु जिनेषु, आ० म० । " धम्मोवाओ पवयण -महवा पुव्वाइँ देसया तस्स । सव्वजिणाण गणहरा, चोद्दसपुव्वी उ जे जस्स ॥१॥" आ० म० १ अ० १ खण्ड । (अस्या गाथाया व्याख्या ' तित्थयर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२६१ पृष्ठे गता)

धय-ध्वज-'झय' शब्दार्थे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । को० ।

धयग्ग-देशी-गृहे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धयरट्ठ-धार्तराष्ट्र-पुं० । हंसे, " धयरट्ठा कायवा । " को० ४० गाथा ।

धर-धृ-पतने, भ्वादि०-पर०-अक०-अनिट् । " ऋवर्णस्यारः " ॥ ८ । ४ । २३४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण धातोरन्त्यस्य ऋवर्णस्य अराऽऽदेश । 'धरइ ।' प्रा० ४ पाद । धरते । अधृत । वाच० । स्थितौ अक० । धृतौ सक०-भ्वादि०-उभ०-अनिट् । धरति, ते, अधार्षीत् अधृत । वाच० । तुले,दे०ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धर-त्रि० । ध्रियतेऽधरतीति वा धरः, "लिहाऽऽदिभ्य." ॥५।१।५०॥ इत्यच्प्रत्यय. । न० । धारके;औ० । 'धरइ ।' प्रा० ४ पाद । प्रज्ञा० । पर्वते, कूर्मराजे, वसुभेदे, कार्पाससूत्रे च । वाच० । पद्मप्रभस्य षष्ठस्य जिनस्य पितरि कौशाम्बीवास्तव्ये स्वनामख्याते नृपे, आव०१ अ० । स० । स्था० । अस्यामवसर्पिण्यामैरवतवर्षभवे विंशतितमे जिने, ति० । पर्वते, को० ५० गाथा ।

धरग-देशी-कार्पासे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धरण-धरण-पुं० । धृ०-ल्युट् । पर्वतभेदे, लोके, गुणे, धान्ये, दिवाकरे, सेतौ च । वाच० । दक्षिणनागकुमारनिकायेन्द्रे, स्था० ४ ठा० १ उ० । ति० । औ० । प्रज्ञा० । भ० । शक्तिलावतीविजयस्थवीतशोकाराजधानीस्थस्य महाबलस्य स्वनामख्याते सत्ययस्ये मित्रे, ज्ञा० १. ८ अ० स्तम्येषु समुद्रविजयाऽऽदिषु अन्त०१ श्रु०१ वर्ग१ अ०।स

पकाऽऽत्मके धरिमप्रमाणभेदे,षोडशरूप्यमापका एक धरणमिति। ज्यो०२ पाहु०। अधमर्णाऽऽदिभ्यो लभ्यद्रव्यग्रहणार्थे लङ्घनपूर्वके उपवेशने च। न०। धरण द्रव्यद्रव्यग्रहणार्थं लङ्घनपूर्वकमुपवेशनम्। ध० २ अधि०। नागकुमारेन्द्रे, स्था०।

धरणस्स णं णागकुमारिंदस्स णागकुमाररणो धरणप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दसगाउसयाइं उव्वेहेणं मूले, दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं धरणस्स णं० जाव णागकुमाररणो कालवालस्स महारणो कालप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एवं चेव० जाव संकवालस्स नू..मंदरस्स वि, एवं लोगपालस्स वि, से जहा धरणस्स। स्था० १० ठा०।

धरणग-धरणक-न०। रोधने, धरणक रोधनमपकारिणामधमर्णाऽऽदीनां च। प्रव० ३८ द्वार। ध्रियते येन तत्करणम, धरणमेव धरणकम्। येन धृत्वा तोल्यते तस्मिन् तोलनसाधने वस्तुनि, ज्यो० २ पाहु०।

धरणप्पभ-धरणप्रभ-पु०। धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य स्वनामख्याते उत्पातपर्वते, स्था० १० ठा०।

धरणा-धरणा-स्त्री०। मगधदेशस्थायां स्वनामख्यातायां राजधान्याम्, यत्राला देवी। ज्ञा० २ श्रु० ३ वर्ग १ अ०।

धरणिंद-धरणेन्द्र-पु०। नागराजे,"नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठे।" सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। विश्वपुरस्थे स्वनामख्याते राजनि, ग० २ अधि०। (तत्कथा 'फासिंदिय' शब्दे वक्ष्यते) श्रीपार्श्वनाथप्रसादात्सर्पजीवो नमस्कारं श्रुत्वा मौलो धरणेन्द्रो जातः,किं वा सामानिकः,तथोपसर्गावसरे समागतस्स मौल ,किं वाऽन्य इति प्रश्ने, उत्तरम्-सर्वत्राक्षरानुसारेण मौलो धरणेन्द्रो ज्ञातो नास्तीति। १४७ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

धरणि-धरणि-स्त्री०। धृ-अनि०-वा ङीप्। भूमौ, स० ३१ सम०। स्था०। सू०प्र०। च०प्र०।"मही मेइणी धरा धरणी।" को०। वासुपूज्य (१२) जिनस्य प्रथमाऽऽर्यिकायाम्, प्रव० ९ द्वार। स०।"धरणी य वासुपुज्जे।" ति०। कन्दविशेषे कन्दाख्ये, वनकन्दे च। वाच०।

धरणिखील-धरणिकील-पु०। धरण्याः पृथिव्याः कीलक इव धरणिकीलक। मेरौ, सू० प्र० ५ पाहु०। च० प्र०।

धरणितल-धरणितल-न०। महीपीठे, स्था०। सूत्र०। ज्ञा०।

धरणितलगमणतुरितसंजणितगमणप्पयार-धरणितलगमनत्वरितसंजनितगमनप्रचार-त्रि०। धरणितलगमनाय भूतलप्राप्तये त्वरित- शीघ्र सञ्जनित उत्पादितो गमनप्रचारो गतिक्रियाप्रवृत्तिर्येन स तथा। भूतलप्राप्तये शीघ्रोत्पादितगतिक्रियाप्रवृत्तौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

धरणितलगमणतुरितसंजणितमणप्पयार-धरणितलगमनत्वरितसंजनितमनःप्रचार-त्रि०। भूतलप्राप्तये शीघ्रोत्पादितमन प्रवृत्तौ, ज्ञा० २ श्रु० १ अ०।

धरणितलवेणिभूय-धरणितलवेणिभूत-त्रि०। धरणितलस्य वेणिभूतो वनिताशिरस केशबन्धविशेष इव य कृष्णत्वदीर्घत्वश्लक्ष्णत्वपश्चाद्भागगतत्वाऽऽदिसाधर्म्यात् स धरणितलवेणिभूतः। धरण्याः केशबन्धविशेष इव प्रतीयमाने सर्पाऽऽदौ, उपा० २ अ०। भ०।

धरणिधर-धरणिधर-पुं०। धरणिं धरति। धृ-अच्। पर्वते, विष्णौ, कच्छपे च। वाच०। विमल (१३) जिनस्य स्वनामख्यातायां प्रथमाऽऽर्यिकायाम्, स्त्री०। स०। प्रव०।

धरणिसिंग-धरणिशृङ्ग-पुं०। धरण्याः शृङ्गमिव धरणिशृङ्गः। मेरौ, चं० प्र० ५ पाहु०। सू०प्र०।

धरणी-धरणी-स्त्री०। 'धरणि' शब्दार्थे, स०।

धरणीखील-धरणीकील-पुं०। 'धरणिखील' शब्दार्थे, सू० प्र० ५ पाहु०।

धरणीतल-धरणीतल-न०। 'धरणितल' शब्दार्थे, स्था०।

धरणीधर-धरणीधर-पु०। 'धरणिधर' शब्दार्थे, स०।

धरा-धरा-स्त्री०। धृ-अच्। पृथिव्याम्, गर्भाऽऽशये जरायौ, मेदोवहायां नाड्या च। वाच०। को० २६ गाथा।

धराहर-धराधर-पुं०। धरां धारयति धृ-अच्। पर्वते, वराहरूपे विष्णौ च। वाच०। वराटविषयस्थे स्वनामख्याते पुरे, न०। यत्र वसन्तसेनो गृहपतिः। दर्श० २ तत्त्व। (तत्कथा "राम" शब्दे वक्ष्यते)

धरिज्जंत-ध्रियमाण-त्रि०। धारणविषयीक्रियमाणे, "छत्तेण धरिज्जमाणेण।" प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। औ०।

धरिज्जमाण-ध्रियमाण-त्रि०। 'धरिज्जंत' शब्दार्थे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

धरिणी-धरिणी-स्त्री०। पृथिव्याम्, को० २७ गाथा।

धरिम-धरिम-न०। तुलाद्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। विपा०। उन्मानप्रमाणभेदे, ज्यो० २ पाहु०। स्था०। धरिम मञ्जिष्ठाऽऽदीनि। आ० चू० ६ अ०। ज्ञा०। उत्त०। धरिम यत्तुलाधृत सद् व्यवह्रियत इति। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

धरिमप्पमाण-धरिमप्रमाण-न०। प्रमाणभेदे, ज्यो०।

धरिमप्रमाणमाह-

चत्तारि य मधुरत्तण-फलाणि सो मे(से) असरिसवो एक्को।
सोलस य सरिसवा पुण, हवंति मासयफलं एगं॥
गुंजा फलाणि दोन्नि उ, रुप्पियमासो हवइ एक्को।
सोलस य रुप्पिमासो, एक्को धरणो हवेज्ज संखित्तो॥
अड्ढाइज्जा धरणा, य सुवण्णो सो य पुण करिसो।
करिसा चत्तारि पलं, पलाणि पुण अद्धतेरस उ पत्थो॥
भारो य तुला वीसं, एस विही होइ धरिमस्स॥

चत्वारि मधुरतृणफलानि मधुरतृणतन्दुला. स मेयविषये सकलजगत्प्रसिद्ध एक श्वेतसर्षपो भवति। षोडश च श्वेतसर्षपा एक माषफल धान्यमाषफल, द्वे धान्यमाषफले एक भवति गुञ्जाफल, द्वे च गुञ्जाफले एको रूप्यमाष., कर्षमाप इत्यर्थ। षोडश च रूप्यमाषका एक धरणम्। अर्द्धतृतीयानि धरणानि एक सुवर्ण, स एव

चैक सुवर्णः कर्ष इत्युच्यते । चत्वारः कर्षाः पलम, अर्द्धत्रयोदश पलानि सार्द्धानि द्वादशपलानि प्रस्थः, पलशतिका तुला, विंशतितुला भारः, एष पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शितो धरिमप्रमाणविषयो विधिः । तदेवमुक्तो धरिमप्रमाणविधिः । ज्यो० २ पाहु० ।

धरिस-धृष्-सहतौ अक० । हिंसायां सक०-स्वादि०-पर०-सेट् । "धृषाऽऽदेर्नामरिः" ॥ ८ । ४ । २३५ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण ऋवर्णस्यारिः । प्रा० ४ पाद । 'धरिसइ ।' धर्षति । प्रागल्भ्ये, स्वादि०-पर०-अक०-सेट् । धृष्णोति । अधार्षीत् । संबन्धने, चुरा०-आत्म०-अक०-सेट् । धर्षयते । अदीधृषत । अदधर्षत । क्रोधे, अभिभवे च । चुरा०-उभ० । पक्षे-भ्वादि०-सक०-सेट् । धर्षयति,ते । धर्षति । अदीधृषत् । अदधर्षत् । अधार्षीत् । वाच० ।

धर्ष-पु० । धृष्-घञ् । प्रागल्भ्ये, अमर्षे, शक्तिबन्धने, संहतौ, हिंसायां च । वाच० ।

धरिसण-धर्षण-न० । धृष्-भावे ल्युट् । परिभवे, रमणे, धर्षणार्थे च । नि० चू० १ उ० । धर्षे० ।

धव-धव-पु० । धवति, धुनोति, धुनाति वा धु-धू-वा अच् । पत्यौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । व्य० । प० व० । वाच० ।

विधवाशब्दस्थधवशब्दस्य भाष्यकारो व्याख्यानमाह-

विगयधवा खलु विधवा, धव तु भत्तारमाहु नेरुत्ता ।
धारयति धीयते वा, दधाति वा तेण उ धवो त्ति ॥

विगतधवा खलु विधवा विगतो धवोऽस्या इति व्युत्पत्तेः । धवं तु भर्त्तारमाहुर्नैरुक्ता निरुक्तिशास्त्रविदः । कथं व्युत्पत्तेत्याह-धारयति तां स्त्रियं, धीयते वा तेन पुंसा सा स्त्री दधाति सर्वात्मना पुष्णाति तां,तेन कारणेन निरुक्तिवशाद् धव इत्युच्यते । व्य० ७ उ० । स्वनामख्याते बहुबीजके वृक्षविशेषे, आव० ५ अ० । रा० । ल० प्र० । ज० । प्रज्ञा० । ति० । धूर्ते नरे च । भावे अप् । कम्पने, वाच० ।

धवल-धवल-पु० । धव कम्प लाति, ला-क. । धववृक्षे, धीरणवृक्षे, श्वेतमरिचे, वृषश्रेष्ठे, चीनकर्पूरे, श्वेतवर्णे च । वाच० । को० ६२ गाथा । रा० । ओघ० । ज्ञा० । त० । " धवलकमलपत्तपयराइरेगरूवप्पभ ।" कल्प० १ अधि० २ क्षण । त० । तद्वति सुन्दरे च । त्रि० । शुक्लवर्णायां गवि, स्त्री० टाप् । गौरा० ङीप् । वाच० । अयोध्यानगरस्थे स्वनामख्याते श्रावके च । पु० । दर्श० ३ तत्त्व । स्वस्वजात्युत्तमे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धवलकपुर-धवलार्कपुर-न० । वीरधवलनृपस्य पुरभेदे, ती० ४१ कल्प । "धवलक्कपुरे वसतो-र्धनपत्योर्वकुलवन्दिकयोः ।" पञ्चा० ११ विव० ।

धवलगिरि-धवलगिरि-पु० । कैलासापरनामधेयेऽष्टापदपर्वते, ती० ४७ कल्प । (तद्वक्तव्यता ' अट्ठावय ' शब्दे प्रथमभागे २५३ पृष्ठे गता)

धवलपुष्फदंत-धवलपुष्पदन्त-त्रि० । धवलपुष्पवत् सामर्थ्यात् कुन्दकलिकावद् दन्ता यस्य स धवलपुष्पदन्तः । कुन्दकलिकासदृशदन्ते, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

धवलराय-धवलराज-पु० । वर्द्धमाननगरस्थे विमलकुमारजनके स्वनामख्याते नृपे, ध० र० । (तत्कथा ' विमलकुमार ' शब्दे वक्ष्यते)

धवलसउण-देशी । हंसे, दे० ना० ५ वर्ग ५६ गाथा ।

धवलिय-धवलित-त्रि० । धवलवर्णीकृते, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

धव्व-देशी-वेगे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धसत्ति-धसदिति-अव्य० । धसधसेत्यस्यानुकरणे, " कुट्टिमतलंसि सव्वंगेहिं धसत्ति पडियाए ।" धसदित्यनुकरणे,ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ।

धसल-देशी-विस्तीर्णे, दे० ना० ५ वर्ग ५८ गाथा ।

धाई-धात्री-स्त्री० । धीयते पीयतेऽसौ, धा-ष्ट्रन्, षित्वाद् ङीष् । "धाऽवाम्" ॥ ८ । २ । ८१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण धात्रीशब्दे रस्य लुग् वा । 'धत्ती ।' ह्रस्वात्प्रागेव रलोपे 'धाई ।' पक्षे 'धारी ।' प्रा० २ पाद । मातरि, वाच० । धयन्ति पिबन्ति बालकास्तामिति, धीयते धार्यते वा बालकानां दुग्धपानाऽऽद्यर्थमिति वा धात्री बालपालिका । प्रव० ६७ द्वार । पञ्चा० । स्तनदायिन्यां जननीकल्पायां बालपालिकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । सा च पञ्चधा क्षीरमज्जनमण्डनक्रीडनाङ्कभेदात्पञ्चधा । पञ्चा० १३ विव० । आचा० । अनु० । ग० । प्रश्न० । ध० । रा० । उत्त० । ज्ञा० ।

तद्भेदानाह-

खीरे य मज्जणे वि य, मंडणे कीलावणंकधाई य ।
एक्केका वि य दुविहा, करणे कारावणे चेव ॥

क्षीरविषया एका धात्री, या स्तन्यं पाययति । द्वितीया मज्जनविषया । तृतीया मण्डनविषया । चतुर्थी क्रीडनधात्री पञ्चमी अङ्कधात्री । एकैकाऽपि च द्विधा । तद्यथा-स्वयं करणे, कारणे च । तथाहि-या स्वयं स्तन्यं पाययति बालकं सा स्वयं करणे क्षीरधात्री । या त्वन्यया पाययति सा कारणे । एवं मज्जनधात्र्योऽपि भावनीयाः ।

संप्रति धात्रीशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह-

धारेइ धीयए वा, धयंति वा तमिति तेण धाई उ ।
जहविहवं आसि पुरा, खीराई पंचधा ता उ ॥

धारयति बालकमिति धात्री । यद्वा-धीयते नाटकप्रयोगेन पोष्यते इति धात्री । अथवा-धयन्ति पिबन्ति बालकास्तामिति धात्री । धात्रीति निपातेन तद्रूपनिष्पत्तिः । ताश्च धात्र्यः पुरा पूर्वस्मिन् काले, यथाविभवं विभवानुसारेण, क्षीराऽऽदिविषया बालकयोग्या आसन्, संप्रति तथारूपविभवाभावे ता न दृश्यन्ते । पिं० । आमलक्यां च । स्वार्थे कन् । वाच० ।

धाईपिंड-धात्रीपिण्ड-न० । "धाइदूइनिमित्ते ।" (५७४ गा०) धयन्ति पिबन्ति बालकास्तामिति, धीयते धार्यते बालकानां दुग्धपानाऽऽद्यर्थमिति वा धात्री बालपालिका । सा च पञ्चधा-क्षीरधात्री मज्जनकधात्री, मण्डनधात्री, क्रीडनधात्री, उत्सङ्गधात्री च । इह धात्रीत्वस्य करणं कारणं वा तत्कार्याभिव्येोक रूपत्वम, तथाविधकरणात् । ततो धात्र्याः पिण्डो धात्रीपिण्डो धात्रीत्वस्य करणेन कारणेन च य उत्पाद्यते पिण्डः स धात्रीपिण्डः । प्रव० ६७ द्वार । बालस्य स्त

भाद्धधाऽयः पञ्च । तासां कर्म धात्रीत्वं, तेन लब्धः पिण्डो धात्रीपिण्ड. । जीत० । उत्पादनादोषभेदे, पिं० । दर्श० । पञ्चा० । आचा० । ग० । स्था० । बालस्य क्षीरमज्जनमण्डनक्रीडनाङ्कारोपणकर्मकारिण्य. पञ्च धाऽयः,एतासां कर्म भिक्षार्थं कुर्वतो मुनेर्धात्रीपिण्ड., ध० ३ अधि० । अशनाऽऽद्यर्थं दातुरपत्योपकारे वर्त्तत इति धात्रीपिण्डः । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ९ उ० ।

तत्र यथा स्तन्यदापनधात्रीत्वं साधु. करोति तथा दर्शयति-

खीराहारो रोवइ, मज्झ कयासाय देहि णं पेज्जे ।

पच्छा व मज्झ दाही, अलं व भुज्जो व एहामि ॥

पूर्वपरिचिते गृहे साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्ट सन् रुदन्त बालक दृष्ट्वा तज्जननीमेवमाह-एष बालोऽद्यापि क्षीराऽऽहार , तत.-क्षीरमन्तरेणावसीदत् आरटति,तस्मान्मह्य कृताऽऽशाय विहितभिक्षालाभमनोरथाय,झटित्येव भिक्षां देहि,पश्चात् (ण) एन बालक (पेज्जे) पायय स्तन्यम् । यद्वा-प्रथमत एन स्तन्य पायय, पश्चान्मह्य भिक्षां देहि । यदि वा-अल मे सम्प्रति भिक्षया, पायय स्तन्य बालकमह पुनर्भूयोऽपि भिक्षार्थमेष्यामि ।

तथा-

मइमं आरोगी दी-हाउ य होइ अवमाणिओ बालो ।

दुल्लभयं खु सुयमुहं, पिज्जेहि अहं व से देमि ॥

अविमानितोऽनपमानितो बालो मतिमान् आरोगी दीर्घायुश्च भवति, विमानितः पुनर्विपरीतः । तथा-दुर्लभ खलु लोके सुतमुख पुत्रमुखदर्शन, तस्मात्सर्वाण्यप्यन्यानि कर्माणि मुक्त्वा त्वमेनं बालक स्तन्य पायय । यदि त्व नो पाययसि तर्हीहं वा ददाम्यस्मै क्षीर बालकाय, अन्यस्या वा स्तन्य पाययामि । अत्र " अह व से देमि " इत्यनेन स्वयकरणधात्रीत्वं साधौ दर्शित , शेषपदै. कारणेन ।

अत्र दोषमाह-

अहिगरणभद्द पंता, सकम्मुदयगिलाणए य उड्डाहो ।

चडुकारीइ अवण्णो, नियगो वऽन्नं व णं संके ॥

यदि बालकजननी भद्रा धर्माभिमुखी भवति, तर्हि प्राकृतैः साधुवचनैरावर्जिता सती अधिकरणमाधाकर्माऽऽदि करोति । अथ प्रान्ता धर्मानभिमुखी,तर्हि प्रद्वेष यातीति शेष । तथा यदि स्वकर्मोदयात्कथमपि स बालो ग्लानो भवति,तर्हि उड्डाह प्रवचनमालिन्यम्,यथा साधुना तदानीमालपितः,क्षीर वा पायितोऽन्यत्र वा नीत्वा कस्या अपि स्तन्य पायितस्तेन ग्लानो जात.। तथाऽतीव चाटुकारीति लोकेऽवर्णोऽश्लाघा, तथा निजको वा भर्त्ता, अन्यद्वा मैथुनाऽऽदिक, णमिति वाक्यालङ्कारे, तथारूपसाधुवचनश्रवणत. शङ्कते सम्भावयति ।

अथवा प्रकारान्तरेण धात्रीकरणे दोषान्त दर्शयति-

अयमवरो उ विकप्पो, भिक्खायरि सड्ढि अद्धिई पुच्छा ।

दुक्खसहायविभासा, हियं मे धाइत्तण अज्जो ।

वयगडयथुल्लतणु-त्तणेहिँ त पुच्छिउं अयाणंते ।

तत्थ गओ तस्समक्खं, भणाइ त पासिउं बालं ॥

अयमपरो विकल्पो धात्रीकरणे, तमेवाऽऽह-भिक्षाचर्याप्रविष्टेन साधुना काचिच्छ्राद्धिका अधृतिर्धृतिरहिता दृष्टा,तत पृष्टा सा किमद्य त्वं सशोका दृश्यसे, तत एवमुक्ता सती सा प्राह-यो दु.खसहायो भवति तस्मै दु ख निवेद्यते, दु खसहायश्च स उच्यते, यो दु खप्रतीकारसमर्थः । तत. साधुराह-अहं दु खसहाय ,तस्मान्निवेद्यता मे दु खम् । तत सा प्राह-अद्य मे मम धात्रीत्वमसुकस्मिन्नीश्वरगृहे हृत स्फेटित,ततोऽह विषण्णा। तत. साधुराह-मा त्व विषाद कार्षी , अहमवश्य त्वा तत्राऽचिरेण धात्रीं स्थापयिष्यामीति प्रतिज्ञा विधाय तस्याः पार्श्वे अभिनवस्थापितायाः धाऽया वय प्रभृतिकमजानानः पृच्छति; यथा किं तस्या वय ?, तारुण्यं परिणत न वा ?। गतमावपि स्तनाऽपरपर्यायौ किंकूर्पराऽऽकारवन्तौ दीर्घौ, यद्वाऽतिशयेन स्थूलौ, शरीरेऽपि तस्या किं स्थूलत्वं, किं वा कृशत्व, तत एव पृष्ट्वा त-त्रेश्वरगृहे गत. सन् तत्समक्ष त बालक दृष्ट्वा भणति ।

किं तद्भणतीत्यत आह-

अहुणुट्ठियं च अणुर-क्खियं च एयं कुलं तु मन्नामि ।

पुत्तोहि जहिच्छाए, धरई बालेण सुचामो ॥

महमिद मन्ये-इद युष्मदीय कुलमधुनोत्थित संप्रत्येवेश्वरीभूतं, यदि पुनः परम्परागतलक्ष्मीकमिदमभविष्यत्, तर्हि कथ न परम्परया धात्रीलक्षणकुशलमभविष्यदिति भाव. । तथा अनवेक्षितमपरिभावित महत्तरपुरुषै , तत एव या वा सा वा धात्री ध्रियते, एतच्च बालेनास्तनगतधात्रीस्तन्यपानविच्छायेन सूचयामो लक्षयामः । तत एवभूतधात्रीयुक्तमपीद कुल भरते क्रमेण वर्द्धते, तन्मन्ये पुण्यैः प्राक्तनजन्मकृतै., यदि वा-यदृच्छया एवमेव, तत एवमुक्ते सति ससम्भ्रम बालकस्य जननी जनको वा साधुं प्रत्याह-भगवन् ! के धात्र्या दोषाः ?।

तत साधुर्धात्रीदोषान् कथयति-

थेरा दुब्बलखीरा, चिमिढो पिल्लियमुहो अइयणीए ।

तणुई उ मंदखीरा, कुप्परथणियाएँ सूइमुहो ॥

या किल धात्री स्थविरा सा अबलक्षीरा अबलस्तन्या भवति। ततो बालो न बल गृह्णाति । या त्वतिस्तनी तस्या. स्तन्य पिबन् स्तनेन प्रेरितमुखअस्थिनमुखावयवोन्नतनासिकश्चिपिटश्चिपिटनासिको भवति । या तु शरीरेण कृशा मन्दक्षीरा अल्पक्षीरा, तत परिपूर्णं तस्याः स्तन्यं बालो न प्राप्नोति, तदभावाच्च सीदति । तथा या कूर्परस्तनी, तस्या स्तन्य पिबन् बाल. सूचीमुखो भवति । स हि मुख दीर्घतया प्रसार्य तस्या स्तन्य पिबति,ततस्तथारूपाभ्यासतस्तस्य मुख सूच्याकार भवति ।

उक्त च-

" निस्थामा स्थविरा धात्री, सूच्यास्य कूर्परस्तनीम् ।

चिपिट स्थूलवक्षोजां, धयँस्तन्वीं कृशो भवेत् ॥१॥

जाड्य भवति स्थविरा-यास्तत्कुक्ष्यास्त्ववलकरम् ।

तस्मान्मध्यबलस्थाया , स्तन्य पुष्टिकर स्मृतम् ॥२॥

अतिस्तनी तु चिपिट, खरपीना तु दन्तुरम् ।

मध्यस्तनी महाछिद्रा, धात्री साऽस्य सुखकरी ॥३॥ "

इत्यादि । एषा चाऽभिनवस्थापिता धात्री उक्तदोषदुष्टा, तस्मान्न युक्ता, किं तु चिरन्तन्यैवेति भाव ।

तथा-

जा जेण होइ वन्ने-ण उक्कमा गरहए य त तेण ।

गरहइ समाए तिव्वं, पसत्थमियर च दुव्वन्न ॥

या अभिनवस्थापिता धात्री, येन वर्णेन कृष्णाऽऽदिना उत्कृष्टा भवति, ना तेन वर्णेन गर्हते निंदति । यथा-" कृष्णा प्रशस्यते वर्ण गोरी तु बलवर्जिता । तस्मात् श्यामा भवेद्धात्री, बलव-

में प्रशंसिता ॥ १ ॥" इत्यादि । तथा यामभिनवस्थापितां गर्हते, तस्याः समाना समानवर्णा चेत् चिरन्तनी ख्याप्यमाना भवति, तर्हि तां तीव्रामतिशयेन प्रशस्यां प्रशस्तवर्णां श्लाघते, इतरां त्वभिनवस्थापिनीं दुर्वर्णाम् । एवं चोक्ते सति गृहस्वामी साध्वभिप्रेतां धात्रीं धारयति, इतरां तु परित्यजति ।

तथा सति यो दोषस्तमाह-

उव्वट्टिया पओसं, छोभग उब्भामओ य से जं तु ।
होज्जा मज्झ वि विग्घो, विसाइ इयरी वि एमेव ॥

या अभिनवस्थापिता धात्री उद्वर्तिता धात्रीत्वात् च्याविता, सा साधोरुपरि प्रद्वेषं कुर्यात् । तथा सति छोभकं दद्यात्, यथा-ऽयमुद्भ्रामको जारोऽनया धात्र्या सह तिष्ठतीति । तथा (से) तस्य साधोर्यत्प्रद्वेषवशात्कर्तव्यं बधाऽऽदि, यच्चदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तदपि कुर्यात् । याऽपि चिरन्तनी सम्प्रति स्थापिता कदाचिदेव चिन्तयति-यथैव तस्या धात्रीत्वात् च्यावनं कृतम्, एवमेव कदाचित् रुष्टेन ममापि विघ्नो धात्रीच्यावनरूपोऽन्तरायः करिष्यते, तत एवं विचिन्त्य मारणाय विषाऽऽदि गरप्रभृति प्रयुञ्जीत । उक्ता क्षीरधात्री ।

साम्प्रतं शेषधात्रीराश्रित्य दोषानतिदेशेनाऽऽह-

एमेव सेसियासु वि, सुयमाइसु करण कारणं सगिहे ।
इड्डीसु य धाईसु य, तहेव उव्वट्टियाए गमो ॥

अत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी । ततोऽयमर्थः-एवमेता यथा क्षीरधात्र्यस्तथा शेषिकास्वपि शेषाणामपि मज्जनाऽऽदिधात्रीणां, सुतमातृकल्पानां यत् स्वयं करणं मज्जनाऽऽदेः, यथान्यथा कारणं, तत् स्वगृहे गतः सन् साधुर्यथा करोति तथा वाच्यं, तथा च सति " अहिगरणभद्दपंता " इत्यादिगाथोक्ता दोषा वक्तव्याः यथा तथैव क्षीरगतेनैव प्रकारेण ऋद्धिषु ऋद्धिमत्सु ईश्वरगृहेषु, अभिनवस्थापितानां मज्जनाऽऽदिधात्रीणां (धाईसु य त्ति) भावप्रधानोऽयं निर्देशः, षष्ठ्यर्थे च सप्तमी । ततोऽयमर्थः धात्रीत्वेभ्य उद्वर्तितानां च्यावितानां, यो गमः-" उव्वट्टिया पओसं " इत्यादिरूपः, स सकलोऽपि तथैव वक्तव्यः ।

अतिसंक्षिप्तमिदमुक्तमतो विशेषतः एतद्विभावयिषुः प्रथमतो मज्जनधात्रीत्वस्य करणं कारणं च, तथा अभिनवधात्र्या दोषप्रकटनं च यथा साधुः कुरुते तथा भावयति-

लोलइ महीएँ धूली-एँ गुंडिओ एहाहि अहव णं मज्जे ।
जलभीरु अबलनयणो, अइउप्पिलणे अ रत्तच्छो ॥

एष बालो मह्यां लोलति लोमते, ततो धूल्या गुण्डितो वर्तते, तस्मात् स्नापय । एतद् मज्जनधात्रीत्वस्य करणम् । अथवा-यदि पुनस्त्वं न स्नपयसि, तर्हि अहं मज्जामि स्नापयामि । एतत् स्वयं मज्जनधात्रीत्वस्य करणम् । क्वापि ईश्वरगृहे काऽपि मज्जनधात्री धात्रीत्वात् स्फेटिता, साधुश्च तस्या गृहं भिक्षार्थं प्रविष्टः, तां च धात्रीत्वात्परिभ्रंशेन विषण्णां दृष्ट्वा पूर्वप्रकारेण च पृष्ट्वा कृत्वा च प्रतिज्ञामीश्वरगृहे च गत्वा अभिनवमज्जनधात्र्या दोषप्रकटनायाऽऽह-(जलभीरु इत्यादि) अतिशयेन उत्प्लावनेन प्रभूतजलप्लावनेन शुष्यमाणो बालो गुरुरपि जातो नद्यादौ जलभीरुर्भवति । तथा निरन्तरं जलेनोत्प्लाव्यमानोऽबलनयनोऽप्रबलनयनो रक्ताक्षश्च । यदि पुनः सर्वथाऽपि न मज्ज्यते, तर्हि न शरीरं बलमादत्ते नापि कान्तिभाक्, इयता चाऽबलो जायते । यथा च धात्री बालमतिजलोत्प्लावनेन मज्जयति, ततो जलभीरुताऽऽदयो दोषा बालस्य प्रविष्यन्ति, तस्मादेषा मज्जनधात्री युक्ता । तत एवमुक्ते सति तामभिनवस्थापितां मज्जनधात्रीं गृहस्वामी स्फेटयति, चिरन्तनीमेव कुरुते । तथा च सति त एव प्राक्तना " उव्वट्टिया पओसं " इत्यादिरूपा दोषा द्रष्टव्याः । एवमुत्तरत्रापि प्रतिगाथा भावनीया ।

अथ च मज्जनधात्री कथंभूतं बालं कृत्वा मण्डनधात्र्याः समर्पयति, तत आह-

अब्भंगिय संवाहिय, उव्वट्टिय मज्जियं च तो बालं ।
उवणेइ मज्जधाई, मंडणधाईएँ सुइदेहं ॥

स्नानधात्री प्रथमतः स्नेहेनाभ्यक्तिं, ततो हस्ताभ्यां संबाधितं, तदनन्तरं पिष्टकाऽऽदिना उद्वर्तितं, ततो मज्जितं, शुचिभूतं वा देहं बालस्य कृत्वा मण्डनधात्र्याः समर्पयति । उक्ता मज्जनधात्री ।

सम्प्रति मण्डनधात्रीत्वस्य कारणं, करणं च, तथा अभिनवस्थापिताया धात्र्या दोषप्रकटनं च यथा साधुः कुरुते तथा दर्शयति-

उसुयाइएहिँ मंडे-हि ताव णं अहव णं विभूसेमि ।
हत्थच्चगा व पाए, कया गलिच्चा व पाए वा ॥

इषुका इषुकारमाभरणम्, अन्ये तिलकमित्याहुः । आदिशब्दात् कुरिकाऽऽकाराऽऽद्याभरणपरिग्रहः । इह भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् आद्धिकाचित्ताऽऽवर्जनार्थं बालकमनाभरणमवलोक्य तज्जननीमेवमाह-इषुकाराऽऽद्याभरणविशेषैस्तावदेनं बालकं मण्डय विभूषय । एतन्मण्डनधात्रीत्वस्य कारणम् । अथवा-यदि पुनः त्वं न प्रपारयसि, तर्हि अहं विभूषयामि । एतत्स्वयं मण्डनधात्रीत्वस्य करणम् । पूर्वधात्री स्थापनीयेयमभिनवस्थापिताया मण्डनधात्र्या दोषानाह-(हत्थच्चग त्ति) हस्तयोग्यानि आभरणानि पादे कृतानि । अथवा-(गलिच्च त्ति) गलसत्कानि आभरणानि पादे कृतानि, तस्मादेव मण्डनधात्री मा कर्तेऽभिज्ञा, ततस्तस्या मण्डनधात्रीत्वाच्च्यावनमित्यादि पूर्ववद्भावनीयम् । उक्ता मण्डनधात्री ।

संप्रत्यभिनवस्थापिनायाः क्रीडनधात्र्या दोषप्रकटनं, क्रीडनधात्रीत्वे च करणं कारणं च यथा विदधाति साधुस्तथाऽऽह-

ढड्डरसर छुन्नमुहो, मउयगिरा मउय मम्मणुल्लावो ।
उल्लावणगाईहिँ व, करेइ कारेइ वा किड्डं ॥

एषा अभिनवस्थापिता क्रीडनधात्री ढड्डरस्वरा, ततस्तस्याः स्वरमाकर्णयन् बालो छुन्नमुखः क्लीबमुखो भवति । अथवा-मृदुगीरेषा ततोऽनया रम्यमाणो बालो मन्मनभाषी भवति । यदि वा मृदुगी: स्वयं क्रीडां कारयति । उक्ता क्रीडनगीः । मन्मनोल्लापोऽव्यक्तवाक्, तस्मादेषा शोभना, किं तु चिरन्तनैवेत्यादि प्राग्वत् । तथा भिक्षार्थं प्रविष्टः आद्धिकाचित्तावर्जनार्थं बालमुल्लापनाऽऽदिभिः स्वयं क्रीडां करोति, अन्यैः कारयति वा । उक्ता क्रीडनधात्री ।

सम्प्रत्यङ्कधात्र्या अभिनवस्थापितायाः स्फोटनाय सामान्यतो दोषप्रकटनं यथा साधुः करोति तथा दर्शयति -

थुल्लाएँ वियमपाओ, भग्गकडीसुक्कलीएँ दुक्खं च ।
निम्मंसकक्खडकरे-हिँ भीरू व होइ घेप्पंतो ॥

इह स्थूलया मांसलया धात्र्या कट्यां ध्रियमाणो बालो विकटपादः परस्परपृथगन्तरालपादो जायते । भग्नकट्या, शुष्ककट्या वा

म्रियमाणो दुःखं तिष्ठति । निर्मांसकर्कशकराभ्यां वा म्रियमाणो बालो भीरुर्भवति । एवा चाऽभिनवस्थापिता धात्री अन्यनमद्दोषदुष्टा, तस्मान्न युक्ता, किं तु प्राक्तनैवेत्यादि प्राग्वत् । अङ्कधात्रीत्वस्य कारण,स्वयं करण स्वयमेव भावनीयम् । तथैवम्-कोऽपि साधुर्भिक्षार्थं प्रविष्टो बालं रुदन्तमवलोक्य तज्जननीमेवमाह-अङ्के गृहाणेदं बालकं येन न रोदिति, यदि पुनस्त्वं न प्रपारयसि तर्हि अहं गृह्णामि ।

सम्प्रति क्रीडनधात्रीत्वस्य करणे दोषं दृष्टान्तेन भावयति -

कोल्लइरे वत्थव्वो, दत्तो आहिंमडं गओ सीसो ।
अवहरइ धाइपिंडं, अंगुलिजलणे य सा दिव्व ॥

कोल्लकिरे नगरे वार्द्धके वर्त्तमानाः परिक्षीणजङ्घाबला· संगमस्थविरा नाम सूरय, तैश्चान्यदा दुर्भिक्षे जाते सति सिंहाभिधान· स्वशिष्य आचार्यपदे स्थापयित्वा गच्छ च सकलं तस्य समर्प्य अन्यत्र सुभिक्षे देशे विहारक्रमेण प्रेषित, स्वयं चैकाकी तत्रैव तस्थौ, तत क्षेत्र नवविभागैर्विभज्य तत्रैव यतनया मासकल्पान्, वर्षारात्र च कृतवान् । यतना च चतुर्विधा । तद्यथा-द्रव्यत, क्षेत्रत', कालतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यत -पीठफलकाऽऽदिषु, क्षेत्रतो-वसतिपाटकेषु,कालत·-एकत्र च पाटके मासं स्थित्वा द्वितीयमासे अन्यत्र वसतिगवेषणा । भावतः सर्वत्र निर्ममत्वम् । ततश्च किञ्चिदूने मासकल्पे व्यतिक्रान्ते सिंहाचार्यस्तेषां प्रवृत्तिनिमित्त दत्तनामान शिष्य प्रेषितवान्,स चाऽऽगतोऽस्मिन्नेव विभागे पूर्वं मुक्ता सूरयस्तस्मिन्नेव स्थिता दृष्टा । तत' स स्वचेतसि चिन्तयामास । अहो भावतोऽप्यमी मासकल्प न व्यदधु, तस्मान्न शिथिलैः सहैकत्र वस्तव्यमिति परिभाव्य वसतेर्बहि मण्डपिकायामुत्तीर्णस्ततो वन्दिता सूरय, पृष्टा' कुशलवार्त्ताम्, कथित सिंहाचार्यसन्दिष्टम् । ततो भिक्षावेलायामाचार्यैः सह भिक्षार्थं प्रविवेश, अन्तप्रान्तेषु गृहेषु आहितो भिक्षा जानतो विच्छायमुख । ततः सूरिभिस्तस्य भावमुपगम्य कस्मिंश्चिदीश्वरगृहे प्रविष्टम् । तत्र च व्यन्तर्यधिष्ठित· सदैव बालको रोदिति । तत सूरयस्त दृष्ट्वा चप्पुटिकापुरस्सरमालापयामासुर्यथा वत्स ! मा त्व रोदीरिति । तत एवमालिप्तसूरिप्रभावत· सा पूतना व्यन्तरी प्राणेशत, स्थितो रोदितु बालको, जात प्रहृष्टो गृहनायक, ततो दापितास्तेन भूयांसो मोदका' तांश्च आहितो दत्त सूरिभि, अजायत प्रहृष्ट,ततो मुत्कलितो वसतौ, ते सूरय स्वशरीरनि·स्पृहा यथागमविधिना प्रान्तकुलस्थमादिरवा वसतावुपाजग्मु । प्रतिक्रमणवेलायां च दत्तो भणितो-वत्स ! धात्रीपिण्ड चिकित्सापिण्ड चाऽऽलोचय । स त्वाह-युष्माभिरेव सहाऽहं विहृतः, तत कथ मे धात्रीपिण्डाऽऽदिपरिभोग । सूरयोऽवोचन्-लघुबालकक्रीडनधात्रीपिण्ड चप्पुटिकाकरणत ,पूतनातो मोचितत्वात् चिकित्सापिण्ड । स प्रद्विष्ट स्वचेतसि चिन्तयति-स्वय नावतोऽपि मासकल्प न विदधाति, एतादृश च पिण्ड दिने दिने गृह्णाति, मां पुनरेकदिनगृहीतमप्यालोचयति । तत एव विचिन्त्य प्रद्वेषतो वसतेर्बहि स्थित । ततस्तस्य सूरिविषयप्रद्वेषदर्शनत कुपितया सूरिगुणाऽऽवर्जितया देवतया तस्य शिक्षार्थं घनतमोऽन्धकार मघात वर्ष विकुर्वितम् । तत स भयभीत· सूरीनाह-भगवन् ! कुत्राहं व्रजामि ?। ततस्तै क्षीरोदजलधवलितनिर्मलसद्दर्थैरभाणि-वत्स ! एहि वसतौ प्रविशेति । दत्त आह-भगवन् ! न पश्याम्यन्धकारेण द्वारमिति । ततोऽनुकम्पया स्रोष्मणा सूरिभि निजाङ्गुलिरुद्धृत्य ऊर्ध्वीकृता,सा च दीपशिखेव ज्वलितु प्रवृत्ता । तत' स दुरात्मा दत्तोऽचिन्तयत्-अहो एतस्य परिग्रहे वह्निरप्यस्ति । एवं चिन्तयन् देवतया निर्भर्त्सितः-हा दुष्ट शिष्याधम ! एतादृशानपि सर्वगुणरत्नाऽऽकरान् सूरीनन्यथा चिन्तयसि । ततो मोदकलाभाऽऽदिको वृत्तान्त' सर्वोऽपि यथावस्थितो देवतयाऽभाणि । मासे जाते तस्य भावत· प्रत्यावृत्ति· । क्षामिताः सूरयः, आलोचित सम्यक् ।

सूत्र सुगमम, नवर ' सा दिव्व ' देवताप्रातिहार्यम् , एतदेव गाथाद्वयेन भाष्यकृद् विवृणोति ।

पाउसे संगमथेरा, गच्छ विसज्जंति जघवलहीणा ।
नवभागखेत्तवसही, दत्तस्स य आगमो ताहे ॥
उवसयबाहिरठाणं, अंताओ छम्मसंकिलेसो य ।
पूयण बाले मा रुय, पमिलाभण वियमणा सम्मं ॥

सुगम नवर (पूयणबाले त्ति) पूतना दुष्टव्यन्तरी, तया गृहीते धातृबालके रोदिति विकाटना आलोचनम् । उक्त धात्रीद्वारम् । पिं० । प्रव० ।

जे भिक्खू धाईपिंमं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ । ५७ ॥

गाहा-

जे भिक्खु धातिपिंमं, गेण्हेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ११५ ॥

सातिज्जणा-अण्ण करेंत अणुमोदति,सेस कठ । नि०चू०१३उ० ।

अववादे कारणे गेण्हतो अदोसो । गाहा-

असिवे ओमोयरिए,रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोधए वा, जयणागहणं तु गीयत्थे ॥१३५॥

असिवाऽऽदिकारणेहिं गीयत्थो पणगपरिहाणिजयणाए गेण्हतो सुद्धो । नि० चू० १३ उ० ।

धाउ-धातु-पु० । धा-तुन् । "धारणाद् धातवस्ते स्युर्वातपित्तकफास्त्रय." इत्युक्तेषु वाताऽऽदिषु, "रसासृङ्मांसमेदोऽस्थि मज्जा· शुक्राणि धातवः ।" इत्युक्तेषु रसाऽऽदिषु,वाच० । सूत्र० । धारकत्वपोषकत्वाच्च पृथिव्यादिके, " पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ । चत्तारि धाउणो रूव ।" सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । गैरिके,लोहाऽऽदिके,प्रश्न०२ आश्र०द्वार । उत्त० । "अयतंबतउयसीसग-रुप्पसुवण्णे य वइरे य । हरियाले हिंगुलए, मणोसिला सीसगजणप्पवाले ॥ १ ॥ अब्भपडलब्भवालुया ।" उत्त० ३६ अ० । व्याकरणोक्ते गणपठिते क्रियावाचके भूप्रभृतौ, नामभेदे च । धातवो भ्वादय· क्रियाप्रतिपादका· । प्रश्न० २ संव० द्वार । (तद्वक्तव्यता ' धाउय ' शब्दे २७५३ पृष्ठे द्रष्टव्या) जीवाभिगमे विजयदेववक्तव्यतायां हरितालहिङ्गुलाऽऽदय· पदार्था· सन्ति, तेषा प्रयोजने सति व्ययादुत्पत्ति कुत ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-हरितालाऽऽदीनामुत्पत्तिर्विस्रसात इति । १४७ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

धाउकम्म-धातुकर्मन्-न० । पुरुषद्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

धाउक्खोभ-धातुक्षोभ-पु० । धातुवैषम्ये, औ० ।

धाउपाग-धातुपाक-पु० । द्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, स० ७२ सम० ।

धाउप्पावेयण–धातुप्रावेदन–न० । धातुदर्शने, नि० चू० १३ उ० । (धातुप्रावेदने मयूराङ्कनृपदृष्टान्तः 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४६७ पृष्ठे गतः)

धाउय–धातुज–न० । वस्त्रभेदे, पं० भा० ।

तत्स्वरूपं पञ्चकल्पभाष्ये यथा–

कुज्जंति वंसकारिल्लो, कम्मि वि देसे तरुणतो घरूए ।
वड्ढंतो पूरयंती, त घरय तिप्पिए तम्मि ॥
संकोहे तूणयंतो, तेसिं तु एहारूहिं पचए सुत्तं ।
तेण तुयं जं वत्थ, भण्णइ तं धातुयं णाम । पं० भा० ।

धातुय नाम जहा कम्मि देसे वसकारिल्लो उदेंतो चेव घडएण पिहिज्जइ, ताहे सो सुकुमालओ तत्थेव आवमलीगओ वड्ढइ, पच्छा पिच्चइ, तओ किच्चइ, त सुत्त विज्जइ, त धाउय । पं० चू० । भावप्रमाणनिष्पन्ननामभेदे, अनु० ।

से किं तं धाउए ? । भू सत्तायां, (परस्मैभाषा) एध वृद्धौ, स्पर्ध सङ्घर्षे । सेत्तं धाउए ।

भूरय परस्मैपदी धातुः सत्तालक्षणस्यार्थस्य वाचकत्वेन धातुज नामेति । एवमन्यत्रापि । अनु० ।

धाउरत्त–धातुरक्त–त्रि० । गैरिकोपरञ्जिते, "धाउरत्ताओ य गिण्हइ ।" भ० २ श० १ उ० । धातुरक्ता गैरिकोपरञ्जिता, शाटिका इति गम्यम् । औ० ।

धाउवाइ(ण्)–धातुवादिन्–पुं० । वादिभेदे, स्था० ६ ठा० ।

धामण–धाटन–न० । प्रेरणे, "धार्मेति य हार्डेति य ।" 'धार्मेति' प्रेरयन्ति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । "वज्झपुरिसेहिं धामियता ।" वध्यपुरुषैर्धाट्यमानाः प्रेर्यमाणाः । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आ० म० । नाशने, औ० ।

धामिअ–पुं० । देशी–आरामे, दे० ना० ५ वर्ग ५१ गाथा ।

धामी–देशी–निरस्ते, दे० ना० ५ वर्ग ५९ गाथा ।

धाण–घ्राण–न० । सुभिक्षे, विभवे च । वच० ३ अ० ।

धाणूरिअ–न० । देशी–फलभेदे, दे० ना० ५ वर्ग ६० गाथा ।

धाय–धाय–पुं० । पणपन्न्यन्तरविशेषनिकायेन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

ध्रात–न० । सुभिक्षे, दश० ७ अ० । "धाए पुण सुभिक्खमोपुरओ ।" ध्रात सुभिक्षमिति चैकोऽर्थः । बृ० ५ उ० ।

धायइ–धातकी–स्त्री० । धातुं करोति णिच्, टिलोपः, एवुल् । "धातकी कटुका शीता ।" गौरा०–ङीप् । एकास्थिके वृक्षविशेषे, स० । प्रज्ञा० । अनु० । स्था० ।

धायइसंड–धातकीखण्ड–पुं० । धातकीनां वृक्षविशेषाणां खण्डो वनसमूहो धातकीखण्डः । धातकीवने, तद्युक्तो यो द्वीपः स धातकीखण्ड एवोच्यते, यथा दण्डयोगाद्दण्डः । स्था० २ ठा० ३ उ० । धातकीनां खण्डानि वनानि यस्मिन् स धातकीखण्डो द्वीप । ध० २ अधि० । आव० । धातकीवृक्षखण्डोपलक्षितो द्वीपो धातकीखण्ड । लवणसमुद्रं परिक्षिप्य स्थिते कालोदसमुद्रपरिक्षिप्ते द्वीपभेदे, अनु० । (एतद्वक्तव्यता 'धायइसंमदीव' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते)

धायइरुक्ख–धातकीवृक्ष–पुं० । एकास्थिके वृक्षविशेषे, स्था० ८ ठा० ।

धायइवण–धातकीवन–न० । धातकीसमूहे, "धवइवणाणि वा ।" आचा० २ श्रु० २ चू० १० अ० । जी० ।

धायइसंमदीव–धातकीखण्डद्वीप–पुं० । धातकीनां वृक्षविशेषाणां खण्डो वनसमूह इत्यर्थो धातकीखण्डस्तद्युक्तो यो द्वीपः स धातकीखण्ड एवोच्यते । यथा दण्डयोगाद्दण्ड इति धातकीखण्डश्चासौ द्वीपश्चेति धातकीखण्डद्वीपः । लवणसमुद्रं परिक्षिप्य स्थिते कालोदसमुद्रपरिक्षिप्ते द्वीपभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सम्प्रति धातकीखण्डद्वीपवक्तव्यतामाह–

लवणे णं समुद्दे धायइसंमे नाम दीवे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए सव्वओ समंता संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठति ॥

(लवणसमुद्द इत्यादि) लवणसमुद्रं धातकीखण्डो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन संपरिक्षिप्य तिष्ठति ।

धायतिसंडे णं भंते ! किं समचक्कवालसंठिते, विसमचक्कवालसंठिए ? । गोयमा ! समचक्कवालसंठिते, नो विसमचक्कवालसंठिते ॥

(धायइसंमे णं दीवे किं समचक्कवालसंठिए " इति सूत्रं लवणसमुद्रवद् भावनीयम् ।

धायतिसंमे णं भंते ! दीवे केवतिए चक्कवालविक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! चत्तारि जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं एगयालीसं जोयणसतसहस्साइं दसजोयणसहस्साइं णव य एगसट्ठे जोयणसते किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं पण्णत्ते, से णं एगाए पउमवरवेदियाए एगेणं वणसंडेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता दोण्ह वि वण्णओ दीवसमिया परिक्खेवेणं ।

"धायइसंडे णं" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह–गौतम ! चत्वारि योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन एकचत्वारिंशद्योजनशतसहस्राणि दशसहस्राणि नव च एकषष्ठानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषोनानि परिक्षेपेण । उक्तं च–" पयालीस लक्खा, दससयसहसाइ जोयणाण तु । नव य सया इगसट्ठा, किंचूणा परिरओ तस्स ॥१॥" (से णमित्यादि) स धातकीखण्डद्वीप एकया पद्मवरवेदिकया, अष्टयोजनोच्छ्रयजगत्युपरिभाविन्येति सामर्थ्याद् गम्यते । एकेन वनखण्डेन पद्मवरवेदिकाबहिर्भूतेन सर्वतः समन्तात्संपरिक्षिप्तः द्वयोरपि वर्णकः प्राग्वत् ।

धायतिसंडस्स णं भंते ! दीवस्स कति दारा पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि दारा पण्णत्ता । तं जहा–विजए, वेजयंते, जयंते, अपराजिए ।

(धायइसंडस्स णमित्यादि) धातकीखण्डस्य भदन्त ! द्वीपस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ? । भगवानाह–गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा–विजयं, वैजयन्तं, जयन्तमपराजितं च ।

कहिं णं भंते ! धायतिसंडस्स दीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते ? । गोयमा ! धायइसंडपुरच्छिमपेरंते कालोयसमुद्दपुरच्छिमद्धस्स पच्चच्छिमेणं सीयाए महाणदीए उप्पिं एत्थ णं धायतिसंडस्स दीवस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते । तं चेव पमा-

णं रायहाणी य अम्मि धायइसंडे दीवे सा वत्तव्वया भाणियव्वा । एवं चत्तारि वि दारा भाणियव्वा ।

(कहि णं भंते! इत्यादि) क भदन्त ! धातकीखण्डस्य द्वीपस्य विजय नाम द्वार प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह-गौतम! धातकीखण्डस्य द्वीपस्य पूर्वपर्यन्ते कालोदसमुद्रपूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि शीताया महानद्या उपरि अत्र एतस्मिन्नन्तरे धातकीखण्डस्य द्वीपस्य विजय नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्। तच्च जम्बूद्वीपविजयद्वारवदविशेषेण वेदितव्यम्, नवरमत्र राजधानी अन्यस्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे वक्तव्या । "कहि णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह-धातकीखण्डद्वीपदक्षिणपर्यन्ते कालोदसमुद्रदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र धातकीखण्डस्य द्वीपस्य वैजयन्तं नाम द्वार प्रज्ञप्तम् । तदपि जम्बूद्वीपवैजयन्तद्वारवदविशेषेण वक्तव्यम्, नवरमत्रापि राजधानी अन्यस्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे । "कहि णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्र गतार्थम् । भगवानाह-गौतम! धातकीखण्डद्वीपपश्चिमपर्यन्ते कालोदसमुद्रपश्चिमार्द्धस्य पूर्वत. शीतोदाया महानद्या उपरि अत्र धातकीखण्डस्य द्वीपस्य जयन्त नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्। तदपि जम्बूद्वीपजयन्तद्वारवद्वक्तव्यम्। नवरं राजधानी अन्यस्मिन् धातकीखण्डद्वीपे। "कहि णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्रतीतम्। भगवानाह-गौतम! धातकीखण्डद्वीपोत्तरार्द्धपर्यन्ते कालोदसमुद्र उत्तरार्द्धस्य दक्षिणतोऽत्र धातकीखण्डस्य द्वीपस्यापराजित नाम द्वार प्रज्ञप्तम्। तदपि जम्बूद्वीपगतापराजितद्वारवद्वक्तव्यम्। नवर राजधानी अन्यस्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे।

धायइसंडस्स णं भंते ! दीवस्स दारस्स य दारस्स य एस णं केवतियं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ? । गोयमा ! दस जोयणसतसहस्साइं सत्तावीसं च जोयणसहस्साइं सत्त य पणतीसे जोयणसते तिण्णि य कोसे दारस्स य दारस्स य अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

(धायइसंडस्स णं भंते ! इत्यादि) धातकीखण्डस्य भदन्त ! द्वीपस्य द्वारस्य च द्वारस्य च परस्परमेतत् अन्तर कियत् किंप्रमाणमबाधया अन्तरितत्वात् व्याघातेन प्रज्ञप्तम्?। भगवानाह-गौतम! दशयोजनशतसहस्राणि सप्तविंशतिसहस्राणि सप्तशतानि पञ्चत्रिंशानि योजनशतानि त्रयः क्रोशा द्वारस्य च द्वारस्य च परस्परमन्तरमबाधया प्रज्ञप्तम्। तथाहि-एकैकस्य द्वारस्य द्वारशाखाकस्य जम्बूद्वीपद्वारस्येव पृथुत्वं सार्द्धानि चत्वारि योजनानि। ततश्चतुर्णां द्वाराणामेकत्र पृथुत्वपरिमाणमीलने जातान्यष्टादश योजनानि, तान्यनन्तरोक्तात्परिरयपरिमाणात् ४११०९६१ शोध्यन्ते। शोधितेषु च तेषु जात शेषमिदम्-एकचत्वारिंशल्लक्षा दशसहस्राणि नवशतानि त्रिचत्वारिंशदधिकानि ४११०९४३। एतेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्ध यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरम्। उक्त च-"पणतीसा सत्त सया, सत्तावीसा सहस्स दसलक्खा। धायइसंडे दार-तर तु अवरं च कोसतियं ॥ १ ॥"

धायइसंडस्स णं भंते ! दीवस्स पदेसा कालोयणं समुद्दं पुट्टा ?। हंता पुट्टा। ते णं भंते ! किं धायइसंडे दीवे कालोयणे समुद्दे ?। गोयमा! धायइसंडे नो खलु ते कालोयणसमु०। एवं

० 'एवं चत्तारि दारा भाणियव्वा ।" इत्यनेन गतार्थत्वात् मूलपाठो मूले नोक्तः, टीकापाठमनुरुध्य ।

कालोयस्स वि धायइसंडे दीवे जीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता कालोयणे समुद्दे पच्चायंति?। गोयमा ! अत्थेगइया पच्चायंति, अत्थेगइया नो पच्चायंति। एवं कालोयणे वि अत्थेगतिया पच्चायंति, अत्थेगतिया नो पच्चायंति ।

"धायइसंडस्स णं भंते ! दीवस्स पएसा" इत्यादीनि चत्वारि सूत्राणि प्राग्वद्भावनीयानि।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति-धायइसंडे दीवे, धायइसंडे दीवे?, धायइसंडे णं दीवे तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं देसस्स तहिं तहिं पदेसे बहवे धायइरुक्खा धायइवणा धायइसंडा णिच्चं कुसुमिया० जाव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति । धायइमहाधायइरुक्खे सुदंसणे पियदंसणे पियदेवा महिड्ढिया० जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, अदुत्तर च णं गोयमा० जाव णिच्चं ।

(से केणट्ठेण भंते) इत्यादि ! अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते-धातकीखण्डो द्वीपो धातकीखण्डो द्वीप इति ?। भगवानाह-धातकीखण्डे द्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो धातकीवृक्षा, बहूनि धातकीवनानि बहवो धातकीखण्डाः। वनखण्डयोः प्रतिविशेष प्रागेवोक्तः। "निच्च कुसुमिया" इत्यादि प्राग्वत्। (धायइमहाधायइरुक्खे इत्यादि) पूर्वार्द्धे उत्तरकुरुषु नीलवद्गिरिसमीपे धातकीनामा वृक्षोऽवतिष्ठते। पश्चिमार्द्धे उत्तरकुरुषु नीलवद्गिरिसमीपे धातकीवृक्षः, तौ च प्रमाणाऽऽदिना जम्बूवृक्षवद् वेदितव्यौ। तयोश्च धातकीखण्डे द्वीपे यथाक्रमं सुदर्शनप्रियदर्शनौ द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसत। ततो धातकीखण्डोपलक्षितो द्वीपो धातकीखण्डद्वीप । तथा चाऽऽह-(से तेणट्ठेणमित्यादि) गतार्थम्।

सम्प्रति चन्द्राऽऽदिवक्तव्यतामाह-

धायइसंडे णं भंते ! दीवे कइ चंदा पभासिंसु वा, पभासंति वा पभासिस्संति वा ?। कति सूरिया तवइंसु वा, तवंति वा, तवइस्संति वा ?। कइ महग्गहा चारं चरिंसु वा, चरिंति वा, चरिस्संति वा?। कइ णक्खत्ता जोगं जोइंसु वा, जोएंति वा, जोइस्संति वा ? । कइ तारागणकोडिकोडीओ सोभं सोभिंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा ?। गोयमा ! बारस चंदा पभासिंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा एवं ।

"चउवीसं ससिरविणो, णक्खत्तसता य तिण्णि छत्तीसा।
एगं च सयसहस्सं, छप्पण्णं धायईसंडे ॥ १ ॥
अट्ठेव सयसहस्सा, तिण्णि सहस्साइँ सत्त य सयाइं ।
धायइसंडे दीवे, तारागणकोडकोडीणं ॥२॥"

सोभं सोभिंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा ।

"धायइसंडे णं भंते ! दीवे कइ चंदा।" इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम्। भगवानाह-गौतम ! धातकीखण्डे द्वादश चन्द्राः प्रभासितवन्त, प्रभासन्ते, प्रभासिष्यन्ते । द्वादश सूर्यास्तापितवन्तः, तापयन्ति, तापयिष्यन्ति। त्रीणि नक्षत्रशतानि षट्त्रिंशानि योग चन्द्रमसा सूर्येण च सार्द्धं युक्तवन्तो, युञ्जन्ति, योक्ष्यन्ति। तत्र त्रीणि

षट्त्रिंशानि नक्षत्राणां शतानि, एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां भावात्, एकं षट्पञ्चाशदधिकं महाग्रहसहस्रं चारं चरितवन्त, चरन्ति, चरिष्यन्ति। एकैकस्य शशिनः परिवारेऽष्टाशीतेर्महाग्रहाणां भावात्। अष्टौ शतसहस्राणि त्रीणि सहस्राणि सप्तशतानि तारागणकोटिकोटीनां शोभितवन्त, शोभन्ते शोभिष्यन्ते। एतदपि एकशशितारापरिमाणं द्वादशभिर्गुणयित्वा भावनीयम्। उक्तं च-

" बारस चंदा सूरा, नक्खत्तसया य तिन्नि छत्तीसा।
एगं च गहसहस्सं, छप्पन्नं धायईसंडे ॥ १ ॥
अट्ठेव सयसहस्सा, तिन्नि सहस्सा य सत्त य सया उ।
धायइसंडे दीवे, तारागणकोडिकोडीओ ॥ २ ॥ " जी० ३ प्रति० ४ उ०।

धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धे णं धायइरुक्खे अट्ठ जोयणाइं उड्ढमुच्चत्तेण पण्णत्ते, बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते। धायइसंडदीवपच्चच्छिमद्धे णं धायइरुक्खे अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ते, बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते। एवं धायइरुक्खाओ आढवित्ता सव्वेव जंबुद्दीववत्तव्वया भाणियव्वा०जाव मंदरचूलिय त्ति। एवं पच्चच्छिमद्धे वि। महाधायइरुक्खाओ आढवित्ता० जाव मंदरचूलिय त्ति। स्था० ८ ठा०।

सम्प्रति धातकीखण्डवक्तव्यतानन्तर "धायइसंडे" इत्यादिना वेदिकासूत्रान्तेन ग्रन्थेनाऽऽह-

धायइसंडे णं दीवे पुरच्छिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला० जाव भरहे चेव, एरवए चेव। एवं जहा जंबुद्दीवे तहा एत्थ भाणियव्वं०जाव दोसु वासेसु मणुया छव्विहं पि कालं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। तं जहा–भरहे चेव, एरवए चेव, णवरं कूडसामली चेव, धायईरुक्खे चेव, देवागरुले चेव, वेणुदेवे पियदंसणे चेव। धायईसंडदीवपच्चच्छिमद्धे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला०जाव भरहे चेव, एरवए चेव, ०जाव छव्विहं पि कालं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। तं जहा-भरहे चेव, एरवए चेव, णवरं कूडसामली चेव, महाधायईरुक्खे चेव, देवागरुले चेव, वेणुदेवे पियदंसणे चेव ॥

कण्ठ्यम्। नवरं-चक्रवालस्य विष्कम्भः पृथुत्वं चक्रवालविष्कम्भस्तेनेति। समुद्रवेदिकासूत्रं जम्बूवेदिकासूत्रवद्वाच्यमित्यर्थः। क्षेत्रप्रस्तावाल्लवणसमुद्रवक्तव्यताऽनन्तरं धातकीखण्डवक्तव्यता " धायइसंडे " इत्यादिना वेदिकासूत्रान्तेन ग्रन्थेनाऽऽह। कण्ठ्यश्चायम्, नवरं धातकीखण्डप्रकरणमपि-जम्बूद्वीपलवणसमुद्रमध्ये वलयाकृतिं धातकीखण्डमालिख्य हिमवदादिवर्षधरान् जम्बूद्वीपानुसारेण चोभयतः पूर्वापरविभागेन भरतहैमवताऽऽदिवर्षाणि च व्यवस्थाप्य पूर्वापरदिशोर्वलयविष्कम्भमध्ये मेरु च कल्पयित्वाऽवबोद्धव्यम्। अनेनैव क्रमेण पुष्करवरद्वीपा-

र्द्धमपीति। तत्र धातकीनां वृक्षविशेषाणां खण्डो वनसमूह इत्यर्थो धातकीखण्डः, तद्युक्तो यो द्वीपः स धातकीखण्ड एवोच्यते। यथा दण्डयोगाद् दण्ड इति। धातकीखण्डश्चासौ द्वीपश्चेति धातकीखण्डद्वीपः, तस्य (पुरच्छिमं ति) पौरस्त्य, पूर्वमित्यर्थः। यदर्द्धविभागस्तद्धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धं, पूर्वापरार्द्धता च लवणसमुद्रवेदिकातो दक्षिणत उत्तरतश्च धातकीखण्डवेदिका यावत् गताभ्यामिषुकारपर्वताभ्यां धातकीखण्डस्य विभक्तत्वादिति।

उक्तं च-

"पंचसयजोयणुच्चा, सहस्समेगं च होंति वित्थिन्ना।
कालोयणलवणजले, पुट्ठा ते दाहिणुत्तरओ ॥ १ ॥
दो उसुयारनगवरा, धायइसमस्स मज्झयारठिया।
तेण दुहा निद्दिस्सइ, पुव्वद्धं पच्छिमद्धं च ॥ २ ॥ " इति।

तत्र णमिति वाक्यालङ्कारे, मन्दरस्य मेरोरित्येवं धातकीखण्डपूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धप्रकरणे प्रत्येकमेकोनसप्ततिसूत्रप्रमाणे जम्बूद्वीपप्रकरणवदध्येतव्ये, व्याख्येये च। अत एवाऽऽह-(एवं जहा जंबुद्दीवे तहेत्यादि) नवरं वर्षधराऽऽदिस्वरूपमायामाऽऽदिप्रमाणं चैव भावनीया-

" पुव्वद्धस्स य मज्झे, मेरुस्स पुणो वि दाहिणुत्तरओ।
वासाइं तिन्नि तिन्नि य, विदेहवासं च मज्झम्मि ॥ १ ॥
अरविवरसंठियाइं, चउरो लक्खाइं ताइं खेत्ताइं।
अंतो संखित्ताइं, रुंदयराइं कमेण पुण पुट्ठो ॥ २ ॥
भरहे मुहविक्खंभो, छावट्ठिसयाइं चोद्दसऽहियाइं।
अउणत्तीसं च सयं, बारसऽहियदुसयभागेणं ॥ ३ ॥
अट्ठारस य सहस्सा, पंचेव सया हवंति सीयाला।
पणवन्नं अंससयं, बाहिरओ भरहविक्खंभो ॥ ४ ॥
चउगुणियभरहवासो, (व्यास इत्यर्थः)
हेमवए त चउगुण तइय। (हरिवर्षमित्यर्थः)
हरिवास चउगुणिय, महाविदेहस्स विक्खंभो ॥ ५ ॥
जह विक्खंभो दाहिण-दिसाए तह उत्तरे वि वासतिए।
जह पुव्वद्धेसु तओ, तह अवरद्धे वि वासाइं ॥ ६ ॥
सत्तावण्ण सहस्सा, सत्ताणउयाइं अट्ठ य सयाइं ॥
तिन्नेव य लक्खाइं, कुरूण भागा य बाणउई ॥ ७ ॥ (विष्कम्भ इति)
अमवन्नमयं तेवी-ससहस्सा दो य लक्खजीवाओ।
दोण्ह गिरीणाऽऽयामो, संखित्तो तं धणुकुरुणं ॥ ८ ॥
वासहरगिरी वक्खा-रपव्वया पुव्वपच्छिमद्धेसु।
जंबुद्दीवगदुगुणा, वित्थरओ उस्सए तुल्ला ॥ ९ ॥
कंचणगजमगसुरकुरु-नगा य वेयड्ढवट्टदीहा य।
विक्खंभुव्वेहसमु-स्सएण जह जंबुद्दीवि तह ॥ १० ॥
लक्खाइं तिन्नि दीहा, विज्जुप्पहगंधमायणा दो वि।
छप्पण्ण च सहस्सा, दोन्नि सया सत्तवीसा य ॥ ११ ॥
अउणट्ठा दोन्नि सया, उणसत्तरिसहस्सलक्खा य।
सोमणसमालवंता, दीहा रुंदा दस सयाइं ॥ १२ ॥
सव्वाओ वि नईओ, विक्खंभोव्वेहदुगुणमाणाओ।
सीयं सीओयाणं, वणाणि दुगुणाणि विक्खंभो ॥ १३ ॥
वासहरकुरुसु दहा, नईण कुंडाइं तेसु जे दीवा।
उव्वेहुस्सयतुल्ला, विक्खंभायामओ दुगुणा ॥ १४ ॥

जम्बूद्वीपकापेक्षयेति। कियद्दूरं जम्बूद्वीपप्रकरणं धातकीख-

एडपूर्वार्द्धाभिलापेन वाच्यमित्याह। (जाव दोसु मणुयेत्यादि) एतस्माद्धि सूत्रात्परतो जम्बूद्वीपप्रकरणे चन्द्राऽऽदिज्योतिषां सूत्राण्यधीतानि, तानि च धातकीखण्डपुष्करार्द्धपूर्वार्द्धाऽऽदिप्रकरणेषु न सम्भवन्ति, द्विस्थानकत्वादस्याध्ययनस्य, धातकीखण्डाऽऽदौ च चन्द्राऽऽदीनां बहुत्वादिति। आह च-"दो चंदा इह दीवे, चत्तारि य सायरे लवणतोये। धायइसंडे दीवे, बारस चंदा य सूरा य ॥१॥" इति। चन्द्राणां द्वित्वेन नक्षत्राऽऽदीनामपि द्वित्वं न स्यात्, ततो द्विस्थानेनावतार इति। जम्बूद्वीपप्रकरणादस्य विशेषं दर्शयन्नाह-(नवरमित्यादि) नवरं केवलमयं विशेष इत्यर्थः, कुरुसूत्रानन्तरं तत्र-" कूडसामली चेव, जंबू चेव सुदंसणे त्ति।" उक्तम्। इह तु जम्बूस्थाने "धायई रुक्खे चेव त्ति" वक्तव्यं, प्रमाणं च तयोर्जम्बूद्वीपशाल्मल्यादिवत्, तयोरेव देवसूत्रेण " अणाढिए चेव जंबुद्दीवाहिवई " इत्यत्र वक्तव्यत्वे "सुदंसणे चेव त्ति" इह वक्तव्यमिति। " धायइसंडे दीवे " इत्यादि पश्चिमार्द्धप्रकरणं पूर्वार्द्धवदनुसर्तव्यम्। अत एवाऽऽह- (जाव छव्विहं पि कालमित्यादि) विशेषमाह-(नवरं कूडसामलीत्यादि) धातकीखण्डपूर्वार्द्धोत्तरकुरुषु धातकीवृक्ष उक्तः, इह तु महाधातकीवृक्षोऽध्येतव्यो, देवसूत्रे द्वितीये सुदर्शनसूत्राधीतः, इह तु प्रियदर्शनोऽध्येतव्य इति।

पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धमीलनेन धातकीखण्डद्वीपं सम्पूर्णमाश्रित्य द्विस्थानकं " धायइसंडे णं " इत्यादिनाऽऽह-

धायइसंडपच्चत्थिमद्धे मंदरस्स पव्वयस्स धायइसंडे णं दीवे दो भरहाइं, दो एरवयाइं, दो हिमवंताइं, दो हेरण्णवयाइं, दो हरिवासाइं, दो रम्मगवासाइं, दो पुव्वविदेहाइं, दो अवरविदेहाइं, दो देवकुराओ, दो देवकुरुमहद्दुमा, दो देवकुरुमहद्दुमावासा देवा, दो उत्तरकुराओ, दो उत्तरकुरुमहद्दुमाओ, दो उत्तरकुरुमहद्दुमावासा देवा, दो चुल्लहिमवंता, दो महाहिमवंता, दो निसहा, दो नीलवंता, दो रुप्पी, दो सिहरी, दो सद्दावई, दो सद्दावईवासी साई देवा, दो वियडावई, दो वियडावइवासी पभासी देवा, दो गंधावइवासी अरुणा देवा, दो मालवंतपरियागा, दो मालवंतपरियागवासी पउमा देवा, दो मालवंता, दो चित्तकूडा, दो पउमकूडा, दो नलिनकूडा, दो एगसेला, दो तिकूडा, दो वेसमणकूडा, दो अंजणा, दो मातंजणा, दो सोमणसा, दो विज्जुप्पभा, दो अंकावई, दो पम्हावई, दो आसीविसा, दो सुहावहा, दो चंदपव्वया, दो सूरपव्वया, दो णागपव्वया, दो देवपव्वया, दो गंधमायणा, दो उसुगारपव्वया, दो चुल्लहिमवंतकूडा, दो वेसमणकूडा, दो महाहिमवंतकूडा, दो वेरुलियकूडा, दो निसहकूडा, दो रुयगकूडा, दो नीलवंतकूडा, दो उवदंसणकूडा, दो रुप्पिकूडा, दो मणिकंचणकूडा, दो सिहरिकूडा, दो तिगिंछिकूडा, दो पउमद्दहा, दो पउमद्दहवासिणीओ देवीओ सिरीओ, दो महापउमद्दहा, दो महापउमद्दहवासिणी हिरीओ देवीओ, एवं० जाव दो पुंडरीयद्दहा, दो पुंडरीयद्दहवासिणीओ लच्छीओ देवीओ, दो गंगप्पवायद्दहा० जाव दो रत्तवईपवायद्दहा, दो रोहियाओ० जाव दो रुप्पकूला। स्था० २ ठा० ३ उ०।

(अन्तर्णदीवक्तव्यता 'अंतरणई' शब्दे प्रथमभागे ८९ पृष्ठे गता)

दो कच्छा, दो सुकच्छा, दो महाकच्छा, दो कच्छगावई, दो आवत्ता, दो मंगलावत्ता, दो पुक्खला, दो पुक्खलावई, दो वच्छा, दो सुवच्छा, दो महावच्छा, दो वच्छगावई, दो रम्मा, दो रम्मगा, दो रमणिज्जा, दो मंगलावई, दो पम्हा, दो सुपम्हा, दो महापम्हा, दो पम्हगावई, दो संखा, दो नलिणा, दो कुमुदा, दो नलिणावई, दो वप्पा, दो सुवप्पा, दो महावप्पा, दो वप्पगावई, दो वग्गु, दो सुवग्गु, दो गंधिला, दो गंधिलावई, दो खेमाओ, दो खेमपुराओ, दो रिट्ठाओ, दो रिट्ठपुराओ, दो खग्गीओ, दो मंजूसाओ, दो ओसहीओ, दो पुंडरीगिणीओ, दो सुसीमाओ, दो कुंडलाओ, दो अपराइयाओ, दो पभंकराओ, दो अंकावईओ, दो पम्हावईओ, दो सुभाओ, दो रयणसंचयाओ, दो आसपुराओ, दो सीहपुराओ, दो महापुराओ, दो विजयपुराओ, दो अवराजियाओ, दो अवराओ, दो असोयाओ, दो विगयसोगाओ, दो विजयाओ, दो वेजयंतीओ, दो जयंतीओ, दो अपराजियाओ, दो चक्कपुराओ, दो खग्गपुराओ, दो अवज्झाओ, दो अओज्झाओ, दो भद्दसालवणा, दो णंदणवणा, दो सोमणसवणा, दो पंडगवणा, दो पंडुकंबलसिलाओ, दो अतिपंडुकंबलसिलाओ, दो रत्तकंबलसिलाओ, दो अइरत्तकंबलसिलाओ, दो मंदरा, दो मंदरचूलियाओ, धायइसंडस्स णं दीवस्स वेइया दो गाउयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता।

"धायइसंड" इत्यादिनाऽऽह-द्वे भरते पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धयोर्दक्षिणदिग्भागे तयोर्भावादित्येवं सर्वत्र भरताऽऽदीनां स्वरूपं प्रागुक्तम्। (दो देवकुरुमहद्दुम त्ति) द्वौ कूटशाल्मलीवृक्षावित्यर्थः। द्वौ तद्वासिदेवौ वेणुदेवावित्यर्थः। (दो उत्तरकुरुमहद्दुम त्ति) धातकीवृक्षमहाधातकीवृक्षाविति। तद्देवौ सुदर्शनप्रियदर्शनाविति। चुल्लहिमवदादयः षड् वर्षधरपर्वताः, शब्दापातिविकटापातिमाल्यवत्पर्यायाख्यवृत्तवैताढ्याश्च तन्निवासिस्वातिप्रभासारुणपद्मनामदेवानां द्वयेन द्वयेन सहिताः क्रमेण द्वौ द्वावुक्ताः। (दो मालवंत त्ति) माल्यवन्तावुत्तरकुरूणां पूर्वदिग्वर्तिनौ गजदन्तकौ स्तः, ततो भद्रशालवनवेदिकाविजयेभ्यः परौ शीतोत्तरकूलवर्तिनौ दक्षिणोत्तरायतौ चित्रकूटौ वक्षस्कारपर्वतौ, ततो विजयेनान्तरनद्या विजयेन चान्तरितावन्यौ तथैवान्यौ पुनस्तथैवान्याविति पुनः पूर्ववनखण्डवेदिकाविजयाभ्यामर्वाक् शीतादक्षिणकूलवर्तीनि तथैव त्रिकूटाऽऽदीनां चत्वारि द्वयानि, ततः सौमनसौ देवकुरुपूर्वदिग्वर्तिनौ गजदन्तकौ, ततो गजदन्तकावेव देवकुरुप्रत्यग्भागवर्तिनौ विद्युत्प्रभौ, ततो भद्रशालवनवेदिकाविजयेभ्यः परतस्तथैवाङ्कावत्यादीनां चत्वारि द्वयानि शीतोदादक्षिणकूलवर्तीनि पुनरन्यानि पश्चिमवनखण्डवेदिकान्त्यविजयाभ्यां पूर्वतः क्रमेण त-

वैव वक्षस्कारपर्वताऽऽदीनां चत्वारि द्वयानि, ततो गन्धमादनावुत्तरकुरुपश्चिमभागवर्त्तिनौ गजदन्तकाविति । एते धातकीखण्डस्य पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धे च भवन्तीति द्वौ द्वावुक्ताविति इषुकारौ दक्षिणोत्तरयोर्दिशो धातकीखण्डविभागकारिणाविति । (दो चुल्लहिमवतकूडा इत्यादि) हिमवदादयः षट् वर्षधरपर्वताः, तेषु ये द्वे द्वे कूटे जम्बूद्वीपप्रकरणे अभिहिते ते पर्वतानां द्विगुणत्वादेकैकशः स्यातामिति वर्षधराणां द्विगुणत्वात् पद्माऽऽदिह्रदा अपि द्विगुणा , नदेभ्योऽप्येवमिति चतुर्दशानां गङ्गाऽऽदिमहानदीना पूर्वपश्चिमार्द्धापेक्षया द्विगुणत्वात् तत्प्रपातह्रदा अपि द्वौ द्वौ स्युरित्याह-(दो गंगप्पवायद्दहेत्यादि) " दो रोहियाओ" इत्यादौ नद्यधिकारे गङ्गाऽऽदिमहानदीना सदपि द्वित्व नोक्त, जम्बूद्वीपप्रकरणोक्तस्य " महाहिमवताओ वासहरपव्वयाओ महापउमद्दहाओ दो महानईओ पवहंति । ' इत्यादि सूत्रक्रमस्याऽऽश्रयणात् । तत्र हि रोहिताऽऽद्य एवाष्टौ श्रूयन्त इति चित्रकूटपक्ष्मकूटवक्षस्कारपर्वतयोरन्तरे नीलवर्षधरपर्वतनितम्बव्यवस्थितत्वात् । ग्राहवतीकुण्डाद्दक्षिणतोरणविनिर्गता अष्टाविंशतिनदीसहस्रपरिवारा शीताधिगामिनी सुकच्छमहाकच्छविजययोर्विभागकारिणी ग्राहवती नदी । एव यथायोग द्वयोर्द्वयोर्वक्षस्कारपर्वतयोर्विजययोरन्तरे क्रमेण प्रदक्षिणया द्वादशाप्यन्तरनद्यो योज्या , तदृद्धित्व च पूर्ववदिति । पङ्कवतीत्यत्र वेगवतीति ग्रन्थान्तरे दृश्यते, क्षारोदेत्यत्र क्षीरोदेत्यन्यत्र, सिंहस्रोता इत्यत्र,शीतस्रोता इत्यपरत्र, फेनमालिनी गम्भीरमालिनी चेति, इह व्यत्ययश्च दृश्यत इति माल्यवद्गजदन्तकभद्रशालवनाभ्यामारभ्य कच्छाऽऽदीनि द्वात्रिंशद्विजयक्षेत्रयुगलानि प्रदक्षिणतोऽवगन्तव्यानीति । तथा कच्छाऽऽदिषु क्रमेण क्षेमाऽऽदिपुरीणां युगलानि द्वात्रिंशदवगन्तव्यानीति । भद्रशालाऽऽदीनि मेरोश्चत्वारि वनानि, "भूमीए भद्दसाल, मेहलजुयलम्मि दोन्नि रम्माइ । णंदणसोमणसाइ, पंडगपरिमंडिय सिहर ॥१॥" इति वचनात् । मेरोर्द्वित्वे वचनानां द्वित्वमिति शिलाश्चतस्रो मेरौ पण्डकवनमध्ये चूलिकायाः क्रमेण पूर्वाऽऽदिषु । अत्र गाथे-

"पंडगवणम्मि चउरो,सिलाओ चउसु वि दिसासु चूलाए ।
चउजोयणूसियाओ, सव्वज्जुणकंचणमयाओ ॥ १ ॥
पंच सयायामाओ, मज्झे दीहत्तणद्धरुंदाओ ।
चंदद्धसंठियाओ, कुमुदोयरहारगोराओ ॥ २ ॥" इति ।

मन्दरे मेरौ चूलिकाशिखरविशेष । स्वरूपमस्याः-" मेरुस्स उवरि चूला, जिणभवणविभूसिआ दुवी सुच्चा । बारस अट्ठ य चउरो, मूले मज्झुवरि रुंदा य ॥ १ ॥ " इति वेदिकासूत्र जम्बूद्वीपवत् । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

धायइसंडदीवग-धातकीखण्डद्वीपग-त्रि० । धातकीखण्डद्वीपगते, " धायइसंडदीवगाण चंदाण ।" जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

धायइसंडदीवपच्चच्छिमद्ध-धातकीखण्डद्वीपपश्चिमार्द्ध-न० । धातकीखण्डद्वीपस्य पश्चिमेऽर्द्धभागे, स्था० ७ ठा० ।

धायइसंडदीवपच्चच्छिमद्धग-धातकीखण्डद्वीपपश्चिमार्द्धग-पुं० । धातकीखण्डद्वीपपश्चिमार्द्धगते मनुष्यभेदे, स्था० ६ ठा० ।

धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धग-धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धग-पुं० । धातकीखण्डद्वीपपौरस्त्यार्द्धगते मनुष्यभेदे, स्था० ६ ठा० ।

धार-धार-न० । वाच० । धाराभिर्निर्वृत्तम्, अण् । " धाराभिः पतितं तोयं, गृहीतं स्फीतवाससा । शिलायां वसुधारायां, शीतायां पतित च यत् ॥१॥" इत्युपक्रम्य, "भाजने मृण्मये वाऽपि, स्थापित धारमुच्यते । " इत्युक्ते शिलाऽऽदिभाजनधृते वर्षोद्भवे जले, धारके, त्रि० । पं० ३ उ० । उत्त० । वाच० । लघौ, न० । दे० ना० ५ वर्ग ५९ गाथा ।

धारण-धारण-न० । पालने, स्था० ३ ठा० ३ उ० । अप्रतिस्खलने, " अरती तत्थ किं विहारए । " विदारयेत् प्रतिस्खलेत् । आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । " धरति राइणिया इह ।" धारयन्ति बिभ्रति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । वस्त्राऽऽदीनां परिग्रहणे, उपभोगे च । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

धारणा-धारणा-स्त्री० । धृ-युच् । " यमाऽऽदिगुणसयुक्ते, मनसः स्थितिरात्मनि । धारणा प्रोच्यते सद्भिर्योगशास्त्रविशारदैः ॥ १ ॥ " इत्युक्तायामात्मनि चित्तस्य स्थितौ, वाच० । विषयान्तरपरिहारेण स्थिरीकरणात्मा हि चित्तस्य धारणा । यदाह-'देशबन्धश्चित्तस्य धारणेति ।' द्वा० २४ द्वार । मर्य्यादायाम्, न्याय्यपथस्थितौ, अवधारणे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । वाच० । पूर्वश्रुतदृष्टाऽऽदिविषयावधारण धारणेति । दर्श० ५ तत्त्व । गृहीतस्याविस्मरणे, विशे० । आव० । ध० । आ० म० । नि० चू० । आ० चू० । अवगतार्थविशेषधारण धारणा । भ० ८ श० २ उ० । स्था० । निश्चितस्यैव वस्तुनो व्युत्पत्त्यादिरूपेण धारण धारणा । विशे० । निश्चितस्यैवाविच्युतिस्मृतिवासनारूप धारण धारणा । प्रव० २१६ द्वार । ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मक्षयोपशमसमुत्थायामविच्योत्पादभेदवत्या प्रज्ञातवस्त्वानुपूर्वीगोचराया चित्तपरिणतौ, ल० । तदात्मके मतिज्ञानभेदे च । स्था० ८ ठा० । दशा० । सम्म० । न० । आ० चू० । " धरण पुण धारण बिंति ।" धृतिर्धारणमर्थानामिति वर्त्तते । परिच्छिन्नस्य वस्तुनोऽविच्युतिवासनास्मृतिरूप धरणं पुनर्धारणां ब्रुवते । आ० म० १ अ० १ खण्ड । न० ।

तथा च मतिज्ञानस्य तृतीयभेदमवाय प्रतिपादयन्ति-

स एव दृढतमावस्थाऽऽपन्नो धारणा ॥ १० ॥

स इति अवायः, दृढतमावस्थाऽऽपन्न विवक्षितविषयावसाय एव सादरस्य प्रमातुरत्यन्तोपचितः कञ्चित्कालं तिष्ठन् धारणेत्यभिधीयते । दृढतमावस्थाऽऽपन्नो ह्यवायः स्वोपढौकिताऽऽत्मशक्तिविशेषरूपसंस्कारद्वारेण कालान्तरे स्मरण कर्त्तुं पर्याप्नोतीति ॥ १० ॥ रत्ना० २ परि० । न० । तस्याऽर्थस्य निर्णयरूपोऽध्यवसायोऽवायः शाङ्ख एवाय, शार्ङ्ग एवायमित्यादिरूपोऽवधारणाऽऽत्मकप्रत्ययोऽवाय इत्यर्थः । तस्यैवार्थस्य निर्णीतस्य धारण धारणा । सा च त्रिधा-अविच्युति,वासना,स्मृतिश्च । तत्र तदुपयोगादविच्यवनमविच्युतिः, सा चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा । ततस्तया आहितो य संस्कारः सा वासना । सा च सख्येयमसख्येय वा यावत्काल भवति । ततः कालान्तरे कुतश्चित्तादृशार्थदर्शनाऽऽदिकात् कारणात् संस्कारस्य प्रबोधे यद् ज्ञानमुदयते-तदेवेद यन्मया प्रागुपलब्धमित्यादिरूपं सा स्मृतिः । उक्त च-"तदनतर तदत्था-विच्चवण जो य वासणाजोगो । कालंतरे य ज पुण,अणुसरण धारणा सा उ ॥२९१॥ " (विशे०) एताश्चाविच्युतिवासनास्मृतयो धारणलक्षणसामान्यार्थयोगाद्धारणाशब्दवाच्याः । न० । आ० म० । विशे० ।

अथ चतुर्थो मतिज्ञानभेदो धारणा, इय चाविच्युतिवासना-स्मृतिभेदात्त्रिधा भवति । अतः सभेदामपि तामाह-

तयणंतरं तयत्था-ऽविच्चवणं जो य वासणाजोगो ।
कालंतरे य जं पुण, अणुसरणं धारणा सा उ ॥२९१॥

तस्मादपायादनन्तरं तदनन्तरं, यत् तदर्थादविच्यवनम्-उपयोगमाश्रित्याभ्रंश. । यश्च वासनया जीवेन सह योग. सवन्ध. । यच्च तस्यार्थस्य कालान्तरे पुनरिन्द्रियैरुपलब्धस्य, अनुपलब्धस्य वा एवमेव मनसाऽनुस्मरण स्मृतिर्भवति,सेय पुनस्त्रिविधाऽप्यर्थस्यावधारणरूपा धारणा विज्ञेयेति गाथाऽक्षरघटना। भावार्थस्त्वयम्-अपायेन निश्चितेऽर्थे तदनन्तर यावदद्यापि तदर्थोपयोग. सातत्येन वर्त्तते,न तु तस्मान्निवर्त्तते, तावत्तदर्थोपयोगादविच्युतिर्नाम, सा धारणायाः प्रथमभेदो भवति। ततस्तस्यार्थोपयोगस्य यदावरण कर्म तस्य क्षयोपशमेन जीवो युज्यते, येन कालान्तरे इन्द्रियव्यापाराऽऽदिसामग्रीवशात् पुनरपि तदर्थोपयोग. स्मृतिरूपेण समुन्मीलति, सा चेय तदावरणक्षयोपशमरूपा वासना नाम द्वितीयस्तद्भेदो भवति । कालान्तरे च वासनावशात्तदर्थस्येन्द्रियैरुपलब्धस्य, अथवा तैरनुपलब्धस्याऽपि मनसि या स्मृतिराविर्भवति, सा तृतीयस्तद्भेद इति । एव त्रिभेदा धारणा विज्ञेया । तुशब्दोऽवग्रहाऽऽदिभ्यो विशेषद्योतनार्थः । विप्रतिपत्तयस्त्वेतद्विषया अपि प्रागेव निराकृता । इति गाथाऽर्थ. ॥ २९१ ॥ विशे० । साऽपि मन.-सहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात्षोढा । प्रव० २१६ द्वार ।

से किं तं धारणा ?। धारणा छव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-सोइंदियधारणा, चक्खिंदियधारणा,घाणिंदियधारणा, जिब्भिंदियधारणा, फासिंदियधारणा, नोइंदियधारणा ॥ नं०।

प्रकारान्तरेण धारणाया षड् भेदानाह-

छव्विहा धारणा पण्णत्ता । त जहा-बहुं धारेइ, बहुविहं धारेइ, पोराणं धारेइ, दुरुद्धरं धारेइ, अनिस्सिअं धारेइ, असंदिद्धं धारेइ । सेत्तं धारणा । स्था० ६ ठा० ।

बहु धारयति १ बहुविध धारयति २ पुराण धारयति ३ दुर्द्धर धारयति ४ अनिश्रित धारयति ५ असंदिग्ध धारयति ६ इति षडपि पदानि व्यक्तानि, नवरम् (पोराण ति) पुराण जीर्णं प्रभूतकालसचित, तदपि यथाश्रुत धारयति, यदा पृच्छयते, तदा धारणासमर्थत्वात् सर्वं वदति । (दुरुद्धर ति) दुर्द्धर दुःखेन धर्तुं शक्य नयाऽऽगमभङ्गगुपिल (धारय त्ति) "सेत्त" इत्यादि निगमनवाक्य व्यक्तम् । दशा० ५ अ० ।

धारणाया एकार्थिकान्याह-

तीसे ण इमे एगट्ठिया णाणाघोसा, णाणावंजणा, पंच नामधिज्जा भवंति । त जहा-धरणा, धारणा, ठवणा, पइट्ठा कोट्ठे । सेत्तं धारणा ।

अत्रापि सामान्यत एकार्थिकानि, विशेषचिन्तायां पुनर्भिन्नार्थानि, तत्रापायानन्तरमवगतस्यार्थस्याविच्युत्या अन्तर्मुहूर्त्तं काल यावत् धरण धरणा, ततस्तमेवार्थमुपयोगाद् युत जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तादुत्कर्षतोऽसख्येयात्कालात्परतो यत्स्मरण सा धारणा। तथा स्थापन स्थापना, अपायावधारितस्याऽर्थस्य हृदि स्थापन वासनेत्यर्थ. । अन्ये तु धारणास्थापनयोर्व्यत्यासेन स्वरूपमाचक्षते । तथा च प्रतिष्ठान प्रतिष्ठा,अपायावधारितस्यैवार्थस्य हृदि प्रभेदेन प्रतिष्ठापनमित्यर्थ. । कोष्ठ इव कोष्ठ, अविनष्टसूत्रार्थधारणमित्यर्थः । (सेत्त धारणा) सेय धारणा । न० । न विधेयमित्येवरूपे (स्था० ५ ठा० १ उ०) निषेधविषयके आदेशे, " आण वा धारण वा सम्म पउजित्ता भवइ । " स्था० ७ ठा० । धारणा विधेयेषु निवर्त्तनलक्षणेति । स्था० ५ ठा० २ उ० । बहुशो निवेदितातिचारलब्धशुद्धीनामवधारणाऽऽत्मके व्यवहारभेदे, पञ्चा० १६ विव० । प्रव० । स्था०। (तद्वक्तव्यता ' धारणाववहार ' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) धरणाऽऽधारभूते स्थूणे गृहावयवविशेषे, " अगारस्स ण झियायमाणस्स किं धारणा झियाइ ।" भ० ८ श० ६ उ० । धृ-णिच्-ल्युट् । नाड्याम्, श्रेणौ च । स्त्री० । वाच० ।

धारणावल-धारणावल-न० । प्रतिवादिनः शब्दतदर्थावधारणवले, व्य० १ उ० ।

धारणाववहार-धारणाव्यवहार-पु० । गीतार्थसविग्नेन द्रव्याऽऽद्यपेक्षया यत्रापराधे यथा या विशुद्धि कृता, तामवधार्य यदन्यस्तत्रैव तथैव तामेव प्रयुङ्क्ते सा धारणा, वैयावृत्यकराऽऽदेर्वा गच्छोपग्रहकारिणोऽशेषानुचितस्योचितप्रायश्चित्तपदानां प्रदर्शितानां धरण धारणेति । स्था० ५ ठा० २ उ० । सा एव व्यवहारो धारणाव्यवहार. । पञ्च व्यवहाराणा मध्ये चतुर्थे व्यवहारभेदे, भ० ८ श० ८ उ० । पञ्चा० । जीत० । व्य०। धारणाव्यवहारो नाम-गीतार्थेन सविग्नेनाऽऽचार्येण द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषान् प्रतिसेवनाश्चावलोक्य यस्मिन्नपराधे यत्प्रायश्चित्तमदायि तत्सर्वमन्यो दृष्ट्वा तेष्वेव द्रव्याऽऽदिषु तादृश एवापराधे तदेव प्रायश्चित्त ददाति । एष धारणाव्यवहार । अथवा-वैयावृत्यकरस्य गच्छोपग्राहिणः स्पर्द्धकस्वामिनो वा देशदर्शनसहायस्य वा साविग्नस्योचितप्रायश्चित्तदान धारणमेव धारणाव्यवहारः। व्य० १ उ० ।

अथ धारणाव्यवहारमाह-

गीयत्थेणं दिन्नं, सुद्धिं अवराहिऊण तह चेव ।
दिंतस्स धारणा तह, उद्धियपयधरणरूवा वा ॥८६५॥

इह गीतार्थेन सविग्नेनाऽऽचार्येण कस्याऽपि शिष्यस्य क्वचिदपराधे द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषान् प्रतिसेवनाश्चावलोक्य या शुद्धि प्रदत्ता,सा शुद्धि. तथैवावधार्य सोऽपि शिष्यो यदाऽन्यत्रापि तादृश एवापराधे च द्रव्यादिषु तथैव प्रायश्चित्त ददाति, तदाऽसौ धारणा नाम चतुर्थो व्यवहार. । उद्धृतपदधरणरूपा वा धारणा । इदमुक्त भवति-वैयावृत्यकरणाऽऽदिना कश्चिद् गच्छोपकारी साधुरद्याप्यशेषच्छेदश्रुतयोग्यो न भवति, ततस्तस्यानुग्रह कृत्वा यदा गुरूद्धृतान्येव कानिचित्प्रायश्चित्तपदानि कथयति, तदा तस्य तेषा पदानां धरण धारणाऽभिधीयत इति ॥ ८६५ ॥ प्रव० १२६ द्वार ।

धारणववहारो पुण, वत्तव्वो तं जहक्कमं वुच्छं ॥६४२॥

अत उर्द्ध्वं धारणाव्यवहारो वक्तव्य. तद्यथाक्रममनु वक्ष्ये इति शृणु ।

उद्धारणा विधारण, संधारण संपधारणा चेव ।
नाऊण धीरपुरिसा, धारणववहार त विंति ॥ ६४३ ॥

धारणायामर्थायैकार्थिकानि । तद्यथा-उद्धारणा, विधार-

णा, सन्धारणा, सम्प्रधारणा च । तथा छेदश्रुतार्थावधारणलक्षणया य. सम्यक् ज्ञात्वा व्यवहार. प्रयुज्यते, त धारणाव्यवहार धीरपुरुषा ब्रुवते ।

सम्प्रति तेषामेव चतुर्णामेकार्थिना शब्दव्युत्पत्तिमाह-

पावल्लेण उवेच्च व, उद्धियपयधारणा उ उद्धारा ।
विविहेहिँ पगारेहिँ, धारे अत्थं विधारा सा ॥ ६४४ ॥
सम एक्कीभावम्मी, उद्धरणे ताणि एकभावेण ।
धारे तत्थ पयाणि उ, तम्हा संधारणा होइ ॥ ६४५ ॥
जम्हा उ संपहारेउं, ववहारं पउंजती ।
तम्हा उ कारणे तेण, नायव्वा संपहारणा ॥ ६४६ ॥

उत् प्राबल्येन उपेत्य वा धृतानामर्थपदानां धारणा उद्धारा उद्धारणा । विविधैः प्रकारैर्विशिष्ट वाऽर्थमुद्धृतमर्थपद यथाधारणया स्मृत्वा धारयति सा विधारा विधारणा । तथा-समशब्द एकीभावे, धृता तु धारणा तान्यर्थपदानि आत्मना सहैकभावेन यस्माद्धारयति तस्मात् धारणा सधारणा भवति । तथा यस्मात्संप्रधार्य सम्यक्प्रकर्षेणाऽवधार्य व्यवहार प्रयुङ्क्ते,तस्मात्कारणात्तेन शिष्येणेय प्रधारणा भवति ज्ञातव्या ।

धारणववहारो सो, पउंजियव्वो उ केरिसे पुरिसे ? ।
भन्नति गुणसंपन्ने, जारिसए तं सुणेहि त्ति ॥ ६४७ ॥

एष धारणाव्यवहार कीदृशे पुरुषे प्रयोक्तव्य. ? । सूरिराह-भण्यते-यादृशे गुणसम्पन्ने प्रयोक्तव्यस्तद्वक्ष्यमाण शृणु ? ।

तमेवाऽऽह-

पवयणजसम्मि पुरिसे, अणुग्गहविसारए तवस्सिम्मि ।
सुस्सुयबहुस्सुयम्मि य, विवक्कपरिपागसुद्धम्मि ॥६४८॥

प्रवचन द्वादशाङ्ग, श्रमणसङ्घो वा तस्य यः कीर्तिमिच्छेत् स प्रवचनयशास्तस्मिन् तपस्विनि, तथा श्रुत शोभनमाकर्णित, बहु श्रुत च येन स सुश्रुतबहुश्रुत' । किमुक्त भवति-यस्य बह्वपि श्रुत न विस्मृतिपथमुपयाति स सुश्रुतबहुश्रुत. । अथवा बहुश्रुतोऽपि सन् यस्तस्योपदेशेन वर्तते स मार्गानुसारिभुतत्वात् सुश्रुतबहुश्रुत, तस्मिन्, तथा विशिष्टे विनयौचित्यान्विते वाक्परिपाके विशुद्धिर्यस्मिन्पुरुषे तस्मिन् प्रयोक्तव्य. ।

एतदेवाऽऽह-

एएसु धीरपुरिसा, पुरिसज्जाएसु किंचि खलिएसु ।
रहिए वि धारइत्ता, जहारिहं देंति पच्छित्तं ॥ ६४९ ॥

एतेष्वनन्तरोदितगुणसम्पन्नेषु पुरुषजातेषु किञ्चिदत्र मनाक् प्रमादवशात् मूलगुणविषये उत्तरगुणविषये वास्खलितेषु रहितेऽपि असत्यप्यादिमे व्यवहारत्रये धीरपुरुषा अर्थपदानि कल्पप्रकल्पव्यवहारगतानि कानिचित् धारयित्वा यथार्ह ददति प्रायश्चित्तम् ।

सम्प्रति "रहिए वि धारयित्ता" (६४९) इत्यस्य व्याख्यानमाह-

रहिए णाम असंते, आइल्लम्मि ववहारतियगम्मि ।
ताहे वि धारइत्ता, वीमंसेऊण जं भणियं ॥ ६५० ॥

रहिते नाम असति अविद्यमानके व्यवहारत्रिके सति ततो विधाय यद् भणित भवति । किमुक्त भवति ?,

विमृश्य पूर्वापरपर्यालोचनेन देशकालाऽऽद्यपेक्षया सम्यक् छेदश्रुतार्थ परिज्ञाय ।

किमित्याह-

पुरिसस्स उ अइयारं, वियारइत्ता ण जस्स जं जोग्गं ।
तं देंति उ पच्छित्त, केणं देंती उ तं सुणह ॥ ६५१ ॥

पुरुषस्यातिचार द्रव्यतः क्षेत्रत कालतो भावतश्च विचार्य यस्य यदर्ह प्रायश्चित्त तत् केन दीयते । आचार्य. प्राह-येन दीयते तत् शृणु ।

तदेवाऽऽह-

जो धारितो सुतत्थो, अणुओगविहीएँ धीरपुरिसेहिं ।
आलीणपलीणेहिं, जयणाजुत्तेहिँ दंतेहिं ॥६५२॥

यो नाम धीरपुरुषैरालीनप्रलीनैर्यतनायुक्तैर्दान्तैश्चानुयोगविधौ व्याख्यानवेलायां श्रुतस्य भेदश्रुतस्यार्थो धारितोऽविस्मृतीकृतस्तेन दीयते ।

साम्प्रतमालीनाऽऽदिपदानां व्याख्यानमाह-

अल्लीणा णाणाऽऽदिसु,पदे पदे लीणा उ होंति पल्लीणा ।
कोहाऽऽदी वा पलयं, जेसिँ गया ते पलीणाओ ॥६५३॥
जयणाजुतो पयत्तव, दंतो जो उवरतो उ पावेहिं ।
अहवा दंता इंदिय-दमेण नोइंदिएणं च ॥६५४॥

ज्ञानाऽऽदिषु आ समन्तात् लीना आलीना.। पदे पदे लीना भवन्ति प्रलीना अथवा येषां क्रोधाऽऽदय. प्रलय गता' ते प्रलीना ,प्रकर्षेण लीना लय विनाश गता. क्रोधाऽऽदयो येषामिति व्युत्पत्ते.। यतनायुक्तो नाम सूत्रानुसारत प्रयत्नवान्, दान्तो य. पापेभ्य उपरत.। अथवा दान्तो नाम इन्द्रियदमेन,नोइन्द्रियेण नोइन्द्रियदमेन चान्यत । तदेव छेदश्रुतार्थधारणावशतो धारणाव्यवहार उक्तः।

साम्प्रतमन्यथा धारणाव्यवहारमाह-

अहवा जेणऽण्णइया, दिट्ठा सोही परस्स कीरंती ।
तारिसयं चेव पुणो, उप्पण्णं कारणं तस्स ॥ ६५५ ॥
सो तम्मि चेव दव्वे, खेत्ते काले य कारणे पुरिसे ।
तारिसयं अकरेंतो, न हु सो आराहओ होइ ॥६५६॥
सो तम्मि चेव दव्वे, खेत्ते काले य कारणे पुरिसे ।
तारिसयं चिय भूयो, कुव्वं आराहगो होइ ॥६५७॥

अथवेति प्रकारान्तरे, येनान्यदा परस्य शोधिः क्रियमाणा दृष्टा, स तमर्थं स्मरति-यथा एवभूतेषु द्रव्याऽऽदिष्वेवभूते कारणे जाते एवभूत प्रायश्चित्त दत्तमिति । पुनरन्यदाऽस्य पुरुषस्य उपलक्षणमेतत्-अन्यस्य वा तादृशमेव पुन. कारण समुत्पन्नं ततो यदि तस्मिन्नेव,तादृश एवेत्यर्थ । द्रव्ये क्षेत्रे काले,चशब्दाद्भावे च तादृश एव कारणे तस्मिन्नेव तादृशे वा पुरुषे तादृशमकुर्वन्, रागेण वा अन्य प्रायश्चित्त ददानो वर्त्तते, तदा स (न हु) नैव आराधको भवति । अथ य. तस्मिन्नेव द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च कारणे पुरुषे च तादृश करोति, स तदा आराधको भवति ।

धारणाव्यवहारस्यैव पुनरन्यथाप्रकारमाह-

'वेयावच्चकरो वा, सीसो वा देसहिंडगो वा वि ।
दुम्मेहत्ता न तरइ, ओहारेउ बहुं जो उ ॥ ६५८ ॥
तस्स उ उद्धरिऊणं, अत्थपयाइं तु देंति आयरिया ।
जेहिँ न करेति कज्जं, ओहारेंतो उ सो देसं ॥ ६५९ ॥

यथा आचार्याणां वैयावृत्यकरो, यो वा संमतः शिष्यो, यस्तु वा देशहिएमको देशदर्शनं कुर्वतः सहाय आसीत्, स समस्तं छेदश्रुतार्थं दुर्मेधस्त्वाद् नावधारयितुं शक्नोति, ततस्तस्योद्धृत्यानुग्रहाय कानिचिदर्थपदान्याचार्यो ददाति, यै. स छेदश्रुतस्य देशमवधार्य न कार्यं करोति । एष धारणाव्यवहारः ।

उपसंहारमाह-

धारणववहारेसो, अहक्कमं नरिणतो समासेणं ॥ (६६०)

एष धारणाव्यवहारो यथाक्रम समासेन वर्णितः। व्य०१० उ०।

धारणिज्ज-धारणीय-त्रि० । धारयितुं योग्ये, न० १५ श० । आचा० । धारयितुं शक्ये, यापनीये च । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

धारणी-धा(र)रिणी-स्त्री० । सकलगुणधारणाद्धा (र) रिणी । सू० प्र० १ पाहु० । एकादशजिनस्य प्रथमार्यिकायाम्, स०। "सिज्जसजिणस्स धा (र) रिणी पढमा ।" ति० । द्वारवतीवास्तव्यस्य वसुदेवस्य स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, "वसुदेवे राया धारणी देवी ।" अन्त० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। द्वारवतीवास्तव्यस्यान्धकवृष्णेः स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, "अंधगविरिहस्स रण्णो धारणी नाम देवी ।" अन्त० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । हस्तिशीर्षनगरस्थस्यादीनशत्रो राज्ञः स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, "हत्थिसीसणयरे अदीणसत्तुरण्णो धारणीपामोक्खाणं देवीसहस्साए ।" विपा० २ श्रु० १ अ० । अपरविदेहस्थपूतायां राजधान्या स्थितस्य धनञ्जयस्य भार्यायाम्, आ० चू० १ अ० । मथुरानगरीवास्तव्यस्य जितशत्रो राज्ञो भार्यायाम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड । कौशाम्बीवास्तव्यस्याऽजितसेनस्य राज्ञो भार्यायाम, आव० ४ अ० । आ० चू० । राजगृहनगरस्थस्य श्रेणिकस्य राज्ञो भार्यायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अणु० । चम्पानगरीस्थस्य मित्रप्रभस्य राज्ञो भार्यायाम्, आव० ४ अ० । चम्पानगरीस्थस्य दधिवाहनस्य राज्ञः स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड । पोतनपुरनगरस्थस्य सोमचन्द्रस्य राज्ञो भार्यायाम, आ० म०१ अ० २ खण्ड । आ० चू० । राजगृहनगरस्थस्य विश्वनन्दिनृपस्य भ्रातुर्विशाखभूतेर्भार्यायाम, आ० म० १ अ० १ खण्ड । मगधनन्दिग्रामस्थस्य गौतमस्य कणवृत्तिकस्य भार्यायाम्, "मगधे नन्दिग्रामे, गौतम० कणवृत्तिक । तत्पत्नी धारणी तस्या ।" आ० क० । आव० । कस्मिंश्चिन्नगरे स्थितस्य वज्रसेनस्य राज्ञः स्वनामख्यातायां मङ्गलावत्यपरनामधेयायां भार्यायाम, आ० चू० १ अ० । मिथिलास्थस्य जितशत्रोः स्वनामख्यातायां भार्यायां च । सू० प्र० १ पाहु० । चं० प्र० ।

धारय-धारक-त्रि० । धारणसमर्थे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । धारको धारयितुक्षम । औ० । प्रवर्तके च । नि०१ श्रु०३ वर्ग १ अ० ।

धारा-धारा-स्त्री० । धृ-णिच्-अङ् । खड्गाऽऽदेर्निशिताग्रे, भ० १३ श० ६ उ० । वाच० । "खुरो इव एगंतधाराए ।" ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । ज० । उत्त० । घण्टाऽऽदिच्छिद्रे, सन्ततौ, द्रवद्रव्यस्य सन्तत्या पतने, उत्कर्षे, यशसि, अतिवृष्टौ, समूहे, मेघस्याऽऽसारवर्षणे, वाच० । न० । कल्प० । सदृशे, पुरीभेदे, "अश्वानां तु गतिर्धारा, विभिन्ना सा च पञ्चधा ।" इत्युक्तेऽश्वानां गतिपञ्चके, "इतीव धारामवधीर्य ।" इति नैषधम् । सैन्याग्रिमस्कन्धे च । वाच० । हस्तिनापुरस्थस्य शिवस्य राज्ञो भार्यायां च । आ० म० १ अ० ग खण्ड । रणमुखे, दे० ना० ५ वर्ग ५६ गाथा ।

धारावारि-धारावारि-न० । धाराप्रधाने जले, भ० १३श० ६उ० ।

धारावारिय-धारावारिक-त्रि० । धाराप्रधानं वारि जलं यस्मिन् । धाराप्रधानजलोपेते, "धारावारियलेणाइ वा ।" भ० १३ श० ६ उ० ।

धारावास-देशी-मेघे, भेके च । दे० ना० ५ वर्ग ६३ गाथा ।

धाराहय-धाराहत-त्रि० । मेघजलधारासिक्ते, "धाराहयकयवपुप्फग पि व समुस्ससिअरोमकूवे ।" कल्प० १ अधि० १ क्षण । भ० ।

धारि(ण्)-धारिन्-पु० । धारयतीत्येवशील । प्रज्ञा० २ पद । धृ-णिनिः । धारणशीले, पीलुवृक्षे, धारणकर्त्तरि, त्रि० । वाच० ।

धारिणी-धारिणी-स्त्री० । 'धारणी' शब्दार्थे, सू० प्र० १ पाहु० ।

धारित्तए-धारयितुम्-अव्य० । पालयितुमित्यर्थे, स्था० ६ ठा० । परिग्रहीतुमित्यर्थे, उपभोक्तुमित्यर्थे च । "धारित्तए वा परिहारित्तए वा । 'धारयितु परिग्रहे परिहर्तुमासेवितुमिति । अथवा-"धारणया उवभोगो, परिहरणा होइ परिभोगो ।" स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

धारिय-धारित-त्रि० । सम्यग्धारणाविषयीकृते, "धारियगणियसमीहिय-निज्जवणाविउलवायणसमिद्धो । " धारित सम्यग् धारणाविषयीकृतं न विनष्टमिति भाव. । व्य० ३ उ० ।

धारी-धात्री-स्त्री० । 'धाई' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

धारोदग-धारोदक-न० । गिरिनिर्झरजले, बृ० २ उ० ।

धाव-धाव्-जवे, सक० -शुद्धौ च । भ्वादि० आत्म०-शीघ्रगतौ, अक० सेट् । धावते । अधाविष्ट । वाच० । "खादधावोर्लुक्" ॥ ८ । ४ । २२८ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणान्त्यस्य लुक् । प्रा० ४ पाद " स्वरादनतो वा" ॥ ८ । ४ । २४० ॥ इति प्राकृतसूत्रेणाकारान्तवर्जितात्स्वरान्ताद्धातोरन्ते अकाराऽऽगमो वा । प्रा० ४ पाद । धाइ । धाअइ । धाहिइ । धाओ । बाहुलकाधिकाराद् वर्त्तमानाभविष्यद्विध्याऽऽद्येकवचन एव भवति, तेनेह न । धावन्ति । क्वचिन्न भवति । "धावइ पुरओ ।" प्रा० ४ पाद । "कुसाई जे धावइ साउगाइ ।" धावति गच्छति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

धावण-धावन-न० । धाव-ल्युट् । शीघ्रगमने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । वाच० । धावनमिति वेगेन गमनम । जीत० । महा० । ज्ञा० । धावन निष्कारणमतित्वरितमविश्राम गमनम् । जीत० । शोधने, वाच० । अत्यङ्गोद्वर्त्तनस्नाने, नि० चू० ११ उ० । वस्त्राऽऽदीना प्रक्षालने, प्रश्न० १ द्वार । सूत्र० । नि० चू० । व्य० । ग० । प्रश्न० । पात्राऽऽदीना कल्पप्रदाने च । जीत० । बृ० । मुखनयनाऽऽदिधावने, व्य० ६ उ० । (गुणा आचार्यातिशयवर्णनप्रस्तावे 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे २८ पृष्ठे प्रतिपादिता) "जे धोयती लूसयतीव वत्थं, अहा हु से णागणियस्स दूरे ।" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । वस्त्राण्यधिकृत्य-"णो धोवेज्जा णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धरेज्जा ।" नो धावयेत्प्रासुकोदकेनाऽपि न प्रक्षालयेद्, गच्छवासिनो ह्यप्राप्तवर्षाऽऽदौ ग्लानावस्थाया वा प्रासुकोदकेन यतनया धावनमनुज्ञात, न तु जिनकल्पिकस्येति ।

तथाहि-न च धौतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत्पूर्वं धौतानि पश्चाद्रक्तानीति । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० । धावनं च सयतानां वर्षाकालादर्वाक् कल्पते, न शेषकाले, अनेकदोषसम्भवात् । पं० ।

तानेव दोषान् दर्शयति-

उउवद्धे धुवणे बउसं, बंभविणासो अठाणठवणं च ।
संपाइमवाउवहो, पावणभूओवघाओ य ॥ २६ ॥

वर्षाकालस्य प्रत्यासन्न कालमपहाय शेषे ऋतुबद्धे काले, चीवरस्य धावने चरणं बकुशं भवति, उपकरणबकुशत्वात् । तथा-ब्रह्मविनाशो मैथुनप्रत्याख्यानभङ्गः, प्रक्षालितवास परिधानसूपितशरीरो हि विरूपोऽपि रमणीयत्वेन प्रतिभासमानो रमणीना रमणयोग्योऽयमिति प्रार्थनीयो भवति, किं पुन शरीरावयवराम णीयकोपशोभित, तत समस्तकामिनीना प्रार्थ्यमानाना सलीलदर्शितनितिर्यग्वलितार्ध्दाक्षिनिरीक्षणाङ्गमोटनव्याजोपदर्शितकक्षामूलनाभिस्तनतारमणीयपीनकठिनपयोधरविस्ताराङ्गम्भीरनाभिप्रदेशपरिभावनतोऽवश्य ब्रह्मचर्यादपभ्रशमधिश्रयते । तथा-अस्थानस्थापनम् । इयमत्र भावना-यदि नाम कथञ्चित्तस्य वेदितया सयमविपर्यास प्रकम्पधृत्यवष्टम्भतो न ब्रह्मचर्याद्भ्रश्यति, तथाऽपि लोकेन सोऽस्थाने स्थाप्यते-यथा नूनमय कामी, कथमन्यथाऽऽत्मानमित्थ भूषयति, न खल्वकामी मण्डनप्रियो भवति । तथा सपातिमाना मक्षिकाऽऽदीनां प्रक्षालनजलाऽऽदिषु निपततां, वायोश्च वधो विनाशो भवति । तथा प्लावनेन प्रक्षालनजलपरिष्ठापनेन पृथिव्यां रेल्लणेन भूतोपघात. पृथिव्याश्रितकीटिकाऽऽदिसत्त्वोपमर्दो भवति । तस्मान्न ऋतुबद्ध काले वस्त्र प्रक्षालनीयम् ।

नन्वेते दोषा वर्षाकालादर्वागपि धावने सभवन्ति, ततस्तदानीमपि न चीवराणि प्रक्षालनीयानि, सत्र, तदानीं चीवराप्रक्षालनेऽनेकदोषसभवात् ।

अइभारचुडणपणए, सीयलपाउरणऽजिरागेलन्ने ।
ओहावणे कायवहो, वासासु अधोवणे दोसा ॥२७॥

इह वर्षाकालादर्वागपि यदि वासासि न प्रक्षाल्यन्ते तदानीमतिभारो गुरुत्व वस्त्राणां भवति । तथा वासांसि मलक्लिन्नानि यदा जलकणतुषारसमीरणमात्रेणापि स्पृष्टानि भवन्ति, तदाऽपि स मल क्लिन्नीभूय दृढतरं वस्त्रेषु सबन्धमापद्यते, किं पुनर्वर्षासु सर्वत. सलिलमयीषु । ततो वर्षासु क्लिन्नमलसपर्कतो वासांसि गुरुतरभाराणि भवन्ति । तथा (चुडण त्ति) वाससां वर्षाकालादर्वागप्यधावने वर्षासु जीर्णता भवति, शाटो भव तीत्यर्थः । किमुक्त भवति?-यदि नाम वर्षाकालादर्वागपि वस्त्राणि न प्रक्षाल्यन्ते, ततो वर्षासु तेषां मलक्लिन्नतया जीर्णतापन्नत्वेन शाटो भवति । न च वर्षास्वभिनववस्त्रग्रहणं, नचाधिक परिग्रह, ततो ये वस्त्राभावे दोषा. समये प्रसिद्धास्ते सर्वेऽपि यथायोगमुपढौकन्त इति । तथा मलक्लिन्नेषु वस्त्रेषु शीतलजलकणसस्पर्शेनो मलस्याऽऽर्द्रीभवनः पनको वनस्पतिविशेष प्राचुर्येणोपजायते, तथा च सति प्राणिव्यापादनप्रसक्तिः । तथा निरन्तर सर्वत. प्रसरेण निपतति वर्षे शीतले च मारुते वाति मलस्याऽऽर्द्रीभवत. शीतलीभूताना वाससां प्रावरणे भुक्ताऽऽहारस्याजीर्णतायामपरिणतौ ग्लानता शरीरमान्द्यमुत्पद्यते, तथा च सति प्रवचनस्यापभ्राजना । यथा-अहो ! यशशिरोमणयोऽमी तपस्विनो, न परमार्थतस्तत्त्ववेदिनो, ये नाम, वर्षास्वप्रक्षालिताना वाससां परिभोगे मान्द्यमुपजायते, इत्येतदपि नावबुध्यन्ते; ते पृथग्जनाऽपरिच्छेद्य स्वर्गापवर्गमार्गमवगच्छन्तीति दु:श्रद्धेयम् । तथा वर्षास्वप्रक्षालितानि वस्त्राणि प्रावृत्य भिक्षाऽऽद्यर्थं विनिर्गतस्य साधोर्मेघवृष्टौ मालिनवस्त्रकम्बलसपर्कतोऽप्कायविराधना भवति । एते वर्षास्विति वर्षाकालप्रत्यासन्नोऽपि कालो वर्षा इत्युच्यते, तत्सामीप्यात् । भवति च तत्सामीप्यात्तद्व्यपदेश । यथा-गङ्गायां घोष इत्यत्र । ततो वर्षासु वर्षाप्रत्यासन्ने काले वस्त्राऽऽदीनामप्रक्षालने दोषास्तस्मादवश्य वर्षाकालादर्वाग् वासांसि प्रक्षालनीयानि । ये च सपातिमसत्त्वोपघाताऽऽदयो दोषाश्चीवरप्रक्षालने प्रागुक्ताः, तेऽपि सूत्रोक्तनीत्या यतनया प्रवर्त्तमानस्य न सभवन्तीति वेदितव्यम् । यो हि सूत्राज्ञामनुसृत्य यतनया सम्यक् प्रवर्त्तते, स यद्यपि कथञ्चित्प्राण्युपमर्दकारी, तथापि नासौ पापभाग्भवति, नाऽपि तीव्रप्रायश्चित्तभागी, सूत्रबहुमानतो यतनया प्रवर्त्तमानत्वात् । वक्ष्यति च सूत्रम्-" अप्पत्ते च्चिय वासे, सव्व धुवंति जयणाए ।" इति । ततो न कश्चिद्दोष. । नापि तदा वस्त्रप्रक्षालने बकुश चरण, सूत्राज्ञया प्रवर्त्तमानत्वात् । नाप्यस्थाने स्थापनदोषो, लोकानामपि वर्षासु वाससामप्रक्षालने दोषपरिज्ञानभावात् । नचैतेऽनन्तरोक्ता अतिभाराऽऽदयो दोषा ऋतुबद्धे काले वाससामप्रक्षालने सभवन्ति, तस्मान्न तदा प्रक्षालन युक्तमिति स्थितम् ।

सम्प्रति वर्षाकालादर्वागपि यावानुपधिरुत्कर्षतो, जघन्यतश्च प्रक्षालनीयो भवति, तावत्तमभिधित्सुराह-

अप्पत्ते च्चिय वासे, सव्व उवहिं धुवंति जयणाए ।
असईए उदगस्स य, जहन्नओ पायनिज्जोगो ॥२८॥

अप्राप्ते एव अनायाते एव, वर्षे वर्षाकाले, वर्षाकालादर्वाक्तने काले इत्यर्थः जलाऽऽदिसामग्र्यां सत्यामुत्कर्षतः सर्वमुपधिकरणं यतनया यतय प्रक्षालयन्ति । एतस्य जलस्य च असति अभावे, जघन्यतोऽपि पात्रनिर्योगोऽवश्य प्रक्षालनीयः । इह निस्पूर्वो युजिरुपकारे वर्त्तते । तथा चोक्तम्-" पातोदूसलेन निज्जोगो उवयारो ।" इति । ततो निर्युज्यते उपक्रियतेऽनेनेति निर्योग उपकरणम् । "अकर्त्तरि०" ॥३।३।१९॥ इत्यनेन घञ्प्रत्ययः । पात्रस्य निर्योग पात्रनिर्योग, पात्रोपकरण पात्रकबन्धाऽऽदि । उक्त च-"पत्त पत्तबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया । पडलाइँ रयत्ताणं, तह गोच्छउ पायनिज्जोगो ॥ १ ॥" इति ।

आह-किं सर्वेषामेव वस्त्राणि वर्षाकालादर्वागेव प्रक्षाल्यन्ते, किं वाऽस्ति केषाञ्चिद्विशेष ? । अस्तीति ब्रूमः । केषामिति चेत् ?, अत आह-

आयरियगिलाणाण य, मइला य पुणो वि धोवंति ।
मा हु गुरूण अवण्णो, लोगम्मि अजीरणं इयरे ॥२९॥

इह ये कृतपूर्विणो भगवत्प्रणीतवचनानुगताऽऽचाराऽऽदिशास्त्रोपधानानि अधीतिन. स्वसमयशास्त्रेषु ज्ञानिन. सकलस्वपरसमयशास्त्रार्थेषु कृतिन., कारयितारश्च पञ्चविधेष्वाचारेषु प्रवचनौचित्यव्याधिकारिणः सद्धर्मदेशनाभियुक्ताः सूरयस्ते आचार्या , आचार्यग्रहणमुपलक्षणम्-तेनोपाध्यायाऽऽदीनां प्रभूणां परिग्रह. । तेषां तथा ग्लाना मन्दास्तेषा च पुनर्मलिनानि वस्त्राणि धाव्यन्ते प्रक्षाल्यन्ते । मलिनानीत्यत्र नपुंसकत्वे प्राप्तेऽपि सूत्रे पुस्त्वनिर्देश. प्राकृतलक्षणवशात् । तथाऽऽह पाणिनिः

स्वप्राकृतलक्षणे-"लिङ्गं व्यभिचार्यपीति।" प्रस्तुतेऽर्थे कारणमाह-मा भवतु, दुर्निश्चितं, गुरूणां मलिनवस्त्रपरिधाने लोकेऽवर्णोऽश्लाघा-यथा निराकृतयोऽमी मलदुरभिगन्धोपादिग्धदेहाः, ततः किमेतेषामुपकरण गतैरस्माभिरिति?। तथा इतरस्मिन् स्थाने मा भवत्वजीर्णमिति भूयो भूयो मलिनानि तेषां प्रक्षाल्यन्ते।

सम्प्रति ये उपधिविशेषा न विश्रम्यन्ते तन्नामग्राहं गृहीत्वा तेषां धावने विधिमाह-

पायस्स पडोयारो, दुनिसिज्ज तिपट्ट पोत्ति रयहरणं।
एए उ न वीसामे, जयणा संकामणा धुवणं ॥ ३० ॥

प्रत्यवतीर्यते पात्रमस्मिन्निति प्रत्यवतार उपकरणम्,पात्रस्य प्रत्यवतारः पात्रवर्ज. पात्रनिर्योग. षड्विध.,तथा रजोहरणेऽस्य सक्के द्वे निषद्ये। तद्यथा-बाह्याऽऽभ्यन्तरा च। इह सम्प्रति दशिकाऽऽदिभि. सह या दण्डिका क्रियते,सा सूत्रनीत्या केवलैव भवति, न सदशिका,तस्या निषद्यात्रयम्, तत्र या दण्डिकाया उपरि एकहस्तप्रमाणाऽऽयामा तिर्यग्वेष्टकत्रयपृथुत्वा कम्बलीखण्डरूपा सा आद्या निषद्या, तस्याश्चाग्रे दशिका. सबध्यन्ते,ना च सदशिकामग्रे रजोहरणशब्देनाऽऽचार्यो ग्रहीष्यति। ततो नासाविह ग्राह्या। द्वितीया त्वेनामेव निषद्यां तिर्यक् बहुभिर्वेष्टकैरावेष्टयन्ती किञ्चिदधिकहस्तप्रमाणाऽऽयामा हस्तप्रमाणमात्रपृथुत्वा वस्त्रमयी निषद्या सा अभ्यन्तरा निषद्योच्यते। तृतीया तु तस्या एवाऽऽभ्यन्तरनिषद्यायास्तिर्यग्वेष्टकान् कुर्वती चतुरङ्गुलाधिकैकहस्तमाना चतुरस्रा कम्बलमयी भवति। सा च उपवेशनोपकारित्वादधुना पादप्रोञ्छनकमिति रूढा, सा बाह्या निषद्येत्यभिधीयते। मिलित च निषद्यात्रय दण्डिकासहित रजोहरणमुच्यते। ततो रजोहरणस्य सक्के द्वे निषद्ये, इति न विरुध्यते। तथा त्रय. पट्टा, तद्यथा-सस्तारपट्ट, उत्तरपट्ट, चोलपट्टश्च। एते च सुप्रतीता। तथा (पोत्ति त्ति) मुखपोतिका-मुखपिधानाय पोत वस्त्र मुखपोतम्,मुखपोतमेव ह्रस्व चतुरङ्गुलाधिकवितस्तिमात्रप्रमाणत्वात् मुखपोतिका, मुखवस्त्रिकेत्यर्थ.। "अतिवर्त्तन्ते स्वार्थिप्रत्ययका. प्रकृतिलिङ्गवचनानि।" इति वचनाच्च प्रथमतो नपुसकत्वेऽपि प्रत्यये समानीते स्त्रीत्वम्। तथा-(रयहरण त्ति) दण्डिका वेष्टकत्रयप्रमाणपृथुत्वा एकहस्ताऽऽयामा हस्तत्रिभागाऽऽयामदशापरिकलिता प्रथमा या निषद्या प्रागुक्ता सा रजोहरणम्। तथा च भाष्यकृद्वक्ष्यति-"एगनिसेज्ज च रयहरण।" बाह्याऽऽभ्यन्तरनिषद्यारहितमेकनिषद्य सदश रजोहरणमिति। एतानुपधिविशेषान्न विश्रमयेत् नापरिभोग्यान् स्थापयेत्। कस्मादिति चेद ?। उच्यते -प्रतिवासरमवश्यमेतेषां विनियोगसद्भावात्। ततो यतनया वस्त्रान्तरितेन हस्तेन ग्रहणरूपया सक्रमणा षट्प[दि]कानामप्रक्षालनीयेषु वस्त्रेषु सक्रमण ततो धावन प्रक्षाल[नम्] [इ]ति।

एतामेव गाथ[ां] भाष्यकृद् गाथात्रयेण व्याख्यानयति -

पायस्स पडोयारो, पत्तगवज्जो य पायनिज्जोगो।
दोन्नि निसिज्जाओ पुण, अब्भिंतर बाहिरा चेव ॥३२॥
संथारुत्तरचोलग, पट्टा तिन्नि य हवंति नायव्वा।
मुहपोत्तिय त्ति पोत्ती, एगनिसिज्जं च रयहरणं ॥३३॥
एए उ न वीसामे, पइदिणमुवओगओ य जयणाए।
सकामिऊण धावं-ति छप्पया तत्थ विहिणाए ॥३४॥

एतास्तिस्रोऽपि व्याख्यातार्थाः, नवर (सकामिऊण इत्यादि) तत्र विश्रामाभावे सति यतनया षट्पदिका अन्यत्र सक्रमय्य विधिना धावयन्ति प्रक्षालयन्ति। तदेवमविश्रमणीय उपधिरुक्त.,तद्भणनाच्च शेषो विश्रमणीयोपधिर्गम्यते।

ततस्तस्य विश्रमण विधिं विभणिषुरिदमाह-

जो पुण वीसामिज्जइ, तं एवं वीयरायआणाए।
पत्ते धावणकाले, उवहिं वीसामए साहू ॥ ३५ ॥

यः पुनरुपधिः प्राप्ते धावनकाले प्रक्षालनकाले,अनेन अकालप्रक्षालनेन भगवदाज्ञाभङ्गलक्षण दोषमुपदर्शयति, विश्रम्यते निःशेषषट्पदिकाविशोधनार्थमपरिभुक्तो ध्रियते, तमुपधिं वीतरागाऽऽज्ञया सर्वज्ञोपदेशेन, सर्वज्ञोक्तमित्यवधार्यमिति भाव.। एव वक्ष्यमाणेन प्रकारेण साधुर्विश्रमयेत्।

विश्रमणप्रकारमेवाऽऽह-

अब्भिंतरपरिभोगं, उवरिं पाउणइ नाइदूरे य।
तिन्नि य तिन्नि य एगं, निसिं तु काउं परिच्छिज्जा ॥३६॥

इह साधूनां द्वौ कल्पौ क्षौमौ। एक. कम्बलमय। तत्र यदा ते प्राव्रियन्ते, तदा एकः क्षौमोऽभ्यन्तर प्राव्रियते, शरीरलग्न. प्राव्रियते इत्यर्थ.। द्वितीयः क्षौमस्तस्योपरि कम्बलमय. तस्याप्युपरि। तत प्रक्षालनकाले विश्रमणाविधिप्रारम्भे रात्रौ स्वपने अभ्यन्तरपरिभोग सदैव शरीरेण सह सलग्न परिभुज्यमान क्षौम कल्पमुपरि शेषकल्पद्वयाद् बहिस्त्रीणि दिनानि यावत् प्रावृणोति। येन तत्स्था. षट्पदिका. क्षुधा पीड्यमाना आहारार्थम्, अथवा शीताऽऽदिना पीड्यमानास्त बहिः प्राव्रियमाण कल्पमपहायाऽऽन्तरे कल्पद्वये शरीरे वा लगन्ति। एष प्रथमो विश्रामणाविधि। एव त्रीणि दिनानि प्रावृत्य ततस्त्रीण्येव च दिनानि यावत् रात्रौ स्वापकाले नातिदूरे स्थापयति। किमुक्त भवति?-स्वापकाले सस्तारकनट एव स्थापयति, येन प्रथमविश्रमणविधिना या न नि सृता षट्पदिकास्ता अपि क्षुधा पीड्यमाना आहारार्थं ततो विनिर्गत्य सस्तारकाऽऽदौ लगन्ति। एष द्वितीयो विश्रामणाविधि। तत एकां निशा रात्रिम्, तुः समुच्चये। स्वापस्थानस्योपरि लम्बमानमधोमुख शरीरसम्प्राय पर्यन्ते प्रसारित कृत्वा स्थापयेत्। सस्थाप्य च पश्चात्परीक्षेत, दृष्ट्या,प्रावरणेन च षट्पदिका निभालयेत्। तद्यथा-प्रथम तावद् दृष्ट्या, निभालयेत्, दृष्ट्या निभालिता अपि यदि न दृष्टास्तत सूक्ष्मषट्पदिकारक्षणार्थं भूय. शरीरे प्रावृणोति, येन ता आहारार्थं शरीरे लगन्ति। एव परीक्षणे कृते यदि ता न स्युस्तदा प्रक्षालयेत्। अथ स्युस्तर्हि पुन पुनर्निभाल्य यदा न सन्तीति निश्चित भवति तदा प्रक्षालयेत्। एव सप्तभिर्दिनै कल्पशोधना। एतदनुसारेण शेषस्याप्युपधे. शोधना भावनीया। इह विश्रमणा प्रक्षालनीयस्यापरिभोगरूपा उक्ता,ततो यत्तस्य बहिः प्रावरणाऽऽदिरूप. परिभोग स परमार्थतोऽपरिभोग इति न तदापि विश्रमणा विरुध्यते।

एतामेव गाथा भाष्यकृद्व्याख्यानयति-

धोवत्थं तिन्नि दिणे, उवरिं पाउणइ तह य आसन्नं।
धारेइ तिन्नि दियहे, एगदिणं उवरि लंबंतं ॥

इय व्याख्यातार्था।

अत्रैव विश्रमणाविधौ मतान्तरमाह-

केई एकेक्क-निसिं, संवासेउं तिहा परीच्छंति।

पाउणिएँ जइ न लग्गं-ति ऊप्पया ताहे धोवंति ॥३७॥

केचिदेके सूरय एवमाहु -एकैकां निशां रात्रिं त्रिधा त्रिभिः प्रकारैः पूर्वोक्तैः सवास्य । तद्यथा-एकां निशां शोधनीय कल्प वहिः प्रावृणोति, द्वितीयां निशां सस्तारकतटे स्थापयति, तृतीयां तु निशां स्वपन् स्वापस्थानस्योपरि लम्बमानम-धोमुखं प्रसारितं शरीरलग्नप्रायपर्यन्तं स्थापयति । एवं त्रिधा सवास्य परीक्षन्ते हस्तया निभालयन्ति । निशालिता-श्लेष दृष्टा ,ततः सूक्ष्मषट्पदिकाविशोधनार्थं प्रावृण्वन्ति, प्रावृतौ च यदि न लगन्ति-न लग्नाः प्रतिभासन्ते षट्पदिकास्तत प्रक्षालयन्ति,लगन्ति चेत्तर्हि भूयो भूयस्तावद् दृष्ट्वा,शरीरप्रावरणेन च परीक्षन्ते,यावन्न सन्तीति निश्चितं भवति तत प्रक्षालयन्तीति । एषोऽपि विधिर्न्दूषणात्समीचीन इवाऽऽचार्यस्य प्रतिभासन इति मन्यामहे।

वस्त्रप्रक्षालनं च जलेन भवत्यतो जलग्रहणे विशेषमाह-

तिन्नोदगस्स गहणं,केई भाणेसु असुइपमिसेहो ।
गिहिभायणेसु गहणं, ठिते वासे मीसगं छारो ॥ ३८ ॥

वर्षासु गृहच्छादनप्रान्तगलितं जलं तीव्रोदकं,तस्येह यदि वर्षाकालादर्वाक् सर्वोऽप्युपधिः कथञ्चित्सामाग्र्यभावतो न प्रक्षालितस्तर्हि प्राप्ते वर्षे सति साधुभिस्तीव्रोदकस्य गृहपटलान्तोच्चीर्णस्य जलस्य वस्त्रप्रक्षालनार्थं ग्रहणमादानं कर्त्तव्यम् । तद्धि रजोगुण्ठितधूमधूम्रीकृतदिनकरतापसंपर्कसोष्मतीव्रमस्पर्शत परिणतत्वादचित्तम्, अतस्तद्ग्रहणे न काचिद्विराधना । तीव्रोदकस्य ग्रहणे केचिदाहुर्भाजनेषु स्वपात्रेषु तीव्रोदकस्य ग्रहणं कर्तव्यमिति । अत्राऽऽचार्य आह-(असुइपमिसेहो)'असुइ त्ति'भावप्रधानोऽयं निर्देशः। ततोऽयमर्थः -अशुचित्वादपवित्रत्वात्परोक्तविधिना तीव्रोदकस्य प्रतिषेधः।तीव्रोदकं हि न मलिनत्वात् शुचि, ततः कथं येषु पात्रेषु भोजनं विधीयते, तेषु तस्य ग्रहणमुपपन्नं भवति। मा भूत् लोके प्रवचनगर्हा,यथाऽमी अशुचय इति । ततो गृहिभाजनेषु गृहिसत्केषु कुण्डिकाऽऽदिषु,तस्य तीव्रोदकस्य ग्रहणम् । तच्च तीव्रोदकग्रहणं स्थिते निवृत्ते वर्षे वृष्टावन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वमिति गम्यते । अन्तर्मुहूर्त्तेन सर्वाऽऽत्मना परिणमनसंभवात् । अस्थिते किमित्याह-(मीसग त्ति) मिश्रकं निपतति वर्षे तत्तीव्रोदकं मिश्रं भवति । तथाहि-पूर्वनिपतितमचित्तीभूत, तत्काल तु निपतत्सचित्तमिति मिश्रम् । तत स्थिते वर्षे तत्प्रतिग्राह्य, तस्मिंश्च प्रतिगृहीते तन्मध्ये (छारो त्ति) क्षार प्रक्षेपणीयो, येन भूय. सचित्त न भवति । जल हि केवल प्रासुकीभूतमपि भूय प्रहरत्रयादूर्ध्वं सचित्तीभवति । तत तन्मध्ये क्षार प्रक्षिप्यते। अपि च-क्षारप्रक्षेपे समलमपि जल प्रसन्नतामाभजति, प्रसन्नेन च जलेन प्रक्षाल्यमानानि आचार्याऽऽदिवासांसि सुनेत्राणि जायन्ते। तत एतदर्थमपि क्षारप्रक्षेपो न्याय्य ।

सम्प्रति धावनगतमेव क्रमविशेषमाह-

गुरुपच्चक्खाणिगिलाण-सेहमाईण धोवणं पुव्वं ।
तो अप्पणो पुव्वमहा-कडे य इयरे दुवे पच्छा ॥३९॥

गुरुप्रत्याख्यानिग्लानशैक्षाऽऽदीनां पूर्वं प्रथमं धावनं कुर्यात्तत पश्चादात्मन । इयमत्र भावना-इह साधुभिः परमहितमात्मन समीक्षमाणैरवश्यं गुर्वादिषु विनयः प्रयोक्तव्यः, विनयवलादेव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवृद्धिसंभवात् । अन्यथा दुर्विनी-

६८७

तस्य सतो गच्छवासस्यैवासम्भवतः सकलमूलहानिप्रसक्तेः । ततो धावनप्रवृत्तेन साधुना प्रथमतो गुरूणामाचार्याणां वासांसि प्रक्षालनीयानि, तत. प्रत्याख्यानिनां क्षपकप्रभृतीनां तदनन्तरं ग्लानानां, ततोऽप्यनन्तरं शैक्षकाऽऽदीनाम् । तत्र शैक्षा अभिनवप्रव्रजिता. । आदिशब्दाद् बालाऽऽदिग्रह । सूत्रे च-"सेहमाईण" इत्यत्र मकारोऽलाक्षणिकः। ततस्तदनन्तरमात्मनः इह सर्वेषामपि गुर्वादीनां यथायोगं त्रिविधान्यपि प्रक्षालनीयवस्त्राणि सम्भवन्ति। तद्यथा-यथाकृतानि, अल्पपरिकर्माणि, बहुपरिकर्माणि च। तत्र यानि परिकर्मरहितान्येव तथारूपाणि लब्धानि, तानि यथाकृतानि। यानि चैकवारं खण्डयित्वा सीवितानि,तान्यल्पपरिकर्माणि। यानि च बहुधा खण्डयित्वा सीवितानि,तानि बहुपरिकर्माणि। ततस्तत्रापि धावनक्रममाह-(पुव्वमहाकडे य त्ति) पूर्वं प्रथमं सर्वेषामपि यथाकृतानि वासांसि धावयेत्। पश्चात्क्रमेण इतरे द्वे। किमर्थमिति चेत्? उच्यते-विशुद्धाध्यवसायस्फीतिनिमित्तम्। तथाहि-यान्यल्पपरिकर्माणि तानि बहुकर्मापेक्षया स्तोकं सयमव्याघातकारीणि भवन्तीति । तदपेक्षया शुद्धानि । तेभ्योऽपि यथाकृतान्यतिशुद्धानि, मनागपि पलिमन्थदोषकारित्वाभावात् । ततो यथा पूर्वं पूर्वं शुद्धानि प्रक्षाल्यन्ते, तथा सयमबहुमानवृद्धिभावतो विशुद्धाध्यवसायस्फीतिरिति पूर्वं यथाकृतानीत्यादिक्रम ।

सम्प्रति प्रक्षालनक्रियाविधिमुपदर्शयति-

अच्छोमपिट्टणासु य न धुवे धोए पयावणं न करे ।
परिभोग अपरिभोगे,छायाऽऽतवे य पेह कल्लाणं ॥४०॥

इह वस्त्राणि धावत आच्छोटपिट्टनाभ्यां न धावेत् । तत्राऽऽच्छोटन-रजकैरिव शिलायामास्फालनम्।पिट्टन-धनहीनरमणीभिरिव पुन पुन. पानीयप्रक्षेपपुरस्सरमुद्यतोर्ध्वपिट्टनेन कुट्टनम् । सूत्रे च सप्तमी तृतीयार्थे । यथा-" तिसु अलंकिया पुहवी " इत्यादौ । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । स च पाणिपादेन प्रमृज्य प्रमृज्य यतनया प्रक्षालयेदिति समुच्चिनोति । ततो धौते प्रक्षालिते धावनजलस्पर्शजनितशीतापनोदायाऽऽत्मनो वस्त्रस्य वा शोषणाय अग्ने प्रतापन न कुर्यात्।मा भूद्धावनक्षारजलाऽऽर्द्रीभूतहस्ताऽऽदितो वस्त्रतो वा कथञ्चिद्बिन्दुपनिपातेनाग्निकायविराधना। यद्येवं तर्हि कथं वस्त्रस्य शोषणं कर्तव्यमिति। शोषणविधिमाह-परिभोग्यानि, अपरिभोग्यानि च यथाक्रमं छायाऽऽतपयो. शोषयेत्। सूत्रे च विभक्तिलोप आर्षत्वात्। परिभोगेषु हि वस्त्रेषु तथा पूर्वशोधितेष्वपि कथञ्चित् षट्पदिका सम्भवति । सा च प्रक्षालनकाले तथोपमर्दिताऽपि कथञ्चिज्जीविता सती दिनकराऽऽतपसम्पर्के म्रियते, ततस्तद्रक्षणार्थं तानि छायायां शोषयेत् । इतराणि त्वातपे, दोषाभावात् । तानि छायायामातपे च शोषार्थं विशारितानि निरन्तरं (पेह त्ति) प्रेक्षेत, येन परास्कन्दिनो नापहरन्ति। इह पूर्वोक्तविधिना यतनापुरःसरमपि धाव्यमानेषु वस्त्रेषु कथञ्चिद्वायुविराधनारूप., षट्पदिकोपमर्दाऽऽदिरूपो वाऽसयमोऽपि सम्भाव्यते । ततस्तच्छुद्ध्यर्थं तस्य साधोर्गुरुणा कल्याणकं प्रायश्चित्त देयम्। पिं० । ओघ० । नि० चू० ।

सचित्तेण उ धुवणे, मुहणंतगमादिए वि चउलहुया ।
अचित्ते धोवणम्मि वि,अकारणे उवधिणिप्फण्णं ॥१०२॥

सचित्तेन उदकेन जइ वि मुहणंतगं धुवति,तदा वि चउलहुय ।

अह अचित्तेण उदगेण अकारणे धुवति, तओ उवहिणिप्फ ण्ण भवति । जहण्णोवकरणे पणग, मज्झिमे मासलहुं, उक्कोसे चउलहु। सचित्तेणाभिक्खणं धोवणे अट्ठेहिं सपद,मीसे दसहिं सपद, अचित्तेण वि णिक्कारणे अभिक्खं धोवणे उवहिणिप्फण्णे मट्ठाणा उवरिमं णायव्वं । नि० चू० १ उ० । शुभाध्यवसायान्मिथ्यात्वपुद्गलानां सम्यक्त्वभावसजननरूपे कर्मणोऽवस्थाभेदे च । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

धाविय-धावित-त्रि० । धावितु प्रवृत्ते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

धि (क)-धिक्-अव्य० । धा०-धक्क वा भिकि० । अनिष्टशब्दैर्भ्रयजनने, निर्भर्त्सने, निन्दायाम्, स्था० ७ ठा० । वाच० । व्य० । अ० । "धिगत्थु ते जसोकामी।" धिक्शब्दः कुत्सायाम् । दश० २ अ० । निन्दनीये च । वाच० ।

धिइ-धृति-स्त्री० । धरणं धृतिः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । धृ-क्तिन् । "इत्कृपाऽऽदौ" ॥ ८ । १ । १२८ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणेकार० । प्रा० १ पाद । धारणे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । पतनप्रतिबन्धकसंयोगे, द्वा० ४ द्वा० । धारणारूपे मतिज्ञानभेदे, विशे० । सन्तोषे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । धृतिर्येन केनाचिद्वसनभोजनाऽऽदिना निर्वाहमात्रनिमित्तेन सन्तोषः । यो०विं० । अष्ट० । धैर्ये, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । धृतिर्धैर्यं चित्तस्यैकाम्यम् । उत्त० ३२ अ० । धृतिः संयमे धैर्यं चित्तसमाधानम् । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । रागद्वेषानाकुलतया मनः प्रणिधाने, आव० ५ अ० । धृतिर्वज्रकुड्यवदच्छेद्यं प्रणिधानम् । बृ० ६ उ० । ज्ञा० । स्था० । ध० । पा० । सथा० । ग०। धृतिरुद्वेगाऽऽदिदोषपरिहारेण चित्तस्वास्थ्यम् । पञ्चा० ४ विव० । स० । बृ० । प्रव० । च०प्र० । धृतिश्चित्तदार्ढ्यमिति। प्रश्न०१ सम्ब०द्वार। सू० प्र० । विपा० । धरणं धृतिः। सम्यग्दर्शनचारित्रावस्थाने,सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । उत्त०। "मह धिइवेलापरिगयस्स।" धृतिर्मूलोत्तरगुणविषयः प्रतिदिवसमुत्सहमान आत्मपरिणामविशेषः । न० । तत्परिपालनीयत्वादहिंसायाम् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार । न रागाऽऽद्याकुलतया धृतिर्मनःप्रणिधानं, विशिष्टा प्रीतिः । इयमप्यत्र मोहनीयकर्मक्षयोपशमाऽऽदिसंभूता,रहिता दैन्यौत्सुक्याभ्यां, धीरगम्भीराऽऽशयरूपा अवन्ध्यकल्याणानिबन्धना वस्त्वाप्त्युपशया । ल०। "धिती तु मोहस्स उवसमे होइ।" मोहक्षयोपशमाद् धृतिर्भवति । नि० चू० १ उ० । "होइ धितीय अहिगारो, विसेसओ खित्तकालेसु।" आचा० १ श्रु०५ अ० १ उ० । द्रव्ये तावदरसविरसप्रान्तकक्षाऽऽदिके धृतिर्भावयितव्या, क्षेत्रेऽपि कुतीर्थिकभाविते प्रकृत्यभद्रके वा नोद्वेगः कार्य्यः, कालेऽपि दुष्कालाऽऽदौ यथालाभमन्तोबिणा भाव्यम्, भावेऽप्याक्रोशोपहसनाऽऽदौ नोद्विजितव्यम् । विशेषस्तु क्षेत्रकालयोरनयोरपि धृतिर्भाव्या, द्रव्यभावयोरपि प्रायशस्तन्निमित्तत्वात् । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । धैर्याधिष्ठात्र्यां देवतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जम्बूमन्दरदक्षिणस्यां दिशि स्थितस्य निषधवर्षधरपर्वतस्य तिगिञ्छद्रहाधिष्ठात्र्यां धृतिकूटस्थाया देवतायाम्, स्था० ३ ठा० ४ उ० । ज० । धृतिस्तिगिञ्छद्रहसुरीति । स्था० ६ ठा० । निरयावलिकोपाङ्गस्य पुष्पचूलाऽऽख्यचतुर्थवर्गस्य तृतीयाध्ययनेप्रतिबद्धवक्तव्यतायां स्वनामख्यातायां देव्याम्, नि० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ० । विष्कुम्भावधिकेऽष्टमे योगे, अष्टादशाऽक्षरपादके छन्दोभेदे, अष्टादशसंख्यायां च । वाच० ।

धिइकंद-धृतिकन्द-पुं० । धृतिश्चित्तस्वास्थ्यं, स एव कन्दः स्कन्धाधोभागरूपो यस्य स तथा । चित्तस्वास्थ्यरूपस्कन्धाधोभागयुते संवरपादपे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

धिइकूड-धृतिकूट-न० । धृतिस्तिगिञ्छद्रहसुरी तस्याः कूटं धृतिकूटम् । जम्बूमन्दरदक्षिणस्यां दिशि स्थितस्य निषधवर्षधरपर्वतस्य तिगिञ्छद्रहाधिष्ठात्र्या धृतिदेव्याऽधिष्ठिते स्वनामख्याते कूटे, ज० ४ वक्ष० । स्था० ।

धिइजुत्त-धृतियुक्त-त्रि० । धृतिश्चित्तस्वास्थ्यं तद्युक्तो धृतियुक्तः। चित्तस्वास्थ्योपेते, पञ्चा० १८ विव० ।

धिइजुय-धृतियुत-त्रि०। धृतिश्चित्तावष्टम्भस्तद्युतो धृतियुतः। मानसावष्टम्भयुते, स हि नातिगहनेष्वप्यर्थेषु भ्रममुपयाति । ग० १ अधि० । प्रव० ।

धिइधणिय-धृतिधनिक-पुं०। धृतेर्मनःस्वास्थ्यस्य धनिकः स्वामी धृतिधनिकः । मनःस्वास्थ्यस्वामिनि, स० ६ अङ्ग ।

धिइधणियणिप्पकंप-धृतिधनिकनिष्प्रकम्प-त्रि० । धृतिरज्जुबन्धनेन धनिकमत्यर्थं निष्प्रकम्पोऽविचलो यः स मध्यमपदलोपाद् धृतिधनिकनिष्प्रकम्पः । धृतिरज्जुबन्धनेनात्यर्थमविचले, औ० ।

धिइधणियबद्धकच्छ-धृतिधनिकबद्धकक्ष-त्रि० । धृतिरेव धनिकमत्यर्थं बद्धा कक्षा येन स तथा । भ० ९ श० ३३ उ० । धृतौ सन्तोषे, धैर्ये वा "धणिय त्ति" अत्यर्थं बद्धकक्षः धृतिधनिकबद्धकक्षः । कल्प० १ अधि० ५ क्षण । धृत्या चित्तस्वास्थ्येन " धणिय ति " अत्यर्थं बद्धा कक्षा येन स तथा । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सथा० । धृतिश्चित्तसमाधानं, तद्रूपा "धणिय त्ति " अत्यर्थं, बद्धा निष्पीडिता कक्षा बन्धविशेषो यत्र तत्तथा । धृतिबलयुक्ते, स० ११ अङ्ग । " धिइधणियबद्धकच्छा । " धृत्या चित्तस्वास्थ्येन धनिकमत्यर्थं बद्धा कृता आराधनारूपा कक्षा प्रतिज्ञा परिकरो वा यैस्ते धृतिधनिकबद्धकक्षा । सथा० ।

धिइबल-धृतिबल-न० । धृतेश्चित्तसमाधेर्बलमवष्टम्भो धृतिबलम् । चित्तसमाधेरवष्टम्भे, ध० ३ अधि० । धृतिश्चित्तसमाधिर्बलमवष्टम्भो धृतिबलम्, तत्कारणत्वान्महाव्रतमपि धृतिबलम् । चित्तसमाधिलक्षणे सामर्थ्ये, पा० । पञ्चा० । ध० । तत्कारणत्वान्महाव्रताऽऽदौ च । पा० । सात्त्विके, कातरे च । त्रि० । बृ० १ उ० ।

धिइबलय-धृतिबलक-न० । स्वार्थे कः । चित्तसमाधिलक्षणे सामर्थ्ये, तत्कारणत्वान्महाव्रताऽऽदौ च । पा० ।

धृतिबलद-त्रि० । चित्तसमाधिलक्षणसामर्थ्यदायके महाव्रताऽऽदौ, पा० ।

धिइवलिय-धृतिबलिक-त्रि० । धृतिर्वज्रकुड्यवदच्छेद्यं प्रणिधानं, तया बलिको बलवान् । बृ० ६ उ० । अतिशयेन धृतिमति, दर्श० १ तत्त्व । चित्तसमाधानलक्षणसामर्थ्ययुक्ते च । पञ्चा० ७ विव० । ध० ।

धिइमइ-धृतिमति-स्त्री० । धृतौ मतिर्धृतिमतिः । आव० ४ अ० । धृतिप्रधाना मतिर्धृतिमति. । आव० ४ अ० । स० । योगसंग्रहभेदे, आ० चू० ४ अ० । प्रश्न० ।

धृतिमतिद्वारमाह-

" नगरी य पडुमहुरा, पमववसे मर्ङ अ सुमई अ ।
वारीवसभाऽऽहरणे, उप्पाइअ सुट्ठु पत्र पव्वज्जा ॥ १ ॥ "

वारिवृषभ प्रवहणम् ।

" नगरी च पाण्डुमथुरा, तत्राऽऽसन् पञ्च पाण्डवाः ।
स्थापित प्रव्रजद्भिस्तै-र्निजराज्ये निज सुत ॥ २ ॥
नेमिन तु दधावुस्ते (?), हस्तिकल्पपुरेऽन्तरा ।
भिक्षागताः प्रभु काल-गत श्रुत्वा विषादिन. ॥ ३ ॥
भक्त प्रक परित्यज्य, गत्वा शत्रुञ्जयाचले ।
विधायानशन प्राप्य, केवल निर्वृतिं ययु ॥ ३ ॥
तद्वंशे पाण्डुसेनोऽभू-न्नृपस्तस्य सुताद्वयम् ।
मतिश्च सुमतिश्चैव, ते द्वे अपि च रैवते ॥ ४ ॥
नन्तु चैत्यानि पोतेन, प्रस्थिते सागराध्वना ।
उत्पाते तत्र सजाते, रुद्राऽऽदीन् जनताऽस्मरत् ॥ ५ ॥
ताभ्या पुनर्भृश स्वात्मा, सयमे विनियोजित. ।
निश्चप्रवहणे प्राप्य, ज्ञान मुक्तिरलभ्यत ॥ ६ ॥
सुस्थितो लवणाधीशो-ऽकार्षीत्पूजा तदङ्गयो ।
द्विव्योद्द्योतेन तत्तीर्थं, प्रभासाभिधयाऽभवत् ॥७॥" आ०क० ।

धिइमइववसायदुब्बल-धृतिमतिव्यवसायदुर्बल-त्रि० । धृतिमतिव्यवसाया दुर्बला यस्य स तथा । धृतिमतिव्यवसायेषु दुर्बलो धृतिमतिव्यवसायदुर्बल । दुर्बलधृतिमतिव्यवसाये, धृतिमतिव्यवसायेषु दुर्बले च । स० ४२ सम० ।

धिइमंत-धृतिमत्-त्रि० । धैर्यवति, उत्त० २६ अ० । चित्तस्वास्थ्ययुक्ते, अरतिरत्यनुलोमप्रतिलोमोपसर्गसहे, स्था० ८ ठा० । असह्यपरीषहाभिद्रुतोऽपि चारित्रधृतिमानिति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । धृति. समाधान सयमे यस्य स धृतिमान् । आचा० २ श्रु० ४ चू० १६ अ० । सूत्र० । सयमस्वस्थे, ध० ३ अधि० । दश ० " धितिमता जिइंदिया । " धृति सयमे रति', सा विद्यते येषा ते धृतिमन्त । सयमधृत्या हि पञ्चमहाव्रतभारोद्वहन सुसाध्य भवतीति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । दश० । (एतच्च 'धम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७०५ पृष्ठे समुक्तम्)

धिईवीरियपरिहीण-धृतिवीर्यपरिहीण-त्रि० । मानसिकावष्टम्भवलरहिते, वृ० २ उ० ।

धिक्कय-धिक्कृत-त्रि० । धिक् निन्दनीय. कृत. । कृ-क्त. । धिक्कार प्राप्ते व्य० १ उ० । भावे तु धिक्कारे, न० । वृ० ६ उ० ।

धिक्करण-धिक्करण-न० । धिक्शब्दविषयीकरणे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

धिक्कार-धिक्कार-पु० । धिक्-कृ-घञ् । तिरस्कारे, वाच० । धिगधिक्षेपार्थ एव,तस्य करणमुच्चारण धिक्कार । स्था० ७ ठा० । धिक्-कृ-घञ् । तिरस्कारे, वाच० । तदात्मके दण्डनीतिभेदे, स्था० ७ ठा० । जं० । आ० म० । कल्प० । ति० ।

धिज्ज-धैर्य-न० । धीरस्य भावे ष्यञ् । " ईदू धैर्ये " ॥ ८ । १ । १५५ ॥ इतिप्राकृतसूत्रेण धैर्यशब्दे ऐत ई । प्रा० १ पाद । ' धैर्ये वा " । ८ । २ । ६४॥ धैर्ये यस्य रो वा । 'धीर । धिज्जं ।' प्रा० १ पाद । " स्याद्-भव्य-चैत्य-चौर्य-समेषु,यात् " ॥८। २ । १०७ ॥ इतिप्राकृतसूत्रेण चौर्यसमेषु शब्देषु सयुक्तस्य यात्पूर्व इद् भवति । 'धीरियं ।' प्रा० २ पाद । "स्थिरचित्तोन्नतिर्या तु, तद्धैर्यमिति गीयते । " इत्युक्ते मनस स्थैर्ये, वाच० । ' धैर्यं चित्तसमाधानम् ।' सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । " पत्तियाइं धिज्जाइं ।" प्रीतौ दाने वा स्थैर्यवन्ति । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । पो० । सत्त्वे, प्रश्न० २ सव० द्वार । "मनसो निर्विकारत्व, धैर्यं सत्स्वपि हेतुषु । " इत्युक्ते मनसो विकाराभावे, अव्याकुलत्वे, विघ्नाऽऽद्युपस्थितावपि प्रारब्धापरित्यागहेतौ चित्तवृत्तिभेदे च । वाच० ।

धेय-त्रि० । धारणीये, पालनीये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

ध्येय-त्रि० । हृदि धारणीये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

धिज्जाइय-धिग्जातिक-त्रि० । धिग्जातिमति, आव० २ अ० । नि० चू० । 'तत्थ भद्दा नाम धिज्जाइणी ।' आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

धिज्जाईय-धिग्जातीय-त्रि० । धिग्जात्युत्पन्ने, आव० ३ अ० । नि० चू० । आ० म० ।

धिज्जीविय-धिग्जीवित-न० । कुत्सितजीविते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

धिट्ठ-धृष्ट-त्रि० । धृष्-क्तः । " मसृण-मृगाङ्क-मृत्यु-शृङ्ग-धृष्टे वा " ॥८ । १ । १३०॥ इति प्राकृतसूत्रेण ऋत इत्वम् । प्रा०१पाद । निर्लज्जे, प्रगल्भे, नायकभेदे च । वाच० ।

धिप्प-दीप-धा० । दीप्तौ, दिवा०-आत्म०-सेट् । " दीपौ धो वा " ॥ ८ । १ । २२३ ॥ दीप्यतौ दस्य धो वा । 'धिप्पइ । दिप्पइ ।' प्रा० १ पाद । दीप्यते । अदीपि । अदीपिष्ट । दीपू-णिच् । अदीदीपत्-त । अदीदिपत्-त । वाच० ।

धिम्मल्ल-धिद्मल्ल-न० । निन्द्यमल्ले, त० ।

धिसण-धिषण-पु० । बृहस्पतौ, को० ९७ गाथा ।

धी-धी-स्त्री० । ध्यै-क्विप्,सम्प्रसारण च । बुद्धौ, धीर्बुद्धिरित्यनर्थान्तरम् । प० चू० । आचा० । गा० । " धी मई बुद्धी । " को० ३१ गाथा । आतु० । गा० । सूत्र० । अनु० । आचा० । तत्त्वावगमे च । धीर्बुद्धिस्तत्त्वावगम. । धिय-ई-श्री धी. । बुद्धिसम्पत्तौ च । गा० । धीश्चित्त,नत्र य ई काम स धी । चित्तस्य कामे,गा० । अभेदोपचारात् परिमते च । पु० । गा० ।

धीउ-धीयु-त्रि० । धीर्बुद्धिर्विज्ञान,तस्या युरपृथग्भूतः धीयु । बुद्धियुते, गा० ।

धीधण-धीधन-त्रि० । बुद्धि धने, " नियमेन धीधनै पुत्रि । " पो० १६ विव० ।

धीम-धीम-पु० । धीर्बुद्धिस्तत्त्वतस्तन्मिमीते शब्दयति प्ररूपयति धीम. । बुद्धितत्त्वप्रतिपादके भगवति कपिले, गा० । धिय ज्ञानमेव मिमीते शब्दयति प्रापयति धीम. । बहिरर्थाऽऽकाराणाम. विद्यादर्शितत्वादविद्यमानत्वेन ज्ञानाद्वैतप्रतिपादके बुद्धे, गा० । ज्ञानत्रयाभिरामत्वे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

धीमह-धीमह-त्रि० । अभेदोपचाराद् धिय परिमता महन्तीति मह पूजका आराधका, महे क्विप् । धिया मह धीमह । विद्वज्जनपर्युपासकेषु गा० । धिय परिमता मह पूजका यस्य स तथा । विद्वज्जनपर्युपासिते, गा० ।

धीमंत–धीमत्–पुं० । धीः प्रज्ञाऽस्त्यस्य मतुप् । बृहस्पतौ, बुद्धिमति, परिमताऽऽदौ च । त्रि० । वाच० । द्वा०१६ द्वार । यो० विं० । कल्प० । ज्ञानचतुष्टययोगाद् महाप्रज्ञे च । द्वा० २७ अष्ट० ।

धीर धीर–त्रि० । धियं बुद्धिं राति ददातीति धीरः । रा–क. । उत्त० ७ अ० । आतु० । धिया औत्पत्यादिकया बुद्ध्या राजत इति धीरः । ग० १ अधि० । व्य० । आचा० । सूत्र० । उत्त० । नं० । आव० । आतु० । धियमीरयति धी ईर अण्, धी कन्वा । वाच० । तीर्थकरे, गणधरे च । आचा० १ श्रु०५ अ०१ उ० । आव० । आतु० । बुद्ध्या विराजिते, ध०२ अधि० । आचा० । धीरो विशुद्धबुद्धिमानिति । आतु० 'धीरः सद्बुद्धयलङ्कृतः ।' सूत्र०१ श्रु०१३ अ० । बुद्धिमति, प्रश्न० ५ सब० द्वार । दश० । व्य० । पञ्चा० । सूत्र० । उत्त० । विवेकिनि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । विदुषि, आतु० । धीरा विदितवेदितव्याः । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । आतु० । साहसिके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । दृढचित्ते, दर्श० ५ तत्त्व । पं० चू० । परीषहोपसर्गाऽऽदिभिरक्षोभ्ये. अष्ट० ३० अष्ट० । प्रश्न० । सूत्र० । उत्त० । पिं० । स्था० । आचा० । बृ० । औ० । धीराः कर्मविदारणसहिष्णवः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । स्थिरे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । उत्त० । नं० । महासत्त्वे, पञ्चा० ४ विव० । सूत्र० । स० । धैर्यान्विते, विनीते, बलिराजे, बुद्धिप्रेरके बुद्धिसाक्षिणि परमेश्वरे च । पुं० । कुङ्कुमे, न० । नायिकाभेदे, काकोल्याम्, महाज्योतिष्मत्याम्, स्थिरायां चित्तवृत्तौ च । स्त्री० । वाच० ।

धैर्य–न० । 'धिज्ज' शब्दार्थे । प्रा० १ पाद ।

धीरकरण–धीरकरण–न० । धीरत्वोत्पादने, धीरकरणकारणानि । स० ६ अङ्ग ।

धीरकित्तिपुरिस–धीरकीर्तिपुरुष–पुं० । धीराणां सतां या कीर्तिस्तत्प्रधानः पुरुषो धीरकीर्तिपुरुषः । सत्कीर्तिप्रधाने पुरुषे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

धीरत्त–धीरत्व–न० । परीषहोपसर्गाक्षोभ्यतायाम्, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । "धीरत्तं पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो ।" उत्त० ७ अ० ।

धीरपुरिस–धीरपुरुष–पुं० । धीर्बुद्धिस्तया राजत इति धीरः, स चाऽसौ पुरुषश्च धीरपुरुषः । प्रज्ञा० १ पद । एकान्ततो वीर्यान्तरायकर्मापगमात् तीर्थङ्करे, धिया राजितत्वाद् गणधरे च । आव०४ अ० । व्य० । दश० । महासत्त्वे, महाबुद्धौ, "धीरपुरिसपण्णत्तं ।" महासत्त्वमहाबुद्धितीर्थकरगणधरप्ररूपितम् । आव० ६ अ० । बुद्धिमति नरे, अक्षोभ्यनरे च । पञ्चा० ४ अ० ।

धीरवणा–धीरापना–स्त्री० । दु:खेन परिताप्यमानस्य धीरो भव धीरो भव, अहं तवैतद् दु:खं विश्रामणाऽऽदिनाऽपनेष्यामि, अपि च पुण्यभागिन् ! महन्नैतद् दु:खं सम्यग्, अत एव तत्सहनानन्तरमचिरात्सर्वदु:खप्रहाणं भविष्यतीत्यादिके आश्वासने, " धीरवणं चेव धम्मकहणा य ।" व्य० १ उ० ।

धीरिय–धैर्य–न० । 'धिज्ज' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

धुअगाअ–न० । देशी–भ्रमरार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ४७ गाथा ।

धुक्कुधुअ–न० । देशी–उल्लसिते, दे० ना० ५ वर्ग ६० गाथा ।

धुक्कुधुगिअ–न० । देशी–उल्लसिते, दे० ना० ५ वर्ग ६० गाथा ।

धुंधुमार–धुन्धुमार–पुं० । सुंसुमारपुरस्थे स्वनामख्याते नृपे, "सुसुमारधुंधुमारे, अंगारवई य पज्जोए ।" आ० चू० ४ अ० । आ० क० । इन्द्राण्याम्, दे० ना० ५ वर्ग ६० गाथा । (तत्कथा 'संवेग' शब्दे वक्ष्यते)

धुण–धुव–धा० । धूञ् कम्पने, स्वादि०–उभ०–सक०–वेट् । "धूगेर्धुवः" ॥८।४।५९॥ इति प्राकृतसूत्रेण धुव इत्यादेशो वा । 'धुवइ' प्रा० ४ पाद । "चि–जि–श्रु–हु–स्तु–लू–पू–धूगां णो ह्रस्वश्च" ॥८।४।२४१॥ एषामन्ते णकाराऽऽगमो, ह्रस्वश्च । 'धुणइ ।' प्रा० ४ पाद । धावति–ते । अधावीत् । अधविष्ट । अधोष्ट । वाच० । धू कम्पने, क्र्या० । उभ०–सक०–वेट् । धूनोति । धुनीते । धुनाति । धुनीते । अधावीत् । अधविष्ट । अधोष्ट । " धूनोति चम्पकवनानि धुनात्यशोकम् ।" इति । " वायुर्विधूनयति ।" इति च कविरहस्यम् । वाच० । भावकर्मणोः " नवा कर्मभावे व्वः क्यस्य च लुक् ॥ ८ । ४ । २४२ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण क्यस्य लुक्, द्विरुक्तो वकाराऽऽगमः । " धुव्वइ । धुणिज्जइ ।" प्रा० ४ पाद ।

धुणण–धूनन–न० । अपनयने, सूत्र० । कृशीकरणे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । परित्यागे, आचा० १ श्रु०६ अ० १ उ० । स्था० । भिन्नग्रन्थेरनिवृत्तिकरणेन सम्यक्त्वावस्थानरूपे कर्मणोऽवस्थाभेदे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

धुणित्तए–धूनयितुम्–अव्य० । अपनेतुमित्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ उ० । " उवहिं धुणित्तए ।" धूननायापनयनाय । सूत्र०१ श्रु० २ अ० २ उ० ।

धुणिया–धूत्वा–अव्य० । क्षपयित्वेत्यर्थे, दश० ६ अ० ३ उ० । सूत्र० ।

धुणेज्ज–धूननीय–न० । पापकर्मणि, आ० चू० १ अ० ।

धुण्ण–धून्य–पापे, दश० ६ अ० १ उ० ।

धुण्णबहुल–धून्यबहुल–न० । धूयते इति धून्य प्राग्बद्धं कर्म तत्प्रचुरे, दशा० ६ अ० ।

धुण्णमल–धून्यमल–न० । पापमले, दश० ६ अ० १ उ० ।

धुतोवाय–धुतोपाय–पुं० । अष्टप्रकारकर्मधूननोपाये संयमाऽऽदिके, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

धुत्त–धूर्त्त–पुं० । धुर्वै–धुर–वा–क्त । "त्तस्याऽधूर्ताऽऽदौ" ॥ ८ । २ । ३० ॥ इति प्राकृतसूत्रेणाधूर्त्ताऽऽदाविति निषेधात् तस्य टो न । प्रा० २ पाद । धुस्तूरवृक्षे, चोरकवृक्षे, नायकभेदे, " धूर्त्तोऽपरा धुस्यति ।" लौहकीट्टे, विमुलवणे च । वञ्चके, द्यूतकारके च । त्रि० । " धुत्तेव कलिणा जिए ।" उत्त० ५ अ० । विस्तीर्णे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धुत्तक्खाण–धूर्त्ताऽऽख्यान–न० । धूर्त्तकथानके, ग० । तद्यथा– " अवंतीजणवए उज्जेणी णाम णगरी । तीसे उत्तरपासे जिण्णुज्जाणं नाम उज्जाणं । तत्थ बहवे धुत्ता समागया । तेसिं अहिवइणो इमे–ससो १, एलासाढो २, मूलदेवो ३, खंडपाणा य इत्थिया ४ । एक्केक्कस्स पंच पंच धुत्तसया । धूर्त्ताणं य पंच सता समणागया । अहणाया पाउसकाले मसाहुवइमे भुक्खत्ताणं इमेरिसी वहा संवुत्ता–को अम्ह देज्ज भत्तं ति ? । सु

कंडरीओ भणति-जं जेण अणुभूयं, सुयं वा, सो तं कहयतु, जो तं ण पत्तियइ तेण सव्वधुत्ताण भत्तं दायव्वं । जो पुण भारह-रामायणसुइस्समुत्थाहिं उवणयउववत्तीहिं पत्तीहिंति, सो मा किंचि दसयतु । एवं मूलदेवेण भणिए सव्वेहिं वि भणियं-सा-हु साहु त्ति । ततो मूलदेवेण भणियं-को पुव्वं कहयति ? । एलासाढेण भणियं-अहं भे कहयामि । ततो सो कहिउमार-द्धो-अहयं गावीओ गहाय अडविं गओ । पेच्छामि चोरे आगच्छमाणे, तो मे पावरणं कंबलिं पत्थरिऊण तत्थ गावी-ओ लुंचिऊणाऽहं पोट्टलयं बंधिऊण गाममागओ, पेच्छामि य गाममज्झयारे गेंदहे रममाणे । ताऽहं गंदियगावो पत्थिउमा रद्धो(?), खणमेत्तेण य ते चोरा कलयलं करेमाणा तत्थेव णिग्ग-इता । सो य गामो सदुपदचउप्पदो,एक्कं वालुकं एगाए अजियाए गसियं, साऽवि अजिया चरमाणी अजगरेण गसिया । सोवि अ-जगरो एगाए ढेंकाए गहिओ,सा उड्डिउं वडपायवे णिलीणा । तीसे य एगो पाओ पलंबति । तस्स य वडपायवस्स अहे खंधावारो ठिओ । तम्मि वडे ढेंकाए गयवरो आगलितो । सा उड्डिउं पयत्ता, आगलिसओ पाओ, गयवरे कड्डितुमारद्धे डोवेहिं कलयलो कओ । तत्थ सद्दवेहिणो गंदियचावा पत्ता । तेहिं सा जमगसम-गसरेहिं पूरिया । सा मया । रण्णा तीए पेट्टं फालाविय,अयगरो दि-ट्ठो । सो वि फालाविओ,अजिया दिट्ठा । सा वि फालाविया,वालु-कं दिट्ठं रमणिज्जं । एत्थंतरे ते गेंदहा उपरता पत्तगसेणा इव भूवि-लाओ,सो गामो वालुंकाओ णिग्गतुमारद्धो । अहं पि गंदियगावो णिग्गओ, सव्वो सो जणो सठाणं णिग्गओ । अहं पि अवउ-ज्झिय गावो इहमागतो । तं भणह कहं सच्चं ? । सेसगा भणंति-सव्वं सच्चं । एलासाढो भणति-कहं गावीओ कंबलीए माया-ओ ? । गामो वा वालुके ? । सेसगा भणंति-भारहसुतीए सुव्वति-जहा पुव्वं आसी एगण्णवं जगं सव्वं,तम्मि य जले अंडमासी । त-म्मि य अंडगे ससेलवणकाणणं जगं सव्वं जइ माय तो कहं तुह कंबलीए गावो, वालुके वा गाममाणमाहिति । जं भणसि जहा-ढेंकुदरे अयगरो,तस्स य अजिया,तीए वालुकं, एत्थ वि भण्णइ उत्तर-ससुरासुर सनारक ससेलवणकाणणं जगं सव्वं जइ वि-ण्हुस्स उदरे माय सो वि य देवईउदरे माओ, सा वि य सय-णिज्जे माया जइ एयं सव्वं तो तुह वयणं कहं असच्चं भवि-स्सति ?॥ १ ॥

ततो ससो कहितुमारद्धो-अम्हे कुसुमिपुत्ता । कयाइ च क-रिसणाणि अहं सरयकाले छेत्तुं अतिगओ । तम्मि अ खेत्ते तिलो वुत्तो । सो य परिसो जातो,जो परं कुहाडेहिं छेत्तव्व, तं समंता परिब्भमामि,पेच्छामि य गआयवरं रण्ण,तणम्मिओ ठिओ पलाओ(?),पेच्छामि य अदूरप्पमाणं तिलरुक्खं । तम्मि वि लग्गो,पत्तो य गयवरो सोमं अपावते कुलालचक्कं व तं तिलरुक्खं परिब्भ-मति । चालेइ य तं तिलरुक्खं, तेण य चालिओ जलहरो विव तिलोऽनिवुट्ठिं मुचति । तेण य भमतेण चक्कतिला विव ते तिला पीलिया । तओ तेल्लोदा णाम णदी बूढा,सो य गओ तत्थेव,ति-लचलणीए खुत्तो मओ य, मया वि से चम्मं गहियं । अतिओ कओ, तेल्लस्स भरिओ,अहं पि खुधिओ खलभारं भक्खयामि । दस य तेल्लघडा तिसिओ पिवामि, तं च तेल्लपडिपुन्नं दइयं घेत्तु गामं पट्ठिओ,गामवहिया रुक्खसालाए णिक्खिविउं तं दइयं गि-हमतिगओ,पुत्तो य मे दइयस्स पेसिओ,सो तं जाहे ण पावइ,ता हे रुक्खं पाडेउं गहिय हत्थे अहं पि गिहाओ उट्ठिओ परिब्भमतो इहमागओ । एय पुण मे अणुभूयं,जो ण पत्तियति,सो देउ भत्तं । सेसगा भणंति-अत्थि एसो य भावो, भारहरामायणे सुई सु-णिज्जति-"तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदविन्दुभिः । प्रावर्त्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥ १ ॥" जं भणसि कहं एमहतो तिलरुक्खो भवति ? । एत्थ भण्णइ-पाडलिपुत्ते किल मासपादवे भेरी णिम्मविया,तो किं तिलरुक्खो एमहतो न होज्जाहि ?॥२॥

ततो मूलदेवो कहिउं मारद्धो । सो भणति-तरुणत्तणे इ-ट्ठियसुहाभिलासी धाराधरणट्ठयाए सामिगिहं पट्ठिओ छ-त्तकमंडलुहत्थो, पेच्छामि य वणगजं मम वहाए एज्जमाणं, ततोऽहं भीतो अत्ताणो असरणो किंचि णिलुक्कणठाणं अपासमाणे जलहड्डणणाडएण कमंडलु अतिगतम्मि । सो वि य गयवरो मम वहाए तेणेवनेण अतिगओ । ततो मे सो गयवरो छम्मास अंतो कुंडियाए वामोहिओ । तओऽहं छम्मासंते कुंडियगी-वाए णिग्गओ । सो वि य गयवरो तेणेवतेण णिग्गओ । णवरं वा-लग्गेण गीवाए लग्गो । अहमवि पुरओ पेच्छामि अणोरपारं गंगं, सा मे गोपयमिव तिण्णा गओम्हि सामिगिहं,तत्थ मे तण्हा छुहा समं अगणेमाणेण गंगाओ पडती मत्थए छम्मासा धा-रिया धारा । तओ पणमिऊण महासेणं पयातं संपत्तो उज्जेणिं, तुज्झ व इह मिलिओ इति । तं जइ सच्चं एयं तो मे हेऊहिं पत्तियावेह । अहमसह्य अलियं, तो धुत्ताणं देहउ भत्तं । तेहिं भणियं सच्चं । मूलदेवो भणइ-कहं सच्चं । ते भणंति-सुणेह, पुव्वं बंभणस्स मुहाओ विप्पा णिग्गया, बा-हाओ खत्तिया,ऊरूसु वइस्सा, पादेसु सुद्दा । जइ इत्तिओ जण-वओ तस्सुदरे माओ, तो तुमं हत्थी य कुंडियाए किं ण माहि-ह । अण्णं च किल बंभणो विण्हू य उड्डाह कुणंतो धावंता गता, दिव्वं वाससहस्सं तहा वि लिंगस्सऽतो ण पत्तो,तं जइ एमहंत लिंगं उमाए सरीरे माय तो तुह हत्थी य कुंडियाए ण माहिइ । जं भणसि-वालग्गे हत्थी कहं लग्गो ? । तं सुणसु-विण्हू जगस्स कत्ता, एगण्णवे तप्पति तव जलसयणगतो, तस्स य णाभीओ बंभो पउमगब्भणीभो णिग्गओ, णवरं पंकय णाभीए लग्गो, एवं जइ तुमं हत्थी य वि णिग्गता, हत्थी वालग्गे लग्गो, को दोसो ?,जं भणसि गंगा कहमुत्तिण्णा ? । रामेण किल सीताए प-वित्तिहेउं सुग्गीवो, तेणावि हणुमंतो, सो बाहाहिं समुदं तरिउं लंकापुरिं पत्तो । सीयाए पुच्छिओ--कहं समुद्दो तिण्णो ? । भण-ति -"तव प्रसादात् वचस प्रसादा- द्भर्तुश्च ते देवि ! गुरुप्रसा-दात् । साधुप्रसादाच्च पितुः प्रसादा--त्तीर्णो मया गोष्पदवत्स-मुद्रः ॥१॥" जइ तेण तिण्णो समुद्दो बाहाहिं,तेण तुमं कहं गंगं ण तरिस्ससि ? । जं भणसि--कहं छम्मासे धारा धरिता । एत्थ वि सुणसु दिव्वं वाससहस्सं तव कुणमाणं भगीरहं दट्टुं तत्था-गयमाणेहिं लोगहियत्था सुरगणेहिं गंगा अब्भत्थिता-अवतराहि मणुयलोगं । तीए भणियं-को मे धरेहि त्ति णिवमिति ?,पसुवइणा भणियं अहं ते एगजडाए धारयामि । तेण सा दिव्वं वाससहस्सं धरिया । जइ तेण सा धरिया । तुमं कहं छम्मासं ण धरिस्ससि ? ॥३॥

अह पत्ता खंडपाणा, कहितुमारद्धा । सा य भणति -

" उब्भामितं ति अम्हे-हिं भणइ जइ अजासि करिय सीसे ।
उवसप्पइ जइ अ ममं, तो भत्तं देमि सव्वेसिं ॥१॥
तत्तो भणंति धुत्ता, अम्हे सव्वं जगं तुलेमाणा ।
कह एवं खलु वयणं, तुज्झ सगासे भणीहामो ?" ॥ २ ॥

ततो ईसिं हसिऊण खंडपाणा कहयति-अहं रायरयगस्स धूया,

अह अम्हया मह पिउणा वत्थाण महासगडं भरेऊण पुरिमसहस्सेण समं णदिं सलिलपुण्णं पत्ता । धोयाइ वत्थाइ, तो आयवे दिण्णाणि उव्वायाणि, आगतो महावाओ । तेण ताणि सव्वाणि वत्थाणि अवहरियाणि । ततोऽहं रायभया गोहारूवं काऊण रयणीए णगरुज्जाणं गया । तत्थाहं रत्तासोगपास चूयलया जाता । अण्णया य सुणेमि-जहा रयणा उम्मिलन्तु, अगघोसं पमहसहसोऊण पुणण्णवसरीरा जाया, तस्स सगडस्स णाडगवरत्ता य जवुएहिं भक्खियाओ । तओ मे पिउणा णामगवरत्ताओ अग्गिस्समाणेण महिमज्झिम्मि लद्धा । तत्थ भणह किमेत्थ सच्चं ? । ते भणंति-वअकेसवा अंतं ण गया लिंगस्स वाससहस्सेण जति तं सच्चं तुह वयणं कहमसच्चं भविस्सइ त्ति ? । रामायणे वि सुणिज्जइ-जं हणुमंतस्स पुच्छं महंतमासी, तं च किल अणेगेहिं वत्थसहस्सेहिं वेढिऊण तेल्लघडसहस्सेहिं सिंचिऊण पलीविय, तेण किल लंका पुरी दड्ढा । एवं जइ महिसस्स वि महन्तपुच्छेण णामगवरत्ताओ जायाओ को दोसो ? । अण्णं च इमं सुई सुव्वई-जहा गंधारो राया,रणे कुवत्तणं पत्तो, अवरो वि राया किमस्सो (?) णाम महाबलपरक्कमो,तेण य सक्को देवराया समरे णिज्जिओ । तनो तेण देवराइणा सावत्तसतोऽरणे अयगरो जाओ । अन्नया य पमुसुआ रज्जभट्ठाऽरण्णे णिग्गया,अन्नया य रण्णाहराय णिग्गओ भीमो, तेण य अयगरेण गसिओ, धम्मसुतो य अयगरं पत्तो, ततो सो अयगरो माणुसीए वायाए तं धम्मसुयं सत्त पुच्छाओ पुच्छेइ । तेण य कहियाओ सत्त पुच्छाओ । ततो भीमं णिगिलइ, तस्स य सावस्स अंतो जाओ । जातो पुणरवि राया,जइ एयं सच्चं तो तुमं पि सब्भूतं गोहाभूयं सभावं गतूण पुणण्णवा जाया । तो खमपाणा भणइ-एवं गते वि मज्झ पणामं करेह । जइ कहचि न जिप्पइ,तो काणा वि कवड्डिया तुब्भ मुल्लं ण भवति । ते भणंति-को अम्हे सत्तो णिज्जिणिउं ? । तो सा हसिऊण भणति-तेसिं-वा-तहरियाणं वत्थाणं गवेसणाय णिग्गयाणं पुच्छिऊण, अण्णं च मम दासचेडा णट्ठा, तय अण्णेसामि, ताइं गामणगराणि अम्माणी इह पत्ता । तं ते दासचेडा तुम्हे, ताणि वत्थाणि इमाणि,जाणि,तुब्भ परिहिआणि । तं जइ सच्चं, तो देह वत्थं । अह अलिअं तो देहि भत्तं । * ग० २ अधि० । नि० चू० ।

धुत्तसंवलय-धूर्तशम्बलक-न० । पुरुषद्वासप्ततिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

धुत्ति-धूर्ति-स्त्री० । जरायाम्,आ० म० १ अ० २ खण्ड । प्रा० ।

धुत्तिमा-धूर्तिमा-पुं० । स्त्री० । धूर्तत्वे, " वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम् " ॥ ८ । १ । ३५ ॥ इति वा स्त्रीत्वम् । प्रा० १ पाद ।

धुम्म-धूम्र-पुं० । धूमं तद्वर्णं राति । रा-क.-पृषो० । कपोतवर्णे, स्था० १ ठा० । सिह्लके, वाच० ।

धुय-धु (धू) त-न० । त्यजने, स्था० ६ ठा० । संयमे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । धूयतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तद् धूतम् । संयमानुष्ठाने, धूननार्हत्वाद् धूतम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । धूयते इति धूतम् । प्राग्बद्धे कर्मणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । वृ० । अष्टप्रकारके कर्मणि,आचा० १ श्रु०६ अ० १ उ० । मोक्षे,सूत्र० १ श्रु०७ अ० । धून सङ्गाना त्यजनम्, तत्प्रतिपादकमध्ययनं धूतम् । स्था० ६ ठा० । आचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य षष्ठेऽध्ययने च । न० । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । स० । (तद्वक्तव्यता 'धुयज्झयण' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) कम्पिते, स्फोटिते, न० । वृ० । क्षिप्ते,आतु० । दश० । अपनीते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । त्यक्ते, "धुतकेसमंसु लोमनहेहिं । " प्रश्न० १ संव० द्वार । भर्त्सिते,तर्जिते, वाच० । अपगते च । त्रि० । वृ० ६ उ० ।

सम्प्रति निक्षेपः, स च चतुर्धा,तत्रापि नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यभावधूतप्रतिपादनाय गाथाशकलमाह-

दव्वधुतं वत्थादी, भावधुयं कम्मअट्ठविहं (२५१)

(दव्वधुतमित्यादि) द्रव्यधूतं द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञाता, तत्र चोपयुक्तः । नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यधूतम् । द्रव्यं च तद्वस्त्राऽऽदि,धूतं च रजोऽपनयनार्थं द्रव्यधूतम् । आदिग्रहणाद् वृक्षाऽऽदि फलार्थं, भावधूतं कर्माष्टविधं तद्विमोक्षार्थं धूयत इति गाथाशकलार्थः ।

पुनरप्येतदेवार्थं विशेषतः प्रतिपादयितुमाह-

अहियासेत्तुवसग्गे, दिव्वे माणुस्सए तिरिक्खे य ।

जो विहुणइ कम्माइं, भावधुयं तं वियाणाहि ॥ २५२ ॥

अधिकमासह्यात्यर्थं सोढा, कान्तिसह्य ?, उपसर्गान्, किंभूतान् ?, दिव्यान्मानुषांस्तिरश्चाश्च, य. कर्माणि संसारतरुबीजानि, विधूनयत्यपनयति, तद्भावधूतमित्येवं जानीहि । क्रियाकारकयोरभेदाद्वा कर्मधूननं भावधूनं जानीहीति भावार्थः ॥ आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

धुयकिलेस-धु (धू) तक्लेश-त्रि० । क्षिप्तसप्तभयक्लेशे,आतु० । धूना अपनीताः क्लेशाः कर्माणि येनासाविति । क्षीणाष्टकर्मणि, वृ० १ उ० ।

धुयचारि (ण्)-धु (धू) तचारिन्-धुनातीति धुतं,संयमो मोक्षो वा, तं चरतीति । संयमाऽऽदिचरणशीले, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

धुयज्झयण-धु (धू) ताध्ययन-न० । आचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य षष्ठेऽध्ययने, आचा० ।

तस्योद्देशार्थाधिकारं निर्युक्तिकारो विभणिषुराह-

पढमे नियगविहुणणा, कम्माण वितिएँ तइयम्मि ।

उवगरणसरीराणं, चउत्थए गारवतियस्स ॥ २५० ॥

उवसग्गा सम्माणा, य विहुणया पंचमम्मि उद्देसे (२५१)

प्रथमोद्देशके निजका स्वजनास्तेषां विधूननेत्ययमर्थाधिकार, द्वितीये कर्मणां, तृतीये उपकरणशरीराणां, चतुर्थे गौरवत्रिकस्य, विधूननेति सर्वत्र सम्बन्धनीयम् । उपसर्गाः सम्माननानि च यथा साधुभिर्विधूनानि तथा पञ्चमोद्देशके प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

धुयपाव-धु (धू) तपाप-त्रि० । अपनीतपापे, " नमोत्थु धुयपावाणं । " आतु० ।

धुयबहुल-धु (धू) तबहुल-त्रि० । धूयते इति धूतं, प्राग् बद्धं कर्म, तत्प्रचुरे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

धुयमोह-धु (धू) तमोह-त्रि० । धूतो मोहरागद्वेषरूपो येन स । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । धूतो मोहोऽज्ञानं येन स । विविक्तसमोहे, दश० १ अ० ।

---

* एतच्च निशीथपुस्तकाद् विखिन्नमित्यग्रे लिखितमस्ति ।

धुयरय-धु(धू)तरजस्-त्रि०। धूतमपनीत रजः कर्म येन स धूतरजा । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ अ०। धूत कम्पित स्फोटित रजो वध्यमान कर्म येन स धूतरजा । । न० । अपगतपापकर्मणि, वृ० ६ उ० ।

धुयरागमग्ग-धु(धू)तरागमार्ग-पुं० । धूतोऽपनीतो रागमार्गो रागपन्था यस्मिन् । अपनीतरागपथे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

धुयवाय-धु(धू)तवाद-पुं०। धूतमष्टप्रकार कर्म,धूनन ज्ञातिपरित्यागो वा,तस्य वादो धूतवाद । कर्मपरित्यागकथने, आचा०।

आयाण भो, सुस्सूस भो, धुयवाय पवेदइस्सामि । इह खलु अत्तत्ताए तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएणं अभिसंभूता, अभिसंजाता, अभिणिव्वट्टा, अभिसंवड्ढा, अभिसबुद्धा, अभिणिक्खंता, अणुपुव्वेणं महामुणी ॥१७९॥

भोरिति शिष्याऽऽमन्त्रणे,यदहमुत्तरत्राऽऽवेदयिष्यामि भवतस्तद् आजानीहि अवधारय, शुश्रूषस्व श्रवणेच्छा विधेहि, भोरिति पुनरप्यामन्त्रणमर्थगरीयस्त्वख्यापनाय, नाऽत्र भवता प्रमादो विधेयो, धूतवाद कथयिष्याम्यहम् । धूनम-अष्टप्रकारकर्मधूनन ज्ञातिपरित्यागो वा तस्य वादो धूतवाद ,त प्रवेदयिष्यामि, अवहितेन च भवता भाव्यमिति । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-(धूतोवाय पवेएति त्ति) अष्टप्रकारकर्मधूननोपाय, निजधूननोपाय वा प्रवेदयन्ति तीर्थङ्करादय.। कोऽसावुपाय ?,इत्यत आह-इहास्मिन् ससारे, खलुर्वाक्यालङ्कारे । आत्मनो भाव आत्मता-जीवास्तिता, स्वकृतकर्मपरिणतिर्वा, तयाऽभिसभूता -सजाता ,न पुन· पृथिव्यादिभूताना कायाऽऽकारपरिणामतया, ईश्वरप्रजापतिनियोगेन वेति । तेषु तेषूच्चावचेषु कुलेषु यथास्वकर्मोदयाऽऽपादितेष्वभिषेकेण शुक्रशोणितनिषेकाऽऽदिक्रमेणेति । तत्राऽय क्रम.-"सप्ताह कलल विद्यात्,तत सप्ताहमर्बुदम् । अर्बुदाज्जायते पेशी, पेशीतोऽपि घन भवेत् " ॥ १ ॥ इति । तत्र यावत् कलल तावदभिसभूता , पेशीं यावदभिसजाता ,तत साङ्गोपाङ्गस्नायुशिरोरोमाऽऽदिक्रमाभिनिर्वर्त्तनादभिनिर्वृत्ता , तत· प्रसूता सन्तोऽभिसवृद्धा धर्मश्रवणयोग्यावस्थाया वर्त्तमाना धर्मकथाऽऽदिक निमित्तमासाद्योपलब्धपुण्यपापतयाऽभिसबुद्धा ,तत सदसद्विवेक जानाना अभिनिष्क्रान्ता , ततोऽधीताचाराऽऽदिशास्त्रास्तदर्थभावनोपबृंहितचरणपरिणामा आनुपूर्व्येण शिक्षक-गीतार्थ-क्षपक-परिहारविशुद्धिकै-काकिविहारि-जिनकल्पिकावसाना मुनयोऽभूवन्निति ॥ १७९ ॥

अभिसबुद्ध च प्रव्रजितुमुपलभ्य यन्निजा कुर्युस्तद्दर्शयितुमाह—

त परिक्कमंत परिदेवमाणा मा णे चयाहि इति ते वयंति छंदोवणीया अज्झोववण्णा अक्कंदकारी जणगा रुदंति, अतारिसे मुणी,ण ओह तरए जणगा जेण विप्पजढा,सरणं तत्थ णो समेति,कह णु णाम से तत्थ रमति ?, एय णाणं सया समणुवासिज्जासित्ति वेमि ॥ १८० ॥

तमवगततत्त्व गृहवासपराङ्मुख महापुरुषसेवित पन्थान पराक्रममाणमुपलभ्य मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदय परिदेवमाना माऽस्मान् परित्यज, इत्येतत्ते करुणामापादयन्तो वदन्ति, किं चापर वदन्तीत्याह-छन्देनोपनीता· छन्दोपनीता , तवाभिप्रायाऽनुवर्त्तिन·, त्वयि चाभ्युपपन्ना·, तदेवभूतानस्मान्माऽवमंस्था इत्येवमाक्रन्दकारिणो जनका· मातापित्रादयो, जना वा रुदन्ति । एव च वदेयुरित्याह-न तादृशो मुनिर्भवति, न चौघं ससारं तरति, येन पाषण्डविप्रलब्धेन जनका मातापित्रादयोऽपोढाः त्यक्ता इति । स चावगतससारस्वभावो यत्करोतीति तदाह-न ह्यसावनुरक्तमपि बन्धुवर्ग तत्र तस्मिन्नवसरे शरण समेति, न तदभ्युपगम करोतीत्यर्थ । किमित्यसौ शरण नैतीत्याह-कथ नु नामाऽसौ तत्र तस्मिन् गृहवासे सर्वनिकाराऽऽस्पदे नरकप्रतिनिधौ शुभद्वारपरिघे रमते ?, कथ गृहवासे दुःखैकहेतौ विघटितमोहकपाट· सन् रतिं कुर्यादिति । उपसहरन्नाह--एतत् पूर्वोक्त ज्ञान सदा आत्मनि सम्यगनुवासयेः व्यवस्थापये·, 'इति' अधिकारपरिसमाप्तौ, धूताध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः परिसमाप्त· । उक्त प्रथमोद्देशकः ।

साम्प्रत द्वितीय आरभ्यते । अस्य चायमभिसबन्ध·-इहानन्तरोद्देशके निजकविधूनना प्रतिपादिता, सा चैव फलवती स्याद्यदि कर्मविधूनन स्यादतः कर्मविधूननार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन सबन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्याऽऽदिसूत्रम्-

आउरं लोयमायाए चइत्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं वसित्ता बंभचेरंसि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहा तहा अहेगे तमचाइंति कुसीला ॥ १८१ ॥

(आउर इत्यादि) लोक मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदिकं तमातुरं स्नेहानुषङ्गतया वियोगात्कार्यावसादेन वा, यदि वा जन्तुलोकं कामरागाऽऽतुरम्,आदाय ज्ञानेन परिगृहीत्वा परिच्छिद्य,तथा त्यक्त्वा च पूर्वसयोग मातापित्रादिसबन्ध, तथा हित्वोपशमम् । उषित्वाऽपि ब्रह्मचर्ये, किंभूत· सन्निति दर्शयति-वसु द्रव्य, तद्भूत· कषायकालिकाऽऽदिमलापगमाद् वीतराग इत्यर्थ·,तद्विपर्ययेणानुवसु , सराग इत्यर्थ.। यदि वा-वसु· साधु , अनुवसु श्रावकः। तदुक्तम्-" वीतरागो वसुर्ज्ञेयो, जिनो वा सयतोऽथवा । सरागो ह्यनुवसु प्रोक्त , स्थविर श्रावकोऽपि वा ॥ १ ॥ " तथा ज्ञात्वा धर्म श्रुतचारित्राऽऽख्य यथा तथावस्थित धर्म प्रतिपद्याप्यथैके मोहोदयात्तथाविधभवितव्यतानियोगेन त धर्म प्रतिपालयितु न शक्नुवन्ति । किंभूता ?, कुत्सित शील येषां ते कुशीला इति । यत एव धर्मपालनाशक्ता अत एव कुशीलाः ॥ १८१ ॥

एवभूताश्च सन्त किं कुर्युरित्याह-

वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछण विउसेज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स इयाणिं वा मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेदो, एवं से अंतराइएहिं कामेहिं अ केवलिएहिं अवितिण्णा चेए ॥१८२॥

(वत्थ इत्यादि) केचिद्भवशतकोटिदुर्लभमवाप्य मानुष जन्म समासाद्यालब्धपूर्वां ससारार्णवोत्तरणप्रत्यलां बोधिद्रोणीमङ्गीकृत्य मोक्षतरुबीज सर्वविरतिलक्षण चरण पुनर्दुर्निवारतया मन्मथस्य, पारिप्लवतया मनसो, लोलुपतयेन्द्रियग्रामस्यानेकभवाभ्यासाऽऽपादितविषयमधुरतया प्रबलमोहनीयोदयादशुभवेदनीयोदयाऽऽसन्न प्रादुर्भावादयश· कीर्त्युत्कटतया अविगणय्यमतिमविचार्य कार्याकार्यमुररीकृत्य महाव्यसनसागर साम्प्रतेक्षितया अध· कृतकुलक्रमाऽऽ-

चारास्तत्यजेयुः । तत्यागश्च धर्मोपकरणपरित्यागाद्भवतीत्य-तस्तद्दर्शयति-वस्त्रमित्यनेन क्षौमिककल्पो गृहीतः, तथा प-तद्ग्रहः पात्रं, कम्बलमौर्णिकं कल्पः, पात्रनिर्योगं वा । पाद-प्रोञ्छनकं रजोहरणम् । एतानि निरपेक्षतया व्युत्सृज्य, कश्चिद्देश-विरतिमभ्युपगच्छति, कश्चिद्दर्शनमेवाऽऽलम्बते, कश्चित्ततोऽपि भ्रश्यति, कथं पुनर्दुर्लभं चारित्रमवाप्य पुनस्तत्यजेदित्याह-परी-षहान् दुरधिसहनीयाननुक्रमेण परिपाट्या यौगपद्येन वो-दीर्णानविसहमानाः परीषहैर्भग्नमोहपरवशतया पुरस्कृत-दुर्गतयो मोक्षमार्गं परित्यजन्ति । भोगार्थं त्यक्तवतामपि पापो-दयाद्यत्स्यात्तदाह-(कामे इत्यादि) कामान् विरूपानपि (म-मायमाणस्स त्ति) स्वीकुर्वतो भोगाध्यवसायिनोऽन्तरायो-दयादिदानीं तत्क्षणमेव प्रव्रज्यापरित्यागानन्तरमेव, भोगप्रा-प्तिसमनन्तरमेवान्तर्मुहूर्त्तेन वा, कण्डरीकस्येवाहोरात्रेण वा, ततोऽप्यूर्द्धं शरीरभेदो भवत्यपरिमाणाय, एवंभूत आत्मना सार्द्धं विवक्षितशरीरभेदो भवति । येनानन्तेनापि कालेन पुनः पञ्चेन्द्रियत्वं नावाप्नोति । एतदेवोपसंजिहीर्षुराह-एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, स भोगाभिलाषी, आन्तरायिकैः कामैर्बहुप्रत्य-पायैः केवलं तत्र भवा अकेवलिकाः सद्वन्द्वाः सप्रतिपक्षा इति यावदसंपूर्णा वा, तैः सद्भिरवितीर्णाः संसारं तीर्त्वा, द्विती-यार्थे तृतीया । चः समुच्चये । एते इति भोगाभिला-षिणः कामैरतृप्ता एव शरीरभेदमवाप्नुवन्तीति तात्पर्या-र्थः ॥ १८२ ॥

अपरे त्वासन्नतया मोक्षस्य कथञ्चित् कुत्रचित्कदाचिदवा-प्य चरणपरिणामं प्रतिक्षणं लघुकर्मतया प्रवर्द्धमानाध्यवसा-यिनो भवन्तीति दर्शयितुमाह-

अहेगे धम्ममादाय आदाणप्पभितिसु पणिहिए चरे अ-पलीयमाणे दढे ॥ १८३ ॥

सव्वं गिद्धिं परिण्णाय एस पणते महामुणी ॥ १८४ ॥

अइयच्च सव्वतो संगं ण महं अत्थि त्ति इति एगो अहमंसि जयमाणे एत्थ विरते, अणगारे, सव्वसो मुंडे रीयंते, जे अचेले परिवुसिए संचिट्ठति ओमोयरियाए ॥ १८५ ॥

से आकुट्ठे वा, हए वा, लुंचिते वा, पलियं पकंथे, अ-दुवा पकथे, अतहेहिं सद्दफासेहिं इति संखाए एगतरे अ-ण्णतरे अभिण्णाय तितिक्खमाणे परिव्वए । जे य हिरी जे य अहिरीमाणे चिच्चा सव्वं विसोत्तियं फासे समियदंस-णे ॥ १८६ ॥

(अहेगे इत्यादि) अथानन्तरमेके विशुद्धपरिणामतया आस-न्नापवर्गतया धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यमादाय गृहीत्वा वस्त्रपतद्ग्र-हाऽऽदिधर्मोपकरणसमन्विता धर्मकरणेषु प्रणिहिता परीषहस-हिष्णवः सर्वज्ञोपदिष्टं धर्मं चरेयुरिति । अत्र च पूर्वाणि प्रमादसूत्रा-ण्यप्रमादाभिप्रायेण पठितव्यानीति । उक्तं च-" यत्र प्रमादेन तिरो-ऽप्रमादः, व्याख्याऽपि यत्नेन पुनः प्रमादः । विपर्ययेणाऽपि पठन्ति तत्र,सूत्राण्यर्थीकारवशाद्विधिज्ञाः ॥१॥" किंभूताः पुनर्धर्मं चरेयु-रित्याह-(अपलीय इत्यादि) कामेषु मातापित्रादिके वा लोके न प्रलीयमाना अप्रलीयमाना अनभिसक्ता धर्मचरणे दृढास्तप-संयमाऽऽदौ द्रढिमानमालम्बमाना धर्मं चरन्तीति ॥१८३॥ किञ्च-(सव्व इत्यादि) सर्वां गृद्धिं भोगकाङ्क्षां दुःखरूपतया, परिज्ञाय, प्र-

त्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत् । परित्यागे गुणमाह-(एस इत्यादि) (एस इति) कामपिपासापरित्यागी, प्रकर्षेण नतः प्रह्वः संयमे, कर्मधूननाय वा महामुनिर्भवति नापर इति १८४ ॥ किञ्च-(अ-इयच्च इत्यादि) अतिगत्याऽतिक्रम्य सर्वतः सर्वैः प्रकारैः सङ्गं-सम्बन्धं पुत्रकलत्राऽऽदिजनितं, कामानुषङ्गं वा, किं भावयेदित्या-ह-(ण मह अत्थि इत्यादि) न मम किमप्यस्तीति यत्संसारे एतत् आलम्बनाय स्यादिति, तदभावाद्देत्युक्तक्रमेणैकोऽहमस्मिन् संसारोदरे, न चाहमन्यस्य कस्यचिदित्येतद्भावनाभावितश्च यत्कुर्यात्तदाह-(जयमाणे इत्यादि) अत्राऽस्मिन्मौनीन्द्रे प्रव-चने विरतः सन् सावद्यानुष्ठानाद्दशविधचक्रवालसामाचार्यां यतमानः, कोऽसावनगारः प्रव्रजितः, एकत्वभावनां भावयन्नव-मौदर्ये सन्तिष्ठत इत्युत्तरसूत्रेण सम्बन्धः । इयमेव क्रियाऽनन्तर-सूत्रेष्वपि लगयितव्येति । किञ्च-(सव्वओ इत्यादि) सर्वतो-द्रव्यतो भावतश्च मुण्डो रीयमाणः संयमानुष्ठाने गच्छन्, किंभूत इत्याह-(जे इत्यादि) योऽचेलोऽल्पचेलो जिनकल्पिको वा प-र्युषितः संयमे उद्युक्तविहारी अन्तप्रान्तभोजी तदपि न प्रकाममित्याह (संचिट्ठइ) संतिष्ठते अवमौदर्ये न्यूनो-दरतायां वर्त्तमानः सन् ॥ १८५ ॥ कदाचित्प्रत्यनीकतया ग्रामकण्टकैस्तुद्येतेत्येतद्दर्शयितुमाह—(से इत्यादि) स मुनिर्वाग्भिराकुष्टो वा, दण्डाऽऽदिभिर्हतो वा, लुञ्चितो वा केशोत्पाटनतः, पूर्वकृतकर्मपरिणत्युदयादेतदवगच्छन् सम्यक् तितिक्षमाणः परिव्रजेदित्येतच्च भावयेत् । तद्यथा- " पावाण च खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कं-ताणं वेइयत्ता मोक्खो णत्थि अवेयइत्ता तवसा वा झोसइ-त्ता । " इत्यादि । कथं पुनर्वाग्भिराकुश्यत इत्याह-(पलिय इत्यादि) (पलिय त्ति) कर्म जुगुप्सितमनुष्ठानं, तेन पूर्वाऽऽचरि-तेन कुविन्दाऽऽदिना प्रकथ्य जुगुप्स्यते । तद्यथा -भो कौलिक ! प्रव्रजत त्वमपि मया सार्द्धमेव जल्पसीति ?। अथवा -जकारच-काराऽऽदिभिरपरैः प्रकारैर्निन्द्यं विधत्ते एभिर्वा वक्ष्यमाणैः प्र-कारैरित्याह-(अतहेहिं इत्यादि) अतथ्यैर्वितथैरसद्भूतैः शब्दैः-श्चौरस्त्वं पारदारिक इत्येवमादिकैः स्पर्शैश्च असद्भूतैः साधोः कर्तुमयुक्तैः करचरणच्छेदनाऽऽदिभिः, स्वकृतादृष्टफलमित्येतत् संख्याय ज्ञात्वा तितिक्षमाणः परिव्रजेदिति । यदि वैतत् संख्याय (अत्रस्थः पाठः परीसहोपसर्गसहनविषयः 'परीसह' शब्दे द्र-ष्टव्यः)परीषहाश्चानुकूलप्रतिकूलतया भिन्ना इत्येतद्दर्शयितुमाह-(एगयरे इत्यादि) एकतरानन्तुकूलानन्यतरान् प्रतिकूलान् परीषहानुदीर्णानभिज्ञाय, सम्यक् तितिक्षमाणः परिव्रजेदि-ति । यदि वा-अन्यथा परीषहाणां द्वैविध्यमित्याह-(जे इत्या-दि) ये च परीषहाः सत्कारपुरस्काराऽऽदयः साधोर्हारिणो म-नआह्लादकारिणो, ये तु प्रतिकूलतया अहारिणो मनसोऽनिष्टाः । यदि वा-ह्रीरूपा याचनाऽचेलाऽऽदयः अह्रीमनसश्चाऽलज्जाकारिणः शीतोष्णाऽऽदय इत्येतान् द्विरूपानपि परीषहान् सम्यक् तिति-क्षमाणः परिव्रजेदिति । किञ्च-(चिच्चा इत्यादि) त्यक्त्वा सर्वां परीषहकृतां विस्रोतसिकाम् । परीषहाऽऽपादितान् स्पर्शान् दुः-खानुभवान् स्पृशेदनुभवेत् सम्यगतिसहेत । स किंभूतः ?, सम्य-गितं गतं दर्शनं यस्य स समितदर्शनः, सम्यग्दृष्टिरित्य-र्थः ॥ १८६ ॥

तत्सहिष्णवश्च किंभूताः स्युरित्याह-

एते भोयणिणा वुत्ता, जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो । १८७ ।

(एवं भो इत्यादि) भोरित्यामन्त्रणे, एते परीषहसहिष्णवो निरिकञ्चना निर्ग्रन्था भावनग्ना', उक्ता अभिहिताः । यस्मिन् मनुष्यलोके, अनागमन धर्मो येषां ते अनागमनधर्माण ,यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभारवाहित्वाच पुनर्गृहं प्रत्यागमनेच्छव इति ॥१८७॥

किञ्च-

आणाए मामगं धम्मं " " (१) एस उत्तरवादे इह माणवाणं वियाहिते ॥ १८८ ॥

(आणाए इत्यादि) आज्ञाप्यतेऽनयेत्याज्ञा, तया मामक धर्म सम्यगनुपालयेदित्येवंभूतः एकमाहेति । यदि वा-धर्मानुष्ठानेऽप्येवमाह-धर्म एकोमामकोऽस्तु सर्व पारवश्यमित्यतस्तमहमाज्ञया तीर्थङ्करोपदेशेन सम्यक् करोमीति । किमित्याज्ञया धर्मोऽनुपाल्यत इत्यत आह-(एस इत्यादि) एषोऽनन्तरोक्त उत्तरवाद उत्कृष्टवाद इह मानवाना व्याख्यात इति ॥ १८८ ॥

किञ्च-

एत्थोवरए तं झोसमाणे आयाणिज्जं परिणाय परियाएण विगिंचइ ॥ १८९ ॥

(एत्थोवरए इत्यादि) अत्राऽस्मिन् धर्मेकृत्स्नकर्मोपाये संयमे वा सामीप्येन रत उपरत ,तत्प्रकार कर्म शोषयन् क्षपयन् धर्म चरेदिति । किञ्चापरं कुर्यादित्याह-(आयाणिज्ज इत्यादि) आदीयत इत्यादानीय कर्म, तत्परिज्ञाय मूलोत्तरप्रकृतिभेदतो ज्ञात्वा, पर्यायेण श्रामण्येन विवेचयति, क्षपयतीत्यर्थः । अत्र वा शेषकर्मधूननासमर्थं तपस्तद् भावनधिकृत्य व्याख्यातम् ॥ १८९ ॥

इहमेगेसिं एगचरिया होति । तत्थियरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए सो मेहावी परिव्वए । सुब्भिं अदुवा दुब्भिं। अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसति। ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासिज्जासि त्ति बेमि ॥ १९० ॥

(इहमेगेसिं इत्यादि) इहाऽस्मिन् प्रवचने, एकेषां शिथिलकर्मणामेकचर्या भवत्येकाकिविहारप्रतिमाऽभ्युपगमो भवति । तत्र च नानारूपा अभिग्रहविशेषास्तपश्चरणविशेषाश्च भवन्तीत्यनन्तावयवाख्यातिकामधिकृत्याऽऽह-(तत्थियरा इत्यादि) तस्मिन्नेकाकिविहारे, इतरे सामान्यसाधुभ्यो विशिष्टतरा इतरेष्वन्तप्रान्तेषु कुलेषु शुद्धैषणया दशैषणादोषरहितेनाऽऽहाराऽऽदिना, सर्वैषणयेति सर्वा याऽऽहाराऽऽद्युद्गमोत्पादनग्रासैषणरूपा, तया सुपरिविशुद्धेन विधिना संयमे परिव्रजन्ति। यद्गुरवेऽप्येकद्देशतामाह-(सो मेहावी इत्यादि) स मेधावी मर्यादाव्यवस्थित. संयम परिव्रजेदिति । किञ्च-(सुब्भिं इत्यादि) स आहारस्तेष्वितरेषु कुलेषु सुरभिर्वा स्याद् । अथवा-दुर्गन्ध । न तत्र रागद्वेषौ विदध्यात् । किञ्च (अदुवा इत्यादि) अथवा तत्रैकाकिविहारित्वे पितृवनप्रतिमाप्रतिपन्नस्य सतो भैरवा भयानका यातुधानाऽऽदिकृता' शब्दा. प्रादुर्भवेयु । यदि वा-भैरवा बीभत्सा प्राणा प्राणिनो दीर्घजिह्वाऽऽदयोऽपरान् प्राणिन क्लेशयन्त्युपतापयन्ति, त्वं तु पुनस्तैः स्पृष्टस्तान् स्पर्शान् दुःख विशेषान् धीरोऽक्षोभ्य सम्यक्सहस्व । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् अध्ययनद्वितीयोद्देशक परिसमाप्त' ॥ १९० ॥ उक्तो द्वितीयोद्देशक । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

तदेव ससारश्रेणिं विश्लेषयित्वा यः संसारसागर तीर्णवत्तीर्णो मुक्तवन्मुक्तो विरतो व्यापारतस्तं च तथाभूत किमरतिरभिभवेद्युत न वेति अचिन्त्यसामर्थ्यात्कर्मणोऽभिभवेदित्येतदेवाऽऽह-

विरयं भिक्खुं रीयंतं चिरराओसियं अरती तत्थ किं विधारए ?, संधेमाणे समुट्ठिए, जहा से दीवे असंदीणे ॥ १९१ ॥

(विरय इत्यादि) विरतमसंयमात्स्थितशीलं भिक्षुं, रीयमाण निःशल्यत्वमभ्युदात्तस्योऽसंयमस्थानेभ्यः प्रशस्तेष्वपि गुणोत्कर्षादुपर्युपरि वर्तमान चिररात्र प्रभूतकाल संयमे उषितं सन्निहितरातोऽवितस्तमेवगुणयुक्तमरति' संयमोद्विग्नता, तत्र तस्मिन् संयमे वर्तमान किं धारयेत् किं प्रतिस्खलेत ?। किंशब्दः प्रश्ने, किं तथाभूतमपि मोक्षप्रस्थितम प्रमाद्यप्रविषयमरतिर्विधारयेत् ?। अमित्युच्यते। तथाऽऽह-दुर्जेया यतिमप्यन्ति चेन्द्रियाण्यचिन्त्या मोहशक्तिर्विचित्रा कर्मपरिणतिः किं न कुर्यादिति । उक्तं च-" कम्माणि णूणं घणचिक्कणाइ गरुयाइ वइरसाराइं णाणड्ढियं पि पुरिसं, पंथाओ उप्पहं णेंति ॥१॥" यदि वा किं शेषे किं तथाभूत विधारयेद्रतिरेव विधारयेदित्यर्थः । तथा ह्यसौ क्षणे क्षणे विशुद्धतरचरणपरिणामतया विष्कम्भितमोहनीयोदयत्वाल्लघुकर्मा भवतीति कुतस्तमरतिर्विधारयेदित्याह-(संधेमाणे इत्यादि) क्षणे क्षणेऽव्यवच्छेदेनोत्तरोत्तर सयमस्थानकण्डकं संदधान स सम्यगुत्थितः समुत्थित उत्तरोत्तरगुणस्थानक वा संदधानो यथाख्यातचारित्राभिमुखः समुत्थितोऽसावतस्तमरति कथ विधारयेदिति । स चैवम्भूतो न केवलमात्मनस्त्राता, परेषामप्यरतिनिवारकत्वात् त्राणायेत्येतद्दर्शयितुमाह-(जहा से इत्यादि) द्विगता आपो ऽस्मिन्निति द्वीप , स द्रव्यभावभेदाद् द्विधा, तत्र द्रव्यद्वीप आश्वासद्वीप , आश्वास्यतेऽस्मिन्नित्याश्वास ,स चासौ द्वीपश्चाऽऽश्वासद्वीप । यदि वा-आश्वसनमाश्वास ,आश्वासाय द्वीप आश्वासद्वीपस्तत्र नदीसमुद्रमध्यप्रदेशे भिन्नपोतयाऽऽश्रयस्तमवाप्याऽऽश्वसन्त्यसावपि द्वेधा-संदीनोऽसंदीनश्चेति यो हि पक्षमासाद्युदकेन प्लाव्यते स संदीनो,विपरीतस्त्वसन्दीनः सिंहलद्वीपाऽऽदि.। यथा हि सांयात्रिकास्त द्वीपमसंदीनमुदन्वदादेर्वासितीर्णवं समवाप्याऽऽश्वसन्त्येवं त भावसंधानायोत्थित साधुमवाप्यापरे प्राणिनः समाश्वसन्ति । यदि वा द्वीप इति प्रकाशद्वीप ,प्रकाशाय दीप' प्रकाशदीप , स चादित्यचन्द्रमण्यादिरसन्दीनोऽपरस्तु विद्युदुल्काऽऽदि संदीन । यदि वा प्रचुरेन्धनतया विवक्षितकालावस्थायसन्दीनो,विपरीतस्तु संदीन इति । यथा ह्यसौ स्फुटावेदनतो हेयोपादेयहानोपादानवतां निमित्तभावमुपयाति, तथा कश्चित्समुद्राऽऽद्यन्तर्वर्तिनामाश्वासकारी च भवत्येव ज्ञानसन्धानायोत्थित परीषहोपसर्गाक्षोभ्यतयाऽसन्दीन. साधुर्विशिष्टोपदेशदानतो ऽपरेषामुपकारायैवपरे भावद्वीप भावदीप वाऽन्यथा व्याचक्षते । तद्यथा-भावद्वीप सम्यक्त्व, तच्च प्रतिपातित्वादौपशमिकं, क्षायोपशमिकं च सन्दीनो भावद्वीपः, क्षायिकं त्वसंदीन इति । तं द्विविधमप्यपरीतससारत्वात्प्राणिन आश्वासन्ति, भावदीपस्तु सन्दीनः श्रुतज्ञानम्, असन्दीनस्तु केवलमिति, तद्यावाप्य प्राणिनोऽवश्यमाश्वासन्त्येवेति । अथवा-धर्मे संदधान. समुत्थित सञ्चरतेर्दुष्प्रधृष्यो भवतीत्युक्ते कश्चिच्चोदयेत्-किम्भूतोऽसौ धर्मो

यत्सन्धानाय समुत्थित इति ? । अत्रोच्यते-यथाऽसौ द्वीपोऽसन्दीनः सलिलप्लुतो वरुगूवहनानामितरेषां च बहूनां जन्तूनां शरण्यतयाऽऽश्वासहेतुर्भवति ॥ १९६ ॥

एवं से धम्मे आरियपदेसिए ॥ १९७ ॥

एवमसावपि धर्म आर्यप्रदेशितस्तीर्थङ्करप्रणीतः कषतापच्छेदनैर्बधिष्टितोऽसन्दीन , यदि वा कुतर्काप्रधृष्यतया सदीनोऽतोऽयः प्राणिनां त्राणायाऽऽश्वासभूमिर्भवति,तस्य चाऽऽर्यदेशितस्य धर्मस्य किं सम्यगनुष्ठायिनः केचन सन्ति ? । ओमित्युच्यते ।१९७।

यदि सन्ति, किंभूतास्त इत्यत आह-

ते अणवकंखमाणा पाणे अणतिवातेमाणा दतिआ मेहाविणो पंडिया ॥ १९८ ॥ एवं तेसिं जगवओ अणुट्ठाणे जहा से दियपोए । एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेणं वाइय त्ति वेमि ॥ १९९ ॥

(ते इत्यादि) ते साधवो भावसधानोद्यताः सयमारते प्रणोदका मोक्षनेदिष्ठाऽभोगानवकाङ्क्षन्तो धर्मे सम्यगुत्थानवन्तः स्युरित्येतदुत्तरत्रापि योज्यम् । तथा प्राणिनोऽनतिवातयन्त उपलक्षणार्थत्वाच्छेषमहाव्रतग्रहणमायोज्यम् । तथा कुशलानुष्ठानप्रवृत्तत्वाद्दयिताः सर्वलोकानाम् । तथा मेधाविनो मर्यादाव्यवस्थिताः, पण्डिताः पापोपादानपरिहारतया सम्यक् पदार्थज्ञा धर्मचरणाय समुत्थिता भवन्तीति ॥ १९८ ॥ ये पुनस्तथाभूतज्ञानाभावात्सम्यग् विवेकविकलतया नाद्यापि पूर्वोक्तसमुत्थानवन्तः स्युस्ते तथाभूता आचार्याऽऽदिभिः सम्यगनुपाल्य यावद्विवेकिनोऽभूवन्नित्येतद्दर्शयितुमाह-(एव इत्यादि) एवमुक्तविधिना तेषामपरिकर्मितमतीनां जगवतो वीरवर्द्धमानस्वामिनो धर्मे सम्यगनुत्थाने सति तत्परिपालनतस्तथा सदुपदेशदानेन परिकर्मितमतित्व विधेयमिति । अत्रैव दृष्टान्तमाह-(जहा से इत्यादि) द्विज पक्षी,तस्य पोत शिशुर्द्विजपोत ,स यथा तेन द्विजेन गर्भप्रसवात्प्रभृत्यण्डकोच्छूनोच्छूनतरभेदाऽऽदिकावस्थासु यावन्निष्पन्नपक्षस्तावत्पाल्यते, एवमाचार्येणापि शिष्यक प्रव्रज्यादानादारभ्य सामाचार्युपदेशदानेनाध्यापनेन तावदनुपाल्यते यावज्ज्ञातार्थोऽभूत् । य. पुनराचार्योपदेशमतिवहृत्य स्वैरित्वाद्यथाकथञ्चित्क्रियामनुप्रवर्त्तेत स उज्जयिनीराजपुत्रवद्विनश्येदिति । तद्यथा-उज्जयिन्या जितशत्रो राज्ञो द्वौ पुत्रौ, तत्र ज्येष्ठो धर्मघोषाऽऽचार्यसमीपे ससारासारतामवगम्य प्रवव्राज, क्रमेण चाधीनाऽऽचाराऽऽदिशास्त्रोऽवगततदर्थश्च जिनकल्प प्रतिपत्सुर्द्वितीया सत्त्वभावना भावयति । सा च पञ्चधा-तत्र प्रथमोपाश्रये,द्वितीया नद्बहिः,तृतीया चतुष्के चतुर्थी शून्यगृहे, पञ्चमी श्मशाने । तत्र पञ्चमीं भावना भावयतः स कनिष्ठो भ्राता तदनुरागादाचार्यान्तिकमागत्योवाच-मम ज्यायान् भ्राता क्वाऽऽस्ते ? । साधुभिरभाणि किं तेन ?. स आह-प्रव्रजाम्यहम् । आचार्येणोक्तो गृहाण तावत् पुनर्द्रक्ष्यसि । स तु तथैव चक्रे । पुनरप्यपृच्छत् । आचार्याऊचु -किं तेन दृष्टेन ?, नासौ कस्य चिदुल्लापमपि ददाति जिनकल्प प्रतिपत्तुकाम इति । असावाह-तथापि पश्यामि तावदिति निर्बन्धे दर्शितस्तूष्णीं प्रावस्थित एव वन्दित , तदनुरागाच्च निषिद्धोऽप्याचार्येण निवार्यमाणोऽप्युपाध्यायेन ध्रियमाणोऽपि साधुभिरसाम्प्रतमेतद्भवतो दुष्कर दुरध्यवसेयमित्येव कथ्यमानेऽप्यहमपि तेनैष पित्रा जात इत्यवष्टम्भेन मोहाच्चथैव तस्थौ, यथा ज्येष्ठ

भ्रातेति । इतरो देवतयाऽऽगत्य वन्दित । शिक्षकस्तु न वन्दित । ततोऽसावपरिकर्मितमतित्वात् कुपितः । अविधिरिति कृत्वा देवताऽपि तस्योपरि कुपिता सती तलप्रहारेणाक्षिगोलकौ बहिर्निश्चिक्षेप । ततस्तद्दूष्यायान् हृदयेनैव देवतामाह-किमित्ययमन्यस्त्वया कदर्थित ,तदस्याक्षिणी पुनर्नवीकुरु । सा त्ववादीज्जीवप्रदेशैर्मुक्ताविमौ गोलकौ, न शक्यौ पुनर्नवीकर्तुम् । इत्युक्त्वा ऋषिवचनमलङ्घनीयमित्यवधार्य तत्क्षणश्च पाकव्यापादितैलाक्षिगोलकौ गृहीत्वा तदक्षिणी चकारेति । एव सदुपदेशप्रवर्त्तन सापायमित्यवधार्य शिष्येण सदाऽऽचार्योपदेशवर्त्तिना भाव्यम्, आचार्येणाऽपि सदा स्वपरोपकारवृत्तिना सम्यक् स शिष्या यथोक्तविधिना प्रतिपालनीया इति स्थितमिति ॥१९९॥ तदेवोपसहरन्नाह-(एव इत्यादि) यथा द्विजपोतो मातृपितृभ्यामनुपाल्यते, एवमाचार्येणापि शिष्या अहर्निशमनुपूर्वेण क्रमेण वाचिताः पाठिताः , शिक्षां ग्राहिताः , समस्तकार्यसहिष्णव ससारोत्तरणसमर्थाश्च भवन्तीति । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । आचा० ।

साम्प्रत चतुर्थ आरभ्यते । अस्य चायमभिसम्बन्ध -इहानन्तरोद्देशके शरीरोपकरणधूननाऽभिहिता, सा च परिपूर्णा,न गौरवत्रिकसमन्वितस्येत्यतस्त धूननार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्यास्खलिताऽऽदिगुणोपेत सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्-

एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेणं वाइया तेहिं महावीरेहिं पण्णाणमंतेहिं, तेसतिए पण्णाणमुवलब्भ हेच्चा उवसम फारुसिय समादियंति ॥ १०० ॥ वसित्ता वंभचेरंसि आणं त णो त्ति मण्णमाणा ॥ १०१ ॥

(एव ते सिस्सा इत्यादि) एवमिति द्विजपोतसवर्द्धनक्रमेणैव, ते शिष्याः स्वहस्तप्रव्राजिता उपसपदागता प्रातीच्छकाश्च, दिवा च रात्रौ चानुपूर्वेण क्रमेण वाचिता पाठितास्तत्र कालिकमह्न प्रथमचतुर्थपौरुष्योरवाप्यते,उत्कालिक तु कालवेलावर्ज सकलमप्यहोरात्रमिति । तथाऽध्यापनाऽऽचाराऽऽदिक्रमेण क्रियते । आचारश्च त्रिवर्षपर्यायोऽध्याप्यत इत्यादि क्रमेणाध्यापिताः शिष्याश्चारित्र ग्राहिता ,तद्यथा-युगमात्रदृष्टिना गन्तव्यम् कूर्मवत्सकुचिताङ्गेन स्थाव्यमित्यादि । एव शिक्षा ग्राहिता वाचिता अध्यापिता । कैरिति दर्शयति-तैर्महावीरैस्तीर्थकरगणधराऽऽचार्याऽऽदिभि । किम्भूतै ?,प्रज्ञावद्भिर्ज्ञानिभिरेवोपदेशाऽऽदि दत्त लगतीत्यतो विशेषणम्, ते तु शिष्या द्विप्रकारा अपि प्रेक्षापूर्वकारिणस्तेषामाचार्याऽऽदीनामन्तिके समीपे, प्रकर्षेण ज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञान श्रुतज्ञान, तस्यैवापरस्मादवासिसद्भावादित्यतस्तदुपलभ्य लब्धबहुश्रुतीभूताः प्रबलमोहोदयापनीतसदुपदेशोत्कटमदत्वात् । त्यक्त्वोपशमम् । स च द्वेधा-द्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्योपशम कनकफलाऽऽद्यापादित. कलुषजलादेः भावोपशमस्तु ज्ञानाऽऽदित्रयात् । तत्र यो येन ज्ञानेनोपशाम्यति स ज्ञानोपशमस्तद्यथा-आक्षेपण्याद्यन्यतरया धर्मकथया कश्चिदुपशाम्यनीत्यादि । दर्शनोपशमस्तु-यो हि शुद्धेन सम्यग्दर्शनेनापरमुपशमयति, यथा श्रेणिकेनाश्रद्दधानो देव प्रतिबोधित इति,दर्शनप्रभावकैर्वा सम्मत्यादिभि कश्चिदुपशाम्यति । चारित्रोपशमस्तु-क्रोधाऽऽद्युपशमो विनयनम्रतेति । तत्र केचन क्षुद्रका ज्ञानोदन्वतोऽभ्युपर्येव प्लवमानास्तमेवभूतमुपशम त्यक्त्वा ज्ञानलवोत्सिक्तगर्वाऽऽध्माता पारुष्य परुषता समाददति गृह्णन्ति । तद्यथा-

परस्परगुणनिकायां, मीमांसायां वा । एकोऽपरमाह-त्वं न जानीषे,न चैषां शब्दानामयमर्थो यो भवताऽभाणि । अपि च कश्चिदेव मादृशः शब्दार्थनिर्णयायालं न सर्व इत्युक्ते च पृष्टा गुरवः स्वयमपि परीक्षितं निश्चितं पुनरिदं न वा वादिनि च मल्लमुखये च मादृगेवान्तरं गच्छेत् । द्वितीयस्त्वाह-त्वमसदाचार्या एवमाज्ञापयन्तीत्युक्ते पुनराह-सोऽपि वाक्कुण्ठो बुद्धिविकलः किं जानीते,त्वमपि च शुकवत्पाठितो निरूहापोह इत्यादीन्यन्यान्यपि, दुर्गृहीतकतिचिदक्षरो महोपशमकारणं ज्ञानं विपरीततामापादयन् सौद्धत्यमाविर्भावयन् भाषते । उक्तं च-

" अन्ये स्वेच्छारचिता-नर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय ।
कृत्स्नं वाङ्मयमित इति, खादन्त्यङ्गानि दर्पेण ॥ १ ॥
क्रीडनकमीश्वराणां, कुक्कुटलावकसमानवाङ्मल्याः ।
शास्त्राण्यपि हास्यकथा, लघुता वा क्षुल्लको नयति ॥ २ ॥ "

इत्यादि । पाठान्तरं वा-" हेच्चा उवसमं अहेगे फारुसियं समारुहति । "त्यक्त्वोपशमम्,अथानन्तरं बहुश्रुतीभूता एके,न सर्वे,परुषतामालम्बते,नतश्चाऽपिना शब्दिता वा तूष्णीं भावं भजन्ते,हुङ्कारशिरःकम्पनाऽऽदिना वा प्रतिवचनं ददति । किञ्च (वसित्ता इत्यादि) एके पुनर्ब्रह्मचर्यं संयमं ,तन्नोषित्वा,आचारो वा ब्रह्मचर्यं, तदर्थोऽपि ब्रह्मचर्यमेव, तत्रोषित्वा आचारार्थानुष्ठायिनोऽपि तन्निर्दिष्टतास्तामाज्ञां तीर्थकरोपदेशरूपां नो मन्यमाना , नोशब्दो देशप्रतिषेधे, देशतस्तीर्थकरोपदेशं न बहु मन्यमानाः सातगौरवबाहुल्याच्छरीरबाकुशिकतामालम्बन्ते । यदि वा-अपवादमालम्ब्य प्रवर्तमाना उत्सर्गचोदनाचोदिताः सन्तो नैषा तीर्थकराऽऽज्ञेत्येव मन्यन्ते । दर्शयन्ति चाऽपवादपदानि-" कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए । " इत्यादि । ततश्च यो येन ग्लायति तस्य तदपनयनार्थमाधाकर्माऽऽद्यपि कार्यं स्यादेतत्किं तेषां नाख्याताः कुशीलानां प्रत्यपायाः, यथा-आशातनाबहुलानां दीर्घः संसार इति ॥ १०१ ॥

तदुच्यते-

अग्घा(क्खा)यं तु सोच्चा णिसम्म समणुण्णा जीविस्सामो, एगे णिक्खम्म ते असंभवं ता वि मज्जमाणा कामेहिं गिद्धा अज्झोववण्णा समाहिमाघायमजुसंता सत्थारमेव फरुसं वदंति ॥ १०२ ॥

(अग्घाय ति) तुरवधारणे । आख्यातमेवैतत् कुशीलविपाकाऽऽदिकं श्रुत्वा निशम्यावबुद्ध्य चाऽऽशास्तारमेव परुषं वदन्तीति सम्बन्धः । किमर्थं तर्हि शृण्वन्तीति चेत्तदाह-" समणुण्णा " इत्यादि । समनोज्ञाः लोकसम्मताः , जीविष्याम इति कृत्वा प्रश्नव्याकरणार्थं शब्दशास्त्राण्यधीयते । यदि वा-अनेनोपायेन लोकसम्मता जीविष्याम इति कृत्वैके निष्क्रम्याऽथ वा समनोज्ञा उद्युक्तविहारिणः सन्तो जीविष्यामः संयमजीवितेनेत्येवं निष्क्रम्य पुनर्मोहोदयात्सम्भवन्तस्ते गौरवत्रिकान्यतरदोषा ज्ञानाऽऽदिके मोक्षमार्गे न सम्यग् भवन्तो नोपदेशे वर्तमाना विविधं दह्यमानकामैर्गृद्धा गौरवत्रिकेऽध्युपपन्ना विषयेषु समाधिमिन्द्रियप्रणिधानमाख्यातं तीर्थकृदादिभिर्यमावेदितं तमजुषन्त सेवमाना दुर्विदग्धा आचार्याऽऽदिना शास्त्राभिप्रायेण चोद्यमाना अपि तच्छास्तारमेव परुषं वदन्ति-नास्मिन् विषये भवान् किञ्चन जानाति, यथाऽहं सूत्रार्थं शब्दं गणितं निमित्तं वा जाने तथा कोऽन्यो जानीते,इत्येवमाचार्याऽऽदिकं शास्तारं हीलयन्ति परुषं वदन्ति । यदि वा-शास्ता तीर्थकृताऽऽदिस्तमपि परुषं वदन्ति । तथाहि-कश्चित् स्खलितं चोदिता जगद्गुः-किमन्यदधिकं तीर्थकृत्कृत्यसफलकर्मनादपीति । इत्यादिभिरपाचीनैरालापैरलीकविद्यामदावलेपाच्छास्तारमपि दूषणानि वदेयुः ॥ १०२ ॥

न केवलं शास्तारं परुषं वदन्त्यपरानपि साधूनपवदेयुरित्येतदाह-

सीलमंता उवसंता (संखाए) रीयमाणा असीला अणुवयमाणस्स बितिया मंदस्स बालया ॥ १०३ ॥

(सीलमंता इत्यादि) शीलमष्टादशशीलाङ्गसहस्रसंख्यम् । यदि वा-महाव्रतसमाधानं, पञ्चेन्द्रियजयः, कषायनिग्रहस्त्रिगुप्तिगुप्तता चेत्येतच्छीलं विद्यते येषां ते शीलवन्तः । तथोपशान्ताः कषायोपशान्ताः कषायोपशमात् । अत्र शीलवद्ग्रहणेनैव गतार्थत्वादुपशान्ता इत्येतद्विशेषणं कषायनिग्रहप्राधान्यख्यापनार्थम् । सम्यक् ख्यायते प्रकाश्यतेऽनयेति संख्या प्रज्ञा, तया रीयमाणाः संयमानुष्ठाने पराक्रममाणाः सन्तः कस्यचिद्विभ्रान्तनामधेयतयाऽशीला एत इत्येवमनुवदतोऽनु पश्चाद्वदतः पृष्ठतोऽपृष्ठतोऽपवदतोऽन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना कुशीला इत्येवमुक्तेऽनुवदतः पार्श्वस्थाऽऽदेर्द्वितीयैषा मन्दस्याज्ञस्य बालता मूर्खता, एकं तावत् स्वतश्चारित्रापगमः,पुनरपरानुद्युक्तविहारिणोऽपवदत इत्येषा द्वितीया बालता । यदि वा-शीलवन्त एते उपशान्ता वेत्येवमन्येनाभिहिते, केषां प्रचुरोपकरणानां शीलवत्त्वोपशान्तता वा इत्येवमनुवदतो हीनाऽऽचारस्य द्वितीया बालता भवतीति ॥ १०३ ॥

अपरे च वीर्यान्तरायोदयात् स्वतोऽवसीदन्तो परमसाधुप्रशंसाऽन्विता यथाऽवस्थितमाचारगोचरमावेदयेयुरित्येतद्दर्शयितुमाह-

णियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति ॥ १०४ ॥ णाणभट्ठा दंसणलूसिणो णममाणा एगे जीवितं विप्परिणामंति ॥ १०५ ॥ पुट्ठा वेगे णियट्टंति जीवियस्सेव कारणा णिक्खंतं पि तेसिं दुण्णिक्खंतं भवति ॥ १०६ ॥

(णियट्टमाणा इत्यादि) एके कर्मोदयात्संयमान्निवर्तमाना लिङ्गाद्वा, वाशब्दादनिवर्तमाना वा यथावस्थितमाचारगोचरमाचक्षते-वयं तु कर्तुमसहिष्णव आचारस्त्वेवंभूतमित्येषा द्वितीया बालता न भवत्येव, न पुनर्वदन्त्येवम्भूत एवाऽऽचारो योऽस्माभिरनुष्ठीयते, साम्प्रतं दुःषमाऽनुभावेन बलाऽऽद्यपगमान्मध्यमभूतैव वर्तिनी श्रेयसी,नोत्सर्गावसर इति । उक्तं हि-

"नात्यायतं न शिथिलं, यथा युञ्जीत सारथिः ।
यथा भद्रं वहन्त्यश्वाः, योगः सर्वत्र पूजितः ॥१॥"

अपि च-

" जो जत्थ होइ भग्गो, चवसासं सो परं अविंदतो ।
गंतु तत्थ चयंतो, इमं पहाणं ति घोसेइ " ॥ १ ॥ इत्यादि ।

॥१०४॥ किम्भूताः पुनरेतदेवं समर्थयेयुरित्याह -(णाणभट्ठा) सदसद्विवेको ज्ञानं, तस्माद् भ्रष्टाः । तथा-(दंसणलूसिणो त्ति) सम्यग्दर्शनविध्वंसिनोऽसदनुष्ठानेन स्वतो विनष्टा अपरानपि शङ्कोत्पादनेन सन्मार्गाद् च्यावयन्ति । अपरे पुनर्बाह्यक्रियोपेता

अप्यात्मानं नाशयन्तीत्याह-(णममाणा इत्यादि) नमन्तोऽप्याचार्याऽऽदेर्द्रव्यतः श्रुतज्ञानार्थं ज्ञानाऽऽदिभावविनयाभावात्कर्मोदयादेके, न सर्वे संयमजीवितं विपरिणामयन्त्यपनयन्ति, सञ्चरितादात्मानं ध्वंसयन्तीत्यर्थः ॥ १०५ ॥ किं चापरमित्याह-(पुट्ठा वेगे इत्यादि) एके अपरिकर्मितमतयो गौरवत्रिकप्रतिबद्धाः स्पृष्टाः परीषहैर्निवर्त्तन्ते संयमाल्लिङ्गाद्वेति, किमर्थम् ?, जीवितस्यैवाऽसंयमाऽऽख्यस्य, कारणान्निमित्तात्, सुखेन वयं जीविष्याम इति सावद्यानुष्ठानतया संयमान्निवर्त्तन्ते । तथाभूतानां च यत्स्यात्तदाह-(णिक्खतं पि इत्यादि) तेषां गृहपाशान्निष्क्रान्तमपि ज्ञानदर्शनचारित्रमूलोत्तरगुणान्यतरोपघातान्निष्क्रान्तं दुर्निष्क्रान्तं भवति ॥ १०६ ॥

तद्धर्माणां च यत्स्यात्तदाह-

वालवयणिज्जा हु ते णरा, पुणो पुणो जातिं पगप्पंति, अहे संभवंता विद्दायमाणा अहमस्सि विउक्कसे, उदासीणे फरुसं वदंति पलियं पगंथे, अदुवा पगथे अतहेहिं, तं मेहावी जाणिज्जा धम्मं ॥ १०७ ॥

(वाल इत्यादि) हुर्हेतौ । यस्मादसम्यगनुष्ठानाद्दुर्निष्क्रान्तास्तस्माद् बालानां प्राकृतपुरुषाणामपि वचनीया गर्ह्या बालवचनीयाः । (ते णरा इति) किञ्च-(पुणो पुणो इत्यादि) पौनःपुन्येनारहट्टघटीयन्त्रन्यायेन जातिरुत्पत्तिस्तां कल्पयन्ति । किम्भूतास्त इत्याह-(अहे इत्यादि) अधः संयमस्थानेषु सम्भवन्तो वर्तमाना विद्यया वाऽधो वर्तमानाः सन्तो विद्वांसो वयमित्येवं मन्यमाना लघुनयाऽऽत्मानं व्युऽऽत्कर्षयेयुरात्मनः श्लाघां कुर्वते,यत् किञ्चित् जानानोऽपि मानोत्तम्भितत्वाद्रससातागौरवबहुलोऽहमेवात्र बहुश्रुतो यदाचार्यो जानाति तन्मयाऽल्पेनैव कालेनाधीतमित्येवमात्मानं व्युत्कर्षयेदिति । नात्मश्लाघ्यतयैवाऽऽसते परानप्यपवदेयुरित्याह-(उदासीणे इत्यादि) उदासीना रागद्वेषरहिता मध्यस्था बहुश्रुतत्वे सत्युपशान्ता , तान् स्खलितान् चोदनोद्यतान् परुषं वदन्ति । तद्यथा-स्वयमेव तावत्कृत्यमकृत्यं वा जानीहि, ततोऽन्येषामुपदेक्ष्यसीति । यथा च परुषं वदन्ति तथा सूत्रेणैव दर्शयितुमाह-(पलिय इत्यादि) (पलिय ति) अनुष्ठानं, तेन पूर्वाऽऽचरितेनानुष्ठानेन तृणाऽऽहाराऽऽदिना प्रकथयेदेवम्भूतस्त्वमिति । अन्यथा वा कुण्टमण्टाऽऽदिभिर्गुणैर्मुखविकाराऽऽदिभिर्वा प्रकथयेदिति । किम्भूतैरतथ्यैरविद्यमानैरित्युपसंहरन्नाह-(त इत्यादि) तद्वाच्यमवाच्यं वा, तं वा धर्मं श्रुतचारित्राऽऽख्यं, मेधावी मर्यादाव्यवस्थितो, जानीयात्सम्यक् परिच्छिन्द्यादिति ॥ १०७ ॥

सोऽसभ्यवादप्रवृत्तो बालो गुर्वादिना यथाऽनुशास्यते, तथा दर्शयितुमाह-

अहम्मट्ठी तुमं सि णाम बाले, आरंभट्ठी, अणुवयमाणे हणमाणे घायमाणे, हणओ यावि समणुजाणमाणे, घोरे धम्मे उदीरिए उवेहइ, णं अणाणाए एस विसण्णे वितद्दे वियाहिए त्ति बेमि ॥ १०८ ॥

(अहम्मट्ठी इत्यादि) अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थी, अधर्मेणार्थी, यतो नाम त्वमेवम्भूतोऽनुशास्यते, कुतोऽधर्मार्थी, यतो बालोऽज्ञः, कुतो बालो यत आरम्भार्थी सावद्याऽऽरम्भप्रवृत्त , कुत आरम्भार्थी,यतः प्राण्युपमर्दवादाननुवदन्नेतद् ब्रूषे । तद्यथा-जहि प्राणिनोऽपरैरेव घातयन् घ्नतश्चापि समनुजानासि गौरवत्रिकानुबद्धः पचनपाचनाऽऽदिक्रियाप्रवृत्तस्तत्परस्तत्कर्त्तॄन् तत्समक्षं ताननुवदसि-कोऽत्र दोषो?,न ह्यशरीरैर्धर्मः कर्तुं पार्यते, अतो धर्माऽऽधारं शरीरं यत्नतः पालनीयमिति । उक्तं च-"शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः । शरीराच्चवते धर्मो, यथा बीजात्सदङ्कुरः ॥ १ ॥ " इति । किञ्चैवं ब्रवीषि त्वं, तद्यथा-घोरो भयानको धर्मः सर्वाऽऽश्रवनिरोधाद् दुरनुचर उत्प्राबल्येनेरितः कथितः प्रतिपादितस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिरित्येवमध्यवसायी भवान्तरमनुष्ठानत उपेक्षते उपेक्षां विधत्ते, णमिति वाक्यालङ्कारे । नानाज्ञया तीर्थकरगणधरानुपदेशेन, स्वेच्छया प्रवृत्त इति, क एवम्भूत इति दर्शयति-एष इत्यनन्तरोक्तोऽधर्मार्थी बाल आरम्भार्थी प्राणिनां हन्ता घातयिता घ्नतोऽनुमन्ता धर्मोपेक्षक इति विषण्णः कामभोगेषु विविधं तद्दर्शयतीति वितर्दो हिंसकः,'तर्द' हिंसायामित्यस्मात्कर्तरि पचाऽऽद्यच् । संयमे वा प्रतिकूलो वितर्द इत्येवंरूपस्त्वमेव व्याख्यात इत्यतोऽहं ब्रवीमि, त्वं मेधावी धर्मं जानीया इति ॥१०८॥

एतच्च वक्ष्यमाणमहं ब्रवीमीत्यत आह-

किमणेण भो जणेण करिस्सामि त्ति मण्णमाणा एवं एगे विदित्ता, मातरं पितरं हिच्चा णाइओ य परिग्गहं वीरायमाणे समुट्ठाय अविहिंसा सुव्वया दंता पास दीणे उप्पइए पाडिवयमाणे ॥ १०९ ॥ वसट्टा कायरा य जणा लूसगा भवंति ॥ ११० ॥ अहमेगेसिं सिलोए पावए भवति, से समणविब्भंते समणविब्भंते ॥ १११ ॥

(किमणेण इत्यादि) केचन विदितवेद्या धीरायमाणाः सम्यगुत्थानेनोत्थाय पुनः प्राण्युपमर्दका भवन्तीति कथमुत्थाय किमहमनेन, भो इत्यामन्त्रणे, जनेन मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदिना स्वार्थपरेण परमार्थतोऽनर्थरूपेण करिष्यामीति, न ममायं कस्याचिदपि कार्यस्य रोगापनयनाऽऽदेरलमित्यनेन किमहं करिष्ये ?। यदि वा-प्रव्रजिषुः केनचिदभिहितः किमनया सिकताकवलसन्निभया प्रव्रज्यया करिष्यति भवान्, अदृष्टवशाऽऽयातं तावद्भोजनाऽऽदिकं भुङ्क्ष्वेत्यभिहितो निरागतामापन्नो ब्रवीति-किमहमनेन भोजनाऽऽदिना करिष्ये, भुक्तं मयाऽनेकशः संसारे पर्यटता, तथापि तृप्तिर्नाभूत्किमिदानीमनेन जन्मना भविष्यतीत्येवं मन्यमाना एके विदितसंसारस्वभावा विदित्वाऽप्येवं ततो मातरं जननीं पितरं जनयितारं हित्वा त्यक्त्वा, ज्ञातयः पूर्वापरसम्बन्धिनः स्वजना वा, परिगृह्यत इति परिग्रहो धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदाऽऽदिस्तं, किम्भूता ?, धीरमिवात्मानमाचरन्तो धीरायमाणाः, सम्यक् संयमानुष्ठानेनोत्थाय समुत्थाय विविधैरुपायैः , न विद्यते विहिंसा येषां ते अविहिंसा , तथा शोभनं व्रतं येषां ते सुव्रता , दान्ता इन्द्रियदमनाद्दान्ता इत्येवं समुत्थाय । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-" समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू अहिंसगा सुव्वया दंता परदत्तभोइणो पावं कम्मं ण करेस्सामो समुट्ठाए ।" सुगमत्वान्न विव्रियत इति । एवं समुत्थाय पूर्वं पश्चात्पश्य निभालय दीनान् शृगालत्वविहारिणो व्रतं जिघृक्षून् पूर्वमुत्पातिता न संयमाऽऽरोहणात्पश्चात्पापोदयात् प्रतिपतत इति ।१०९। किमिति दीना भवन्तीति दर्शयति-यतो वशा इन्द्रिय-

विषयकषायाणां तत्र सातं यस्याऽसौ, तथाभूतानां च कर्मा-
नुबन्धः। तदुक्तम्-"अट्टदुहट्टवसट्टे णं भंते ! जीवे किं कम्मं पकरेइ?। गोयमा ! आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ० जाव अ-
णुपरियट्टइ। कोहवसट्टे णं भंते ! जीवे किं ?। एवं चेव।" एवं
मानाऽऽदिष्वपीति। तथा कातराः परीषहोपसर्गनिपाते सति
विषयलोलुपा वा कातराः। के ते ?, जनाः, किं कुर्वन्ति ?, ते व्रतिनः सन्तो लूषका भवन्ति-ये महाव्रतारोपणोत्तरकाले
भारविरचनीयेन्द्रियनिरोधाय प्रवर्तन्ते, नापवृत्ति वा प-
रित्यज्य प्राणिनां विराधका भवन्ति ॥ ११० ॥ तेषां
च पश्चात्कृतसिद्धान्ता ख्यापनवादः-(अहमेगेसिं इत्या-
दि) तथाऽऽत्मार्थे, एकेषां ज्ञानपरीहाणां गुणप्रतिमानां
तपःसंयमानुष्ठानेन वा गच्छावाऽऽपत्ति स्यात्, एकेषां
तु श्लोक एव गारव पापको भवेत् इत्याद्यावश्यकाद्या अप-
यशः कीर्तिर्भवति। तद्यथा-स एव चिरकालस्थानो यो
गानिरपायो यतति निष्ठास्या, नास्य विश्वसनीयं, यतो नास्या-
कर्तव्यमस्तीति। उक्तं च-" परलोकविरुद्धानि, कुर्वाणं दूरत-
स्त्यजेत्। आत्मानं यो न संधत्ते, सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः
॥१॥" इत्यादि। यदि वा सुखैषिणामयतनां दर्शयितुमाह-(से
समण इत्यादि)सोऽपि श्रमणो भूत्वा गुरूणां ग्रामो यात्र श्रम
णविभ्रान्तः, श्रमणविभ्रान्तः। गौरवाणामनुगुणस्तमाह॥१११॥

किञ्च-

पासहेगे समणागएहिं अममणागए णमणाणेहिं अ-
णममाणे विरतेहिं अविरते दविएहिं अदविए अभिसमेचा
पंडिए मेहावी णिट्ठियट्ठे धीरे आगमेणं सया परक्कमेज्जासि
त्ति बेमि ॥ ११२ ॥

पश्यत यूयं कर्मसामर्थ्यमेके विभ्रान्तमानसेषा समन्वाग-
तैरनुष्ठानविहारिभिः सह वसन्तोऽप्यसम-न्वागताः शीतलविहा-
रिणः, तथा नममानैः संयमानुष्ठानेन विनयवद्भिरनममाना नि-
र्घृणतया सावद्यानुष्ठायिनो, विरतैरविरता द्रव्यभूतैरद्रव्यभूता,
पापकलङ्किनश्चादेवभूतैरपि साधुभिः सह वसन्तोऽप्येवम्भू
तानभिसमेत्य ज्ञात्वा, किं कर्तव्यमिति दर्शयति-पण्डितस्य
ज्ञानतो मेधावी मर्यादाव्यवस्थितो निष्ठितार्थो विषयसुखनि-
ष्पिपासो धीरः कर्मविदारणसहिष्णुर्भूत्वाऽऽगमेन सर्वज्ञप्रणी-
तोपदेशानुसारेण, सदा सर्वकालं पराक्रमयेत, इतिरधिकार-
परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, धूताध्ययनस्य चतुर्थोद्देशकः
समाप्तः। चतुर्थोद्देशकः।

साम्प्रतं पञ्चम आरभ्यते-अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरो-
द्देशके कर्मविधूननार्थं गौरवत्रयविधूननाऽभिहिता, सा च कर्म-
विधूननोपसर्गविधूननाद्यतिरेकेण न सम्पूर्णभावमनुभवति, ना-
पि सत्कारपुरस्कारात्मिकां सम्मानधूननामन्तरेण गौरववि-
धूनना सम्पूर्णतामियादित्यत उपसर्गसम्मानविधूननार्थमिद-
मुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्यास्खलि-
ताऽऽदिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम्। तच्चेदम्-

से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा गामेसु वा गामंतरेसु वा ण-
गरेसु वा णगरंतरेसु वा जणवएसु वा जणवयंतरेसु वा
संतेगतिया जणा लूसगा संति, अदुवा फासा फुसंति, ते
फासे पुट्ठो धीरो अहियासए ओए समियदंसणे ॥११३॥

"से गिहेसु वा इत्यादि, ०जाव धीरो अहियासए।" (से ति)

स भिक्षुर्मेधावी निष्ठितार्थो वीरः सदा सर्वज्ञप्रणीतो-
पदेशानुविधायी गौरवत्रिकाप्रतिबद्धो निर्ममो निष्किञ्चनो
निराशी एकाकिविहारितया ग्रामानुग्रामं रीयमाणः क्षुत्पिपा-
सादिपरीषहोपसर्गपरीतः शयनादितान् तु स्पर्शानिरंतराणि
सहमानविहरेत। क पुनरसौ वसन्नित्याह के परीषहोपसर्गा भवि-
ष्यन्तीति दर्शयति-आहाराऽऽद्यर्थं प्रविष्टस्य गृहेषु वा, उच्चनी-
चमध्यमावगाहनासूचक बहुवचनम्। तथा गृहान्तरेषु ग्रसन्ति बु-
द्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामा, तेषु वा, तदन्तरालेषु वा। नैतेषु क-
रोऽस्तीति नगराणि, तेषु वा, तदन्तरालेषु वा। जनानां लोका-
नां पदं पदस्थानानि येषु ते जनपदाः अवन्त्यादयः साधुविहा-
रयोग्याः अर्धषड्विंशतिः, तेषु वा, तदन्तरालेषु वा, ग्रामनगरा-
न्तरे वा, ग्रामजनपदान्तरे वा, नगरजनपदान्तरे वा, उद्याने वा,
तदन्तरे वा, विहारभूमिमानिस्य वा गच्छतो वा तदेवं तस्य
भिक्षोर्ग्रामाऽऽदावधितिष्ठतः कायोत्सर्गाऽऽदि वा कुर्वत एके
कानुष्ठेयदनाऽऽत्मानो ये जना लूषका भवन्ति, 'लूष' हिंसायाम्,
इत्यस्माद् ण्वुल्, लूषका भवन्ति ये जनाः, तत्र नारकाभावानुप-
सर्गकारणासम्भवस्तु (?) तिर्यगमरयोरपि कादाचित्कत्वात्प्रमे सू-
त्राणि सानुकूलप्रतिकूलोपसर्गाऽऽपादकानाम्(?) यदि वा-आयसा
इति जना स्तिर्यगमरा अपि जनपदोपलक्षिता, ते च जना
अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गकारिणोऽनेकधाऽभिधानाः स्युरिति। तत्र
तिरश्चामनुलोमा। तद्यथा-हास्यात्, प्रद्वेषादिभ्यो वा पृथग्विमा-
त्राभ्यां वा। तत्र केचित्किल कौतुकात् इत्यन्तरो भिक्षोरनुपसर्गान्
हास्यादेव कुर्वन्ति-यथा निशाऽऽदौ पतितः पुष्पकैर्मिश्रितस्वाणि
पतरांश्च कटं तथाऽऽदिनोपयाचितकं व्यन्तरस्य प्रवेदे, भि-
क्षाऽऽगतं च साधुमवगतस्य पुनरिव्यक्तरूपस्य विकल्पाऽऽदिना ते-
ऽप्युदीके, मेताऽपि केऽपि ते क्षुल्लकाः क्षीबा इव दन्ताधिवन प्र-
द्वेषेण-यथा भगवतो भावसामर्थ्यं पां ताम्रलिप्तकपोरिया
इत्यसीमधिकलमारणकाधिप्रमभिः ऐरावणकारि विमर्शार्थं-
मस्य उदधयो न चेलनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैः परीक्षयेत्। तथा सं-
विग्न साधुर्भाविमना कदाचिद् दयन्तर्यां स्त्रीवेषधारिण्या हा य-
देवकुलिकायामित, साधुरनुकूलोपसर्गैरुपसर्गितो दृढधर्मेति च
कृत्वा वन्दित इति। तथा पृथग्विमात्रा येषूपसर्गेषु ते पृथ-
ग्विमात्रा हास्याऽऽदिभ्यस्ताऽऽरभ्या अन्यतरोपसर्गिणो भ-
वन्ति। तद्यथा-हसनमित्येकेनैव विमर्शाऽऽरब्ध, प्रद्वेषेण प-
र्यवसिता इति मानुषा अपि हास्यप्रद्वेषविमर्शकुशीलप्रतिसेव-
नाभेदाच्चतुर्धा। तत्र हास्याद् गणिका क्षुल्लकमुपसर्गयन्ती
हासेन ताडिता राजानमुपस्थिता, क्षुल्लकेन तथाभूतेन धीगृहो-
दाहरणेन राजा प्रतिबोधित इति। प्रद्वेषाद्गजसुकुमारस्येव
श्वशुरभूतेनेति विमर्शाद् चन्द्रगुप्तो राजा चाणक्यचोदितो
धर्मपरीक्षार्थमन्तःपुरिकाभिर्धर्ममाचेदयन्तं साधुमुपसर्गयति,
साधुना च प्रत्यायता धीगृहोदाहरणं राज्ञो निवेदितमिति।
तत्र कुत्सितं शीलं कुशीलं, तस्य प्रतिसेवनं कुशीलप्रतिसे-
वनं, तदर्थं कश्चिदुपसर्गं कुर्यात्, यथेर्ष्यालुगृहपर्युषितः साधु-
ग्रसूति सीमन्तिनीभिः प्रोषितभर्तृकाभिः सकलां रजनी-
मेकैकया प्रतिसमयं उपसर्गितो, न चाऽसौ तासु चुक्षुभे, अ-
न्तरवाद्धितप्रकम्पोऽभूदिति तैर्यञ्चता अपि भयप्रद्वेषाऽऽहारा-
पत्यसंरक्षणभेदाच्चतुर्धैव। तत्र भयात् सर्पाऽऽदिभ्यः, प्रद्वेषाच्च
गगनतलगामकौशिकात् आहारात् सिंहव्याघ्राऽऽदिभ्यः, अपत्य-
संरक्षणात्काकाऽऽदिभ्य इति। तदेवमुक्तविधिनोपसर्गाऽऽपादक-
त्वाज्जना लूषका भवन्ति। अथवा तेषु ग्रामाऽऽदिषु स्थानेषु तिष्ठ-

तो गच्छतो वा स्पर्शान् दुःखविशेषान् आत्मसंवेदनीयाः स्पृश-न्त्यभिभवन्ति । ते चतुर्विधाः । तद्यथा-घट्टनतोऽक्षिकणुकाऽऽदि-ना, पतनतो भ्रमिमूर्च्छाऽऽदिना, स्तम्भनतो वाताऽऽदिना, श्लेषणतो तालुतः पातादङ्गुल्यादेर्वा स्यात् (?) । यदि वा-वातपित्तश्लेष्मा-ऽऽदिक्षोभात् स्पर्शाः स्पृशन्ति । अथवा-निष्किञ्चनतया तृणस्प-र्शदंशमशकशीतोष्णाऽऽदितापिताः स्पर्शा दुःखविशेषाः कदा-चित् स्पृशन्त्यभिभवन्ति, तैश्च स्पृष्टपरीषहैस्तान् स्पर्शान् दुःखवि-शेषान् धीरोऽक्षोभ्योऽधिसहेत, नरकाऽऽदिषु स्वभावनयाऽवश्य-कर्मोदयाऽऽपादित पुनरपि मयैवैतत्सोढव्यमित्याकलय्य सम्य-क् तितिक्षेदिति । कीदृक्षोऽधिसहेत ?, इत्यत आह-यदि वा स एवम्भूतो न केवलमात्मनस्त्राता, तदुपदेशदानतः परेषाम-पीति दर्शयितुमाह-(ओए इत्यादि) ओजः एको रागा-ऽऽदिविरहात् सम्यगितं गतं दर्शनमस्येति समितदर्शनः, स-म्यग्दृष्टिरित्यर्थः । यदि वा शमितमुपशमं नीतं दर्शनं दृष्टि-र्दीनमस्येति समितदर्शनः, उपशान्ताध्यवसाय इत्यर्थः । अथवा-समतामितं गतं दर्शनं दृष्टिरस्येति सामितदर्शनः समदृष्टिरित्य-र्थः । एवम्भूतः स्पर्शानधिसहेत यदि वा धर्ममाचक्षीतेत्युत्तर-क्रियया सह सम्बन्धः ॥ ११३ ॥ आचा० ।

(किमभिसन्धाय धर्ममाचक्षीतेति 'धम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६६२ पृष्ठे दर्शितम्)

किंगुणश्चाऽसौ द्वीप इव शरण्यो भवतीत्याह-

एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्ले-स्से परिव्वए ॥ ११९ ॥ संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिणिव्वुडे ॥ १२० ॥ तम्हा संगं ति पासहा गंथेहिं गं-थिया णरा विसण्णा कामक्कंता, तम्हा लूहाओ णो परि-वित्तसेज्जा ॥ १२१ ॥

(एवं इत्यादि) एवमिति वक्ष्यमाणप्रकारेण, स शरण्यो महामुनि-र्भावोत्थानेन संयमानुष्ठानरूपेण, उत्प्राबल्येन स्थित उत्थितः, तथा स्थितो ज्ञानाऽऽदिके मोक्षाध्वन्यात्मा यस्य स स्थिताऽऽत्मा, तथा स्निह्यतीति स्निहो, न स्निहोऽस्निहः रागद्वेषरहितत्वादप्रतिबद्धः, तथा च न चलतीत्यचलः परीषहोपसर्गवातेरितोऽपीति । तथा च-लोऽनियतविहारित्वात्तथा संयमाद्बहिर्निर्गता लेश्याऽध्यवसायो यस्य स बहिर्लेश्यः, यो न तथा सोऽबहिर्लेश्यः, स एवम्भूतः परि समन्तात्संयमानुष्ठाने व्रजेत्परिव्रजेत्, न क्वचित्प्रतिबध्यमान इति यावत् ॥ ११९ ॥ स च किमिति संयमानुष्ठाने परिव्रजे-दित्याह (संखाय इत्यादि) संख्यायाऽवधार्य पेशलं शोभनं धर्ममविपरीतार्थं, दर्शनं दृष्टिः, सदनुष्ठानं वा यस्यास्त्यसौ दृष्टि-मान्, स कषायोपशमात् क्वयाद्वा परि समन्तान्निर्वृतः शीती-भूतः ॥ १२० ॥ यस्त्वसंख्यातवान् पेशलं धर्मं मिथ्यादृष्टिर-सौ न निर्वातीति दर्शयितुमाह-(तम्हा इत्यादि) इतिहेतो-र्यस्माद्विपरीतदर्शनो मिथ्यादृष्टिः सङ्गवान्न निर्वाति तस्मात्सङ्गं मातापितृपुत्रकलत्राऽऽदिजनितं, धनधान्यहिरण्याऽऽदिजनितं वा सङ्गं, विपाकं वा पश्यत यूयं विवेकेनावधारयत । सूत्रेणैव स-ङ्गमाह-(गंथेहिं इत्यादि) त एव सङ्गिनो नराः सबाह्याभ्यन्त-रैर्ग्रन्थैर्ग्रथिता अवबद्धा विषण्णा ग्रन्थसङ्गे निमग्नाः कामैरिच्छा-मदनरूपैराक्रान्ता अवष्टब्धा न निर्वान्ति यद्येव ततः किं कर्तव्य-मित्याह-(तम्हा इत्यादि) यस्मात्कामतृष्णाऽऽसक्तचेतसः स्वज-नधनधान्याऽऽदिमूर्च्छिताः कामजैः शारीरमानसाऽऽदिभिर्दुः-खैरुपतापितास्तस्मात् रूक्षात्संयमात् निःसङ्गाऽऽत्मकान्नो परि-वित्रसेत्संयमानुष्ठानाद्बिभियात् । यतः प्रभूततरदुःखानुष-ङ्गिणो हि सङ्गिन इति ॥ १२१ ॥

कस्य पुनः संयमान्न परिवित्रसनं सम्भाव्यत इत्याह-

जस्सिमे आरंभा सव्वओ सव्वत्ताए सुपरिण्णाया भवंति, जेसिमे लूसिणो णो परिवित्तसंति, से वंता कोहं च माणं च मायं च लोहं च, एस तुट्टे वियाहिए त्ति बेमि ॥१२२॥ कायस्स वि वाघाए एस संगामसीसे वियाहिए, से हु पारं-गमे मुणी अविहम्ममाणे फलगावतट्ठी कालोवणीए कं-खेज्ज कालं॰जाव सरीरभेदो त्ति बेमि ॥ १२३ ॥

(जस्सिमे इत्यादि) यस्य महामुनेरवगतसंसारमोक्षकार-णस्येमे सद्वा आरम्भा अनन्तरोक्तत्वादतिजानन्तः सर्वजनाऽऽच-रितत्वात्प्रत्यक्षाऽऽसन्नवाचिनेदमाभिहिताः सर्वतः सर्वाऽऽत्मकत-या सुपरिज्ञाता भवन्ति । किम्भूता आरम्भाः ?, येष्विमे ग्र-न्थग्रथिता विषण्णाः कामभङ्गाऽऽक्रान्ता जना लूषिणो लूष-णशीला हिंसका अज्ञानमोहोदयान्न परिवित्रसन्ति न बि-भ्यति, यो ह्येवम्भूतांश्चाऽऽरम्भान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्या-ख्यानपरिज्ञया परिहरति तस्यैते सुपरिज्ञाता भवन्ति । यश्चाऽऽरम्भाणां परिज्ञाता स किमपरं कुर्यादित्याह-(से वंता इत्यादि) स महामुनिः पूर्वव्यावर्णितस्वरूपो वान्त्वा त्य-क्त्वा क्रोधं च मानं च मायां च लोभं चेति स्वगतभेदसंसूच-नार्थो व्यस्तनिर्देशः, सर्वानुयायित्वात् क्रोधस्य प्रथमोपादान-म्, तत्सम्बन्धत्वान्मानस्य लोभार्थं मायोपादीयत इत्यतस्तत्कार-णत्वान्मायाया लोभस्याऽऽदावुपन्यासः, ततः स च दोषाऽऽश्रय-त्वात् सर्वगुरुत्वाच्च सर्वोपरि लोभस्य क्षपणाक्रमं वाऽभि-त्यायमुपन्यास इति । चकारो हीनरेतरापेक्षया समुच्चयार्थः । स एव क्रोधाऽऽदीन्वान्त्वा मोहनीयं त्रोटयति, स चैव अपगतमोह-नीयः संसारसन्ततेः 'तुट्टो' अपसृतो व्याख्यातस्तीर्थकृतादि-भिः, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ । ब्रवीम्येतत्पूर्वोक्तम् । यदि वै-तद्वक्ष्यमाणमित्याह-(कायस्स इत्यादि) कायः औदारिका-ऽऽदित्रय, घातिचतुष्टयं वा, तस्य व्याघातो विनाशः । अथवा चीयत इति कायस्तस्य विशेषेणाङ्गमाऽऽयोदयाऽऽयुष्कक्षयाव-धिलक्षणया, घातो व्याघातः शरीरविनाश एव सङ्ग्रामशी-र्षरूपतया व्याख्यातः । यथा हि-सङ्ग्रामशिरसि परानीकनि-शाताऽऽकृष्टकृपाणनिर्यत्प्रभासं चलितोद्यत्सूर्यत्विड्भूतविद्यु-न्नयनचमत्कृतिकारिणि कृतकरणोऽपि सुभटश्चित्तविकारं वि-धत्ते, एवं मरणकालेऽपि समुपस्थिते परिकर्मितमतेरप्यन्यथा-भावः कदाचित्स्यादतो यो मरणकाले न मुह्यति, स पारगामी मुनिः संसारस्य कर्मणो वा उत्क्षिप्तभारस्य वा पर्यन्तयायी-ति । किञ्च-(अविहम्ममाणे इत्यादि) विविधं परीषहोपस-र्गैर्हन्यमानो विहन्यमानो, न विहन्यमानोऽविहन्यमानः, न नि-र्विण्ण सर्वहानसगर्दे (?) पृष्ठमन्यद्वा बालमरणं प्रतिपद्यत इ-ति । यदि वा-हन्यमानोऽपि सबाह्याभ्यन्तरतया तपःपरीष-होपसर्गैः फलकवद्व्यतिष्ठते न कातरीभवति । तथा कालेनोप-नीतः कालोपनीतो मृत्युकालेनाऽऽत्मवशतां नीतः सन् द्वादशव-र्षसंलेखनयाऽऽत्मानं संलिख्य गिरिगह्वराऽऽदिस्थण्डिलपाद-पोपगमनेङ्गितमरणभक्तपरिज्ञान्यतरावस्थोपगतः कालं मरण-कालमायुष्कक्षयं यावच्छरीरस्य जीवेन सार्द्धं भेदो भवति, ता-

चद्वाकाङ्क्षेत्, अयमेव च मृ युकालो यदुत शरीरभेदो, न पुनर्जीवस्याऽऽत्यन्तिको विनाशोऽस्तीति । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ । ब्रवीमीत्यादिक पूर्ववदिति पञ्चमोद्देशकः । तत्समाप्तौ च समाप्तं धुताऽऽख्यं षष्ठाध्ययनमिति । आचा०१ श्रु०६ अ०५ उ०।

धुर-धुर्-पुं० । अष्टाशीतिमहाग्रहेष्वन्यतमे स्वनामख्याते ग्रहे "दो धुरा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० ।

धुरा-धुरा-स्त्री० । धुर्-किप् । "रो रा" ८ । ४ । १ । १६ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण स्त्रियामन्त्यस्य रा इत्यादेशः । प्रा० १ पा० । चिन्तायाम, रथाग्रभागे, यानमुखे भारे च । टाप् । धुराऽप्यत्र । वाच० ।

धुरी-धुरी-स्त्री० । अक्षे अनु० ।

धुव-ध्रुव-पुं० । शङ्कौ, गिरौ, हरे, उत्तानपादनृपपुत्रे, वसुभेदे, ज्यौतिषोक्ते योगभेदे, नासाग्रे स्थाणौ, ललाटस्थे आवर्त्तभेदे, भूगोलस्योत्तरदक्षिणकेन्द्रयोरपि स्थिरे किंतरे ताराभेदे च । वाच० । भगवत ऋषभदेवस्य अष्टाऽऽद्विशतपुत्रेष्वन्यतमे स्वनामख्याते पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । शाश्वतत्वाद् मोक्षे, तदुपाये संयमे च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । "धुवमग्गमेव पवयति ।" ध्रुवो मोक्षः संयमो वा तन्मार्गमेव प्रवदन्ति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आचा० । मोक्षकारणीभूते ज्ञानाऽऽदिके, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । कर्मणि, तत्फलभूते संसारे, अनु० । स्थैर्ये, भो० १२ विव० । अत्यन्ते, विशे० । "धुवमोगिपद्द ।" ध्रुवमत्यन्तं, सर्वदेत्यर्थः । स्था० ६ ठा० । अवश्यमित्यर्थे, आ० । तर्के, आकाशे, उत्तराभद्ररोहिणीनक्षत्रेषु च । न० । वाच० । अर्थतो ध्रुवत्वाच्छाश्वतत्वाद् ध्रुवम् । आवश्यके, विशे० । त्रिकालभावित्वाद् ध्रुव । नित्य, "धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे ।" (स्था०) इन्द्रशक्राऽऽदिवत्पर्यायशब्दा ध्रुवाऽऽदयो नानादेशजविनेयप्रतिपत्यर्थमुपन्यस्ताः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । विशे० । आचा० । ग० । प्र०० म० । ध्रुवोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरस्वभाव. । सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । अप्रतिहार्ये, नि० चू० ५ उ० । "धुवा जे अविणासधम्मिणो ।" आ० चू० १ अ० । त्रिकालावस्थायित्वाद् ध्रुव, मेर्वादिवद्वस्तु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । न० । ध्रुवोऽवश्यभावित्वात् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । अवश्य भाविनि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । विशे० । आव० । निश्चिते, विशे० । आचा० । उत्त० । ध्रुव नियतं नैत्यिकमिति पर्योऽयेकार्थी । दश० १ उ० । ज्ञा० । बृ० । अव्यभिचारिणि च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । आचा० । सतते, अपरिणामिनि नित्ये, स्थिरे च । त्रि० । मूर्वायाम्, शालपर्णी च । स्त्री० । शरारिपक्षिणि, पु० । स्त्री० । सञ्ज्ञाया कन् । गीतिभेदे, न० । वाच० ।

धुवकम्मिय-ध्रुवकर्मिक-पुं० । लोहकाराऽऽदौ, व्य० १ उ० । कल्प० । ओघ० ।

धुवचारि (ण्)-ध्रुवचारिन्-पुं० । ध्रुवो मोक्षस्तत्कारण च ज्ञानाऽऽदि ध्रुव,तदाचरितु शील यस्य । मोक्षचरणशीले, मोक्षकारणज्ञानाऽऽद्याचरणशीले च । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

धुवजोगि (ण्)-ध्रुवयोगिन्-पुं० । नित्ययोगवति, दश०१० अ०।

धुवणिग्गह-ध्रुवनिग्रह-पु० । प्रवाहतोऽनादिकालीनत्वाद् ध्रुव कर्म ,तन्निगृह्यतेऽनेनेति ध्रुवनिग्रहः। विशे०। अनादित्वाद् कचिद्रव्यपर्यायसिततत्वाद् ध्रुवं कर्म, तत्फलभूत संसारो वा, तस्य निग्रहहेतुत्वान्निग्रहो ध्रुवनिग्रहः । आवश्यके, अनु० ।

धुवपगडि-ध्रुवप्रकृति-स्त्री० । ध्रुवकर्मप्रकृतौ, आचा० । ध्रुवकर्मप्रकृतयश्चेमाः-पञ्चधा ज्ञानाऽऽवरणीय, नवधा दर्शनाऽऽवरणीयं, मिथ्यात्व, कषायषोडशक, भय, जुगुप्सा, तैजसकार्मणशरीरवर्णगन्धरसस्पर्शाः, गुरुलघूपघातनिर्माणानां पञ्चधाऽन्तरायः । एताः सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवप्रकृतयः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । (एतस्या भेदाः 'णाणावरणिज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १९८५ पृष्ठे प्रतिपादिताः) (दर्शनाऽऽवरणीयभेदाः 'दसणावरण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४२७ पृष्ठे गताः) (मिथ्यात्वभेदवर्णनं 'मिच्छत्त' शब्दे) (कषायषोडशकस्वरूप 'कसाय' शब्दे तृतीयभागे ३९४ पृष्ठे गतम्) (भयस्वरूपं 'भय' शब्दे विस्तरतो वर्णयिष्यामि) (जुगुप्सालक्षण 'दुगुंछा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५४३ पृष्ठे गतम्) (तैजसकार्मणशरीरवर्णनम् 'अगुरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १४७ पृष्ठे गतम्) (वर्णस्वरूपं 'वण्ण' शब्दे वर्णयिष्यामि) (गन्धविस्तरः 'गंध' शब्दे तृतीयभागे ७६४ पृष्ठे गत) (रसविभाग 'रस' शब्दे स्पष्टीभविष्यति) (स्पर्शविवेचनं 'फास' शब्दे वक्ष्यते) (गुरुलघुस्वरूप 'अगुरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १४७ पृष्ठे गतम्) (उपघातभेदा 'उवघाय' शब्दे द्वितीयभागे ८८० पृष्ठे विस्तरतो गताः) (निर्माणनामस्वरूपम् 'णिम्माणणाम (ण्)' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०८४ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (सर्वेऽप्यन्तरायप्रकृतिभेदाः 'अतरा (य) इय' शब्दे प्रथमभागे ९७ पृष्ठे प्रदर्शिताः)

धुवबंध-ध्रुवबन्ध-पु० । य पुनरग्रेऽपि मध्यः कदाचिदू व्यवच्छेद प्राप्स्यति, सोऽभव्यसत्का बन्धो ध्रुवबन्धः । कर्मबन्धभेदे, क० प्र० २ प्रक० ।

धुवबंधिणी-ध्रुवबन्धिनी-स्त्री० । ध्रुवो बन्धो विद्यते यस्यां सा ध्रुवबन्धिनी । कर्मप्रकृतिभेदे, प० स० ३ द्वार । निजहेतुसद्भावे यासा प्रकृतीनां ध्रुवोऽवश्यभावी बन्धो भवति, ता ध्रुवबन्धिन्यः कर्मप्रकृत : । कर्म० ५ कर्म० । (तास्र सप्तचत्वारिंशत्सङ्ख्याकाः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे)

धुवमग्ग-ध्रुवमार्ग-पु० । ध्रुवो मोक्ष' संयमो वा, तस्य मार्ग. । मोक्षमार्गे, संयममार्गे च । " धुवमग्गमेव पवयंति ।" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

धुवराहु-ध्रुवराहु-पु० । सदैव चन्द्रविमानस्याधस्तात् सञ्चरति राहुभेदे, सू० प्र० २० पाहु० । च० प्र० । (तद्वक्तव्यता 'राहु' शब्देऽवधार्या)

धुववग्गणा-ध्रुववर्गणा-स्त्री० । ध्रुवा नित्या लोकव्यापितया सर्वकालावस्थायिनी वर्गणा ध्रुववर्गणा । वर्गणाभेदे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । (तद्वक्तव्यता 'वग्गणा' शब्दे)

धुववण्ण-ध्रुववर्ण-पु० । ध्रुवोऽव्यभिचारी, स चाऽसौ वर्णः संयमो मोक्षो वा ध्रुववर्ण' । अव्यभिचारिणि संयमे, मोक्षे च । ध्रुवो वर्णो यश कीर्तिर्वा ध्रुववर्णः । शाश्वते यशसि, शाश्वत्यां कीर्त्यां च । " धुववण्ण स पेहिया ।" आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

धुवसंतकम्म-ध्रुवसत्कर्मन्-न० । यत्सर्वसंसारिणामनवाप्तोत्तरगुणाना सातत्येन भवति तद् ध्रुवसत्कर्म । कर्मभेदे, पं०सं०

३ द्वार । (ध्रुवसत्कर्मप्रकृतयः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे द्रष्टव्या.)

धुवसंतकम्मिया-ध्रुवसत्कर्मिका-स्त्री० । ध्रुवं सत्कर्म्म यस्याः सा ध्रुवसत्कर्मिका । कर्मप्रकृतिभेदे, क० प्र० २ प्रक० ।

धुवसत्तागा-ध्रुवसत्ताका-स्त्री० । ध्रुवा अव्यवच्छेदकालादर्वाक्कालभाविनी सत्ता यस्याः सा ध्रुवसत्ताका । कर्मप्रकृतिभेदे, पं० सं० ३ द्वार । या सर्वससारिणामप्राप्तसम्यक्त्वाऽऽद्युत्तरगुणानां सातत्येन प्रवर्त्ति ता ध्रुवसत्ताका । कर्म० ५ कर्म० । (ताश्च त्रिशदुत्तरशतसख्या. 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे द्रष्टव्याः) ध्रुवसत्ताकत्व तासां सम्यक्त्वलाभादर्वाक् सर्वजीवेषु सदैव सद्भावात् । कर्म० ५ कर्म० ।

धुवसेण-ध्रुवसेन-पुं० । वीरनिर्वाणान्नवशताशीतिवर्षेष्वतीतेषु जाते स्वनामख्याते नृपे, यस्य पुत्रमरणाऽऽर्त्तस्य शोकापहारार्थं कल्पसूत्रस्य वाचनाऽऽरब्धेति । कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

धुवोदया-ध्रुवोदया-स्त्री० । ध्रुव आ उदयकालव्यवच्छेदादर्वाक्कालावस्थायी उदयो विपाकानुभवनलक्षणो यस्याः सा ध्रुवोदया । " अवुच्छिण्णो उदओ, जाण पयडीण ता धुवोदइया । " यासामव्यवच्छिन्नाऽनुसन्तत. स्वोदयव्यवच्छेदकाल यावत । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । उदयास्ता ध्रुवोदया , ('कम्म' शब्दे विवृतमेतत्)

धूआ-दुहितृ-स्त्री० । अङ्गजायाम्, " धूआ दुहिआ । " को० २५२ गाथा ।

धूअरायमग्ग-धूतराजमार्ग-पुं० । धूतोऽपनीतो राजमार्गो राजपथ्या यस्मिन् । अपनीतराजपथे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

धूओवाय-धूतोपाय-पुं० । ' धुओवाय ' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

धूण-देशी-गजे, दे० ना० ५ वर्ग ६० गाथा ।

धूम-धूम-पुं० । धू-मक् । आर्द्रकाष्ठजाते मेघकज्जलयो कारणे वह्निध्वजे पदार्थे, वाच० । " अतो धूमेण मारेइ । " धूमेन वह्निलिङ्गेन । स० ३० सम० । व्याधिशमनाय धूमश्चायोगार्भ । प० व०४ द्वार । औ० । धूमो मन शिलाऽऽदिसम्बन्धी-भूतवासनाऽऽदिक. । उत्त० १५ अ० । द्वेषे,"इंगालधूमपरिसुद्ध उवर्दि धारए स भिक्खू जो इगालो त्ति रागो धूमो त्ति दोसो तेर्हि, परिसुद्ध न तेहिं ।" परिभुञ्जनीत्यर्थे । नि०चू०१६उ० । द्वेषाग्निना दह्यमानस्य निन्दाऽऽत्मके कलुषभावे च । धूमो द्विधा । तद्यथा-द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतो योऽर्द्धन्धाना काष्ठाऽऽदीना सम्बन्धी । भावतो-द्वेषाग्निना दह्यमानस्य भरवन्धी कलुषभावो निन्दाऽऽत्मक । पिं० । चरणेन्धनस्य द्वेषेण धूमवन छव करण मतुप्प्रत्ययलोपाद् धूम । ग० १ अधि० । चारित्रेन्धनस्य धूमवत छव करणमिति भिग्रहे कारिते मतुबलोपे च धूम । चारित्रेन्धनस्य धूमायमाननारूपे ग्रासैषणादोषभेदे, पञ्चा० १३ विव० ।

धूमंग-देशी-भ्रमरार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ५७ गाथा ।

धूमकेउ-धूमकेतु-पुं० । धूम इव केतु । उत्पातरूपेऽशुभसूचके, वाच० । अष्टाशीतिमहाग्रहाणामन्यतमे महाग्रहे, चं० प्र० २० पा० हु० १ पाहु० पाहु० । प्रज्ञा० । प्रश्न० । स्था० । कल्प० । सू० प्र० । अग्नौ, "पक्खदे जालेय जोइ धूमकेउ दुरासय । " धूमकेतोरग्नेर्ज्योतिरूर्ध्वां प्रस्कन्देत । उत्त० २२ अ० । धूमकेतु धूमचिह्न धूमध्वजं नोल्काऽऽदिरूपम् । दश० २ अ० । " दो धूमकेऊ । " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

धूमचारण-धूमचारण-पुं० । चारणभेदे, धूमवर्तितिरश्चीनामूर्ध्वगां वाऽवलम्ब्यास्खलितगमनाऽऽस्कन्दिनो धूमचारणाः । ग० २ अधि० । प्रव० ।

धूमजोणि-धूमयोनि-पुं० । धूमो योनिरस्य । मेघे, मुस्तके च । ६ त० । वह्नौ, आर्द्रकाष्ठे च । वाच० । " अन्नाई धूमजोणी । " को० २७ गाथा ।

धूमज्झय-धूमध्वज-पुं० । वह्नौ, धूमचिह्ने वह्नौ, दश० २ अ० । एकार्थिकानि- " धूमज्झओ हुयवहो, विहावसू पावओ सिही वण्ही । अणलो जलणो डुहणो, हुआसणो हव्ववाहो य ॥६॥ " को० ६ गाथा ।

धूमण-धूमन-न० । अनागतव्याधिनिवृत्तये धूमपाने, दश० ३ अ० । नापि काशाऽऽद्यपनयनार्थं त धूम योगवर्त्ति निष्पादित मापिबेत् । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

धूमदोस-धूमदोष-पुं० । अन्तप्रान्ताऽऽद्याहारे द्वेषाच्चारित्रस्यापि धूननाद्धूमदोष । आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० । निन्दन् पुनः पुनश्चारित्रेन्धनम्, दहन् धूमकरणाद् धूमदोष. । ग्रासैषणादोषभेदे, ध० ३ अधि० । द्वेषेण भुञ्जानस्य धूमदोष । जीत० । उत्त० । " दोसेण सधूमग मुणेयव्व । " पिं० । द्वेषेणाऽऽध्मातस्य यद् भोजन तत्सधूमं, निन्दाऽऽत्मककलुषभावरूपधूमसमिश्रत्वात् । पिं० ।

धूमद्दार-देशी-गवाक्षे, दे० ना० ५ वर्ग ६१ गाथा ।

धूमद्धअ-देशी-तटाके, महिषे च । दे० ना० ५ वर्ग ६३ गाथा। वह्नौ, को० ६ गाथा ।

धूमद्धयमहिसी-स्त्री० देशी । कृत्तिकासु, दे० ना० ५ वर्ग ६२ गाथा।

धूमपलीयाम-धूमप्रदीप्ताम-पुं० । ग्रामभेदे, नि० चू० । " धूमपलियाम णाम जहा खड्डे खणित्ता तत्थ करीसो छुब्भति,तीसे खड्डमाए परिपेरतेहिं अण्णाओ खड्डाओ खणित्ता तासु तेंदुआदीणि फलाणि छुभिता जा, सा करीसगखड्डगा, तत्थ अग्गी छुब्भति सा तेर्सि च तेंदुगखड्डाण मिलिया, ताहे धूमो तेहिं पविसित्ता ताणि फलाणि पावति, तेण ते पचति, तत्थ जे अवक्काते धूमपलियामा भणति ॥ " नि० चू० १५ उ० ।

धूमप्पभा-धूमप्रभा-स्त्री० । धूमस्य प्रभा यस्या सा धूमप्रभा । धूमाऽऽभद्रव्योपलक्षितायां स्वनामख्यातायामरिष्टापरनामधेयाया पञ्चम्यां पृथिव्याम, प्रव० १७ द्वार । स्था० । अनु० । भ० । प्रज्ञा० । सम० । (धूमप्रभायां कियद्दूरे नैरयिकाना वास इति ' ठाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७०१ पृष्ठे द्रष्टव्य)

धूममहिसी-धूममहिषी-स्त्री० । धूमस्य महिषीव । कुज्झटिकायाम्, वाच० । " धूममहिसी य । " को० ५५ गाथा ।

धूमरी-देशी-नीहारार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ६१ गाथा ।

धूमवण्ण-धूमवर्ण-पुं० । पारापते, सू० १ श्रु० १७ अ० ।

धूमसिहा-धूमशिखा-स्त्री० । धूमाग्रभागे, "चत्तारि धूमसिहाओ पणत्ताओ। तं जहा-वामा णाममेगा वामावत्ता,वामा णाममेगा दाहिणावत्ता,दाहिणा णाममेगा वामावत्ता, दाहिणा णाममेगा दाहिणावत्ता" । स्था० ४ ठा० २ उ० । नीहारार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ६१ गाथा ।

धूमा-धूमा-स्त्री० । धूमिकायाम्, स्था० १० ठा० ।

धूमिआ-देशी नीहारार्थे, दे० ना० ५ वर्ग ६१ गाथा ।

धूमिय-धूमिन्-त्रि० । धूमयुते, "अप्पसत्थधूमधूमित चरण ।" पिं० ।

धूमिया-धूमिका-स्त्री० । मिहिकाभेदे,धूमिका मिहिकाभेद , वर्णतो धूमिका धूमाऽऽकारा, धूम्रेत्यर्थः । स्था० १० ठा० । धूमिकामिहिकयोर्विशेषस्तु भेद' । धूमिका धूम्रवर्णा, धूमरेत्यर्थः । मिहिका त्वापाण्डुरेति । भ० ३ श० ७ उ० । दे० ना० । "धूमिया य मिहिया य ।" को३८ गाथा । धूमिका रूक्षा प्रविरला धूमाभा प्रतिपत्तव्या । अनु० । जी० । स्था० । सदारमके अन्तरिक्षेऽस्वाध्यायभेदे, स्था० १० ठा० ।

धूय-धूत-न० । 'धुय' शब्दार्थे, स्था० ६ ठा० ।

धूयकिलेस-धूतक्लेश-त्रि० । 'धुयकिलेस' शब्दार्थे, आतु० ।

धूयचारि(ण्)-धूतचारिन्-पुं० । 'धुयचारि (ण्)' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

धूयज्झयण-धूताध्ययन-न० । 'धुयज्झयण' शब्दार्थे, आचा०१ श्रु० ८ अ०४ उ० ।

धूयपाव-धूतपाप-त्रि० । 'धुयपाव' शब्दार्थे, आतु० ।

धूयबहुल-धूतबहुल-त्रि० । 'धुयबहुल' शब्दार्थे, सूत्र० २ श्रु० २ उ० ।

धूयमोह-धूतमोह-त्रि० । 'धुयमोह' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । दशा० ।

धूयरय-धूतरजस्-त्रि० । 'धुयरय' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

धूयरागमग्ग-धूतरागमार्ग-पुं० । 'धुयरागमग्ग' शब्दार्थे,सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

धूयवाय-धूतवाद-पुं० । 'धुयवाय' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

धूया-दुहितृ-स्त्री० । दोग्धि च केवल जननीं स्तन्यार्थमिति दुहिता । ततश्च "दुहितरि धो हिलोपश्च ।" इति वचनादादेर्धत्वे हिलोपे च "ऋदुतु पुष्पोत्सवोत्सुकदुहितृषु ।" इति वचनात् ऋत ऊत्वे च "धूया ।" (५७) उत्त० १ अ० । "दुहितृभगिन्योर्धूया-बहिण्यौ" ॥ ८ ॥ २ ॥ १२६ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण दुहितृशब्दस्य वा धूयाऽऽदेशः । 'धूया । दुहिआ ।' प्रा० २ पाद । सुतायाम्, वाच० । ज० । उत्त० । "ताण धूयाण ।" आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । नि० चू० । आ० म० ।

धूरिअ-न० । देशी दीर्घे, दे० ना० ५ वर्ग ६२ गाथा ।

धूलडिअआ-धूलिका-स्त्री० । "धूलि क ।" "अ-मड डुल्ला' स्वार्थिककलुक् च ' ॥ ८ । ४ । ४२९ ॥ इति सूत्रेणापभ्रंशे स्वार्थे धूलिशब्दाद् डडप्रत्ययः । मिति परे इकारलोपे "धूलड" इति । "योगजश्चैषाम्" ॥ ८ । ४ । ४३० ॥ इति सूत्रेणापभ्रंशे अ-मड-डुल्लानां योगे रूढप्रत्यया तादृ प्रत्ययः । प्रा०४ पाद । "स्त्रियां तदन्ताड्डीः" ॥ ८ । ४ । ४३१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानादप्रत्ययान्तप्रत्ययान्तात् ङीप्रत्ययः । 'धूलडिआ' इत्यवस्थायाम् "आन्तेदे" ॥ ८ । ४ । ४३२ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानस्य नाम्नो योऽकारस्तस्याकारे प्रत्यये परे इकारः । प्रा० ४ पाद । धूल्याम्, वाच० ।

धूलि-धूलि-स्त्री० । धू-लि-कः,वा ङीप् । रजसि, परागे च । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

धूलिजंघ-धूलिजङ्घ-त्रि० । धूल्या धूसरे जङ्घे यस्य स धूलिजङ्घ । शाकपार्थिवाऽऽदिदर्शनात् मध्यमपदलोपी समासः । पादलग्नधूलिके, व्य० १० उ० । नि० चू० ।

धूलिणाय-धूलिज्ञात-न० । खिकिरातप्रज्ञाते, तीर्थकराऽऽचार्यगणधरशिष्याणां समीपे स्वाध्यायमधिकृत्य "इति उदिए धूलिणायमाहसु ।" यथा धूलिरेकत्र स्थापिता, तत उद्धृत्यान्यत्र यथाऽऽनीयते तथायथ किञ्चित्परिशटति,ततोऽप्यन्यत्र प्रस्तीर्यमाणा भूयो भूय परिशटति, यथा वा प्रासादे लिप्यमाने मनुष्यपरम्परया चिक्खिल्लं, प्रत्यर्प्यमाणो बहु परिशटित स्तोकमात्रावशेष एव सर्वान्तिममनुष्यस्य हस्त प्राप्नोति । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

धूलिधूसर-धूलिधूसर-त्रि० । समग्रधूलिके, "धूलिधूसरसर्वाङ्गो ।" आ० क० । आचा० ।

धूलिबहुल-धूलिबहुल-त्रि० । प्रचुरपांशुके, भ० ७ श० ६ उ० ।

धूलिवरिस-धूलिवर्ष-पुं० । पांशुवृष्टौ, "धूलीवरिस वरिसइ ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

धूली-धूली-स्त्री० । 'धूलि' शब्दार्थे, जी० ३ प्रति०४ उ० ।

धूलीवट्ट-देशी-अश्वे, दे० ना० ५ वर्ग ६१ गाथा ।

धूव-धूप-पुं० । "पो वः" ॥ ८ । १ । २३१ ॥ स्वरात्परस्याऽसंयुक्तस्यानादेः पस्य प्रायो दन्तोष्ठस्थानीयो वकारः । 'धूवो ।' प्रा० १ पाद । धूपयति रोगान् दोषान् वा । धूप अच् । गुग्गुलप्रभृतिगन्धद्रव्योत्थे धूमे, तत्साधनद्रव्ये च । वाच० । "कप्पूरमलयचन्दणकालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतसुरभिमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे ।" धूपश्च दशाङ्गाऽऽदिगन्धद्रव्यसंयोगज । ज० १ वक्ष० । एतेषां सम्बन्धी यो धूपस्तस्य दह्यमानस्य सुरभिर्यो मघमघायमानोऽतिशयवान् गन्ध उद्धूत उद्धूतः ,तेनाभिराममभिरमणीय यत्तत्तथा । ज्ञा०१ श्रु०१ अ० । नि० चू० । आ० म० । प्रज्ञा० । प्रश्न० । ज० । अनु० ।

धूवघडी-धूपघटी-स्त्री० । "पो व." ॥८।१।२३१॥ इति पस्य वकार. प्रा०१पाद । धूपभृतघटिकायाम्, "ताओ ण धूवघडीओ कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघतगंधुद्धुयाभिरामाओ सुगंधवरगंधिआओ गंधवट्टिभूआओ उरालेण मणुण्णेण घाणमणणिव्वुइकरेण गंधेण ते पएसे सव्वओ समता आपूरेमाणीओ सिरीए अईव उवसोभेमाणा चिट्ठति ।" ज० १ वक्ष० । जी० ।

धूवण-धूपन-पुं० । धूप-ल्युट् । यक्षधूपे, वाच० । धूपप्रदाने, न० । "अण्णयरेण धूवणजाएण धूवेज्ज वा ।" आचा० २

श्रु० २ चू०१३ अ० । धूपनमित्यात्मवस्त्राऽऽदे ,तद्धानाचरितम् । ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । नो शरीरस्य स्वीयवस्त्राणां वा धूपन कुर्यात् । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

धूवणजाय–धूपनजात–न० । धूपनप्रकारे, आचा० २ श्रु० २ चू० १३ अ० ।

धूवणविहि–धूपनविधि–पु० । धूपदानप्रकारे, "धूवणविहिपरिमाण करेइ णण्णत्थ अगुरुतुरुक्कधूवमाइएहिं ।" उपा० १ अ० । (विशेषस्तु ' आणंद ' शब्दे द्वितीयभागे १०७ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

धूवधूम–धूपधूम–पु० । अगुर्वादिगन्धद्रव्योत्थे धूमे, दर्श०१ तत्त्व ।

धूवपूया–धूपपूजा–स्त्री० । धूपप्रदानरूपे पूजाभेदे, दर्श०१ तत्त्व ।

धूविय–धूपित–त्रि० । धूप–क्त–वा आयाभावः । अध्वादिगमनेन श्रान्ते, सन्तापिते च । वाच० । अगुर्वादिसुगन्धिद्रव्यै सुगन्धीकृते च । "दुग्गंधं त्ति काउ अगुरुमाईहिं सुगंधीकय ।" ग० १ अधि० । दुर्गन्धाऽऽद्यपनयनार्थं धूपाऽऽदिना धूपित इति । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

धूसर–धूसर–पु० । गर्दभे, उष्ट्रे, कपोते, तैलाऽऽकारे ईषत्पाण्डुवर्णे, कृष्णश्वेतवर्णे, शुक्लपीतवर्णे च । तद्वर्णवति, त्रि० । वाच० । " धूलिधूसरसर्वाङ्गौ ।" आ० क० । आव्रा० ।

धूसरिअ–धूसरित–त्रि० । " गुण्डिअं उद्धूलिअ च धूसरिअ ।" को० १९२ गाथा ।

धे–ध्यै–धा० । चिन्तने, भ्वा०–पर०–सक०–अनिट् । ध्यायति । अध्यासीत् । वाच० । भ० १ श० १ उ० ।

ध्रै–धा० । तृप्तौ, भ्वा०–पर०–अक०–अनिट् । ध्रायति । अध्रासीत् । वाच० ।

धेज्ज–धेय–त्रि० । धारणीये, पालनीये, ज्ञा०१ श्रु० १ अ० ।

ध्येय–त्रि० । हृदि धारणीये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विपा० ।

धेणु–धेनु–स्त्री० । धयति सुतान् धे–नु–इच्च । नवप्रसूतायां गवि, वाच० । वृ० १ उ० ३ प्रक० । प्रा० । आचा० ।

धेवय–धैवत–पु० । अतिसंधयते अनुसंधयति शेषस्वरानिति निरुक्तिवशाद् धैवत । "अनुसन्धयते यस्मा-देतान् पूर्वोत्थितान् स्वरान् । तस्मादस्य स्वरस्यापि, धैवतत्व विधीयते ॥१॥" इत्युक्तार्थके रैवतापरनामभेदे, स्था०७ ठा० । अनु० । गत्वा नाभेरधोभाग, वस्ति प्राप्योर्ध्वग पुन । धावन्निव च यो याति, कण्ठदेश स धैवत ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे कण्ठोक्ते स्वरभेदे, वाच० । " धेवयस्सरसपण्णा, भवति कलहप्पिया ।" स्था० ७ ठा० ।

धोज्ज–धुर्य–त्रि० । धौरेये, " धोज्जेहिं हुति उवणीया।" धुर्यैधौरेयै । व्य० १ उ० ।

धोय–धौत–त्रि० । धाव–क्त–ऊठ् । अतिनिर्मलीकृते, जी० ३ प्रति० ४ उ० । आ०म० । ज्ञा० । जलाऽऽदिना प्रक्षालिते, भ० ६ श० ३ उ० । प्रभूतजलक्षालनक्रियया धौत मलिनं सत् प्रक्षालितम् । वृ०१ उ०२ प्रक० । औ० । "कह देहो धोइउ सक्को ।" धोतु क्षालयितु शक्यम् । त० । अतिनिशितीकृते, रा० । प्रज्ञा० । धौत ' चोक्ख ' कृतमिति । वृ० ३ उ० । शोधिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । जी० । शुभ्रे च । रजते, न० । वाच० ।

धोयरत्त–धौतरक्त–त्रि० । पूर्वं धौते पश्चाद्रक्ते वस्त्राऽऽदौ, " णो धोयरत्ताइ वत्थाइ धारएज्जा ।" पूर्वं धौतानि पश्चाद्रक्तानि । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

धोवण–धावन–न० । ' धावण ' शब्दार्थे, प्रव० १ द्वार ।

ध्रुव–(ग–व्यक्तायां वाचि, "ब्रु (ब्रू) गो ब्रुव(ब्रुव)वो वा" ॥८।४।३९१॥ अपभ्रंशे ब्रु (ब्रू) गो धातोर्ध्रुव (ब्रुव) व आदेशो वा भवति । "ब्रुवह सुहासिउ किं पि" पक्षे–"इत्तउ ब्रोप्पिणु सउणि ठिउ,पुणु दूसासणु ब्रोप्पि । तो हउ जाणउं एहो हरि, जइ महु अग्गइँ ब्रोप्पि ॥१॥" दुर्योधनोक्तिरियम्–शकुनिर्नाम मातुल इयद् ब्रूक्त्वा स्थित. पुनर्दुःशासनो ब्रूत्वा स्थित. । अह ततस्तर्हि जाने यदि एष हरिर्ममाग्रे ब्रूत्वा तिष्ठति शेप इत्यर्थ. । पक्षे–ब्रूवा । प्र० । "एप्प्येप्पिण्वेव्येविणव." ॥८।४।४४०॥ क्त्वास्थाने एप्पिणु । "स्वराणा स्वरा प्रायोऽपभ्रंशे" ॥८।४।३२९॥ इति एकारेण सह ऊकारस्य उकार । ब्रोप्पिणु । ब्रूप्पिणु । क्त्वा प्र० । "एप्पेप्पिणु०" ॥८।४।४४०॥ इति क्त्वास्थाने । एप्पि । शेष पूर्ववत् । ब्रोप्पि । प्रा०ढु० ४ पाद । यथाऽत्र भरते मेरुदिशि ध्रुवो वर्तते, तथा महाविदेहेष्वैरवते वर्तते न वा ?। तथा–जम्बूद्वीपे कति ध्रुवास्सन्ती ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–भरतवदन्यत्रापि ध्रुवा सम्भाव्यन्ते, परमेतत्प्रतिपादकान्यक्षराणि तु न दृष्टानि स्मरन्तीति । २२२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

ध्रुवु–ध्रुवम्–न० । " एत्र–पर–सम–ध्रुव–मा–मनाक् एम्व–पर–समाणु–ध्रुवु–मं–मणाउ " ॥ ८ । ४ । ४१८ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण ध्रुवमो ध्रुवु । नित्यमित्यर्थे, प्रा० ४ पाद । " चंचल जीविउ ध्रुवु मरणु, पिइ रूसिज्जइ काइँ । होसइँ दिअहा रूसणा दिव्वइँ वरिससयाइं ॥ १ ॥ " जीवित चञ्चल, मरण ध्रुव, हे प्रिये ! रुष्यते कथ ?, रोषणस्य दिवसा अपि दिव्यानि वर्षशतानि भविष्यन्तीत्यर्थ. । प्रा० ४ पाद ।

इति श्रीमत्सौधर्मवृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य–श्री १००८ श्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे' धकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

नकार

न–न–पुं० । न इति तवर्गस्य पञ्चमो वर्णः स्पर्शसंज्ञो नासिक्यद्-न्तस्थानीयः । "नो नरे च स्तनार्थेऽपि, नोऽनार्थेऽपि प्रदृश्यते ।(७६) एका० । "नशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु, पठ्यते भिन्नसूदनयोः ॥५३॥" एका० । "न पुंसि वर्हा देरम्बे (५२)" "नकारस्तु स्त्रियां नासौ (५३) ।" नशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु, पठ्यते भिन्नसूदनयोः ॥५३॥" एका० २० ।

न–अव्य० । निषेधे, "वाऽऽदौ" ॥८।१।२२९॥ असंयुक्तस्याऽऽदौ वर्तमानस्य नस्य णो वा भवति । णत्वपक्षे-ण । प्रा० १ पाद । " नात्पुनर्यादाई वा " ॥ ८ । १ । ६५ ॥ नञः परे पुनःशब्दे आदेरस्य आ आइ इत्यादेशौ वा भवतः । 'न उणा, न उणाइ ।' पक्षे ' न उण, न उणो ' प्रा० १ पाद ।

नअ–नग–पुं० । " क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् " ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति गलुक् । पर्वते, प्रा० १ पाद ।

नअण–नयन–न० । " क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् " ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति यलुक् । प्रा०१ पाद । चक्षुषि, प्रा० १ पाद ।

नअर–नगर–न० । 'कग च०' ॥८ । १ । १७७॥ इत्यादिना गलुक् । "अवर्णो यश्रुतिः " ॥ ८ । १ । १८० ॥ इति अकारो यश्रुतिकः । क्वचिन्न-नअर । पुरे, प्रा० १ पाद ।

नई–नदी–स्त्री० । सरिति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । " वाऽऽदौ" ॥ ८ । १ । २२९ ॥ असंयुक्तस्याऽऽदौ वर्तमानस्य नस्य णो वा भवति । 'नई ।' पक्षे णई । प्रा० १ पाद । भ० । प्रश्न० । " सरिया तरंगिणी निण्णगा-य नई आवगा सिंधू । " को० ८८ गाथा । (अत्र विशेषवक्तव्यता ' णई ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७३८ पृष्ठे गता)

नउ–नउ–अव्य० । "इवार्थे न नउ नाइ-नावइ जणि जणव " ॥८।४।४४४॥ इति इवार्थे नउ इत्यादेशः । "रविअत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु । चक्कें खण्डु मुणालिअहे, नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥१॥ " सूर्यास्तमने समाकुलेन चक्रवाकेन कण्ठे वितीर्णं दत्तं स्थापितं सत् मृणालिकाया कमलिन्या खण्डं न छिन्नं न भक्षितं, ' नउ ' उत्प्रेक्ष्यते, जीवस्य निर्गच्छतोऽर्गला दत्ता ॥ प्रा० ४ पाद ।

न–नं–अव्य० । "इवार्थे न नउ नाइ-नावइ-जणि-जणव. " ॥८।४।४४४॥ इति इवार्थे न इत्यादेशः । "मुख-कवरी बन्ध तहे, सोह धरहिं, न मल्ल-जुज्झु ससि-राहु करहिं । तहे सोहहिं कुरल भमरउलतुलिअ, न तिमिरडिंभ खेल्लंति मिलिअ । " तस्या मुखकवरीबन्धौ वदनवेणीबन्धौ शोभां धरतः. 'न' उत्प्रेक्ष्यते-शशिराहू मल्लयुद्धं कुरुतः । तस्या कुरला. केशाः शोभन्ते । किंभूता ? । भ्रमरकुलतुलिता मधुकरयूथसमाना , 'न' उत्प्रेक्ष्यते-तिमिरडिम्भा अन्धकारबालका मिलित्वा क्रीडन्तीत्यर्थः । प्रा०४ पाद । "न प्रधानि तथाऽनन्ते, सानन्दे न च नन्दने ॥ ७६ ॥ " एका० । "नमाज्यज्ञानयोर्भवेत् । " (५३) एका० ।

नंदण–नन्दन–न० । देववने, " नंदण अमरुज्जाणं । " को० ६७ गाथा । (अस्य वक्तव्यता. ' णंदण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७४९ पृष्ठे दर्शिता.)

नंदणा–नन्दना–स्त्री० । तनयायाम्, " तणया नंदणा सुआ, सुणया ।" को० १०२ गाथा ।

नंदी–नन्दी–स्त्री० । हर्षे, ज्ञानपञ्चके, ज्ञाने, आ० म० १ अ० १ खण्ड । " नंदी मंगलहेउं । " बृ० १ उ० । गवि, " नंदी तवा बहुला, गिट्ठी गोला य रोहिणी सुरही । " को० ४५ गाथा । (नन्द्याः परिपूर्णतया व्याख्या ' णंदि ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७५१ पृष्ठे प्रतिपादिता)

नकर–नगर–न० । नगा वृक्षाः पर्वता वा सन्त्यस्मिन्निति नगरम् । पुरभेदे, " चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ " ॥८ । ४ । ३२५॥ इति गस्य कः । 'नगर । नकर ।' प्रा० ४ पाद ।

नकसिरा–नासिकाशिरा–स्त्री० । घ्राणशिरायाम्, ' खुखुणओ नकसिरा ।" को० ११४ गाथा ।

नक्ख–नख–पुं० । करुहे, "सेवाऽऽदौ वा" ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । जी० । औ० । दे० ना० । "नक्खा नहा करुहा । ' को० १०६ गाथा ।

नक्खत्त–नक्षत्र–न० । ज्योतिष्कभेदे, द० प० । स्था० । जं० । " रिक्ख उडु नक्खत्त । " को० ६६ गाथा । सू० प्र० । चं० प्र० । (विस्तरतो व्याख्या ' णक्खत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७६० पृष्ठे गता)

नग्गोह–न्यग्रोध–पुं० । वटे, प्रज्ञा० १ पद । नि० चू० । " नग्गोह वडरुक्ख ।" को० २५७ गाथा ।

नट्ट–नाट्य–न० । नृत्ते, प्रा० १ श्रु० १ अ० । चू० । ज० । रा० । " नट्ट लास तंडव । " को० १६६ गाथा । (अस्य द्वात्रिंशद्भेदाः ' णट्ट ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७९८ पृष्ठे दर्शिताः)

नड–नट–पुं० । नाटकानां नाटयितरि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । " नडो कुसीलओ ।" को० २७२ गाथा । (अस्य भेदौ ' णड ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८०४ पृष्ठे दर्शितौ)

नडिअ–नटित–न० । विडम्बिते, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । " जूरिअ उत्तम्मिअ नडिअ । " को० १९६ गाथा ।

नत्तंचर–नक्तञ्चर–पुं० । नक्ते नक्तं वा चरतीति नक्तञ्चरः । राक्षसे, चौरे, बिडाले च । " क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् " ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति कलुक् । "नत्तंचरो" प्रा०१पाद ।

नद्धून–नंष्ट्वा–अव्य० । नश्-क्त्वा । "तून-त्थूनौ ष्ट्वः " ॥ ८ । ४ । ३१२ ॥ इति ष्ट्वा इत्यस्य स्थाने तूनादेशः । अदर्शनीभूयेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

नम्म–नर्मन्–न० । हास्ये, " केली नम्म च परिहासो ।" को० १६६ गाथा । " स्तनमदामशिरोऽनभः " ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इति प्राकृते वा पुंस्त्वम् । "नम्मो ।" परिहासे, केलौ च । प्रा० ४ पाद ।

नम्मया-नर्मदा-स्त्री० । विन्ध्याद्रिनिर्गतायां प्रसिद्धनद्याम्, " मेअलकन्ना य नम्मया रेवा । " को० १३० गाथा । आव० ।

नम्रता-स्त्री० । औचित्ये, नमनशीलतायाम्, द्वा० १२ द्वा० ।

नयण-नयन-न० । प्रापणे, आ० म० १ अ० १ खण्ड । निवेशने, प० सं० ५ द्वार । नेत्रे, " अच्छि नयणं च लोअण निच्च । " को० १११ गाथा ।

नयणजल-नयनजल-न० । नेत्रजले, "वष्फ वाहो य नयणजलं । " को० ११२ गाथा ।

नयणा-स्त्री०-नयन-न० । "वाऽक्ष्यर्थवचनाऽऽद्याः" ॥ ८ । १ । ३३ ॥ इति नयनशब्दस्य प्राकृते स्त्रीत्वमपि ।'नयणा-नयणाइं।' प्रा० १ पाद ।

नर-नर-पुं० । पुरुषे, प्रा० १ पाद । आचा० । आ० म० । " मणुआ नरा मणुस्सा, मच्चा,तह माणवा पुरिसा । " को० ६० गाथा । (नराणां भेदाः ' णर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६०३ पृष्ठे उक्ताः)

नरणाह-नरनाथ-पुं० । राजनि, " नरनाहो पत्थिओ निवो राया । " को० १०० गाथा ।

नल-नर-" रसोर्लशौ " ॥ ८ । ४ । २८८ ॥ इति मागध्यां रस्य लः । नले, प्रा० ४ पाद ।

नलय-नलक-न० । कमलतन्तौ, " नलय लामज्ज उसीर च । " को० १४६ गाथा ।

नलिण-नलिन-न० । कमले, " अबुरुह सयवत्त, सरोरुह पुंडरीअमरविंदं । राईव तामरस, महुप्पल पकय नलिण ॥१०॥" को० १० गाथा । (अस्य बह्वोऽर्थाः ' णलिण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७२८ पृष्ठे दर्शिताः)

नलिणी-नलिनी-स्त्री० । कमलिन्याम्, " भिसिणी नलिणी कमलिणी य । " को० १४७ गाथा । पद्मिन्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

नवरंग-नवरङ्ग-त्रि० । " रगयं च नवरगं । " को० २६१ गाथा ।

नवरि-अव्य० । शीघ्रे, " सयराह नवरि य झ-त्ति झत्ति सहसत्ति इक्कसरिअं च । अविहाविअं-मिक्कवए,अतक्किअ तक्खण सहसा ॥ १७ ॥ " को० १७ गाथा ।

नवसिअ-नमस्यित-त्रि० । नमस्कारकर्तरि, " ओवाइअ नवसिअं । " को० १५६ गाथा ।

नह-नख-पुं० । पाणिपादजे, प्रव० ४० द्वार । " नक्खा नहा कररुहा । " को० १०६ गाथा ।

नभस्-न० । आकाशे,एकार्थिकानि-" खं अम्मं अंतरिक्खं, वोम नह-मवर गयण । " को० २७ गाथा ।

नाअ-नाक-पुं० । स्वर्गे, " तिविट्ठप तह सुरालओ नाओ । " को० ६५ गाथा ।

ज्ञात-त्रि० । अवबुद्धे, प्रा० ४ पाद ।

नाइ-नाइ-अव्य० । " इवार्थे न-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणव " ॥ ८ । ४ । ४४४ ॥ इति इवार्थे 'नाइ' आदेशः । "वलयावलिनिवडणभए-ण धण उद्धब्भुअ जाइ । वल्लहविरहमहादहहु, थाहु गवसेइ नाइ ॥१॥" नायिका वलयावलिनिपतनभयेन ऊर्ध्वभुजा याति । "नाइ" उत्प्रेक्ष्यते-वल्लभविरहमहाहृदस्य स्ताघं गवेषयतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

नाम-नामन्-न० । अन्यबोधाय कृते पदार्थानां सञ्ज्ञायाम्, " सन्ना गुत्त च नाम अभिहाणं । " को० १६१ गाथा । (नाम्नो भेदा ' णाम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १९०७ पृष्ठे दर्शिताः)

नारी-नारी-स्त्री० नरस्त्रियाम्, सू० ४ उ० । " पुरिसाणं नो अन्नो परिसो अरी अत्थि त्ति नारी उ । " त० । (व्याख्या ' णारी ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१३ पृष्ठे गता)

एकार्थिकानि-

" रामा रमणी सीम-तिणी वहू वामलोअणा विलया ।
महिला जुवई अवला, नियंबिणी अंगणा नारी ॥ १२ ॥ "

तद्भेदेऽप्येकार्थिकानि-

" सच्छंदा उद्दामा, निरग्गला मुक्कला विसंखलया ।
निरवग्गहा य सइरा, निरंकुसा इति अप्पवसा ॥ १३ ॥ "

को० १२-१३-गाथा ।

नारुट्ट-नारुट्ट-पुं० । कुसारे, को० १३२ गाथा । दे० ना० ।

नालिअ-मूढ-त्रि० । " शीघ्राऽऽदीनां वहिल्लाऽऽदयः " ॥ ८ । ४ । ४२२ ॥ इत्यन्तर्गणसूत्रेण मूढस्य नालिआऽऽदेशः । मूर्खे,बाले, जमे, प्रा० । "जो पुणु मणाणि जि खसफसिहूअउ, चितइ देइ न दम्मु न रूअउ । रइ-वस भमिरु करग्गुल्लालिउ,घरहिं जि कोंतु गुणइ सो नालिउ ॥ १ ॥ " य पुनर्मनस्येव (खसफसिहूअउ) व्याकुलीभूतः सन् चिन्तयति-द्रम्म न ददाति न रूपकम्, स मूढो रतिवशेन भ्रमणशीलः सन् कराग्रोल्लालित कुन्त गृहे एव गुणयति, चालयतीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

नालिआ-नालिका-स्त्री० । समयनियामके यन्त्रविशेषे, " नालिया घडिआ । " को० २९२ गाथा । ज्यो० । अनु० । (नालिका किंप्रमाणेत्यादि सर्वा वक्तव्यता ' णालिया ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१४ पृष्ठे गता)

नालिका-स्त्री० । ताम्राऽऽदिमयघटिकायाम्, अनु० ।

नावइ-नावइ-अव्य० । इवार्थे, " इवार्थे न नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणव " ॥ ८ । ४ । ४४४ ॥ इति इवार्थे नावइ आदेशः । "पेक्खेविणु मुहु जिणवरहो, दीहरनयण सलोणु । नावइ गुरुमच्छरभरिउ,जलणि पवीसइ लोणु ॥१॥" 'नावइ' उत्प्रेक्ष्यते, गुरुमत्सरभृत लवणं ज्वलने प्रविशति, किं कृत्वा ?, जिनवरस्य दीर्घनयन सलवण लावण्ययुक्तं मुखं प्रेक्ष्येत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

नास-नाश-पुं० । अभावे, द्रव्या० ६ अध्या० । (अस्य भेदप्रतिपादन ' णास ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१५ पृष्ठे गतम्) " पलयो निहणं नासो । " को० १६७ गाथा ।

नासि-नश-धा० । णिच्-विघाते, "स्वराणां स्वराः" ॥ ८ । ४ । २३८ ॥ इति ह्रस्वाकारस्थाने दीर्घोऽऽकारः । प्रा० ४ पाद ।

नासइ-नश्यति-धा० । " नशेर्विउड-नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः " ॥ ८ । ४ । ३१ ॥ इति नशेर्ण्यन्तस्य नासाऽऽदेशः । 'नासइ।' नाशयति । प्रा० ४ पाद ।

नासा-नासा-स्त्री० । घ्राणग्रहणेन्द्रिये, " नासा घाण घोणा । " को० १११ गाथा ।

निअंब-नितम्ब-पुं० । कटिपश्चाद् भागे, कटके च । वाच० । " रमणंतियं निअंबो । " को० ११५ गाथा ।

निअंबिणी-नितम्बिनी-स्त्री० । स्त्रियाम्, को० १२ गाथा । (अस्यैकार्थिकानि ' नारी ' शब्दे गतानि)

निअंसण-निवसन-न० । परिधाने, औ० । ओघा० । उत्त० । कटीवस्त्रे, " जाण सिचय कडिल्ल, निअसण साहुलो य परिहणयं । " को० ६६ गाथा ।

निअकल-नेअकल-त्रि० । गोलाऽऽकारे, "पेढाल-निअकल-वट्टुलाइ परिमसरथम्मि । " को० ७४ गाथा । दे० ना० ।

निअगुणसलाहा-निजगुणश्लाघा-स्त्री० । स्वगुणप्रशंसायाम्, " विगत्थणं निअगुणसलाहा ।" को० २४७ गाथा ।

निअत्त-निवृत्त-त्रि० । " निवृत्तवृन्दारके वा " ॥ ८।१।१३२॥ इति ऋत उत्त्वं । 'निवुत्त । निअत्त ।' विरते, प्रा० १ पाद ।

निअय-नियत-त्रि० । नियमिते, "निच्च निअयं सासयं ।" को० १६० गाथा । सूत्र० । बृ० । (' निच्च ' शब्देऽस्य बहून्येकार्थिकानि (१४३) गाथार्द्धेन प्रतिपादितानि)

निजक-त्रि० । स्वकीये, " अप्पुलय निअयं । " को० २३१ गाथा । आव० ।

निअर-निकर-पुं० । समुदाये, को० १८-१९-गाथा । (अस्यैकार्थिकानि ' निउरब ' शब्दे वक्ष्यते)

निअलिअ-निगडित-त्रि० । बद्धे, " बद्ध संदाणिअ निअलिअं च ।" को० १६७ गाथा ।

निआण-निदान-न० । आदिकारणे, को० १९६ गाथा । (अत्र विशेषः ' णियाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०६४ पृष्ठे गतः)

निउंचिअ-निकुञ्चित-त्रि० । सङ्कुचिते, " सकोडिअ निउंचिअं । " को० १८६ गाथा ।

निउण-निपुण-त्रि० । कुशले, " चउरा निउणा कुसला, छेआ विउसा बुहा य पत्तट्ठा ।" को० ६० गाथा । (अस्य शब्दस्य बहवोऽर्थाः ' णिउण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०१७ पृष्ठे दर्शिताः)

निगुण-त्रि० । नियतगुणे, विशे० ।

निउरंब-निकुरम्ब-पुं० । समूहे, एकार्थिकानि-" उप्पयो उप्पीलो, उक्केरो पहयरो गणो पयरो । ओहो निवहो संघो, संघाओ सहरो निअरो ॥ १८ ॥ सदोहो निउरंबो, भरो निहाओ ।" को० १८-१९-गाथा । औ० । रा० । जी० ।

निक्किव-निष्कृप-त्रि० । निर्दये, " निद्धसा निसंसा, निस्सुङ्का निक्किवा अकरुणा य ।" को० ७३ गाथा । प० व० । (अस्य लक्षणं ' णिक्किव ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०२२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

निक्खय-निक्षत-त्रि० । ' णिक्खय ' शब्दार्थे, को० २४० गाथा । दे० ना० ।

निक्खित्त-निक्षिप्त-त्रि० । ' णिक्खित्त ' शब्दार्थे, " निमिअं निहिअं च निक्खित्तं ।" को० १६३ गाथा ।

निग्गहट्ठाण-निग्रहस्थान-न० । वादकाले वादी प्रतिवादी येन निगृह्यते तन्निग्रहस्थानम् । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । वादिप्रत्यर्थिकं प्रतिज्ञाहान्यादौ, स्था० १ ठा० । विप्रतिपत्तिः, अप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् । तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिर्दूषणाभासे च दूषणबुद्धिरिति । अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषणं, दूषणस्य चानुद्धरणम् । तच्च-निग्रहस्थानं द्वाविंशतिविधम् । तद्यथा-प्रतिज्ञाहानिः १, प्रतिज्ञाऽन्तरम् २, प्रतिज्ञाविरोधः ३, प्रतिज्ञासंन्यासः ४, हेत्वन्तरम् ५, अर्थान्तरम् ६, निरर्थकम् ७, अविज्ञातार्थकम् ८, अपार्थकम् ९, अप्राप्तकालम् १०, न्यूनम् ११, अधिकम् १२, पुनरुक्तम् १३, अननुभाषणम् १४, अज्ञानम् १५, अप्रतिभा १६, विक्षेपः १७, मतानुज्ञा १८, पर्यनुयोज्योपेक्षणम् १९, निरनुयोज्यानुयोगः २०, अपसिद्धान्तः २१, हेत्वाभासाश्च २२ । तत्र १-हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानम् । यथा-अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी वदन् परेण सामान्यमैन्द्रियकत्वमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते यद्येवं ब्रूयात्-सामान्यवद् घटोऽपि नित्यो भवत्विति । स एवं ब्रुवाणः शब्दाऽनित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात् १। २-प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येन व्यभिचारे चोदिते यदि ब्रूयाद्युक्तं सामान्यमैन्द्रियकं नित्यम्, तद्धि सर्वगतम्, असर्वगतस्तु शब्द इति । तदिदं शब्दे अनित्यत्वलक्षणपूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञाऽन्तरमसर्वगतः शब्द इति निग्रहस्थानम् । अनया दिशा शेषाण्यपि विंशतिर्ज्ञेयानि २ । स्था० । (३- प्रतिज्ञाविरोधविवेचनम्-' पइण्णाविरोह ' शब्दे) । (४- प्रतिज्ञासंन्यासविवरणम्-' पइण्णासण्णास ' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यते) । (५- हेत्वन्तरव्याख्या-' हेउअंतर ' शब्दे द्रष्टव्या) । ६-" प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ७ " । गौ० सू० । यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां ब्रूयात्-नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वादिति हेतुः । हेतुर्नाम हिनोतेर्धातोस्तुनि प्रत्यये कृदन्तपदं, पदं च नामाऽऽख्यातोपसर्गनिपाताः । अभिधेयस्य क्रियाऽन्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शब्दो नाम, क्रियाकारकसमुदायः कारकसंख्याविशिष्टक्रियाकालयोगाभिधाय्याख्यातं, धात्वर्थमात्रं च कालाभिधानविशिष्टं, योगेष्वर्थादभिद्यमानरूपा निपाताः, उपसृज्यमानाः क्रियावद् द्योतका उपसर्गा इत्येवमादि, तदर्थान्तरं वेदितव्यमिति । भा० । (अस्य ' अत्थंतर ' शब्देऽपि, प्रथमभागे ५०७ पृष्ठे किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति) (७-निरर्थकविवेचनम्-' निरत्थय ' शब्देऽग्रे २७७५ पृष्ठे वक्ष्यते) (८-" परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ९ ।" गौ० सू० । यद्वाक्यं परिषदा, प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विज्ञायते श्लिष्टशब्दमप्रतीतप्रयोगमतिद्रुतोच्चारितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातमविज्ञातार्थमसामर्थ्यसंवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानम् । प्रा० । (सूत्रस्याऽस्य वृत्तिर्ग्रन्थतोऽवसेया) । (९-"पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् १०।" गौ० सू० । यत्रानेकस्य पदस्य, वाक्यस्य वा पौर्वापर्येणान्वययोगो नास्तीत्यसम्बद्धार्थकत्वं गृह्यते, तत्समुदायोऽर्थस्यापायादपार्थकम् । यथा दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः, अथ रौरुकमेतत् कुमार्याः पाय्यं, तस्याः पिता अप्रतिशीन इति । भा० । (अन्यादेव वृत्तिर्विलोक्या)

१०-"अवयवाविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ११"। गौ० सू०। प्रतिज्ञाऽऽदीनामवयवानां यथालक्षणमर्थवशात् क्रमः, तत्रावयवविपर्यासेन वचनमप्राप्तकालसम्बन्धार्थकालं निग्रहस्थानमिति। भा०। अप्राप्तकालं लक्षयति अवयवस्य कथैकदेशस्य विपर्यासो वैपरीत्यम्। तथा च समयबन्धविपर्यीभूतकथाक्रमविपरीतक्रमेणाऽभिधानं पर्यवसन्नम्, तत्राय क्रमः-वादिना साधनमुक्त्वा सामान्यतो हेत्वाभास उद्धरणीय इत्येक पादः। प्रतिवादिनश्च तत्रापालम्भो द्वितीय पादः। प्रतिवादिनः स्वपक्षसाधन, तत्र हेत्वाभासोद्धरणीयश्चेति तृतीयः पाद। जयपराजयव्यवस्था चतुर्थ पादः। एवं प्रतिज्ञाहेत्वादीनां क्रमः। तत्र सभाक्षोभव्यामोहाऽऽदिना व्यत्यस्ताभिधानमप्राप्तकालमिति वृत्तिः ॥ ११ ॥ (न्यूनव्याख्या-'नूण' शब्देऽनुपदमेव २७७७ पृष्ठे करिष्यते) (१२ अधिकव्याख्या 'अहिय' शब्दे प्रथमभागे ८८७ पृष्ठे गता) (१३-पुनरुक्तविषय 'पुणरुत्त' शब्दे द्रष्टव्य)। १४ "विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यनुच्चारणमननुभाषणम् १७"। गौ० सू०। विज्ञातस्य वाक्यार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानमिति, अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रय परपक्षप्रतिषेधं ब्रूयात्। भा०। अननुभाषणं लक्षयति-परिषदा विज्ञातस्य विशिष्य बुद्धार्थस्य वादिना त्रिभिरभिहितस्य तथा च प्रथमवचनेऽननुभाषणे वादिना वारत्रयं वाक्यमिति दर्शितम्, तथा च त्रिभिरभिधानेऽपि यत्रानुभाषणविरोधी व्यापारः, तत्राननुभाषणं निग्रहस्थानमित्यर्थः। (अन्यत्याऽवशिष्टा वृत्तिस्तु ग्रन्थतोऽवमेया) १५-"अविज्ञातं चाऽज्ञानम् १८"। गौ० सू०। विज्ञातार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदविज्ञानं तदज्ञानं निग्रहस्थानमिति। अयं खल्वविज्ञाय कस्य प्रतिषेधं ब्रूयादिति। (पुनरस्य वक्तव्यं 'अन्नाण' शब्दे प्रथमभागे ४८७ पृष्ठेऽवस्थितम्)। १६-"उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा १६"। गौ० सू०। परपक्षप्रतिषेधं उत्तरं तद् यदा न प्रतिपद्यते तदा निगृहीतो भवति। भा०। अप्रतिभां लक्षयति-उत्तरार्हेण परोक्तं बुद्ध्वाऽपि यत्रोत्तरसमये उत्तरं न प्रतिपद्यते तत्राऽप्रतिभा निग्रहस्थानम्। न चात्राननुभाषणस्याऽऽवश्यकत्वात् तदेव दूषणमस्त्विति वाच्यम्। परोक्ताऽननुवादे हि तत्, यत्र परोक्तमनूद्यापि नोत्तरं प्रतिपद्यते तत्रासाङ्कर्यात् स्वसूचनश्लोकपादाऽऽनुश्रेया चेयमिति वृत्तिः। १९। (१७-विक्षेपो 'विक्खेव' शब्दे)। (१८-मतानुज्ञा-'मयाणुण्णा' शब्दे)। (१६-पर्यनुयोज्योपेक्षण-'पज्जणुजुज्जुपेक्खण' शब्दे)। (२०-निरनुयोज्यानुयोगः 'निरणुजुज्जाणुओग' शब्देऽग्रे वक्ष्यते) २१-"सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः २४।" गौ० सू०। कस्यचिदर्थस्य तथाभावं प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातार्थविपर्ययादनियमात् कथां प्रसञ्जयतोऽपसिद्धान्तो वेदितव्यः यथा न सदात्मानं जहाति, न सतो विनाशो, नासदात्मानं लभते, नासदुत्पद्यत इति सिद्धान्तमभ्युपेत्य स्वपक्षं व्यवस्थापयति। एकप्रकृतीदं व्यक्तं विकाराणामन्वयदर्शनाद् मृदन्वितानां शरावाऽऽदीनां दृष्टमेकप्रकृतिकत्वम्। तथा चायं व्यक्तभेदः सुखदुःखमोहान्वितो दृश्यते, तस्मात् समन्वयदर्शनात् सुखाऽऽदिभिरेकप्रकृतीदं शरीरमिति एवमुक्तवाननुयुज्यते-अथ प्रकृतिविकार इति कथं लक्षितव्यमिति?। यस्यावस्थितस्य धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरं प्रवर्त्तते सा प्रकृतिः, यच्च धर्मान्तरं प्रवर्त्तते स विकार इति। सोऽयं प्रतिज्ञातार्थविपर्यासादनियमात् कथां प्रप्रतिज्ञातं खल्वनेन नासदाविर्भवति सत् तिरोभवतीति। सदसतोश्च तिरोभावाऽऽविर्भावमन्तरेण न कस्यचित्प्रवृत्तिः प्रवृत्त्युपरमश्च भवति, मृदि खल्ववस्थितायां भविष्यति शरावाऽऽदिलक्षणं धर्मान्तरमिति प्रवृत्तिर्भवति अभूदिति च प्रवृत्त्युपरमः तदेतन्मृद्धर्माणामपि न स्यात्। एवं प्रत्यवस्थितो यदि सतश्चाऽऽत्महानमसतश्चाऽऽत्मलाभमभ्युपैति, तदस्यापसिद्धान्तो निग्रहस्थानं भवति। अथ नाभ्युपैति पक्षोऽस्य न सिध्यति। भा०। (वृत्तिर्ग्रन्थादेवावमेयेति) (२२-हेत्वाभासा 'हेउआभास' शब्दे द्रष्टव्या) गौ० सू० वा० भा० वि० वृ०।

निग्गिण्ण-निर्गीर्ण-त्रि०। निर्गीर्णे, "नीहरिअ निग्गिण्ण।" को० १६७ गाथा।

निग्घत्तिअ-निक्षिप्त-त्रि०। निक्षिप्ते, "थिप्पं निग्घत्तिअ च आइद्धं।" को० १८६ गाथा।

निच्च-नित्य-त्रि०। 'णिच्च' शब्दार्थे, "सइ अविरय अविराम, अणुवेलं सतय सया निच्च।" को० ८७ गाथा।

निच्चुडु-निश्चुड़ु-त्रि०। 'निच्छिव' शब्दार्थे, को० ७३ गाथा।

निच्छूढ-उद्वृत्त-त्रि०। "वोद्वृत्तेऽऽदय" ॥८।४।२५८॥ इति उद्वृत्तस्थाने निच्छूढाऽऽदेशः। 'निच्छूढ। उद्वृत्तम्'। उत्क्षिप्ते, प्रा० ४ पाद।

निज्झर-निर्झर-न०। उदकप्रस्रवणे, भ० ५ श० ७ उ०। "ओज्झर निज्झर।" को० २१६ गाथा। क्षि-धातोस्तु 'णिज्झर' एव। स च णकाराऽऽदिप्रकरणे गतः। "क्षेर्णिज्झरो वा" ॥८।४।२०॥ इति णकाराऽऽक्रान्त एव। प्रा० ४ पाद।

निज्झाय-दृश-धा०। प्रेक्षणे, "दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छावयज्झ-वज्ज-सव्ववदेक्खऔअक्खावक्खावअक्ख पुलोए-पुलए-निआवआस पासाः ॥८।४।१८१॥" इति दृशे 'निज्झाय' आदेशः। 'निज्झाअइ।' पश्यति। प्रा० ४ पाद।

निट्टुडिअ-क्षरित-त्रि०। क्षरिते, "निट्टुडिअं खरिअ छिप्पिअं च नीसद्दिअ च पज्झरिअं।" को० ८० गाथा।

निट्ठुर-निष्ठुर-त्रि०। 'णिट्ठुर' शब्दार्थे, "कढिणा य कक्कसा निट्ठुरा खरा खप्पुरा फरुसा।" को० ७४ गाथा।

निमाल-निमाल-न०। "कपाले, भाल अलिअ निमाल।" को० ११२ गाथा। केचिदव्युत्पन्नमपि वदन्ति। ललाटशब्दस्य तु "ललाटे च" ॥८।१।२५७॥ इति सूत्रेण ललाटस्य णकाराऽऽदिरेवाऽऽदेशः। "णिमाल"। प्रा० १ पाद।

निम्म-नीम--न०। "नीड निम्म कुलाय च।" को० १२६ गाथा। पक्षिणां निलये, वाच०।

निम्नया--निम्नगा--स्त्री०। नीचैर्गामिनि नद्याम्, को० २८ गाथा। प्रज्ञा०। ('नई' शब्देऽनुपदमेव विशेषो गतः)

नित्त-नेत्र--न०। नयने, स्था० १० ठा०। "अच्छी नयणं च लोअणं नित्तं।" को० १११ गाथा।

नित्थाम--निःस्थामन्-त्रि०। बलहीने, "ओलुग्गो नित्थामो।" को० १७० गाथा।

निद्दलिअ-निर्दलित-त्रि०। मर्दिते, "उच्छुसं मद्दिअं च निद्दलिअं।" को० २०१ गाथा।

निद्देस-निर्देश-पुं०। आज्ञायाम्, "आएसो सासणं च निद्देसो।" को० १७३ गाथा। (अत्र बहु वक्तव्यं 'णिद्देस' शब्देऽस्मिन्नेव

भागे २०७२ पृष्ठे गतम्) (निर्देशनिक्षेप., तत्स्वरूपं च 'उद्देस' शब्दे द्वितीयभागे ७६६ पृष्ठे गतम)

निद्धंधस-निर्धन्धस-त्रि० । निर्दये, को० ७३ गाथा । (अस्यै-कार्थिकानि " निक्किव " शब्देऽनुपदमेव गतानि)

निद्धाडिअ-निर्धाटित-त्रि० । निर्गते, " निद्धाडिअ नीणिअ ।" को० १७६ गाथा ।

निबंधण-निबन्धन-न० । कारणे," निबंधण कारणं निमाय च ।" को० १७६ गाथा । विशे० । वाच० ।

निब्भर-निर्भर-त्रि० । अतिशयपूरिते, " निब्भर-महसयभ-रिय ।" को० २१४ गाथा । वाच० । आ० म० ।

निब्भिण्ण-निर्भिन्न-त्रि० । विदारिते, " कप्परिअ दारियं च निब्भिण्ण ।" को० १९६ गाथा ।

निमिअ-स्थापित-त्रि० । 'णिक्खित्त' शब्दार्थे, "केनाप्फुण्णाऽऽदय." ॥८।४।२५८॥ इति स्थापितस्य 'निमिअ' आदेश । प्रा० ४ पाद । (अस्यैकार्थिकानि ' निक्खित्त ' शब्दे गतानि)

निम्मल्ल-निर्माल्य-न० । देवार्चाद्रव्ये, वाच० । " उम्मालो निम्मल्ल ।" को० १४१ गाथा । पिं० ।

निम्महिअ-निर्मथित-त्रि० । निराकृते, " गद्धगिरणम्मि निम्म-हिअ ।" को० १६६ गाथा ।

निम्माण-निरमा-धा० । विरचने, " निर्मो निम्माण-निम्म-वौ" ॥ ८ । ४ । १९॥ निर्पूर्वस्य मिमेतेरेतावादेशौ वा । निम्माणइ । निम्मइ । विरचयति । प्रा० ४ पाद ।

निम्माय-निर्मात-त्रि० निष्पन्ने, बृ० ६ उ० । " निव्वत्तिअ नि-म्माय ।" को० २०० गाथा ।

नियच्छिअ-निर्दर्शित-त्रि० । मिलिते, " लक्खिअ-दिट्ठ-सइअ-नियच्छियाइ निहालिअ-ऽत्थम्मि ।" को० ७८ गाथा ।

नियम -निकट-त्रि० । समीपे, अस्यैकार्थिकानि-" अब्भास प-च्चासण्ण, आसन्न सविहमंतिअ निअम ।" को० ६१ गाथा ।

निरंकुसा-निरङ्कुशा-स्त्री० । स्वतन्त्रस्त्रियाम्,को० १३ गाथा । (अस्यैकार्थिका ' नारी ' शब्दे गता.)

निरग्गला-निरर्गला-स्त्री० । स्वच्छन्दनार्याम्, को० १३ गाथा । (एतत् पर्याया. ' नारी ' शब्दे गता.)

निरणुजुज्जाणुओग-निरनुयोज्यानुयोग-पु० । विंशतितमे नि-ग्रहस्थानभेदे, स्था० । " अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोग ।" २३ । गौ० सू० । निग्रहस्थानलक्षणस्य मिथ्याध्यवसायादनिग्रहस्थाने निगृहीतोऽसि पर ब्रुवन् निरनुयो ज्यानुयोगाभिगृहीतो वेदितव्य इति । प्रा० । निरनुयोज्यानु-योग लक्षयति—अवसरे यथार्थनिग्रहस्थानोद्भावनाऽति-रिक्त यन्निग्रहस्थानोद्भावन तदित्यर्थ । एतेनावसरे नि-ग्रहस्थानोद्भावने एकनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानान्तरोद्भावने च नाव्याप्ति. । सोऽय चतुर्धा—छल, जाति, आभा-सोऽनवसरग्रहण च । आभासो व्यभिचाराऽऽदावसिद्ध्याद्यु-द्भावनम् । अनवसरग्रहणञ्चाकाले एवोद्भावनम । यथा-त्य-जसि चेत् प्रतिज्ञाहानि विशेषयसि चेत हेत्वन्तरम । एव-मवसरमतीत्य कथनमपि यथा वच्यमानग्राह्यस्यापशब्दाऽऽदे परिसमाप्तौ एवमनुक्तग्राह्याज्ञानाऽऽद्यननुभाषणावसरेऽनुद्भाव्य बोधाऽऽविष्करणानुभाषणप्रवृत्ते वादिनि तदुद्भावनामित्यादि-कमूह्यामिति वृत्ति' । २३ । गौ० सू० वा० भा० वि० वृ० ।

निरत्थ (ग) य-निरर्थक-पु० । सप्तमे निग्रहस्थानभेदे, स्था० । "वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ।"८ गौ०सू० । यथा-नित्यः शब्दः कचटतपा. जबगडदशत्वात् झभञघढधषवदिति एवं प्रकार निरर्थकम् । अभिधानाभिधेयभावानुपपत्तौ अर्थगतेरभा-वाद् वर्णा एव क्रमेण निर्दिश्यन्त इति । भा० । निरर्थकं लक्षय-ति-वर्णानां क्रमेण निर्देशो जबगडेत्यादिप्रयोग ,तत्तुल्यो निर्देशो निरर्थक निग्रहस्थानम, अवाचकपदप्रयोग इति फलितार्थ. । वाचकत्वं शक्त्या,निरूढलक्षणया,शास्त्रपरिभाषया वा बोध्यम् । समयबन्धव्यतिरेकेणेति विशेषणीय, तेन यत्रापभ्रंशेन विचारः कर्त्तव्य इति समयसम्बन्धस्तत्रापभ्रंशे न दोष.,झटिति संवरणे तु न दोष इत्युक्तप्रायम् । अस्य सम्भवः प्रमादादित्यवधेयमिति वृत्तिः । ८ । गौ० सू० वा० भा० वि० वृ० । वृ० । उत्त० । विशे० ।

निरवग्गहा-निरवग्रहा-स्त्री० । स्वच्छन्दविहारिण्यां रमायाम, को० १३ गाथा । (पर्यायाश्चास्य ' नारी ' शब्दे गताः)

निराय-निराय-त्रि० । सरले, " पउण निराय उज्जुय । " को० १७५ गाथा ।

निरोह-निरोध-पुं० । तापे, " घम्मो सावो बाहो, उम्हा ऊसइ निरोहो य ।" को० ४६ गाथा । (अस्यान्येऽप्यर्था. ' णिरोह ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २११६ पृष्ठे गता)

निलय-निलय-पु० । गृहे, उत्त० ३२ अ० । को० । (अस्यैका-र्थिका. ' निहेलण' शब्दे वक्ष्यन्ते)

निलीण-निलीन-त्रि० । लीने, " परिलीणं च निलीण ।" को० १६६ गाथा ।

निव-नृप-पु० । "इत्कृपाऽऽदौ" ॥ ८ । १ । १२८ ॥ इति आदेर्ऋ-त इत्वम् । 'निवो ।' प्रा० १ पाद । राजनि, को० १०० गाथा । नि० चू० । आचा० । बृ० । (अस्य पर्याया. ' नरणाह ' शब्दे द्रष्टव्या.)

निवह-निवह-पुं० । सङ्घाते, को० १७ गाथा । (अस्य पर्यायाः ' निउरब ' शब्दे) (गम-नशोस्तु णकाराऽऽक्रान्त एवादेश' 'णि-वह ' इति) (निवह-णिवह-शब्दयोस्तुल्यार्थत्वम्)

निव्व-नीव्र-न० । पटले, " निव्व पडल । " को० २११ गाथा । ककुदे, दे० ना० ५ वर्ग ४८ गाथा ।

निव्वडिअ-निष्पतित-त्रि० । कृते, को० १९६ गाथा । (अत्र पर्यायविषये ' निम्माय ' शब्दो विलोकनीय)

निव्वल-निर्बल-त्रि० । निर्गत बल सामर्थ्यं यस्येति निर्बलम्, " निर पदेर्वल." ॥८।४।१२७॥ निर्पूर्वस्य पदेर्वल इत्यादेश. । ' निव्वलइ ।' पक्षे निप्पज्जइ निस्सारे, प्रा० ४ पाद ।

निव्वाण-निर्वाण-न० । मोक्षे, पर्याया.-" लोअग्ग परमपय, मुत्ती सिद्धी सिव च निव्वाण । " को० २० गाथा । (अत्र विशेष ' णिव्वाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१२१ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्य एवास्ति)

निव्विट्ठ-निर्विष्ट-त्रि० । उपभुक्ते, " निव्विट्ठं उवभुत्त । " को० १७७ गाथा । अनुपारिहारिके, स्था० ३ ठा० ४ उ० । उचिते, दे० ना० ४ वर्ग ३४ गाथा ।

निसंस-नृशंस-त्रि० । " शषो. सः " ॥ ८ । १ । २६० ॥ इति शस्य सः । 'निसंसो ।' श्लाघारहिते, प्रा० १ पाद । क्रूरे, को० ७३ गाथा । (अस्य पर्यायाः ' निक्किव ' शब्दे गता)

निसा-निशा-स्त्री० । रात्रौ, हरिद्रायाम्, वृ० ५ उ० । वाच० । निशाशब्दपर्यायाः-" रयणी विहावरी स-व्वरी निसा जामिणी राई । " को० ४७ गाथा ।

निसाअर-निशाचर-पुं० । रात्रिचरे, " इ: सदादौ वा " ॥ ८ । १ । ७२ ॥ इति इत्वपक्षे-'निसिअरो ।' प्रा० १ पाद । वाच० । " अवर्णो यश्रुति " ॥ ८ । १ । १८० ॥ इति यश्रुतौ 'निसायरो ।' अस्य प्रायिकत्वपक्षे-'निसाअरो ।' प्रा० १ पाद ।

निसामिअ-निशामित-त्रि० । आचिते, को० १८४ गाथा ।

निसामिअय-निशामितक-त्रि० । आकर्णिते, "निसुअ आयण्णि-अं निसामिअय । " को० १८४ गाथा । दे० ना० ।

निसायंत-निशातान्त-न० । तीक्ष्णधारविशिष्टे, " अच्छायंत निसायत । " को० २७० गाथा ।

निसाय-निशात-त्रि० । तीक्ष्णीकृते, "तिक्खालिअ निसाअ ।" को० २०० गाथा ।

निसायर-निशाकर-पु० । चन्द्रे, "इंदू निसायरो सस-हरो वि-हू गहवई रयणिनाहो । मयलछणो हिमयरो, रोहिणिरमणो ससी चंदो ॥ ४ ॥ " को० ५ गाथा । रात्रिचरे, वाच० । "क-गचज- " ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इत्यादिना कलोपे " अवर्णो यश्रु-ति " ॥ ८ । १ । १८० ॥ इति यश्रुति । 'निसायरो ।' प्रा० १ पाद ।

निसीढ-निशीथ-पु० । " निशीथपृथिव्योर्वा " ॥ ८ । १ । २१६ ॥ इति अस्य ढो वा । 'निसीढो निसीहो ।' अर्द्धरात्रे, रात्रिमात्रे च । प्रा० १ पाद ।

निसुअ-निश्रुत-त्रि० । आकर्णिते, " निसुअ आयण्णिअ निसा-मिअअ । " को० १८४ गाथा । दे० ना० ।

निसुढिअ-नत-त्रि० । भारनम्रे, " निसुढिअ भक्रतभरोणय । " को० १६४ गाथा ।

निसुद्ध-निशुद्ध-त्रि० । क्षुब्धे, " ओसरू पामिअ निसुद्ध च । " को० १९४ गाथा ।

निसेह-निषेध-पु० । " निषेधेर्हक्क " ॥ ८ । ४ । १३४ ॥ इति निषेधेर्हक्कादेशो वा । 'हक्कइ,निसेहइ ।' प्रतिषेधे,प्रा०४ पाद ।

निस्स-निःस्व-त्रि० । निर्धने, " रोरो अकिंचणो दु-व्विहो द-रिद्दो य दुग्गओ निस्सो । " को० ३५ गाथा ।

निस्सेणि-निःश्रेणि-स्त्री० । अधिरोहण्याम्, " अधिरोहणिआ य निस्सेणी । " को० १२० गाथा ।

निह-निभ-न० । छले, " वल अवएसो निह च मिस । " को० १४२ गाथा । सदृशे, आ०म० १ अ० । मायिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । क्रोधाऽऽदिभि पीडिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । आ-घातस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

स्निह-त्रि० । रागवति, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । राग-द्वेषयुक्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । ममत्वसहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

निहण-निधन-न० । प्राणत्यागे, " पन्नयो निहण नासो ।" को० १६७ गाथा ।

निहय-निहत-त्रि० । मारिते, उत्त० १२ अ० । भावरिपुभि-रिन्द्रियकषायकर्मभिर्हन्यमाने, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । " निहय निक्खयं । " को० २४० गाथा ।

निहस-निकष-पु० । " निकष-स्फटिक-चिकुरे हः " । ८ । १ । १८६ ॥ इति कस्य हः । प्रा० १ पाद । " शषो स. " । ८ । १ । २६० ॥ इति षस्य सः । प्रा० १ पाद । कषपट्टरेखायाम, प्र-ज्ञा० १७ पद २ उ० । " निहसो कसो । " को० १६३ गाथा ।

निहाअ-निघात-समूहे, को० १६ गाथा । दे० ना० । (अस्य-पर्याया. ' निउरब ' शब्दे गता)

निहालिअ-निभालित-त्रि० । दृष्टे, " सच्चविअ-दिट्ठ-पुलइ-अ-निअच्छिआइ निहालिअ-ऽत्थम्मि । " को० ७८ गाथा ।

निहिअ-निहित-त्रि० । स्थापिते, "निमिअ निहिअ च निक्खि-त्त । " को० १९३ गाथा । नि-धा-क्त. । " सेवाऽऽदौ वा " ॥ ८ । २ । ६६ ॥ इति तद्वित्व वा । निहित्त । पक्षे-तो लोप. । प्रा० २ पाद । निक्षिप्ते, पञ्चा० १० विव० ।

निहिनाथ-निधिनाथ-पु० । कुबेरे, " वेसमणो निहिनाहो, ज-क्खाहिवई कुबेरो य । " को० २४ गाथा ।

निहुअ-निभृत-त्रि० । " उदत्वादौ " । ८ । १ । १३१ ॥ ऋतु-इत्यादिषु शब्देषु आदेरृत उत्वम् । प्रा० १ पाद । तदर्थमनु-युक्ते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । निर्व्यापारे, बृ० ३ उ० । निश्चले, उत्त० ११ अ० । असम्भ्रान्ते, कायस्थित्या उचितधर्मे, दश० ६ अ० । " मसिण सणिअ मट्ठ, मट्ठ अलस जरू मराल च । खे-ल निहुअ सइर, वीसत्थ मथर थिमिअ ॥१५॥" को० १५ गाथा ।

निहेलण-निलय-पु० । " गोणाऽऽदयः " ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति निलयस्थाने ' निहेलण ' आदेश । गृहे, प्रा० २ पाद । " भवण घर-मावासो, निलयो वसही निहेलणमगार । " को० ४६ गाथा ।

नीअ-नीत-त्रि० । गते, " हिअ नीअं । " को० २६७ गाथा ।

नीच-त्रि० । अत्यन्तावनतकन्धरे, उत्त० १ अ० । उच्चविपरी-ते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अपूज्ये, भ० ३ श० १ उ० । निम्ने, नि० चू० १ उ० । नीचै स्थाने, मालाऽऽदौ, उत्त० १ अ० । "अहमा इयरा य पायया नीआ । " को० १०३ गाथा ।

नित्य-त्रि० । सदाऽवस्थायिनि, स्था० १० ठा० ।

नीचअ-नीचैस्-अव्य० । नीचे, "उच्चैर्नीचैसि अअ " ॥ ८ । १ । १५४ ॥ इति ऐतो अअ इत्यादेश. । ' नीचअ । ' अत्यल्पे, क्षुद्रे च । प्रा० १ पाद ।

नीड-नीड-न० । कुलाये, " निड्ड नीम कुलाय च । " को० १२६ गाथा । प्रा० ।

नीणिअ-नीणित-त्रि० । गते, " निक्कसिअ नीणिअ । " अव्यु-त्पन्न एवाय शब्द । व्युत्पत्तिपक्षे तु-"णीणिअ" इत्येव णकारा-ऽऽक्रान्तो भविष्यतीति विशेष. । को० १७६ गाथा । स्वस्थानं प्रापिते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । उत्त० । सूत्र० ।

नीरंगी-नीरङ्गी-स्त्री० । शिरोऽवगुण्ठने, " नीरंगी अगुट्ठी । " को० ११६ गाथा । दे० ना० ।

नीमी-नीवी-स्त्री० । " स्वप्ननीव्योर्वा ॥ ८ । १ । २५९ ॥ इति वस्य मो वा । 'नीमी, नीवी' मूलधने, वस्त्रे च । प्रा० १ पाद ।

नीर-नीर-न० । जले, " अबु सलिलं वणं वारिं, नीरं उदयं दयं पय तोयं । " को० २८ गाथा । दर्श० ।

नीलकंठ-नीलकण्ठ-पुं० । मोरे, "मोरो सिही वरहिणो, सिहंडी नीलकंठो य । " को० ४२ गाथा । शक्रस्य देवेन्द्रस्य महिषानीकाधिपतौ, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

नीलुप्पल-नीलोत्पल-न० । नीलकमले, " नीलुप्पलं वियाणह, कुवलयं इंदीवरं च कंदुट्ट । " को० ३९ गाथा । कुवलये, जं० १ वक्ष० । उपा० ।

नीव-नीप-पुं० । " पो वः " ॥ ८ । १ । २३१ ॥ स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेः पस्य प्रायो वो भवति । ' कासवो । पाव । उवमा ।' प्रा० १ पाद । " कलंवो, नीवो । " को० २५५ गाथा ।

नीवी-नीवी-स्त्री० । वस्त्रग्रन्थौ, " ऊरुट्टी उच्चओ नीवी । " को० १७४ गाथा । मूलधने, वाच० ।

नीसंदिअ-निःस्यन्दित-त्रि० । निष्पतिते, " निट्टुअ खिरिअं छिप्पिअ, च नीसंदिअ च पज्झरिअं । " को० ८० गाथा ।

नीसामन्न-निःसामान्य-पुं० । गाम्भीर्ययुक्ते, " नीसामन्ना गरुआ । " को० १०३ गाथा ।

नीहरिअ-निःसृत-त्रि० । निर्गते, "नीहरिअं निग्गिअ " १९७ गाथा । दे० ना० ।

नीहार-नीहार-पुं० । मलपुरीषोत्सर्गे, स० ३४ सम० । " धूमिकायाम्, " सिण्हा नीहारो धूमिआ य महिआ य धूममहिसी य । " को० २८ गाथा ।

नु-नु-स्त्री० । स्तुतौ, "प्रस्तुते वा परिक्लिष्टे, शुद्धे निर्णेतरि स्मृतः । नुः स्त्रियां नु स्तुतौ । " एका० ५४ श्लोक । नुः स्तुतौ दीर्घ ह्रस्वस्त्री । वारिणि, पृच्छायां, वितर्के, एका० ७८ श्लोक ।

नुम-नुम-त्रि० । मिश्रयुतार्थे, " नुमशब्दस्त्रिलिङ्गः स्यान्मिश्रयुतार्थस्य वाचक । " एका० ५५ श्लोक ।

नू-नू-पुं० । दर्पे, "नूदर्पेऽपि तथोदितः ।" एका० ७७ श्लोक । "नूशब्द पातके पुंसि, वायौ क्लीवे । " एका० ७९ श्लोक ।

नून-न्यून-न० । एकादशे निग्रहस्थानभेदे, स्या० । " हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् " १२। गौ० सू० । प्रतिज्ञाऽऽदीनामवयवानामन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं निग्रहस्थानं, साधनाभावे साध्यासिद्धिरिति । भा० । न्यून लक्षयति-अवयवेन स्वशास्त्रसिद्धेन तेन साधनस्य द्व्यवयवाभिधानेऽपि न न्यूनत्वम् । न्यूनावयवहीनत्वम्-अवयवत्वावच्छिन्नाभावः, तथा चाकथनमेव स्यादत आह-अन्यतमेनापीति । तथा च-यत्किञ्चिदवयवशून्यावयवाभिधान फलितम् । नचायमपसिद्धान्तः, सिद्धान्तविरुद्धानभ्युपगमात्, अपि तु समाप्तोभाऽऽदिनाऽनभिधानादिति वृत्तिः ॥ १२ ॥ गौ० सू० वा० भा० वि० वृ० ।

नूमिअ-छादित-त्रि० । प्रच्छादिते, "पच्छाइअ-नूमिआइँ पइआई । " को० १७९ गाथा । " छदेर्णेर्णुम नूमसन्नुम ढक्कोम्वालपव्वाला. " ॥ ८ । ४ । २१ ॥ इति छदेर्ण्यन्तस्यैते षडादेशा वा भवन्ति । ' नूमइ । ' पक्षे-'छायइ ।' प्रा० ४ पाद ।

नेउर-नूपुर-न० । स्त्रीणां पादाऽऽभरणे, "हंसयं नेउरं च मंजीरं । " को० ११२ गाथा ।

नेलच्छ-पण्डक-पुं० । षण्ढे, वृषभेऽपि, "नेलच्छो पंडओ ।" को० २३५ गाथा । " गोणाऽऽद्यः " ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति पण्डकशब्दस्य नेलच्छाऽऽदेशः । "नो णः." ॥ ८ । १ । २२८ ॥ इत्यस्य वैकल्पिकत्वात् णत्याभावपक्षे रूपम् । प्रा० १ पाद ।

नेवत्थ-नेपथ्य-न० । वेषे, "वेसो नेवत्थं । " को० २३३ गाथा । स्त्रीपुरुषाणां वेषे, स्था० ४ ठा० २ उ० । परिधानाऽऽदिरचने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । केशवीवरसमारचने, दर्श० ४ तत्त्व । नि० । औ० । निर्मलवेषे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । स्था० ।

नेह-स्नेह-पुं० । " क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् " ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इति सलुक् । प्रा० १ पाद । मोहोदयजे प्रीतिविशेषे, पुत्राऽऽदिविषयस्यन्तानुरागे, आतु० । जीत० ।

नो-नो-पुं० । स्तुतौ, एका० ।

नौ-स्तुतौ, पुं० । स्त्री० । एका० । 'नौस्तरणोऽस्त्रियाम् ।' एका० ।

नोमालिया-नवमालिका-स्त्री० । "ओत् पूतर-बदर-नवमालिका-नवफलिका-पूगफले" ॥ ८ । १ । १७० ॥ इति ओत्वम् । प्रा० १ पाद । 'नेवार' इति ख्याते सुगन्धपुष्पप्रधाने वृक्षभेदे, जं० १ वक्ष० । ज्ञा० । जी० । (प्राय. णकाराऽऽदयः सर्वे शब्दाः "वाऽऽदौ" ॥ ८ । १ । २२९ ॥ इत्यस्य वैकल्पिकत्वाद् नकाराऽऽदिषु बोध्या)

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य-
श्री श्री १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
नकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

तत्समाप्तौ च समाप्तोऽयं चतुर्थो भागः ॥ ४ ॥

॥ श्रीः ॥

दृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी-
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनश्रुतः ।
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः,
कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ॥